।। श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः ।।

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण

(प्रथम खण्ड)

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या
१ श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणकी पाठविधि	१

(श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणमाहात्म्यम्)

विषय	पृष्ठ-संख्या
१ कलियुगकी स्थिति, कलिकालके मनुष्योंके उद्धारका उपाय, रामायणपाठ, उसकी महिमा, उसके श्रवणके लिये उत्तम काल आदिका वर्णन	७
२ नारद-सनत्कुमार-संवाद, सुदास या सोमदत्त नामक ब्राह्मणको राक्षसत्वकी प्राप्ति तथा रामायण-कथा श्रवणद्वारा उससे उद्धार	१०
३ माघमासमें रामायण-श्रवणका फल—राजा सुमति और सत्यवतीके पूर्वजन्मका इतिहास	१५
४ चैत्रमासमें रामायणके पठन और श्रवणका माहात्म्य, कलिक नामक व्याध और उत्तङ्क मुनिकी कथा	१९
५ रामायणके नवाह श्रवणकी विधि, महिमा तथा फलका वर्णन	२१

सर्ग	(बालकाण्डम्)	पृष्ठ-संख्या
१	नारदजीका वाल्मीकि मुनिको संक्षेपसे श्रीराम-चरित्र सुनाना	२७
२	रामायणकाव्यका उपक्रम—तमसाके तटपर क्रौञ्चवधसे संतप्त हुए महर्षि वाल्मीकिके शोकका श्लोकरूपमें प्रकट होना तथा ब्रह्माजीका उन्हें रामचरित्रमय काव्यके निर्माणका आदेश देना	३२
३	वाल्मीकि मुनिद्वारा रामायण काव्यमें निबद्ध विषयोंका संक्षेपसे उल्लेख	३५
४	महर्षि वाल्मीकिका चौबीस हजार श्लोकोंसे युक्त रामायणकाव्यका निर्माण करके उसे लव-कुशको पढ़ाना, मुनिमण्डलीमें रामायणगान करके लव और कुशका प्रशंसित होना तथा अयोध्यामें श्रीरामद्वारा सम्मानित हो उन दोनोंका राम-दरबारमें रामायण-गान सुनाना	३८
५	राजा दशरथद्वारा सुरक्षित अयोध्यापुरीका वर्णन ..	४१
६	राजा दशरथके शासनकालमें अयोध्या और वहाँके नागरिकोंकी उत्तम स्थितिका वर्णन	४३
७	राजमन्त्रियोंके गुण और नीतिका वर्णन	४५
८	राजाका पुत्रके लिये अश्वमेधयज्ञ करनेका प्रस्ताव और मन्त्रियों तथा ब्राह्मणोंद्वारा उनका अनुमोदन .	४७
९	सुमन्त्रका राजाको ऋष्यशृङ्ग मुनिको बुलानेकी सलाह देते हुए उनके अङ्गदेशमें जाने और शान्तासे विवाह करनेका प्रसङ्ग सुनाना	४८
१०	अङ्गदेशमें ऋष्यशृङ्गके आने तथा शान्ताके साथ विवाह होनेके प्रसङ्गका कुछ विस्तारके साथ वर्णन	*४९
११	सुमन्त्रके कहनेसे राजा दशरथका सपरिवार अङ्गराजके यहाँ जाकर वहाँसे शान्ता और ऋष्य-शृङ्गको अपने घर ले आना	५२
१२	राजाका ऋषियोंसे यज्ञ करानेके लिये प्रस्ताव, ऋषियोंका राजाको और राजाका मन्त्रियोंको यज्ञ-की आवश्यक तैयारी करनेके लिये आदेश देना .	५४
१३	राजाका वसिष्ठजीसे यज्ञकी तैयारीके लिये अनुरोध, वसिष्ठजीद्वारा इसके लिये सेवकोंकी नियुक्ति और सुमन्त्रको राजाओंकी बुलाहटके लिये आदेश, समागत राजाओंका सत्कार तथा पत्नियोंसहित राजा दशरथका यज्ञकी दीक्षा लेना .	५५
१४	महाराज दशरथके द्वारा अश्वमेध यज्ञका साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान	५८
१५	ऋष्यशृङ्गद्वारा राजा दशरथके पुत्रेष्टि यज्ञका आरम्भ, देवताओंकी प्रार्थनासे ब्रह्माजीका रावण-के वधका उपाय ढूँढ़ निकालना तथा भगवान् विष्णुका देवताओंको आश्वासन देना	६२
१६	देवताओंका श्रीहरिसे रावण-वधके लिये मनुष्य-रूपमें अवतीर्ण होनेको कहना, राजाके पुत्रेष्टि यज्ञमें अग्निकुण्डसे प्राजापत्य पुरुषका प्रकट होकर खीर अर्पण करना और उसे खाकर रानियोंका गर्भवती होना	६४
१७	ब्रह्माजीकी प्रेरणासे देवता आदिके द्वारा विभिन्न वानरयूथपतियोंकी उत्पत्ति	६६
१८	राजाओं तथा ऋष्यशृङ्गको विदा करके राजा दशरथका रानियोंसहित पुरीमें आगमन, श्रीराम, भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्नके जन्म, संस्कार, शील-स्वभाव एवं सद्गुण, राजाके दरबारमें विश्वामित्रका आगमन और उनका सत्कार	६९
१९	विश्वामित्रके मुखसे श्रीरामको साथ ले जानेकी माँग सुनकर राजा दशरथका दुःखित एवं मूर्च्छित होना	७२
२०	राजा दशरथका विश्वामित्रको अपना पुत्र देनेसे इनकार करना और विश्वामित्रका कुपित होना	७४
२१	विश्वामित्रके रोषपूर्ण वचन तथा वसिष्ठका राजा दशरथको समझाना	७६
२२	राजा दशरथका स्वस्तिवाचनपूर्वक राम-लक्ष्मणको	

सर्ग	विषय	पृष्ठ-संख्या

मुनिके साथ भेजना, मार्गमें उन्हें विश्वामित्रसे बला और अतिबला नामक विद्याकी प्राप्ति ... ७७

२३ विश्वामित्रसहित श्रीराम और लक्ष्मणका सरयू-गङ्गा-संगमके समीप पुण्य आश्रममें रातको ठहरना .. ७९

२४ श्रीराम और लक्ष्मणका गङ्गापार होते समय विश्वामित्रजीसे जलमें उठती हुई तुमुलध्वनिके विषयमें प्रश्न करना, विश्वामित्रजीका उन्हें इसका कारण बताना तथा मलद, करूष एवं ताटका-वनका परिचय देते हुए उन्हें ताटकावधके लिये आज्ञा प्रदान करना ८१

२५ श्रीरामके पूछनेपर विश्वामित्रजीका उनसे ताटका-की उत्पत्ति, विवाह एवं शाप आदिका प्रसङ्ग सुनाकर उन्हें ताटकावधके लिये प्रेरित करना ८३

२६ श्रीरामद्वारा ताटकावध ८४

२७ विश्वामित्रद्वारा श्रीरामको दिव्यास्त्र-दान ८७

२८ विश्वामित्रका श्रीरामको अस्त्रोंकी संहार-विधि बताना तथा उन्हें अन्यान्य अस्त्रोंका उपदेश करना, श्रीरामका एक आश्रम एवं यज्ञस्थानके विषयमें मुनिसे प्रश्न ८८

२९ विश्वामित्रजीका श्रीरामसे सिद्धाश्रमका पूर्ववृत्तान्त बताना और उन दोनों भाइयोंके साथ अपने आश्रमपर पहुँचकर पूजित होना ९०

३० श्रीरामद्वारा विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षा तथा राक्षसों-का संहार ९२

३१ श्रीराम, लक्ष्मण तथा ऋषियोंसहित विश्वामित्रका मिथिलाको प्रस्थान तथा मार्गमें संध्याके समय शोणभद्रतटपर विश्राम ९४

३२ ब्रह्मपुत्र कुशके चार पुत्रोंका वर्णन, शोणभद्र-तटवर्ती प्रदेशको वसुकी भूमि बताना, कुशनाभ-की सौ कन्याओंका वायुके कोपसे 'कुब्जा' होना ९५

३३ राजा कुशनाभद्वारा कन्याओंके धैर्य एवं क्षमा-शीलताकी प्रशंसा, ब्रह्मदत्तकी उत्पत्ति तथा उनके साथ कुशनाभकी कन्याओंका विवाह ९७

३४ गाधिकी उत्पत्ति, कौशिकीकी प्रशंसा, विश्वामित्रजी-का कथा बंद करके आधी रातका वर्णन करते हुए सबको सोनेकी आज्ञा देकर शयन करना . ९९

३५ शोणभद्र पार करके विश्वामित्र आदिका गङ्गाजी-के तटपर पहुँचकर वहाँ रात्रिवास करना तथा श्रीरामके पूछनेपर विश्वामित्रजीका उन्हें गङ्गाजीकी उत्पत्तिकी कथा सुनाना १०१

३६ देवताओंका शिव-पार्वतीको सुरतक्रीडासे निवृत्त करना तथा उमा देवीका देवताओं और पृथ्वीको शाप देना १०२

३७ गङ्गासे कार्तिकेयकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग १०४

३८ राजा सगरके पुत्रोंकी उत्पत्ति तथा यज्ञकी तैयारी १०६

३९ इन्द्रके द्वारा राजा सगरके यज्ञसम्बन्धी अश्वका अपहरण, सगरपुत्रोंद्वारा सारी पृथ्वीका भेदन तथा देवताओंका ब्रह्माजीको यह सब समाचार बताना १०८

४० सगरपुत्रोंके भावी विनाशकी सूचना देकर ब्रह्माजीका देवताओंको शान्त करना, सगरके पुत्रोंका पृथ्वीको खोदते हुए कपिलजीके पास पहुँचना और उनके रोषसे जलकर भस्म होना . १०९

४१ सगरकी आज्ञासे अंशुमान्‌का रसातलमें जाकर घोड़ेको ले आना और अपने चाचाओंके निधन-का समाचार सुनाना १११

४२ अंशुमान् और भगीरथकी तपस्या, ब्रह्माजीका भगीरथको अभीष्ट वर देकर गङ्गाजीको धारण करनेके लिये भगवान् शंकरको राजी करनेके निमित्त प्रयत्न करनेकी सलाह देना ११३

४३ भगीरथकी तपस्यासे संतुष्ट हुए भगवान् शंकरका गङ्गाको अपने सिरपर धारण करके बिन्दुसरोवरमें छोड़ना और उनका सात धाराओंमें विभक्त हो भगीरथके साथ जाकर उनके पितरोंका उद्धार करना ११४

४४ ब्रह्माजीका भगीरथकी प्रशंसा करते हुए उन्हें गङ्गाजलसे पितरोंके तर्पणकी आज्ञा देना और राजाका वह सब करके अपने नगरको जाना, गङ्गावतरणके उपाख्यानकी महिमा ११७

४५ देवताओं और दैत्योंद्वारा क्षीर-समुद्र-मन्थन, भगवान् रुद्रद्वारा हलाहल विषका पान, भगवान् विष्णुके सहयोगसे मन्दराचलका पातालसे उद्धार और उसके द्वारा मन्थन, धन्वन्तरि, अप्सरा, वारुणी, उच्चैःश्रवा, कौस्तुभ तथा अमृतकी उत्पत्ति और देवासुर-संग्राममें दैत्योंका संहार . ११८

४६ पुत्रवधसे दुःखी दितिका कश्यपजीसे इन्द्रहन्ता पुत्रकी प्राप्तिके उद्देश्यसे तपके लिये आज्ञा लेकर कुशप्लवमें तप करना, इन्द्रद्वारा उनकी परिचर्या तथा उन्हें अपवित्र-अवस्थामें पाकर इन्द्रका उनके गर्भके सात टुकड़े कर डालना १२१

४७ दितिका अपने पुत्रोंको मरुद्गण बनाकर देवलोक-में रखनेके लिये इन्द्रसे अनुरोध, इन्द्रद्वारा उसकी स्वीकृति, दितिके तपोवनमें ही इक्ष्वाकु-पुत्र विशालद्वारा विशाला नगरीका निर्माण तथा वहाँके तत्कालीन राजा सुमतिद्वारा विश्वामित्र मुनिका सत्कार १२३

४८ राजा सुमतिसे सत्कृत हो एक रात विशालामें रह-कर मुनियोंसहित श्रीरामका मिथिलापुरीमें पहुँचना और वहाँ सूने आश्रमके विषयमें पूछनेपर विश्वामित्रजीका उनसे अहल्याको शाप प्राप्त होने-की कथा सुनाना १२४

४९ पितृदेवताओंद्वारा इन्द्रको भेड़ेके अण्डकोशसे युक्त करना तथा भगवान् श्रीरामके द्वारा अहल्या-

सर्ग | विषय | पृष्ठ-संख्या

का उद्धार एवं उन दोनों दम्पतिके द्वारा इनका सत्कार १२७

५० श्रीराम आदिका मिथिला-गमन, राजा जनकद्वारा विश्वामित्रका सत्कार तथा उनका श्रीराम और लक्ष्मणके विषयमें जिज्ञासा करना एवं परिचय पाना १२८

५१ शतानन्दके पूछनेपर विश्वामित्रका उन्हें श्रीरामके द्वारा अहल्याके उद्धारका समाचार बताना तथा शतानन्दद्वारा श्रीरामका अभिनन्दन करते हुए विश्वामित्रजीके पूर्वचरित्रका वर्णन १३०

५२ महर्षि वसिष्ठद्वारा विश्वामित्रका सत्कार और कामधेनुको अभीष्ट वस्तुओंकी सृष्टि करनेका आदेश १३२

५३ कामधेनुकी सहायतासे उत्तम अन्न-पानद्वारा सेनासहित तृप्त हुए विश्वामित्रका वसिष्ठसे उनकी कामधेनुको माँगना और उनका देनेसे अस्वीकार करना १३३

५४ विश्वामित्रका वसिष्ठजीकी गौको बलपूर्वक ले जाना, गौका दुःखी होकर वसिष्ठजीसे इसका कारण पूछना और उनकी आज्ञासे शक, यवन, पह्लव आदि वीरोंकी सृष्टि करके उनके द्वारा विश्वामित्रजीकी सेनाका संहार करना १३५

५५ अपने सौ पुत्रों और सारी सेनाके नष्ट हो जानेपर विश्वामित्रका तपस्या करके महादेवजीसे दिव्यास्त्र पाना तथा उनका वसिष्ठके आश्रमपर प्रयोग करना एवं वसिष्ठजीका ब्रह्मदण्ड लेकर उनके सामने खड़ा होना १३६

५६ विश्वामित्रद्वारा वसिष्ठजीपर नाना प्रकारके दिव्यास्त्रोंका प्रयोग और वसिष्ठद्वारा ब्रह्मदण्डसे ही उनका शमन एवं विश्वामित्रका ब्राह्मणत्वकी प्राप्तिके लिये तप करनेका निश्चय १३८

५७ विश्वामित्रकी तपस्या, राजा त्रिशङ्कुका अपना यज्ञ करानेके लिये पहले वसिष्ठजीसे प्रार्थना करना और उनके इनकार कर देनेपर उन्हींके पुत्रोंकी शरणमें जाना १३९

५८ वसिष्ठ ऋषिके पुत्रोंका त्रिशङ्कुको डाँट बताकर घर लौटनेके लिये आज्ञा देना तथा उन्हें दूसरा पुरोहित बनानेके लिये उद्यत देख शाप-प्रदान और उनके शापसे चाण्डाल हुए त्रिशङ्कुका विश्वामित्रजीकी शरणमें जाना १४१

५९ विश्वामित्रका त्रिशङ्कुको आश्वासन देकर उनका यज्ञ करानेके लिये ऋषि-मुनियोंको आमन्त्रित करना और उनकी बात न माननेवाले महोदय तथा ऋषिपुत्रोंको शाप देकर नष्ट करना १४२

६० विश्वामित्रका ऋषियोंसे त्रिशङ्कुका यज्ञ करानेके लिये अनुरोध, ऋषियोंद्वारा यज्ञका आरम्भ, त्रिशङ्कुका सशरीर स्वर्गगमन, इन्द्रद्वारा स्वर्गसे उनके गिराये जानेपर क्षुब्ध हुए विश्वामित्रका नूतन देवसर्गके लिये उद्योग, फिर देवताओंके अनुरोधसे उनका इस कार्यसे विरत होना १४४

६१ विश्वामित्रकी पुष्करतीर्थमें तपस्या तथा राजर्षि अम्बरीषका ऋचीकके मध्यम पुत्र शुनःशेपको यज्ञ-पशु बनानेके लिये खरीदकर लाना १४६

६२ विश्वामित्रद्वारा शुनःशेपकी रक्षाका सफल प्रयत्न और तपस्या १४७

६३ विश्वामित्रको ऋषि एवं महर्षिपदकी प्राप्ति, मेनकाद्वारा उनका तपोभङ्ग तथा ब्रह्मर्षिपदकी प्राप्तिके लिये उनकी घोर तपस्या १४९

६४ विश्वामित्रका रम्भाको शाप देकर पुनः घोर तपस्याके लिये दीक्षा लेना १५१

६५ विश्वामित्रजीकी घोर तपस्या, उन्हें ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति तथा राजा जनकका उनकी प्रशंसा करके उनसे विदा ले राजभवनको लौटना १५२

६६ राजा जनकका विश्वामित्र और राम-लक्ष्मणका सत्कार करके उन्हें अपने यहाँ रखे हुए धनुषका परिचय देना और धनुष चढ़ा देनेपर श्रीरामके साथ उनके ब्याहका निश्चय प्रकट करना १५५

६७ श्रीरामके द्वारा धनुर्भङ्ग तथा राजा जनकका विश्वामित्रकी आज्ञासे राजा दशरथको बुलानेके लिये मन्त्रियोंको भेजना १५६

६८ राजा जनकका संदेश पाकर मन्त्रियोंसहित महाराज दशरथका मिथिला जानेके लिये उद्यत होना १५८

६९ दल-बलसहित राजा दशरथकी मिथिलायात्रा और वहाँ राजा जनकके द्वारा उनका स्वागत-सत्कार . १५९

७० राजा जनकका अपने भाई कुशध्वजको सांकाश्या नगरीसे बुलवाना, राजा दशरथके अनुरोधसे वसिष्ठजीका सूर्यवंशका परिचय देते हुए श्रीराम और लक्ष्मणके लिये सीता तथा ऊर्मिलाको वरण करना १६१

७१ राजा जनकका अपने कुलका परिचय देते हुए श्रीराम और लक्ष्मणके लिये क्रमशः सीता और ऊर्मिलाको देनेकी प्रतिज्ञा करना १६३

७२ विश्वामित्रद्वारा भरत और शत्रुघ्नके लिये कुशध्वजकी कन्याओंका वरण, राजा जनकद्वारा इसकी स्वीकृति तथा राजा दशरथका अपने पुत्रोंके मङ्गलके लिये नान्दीश्राद्ध एवं गोदान करना .. १६५

७३ श्रीराम आदि चारों भाइयोंका विवाह १६७

७४ विश्वामित्रका अपने आश्रमको प्रस्थान, राजा जनकका कन्याओंको भारी दहेज देकर राजा दशरथ आदिको विदा करना, मार्गमें शुभाशुभ शकुन और परशुरामजीका आगमन १६९

७५ राजा दशरथकी बात अनसुनी करके परशुरामका श्रीरामको वैष्णव-धनुषपर बाण चढ़ानेके लिये ललकारना १७१

सर्ग	विषय	पृष्ठ-संख्या
७६	श्रीरामका वैष्णव-धनुषको चढ़ाकर अमोघ बाणके द्वारा परशुरामके तपःप्राप्त पुण्यलोकोंका नाश करना तथा परशुरामका महेन्द्र पर्वतको लौट जाना	१७२
७७	राजा दशरथका पुत्रों और वधुओंके साथ अयोध्यामें प्रवेश, शत्रुघ्नसहित भरतका मामाके यहाँ जाना, श्रीरामके बर्तावसे सबका संतोष तथा सीता और श्रीरामका पारस्परिक प्रेम	१७४
	(अयोध्याकाण्डम्)	
१	श्रीरामके सद्गुणोंका वर्णन, राजा दशरथका श्रीरामको युवराज बनानेका विचार तथा विभिन्न नरेशों और नगर एवं जनपदके लोगोंको मन्त्रणाके लिये अपने दरबारमें बुलाना	१७७
२	राजा दशरथद्वारा श्रीरामके राज्याभिषेकका प्रस्ताव तथा सभासदोंद्वारा श्रीरामके गुणोंका वर्णन करते हुए उक्त प्रस्तावका सहर्ष युक्तियुक्त समर्थन	१८१
३	राजा दशरथका वसिष्ठ और वामदेवजीको श्रीरामके राज्याभिषेककी तैयारी करनेके लिये कहना और उनका सेवकोंको तदनुरूप आदेश देना, राजाकी आज्ञासे सुमन्त्रका श्रीरामको राजसभामें बुला लाना और राजाका अपने पुत्र श्रीरामको हितकर राजनीतिकी बातें बताना	१८४
४	श्रीरामको राज्य देनेका निश्चय करके राजाका सुमन्त्रद्वारा पुनः श्रीरामको बुलवाकर उन्हें आवश्यक बातें बताना, श्रीरामका कौसल्याके भवनमें जाकर माताको यह समाचार बताना और मातासे आशीर्वाद पाकर लक्ष्मणसे प्रेमपूर्वक वार्तालाप करके अपने महलमें जाना	१८८
५	राजा दशरथके अनुरोधसे वसिष्ठजीका सीतासहित श्रीरामको उपवासव्रतकी दीक्षा देकर आना और राजाको इस समाचारसे अवगत कराना, राजाका अन्तःपुरमें प्रवेश	१९०
६	सीतासहित श्रीरामका नियमपरायण होना, हर्षमें भरे पुरवासियोंद्वारा नगरकी सजावट, राजाके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना तथा अयोध्यापुरीमें जनपदवासी मनुष्योंकी भीड़का एकत्र होना ...	१९२
७	श्रीरामके अभिषेकका समाचार पाकर खिन्न हुई मन्थराका कैकेयीको उभाड़ना, परंतु प्रसन्न हुई कैकेयीका उसे पुरस्काररूपमें आभूषण देना और वर माँगनेके लिये प्रेरित करना	१९४
८	मन्थराका पुनः श्रीरामके राज्याभिषेकको कैकेयीके लिये अनिष्टकारी बताना, कैकेयीका श्रीरामके गुणोंको बताकर उनके अभिषेकका समर्थन करना, तत्पश्चात् कुब्जाका पुनः श्रीरामराज्यको भरतके लिये भयजनक बताकर कैकेयीको भड़काना .	१९७
९	कुब्जाके कुचक्रसे कैकेयीका कोपभवनमें प्रवेश	२००
१०	राजा दशरथका कैकेयीके भवनमें जाना, उसे कोपभवनमें स्थित देखकर दुःखी होना और उसको अनेक प्रकारसे सान्त्वना देना	२०४
११	कैकेयीका राजाको प्रतिज्ञाबद्ध करके उन्हें पहलेके दिये हुए दो वरोंका स्मरण दिलाकर भरतके लिये अभिषेक और रामके लिये चौदह वर्षोंका वनवास माँगना	२०७
१२	महाराज दशरथकी चिन्ता, विलाप, कैकेयीको फटकारना, समझाना और उससे वैसा वर न माँगनेके लिये अनुरोध करना	२०९
१३	राजाका विलाप और कैकेयीसे अनुनय-विनय .	२१६
१४	कैकेयीका राजाको सत्यपर दृढ़ रहनेके लिये प्रेरणा देकर अपने वरोंकी पूर्तिके लिये दुराग्रह दिखाना, महर्षि वसिष्ठका अन्तःपुरके द्वारपर आगमन और सुमन्त्रको महाराजके पास भेजना, राजाकी आज्ञासे सुमन्त्रका श्रीरामको बुलानेके लिये जाना	२१८
१५	सुमन्त्रका राजाकी आज्ञासे श्रीरामको बुलानेके लिये उनके महलमें जाना	२२३
१६	सुमन्त्रका श्रीरामके महलमें पहुँचकर महाराजका संदेश सुनाना और श्रीरामका सीतासे अनुमति ले लक्ष्मणके साथ रथपर बैठकर गाजे-बाजेके साथ मार्गमें स्त्री-पुरुषोंकी बातें सुनते हुए जाना .	२२६
१७	श्रीरामका राजपथकी शोभा देखते और सुहृदोंकी बातें सुनते हुए पिताके भवनमें प्रवेश	२२९
१८	श्रीरामका कैकेयीसे पिताके चिन्तित होनेका कारण पूछना और कैकेयीका कठोरतापूर्वक अपने माँगे हुए वरोंका वृत्तान्त बताकर श्रीरामको वनवासके लिये प्रेरित करना	२३१
१९	श्रीरामकी कैकेयीके साथ बातचीत और वनमें जाना स्वीकार करके उनका माता कौसल्याके पास आज्ञा लेनेके लिये जाना	२३४
२०	राजा दशरथकी अन्य रानियोंका विलाप, श्रीरामका कौसल्याजीके भवनमें जाना और उन्हें अपने वनवासकी बात बताना, कौसल्याका अचेत होकर गिरना और श्रीरामके उठा देनेपर उनकी ओर देखकर विलाप करना	२३६
२१	लक्ष्मणका रोष, उनका श्रीरामको बलपूर्वक राज्यपर अधिकार कर लेनेके लिये प्रेरित करना तथा श्रीरामका पिताकी आज्ञाके पालनको ही धर्म बताकर माता और लक्ष्मणको समझाना	२४०
२२	श्रीरामका लक्ष्मणको समझाते हुए अपने वनवासमें दैवको ही कारण बताना और अभिषेककी सामग्रीको हटा लेनेका आदेश देना	२४५
२३	लक्ष्मणकी ओजभरी बातें, उनके द्वारा दैवका खण्डन और पुरुषार्थका प्रतिपादन तथा उनका	

सर्ग	विषय	पृष्ठ-संख्या
	श्रीरामके अभिषेकके निमित्त विरोधियोंसे लोहा लेनेके लिये उद्यत होना	२४७
२४	विलाप करती हुई कौसल्याका श्रीरामसे अपनेको भी साथ ले चलनेके लिये आग्रह करना तथा पतिकी सेवा ही नारीका धर्म है, यह बताकर श्रीरामका उन्हें रोकना और वन जानेके लिये उनकी अनुमति प्राप्त करना	२५०
२५	कौसल्याका श्रीरामकी वनयात्राके लिये मङ्गल-कामनापूर्वक स्वस्तिवाचन करना और श्रीरामका उन्हें प्रणाम करके सीताके भवनकी ओर जाना	२५३
२६	श्रीरामको उदास देखकर सीताका उनसे इसका कारण पूछना और श्रीरामका पिताकी आज्ञासे वनमें जानेका निश्चय बताते हुए सीताको घरमें रहनेके लिये समझाना	२५६
२७	सीताकी श्रीरामसे अपनेको भी साथ ले चलनेके लिये प्रार्थना	२५८
२८	श्रीरामका वनवासके कष्टका वर्णन करते हुए सीताको वहाँ चलनेसे मना करना	२६०
२९	सीताका श्रीरामके समक्ष उनके साथ अपने वन-गमनका औचित्य बताना	२६२
३०	सीताका वनमें चलनेके लिये अधिक आग्रह, विलाप और घबराहट देखकर श्रीरामका उन्हें साथ ले चलनेकी स्वीकृति देना, पिता-माता और गुरुजनोंकी सेवाका महत्त्व बताना तथा सीताको वनमें चलनेकी तैयारीके लिये घरकी वस्तुओंका दान करनेकी आज्ञा देना	२६४
३१	श्रीराम और लक्ष्मणका संवाद, श्रीरामकी आज्ञासे लक्ष्मणका सुहृदोंसे पूछकर और दिव्य आयुध लाकर वनगमनके लिये तैयार होना, श्रीरामका उनसे ब्राह्मणोंको धन बाँटनेका विचार व्यक्त करना	२६७
३२	सीतासहित श्रीरामका वसिष्ठपुत्र सुयज्ञको बुलाकर उनके तथा उनकी पत्नीके लिये बहुमूल्य आभूषण, रत्न और धन आदिका दान तथा लक्ष्मणसहित श्रीरामद्वारा ब्राह्मणों, ब्रह्मचारियों, सेवकों, त्रिजट ब्राह्मण और सुहृज्जनोंको धनका वितरण	२६९
३३	सीता और लक्ष्मणसहित श्रीरामका दुःखी नगर-वासियोंके मुखसे तरह-तरहकी बातें सुनते हुए पिताके दर्शनके लिये कैकेयीके महलमें जाना .	२७२
३४	सीता और लक्ष्मणसहित श्रीरामका रानियोंसहित राजा दशरथके पास जाकर वनवासके लिये विदा माँगना, राजाका शोक और मूर्च्छा, श्रीरामका उन्हें समझाना तथा राजाका श्रीरामको हृदयसे लगाकर पुनः मूर्च्छित हो जाना	२७५
३५	सुमन्त्रके समझाने और फटकारनेपर भी कैकेयी-का टस-से-मस न होना	२७९
३६	राजा दशरथका श्रीरामके साथ सेना और खजाना भेजनेका आदेश, कैकेयीद्वारा इसका विरोध, सिद्धार्थका कैकेयीको समझाना तथा राजाका श्रीरामके साथ जानेकी इच्छा प्रकट करना ...	२८१
३७	श्रीराम आदिका वल्कल-वस्त्र धारण, सीताके वल्कल-धारणसे रनिवासकी स्त्रियोंको खेद तथा गुरु वसिष्ठका कैकेयीको फटकारते हुए सीताके वल्कल-धारणका अनौचित्य बताना	२८४
३८	राजा दशरथका सीताको वल्कल धारण कराना अनुचित बताकर कैकेयीको फटकारना और श्रीरामका उनसे कौसल्यापर कृपादृष्टि रखनेके लिये अनुरोध करना	२८६
३९	राजा दशरथका विलाप, उनकी आज्ञासे सुमन्त्रका रामके लिये रथ जोतकर लाना, कोषाध्यक्षका सीताको बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण देना, कौसल्याका सीताको पतिसेवाका उपदेश, सीताके द्वारा उसकी स्वीकृति तथा श्रीरामका अपनी मातासे पिताके प्रति दोषदृष्टि न रखनेका अनुरोध करके अन्य माताओंसे भी विदा माँगना	२८८
४०	सीता, राम और लक्ष्मणका दशरथकी परिक्रमा करके कौसल्या आदिको प्रणाम करना, सुमित्राका लक्ष्मणको उपदेश, सीतासहित श्रीराम और लक्ष्मणका रथमें बैठकर वनकी ओर प्रस्थान, पुरवासियों तथा रानियोंसहित महाराज दशरथकी शोकाकुल अवस्था	२९०
४१	श्रीरामके वनगमनसे रनवासकी स्त्रियोंका विलाप तथा नगरनिवासियोंकी शोकाकुल अवस्था ...	२९४
४२	राजा दशरथका पृथ्वीपर गिरना, श्रीरामके लिये विलाप करना, कैकेयीको अपने पास आनेसे मना करना और उसे त्याग देना, कौसल्या और सेवकोंकी सहायतासे उनका कौसल्याके भवनमें आना और वहाँ भी श्रीरामके लिये दुःखका ही अनुभव करना	२९५
४३	महारानी कौसल्याका विलाप	२९८
४४	सुमित्राका कौसल्याको आश्वासन देना	२९९
४५	श्रीरामका पुरवासियोंसे भरत और महाराज दशरथके प्रति प्रेमभाव रखनेका अनुरोध करते हुए लौट जानेके लिये कहना, नगरके वृद्ध ब्राह्मणोंका श्रीरामसे लौट चलनेके लिये आग्रह करना तथा उन सबके साथ श्रीरामका तमसा-तटपर पहुँचना	३०१
४६	सीता और लक्ष्मणसहित श्रीरामका रात्रिमें तमसा-तटपर निवास, माता-पिता और अयोध्याके लिये चिन्ता तथा पुरवासियोंको सोते छोड़कर वनकी ओर जाना	३०३
४७	प्रातःकाल उठनेपर पुरवासियोंका विलाप करना और निराश होकर नगरको लौटना	३०६

सर्ग	विषय	पृष्ठ-संख्या
४८	नगरनिवासिनी स्त्रियोंका विलाप करना	३०७
४९	ग्रामवासियोंकी बातें सुनते हुए श्रीरामका कोसल जनपदको लाँघते हुए आगे जाना और वेदश्रुति, गोमती एवं स्यन्दिका नदियोंको पार करके सुमन्त्रसे कुछ कहना	३१०
५०	श्रीरामका मार्गमें अयोध्यापुरीसे वनवासकी आज्ञा माँगना और शृङ्गवेरपुरमें गङ्गातटपर पहुँचकर रात्रिमें निवास करना, वहाँ निषादराज गुहद्वारा उनका सत्कार	३११
५१	निषादराज गुहके समक्ष लक्ष्मणका विलाप	३१४
५२	श्रीरामकी आज्ञासे गुहका नाव मँगाना, श्रीरामका सुमन्त्रको समझा-बुझाकर अयोध्यापुरीको लौट जानेके लिये आज्ञा देना और माता-पिता आदिसे कहनेके लिये संदेश सुनाना, सुमन्त्रके वनमें ही चलनेके लिये आग्रह करनेपर श्रीरामका उन्हें युक्तिपूर्वक समझाकर लौटनेके लिये विवश करना, फिर तीनोंका नावपर बैठना, सीताकी गङ्गाजीसे प्रार्थना, नावसे पार उतरकर श्रीराम आदिका वत्सदेशमें पहुँचना और सायंकालमें एक वृक्षके नीचे रहनेके लिये जाना	३१६
५३	श्रीरामका राजाको उपालम्भ देते हुए कैकेयीसे कौसल्या आदिके अनिष्टकी आशङ्का बताकर लक्ष्मणको अयोध्या लौटानेके लिये प्रयत्न करना, लक्ष्मणका श्रीरामके बिना अपना जीवन असम्भव बताकर वहाँ जानेसे इनकार करना, फिर श्रीरामका उन्हें वनवासकी अनुमति देना	३२३
५४	लक्ष्मण और सीतासहित श्रीरामका प्रयागमें गङ्गा-यमुना-संगमके समीप भरद्वाज-आश्रममें जाना, मुनिके द्वारा उनका अतिथि-सत्कार, उन्हें चित्रकूट पर्वतपर ठहरनेका आदेश तथा चित्रकूटकी महत्ता एवं शोभाका वर्णन	३२५
५५	भरद्वाजजीका श्रीराम आदिके लिये स्वस्तिवाचन करके उन्हें चित्रकूटका मार्ग बताना, उन सबका अपने ही बनाये हुए बेड़ेसे यमुनाजीको पार करना, सीताकी यमुना और श्यामवटसे प्रार्थना; तीनोंका यमुनाके किनारेके मार्गसे एक कोसतक जाकर वनमें घूमना-फिरना, यमुनाजीके समतल तटपर रात्रिमें निवास करना	३२८
५६	वनकी शोभा देखते-दिखाते हुए श्रीराम आदिका चित्रकूटमें पहुँचना, वाल्मीकिजीका दर्शन करके श्रीरामकी आज्ञासे लक्ष्मणद्वारा पर्णशालाका निर्माण तथा उसकी वास्तुशान्ति करके उन सबका कुटीमें प्रवेश	३३१
५७	सुमन्त्रका अयोध्याको लौटना, उनके मुखसे श्रीरामका संदेश सुनकर पुरवासियोंका विलाप, राजा दशरथ और कौसल्याकी मूर्च्छा तथा अन्तःपुरकी रानियोंका आर्तनाद	३३४
५८	महाराज दशरथकी आज्ञासे सुमन्त्रका श्रीराम और लक्ष्मणके संदेश सुनाना	३३६
५९	सुमन्त्रद्वारा श्रीरामके शोकसे जड-चेतन एवं अयोध्यापुरीकी दुरवस्थाका वर्णन तथा राजा दशरथका विलाप	३३८
६०	कौसल्याका विलाप और सारथि सुमन्त्रका उन्हें समझाना	३४१
६१	कौसल्याका विलापपूर्वक राजा दशरथको उपालम्भ देना	३४२
६२	दुःखी हुए राजा दशरथका कौसल्याको हाथ जोड़कर मनाना और कौसल्याका उनके चरणोंमें पड़कर क्षमा माँगना	३४४
६३	राजा दशरथका शोक और उनका कौसल्यासे अपने द्वारा मुनिकुमारके मारे जानेका प्रसङ्ग सुनाना	३४६
६४	राजा दशरथका अपने द्वारा मुनिकुमारके वधसे दुःखी हुए उनके माता-पिताके विलाप और उनके दिये हुए शापका प्रसंग सुनाकर कौसल्याके समीप रोते-बिलखते हुए आधी रातके समय अपने प्राणोंको त्याग देना	३४९
६५	वन्दीजनोंका स्तुतिपाठ, राजा दशरथको दिवंगत हुआ जान उनकी रानियोंका करुण विलाप	३५४
६६	राजाके लिये कौसल्याका विलाप और कैकेयीकी भर्त्सना, मन्त्रियोंका राजाके शवको तेलसे भरे हुए कड़ाहमें सुलाना, रानियोंका विलाप, पुरीकी श्रीहीनता और पुरवासियोंका शोक	३५६
६७	मार्कण्डेय आदि मुनियों तथा मन्त्रियोंका राजाके बिना होनेवाली देशकी दुरवस्थाका वर्णन करके वसिष्ठजीसे किसीको राजा बनानेके लिये अनुरोध	३५८
६८	वसिष्ठजीकी आज्ञासे पाँच दूतोंका अयोध्यासे केकय देशके राजगृह नगरमें जाना	३६१
६९	भरतकी चिन्ता, मित्रोंद्वारा उन्हें प्रसन्न करनेका प्रयास तथा उनके पूछनेपर भरतका मित्रोंके समक्ष अपने देखे हुए भयंकर दुःस्वप्नका वर्णन करना	३६२
७०	दूतोंका भरतको उनके नाना और मामाके लिये उपहारकी वस्तुएँ अर्पित करना और वसिष्ठजीका संदेश सुनाना, भरतका पिता आदिकी कुशल पूछना और नानासे आज्ञा तथा उपहारकी वस्तुएँ पाकर शत्रुघ्नके साथ अयोध्याकी ओर प्रस्थान करना	३६४
७१	रथ और सेनासहित भरतकी यात्रा, विभिन्न स्थानोंको पार करके उनका उज्जिहाना नगरीके उद्यानमें पहुँचना और सेनाको धीरे-धीरे आनेकी आज्ञा दे स्वयं रथद्वारा तीव्र वेगसे आगे बढ़ते हुए साल वनको पार करके अयोध्याके निकट	

सर्ग	विषय	पृष्ठ-संख्या
	जाना, वहाँसे अयोध्याकी दुरवस्था देखते हुए आगे बढ़ना और सारथिसे अपना दुःखपूर्ण उद्गार प्रकट करते हुए राजभवनमें प्रवेश करना	३६६
७२	भरतका कैकेयीके भवनमें जाकर उसे प्रणाम करना, उसके द्वारा पिताके परलोकवासका समाचार पा दुःखी हो विलाप करना तथा श्रीरामके विषयमें पूछनेपर कैकेयीद्वारा उनका श्रीरामके वनगमनके वृत्तान्तसे अवगत होना	३६९
७३	भरतका कैकेयीको धिक्कारना और उसके प्रति महान् रोष प्रकट करना	३७२
७४	भरतका कैकेयीको कड़ी फटकार देना	३७४
७५	कौसल्याके सामने भरतका शपथ खाना ...	३७७
७६	राजा दशरथका अन्त्येष्टिसंस्कार	३८१
७७	भरतका पिताके श्राद्धमें ब्राह्मणोंको बहुत धन-रत्न आदिका दान देना, तेरहवें दिन अस्थि-संचयका शेष कार्य पूर्ण करनेके लिये पिताकी चिताभूमिपर जाकर भरत और शत्रुघ्नका विलाप करना और वसिष्ठ तथा सुमन्त्रका उन्हें समझाना	३८२
७८	शत्रुघ्नका रोष, उनका कुब्जाको घसीटना और भरतजीके कहनेसे उसे मूर्च्छित अवस्थामें छोड़ देना	३८४
७९	मन्त्री आदिका भरतसे राज्य ग्रहण करनेके लिये प्रस्ताव तथा भरतका अभिषेक-सामग्रीकी परिक्रमा करके श्रीरामको ही राज्यका अधिकारी बताकर उन्हें लौटा लानेके लिये चलनेके निमित्त व्यवस्था करनेकी सबको आज्ञा देना .	३८६
८०	अयोध्यासे गङ्गातटतक सुरम्य शिविर और कूप आदिसे युक्त सुखद राजमार्गका निर्माण .	३८७
८१	प्रातःकालके मङ्गलवाद्य-घोषको सुनकर भरतका दुःखी होना और उसे बंद कराकर विलाप करना, वसिष्ठजीका सभामें आकर मन्त्री आदिको बुलानेके लिये दूत भेजना	३८९
८२	वसिष्ठजीका भरतको राज्यपर अभिषिक्त होनेके लिये आदेश देना तथा भरतका उसे अनुचित बताकर अस्वीकार करना और श्रीरामको लौटा लानेके लिये वनमें चलनेकी तैयारीके निमित्त सबको आदेश देना	३९०
८३	भरतकी वनयात्रा और शृङ्गवेरपुरमें रात्रिवास .	३९२
८४	निषादराज गुहका अपने बन्धुओंको नदीकी रक्षा करते हुए युद्धके लिये तैयार रहनेका आदेश दे भेंटकी सामग्री ले भरतके पास जाना और उनसे आतिथ्य स्वीकार करनेके लिये अनुरोध करना	३९४
८५	गुह और भरतकी बातचीत तथा भरतका शोक	३९५
८६	निषादराज गुहके द्वारा लक्ष्मणके सद्भाव और विलापका वर्णन	३९७
८७	भरतकी मूर्च्छासे गुह, शत्रुघ्न और माताओंका दुःखी होना, होशमें आनेपर भरतका गुहसे श्रीराम आदिके भोजन और शयन आदिके विषयमें पूछना और गुहका उन्हें सब बातें बताना ...	३९९
८८	श्रीरामकी कुश-शय्या देखकर भरतका शोकपूर्ण उद्गार तथा स्वयं भी वल्कल और जटा धारण करके वनमें रहनेका विचार प्रकट करना ...	४००
८९	भरतका सेनासहित गङ्गा-पार करके भरद्वाजके आश्रमपर जाना	४०२
९०	भरत और भरद्वाज मुनिकी भेंट एवं बातचीत तथा मुनिका अपने आश्रमपर ही ठहरनेका आदेश देना	४०४
९१	भरद्वाज मुनिके द्वारा सेनासहित भरतका दिव्य सत्कार	४०६
९२	भरतका भरद्वाज मुनिसे जानेकी आज्ञा लेते हुए श्रीरामके आश्रमपर जानेका मार्ग जानना और मुनिको अपनी माताओंका परिचय देकर वहाँसे चित्रकूटके लिये सेनासहित प्रस्थान करना ..	४११
९३	सेनासहित भरतकी चित्रकूट-यात्राका वर्णन .	४१४
९४	श्रीरामका सीताको चित्रकूटकी शोभा दिखाना	४१६
९५	श्रीरामका सीताके प्रति मन्दाकिनी नदीकी शोभाका वर्णन	४१८
९६	वन-जन्तुओंके भागनेका कारण जाननेके लिये श्रीरामकी आज्ञासे लक्ष्मणका शाल-वृक्षपर चढ़कर भरतकी सेनाको देखना और उनके प्रति अपना रोषपूर्ण उद्गार प्रकट करना	४१९
९७	श्रीरामका लक्ष्मणके रोषको शान्त करके भरतके सद्भावका वर्णन करना, लक्ष्मणका लज्जित हो श्रीरामके पास खड़ा होना और भरतकी सेनाका पर्वतके नीचे छावनी डालना	४२१
९८	भरतके द्वारा श्रीरामके आश्रमकी खोजका प्रबन्ध तथा उन्हें आश्रमका दर्शन	४२३
९९	भरतका शत्रुघ्न आदिके साथ श्रीरामके आश्रमपर जाना, उनकी पर्णशालाको देखना तथा रोते-रोते उनके चरणोंमें गिर जाना, श्रीरामका उन सबको हृदयसे लगाना और मिलना	४२४
१००	श्रीरामका भरतको कुशल-प्रश्नके बहाने राजनीतिका उपदेश करना	४२७
१०१	श्रीरामका भरतसे वनमें आगमनका प्रयोजन पूछना, भरतका उनसे राज्य ग्रहण करनेके लिये कहना और श्रीरामका उसे अस्वीकार कर देना	४३३
१०२	भरतका पुनः श्रीरामसे राज्य ग्रहण करनेका अनुरोध करके उनसे पिताकी मृत्युका समाचार बताना	४३५
१०३	श्रीराम आदिका विलाप, पिताके लिये जलाञ्जलि-दान, पिण्डदान और रोदन	४३६

सर्ग	विषय	पृष्ठ-संख्या
१०४	वसिष्ठजीके साथ आती हुई कौसल्याका मन्दाकिनीके तटपर सुमित्रा आदिके समक्ष दुःखपूर्ण उद्गार, श्रीराम, लक्ष्मण और सीताके द्वारा माताओंकी चरण-वन्दना तथा वसिष्ठजी-को प्रणाम करके श्रीराम आदिका सबके साथ बैठना	४३९
१०५	भरतका श्रीरामको अयोध्यामें चलकर राज्य ग्रहण करनेके लिये कहना, श्रीरामका जीवनकी अनित्यता बताते हुए पिताकी मृत्युके लिये शोक न करनेका भरतको उपदेश देना और पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये ही राज्य ग्रहण न करके वनमें रहनेका ही दृढ़ निश्चय बताना	४४१
१०६	भरतकी पुनः श्रीरामसे अयोध्या लौटने और राज्य ग्रहण करनेकी प्रार्थना	४४४
१०७	श्रीरामका भरतको समझाकर उन्हें अयोध्या जानेका आदेश देना	४४६
१०८	जाबालिका नास्तिकोंके मतका अवलम्बन करके श्रीरामको समझाना	४४८
१०९	श्रीरामके द्वारा जाबालिके नास्तिक मतका खण्डन करके आस्तिक मतका स्थापन	४४९
११०	वसिष्ठजीका सृष्टि-परम्पराके साथ इक्ष्वाकुकुल-की परम्परा बताकर ज्येष्ठके ही राज्याभिषेकका औचित्य सिद्ध करना और श्रीरामसे राज्य ग्रहण करनेके लिये कहना	४५२
१११	वसिष्ठजीके समझानेपर भी श्रीरामको पिताकी आज्ञाके पालनसे विरत होते न देख भरतका धरना देनेको तैयार होना तथा श्रीरामका उन्हें समझाकर अयोध्या लौटनेकी आज्ञा देना	४५४
११२	ऋषियोंका भरतको श्रीरामकी आज्ञाके अनुसार लौट जानेकी सलाह देना, भरतका पुनः श्रीरामके चरणोंमें गिरकर चलनेकी प्रार्थना करना, श्रीरामका उन्हें समझाकर अपनी चरणपादुका देकर उन सबको विदा करना	४५६
११३	भरतका भरद्वाजसे मिलते हुए अयोध्याको लौट आना	४५८
११४	भरतके द्वारा अयोध्याकी दुरवस्थाका दर्शन तथा अन्तःपुरमें प्रवेश करके भरतका दुःखी होना	४६०
११५	भरतका नन्दिग्राममें जाकर श्रीरामकी चरण-पादुकाओंको राज्यपर अभिषिक्त करके उन्हें निवेदनपूर्वक राज्यका सब कार्य करना	४६२
११६	वृद्ध कुलपतिसहित बहुत-से ऋषियोंका चित्रकूट छोड़कर दूसरे आश्रममें जाना	४६४
११७	श्रीराम आदिका अत्रिमुनिके आश्रमपर जाकर उनके द्वारा सत्कृत होना तथा अनसूयाद्वारा सीताका सत्कार	४६६
११८	सीता-अनसूया-संवाद, अनसूयाका सीताको प्रेमोपहार देना तथा अनसूयाके पूछनेपर सीताका उन्हें अपने स्वयंवरकी कथा सुनाना	४६८
११९	अनसूयाकी आज्ञासे सीताका उनके दिये हुए वस्त्राभूषणोंको धारण करके श्रीरामजीके पास आना तथा श्रीराम आदिका रात्रिमें आश्रमपर रहकर प्रातःकाल अन्यत्र जानेके लिये ऋषियों-से विदा लेना	४७१

(अरण्यकाण्डम्)

सर्ग	विषय	पृष्ठ-संख्या
१	श्रीराम, लक्ष्मण और सीताका तापसोंके आश्रममण्डलमें सत्कार	४७३
२	वनके भीतर श्रीराम, लक्ष्मण और सीतापर विराधका आक्रमण	४७४
३	विराध और श्रीरामकी बातचीत, श्रीराम और लक्ष्मणके द्वारा विराधपर प्रहार तथा विराधका इन दोनों भाइयोंको साथ लेकर दूसरे वनमें जाना	४७६
४	श्रीराम और लक्ष्मणके द्वारा विराधका वध	४७८
५	श्रीराम, लक्ष्मण और सीताका शरभङ्ग मुनिके आश्रमपर जाना, देवताओंका दर्शन करना और मुनिसे सम्मानित होना तथा शरभङ्ग मुनिका ब्रह्मलोक-गमन	४८०
६	वानप्रस्थ मुनियोंका राक्षसोंके अत्याचारसे अपनी रक्षाके लिये श्रीरामचन्द्रजीसे प्रार्थना करना और श्रीरामका उन्हें आश्वासन देना	४८३
७	सीता और भ्रातासहित श्रीरामका सुतीक्ष्णके आश्रमपर जाकर उनसे बातचीत करना तथा उनसे सत्कृत हो रातमें वहीं ठहरना	४८५
८	प्रातःकाल सुतीक्ष्णसे विदा ले श्रीराम, लक्ष्मण, सीताका वहाँसे प्रस्थान	४८६
९	सीताका श्रीरामसे निरपराध प्राणियोंको न मारने और अहिंसा-धर्मका पालन करनेके लिये अनुरोध	४८८
१०	श्रीरामका ऋषियोंकी रक्षाके लिये राक्षसोंके वधके निमित्त की हुई प्रतिज्ञाके पालनपर दृढ़ रहनेका विचार प्रकट करना	४९०
११	पञ्चाप्सरतीर्थ एवं माण्डकर्णि मुनिकी कथा, विभिन्न आश्रमोंमें घूमकर श्रीराम आदिका सुतीक्ष्णके आश्रममें आना, वहाँ कुछ कालतक रहकर उनकी आज्ञासे अगस्त्यके भाई तथा अगस्त्यके आश्रमपर जाना तथा अगस्त्यके प्रभावका वर्णन	४९२
१२	श्रीराम आदिका अगस्त्यके आश्रममें प्रवेश, अतिथि-सत्कार तथा मुनिकी ओरसे उन्हें दिव्य अस्त्र-शस्त्रोंकी प्राप्ति	४९७
१३	महर्षि अगस्त्यका श्रीरामके प्रति अपनी	

सर्ग विषय पृष्ठ-संख्या

प्रसन्नता प्रकट करके सीताकी प्रशंसा करना, श्रीरामके पूछनेपर उन्हें पञ्चवटीमें आश्रम बनाकर रहनेका आदेश देना तथा श्रीराम आदिका प्रस्थान ५००
१४ पञ्चवटीके मार्गमें जटायुका मिलना और श्रीरामको अपना विस्तृत परिचय देना ५०१
१५ पञ्चवटीके रमणीय प्रदेशमें श्रीरामकी आज्ञासे लक्ष्मणद्वारा सुन्दर पर्णशालाका निर्माण तथा उसमें सीता और लक्ष्मण-सहित श्रीरामका निवास ५०४
१६ लक्ष्मणके द्वारा हेमन्त ऋतुका वर्णन और भरतकी प्रशंसा तथा श्रीरामका उन दोनोंके साथ गोदावरी नदीमें स्नान ५०६
१७ श्रीरामके आश्रममें शूर्पणखाका आना, उनका परिचय जानना और अपना परिचय देकर उनसे अपनेको भार्याके रूपमें ग्रहण करनेके लिये अनुरोध करना ५०९
१८ श्रीरामके टाल देनेपर शूर्पणखाका लक्ष्मणसे प्रणय याचना करना, फिर उनके भी टालनेपर उसका सीतापर आक्रमण और लक्ष्मणका उसके नाक, कान काट लेना ५११
१९ शूर्पणखाके मुखसे उसकी दुर्दशाका वृत्तान्त सुनकर क्रोधमें भरे हुए खरका श्रीराम आदिके वधके लिये चौदह राक्षसोंको भेजना ५१३
२० श्रीरामद्वारा खरके भेजे हुए चौदह राक्षसोंका वध ५१४
२१ शूर्पणखाका खरके पास आकर उन राक्षसोंके वधका समाचार बताना और रामका भय दिखाकर उसे युद्धके लिये उत्तेजित करना ... ५१६
२२ चौदह हजार राक्षसोंकी सेनाके साथ खर-दूषणका जनस्थानसे पञ्चवटीकी ओर प्रस्थान ५१७
२३ भयंकर उत्पातोंको देखकर भी खरका उनकी परवा नहीं करना तथा राक्षस-सेनाका श्रीराम-के आश्रमके समीप पहुँचना ५१९
२४ श्रीरामका तात्कालिक शकुनोंद्वारा राक्षसोंके विनाश और अपनी विजयकी सम्भावना करके सीतासहित लक्ष्मणको पर्वतकी गुफामें भेजना और युद्धके लिये उद्यत होना ५२१
२५ राक्षसोंका श्रीरामपर आक्रमण और श्रीराम-चन्द्रजीके द्वारा राक्षसोंका संहार ५२४
२६ श्रीरामके द्वारा दूषणसहित चौदह सहस्र राक्षसोंका वध ५२६
२७ त्रिशिराका वध ५२९
२८ खरके साथ श्रीरामका घोर युद्ध ५३०
२९ श्रीरामका खरको फटकारना तथा खरका भी उन्हें कठोर उत्तर देकर उनके ऊपर गदाका प्रहार करना और श्रीरामद्वारा उस गदाका खण्डन ५३२
३० श्रीरामके व्यङ्ग्य करनेपर खरका उन्हें फटकार-कर उनके ऊपर शालवृक्षका प्रहार करना, श्रीरामका उस वृक्षको काटकर एक तेजस्वी बाणसे खरको मार गिराना तथा देवताओं और महर्षियोंद्वारा श्रीरामकी प्रशंसा ५३४
३१ रावणका अकम्पनकी सलाहसे सीताका अपहरण करनेके लिये जाना और मारीचके कहनेसे लङ्काको लौट आना ५३७
३२ शूर्पणखाका लङ्कामें रावणके पास जाना ५४०
३३ शूर्पणखाका रावणको फटकारना ५४२
३४ रावणके पूछनेपर शूर्पणखाका उससे राम, लक्ष्मण और सीताका परिचय देते हुए सीताको भार्या बनानेके लिये उसे प्रेरित करना ५४४
३५ रावणका समुद्रतटवर्ती प्रान्तकी शोभा देखते हुए पुनः मारीचके पास जाना ५४५
३६ रावणका मारीचसे श्रीरामके अपराध बताकर उनकी पत्नी सीताके अपहरणमें सहायताके लिये कहना ५४८
३७ मारीचका रावणको श्रीरामचन्द्रजीके गुण और प्रभाव बताकर सीताहरणके उद्योगसे रोकना .. ५४९
३८ श्रीरामकी शक्तिके विषयमें अपना अनुभव बता-कर मारीचका रावणको उनका अपराध करनेसे मना करना ५५१
३९ मारीचका रावणको समझाना ५५४
४० रावणका मारीचको फटकारना और सीताहरणके कार्यमें सहायता करनेकी आज्ञा देना ५५५
४१ मारीचका रावणको विनाशका भय दिखाकर पुनः समझाना ५५७
४२ मारीचका सुवर्णमय मृगरूप धारण करके श्रीराम-के आश्रमपर जाना और सीताका उसे देखना . ५५८
४३ कपटमृगको देखकर लक्ष्मणका संदेह, सीताका उस मृगको जीवित या मृत-अवस्थामें भी ले आनेके लिये श्रीरामको प्रेरित करना तथा श्रीराम-का लक्ष्मणको समझा-बुझाकर सीताकी रक्षाका भार सौंपकर उस मृगको मारनेके लिये जाना .. ५६१
४४ श्रीरामके द्वारा मारीचका वध और उसके द्वारा सीता और लक्ष्मणके पुकारनेका शब्द सुनकर श्रीरामकी चिन्ता ५६४
४५ सीताके मार्मिक वचनोंसे प्रेरित होकर लक्ष्मणका श्रीरामके पास जाना ५६६
४६ रावणका साधुवेषमें सीताके पास जाकर उनका परिचय पूछना और सीताका आतिथ्यके लिये उसे आमन्त्रित करना ५६८
४७ सीताका रावणको अपना और पतिका परिचय देकर वनमें आनेका कारण बताना, रावणका उन्हें अपनी पटरानी बनानेकी इच्छा प्रकट

सर्ग	विषय	पृष्ठ-संख्या

करना और सीताका उसे फटकारना ५७१
४८ रावणके द्वारा अपने पराक्रमका वर्णन और सीताद्वारा उसको कड़ी फटकार ५७४
४९ रावणद्वारा सीताका अपहरण, सीताका विलाप और उनके द्वारा जटायुका दर्शन ५७६
५० जटायुका रावणको सीताहरणके दुष्कर्मसे निवृत्त होनेके लिये समझाना और अन्तमें युद्धके लिये ललकारना ५७९
५१ जटायु तथा रावणका घोर युद्ध और रावणके द्वारा जटायुका वध ५८०
५२ रावणद्वारा सीताका अपहरण ५८३
५३ सीताका रावणको धिक्कारना ५८६
५४ सीताका पाँच वानरोंके बीच अपने भूषण और वस्त्रको गिराना, रावणका लङ्कामें पहुँचकर सीताको अन्तःपुरमें रखना तथा जनस्थानमें आठ राक्षसोंको गुप्तचरके रूपमें रहनेके लिये भेजना ५८८
५५ रावणका सीताको अपने अन्तःपुरका दर्शन कराना और अपनी भार्या बन जानेके लिये समझाना . ५९०
५६ सीताका श्रीरामके प्रति अपना अनन्य अनुराग दिखाकर रावणको फटकारना तथा रावणकी आज्ञासे राक्षसियोंका उन्हें अशोकवाटिकामें ले जाकर डराना ५९३
(प्रक्षिप्त सर्ग)—ब्रह्माजीकी आज्ञासे देवराज इन्द्रका निद्रासहित लङ्कामें जाकर सीताको दिव्य खीर अर्पित करना और उनसे विदा लेकर लौटना . ५९५
५७ श्रीरामका लौटना, मार्गमें अपशकुन देखकर चिन्तित होना तथा लक्ष्मणसे मिलनेपर उन्हें उलाहना दे सीतापर संकट आनेकी आशङ्का करना ५९७
५८ मार्गमें अनेक प्रकारकी आशङ्का करते हुए लक्ष्मणसहित श्रीरामका आश्रममें आना और वहाँ सीताको न पाकर व्यथित होना ५९८
५९ श्रीराम और लक्ष्मणकी बातचीत ६००
६० श्रीरामका विलाप करते हुए वृक्षों और पशुओंसे सीताका पता पूछना, भ्रान्त होकर रोना और बारम्बार उनकी खोज करना ६०२
६१ श्रीराम और लक्ष्मणके द्वारा सीताकी खोज और उनके न मिलनेसे श्रीरामकी व्याकुलता ६०४
६२ श्रीरामका विलाप ६०६
६३ श्रीरामका विलाप ६०८
६४ श्रीराम और लक्ष्मणके द्वारा सीताकी खोज, श्रीरामका शोकोद्गार, मृगोंद्वारा संकेत पाकर दोनों भाइयोंका दक्षिण दिशाकी ओर जाना, पर्वतपर क्रोध, सीताके बिखरे हुए फूल, आभूषणोंके कण और युद्धके चिह्न देखकर श्रीरामका देवता आदि-सहित समस्त त्रिलोकीपर रोष प्रकट करना ... ६१०
६५ लक्ष्मणका श्रीरामको समझा-बुझाकर शान्त करना ६१४
६६ लक्ष्मणका श्रीरामको समझाना ६१६
६७ श्रीराम और लक्ष्मणकी पक्षिराज जटायुसे भेंट तथा श्रीरामका उन्हें गलेसे लगाकर रोना ६१७
६८ जटायुका प्राण-त्याग और श्रीरामद्वारा उनका दाह-संस्कार ६१९
६९ लक्ष्मणका अयोमुखीको दण्ड देना तथा श्रीराम और लक्ष्मणका कबन्धके बाहुबन्धमें पड़कर चिन्तित होना ६२१
७० श्रीराम और लक्ष्मणका परस्पर विचार करके कबन्धकी दोनों भुजाओंको काट डालना तथा कबन्धके द्वारा उनका स्वागत ६२५
७१ कबन्धकी आत्मकथा, अपने शरीरका दाह हो जानेपर उसका श्रीरामको सीताके अन्वेषणमें सहायता देनेका आश्वासन ६२६
७२ श्रीराम और लक्ष्मणके द्वारा चिताकी आगमें कबन्धका दाह तथा उसका दिव्य रूपमें प्रकट होकर उन्हें सुग्रीवसे मित्रता करनेके लिये कहना ६२८
७३ दिव्य रूपधारी कबन्धका श्रीराम और लक्ष्मणको ऋष्यमूक और पम्पासरोवरका मार्ग बताना तथा मतङ्ग मुनिके वन एवं आश्रमका परिचय देकर प्रस्थान करना ६३०
७४ श्रीराम और लक्ष्मणका पम्पासरोवरके तटपर मतङ्गवनमें शबरीके आश्रमपर जाना, उसका सत्कार ग्रहण करना और उसके साथ मतङ्गवनको देखना, शबरीका अपने शरीरकी आहुति दे दिव्य धामको प्रस्थान करना ६३३
७५ श्रीराम और लक्ष्मणकी बातचीत तथा उन दोनों भाइयोंका पम्पासरोवरके तटपर जाना ६३५

(किष्किन्धाकाण्डम्)

१ पम्पासरोवरके दर्शनसे श्रीरामकी व्याकुलता, श्रीरामका लक्ष्मणसे पम्पाकी शोभा तथा वहाँकी उद्दीपन सामग्रीका वर्णन करना, लक्ष्मणका श्रीरामको समझाना तथा दोनों भाइयोंको ऋष्यमूककी ओर आते देख सुग्रीव तथा अन्य वानरोंका भयभीत होना ६३९
२ सुग्रीव तथा वानरोंकी आशङ्का, हनुमान्‌जीद्वारा उसका निवारण तथा सुग्रीवका हनुमान्‌जीको श्रीराम-लक्ष्मणके पास उनका भेद लेनेके लिये भेजना ६४८
३ हनुमान्‌जीका श्रीराम और लक्ष्मणसे वनमें आनेका कारण पूछना और अपना तथा सुग्रीवका परिचय देना, श्रीरामका उनके वचनोंकी प्रशंसा करके लक्ष्मणको अपनी ओरसे बात करनेकी आज्ञा देना तथा लक्ष्मणद्वारा अपनी प्रार्थना स्वीकृत होनेसे हनुमान्‌जीका प्रसन्न होना ६५०
४ लक्ष्मणका हनुमान्‌जीसे श्रीरामके वनमें आने और सीताजीके हरे जानेका वृत्तान्त बताना तथा इस कार्यमें सुग्रीवके सहयोगकी इच्छा प्रकट करना, हनुमान्‌जीका उन्हें आश्वासन देकर

सर्ग	विषय	पृष्ठ-संख्या
	उन दोनों भाइयोंको अपने साथ ले जाना	६५२
५	श्रीराम और सुग्रीवकी मैत्री तथा श्रीरामद्वारा वालिवधकी प्रतिज्ञा	६५५
६	सुग्रीवका श्रीरामको सीताजीके आभूषण दिखाना तथा श्रीरामका शोक एवं रोषपूर्ण वचन	६५७
७	सुग्रीवका श्रीरामको समझाना तथा श्रीरामका सुग्रीवको उनकी कार्यसिद्धिका विश्वास दिलाना	६५८
८	सुग्रीवका श्रीरामसे अपना दुःख निवेदन करना और श्रीरामका उन्हें आश्वासन देते हुए दोनों भाइयोंमें वैर होनेका कारण पूछना	६६०
९	सुग्रीवका श्रीरामचन्द्रजीको वालीके साथ अपने वैर होनेका कारण बताना	६६३
१०	भाईके साथ वैरका कारण बतानेके प्रसङ्गमें सुग्रीवका वालीको मनाने और वालीद्वारा अपने निष्कासित होनेका वृत्तान्त सुनाना	६६५
११	सुग्रीवके द्वारा वालीके पराक्रमका वर्णन—वालीका दुन्दुभि दैत्यको मारकर उसकी लाशको मतङ्गवनमें फेंकना, मतङ्ग मुनिका वालीको शाप देना, श्रीरामका दुन्दुभिके अस्थिसमूहको दूर फेंकना और सुग्रीवका उनसे साल-भेदनके लिये आग्रह करना	६६७
१२	श्रीरामके द्वारा सात साल-वृक्षोंका भेदन, श्रीरामकी आज्ञासे सुग्रीवका किष्किन्धामें आकर वालीको ललकारना और युद्धमें उससे पराजित होकर मतङ्गवनमें भाग जाना, वहाँ श्रीरामका उन्हें आश्वासन देना और गलेमें पहचानके लिये गजपुष्पी लता डालकर उन्हें पुनः युद्धके लिये भेजना ...	६७३
१३	श्रीराम आदिका मार्गमें वृक्षों, विविध जन्तुओं, जलाशयों तथा सप्तजन आश्रमका दूरसे दर्शन करते हुए पुनः किष्किन्धापुरीमें पहुँचना	६७५
१४	वाली-वधके लिये श्रीरामका आश्वासन पाकर सुग्रीवकी विकट गर्जना	६७७
१५	सुग्रीवकी गर्जना सुनकर वालीका युद्धके लिये निकलना और ताराका उसे रोककर सुग्रीव और श्रीरामके साथ मैत्री कर लेनेके लिये समझाना .	६७९
१६	वालीका ताराको डाँटकर लौटाना और सुग्रीवसे जूझना तथा श्रीरामके बाणसे घायल होकर पृथ्वीपर गिरना	६८१
१७	वालीका श्रीरामचन्द्रजीको फटकारना	६८३
१८	श्रीरामका वालीकी बातका उत्तर देते हुए उसे दिये गये दण्डका औचित्य बताना, वालीका निरुत्तर होकर भगवान्से अपने अपराधके लिये क्षमा माँगते हुए अङ्गदकी रक्षाके लिये प्रार्थना करना और श्रीरामका उसे आश्वासन देना	६८७
१९	अङ्गदसहित ताराका भागे हुए वानरोंसे बात करके वालीके समीप आना और उसकी दुर्दशा देखकर रोना	६९२
२०	ताराका विलाप	६९४
२१	हनुमान्जीका ताराको समझाना और ताराका पतिके अनुगमनका ही निश्चय करना	६९५
२२	वालीका सुग्रीव और अङ्गदसे अपने मनकी बात कहकर प्राणोंको त्याग देना	६९७
२३	ताराका विलाप	६९९
२४	सुग्रीवका शोकमग्न होकर श्रीरामसे प्राणत्यागके लिये आज्ञा माँगना, ताराका श्रीरामसे अपने वधके लिये प्रार्थना करना और श्रीरामका उसे समझाना .	७०१
२५	लक्ष्मणसहित श्रीरामका सुग्रीव, तारा और अङ्गदको समझाना तथा वालीके दाह-संस्कारके लिये आज्ञा प्रदान करना, फिर तारा आदि-सहित सब वानरोंका वालीके शवको श्मशान-भूमिमें ले जाकर अङ्गदके द्वारा उसका दाह-संस्कार कराना और उसे जलाञ्जलि देना	७०५
२६	हनुमान्जीका सुग्रीवके अभिषेकके लिये श्रीरामचन्द्रजीसे किष्किन्धामें पधारनेकी प्रार्थना, श्रीरामका पुरीमें न जाकर केवल अनुमति देना तत्पश्चात् सुग्रीव और अङ्गदका अभिषेक	७०९
२७	प्रस्रवण गिरिपर श्रीराम और लक्ष्मणकी परस्पर बातचीत	७११
२८	श्रीरामके द्वारा वर्षा-ऋतुका वर्णन	७१४
२९	हनुमान्जीके समझानेसे सुग्रीवका नीलको वानर सैनिकोंको एकत्र करनेका आदेश देना	७२०
३०	शरद्-ऋतुका वर्णन तथा श्रीरामका लक्ष्मणको सुग्रीवके पास जानेका आदेश देना	७२२
३१	सुग्रीवपर लक्ष्मणका रोष, श्रीरामका उन्हें समझाना, लक्ष्मणका किष्किन्धाके द्वारपर जाकर अङ्गदको सुग्रीवके पास भेजना, वानरोंका भय तथा प्लक्ष और प्रभावका सुग्रीवको कर्तव्यका उपदेश देना	७२९
३२	हनुमान्जीका चिन्तित हुए सुग्रीवको समझाना .	७३३
३३	लक्ष्मणका किष्किन्धापुरीकी शोभा देखते हुए सुग्रीवके महलमें प्रवेश करके क्रोधपूर्वक धनुषको टंकारना, भयभीत सुग्रीवका ताराको उन्हें शान्त करनेके लिये भेजना तथा ताराका समझा-बुझाकर उन्हें अन्तःपुरमें ले आना	७३५
३४	सुग्रीवका लक्ष्मणके पास जाना और लक्ष्मणका उन्हें फटकारना	७४०
३५	ताराका लक्ष्मणको युक्तियुक्त वचनोंद्वारा शान्त करना	७४१
३६	सुग्रीवका अपनी लघुता तथा श्रीरामकी महत्ता बताते हुए लक्ष्मणसे क्षमा माँगना और लक्ष्मण-का उनकी प्रशंसा करके उन्हें अपने साथ चलनेके लिये कहना	७४३
३७	सुग्रीवका हनुमान्जीको वानरसेनाके संग्रहके लिये दोबारा दूत भेजनेकी आज्ञा देना, उन	

सर्ग	विषय	पृष्ठ-संख्या
	दूतोंसे राजाकी आज्ञा सुनकर समस्त वानरोंका किष्किन्धाके लिये प्रस्थान और दूतोंका लौटकर सुग्रीवको भेंट देनेके साथ ही वानरोंके आगमनका समाचार सुनाना	७४४
३८	लक्ष्मणसहित सुग्रीवका भगवान् श्रीरामके पास आकर उनके चरणोंमें प्रणाम करना, श्रीरामका उन्हें समझाना, सुग्रीवका अपने किये हुए सैन्यसंग्रहविषयक उद्योगको बताना और उसे सुनकर श्रीरामका प्रसन्न होना	७४६
३९	श्रीरामचन्द्रजीका सुग्रीवके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना तथा विभिन्न वानर-यूथपतियोंका अपनी सेनाओंके साथ आगमन	७४९
४०	श्रीरामकी आज्ञासे सुग्रीवका सीताकी खोजके लिये पूर्व दिशामें वानरोंको भेजना और वहाँके स्थानोंका वर्णन करना	७५१
४१	सुग्रीवका दक्षिण दिशाके स्थानोंका परिचय देते हुए वहाँ प्रमुख वानर वीरोंको भेजना	७५६
४२	सुग्रीवका पश्चिम दिशाके स्थानोंका परिचय देते हुए सुषेण आदि वानरोंको वहाँ भेजना	७५९
४३	सुग्रीवका उत्तर दिशाके स्थानोंका परिचय देते हुए शतबलि आदि वानरोंको वहाँ भेजना	७६३
४४	श्रीरामका हनुमान्‌जीको अँगूठी देकर भेजना	७६७
४५	विभिन्न दिशाओंमें जाते हुए वानरोंका सुग्रीवके समक्ष अपने उत्साहसूचक वचन सुनाना	७६८
४६	सुग्रीवका श्रीरामचन्द्रजीको अपने भूमण्डल-भ्रमणका वृत्तान्त बताना	७६९
४७	पूर्व आदि तीन दिशाओंमें गये हुए वानरोंका निराश होकर लौट आना	७७१
४८	दक्षिण दिशामें गये हुए वानरोंका सीताकी खोज आरम्भ करना	७७२
४९	अङ्गद और गन्धमादनके आश्वासन देनेपर वानरोंका पुनः उत्साहपूर्वक अन्वेषण-कार्यमें प्रवृत्त होना	७७४
५०	भूखे-प्यासे वानरोंका एक गुफामें घुसकर वहाँ दिव्य वृक्ष, दिव्य सरोवर, दिव्य भवन तथा एक वृद्धा तपस्विनीको देखना और हनुमान्‌जीका उससे उसका परिचय पूछना	७७५
५१	हनुमान्‌जीके पूछनेपर वृद्धा तापसीका अपना तथा उस दिव्य स्थानका परिचय देकर सब वानरोंको भोजनके लिये कहना	७७७
५२	तापसी स्वयंप्रभाके पूछनेपर वानरोंका उसे अपना वृत्तान्त बताना और उसके प्रभावसे गुफाके बाहर निकलकर समुद्रतटपर पहुँचना	७७९
५३	लौटनेकी अवधि बीत जानेपर भी कार्य सिद्ध न होनेके कारण सुग्रीवके कठोर दण्डसे डरनेवाले अङ्गद आदि वानरोंका उपवास करके प्राण त्याग देनेका निश्चय	७८१
५४	हनुमान्‌जीका भेदनीतिके द्वारा वानरोंको अपने पक्षमें करके अङ्गदको अपने साथ चलनेके लिये समझाना	७८३
५५	अङ्गदसहित वानरोंका प्रायोपवेशन	७८४
५६	सम्पातिसे वानरोंको भय, उनके मुखसे जटायुके वधकी बात सुनकर सम्पातिका दुःखी होना और अपनेको नीचे उतारनेके लिये वानरोंसे अनुरोध करना	७८६
५७	अङ्गदका सम्पातिको पर्वत-शिखरसे नीचे उतारकर उन्हें जटायुके मारे जानेका वृत्तान्त बताना तथा राम-सुग्रीवकी मित्रता एवं वालिवधका प्रसङ्ग सुनाकर अपने आमरण उपवासका कारण निवेदन करना	७८७
५८	सम्पातिका अपने पंख जलनेकी कथा सुनाना, सीता और रावणका पता बताना तथा वानरोंकी सहायतासे समुद्रतटपर जाकर भाईको जलाञ्जलि देना	७८९
५९	सम्पातिका अपने पुत्र सुपार्श्वके मुखसे सुनी हुई सीता और रावणको देखनेकी घटनाका वृत्तान्त बताना	७९१
६०	सम्पातिकी आत्मकथा	७९३
६१	सम्पातिका निशाकर मुनिको अपने पंखके जलनेका कारण बताना	७९४
६२	निशाकर मुनिका सम्पातिको सान्त्वना देते हुए उन्हें भावी श्रीरामचन्द्रजीके कार्यमें सहायता देनेके लिये जीवित रहनेका आदेश देना	७९५
६३	सम्पातिका पंखयुक्त होकर वानरोंको उत्साहित करके उड़ जाना और वानरोंका वहाँसे दक्षिण दिशाकी ओर प्रस्थान करना	७९७
६४	समुद्रकी विशालता देखकर विषादमें पड़े हुए वानरोंको आश्वासन दे अङ्गदका उनसे पृथक्-पृथक् समुद्र-लङ्घनके लिये उनकी शक्ति पूछना	७९८
६५	बारी-बारीसे वानर-वीरोंके द्वारा अपनी-अपनी गमन-शक्तिका वर्णन, जाम्बवान् और अंगदकी बातचीत तथा जाम्बवान्‌का हनुमान्‌जीको प्रेरित करनेके लिये उनके पास जाना	७९९
६६	जाम्बवान्‌का हनुमान्‌जीको उनकी उत्पत्तिकथा सुनाकर समुद्रलङ्घनके लिये उत्साहित करना	८०१
६७	हनुमान्‌जीका समुद्र लाँघनेके लिये उत्साह प्रकट करना, जाम्बवान्‌के द्वारा उनकी प्रशंसा तथा वेगपूर्वक छलाँग मारनेके लिये हनुमान्‌जीका महेन्द्र पर्वतपर चढ़ना	८०४

॥ श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः ॥

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणकी पाठविधि

वाल्मीकीय रामायणकी अनेक प्रकारकी पारायण-विधियाँ हैं। श्रीरामसेवाग्रन्थ, अनुष्ठानप्रकाश, स्कान्दोक्त रामायण-माहात्म्य, बृहद्धर्मपुराण तथा शाङ्कर, रामानुज, मध्व, रामानन्द आदि विभिन्न सम्प्रदायोंकी अलग-अलग विधियाँ हैं, यद्यपि उनका अन्तर साधारण है। इसी प्रकार इसके सकाम और निष्काम अनुष्ठानोंके भी भेद हैं। सबपर विस्तृत विचार यहाँ सम्भव नहीं। वाल्मीकीयके परम प्रसिद्ध नवाह्न-पारायणकी ही विधि यहाँ लिखी जा रही है।

चैत्र, माघ तथा कार्तिक शुक्ल पञ्चमीसे त्रयोदशीतक इसके नवाह्न-पारायणकी विधि है[1]। किसी पुण्यक्षेत्र, पवित्र तीर्थ, मन्दिरमें या अपने घरपर ही भगवान् विष्णु तथा तुलसीके संनिधानमें वाल्मीकिरामायणका पाठ करना चाहिये। एतदर्थ यथासम्भव कथा-स्थानकी भूमिको संशोधन, मार्जन, लेपनादि संस्कारोंसे संस्कृतकर कदली-स्तम्भ तथा ध्वजा-पताका-वितानादिसे मण्डित कर देना चाहिये। मण्डपका मान १६ हाथ लंबा-चौड़ा हो और उसके बीचमें सर्वतोभद्रसे युक्त एक वेदी हो। अन्य वेदियाँ, कुण्ड तथा स्थण्डिल आदि भी हों। मण्डपके दक्षिण-पश्चिम भागमें वक्ता (व्यास) एवं श्रोताका आसन हो। व्यासासनके आगे पुस्तकका आसन होना चाहिये। श्रोताओंका आसन विस्तृत हो। व्यासका आसन श्रोतासे तथा पुस्तकका आसन वक्तासे भी ऊँचा होना चाहिये[2]। फिर प्रायश्चित्त तथा नित्यकृत्य करके भगवान् श्रीरामकी प्रतिमा स्थापित करनी चाहिये। अथवा पुस्तकपर ही सपरिकर-सपरिच्छद श्रीसीतारामजीका अर्थात् भगवान् श्रीरामचन्द्र, भगवती सीताजी, लक्ष्मणजी, भरतजी, शत्रुघ्नजी, श्रीहनुमान्‌जी आदिका आवाहन करना चाहिये। तत्पश्चात् समस्त उपकरणोंसे अलंकृत, पञ्च-पल्लवादिसे युक्त कलश स्थापितकर स्वस्त्ययनपूर्वक गणपतिपूजन, बटुक, क्षेत्रपाल, योगिनी, मातृका, नवग्रह, तुलसी, लोकपाल, दिक्पाल आदिका पूजन तथा नान्दीश्राद्ध करके सपरिकर-सपरिच्छद भगवान् रामकी पूजा करे।

तदनन्तर काल-तिथि-गोत्र-नाम आदि बोलकर—

ॐ भूर्भुवः स्वरोम्। ममोपात्तदुरितक्षयपूर्वकं श्रीसीतारामप्रीत्यर्थं श्रीसीतालक्ष्मणभरतशत्रुघ्नहनुमत्समेतश्रीरामचन्द्रप्रसादसिद्ध्यर्थं च श्रीरामचन्द्रप्रसादेन सर्वाभीष्टसिद्ध्यर्थं श्रीरामचन्द्रपूजनमहं करिष्ये। श्रीवाल्मीकीयरामायणस्य पारायणं च करिष्ये, तदङ्गभूतं कलशस्थापनं स्वस्त्ययनपाठं गणपतिपूजनं बटुकक्षेत्रपालयोगिनीमातृकानवग्रहतुलसीलोकपालदिक्पालादिपूजनं चाहं करिष्ये।

—इस प्रकार संकल्प करनेके बाद पूजन करे।

ॐ अच्युताय नमः, ॐ अनन्ताय नमः, ॐ गोविन्दाय नमः, ॐ नारायणाय नमः, ॐ मधुसूदनाय नमः, ॐ हृषीकेशाय नमः, ॐ माधवाय नमः, ॐ त्रिविक्रमाय नमः, ॐ दामोदराय नमः, ॐ मुकुन्दाय नमः, ॐ वामनाय नमः, ॐ पद्मनाभाय नमः, ॐ केशवाय नमः, ॐ विष्णवे नमः, ॐ श्रीधराय नमः, ॐ श्रीसीतारामाभ्यां नमः।

इस प्रकार नमस्कार करके निम्न प्रकारसे पूजा करे—

श्रीसीतालक्ष्मणभरतशत्रुघ्नहनुमत्समेतं श्रीरामचन्द्रं ध्यायामि— भगवान् रामका ध्यान करे।

,, **आवाहयामि**—आवाहन करे।

श्रीसीतालक्ष्मणभरतशत्रुघ्नहनुमत्समेताय श्रीरामचन्द्राय नमः—रत्नसिंहासनं समर्पयामि—सिंहासन अर्पण करे।

,, **पाद्यं समर्पयामि**—पाद्य दे।

,, **अर्घ्यं समर्पयामि**—अर्घ्य दे।

,, **स्नानीयं समर्पयामि**—स्नान करावे।

,, **आचमनीयं समर्पयामि**—आचमन करावे।

,, **वस्त्रं समर्पयामि**—वस्त्र अर्पण करे।

,, **यज्ञोपवीताभरणं समर्पयामि**—यज्ञोपवीत-आभूषण दे।

,, **गन्धान् समर्पयामि**—चन्दन-कुङ्कुम लगावे।

,, **अक्षतान् समर्पयामि**—चावल चढ़ावे।

,, **पुष्पाणि समर्पयामि**—पुष्पमाला दे।

,, **धूपमाघ्रापयामि**—धूप दे।

,, **दीपं दर्शयामि**—दीपक दिखावे।

,, **नैवेद्यं फलानि च समर्पयामि**—नैवेद्य और फल अर्पण करे।

,, **ताम्बूलं समर्पयामि**—पान दे।

,, **कर्पूरनीराजनं समर्पयामि**—आरती करे।

,, **छत्रचामरादि समर्पयामि**—छत्र-चँवरादि अर्पण करे।

,, **पुष्पाञ्जलिं समर्पयामि**—पुष्पाञ्जलि अर्पण करे।

,, **प्रदक्षिणानमस्कारान् समर्पयामि**—प्रदक्षिणा और नमस्कार करे।

---

१. चैत्रे माघे कार्तिके च सिते पक्षे च वाचयेत्। नवाहे सुमहापुण्यं श्रोतव्यं च प्रयत्नतः॥
पञ्चम्या दिनमारभ्य रामायणकथामृतम्। नवाहश्रवणेनैव सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
(रामसेवाग्रन्थ)

२. श्रोतृभ्यश्च तथा वक्तुर्व्यासाद् ग्रन्थस्य चोच्चता।
(रामसेवाग्रन्थ)

तत्पश्चात् निम्न प्रकारसे पञ्चोपचारसे श्रीरामायण-ग्रन्थकी पूजा करे—

ॐ सदा श्रवणमात्रेण पापिनां सद्गतिप्रदे।
शुभे रामकथे तुभ्यं गन्धमद्य समर्पये॥
—इति गन्धं समर्पयामि।

ॐ बालादिसप्तकाण्डेन सर्वलोकसुखप्रद।
रामायण महोदार पुष्पं तेऽद्य समर्पये॥
—इति पुष्पाणि पुष्पमालां च समर्पयामि।

ॐ यस्यैकश्लोकपाठस्य फलं सर्वफलाधिकम्।
तस्मै रामायणायाद्य दशाङ्गं धूपमर्पये॥
—इति धूपमाघ्रापयामि।

ॐ यस्य लोके प्रणेतारो वाल्मीक्यादिमहर्षयः।
तस्मै रामचरित्राय घृतदीपं समर्पये॥
—इति दीपं दर्शयामि।

ॐ श्रूयते ब्रह्मणो लोके शतकोटिप्रविस्तरम्।
रूपं रामायणस्यास्य तस्मै नैवेद्यमर्पये॥
—इति नैवेद्यं समर्पयामि।

पूजा करनेके बाद कर्पूरकी आरती करके चार बार प्रदक्षिणा कर पुष्पाञ्जलि अर्पण करे। फिर साष्टाङ्ग प्रणाम कर इस प्रकार नमस्कार करे—

वाल्मीकिगिरिसम्भूता रामसागरगामिनी।
पुनाति भुवनं पुण्या रामायणमहानदी॥
श्लोकसारसमाकीर्णं सर्गकल्लोलसंकुलम्।
काण्डग्राहमहामीनं वन्दे रामायणार्णवम्॥

फिर देवता, ब्राह्मणादिकी पूजा कर पाठका संकल्प करके ऋष्यादिन्यास करे। अनुष्ठानप्रकाशके अनुसार कामनाभेदसे यदि पूरी रामायणका पाठ न हो सके तो अलग-अलग काण्डोंके अनुष्ठानकी भी विधि है। जैसे पुत्रकी कामनावाला बालकाण्ड पढ़े, लक्ष्मीकी इच्छावाला अयोध्याकाण्ड पढ़े। इसी प्रकार नष्टराज्यकी प्राप्तिकी इच्छावालोंको किष्किन्धाकाण्डका, सभी कामनाओंकी इच्छावालोंको सुन्दरकाण्डका और शत्रुनाशकी कामनावालोंको लङ्काकाण्डका पाठ करना चाहिये। 'बृहद्धर्मपुराण' के अनुसार इनका अन्य भी सकाम उपयोग है। वह तथा उसके न्यासादिका प्रकार आगे लिखा जायगा।

ॐ अस्य श्रीवाल्मीकिरामायणमहामन्त्रस्य भगवान् वाल्मीकिर्ऋषिः। अनुष्टुप् छन्दः। श्रीरामः परमात्मा देवता। अभयं सर्वभूतेभ्य इति बीजम्। आङ्गुल्यग्रेण तान् हन्यामिति शक्तिः। एतदस्त्रबलं दिव्यमिति कीलकम्। भगवान्नारायणो देव इति तत्त्वम्। धर्मात्मा सत्यसंधश्चेत्यस्त्रम्। पुरुषार्थचतुष्टय-सिद्ध्यर्थं पाठे विनियोगः।

ॐ श्रीं रां आपदामपहर्तारमित्यङ्गुष्ठाभ्यां नमः।

ॐ ह्रीं रीं दातारमिति तर्जनीभ्यां नमः। ॐ रों रूं सर्व-सम्पदामिति मध्यमाभ्यां नमः।

ॐ श्रीं रैं लोकाभिराममित्यनामिकाभ्यां नमः। ॐ श्रीं रौं श्रीराममिति कनिष्ठिकाभ्यां नमः।

ॐ रौं रः भूयो भूयो नमाम्यहमिति करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।

इन्हीं मन्त्रोंसे इसी प्रकार हृदयादि[1] न्यास करे। फिर—

ब्रह्मा स्वयम्भूर्भगवान् देवाश्चैव तपस्विनः।
सिद्धिं दिशन्तु मे सर्वे देवाः सर्षिगणास्त्विह॥
—इति दिग्बन्धः।

यों कहकर चारों ओर हाथ घुमाके अन्तमें फिर इस प्रकार ध्यान करे—

वामे भूमिसुता पुरस्तु हनुमान् पश्चात् सुमित्रासुतः
शत्रुघ्नो भरतश्च पार्श्वदलयोर्वाय्वादिकोणेषु च।
सुग्रीवश्च विभीषणश्च युवराट् तारासुतो जाम्बवान्
मध्ये नीलसरोजकोमलरुचिं रामं भजे श्यामलम्॥
'आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम्।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम्॥'

यह सम्पुटका मन्त्र है। इससे सम्पुटित पाठ करनेसे समस्त मनःकामनाओंकी सिद्धि होती है।

फिर[2] निम्न प्रकारसे मङ्गलाचरण करके पाठ आरम्भ करना चाहिये—

---

१. हृदयादि न्यासकी विधि यह है कि 'अङ्गुष्ठाभ्यां नमः' के स्थानपर 'हृदयाय नमः' कहकर पाँचों अङ्गुलियोंसे हृदयका स्पर्श किया जाय। 'तर्जनीभ्यां नमः' के स्थानपर 'शिरसे स्वाहा' कहकर सिरका अग्रभाग छुआ जाय। 'मध्यमाभ्यां नमः' के स्थानपर 'शिखायै वौषट्' कहकर शिखाका स्पर्श किया जाय। 'अनामिकाभ्यां नमः' के बदले 'कवचाय हुम्' कहकर दाहिने हाथसे बायें कंधे तथा बायें हाथसे दाहिने कंधेका स्पर्श करे। 'कनिष्ठिकाभ्यां नमः' के बदले 'नेत्रत्रयाय वौषट्' कहकर नेत्रोंका स्पर्श करे तथा 'करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः' के बदले 'अस्त्राय फट्' कहकर तीन बार ताली बजाये।

२. 'बृहद्धर्मपुराणके अनुसार रामायणके पारायणके पहले रामायणकवचका भी पाठ कर लेना चाहिये। वह मङ्गलाचरणके पहले होना चाहिये। कम-से-कम प्रथम दिन इसका पाठ तो कर ही लेना चाहिये। कवच इस प्रकार है—

ॐ नमोऽष्टादशतत्त्वस्वरूपाय रामायणाय महामन्त्रस्वरूपाय। मा निषादेति मूलं शिरोऽवतु। अनुक्रमणिकाबीजं मुखमवतु। ऋष्य-

गणपतिका ध्यान

शुक्लाम्बरधरं देवं शशिवर्णं चतुर्भुजम्।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत् सर्वविघ्नोपशान्तये॥
वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम्॥

गुरुकी वन्दना

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥
अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

सरस्वतीका स्मरण

दोर्भिर्युक्ता चतुर्भिः स्फटिकमणिमयीमक्षमालां दधाना
हस्तेनैकेन पद्मं सितमपि च शुकं पुस्तकं चापरेण।
भासा कुन्देन्दुशङ्खस्फटिकमणिनिभा भासमानासमाना
सा मे वाग्देवतेयं निवसतु वदने सर्वदा सुप्रसन्ना॥

वाल्मीकिजीकी वन्दना

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम्।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम्॥
यः पिबन् सततं रामचरितामृतसागरम्।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम्॥

हनुमान्‌जीको नमस्कार

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम्।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम्॥
अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम्।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम्॥
उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम्॥
आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम्।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम्॥
यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम्।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम्॥
मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि॥

श्रीरामके ध्यानका क्रम

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्ये पुष्पकमासने मणिमये वीरासने संस्थितम्।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम्॥
वामे भूमिसुता पुरस्तु हनुमान् पश्चात् सुमित्रासुतः
शत्रुघ्नो भरतश्च पार्श्वदलयोर्वाय्वादिकोणेषु च।
सुग्रीवश्च विभीषणश्च युवराट् तारासुतो जाम्बवान्
मध्ये नीलसरोजकोमलरुचिं रामं भजे श्यामलम्॥

श्रीरामपरिकरको नमस्कार

रामं रामानुजं सीतां भरतं भरतानुजम्।
सुग्रीवं वायुसूनुं च प्रणमामि पुनः पुनः॥
नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै।
नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो नमोऽस्तु चन्द्रार्कमरुद्गणेभ्यः॥

रामायणको नमस्कार

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्।
एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्॥
वाल्मीकिगिरिसम्भूता रामाम्भोनिधिसंगता।
श्रीमद्रामायणी गङ्गा पुनाति भुवनत्रयम्॥
वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः।
शृण्वन् रामकथानादं को न याति परां गतिम्॥

पाठ आरम्भ करनेके बाद अध्यायके बीचमें रुकना नहीं चाहिये। रुक जानेपर फिर उसी अध्यायको आरम्भसे पढ़ना चाहिये। मध्यम स्वरसे, स्पष्ट उच्चारण करते हुए श्रद्धा तथा प्रेमसे पाठ करना चाहिये। गीत गाकर, सिर हिलाकर, जल्दबाजीसे तथा बिना अर्थ समझे पाठ करना ठीक नहीं है। संध्या-समय निम्नलिखित स्थलोंपर प्रतिदिन विश्राम करते जाना चाहिये।

भृङ्गोपाख्यानमूर्भिर्जिह्वामवतु। जानकीलाभोऽनुष्टुप्छन्दोऽवतु गलम्। कैकय्याज्ञा देवता हृदयमवतु। सीतालक्ष्मणानुगमनश्रीरामहर्षाः प्रमाणं जठरमवतु। भगवद्भक्तिः शक्तिरवतु मे मध्यमम्। शक्तिमान् धर्मो मुनीनां पालनं ममोरू रक्षतु। मारीचवचनं प्रतिपालनमवतु पादौ। सुग्रीवमैत्रमर्थोऽवतु स्तनौ। निर्णयो हनुमत्संशावतु बाहू। कर्ता सम्पातिपक्षोद्गमोऽवतु स्कन्धौ। प्रयोजनं विभीषणराज्यं ग्रीवां ममावतु। रावणवधः स्वरूपमवतु कर्णौ। सीतोद्धारो लक्षणमवतु नासिके। अमोघस्तव संस्तवोऽवतु जीवात्मानम्। नयः काललक्ष्मणसंवादोऽवतु नाभिम्। आचरणीये श्रीरामादिधर्मे सर्वाङ्गं ममावतु। इति रामायणकवचम्।

(बृहद्धर्मपुराणम्, पूर्वखण्डम् २५ वाँ अध्याय)

प्रथम दिन	अयोध्याकाण्डके	६ ठे	सर्गकी समाप्तिपर प्रथम		विश्राम	
द्वितीय ,,	,,	८० वें	,,	,,	द्वितीय	,,
तृतीय ,,	अरण्यकाण्डके	२० वें	,,	,,	तृतीय	,,
चतुर्थ ,,	किष्किन्धाकाण्डके	४६ वें	,,	,,	चतुर्थ	,,
पञ्चम ,,	सुन्दरकाण्डके	४७ वें	,,	,,	पञ्चम	,,
षष्ठ ,,	युद्धकाण्डके	५० वें	,,	,,	षष्ठ	,,
सप्तम ,,	,,	९९ वें	,,	,,	सप्तम	,,
अष्टम ,,	उत्तरकाण्ड	३६ वें	,,	,,	अष्टम	,,

नवम ,, ,, अन्तिम सर्गके बाद पुनः युद्धकाण्डका अन्तिम सर्ग पढ़कर विश्राम करना चाहिये।[1]

इसके अन्य भी विश्रामस्थल हैं। एक पारायण-क्रम ऐसा भी है, जिसमें उत्तरकाण्डका पाठ नहीं किया जाता। उसके विश्रामस्थल क्रमशः इस प्रकार हैं—

प्रथम	दिवस	बालकाण्डके	७७ वें	सर्गकी समाप्तिपर
द्वितीय	,,	अयोध्याकाण्डके	८० वें	,,
तृतीय	,,	,,	११९ वें	,,
चतुर्थ	,,	अरण्यकाण्डके	६८ वें	,,
पञ्चम	,,	किष्किन्धाकाण्डके	४९ वें	,,
षष्ठ	,,	सुन्दरकाण्डके	५६ वें	,,
सप्तम	,,	युद्धकाण्डके	५० वें	,,
अष्टम	,,	,,	१११ वें	,,
नवम	,,	,,	१३१ वें	,,

प्रतिदिन कथा-समाप्तिके समय निम्नाङ्कित श्लोकोंके द्वारा मङ्गलाशासन करके पारायण पूरा करे।

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु॥
काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः॥
अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु पुत्रिणः सन्तु पौत्रिणः।
अधनाः सधनाः सन्तु जीवन्तु शरदां शतम्॥
चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्।
एकैकमक्षरं प्रोक्तं महापातकनाशनम्॥
शृण्वन् रामायणं भक्त्या यः पादं पदमेव वा।
स याति ब्रह्मणः स्थानं ब्रह्मणा पूज्यते सदा॥
रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः॥
यन्मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते।
वृत्रनाशे समभवत् तत् ते भवतु मङ्गलम्॥
यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत् पुरा।
अमृतं प्रार्थयानस्य तत्ते भवतु मङ्गलम्॥
मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणात्मने।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम्॥
अमृतोत्पादने दैत्यान् घ्नतो वज्रधरस्य यत्।
अदितिर्मङ्गलं प्रादात् तत् ते भवतु मङ्गलम्॥
त्रीन् विक्रमान् प्रक्रमतो विष्णोरमिततेजसः।
यदासीन्मङ्गलं राम तत् ते भवतु मङ्गलम्॥
ऋषयः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते।
मङ्गलानि महाबाहो दिशन्तु तव सर्वदा॥
कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्याऽऽत्मना वा प्रकृतिस्वभावात्।
करोमि यद् यत् सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पये तत्॥

अलग-अलग काण्डोंके सकाम[2] पाठका ऋष्यादिन्यास इस प्रकार है—

बालकाण्डका विनियोग

ॐ अस्य श्रीबालकाण्डमहामन्त्रस्य ऋष्यशृङ्ग ऋषिः। अनुष्टुप् छन्दः। दाशरथिः परमात्मा देवता। रां बीजम्। नमः शक्तिः। रामायेति कीलकम्। श्रीरामप्रीत्यर्थे बालकाण्डपारायणे विनियोगः।

ऋष्यादिन्यास

ॐ ऋष्यशृङ्गऋषये नमः शिरसि। ॐ अनुष्टुप्छन्दसे नमः मुखे। ॐ दाशरथिपरमात्मदेवतायै नमः हृदि। ॐ रां बीजाय नमः गुह्ये। ॐ नमः शक्तये नमः पादयोः। ॐ रामाय

---

१. प्रथमे तु अयोध्यायाः षट्सर्गान्ते शुभा स्थितिः। तस्यैवाशीतिसर्गान्ते द्वितीये दिवसे स्थितिः॥
तथा विंशतिसर्गान्ते चारण्यस्य तृतीयके। दिने चतुर्थे षट्चत्वारिंशत्सर्गे कथास्थितिः॥
किष्किन्धाख्यस्य काण्डस्य पाठविद्भिरुदाहृता। सुसप्तचत्वारिंशत्के सर्गान्ते सुन्दरेस्थितिम्॥
पञ्चमे दिवसे कुर्यादथ षष्ठे तथोच्यते। युद्धकाण्डस्य पञ्चाशत्सर्गान्ते विमला स्थितिः॥
एकोनशतसंख्याके सर्गान्ते सप्तमे दिने। युद्धस्यैव तु काण्डस्य विश्रामः सम्प्रकीर्तितः॥
तथा चोत्तरकाण्डस्य षट्त्रिंशत्सर्गपूरणे। अष्टमे दिवसे कृत्वा स्थितिं च नवमे दिने॥
शेषं समाप्य युद्धस्य चान्त्यं सर्गं पुनः पठेत्। रामराज्यकथा यस्मिन् सर्ववाञ्छितदायिनी॥
एवं पाठक्रमः पूर्वैराचार्यैश्च विनिर्मितः।

(अनुष्ठानप्रकाश)

२. बृहद्धर्मपुराणमें अलग-अलग काण्डोंके पाठके प्रयोजन इस प्रकार बतलाये गये हैं—

कीलकाय नमः सर्वाङ्गे।

करन्यास

ॐ सुप्रसन्नाय अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ॐ शान्तमनसे तर्जनीभ्यां नमः। ॐ सत्यसन्धाय मध्यमाभ्यां नमः। ॐ जितेन्द्रियाय अनामिकाभ्यां नमः। ॐ धर्मज्ञाय नयसारज्ञाय कनिष्ठिकाभ्यां नमः। ॐ राज्ञे दाशरथये जयिने करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।

इन्हीं मन्त्रोंसे पूर्वोक्त प्रकारसे हृदयादि न्यास कर निम्न प्रकारसे ध्यान करे—

श्रीराममाश्रितजनामरभूरुहेश-
मानन्दशुद्धमखिलामरवन्दिताङ्घ्रिम्।
सीताङ्गनासुमिलितं सततं सुमित्रा-
पुत्रान्वितं धृतधनुःशरमादिदेवम्॥
ॐ सुप्रसन्नः शान्तमनाः सत्यसंधो जितेन्द्रियः।
धर्मज्ञो नयसारज्ञो राजा दाशरथिर्जयी॥

इस मन्त्रसे श्रीरामकी पूजा करे और इसीसे अथवा श्रीराममन्त्रसे सम्पुटित कर बालकाण्डका पाठ करे। इससे ग्रहशान्ति, ईति-भीति-शान्ति तथा पुत्रप्राप्ति सम्भव है।

अयोध्याकाण्डका विनियोग तथा ऋष्यादिन्यास

ॐ अस्य श्रीअयोध्याकाण्डमहामन्त्रस्य भगवान् वसिष्ठ ऋषिः। अनुष्टुप् छन्दः। भरतो दाशरथिः परमात्मा देवता। भं बीजम्। नमः शक्तिः। भरतायेति कीलकम्। मम भरतप्रसाद-सिद्ध्यर्थमयोध्याकाण्डपारायणे विनियोगः। ॐ वसिष्ठऋषये नमः शिरसि। ॐ अनुष्टुपछन्दसे नमः मुखे। ॐ दाशरथिभरत-परमात्मदेवतायै नमः हृदि। ॐ भं बीजाय नमः गुह्ये। ॐ नमः शक्तये नमः पादयोः। ॐ भरताय कीलकाय नमः सर्वाङ्गे।

करन्यास

ॐ भरताय नमस्तस्मै—अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ॐ सारज्ञाय तर्जनीभ्यां नमः। ॐ महात्मने मध्यमाभ्यां नमः। ॐ तापसाय अनामिकाभ्यां नमः। ॐ अतिशान्ताय कनिष्ठिकाभ्यां नमः। ॐ शत्रुघ्नसहिताय च करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।

फिर इसी प्रकार हृदयादिका भी न्यास करके निम्नलिखित श्लोकानुसार ध्यान करना चाहिये—

श्रीरामपादद्वयपादुकान्तसंसक्तचित्तं कमलायताक्षम्।
श्यामं प्रसन्नवदनं कमलावदातशत्रुघ्नयुक्तमनिशं भरतं नमामि॥
भरताय नमस्तस्मै सारज्ञाय महात्मने।
तापसायातिशान्ताय शत्रुघ्नसहिताय च॥

इस मन्त्रसे पञ्चोपचारद्वारा भरतजीकी पूजा करे। चाहे तो इसी मन्त्रसे लक्ष्मी-प्राप्तिकी इच्छासे अयोध्याकाण्डका सम्पुटित पाठ करे।

अरण्यकाण्डका विनियोग एवं ऋष्यादिन्यास

ॐ अस्य श्रीमदरण्यकाण्डमहामन्त्रस्य भगवानृषिः। अनुष्टुप् छन्दः। श्रीरामो दाशरथिः परमात्मा महेन्द्रो देवता। ई बीजम्। नमः शक्तिः। इन्द्रायेति कीलकम्। इन्द्रप्रसादसिद्ध्यर्थे अरण्यकाण्डपारायणे जपे विनियोगः। ॐ भगवदृषये नमः शिरसि। ॐ अनुष्टुपछन्दसे नमः मुखे। ॐ दाशरथिश्रीराम-परमात्ममहेन्द्रदेवतायै नमः हृदि। ॐ ई बीजाय नमः गुह्ये। ॐ नमः शक्तये नमः पादयोः। ॐ इन्द्राय कीलकाय नमः सर्वाङ्गे।

करन्यास

ॐ सहस्रनयनाय अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ॐ देवाय तर्जनीभ्यां नमः। ॐ सर्वदेवनमस्कृताय मध्यमाभ्यां नमः। ॐ दिव्यवज्र-धराय अनामिकाभ्यां नमः। ॐ महेन्द्राय कनिष्ठिकाभ्यां नमः। ॐ शचीपतये करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।

इन्हीं मन्त्रोंसे हृदयादिन्यास करके इस श्लोकसे ध्यान करना चाहिये।

शचीपतिं सर्वसुरेशवन्द्यं सर्वार्तिहर्तारमचिन्त्यशक्तिम्।
श्रीरामसेवानिरतं महान्तं वन्दे महेन्द्रं धृतवज्रमीड्यम्॥

फिर—

सहस्रनयनं देवं सर्वदेवनमस्कृतम्।
दिव्यवज्रधरं वन्दे महेन्द्रं च शचीपतिम्॥

इस मन्त्रसे इन्द्रकी पूजा करे और नष्ट द्रव्य-प्राप्ति आदिकी कामनासे इसीसे सम्पुटित कर पाठ करे।

किष्किन्धाकाण्डका ऋष्यादिन्यास

ॐ अस्य श्रीकिष्किन्धाकाण्डमहामन्त्रस्य भगवान् ऋषिः। अनुष्टुप् छन्दः। सुग्रीवो देवता। सुं बीजम्। नमः शक्तिः। सुग्रीवेति कीलकम्। मम सुग्रीवप्रसादसिद्ध्यर्थे किष्किन्धा-काण्डपारायणे विनियोगः। ॐ भगवदृषये नमः शिरसि। ॐ अनुष्टुपछन्दसे नमः मुखे। ॐ सुग्रीवदेवतायै नमः हृदये।

अनावृष्टिर्महापीडाग्रहपीडाप्रपीडिताः। आदिकाण्डं पठेयुर्ये ते मुच्यन्ते ततो भयात्॥
पुत्रजन्मविवाहादौ गुरुदर्शन एव च। पठेच्च शृणुयाच्चैव द्वितीयं काण्डमुत्तमम्॥
वने राजकुले वह्निजलपीडायुतो नरः। पठेदारण्यकं काण्डं शृणुयाद् वा स मङ्गली॥
मित्रलाभे तथा नष्टद्रव्यस्य च गवेषणे। श्रुत्वा पठित्वा कैष्किन्ध्यं काण्डं तत्तत् फलं लभेत्॥
श्राद्धेषु देवकार्येषु पठेत् सुन्दरकाण्डकम्। शत्रोर्जये समुत्साहे जनवादे विगर्हिते॥
लङ्काकाण्डं पठेत् किं वा शृणुयात् स सुखी भवेत्।
यः पठेच्छृणुयाद् वापि काण्डमभ्युदयोत्तरम्। आनन्दकार्ये यात्रायां स जयी परतोऽत्र च॥
मोक्षार्थी लभते मोक्षं भक्त्यर्थी भक्तिमेव च। ज्ञानार्थी लभते ज्ञानं ब्रह्मतत्त्वोपलम्भकम्॥

(बृहद्धर्मपुराण पूर्वखण्ड अध्याय २६।९—१५)

ॐ सुं बीजाय नमः गुह्ये। ॐ नमः शक्तये नमः पादयोः। ॐ सुग्रीवाय कीलकाय नमः सर्वाङ्गे।

करन्यास

ॐ सुग्रीवाय अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ॐ सूर्यतनयाय तर्जनीभ्यां नमः। ॐ सर्ववानरपुङ्गवाय मध्यमाभ्यां नमः। ॐ बलवते अनामिकाभ्यां नमः। ॐ राघवसखाय कनिष्ठिकाभ्यां नमः। ॐ वशी राज्यं प्रयच्छतु इति करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।

इन्हीं मन्त्रोंसे हृदयादिन्यास करके इस प्रकार ध्यान करे—

सुग्रीवमर्कतनयं कपिवर्यवन्द्य-
मारोपिताच्युतपदाम्बुजमादरेण।
पाणिप्रहारकुशलं बलपौरुषाढ्य-
माशास्यदास्यनिपुणं हृदि भावयामि॥

फिर सुं सुग्रीवाय नमः तथा—

सुग्रीवः सूर्यतनयः सर्ववानरपुङ्गवः।
बलवान् राघवसखा वशी राज्यं प्रयच्छतु॥

इस मन्त्रसे सुग्रीवकी पूजाकर—चाहे तो इसी श्लोकसे किष्किन्धाकाण्डका सम्पुटित पाठ करे।

सुन्दरकाण्डका विनियोग एवं ऋष्यादिन्यास

ॐ अस्य श्रीमत्सुन्दरकाण्डमहामन्त्रस्य भगवान् हनुमान् ऋषिः। अनुष्टुप् छन्दः। श्रीजगन्माता सीता देवता। श्रीं बीजम्। स्वाहा शक्तिः। सीतायै कीलकम्। सीताप्रसादसिद्ध्यर्थं सुन्दरकाण्डपारायणे विनियोगः। ॐ भगवद्धनुमदृषये नमः शिरसि। अनुष्टुप्छन्दसे नमः मुखे। श्रीजगन्मातृसीतादेवतायै नमः हृदि। श्रीं बीजाय नमः गुह्ये। स्वाहा शक्तये नमः पादयोः। सीतायै कीलकाय नमः सर्वाङ्गे।

करन्यास

ॐ सीतायै अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ॐ विदेहराजसुतायै तर्जनीभ्यां नमः। रामसुन्दर्यै मध्यमाभ्यां नमः। हनुमता समाश्रितायै अनामिकाभ्यां नमः। ॐ भूमिसुतायै कनिष्ठिकाभ्यां नमः। ॐ शरणं भजे करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।

फिर इन्हीं मन्त्रोंसे हृदयादिन्यास करके इस प्रकार ध्यान करे—

सीतामुदारचरितां विधिसाम्बविष्णु-
वन्द्यां त्रिलोकजननीं शतकल्पवल्लीम्।
हेमैरनेकमणिरञ्जितकोटिभागै-
र्भूषावयैरनुदिनं सहितां नमामि॥

सुन्दरकाण्डके पाठकी विशेष विधि है कि प्रतिदिन एकोत्तरवृत्तिसे क्रमशः एक-एक सर्ग पाठ बढ़ाते हुए ग्यारहवें दिन पाठ समाप्त कर दे। १२ वें दिन अवशिष्ट दो सर्गके साथ आरम्भके १० सर्ग पढ़े जायँ, १३ वें दिन ११ से २३ तक इस तरह तीन आवृत्तिके पाठसे समस्त कार्यकी सिद्धि होती है। दूसरा क्रम है—प्रतिदिन ५ अध्याय पाठका। इसमें भी पूर्वकी भाँति १४ वें दिन अन्तके ३ तथा प्रारम्भके दो सर्गका पाठ करे। सम्पुट पाठका मन्त्र है—''**श्रीसीतायै नमः।**''*

लङ्काकाण्डका विनियोग एवं ऋष्यादिन्यास

ॐ अस्य श्रीयुद्धकाण्डमहामन्त्रस्य विभीषण ऋषिः। अनुष्टुप्छन्दः। विधाता देवता। वं बीजम्। नमः शक्तिः। विधातेति कीलकम्। श्रीधातृप्रसादसिद्ध्यर्थे युद्धकाण्डपारायणे विनियोगः। ॐ विभीषणऋषये नमः शिरसि। ॐ अनुष्टुप्छन्दसे नमः मुखे। ॐ विधातृदेवतायै नमः हृदि। ॐ वं बीजाय नमः गुह्ये। ॐ नमः शक्तये नमः पादयोः। ॐ विधातेति कीलकाय नमः सर्वाङ्गे।

करन्यास

ॐ विधात्रे नमः अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ॐ महादेवाय तर्जनीभ्यां नमः। ॐ भक्तानामभयप्रदाय मध्यमाभ्यां नमः। ॐ सर्वदेवप्रीतिकराय अनामिकाभ्यां नमः। ॐ भगवत्प्रियाय कनिष्ठिकाभ्यां नमः। ॐ ईश्वराय करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।

फिर इन्हीं मन्त्रोंसे हृदयादिन्यास करके इस प्रकार ध्यान करना चाहिये—

देवं विधातारमनन्तवीर्यं भक्ताभयं श्रीपरमादिदेवम्।
सर्वामरप्रीतिकरं प्रशान्तं वन्दे सदा भूतपतिं सुभूतिम्॥

फिर—

विधातारं महादेवं भक्तानामभयप्रदम्।
सर्वदेवप्रीतिकरं भगवत्प्रियमीश्वरम्॥

इस मन्त्रसे पञ्चोपचारद्वारा पूजाकर चाहे तो इसी मन्त्रसे सम्पुटित पाठ करे। इससे शत्रुपर विजय प्राप्त होती एवं अप्रतिष्ठा नष्ट होती है।

पुनर्वसुसे प्रारम्भ कर आर्द्रातक २७ दिनोंमें भी पूर्ण रामायण-पाठकी विधि है। ४० दिनोंका भी एक पारायण होता है। नवरात्रमें भी इसके नवाह्नपाठका नियम है।

---

* रामभद्र महेष्वास रघुवीर नृपोत्तम। भो दशास्यान्तकास्माकं रक्षां देहि श्रियं च ते॥
इस मन्त्रके सम्पुटसे सुन्दरकाण्डका पाठ भी किया जा सकता है।

॥ श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः ॥

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणमाहात्म्यम्

प्रथमोऽध्यायः

कलियुगकी स्थिति, कलिकालके मनुष्योंके उद्धारका उपाय, रामायणपाठ, उसकी महिमा, उसके श्रवणके लिये उत्तम काल आदिका वर्णन

श्रीरामः शरणं समस्तजगतां रामं विना का गती
रामेण प्रतिहन्यते कलिमलं रामाय कार्यं नमः ।
रामात् त्रस्यति कालभीमभुजगो रामस्य सर्वं वशे
रामे भक्तिरखण्डिता भवतु मे राम त्वमेवाश्रयः * ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजी समस्त संसारको शरण देनेवाले हैं। श्रीरामके बिना दूसरी कौन-सी गति है। श्रीराम कलियुगके समस्त दोषोंको नष्ट कर देते हैं; अतः श्रीरामचन्द्रजीको नमस्कार करना चाहिये। श्रीरामसे कालरूपी भयंकर सर्प भी डरता है। जगत्का सब कुछ भगवान् श्रीरामके वशमें है। श्रीराममें मेरी अखण्ड भक्ति बनी रहे। हे राम! आप ही मेरे आधार हैं ॥ १ ॥

चित्रकूटालयं राममिन्दिरानन्दमन्दिरम् ।
वन्दे च परमानन्दं भक्तानामभयप्रदम् ॥ २ ॥

चित्रकूटमें निवास करनेवाले, भगवती लक्ष्मी (सीता) के आनन्दनिकेतन और भक्तोंको अभय देनेवाले परमानन्द-स्वरूप भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २ ॥

ब्रह्मविष्णुमहेशाद्या यस्यांशा लोकसाधकाः ।
नमामि देवं चिद्रूपं विशुद्धं परमं भजे ॥ ३ ॥

सम्पूर्ण जगत्के अभीष्ट मनोरथोंको सिद्ध करनेवाले (अथवा सृष्टि, पालन एवं संहारके द्वारा जगत्की व्यावहारिक सत्ताको सिद्ध करनेवाले), ब्रह्मा, विष्णु और महेश आदि देवता जिनके अभिन्न अंशमात्र हैं, उन परम विशुद्ध सच्चिदानन्दमय परमात्मदेव श्रीरामचन्द्रजीको मैं नमस्कार करता हूँ तथा उन्हींके भजन-चिन्तनमें मन लगाता हूँ ॥ ३ ॥

ऋषय ऊचुः

भगवन् सर्वमाख्यातं यत् पृष्टं विदुषा त्वया ।
संसारपाशबद्धानां दुःखानि सुबहूनि च ॥ ४ ॥

ऋषियोंने कहा—भगवन्! आप विद्वान् हैं, ज्ञानी हैं। हमने जो कुछ पूछा था, वह सब आपने हमें भलीभाँति बताया है। संसार-बन्धनमें बँधे हुए जीवोंके दुःख बहुत हैं ॥ ४ ॥

एतत्संसारपाशस्यच्छेदकः कतमः स्मृतः ।
कलौ वेदोक्तमार्गाश्च नश्यन्तीति त्वयोदिताः ॥ ५ ॥

इस संसारबन्धनका उच्छेद करनेवाला कौन है? आपने कहा है कि कलियुगमें वेदोक्त मार्ग नष्ट हो जायँगे ॥ ५ ॥

अधर्मनिरतानां च यातनाश्च प्रकीर्तिताः ।
घोरे कलियुगे प्राप्ते वेदमार्गबहिष्कृते ॥ ६ ॥
पाखण्डत्वं प्रसिद्धं वै सर्वैश्च परिकीर्तितम् ।

अधर्मपरायण पुरुषोंको प्राप्त होनेवाली यातनाओंका भी आपने वर्णन किया है। घोर कलियुग आनेपर जब वेदोक्त मार्ग लुप्त हो जायँगे, उस समय पाखण्ड फैल जायगा—यह बात प्रसिद्ध है। प्रायः सभी लोगोंने ऐसी बात कही है ॥ ६½ ॥

कामार्त्ता ह्रस्वदेहाश्च लुब्धा अन्योन्यतत्पराः ॥ ७ ॥
कलौ सर्वे भविष्यन्ति स्वल्पायुर्बहुपुत्रकाः ।

कलियुगके सभी लोग कामवेदनासे पीड़ित, नाटे शरीरके और लोभी होंगे तथा धर्म और ईश्वरका आश्रय छोड़कर आपसमें एक-दूसरेपर ही निर्भर रहनेवाले होंगे। प्रायः सब लोग थोड़ी आयु और अधिक संतानवाले होंगे † ॥ ७½ ॥

स्त्रियः स्वपोषणपरा वेश्याचरणतत्पराः ॥ ८ ॥
पतिवाक्यमनादृत्य सदान्यगृहतत्पराः ।
दुःशीलेषु करिष्यन्ति पुरुषेषु सदा स्पृहाम् ॥ ९ ॥

---

* इस श्लोकमें सम्बोधनसहित सभी विभक्तियोंमें 'राम' शब्दके रूप आ गये हैं।

† किसी-किसी प्रतिमें 'स्वल्पायुर्बहुपुत्रकाः' के स्थानमें 'स्वल्पवयोर्बहुप्रजाः' पाठ है। इसके अनुसार कलियुगमें प्रायः सब लोग थोड़े धन और अधिक संतानवाले होंगे; ऐसा अर्थ समझना चाहिये।

उस युगकी स्त्रियाँ अपने ही शरीरके पोषणमें तत्पर और वेश्याओंके समान आचरणमें प्रवृत्त होंगी। वे अपने पतिकी आज्ञाका अनादर करके सदा दूसरोंके घर जाया-आया करेंगी। दुराचारी पुरुषोंसे मिलनेकी सदैव अभिलाषा करेंगी ॥ ८-९ ॥

असद्वार्त्ता भविष्यन्ति पुरुषेषु कुलाङ्गनाः।
परुषानृतभाषिण्यो देहसंस्कारवर्जिताः ॥ १० ॥

उत्तम कुलकी स्त्रियाँ भी परपुरुषोंके निकट ओछी बातें करनेवाली होंगी, कठोर और असत्य बोलेंगी तथा शरीरको शुद्ध और सुसंस्कृत बनाये रखनेके सद्गुणोंसे वञ्चित होंगी ॥ १० ॥

वाचालाश्च भविष्यन्ति कलौ प्रायेण योषितः।
भिक्षवश्चापि मित्रादिस्नेहसम्बन्धयन्त्रिताः ॥ ११ ॥

कलियुगमें अधिकांश स्त्रियाँ वाचाल (व्यर्थ बकवास करनेवाली) होंगी। भिक्षासे जीवन-निर्वाह करनेवाले संन्यासी भी मित्र आदिके स्नेह-सम्बन्धमें बँधे रहनेवाले होंगे ॥ ११ ॥

अन्नोपाधिनिमित्तेन शिष्यान् बध्नन्ति लोलुपाः।
उभाभ्यामपि पाणिभ्यां शिरःकण्डूयनं स्त्रियः ॥ १२ ॥
कुर्वन्त्यो गृहभर्तॄणामाज्ञां भेत्स्यन्त्यतन्द्रिताः।

वे भोजनके लिये चिन्तित होनेके कारण लोभवश शिष्योंका संग्रह करेंगे। स्त्रियाँ दोनों हाथोंसे सिर खुजलाती हुई गृहपतिकी आज्ञाका जान-बूझकर उल्लङ्घन करेंगी ॥ १२½ ॥

पाखण्डालापनिरताः पाखण्डजनसङ्गिनः ॥ १३ ॥
यदा द्विजा भविष्यन्ति तदा वृद्धिं गतः कलिः।

जब ब्राह्मण पाखण्डी लोगोंके साथ रहकर पाखण्डपूर्ण बातें करने लगें, तब जानना चाहिये कि कलियुग खूब बढ़ गया ॥ १३½ ॥

घोरे कलियुगे ब्रह्मन् जनानां पापकर्मिणाम् ॥ १४ ॥
मनःशुद्धिविहीनानां निष्कृतिश्च कथं भवेत्।

ब्रह्मन्! इस प्रकार घोर कलियुग आनेपर सदा पाप-परायण रहनेके कारण जिनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं हो सकेगा, उन लोगोंकी मुक्ति कैसे होगी? ॥ १४½ ॥

यथा तुष्यति देवेशो देवदेवो जगद्गुरुः ॥ १५ ॥
ततो वदस्व सर्वज्ञ सूत धर्मभृतां वर।

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ सर्वज्ञ सूतजी! देवाधिदेव देवेश्वर जगद्गुरु भगवान् श्रीरामचन्द्रजी जिस प्रकार संतुष्ट हों, वह उपाय हमें बताइये ॥ १५½ ॥

वद सूत मुनिश्रेष्ठ सर्वमेतदशेषतः ॥ १६ ॥
कस्य नो जायते तुष्टिः सूत त्वद्वचनामृतात् ॥ १७ ॥

मुनिश्रेष्ठ सूतजी! इन सारी बातोंपर आप पूर्णरूपसे प्रकाश डालिये। आपके वचनामृतका पान करनेसे किसको संतोष नहीं होता है ॥ १६-१७ ॥

सूत उवाच

शृणुध्वमृषयः सर्वे यदिष्टं वो वदाम्यहम्।
गीतं सनत्कुमाराय नारदेन महात्मना ॥ १८ ॥
रामायणं महाकाव्यं सर्ववेदेषु सम्मतम्।
सर्वपापप्रशमनं दुष्टग्रहनिवारणम् ॥ १९ ॥

सूतजीने कहा—मुनिवरो! आप सब लोग सुनिये। आपको जो सुनना अभीष्ट है, वह मैं बताता हूँ। महात्मा नारदजीने सनत्कुमारको जिस रामायण नामक महाकाव्यका गान सुनाया था, वह समस्त पापोंका नाश और दुष्ट ग्रहोंकी बाधाका निवारण करनेवाला है। वह सम्पूर्ण वेदार्थोंकी सम्मतिके अनुकूल है ॥ १८-१९ ॥

दुःस्वप्ननाशनं धन्यं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम्।
रामचन्द्रकथोपेतं सर्वकल्याणसिद्धिदम् ॥ २० ॥

उससे समस्त दुःस्वप्नोंका नाश हो जाता है। वह धन्यवादके योग्य तथा भोग और मोक्षरूप फल प्रदान करनेवाला है। उसमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी लीला-कथाका वर्णन है। वह काव्य अपने पाठक और श्रोताओंके लिये समस्त कल्याणमयी सिद्धियोंको देनेवाला है ॥ २० ॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां हेतुभूतं महाफलम्।
अपूर्वं पुण्यफलदं शृणुध्वं सुसमाहिताः ॥ २१ ॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंका साधक है, महान् फल देनेवाला है। यह अपूर्व काव्य पुण्यमय फल प्रदान करनेकी शक्ति रखता है। आपलोग एकाग्रचित्त होकर इसे श्रवण करें ॥ २१ ॥

महापातकयुक्तो वा युक्तो वा सर्वपातकैः।
श्रुत्वैतदार्षं दिव्यं हि काव्यं शुद्धिमवाप्नुयात् ॥ २२ ॥
रामायणेन वर्तन्ते सुतरां ये जगद्धिताः।
त एव कृतकृत्याश्च सर्वशास्त्रार्थकोविदाः ॥ २३ ॥

महान् पातकों अथवा सम्पूर्ण उपपातकोंसे युक्त मनुष्य भी उस ऋषिप्रणीत दिव्य काव्यका श्रवण करनेसे शुद्धि (अथवा सिद्धि) प्राप्त कर लेता है। सम्पूर्ण जगत्के हित-साधनमें लगे रहनेवाले जो मनुष्य सदा रामायणके अनुसार बर्ताव करते हैं, वे ही सम्पूर्ण शास्त्रोंके मर्मको समझनेवाले और कृतार्थ हैं ॥ २२-२३ ॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां साधनं च द्विजोत्तमाः।
श्रोतव्यं च सदा भक्त्या रामायणपरामृतम् ॥ २४ ॥

विप्रवरो! रामायण धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका साधन तथा परम अमृत रूप है; अतः सदा भक्तिभावसे उसका श्रवण करना चाहिये ॥ २४ ॥

पुरार्जितानि पापानि नाशमायान्ति यस्य वै।
रामायणे महाप्रीतिस्तस्य वै भवति ध्रुवम् ॥ २५ ॥

जिस मनुष्यके पूर्वजन्मोपार्जित सारे पाप नष्ट हो जाते हैं, उसीका रामायणके प्रति अधिक प्रेम होता है। यह

निश्चित बात है ॥ २५ ॥

रामायणे वर्तमाने पापपाशेन यन्त्रितः ।
अनादृत्य असद्गाथासक्तबुद्धिः प्रवर्तते ॥ २६ ॥

जो पापके बन्धनमें जकड़ा हुआ है, वह रामायणकी कथा आरम्भ होनेपर उसकी अवहेलना करके दूसरी-दूसरी निम्नकोटिकी बातोंमें फँस जाता है। उन असद्गाथाओंमें अपनी बुद्धिके आसक्त होनेके कारण वह तदनुरूप ही बर्ताव करने लगता है ॥ २६ ॥

रामायणं नाम परं तु काव्यं
सुपुण्यदं वै शृणुत द्विजेन्द्राः ।
यस्मिञ्छ्रुते जन्मजरादिनाशो
भवत्यदोषः स नरोऽच्युतः स्यात् ॥ २७ ॥

इसलिये द्विजेन्द्रगण! आपलोग रामायण नामक परम पुण्यदायक उत्तम काव्यका श्रवण करें; जिसके सुननेसे जन्म, जरा और मृत्युके भयका नाश हो जाता है तथा श्रवण करनेवाला मनुष्य पाप-दोषसे रहित हो अच्युतस्वरूप हो जाता है ॥ २७ ॥

वरं वरेण्यं वरदं तु काव्यं
संतारयत्याशु च सर्वलोकम् ।
संकल्पितार्थप्रदमादिकाव्यं
श्रुत्वा च रामस्य पदं प्रयाति ॥ २८ ॥

रामायण काव्य अत्यन्त उत्तम, वरणीय और मनोवाञ्छित वर देनेवाला है। वह उसका पाठ और श्रवण करनेवाले समस्त जगत्‌को शीघ्र ही संसारसागरसे पार कर देता है। उस आदिकाव्यको सुनकर मनुष्य श्रीरामचन्द्रजीके परमपदको प्राप्त कर लेता है ॥ २८ ॥

ब्रह्मेशविष्ण्वाख्यशरीरभेदै-
र्विश्वं सृजत्यत्ति च पाति यश्च ।
तमादिदेवं परमं वरेण्य-
माधाय चेतस्युपयाति मुक्तिम् ॥ २९ ॥

जो ब्रह्मा, रुद्र और विष्णु नामक भिन्न-भिन्न रूप धारण करके विश्वकी सृष्टि, संहार और पालन करते हैं, उन आदिदेव परमोत्कृष्ट परमात्मा श्रीरामचन्द्रजीको अपने हृदय-मन्दिरमें स्थापित करके मनुष्य मोक्षका भागी होता है ॥

यो नामजात्यादिविकल्पहीनः
परावराणां परमः परः स्यात् ।
वेदान्तवेद्यः स्वरुचा प्रकाशः
स वीक्ष्यते सर्वपुराणवेदैः ॥ ३० ॥

जो नाम तथा जाति आदि विकल्पोंसे रहित, कार्य-कारणसे परे, सर्वोत्कृष्ट, वेदान्त शास्त्रके द्वारा जाननेयोग्य एवं अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाला परमात्मा है, उसका समस्त वेदों और पुराणोंके द्वारा साक्षात्कार होता है (इस रामायणके अनुशीलनसे भी उसीकी प्राप्ति होती है।) ॥ ३० ॥

ऊर्जे माघे सिते पक्षे चैत्रे च द्विजसत्तमाः ।
नवाह्ना खलु श्रोतव्यं रामायणकथामृतम् ॥ ३१ ॥

विप्रवरो! कार्तिक, माघ और चैत्रमासके शुक्र पक्षमें नौ दिनोंमें रामायणकी अमृतमयी कथाका श्रवण करना चाहिये ॥ ३१ ॥

इत्येवं शृणुयाद् यस्तु श्रीरामचरितं शुभम् ।
सर्वान् कामानवाप्नोति परत्रामुत्र चोत्तमान् ॥ ३२ ॥

जो इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीके मङ्गलमय चरित्रका श्रवण करता है, वह इस लोक और परलोकमें भी अपनी समस्त उत्तम कामनाओंको प्राप्त कर लेता है ॥ ३२ ॥

त्रिसप्तकुलसंयुक्तः सर्वपापविवर्जितः ।
प्रयाति रामभवनं यत्र गत्वा न शोचते ॥ ३३ ॥

वह सब पापोंसे मुक्त हो अपनी इक्कीस पीढ़ियोंके साथ श्रीरामचन्द्रजीके उस परमधाममें चला जाता है, जहाँ जाकर मनुष्यको कभी शोक नहीं करना पड़ता है ॥ ३३ ॥

चैत्रे माघे कार्तिके च सिते पक्षे च वाचयेत् ।
नवाहस्सु महापुण्यं श्रोतव्यं च प्रयत्नतः ॥ ३४ ॥

चैत्र, माघ और कार्तिकके शुक्लपक्षमें परम पुण्यमय रामायण-कथाका नवाह-पारायण करना चाहिये तथा नौ दिनोंतक इसे प्रयत्नपूर्वक सुनना चाहिये ॥ ३४ ॥

रामायणमादिकाव्यं स्वर्गमोक्षप्रदायकम् ।
तस्माद् घोरे कलियुगे सर्वधर्मबहिष्कृते ॥ ३५ ॥
नवभिर्दिनैः श्रोतव्यं रामायणकथामृतम् ।

रामायण आदिकाव्य है। यह स्वर्ग और मोक्ष देनेवाला है, अतः सम्पूर्ण धर्मोंसे रहित घोर कलियुग आनेपर नौ दिनोंमें रामायणकी अमृतमयी कथाको श्रवण करना चाहिये ॥ ३५½ ॥

रामनामपरा ये तु घोरे कलियुगे द्विजाः ॥ ३६ ॥
त एव कृतकृत्याश्च न कलिर्बाधते हि तान् ।

ब्राह्मणो! जो लोग भयंकर कलिकालमें श्रीराम-नामका आश्रय लेते हैं, वे ही कृतार्थ होते हैं। कलियुग उन्हें बाधा नहीं पहुँचाता ॥ ३६½ ॥

कथा रामायणस्यापि नित्यं भवति यद्गृहे ॥ ३७ ॥
तद् गृहं तीर्थरूपं हि दुष्टानां पापनाशनम् ।

जिस घरमें प्रतिदिन रामायणकी कथा होती है, वह तीर्थरूप हो जाता है। वहाँ जानेसे दुष्टोंके पापोंका नाश होता है ॥ ३७½ ॥

तावत्पापानि देहेऽस्मिन् निवसन्ति तपोधनाः ॥ ३८ ॥
यावन्न श्रूयते सम्यक् श्रीमद्रामायणं नरैः ।

तपोधनो! इस शरीरमें तभीतक पाप रहते हैं, जबतक मनुष्य श्रीरामायणकथाका भलीभाँति श्रवण नहीं करता ॥ ३८½ ॥

दुर्लभैव कथा लोके श्रीमद्रामायणोद्भवा ॥ ३९ ॥
कोटिजन्मसमुत्थेन पुण्येनैव तु लभ्यते।

संसारमें श्रीरामायणकी कथा परम दुर्लभ ही है। जब करोड़ों जन्मोंके पुण्योंका उदय होता है, तभी उसकी प्राप्ति होती है ॥ ३९½ ॥

ऊर्जे माघे सिते पक्षे चैत्रे च द्विजसत्तमाः ॥ ४० ॥
यस्य श्रवणमात्रेण सौदासोऽपि विमोचितः।

श्रेष्ठ ब्राह्मणो! कार्तिक, माघ और चैत्रके शुक्ल पक्षमें रामायणके श्रवणमात्रसे (राक्षसभावापन्न) सौदास भी शापमुक्त हो गये थे ॥ ४०½ ॥

गौतमशापतः प्राप्तः सौदासो राक्षसीं तनुम् ॥ ४१ ॥
रामायणप्रभावेण विमुक्तिं प्राप्तवान् पुनः।

सौदासने महर्षि गौतमके शापसे राक्षस-शरीर प्राप्त किया था। वे रामायणके प्रभावसे ही पुनः उस शापसे छुटकारा पा सके थे ॥ ४१½ ॥

यस्त्वेतच्छृणुयाद् भक्त्या रामभक्तिपरायणः ॥ ४२ ॥
स मुच्यते महापापैः पुरुषः पातकादिभिः ॥ ४३ ॥

जो पुरुष श्रीरामचन्द्रजीकी भक्तिका आश्रय ले प्रेमपूर्वक इस कथाका श्रवण करता है, वह बड़े-बड़े पापों तथा पातक आदिसे मुक्त हो जाता है ॥ ४२-४३ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे उत्तरखण्डे नारदसनत्कुमारसंवादे रामायणमाहात्म्ये कल्पानुकीर्तनं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीस्कन्दपुराणके उत्तरखण्डमें नारद-सनत्कुमार-संवादके अन्तर्गत रामायणमाहात्म्यविषयक कल्पका अनुकीर्तन नामक प्रथम अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

नारद-सनत्कुमार-संवाद, सुदास या सोमदत्त नामक ब्राह्मणको राक्षसत्वकी प्राप्ति तथा रामायण-कथा-श्रवणद्वारा उससे उद्धार

ऋषय ऊचुः

कथं सनत्कुमाराय देवर्षिर्नारदो मुनिः।
प्रोक्तवान् सकलान् धर्मान् कथं तौ मिलितावुभौ ॥ १ ॥
कस्मिन् क्षेत्रे स्थितौ तात तावुभौ ब्रह्मवादिनौ।
यदुक्तं नारदेनास्मै तत् त्वं ब्रूहि महामुने ॥ २ ॥

ऋषियोंने पूछा—महामुने! देवर्षि नारदमुनिने सनत्कुमारजीसे रामायणसम्बन्धी सम्पूर्ण धर्मोंका किस प्रकार वर्णन किया था? उन दोनों ब्रह्मवादी महात्माओंका किस क्षेत्रमें मिलन हुआ था? तात! वे दोनों कहाँ ठहरे थे? नारदजीने उनसे जो कुछ कहा था, वह सब आप हमलोगोंको बताइये ॥ १-२ ॥

सूत उवाच

सनकाद्या महात्मानो ब्रह्मणस्तनयाः स्मृताः।
निर्ममा निरहंकाराः सर्वे ते ह्यूर्ध्वरेतसः ॥ ३ ॥

सूतजीने कहा—मुनिवरो! सनकादि महात्मा भगवान् ब्रह्माजीके पुत्र माने गये हैं। उनमें ममता और अहंकारका तो नाम भी नहीं है। वे सब-के-सब ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) हैं ॥ ३ ॥

तेषां नामानि वक्ष्यामि सनकश्च सनन्दनः।
सनत्कुमारश्च तथा सनातन इति स्मृतः ॥ ४ ॥

मैं आपलोगोंसे उनके नाम बताता हूँ, सुनिये। सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन—ये चारों सनकादि माने गये हैं ॥ ४ ॥

विष्णुभक्ता महात्मानो ब्रह्मध्यानपरायणाः।
सहस्रसूर्यसंकाशाः सत्यवन्तो मुमुक्षवः ॥ ५ ॥

वे भगवान् विष्णुके भक्त और महात्मा हैं। सदा ब्रह्मके चिन्तनमें लगे रहते हैं। बड़े सत्यवादी हैं। सहस्रों सूर्योंके समान तेजस्वी एवं मोक्षके अभिलाषी हैं ॥ ५ ॥

एकदा ब्रह्मणः पुत्राः सनकाद्या महौजसः।
मेरुशृङ्गे समाजग्मुर्वीक्षितुं ब्रह्मणः सभाम् ॥ ६ ॥

एक दिन वे महातेजस्वी ब्रह्मपुत्र सनकादि ब्रह्माजीकी सभा देखनेके लिये मेरु पर्वतके शिखरपर गये ॥ ६ ॥

तत्र गङ्गां महापुण्यां विष्णुपादोद्भवां नदीम्।
निरीक्ष्य स्नातुमुद्युक्ताः सीताख्यां प्रथितौजसः ॥ ७ ॥

वहाँ भगवान् विष्णुके चरणोंसे प्रकट हुई परम पुण्यमयी गङ्गानदी, जिन्हें सीता भी कहते हैं, बह रही थीं। उनका दर्शन करके वे तेजस्वी महात्मा उनके जलमें स्नान करनेको उद्यत हुए ॥ ७ ॥

एतस्मिन्नन्तरे विप्रा देवर्षिर्नारदो मुनिः।
आजगामोच्चरन् नाम हरेर्नारायणादिकम् ॥ ८ ॥

ब्राह्मणो! इतनेमें ही देवर्षि नारदमुनि भगवान्‌के नारायण आदि नामोंका उच्चारण करते हुए वहाँ आ पहुँचे ॥ ८ ॥

नारायणाच्युतानन्त वासुदेव जनार्दन।
यज्ञेश यज्ञपुरुष राम विष्णो नमोऽस्तु ते ॥ ९ ॥
इत्युच्चरन् हरेर्नाम पावयन्नखिलं जगत्।
आजगाम स्तुवन् गङ्गां मुनिर्लोकैकपावनीम् ॥ १० ॥

वे 'नारायण! अच्युत! अनन्त! वासुदेव! जनार्दन! यज्ञेश! यज्ञपुरुष! राम! विष्णो! आपको नमस्कार

है।' इस प्रकार भगवन्नामका उच्चारण करके सम्पूर्ण जगत्को पवित्र बनाते और एकमात्र लोकपावनी गङ्गाकी स्तुति करते हुए वहाँ आये ॥ ९-१० ॥

अथायान्तं समुद्वीक्ष्य सनकाद्या महौजसः ।
यथार्हमर्हणं चक्रुर्ववन्दे सोऽपि तान् मुनीन् ॥ ११ ॥

उन्हें आते देख महातेजस्वी सनकादि मुनियोंने उनकी यथोचित पूजा की तथा नारदजीने भी उन मुनियोंको मस्तक झुकाया ॥ ११ ॥

अथ तत्र सभामध्ये नारायणपरायणम् ।
सनत्कुमारः प्रोवाच नारदं मुनिपुङ्गवम् ॥ १२ ॥

तदनन्तर वहाँ मुनियोंकी सभामें सनत्कुमारजीने भगवान् नारायणके परम भक्त मुनिवर नारदसे इस प्रकार कहा ॥ १२ ॥

सनत्कुमार उवाच

सर्वज्ञोऽसि महाप्राज्ञ मुनीशानां च नारद ।
हरिभक्तिपरो यस्मात्त्वत्तो नास्त्यपरोऽधिकः ॥ १३ ॥

सनत्कुमार बोले—महाप्राज्ञ नारदजी ! आप समस्त मुनीश्वरोंमें सर्वज्ञ हैं। सदा श्रीहरिकी भक्तिमें तत्पर रहते हैं, अतः आपसे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है ॥ १३ ॥

येनेदमखिलं जातं जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
गङ्गा पादोद्भवा यस्य कथं स ज्ञायते हरिः ॥ १४ ॥
अनुग्राह्योऽस्मि यदि ते तत्त्वतो वक्तुमर्हसि ।

इसलिये मैं पूछता हूँ, जिनसे समस्त चराचर जगत्की उत्पत्ति हुई है तथा ये गङ्गाजी जिनके चरणोंसे प्रकट हुई हैं, उन श्रीहरिके स्वरूपका ज्ञान कैसे होता है ? यदि आपकी हमलोगोंपर कृपा हो तो हमारे इस प्रश्नका यथार्थरूपसे विवेचन कीजिये ॥ १४½ ॥

नारद उवाच

नमः पराय देवाय परात्परतराय च ॥ १५ ॥
परात्परनिवासाय सगुणायागुणाय च ।

नारदजीने कहा—जो परसे भी परतर हैं, उन परमदेव श्रीरामको नमस्कार है। जिनका निवास-स्थान (परमधाम) उत्कृष्टसे भी उत्कृष्ट है तथा जो सगुण और निर्गुणरूप हैं, उन श्रीरामको मेरा नमस्कार है ॥ १५½ ॥

ज्ञानाज्ञानस्वरूपाय धर्माधर्मस्वरूपिणे ॥ १६ ॥
विद्याविद्यास्वरूपाय स्वस्वरूपाय ते नमः ।

ज्ञान-अज्ञान, धर्म-अधर्म तथा विद्या और अविद्या—ये सब जिनके अपने ही स्वरूप हैं तथा जो सबके आत्मरूप हैं, उन आप परमेश्वरको नमस्कार है ॥ १६½ ॥

यो दैत्यहन्ता नरकान्तकश्च
भुजाग्रमात्रेण च धर्मगोप्ता ॥ १७ ॥
भूभारसंघातविनोदकामं
नमामि देवं रघुवंशदीपम् ।

जो दैत्योंका विनाश और नरकका अन्त करनेवाले हैं, जो अपने हाथके संकेतमात्रसे अथवा अपनी भुजाओंके बलसे धर्मकी रक्षा करते हैं, पृथ्वीके भारका विनाश जिनका मनोरञ्जन-मात्र है और जो उस मनोरञ्जनकी सदा अभिलाषा रखते हैं, उन रघुकुलदीप श्रीरामदेवको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १७½ ॥

आविर्भूतश्चतुर्द्धा यः कपिभिः परिवारितः ॥ १८ ॥
हतवान् राक्षसानीकं रामं दाशरथिं भजे ।

जो एक होकर भी चार स्वरूपोंमें अवतीर्ण होते हैं, जिन्होंने वानरोंको साथ लेकर राक्षससेनाका संहार किया है, उन दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजीका मैं भजन करता हूँ ॥

एवमादीन्यनेकानि चरितानि महात्मनः ॥ १९ ॥
तेषां नामानि संख्यातुं शक्यन्ते नाब्दकोटिभिः ।

भगवान् श्रीरामके ऐसे-ऐसे अनेक चरित्र हैं, जिनके नाम करोड़ों वर्षोंमें भी नहीं गिनाये जा सकते हैं ॥ १९½ ॥

महिमानं तु यन्नाम्नः पारं गन्तुं न शक्यते ॥ २० ॥
मनुभिश्च मुनीन्द्रैश्च कथं तं क्षुल्लको भजेत् ।

जिनके नामकी महिमाका मनु और मुनीश्वर भी पार नहीं पा सकते, वहाँ मेरे-जैसे क्षुद्र जीवकी पहुँच कैसे हो सकती है ॥ २०½ ॥

यन्नाम्नः स्मरणेनापि महापातकिनोऽपि ये ॥ २१ ॥
पावनत्वं प्रपद्यन्ते कथं स्तोष्यामि क्षुल्लधीः ।

जिनके नामके स्मरणमात्रसे बड़े-बड़े पातकी भी पावन बन जाते हैं, उन परमात्माका स्तवन मेरे-जैसा तुच्छ बुद्धिवाला प्राणी कैसे कर सकता है ॥ २१½ ॥

रामायणपरा ये तु घोरे कलियुगे द्विजाः ॥ २२ ॥
त एव कृतकृत्याश्च तेषां नित्यं नमोऽस्तु ते ।

जो द्विज घोर कलियुगमें रामायण-कथाका आश्रय लेते हैं, वे ही कृतकृत्य हैं। उनके लिये तुम्हें सदा नमस्कार करना चाहिये ॥ २२½ ॥

ऊर्जे मासि सिते पक्षे चैत्रे माघे तथैव च ॥ २३ ॥
नवाह्ना किल श्रोतव्यं रामायणकथामृतम् ।

सनत्कुमारजी ! भगवान्की महिमाको जाननेके लिये कार्तिक, माघ और चैत्रके शुक्ल पक्षमें रामायणकी अमृतमयी कथाका नवाह श्रवण करना चाहिये ॥ २३½ ॥

गौतमशापतः प्राप्तः सुदासो राक्षसीं तनुम् ॥ २४ ॥
रामायणप्रभावेण विमुक्तिं प्राप्तवानसौ ।

ब्राह्मण सुदास गौतमके शापसे राक्षस-शरीरको प्राप्त हो गये थे; परंतु रामायणके प्रभावसे ही उन्हें उस शापसे छुटकारा मिला था ॥ २४½ ॥

सनत्कुमार उवाच

रामायणं केन प्रोक्तं सर्वधर्मफलप्रदम् ॥ २५ ॥
प्राप्तः कथं गौतमेन सौदासो मुनिसत्तम ।
रामायणप्रभावेण कथं भूयो विमोक्षितः ॥ २६ ॥

सनत्कुमारने पूछा—मुनिश्रेष्ठ ! सम्पूर्ण धर्मोंका फल देनेवाली रामायणकथाका किसने वर्णन किया है ? सौदासको गौतमद्वारा कैसे शाप प्राप्त हुआ ? फिर वे रामायणके प्रभावसे किस प्रकार शापमुक्त हुए थे ॥ २५-२६ ॥

अनुग्राह्योऽस्मि यदि ते तत्त्वतो वक्तुमर्हसि ।
सर्वमेतदशेषेण मुने नो वक्तुमर्हसि ॥ २७ ॥
शृण्वतां वदतां चैव कथा पापविनाशिनी ।

मुने ! यदि आपका हमलोगोंपर अनुग्रह हो तो सब कुछ ठीक-ठीक बताइये । इन सारी बातोंसे हमें अवगत कराइये; क्योंकि भगवान्‌की कथा वक्ता और श्रोता दोनोंके पापोंका नाश करनेवाली है ॥ २७½ ॥

नारद उवाच

शृणु रामायणं विप्र यद् वाल्मीकिमुखोद्गतम् ॥ २८ ॥
नवाह्ना खलु श्रोतव्यं रामायणकथामृतम् ।

नारदजीने कहा—ब्रह्मन् ! रामायणका प्रादुर्भाव महर्षि वाल्मीकिके मुखसे हुआ है। तुम उसीको श्रवण करो। रामायणकी अमृतमयी कथाका श्रवण नौ दिनोंमें करना चाहिये ॥ २८½ ॥

आस्ते कृतयुगे विप्रो धर्मकर्मविशारदः ॥ २९ ॥
सोमदत्त इति ख्यातो नाम्ना धर्मपरायणः ।

सत्ययुगमें एक ब्राह्मण थे, जिन्हें धर्म-कर्मका विशेष ज्ञान था। उनका नाम था सोमदत्त। वे सदा धर्मके पालनमें ही तत्पर रहते थे ॥ २९½ ॥

विप्रस्तु गौतमाख्येन मुनिना ब्रह्मवादिना ॥ ३० ॥
श्रावितः सर्वधर्मांश्च गङ्गातीरे मनोरमे ।
पुराणशास्त्रकथनैस्तेनासौ बोधितोऽपि च ॥ ३१ ॥
श्रुतवान् सर्वधर्मान् वै तेनोक्तानखिलानपि ।

(वे ब्राह्मण सौदास नामसे भी विख्यात थे।) ब्राह्मणने ब्रह्मवादी गौतम मुनिसे गङ्गाजीके मनोरम तटपर सम्पूर्ण धर्मोंका उपदेश सुना था। गौतमने पुराणों और शास्त्रोंकी कथाओंद्वारा उन्हें तत्त्वका ज्ञान कराया था। सौदासने गौतमसे उनके बताये हुए सम्पूर्ण धर्मोंका श्रवण किया था ॥

कदाचित् परमेशस्य परिचर्यापरोऽभवत् ॥ ३२ ॥
उपस्थितायापितस्मै प्रणामं न चकार सः ।

एक दिनकी बात है, सौदास परमेश्वर शिवकी आराधनामें लगे हुए थे। उसी समय वहाँ उनके गुरु गौतमजी आ पहुँचे; परंतु सौदासने अपने निकट आये हुए गुरुको भी उठकर प्रणाम नहीं किया ॥ ३२½ ॥

स तु शान्तो महाबुद्धिर्गौतमस्तेजसां निधिः ॥ ३३ ॥
शास्त्रोदितानि कर्माणि करोति स मुदं ययौ ।

परम बुद्धिमान् गौतम तेजकी निधि थे, वे शिष्यके बर्तावसे रुष्ट न होकर शान्त ही बने रहे। उन्हें यह जानकर प्रसन्नता हुई कि मेरा शिष्य सौदास शास्त्रोक्त कर्मोंका अनुष्ठान करता है ॥ ३३½ ॥

यस्त्वर्चितो महादेवः शिवः सर्वजगद्गुरुः ॥ ३४ ॥
गुर्ववज्ञाकृतं पापं राक्षसत्वे नियुक्तवान् ।
उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा विनयेषु च कोविदः ॥ ३५ ॥

किंतु सौदासने जिनकी आराधना की थी, वे सम्पूर्ण जगत्‌के गुरु महादेव शिव गुरुकी अवहेलनासे होनेवाले पापको न सह सके। उन्होंने सौदासको राक्षसकी योनिमें जानेका शाप दे दिया। तब विनयकलाकोविद ब्राह्मणने हाथ जोड़कर गौतमसे कहा ॥ ३४-३५ ॥

विप्र उवाच

भगवन् सर्वधर्मज्ञ सर्वदर्शिन् सुरेश्वर ।
क्षमस्व भगवन् सर्वमपराधः कृतो मया ॥ ३६ ॥

ब्राह्मण बोले—सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता ! सर्वदर्शी ! सुरेश्वर ! भगवन् ! मैंने जो अपराध किया है, वह सब आप क्षमा कीजिये ॥ ३६ ॥

गौतम उवाच

ऊर्जे मासे सिते पक्षे रामायणकथामृतम् ।
नवाह्ना चैव श्रोतव्यं भक्तिभावेन सादरम् ॥ ३७ ॥
नात्यन्तिकं भवेदेतद् द्वादशाब्दं भविष्यति ।

गौतमने कहा—वत्स ! कार्तिक मासके शुक्लपक्षमें तुम रामायणकी अमृतमयी कथाको भक्तिभावसे आदरपूर्वक श्रवण करो। इस कथाको नौ दिनोंमें सुनना चाहिये। ऐसा करनेसे यह शाप अधिक दिनोंतक नहीं रहेगा। केवल बारह वर्षोंतक ही रह सकेगा ॥ ३७½ ॥

विप्र उवाच

केन रामायणं प्रोक्तं चरितानि तु कस्य वै ॥ ३८ ॥
एतत् सर्वं महाप्राज्ञ संक्षेपाद् वक्तुमर्हसि ।
मनसा प्रीतिमापन्नो ववन्दे चरणौ गुरोः ॥ ३९ ॥

ब्राह्मणने पूछा—रामायणकी कथा किसने कही है ? तथा उसमें किसके चरित्रोंका वर्णन किया गया है ? महामते ! यह सब संक्षेपसे बतानेकी कृपा करें। यों कहकर मन-ही-मन प्रसन्न हो सौदासने गुरुके चरणोंमें प्रणाम किया ॥ ३८-३९ ॥

गौतम उवाच

शृणु रामायणं विप्र वाल्मीकिमुनिना कृतम् ।
येन रामावतारेण राक्षसा रावणादयः ॥ ४० ॥
हतास्तु देवकार्यं हि चरितं तस्य तच्छृणु ।
कार्त्तिके च सिते पक्षे कथा रामायणस्य तु ॥ ४१ ॥
नवमेऽहनि श्रोतव्या सर्वपापप्रणाशिनी ।

गौतमने कहा—ब्रह्मन् ! सुनो। रामायण-काव्यका निर्माण वाल्मीकि मुनिने किया है। जिन भगवान् श्रीरामने अवतार ग्रहण करके रावण आदि राक्षसोंका संहार किया और देवताओंका कार्य सँवारा था, उन्हींके चरित्रका

रामायण-काव्यमें वर्णन है। तुम उसीका श्रवण करो। कार्तिकमासके शुक्लपक्षमें नवें दिन अर्थात् प्रतिपदासे नवमीतक रामायणकी कथा सुननी चाहिये। वह समस्त पापोंका नाश करनेवाली है॥ ४०-४१½॥

इत्युक्त्वा चार्थसम्पन्नो गौतमः स्वाश्रमं ययौ ॥ ४२ ॥
विप्रोऽपि दुःखमापन्नो राक्षसीं तनुमाश्रितः ।

ऐसा कहकर पूर्णकाम गौतम ऋषि अपने आश्रमको चले गये। इधर सोमदत्त या सुदास नामक ब्राह्मणने दुःखमग्न होकर राक्षस-शरीरका आश्रय लिया॥ ४२½॥

क्षुत्पीडितः पिपासार्त्तो नित्यं क्रोधपरायणः ॥ ४३ ॥
कृष्णपक्षपाद्युतिर्भीमो बभ्राम विजने वने ।

वे सदा भूख-प्याससे पीड़ित तथा क्रोधके वशीभूत रहते थे। उनके शरीरका रंग कृष्ण पक्षकी रातके समान काला था। वे भयानक राक्षस होकर निर्जन वनमें भ्रमण करने लगे॥ ४३½॥

मृगांश्च विविधांस्तत्र मनुष्यांश्च सरीसृपान् ॥ ४४ ॥
विहगान् प्लवगांश्चैव प्रसभात्तानभक्षयत् ।

वहाँ वे नाना प्रकारके पशुओं, मनुष्यों, साँप-बिच्छू आदि जन्तुओं, पक्षियों और वानरोंको बलपूर्वक पकड़कर खा जाते थे॥ ४४½॥

अस्थिभिर्बहुभिर्विप्राः पीतरक्तकलेवरैः ॥ ४५ ॥
रक्तादप्रेतकैश्चैव तेनासीद् भूर्भयंकरी ।

ब्रह्मर्षियो! उस राक्षसके द्वारा यह पृथ्वी बहुत-सी हड्डियों तथा लाल-पीले शरीरवाले रक्तपायी प्रेतोंसे परिपूर्ण हो अत्यन्त भयंकर दिखायी देने लगी॥ ४५½॥

ऋतुत्रये स पृथिवीं शतयोजनविस्तराम् ॥ ४६ ॥
कृत्वातिदुःखितां पश्चाद्वनान्तरमगात् पुनः ।

छः महीनेमें ही सौ योजन विस्तृत भूभागको अत्यन्त दुःखित करके वह राक्षस पुनः दूसरे किसी वनमें चला गया॥

तत्रापि कृतवान् नित्यं नरमांसाशनं तदा ॥ ४७ ॥
जगाम नर्मदातीरे सर्वलोकभयंकरः ।

वहाँ भी वह प्रतिदिन नरमांसका भोजन करता रहा। सम्पूर्ण लोकोंके मनमें भय उत्पन्न करनेवाला वह राक्षस घूमता-घामता नर्मदाजीके तटपर जा पहुँचा॥ ४७½॥

एतस्मिन्नन्तरे प्राप्तः कश्चिद् विप्रोऽतिधार्मिकः ॥ ४८ ॥
कलिङ्गदेशसम्भूतो नाम्ना गर्ग इति स्मृतः ।

इसी समय कोई अत्यन्त धर्मात्मा ब्राह्मण उधर आ निकला। उसका जन्म कलिङ्गदेशमें हुआ था। लोगोंमें वह गर्ग नामसे विख्यात था॥ ४८½॥

वहन् गङ्गाजलं स्कन्धे स्तुवन् विश्वेश्वरं प्रभुम् ॥ ४९ ॥
गायन् नामानि रामस्य समायातोऽतिहर्षितः ।

कंधेपर गङ्गाजल लिये भगवान् विश्वनाथकी स्तुति तथा श्रीरामके नामोंका गान करता हुआ वह ब्राह्मण बड़े हर्ष और उत्साहमें भरकर उस पुण्य प्रदेशमें आया था॥ ४९½॥

तमायान्तं मुनिं दृष्ट्वा सुदासो नाम राक्षसः ॥ ५० ॥
प्राप्तो नः पारणेत्युक्त्वा भुजावुद्यम्य तं ययौ ।
तेन कीर्तितनामानि श्रुत्वा दूरे व्यवस्थितः ॥ ५१ ॥
अशक्तस्तं द्विजं हन्तुमिदमूचे स राक्षसः ।

गर्ग मुनिको आते देख राक्षस सुदास बोल उठा, 'हमें भोजन प्राप्त हो गया।' ऐसा कहकर अपनी दोनों भुजाओंको ऊपर उठाये हुए वह मुनिकी ओर चला; परंतु उनके द्वारा उच्चारित होनेवाले भगवन्नामोंको सुनकर वह दूर ही खड़ा रहा। उन ब्रह्मर्षिको मारनेमें असमर्थ होकर राक्षस उनसे इस प्रकार बोला॥ ५०-५१½॥

राक्षस उवाच

अहो भद्र महाभाग नमस्तुभ्यं महात्मने ॥ ५२ ॥
नामस्मरणमात्रेण राक्षसा अपि दूरगाः ।
मया प्रभक्षिताः पूर्वं विप्राः कोटिसहस्रशः ॥ ५३ ॥

राक्षसने कहा—यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है! भद्र! महाभाग! आप महात्माको नमस्कार है। आप जो भगवन्नामोंका स्मरण कर रहे हैं, इतनेसे ही राक्षस भी दूर भाग जाते हैं। मैंने पहले कोटि सहस्र ब्राह्मणोंका भक्षण किया है॥ ५२-५३॥

नामप्रावरणं विप्र रक्षति त्वां महाभयात् ।
नामस्मरणमात्रेण राक्षसा अपि भो वयम् ॥ ५४ ॥
परां शान्तिं समापन्ना महिमा कोऽच्युतस्य हि ।

ब्रह्मन्! आपके पास जो नामरूपी कवच है, वही राक्षसोंके महान् भयसे आपकी रक्षा करता है। आपके द्वारा किये गये नामस्मरणमात्रसे हम राक्षसोंको भी परम शान्ति प्राप्त हो गयी। यह भगवान् अच्युतकी कैसी महिमा है॥

सर्वथा त्वं महाभाग रागादिरहितो द्विज ॥ ५५ ॥
रामकथाप्रभावेण पाह्यस्मात् पातकाधमात् ।

महाभाग ब्राह्मण! आप श्रीरामकथाके प्रभावसे सर्वथा राग आदि दोषोंसे रहित हो गये हैं। अतः आप मुझे इस अधम पातकसे बचाइये॥ ५५½॥

गुर्ववज्ञा मया पूर्वं कृता च मुनिसत्तम ॥ ५६ ॥
कृतश्चानुग्रहः पश्चाद् गुरुणोक्तमिदं वचः ।

मुनिश्रेष्ठ! मैंने पूर्वकालमें अपने गुरुकी अवहेलना की थी। फिर गुरुजीने मुझपर अनुग्रह किया और यह बात कही॥

वाल्मीकिमुनिना पूर्वं कथा रामायणस्य च ॥ ५७ ॥
ऊर्जे मासे सिते पक्षे श्रोतव्या च प्रयत्नतः ।

'पूर्वकालमें वाल्मीकि मुनिने जो रामायणकी कथा कही है, उसका कार्तिकमासके शुक्ल पक्षमें प्रयत्नपूर्वक श्रवण करना चाहिये'॥ ५७½॥

गुरुणापि पुनः प्रोक्तं रम्यं तु शुभदं वचः ॥ ५८ ॥
नवाह्ना खलु श्रोतव्यं रामायणकथामृतम् ।

इतना कहकर गुरुदेवने पुनः यह सुन्दर एवं शुभदायक वचन कहा—'रामायणकी अमृतमयी कथा नौ दिनमें सुननी चाहिये' ॥ ५८½ ॥

तस्माद् ब्रह्मन् महाभाग सर्वशास्त्रार्थकोविद ॥ ५९ ॥
कथाश्रवणमात्रेण पाह्यस्मात् पापकर्मणः ।

अतः सम्पूर्ण शास्त्रोंके तत्त्वको जाननेवाले महाभाग ब्राह्मण! आप मुझे रामायणकथा सुनाकर इस पापकर्मसे मेरी रक्षा कीजिये ॥ ५९½ ॥

नारद उवाच

ततो रामायणं ख्यातं राममाहात्म्यमुत्तमम् ॥ ६० ॥
निशम्य विस्मयाविष्टो बभूव द्विजसत्तमः ।
ततो विप्रः कृपाविष्टो रामनामपरायणः ॥ ६१ ॥
सुदासराक्षसं नाम चेदं वाक्यमथाब्रवीत् ।

नारदजी कहते हैं—उस समय वहाँ राक्षसके मुखसे रामायणका परिचय तथा श्रीरामके उत्तम माहात्म्यका वर्णन सुनकर द्विजश्रेष्ठ गर्ग आश्चर्यचकित हो उठे। श्रीरामका नाम ही उनके जीवनका अवलम्ब था। वे ब्राह्मणदेवता उस राक्षसके प्रति दयासे द्रवित हो गये और सुदाससे इस प्रकार बोले ॥ ६०-६१½ ॥

विप्र उवाच

राक्षसेन्द्र महाभाग मतिस्ते विमलाभवत् ॥ ६२ ॥
अस्मिन्नूर्जे सिते पक्षे रामायणकथां शृणु ।
शृणु त्वं राममाहात्म्यं रामभक्तिपरायण ॥ ६३ ॥

ब्राह्मणने कहा—महाभाग! राक्षसराज! तुम्हारी बुद्धि निर्मल हो गयी है। इस समय कार्तिकमासका शुक्ल पक्ष चल रहा है। इसमें रामायणकी कथा सुनो। राम-भक्तिपरायण राक्षस! तुम श्रीरामचन्द्रजीके माहात्म्यको श्रवण करो ॥६२-६३ ॥

रामध्यानपराणां च कः समर्थः प्रबाधितुम् ।
रामभक्तिपरो यत्र तत्र ब्रह्मा हरिः शिवः ॥ ६४ ॥
तत्र देवाश्च सिद्धाश्च रामायणपरा नराः ।

श्रीरामचन्द्रजीके ध्यानमें तत्पर रहनेवाले मनुष्योंको बाधा पहुँचानेमें कौन समर्थ हो सकता है। जहाँ श्रीरामका भक्त है, वहाँ ब्रह्मा, विष्णु और शिव विराजमान हैं। वहीं देवता, सिद्ध तथा रामायणका आश्रय लेनेवाले मनुष्य हैं ॥ ६४½ ॥

तस्मादूर्जे सिते पक्षे रामायणकथां शृणु ॥ ६५ ॥
नवाह्ना खलु श्रोतव्यं सावधानः सदा भव ।

अतः इस कार्तिकमासके शुक्ल पक्षमें तुम रामायणकी कथा सुनो। नौ दिनोंतक इस कथाको सुननेका विधान है। अतः तुम सदा सावधान रहो ॥ ६५½ ॥

इत्युक्त्वा कथयामास रामायणकथां मुनिः ॥ ६६ ॥
कथाश्रवणमात्रेण राक्षसत्वमपाकृतम् ।
विसृज्य राक्षसं भावमभवद् देवतोपमः ॥ ६७ ॥
कोटिसूर्यप्रतीकाशो नारायणसमप्रभः ।
शङ्खचक्रगदापाणिर्हरेः सद्म जगाम सः ॥ ६८ ॥
स्तुवन् तं ब्राह्मणं सम्यग् जगाम हरिमन्दिरम् ॥ ६९ ॥

ऐसा कहकर गर्ग मुनिने उसे रामायणकी कथा सुनायी। कथा सुनते ही उसका राक्षसत्व दूर हो गया। राक्षस-भावका परित्याग करके वह देवताओंके समान सुन्दर, करोड़ों सूर्योंके समान तेजस्वी और भगवान् नारायणके समान कान्तिमान् हो गया। अपनी चार भुजाओंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म लिये वह श्रीहरिके वैकुण्ठधाममें चला गया। ब्राह्मण गर्ग मुनिकी भूरि-भूरि प्रशंसा करता हुआ वह भगवान्के उत्तम धाममें जा पहुँचा ॥ ६६—६९ ॥

नारद उवाच

तस्माच्छृणुध्वं विप्रेन्द्रा रामायणकथामृतम् ।
स तस्य महिमा तत्र ऊर्जे मासि च कीर्त्यते ॥ ७० ॥

नारदजी कहते हैं—विप्रवरो! अतः आप-लोग भी रामायणकी अमृतमयी कथा सुनिये। इसके श्रवणकी सदा ही महिमा है, किंतु कार्तिकमासमें विशेष बतायी गयी है ॥ ७० ॥

यन्नामस्मरणादेव महापातककोटिभिः ।
विमुक्तः सर्वपापेभ्यो नरो याति परां गतिम् ॥ ७१ ॥

रामायणके नामका स्मरण करनेसे ही मनुष्य करोड़ों महापातकों तथा समस्त पापोंसे मुक्त हो परमगतिको प्राप्त होता है ॥ ७१ ॥

रामायणेति यन्नाम सकृदप्युच्यते यदा ।
तदैव पापनिर्मुक्तो विष्णुलोकं स गच्छति ॥ ७२ ॥

मनुष्य 'रामायण' इस नामका जब एक बार भी उच्चारण करता है, तभी वह समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है और अन्तमें भगवान् विष्णुके लोकमें चला जाता है ॥ ७२ ॥

ये पठन्ति सदाऽऽख्यानं भक्त्या शृण्वन्ति ये नराः ।
गङ्गास्नानाच्छतगुणं तेषां संजायते फलम् ॥ ७३ ॥

जो मनुष्य सदा भक्तिभावसे रामायण-कथाको पढ़ते और सुनते हैं, उन्हें गङ्गास्नानकी अपेक्षा सौगुना पुण्यफल प्राप्त होता है ॥ ७३ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे उत्तरखण्डे नारदसनत्कुमारसंवादे रामायणमाहात्म्ये राक्षसमोक्षणं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीस्कन्दपुराणके उत्तरखण्डमें नारद-सनत्कुमारसंवादके अन्तर्गत वाल्मीकीय रामायणमाहात्म्यके प्रसङ्गमें राक्षसका उद्धार नामक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

माघमासमें रामायण-श्रवणका फल—राजा सुमति और सत्यवतीके पूर्व-जन्मका इतिहास

सनत्कुमार उवाच

अहो विप्र इदं प्रोक्तमितिहासं च नारद।
रामायणस्य माहात्म्यं त्वं पुनर्वद विस्तरात्॥ १॥

सनत्कुमारने कहा—ब्रह्मर्षि नारदजी! आपने यह अद्भुत इतिहास सुनाया है। अब रामायणके माहात्म्यका पुनः विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये॥ १॥

अन्यमासस्य माहात्म्यं कथयस्व प्रसादतः।
कस्य नो जायते तुष्टिर्मुने त्वद्वचनामृतात्॥ २॥

(आपने कार्तिक मासमें रामायणके श्रवणकी महिमा बतायी।) अब कृपापूर्वक दूसरे मासका माहात्म्य बताइये। मुने! आपके वचनामृतसे किसको संतोष नहीं होगा?॥ २॥

नारद उवाच

सर्वे यूयं महाभागाः कृतार्था नात्र संशयः।
यतः प्रभावं रामस्य भक्तितः श्रोतुमुद्यताः॥ ३॥

नारदजीने कहा—महात्माओ! आप सब लोग निश्चय ही बड़े भाग्यशाली और कृतकृत्य हैं, इसमें संशय नहीं है; क्योंकि आप भक्तिभावसे भगवान् श्रीरामकी महिमा सुननेके लिये उद्यत हुए हैं॥ ३॥

माहात्म्यश्रवणं यस्य राघवस्य कृतात्मनाम्।
दुर्लभं प्राहुरत्यन्तं मुनयो ब्रह्मवादिनः॥ ४॥

ब्रह्मवादी मुनियोंने भगवान् श्रीरामके माहात्म्यका श्रवण पुण्यात्मा पुरुषोंके लिये परम दुर्लभ बताया है॥ ४॥

शृणुध्वमृषयश्चित्रमितिहासं पुरातनम्।
सर्वपापप्रशमनं सर्वरोगविनाशनम्॥ ५॥

महर्षियो! अब आपलोग एक विचित्र पुरातन इतिहास सुनिये, जो समस्त पापोंका निवारण और सम्पूर्ण रोगोंका विनाश करनेवाला है॥ ५॥

आसीत् पुरा द्वापरे च सुमतिर्नाम भूपतिः।
सोमवंशोद्भवः श्रीमान् सप्तद्वीपैकनायकः॥ ६॥

पूर्वकालकी बात है, द्वापरमें सुमति नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं। उनका जन्म चन्द्रवंशमें हुआ था। वे श्रीसम्पन्न और सातों द्वीपोंके एकमात्र सम्राट् थे॥ ६॥

धर्मात्मा सत्यसम्पन्नः सर्वसम्पद्विभूषितः।
सदा रामकथासेवी रामपूजापरायणः॥ ७॥

उनका मन सदा धर्ममें ही लगा रहता था। वे सत्यवादी तथा सब प्रकारकी सम्पत्तियोंसे सुशोभित थे। सदा श्रीरामकथाके सेवन और श्रीरामकी ही समाराधनामें संलग्न रहते थे॥ ७॥

रामपूजापराणां च शुश्रूषुरनहंकृतिः।
पूज्येषु पूजानिरतः समदर्शी गुणान्वितः॥ ८॥

श्रीरामकी पूजा-अर्चामें लगे रहनेवाले भक्तोंकी वे सदा सेवा करते थे। उनमें अहंकारका नाम भी नहीं था। वे पूज्य पुरुषोंके पूजनमें तत्पर रहनेवाले, समदर्शी तथा सद्गुणसम्पन्न थे॥ ८॥

सर्वभूतहितः शान्तः कृतज्ञः कीर्तिमान् नृपः।
तस्य भार्या महाभागा सर्वलक्षणसंयुता॥ ९॥

राजा सुमति समस्त प्राणियोंके हितैषी, शान्त, कृतज्ञ और यशस्वी थे। उनकी परम सौभाग्यशालिनी पत्नी भी समस्त शुभ लक्षणोंसे सुशोभित थी॥ ९॥

पतिव्रता पतिप्राणा नाम्ना सत्यवती श्रुता।
तावुभौ दम्पती नित्यं रामायणपरायणौ॥ १०॥

उसका नाम सत्यवती था। वह पतिव्रता थी। पतिमें ही उसके प्राण बसते थे। वे दोनों पति-पत्नी सदा रामायणके ही पढ़ने और सुननेमें संलग्न रहते थे॥ १०॥

अन्नदानरतौ नित्यं जलदानपरायणौ।
तडागारामवाप्यादीनसंख्यातान् वितेनतुः॥ ११॥

सदा अन्नका दान करते और प्रतिदिन जलदानमें प्रवृत्त रहते थे। उन्होंने असंख्य पोखरों, बगीचों और बावड़ियोंका निर्माण कराया था॥ ११॥

सोऽपि राजा महाभागो रामायणपरायणः।
वाचयेच्छृणुयाद् वापि भक्तिभावेन भावितः॥ १२॥

महाभाग राजा सुमति भी सदा रामायणके ही अनुशीलनमें लगे रहते थे। वे भक्तिभावसे भावित हो रामायणको ही बाँचते अथवा सुनते थे॥ १२॥

एवं रामपरं नित्यं राजानं धर्मकोविदम्।
तस्य प्रियां सत्यवतीं देवा अपि सदास्तुवन्॥ १३॥

इस प्रकार वे धर्मज्ञ नरेश सदा श्रीरामकी आराधनामें ही तत्पर रहते थे। उनकी प्यारी पत्नी सत्यवती भी ऐसी ही थी। देवता भी उन दोनों दम्पतिकी सदा भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे॥ १३॥

विश्रुतौ त्रिषु लोकेषु दम्पती तौ हि धार्मिकौ।
आययौ बहुभिः शिष्यैर्द्रष्टुकामो विभाण्डकः॥ १४॥

एक दिन उन त्रिभुवनविख्यात धर्मात्मा राजा-रानीको देखनेके लिये विभाण्डक मुनि अपने बहुत-से शिष्योंके साथ वहाँ आये॥ १४॥

विभाण्डकं मुनिं दृष्ट्वा सुखमाप्तो जनेश्वरः।
प्रत्युद्ययौ सपत्नीकः पूजाभिर्बहुविस्तरम्॥ १५॥

मुनिवर विभाण्डकको आया देख राजा सुमतिको बड़ा सुख मिला। वे पूजाकी विस्तृत सामग्री साथ ले पत्नीसहित उनकी अगवानीके लिये गये॥ १५॥

कृतातिथ्यक्रियं शान्तं कृतासनपरिग्रहम्।
निजासनगतो भूपः प्राञ्जलिर्मुनिमब्रवीत्॥ १६॥

जब मुनिका अतिथि-सत्कार सम्पन्न हो गया और वे शान्तभावसे आसनपर विराजमान हो गये, उस समय अपने आसनपर बैठे हुए भूपालने मुनिसे हाथ जोड़कर कहा ॥

राजोवाच

भगवन् कृतकृत्योऽद्य त्वदभ्यागमनेन भोः ।
सतामागमनं सन्तः प्रशंसन्ति सुखावहम् ॥ १७ ॥

राजा बोले—भगवन्! आज आपके शुभागमनसे मैं कृतार्थ हो गया; क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष संतोंके आगमनको सुखदायक बताकर उसकी प्रशंसा करते हैं ॥ १७ ॥

यत्र स्यान्महतां प्रेम तत्र स्युः सर्वसम्पदः ।
तेजः कीर्तिर्धनं पुत्र इति प्राहुर्विपश्चितः ॥ १८ ॥

जहाँ महापुरुषोंका प्रेम होता है, वहाँ सारी सम्पत्तियाँ अपने-आप उपस्थित हो जाती हैं। वहाँ तेज, कीर्ति, धन और पुत्र—सभी वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं—ऐसा विद्वान् पुरुषोंका कथन है ॥ १८ ॥

तत्र वृद्धिं गमिष्यन्ति श्रेयांस्यनुदिनं मुने ।
यत्र सन्तः प्रकुर्वन्ति महतीं करुणां प्रभो ॥ १९ ॥

मुने ! प्रभो ! जहाँ संत-महात्मा बड़ी भारी कृपा करते हैं, वहाँ प्रतिदिन कल्याणमय साधनोंकी वृद्धि होती है ॥ १९ ॥

यो मूर्ध्नि धारयेद् ब्रह्मन् विप्रपादतलोदकम् ।
स स्नातो सर्वतीर्थेषु पुण्यवान् नात्र संशयः ॥ २० ॥

ब्रह्मन् ! जो अपने मस्तकपर ब्राह्मणोंका चरणोदक धारण करता है, उस पुण्यात्मा पुरुषने सब तीर्थोंमें स्नान कर लिया—इसमें संशय नहीं है ॥ २० ॥

मम पुत्राश्च दाराश्च सम्पदश्च समर्पिताः ।
समाज्ञापय शान्तात्मन् वयं किं करवाणि ते ॥ २१ ॥

शान्तस्वरूप महर्षे ! मेरे पुत्र, पत्नी तथा सारी सम्पत्ति आपके चरणोंमें समर्पित हैं। आज्ञा दीजिये, हम आपकी क्या सेवा करें ? ॥ २१ ॥

इत्थं वदन्तं भूपं तं स निरीक्ष्य मुनीश्वरः ।
स्पृशन् करेण राजानं प्रत्युवाचातिहर्षितः ॥ २२ ॥

ऐसी बातें कहते हुए राजा सुमतिकी ओर देखकर मुनीश्वर विभाण्डक बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने अपने हाथसे राजाका स्पर्श करते हुए कहा ॥ २२ ॥

ऋषिरुवाच

राजन् यदुक्तं भवता तत्सर्वं त्वत्कुलोचितम् ।
विनयावनताः सर्वे परं श्रेयो भजन्ति हि ॥ २३ ॥

ऋषि बोले—राजन् ! तुमने जो कुछ कहा है, वह सब तुम्हारे कुलके अनुरूप है। जो इस प्रकार विनयसे झुक जाते हैं, वे सब लोग परम कल्याणके भागी होते हैं ॥२३ ॥

प्रीतोऽस्मि तव भूपाल सन्मार्गपरिवर्तिनः ।
स्वस्ति तेऽस्तु महाभाग यत्पृच्छामि तदुच्यताम् ॥ २४ ॥

भूपाल ! तुम सन्मार्गपर चलनेवाले हो। मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। महाभाग ! तुम्हारा कल्याण हो। मैं तुमसे जो कुछ पूछता हूँ, उसे बताओ ॥ २४ ॥

हरिसंतोषकान्यासन् पुराणानि बहून्यपि ।
माघे मासि चोद्यतोऽसि रामायणपरायणः ॥ २५ ॥
तव भार्यापि साध्वीयं नित्यं रामपरायणा ।
किमर्थमेतद् वृत्तान्तं यथावद् वक्तुमर्हसि ॥ २६ ॥

यद्यपि भगवान् श्रीहरिको संतुष्ट करनेवाले बहुत-से पुराण भी थे, जिनका तुम पाठ कर सकते थे, तथापि इस माघमासमें सब प्रकारसे प्रयत्नशील होकर तुम जो रामायणके ही पारायणमें लगे हुए हो तथा तुम्हारी यह साध्वी पत्नी भी सदा जो श्रीरामकी ही आराधनामें रत रहती है, इसका क्या कारण है ? यह वृत्तान्त यथावत्-रूपसे मुझे बताओ ॥२५-२६ ॥

राजोवाच

शृणुष्व भगवन् सर्वं यत्पृच्छसि वदामि तत् ।
आश्चर्यं यद्धि लोकानामावयोश्चरितं मुने ॥ २७ ॥

राजाने कहा—भगवन् ! सुनिये, आप जो कुछ पूछते हैं, वह सब मैं बता रहा हूँ। मुने ! हम दोनोंका चरित्र सम्पूर्ण जगत्के लिये आश्चर्यजनक है ॥ २७ ॥

अहमासं पुरा शूद्रो मालतिर्नाम सत्तम ।
कुमार्गनिरतो नित्यं सर्वलोकाहिते रतः ॥ २८ ॥

साधुशिरोमणे ! पूर्वजन्ममें मैं मालति नामक शूद्र था। सदा कुमार्गपर ही चलता और सब लोगोंके अहित-साधनमें ही संलग्न रहता था ॥ २८ ॥

पिशुनो धर्मविद्वेषी देवद्रव्यापहारकः ।
महापातकिसंसर्गी देवद्रव्योपजीवकः ॥ २९ ॥

दूसरोंकी चुगली खानेवाला, धर्मद्रोही, देवतासम्बन्धी द्रव्यका अपहरण करनेवाला तथा महापातकियोंके संसर्गमें रहनेवाला था। मैं देव-सम्पत्तिसे ही जीविका चलाता था ॥

गोघ्नश्च ब्रह्महा चौरो नित्यं प्राणिवधे रतः ।
नित्यं निष्ठुरवक्ता च पापी वेश्यापरायणः ॥ ३० ॥

गोहत्या, ब्राह्मणहत्या और चोरी करना—यही अपना धंधा था। मैं सदा दूसरे प्राणियोंकी हिंसामें ही लगा रहता था। प्रतिदिन दूसरोंसे कठोर बातें बोलता, पाप करता और वेश्याओंमें आसक्त रहता था ॥ ३० ॥

किञ्चित् काले स्थितो ह्येवमनादृत्य महद्वचः ।
सर्वबन्धुपरित्यक्तो दुःखी वनमुपागमम् ॥ ३१ ॥

इस प्रकार कुछ कालतक घरमें रहा, फिर बड़े लोगोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेके कारण मेरे सभी भाई-बन्धुओंने मुझे त्याग दिया और मैं दुःखी होकर वनमें चला आया ॥ ३१ ॥

मृगमांसाशनं नित्यं तथा मार्गविरोधकृत् ।
एकाकी दुःखबहुलो न्यवसं निर्जने वने ॥ ३२ ॥

वहाँ प्रतिदिन मृगोंका मांस खाकर रहता था और काँटे आदि बिछाकर लोगोंके आने-जानेका मार्ग अवरुद्ध कर देता था। इस तरह अकेला बहुत दुःख भोगता हुआ मैं उस निर्जन वनमें रहने लगा॥ ३२॥

एकदा क्षुत्परिश्रान्तो निद्राघूर्णः पिपासितः।
वसिष्ठस्याश्रमं दैवादपश्यं निर्जने वने॥ ३३॥

एक दिनकी बात है, मैं भूखा-प्यासा, थका-माँदा, निद्रासे झूमता हुआ एक निर्जन वनमें आया। वहाँ दैवयोगसे वसिष्ठजीके आश्रमपर मेरी दृष्टि पड़ी॥ ३३॥

हंसकारण्डवाकीर्णं तत्समीपे महत्सरः।
पर्यन्ते वनपुष्पौघैश्छादितं तन्मुनीश्वर॥ ३४॥

उस आश्रमके निकट एक विशाल सरोवर था, जिसमें हंस और कारण्डव आदि जलपक्षी छा रहे थे। मुनीश्वर! वह सरोवर चारों ओरसे वन्य पुष्प-समूहोंद्वारा आच्छादित था॥ ३४॥

अपिबं तत्र पानीयं तत्तटे विगतश्रमः।
उन्मूल्य वृक्षमूलानि मया क्षुच्च निवारिता॥ ३५॥

वहाँ जाकर मैंने पानी पिया और उसके तटपर बैठकर अपनी थकावट दूर की। फिर कुछ वृक्षोंकी जड़ें उखाड़कर उनके द्वारा अपनी भूख बुझायी॥ ३५॥

वसिष्ठस्याश्रमे तत्र निवासं कृतवानहम्।
शीर्णस्फटिकसंधानं तत्र चाहमकारिषम्॥ ३६॥

वसिष्ठके उस आश्रमके पास ही मैं निवास करने लगा। टूटी-फूटी स्फटिक-शिलाओंको जोड़कर मैंने वहाँ दीवार खड़ी की॥ ३६॥

पर्णैस्तृणैश्च काष्ठैश्च गृहं सम्यक् प्रकल्पितम्।
तत्राहं व्याधसत्त्वस्थो हत्वा बहुविधान् मृगान्॥ ३७॥
आजीविकां च कुर्वाणो वत्सराणां च विंशतिम्।

फिर पत्तों, तिनकों और काष्ठोंद्वारा एक सुन्दर घर बना लिया। उसी घरमें रहकर मैं व्याधोंकी वृत्तिका आश्रय ले नाना प्रकारके मृगोंको मारकर उन्हींके द्वारा बीस वर्षोंतक अपनी जीविका चलाता रहा॥ ३७½॥

अथेयमागता साध्वी विन्ध्यदेशसमुद्भवा॥ ३८॥
निषादकुलसम्भूता नाम्ना कालीति विश्रुता।
बन्धुवर्गैः परित्यक्ता दुःखिता जीर्णविग्रहा॥ ३९॥

तदनन्तर मेरी ये साध्वी पत्नी वहाँ मेरे पास आयीं। पूर्वजन्ममें इनका नाम काली था। काली निषादकुलकी कन्या थी और विन्ध्यप्रदेशमें उत्पन्न हुई थी। उसके भाई-बन्धुओंने उसे त्याग दिया था। वह दुःखसे पीड़ित थी। उसका शरीर वृद्ध हो चला था॥ ३८-३९॥

ब्रह्मन् क्षुत्परिश्रान्ता शोचन्ती भौक्तिकीं क्रियाम्।
दैवयोगात् समायाता भ्रमन्ती विजने वने॥ ४०॥

ब्रह्मन्! वह भूख-प्याससे शिथिल हो गयी थी और इस सोचमें पड़ी थी कि भोजनका कार्य कैसे चलेगा? दैवयोगसे घूमती-घामती वह उसी निर्जन वनमें आ पहुँची, जिसमें मैं रहता था॥ ४०॥

मासे ग्रीष्मे च तापार्त्ता ह्यन्तस्तापप्रपीडिता।
इमां दुःखवतीं दृष्ट्वा जाता मे विपुला घृणा॥ ४१॥

गर्मीका महीना था। बाहर इसे धूप सता रही थी और भीतर मानसिक संताप अत्यन्त पीड़ा दे रहा था। इस दुःखिनी नारीको देखकर मेरे मनमें बड़ी दया आयी॥ ४१॥

मया दत्तं जलं चास्यै मांसं वनफलं तथा।
गतश्रमा तु सा पृष्टा मया ब्रह्मन् यथातथम्॥ ४२॥

मैंने इसे पीनेके लिये जल तथा खानेके लिये मांस और जंगली फल दिये। ब्रह्मन्! काली जब विश्राम कर चुकी, तब मैंने उससे उसका यथावत् वृत्तान्त पूछा॥ ४२॥

न्यवेदयत् स्वकर्माणि तानि शृणु महामुने।
इयं काली तु नाम्ना वै निषादकुलसम्भवा॥ ४३॥

महामुने! मेरे पूछनेपर उसने जो अपने जन्म-कर्म निवेदन किये थे, उन्हें बताता हूँ। सुनिये—उसका नाम काली था और वह निषादकुलकी कन्या थी॥ ४३॥

दाम्भिकस्य सुता विद्वन् न्यवसद् विन्ध्यपर्वते।
परस्वहारिणी नित्यं सदा पैशुन्यवादिनी॥ ४४॥

विद्वन्! उसके पिताका नाम दाम्भिक (या दाविक) था। वह उसीकी पुत्री थी और विन्ध्यपर्वतपर निवास करती थी। सदा दूसरोंका धन चुराना और चुगली खाना ही उसका काम था॥ ४४॥

बन्धुवर्गैः परित्यक्ता यतो हतवती पतिम्।
कान्तारे विजने ब्रह्मन् मत्समीपमुपागता॥ ४५॥

एक दिन उसने अपने पतिकी हत्या कर डाली, इसीलिये भाई-बन्धुओंने उसे घरसे निकाल दिया। ब्रह्मन्! इस तरह परित्यक्ता काली उस दुर्गम एवं निर्जन वनमें मेरे पास आयी थी॥ ४५॥

इत्येवं स्वकृतं कर्म सर्वं मह्यं न्यवेदयत्।
वसिष्ठस्याश्रमे पुण्ये अहं चेयं च वै मुने॥ ४६॥
दम्पतीभावमाश्रित्य स्थितौ मांसाशिनौ तदा।

उसने अपनी सारी करतूतें मुझे इसी रूपमें बतायी थीं। मुने! तब वसिष्ठजीके उस पवित्र आश्रमके निकट मैं और काली—दोनों पति-पत्नीका सम्बन्ध स्वीकार करके रहने और मांसाहारसे ही जीवन-निर्वाह करने लगे॥ ४६½॥

उद्यमार्थे गतौ चैव वसिष्ठस्याश्रमं तदा॥ ४७॥
दृष्ट्वा चैव समाजं च देवर्षीणां च सत्तम।
रामायणपरा विप्रा माघे दृष्टा दिने दिने॥ ४८॥

एक दिन हम दोनों जीविकाके निमित्त कुछ उद्यम करनेके लिये वहाँ वसिष्ठजीके आश्रमपर गये। महात्मन्! वहाँ देवर्षियोंका समाज जुटा हुआ था। वहीं देखकर हमलोग

उधर गये थे। वहाँ माघमासमें प्रतिदिन ब्राह्मणलोग रामायणका पाठ करते दिखायी देते थे ॥ ४७-४८ ॥

निराहारौ च विक्रान्तौ क्षुत्पिपासाप्रपीडितौ ।
अनिच्छया गतौ तत्र वसिष्ठस्याश्रमं प्रति ॥ ४९ ॥
रामायणकथां श्रोतुं नवाह्ना चैव भक्तितः ।
तत्काल एव पञ्चत्वमावयोरभवन्मुने ॥ ५० ॥

उस समय हमलोग निराहार थे और पुरुषार्थ करनेमें समर्थ होकर भी भूख-प्याससे कष्ट पा रहे थे। अतः बिना इच्छाके ही वसिष्ठजीके आश्रमपर चले गये थे। फिर लगातार नौ दिनोंतक भक्तिपूर्वक रामायणकी कथा सुननेके लिये हम दोनों वहाँ जाते रहे। मुने! उसी समय हम दोनोंकी मृत्यु हो गयी ॥ ४९-५० ॥

कर्मणा तेन तुष्टात्मा भगवान् मधुसूदनः ।
स्वदूतान् प्रेषयामास मदाहरणकारणात् ॥ ५१ ॥

हमारे उस कर्मसे भगवान् मधुसूदनका मन प्रसन्न हो गया था, अतः उन्होंने हमें ले आनेके लिये दूत भेजे ॥ ५१ ॥

आरोप्य मां विमाने तु जग्मुस्ते च परं पदम् ।
आवां समीपमापन्नौ देवदेवस्य चक्रिणः ॥ ५२ ॥

वे दूत हम दोनोंको विमानमें बिठाकर भगवान्‌के परम पद (उत्तम धाम) में ले गये। हम दोनों देवाधिदेव चक्रपाणिके निकट जा पहुँचे * ॥ ५२ ॥

भुक्तवन्तौ महाभोगान् यावत्कालं शृणुष्व मे ।
युगकोटिसहस्राणि युगकोटिशतानि च ॥ ५३ ॥
उषित्वा रामभवने ब्रह्मलोकमुपागतौ ।
तावत्कालं च तत्रापि स्थित्वैन्द्रपदमागतौ ॥ ५४ ॥

वहाँ हमने जितने समयतक बड़े-बड़े भोग भोगे थे, वह बता रहे हैं। सुनिये—कोटि सहस्र और कोटि शत युगोंतक श्रीरामधाममें निवास करके हमलोग ब्रह्मलोकमें आये। वहाँ भी उतने ही समयतक रहकर हम इन्द्रलोकमें आ गये ॥ ५३-५४ ॥

तत्रापि तावत्कालं च भुक्त्वा भोगाननुत्तमान् ।
ततः पृथ्वीं वयं प्राप्ताः क्रमेण मुनिसत्तम ॥ ५५ ॥

मुनिश्रेष्ठ! इन्द्रलोकमें भी उतने ही कालतक परम उत्तम भोग भोगनेके पश्चात् हम क्रमशः इस पृथ्वीपर आये हैं ॥ ५५ ॥

अत्रापि सम्पदतुला रामायणप्रसादतः ।
अनिच्छया कृतेनापि प्राप्तमेवंविधं मुने ॥ ५६ ॥

यहाँ भी रामायणके प्रसादसे हमें अतुल सम्पत्ति प्राप्त हुई है। मुने! अनिच्छासे रामायणका श्रवण करनेपर भी हमें ऐसा फल प्राप्त हुआ है ॥ ५६ ॥

नवाह्ना किल श्रोतव्यं रामायणकथामृतम् ।
भक्तिभावेन धर्मात्मञ्जन्ममृत्युजरापहम् ॥ ५७ ॥

धर्मात्मन्! यदि नौ दिनोंतक भक्ति-भावसे रामायणकी अमृतमयी कथा सुनी जाय तो वह जन्म, जरा और मृत्युका नाश करनेवाली होती है ॥ ५७ ॥

अवशेनापि यत्कर्म कृतं तु सुमहत्फलम् ।
ददाति शृणु विप्रेन्द्र रामायणप्रसादतः ॥ ५८ ॥

विप्रवर! सुनिये, विवश होकर भी जो कर्म किया जाता है, वह रामायणके प्रसादसे परम महान् फल प्रदान करता है ॥ ५८ ॥

नारद उवाच

एतत्सर्वं निशम्यासौ विभाण्डको मुनीश्वरः ।
अभिनन्द्य महीपालं प्रययौ स्वतपोवनम् ॥ ५९ ॥

नारदजी कहते हैं—यह सब सुनकर मुनीश्वर विभाण्डक राजा सुमतिका अभिनन्दन करके अपने तपोवनको चले गये ॥ ५९ ॥

तस्माच्छृणुध्वं विप्रेन्द्रा देवदेवस्य चक्रिणः ।
रामायणकथा चैव कामधेनूपमा स्मृता ॥ ६० ॥

विप्रवरो! अतः आपलोग देवाधिदेव चक्रपाणि भगवान् श्रीहरिकी कथा सुनिये। रामायणकथा कामधेनुके समान अभीष्ट फल देनेवाली बतायी गयी है ॥ ६० ॥

माघे मासे सिते पक्षे रामायणं प्रयत्नतः ।
नवाह्ना किल श्रोतव्यं सर्वधर्मफलप्रदम् ॥ ६१ ॥

माघमासके शुक्ल पक्षमें प्रयत्नपूर्वक रामायणकी नवाह्नकथा सुननी चाहिये। वह सम्पूर्ण धर्मोंका फल प्रदान करनेवाली है ॥ ६१ ॥

य इदं पुण्यमाख्यानं सर्वपापप्रणाशनम् ।
वाचयेच्छृणुयाद् वापि रामभक्तश्च जायते ॥ ६२ ॥

यह पवित्र आख्यान समस्त पापोंका नाश करनेवाला है। जो इसे बाँचता अथवा सुनता है, वह भगवान् श्रीरामका भक्त होता है ॥ ६२ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे उत्तरखण्डे नारदसनत्कुमारसंवादे रामायणमाहात्म्ये माघफलानुकीर्तनं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीस्कन्दपुराणके उत्तरखण्डमें नारदसनत्कुमारसंवादके अन्तर्गत रामायणमाहात्म्यके प्रसङ्गमें माघमासमें रामायणकथाश्रवणके फलका वर्णन नामक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

———★———

* यहाँ जिस परम पदसे लौटनेका वर्णन है, वह ब्रह्मलोकसे भिन्न कोई उत्तम लोक था, जहाँ भगवान् मधुसूदनके सांनिध्य तथा श्रीरामके दर्शन-सुखका अनुभव होता था, इसे साक्षात् वैकुण्ठ या साकेत नहीं मानना चाहिये; क्योंकि वहाँसे पुनरावृत्ति नहीं होती। अनिच्छासे कथा-श्रवण करनेके कारण उन्हें अपुनरावर्ती लोक नहीं मिला था।

चतुर्थोऽध्यायः

चैत्रमासमें रामायणके पठन और श्रवणका माहात्म्य, कलिक नामक व्याध और उत्तङ्क मुनिकी कथा

नारद उवाच

अन्यमासं प्रवक्ष्यामि शृणुध्वं सुसमाहिताः।
सर्वपापहरं पुण्यं सर्वदुःखनिबर्हणम्॥ १॥
ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां चैव योषिताम्।
समस्तकामफलदं सर्वव्रतफलप्रदम्॥ २॥
दुःस्वप्रनाशनं धन्यं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम्।
रामायणस्य माहात्म्यं श्रोतव्यं च प्रयत्नतः॥ ३॥

नारदजी कहते हैं—महर्षियो! अब मैं रामायणके पाठ और श्रवणके लिये उपयोगी दूसरे मासका वर्णन करता हूँ, एकाग्रचित्त होकर सुनो। रामायणका माहात्म्य समस्त पापोंको हर लेनेवाला, पुण्यजनक तथा सम्पूर्ण दुःखोंका निवारण करनेवाला है। वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा स्त्री—इन सबको समस्त मनोवाञ्छित फल प्रदान करनेवाला है। उससे सब प्रकारके व्रतोंका फल भी प्राप्त होता है। वह दुःस्वप्नका नाशक, धनकी प्राप्ति करानेवाला तथा भोग और मोक्षरूप फल देनेवाला है। अतः उसे प्रयत्नपूर्वक सुनना चाहिये॥ १—३॥

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
पठतां शृण्वतां चैव सर्वपापप्रणाशनम्॥ ४॥

इसी विषयमें विज्ञ पुरुष एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण देते हैं। वह इतिहास अपने पाठकों और श्रोताओंके समस्त पापोंका नाश करनेवाला है॥ ४॥

आसीत् पुरा कलियुगे कलिको नाम लुब्धकः।
परदारपरद्रव्यहरणे सततं रतः॥ ५॥

प्राचीन कलियुगमें एक कलिक नामवाला व्याध रहता था। वह सदा परायी स्त्री और पराये धनके अपहरणमें ही लगा रहता था॥ ५॥

परनिन्दापरो नित्यं जन्तुपीडाकरस्तथा।
हतवान् ब्राह्मणान् गावः शतशोऽथ सहस्रशः॥ ६॥

दूसरोंकी निन्दा करना उसका नित्यका काम था। वह सदा सभी जन्तुओंको पीड़ा दिया करता था। उसने कितने ही ब्राह्मणों तथा सैकड़ों, हजारों गौओंकी हत्या कर डाली थी॥ ६॥

देवस्वहरणे नित्यं परस्वहरणे तथा।
तेन पापान्यनेकानि कृतानि सुमहान्ति च॥ ७॥

पराये धनका तो वह नित्य अपहरण करता ही था, देवताके धनको भी हड़प लेता था। उसने अपने जीवनमें अनेक बड़े-बड़े पाप किये थे॥ ७॥

न तेषां शक्यते वक्तुं संख्या वत्सरकोटिभिः।
स कदाचिन्महापापो जन्तूनामन्तकोपमः॥ ८॥
सौवीरनगरं प्राप्तः सर्वैश्वर्यसमन्वितम्।
योषिद्भिर्भूषिताभिश्च सरोभिर्विमलोदकैः॥ ९॥
अलंकृतं विपणिभिर्ययौ देवपुरोपमम्।

उसके पापोंकी गणना करोड़ों वर्षोंमें भी नहीं की जा सकती थी। एक समय वह महापापी व्याध, जो जीव-जन्तुओंके लिये यमराजके समान भयंकर था, सौवीरनगरमें गया। वह नगर सब प्रकारके वैभवसे सम्पन्न, वस्त्राभूषणोंसे विभूषित युवतियोंद्वारा सुशोभित, स्वच्छ जलवाले सरोवरोंसे अलंकृत तथा भाँति-भाँतिकी दूकानोंसे सुसज्जित था। देवनगरके समान उसकी शोभा हो रही थी। व्याध उस नगरमें गया॥ ८-९½॥

तस्योपवनमध्यस्थं रम्यं केशवमन्दिरम्॥ १०॥
छादितं हेमकलशैर्दृष्ट्वा व्याधो मुदं ययौ।
हराम्यत्र सुवर्णानि बहूनीति विनिश्चितः॥ ११॥

सौवीरनगरके उपवनमें भगवान् केशवका बड़ा सुन्दर मन्दिर था, जो सोनेके अनेकानेक कलशोंसे ढका हुआ था। उसे देखकर व्याधको बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने यह निश्चय कर लिया कि मैं यहाँसे बहुत-सा सुवर्ण चुराकर ले चलूँगा॥ १०-११॥

जगाम रामभवनं कीनाशश्चौर्यलोलुपः।
तत्रापश्यद् द्विजवरं शान्तं तत्त्वार्थकोविदम्॥ १२॥
परिचर्यापरं विष्णोरुत्तङ्कं तपसां निधिम्।
एकाकिनं दयालुं च निःस्पृहं ध्यानलोलुपम्॥ १३॥

ऐसा निश्चय करके वह चोरीपर लट्टू रहनेवाला व्याध श्रीरामके मन्दिरमें गया। वहाँ उसने शान्त, तत्त्वार्थवेत्ता और भगवान्‌की आराधनामें तत्पर उत्तङ्क मुनिका दर्शन किया, जो तपस्याकी निधि थे। वे अकेले ही रहते थे। उनके हृदयमें सबके प्रति दया भरी थी। वे सब ओरसे निःस्पृह थे। उनके मनमें केवल भगवान्‌के ध्यानका ही लोभ बना रहता था॥ १२-१३॥

दृष्ट्वासौ लुब्धको मेने तं चौर्यस्यान्तरायिणम्।
देवस्य द्रव्यजातं तु समादाय महानिशि॥ १४॥

उन्हें वहाँ उपस्थित देख व्याधने उनको चोरीमें विघ्न डालनेवाला समझा। तदनन्तर जब आधी रात हुई, तब वह देवतासम्बन्धी द्रव्यसमूह लेकर चला॥ १४॥

उत्तङ्कं हन्तुमारेभे उद्यतासिर्मदोद्धतः।
पादेनाक्रम्य तद्वक्षो गलं संगृह्य पाणिना॥ १५॥

उस मदोन्मत्त व्याधने उत्तङ्क मुनिकी छातीको अपने एक पैरसे दबाकर हाथसे उनका गला पकड़ लिया और तलवार उठाकर उन्हें मार डालनेका उपक्रम किया॥ १५॥

हन्तुं कृतमतिं व्याधं उत्तङ्को प्रेक्ष्य चाब्रवीत्।

उत्तङ्कने देखा व्याध मुझे मार डालना चाहता है तो वे उससे इस प्रकार बोले ॥ १५½ ॥

उत्तङ्क उवाच

भो भोः साधो वृथा मां त्वं हनिष्यसि निरागसम् ॥ १६ ॥

उत्तङ्कने कहा—ओ भले मानुष ! तुम व्यर्थ ही मुझे मारना चाहते हो। मैं तो सर्वथा निरपराध हूँ ॥ १६ ॥

मया किमपराद्धं ते तद् वद त्वं च लुब्धक।
कृतापराधिनो लोके हिंसां कुर्वन्ति यत्नतः ॥ १७ ॥
न हिंसन्ति वृथा सौम्य सज्जना अप्यपापिनम्।

लुब्धक ! बताओ तो सही, मैंने तुम्हारा क्या अपराध किया है? संसारमें लोग अपराधीकी ही प्रयत्नपूर्वक हिंसा करते हैं। सौम्य ! सज्जन निरपराधकी व्यर्थ हिंसा नहीं करते हैं ॥ १७½ ॥

विरोधिष्वपि मूर्खेषु निरीक्ष्यावस्थितान् गुणान् ॥ १८ ॥
विरोधं नाधिगच्छन्ति सज्जनाः शान्तचेतसः।

शान्तचित्त साधु पुरुष अपने विरोधी तथा मूर्ख मनुष्योंमें भी सद्गुणोंकी स्थिति देखकर उनके साथ विरोध नहीं रखते हैं ॥ १८½ ॥

बहुधा वाच्यमानोऽपि यो नरः क्षमयान्वितः ॥ १९ ॥
तमुत्तमं नरं प्राहुर्विष्णोः प्रियतरं तथा ॥ २० ॥

जो मनुष्य बारम्बार दूसरोंकी गाली सुनकर भी क्षमाशील बना रहता है, वह उत्तम कहलाता है। उसे भगवान् विष्णुका अत्यन्त प्रियजन बताया गया है ॥ १९-२० ॥

सुजनो न याति वैरं परहितनिरतो विनाशकालेऽपि।
छेदेऽपि चन्दनतरुः सुरभीकरोति मुखं कुठारस्य ॥ २१ ॥

दूसरोंके हित-साधनमें लगे रहनेवाले साधुजन किसीके द्वारा अपने विनाशका समय उपस्थित होनेपर भी उसके साथ वैर नहीं करते। चन्दनका वृक्ष अपनेको काटनेपर भी कुठारकी धारको सुवासित ही करता है ॥ २१ ॥

अहो विधिर्वै बलवान् बाधते बहुधा जनान्।
सर्वसङ्गविहीनोऽपि बाध्यते तु दुरात्मना ॥ २२ ॥

अहो ! विधाता बड़ा बलवान् है। वह लोगोंको नाना प्रकारसे कष्ट देता रहता है। जो सब प्रकारके संगसे रहित है, उसे भी दुरात्मा मनुष्य सताया करते हैं ॥ २२ ॥

अहो निष्कारणं लोके बाधन्ते दुर्जना जनान्।
धीवराः पिशुना व्याधा लोकेऽकारणवैरिणः ॥ २३ ॥

अहो ! दुष्टजन इस संसारमें बहुत-से जीवोंको बिना किसी अपराधके ही पीड़ा देते हैं। मल्लाह मछलियोंके, चुगलखोर सज्जनोंके और व्याध मृगोंके इस जगत्‌में अकारण वैरी होते हैं ॥ २३ ॥

अहो बलवती माया मोहयत्यखिलं जगत्।
पुत्रमित्रकलत्राद्यैः सर्वदुःखेन योज्यते ॥ २४ ॥

अहो ! माया बड़ी प्रबल है। यह सम्पूर्ण जगत्‌को मोहमें डाल देती है तथा स्त्री, पुत्र और मित्र आदिके द्वारा सबको सब प्रकारके दुःखोंसे संयुक्त कर देती है ॥ २४ ॥

परद्रव्यापहारेण कलत्रं पोषितं च यत्।
अन्ते तत् सर्वमुत्सृज्य एक एव प्रयाति वै ॥ २५ ॥

मनुष्य पराये धनका अपहरण करके जो अपनी स्त्री आदिका पोषण करता है, वह किस कामका; क्योंकि अन्तमें उन सबको छोड़कर वह अकेला ही परलोककी राह लेता है ॥ २५ ॥

मम माता मम पिता मम भार्या ममात्मजाः।
ममेदमिति जन्तूनां ममता बाधते वृथा ॥ २६ ॥

'मेरी माता, मेरे पिता, मेरी पत्नी, मेरे पुत्र तथा मेरा यह घरबार'—इस प्रकार ममता व्यर्थ ही प्राणियोंको कष्ट देती रहती है ॥ २६ ॥

यावदर्जयति द्रव्यं तावद् भवति बान्धवः।
अर्जितं तु धनं सर्वे भुञ्जन्ते बान्धवाः सदा ॥ २७ ॥
दुःखमेकतमो मूढस्तत्पापफलमश्नुते।

मनुष्य जबतक कमाकर धन देता है, तभीतक लोग उसके भाई-बन्धु बने रहते हैं और उसके कमाये हुए धनको सारे बन्धु-बान्धव सदा भोगते रहते हैं; किंतु मूर्ख मनुष्य अपने किये हुए पापके फलरूप दुःखको अकेला ही भोगता है ॥ २७½ ॥

इति ब्रुवाणं तमृषिं विमृश्य भयविह्वलः ॥ २८ ॥
कलिकः प्राञ्जलिः प्राह क्षमस्वेति पुनः पुनः।

उत्तङ्कमुनि जब इस प्रकार कह रहे थे, तब उनकी बातोंपर विचार करके कलिक नामक व्याध भयसे व्याकुल हो उठा और हाथ जोड़कर बारम्बार कहने लगा—'प्रभो ! मेरे अपराधको क्षमा कीजिये' ॥ २८½ ॥

तत्सङ्गस्य प्रभावेण हरिसंनिधिमात्रतः ॥ २९ ॥
गतपापो लुब्धकश्च सानुतापोऽभवद् ध्रुवम्।

उन महात्माके संगके प्रभावसे तथा भगवान्‌का सांनिध्य मिल जानेसे उस लुब्धकके सारे पाप नष्ट हो गये तथा उसके मनमें निश्चय ही बड़ा पश्चात्ताप होने लगा ॥ २९½ ॥

मया कृतानि पापानि महान्ति सुबहूनि च ॥ ३० ॥
तानि सर्वाणि नष्टानि विप्रेन्द्र तव दर्शनात्।

वह बोला—'विप्रवर ! मैंने जीवनमें बहुत-से बड़े-बड़े पाप किये हैं; किंतु वे सब आपके दर्शनमात्रसे नष्ट हो गये ॥

अहं वै पापधीर्नित्यं महापापं समाचरम् ॥ ३१ ॥
कथं मे निष्कृतिर्भूयात् कं यामि शरणं विभो।

'प्रभो ! मेरी बुद्धि सदा पापमें ही डूबी रहती थी। मैंने निरन्तर बड़े-बड़े पापोंका ही आचरण किया है। उनसे मेरा उद्धार किस प्रकार होगा? मैं किसकी शरणमें जाऊँ ॥

पूर्वजन्मार्जितैः पापैर्लुब्धकत्वमवाप्तवान् ॥ ३२ ॥
अत्रापि पापजालानि कृत्वा कां गतिमाप्नुयाम्।

'पूर्वजन्मके किये हुए पापोंके फलसे मुझे व्याध होना पड़ा है, यहाँ भी मैंने पापोंके ही जाल बटोरे हैं। ये पाप

करके मैं किस गतिको प्राप्त होऊँगा ?' ॥ ३२½ ॥

इति वाक्यं समाकर्ण्य कलिकस्य महात्मनः ॥ ३३ ॥
उत्तङ्को नाम विप्रर्षिरिदं वाक्यमथाब्रवीत् ।

महात्मा कलिककी यह बात सुनकर ब्रह्मर्षि उत्तङ्क इस प्रकार बोले ॥ ३३½ ॥

उत्तङ्क उवाच

साधु साधु महाप्राज्ञ मतिस्ते विमलोज्ज्वला ॥ ३४ ॥
यस्मात् संसारदुःखानां नाशोपायमभीप्ससि ।

उत्तङ्कने कहा—महामते व्याध ! तुम धन्य हो, धन्य हो, तुम्हारी बुद्धि बड़ी निर्मल और उज्ज्वल है; क्योंकि तुम संसारसम्बन्धी दुःखोंके नाशका उपाय जानना चाहते हो ॥ ३४½ ॥

चैत्रे मासि सिते पक्षे कथा रामायणस्य च ॥ ३५ ॥
नवाह्ना किल श्रोतव्या भक्तिभावेन सादरम् ।
यस्य श्रवणमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३६ ॥

चैत्रमासके शुक्लपक्षमें तुम्हें भक्तिभावसे आदरपूर्वक रामायणकी नवाह कथा सुननी चाहिये। उसके श्रवणमात्रसे मनुष्य समस्त पापोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ ३५-३६ ॥

तस्मिन् क्षणेऽसौ कलिको लुब्धको वीतकल्मषः ।
रामायणकथां श्रुत्वा सद्यः पञ्चत्वमागतः ॥ ३७ ॥

उस समय कलिक व्याधके सारे पाप नष्ट हो गये। वह रामायणकी कथा सुनकर तत्काल मृत्युको प्राप्त हो गया ॥ ३७ ॥

उत्तङ्कः पतितं वीक्ष्य लुब्धकं तं दयापरः ।
एतद् दृष्ट्वा विस्मितश्च अस्तौषीत् कमलापतिम् ॥ ३८ ॥

व्याधको धरतीपर पड़ा हुआ देख दयालु उत्तङ्क मुनि बड़े विस्मित हुए। फिर उन्होंने भगवान् कमलापतिका स्तवन किया ॥ ३८ ॥

कथां रामायणस्यापि श्रुत्वा च वीतकल्मषः ।
दिव्यं विमानमारुह्य मुनिमेतदथाब्रवीत् ॥ ३९ ॥

रामायणकी कथा सुनकर निष्पाप हुआ व्याध दिव्य विमानपर आरूढ़ हो उत्तङ्क मुनिसे इस प्रकार बोला ॥ ३९ ॥

विमुक्तस्त्वत्प्रसादेन महापातकसंकटात् ।
तस्मान्नतोऽस्मि ते विद्वन् यत् कृतं तत् क्षमस्व मे ॥ ४० ॥

'विद्वन् ! आपके प्रसादसे मैं महापातकोंके संकटसे मुक्त हो गया। अतः मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ। मैंने जो किया है, मेरे उस अपराधको आप क्षमा कीजिये' ॥४० ॥

सूत उवाच

इत्युक्त्वा देवकुसुमैर्मुनिश्रेष्ठमवाकिरत् ।
प्रदक्षिणात्रयं कृत्वा नमस्कारं चकार ह ॥ ४१ ॥

सूतजी कहते हैं—ऐसा कहकर कलिकने मुनिश्रेष्ठ उत्तङ्कपर देवकुसुमोंकी वर्षा की और तीन बार उनकी परिक्रमा करके उन्हें बारम्बार नमस्कार किया ॥ ४१ ॥

ततो विमानमारुह्य सर्वकामसमन्वितम् ।
अप्सरोगणसंकीर्णं प्रपेदे हरिमन्दिरम् ॥ ४२ ॥

तत्पश्चात् अप्सराओंसे भरे हुए सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोगोंसे सम्पन्न विमानपर आरूढ़ हो वह श्रीहरिके परम धाममें जा पहुँचा ॥ ४२ ॥

तस्माच्छृणुध्वं विप्रेन्द्राः कथां रामायणस्य च ।
चैत्रे मासि सिते पक्षे श्रोतव्यं च प्रयत्नतः ॥ ४३ ॥
नवाह्ना किल रामस्य रामायणकथामृतम् ।

अतः विप्रवरो ! आप सब लोग रामायणकी कथा सुनें। चैत्रमासके शुक्लपक्षमें प्रयत्नपूर्वक रामायणकी अमृतमयी कथाका नवाह-पारायण अवश्य सुनना चाहिये ॥ ४३½ ॥

तस्माद्दृतुषु सर्वेषु हितकृद्धरिपूजकः ॥ ४४ ॥
ईप्सितं मनसा यद्यत् तदाप्नोति न संशयः ।

इसलिये रामायण सभी ऋतुओंमें हितकारक है। इसके द्वारा भगवान्‌की पूजा करनेवाला पुरुष मनसे जो-जो चाहता है, उसे निःसंदेह प्राप्त कर लेता है ॥ ४४½ ॥

सनत्कुमार यत् पृष्टं तत् सर्वं गदितं मया ॥ ४५ ॥
रामायणस्य माहात्म्यं किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ॥ ४६ ॥

सनत्कुमार ! तुमने जो रामायणका माहात्म्य पूछा था, वह सब मैंने बता दिया। अब और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ ४५-४६ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे उत्तरखण्डे नारदसनत्कुमारसंवादे रामायणमाहात्म्ये चैत्रमासफलानुकीर्तनं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीस्कन्दपुराणके उत्तरखण्डमें नारद-सनत्कुमारसंवादके अन्तर्गत रामायणमाहात्म्यके प्रसंगमें चैत्रमासमें रामायण सुननेके फलका वर्णन नामक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

★

पञ्चमोऽध्यायः

रामायणके नवाहश्रवणकी विधि, महिमा तथा फलका वर्णन

सूत उवाच

रामायणस्य माहात्म्यं श्रुत्वा प्रीतो मुनीश्वरः ।
सनत्कुमारः पप्रच्छ नारदं मुनिसत्तमम् ॥ १ ॥

सूतजी कहते हैं—रामायणका यह माहात्म्य सुनकर मुनीश्वर सनत्कुमार बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने मुनिश्रेष्ठ नारदजीसे पुनः जिज्ञासा की ॥ १ ॥

सनत्कुमार उवाच

रामायणस्य माहात्म्यं कथितं वै मुनीश्वर ।
इदानीं श्रोतुमिच्छामि विधिं रामायणस्य च ॥ २ ॥

सनत्कुमार बोले—मुनीश्वर ! आपने रामायणका

माहात्म्य कहा। अब मैं उसकी विधि सुनना चाहता हूँ ॥ २ ॥

एतच्चापि महाभाग मुने तत्त्वार्थकोविद।
कृपया परयाविष्टो यथावद् वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

महाभाग मुने! आप तत्त्वार्थ-ज्ञानमें कुशल हैं; अतः अत्यन्त कृपापूर्वक इस विषयको यथार्थरूपसे बतायें ॥ ३ ॥

नारद उवाच

रामायणविधिं चैव शृणुध्वं सुसमाहिताः।
सर्वलोकेषु विख्यातं स्वर्गमोक्षविवर्धनम् ॥ ४ ॥

नारदजीने कहा—महर्षियो! तुमलोग एकाग्र-चित्त होकर रामायणकी वह विधि सुनो, जो सम्पूर्ण लोकोंमें विख्यात है। वह स्वर्ग तथा मोक्ष-सम्पत्तिकी वृद्धि करनेवाली है ॥ ४ ॥

विधानं तस्य वक्ष्यामि शृणुध्वं गदतो मम।
रामायणकथां कुर्वन् भक्तिभावेन भावितः ॥ ५ ॥

मैं रामायणकथा-श्रवणका विधान बता रहा हूँ, तुम सब लोग उसे सुनो। रामायणकथाका अनुष्ठान करनेवाले वक्ता एवं श्रोताको भक्तिभावसे भावित होकर उस विधानका पालन करना चाहिये ॥ ५ ॥

येन चीर्णेन पापानां कोटिकोटिः प्रणश्यति।
चैत्रे माघे कार्तिके च पञ्चम्यामथवाऽऽरभेत् ॥ ६ ॥

उस विधिका पालन करनेसे करोड़ों पाप नष्ट हो जाते हैं। चैत्र, माघ तथा कार्तिकमासके शुक्लपक्षकी पञ्चमी तिथिको कथा आरम्भ करनी चाहिये ॥ ६ ॥

संकल्पं तु ततः कुर्यात् स्वस्तिवाचनपूर्वकम्।
अहोभिर्नवभिः श्राव्यं रामायणकथामृतम् ॥ ७ ॥

पहले स्वस्तिवाचन करके फिर यह संकल्प करे कि 'हम नौ दिनोंतक रामायणकी अमृतमयी कथा सुनेंगे' ॥ ७ ॥

अद्य प्रभृत्यहं राम शृणोमि त्वत्कथामृतम्।
प्रत्यहं पूर्णतामेतु तव राम प्रसादतः ॥ ८ ॥

फिर भगवान्‌से प्रार्थना करे—'श्रीराम! आजसे प्रतिदिन मैं आपकी अमृतमयी कथा सुनूँगा। यह आपके कृपाप्रसादसे परिपूर्ण हो' ॥ ८ ॥

प्रत्यहं दन्तशुद्धिं च अपामार्गस्य शाखया।
कृत्वा स्नायीत विधिवद् रामभक्तिपरायणः ॥ ९ ॥

नित्यप्रति अपामार्गकी शाखासे दन्तशुद्धि करके राम-भक्तिमें तत्पर हो विधिपूर्वक स्नान करे ॥ ९ ॥

स्वयं च बन्धुभिः सार्द्धं शृणुयात् प्रयतेन्द्रियः।
स्नानं कृत्वा यथाचारं दन्तधावनपूर्वकम् ॥ १० ॥
शुक्लाम्बरधरः शुद्धो गृहमागत्य वाग्यतः।
प्रक्षाल्य पादावाचम्य स्मरेन्नारायणं प्रभुम् ॥ ११ ॥

अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखकर भाई-बन्धुओंके साथ स्वयं कथा सुने। पहले अपने कुलाचारके अनुसार दन्तधावनपूर्वक स्नान करके श्वेत वस्त्र धारण करे और शुद्ध हो घर आकर मौनभावसे दोनों पैर धोनेके पश्चात् आचमन करके भगवान् नारायणका स्मरण करे ॥ १०-११ ॥

नित्यं देवार्चनं कृत्वा पश्चात् संकल्पपूर्वकम्।
रामायणपुस्तकं च अर्चयेद् भक्तिभावतः ॥ १२ ॥

फिर प्रतिदिन देवपूजन करके संकल्पपूर्वक भक्तिभावसे रामायणग्रन्थकी पूजा करे ॥ १२ ॥

आवाहनासनाद्यैश्च गन्धपुष्पादिभिर्व्रती।
ॐ नमो नारायणायेति पूजयेद् भक्तितत्परः ॥ १३ ॥

व्रती पुरुष आवाहन, आसन, गन्ध, पुष्प आदिके द्वारा '**ॐ नमो नारायणाय**' इस मन्त्रसे भक्तिपरायण होकर पूजन करे ॥ १३ ॥

एकवारं द्विवारं वा त्रिवारं वापि शक्तितः।
होमं कुर्यात् प्रयत्नेन सर्वपापनिवृत्तये ॥ १४ ॥

सम्पूर्ण पापोंकी निवृत्तिके लिये अपनी शक्तिके अनुसार एक, दो या तीन बार प्रयत्नपूर्वक होम करे ॥ १४ ॥

एवं यः प्रयतः कुर्याद् रामायणविधिं तथा।
स याति विष्णुभवनं पुनरावृत्तिदुर्लभम् ॥ १५ ॥

इस प्रकार जो मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर रामायणकी विधिका अनुष्ठान करता है, वह भगवान् विष्णुके धाममें जाता है; जहाँसे लौटकर वह फिर इस संसारमें नहीं आता ॥ १५ ॥

रामायणव्रतधरो धर्मकारी च सत्तमः।
चाण्डालं पतितं वापि वस्त्रान्नेनापि नार्चयेत् ॥ १६ ॥

जो रामायणसम्बन्धी व्रतको धारण करनेवाला तथा धर्मात्मा है, वह श्रेष्ठ पुरुष चाण्डाल अथवा पतित मनुष्यका वस्त्र और अन्नसे भी सत्कार न करे ॥ १६ ॥

नास्तिकान् भिन्नमर्यादान् निन्दकान् पिशुनानपि।
रामायणव्रतपरो वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥ १७ ॥

जो नास्तिक, धर्ममर्यादाको तोड़नेवाले, परनिन्दक और चुगलखोर हैं, उनका रामायणव्रतधारी पुरुष वाणीमात्रसे भी आदर न करे ॥ १७ ॥

कुण्डाशिनं गायकं च तथा देवलकाशनम्।
भिषजं काव्यकर्तारं देवद्विजविरोधिनम् ॥ १८ ॥
परान्नलोलुपं चैव परस्त्रीनिरतं तथा।
रामायणव्रतपरो वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥ १९ ॥

जो पतिके जीवित रहते ही परपुरुषके समागमसे माताद्वारा उत्पन्न किया जाता है, उस जारज पुत्रको 'कुण्ड' कहते हैं। ऐसे कुण्डके यहाँ जो भोजन करता है, जो गीत गाकर जीविका चलाता है, देवतापर चढ़ी हुई वस्तुका उपभोग करेवाले मनुष्यका अन्न खाता है, वैद्य है, लोगोंकी मिथ्या प्रशंसामें कविता लिखता है, देवताओं तथा ब्राह्मणोंका विरोध करता है, पराये अन्नका लोभी है और पर-स्त्रीमें आसक्त रहता है, ऐसे मनुष्यका भी रामायणव्रती

पुरुष वाणीमात्रसे भी आदर न करे ॥ १८-१९ ॥

इत्येवमादिभिः शुद्धो वशी सर्वहिते रतः ।
रामायणपरो भूत्वा परां सिद्धिं गमिष्यति ॥ २० ॥

इस प्रकार दोषोंसे दूर एवं शुद्ध होकर जितेन्द्रिय एवं सबके हितमें तत्पर रहते हुए जो रामायणका आश्रय लेता है, वह परमसिद्धिको प्राप्त होता है ॥ २० ॥

नास्ति गङ्गासमं तीर्थं नास्ति मातृसमो गुरुः ।
नास्ति विष्णुसमो देवो नास्ति रामायणात् परम् ॥ २१ ॥

गङ्गाके समान तीर्थ, माताके तुल्य गुरु, भगवान् विष्णुके सदृश देवता तथा रामायणसे बढ़कर कोई उत्तम वस्तु नहीं है ॥ २१ ॥

नास्ति वेदसमं शास्त्रं नास्ति शान्तिसमं सुखम् ।
नास्ति शान्तिपरं ज्योतिर्नास्ति रामायणात् परम् ॥ २२ ॥

वेदके समान शास्त्र, शान्तिके समान सुख, शान्तिसे बढ़कर ज्योति तथा रामायणसे उत्कृष्ट कोई काव्य नहीं है ॥

नास्ति क्षमासमं सारं नास्ति कीर्तिसमं धनम् ।
नास्ति ज्ञानसमो लाभो नास्ति रामायणात् परम् ॥ २३ ॥

क्षमाके सदृश बल, कीर्तिके समान धन, ज्ञानके सदृश लाभ तथा रामायणसे बढ़कर कोई उत्तम ग्रन्थ नहीं है ॥ २३ ॥

तदन्ते वेदविदुषे गां दद्याच्च सदक्षिणाम् ।
रामायणं पुस्तकं च वस्त्रालंकरणादिकम् ॥ २४ ॥

रामायणकथाके अन्तमें वेदज्ञ वाचकको दक्षिणासहित गौका दान करे। उन्हें रामायणकी पुस्तक तथा वस्त्र और आभूषण आदि दे ॥ २४ ॥

रामायणपुस्तकं यो वाचकाय प्रयच्छति ।
स याति विष्णुभवनं यत्र गत्वा न शोचति ॥ २५ ॥

जो वाचकको रामायणकी पुस्तक देता है, वह भगवान् विष्णुके धाममें जाता है; जहाँ जाकर उसे कभी शोक नहीं करना पड़ता ॥ २५ ॥

नवाहजफलं कर्तुः शृणु धर्मविदां वर ।
पञ्चम्यां तु समारभ्य रामायणकथामृतम् ॥ २६ ॥
कथाश्रवणमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ।

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ सनत्कुमार ! रामायणकी नवाहकथा सुननेसे यजमानको जो फल प्राप्त होता है, उसे सुनो। पञ्चमी तिथिको रामायणकी अमृतमयी कथाको आरम्भ करके उसके श्रवणमात्रसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २६½ ॥

यदि द्वयं कृतं तस्य पुण्डरीकफलं लभेत् ॥ २७ ॥
व्रतधारी तु श्रवणं यः कुर्यात् स जितेन्द्रियः ।
अश्वमेधस्य यज्ञस्य द्विगुणं फलमश्नुते ॥ २८ ॥
चतुःकृत्वः श्रुतं येन कथितं मुनिसत्तमाः ।
स लभेत् परमं पुण्यमग्निष्टोमाष्टसम्भवम् ॥ २९ ॥

यदि दो बार यह कथा श्रवण की गयी तो श्रोताको पुण्डरीकयज्ञका फल मिलता है। जो जितेन्द्रिय पुरुष व्रतधारणपूर्वक रामायण-कथाको श्रवण करता है, वह दो अश्वमेध यज्ञोंका फल पाता है। मुनिवरो ! जिसने चार बार इस कथाका श्रवण किया है, वह आठ अग्निष्टोमके परम पुण्यफलका भागी होता है ॥ २७—२९ ॥

पञ्चकृत्वो व्रतमिदं कृतं येन महात्मना ।
अत्यग्निष्टोमजं पुण्यं द्विगुणं प्राप्नुयान्नरः ॥ ३० ॥

जिस महामनस्वी पुरुषने पाँच बार रामायणकथाश्रवणका व्रत पूरा कर लिया है, वह अत्यग्निष्टोम यज्ञके द्विगुण पुण्य-फलका भागी होता है ॥ ३० ॥

एवं व्रतं च षड्वारं कुर्याद् यस्तु समाहितः ।
अग्निष्टोमस्य यज्ञस्य फलमष्टगुणं लभेत् ॥ ३१ ॥

जो एकाग्रचित्त होकर इस प्रकार छः बार रामायणकथाके व्रतका अनुष्ठान पूरा कर लेता है, वह अग्निष्टोमयज्ञके आठगुने फलका भागी होता है ॥ ३१ ॥

नारी वा पुरुषः कुर्यादष्टकृत्वो मुनीश्वराः ।
नरमेधस्य यज्ञस्य फलं पञ्चगुणं लभेत् ॥ ३२ ॥

मुनीश्वरो ! स्त्री हो या पुरुष, जो आठ बार रामायणकथाको सुन लेता है, वह नरमेधयज्ञका पाँचगुना फल पाता है ॥ ३२ ॥

नरो वाप्यथ नारी वा नववारं समाचरेत् ।
गोमेधसवजं पुण्यं स लभेत् त्रिगुणं नरः ॥ ३३ ॥

जो स्त्री या पुरुष नौ बार इस व्रतका आचरण करता है, उसे तीन गोमेध-यज्ञका पुण्यफल प्राप्त होता है ॥ ३३ ॥

रामायणं तु यः कुर्याच्छान्तात्मा प्रयतेन्द्रियः ।
स याति परमानन्दं यत्र गत्वा न शोचति ॥ ३४ ॥

जो पुरुष शान्तचित्त और जितेन्द्रिय होकर रामायणयज्ञका अनुष्ठान करता है, वह उस परमानन्दमय धाममें जाता है, जहाँ जाकर उसे कभी शोक नहीं करना पड़ता ॥ ३४ ॥

रामायणपरो नित्यं गङ्गास्नानपरायणः ।
धर्ममार्गप्रवक्तारो मुक्ता एवं न संशयः ॥ ३५ ॥

जो प्रतिदिन रामायणका पाठ अथवा श्रवण करता है, गङ्गा नहाता है और धर्ममार्गका उपदेश देता है; ऐसे लोग संसारसागरसे मुक्त ही हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ३५ ॥

यतीनां ब्रह्मचारिणां प्रवीराणां च सत्तमाः ।
नवाह्ना किल श्रोतव्या कथा रामायणस्य च ॥ ३६ ॥

महात्माओ ! यतियों, ब्रह्मचारियों तथा प्रवीरोंको भी रामायणकी नवाहकथा सुननी चाहिये ॥ ३६ ॥

श्रुत्वा नरो रामकथामतिदीप्तोऽतिभक्तितः ।
ब्रह्मणः पदमासाद्य तत्रैव परिमोदते ॥ ३७ ॥

रामकथाको अत्यन्त भक्तिपूर्वक सुनकर मनुष्य महान् तेजसे उद्दीप्त हो उठता है और ब्रह्मलोकमें जाकर वहीं आनन्दका अनुभव करता है ॥ ३७ ॥

तस्माच्छृणुध्वं विप्रेन्द्रा रामायणकथामृतम्।
श्रोतॄणां च परं श्राव्यं पवित्राणामनुत्तमम्॥ ३८॥

इसलिये विप्रेन्द्रगण! आपलोग रामायणकी अमृतमयी कथा सुनिये। श्रोताओंके लिये यह सर्वोत्तम श्रवणीय वस्तु है और पवित्रोंमें भी परम उत्तम है॥ ३८॥

दुःस्वप्ननाशनं धन्यं श्रोतव्यं च प्रयत्नतः।
नरोऽत्र श्रद्धया युक्तः श्लोकं श्लोकार्द्धमेव च॥ ३९॥
पठते मुच्यते सद्यो ह्युपपातककोटिभिः।
सतामेव प्रयोक्तव्यं गुह्याद् गुह्यतमं तु यत्॥ ४०॥

दुःस्वप्नको नष्ट करनेवाली यह कथा धन्य है। इसे प्रयत्नपूर्वक सुनना चाहिये। जो मनुष्य श्रद्धायुक्त होकर इसका एक श्लोक या आधा श्लोक भी पढ़ता है, वह तत्काल ही करोड़ों उपपातकोंसे छुटकारा पा जाता है। यह गुह्यसे भी गुह्यतम वस्तु है, इसे सत्पुरुषोंको ही सुनाना चाहिये॥३९-४०॥

वाचयेद् रामभवने पुण्यक्षेत्रे च संसदि।
ब्रह्मद्वेषरतानां च दम्भाचाररतात्मनाम्॥ ४१॥
लोकवञ्चकवृत्तीनां न ब्रूयादिदमुत्तमम्।

भगवान् श्रीरामके मन्दिरमें अथवा किसी पुण्यक्षेत्रमें, सत्पुरुषोंकी सभामें रामायणकथाका प्रवचन करना चाहिये। जो ब्रह्मद्रोही, पाखण्डपूर्ण आचारमें तत्पर तथा लोगोंको ठगनेवाली वृत्तिसे युक्त हैं, उन्हें यह परम उत्तम कथा नहीं सुनानी चाहिये॥ ४१½॥

त्यक्तकामादिदोषाणां रामभक्तिरतात्मनाम्॥ ४२॥
गुरुभक्तिरतानां च वक्तव्यं मोक्षसाधनम्।

जो काम आदि दोषोंका त्याग कर चुके हैं, जिनका मन रामभक्तिमें अनुरक्त रहता है तथा जो गुरुजनोंकी सेवामें तत्पर हैं, उन्हींके समक्ष यह मोक्षकी साधनभूत कथा बाँचनी चाहिये॥ ४२½॥

सर्वदेवमयो रामः स्मृतश्चार्त्तिप्रणाशनः॥ ४३॥
सद्भक्तवत्सलो देवो भक्त्या तुष्यति नान्यथा।

श्रीराम सर्वदेवमय माने गये हैं। वे आर्त प्राणियोंकी पीड़ाका नाश करनेवाले हैं तथा श्रेष्ठ भक्तोंपर सदा ही स्नेह रखते हैं। वे भगवान् भक्तिसे ही संतुष्ट होते हैं, दूसरे किसी उपायसे नहीं॥ ४३½॥

अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते वा स्मृतेऽपि वा॥ ४४॥
विमुक्तपातकः सोऽपि परमं पदमश्नुते।

मनुष्य विवश होकर भी उनके नामका कीर्तन अथवा स्मरण कर लेनेपर समस्त पातकोंसे मुक्त हो परमपदका भागी होता है॥ ४४½॥

संसारघोरकान्तारदावाग्निर्मधुसूदनः॥ ४५॥
स्मर्तॄणां सर्वपापानि नाशयत्याशु सत्तमाः।

महात्माओ! भगवान् मधुसूदन संसाररूपी भयंकर एवं दुर्गम वनको भस्म करनेके लिये दावानलके समान हैं। वे अपना स्मरण करनेवाले मनुष्योंके समस्त पापोंका शीघ्र ही नाश कर देते हैं॥ ४५½॥

तदर्थकमिदं पुण्यं काव्यं श्राव्यमनुत्तमम्॥ ४६॥
श्रवणात् पठनाद् वापि सर्वपापविनाशकृत्।

इस पवित्र काव्यके प्रतिपाद्य विषय वे ही हैं, अतः यह परम उत्तम काव्य सदा ही श्रवण करनेयोग्य है। इसका श्रवण अथवा पाठ करनेसे यह समस्त पापोंका नाश करनेवाला है॥ ४६½॥

यस्य रामरसे प्रीतिर्वर्तते भक्तिसंयुता॥ ४७॥
स एव कृतकृत्यश्च सर्वशास्त्रार्थकोविदः।

जिसकी श्रीराम-रसमें प्रीति एवं भक्ति है, वही सम्पूर्ण शास्त्रोंके अर्थज्ञानमें निपुण और कृतकृत्य है॥ ४७½॥

तदर्जितं तपः पुण्यं तत्सत्यं सफलं द्विजाः॥ ४८॥
यदर्थश्रवणे प्रीतिरन्यथा न हि वर्तते।

ब्राह्मणो! उसकी उपार्जित की हुई तपस्या पवित्र, सत्य और सफल है; क्योंकि राम-रसमें प्रीति हुए बिना रामायणके अर्थ-श्रवणमें प्रेम नहीं होता है॥ ४८½॥

रामायणपरा ये तु रामनामपरायणाः॥ ४९॥
त एव कृतकृत्याश्च घोरे कलियुगे द्विजाः।

जो द्विज इस भयंकर कलिकालमें रामायण तथा श्रीरामनामका सहारा लेते हैं, वे ही कृतकृत्य हैं॥ ४९½॥

नवाह्ना किल श्रोतव्यं रामायणकथामृतम्॥ ५०॥
ते कृतज्ञा महात्मानस्तेभ्यो नित्यं नमो नमः।

रामायणकी इस अमृतमयी कथाका नवाह श्रवण करना चाहिये। जो महात्मा ऐसा करते हैं, वे कृतज्ञ हैं। उन्हें प्रतिदिन मेरा बारम्बार नमस्कार है॥ ५०½॥

रामनामैव नामैव नामैव मम जीवनम्॥ ५१॥
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा।

श्रीरामका नाम—केवल श्रीराम-नाम ही मेरा जीवन है। कलियुगमें और किसी उपायसे जीवोंकी सद्गति नहीं होती, नहीं होती, नहीं होती॥ ५१½॥

सूत उवाच

एवं सनत्कुमारस्तु नारदेन महात्मना॥ ५२॥
सम्यक् प्रबोधितः सद्यः परां निर्वृतिमाप ह।

सूतजी कहते हैं—महात्मा नारदजीके द्वारा इस प्रकार ज्ञानोपदेश पाकर सनत्कुमारजीको तत्काल ही परमानन्दकी प्राप्ति हो गयी॥ ५२½॥

तस्माच्छृणुध्वं विप्रेन्द्रा रामायणकथामृतम्॥ ५३॥
नवाह्ना किल श्रोतव्यं सर्वपापैः प्रमुच्यते।

अतः विप्रवरो! तुम सब लोग रामायणकी अमृतमयी कथा सुनो। रामायणको नौ दिनोंमें ही सुनना चाहिये। ऐसा करनेवाला समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है॥ ५३½॥

श्रुत्वा चैतन्महाकाव्यं वाचकं यस्तु पूजयेत् ॥ ५४ ॥
तस्य विष्णुः प्रसन्नः स्याच्छ्रिया सह द्विजोत्तमाः ।

द्विजोत्तमो ! इस महान् काव्यको सुनकर जो वाचककी पूजा करता है, उसपर लक्ष्मीसहित भगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं ॥

वाचके प्रीतिमापन्ने ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥ ५५ ॥
प्रीता भवन्ति विप्रेन्द्रा नात्र कार्या विचारणा ।

विप्रेन्द्रगण ! वाचकके प्रसन्न होनेपर ब्रह्मा, विष्णु और महादेवजी प्रसन्न हो जाते हैं। इस विषयमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ ५५½ ॥

रामायणवाचकाय गावो वासांसि काञ्चनम् ॥ ५६ ॥
रामायणपुस्तकं च दद्याद् वित्तानुसारतः ।

रामायणके वाचकको अपने वैभवके अनुसार गौ, वस्त्र, सुवर्ण तथा रामायणकी पुस्तक आदि वस्तुएँ देनी चाहिये ॥

तस्य पुण्यफलं वक्ष्ये शृणुध्वं सुसमाहिताः ॥ ५७ ॥
न बाधन्ते ग्रहास्तस्य भूतवेतालकादयः ।
तस्यैव सर्वश्रेयांसि वर्द्धन्ते चरिते श्रुते ॥ ५८ ॥

उस दानका पुण्यफल बता रहा हूँ, आपलोग एकाग्रचित्त होकर सुनें। उस दाताको ग्रह तथा भूत-वेताल आदि कभी बाधा नहीं पहुँचाते। श्रीरामचरित्रका श्रवण करनेपर श्रोताके सम्पूर्ण श्रेयकी वृद्धि होती है ॥ ५७-५८ ॥

न चाग्निर्बाधते तस्य न चौरादिभयं तथा ।
एतज्जन्मार्जितैः पापैः सद्य एव विमुच्यते ॥ ५९ ॥
सप्तवंशसमेतस्तु देहान्ते मोक्षमाप्नुयात् ।

उसे न तो अग्निकी बाधा प्राप्त होती है और न चोर आदिका भय ही। वह इस जन्ममें उपार्जित किये हुए समस्त पापोंसे तत्काल मुक्त हो जाता है। वह इस शरीरका अन्त होनेपर अपनी सात पीढ़ियोंके साथ मोक्षका भागी होता है ॥ ५९½ ॥

इत्येतद्वः समाख्यातं नारदेन प्रभाषितम् ॥ ६० ॥
सनत्कुमारमुनये पृच्छते भक्तितः पुरा ।

पूर्वकालमें सनत्कुमार मुनिके भक्तिपूर्वक पूछनेपर नारदजीने उनसे जो कुछ कहा था, वह सब मैंने आपलोगोंको बता दिया ॥ ६०½ ॥

रामायणमादिकाव्यं सर्ववेदार्थसम्मतम् ॥ ६१ ॥
सर्वपापहरं पुण्यं सर्वदुःखनिबर्हणम् ।
समस्तपुण्यफलदं सर्वयज्ञफलप्रदम् ॥ ६२ ॥

रामायण आदिकाव्य है। यह सम्पूर्ण वेदार्थोंकी सम्मतिके अनुकूल है। इसके द्वारा समस्त पापोंका निवारण हो जाता है। यह पुण्यमय काव्य सम्पूर्ण दुःखोंका विनाशक तथा समस्त पुण्यों और यज्ञोंका फल देनेवाला है ॥ ६१-६२ ॥

ये पठन्त्यत्र विबुधाः श्लोकं श्लोकार्द्धमेव च ।
न तेषां पापबन्धस्तु कदाचिदपि जायते ॥ ६३ ॥

जो विद्वान् इसके एक या आधे श्लोकका भी पाठ करते हैं, उन्हें कभी पापोंका बन्धन नहीं प्राप्त होता ॥ ६३ ॥

रामार्पितमिदं पुण्यं काव्यं तु सर्वकामदम् ।
भक्त्या शृण्वन्ति विदन्ति तेषां पुण्यफलं शृणु ॥ ६४ ॥

श्रीरामको समर्पित किया हुआ यह पुण्यकाव्य सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाला है। जो लोग भक्तिपूर्वक इसे सुनते और समझते हैं, उनको प्राप्त होनेवाले पुण्य-फलका वर्णन सुनो ॥ ६४ ॥

शतजन्मार्जितैः पापैः सद्य एव विमोचिताः ।
सहस्रकुलसंयुक्ताः प्रयान्ति परमं पदम् ॥ ६५ ॥

वे लोग सौ जन्मोंमें उपार्जित किये हुए पापोंसे तत्काल मुक्त हो अपनी हजारों पीढ़ियोंके साथ परमपदको प्राप्त होते हैं ॥ ६५ ॥

किं तीर्थैर्गोप्रदानैर्वा किं तपोभिः किमध्वरैः ।
अहन्यहनि रामस्य कीर्तनं परिशृण्वताम् ॥ ६६ ॥

जो प्रतिदिन श्रीरामका कीर्तन सुनते हैं, उनके लिये तीर्थ-सेवन, गोदान, तपस्या तथा यज्ञोंकी क्या आवश्यकता है ॥

चैत्रे माघे कार्तिके च रामायणकथामृतम् ।
नवैरहोभिः श्रोतव्यं रामायणकथामृतम् ॥ ६७ ॥

चैत्र, माघ तथा कार्तिकमें रामायणकी अमृतमयी कथाका नवाह-पारायण सुनना चाहिये ॥ ६७ ॥

रामप्रसादजनकं रामभक्तिविवर्धनम् ।
सर्वपापक्षयकरं सर्वसम्पद्विवर्द्धनम् ॥ ६८ ॥

रामायण श्रीरामचन्द्रजीकी प्रसन्नता प्राप्त करानेवाला, श्रीरामभक्तिको बढ़ानेवाला, समस्त पापोंका विनाशक तथा सभी सम्पत्तियोंकी वृद्धि करनेवाला है ॥ ६८ ॥

यस्त्वेतच्छृणुयाद् वापि पठेद् वा सुसमाहितः ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोकं स गच्छति ॥ ६९ ॥

जो एकाग्रचित्त होकर रामायणको सुनता अथवा पढ़ता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है ॥ ६९ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे उत्तरखण्डे नारदसनत्कुमारसंवादे रामायणमाहात्म्ये फलानुकीर्तनं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीस्कन्दपुराणके उत्तरखण्डमें श्रीनारद-सनत्कुमार-संवादके अन्तर्गत रामायणमाहात्म्यके प्रसङ्गमें फलका वर्णन नामक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

★

अहल्या-उद्धार

॥ श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः ॥
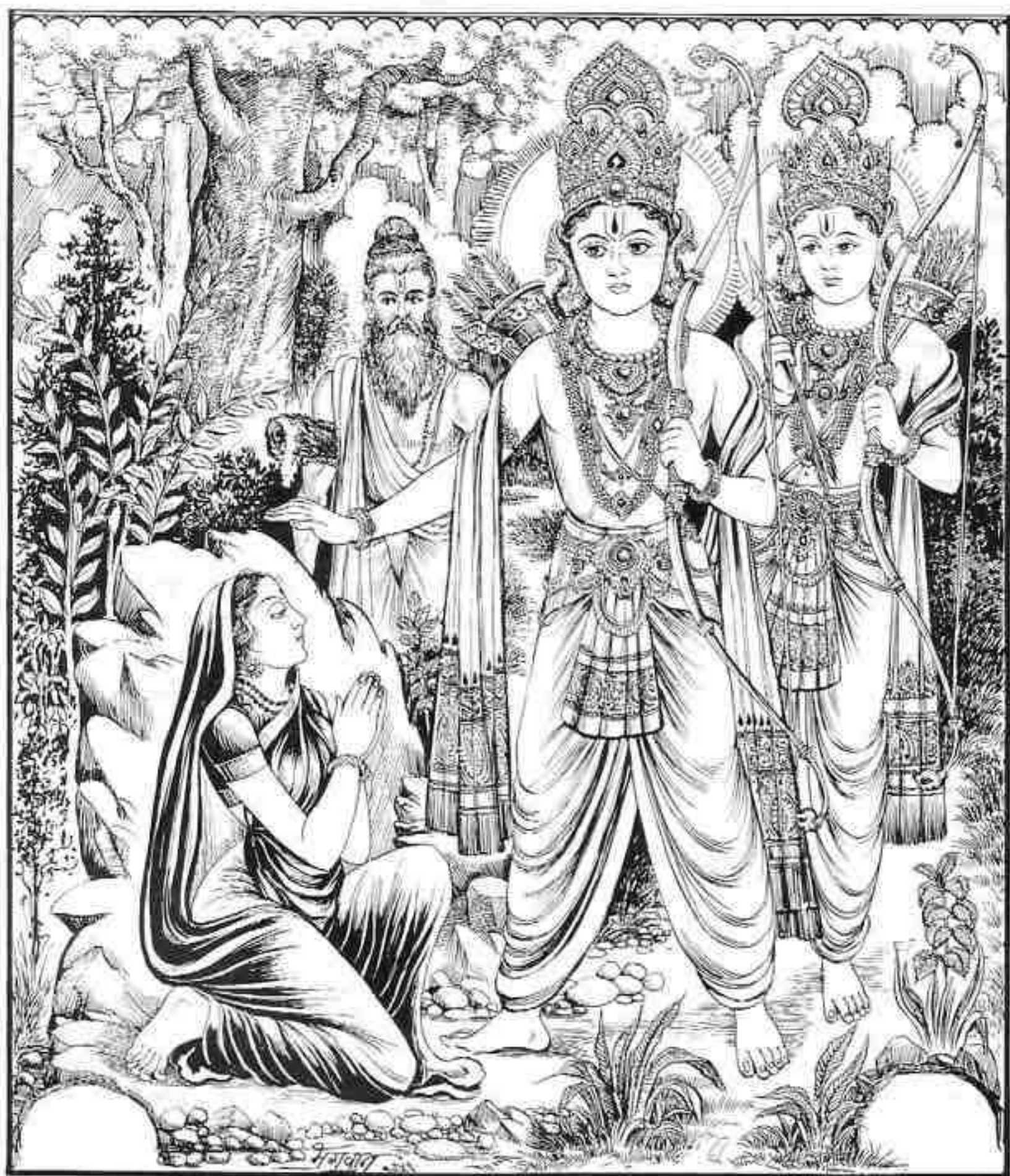
श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणम्

बालकाण्डम्

प्रथमः सर्गः

नारदजीका वाल्मीकि मुनिको संक्षेपसे श्रीरामचरित्र सुनाना

ॐ तपःस्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदां वरम्।
नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवम्॥ १॥

तपस्वी वाल्मीकिजीने तपस्या और स्वाध्यायमें लगे हुए विद्वानोंमें श्रेष्ठ मुनिवर नारदजीसे पूछा— ॥ १॥

को न्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः॥ २॥

'[मुने!] इस समय इस संसारमें गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ, उपकार माननेवाला, सत्यवक्ता और दृढ़प्रतिज्ञ कौन है? ॥ २॥

चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः।
विद्वान् कः कः समर्थश्च कश्चैकप्रियदर्शनः॥ ३॥

'सदाचारसे युक्त, समस्त प्राणियोंका हितसाधक, विद्वान्, सामर्थ्यशाली और एकमात्र प्रियदर्शन (सुन्दर) पुरुष कौन है? ॥ ३॥

आत्मवान् को जितक्रोधो द्युतिमान् कोऽनसूयकः।
कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे॥ ४॥

'मनपर अधिकार रखनेवाला, क्रोधको जीतनेवाला, कान्तिमान् और किसीकी भी निन्दा नहीं करनेवाला कौन है? तथा संग्राममें कुपित होनेपर किससे देवता भी डरते हैं? ॥ ४॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे।
महर्षे त्वं समर्थोऽसि ज्ञातुमेवंविधं नरम्॥ ५॥

'महर्षे! मैं यह सुनना चाहता हूँ, इसके लिये मुझे बड़ी उत्सुकता है और आप ऐसे पुरुषको जाननेमें समर्थ हैं' ॥ ५॥

श्रुत्वा चैतत्त्रिलोकज्ञो वाल्मीकेर्नारदो वचः।
श्रूयतामिति चामन्त्र्य प्रहृष्टो वाक्यमब्रवीत्॥ ६॥

महर्षि वाल्मीकिके इस वचनको सुनकर तीनों लोकोंका ज्ञान रखनेवाले नारदजीने उन्हें सम्बोधित करके कहा, अच्छा सुनिये और फिर प्रसन्नतापूर्वक बोले— ॥ ६॥

बहवो दुर्लभाश्चैव ये त्वया कीर्तिता गुणाः।
मुने वक्ष्याम्यहं बुद्ध्वा तैर्युक्तः श्रूयतां नरः॥ ७॥

'मुने! आपने जिन बहुत-से दुर्लभ गुणोंका वर्णन किया है, उनसे युक्त पुरुषको मैं विचार करके कहता हूँ, आप सुनें ॥ ७॥

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान् वशी॥ ८॥

'इक्ष्वाकुके वंशमें उत्पन्न हुए एक ऐसे पुरुष हैं, जो लोगोंमें राम-नामसे विख्यात हैं, वे ही मनको वशमें रखनेवाले, महाबलवान्, कान्तिमान्, धैर्यवान् और जितेन्द्रिय हैं ॥ ८॥

बुद्धिमान् नीतिमान् वाग्मी श्रीमाञ्छत्रुनिबर्हणः।
विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवो महाहनुः॥ ९॥

'वे बुद्धिमान्, नीतिज्ञ, वक्ता, शोभायमान तथा शत्रुसंहारक हैं। उनके कंधे मोटे और भुजाएँ बड़ी-बड़ी हैं। ग्रीवा शङ्खके समान और ठोढ़ी मांसल (पुष्ट) है ॥ ९॥

महोरस्को महेष्वासो गूढजत्रुररिन्दमः।
आजानुबाहुः सुशिराः सुललाटः सुविक्रमः॥ १०॥

'उनकी छाती चौड़ी तथा धनुष बड़ा है, गलेके नीचेकी हड्डी (हँसली) मांससे छिपी हुई है। वे शत्रुओंका दमन करनेवाले हैं। भुजाएँ घुटनेतक लम्बी हैं, मस्तक सुन्दर है, ललाट भव्य और चाल मनोहर है ॥ १०॥

समः समविभक्ताङ्गः स्निग्धवर्णः प्रतापवान्।
पीनवक्षा विशालाक्षो लक्ष्मीवाञ्छुभलक्षणः॥ ११॥

'उनका शरीर [अधिक ऊँचा या नाटा न होकर] मध्यम और सुडौल है, देहका रंग चिकना है। वे बड़े प्रतापी हैं। उनका वक्षःस्थल भरा हुआ है, आँखें बड़ी-बड़ी हैं। वे शोभायमान और शुभलक्षणोंसे सम्पन्न हैं ॥ ११॥

धर्मज्ञः सत्यसंधश्च प्रजानां च हिते रतः।
यशस्वी ज्ञानसम्पन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान्॥ १२॥

'धर्मके ज्ञाता, सत्यप्रतिज्ञ तथा प्रजाके हित-साधनमें लगे रहनेवाले हैं। वे यशस्वी, ज्ञानी, पवित्र, जितेन्द्रिय और मनको एकाग्र रखनेवाले हैं॥ १२॥

प्रजापतिसमः श्रीमान् धाता रिपुनिषूदनः।
रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता॥ १३॥

'प्रजापतिके समान पालक, श्रीसम्पन्न, वैरिविध्वंसक और जीवों तथा धर्मके रक्षक हैं॥ १३॥

रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः॥ १४॥

'स्वधर्म और स्वजनोंके पालक, वेद-वेदाङ्गोंके तत्त्ववेत्ता तथा धनुर्वेदमें प्रवीण हैं॥ १४॥

सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान् प्रतिभानवान्।
सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः॥ १५॥

'वे अखिल शास्त्रोंके तत्त्वज्ञ, स्मरणशक्तिसे युक्त और प्रतिभासम्पन्न हैं। अच्छे विचार और उदार हृदयवाले वे श्रीरामचन्द्रजी बातचीत करनेमें चतुर तथा समस्त लोकोंके प्रिय हैं॥ १५॥

सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः।
आर्यः सर्वसमश्चैव सदैव प्रियदर्शनः॥ १६॥

'जैसे नदियाँ समुद्रमें मिलती हैं, उसी प्रकार सदा रामसे साधु पुरुष मिलते रहते हैं। वे आर्य एवं सबमें समान भाव रखनेवाले हैं, उनका दर्शन सदा ही प्रिय मालूम होता है॥ १६॥

स च सर्वगुणोपेतः कौसल्यानन्दवर्धनः।
समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव॥ १७॥

'सम्पूर्ण गुणोंसे युक्त वे श्रीरामचन्द्रजी अपनी माता कौसल्याके आनन्द बढ़ानेवाले हैं, गम्भीरतामें समुद्र और धैर्यमें हिमालयके समान हैं॥ १७॥

विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत्प्रियदर्शनः।
कालाग्निसदृशः क्रोधे क्षमया पृथिवीसमः॥ १८॥
धनदेन समस्त्यागे सत्ये धर्म इवापरः।

'वे विष्णुभगवान्‌के समान बलवान् हैं। उनका दर्शन चन्द्रमाके समान मनोहर प्रतीत होता है। वे क्रोधमें कालाग्निके समान और क्षमामें पृथिवीके सदृश हैं, त्यागमें कुबेर और सत्यमें द्वितीय धर्मराजके समान हैं॥ १८ $\frac{1}{2}$॥

तमेवंगुणसम्पन्नं रामं सत्यपराक्रमम्॥ १९॥
ज्येष्ठं ज्येष्ठगुणैर्युक्तं प्रियं दशरथः सुतम्।
प्रकृतीनां हितैर्युक्तं प्रकृतिप्रियकाम्यया॥ २०॥
यौवराज्येन संयोक्तुमैच्छत् प्रीत्या महीपतिः।

'इस प्रकार उत्तम गुणोंसे युक्त और सत्यपराक्रमवाले सद्गुणशाली अपने प्रियतम ज्येष्ठ पुत्रको, जो प्रजाके हितमें संलग्न रहनेवाले थे, प्रजावर्गका हित करनेकी इच्छासे राजा दशरथने प्रेमवश युवराजपदपर अभिषिक्त करना चाहा॥ १९-२० $\frac{1}{2}$॥

तस्याभिषेकसम्भारान् दृष्ट्वा भार्याथ कैकयी॥ २१॥
पूर्वं दत्तवरा देवी वरमेनमयाचत।
विवासनं च रामस्य भरतस्याभिषेचनम्॥ २२॥

'तदनन्तर रामके राज्याभिषेककी तैयारियाँ देखकर रानी कैकेयीने, जिसे पहले ही वर दिया जा चुका था, राजासे यह वर माँगा कि रामका निर्वासन (वनवास) और भरतका राज्याभिषेक हो॥ २१-२२॥

स सत्यवचनाद् राजा धर्मपाशेन संयतः।
विवासयामास सुतं रामं दशरथः प्रियम्॥ २३॥

'राजा दशरथने सत्य वचनके कारण धर्म-बन्धनमें बँधकर प्यारे पुत्र रामको वनवास दे दिया॥ २३॥

स जगाम वनं वीरः प्रतिज्ञामनुपालयन्।
पितुर्वचननिर्देशात् कैकेय्याः प्रियकारणात्॥ २४॥

'कैकेयीका प्रिय करनेके लिये पिताकी आज्ञाके अनुसार उनकी प्रतिज्ञाका पालन करते हुए वीर रामचन्द्र वनको चले॥ २४॥

तं व्रजन्तं प्रियो भ्राता लक्ष्मणोऽनुजगाम ह।
स्नेहाद् विनयसम्पन्नः सुमित्रानन्दवर्धनः॥ २५॥
भ्रातरं दयितो भ्रातुः सौभ्रात्रमनुदर्शयन्।

'तब सुमित्राके आनन्द बढ़ानेवाले विनयशील लक्ष्मणजीने भी, जो अपने बड़े भाई रामको बहुत ही प्रिय थे, अपने सुबन्धुत्वका परिचय देते हुए स्नेहवश वनको जानेवाले बन्धुवर रामका अनुसरण किया॥ २५ $\frac{1}{2}$॥

रामस्य दयिता भार्या नित्यं प्राणसमा हिता॥ २६॥
जनकस्य कुले जाता देवमायेव निर्मिता।
सर्वलक्षणसम्पन्ना नारीणामुत्तमा वधूः॥ २७॥
सीताप्यनुगता रामं शशिनं रोहिणी यथा।
पौरैरनुगतो दूरं पित्रा दशरथेन च॥ २८॥

'और जनकके कुलमें उत्पन्न सीता भी, जो अवतीर्ण हुई देवमायाकी भाँति सुन्दरी, समस्त शुभलक्षणोंसे विभूषित, स्त्रियोंमें उत्तम, रामके प्राणोंके समान प्रियतमा पत्नी तथा सदा ही पतिका हित चाहनेवाली थी, रामचन्द्रजीके पीछे चली; जैसे चन्द्रमाके पीछे रोहिणी चलती है। उस समय पिता दशरथ [ने अपना सारथि भेजकर] और पुरवासी मनुष्योंने [स्वयं साथ जाकर] दूरतक उनका अनुसरण किया॥ २६—२८॥

शृङ्गवेरपुरे सूतं गङ्गाकूले व्यसर्जयत्।
गुहमासाद्य धर्मात्मा निषादाधिपतिं प्रियम्॥ २९॥

'फिर शृङ्गवेरपुरमें गङ्गा-तटपर अपने प्रिय निषादराज गुहके पास पहुँचकर धर्मात्मा श्रीरामचन्द्रजीने सारथिको [अयोध्याके लिये] विदा कर दिया॥ २९॥

गुहेन सहितो रामो लक्ष्मणेन च सीतया।
ते वनेन वनं गत्वा नदीस्तीर्त्वा बहूदकाः॥ ३०॥

चित्रकूटमनुप्राप्य भरद्वाजस्य शासनात्।
रम्यमावसथं कृत्वा रममाणा वने त्रयः ॥ ३१ ॥
देवगन्धर्वसंकाशास्तत्र ते न्यवसन् सुखम्।

'निषादराज गुह, लक्ष्मण और सीताके साथ राम—ये चारों एक वनसे दूसरे वनमें गये। मार्गमें बहुत जलोंवाली अनेकों नदियोंको पार करके [भरद्वाजके आश्रमपर पहुँचे और गुहको वहीं छोड़] भरद्वाज मुनिकी आज्ञासे चित्रकूट-पर्वतपर गये। वहाँ वे तीनों देवता और गन्धर्वोंके समान वनमें नाना प्रकारकी लीलाएँ करते हुए एक रमणीय पर्णकुटी बनाकर उसमें सानन्द रहने लगे ॥ ३०-३१½ ॥

चित्रकूटं गते रामे पुत्रशोकातुरस्तदा ॥ ३२ ॥
राजा दशरथः स्वर्गं जगाम विलपन् सुतम्।

'रामके चित्रकूट चले जानेपर पुत्रशोकसे पीडित राजा दशरथ उस समय पुत्रके लिये [उसका नाम ले-लेकर] विलाप करते हुए स्वर्गगामी हुए ॥ ३२½ ॥

गते तु तस्मिन् भरतो वसिष्ठप्रमुखैर्द्विजैः ॥ ३३ ॥
नियुज्यमानो राज्याय नैच्छद् राज्यं महाबलः।
स जगाम वनं वीरो रामपादप्रसादकः ॥ ३४ ॥

'उनके स्वर्गगमनके पश्चात् वसिष्ठ आदि प्रमुख ब्राह्मणोंद्वारा राज्यसंचालनके लिये नियुक्त किये जानेपर भी महाबलशाली वीर भरतने राज्यकी कामना न करके पूज्य रामको प्रसन्न करनेके लिये वनको ही प्रस्थान किया ॥ ३३-३४ ॥

गत्वा तु स महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम्।
अयाचद् भ्रातरं राममार्यभावपुरस्कृतः ॥ ३५ ॥
त्वमेव राजा धर्मज्ञ इति रामं वचोऽब्रवीत्।

'वहाँ पहुँचकर सद्भावनायुक्त भरतजीने अपने बड़े भाई सत्यपराक्रमी महात्मा रामसे याचना की और यों कहा—धर्मज्ञ! आप ही राजा हों' ॥ ३५½ ॥

रामोऽपि परमोदारः सुमुखः सुमहायशाः ॥ ३६ ॥
न चैच्छत् पितुरादेशाद् राज्यं रामो महाबलः।
पादुके चास्य राज्याय न्यासं दत्त्वा पुनः पुनः ॥ ३७ ॥
निवर्तयामास ततो भरतं भरताग्रजः।

'परंतु महान् यशस्वी परम उदार प्रसन्नमुख महाबली रामने भी पिताके आदेशका पालन करते हुए राज्यकी अभिलाषा न की और उन भरताग्रजने राज्यके लिये न्यास (चिह्न) रूपमें अपनी खड़ाऊँ भरतको देकर उन्हें बार-बार आग्रह करके लौटा दिया ॥ ३६-३७½ ॥

स काममनवाप्यैव रामपादावुपस्पृशन् ॥ ३८ ॥
नन्दिग्रामेऽकरोद् राज्यं रामागमनकाङ्क्षया।

'अपनी अपूर्ण इच्छाको लेकर ही भरतने रामके चरणोंका स्पर्श किया और रामके आगमनकी प्रतीक्षा करते हुए वे नन्दिग्राममें राज्य करने लगे ॥ ३८½ ॥

गते तु भरते श्रीमान् सत्यसंधो जितेन्द्रियः ॥ ३९ ॥
रामस्तु पुनरालक्ष्य नागरस्य जनस्य च।
तत्रागमनमेकाग्रो दण्डकान् प्रविवेश ह ॥ ४० ॥

'भरतके लौट जानेपर सत्यप्रतिज्ञ जितेन्द्रिय श्रीमान् रामने वहाँपर पुनः नागरिक जनोंका आना-जाना देखकर [उनसे बचनेके लिये] एकाग्रभावसे दण्डकारण्यमें प्रवेश किया ॥ ३९-४० ॥

प्रविश्य तु महारण्यं रामो राजीवलोचनः।
विराधं राक्षसं हत्वा शरभङ्गं ददर्श ह ॥ ४१ ॥
सुतीक्ष्णं चाप्यगस्त्यं च अगस्त्यभ्रातरं तथा।

'उस महान् वनमें पहुँचनेपर कमललोचन रामने विराध नामक राक्षसको मारकर शरभङ्ग, सुतीक्ष्ण, अगस्त्य मुनि तथा अगस्त्यके भ्राताका दर्शन किया ॥ ४१½ ॥

अगस्त्यवचनाच्चैव जग्राहैन्द्रं शरासनम् ॥ ४२ ॥
खड्गं च परमप्रीतस्तूणी चाक्षयसायकौ।

फिर अगस्त्य मुनिके कहनेसे उन्होंने ऐन्द्र धनुष, एक खड्ग और दो तूणीर, जिनमें बाण कभी नहीं घटते थे, प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण किये ॥ ४२½ ॥

वसतस्तस्य रामस्य वने वनचरैः सह ॥ ४३ ॥
ऋषयोऽभ्यागमन् सर्वे वधायासुररक्षसाम्।

'एक दिन वनमें वनचरोंके साथ रहनेवाले श्रीरामके पास असुर तथा राक्षसोंके वधके लिये निवेदन करनेको वहाँके सभी ऋषि आये ॥ ४३½ ॥

स तेषां प्रतिशुश्राव राक्षसानां तदा वने ॥ ४४ ॥
प्रतिज्ञातश्च रामेण वधः संयति रक्षसाम्।
ऋषीणामग्निकल्पानां दण्डकारण्यवासिनाम् ॥ ४५ ॥

'उस समय वनमें श्रीरामने दण्डकारण्यवासी अग्निके समान तेजस्वी उन ऋषियोंको राक्षसोंके मारनेका वचन दिया और संग्राममें उनके वधकी प्रतिज्ञा की ॥ ४४-४५ ॥

तेन तत्रैव वसता जनस्थाननिवासिनी।
विरूपिता शूर्पणखा राक्षसी कामरूपिणी ॥ ४६ ॥

'वहाँ ही रहते हुए श्रीरामने इच्छानुसार रूप बनानेवाली जनस्थाननिवासिनी शूर्पणखा नामकी राक्षसीको [लक्ष्मणके द्वारा उसकी नाक कटाकर] कुरूप कर दिया ॥

ततः शूर्पणखावाक्यादुद्युक्तान् सर्वराक्षसान्।
खरं त्रिशिरसं चैव दूषणं चैव राक्षसम् ॥ ४७ ॥
निजघान रणे रामस्तेषां चैव पदानुगान्।

'तब शूर्पणखाके कहनेसे चढ़ाई करनेवाले सभी राक्षसोंको और खर, दूषण, त्रिशिरा तथा उनके पृष्ठपोषक असुरोंको रामने युद्धमें मार डाला ॥ ४७½ ॥

वने तस्मिन् निवसता जनस्थाननिवासिनाम् ॥ ४८ ॥
रक्षसां निहतान्यासन् सहस्राणि चतुर्दश।

'उस वनमें निवास करते हुए उन्होंने जनस्थानवासी

चौदह हजार राक्षसोंका वध किया ॥ ४८ १/२ ॥

ततो ज्ञातिवधं श्रुत्वा रावणः क्रोधमूर्च्छितः ॥ ४९ ॥
सहायं वरयामास मारीचं नाम राक्षसम् ।

'तदनन्तर अपने कुटुम्बका वध सुनकर रावण नामका राक्षस क्रोधसे मूर्च्छित हो उठा और उसने मारीच राक्षससे सहायता माँगी ॥ ४९ १/२ ॥

वार्यमाणः सुबहुशो मारीचेन स रावणः ॥ ५० ॥
न विरोधो बलवता क्षमो रावण तेन ते ।
अनादृत्य तु तद्वाक्यं रावणः कालचोदितः ॥ ५१ ॥
जगाम सहमारीचस्तस्याश्रमपदं तदा ।

'यद्यपि मारीचने यह कहकर कि 'रावण ! उस बलवान् रामके साथ तुम्हारा विरोध ठीक नहीं है' रावणको अनेकों बार मना किया; परंतु कालकी प्रेरणासे रावणने मारीचके वाक्योंको टाल दिया और उसके साथ ही रामके आश्रमपर गया ॥ ५०-५१ १/२ ॥

तेन मायाविना दूरमपवाह्य नृपात्मजौ ॥ ५२ ॥
जहार भार्यां रामस्य गृध्रं हत्वा जटायुषम् ।

'मायावी मारीचके द्वारा उसने दोनों राजकुमारोंको आश्रमसे दूर हटा दिया और स्वयं रामकी पत्नी सीताका अपहरण कर लिया, [जाते समय मार्गमें विघ्न डालनेके कारण] उसने जटायुनामक गृध्रका वध किया ॥ ५२ १/२ ॥

गृध्रं च निहतं दृष्ट्वा हृतां श्रुत्वा च मैथिलीम् ॥ ५३ ॥
राघवः शोकसंतप्तो विललापाकुलेन्द्रियः ।

'तत्पश्चात् जटायुको आहत देखकर और (उसीके मुखसे) सीताका हरण सुनकर रामचन्द्रजी शोकसे पीड़ित होकर विलाप करने लगे, उस समय उनकी सभी इन्द्रियाँ व्याकुल हो उठी थीं ॥ ५३ १/२ ॥

ततस्तेनैव शोकेन गृध्रं दग्ध्वा जटायुषम् ॥ ५४ ॥
मार्गमाणो वने सीतां राक्षसं संददर्श ह ।
कबन्धं नाम रूपेण विकृतं घोरदर्शनम् ॥ ५५ ॥
तं निहत्य महाबाहुर्ददाह स्वर्गतश्च सः ।

'फिर उसी शोकमें पड़े हुए उन्होंने जटायु गृध्रका अग्नि-संस्कार किया और वनमें सीताको ढूँढ़ते हुए कबन्ध नामक राक्षसको देखा, जो शरीरसे विकृत तथा भयंकर दीखनेवाला था। महाबाहु रामने उसे मारकर उसका भी दाह किया, अतः वह स्वर्गको चला गया ॥ ५४-५५ १/२ ॥

स चास्य कथयामास शबरीं धर्मचारिणीम् ॥ ५६ ॥
श्रमणां धर्मनिपुणामभिगच्छेति राघव ।

'जाते समय उसने रामसे धर्मचारिणी शबरीका पता बतलाया और कहा—'रघुनन्दन ! आप धर्मपरायणा संन्यासिनी शबरीके आश्रमपर जाइये' ॥ ५६ १/२ ॥

सोऽभ्यगच्छन्महातेजाः शबरीं शत्रुसूदनः ॥ ५७ ॥
शबर्या पूजितः सम्यग् रामो दशरथात्मजः ।

'शत्रुहन्ता महान् तेजस्वी दशरथकुमार राम शबरीके यहाँ गये, उसने इनका भलीभाँति पूजन किया ॥ ५७ १/२ ॥

पम्पातीरे हनुमता सङ्गतो वानरेण ह ॥ ५८ ॥
हनुमद्वचनाच्चैव सुग्रीवेण समागतः ।

'फिर वे पम्पासरके तटपर हनुमान् नामक वानरसे मिले और उन्हींके कहनेसे सुग्रीवसे भी मेल किया ॥ ५८ १/२ ॥

सुग्रीवाय च तत्सर्वं शंसद्रामो महाबलः ॥ ५९ ॥
आदितस्तद् यथावृत्तं सीतायाश्च विशेषतः ।

'तदनन्तर महाबलवान् रामने आदिसे ही लेकर जो कुछ हुआ था वह और विशेषतः सीताका वृत्तान्त सुग्रीवसे कह सुनाया ॥ ५९ १/२ ॥

सुग्रीवश्चापि तत्सर्वं श्रुत्वा रामस्य वानरः ॥ ६० ॥
चकार सख्यं रामेण प्रीतश्चैवाग्निसाक्षिकम् ।

'वानर सुग्रीवने रामकी सारी बातें सुनकर उनके साथ प्रेमपूर्वक अग्निको साक्षी बनाकर मित्रता की ॥ ६० १/२ ॥

ततो वानरराजेन वैरानुकथनं प्रति ॥ ६१ ॥
रामायावेदितं सर्वं प्रणयाद् दुःखितेन च ।

'उसके बाद वानरराज सुग्रीवने स्नेहवश वालीके साथ वैर होनेकी सारी बातें रामसे दुःखी होकर बतलायीं ॥ ६१ १/२ ॥

प्रतिज्ञातं च रामेण तदा वालिवधं प्रति ॥ ६२ ॥
वालिनश्च बलं तत्र कथयामास वानरः ।
सुग्रीवः शङ्कितश्चासीन्नित्यं वीर्येण राघवे ॥ ६३ ॥

'उस समय रामने वालीको मारनेकी प्रतिज्ञा की, तब वानर सुग्रीवने वहाँ वालीके बलका वर्णन किया; क्योंकि सुग्रीवको रामके बलके विषयमें बराबर शङ्का बनी रहती थी ॥ ६२-६३ ॥

राघवप्रत्ययार्थं तु दुन्दुभेः कायमुत्तमम् ।
दर्शयामास सुग्रीवो महापर्वतसंनिभम् ॥ ६४ ॥

'रामकी प्रतीतिके लिये उन्होंने दुन्दुभि दैत्यका महान् पर्वतके समान विशाल शरीर दिखलाया ॥ ६४ ॥

उत्स्मयित्वा महाबाहुः प्रेक्ष्य चास्थि महाबलः ।
पादाङ्गुष्ठेन चिक्षेप सम्पूर्णं दशयोजनम् ॥ ६५ ॥

'महाबली महाबाहु श्रीरामने तनिक मुसकराकर उस अस्थिसमूहको देखा और पैरके अँगूठेसे उसे दस योजन दूर फेंक दिया ॥ ६५ ॥

बिभेद च पुनस्तालान् सप्तैकेन महेषुणा ।
गिरिं रसातलं चैव जनयन् प्रत्ययं तदा ॥ ६६ ॥

'फिर एक ही महान् बाणसे उन्होंने अपना विश्वास दिलाते हुए सात तालवृक्षोंको और पर्वत तथा रसातलको बींध डाला ॥ ६६ ॥

ततः प्रीतमनास्तेन विश्वस्तः स महाकपिः ।
किष्किन्धां रामसहितो जगाम च गुहां तदा ॥ ६७ ॥

'तदनन्तर रामके इस कार्यसे महाकपि सुग्रीव

मन-ही-मन प्रसन्न हुए और उन्हें रामपर विश्वास हो गया। फिर वे उनके साथ किष्किन्धा गुहामें गये॥ ६७॥

ततोऽगर्जद्धरिवरः सुग्रीवो हेमपिङ्गलः।
तेन नादेन महता निर्जगाम हरीश्वरः॥ ६८॥
अनुमान्य तदा तारां सुग्रीवेण समागतः।
निजघान च तत्रैनं शरेणैकेन राघवः॥ ६९॥

'वहाँपर सुवर्णके समान पिङ्गलवर्णवाले वीरवर सुग्रीवने गर्जना की, उस महानादको सुनकर वानरराज वाली अपनी पत्नी ताराको आश्वासन देकर तत्काल घरसे बाहर निकला और सुग्रीवसे भिड़ गया। वहाँ रामने वालीको एक ही बाणसे मार गिराया॥ ६८-६९॥

ततः सुग्रीववचनाद्धत्वा वालिनमाहवे।
सुग्रीवमेव तद्राज्ये राघवः प्रत्यपादयत्॥ ७०॥

'सुग्रीवके कथनानुसार उस संग्राममें वालीको मारकर उसके राज्यपर रामने सुग्रीवको ही बिठा दिया॥ ७०॥

स च सर्वान् समानीय वानरान् वानरर्षभः।
दिशः प्रस्थापयामास दिदृक्षुर्जनकात्मजाम्॥ ७१॥

'तब उन वानरराजने भी सभी वानरोंको बुलाकर जानकीका पता लगानेके लिये उन्हें चारों दिशाओंमें भेजा॥

ततो गृध्रस्य वचनात् सम्पातेर्हनुमान् बली।
शतयोजनविस्तीर्णं पुप्लुवे लवणार्णवम्॥ ७२॥

'तत्पश्चात् सम्पातिनामक गृध्रके कहनेसे बलवान् हनुमान्‌जी सौ योजन विस्तारवाले क्षार समुद्रको कूदकर लाँघ गये॥ ७२॥

तत्र लङ्कां समासाद्य पुरीं रावणपालिताम्।
ददर्श सीतां ध्यायन्तीमशोकवनिकां गताम्॥ ७३॥

'वहाँ रावणपालित लङ्कापुरीमें पहुँचकर उन्होंने अशोक वाटिकामें सीताको चिन्तामग्न देखा॥ ७३॥

निवेदयित्वाभिज्ञानं प्रवृत्तिं विनिवेद्य च।
समाश्वास्य च वैदेहीं मर्दयामास तोरणम्॥ ७४॥

'तब उन विदेहनन्दिनीको अपनी पहचान देकर रामका संदेश सुनाया और उन्हें सान्त्वना देकर उन्होंने वाटिकाका द्वार तोड़ डाला॥ ७४॥

पञ्च सेनाग्रगान् हत्वा सप्त मन्त्रिसुतानपि।
शूरमक्षं च निष्पिष्य ग्रहणं समुपागमत्॥ ७५॥

'फिर पाँच सेनापतियों और सात मन्त्रिकुमारोंकी हत्या कर वीर अक्षकुमारका भी कचूमर निकाला, इसके बाद वे [जान-बूझकर] पकड़े गये॥ ७५॥

अस्त्रेणोन्मुक्तमात्मानं ज्ञात्वा पैतामहाद् वरात्।
मर्षयन् राक्षसान् वीरो यन्त्रिणस्तान् यदृच्छया॥ ७६॥

'ब्रह्माजीके वरदानसे अपनेको ब्रह्मपाशसे छूटा हुआ जानकर भी वीर हनुमान्‌जीने अपनेको बाँधनेवाले उन राक्षसोंका अपराध स्वेच्छानुसार सह लिया॥ ७६॥

ततो दग्ध्वा पुरीं लङ्कामृते सीतां च मैथिलीम्।
रामाय प्रियमाख्यातुं पुनरायान्महाकपिः॥ ७७॥

'तत्पश्चात् मिथिलेशकुमारी सीताके [स्थानके] अतिरिक्त समस्त लङ्काको जलाकर वे महाकपि हनुमान्‌जी रामको प्रिय संदेश सुनानेके लिये लङ्कासे लौट आये॥ ७७॥

सोऽभिगम्य महात्मानं कृत्वा रामं प्रदक्षिणम्।
न्यवेदयदमेयात्मा दृष्टा *सीतेति तत्त्वतः॥ ७८॥

'अपरिमित बुद्धिशाली हनुमान्‌जीने वहाँ जा महात्मा रामकी प्रदक्षिणा करके यों सत्य निवेदन किया—'मैंने सीताजीका दर्शन किया है'॥ ७८॥

ततः सुग्रीवसहितो गत्वा तीरं महोदधेः।
समुद्रं क्षोभयामास शरैरादित्यसंनिभैः॥ ७९॥

'इसके अनन्तर सुग्रीवके साथ भगवान् रामने महासागरके तटपर जाकर सूर्यके समान तेजस्वी बाणोंसे समुद्रको क्षुब्ध किया॥ ७९॥

दर्शयामास चात्मानं समुद्रः सरितां पतिः।
समुद्रवचनाच्चैव नलं सेतुमकारयत्॥ ८०॥

'तब नदीपति समुद्रने अपनेको प्रकट कर दिया, फिर समुद्रके ही कहनेसे रामने नलसे पुल निर्माण कराया॥ ८०॥

तेन गत्वा पुरीं लङ्कां हत्वा रावणमाहवे।
रामः सीतामनुप्राप्य परां व्रीडामुपागमत्॥ ८१॥

'उसी पुलसे लङ्कापुरीमें जाकर रावणको मारा, फिर सीताके मिलनेपर रामको बड़ी लज्जा हुई॥ ८१॥

तामुवाच ततो रामः परुषं जनसंसदि।
अमृष्यमाणा सा सीता विवेश ज्वलनं सती॥ ८२॥

'तब भरी सभामें सीताके प्रति वे मर्मभेदी वचन कहने लगे। उनकी इस बातको न सह सकनेके कारण साध्वी सीता अग्निमें प्रवेश कर गयीं॥ ८२॥

ततोऽग्निवचनात् सीतां ज्ञात्वा विगतकल्मषाम्।
कर्मणा तेन महता त्रैलोक्यं सचराचरम्॥ ८३॥
सदेवर्षिगणं तुष्टं राघवस्य महात्मनः।

'इसके बाद अग्निके कहनेसे उन्होंने सीताको निष्कलङ्क माना। महात्मा रामचन्द्रजीके इस महान् कर्मसे देवता और ऋषियोंसहित चराचर त्रिभुवन संतुष्ट हो गया॥ ८३½॥

बभौ रामः सम्प्रहृष्टः पूजितः सर्वदैवतैः॥ ८४॥
अभिषिच्य च लङ्कायां राक्षसेन्द्रं विभीषणम्।
कृतकृत्यस्तदा रामो विज्वरः प्रमुमोद ह॥ ८५॥

'फिर सभी देवताओंसे पूजित होकर राम बहुत ही प्रसन्न हुए और राक्षसराज विभीषणको लङ्काके राज्यपर अभिषिक्त करके कृतार्थ हो गये। उस समय निश्चिन्त होनेके कारण उनके आनन्दका ठिकाना न रहा॥ ८४-८५॥

देवताभ्यो वरं प्राप्य समुत्थाप्य च वानरान्।
अयोध्यां प्रस्थितो रामः पुष्पकेण सुहृद्वृतः॥ ८६॥

'यह सब हो जानेपर राम देवताओंसे वर पाकर और मरे हुए वानरोंको जीवन दिलाकर अपने सभी साथियोंके साथ पुष्पकविमानपर चढ़कर अयोध्याके लिये प्रस्थित हुए॥ ८६ ॥

भरद्वाजाश्रमं गत्वा रामः सत्यपराक्रमः।
भरतस्यान्तिके रामो हनूमन्तं व्यसर्जयत्॥ ८७॥

'भरद्वाज मुनिके आश्रमपर पहुँचकर सबको आराम देनेवाले सत्यपराक्रमी रामने भरतके पास हनुमान्‌को भेजा॥ ८७॥

पुनराख्यायिकां जल्पन् सुग्रीवसहितस्तदा।
पुष्पकं तत् समारुह्य नन्दिग्रामं ययौ तदा॥ ८८॥

'फिर सुग्रीवके साथ कथा-वार्ता कहते हुए पुष्पकारूढ़ हो वे नन्दिग्रामको गये॥ ८८॥

नन्दिग्रामे जटां हित्वा भ्रातृभिः सहितोऽनघः।
रामः सीतामनुप्राप्य राज्यं पुनरवाप्तवान्॥ ८९॥

'निष्पाप रामचन्द्रजीने नन्दिग्राममें अपनी जटा कटाकर भाइयोंके साथ, सीताको पानेके अनन्तर, पुनः अपना राज्य प्राप्त किया है॥ ८९॥

प्रहृष्टमुदितो लोकस्तुष्टः पुष्टः सुधार्मिकः।
निरामयो ह्यरोगश्च दुर्भिक्षभयवर्जितः॥ ९०॥

'अब रामके राज्यमें लोग प्रसन्न, सुखी, संतुष्ट, पुष्ट, धार्मिक तथा रोग-व्याधिसे मुक्त रहेंगे, उन्हें दुर्भिक्षका भय न होगा॥ ९०॥

न पुत्रमरणं केचिद् द्रक्ष्यन्ति पुरुषाः क्वचित्।
नार्यश्चाविधवा नित्यं भविष्यन्ति पतिव्रताः॥ ९१॥

'कोई कहीं भी अपने पुत्रकी मृत्यु नहीं देखेंगे, स्त्रियाँ विधवा न होंगी, सदा ही पतिव्रता होंगी॥ ९१॥

न चाग्निजं भयं किंचिन्नाप्सु मज्जन्ति जन्तवः।
न वातजं भयं किंचिन्नापि ज्वरकृतं तथा॥ ९२॥

'आग लगनेका किंचित् भी भय न होगा, कोई प्राणी जलमें नहीं डूबेंगे, वात और ज्वरका भय थोड़ा भी नहीं रहेगा॥ ९२॥

न चापि क्षुद्भयं तत्र न तस्करभयं तथा।
नगराणि च राष्ट्राणि धनधान्ययुतानि च॥ ९३॥
नित्यं प्रमुदिताः सर्वे यथा कृतयुगे तथा।

'क्षुधा तथा चोरोंका डर भी जाता रहेगा, सभी नगर और राष्ट्र धन-धान्यसम्पन्न होंगे। सत्ययुगकी भाँति सभी लोग सदा प्रसन्न रहेंगे॥ ९३॥

अश्वमेधशतैरिष्ट्वा तथा बहुसुवर्णकैः॥ ९४॥
गवां कोट्ययुतं दत्त्वा विद्वद्भ्यो विधिपूर्वकम्।
असंख्येयं धनं दत्त्वा ब्राह्मणेभ्यो महायशाः॥ ९५॥
राजवंशाञ्छतगुणान् स्थापयिष्यति राघवः।
चातुर्वर्ण्यं च लोकेऽस्मिन् स्वे स्वे धर्मे नियोक्ष्यति॥ ९६॥

'महायशस्वी राम बहुत-से सुवर्णोंकी दक्षिणावाले सौ अश्वमेध यज्ञ करेंगे, उनमें विधिपूर्वक विद्वानोंको दस हजार करोड़ (एक खरब) गौ और ब्राह्मणोंको अपरिमित धन देंगे तथा सौगुने राजवंशोंकी स्थापना करेंगे। संसारमें चारों वर्णोंको वे अपने-अपने धर्ममें नियुक्त रखेंगे॥ ९४—९६॥

दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च।
रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं प्रयास्यति॥ ९७॥

'फिर ग्यारह हजार वर्षोंतक राज्य करनेके अनन्तर श्रीरामचन्द्रजी अपने परमधामको पधारेंगे॥ ९७॥

इदं पवित्रं पापघ्नं पुण्यं वेदैश्च सम्मितम्।
यः पठेद् रामचरितं सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ९८॥

'वेदोंके समान पवित्र, पापनाशक और पुण्यमय इस रामचरितको जो पढ़ेगा, वह सब पापोंसे मुक्त हो जायगा॥ ९८॥

एतदाख्यानमायुष्यं पठन् रामायणं नरः।
सपुत्रपौत्रः सगणः प्रेत्य स्वर्गे महीयते॥ ९९॥

'आयु बढ़ानेवाली इस रामायण-कथाको पढ़नेवाला मनुष्य मृत्युके अनन्तर पुत्र, पौत्र तथा अन्य परिजनवर्गके साथ ही स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होगा॥ ९९॥

पठन् द्विजो वागृषभत्वमीयात्
स्यात् क्षत्रियो भूमिपतित्वमीयात्।
वणिग्जनः पण्यफलत्वमीया-
ज्जनश्च शूद्रोऽपि महत्त्वमीयात्॥ १००॥

'इसे ब्राह्मण पढ़े तो विद्वान् हो, क्षत्रिय पढ़ता हो तो पृथ्वीका राज्य प्राप्त करे, वैश्यको व्यापारमें लाभ हो और शूद्र भी प्रतिष्ठा प्राप्त करे'॥ १००॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे प्रथमः सर्गः॥ १॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें पहला सर्ग पूरा हुआ॥ १॥

★

द्वितीयः सर्गः

रामायणकाव्यका उपक्रम—तमसाके तटपर क्रौञ्चवधसे संतप्त हुए महर्षि वाल्मीकिके शोकका श्लोक-रूपमें प्रकट होना तथा ब्रह्माजीका उन्हें रामचरित्रमय काव्यके निर्माणका आदेश देना

नारदस्य तु तद् वाक्यं श्रुत्वा वाक्यविशारदः।
पूजयामास धर्मात्मा सहशिष्यो महामुनिम्॥ १॥

देवर्षि नारदजीके उपर्युक्त वचन सुनकर वाणीविशारद धर्मात्मा ऋषि वाल्मीकिजीने अपने शिष्योंसहित उन

महामुनिका पूजन किया ॥ १ ॥

यथावत् पूजितस्तेन देवर्षिर्नारदस्तथा ।
आपृच्छ्यैवाभ्यनुज्ञातः स जगाम विहायसम् ॥ २ ॥

वाल्मीकिजीसे यथावत् सम्मानित हो देवर्षि नारदजीने जानेके लिये उनसे आज्ञा माँगी और उनसे अनुमति मिल जानेपर वे आकाशमार्गसे चले गये ॥ २ ॥

स मुहूर्तं गते तस्मिन् देवलोकं मुनिस्तदा ।
जगाम तमसातीरं जाह्नव्यास्त्वविदूरतः ॥ ३ ॥

उनके देवलोक पधारनेके दो ही घड़ी बाद वाल्मीकिजी तमसा नदीके तटपर गये, जो गङ्गाजीसे अधिक दूर नहीं था ॥ ३ ॥

स तु तीरं समासाद्य तमसाया मुनिस्तदा ।
शिष्यमाह स्थितं पार्श्वे दृष्ट्वा तीर्थमकर्दमम् ॥ ४ ॥

तमसाके तटपर पहुँचकर वहाँके घाटको कीचड़से रहित देख मुनिने अपने पास खड़े हुए शिष्यसे कहा— ॥ ४ ॥

अकर्दममिदं तीर्थं भरद्वाज निशामय ।
रमणीयं प्रसन्नाम्बु सन्मनुष्यमनो यथा ॥ ५ ॥

'भरद्वाज ! देखो, यहाँका घाट बड़ा सुन्दर है। इसमें कीचड़का नाम नहीं है। यहाँका जल वैसा ही स्वच्छ है, जैसा सत्पुरुषका मन होता है ॥ ५ ॥

न्यस्यतां कलशस्तात दीयतां वल्कलं मम ।
इदमेवावगाहिष्ये तमसातीर्थमुत्तमम् ॥ ६ ॥

'तात ! यहीं कलश रख दो और मुझे मेरा वल्कल दो। मैं तमसाके इसी उत्तम तीर्थमें स्नान करूँगा' ॥ ६ ॥

एवमुक्तो भरद्वाजो वाल्मीकेन महात्मना ।
प्रायच्छत मुनेस्तस्य वल्कलं नियतो गुरोः ॥ ७ ॥

महात्मा वाल्मीकिके ऐसा कहनेपर नियमपरायण शिष्य भरद्वाजने अपने गुरु मुनिवर वाल्मीकिको वल्कल-वस्त्र दिया ॥ ७ ॥

स शिष्यहस्तादादाय वल्कलं नियतेन्द्रियः ।
विचचार ह पश्यंस्तत् सर्वतो विपुलं वनम् ॥ ८ ॥

शिष्यके हाथसे वल्कल लेकर वे जितेन्द्रिय मुनि वहाँके विशाल वनकी शोभा देखते हुए सब ओर विचरने लगे ॥ ८ ॥

तस्याभ्याशे तु मिथुनं चरन्तमनपायिनम् ।
ददर्श भगवांस्तत्र क्रौञ्चयोश्चारुनिःस्वनम् ॥ ९ ॥

उनके पास ही क्रौञ्च पक्षियोंका एक जोड़ा, जो कभी एक-दूसरेसे अलग नहीं होता था, विचर रहा था। वे दोनों पक्षी बड़ी मधुर बोली बोलते थे। भगवान् वाल्मीकिने पक्षियोंके उस जोड़ेको वहाँ देखा ॥ ९ ॥

तस्मात् तु मिथुनादेकं पुमांसं पापनिश्चयः ।
जघान वैरनिलयो निषादस्तस्य पश्यतः ॥ १० ॥

उसी समय पापपूर्ण विचार रखनेवाले एक निषादने, जो समस्त जन्तुओंका अकारण वैरी था, वहाँ आकर पक्षियोंके उस जोड़ेमेंसे एक—नर पक्षीको मुनिके देखते-देखते बाणसे मार डाला ॥ १० ॥

तं शोणितपरीताङ्गं चेष्टमानं महीतले ।
भार्या तु निहतं दृष्ट्वा रुराव करुणां गिरम् ॥ ११ ॥

वह पक्षी खूनसे लथपथ होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा और पंख फड़फड़ाता हुआ तड़पने लगा। अपने पतिकी हत्या हुई देख उसकी भार्या क्रौञ्ची करुणाजनक स्वरमें चीत्कार कर उठी ॥ ११ ॥

वियुक्ता पतिना तेन द्विजेन सहचारिणा ।
ताम्रशीर्षेण मत्तेन पत्रिणा सहितेन वै ॥ १२ ॥

उत्तम पंखोंसे युक्त वह पक्षी सदा अपनी भार्याके साथ-साथ विचरता था। उसके मस्तकका रंग ताँबेके समान लाल था और वह कामसे मतवाला हो गया था। ऐसे पतिसे वियुक्त होकर क्रौञ्ची बड़े दुःखसे रो रही थी ॥ १२ ॥

तथाविधं द्विजं दृष्ट्वा निषादेन निपातितम् ।
ऋषेर्धर्मात्मनस्तस्य कारुण्यं समपद्यत ॥ १३ ॥

निषादने जिसे मार गिराया था, उस नर पक्षीकी वह दुर्दशा देख उन धर्मात्मा ऋषिको बड़ी दया आयी ॥ १३ ॥

ततः करुणवेदित्वादधर्मोऽयमिति द्विजः ।
निशाम्य रुदतीं क्रौञ्चीमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १४ ॥

स्वभावतः करुणाका अनुभव करनेवाले ब्रह्मर्षिने 'यह अधर्म हुआ है' ऐसा निश्चय करके रोती हुई क्रौञ्चीकी ओर देखते हुए निषादसे इस प्रकार कहा— ॥ १४ ॥

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥ १५ ॥

'निषाद ! तुझे नित्य-निरन्तर—कभी भी शान्ति न मिले; क्योंकि तूने इस क्रौञ्चके जोड़ेमेंसे एककी, जो कामसे मोहित हो रहा था, बिना किसी अपराधके ही हत्या कर डाली' ॥ १५ ॥

तस्यैवं ब्रुवतश्चिन्ता बभूव हृदि वीक्षतः ।
शोकार्तेनास्य शकुनेः किमिदं व्याहृतं मया ॥ १६ ॥

ऐसा कहकर जब उन्होंने इसपर विचार किया, तब उनके मनमें यह चिन्ता हुई कि 'अहो ! इस पक्षीके शोकसे पीड़ित होकर मैंने यह क्या कह डाला' ॥ १६ ॥

चिन्तयन् स महाप्राज्ञश्चकार मतिमान्मतिम् ।
शिष्यं चैवाब्रवीद् वाक्यमिदं स मुनिपुङ्गवः ॥ १७ ॥

यही सोचते हुए महाज्ञानी और परम बुद्धिमान् मुनिवर वाल्मीकि एक निश्चयपर पहुँच गये और अपने शिष्यसे इस प्रकार बोले— ॥ १७ ॥

पादबद्धोऽक्षरसमस्तन्त्रीलयसमन्वितः ।
शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा ॥ १८ ॥

'तात ! शोकसे पीड़ित हुए मेरे मुखसे जो वाक्य

निकल पड़ा है, यह चार चरणोंमें आबद्ध है। इसके प्रत्येक चरणमें बराबर-बराबर (यानी आठ-आठ) अक्षर हैं तथा इसे वीणाके लयपर गाया भी जा सकता है; अतः मेरा यह वचन श्लोकरूप (अर्थात् श्लोक नामक छन्दमें आबद्ध काव्यरूप या यशःस्वरूप) होना चाहिये, अन्यथा नहीं' ॥१८॥

शिष्यस्तु तस्य ब्रुवतो मुनेर्वाक्यमनुत्तमम्।
प्रतिजग्राह संतुष्टस्तस्य तुष्टोऽभवन्मुनिः ॥ १९ ॥

मुनिकी यह उत्तम बात सुनकर उनके शिष्य भरद्वाजको बड़ी प्रसन्नता हुई और उसने उनका समर्थन करते हुए कहा—'हाँ, आपका यह वाक्य श्लोकरूप ही होना चाहिये।' शिष्यके इस कथनसे मुनिको विशेष संतोष हुआ ॥ १९ ॥

सोऽभिषेकं ततः कृत्वा तीर्थे तस्मिन् यथाविधि।
तमेव चिन्तयन्नर्थमुपावर्तत वै मुनिः ॥ २० ॥

तत्पश्चात् उन्होंने उत्तम तीर्थमें विधिपूर्वक स्नान किया और उसी विषयका विचार करते हुए वे आश्रमकी ओर लौट पड़े ॥ २० ॥

भरद्वाजस्ततः शिष्यो विनीतः श्रुतवान् गुरोः।
कलशं पूर्णमादाय पृष्ठतोऽनुजगाम ह ॥ २१ ॥

फिर उनका विनीत एवं शास्त्रज्ञ शिष्य भरद्वाज भी वह जलसे भरा हुआ कलश लेकर गुरुजीके पीछे-पीछे चला ॥

स प्रविश्याश्रमपदं शिष्येण सह धर्मवित्।
उपविष्टः कथाश्चान्याश्चकार ध्यानमास्थितः ॥ २२ ॥

शिष्यके साथ आश्रममें पहुँचकर धर्मज्ञ ऋषि वाल्मीकिजी आसनपर बैठे और दूसरी-दूसरी बातें करने लगे; परंतु उनका ध्यान उस श्लोककी ओर ही लगा था ॥ २२ ॥

आजगाम ततो ब्रह्मा लोककर्ता स्वयं प्रभुः।
चतुर्मुखो महातेजा द्रष्टुं तं मुनिपुङ्गवम् ॥ २३ ॥

इतनेहीमें अखिल विश्वकी सृष्टि करनेवाले, सर्वसमर्थ, महातेजस्वी चतुर्मुख ब्रह्माजी मुनिवर वाल्मीकिसे मिलनेके लिये स्वयं उनके आश्रमपर आये ॥ २३ ॥

वाल्मीकिरथ तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय वाग्यतः।
प्राञ्जलिः प्रयतो भूत्वा तस्थौ परमविस्मितः ॥ २४ ॥

उन्हें देखते ही महर्षि वाल्मीकि सहसा उठकर खड़े हो गये। वे मन और इन्द्रियोंको वशमें रखकर अत्यन्त विस्मित हो हाथ जोड़े चुपचाप कुछ कालतक खड़े ही रह गये, कुछ बोल न सके ॥ २४ ॥

पूजयामास तं देवं पाद्यार्घ्यासनवन्दनैः।
प्रणम्य विधिवच्चैनं पृष्ट्वा चैव निरामयम् ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने पाद्य, अर्घ्य, आसन और स्तुति आदिके द्वारा भगवान् ब्रह्माजीका पूजन किया और उनके चरणोंमें विधिवत् प्रणाम करके उनसे कुशल-समाचार पूछा ॥ २५ ॥

अथोपविश्य भगवानासने परमार्चिते।
वाल्मीकये च ऋषये संदिदेशासनं ततः ॥ २६ ॥

भगवान् ब्रह्माने एक परम उत्तम आसनपर विराजमान होकर वाल्मीकि मुनिको भी आसन-ग्रहण करनेकी आज्ञा दी ॥ २६ ॥

ब्रह्मणा समनुज्ञातः सोऽप्युपाविशदासने।
उपविष्टे तदा तस्मिन् साक्षाल्लोकपितामहे ॥ २७ ॥
तद्गतेनैव मनसा वाल्मीकिर्ध्यानमास्थितः।
पापात्मना कृतं कष्टं वैरग्रहणबुद्धिना ॥ २८ ॥
यत् तादृशं चारुरवं क्रौञ्चं हन्यादकारणात्।

ब्रह्माजीकी आज्ञा पाकर वे भी आसनपर बैठे। उस समय साक्षात् लोकपितामह ब्रह्मा सामने बैठे हुए थे तो भी वाल्मीकिका मन उस क्रौञ्च पक्षीवाली घटनाकी ओर ही लगा रहा। वे उसीके विषयमें सोचने लगे—'ओह! जिसकी बुद्धि वैरभावको ग्रहण करनेमें ही लगी रहती है, उस पापात्मा व्याधने बिना किसी अपराधके ही वैसे मनोहर कलरव करनेवाले क्रौञ्च पक्षीके प्राण ले लिये' ॥२७-२८½॥

शोचन्नेव पुनः क्रौञ्चीमुपश्लोकमिमं जगौ ॥ २९ ॥
पुनरन्तर्गतमना भूत्वा शोकपरायणः।

यही सोचते-सोचते उन्होंने क्रौञ्चीके आर्तनादको सुनकर निषादको लक्ष्य करके जो श्लोक कहा था, उसीको फिर ब्रह्माजीके सामने दुहराया। उसे दुहराते ही फिर उनके मनमें अपने दिये हुए शापके अनौचित्यका ध्यान आया। तब वे शोक और चिन्तामें डूब गये ॥ २९½ ॥

तमुवाच ततो ब्रह्मा प्रहसन् मुनिपुङ्गवम् ॥ ३० ॥
श्लोक एवास्त्वयं बद्धो नात्र कार्या विचारणा।
मच्छन्दादेव ते ब्रह्मन् प्रवृत्तेयं सरस्वती ॥ ३१ ॥

ब्रह्माजी उनकी मनःस्थितिको समझकर हँसने लगे और मुनिवर वाल्मीकिसे इस प्रकार बोले—'ब्रह्मन्! तुम्हारे मुँहसे निकला हुआ यह छन्दोबद्ध वाक्य श्लोकरूप ही होगा। इस विषयमें तुम्हें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। मेरे संकल्प अथवा प्रेरणासे ही तुम्हारे मुँहसे ऐसी वाणी निकली है ॥ ३०-३१ ॥

रामस्य चरितं कृत्स्नं कुरु त्वमृषिसत्तम।
धर्मात्मनो भगवतो लोके रामस्य धीमतः ॥ ३२ ॥
वृत्तं कथय धीरस्य यथा ते नारदाच्छ्रुतम्।

'मुनिश्रेष्ठ! तुम श्रीरामके सम्पूर्ण चरित्रका वर्णन करो। परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीराम संसारमें सबसे बड़े धर्मात्मा और धीर पुरुष हैं। तुमने नारदजीके मुँहसे जैसा सुना है, उसीके अनुसार उनके चरित्रका चित्रण करो ॥ ३२½ ॥

रहस्यं च प्रकाशं च यद् वृत्तं तस्य धीमतः ॥ ३३ ॥
रामस्य सहसौमित्रे राक्षसानां च सर्वशः।
वैदेह्याश्चैव यद् वृत्तं प्रकाशं यदि वा रहः ॥ ३४ ॥
तच्चाप्यविदितं सर्वं विदितं ते भविष्यति।

'बुद्धिमान् श्रीरामका जो गुप्त या प्रकट वृत्तान्त है तथा

लक्ष्मण, सीता और राक्षसोंके जो सम्पूर्ण गुप्त या प्रकट चरित्र हैं, वे सब अज्ञात होनेपर भी तुम्हें ज्ञात हो जायँगे ॥ ३३-३४$\frac{1}{2}$ ॥

न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति ॥ ३५ ॥
कुरु रामकथां पुण्यां श्लोकबद्धां मनोरमाम् ।

'इस काव्यमें अङ्कित तुम्हारी कोई भी बात झूठी नहीं होगी; इसलिये तुम श्रीरामचन्द्रजीकी परम पवित्र एवं मनोरम कथाको श्लोकबद्ध करके लिखो ॥ ३५$\frac{1}{2}$ ॥

यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले ॥ ३६ ॥
तावद् रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति ।

'इस पृथ्वीपर जबतक नदियों और पर्वतोंकी सत्ता रहेगी, तबतक संसारमें रामायणकथाका प्रचार होता रहेगा ॥ ३६$\frac{1}{2}$ ॥

यावद् रामस्य च कथा त्वत्कृता प्रचरिष्यति ॥ ३७ ॥
तावदूर्ध्वमधश्च त्वं मल्लोकेषु निवत्स्यसि ।

'जबतक तुम्हारी बनायी हुई श्रीरामकथाका लोकमें प्रचार रहेगा, तबतक तुम इच्छानुसार ऊपर-नीचे तथा मेरे लोकोंमें निवास करोगे' ॥ ३७$\frac{1}{2}$ ॥

इत्युक्त्वा भगवान् ब्रह्मा तत्रैवान्तरधीयत ।
ततः सशिष्यो भगवान् मुनिर्विस्मयमाययौ ॥ ३८ ॥

ऐसा कहकर भगवान् ब्रह्माजी वहीं अन्तर्धान हो गये। उनके वहीं अन्तर्धान होनेसे शिष्योंसहित भगवान् वाल्मीकि मुनिको बड़ा विस्मय हुआ ॥ ३८ ॥

तस्य शिष्यास्ततः सर्वे जगुः श्लोकमिमं पुनः ।
मुहुर्मुहुः प्रीयमाणाः प्राहुश्च भृशविस्मिताः ॥ ३९ ॥

तदनन्तर उनके सभी शिष्य अत्यन्त प्रसन्न होकर बार-बार इस श्लोकका गान करने लगे तथा परम विस्मित हो परस्पर इस प्रकार कहने लगे— ॥ ३९ ॥

समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो महर्षिणा ।
सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥ ४० ॥

'हमारे गुरुदेव महर्षिने क्रौञ्च पक्षीके दुःखसे दुःखी होकर जिस समान अक्षरोंवाले चार चरणोंसे युक्त वाक्यका गान किया था, वह था तो उनके हृदयका शोक; किंतु उनकी वाणीद्वारा उच्चारित होकर श्लोकरूप[1] हो गया' ॥ ४० ॥

तस्य बुद्धिरियं जाता महर्षेर्भावितात्मनः ।
कृत्स्नं रामायणं काव्यमीदृशैः करवाण्यहम् ॥ ४१ ॥

इधर शुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षि वाल्मीकिके मनमें यह विचार हुआ कि मैं ऐसे ही श्लोकोंमें सम्पूर्ण रामायणकाव्यकी रचना करूँ ॥ ४१ ॥

उदारवृत्तार्थपदैर्मनोरमै-
स्तदास्य रामस्य चकार कीर्तिमान् ।
समाक्षरैः श्लोकशतैर्यशस्विनो
यशस्करं काव्यमुदारदर्शनः ॥ ४२ ॥

यह सोचकर उदार दृष्टिवाले उन यशस्वी महर्षिने भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके चरित्रको लेकर हजारों श्लोकोंसे युक्त महाकाव्यकी रचना की, जो उनके यशको बढ़ानेवाला है। इसमें श्रीरामके उदार चरित्रोंका प्रतिपादन करनेवाले मनोहर पदोंका प्रयोग किया गया है ॥ ४२ ॥

तदुपगतसमाससंधियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ ४३ ॥

महर्षि वाल्मीकिके बनाये हुए इस काव्यमें तत्पुरुष आदि समासों, दीर्घ-गुण आदि संधियों और प्रकृति-प्रत्ययके सम्बन्धका यथायोग्य निर्वाह हुआ है। इसकी रचनामें समता (पतत्-प्रकर्ष आदि दोषोंका अभाव) है, पदोंमें माधुर्य है और अर्थमें प्रसाद-गुणकी अधिकता है। भावुकजनो! इस प्रकार शास्त्रीय पद्धतिके अनुकूल बने हुए इस रघुवर-चरित्र और रावण-वधके प्रसङ्गको ध्यान देकर सुनो ॥ ४३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें दूसरा सर्ग पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयः सर्गः

वाल्मीकि मुनिद्वारा रामायणकाव्यमें निबद्ध विषयोंका संक्षेपसे उल्लेख

श्रुत्वा वस्तु समग्रं तद्धर्मार्थसहितं हितम् ।
व्यक्तमन्वेषते भूयो यद् वृत्तं तस्य धीमतः ॥ १ ॥

नारदजीके मुखसे धर्म, अर्थ एवं कामरूपी फलसे युक्त, हितकर (मोक्षदायक) तथा प्रकट और गुप्त— सम्पूर्ण रामचरित्रको, जो रामायण महाकाव्यकी प्रधान कथावस्तु था, सुनकर महर्षि वाल्मीकिजी बुद्धिमान् श्रीरामके उस जीवनवृत्तका पुनः भलीभाँति साक्षात्कार करनेके लिये प्रयत्न करने लगे ॥ १ ॥

उपस्पृश्योदकं सम्यङ्मुनिः स्थित्वा कृताञ्जलिः ।
प्राचीनाग्रेषु दर्भेषु धर्मेणान्वेषते गतिम् ॥ २ ॥

---

[1] काव्य या यशरूप।

वे पूर्वाग्र कुशोंके आसनपर बैठ गये और विधिवत् आचमन करके हाथ जोड़े हुए स्थिर भावसे स्थित हो योगधर्म (समाधि) के द्वारा श्रीराम आदिके चरित्रोंका अनुसंधान करने लगे ॥ २ ॥

रामलक्ष्मणसीताभी राज्ञा दशरथेन च।
सभार्येण सराष्ट्रेण यत् प्राप्तं तत्र तत्त्वतः ॥ ३ ॥
हसितं भाषितं चैव गतिर्यावच्च चेष्टितम्।
तत् सर्वं धर्मवीर्येण यथावत् सम्प्रपश्यति ॥ ४ ॥

श्रीराम-लक्ष्मण-सीता तथा राज्य और रानियोंसहित राजा दशरथसे सम्बन्ध रखनेवाली जितनी बातें थीं—हँसना, बोलना, चलना और राज्यपालन आदि जितनी चेष्टाएँ हुईं—उन सबका महर्षिने अपने योगधर्मके बलसे भलीभाँति साक्षात्कार किया ॥ ३-४ ॥

स्त्रीतृतीयेन च तथा यत् प्राप्तं चरता वने।
सत्यसंधेन रामेण तत् सर्वं चान्ववेक्षत ॥ ५ ॥

सत्यप्रतिज्ञ श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मण और सीताके साथ वनमें विचरते समय जो-जो लीलाएँ की थीं, वे सब उनकी दृष्टिमें आ गयीं ॥ ५ ॥

ततः पश्यति धर्मात्मा तत् सर्वं योगमास्थितः।
पुरा यत् तत्र निर्वृत्तं पाणावामलकं यथा ॥ ६ ॥

योगका आश्रय लेकर उन धर्मात्मा महर्षिने पूर्वकालमें जो-जो घटनाएँ घटित हुई थीं, उन सबको वहाँ हाथपर रखे हुए आँवलेकी तरह प्रत्यक्ष देखा ॥ ६ ॥

तत् सर्वं तत्त्वतो दृष्ट्वा धर्मेण स महामतिः।
अभिरामस्य रामस्य तत् सर्वं कर्तुमुद्यतः ॥ ७ ॥

सबके मनको प्रिय लगनेवाले भगवान् श्रीरामके सम्पूर्ण चरित्रोंका योगधर्म (समाधि) के द्वारा यथार्थरूपसे निरीक्षण करके महाबुद्धिमान् महर्षि वाल्मीकिने उन सबको महाकाव्यका रूप देनेकी चेष्टा की ॥ ७ ॥

कामार्थगुणसंयुक्तं धर्मार्थगुणविस्तरम्।
समुद्रमिव रत्नाढ्यं सर्वश्रुतिमनोहरम् ॥ ८ ॥
स यथा कथितं पूर्वं नारदेन महात्मना।
रघुवंशस्य चरितं चकार भगवान् मुनिः ॥ ९ ॥

महात्मा नारदजीने पहले जैसा वर्णन किया था, उसीके क्रमसे भगवान् वाल्मीकि मुनिने रघुवंशविभूषण श्रीरामके चरित्रविषयक रामायण काव्यका निर्माण किया। जैसे समुद्र सब रत्नोंकी निधि है, उसी प्रकार यह महाकाव्य गुण, अलङ्कार एवं ध्वनि आदि रत्नोंका भण्डार है। इतना ही नहीं, यह सम्पूर्ण श्रुतियोंके सारभूत अर्थका प्रतिपादक होनेके कारण सबके कानोंको प्रिय लगनेवाला तथा सभीके चित्तको आकृष्ट करनेवाला है। यह धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूपी गुणों (फलों) से युक्त तथा इनका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन एवं दान करनेवाला है ॥ ८-९ ॥

जन्म रामस्य सुमहद्वीर्यं सर्वानुकूलताम्।
लोकस्य प्रियतां क्षान्तिं सौम्यतां सत्यशीलताम् ॥ १० ॥

श्रीरामके जन्म, उनके महान् पराक्रम, उनकी सर्वानुकूलता, लोकप्रियता, क्षमा, सौम्यभाव तथा सत्यशीलताका इस महाकाव्यमें महर्षिने वर्णन किया ॥ १० ॥

नाना चित्राः कथाश्चान्या विश्वामित्रसहायने।
जानक्याश्च विवाहं च धनुषश्च विभेदनम् ॥ ११ ॥

विश्वामित्रजीके साथ श्रीराम-लक्ष्मणके जानेपर जो उनके द्वारा नाना प्रकारकी विचित्र लीलाएँ तथा अद्भुत बातें घटित हुईं, उन सबका इसमें महर्षिने वर्णन किया। श्रीरामद्वारा मिथिलामें धनुषके तोड़े जाने तथा जनकनन्दिनी सीता और उर्मिला आदिके विवाहका भी इसमें चित्रण किया ॥

रामरामविवादं च गुणान् दाशरथेस्तथा।
तथाभिषेकं रामस्य कैकेय्या दुष्टभावताम् ॥ १२ ॥
विघातं चाभिषेकस्य रामस्य च विवासनम्।
राज्ञः शोकं विलापं च परलोकस्य चाश्रयम् ॥ १३ ॥
प्रकृतीनां विषादं च प्रकृतीनां विसर्जनम्।
निषादाधिपसंवादं सूतोपावर्तनं तथा ॥ १४ ॥

श्रीराम-परशुराम-संवाद, दशरथनन्दन श्रीरामके गुण, उनके अभिषेक, कैकेयीकी दुष्टता, श्रीरामके राज्याभिषेकमें विघ्न, उनके वनवास, राजा दशरथके शोक-विलाप और परलोक-गमन, प्रजाओंके विषाद, साथ जानेवाली प्रजाओंको मार्गमें छोड़ने, निषादराज गुहके साथ बात करने तथा सूत सुमन्त्रको अयोध्या लौटाने आदिका भी इसमें उल्लेख किया ॥ १२—१४ ॥

गङ्गायाश्चापि संतारं भरद्वाजस्य दर्शनम्।
भरद्वाजाभ्यनुज्ञानाच्चित्रकूटस्य दर्शनम् ॥ १५ ॥
वास्तुकर्म निवेशं च भरतागमनं तथा।
प्रसादनं च रामस्य पितुश्च सलिलक्रियाम् ॥ १६ ॥
पादुकाग्र्याभिषेकं च नन्दिग्रामनिवासनम्।
दण्डकारण्यगमनं विराधस्य वधं तथा ॥ १७ ॥
दर्शनं शरभङ्गस्य सुतीक्ष्णेन समागमम्।
अनसूयासमाख्यां च अङ्गरागस्य चार्पणम् ॥ १८ ॥
दर्शनं चाप्यगस्त्यस्य धनुषो ग्रहणं तथा।
शूर्पणख्याश्च संवादं विरूपकरणं तथा ॥ १९ ॥
वधं खरत्रिशिरसोरुत्थानं रावणस्य च।
मारीचस्य वधं चैव वैदेह्या हरणं तथा ॥ २० ॥
राघवस्य विलापं च गृध्रराजनिबर्हणम्।
कबन्धदर्शनं चैव पम्पायाश्चापि दर्शनम् ॥ २१ ॥
शबरीदर्शनं चैव फलमूलाशनं तथा।
प्रलापं चैव पम्पायां हनूमद्दर्शनं तथा ॥ २२ ॥
ऋष्यमूकस्य गमनं सुग्रीवेण समागमम्।
प्रत्ययोत्पादनं सख्यं वालिसुग्रीवविग्रहम् ॥ २३ ॥

वालिप्रमथनं चैव सुग्रीवप्रतिपादनम्।
ताराविलापं समयं वर्षरात्रनिवासनम्॥ २४॥
कोपं राघवसिंहस्य बलानामुपसंग्रहम्।
दिशः प्रस्थापनं चैव पृथिव्याश्च निवेदनम्॥ २५॥
अङ्गुलीयकदानं च ऋक्षस्य बिलदर्शनम्।
प्रायोपवेशनं चैव सम्पातेश्चापि दर्शनम्॥ २६॥
पर्वतारोहणं चैव सागरस्यापि लङ्घनम्।
समुद्रवचनाच्चैव मैनाकस्य च दर्शनम्॥ २७॥
राक्षसीतर्जनं चैव छायाग्राहस्य दर्शनम्।
सिंहिकायाश्च निधनं लङ्कामलयदर्शनम्॥ २८॥
रात्रौ लङ्काप्रवेशं च एकस्यापि विचिन्तनम्।
आपानभूमिगमनमवरोधस्य दर्शनम्॥ २९॥
दर्शनं रावणस्यापि पुष्पकस्य च दर्शनम्।
अशोकवनिकायानं सीतायाश्चापि दर्शनम्॥ ३०॥
अभिज्ञानप्रदानं च सीतायाश्चापि भाषणम्।
राक्षसीतर्जनं चैव त्रिजटास्वप्नदर्शनम्॥ ३१॥
मणिप्रदानं सीताया वृक्षभङ्गं तथैव च।
राक्षसीविद्रवं चैव किंकराणां निबर्हणम्॥ ३२॥
ग्रहणं वायुसूनोश्च लङ्कादाहाभिगर्जनम्।
प्रतिप्लवनमेवाथ मधूनां हरणं तथा॥ ३३॥
राघवाश्वासनं चैव मणिनिर्यातनं तथा।
संगमं च समुद्रेण नलसेतोश्च बन्धनम्॥ ३४॥
प्रतारं च समुद्रस्य रात्रौ लङ्कावरोधनम्।
विभीषणेन संसर्गं वधोपायनिवेदनम्॥ ३५॥
कुम्भकर्णस्य निधनं मेघनादनिबर्हणम्।
रावणस्य विनाशं च सीतावाप्तिमरेः पुरे॥ ३६॥
विभीषणाभिषेकं च पुष्पकस्य च दर्शनम्।
अयोध्यायाश्च गमनं भरद्वाजसमागमम्॥ ३७॥
प्रेषणं वायुपुत्रस्य भरतेन समागमम्।
रामाभिषेकाभ्युदयं सर्वसैन्यविसर्जनम्।
स्वराष्ट्ररञ्जनं चैव वैदेह्याश्च विसर्जनम्॥ ३८॥
अनागतं च यत् किंचिद् रामस्य वसुधातले।
तच्चकारोत्तरे काव्ये वाल्मीकिर्भगवानृषिः॥ ३९॥

श्रीराम आदिका गङ्गाके पार जाना, भरद्वाज मुनिका दर्शन करना, भरद्वाज मुनिकी आज्ञा लेकर चित्रकूट जाना और वहाँकी नैसर्गिक शोभाका अवलोकन करना, चित्रकूटमें कुटिया बनाना, उसमें निवास करना, वहाँ भरतका श्रीरामसे मिलनेके लिये आना, उन्हें अयोध्या लौट चलनेके लिये प्रसन्न करना (मनाना), श्रीरामद्वारा पिताको जलाञ्जलि दान, भरतद्वारा अयोध्याके राजसिंहासनपर श्रीरामचन्द्रजीकी श्रेष्ठ पादुकाओंका अभिषेक एवं स्थापन, नन्दिग्राममें भरतका निवास, श्रीरामका दण्डकारण्यमें गमन, उनके द्वारा विराधका वध, शरभङ्गमुनिका दर्शन, सुतीक्ष्णके साथ समागम, अनसूयाके साथ सीतादेवीकी कुछ कालतक स्थिति, उनके द्वारा सीताको अङ्गराग-समर्पण, श्रीराम आदिके द्वारा अगस्त्यका दर्शन, उनके दिये हुए वैष्णव धनुषका ग्रहण, शूर्पणखाका संवाद, श्रीरामकी आज्ञासे लक्ष्मणद्वारा उसका विरूपकरण (उसकी नाक और कानका छेदन), श्रीरामद्वारा खर-दूषण और त्रिशिराका वध, शूर्पणखाके उत्तेजित करनेसे रावणका श्रीरामसे बदला लेनेके लिये उठना, श्रीरामद्वारा मारीचका वध, रावणद्वारा विदेहनन्दिनी सीताका हरण, सीताके लिये श्रीरघुनाथजीका विलाप, रावणद्वारा गृध्रराज जटायुका वध, श्रीराम और लक्ष्मणकी कबन्धसे भेंट, उनके द्वारा पम्पासरोवरका अवलोकन, श्रीरामका शबरीसे मिलना और उसके दिये हुए फल-मूलको ग्रहण करना, श्रीरामका सीताके लिये प्रलाप, पम्पासरोवरके निकट हनुमान्‌जीसे भेंट, श्रीराम और लक्ष्मणका हनुमान्‌जीके साथ ऋष्यमूक पर्वतपर जाना, वहाँ सुग्रीवके साथ भेंट करना, उन्हें अपने बलका विश्वास दिलाना और उनसे मित्रता स्थापित करना, वाली और सुग्रीवका युद्ध, श्रीरामद्वारा वालीका विनाश, सुग्रीवको राज्य-समर्पण, अपने पति वालीके लिये ताराका विलाप, शरत्कालमें सीताकी खोज करानेके लिये सुग्रीवकी प्रतिज्ञा, श्रीरामका बरसातके दिनोंमें माल्यवान् पर्वतके प्रस्रवण नामक शिखरपर निवास, रघुकुलसिंह श्रीरामका सुग्रीवके प्रति क्रोध-प्रदर्शन, सुग्रीवद्वारा सीताकी खोजके लिये वानरसेनाका संग्रह, सुग्रीवका सम्पूर्ण दिशाओंमें वानरोंको भेजना और उन्हें पृथ्वीके द्वीप-समुद्र आदि विभागोंका परिचय देना, श्रीरामका सीताके विश्वासके लिये हनुमान्‌जीको अपनी अँगूठी देना, वानरोंको ऋक्ष-बिल (स्वयंप्रभा-गुफा) का दर्शन, उनका प्रायोपवेशन (प्राणत्यागके लिये अनशन), सम्पातीसे उनकी भेंट और बातचीत, समुद्रलङ्घनके लिये हनुमान्‌जीका महेन्द्र पर्वतपर चढ़ना, समुद्रको लाँघना, समुद्रके कहनेसे ऊपर उठे हुए मैनाकका दर्शन करना, इनको राक्षसीका डाँटना, हनुमान्‌द्वारा छायाग्राहिणी सिंहिकाका दर्शन एवं निधन, लङ्काके आधारभूत पर्वत (त्रिकूट) का दर्शन, रात्रिके समय लङ्कामें प्रवेश, अकेला होनेके कारण अपने कर्तव्यका विचार करना, रावणके मद्यपान-स्थानमें जाना, उसके अन्तःपुरकी स्त्रियोंको देखना, हनुमान्‌जीका रावणको देखना, पुष्पकविमानका निरीक्षण करना, अशोक-वाटिकामें जाना और सीताजीके दर्शन करना, पहचानके लिये सीताजीको अँगूठी देना और उनसे बातचीत करना, राक्षसियोंद्वारा सीताको डाँट-फटकार, त्रिजटाको श्रीरामके लिये शुभसूचक स्वप्नका दर्शन, सीताका हनुमान्‌जीको चूडामणि प्रदान करना, हनुमान्‌जीका अशोकवाटिकाके वृक्षोंको तोड़ना, राक्षसियोंका भागना, रावणके सेवकोंका हनुमान्‌जीके द्वारा संहार, वायुनन्दन हनुमान्‌का बन्दी होकर

रावणकी सभामें जाना, उनके द्वारा गर्जन और लङ्काका दाह, फिर लौटती बार समुद्रको लाँघना, वानरोंका मधुवनमें आकर मधुपान करना, हनुमान्‌जीका श्रीरामचन्द्रजीको आश्वासन देना और सीताजीकी दी हुई चूड़ामणि समर्पित करना, सेनासहित सुग्रीवके साथ श्रीरामकी लङ्कायात्राके समय समुद्रसे भेंट, नलका समुद्रपर सेतु बाँधना, उसी सेतुके द्वारा वानरसेनाका समुद्रके पार जाना, रातको वानरोंका लङ्कापर चारों ओरसे घेरा डालना, विभीषणके साथ श्रीरामका मैत्री-सम्बन्ध होना, विभीषणका श्रीरामको रावणके वधका उपाय बताना, कुम्भकर्णका निधन, मेघनादका वध, रावणका विनाश, सीताकी प्राप्ति, शत्रुनगरी लङ्कामें विभीषणका अभिषेक, श्रीरामद्वारा पुष्पकविमानका अवलोकन, उसके द्वारा दल-बलसहित उनका अयोध्याके लिये प्रस्थान, श्रीरामका भरद्वाजमुनिसे मिलना, वायुपुत्र हनुमान्‌को दूत बनाकर भरतके पास भेजना तथा अयोध्यामें आकर भरतसे मिलना, श्रीरामके राज्याभिषेकका उत्सव, फिर श्रीरामका सारी वानर-सेनाको विदा करना, अपने राष्ट्रकी प्रजाको प्रसन्न रखना तथा उनकी प्रसन्नताके लिये ही विदेहनन्दिनी सीताको वनमें त्याग देना इत्यादि वृत्तान्तोंको एवं इस पृथ्वीपर श्रीरामका जो कुछ भविष्य चरित्र था, उसको भी भगवान् वाल्मीकि मुनिने अपने उत्कृष्ट महाकाव्यमें अङ्कित किया ॥ १५—३९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें तीसरा सर्ग पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थः सर्गः

महर्षि वाल्मीकिका चौबीस हजार श्लोकोंसे युक्त रामायणकाव्यका निर्माण करके उसे लव-कुशको पढ़ाना, मुनिमण्डलीमें रामायणगान करके लव और कुशका प्रशंसित होना तथा अयोध्यामें श्रीरामद्वारा सम्मानित हो उन दोनोंका रामदरबारमें रामायणगान सुनाना

प्राप्तराजस्य रामस्य वाल्मीकिर्भगवानृषिः ।
चकार चरितं कृत्स्नं विचित्रपदमर्थवत् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने जब वनसे लौटकर राज्यका शासन अपने हाथमें ले लिया, उसके बाद भगवान् वाल्मीकि मुनिने उनके सम्पूर्ण चरित्रके आधारपर विचित्र पद और अर्थसे युक्त रामायण काव्यका निर्माण किया ॥ १ ॥

चतुर्विंशत्सहस्राणि श्लोकानामुक्तवानृषिः ।
तथा सर्गशतान् पञ्च षट्काण्डानि तथोत्तरम् ॥ २ ॥

इसमें महर्षिने चौबीस हजार श्लोक, पाँच सौ सर्ग तथा उत्तरसहित सात काण्डोंका प्रतिपादन किया है ॥ २ ॥

कृत्वा तु तन्महाप्राज्ञः सभविष्यं सहोत्तरम् ।
चिन्तयामास को न्वेतत् प्रयुञ्जीयादिति प्रभुः ॥ ३ ॥

भविष्य तथा उत्तरकाण्डसहित समस्त रामायण पूर्ण कर लेनेके पश्चात् सामर्थ्यशाली, महाज्ञानी महर्षिने सोचा कि कौन ऐसा शक्तिशाली पुरुष होगा, जो इस महाकाव्यको पढ़कर जनसमुदायमें सुना सके ॥ ३ ॥

तस्य चिन्तयमानस्य महर्षेर्भावितात्मनः ।
अगृह्णीतां ततः पादौ मुनिवेषौ कुशीलवौ ॥ ४ ॥

शुद्ध अन्तःकरणवाले उन महर्षिके इस प्रकार विचार करते ही मुनिवेषमें रहनेवाले राजकुमार कुश और लवने आकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया ॥ ४ ॥

कुशीलवौ तु धर्मज्ञौ राजपुत्रौ यशस्विनौ ।
भ्रातरौ स्वरसम्पन्नौ ददर्शाश्रमवासिनौ ॥ ५ ॥
स तु मेधाविनौ दृष्ट्वा वेदेषु परिनिष्ठितौ ।
वेदोपबृंहणार्थाय तावग्राहयत प्रभुः ॥ ६ ॥
काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत् ।
पौलस्त्यवधमित्येवं चकार चरितव्रतः ॥ ७ ॥

राजकुमार कुश और लव दोनों भाई धर्मके ज्ञाता और यशस्वी थे। उनका स्वर बड़ा ही मधुर था और वे मुनिके आश्रमपर ही रहते थे। उनकी धारणाशक्ति अद्भुत थी और वे दोनों ही वेदोंमें पारंगत हो चुके थे। भगवान् वाल्मीकिने उनकी ओर देखा और उन्हें सुयोग्य समझकर उत्तम व्रतका पालन करनेवाले उन महर्षिने वेदार्थका विस्तारके साथ ज्ञान करानेके लिये उन्हें सीताके चरित्रसे युक्त सम्पूर्ण रामायण नामक महाकाव्यका, जिसका दूसरा नाम पौलस्त्यवध अथवा दशाननवध था, अध्ययन कराया ॥ ५—७ ॥

पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम् ।
जातिभिः सप्तभिर्युक्तं तन्त्रीलयसमन्वितम् ॥ ८ ॥
रसैः शृङ्गारकरुणहास्य रौद्रभयानकैः ।
वीरादिभी रसैर्युक्तं काव्यमेतदगायताम् ॥ ९ ॥

वह महाकाव्य पढ़ने और गानेमें भी मधुर, द्रुत, मध्य और विलम्बित—इन तीनों गतियोंसे अन्वित, षड्ज आदि सातों स्वरोंसे युक्त, वीणा बजाकर स्वर और तालके साथ गाने योग्य तथा शृङ्गार, करुण, हास्य, रौद्र, भयानक तथा वीर आदि सभी रसोंसे अनुप्राणित है। दोनों भाई कुश और लव उस महाकाव्यको पढ़कर उसका गान करने लगे ॥ ८-९ ॥

तौ तु गान्धर्वतत्त्वज्ञौ स्थानमूर्च्छनकोविदौ ।
भ्रातरौ स्वरसम्पन्नौ गन्धर्वाविव रूपिणौ ॥ १० ॥

वे दोनों भाई गान्धर्व विद्या (संगीत-शास्त्र) के

तत्त्वज्ञ, स्थान[1] और मूर्च्छनाके[2] जानकार, मधुर स्वरसे सम्पन्न तथा गन्धर्वोंके समान मनोहर रूपवाले थे ॥ १० ॥

रूपलक्षणसम्पन्नौ मधुरस्वरभाषिणौ ।
बिम्बादिवोत्थितौ बिम्बौ रामदेहात् तथापरौ ॥ ११ ॥

सुन्दर रूप और शुभ लक्षण उनकी सहज सम्पत्ति थे। वे दोनों भाई बड़े मधुर स्वरसे वार्तालाप करते थे। जैसे बिम्बसे प्रतिबिम्ब प्रकट होते हैं, उसी प्रकार श्रीरामके शरीरसे उत्पन्न हुए वे दोनों राजकुमार दूसरे युगल श्रीराम ही प्रतीत होते थे ॥ ११ ॥

तौ राजपुत्रौ कार्त्स्न्येन धर्म्यमाख्यानमुत्तमम् ।
वाचोविधेयं तत्सर्वं कृत्वा काव्यमनिन्दितौ ॥ १२ ॥
ऋषीणां च द्विजातीनां साधूनां च समागमे ।
यथोपदेशं तत्त्वज्ञौ जगतुः सुसमाहितौ ॥ १३ ॥

वे दोनों राजपुत्र सब लोगोंकी प्रशंसाके पात्र थे, उन्होंने उस धर्मानुकूल उत्तम उपाख्यानमय सम्पूर्ण काव्यको जिह्वाग्र कर लिया था और जब कभी ऋषियों, ब्राह्मणों तथा साधुओंका समागम होता था, उस समय उनके बीचमें बैठकर वे दोनों तत्त्वज्ञ बालक एकाग्रचित्त हो रामायणका गान किया करते थे ॥ १२-१३ ॥

महात्मानौ महाभागौ सर्वलक्षणलक्षितौ ।
तौ कदाचित् समेतानामृषीणां भावितात्मनाम् ॥ १४ ॥
मध्ये सभं समीपस्थाविदं काव्यमगायताम् ।
तच्छ्रुत्वा मुनयः सर्वे बाष्पपर्याकुलेक्षणाः ॥ १५ ॥
साधु साध्विति तावूचुः परं विस्मयमागताः ।
ते प्रीतमनसः सर्वे मुनयो धर्मवत्सलाः ॥ १६ ॥

एक दिनकी बात है, बहुत-से शुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षियोंकी मण्डली एकत्र हुई थी। उसमें महान् सौभाग्यशाली तथा समस्त शुभ लक्षणोंसे सुशोभित महामनस्वी कुश और लव भी उपस्थित थे। उन्होंने बीच सभामें उन महात्माओंके समीप बैठकर उस रामायण काव्यका गान किया। उसे सुनकर सभी मुनियोंके नेत्रोंमें आँसू भर आये और वे अत्यन्त विस्मय-विमुग्ध होकर उन्हें साधुवाद देने लगे। मुनि धर्मवत्सल तो होते ही हैं; यह धार्मिक उपाख्यान सुनकर उन सबके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ १४—१६ ॥

प्रशशंसुः प्रशस्तव्यौ गायमानौ कुशीलवौ ।
अहो गीतस्य माधुर्यं श्लोकानां च विशेषतः ॥ १७ ॥

वे रामायण-कथाके गायक कुमार कुश और लवकी, जो प्रशंसाके ही योग्य थे, इस प्रकार प्रशंसा करने लगे—'अहो! इन बालकोंके गीतमें कितना माधुर्य है। श्लोकोंकी मधुरता तो और भी अद्भुत है ॥ १७ ॥

चिरनिर्वृत्तमप्येतत् प्रत्यक्षमिव दर्शितम् ।
प्रविश्य तावुभौ सुष्ठु तथाभावमगायताम् ॥ १८ ॥
सहितौ मधुरं रक्तं सम्पन्नं स्वरसम्पदा ।

'यद्यपि इस काव्यमें वर्णित घटना बहुत दिनों पहले हो चुकी है तो भी इन दोनों बालकोंने इस सभामें प्रवेश करके एक साथ ऐसे सुन्दर भावसे स्वरसम्पन्न, रागयुक्त मधुरगान किया है कि वे पहलेकी घटनाएँ भी प्रत्यक्ष-सी दिखायी देने लगी हैं—मानो अभी-अभी आँखोंके सामने घटित हो रही हों' ॥ १८½ ॥

एवं प्रशस्यमानौ तौ तपःश्लाघ्यैर्महर्षिभिः ॥ १९ ॥
संरक्ततरमत्यर्थं मधुरं तावगायताम् ।

इस प्रकार उत्तम तपस्यासे युक्त महर्षिगण उन दोनों कुमारोंकी प्रशंसा करते और वे उनसे प्रशंसित होकर अत्यन्त मधुर रागसे रामायणका गान करते थे ॥ १९½ ॥

प्रीतः कश्चिन्मुनिस्ताभ्यां संस्थितः कलशं ददौ ॥ २० ॥
प्रसन्नो वल्कलं कश्चिद् ददौ ताभ्यां महायशाः ।
अन्यः कृष्णाजिनमदाद् यज्ञसूत्रं तथापरः ॥ २१ ॥

उनके गानसे संतुष्ट हुए किसी मुनिने उठकर उन्हें पुरस्कारके रूपमें एक कलश प्रदान किया। किसी दूसरे महायशस्वी महर्षिने प्रसन्न होकर उन दोनोंको वल्कल वस्त्र दिया। किसीने काला मृगचर्म भेंट किया तो किसीने यज्ञोपवीत ॥ २०-२१ ॥

---

१. स्थान शब्दसे यहाँ मन्द्र, मध्यम और तारत्व त्रिविध स्वरोंकी उत्पत्तिका स्थान बताया गया है। हृदयकी ग्रन्थिसे ऊपर और कपोलफलकसे नीचे जो प्राणोंके संचारका स्थान है, उसीको स्थान कहते हैं; उनके तीन भेद हैं—हृदय, कण्ठ और सिर। उसके पुनः तीन-तीन भेद होते हैं—मन्द्र, मध्य और तार, जैसा कि शाण्डिल्यका वचन है—

यदूर्ध्वं हृदयग्रन्थेः कपोलफलकादधः। प्राणसंचारणस्थानं स्थानमित्यभिधीयते ॥
उरः कण्ठः शिरश्चेति तत्पुनस्त्रिविधं भवेत्। मन्द्रं मध्यं च तारं च ... ... ॥

२. जहाँ स्वर पूर्ण होते हैं, उस स्थानको मूर्छना कहते हैं। जैसा कि कहा गया है—

यत्रैव स्युः स्वराः पूर्णा मूर्छना सेत्युदाहृता।

वैजयन्ती कोशके अनुसार वीणा आदिके वादनको मूर्छना कहते हैं—'वादने मूर्छना प्रोक्ता।'

कश्चित् कमण्डलुं प्रादान्मौञ्जीमन्यो महामुनिः ।
बृसीमन्यस्तदा प्रादात् कौपीनमपरो मुनिः ॥ २२ ॥
ताभ्यां ददौ तदा हृष्टः कुठारमपरो मुनिः ।
काषायमपरो वस्त्रं चीरमन्यो ददौ मुनिः ॥ २३ ॥

एकने कमण्डलु दिया तो दूसरे महामुनिने मुञ्जकी मेखला भेंट की। तीसरेने आसन और चौथेने कौपीन प्रदान किया। किसी अन्य मुनिने हर्षमें भरकर उन दोनों बालकोंके लिये कुठार अर्पित किया। किसीने गेरुआ वस्त्र दिया तो किसी मुनिने चीर भेंट किया ॥ २२—२३ ॥

जटाबन्धनमन्यस्तु काष्ठरज्जुं मुदान्वितः ।
यज्ञभाण्डमृषिः कश्चित् काष्ठभारं तथापरः ॥ २४ ॥
औदुम्बरीं बृसीमन्यः स्वस्ति केचित् तदावदन् ।
आयुष्यमपरे प्राहुर्मुदा तत्र महर्षयः ॥ २५ ॥
ददुश्चैवं वरान् सर्वे मुनयः सत्यवादिनः ।

किसी दूसरेने आनन्दमग्न होकर जटा बाँधनेके लिये रस्सी दी तो किसीने समिधा बाँधकर लानेके लिये डोरी प्रदान की। एक ऋषिने यज्ञपात्र दिया तो दूसरेने काष्ठभार समर्पित किया। किसीने गूलरकी लकड़ीका बना हुआ पीढ़ा अर्पित किया। कुछ लोग उस समय आशीर्वाद देने लगे—'बच्चो! तुम दोनोंका कल्याण हो।' दूसरे महर्षि प्रसन्नतापूर्वक बोल उठे—'तुम्हारी आयु बढ़े।' इस प्रकार सभी सत्यवादी मुनियोंने उन दोनोंको नाना प्रकारके वर दिये ॥ २४-२५½ ॥

आश्चर्यमिदमाख्यानं मुनिना सम्प्रकीर्तितम् ॥ २६ ॥
परं कवीनामाधारं समाप्तं च यथाक्रमम् ।

महर्षि वाल्मीकिद्वारा वर्णित यह आश्चर्यमय काव्य परवर्ती कवियोंके लिये श्रेष्ठ आधारशिला है। श्रीरामचन्द्रजीके सम्पूर्ण चरित्रोंका क्रमशः वर्णन करते हुए इसकी समाप्ति की गयी है ॥ २६½ ॥

अभिगीतमिदं गीतं सर्वगीतिषु कोविदौ ॥ २७ ॥
आयुष्यं पुष्टिजननं सर्वश्रुतिमनोहरम् ।

सम्पूर्ण गीतोंके विशेषज्ञ राजकुमारो! यह काव्य आयु एवं पुष्टि प्रदान करनेवाला तथा सबके कान और मनको मोहनेवाला मधुर संगीत है। तुम दोनोंने बड़े सुन्दर ढंगसे इसका गान किया है ॥२७½ ॥

प्रशस्यमानौ सर्वत्र कदाचित् तत्र गायकौ ॥ २८ ॥
रथ्यासु राजमार्गेषु ददर्श भरताग्रजः ।
स्ववेश्म चानीय ततो भ्रातरौ स कुशीलवौ ॥ २९ ॥
पूजयामास पूजार्हौ रामः शत्रुनिबर्हणः ।
आसीनः काञ्चने दिव्ये स च सिंहासने प्रभुः ॥ ३० ॥
उपोपविष्टैः सचिवैर्भ्रातृभिश्च समन्वितः ।
दृष्ट्वा तु रूपसम्पन्नौ विनीतौ भ्रातरावुभौ ॥ ३१ ॥
उवाच लक्ष्मणं रामः शत्रुघ्नं भरतं तथा ।
श्रूयतामेतदाख्यानमनयोर्देववर्चसोः ॥ ३२ ॥
विचित्रार्थपदं सम्यग्गायकौ समचोदयत् ।

एक समय सर्वत्र प्रशंसित होनेवाले राजकुमार कुश और लव अयोध्याकी गलियों और सड़कोंपर रामायणके श्लोकोंका गान करते हुए विचर रहे थे। इसी समय उनके ऊपर भरतके बड़े भाई श्रीरामकी दृष्टि पड़ी। उन्होंने उन समादरयोग्य बन्धुओंको अपने घर बुलाकर उनका यथोचित सम्मान किया। तदनन्तर शत्रुओंका संहार करनेवाले श्रीराम सुवर्णमय दिव्य सिंहासनपर विराजमान हुए। उनके मन्त्री और भाई भी उनके पास ही बैठे थे। उन सबके साथ सुन्दर रूपवाले उन दोनों विनयशील भाइयोंकी ओर देखकर श्रीरामचन्द्रजीने भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्नसे कहा—'ये देवताके समान तेजस्वी दोनों कुमार विचित्र अर्थ और पदोंसे युक्त मधुर काव्य बड़े सुन्दर ढंगसे गाकर सुनाते हैं। तुम सब लोग इसे सुनो।' यों कहकर उन्होंने उन दोनों भाइयोंको गानेकी आज्ञा दी ॥२८—३२½ ॥

तौ चापि मधुरं रक्तं स्वचित्तायतनिःस्वनम् ॥ ३३ ॥
तन्त्रीलयवदत्यर्थं विश्रुतार्थमगायताम् ।
ह्लादयत् सर्वगात्राणि मनांसि हृदयानि च ।
श्रोत्राश्रयसुखं गेयं तद् बभौ जनसंसदि ॥ ३४ ॥

आज्ञा पाकर वे दोनों भाई वीणाके लयके साथ अपने मनके अनुकूल तार (उच्च) एवं मधुर स्वरमें राग अलापते हुए रामायणकाव्यका गान करने लगे। उनका उच्चारण इतना स्पष्ट था कि सुनते ही अर्थका बोध हो जाता था। उनका गान सुनकर श्रोताओंके समस्त अङ्गोंमें हर्षजनित रोमाञ्च हो आया तथा उन सबके मन और आत्मामें आनन्दकी तरंगें उठने लगीं। उस जनसभामें होनेवाला वह गान सबकी श्रवणेन्द्रियोंको अत्यन्त सुखद प्रतीत होता था ॥ ३३-३४ ॥

इमौ मुनी पार्थिवलक्षणान्वितौ
कुशीलवौ चैव महातपस्विनौ ।
ममापि तद् भूतिकरं प्रचक्षते
महानुभावं चरितं निबोधत ॥ ३५ ॥

उस समय श्रीरामने अपने भाइयोंका ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा—'ये दोनों कुमार मुनि होकर भी राजोचित लक्षणोंसे सम्पन्न हैं। संगीतमें कुशल होनेके साथ ही महान् तपस्वी हैं। ये जिस चरित्रका—प्रबन्धकाव्यका गान करते हैं, वह शब्दार्थालङ्कार, उत्तम गुण एवं सुन्दर रीति आदिसे युक्त होनेके कारण अत्यन्त प्रभावशाली है। मेरे लिये भी अभ्युदयकारक है; ऐसा वृद्ध पुरुषोंका कथन है। अतः तुम सब लोग ध्यान देकर इसे सुनो' ॥ ३५ ॥

ततस्तु तौ रामवचःप्रचोदिता-
वगायतां मार्गविधानसम्पदा।
स चापि रामः परिषद्गतः शनै-
र्बुभूषयासक्तमना बभूव ॥ ३६ ॥

तदनन्तर श्रीरामकी आज्ञासे प्रेरित हो वे दोनों भाई मार्गविधानकी[1] रीतिसे रामायणका गान करने लगे। सभामें बैठे हुए भगवान् श्रीराम भी धीरे-धीरे उनका गान सुननेमें तन्मय हो गये ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें चौथा सर्ग पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमः सर्गः

राजा दशरथद्वारा सुरक्षित अयोध्यापुरीका वर्णन

सर्वा पूर्वमियं येषामासीत् कृत्स्ना वसुंधरा।
प्रजापतिमुपादाय नृपाणां जयशालिनाम् ॥ १ ॥
येषां स सगरो नाम सागरो येन खानितः।
षष्टिपुत्रसहस्राणि यं यान्तं पर्यवारयन् ॥ २ ॥
इक्ष्वाकूणामिदं तेषां राज्ञां वंशे महात्मनाम्।
महदुत्पन्नमाख्यानं रामायणमिति श्रुतम् ॥ ३ ॥

यह सारी पृथ्वी पूर्वकालमें प्रजापति मनुसे लेकर अबतक जिस वंशके विजयशाली नरेशोंके अधिकारमें रही है, जिन्होंने समुद्रको खुदवाया था और जिन्हें यात्राकालमें साठ हजार पुत्र घेरकर चलते थे, वे महाप्रतापी राजा सगर जिनके कुलमें उत्पन्न हुए, इन्हीं इक्ष्वाकुवंशी महात्मा राजाओंकी कुलपरम्परामें रामायण नामसे प्रसिद्ध इस महान् ऐतिहासिक काव्यकी अवतारणा हुई है ॥ १—३ ॥

तदिदं वर्तयिष्यावः सर्वं निखिलमादितः।
धर्मकामार्थसहितं श्रोतव्यमनसूयता ॥ ४ ॥

हम दोनों आदिसे अन्ततक इस सारे काव्यका पूर्णरूपसे गान करेंगे। इसके द्वारा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धि होती है; अतः आपलोग दोषदृष्टिका परित्याग करके इसका श्रवण करें ॥ ४ ॥

कोशलो नाम मुदितः स्फीतो जनपदो महान्।
निविष्टः सरयूतीरे प्रभूतधनधान्यवान् ॥ ५ ॥

कोशल नामसे प्रसिद्ध एक बहुत बड़ा जनपद है, जो सरयू नदीके किनारे बसा हुआ है। वह प्रचुर धन-धान्यसे सम्पन्न, सुखी और समृद्धिशाली है ॥ ५ ॥

अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता।
मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम् ॥ ६ ॥

उसी जनपदमें अयोध्या नामकी एक नगरी है, जो समस्त लोकोंमें विख्यात है। उस पुरीको स्वयं महाराज मनुने बनवाया और बसाया था ॥ ६ ॥

आयता दश च द्वे च योजनानि महापुरी।
श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा सुविभक्तमहापथा ॥ ७ ॥

वह शोभाशालिनी महापुरी बारह योजन लम्बी और तीन योजन चौड़ी थी। वहाँ बाहरके जनपदोंमें जानेका जो विशाल राजमार्ग था, वह उभयपार्श्वमें विविध वृक्षावलियोंसे विभूषित होनेके कारण सुस्पष्टतया अन्य मार्गोंसे विभक्त जान पड़ता था ॥ ७ ॥

राजमार्गेण महता सुविभक्तेन शोभिता।
मुक्तपुष्पावकीर्णेन जलसिक्तेन नित्यशः ॥ ८ ॥

सुन्दर विभागपूर्वक बना हुआ महान् राजमार्ग उस पुरीकी शोभा बढ़ा रहा था। उसपर खिले हुए फूल बिखेरे जाते थे तथा प्रतिदिन उसपर जलका छिड़काव होता था ॥

तां तु राजा दशरथो महाराष्ट्रविवर्धनः।
पुरीमावासयामास दिवि देवपतिर्यथा ॥ ९ ॥

जैसे स्वर्गमें देवराज इन्द्रने अमरावतीपुरी बसायी थी, उसी प्रकार धर्म और न्यायके बलसे अपने महान् राष्ट्रकी वृद्धि करनेवाले राजा दशरथने अयोध्यापुरीको पहलेकी अपेक्षा विशेषरूपसे बसाया था ॥ ९ ॥

कपाटतोरणवतीं सुविभक्तान्तरापणाम्।
सर्वयन्त्रायुधवतीमुषितां सर्वशिल्पिभिः ॥ १० ॥

वह पुरी बड़े-बड़े फाटकों और किवाड़ोंसे सुशोभित थी। उसके भीतर पृथक्-पृथक् बाजारें थीं। वहाँ सब प्रकारके यन्त्र और अस्त्र-शस्त्र संचित थे। उस पुरीमें सभी कलाओंके शिल्पी निवास करते थे ॥ १० ॥

सूतमागधसम्बाधां श्रीमतीमतुलप्रभाम्।
उच्चाट्टालध्वजवतीं शतघ्नीशतसंकुलाम् ॥ ११ ॥

स्तुति-पाठ करनेवाले सूत और वंशावलीका बखान करनेवाले मागध वहाँ भरे हुए थे। वह पुरी सुन्दर शोभासे सम्पन्न थी। उसकी सुषमाकी कहीं तुलना नहीं थी। वहाँ

---

१. गान दो प्रकारके होते हैं—मार्ग और देशी। भिन्न-भिन्न देशोंकी प्राकृत भाषामें गाये जानेवाले गानको देशी कहते हैं और समूचे राष्ट्रमें प्रसिद्ध संस्कृत आदि भाषाका आश्रय लेकर गाया हुआ गान मार्गके नामसे प्रसिद्ध है। कुमार कुश और लव संस्कृत भाषाका आश्रय लेकर इसीकी रीतिसे गा रहे थे।

ऊँची-ऊँची अट्टालिकाएँ थीं, जिनके ऊपर ध्वज फहराते थे। सैकड़ों शतघ्नियों (तोपों) से वह पुरी व्याप्त थी॥ ११॥

वधूनाटकसंघैश्च संयुक्तां सर्वतः पुरीम्।
उद्यानाम्रवणोपेतां महतीं सालमेखलाम्॥ १२॥

उस पुरीमें ऐसी बहुत-सी नाटक-मण्डलियाँ थीं, जिनमें केवल स्त्रियाँ ही नृत्य एवं अभिनय करती थीं। उस नगरीमें चारों ओर उद्यान तथा आमोंके बगीचे थे। लम्बाई और चौड़ाईकी दृष्टिसे वह पुरी बहुत विशाल थी तथा साखूके वन उसे सब ओरसे घेरे हुए थे॥ १२॥

दुर्गगम्भीरपरिखां दुर्गामन्यैर्दुरासदाम्।
वाजिवारणसम्पूर्णां गोभिरुष्ट्रैः खरैस्तथा॥ १३॥

उसके चारों ओर गहरी खाई खुदी थी, जिसमें प्रवेश करना या जिसे लाँघना अत्यन्त कठिन था। वह नगरी दूसरोंके लिये सर्वथा दुर्गम एवं दुर्जय थी। घोड़े, हाथी, गाय-बैल, ऊँट तथा गदहे आदि उपयोगी पशुओंसे वह पुरी भरी-पूरी थी॥ १३॥

सामन्तराजसंघैश्च बलिकर्मभिरावृताम्।
नानादेशनिवासैश्च वणिग्भिरुपशोभिताम्॥ १४॥

कर देनेवाले सामन्त नरेशोंके समुदाय उसे सदा घेरे रहते थे। विभिन्न देशोंके निवासी वैश्य उस पुरीकी शोभा बढ़ाते थे॥ १४॥

प्रासादै रत्नविकृतैः पर्वतैरिव शोभिताम्।
कूटागारैश्च सम्पूर्णामिन्द्रस्येवामरावतीम्॥ १५॥

वहाँके महलोंका निर्माण नाना प्रकारके रत्नोंसे हुआ था। वे गगनचुम्बी प्रासाद पर्वतोंके समान जान पड़ते थे। उनसे उस पुरीकी बड़ी शोभा हो रही थी। बहुसंख्यक कूटागारों (गुप्तगृहों अथवा स्त्रियोंके क्रीड़ाभवनों) से परिपूर्ण वह नगरी इन्द्रकी अमरावतीके समान जान पड़ती थी॥ १५॥

चित्रामष्टापदाकारां वरनारीगणायुताम्।
सर्वरत्नसमाकीर्णां विमानगृहशोभिताम्॥ १६॥

उसकी शोभा विचित्र थी। उसके महलोंपर सोनेका पानी चढ़ाया गया था (अथवा वह पुरी द्यूतफलकके[1] आकारमें बसायी गयी थी)। श्रेष्ठ एवं सुन्दरी नारियोंके समूह उस पुरीकी शोभा बढ़ाते थे। वह सब प्रकारके रत्नोंसे भरी-पूरी तथा सतमहले प्रासादोंसे सुशोभित थी॥ १६॥

गृहगाढामविच्छिद्रां समभूमौ निवेशिताम्।
शालितण्डुलसम्पूर्णामिक्षुकाण्डरसोदकाम्॥ १७॥

पुरवासियोंके घरोंसे उसकी आबादी इतनी घनी हो गयी थी कि कहीं थोड़ा-सा भी अवकाश नहीं दिखायी देता था। उसे समतल भूमिपर बसाया गया था। वह नगरी जड़हन धानके चावलोंसे भरपूर थी। वहाँका जल इतना मीठा या स्वादिष्ट था, मानो ईखका रस हो॥ १७॥

दुन्दुभीभिर्मृदङ्गैश्च वीणाभिः पणवैस्तथा।
नादितां भृशमत्यर्थं पृथिव्यां तामनुत्तमाम्॥ १८॥

भूमण्डलकी वह सर्वोत्तम नगरी दुन्दुभि, मृदङ्ग, वीणा, पणव आदि वाद्योंकी मधुर ध्वनिसे अत्यन्त गूँजती रहती थी॥ १८॥

विमानमिव सिद्धानां तपसाधिगतं दिवि।
सुनिवेशितवेश्मान्तां नरोत्तमसमावृताम्॥ १९॥

देवलोकमें तपस्यासे प्राप्त हुए सिद्धोंके विमानकी भाँति उस पुरीका भूमण्डलमें सर्वोत्तम स्थान था। वहाँके सुन्दर महल बहुत अच्छे ढंगसे बनाये और बसाये गये थे। उनके भीतरी भाग बहुत ही सुन्दर थे। बहुत-से श्रेष्ठ पुरुष उस पुरीमें निवास करते थे॥ १९॥

ये च बाणैर्न विध्यन्ति विविक्तमपरापरम्।
शब्दवेध्यं च विततं लघुहस्ता विशारदाः॥ २०॥
सिंहव्याघ्रवराहाणां मत्तानां नदतां वने।
हन्तारो निशितैः शस्त्रैर्बलाद् बाहुबलैरपि॥ २१॥
तादृशानां सहस्रैस्तामभिपूर्णां महारथैः।
पुरीमावासयामास राजा दशरथस्तदा॥ २२॥

जो अपने समूहसे बिछुड़कर असहाय हो गया हो, जिसके आगे-पीछे कोई न हो (अर्थात् जो पिता और पुत्र दोनोंसे हीन हो) तथा जो शब्दवेधी बाणद्वारा बेधने योग्य हों अथवा युद्धसे हारकर भागे जा रहे हों, ऐसे पुरुषोंपर जो लोग बाणोंका प्रहार नहीं करते, जिनके सधे-सधाये हाथ शीघ्रता-पूर्वक लक्ष्यवेध करनेमें समर्थ हैं, अस्त्र-शस्त्रोंके प्रयोगमें कुशलता प्राप्त कर चुके हैं तथा जो वनमें गर्जते हुए मतवाले सिंहों, व्याघ्रों और सूअरोंको तीखे शस्त्रोंसे एवं भुजाओंके बलसे भी बलपूर्वक मार डालनेमें समर्थ हैं, ऐसे सहस्रों महारथी वीरोंसे अयोध्यापुरी भरी-पूरी थी। उसे महाराज दशरथने बसाया और पाला था॥ २०—२२॥

तामग्निमद्भिर्गुणवद्भिरावृतां
द्विजोत्तमैर्वेदषडङ्गपारगैः।
सहस्रदैः सत्यरतैर्महात्मभि-
र्महर्षिकल्पैर्ऋषिभिश्च केवलैः॥ २३॥

अग्निहोत्री, शम-दम आदि उत्तम गुणोंसे सम्पन्न तथा छहों अङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेदोंके पारङ्गत विद्वान् श्रेष्ठ ब्राह्मण

---

१. गोविन्दराजकी टीकामें अष्टापदका अर्थ शारिफल या द्यूतफलक किया गया है। वह चौकी जिसपर पासा बिछाया या खेला जाय, द्यूतफलक कहलाती है। पुरीके बीचमें राजमहल था। उसके चारों ओर राजवीथियाँ थीं और बीचमें खाली जगहें थीं। यही 'अष्टापदाकारा' का भाव है।

वाल्मीकिका शोक

Vālmīki aggrieved

माता कौसल्याकी गोदमें परब्रह्म श्रीराम

Supreme Brahma Śrī Rāma in the lap of Kausalyā

जनकद्वारा विश्वामित्रका स्वागत

Janaka hails Viśvāmitra
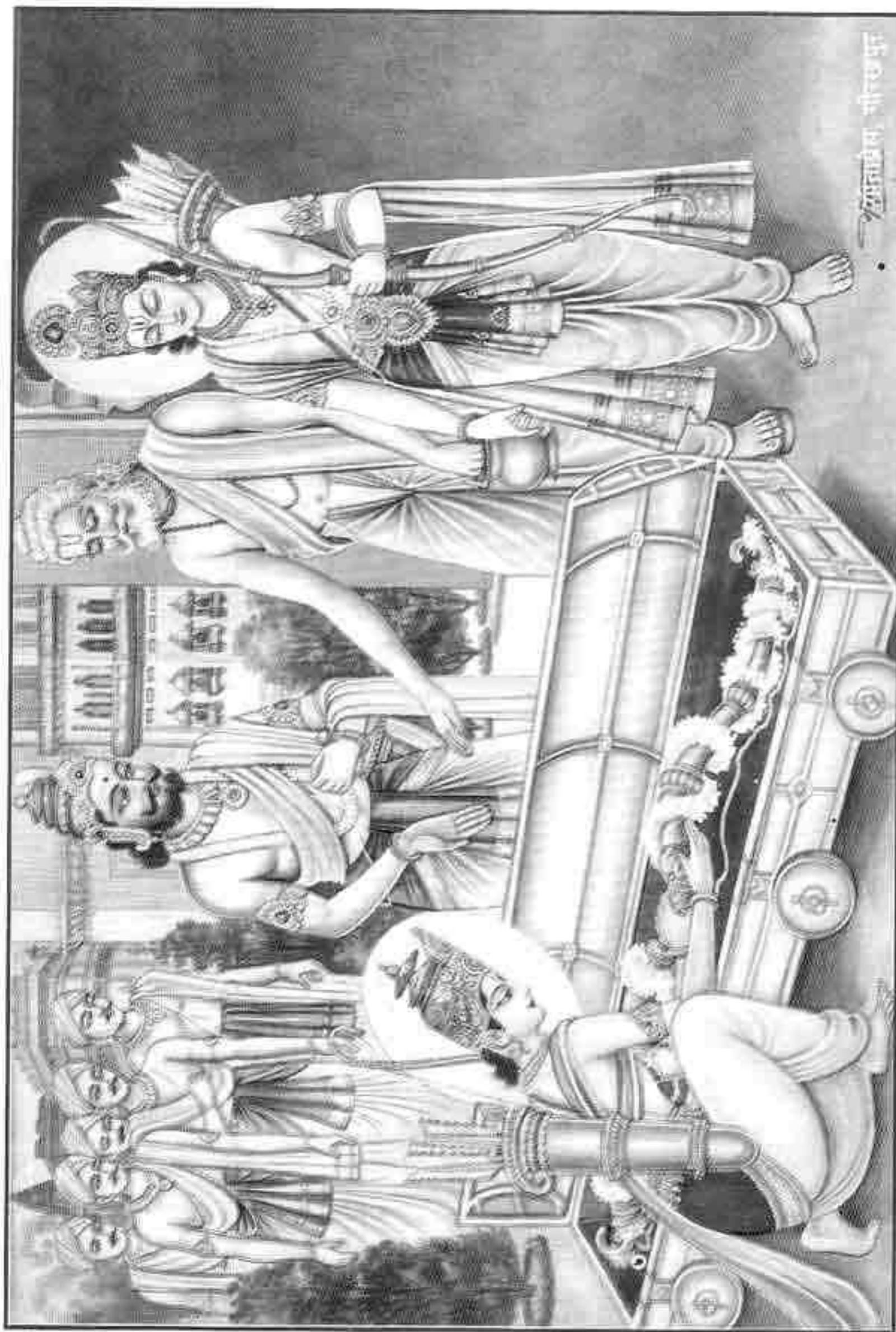
श्रीरामद्वारा धनुष उठाना

Śrī Rāma lifts the bow
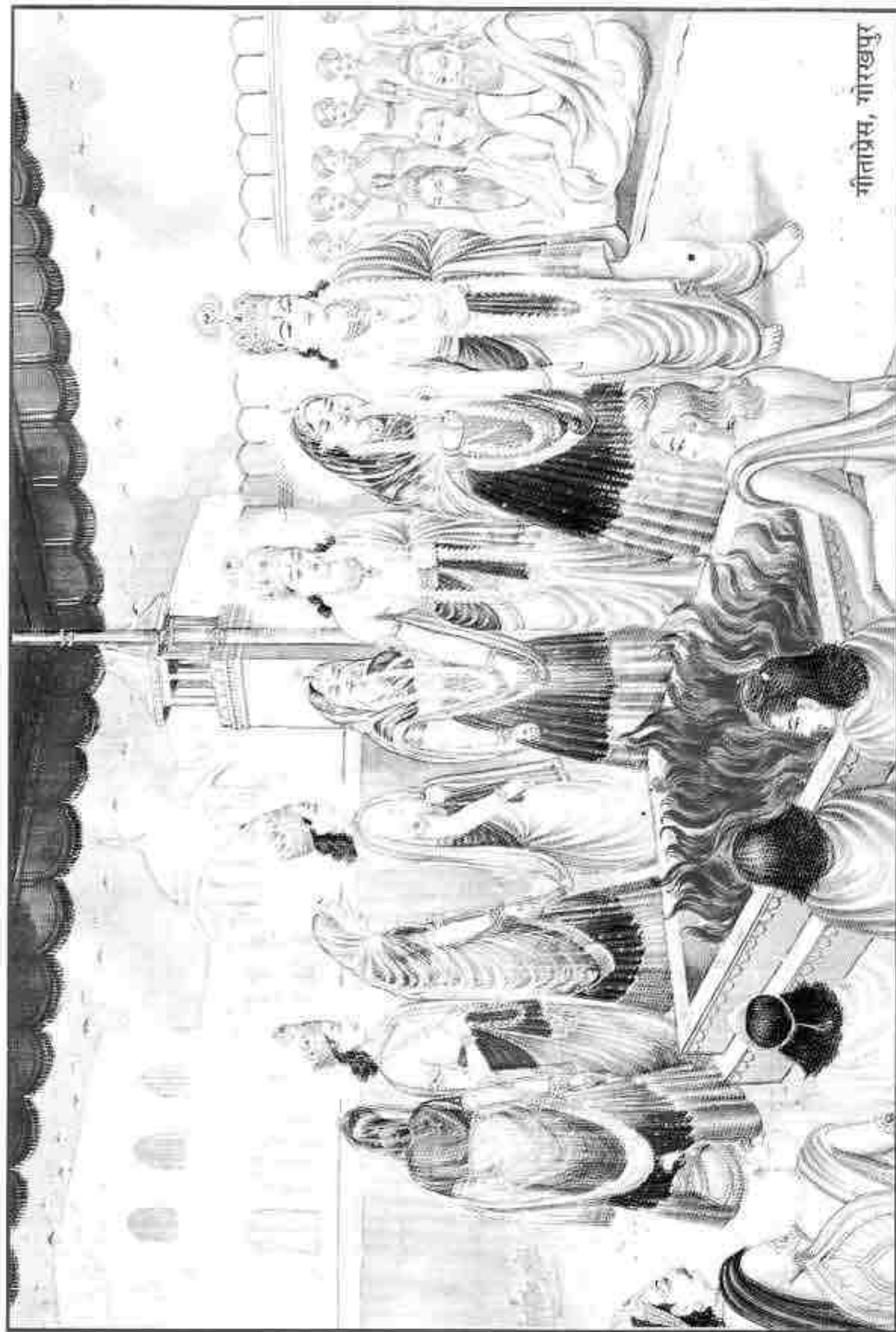
गीताप्रेस, गोरखपुर

चारों भाई वर वेशमें

Four brothers in bridal apparel
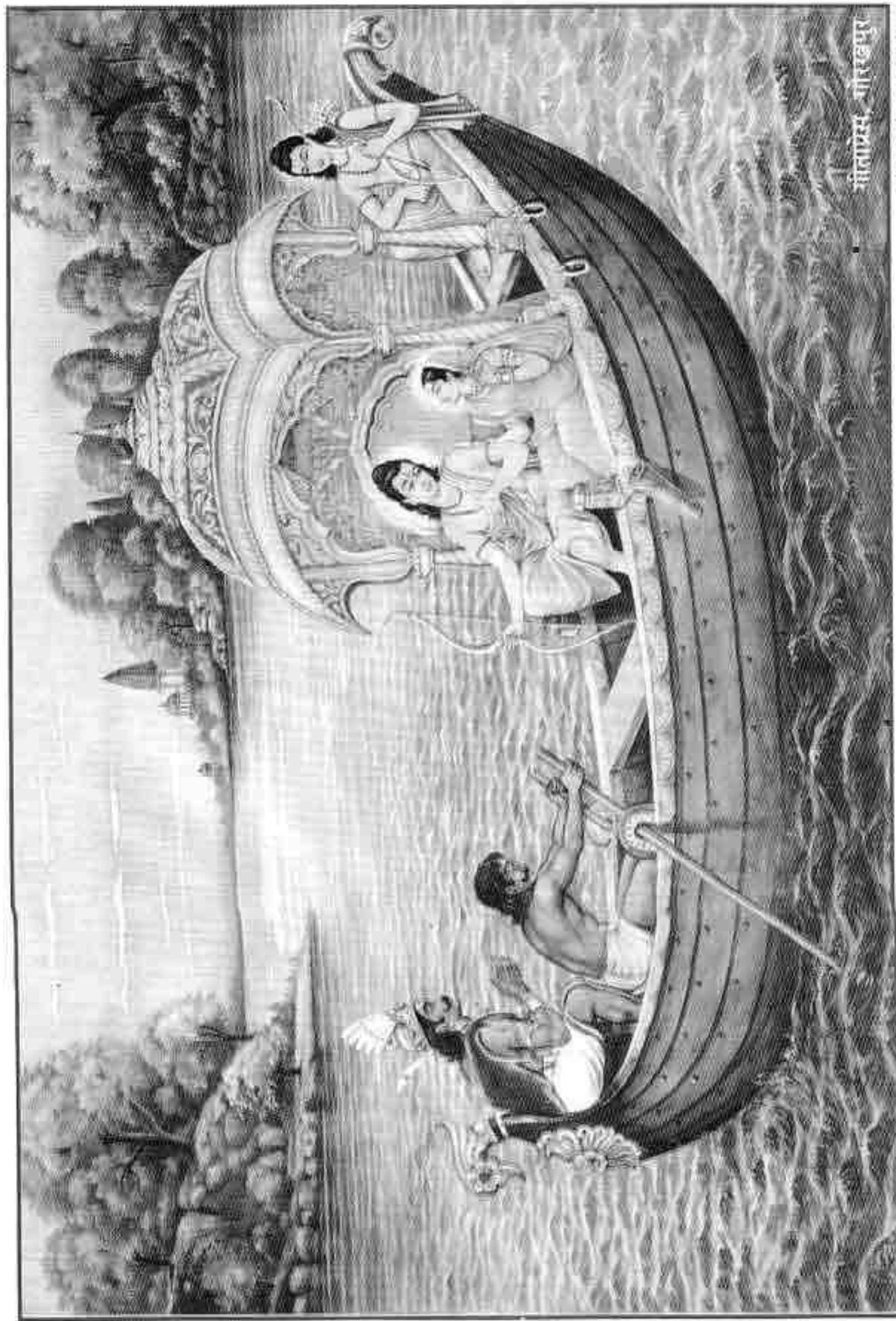
गङ्गा-संतरण

Crossing Gaṅgā

चित्रकूटमें भरतका प्रणिपात

Bharata prostrating at Citrakūṭa
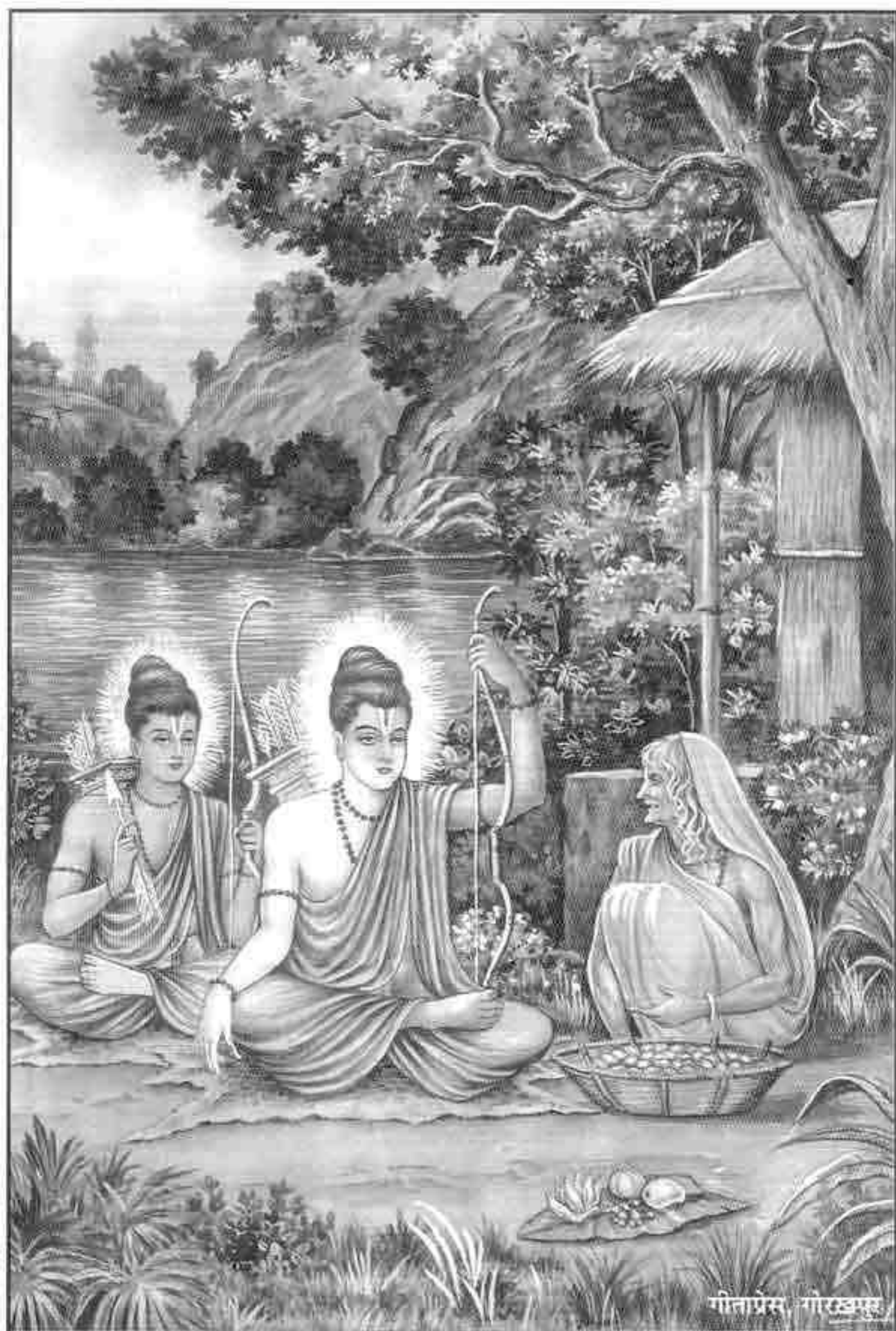
शबरीके अतिथि

Guests to Śabarī

इस पुरीको सदा घेरे रहते थे। वे सहस्रोंका दान करनेवाले और सत्यमें तत्पर रहनेवाले थे। ऐसे महर्षिकल्प महात्माओं तथा ऋषियोंसे अयोध्यापुरी सुशोभित थी तथा राजा दशरथ उसकी रक्षा करते थे॥ २३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे पञ्चमः सर्गः॥ ५॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें पाँचवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ५॥

षष्ठः सर्गः

राजा दशरथके शासनकालमें अयोध्या और वहाँके नागरिकोंकी उत्तम स्थितिका वर्णन

तस्यां पुर्यामयोध्यायां वेदवित् सर्वसंग्रहः।
दीर्घदर्शी महातेजाः पौरजानपदप्रियः॥ १॥
इक्ष्वाकूणामतिरथो यज्वा धर्मपरो वशी।
महर्षिकल्पो राजर्षिस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः॥ २॥
बलवान् निहतामित्रो मित्रवान् विजितेन्द्रियः।
धनैश्च संचयैश्चान्यैः शक्रवैश्रवणोपमः॥ ३॥
यथा मनुर्महातेजा लोकस्य परिरक्षिता।
तथा दशरथो राजा लोकस्य परिरक्षिता॥ ४॥

उस अयोध्यापुरीमें रहकर राजा दशरथ प्रजावर्गका पालन करते थे। वे वेदोंके विद्वान् तथा सभी उपयोगी वस्तुओंका संग्रह करनेवाले थे। दूरदर्शी और महान् तेजस्वी थे। नगर और जनपदकी प्रजा उनसे बहुत प्रेम रखती थी। वे इक्ष्वाकुकुलके अतिरथी[1] वीर थे। यज्ञ करनेवाले, धर्मपरायण और जितेन्द्रिय थे। महर्षियोंके समान दिव्य गुण-सम्पन्न राजर्षि थे। उनकी तीनों लोकोंमें ख्याति थी। वे बलवान्, शत्रुहीन, मित्रोंसे युक्त एवं इन्द्रियविजयी थे। धन और अन्य वस्तुओंके संचयकी दृष्टिसे इन्द्र और कुबेरके समान जान पड़ते थे। जैसे महातेजस्वी प्रजापति मनु सम्पूर्ण जगत्की रक्षा करते थे, उसी प्रकार महाराज दशरथ भी करते थे॥ १—४॥

तेन सत्याभिसंधेन त्रिवर्गमनुतिष्ठता।
पालिता सा पुरी श्रेष्ठा इन्द्रेणेवामरावती॥ ५॥

धर्म, अर्थ और कामका सम्पादन करनेवाले कर्मोंका अनुष्ठान करते हुए वे सत्यप्रतिज्ञ नरेश उस श्रेष्ठ अयोध्यापुरीका उसी तरह पालन करते थे, जैसे इन्द्र अमरावतीपुरीका॥ ५॥

तस्मिन् पुरवरे हृष्टा धर्मात्मानो बहुश्रुताः।
नरास्तुष्टा धनैः स्वैः स्वैरलुब्धाः सत्यवादिनः॥ ६॥

उस उत्तम नगरमें निवास करनेवाले सभी मनुष्य प्रसन्न, धर्मात्मा, बहुश्रुत, निर्लोभ, सत्यवादी तथा अपने-अपने धनसे संतुष्ट रहनेवाले थे॥ ६॥

नाल्पसंनिचयः कश्चिदासीत् तस्मिन् पुरोत्तमे।
कुटुम्बी यो ह्यसिद्धार्थोऽगवाश्वधनधान्यवान्॥ ७॥

उस श्रेष्ठ पुरीमें कोई भी ऐसा कुटुम्बी नहीं था, जिसके पास उत्कृष्ट वस्तुओंका संग्रह अधिक मात्रामें न हो, जिसके धर्म, अर्थ और काममय पुरुषार्थ सिद्ध न हो गये हों तथा जिसके पास गाय-बैल, घोड़े, धन-धान्य आदिका अभाव हो॥ ७॥

कामी वा न कदर्यो वा नृशंसः पुरुषः क्वचित्।
द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नाविद्वान् न च नास्तिकः॥ ८॥

अयोध्यामें कहीं भी कोई कामी, कृपण, क्रूर, मूर्ख और नास्तिक मनुष्य देखनेको भी नहीं मिलता था॥ ८॥

सर्वे नराश्च नार्यश्च धर्मशीलाः सुसंयताः।
मुदिताः शीलवृत्ताभ्यां महर्षय इवामलाः॥ ९॥

वहाँके सभी स्त्री-पुरुष धर्मशील, संयमी, सदा प्रसन्न रहनेवाले तथा शील और सदाचारकी दृष्टिसे महर्षियोंकी भाँति निर्मल थे॥ ९॥

नाकुण्डली नामुकुटी नास्रग्वी नाल्पभोगवान्।
नामृष्टो न नलिप्ताङ्गो नासुगन्धश्च विद्यते॥ १०॥

वहाँ कोई भी कुण्डल, मुकुट और पुष्पहारसे शून्य नहीं था। किसीके पास भोग-सामग्रीकी कमी नहीं थी। कोई भी ऐसा नहीं था, जो नहा-धोकर साफ-सुथरा न हो, जिसके अङ्गोंमें चन्दनका लेप न हुआ हो तथा जो सुगन्धसे वञ्चित हो॥ १०॥

नामृष्टभोजी नादाता नाप्यनङ्गदनिष्कधृक्।
नाहस्ताभरणो वापि दृश्यते नाप्यनात्मवान्॥ ११॥

अपवित्र अन्न भोजन करनेवाला, दान न देनेवाला तथा मनको काबूमें न रखनेवाला मनुष्य तो वहाँ कोई दिखायी ही नहीं देता था। कोई भी ऐसा पुरुष देखनेमें नहीं आता था, जो बाजूबन्द, निष्क (स्वर्णपदक या मोहर) तथा हाथका आभूषण (कड़ा आदि) धारण न किये हो॥

नानाहिताग्निर्नायज्वा न क्षुद्रो वा न तस्करः।
कश्चिदासीदयोध्यायां न चावृत्तो न संकरः॥ १२॥

अयोध्यामें कोई भी ऐसा नहीं था, जो अग्निहोत्र और यज्ञ न करता हो; जो क्षुद्र, चोर, सदाचारशून्य अथवा वर्णसंकर हो॥ १२॥

---

१. जो दस हजार महारथियोंके साथ अकेला ही युद्ध करनेमें समर्थ हो, वह 'अतिरथी' कहलाता है।

स्वकर्मनिरता नित्यं ब्राह्मणा विजितेन्द्रियाः ।
दानाध्ययनशीलाश्च संयताश्च प्रतिग्रहे ॥ १३ ॥

वहाँ निवास करनेवाले ब्राह्मण सदा अपने कर्मोंमें लगे रहते, इन्द्रियोंको वशमें रखते, दान और स्वाध्याय करते तथा प्रतिग्रहसे बचे रहते थे ॥ १३ ॥

नास्तिको नानृती वापि न कश्चिदबहुश्रुतः ।
नासूयको न चाशक्तो नाविद्वान् विद्यते क्वचित् ॥ १४ ॥

वहाँ कहीं एक भी ऐसा द्विज नहीं था, जो नास्तिक, असत्यवादी, अनेक शास्त्रोंके ज्ञानसे रहित, दूसरोंके दोष ढूँढ़नेवाला, साधनमें असमर्थ और विद्याहीन हो ॥ १४ ॥

नाषडङ्गविदत्रास्ति नाव्रतो नासहस्रदः ।
न दीनः क्षिप्तचित्तो वा व्यथितो वापि कश्चन ॥ १५ ॥

उस पुरीमें वेदके छहों अङ्गोंको न जाननेवाला, व्रतहीन, सहस्रोंसे कम दान देनेवाला, दीन, विक्षिप्त-चित्त अथवा दुःखी भी कोई नहीं था ॥ १५ ॥

कश्चिन्नरो वा नारी वा नाश्रीमान् नाप्यरूपवान् ।
द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नापि राजन्यभक्तिमान् ॥ १६ ॥

अयोध्यामें कोई भी स्त्री या पुरुष ऐसा नहीं देखा जा सकता था, जो श्रीहीन, रूपरहित तथा राजभक्तिसे शून्य हो ॥ १६ ॥

वर्णेष्वग्र्यचतुर्थेषु देवतातिथिपूजकाः ।
कृतज्ञाश्च वदान्याश्च शूरा विक्रमसंयुताः ॥ १७ ॥

ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंके लोग देवता और अतिथियोंके पूजक, कृतज्ञ, उदार, शूरवीर और पराक्रमी थे ॥ १७ ॥

दीर्घायुषो नराः सर्वे धर्मं सत्यं च संश्रिताः ।
सहिताः पुत्रपौत्रैश्च नित्यं स्त्रीभिः पुरोत्तमे ॥ १८ ॥

उस श्रेष्ठ नगरमें निवास करनेवाले सब मनुष्य दीर्घायु तथा धर्म और सत्यका आश्रय लेनेवाले थे। वे सदा स्त्री-पुत्र और पौत्र आदि परिवारके साथ सुखसे रहते थे ॥ १८ ॥

क्षत्रं ब्रह्ममुखं चासीद् वैश्याः क्षत्रमनुव्रताः ।
शूद्राः स्वकर्मनिरतास्त्रीन् वर्णानुपचारिणः ॥ १९ ॥

क्षत्रिय ब्राह्मणोंका मुँह जोहते थे, वैश्य क्षत्रियोंकी आज्ञाका पालन करते थे और शूद्र अपने कर्तव्यका पालन करते हुए उपर्युक्त तीनों वर्णोंकी सेवामें संलग्न रहते थे ॥ १९ ॥

सा तेनेक्ष्वाकुनाथेन पुरी सुपरिरक्षिता ।
यथा पुरस्तान्मनुना मानवेन्द्रेण धीमता ॥ २० ॥

इक्ष्वाकुकुलके स्वामी राजा दशरथ अयोध्यापुरीकी रक्षा उसी प्रकार करते थे, जैसे बुद्धिमान् महाराज मनुने पूर्वकालमें उसकी रक्षा की थी ॥ २० ॥

योधानामग्निकल्पानां पेशलानाममर्षिणाम् ।
सम्पूर्णा कृतविद्यानां गुहा केसरिणामिव ॥ २१ ॥

शौर्यकी अधिकताके कारण अग्निके समान दुर्धर्ष, कुटिलतासे रहित, अपमानको सहन करनेमें असमर्थ तथा अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता योद्धाओंके समुदायसे वह पुरी उसी तरह भरी-पूरी रहती थी, जैसे पर्वतोंकी गुफा सिंहोंके समूहसे परिपूर्ण होती है ॥ २१ ॥

काम्बोजविषये जातैर्बाह्लीकैश्च हयोत्तमैः ।
वनायुजैर्नदीजैश्च पूर्णा हरिहयोत्तमैः ॥ २२ ॥

काम्बोज और बाह्लीक देशमें उत्पन्न हुए उत्तम घोड़ोंसे, वनायु देशके अश्वोंसे तथा सिन्धुनदके निकट पैदा होनेवाले दरियाई घोड़ोंसे, जो इन्द्रके अश्व उच्चैःश्रवाके समान श्रेष्ठ थे, अयोध्यापुरी भरी रहती थी ॥ २२ ॥

विन्ध्यपर्वतजैर्मत्तैः पूर्णा हैमवतैरपि ।
मदान्वितैरतिबलैर्मातङ्गैः पर्वतोपमैः ॥ २३ ॥

विन्ध्य और हिमालय पर्वतोंमें उत्पन्न होनेवाले अत्यन्त बलशाली पर्वताकार मदमत्त गजराजोंसे भी वह नगरी परिपूर्ण रहती थी ॥ २३ ॥

ऐरावतकुलीनैश्च महापद्मकुलैस्तथा ।
अञ्जनादपि निष्क्रान्तैर्वामनादपि च द्विपैः ॥ २४ ॥

ऐरावतकुलमें उत्पन्न, महापद्मके वंशमें पैदा हुए तथा अञ्जन और वामन नामक दिग्गजोंसे भी प्रकट हुए हाथी उस पुरीकी पूर्णतामें सहायक हो रहे थे ॥ २४ ॥

भद्रैर्मन्द्रैर्मृगैश्चैव भद्रमन्द्रमृगैस्तथा ।
भद्रमन्द्रैर्भद्रमृगैर्मृगमन्द्रैश्च सा पुरी ॥ २५ ॥
नित्यमत्तैः सदा पूर्णा नागैरचलसंनिभैः ।
सा योजने द्वे च भूयः सत्यनामा प्रकाशते ।
यस्यां दशरथो राजा वसञ्जगदपालयत् ॥ २६ ॥

हिमालय पर्वतपर उत्पन्न भद्रजातिके, विन्ध्यपर्वतपर उत्पन्न हुए मन्द्रजातिके तथा सह्यपर्वतपर पैदा हुए मृग जातिके हाथी भी वहाँ मौजूद थे। भद्र, मन्द्र और मृग—इन तीनोंके मेलसे उत्पन्न हुए संकरजातिके, भद्र और मन्द्र—इन दो जातियोंके मेलसे पैदा हुए संकर जातिके, भद्र और मृग जातिके संयोगसे उत्पन्न संकरजातिके तथा मृग और मन्द्र—इन दो जातियोंके सम्मिश्रणसे पैदा हुए पर्वताकार गजराज भी, जो सदा मदोन्मत्त रहते थे, उस पुरीमें भरे हुए थे। (तीन योजनके विस्तारवाली अयोध्यामें) दो योजनकी भूमि तो ऐसी थी, जहाँ पहुँचकर किसीके लिये भी युद्ध करना असम्भव था, इसलिये वह पुरी 'अयोध्या' इस सत्य एवं सार्थक नामसे प्रकाशित होती थी; जिसमें रहते हुए राजा दशरथ इस जगत्का (अपने राज्यका) पालन करते थे ॥ २५-२६ ॥

तां पुरीं स महातेजा राजा दशरथो महान् ।
शशास शमितामित्रो नक्षत्राणीव चन्द्रमाः ॥ २७ ॥

जैसे चन्द्रमा नक्षत्रलोकका शासन करते हैं, उसी प्रकार महातेजस्वी महाराज दशरथ अयोध्यापुरीका शासन

करते थे। उन्होंने अपने समस्त शत्रुओंको नष्ट कर दिया था ॥ २७ ॥

तां सत्यनामां दृढतोरणार्गलां
गृहैर्विचित्रैरुपशोभितां शिवाम्।
पुरीमयोध्यां नृसहस्रसंकुलां
शशास वै शक्रसमो महीपतिः ॥ २८ ॥

जिसका अयोध्या नाम सत्य एवं सार्थक था, जिसके दरवाजे और अर्गला सुदृढ़ थे, जो विचित्र गृहोंसे सदा सुशोभित होती थी, सहस्रों मनुष्योंसे भरी हुई उस कल्याणमयी पुरीका इन्द्रतुल्य तेजस्वी राजा दशरथ न्यायपूर्वक शासन करते थे ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे षष्ठः सर्गः॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें छठा सर्ग पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमः सर्गः

राजमन्त्रियोंके गुण और नीतिका वर्णन

तस्यामात्या गुणैरासन्निक्ष्वाकोः सुमहात्मनः।
मन्त्रज्ञाश्चेङ्गितज्ञाश्च नित्यं प्रियहिते रताः ॥ १ ॥
अष्टौ बभूवुर्वीरस्य तस्यामात्या यशस्विनः।
शुचयश्चानुरक्ताश्च राजकृत्येषु नित्यशः ॥ २ ॥

इक्ष्वाकुवंशी वीर महामना महाराज दशरथके मन्त्रिजनोचित गुणोंसे सम्पन्न आठ मन्त्री थे, जो मन्त्रके तत्त्वको जाननेवाले और बाहरी चेष्टा देखकर ही मनके भावको समझ लेनेवाले थे। वे सदा ही राजाके प्रिय एवं हितमें लगे रहते थे। इसीलिये उनका यश बहुत फैला हुआ था। वे सभी शुद्ध आचार-विचारसे युक्त थे और राजकीय कार्योंमें निरन्तर संलग्न रहते थे ॥ १-२ ॥

धृष्टिर्जयन्तो विजयः सुराष्ट्रो राष्ट्रवर्धनः।
अकोपो धर्मपालश्च सुमन्त्रश्चाष्टमोऽर्थवित् ॥ ३ ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—धृष्टि, जयन्त, विजय, सुराष्ट्र, राष्ट्रवर्धन, अकोप, धर्मपाल और आठवें सुमन्त्र, जो अर्थशास्त्रके ज्ञाता थे ॥ ३ ॥

ऋत्विजौ द्वावभिमतौ तस्यास्तामृषिसत्तमौ।
वसिष्ठो वामदेवश्च मन्त्रिणश्च तथापरे ॥ ४ ॥
सुयज्ञोऽप्यथ जाबालिः काश्यपोऽप्यथ गौतमः।
मार्कण्डेयस्तु दीर्घायुस्तथा कात्यायनो द्विजः ॥ ५ ॥

ऋषियोंमें श्रेष्ठतम वसिष्ठ और वामदेव—ये दो महर्षि राजाके माननीय ऋत्विज् (पुरोहित) थे। इनके सिवा सुयज्ञ, जाबालि, काश्यप, गौतम, दीर्घायु मार्कण्डेय और विप्रवर कात्यायन भी महाराजके मन्त्री थे ॥ ४-५ ॥

एतैर्ब्रह्मर्षिभिर्नित्यमृत्विजस्तस्य पौर्विकाः।
विद्याविनीता ह्रीमन्तः कुशला नियतेन्द्रियाः ॥ ६ ॥
श्रीमन्तश्च महात्मानः शस्त्रज्ञा दृढविक्रमाः।
कीर्तिमन्तः प्रणिहिता यथावचनकारिणः ॥ ७ ॥
तेजःक्षमायशःप्राप्ताः स्मितपूर्वाभिभाषिणः।
क्रोधात् कामार्थहेतोर्वा न ब्रूयुरनृतं वचः ॥ ८ ॥

इन ब्रह्मर्षियोंके साथ राजाके पूर्वपरम्परागत ऋत्विज् भी सदा मन्त्रीका कार्य करते थे। वे सब-के-सब विद्वान् होनेके कारण विनयशील, सलज्ज, कार्यकुशल, जितेन्द्रिय, श्रीसम्पन्न, महात्मा, शस्त्रविद्याके ज्ञाता, सुदृढ़ पराक्रमी, यशस्वी, समस्त राजकार्योंमें सावधान, राजाकी आज्ञाके अनुसार कार्य करनेवाले, तेजस्वी, क्षमाशील, कीर्तिमान् तथा मुसकराकर बात करनेवाले थे। वे कभी काम, क्रोध या स्वार्थके वशीभूत होकर झूठ नहीं बोलते थे ॥ ६—८ ॥

तेषामविदितं किंचित् स्वेषु नास्ति परेषु वा।
क्रियमाणं कृतं वापि चारेणापि चिकीर्षितम् ॥ ९ ॥

अपने या शत्रुपक्षके राजाओंकी कोई भी बात उनसे छिपी नहीं रहती थी। दूसरे राजा क्या करते हैं, क्या कर चुके हैं और क्या करना चाहते हैं—ये सभी बातें गुप्तचरोंद्वारा उन्हें मालूम रहती थीं ॥ ९ ॥

कुशला व्यवहारेषु सौहृदेषु परीक्षिताः।
प्राप्तकालं यथा दण्डं धारयेयुः सुतेष्वपि ॥ १० ॥

वे सभी व्यवहारकुशल थे। उनके सौहार्दकी अनेक अवसरोंपर परीक्षा ली जा चुकी थी। वे मौका पड़नेपर अपने पुत्रको भी उचित दण्ड देनेमें भी नहीं हिचकते थे ॥ १० ॥

कोशसंग्रहणे युक्ता बलस्य च परिग्रहे।
अहितं चापि पुरुषं न हिंस्युरविदूषकम् ॥ ११ ॥

कोषके संचय तथा चतुरङ्गिणी सेनाके संग्रहमें सदा लगे रहते थे। शत्रुने भी यदि अपराध न किया हो तो वे उसकी हिंसा नहीं करते थे ॥ ११ ॥

वीराश्च नियतोत्साहा राजशास्त्रमनुष्ठिताः।
शुचीनां रक्षितारश्च नित्यं विषयवासिनाम् ॥ १२ ॥

उन सबमें सदा शौर्य एवं उत्साह भरा रहता था। वे राजनीतिके अनुसार कार्य करते तथा अपने राज्यके भीतर रहनेवाले सत्पुरुषोंकी सदा रक्षा करते थे ॥ १२ ॥

ब्रह्मक्षत्रमहिंसन्तस्ते कोशं समपूरयन्।
सुतीक्ष्णदण्डाः सम्प्रेक्ष्य पुरुषस्य बलाबलम् ॥ १३ ॥

ब्राह्मणों और क्षत्रियोंको कष्ट न पहुँचाकर न्यायोचित

धनसे राजाका खजाना भरते थे। वे अपराधी पुरुषके बलाबलको देखकर उसके प्रति तीक्ष्ण अथवा मृदु दण्डका प्रयोग करते थे॥ १३॥

शुचीनामेकबुद्धीनां सर्वेषां सम्प्रजानताम्।
नासीत्पुरे वा राष्ट्रे वा मृषावादी नरः क्वचित्॥ १४॥
क्वचिन्न दुष्टस्तत्रासीत् परदाररतिर्नरः।
प्रशान्तं सर्वमेवासीद् राष्ट्रं पुरवरं च तत्॥ १५॥

उन सबके भाव शुद्ध और विचार एक थे। उनकी जानकारीमें अयोध्यापुरी अथवा कोसलराज्यके भीतर कहीं एक भी मनुष्य ऐसा नहीं था, जो मिथ्यावादी, दुष्ट और परस्त्रीलम्पट हो। सम्पूर्ण राष्ट्र और नगरमें पूर्ण शान्ति छायी रहती थी॥ १४-१५॥

सुवाससः सुवेषाश्च ते च सर्वे शुचिव्रताः।
हितार्थाश्च नरेन्द्रस्य जाग्रतो नयचक्षुषा॥ १६॥

उन मन्त्रियोंके वस्त्र और वेष स्वच्छ एवं सुन्दर होते थे। वे उत्तम व्रतका पालन करनेवाले तथा राजाके हितैषी थे। नीतिरूपी नेत्रोंसे देखते हुए सदा सजग रहते थे॥ १६॥

गुरोर्गुणगृहीताश्च प्रख्याताश्च पराक्रमैः।
विदेशेष्वपि विज्ञाताः सर्वतो बुद्धिनिश्चयाः॥ १७॥

अपने गुणोंके कारण वे सभी मन्त्री गुरुतुल्य समादरणीय राजाके अनुग्रहपात्र थे। अपने पराक्रमोंके कारण उनकी सर्वत्र ख्याति थी। विदेशोंमें भी सब लोग उन्हें जानते थे। वे सभी बातोंमें बुद्धिद्वारा भलीभाँति विचार करके किसी निश्चयपर पहुँचते थे॥ १७॥

अभितो गुणवन्तश्च न चासन् गुणवर्जिताः।
संधिविग्रहतत्त्वज्ञाः प्रकृत्या सम्पदान्विताः॥ १८॥

समस्त देशों और कालोंमें वे गुणवान् ही सिद्ध होते थे, गुणहीन नहीं। संधि और विग्रहके उपयोग और अवसरका उन्हें अच्छी तरह ज्ञान था। वे स्वभावसे ही सम्पत्तिशाली (दैवी सम्पत्तिसे युक्त) थे॥ १८॥

मन्त्रसंवरणे शक्ताः शक्ताः सूक्ष्मासु बुद्धिषु।
नीतिशास्त्रविशेषज्ञाः सततं प्रियवादिनः॥ १९॥

उनमें राजकीय मन्त्रणाको गुप्त रखनेकी पूर्ण शक्ति थी। वे सूक्ष्मविषयका विचार करनेमें कुशल थे। नीतिशास्त्रमें उनकी विशेष जानकारी थी तथा वे सदा ही प्रिय लगनेवाली बात बोलते थे॥ १९॥

ईदृशैस्तैरमात्यैश्च राजा दशरथोऽनघः।
उपपन्नो गुणोपेतैरन्वशासद् वसुन्धराम्॥ २०॥

ऐसे गुणवान् मन्त्रियोंके साथ रहकर निष्पाप राजा दशरथ उस भूमण्डलका शासन करते थे॥ २०॥

अवेक्षमाणश्चारेण प्रजा धर्मेण रक्षयन्।
प्रजानां पालनं कुर्वन्नधर्मं परिवर्जयन्॥ २१॥

वे गुप्तचरोंके द्वारा अपने और शत्रु-राज्यके वृत्तान्तोंपर दृष्टि रखते थे, प्रजाका धर्मपूर्वक पालन करते थे तथा प्रजापालन करते हुए अधर्मसे दूर ही रहते थे॥ २१॥

विश्रुतस्त्रिषु लोकेषु वदान्यः सत्यसंगरः।
स तत्र पुरुषव्याघ्रः शशास पृथिवीमिमाम्॥ २२॥

उनकी तीनों लोकोंमें प्रसिद्धि थी। वे उदार और सत्यप्रतिज्ञ थे। पुरुषसिंह राजा दशरथ अयोध्यामें ही रहकर इस पृथ्वीका शासन करते थे॥ २२॥

नाध्यगच्छद्विशिष्टं वा तुल्यं वा शत्रुमात्मनः।
मित्रवान्नतसामन्तः प्रतापहतकण्टकः।
स शशास जगद् राजा दिवि देवपतिर्यथा॥ २३॥

उन्हें कभी अपनेसे बड़ा अथवा अपने समान भी कोई शत्रु नहीं मिला। उनके मित्रोंकी संख्या बहुत थी। सभी सामन्त उनके चरणोंमें मस्तक झुकाते थे। उनके प्रतापसे राज्यके सारे कण्टक (शत्रु एवं चोर आदि) नष्ट हो गये थे। जैसे देवराज इन्द्र स्वर्गमें रहकर तीनों लोकोंका पालन करते हैं, उसी प्रकार राजा दशरथ अयोध्यामें रहकर सम्पूर्ण जगत्का शासन करते थे॥ २३॥

तैर्मन्त्रिभिर्मन्त्रहितेनिविष्टै-
र्वृतोऽनुरक्तैः कुशलैः समर्थैः।
स पार्थिवो दीप्तिमवाप युक्त-
स्तेजोमयैर्गोभिरिवोदितोऽर्कः॥ २४॥

उनके मन्त्री मन्त्रणाको गुप्त रखने तथा राज्यके हित-साधनमें संलग्न रहते थे। वे राजाके प्रति अनुरक्त, कार्यकुशल और शक्तिशाली थे। जैसे सूर्य अपनी तेजोमयी किरणोंके साथ उदित होकर प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार राजा दशरथ उन तेजस्वी मन्त्रियोंसे घिरे रहकर बड़ी शोभा पाते थे॥ २४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्तमः सर्गः॥ ७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें सातवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ७॥

—★—

अष्टमः सर्गः

राजाका पुत्रके लिये अश्वमेधयज्ञ करनेका प्रस्ताव और मन्त्रियों तथा ब्राह्मणोंद्वारा उनका अनुमोदन

तस्य चैवंप्रभावस्य धर्मज्ञस्य महात्मनः।
सुतार्थं तप्यमानस्य नासीद् वंशकरः सुतः॥ १॥

सम्पूर्ण धर्मोंको जाननेवाले महात्मा राजा दशरथ ऐसे प्रभावशाली होते हुए भी पुत्रके लिये सदा चिन्तित रहते थे। उनके वंशको चलानेवाला कोई पुत्र नहीं था॥ १॥

चिन्तयानस्य तस्यैवं बुद्धिरासीन्महात्मनः।
सुतार्थं वाजिमेधेन किमर्थं न यजाम्यहम्॥ २॥

उसके लिये चिन्ता करते-करते एक दिन उन महामनस्वी नरेशके मनमें यह विचार हुआ कि मैं पुत्रप्राप्तिके लिये अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान क्यों न करूँ?॥ २॥

स निश्चितां मतिं कृत्वा यष्टव्यमिति बुद्धिमान्।
मन्त्रिभिः सह धर्मात्मा सर्वैरपि कृतात्मभिः॥ ३॥
ततोऽब्रवीन्महातेजाः सुमन्त्रं मन्त्रिसत्तम।
शीघ्रमानय मे सर्वान् गुरूंस्तान् सपुरोहितान्॥ ४॥

अपने समस्त शुद्ध बुद्धिवाले मन्त्रियोंके साथ परामर्शपूर्वक यज्ञ करनेका ही निश्चित विचार करके उन महातेजस्वी, बुद्धिमान् एवं धर्मात्मा राजाने सुमन्त्रसे कहा—'मन्त्रिवर! तुम मेरे समस्त गुरुजनों एवं पुरोहितोंको यहाँ शीघ्र बुला ले आओ'॥ ३-४॥

ततः सुमन्त्रस्त्वरितं गत्वा त्वरितविक्रमः।
समानयत् स तान् सर्वान् समस्तान् वेदपारगान्॥ ५॥

तब शीघ्रतापूर्वक पराक्रम प्रकट करनेवाले सुमन्त्र तुरंत जाकर उन समस्त वेदविद्याके पारंगत मुनियोंको वहाँ बुला लाये॥ ५॥

सुयज्ञं वामदेवं च जाबालिमथ काश्यपम्।
पुरोहितं वसिष्ठं च ये चाप्यन्ये द्विजोत्तमाः॥ ६॥
तान् पूजयित्वा धर्मात्मा राजा दशरथस्तदा।
इदं धर्मार्थसहितं श्लक्ष्णं वचनमब्रवीत्॥ ७॥

सुयज्ञ, वामदेव, जाबालि, काश्यप, कुलपुरोहित वसिष्ठ तथा और भी जो श्रेष्ठ ब्राह्मण थे, उन सबकी पूजा करके धर्मात्मा राजा दशरथने धर्म और अर्थसे युक्त यह मधुर वचन कहा—॥ ६-७॥

मम लालप्यमानस्य सुतार्थं नास्ति वै सुखम्।
तदर्थं हयमेधेन यक्ष्यामीति मतिर्मम॥ ८॥

'महर्षियो! मैं सदा पुत्रके लिये विलाप करता रहता हूँ। उसके बिना इस राज्य आदिसे मुझे सुख नहीं मिलता; अतः मैंने यह निश्चय किया है कि मैं पुत्र-प्राप्तिके लिये अश्वमेधद्वारा भगवान्‌का यजन करूँ॥ ८॥

तदहं यष्टुमिच्छामि शास्त्रदृष्टेन कर्मणा।
कथं प्राप्स्याम्यहं कामं बुद्धिरत्रविचिन्त्यताम्॥ ९॥

'मेरी इच्छा है कि शास्त्रोक्त विधिसे इस यज्ञका अनुष्ठान करूँ; अतः किस प्रकार मुझे मेरी मनोवाञ्छित वस्तु प्राप्त होगी? इसका विचार आपलोग यहाँ करें'॥ ९॥

ततः साध्विति तद्वाक्यं ब्राह्मणाः प्रत्यपूजयन्।
वसिष्ठप्रमुखाः सर्वे पार्थिवस्य मुखेरितम्॥ १०॥

राजाके ऐसा कहनेपर वसिष्ठ आदि सब ब्राह्मणोंने 'बहुत अच्छा' कहकर उनके मुखसे कहे गये पूर्वोक्त वचनकी प्रशंसा की॥ १०॥

ऊचुश्च परमप्रीताः सर्वे दशरथं वचः।
सम्भाराः सम्भ्रियन्तां ते तुरगश्च विमुच्यताम्॥ ११॥
सरय्वाश्चोत्तरे तीरे यज्ञभूमिर्विधीयताम्।
सर्वथा प्राप्स्यसे पुत्रानभिप्रेतांश्च पार्थिव॥ १२॥
यस्य ते धार्मिकी बुद्धिरियं पुत्रार्थमागता।

फिर वे सभी अत्यन्त प्रसन्न होकर राजा दशरथसे बोले—'महाराज! यज्ञ-सामग्रीका संग्रह किया जाय। भूमण्डलमें भ्रमणके लिये यज्ञसम्बन्धी अश्व छोड़ा जाय तथा सरयूके उत्तर तटपर यज्ञभूमिका निर्माण किया जाय। तुम यज्ञद्वारा सर्वथा अपनी इच्छाके अनुरूप पुत्र प्राप्त कर लोगे; क्योंकि पुत्रके लिये तुम्हारे हृदयमें ऐसी धार्मिक बुद्धिका उदय हुआ है'॥ ११-१२½॥

ततस्तुष्टोऽभवद् राजा श्रुत्वैतद् द्विजभाषितम्॥ १३॥
अमात्यानब्रवीद् राजा हर्षव्याकुललोचनः।
सम्भाराः सम्भ्रियन्तां मे गुरूणां वचनादिह॥ १४॥
समर्थाधिष्ठितश्चाश्वः सोपाध्यायो विमुच्यताम्।
सरय्वाश्चोत्तरे तीरे यज्ञभूमिर्विधीयताम्॥ १५॥
शान्तयश्चापि वर्धन्तां यथाकल्पं यथाविधि।
शक्यः प्राप्तुमयं यज्ञः सर्वेणापि महीक्षिता॥ १६॥
नापराधो भवेत् कष्टो यद्यस्मिन् क्रतुसत्तमे।
छिद्रं हि मृगयन्ते स्म विद्वांसो ब्रह्मराक्षसाः॥ १७॥

ब्राह्मणोंका यह कथन सुनकर राजा बहुत संतुष्ट हुए। हर्षसे उनके नेत्र चञ्चल हो उठे। वे अपने मन्त्रियोंसे बोले—'गुरुजनोंकी आज्ञाके अनुसार यज्ञकी सामग्री यहाँ एकत्र की जाय। शक्तिशाली वीरोंके संरक्षणमें उपाध्यायसहित अश्वको छोड़ा जाय। सरयूके उत्तर तटपर यज्ञभूमिका निर्माण हो। शास्त्रोक्त विधिके अनुसार क्रमशः शान्तिकर्मका विस्तार किया जाय (जिससे विघ्नोंका निवारण हो)। यदि इस श्रेष्ठ यज्ञमें कष्टप्रद अपराध बन जानेका भय न हो तो सभी राजा इसका सम्पादन कर सकते हैं; परंतु ऐसा होना कठिन है; क्योंकि विद्वान् ब्रह्मराक्षस यज्ञमें विघ्न डालनेके लिये छिद्र ढूँढ़ा करते हैं॥ १३—१७॥

विधिहीनस्य यज्ञस्य सद्यः कर्ता विनश्यति।
तद्यथा विधिपूर्वं मे क्रतुरेष समाप्यते॥ १८॥
तथा विधानं क्रियतां समर्थाः साधनेष्विति।

'विधिहीन यज्ञका अनुष्ठान करनेवाला यजमान तत्काल नष्ट हो जाता है; अतः मेरा यह यज्ञ जिस तरह विधिपूर्वक सम्पन्न हो सके, वैसा उपाय किया जाय। तुम सब लोग ऐसे साधन प्रस्तुत करनेमें समर्थ हो' ॥ १८½ ॥

तथेति चाब्रुवन् सर्वे मन्त्रिणः प्रतिपूजिताः ॥ १९ ॥
पार्थिवेन्द्रस्य तद् वाक्यं यथापूर्वं निशम्य ते।

राजाके द्वारा सम्मानित हुए समस्त मन्त्री पूर्ववत् उनके वचनोंको सुनकर बोले—'बहुत अच्छा, ऐसा ही होगा' ॥ १९½ ॥

तथा द्विजास्ते धर्मज्ञा वर्धयन्तो नृपोत्तमम् ॥ २० ॥
अनुज्ञातास्ततः सर्वे पुनर्जग्मुर्यथागतम्।

इसी प्रकार वे सभी धर्मज्ञ ब्राह्मण भी नृपश्रेष्ठ दशरथको बधाई देते हुए उनकी आज्ञा लेकर जैसे आये थे, वैसे ही फिर लौट गये ॥ २०½ ॥

विसर्जयित्वा तान् विप्रान् सचिवानिदमब्रवीत् ॥ २१ ॥
ऋत्विग्भिरुपसंदिष्टो यथावत् क्रतुराप्यताम्।

उन ब्राह्मणोंको विदा करके राजाने मन्त्रियोंसे कहा—'पुरोहितोंके उपदेशके अनुसार इस यज्ञको विधिवत् पूर्ण करना चाहिये' ॥ २१½ ॥

इत्युक्त्वा नृपशार्दूलः सचिवान् समुपस्थितान् ॥ २२ ॥
विसर्जयित्वा स्वं वेश्म प्रविवेश महामतिः।

वहाँ उपस्थित हुए मन्त्रियोंसे ऐसा कहकर परम बुद्धिमान् नृपश्रेष्ठ दशरथ उन्हें विदा करके अपने महलमें चले गये ॥

ततः स गत्वा ताः पत्नीर्नरेन्द्रो हृदयंगमाः ॥ २३ ॥
उवाच दीक्षां विशत यक्ष्येऽहं सुतकारणात्।

वहाँ जाकर नरेशने अपनी प्यारी पत्नियोंसे कहा—'देवियो! दीक्षा ग्रहण करो। मैं पुत्रके लिये यज्ञ करूँगा' ॥

तासां तेनातिकान्तेन वचनेन सुवर्चसाम्।
मुखपद्मान्यशोभन्त पद्मानीव हिमात्यये ॥ २४ ॥

उस मनोहर वचनसे उन सुन्दर कान्तिवाली रानियोंके मुखकमल वसन्तऋतुमें विकसित होनेवाले पङ्कजोंके समान खिल उठे और अत्यन्त शोभा पाने लगे ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डेऽष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें आठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८ ॥

—★—

नवमः सर्गः

सुमन्त्रका राजाको ऋष्यशृङ्ग मुनिको बुलानेकी सलाह देते हुए उनके अङ्गदेशमें जाने और शान्तासे विवाह करनेका प्रसङ्ग सुनाना

एतच्छ्रुत्वा रहः सूतो राजानमिदमब्रवीत्।
श्रूयतां तत् पुरावृत्तं पुराणे च मया श्रुतम् ॥ १ ॥

पुत्रके लिये अश्वमेध यज्ञ करनेकी बात सुनकर सुमन्त्रने राजासे एकान्तमें कहा—'महाराज! एक पुराना इतिहास सुनिये। मैंने पुराणमें भी इसका वर्णन सुना है ॥ १ ॥

ऋत्विग्भिरुपदिष्टोऽयं पुरावृत्तो मया श्रुतः।
सनत्कुमारो भगवान् पूर्वं कथितवान् कथाम् ॥ २ ॥
ऋषीणां संनिधौ राजंस्तव पुत्रागमं प्रति।

'ऋत्विजोंने पुत्र-प्राप्तिके लिये इस अश्वमेधरूप उपायका उपदेश किया है; परंतु मैंने इतिहासके रूपमें कुछ विशेष बात सुनी है। राजन्! पूर्वकालमें भगवान् सनत्कुमारने ऋषियोंके निकट एक कथा सुनायी थी। वह आपकी पुत्रप्राप्तिसे सम्बन्ध रखनेवाली है ॥ २½ ॥

काश्यपस्य च पुत्रोऽस्ति विभाण्डक इति श्रुतः ॥ ३ ॥
ऋष्यशृङ्ग इति ख्यातस्तस्य पुत्रो भविष्यति।
स वने नित्यसंवृद्धो मुनिर्वनचरः सदा ॥ ४ ॥

'उन्होंने कहा था, मुनिवरो! महर्षि काश्यपके विभाण्डक नामसे प्रसिद्ध एक पुत्र हैं। उनके भी एक पुत्र होगा, जिसकी लोगोंमें ऋष्यशृङ्ग नामसे प्रसिद्धि होगी। वे ऋष्यशृङ्ग मुनि सदा वनमें ही रहेंगे और वनमें ही सदा लालन-पालन पाकर वे बड़े होंगे ॥ ३-४ ॥

नान्यं जानाति विप्रेन्द्रो नित्यं पित्रनुवर्तनात्।
द्वैविध्यं ब्रह्मचर्यस्य भविष्यति महात्मनः ॥ ५ ॥
लोकेषु प्रथितं राजन् विप्रैश्च कथितं सदा।

'सदा पिताके ही साथ रहनेके कारण विप्रवर ऋष्यशृङ्ग दूसरे किसीको नहीं जानेंगे। राजन्! लोकमें ब्रह्मचर्यके दो रूप विख्यात हैं और ब्राह्मणोंने सदा उन दोनों स्वरूपोंका वर्णन किया है। एक तो है दण्ड, मेखला आदि धारणरूप मुख्य ब्रह्मचर्य और दूसरा है ऋतुकालमें पत्नी-समागमरूप गौण ब्रह्मचर्य। उन महात्माके द्वारा उक्त दोनों प्रकारके ब्रह्मचर्योंका पालन होगा ॥ ५½ ॥

तस्यैवं वर्तमानस्य कालः समभिवर्तत ॥ ६ ॥
अग्निं शुश्रूषमाणस्य पितरं च यशस्विनम्।

''इस प्रकार रहते हुए मुनिका समय अग्नि तथा यशस्वी पिताकी सेवामें ही व्यतीत होगा ॥ ६½ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु रोमपादः प्रतापवान् ॥ ७ ॥
अङ्गेषु प्रथितो राजा भविष्यति महाबलः।
तस्य व्यतिक्रमाद् राज्ञो भविष्यति सुदारुणा ॥ ८ ॥
अनावृष्टिः सुघोरा वै सर्वलोकभयावहा।

''उसी समय अङ्गदेशमें रोमपाद नामक एक बड़े प्रतापी

और बलवान् राजा होंगे; उनके द्वारा धर्मका उल्लङ्घन हो जानेके कारण उस देशमें घोर अनावृष्टि हो जायगी, जो सब लोगोंको अत्यन्त भयभीत कर देगी ॥ ७-८½ ॥

अनावृष्ट्यां तु वृत्तायां राजा दुःखसमन्वितः ॥ ९ ॥
ब्राह्मणाञ्छ्रुतसंवृद्धान् समानीय प्रवक्ष्यति ।
भवन्तः श्रुतकर्माणो लोकचारित्रवेदिनः ॥ १० ॥
समादिशन्तु नियमं प्रायश्चित्तं यथा भवेत् ।

"वर्षा बंद हो जानेसे राजा रोमपादको भी बहुत दुःख होगा। वे शास्त्रज्ञानमें बढ़े-चढ़े ब्राह्मणोंको बुलाकर कहेंगे—'विप्रवरो! आपलोग वेद-शास्त्रके अनुसार कर्म करनेवाले तथा लोगोंके आचार-विचारको जाननेवाले हैं; अतः कृपा करके मुझे ऐसा कोई नियम बताइये, जिससे मेरे पापका प्रायश्चित्त हो जाय' ॥ ९-१०½ ॥

इत्युक्तास्ते ततो राज्ञा सर्वे ब्राह्मणसत्तमाः ॥ ११ ॥
वक्ष्यन्ति ते महीपालं ब्राह्मणा वेदपारगाः ।

"राजाके ऐसा कहनेपर वे वेदोंके पारङ्गत विद्वान्—सभी श्रेष्ठ ब्राह्मण उन्हें इस प्रकार सलाह देंगे— ॥ ११½ ॥

विभाण्डकसुतं राजन् सर्वोपायैरिहानय ॥ १२ ॥
आनाय्य तु महीपाल ऋष्यशृङ्गं सुसत्कृतम् ।
विभाण्डकसुतं राजन् ब्राह्मणं वेदपारगम् ।
प्रयच्छ कन्यां शान्तां वै विधिना सुसमाहितः ॥ १३ ॥

'राजन्! विभाण्डकके पुत्र ऋष्यशृङ्ग वेदोंके पारगामी विद्वान् हैं। भूपाल! आप सभी उपायोंसे उन्हें यहाँ ले आइये। बुलाकर उनका भलीभाँति सत्कार कीजिये। फिर एकाग्रचित्त हो वैदिक विधिके अनुसार उनके साथ अपनी कन्या शान्ताका विवाह कर दीजिये' ॥ १२-१३ ॥

तेषां तु वचनं श्रुत्वा राजा चिन्तां प्रपत्स्यते ।
केनोपायेन वै शक्यमिहानेतुं स वीर्यवान् ॥ १४ ॥

उनकी बात सुनकर राजा इस चिन्तामें पड़ जायँगे कि किस उपायसे उन शक्तिशाली महर्षिको यहाँ लाया जा सकता है ॥ १४ ॥

ततो राजा विनिश्चित्य सह मन्त्रिभिरात्मवान् ।
पुरोहितममात्यांश्च प्रेषयिष्यति सत्कृतान् ॥ १५ ॥

"फिर वे मनस्वी नरेश मन्त्रियोंके साथ निश्चय करके अपने पुरोहित और मन्त्रियोंको सत्कारपूर्वक वहाँ भेजेंगे ॥ १५ ॥

ते तु राज्ञो वचः श्रुत्वा व्यथिता विनताननाः ।
न गच्छेम ऋषेर्भीता अनुनेष्यन्ति तं नृपम् ॥ १६ ॥

'राजाकी बात सुनकर वे मन्त्री और पुरोहित मुँह लटकाकर दुःखी हो यों कहने लगेंगे कि 'हम महर्षिसे डरते हैं, इसलिये वहाँ नहीं जायँगे।' यों कहकर वे राजासे बड़ी अनुनय-विनय करेंगे ॥ १६ ॥

वक्ष्यन्ति चिन्तयित्वा ते तस्योपायांश्च तान् क्षमान् ।
आनेष्यामो वयं विप्रं न च दोषो भविष्यति ॥ १७ ॥

'इसके बाद सोच-विचारकर वे राजाको योग्य उपाय बतायेंगे और कहेंगे कि 'हम उन ब्राह्मणकुमारको किसी उपायसे यहाँ ले आयेंगे। ऐसा करनेसे कोई दोष नहीं घटित होगा' ॥ १७ ॥

एवमङ्गाधिपेनैव गणिकाभिर्ऋषेः सुतः ।
आनीतोऽवर्षयद् देवः शान्ता चास्मै प्रदीयते ॥ १८ ॥

"इस प्रकार वेश्याओंकी सहायतासे अङ्गराज मुनिकुमार ऋष्यशृङ्गको अपने यहाँ बुलायेंगे। उनके आते ही इन्द्रदेव उस राज्यमें वर्षा करेंगे। फिर राजा उन्हें अपनी पुत्री शान्ता समर्पित कर देंगे ॥ १८ ॥

ऋष्यशृङ्गस्तु जामाता पुत्रांस्तव विधास्यति ।
सनत्कुमारकथितमेतावद् व्याहृतं मया ॥ १९ ॥

"इस तरह ऋष्यशृङ्ग आपके जामाता हुए। वे ही आपके लिये पुत्रोंको सुलभ करानेवाले यज्ञकर्मका सम्पादन करेंगे। यह सनत्कुमारजीकी कही हुई बात मैंने आपसे निवेदन की है" ॥ १९ ॥

अथ हृष्टो दशरथः सुमन्त्रं प्रत्यभाषत ।
यथर्ष्यशृङ्गस्त्वानीतो येनोपायेन सोच्यताम् ॥ २० ॥

यह सुनकर राजा दशरथको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने सुमन्त्रसे कहा—'मुनिकुमार ऋष्यशृङ्गको वहाँ जिस प्रकार और जिस उपायसे बुलाया गया, वह स्पष्टरूपसे बताओ' ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें नवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९ ॥

—★—

दशमः सर्गः

अङ्गदेशमें ऋष्यशृङ्गके आने तथा शान्ताके साथ विवाह होनेके प्रसङ्गका कुछ विस्तारके साथ वर्णन

सुमन्त्रश्चोदितो राज्ञा प्रोवाचेदं वचस्तदा ।
यथर्ष्यशृङ्गस्त्वानीतो येनोपायेन मन्त्रिभिः ।
तन्मे निगदितं सर्वं शृणु मे मन्त्रिभिः सह ॥ १ ॥

राजाकी आज्ञा पाकर उस समय सुमन्त्रने इस प्रकार कहना आरम्भ किया—"राजन्! रोमपादके मन्त्रियोंने ऋष्यशृङ्गको वहाँ जिस प्रकार और जिस उपायसे बुलाया

था, वह सब मैं बता रहा हूँ। आप मन्त्रियोंसहित मेरी बात सुनिये ॥ १ ॥

रोमपादमुवाचेदं सहामात्यः पुरोहितः।
उपायो निरपायोऽयमस्माभिरभिचिन्तितः ॥ २ ॥

''उस समय अमात्योंसहित पुरोहितने राजा रोमपादसे कहा—'महाराज! हमलोगोंने एक उपाय सोचा है, जिसे काममें लानेसे किसी भी विघ्न-बाधाके आनेकी सम्भावना नहीं है ॥ २ ॥

ऋष्यशृङ्गो वनचरस्तपःस्वाध्यायसंयुतः।
अनभिज्ञस्तु नारीणां विषयाणां सुखस्य च ॥ ३ ॥

''ऋष्यशृङ्ग मुनि सदा वनमें ही रहकर तपस्या और स्वाध्यायमें लगे रहते हैं। वे स्त्रियोंको पहचानतेतक नहीं हैं और विषयोंके सुखसे भी सर्वथा अनभिज्ञ हैं ॥ ३ ॥

इन्द्रियार्थैरभिमतैर्नरचित्तप्रमाथिभिः।
पुरमानाययिष्यामः क्षिप्रं चाध्यवसीयताम् ॥ ४ ॥

''हम मनुष्योंके चित्तको मथ डालनेवाले मनोवाञ्छित विषयोंका प्रलोभन देकर उन्हें अपने नगरमें ले आयेंगे; अतः इसके लिये शीघ्र प्रयत्न किया जाय ॥ ४ ॥

गणिकास्तत्र गच्छन्तु रूपवत्यः स्वलङ्कृताः।
प्रलोभ्य विविधोपायैरानेष्यन्तीह सत्कृताः ॥ ५ ॥

''यदि सुन्दर आभूषणोंसे विभूषित मनोहर रूपवाली वेश्याएँ वहाँ जायँ तो वे भाँति-भाँतिके उपायोंसे उन्हें लुभाकर इस नगरमें ले आयेंगी; अतः इन्हें सत्कारपूर्वक भेजना चाहिये' ॥ ५ ॥

श्रुत्वा तथेति राजा च प्रत्युवाच पुरोहितम्।
पुरोहितो मन्त्रिणश्च तदा चक्रुश्च ते तथा ॥ ६ ॥

''यह सुनकर राजाने पुरोहितको उत्तर दिया, 'बहुत अच्छा, आपलोग ऐसा ही करें।' आज्ञा पाकर पुरोहित और मन्त्रियोंने उस समय वैसी ही व्यवस्था की ॥ ६ ॥

वारमुख्यास्तु तच्छ्रुत्वा वनं प्रविविशुर्महत्।
आश्रमस्याविदूरेऽस्मिन् यत्नं कुर्वन्ति दर्शने ॥ ७ ॥

''तब नगरकी मुख्य-मुख्य वेश्याएँ राजाका आदेश सुनकर उस महान् वनमें गयीं और मुनिके आश्रमसे थोड़ी ही दूरपर ठहरकर उनके दर्शनका उद्योग करने लगीं ॥ ७ ॥

ऋषेः पुत्रस्य धीरस्य नित्यमाश्रमवासिनः।
पितुः स नित्यसंतुष्टो नातिचक्राम चाश्रमात् ॥ ८ ॥

''मुनिकुमार ऋष्यशृङ्ग बड़े ही धीर स्वभावके थे। सदा आश्रममें ही रहा करते थे। उन्हें सर्वदा अपने पिताके पास रहनेमें ही अधिक सुख मिलता था। अतः वे कभी आश्रमके बाहर नहीं निकलते थे ॥ ८ ॥

न तेन जन्मप्रभृति दृष्टपूर्वं तपस्विना।
स्त्री वा पुमान् वा यच्चान्यत् सत्त्वं नगरराष्ट्रजम् ॥ ९ ॥

''उन तपस्वी ऋषिकुमारने जन्मसे लेकर उस समयतक पहले कभी न तो कोई स्त्री देखी थी और न पिताके सिवा दूसरे किसी पुरुषका ही दर्शन किया था। नगर या राष्ट्रके गाँवोंमें उत्पन्न हुए दूसरे-दूसरे प्राणियोंको भी वे नहीं देख पाये थे ॥ ९ ॥

ततः कदाचित् तं देशमाजगाम यदृच्छया।
विभाण्डकसुतस्तत्र ताश्चापश्यद् वराङ्गनाः ॥ १० ॥

''तदनन्तर एक दिन विभाण्डककुमार ऋष्यशृङ्ग अकस्मात् घूमते-फिरते उस स्थानपर चले आये, जहाँ वे वेश्याएँ ठहरी हुई थीं। वहाँ उन्होंने उन सुन्दरी वनिताओंको देखा ॥ १० ॥

ताश्चित्रवेषाः प्रमदा गायन्त्यो मधुरस्वरम्।
ऋषिपुत्रमुपागम्य सर्वा वचनमब्रुवन् ॥ ११ ॥

''उन प्रमदाओंका वेष बड़ा ही सुन्दर और अद्भुत था। वे मीठे स्वरमें गा रही थीं। ऋषिकुमारको आया देख सभी उनके पास चली आयीं और इस प्रकार पूछने लगीं— ॥ ११ ॥

कस्त्वं किं वर्तसे ब्रह्मञ्ज्ञातुमिच्छामहे वयम्।
एकस्त्वं विजने दूरे वने चरसि शंस नः ॥ १२ ॥

''ब्रह्मन्! आप कौन हैं? क्या करते हैं? तथा इस निर्जन वनमें आश्रमसे इतनी दूर आकर अकेले क्यों विचर रहे हैं? यह हमें बताइये। हमलोग इस बातको जानना चाहती हैं' ॥ १२ ॥

अदृष्टरूपास्तास्तेन काम्यरूपा वने स्त्रियः।
हार्दात्तस्य मतिर्जाता आख्यातुं पितरं स्वकम् ॥ १३ ॥

''ऋष्यशृङ्गने वनमें कभी स्त्रियोंका रूप नहीं देखा था और वे स्त्रियाँ तो अत्यन्त कमनीय रूपसे सुशोभित थीं; अतः उन्हें देखकर उनके मनमें स्नेह उत्पन्न हो गया। इसलिये उन्होंने उनसे अपने पिताका परिचय देनेका विचार किया ॥

पिता विभाण्डकोऽस्माकं तस्याहं सुत औरसः।
ऋष्यशृङ्ग इति ख्यातं नाम कर्म च मे भुवि ॥ १४ ॥

''वे बोले—'मेरे पिताका नाम विभाण्डक मुनि है। मैं उनका औरस पुत्र हूँ। मेरा ऋष्यशृङ्ग नाम और तपस्या आदि कर्म इस भूमण्डलमें प्रसिद्ध है ॥ १४ ॥

इहाश्रमपदोऽस्माकं समीपे शुभदर्शनाः।
करिष्ये वोऽत्र पूजां वै सर्वेषां विधिपूर्वकम् ॥ १५ ॥

''यहाँ पास ही मेरा आश्रम है। आपलोग देखनेमें परम सुन्दर हैं। (अथवा आपका दर्शन मेरे लिये शुभकारक है।) आप मेरे आश्रमपर चलें। वहाँ मैं आप सब लोगोंकी विधिपूर्वक पूजा करूँगा' ॥ १५ ॥

ऋषिपुत्रवचः श्रुत्वा सर्वासां मतिरास वै।
तदाश्रमपदं द्रष्टुं जग्मुः सर्वास्ततोऽङ्गनाः ॥ १६ ॥

''ऋषिकुमारकी यह बात सुनकर सब उनसे सहमत हो गयीं। फिर वे सब सुन्दरी स्त्रियाँ उनका आश्रम देखनेके

लिये वहाँ गयीं ॥ १६ ॥

गतानां तु ततः पूजामृषिपुत्रश्चकार ह।
इदमर्घ्यमिदं पाद्यमिदं मूलं फलं च नः ॥ १७ ॥

''वहाँ जानेपर ऋषिकुमारने 'यह अर्घ्य है, यह पाद्य है तथा यह भोजनके लिये फल-मूल प्रस्तुत है' ऐसा कहते हुए उन सबका विधिवत् पूजन किया ॥ १७ ॥

प्रतिगृह्य तु तां पूजां सर्वा एव समुत्सुकाः।
ऋषेर्भीताश्च शीघ्रं तु गमनाय मतिं दधुः ॥ १८ ॥

''ऋषिकी पूजा स्वीकार करके वे सभी वहाँसे चली जानेको उत्सुक हुईं। उन्हें विभाण्डक मुनिका भय लग रहा था, इसलिये उन्होंने शीघ्र ही वहाँसे चली जानेका विचार किया ॥ १८ ॥

अस्माकमपि मुख्यानि फलानीमानि हे द्विज।
गृहाण विप्र भद्रं ते भक्षयस्व च मा चिरम् ॥ १९ ॥

''वे बोलीं—'ब्रह्मन्! हमारे पास भी ये उत्तम-उत्तम फल हैं। विप्रवर! इन्हें ग्रहण कीजिये। आपका कल्याण हो। इन फलोंको शीघ्र ही खा लीजिये, विलम्ब न कीजिये' ॥

ततस्तास्तं समालिङ्ग्य सर्वा हर्षसमन्विताः।
मोदकान् प्रददुस्तस्मै भक्ष्यांश्च विविधाञ्छुभान् ॥ २० ॥

''ऐसा कहकर उन सबने हर्षमें भरकर ऋषिका आलिङ्गन किया और उन्हें खानेयोग्य भाँति-भाँतिके उत्तम पदार्थ तथा बहुत-सी मिठाइयाँ दीं ॥ २० ॥

तानि चास्वाद्य तेजस्वी फलानीति स्म मन्यते।
अनास्वादितपूर्वाणि वने नित्यनिवासिनाम् ॥ २१ ॥

''उनका रसास्वादन करके उन तेजस्वी ऋषिने समझा कि ये भी फल हैं; क्योंकि उस दिनके पहले उन्होंने कभी वैसे पदार्थ नहीं खाये थे। भला, सदा वनमें रहनेवालोंके लिये वैसी वस्तुओंके स्वाद लेनेका अवसर ही कहाँ है ॥ २१ ॥

आपृच्छ्य च तदा विप्रं व्रतचर्यां निवेद्य च।
गच्छन्ति स्मापदेशात्ता भीतास्तस्य पितुः स्त्रियः ॥ २२ ॥

''तत्पश्चात् उनके पिता विभाण्डक मुनिके डरसे डरी हुई वे स्त्रियाँ व्रत और अनुष्ठानकी बात बता उन ब्राह्मण-कुमारसे पूछकर उसी बहाने वहाँसे चली गयीं ॥ २२ ॥

गतासु तासु सर्वासु काश्यपस्यात्मजो द्विजः।
अस्वस्थहृदयश्चासीद् दुःखाच्च परिवर्तते ॥ २३ ॥

''उन सबके चले जानेपर काश्यपकुमार ब्राह्मण ऋष्यशृङ्ग मन-ही-मन व्याकुल हो उठे और बड़े दुःखसे इधर-उधर टहलने लगे ॥ २३ ॥

ततोऽपरेद्युस्तं देशमाजगाम स वीर्यवान्।
विभाण्डकसुतः श्रीमान् मनसाचिन्तयन्मुहुः ॥ २४ ॥
मनोज्ञा यत्र ता दृष्टा वारमुख्याः स्वलङ्कृताः।

''तदनन्तर दूसरे दिन फिर मनसे उन्हींका बारम्बार चिन्तन करते हुए शक्तिशाली विभाण्डककुमार श्रीमान् ऋष्यशृङ्ग उसी स्थानपर गये, जहाँ पहले दिन उन्होंने वस्त्र और आभूषणोंसे सजी हुई उन मनोहर रूपवाली वेश्याओंको देखा था ॥ २४½ ॥

दृष्ट्वैव च ततो विप्रमायान्तं हृष्टमानसाः ॥ २५ ॥
उपसृत्य ततः सर्वास्तास्तमूचुरिदं वचः।
एह्याश्रमपदं सौम्य अस्माकमिति चाब्रुवन् ॥ २६ ॥

''ब्राह्मण ऋष्यशृङ्गको आते देख तुरंत ही उन वेश्याओंका हृदय प्रसन्नतासे खिल उठा। वे सब-की-सब उनके पास जाकर उनसे इस प्रकार कहने लगीं—'सौम्य! आओ, आज हमारे आश्रमपर चलो ॥ २५-२६ ॥

चित्राण्यत्र बहूनि स्युर्मूलानि च फलानि च।
तत्राप्येष विशेषेण विधिर्हि भविता ध्रुवम् ॥ २७ ॥

यद्यपि यहाँ नाना प्रकारके फल-मूल बहुत मिलते हैं तथापि वहाँ भी निश्चय ही इन सबका विशेषरूपसे प्रबन्ध हो सकता है' ॥ २७ ॥

श्रुत्वा तु वचनं तासां सर्वासां हृदयङ्गमम्।
गमनाय मतिं चक्रे तं च निन्युस्तथा स्त्रियः ॥ २८ ॥

''उन सबके मनोहर वचन सुनकर ऋष्यशृङ्ग उनके साथ जानेको तैयार हो गये और वे स्त्रियाँ उन्हें अङ्गदेशमें ले गयीं ॥ २८ ॥

तत्र चानीयमाने तु विप्रे तस्मिन् महात्मनि।
ववर्ष सहसा देवो जगत् प्रह्लादयंस्तदा ॥ २९ ॥

''उन महात्मा ब्राह्मणके अङ्गदेशमें आते ही इन्द्रने सम्पूर्ण जगत्‌को प्रसन्न करते हुए सहसा पानी बरसाना आरम्भ कर दिया ॥ २९ ॥

वर्षेणैवागतं विप्रं तापसं स नराधिपः।
प्रत्युद्गम्य मुनिं प्रह्वः शिरसा च महीं गतः ॥ ३० ॥

''वर्षासे ही राजाको अनुमान हो गया कि वे तपस्वी ब्राह्मणकुमार आ गये। फिर बड़ी विनयके साथ राजाने उनकी अगवानी की और पृथ्वीपर मस्तक टेककर उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया ॥ ३० ॥

अर्घ्यं च प्रददौ तस्मै न्यायतः सुसमाहितः।
वव्रे प्रसादं विप्रेन्द्रान्मा विप्रं मन्युराविशेत् ॥ ३१ ॥

''फिर एकाग्रचित्त होकर उन्होंने ऋषिको अर्घ्य निवेदन किया तथा उन विप्रशिरोमणिसे वरदान माँगा, 'भगवन्! आप और आपके पिताजीका कृपाप्रसाद मुझे प्राप्त हो।' ऐसा उन्होंने इसलिये किया कि कहीं कपटपूर्वक यहाँतक लाये जानेका रहस्य जान लेनेपर विप्रवर ऋष्यशृङ्ग अथवा विभाण्डक मुनिके मनमें मेरे प्रति क्रोध न हो ॥ ३१ ॥

अन्तःपुरं प्रवेश्यास्मै कन्यां दत्त्वा यथाविधि।
शान्तां शान्तेन मनसा राजा हर्षमवाप सः ॥ ३२ ॥

''तत्पश्चात् ऋष्यशृङ्गको अन्तःपुरमें ले जाकर उन्होंने शान्तचित्तसे अपनी कन्या शान्ताका उनके साथ विधिपूर्वक

विवाह कर दिया। ऐसा करके राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई॥

एवं स न्यवसत् तत्र सर्वकामैः सुपूजितः।
ऋष्यशृङ्गो महातेजाः शान्तया सह भार्यया॥ ३३॥

"इस प्रकार महातेजस्वी ऋष्यशृङ्ग राजासे पूजित हो सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोग प्राप्त कर अपनी धर्मपत्नी शान्ताके साथ वहाँ रहने लगे"॥ ३३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे दशमः सर्गः॥ १०॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें दसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १०॥

एकादशः सर्गः

सुमन्त्रके कहनेसे राजा दशरथका सपरिवार अङ्गराजके यहाँ जाकर वहाँसे शान्ता और ऋष्यशृङ्गको अपने घर ले आना

भूय एव हि राजेन्द्र शृणु मे वचनं हितम्।
यथा स देवप्रवरः कथयामास बुद्धिमान्॥ १॥

तदनन्तर सुमन्त्रने फिर कहा—"राजेन्द्र! आप पुनः मुझसे अपने हितकी वह बात सुनिये, जिसे देवताओंमें श्रेष्ठ बुद्धिमान् सनत्कुमारजीने ऋषियोंको सुनाया था॥ १॥

इक्ष्वाकूणां कुले जातो भविष्यति सुधार्मिकः।
नाम्ना दशरथो राजा श्रीमान् सत्यप्रतिश्रवः॥ २॥

"उन्होंने कहा था—इक्ष्वाकुवंशमें दशरथ नामसे प्रसिद्ध एक परम धार्मिक सत्यप्रतिज्ञ राजा होंगे॥ २॥

अङ्गराजेन सख्यं च तस्य राज्ञो भविष्यति।
कन्या चास्य महाभागा शान्ता नाम भविष्यति॥ ३॥
पुत्रस्त्वङ्गस्य राज्ञस्तु रोमपाद इति श्रुतः।
तं स राजा दशरथो गमिष्यति महायशाः॥ ४॥
अनपत्योऽस्मि धर्मात्मञ्शान्ताभर्ता मम क्रतुम्।
आहरेत त्वयाऽऽज्ञप्तः संतानार्थं कुलस्य च॥ ५॥

"उनकी अङ्गराजके साथ मित्रता होगी। अङ्गराजके एक परम सौभाग्यशालिनी कन्या होगी, जिसका नाम होगा 'शान्ता'। अङ्गदेशके राजकुमारका नाम होगा 'रोमपाद'। महायशस्वी राजा दशरथ उनके पास जायँगे और कहेंगे—'धर्मात्मन्! मैं संतानहीन हूँ। यदि आप आज्ञा दें तो शान्ताके पति ऋष्यशृङ्ग मुनि चलकर मेरा यज्ञ करा दें। इससे मुझे पुत्रकी प्राप्ति होगी और मेरे वंशकी रक्षा हो जायगी'॥ ३—५॥

श्रुत्वा राज्ञोऽथ तद् वाक्यं मनसा स विचिन्त्य च।
प्रदास्यते पुत्रवन्तं शान्ताभर्तारमात्मवान्॥ ६॥

"राजाकी यह बात सुनकर मन-ही-मन उसपर विचार करके मनस्वी राजा रोमपाद शान्ताके पुत्रवान् पतिको उनके साथ भेज देंगे॥ ६॥

प्रतिगृह्य च तं विप्रं स राजा विगतज्वरः।
आहरिष्यति तं यज्ञं प्रहृष्टेनान्तरात्मना॥ ७॥

"ब्राह्मण ऋष्यशृङ्गको पाकर राजा दशरथकी सारी चिन्ता दूर हो जायगी और वे प्रसन्नचित्त होकर उस यज्ञका अनुष्ठान करेंगे॥ ७॥

तं च राजा दशरथो यशस्कामः कृताञ्जलिः।
ऋष्यशृङ्गं द्विजश्रेष्ठं वरयिष्यति धर्मवित्॥ ८॥
यज्ञार्थं प्रसवार्थं च स्वर्गार्थं च नरेश्वरः।
लभते च स तं कामं द्विजमुख्याद् विशाम्पतिः॥ ९॥

"यशकी इच्छा रखनेवाले धर्मज्ञ राजा दशरथ हाथ जोड़कर द्विजश्रेष्ठ ऋष्यशृङ्गका यज्ञ, पुत्र और स्वर्गके लिये वरण करेंगे तथा वे प्रजापालक नरेश उन श्रेष्ठ ब्रह्मर्षिसे अपनी अभीष्ट वस्तु प्राप्त कर लेंगे॥ ८-९॥

पुत्राश्चास्य भविष्यन्ति चत्वारोऽमितविक्रमाः।
वंशप्रतिष्ठानकराः सर्वभूतेषु विश्रुताः॥ १०॥

"राजाके चार पुत्र होंगे, जो अप्रमेय पराक्रमी, वंशकी मर्यादा बढ़ानेवाले और सर्वत्र विख्यात होंगे॥ १०॥

एवं स देवप्रवरः पूर्वं कथितवान् कथाम्।
सनत्कुमारो भगवान् पुरा देवयुगे प्रभुः॥ ११॥

"महाराज! पहले सत्ययुगमें शक्तिशाली देवप्रवर भगवान् सनत्कुमारजीने ऋषियोंके समक्ष ऐसी कथा कही थी॥ ११॥

स त्वं पुरुषशार्दूल समानय सुसत्कृतम्।
स्वयमेव महाराज गत्वा सबलवाहनः॥ १२॥

"पुरुषसिंह महाराज! इसलिये आप स्वयं ही सेना और सवारियोंके साथ अङ्गदेशमें जाकर मुनिकुमार ऋष्यशृङ्गको सत्कारपूर्वक यहाँ ले आइये"॥ १२॥

सुमन्त्रस्य वचः श्रुत्वा हृष्टो दशरथोऽभवत्।
अनुमान्य वसिष्ठं च सूतवाक्यं निशाम्य च॥ १३॥
सान्तःपुरः सहामात्यः प्रययौ यत्र स द्विजः।

सुमन्त्रका वचन सुनकर राजा दशरथको बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने मुनिवर वसिष्ठजीको भी सुमन्त्रकी बातें सुनायीं और उनकी आज्ञा लेकर रनिवासकी रानियों तथा मन्त्रियोंके साथ अङ्गदेशके लिये प्रस्थान किया, जहाँ विप्रवर ऋष्यशृङ्ग निवास करते थे॥ १३½॥

वनानि सरितश्चैव व्यतिक्रम्य शनैः शनैः॥ १४॥
अभिचक्राम तं देशं यत्र वै मुनिपुङ्गवः।

मार्गमें अनेकानेक वनों और नदियोंको पार करके वे

धीरे-धीरे उस देशमें जा पहुँचे, जहाँ मुनिवर ऋष्यशृङ्ग विराजमान थे ॥ १४½ ॥

आसाद्य तं द्विजश्रेष्ठं रोमपादसमीपगम् ॥ १५ ॥
ऋषिपुत्रं ददर्शाथो दीप्यमानमिवानलम् ।

वहाँ पहुँचनेपर उन्हें द्विजश्रेष्ठ ऋष्यशृङ्ग रोमपादके पास ही बैठे दिखायी दिये। वे ऋषिकुमार प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी जान पड़ते थे ॥ १५½ ॥

ततो राजा यथायोग्यं पूजां चक्रे विशेषतः ॥ १६ ॥
सखित्वात् तस्य वै राज्ञः प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।
रोमपादेन चाख्यातमृषिपुत्राय धीमते ॥ १७ ॥
सख्यं सम्बन्धकं चैव तदा तं प्रत्यपूजयत् ।

तदनन्तर राजा रोमपादने मित्रताके नाते अत्यन्त प्रसन्न हृदयसे महाराज दशरथका शास्त्रोक्त विधिके अनुसार विशेषरूपसे पूजन किया और बुद्धिमान् ऋषिकुमार ऋष्यशृङ्गको राजा दशरथके साथ अपनी मित्रताकी बात बतायी। उसपर उन्होंने भी राजाका सम्मान किया ॥ १६-१७½ ॥

एवं सुसत्कृतस्तेन सहोषित्वा नरर्षभः ॥ १८ ॥
सप्ताष्टदिवसान् राजा राजानमिदमब्रवीत् ।
शान्ता तव सुता राजन् सह भर्त्रा विशाम्पते ॥ १९ ॥
मदीयं नगरं यातु कार्यं हि महदुद्यतम् ।

इस प्रकार भलीभाँति आदर-सत्कार पाकर नरश्रेष्ठ राजा दशरथ रोमपादके साथ वहाँ सात-आठ दिनोंतक रहे। इसके बाद वे अङ्गराजसे बोले—'प्रजापालक नरेश! तुम्हारी पुत्री शान्ता अपने पतिके साथ मेरे नगरमें पदार्पण करे; क्योंकि वहाँ एक महान् आवश्यक कार्य उपस्थित हुआ है' ॥ १८-१९½ ॥

तथेति राजा संश्रुत्य गमनं तस्य धीमतः ॥ २० ॥
उवाच वचनं विप्रं गच्छ त्वं सह भार्यया ।
ऋषिपुत्रः प्रतिश्रुत्य तथेत्याह नृपं तदा ॥ २१ ॥

राजा रोमपादने 'बहुत अच्छा' कहकर उन बुद्धिमान् महर्षिका जाना स्वीकार कर लिया और ऋष्यशृङ्गसे कहा—'विप्रवर! आप शान्ताके साथ महाराज दशरथके यहाँ जाइये।' राजाकी आज्ञा पाकर उन ऋषिपुत्रने 'तथास्तु' कहकर राजा दशरथको अपने चलनेकी स्वीकृति दे दी ॥ २१ ॥

स नृपेणाभ्यनुज्ञातः प्रययौ सह भार्यया ।
तावन्योन्याञ्जलिं कृत्वा स्नेहात्संश्लिष्य चोरसा ॥ २२ ॥
ननन्दतुर्दशरथो रोमपादश्च वीर्यवान् ।
ततः सुहृदमापृच्छ्य प्रस्थितो रघुनन्दनः ॥ २३ ॥

राजा रोमपादकी अनुमति ले ऋष्यशृङ्गने पत्नीके साथ वहाँसे प्रस्थान किया। उस समय शक्तिशाली राजा रोमपाद और दशरथने एक-दूसरेको हाथ जोड़कर स्नेहपूर्वक छातीसे लगाया तथा अभिनन्दन किया। फिर मित्रसे विदा ले रघुकुलनन्दन दशरथ वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ २२-२३ ॥

पौरेषु प्रेषयामास दूतान् वै शीघ्रगामिनः ।
क्रियतां नगरं सर्वं क्षिप्रमेव स्वलंकृतम् ॥ २४ ॥
धूपितं सिक्तसम्मृष्टं पताकाभिरलंकृतम् ।

उन्होंने पुरवासियोंके पास अपने शीघ्रगामी दूत भेजे और कहलाया कि 'समस्त नगरको शीघ्र ही सुसज्जित किया जाय। सर्वत्र धूपकी सुगन्ध फैले। नगरकी सड़कोंको झाड़-बुहारकर उनपर पानीका छिड़काव कर दिया जाय तथा सारा नगर ध्वजा-पताकाओंसे अलंकृत हो' ॥ २४½ ॥

ततः प्रहृष्टाः पौरास्ते श्रुत्वा राजानमागतम् ॥ २५ ॥
तथा चक्रुश्च तत् सर्वं राज्ञा यत् प्रेषितं तदा ।

राजाका आगमन सुनकर पुरवासी बड़े प्रसन्न हुए। महाराजने उनके लिये जो संदेश भेजा था, उसका उन्होंने उस समय पूर्णरूपसे पालन किया ॥ २५½ ॥

ततः स्वलंकृतं राजा नगरं प्रविवेश ह ॥ २६ ॥
शङ्खदुन्दुभिनिर्ह्रादैः पुरस्कृत्वा द्विजर्षभम् ।

तदनन्तर राजा दशरथने शङ्ख और दुन्दुभि आदि वाद्योंकी ध्वनिके साथ विप्रवर ऋष्यशृङ्गको आगे करके अपने सजे-सजाये नगरमें प्रवेश किया ॥ २६½ ॥

ततः प्रमुदिताः सर्वे दृष्ट्वा वै नागरा द्विजम् ॥ २७ ॥
प्रवेश्यमानं सत्कृत्य नरेन्द्रेणेन्द्रकर्मणा ।
यथा दिवि सुरेन्द्रेण सहस्राक्षेण काश्यपम् ॥ २८ ॥

उन द्विजकुमारका दर्शन करके सभी नगरनिवासी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने इन्द्रके समान पराक्रमी नरेन्द्र दशरथके साथ पुरीमें प्रवेश करते हुए ऋष्यशृङ्गका उसी प्रकार सत्कार किया, जैसे देवताओंने स्वर्गमें सहस्राक्ष इन्द्रके साथ प्रवेश करते हुए कश्यपनन्दन वामनजीका समादर किया था ॥

अन्तःपुरं प्रवेश्यैनं पूजां कृत्वा च शास्त्रतः ।
कृतकृत्यं तदात्मानं मेने तस्योपवाहनात् ॥ २९ ॥

ऋषिको अन्तःपुरमें ले जाकर राजाने शास्त्रविधिके अनुसार उनका पूजन किया और उनके निकट आ जानेसे अपनेको कृतकृत्य माना ॥ २९ ॥

अन्तःपुराणि सर्वाणि शान्तां दृष्ट्वा तथागताम् ।
सह भर्त्रा विशालाक्षीं प्रीत्यानन्दमुपागमन् ॥ ३० ॥

विशाललोचना शान्ताको इस प्रकार अपने पतिके साथ उपस्थित देख अन्तःपुरकी सभी रानियोंको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे आनन्दमग्न हो गयीं ॥ ३० ॥

पूज्यमाना तु ताभिः सा राज्ञा चैव विशेषतः ।
उवास तत्र सुखिता कञ्चित् कालं सहद्विजा ॥ ३१ ॥

शान्ता भी उन रानियोंसे तथा विशेषतः महाराज दशरथके द्वारा आदर-सत्कार पाकर वहाँ कुछ कालतक अपने पति विप्रवर ऋष्यशृङ्गके साथ बड़े सुखसे रही ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें ग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११ ॥

—★—

द्वादशः सर्गः

राजाका ऋषियोंसे यज्ञ करानेके लिये प्रस्ताव, ऋषियोंका राजाको और राजाका मन्त्रियोंको यज्ञकी आवश्यक तैयारी करनेके लिये आदेश देना

ततः काले बहुतिथे कस्मिंश्चित् सुमनोहरे।
वसन्ते समनुप्राप्ते राज्ञो यष्टुं मनोऽभवत्॥ १॥

तदनन्तर बहुत समय बीत जानेके पश्चात् कोई परम मनोहर—दोषरहित समय प्राप्त हुआ। उस समय वसन्त ऋतुका आरम्भ हुआ था। राजा दशरथने उसी शुभ समयमें यज्ञ आरम्भ करनेका विचार किया॥ १॥

ततः प्रणम्य शिरसा तं विप्रं देववर्णिनम्।
यज्ञाय वरयामास संतानार्थं कुलस्य च॥ २॥

तत्पश्चात् उन्होंने देवोपम कान्तिवाले विप्रवर ऋष्यशृङ्गको मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और वंश-परम्पराकी रक्षाके लिये पुत्र-प्राप्तिके निमित्त यज्ञ करानेके उद्देश्यसे उनका वरण किया॥ २॥

तथेति च स राजानमुवाच वसुधाधिपम्।
सम्भाराः सम्भ्रियन्तां ते तुरगश्च विमुच्यताम्॥ ३॥
सरय्वाश्चोत्तरे तीरे यज्ञभूमिर्विधीयताम्।

ऋष्यशृङ्गने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी प्रार्थना स्वीकार की और उन पृथ्वीपति नरेशसे कहा—'राजन्! यज्ञकी सामग्री एकत्र कराइये। भूमण्डलमें भ्रमणके लिये आपका यज्ञसम्बन्धी अश्व छोड़ा जाय और सरयूके उत्तर तटपर यज्ञभूमिका निर्माण किया जाय'॥ ३½॥

ततोऽब्रवीन्नृपो वाक्यं ब्राह्मणान् वेदपारगान्॥ ४॥
सुमन्त्रावाहय क्षिप्रमृत्विजो ब्रह्मवादिनः।
सुयज्ञं वामदेवं च जाबालिमथ काश्यपम्॥ ५॥
पुरोहितं वसिष्ठं च ये चान्ये द्विजसत्तमाः।

तब राजाने कहा—'सुमन्त्र! तुम शीघ्र ही वेदविद्याके पारङ्गत ब्राह्मणों तथा ब्रह्मवादी ऋत्विजोंको बुला ले आओ। सुयज्ञ, वामदेव, जाबालि, काश्यप, पुरोहित वसिष्ठ तथा अन्य जो श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं, उन सबको बुलाओ'॥ ४-५½॥

ततः सुमन्त्रस्त्वरितं गत्वा त्वरितविक्रमः॥ ६॥
समानयत् स तान् सर्वान् समस्तान् वेदपारगान्।

तब शीघ्रगामी सुमन्त्र तुरंत जाकर वेदविद्याके पारगामी उन समस्त ब्राह्मणोंको बुला लाये॥ ६½॥

तान् पूजयित्वा धर्मात्मा राजा दशरथस्तदा॥ ७॥
धर्मार्थसहितं युक्तं श्लक्ष्णं वचनमब्रवीत्।

धर्मात्मा राजा दशरथने उन सबका पूजन किया और उनसे धर्म तथा अर्थसे युक्त मधुर वचन कहा॥ ७½॥

मम तातप्यमानस्य पुत्रार्थं नास्ति वै सुखम्॥ ८॥
पुत्रार्थं हयमेधेन यक्ष्यामीति मतिर्मम।

'महर्षियो! मैं पुत्रके लिये निरन्तर संतप्त रहता हूँ। उसके बिना इस राज्य आदिसे भी मुझे सुख नहीं मिलता है। अतः मैंने यह विचार किया है कि पुत्रके लिये अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान करूँ॥ ८½॥

तदहं यष्टुमिच्छामि हयमेधेन कर्मणा॥ ९॥
ऋषिपुत्रप्रभावेण कामान् प्राप्स्यामि चाप्यहम्।

'इसी संकल्पके अनुसार मैं अश्वमेध यज्ञका आरम्भ करना चाहता हूँ। मुझे विश्वास है कि ऋषिपुत्र ऋष्यशृङ्गके प्रभावसे मैं अपनी सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लूँगा'॥

ततः साध्विति तद्वाक्यं ब्राह्मणाः प्रत्यपूजयन्॥ १०॥
वसिष्ठप्रमुखाः सर्वे पार्थिवस्य मुखाच्च्युतम्।

राजा दशरथके मुखसे निकले हुए इस वचनकी वसिष्ठ आदि सब ब्राह्मणोंने 'साधु-साधु' कहकर बड़ी सराहना की॥ १०½॥

ऋष्यशृङ्गपुरोगाश्च प्रत्यूचुर्नृपतिं तदा॥ ११॥
सम्भाराः सम्भ्रियन्तां ते तुरगश्च विमुच्यताम्।
सरय्वाश्चोत्तरे तीरे यज्ञभूमिर्विधीयताम्॥ १२॥

इसके बाद ऋष्यशृङ्ग आदि सब महर्षियोंने उस समय राजा दशरथसे पुनः यह बात कही—'महाराज! यज्ञ-सामग्रीका संग्रह किया जाय, यज्ञसम्बन्धी अश्व छोड़ा जाय तथा सरयूके उत्तर तटपर यज्ञभूमिका निर्माण किया जाय॥

सर्वथा प्राप्स्यसे पुत्रांश्चतुरोऽमितविक्रमान्।
यस्य ते धार्मिकी बुद्धिरियं पुत्रार्थमागता॥ १३॥

'तुम यज्ञद्वारा सर्वथा चार अमित पराक्रमी पुत्र प्राप्त करोगे; क्योंकि पुत्रके लिये तुम्हारे मनमें ऐसे धार्मिक विचारका उदय हुआ है'॥ १३॥

ततः प्रीतोऽभवद् राजा श्रुत्वा तु द्विजभाषितम्।
अमात्यानब्रवीद् राजा हर्षेणेदं शुभाक्षरम्॥ १४॥

ब्राह्मणोंकी यह बात सुनकर राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने बड़े हर्षके साथ अपने मन्त्रियोंसे यह शुभ अक्षरोंवाली बात कही॥ १४॥

गुरूणां वचनाच्छीघ्रं सम्भाराः सम्भ्रियन्तु मे।
समर्थाधिष्ठितश्चाश्वः सोपाध्यायो विमुच्यताम्॥ १५॥

'गुरुजनोंकी आज्ञाके अनुसार तुमलोग शीघ्र ही मेरे लिये यज्ञकी सामग्री जुटा दो। शक्तिशाली वीरोंके संरक्षणमें यज्ञिय अश्व छोड़ा जाय और उसके साथ प्रधान ऋत्विज् भी रहें॥ १५॥

सरय्वाश्चोत्तरे तीरे यज्ञभूमिर्विधीयताम्।
शान्तयश्चाभिवर्धन्तां यथाकल्पं यथाविधि॥ १६॥

'सरयूके उत्तर तटपर यज्ञभूमिका निर्माण हो,

शास्त्रोक्त विधिके अनुसार क्रमशः शान्तिकर्म—पुण्याहवाचन आदिका विस्तारपूर्वक अनुष्ठान किया जाय, जिससे विघ्नोंका निवारण हो ॥ १६ ॥

शक्यः कर्तुमयं यज्ञः सर्वेणापि महीक्षिता।
नापराधो भवेत् कष्टो यद्यस्मिन् क्रतुसत्तमे ॥ १७ ॥

'यदि इस श्रेष्ठ यज्ञमें कष्टप्रद अपराध बन जानेका भय न हो तो सभी राजा इसका सम्पादन कर सकते हैं ॥ १७ ॥

छिद्रं हि मृगयन्त्येते विद्वांसो ब्रह्मराक्षसाः।
विधिहीनस्य यज्ञस्य सद्यः कर्ता विनश्यति ॥ १८ ॥

'परंतु ऐसा होना कठिन है; क्योंकि ये विद्वान् ब्रह्मराक्षस यज्ञमें विघ्न डालनेके लिये छिद्र ढूँढ़ा करते हैं। विधिहीन यज्ञका अनुष्ठान करनेवाला यजमान तत्काल नष्ट हो जाता है ॥ १८ ॥

तद् यथा विधिपूर्वं मे क्रतुरेष समाप्यते।
तथा विधानं क्रियतां समर्थाः करणेष्विह ॥ १९ ॥

'अतः मेरा यह यज्ञ जिस तरह विधिपूर्वक सम्पूर्ण हो सके वैसा उपाय किया जाय। तुम सब लोग ऐसे साधन प्रस्तुत करनेमें समर्थ हो' ॥ १९ ॥

तथेति च ततः सर्वे मन्त्रिणः प्रत्यपूजयन्।
पार्थिवेन्द्रस्य तद् वाक्यं यथाज्ञप्तमकुर्वत ॥ २० ॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर सभी मन्त्रियोंने राजराजेश्वर दशरथके उस कथनका आदर किया और उनकी आज्ञाके अनुसार सारी व्यवस्था की ॥ २० ॥

ततो द्विजास्ते धर्मज्ञमस्तुवन् पार्थिवर्षभम्।
अनुज्ञातास्ततः सर्वे पुनर्जग्मुर्यथागतम् ॥ २१ ॥

तत्पश्चात् उन ब्राह्मणोंने भी धर्मज्ञ नृपश्रेष्ठ दशरथकी प्रशंसा की और उनकी आज्ञा पाकर सब जैसे आये थे, वैसे ही फिर चले गये ॥ २१ ॥

गतेषु तेषु विप्रेषु मन्त्रिणस्तान् नराधिपः।
विसर्जयित्वा स्वं वेश्म प्रविवेश महामतिः ॥ २२ ॥

उन ब्राह्मणोंके चले जानेपर मन्त्रियोंको भी विदा करके वे महाबुद्धिमान् नरेश अपने महलमें गये ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें बारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १२ ॥

—★—

त्रयोदशः सर्गः

राजाका वसिष्ठजीसे यज्ञकी तैयारीके लिये अनुरोध, वसिष्ठजीद्वारा इसके लिये सेवकोंकी नियुक्ति और सुमन्त्रको राजाओंकी बुलाहटके लिये आदेश, समागत राजाओंका सत्कार तथा पत्नियोंसहित राजा दशरथका यज्ञकी दीक्षा लेना

पुनः प्राप्ते वसन्ते तु पूर्णः संवत्सरोऽभवत्।
प्रसवार्थं गतो यष्टुं हयमेधेन वीर्यवान् ॥ १ ॥

वर्तमान वसन्त ऋतुके बीतनेपर जब पुनः दूसरा वसन्त आया, तबतक एक वर्षका समय पूरा हो गया। उस समय शक्तिशाली राजा दशरथ संतानके लिये अश्वमेध यज्ञकी दीक्षा लेनेके निमित्त वसिष्ठजीके समीप गये ॥ १ ॥

अभिवाद्य वसिष्ठं च न्यायतः प्रतिपूज्य च।
अब्रवीत् प्रश्रितं वाक्यं प्रसवार्थं द्विजोत्तमम् ॥ २ ॥

वसिष्ठजीको प्रणाम करके राजाने न्यायतः उनका पूजन किया और पुत्र-प्राप्तिका उद्देश्य लेकर उन द्विजश्रेष्ठ मुनिसे यह विनययुक्त बात कही ॥ २ ॥

यज्ञो मे क्रियतां ब्रह्मन् यथोक्तं मुनिपुङ्गव।
यथा न विघ्नाः क्रियन्ते यज्ञाङ्गेषु विधीयताम् ॥ ३ ॥

'ब्रह्मन्! मुनिप्रवर! आप शास्त्रविधिके अनुसार मेरा यज्ञ करावें और यज्ञके अङ्गभूत अश्व-संचारण आदिमें ब्रह्मराक्षस आदि जिस तरह विघ्न न डाल सकें, वैसा उपाय कीजिये ॥ ३ ॥

भवान् स्निग्धः सुहृन्मह्यं गुरुश्च परमो महान्।
वोढव्यो भवता चैव भारो यज्ञस्य चोद्यतः ॥ ४ ॥

'आपका मुझपर विशेष स्नेह है, आप मेरे सुहृद्—अकारण हितैषी, गुरु और परम महान् हैं। यह जो यज्ञका भार उपस्थित हुआ है, इसको आप ही वहन कर सकते हैं' ॥ ४ ॥

तथेति च स राजानमब्रवीद् द्विजसत्तमः।
करिष्ये सर्वमेवैतद् भवता यत् समर्थितम् ॥ ५ ॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर विप्रवर वसिष्ठ मुनि राजासे इस प्रकार बोले—'नरेश्वर! तुमने जिसके लिये प्रार्थना की है, वह सब मैं करूँगा' ॥ ५ ॥

ततोऽब्रवीद् द्विजान् वृद्धान् यज्ञकर्मसुनिष्ठितान्।
स्थापत्ये निष्ठितांश्चैव वृद्धान् परमधार्मिकान् ॥ ६ ॥
कर्मान्तिकाञ्छिल्पकारान् वर्धकीन् खनकानपि।
गणकाञ्छिल्पिनश्चैव तथैव नटनर्तकान् ॥ ७ ॥
तथा शुचीञ्शास्त्रविदः पुरुषान् सुबहुश्रुतान्।
यज्ञकर्म समीहन्तां भवन्तो राजशासनात् ॥ ८ ॥

तदनन्तर वसिष्ठजीने यज्ञसम्बन्धी कर्मोंमें निपुण तथा यज्ञविषयक शिल्पकर्ममें कुशल, परम धर्मात्मा, बूढ़े ब्राह्मणों, यज्ञकर्म समाप्त होनेतक उसमें सेवा करनेवाले सेवकों, शिल्पकारों, बढ़इयों, भूमि खोदनेवालों, ज्योतिषियों,

कारीगरों, नटों, नर्तकों, विशुद्ध शास्त्रवेत्ताओं तथा बहुश्रुत पुरुषोंको बुलाकर उनसे कहा—'तुमलोग महाराजकी आज्ञासे यज्ञकर्मके लिये आवश्यक प्रबन्ध करो ॥ ६—८ ॥

इष्टका बहुसाहस्री शीघ्रमानीयतामिति ।
उपकार्याः क्रियन्तां च राज्ञो बहुगुणान्विताः ॥ ९ ॥

'शीघ्र ही कई हजार ईंटें लायी जायँ। राजाओंके ठहरनेके लिये उनके योग्य अन्न-पान आदि अनेक उपकरणोंसे युक्त बहुत-से महल बनाये जायँ ॥ ९ ॥

ब्राह्मणावसथाश्चैव कर्तव्याः शतशः शुभाः ।
भक्ष्यान्नपानैर्बहुभिः समुपेताः सुनिष्ठिताः ॥ १० ॥

'ब्राह्मणोंके रहनेके लिये भी सैकड़ों सुन्दर घर बनाये जाने चाहिये। वे सभी गृह बहुत-से भोजनीय अन्न-पान आदि उपकरणोंसे युक्त तथा आँधी-पानी आदिके निवारणमें समर्थ हों ॥ १० ॥

तथा पौरजनस्यापि कर्तव्याश्च सुविस्तराः ।
आगतानां सुदूराच्च पार्थिवानां पृथक् पृथक् ॥ ११ ॥

'इसी तरह पुरवासियोंके लिये भी विस्तृत मकान बनने चाहिये। दूरसे आये हुए भूपालोंके लिये पृथक्-पृथक् महल बनाये जायँ ॥ ११ ॥

वाजिवारणशालाश्च तथा शय्यागृहाणि च ।
भटानां महदावासा वैदेशिकनिवासिनाम् ॥ १२ ॥

'घोड़े और हाथियोंके लिये भी शालाएँ बनायी जायँ। साधारण लोगोंके सोनेके लिये भी घरोंकी व्यवस्था हो। विदेशी सैनिकोंके लिये भी बड़ी-बड़ी छावनियाँ बननी चाहिये ॥ १२ ॥

आवासा बहुभक्ष्या वै सर्वकामैरुपस्थिताः ।
तथा पौरजनस्यापि जनस्य बहुशोभनम् ॥ १३ ॥
दातव्यमन्नं विधिवत् सत्कृत्य न तु लीलया ।

'जो घर बनाये जायँ, उनमें खाने-पीनेकी प्रचुर सामग्री संचित रहे। उनमें सभी मनोवाञ्छित पदार्थ सुलभ हों तथा नगरवासियोंको भी बहुत सुन्दर अन्न भोजनके लिये देना चाहिये। वह भी विधिवत् सत्कारपूर्वक दिया जाय, अवहेलना करके नहीं ॥ १३$\frac{1}{2}$ ॥

सर्वे वर्णा यथा पूजां प्राप्नुवन्ति सुसत्कृताः ॥ १४ ॥
न चावज्ञा प्रयोक्तव्या कामक्रोधवशादपि ।

'ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये, जिससे सभी वर्णोंके लोग भलीभाँति सत्कृत हो सम्मान प्राप्त करें। काम और क्रोधके वशीभूत होकर भी किसीका अनादर नहीं करना चाहिये ॥ १४$\frac{1}{2}$ ॥

यज्ञकर्मसु ये व्यग्राः पुरुषाः शिल्पिनस्तथा ॥ १५ ॥
तेषामपि विशेषेण पूजा कार्या यथाक्रमम् ।

'जो शिल्पी मनुष्य यज्ञकर्मकी आवश्यक तैयारीमें लगे हों, उनका तो बड़े-छोटेका खयाल रखकर विशेषरूपसे समादर करना चाहिये ॥ १५$\frac{1}{2}$ ॥

ये स्युः सम्पूजिताः सर्वे वसुभिर्भोजनेन च ॥ १६ ॥
यथा सर्वं सुविहितं न किंचित् परिहीयते ।
तथा भवन्तः कुर्वन्तु प्रीतियुक्तेन चेतसा ॥ १७ ॥

'जो सेवक या कारीगर धन और भोजन आदिके द्वारा सम्मानित किये जाते हैं, वे सब परिश्रमपूर्वक कार्य करते हैं। उनका किया हुआ सारा कार्य सुन्दर ढंगसे सम्पन्न होता है। उनका कोई काम बिगड़ने नहीं पाता; अतः तुम सब लोग प्रसन्नचित्त होकर ऐसा ही करो' ॥ १६-१७ ॥

ततः सर्वे समागम्य वसिष्ठमिदमब्रुवन् ।
यथेष्टं तत् सुविहितं न किंचित् परिहीयते ॥ १८ ॥
यथोक्तं तत् करिष्यामो न किंचित् परिहास्यते ।

तब वे सब लोग वसिष्ठजीसे मिलकर बोले—'आपको जैसा अभीष्ट है, उसके अनुसार ही करनेके लिये अच्छी व्यवस्था की जायगी। कोई भी काम बिगड़ने नहीं पायेगा। आपने जैसा कहा है, हमलोग वैसा ही करेंगे। उसमें कोई त्रुटि नहीं आने देंगे' ॥ १८$\frac{1}{2}$ ॥

ततः सुमन्त्रमाहूय वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत् ॥ १९ ॥
निमन्त्रयस्व नृपतीन् पृथिव्यां ये च धार्मिकाः ।
ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वैश्याञ्शूद्रांश्चैव सहस्रशः ॥ २० ॥

तदनन्तर वसिष्ठजीने सुमन्त्रको बुलाकर कहा—'इस पृथ्वीपर जो-जो धार्मिक राजा, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और सहस्रों शूद्र हैं, उन सबको इस यज्ञमें आनेके लिये निमन्त्रित करो ॥ २० ॥

समानयस्व सत्कृत्य सर्वदेशेषु मानवान् ।
मिथिलाधिपतिं शूरं जनकं सत्यवादिनम् ॥ २१ ॥
तमानय महाभागं स्वयमेव सुसत्कृतम् ।
पूर्वं सम्बन्धिनं ज्ञात्वा ततः पूर्वं ब्रवीमि ते ॥ २२ ॥

'सब देशोंके अच्छे लोगोंको सत्कारपूर्वक यहाँ ले आओ। मिथिलाके स्वामी शूरवीर महाभाग जनक सत्यवादी नरेश हैं। उनको अपना पुराना सम्बन्धी जानकर तुम स्वयं ही जाकर उन्हें बड़े आदर-सत्कारके साथ यहाँ ले आओ; इसीलिये पहले तुम्हें यह बात बता देता हूँ ॥ २१-२२ ॥

तथा काशिपतिं स्निग्धं सततं प्रियवादिनम् ।
सद्वृत्तं देवसंकाशं स्वयमेवानयस्व ह ॥ २३ ॥

'इसी प्रकार काशीके राजा अपने स्नेही मित्र हैं और सदा प्रिय वचन बोलनेवाले हैं। वे सदाचारी तथा देवताओंके तुल्य तेजस्वी हैं; अतः उन्हें भी स्वयं ही जाकर ले आओ ॥ २३ ॥

तथा केकयराजानं वृद्धं परमधार्मिकम् ।
श्वशुरं राजसिंहस्य सपुत्रं तमिहानय ॥ २४ ॥

'केकयदेशके बूढ़े राजा बड़े धर्मात्मा हैं, वे राजसिंह महाराज दशरथके श्वशुर हैं; अतः उन्हें भी पुत्रसहित यहाँ ले आओ ॥ २४ ॥

अङ्गेश्वरं महेष्वासं रोमपादं सुसत्कृतम्।
वयस्यं राजसिंहस्य सपुत्रं तमिहानय ॥ २५ ॥

'अङ्गदेशके स्वामी महाधनुर्धर राजा रोमपाद हमारे महाराजके मित्र हैं, अतः उन्हें पुत्रसहित यहाँ सत्कारपूर्वक ले आओ ॥ २५ ॥

तथा कोसलराजानं भानुमन्तं सुसत्कृतम्।
मगधाधिपतिं शूरं सर्वशास्त्रविशारदम् ॥ २६ ॥
प्राप्तिज्ञं परमोदारं सत्कृतं पुरुषर्षभम्।

'कोशलराज भानुमान्‌को भी सत्कारपूर्वक ले आओ। मगधदेशके राजा प्राप्तिज्ञको, जो शूरवीर, सर्वशास्त्रविशारद, परम उदार तथा पुरुषोंमें श्रेष्ठ हैं, स्वयं जाकर सत्कारपूर्वक बुला ले आओ ॥ २६½ ॥

राज्ञः शासनमादाय चोदयस्व नृपर्षभान्।
प्राचीनान् सिन्धुसौवीरान् सौराष्ट्रेयांश्च पार्थिवान् ॥ २७ ॥

'महाराजकी आज्ञा लेकर तुम पूर्वदेशके श्रेष्ठ नरेशोंको तथा सिन्धु-सौवीर एवं सुराष्ट्र देशके भूपालोंको यहाँ आनेके लिये निमन्त्रण दो ॥ २७ ॥

दाक्षिणात्यान् नरेन्द्रांश्च समस्तानानयस्व ह।
सन्ति स्निग्धाश्च ये चान्ये राजानः पृथिवीतले ॥ २८ ॥
तानानय यथा क्षिप्रं सानुगान् सहबान्धवान्।
एतान् दूतैर्महाभागैरानयस्व नृपाज्ञया ॥ २९ ॥

'दक्षिण भारतके समस्त नरेशोंको भी आमन्त्रित करो। इस भूतलपर और भी जो-जो नरेश महाराजके प्रति स्नेह रखते हैं, उन सबको सेवकों और सगे-सम्बन्धियोंसहित यथासम्भव शीघ्र बुला लो। महाराजकी आज्ञासे बड़भागी दूतोंद्वारा इन सबके पास बुलावा भेज दो' ॥ २८-२९ ॥

वसिष्ठवाक्यं तच्छ्रुत्वा सुमन्त्रस्त्वरितं तदा।
व्यादिशत् पुरुषांस्तत्र राज्ञामानयने शुभान् ॥ ३० ॥

वसिष्ठका यह वचन सुनकर सुमन्त्रने तुरंत ही अच्छे पुरुषोंको राजाओंकी बुलाहटके लिये जानेका आदेश दे दिया ॥

स्वयमेव हि धर्मात्मा प्रयातो मुनिशासनात्।
सुमन्त्रस्त्वरितो भूत्वा समानेतुं महामतिः ॥ ३१ ॥

परम बुद्धिमान् धर्मात्मा सुमन्त्र वसिष्ठ मुनिकी आज्ञासे खास-खास राजाओंको बुलानेके लिये स्वयं ही गये ॥

ते च कर्मान्तिकाः सर्वे वसिष्ठाय महर्षये।
सर्वं निवेदयन्ति स्म यज्ञे यदुपकल्पितम् ॥ ३२ ॥

यज्ञकर्मकी व्यवस्थाके लिये जो सेवक नियुक्त किये गये थे, उन सबने आकर उस समयतक यज्ञसम्बन्धी जो-जो कार्य सम्पन्न हो गया था, उस सबकी सूचना महर्षि वसिष्ठको दी ॥ ३२ ॥

ततः प्रीतो द्विजश्रेष्ठस्तान् सर्वान् मुनिरब्रवीत्।
अवज्ञया न दातव्यं कस्यचिल्लीलयापि वा ॥ ३३ ॥
अवज्ञया कृतं हन्याद् दातारं नात्र संशयः।

यह सुनकर वे द्विजश्रेष्ठ मुनि बड़े प्रसन्न हुए और उन सबसे बोले—'भद्र पुरुषो! किसीको जो कुछ देना हो; उसे अवहेलना या अनादरपूर्वक नहीं देना चाहिये; क्योंकि अनादरपूर्वक दिया हुआ दान दाताको नष्ट कर देता है—इसमें संशय नहीं है' ॥ ३३½ ॥

ततः कैश्चिदहोरात्रैरुपयाता महीक्षितः ॥ ३४ ॥
बहूनि रत्नान्यादाय राज्ञो दशरथस्य ह।

तदनन्तर कुछ दिनोंके बाद राजा लोग महाराज दशरथके लिये बहुत-से रत्नोंकी भेंट लेकर अयोध्यामें आये ॥ ३४½ ॥

ततो वसिष्ठः सुप्रीतो राजानमिदमब्रवीत् ॥ ३५ ॥
उपयाता नरव्याघ्र राजानस्तव शासनात्।
मयापि सत्कृताः सर्वे यथार्हं राजसत्तम ॥ ३६ ॥

इससे वसिष्ठजीको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने राजासे कहा—'पुरुषसिंह! तुम्हारी आज्ञासे राजालोग यहाँ आ गये। नृपश्रेष्ठ! मैंने भी यथायोग्य उन सबका सत्कार किया है ॥

यज्ञियं च कृतं सर्वं पुरुषैः सुसमाहितैः।
निर्यातु च भवान् यष्टुं यज्ञायतनमन्तिकात् ॥ ३७ ॥

'हमारे कार्यकर्ताओंने पूर्णतः सावधान रहकर यज्ञके लिये सारी तैयारी की है। अब तुम भी यज्ञ करनेके लिये यज्ञमण्डपके समीप चलो ॥ ३७ ॥

सर्वकामैरुपहृतैरुपेतं वै समन्ततः।
द्रष्टुमर्हसि राजेन्द्र मनसेव विनिर्मितम् ॥ ३८ ॥

'राजेन्द्र! यज्ञमण्डपमें सब ओर सभी वाञ्छनीय वस्तुएँ एकत्र कर दी गयी हैं। आप स्वयं चलकर देखें। यह मण्डप इतना शीघ्र तैयार किया गया है, मानो मनके संकल्पसे ही बन गया हो' ॥ ३८ ॥

तथा वसिष्ठवचनादृष्यश्रृङ्गस्य चोभयोः।
दिवसे शुभनक्षत्रे निर्यातो जगतीपतिः ॥ ३९ ॥

मुनिवर वसिष्ठ तथा ऋष्यश्रृङ्ग दोनोंके आदेशसे शुभ नक्षत्रवाले दिनको राजा दशरथ यज्ञके लिये राजभवनसे निकले ॥ ३९ ॥

ततो वसिष्ठप्रमुखाः सर्व एव द्विजोत्तमाः।
ऋष्यश्रृङ्गं पुरस्कृत्य यज्ञकर्मारभंस्तदा ॥ ४० ॥
यज्ञवाटं गताः सर्वे यथाशास्त्रं यथाविधि।
श्रीमांश्च सह पत्नीभी राजा दीक्षामुपाविशत् ॥ ४१ ॥

तत्पश्चात् वसिष्ठ आदि सभी श्रेष्ठ द्विजोंने यज्ञमण्डपमें जाकर ऋष्यश्रृङ्गको आगे करके शास्त्रोक्त विधिके अनुसार यज्ञकर्मका आरम्भ किया। पत्नियोंसहित श्रीमान् अवध-नरेशने यज्ञकी दीक्षा ली ॥ ४०-४१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें तेरहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १३ ॥

★

चतुर्दशः सर्गः

महाराज दशरथके द्वारा अश्वमेध यज्ञका साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान

अथ संवत्सरे पूर्णे तस्मिन् प्राप्ते तुरङ्गमे।
सरय्वाश्चोत्तरे तीरे राज्ञो यज्ञोऽभ्यवर्तत॥ १॥

इधर वर्ष पूरा होनेपर यज्ञसम्बन्धी अश्व भूमण्डलमें भ्रमण करके लौट आया। फिर सरयू नदीके उत्तर तटपर राजाका यज्ञ आरम्भ हुआ॥ १॥

ऋष्यशृङ्गं पुरस्कृत्य कर्म चक्रुर्द्विजर्षभाः।
अश्वमेधे महायज्ञे राज्ञोऽस्य सुमहात्मनः॥ २॥

महामनस्वी राजा दशरथके उस अश्वमेध नामक महायज्ञमें ऋष्यशृङ्गको आगे करके श्रेष्ठ ब्राह्मण यज्ञसम्बन्धी कर्म करने लगे॥ २॥

कर्म कुर्वन्ति विधिवद् याजका वेदपारगाः।
यथाविधि यथान्यायं परिक्रामन्ति शास्त्रतः॥ ३॥

यज्ञ करानेवाले सभी ब्राह्मण वेदोंके पारङ्गत विद्वान् थे; अतः वे न्याय तथा विधिके अनुसार सब कर्मोंका उचित रीतिसे सम्पादन करते थे और शास्त्रके अनुसार किस क्रमसे किस समय कौन-सी क्रिया करनी चाहिये, इसको स्मरण रखते हुए प्रत्येक कर्ममें प्रवृत्त होते थे॥ ३॥

प्रवर्ग्यं शास्त्रतः कृत्वा तथैवोपसदं द्विजाः।
चक्रुश्च विधिवत् सर्वमधिकं कर्म शास्त्रतः॥ ४॥

ब्राह्मणोंने प्रवर्ग्य (अश्वमेधके अङ्गभूत कर्मविशेष) का शास्त्र (विधि, मीमांसा और कल्पसूत्र) के अनुसार सम्पादन करके उपसद नामक इष्टि-विशेषका भी शास्त्रके अनुसार ही अनुष्ठान किया। तत्पश्चात् शास्त्रीय उपदेशसे अधिक जो अतिदेशतः प्राप्त कर्म है, उस सबका भी विधिवत् सम्पादन किया॥ ४॥

अभिपूज्य तदा हृष्टाः सर्वे चक्रुर्यथाविधि।
प्रातःसवनपूर्वाणि कर्माणि मुनिपुङ्गवाः॥ ५॥

तदनन्तर तत्तत् कर्मोंके अङ्गभूत देवताओंका पूजन करके हर्षमें भरे हुए उन सभी मुनिवरोंने विधिपूर्वक प्रातःसवन आदि (अर्थात् प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन तथा तृतीय सवन) कर्म किये॥ ५॥

ऐन्द्रश्च विधिवद् दत्तो राजा चाभिषुतोऽनघः।
मध्यन्दिनं च सवनं प्रावर्तत यथाक्रमम्॥ ६॥

इन्द्रदेवताको विधिपूर्वक हविष्यका भाग अर्पित किया गया। पापनिवर्तक राजा सोम (सोमलता)* का रस निकाला गया। फिर क्रमशः माध्यन्दिनसवनका कार्य प्रारम्भ हुआ॥ ६॥

तृतीयसवनं चैव राज्ञोऽस्य सुमहात्मनः।
चक्रुस्ते शास्त्रतो दृष्ट्वा यथा ब्राह्मणपुङ्गवाः॥ ७॥

तत्पश्चात् उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने शास्त्रसे देख-भालकर मनस्वी राजा दशरथके तृतीय सवनकर्मका भी विधिवत् सम्पादन किया॥ ७॥

आह्वयाञ्चक्रिरे तत्र शक्रादीन् विबुधोत्तमान्।
ऋष्यशृङ्गादयो मन्त्रैः शिक्षाक्षरसमन्वितैः॥ ८॥

ऋष्यशृङ्ग आदि महर्षियोंने वहाँ अभ्यासकालमें सीखे गये अक्षरोंसे युक्त—स्वर और वर्णसे सम्पन्न मन्त्रोंद्वारा इन्द्र आदि श्रेष्ठ देवताओंका आवाहन किया॥ ८॥

गतिभिर्मधुरैः स्निग्धैर्मन्त्राह्वानैर्यथार्हतः।
होतारो ददुरावाह्य हविर्भागान् दिवौकसाम्॥ ९॥

मधुर एवं मनोरम सामगानके लयमें गाये हुए आह्वान-मन्त्रोंद्वारा देवताओंका आवाहन करके होताओंने उन्हें उनके योग्य हविष्यके भाग समर्पित किये॥ ९॥

न चाहुतमभूत् तत्र स्खलितं वा न किंचन।
दृश्यते ब्रह्मवत् सर्वं क्षेमयुक्तं हि चक्रिरे॥ १०॥

उस यज्ञमें कोई अयोग्य अथवा विपरीत आहुति नहीं पड़ी। कहीं कोई भूल नहीं हुई—अनजानमें भी कोई कर्म छूटने नहीं पाया; क्योंकि वहाँ सारा कर्म मन्त्रोचारणपूर्वक सम्पन्न होता दिखायी देता था। महर्षियोंने सब कर्म क्षेमयुक्त एवं निर्विघ्न परिपूर्ण किये॥ १०॥

न तेष्वहःसु श्रान्तो वा क्षुधितो वा न दृश्यते।
नाविद्वान् ब्राह्मणः कश्चिन्नाशतानुचरस्तथा॥ ११॥

यज्ञके दिनोंमें कोई भी ऋत्विज् थका-माँदा या भूखा-प्यासा नहीं दिखायी देता था। उसमें कोई भी ब्राह्मण ऐसा नहीं था, जो विद्वान् न हो अथवा जिसके सौसे कम शिष्य या सेवक रहे हों॥ ११॥

ब्राह्मणा भुञ्जते नित्यं नाथवन्तश्च भुञ्जते।
तापसा भुञ्जते चापि श्रमणाश्चैव भुञ्जते॥ १२॥

उस यज्ञमें प्रतिदिन ब्राह्मण भोजन करते थे (क्षत्रिय और वैश्य भी भोजन पाते थे) तथा शूद्रोंको भी भोजन उपलब्ध होता था। तापस और श्रमण भी भोजन करते थे॥

वृद्धाश्च व्याधिताश्चैव स्त्रीबालाश्च तथैव च।
अनिशं भुञ्जमानानां न तृप्तिरुपलभ्यते॥ १३॥

बूढ़े, रोगी, स्त्रियाँ तथा बच्चे भी यथेष्ट भोजन पाते थे। भोजन इतना स्वादिष्ट होता था कि निरन्तर खाते रहनेपर

* इस विषयमें सूत्रकारका वचन है—सोमं राजानं दृषदि निधाय······दृषद्भिरभिहन्यात् अर्थात् 'राजा सोम (सोमलता) को पत्थरपर रखकर·······पत्थरसे कूँचे।

भी किसीका मन नहीं भरता था ॥ १३ ॥

दीयतां दीयतामन्नं वासांसि विविधानि च।
इति संचोदितास्तत्र तथा चक्रुरनेकशः ॥ १४ ॥

'अन्न दो, नाना प्रकारके वस्त्र दो' अधिकारियोंकी ऐसी आज्ञा पाकर कार्यकर्ता लोग बारम्बार वैसा ही करते थे ॥ १४ ॥

अन्नकूटाश्च दृश्यन्ते बहवः पर्वतोपमाः।
दिवसे दिवसे तत्र सिद्धस्य विधिवत् तदा ॥ १५ ॥

वहाँ प्रतिदिन विधिवत् पके हुए अन्नके बहुत-से पर्वतों-जैसे ढेर दिखायी देते थे ॥ १५ ॥

नानादेशादनुप्राप्ताः पुरुषाः स्त्रीगणास्तथा।
अन्नपानैः सुविहितास्तस्मिन् यज्ञे महात्मनः ॥ १६ ॥

महामनस्वी राजा दशरथके उस यज्ञमें नाना देशोंसे आये हुए स्त्री-पुरुष अन्न-पानद्वारा भलीभाँति तृप्त किये गये थे ॥ १६ ॥

अन्नं हि विधिवत्स्वादु प्रशंसन्ति द्विजर्षभाः।
अहो तृप्ताः स्म भद्रं ते इति शुश्राव राघवः ॥ १७ ॥

श्रेष्ठ ब्राह्मण 'भोजन विधिवत् बनाया गया है। बहुत स्वादिष्ट है'—ऐसा कहकर अन्नकी प्रशंसा करते थे। भोजन करके उठे हुए लोगोंके मुखसे राजा सदा यही सुनते थे कि 'हमलोग खूब तृप्त हुए। आपका कल्याण हो' ॥ १७ ॥

स्वलंकृताश्च पुरुषा ब्राह्मणान् पर्यवेषयन्।
उपासन्ते च तानन्ये सुमृष्टमणिकुण्डलाः ॥ १८ ॥

वस्त्र-आभूषणोंसे अलंकृत हुए पुरुष ब्राह्मणोंको भोजन परोसते थे और उन लोगोंकी जो दूसरे लोग सहायता करते थे, उन्होंने भी विशुद्ध मणिमय कुण्डल धारण कर रखे थे ॥ १८ ॥

कर्मान्तरे तदा विप्रा हेतुवादान् बहूनपि।
प्राहुः सुवाग्मिनो धीराः परस्परजिगीषया ॥ १९ ॥

एक सवन समाप्त करके दूसरे सवनके आरम्भ होनेसे पूर्व जो अवकाश मिलता था, उसमें उत्तम वक्ता धीर ब्राह्मण एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छासे बहुतेरे युक्तिवाद उपस्थित करते हुए शास्त्रार्थ करते थे ॥ १९ ॥

दिवसे दिवसे तत्र संस्तरे कुशला द्विजाः।
सर्वकर्माणि चक्रुस्ते यथाशास्त्रं प्रचोदिताः ॥ २० ॥

उस यज्ञमें नियुक्त हुए कर्मकुशल ब्राह्मण प्रतिदिन शास्त्रके अनुसार सब कार्योंका सम्पादन करते थे ॥ २० ॥

नाषडङ्गविदत्रासीन्नाव्रतो नाबहुश्रुतः।
सदस्यास्तस्य वै राज्ञो नावादकुशलो द्विजः ॥ २१ ॥

राजाके उस यज्ञमें कोई भी सदस्य ऐसा नहीं था, जो व्याकरण आदि छहों अङ्गोंका ज्ञाता न हो, जिसने ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन न किया हो तथा जो बहुश्रुत न हो। वहाँ कोई ऐसा द्विज नहीं था, जो वाद-विवादमें कुशल न हो ॥ २१ ॥

प्राप्ते यूपोच्छ्रये तस्मिन् षड् बैल्वाः खादिरास्तथा।
तावन्तो बिल्वसहिताः पर्णिनश्च तथा परे ॥ २२ ॥

जब यूप खड़ा करनेका समय आया, तब बेलकी लकड़ीके छः यूप गाड़े गये। उतने ही खैरके यूप खड़े किये गये तथा पलाशके भी उतने ही यूप थे, जो बिल्वनिर्मित यूपोंके साथ खड़े किये गये थे ॥ २२ ॥

श्लेष्मातकमयो दिष्टो देवदारुमयस्तथा।
द्वावेव तत्र विहितौ बाहुव्यस्तपरिग्रहौ ॥ २३ ॥

बहेड़ेके वृक्षका एक यूप अश्वमेध यज्ञके लिये विहित है। देवदारुके बने हुए यूपका भी विधान है; परंतु उसकी संख्या न एक है न छः। देवदारुके दो ही यूप विहित हैं। दोनों बाँहें फैला देनेपर जितनी दूरी होती है, उतनी ही दूरपर वे दोनों स्थापित किये गये थे ॥ २३ ॥

कारिताः सर्व एवैते शास्त्रज्ञैर्यज्ञकोविदैः।
शोभार्थं तस्य यज्ञस्य काञ्चनालंकृता भवन् ॥ २४ ॥

यज्ञकुशल शास्त्रज्ञ ब्राह्मणोंने ही इन सब यूपोंका निर्माण कराया था। उस यज्ञकी शोभा बढ़ानेके लिये उन सबमें सोना जड़ा गया था ॥ २४ ॥

एकविंशतियूपास्ते एकविंशत्यरत्नयः।
वासोभिरेकविंशद्भिरेकैकं समलंकृताः ॥ २५ ॥

पूर्वोक्त इक्कीस यूप इक्कीस-इक्कीस अरत्नि[1] (पाँच सौ चार अङ्गुल) ऊँचे बनाये गये थे। उन सबको पृथक्-पृथक् इक्कीस कपड़ोंसे अलंकृत किया गया था ॥ २५ ॥

विन्यस्ता विधिवत् सर्वे शिल्पिभिः सुकृता दृढाः।
अष्टास्रयः सर्व एव श्लक्ष्णरूपसमन्विताः ॥ २६ ॥

कारीगरोंद्वारा अच्छी तरह बनाये गये वे सभी सुदृढ़ यूप विधिपूर्वक स्थापित किये गये थे। वे सब-के-सब आठ कोणोंसे सुशोभित थे। उनकी आकृति सुन्दर एवं चिकनी थी ॥ २६ ॥

आच्छादितास्ते वासोभिः पुष्पैर्गन्धैश्च पूजिताः।
सप्तर्षयो दीप्तिमन्तो विराजन्ते यथा दिवि ॥ २७ ॥

उन्हें वस्त्रोंसे ढक दिया गया था और पुष्प-चन्दनसे उनकी पूजा की गयी थी। जैसे आकाशमें तेजस्वी सप्तर्षियोंकी शोभा होती है, उसी प्रकार यज्ञमण्डपमें वे दीप्तिमान् यूप सुशोभित होते थे ॥ २७ ॥

इष्टकाश्च यथान्यायं कारिताश्च प्रमाणतः।
चितोऽग्निर्ब्राह्मणैस्तत्र कुशलैः शिल्पकर्मणि ॥ २८ ॥

---

१. तथा च सूत्रम्—'चतुर्विंशत्यङ्गुलयोऽरत्निः' अर्थात् एक अरत्नि चौबीस अङ्गुलके बराबर होता है।

सूत्रग्रन्थोंमें बताये अनुसार ठीक मापसे ईंटें तैयार करायी गयी थीं। उन ईंटोंके द्वारा यज्ञसम्बन्धी शिल्पिकर्ममें कुशल ब्राह्मणोंने अग्निका चयन किया था॥ २८॥

स चित्यो राजसिंहस्य संचितः कुशलैर्द्विजैः।
गरुडो रुक्मपक्षो वै त्रिगुणोऽष्टादशात्मकः॥ २९॥

राजसिंह महाराज दशरथके यज्ञमें चयनद्वारा सम्पादित अग्निकी कर्मकाण्डकुशल ब्राह्मणोंद्वारा शास्त्रविधिके अनुसार स्थापना की गयी। उस अग्निकी आकृति दोनों पंख और पुच्छ फैलाकर नीचे देखते हुए पूर्वाभिमुख खड़े हुए गरुड़की-सी प्रतीत होती थी। सोनेकी ईंटोंसे पंखका निर्माण होनेसे उस गरुड़के पंख सुवर्णमय दिखायी देते थे। प्रकृत-अवस्थामें चित्य-अग्निके छः प्रस्तार होते हैं; किंतु अश्वमेध यज्ञमें उसका प्रस्तार तीनगुना हो जाता है। इसलिये वह गरुड़ाकृति अग्नि अठारह प्रस्तारोंसे युक्त थी॥ २९॥

नियुक्तास्तत्र पशवस्तत्तदुद्दिश्य दैवतम्।
उरगाः पक्षिणश्चैव यथाशास्त्रं प्रचोदिताः॥ ३०॥

वहाँ पूर्वोक्त यूपोंमें शास्त्रविहित पशु, सर्प और पक्षी विभिन्न देवताओंके उद्देश्यसे बाँधे गये थे॥ ३०॥

शामित्रे तु हयस्तत्र तथा जलचराश्च ये।
ऋषिभिः सर्वमेवैतन्नियुक्तं शास्त्रतस्तदा॥ ३१॥

शामित्र कर्ममें यज्ञिय अश्व तथा कूर्म आदि जलचर जन्तु जो वहाँ लाये गये थे, ऋषियोंने उन सबको शास्त्रविधिके अनुसार पूर्वोक्त यूपोंमें बाँध दिया॥ ३१॥

पशूनां त्रिशतं तत्र यूपेषु नियतं तदा।
अश्वरत्नोत्तमं तत्र राज्ञो दशरथस्य ह॥ ३२॥

उस समय उन यूपोंमें तीन सौ पशु बँधे हुए थे तथा राजा दशरथका वह उत्तम अश्वरत्न भी वहीं बाँधा गया था॥

कौसल्या तं हयं तत्र परिचर्य समन्ततः।
कृपाणैर्विससारैनं त्रिभिः परमया मुदा॥ ३३॥

रानी कौसल्याने वहाँ प्रोक्षण आदिके द्वारा सब ओरसे उस अश्वका संस्कार करके बड़ी प्रसन्नताके साथ तीन तलवारोंसे उसका स्पर्श किया॥ ३३॥

पतत्त्रिणा तदा सार्धं सुस्थितेन च चेतसा।
अवसद् रजनीमेकां कौसल्या धर्मकाम्यया॥ ३४॥

तदनन्तर कौसल्या देवीने सुस्थिर चित्तसे धर्म-पालनकी इच्छा रखकर उस अश्वके निकट एक रात निवास किया॥ ३४॥

होताध्वर्युस्तथोद्गाता हस्तेन समयोजयन्।
महिष्या परिवृत्त्याथ वावातामपरां तथा॥ ३५॥

तत्पश्चात् होता, अध्वर्यु और उद्गाताने राजाकी (क्षत्रिय-जातीय) महिषी 'कौसल्या', (वैश्यजातीय स्त्री) 'वावाता' तथा (शूद्रजातीय स्त्री) 'परिवृत्ति'—इन सबके हाथसे उस अश्वका स्पर्श कराया[1]॥ ३५॥

पतत्त्रिणस्तस्य वपामुद्धृत्य नियतेन्द्रियः।
ऋत्विक्परमसम्पन्नः श्रपयामास शास्त्रतः॥ ३६॥

इसके बाद परम चतुर जितेन्द्रिय ऋत्विक्ने विधि-पूर्वक अश्वकन्दके गूदेको निकालकर शास्त्रोक्त रीतिसे पकाया॥ ३६॥

धूमगन्धं वपायास्तु जिघ्रति स्म नराधिपः।
यथाकालं यथान्यायं निर्णुदन् पापमात्मनः॥ ३७॥

तत्पश्चात् उस गूदेकी आहुति दी गयी। राजा दशरथने अपने पापको दूर करनेके लिये ठीक समयपर आकर विधिपूर्वक उसके धूएँकी गन्धको सूँघा॥ ३७॥

हयस्य यानि चाङ्गानि तानि सर्वाणि ब्राह्मणाः।
अग्नौ प्रास्यन्ति विधिवत् समस्ताः षोडशर्त्विजः॥ ३८॥

उस अश्वमेध यज्ञके अङ्गभूत जो-जो हवनीय पदार्थ थे, उन सबको लेकर समस्त सोलह ऋत्विज् ब्राह्मण अग्निमें विधिवत् आहुति देने लगे॥ ३८॥

प्लक्षशाखासु यज्ञानामन्येषां क्रियते हविः।
अश्वमेधस्य यज्ञस्य वैतसो भाग इष्यते॥ ३९॥

अश्वमेधके अतिरिक्त अन्य यज्ञोंमें जो हवि दी जाती है, वह पाकरकी शाखाओंमें रखकर दी जाती है; परंतु अश्वमेध यज्ञका हविष्य बेंतकी चटाईमें रखकर देनेका नियम है॥ ३९॥

त्र्यहोऽश्वमेधः संख्यातः कल्पसूत्रेण ब्राह्मणैः।
चतुष्टोममहस्तस्य प्रथमं परिकल्पितम्॥ ४०॥
उक्थ्यं द्वितीयं संख्यातमतिरात्रं तथोत्तरम्।
कारितास्तत्र बहवो विहिताः शास्त्रदर्शनात्॥ ४१॥

कल्पसूत्र और ब्राह्मणग्रन्थोंके द्वारा अश्वमेधके तीन सवनीय दिन बताये गये हैं। उनमेंसे प्रथम दिन जो सवन होता है, उसे चतुष्टोम ('अग्निष्टोम') कहा गया है। द्वितीय दिवस साध्य सवनको 'उक्थ्य' नाम दिया गया है तथा तीसरे दिन जिस सवनका अनुष्ठान होता है, उसे 'अतिरात्र' कहते हैं। उसमें शास्त्रीय दृष्टिसे विहित बहुत-से दूसरे-दूसरे क्रतु भी सम्पन्न किये गये॥ ४०-४१॥

ज्योतिष्टोमायुषी चैवमतिरात्रौ च निर्मितौ।
अभिजिद्विश्वजिच्चैवमाप्तोर्यामो महाक्रतुः॥ ४२॥

ज्योतिष्टोम, आयुष्टोम यज्ञ, दो बार अतिरात्र यज्ञ, पाँचवाँ अभिजित्, छठा विश्वजित् तथा सातवें-आठवें आप्तोर्याम—ये सब-के-सब महाक्रतु माने गये हैं, जो

---

१. जातिके अनुसार नाम अलग-अलग होते हैं। दशरथके तो कौसल्या, कैकेयी और सुमित्रा तीनों क्षत्रिय जातिकी ही थीं।

अश्वमेधके उत्तर कालमें सम्पादित हुए॥ ४२॥

प्राचीं होत्रे ददौ राजा दिशं स्वकुलवर्धनः।
अध्वर्यवे प्रतीचीं तु ब्रह्मणे दक्षिणां दिशम्॥ ४३॥

अपने कुलकी वृद्धि करनेवाले राजा दशरथने यज्ञ पूर्ण होनेपर होताको दक्षिणारूपमें अयोध्यासे पूर्व दिशाका सारा राज्य सौंप दिया, अध्वर्युको पश्चिम दिशा तथा ब्रह्माको दक्षिण दिशाका राज्य दे दिया॥ ४३॥

उद्गात्रे तु तथोदीचीं दक्षिणैषा विनिर्मिता।
अश्वमेधे महायज्ञे स्वयंभूविहिते पुरा॥ ४४॥

इसी तरह उद्गाताको उत्तर दिशाकी सारी भूमि दे दी। पूर्वकालमें भगवान् ब्रह्माजीने जिसका अनुष्ठान किया था, उस अश्वमेध नामक महायज्ञमें ऐसी ही दक्षिणाका विधान किया गया है* ॥ ४४॥

क्रतुं समाप्य तु तदा न्यायतः पुरुषर्षभः।
ऋत्विग्भ्यो हि ददौ राजा धरां तां कुलवर्धनः॥ ४५॥

इस प्रकार विधिपूर्वक यज्ञ समाप्त करके अपने कुलकी वृद्धि करनेवाले पुरुषशिरोमणि राजा दशरथने ऋत्विजोंको सारी पृथ्वी दान कर दी॥ ४५॥

एवं दत्त्वा प्रहृष्टोऽभूच्छ्रीमानिक्ष्वाकुनन्दनः।
ऋत्विजस्त्वब्रुवन् सर्वे राजानं गतकिल्बिषम्॥ ४६॥

यों दान देकर इक्ष्वाकुकुलनन्दन श्रीमान् महाराज दशरथके हर्षकी सीमा न रही, परंतु समस्त ऋत्विज् उन निष्पाप नरेशसे इस प्रकार बोले— ॥ ४६॥

भवानेव महीं कृत्स्नामेको रक्षितुमर्हति।
न भूम्या कार्यमस्माकं नहि शक्ताः स्म पालने॥ ४७॥

'महाराज! अकेले आप ही इस सम्पूर्ण पृथ्वीकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं। हममें इसके पालनकी शक्ति नहीं है; अतः भूमिसे हमारा कोई प्रयोजन नहीं है॥ ४७॥

रताः स्वाध्यायकरणे वयं नित्यं हि भूमिप।
निष्क्रयं किञ्चिदेवेह प्रयच्छतु भवानिति॥ ४८॥

'भूमिपाल! हम तो सदा वेदोंके स्वाध्यायमें ही लगे रहते हैं (इस भूमिका पालन हमसे नहीं हो सकता); अतः आप हमें यहाँ इस भूमिका कुछ निष्क्रय (मूल्य) ही दे दें॥ ४८॥

मणिरत्नं सुवर्णं वा गावो यद्वा समुद्यतम्।
तत् प्रयच्छ नृपश्रेष्ठ धरण्या न प्रयोजनम्॥ ४९॥

'नृपश्रेष्ठ! मणि, रत्न, सुवर्ण, गौ अथवा जो भी वस्तु यहाँ उपस्थित हो, वही हमें दक्षिणारूपसे दे दीजिये। इस धरतीसे हमें कोई प्रयोजन नहीं है'॥ ४९॥

एवमुक्तो नरपतिर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः।
गवां शतसहस्राणि दश तेभ्यो ददौ नृपः॥ ५०॥
दशकोटिं सुवर्णस्य रजतस्य चतुर्गुणम्।

वेदोंके पारगामी विद्वान् ब्राह्मणोंके ऐसा कहनेपर राजाने उन्हें दस लाख गौएँ प्रदान कीं। दस करोड़ स्वर्णमुद्रा तथा उससे चौगुनी रजतमुद्रा अर्पित की॥ ५०½॥

ऋत्विजस्तु ततः सर्वे प्रददुः सहिता वसु॥ ५१॥
ऋष्यशृङ्गाय मुनये वसिष्ठाय च धीमते।

तब उन समस्त ऋत्विजोंने एक साथ होकर वह सारा धन मुनिवर ऋष्यशृङ्ग तथा बुद्धिमान् वसिष्ठको सौंप दिया॥

ततस्ते न्यायतः कृत्वा प्रविभागं द्विजोत्तमाः॥ ५२॥
सुप्रीतमनसः सर्वे प्रत्यूचुर्मुदिता भृशम्।

तदनन्तर उन दोनों महर्षियोंके सहयोगसे उस धनका न्यायपूर्वक बँटवारा करके वे सभी श्रेष्ठ ब्राह्मण मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए और बोले—महाराज! इस दक्षिणासे हम-लोग बहुत संतुष्ट हैं॥ ५२½॥

ततः प्रसर्पकेभ्यस्तु हिरण्यं सुसमाहितः॥ ५३॥
जाम्बूनदं कोटिसंख्यं ब्राह्मणेभ्यो ददौ तदा।

इसके बाद एकाग्रचित्त होकर राजा दशरथने अभ्यागत ब्राह्मणोंको एक करोड़ जाम्बूनद सुवर्णकी मुद्राएँ बाँटीं॥

दरिद्राय द्विजायाथ हस्ताभरणमुत्तमम्॥ ५४॥
कस्मैचिद् याचमानाय ददौ राघवनन्दनः।

[सारा धन दे देनेके बाद जब कुछ नहीं बच रहा, तब] एक दरिद्र ब्राह्मणने आकर राजासे धनकी याचना की। उस समय उन रघुकुलनन्दन नरेशने उसे अपने हाथका उत्तम आभूषण उतारकर दे दिया॥ ५४½॥

ततः प्रीतेषु विधिवद् द्विजेषु द्विजवत्सलः॥ ५५॥
प्रणाममकरोत् तेषां हर्षव्याकुलितेन्द्रियः।

तत्पश्चात् जब सभी ब्राह्मण विधिवत् संतुष्ट हो गये, उस समय उनपर स्नेह रखनेवाले नरेशने उन सबको प्रणाम किया। प्रणाम करते समय उनकी सारी इन्द्रियाँ हर्षसे विह्वल हो रही थीं॥ ५५½॥

तस्याशिषोऽथ विविधा ब्राह्मणैः समुदाहृताः॥ ५६॥
उदारस्य नृवीरस्य धरण्यां पतितस्य च।

पृथ्वीपर पड़े हुए उन उदार नरवीरको ब्राह्मणोंने नाना प्रकारके आशीर्वाद दिये॥ ५६½॥

ततः प्रीतमना राजा प्राप्य यज्ञमनुत्तमम्॥ ५७॥
पापापहं स्वर्नयनं दुस्तरं पार्थिवर्षभैः।

तदनन्तर उस परम उत्तम यज्ञका पुण्यफल पाकर राजा

---

* 'प्रजापतिरश्वमेधमसृजत (प्रजापतिने अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान किया।)' इस श्रुतिके द्वारा यह सूचित होता है कि पूर्वकालमें ब्रह्माजीने इस महायज्ञका अनुष्ठान किया था। इसमें दक्षिणारूपसे प्रत्येक दिशाके दानका विधान कल्पसूत्रद्वारा किया गया है। यथा—'प्रतिदिशं दक्षिणा ददाति प्राचीं होतुर्दक्षिणा ब्रह्मणः प्रतीच्यध्वर्योरुदीच्युद्गातुः'॥

दशरथके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई। वह यज्ञ उनके सब पापोंका नाश करनेवाला तथा उन्हें स्वर्गलोकमें पहुँचानेवाला था। साधारण राजाओंके लिये उस यज्ञको आदिसे अन्ततक पूर्ण कर लेना बहुत ही कठिन था॥ ५७½॥

ततोऽब्रवीदृष्यशृङ्गं राजा दशरथस्तदा॥ ५८॥
कुलस्य वर्धनं तत् तु कर्तुमर्हसि सुव्रत।

यज्ञ समाप्त होनेपर राजा दशरथने ऋष्यशृङ्गसे कहा—'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले मुनीश्वर! अब जो कर्म मेरी कुलपरम्पराको बढ़ानेवाला हो, उसका सम्पादन आपको करना चाहिये'॥ ५८½॥

तथेति च स राजानमुवाच द्विजसत्तमः।
भविष्यन्ति सुता राजंश्चत्वारस्ते कुलोद्वहाः॥ ५९॥

तब द्विजश्रेष्ठ ऋष्यशृङ्ग 'तथास्तु' कहकर राजासे बोले—'राजन्! आपके चार पुत्र होंगे, जो इस कुलके भारको वहन करनेमें समर्थ होंगे'॥ ५९॥

स तस्य वाक्यं मधुरं निशम्य
प्रणम्य तस्मै प्रयतो नृपेन्द्रः।
जगाम हर्षं परमं महात्मा
तमृष्यशृङ्गं पुनरप्युवाच॥ ६०॥

उनका यह मधुर वचन सुनकर मन और इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाले महामना महाराज दशरथ उन्हें प्रणाम करके बड़े हर्षको प्राप्त हुए तथा उन्होंने ऋष्यशृङ्गको पुनः पुत्रप्राप्ति करानेवाले कर्मका अनुष्ठान करनेके लिये प्रेरित किया॥ ६०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे चतुर्दशः सर्गः॥ १४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें चौदहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १४॥

—★—

पञ्चदशः सर्गः

ऋष्यशृङ्गद्वारा राजा दशरथके पुत्रेष्टि यज्ञका आरम्भ, देवताओंकी प्रार्थनासे ब्रह्माजीका रावणके वधका उपाय ढूँढ़ निकालना तथा भगवान् विष्णुका देवताओंको आश्वासन देना

मेधावी तु ततो ध्यात्वा स किंचिदिदमुत्तरम्।
लब्धसंज्ञस्ततस्तं तु वेदज्ञो नृपमब्रवीत्॥ १॥

महात्मा ऋष्यशृङ्ग बड़े मेधावी और वेदोंके ज्ञाता थे। उन्होंने थोड़ी देरतक ध्यान लगाकर अपने भावी कर्तव्यका निश्चय किया। फिर ध्यानसे विरत हो वे राजासे इस प्रकार बोले—॥ १॥

इष्टिं तेऽहं करिष्यामि पुत्रीयां पुत्रकारणात्।
अथर्वशिरसि प्रोक्तैर्मन्त्रैः सिद्धां विधानतः॥ २॥

'महाराज! मैं आपको पुत्रकी प्राप्ति करानेके लिये अथर्ववेदके मन्त्रोंसे पुत्रेष्टि नामक यज्ञ करूँगा। वेदोक्त विधिके अनुसार अनुष्ठान करनेपर वह यज्ञ अवश्य सफल होगा'॥ २॥

ततः प्राक्रमदिष्टिं तां पुत्रीयां पुत्रकारणात्।
जुहावाग्नौ च तेजस्वी मन्त्रदृष्टेन कर्मणा॥ ३॥

यह कहकर उन तेजस्वी ऋषिने पुत्रप्राप्तिके उद्देश्यसे पुत्रेष्टि नामक यज्ञ प्रारम्भ किया और श्रौतविधिके अनुसार अग्निमें आहुति डाली॥ ३॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः।
भागप्रतिग्रहार्थं वै समवेता यथाविधि॥ ४॥

तब देवता, सिद्ध, गन्धर्व और महर्षिगण विधिके अनुसार अपना-अपना भाग ग्रहण करनेके लिये उस यज्ञमें एकत्र हुए॥ ४॥

ताः समेत्य यथान्यायं तस्मिन् सदसि देवताः।
अब्रुवँल्लोककर्तारं ब्रह्माणं वचनं ततः॥ ५॥

उस यज्ञ-सभामें क्रमशः एकत्र होकर (दूसरोंकी दृष्टिसे अदृश्य रहते हुए) सब देवता लोककर्ता ब्रह्माजीसे इस प्रकार बोले—॥ ५॥

भगवंस्त्वत्प्रसादेन रावणो नाम राक्षसः।
सर्वान् नो बाधते वीर्याच्छासितुं तं न शक्नुमः॥ ६॥

'भगवन्! रावण नामक राक्षस आपका कृपाप्रसाद पाकर अपने बलसे हम सब लोगोंको बड़ा कष्ट दे रहा है। हममें इतनी शक्ति नहीं है कि अपने पराक्रमसे उसको दबा सकें॥ ६॥

त्वया तस्मै वरो दत्तः प्रीतेन भगवंस्तदा।
मानयन्तश्च तं नित्यं सर्वं तस्य क्षमामहे॥ ७॥

'प्रभो! आपने प्रसन्न होकर उसे वर दे दिया है। तबसे हमलोग उस वरका सदा समादर करते हुए उसके सारे अपराधोंको सहते चले आ रहे हैं॥ ७॥

उद्वेजयति लोकांस्त्रीनुच्छ्रितान् द्वेष्टि दुर्मतिः।
शक्रं त्रिदशराजानं प्रधर्षयितुमिच्छति॥ ८॥

'उसने तीनों लोकोंके प्राणियोंका नाकों दम कर रखा है। वह दुष्टात्मा जिनको कुछ ऊँची स्थितिमें देखता है, उन्हींके साथ द्वेष करने लगता है। देवराज इन्द्रको परास्त करनेकी अभिलाषा रखता है॥ ८॥

ऋषीन् यक्षान् सगन्धर्वान् ब्राह्मणानसुरांस्तदा।
अतिक्रामति दुर्धर्षो वरदानेन मोहितः॥ ९॥

'आपके वरदानसे मोहित होकर वह इतना उद्दण्ड हो गया है कि ऋषियों, यक्षों, गन्धर्वों, असुरों तथा ब्राह्मणोंको

पीड़ा देता और उनका अपमान करता फिरता है ॥ ९ ॥

नैनं सूर्यः प्रतपति पार्श्वे वाति न मारुतः।
चलोर्मिमाली तं दृष्ट्वा समुद्रोऽपि न कम्पते ॥ १० ॥

'सूर्य उसको ताप नहीं पहुँचा सकते। वायु उसके पास जोरसे नहीं चलती तथा जिसकी उत्ताल तरङ्गें सदा ऊपर-नीचे होती रहती हैं, वह समुद्र भी रावणको देखकर भयके मारे स्तब्ध-सा हो जाता है—उसमें कम्पन नहीं होता ॥ १० ॥

तन्महन्नो भयं तस्माद् राक्षसाद् घोरदर्शनात्।
वधार्थं तस्य भगवन्नुपायं कर्तुमर्हसि ॥ ११ ॥

'यह राक्षस देखनेमें भी बड़ा भयंकर है। उससे हमें महान् भय प्राप्त हो रहा है; अतः भगवन्! उसके वधके लिये आपको कोई-न-कोई उपाय अवश्य करना चाहिये' ॥ ११ ॥

एवमुक्तः सुरैः सर्वैश्चिन्तयित्वा ततोऽब्रवीत्।
हन्तायं विदितस्तस्य वधोपायो दुरात्मनः ॥ १२ ॥
तेन गन्धर्वयक्षाणां देवतानां च रक्षसाम्।
अवध्योऽस्मीति वागुक्ता तथेत्युक्तं च तन्मया ॥ १३ ॥

समस्त देवताओंके ऐसा कहनेपर ब्रह्माजी कुछ सोचकर बोले—'देवताओ! लो, उस दुरात्माके वधका उपाय मेरी समझमें आ गया। उसने वर माँगते समय यह बात कही थी कि मैं गन्धर्व, यक्ष, देवता तथा राक्षसोंके हाथसे न मारा जाऊँ। मैंने भी 'तथास्तु' कहकर उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली ॥ १२-१३ ॥

नाकीर्तयदवज्ञानात् तद् रक्षो मानुषांस्तदा।
तस्मात् स मानुषाद् वध्यो मृत्युर्नान्योऽस्य विद्यते ॥ १४ ॥

'मनुष्योंको तो वह तुच्छ समझता था, इसलिये उनके प्रति अवहेलना होनेके कारण उनसे अवध्य होनेका वरदान नहीं माँगा। इसलिये अब मनुष्यके हाथसे ही उसका वध होगा। मनुष्यके सिवा दूसरा कोई उसकी मृत्युका कारण नहीं है' ॥ १४ ॥

एतच्छ्रुत्वा प्रियं वाक्यं ब्रह्मणा समुदाहृतम्।
देवा महर्षयः सर्वे प्रहृष्टास्तेऽभवंस्तदा ॥ १५ ॥

ब्रह्माजीकी कही हुई यह प्रिय बात सुनकर उस समय समस्त देवता और महर्षि बड़े प्रसन्न हुए ॥ १५ ॥

एतस्मिन्नन्तरे विष्णुरुपयातो महाद्युतिः।
शङ्खचक्रगदापाणिः पीतवासा जगत्पतिः ॥ १६ ॥
वैनतेयं समारुह्य भास्करस्तोयदं यथा।
तप्तहाटककेयूरो वन्द्यमानः सुरोत्तमैः ॥ १७ ॥
ब्रह्मणा च समागत्य तत्र तस्थौ समाहितः।

इसी समय महान् तेजस्वी जगत्पति भगवान् विष्णु भी मेघके ऊपर स्थित हुए सूर्यकी भाँति गरुड़पर सवार हो वहाँ आ पहुँचे। उनके शरीरपर पीताम्बर और हाथोंमें शङ्ख, चक्र एवं गदा आदि आयुध शोभा पा रहे थे। उनकी दोनों भुजाओंमें तपाये हुए सुवर्णके बने केयूर प्रकाशित हो रहे थे। उस समय सम्पूर्ण देवताओंने उनकी वन्दना की और वे ब्रह्माजीसे मिलकर सावधानीके साथ सभामें विराजमान हो गये ॥ १६-१७½ ॥

तमब्रुवन् सुराः सर्वे समभिष्टूय संनताः ॥ १८ ॥
त्वां नियोक्ष्यामहे विष्णो लोकानां हितकाम्यया।

तब समस्त देवताओंने विनीत भावसे उनकी स्तुति करके कहा—'सर्वव्यापी परमेश्वर! हम तीनों लोकोंके हितकी कामनासे आपके ऊपर एक महान् कार्यका भार दे रहे हैं ॥ १८ ॥

राज्ञो दशरथस्य त्वमयोध्याधिपतेर्विभो ॥ १९ ॥
धर्मज्ञस्य वदान्यस्य महर्षिसमतेजसः।
अस्य भार्यासु तिसृषु ह्रीश्रीकीर्त्युपमासु च ॥ २० ॥
विष्णो पुत्रत्वमागच्छ कृत्वाऽऽत्मानं चतुर्विधम्।
तत्र त्वं मानुषो भूत्वा प्रवृद्धं लोककण्टकम् ॥ २१ ॥
अवध्यं दैवतैर्विष्णो समरे जहि रावणम्।

'प्रभो! अयोध्याके राजा दशरथ धर्मज्ञ, उदार तथा महर्षियोंके समान तेजस्वी हैं। उनके तीन रानियाँ हैं, जो ह्री, श्री और कीर्ति—इन तीन देवियोंके समान हैं। विष्णुदेव! आप अपने चार स्वरूप बनाकर राजाकी उन तीनों रानियोंके गर्भसे पुत्ररूपमें अवतार ग्रहण कीजिये। इस प्रकार मनुष्यरूपमें प्रकट होकर आप संसारके लिये प्रबल कण्टकरूप रावणको, जो देवताओंके लिये अवध्य है, समरभूमिमें मार डालिये ॥ १९—२१½ ॥

स हि देवान् सगन्धर्वान् सिद्धांश्च ऋषिसत्तमान् ॥ २२ ॥
राक्षसो रावणो मूर्खो वीर्योद्रेकेण बाधते।

'वह मूर्ख राक्षस रावण अपने बढ़े हुए पराक्रमसे देवता, गन्धर्व, सिद्ध तथा श्रेष्ठ महर्षियोंको बहुत कष्ट दे रहा है ॥ २२½ ॥

ऋषयश्च ततस्तेन गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥ २३ ॥
क्रीडन्तो नन्दनवने रौद्रेण विनिपातिताः।

'उस रौद्र निशाचरने ऋषियोंको तथा नन्दनवनमें क्रीड़ा करनेवाले गन्धर्वों और अप्सराओंको भी स्वर्गसे भूमिपर गिरा दिया है ॥ २३½ ॥

वधार्थं वयमायातास्तस्य वै मुनिभिः सह ॥ २४ ॥
सिद्धगन्धर्वयक्षाश्च ततस्त्वां शरणं गताः।

'इसलिये मुनियोंसहित हम सब सिद्ध, गन्धर्व, यक्ष तथा देवता उसके वधके लिये आपकी शरणमें आये हैं ॥ २४½ ॥

त्वं गतिः परमा देव सर्वेषां नः परंतप ॥ २५ ॥
वधाय देवशत्रूणां नृणां लोके मनः कुरु।

'शत्रुओंको संताप देनेवाले देव! आप ही हम सब लोगोंकी परमगति हैं, अतः इन देवद्रोहियोंका वध करनेके लिये आप मनुष्यलोकमें अवतार लेनेका निश्चय कीजिये' ॥ २५½ ॥

एवं स्तुतस्तु देवेशो विष्णुस्त्रिदशपुंगवः ॥ २६ ॥
पितामहपुरोगांस्तान् सर्वलोकनमस्कृतः ।
अब्रवीत् त्रिदशान् सर्वान् समेतान् धर्मसंहितान् ॥ २७ ॥

उनके इस प्रकार स्तुति करनेपर सर्वलोकवन्दित देवप्रवर देवाधिदेव भगवान् विष्णुने वहाँ एकत्र हुए उन समस्त ब्रह्मा आदि धर्मपरायण देवताओंसे कहा— ॥ २६-२७ ॥

भयं त्यजत भद्रं वो हितार्थं युधि रावणम् ।
सपुत्रपौत्रं सामात्यं समन्त्रिज्ञातिबान्धवम् ॥ २८ ॥
हत्वा क्रूरं दुराधर्षं देवर्षीणां भयावहम् ।
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ॥ २९ ॥
वत्स्यामि मानुषे लोके पालयन् पृथिवीमिमाम् ।

'देवगण ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम भयको त्याग दो। मैं तुम्हारा हित करनेके लिये रावणको पुत्र, पौत्र, अमात्य, मन्त्री और बन्धु-बान्धवोंसहित युद्धमें मार डालूँगा। देवताओं तथा ऋषियोंको भय देनेवाले उस क्रूर एवं दुर्धर्ष राक्षसका नाश करके मैं ग्यारह हजार वर्षोंतक इस पृथ्वीका पालन करता हुआ मनुष्यलोकमें निवास करूँगा' ॥ २८-२९½ ॥

एवं दत्त्वा वरं देवो देवानां विष्णुरात्मवान् ॥ ३० ॥
मानुष्ये चिन्तयामास जन्मभूमिमथात्मनः ।

देवताओंको ऐसा वर देकर मनस्वी भगवान् विष्णुने मनुष्यलोकमें पहले अपनी जन्मभूमिके सम्बन्धमें विचार किया ॥ ३०½ ॥

ततः पद्मपलाशाक्षः कृत्वाऽऽत्मानं चतुर्विधम् ॥ ३१ ॥
पितरं रोचयामास तदा दशरथं नृपम् ।

इसके बाद कमलनयन श्रीहरिने अपनेको चार स्वरूपोंमें प्रकट करके राजा दशरथको पिता बनानेका निश्चय किया ॥

ततो देवर्षिगन्धर्वाः सरुद्राः साप्सरोगणाः ।
स्तुतिभिर्दिव्यरूपाभिस्तुष्टुवुर्मधुसूदनम् ॥ ३२ ॥

तब देवता, ऋषि, गन्धर्व, रुद्र तथा अप्सराओंने दिव्य स्तुतियोंके द्वारा भगवान् मधुसूदनका स्तवन किया ॥ ३२ ॥

तमुद्धतं रावणमुग्रतेजसं
प्रवृद्धदर्पं त्रिदशेश्वरद्विषम् ।
विरावणं साधुतपस्विकण्टकं
तपस्विनामुद्धर तं भयावहम् ॥ ३३ ॥

वे कहने लगे—'प्रभो ! रावण बड़ा उद्दण्ड है। उसका तेज अत्यन्त उग्र और घमण्ड बहुत बढ़ा-चढ़ा है। वह देवराज इन्द्रसे सदा द्वेष रखता है। तीनों लोकोंको रुलाता है, साधुओं और तपस्वी जनोंके लिये तो वह बहुत बड़ा कण्टक है; अतः तापसोंको भय देनेवाले उस भयानक राक्षसकी आप जड़ उखाड़ डालिये ॥ ३३ ॥

तमेव हत्वा सबलं सबान्धवं
विरावणं रावणमुग्रपौरुषम् ।
स्वर्लोकमागच्छ गतज्वरश्चिरं
सुरेन्द्रगुप्तं गतदोषकल्मषम् ॥ ३४ ॥

'उपेन्द्र ! सारे जगत्‌को रुलानेवाले उस उग्र पराक्रमी रावणको सेना और बन्धु-बान्धवोंसहित नष्ट करके अपनी स्वाभाविक निश्चिन्तताके साथ अपने ही द्वारा सुरक्षित उस चिरन्तन वैकुण्ठधाममें आ जाइये; जिसे राग-द्वेष आदि दोषोंका कलुष कभी छू नहीं पाता है' ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें पंद्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १५ ॥

षोडशः सर्गः

देवताओंका श्रीहरिसे रावणवधके लिये मनुष्यरूपमें अवतीर्ण होनेको कहना, राजाके पुत्रेष्टि यज्ञमें अग्निकुण्डसे प्राजापत्य पुरुषका प्रकट होकर खीर अर्पण करना और उसे खाकर रानियोंका गर्भवती होना

ततो नारायणो विष्णुर्नियुक्तः सुरसत्तमैः ।
जानन्नपि सुरानेवं श्लक्ष्णं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

तदनन्तर उन श्रेष्ठ देवताओंद्वारा इस प्रकार रावणवधके लिये नियुक्त होनेपर सर्वव्यापी नारायणने रावणवधके उपायको जानते हुए भी देवताओंसे यह मधुर वचन कहा— ॥ १ ॥

उपायः को वधे तस्य राक्षसाधिपतेः सुराः ।
यमहं तं समास्थाय निहन्यामृषिकण्टकम् ॥ २ ॥

'देवगण ! राक्षसराज रावणके वधके लिये कौन-सा उपाय है, जिसका आश्रय लेकर मैं महर्षियोंके लिये कण्टकरूप उस निशाचरका वध करूँ ?' ॥ २ ॥

एवमुक्ताः सुराः सर्वे प्रत्यूचुर्विष्णुमव्ययम् ।
मानुषं रूपमास्थाय रावणं जहि संयुगे ॥ ३ ॥

उनके इस तरह पूछनेपर सब देवता उन अविनाशी भगवान् विष्णुसे बोले—'प्रभो ! आप मनुष्यका रूप धारण करके युद्धमें रावणको मार डालिये ॥ ३ ॥

स हि तेपे तपस्तीव्रं दीर्घकालमरिंदमः ।
येन तुष्टोऽभवद् ब्रह्मा लोककृल्लोकपूर्वजः ॥ ४ ॥

'उस शत्रुदमन निशाचरने दीर्घकालतक तीव्र तपस्या की थी, जिससे सब लोगोंके पूर्वज लोकस्रष्टा ब्रह्माजी उसपर प्रसन्न हो गये ॥ ४ ॥

**संतुष्टः प्रददौ तस्मै राक्षसाय वरं प्रभुः।
नानाविधेभ्यो भूतेभ्यो भयं नान्यत्र मानुषात्॥ ५॥**

'उसपर संतुष्ट हुए भगवान् ब्रह्माने उस राक्षसको यह वर दिया कि तुम्हें नाना प्रकारके प्राणियोंमेंसे मनुष्यके सिवा और किसीसे भय नहीं है॥ ५॥

**अवज्ञाताः पुरा तेन वरदाने हि मानवाः।
एवं पितामहात् तस्माद् वरदानेन गर्वितः॥ ६॥**

'पूर्वकालमें वरदान लेते समय उस राक्षसने मनुष्योंको दुर्बल समझकर उनकी अवहेलना कर दी थी। इस प्रकार पितामहसे मिले हुए वरदानके कारण उसका घमण्ड बढ़ गया है॥ ६॥

**उत्सादयति लोकांस्त्रीन् स्त्रियश्चाप्युपकर्षति।
तस्मात् तस्य वधो दृष्टो मानुषेभ्यः परंतप॥ ७॥**

'शत्रुओंको संताप देनेवाले देव! वह तीनों लोकोंको पीड़ा देता और स्त्रियोंका भी अपहरण कर लेता है; अतः उसका वध मनुष्यके हाथसे ही निश्चित हुआ है'॥ ७॥

**इत्येतद् वचनं श्रुत्वा सुराणां विष्णुरात्मवान्।
पितरं रोचयामास तदा दशरथं नृपम्॥ ८॥**

समस्त जीवात्माओंको वशमें रखनेवाले भगवान् विष्णुने देवताओंकी यह बात सुनकर अवतारकालमें राजा दशरथको ही पिता बनानेकी इच्छा की॥ ८॥

**स चाप्यपुत्रो नृपतिस्तस्मिन् काले महाद्युतिः।
अयजत् पुत्रियामिष्टिं पुत्रेप्सुररिसूदनः॥ ९॥**

उसी समय वे शत्रुसूदन महातेजस्वी नरेश पुत्रहीन होनेके कारण पुत्रप्राप्तिकी इच्छासे पुत्रेष्टि यज्ञ कर रहे थे॥ ९॥

**स कृत्वा निश्चयं विष्णुरामन्त्र्य च पितामहम्।
अन्तर्धानं गतो देवैः पूज्यमानो महर्षिभिः॥ १०॥**

उन्हें पिता बनानेका निश्चय करके भगवान् विष्णु पितामहकी अनुमति ले देवताओं और महर्षियोंसे पूजित हो वहाँसे अन्तर्धान हो गये॥ १०॥

**ततो वै यजमानस्य पावकादतुलप्रभम्।
प्रादुर्भूतं महद् भूतं महावीर्यं महाबलम्॥ ११॥**

तत्पश्चात् पुत्रेष्टि यज्ञ करते हुए राजा दशरथके यज्ञमें अग्निकुण्डसे एक विशालकाय पुरुष प्रकट हुआ। उसके शरीरमें इतना प्रकाश था, जिसकी कहीं तुलना नहीं थी। उसका बल-पराक्रम महान् था॥ ११॥

**कृष्णं रक्ताम्बरधरं रक्तास्यं दुन्दुभिस्वनम्।
स्निग्धहर्यक्षतनुजश्मश्रुप्रवरमूर्धजम्॥ १२॥**

उसकी अङ्गकान्ति काले रंगकी थी। उसने अपने शरीरपर लाल वस्त्र धारण कर रखा था। उसका मुख भी लाल ही था। उसकी वाणीसे दुन्दुभिके समान गम्भीर ध्वनि प्रकट होती थी। उसके रोम, दाढ़ी-मूँछ और बड़े-बड़े केश चिकने और सिंहके समान थे॥ १२॥

**शुभलक्षणसम्पन्नं दिव्याभरणभूषितम्।
शैलशृङ्गसमुत्सेधं दृप्तशार्दूलविक्रमम्॥ १३॥**

वह शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न, दिव्य आभूषणोंसे विभूषित, शैलशिखरके समान ऊँचा तथा गर्वीले सिंहके समान चलनेवाला था॥ १३॥

**दिवाकरसमाकारं दीप्तानलशिखोपमम्।
तप्तजाम्बूनदमयीं राजतान्तपरिच्छदाम्॥ १४॥
दिव्यपायससम्पूर्णां पात्रीं पत्नीमिव प्रियाम्।
प्रगृह्य विपुलां दोर्भ्यां स्वयं मायामयीमिव॥ १५॥**

उसकी आकृति सूर्यके समान तेजोमयी थी। वह प्रज्वलित अग्निकी लपटोंके समान देदीप्यमान हो रहा था। उसके हाथमें तपाये हुए जाम्बूनद नामक सुवर्णकी बनी हुई परात थी, जो चाँदीके ढक्कनसे ढँकी हुई थी। वह (परात) थाली बहुत बड़ी थी और दिव्य खीरसे भरी हुई थी। उसे उस पुरुषने स्वयं अपनी दोनों भुजाओंपर इस तरह उठा रखा था, मानो कोई रसिक अपनी प्रियतमा पत्नीको अङ्कमें लिये हुए हो। वह अद्भुत परात मायामयी-सी जान पड़ती थी॥ १४-१५॥

**समवेक्ष्याब्रवीद् वाक्यमिदं दशरथं नृपम्।
प्राजापत्यं नरं विद्धि मामिहाभ्यागतं नृप॥ १६॥**

उसने राजा दशरथकी ओर देखकर कहा—'नरेश्वर! मुझे प्रजापतिलोकका पुरुष जानो। मैं प्रजापतिकी ही आज्ञासे यहाँ आया हूँ'॥ १६॥

**ततः परं तदा राजा प्रत्युवाच कृताञ्जलिः।
भगवन् स्वागतं तेऽस्तु किमहं करवाणि ते॥ १७॥**

तब राजा दशरथने हाथ जोड़कर उससे कहा—'भगवन्! आपका स्वागत है। कहिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?'॥ १७॥

**अथो पुनरिदं वाक्यं प्राजापत्यो नरोऽब्रवीत्।
राजन्नर्चयता देवानद्य प्राप्तमिदं त्वया॥ १८॥**

फिर उस प्राजापत्य पुरुषने पुनः यह बात कही—'राजन्! तुम देवताओंकी आराधना करते हो; इसीलिये तुम्हें आज यह वस्तु प्राप्त हुई है॥ १८॥

**इदं तु नृपशार्दूल पायसं देवनिर्मितम्।
प्रजाकरं गृहाण त्वं धन्यमारोग्यवर्धनम्॥ १९॥**

'नृपश्रेष्ठ! यह देवताओंकी बनायी हुई खीर है, जो संतानकी प्राप्ति करानेवाली है। तुम इसे ग्रहण करो। यह धन और आरोग्यकी भी वृद्धि करनेवाली है॥ १९॥

**भार्याणामनुरूपाणामश्नीतेति प्रयच्छ वै।
तासु त्वं लप्स्यसे पुत्रान् यदर्थं यजसे नृप॥ २०॥**

'राजन्! यह खीर अपनी योग्य पत्नियोंको दो और कहो—'तुमलोग इसे खाओ।' ऐसा करनेपर उनके गर्भसे आपको अनेक पुत्रोंकी प्राप्ति होगी, जिनके लिये तुम यह

यज्ञ कर रहे हो' ॥ २० ॥

तथेति नृपतिः प्रीतः शिरसा प्रतिगृह्य ताम्।
पात्रीं देवान्नसम्पूर्णां देवदत्तां हिरण्मयीम्॥ २१ ॥
अभिवाद्य च तद्भूतमद्भुतं प्रियदर्शनम्।
मुदा परमया युक्तश्चकाराभिप्रदक्षिणम्॥ २२ ॥

राजाने प्रसन्नतापूर्वक 'बहुत अच्छा' कहकर उस दिव्य पुरुषकी दी हुई देवान्नसे परिपूर्ण सोनेकी थालीको लेकर उसे अपने मस्तकपर धारण किया। फिर उस अद्भुत एवं प्रियदर्शन पुरुषको प्रणाम करके बड़े आनन्दके साथ उसकी परिक्रमा की॥ २१-२२ ॥

ततो दशरथः प्राप्य पायसं देवनिर्मितम्।
बभूव परमप्रीतः प्राप्य वित्तमिवाधनः॥ २३ ॥
ततस्तदद्भुतप्रख्यं भूतं परमभास्वरम्।
संवर्तयित्वा तत् कर्म तत्रैवान्तरधीयत॥ २४ ॥

इस प्रकार देवताओंकी बनायी हुई उस खीरको पाकर राजा दशरथ बहुत प्रसन्न हुए, मानो निर्धनको धन मिल गया हो। इसके बाद वह परम तेजस्वी अद्भुत पुरुष अपना वह काम पूरा करके वहीं अन्तर्धान हो गया॥ २३-२४ ॥

हर्षरश्मिभिरुद्द्योतं तस्यान्तःपुरमाबभौ।
शारदस्याभिरामस्य चन्द्रस्येव नभोंऽशुभिः॥ २५ ॥

उस समय राजाके अन्तःपुरकी स्त्रियाँ हर्षोल्लाससे बढ़ी हुई कान्तिमयी किरणोंसे प्रकाशित हो ठीक उसी तरह शोभा पाने लगीं, जैसे शरत्कालके नयनाभिराम चन्द्रमाकी रम्य रश्मियोंसे उद्भासित होनेवाला आकाश सुशोभित होता है॥ २५ ॥

सोऽन्तःपुरं प्रविश्यैव कौसल्यामिदमब्रवीत्।
पायसं प्रतिगृह्णीष्व पुत्रीयं त्विदमात्मनः॥ २६ ॥

राजा दशरथ वह खीर लेकर अन्तःपुरमें गये और कौसल्यासे बोले—'देवि! यह अपने लिये पुत्रकी प्राप्ति करानेवाली खीर ग्रहण करो'॥ २६ ॥

कौसल्यायै नरपतिः पायसार्धं ददौ तदा।
अर्धादर्धं ददौ चापि सुमित्रायै नराधिपः॥ २७ ॥

ऐसा कहकर नरेशने उस समय उस खीरका आधा भाग महारानी कौसल्याको दे दिया। फिर बचे हुए आधेका आधा भाग रानी सुमित्राको अर्पण किया॥ २७ ॥

कैकेय्यै चावशिष्टार्धं ददौ पुत्रार्थकारणात्।
प्रददौ चावशिष्टार्धं पायसस्यामृतोपमम्॥ २८ ॥
अनुचिन्त्य सुमित्रायै पुनरेव महामतिः।
एवं तासां ददौ राजा भार्याणां पायसं पृथक्॥ २९ ॥

उन दोनोंको देनेके बाद जितनी खीर बच रही, उसका आधा भाग तो उन्होंने पुत्रप्राप्तिके उद्देश्यसे कैकेयीको दे दिया। तत्पश्चात् उस खीरका जो अवशिष्ट आधा भाग था, उस अमृतोपम भागको महाबुद्धिमान् नरेशने कुछ सोच-विचारकर पुनः सुमित्राको ही अर्पित कर दिया। इस प्रकार राजाने अपनी सभी रानियोंको अलग-अलग खीर बाँट दी॥

ताश्चैवं पायसं प्राप्य नरेन्द्रस्योत्तमस्त्रियः।
सम्मानं मेनिरे सर्वाः प्रहर्षोदितचेतसः॥ ३० ॥

महाराजकी उन सभी साध्वी रानियोंने उनके हाथसे वह खीर पाकर अपना सम्मान समझा। उनके चित्तमें अत्यन्त हर्षोल्लास छा गया॥ ३० ॥

ततस्तु ताः प्राश्य तमुत्तमस्त्रियो
महीपतेरुत्तमपायसं पृथक्।
हुताशनादित्यसमानतेजसो-
ऽचिरेण गर्भान् प्रतिपेदिरे तदा॥ ३१ ॥

उस उत्तम खीरको खाकर महाराजकी उन तीनों साध्वी महारानियोंने शीघ्र ही पृथक्-पृथक् गर्भ धारण किया। उनके वे गर्भ अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी थे॥ ३१ ॥

ततस्तु राजा प्रतिवीक्ष्य ताः स्त्रियः
प्ररूढगर्भाः प्रतिलब्धमानसः।
बभूव हृष्टस्त्रिदिवे यथा हरिः
सुरेन्द्रसिद्धर्षिगणाभिपूजितः॥ ३२ ॥

तदनन्तर अपनी उन रानियोंको गर्भवती देख राजा दशरथको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने समझा, मेरा मनोरथ सफल हो गया। जैसे स्वर्गमें इन्द्र, सिद्ध तथा ऋषियोंसे पूजित हो श्रीहरि प्रसन्न होते हैं, उसी प्रकार भूतलमें देवेन्द्र, सिद्ध तथा महर्षियोंसे सम्मानित हो राजा दशरथ संतुष्ट हुए थे॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे षोडशः सर्गः॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें सोलहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १६ ॥

—★—

सप्तदशः सर्गः

ब्रह्माजीकी प्रेरणासे देवता आदिके द्वारा विभिन्न वानरयूथपतियोंकी उत्पत्ति

पुत्रत्वं तु गते विष्णौ राज्ञस्तस्य महात्मनः।
उवाच देवताः सर्वाः स्वयम्भूर्भगवानिदम्॥ १ ॥

जब भगवान् विष्णु महामनस्वी राजा दशरथके पुत्रभावको प्राप्त हो गये, तब भगवान् ब्रह्माजीने सम्पूर्ण देवताओंसे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

सत्यसंधस्य वीरस्य सर्वेषां नो हितैषिणः।
विष्णोः सहायान् बलिनः सृजध्वं कामरूपिणः॥ २ ॥

मायाविदश्च शूरांश्च वायुवेगसमान् जवे।
नयज्ञान् बुद्धिसम्पन्नान् विष्णुतुल्यपराक्रमान्॥ ३॥
असंहार्यानुपायज्ञान् दिव्यसंहननान्वितान्।
सर्वास्त्रगुणसम्पन्नानमृतप्राशनानिव ॥ ४॥

'देवगण! भगवान् विष्णु सत्यप्रतिज्ञ, वीर और हम सब लोगोंके हितैषी हैं। तुमलोग उनके सहायकरूपसे ऐसे पुत्रोंकी सृष्टि करो, जो बलवान्, इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ, माया जाननेवाले, शूरवीर, वायुके समान वेगशाली, नीतिज्ञ, बुद्धिमान्, विष्णुतुल्य पराक्रमी, किसीसे परास्त न होनेवाले, तरह-तरहके उपायोंके जानकार, दिव्य शरीरधारी तथा अमृतभोजी देवताओंके समान सब प्रकारकी अस्त्रविद्याके गुणोंसे सम्पन्न हों॥ २—४॥

अप्सरस्सु च मुख्यासु गन्धर्वीणां तनूषु च।
यक्षपन्नगकन्यासु ऋक्षविद्याधरीषु च॥ ५॥
किन्नरीणां च गात्रेषु वानरीणां तनूषु च।
सृजध्वं हरिरूपेण पुत्रांस्तुल्यपराक्रमान्॥ ६॥

'प्रधान-प्रधान अप्सराओं, गन्धर्वोंकी स्त्रियों, यक्ष और नागोंकी कन्याओं, रीछोंकी स्त्रियों, विद्याधरियों, किन्नरियों तथा वानरियोंके गर्भसे वानररूपमें अपने ही तुल्य पराक्रमी पुत्र उत्पन्न करो॥ ५-६॥

पूर्वमेव मया सृष्टो जाम्बवानृक्षपुङ्गवः।
जृम्भमाणस्य सहसा मम वक्त्रादजायत॥ ७॥

'मैंने पहलेसे ही ऋक्षराज जाम्बवान्‌की सृष्टि कर रखी है। एक बार मैं जँभाई ले रहा था, उसी समय वह सहसा मेरे मुँहसे प्रकट हो गया'॥ ७॥

ते तथोक्ता भगवता तत् प्रतिश्रुत्य शासनम्।
जनयामासुरेवं ते पुत्रान् वानररूपिणः॥ ८॥

भगवान् ब्रह्माके ऐसा कहनेपर देवताओंने उनकी आज्ञा स्वीकार की और वानररूपमें अनेकानेक पुत्र उत्पन्न किये॥

ऋषयश्च महात्मानः सिद्धविद्याधरोरगाः।
चारणाश्च सुतान् वीरान् ससृजुर्वनचारिणः॥ ९॥

महात्मा, ऋषि, सिद्ध, विद्याधर, नाग और चारणोंने भी वनमें विचरनेवाले वानर-भालुओंके रूपमें वीर पुत्रोंको जन्म दिया॥ ९॥

वानरेन्द्रं महेन्द्राभमिन्द्रो वालिनमात्मजम्।
सुग्रीवं जनयामास तपनस्तपतां वरः॥ १०॥

देवराज इन्द्रने वानरराज वालीको पुत्ररूपमें उत्पन्न किया, जो महेन्द्र पर्वतके समान विशालकाय और बलिष्ठ था। तपनेवालोंमें श्रेष्ठ भगवान् सूर्यने सुग्रीवको जन्म दिया॥ १०॥

बृहस्पतिस्त्वजनयत् तारं नाम महाकपिम्।
सर्ववानरमुख्यानां बुद्धिमन्तमनुत्तमम्॥ ११॥

बृहस्पतिने तार नामक महाकाय वानरको उत्पन्न किया, जो समस्त वानर सरदारोंमें परम बुद्धिमान् और श्रेष्ठ था॥ ११॥

धनदस्य सुतः श्रीमान् वानरो गन्धमादनः।
विश्वकर्मा त्वजनयन्नलं नाम महाकपिम्॥ १२॥

तेजस्वी वानर गन्धमादन कुबेरका पुत्र था। विश्वकर्माने नल नामक महान् वानरको जन्म दिया॥ १२॥

पावकस्य सुतः श्रीमान् नीलोऽग्निसदृशप्रभः।
तेजसा यशसा वीर्यादत्यरिच्यत वीर्यवान्॥ १३॥

अग्निके समान तेजस्वी श्रीमान् नील साक्षात् अग्निदेवका ही पुत्र था। वह पराक्रमी वानर तेज, यश और बल-वीर्यमें सबसे बढ़कर था॥ १३॥

रूपद्रविणसम्पन्नावश्विनौ रूपसम्मतौ।
मैन्दं च द्विविदं चैव जनयामासतुः स्वयम्॥ १४॥

रूप-वैभवसे सम्पन्न, सुन्दर रूपवाले दोनों अश्विनीकुमारोंने स्वयं ही मैन्द और द्विविदको जन्म दिया था॥ १४॥

वरुणो जनयामास सुषेणं नाम वानरम्।
शरभं जनयामास पर्जन्यस्तु महाबलः॥ १५॥

वरुणने सुषेण नामक वानरको उत्पन्न किया और महाबली पर्जन्यने शरभको जन्म दिया॥ १५॥

मारुतस्यौरसः श्रीमान् हनूमान् नाम वानरः।
वज्रसंहननोपेतो वैनतेयसमो जवे॥ १६॥

हनुमान् नामवाले ऐश्वर्यशाली वानर वायुदेवताके औरस पुत्र थे। उनका शरीर वज्रके समान सुदृढ़ था। वे तेज चलनेमें गरुड़के समान थे॥ १६॥

सर्ववानरमुख्येषु बुद्धिमान् बलवानपि।
ते सृष्टा बहुसाहस्रा दशग्रीववधोद्यताः॥ १७॥

सभी श्रेष्ठ वानरोंमें वे सबसे अधिक बुद्धिमान् और बलवान् थे। इस प्रकार कई हजार वानरोंकी उत्पत्ति हुई। वे सभी रावणका वध करनेके लिये उद्यत रहते थे॥ १७॥

अप्रमेयबला वीरा विक्रान्ताः कामरूपिणः।
ते गजाचलसंकाशा वपुष्मन्तो महाबलाः॥ १८॥

उनके बलकी कोई सीमा नहीं थी। वे वीर, पराक्रमी और इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले थे। गजराजों और पर्वतोंके समान महाकाय तथा महाबली थे॥ १८॥

ऋक्षवानरगोपुच्छाः क्षिप्रमेवाभिजज्ञिरे।
यस्य देवस्य यद्रूपं वेषो यश्च पराक्रमः॥ १९॥
अजायत समं तेन तस्य तस्य पृथक् पृथक्।
गोलाङ्गूलेषु चोत्पन्नाः किंचिदुन्नतविक्रमाः॥ २०॥

रीछ, वानर तथा गोलाङ्गूल (लंगूर) जातिके वीर शीघ्र ही उत्पन्न हो गये। जिस देवताका जैसा रूप, वेष और पराक्रम था, उससे उसीके समान पृथक्-पृथक् पुत्र उत्पन्न हुआ। लंगूरोंमें जो देवता उत्पन्न हुए, वे देवावस्थाकी अपेक्षा भी कुछ अधिक पराक्रमी थे॥ १९-२०॥

ऋक्षीषु च तथा जाता वानराः किन्नरीषु च।
देवा महर्षिगन्धर्वास्तार्क्ष्ययक्षा यशस्विनः॥ २१॥

नागाः किंपुरुषाश्चैव सिद्धविद्याधरोरगाः।
बहवो जनयामासुर्हृष्टास्तत्र सहस्रशः॥ २२॥

कुछ वानर रीछ जातिकी माताओंसे तथा कुछ किन्नरियोंसे उत्पन्न हुए। देवता, महर्षि, गन्धर्व, गरुड़, यशस्वी यक्ष, नाग, किम्पुरुष, सिद्ध, विद्याधर तथा सर्प जातिके बहुसंख्यक व्यक्तियोंने अत्यन्त हर्षमें भरकर सहस्रों पुत्र उत्पन्न किये॥

चारणाश्च सुतान् वीरान् ससृजुर्वनचारिणः।
वानरान् सुमहाकायान् सर्वान् वै वनचारिणः॥ २३॥

देवताओंका गुण गानेवाले वनवासी चारणोंने बहुत-से वीर, विशालकाय वानरपुत्र उत्पन्न किये। वे सब जंगली फल-मूल खानेवाले थे॥ २३॥

अप्सरस्सु च मुख्यासु तथा विद्याधरीषु च।
नागकन्यासु च तदा गन्धर्वीणां तनूषु च।
कामरूपबलोपेता यथाकामविचारिणः॥ २४॥

मुख्य-मुख्य अप्सराओं, विद्याधरियों, नागकन्याओं तथा गन्धर्व-पत्नियोंके गर्भसे भी इच्छानुसार रूप और बलसे युक्त तथा स्वेच्छानुसार सर्वत्र विचरण करनेमें समर्थ वानरपुत्र उत्पन्न हुए॥ २४॥

सिंहशार्दूलसदृशा दर्पेण च बलेन च।
शिलाप्रहरणाः सर्वे सर्वे पर्वतयोधिनः॥ २५॥

वे दर्प और बलमें सिंह और व्याघ्रोंके समान थे। पत्थरकी चट्टानोंसे प्रहार करते और पर्वत उठाकर लड़ते थे॥ २५॥

नखदंष्ट्रायुधाः सर्वे सर्वे सर्वास्त्रकोविदाः।
विचालयेयुः शैलेन्द्रान् भेदयेयुः स्थिरान् द्रुमान्॥ २६॥

वे सभी नख और दाँतोंसे भी शस्त्रोंका काम लेते थे। उन सबको सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञान था। वे पर्वतोंको भी हिला सकते थे और स्थिरभावसे खड़े हुए वृक्षोंको भी तोड़ डालनेकी शक्ति रखते थे॥ २६॥

क्षोभयेयुश्च वेगेन समुद्रं सरितां पतिम्।
दारयेयुः क्षितिं पद्भ्यामाप्लवेयुर्महार्णवान्॥ २७॥

अपने वेगसे सरिताओंके स्वामी समुद्रको भी क्षुब्ध कर सकते थे। उनमें पैरोंसे पृथ्वीको विदीर्ण कर डालनेकी शक्ति थी। वे महासागरोंको भी लाँघ सकते थे॥ २७॥

नभस्तलं विशेयुश्च गृह्णीयुरपि तोयदान्।
गृह्णीयुरपि मातङ्गान् मत्तान् प्रव्रजतो वने॥ २८॥

वे चाहें तो आकाशमें घुस जायँ, बादलोंको हाथोंसे पकड़ लें तथा वनमें वेगसे चलते हुए मतवाले गजराजोंको भी बन्दी बना लें॥ २८॥

नर्दमानांश्च नादेन पातयेयुर्विहङ्गमान्।
ईदृशानां प्रसूतानि हरीणां कामरूपिणाम्॥ २९॥
शतं शतसहस्राणि यूथपानां महात्मनाम्।
ते प्रधानेषु यूथेषु हरीणां हरियूथपाः॥ ३०॥

घोर शब्द करते हुए आकाशमें उड़नेवाले पक्षियोंको भी वे अपने सिंहनादसे गिरा सकते थे। ऐसे बलशाली और इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले महाकाय वानर यूथपति करोड़ोंकी संख्यामें उत्पन्न हुए थे। वे वानरोंके प्रधान यूथोंके भी यूथपति थे॥ २९-३०॥

बभूवुर्यूथपश्रेष्ठान् वीरांश्चाजनयन् हरीन्।
अन्ये ऋक्षवतः प्रस्थानुपतस्थुः सहस्रशः॥ ३१॥

उन यूथपतियोंने भी ऐसे वीर वानरोंको उत्पन्न किया था, जो यूथपोंसे भी श्रेष्ठ थे। वे और ही प्रकारके वानर थे—इन प्राकृत वानरोंसे विलक्षण थे। उनमेंसे सहस्रों वानर-यूथपति ऋक्षवान् पर्वतके शिखरोंपर निवास करने लगे॥ ३१॥

अन्ये नानाविधाञ्छैलान् काननानि च भेजिरे।
सूर्यपुत्रं च सुग्रीवं शक्रपुत्रं च वालिनम्॥ ३२॥
भ्रातरावुपतस्थुस्ते सर्वे च हरियूथपाः।
नलं नीलं हनूमन्तमन्यांश्च हरियूथपान्॥ ३३॥
ते तार्क्ष्यबलसम्पन्नाः सर्वे युद्धविशारदाः।
विचरन्तोऽर्दयन् सर्वान् सिंहव्याघ्रमहोरगान्॥ ३४॥

दूसरोंने नाना प्रकारके पर्वतों और जंगलोंका आश्रय लिया। इन्द्रकुमार वाली और सूर्यनन्दन सुग्रीव ये दोनों भाई थे। समस्त वानरयूथपति उन दोनों भाइयोंकी सेवामें उपस्थित रहते थे। इसी प्रकार वे नल-नील, हनुमान् तथा अन्य वानर सरदारोंका आश्रय लेते थे। वे सभी गरुड़के समान बलशाली तथा युद्धकी कलामें निपुण थे। वे वनमें विचरते समय सिंह, व्याघ्र और बड़े-बड़े नाग आदि समस्त वनजन्तुओंको रौंद डालते थे॥ ३२—३४॥

महाबलो महाबाहुर्वाली विपुलविक्रमः।
जुगोप भुजवीर्येण ऋक्षगोपुच्छवानरान्॥ ३५॥

महाबाहु वाली महान् बलसे सम्पन्न तथा विशेष पराक्रमी थे। उन्होंने अपने बाहुबलसे रीछों, लंगूरों तथा अन्य वानरोंकी रक्षा की थी॥ ३५॥

तैरियं पृथिवी शूरैः सपर्वतवनार्णवा।
कीर्णा विविधसंस्थानैर्नानाव्यञ्जनलक्षणैः॥ ३६॥

उन सबके शरीर और पार्थक्यसूचक लक्षण नाना प्रकारके थे। वे शूरवीर वानर पर्वत, वन और समुद्रोंसहित समस्त भूमण्डलमें फैल गये॥ ३६॥

तैर्मेघवृन्दाचलकूटसंनिभै-
र्महाबलैर्वानरयूथपाधिपैः।
बभूव भूर्भीमशरीररूपैः
समावृता रामसहायहेतोः॥ ३७॥

वे वानरयूथपति मेघसमूह तथा पर्वतशिखरके समान विशालकाय थे। उनका बल महान् था। उनके शरीर और रूप भयंकर थे। भगवान् श्रीरामकी सहायताके लिये प्रकट हुए उन वानर वीरोंसे यह सारी पृथ्वी भर गयी थी॥ ३७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्तदशः सर्गः॥ १७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें सत्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १७॥

—★—

अष्टादशः सर्गः

राजाओं तथा ऋष्यशृङ्गको विदा करके राजा दशरथका रानियोंसहित पुरीमें आगमन, श्रीराम, भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्नके जन्म, संस्कार, शील-स्वभाव एवं सद्गुण, राजाके दरबारमें विश्वामित्रका आगमन और उनका सत्कार

निर्वृत्ते तु क्रतौ तस्मिन् हयमेधे महात्मनः।
प्रतिगृह्यामरा भागान् प्रतिजग्मुर्यथागतम्॥ १॥

महामना राजा दशरथका यज्ञ समाप्त होनेपर देवतालोग अपना-अपना भाग ले जैसे आये थे, वैसे लौट गये॥ १॥

समाप्तदीक्षानियमः पत्नीगणसमन्वितः।
प्रविवेश पुरीं राजा सभृत्यबलवाहनः॥ २॥

दीक्षाका नियम समाप्त होनेपर राजा अपनी पत्नियोंको साथ ले सेवक, सैनिक और सवारियोंसहित पुरीमें प्रविष्ट हुए॥ २॥

यथार्हं पूजितास्तेन राज्ञा च पृथिवीश्वराः।
मुदिताः प्रययुर्देशान् प्रणम्य मुनिपुङ्गवम्॥ ३॥

भिन्न-भिन्न देशोंके राजा भी (जो उनके यज्ञमें सम्मिलित होनेके लिये आये थे) महाराज दशरथद्वारा यथावत् सम्मानित हो मुनिवर वसिष्ठ तथा ऋष्यशृङ्गको प्रणाम करके प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने देशको चले गये॥ ३॥

श्रीमतां गच्छतां तेषां स्वगृहाणि पुरात् ततः।
बलानि राज्ञां शुभ्राणि प्रहृष्टानि चकाशिरे॥ ४॥

अयोध्यापुरीसे अपने घरको जाते हुए उन श्रीमान् नरेशोंके शुभ्र सैनिक अत्यन्त हर्षमग्न होनेके कारण बड़ी शोभा पा रहे थे॥ ४॥

गतेषु पृथिवीशेषु राजा दशरथः पुनः।
प्रविवेश पुरीं श्रीमान् पुरस्कृत्य द्विजोत्तमान्॥ ५॥

उन राजाओंके विदा हो जानेपर श्रीमान् महाराज दशरथने श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको आगे करके अपनी पुरीमें प्रवेश किया॥ ५॥

शान्तया प्रययौ सार्धमृष्यशृङ्गः सुपूजितः।
अनुगम्यमानो राज्ञा च सानुयात्रेण धीमता॥ ६॥

राजाद्वारा अत्यन्त सम्मानित हो ऋष्यशृङ्ग मुनि भी शान्ताके साथ अपने स्थानको चले गये। उस समय सेवकों-सहित बुद्धिमान् महाराज दशरथ कुछ दूरतक उनके पीछे-पीछे उन्हें पहुँचाने गये थे॥ ६॥

एवं विसृज्य तान् सर्वान् राजा सम्पूर्णमानसः।
उवास सुखितस्तत्र पुत्रोत्पत्तिं विचिन्तयन्॥ ७॥

इस प्रकार उन सब अतिथियोंको विदा करके सफलमनोरथ हुए राजा दशरथ पुत्रोत्पत्तिकी प्रतीक्षा करते हुए वहाँ बड़े सुखसे रहने लगे॥ ७॥

ततो यज्ञे समाप्ते तु ऋतूनां षट् समत्ययुः।
ततश्च द्वादशे मासे चैत्रे नावमिके तिथौ॥ ८॥
नक्षत्रेऽदितिदैवत्ये स्वोच्चसंस्थेषु पञ्चसु।
ग्रहेषु कर्कटे लग्ने वाक्पताविन्दुना सह॥ ९॥
प्रोद्यमाने जगन्नाथं सर्वलोकनमस्कृतम्।
कौसल्याजनयद् रामं दिव्यलक्षणसंयुतम्॥ १०॥

यज्ञ-समाप्तिके पश्चात् जब छः ऋतुएँ बीत गयीं, तब बारहवें मासमें चैत्रके शुक्लपक्षकी नवमी तिथिको पुनर्वसु नक्षत्र एवं कर्क लग्नमें कौसल्यादेवीने दिव्य लक्षणोंसे युक्त, सर्वलोकवन्दित जगदीश्वर श्रीरामको जन्म दिया। उस समय (सूर्य, मङ्गल, शनि, गुरु और शुक्र— ये) पाँच ग्रह अपने-अपने उच्च स्थानमें विद्यमान थे तथा लग्नमें चन्द्रमाके साथ बृहस्पति विराजमान थे॥ ८—१०॥

विष्णोरर्धं महाभागं पुत्रमैक्ष्वाकुनन्दनम्।
लोहिताक्षं महाबाहुं रक्तोष्ठं दुन्दुभिस्वनम्॥ ११॥

वे विष्णुस्वरूप हविष्य या खीरके आधे भागसे प्रकट हुए थे। कौसल्याके महाभाग पुत्र श्रीराम इक्ष्वाकुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले थे। उनके नेत्रोंमें कुछ-कुछ लालिमा थी। उनके ओठ लाल, भुजाएँ बड़ी-बड़ी और स्वर दुन्दुभिके शब्दके समान गम्भीर था॥ ११॥

कौसल्या शुशुभे तेन पुत्रेणामिततेजसा।
यथा वरेण देवानामदितिर्वज्रपाणिना॥ १२॥

उस अमिततेजस्वी पुत्रसे महारानी कौसल्याकी बड़ी शोभा हुई, ठीक उसी तरह, जैसे सुरश्रेष्ठ वज्रपाणि इन्द्रसे देवमाता अदिति सुशोभित हुई थीं॥ १२॥

भरतो नाम कैकेय्यां जज्ञे सत्यपराक्रमः।
साक्षाद् विष्णोश्चतुर्भागः सर्वैः समुदितो गुणैः॥ १३॥

तदनन्तर कैकेयीसे सत्यपराक्रमी भरतका जन्म हुआ, जो साक्षात् भगवान् विष्णुके (स्वरूपभूत पायस—खीरके) चतुर्थांशसे भी न्यून भागसे प्रकट हुए थे। ये समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न थे॥ १३॥

अथ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्राजनयत् सुतौ।
वीरौ सर्वास्त्रकुशलौ विष्णोरर्धसमन्वितौ॥ १४॥

इसके बाद रानी सुमित्राने लक्ष्मण और शत्रुघ्न—इन दो पुत्रोंको जन्म दिया। ये दोनों वीर साक्षात् भगवान् विष्णुके अर्धभागसे सम्पन्न और सब प्रकारके अस्त्रोंकी विद्यामें कुशल थे॥ १४॥

पुष्ये जातस्तु भरतो मीनलग्ने प्रसन्नधीः।
सार्पे जातौ तु सौमित्री कुलीरेऽभ्युदिते रवौ॥ १५॥

भरत सदा प्रसन्नचित्त रहते थे। उनका जन्म पुष्य नक्षत्र तथा मीन लग्नमें हुआ था। सुमित्राके दोनों पुत्र आश्लेषा नक्षत्र और कर्कलग्नमें उत्पन्न हुए थे। उस समय सूर्य अपने उच्च स्थानमें विराजमान थे॥ १५॥

राज्ञः पुत्रा महात्मानश्चत्वारो जज्ञिरे पृथक्।
गुणवन्तोऽनुरूपाश्च रुच्या प्रोष्ठपदोपमाः॥ १६॥

राजा दशरथके ये चारों महामनस्वी पुत्र पृथक्-पृथक् गुणोंसे सम्पन्न और सुन्दर थे। ये भाद्रपदा नामक चार तारोंके समान कान्तिमान् थे[1]॥ १६॥

जगुः कलं च गन्धर्वा ननृतुश्चाप्सरोगणाः।
देवदुन्दुभयो नेदुः पुष्पवृष्टिश्च खात् पतत्॥ १७॥

इनके जन्मके समय गन्धर्वोंने मधुर गीत गाये। अप्सराओंने नृत्य किया। देवताओंकी दुन्दुभियाँ बजने लगीं तथा आकाशसे फूलोंकी वर्षा होने लगी॥ १७॥

उत्सवश्च महानासीदयोध्यायां जनाकुलः।
रथ्याश्च जनसम्बाधा नटनर्तकसंकुलाः॥ १८॥

अयोध्यामें बहुत बड़ा उत्सव हुआ। मनुष्योंकी भारी भीड़ एकत्र हुई। गलियाँ और सड़कें लोगोंसे खचाखच भरी थीं। बहुत-से नट और नर्तक वहाँ अपनी कलाएँ दिखा रहे थे॥ १८॥

गायनैश्च विराविण्यो वादनैश्च तथापरैः।
विरेजुर्विपुलास्तत्र सर्वरत्नसमन्विताः॥ १९॥

वहाँ सब ओर गाने-बजानेवाले तथा दूसरे लोगोंके शब्द गूँज रहे थे। दीन-दुःखियोंके लिये लुटाये गये सब प्रकारके रत्न वहाँ बिखरे पड़े थे॥ १९॥

प्रदेयांश्च ददौ राजा सूतमागधवन्दिनाम्।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ वित्तं गोधनानि सहस्रशः॥ २०॥

राजा दशरथने सूत, मागध और वन्दीजनोंको देने योग्य पुरस्कार दिये तथा ब्राह्मणोंको धन एवं सहस्रों गोधन प्रदान किये॥ २०॥

अतीत्यैकादशाहं तु नामकर्म तथाकरोत्।
ज्येष्ठं रामं महात्मानं भरतं कैकयीसुतम्॥ २१॥
सौमित्रिं लक्ष्मणमिति शत्रुघ्नमपरं तथा।
वसिष्ठः परमप्रीतो नामानि कुरुते तदा॥ २२॥

ग्यारह दिन बीतनेपर महाराजने बालकोंका नामकरण-संस्कार किया[2]। उस समय महर्षि वसिष्ठने प्रसन्नताके साथ सबके नाम रखे। उन्होंने ज्येष्ठ पुत्रका नाम 'राम' रखा। श्रीराम महात्मा (परमात्मा) थे। कैकेयीकुमारका नाम भरत तथा सुमित्राके एक पुत्रका नाम लक्ष्मण और दूसरेका शत्रुघ्न निश्चित किया॥ २१-२२॥

ब्राह्मणान् भोजयामास पौरजानपदानपि।
अददद् ब्राह्मणानां च रत्नौघममलं बहु॥ २३॥

राजाने ब्राह्मणों, पुरवासियों तथा जनपदवासियोंको भी भोजन कराया। ब्राह्मणोंको बहुत-से उज्ज्वल रत्नसमूह दान किये॥ २३॥

तेषां जन्मक्रियादीनि सर्वकर्माण्यकारयत्।
तेषां केतुरिव ज्येष्ठो रामो रतिकरः पितुः॥ २४॥

महर्षि वसिष्ठने समय-समयपर राजासे उन बालकोंके जातकर्म आदि सभी संस्कार करवाये थे। उन सबमें श्रीरामचन्द्रजी ज्येष्ठ होनेके साथ ही अपने कुलकी कीर्ति-ध्वजाको फहरानेवाली पताकाके समान थे। वे अपने पिताकी प्रसन्नताको बढ़ानेवाले थे॥ २४॥

बभूव भूयो भूतानां स्वयम्भूरिव सम्मतः।
सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे लोकहिते रताः॥ २५॥

सभी भूतोंके लिये वे स्वयम्भू ब्रह्माजीके समान विशेष प्रिय थे। राजाके सभी पुत्र वेदोंके विद्वान् और शूरवीर थे। सब-के-सब लोकहितकारी कार्योंमें संलग्न रहते थे॥ २५॥

सर्वे ज्ञानोपसम्पन्नाः सर्वे समुदिता गुणैः।
तेषामपि महातेजा रामः सत्यपराक्रमः॥ २६॥
इष्टः सर्वस्य लोकस्य शशाङ्क इव निर्मलः।
गजस्कन्धेऽश्वपृष्ठे च रथचर्यासु सम्मतः॥ २७॥
धनुर्वेदे च निरतः पितुः शुश्रूषणे रतः।

सभी ज्ञानवान् और समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न थे। उनमें भी सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्रजी सबसे अधिक तेजस्वी और सब लोगोंके विशेष प्रिय थे। वे निष्कलङ्क चन्द्रमाके समान शोभा पाते थे। उन्होंने हाथीके कंधे और घोड़ेकी पीठपर बैठने तथा रथ हाँकनेकी कलामें भी सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त किया था। वे सदा धनुर्वेदका अभ्यास करते और पिताजीकी सेवामें लगे रहते थे॥ २६-२७½॥

बाल्यात् प्रभृति सुस्निग्धो लक्ष्मणो लक्ष्मिवर्धनः॥ २८॥
रामस्य लोकरामस्य भ्रातुर्ज्येष्ठस्य नित्यशः।
सर्वप्रियकरस्तस्य रामस्यापि शरीरतः॥ २९॥

लक्ष्मीकी वृद्धि करनेवाले लक्ष्मण बाल्यावस्थासे ही श्रीरामचन्द्रजीके प्रति अत्यन्त अनुराग रखते थे। वे अपने बड़े भाई लोकाभिराम श्रीरामका सदा ही प्रिय करते थे और शरीरसे भी उनकी सेवामें ही जुटे रहते थे॥ २८-२९॥

---

१. प्रोष्ठपदा कहते हैं—भाद्रपदा नक्षत्रको। उसके दो भेद हैं—पूर्वभाद्रपदा और उत्तरभाद्रपदा। इन दोनोंमें दो-दो तारे हैं। यह बात ज्यौतिष-शास्त्रमें प्रसिद्ध है। (रा॰ ति॰)

२. रामायणतिलकके निर्माताने मूलके एकादशाह शब्दको सूतकके अन्तिम दिनका उपलक्षण माना है। उनका कहना है कि यदि ऐसा न माना जाय तो 'क्षत्रियस्य द्वादशाहं सूतकम्' (क्षत्रियको बारह दिनोंका सूतक लगता है) इस स्मृतिवाक्यसे विरोध होगा; अतः रामजन्मके बारह दिन बीत जानेके बाद तेरहवें दिन राजाने नामकरण-संस्कार किया—ऐसा मानना चाहिये।

लक्ष्मणो लक्ष्मिसम्पन्नो बहिःप्राण इवापरः ।
न च तेन विना निद्रां लभते पुरुषोत्तमः ॥ ३० ॥
मृष्टमन्नमुपानीतमश्नाति न हि तं विना ।

शोभासम्पन्न लक्ष्मण श्रीरामचन्द्रजीके लिये बाहर विचरनेवाले दूसरे प्राणके समान थे। पुरुषोत्तम श्रीरामको उनके बिना नींद भी नहीं आती थी। यदि उनके पास उत्तम भोजन लाया जाता तो श्रीरामचन्द्रजी उसमेंसे लक्ष्मणको दिये बिना नहीं खाते थे ॥ ३०½ ॥

यदा हि हयमारूढो मृगयां याति राघवः ॥ ३१ ॥
अथैनं पृष्ठतोऽभ्येति सधनुः परिपालयन् ।
भरतस्यापि शत्रुघ्नो लक्ष्मणावरजो हि सः ॥ ३२ ॥
प्राणैः प्रियतरो नित्यं तस्य चासीत् तथा प्रियः ।

जब श्रीरामचन्द्रजी घोड़ेपर चढ़कर शिकार खेलनेके लिये जाते, उस समय लक्ष्मण धनुष लेकर उनके शरीरकी रक्षा करते हुए पीछे-पीछे जाते थे। इसी प्रकार लक्ष्मणके छोटे भाई शत्रुघ्न भरतजीको प्राणोंसे भी अधिक प्रिय थे और वे भी भरतजीको सदा प्राणोंसे भी अधिक प्रिय मानते थे ॥ ३१-३२½ ॥

स चतुर्भिर्महाभागैः पुत्रैर्दशरथः प्रियैः ॥ ३३ ॥
बभूव परमप्रीतो देवैरिव पितामहः ।

इन चार महान् भाग्यशाली प्रिय पुत्रोंसे राजा दशरथको बड़ी प्रसन्नता प्राप्त होती थी, ठीक वैसे ही जैसे चार देवताओं (दिक्पालों) से ब्रह्माजीको प्रसन्नता होती है ॥ ३३ ॥

ते यदा ज्ञानसम्पन्नाः सर्वे समुदिता गुणैः ॥ ३४ ॥
ह्रीमन्तः कीर्तिमन्तश्च सर्वज्ञा दीर्घदर्शिनः ।
तेषामेवंप्रभावाणां सर्वेषां दीप्ततेजसाम् ॥ ३५ ॥
पिता दशरथो हृष्टो ब्रह्मा लोकाधिपो यथा ।

वे सब बालक जब समझदार हुए, तब समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न हो गये। वे सभी लज्जाशील, यशस्वी, सर्वज्ञ और दूरदर्शी थे। ऐसे प्रभावशाली और अत्यन्त तेजस्वी उन सभी पुत्रोंकी प्राप्तिसे राजा दशरथ लोकेश्वर ब्रह्माकी भाँति बहुत प्रसन्न थे ॥ ३४-३५½ ॥

ते चापि मनुजव्याघ्रा वैदिकाध्ययने रताः ॥ ३६ ॥
पितृशुश्रूषणरता धनुर्वेदे च निष्ठिताः ।

वे पुरुषसिंह राजकुमार प्रतिदिन वेदोंके स्वाध्याय, पिताकी सेवा तथा धनुर्वेदके अभ्यासमें दत्त-चित्त रहते थे ॥ ३६½ ॥

अथ राजा दशरथस्तेषां दारक्रियां प्रति ॥ ३७ ॥
चिन्तयामास धर्मात्मा सोपाध्यायः सबान्धवः ।
तस्य चिन्तयमानस्य मन्त्रिमध्ये महात्मनः ॥ ३८ ॥
अभ्यागच्छन्महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः ।

एक दिन धर्मात्मा राजा दशरथ पुरोहित तथा बन्धु-बान्धवोंके साथ बैठकर पुत्रोंके विवाहके विषयमें विचार कर रहे थे। मन्त्रियोंके बीचमें विचार करते हुए उन महामना नरेशके यहाँ महातेजस्वी महामुनि विश्वामित्र पधारे ॥ ३७½ ॥

स राज्ञो दर्शनाकाङ्क्षी द्वाराध्यक्षानुवाच ह ॥ ३९ ॥
शीघ्रमाख्यात मां प्राप्तं कौशिकं गाधिनः सुतम् ।

वे राजासे मिलना चाहते थे। उन्होंने द्वारपालोंसे कहा—'तुमलोग शीघ्र जाकर महाराजको यह सूचना दो कि कुशिकवंशी गाधिपुत्र विश्वामित्र आये हैं' ॥ ३९½ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य राज्ञो वेश्म प्रदुद्रुवुः ॥ ४० ॥
सम्भ्रान्तमनसः सर्वे तेन वाक्येन चोदिताः ।

उनकी यह बात सुनकर वे द्वारपाल दौड़े हुए राजाके दरबारमें गये। वे सब विश्वामित्रके उस वाक्यसे प्रेरित होकर मन-ही-मन घबराये हुए थे ॥ ४०½ ॥

ते गत्वा राजभवनं विश्वामित्रमृषिं तदा ॥ ४१ ॥
प्राप्तमावेदयामासुर्नृपायेक्ष्वाकवे तदा ।

राजाके दरबारमें पहुँचकर उन्होंने इक्ष्वाकुकुलनन्दन अवधनरेशसे कहा—'महाराज! महर्षि विश्वामित्र पधारे हैं' ॥४१½ ॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा सपुरोधाः समाहितः ॥ ४२ ॥
प्रत्युज्जगाम संहृष्टो ब्रह्माणमिव वासवः ।

उनकी वह बात सुनकर राजा सावधान हो गये। उन्होंने पुरोहितको साथ लेकर बड़े हर्षके साथ उनकी अगवानी की, मानो देवराज इन्द्र ब्रह्माजीका स्वागत कर रहे हों ॥ ४२ ॥

स दृष्ट्वा ज्वलितं दीप्त्या तापसं संशितव्रतम् ॥ ४३ ॥
प्रहृष्टवदनो राजा ततोऽर्घ्यमुपहारयत् ।

विश्वामित्रजी कठोर व्रतका पालन करनेवाले तपस्वी थे। वे अपने तेजसे प्रज्वलित हो रहे थे। उनका दर्शन करके राजाका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा और उन्होंने महर्षिको अर्घ्य निवेदन किया ॥४३½ ॥

स राज्ञः प्रतिगृह्यार्घ्यं शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ॥ ४४ ॥
कुशलं चाव्ययं चैव पर्यपृच्छन्नराधिपम् ।

राजाका वह अर्घ्य शास्त्रीय विधिके अनुसार स्वीकार करके महर्षिने उनसे कुशल-मङ्गल पूछा ॥४४½ ॥

पुरे कोशे जनपदे बान्धवेषु सुहृत्सु च ॥ ४५ ॥
कुशलं कौशिको राज्ञः पर्यपृच्छत् सुधार्मिकः ।

धर्मात्मा विश्वामित्रने क्रमशः राजाके नगर, खजाना, राज्य, बन्धु-बान्धव तथा मित्रवर्ग आदिके विषयमें कुशल-प्रश्न किया— ॥ ४५½ ॥

अपि ते संनताः सर्वे सामन्तरिपवो जिताः ॥ ४६ ॥
दैवं च मानुषं चैव कर्म ते साध्वनुष्ठितम् ।

'राजन्! आपके राज्यकी सीमाके निकट रहनेवाले शत्रु राजा आपके समक्ष नतमस्तक तो हैं? आपने उनपर विजय तो प्राप्त की है न? आपके यज्ञयाग आदि देवकर्म और अतिथि-सत्कार आदि मनुष्यकर्म तो अच्छी तरह सम्पन्न होते हैं न?' ॥४६½ ॥

वसिष्ठं च समागम्य कुशलं मुनिपुङ्गवः ॥ ४७ ॥
ऋषींश्च तान् यथान्यायं महाभाग उवाच ह ।

इसके बाद महाभाग मुनिवर विश्वामित्रने वसिष्ठजी तथा अन्यान्य ऋषियोंसे मिलकर उन सबका यथावत् कुशल-समाचार पूछा ॥ ४७½ ॥

ते सर्वे हृष्टमनसस्तस्य राज्ञो निवेशनम् ॥ ४८ ॥
विविशुः पूजितास्तेन निषेदुश्च यथार्हतः ।

फिर वे सब लोग प्रसन्नचित्त होकर राजाके दरबारमें गये और उनके द्वारा पूजित हो यथायोग्य आसनोंपर बैठे ॥ ४८½ ॥

अथ हृष्टमना राजा विश्वामित्रं महामुनिम् ॥ ४९ ॥
उवाच परमोदारो हृष्टस्तमभिपूजयन् ।

तदनन्तर प्रसन्नचित्त परम उदार राजा दशरथने पुलकित होकर महामुनि विश्वामित्रकी प्रशंसा करते हुए कहा ॥ ४९½ ॥

यथामृतस्य सम्प्राप्तिर्यथा वर्षमनूदके ॥ ५० ॥
यथा सदृशदारेषु पुत्रजन्माप्रजस्य वै ।
प्रणष्टस्य यथा लाभो यथा हर्षो महोदयः ॥ ५१ ॥
तथैवागमनं मन्ये स्वागतं ते महामुने ।
कं च ते परमं कामं करोमि किमु हर्षितः ॥ ५२ ॥

'महामुने ! जैसे किसी मरणधर्मा मनुष्यको अमृतकी प्राप्ति हो जाय, निर्जल प्रदेशमें पानी बरस जाय, किसी संतानहीनको अपने अनुरूप पत्नीके गर्भसे पुत्र प्राप्त हो जाय, खोयी हुई निधि मिल जाय तथा किसी महान् उत्सवसे हर्षका उदय हो, उसी प्रकार आपका यहाँ शुभागमन हुआ है। ऐसा मैं मानता हूँ। आपका स्वागत है। आपके मनमें कौन-सी उत्तम कामना है, जिसको मैं हर्षके साथ पूर्ण करूँ ? ॥ ५०—५२ ॥

पात्रभूतोऽसि मे ब्रह्मन् दिष्ट्या प्राप्तोऽसि मानद ।
अद्य मे सफलं जन्म जीवितं च सुजीवितम् ॥ ५३ ॥

'ब्रह्मन् ! आप मुझसे सब प्रकारकी सेवा लेने योग्य उत्तम पात्र हैं। मानद ! मेरा अहोभाग्य है, जो आपने यहाँतक पधारनेका कष्ट उठाया। आज मेरा जन्म सफल और जीवन धन्य हो गया ॥ ५३ ॥

यस्माद् विप्रेन्द्रमद्राक्षं सुप्रभाता निशा मम ।
पूर्वं राजर्षिशब्देन तपसा द्योतितप्रभः ॥ ५४ ॥
ब्रह्मर्षित्वमनुप्राप्तः पूज्योऽसि बहुधा मया ।
तदद्भुतमभूद् विप्र पवित्रं परमं मम ॥ ५५ ॥

'मेरी बीती हुई रात सुन्दर प्रभात दे गयी, जिससे मैंने आज आप ब्राह्मणशिरोमणिका दर्शन किया। पूर्वकालमें आप राजर्षि शब्दसे उपलक्षित होते थे, फिर तपस्यासे अपनी अद्भुत प्रभाको प्रकाशित करके आपने ब्रह्मर्षिका पद पाया; अतः आप राजर्षि और ब्रह्मर्षि दोनों ही रूपोंमें मेरे पूजनीय हैं। आपका जो यहाँ मेरे समक्ष शुभागमन हुआ है, यह परम पवित्र और अद्भुत है ॥ ५४-५५ ॥

शुभक्षेत्रगतश्चाहं तव संदर्शनात् प्रभो ।
ब्रूहि यत् प्रार्थितं तुभ्यं कार्यमागमनं प्रति ॥ ५६ ॥

"प्रभो ! आपके दर्शनसे आज मेरा घर तीर्थ हो गया। मैं अपने-आपको पुण्यक्षेत्रोंकी यात्रा करके आया हुआ मानता हूँ। बताइये, आप क्या चाहते हैं ? आपके शुभागमनका शुभ उद्देश्य क्या है ? ॥ ५६ ॥

इच्छाम्यनुगृहीतोऽहं त्वदर्थं परिवृद्धये ।
कार्यस्य न विमर्शं च गन्तुमर्हसि सुव्रत ॥ ५७ ॥

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षे ! मैं चाहता हूँ कि आपकी कृपासे अनुगृहीत होकर आपके अभीष्ट मनोरथको जान लूँ और अपने अभ्युदयके लिये उसकी पूर्ति करूँ। 'कार्य सिद्ध होगा या नहीं' ऐसे संशयको अपने मनमें स्थान न दीजिये ॥

कर्ता चाहमशेषेण दैवतं हि भवान् मम ।
मम चायमनुप्राप्तो महानभ्युदयो द्विज ।
तवागमनजः कृत्स्नो धर्मश्चानुत्तमो द्विज ॥ ५८ ॥

'आप जो भी आज्ञा देंगे, मैं उसका पूर्णरूपसे पालन करूँगा; क्योंकि सम्माननीय अतिथि होनेके नाते आप मुझ गृहस्थके लिये देवता हैं। ब्रह्मन् ! आज आपके आगमनसे मुझे सम्पूर्ण धर्मोंका उत्तम फल प्राप्त हो गया। यह मेरे महान् अभ्युदयका अवसर आया है' ॥ ५८ ॥

इति हृदयसुखं निशम्य वाक्यं
श्रुतिसुखमात्मवता विनीतमुक्तम् ।
प्रथितगुणयशा गुणैर्विशिष्टः
परमऋषिः परमं जगाम हर्षम् ॥ ५९ ॥

मनस्वी नरेशके कहे हुए ये विनययुक्त वचन, जो हृदय और कानोंको सुख देनेवाले थे, सुनकर विख्यात गुण और यशवाले, शम-दम आदि सद्गुणोंसे सम्पन्न महर्षि विश्वामित्र बहुत प्रसन्न हुए ॥ ५९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डेऽष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें अठारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशः सर्गः

विश्वामित्रके मुखसे श्रीरामको साथ ले जानेकी माँग सुनकर राजा दशरथका दुःखित एवं मूर्छित होना

तच्छ्रुत्वा राजसिंहस्य वाक्यमद्भुतविस्तरम् ।
हृष्टरोमा महातेजा विश्वामित्रोऽभ्यभाषत ॥ १ ॥

नृपश्रेष्ठ महाराज दशरथका यह अद्भुत विस्तारसे युक्त वचन सुनकर महातेजस्वी विश्वामित्र पुलकित हो उठे और

इस प्रकार बोले॥ १॥

सदृशं राजशार्दूल तवैव भुवि नान्यतः।
महावंशप्रसूतस्य वसिष्ठव्यपदेशिनः॥ २॥

राजसिंह! ये बातें आपके ही योग्य हैं। इस पृथ्वीपर दूसरेके मुखसे ऐसे उदार वचन निकलनेकी सम्भावना नहीं है। क्यों न हो, आप महान् कुलमें उत्पन्न हैं और वसिष्ठ-जैसे ब्रह्मर्षि आपके उपदेशक हैं॥ २॥

यत् तु मे हृद्गतं वाक्यं तस्य कार्यस्य निश्चयम्।
कुरुष्व राजशार्दूल भव सत्यप्रतिश्रवः॥ ३॥

'अच्छा, अब जो बात मेरे हृदयमें है, उसे सुनिये। नृपश्रेष्ठ! सुनकर उस कार्यको अवश्य पूर्ण करनेका निश्चय कीजिये। आपने मेरा कार्य सिद्ध करनेकी प्रतिज्ञा की है। इस प्रतिज्ञाको सत्य कर दिखाइये॥ ३॥

अहं नियममातिष्ठे सिद्ध्यर्थं पुरुषर्षभ।
तस्य विघ्नकरौ द्वौ तु राक्षसौ कामरूपिणौ॥ ४॥

'पुरुषप्रवर! मैं सिद्धिके लिये एक नियमका अनुष्ठान करता हूँ। उसमें इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले दो राक्षस विघ्न डाल रहे हैं॥ ४॥

व्रते तु बहुशश्चीर्णे समाप्त्यां राक्षसाविमौ।
मारीचश्च सुबाहुश्च वीर्यवन्तौ सुशिक्षितौ॥ ५॥

'मेरे इस नियमका अधिकांश कार्य पूर्ण हो चुका है। अब उसकी समाप्तिके समय वे दो राक्षस आ धमके हैं। उनके नाम हैं मारीच और सुबाहु। वे दोनों बलवान् और सुशिक्षित हैं॥ ५॥

तौ मांसरुधिरौघेण वेदिं तामभ्यवर्षताम्।
अवधूते तथाभूते तस्मिन् नियमनिश्चये॥ ६॥
कृतश्रमो निरुत्साहस्तस्माद् देशादपाक्रमे।

'उन्होंने मेरी यज्ञवेदीपर रक्त और मांसकी वर्षा कर दी है। इस प्रकार उस समाप्तप्राय नियममें विघ्न पड़ जानेके कारण मेरा परिश्रम व्यर्थ गया और मैं उत्साहहीन होकर उस स्थानसे चला आया॥ ६½॥

न च मे क्रोधमुत्स्रष्टुं बुद्धिर्भवति पार्थिव॥ ७॥

'पृथ्वीनाथ! उनके ऊपर अपने क्रोधका प्रयोग करूँ—उन्हें शाप दे दूँ, ऐसा विचार मेरे मनमें नहीं आता है॥ ७॥

तथाभूता हि सा चर्या न शापस्तत्र मुच्यते।
स्वपुत्रं राजशार्दूल रामं सत्यपराक्रमम्॥ ८॥
काकपक्षधरं वीरं ज्येष्ठं मे दातुमर्हसि।

'क्योंकि वह नियम ही ऐसा है, जिसको आरम्भ कर देनेपर किसीको शाप नहीं दिया जाता; अतः नृपश्रेष्ठ! आप अपने काकपच्छधारी, सत्यपराक्रमी, शूरवीर ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामको मुझे दे दें॥ ८½॥

शक्तो ह्येष मया गुप्तो दिव्येन स्वेन तेजसा॥ ९॥
राक्षसा ये विकर्तारस्तेषामपि विनाशने।
श्रेयश्चास्मै प्रदास्यामि बहुरूपं न संशयः॥ १०॥

'ये मुझसे सुरक्षित रहकर अपने दिव्य तेजसे उन विघ्नकारी राक्षसोंका नाश करनेमें समर्थ हैं। मैं इन्हें अनेक प्रकारका श्रेय प्रदान करूँगा, इसमें संशय नहीं है॥ ९-१०॥

त्रयाणामपि लोकानां येन ख्यातिं गमिष्यति।
न च तौ राममासाद्य शक्तौ स्थातुं कथंचन॥ ११॥

'उस श्रेयको पाकर ये तीनों लोकोंमें विख्यात होंगे। श्रीरामके सामने आकर वे दोनों राक्षस किसी तरह ठहर नहीं सकते॥ ११॥

न च तौ राघवादन्यो हन्तुमुत्सहते पुमान्।
वीर्योत्सिक्तौ हि तौ पापौ कालपाशवशं गतौ॥ १२॥
रामस्य राजशार्दूल न पर्याप्तौ महात्मनः।

'इन रघुनन्दनके सिवा दूसरा कोई पुरुष उन राक्षसोंको मारनेका साहस नहीं कर सकता। नृपश्रेष्ठ! अपने बलका घमण्ड रखनेवाले वे दोनों पापी निशाचर कालपाशके अधीन हो गये हैं; अतः महात्मा श्रीरामके सामने नहीं टिक सकते॥

न च पुत्रगतं स्नेहं कर्तुमर्हसि पार्थिव॥ १३॥
अहं ते प्रतिजानामि हतौ तौ विद्धि राक्षसौ।

'भूपाल! आप पुत्रविषयक स्नेहको सामने न लाइये। मैं आपसे प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि उन दोनों राक्षसोंको इनके हाथसे मरा हुआ ही समझिये॥ १३½॥

अहं वेद्मि महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम्॥ १४॥
वसिष्ठोऽपि महातेजा ये चेमे तपसि स्थिताः।

'सत्यपराक्रमी महात्मा श्रीराम क्या हैं—यह मैं जानता हूँ। महातेजस्वी वसिष्ठजी तथा ये अन्य तपस्वी भी जानते हैं॥ १४॥

यदि ते धर्मलाभं तु यशश्च परमं भुवि॥ १५॥
स्थिरमिच्छसि राजेन्द्र रामं मे दातुमर्हसि।

'राजेन्द्र! यदि आप इस भूमण्डलमें धर्म-लाभ और उत्तम यशको स्थिर रखना चाहते हों तो श्रीरामको मुझे दे दीजिये॥ १५½॥

यद्यभ्यनुज्ञां काकुत्स्थ ददते तव मन्त्रिणः॥ १६॥
वसिष्ठप्रमुखाः सर्वे ततो रामं विसर्जय।

'ककुत्स्थनन्दन! यदि वसिष्ठ आदि आपके सभी मन्त्री आपको अनुमति दें तो आप श्रीरामको मेरे साथ विदा कर दीजिये॥ १६½॥

अभिप्रेतमसंसक्तमात्मजं दातुमर्हसि॥ १७॥
दशरात्रं हि यज्ञस्य रामं राजीवलोचनम्।

'मुझे रामको ले जाना अभीष्ट है। ये भी बड़े होनेके कारण अब आसक्तिरहित हो गये हैं; अतः आप यज्ञके अवशिष्ट दस दिनोंके लिये अपने पुत्र कमलनयन श्रीरामको मुझे दे दीजिये॥ १७½॥

नात्येति कालो यज्ञस्य यथायं मम राघव॥ १८॥
तथा कुरुष्व भद्रं ते मा च शोके मनः कृथाः।

'रघुनन्दन! आप ऐसा कीजिये जिससे मेरे यज्ञका समय व्यतीत न हो जाय। आपका कल्याण हो। आप अपने मनको शोक और चिन्तामें न डालिये' ॥१८½॥

इत्येवमुक्त्वा धर्मात्मा धर्मार्थसहितं वचः ॥ १९ ॥
विरराम महातेजा विश्वामित्रो महामतिः।

यह धर्म और अर्थसे युक्त वचन कहकर धर्मात्मा, महातेजस्वी, परमबुद्धिमान् विश्वामित्रजी चुप हो गये ॥ १९½ ॥

स तन्निशम्य राजेन्द्रो विश्वामित्रवचः शुभम् ॥ २० ॥
शोकेन महताविष्टश्चचाल च मुमोह च।

विश्वामित्रका यह शुभ वचन सुनकर महाराज दशरथको पुत्र-वियोगकी आशङ्कासे महान् दुःख हुआ। वे उससे पीड़ित हो सहसा काँप उठे और बेहोश हो गये ॥ २०½ ॥

लब्धसंज्ञस्तदोत्थाय व्यषीदत भयान्वितः ॥ २१ ॥
इति हृदयमनोविदारणं
मुनिवचनं तदतीव शुश्रुवान्।
नरपतिरभवन्महान् महात्मा
व्यथितमनाः प्रचचाल चासनात् ॥ २२ ॥

थोड़ी देर बाद जब उन्हें होश हुआ, तब वे भयभीत हो विषाद करने लगे। विश्वामित्र मुनिका वचन राजाके हृदय और मनको विदीर्ण करनेवाला था। उसे सुनकर उनके मनमें बड़ी व्यथा हुई। वे महामनस्वी महाराज अपने आसनसे विचलित हो मूर्च्छित हो गये ॥ २१-२२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकोनविंशः सर्गः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

★

विंशः सर्गः

राजा दशरथका विश्वामित्रको अपना पुत्र देनेसे इनकार करना और विश्वामित्रका कुपित होना

तच्छ्रुत्वा राजशार्दूलो विश्वामित्रस्य भाषितम्।
मुहूर्तमिव निःसंज्ञः संज्ञावानिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

विश्वामित्रजीका वचन सुनकर नृपश्रेष्ठ दशरथ दो घड़ीके लिये संज्ञाशून्य-से हो गये। फिर सचेत होकर इस प्रकार बोले— ॥ १ ॥

ऊनषोडशवर्षो मे रामो राजीवलोचनः।
न युद्धयोग्यतामस्य पश्यामि सह राक्षसैः ॥ २ ॥

'महर्षे! मेरा कमलनयन राम अभी पूरे सोलह वर्षका भी नहीं हुआ है। मैं इसमें राक्षसोंके साथ युद्ध करनेकी योग्यता नहीं देखता ॥ २ ॥

इयमक्षौहिणी सेना यस्याहं पतिरीश्वरः।
अनया सहितो गत्वा योद्धाहं तैर्निशाचरैः ॥ ३ ॥

'यह मेरी अक्षौहिणी सेना है, जिसका मैं पालक और स्वामी भी हूँ। इस सेनाके साथ मैं स्वयं ही चलकर उन निशाचरोंके साथ युद्ध करूँगा ॥ ३ ॥

इमे शूराश्च विक्रान्ता भृत्या मेऽस्त्रविशारदाः।
योग्या रक्षोगणैर्योद्धुं न रामं नेतुमर्हसि ॥ ४ ॥

'ये मेरे शूरवीर सैनिक, जो अस्त्रविद्यामें कुशल और पराक्रमी हैं, राक्षसोंके साथ जूझनेकी योग्यता रखते हैं; अतः इन्हें ही ले जाइये; रामको ले जाना उचित नहीं होगा ॥ ४ ॥

अहमेव धनुष्पाणिर्गोप्ता समरमूर्धनि।
यावत् प्राणान् धरिष्यामि तावद् योत्स्ये निशाचरैः ॥ ५ ॥

'मैं स्वयं ही हाथमें धनुष ले युद्धके मुहानेपर रहकर आपके यज्ञकी रक्षा करूँगा और जबतक इस शरीरमें प्राण रहेंगे तबतक निशाचरोंके साथ लड़ता रहूँगा ॥ ५ ॥

निर्विघ्ना व्रतचर्या सा भविष्यति सुरक्षिता।
अहं तत्र गमिष्यामि न रामं नेतुमर्हसि ॥ ६ ॥

'मेरे द्वारा सुरक्षित होकर आपका नियमानुष्ठान बिना किसी विघ्न-बाधाके पूर्ण होगा; अतः मैं ही वहाँ आपके साथ चलूँगा। आप रामको न ले जाइये ॥ ६ ॥

बालो ह्यकृतविद्यश्च न च वेत्ति बलाबलम्।
न चास्त्रबलसंयुक्तो न च युद्धविशारदः ॥ ७ ॥

'मेरा राम अभी बालक है। इसने अभीतक युद्धकी विद्या ही नहीं सीखी है। यह दूसरेके बलाबलको नहीं जानता है। न तो यह अस्त्र-बलसे सम्पन्न है और न युद्धकी कलामें निपुण ही ॥ ७ ॥

न चासौ रक्षसां योग्यः कूटयुद्धा हि राक्षसाः।
विप्रयुक्तो हि रामेण मुहूर्तमपि नोत्सहे ॥ ८ ॥
जीवितुं मुनिशार्दूल न रामं नेतुमर्हसि।
यदि वा राघवं ब्रह्मन् नेतुमिच्छसि सुव्रत ॥ ९ ॥
चतुरङ्गसमायुक्तं मया सह च तं नय।

'अतः यह राक्षसोंसे युद्ध करने योग्य नहीं है; क्योंकि राक्षस मायासे—छल-कपटसे युद्ध करते हैं। इसके सिवा रामसे वियोग हो जानेपर मैं दो घड़ी भी जीवित नहीं रह सकता; मुनिश्रेष्ठ! इसलिये आप मेरे रामको न ले जाइये। अथवा ब्रह्मन्! यदि आपकी इच्छा रामको ही ले जानेकी हो तो चतुरङ्गिणी सेनाके साथ मैं भी चलता हूँ। मेरे साथ इसे ले चलिये ॥८-९½॥'

षष्टिर्वर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक ॥ १० ॥
कृच्छ्रेणोत्पादितश्चायं न रामं नेतुमर्हसि।

'कुशिकनन्दन! मेरी अवस्था साठ हजार वर्षकी हो

गयी। इस बुढ़ापेमें बड़ी कठिनाईसे मुझे पुत्रकी प्राप्ति हुई है, अतः आप रामको न ले जाइये ॥ १०½ ॥

चतुर्णामात्मजानां हि प्रीतिः परमिका मम ॥ ११ ॥
ज्येष्ठे धर्मप्रधाने च न रामं नेतुमर्हसि।

'धर्मप्रधान राम मेरे चारों पुत्रोंमें ज्येष्ठ हैं; इसलिये उनपर मेरा प्रेम सबसे अधिक है; अतः आप रामको न ले जाइये ॥ ११ ॥

किं वीर्या राक्षसास्ते च कस्य पुत्राश्च के च ते ॥ १२ ॥
कथं प्रमाणाः के चैतान् रक्षन्ति मुनिपुङ्गव।
कथं च प्रतिकर्तव्यं तेषां रामेण रक्षसाम् ॥ १३ ॥

'वे राक्षस कैसे पराक्रमी हैं, किसके पुत्र हैं और कौन हैं? उनका डीलडौल कैसा है? मुनीश्वर! उनकी रक्षा कौन करते हैं? राम उन राक्षसोंका सामना कैसे कर सकता है? ॥ १२-१३ ॥

मामकैर्वा बलैर्ब्रह्मन् मया वा कूटयोधिनाम्।
सर्वं मे शंस भगवन् कथं तेषां मया रणे ॥ १४ ॥
स्थातव्यं दुष्टभावानां वीर्योत्सिक्ता हि राक्षसाः।

'ब्रह्मन्! मेरे सैनिकोंको या स्वयं मुझे ही उन मायायोधी राक्षसोंका प्रतीकार कैसे करना चाहिये? भगवन्! ये सारी बातें आप मुझे बताइये। उन दुष्टोंके साथ युद्धमें मुझे कैसे खड़ा होना चाहिये? क्योंकि राक्षस बड़े बलाभिमानी होते हैं' ॥ १४½ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा विश्वामित्रोऽभ्यभाषत ॥ १५ ॥
पौलस्त्यवंशप्रभवो रावणो नाम राक्षसः।
स ब्रह्मणा दत्तवरस्त्रैलोक्यं बाधते भृशम् ॥ १६ ॥
महाबलो महावीर्यो राक्षसैर्बहुभिर्वृतः।
श्रूयते च महाराज रावणो राक्षसाधिपः ॥ १७ ॥
साक्षाद्वैश्रवणभ्राता पुत्रो विश्रवसो मुनेः।

राजा दशरथकी इस बातको सुनकर विश्वामित्रजी बोले—'महाराज! रावण नामसे प्रसिद्ध एक राक्षस है, जो महर्षि पुलस्त्यके कुलमें उत्पन्न हुआ है। उसे ब्रह्माजीसे मुँहमाँगा वरदान प्राप्त हुआ है; जिससे महान् बलशाली और महापराक्रमी होकर बहुसंख्यक राक्षसोंसे घिरा हुआ वह निशाचर तीनों लोकोंके निवासियोंको अत्यन्त कष्ट दे रहा है। सुना जाता है कि राक्षसराज रावण विश्रवा मुनिका औरस पुत्र तथा साक्षात् कुबेरका भाई है ॥ १५—१७½ ॥

यदा न खलु यज्ञस्य विघ्नकर्ता महाबलः ॥ १८ ॥
तेन संचोदितौ तौ तु राक्षसौ च महाबलौ।
मारीचश्च सुबाहुश्च यज्ञविघ्नं करिष्यतः ॥ १९ ॥

'वह महाबली निशाचर इच्छा रहते हुए भी स्वयं आकर यज्ञमें विघ्न नहीं डालता (अपने लिये इसे तुच्छ कार्य समझता है), इसलिये उसीकी प्रेरणासे दो महान् बलवान् राक्षस मारीच और सुबाहु यज्ञोंमें विघ्न डाला करते हैं' ॥ १८-१९ ॥

इत्युक्तो मुनिना तेन राजोवाच मुनिं तदा।
नहि शक्तोऽस्मि संग्रामे स्थातुं तस्य दुरात्मनः ॥ २० ॥

विश्वामित्र मुनिके ऐसा कहनेपर राजा दशरथ उनसे इस प्रकार बोले—'मुनिवर! मैं उस दुरात्मा रावणके सामने युद्धमें नहीं ठहर सकता ॥ २० ॥

स त्वं प्रसादं धर्मज्ञ कुरुष्व मम पुत्रके।
मम चैवाल्पभाग्यस्य दैवतं हि भवान् गुरुः ॥ २१ ॥

'धर्मज्ञ महर्षे! आप मेरे पुत्रपर तथा मुझ मन्दभागी दशरथपर भी कृपा कीजिये; क्योंकि आप मेरे देवता तथा गुरु हैं ॥ २१ ॥

देवदानवगन्धर्वा यक्षाः पतगपन्नगाः।
न शक्ता रावणं सोढुं किं पुनर्मानवा युधि ॥ २२ ॥

'युद्धमें रावणका वेग तो देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष, गरुड़ और नाग भी नहीं सह सकते; फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ॥ २२ ॥

स तु वीर्यवतां वीर्यमादत्ते युधि रावणः।
तेन चाहं न शक्तोऽस्मि संयोद्धुं तस्य वा बलैः ॥ २३ ॥
सबलो वा मुनिश्रेष्ठ सहितो वा ममात्मजैः।

'मुनिश्रेष्ठ! रावण समराङ्गणमें बलवानोंके बलका अपहरण कर लेता है, अतः मैं अपनी सेना और पुत्रोंके साथ रहकर भी उससे तथा उसके सैनिकोंसे युद्ध करनेमें असमर्थ हूँ ॥ २३½ ॥

कथमप्यमरप्रख्यं संग्रामाणामकोविदम् ॥ २४ ॥
बालं मे तनयं ब्रह्मन् नैव दास्यामि पुत्रकम्।

'ब्रह्मन्! यह मेरा देवोपम पुत्र युद्धकी कलासे सर्वथा अनभिज्ञ है। इसकी अवस्था भी अभी बहुत थोड़ी है; इसलिये मैं इसे किसी तरह नहीं दूँगा ॥ २४½ ॥

अथ कालोपमौ युद्धे सुतौ सुन्दोपसुन्दयोः ॥ २५ ॥
यज्ञविघ्नकरौ तौ ते नैव दास्यामि पुत्रकम्।
मारीचश्च सुबाहुश्च वीर्यवन्तौ सुशिक्षितौ ॥ २६ ॥

'मारीच और सुबाहु सुप्रसिद्ध दैत्य सुन्द और उपसुन्दके पुत्र हैं। वे दोनों युद्धमें यमराजके समान हैं। यदि वे ही आपके यज्ञमें विघ्न डालनेवाले हैं तो मैं उनका सामना करनेके लिये अपने पुत्रको नहीं दूँगा; क्योंकि वे दोनों प्रबल पराक्रमी और युद्धविषयक उत्तम शिक्षासे सम्पन्न हैं ॥ २५-२६ ॥

तयोरन्यतरं योद्धुं यास्यामि ससुहृद्गणः।
अन्यथा त्वनुनेष्यामि भवन्तं सहबान्धवः ॥ २७ ॥

'मैं उन दोनोंमेंसे किसी एकके साथ युद्ध करनेके लिये अपने सुहृदोंके साथ चलूँगा; अन्यथा—यदि आप मुझे न ले जाना चाहें तो मैं भाई-बन्धुओंसहित आपसे अनुनय-विनय करूँगा कि आप रामको छोड़ दें' ॥ २७ ॥

इति नरपतिजल्पनाद् द्विजेन्द्रं
कुशिकसुतं सुमहान् विवेशमन्युः।
सुहुत इव मखेऽग्निराज्यसिक्तः
समभवदुज्ज्वलितो महर्षिवह्निः॥ २८॥

राजा दशरथके ऐसे वचन सुनकर विप्रवर कुशिकनन्दन विश्वामित्रके मनमें महान् क्रोधका आवेश हो आया, जैसे यज्ञशालामें अग्निको भली-भाँति आहुति देकर घीकी धारासे अभिषिक्त कर दिया जाय और वह प्रज्वलित हो उठे, उसी तरह अग्नितुल्य तेजस्वी महर्षि विश्वामित्र भी क्रोधसे जल उठे॥ २८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे विंशः सर्गः॥ २०॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २०॥

एकविंशः सर्गः

विश्वामित्रके रोषपूर्ण वचन तथा वसिष्ठका राजा दशरथको समझाना

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य स्नेहपर्याकुलाक्षरम्।
समन्युः कौशिको वाक्यं प्रत्युवाच महीपतिम्॥ १॥

राजा दशरथकी बातके एक-एक अक्षरमें पुत्रके प्रति स्नेह भरा हुआ था, उसे सुनकर महर्षि विश्वामित्र कुपित हो उनसे इस प्रकार बोले—॥ १॥

पूर्वमर्थं प्रतिश्रुत्य प्रतिज्ञां हातुमिच्छसि।
राघवाणामयुक्तोऽयं कुलस्यास्य विपर्ययः॥ २॥

'राजन्! पहले मेरी माँगी हुई वस्तुके देनेकी प्रतिज्ञा करके अब तुम उसे तोड़ना चाहते हो। प्रतिज्ञाका यह त्याग रघुवंशियोंके योग्य तो नहीं है। यह बर्ताव तो इस कुलके विनाशका सूचक है॥ २॥

यदीदं ते क्षमं राजन् गमिष्यामि यथागतम्।
मिथ्याप्रतिज्ञः काकुत्स्थ सुखी भव सुहृद्वृतः॥ ३॥

'नरेश्वर! यदि तुम्हें ऐसा ही उचित प्रतीत होता है तो मैं जैसे आया था, वैसे ही लौट जाऊँगा। ककुत्स्थकुलके रत्न! अब तुम अपनी प्रतिज्ञा झूठी करके हितैषी सुहृदोंसे घिरे रहकर सुखी रहो'॥ ३॥

तस्य रोषपरीतस्य विश्वामित्रस्य धीमतः।
चचाल वसुधा कृत्स्ना देवानां च भयं महत्॥ ४॥

बुद्धिमान् विश्वामित्रके कुपित होते ही सारी पृथ्वी काँप उठी और देवताओंके मनमें महान् भय समा गया॥ ४॥

त्रस्तरूपं तु विज्ञाय जगत् सर्वं महानृषिः।
नृपतिं सुव्रतो धीरो वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत्॥ ५॥

उनके रोषसे सारे संसारको त्रस्त हुआ जान उत्तम व्रतका पालन करनेवाले धीरचित्त महर्षि वसिष्ठने राजासे इस प्रकार कहा—॥ ५॥

इक्ष्वाकूणां कुले जातः साक्षाद् धर्म इवापरः।
धृतिमान् सुव्रतः श्रीमान् न धर्मं हातुमर्हसि॥ ६॥

'महाराज! आप इक्ष्वाकुवंशी राजाओंके कुलमें साक्षात् दूसरे धर्मके समान उत्पन्न हुए हैं। धैर्यवान्, उत्तम व्रतके पालक तथा श्रीसम्पन्न हैं। आपको अपने धर्मका परित्याग नहीं करना चाहिये॥ ६॥

त्रिषु लोकेषु विख्यातो धर्मात्मा इति राघवः।
स्वधर्मं प्रतिपद्यस्व नाधर्मं वोढुमर्हसि॥ ७॥

''रघुकुलभूषण दशरथ बड़े धर्मात्मा हैं' यह बात तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है। अतः आप अपने धर्मका ही पालन कीजिये; अधर्मका भार सिरपर न उठाइये॥ ७॥

प्रतिश्रुत्य करिष्येति उक्तं वाक्यमकुर्वतः।
इष्टापूर्तवधो भूयात् तस्माद् रामं विसर्जय॥ ८॥

'मैं अमुक कार्य करूँगा'—ऐसी प्रतिज्ञा करके भी जो उस वचनका पालन नहीं करता, उसके यज्ञ-यागादि इष्ट तथा बावली-तालाब बनवाने आदि पूर्त कर्मोंके पुण्यका नाश हो जाता है, अतः आप श्रीरामको विश्वामित्रजीके साथ भेज दीजिये॥ ८॥

कृतास्त्रमकृतास्त्रं वा नैनं शक्ष्यन्ति राक्षसाः।
गुप्तं कुशिकपुत्रेण ज्वलनेनामृतं यथा॥ ९॥

'ये अस्त्रविद्या जानते हों या न जानते हों, राक्षस इनका सामना नहीं कर सकते। जैसे प्रज्वलित अग्निद्वारा सुरक्षित अमृतपर कोई हाथ नहीं लगा सकता, उसी प्रकार कुशिकनन्दन विश्वामित्रसे सुरक्षित हुए श्रीरामका वे राक्षस कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते॥ ९॥

एष विग्रहवान् धर्म एष वीर्यवतां वरः।
एष विद्याधिको लोके तपसश्च परायणम्॥ १०॥

'ये श्रीराम तथा महर्षि विश्वामित्र साक्षात् धर्मकी मूर्ति हैं। ये बलवानोंमें श्रेष्ठ हैं। विद्याके द्वारा ही ये संसारमें सबसे बढ़े-चढ़े हैं। तपस्याके तो ये विशाल भण्डार ही हैं॥ १०॥

एषोऽस्त्रान् विविधान् वेत्ति त्रैलोक्ये सचराचरे।
नैनमन्यः पुमान् वेत्ति न च वेत्स्यन्ति केचन॥ ११॥

'चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंमें जो नाना प्रकारके अस्त्र हैं, उन सबको ये जानते हैं। इन्हें मेरे सिवा दूसरा कोई पुरुष न तो अच्छी तरह जानता है और न कोई जानेंगे ही॥ ११॥

न देवा नर्षयः केचिन्नामरा न च राक्षसाः।
गन्धर्वयक्षप्रवराः सकिन्नरमहोरगाः॥ १२॥

'देवता, ऋषि, राक्षस, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर तथा बड़े-बड़े नाग भी इनके प्रभावको नहीं जानते हैं॥ १२॥

सर्वास्त्राणि कृशाश्वस्य पुत्राः परमधार्मिकाः।
कौशिकाय पुरा दत्ता यदा राज्यं प्रशासति॥ १३॥

'प्रायः सभी अस्त्र प्रजापति कृशाश्वके परम धर्मात्मा पुत्र हैं। उन्हें प्रजापतिने पूर्वकालमें कुशिकनन्दन विश्वामित्रको जब कि वे राज्यशासन करते थे, समर्पित कर दिया था॥ १३॥

तेऽपि पुत्राः कृशाश्वस्य प्रजापतिसुतासुताः।
नैकरूपा महावीर्या दीप्तिमन्तो जयावहाः॥ १४॥

'कृशाश्वके वे पुत्र प्रजापति दक्षकी दो पुत्रियोंकी संतानें हैं। उनके अनेक रूप हैं। वे सब-के-सब महान् शक्तिशाली, प्रकाशमान और विजय दिलानेवाले हैं॥ १४॥

जया च सुप्रभा चैव दक्षकन्ये सुमध्यमे।
ते सूतेऽस्त्राणि शस्त्राणि शतं परमभास्वरम्॥ १५॥

'प्रजापति दक्षकी दो सुन्दरी कन्याएँ हैं, उनके नाम हैं जया और सुप्रभा। उन दोनोंने एक सौ परम प्रकाशमान अस्त्र-शस्त्रोंको उत्पन्न किया है॥ १५॥

पञ्चाशतं सुताँल्लेभे जया लब्धवरा वरान्।
वधायासुरसैन्यानामप्रमेयानरूपिणः॥ १६॥

'उनमेंसे जयाने वर पाकर पचास श्रेष्ठ पुत्रोंको प्राप्त किया है, जो अपरिमित शक्तिशाली और रूपरहित हैं। वे सब-के-सब असुरोंकी सेनाओंका वध करनेके लिये प्रकट हुए हैं॥ १६॥

सुप्रभाजनयच्चापि पुत्रान् पञ्चाशतं पुनः।
संहारान् नाम दुर्धर्षान् दुराक्रामान् बलीयसः॥ १७॥

'फिर सुप्रभाने भी संहार नामक पचास पुत्रोंको जन्म दिया, जो अत्यन्त दुर्जय हैं। उनपर आक्रमण करना किसीके लिये भी सर्वथा कठिन है तथा वे सब-के-सब अत्यन्त बलिष्ठ हैं॥ १७॥

तानि चास्त्राणि वेत्त्येष यथावत् कुशिकात्मजः।
अपूर्वाणां च जनने शक्तो भूयश्च धर्मवित्॥ १८॥

'ये धर्मज्ञ कुशिकनन्दन उन सब अस्त्र-शस्त्रोंको अच्छी तरह जानते हैं। जो अस्त्र अबतक उपलब्ध नहीं हुए हैं, उनको भी उत्पन्न करनेकी इनमें पूर्ण शक्ति है॥ १८॥

तेनास्य मुनिमुख्यस्य धर्मज्ञस्य महात्मनः।
न किञ्चिदस्त्यविदितं भूतं भव्यं च राघव॥ १९॥

'रघुनन्दन! इसलिये इन मुनिश्रेष्ठ धर्मज्ञ महात्मा विश्वामित्रजीसे भूत या भविष्यकी कोई बात छिपी नहीं है॥ १९॥

एवंवीर्यो महातेजा विश्वामित्रो महायशाः।
न रामगमने राजन् संशयं गन्तुमर्हसि॥ २०॥

'राजन्! ये महातेजस्वी, महायशस्वी विश्वामित्र ऐसे प्रभावशाली हैं। अतः इनके साथ रामको भेजनेमें आप किसी प्रकारका संदेह न करें॥ २०॥

तेषां निग्रहणे शक्तः स्वयं च कुशिकात्मजः।
तव पुत्रहितार्थाय त्वामुपेत्याभियाचते॥ २१॥

'महर्षि कौशिक स्वयं भी उन राक्षसोंका संहार करनेमें समर्थ हैं; किंतु ये आपके पुत्रका कल्याण करना चाहते हैं, इसीलिये यहाँ आकर आपसे याचना कर रहे हैं'॥ २१॥

इति मुनिवचनात् प्रसन्नचित्तो
रघुवृषभश्च मुमोद पार्थिवाग्र्यः।
गमनमभिरुरोच राघवस्य
प्रथितयशाः कुशिकात्मजाय बुद्ध्या॥ २२॥

महर्षि वसिष्ठके इस वचनसे विख्यात यशवाले रघुकुलशिरोमणि नृपश्रेष्ठ दशरथका मन प्रसन्न हो गया। वे आनन्दमग्न हो गये और बुद्धिसे विचार करनेपर विश्वामित्रजीकी प्रसन्नताके लिये उनके साथ श्रीरामका जाना उन्हें रुचिके अनुकूल प्रतीत होने लगा॥ २२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकविंशः सर्गः॥ २१॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें इक्कीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २१॥

द्वाविंशः सर्गः

राजा दशरथका स्वस्तिवाचनपूर्वक राम-लक्ष्मणको मुनिके साथ भेजना, मार्गमें उन्हें विश्वामित्रसे बला और अतिबला नामक विद्याकी प्राप्ति

तथा वसिष्ठे ब्रुवति राजा दशरथः स्वयम्।
प्रहृष्टवदनो राममाजुहाव सलक्ष्मणम्॥ १॥
कृतस्वस्त्ययनं मात्रा पित्रा दशरथेन च।
पुरोधसा वसिष्ठेन मङ्गलैरभिमन्त्रितम्॥ २॥

वसिष्ठके ऐसा कहनेपर राजा दशरथका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा। उन्होंने स्वयं ही लक्ष्मणसहित श्रीरामको अपने पास बुलाया। फिर माता कौसल्या, पिता दशरथ और पुरोहित वसिष्ठने स्वस्तिवाचन करनेके पश्चात् उनका यात्रासम्बन्धी मङ्गलकार्य सम्पन्न किया—श्रीरामको मङ्गलसूचक मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित किया गया॥ १-२॥

स पुत्रं मूर्ध्न्युपाघ्राय राजा दशरथस्तदा।
ददौ कुशिकपुत्राय सुप्रीतेनान्तरात्मना॥ ३॥

तदनन्तर राजा दशरथने पुत्रका मस्तक सूँघकर अत्यन्त प्रसन्नचित्तसे उसको विश्वामित्रको सौंप दिया॥ ३॥

ततो वायुः सुखस्पर्शो नीरजस्को ववौ तदा।
विश्वामित्रगतं रामं दृष्ट्वा राजीवलोचनम्॥ ४॥
पुष्पवृष्टिर्महत्यासीद् देवदुन्दुभिनिःस्वनैः।
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषः प्रयाते तु महात्मनि॥ ५॥

उस समय धूलरहित सुखदायिनी वायु चलने लगी। कमलनयन श्रीरामको विश्वामित्रजीके साथ जाते देख देवताओंने आकाशसे वहाँ फूलोंकी बड़ी भारी वर्षा की। देवदुन्दुभियाँ बजने लगीं। महात्मा श्रीरामकी यात्राके समय शङ्खों और नगाड़ोंकी ध्वनि होने लगी॥ ४-५॥

विश्वामित्रो ययावग्रे ततो रामो महायशाः।
काकपक्षधरो धन्वी तं च सौमित्रिरन्वगात्॥ ६॥

आगे-आगे विश्वामित्र, उनके पीछे काकपक्षधारी महायशस्वी श्रीराम तथा उनके पीछे सुमित्राकुमार लक्ष्मण जा रहे थे॥ ६॥

कलापिनौ धनुष्पाणी शोभयानौ दिशो दश।
विश्वामित्रं महात्मानं त्रिशीर्षाविव पन्नगौ॥ ७॥

उन दोनों भाइयोंने पीठपर तरकस बाँध रखे थे। उनके हाथोंमें धनुष शोभा पा रहे थे तथा वे दोनों दसों दिशाओंको सुशोभित करते हुए महात्मा विश्वामित्रके पीछे तीन-तीन फनवाले दो सर्पोंके समान चल रहे थे। एक ओर कंधेपर धनुष, दूसरी ओर पीठपर तूणीर और बीचमें मस्तक—इन्हीं तीनोंकी तीन फनसे उपमा दी गयी है॥ ७॥

अनुजग्मतुरक्षुद्रौ पितामहमिवाश्विनौ।
अनुयातौ श्रिया दीप्तौ शोभयन्तावनिन्दितौ॥ ८॥

उनका स्वभाव उच्च एवं उदार था। अपनी अनुपम कान्तिसे प्रकाशित होनेवाले वे दोनों अनिन्द्य सुन्दर राजकुमार सब ओर शोभाका प्रसार करते हुए विश्वामित्रजीके पीछे उसी तरह जा रहे थे, जैसे ब्रह्माजीके पीछे दोनों अश्विनीकुमार चलते हैं॥ ८॥

तदा कुशिकपुत्रं तु धनुष्पाणी स्वलंकृतौ।
बद्धगोधाङ्गुलित्राणौ खड्गवन्तौ महाद्युती॥ ९॥
कुमारौ चारुवपुषौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
अनुयातौ श्रिया दीप्तौ शोभयेतामनिन्दितौ॥ १०॥
स्थाणुं देवमिवाचिन्त्यं कुमाराविव पावकी।

वे दोनों भाई कुमार श्रीराम और लक्ष्मण वस्त्र और आभूषणोंसे अच्छी तरह अलंकृत थे। उनके हाथोंमें धनुष थे। उन्होंने अपने हाथोंकी अङ्गुलियोंमें गोहटीके चमड़ेके बने हुए दस्ताने पहन रखे थे। उनके कटिप्रदेशमें तलवारें लटक रही थीं। उनके श्रीअङ्ग बड़े मनोहर थे। वे महातेजस्वी श्रेष्ठ वीर अद्भुत कान्तिसे उद्भासित हो सब ओर अपनी शोभा फैलाते हुए कुशिकपुत्र विश्वामित्रका अनुसरण कर रहे थे। उस समय वे दोनों वीर अचिन्त्य शक्तिशाली स्थाणुदेव (महादेव) के पीछे चलनेवाले दो अग्निकुमार स्कन्द और विशाखकी भाँति शोभा पाते थे॥ ९-१० १/२॥

अध्यर्धयोजनं गत्वा सरय्वा दक्षिणे तटे॥ ११॥
रामेति मधुरां वाणीं विश्वामित्रोऽभ्यभाषत।
गृहाण वत्स सलिलं मा भूत् कालस्य पर्ययः॥ १२॥

अयोध्यासे डेढ़ योजन दूर जाकर सरयूके दक्षिण तटपर विश्वामित्रने मधुर वाणीमें रामको सम्बोधित किया और कहा—'वत्स राम! अब सरयूके जलसे आचमन करो। इस आवश्यक कार्यमें विलम्ब न हो।॥ ११-१२॥

मन्त्रग्रामं गृहाण त्वं बलामतिबलां तथा।
न श्रमो न ज्वरो वा ते न रूपस्य विपर्ययः॥ १३॥

'बला और अतिबला नामसे प्रसिद्ध इस मन्त्र-समुदायको ग्रहण करो। इसके प्रभावसे तुम्हें कभी श्रम (थकावट) का अनुभव नहीं होगा। ज्वर (रोग या चिन्ताजनित कष्ट) नहीं होगा। तुम्हारे रूपमें किसी प्रकारका विकार या उलट-फेर नहीं होने पायेगा॥ १३॥

न च सुप्तं प्रमत्तं वा धर्षयिष्यन्ति नैर्ऋताः।
न बाह्वोः सदृशो वीर्ये पृथिव्यामस्ति कश्चन॥ १४॥

'सोते समय अथवा असावधानीकी अवस्थामें भी राक्षस तुम्हारे ऊपर आक्रमण नहीं कर सकेंगे। इस भूतलपर बाहुबलमें तुम्हारी समानता करनेवाला कोई न होगा॥ १४॥

त्रिषु लोकेषु वा राम न भवेत् सदृशस्तव।
बलामतिबलां चैव पठतस्तात राघव॥ १५॥

'तात! रघुकुलनन्दन राम! बला और अतिबलाका अभ्यास करनेसे तीनों लोकोंमें तुम्हारे समान कोई नहीं रह जायगा॥ १५॥

न सौभाग्ये न दाक्षिण्ये न ज्ञाने बुद्धिनिश्चये।
नोत्तरे प्रतिवक्तव्ये समो लोके तवानघ॥ १६॥

'अनघ! सौभाग्य, चातुर्य, ज्ञान और बुद्धिसम्बन्धी निश्चयमें तथा किसीके प्रश्नका उत्तर देनेमें भी कोई तुम्हारी तुलना नहीं कर सकेगा॥ १६॥

एतद्विद्याद्वये लब्धे न भवेत् सदृशस्तव।
बला चातिबला चैव सर्वज्ञानस्य मातरौ॥ १७॥

'इन दोनों विद्याओंके प्राप्त हो जानेपर कोई तुम्हारी समानता नहीं कर सकेगा; क्योंकि ये बला और अतिबला नामक विद्याएँ सब प्रकारके ज्ञानकी जननी हैं॥ १७॥

क्षुत्पिपासे न ते राम भविष्येते नरोत्तम।
बलामतिबलां चैव पठतस्तात राघव॥ १८॥
गृहाण सर्वलोकस्य गुप्तये रघुनन्दन।

'नरश्रेष्ठ श्रीराम! तात रघुनन्दन! बला और अतिबलाका अभ्यास कर लेनेपर तुम्हें भूख-प्यासका भी कष्ट नहीं होगा; अतः रघुकुलको आनन्दित करनेवाले राम! तुम सम्पूर्ण जगत्‌की रक्षाके लिये इन दोनों विद्याओंको ग्रहण करो॥ १८ १/२॥

विद्याद्वयमधीयाने यशश्चाथ भवेद् भुवि ।
पितामहसुते ह्येते विद्ये तेजःसमन्विते ॥ १९ ॥

इन दोनों विद्याओंका अध्ययन कर लेनेपर इस भूतलपर तुम्हारे यशका विस्तार होगा। ये दोनों विद्याएँ ब्रह्माजीकी तेजस्विनी पुत्रियाँ हैं ॥ १९ ॥

प्रदातुं तव काकुत्स्थ सदृशस्त्वं हि पार्थिव ।
कामं बहुगुणाः सर्वे त्वय्येते नात्र संशयः ॥ २० ॥
तपसा सम्भृते चैते बहुरूपे भविष्यतः ।

ककुत्स्थनन्दन! मैंने इन दोनोंको तुम्हें देनेका विचार किया है। राजकुमार! तुम्हीं इनके योग्य पात्र हो। यद्यपि तुममें इस विद्याको प्राप्त करने योग्य बहुत-से गुण हैं अथवा सभी उत्तम गुण विद्यमान हैं, इसमें संशय नहीं है तथापि मैंने तपोबलसे इनका अर्जन किया है। अतः मेरी तपस्यासे परिपूर्ण होकर ये तुम्हारे लिये बहुरूपिणी होंगी—अनेक प्रकारके फल प्रदान करेंगी ॥ २०½ ॥

ततो रामो जलं स्पृष्ट्वा प्रहृष्टवदनः शुचिः ॥ २१ ॥
प्रतिजग्राह ते विद्ये महर्षेर्भावितात्मनः ।

तब श्रीराम आचमन करके पवित्र हो गये। उनका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा। उन्होंने उन शुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षिसे वे दोनों विद्याएँ ग्रहण कीं ॥ २१½ ॥

विद्यासमुदितो रामः शुशुभे भीमविक्रमः ॥ २२ ॥
सहस्ररश्मिर्भगवाञ्शरदीव दिवाकरः ।

विद्यासे सम्पन्न होकर भयङ्कर पराक्रमी श्रीराम सहस्रों किरणोंसे युक्त शरत्कालीन भगवान् सूर्यके समान शोभा पाने लगे ॥ २२½ ॥

गुरुकार्याणि सर्वाणि नियुज्य कुशिकात्मजे ।
ऊषुस्तां रजनीं तत्र सरय्वां ससुखं त्रयः ॥ २३ ॥

तत्पश्चात् श्रीरामने विश्वामित्रजीकी सारी गुरुजनोचित सेवाएँ करके हर्षका अनुभव किया। फिर वे तीनों वहाँ सरयूके तटपर रातमें सुखपूर्वक रहे ॥ २३ ॥

दशरथनृपसूनुसत्तमाभ्यां
तृणशयनेऽनुचिते तदोषिताभ्याम् ।
कुशिकसुतवचोऽनुलालिताभ्यां
सुखमिव सा विबभौ विभावरी च ॥ २४ ॥

राजा दशरथके वे दोनों श्रेष्ठ राजकुमार उस समय वहाँ तृणकी शय्यापर, जो उनके योग्य नहीं थी, सोये थे। महर्षि विश्वामित्र अपनी वाणीद्वारा उन दोनोंके प्रति लाड़-प्यार प्रकट कर रहे थे। इससे उन्हें वह रात बड़ी सुखमयी-सी प्रतीत हुई ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे द्वाविंशः सर्गः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें बाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २२ ॥

---★---

त्रयोविंशः सर्गः

विश्वामित्रसहित श्रीराम और लक्ष्मणका सरयू-गङ्गासंगमके समीप पुण्य आश्रममें रातको ठहरना

प्रभातायां तु शर्वर्यां विश्वामित्रो महामुनिः ।
अभ्यभाषत काकुत्स्थौ शयानौ पर्णसंस्तरे ॥ १ ॥

जब रात बीती और प्रभात हुआ, तब महामुनि विश्वामित्रने तिनकों और पत्तोंके बिछौनेपर सोये हुए उन दोनों ककुत्स्थवंशी राजकुमारोंसे कहा— ॥ १ ॥

कौसल्या सुप्रजा राम पूर्वा संध्या प्रवर्तते ।
उत्तिष्ठ नरशार्दूल कर्तव्यं दैवमाह्निकम् ॥ २ ॥

'नरश्रेष्ठ राम! तुम्हारे-जैसे पुत्रको पाकर महारानी कौसल्या सुपुत्रजननी कही जाती हैं। यह देखो, प्रातःकालकी संध्याका समय हो रहा है; उठो और प्रतिदिन किये जानेवाले देवसम्बन्धी कार्योंको पूर्ण करो' ॥ २ ॥

तस्यर्षेः परमोदारं वचः श्रुत्वा नरोत्तमौ ।
स्नात्वा कृतोदकौ वीरौ जेपतुः परमं जपम् ॥ ३ ॥

महर्षिका यह परम उदार वचन सुनकर उन दोनों नरश्रेष्ठ वीरोंने स्नान करके देवताओंका तर्पण किया और फिर वे परम उत्तम जपनीय मन्त्र गायत्रीका जप करने लगे ॥ ३ ॥

कृताह्निकौ महावीर्यौ विश्वामित्रं तपोधनम् ।
अभिवाद्यातिसंहृष्टौ गमनायाभितस्थतुः ॥ ४ ॥

नित्यकर्म समाप्त करके महापराक्रमी श्रीराम और लक्ष्मण अत्यन्त प्रसन्न हो तपोधन विश्वामित्रको प्रणाम करके वहाँसे आगे जानेको उद्यत हो गये ॥ ४ ॥

तौ प्रयान्तौ महावीर्यौ दिव्यां त्रिपथगां नदीम् ।
ददृशाते ततस्तत्र सरय्वाः संगमे शुभे ॥ ५ ॥

जाते-जाते उन महाबली राजकुमारोंने गङ्गा और सरयूके शुभ सङ्गमपर पहुँचकर वहाँ दिव्य त्रिपथगा नदी गङ्गाजीका दर्शन किया ॥ ५ ॥

तत्राश्रमपदं पुण्यमृषीणां भावितात्मनाम् ।
बहुवर्षसहस्राणि तप्यतां परमं तपः ॥ ६ ॥

सङ्गमके पास ही शुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षियोंका एक पवित्र आश्रम था, जहाँ वे कई हजार वर्षोंसे तीव्र तपस्या करते थे ॥ ६ ॥

तं दृष्ट्वा परमप्रीतौ राघवौ पुण्यमाश्रमम् ।
ऊचतुस्तं महात्मानं विश्वामित्रमिदं वचः ॥ ७ ॥

उस पवित्र आश्रमको देखकर रघुकुलरत्न श्रीराम और लक्ष्मण बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने महात्मा विश्वामित्रसे यह बात कही— ॥ ७ ॥

कस्यायमाश्रमः पुण्यः को न्वस्मिन् वसते पुमान्।
भगवञ्छ्रोतुमिच्छावः परं कौतूहलं हि नौ॥ ८॥

'भगवन्! यह किसका पवित्र आश्रम है? और इसमें कौन पुरुष निवास करता है? यह हम दोनों सुनना चाहते हैं। इसके लिये हमारे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है'॥ ८॥

तयोस्तद् वचनं श्रुत्वा प्रहस्य मुनिपुङ्गवः।
अब्रवीच्छ्रूयतां राम यस्यायं पूर्व आश्रमः॥ ९॥

उन दोनोंका यह वचन सुनकर मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र हँसते हुए बोले—'राम! यह आश्रम पहले जिसके अधिकारमें रहा है, उसका परिचय देता हूँ, सुनो॥ ९॥

कन्दर्पो मूर्तिमानासीत् काम इत्युच्यते बुधैः।
तपस्यन्तमिह स्थाणुं नियमेन समाहितम्॥ १०॥

'विद्वान् पुरुष जिसे काम कहते हैं, वह कन्दर्प पूर्वकालमें मूर्तिमान् था—शरीर धारण करके विचरता था। उन दिनों भगवान् स्थाणु (शिव) इसी आश्रममें चित्तको एकाग्र करके नियमपूर्वक तपस्या करते थे॥ १०॥

कृतोद्वाहं तु देवेशं गच्छन्तं समरुद्गणम्।
धर्षयामास दुर्मेधा हुंकृतश्च महात्मना॥ ११॥

'एक दिन समाधिसे उठकर देवेश्वर शिव मरुद्गणोंके साथ कहीं जा रहे थे। उसी समय दुर्बुद्धि कामने उनपर आक्रमण किया। यह देख महात्मा शिवने हुङ्कार करके उसे रोका॥

अवध्यातश्च रुद्रेण चक्षुषा रघुनन्दन।
व्यशीर्यन्त शरीरात् स्वात् सर्वगात्राणि दुर्मतेः॥ १२॥

'रघुनन्दन! भगवान् रुद्रने रोषभरी दृष्टिसे अवहेलनापूर्वक उसकी ओर देखा; फिर तो उस दुर्बुद्धिके सारे अङ्ग उसके शरीरसे जीर्ण-शीर्ण होकर गिर गये॥ १२॥

तत्र गात्रं हतं तस्य निर्दग्धस्य महात्मनः।
अशरीरः कृतः कामः क्रोधाद् देवेश्वरेण ह॥ १३॥

'वहाँ दग्ध हुए महामना कन्दर्पका शरीर नष्ट हो गया। देवेश्वर रुद्रने अपने क्रोधसे कामको अङ्गहीन कर दिया॥

अनङ्ग इति विख्यातस्तदाप्रभृति राघव।
स चाङ्गविषयः श्रीमान् यत्राङ्गं स मुमोच ह॥ १४॥

'राम! तभीसे वह 'अनङ्ग' नामसे विख्यात हुआ। शोभाशाली कन्दर्पने जहाँ अपना अङ्ग छोड़ा था, वह प्रदेश अङ्गदेशके नामसे विख्यात हुआ॥ १४॥

तस्यायमाश्रमः पुण्यस्तस्येमे मुनयः पुरा।
शिष्या धर्मपरा वीर तेषां पापं न विद्यते॥ १५॥

'यह उन्हीं महादेवजीका पुण्य आश्रम है। वीर! ये मुनिलोग पूर्वकालमें उन्हीं स्थाणुके धर्मपरायण शिष्य थे। इनका सारा पाप नष्ट हो गया है॥ १५॥

इहाद्य रजनीं राम वसेम शुभदर्शन।
पुण्ययोः सरितोर्मध्ये श्वस्तरिष्यामहे वयम्॥ १६॥

'शुभदर्शन राम! आजकी रातमें हमलोग यहीं इन पुण्य-सलिला सरिताओंके बीचमें निवास करें। कल सबेरे इन्हें पार करेंगे॥ १६॥

अभिगच्छामहे सर्वे शुचयः पुण्यमाश्रमम्।
इह वासः परोऽस्माकं सुखं वत्स्यामहे निशाम्॥ १७॥
स्नाताश्च कृतजप्याश्च हुतहव्या नरोत्तम।

'हम सब लोग पवित्र होकर इस पुण्य आश्रममें चलें। वहाँ रहना हमारे लिये बहुत उत्तम होगा। नरश्रेष्ठ! यहाँ स्नान करके जप और हवन करनेके बाद हम रातमें बड़े सुखसे रहेंगे'॥ १७½॥

तेषां संवदतां तत्र तपोदीर्घेण चक्षुषा॥ १८॥
विज्ञाय परमप्रीता मुनयो हर्षमागमन्।

वे लोग वहाँ इस प्रकार आपसमें बातचीत कर ही रहे थे कि उस आश्रममें निवास करनेवाले मुनि तपस्याद्वारा प्राप्त हुई दूर दृष्टिसे उनका आगमन जानकर मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए। उनके हृदयमें हर्षजनित उल्लास छा गया॥ १८½॥

अर्घ्यं पाद्यं तथाऽऽतिथ्यं निवेद्य कुशिकात्मजे॥ १९॥
रामलक्ष्मणयोः पश्चादकुर्वन्नतिथिक्रियाम्।

उन्होंने विश्वामित्रजीको अर्घ्य, पाद्य और अतिथि-सत्कारकी सामग्री अर्पित करनेके बाद श्रीराम और लक्ष्मणका भी आतिथ्य किया॥ १९½॥

सत्कारं समनुप्राप्य कथाभिरभिरञ्जयन्॥ २०॥
यथार्हमजपन् संध्यामृषयस्ते समाहिताः।

यथोचित सत्कार करके उन मुनियोंने इन अतिथियोंका भाँति-भाँतिकी कथा-वार्ताओंद्वारा मनोरञ्जन किया। फिर उन महर्षियोंने एकाग्रचित्त होकर यथावत् संध्यावन्दन एवं जप किया॥ २०½॥

तत्र वासिभिरानीता मुनिभिः सुव्रतैः सह॥ २१॥
न्यवसन् सुसुखं तत्र कामाश्रमपदे तथा।

तदनन्तर वहाँ रहनेवाले मुनियोंने अन्य उत्तम व्रतधारी मुनियोंके साथ विश्वामित्र आदिको शयनके लिये उपयुक्त स्थानमें पहुँचा दिया। सम्पूर्ण कामनाओंकी पूर्ति करनेवाले उस पुण्य आश्रममें उन विश्वामित्र आदिने बड़े सुखसे निवास किया॥ २१½॥

कथाभिरभिरामाभिरभिरामौ नृपात्मजौ।
रमयामास धर्मात्मा कौशिको मुनिपुङ्गवः॥ २२॥

धर्मात्मा मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रने उन मनोहर राजकुमारोंका सुन्दर कथाओंद्वारा मनोरञ्जन किया॥ २२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे त्रयोविंशः सर्गः॥ २३॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें तेईसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २३॥

यक्षिण्या घोरया राम उत्सादितमसह्यया।
एतत्ते सर्वमाख्यातं यथैतद् दारुणं वनम्।
यक्ष्या चोत्सादितं सर्वमद्यापि न निवर्तते॥ ३२॥

'राम! उस असह्य एवं भयानक यक्षिणीने इस देशको उजाड़ कर डाला है। यह वन ऐसा भयङ्कर क्यों है, यह सारा रहस्य मैंने तुम्हें बता दिया। उस यक्षिणीने ही इस सारे देशको उजाड़ दिया है और वह आज भी अपने उस क्रूर कर्मसे निवृत्त नहीं हुई है'॥ ३२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे चतुर्विंशः सर्गः॥ २४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें चौबीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २४॥

पञ्चविंशः सर्गः

श्रीरामके पूछनेपर विश्वामित्रजीका उनसे ताटकाकी उत्पत्ति, विवाह एवं शाप आदिका प्रसङ्ग सुनाकर उन्हें ताटका-वधके लिये प्रेरित करना

अथ तस्याप्रमेयस्य मुनेर्वचनमुत्तमम्।
श्रुत्वा पुरुषशार्दूलः प्रत्युवाच शुभां गिरम्॥ १॥

अपरिमित प्रभावशाली विश्वामित्र मुनिका यह उत्तम वचन सुनकर पुरुषसिंह श्रीरामने यह शुभ बात कही—॥

अल्पवीर्या यदा यक्षी श्रूयते मुनिपुङ्गव।
कथं नागसहस्रस्य धारयत्यबला बलम्॥ २॥

'मुनिश्रेष्ठ! जब वह यक्षिणी एक अबला सुनी जाती है, तब तो उसकी शक्ति थोड़ी ही होनी चाहिये; फिर वह एक हजार हाथियोंका बल कैसे धारण करती है?'॥ २॥

इत्युक्तं वचनं श्रुत्वा राघवस्यामितौजसः।
हर्षयञ्श्लक्ष्णया वाचा सलक्ष्मणमरिंदमम्॥ ३॥
विश्वामित्रोऽब्रवीद् वाक्यं शृणु येन बलोत्कटा।
वरदानकृतं वीर्यं धारयत्यबला बलम्॥ ४॥

अमित तेजस्वी श्रीरघुनाथके कहे हुए इस वचनको सुनकर विश्वामित्रजी अपनी मधुर वाणीद्वारा लक्ष्मणसहित शत्रुदमन श्रीरामको हर्ष प्रदान करते हुए बोले—'रघुनन्दन! जिस कारणसे ताटका अधिक बलशालिनी हो गयी है, वह बताता हूँ, सुनो। उसमें वरदानजनित बलका उदय हुआ है; अतः वह अबला होकर भी बल धारण करती है (सबला हो गयी है)॥ ३-४॥

पूर्वमासीन्महायक्षः सुकेतुर्नाम वीर्यवान्।
अनपत्यः शुभाचारः स च तेपे महत्तपः॥ ५॥

'पूर्वकालकी बात है, सुकेतु नामसे प्रसिद्ध एक महान् यक्ष थे। वे बड़े पराक्रमी और सदाचारी थे; परंतु उन्हें कोई संतान नहीं थी; इसलिये उन्होंने बड़ी भारी तपस्या की॥ ५॥

पितामहस्तु सुप्रीतस्तस्य यक्षपतेस्तदा।
कन्यारत्नं ददौ राम ताटकां नाम नामतः॥ ६॥

'श्रीराम! यक्षराज सुकेतुकी उस तपस्यासे ब्रह्माजीको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने सुकेतुको एक कन्यारत्न प्रदान किया, जिसका नाम ताटका था॥ ६॥

ददौ नागसहस्रस्य बलं चास्याः पितामहः।
न त्वेव पुत्रं यक्षाय ददौ चासौ महायशाः॥ ७॥

ब्रह्माजीने ही उस कन्याको एक हजार हाथियोंके समान बल दे दिया; परंतु उन महायशस्वी पितामहने उस यक्षको पुत्र नहीं ही दिया (उसके संकल्पके अनुसार पुत्र प्राप्त हो जानेपर उसके द्वारा जनताका अत्यधिक उत्पीड़न होता, यही सोचकर ब्रह्माजीने पुत्र नहीं दिया)॥ ७॥

तां तु बालां विवर्धन्तीं रूपयौवनशालिनीम्।
जम्भपुत्राय सुन्दाय ददौ भार्यां यशस्विनीम्॥ ८॥

'धीरे-धीरे वह यक्ष-बालिका बढ़ने लगी और बढ़कर रूप-यौवनसे सुशोभित होने लगी। उस अवस्थामें सुकेतुने अपनी उस यशस्विनी कन्याको जम्भपुत्र सुन्दके हाथमें उसकी पत्नीके रूपमें दे दिया॥ ८॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य यक्षी पुत्रं व्यजायत।
मारीचं नाम दुर्धर्षं यः शापाद् राक्षसोऽभवत्॥ ९॥

'कुछ कालके बाद उस यक्षी ताटकाने मारीच नामसे प्रसिद्ध एक दुर्जय पुत्रको जन्म दिया, जो अगस्त्य मुनिके शापसे राक्षस हो गया॥ ९॥

सुन्दे तु निहते राम अगस्त्यमृषिसत्तमम्।
ताटका सहपुत्रेण प्रधर्षयितुमिच्छति॥ १०॥

'श्रीराम! अगस्त्यने ही शाप देकर ताटकापति सुन्दको भी मार डाला। उसके मारे जानेपर ताटका पुत्रसहित जाकर मुनिवर अगस्त्यको भी मौतके घाट उतार देनेकी इच्छा करने लगी॥ १०॥

भक्षार्थं जातसंरम्भा गर्जन्ती साभ्यधावत।
आपतन्तीं तु तां दृष्ट्वा अगस्त्यो भगवानृषिः॥ ११॥
राक्षसत्वं भजस्वेति मारीचं व्याजहार सः।

'वह कुपित हो मुनिको खा जानेके लिये गर्जना करती हुई दौड़ी। उसे आती देख भगवान् अगस्त्य मुनिने मारीचसे कहा—'तू देवयोनि-रूपका परित्याग करके राक्षसभावको प्राप्त हो जा'॥ ११½॥

अगस्त्यः परमामर्षस्ताटकामपि शप्तवान्॥ १२॥
पुरुषादी महायक्षी विकृता विकृतानना।
इदं रूपं विहायाशु दारुणं रूपमस्तु ते॥ १३॥

'फिर अत्यन्त अमर्षमें भरे हुए ऋषिने ताटकाको भी शाप दे दिया—'तू विकराल मुखवाली नरभक्षिणी राक्षसी हो जा। तू है तो महायक्षी; परंतु अब शीघ्र ही इस रूपको त्यागकर तेरा भयङ्कर रूप हो जाय' ॥ १२-१३ ॥

सैषा शापकृतामर्षा ताटका क्रोधमूर्च्छिता।
देशमुत्सादयत्येनमगस्त्याचरितं शुभम्॥ १४॥

'इस प्रकार शाप मिलनेके कारण ताटकाका अमर्ष और भी बढ़ गया। वह क्रोधसे मूर्च्छित हो उठी और उन दिनों अगस्त्यजी जहाँ रहते थे, उस सुन्दर देशको उजाड़ने लगी॥ १४॥

एनां राघव दुर्वृत्तां यक्षीं परमदारुणाम्।
गोब्राह्मणहितार्थाय जहि दुष्टपराक्रमाम्॥ १५॥

'रघुनन्दन! तुम गौओं और ब्राह्मणोंका हित करनेके लिये दुष्ट पराक्रमवाली इस परम भयङ्कर दुराचारिणी यक्षीका वध कर डालो॥ १५॥

नह्येनां शापसंसृष्टां कश्चिदुत्सहते पुमान्।
निहन्तुं त्रिषु लोकेषु त्वामृते रघुनन्दन॥ १६॥

'रघुकुलको आनन्दित करनेवाले वीर! इस शापग्रस्त ताटकाको मारनेके लिये तीनों लोकोंमें तुम्हारे सिवा दूसरा कोई पुरुष समर्थ नहीं है॥ १६॥

नहि ते स्त्रीवधकृते घृणा कार्या नरोत्तम।
चातुर्वर्ण्यहितार्थं हि कर्तव्यं राजसूनुना॥ १७॥

'नरश्रेष्ठ! तुम स्त्री-हत्याका विचार करके इसके प्रति दया न दिखाना। एक राजपुत्रको चारों वर्णोंके हितके लिये स्त्रीहत्या भी करनी पड़े तो उससे मुँह नहीं मोड़ना चाहिये॥ १७॥

नृशंसमनृशंसं वा प्रजारक्षणकारणात्।
पातकं वा सदोषं वा कर्तव्यं रक्षता सदा॥ १८॥

'प्रजापालक नरेशको प्रजाजनोंकी रक्षाके लिये क्रूरतापूर्ण या क्रूरतारहित, पातकयुक्त अथवा सदोष कर्म भी करना पड़े तो कर लेना चाहिये। यह बात उसे सदा ही ध्यानमें रखनी चाहिये॥ १८॥

राज्यभारनियुक्तानामेष धर्मः सनातनः।
अधर्म्यां जहि काकुत्स्थ धर्मो ह्यस्यां न विद्यते॥ १९॥

'जिनके ऊपर राज्यके पालनका भार है, उनका तो यह सनातन धर्म है। ककुत्स्थकुलनन्दन! ताटका महापापिनी है। उसमें धर्मका लेशमात्र भी नहीं है; अतः उसे मार डालो॥ १९॥

श्रूयते हि पुरा शक्रो विरोचनसुतां नृप।
पृथिवीं हन्तुमिच्छन्तीं मन्थरामभ्यसूदयत्॥ २०॥

'नरेश्वर! सुना जाता है कि पूर्वकालमें विरोचनकी पुत्री मन्थरा सारी पृथ्वीका नाश कर डालना चाहती थी। उसके इस विचारको जानकर इन्द्रने उसका वध कर डाला॥ २०॥

विष्णुना च पुरा राम भृगुपत्नी पतिव्रता।
अनिन्द्रं लोकमिच्छन्ती काव्यमाता निषूदिता॥ २१॥

'श्रीराम! प्राचीन कालमें शुक्राचार्यकी माता तथा भृगुकी पतिव्रता पत्नी त्रिभुवनको इन्द्रसे शून्य कर देना चाहती थीं। यह जानकर भगवान् विष्णुने उनको मार डाला॥ २१॥

एतैश्चान्यैश्च बहुभी राजपुत्रैर्महात्मभिः।
अधर्मसहिता नार्यो हताः पुरुषसत्तमैः।
तस्मादेनां घृणां त्यक्त्वा जहि मच्छासनान्नृप॥ २२॥

'इन्होंने तथा अन्य बहुत-से महामनस्वी पुरुषप्रवर राजकुमारोंने पापचारिणी स्त्रियोंका वध किया है। नरेश्वर! अतः तुम भी मेरी आज्ञासे दया अथवा घृणाको त्यागकर इस राक्षसीको मार डालो' ॥ २२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे पञ्चविंशः सर्गः॥ २५॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें पचीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २५॥

षड्विंशः सर्गः

श्रीरामद्वारा ताटकाका वध

मुनेर्वचनमक्लीबं श्रुत्वा नरवरात्मजः।
राघवः प्राञ्जलिर्भूत्वा प्रत्युवाच दृढव्रतः॥ १॥

मुनिके ये उत्साहभरे वचन सुनकर दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले राजकुमार श्रीरामने हाथ जोड़कर उत्तर दिया— ॥ १॥

पितुर्वचननिर्देशात् पितुर्वचनगौरवात्।
वचनं कौशिकस्येति कर्तव्यमविशङ्कया॥ २॥
अनुशिष्टोऽस्म्ययोध्यायां गुरुमध्ये महात्मना।
पित्रा दशरथेनाहं नावज्ञेयं हि तद्वचः॥ ३॥

'भगवन्! अयोध्यामें मेरे पिता महामना महाराज दशरथने अन्य गुरुजनोंके बीच मुझे यह उपदेश दिया था कि 'बेटा! तुम पिताके कहनेसे पिताके वचनोंका गौरव रखनेके लिये कुशिकनन्दन विश्वामित्रकी आज्ञाका निःशङ्क होकर पालन करना। कभी भी उनकी बातकी अवहेलना न करना' ॥ २-३॥

सोऽहं पितुर्वचः श्रुत्वा शासनाद् ब्रह्मवादिनः।
करिष्यामि न संदेहस्ताटकावधमुत्तमम्॥ ४॥

'अतः मैं पिताजीके उस उपदेशको सुनकर आप

ब्रह्मवादी महात्माकी आज्ञासे ताटकावधसम्बन्धी कार्यको उत्तम मानकर करूँगा—इसमें संदेह नहीं है ॥ ४ ॥

गोब्राह्मणहितार्थाय देशस्य च हिताय च।
तव चैवाप्रमेयस्य वचनं कर्तुमुद्यतः ॥ ५ ॥

'गौ, ब्राह्मण तथा समूचे देशका हित करनेके लिये मैं आप-जैसे अनुपम प्रभावशाली महात्माके आदेशका पालन करनेको सब प्रकारसे तैयार हूँ' ॥ ५ ॥

एवमुक्त्वा धनुर्मध्ये बद्ध्वा मुष्टिमरिंदमः।
ज्याघोषमकरोत् तीव्रं दिशः शब्देन नादयन् ॥ ६ ॥

ऐसा कहकर शत्रुदमन श्रीरामने धनुषके मध्यभागमें मुट्ठी बाँधकर उसे जोरसे पकड़ा और उसकी प्रत्यञ्चापर तीव्र टङ्कार दी। उसकी आवाजसे सम्पूर्ण दिशाएँ गूँज उठीं ॥ ६ ॥

तेन शब्देन वित्रस्तास्ताटकावनवासिनः।
ताटका च सुसंक्रुद्धा तेन शब्देन मोहिता ॥ ७ ॥

उस शब्दसे ताटकावनमें रहनेवाले समस्त प्राणी थर्रा उठे। ताटका भी उस टङ्कार-घोषसे पहले तो किंकर्तव्य-विमूढ़ हो उठी; परंतु फिर कुछ सोचकर अत्यन्त क्रोधमें भर गयी ॥ ७ ॥

तं शब्दमभिनिध्याय राक्षसी क्रोधमूर्च्छिता।
श्रुत्वा चाभ्यद्रवत् क्रुद्धा यत्र शब्दो विनिःसृतः ॥ ८ ॥

उस शब्दको सुनकर वह राक्षसी क्रोधसे अचेत-सी हो गयी थी। उसे सुनते ही वह जहाँसे आवाज आयी थी, उसी दिशाकी ओर रोषपूर्वक दौड़ी ॥ ८ ॥

तां दृष्ट्वा राघवः क्रुद्धां विकृतां विकृताननाम्।
प्रमाणेनातिवृद्धां च लक्ष्मणं सोऽभ्यभाषत ॥ ९ ॥

उसके शरीरकी ऊँचाई बहुत अधिक थी। उसकी मुखाकृति विकृत दिखायी देती थी। क्रोधमें भरी हुई उस विकराल राक्षसीकी ओर दृष्टिपात करके श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा— ॥ ९ ॥

पश्य लक्ष्मण यक्षिण्या भैरवं दारुणं वपुः।
भिद्येरन् दर्शनादस्या भीरूणां हृदयानि च ॥ १० ॥

'लक्ष्मण! देखो तो सही, इस यक्षिणीका शरीर कैसा दारुण एवं भयङ्कर है! इसके दर्शनमात्रसे भीरु पुरुषोंके हृदय विदीर्ण हो सकते हैं ॥ १० ॥

एतां पश्य दुराधर्षां मायाबलसमन्विताम्।
विनिवृत्तां करोम्यद्य हृतकर्णाग्रनासिकाम् ॥ ११ ॥

'मायाबलसे सम्पन्न होनेके कारण यह अत्यन्त दुर्जय हो रही है। देखो, मैं अभी इसके कान और नाक काटकर इसे पीछे लौटनेको विवश किये देता हूँ ॥ ११ ॥

न ह्येनामुत्सहे हन्तुं स्त्रीस्वभावेन रक्षिताम्।
वीर्यं चास्या गतिं चैव हन्यामिति हि मे मतिः ॥ १२ ॥

'यह अपने स्त्रीस्वभावके कारण रक्षित है; अतः मुझे इसे मारनेमें उत्साह नहीं है। मेरा विचार यह है कि मैं इसके बल-पराक्रम तथा गमनशक्तिको नष्ट कर दूँ (अर्थात् इसके हाथ-पैर काट डालूँ)' ॥ १२ ॥

एवं ब्रुवाणे रामे तु ताटका क्रोधमूर्च्छिता।
उद्यम्य बाहुं गर्जन्ती राममेवाभ्यधावत ॥ १३ ॥

श्रीराम इस प्रकार कह ही रहे थे कि क्रोधसे अचेत हुई ताटका वहाँ आ पहुँची और एक बाँह उठाकर गर्जना करती हुई उन्हींकी ओर झपटी ॥ १३ ॥

विश्वामित्रस्तु ब्रह्मर्षिर्हुंकारेणाभिभर्त्स्य ताम्।
स्वस्ति राघवयोरस्तु जयं चैवाभ्यभाषत ॥ १४ ॥

यह देख ब्रह्मर्षि विश्वामित्रने अपने हुंकारके द्वारा उसे डाँटकर कहा—'रघुकुलके इन दोनों राजकुमारोंका कल्याण हो। इनकी विजय हो' ॥ १४ ॥

उद्धुन्वाना रजो घोरं ताटका राघवावुभौ।
रजोमेघेन महता मुहूर्तं सा व्यमोहयत् ॥ १५ ॥

तब ताटकाने उन दोनों रघुवंशी वीरोंपर भयङ्कर धूल उड़ाना आरम्भ किया। वहाँ धूलका विशाल बादल-सा छा गया। उसके द्वारा उसने श्रीराम और लक्ष्मणको दो घड़ीतक मोहमें डाल दिया ॥ १५ ॥

ततो मायां समास्थाय शिलावर्षेण राघवौ।
अवाकिरत् सुमहता ततश्चुक्रोध राघवः ॥ १६ ॥

तत्पश्चात् मायाका आश्रय लेकर वह उन दोनों भाइयोंपर पत्थरोंकी बड़ी भारी वर्षा करने लगी। यह देख रघुनाथजी उसपर कुपित हो उठे ॥ १६ ॥

शिलावर्षं महत् तस्याः शरवर्षेण राघवः।
प्रतिवार्योपधावन्त्याः करौ चिच्छेद पत्रिभिः ॥ १७ ॥

रघुवीरने अपनी बाणवर्षाके द्वारा उसकी बड़ी भारी शिलावृष्टिको रोककर अपनी ओर आती हुई उस निशाचरीके दोनों हाथ तीखे सायकोंसे काट डाले ॥ १७ ॥

ततश्छिन्नभुजां श्रान्तामभ्याशे परिगर्जतीम्।
सौमित्रिरकरोत् क्रोधाद्धृतकर्णाग्रनासिकाम् ॥ १८ ॥

दोनों भुजाएँ कट जानेसे थकी हुई ताटका उनके निकट खड़ी होकर जोर-जोरसे गर्जना करने लगी। यह देख सुमित्राकुमार लक्ष्मणने क्रोधमें भरकर उसके नाक-कान काट लिये ॥ १८ ॥

कामरूपधरा सा तु कृत्वा रूपाण्यनेकशः।
अन्तर्धानं गता यक्षी मोहयन्ती स्वमायया ॥ १९ ॥

परंतु वह तो इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली यक्षिणी थी; अतः अनेक प्रकारके रूप बनाकर अपनी मायासे श्रीराम और लक्ष्मणको मोहमें डालती हुई अदृश्य हो गयी ॥ १९ ॥

अश्मवर्षं विमुञ्चन्ती भैरवं विचचार सा।
ततस्तावश्मवर्षेण कीर्यमाणौ समन्ततः ॥ २० ॥
दृष्ट्वा गाधिसुतः श्रीमानिदं वचनमब्रवीत्।
अलं ते घृणया राम पापैषा दुष्टचारिणी ॥ २१ ॥

यज्ञविघ्नकरी यक्षी पुरा वर्धेत मायया।
वध्यतां तावदेवैषा पुरा संध्या प्रवर्तते॥ २२॥
रक्षांसि संध्याकाले तु दुर्धर्षाणि भवन्ति हि।

अब वह पत्थरोंकी भयङ्कर वर्षा करती हुई आकाशमें विचरने लगी। श्रीराम और लक्ष्मणपर चारों ओरसे प्रस्तरोंकी वृष्टि होती देख तेजस्वी गाधिनन्दन विश्वामित्रने इस प्रकार कहा—'श्रीराम! इसके ऊपर तुम्हारा दया करना व्यर्थ है। यह बड़ी पापिनी और दुराचारिणी है। सदा यज्ञोंमें विघ्न डाला करती है। यह अपनी मायासे पुनः प्रबल हो उठे, इसके पहले ही इसे मार डालो। अभी संध्याकाल आना चाहता है, इसके पहले ही यह कार्य हो जाना चाहिये; क्योंकि संध्याके समय राक्षस दुर्जय हो जाते हैं'॥ २०—२२½॥

इत्युक्तः स तु तां यक्षीमश्मवृष्ट्याभिवर्षिणीम्॥ २३॥
दर्शयञ्शब्दवेधित्वं तां रुरोध स सायकैः।

विश्वामित्रजीके ऐसा कहनेपर श्रीरामने शब्दवेधी बाण चलानेकी शक्तिका परिचय देते हुए बाण मारकर प्रस्तरोंकी वर्षा करनेवाली उस यक्षिणीको सब ओरसे अवरुद्ध कर दिया॥

सा रुद्धा बाणजालेन मायाबलसमन्विता॥ २४॥
अभिदुद्राव काकुत्स्थं लक्ष्मणं च विनेदुषी।
तामापतन्तीं वेगेन विक्रान्तामशनीमिव॥ २५॥
शरेणोरसि विव्याध सा पपात ममार च।

उनके बाण-समूहसे घिर जानेपर मायाबलसे युक्त वह यक्षिणी जोर-जोरसे गर्जना करती हुई श्रीराम और लक्ष्मणके ऊपर टूट पड़ी। उसे चलाये हुए इन्द्रके वज्रकी भाँति वेगसे आती देख श्रीरामने एक बाण मारकर उसकी छाती चीर डाली। तब ताटका पृथ्वीपर गिरी और मर गयी॥

तां हतां भीमसंकाशां दृष्ट्वा सुरपतिस्तदा॥ २६॥
साधु साध्विति काकुत्स्थं सुराश्चाप्यभिपूजयन्।

उस भयङ्कर राक्षसीको मारी गयी देख देवराज इन्द्र तथा देवताओंने श्रीरामको साधुवाद देते हुए उनकी सराहना की॥

उवाच परमप्रीतः सहस्राक्षः पुरन्दरः॥ २७॥
सुराश्च सर्वे संहृष्टा विश्वामित्रमथाब्रुवन्।

उस समय सहस्रलोचन इन्द्र तथा समस्त देवताओंने अत्यन्त प्रसन्न एवं हर्षोत्फुल्ल होकर विश्वामित्रजीसे कहा—॥

मुने कौशिक भद्रं ते सेन्द्राः सर्वे मरुद्गणाः॥ २८॥
तोषिताः कर्मणानेन स्नेहं दर्शय राघवे।

'मुने! कुशिकनन्दन! आपका कल्याण हो। आपने इस कार्यसे इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंको संतुष्ट किया है। अब रघुकुलतिलक श्रीरामपर आप अपना स्नेह प्रकट कीजिये॥

प्रजापतेः कृशाश्वस्य पुत्रान् सत्यपराक्रमान्॥ २९॥
तपोबलभृतो ब्रह्मन् राघवाय निवेदय।

'ब्रह्मन्! प्रजापति कृशाश्वके अस्त्र-रूपधारी पुत्रोंको, जो सत्यपराक्रमी तथा तपोबलसे सम्पन्न हैं, श्रीरामको समर्पित कीजिये॥ २९½॥

पात्रभूतश्च ते ब्रह्मंस्तवानुगमने रतः॥ ३०॥
कर्तव्यं सुमहत् कर्म सुराणां राजसूनुना।

'विप्रवर! ये आपके अस्त्रदानके सुयोग्य पात्र हैं तथा आपके अनुसरण (सेवा-शुश्रूषा) में तत्पर रहते हैं। राजकुमार श्रीरामके द्वारा देवताओंका महान् कार्य सम्पन्न होनेवाला है'॥ ३०½॥

एवमुक्त्वा सुराः सर्वे जग्मुर्हृष्टा विहायसम्॥ ३१॥
विश्वामित्रं पूजयन्तस्ततः संध्या प्रवर्तते।

ऐसा कहकर सभी देवता विश्वामित्रजीकी प्रशंसा करते हुए प्रसन्नतापूर्वक आकाशमार्गसे चले गये। तत्पश्चात् संध्या हो गयी॥ ३१½॥

ततो मुनिवरः प्रीतस्ताटकावधतोषितः॥ ३२॥
मूर्ध्नि राममुपाघ्राय इदं वचनमब्रवीत्।

तदनन्तर ताटकावधसे संतुष्ट हुए मुनिवर विश्वामित्रने श्रीरामचन्द्रजीका मस्तक सूँघकर उनसे यह बात कही—॥ ३२½॥

इहाद्य रजनीं राम वसाम शुभदर्शन॥ ३३॥
श्वः प्रभाते गमिष्यामस्तदाश्रमपदं मम।

'शुभदर्शन राम! आजकी रातमें हमलोग यहीं निवास करें। कल सवेरे अपने आश्रमपर चलेंगे'॥ ३३½॥

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा हृष्टो दशरथात्मजः॥ ३४॥
उवास रजनीं तत्र ताटकाया वने सुखम्।

विश्वामित्रजीकी यह बात सुनकर दशरथकुमार श्रीराम बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने ताटकावनमें रहकर वह रात्रि बड़े सुखसे व्यतीत की॥ ३४½॥

मुक्तशापं वनं तच्च तस्मिन्नेव तदाहनि।
रमणीयं विबभ्राज यथा चैत्ररथं वनम्॥ ३५॥

उसी दिन वह वन शापमुक्त होकर रमणीय शोभासे सम्पन्न हो गया और चैत्ररथवनकी भाँति अपनी मनोहर छटा दिखाने लगा॥ ३५॥

निहत्य तां यक्षसुतां स रामः
प्रशस्यमानः सुरसिद्धसंघैः।
उवास तस्मिन् मुनिना सहैव
प्रभातवेलां प्रतिबोध्यमानः॥ ३६॥

यक्षकन्या ताटकाका वध करके श्रीरामचन्द्रजी देवताओं तथा सिद्धसमूहोंकी प्रशंसाके पात्र बन गये। उन्होंने प्रातःकालकी प्रतीक्षा करते हुए विश्वामित्रजीके साथ ताटकावनमें निवास किया॥ ३६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे षड्विंशः सर्गः॥ २६॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें छब्बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २६॥

सप्तविंशः सर्गः

विश्वामित्रद्वारा श्रीरामको दिव्यास्त्र-दान

अथ तां रजनीमुष्य विश्वामित्रो महायशाः।
प्रहस्य राघवं वाक्यमुवाच मधुरस्वरम्॥ १॥

ताटकावनमें वह रात बिताकर महायशस्वी विश्वामित्र हँसते हुए मीठे स्वरमें श्रीरामचन्द्रजीसे बोले— ॥ १॥

परितुष्टोऽस्मि भद्रं ते राजपुत्र महायशः।
प्रीत्या परमया युक्तो ददाम्यस्त्राणि सर्वशः॥ २॥

'महायशस्वी राजकुमार! तुम्हारा कल्याण हो। ताटकावधके कारण मैं तुमपर बहुत संतुष्ट हूँ; अतः बड़ी प्रसन्नताके साथ तुम्हें सब प्रकारके अस्त्र दे रहा हूँ॥ २॥

देवासुरगणान् वापि सगन्धर्वोरगान् भुवि।
यैरमित्रान् प्रसह्याजौ वशीकृत्य जयिष्यसि॥ ३॥

'इनके प्रभावसे तुम अपने शत्रुओंको—चाहे वे देवता, असुर, गन्धर्व अथवा नाग ही क्यों न हों, रणभूमिमें बलपूर्वक अपने अधीन करके उनपर विजय पा जाओगे॥ ३॥

तानि दिव्यानि भद्रं ते ददाम्यस्त्राणि सर्वशः।
दण्डचक्रं महद् दिव्यं तव दास्यामि राघव॥ ४॥
धर्मचक्रं ततो वीर कालचक्रं तथैव च।
विष्णुचक्रं तथात्युग्रमैन्द्रं चक्रं तथैव च॥ ५॥

'रघुनन्दन! तुम्हारा कल्याण हो। आज मैं तुम्हें वे सभी दिव्यास्त्र दे रहा हूँ। वीर! मैं तुमको दिव्य एवं महान् दण्डचक्र, धर्मचक्र, कालचक्र, विष्णुचक्र तथा अत्यन्त भयंकर ऐन्द्रचक्र दूँगा॥ ४-५॥

वज्रमस्त्रं नरश्रेष्ठ शैवं शूलवरं तथा।
अस्त्रं ब्रह्मशिरश्चैव ऐषीकमपि राघव॥ ६॥
ददामि ते महाबाहो ब्राह्ममस्त्रमनुत्तमम्।

'नरश्रेष्ठ राघव! इन्द्रका वज्रास्त्र, शिवका श्रेष्ठ त्रिशूल तथा ब्रह्माजीका ब्रह्मशिर नामक अस्त्र भी दूँगा। महाबाहो! साथ ही तुम्हें ऐषीकास्त्र तथा परम उत्तम ब्रह्मास्त्र भी प्रदान करता हूँ॥ ६½॥

गदे द्वे चैव काकुत्स्थ मोदकीशिखरी शुभे॥ ७॥
प्रदीप्ते नरशार्दूल प्रयच्छामि नृपात्मज।
धर्मपाशमहं राम कालपाशं तथैव च॥ ८॥
वारुणं पाशमस्त्रं च ददाम्यहमनुत्तमम्।

'ककुत्स्थकुलभूषण! इनके सिवा दो अत्यन्त उज्ज्वल और सुन्दर गदाएँ, जिनके नाम मोदकी और शिखरी हैं, मैं तुम्हें अर्पण करता हूँ। पुरुषसिंह राजकुमार राम! धर्मपाश, कालपाश और वरुणपाश भी बड़े उत्तम अस्त्र हैं। इन्हें भी आज तुम्हें अर्पित करता हूँ॥ ७-८½॥

अशनी द्वे प्रयच्छामि शुष्कार्द्रे रघुनन्दन॥ ९॥
ददामि चास्त्रं पैनाकमस्त्रं नारायणं तथा।

'रघुनन्दन! सूखी और गीली दो प्रकारकी अशनि तथा पिनाक एवं नारायणास्त्र भी तुम्हें दे रहा हूँ॥ ९½॥

आग्नेयमस्त्रं दयितं शिखरं नाम नामतः॥ १०॥
वायव्यं प्रथमं नाम ददामि तव चानघ।

'अग्निका प्रिय आग्नेय-अस्त्र, जो शिखरास्त्रके नामसे भी प्रसिद्ध है, तुम्हें अर्पण करता हूँ। अनघ! अस्त्रोंमें प्रधान जो वायव्यास्त्र है, वह भी तुम्हें दे रहा हूँ॥ १०½॥

अस्त्रं हयशिरो नाम क्रौञ्चमस्त्रं तथैव च॥ ११॥
शक्तिद्वयं च काकुत्स्थ ददामि तव राघव।

'ककुत्स्थकुलभूषण राघव! हयशिरा नामक अस्त्र, क्रौञ्च-अस्त्र तथा दो शक्तियोंको भी तुम्हें देता हूँ॥ ११½॥

कङ्कालं मुसलं घोरं कापालमथ किङ्किणीम्॥ १२॥
वधार्थं रक्षसां यानि ददाम्येतानि सर्वशः।

'कङ्काल, घोर मूसल, कपाल तथा किङ्किणी आदि सब अस्त्र, जो राक्षसोंके वधमें उपयोगी होते हैं, तुम्हें दे रहा हूँ॥ १२॥

वैद्याधरं महास्त्रं च नन्दनं नाम नामतः॥ १३॥
असिरत्नं महाबाहो ददामि नृवरात्मज।

'महाबाहु राजकुमार! नन्दन नामसे प्रसिद्ध विद्याधरोंका महान् अस्त्र तथा उत्तम खड्ग भी तुम्हें अर्पित करता हूँ॥

गान्धर्वमस्त्रं दयितं मोहनं नाम नामतः॥ १४॥
प्रस्वापनं प्रशमनं दद्मि सौम्यं च राघव।

'रघुनन्दन! गन्धर्वोंका प्रिय सम्मोहन नामक अस्त्र, प्रस्वापन, प्रशमन तथा सौम्य अस्त्र भी देता हूँ॥ १४½॥

वर्षणं शोषणं चैव संतापनविलापने॥ १५॥
मादनं चैव दुर्धर्षं कन्दर्पदयितं तथा।
गान्धर्वमस्त्रं दयितं मानवं नाम नामतः॥ १६॥
पैशाचमस्त्रं दयितं मोहनं नाम नामतः।
प्रतीच्छ नरशार्दूल राजपुत्र महायशः॥ १७॥

'महायशस्वी पुरुषसिंह राजकुमार! वर्षण, शोषण, संतापन, विलापन तथा कामदेवका प्रिय दुर्जय अस्त्र मादन, गन्धर्वोंका प्रिय मानवास्त्र तथा पिशाचोंका प्रिय मोहनास्त्र भी मुझसे ग्रहण करो॥ १५—१७॥

तामसं नरशार्दूल सौमनं च महाबलम्।
संवर्तं चैव दुर्धर्षं मौसलं च नृपात्मज॥ १८॥
सत्यमस्त्रं महाबाहो तथा मायामयं परम्।
सौरं तेजःप्रभं नाम परतेजोऽपकर्षणम्॥ १९॥

'नरश्रेष्ठ राजपुत्र महाबाहु राम! तामस, महाबली सौमन, संवर्त, दुर्जय, मौसल, सत्य और मायामय उत्तम अस्त्र भी तुम्हें अर्पण करता हूँ। सूर्यदेवताका तेजःप्रभ नामक अस्त्र, जो शत्रुके तेजका नाश करनेवाला है, तुम्हें अर्पित करता हूँ॥ १८-१९॥

सोमास्त्रं शिशिरं नाम त्वाष्ट्रमस्त्रं सुदारुणम्।
दारुणं च भगस्यापि शीतेषुमथ मानवम्॥ २०॥

'सोम देवताका शिशिर नामक अस्त्र, त्वष्टा (विश्वकर्मा) का अत्यन्त दारुण अस्त्र, भगदेवताका भी भयंकर अस्त्र तथा मनुका शीतेषु नामक अस्त्र भी तुम्हें देता हूँ॥ २०॥

एतान् राम महाबाहो कामरूपान् महाबलान्।
गृहाण परमोदारान् क्षिप्रमेव नृपात्मज॥ २१॥

'महाबाहु राजकुमार श्रीराम! ये सभी अस्त्र इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले, महान् बलसे सम्पन्न तथा परम उदार हैं। तुम शीघ्र ही इन्हें ग्रहण करो'॥ २१॥

स्थितस्तु प्राङ्मुखो भूत्वा शुचिर्मुनिवरस्तदा।
ददौ रामाय सुप्रीतो मन्त्रग्राममनुत्तमम्॥ २२॥

ऐसा कहकर मुनिवर विश्वामित्रजी उस समय स्नान आदिसे शुद्ध हो पूर्वाभिमुख होकर बैठ गये और अत्यन्त प्रसन्नताके साथ उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीको उन सभी उत्तम अस्त्रोंका उपदेश दिया॥ २२॥

सर्वसंग्रहणं येषां दैवतैरपि दुर्लभम्।
तान्यस्त्राणि तदा विप्रो राघवाय न्यवेदयत्॥ २३॥

जिन अस्त्रोंका पूर्णरूपसे संग्रह करना देवताओंके लिये भी दुर्लभ है, उन सबको विप्रवर विश्वामित्रजीने श्रीरामचन्द्रजीको समर्पित कर दिया॥ २३॥

जपतस्तु मुनेस्तस्य विश्वामित्रस्य धीमतः।
उपतस्थुर्महार्हाणि सर्वाण्यस्त्राणि राघवम्॥ २४॥
ऊचुश्च मुदिता रामं सर्वे प्राञ्जलयस्तदा।
इमे च परमोदार किंकरास्तव राघव॥ २५॥
यद्यदिच्छसि भद्रं ते तत्सर्वं करवाम वै।

बुद्धिमान् विश्वामित्रजीने ज्यों ही जप आरम्भ किया त्यों ही वे सभी परम पूज्य दिव्यास्त्र स्वतः आकर श्रीरघुनाथजीके पास उपस्थित हो गये और अत्यन्त हर्षमें भरकर उस समय श्रीरामचन्द्रजीसे हाथ जोड़कर कहने लगे—'परम उदार रघुनन्दन! आपका कल्याण हो। हम सब आपके किङ्कर हैं। आप हमसे जो-जो सेवा लेना चाहेंगे, वह सब हम करनेको तैयार रहेंगे'॥ २४-२५½॥

ततो रामः प्रसन्नात्मा तैरित्युक्तो महाबलैः॥ २६॥
प्रतिगृह्य च काकुत्स्थः समालभ्य च पाणिना।
मानसा मे भविष्यध्वमिति तान्यभ्यचोदयत्॥ २७॥

उन महान् प्रभावशाली अस्त्रोंके इस प्रकार कहनेपर श्रीरामचन्द्रजी मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुए और उन्हें ग्रहण करनेके पश्चात् हाथसे उनका स्पर्श करके बोले—'आप सब मेरे मनमें निवास करें'॥ २६-२७॥

ततः प्रीतमना रामो विश्वामित्रं महामुनिम्।
अभिवाद्य महातेजा गमनायोपचक्रमे॥ २८॥

तदनन्तर महातेजस्वी श्रीरामने प्रसन्नचित्त होकर महामुनि विश्वामित्रको प्रणाम किया और आगेकी यात्रा आरम्भ की॥ २८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्तविंशः सर्गः॥ २७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें सत्ताईसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २७॥

अष्टाविंशः सर्गः

विश्वामित्रका श्रीरामको अस्त्रोंकी संहारविधि बताना तथा उन्हें अन्यान्य अस्त्रोंका उपदेश करना, श्रीरामका एक आश्रम एवं यज्ञस्थानके विषयमें मुनिसे प्रश्न

प्रतिगृह्य ततोऽस्त्राणि प्रहृष्टवदनः शुचिः।
गच्छन्नेव च काकुत्स्थो विश्वामित्रमथाब्रवीत्॥ १॥

उन अस्त्रोंको ग्रहण करके परम पवित्र श्रीरामका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा था। वे चलते-चलते ही विश्वामित्रसे बोले—॥ १॥

गृहीतास्त्रोऽस्मि भगवन् दुराधर्षः सुरैरपि।
अस्त्राणां त्वहमिच्छामि संहारान् मुनिपुङ्गव॥ २॥

'भगवन्! आपकी कृपासे इन अस्त्रोंको ग्रहण करके मैं देवताओंके लिये भी दुर्जय हो गया हूँ। मुनिश्रेष्ठ! अब मैं अस्त्रोंकी संहारविधि जानना चाहता हूँ'॥ २॥

एवं ब्रुवति काकुत्स्थे विश्वामित्रो महातपाः।
संहारान् व्याजहाराथ धृतिमान् सुव्रतः शुचिः॥ ३॥

ककुत्स्थकुलतिलक श्रीरामके ऐसा कहनेपर महातपस्वी, धैर्यवान्, उत्तम व्रतधारी और पवित्र विश्वामित्र मुनिने उन्हें अस्त्रोंकी संहारविधिका उपदेश दिया॥ ३॥

सत्यवन्तं सत्यकीर्तिं धृष्टं रभसमेव च।
प्रतिहारतरं नाम पराङ्मुखमवाङ्मुखम्॥ ४॥
लक्ष्यालक्ष्याविमौ चैव दृढनाभसुनाभकौ।
दशाक्षशतवक्त्रौ च दशशीर्षशतोदरौ॥ ५॥
पद्मनाभमहानाभौ दुन्दुनाभस्वनाभकौ।
ज्योतिषं शकुनं चैव नैरास्यविमलावुभौ॥ ६॥
यौगंधरविनिद्रौ च दैत्यप्रमथनौ तथा।
शुचिबाहुर्महाबाहुर्निष्कलिर्विरुचस्तथा॥
सार्चिमाली धृतिमाली वृत्तिमान् रुचिरस्तथा॥ ७॥
पित्र्यः सौमनसश्चैव विधूतमकरावुभौ।
परवीरं रतिं चैव धनधान्यौ च राघव॥ ८॥
कामरूपं कामरुचिं मोहमावरणं तथा।
जृम्भकं सर्पनाथं च पन्थानवरुणौ तथा॥ ९॥

कृशाश्वतनयान् राम भास्वरान् कामरूपिणः।
प्रतीच्छ मम भद्रं ते पात्रभूतोऽसि राघव॥ १०॥

तदनन्तर वे बोले—'रघुकुलनन्दन राम! तुम्हारा कल्याण हो! तुम अस्त्रविद्याके सुयोग्य पात्र हो; अतः निम्नाङ्कित अस्त्रोंको भी ग्रहण करो—सत्यवान्, सत्यकीर्ति, धृष्ट, रभस, प्रतिहारतर, प्राङ्मुख, अवाङ्मुख, लक्ष्य, अलक्ष्य, दृढनाभ, सुनाभ, दशाक्ष, शतवक्त्र, दशशीर्ष, शतोदर, पद्मनाभ, महानाभ, दुन्दुनाभ, स्वनाभ, ज्योतिष, शकुन, नैरास्य, विमल, दैत्यनाशक यौगंधर और विनिद्र, शुचिबाहु, महाबाहु, निष्कलि, विरुच, सार्चिमाली, धृतिमाली, वृत्तिमान्, रुचिर, पित्र्य, सौमनस, विधूत, मकर, परवीर, रति, धन, धान्य, कामरूप, कामरुचि, मोह, आवरण, जृम्भक, सर्पनाथ, पन्थान और वरुण—ये सभी प्रजापति कृशाश्वके पुत्र हैं। ये इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले तथा परम तेजस्वी हैं। तुम इन्हें ग्रहण करो'॥ ४—१०॥

बाढमित्येव काकुत्स्थः प्रहृष्टेनान्तरात्मना।
दिव्यभास्वरदेहाश्च मूर्तिमन्तः सुखप्रदाः॥ ११॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर श्रीरामचन्द्रजीने प्रसन्न मनसे उन अस्त्रोंको ग्रहण किया। उन मूर्तिमान् अस्त्रोंके शरीर दिव्य तेजसे उद्भासित हो रहे थे। वे अस्त्र जगत्‌को सुख देनेवाले थे॥ ११॥

केचिदङ्गारसदृशाः केचिद् धूमोपमास्तथा।
चन्द्रार्कसदृशाः केचित् प्रह्वाञ्जलिपुटास्तथा॥ १२॥

उनमेंसे कितने ही अङ्गारोंके समान तेजस्वी थे। कितने ही धूमके समान काले प्रतीत होते थे तथा कुछ अस्त्र सूर्य और चन्द्रमाके समान प्रकाशमान थे। वे सब-के-सब हाथ जोड़कर श्रीरामके समक्ष खड़े हुए॥ १२॥

रामं प्राञ्जलयो भूत्वाब्रुवन् मधुरभाषिणः।
इमे स्म नरशार्दूल शाधि किं करवाम ते॥ १३॥

उन्होंने अञ्जलि बाँधे मधुर वाणीमें श्रीरामसे इस प्रकार कहा—'पुरुषसिंह! हमलोग आपके दास हैं। आज्ञा कीजिये, हम आपकी क्या सेवा करें?'॥ १३॥

गम्यतामिति तानाह यथेष्टं रघुनन्दनः।
मानसाः कार्यकालेषु साहाय्यं मे करिष्यथ॥ १४॥

तब रघुकुलनन्दन रामने उनसे कहा—'इस समय तो आपलोग अपने अभीष्ट स्थानको जायँ; परंतु आवश्यकताके समय मेरे मनमें स्थित होकर सदा मेरी सहायता करते रहें'॥ १४॥

अथ ते राममामन्त्र्य कृत्वा चापि प्रदक्षिणम्।
एवमस्त्विति काकुत्स्थमुक्त्वा जग्मुर्यथागतम्॥ १५॥

तत्पश्चात् वे श्रीरामकी परिक्रमा करके उनसे विदा ले उनकी आज्ञाके अनुसार कार्य करनेकी प्रतिज्ञा करके जैसे आये थे, वैसे चले गये॥ १५॥

स च तान् राघवो ज्ञात्वा विश्वामित्रं महामुनिम्।
गच्छन्नेवाथ मधुरं श्लक्ष्णं वचनमब्रवीत्॥ १६॥
किमेतन्मेघसंकाशं पर्वतस्याविदूरतः।
वृक्षखण्डमितो भाति परं कौतूहलं हि मे॥ १७॥

इस प्रकार उन अस्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करके श्रीरघुनाथजीने चलते-चलते ही महामुनि विश्वामित्रसे मधुर वाणीमें पूछा—'भगवन्! सामनेवाले पर्वतके पास ही जो यह मेघोंकी घटाके समान सघन वृक्षोंसे भरा स्थान दिखायी देता है, क्या है? उसके विषयमें जाननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा हो रही है॥ १६-१७॥

दर्शनीयं मृगाकीर्णं मनोहरमतीव च।
नानाप्रकारैः शकुनैर्वल्गुभाषैरलंकृतम्॥ १८॥

'यह दर्शनीय स्थान मृगोंके झुंडसे भरा हुआ होनेके कारण अत्यन्त मनोहर प्रतीत होता है। नाना प्रकारके पक्षी अपनी मधुर शब्दावलीसे इस स्थानकी शोभा बढ़ाते हैं॥

निःसृताःस्मो मुनिश्रेष्ठ कान्ताराद् रोमहर्षणात्।
अनया त्ववगच्छामि देशस्य सुखवत्तया॥ १९॥

'मुनिश्रेष्ठ! इस प्रदेशकी इस सुखमयी स्थितिसे यह जान पड़ता है कि अब हमलोग उस रोमाञ्चकारी दुर्गम ताटकावनसे बाहर निकल आये हैं॥ १९॥

सर्वं मे शंस भगवन् कस्याश्रमपदं त्विदम्।
सम्प्राप्ता यत्र ते पापा ब्रह्मघ्ना दुष्टचारिणः॥ २०॥
तव यज्ञस्य विघ्नाय दुरात्मानो महामुने।
भगवंस्तस्य को देशः सा यत्र तव याज्ञिकी॥ २१॥
रक्षितव्या क्रिया ब्रह्मन् मया वध्याश्च राक्षसाः।
एतत् सर्वं मुनिश्रेष्ठ श्रोतुमिच्छाम्यहं प्रभो॥ २२॥

'भगवन्! मुझे सब कुछ बताइये। यह किसका आश्रम है? भगवन्! महामुने! जहाँ आपकी यज्ञक्रिया हो रही है, जहाँ वे पापी, दुराचारी, ब्रह्महत्यारे, दुरात्मा राक्षस आपके यज्ञमें विघ्न डालनेके लिये आया करते हैं और जहाँ मुझे यज्ञकी रक्षा तथा राक्षसोंके वधका कार्य करना है, उस आपके आश्रमका कौन-सा देश है? ब्रह्मन्! मुनिश्रेष्ठ प्रभो! यह सब मैं सुनना चाहता हूँ'॥ २०—२२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डेऽष्टाविंशः सर्गः॥ २८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें अट्ठाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २८॥

—★—

एकोनत्रिंशः सर्गः

विश्वामित्रजीका श्रीरामसे सिद्धाश्रमका पूर्ववृत्तान्त बताना और उन दोनों भाइयोंके साथ अपने आश्रमपर पहुँचकर पूजित होना

अथ तस्याप्रमेयस्य वचनं परिपृच्छतः।
विश्वामित्रो महातेजा व्याख्यातुमुपचक्रमे ॥ १ ॥

अपरिमित प्रभावशाली भगवान् श्रीरामका वचन सुनकर महातेजस्वी विश्वामित्रने उनके प्रश्नका उत्तर देना आरम्भ किया— ॥ १ ॥

इह राम महाबाहो विष्णुर्देवनमस्कृतः।
वर्षाणि सुबहूनीह तथा युगशतानि च ॥ २ ॥
तपश्चरणयोगार्थमुवास सुमहातपाः।
एष पूर्वाश्रमो राम वामनस्य महात्मनः ॥ ३ ॥

'महाबाहु श्रीराम! पूर्वकालमें यहाँ देववन्दित भगवान् विष्णुने बहुत वर्षों एवं सौ युगोंतक तपस्याके लिये निवास किया था। उन्होंने यहाँ बहुत बड़ी तपस्या की थी। यह स्थान महात्मा वामनका—वामन अवतार धारण करनेको उद्यत हुए श्रीविष्णुका अवतार ग्रहणसे पूर्व आश्रम था ॥ २-३ ॥

सिद्धाश्रम इति ख्यातः सिद्धो ह्यत्र महातपाः।
एतस्मिन्नेव काले तु राजा वैरोचनिर्बलिः ॥ ४ ॥
निर्जित्य दैवतगणान् सेन्द्रान् सहमरुद्गणान्।
कारयामास तद्राज्यं त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥ ५ ॥

'इसकी सिद्धाश्रमके नामसे प्रसिद्धि थी; क्योंकि यहाँ महातपस्वी विष्णुको सिद्धि प्राप्त हुई थी। जब वे तपस्या करते थे, उसी समय विरोचनकुमार राजा बलिने इन्द्र और मरुद्गणोंसहित समस्त देवताओंको पराजित करके उनका राज्य अपने अधिकारमें कर लिया था। वे तीनों लोकोंमें विख्यात हो गये थे ॥ ४-५ ॥

यज्ञं चकार सुमहानसुरेन्द्रो महाबलः।
बलेस्तु यजमानस्य देवाः साग्निपुरोगमाः।
समागम्य स्वयं चैव विष्णुमूचुरिहाश्रमे ॥ ६ ॥

'उन महाबली महान् असुरराजने एक यज्ञका आयोजन किया। उधर बलि यज्ञमें लगे हुए थे, इधर अग्नि आदि देवता स्वयं इस आश्रममें पधारकर भगवान् विष्णुसे बोले— ॥ ६ ॥

बलिर्वैरोचनिर्विष्णो यजते यज्ञमुत्तमम्।
असमाप्तव्रते तस्मिन् स्वकार्यमभिपद्यताम् ॥ ७ ॥

''सर्वव्यापी परमेश्वर! विरोचनकुमार बलि एक उत्तम यज्ञका अनुष्ठान कर रहे हैं। उनका वह यज्ञ-सम्बन्धी नियम पूर्ण होनेसे पहले ही हमें अपना कार्य सिद्ध कर लेना चाहिये ॥ ७ ॥

ये चैनमभिवर्तन्ते याचितार इतस्ततः।
यच्च यत्र यथावच्च सर्वं तेभ्यः प्रयच्छति ॥ ८ ॥

''इस समय जो भी याचक इधर-उधरसे आकर उनके यहाँ याचनाके लिये उपस्थित होते हैं, वे गो, भूमि और सुवर्ण आदि सम्पत्तियोंमेंसे जिस वस्तुको भी लेना चाहते हैं, उनको वे सारी वस्तुएँ राजा बलि यथावत्-रूपसे अर्पित करते हैं ॥ ८ ॥

स त्वं सुरहितार्थाय मायायोगमुपाश्रितः।
वामनत्वं गतो विष्णो कुरु कल्याणमुत्तमम् ॥ ९ ॥

''अतः विष्णो! आप देवताओंके हितके लिये अपनी योगमायाका आश्रय ले वामनरूप धारण करके उस यज्ञमें जाइये और हमारा उत्तम कल्याण-साधन कीजिये' ॥ ९ ॥

एतस्मिन्नन्तरे राम कश्यपोऽग्निसमप्रभः।
अदित्या सहितो राम दीप्यमान इवौजसा ॥ १० ॥
देवीसहायो भगवान् दिव्यं वर्षसहस्रकम्।
व्रतं समाप्य वरदं तुष्टाव मधुसूदनम् ॥ ११ ॥

'श्रीराम! इसी समय अग्निके समान तेजस्वी महर्षि कश्यप धर्मपत्नी अदितिके साथ अपने तेजसे प्रकाशित होते हुए वहाँ आये। वे एक सहस्र दिव्य वर्षोंतक चालू रहनेवाले महान् व्रतको अदितिदेवीके साथ ही समाप्त करके आये थे। उन्होंने वरदायक भगवान् मधुसूदनकी इस प्रकार स्तुति की— ॥ १०-११ ॥

तपोमयं तपोराशिं तपोमूर्तिं तपात्मकम्।
तपसा त्वां सुतप्तेन पश्यामि पुरुषोत्तमम् ॥ १२ ॥

''भगवन्! आप तपोमय हैं। तपस्याकी राशि हैं। तप आपका स्वरूप है। आप ज्ञानस्वरूप हैं। मैं भलीभाँति तपस्या करके उसके प्रभावसे आप पुरुषोत्तमका दर्शन कर रहा हूँ ॥ १२ ॥

शरीरे तव पश्यामि जगत् सर्वमिदं प्रभो।
त्वमनादिरनिर्देश्यस्त्वामहं शरणं गतः ॥ १३ ॥

''प्रभो! मैं इस सारे जगत्को आपके शरीरमें स्थित देखता हूँ। आप अनादि हैं। देश, काल और वस्तुकी सीमासे परे होनेके कारण आपका इदमित्थंरूपसे निर्देश नहीं किया जा सकता। मैं आपकी शरणमें आया हूँ ॥ १३ ॥

तमुवाच हरिः प्रीतः कश्यपं गतकल्मषम्।
वरं वरय भद्रं ते वरार्होऽसि मतो मम ॥ १४ ॥

'कश्यपजीके सारे पाप धुल गये थे। भगवान् श्रीहरिने अत्यन्त प्रसन्न होकर उनसे कहा—'महर्षे! तुम्हारा कल्याण हो। तुम अपनी इच्छाके अनुसार कोई वर माँगो; क्योंकि तुम मेरे विचारसे वर पानेके योग्य हो' ॥ १४ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य मारीचः कश्यपोऽब्रवीत्।
अदित्या देवतानां च मम चैवानुयाचितम्॥ १५॥
वरं वरद सुप्रीतो दातुमर्हसि सुव्रत।
पुत्रत्वं गच्छ भगवन्नदित्या मम चानघ॥ १६॥

'भगवान्‌का यह वचन सुनकर मरीचिनन्दन कश्यपने कहा—'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले वरदायक परमेश्वर! सम्पूर्ण देवताओंकी, अदितिकी तथा मेरी भी आपसे एक ही वरके लिये बारम्बार याचना है। आप अत्यन्त प्रसन्न होकर मुझे वह एक ही वर प्रदान करें। भगवन्! निष्पाप नारायणदेव! आप मेरे और अदितिके पुत्र हो जायँ॥ १५-१६॥

भ्राता भव यवीयांस्त्वं शक्रस्यासुरसूदन।
शोकार्तानां तु देवानां साहाय्यं कर्तुमर्हसि॥ १७॥

''असुरसूदन! आप इन्द्रके छोटे भाई हों और शोकसे पीड़ित हुए इन देवताओंकी सहायता करें॥ १७॥

अयं सिद्धाश्रमो नाम प्रसादात् ते भविष्यति।
सिद्धे कर्मणि देवेश उत्तिष्ठ भगवन्नितः॥ १८॥

''देवेश्वर! भगवन्! आपकी कृपासे यह स्थान सिद्धाश्रमके नामसे विख्यात होगा। अब आपका तपरूप कार्य सिद्ध हो गया है; अतः यहाँसे उठिये'॥ १८॥

अथ विष्णुर्महातेजा अदित्यां समजायत।
वामनं रूपमास्थाय वैरोचनिमुपागमत्॥ १९॥

'तदनन्तर महातेजस्वी भगवान् विष्णु अदितिदेवीके गर्भसे प्रकट हुए और वामनरूप धारण करके विरोचनकुमार बलिके पास गये॥ १९॥

त्रीन् पदानथ भिक्षित्वा प्रतिगृह्य च मेदिनीम्।
आक्रम्य लोकाँल्लोकार्थी सर्वलोकहिते रतः॥ २०॥
महेन्द्राय पुनः प्रादान्नियम्य बलिमोजसा।
त्रैलोक्यं स महातेजाश्चक्रे शक्रवशं पुनः॥ २१॥

'सम्पूर्ण लोकोंके हितमें तत्पर रहनेवाले भगवान् विष्णु बलिके अधिकारसे त्रिलोकीका राज्य ले लेना चाहते थे; अतः उन्होंने तीन पग भूमिके लिये याचना करके उनसे भूमिदान ग्रहण किया और तीनों लोकोंको आक्रान्त करके उन्हें पुनः देवराज इन्द्रको लौटा दिया। महातेजस्वी श्रीहरिने अपनी शक्तिसे बलिका निग्रह करके त्रिलोकीको पुनः इन्द्रके अधीन कर दिया॥ २०-२१॥

तेनैव पूर्वमाक्रान्त आश्रमः श्रमनाशनः।
मयापि भक्त्या तस्यैव वामनस्योपभुज्यते॥ २२॥

'उन्हीं भगवान्‌ने पूर्वकालमें यहाँ निवास किया था; इसलिये यह आश्रम सब प्रकारके श्रम (दुःख-शोक) का नाश करनेवाला है। उन्हीं भगवान् वामनमें भक्ति होनेके कारण मैं भी इस स्थानको अपने उपयोगमें लाता हूँ॥ २२॥

एनमाश्रममायान्ति राक्षसा विघ्नकारिणः।
अत्र ते पुरुषव्याघ्र हन्तव्या दुष्टचारिणः॥ २३॥

'इसी आश्रमपर मेरे यज्ञमें विघ्न डालनेवाले राक्षस आते हैं। पुरुषसिंह! यहीं तुम्हें उन दुराचारियोंका वध करना है॥ २३॥

अद्य गच्छामहे राम सिद्धाश्रममनुत्तमम्।
तदाश्रमपदं तात तवाप्येतद् यथा मम॥ २४॥

'श्रीराम! अब हमलोग उस परम उत्तम सिद्धाश्रममें पहुँच रहे हैं। तात! वह आश्रम जैसे मेरा है, वैसे ही तुम्हारा भी है'॥ २४॥

इत्युक्त्वा परमप्रीतो गृह्य रामं सलक्ष्मणम्।
प्रविशन्नाश्रमपदं व्यरोचत महामुनिः।
शशीव गतनीहारः पुनर्वसुसमन्वितः॥ २५॥

ऐसा कहकर महामुनिने बड़े प्रेमसे श्रीराम और लक्ष्मणके हाथ पकड़ लिये और उन दोनोंके साथ आश्रममें प्रवेश किया। उस समय पुनर्वसु नामक दो नक्षत्रोंके बीचमें स्थित तुषाररहित चन्द्रमाकी भाँति उनकी शोभा हुई॥ २५॥

तं दृष्ट्वा मुनयः सर्वे सिद्धाश्रमनिवासिनः।
उत्पत्योत्पत्य सहसा विश्वामित्रमपूजयन्॥ २६॥
यथार्हं चक्रिरे पूजां विश्वामित्राय धीमते।
तथैव राजपुत्राभ्यामकुर्वन्नतिथिक्रियाम्॥ २७॥

विश्वामित्रजीको आया देख सिद्धाश्रममें रहनेवाले सभी तपस्वी उछलते-कूदते हुए सहसा उनके पास आये और सबने मिलकर उन बुद्धिमान् विश्वामित्रजीकी यथोचित पूजा की। इसी प्रकार उन्होंने उन दोनों राजकुमारोंका भी अतिथि-सत्कार किया॥ २६-२७॥

मुहूर्तमथ विश्रान्तौ राजपुत्रावरिंदमौ।
प्राञ्जली मुनिशार्दूलमूचतू रघुनन्दनौ॥ २८॥

दो घड़ीतक विश्राम करनेके बाद रघुकुलको आनन्द देनेवाले शत्रुदमन राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण हाथ जोड़कर मुनिवर विश्वामित्रसे बोले—॥ २८॥

अद्यैव दीक्षां प्रविश भद्रं ते मुनिपुंगव।
सिद्धाश्रमोऽयं सिद्धः स्यात् सत्यमस्तु वचस्तव॥ २९॥

'मुनिश्रेष्ठ! आप आज ही यज्ञकी दीक्षा ग्रहण करें। आपका कल्याण हो। यह सिद्धाश्रम वास्तवमें यथानाम तथागुण सिद्ध हो और राक्षसोंके वधके विषयमें आपकी कही हुई बात सच्ची हो'॥ २९॥

एवमुक्तो महातेजा विश्वामित्रो महानृषिः।
प्रविवेश तदा दीक्षां नियतो नियतेन्द्रियः॥ ३०॥
कुमारावपि तां रात्रिमुषित्वा सुसमाहितौ।
प्रभातकाले चोत्थाय पूर्वां संध्यामुपास्य च॥ ३१॥
प्रशुची परमं जाप्यं समाप्य नियमेन च।
हुताग्निहोत्रमासीनं विश्वामित्रमवन्दताम्॥ ३२॥

उनके ऐसा कहनेपर महातेजस्वी महर्षि विश्वामित्र जितेन्द्रियभावसे नियमपूर्वक यज्ञकी दीक्षामें प्रविष्ट हुए। वे दोनों राजकुमार भी सावधानीके साथ रात व्यतीत करके सबेरे उठे और स्नान आदिसे शुद्ध हो प्रातःकालकी संध्योपासना तथा नियमपूर्वक सर्वश्रेष्ठ गायत्रीमन्त्रका जप करने लगे। जप पूरा होनेपर उन्होंने अग्निहोत्र करके बैठे हुए विश्वामित्रजीके चरणोंमें वन्दना की॥ ३०—३२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकोनत्रिंशः सर्गः॥ २९॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उन्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २९॥

त्रिंशः सर्गः

श्रीरामद्वारा विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षा तथा राक्षसोंका संहार

अथ तौ देशकालज्ञौ राजपुत्रावरिंदमौ।
देशे काले च वाक्यज्ञावब्रूतां कौशिकं वचः॥ १॥

तदनन्तर देश और कालको जाननेवाले शत्रुदमन राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण जो देश और कालके अनुसार बोलने योग्य वचनके मर्मज्ञ थे, कौशिक मुनिसे इस प्रकार बोले—॥ १॥

भगवञ्छ्रोतुमिच्छावो यस्मिन् काले निशाचरौ।
संरक्षणीयौ तौ ब्रूहि नातिवर्तेत तत्क्षणम्॥ २॥

'भगवन्! अब हम दोनों यह सुनना चाहते हैं कि किस समय उन दोनों निशाचरोंका आक्रमण होता है? जब कि हमें उन दोनोंको यज्ञभूमिमें आनेसे रोकना है। कहीं ऐसा न हो, असावधानीमें ही वह समय हाथसे निकल जाय; अतः उसे बता दीजिये'॥ २॥

एवं ब्रुवाणौ काकुत्स्थौ त्वरमाणौ युयुत्सया।
सर्वे ते मुनयः प्रीताः प्रशशंसुर्नृपात्मजौ॥ ३॥

ऐसी बात कहकर युद्धकी इच्छासे उतावले हुए उन दोनों ककुत्स्थवंशी राजकुमारोंकी ओर देखकर वे सब मुनि बड़े प्रसन्न हुए और उन दोनों बन्धुओंकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे॥ ३॥

अद्यप्रभृति षड्रात्रं रक्षतं राघवौ युवाम्।
दीक्षां गतो ह्येष मुनिर्मौनित्वं च गमिष्यति॥ ४॥

वे बोले—'ये मुनिवर विश्वामित्रजी यज्ञकी दीक्षा ले चुके हैं; अतः अब मौन रहेंगे। आप दोनों रघुवंशी वीर सावधान होकर आजसे छः रातोंतक इनके यज्ञकी रक्षा करते रहें'॥ ४॥

तौ तु तद्वचनं श्रुत्वा राजपुत्रौ यशस्विनौ।
अनिद्रं षडहोरात्रं तपोवनमरक्षताम्॥ ५॥

मुनियोंका यह वचन सुनकर वे दोनों यशस्वी राजकुमार लगातार छः दिन और छः राततक उस तपोवनकी रक्षा करते रहे; इस बीचमें उन्होंने नींद भी नहीं ली॥ ५॥

उपासांचक्रतुर्वीरौ यत्तौ परमधन्विनौ।
ररक्षतुर्मुनिवरं विश्वामित्रमरिंदमौ॥ ६॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले वे परम धनुर्धर वीर सतत सावधान रहकर मुनिवर विश्वामित्रके पास खड़े हो उनकी (और उनके यज्ञकी) रक्षामें लगे रहे॥ ६॥

अथ काले गते तस्मिन् षष्ठेऽहनि तदागते।
सौमित्रिमब्रवीद् रामो यत्तो भव समाहितः॥ ७॥

इस प्रकार कुछ काल बीत जानेपर जब छठा दिन आया, तब श्रीरामने सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे कहा—'सुमित्रानन्दन! तुम अपने चित्तको एकाग्र करके सावधान हो जाओ'॥ ७॥

रामस्यैवं ब्रुवाणस्य त्वरितस्य युयुत्सया।
प्रजज्वाल ततो वेदिः सोपाध्यायपुरोहिता॥ ८॥

युद्धकी इच्छासे शीघ्रता करते हुए श्रीराम इस प्रकार कह ही रहे थे कि उपाध्याय (ब्रह्मा), पुरोहित (उपद्रष्टा) तथा अन्यान्य ऋत्विजोंसे घिरी हुई यज्ञकी वेदी सहसा प्रज्वलित हो उठी (वेदीका यह जलना राक्षसोंके आगमनका सूचक उत्पात था)॥ ८॥

सदर्भचमसस्रुक्का ससमित्कुसुमोच्चया।
विश्वामित्रेण सहिता वेदिर्जज्वाल सर्त्विजा॥ ९॥

इसके बाद कुश, चमस, स्रुक्, समिधा और फूलोंके ढेरसे सुशोभित होनेवाली विश्वामित्र तथा ऋत्विजोंसहित जो यज्ञकी वेदी थी, उसपर आहवनीय अग्नि प्रज्वलित हुई (अग्निका यह प्रज्वलन यज्ञके उद्देश्यसे हुआ था)॥ ९॥

मन्त्रवच्च यथान्यायं यज्ञोऽसौ सम्प्रवर्तते।
आकाशे च महाञ्छब्दः प्रादुरासीद् भयानकः॥ १०॥

फिर तो शास्त्रीय विधिके अनुसार वेद-मन्त्रोंके उच्चारण-पूर्वक उस यज्ञका कार्य आरम्भ हुआ। इसी समय आकाशमें बड़े जोरका शब्द हुआ, जो बड़ा ही भयानक था॥ १०॥

आवार्य गगनं मेघो यथा प्रावृषि दृश्यते।
तथा मायां विकुर्वाणौ राक्षसावभ्यधावताम्॥ ११॥
मारीचश्च सुबाहुश्च तयोरनुचरास्तथा।
आगम्य भीमसंकाशा रुधिरौघानवासृजन्॥ १२॥

जैसे वर्षाकालमें मेघोंकी घटा सारे आकाशको घेरकर छायी हुई दिखायी देती है, उसी प्रकार मारीच और सुबाहु नामक राक्षस सब ओर अपनी माया फैलाते हुए यज्ञ-मण्डपकी ओर दौड़े आ रहे थे। उनके अनुचर भी साथ थे। उन भयंकर राक्षसोंने वहाँ आकर रक्तकी धाराएँ बरसाना आरम्भ कर दिया॥ ११-१२॥

तां तेन रुधिरौघेण वेदीं वीक्ष्य समुक्षिताम्।
सहसाभिद्रुतो रामस्तानपश्यत् ततो दिवि॥ १३॥
तावापतन्तौ सहसा दृष्ट्वा राजीवलोचनः।
लक्ष्मणं त्वभिसम्प्रेक्ष्य रामो वचनमब्रवीत्॥ १४॥

रक्तके उस प्रवाहसे यज्ञ-वेदीके आस-पासकी भूमिको भीगी हुई देख श्रीरामचन्द्रजी सहसा दौड़े और इधर-उधर दृष्टि डालनेपर उन्होंने उन राक्षसोंको आकाशमें स्थित देखा। मारीच और सुबाहुको सहसा आते देख कमलनयन श्रीरामने लक्ष्मणकी ओर देखकर कहा— ॥ १३-१४॥

पश्य लक्ष्मण दुर्वृत्तान् राक्षसान् पिशिताशनान्।
मानवास्त्रसमाधूताननिलेन यथा घनान्॥ १५॥
करिष्यामि न संदेहो नोत्सहे हन्तुमीदृशान्।

'लक्ष्मण! वह देखो, मांसभक्षण करनेवाले दुराचारी राक्षस आ पहुँचे। मैं मानवास्त्रसे इन सबको उसी प्रकार मार भगाऊँगा, जैसे वायुके वेगसे बादल छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। मेरे इस कथनमें तनिक भी संदेह नहीं है। ऐसे कायरोंको मैं मारना नहीं चाहता' ॥ १५½॥

इत्युक्त्वा वचनं रामश्चापे संधाय वेगवान्॥ १६॥
मानवं परमोदारमस्त्रं परमभास्वरम्।
चिक्षेप परमक्रुद्धो मारीचोरसि राघवः॥ १७॥

ऐसा कहकर वेगशाली श्रीरामने अपने धनुषपर परम उदार मानवास्त्रका संधान किया। वह अस्त्र अत्यन्त तेजस्वी था। श्रीरामने बड़े रोषमें भरकर मारीचकी छातीमें उस बाणका प्रहार किया॥ १६-१७॥

स तेन परमास्त्रेण मानवेन समाहतः।
सम्पूर्णं योजनशतं क्षिप्तः सागरसम्प्लवे॥ १८॥

उस उत्तम मानवास्त्रका गहरा आघात लगनेसे मारीच पूरे सौ योजनकी दूरीपर समुद्रके जलमें जा गिरा॥ १८॥

विचेतनं विघूर्णन्तं शीतेषुबलपीडितम्।
निरस्तं दृश्य मारीचं रामो लक्ष्मणमब्रवीत्॥ १९॥

शीतेषु नामक मानवास्त्रसे पीड़ित हो मारीच अचेत-सा होकर चक्कर काटता हुआ दूर चला जा रहा है। यह देख श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा— ॥ १९॥

पश्य लक्ष्मण शीतेषुं मानवं मनुसंहितम्।
मोहयित्वा नयत्येनं न च प्राणैर्वियुज्यते॥ २०॥

'लक्ष्मण! देखो, मनुके द्वारा प्रयुक्त शीतेषु नामक मानवास्त्र इस राक्षसको मूर्छित करके दूर लिये जा रहा है, किंतु उसके प्राण नहीं ले रहा है॥ २०॥

इमानपि वधिष्यामि निर्घृणान् दुष्टचारिणः।
राक्षसान् पापकर्मस्थान् यज्ञघ्नान् रुधिराशनान्॥ २१॥

'अब यज्ञमें विघ्न डालनेवाले इन दूसरे निर्दय, दुराचारी, पापकर्मी एवं रक्तभोजी राक्षसोंको भी मार गिराता हूँ' ॥ २१॥

इत्युक्त्वा लक्ष्मणं चाशु लाघवं दर्शयन्निव।
विगृह्य सुमहच्चास्त्रमाग्नेयं रघुनन्दनः॥ २२॥
सुबाहूरसि चिक्षेप स विद्धः प्रापतद् भुवि।
शेषान् वायव्यमादाय निजघान महायशाः।
राघवः परमोदारो मुनीनां मुदमावहन्॥ २३॥

लक्ष्मणसे ऐसा कहकर रघुनन्दन श्रीरामने अपने हाथकी फुर्ती दिखाते हुए-से शीघ्र ही महान् आग्नेयास्त्रका संधान करके उसे सुबाहुकी छातीपर चलाया। उसकी चोट लगते ही वह मरकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। फिर महायशस्वी परम उदार रघुवीरने वायव्यास्त्र लेकर शेष निशाचरोंका भी संहार कर डाला और मुनियोंको परम आनन्द प्रदान किया॥

स हत्वा राक्षसान् सर्वान् यज्ञघ्नान् रघुनन्दनः।
ऋषिभिः पूजितस्तत्र यथेन्द्रो विजये पुरा॥ २४॥

इस प्रकार रघुकुलनन्दन श्रीराम यज्ञमें विघ्न डालनेवाले समस्त राक्षसोंका वध करके वहाँ ऋषियोंद्वारा उसी प्रकार सम्मानित हुए, जैसे पूर्वकालमें देवराज इन्द्र असुरोंपर विजय पाकर महर्षियोंद्वारा पूजित हुए थे॥ २४॥

अथ यज्ञे समाप्ते तु विश्वामित्रो महामुनिः।
निरीतिका दिशो दृष्ट्वा काकुत्स्थमिदमब्रवीत्॥ २५॥

यज्ञ समाप्त होनेपर महामुनि विश्वामित्रने सम्पूर्ण दिशाओंको विघ्न-बाधाओंसे रहित देख श्रीरामचन्द्रजीसे कहा— ॥ २५॥

कृतार्थोऽस्मि महाबाहो कृतं गुरुवचस्त्वया।
सिद्धाश्रममिदं सत्यं कृतं वीर महायशः।
स हि रामं प्रशस्यैवं ताभ्यां संध्यामुपागमत्॥ २६॥

'महाबाहो! मैं तुम्हें पाकर कृतार्थ हो गया। तुमने गुरुकी आज्ञाका पूर्णरूपसे पालन किया। महायशस्वी वीर! तुमने इस सिद्धाश्रमका नाम सार्थक कर दिया।' इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीकी प्रशंसा करके मुनिने उन दोनों भाइयोंके साथ संध्योपासना की॥ २६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे त्रिंशः सर्गः॥ ३०॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३०॥

★

एकत्रिंशः सर्गः

श्रीराम, लक्ष्मण तथा ऋषियोंसहित विश्वामित्रका मिथिलाको प्रस्थान तथा मार्गमें संध्याके समय शोणभद्रतटपर विश्राम

अथ तां रजनीं तत्र कृतार्थौ रामलक्ष्मणौ।
ऊषतुर्मुदितौ वीरौ प्रहृष्टेनान्तरात्मना॥ १॥

तदनन्तर (विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षा करके) कृतकृत्य हुए श्रीराम और लक्ष्मणने उस यज्ञशालामें ही वह रात बितायी। उस समय वे दोनों वीर बड़े प्रसन्न थे। उनका हृदय हर्षोल्लाससे परिपूर्ण था॥ १॥

प्रभातायां तु शर्वर्यां कृतपौर्वाह्णिकक्रियौ।
विश्वामित्रमृषींश्चान्यान् सहितावभिजग्मतुः॥ २॥

रात बीतनेपर जब प्रातःकाल आया, तब वे दोनों भाई पूर्वाह्णकालके नित्य-नियमसे निवृत्त हो विश्वामित्र मुनि तथा अन्य ऋषियोंके पास साथ-साथ गये॥ २॥

अभिवाद्य मुनिश्रेष्ठं ज्वलन्तमिव पावकम्।
ऊचतुः परमोदारं वाक्यं मधुरभाषिणौ॥ ३॥

वहाँ जाकर उन्होंने प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी मुनिश्रेष्ठ! विश्वामित्रको प्रणाम किया और मधुर भाषामें यह परम उदार वचन कहा—॥ ३॥

इमौ स्म मुनिशार्दूल किंकरौ समुपागतौ।
आज्ञापय मुनिश्रेष्ठ शासनं करवाव किम्॥ ४॥

'मुनिप्रवर! हम दोनों किंकर आपकी सेवामें उपस्थित हैं। मुनिश्रेष्ठ! आज्ञा दीजिये, हम क्या सेवा करें?'॥ ४॥

एवमुक्ते तयोर्वाक्ये सर्व एव महर्षयः।
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य रामं वचनमब्रुवन्॥ ५॥

उन दोनोंके ऐसा कहनेपर वे सभी महर्षि विश्वामित्रको आगे करके श्रीरामचन्द्रजीसे बोले—॥ ५॥

मैथिलस्य नरश्रेष्ठ जनकस्य भविष्यति।
यज्ञः परमधर्मिष्ठस्तत्र यास्यामहे वयम्॥ ६॥

'नरश्रेष्ठ! मिथिलाके राजा जनकका परम धर्ममय यज्ञ प्रारम्भ होनेवाला है। उसमें हम सब लोग जायँगे॥ ६॥

त्वं चैव नरशार्दूल सहास्माभिर्गमिष्यसि।
अद्भुतं च धनूरत्नं तत्र त्वं द्रष्टुमर्हसि॥ ७॥

'पुरुषसिंह! तुम्हें भी हमारे साथ वहाँ चलना है। वहाँ एक बड़ा ही अद्भुत धनुषरत्न है। तुम्हें उसे देखना चाहिये॥ ७॥

तद्धि पूर्वं नरश्रेष्ठ दत्तं सदसि दैवतैः।
अप्रमेयबलं घोरं मखे परमभास्वरम्॥ ८॥

'पुरुषप्रवर! पहले कभी यज्ञमें पधारे हुए देवताओंने जनकके किसी पूर्वपुरुषको वह धनुष दिया था। वह कितना प्रबल और भारी है, इसका कोई माप-तोल नहीं है। वह बहुत ही प्रकाशमान एवं भयंकर है॥ ८॥

नास्य देवा न गन्धर्वा नासुरा न च राक्षसाः।
कर्तुमारोपणं शक्ता न कथंचन मानुषाः॥ ९॥

'मनुष्योंकी तो बात ही क्या है। देवता, गन्धर्व, असुर तथा राक्षस भी किसी तरह उसकी प्रत्यञ्चा नहीं चढ़ा पाते॥ ९॥

धनुषस्तस्य वीर्यं हि जिज्ञासन्तो महीक्षितः।
न शेकुरारोपयितुं राजपुत्रा महाबलाः॥ १०॥

'उस धनुषकी शक्तिका पता लगानेके लिये कितने ही महाबली राजा और राजकुमार आये; किंतु कोई भी उसे चढ़ा न सके॥ १०॥

तद्धनुर्नरशार्दूल मैथिलस्य महात्मनः।
तत्र द्रक्ष्यसि काकुत्स्थ यज्ञं च परमाद्भुतम्॥ ११॥

'ककुत्स्थकुलनन्दन पुरुषसिंह राम! वहाँ चलनेसे तुम महामना मिथिलानरेशके उस धनुषको तथा उनके परम अद्भुत यज्ञको भी देख सकोगे॥ ११॥

तद्धि यज्ञफलं तेन मैथिलेनोत्तमं धनुः।
याचितं नरशार्दूल सुनाभं सर्वदैवतैः॥ १२॥

'नरश्रेष्ठ! मिथिलानरेशने अपने यज्ञके फलरूपमें उस उत्तम धनुषको माँगा था; अतः सम्पूर्ण देवताओं तथा भगवान् शङ्करने उन्हें वह धनुष प्रदान किया था। उस धनुषका मध्यभाग जिसे मुट्ठीसे पकड़ा जाता है, बहुत ही सुन्दर है॥ १२॥

आयागभूतं नृपतेस्तस्य वेश्मनि राघव।
अर्चितं विविधैर्गन्धैर्धूपैश्चागुरुगन्धिभिः॥ १३॥

'रघुनन्दन! राजा जनकके महलमें वह धनुष पूजनीय देवताकी भाँति प्रतिष्ठित है और नाना प्रकारके गन्ध, धूप तथा अगुरु आदि सुगन्धित पदार्थोंसे उसकी पूजा होती है'॥ १३॥

एवमुक्त्वा मुनिवरः प्रस्थानमकरोत् तदा।
सर्षिसङ्घः सकाकुत्स्थ आमन्त्र्य वनदेवताः॥ १४॥

ऐसा कहकर मुनिवर विश्वामित्रजीने वन-देवताओंसे आज्ञा ली और ऋषिमण्डली तथा राम-लक्ष्मणके साथ वहाँसे प्रस्थान किया॥ १४॥

स्वस्ति वोऽस्तु गमिष्यामि सिद्धः सिद्धाश्रमादहम्।
उत्तरे जाह्नवीतीरे हिमवन्तं शिलोच्चयम्॥ १५॥

चलते समय उन्होंने वनदेवताओंसे कहा—'मैं अपना यज्ञकार्य सिद्ध करके इस सिद्धाश्रमसे जा रहा हूँ। गङ्गाके उत्तर तटपर होता हुआ हिमालयपर्वतकी उपत्यकामें जाऊँगा। आपलोगोंका कल्याण हो'॥ १५॥

इत्युक्त्वा मुनिशार्दूलः कौशिकः स तपोधनः।
उत्तरां दिशमुद्दिश्य प्रस्थातुमुपचक्रमे॥ १६॥

ऐसा कहकर तपस्याके धनी मुनिश्रेष्ठ कौशिकने उत्तर दिशाकी ओर प्रस्थान आरम्भ किया॥ १६॥

तं व्रजन्तं मुनिवरमन्वगादनुसारिणाम्।
शकटीशतमात्रं तु प्रयाणे ब्रह्मवादिनाम्॥ १७॥

उस समय—प्रस्थानके समय यात्रा करते हुए मुनिवर विश्वामित्रके पीछे उनके साथ जानेवाले ब्रह्मवादी महर्षियोंकी सौ गाड़ियाँ चलीं॥ १७॥

मृगपक्षिगणाश्चैव सिद्धाश्रमनिवासिनः।
अनुजग्मुर्महात्मानं विश्वामित्रं तपोधनम्॥ १८॥

सिद्धाश्रममें निवास करनेवाले मृग और पक्षी भी तपोधन विश्वामित्रके पीछे-पीछे जाने लगे॥ १८॥

निवर्तयामास ततः सर्षिसङ्घः स पक्षिणः।
ते गत्वा दूरमध्वानं लम्बमाने दिवाकरे॥ १९॥
वासं चक्रुर्मुनिगणाः शोणाकूले समाहिताः।
तेऽस्तं गते दिनकरे स्नात्वा हुतहुताशनाः॥ २०॥

कुछ दूर जानेपर ऋषिमण्डलीसहित विश्वामित्रने उन पशु-पक्षियोंको लौटा दिया। फिर दूरतकका मार्ग तै कर लेनेके बाद जब सूर्य अस्ताचलको जाने लगे, तब उन ऋषियोंने पूर्ण सावधान रहकर शोणभद्रके तटपर पड़ाव डाला। जब सूर्यदेव अस्त हो गये, तब स्नान करके उन सबने अग्निहोत्रका कार्य पूर्ण किया॥ १९-२०॥

विश्वामित्रं पुरस्कृत्य निषेदुरमितौजसः।
रामोऽपि सहसौमित्रिर्मुनींस्तानभिपूज्य च॥ २१॥
अग्रतो निषसादाथ विश्वामित्रस्य धीमतः।

इसके बाद वे सभी अमिततेजस्वी ऋषि मुनिवर विश्वामित्रको आगे करके बैठे; फिर लक्ष्मणसहित श्रीराम भी उन ऋषियोंका आदर करते हुए बुद्धिमान् विश्वामित्रजीके सामने बैठ गये॥ २१½॥

अथ रामो महातेजा विश्वामित्रं तपोधनम्॥ २२॥
पप्रच्छ मुनिशार्दूलं कौतूहलसमन्वितम्।

तत्पश्चात् महातेजस्वी श्रीरामने तपस्याके धनी मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रसे कौतूहलपूर्वक पूछा—॥ २२½॥

भगवन् को न्वयं देशः समृद्धवनशोभितः॥ २३॥
श्रोतुमिच्छामि भद्रं ते वक्तुमर्हसि तत्त्वतः।

'भगवन्! यह हरे-भरे समृद्धिशाली वनसे सुशोभित देश कौन-सा है? मैं इसका परिचय सुनना चाहता हूँ। आपका कल्याण हो। आप मुझे ठीक-ठीक इसका रहस्य बताइये'॥

नोदितो रामवाक्येन कथयामास सुव्रतः।
तस्य देशस्य निखिलमृषिमध्ये महातपाः॥ २४॥

श्रीरामचन्द्रजीके इस प्रश्नसे प्रेरित होकर उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महातपस्वी विश्वामित्रने ऋषिमण्डलीके बीच उस देशका पूर्णरूपसे परिचय देना प्रारम्भ किया॥ २४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकत्रिंशः सर्गः॥ ३१॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें इकतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३१॥

★

द्वात्रिंशः सर्गः

ब्रह्मपुत्र कुशके चार पुत्रोंका वर्णन, शोणभद्र-तटवर्ती प्रदेशको वसुकी भूमि बताना, कुशनाभकी सौ कन्याओंका वायुके कोपसे 'कुब्जा' होना

ब्रह्मयोनिर्महानासीत् कुशो नाम महातपाः।
अक्लिष्टव्रतधर्मज्ञः सज्जनप्रतिपूजकः॥ १॥

(विश्वामित्रजी कहते हैं—) श्रीराम! पूर्वकालमें कुश नामसे प्रसिद्ध एक महातपस्वी राजा हो गये हैं। वे साक्षात् ब्रह्माजीके पुत्र थे। उनका प्रत्येक व्रत एवं संकल्प बिना किसी क्लेश या कठिनाईके ही पूर्ण होता था। वे धर्मके ज्ञाता, सत्पुरुषोंका आदर करनेवाले और महान् थे॥ १॥

स महात्मा कुलीनायां युक्तायां सुमहाबलान्।
वैदर्भ्यां जनयामास चतुरः सदृशान् सुतान्॥ २॥

उत्तम कुलमें उत्पन्न विदर्भदेशकी राजकुमारी उनकी पत्नी थी। उसके गर्भसे उन महात्मा नरेशने चार पुत्र उत्पन्न किये, जो उन्हींके समान थे॥ २॥

कुशाम्बं कुशनाभं च असूर्तरजसं वसुम्।
दीप्तियुक्तान् महोत्साहान् क्षत्रधर्मचिकीर्षया॥ ३॥
तानुवाच कुशः पुत्रान् धर्मिष्ठान् सत्यवादिनः।
क्रियतां पालनं पुत्रा धर्मं प्राप्स्यथ पुष्कलम्॥ ४॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—कुशाम्ब, कुशनाभ, असूर्तरजस[1] तथा वसु। ये सब-के-सब तेजस्वी तथा

---

१. रामायणशिरोमणि नामक व्याख्याके निर्माताने 'अमूर्तिरजस' पाठ माना है। महाभारतके अनुसार इनका नाम 'अमूर्तरयस्' या 'अमूर्तरया' था (वन० ९५। १७)। यहाँ इनके द्वारा धर्मारण्य नामक नगर बसानेका उल्लेख है। यह नगर धर्मारण्य नामक तीर्थभूत वनमें था। यह वन गयाके आस-पासका ही प्रदेश है। अमूर्तरयाके पुत्र गयने ही गया नामक नगर बसाया था। अतः धर्मारण्य और गयाकी एकता सिद्ध होती है। महाभारत वनपर्व (८४। ८५) में गयाके ब्रह्मसरोवरको धर्मारण्यसे सुशोभित बताया गया है।

महान् उत्साही थे। राजा कुशने 'प्रजारक्षणरूप' क्षत्रिय-धर्मके पालनकी इच्छासे अपने उन धर्मिष्ठ तथा सत्यवादी पुत्रोंसे कहा—'पुत्रो! प्रजाका पालन करो, इससे तुम्हें धर्मका पूरा-पूरा फल प्राप्त होगा'॥ ३-४॥

कुशस्य वचनं श्रुत्वा चत्वारो लोकसत्तमाः।
निवेशं चक्रिरे सर्वे पुराणां नृवरास्तदा॥ ५॥

अपने पिता महाराज कुशकी यह बात सुनकर उन चारों लोकशिरोमणि नरश्रेष्ठ राजकुमारोंने उस समय अपने-अपने लिये पृथक्-पृथक् नगर निर्माण कराया॥ ५॥

कुशाम्बस्तु महातेजाः कौशाम्बीमकरोत् पुरीम्।
कुशनाभस्तु धर्मात्मा पुरं चक्रे महोदयम्॥ ६॥

महातेजस्वी कुशाम्बने 'कौशाम्बी' पुरी बसायी (जिसे आजकल 'कोसम' कहते हैं)। धर्मात्मा कुशनाभने 'महोदय' नामक नगरका निर्माण कराया॥ ६॥

असूर्तरजसो नाम धर्मारण्यं महामतिः।
चक्रे पुरवरं राजा वसुनाम गिरिव्रजम्॥ ७॥

परम बुद्धिमान् असूर्तरजसने 'धर्मारण्य' नामक एक श्रेष्ठ नगर बसाया तथा राजा वसुने 'गिरिव्रज' नगरकी स्थापना की॥ ७॥

एषा वसुमती नाम वसोस्तस्य महात्मनः।
एते शैलवराः पञ्च प्रकाशन्ते समन्ततः॥ ८॥

महात्मा वसुकी यह 'गिरिव्रज' नामक राजधानी वसुमतीके नामसे प्रसिद्ध हुई। इसके चारों ओर ये पाँच श्रेष्ठ पर्वत सुशोभित होते हैं[1]॥ ८॥

सुमागधी नदी रम्या मागधान् विश्रुताऽऽययौ।
पञ्चानां शैलमुख्यानां मध्ये मालेव शोभते॥ ९॥

यह रमणीय (सोन) नदी दक्षिण-पश्चिमकी ओरसे बहती हुई मगध देशमें आयी है, इसलिये यहाँ 'सुमागधी' नामसे विख्यात हुई है। यह इन पाँच श्रेष्ठ पर्वतोंके बीचमें मालाकी भाँति सुशोभित हो रही है॥ ९॥

सैषा हि मागधी राम वसोस्तस्य महात्मनः।
पूर्वाभिचरिता राम सुक्षेत्रा सस्यमालिनी॥ १०॥

श्रीराम! इस प्रकार 'मागधी' नामसे प्रसिद्ध हुई यह सोन नदी पूर्वोक्त महात्मा वसुसे सम्बन्ध रखती है। रघुनन्दन! यह दक्षिण-पश्चिमसे आकर पूर्वोत्तर दिशाकी ओर प्रवाहित हुई है। इसके दोनों तटोंपर सुन्दर क्षेत्र (उपजाऊ खेत) हैं, अतः यह सदा सस्य-मालाओंसे अलंकृत (हरी-भरी खेतीसे सुशोभित) रहती है॥ १०॥

कुशनाभस्तु राजर्षिः कन्याशतमनुत्तमम्।
जनयामास धर्मात्मा घृताच्यां रघुनन्दन॥ ११॥

रघुकुलको आनन्दित करनेवाले श्रीराम! धर्मात्मा राजर्षि कुशनाभने घृताची अप्सराके गर्भसे परम उत्तम सौ कन्याओंको जन्म दिया॥ ११॥

तास्तु यौवनशालिन्यो रूपवत्यः स्वलंकृताः।
उद्यानभूमिमागम्य प्रावृषीव शतह्रदाः॥ १२॥
गायन्त्यो नृत्यमानाश्च वादयन्त्यस्तु राघव।
आमोदं परमं जग्मुर्वराभरणभूषिताः॥ १३॥

वे सब-की-सब सुन्दर रूप-लावण्यसे सुशोभित थीं। धीरे-धीरे युवावस्थाने आकर उनके सौन्दर्यको और भी बढ़ा दिया। रघुवीर! एक दिन वस्त्र और आभूषणोंसे विभूषित हो वे सभी राजकन्याएँ उद्यान-भूमिमें आकर वर्षाऋतुमें प्रकाशित होनेवाली विद्युन्मालाओंकी भाँति शोभा पाने लगीं। सुन्दर अलंकारोंसे अलंकृत हुई वे अङ्गनाएँ गाती, बजाती और नृत्य करती हुई वहाँ परम आमोद-प्रमोदमें मग्न हो गयीं॥ १२-१३॥

अथ ताश्चारुसर्वाङ्ग्यो रूपेणाप्रतिमा भुवि।
उद्यानभूमिमागम्य तारा इव घनान्तरे॥ १४॥

उनके सभी अङ्ग बड़े मनोहर थे। इस भूतलपर उनके रूप-सौन्दर्यकी कहीं भी तुलना नहीं थी। उस उद्यानमें आकर वे बादलोंके ओटमें कुछ-कुछ छिपी हुई तारिकाओंके समान शोभा पा रही थीं॥ १४॥

ताः सर्वा गुणसम्पन्ना रूपयौवनसंयुताः।
दृष्ट्वा सर्वात्मको वायुरिदं वचनमब्रवीत्॥ १५॥

उस समय उत्तम गुणोंसे सम्पन्न तथा रूप और यौवनसे सुशोभित उन सब राजकन्याओंको देखकर सर्वस्वरूप वायु देवताने उनसे इस प्रकार कहा—॥ १५॥

अहं वः कामये सर्वा भार्या मम भविष्यथ।
मानुषस्त्यज्यतां भावो दीर्घमायुरवाप्स्यथ॥ १६॥

'सुन्दरियो! मैं तुम सबको अपनी प्रेयसीके रूपमें प्राप्त करना चाहता हूँ। तुम सब मेरी भार्याएँ बनोगी। अब मनुष्यभावका त्याग करो और मुझे अङ्गीकार करके देवाङ्गनाओंकी भाँति दीर्घ आयु प्राप्त कर लो॥ १६॥

चलं हि यौवनं नित्यं मानुषेषु विशेषतः।
अक्षयं यौवनं प्राप्ता अमर्यश्च भविष्यथ॥ १७॥

'विशेषतः मानव-शरीरमें जवानी कभी स्थिर नहीं रहती—प्रतिक्षण क्षीण होती जाती है। मेरे साथ सम्बन्ध हो

(वन॰ ८२। ४७) धर्मारण्यमें पितृ-पूजनकी महत्ता बतायी गयी है।

१. महाभारत सभापर्व (२१। १—१०) में इन पाँचों पर्वतोंके नाम इस प्रकार वर्णित हैं—(१) विपुल, (२) वराह, (३) वृषभ (ऋषभ), (४) ऋषिगिरि (मातङ्ग) तथा (५) चैत्यक।

जानेपर तुमलोग अक्षय यौवन प्राप्त करके अमर हो जाओगी' ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा वायोरक्लिष्टकर्मणः ।
अपहास्य ततो वाक्यं कन्याशतमथाब्रवीत् ॥ १८ ॥

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले वायुदेवका यह कथन सुनकर वे सौ कन्याएँ अवहेलनापूर्वक हँसकर बोलीं— ॥

अन्तश्चरसि भूतानां सर्वेषां सुरसत्तम ।
प्रभावज्ञाश्च ते सर्वाः किमर्थमवमन्यसे ॥ १९ ॥

'सुरश्रेष्ठ ! आप प्राणवायुके रूपमें समस्त प्राणियोंके भीतर विचरते हैं (अतः सबके मनकी बातें जानते हैं; आपको यह मालूम होगा कि हमारे मनमें आपके प्रति कोई आकर्षण नहीं है)। हम सब बहिनें आपके अनुपम प्रभावको भी जानती हैं (तो भी हमारा आपके प्रति अनुराग नहीं है); ऐसी दशामें यह अनुचित प्रस्ताव करके आप हमारा अपमान किसलिये कर रहे हैं ? ॥ १९ ॥

कुशनाभसुता देव समस्ताः सुरसत्तम ।
स्थानाच्च्यावयितुं देवं रक्षामस्तु तपो वयम् ॥ २० ॥

'देव ! देवशिरोमणे ! हम सब-की-सब राजर्षि कुशनाभकी कन्याएँ हैं। देवता होनेपर भी आपको शाप देकर वायुपदसे भ्रष्ट कर सकती हैं, किंतु ऐसा करना नहीं चाहतीं; क्योंकि हम अपने तपको सुरक्षित रखती हैं ॥ २० ॥

मा भूत् स कालो दुर्मेधः पितरं सत्यवादिनम् ।
अवमन्य स्वधर्मेण स्वयं वरमुपास्महे ॥ २१ ॥

'दुर्मते ! वह समय कभी न आवे, जब कि हम अपने सत्यवादी पिताकी अवहेलना करके कामवश या अत्यन्त अधर्मपूर्वक स्वयं ही वर ढूँढ़ने लगें ॥ २१ ॥

पिता हि प्रभुरस्माकं दैवतं परमं च सः ।
यस्य नो दास्यति पिता स नो भर्ता भविष्यति ॥ २२ ॥

'हमलोगोंपर हमारे पिताजीका प्रभुत्व है, वे हमारे लिये सर्वश्रेष्ठ देवता हैं। पिताजी हमें जिसके हाथमें दे देंगे, वही हमारा पति होगा' ॥ २२ ॥

तासां तु वचनं श्रुत्वा हरिः परमकोपनः ।
प्रविश्य सर्वगात्राणि बभञ्ज भगवान् प्रभुः ॥ २३ ॥
अरत्निमात्राकृतयो भग्नगात्रा भयार्दिताः ।

उनकी यह बात सुनकर वायुदेव अत्यन्त कुपित हो उठे। उन ऐश्वर्यशाली प्रभुने उनके भीतर प्रविष्ट हो सब अङ्गोंको मोड़कर टेढ़ा कर दिया। शरीर मुड़ जानेके कारण वे कुबड़ी हो गयीं। उनकी आकृति मुट्ठी बँधे हुए एक हाथके बराबर हो गयी। वे भयसे व्याकुल हो उठीं ॥ २३½ ॥

ताः कन्या वायुना भग्ना विविशुर्नृपतेर्गृहम् ।
प्रविश्य च सुसम्भ्रान्ताः सलज्जाः सास्रलोचनाः ॥ २४ ॥

वायुदेवके द्वारा कुबड़ी की हुई उन कन्याओंने राजभवनमें प्रवेश किया। प्रवेश करके वे लज्जित और उद्विग्न हो गयीं। उनके नेत्रोंसे आँसुओंकी धाराएँ बहने लगीं ॥ २४ ॥

स च ता दयिता भग्नाः कन्याः परमशोभनाः ।
दृष्ट्वा दीनास्तदा राजा सम्भ्रान्त इदमब्रवीत् ॥ २५ ॥

अपनी परम सुन्दरी प्यारी पुत्रियोंको कुब्जताके कारण अत्यन्त दयनीय दशामें पड़ी देख राजा कुशनाभ घबरा गये और इस प्रकार बोले— ॥ २५ ॥

किमिदं कथ्यतां पुत्र्यः को धर्ममवमन्यते ।
कुब्जाः केन कृताः सर्वाश्चेष्टन्त्यो नाभिभाषथ ।
एवं राजा विनिःश्वस्य समाधिं संदधे ततः ॥ २६ ॥

'पुत्रियो ! यह क्या हुआ ? बताओ। कौन प्राणी धर्मकी अवहेलना करता है ? किसने तुम्हें कुबड़ी बना दिया, जिससे तुम तड़प रही हो, किंतु कुछ बताती नहीं हो।' यों कहकर राजाने लंबी साँस खींची और उनका उत्तर सुननेके लिये वे सावधान होकर बैठ गये ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें बत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

—★—

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

राजा कुशनाभद्वारा कन्याओंके धैर्य एवं क्षमाशीलताकी प्रशंसा, ब्रह्मदत्तकी उत्पत्ति तथा उनके साथ कुशनाभकी कन्याओंका विवाह

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा कुशनाभस्य धीमतः ।
शिरोभिश्चरणौ स्पृष्ट्वा कन्याशतमभाषत ॥ १ ॥

बुद्धिमान् महाराज कुशनाभका वह वचन सुनकर उन सौ कन्याओंने पिताके चरणोंमें सिर रखकर प्रणाम किया और इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

वायुः सर्वात्मको राजन् प्रधर्षयितुमिच्छति ।
अशुभं मार्गमास्थाय न धर्मं प्रत्यवेक्षते ॥ २ ॥

राजन् ! सर्वत्र संचार करनेवाले वायुदेव अशुभ मार्गका अवलम्बन करके हमपर बलात्कार करना चाहते थे। धर्मपर उनकी दृष्टि नहीं थी ॥ २ ॥

पितृमत्यः स्म भद्रं ते स्वच्छन्दे न वयं स्थिताः ।
पितरं नो वृणीष्व त्वं यदि नो दास्यते तव ॥ ३ ॥

हमने उनसे कहा—'देव ! आपका कल्याण हो, हमारे पिता विद्यमान हैं; हम स्वच्छन्द नहीं हैं। आप पिताजीके पास जाकर हमारा वरण कीजिये। यदि वे हमें आपको सौंप देंगे तो हम आपकी हो जायँगी' ॥ ३ ॥

तेन पापानुबन्धेन वचनं न प्रतीच्छता।
एवं ब्रुवन्त्यः सर्वाः स्म वायुनाभिहता भृशम्॥ ४॥

परंतु उनका मन तो पापसे बँधा हुआ था। उन्होंने हमारी बात नहीं मानी। हम सब बहिनें ये ही धर्मसंगत बातें कह रही थीं, तो भी उन्होंने हमें गहरी चोट पहुँचायी—बिना अपराधके ही हमें पीड़ा दी॥ ४॥

तासां तु वचनं श्रुत्वा राजा परमधार्मिकः।
प्रत्युवाच महातेजाः कन्याशतमनुत्तमम्॥ ५॥

उनकी बात सुनकर परम धर्मात्मा महातेजस्वी राजाने उन अपनी परम उत्तम सौ कन्याओंको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ५॥

क्षान्तं क्षमावतां पुत्र्यः कर्तव्यं सुमहत् कृतम्।
ऐकमत्यमुपागम्य कुलं चावेक्षितं मम॥ ६॥

'पुत्रियो! क्षमाशील महापुरुष ही जिसे कर सकते हैं, वही क्षमा तुमने भी की है। यह तुमलोगोंके द्वारा महान् कार्य सम्पन्न हुआ है। तुम सबने एकमत होकर जो मेरे कुलकी मर्यादापर ही दृष्टि रखी है—कामभावको अपने मनमें स्थान नहीं दिया है—यह भी तुमने बहुत बड़ा काम किया है॥ ६॥

अलंकारो हि नारीणां क्षमा तु पुरुषस्य वा।
दुष्करं तच्च वै क्षान्तं त्रिदशेषु विशेषतः॥ ७॥
यादृशी वः क्षमा पुत्र्यः सर्वासामविशेषतः।

'स्त्री हो या पुरुष, उसके लिये क्षमा ही आभूषण है। पुत्रियो! तुम सब लोगोंमें समानरूपसे जैसी क्षमा या सहिष्णुता है, वह विशेषतः देवताओंके लिये भी दुष्कर ही है॥ ७½॥

क्षमा दानं क्षमा सत्यं क्षमा यज्ञाश्च पुत्रिकाः॥ ८॥
क्षमा यशः क्षमा धर्मः क्षमायां विष्ठितं जगत्।

'पुत्रियो! क्षमा दान है, क्षमा सत्य है, क्षमा यज्ञ है, क्षमा यश है और क्षमा धर्म है, क्षमापर ही यह सम्पूर्ण जगत् टिका हुआ है'॥ ८½॥

विसृज्य कन्याः काकुत्स्थ राजा त्रिदशविक्रमः॥ ९॥
मन्त्रज्ञो मन्त्रयामास प्रदानं सह मन्त्रिभिः।
देशे काले च कर्तव्यं सदृशे प्रतिपादनम्॥ १०॥

ककुत्स्थकुलनन्दन श्रीराम! देवतुल्य पराक्रमी राजा कुशनाभने कन्याओंसे ऐसा कहकर उन्हें अन्तःपुरमें जानेकी आज्ञा दे दी और मन्त्रणाके तत्त्वको जाननेवाले उन नरेशने स्वयं मन्त्रियोंके साथ बैठकर कन्याओंके विवाहके विषयमें विचार आरम्भ किया। विचारणीय विषय यह था कि 'किस देशमें किस समय और किस सुयोग्य वरके साथ उनका विवाह किया जाय?'॥ ९-१०॥

एतस्मिन्नेव काले तु चूली नाम महाद्युतिः।
ऊर्ध्वरेताः शुभाचारो ब्राह्मं तप उपागमत्॥ ११॥

उन्हीं दिनों चूली नामसे प्रसिद्ध एक महातेजस्वी, सदाचारी एवं ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) मुनि वेदोक्त तपका अनुष्ठान कर रहे थे (अथवा ब्रह्मचिन्तनरूप तपस्यामें संलग्न थे)॥ ११॥

तपस्यन्तमृषिं तत्र गन्धर्वी पर्युपासते।
सोमदा नाम भद्रं ते ऊर्मिलातनया तदा॥ १२॥

श्रीराम! तुम्हारा भला हो, उस समय एक गन्धर्वकुमारी वहाँ रहकर उन तपस्वी मुनिकी उपासना (अनुग्रहकी इच्छासे सेवा) करती थी। उसका नाम था सोमदा। वह ऊर्मिलाकी पुत्री थी॥ १२॥

सा च तं प्रणता भूत्वा शुश्रूषणपरायणा।
उवास काले धर्मिष्ठा तस्यास्तुष्टोऽभवद् गुरुः॥ १३॥

वह प्रतिदिन मुनिको प्रणाम करके उनकी सेवामें लगी रहती थी तथा धर्ममें स्थित रहकर समय-समयपर सेवाके लिये उपस्थित होती थी; इससे उसके ऊपर वे गौरवशाली मुनि बहुत संतुष्ट हुए॥ १३॥

स च तां कालयोगेन प्रोवाच रघुनन्दन।
परितुष्टोऽस्मि भद्रं ते किं करोमि तव प्रियम्॥ १४॥

रघुनन्दन! शुभ समय आनेपर चूलीने उस गन्धर्वकन्यासे कहा—'शुभे! तुम्हारा कल्याण हो, मैं तुमपर बहुत संतुष्ट हूँ। बोलो, तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य सिद्ध करूँ'॥ १४॥

परितुष्टं मुनिं ज्ञात्वा गन्धर्वी मधुरस्वरम्।
उवाच परमप्रीता वाक्यज्ञा वाक्यकोविदम्॥ १५॥

मुनिको संतुष्ट जानकर गन्धर्व-कन्या बहुत प्रसन्न हुई। वह बोलनेकी कला जानती थी; उसने वाणीके मर्मज्ञ मुनिसे मधुर स्वरमें इस प्रकार कहा—॥ १५॥

लक्ष्म्या समुदितो ब्राह्म्या ब्रह्मभूतो महातपाः।
ब्राह्मेण तपसा युक्तं पुत्रमिच्छामि धार्मिकम्॥ १६॥

'महर्षे! आप ब्राह्मी सम्पत्ति (ब्रह्मतेज) से सम्पन्न होकर ब्रह्मस्वरूप हो गये हैं, अतएव आप महान् तपस्वी हैं। मैं आपसे ब्राह्म तप (ब्रह्म-ज्ञान एवं वेदोक्त तप) से युक्त धर्मात्मा पुत्र प्राप्त करना चाहती हूँ॥ १६॥

अपतिश्चास्मि भद्रं ते भार्या चास्मि न कस्यचित्।
ब्राह्मेणोपगतायाश्च दातुमर्हसि मे सुतम्॥ १७॥

'मुने! आपका भला हो। मेरे कोई पति नहीं है। मैं न तो किसीकी पत्नी हुई हूँ और न आगे होऊँगी। आपकी सेवामें आयी हूँ; आप अपने ब्राह्म बल (तपःशक्ति) से मुझे पुत्र प्रदान करें'॥ १७॥

तस्याः प्रसन्नो ब्रह्मर्षिर्ददौ ब्राह्ममनुत्तमम्।
ब्रह्मदत्त इति ख्यातं मानसं चूलिनः सुतम्॥ १८॥

उस गन्धर्वकन्याकी सेवासे संतुष्ट हुए ब्रह्मर्षि चूलीने उसे परम उत्तम ब्राह्म तपसे सम्पन्न पुत्र प्रदान किया। वह उनके मानसिक संकल्पसे प्रकट हुआ मानस पुत्र था। उसका

नाम 'ब्रह्मदत्त' हुआ ॥ १८ ॥

स राजा ब्रह्मदत्तस्तु पुरीमध्यवसत् तदा।
काम्पिल्यां परया लक्ष्म्या देवराजो यथा दिवम्॥ १९॥

(कुशनाभके यहाँ जब कन्याओंके विवाहका विचार चल रहा था) उस समय राजा ब्रह्मदत्त उत्तम लक्ष्मीसे सम्पन्न हो 'काम्पिल्या' नामक नगरीमें उसी तरह निवास करते थे, जैसे स्वर्गकी अमरावतीपुरीमें देवराज इन्द्र ॥ १९ ॥

स बुद्धिं कृतवान् राजा कुशनाभः सुधार्मिकः।
ब्रह्मदत्ताय काकुत्स्थ दातुं कन्याशतं तदा॥ २०॥

ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम! तब परम धर्मात्मा राजा कुशनाभने ब्रह्मदत्तके साथ अपनी सौ कन्याओंको व्याह देनेका निश्चय किया ॥ २० ॥

तमाहूय महातेजा ब्रह्मदत्तं महीपतिः।
ददौ कन्याशतं राजा सुप्रीतेनान्तरात्मना॥ २१॥

महातेजस्वी भूपाल राजा कुशनाभने ब्रह्मदत्तको बुलाकर अत्यन्त प्रसन्न चित्तसे उन्हें अपनी सौ कन्याएँ सौंप दीं ॥ २१ ॥

यथाक्रमं तदा पाणिं जग्राह रघुनन्दन।
ब्रह्मदत्तो महीपालस्तासां देवपतिर्यथा॥ २२॥

रघुनन्दन! उस समय देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी पृथ्वीपति ब्रह्मदत्तने क्रमशः उन सभी कन्याओंका पाणिग्रहण किया ॥ २२ ॥

स्पृष्टमात्रे तदा पाणौ विकुब्जा विगतज्वराः।
युक्तं परमया लक्ष्म्या बभौ कन्याशतं तदा॥ २३॥

विवाहकालमें उन कन्याओंके हाथोंका ब्रह्मदत्तके हाथसे स्पर्श होते ही वे सब-की-सब कन्याएँ कुब्जत्व-दोषसे रहित, नीरोग तथा उत्तम शोभासे सम्पन्न प्रतीत होने लगीं ॥ २३ ॥

स दृष्ट्वा वायुना मुक्ताः कुशनाभो महीपतिः।
बभूव परमप्रीतो हर्षं लेभे पुनः पुनः॥ २४॥

वातरोगके रूपमें आये हुए वायुदेवने उन कन्याओंको छोड़ दिया—यह देख पृथ्वीपति राजा कुशनाभ बड़े प्रसन्न हुए और बारम्बार हर्षका अनुभव करने लगे ॥ २४ ॥

कृतोद्वाहं तु राजानं ब्रह्मदत्तं महीपतिम्।
सदारं प्रेषयामास सोपाध्यायगणं तदा॥ २५॥

भूपाल राजा ब्रह्मदत्तका विवाह-कार्य सम्पन्न हो जानेपर महाराज कुशनाभने उन्हें पत्नियों तथा पुरोहितोंसहित आदरपूर्वक विदा किया ॥ २५ ॥

सोमदापि सुतं दृष्ट्वा पुत्रस्य सदृशीं क्रियाम्।
यथान्यायं च गन्धर्वी स्नुषास्ताः प्रत्यनन्दत।
स्पृष्ट्वा स्पृष्ट्वा च ताः कन्याः कुशनाभं प्रशस्य च॥ २६॥

गन्धर्वी सोमदाने अपने पुत्रको तथा उसके योग्य विवाह-सम्बन्धको देखकर अपनी उन पुत्रवधुओंका यथोचितरूपसे अभिनन्दन किया। उसने एक-एक करके उन सभी राजकन्याओंको हृदयसे लगाया और महाराज कुशनाभकी सराहना करके वहाँसे प्रस्थान किया ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें तैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशः सर्गः

गाधिकी उत्पत्ति, कौशिकीकी प्रशंसा, विश्वामित्रजीका कथा बंद करके आधी रातका वर्णन करते हुए सबको सोनेकी आज्ञा देकर शयन करना

कृतोद्वाहे गते तस्मिन् ब्रह्मदत्ते च राघव।
अपुत्रः पुत्रलाभाय पौत्रीमिष्टिमकल्पयत्॥ १॥

रघुनन्दन! विवाह करके जब राजा ब्रह्मदत्त चले गये, तब पुत्रहीन महाराज कुशनाभने श्रेष्ठ पुत्रकी प्राप्तिके लिये पुत्रेष्टि यज्ञका अनुष्ठान किया ॥ १ ॥

इष्ट्यां तु वर्तमानायां कुशनाभं महीपतिम्।
उवाच परमोदारः कुशो ब्रह्मसुतस्तदा॥ २॥

उस यज्ञके होते समय परम उदार ब्रह्मकुमार महाराज कुशने भूपाल कुशनाभसे कहा— ॥ २ ॥

पुत्रस्ते सदृशः पुत्र भविष्यति सुधार्मिकः।
गाधिं प्राप्स्यसि तेन त्वं कीर्तिं लोके च शाश्वतीम्॥ ३॥

'बेटा! तुम्हें अपने समान ही परम धर्मात्मा पुत्र प्राप्त होगा। तुम 'गाधि' नामक पुत्र प्राप्त करोगे और उसके द्वारा तुम्हें संसारमें अक्षय कीर्ति उपलब्ध होगी' ॥ ३ ॥

एवमुक्त्वा कुशो राम कुशनाभं महीपतिम्।
जगामाकाशमाविश्य ब्रह्मलोकं सनातनम्॥ ४॥

श्रीराम! पृथ्वीपति कुशनाभसे ऐसा कहकर राजर्षि कुश आकाशमें प्रविष्ट हो सनातन ब्रह्मलोकको चले गये ॥ ४ ॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य कुशनाभस्य धीमतः।
जज्ञे परमधर्मिष्ठो गाधिरित्येव नामतः॥ ५॥

कुछ कालके पश्चात् बुद्धिमान् राजा कुशनाभके यहाँ परम धर्मात्मा 'गाधि' नामक पुत्रका जन्म हुआ ॥ ५ ॥

स पिता मम काकुत्स्थ गाधिः परमधार्मिकः।
कुशवंशप्रसूतोऽस्मि कौशिको रघुनन्दन॥ ६॥

ककुत्स्थकुलभूषण रघुनन्दन! वे परम धर्मात्मा राजा

गाधि मेरे पिता थे। मैं कुशके कुलमें उत्पन्न होनेके कारण 'कौशिक' कहलाता हूँ॥ ६॥

पूर्वजा भगिनी चापि मम राघव सुव्रता।
नाम्ना सत्यवती नाम ऋचीके प्रतिपादिता॥ ७॥

राघव! मेरे एक ज्येष्ठ बहिन भी थी, जो उत्तम व्रतका पालन करनेवाली थीं। उसका नाम सत्यवती था। वह ऋचीक मुनिको ब्याही गयी थी॥ ७॥

सशरीरा गता स्वर्गं भर्तारमनुवर्तिनी।
कौशिकी परमोदारा प्रवृत्ता च महानदी॥ ८॥

अपने पतिका अनुसरण करनेवाली सत्यवती शरीरसहित स्वर्गलोकको चली गयी थी। वही परम उदार महानदी कौशिकीके रूपमें भी प्रकट होकर इस भूतलपर प्रवाहित होती है॥ ८॥

दिव्या पुण्योदका रम्या हिमवन्तमुपाश्रिता।
लोकस्य हितकार्यार्थं प्रवृत्ता भगिनी मम॥ ९॥

मेरी वह बहिन जगत्‌के हितके लिये हिमालयका आश्रय लेकर नदीरूपमें प्रवाहित हुई। वह पुण्यसलिला दिव्य नदी बड़ी रमणीय है॥ ९॥

ततोऽहं हिमवत्पार्श्वे वसामि नियतः सुखम्।
भगिन्यां स्नेहसंयुक्तः कौशिक्यां रघुनन्दन॥ १०॥

रघुनन्दन! मेरा अपनी बहिन कौशिकीके प्रति बहुत स्नेह है; अतः मैं हिमालयके निकट उसीके तटपर नियमपूर्वक बड़े सुखसे निवास करता हूँ॥ १०॥

सा तु सत्यवती पुण्या सत्ये धर्मे प्रतिष्ठिता।
पतिव्रता महाभागा कौशिकी सरितां वरा॥ ११॥

पुण्यमयी सत्यवती सत्य धर्ममें प्रतिष्ठित है। वह परम सौभाग्यशालिनी पतिव्रता देवी यहाँ सरिताओंमें श्रेष्ठ कौशिकीके रूपमें विद्यमान है॥ ११॥

अहं हि नियमाद् राम हित्वा तां समुपागतः।
सिद्धाश्रममनुप्राप्तः सिद्धोऽस्मि तव तेजसा॥ १२॥

श्रीराम! मैं यज्ञसम्बन्धी नियमकी सिद्धिके लिये ही अपनी बहिनका सांनिध्य छोड़कर सिद्धाश्रम (बक्सर) में आया था। अब तुम्हारे तेजसे मुझे वह सिद्धि प्राप्त हो गयी है॥ १२॥

एषा राम ममोत्पत्तिः स्वस्य वंशस्य कीर्तिता।
देशस्य हि महाबाहो यन्मां त्वं परिपृच्छसि॥ १३॥

महाबाहु श्रीराम! तुमने मुझसे जो पूछा था, उसके उत्तरमें मैंने तुम्हें शोणभद्रतटवर्ती देशका परिचय देते हुए यह अपनी तथा अपने कुलकी उत्पत्ति बतायी है॥ १३॥

गतोऽर्धरात्रः काकुत्स्थ कथाः कथयतो मम।
निद्रामभ्येहि भद्रं ते मा भूद् विघ्नोऽध्वनीह नः॥ १४॥

काकुत्स्थ! मेरे कथा कहते-कहते आधी रात बीत गयी। अब थोड़ी देर नींद ले लो। तुम्हारा कल्याण हो। मैं चाहता हूँ कि अधिक जागरणके कारण हमारी यात्रामें विघ्न न पड़े॥ १४॥

निष्पन्दास्तरवः सर्वे निलीना मृगपक्षिणः।
नैशेन तमसा व्याप्ता दिशश्च रघुनन्दन॥ १५॥

सारे वृक्ष निष्कम्प जान पड़ते हैं—इनका एक पत्ता भी नहीं हिलता है। पशु-पक्षी अपने-अपने वासस्थानमें छिपकर बसेरे लेते हैं। रघुनन्दन! रात्रिके अन्धकारसे सम्पूर्ण दिशाएँ व्याप्त हो रही हैं॥ १५॥

शनैर्वियुज्यते संध्या नभो नेत्रैरिवावृतम्।
नक्षत्रतारागहनं ज्योतिर्भिरवभासते॥ १६॥

धीरे-धीरे संध्या दूर चली गयी। नक्षत्रों तथा ताराओंसे भरा हुआ आकाश (सहस्राक्ष इन्द्रकी भाँति) सहस्रों ज्योतिर्मय नेत्रोंसे व्याप्त-सा होकर प्रकाशित हो रहा है॥

उत्तिष्ठते च शीतांशुः शशी लोकतमोनुदः।
ह्लादयन् प्राणिनां लोके मनांसि प्रभया स्वया॥ १७॥

सम्पूर्ण लोकका अन्धकार दूर करनेवाले शीतरश्मि चन्द्रमा अपनी प्रभासे जगत्‌के प्राणियोंके मनको आह्लाद प्रदान करते हुए उदित हो रहे हैं *॥ १७॥

नैशानि सर्वभूतानि प्रचरन्ति ततस्ततः।
यक्षराक्षससङ्घाश्च रौद्राश्च पिशिताशनाः॥ १८॥

रातमें विचरनेवाले समस्त प्राणी—यक्ष-राक्षसोंके समुदाय तथा भयंकर पिशाच इधर-उधर विचर रहे हैं॥ १८॥

एवमुक्त्वा महातेजा विरराम महामुनिः।
साधुसाध्विति ते सर्वे मुनयो ह्यभ्यपूजयन्॥ १९॥

ऐसा कहकर महातेजस्वी महामुनि विश्वामित्र चुप हो गये। उस समय सभी मुनियोंने साधुवाद देकर विश्वामित्रजीकी भूरि-भूरि प्रशंसा की—॥ १९॥

कुशिकानामयं वंशो महान् धर्मपरः सदा।
ब्रह्मोपमा महात्मानः कुशवंश्या नरोत्तमाः॥ २०॥

'कुशपुत्रोंका यह वंश सदा ही महान् धर्मपरायण रहा है। कुशवंशी महात्मा श्रेष्ठ मानव ब्रह्माजीके समान तेजस्वी हुए हैं॥ २०॥

विशेषेण भवानेव विश्वामित्र महायशः।
कौशिकी सरितां श्रेष्ठा कुलोद्योतकरी तव॥ २१॥

'महायशस्वी विश्वामित्रजी! अपने वंशमें सबसे बड़े महात्मा आप ही हैं तथा सरिताओंमें श्रेष्ठ कौशिकी भी आपके कुलकी कीर्तिको प्रकाशित करनेवाली है'॥ २१॥

मुदितैर्मुनिशार्दूलैः प्रशस्तः कुशिकात्मजः।
निद्रामुपागमच्छ्रीमानस्तंगत इवांशुमान्॥ २२॥

---

* इस वर्णनसे जान पड़ता है कि उस रात्रिको कृष्णपक्षकी नवमी तिथि थी।

इस प्रकार आनन्दमग्न हुए उन मुनिवरोंद्वारा प्रशंसित श्रीमान् कौशिकमुनि अस्त हुए सूर्यकी भाँति नींद लेने लगे ॥ २२ ॥

रामोऽपि सहसौमित्रिः किंचिदागतविस्मयः ।
प्रशस्य मुनिशार्दूलं निद्रां समुपसेवते ॥ २३ ॥

यह कथा सुनकर लक्ष्मणसहित श्रीरामको भी कुछ विस्मय हो आया। वे भी मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रकी सराहना करके नींद लेने लगे ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें चौंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

—★—

पञ्चत्रिंशः सर्गः

शोणभद्र पार करके विश्वामित्र आदिका गङ्गाजीके तटपर पहुँचकर वहाँ रात्रिवास करना तथा श्रीरामके पूछनेपर विश्वामित्रजीका उन्हें गङ्गाजीकी उत्पत्तिकी कथा सुनाना

उपास्य रात्रिशेषं तु शोणाकूले महर्षिभिः ।
निशायां सुप्रभातायां विश्वामित्रोऽभ्यभाषत ॥ १ ॥

महर्षियोंसहित विश्वामित्रने रात्रिके शेषभागमें शोणभद्रके तटपर शयन किया। जब रात बीती और प्रभात हुआ, तब वे श्रीरामचन्द्रजीसे इस प्रकार बोले— ॥ १ ॥

सुप्रभाता निशा राम पूर्वा संध्या प्रवर्तते ।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते गमनायाभिरोचय ॥ २ ॥

'श्रीराम! रात बीत गयी। सवेरा हो गया। तुम्हारा कल्याण हो, उठो, उठो और चलनेकी तैयारी करो' ॥ २ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य कृतपूर्वाह्णिकक्रियः ।
गमनं रोचयामास वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ ३ ॥

मुनिकी बात सुनकर पूर्वाह्णकालका नित्यनियम पूर्ण करके श्रीराम चलनेको तैयार हो गये और इस प्रकार बोले— ॥ ३ ॥

अयं शोणः शुभजलोऽगाधः पुलिनमण्डितः ।
कतरेण पथा ब्रह्मन् संतरिष्यामहे वयम् ॥ ४ ॥

'ब्रह्मन्! शुभ जलसे परिपूर्ण तथा अपने तटोंसे सुशोभित होनेवाला यह शोणभद्र तो अथाह जान पड़ता है। हमलोग किस मार्गसे चलकर इसे पार करेंगे?' ॥ ४ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण विश्वामित्रोऽब्रवीदिदम् ।
एष पन्था मयोद्दिष्टो येन यान्ति महर्षयः ॥ ५ ॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर विश्वामित्र बोले—'जिस मार्गसे महर्षिगण शोणभद्रको पार करते हैं, उसका मैंने पहलेसे ही निश्चय कर रखा है, वह मार्ग यह है' ॥ ५ ॥

एवमुक्ता महर्षयो विश्वामित्रेण धीमता ।
पश्यन्तस्ते प्रयाता वै वनानि विविधानि च ॥ ६ ॥

बुद्धिमान् विश्वामित्रके ऐसा कहनेपर वे महर्षि नाना प्रकारके वनोंकी शोभा देखते हुए वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ ६ ॥

ते गत्वा दूरमध्वानं गतेऽर्धदिवसे तदा ।
जाह्नवीं सरितां श्रेष्ठां ददृशुर्मुनिसेविताम् ॥ ७ ॥

बहुत दूरका मार्ग तै कर लेनेपर दोपहर होते-होते उन सब लोगोंने मुनिजनसेवित, सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गाजीके तटपर पहुँचकर उनका दर्शन किया ॥ ७ ॥

तां दृष्ट्वा पुण्यसलिलां हंससारससेविताम् ।
बभूवुर्मुनयः सर्वे मुदिताः सहराघवाः ॥ ८ ॥

हंसों तथा सारसोंसे सेवित पुण्यसलिला भागीरथीका दर्शन करके श्रीरामचन्द्रजीके साथ समस्त मुनि बहुत प्रसन्न हुए ॥ ८ ॥

तस्यास्तीरे तदा सर्वे चक्रुर्वासपरिग्रहम् ।
ततः स्नात्वा यथान्यायं संतर्प्य पितृदेवताः ॥ ९ ॥
हुत्वा चैवाग्निहोत्राणि प्राश्य चामृतवद्धविः ।
विविशुर्जाह्नवीतीरे शुभा मुदितमानसाः ॥ १० ॥
विश्वामित्रं महात्मानं परिवार्य समन्ततः ।

उस समय सबने गङ्गाजीके तटपर डेरा डाला। फिर विधिवत् स्नान करके देवताओं और पितरोंका तर्पण किया। उसके बाद अग्निहोत्र करके अमृतके समान मीठे हविष्यका भोजन किया। तदनन्तर वे सभी कल्याणकारी महर्षि प्रसन्नचित्त हो महात्मा विश्वामित्रको चारों ओरसे घेरकर गङ्गाजीके तटपर बैठ गये ॥ ९-१०½ ॥

विष्ठिताश्च यथान्यायं राघवौ च यथार्हतः ।
सम्प्रहृष्टमना रामो विश्वामित्रमथाब्रवीत् ॥ ११ ॥

जब वे सब मुनि स्थिरभावसे विराजमान हो गये और श्रीराम तथा लक्ष्मण भी यथायोग्य स्थानपर बैठ गये, तब श्रीरामने प्रसन्नचित्त होकर विश्वामित्रजीसे पूछा— ॥ ११ ॥

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि गङ्गां त्रिपथगां नदीम् ।
त्रैलोक्यं कथमाक्रम्य गता नदनदीपतिम् ॥ १२ ॥

'भगवन्! मैं यह सुनना चाहता हूँ कि तीन मार्गोंसे प्रवाहित होनेवाली नदी ये गङ्गाजी किस प्रकार तीनों लोकोंमें घूमकर नदों और नदियोंके स्वामी समुद्रमें जा मिली हैं?' ॥

चोदितो रामवाक्येन विश्वामित्रो महामुनिः ।
वृद्धिं जन्म च गङ्गाया वक्तुमेवोपचक्रमे ॥ १३ ॥

श्रीरामके इस प्रश्नद्वारा प्रेरित हो महामुनि विश्वामित्रने गङ्गाजीकी उत्पत्ति और वृद्धिकी कथा कहना आरम्भ किया— ॥ १३ ॥

शैलेन्द्रो हिमवान् राम धातूनामाकरो महान्।
तस्य कन्याद्वयं राम रूपेणाप्रतिमं भुवि ॥ १४ ॥

'श्रीराम! हिमवान् नामक एक पर्वत है, जो समस्त पर्वतोंका राजा तथा सब प्रकारके धातुओंका बहुत बड़ा खजाना है। हिमवान्‌की दो कन्याएँ हैं, जिनके सुन्दर रूपकी इस भूतलपर कहीं तुलना नहीं है॥ १४॥

या मेरुदुहिता राम तयोर्माता सुमध्यमा।
नाम्ना मेना मनोज्ञा वै पत्नी हिमवतः प्रिया ॥ १५ ॥

'मेरु पर्वतकी मनोहारिणी पुत्री मेना हिमवान्‌की प्यारी पत्नी है। सुन्दर कटिप्रदेशवाली मेना ही उन दोनों कन्याओंकी जननी है॥ १५॥

तस्यां गङ्गेयमभवज्ज्येष्ठा हिमवतः सुता।
उमा नाम द्वितीयाभूत् कन्या तस्यैव राघव ॥ १६ ॥

'रघुनन्दन! मेनाके गर्भसे जो पहली कन्या उत्पन्न हुई, वही ये गङ्गाजी हैं। ये हिमवान्‌की ज्येष्ठ पुत्री हैं। हिमवान्‌की ही दूसरी कन्या, जो मेनाके गर्भसे उत्पन्न हुई, उमा नामसे प्रसिद्ध हैं॥ १६॥

अथ ज्येष्ठां सुराः सर्वे देवकार्यचिकीर्षया।
शैलेन्द्रं वरयामासुर्गङ्गां त्रिपथगां नदीम् ॥ १७ ॥

कुछ कालके पश्चात् सब देवताओंने देवकार्यकी सिद्धिके लिये ज्येष्ठकन्या गङ्गाजीको, जो आगे चलकर स्वर्गसे त्रिपथगा नदीके रूपमें अवतीर्ण हुई, गिरिराज हिमालयसे माँगा॥ १७॥

ददौ धर्मेण हिमवांस्तनयां लोकपावनीम्।
स्वच्छन्दपथगां गङ्गां त्रैलोक्यहितकाम्यया ॥ १८ ॥

'हिमवान्‌ने त्रिभुवनका हित करनेकी इच्छासे स्वच्छन्द पथपर विचरनेवाली अपनी लोकपावनी पुत्री गङ्गाको धर्मपूर्वक उन्हें दे दिया॥ १८॥

प्रतिगृह्य त्रिलोकार्थं त्रिलोकहितकाङ्क्षिणः।
गङ्गामादाय तेऽगच्छन् कृतार्थेनान्तरात्मना ॥ १९ ॥

'तीनों लोकोंके हितकी इच्छावाले देवता त्रिभुवनकी भलाईके लिये ही गङ्गाजीको लेकर मन-ही-मन कृतार्थताका अनुभव करते हुए चले गये॥ १९॥

या चान्या शैलदुहिता कन्याऽऽसीद्रघुनन्दन।
उग्रं सुव्रतमास्थाय तपस्तेपे तपोधना ॥ २० ॥

'रघुनन्दन! गिरिराजकी जो दूसरी कन्या उमा थीं, वे उत्तम एवं कठोर व्रतका पालन करती हुई घोर तपस्यामें लग गयीं। उन्होंने तपोमय धनका संचय किया॥ २०॥

उग्रेण तपसा युक्तां ददौ शैलवरः सुताम्।
रुद्रायाप्रतिरूपाय उमां लोकनमस्कृताम् ॥ २१ ॥

'गिरिराजने उग्र तपस्यामें संलग्न हुई अपनी वह विश्ववन्दिता पुत्री उमा अनुपम प्रभावशाली भगवान् रुद्रको ब्याह दी॥ २१॥

एते ते शैलराजस्य सुते लोकनमस्कृते।
गङ्गा च सरितां श्रेष्ठा उमादेवी च राघव ॥ २२ ॥

'रघुनन्दन! इस प्रकार सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गा तथा भगवती उमा—ये दोनों गिरिराज हिमालयकी कन्याएँ हैं। सारा संसार इनके चरणोंमें मस्तक झुकाता है॥ २२॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं यथा त्रिपथगामिनी।
खं गता प्रथमं तात गतिं गतिमतां वर ॥ २३ ॥
सैषा सुरनदी रम्या शैलेन्द्रतनया तदा।
सुरलोकं समारूढा विपापा जलवाहिनी ॥ २४ ॥

'गतिशीलोंमें श्रेष्ठ तात श्रीराम! गङ्गाजीकी उत्पत्तिके विषयमें ये सारी बातें मैंने तुम्हें बता दीं। ये त्रिपथगामिनी कैसे हुईं? यह भी सुन लो। पहले तो ये आकाशमार्गमें गयी थीं। तत्पश्चात् ये गिरिराजकुमारी गङ्गा रमणीया देवनदीके रूपमें देवलोकमें आरूढ़ हुई थीं। फिर जलरूपमें प्रवाहित हो लोगोंके पाप दूर करती हुई रसातलमें पहुँची थीं' ॥ २३-२४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें पैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३५॥

★

षट्त्रिंशः सर्गः

देवताओंका शिव-पार्वतीको सुरतक्रीडासे निवृत्त करना तथा उमा देवीका देवताओं और पृथ्वीको शाप देना

उक्तवाक्ये मुनौ तस्मिन्नुभौ राघवलक्ष्मणौ।
प्रतिनन्द्य कथां वीरावूचतुर्मुनिपुङ्गवम् ॥ १ ॥

विश्वामित्रजीकी बात समाप्त होनेपर श्रीराम और लक्ष्मण दोनों भाइयोंने उनकी कही हुई कथाका अभिनन्दन करके मुनिवर विश्वामित्रसे इस प्रकार कहा— ॥ १॥

धर्मयुक्तमिदं ब्रह्मन् कथितं परमं त्वया।
दुहितुः शैलराजस्य ज्येष्ठाया वक्तुमर्हसि।
विस्तरं विस्तरज्ञोऽसि दिव्यमानुषसम्भवम् ॥ २ ॥

'ब्रह्मन्! आपने यह बड़ी उत्तम धर्मयुक्त कथा सुनायी। अब आप गिरिराज हिमवान्‌की ज्येष्ठ पुत्री गङ्गाके दिव्यलोक तथा मनुष्यलोकसे सम्बन्ध होनेका वृत्तान्त विस्तारके साथ सुनाइये; क्योंकि आप विस्तृत वृत्तान्तके ज्ञाता हैं॥ २॥

त्रीन् पथो हेतुना केन प्लावयेल्लोकपावनी।
कथं गङ्गा त्रिपथगा विश्रुता सरिदुत्तमा ॥ ३ ॥

'लोकको पवित्र करनेवाली गङ्गा किस कारणसे तीन मार्गोंमें प्रवाहित होती हैं? सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गाकी

'त्रिपथगा' नामसे प्रसिद्धि क्यों हुई? ॥ ३ ॥

त्रिषु लोकेषु धर्मज्ञ कर्मभिः कैः समन्विता।
तथा ब्रुवति काकुत्स्थे विश्वामित्रस्तपोधनः ॥ ४ ॥
निखिलेन कथां सर्वामृषिमध्ये न्यवेदयत्।

'धर्मज्ञ महर्षे! तीनों लोकोंमें वे अपनी तीन धाराओंके द्वारा कौन-कौन-से कार्य करती हैं?' श्रीरामचन्द्रजीके इस प्रकार पूछनेपर तपोधन विश्वामित्रने मुनिमण्डलीके बीच गङ्गाजीसे सम्बन्ध रखनेवाली सारी बातें पूर्णरूपसे कह सुनायीं— ॥ ४ ॥

पुरा राम कृतोद्वाहः शितिकण्ठो महातपाः ॥ ५ ॥
दृष्ट्वा च भगवान् देवीं मैथुनायोपचक्रमे।

'श्रीराम! पूर्वकालमें महातपस्वी भगवान् नीलकण्ठने उमादेवीके साथ विवाह करके उनको नववधूके रूपमें अपने निकट आयी देख उनके साथ रति-क्रीडा आरम्भ की ॥ ५½ ॥

तस्य संक्रीडमानस्य महादेवस्य धीमतः।
शितिकण्ठस्य देवस्य दिव्यं वर्षशतं गतम् ॥ ६ ॥

'परम बुद्धिमान् महान् देवता भगवान् नीलकण्ठके उमादेवीके साथ क्रीडा-विहार करते सौ दिव्य वर्ष बीत गये ॥

न चापि तनयो राम तस्यामासीत् परंतप।
सर्वे देवाः समुद्युक्ताः पितामहपुरोगमाः ॥ ७ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीराम! इतने वर्षोंतक विहारके बाद भी महादेवजीके उमादेवीके गर्भसे कोई पुत्र नहीं हुआ। यह देख ब्रह्मा आदि सभी देवता उन्हें रोकनेका उद्योग करने लगे ॥ ७ ॥

यदिहोत्पद्यते भूतं कस्तत् प्रतिसहिष्यति।
अभिगम्य सुराः सर्वे प्रणिपत्येदमब्रुवन् ॥ ८ ॥

'उन्होंने सोचा—इतने दीर्घकालके पश्चात् यदि रुद्रके तेजसे उमादेवीके गर्भसे कोई महान् प्राणी प्रकट हो भी जाय तो कौन उसके तेजको सहन करेगा? यह विचारकर सब देवता भगवान् शिवके पास जा उन्हें प्रणाम करके यों बोले— ॥ ८ ॥

देवदेव महादेव लोकस्यास्य हिते रत।
सुराणां प्रणिपातेन प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ ९ ॥

''इस लोकके हितमें तत्पर रहनेवाले देवदेव महादेव! देवता आपके चरणोंमें मस्तक झुकाते हैं। इससे प्रसन्न होकर आप इन देवताओंपर कृपा करें ॥ ९ ॥

न लोका धारयिष्यन्ति तव तेजः सुरोत्तम।
ब्राह्मेण तपसा युक्तो देव्या सह तपश्चर ॥ १० ॥

''सुरश्रेष्ठ! ये लोक आपके तेजको नहीं धारण कर सकेंगे; अतः आप क्रीडासे निवृत्त हो वेदबोधित तपस्यासे युक्त होकर उमादेवीके साथ तप कीजिये ॥ १० ॥

त्रैलोक्यहितकामार्थं तेजस्तेजसि धारय।
रक्ष सर्वानिमाँल्लोकान् नालोकं कर्तुमर्हसि ॥ ११ ॥

''तीनों लोकोंके हितकी कामनासे अपने तेज (वीर्य) को तेजःस्वरूप अपने-आपमें ही धारण कीजिये। इन सब लोकोंकी रक्षा कीजिये। लोकोंका विनाश न कर डालिये' ॥

देवतानां वचः श्रुत्वा सर्वलोकमहेश्वरः।
बाढमित्यब्रवीत् सर्वान् पुनश्चेदमुवाच ह ॥ १२ ॥

'देवताओंकी यह बात सुनकर सर्वलोकमहेश्वर शिवने 'बहुत अच्छा' कहकर उनका अनुरोध स्वीकार कर लिया; फिर उनसे इस प्रकार कहा— ॥ १२ ॥

धारयिष्याम्यहं तेजस्तेजसैव सहोमया।
त्रिदशाः पृथिवी चैव निर्वाणमधिगच्छतु ॥ १३ ॥

''देवताओ! उमासहित मैं अर्थात् हम दोनों अपने तेजसे ही तेजको धारण कर लेंगे। पृथ्वी आदि सभी लोकोंके निवासी शान्ति लाभ करें ॥ १३ ॥

यदिदं क्षुभितं स्थानान्मम तेजो ह्यनुत्तमम्।
धारयिष्यति कस्तन्मे ब्रुवन्तु सुरसत्तमाः ॥ १४ ॥

''किंतु सुरश्रेष्ठगण! यदि मेरा यह सर्वोत्तम तेज (वीर्य) क्षुब्ध होकर अपने स्थानसे स्खलित हो जाय तो उसे कौन धारण करेगा?—यह मुझे बताओ' ॥ १४ ॥

एवमुक्तास्ततो देवाः प्रत्यूचुर्वृषभध्वजम्।
यत्तेजः क्षुभितं ह्यद्य तद्धरा धारयिष्यति ॥ १५ ॥

'उनके ऐसा कहनेपर देवताओंने वृषभध्वज भगवान् शिवसे कहा—'भगवन्! आज आपका जो तेज क्षुब्ध होकर गिरेगा, उसे यह पृथ्वीदेवी धारण करेंगी' ॥ १५ ॥

एवमुक्तः सुरपतिः प्रमुमोच महाबलः।
तेजसा पृथिवी येन व्याप्ता सगिरिकानना ॥ १६ ॥

'देवताओंका यह कथन सुनकर महाबली देवेश्वर शिवने अपना तेज छोड़ा, जिससे पर्वत और वनोंसहित यह सारी पृथ्वी व्याप्त हो गयी ॥ १६ ॥

ततो देवाः पुनरिदमूचुश्चापि हुताशनम्।
आविश त्वं महातेजो रौद्रं वायुसमन्वितः ॥ १७ ॥

'तब देवताओंने अग्निदेवसे कहा—'अग्ने! तुम वायुके सहयोगसे भगवान् शिवके इस महान् तेजको अपने भीतर रख लो' ॥ १७ ॥

तदग्निना पुनर्व्याप्तं संजातं श्वेतपर्वतम्।
दिव्यं शरवणं चैव पावकादित्यसंनिभम् ॥ १८ ॥

'अग्निसे व्याप्त होनेपर वह तेज श्वेत पर्वतके रूपमें परिणत हो गया। साथ ही वहाँ दिव्य सरकंडोंका वन भी प्रकट हुआ, जो अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी प्रतीत होता था ॥ १८ ॥

यत्र जातो महातेजाः कार्तिकेयोऽग्निसम्भवः।
अथोमां च शिवं चैव देवाः सर्षिगणास्तथा ॥ १९ ॥
पूजयामासुरत्यर्थं सुप्रीतमनसस्तदा।

'उसी वनमें अग्निजनित महातेजस्वी कार्तिकेयका

प्रादुर्भाव हुआ। तदनन्तर ऋषियोंसहित देवताओंने अत्यन्त प्रसन्नचित्त होकर देवी उमा और भगवान् शिवका बड़े भक्तिभावसे पूजन किया ॥ १९½ ॥

अथ शैलसुता राम त्रिदशानिदमब्रवीत् ॥ २० ॥
समन्युरशपत् सर्वान् क्रोधसंरक्तलोचना ।

'श्रीराम! इसके बाद गिरिराजनन्दिनी उमाके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये। उन्होंने समस्त देवताओंको रोषपूर्वक शाप दे दिया। वे बोलीं— ॥ २०½ ॥

यस्मान्निवारिता चाहं संगता पुत्रकाम्यया ॥ २१ ॥
अपत्यं स्वेषु दारेषु नोत्पादयितुमर्हथ ।
अद्यप्रभृति युष्माकमप्रजाः सन्तु पत्नयः ॥ २२ ॥

''देवताओ! मैंने पुत्र-प्राप्तिकी इच्छासे पतिके साथ समागम किया था, परंतु तुमने मुझे रोक दिया। अतः अब तुमलोग भी अपनी पत्नियोंसे संतान उत्पन्न करने योग्य नहीं रह जाओगे। आजसे तुम्हारी पत्नियाँ संतानोत्पादन नहीं कर सकेंगी—संतानहीन हो जायँगी' ॥ २१-२२ ॥

एवमुक्त्वा सुरान् सर्वाञ्शशाप पृथिवीमपि ।
अवने नैकरूपा त्वं बहुभार्या भविष्यसि ॥ २३ ॥

'सब देवताओंसे ऐसा कहकर उमादेवीने पृथिवीको भी शाप दिया—'भूमे! तेरा एक रूप नहीं रह जायगा। तू बहुतोंकी भार्या होगी ॥ २३ ॥

न च पुत्रकृतां प्रीतिं मत्क्रोधकलुषीकृता ।
प्राप्स्यसि त्वं सुदुर्मेधो मम पुत्रमनिच्छती ॥ २४ ॥

''खोटी बुद्धिवाली पृथ्वी! तू चाहती थी कि मेरे पुत्र न हो। अतः मेरे क्रोधसे कलुषित होकर तू भी पुत्रजनित सुख या प्रसन्नताका अनुभव न कर सकेगी' ॥ २४ ॥

तान् सर्वान् पीडितान् दृष्ट्वा सुरान् सुरपतिस्तदा ।
गमनायोपचक्राम दिशं वरुणपालिताम् ॥ २५ ॥

'उन सब देवताओंको उमादेवीके शापसे पीड़ित देख देवेश्वर भगवान् शिवने उस समय पश्चिम दिशाकी ओर प्रस्थान कर दिया ॥ २५ ॥

स गत्वा तप आतिष्ठत् पार्श्वे तस्योत्तरे गिरेः ।
हिमवत्प्रभवे शृङ्गे सह देव्या महेश्वरः ॥ २६ ॥

'वहाँसे जाकर हिमालय पर्वतके उत्तर भागमें उसीके एक शिखरपर उमादेवीके साथ भगवान् महेश्वर तप करने लगे ॥

एष ते विस्तरो राम शैलपुत्र्या निवेदितः ।
गङ्गायाः प्रभवं चैव शृणु मे सहलक्ष्मण ॥ २७ ॥

'लक्ष्मणसहित श्रीराम! यह मैंने तुम्हें गिरिराज हिमवान्की छोटी पुत्री उमादेवीका विस्तृत वृत्तान्त बताया है। अब मुझसे गङ्गाके प्रादुर्भावकी कथा सुनो' ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे षट्त्रिंशः सर्गः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें छत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

★

सप्तत्रिंशः सर्गः

गङ्गासे कार्तिकेयकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग

तप्यमाने तदा देवे सेन्द्राः साग्निपुरोगमाः ।
सेनापतिमभीप्सन्तः पितामहमुपागमन् ॥ १ ॥

जब महादेवजी तपस्या कर रहे थे, उस समय इन्द्र और अग्नि आदि सम्पूर्ण देवता अपने लिये सेनापतिकी इच्छा लेकर ब्रह्माजीके पास आये ॥ १ ॥

ततोऽब्रुवन् सुराः सर्वे भगवन्तं पितामहम् ।
प्रणिपत्य सुराराम सेन्द्राः साग्निपुरोगमाः ॥ २ ॥

देवताओंको आराम देनेवाले श्रीराम! इन्द्र और अग्निसहित समस्त देवताओंने भगवान् ब्रह्माको प्रणाम करके इस प्रकार कहा— ॥ २ ॥

येन सेनापतिर्देव दत्तो भगवता पुरा ।
स तपः परमास्थाय तप्यते स्म सहोमया ॥ ३ ॥

'प्रभो! पूर्वकालमें जिन भगवान् महेश्वरने हमें (बीजरूपसे) सेनापति प्रदान किया था, वे उमादेवीके साथ उत्तम तपका आश्रय लेकर तपस्या करते हैं ॥ ३ ॥

यदत्रानन्तरं कार्यं लोकानां हितकाम्यया ।
संविधत्स्व विधानज्ञ त्वं हि नः परमा गतिः ॥ ४ ॥

'विधि-विधानके ज्ञाता पितामह! अब लोकहितके लिये जो कर्तव्य प्राप्त हो, उसको पूर्ण कीजिये; क्योंकि आप ही हमारे परम आश्रय हैं' ॥ ४ ॥

देवतानां वचः श्रुत्वा सर्वलोकपितामहः ।
सान्त्वयन् मधुरैर्वाक्यैस्त्रिदशानिदमब्रवीत् ॥ ५ ॥

देवताओंकी यह बात सुनकर सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ब्रह्माजीने मधुर वचनोंद्वारा उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा— ॥

शैलपुत्र्या यदुक्तं तन्न प्रजाः स्वासु पत्निषु ।
तस्या वचनमक्लिष्टं सत्यमेव न संशयः ॥ ६ ॥

'देवताओ! गिरिराजकुमारी पार्वतीने जो शाप दिया है, उसके अनुसार तुम्हें अपनी पत्नियोंके गर्भसे अब कोई संतान नहीं होगी। उमादेवीकी वाणी अमोघ है; अतः वह सत्य होकर ही रहेगी; इसमें संशय नहीं है ॥ ६ ॥

इयमाकाशगङ्गा च यस्यां पुत्रं हुताशनः ।
जनयिष्यति देवानां सेनापतिमरिंदमम् ॥ ७ ॥

'ये हैं उमाकी बड़ी बहिन आकाशगङ्गा, जिनके गर्भमें शङ्करजीके उस तेजको स्थापित करके अग्निदेव एक ऐसे

पुत्रको जन्म देंगे, जो देवताओंके शत्रुओंका दमन करनेमें समर्थ सेनापति होगा ॥ ७ ॥

ज्येष्ठा शैलेन्द्रदुहिता मानयिष्यति तं सुतम्।
उमायास्तद्बहुमतं भविष्यति न संशयः ॥ ८ ॥

'ये गङ्गा गिरिराजकी ज्येष्ठ पुत्री हैं, अतः अपनी छोटी बहिनके उस पुत्रको अपने ही पुत्रके समान मानेंगी। उमाको भी यह बहुत प्रिय लगेगा। इसमें संशय नहीं है' ॥ ८ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य कृतार्था रघुनन्दन।
प्रणिपत्य सुराः सर्वे पितामहमपूजयन् ॥ ९ ॥

रघुनन्दन! ब्रह्माजीका यह वचन सुनकर सब देवता कृतकृत्य हो गये। उन्होंने ब्रह्माजीको प्रणाम करके उनका पूजन किया ॥ ९ ॥

ते गत्वा परमं राम कैलासं धातुमण्डितम्।
अग्निं नियोजयामासुः पुत्रार्थं सर्वदेवताः ॥ १० ॥

श्रीराम! विविध धातुओंसे अलंकृत उत्तम कैलास पर्वतपर जाकर उन सम्पूर्ण देवताओंने अग्निदेवको पुत्र उत्पन्न करनेके कार्यमें नियुक्त किया ॥ १० ॥

देवकार्यमिदं देव समाधत्स्व हुताशन।
शैलपुत्र्यां महातेजो गङ्गायां तेज उत्सृज ॥ ११ ॥

वे बोले—'देव! हुताशन! यह देवताओंका कार्य है, इसे सिद्ध कीजिये। भगवान् रुद्रके उस महान् तेजको अब आप गङ्गाजीमें स्थापित कर दीजिये' ॥ ११ ॥

देवतानां प्रतिज्ञाय गङ्गामभ्येत्य पावकः।
गर्भं धारय वै देवि देवतानामिदं प्रियम् ॥ १२ ॥

तब देवताओंसे 'बहुत अच्छा' कहकर अग्निदेव गङ्गाजीके निकट आये और बोले—'देवि! आप इस गर्भको धारण करें। यह देवताओंका प्रिय कार्य है' ॥ १२ ॥

इत्येतद् वचनं श्रुत्वा दिव्यं रूपमधारयत्।
स तस्या महिमां दृष्ट्वा समन्तादवशीर्यत ॥ १३ ॥

अग्निदेवकी यह बात सुनकर गङ्गादेवीने दिव्यरूप धारण कर लिया। उनकी यह महिमा—यह रूप-वैभव देखकर अग्निदेवने उस रुद्र-तेजको उनके सब ओर बिखेर दिया ॥ १३ ॥

समन्ततस्तदा देवीमभ्यषिञ्चत पावकः।
सर्वस्रोतांसि पूर्णानि गङ्गाया रघुनन्दन ॥ १४ ॥

रघुनन्दन! अग्निदेवने जब गङ्गादेवीको सब ओरसे उस रुद्र-तेजद्वारा अभिषिक्त कर दिया, तब गङ्गाजीके सारे स्रोत उससे परिपूर्ण हो गये ॥ १४ ॥

तमुवाच ततो गङ्गा सर्वदेवपुरोगमम्।
अशक्ता धारणे देव तेजस्तव समुद्धतम् ॥ १५ ॥
दह्यमानाग्निना तेन सम्प्रव्यथितचेतना।

तब गङ्गाने समस्त देवताओंके अग्रगामी अग्निदेवसे इस प्रकार कहा—'देव! आपके द्वारा स्थापित किये गये इस बढ़े हुए तेजको धारण करनेमें मैं असमर्थ हूँ। इसकी आँचसे जल रही हूँ और मेरी चेतना व्यथित हो गयी है' ॥ १५½ ॥

अथाब्रवीदिदं गङ्गां सर्वदेवहुताशनः ॥ १६ ॥
इह हैमवते पार्श्वे गर्भोऽयं संनिवेश्यताम्।

तब सम्पूर्ण देवताओंके हविष्यको भोग लगानेवाले अग्निदेवने गङ्गादेवीसे कहा—'देवि! हिमालय पर्वतके पार्श्वभागमें इस गर्भको स्थापित कर दीजिये' ॥ १६½ ॥

श्रुत्वा त्वग्निवचो गङ्गा तं गर्भमतिभास्वरम् ॥ १७ ॥
उत्ससर्ज महातेजाः स्रोतोभ्यो हि तदानघ।

निष्पाप रघुनन्दन! अग्निकी यह बात सुनकर महातेजस्विनी गङ्गाने उस अत्यन्त प्रकाशमान गर्भको अपने स्रोतोंसे निकालकर यथोचित स्थानमें रख दिया ॥ १७½ ॥

यदस्या निर्गतं तस्मात् तप्तजाम्बूनदप्रभम् ॥ १८ ॥
काञ्चनं धरणीं प्राप्तं हिरण्यमतुलप्रभम्।
ताम्रं कार्ष्णायसं चैव तैक्ष्ण्यादेवाभिजायत ॥ १९ ॥

गङ्गाके गर्भसे जो तेज निकला, वह तपाये हुए जाम्बूनद नामक सुवर्णके समान कान्तिमान् दिखायी देने लगा (गङ्गा सुवर्णमय मेरुगिरिसे प्रकट हुई हैं; अतः उनका बालक भी वैसे ही रूप-रंगका हुआ)। पृथ्वीपर जहाँ वह तेजस्वी गर्भ स्थापित हुआ, वहाँकी भूमि तथा प्रत्येक वस्तु सुवर्णमयी हो गयी। उसके आस-पासका स्थान अनुपम प्रभासे प्रकाशित होनेवाला रजत हो गया। उस तेजकी तीक्ष्णतासे ही दूरवर्ती भूभागकी वस्तुएँ ताँबे और लोहेके रूपमें परिणत हो गयीं ॥ १९ ॥

मलं तस्याभवत् तत्र त्रपु सीसकमेव च।
तदेतद्धरणीं प्राप्य नानाधातुरवर्धत ॥ २० ॥

उस तेजस्वी गर्भका जो मल था, वही वहाँ राँगा और सीसा हुआ। इस प्रकार पृथ्वीपर पड़कर वह तेज नाना प्रकारके धातुओंके रूपमें वृद्धिको प्राप्त हुआ ॥ २० ॥

निक्षिप्तमात्रे गर्भे तु तेजोभिरभिरञ्जितम्।
सर्वं पर्वतसंनद्धं सौवर्णमभवद् वनम् ॥ २१ ॥

पृथ्वीपर उस गर्भके रखे जाते ही उसके तेजसे व्याप्त होकर पूर्वोक्त श्वेतपर्वत और उससे सम्बन्ध रखनेवाला सारा वन सुवर्णमय होकर जगमगाने लगा ॥ २१ ॥

जातरूपमिति ख्यातं तदाप्रभृति राघव।
सुवर्णं पुरुषव्याघ्र हुताशनसमप्रभम्।
तृणवृक्षलतागुल्मं सर्वं भवति काञ्चनम् ॥ २२ ॥

पुरुषसिंह रघुनन्दन! तभीसे अग्निके समान प्रकाशित होनेवाले सुवर्णका नाम जातरूप हो गया; क्योंकि उसी समय सुवर्णका तेजस्वी रूप प्रकट हुआ था। उस गर्भके सम्पर्कसे वहाँका तृण, वृक्ष, लता और गुल्म—सब कुछ सोनेका हो गया ॥ २२ ॥

तं कुमारं ततो जातं सेन्द्राः सह मरुद्गणाः।
क्षीरसम्भावनार्थाय कृत्तिकाः समयोजयन् ॥ २३ ॥

तदनन्तर इन्द्र और मरुद्गणोंसहित सम्पूर्ण देवताओंने वहाँ उत्पन्न हुए कुमारको दूध पिलानेके लिये छहों कृत्तिकाओंको नियुक्त किया ॥ २३ ॥

ताः क्षीरं जातमात्रस्य कृत्वा समयमुत्तमम्।
ददुः पुत्रोऽयमस्माकं सर्वासामिति निश्चिताः ॥ २४ ॥

तब उन कृत्तिकाओंने 'यह हम सबका पुत्र हो' ऐसी उत्तम शर्त रखकर और इस बातका निश्चित विश्वास लेकर उस नवजात बालकको अपना दूध प्रदान किया ॥ २४ ॥

ततस्तु देवताः सर्वाः कार्तिकेय इति ब्रुवन्।
पुत्रस्त्रैलोक्यविख्यातो भविष्यति न संशयः ॥ २५ ॥

उस समय सब देवता बोले—'यह बालक कार्तिकेय कहलायेगा और तुमलोगोंका त्रिभुवनविख्यात पुत्र होगा—इसमें संशय नहीं है' ॥ २५ ॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा स्कन्नं गर्भपरिस्रवे।
स्नापयन् परया लक्ष्म्या दीप्यमानं यथानलम् ॥ २६ ॥

देवताओंका यह अनुकूल वचन सुनकर शिव और पार्वतीसे स्कन्दित (स्खलित) तथा गङ्गाद्वारा गर्भस्राव होनेपर प्रकट हुए अग्निके समान उत्तम प्रभासे प्रकाशित होनेवाले उस बालकको कृत्तिकाओंने नहलाया ॥ २६ ॥

स्कन्द इत्यब्रुवन् देवाः स्कन्नं गर्भपरिस्रवे।
कार्तिकेयं महाबाहुं काकुत्स्थ ज्वलनोपमम् ॥ २७ ॥

काकुत्स्थकुलभूषण श्रीराम! अग्नितुल्य तेजस्वी महाबाहु कार्तिकेय गर्भस्रावकालमें स्कन्दित हुए थे; इसलिये देवताओंने उन्हें स्कन्द कहकर पुकारा ॥ २७ ॥

प्रादुर्भूतं ततः क्षीरं कृत्तिकानामनुत्तमम्।
षण्णां षडाननो भूत्वा जग्राह स्तनजं पयः ॥ २८ ॥

तदनन्तर कृत्तिकाओंके स्तनोंमें परम उत्तम दूध प्रकट हुआ। उस समय स्कन्दने अपने छः मुख प्रकट करके उन छहोंका एक साथ ही स्तनपान किया ॥ २८ ॥

गृहीत्वा क्षीरमेकाह्ना सुकुमारवपुस्तदा।
अजयत् स्वेन वीर्येण दैत्यसैन्यगणान् विभुः ॥ २९ ॥

एक ही दिन दूध पीकर उस सुकुमार शरीरवाले शक्तिशाली कुमारने अपने पराक्रमसे दैत्योंकी सारी सेनाओंपर विजय प्राप्त की ॥ २९ ॥

सुरसेनागणपतिमभ्यषिञ्चन्महाद्युतिम्।
ततस्तममराः सर्वे समेत्याग्निपुरोगमाः ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् अग्नि आदि सब देवताओंने मिलकर उन महातेजस्वी स्कन्दका देवसेनापतिके पदपर अभिषेक किया ॥

एष ते राम गङ्गाया विस्तरोऽभिहितो मया।
कुमारसम्भवश्चैव धन्यः पुण्यस्तथैव च ॥ ३१ ॥

श्रीराम! यह मैंने तुम्हें गङ्गाजीके चरित्रको विस्तारपूर्वक बताया है; साथ ही कुमार कार्तिकेयके जन्मका भी प्रसङ्ग सुनाया है, जो श्रोताको धन्य एवं पुण्यात्मा बनानेवाला है ॥

भक्तश्च यः कार्तिकेये काकुत्स्थ भुवि मानवः।
आयुष्मान् पुत्रपौत्रैश्च स्कन्दसालोक्यतां व्रजेत् ॥ ३२ ॥

काकुत्स्थ! इस पृथ्वीपर जो मनुष्य कार्तिकेयमें भक्तिभाव रखता है, वह इस लोकमें दीर्घायु तथा पुत्र-पौत्रोंसे सम्पन्न हो मृत्युके पश्चात् स्कन्दके लोकमें जाता है ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें सैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टात्रिंशः सर्गः

राजा सगरके पुत्रोंकी उत्पत्ति तथा यज्ञकी तैयारी

तां कथां कौशिको रामे निवेद्य मधुराक्षराम्।
पुनरेवापरं वाक्यं काकुत्स्थमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

विश्वामित्रजीने मधुर अक्षरोंसे युक्त वह कथा श्रीरामको सुनाकर फिर उनसे दूसरा प्रसङ्ग इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

अयोध्याधिपतिर्वीर पूर्वमासीन्नराधिपः।
सगरो नाम धर्मात्मा प्रजाकामः स चाप्रजः ॥ २ ॥

'वीर! पहलेकी बात है, अयोध्यामें सगर नामसे प्रसिद्ध एक धर्मात्मा राजा राज्य करते थे। उन्हें कोई पुत्र नहीं था; अतः वे पुत्र-प्राप्तिके लिये सदा उत्सुक रहा करते थे ॥ २ ॥

वैदर्भदुहिता राम केशिनी नाम नामतः।
ज्येष्ठा सगरपत्नी सा धर्मिष्ठा सत्यवादिनी ॥ ३ ॥

'श्रीराम! विदर्भराजकुमारी केशिनी राजा सगरकी ज्येष्ठ पत्नी थी। वह बड़ी धर्मात्मा और सत्यवादिनी थी ॥ ३ ॥

अरिष्टनेमेर्दुहिता सुपर्णभगिनी तु सा।
द्वितीया सगरस्यासीत् पत्नी सुमतिसंज्ञिता ॥ ४ ॥

'सगरकी दूसरी पत्नीका नाम सुमति था। वह अरिष्टनेमि कश्यपकी पुत्री तथा गरुडकी बहिन थी ॥ ४ ॥

ताभ्यां सह महाराजः पत्नीभ्यां तप्तवांस्तपः।
हिमवन्तं समासाद्य भृगुप्रस्रवणे गिरौ ॥ ५ ॥

'महाराज सगर अपनी उन दोनों पत्नियोंके साथ हिमालय पर्वतपर जाकर भृगुप्रस्रवण नामक शिखरपर तपस्या करने लगे ॥ ५ ॥

अथ वर्षशते पूर्णे तपसाऽऽराधितो मुनिः।
सगराय वरं प्रादाद् भृगुः सत्यवतां वरः ॥ ६ ॥

'सौ वर्ष पूर्ण होनेपर उनकी तपस्याद्वारा प्रसन्न हुए सत्यवादियोंमें श्रेष्ठ महर्षि भृगुने राजा सगरको वर दिया ॥ ६ ॥

अपत्यलाभः सुमहान् भविष्यति तवानघ।
कीर्तिं चाप्रतिमां लोके प्राप्स्यसे पुरुषर्षभ ॥ ७ ॥

'निष्पाप नरेश! तुम्हें बहुत-से पुत्रोंकी प्राप्ति होगी। पुरुषप्रवर! तुम इस संसारमें अनुपम कीर्ति प्राप्त करोगे॥

एका जनयिता तात पुत्रं वंशकरं तव।
षष्टिं पुत्रसहस्राणि अपरा जनयिष्यति ॥ ८ ॥

'तात! तुम्हारी एक पत्नी तो एक ही पुत्रको जन्म देगी, जो अपनी वंशपरम्पराका विस्तार करनेवाला होगा तथा दूसरी पत्नी साठ हजार पुत्रोंकी जननी होगी॥ ८॥

भाषमाणं महात्मानं राजपुत्र्यौ प्रसाद्य तम्।
ऊचतुः परमप्रीते कृताञ्जलिपुटे तदा ॥ ९ ॥

'महात्मा भृगु जब इस प्रकार कह रहे थे, उस समय उन दोनों राजकुमारियों (रानियों) ने उन्हें प्रसन्न करके स्वयं भी अत्यन्त आनन्दित हो दोनों हाथ जोड़कर पूछा— ॥ ९ ॥

एकः कस्याः सुतो ब्रह्मन् का बहूञ्जनयिष्यति।
श्रोतुमिच्छावहे ब्रह्मन् सत्यमस्तु वचस्तव ॥ १० ॥

'ब्रह्मन्! किस रानीके एक पुत्र होगा और कौन बहुत-से पुत्रोंकी जननी होगी? हम दोनों यह सुनना चाहती हैं। आपकी वाणी सत्य हो' ॥ १० ॥

तयोस्तद् वचनं श्रुत्वा भृगुः परमधार्मिकः।
उवाच परमां वाणीं स्वच्छन्दोऽत्र विधीयताम् ॥ ११ ॥
एको वंशकरो वास्तु बहवो वा महाबलाः।
कीर्तिमन्तो महोत्साहाः का वा कं वरमिच्छति ॥ १२ ॥

'उन दोनोंकी यह बात सुनकर परम धर्मात्मा भृगुने उत्तम वाणीमें कहा—'देवियो! तुमलोग यहाँ अपनी इच्छा प्रकट करो। तुम्हें वंश चलानेवाला एक ही पुत्र प्राप्त हो अथवा महान् बलवान्, यशस्वी एवं अत्यन्त उत्साही बहुत-से पुत्र? इन दो वरोंमेंसे किस वरको कौन-सी रानी ग्रहण करना चाहती है?' ॥

मुनेस्तु वचनं श्रुत्वा केशिनी रघुनन्दन।
पुत्रं वंशकरं राम जग्राह नृपसंनिधौ ॥ १३ ॥

'रघुकुलनन्दन श्रीराम! मुनिका यह वचन सुनकर केशिनीने राजा सगरके समीप वंश चलानेवाले एक ही पुत्रका वर ग्रहण किया॥ १३॥

षष्टिं पुत्रसहस्राणि सुपर्णभगिनी तदा।
महोत्साहान् कीर्तिमतो जग्राह सुमतिः सुतान् ॥ १४ ॥

'तब गरुड़की बहिन सुमतिने महान् उत्साही और यशस्वी साठ हजार पुत्रोंको जन्म देनेका वर प्राप्त किया॥ १४॥

प्रदक्षिणमृषिं कृत्वा शिरसाभिप्रणम्य तम्।
जगाम स्वपुरं राजा सभार्यो रघुनन्दन ॥ १५ ॥

'रघुनन्दन! तदनन्तर रानियोंसहित राजा सगरने महर्षिकी परिक्रमा करके उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया और अपने नगरको प्रस्थान किया॥ १५॥

अथ काले गते तस्य ज्येष्ठा पुत्रं व्यजायत।
असमञ्ज इति ख्यातं केशिनी सगरात्मजम् ॥ १६ ॥

'कुछ काल व्यतीत होनेपर बड़ी रानी केशिनीने सगरके औरस पुत्र 'असमञ्ज' को जन्म दिया॥ १६॥

सुमतिस्तु नरव्याघ्र गर्भतुम्बं व्यजायत।
षष्टिः पुत्रसहस्राणि तुम्बभेदाद् विनिःसृताः ॥ १७ ॥

'पुरुषसिंह! (छोटी रानी) सुमतिने तूँबीके आकारका एक गर्भपिण्ड उत्पन्न किया। उसको फोड़नेसे साठ हजार बालक निकले॥ १७॥

घृतपूर्णेषु कुम्भेषु धात्र्यस्तान् समवर्धयन्।
कालेन महता सर्वे यौवनं प्रतिपेदिरे ॥ १८ ॥

'उन्हें घीसे भरे हुए घड़ोंमें रखकर धाइयाँ उनका पालन-पोषण करने लगीं। धीरे-धीरे जब बहुत दिन बीत गये, तब वे सभी बालक युवावस्थाको प्राप्त हुए॥ १८॥

अथ दीर्घेण कालेन रूपयौवनशालिनः।
षष्टिः पुत्रसहस्राणि सगरस्याभवंस्तदा ॥ १९ ॥

'इस तरह दीर्घकालके पश्चात् राजा सगरके रूप और युवावस्थासे सुशोभित होनेवाले साठ हजार पुत्र तैयार हो गये॥

स च ज्येष्ठो नरश्रेष्ठ सगरस्यात्मसम्भवः।
बालान् गृहीत्वा तु जले सरय्वा रघुनन्दन ॥ २० ॥
प्रक्षिप्य प्राहसन्नित्यं मज्जतस्तान् निरीक्ष्य वै।

'नरश्रेष्ठ रघुनन्दन! सगरका ज्येष्ठ पुत्र असमञ्ज नगरके बालकोंको पकड़कर सरयूके जलमें फेंक देता और जब वे डूबने लगते, तब उनकी ओर देखकर हँसा करता॥ २० १/२॥

एवं पापसमाचारः सज्जनप्रतिबाधकः ॥ २१ ॥
पौराणामहिते युक्तः पित्रा निर्वासितः पुरात्।

'इस प्रकार पापाचारमें प्रवृत्त होकर जब वह सत्पुरुषोंको पीड़ा देने और नगर-निवासियोंका अहित करने लगा, तब पिताने उसे नगरसे बाहर निकाल दिया॥ २१ १/२॥

तस्य पुत्रोंऽशुमान् नाम असमञ्जस्य वीर्यवान् ॥ २२ ॥
सम्मतः सर्वलोकस्य सर्वस्यापि प्रियंवदः।

'असमञ्जके पुत्रका नाम था अंशुमान्। वह बड़ा ही पराक्रमी, सबसे मधुर वचन बोलनेवाला तथा सब लोगोंको प्रिय था॥ २२ १/२॥

ततः कालेन महता मतिः समभिजायत ॥ २३ ॥
सगरस्य नरश्रेष्ठ यजेयमिति निश्चिता।

'नरश्रेष्ठ! कुछ कालके अनन्तर महाराज सगरके मनमें यह निश्चित विचार हुआ कि 'मैं यज्ञ करूँ' ॥ २३ १/२॥

स कृत्वा निश्चयं राजा सोपाध्यायगणस्तदा।
यज्ञकर्मणि वेदज्ञो यष्टुं समुपचक्रमे ॥ २४ ॥

'यह दृढ़ निश्चय करके वे वेदवेत्ता नरेश अपने उपाध्यायोंके साथ यज्ञ करनेकी तैयारीमें लग गये' ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डेऽष्टात्रिंशः सर्गः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें अड़तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३८॥

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

इन्द्रके द्वारा राजा सगरके यज्ञसम्बन्धी अश्वका अपहरण, सगरपुत्रोंद्वारा सारी पृथ्वीका भेदन तथा देवताओंका ब्रह्माजीको यह सब समाचार बताना

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा कथान्ते रघुनन्दनः।
उवाच परमप्रीतो मुनिं दीप्तमिवानलम्॥ १॥

विश्वामित्रजीकी कही हुई कथा सुनकर श्रीरामचन्द्रजी बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कथाके अन्तमें अग्नितुल्य तेजस्वी विश्वामित्र मुनिसे कहा— ॥ १॥

श्रोतुमिच्छामि भद्रं ते विस्तरेण कथामिमाम्।
पूर्वजो मे कथं ब्रह्मन् यज्ञं वै समुपाहरत्॥ २॥

'ब्रह्मन्! आपका कल्याण हो। मैं इस कथाको विस्तारके साथ सुनना चाहता हूँ। मेरे पूर्वज महाराज सगरने किस प्रकार यज्ञ किया था?' ॥ २॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा कौतूहलसमन्वितः।
विश्वामित्रस्तु काकुत्स्थमुवाच प्रहसन्निव॥ ३॥

उनकी यह बात सुनकर विश्वामित्रजीको बड़ा कौतूहल हुआ। वे यह सोचकर कि मैं जो कुछ कहना चाहता हूँ, उसीके लिये ये प्रश्न कर रहे हैं, जोर-जोरसे हँस पड़े। हँसते हुए-से ही उन्होंने श्रीरामसे कहा— ॥ ३॥

श्रूयतां विस्तरो राम सगरस्य महात्मनः।
शंकरश्वशुरो नाम्ना हिमवानिति विश्रुतः॥ ४॥
विन्ध्यपर्वतमासाद्य निरीक्षेते परस्परम्।
तयोर्मध्ये समभवद् यज्ञः स पुरुषोत्तम॥ ५॥

'राम! तुम महात्मा सगरके यज्ञका विस्तारपूर्वक वर्णन सुनो। पुरुषोत्तम! शङ्करजीके श्वशुर हिमवान् नामसे विख्यात पर्वत विन्ध्याचलतक पहुँचकर तथा विन्ध्यपर्वत हिमवान्तक पहुँचकर दोनों एक-दूसरेको देखते हैं (इन दोनोंके बीचमें दूसरा कोई ऐसा ऊँचा पर्वत नहीं है, जो दोनोंके पारस्परिक दर्शनमें बाधा उपस्थित कर सके)। इन्हीं दोनों पर्वतोंके बीच आर्यावर्तकी पुण्यभूमिमें उस यज्ञका अनुष्ठान हुआ था॥ ४-५॥

स हि देशो नरव्याघ्र प्रशस्तो यज्ञकर्मणि।
तस्याश्वचर्यां काकुत्स्थ दृढधन्वा महारथः॥ ६॥
अंशुमानकरोत् तात सगरस्य मते स्थितः।

'पुरुषसिंह! वही देश यज्ञ करनेके लिये उत्तम माना गया है। तात ककुत्स्थनन्दन! राजा सगरकी आज्ञासे यज्ञिय अश्वकी रक्षाका भार सुदृढ़ धनुर्धर महारथी अंशुमान्ने स्वीकार किया था॥ ६½॥

तस्य पर्वणि तं यज्ञं यजमानस्य वासवः॥ ७॥
राक्षसीं तनुमास्थाय यज्ञियाश्वमपाहरत्।

'परंतु पर्वके दिन यज्ञमें लगे हुए राजा सगरके यज्ञसम्बन्धी घोड़ेको इन्द्रने राक्षसका रूप धारण करके चुरा लिया॥ ७½॥

ह्रियमाणे तु काकुत्स्थ तस्मिन्नश्वे महात्मनः॥ ८॥
उपाध्यायगणाः सर्वे यजमानमथाब्रुवन्।
अयं पर्वणि वेगेन यज्ञियाश्वोऽपनीयते॥ ९॥
हर्तारं जहि काकुत्स्थ हयश्चैवोपनीयताम्।
यज्ञच्छिद्रं भवत्येतत् सर्वेषामशिवाय नः॥ १०॥
तत् तथा क्रियतां राजन् यज्ञोऽच्छिद्रः कृतो भवेत्।

'काकुत्स्थ! महामना सगरके उस अश्वका अपहरण होते समय समस्त ऋत्विजोंने यजमान सगरसे कहा— 'ककुत्स्थनन्दन! आज पर्वके दिन कोई इस यज्ञसम्बन्धी अश्वको चुराकर बड़े वेगसे लिये जा रहा है। आप चोरको मारिये और घोड़ा वापस लाइये, नहीं तो यज्ञमें विघ्न पड़ जायगा और वह हम सब लोगोंके लिये अमङ्गलका कारण होगा। राजन्! आप ऐसा प्रयत्न कीजिये, जिससे यह यज्ञ बिना किसी विघ्न-बाधाके परिपूर्ण हो' ॥ ८—१०½॥

सोपाध्यायवचः श्रुत्वा तस्मिन् सदसि पार्थिवः॥ ११॥
षष्टिं पुत्रसहस्राणि वाक्यमेतदुवाच ह।
गतिं पुत्रा न पश्यामि रक्षसां पुरुषर्षभाः॥ १२॥
मन्त्रपूतैर्महाभागैरास्थितो हि महाक्रतुः।

'उस यज्ञ-सभामें बैठे हुए राजा सगरने उपाध्यायोंकी बात सुनकर अपने साठ हजार पुत्रोंसे कहा—'पुरुषप्रवर पुत्रो! यह महान् यज्ञ वेदमन्त्रोंसे पवित्र अन्तःकरणवाले महाभाग महात्माओंद्वारा सम्पादित हो रहा है; अतः यहाँ राक्षसोंकी पहुँच हो, ऐसा मुझे नहीं दिखायी देता (अतः यह अश्व चुरानेवाला कोई देवकोटिका पुरुष होगा) ॥ १२॥

तद् गच्छथ विचिन्वध्वं पुत्रका भद्रमस्तु वः॥ १३॥
समुद्रमालिनीं सर्वां पृथिवीमनुगच्छथ।
एकैकं योजनं पुत्रा विस्तारमभिगच्छत॥ १४॥
यावत् तुरगसंदर्शस्तावत् खनत मेदिनीम्।
तमेव हयहर्तारं मार्गमाणा ममाज्ञया॥ १५॥

''अतः पुत्रो! तुमलोग जाओ, घोड़की खोज करो। तुम्हारा कल्याण हो। समुद्रसे घिरी हुई इस सारी पृथ्वीको छान डालो। एक-एक योजन विस्तृत भूमिको बाँटकर उसका चप्पा-चप्पा देख डालो। जबतक घोड़ेका पता न लग जाय, तबतक मेरी आज्ञासे इस पृथ्वीको खोदते रहो। इस खोदनेका एक ही लक्ष्य है—उस अश्वके चोरको ढूँढ़ निकालना॥ १३—१५॥

दीक्षितः पौत्रसहितः सोपाध्यायगणस्त्वहम्।
इह स्थास्यामि भद्रं वो यावत् तुरगदर्शनम्॥ १६॥

''मैं यज्ञकी दीक्षा ले चुका हूँ, अतः स्वयं उसे ढूँढ़नेके लिये नहीं जा सकता; इसलिये जबतक उस अश्वका

दर्शन न हो, तबतक मैं उपाध्यायों और पौत्र अंशुमान्के साथ यहीं रहूँगा' ॥ १६ ॥

ते सर्वे हृष्टमनसो राजपुत्रा महाबलाः ।
जग्मुर्महीतलं राम पितुर्वचनयन्त्रिताः ॥ १७ ॥

'श्रीराम ! पिताके आदेशरूपी बन्धनसे बँधकर वे सभी महाबली राजकुमार मन-ही-मन हर्षका अनुभव करते हुए भूतलपर विचरने लगे ॥ १७ ॥

गत्वा तु पृथिवीं सर्वामदृष्ट्वा तं महाबलाः ।
योजनायामविस्तारमेकैको धरणीतलम् ।
बिभिदुः पुरुषव्याघ्रा वज्रस्पर्शसमैर्भुजैः ॥ १८ ॥

'सारी पृथ्वीका चक्कर लगानेके बाद भी उस अश्वको न देखकर उन महाबली पुरुषसिंह राजपुत्रोंने प्रत्येकके हिस्सेमें एक-एक योजन भूमिका बँटवारा करके अपनी भुजाओंद्वारा उसे खोदना आरम्भ किया। उनकी उन भुजाओंका स्पर्श वज्रके स्पर्शकी भाँति दुस्सह था ॥ १८ ॥

शूलैरशनिकल्पैश्च हलैश्चापि सुदारुणैः ।
भिद्यमाना वसुमती ननाद रघुनन्दन ॥ १९ ॥

'रघुनन्दन ! उस समय वज्रतुल्य शूलों और अत्यन्त दारुण हलोंद्वारा सब ओरसे विदीर्ण की जाती हुई वसुधा आर्तनाद करने लगी ॥ १९ ॥

नागानां वध्यमानानामसुराणां च राघव ।
राक्षसानां दुराधर्ष सत्त्वानां निनदोऽभवत् ॥ २० ॥

'रघुवीर ! उन राजकुमारोंद्वारा मारे जाते हुए नागों, असुरों, राक्षसों तथा दूसरे-दूसरे प्राणियोंका भयंकर आर्तनाद गूँजने लगा ॥ २० ॥

योजनानां सहस्राणि षष्टिं तु रघुनन्दन ।
बिभिदुर्धरणीं राम रसातलमनुत्तमम् ॥ २१ ॥

'रघुकुलको आनन्दित करनेवाले श्रीराम ! उन्होंने साठ हजार योजनकी भूमि खोद डाली। मानो वे सर्वोत्तम रसातलका अनुसंधान कर रहे हों ॥ २१ ॥

एवं पर्वतसम्बाधं जम्बूद्वीपं नृपात्मजाः ।
खनन्तो नृपशार्दूल सर्वतः परिचक्रमुः ॥ २२ ॥

'नृपश्रेष्ठ राम ! इस प्रकार पर्वतोंसे युक्त जम्बूद्वीपकी भूमि खोदते हुए वे राजकुमार सब ओर चक्कर लगाने लगे ॥ २२ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सासुराः सहपन्नगाः ।
सम्भ्रान्तमनसः सर्वे पितामहमुपागमन् ॥ २३ ॥

'इसी समय गन्धर्वों, असुरों और नागोंसहित सम्पूर्ण देवता मन-ही-मन घबरा उठे और ब्रह्माजीके पास गये ॥

ते प्रसाद्य महात्मानं विषण्णवदनास्तदा ।
ऊचुः परमसंत्रस्ताः पितामहमिदं वचः ॥ २४ ॥

'उनके मुखपर विषाद छा रहा था। वे भयसे अत्यन्त संत्रस्त हो गये थे। उन्होंने महात्मा ब्रह्माजीको प्रसन्न करके इस प्रकार कहा— ॥ २४ ॥

भगवन् पृथिवी सर्वा खन्यते सगरात्मजैः ।
बहवश्च महात्मानो वध्यन्ते जलचारिणः ॥ २५ ॥

''भगवन् ! सगरके पुत्र इस सारी पृथ्वीको खोदे डालते हैं और बहुत-से महात्माओं तथा जलचारी जीवोंका वध कर रहे हैं ॥ २५ ॥

अयं यज्ञहरोऽस्माकमनेनाश्वोऽपनीयते ।
इति ते सर्वभूतानि हिंसन्ति सगरात्मजाः ॥ २६ ॥

''यह हमारे यज्ञमें विघ्न डालनेवाला है। यह हमारा अश्व चुराकर ले जाता है' ऐसा कहकर वे सगरके पुत्र समस्त प्राणियोंकी हिंसा कर रहे हैं'' ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उनतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

—★—

चत्वारिंशः सर्गः

सगरपुत्रोंके भावी विनाशकी सूचना देकर ब्रह्माजीका देवताओंको शान्त करना, सगरके पुत्रोंका पृथ्वीको खोदते हुए कपिलजीके पास पहुँचना और उनके रोषसे जलकर भस्म होना

देवतानां वचः श्रुत्वा भगवान् वै पितामहः ।
प्रत्युवाच सुसंत्रस्तान् कृतान्तबलमोहितान् ॥ १ ॥

देवताओंकी बात सुनकर भगवान् ब्रह्माजीने कितने ही प्राणियोंका अन्त करनेवाले सगरपुत्रोंके बलसे मोहित एवं भयभीत हुए उन देवताओंसे इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

यस्येयं वसुधा कृत्स्ना वासुदेवस्य धीमतः ।
महिषी माधवस्यैषा स एव भगवान् प्रभुः ॥ २ ॥
कापिलं रूपमास्थाय धारयत्यनिशं धराम् ।
तस्य कोपाग्निना दग्धा भविष्यन्ति नृपात्मजाः ॥ ३ ॥

'देवगण ! यह सारी पृथ्वी जिन भगवान् वासुदेवकी वस्तु है तथा जिन भगवान् लक्ष्मीपतिकी यह रानी है, वे ही सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरि कपिल मुनिका रूप धारण करके निरन्तर इस पृथ्वीको धारण करते हैं। उनकी कोपाग्निसे ये सारे राजकुमार जलकर भस्म हो जायँगे ॥ २-३ ॥

पृथिव्याश्चापि निर्भेदो दृष्ट एव सनातनः ।
सगरस्य च पुत्राणां विनाशो दीर्घदर्शिनाम् ॥ ४ ॥

'पृथ्वीका यह भेदन सनातन है—प्रत्येक कल्पमें अवश्यम्भावी है। (श्रुतियों और स्मृतियोंमें आये हुए सागर

आदि शब्दोंसे यह बात सुस्पष्ट ज्ञात होती है।) इसी प्रकार दूरदर्शी पुरुषोंने सगरके पुत्रोंका भावी विनाश भी देखा ही है; अतः इस विषयमें शोक करना अनुचित है' ॥ ४ ॥

पितामहवचः श्रुत्वा त्रयस्त्रिंशदरिंदमाः।
देवाः परमसंहृष्टाः पुनर्जग्मुर्यथागतम् ॥ ५ ॥

ब्रह्माजीका यह कथन सुनकर शत्रुओंका दमन करनेवाले तैंतीस देवता बड़े हर्षमें भरकर जैसे आये थे, उसी तरह पुनः लौट गये ॥ ५ ॥

सगरस्य च पुत्राणां प्रादुरासीन्महास्वनः।
पृथिव्यां भिद्यमानायां निर्घातसमनिःस्वनः ॥ ६ ॥

सगरपुत्रोंके हाथसे जब पृथ्वी खोदी जा रही थी, उस समय उससे वज्रपातके समान बड़ा भयंकर शब्द होता था ॥

ततो भित्त्वा महीं सर्वां कृत्वा चापि प्रदक्षिणम्।
सहिताः सागराः सर्वे पितरं वाक्यमब्रुवन् ॥ ७ ॥

इस तरह सारी पृथ्वी खोदकर तथा उसकी परिक्रमा करके वे सभी सगर पुत्र पिताके पास खाली हाथ लौट आये और बोले— ॥ ७ ॥

परिक्रान्ता मही सर्वा सत्त्ववन्तश्च सूदिताः।
देवदानवरक्षांसि पिशाचोरगपन्नगाः ॥ ८ ॥
न च पश्यामहेऽश्वं ते अश्वहर्तारमेव च।
किं करिष्याम भद्रं ते बुद्धिरत्र विचार्यताम् ॥ ९ ॥

'पिताजी! हमने सारी पृथ्वी छान डाली। देवता, दानव, राक्षस, पिशाच और नाग आदि बड़े-बड़े बलवान् प्राणियोंको मार डाला। फिर भी हमें न तो कहीं घोड़ा दिखायी दिया और न घोड़ेका चुरानेवाला ही। आपका भला हो। अब हम क्या करें? इस विषयमें आप ही कोई उपाय सोचिये' ॥ ८-९ ॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा पुत्राणां राजसत्तमः।
समन्युरब्रवीद् वाक्यं सगरो रघुनन्दन ॥ १० ॥

'रघुनन्दन! पुत्रोंका यह वचन सुनकर राजाओंमें श्रेष्ठ सगरने उनसे कुपित होकर कहा— ॥ १० ॥

भूयः खनत भद्रं वो विभेद्य वसुधातलम्।
अश्वहर्तारमासाद्य कृतार्थाश्च निवर्तत ॥ ११ ॥

'जाओ, फिरसे सारी पृथ्वी खोदो और इसे विदीर्ण करके घोड़ेके चोरका पता लगाओ। चोरतक पहुँचकर काम पूरा होनेपर ही लौटना' ॥ ११ ॥

पितुर्वचनमासाद्य सगरस्य महात्मनः।
षष्टिः पुत्रसहस्राणि रसातलमभिद्रवन् ॥ १२ ॥

अपने महात्मा पिता सगरकी यह आज्ञा शिरोधार्य करके वे साठ हजार राजकुमार रसातलकी ओर बढ़े (और रोषमें भरकर पृथ्वी खोदने लगे) ॥ १२ ॥

खन्यमाने ततस्तस्मिन् ददृशुः पर्वतोपमम्।
दिशागजं विरूपाक्षं धारयन्तं महीतलम् ॥ १३ ॥

इस खुदाईके समय ही उन्हें एक पर्वताकार दिग्गज दिखायी दिया, जिसका नाम विरूपाक्ष है। वह इस भूतलको धारण किये हुए था ॥ १३ ॥

सपर्वतवनां कृत्स्नां पृथिवीं रघुनन्दन।
धारयामास शिरसा विरूपाक्षो महागजः ॥ १४ ॥

रघुनन्दन! महान् गजराज विरूपाक्षने पर्वत और वनोंसहित इस सम्पूर्ण पृथ्वीको अपने मस्तकपर धारण कर रखा था ॥ १४ ॥

यदा पर्वणि काकुत्स्थ विश्रमार्थं महागजः।
खेदाच्चालयते शीर्षं भूमिकम्पस्तदा भवेत् ॥ १५ ॥

काकुत्स्थ! वह महान् दिग्गज जिस समय थककर विश्रामके लिये अपने मस्तकको इधर-उधर हटाता था, उस समय भूकम्प होने लगता था ॥ १५ ॥

ते तं प्रदक्षिणं कृत्वा दिशापालं महागजम्।
मानयन्तो हि ते राम जग्मुर्भित्त्वा रसातलम् ॥ १६ ॥

श्रीराम! पूर्व दिशाकी रक्षा करनेवाले विशाल गजराज विरूपाक्षकी परिक्रमा करके उसका सम्मान करते हुए वे सगरपुत्र रसातलका भेदन करके आगे बढ़ गये ॥ १६ ॥

ततः पूर्वां दिशं भित्त्वा दक्षिणां बिभिदुः पुनः।
दक्षिणस्यामपि दिशि ददृशुस्ते महागजम् ॥ १७ ॥

पूर्व दिशाका भेदन करनेके पश्चात् वे पुनः दक्षिण दिशाकी भूमिको खोदने लगे। दक्षिण दिशामें भी उन्हें एक महान् दिग्गज दिखायी दिया ॥ १७ ॥

महापद्मं महात्मानं सुमहत्पर्वतोपमम्।
शिरसा धारयन्तं गां विस्मयं जग्मुरुत्तमम् ॥ १८ ॥

उसका नाम था महापद्म। महान् पर्वतके समान ऊँचा वह विशालकाय गजराज अपने मस्तकपर पृथ्वीको धारण करता था। उसे देखकर उन राजकुमारोंको बड़ा विस्मय हुआ ॥

ते तं प्रदक्षिणं कृत्वा सगरस्य महात्मनः।
षष्टिः पुत्रसहस्राणि पश्चिमां बिभिदुर्दिशम् ॥ १९ ॥

महात्मा सगरके वे साठ हजार पुत्र उस दिग्गजकी परिक्रमा करके पश्चिम दिशाकी भूमिका भेदन करने लगे ॥

पश्चिमायामपि दिशि महान्तमचलोपमम्।
दिशागजं सौमनसं ददृशुस्ते महाबलाः ॥ २० ॥

पश्चिम दिशामें भी उन महाबली सगरपुत्रोंने महान् पर्वताकार दिग्गज सौमनसका दर्शन किया ॥ २० ॥

ते तं प्रदक्षिणं कृत्वा पृष्ट्वा चापि निरामयम्।
खनन्तः समुपाक्रान्ता दिशं सोमवतीं तदा ॥ २१ ॥

उसकी भी परिक्रमा करके उसका कुशल-समाचार पूछकर वे सभी राजकुमार भूमि खोदते हुए उत्तर दिशामें जा पहुँचे ॥ २१ ॥

उत्तरस्यां रघुश्रेष्ठ ददृशुर्हिमपाण्डुरम्।
भद्रं भद्रेण वपुषा धारयन्तं महीमिमाम् ॥ २२ ॥

रघुश्रेष्ठ! उत्तर दिशामें उन्हें हिमके समान श्वेतभद्र

...क दिग्गज दिखायी दिया, जो अपने कल्याणमय शरीरसे इस पृथ्वीको धारण किये हुए था ॥ २२ ॥

समालभ्य ततः सर्वे कृत्वा चैनं प्रदक्षिणम्।
षष्टिः पुत्रसहस्राणि बिभिदुर्वसुधातलम् ॥ २३ ॥

उसका कुशल-समाचार पूछकर राजा सगरके वे सभी साठ हजार पुत्र उसकी परिक्रमा करनेके पश्चात् भूमि खोदनेके काममें जुट गये ॥ २३ ॥

ततः प्रागुत्तरां गत्वा सागराः प्रथितां दिशम्।
रोषादभ्यखनन् सर्वे पृथिवीं सगरात्मजाः ॥ २४ ॥

तदनन्तर सुविख्यात पूर्वोत्तर दिशामें जाकर उन सगरकुमारोंने एक साथ होकर रोषपूर्वक पृथ्वीको खोदना आरम्भ किया ॥ २४ ॥

ते तु सर्वे महात्मानो भीमवेगा महाबलाः।
ददृशुः कपिलं तत्र वासुदेवं सनातनम् ॥ २५ ॥

इस बार उन सभी महामना, महाबली एवं भयानक वेगशाली राजकुमारोंने वहाँ सनातन वासुदेवस्वरूप भगवान् कपिलको देखा ॥ २५ ॥

हयं च तस्य देवस्य चरन्तमविदूरतः।
प्रहर्षमतुलं प्राप्ताः सर्वे ते रघुनन्दन ॥ २६ ॥

राजा सगरके यज्ञका वह घोड़ा भी भगवान् कपिलके पास ही चर रहा था। रघुनन्दन! उसे देखकर उन सबको अनुपम हर्ष प्राप्त हुआ ॥ २६ ॥

ते तं यज्ञहनं ज्ञात्वा क्रोधपर्याकुलेक्षणाः।
खनित्रलाङ्गलधरा नानावृक्षशिलाधराः ॥ २७ ॥

भगवान् कपिलको अपने यज्ञमें विघ्न डालनेवाला जानकर उनकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं। उन्होंने अपने हाथोंमें खंती, हल और नाना प्रकारके वृक्ष एवं पत्थरोंके टुकड़े ले रखे थे ॥

अभ्यधावन्त संक्रुद्धास्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रुवन्।
अस्माकं त्वं हि तुरगं यज्ञियं हृतवानसि ॥ २८ ॥
दुर्मेधस्त्वं हि सम्प्राप्तान् विद्धि नः सगरात्मजान्।

वे अत्यन्त रोषमें भरकर उनकी ओर दौड़े और बोले—'अरे! खड़ा रह, खड़ा रह। तू ही हमारे यज्ञके घोड़ेको यहाँ चुरा लाया है। दुर्बुद्धे! अब हम आ गये। तू समझ ले, हम महाराज सगरके पुत्र हैं' ॥ २८½ ॥

श्रुत्वा तद् वचनं तेषां कपिलो रघुनन्दन ॥ २९ ॥
रोषेण महताविष्टो हुंकारमकरोत् तदा।

रघुनन्दन! उनकी बात सुनकर भगवान् कपिलको बड़ा रोष हुआ और उस रोषके आवेशमें ही उनके मुँहसे एक हुंकार निकल पड़ा ॥ २९½ ॥

ततस्तेनाप्रमेयेण कपिलेन महात्मना।
भस्मराशीकृताः सर्वे काकुत्स्थ सगरात्मजाः ॥ ३० ॥

श्रीराम! उस हुंकारके साथ ही उन अनन्त प्रभावशाली महात्मा कपिलने उन सभी सगरपुत्रोंको जलाकर राखका ढेर कर दिया ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें चालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४० ॥

—★—

एकचत्वारिंशः सर्गः

सगरकी आज्ञासे अंशुमान्का रसातलमें जाकर घोड़ेको ले आना और अपने चाचाओंके निधनका समाचार सुनाना

पुत्रांश्चिरगताञ्ज्ञात्वा सगरो रघुनन्दन।
नप्तारमब्रवीद् राजा दीप्यमानं स्वतेजसा ॥ १ ॥

रघुनन्दन! 'पुत्रोंको गये बहुत दिन हो गये'—ऐसा जानकर राजा सगरने अपने पौत्र अंशुमान्से, जो अपने तेजसे देदीप्यमान हो रहा था, इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

शूरश्च कृतविद्यश्च पूर्वैस्तुल्योऽसि तेजसा।
पितृणां गतिमन्विच्छ येन चाश्वोऽपवाहितः ॥ २ ॥

'वत्स! तुम शूरवीर, विद्वान् तथा अपने पूर्वजोंके तुल्य तेजस्वी हो। तुम भी अपने चाचाओंके पथका अनुसरण करो और उस चोरका पता लगाओ, जिसने मेरे यज्ञ-सम्बन्धी अश्वका अपहरण कर लिया है ॥ २ ॥

अन्तर्भौमानि सत्त्वानि वीर्यवन्ति महान्ति च।
तेषां तु प्रतिघातार्थं सासिं गृह्णीष्व कार्मुकम् ॥ ३ ॥

'देखो, पृथ्वीके भीतर बड़े-बड़े बलवान् जीव रहते हैं; अतः उनसे टक्कर लेनेके लिये तुम तलवार और धनुष भी लेते जाओ ॥ ३ ॥

अभिवाद्याभिवाद्यांस्त्वं हत्वा विघ्नकरानपि।
सिद्धार्थः संनिवर्तस्व मम यज्ञस्य पारगः ॥ ४ ॥

'जो वन्दनीय पुरुष हों, उन्हें प्रणाम करना और जो तुम्हारे मार्गमें विघ्न डालनेवाले हों, उनको मार डालना। ऐसा करते हुए सफलमनोरथ होकर लौटो और मेरे इस यज्ञको पूर्ण कराओ' ॥

एवमुक्तोऽंशुमान् सम्यक् सगरेण महात्मना।
धनुरादाय खड्गं च जगाम लघुविक्रमः ॥ ५ ॥

महात्मा सगरके ऐसा कहनेपर शीघ्रतापूर्वक पराक्रम कर दिखानेवाला वीरवर अंशुमान् धनुष और तलवार लेकर चल दिया ॥ ५ ॥

स खातं पितृभिर्मार्गमन्तर्भौमं महात्मभिः।
प्रापद्यत नरश्रेष्ठ तेन राज्ञाभिचोदितः ॥ ६ ॥

नरश्रेष्ठ ! उसके महामनस्वी चाचाओंने पृथ्वीके भीतर जो मार्ग बना दिया था, उसीपर वह राजा सगरसे प्रेरित होकर गया ॥ ६ ॥

देवदानवरक्षोभिः पिशाचपतगोरगैः ।
पूज्यमानं महातेजा दिशागजमपश्यत ॥ ७ ॥

वहाँ उस महातेजस्वी वीरने एक दिग्गजको देखा, जिसकी देवता, दानव, राक्षस, पिशाच, पक्षी और नाग—सभी पूजा कर रहे थे ॥ ७ ॥

स तं प्रदक्षिणं कृत्वा पृष्ट्वा चैव निरामयम् ।
पितॄन् स परिपप्रच्छ वाजिहर्तारमेव च ॥ ८ ॥

उसकी परिक्रमा करके कुशल-मङ्गल पूछकर अंशुमान्ने उस दिग्गजसे अपने चाचाओंका समाचार तथा अश्व चुरानेवालेका पता पूछा ॥ ८ ॥

दिशागजस्तु तच्छ्रुत्वा प्रत्युवाच महामतिः ।
आसमञ्ज कृतार्थस्त्वं सहाश्वः शीघ्रमेष्यसि ॥ ९ ॥

उसका प्रश्न सुनकर परम बुद्धिमान् दिग्गजने इस प्रकार उत्तर दिया—'असमंज-कुमार ! तुम अपना कार्य सिद्ध करके घोड़ेसहित शीघ्र लौट आओगे' ॥ ९ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सर्वानेव दिशागजान् ।
यथाक्रमं यथान्यायं प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ १० ॥

उसकी यह बात सुनकर अंशुमान्ने क्रमशः सभी दिग्गजोंसे न्यायानुसार उक्त प्रश्न पूछना आरम्भ किया ॥

तैश्च सर्वैर्दिशापालैर्वाक्यज्ञैर्वाक्यकोविदैः ।
पूजितः सहयश्चैवागन्तासीत्यभिचोदितः ॥ ११ ॥

वाक्यके मर्मको समझने तथा बोलनेमें कुशल उन समस्त दिग्गजोंने अंशुमान्का सत्कार किया और यह शुभ कामना प्रकट की कि तुम घोड़ेसहित लौट आओगे ॥ ११ ॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा जगाम लघुविक्रमः ।
भस्मराशीकृता यत्र पितरस्तस्य सागराः ॥ १२ ॥

उनका यह आशीर्वाद सुनकर अंशुमान् शीघ्रतापूर्वक पैर बढ़ाता हुआ उस स्थानपर जा पहुँचा, जहाँ उसके चाचा सगरपुत्र राखके ढेर हुए पड़े थे ॥ १२ ॥

स दुःखवशमापन्नस्त्वसमञ्जसुतस्तदा ।
चुक्रोश परमार्तस्तु वधात् तेषां सुदुःखितः ॥ १३ ॥

उनके वधसे असमंजपुत्र अंशुमान्को बड़ा दुःख हुआ। वह शोकके वशीभूत हो अत्यन्त आर्तभावसे फूट-फूटकर रोने लगा ॥ १३ ॥

यज्ञियं च हयं तत्र चरन्तमविदूरतः ।
ददर्श पुरुषव्याघ्रो दुःखशोकसमन्वितः ॥ १४ ॥

दुःख-शोकमें डूबे हुए पुरुषसिंह अंशुमान्ने अपने यज्ञ-सम्बन्धी अश्वको भी वहाँ पास ही चरते देखा ॥ १४ ॥

स तेषां राजपुत्राणां कर्तुकामो जलक्रियाम् ।
स जलार्थी महातेजा न चापश्यज्जलाशयम् ॥ १५ ॥

महातेजस्वी अंशुमान्ने उन राजकुमारोंको जलाञ्जलि देनेके लिये जलकी इच्छा की; किंतु वहाँ कहीं भी कोई जलाशय नहीं दिखायी दिया ॥ १५ ॥

विसार्य निपुणां दृष्टिं ततोऽपश्यत् खगाधिपम् ।
पितॄणां मातुलं राम सुपर्णमनिलोपमम् ॥ १६ ॥

श्रीराम ! तब उसने दूरतकको वस्तुओंको देखनेमें समर्थ अपनी दृष्टिको फैलाकर देखा। उस समय उसे वायुके समान वेगशाली पक्षिराज गरुड़ दिखायी दिये, जो उसके चाचाओं (सगरपुत्रों) के मामा थे ॥ १६ ॥

स चैनमब्रवीद् वाक्यं वैनतेयो महाबलः ।
मा शुचः पुरुषव्याघ्र वधोऽयं लोकसम्मतः ॥ १७ ॥

महाबली विनतानन्दन गरुड़ने अंशुमान्से कहा—'पुरुषसिंह ! शोक न करो। इन राजकुमारोंका वध सम्पूर्ण जगत्के मङ्गलके लिये हुआ है ॥ १७ ॥

कपिलेनाप्रमेयेण दग्धा हीमे महाबलाः ।
सलिलं नार्हसि प्राज्ञ दातुमेषां हि लौकिकम् ॥ १८ ॥

'विद्वन् ! अनन्त प्रभावशाली महात्मा कपिलने इन महाबली राजकुमारोंको दग्ध किया है। इनके लिये तुम्हें लौकिक जलकी अञ्जलि देना उचित नहीं है ॥ १८ ॥

गङ्गा हिमवतो ज्येष्ठा दुहिता पुरुषर्षभ ।
तस्यां कुरु महाबाहो पितॄणां सलिलक्रियाम् ॥ १९ ॥

'नरश्रेष्ठ ! महाबाहो ! हिमवान्की जो ज्येष्ठ पुत्री गङ्गाजी हैं, उन्हींके जलसे अपने इन चाचाओंका तर्पण करो ॥ १९ ॥

भस्मराशीकृतानेतान् प्लावयेल्लोकपावनी ।
तया क्लिन्नमिदं भस्म गङ्गया लोककान्तया ।
षष्टिं पुत्रसहस्राणि स्वर्गलोकं गमिष्यति ॥ २० ॥

'जिस समय लोकपावनी गङ्गा राखके ढेर होकर गिरे हुए उन साठ हजार राजकुमारोंको अपने जलसे आप्लावित करेंगी, उसी समय उन सबको स्वर्गलोकमें पहुँचा देंगी। लोककमनीया गङ्गाके जलसे भीगी हुई यह भस्मराशि इन सबको स्वर्गलोकमें भेज देगी ॥ २० ॥

निर्गच्छाश्वं महाभाग संगृह्य पुरुषर्षभ ।
यज्ञं पैतामहं वीर निर्वर्तयितुमर्हसि ॥ २१ ॥

'महाभाग ! पुरुषप्रवर ! वीर ! अब तुम घोड़ा लेकर जाओ और अपने पितामहका यज्ञ पूर्ण करो' ॥ २१ ॥

सुपर्णवचनं श्रुत्वा सोंऽशुमानतिवीर्यवान् ।
त्वरितं हयमादाय पुनरायान्महातपाः ॥ २२ ॥

गरुड़की यह बात सुनकर अत्यन्त पराक्रमी महातपस्वी अंशुमान् घोड़ा लेकर तुरंत लौट आया ॥ २२ ॥

ततो राजानमासाद्य दीक्षितं रघुनन्दन ।
न्यवेदयद् यथावृत्तं सुपर्णवचनं तथा ॥ २३ ॥

रघुनन्दन ! यज्ञमें दीक्षित हुए राजाके पास आकर उसने सारा समाचार निवेदन किया और गरुड़की बतायी हुई बात

भी कह सुनायी ॥ २३ ॥

तच्छ्रुत्वा घोरसंकाशं वाक्यमंशुमतो नृपः।
यज्ञं निर्वर्तयामास यथाकल्पं यथाविधि ॥ २४ ॥

अंशुमान्‌के मुखसे यह भयंकर समाचार सुनकर राजा सगरने कल्पोक्त नियमके अनुसार अपना यज्ञ विधिवत् पूर्ण किया ॥ २४ ॥

स्वपुरं त्वगमच्छ्रीमानिष्टयज्ञो महीपतिः।
गङ्गायाश्चागमे राजा निश्चयं नाध्यगच्छत ॥ २५ ॥

यज्ञ समाप्त करके पृथ्वीपति महाराज सगर अपनी राजधानीको लौट आये। वहाँ आनेपर उन्होंने गङ्गाजीको ले आनेके विषयमें बहुत विचार किया; किंतु वे किसी निश्चयपर न पहुँच सके ॥ २५ ॥

अगत्वा निश्चयं राजा कालेन महता महान्।
त्रिंशद्वर्षसहस्राणि राज्यं कृत्वा दिवं गतः ॥ २६ ॥

दीर्घकालतक विचार करनेपर भी उन्हें कोई निश्चित उपाय नहीं सूझा और तीस हजार वर्षोंतक राज्य करके वे स्वर्गलोकको चले गये ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें इकतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशः सर्गः

अंशुमान् और भगीरथकी तपस्या, ब्रह्माजीका भगीरथको अभीष्ट वर देकर गङ्गाजीको धारण करनेके लिये भगवान् शङ्करको राजी करनेके निमित्त प्रयत्न करनेकी सलाह देना

कालधर्मं गते राम सगरे प्रकृतीजनाः।
राजानं रोचयामासुरंशुमन्तं सुधार्मिकम् ॥ १ ॥

श्रीराम! सगरकी मृत्यु हो जानेपर प्रजाजनोंने परम धर्मात्मा अंशुमान्‌को राजा बनानेकी रुचि प्रकट की ॥ १ ॥

स राजा सुमहानासीदंशुमान् रघुनन्दन।
तस्य पुत्रो महानासीद् दिलीप इति विश्रुतः ॥ २ ॥

रघुनन्दन! अंशुमान् बड़े प्रतापी राजा हुए। उनके पुत्रका नाम दिलीप था। वह भी एक महान् पुरुष था ॥ २ ॥

तस्मै राज्यं समादिश्य दिलीपे रघुनन्दन।
हिमवच्छिखरे रम्ये तपस्तेपे सुदारुणम् ॥ ३ ॥

रघुकुलको आनन्दित करनेवाले वीर! अंशुमान् दिलीपको राज्य देकर हिमालयके रमणीय शिखरपर चले गये और वहाँ अत्यन्त कठोर तपस्या करने लगे ॥ ३ ॥

द्वात्रिंशच्छतसाहस्रं वर्षाणि सुमहायशाः।
तपोवनगतो राजा स्वर्गं लेभे तपोधनः ॥ ४ ॥

महान् यशस्वी राजा अंशुमान्‌ने उस तपोवनमें जाकर बत्तीस हजार वर्षोंतक तप किया। तपस्याके धनसे सम्पन्न हुए उस नरेशने वहीं शरीर त्यागकर स्वर्गलोक प्राप्त किया ॥ ४ ॥

दिलीपस्तु महातेजाः श्रुत्वा पैतामहं वधम्।
दुःखोपहतया बुद्ध्या निश्चयं नाध्यगच्छत ॥ ५ ॥

अपने पितामहोंके वधका वृत्तान्त सुनकर महातेजस्वी दिलीप भी बहुत दुःखी रहते थे। अपनी बुद्धिसे बहुत सोचने-विचारनेके बाद भी वे किसी निश्चयपर नहीं पहुँच सके ॥ ५ ॥

कथं गङ्गावतरणं कथं तेषां जलक्रिया।
तारयेयं कथं चैतानिति चिन्तापरोऽभवत् ॥ ६ ॥

वे सदा इसी चिन्तामें डूबे रहते थे कि किस प्रकार पृथ्वीपर गङ्गाजीका उतरना सम्भव होगा? कैसे गङ्गाजलद्वारा उन्हें जलाञ्जलि दी जायेगी और किस प्रकार मैं अपने उन पितरोंका उद्धार कर सकूँगा ॥ ६ ॥

तस्य चिन्तयतो नित्यं धर्मेण विदितात्मनः।
पुत्रो भगीरथो नाम जज्ञे परमधार्मिकः ॥ ७ ॥

प्रतिदिन इन्हीं सब चिन्ताओंमें पड़े हुए राजा दिलीपको, जो अपने धर्माचरणसे बहुत विख्यात थे, भगीरथ नामक एक परम धर्मात्मा पुत्र प्राप्त हुआ ॥ ७ ॥

दिलीपस्तु महातेजा यज्ञैर्बहुभिरिष्टवान्।
त्रिंशद्वर्षसहस्राणि राजा राज्यमकारयत् ॥ ८ ॥

महातेजस्वी दिलीपने बहुत-से यज्ञोंका अनुष्ठान तथा तीस हजार वर्षोंतक राज्य किया ॥ ८ ॥

अगत्वा निश्चयं राजा तेषामुद्धरणं प्रति।
व्याधिना नरशार्दूल कालधर्ममुपेयिवान् ॥ ९ ॥

पुरुषसिंह! उन पितरोंके उद्धारके विषयमें किसी निश्चयको न पहुँचकर राजा दिलीप रोगसे पीड़ित हो मृत्युको प्राप्त हो गये ॥ ९ ॥

इन्द्रलोकं गतो राजा स्वार्जितेनैव कर्मणा।
राज्ये भगीरथं पुत्रमभिषिच्य नरर्षभः ॥ १० ॥

पुत्र भगीरथको राज्यपर अभिषिक्त करके नरश्रेष्ठ राजा दिलीप अपने किये हुए पुण्यकर्मके प्रभावसे इन्द्रलोकमें गये ॥ १० ॥

भगीरथस्तु राजर्षिर्धार्मिको रघुनन्दन।
अनपत्यो महाराजः प्रजाकामः स च प्रजाः ॥ ११ ॥
मन्त्रिष्वाधाय तद् राज्यं गङ्गावतरणे रतः।
तपो दीर्घं समातिष्ठद् गोकर्णे रघुनन्दन ॥ १२ ॥

रघुनन्दन! धर्मात्मा राजर्षि महाराज भगीरथके कोई संतान नहीं थी। वे संतान-प्राप्तिकी इच्छा रखते थे तो भी प्रजा और राज्यकी रक्षाका भार मन्त्रियोंपर रखकर

गङ्गाजीको पृथ्वीपर उतारनेके प्रयत्नमें लग गये और गोकर्णतीर्थमें बड़ी भारी तपस्या करने लगे ॥ ११-१२ ॥

ऊर्ध्वबाहुः पञ्चतपा मासाहारो जितेन्द्रियः ।
तस्य वर्षसहस्राणि घोरे तपसि तिष्ठतः ॥ १३ ॥
अतीतानि महाबाहो तस्य राज्ञो महात्मनः ।

महाबाहो! वे अपनी दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर पञ्चाग्निका सेवन करते और इन्द्रियोंको काबूमें रखकर एक-एक महीनेपर आहार ग्रहण करते थे। इस प्रकार घोर तपस्यामें लगे हुए महात्मा राजा भगीरथके एक हजार वर्ष व्यतीत हो गये ॥ १३½ ॥

सुप्रीतो भगवान् ब्रह्मा प्रजानां प्रभुरीश्वरः ॥ १४ ॥
ततः सुरगणैः सार्धमुपागम्य पितामहः ।
भगीरथं महात्मानं तप्यमानमथाब्रवीत् ॥ १५ ॥

इससे प्रजाओंके स्वामी भगवान् ब्रह्माजी उनपर बहुत प्रसन्न हुए। पितामह ब्रह्माने देवताओंके साथ वहाँ आकर तपस्यामें लगे हुए महात्मा भगीरथसे इस प्रकार कहा— ॥

भगीरथ महाराज प्रीतस्तेऽहं जनाधिप ।
तपसा च सुतप्तेन वरं वरय सुव्रत ॥ १६ ॥

'महाराज भगीरथ! तुम्हारी इस उत्तम तपस्यासे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। श्रेष्ठ व्रतका पालन करनेवाले नरेश्वर! तुम कोई वर माँगो' ॥ १६ ॥

तमुवाच महातेजाः सर्वलोकपितामहम् ।
भगीरथो महाबाहुः कृताञ्जलिपुटः स्थितः ॥ १७ ॥

तब महातेजस्वी महाबाहु भगीरथ हाथ जोड़कर उनके सामने खड़े हो गये और उन सर्वलोकपितामह ब्रह्मासे इस प्रकार बोले— ॥ १७ ॥

यदि मे भगवान् प्रीतो यद्यस्ति तपसः फलम् ।
सगरस्यात्मजाः सर्वे मत्तः सलिलमाप्नुयुः ॥ १८ ॥

'भगवन्! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं और यदि इस तपस्याका कोई उत्तम फल है तो सगरके सभी पुत्रोंको मेरे हाथसे गङ्गाजीका जल प्राप्त हो ॥ १८ ॥

गङ्गायाः सलिलक्लिन्ने भस्मन्येषां महात्मनाम् ।
स्वर्गं गच्छेयुरत्यन्तं सर्वे च प्रपितामहाः ॥ १९ ॥

'इन महात्माओंकी भस्मराशिके गङ्गाजीके जलसे भीग जानेपर मेरे उन सभी प्रपितामहोंको अक्षय स्वर्गलोक मिले ॥

देव याचे ह संतत्यै नावसीदेत् कुलं च नः ।
इक्ष्वाकूणां कुले देव एष मेऽस्तु वरः परः ॥ २० ॥

'देव! मैं संततिके लिये भी आपसे प्रार्थना करता हूँ। हमारे कुलकी परम्परा कभी नष्ट न हो। भगवन्! मेरे द्वारा माँगा हुआ उत्तम वर सम्पूर्ण इक्ष्वाकुवंशके लिये लागू होना चाहिये' ॥ २० ॥

उक्तवाक्यं तु राजानं सर्वलोकपितामहः ।
प्रत्युवाच शुभां वाणीं मधुरां मधुराक्षराम् ॥ २१ ॥

राजा भगीरथके ऐसा कहनेपर सर्वलोकपितामह ब्रह्माजीने मधुर अक्षरोंवाली परम कल्याणमयी मीठी वाणीमें कहा— ॥ २१ ॥

मनोरथो महानेष भगीरथ महारथ ।
एवं भवतु भद्रं ते इक्ष्वाकुकुलवर्धन ॥ २२ ॥

'इक्ष्वाकुवंशकी वृद्धि करनेवाले महारथी भगीरथ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हारा यह महान् मनोरथ इसी रूपमें पूर्ण हो ॥ २२ ॥

इयं हैमवती ज्येष्ठा गङ्गा हिमवतः सुता ।
तां वै धारयितुं राजन् हरस्तत्र नियुज्यताम् ॥ २३ ॥

'राजन्! ये हैं हिमालयकी ज्येष्ठ पुत्री हैमवती गङ्गाजी। इनको धारण करनेके लिये भगवान् शङ्करको तैयार करो ॥

गङ्गायाः पतनं राजन् पृथिवी न सहिष्यते ।
तां वै धारयितुं राजन् नान्यं पश्यामि शूलिनः ॥ २४ ॥

'महाराज! गङ्गाजीके गिरनेका वेग यह पृथ्वी नहीं सह सकेगी। मैं त्रिशूलधारी भगवान् शङ्करके सिवा और किसीको ऐसा नहीं देखता, जो इन्हें धारण कर सके' ॥ २४ ॥

तमेवमुक्त्वा राजानं गङ्गां चाभाष्य लोककृत् ।
जगाम त्रिदिवं देवैः सर्वैः सह मरुद्गणैः ॥ २५ ॥

राजासे ऐसा कहकर लोकस्रष्टा ब्रह्माजीने भगवती गङ्गासे भी भगीरथपर अनुग्रह करनेके लिये कहा। इसके बाद वे सम्पूर्ण देवताओं तथा मरुद्गणोंके साथ स्वर्गलोकको चले गये ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें बयालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

भगीरथकी तपस्यासे संतुष्ट हुए भगवान् शङ्करका गङ्गाको अपने सिरपर धारण करके बिन्दुसरोवरमें छोड़ना और उनका सात धाराओंमें विभक्त हो भगीरथके साथ जाकर उनके पितरोंका उद्धार करना

देवदेवे गते तस्मिन् सोऽङ्गुष्ठाग्रनिपीडिताम् ।
कृत्वा वसुमतीं राम वत्सरं समुपासत ॥ १ ॥

श्रीराम! देवाधिदेव ब्रह्माजीके चले जानेपर राजा भगीरथ पृथ्वीपर केवल अँगूठेके अग्रभागको टिकाये हुए खड़े हो

एक वर्षतक भगवान् शङ्करकी उपासनामें लगे रहे ॥ १ ॥

अथ संवत्सरे पूर्णे सर्वलोकनमस्कृतः ।
उमापतिः पशुपती राजानमिदमब्रवीत् ॥ २ ॥

वर्ष पूरा होनेपर सर्वलोकवन्दित उमावल्लभ भगवान् पशुपतिने प्रकट होकर राजासे इस प्रकार कहा— ॥ २ ॥

प्रीतस्तेऽहं नरश्रेष्ठ करिष्यामि तव प्रियम् ।
शिरसा धारयिष्यामि शैलराजसुतामहम् ॥ ३ ॥

'नरश्रेष्ठ ! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हारा प्रिय कार्य अवश्य करूँगा। मैं गिरिराजकुमारी गङ्गादेवीको अपने मस्तकपर धारण करूँगा' ॥ ३ ॥

ततो हैमवती ज्येष्ठा सर्वलोकनमस्कृता ।
तदा सातिमहद्रूपं कृत्वा वेगं च दुःसहम् ॥ ४ ॥
आकाशादपतद् राम शिवे शिवशिरस्युत ।

श्रीराम ! शङ्करजीकी स्वीकृति मिल जानेपर हिमालयकी ज्येष्ठ पुत्री गङ्गाजी, जिनके चरणोंमें सारा संसार मस्तक झुकाता है, बहुत बड़ा रूप धारण करके अपने वेगको दुःसह बनाकर आकाशसे भगवान् शङ्करके शोभायमान मस्तकपर गिरीं ॥ ४½ ॥

अचिन्तयच्च सा देवी गङ्गा परमदुर्धरा ॥ ५ ॥
विशाम्यहं हि पातालं स्रोतसा गृह्य शङ्करम् ।

उस समय परम दुर्धर गङ्गादेवीने यह सोचा था कि मैं अपने प्रखर प्रवाहके साथ शङ्करजीको लिये-दिये पातालमें घुस जाऊँगी ॥ ५½ ॥

तस्यावलेपनं ज्ञात्वा क्रुद्धस्तु भगवान् हरः ॥ ६ ॥
तिरोभावयितुं बुद्धिं चक्रे त्रिनयनस्तदा ।

उनके इस अहंकारको जानकर त्रिनेत्रधारी भगवान् हर कुपित हो उठे और उन्होंने उस समय गङ्गाको अदृश्य कर देनेका विचार किया ॥ ६½ ॥

सा तस्मिन् पतिता पुण्या पुण्ये रुद्रस्य मूर्धनि ॥ ७ ॥
हिमवत्प्रतिमे राम जटामण्डलगह्वरे ।
सा कथंचिन्महीं गन्तुं नाशक्नोद् यत्नमास्थिता ॥ ८ ॥

पुण्यस्वरूपा गङ्गा भगवान् रुद्रके पवित्र मस्तकपर गिरीं। उनका वह मस्तक जटामण्डलरूपी गुफासे सुशोभित हिमालयके समान जान पड़ता था। उसपर गिरकर विशेष प्रयत्न करनेपर भी किसी तरह वे पृथ्वीपर न जा सकीं ॥ ७-८ ॥

नैव सा निर्गमं लेभे जटामण्डलमन्ततः ।
तत्रैवाबभ्रमद् देवी संवत्सरगणान् बहून् ॥ ९ ॥

भगवान् शिवके जटा-जालमें उलझकर किनारे आकर भी गङ्गादेवी वहाँसे निकलनेका मार्ग न पा सकीं और बहुत वर्षोंतक उस जटाजूटमें ही भटकती रहीं ॥ ९ ॥

तामपश्यत् पुनस्तत्र तपः परममास्थितः ।
स तेन तोषितश्चासीदत्यन्तं रघुनन्दन ॥ १० ॥

रघुनन्दन ! भगीरथने देखा, गङ्गाजी भगवान् शङ्करके जटामण्डलमें अदृश्य हो गयी हैं; तब वे पुनः वहाँ भारी तपस्यामें लग गये। उस तपस्याद्वारा उन्होंने भगवान् शिवको बहुत संतुष्ट कर लिया ॥ १० ॥

विससर्ज ततो गङ्गां हरो बिन्दुसरः प्रति ।
तस्यां विसृज्यमानायां सप्त स्रोतांसि जज्ञिरे ॥ ११ ॥

तब महादेवजीने गङ्गाजीको बिन्दुसरोवरमें ले जाकर छोड़ दिया। वहाँ छूटते ही उनकी सात धाराएँ हो गयीं ॥ ११ ॥

ह्लादिनी पावनी चैव नलिनी च तथैव च ।
तिस्रः प्राचीं दिशं जग्मुर्गङ्गाः शिवजलाः शुभाः ॥ १२ ॥

ह्लादिनी, पावनी और नलिनी—ये कल्याणमय जलसे सुशोभित गङ्गाकी तीन मङ्गलमयी धाराएँ पूर्व दिशाकी ओर चली गयीं ॥ १२ ॥

सुचक्षुश्चैव सीता च सिन्धुश्चैव महानदी ।
तिस्रश्चैता दिशं जग्मुः प्रतीचीं तु दिशं शुभाः ॥ १३ ॥

सुचक्षु, सीता और महानदी सिन्धु—ये तीन शुभ धाराएँ पश्चिम दिशाकी ओर प्रवाहित हुईं ॥ १३ ॥

सप्तमी चान्वगात् तासां भगीरथरथं तदा ।
भगीरथोऽपि राजर्षिर्दिव्यं स्यन्दनमास्थितः ॥ १४ ॥
प्रायादग्रे महातेजा गङ्गा तं चाप्यनुव्रजत् ।
गगनाच्छंकरशिरस्ततो धरणिमागता ॥ १५ ॥

उनकी अपेक्षा जो सातवीं धारा थी, वह महाराज भगीरथके रथके पीछे-पीछे चलने लगी। महातेजस्वी राजर्षि भगीरथ भी दिव्य रथपर आरूढ़ हो आगे-आगे चले और गङ्गा उन्हींके पथका अनुसरण करने लगीं। इस प्रकार वे आकाशसे भगवान् शङ्करके मस्तकपर और वहाँसे इस पृथ्वीपर आयी थीं ॥ १५ ॥

असर्पत जलं तत्र तीव्रशब्दपुरस्कृतम् ।
मत्स्यकच्छपसङ्घैश्च शिंशुमारगणैस्तथा ॥ १६ ॥
पतद्भिः पतितैश्चैव व्यरोचत वसुंधरा ।

गङ्गाजीकी वह जलराशि महान् कलकल नादके साथ तीव्र गतिसे प्रवाहित हुई। मत्स्य, कच्छप और शिंशुमार (सूँस) झुंड-के-झुंड उसमें गिरने लगे। उन गिरे हुए जलजन्तुओंसे वसुन्धराकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ १६½ ॥

ततो देवर्षिगन्धर्वा यक्षसिद्धगणास्तथा ॥ १७ ॥
व्यलोकयन्त ते तत्र गगनाद् गां गतां तदा ।
विमानैर्नगराकारैर्हयैर्गजवरैस्तदा ॥ १८ ॥

तदनन्तर देवता, ऋषि, गन्धर्व, यक्ष और सिद्धगण नगरके समान आकारवाले विमानों, घोड़ों तथा गजराजोंपर बैठकर आकाशसे पृथ्वीपर गयी हुई गङ्गाजीकी शोभा निहारने लगे ॥ १७-१८ ॥

पारिप्लवगताश्चापि देवतास्तत्र विष्ठिताः ।
तदद्भुततमिमं लोके गङ्गावतरमुत्तमम् ॥ १९ ॥
दिदृक्षवो देवगणाः समीयुरमितौजसः ।

देवतालोग आश्चर्यचकित होकर वहाँ खड़े थे। जगत्में गङ्गावतरणके इस अद्भुत एवं उत्तम दृश्यको देखनेकी इच्छासे अमित तेजस्वी देवताओंका समूह वहाँ जुटा हुआ था॥ १९½॥

सम्पतद्भिः सुरगणैस्तेषां चाभरणौजसा॥ २०॥
शतादित्यमिवाभाति गगनं गततोयदम्।

तीव्र गतिसे आते हुए देवताओं तथा उनके दिव्य आभूषणोंके प्रकाशसे वहाँका मेघरहित निर्मल आकाश इस तरह प्रकाशित हो रहा था, मानो उसमें सैकड़ों सूर्य उदित हो गये हों॥ २०½॥

शिंशुमारोरगगणैर्मीनैरपि च चञ्चलैः॥ २१॥
विद्युद्भिरिव विक्षिप्तैराकाशमभवत् तदा।

शिंशुमार, सर्प तथा चञ्चल मत्स्यसमूहोंके उछलनेसे गङ्गाजीके जलसे ऊपरका आकाश ऐसा जान पड़ता था, मानो वहाँ चञ्चल चपलाओंका प्रकाश सब ओर व्याप्त हो रहा हो॥ २१½॥

पाण्डरैः सलिलोत्पीडैः कीर्यमाणैः सहस्रधा॥ २२॥
शारदाभ्रैरिवाकीर्णं गगनं हंससम्प्लवैः।

वायु आदिसे सहस्रों टुकड़ोंमें बँटे हुए फेन आकाशमें सब ओर फैल रहे थे। मानो शरद्‌ऋतुके श्वेत बादल अथवा हंस उड़ रहे हों॥ २२½॥

क्वचिद् द्रुततरं याति कुटिलं क्वचिदायतम्॥ २३॥
विनतं क्वचिदुद्भूतं क्वचिद् याति शनैः शनैः।
सलिलेनैव सलिलं क्वचिदभ्याहतं पुनः॥ २४॥

गङ्गाजीकी वह धारा कहीं तेज, कहीं टेढ़ी और कहीं चौड़ी होकर बहती थी। कहीं बिल्कुल नीचेकी ओर गिरती और कहीं ऊँचेकी ओर उठी हुई थी। कहीं समतल भूमिपर वह धीरे-धीरे बहती थी और कहीं-कहीं अपने ही जलसे उसके जलमें बारम्बार टक्करें लगती रहती थीं॥ २३-२४॥

मुहुरूर्ध्वपथं गत्वा पपात वसुधां पुनः।
तच्छंकरशिरोभ्रष्टं भ्रष्टं भूमितले पुनः॥ २५॥
व्यरोचत तदा तोयं निर्मलं गतकल्मषम्।

गङ्गाका वह जल बार-बार ऊँचे मार्गपर उठता और पुनः नीची भूमिपर गिरता था। आकाशसे भगवान् शङ्करके मस्तकपर तथा वहाँसे फिर पृथ्वीपर गिरा हुआ वह निर्मल एवं पवित्र गङ्गाजल उस समय बड़ी शोभा पा रहा था॥ २५॥

तत्रर्षिगणगन्धर्वा वसुधातलवासिनः॥ २६॥
भवाङ्गपतितं तोयं पवित्रमिति पस्पृशुः।

उस समय भूतलनिवासी ऋषि और गन्धर्व यह सोचकर कि भगवान् शङ्करके मस्तकसे गिरा हुआ यह जल बहुत पवित्र है, उसमें आचमन करने लगे॥ २६½॥

शापात् प्रपतिता ये च गगनाद् वसुधातलम्॥ २७॥
कृत्वा तत्राभिषेकं ते बभूवुर्गतकल्मषाः।
धूतपापाः पुनस्तेन तोयेनाथ शुभान्विताः॥ २८॥
पुनराकाशमाविश्य स्वाँल्लोकान् प्रतिपेदिरे।

जो शापभ्रष्ट होकर आकाशसे पृथ्वीपर आ गये थे, वे गङ्गाके जलमें स्नान करके निष्पाप हो गये तथा उस जलसे पाप धुल जानेके कारण पुनः शुभ पुण्यसे संयुक्त हो आकाशमें पहुँचकर अपने लोकोंको पा गये॥ २७-२८½॥

मुमुदे मुदितो लोकस्तेन तोयेन भास्वता॥ २९॥
कृताभिषेको गङ्गायां बभूव गतकल्मषः।

उस प्रकाशमान जलके सम्पर्कसे आनन्दित हुए सम्पूर्ण जगत्‌को सदाके लिये बड़ी प्रसन्नता हुई। सब लोग गङ्गामें स्नान करके पापहीन हो गये॥ २९½॥

भगीरथो हि राजर्षिर्दिव्यं स्यन्दनमास्थितः॥ ३०॥
प्रायादग्रे महाराजस्तं गङ्गा पृष्ठतोऽन्वगात्।

(हम पहले बता आये हैं कि) राजर्षि महाराज भगीरथ दिव्य रथपर आरूढ़ हो आगे-आगे चल रहे थे और गङ्गाजी उनके पीछे-पीछे जा रही थीं॥ ३०½॥

देवाः सर्षिगणाः सर्वे दैत्यदानवराक्षसाः॥ ३१॥
गन्धर्वयक्षप्रवराः सकिंनरमहोरगाः।
सर्पाश्चाप्सरसो राम भगीरथरथानुगाः॥ ३२॥
गङ्गामन्वगमन् प्रीताः सर्वे जलचराश्च ये।

श्रीराम! उस समय समस्त देवता, ऋषि, दैत्य, दानव, राक्षस, गन्धर्व, यक्षप्रवर, किन्नर, बड़े-बड़े नाग, सर्प तथा अप्सरा—ये सब लोग बड़ी प्रसन्नताके साथ राजा भगीरथके रथके पीछे गङ्गाजीके साथ-साथ चल रहे थे। सब प्रकारके जलजन्तु भी गङ्गाजीकी उस जलराशिके साथ सानन्द जा रहे थे॥ ३१-३२½॥

यतो भगीरथो राजा ततो गङ्गा यशस्विनी॥ ३३॥
जगाम सरितां श्रेष्ठा सर्वपापप्रणाशिनी।

जिस ओर राजा भगीरथ जाते, उसी ओर समस्त पापोंका नाश करनेवाली सरिताओंमें श्रेष्ठ यशस्विनी गङ्गा भी जाती थीं॥ ३३½॥

ततो हि यजमानस्य जह्नोरद्भुतकर्मणः॥ ३४॥
गङ्गा सम्प्लावयामास यज्ञवाटं महात्मनः।

उस समय मार्गमें अद्भुत पराक्रमी महामना राजा जह्नु यज्ञ कर रहे थे। गङ्गाजी अपने जल-प्रवाहसे उनके यज्ञमण्डपको बहा ले गयीं॥ ३४½॥

तस्यावलेपनं ज्ञात्वा क्रुद्धो जह्नुश्च राघव॥ ३५॥
अपिबत् तु जलं सर्वं गङ्गायाः परमाद्भुतम्।

रघुनन्दन! राजा जह्नु इसे गङ्गाजीका गर्व समझकर कुपित हो उठे; फिर तो उन्होंने गङ्गाजीके उस समस्त जलको पी लिया। यह संसारके लिये बड़ी अद्भुत बात हुई॥ ३५॥

ततो देवाः सगन्धर्वा ऋषयश्च सुविस्मिताः॥ ३६॥
पूजयन्ति महात्मानं जह्नुं पुरुषसत्तमम्।

तब देवता, गन्धर्व तथा ऋषि अत्यन्त विस्मित होकर पुरुषप्रवर महात्मा जह्नुकी स्तुति करने लगे ॥ ३६½ ॥

गङ्गां चापि नयन्ति स्म दुहितृत्वे महात्मनः ॥ ३७ ॥
ततस्तुष्टो महातेजाः श्रोत्राभ्यामसृजत् प्रभुः ।
तस्माज्जह्नुसुता गङ्गा प्रोच्यते जाह्नवीति च ॥ ३८ ॥

उन्होंने गङ्गाजीको उन महात्मा नरेशकी कन्या बना दिया। (अर्थात् उन्हें यह विश्वास दिलाया कि गङ्गाजीको प्रकट करके आप इनके पिता कहलायेंगे।) इससे सामर्थ्यशाली महातेजस्वी जह्नु बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने अपने कानोंके छिद्रोंद्वारा गङ्गाजीको पुनः प्रकट कर दिया, इसलिये गङ्गा जह्नुकी पुत्री एवं जाह्नवी कहलाती हैं ॥ ३७-३८ ॥

जगाम च पुनर्गङ्गा भगीरथरथानुगा ।
सागरं चापि सम्प्राप्ता सा सरित्प्रवरा तदा ॥ ३९ ॥
रसातलमुपागच्छत् सिद्ध्यर्थं तस्य कर्मणः ।

वहाँसे गङ्गा फिर भगीरथके रथका अनुसरण करती हुई चलीं। उस समय सरिताओंमें श्रेष्ठ जाह्नवी समुद्रतक जा पहुँचीं और राजा भगीरथके पितरोंके उद्धाररूपी कार्यकी सिद्धिके लिये रसातलमें गयीं ॥ ३९½ ॥

भगीरथोऽपि राजर्षिर्गङ्गामादाय यत्नतः ॥ ४० ॥
पितामहान् भस्मकृतानपश्यद् गतचेतनः ।

राजर्षि भगीरथ भी यत्नपूर्वक गङ्गाजीको साथ ले वहाँ गये। उन्होंने शापसे भस्म हुए अपने पितामहोंको अचेत-सा होकर देखा ॥ ४०½ ॥

अथ तद्भस्मनां राशिं गङ्गासलिलमुत्तमम् ।
प्लावयत् पूतपाप्मानः स्वर्गं प्राप्ता रघूत्तम ॥ ४१ ॥

रघुकुलके श्रेष्ठ वीर! तदनन्तर गङ्गाके उस उत्तम जलने सगर-पुत्रोंकी उस भस्मराशिको आप्लावित कर दिया और वे सभी राजकुमार निष्पाप होकर स्वर्गमें पहुँच गये ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें तैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

ब्रह्माजीका भगीरथकी प्रशंसा करते हुए उन्हें गङ्गाजलसे पितरोंके तर्पणकी आज्ञा देना और राजाका वह सब करके अपने नगरको जाना, गङ्गावतरणके उपाख्यानकी महिमा

स गत्वा सागरं राजा गङ्गयानुगतस्तदा ।
प्रविवेश तलं भूमेर्यत्र ते भस्मसात्कृताः ॥ १ ॥
भस्मन्यथाप्लुते राम गङ्गायाः सलिलेन वै ।
सर्वलोकप्रभुर्ब्रह्मा राजानमिदमब्रवीत् ॥ २ ॥

श्रीराम! इस प्रकार गङ्गाजीको साथ लिये राजा भगीरथने समुद्रतक जाकर रसातलमें, जहाँ उनके पूर्वज भस्म हुए थे, प्रवेश किया। वह भस्मराशि जब गङ्गाजीके जलसे आप्लावित हो गयी, तब सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी भगवान् ब्रह्माने वहाँ पधारकर राजासे इस प्रकार कहा— ॥ १-२ ॥

तारिता नरशार्दूल दिवं याताश्च देववत् ।
षष्टिः पुत्रसहस्राणि सगरस्य महात्मनः ॥ ३ ॥

'नरश्रेष्ठ! महात्मा राजा सगरके साठ हजार पुत्रोंका तुमने उद्धार कर दिया। अब वे देवताओंकी भाँति स्वर्ग-लोकमें जा पहुँचे ॥ ३ ॥

सागरस्य जलं लोके यावत्स्थास्यति पार्थिव ।
सगरस्यात्मजाः सर्वे दिवि स्थास्यन्ति देववत् ॥ ४ ॥

'भूपाल! इस संसारमें जबतक सागरका जल मौजूद रहेगा; तबतक सगरके सभी पुत्र देवताओंकी भाँति स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित रहेंगे ॥ ४ ॥

इयं च दुहिता ज्येष्ठा तव गङ्गा भविष्यति ।
त्वत्कृतेन च नाम्नाथ लोके स्थास्यति विश्रुता ॥ ५ ॥

'ये गङ्गा तुम्हारी भी ज्येष्ठ पुत्री होकर रहेंगी और तुम्हारे नामपर रखे हुए भागीरथी नामसे इस जगत्‌में विख्यात होंगी ॥ ५ ॥

'गङ्गा त्रिपथगा नाम दिव्या भागीरथीति च ।
त्रीन् पथो भावयन्तीति तस्मात् त्रिपथगा स्मृता ॥ ६ ॥

'त्रिपथगा' दिव्या और भागीरथी—इन तीनों नामोंसे गङ्गाकी प्रसिद्धि होगी। ये आकाश, पृथ्वी और पाताल तीनों पथोंको पवित्र करती हुई गमन करती हैं, इसलिये त्रिपथगा मानी गयी हैं ॥ ६ ॥

पितामहानां सर्वेषां त्वमत्र मनुजाधिप ।
कुरुष्व सलिलं राजन् प्रतिज्ञामपवर्जय ॥ ७ ॥

'नरेश्वर! महाराज! अब तुम गङ्गाजीके जलसे यहाँ अपने सभी पितामहोंका तर्पण करो और इस प्रकार अपनी तथा अपने पूर्वजोंद्वारा की हुई प्रतिज्ञाको पूर्ण कर लो ॥ ७ ॥

पूर्वकेण हि ते राजंस्तेनातियशसा तदा ।
धर्मिणां प्रवरेणाथ नैष प्राप्तो मनोरथः ॥ ८ ॥

'राजन्! तुम्हारे पूर्वज धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महायशस्वी राजा सगर भी गङ्गाको यहाँ लाना चाहते थे; किंतु उनका यह मनोरथ नहीं पूर्ण हुआ ॥ ८ ॥

तथैवांशुमता वत्स लोकेऽप्रतिमतेजसा ।
गङ्गां प्रार्थयता नेतुं प्रतिज्ञा नापवर्जिता ॥ ९ ॥
राजर्षिणा गुणवता महर्षिसमतेजसा ।
मत्तुल्यतपसा चैव क्षत्रधर्मस्थितेन च ॥ १० ॥

'वत्स ! इसी प्रकार लोकमें अप्रतिम प्रभावशाली, उत्तम गुणविशिष्ट, महर्षितुल्य तेजस्वी, मेरे समान तपस्वी तथा क्षत्रिय-धर्मपरायण राजर्षि अंशुमान्‌ने भी गङ्गाको यहाँ लानेकी इच्छा की; परंतु वे इस पृथ्वीपर उन्हें लानेकी प्रतिज्ञा पूरी न कर सके ॥ ९-१० ॥

दिलीपेन महाभाग तव पित्रातितेजसा ।
पुनर्न शकिता नेतुं गङ्गां प्रार्थयतानघ ॥ ११ ॥

'निष्पाप महाभाग ! तुम्हारे अत्यन्त तेजस्वी पिता दिलीप भी गङ्गाको यहाँ लानेकी इच्छा करके भी इस कार्यमें सफल न हो सके ॥ ११ ॥

सा त्वया समतिक्रान्ता प्रतिज्ञा पुरुषर्षभ ।
प्राप्तोऽसि परमं लोके यशः परमसम्मतम् ॥ १२ ॥

'पुरुषप्रवर ! तुमने गङ्गाको भूतलपर लानेकी वह प्रतिज्ञा पूर्ण कर ली। इससे संसारमें तुम्हें परम उत्तम एवं महान् यशकी प्राप्ति हुई है ॥ १२ ॥

तच्च गङ्गावतरणं त्वया कृतमरिंदम ।
अनेन च भवान् प्राप्तो धर्मस्यायतनं महत् ॥ १३ ॥

शत्रुदमन ! तुमने जो गङ्गाजीको पृथ्वीपर उतारनेका कार्य पूरा किया है, इससे उस महान् ब्रह्मलोकपर अधिकार प्राप्त कर लिया है, जो धर्मका आश्रय है ॥ १३ ॥

प्लावयस्व त्वमात्मानं नरोत्तम सदोचिते ।
सलिले पुरुषश्रेष्ठ शुचिः पुण्यफलो भव ॥ १४ ॥

'नरश्रेष्ठ ! पुरुषप्रवर ! गङ्गाजीका जल सदा ही स्नानके योग्य है। तुम स्वयं भी इसमें स्नान करो और पवित्र होकर पुण्यका फल प्राप्त करो ॥ १४ ॥

पितामहानां सर्वेषां कुरुष्व सलिलक्रियाम् ।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि स्वं लोकं गम्यतां नृप ॥ १५ ॥

'नरेश्वर ! तुम अपने सभी पितामहोंका तर्पण करो। तुम्हारा कल्याण हो। अब मैं अपने लोकको जाऊँगा। तुम भी अपनी राजधानीको लौट जाओ' ॥ १५ ॥

इत्येवमुक्त्वा देवेशः सर्वलोकपितामहः ।
यथागतं तथागच्छद् देवलोकं महायशाः ॥ १६ ॥

ऐसा कहकर सर्वलोकपितामह महायशस्वी देवेश्वर ब्रह्माजी जैसे आये थे, वैसे ही देवलोकको लौट गये ॥

भगीरथस्तु राजर्षिः कृत्वा सलिलमुत्तमम् ।
यथाक्रमं यथान्यायं सागराणां महायशाः ॥ १७ ॥
कृतोदकः शुची राजा स्वपुरं प्रविवेश ह ।
समृद्धार्थो नरश्रेष्ठ स्वराज्यं प्रशशास ह ॥ १८ ॥

नरश्रेष्ठ ! महायशस्वी राजर्षि राजा भगीरथ भी गङ्गाजीके उत्तम जलसे क्रमशः सभी सगर-पुत्रोंका विधिवत् तर्पण करके पवित्र हो अपने नगरको चले गये। इस प्रकार सफलमनोरथ होकर वे अपने राज्यका शासन करने लगे ॥

प्रमुमोद च लोकस्तं नृपमासाद्य राघव ।
नष्टशोकः समृद्धार्थो बभूव विगतज्वरः ॥ १९ ॥

रघुनन्दन ! अपने राजाको पुनः सामने पाकर प्रजावर्गको बड़ी प्रसन्नता हुई। सबका शोक जाता रहा। सबके मनोरथ पूर्ण हुए और चिन्ता दूर हो गयी ॥ १९ ॥

एष ते राम गङ्गाया विस्तरोऽभिहितो मया ।
स्वस्ति प्राप्नुहि भद्रं ते संध्याकालोऽतिवर्तते ॥ २० ॥

श्रीराम ! यह गङ्गाजीकी कथा मैंने तुम्हें विस्तारके साथ कह सुनायी। तुम्हारा कल्याण हो। अब जाओ, मङ्गलमय संध्यावन्दन आदिका सम्पादन करो। देखो, संध्याकाल बीता जा रहा है ॥ २० ॥

धन्यं यशस्यमायुष्यं पुत्र्यं स्वर्ग्यमथापि च ।
यः श्रावयति विप्रेषु क्षत्रियेष्वितरेषु च ॥ २१ ॥
प्रीयन्ते पितरस्तस्य प्रीयन्ते दैवतानि च ।
इदमाख्यानमायुष्यं गङ्गावतरणं शुभम् ॥ २२ ॥

यह गङ्गावतरणका मङ्गलमय उपाख्यान आयु बढ़ानेवाला है। धन, यश, आयु, पुत्र और स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला है। जो ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा दूसरे वर्णके लोगोंको भी यह कथा सुनाता है, उसके ऊपर देवता और पितर प्रसन्न होते हैं ॥ २१-२२ ॥

यः शृणोति च काकुत्स्थ सर्वान् कामानवाप्नुयात् ।
सर्वे पापाः प्रणश्यन्ति आयुः कीर्तिश्च वर्धते ॥ २३ ॥

ककुत्स्थकुलभूषण ! जो इसका श्रवण करता है, वह सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं और आयुकी वृद्धि एवं कीर्तिका विस्तार होता है ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें चौवालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

देवताओं और दैत्योंद्वारा क्षीर-समुद्र-मन्थन, भगवान् रुद्रद्वारा हालाहल विषका पान, भगवान् विष्णुके सहयोगसे मन्दराचलका पातालसे उद्धार और उसके द्वारा मन्थन, धन्वन्तरि, अप्सरा, वारुणी, उच्चैःश्रवा, कौस्तुभ तथा अमृतकी उत्पत्ति और देवासुर-संग्राममें दैत्योंका संहार

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा राघवः सहलक्ष्मणः ।
विस्मयं परमं गत्वा विश्वामित्रमथाब्रवीत् ॥ १ ॥

विश्वामित्रजीकी बातें सुनकर लक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्रजीको बड़ा विस्मय हुआ। वे मुनिसे इस प्रकार बोले— ॥ १ ॥

अत्यद्भुतमिदं ब्रह्मन् कथितं परमं त्वया ।
गङ्गावतरणं पुण्यं सागरस्यापि पूरणम् ॥ २ ॥

'ब्रह्मन्! आपने गङ्गाजीके स्वर्गसे उतरने और समुद्रके भरनेकी यह बड़ी उत्तम और अत्यन्त अद्भुत कथा सुनायी ॥

क्षणभूतेव नौ रात्रिः संवृत्तेयं परंतप ।
इमां चिन्तयतोः सर्वां निखिलेन कथां तव ॥ ३ ॥

'काम-क्रोधादि शत्रुओंको संताप देनेवाले महर्षे! आपकी कही हुई इस सम्पूर्ण कथापर पूर्णरूपसे विचार करते हुए हम दोनों भाइयोंकी यह रात्रि एक क्षणके समान बीत गयी है ॥ ३ ॥

तस्य सा शर्वरी सर्वा मम सौमित्रिणा सह ।
जगाम चिन्तयानस्य विश्वामित्र कथां शुभाम् ॥ ४ ॥

'विश्वामित्रजी! लक्ष्मणके साथ इस शुभ कथापर विचार करते हुए ही मेरी यह सारी रात बीती है' ॥ ४ ॥

ततः प्रभाते विमले विश्वामित्रं तपोधनम् ।
उवाच राघवो वाक्यं कृताह्निकमरिंदमः ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् निर्मल प्रभातकाल उपस्थित होनेपर तपोधन विश्वामित्रजी जब नित्यकर्मसे निवृत्त हो चुके, तब शत्रुदमन श्रीरामचन्द्रजीने उनके पास जाकर कहा— ॥ ५ ॥

गता भगवती रात्रिः श्रोतव्यं परमं श्रुतम् ।
तराम सरितां श्रेष्ठां पुण्यां त्रिपथगां नदीम् ॥ ६ ॥

'मुने! यह पूजनीया रात्रि चली गयी। सुनने योग्य सर्वोत्तम कथा मैंने सुन ली। अब हमलोग सरिताओंमें श्रेष्ठ पुण्यसलिला त्रिपथगामिनी नदी गङ्गाजीके उस पार चलें ॥

नौरेषा हि सुखास्तीर्णा ऋषीणां पुण्यकर्मणाम् ।
भगवन्तमिह प्राप्तं ज्ञात्वा त्वरितमागता ॥ ७ ॥

'सदा पुण्यकर्ममें तत्पर रहनेवाले ऋषियोंकी यह नाव उपस्थित है। इसपर सुखद आसन बिछा है। आप परमपूज्य महर्षिको यहाँ उपस्थित जानकर ऋषियोंकी भेजी हुई यह नाव बड़ी तीव्र गतिसे यहाँ आयी है' ॥ ७ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राघवस्य महात्मनः ।
संतारं कारयामास सर्षिसङ्घस्य कौशिकः ॥ ८ ॥

महात्मा रघुनन्दनका यह वचन सुनकर विश्वामित्रजीने पहले ऋषियोंसहित श्रीराम-लक्ष्मणको पार कराया ॥ ८ ॥

उत्तरं तीरमासाद्य सम्पूज्यर्षिगणं ततः ।
गङ्गाकूले निविष्टास्ते विशालां ददृशुः पुरीम् ॥ ९ ॥

तत्पश्चात् स्वयं भी उत्तर तटपर पहुँचकर उन्होंने वहाँ रहनेवाले ऋषियोंका सत्कार किया। फिर सब लोग गङ्गाजीके किनारे ठहरकर विशाला नामक पुरीकी शोभा देखने लगे ॥ ९ ॥

ततो मुनिवरस्तूर्णं जगाम सहराघवः ।
विशालां नगरीं रम्यां दिव्यां स्वर्गोपमां तदा ॥ १० ॥

तदनन्तर श्रीराम-लक्ष्मणको साथ ले मुनिवर विश्वामित्र तुरंत उस दिव्य एवं रमणीय नगरी विशालाकी ओर चल दिये, जो अपनी सुन्दर शोभासे स्वर्गके समान जान पड़ती थी ॥

अथ रामो महाप्राज्ञो विश्वामित्रं महामुनिम् ।
पप्रच्छ प्राञ्जलिर्भूत्वा विशालामुत्तमां पुरीम् ॥ ११ ॥

उस समय परम बुद्धिमान् श्रीरामने हाथ जोड़कर उस उत्तम विशाला पुरीके विषयमें महामुनि विश्वामित्रसे पूछा— ॥ ११ ॥

कतमो राजवंशोऽयं विशालायां महामुने ।
श्रोतुमिच्छामि भद्रं ते परं कौतूहलं हि मे ॥ १२ ॥

'महामुने! आपका कल्याण हो। मैं यह सुनना चाहता हूँ कि विशालामें कौन-सा राजवंश राज्य कर रहा है? इसके लिये मुझे बड़ी उत्कण्ठा है' ॥ १२ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा रामस्य मुनिपुङ्गवः ।
आख्यातुं तत्समारेभे विशालायाः पुरातनम् ॥ १३ ॥

श्रीरामका यह वचन सुनकर मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रने विशाला पुरीके प्राचीन इतिहासका वर्णन आरम्भ किया— ॥

श्रूयतां राम शक्रस्य कथां कथयतः श्रुताम् ।
अस्मिन् देशे हि यद् वृत्तं शृणु तत्त्वेन राघव ॥ १४ ॥

'रघुकुलनन्दन श्रीराम! मैंने इन्द्रके मुखसे विशाला-पुरीके वैभवका प्रतिपादन करनेवाली जो कथा सुनी है, उसे बता रहा हूँ, सुनो। इस देशमें जो वृत्तान्त घटित हुआ है, उसे यथार्थरूपसे श्रवण करो ॥ १४ ॥

पूर्वं कृतयुगे राम दितेः पुत्रा महाबलाः ।
अदितेश्च महाभागा वीर्यवन्तः सुधार्मिकाः ॥ १५ ॥

'श्रीराम! पहले सत्ययुगमें दितिके पुत्र दैत्य बड़े बलवान् थे और अदितिके परम धर्मात्मा पुत्र महाभाग देवता भी बड़े शक्तिशाली थे ॥ १५ ॥

ततस्तेषां नरव्याघ्र बुद्धिरासीन्महात्मनाम् ।
अमरा विजराश्चैव कथं स्यामो निरामयाः ॥ १६ ॥

'पुरुषसिंह! उन महामना दैत्यों और देवताओंके मनमें यह विचार हुआ कि हम कैसे अजर-अमर और नीरोग हों? ॥ १६ ॥

तेषां चिन्तयतां तत्र बुद्धिरासीद् विपश्चिताम् ।
क्षीरोदमथनं कृत्वा रसं प्राप्स्याम तत्र वै ॥ १७ ॥

'इस प्रकार चिन्तन करते हुए उन विचारशील देवताओं और दैत्योंकी बुद्धिमें यह बात आयी कि हमलोग यदि क्षीरसागरका मन्थन करें तो उसमें निश्चय ही अमृतमय रस प्राप्त कर लेंगे ॥ १७ ॥

ततो निश्चित्य मथनं योक्त्रं कृत्वा च वासुकिम् ।
मन्थानं मन्दरं कृत्वा ममन्थुरमितौजसः ॥ १८ ॥

'समुद्रमन्थनका निश्चय करके उन अमिततेजस्वी देवताओं और दैत्योंने वासुकि नागको रस्सी और मन्दराचलको मथानी बनाकर क्षीर-सागरको मथना आरम्भ किया ॥ १८ ॥

अथ वर्षसहस्रेण योक्त्रसर्पशिरांसि च।
वमन्तोऽतिविषं तत्र ददंशुर्दशनैः शिलाः॥ १९॥

'तदनन्तर एक हजार वर्ष बीतनेपर रस्सी बने हुए सर्पके बहुसंख्यक मुख अत्यन्त विष उगलते हुए वहाँ मन्दराचलकी शिलाओंको अपने दाँतोंसे डँसने लगे॥ १९॥

उत्पपाताग्निसंकाशं हालाहलमहाविषम्।
तेन दग्धं जगत् सर्वं सदेवासुरमानुषम्॥ २०॥

'अतः उस समय वहाँ अग्निके समान दाहक हालाहल नामक महाभयंकर विष ऊपरको उठा। उसने देवता, असुर और मनुष्योंसहित सम्पूर्ण जगत्‌को दग्ध करना आरम्भ किया॥ २०॥

अथ देवा महादेवं शङ्करं शरणार्थिनः।
जग्मुः पशुपतिं रुद्रं त्राहि त्राहीति तुष्टुवुः॥ २१॥

'यह देख देवतालोग शरणार्थी होकर सबका कल्याण करनेवाले महान् देवता पशुपति रुद्रकी शरणमें गये और त्राहि-त्राहिकी पुकार लगाकर उनकी स्तुति करने लगे॥

एवमुक्तस्ततो देवैर्देवदेवेश्वरः प्रभुः।
प्रादुरासीत् ततोऽत्रैव शङ्खचक्रधरो हरिः॥ २२॥

'देवताओंके इस प्रकार पुकारनेपर देवदेवेश्वर भगवान् शिव वहाँ प्रकट हुए। फिर वहीं शङ्ख-चक्रधारी भगवान् श्रीहरि भी उपस्थित हो गये॥ २२॥

उवाचैनं स्मितं कृत्वा रुद्रं शूलधरं हरिः।
दैवतैर्मथ्यमाने तु यत्पूर्वं समुपस्थितम्॥ २३॥
तत् त्वदीयं सुरश्रेष्ठ सुराणामग्रतो हि यत्।
अग्रपूजामिह स्थित्वा गृहाणेदं विषं प्रभो॥ २४॥

'श्रीहरिने त्रिशूलधारी भगवान् रुद्रसे मुसकराकर कहा—'सुरश्रेष्ठ! देवताओंके समुद्रमन्थन करनेपर जो वस्तु सबसे पहले प्राप्त हुई है, वह आपका भाग है; क्योंकि आप सब देवताओंमें अग्रगण्य हैं। प्रभो! अग्रपूजाके रूपमें प्राप्त हुए इस विषको आप यहीं खड़े होकर ग्रहण करें'॥ २३-२४॥

इत्युक्त्वा च सुरश्रेष्ठस्तत्रैवान्तरधीयत।
देवतानां भयं दृष्ट्वा श्रुत्वा वाक्यं तु शार्ङ्गिणः॥ २५॥
हालाहलं विषं घोरं संजग्राहामृतोपमम्।
देवान् विसृज्य देवेशो जगाम भगवान् हरः॥ २६॥

'ऐसा कहकर देवशिरोमणि विष्णु वहीं अन्तर्धान हो गये। देवताओंका भय देखकर और भगवान् विष्णुकी पूर्वोक्त बात सुनकर देवेश्वर भगवान् रुद्रने उस घोर हालाहल विषको अमृतके समान मानकर अपने कण्ठमें धारण कर लिया तथा देवताओंको विदा करके वे अपने स्थानको चले गये॥ २५-२६॥

ततो देवासुराः सर्वे ममन्थू रघुनन्दन।
प्रविवेशाथ पातालं मन्थानः पर्वतोत्तमः॥ २७॥

'रघुनन्दन! तत्पश्चात् देवता और असुर सब मिलकर क्षीरसागरका मन्थन करने लगे। उस समय मथानी बना हुआ उत्तम पर्वत मन्दर पातालमें घुस गया॥ २७॥

ततो देवाः सगन्धर्वास्तुष्टुवुर्मधुसूदनम्।
त्वं गतिः सर्वभूतानां विशेषेण दिवौकसाम्॥ २८॥
पालयास्मान् महाबाहो गिरिमुद्धर्तुमर्हसि।

'तब देवता और गन्धर्व भगवान् मधुसूदनकी स्तुति करने लगे—'महाबाहो! आप ही सम्पूर्ण प्राणियोंकी गति हैं। विशेषतः देवताओंके अवलम्बन तो आप ही हैं। आप हमारी रक्षा करें और इस पर्वतको उठावें'॥ २८ १/३॥

इति श्रुत्वा हृषीकेशः कामठं रूपमास्थितः॥ २९॥
पर्वतं पृष्ठतः कृत्वा शिश्ये तत्रोदधौ हरिः।

'यह सुनकर भगवान् हृषीकेशने कच्छपका रूप धारण कर लिया और उस पर्वतको अपनी पीठपर रखकर वे श्रीहरि वहीं समुद्रके भीतर सो गये॥ २९ १/३॥

पर्वताग्रं तु लोकात्मा हस्तेनाक्रम्य केशवः॥ ३०॥
देवानां मध्यतः स्थित्वा ममन्थ पुरुषोत्तमः।

'फिर विश्वात्मा पुरुषोत्तम भगवान् केशव उस पर्वतशिखरको हाथसे पकड़कर देवताओंके बीचमें खड़े हो स्वयं भी समुद्रका मन्थन करने लगे॥ ३० १/३॥

अथ वर्षसहस्रेण आयुर्वेदमयः पुमान्॥ ३१॥
उदतिष्ठत् सुधर्मात्मा सदण्डः सकमण्डलुः।
पूर्वं धन्वन्तरिर्नाम अप्सराश्च सुवर्चसः॥ ३२॥

'तदनन्तर एक हजार वर्ष बीतनेपर उस क्षीरसागरसे एक आयुर्वेदमय धर्मात्मा पुरुष प्रकट हुए, जिनके एक हाथमें दण्ड और दूसरेमें कमण्डलु था। उनका नाम धन्वन्तरि था। उनके प्राकट्यके बाद सागरसे सुन्दर कान्तिवाली बहुत-सी अप्सराएँ प्रकट हुईं॥ ३१-३२॥

अप्सु निर्मथनादेव रसात् तस्माद् वरस्त्रियः।
उत्पेतुर्मनुजश्रेष्ठ तस्मादप्सरसोऽभवन्॥ ३३॥

'नरश्रेष्ठ! मन्थन करनेसे ही अप् (जल) में उसके रससे वे सुन्दरी स्त्रियाँ उत्पन्न हुई थीं, इसलिये अप्सरा कहलायीं॥

षष्टिः कोट्योऽभवंस्तासामप्सराणां सुवर्चसाम्।
असंख्येयास्तु काकुत्स्थ यास्तासां परिचारिकाः॥ ३४॥

'काकुत्स्थ! उन सुन्दर कान्तिवाली अप्सराओंकी संख्या साठ करोड़ थी और जो उनकी परिचारिकाएँ थीं, उनकी गणना नहीं की जा सकती। वे सब असंख्य थीं॥ ३४॥

न ताः स्म प्रतिगृह्णन्ति सर्वे ते देवदानवाः।
अप्रतिग्रहणादेव ता वै साधारणाः स्मृताः॥ ३५॥

'उन अप्सराओंको समस्त देवता और दानव कोई भी अपनी 'पत्नी' रूपसे ग्रहण न कर सके, इसलिये वे साधारण (सामान्या) मानी गयीं॥ ३५॥

वरुणस्य ततः कन्या वारुणी रघुनन्दन।
उत्पपात महाभागा मार्गमाणा परिग्रहम्॥ ३६॥

'रघुनन्दन! तदनन्तर वरुणकी कन्या वारुणी, जो सुराकी अभिमानिनी देवी थी, प्रकट हुई और अपनेको स्वीकार करनेवाले पुरुषकी खोज करने लगी ॥ ३६ ॥

दितेः पुत्रा न तां राम जगृहुर्वरुणात्मजाम्।
अदितेस्तु सुता वीर जगृहुस्तामनिन्दिताम् ॥ ३७ ॥

'वीर श्रीराम! दैत्योंने उस वरुणकन्या सुराको नहीं ग्रहण किया, परंतु अदितिके पुत्रोंने इस अनिन्द्य सुन्दरीको ग्रहण कर लिया ॥ ३७ ॥

असुरास्तेन दैतेयाः सुरास्तेनादितेः सुताः।
हृष्टाः प्रमुदिताश्चासन् वारुणीग्रहणात् सुराः ॥ ३८ ॥

'सुरासे रहित होनेके कारण ही दैत्य 'असुर' कहलाये और सुरा-सेवनके कारण ही अदितिके पुत्रोंकी 'सुर' संज्ञा हुई। वारुणीको ग्रहण करनेसे देवतालोग हर्षसे उत्फुल्ल एवं आनन्दमग्न हो गये ॥ ३८ ॥

उच्चैःश्रवा हयश्रेष्ठो मणिरत्नं च कौस्तुभम्।
उदतिष्ठन्नरश्रेष्ठ तथैवामृतमुत्तमम् ॥ ३९ ॥

'नरश्रेष्ठ! तदनन्तर घोड़ोंमें उत्तम उच्चैःश्रवा, मणिरत्न कौस्तुभ तथा परम उत्तम अमृतका प्राकट्य हुआ ॥ ३९ ॥

अथ तस्य कृते राम महानासीत् कुलक्षयः।
अदितेस्तु ततः पुत्रा दितिपुत्रानयोधयन् ॥ ४० ॥

'श्रीराम! उस अमृतके लिये देवताओं और असुरोंके कुलका महान् संहार हुआ। अदितिके पुत्र दितिके पुत्रोंके साथ युद्ध करने लगे ॥ ४० ॥

एकतामगमन् सर्वे असुरा राक्षसैः सह।
युद्धमासीन्महाघोरं वीर त्रैलोक्यमोहनम् ॥ ४१ ॥

समस्त असुर राक्षसोंके साथ मिलकर एक हो गये। वीर! देवताओंके साथ उनका महाघोर संग्राम होने लगा, जो तीनों लोकोंको मोहमें डालनेवाला था ॥ ४१ ॥

यदा क्षयं गतं सर्वं तदा विष्णुर्महाबलः।
अमृतं सोऽहरत् तूर्णं मायामास्थाय मोहिनीम् ॥ ४२ ॥

'जब देवताओं और असुरोंका वह सारा समूह क्षीण हो चला, तब महाबली भगवान् विष्णुने मोहिनी मायाका आश्रय लेकर तुरंत ही अमृतका अपहरण कर लिया ॥ ४२ ॥

ये गताभिमुखं विष्णुमक्षरं पुरुषोत्तमम्।
सम्पिष्टास्ते तदा युद्धे विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ ४३ ॥

'जो दैत्य बलपूर्वक अमृत छीन लानेके लिये अविनाशी पुरुषोत्तम भगवान् विष्णुके सामने गये , उन्हें प्रभावशाली भगवान् विष्णुने उस समय युद्धमें पीस डाला ॥ ४३ ॥

अदितेरात्मजा वीरा दितेः पुत्रान् निजघ्निरे।
अस्मिन् घोरे महायुद्धे दैतेयादित्ययोर्भृशम् ॥ ४४ ॥

'देवताओं और दैत्योंके उस घोर महायुद्धमें अदितिके वीर पुत्रोंने दितिके पुत्रोंका विशेष संहार किया ॥ ४४ ॥

निहत्य दितिपुत्रांस्तु राज्यं प्राप्य पुरंदरः।
शशास मुदितो लोकान् सर्षिसङ्घान् सचारणान् ॥ ४५ ॥

'दैत्योंका वध करनेके पश्चात् त्रिलोकीका राज्य पाकर देवराज इन्द्र बड़े प्रसन्न हुए और ऋषियों तथा चारणोंसहित समस्त लोकोंका शासन करने लगे' ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें पैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशः सर्गः

पुत्रवधसे दुःखी दितिका कश्यपजीसे इन्द्रहन्ता पुत्रकी प्राप्तिके उद्देश्यसे तपके लिये आज्ञा लेकर कुशप्लवमें तप करना, इन्द्रद्वारा उनकी परिचर्या तथा उन्हें अपवित्र अवस्थामें पाकर इन्द्रका उनके गर्भके सात टुकड़े कर डालना

हतेषु तेषु पुत्रेषु दितिः परमदुःखिता।
मारीचं कश्यपं नाम भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

अपने उन पुत्रोंके मारे जानेपर दितिको बड़ा दुःख हुआ। वे अपने पति मरीचिनन्दन कश्यपके पास जाकर बोलीं— ॥

हतपुत्रास्मि भगवंस्तव पुत्रैर्महाबलैः।
शक्रहन्तारमिच्छामि पुत्रं दीर्घतपोर्जितम् ॥ २ ॥

'भगवन्! आपके महाबली पुत्र देवताओंने मेरे पुत्रोंको मार डाला; अतः मैं दीर्घकालकी तपस्यासे उपार्जित एक ऐसा पुत्र चाहती हूँ जो इन्द्रका वध करनेमें समर्थ हो ॥ २ ॥

साहं तपश्चरिष्यामि गर्भं मे दातुमर्हसि।
ईश्वरं शक्रहन्तारं त्वमनुज्ञातुमर्हसि ॥ ३ ॥

'मैं तपस्या करूँगी, आप इसके लिये मुझे आज्ञा दें और मेरे गर्भमें ऐसा पुत्र प्रदान करें, जो सब कुछ करनेमें समर्थ तथा इन्द्रका वध करनेवाला हो' ॥ ३ ॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा मारीचः कश्यपस्तदा।
प्रत्युवाच महातेजा दितिं परमदुःखिताम् ॥ ४ ॥

उसकी यह बात सुनकर महातेजस्वी मरीचिनन्दन कश्यपने उस परम दुःखिनी दितिको इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ ४ ॥

एवं भवतु भद्रं ते शुचिर्भव तपोधने।
जनयिष्यसि पुत्रं त्वं शक्रहन्तारमाहवे ॥ ५ ॥

'तपोधने! ऐसा ही हो। तुम शौचाचारका पालन

करो। तुम्हारा भला हो। तुम ऐसे पुत्रको जन्म दोगी, जो युद्धमें इन्द्रको मार सके॥ ५॥

पूर्णे वर्षसहस्रे तु शुचिर्यदि भविष्यसि।
पुत्रं त्रैलोक्यहन्तारं मत्तस्त्वं जनयिष्यसि॥ ६ ॥

'यदि पूरे एक सहस्र वर्षतक पवित्रतापूर्वक रह सकोगी तो तुम मुझसे त्रिलोकीनाथ इन्द्रका वध करनेमें समर्थ पुत्र प्राप्त कर लोगी'॥ ६॥

एवमुक्त्वा महातेजाः पाणिना सम्ममार्ज ताम्।
तामालभ्य ततः स्वस्ति इत्युक्त्वा तपसे ययौ॥ ७ ॥

ऐसा कहकर महातेजस्वी कश्यपने दितिके शरीरपर हाथ फेरा। फिर उनका स्पर्श करके कहा—'तुम्हारा कल्याण हो।' ऐसा कहकर वे तपस्याके लिये चले गये॥ ७॥

गते तस्मिन् नरश्रेष्ठ दितिः परमहर्षिता।
कुशप्लवं समासाद्य तपस्तेपे सुदारुणम्॥ ८ ॥

नरश्रेष्ठ! उनके चले जानेपर दिति अत्यन्त हर्ष और उत्साहमें भरकर कुशप्लव नामक तपोवनमें आयीं और अत्यन्त कठोर तपस्या करने लगीं॥ ८॥

तपस्तस्यां हि कुर्वत्यां परिचर्यां चकार ह।
सहस्राक्षो नरश्रेष्ठ परया गुणसम्पदा॥ ९ ॥

पुरुषप्रवर श्रीराम! दितिके तपस्या करते समय सहस्रलोचन इन्द्र विनय आदि उत्तम गुणसम्पत्तिसे युक्त हो उनकी सेवा-टहल करने लगे॥ ९॥

अग्निं कुशान् काष्ठमपः फलं मूलं तथैव च।
न्यवेदयत् सहस्राक्षो यच्चान्यदपि काङ्क्षितम्॥ १०॥

सहस्राक्ष इन्द्र अपनी मौसी दितिके लिये अग्नि, कुशा, काठ, जल, फल, मूल तथा अन्यान्य अभिलषित वस्तुओंको ला लाकर देते थे॥ १०॥

गात्रसंवाहनैश्चैव श्रमापनयनैस्तथा।
शक्रः सर्वेषु कालेषु दितिं परिचचार ह॥ ११॥

इन्द्र मौसीकी शारीरिक सेवाएँ करते, उनके पैर दबाकर उनकी थकावट मिटाते तथा ऐसी ही अन्य आवश्यक सेवाओंद्वारा वे हर समय दितिकी परिचर्या करते थे॥ ११॥

पूर्णे वर्षसहस्रे सा दशोने रघुनन्दन।
दितिः परमसंहृष्टा सहस्राक्षमथाब्रवीत्॥ १२॥

रघुनन्दन! जब सहस्र वर्ष पूर्ण होनेमें कुल दस वर्ष बाकी रह गये, तब एक दिन दितिने अत्यन्त हर्षमें भरकर सहस्रलोचन इन्द्रसे कहा—॥ १२॥

तपश्चरन्त्या वर्षाणि दश वीर्यवतां वर।
अवशिष्टानि भद्रं ते भ्रातरं द्रक्ष्यसे ततः॥ १३॥

'बलवानोंमें श्रेष्ठ वीर! अब मेरी तपस्याके केवल दस वर्ष और शेष रह गये हैं। तुम्हारा भला हो। दस वर्ष बाद तुम अपने होनेवाले भाईको देख सकोगे॥ १३॥

यमहं त्वत्कृते पुत्र तमाधास्ये जयोत्सुकम्।
त्रैलोक्यविजयं पुत्र सह भोक्ष्यसि विज्वर॥ १४॥

'बेटा! मैंने तुम्हारे विनाशके लिये जिस पुत्रकी याचना की थी, वह जब तुम्हें जीतनेके लिये उत्सुक होगा, उस समय मैं उसे शान्त कर दूँगी—तुम्हारे प्रति उसे वैर-भावसे रहित तथा भ्रातृ-स्नेहसे युक्त बना दूँगी। फिर तुम उसके साथ रहकर उसीके द्वारा की हुई त्रिभुवन-विजयका सुख निश्चिन्त होकर भोगना॥ १४॥

याचितेन सुरश्रेष्ठ पित्रा तव महात्मना।
वरो वर्षसहस्रान्ते मम दत्तः सुतं प्रति॥ १५॥

'सुरश्रेष्ठ! मेरे प्रार्थना करनेपर तुम्हारे महात्मा पिताने एक हजार वर्षके बाद पुत्र होनेका मुझे वर दिया है'॥ १५॥

इत्युक्त्वा च दितिस्तत्र प्राप्ते मध्यं दिनेश्वरे।
निद्रयापहृता देवी पादौ कृत्वाथ शीर्षतः॥ १६॥

ऐसा कहकर दिति नींदसे अचेत हो गयीं। उस समय सूर्यदेव आकाशके मध्य भागमें आ गये थे—दोपहरका समय हो गया था। देवी दिति आसनपर बैठी-बैठी झपकी लेने लगीं। सिर झुक गया और केश पैरोंसे जा लगे। इस प्रकार निद्रावस्थामें उन्होंने पैरोंको सिरसे लगा लिया॥ १६॥

दृष्ट्वा तामशुचिं शक्रः पादयोः कृतमूर्धजाम्।
शिरःस्थाने कृतौ पादौ जहास च मुमोद च॥ १७॥

उन्होंने अपने केशोंको पैरोंपर डाल रखा था। सिरको टिकानेके लिये दोनों पैरोंको ही आधार बना लिया था। यह देख दितिको अपवित्र हुई जान इन्द्र हँसे और बड़े प्रसन्न हुए॥ १७॥

तस्याः शरीरविवरं प्रविवेश पुरंदरः।
गर्भं च सप्तधा राम चिच्छेद परमात्मवान्॥ १८॥

श्रीराम! फिर तो सतत सावधान रहनेवाले इन्द्र माता दितिके उदरमें प्रविष्ट हो गये और उसमें स्थित हुए गर्भके उन्होंने सात टुकड़े कर डाले॥ १८॥

भिद्यमानस्ततो गर्भो वज्रेण शतपर्वणा।
रुरोद सुस्वरं राम ततो दितिरबुध्यत॥ १९॥

श्रीराम! उनके द्वारा सौ पर्वोंवाले वज्रसे विदीर्ण किये जाते समय वह गर्भस्थ बालक जोर-जोरसे रोने लगा। इससे दितिकी निद्रा टूट गयी—वे जागकर उठ बैठीं॥ १९॥

मा रुदो मा रुदश्चेति गर्भं शक्रोऽभ्यभाषत।
बिभेद च महातेजा रुदन्तमपि वासवः॥ २०॥

तब इन्द्रने उस रोते हुए गर्भसे कहा—'भाई! मत रो, मत रो' परंतु महातेजस्वी इन्द्रने रोते रहनेपर भी उस गर्भके टुकड़े कर ही डाले॥ २०॥

न हन्तव्यं न हन्तव्यमित्येव दितिरब्रवीत्।
निष्पपात ततः शक्रो मातुर्वचनगौरवात्॥ २१॥

उस समय दितिने कहा—'इन्द्र! बच्चेको न मारो, न मारो।' माताके वचनका गौरव मानकर इन्द्र सहसा उदरसे निकल आये॥ २१॥

प्राञ्जलिर्वज्रसहितो दितिं शक्रोऽभ्यभाषत।
अशुचिर्देवि सुप्तासि पादयोः कृतमूर्धजा॥ २२॥

तदन्तरमहं लब्ध्वा शक्रहन्तारमाहवे।
अभिन्दं सप्तधा देवि तन्मे त्वं क्षन्तुमर्हसि॥ २३॥

फिर वज्रसहित इन्द्रने हाथ जोड़कर दितिसे कहा—'देवि! तुम्हारे सिरके बाल पैरोंसे लगे थे। इस प्रकार तुम अपवित्र अवस्थामें सोयी थीं। यही छिद्र पाकर मैंने इस 'इन्द्रहन्ता' बालकके सात टुकड़े कर डाले हैं। इसलिये माँ! तुम मेरे इस अपराधको क्षमा करो'॥ २२-२३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे षट्चत्वारिंशः सर्गः॥ ४६॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें छियालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ४६॥

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

दितिका अपने पुत्रोंको मरुद्गण बनाकर देवलोकमें रखनेके लिये इन्द्रसे अनुरोध, इन्द्रद्वारा उसकी स्वीकृति, दितिके तपोवनमें ही इक्ष्वाकु-पुत्र विशालद्वारा विशाला नगरीका निर्माण तथा वहाँके तत्कालीन राजा सुमतिद्वारा विश्वामित्र मुनिका सत्कार

सप्तधा तु कृते गर्भे दितिः परमदुःखिता।
सहस्राक्षं दुराधर्षं वाक्यं सानुनयाब्रवीत्॥ १॥

इन्द्रद्वारा अपने गर्भके सात टुकड़े कर दिये जानेपर देवी दितिको बड़ा दुःख हुआ। वे दुर्द्धर्ष वीर सहस्राक्ष इन्द्रसे अनुनयपूर्वक बोलीं—॥ १॥

ममापराधाद् गर्भोऽयं सप्तधा शकलीकृतः।
नापराधो हि देवेश तवात्र बलसूदन॥ २॥

'देवेश! बलसूदन! मेरे ही अपराधसे इस गर्भके सात टुकड़े हुए हैं। इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है॥ २॥

प्रियं त्वत्कृतमिच्छामि मम गर्भविपर्यये।
मरुतां सप्त सप्तानां स्थानपाला भवन्तु ते॥ ३॥

'इस गर्भको नष्ट करनेके निमित्त तुमने जो क्रूरतापूर्ण कर्म किया है, वह तुम्हारे और मेरे लिये भी जिस तरह प्रिय हो जाय—जैसे भी उसका परिणाम तुम्हारे और मेरे लिये सुखद हो जाय, वैसा उपाय मैं करना चाहती हूँ। मेरे गर्भके वे सातों खण्ड सात व्यक्ति होकर सातों मरुद्गणोंके स्थानोंका पालन करनेवाले हो जायँ॥ ३॥

वातस्कन्धा इमे सप्त चरन्तु दिवि पुत्रक।
मारुता इति विख्याता दिव्यरूपा ममात्मजाः॥ ४॥

'बेटा! ये मेरे दिव्य रूपधारी पुत्र 'मारुत' नामसे प्रसिद्ध होकर आकाशमें जो सुविख्यात सात वातस्कन्ध[1] हैं, उनमें विचरें॥ ४॥

ब्रह्मलोकं चरत्वेक इन्द्रलोकं तथापरः।
दिव्यवायुरिति ख्यातस्तृतीयोऽपि महायशाः॥ ५॥

'(ऊपर जो सात मरुत् बताये गये हैं, वे सात-सातके गण हैं। इस प्रकार उन्चास मरुत् समझने चाहिये। इनमेंसे) जो प्रथम गण है, वह ब्रह्मलोकमें विचरे, दूसरा इन्द्रलोकमें विचरण करे तथा तीसरा महायशस्वी मरुद्गण दिव्य वायुके नामसे विख्यात हो अन्तरिक्षमें बहा करे॥ ५॥

चत्वारस्तु सुरश्रेष्ठ दिशो वै तव शासनात्।
संचरिष्यन्ति भद्रं ते कालेन हि ममात्मजाः॥ ६॥
त्वत्कृतेनैव नाम्ना वै मारुता इति विश्रुताः।

'सुरश्रेष्ठ! तुम्हारा कल्याण हो। मेरे शेष चार पुत्रोंके गण तुम्हारी आज्ञासे समयानुसार सम्पूर्ण दिशाओंमें संचार करेंगे। तुम्हारे ही रखे हुए नामसे (तुमने जो 'मा रुदः' कहकर उन्हें रोनेसे मना किया था, उसी 'मा रुदः'—इस वाक्यसे) वे सब-के-सब मारुत कहलायेंगे। मारुत नामसे ही उनकी प्रसिद्धि होगी'॥ ६½॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा सहस्राक्षः पुरंदरः॥ ७॥
उवाच प्राञ्जलिर्वाक्यमितीदं बलसूदनः।

दितिका वह वचन सुनकर बल दैत्यको मारनेवाले सहस्राक्ष इन्द्रने हाथ जोड़कर यह बात कही—॥ ७½॥

सर्वमेतद् यथोक्तं ते भविष्यति न संशयः॥ ८॥
विचरिष्यन्ति भद्रं ते देवरूपास्तवात्मजाः।

'मा! तुम्हारा कल्याण हो। तुमने जैसा कहा है, वह सब वैसा ही होगा; इसमें संशय नहीं है। तुम्हारे ये पुत्र देवरूप होकर विचरेंगे'॥ ८½॥

एवं तौ निश्चयं कृत्वा मातापुत्रौ तपोवने॥ ९॥
जग्मतुस्त्रिदिवं राम कृतार्थाविति नः श्रुतम्।

श्रीराम! उस तपोवनमें ऐसा निश्चय करके वे दोनों माता-पुत्र—दिति और इन्द्र कृतकृत्य हो स्वर्गलोकको चले गये—ऐसा हमने सुन रखा है॥ ९½॥

[1] १. आवह, प्रवह, संवह, उद्वह, विवह, परिवह और परावह—ये सात मरुत् हैं। इन्हींको सात वातस्कन्ध कहते हैं।

एष देशः स काकुत्स्थ महेन्द्राध्युषितः पुरा ॥ १० ॥
दितिं यत्र तपःसिद्धामेवं परिचचार सः ।

काकुत्स्थ ! यही वह देश है, जहाँ पूर्वकालमें रहकर देवराज इन्द्रने तपःसिद्ध दितिकी परिचर्या की थी ॥ १०½ ॥

इक्ष्वाकोस्तु नरव्याघ्र पुत्रः परमधार्मिकः ॥ ११ ॥
अलम्बुषायामुत्पन्नो विशाल इति विश्रुतः ।
तेन चासीदिह स्थाने विशालेति पुरी कृता ॥ १२ ॥

पुरुषसिंह ! पूर्वकालमें महाराज इक्ष्वाकुके एक परम धर्मात्मा पुत्र थे, जो विशाल नामसे प्रसिद्ध हुए। उनका जन्म अलम्बुषाके गर्भसे हुआ था। उन्होंने इस स्थानपर विशाला नामकी पुरी बसायी थी ॥ ११-१२ ॥

विशालस्य सुतो राम हेमचन्द्रो महाबलः ।
सुचन्द्र इति विख्यातो हेमचन्द्रादनन्तरः ॥ १३ ॥

श्रीराम ! विशालके पुत्रका नाम था हेमचन्द्र, जो बड़े बलवान् थे। हेमचन्द्रके पुत्र सुचन्द्र नामसे विख्यात हुए ॥

सुचन्द्रतनयो राम धूम्राश्व इति विश्रुतः ।
धूम्राश्वतनयश्चापि सृञ्जयः समपद्यत ॥ १४ ॥

श्रीरामचन्द्र ! सुचन्द्रके पुत्र धूम्राश्व और धूम्राश्वके पुत्र सृंजय हुए ॥ १४ ॥

सृञ्जयस्य सुतः श्रीमान् सहदेवः प्रतापवान् ।
कुशाश्वः सहदेवस्य पुत्रः परमधार्मिकः ॥ १५ ॥

सृंजयके प्रतापी पुत्र श्रीमान् सहदेव हुए। सहदेवके परम धर्मात्मा पुत्रका नाम कुशाश्व था ॥ १५ ॥

कुशाश्वस्य महातेजाः सोमदत्तः प्रतापवान् ।
सोमदत्तस्य पुत्रस्तु काकुत्स्थ इति विश्रुतः ॥ १६ ॥

कुशाश्वके महातेजस्वी पुत्र प्रतापी सोमदत्त हुए और सोमदत्तके पुत्र काकुत्स्थ नामसे विख्यात हुए ॥ १६ ॥

तस्य पुत्रो महातेजाः सम्प्रत्येष पुरीमिमाम् ।
आवसत् परमप्रख्यः सुमतिर्नाम दुर्जयः ॥ १७ ॥

काकुत्स्थके महातेजस्वी पुत्र सुमति नामसे प्रसिद्ध हैं; जो परम कान्तिमान् एवं दुर्जय वीर हैं। वे ही इस समय इस पुरीमें निवास करते हैं ॥ १७ ॥

इक्ष्वाकोस्तु प्रसादेन सर्वे वैशालिका नृपाः ।
दीर्घायुषो महात्मानो वीर्यवन्तः सुधार्मिकाः ॥ १८ ॥

महाराज इक्ष्वाकुके प्रसादसे विशालाके सभी नरेश दीर्घायु, महात्मा, पराक्रमी और परम धार्मिक होते आये हैं ॥ १८ ॥

इहाद्य रजनीमेकां सुखं स्वप्स्यामहे वयम् ।
श्वः प्रभाते नरश्रेष्ठ जनकं द्रष्टुमर्हसि ॥ १९ ॥

नरश्रेष्ठ ! आज एक रात हमलोग यहीं सुखपूर्वक शयन करेंगे; फिर कल प्रातःकाल यहाँसे चलकर तुम मिथिलामें राजा जनकका दर्शन करोगे ॥ १९ ॥

सुमतिस्तु महातेजा विश्वामित्रमुपागतम् ।
श्रुत्वा नरवरश्रेष्ठः प्रत्यागच्छन्महायशाः ॥ २० ॥

नरेशोंमें श्रेष्ठ, महातेजस्वी, महायशस्वी राजा सुमति विश्वामित्रजीको पुरीके समीप आया हुआ सुनकर उनकी अगवानीके लिये स्वयं आये ॥ २० ॥

पूजां च परमां कृत्वा सोपाध्यायः सबान्धवः ।
प्राञ्जलिः कुशलं पृष्ट्वा विश्वामित्रमथाब्रवीत् ॥ २१ ॥

अपने पुरोहित और बन्धु-बान्धवोंके साथ राजाने विश्वामित्रजीकी उत्तम पूजा करके हाथ जोड़ उनका कुशल-समाचार पूछा और उनसे इस प्रकार कहा— ॥ २१ ॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य मे विषयं मुने ।
सम्प्राप्तो दर्शनं चैव नास्ति धन्यतरो मम ॥ २२ ॥

'मुने ! मैं धन्य हूँ। आपका मुझपर बड़ा अनुग्रह है; क्योंकि आपने स्वयं मेरे राज्यमें पधारकर मुझे दर्शन दिया। इस समय मुझसे बढ़कर धन्य पुरुष दूसरा कोई नहीं है' ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें सैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

राजा सुमतिसे सत्कृत हो एक रात विशालामें रहकर मुनियोंसहित श्रीरामका मिथिलापुरीमें पहुँचना और वहाँ सूने आश्रमके विषयमें पूछनेपर विश्वामित्रजीका उनसे अहल्याको शाप प्राप्त होनेकी कथा सुनाना

पृष्ट्वा तु कुशलं तत्र परस्परसमागमे ।
कथान्ते सुमतिर्वाक्यं व्याजहार महामुनिम् ॥ १ ॥

वहाँ परस्पर समागमके समय एक-दूसरेका कुशल-मङ्गल पूछकर बातचीतके अन्तमें राजा सुमतिने महामुनि विश्वामित्रसे कहा— ॥ १ ॥

इमौ कुमारौ भद्रं ते देवतुल्यपराक्रमौ ।
गजसिंहगती वीरौ शार्दूलवृषभोपमौ ॥ २ ॥

'ब्रह्मन् ! आपका कल्याण हो। ये दोनों कुमार देवताओंके तुल्य पराक्रमी जान पड़ते हैं। इनकी चाल-ढाल हाथी और सिंहकी गतिके समान है। ये दोनों वीर सिंह और

साँड़के समान प्रतीत होते हैं॥ २॥

पद्मपत्रविशालाक्षौ खड्गतूणधनुर्धरौ।
अश्विनाविव रूपेण समुपस्थितयौवनौ॥ ३॥

इनके बड़े-बड़े नेत्र विकसित कमलदलके समान शोभा पाते हैं। ये दोनों तलवार, तरकस और धनुष धारण किये हुए हैं। अपने सुन्दर रूपके द्वारा दोनों अश्विनीकुमारोंको लज्जित करते हैं तथा युवावस्थाके निकट आ पहुँचे हैं॥ ३॥

यदृच्छयैव गां प्राप्तौ देवलोकादिवामरौ।
कथं पद्भ्यामिह प्राप्तौ किमर्थं कस्य वा मुने॥ ४॥

'इन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता है, मानो दो देवकुमार दैवेच्छावश देवलोकसे पृथ्वीपर आ गये हों। मुने! ये दोनों किसके पुत्र हैं और कैसे, किसलिये यहाँ पैदल ही आये हैं?॥ ४॥

भूषयन्ताविमं देशं चन्द्रसूर्याविवाम्बरम्।
परस्परेण सदृशौ प्रमाणेङ्गितचेष्टितैः॥ ५॥

'जैसे चन्द्रमा और सूर्य आकाशकी शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार ये दोनों कुमार इस देशको सुशोभित कर रहे हैं। शरीरकी ऊँचाई, मनोभावसूचक संकेत तथा चेष्टा (बोलचाल) में ये दोनों एक-दूसरेके समान हैं॥ ५॥

किमर्थं च नरश्रेष्ठौ सम्प्राप्तौ दुर्गमे पथि।
वरायुधधरौ वीरौ श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः॥ ६॥

'श्रेष्ठ आयुध धारण करनेवाले ये दोनों नरश्रेष्ठ वीर इस दुर्गम मार्गमें किसलिये आये हैं? यह मैं यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ'॥ ६॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा यथावृत्तं न्यवेदयत्।
सिद्धाश्रमनिवासं च राक्षसानां वधं यथा।
विश्वामित्रवचः श्रुत्वा राजा परमविस्मितः॥ ७॥

सुमतिका यह वचन सुनकर विश्वामित्रजीने उन्हें सब वृत्तान्त यथार्थरूपसे निवेदन किया। सिद्धाश्रममें निवास और राक्षसोंके वधका प्रसङ्ग भी यथावत् रूपसे कह सुनाया। विश्वामित्रजीकी बात सुनकर राजा सुमतिको बड़ा विस्मय हुआ॥

अतिथी परमं प्राप्तौ पुत्रौ दशरथस्य तौ।
पूजयामास विधिवत् सत्कारार्हौ महाबलौ॥ ८॥

उन्होंने परम आदरणीय अतिथिके रूपमें आये हुए उन दोनों महाबली दशरथ-पुत्रोंका विधिपूर्वक आतिथ्य-सत्कार किया॥ ८॥

ततः परमसत्कारं सुमतेः प्राप्य राघवौ।
उष्य तत्र निशामेकां जग्मतुर्मिथिलां ततः॥ ९॥

सुमतिसे उत्तम आदर-सत्कार पाकर वे दोनों रघुवंशी कुमार वहाँ एक रात रहे और सबेरे उठकर मिथिलाकी ओर चल दिये॥ ९॥

तां दृष्ट्वा मुनयः सर्वे जनकस्य पुरीं शुभाम्।
साधु साध्विति शंसन्तो मिथिलां समपूजयन्॥ १०॥

मिथिलामें पहुँचकर जनकपुरीकी सुन्दर शोभा देख सभी महर्षि साधु-साधु कहकर उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे॥ १०॥

मिथिलोपवने तत्र आश्रमं दृश्य राघवः।
पुराणं निर्जनं रम्यं पप्रच्छ मुनिपुङ्गवम्॥ ११॥

मिथिलाके उपवनमें एक पुराना आश्रम था, जो अत्यन्त रमणीय होकर भी सूनसान दिखायी देता था। उसे देखकर श्रीरामचन्द्रजीने मुनिवर विश्वामित्रजीसे पूछा—॥ ११॥

इदमाश्रमसंकाशं किं न्विदं मुनिवर्जितम्।
श्रोतुमिच्छामि भगवन् कस्यायं पूर्व आश्रमः॥ १२॥

'भगवन्! यह कैसा स्थान है, जो देखनेमें तो आश्रम-जैसा है; किंतु एक भी मुनि यहाँ दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। मैं यह सुनना चाहता हूँ कि पहले यह आश्रम किसका था?'॥

तच्छ्रुत्वा राघवेणोक्तं वाक्यं वाक्यविशारदः।
प्रत्युवाच महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः॥ १३॥

श्रीरामचन्द्रजीका यह प्रश्न सुनकर प्रवचनकुशल महातेजस्वी महामुनि विश्वामित्रने इस प्रकार उत्तर दिया—॥

हन्त ते कथयिष्यामि शृणु तत्त्वेन राघव।
यस्यैतदाश्रमपदं शप्तं कोपान्महात्मनः॥ १४॥

'रघुनन्दन! पूर्वकालमें यह जिस महात्माका आश्रम था और जिन्होंने क्रोधपूर्वक इसे शाप दे दिया था, उनका तथा उनके इस आश्रमका सब वृत्तान्त तुमसे कहता हूँ। तुम यथार्थरूपसे इसको सुनो॥ १४॥

गौतमस्य नरश्रेष्ठ पूर्वमासीन्महात्मनः।
आश्रमो दिव्यसंकाशः सुरैरपि सुपूजितः॥ १५॥

'नरश्रेष्ठ! पूर्वकालमें यह स्थान महात्मा गौतमका आश्रम था। उस समय यह आश्रम बड़ा ही दिव्य जान पड़ता था। देवता भी इसकी पूजा एवं प्रशंसा किया करते थे॥ १५॥

स चात्र तप आतिष्ठदहल्यासहितः पुरा।
वर्षपूगान्यनेकानि राजपुत्र महायशः॥ १६॥

'महायशस्वी राजपुत्र! पूर्वकालमें महर्षि गौतम अपनी पत्नी अहल्याके साथ रहकर यहाँ तपस्या करते थे। उन्होंने बहुत वर्षोंतक यहाँ तप किया था॥ १६॥

तस्यान्तरं विदित्वा च सहस्राक्षः शचीपतिः।
मुनिवेषधरो भूत्वा अहल्यामिदमब्रवीत्॥ १७॥

'एक दिन जब महर्षि गौतम आश्रमपर नहीं थे, उपयुक्त अवसर समझकर शचीपति इन्द्र गौतम मुनिका वेष धारण किये वहाँ आये और अहल्यासे इस प्रकार बोले—॥

ऋतुकालं प्रतीक्षन्ते नार्थिनः सुसमाहिते।
संगमं त्वहमिच्छामि त्वया सह सुमध्यमे॥ १८॥

''सदा सावधान रहनेवाली सुन्दरी! रतिकी इच्छा रखनेवाले प्रार्थी पुरुष ऋतुकालकी प्रतीक्षा नहीं करते हैं। सुन्दर कटिप्रदेशवाली सुन्दरी! मैं (इन्द्र) तुम्हारे साथ

समागम करना चाहता हूँ' ॥ १८ ॥

मुनिवेषं सहस्राक्षं विज्ञाय रघुनन्दन।
मतिं चकार दुर्मेधा देवराजकुतूहलात्॥ १९ ॥

'रघुनन्दन! महर्षि गौतमका वेष धारण करके आये हुए इन्द्रको पहचानकर भी उस दुर्बुद्धि नारीने 'अहो! देवराज इन्द्र मुझे चाहते हैं' इस कौतूहलवश उनके साथ समागमका निश्चय करके वह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया॥ १९॥

अथाब्रवीत् सुरश्रेष्ठं कृतार्थेनान्तरात्मना।
कृतार्थास्मि सुरश्रेष्ठ गच्छ शीघ्रमितः प्रभो॥ २०॥
आत्मानं मां च देवेश सर्वथा रक्ष गौतमात्।

'रतिके पश्चात् उसने देवराज इन्द्रसे संतुष्टचित्त होकर कहा—'सुरश्रेष्ठ! मैं आपके समागमसे कृतार्थ हो गयी। प्रभो! अब आप शीघ्र यहाँसे चले जाइये। देवेश्वर! महर्षि गौतमके कोपसे आप अपनी और मेरी भी सब प्रकारसे रक्षा कीजिये' ॥ २०½॥

इन्द्रस्तु प्रहसन् वाक्यमहल्यामिदमब्रवीत्॥ २१॥
सुश्रोणि परितुष्टोऽस्मि गमिष्यामि यथागतम्।

'तब इन्द्रने अहल्यासे हँसते हुए कहा—'सुन्दरी! मैं भी संतुष्ट हो गया। अब जैसे आया था, उसी तरह चला जाऊँगा' ॥ २१½॥

एवं संगम्य तु तदा निश्चक्रामोटजात् ततः॥ २२॥
स सम्भ्रमात् त्वरन् राम शङ्कितो गौतमं प्रति।

'श्रीराम! इस प्रकार अहल्यासे समागम करके इन्द्र जब उस कुटीसे बाहर निकले, तब गौतमके आ जानेकी आशङ्कासे बड़ी उतावलीके साथ वेगपूर्वक भागनेका प्रयत्न करने लगे॥ २२॥

गौतमं स ददर्शाथ प्रविशन्तं महामुनिम्॥ २३॥
देवदानवदुर्धर्षं तपोबलसमन्वितम्।
तीर्थोदकपरिक्लिन्नं दीप्यमानमिवानलम्॥ २४॥
गृहीतसमिधं तत्र सकुशं मुनिपुङ्गवम्।

'इतनेहीमें उन्होंने देखा, देवताओं और दानवोंके लिये भी दुर्धर्ष, तपोबलसम्पन्न, महामुनि गौतम हाथमें समिधा लिये आश्रममें प्रवेश कर रहे हैं। उनका शरीर तीर्थके जलसे भीगा हुआ है और वे प्रज्वलित अग्निके समान उद्दीप्त हो रहे हैं॥ २३-२४½॥

दृष्ट्वा सुरपतिस्त्रस्तो विषण्णवदनोऽभवत्॥ २५॥
अथ दृष्ट्वा सहस्राक्षं मुनिवेषधरं मुनिः।
दुर्वृत्तं वृत्तसम्पन्नो रोषाद् वचनमब्रवीत्॥ २६॥

'उनपर दृष्टि पड़ते ही देवराज इन्द्र भयसे थर्रा उठे। उनके मुखपर विषाद छा गया। दुराचारी इन्द्रको मुनिका वेष धारण किये देख सदाचारसम्पन्न मुनिवर गौतमजीने रोषमें भरकर कहा— ॥ २५-२६॥

मम रूपं समास्थाय कृतवानसि दुर्मते।
अकर्तव्यमिदं यस्माद् विफलस्त्वं भविष्यसि॥ २७॥

''दुर्मते! तूने मेरा रूप धारण करके यह न करनेयोग्य पापकर्म किया है, इसलिये तू विफल (अण्डकोषोंसे रहित) हो जायगा' ॥ २७॥

गौतमेनैवमुक्तस्य सरोषेण महात्मना।
पेततुर्वृषणौ भूमौ सहस्राक्षस्य तत्क्षणात्॥ २८॥

'रोषमें भरे हुए महात्मा गौतमके ऐसा कहते ही सहस्राक्ष इन्द्रके दोनों अण्डकोष उसी क्षण पृथ्वीपर गिर पड़े॥ २८॥

तथा शप्त्वा च वै शक्रं भार्यामपि च शप्तवान्।
इह वर्षसहस्राणि बहूनि निवसिष्यसि॥ २९॥
वातभक्षा निराहारा तप्यन्ती भस्मशायिनी।
अदृश्या सर्वभूतानामाश्रमेऽस्मिन् वसिष्यसि॥ ३०॥
यदा त्वेतद् वनं घोरं रामो दशरथात्मजः।
आगमिष्यति दुर्धर्षस्तदा पूता भविष्यसि॥ ३१॥
तस्यातिथ्येन दुर्वृत्ते लोभमोहविवर्जिता।
मत्सकाशं मुदा युक्ता स्वं वपुर्धारयिष्यसि॥ ३२॥

इन्द्रको इस प्रकार शाप देकर गौतमने अपनी पत्नीको भी शाप दिया—'दुराचारिणी! तू भी यहाँ कई हजार वर्षोंतक केवल हवा पीकर या उपवास करके कष्ट उठाती हुई राखमें पड़ी रहेगी। समस्त प्राणियोंसे अदृश्य रहकर इस आश्रममें निवास करेगी। जब दुर्धर्ष दशरथ-कुमार राम इस घोर वनमें पदार्पण करेंगे, उस समय तू पवित्र होगी। उनका आतिथ्य-सत्कार करनेसे तेरे लोभ-मोह आदि दोष दूर हो जायँगे और तू प्रसन्नतापूर्वक मेरे पास पहुँचकर अपना पूर्व शरीर धारण कर लेगी' ॥ २९—३२॥

एवमुक्त्वा महातेजा गौतमो दुष्टचारिणीम्।
इममाश्रममुत्सृज्य सिद्धचारणसेविते।
हिमवच्छिखरे रम्ये तपस्तेपे महातपाः॥ ३३॥

'अपनी दुराचारिणी पत्नीसे ऐसा कहकर महातेजस्वी महातपस्वी गौतम इस आश्रमको छोड़कर चले गये और सिद्धों तथा चारणोंसे सेवित हिमालयके रमणीय शिखरपर रहकर तपस्या करने लगे' ॥ ३३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डेऽष्टचत्वारिंशः सर्गः॥ ४८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें अड़तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ४८॥

★

एकोनपञ्चाशः सर्गः

पितृदेवताओंद्वारा इन्द्रको भेड़ेके अण्डकोशसे युक्त करना तथा भगवान् श्रीरामके द्वारा अहल्याका उद्धार एवं उन दोनों दम्पतिके द्वारा इनका सत्कार

अफलस्तु ततः शक्रो देवानग्निपुरोगमान्।
अब्रवीत् त्रस्तनयनः सिद्धगन्धर्वचारणान्॥ १॥

तदनन्तर इन्द्र अण्डकोषसे रहित होकर बहुत डर गये। उनके नेत्रोंमें त्रास छा गया। वे अग्नि आदि देवताओं, सिद्धों, गन्धर्वों और चारणोंसे इस प्रकार बोले—॥ १॥

कुर्वता तपसो विघ्नं गौतमस्य महात्मनः।
क्रोधमुत्पाद्य हि मया सुरकार्यमिदं कृतम्॥ २॥

'देवताओ! महात्मा गौतमकी तपस्यामें विघ्न डालनेके लिये मैंने उन्हें क्रोध दिलाया है। ऐसा करके मैंने यह देवताओंका कार्य ही सिद्ध किया है॥ २॥

अफलोऽस्मि कृतस्तेन क्रोधात् सा च निराकृता।
शापमोक्षेण महता तपोऽस्यापहृतं मया॥ ३॥

'मुनिने क्रोधपूर्वक भारी शाप देकर मुझे अण्डकोषसे रहित कर दिया और अपनी पत्नीका भी परित्याग कर दिया। इससे मेरे द्वारा उनकी तपस्याका अपहरण हुआ है॥ ३॥

तस्मात् सुरवराः सर्वे सर्षिसङ्घाः सचारणाः।
सुरकार्यकरं यूयं सफलं कर्तुमर्हथ॥ ४॥

'(यदि मैं उनकी तपस्यामें विघ्न नहीं डालता तो वे देवताओंका राज्य ही छीन लेते। अतः ऐसा करके) मैंने देवताओंका ही कार्य सिद्ध किया है। इसलिये श्रेष्ठ देवताओ! तुम सब लोग, ऋषिसमुदाय और चारणगण मिलकर मुझे अण्डकोषसे युक्त करनेका प्रयत्न करो'॥ ४॥

शतक्रतोर्वचः श्रुत्वा देवाः साग्निपुरोगमाः।
पितृदेवानुपेत्याहुः सर्वे सह मरुद्गणैः॥ ५॥

इन्द्रका यह वचन सुनकर मरुद्गणोंसहित अग्नि आदि समस्त देवता कव्यवाहन आदि पितृदेवताओंके पास जाकर बोले—॥ ५॥

अयं मेषः सवृषणः शक्रो ह्यवृषणः कृतः।
मेषस्य वृषणौ गृह्य शक्रायाशु प्रयच्छत॥ ६॥

'पितृगण! यह आपका भेड़ा अण्डकोषसे युक्त है और इन्द्र अण्डकोषरहित कर दिये गये हैं। अतः इस भेड़ेके दोनों अण्डकोषोंको लेकर आप शीघ्र ही इन्द्रको अर्पित कर दें॥ ६॥

अफलस्तु कृतो मेषः परां तुष्टिं प्रदास्यति।
भवतां हर्षणार्थं च ये च दास्यन्ति मानवाः।
अक्षयं हि फलं तेषां यूयं दास्यथ पुष्कलम्॥ ७॥

'अण्डकोषसे रहित किया हुआ यह भेड़ा इसी स्थानमें आपलोगोंको परम संतोष प्रदान करेगा। अतः जो मनुष्य आपलोगोंकी प्रसन्नताके लिये अण्डकोषरहित भेड़ा दान करेंगे, उन्हें आपलोग उस दानका उत्तम एवं पूर्ण फल प्रदान करेंगे'॥ ७॥

अग्नेस्तु वचनं श्रुत्वा पितृदेवाः समागताः।
उत्पाट्य मेषवृषणौ सहस्राक्षे न्यवेशयन्॥ ८॥

अग्निकी यह बात सुनकर पितृदेवताओंने एकत्र हो भेड़ेके अण्डकोषोंको उखाड़कर इन्द्रके शरीरमें उचित स्थानपर जोड़ दिया॥ ८॥

तदाप्रभृति काकुत्स्थ पितृदेवाः समागताः।
अफलान् भुञ्जते मेषान् फलैस्तेषामयोजयन्॥ ९॥

ककुत्स्थनन्दन श्रीराम! तभीसे वहाँ आये हुए समस्त पितृ-देवता अण्डकोषरहित भेड़ोंको ही उपयोगमें लाते हैं और दाताओंको उनके दानजनित फलोंके भागी बनाते हैं॥

इन्द्रस्तु मेषवृषणस्तदाप्रभृति राघव।
गौतमस्य प्रभावेण तपसा च महात्मनः॥ १०॥

रघुनन्दन! उसी समयसे महात्मा गौतमके तपस्याजनित प्रभावसे इन्द्रको भेड़ोंके अण्डकोष धारण करने पड़े॥ १०॥

तदागच्छ महातेज आश्रमं पुण्यकर्मणः।
तारयैनां महाभागामहल्यां देवरूपिणीम्॥ ११॥

महातेजस्वी श्रीराम! अब तुम पुण्यकर्मा महर्षि गौतमके इस आश्रमपर चलो और इन देवरूपिणी महाभागा अहल्याका उद्धार करो॥ ११॥

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा राघवः सहलक्ष्मणः।
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य आश्रमं प्रविवेश ह॥ १२॥

विश्वामित्रजीका यह वचन सुनकर लक्ष्मणसहित श्रीरामने उन महर्षिको आगे करके उस आश्रममें प्रवेश किया॥ १२॥

ददर्श च महाभागां तपसा द्योतितप्रभाम्।
लोकैरपि समागम्य दुर्निरीक्ष्यां सुरासुरैः॥ १३॥

वहाँ जाकर उन्होंने देखा—महासौभाग्यशालिनी अहल्या अपनी तपस्यासे देदीप्यमान हो रही हैं। इस लोकके मनुष्य तथा सम्पूर्ण देवता और असुर भी वहाँ आकर उन्हें देख नहीं सकते थे॥ १३॥

प्रयत्नान्निर्मितां धात्रा दिव्यां मायामयीमिव।
धूमेनाभिपरीताङ्गीं दीप्तामग्निशिखामिव॥ १४॥
सतुषारावृतां साभ्रां पूर्णचन्द्रप्रभामिव।
मध्येऽम्भसो दुराधर्षां दीप्तां सूर्यप्रभामिव॥ १५॥

उनका स्वरूप दिव्य था। विधाताने बड़े प्रयत्नसे उनके अङ्गोंका निर्माण किया था। वे मायामयी-सी प्रतीत होती थीं। धूमसे घिरी हुई प्रज्वलित अग्निशिखा-सी जान पड़ती थीं। ओले और बादलोंसे ढकी हुई पूर्ण चन्द्रमाकी प्रभा-सी

दिखायी देती थीं तथा जलके भीतर उद्भासित होनेवाली सूर्यकी दुर्धर्ष प्रभाके समान दृष्टिगोचर होती थीं ॥ १४-१५ ॥

सा हि गौतमवाक्येन दुर्निरीक्ष्या बभूव ह।
त्रयाणामपि लोकानां यावद् रामस्य दर्शनम्।
शापस्यान्तमुपागम्य तेषां दर्शनमागता ॥ १६ ॥

गौतमके शापवश श्रीरामचन्द्रजीका दर्शन होनेसे पहले तीनों लोकोंके किसी भी प्राणीके लिये उनका दर्शन होना कठिन था। श्रीरामका दर्शन मिल जानेसे जब उनके शापका अन्त हो गया, तब वे उन सबको दिखायी देने लगीं ॥ १६ ॥

राघवौ तु तदा तस्याः पादौ जगृहतुर्मुदा।
स्मरन्ती गौतमवचः प्रतिजग्राह सा हि तौ ॥ १७ ॥
पाद्यमर्घ्यं तथाऽऽतिथ्यं चकार सुसमाहिता।
प्रतिजग्राह काकुत्स्थो विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १८ ॥

उस समय श्रीराम और लक्ष्मणने बड़ी प्रसन्नताके साथ अहल्याके दोनों चरणोंका स्पर्श किया। महर्षि गौतमके वचनोंका स्मरण करके अहल्याने बड़ी सावधानीके साथ उन दोनों भाइयोंको आदरणीय अतिथिके रूपमें अपनाया और पाद्य, अर्घ्य आदि अर्पित करके उनका आतिथ्य-सत्कार किया। श्रीरामचन्द्रजीने शास्त्रीय विधिके अनुसार अहल्याका वह आतिथ्य ग्रहण किया ॥ १७-१८ ॥

पुष्पवृष्टिर्महत्यासीद् देवदुन्दुभिनिःस्वनैः।
गन्धर्वाप्सरसां चैव महानासीत् समुत्सवः ॥ १९ ॥

उस समय देवताओंकी दुन्दुभि बज उठी। साथ ही आकाशसे फूलोंकी बड़ी भारी वर्षा होने लगी। गन्धर्वों और अप्सराओंद्वारा महान् उत्सव मनाया जाने लगा ॥ १९ ॥

साधु साध्विति देवास्तामहल्यां समपूजयन्।
तपोबलविशुद्धाङ्गीं गौतमस्य वशानुगाम् ॥ २० ॥

महर्षि गौतमके अधीन रहनेवाली अहल्या अपनी तपःशक्तिसे विशुद्ध स्वरूपको प्राप्त हुई—यह देख सम्पूर्ण देवता उन्हें साधुवाद देते हुए उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ २० ॥

गौतमोऽपि महातेजा अहल्यासहितः सुखी।
रामं सम्पूज्य विधिवत् तपस्तेपे महातपाः ॥ २१ ॥

महातेजस्वी महातपस्वी गौतम भी अहल्याको अपने साथ पाकर सुखी हो गये। उन्होंने श्रीरामकी विधिवत् पूजा करके तपस्या आरम्भ की ॥ २१ ॥

रामोऽपि परमां पूजां गौतमस्य महामुनेः।
सकाशाद् विधिवत् प्राप्य जगाम मिथिलां ततः ॥ २२ ॥

महामुनि गौतमकी ओरसे विधिपूर्वक उत्तम पूजा—आदर-सत्कार पाकर श्रीराम भी मुनिवर विश्वामित्रजीके साथ मिथिलापुरीको चले गये ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उनचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

पञ्चाशः सर्गः

श्रीराम आदिका मिथिला-गमन, राजा जनकद्वारा विश्वामित्रका सत्कार तथा उनका श्रीराम और लक्ष्मणके विषयमें जिज्ञासा करना एवं परिचय पाना

ततः प्रागुत्तरां गत्वा रामः सौमित्रिणा सह।
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य यज्ञवाटमुपागमत् ॥ १ ॥

तदनन्तर लक्ष्मणसहित श्रीराम विश्वामित्रजीको आगे करके महर्षि गौतमके आश्रमसे ईशानकोणकी ओर चले और मिथिलानरेशके यज्ञमण्डपमें जा पहुँचे ॥ १ ॥

रामस्तु मुनिशार्दूलमुवाच सहलक्ष्मणः।
साध्वी यज्ञसमृद्धिर्हि जनकस्य महात्मनः ॥ २ ॥
बहूनीह सहस्राणि नानादेशनिवासिनाम्।
ब्राह्मणानां महाभाग वेदाध्ययनशालिनाम् ॥ ३ ॥

वहाँ लक्ष्मणसहित श्रीरामने मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रसे कहा—'महाभाग! महात्मा जनकके यज्ञका समारोह तो बड़ा सुन्दर दिखायी दे रहा है। यहाँ नाना देशोंके निवासी सहस्रों ब्राह्मण जुटे हुए हैं, जो वेदोंके स्वाध्यायसे शोभा पा रहे हैं ॥ २-३ ॥

ऋषिवाटाश्च दृश्यन्ते शकटीशतसंकुलाः।
देशो विधीयतां ब्रह्मन् यत्र वत्स्यामहे वयम् ॥ ४ ॥

'ऋषियोंके बाड़े सैकड़ों छकड़ोंसे भरे दिखायी दे रहे हैं। ब्रह्मन्! अब ऐसा कोई स्थान निश्चित कीजिये, जहाँ हमलोग भी ठहरें' ॥ ४ ॥

रामस्य वचनं श्रुत्वा विश्वामित्रो महामुनिः।
निवासमकरोद् देशे विविक्ते सलिलान्विते ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका यह वचन सुनकर महामुनि विश्वामित्रने एकान्त स्थानमें डेरा डाला, जहाँ पानीका सुभीता था ॥ ५ ॥

विश्वामित्रमनुप्राप्तं श्रुत्वा नृपवरस्तदा।
शतानन्दं पुरस्कृत्य पुरोहितमनिन्दितः ॥ ६ ॥

अनिन्द्य (उत्तम) आचार-विचारवाले नृपश्रेष्ठ महाराज जनकने जब सुना कि विश्वामित्रजी पधारे हैं, तब वे तुरंत अपने पुरोहित शतानन्दको आगे करके [अर्घ्य लिये

विनीतभावसे उनका स्वागत करनेको चल दिये] ॥ ६ ॥

ऋत्विजोऽपि महात्मानस्त्वर्घ्यमादाय सत्वरम्।
प्रत्युज्जगाम सहसा विनयेन समन्वितः॥ ७॥
विश्वामित्राय धर्मेण ददौ धर्मपुरस्कृतम्।

उनके साथ अर्घ्य लिये महात्मा ऋत्विज् भी शीघ्रतापूर्वक चले। राजाने विनीतभावसे सहसा आगे बढ़कर महर्षिकी अगवानी की तथा धर्मशास्त्रके अनुसार विश्वामित्रको धर्मयुक्त अर्घ्य समर्पित किया॥ ७½॥

प्रतिगृह्य तु तां पूजां जनकस्य महात्मनः॥ ८॥
पप्रच्छ कुशलं राज्ञो यज्ञस्य च निरामयम्।

महात्मा राजा जनककी वह पूजा ग्रहण करके मुनिने उनका कुशल-समाचार पूछा तथा उनके यज्ञकी निर्बाध स्थितिके विषयमें जिज्ञासा की॥ ८½॥

स तांश्चाथ मुनीन् पृष्ट्वा सोपाध्यायपुरोधसः॥ ९॥
यथार्हमृषिभिः सर्वैः समागच्छत् प्रहृष्टवत्।

राजाके साथ जो मुनि, उपाध्याय और पुरोहित आये थे, उनसे भी कुशल-मङ्गल पूछकर विश्वामित्रजी बड़े हर्षके साथ उन सभी महर्षियोंसे यथायोग्य मिले॥ ९½॥

अथ राजा मुनिश्रेष्ठं कृताञ्जलिरभाषत॥ १०॥
आसने भगवानास्तां सहैभिर्मुनिपुङ्गवैः।

इसके बाद राजा जनकने मुनिवर विश्वामित्रसे हाथ जोड़कर कहा—'भगवन्! आप इन मुनीश्वरोंके साथ आसनपर विराजमान होइये'॥ १०½॥

जनकस्य वचः श्रुत्वा निषसाद महामुनिः॥ ११॥
पुरोधा ऋत्विजश्चैव राजा च सहमन्त्रिभिः।
आसनेषु यथान्यायमुपविष्टाः समन्ततः॥ १२॥

यह बात सुनकर महामुनि विश्वामित्र आसनपर बैठ गये। फिर पुरोहित, ऋत्विज् तथा मन्त्रियोंसहित राजा भी सब ओर यथायोग्य आसनोंपर विराजमान हो गये॥ ११-१२॥

दृष्ट्वा स नृपतिस्तत्र विश्वामित्रमथाब्रवीत्।
अद्य यज्ञसमृद्धिर्मे सफला दैवतैः कृता॥ १३॥

तत्पश्चात् राजा जनकने विश्वामित्रजीकी ओर देखकर कहा—'भगवन्! आज देवताओंने मेरे यज्ञकी आयोजना सफल कर दी॥ १३॥

अद्य यज्ञफलं प्राप्तं भगवद्दर्शनान्मया।
धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य मे मुनिपुङ्गवः॥ १४॥
यज्ञोपसदनं ब्रह्मन् प्राप्तोऽसि मुनिभिः सह।

'आज पूज्य चरणोंके दर्शनसे मैंने यज्ञका फल पा लिया। ब्रह्मन्! आप मुनियोंमें श्रेष्ठ हैं। आपने इतने महर्षियोंके साथ मेरे यज्ञमण्डपमें पदार्पण किया, इससे मैं धन्य हो गया। यह मेरे ऊपर आपका बहुत बड़ा अनुग्रह है॥ १४½॥

द्वादशाहं तु ब्रह्मर्षे दीक्षामाहुर्मनीषिणः॥ १५॥
ततो भागार्थिनो देवान् द्रष्टुमर्हसि कौशिक।

'ब्रह्मर्षे! मनीषी ऋत्विजोंका कहना है कि 'मेरी यज्ञदीक्षाके बारह दिन ही शेष रह गये हैं। अतः कुशिकनन्दन! बारह दिनोंके बाद यहाँ भाग ग्रहण करनेके लिये आये हुए देवताओंका दर्शन कीजियेगा'॥ १५½॥

इत्युक्त्वा मुनिशार्दूलं प्रहृष्टवदनस्तदा॥ १६॥
पुनस्तं परिपप्रच्छ प्राञ्जलिः प्रयतो नृपः।

मुनिवर विश्वामित्रसे ऐसा कहकर उस समय प्रसन्नमुख हुए जितेन्द्रिय राजा जनकने पुनः उनसे हाथ जोड़कर पूछा—॥ १६½॥

इमौ कुमारौ भद्रं ते देवतुल्यपराक्रमौ॥ १७॥
गजतुल्यगती वीरौ शार्दूलवृषभोपमौ।
पद्मपत्रविशालाक्षौ खड्गतूणीधनुर्धरौ।
अश्विनाविव रूपेण समुपस्थितयौवनौ॥ १८॥
यदृच्छयेव गां प्राप्तौ देवलोकादिवामरौ।
कथं पद्भ्यामिह प्राप्तौ किमर्थं कस्य वा मुने॥ १९॥
वरायुधधरौ वीरौ कस्य पुत्रौ महामुने।
भूषयन्ताविमं देशं चन्द्रसूर्याविवाम्बरम्॥ २०॥
परस्परस्य सदृशौ प्रमाणेङ्गितचेष्टितैः।
काकपक्षधरौ वीरौ श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः॥ २१॥

'महामुने! आपका कल्याण हो। देवताके समान पराक्रमी और सुन्दर आयुध धारण करनेवाले ये दोनों वीर राजकुमार जो हाथीके समान मन्दगतिसे चलते हैं, सिंह और साँड़के समान जान पड़ते हैं, प्रफुल्ल कमलदलके समान सुशोभित हैं, तलवार, तरकस और धनुष धारण किये हुए हैं, अपने मनोहर रूपसे अश्विनीकुमारोंको भी लज्जित कर रहे हैं, जिन्होंने अभी-अभी यौवनावस्थामें प्रवेश किया है तथा जो स्वेच्छानुसार देवलोकसे उतरकर पृथ्वीपर आये हुए दो देवताओंके समान जान पड़ते हैं, किसके पुत्र हैं? और यहाँ कैसे, किसलिये अथवा किस उद्देश्यसे पैदल ही पधारे हैं? जैसे चन्द्रमा और सूर्य आकाशकी शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार ये अपनी उपस्थितिसे इस देशको विभूषित कर रहे हैं। ये दोनों एक-दूसरेसे बहुत मिलते-जुलते हैं। इनके शरीरकी ऊँचाई, संकेत और चेष्टाएँ प्रायः एक-सी हैं। मैं इन दोनों काकपक्षधारी वीरोंका परिचय एवं वृत्तान्त यथार्थ-रूपसे सुनना चाहता हूँ'॥ १७—२१॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा जनकस्य महात्मनः।
न्यवेदयदमेयात्मा पुत्रौ दशरथस्य तौ॥ २२॥

महात्मा जनकका यह प्रश्न सुनकर अमित आत्मबलसे सम्पन्न विश्वामित्रजीने कहा—'राजन्! ये दोनों महाराज दशरथके पुत्र हैं'॥ २२॥

सिद्धाश्रमनिवासं च राक्षसानां वधं तथा।
तत्रागमनमव्यग्रं विशालायाश्च दर्शनम्॥ २३॥

अहल्यादर्शनं चैव गौतमेन समागमम्।
महाधनुषि जिज्ञासां कर्तुमागमनं तथा॥ २४॥

इसके बाद उन्होंने उन दोनोंके सिद्धाश्रममें निवास, राक्षसोंके वध, बिना किसी घबराहटके मिथिलातक आगमन, विशालापुरीके दर्शन, अहल्याके साक्षात्कार तथा महर्षि गौतमके साथ समागम आदिका विस्तारपूर्वक वर्णन किया। फिर अन्तमें यह भी बताया कि 'ये आपके यहाँ रखे हुए महान् धनुषके सम्बन्धमें कुछ जाननेकी इच्छासे यहाँतक आये हैं'॥

एतत् सर्वं महातेजा जनकाय महात्मने।
निवेद्य विररामाथ विश्वामित्रो महामुनिः॥ २५॥

महात्मा राजा जनकसे ये सब बातें निवेदन करके महातेजस्वी महामुनि विश्वामित्र चुप हो गये॥ २५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे पञ्चाशः सर्गः॥ ५०॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें पचासवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ५०॥

एकपञ्चाशः सर्गः

शतानन्दके पूछनेपर विश्वामित्रका उन्हें श्रीरामके द्वारा अहल्याके उद्धारका समाचार बताना तथा शतानन्दद्वारा श्रीरामका अभिनन्दन करते हुए विश्वामित्रजीके पूर्वचरित्रका वर्णन

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा विश्वामित्रस्य धीमतः।
हृष्टरोमा महातेजाः शतानन्दो महातपाः॥ १॥

परम बुद्धिमान् विश्वामित्रजीकी वह बात सुनकर महातेजस्वी महातपस्वी शतानन्दजीके शरीरमें रोमाञ्च हो आया॥ १॥

गौतमस्य सुतो ज्येष्ठस्तपसा द्योतितप्रभः।
रामसंदर्शनादेव परं विस्मयमागतः॥ २॥

वे गौतमके ज्येष्ठ पुत्र थे। तपस्यासे उनकी कान्ति प्रकाशित हो रही थी। वे श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनमात्रसे ही बड़े विस्मित हुए॥ २॥

एतौ निषण्णौ सम्प्रेक्ष्य शतानन्दो नृपात्मजौ।
सुखासीनौ मुनिश्रेष्ठं विश्वामित्रमथाब्रवीत्॥ ३॥

उन दोनों राजकुमारोंको सुखपूर्वक बैठे देख शतानन्दने मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रजीसे पूछा—॥ ३॥

अपि ते मुनिशार्दूल मम माता यशस्विनी।
दर्शिता राजपुत्राय तपोदीर्घमुपागता॥ ४॥

'मुनिप्रवर! मेरी यशस्विनी माता अहल्या बहुत दिनोंसे तपस्या कर रही थीं। क्या आपने राजकुमार श्रीरामको उनका दर्शन कराया?॥ ४॥

अपि रामे महातेजा मम माता यशस्विनी।
वन्यैरुपाहरत् पूजां पूजार्हे सर्वदेहिनाम्॥ ५॥

'क्या मेरी महातेजस्विनी एवं यशस्विनी माता अहल्याने वनमें होनेवाले फल-फूल आदिसे समस्त देहधारियोंके लिये पूजनीय श्रीरामचन्द्रजीका पूजन (आदर-सत्कार) किया था?॥ ५॥

अपि रामाय कथितं यद् वृत्तं तत् पुरातनम्।
मम मातुर्महातेजो देवेन दुरनुष्ठितम्॥ ६॥

'महातेजस्वी मुने! क्या आपने श्रीरामसे वह प्राचीन वृत्तान्त कहा था, जो मेरी माताके प्रति देवराज इन्द्रद्वारा किये गये छल-कपट एवं दुराचारद्वारा घटित हुआ था?॥ ६॥

अपि कौशिक भद्रं ते गुरुणा मम संगता।
मम माता मुनिश्रेष्ठ रामसंदर्शनादितः॥ ७॥

'मुनिश्रेष्ठ कौशिक! आपका कल्याण हो। क्या श्रीरामचन्द्रजीके दर्शन आदिके प्रभावसे मेरी माता शापमुक्त हो पिताजीसे जा मिलीं?॥ ७॥

अपि मे गुरुणा रामः पूजितः कुशिकात्मज।
इहागतो महातेजाः पूजां प्राप्य महात्मनः॥ ८॥

'कुशिकनन्दन! क्या मेरे पिताने श्रीरामका पूजन किया था? क्या उन महात्माकी पूजा ग्रहण करके ये महातेजस्वी श्रीराम यहाँ पधारे हैं?॥ ८॥

अपि शान्तेन मनसा गुरुर्मे कुशिकात्मज।
इहागतेन रामेण पूजितेनाभिवादितः॥ ९॥

'विश्वामित्रजी! क्या यहाँ आकर मेरे माता-पिताद्वारा सम्मानित हुए श्रीरामने मेरे पूज्य पिताका शान्त चित्तसे अभिवादन किया था?'॥ ९॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य विश्वामित्रो महामुनिः।
प्रत्युवाच शतानन्दं वाक्यज्ञो वाक्यकोविदम्॥ १०॥

शतानन्दका यह प्रश्न सुनकर बोलनेकी कला जाननेवाले महामुनि विश्वामित्रने बातचीत करनेमें कुशल शतानन्दको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १०॥

नातिक्रान्तं मुनिश्रेष्ठ यत्कर्तव्यं कृतं मया।
संगता मुनिना पत्नी भार्गवेणेव रेणुका॥ ११॥

'मुनिश्रेष्ठ! मैंने कुछ उठा नहीं रखा है। मेरा जो कर्तव्य था, उसे मैंने पूरा किया। महर्षि गौतमसे उनकी पत्नी अहल्या उसी प्रकार जा मिली हैं, जैसे भृगुवंशी जमदग्निसे रेणुका मिली हैं'॥ ११॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य विश्वामित्रस्य धीमतः।
शतानन्दो महातेजा रामं वचनमब्रवीत्॥ १२॥

बुद्धिमान् विश्वामित्रकी यह बात सुनकर महातेजस्वी शतानन्दने श्रीरामचन्द्रजीसे यह बात कही—॥ १२॥

स्वागतं ते नरश्रेष्ठ दिष्ट्या प्राप्तोऽसि राघव।
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य महर्षिमपराजितम्॥ १३॥

'नरश्रेष्ठ! आपका स्वागत है। रघुनन्दन! मेरा अहोभाग्य जो आपने किसीसे पराजित न होनेवाले महर्षि विश्वामित्रको आगे करके यहाँतक पधारनेका कष्ट उठाया॥ १३॥

अचिन्त्यकर्मा तपसा ब्रह्मर्षिरमितप्रभः।
विश्वामित्रो महातेजा वेद्म्येनं परमां गतिम्॥ १४॥

'महर्षि विश्वामित्रके कर्म अचिन्त्य हैं। ये तपस्यासे ब्रह्मर्षिपदको प्राप्त हुए हैं। इनकी कान्ति असीम है और ये महातेजस्वी हैं। मैं इनको जानता हूँ। ये जगत्‌के परम आश्रय (हितैषी) हैं॥ १४॥

नास्ति धन्यतरो राम त्वत्तोऽन्यो भुवि कश्चन।
गोप्ता कुशिकपुत्रस्ते येन तप्तं महत्तपः॥ १५॥

'श्रीराम! इस पृथ्वीपर आपसे बढ़कर धन्यातिधन्य पुरुष दूसरा कोई नहीं है; क्योंकि कुशिकनन्दन विश्वामित्र आपके रक्षक हैं, जिन्होंने बड़ी भारी तपस्या की है॥ १५॥

श्रूयतां चाभिधास्यामि कौशिकस्य महात्मनः।
यथाबलं यथातत्त्वं तन्मे निगदतः शृणु॥ १६॥

'मैं महात्मा कौशिकके बल और स्वरूपका यथार्थ वर्णन करता हूँ। आप ध्यान देकर मुझसे यह सब सुनिये॥ १६॥

राजाऽऽसीदेष धर्मात्मा दीर्घकालमरिंदमः।
धर्मज्ञः कृतविद्यश्च प्रजानां च हिते रतः॥ १७॥

'ये विश्वामित्र पहले एक धर्मात्मा राजा थे। इन्होंने शत्रुओंके दमनपूर्वक दीर्घकालतक राज्य किया था। ये धर्मज्ञ और विद्वान् होनेके साथ ही प्रजावर्गके हित-साधनमें तत्पर रहते थे॥ १७॥

प्रजापतिसुतस्त्वासीत् कुशो नाम महीपतिः।
कुशस्य पुत्रो बलवान् कुशनाभः सुधार्मिकः॥ १८॥

'प्राचीनकालमें कुश नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं। वे प्रजापतिके पुत्र थे। कुशके बलवान् पुत्रका नाम कुशनाभ हुआ। वह बड़ा ही धर्मात्मा था॥ १८॥

कुशनाभसुतस्त्वासीद् गाधिरित्येव विश्रुतः।
गाधेः पुत्रो महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः॥ १९॥

'कुशनाभके पुत्र गाधि नामसे विख्यात थे। उन्हीं गाधिके महातेजस्वी पुत्र ये महामुनि विश्वामित्र हैं॥ १९॥

विश्वामित्रो महातेजाः पालयामास मेदिनीम्।
बहुवर्षसहस्राणि राजा राज्यमकारयत्॥ २०॥

'महातेजस्वी राजा विश्वामित्रने कई हजार वर्षोंतक इस पृथ्वीका पालन तथा राज्यका शासन किया॥ २०॥

कदाचित् तु महातेजा योजयित्वा वरूथिनीम्।
अक्षौहिणीपरिवृतः परिचक्राम मेदिनीम्॥ २१॥

'एक समयकी बात है महातेजस्वी राजा विश्वामित्र सेना एकत्र करके एक अक्षौहिणी सेनाके साथ पृथ्वीपर विचरने लगे॥ २१॥

नगराणि च राष्ट्राणि सरितश्च महागिरीन्।
आश्रमान् क्रमशो राजा विचरन्नाजगाम ह॥ २२॥
वसिष्ठस्याश्रमपदं नानापुष्पलताद्रुमम्।
नानामृगगणाकीर्णं सिद्धचारणसेवितम्॥ २३॥

'वे अनेकानेक नगरों, राष्ट्रों, नदियों, बड़े-बड़े पर्वतों और आश्रमोंमें क्रमशः विचरते हुए महर्षि वसिष्ठके आश्रमपर आ पहुँचे, जो नाना प्रकारके फूलों, लताओं और वृक्षोंसे शोभा पा रहा था। नाना प्रकारके मृग (वन्यपशु) वहाँ सब ओर फैले हुए थे तथा सिद्ध और चारण उस आश्रममें निवास करते थे॥

देवदानवगन्धर्वैः किंनरैरुपशोभितम्।
प्रशान्तहरिणाकीर्णं द्विजसङ्घनिषेवितम्॥ २४॥
ब्रह्मर्षिगणसंकीर्णं देवर्षिगणसेवितम्।

'देवता, दानव, गन्धर्व और किंनर उसकी शोभा बढ़ाते थे। शान्त मृग वहाँ भरे रहते थे। बहुत-से ब्राह्मणों, ब्रह्मर्षियों और देवर्षियोंके समुदाय उसका सेवन करते थे॥

तपश्चरणसंसिद्धैरग्निकल्पैर्महात्मभिः॥ २५॥
सततं संकुलं श्रीमद्ब्रह्मकल्पैर्महात्मभिः।
अब्भक्षैर्वायुभक्षैश्च शीर्णपर्णाशनैस्तथा॥ २६॥
फलमूलाशनैर्दान्तैर्जितदोषैर्जितेन्द्रियैः।
ऋषिभिर्वालखिल्यैश्च जपहोमपरायणैः॥ २७॥
अन्यैर्वैखानसैश्चैव समन्तादुपशोभितम्।
वसिष्ठस्याश्रमपदं ब्रह्मलोकमिवापरम्।
ददर्श जयतां श्रेष्ठो विश्वामित्रो महाबलः॥ २८॥

'तपस्यासे सिद्ध हुए अग्निके समान तेजस्वी महात्मा तथा ब्रह्माके समान महामहिम महात्मा सदा उस आश्रममें भरे रहते थे। उनमेंसे कोई जल पीकर रहता था तो कोई हवा पीकर। कितने ही महात्मा फल-मूल खाकर अथवा सूखे पत्ते चबाकर रहते थे। राग आदि दोषोंको जीतकर मन और इन्द्रियोंपर काबू रखनेवाले बहुत-से ऋषि जप-होममें लगे रहते थे। वालखिल्य मुनिगण तथा अन्यान्य वैखानस महात्मा सब ओरसे उस आश्रमकी शोभा बढ़ाते थे। इन सब विशेषताओंके कारण महर्षि वसिष्ठका वह आश्रम दूसरे ब्रह्मलोकके समान जान पड़ता था। विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ महाबली विश्वामित्रने उसका दर्शन किया'॥ २५—२८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकपञ्चाशः सर्गः॥ ५१॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें इक्यावनवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ५१॥

—★—

द्विपञ्चाशः सर्गः

महर्षि वसिष्ठद्वारा विश्वामित्रका सत्कार और कामधेनुको अभीष्ट वस्तुओंकी सृष्टि करनेका आदेश

तं दृष्ट्वा परमप्रीतो विश्वामित्रो महाबलः।
प्रणतो विनयाद् वीरो वसिष्ठं जपतां वरम्॥ १॥

'जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ वसिष्ठका दर्शन करके महाबली वीर विश्वामित्र बड़े प्रसन्न हुए और विनयपूर्वक उन्होंने उनके चरणोंमें प्रणाम किया॥ १॥

स्वागतं तव चेत्युक्तो वसिष्ठेन महात्मना।
आसनं चास्य भगवान् वसिष्ठो व्यादिदेश ह॥ २॥

'तब महात्मा वसिष्ठने कहा—'राजन्! तुम्हारा स्वागत है।' ऐसा कहकर भगवान् वसिष्ठने उन्हें बैठनेके लिये आसन दिया॥ २॥

उपविष्टाय च तदा विश्वामित्राय धीमते।
यथान्यायं मुनिवरः फलमूलमुपाहरत्॥ ३॥

'जब बुद्धिमान् विश्वामित्र आसनपर विराजमान हुए, तब मुनिवर वसिष्ठने उन्हें विधिपूर्वक फल-मूलका उपहार अर्पित किया॥ ३॥

प्रतिगृह्य तु तां पूजां वसिष्ठाद् राजसत्तमः।
तपोऽग्निहोत्रशिष्येषु कुशलं पर्यपृच्छत॥ ४॥
विश्वामित्रो महातेजा वनस्पतिगणे तदा।
सर्वत्र कुशलं प्राह वसिष्ठो राजसत्तमम्॥ ५॥

'वसिष्ठजीसे वह आतिथ्य-सत्कार ग्रहण करके राजशिरोमणि महातेजस्वी विश्वामित्रने उनके तप, अग्निहोत्र, शिष्यवर्ग और लता-वृक्ष आदिका कुशल-समाचार पूछा। फिर वसिष्ठजीने उन नृपश्रेष्ठसे सबके सकुशल होनेकी बात बतायी॥ ४-५॥

सुखोपविष्टं राजानं विश्वामित्रं महातपाः।
पप्रच्छ जपतां श्रेष्ठो वसिष्ठो ब्रह्मणः सुतः॥ ६॥

'फिर जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ ब्रह्मकुमार महातपस्वी वसिष्ठने वहाँ सुखपूर्वक बैठे हुए राजा विश्वामित्रसे इस प्रकार पूछा—॥ ६॥

कच्चित्ते कुशलं राजन् कच्चिद् धर्मेण रञ्जयन्।
प्रजाः पालयसे राजन् राजवृत्तेन धार्मिक॥ ७॥

''राजन्! तुम सकुशल तो हो न? धर्मात्मा नरेश! क्या तुम धर्मपूर्वक प्रजाको प्रसन्न रखते हुए राजोचित रीति-नीतिसे प्रजावर्गका पालन करते हो?॥ ७॥

कच्चित्ते सम्भृता भृत्याः कच्चित् तिष्ठन्ति शासने।
कच्चित्ते विजिताः सर्वे रिपवो रिपुसूदन॥ ८॥

''शत्रुसूदन! क्या तुमने अपने भृत्योंका अच्छी तरह भरण-पोषण किया है? क्या वे तुम्हारी आज्ञाके अधीन रहते हैं? क्या तुमने समस्त शत्रुओंपर विजय पा ली है?॥ ८॥

कच्चिद् बलेषु कोशेषु मित्रेषु च परंतप।
कुशलं ते नरव्याघ्र पुत्रपौत्रे तथानघ॥ ९॥

''शत्रुओंको संताप देनेवाले पुरुषसिंह निष्पाप नरेश! क्या तुम्हारी सेना, कोश, मित्रवर्ग तथा पुत्र-पौत्र आदि सब सकुशल हैं?'॥ ९॥

सर्वत्र कुशलं राजा वसिष्ठं प्रत्युदाहरत्।
विश्वामित्रो महातेजा वसिष्ठं विनयान्वितम्॥ १०॥

'तब महातेजस्वी राजा विश्वामित्रने विनयशील महर्षि वसिष्ठको उत्तर दिया—'हाँ भगवन्! मेरे यहाँ सर्वत्र कुशल है?'॥ १०॥

कृत्वा तौ सुचिरं कालं धर्मिष्ठौ ताः कथास्तदा।
मुदा परमया युक्तौ प्रीयेतां तौ परस्परम्॥ ११॥

'तत्पश्चात् वे दोनों धर्मात्मा पुरुष बड़ी प्रसन्नताके साथ बहुत देरतक परस्पर वार्तालाप करते रहे। उस समय एकका दूसरेके साथ बड़ा प्रेम हो गया॥ ११॥

ततो वसिष्ठो भगवान् कथान्ते रघुनन्दन।
विश्वामित्रमिदं वाक्यमुवाच प्रहसन्निव॥ १२॥

'रघुनन्दन! बातचीत करनेके पश्चात् भगवान् वसिष्ठने विश्वामित्रसे हँसते हुए-से इस प्रकार कहा—॥ १२॥

आतिथ्यं कर्तुमिच्छामि बलस्यास्य महाबल।
तव चैवाप्रमेयस्य यथार्हं सम्प्रतीच्छ मे॥ १३॥

''महाबली नरेश! तुम्हारा प्रभाव असीम है। मैं तुम्हारा और तुम्हारी इस सेनाका यथायोग्य आतिथ्य-सत्कार करना चाहता हूँ। तुम मेरे इस अनुरोधको स्वीकार करो॥ १३॥

सत्क्रियां हि भवानेतां प्रतीच्छतु मया कृताम्।
राजंस्त्वमतिथिश्रेष्ठः पूजनीयः प्रयत्नतः॥ १४॥

''राजन्! तुम अतिथियोंमें श्रेष्ठ हो, इसलिये यत्नपूर्वक तुम्हारा सत्कार करना मेरा कर्तव्य है। अतः मेरे द्वारा किये गये इस सत्कारको तुम ग्रहण करो'॥ १४॥

एवमुक्तो वसिष्ठेन विश्वामित्रो महामतिः।
कृतमित्यब्रवीद् राजा पूजावाक्येन मे त्वया॥ १५॥

'वसिष्ठके ऐसा कहनेपर महाबुद्धिमान् राजा विश्वामित्रने कहा—'मुने! आपके सत्कारपूर्ण वचनोंसे ही मेरा पूर्ण सत्कार हो गया॥ १५॥

फलमूलेन भगवन् विद्यते यत् तवाश्रमे।
पाद्येनाचमनीयेन भगवद्दर्शनेन च॥ १६॥

''भगवन्! आपके आश्रमपर जो विद्यमान हैं, उन फल-मूल, पाद्य और आचमनीय आदि वस्तुओंसे मेरा भलीभाँति आदर-सत्कार हुआ है। सबसे बढ़कर जो

आपका दर्शन हुआ, इसीसे मेरी पूजा हो गयी ॥ १६ ॥

सर्वथा च महाप्राज्ञ पूजार्हेण सुपूजितः ।
नमस्तेऽस्तु गमिष्यामि मैत्रेणेक्षस्व चक्षुषा ॥ १७ ॥

''महाज्ञानी महर्षे! आप सर्वथा मेरे पूजनीय हैं तो भी आपने मेरा भलीभाँति पूजन किया। आपको नमस्कार है। अब मैं यहाँसे जाऊँगा। आप मैत्रीपूर्ण दृष्टिसे मेरी ओर देखिये' ॥ १७ ॥

एवं ब्रुवन्तं राजानं वसिष्ठः पुनरेव हि ।
न्यमन्त्रयत धर्मात्मा पुनः पुनरुदारधीः ॥ १८ ॥

'ऐसा कहते हुए राजा विश्वामित्रसे उदारचेता धर्मात्मा वसिष्ठने निमन्त्रण स्वीकार करनेके लिये बारम्बार आग्रह किया ॥ १८ ॥

बाढमित्येव गाधेयो वसिष्ठं प्रत्युवाच ह ।
यथाप्रियं भगवतस्तथास्तु मुनिपुङ्गव ॥ १९ ॥

'तब गाधिनन्दन विश्वामित्रने उन्हें उत्तर देते हुए कहा—'बहुत अच्छा। मुझे आपकी आज्ञा स्वीकार है। मुनिप्रवर! आप मेरे पूज्य हैं। आपकी जैसी रुचि हो—आपको जो प्रिय लगे, वही हो' ॥ १९ ॥

एवमुक्तस्तथा तेन वसिष्ठो जपतां वरः ।
आजुहाव ततः प्रीतः कल्माषीं धूतकल्मषाम् ॥ २० ॥

'राजाके ऐसा कहनेपर जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ मुनिवर वसिष्ठ बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने अपनी उस चितकबरी होम-धेनुको बुलाया, जिसके पाप (अथवा मैल) धुल गये थे(वह कामधेनु थी) ॥ २० ॥

एह्येहि शबले क्षिप्रं शृणु चापि वचो मम ।
सबलस्यास्य राजर्षेः कर्तुं व्यवसितोऽस्म्यहम् ।
भोजनेन महार्हेण सत्कारं संविधत्स्व मे ॥ २१ ॥

'(उसे बुलाकर ऋषिने कहा—) 'शबले! शीघ्र आओ, आओ और मेरी यह बात सुनो—मैंने सेनासहित इन राजर्षिका महाराजाओंके योग्य उत्तम भोजन आदिके द्वारा आतिथ्य-सत्कार करनेका निश्चय किया है। तुम मेरे इस मनोरथको सफल करो ॥ २१ ॥

यस्य यस्य यथाकामं षड्रसेष्वभिपूजितम् ।
तत् सर्वं कामधुग् दिव्ये अभिवर्ष कृते मम ॥ २२ ॥

''षड्रस भोजनोंमेंसे जिसको जो-जो पसंद हो, उसके लिये वह सब प्रस्तुत कर दो। दिव्य कामधेनो! आज मेरे कहनेसे इन अतिथियोंके लिये अभीष्ट वस्तुओंकी वर्षा करो ॥ २२ ॥

रसेनान्नेन पानेन लेह्यचोष्येण संयुतम् ।
अन्नानां निचयं सर्वं सृजस्व शबले त्वर ॥ २३ ॥

''शबले! सरस पदार्थ, अन्न, पान, लेह्य (चटनी आदि) और चोष्य (चूसनेकी वस्तु) से युक्त भाँति-भाँतिके अन्नोंकी ढेरी लगा दो। सभी आवश्यक वस्तुओंकी सृष्टि कर दो। शीघ्रता करो—विलम्ब न होने पावे'' ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे द्विपञ्चाशः सर्गः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें बावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

—★—

त्रिपञ्चाशः सर्गः

कामधेनुकी सहायतासे उत्तम अन्न-पानद्वारा सेनासहित तृप्त हुए विश्वामित्रका वसिष्ठसे उनकी कामधेनुको माँगना और उनका देनेसे अस्वीकार करना

एवमुक्ता वसिष्ठेन शबला शत्रुसूदन ।
विदधे कामधुक् कामान् यस्य यस्येप्सितं यथा ॥ १ ॥

'शत्रुसूदन! महर्षि वसिष्ठके ऐसा कहनेपर चितकबरे रंगकी उस कामधेनुने जिसकी जैसी इच्छा थी, उसके लिये वैसी ही सामग्री जुटा दी ॥ १ ॥

इक्षून् मधूंस्तथा लाजान् मैरेयांश्च वरासवान् ।
पानानि च महार्हाणि भक्ष्यांश्चोच्चावचानपि ॥ २ ॥

'ईख, मधु, लावा, मैरेय, श्रेष्ठ आसव, पानक रस आदि नाना प्रकारके बहुमूल्य भक्ष्य-पदार्थ प्रस्तुत कर दिये ॥ २ ॥

उष्णाढ्यस्यौदनस्यात्र राशयः पर्वतोपमाः ।
मृष्टान्यन्नानि सूपांश्च दधिकुल्यास्तथैव च ॥ ३ ॥

'गरम-गरम भातके पर्वतके सदृश ढेर लग गये। मिष्टान्न (खीर) और दाल भी तैयार हो गयी। दूध, दही और घीकी तो नहरें बह चलीं ॥ ३ ॥

नानास्वादुरसानां च खाण्डवानां तथैव च ।
भोजनानि सुपूर्णानि गौडानि च सहस्रशः ॥ ४ ॥

'भाँति-भाँतिके सुस्वादु रस, खाण्डव तथा नाना प्रकारके भोजनोंसे भरी हुई चाँदीकी सहस्रों थालियाँ सज गयीं ॥ ४ ॥

सर्वमासीत् सुसंतुष्टं हृष्टपुष्टजनायुतम् ।
विश्वामित्रबलं राम वसिष्ठेन सुतर्पितम् ॥ ५ ॥

'श्रीराम! महर्षि वसिष्ठने विश्वामित्रजीकी सारी सेनाके लोगोंको भलीभाँति तृप्त किया। उस सेनामें बहुत-से हृष्ट-पुष्ट सैनिक थे। उन सबको वह दिव्य भोजन पाकर बड़ा संतोष हुआ ॥ ५ ॥

विश्वामित्रो हि राजर्षिर्हृष्टपुष्टस्तदाभवत् ।
सान्तःपुरवरो राजा सब्राह्मणपुरोहितः ॥ ६ ॥

'राजर्षि विश्वामित्र भी उस समय अन्तःपुरकी रानियों, ब्राह्मणों और पुरोहितोंके साथ बहुत ही हृष्ट-पुष्ट हो गये ॥ ६ ॥

सामात्यो मन्त्रिसहितः सभृत्यः पूजितस्तदा।
युक्तः परमहर्षेण वसिष्ठमिदमब्रवीत्॥ ७॥

'अमात्य, मन्त्री और भृत्योंसहित पूजित हो वे बहुत प्रसन्न हुए और वसिष्ठजीसे इस प्रकार बोले—॥ ७॥

पूजितोऽहं त्वया ब्रह्मन् पूजार्हेण सुसत्कृतः।
श्रूयतामभिधास्यामि वाक्यं वाक्यविशारद॥ ८॥

"ब्रह्मन्! आप स्वयं मेरे पूजनीय हैं तो भी आपने मेरा पूजन किया, भलीभाँति स्वागत-सत्कार किया। बातचीत करनेमें कुशल महर्षे! अब मैं एक बात कहता हूँ, उसे सुनिये॥ ८॥

गवां शतसहस्रेण दीयतां शबला मम।
रत्नं हि भगवन्नेतद् रत्नहारी च पार्थिवः॥ ९॥
तस्मान्मे शबलां देहि ममैषा धर्मतो द्विज।

"भगवन्! आप मुझसे एक लाख गौएँ लेकर यह चितकबरी गाय मुझे दे दीजिये; क्योंकि यह गौ रत्नरूप है और रत्न लेनेका अधिकारी राजा होता है। ब्रह्मन्! मेरे इस कथनपर ध्यान देकर मुझे यह शबला गौ दे दीजिये; क्योंकि यह धर्मतः मेरी ही वस्तु है'॥ ९½॥

एवमुक्तस्तु भगवान् वसिष्ठो मुनिपुङ्गवः॥ १०॥
विश्वामित्रेण धर्मात्मा प्रत्युवाच महीपतिम्।

'विश्वामित्रके ऐसा कहनेपर धर्मात्मा मुनिवर भगवान् वसिष्ठ राजाको उत्तर देते हुए बोले—॥ १०½॥

नाहं शतसहस्रेण नापि कोटिशतैर्गवाम्॥ ११॥
राजन् दास्यामि शबलां राशिभी रजतस्य वा।
न परित्यागमर्हेयं मत्सकाशादरिंदम॥ १२॥

"शत्रुओंका दमन करनेवाले नरेश्वर! मैं एक लाख या सौ करोड़ अथवा चाँदीके ढेर लेकर भी बदलेमें इस शबला गौको नहीं दूँगा। यह मेरे पाससे अलग होने योग्य नहीं है॥ १२॥

शाश्वती शबला मह्यं कीर्तिरात्मवतो यथा।
अस्यां हव्यं च कव्यं च प्राणयात्रा तथैव च॥ १३॥

"जैसे मनस्वी पुरुषकी अक्षय कीर्ति कभी उससे अलग नहीं रह सकती, उसी प्रकार यह सदा मेरे साथ सम्बन्ध रखनेवाली शबला गौ मुझसे पृथक् नहीं रह सकती। मेरा हव्य-कव्य और जीवन-निर्वाह इसीपर निर्भर है॥ १३॥

आयत्तमग्निहोत्रं च बलिर्होमस्तथैव च।
स्वाहाकारवषट्कारौ विद्याश्च विविधास्तथा॥ १४॥

"मेरे अग्निहोत्र, बलि, होम, स्वाहा, वषट्कार और भाँति-भाँतिकी विद्याएँ इस कामधेनुके ही अधीन हैं॥ १४॥

आयत्तमत्र राजर्षे सर्वमेतन्न संशयः।
सर्वस्वमेतत् सत्येन मम तुष्टिकरी तथा॥ १५॥
कारणैर्बहुभी राजन् न दास्ये शबलां तव।

"राजर्षे! मेरा यह सब कुछ इस गौके ही अधीन है, इसमें संशय नहीं है। मैं सच कहता हूँ—यह गौ ही मेरा सर्वस्व है और यही मुझे सब प्रकारसे संतुष्ट करनेवाली है। राजन्! बहुत-से ऐसे कारण हैं, जिनसे बाध्य होकर मैं यह शबला गौ आपको नहीं दे सकता'॥ १५½॥

वसिष्ठेनैवमुक्तस्तु विश्वामित्रोऽब्रवीत् तदा॥ १६॥
संरब्धतरमत्यर्थं वाक्यं वाक्यविशारदः।

'वसिष्ठजीके ऐसा कहनेपर बोलनेमें कुशल विश्वामित्र अत्यन्त क्रोधपूर्वक इस प्रकार बोले—॥ १६½॥

हैरण्यकक्षग्रैवेयान् सुवर्णाङ्कुशभूषितान्॥ १७॥
ददामि कुञ्जराणां ते सहस्राणि चतुर्दश।

'मुने! मैं आपको चौदह हजार ऐसे हाथी दे रहा हूँ, जिनके कसनेवाले रस्से, गलेके आभूषण और अङ्कुश भी सोनेके बने होंगे और उन सबसे वे हाथी विभूषित होंगे॥

हैरण्यानां रथानां च श्वेताश्वानां चतुर्युजाम्॥ १८॥
ददामि ते शतान्यष्टौ किंकिणीकविभूषितान्।
हयानां देशजातानां कुलजानां महौजसाम्।
सहस्रमेकं दश च ददामि तव सुव्रत॥ १९॥
नानावर्णविभक्तानां वयःस्थानां तथैव च।
ददाम्येकां गवां कोटिं शबला दीयतां मम॥ २०॥

"उत्तम व्रतका पालन करनेवाले मुनीश्वर! इनके सिवा मैं आठ सौ सुवर्णमय रथ प्रदान करूँगा; जिनमें शोभाके लिये सोनेके घुँघुरू लगे होंगे और हर एक रथमें चार-चार सफेद रङ्गके घोड़े जुते हुए होंगे तथा अच्छी जाति और उत्तम देशमें उत्पन्न महातेजस्वी ग्यारह हजार घोड़े भी आपकी सेवामें अर्पित करूँगा। इतना ही नहीं, नाना प्रकारके रङ्गवाली नयी अवस्थाकी एक करोड़ गौएँ भी दूँगा, परंतु यह शबला गौ मुझे दे दीजिये॥ १८—२०॥

यावदिच्छसि रत्नानि हिरण्यं वा द्विजोत्तम।
तावद् ददामि ते सर्वं दीयतां शबला मम॥ २१॥

"द्विजश्रेष्ठ! इनके अतिरिक्त भी आप जितने रत्न या सुवर्ण लेना चाहें, वह सब आपको देनेके लिये मैं तैयार हूँ; किंतु यह चितकबरी गाय मुझे दे दीजिये'॥ २१॥

एवमुक्तस्तु भगवान् विश्वामित्रेण धीमता।
न दास्यामीति शबलां प्राह राजन् कथंचन॥ २२॥

'बुद्धिमान् विश्वामित्रके ऐसा कहनेपर भगवान् वसिष्ठ बोले—'राजन्! मैं यह चितकबरी गाय तुम्हें किसी तरह भी नहीं दूँगा॥ २२॥

एतदेव हि मे रत्नमेतदेव हि मे धनम्।
एतदेव हि सर्वस्वमेतदेव हि जीवितम्॥ २३॥

"यही मेरा रत्न है, यही मेरा धन है, यही मेरा सर्वस्व है और यही मेरा जीवन है॥ २३॥

दर्शश्च पौर्णमासश्च यज्ञाश्चैवाप्तदक्षिणाः।
एतदेव हि मे राजन् विविधाश्च क्रियास्तथा॥ २४॥

'राजन्! मेरे दर्श, पौर्णमास, प्रचुर दक्षिणावाले यज्ञ तथा भाँति-भाँतिके पुण्यकर्म—यह गौ ही है। इसीपर ही मेरा सब कुछ निर्भर है॥ २४॥

अतोमूलाः क्रियाः सर्वा मम राजन् न संशयः।
बहुना किं प्रलापेन न दास्ये कामदोहिनीम्॥ २५॥

"नरेश्वर! मेरे सारे शुभ कर्मोंका मूल यही है, इसमें संशय नहीं है। बहुत व्यर्थ बात करनेसे क्या लाभ। मैं इस कामधेनुको कदापि नहीं दूँगा"॥ २५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे त्रिपञ्चाशः सर्गः॥ ५३॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें तिरपनवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ५३॥

—★—

चतुःपञ्चाशः सर्गः

विश्वामित्रका वसिष्ठजीकी गौको बलपूर्वक ले जाना, गौका दुःखी होकर वसिष्ठजीसे इसका कारण पूछना और उनकी आज्ञासे शक, यवन, पह्लव आदि वीरोंकी सृष्टि करके उनके द्वारा विश्वामित्रजीकी सेनाका संहार करना

कामधेनुं वसिष्ठोऽपि यदा न त्यजते मुनिः।
तदास्य शबलां राम विश्वामित्रोऽन्वकर्षत॥ १॥

'श्रीराम! जब वसिष्ठ मुनि किसी तरह भी उस कामधेनु गौको देनेके लिये तैयार न हुए, तब राजा विश्वामित्र उस चितकबरे रङ्गकी धेनुको बलपूर्वक घसीट ले चले॥ १॥

नीयमाना तु शबला राम राज्ञा महात्मना।
दुःखिता चिन्तयामास रुदन्ती शोककर्शिता॥ २॥

'रघुनन्दन! महामनस्वी राजा विश्वामित्रके द्वारा इस प्रकार ले जायी जाती हुई वह गौ शोकाकुल हो मन-ही-मन रो पड़ी और अत्यन्त दुःखित हो विचार करने लगी—॥ २॥

परित्यक्ता वसिष्ठेन किमहं सुमहात्मना।
याहं राजभृतैर्दीना ह्रियेय भृशदुःखिता॥ ३॥

"अहो! क्या महात्मा वसिष्ठने मुझे त्याग दिया है, जो ये राजाके सिपाही मुझ दीन और अत्यन्त दुःखिया गौको इस तरह बलपूर्वक लिये जा रहे हैं?॥ ३॥

किं मयापकृतं तस्य महर्षेर्भावितात्मनः।
यन्मामनागसं दृष्ट्वा भक्तां त्यजति धार्मिकः॥ ४॥

"पवित्र अन्तःकरणवाले उन महर्षिका मैंने क्या अपराध किया है कि वे धर्मात्मा मुनि मुझे निरपराध और अपना भक्त जानकर भी त्याग रहे हैं?'॥ ४॥

इति संचिन्तयित्वा तु निःश्वस्य च पुनः पुनः।
जगाम वेगेन तदा वसिष्ठं परमौजसम्॥ ५॥
निर्धूय तांस्तदा भृत्याञ्शतशः शत्रुसूदन।

'शत्रुसूदन! यह सोचकर वह गौ बारम्बार लंबी साँस लेने लगी और राजाके उन सैकड़ों सेवकोंको झटककर उस समय महातेजस्वी वसिष्ठ मुनिके पास बड़े वेगसे जा पहुँची॥

जगामानिलवेगेन पादमूलं महात्मनः॥ ६॥
शबला सा रुदन्ती च क्रोशन्ती चेदमब्रवीत्।
वसिष्ठस्याग्रतः स्थित्वा रुदन्ती मेघनिःस्वना॥ ७॥

'वह शबला गौ वायुके समान वेगसे उन महात्माके चरणोंके समीप गयी और उनके सामने खड़ी हो मेघके समान गम्भीर स्वरसे रोती-चीत्कार करती हुई उनसे इस प्रकार बोली—॥ ६-७॥

भगवन् किं परित्यक्ता त्वयाहं ब्रह्मणः सुत।
यस्माद् राजभटा मां हि नयन्ते त्वत्सकाशतः॥ ८॥

"भगवन्! ब्रह्मकुमार! क्या आपने मुझे त्याग दिया, जो ये राजाके सैनिक मुझे आपके पाससे दूर लिये जा रहे हैं?'॥ ८॥

एवमुक्तस्तु ब्रह्मर्षिरिदं वचनमब्रवीत्।
शोकसंतप्तहृदयां स्वसारमिव दुःखिताम्॥ ९॥

'उसके ऐसा कहनेपर ब्रह्मर्षि वसिष्ठ शोकसे संतप्त हृदयवाली दुःखिया बहिनके समान उस गौसे इस प्रकार बोले—॥ ९॥

न त्वां त्यजामि शबले नापि मेऽपकृतं त्वया।
एष त्वां नयते राजा बलान्मत्तो महाबलः॥ १०॥

"शबले! मैं तुम्हारा त्याग नहीं करता। तुमने मेरा कोई अपराध नहीं किया है। ये महाबली राजा अपने बलसे मतवाले होकर तुमको मुझसे छीनकर ले जा रहे हैं॥ १०॥

नहि तुल्यं बलं मह्यं राजा त्वद्य विशेषतः।
बली राजा क्षत्रियश्च पृथिव्याः पतिरेव च॥ ११॥

"मेरा बल इनके समान नहीं है। विशेषतः आजकल ये राजाके पदपर प्रतिष्ठित हैं। राजा, क्षत्रिय तथा इस पृथ्वीके पालक होनेके कारण ये बलवान् हैं॥ ११॥

इयमक्षौहिणी पूर्णा गजवाजिरथाकुला।
हस्तिध्वजसमाकीर्णा तेनासौ बलवत्तरः॥ १२॥

"इनके पास हाथी, घोड़े और रथोंसे भरी हुई यह अक्षौहिणी सेना है, जिसमें हाथियोंके हौदोंपर लगे हुए ध्वज सब ओर फहरा रहे हैं। इस सेनाके कारण भी ये मुझसे प्रबल हैं'॥ १२॥

एवमुक्ता वसिष्ठेन प्रत्युवाच विनीतवत्।
वचनं वचनज्ञा सा ब्रह्मर्षिममितप्रभम्॥ १३॥

'वसिष्ठजीके ऐसा कहनेपर बातचीतके मर्मको समझने-

वाली उस कामधेनुने उन अनुपम तेजस्वी ब्रह्मर्षिसे यह विनययुक्त बात कही— ॥ १३ ॥

न बलं क्षत्रियस्याहुर्ब्राह्मणा बलवत्तराः ।
ब्रह्मन् ब्रह्मबलं दिव्यं क्षात्राच्च बलवत्तरम् ॥ १४ ॥

"ब्रह्मन्! क्षत्रियका बल कोई बल नहीं है। ब्राह्मण ही क्षत्रिय आदिसे अधिक बलवान् होते हैं। ब्राह्मणका बल दिव्य है। वह क्षत्रिय-बलसे अधिक प्रबल होता है ॥ १४ ॥

अप्रमेयं बलं तुभ्यं न त्वया बलवत्तरः ।
विश्वामित्रो महावीर्यस्तेजस्तव दुरासदम् ॥ १५ ॥

"आपका बल अप्रमेय है। महापराक्रमी विश्वामित्र आपसे अधिक बलवान् नहीं हैं। आपका तेज दुर्धर्ष है ॥

नियुङ्क्ष्व मां महातेजस्त्वं ब्रह्मबलसम्भृताम् ।
तस्य दर्पं बलं यत्नं नाशयामि दुरात्मनः ॥ १६ ॥

"महातेजस्वी महर्षे! मैं आपके ब्रह्मबलसे परिपुष्ट हुई हूँ। अतः आप केवल मुझे आज्ञा दे दीजिये। मैं इस दुरात्मा राजाके बल, प्रयत्न और अभिमानको अभी चूर्ण किये देती हूँ" ॥ १६ ॥

इत्युक्तस्तु तया राम वसिष्ठस्तु महायशाः ।
सृजस्वेति तदोवाच बलं परबलार्दनम् ॥ १७ ॥

'श्रीराम! कामधेनुके ऐसा कहनेपर महायशस्वी वसिष्ठने कहा—'इस शत्रु-सेनाको नष्ट करनेवाले सैनिकोंकी सृष्टि करो' ॥ १७ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सुरभिः सासृजत् तदा ।
तस्या हुंभारवोत्सृष्टाः पह्लवाः शतशो नृप ॥ १८ ॥

'राजकुमार! उनका वह आदेश सुनकर उस गौने उस समय वैसा ही किया। उसके हुंकार करते ही सैकड़ों पह्लव जातिके वीर पैदा हो गये ॥ १८ ॥

नाशयन्ति बलं सर्वं विश्वामित्रस्य पश्यतः ।
स राजा परमक्रुद्धः क्रोधविस्फारितेक्षणः ॥ १९ ॥

'वे सब विश्वामित्रके देखते-देखते उनकी सारी सेनाका नाश करने लगे। इससे राजा विश्वामित्रको बड़ा क्रोध हुआ। वे रोषसे आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगे ॥ १९ ॥

पह्लवान् नाशयामास शस्त्रैरुच्चावचैरपि ।
विश्वामित्रार्दितान् दृष्ट्वा पह्लवाञ्शतशस्तदा ॥ २० ॥
भूय एवासृजद् घोराञ्छकान् यवनमिश्रितान् ।
तैरासीत् संवृता भूमिः शकैर्यवनमिश्रितैः ॥ २१ ॥

'उन्होंने छोटे-बड़े कई तरहके अस्त्रोंका प्रयोग करके उन पह्लवोंका संहार कर डाला। विश्वामित्रद्वारा उन सैकड़ों पह्लवोंको पीड़ित एवं नष्ट हुआ देख उस समय उस शबला गौने पुनः यवनमिश्रित शक जातिके भयंकर वीरोंको उत्पन्न किया। उन यवनमिश्रित शकोंसे वहाँकी सारी पृथ्वी भर गयी ॥ २०-२१ ॥

प्रभावद्भिर्महावीर्यैर्हेमकिंजल्कसंनिभैः ।
तीक्ष्णासिपट्टिशधरैर्हेमवर्णाम्बरावृतैः ॥ २२ ॥
निर्दग्धं तद्बलं सर्वं प्रदीप्तैरिव पावकैः ।
ततोऽस्त्राणि महातेजा विश्वामित्रो मुमोच ह ।
तैस्ते यवनकाम्बोजा बर्बराश्चाकुलीकृताः ॥ २३ ॥

'वे वीर महापराक्रमी और तेजस्वी थे। उनके शरीरकी कान्ति सुवर्ण तथा केसरके समान थी। वे सुनहरे वस्त्रोंसे अपने शरीरको ढँके हुए थे। उन्होंने हाथोंमें तीखे खड्ग और पट्टिश ले रखे थे। प्रज्वलित अग्निके समान उद्भासित होनेवाले उन वीरोंने विश्वामित्रकी सारी सेनाको भस्म करना आरम्भ किया। तब महातेजस्वी विश्वामित्रने उनपर बहुत-से अस्त्र छोड़े। उन अस्त्रोंकी चोट खाकर वे यवन, काम्बोज और बर्बर जातिके योद्धा व्याकुल हो उठे' ॥ २२-२३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें चौवनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

अपने सौ पुत्रों और सारी सेनाके नष्ट हो जानेपर विश्वामित्रका तपस्या करके महादेवजीसे दिव्यास्त्र पाना तथा उनका वसिष्ठके आश्रमपर प्रयोग करना एवं वसिष्ठजीका ब्रह्मदण्ड लेकर उनके सामने खड़ा होना

ततस्तानाकुलान् दृष्ट्वा विश्वामित्रास्त्रमोहितान् ।
वसिष्ठश्चोदयामास कामधुक् सृज योगतः ॥ १ ॥

'विश्वामित्रके अस्त्रोंसे घायल होकर उन्हें व्याकुल हुआ देख वसिष्ठजीने फिर आज्ञा दी—'कामधेनो! अब योगबलसे दूसरे सैनिकोंकी सृष्टि करो' ॥ १ ॥

तस्या हुंकारतो जाताः काम्बोजा रविसंनिभाः ।
ऊधसश्चाथ सम्भूता बर्बराः शस्त्रपाणयः ॥ २ ॥

'तब उस गौने फिर हुंकार किया। उसके हुंकारसे सूर्यके समान तेजस्वी काम्बोज उत्पन्न हुए। थनसे शस्त्रधारी बर्बर प्रकट हुए ॥

योनिदेशाच्च यवनाः शकृद्देशाच्छकाः स्मृताः ।
रोमकूपेषु म्लेच्छाश्च हारीताः सकिरातकाः ॥ ३ ॥

'योनिदेशसे यवन और शकृद्देश (गोबरके स्थान) से शक उत्पन्न हुए। रोमकूपोंसे म्लेच्छ, हारीत और किरात प्रकट हुए ॥ ३ ॥

तैस्तन्निषूदितं सर्वं विश्वामित्रस्य तत्क्षणात् ।
सपदातिगजं साश्वं सरथं रघुनन्दन ॥ ४ ॥

'रघुनन्दन! उन सब वीरोंने पैदल, हाथी, घोड़े और रथसहित विश्वामित्रकी सारी सेनाका तत्काल संहार कर डाला॥ ४॥

दृष्ट्वा निषूदितं सैन्यं वसिष्ठेन महात्मना।
विश्वामित्रसुतानां तु शतं नानाविधायुधम्॥ ५॥
अभ्यधावत् सुसंक्रुद्धं वसिष्ठं जपतां वरम्।
हुंकारेणैव तान् सर्वान् निर्ददाह महानृषिः॥ ६॥

'महात्मा वसिष्ठद्वारा अपनी सेनाका संहार हुआ देख विश्वामित्रके सौ पुत्र अत्यन्त क्रोधमें भर गये और नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लेकर जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ वसिष्ठ-मुनिपर टूट पड़े। तब उन महर्षिने हुंकारमात्रसे उन सबको जलाकर भस्म कर डाला॥ ५-६॥

ते साश्वरथपादाता वसिष्ठेन महात्मना।
भस्मीकृता मुहूर्तेन विश्वामित्रसुतास्तथा॥ ७॥

'महात्मा वसिष्ठद्वारा विश्वामित्रके वे सभी पुत्र दो ही घड़ीमें घोड़े, रथ और पैदल सैनिकोंसहित जलाकर भस्म कर डाले गये॥ ७॥

दृष्ट्वा विनाशितान् सर्वान् बलं च सुमहायशाः।
सव्रीडं चिन्तयाविष्टो विश्वामित्रोऽभवत् तदा॥ ८॥

'अपने समस्त पुत्रों तथा सारी सेनाका विनाश हुआ देख महायशस्वी विश्वामित्र लज्जित हो बड़ी चिन्तामें पड़ गये॥ ८॥

समुद्र इव निर्वेगो भग्नदंष्ट्र इवोरगः।
उपरक्त इवादित्यः सद्यो निष्प्रभतां गतः॥ ९॥

'समुद्रके समान उनका सारा वेग शान्त हो गया। जिसके दाँत तोड़ लिये गये हों उस सर्पके समान तथा राहुग्रस्त सूर्यकी भाँति वे तत्काल ही निस्तेज हो गये॥ ९॥

हतपुत्रबलो दीनो लूनपक्ष इव द्विजः।
हतसर्वबलोत्साहो निर्वेदं समपद्यत॥ १०॥

'पुत्र और सेना दोनोंके मारे जानेसे वे पंख कटे हुए पक्षीके समान दीन हो गये। उनका सारा बल और उत्साह नष्ट हो गया। वे मन-ही-मन बहुत खिन्न हो उठे॥ १०॥

स पुत्रमेकं राज्याय पालयेति नियुज्य च।
पृथिवीं क्षत्रधर्मेण वनमेवाभ्यपद्यत॥ ११॥

'उनके एक ही पुत्र बचा था, उसको उन्होंने राजाके पदपर अभिषिक्त करके राज्यकी रक्षाके लिये नियुक्त कर दिया और क्षत्रिय-धर्मके अनुसार पृथ्वीके पालनकी आज्ञा देकर वे वनमें चले गये॥ ११॥

स गत्वा हिमवत्पार्श्वं किंनरोरगसेवितम्।
महादेवप्रसादार्थं तपस्तेपे महातपाः॥ १२॥

'हिमालयके पार्श्वभागमें, जो किन्नरों और नागोंसे सेवित प्रदेश है, वहाँ जाकर महादेवजीकी प्रसन्नताके लिये महान् तपस्याका आश्रय ले वे तपमें ही संलग्न हो गये॥ १२॥

केनचित् त्वथ कालेन देवेशो वृषभध्वजः।
दर्शयामास वरदो विश्वामित्रं महामुनिम्॥ १३॥

'कुछ कालके पश्चात् वरदायक देवेश्वर भगवान् वृषभध्वज (शिव) ने महामुनि विश्वामित्रको दर्शन दिया और कहा— ॥ १३॥

किमर्थं तप्यसे राजन् ब्रूहि यत् ते विवक्षितम्।
वरदोऽस्मि वरो यस्ते काङ्क्षितः सोऽभिधीयताम्॥ १४॥

"राजन्! किसलिये तप करते हो? बताओ क्या कहना चाहते हो? मैं तुम्हें वर देनेके लिये आया हूँ। तुम्हें जो वर पाना अभीष्ट हो, उसे कहो'॥ १४॥

एवमुक्तस्तु देवेन विश्वामित्रो महातपाः।
प्रणिपत्य महादेवं विश्वामित्रोऽब्रवीदिदम्॥ १५॥

'महादेवजीके ऐसा कहनेपर महातपस्वी विश्वामित्रने उन्हें प्रणाम करके इस प्रकार कहा— ॥ १५॥

यदि तुष्टो महादेव धनुर्वेदो ममानघ।
साङ्गोपाङ्गोपनिषदः सरहस्यः प्रदीयताम्॥ १६॥

"निष्पाप महादेव! यदि आप संतुष्ट हों तो अङ्ग, उपाङ्ग, उपनिषद् और रहस्योंसहित धनुर्वेद मुझे प्रदान कीजिये॥

यानि देवेषु चास्त्राणि दानवेषु महर्षिषु।
गन्धर्वयक्षरक्षःसु प्रतिभान्तु ममानघ॥ १७॥
तव प्रसादाद् भवतु देवदेव ममेप्सितम्।

"अनघ! देवताओं, दानवों, महर्षियों, गन्धर्वों, यक्षों तथा राक्षसोंके पास जो-जो अस्त्र हों, वे सब आपकी कृपासे मेरे हृदयमें स्फुरित हो जायँ। देवदेव! यही मेरा मनोरथ है, जो मुझे प्राप्त होना चाहिये'॥ १७ ½॥

एवमस्त्विति देवेशो वाक्यमुक्त्वा गतस्तदा॥ १८॥
प्राप्य चास्त्राणि देवेशाद् विश्वामित्रो महाबलः।
दर्पेण महता युक्तो दर्पपूर्णोऽभवत् तदा॥ १९॥

'तब 'एवमस्तु' कहकर देवेश्वर भगवान् शङ्कर वहाँसे चले गये। देवेश्वर महादेवसे वे अस्त्र पाकर महाबली विश्वामित्रको बड़ा घमंड हो गया। वे अभिमानमें भर गये॥

विवर्धमानो वीर्येण समुद्र इव पर्वणि।
हतं मेने तदा राम वसिष्ठमृषिसत्तमम्॥ २०॥

'जैसे पूर्णिमाको समुद्र बढ़ने लगता है, उसी प्रकार वे पराक्रमद्वारा अपनेको बहुत बढ़ा-चढ़ा मानने लगे। श्रीराम! उन्होंने मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठको उस समय मरा हुआ ही समझा॥

ततो गत्वाऽऽश्रमपदं मुमोचास्त्राणि पार्थिवः।
यैस्तत् तपोवनं नाम निर्दग्धं चास्त्रतेजसा॥ २१॥

फिर तो वे पृथ्वीपति विश्वामित्र वसिष्ठके आश्रमपर जाकर भाँति-भाँतिके अस्त्रोंका प्रयोग करने लगे। जिनके तेजसे वह सारा तपोवन दग्ध होने लगा॥ २१॥

उदीर्यमाणमस्त्रं तद् विश्वामित्रस्य धीमतः।
दृष्ट्वा विप्रद्रुता भीता मुनयः शतशो दिशः॥ २२॥

'बुद्धिमान् विश्वामित्रके उस बढ़ते हुए अस्त्र-तेजको देखकर वहाँ रहनेवाले सैकड़ों मुनि भयभीत हो सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग चले ॥ २२ ॥

वसिष्ठस्य च ये शिष्या ये च वै मृगपक्षिणः ।
विद्रवन्ति भयाद् भीता नानादिग्भ्यः सहस्रशः ॥ २३ ॥

'वसिष्ठजीके जो शिष्य थे, जो वहाँके पशु और पक्षी थे, वे सहस्रों प्राणी भयभीत हो नाना दिशाओंकी ओर भाग गये ॥ २३ ॥

वसिष्ठस्याश्रमपदं शून्यमासीन्महात्मनः ।
मुहूर्तमिव निःशब्दमासीदीरिणसंनिभम् ॥ २४ ॥

'महात्मा वसिष्ठका वह आश्रम सूना हो गया। दो ही घड़ीमें ऊसर भूमिके समान उस स्थानपर सन्नाटा छा गया ॥ २४ ॥

वदतो वै वसिष्ठस्य मा भैरिति मुहुर्मुहुः ।
नाशयाम्यद्य गाधेयं नीहारमिव भास्करः ॥ २५ ॥

'वसिष्ठजी बार-बार कहने लगे—'डरो मत, मैं अभी इस गाधिपुत्रको नष्ट किये देता हूँ। ठीक उसी तरह, जैसे सूर्य कुहासेको मिटा देता है' ॥ २५ ॥

एवमुक्त्वा महातेजा वसिष्ठो जपतां वरः ।
विश्वामित्रं तदा वाक्यं सरोषमिदमब्रवीत् ॥ २६ ॥

'जपनेवालोंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी वसिष्ठ ऐसा कहकर उस समय विश्वामित्रजीसे रोषपूर्वक बोले— ॥ २६ ॥

आश्रमं चिरसंवृद्धं यद् विनाशितवानसि ।
दुराचारो हि यन्मूढस्तस्मात् त्वं न भविष्यसि ॥ २७ ॥

"अरे! तूने चिरकालसे पाले-पोसे तथा हरे-भरे किये हुए इस आश्रमको नष्ट कर दिया—उजाड़ डाला, इसलिये तू दुराचारी और विवेकशून्य है और इस पापके कारण तू कुशलसे नहीं रह सकता' ॥ २७ ॥

इत्युक्त्वा परमक्रुद्धो दण्डमुद्यम्य सत्वरः ।
विधूम इव कालाग्निर्यमदण्डमिवापरम् ॥ २८ ॥

'ऐसा कहकर वे अत्यन्त क्रुद्ध हो धूमरहित कालाग्निके समान उद्दीप्त हो उठे और दूसरे यमदण्डके समान भयंकर डंडा हाथमें उठाकर तुरंत उनका सामना करनेके लिये तैयार हो गये' ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें पचपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

—★—

षट्पञ्चाशः सर्गः

विश्वामित्रद्वारा वसिष्ठजीपर नाना प्रकारके दिव्यास्त्रोंका प्रयोग और वसिष्ठद्वारा ब्रह्मदण्डसे ही उनका शमन एवं विश्वामित्रका ब्राह्मणत्वकी प्राप्तिके लिये तप करनेका निश्चय

एवमुक्तो वसिष्ठेन विश्वामित्रो महाबलः ।
आग्नेयमस्त्रमुद्दिश्य तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ १ ॥

वसिष्ठजीके ऐसा कहनेपर महाबली विश्वामित्र आग्नेयास्त्र लेकर बोले—'अरे खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ १ ॥

ब्रह्मदण्डं समुद्यम्य कालदण्डमिवापरम् ।
वसिष्ठो भगवान् क्रोधादिदं वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

उस समय द्वितीय कालदण्डके समान ब्रह्मदण्डको उठाकर भगवान् वसिष्ठने क्रोधपूर्वक इस प्रकार कहा— ॥

क्षत्रबन्धो स्थितोऽस्म्येष यद् बलं तद् विदर्शय ।
नाशयाम्यद्य ते दर्पं शस्त्रस्य तव गाधिज ॥ ३ ॥

'क्षत्रियाधम! ले, यह मैं खड़ा हूँ। तेरे पास जो बल हो, उसे दिखा। गाधिपुत्र! आज तेरे अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञानका घमंड मैं अभी धूलमें मिला दूँगा ॥ ३ ॥

क्व च ते क्षत्रियबलं क्व च ब्रह्मबलं महत् ।
पश्य ब्रह्मबलं दिव्यं मम क्षत्रियपांसन ॥ ४ ॥

'क्षत्रियकुलकलङ्क! कहाँ तेरा क्षात्रबल और कहाँ महान् ब्रह्मबल। मेरे दिव्य ब्रह्मबलको देख ले' ॥ ४ ॥

तस्यास्त्रं गाधिपुत्रस्य घोरमाग्नेयमुत्तमम् ।
ब्रह्मदण्डेन तच्छान्तमग्नेर्वेग इवाम्भसा ॥ ५ ॥

गाधिपुत्र विश्वामित्रका वह उत्तम एवं भयंकर आग्नेयास्त्र वसिष्ठजीके ब्रह्मदण्डसे उसी प्रकार शान्त हो गया, जैसे पानी पड़नेसे जलती हुई आगका वेग ॥ ५ ॥

वारुणं चैव रौद्रं च ऐन्द्रं पाशुपतं तथा ।
ऐषीकं चापि चिक्षेप कुपितो गाधिनन्दनः ॥ ६ ॥

तब गाधिपुत्र विश्वामित्रने कुपित होकर वारुण, रौद्र, ऐन्द्र, पाशुपत और ऐषीक नामक अस्त्रोंका प्रयोग किया ॥ ६ ॥

मानवं मोहनं चैव गान्धर्वं स्वापनं तथा ।
जृम्भणं मादनं चैव संतापनविलापने ॥ ७ ॥
शोषणं दारणं चैव वज्रमस्त्रं सुदुर्जयम् ।
ब्रह्मपाशं कालपाशं वारुणं पाशमेव च ॥ ८ ॥
पिनाकमस्त्रं दयितं शुष्कार्द्रे अशनी तथा ।
दण्डास्त्रमथ पैशाचं क्रौञ्चमस्त्रं तथैव च ॥ ९ ॥
धर्मचक्रं कालचक्रं विष्णुचक्रं तथैव च ।
वायव्यं मथनं चैव अस्त्रं हयशिरस्तथा ॥ १० ॥
शक्तिद्वयं च चिक्षेप कङ्कालं मुसलं तथा ।
वैद्याधरं महास्त्रं च कालास्त्रमथ दारुणम् ॥ ११ ॥
त्रिशूलमस्त्रं घोरं च कापालमथ कङ्कणम् ।
एतान्यस्त्राणि चिक्षेप सर्वाणि रघुनन्दन ॥ १२ ॥

रघुनन्दन! उसके पश्चात् क्रमशः मानव, मोहन, गान्धर्व, स्वापन, जृम्भण, मादन, संतापन, विलापन, शोषण, विदारण, सुदुर्जय वज्रास्त्र, ब्रह्मपाश, कालपाश, वारुणपाश, परमप्रिय पिनाकास्त्र, सूखी-गीली दो प्रकारकी अशनि, दण्डास्त्र, पैशाचास्त्र, क्रौञ्चास्त्र, धर्मचक्र, कालचक्र, विष्णुचक्र, वायव्यास्त्र, मन्थनास्त्र, हयशिरा, दो प्रकारकी शक्ति, कङ्काल, मुसल, महान् वैद्याधरास्त्र, दारुण कालास्त्र, भयंकर त्रिशूलास्त्र, कापालास्त्र और कङ्कणास्त्र—ये सभी अस्त्र उन्होंने वसिष्ठजीके ऊपर चलाये॥ ७—१२॥

वसिष्ठे जपतां श्रेष्ठे तदद्भुतमिवाभवत्।
तानि सर्वाणि दण्डेन ग्रसते ब्रह्मणः सुतः॥ १३॥

जपनेवालोंमें श्रेष्ठ महर्षि वसिष्ठपर इतने अस्त्रोंका प्रहार वह एक अद्भुत-सी घटना थी, परंतु ब्रह्माके पुत्र वसिष्ठजीने उन सभी अस्त्रोंको केवल अपने डंडेसे ही नष्ट कर दिया॥

तेषु शान्तेषु ब्रह्मास्त्रं क्षिप्तवान् गाधिनन्दनः।
तदस्त्रमुद्यतं दृष्ट्वा देवाः साग्निपुरोगमाः॥ १४॥
देवर्षयश्च सम्भ्रान्ता गन्धर्वाः समहोरगाः।
त्रैलोक्यमासीत् संत्रस्तं ब्रह्मास्त्रे समुदीरिते॥ १५॥

उन सब अस्त्रोंके शान्त हो जानेपर गाधिनन्दन विश्वामित्रने ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया। ब्रह्मास्त्रको उद्यत देख अग्नि आदि देवता, देवर्षि, गन्धर्व और बड़े-बड़े नाग भी दहल गये। ब्रह्मास्त्रके ऊपर उठते ही तीनों लोकोंके प्राणी थर्रा उठे॥ १४-१५॥

तदप्यस्त्रं महाघोरं ब्राह्मं ब्राह्मेण तेजसा।
वसिष्ठो ग्रसते सर्वं ब्रह्मदण्डेन राघव॥ १६॥

राघव! वसिष्ठजीने अपने ब्रह्मतेजके प्रभावसे उस महाभयंकर ब्रह्मास्त्रको भी ब्रह्मदण्डके द्वारा ही शान्त कर दिया॥ १६॥

ब्रह्मास्त्रं ग्रसमानस्य वसिष्ठस्य महात्मनः।
त्रैलोक्यमोहनं रौद्रं रूपमासीत् सुदारुणम्॥ १७॥

उस ब्रह्मास्त्रको शान्त करते समय महात्मा वसिष्ठका वह रौद्ररूप तीनों लोकोंको मोहमें डालनेवाला और अत्यन्त भयंकर जान पड़ता था॥ १७॥

रोमकूपेषु सर्वेषु वसिष्ठस्य महात्मनः।
मरीच्य इव निष्पेतुरग्नेर्धूमाकुलार्चिषः॥ १८॥

महात्मा वसिष्ठके समस्त रोमकूपोंमेंसे किरणोंकी भाँति धूमयुक्त आगकी लपटें निकलने लगीं॥ १८॥

प्राज्वलद् ब्रह्मदण्डश्च वसिष्ठस्य करोद्यतः।
विधूम इव कालाग्नेर्यमदण्ड इवापरः॥ १९॥

वसिष्ठजीके हाथमें उठा हुआ द्वितीय यमदण्डके समान वह ब्रह्मदण्ड धूमरहित कालाग्निके समान प्रज्वलित हो रहा था॥

ततोऽस्तुवन् मुनिगणा वसिष्ठं जपतां वरम्।
अमोघं ते बलं ब्रह्मंस्तेजो धारय तेजसा॥ २०॥

उस समय समस्त मुनिगण मन्त्र जपनेवालोंमें श्रेष्ठ वसिष्ठ मुनिकी स्तुति करते हुए बोले—'ब्रह्मन्! आपका बल अमोघ है। आप अपने तेजको अपनी ही शक्तिसे समेट लीजिये॥

निगृहीतस्त्वया ब्रह्मन् विश्वामित्रो महाबलः।
अमोघं ते बलं श्रेष्ठ लोकाः सन्तु गतव्यथाः॥ २१॥

'महाबली विश्वामित्र आपसे पराजित हो गये। मुनिश्रेष्ठ! आपका बल अमोघ है। अब आप शान्त हो जाइये, जिससे लोगोंकी व्यथा दूर हो'॥ २१॥

एवमुक्तो महातेजाः शमं चक्रे महाबलः।
विश्वामित्रो विनिकृतो विनिःश्वस्येदमब्रवीत्॥ २२॥

महर्षियोंके ऐसा कहनेपर महातेजस्वी महाबली वसिष्ठजी शान्त हो गये और पराजित विश्वामित्र लम्बी साँस खींचकर यों बोले—॥ २२॥

धिग् बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम्।
एकेन ब्रह्मदण्डेन सर्वास्त्राणि हतानि मे॥ २३॥

'क्षत्रियके बलको धिक्कार है। ब्रह्मतेजसे प्राप्त होनेवाला बल ही वास्तवमें बल है; क्योंकि आज एक ब्रह्मदण्डने मेरे सभी अस्त्र नष्ट कर दिये॥ २३॥

तदेतत् प्रसमीक्ष्याहं प्रसन्नेन्द्रियमानसः।
तपो महत् समास्थास्ये यद् वै ब्रह्मत्वकारणम्॥ २४॥

'इस घटनाको प्रत्यक्ष देखकर अब मैं अपने मन और इन्द्रियोंको निर्मल करके उस महान् तपका अनुष्ठान करूँगा, जो मेरे लिये ब्राह्मणत्वकी प्राप्तिका कारण होगा'॥ २४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे षट्पञ्चाशः सर्गः॥ ५६॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें छप्पनवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ५६॥

सप्तपञ्चाशः सर्गः

विश्वामित्रकी तपस्या, राजा त्रिशङ्कुका अपना यज्ञ करानेके लिये पहले वसिष्ठजीसे प्रार्थना करना और उनके इन्कार कर देनेपर उन्हींके पुत्रोंकी शरणमें जाना

ततः संतप्तहृदयः स्मरन्निग्रहमात्मनः।
विनिःश्वस्य विनिःश्वस्य कृतवैरो महात्मना॥ १॥
स दक्षिणां दिशं गत्वा महिष्या सह राघव।
तताप परमं घोरं विश्वामित्रो महातपाः॥ २॥

श्रीराम! तदनन्तर विश्वामित्र अपनी पराजयको याद करके मन-ही-मन संतप्त होने लगे। महात्मा वसिष्ठके साथ वैर बाँधकर महातपस्वी विश्वामित्र बारम्बार लम्बी साँस खींचते हुए अपनी रानीके साथ दक्षिण दिशामें जाकर अत्यन्त उत्कृष्ट एवं भयंकर तपस्या करने लगे॥ १-२॥

फलमूलाशनो दान्तश्चचार परमं तपः।
अथास्य जज्ञिरे पुत्राः सत्यधर्मपरायणाः॥ ३॥
हविष्पन्दो मधुष्पन्दो दृढनेत्रो महारथः।

वहाँ मन और इन्द्रियोंको वशमें करके वे फल-मूलका आहार करते तथा उत्तम तपस्यामें लगे रहते थे। वहीं उनके हविष्पन्द, मधुष्पन्द, दृढनेत्र और महारथ नामक चार पुत्र उत्पन्न हुए, जो सत्य और धर्ममें तत्पर रहनेवाले थे॥ ३½॥

पूर्णे वर्षसहस्रे तु ब्रह्मा लोकपितामहः॥ ४॥
अब्रवीन्मधुरं वाक्यं विश्वामित्रं तपोधनम्।
जिता राजर्षिलोकास्ते तपसा कुशिकात्मज॥ ५॥
अनेन तपसा त्वां हि राजर्षिरिति विद्महे।

एक हजार वर्ष पूरे हो जानेपर लोकपितामह ब्रह्माजीने तपस्याके धनी विश्वामित्रको दर्शन देकर मधुर वाणीमें कहा—'कुशिकनन्दन! तुमने तपस्याके द्वारा राजर्षियोंके लोकोंपर विजय पायी है। इस तपस्याके प्रभावसे हम तुम्हें सच्चा राजर्षि समझते हैं'॥ ४-५½॥

एवमुक्त्वा महातेजा जगाम सह दैवतैः॥ ६॥
त्रिविष्टपं ब्रह्मलोकं लोकानां परमेश्वरः।

यह कहकर सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी ब्रह्माजी देवताओंके साथ स्वर्गलोक होते हुए ब्रह्मलोकको चले गये॥ ६½॥

विश्वामित्रोऽपि तच्छ्रुत्वा ह्रिया किंचिदवाङ्मुखः॥ ७॥
दुःखेन महताविष्टः समन्युरिदमब्रवीत्।
तपश्च सुमहत् तप्तं राजर्षिरिति मां विदुः॥ ८॥
देवाः सर्षिगणाः सर्वे नास्ति मन्ये तपः फलम्।

उनकी बात सुनकर विश्वामित्रका मुख लज्जासे कुछ झुक गया। वे बड़े दुःखसे व्यथित हो दीनतापूर्वक मन-ही-मन यों कहने लगे—'अहो! मैंने इतना बड़ा तप किया तो भी ऋषियोंसहित सम्पूर्ण देवता मुझे राजर्षि ही समझते हैं। मालूम होता है, इस तपस्याका कोई फल नहीं हुआ'॥

एवं निश्चित्य मनसा भूय एव महातपाः॥ ९॥
तपश्चचार धर्मात्मा काकुत्स्थ परमात्मवान्।

श्रीराम! मनमें ऐसा सोचकर अपने मनको वशमें रखनेवाले महातपस्वी धर्मात्मा विश्वामित्र पुनः भारी तपस्यामें लग गये॥ ९½॥

एतस्मिन्नेव काले तु सत्यवादी जितेन्द्रियः॥ १०॥
त्रिशङ्कुरिति विख्यात इक्ष्वाकुकुलवर्धनः।

इसी समय इक्ष्वाकुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले एक सत्यवादी और जितेन्द्रिय राजा राज्य करते थे। उनका नाम था त्रिशङ्कु॥ १०½॥

तस्य बुद्धिः समुत्पन्ना यजेयमिति राघव॥ ११॥
गच्छेयं स्वशरीरेण देवतानां परां गतिम्।

रघुनन्दन! उनके मनमें यह विचार हुआ कि 'मैं ऐसा कोई यज्ञ करूँ, जिससे अपने इस शरीरके साथ ही देवताओंकी परम गति—स्वर्गलोकको जा पहुँचूँ'॥ ११½॥

वसिष्ठं स समाहूय कथयामास चिन्तितम्॥ १२॥
अशक्यमिति चाप्युक्तो वसिष्ठेन महात्मना।

तब उन्होंने वसिष्ठजीको बुलाकर अपना यह विचार उन्हें कह सुनाया। महात्मा वसिष्ठने उन्हें बताया कि 'ऐसा होना असम्भव है'॥ १२½॥

प्रत्याख्यातो वसिष्ठेन स ययौ दक्षिणां दिशम्॥ १३॥
ततस्तत्कर्मसिद्ध्यर्थं पुत्रांस्तस्य गतो नृपः।

जब वसिष्ठने उन्हें कोरा उत्तर दे दिया, तब वे राजा उस कर्मकी सिद्धिके लिये दक्षिण दिशामें उन्हींके पुत्रोंके पास चले गये॥ १३½॥

वासिष्ठा दीर्घतपसस्तपो यत्र हि तेपिरे॥ १४॥
त्रिशङ्कुस्तु महातेजाः शतं परमभास्वरम्।
वसिष्ठपुत्रान् ददृशे तप्यमानान् मनस्विनः॥ १५॥

वसिष्ठजीके वे पुत्र जहाँ दीर्घकालसे तपस्यामें प्रवृत्त होकर तप करते थे, उस स्थानपर पहुँचकर महातेजस्वी त्रिशङ्कुने देखा कि मनको वशमें रखनेवाले वे सौ परमतेजस्वी वसिष्ठकुमार तपस्यामें संलग्न हैं॥ १४-१५॥

सोऽभिगम्य महात्मानः सर्वानेव गुरोः सुतान्।
अभिवाद्यानुपूर्वेण ह्रिया किंचिदवाङ्मुखः॥ १६॥
अब्रवीत् स महात्मानः सर्वानेव कृताञ्जलिः।

उन सभी महात्मा गुरुपुत्रोंके पास जाकर उन्होंने क्रमशः उन्हें प्रणाम किया और लज्जासे अपने मुखको कुछ नीचा किये हाथ जोड़कर उन सब महात्माओंसे कहा—॥

शरणं वः प्रपन्नोऽहं शरण्याञ्शरणं गतः॥ १७॥
प्रत्याख्यातो हि भद्रं वो वसिष्ठेन महात्मना।
यष्टुकामो महायज्ञं तदनुज्ञातुमर्हथ॥ १८॥

'गुरुपुत्रो! आप शरणागतवत्सल हैं। मैं आपलोगोंकी शरणमें आया हूँ, आपका कल्याण हो। महात्मा वसिष्ठने मेरा यज्ञ कराना अस्वीकार कर दिया है। मैं एक महान् यज्ञ करना चाहता हूँ। आपलोग उसके लिये आज्ञा दें॥

गुरुपुत्रानहं सर्वान् नमस्कृत्य प्रसादये।
शिरसा प्रणतो याचे ब्राह्मणांस्तपसि स्थितान्॥ १९॥
ते मां भवन्तः सिद्ध्यर्थं याजयन्तु समाहिताः।
सशरीरो यथाहं वै देवलोकमवाप्नुयाम्॥ २०॥

'मैं समस्त गुरुपुत्रोंको नमस्कार करके प्रसन्न करना चाहता हूँ। आपलोग तपस्यामें संलग्न रहनेवाले ब्राह्मण हैं। मैं आपके चरणोंमें मस्तक रखकर यह याचना करता हूँ कि

आपलोग एकाग्रचित्त हो मुझसे मेरी अभीष्टसिद्धिके लिये ऐसा कोई यज्ञ करावें, जिससे मैं इस शरीरके साथ ही देवलोकमें जा सकूँ ॥ १९-२० ॥

प्रत्याख्यातो वसिष्ठेन गतिमन्यां तपोधनाः ।
गुरुपुत्रानृते सर्वान् नाहं पश्यामि कांचन ॥ २१ ॥

'तपोधनो ! महात्मा वसिष्ठके अस्वीकार कर देनेपर अब मैं अपने लिये समस्त गुरुपुत्रोंकी शरणमें आनेके सिवा दूसरी कोई गति नहीं देखता ॥ २१ ॥

इक्ष्वाकूणां हि सर्वेषां पुरोधाः परमा गतिः ।
तस्मादनन्तरं सर्वे भवन्तो दैवतं मम ॥ २२ ॥

'समस्त इक्ष्वाकुवंशियोंके लिये पुरोहित वसिष्ठजी ही परम-गति हैं। उनके बाद आप सब लोग ही मेरे परम देवता हैं' ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्ष रामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें सत्तावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

—★—

अष्टपञ्चाशः सर्गः

वसिष्ठ ऋषिके पुत्रोंका त्रिशङ्कुको डाँट बताकर घर लौटनेके लिये आज्ञा देना तथा उन्हें दूसरा पुरोहित बनानेके लिये उद्यत देख शाप-प्रदान और उनके शापसे चाण्डाल हुए त्रिशङ्कुका विश्वामित्रजीकी शरणमें जाना

ततस्त्रिशङ्कोर्वचनं श्रुत्वा क्रोधसमन्वितम् ।
ऋषिपुत्रशतं राम राजानमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥
प्रत्याख्यातोऽसि दुर्मेधो गुरुणा सत्यवादिना ।
तं कथं समतिक्रम्य शाखान्तरमुपेयिवान् ॥ २ ॥

रघुनन्दन ! राजा त्रिशङ्कुका यह वचन सुनकर वसिष्ठ मुनिके वे सौ पुत्र कुपित हो उनसे इस प्रकार बोले— 'दुर्बुद्धे ! तुम्हारे सत्यवादी गुरुने जब तुम्हें मना कर दिया है, तब तुमने उनका उल्लङ्घन करके दूसरी शाखाका आश्रय कैसे लिया ? ॥ १-२ ॥

इक्ष्वाकूणां हि सर्वेषां पुरोधाः परमा गतिः ।
न चातिक्रमितुं शक्यं वचनं सत्यवादिनः ॥ ३ ॥

'समस्त इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रियोंके लिये पुरोहित वसिष्ठजी ही परमगति हैं। उन सत्यवादी महात्माकी बातको कोई अन्यथा नहीं कर सकता ॥ ३ ॥

अशक्यमिति सोवाच वसिष्ठो भगवानृषिः ।
तं वयं वै समाहर्तुं क्रतुं शक्ताः कथंचन ॥ ४ ॥

'जिस यज्ञकर्मको उन भगवान् वसिष्ठमुनिने असम्भव बताया है, उसे हमलोग कैसे कर सकते हैं ॥ ४ ॥

बालिशस्त्वं नरश्रेष्ठ गम्यतां स्वपुरं पुनः ।
याजने भगवाञ्शक्तस्त्रैलोक्यस्यापि पार्थिव ॥ ५ ॥
अवमानं कथं कर्तुं तस्य शक्ष्यामहे वयम् ।

'नरश्रेष्ठ ! तुम अभी नादान हो, अपने नगरको लौट जाओ। पृथ्वीनाथ ! भगवान् वसिष्ठ तीनों लोकोंका यज्ञ करानेमें समर्थ हैं, हमलोग उनका अपमान कैसे कर सकेंगे' ॥ ५½ ॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा क्रोधपर्याकुलाक्षरम् ॥ ६ ॥
स राजा पुनरेवैतानिदं वचनमब्रवीत् ।
प्रत्याख्यातो भगवता गुरुपुत्रैस्तथैव हि ॥ ७ ॥
अन्यां गतिं गमिष्यामि स्वस्ति वोऽस्तु तपोधनाः ।

गुरुपुत्रोंका वह क्रोधयुक्त वचन सुनकर राजा त्रिशङ्कुने पुनः उनसे इस प्रकार कहा—'तपोधनो ! भगवान् वसिष्ठने तो मुझे ठुकरा ही दिया था, आप गुरुपुत्रगण भी मेरी प्रार्थना नहीं स्वीकार कर रहे हैं; अतः आपका कल्याण हो, अब मैं दूसरे किसीकी शरणमें जाऊँगा' ॥ ६-७½ ॥

ऋषिपुत्रास्तु तच्छ्रुत्वा वाक्यं घोराभिसंहितम् ॥ ८ ॥
शेपुः परमसंक्रुद्धाश्चण्डालत्वं गमिष्यसि ।
इत्युक्त्वा ते महात्मानो विविशुः स्वं स्वमाश्रमम् ॥ ९ ॥

त्रिशङ्कुका यह घोर अभिसंधिपूर्ण वचन सुनकर महर्षिके पुत्रोंने अत्यन्त कुपित हो उन्हें शाप दे दिया— 'अरे ! जा तू चाण्डाल हो जायगा।' ऐसा कहकर वे महात्मा अपने-अपने आश्रममें प्रविष्ट हो गये ॥ ८-९ ॥

अथ रात्र्यां व्यतीतायां राजा चण्डालतां गतः ।
नीलवस्त्रधरो नीलः पुरुषो ध्वस्तमूर्धजः ॥ १० ॥
चित्यमाल्याङ्गरागश्च आयसाभरणोऽभवत् ।

तदनन्तर रात व्यतीत होते ही राजा त्रिशङ्कु चाण्डाल हो गये। उनके शरीरका रङ्ग नीला हो गया। कपड़े भी नीले हो गये। प्रत्येक अङ्गमें रुक्षता आ गयी। सिरके बाल छोटे-छोटे हो गये। सारे शरीरमें चिताकी राख-सी लिपट गयी। विभिन्न अङ्गोंमें यथास्थान लोहेके गहने पड़ गये ॥ १०½ ॥

तं दृष्ट्वा मन्त्रिणः सर्वे त्यज्य चण्डालरूपिणम् ॥ ११ ॥
प्राद्रवन् सहिता राम पौरा येऽस्यानुगामिनः ।
एको हि राजा काकुत्स्थ जगाम परमात्मवान् ॥ १२ ॥
दह्यमानो दिवारात्रं विश्वामित्रं तपोधनम् ।

श्रीराम ! अपने राजाको चाण्डालके रूपमें देखकर सब मन्त्री और पुरवासी जो उनके साथ आये थे, उन्हें छोड़कर भाग गये। ककुत्स्थनन्दन ! वे धीरस्वभाव नरेश दिन-रात चिन्ताकी आगमें जलने लगे और अकेले ही तपोधन विश्वामित्रकी शरणमें गये ॥ ११-१२½ ॥

विश्वामित्रस्तु तं दृष्ट्वा राजानं विफलीकृतम् ॥ १३ ॥
चण्डालरूपिणं राम मुनिः कारुण्यमागतः ।
कारुण्यात् स महातेजा वाक्यं परमधार्मिकः ॥ १४ ॥
इदं जगाद भद्रं ते राजानं घोरदर्शनम् ।
किमागमनकार्यं ते राजपुत्र महाबल ॥ १५ ॥
अयोध्याधिपते वीर शापाच्चण्डालतां गतः ।

श्रीराम ! विश्वामित्रने देखा राजाका जीवन निष्फल हो गया है। इन्हें चाण्डालके रूपमें देखकर उन महातेजस्वी परम धर्मात्मा मुनिके हृदयमें करुणा भर आयी। वे दयासे द्रवित होकर भयंकर दिखायी देनेवाले राजा त्रिशङ्कुसे इस प्रकार बोले—'महाबली राजकुमार ! तुम्हारा भला हो, यहाँ किस कामसे तुम्हारा आना हुआ है। वीर अयोध्यानरेश ! जान पड़ता है तुम शापसे चाण्डालभावको प्राप्त हुए हो' ॥

अथ तद्वाक्यमाकर्ण्य राजा चण्डालतां गतः ॥ १६ ॥
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं वाक्यज्ञो वाक्यकोविदम् ।

विश्वामित्रकी बात सुनकर चाण्डालभावको प्राप्त हुए और वाणीके तात्पर्यको समझनेवाले राजा त्रिशङ्कुने हाथ जोड़कर वाक्यार्थकोविद विश्वामित्र मुनिसे इस प्रकार कहा— ॥

प्रत्याख्यातोऽस्मि गुरुणा गुरुपुत्रैस्तथैव च ॥ १७ ॥
अनवाप्यैव तं कामं मया प्राप्तो विपर्ययः ।

'महर्षे ! मुझे गुरु तथा गुरुपुत्रोंने ठुकरा दिया। मैं जिस मनोऽभीष्ट वस्तुको पाना चाहता था, उसे न पाकर इच्छाके विपरीत अनर्थका भागी हो गया ॥ १७½ ॥

सशरीरो दिवं यायामिति मे सौम्यदर्शन ॥ १८ ॥
मया चेष्टं क्रतुशतं तच्च नावाप्यते फलम् ।

'सौम्यदर्शन मुनीश्वर ! मैं चाहता था कि इसी शरीरसे स्वर्गको जाऊँ, परंतु यह इच्छा पूर्ण न हो सकी। मैंने सैकड़ों यज्ञ किये हैं; किंतु उनका भी कोई फल नहीं मिल रहा है ॥ १८½ ॥

अनृतं नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन ॥ १९ ॥
कृच्छ्रेष्वपि गतः सौम्य क्षत्रधर्मेण ते शपे ।

'सौम्य ! मैं क्षत्रियधर्मकी शपथ खाकर आपसे कहता हूँ कि बड़े-से-बड़े सङ्कटमें पड़नेपर भी न तो पहले कभी मैंने मिथ्या भाषण किया है और न भविष्यमें ही कभी करूँगा ॥

यज्ञैर्बहुविधैरिष्टं प्रजा धर्मेण पालिताः ॥ २० ॥
गुरवश्च महात्मानः शीलवृत्तेन तोषिताः ।
धर्मे प्रयतमानस्य यज्ञं चाहर्तुमिच्छतः ॥ २१ ॥
परितोषं न गच्छन्ति गुरवो मुनिपुङ्गव ।
दैवमेव परं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम् ॥ २२ ॥

'मैंने नाना प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान किया, प्रजाजनोंकी धर्मपूर्वक रक्षा की और शील एवं सदाचारके द्वारा महात्माओं तथा गुरुजनोंको संतुष्ट रखनेका प्रयास किया। इस समय भी मैं यज्ञ करना चाहता था; अतः मेरा यह प्रयत्न धर्मके लिये ही था। मुनिप्रवर ! तो भी मेरे गुरुजन मुझपर संतुष्ट न हो सके। यह देखकर मैं दैवको ही बड़ा मानता हूँ। पुरुषार्थ तो निरर्थक जान पड़ता है ॥ २०—२२ ॥

दैवेनाक्रम्यते सर्वं दैवं हि परमा गतिः ।
तस्य मे परमार्तस्य प्रसादमभिकाङ्क्षतः ।
कर्तुमर्हसि भद्रं ते दैवोपहतकर्मणः ॥ २३ ॥

'दैव सबपर आक्रमण करता है। दैव ही सबकी परमगति है। मुने ! मैं अत्यन्त आर्त होकर आपकी कृपा चाहता हूँ। दैवने मेरे पुरुषार्थको दबा दिया है। आपका भला हो। आप मुझपर अवश्य कृपा करें ॥ २३ ॥

नान्यां गतिं गमिष्यामि नान्यच्छरणमस्ति मे ।
दैवं पुरुषकारेण निवर्तयितुमर्हसि ॥ २४ ॥

'अब मैं आपके सिवा दूसरे किसीकी शरणमें नहीं जाऊँगा। दूसरा कोई मुझे शरण देनेवाला है भी नहीं। आप ही अपने पुरुषार्थसे मेरे दुर्दैवको पलट सकते हैं' ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डेऽष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें अट्ठावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमः सर्गः

विश्वामित्रका त्रिशङ्कुको आश्वासन देकर उनका यज्ञ करानेके लिये ऋषि-मुनियोंको आमन्त्रित करना और उनकी बात न माननेवाले महोदय तथा ऋषिपुत्रोंको शाप देकर नष्ट करना

उक्तवाक्यं तु राजानं कृपया कुशिकात्मजः ।
अब्रवीन्मधुरं वाक्यं साक्षाच्चण्डालतां गतम् ॥ १ ॥

[शतानन्दजी कहते हैं—श्रीराम !] साक्षात् चाण्डालके स्वरूपको प्राप्त हुए, राजा त्रिशङ्कुके पूर्वोक्त वचनको सुनकर कुशिकनन्दन विश्वामित्रजीने दयासे द्रवित होकर उनसे मधुर वाणीमें कहा— ॥ १ ॥

इक्ष्वाको स्वागतं वत्स जानामि त्वां सुधार्मिकम् ।
शरणं ते प्रदास्यामि मा भैषीर्नृपपुङ्गव ॥ २ ॥

'वत्स ! इक्ष्वाकुकुलनन्दन ! तुम्हारा स्वागत है। मैं जानता हूँ, तुम बड़े धर्मात्मा हो। नृपप्रवर ! डरो मत, मैं तुम्हें शरण दूँगा ॥ २ ॥

अहमामन्त्रये सर्वान् महर्षीन् पुण्यकर्मणः ।
यज्ञसाह्यकरान् राजंस्ततो यक्ष्यसि निर्वृतः ॥ ३ ॥

'राजन् ! तुम्हारे यज्ञमें सहायता करनेवाले समस्त

पुण्यकर्मा महर्षियोंको मैं आमन्त्रित करता हूँ। फिर तुम आनन्दपूर्वक यज्ञ करना॥ ३॥

गुरुशापकृतं रूपं यदिदं त्वयि वर्तते।
अनेन सह रूपेण सशरीरो गमिष्यसि॥ ४॥
हस्तप्राप्तमहं मन्ये स्वर्गं तव नराधिप।
यस्त्वं कौशिकमागम्य शरण्यं शरणागतः॥ ५॥

'गुरुके शापसे तुम्हें जो यह नवीन रूप प्राप्त हुआ है इसके साथ ही तुम सदेह स्वर्गलोकको जाओगे। नरेश्वर! तुम जो शरणागतवत्सल विश्वामित्रकी शरणमें आ गये, इससे मैं यह समझता हूँ कि स्वर्गलोक तुम्हारे हाथमें आ गया है'॥ ४-५॥

एवमुक्त्वा महातेजाः पुत्रान् परमधार्मिकान्।
व्यादिदेश महाप्राज्ञान् यज्ञसम्भारकारणात्॥ ६॥

ऐसा कहकर महातेजस्वी विश्वामित्रने अपने परम धर्मपरायण महाज्ञानी पुत्रोंको यज्ञकी सामग्री जुटानेकी आज्ञा दी॥ ६॥

सर्वाञ्छिष्यान् समाहूय वाक्यमेतदुवाच ह।
सर्वानृषीन् सवासिष्ठानानयध्वं ममाज्ञया॥ ७॥
सशिष्यान् सुहृदश्चैव सर्त्विजः सुबहुश्रुतान्।

तत्पश्चात् समस्त शिष्योंको बुलाकर उनसे यह बात कही—'तुमलोग मेरी आज्ञासे अनेक विषयोंके ज्ञाता समस्त ऋषि-मुनियोंको, जिनमें वसिष्ठके पुत्र भी सम्मिलित हैं, उनके शिष्यों, सुहृदों तथा ऋत्विजोंसहित बुला लाओ॥ ७½॥

यदन्यो वचनं ब्रूयान्मद्वाक्यबलचोदितः॥ ८॥
तत् सर्वमखिलेनोक्तं ममाख्येयमनादृतम्।

'जिसे मेरा संदेश देकर बुलाया गया हो वह अथवा दूसरा कोई यदि इस यज्ञके विषयमें कोई अवहेलनापूर्ण बात कहे तो तुमलोग वह सब पूरा-पूरा मुझसे आकर कहना'॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा दिशो जग्मुस्तदाज्ञया॥ ९॥
आजग्मुरथ देशेभ्यः सर्वेभ्यो ब्रह्मवादिनः।
ते च शिष्याः समागम्य मुनिं ज्वलिततेजसम्॥ १०॥
ऊचुश्च वचनं सर्वे सर्वेषां ब्रह्मवादिनाम्।

उनकी आज्ञा मानकर सभी शिष्य चारों दिशाओंमें चले गये। फिर तो सब देशोंसे ब्रह्मवादी मुनि आने लगे। विश्वामित्रके वे शिष्य उन प्रज्वलित तेजवाले महर्षिके पास सबसे पहले लौट आये और समस्त ब्रह्मवादियोंने जो बातें कहीं थीं, उन्हें सबने विश्वामित्रजीसे कह सुनाया॥ ९-१०½॥

श्रुत्वा ते वचनं सर्वे समायान्ति द्विजातयः॥ ११॥
सर्वदेशेषु चागच्छन् वर्जयित्वा महोदयम्।

वे बोले—'गुरुदेव! आपका आदेश या संदेश सुनकर प्रायः सम्पूर्ण देशोंमें रहनेवाले सभी ब्राह्मण आ रहे हैं। केवल महोदय नामक ऋषि तथा वसिष्ठ-पुत्रोंको छोड़कर सभी महर्षि यहाँ आनेके लिये प्रस्थान कर चुके हैं॥ ११½॥

वासिष्ठं यच्छतं सर्वं क्रोधपर्याकुलाक्षरम्॥ १२॥
यथाह वचनं सर्वं शृणु त्वं मुनिपुङ्गव।

'मुनिश्रेष्ठ! वसिष्ठके जो सौ पुत्र हैं, उन सबने क्रोधभरी वाणीमें जो कुछ कहा है, वह सब आप सुनिये॥ १२½॥

क्षत्रियो याजको यस्य चण्डालस्य विशेषतः॥ १३॥
कथं सदसि भोक्तारो हविस्तस्य सुरर्षयः।
ब्राह्मणा वा महात्मानो भुक्त्वा चाण्डालभोजनम्॥ १४॥
कथं स्वर्गं गमिष्यन्ति विश्वामित्रेण पालिताः।

'वे कहते हैं—जो विशेषतः चण्डाल है और जिसका यज्ञ करानेवाला आचार्य क्षत्रिय है, उसके यज्ञमें देवर्षि अथवा महात्मा ब्राह्मण हविष्यका भोजन कैसे कर सकते हैं? अथवा चण्डालका अन्न खाकर विश्वामित्रसे पालित हुए ब्राह्मण स्वर्गमें कैसे जा सकेंगे?'॥ १३-१४½॥

एतद् वचननैष्ठुर्यमूचुः संरक्तलोचनाः॥ १५॥
वासिष्ठा मुनिशार्दूल सर्वे सहमहोदयाः।

'मुनिप्रवर! महोदयके साथ वसिष्ठके सभी पुत्रोंने क्रोधसे लाल आँखें करके ये उपर्युक्त निष्ठुरतापूर्ण बातें कही थीं'॥ १५½॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा सर्वेषां मुनिपुङ्गवः॥ १६॥
क्रोधसंरक्तनयनः सरोषमिदमब्रवीत्।

उन सबकी वह बात सुनकर मुनिवर विश्वामित्रके दोनों नेत्र क्रोधसे लाल हो गये और वे रोषपूर्वक इस प्रकार बोले—॥ १६½॥

यद् दूषयन्त्यदुष्टं मां तप उग्रं समास्थितम्॥ १७॥
भस्मीभूता दुरात्मानो भविष्यन्ति न संशयः।

'मैं उग्र तपस्यामें लगा हूँ और दोष या दुर्भावनासे रहित हूँ तो भी जो मुझपर दोषारोपण करते हैं, वे दुरात्मा भस्मीभूत हो जायँगे, इसमें संशय नहीं है॥ १७½॥

अद्य ते कालपाशेन नीता वैवस्वतक्षयम्॥ १८॥
सप्तजातिशतान्येव मृतपाः सम्भवन्तु ते।
श्वमांसनियताहारा मुष्टिका नाम निर्घृणाः॥ १९॥

'आज कालपाशसे बँधकर वे यमलोकमें पहुँचा दिये गये। अब ये सात सौ जन्मोंतक मुर्दोंकी रखवाली करनेवाली, निश्चितरूपसे कुत्तेका मांस खानेवाली मुष्टिक नामक प्रसिद्ध निर्दय चण्डाल-जातिमें जन्म ग्रहण करें॥ १८-१९॥

विकृताश्च विरूपाश्च लोकाननुचरन्त्विमान्।
महोदयश्च दुर्बुद्धिर्मामदूष्यं ह्यदूषयत्॥ २०॥
दूषितः सर्वलोकेषु निषादत्वं गमिष्यति।
प्राणातिपातनिरतो निरनुक्रोशतां गतः॥ २१॥
दीर्घकालं मम क्रोधाद् दुर्गतिं वर्तयिष्यति।

'वे लोग विकृत एवं विरूप होकर इन लोकोंमें विचरें।

साथ ही दुर्बुद्धि महोदय भी, जिसने मुझ दोषहीनको भी दूषित किया है, मेरे क्रोधसे दीर्घकालतक सब लोगोंमें निन्दित, दूसरे प्राणियोंकी हिंसामें तत्पर और दयाशून्य निषादयोनिको प्राप्त करके दुर्गति भोगेगा' ॥ २०-२१½ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं विश्वामित्रो महातपाः।
विरराम महातेजा ऋषिमध्ये महामुनिः ॥ २२ ॥

ऋषियोंके बीचमें ऐसा कहकर महातपस्वी, महातेजस्वी एवं महामुनि विश्वामित्र चुप हो गये ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकोनषष्टितमः सर्गः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उनसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

षष्टितमः सर्गः

विश्वामित्रका ऋषियोंसे त्रिशङ्कुका यज्ञ करानेके लिये अनुरोध, ऋषियोंद्वारा यज्ञका आरम्भ, त्रिशङ्कुका सशरीर स्वर्गगमन, इन्द्रद्वारा स्वर्गसे उनके गिराये जानेपर क्षुब्ध हुए विश्वामित्रका नूतन देवसर्गके लिये उद्योग, फिर देवताओंके अनुरोधसे उनका इस कार्यसे विरत होना

तपोबलहताञ्ज्ञात्वा वासिष्ठान् समहोदयान्।
ऋषिमध्ये महातेजा विश्वामित्रोऽभ्यभाषत ॥ १ ॥

[शतानन्दजी कहते हैं—श्रीराम!] महोदयसहित वसिष्ठके पुत्रोंको अपने तपोबलसे नष्ट हुआ जान महातेजस्वी विश्वामित्रने ऋषियोंके बीचमें इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

अयमिक्ष्वाकुदायादस्त्रिशङ्कुरिति विश्रुतः।
धर्मिष्ठश्च वदान्यश्च मां चैव शरणं गतः ॥ २ ॥

'मुनिवरो! ये इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न राजा त्रिशङ्कु हैं। ये विख्यात नरेश बड़े ही धर्मात्मा और दानी रहे हैं तथा इस समय मेरी शरणमें आये हैं॥ २ ॥

स्वेनानेन शरीरेण देवलोकजिगीषया।
यथायं स्वशरीरेण देवलोकं गमिष्यति ॥ ३ ॥
तथा प्रवर्त्यतां यज्ञो भवद्भिश्च मया सह।

'इनकी इच्छा है कि मैं अपने इसी शरीरसे देवलोकपर अधिकार प्राप्त करूँ। अतः आपलोग मेरे साथ रहकर ऐसे यज्ञका अनुष्ठान करें, जिससे इन्हें इस शरीरसे ही देवलोककी प्राप्ति हो सके' ॥ ३½ ॥

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा सर्व एव महर्षयः ॥ ४ ॥
ऊचुः समेताः सहसा धर्मज्ञा धर्मसंहितम्।
अयं कुशिकदायादो मुनिः परमकोपनः ॥ ५ ॥
यदाह वचनं सम्यगेतत् कार्यं न संशयः।

विश्वामित्रजीकी यह बात सुनकर धर्मको जाननेवाले सभी महर्षियोंने सहसा एकत्र होकर आपसमें धर्मयुक्त परामर्श किया—'ब्राह्मणो! कुशिकके पुत्र विश्वामित्र मुनि बड़े क्रोधी हैं। ये जो बात कह रहे हैं, उसका ठीक तरहसे पालन करना चाहिये। इसमें संशय नहीं है॥ ४-५½ ॥

अग्निकल्पो हि भगवान् शापं दास्यति रोषतः ॥ ६ ॥
तस्मात् प्रवर्त्यतां यज्ञः सशरीरो यथा दिवि।
गच्छेदिक्ष्वाकुदायादो विश्वामित्रस्य तेजसा ॥ ७ ॥

'ये भगवान् विश्वामित्र अग्निके समान तेजस्वी हैं। यदि इनकी बात नहीं मानी गयी तो ये रोषपूर्वक शाप दे देंगे। इसलिये ऐसे यज्ञका आरम्भ करना चाहिये, जिससे विश्वामित्रके तेजसे ये इक्ष्वाकुनन्दन त्रिशङ्कु सशरीर स्वर्गलोकमें जा सकें' ॥ ६-७ ॥

ततः प्रवर्त्यतां यज्ञः सर्वे समधितिष्ठत।
एवमुक्त्वा महर्षयः संजह्रुस्ताः क्रियास्तदा ॥ ८ ॥

इस तरह विचार करके उन्होंने सर्वसम्मतिसे यह निश्चय किया कि 'यज्ञ आरम्भ किया जाय।' ऐसा निश्चय करके महर्षियोंने उस समय अपना-अपना कार्य आरम्भ किया॥

याजकश्च महातेजा विश्वामित्रोऽभवत् क्रतौ।
ऋत्विजश्चानुपूर्व्येण मन्त्रवन्मन्त्रकोविदाः ॥ ९ ॥
चक्रुः सर्वाणि कर्माणि यथाकल्पं यथाविधि।

महातेजस्वी विश्वामित्र स्वयं ही उस यज्ञमें याजक (अध्वर्यु) हुए। फिर क्रमशः अनेक मन्त्रवेत्ता ब्राह्मण ऋत्विज् हुए; जिन्होंने कल्पशास्त्रके अनुसार विधि एवं मन्त्रोच्चारणपूर्वक सारे कार्य सम्पन्न किये॥ ९½ ॥

ततः कालेन महता विश्वामित्रो महातपाः ॥ १० ॥
चकारावाहनं तत्र भागार्थं सर्वदेवताः।
नाभ्यागमंस्तदा तत्र भागार्थं सर्वदेवताः ॥ ११ ॥

तदनन्तर बहुत समयतक यत्नपूर्वक मन्त्रपाठ करके महातपस्वी विश्वामित्रने अपना-अपना भाग ग्रहण करनेके लिये सम्पूर्ण देवताओंका आवाहन किया; परंतु उस समय वहाँ भाग लेनेके लिये वे सब देवता नहीं आये ॥ १०-११ ॥

ततः कोपसमाविष्टो विश्वामित्रो महामुनिः।
स्रुवमुद्यम्य सक्रोधस्त्रिशङ्कुमिदमब्रवीत् ॥ १२ ॥

इससे महामुनि विश्वामित्रको बड़ा क्रोध आया और उन्होंने स्रुवा उठाकर रोषके साथ राजा त्रिशङ्कुसे इस प्रकार कहा— ॥ १२ ॥

पश्य मे तपसो वीर्यं स्वार्जितस्य नरेश्वर।
एष त्वां स्वशरीरेण नयामि स्वर्गमोजसा ॥ १३ ॥

'नरेश्वर ! अब तुम मेरे द्वारा उपार्जित तपस्याका बल देखो। मैं अभी तुम्हें अपनी शक्तिसे सशरीर स्वर्गलोकमें पहुँचाता हूँ ॥ १३ ॥

दुष्प्रापं स्वशरीरेण स्वर्गं गच्छ नरेश्वर।
स्वार्जितं किंचिदप्यस्ति मया हि तपसः फलम् ॥ १४ ॥
राजंस्त्वं तेजसा तस्य सशरीरो दिवं व्रज।

'राजन् ! आज तुम अपने इस शरीरके साथ ही दुर्लभ स्वर्गलोकको जाओ। नरेश्वर ! यदि मैंने तपस्याका कुछ भी फल प्राप्त किया है तो उसके प्रभावसे तुम सशरीर स्वर्गलोकको जाओ' ॥ १४½ ॥

उक्तवाक्ये मुनौ तस्मिन् सशरीरो नरेश्वरः ॥ १५ ॥
दिवं जगाम काकुत्स्थ मुनीनां पश्यतां तदा।

श्रीराम ! विश्वामित्र मुनिके इतना कहते ही राजा त्रिशङ्कु सब मुनियोंके देखते-देखते उस समय अपने शरीरके साथ ही स्वर्गलोकको चले गये ॥ १५½ ॥

स्वर्गलोकं गतं दृष्ट्वा त्रिशङ्कुं पाकशासनः ॥ १६ ॥
सह सर्वैः सुरगणैरिदं वचनमब्रवीत्।

त्रिशङ्कुको स्वर्गलोकमें पहुँचा हुआ देख समस्त देवताओंके साथ पाकशासन इन्द्रने उनसे इस प्रकार कहा— ॥ १६½ ॥

त्रिशङ्को गच्छ भूयस्त्वं नासि स्वर्गकृतालयः ॥ १७ ॥
गुरुशापहतो मूढ पत भूमिमवाक्शिराः।

'मूर्ख त्रिशङ्कु ! तू फिर यहाँसे लौट जा, तेरे लिये स्वर्गमें स्थान नहीं है। तू गुरुके शापसे नष्ट हो चुका है, अतः नीचे मुँह किये पुनः पृथ्वीपर गिर जा' ॥ १७½ ॥

एवमुक्तो महेन्द्रेण त्रिशङ्कुरपतत् पुनः ॥ १८ ॥
विक्रोशमानस्त्राहीति विश्वामित्रं तपोधनम्।

इन्द्रके इतना कहते ही राजा त्रिशङ्कु तपोधन विश्वामित्रको पुकारकर 'त्राहि-त्राहि' की रट लगाते हुए पुनः स्वर्गसे नीचे गिरे ॥ १८½ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य क्रोशमानस्य कौशिकः ॥ १९ ॥
रोषमाहारयत् तीव्रं तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत्।

चीखते-चिल्लाते हुए त्रिशङ्कुकी वह करुण पुकार सुनकर कौशिक मुनिको बड़ा क्रोध हुआ। वे त्रिशङ्कुसे बोले— 'राजन् ! वहीं ठहर जा, वहीं ठहर जा' (उनके ऐसा कहनेपर त्रिशङ्कु बीचमें ही लटके रह गये) ॥ १९½ ॥

ऋषिमध्ये स तेजस्वी प्रजापतिरिवापरः ॥ २० ॥
सृजन् दक्षिणमार्गस्थान् सप्तर्षीनपरान् पुनः।
नक्षत्रवंशमपरमसृजत् क्रोधमूर्च्छितः ॥ २१ ॥

तत्पश्चात् तेजस्वी विश्वामित्रने ऋषिमण्डलीके बीच दूसरे प्रजापतिके समान दक्षिणमार्गके लिये नये सप्तर्षियोंकी सृष्टि की तथा क्रोधसे भरकर उन्होंने नवीन नक्षत्रोंका भी निर्माण कर डाला ॥ २०-२१ ॥

दक्षिणां दिशमास्थाय ऋषिमध्ये महायशाः।
सृष्ट्वा नक्षत्रवंशं च क्रोधेन कलुषीकृतः ॥ २२ ॥
अन्यमिन्द्रं करिष्यामि लोको वास्यादनिन्द्रकः।
दैवतान्यपि स क्रोधात् स्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ २३ ॥

वे महायशस्वी मुनि क्रोधसे कलुषित हो दक्षिण दिशामें ऋषिमण्डलीके बीच नूतन नक्षत्रमालाओंकी सृष्टि करके यह विचार करने लगे कि 'मैं दूसरे इन्द्रकी सृष्टि करूँगा अथवा मेरे द्वारा रचित स्वर्गलोक बिना इन्द्रके ही रहेगा।' ऐसा निश्चय करके उन्होंने क्रोधपूर्वक नूतन देवताओंकी सृष्टि प्रारम्भ की ॥ २२-२३ ॥

ततः परमसम्भ्रान्ताः सर्षिसङ्घाः सुरासुराः।
विश्वामित्रं महात्मानमूचुः सानुनयं वचः ॥ २४ ॥

इससे समस्त देवता, असुर और ऋषि-समुदाय बहुत घबराये और सभी वहाँ आकर महात्मा विश्वामित्रसे विनयपूर्वक बोले— ॥ २४ ॥

अयं राजा महाभाग गुरुशापपरिक्षतः।
सशरीरो दिवं यातुं नार्हत्येव तपोधन ॥ २५ ॥

'महाभाग ! ये राजा त्रिशङ्कु गुरुके शापसे अपना पुण्य नष्ट करके चाण्डाल हो गये हैं; अतः तपोधन ! ये सशरीर स्वर्गमें जानेके कदापि अधिकारी नहीं हैं' ॥ २५ ॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा देवानां मुनिपुङ्गवः।
अब्रवीत् सुमहद् वाक्यं कौशिकः सर्वदेवताः ॥ २६ ॥

उन देवताओंकी यह बात सुनकर मुनिवर कौशिकने सम्पूर्ण देवताओंसे परमोत्कृष्ट वचन कहा— ॥ २६ ॥

सशरीरस्य भद्रं वस्त्रिशङ्कोरस्य भूपतेः।
आरोहणं प्रतिज्ञातं नानृतं कर्तुमुत्सहे ॥ २७ ॥

'देवगण ! आपका कल्याण हो। मैंने राजा त्रिशङ्कुको सदेह स्वर्ग भेजनेकी प्रतिज्ञा कर ली है; अतः उसे मैं झूठी नहीं कर सकता ॥ २७ ॥

स्वर्गोऽस्तु सशरीरस्य त्रिशङ्कोरस्य शाश्वतः।
नक्षत्राणि च सर्वाणि मामकानि ध्रुवाण्यथ ॥ २८ ॥
यावल्लोका धरिष्यन्ति तिष्ठन्त्वेतानि सर्वशः।
यत् कृतानि सुराः सर्वे तदनुज्ञातुमर्हथ ॥ २९ ॥

'इन महाराज त्रिशङ्कुको सदा स्वर्गलोकका सुख प्राप्त होता रहे। मैंने जिन नक्षत्रोंका निर्माण किया है, वे सब सदा मौजूद रहें। जबतक संसार रहे, तबतक ये सभी वस्तुएँ, जिनकी मेरे द्वारा सृष्टि हुई है, सदा बनी रहें। देवताओ ! आप सब लोग इन बातोंका अनुमोदन करें' ॥ २८-२९ ॥

एवमुक्ताः सुराः सर्वे प्रत्यूचुर्मुनिपुङ्गवम्।
एवं भवतु भद्रं ते तिष्ठन्त्वेतानि सर्वशः ॥ ३० ॥
गगने तान्यनेकानि वैश्वानरपथाद् बहिः।
नक्षत्राणि मुनिश्रेष्ठ तेषु ज्योतिःषु जाज्वलन् ॥ ३१ ॥
अवाक्शिरास्त्रिशङ्कुश्च तिष्ठत्वमरसंनिभः।

अनुयास्यन्ति चैतानि ज्योतींषि नृपसत्तमम् ॥ ३२ ॥
कृतार्थं कीर्तिमन्तं च स्वर्गलोकगतं यथा।

उनके ऐसा कहनेपर सब देवता मुनिवर विश्वामित्रसे बोले—'महर्षे! ऐसा ही हो। ये सभी वस्तुएँ बनी रहें और आपका कल्याण हो। मुनिश्रेष्ठ! आपके रचे हुए अनेक नक्षत्र आकाशमें वैश्वानरपथसे बाहर प्रकाशित होंगे और उन्हीं ज्योतिर्मय नक्षत्रोंके बीचमें सिर नीचा किये त्रिशङ्कु भी प्रकाशमान रहेंगे। वहाँ इनकी स्थिति देवताओंके समान होगी और ये सभी नक्षत्र इन कृतार्थ एवं यशस्वी नृपश्रेष्ठका स्वर्गीय पुरुषकी भाँति अनुसरण करते रहेंगे' ॥ ३०—३२½ ॥

विश्वामित्रस्तु धर्मात्मा सर्वदेवैरभिष्टुतः ॥ ३३ ॥
ऋषिमध्ये महातेजा बाढमित्येव देवताः।

इसके बाद सम्पूर्ण देवताओंने ऋषियोंके बीचमें ही महातेजस्वी धर्मात्मा विश्वामित्र मुनिकी स्तुति की। इससे प्रसन्न होकर उन्होंने 'बहुत अच्छा' कहकर देवताओंका अनुरोध स्वीकार कर लिया ॥ ३३½ ॥

ततो देवा महात्मानो ऋषयश्च तपोधनाः।
जग्मुर्यथागतं सर्वे यज्ञस्यान्ते नरोत्तम ॥ ३४ ॥

नरश्रेष्ठ श्रीराम! तदनन्तर यज्ञ समाप्त होनेपर सब देवता और तपोधन महर्षि जैसे आये थे, उसी प्रकार अपने-अपने स्थानको लौट गये ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे षष्टितमः सर्गः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें साठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्टितमः सर्गः

विश्वामित्रकी पुष्कर तीर्थमें तपस्या तथा राजर्षि अम्बरीषका ऋचीकके मध्यम पुत्र शुनःशेपको यज्ञ-पशु बनानेके लिये खरीदकर लाना

विश्वामित्रो महातेजाः प्रस्थितान् वीक्ष्य तानृषीन्।
अब्रवीन्नरशार्दूल सर्वांस्तान् वनवासिनः ॥ १ ॥

[शतानन्दजी कहते हैं—] पुरुषसिंह श्रीराम! यज्ञमें आये हुए उन सब वनवासी ऋषियोंको वहाँसे जाते देख महातेजस्वी विश्वामित्रने उनसे कहा— ॥ १ ॥

महाविघ्नः प्रवृत्तोऽयं दक्षिणामास्थितो दिशम्।
दिशमन्यां प्रपत्स्यामस्तत्र तप्स्यामहे तपः ॥ २ ॥

'महर्षियो! इस दक्षिण दिशामें रहनेसे हमारी तपस्यामें महान् विघ्न आ पड़ा है; अतः अब हम दूसरी दिशामें चले जायँगे और वहीं रहकर तपस्या करेंगे ॥ २ ॥

पश्चिमायां विशालायां पुष्करेषु महात्मनः।
सुखं तपश्चरिष्यामः सुखं तद्धि तपोवनम् ॥ ३ ॥

'विशाल पश्चिम दिशामें जो महात्मा ब्रह्माजीके तीन पुष्कर हैं, उन्हींके पास रहकर हम सुखपूर्वक तपस्या करेंगे; क्योंकि वह तपोवन बहुत ही सुखद है' ॥ ३ ॥

एवमुक्त्वा महातेजाः पुष्करेषु महामुनिः।
तप उग्रं दुराधर्षं तेपे मूलफलाशनः ॥ ४ ॥

ऐसा कहकर वे महातेजस्वी महामुनि पुष्करमें चले गये और वहाँ फल-मूलका भोजन करके उग्र एवं दुर्जय तपस्या करने लगे ॥ ४ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु अयोध्याधिपतिर्महान्।
अम्बरीष इति ख्यातो यष्टुं समुपचक्रमे ॥ ५ ॥

इन्हीं दिनों अयोध्याके महाराज अम्बरीष एक यज्ञकी तैयारी करने लगे ॥ ५ ॥

तस्य वै यजमानस्य पशुमिन्द्रो जहार ह।
प्रणष्टे तु पशौ विप्रो राजानमिदमब्रवीत् ॥ ६ ॥

जब वे यज्ञमें लगे हुए थे, उस समय इन्द्रने उनके यज्ञपशुको चुरा लिया। पशुके खो जानेपर पुरोहितजीने राजासे कहा— ॥ ६ ॥

पशुरभ्याहृतो राजन् प्रणष्टस्तव दुर्नयात्।
अरक्षितारं राजानं घ्नन्ति दोषा नरेश्वर ॥ ७ ॥

'राजन्! जो पशु यहाँ लाया गया था, वह आपकी दुर्नीतिके कारण खो गया। नरेश्वर! जो राजा यज्ञ-पशुकी रक्षा नहीं करता, उसे अनेक प्रकारके दोष नष्ट कर डालते हैं ॥ ७ ॥

प्रायश्चित्तं महद्ध्येतन्नरं वा पुरुषर्षभ।
आनयस्व पशुं शीघ्रं यावत् कर्म प्रवर्तते ॥ ८ ॥

'पुरुषप्रवर! जबतक कर्मका आरम्भ होता है, उसके पहले ही खोये हुए पशुकी खोज कराकर उसे शीघ्र यहाँ ले आओ। अथवा उसके प्रतिनिधिरूपसे किसी पुरुष पशुको खरीद लाओ। यही इस पापका महान् प्रायश्चित्त है' ॥ ८ ॥

उपाध्यायवचः श्रुत्वा स राजा पुरुषर्षभः।
अन्विवेष महाबुद्धिः पशुं गोभिः सहस्रशः ॥ ९ ॥

पुरोहितकी यह बात सुनकर महाबुद्धिमान् पुरुषश्रेष्ठ राजा अम्बरीषने हजारों गौओंके मूल्यपर खरीदनेके लिये एक पुरुषका अन्वेषण किया ॥ ९ ॥

देशाञ्जनपदांस्तांस्तान् नगराणि वनानि च।
आश्रमाणि च पुण्यानि मार्गमाणो महीपतिः ॥ १० ॥
स पुत्रसहितं तात सभार्यं रघुनन्दन।
भृगुतुङ्गे समासीनमृचीकं संददर्श ह ॥ ११ ॥

तात रघुनन्दन! विभिन्न देशों, जनपदों, नगरों, वनों तथा पवित्र आश्रमोंमें खोज करते हुए राजा अम्बरीष भृगुतुङ्ग

पर्वतपर पहुँचे और वहाँ उन्होंने पत्नी तथा पुत्रोंके साथ बैठे हुए ऋचीक मुनिका दर्शन किया ॥ १०-११ ॥

तमुवाच महातेजाः प्रणम्याभिप्रसाद्य च ।
महर्षिं तपसा दीप्तं राजर्षिरमितप्रभः ॥ १२ ॥

अमित कान्तिमान् एवं महातेजस्वी राजर्षि अम्बरीषने तपस्यासे उद्दीप्त होनेवाले महर्षि ऋचीकको प्रणाम किया और उन्हें प्रसन्न करके कहा ॥ १२ ॥

पृष्ट्वा सर्वत्र कुशलमृचीकं तमिदं वचः ।
गवां शतसहस्रेण विक्रीणीषे सुतं यदि ॥ १३ ॥
पशोरर्थे महाभाग कृतकृत्योऽस्मि भार्गव ।

पहले तो उन्होंने ऋचीक मुनिसे उनकी सभी वस्तुओंके विषयमें कुशल-समाचार पूछा, उसके बाद इस प्रकार कहा—'महाभाग भृगुनन्दन ! यदि आप एक लाख गौएँ लेकर अपने एक पुत्रको पशु बनानेके लिये बेचें तो मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा' ॥ १३½ ॥

सर्वे परिगता देशा यज्ञियं न लभे पशुम् ॥ १४ ॥
दातुमर्हसि मूल्येन सुतमेकमितो मम ।

'मैं सारे देशोंमें घूम आया; परंतु कहीं भी यज्ञोपयोगी पशु नहीं पा सका। अतः आप उचित मूल्य लेकर यहाँ मुझे अपने एक पुत्रको दे दीजिये' ॥ १४½ ॥

एवमुक्तो महातेजा ऋचीकस्त्वब्रवीद् वचः ॥ १५ ॥
नाहं ज्येष्ठं नरश्रेष्ठ विक्रीणीयां कथंचन ।

उनके ऐसा कहनेपर महातेजस्वी ऋचीक बोले—'नरश्रेष्ठ ! मैं अपने ज्येष्ठ पुत्रको तो किसी तरह नहीं बेचूँगा' ॥

ऋचीकस्य वचः श्रुत्वा तेषां माता महात्मनाम् ॥ १६ ॥
उवाच नरशार्दूलमम्बरीषमिदं वचः ।

ऋचीक मुनिकी बात सुनकर उन महात्मा पुत्रोंकी माताने पुरुषसिंह अम्बरीषसे इस प्रकार कहा— ॥ १६½ ॥

अविक्रेयं सुतं ज्येष्ठं भगवानाह भार्गवः ॥ १७ ॥
ममापि दयितं विद्धि कनिष्ठं शुनकं प्रभो ।
तस्मात् कनीयसं पुत्रं न दास्ये तव पार्थिव ॥ १८ ॥

'प्रभो ! भगवान् भार्गव कहते हैं कि ज्येष्ठ पुत्र कदापि बेचनेयोग्य नहीं है; परंतु आपको मालूम होना चाहिये जो सबसे छोटा पुत्र शुनक है, वह मुझे भी बहुत ही प्रिय है। अतः पृथ्वीनाथ ! मैं अपना छोटा पुत्र आपको कदापि नहीं दूँगी ॥

प्रायेण हि नरश्रेष्ठ ज्येष्ठाः पितृषु वल्लभाः ।
मातृणां च कनीयांसस्तस्माद् रक्ष्ये कनीयसम् ॥ १९ ॥

'नरश्रेष्ठ ! प्रायः जेठे पुत्र पिताओंको प्रिय होते हैं और छोटे पुत्र माताओंको। अतः मैं अपने कनिष्ठ पुत्रकी अवश्य रक्षा करूँगी' ॥ १९ ॥

उक्तवाक्ये मुनौ तस्मिन् मुनिपत्न्यां तथैव च ।
शुनःशेपः स्वयं राम मध्यमो वाक्यमब्रवीत् ॥ २० ॥

श्रीराम ! मुनि और उनकी पत्नीके ऐसा कहनेपर मझले पुत्र शुनःशेपने स्वयं कहा— ॥ २० ॥

पिता ज्येष्ठमविक्रेयं माता चाह कनीयसम् ।
विक्रेयं मध्यमं मन्ये राजपुत्र नयस्व माम् ॥ २१ ॥

'राजपुत्र ! पिताने ज्येष्ठको और माताने कनिष्ठ पुत्रको बेचनेके लिये अयोग्य बतलाया है। अतः मैं समझता हूँ इन दोनोंकी दृष्टिमें मझला पुत्र ही बेचनेके योग्य है। इसलिये तुम मुझे ही ले चलो' ॥ २१ ॥

अथ राजा महाबाहो वाक्यान्ते ब्रह्मवादिनः ।
हिरण्यस्य सुवर्णस्य कोटिभी रत्नराशिभिः ॥ २२ ॥
गवां शतसहस्रेण शुनःशेपं नरेश्वरः ।
गृहीत्वा परमप्रीतो जगाम रघुनन्दन ॥ २३ ॥

महाबाहु रघुनन्दन ! ब्रह्मवादी मझले पुत्रके ऐसा कहनेपर राजा अम्बरीष बड़े प्रसन्न हुए और एक करोड़ स्वर्णमुद्रा, रत्नोंके ढेर तथा एक लाख गौओंके बदले शुनःशेपको लेकर वे घरकी ओर चले ॥ २२-२३ ॥

अम्बरीषस्तु राजर्षी रथमारोप्य सत्वरः ।
शुनःशेपं महातेजा जगामाशु महायशाः ॥ २४ ॥

महातेजस्वी महायशस्वी राजर्षि अम्बरीष शुनःशेपको रथपर बिठाकर बड़ी उतावलीके साथ तीव्र गतिसे चले ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकषष्टितमः सर्गः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें एकसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमः सर्गः

विश्वामित्रद्वारा शुनःशेपकी रक्षाका सफल प्रयत्न और तपस्या

शुनःशेपं नरश्रेष्ठ गृहीत्वा तु महायशाः ।
व्यश्रमत् पुष्करे राजा मध्याह्ने रघुनन्दन ॥ १ ॥

[**शतानन्दजी बोले—**] नरश्रेष्ठ रघुनन्दन ! महायशस्वी राजा अम्बरीष शुनःशेपको साथ लेकर दोपहरके समय पुष्कर तीर्थमें आये और वहाँ विश्राम करने लगे ॥ १ ॥

तस्य विश्रममाणस्य शुनःशेपो महायशाः ।
पुष्करं ज्येष्ठमागम्य विश्वामित्रं ददर्श ह ॥ २ ॥
तप्यन्तमृषिभिः सार्धं मातुलं परमातुरः ।
विषण्णवदनो दीनस्तृष्णया च श्रमेण च ॥ ३ ॥
पपाताङ्के मुने राम वाक्यं चेदमुवाच ह ।

श्रीराम ! जब वे विश्राम करने लगे, उस समय

महायशस्वी शुनःशेप ज्येष्ठ पुष्करमें आकर ऋषियोंके साथ तपस्या करते हुए अपने मामा विश्वामित्रसे मिला। वह अत्यन्त आतुर एवं दीन हो रहा था। उसके मुखपर विषाद छा गया था। वह भूख-प्यास और परिश्रमसे दीन हो मुनिकी गोदमें गिर पड़ा और इस प्रकार बोला— ॥ २-३½ ॥

न मेऽस्ति माता न पिता ज्ञातयो बान्धवाः कुतः ॥ ४ ॥
त्रातुमर्हसि मां सौम्य धर्मेण मुनिपुङ्गव ।

'सौम्य! मुनिपुङ्गव! न मेरे माता हैं, न पिता, फिर भाई-बन्धु कहाँसे हो सकते हैं। (मैं असहाय हूँ अतः) आप ही धर्मके द्वारा मेरी रक्षा कीजिये ॥४½ ॥

त्राता त्वं हि नरश्रेष्ठ सर्वेषां त्वं हि भावनः ॥ ५ ॥
राजा च कृतकार्यः स्यादहं दीर्घायुरव्ययः ।
स्वर्गलोकमुपाश्नीयां तपस्तप्त्वा ह्यनुत्तमम् ॥ ६ ॥

'नरश्रेष्ठ! आप सबके रक्षक तथा अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति करानेवाले हैं। ये राजा अम्बरीष कृतार्थ हो जायँ और मैं भी विकाररहित दीर्घायु होकर सर्वोत्तम तपस्या करके स्वर्गलोक प्राप्त कर लूँ—ऐसी कृपा कीजिये ॥ ५-६ ॥

स मे नाथो ह्यनाथस्य भव भव्येन चेतसा ।
पितेव पुत्रं धर्मात्मंस्त्रातुमर्हसि किल्बिषात् ॥ ७ ॥

'धर्मात्मन्! आप अपने निर्मलचित्तसे मुझ अनाथके नाथ (असहायके संरक्षक) हो जायँ। जैसे पिता अपने पुत्रकी रक्षा करता है, उसी प्रकार आप मुझे इस पापमूलक विपत्तिसे बचाइये' ॥ ७ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा विश्वामित्रो महातपाः ।
सान्त्वयित्वा बहुविधं पुत्रानिदमुवाच ह ॥ ८ ॥

शुनःशेपकी यह बात सुनकर महातपस्वी विश्वामित्र उसे नाना प्रकारसे सान्त्वना दे अपने पुत्रोंसे इस प्रकार बोले— ॥ ८ ॥

यत्कृते पितरः पुत्राञ्जनयन्ति शुभार्थिनः ।
परलोकहितार्थाय तस्य कालोऽयमागतः ॥ ९ ॥

'बच्चो! शुभकी अभिलाषा रखनेवाले पिता जिस पारलौकिक हितके उद्देश्यसे पुत्रोंको जन्म देते हैं, उसकी पूर्तिका यह समय आ गया है ॥ ९ ॥

अयं मुनिसुतो बालो मत्तः शरणमिच्छति ।
अस्य जीवितमात्रेण प्रियं कुरुत पुत्रकाः ॥ १० ॥

'पुत्रो! यह बालक मुनिकुमार मुझसे अपनी रक्षा चाहता है, तुमलोग अपना जीवनमात्र देकर इसका प्रिय करो ॥ १० ॥

सर्वे सुकृतकर्माणः सर्वे धर्मपरायणाः ।
पशुभूता नरेन्द्रस्य तृप्तिमग्नेः प्रयच्छत ॥ ११ ॥

'तुम सब-के-सब पुण्यात्मा और धर्मपरायण हो। अतः राजाके यज्ञमें पशु बनकर अग्निदेवको तृप्ति प्रदान करो ॥ ११ ॥

नाथवांश्च शुनःशेपो यज्ञश्चाविघ्नतो भवेत् ।
देवतास्तर्पिताश्च स्युर्मम चापि कृतं वचः ॥ १२ ॥

'इससे शुनःशेप सनाथ होगा, राजाका यज्ञ भी बिना किसी विघ्नबाधाके पूर्ण हो जायगा, देवता भी तृप्त होंगे और तुम्हारे द्वारा मेरी आज्ञाका पालन भी हो जायगा' ॥ १२ ॥

मुनेस्तद् वचनं श्रुत्वा मधुच्छन्दादयः सुताः ।
साभिमानं नरश्रेष्ठ सलीलमिदमब्रुवन् ॥ १३ ॥

'नरश्रेष्ठ! विश्वामित्र मुनिका वह वचन सुनकर उनके मधुच्छन्द आदि पुत्र अभिमान और अवहेलनापूर्वक इस प्रकार बोले— ॥ १३ ॥

कथमात्मसुतान् हित्वा त्रायसेऽन्यसुतं विभो ।
अकार्यमिव पश्यामः श्वमांसमिव भोजने ॥ १४ ॥

'प्रभो! आप अपने बहुत-से पुत्रोंको त्यागकर दूसरेके एक पुत्रकी रक्षा कैसे करते हैं? जैसे पवित्र भोजनमें कुत्तेका मांस पड़ जाय तो वह अग्राह्य हो जाता है, उसी प्रकार जहाँ अपने पुत्रोंकी रक्षा आवश्यक हो, वहाँ दूसरेके पुत्रकी रक्षाके कार्यको हम अकर्तव्यकी कोटिमें ही देखते हैं' ॥ १४ ॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा पुत्राणां मुनिपुङ्गवः ।
क्रोधसंरक्तनयनो व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥ १५ ॥

उन पुत्रोंका वह कथन सुनकर मुनिवर विश्वामित्रके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये। वे इस प्रकार कहने लगे— ॥ १५ ॥

निःसाध्वसमिदं प्रोक्तं धर्मादपि विगर्हितम् ।
अतिक्रम्य तु मद्वाक्यं दारुणं रोमहर्षणम् ॥ १६ ॥
श्वमांसभोजिनः सर्वे वासिष्ठा इव जातिषु ।
पूर्णं वर्षसहस्रं तु पृथिव्यामनुवत्स्यथ ॥ १७ ॥

'अरे! तुमलोगोंने निर्भय होकर ऐसी बात कही है, जो धर्मसे रहित एवं निन्दित है। मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन करके जो यह दारुण एवं रोमाञ्चकारी बात तुमने मुँहसे निकाली है, इस अपराधके कारण तुम सब लोग भी वसिष्ठके पुत्रोंकी भाँति कुत्तेका मांस खानेवाली मुष्टिक आदि जातियोंमें जन्म लेकर पूरे एक हजार वर्षोंतक इस पृथ्वीपर रहोगे' ॥ १७ ॥

कृत्वा शापसमायुक्तान् पुत्रान् मुनिवरस्तदा ।
शुनःशेपमुवाचार्तं कृत्वा रक्षां निरामयाम् ॥ १८ ॥

इस प्रकार अपने पुत्रोंको शाप देकर मुनिवर विश्वामित्रने उस समय शोकार्त शुनःशेपकी निर्विघ्न रक्षा करके उससे इस प्रकार कहा— ॥ १८ ॥

पवित्रपाशैराबद्धो रक्तमाल्यानुलेपनः ।
वैष्णवं यूपमासाद्य वाग्भिरग्निमुदाहर ॥ १९ ॥
इमे च गाथे द्वे दिव्ये गायेथा मुनिपुत्रक ।
अम्बरीषस्य यज्ञेऽस्मिंस्ततः सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ २० ॥

'मुनिकुमार! अम्बरीषके इस यज्ञमें जब तुम्हें कुश आदिके पवित्र पाशोंसे बाँधकर लाल फूलोंकी माला और लाल चन्दन धारण करा दिया जाय, उस समय तुम विष्णुदेवता-सम्बन्धी यूपके पास जाकर वाणीद्वारा अग्निकी (इन्द्र और विष्णुकी) स्तुति करना और इन दो दिव्य

गाथाओंका गान करना। इससे तुम मनोवाञ्छित सिद्धि प्राप्त कर लोगे' ॥ १९-२० ॥

शुनःशेपो गृहीत्वा ते द्वे गाथे सुसमाहितः।
त्वरया राजसिंहं तमम्बरीषमुवाच ह ॥ २१ ॥

शुनःशेपने एकाग्रचित्त होकर उन दोनों गाथाओंको ग्रहण किया और राजसिंह अम्बरीषके पास जाकर उनसे शीघ्रतापूर्वक कहा— ॥ २१ ॥

राजसिंह महाबुद्धे शीघ्रं गच्छावहे वयम्।
निवर्तयस्व राजेन्द्र दीक्षां च समुदाहर ॥ २२ ॥

'राजेन्द्र! परम बुद्धिमान् राजसिंह! अब हम दोनों शीघ्र चलें। आप यज्ञकी दीक्षा लें और यज्ञकार्य सम्पन्न करें' ॥

तद् वाक्यमृषिपुत्रस्य श्रुत्वा हर्षसमन्वितः।
जगाम नृपतिः शीघ्रं यज्ञवाटमतन्द्रितः ॥ २३ ॥

ऋषिकुमारका वह वचन सुनकर राजा अम्बरीष आलस्य छोड़ हर्षसे उत्फुल्ल हो शीघ्रतापूर्वक यज्ञशालामें गये ॥

सदस्यानुमते राजा पवित्रकृतलक्षणम्।
पशुं रक्ताम्बरं कृत्वा यूपे तं समबन्धयत् ॥ २४ ॥

वहाँ सदस्योंकी अनुमति ले राजा अम्बरीषने शुनःशेपको कुशके पवित्रपाशसे बाँधकर उसे पशुके लक्षणसे सम्पन्न कर दिया और यज्ञ-पशुको लाल वस्त्र पहिनाकर यूपमें बाँध दिया ॥ २४ ॥

स बद्धो वाग्भिरग्र्याभिरभितुष्टाव वै सुरौ।
इन्द्रमिन्द्रानुजं चैव यथावन्मुनिपुत्रकः ॥ २५ ॥

बँधे हुए मुनिपुत्र शुनःशेपने उत्तम वाणीद्वारा इन्द्र और उपेन्द्र इन दोनों देवताओंकी यथावत् स्तुति की ॥ २५ ॥

ततः प्रीतः सहस्राक्षो रहस्यस्तुतितोषितः।
दीर्घमायुस्तदा प्रादाच्छुनःशेपाय वासवः ॥ २६ ॥

उस रहस्यभूत स्तुतिसे संतुष्ट होकर सहस्र नेत्रधारी इन्द्र बड़े प्रसन्न हुए। उस समय उन्होंने शुनःशेपको दीर्घायु प्रदान की ॥ २६ ॥

स च राजा नरश्रेष्ठ यज्ञस्य च समाप्तवान्।
फलं बहुगुणं राम सहस्राक्षप्रसादजम् ॥ २७ ॥

नरश्रेष्ठ श्रीराम! राजा अम्बरीषने भी देवराज इन्द्रकी कृपासे उस यज्ञका बहुगुणसम्पन्न उत्तम फल प्राप्त किया ॥

विश्वामित्रोऽपि धर्मात्मा भूयस्तेपे महातपाः।
पुष्करेषु नरश्रेष्ठ दशवर्षशतानि च ॥ २८ ॥

पुरुषप्रवर! इसके बाद महातपस्वी धर्मात्मा विश्वामित्रने भी पुष्कर तीर्थमें पुनः एक हजार वर्षोंतक तीव्र तपस्या की ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे द्विषष्टितमः सर्गः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें बासठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

त्रिषष्टितमः सर्गः

विश्वामित्रको ऋषि एवं महर्षिपदकी प्राप्ति, मेनकाद्वारा उनका तपोभङ्ग तथा ब्रह्मर्षिपदकी प्राप्तिके लिये उनकी घोर तपस्या

पूर्णे वर्षसहस्रे तु व्रतस्नातं महामुनिम्।
अभ्यगच्छन् सुराः सर्वे तपःफलचिकीर्षवः ॥ १ ॥

[शतानन्दजी कहते हैं— श्रीराम!] जब एक हजार वर्ष पूरे हो गये, तब उन्होंने व्रतकी समाप्तिका स्नान किया। स्नान कर लेनेपर महामुनि विश्वामित्रके पास सम्पूर्ण देवता उन्हें तपस्याका फल देनेकी इच्छासे आये ॥ १ ॥

अब्रवीत् सुमहातेजा ब्रह्मा सुरुचिरं वचः।
ऋषिस्त्वमसि भद्रं ते स्वार्जितैः कर्मभिः शुभैः ॥ २ ॥

उस समय महातेजस्वी ब्रह्माजीने मधुर वाणीमें कहा—'मुने! तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम अपने द्वारा उपार्जित शुभकर्मोंके प्रभावसे ऋषि हो गये' ॥ २ ॥

तमेवमुक्त्वा देवेशस्त्रिदिवं पुनरभ्यगात्।
विश्वामित्रो महातेजा भूयस्तेपे महत् तपः ॥ ३ ॥

उनसे ऐसा कहकर देवेश्वर ब्रह्माजी पुनः स्वर्गको चले गये। इधर महातेजस्वी विश्वामित्र पुनः बड़ी भारी तपस्यामें लग गये ॥ ३ ॥

ततः कालेन महता मेनका परमाप्सराः।
पुष्करेषु नरश्रेष्ठ स्नातुं समुपचक्रमे ॥ ४ ॥

नरश्रेष्ठ! तदनन्तर बहुत समय व्यतीत होनेपर परम सुन्दरी अप्सरा मेनका पुष्करमें आयी और वहाँ स्नानकी तैयारी करने लगी ॥

तां ददर्श महातेजा मेनकां कुशिकात्मजः।
रूपेणाप्रतिमां तत्र विद्युतं जलदे यथा ॥ ५ ॥

महातेजस्वी कुशिकनन्दन विश्वामित्रने वहाँ उस मेनकाको देखा। उसके रूप और लावण्यकी कहीं तुलना नहीं थी। जैसे बादलमें बिजली चमकती हो, उसी प्रकार वह पुष्करके जलमें शोभा पा रही थी ॥ ५ ॥

कन्दर्पदर्पवशगो मुनिस्तामिदमब्रवीत्।
अप्सरः स्वागतं तेऽस्तु वस चेह ममाश्रमे ॥ ६ ॥

उसे देखकर विश्वामित्र मुनि कामके अधीन हो गये और उससे इस प्रकार बोले—'अप्सरा! तेरा स्वागत है, तू मेरे इस आश्रममें निवास कर ॥ ६ ॥

अनुगृह्णीष्व भद्रं ते मदनेन विमोहितम्।
इत्युक्ता सा वरारोहा तत्र वासमथाकरोत् ॥ ७ ॥

'तेरा भला हो। मैं कामसे मोहित हो रहा हूँ। मुझपर कृपा कर।' उनके ऐसा कहनेपर सुन्दर कटिप्रदेशवाली मेनका वहाँ निवास करने लगी॥ ७॥

तपसो हि महाविघ्नो विश्वामित्रमुपागमत्।
तस्यां वसन्त्यां वर्षाणि पञ्च पञ्च च राघव॥ ८॥
विश्वामित्राश्रमे सौम्ये सुखेन व्यतिचक्रमुः।

इस प्रकार तपस्याका बहुत बड़ा विघ्न विश्वामित्रजीके पास स्वयं उपस्थित हो गया। रघुनन्दन! मेनकाको विश्वामित्रजीके उस सौम्य आश्रमपर रहते हुए दस वर्ष बड़े सुखसे बीते॥

अथ काले गते तस्मिन् विश्वामित्रो महामुनिः॥ ९॥
सव्रीड इव संवृत्तश्चिन्ताशोकपरायणः।

इतना समय बीत जानेपर महामुनि विश्वामित्र लज्जित-से हो गये। चिन्ता और शोकमें डूब गये॥ ९½॥

बुद्धिर्मुनेः समुत्पन्ना सामर्षा रघुनन्दन॥ १०॥
सर्वं सुराणां कर्मैतत् तपोऽपहरणं महत्।

रघुनन्दन! मुनिके मनमें रोषपूर्वक यह विचार उत्पन्न हुआ कि 'यह सब देवताओंकी करतूत है। उन्होंने हमारी तपस्याका अपहरण करनेके लिये यह महान् प्रयास किया है॥

अहोरात्रापदेशेन गताः संवत्सरा दश॥ ११॥
काममोहाभिभूतस्य विघ्नोऽयं प्रत्युपस्थितः।

'मैं कामजनित मोहसे ऐसा आक्रान्त हो गया कि मेरे दस वर्ष एक दिन-रातके समान बीत गये। यह मेरी तपस्यामें बहुत बड़ा विघ्न उपस्थित हो गया'॥ ११½॥

स निःश्वसन् मुनिवरः पश्चात्तापेन दुःखितः॥ १२॥

ऐसा विचारकर मुनिवर विश्वामित्र लम्बी साँस खींचते हुए पश्चात्तापसे दुःखित हो गये॥ १२॥

भीतामप्सरसं दृष्ट्वा वेपन्तीं प्राञ्जलिं स्थिताम्।
मेनकां मधुरैर्वाक्यैर्विसृज्य कुशिकात्मजः॥ १३॥
उत्तरं पर्वतं राम विश्वामित्रो जगाम ह।

उस समय मेनका अप्सरा भयभीत हो थर-थर काँपती हुई हाथ जोड़कर उनके सामने खड़ी हो गयी। उसकी ओर देखकर कुशिकनन्दन विश्वामित्रने मधुर वचनोंद्वारा उसे विदा कर दिया और स्वयं वे उत्तर पर्वत (हिमवान्) पर चले गये॥ १३॥

स कृत्वा नैष्ठिकीं बुद्धिं जेतुकामो महायशाः॥ १४॥
कौशिकीतीरमासाद्य तपस्तेपे दुरासदम्।

वहाँ उन महायशस्वी मुनिने निश्चयात्मक बुद्धिका आश्रय ले कामदेवको जीतनेके लिये कौशिकी-तटपर जाकर दुर्जय तपस्या आरम्भ की॥ १४½॥

तस्य वर्षसहस्राणि घोरं तप उपासतः॥ १५॥
उत्तरे पर्वते राम देवतानामभूद् भयम्।

श्रीराम! वहाँ उत्तर पर्वतपर एक हजार वर्षोंतक घोर तपस्यामें लगे हुए विश्वामित्रसे देवताओंको बड़ा भय हुआ॥

आमन्त्रयन् समागम्य सर्वे सर्षिगणाः सुराः॥ १६॥
महर्षिशब्दं लभतां साध्वयं कुशिकात्मजः।

सब देवता और ऋषि परस्पर मिलकर सलाह करने लगे—'ये कुशिकनन्दन विश्वामित्र महर्षिकी पदवी प्राप्त करें, यही इनके लिये उत्तम बात होगी'॥ १६½॥

देवतानां वचः श्रुत्वा सर्वलोकपितामहः॥ १७॥
अब्रवीन्मधुरं वाक्यं विश्वामित्रं तपोधनम्।
महर्षे स्वागतं वत्स तपसोग्रेण तोषितः॥ १८॥
महत्त्वमृषिमुख्यत्वं ददामि तव कौशिक।

देवताओंकी बात सुनकर सर्वलोकपितामह ब्रह्माजी तपोधन विश्वामित्रके पास जा मधुर वाणीमें बोले—'महर्षे! तुम्हारा स्वागत है। वत्स कौशिक! मैं तुम्हारी उग्र तपस्यासे बहुत संतुष्ट हूँ और तुम्हें महत्ता एवं ऋषियोंमें श्रेष्ठता प्रदान करता हूँ'॥ १७-१८½॥

ब्रह्मणस्तु वचः श्रुत्वा विश्वामित्रस्तपोधनः॥ १९॥
प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा प्रत्युवाच पितामहम्।
ब्रह्मर्षिशब्दमतुलं स्वार्जितैः कर्मभिः शुभैः॥ २०॥
यदि मे भगवन्नाह ततोऽहं विजितेन्द्रियः।

ब्रह्माजीका यह वचन सुनकर तपोधन विश्वामित्र हाथ जोड़कर प्रणाम करके उनसे बोले—'भगवन्! यदि अपने द्वारा उपार्जित शुभकर्मोंके फलसे मुझे आप ब्रह्मर्षिका अनुपम पद प्रदान कर सकें तो मैं अपनेको जितेन्द्रिय समझूँगा'॥ २०॥

तमुवाच ततो ब्रह्मा न तावत् त्वं जितेन्द्रियः॥ २१॥
यतस्व मुनिशार्दूल इत्युक्त्वा त्रिदिवं गतः।

तब ब्रह्माजीने उनसे कहा—'मुनिश्रेष्ठ! अभी तुम जितेन्द्रिय नहीं हुए हो। इसके लिये प्रयत्न करो।' ऐसा कहकर वे स्वर्गलोकको चले गये॥ २१½॥

विप्रस्थितेषु देवेषु विश्वामित्रो महामुनिः॥ २२॥
ऊर्ध्वबाहुर्निरालम्बो वायुभक्षस्तपश्चरन्।

देवताओंके चले जानेपर महामुनि विश्वामित्रने पुनः घोर तपस्या आरम्भ की। वे दोनों भुजाएँ ऊपर उठाये बिना किसी आधारके खड़े होकर केवल वायु पीकर रहते हुए तपमें संलग्न हो गये॥ २२½॥

घर्मे पञ्चतपा भूत्वा वर्षास्वाकाशसंश्रयः॥ २३॥
शिशिरे सलिलेशायी रात्र्यहानि तपोधनः।
एवं वर्षसहस्रं हि तपो घोरमुपागमत्॥ २४॥

गर्मीके दिनोंमें पञ्चाग्निका सेवन करते, वर्षाकालमें खुले आकाशके नीचे रहते और जाड़ेके समय रात-दिन पानीमें खड़े रहते थे। इस प्रकार उन तपोधनने एक हजार वर्षोंतक घोर तपस्या की॥ २३-२४॥

तस्मिन् संतप्यमाने तु विश्वामित्रे महामुनौ।
संतापः सुमहानासीत् सुराणां वासवस्य च॥ २५॥

महामुनि विश्वामित्रके इस प्रकार तपस्या करते समय देवताओं और इन्द्रके मनमें बड़ा भारी संताप हुआ ॥ २५ ॥

रम्भामप्सरसं शक्रः सर्वैः सह मरुद्गणैः ।
उवाचात्महितं वाक्यमहितं कौशिकस्य च ॥ २६ ॥

समस्त मरुद्गणोंसहित इन्द्रने उस समय रम्भा अप्सरासे ऐसी बात कही, जो अपने लिये हितकर और विश्वामित्रके लिये अहितकर थी ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे त्रिषष्टितमः सर्गः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें तिरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

चतुःषष्टितमः सर्गः

विश्वामित्रका रम्भाको शाप देकर पुनः घोर तपस्याके लिये दीक्षा लेना

सुरकार्यमिदं रम्भे कर्तव्यं सुमहत् त्वया ।
लोभनं कौशिकस्येह काममोहसमन्वितम् ॥ १ ॥

(इन्द्र बोले—) रम्भे ! देवताओंका एक बहुत बड़ा कार्य उपस्थित हुआ है। इसे तुम्हें ही पूरा करना है। तू महर्षि विश्वामित्रको इस प्रकार लुभा, जिससे वे काम और मोहके वशीभूत हो जायँ ॥ १ ॥

तथोक्ता साप्सरा राम सहस्राक्षेण धीमता ।
व्रीडिता प्राञ्जलिर्वाक्यं प्रत्युवाच सुरेश्वरम् ॥ २ ॥

श्रीराम ! बुद्धिमान् इन्द्रके ऐसा कहनेपर वह अप्सरा लज्जित हो हाथ जोड़कर देवेश्वर इन्द्रसे बोली— ॥ २ ॥

अयं सुरपते घोरो विश्वामित्रो महामुनिः ।
क्रोधमुत्स्रक्ष्यते घोरं मयि देव न संशयः ॥ ३ ॥

'सुरपते ! ये महामुनि विश्वामित्र बड़े भयंकर हैं। देव ! इसमें संदेह नहीं कि ये मुझपर भयानक क्रोधका प्रयोग करेंगे ॥ ३ ॥

ततो हि मे भयं देव प्रसादं कर्तुमर्हसि ।
एवमुक्तस्तया राम सभयं भीतया तदा ॥ ४ ॥
तामुवाच सहस्राक्षो वेपमानां कृताञ्जलिम् ।
मा भैषी रम्भे भद्रं ते कुरुष्व मम शासनम् ॥ ५ ॥

'अतः देवेश्वर ! मुझे उनसे बड़ा डर लगता है, आप मुझपर कृपा करें।' श्रीराम ! डरी हुई रम्भाके इस प्रकार भयपूर्वक कहनेपर सहस्र नेत्रधारी इन्द्र हाथ जोड़कर खड़ी और थर-थर काँपती हुई रम्भासे इस प्रकार बोले—'रम्भे ! तू भय न कर, तेरा भला हो, तू मेरी आज्ञा मान ले ॥ ४-५ ॥

कोकिलो हृदयग्राही माधवे रुचिरद्रुमे ।
अहं कन्दर्पसहितः स्थास्यामि तव पार्श्वतः ॥ ६ ॥

'वैशाख मासमें जब कि प्रत्येक वृक्ष नवपल्लवोंसे परम सुन्दर शोभा धारण कर लेता है, अपनी मधुर काकलीसे सबके हृदयको खींचनेवाले कोकिल और कामदेवके साथ मैं भी तेरे पास रहूँगा ॥ ६ ॥

त्वं हि रूपं बहुगुणं कृत्वा परमभास्वरम् ।
तमृषिं कौशिकं भद्रे भेदयस्व तपस्विनम् ॥ ७ ॥

'भद्रे ! तू अपने परम कान्तिमान् रूपको हाव-भाव आदि विविध गुणोंसे सम्पन्न करके उसके द्वारा विश्वामित्र मुनिको तपस्यासे विचलित कर दे' ॥ ७ ॥

सा श्रुत्वा वचनं तस्य कृत्वा रूपमनुत्तमम् ।
लोभयामास ललिता विश्वामित्रं शुचिस्मिता ॥ ८ ॥

देवराजका यह वचन सुनकर उस मधुर मुसकानवाली सुन्दरी अप्सराने परम उत्तम रूप बनाकर विश्वामित्रको लुभाना आरम्भ किया ॥ ८ ॥

कोकिलस्य तु शुश्राव वल्गु व्याहरतः स्वनम् ।
सम्प्रहृष्टेन मनसा स चैनामन्ववैक्षत ॥ ९ ॥

विश्वामित्रने मीठी बोली बोलनेवाले कोकिलकी मधुर काकली सुनी। उन्होंने प्रसन्नचित्त होकर जब उस ओर दृष्टिपात किया, तब सामने रम्भा खड़ी दिखायी दी ॥ ९ ॥

अथ तस्य च शब्देन गीतेनाप्रतिमेन च ।
दर्शनेन च रम्भाया मुनिः संदेहमागतः ॥ १० ॥

कोकिलके कलरव, रम्भाके अनुपम गीत और अप्रत्याशित दर्शनसे मुनिके मनमें संदेह हो गया ॥ १० ॥

सहस्राक्षस्य तत्सर्वं विज्ञाय मुनिपुङ्गवः ।
रम्भां क्रोधसमाविष्टः शशाप कुशिकात्मजः ॥ ११ ॥

देवराजका वह सारा कुचक्र उनकी समझमें आ गया। फिर तो मुनिवर विश्वामित्रने क्रोधमें भरकर रम्भाको शाप देते हुए कहा— ॥ ११ ॥

यन्मां लोभयसे रम्भे कामक्रोधजयैषिणम् ।
दशवर्षसहस्राणि शैली स्थास्यसि दुर्भगे ॥ १२ ॥

'दुर्भगे रम्भे ! मैं काम और क्रोधपर विजय पाना चाहता हूँ और तू आकर मुझे लुभाती है। अतः इस अपराधके कारण तू दस हजार वर्षोंतक पत्थरकी प्रतिमा बनकर खड़ी रहेगी ॥

ब्राह्मणः सुमहातेजास्तपोबलसमन्वितः ।
उद्धरिष्यति रम्भे त्वां मत्क्रोधकलुषीकृताम् ॥ १३ ॥

'रम्भे ! शापका समय पूरा हो जानेके बाद एक महान् तेजस्वी और तपोबलसम्पन्न ब्राह्मण (ब्रह्माजीके पुत्र वसिष्ठ) मेरे क्रोधसे कलुषित तेरा उद्धार करेंगे' ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः ।
अशक्नुवन् धारयितुं कोपं संतापमात्मनः ॥ १४ ॥

ऐसा कहकर महातेजस्वी महामुनि विश्वामित्र अपना क्रोध न रोक सकनेके कारण मन-ही-मन संतप्त हो उठे ॥ १४ ॥

तस्य शापेन महता रम्भा शैली तदाभवत्।
वचः श्रुत्वा च कन्दर्पो महर्षेः स च निर्गतः ॥ १५ ॥

मुनिके उस महाशापसे रम्भा तत्काल पत्थरकी प्रतिमा बन गयी। महर्षिका वह शापयुक्त वचन सुनकर कन्दर्प और इन्द्र वहाँसे खिसक गये ॥ १५ ॥

कोपेन च महातेजास्तपोऽपहरणे कृते।
इन्द्रियैरजितै राम न लेभे शान्तिमात्मनः ॥ १६ ॥

श्रीराम! क्रोधसे तपस्याका क्षय हो गया और इन्द्रियाँ अभीतक काबूमें न आ सकीं, यह विचारकर उन महातेजस्वी मुनिके चित्तको शान्ति नहीं मिलती थी ॥ १६ ॥

बभूवास्य मनश्चिन्ता तपोऽपहरणे कृते।
नैवं क्रोधं गमिष्यामि न च वक्ष्ये कथंचन ॥ १७ ॥

तपस्याका अपहरण हो जानेपर उनके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि 'अबसे न तो क्रोध करूँगा और न किसी भी अवस्थामें मुँहसे कुछ बोलूँगा ॥ १७ ॥

अथवा नोच्छ्वसिष्यामि संवत्सरशतान्यपि।
अहं हि शोषयिष्यामि आत्मानं विजितेन्द्रियः ॥ १८ ॥

'अथवा सौ वर्षोंतक मैं श्वास भी न लूँगा। इन्द्रियोंको जीतकर इस शरीरको सुखा डालूँगा ॥ १८ ॥

तावद् यावद्धि मे प्राप्तं ब्राह्मण्यं तपसार्जितम्।
अनुच्छ्वसन्नभुञ्जानस्तिष्ठेयं शाश्वतीः समाः ॥ १९ ॥

'जबतक अपनी तपस्यासे उपार्जित ब्राह्मणत्व मुझे प्राप्त न होगा, तबतक चाहे अनन्त वर्ष बीत जायँ, मैं बिना खाये-पीये खड़ा रहूँगा और साँसतक न लूँगा ॥ १९ ॥

नहि मे तप्यमानस्य क्षयं यास्यन्ति मूर्तयः।
एवं वर्षसहस्रस्य दीक्षां स मुनिपुङ्गवः।
चकाराप्रतिमां लोके प्रतिज्ञां रघुनन्दन ॥ २० ॥

'तपस्या करते समय मेरे शरीरके अवयव कदापि नष्ट नहीं होंगे।' रघुनन्दन! ऐसा निश्चय करके मुनिवर विश्वामित्रने पुनः एक हजार वर्षोंतक तपस्या करनेके लिये दीक्षा ग्रहण की। उन्होंने जो प्रतिज्ञा की थी, उसकी संसारमें कहीं तुलना नहीं है ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे चतुःषष्टितमः सर्गः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें चौंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमः सर्गः

विश्वामित्रकी घोर तपस्या, उन्हें ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति तथा राजा जनकका उनकी प्रशंसा करके उनसे विदा ले राजभवनको लौटना

अथ हैमवतीं राम दिशं त्यक्त्वा महामुनिः।
पूर्वां दिशमनुप्राप्य तपस्तेपे सुदारुणम् ॥ १ ॥

(शतानन्दजी कहते हैं—) श्रीराम! पूर्वोक्त प्रतिज्ञाके अनन्तर महामुनि विश्वामित्र उत्तर दिशाको त्यागकर पूर्व दिशामें चले गये और वहीं रहकर अत्यन्त कठोर तपस्या करने लगे ॥

मौनं वर्षसहस्रस्य कृत्वा व्रतमनुत्तमम्।
चकाराप्रतिमं राम तपः परमदुष्करम् ॥ २ ॥

रघुनन्दन! एक सहस्र वर्षोंतक परम उत्तम मौन-व्रत धारण करके वे परम दुष्कर तपस्यामें लगे रहे। उनके उस तपकी कहीं तुलना न थी ॥ २ ॥

पूर्णे वर्षसहस्रे तु काष्ठभूतं महामुनिम्।
विघ्नैर्बहुभिराधूतं क्रोधो नान्तरमाविशत् ॥ ३ ॥

एक हजार वर्ष पूर्ण होनेतक वे महामुनि काठकी भाँति निश्चेष्ट बने रहे। बीच-बीचमें उनपर बहुत-से विघ्नोंका आक्रमण हुआ, परंतु क्रोध उनके भीतर नहीं घुसने पाया ॥

स कृत्वा निश्चयं राम तप आतिष्ठताव्ययम्।
तस्य वर्षसहस्रस्य व्रते पूर्णे महाव्रतः ॥ ४ ॥
भोक्तुमारब्धवानन्नं तस्मिन् काले रघूत्तम।
इन्द्रो द्विजातिर्भूत्वा तं सिद्धमन्नमयाचत ॥ ५ ॥

श्रीराम! अपने निश्चयपर अटल रहकर उन्होंने अक्षय तपका अनुष्ठान किया। उनका एक सहस्र वर्षोंका व्रत पूर्ण होनेपर वे महान् व्रतधारी महर्षि व्रत समाप्त करके अन्न ग्रहण करनेको उद्यत हुए। रघुकुलभूषण! इसी समय इन्द्रने ब्राह्मणके वेषमें आकर उनसे तैयार अन्नकी याचना की ॥

तस्मै दत्त्वा तदा सिद्धं सर्वं विप्राय निश्चितः।
निःशेषितेऽन्ने भगवानभुक्त्वैव महातपाः ॥ ६ ॥

तब उन्होंने वह सारा तैयार किया हुआ भोजन उस ब्राह्मणको देनेका निश्चय करके दे डाला। उस अन्नमेंसे कुछ भी शेष नहीं बचा। इसलिये वे महातपस्वी भगवान् विश्वामित्र बिना खाये-पीये ही रह गये ॥ ६ ॥

न किंचिदवदद् विप्रं मौनव्रतमुपास्थितः।
तथैवासीत् पुनर्मौनमनुच्छ्वासं चकार ह ॥ ७ ॥

फिर भी उन्होंने उस ब्राह्मणसे कुछ कहा नहीं। अपने मौन-व्रतका यथार्थरूपसे पालन किया। इसके बाद पुनः पहलेकी ही भाँति श्वासोच्छ्वाससे रहित मौनव्रतका अनुष्ठान आरम्भ किया ॥ ७ ॥

अथ वर्षसहस्रं च नोच्छ्वसन् मुनिपुङ्गवः।
तस्यानुच्छ्वसमानस्य मूर्ध्नि धूमो व्यजायत ॥ ८ ॥

पूरे एक हजार वर्षोंतक उन मुनिश्रेष्ठने साँसतक नहीं ली। इस तरह साँस न लेनेके कारण उनके मस्तकसे धुआँ उठने लगा॥ ८॥

त्रैलोक्यं येन सम्भ्रान्तमातापितमिवाभवत्।
ततो देवर्षिगन्धर्वाः पन्नगोरगराक्षसाः॥ ९॥
मोहितास्तपसा तस्य तेजसा मन्दरश्मयः।
कश्मलोपहताः सर्वे पितामहमथाब्रुवन्॥ १०॥

उससे तीनों लोकोंके प्राणी घबरा उठे, सभी संतप्त-से होने लगे। उस समय देवता, ऋषि, गन्धर्व, नाग, सर्प और राक्षस सब मुनिकी तपस्यासे मोहित हो गये। उनके तेजसे सबकी कान्ति फीकी पड़ गयी। वे सब-के-सब दुःखसे व्याकुल हो पितामह ब्रह्माजीसे बोले— ॥ ९-१०॥

बहुभिः कारणैर्देव विश्वामित्रो महामुनिः।
लोभितः क्रोधितश्चैव तपसा चाभिवर्धते॥ ११॥

'देव! अनेक प्रकारके निमित्तोंद्वारा महामुनि विश्वामित्रको लोभ और क्रोध दिलानेकी चेष्टा की गयी; किंतु वे अपनी तपस्याके प्रभावसे निरन्तर आगे बढ़ते जा रहे हैं॥ ११॥

नह्यस्य वृजिनं किंचिद् दृश्यते सूक्ष्ममप्युत।
न दीयते यदि त्वस्य मनसा यदभीप्सितम्॥ १२॥
विनाशयति त्रैलोक्यं तपसा सचराचरम्।
व्याकुलाश्च दिशः सर्वा न च किंचित् प्रकाशते॥ १३॥

'हमें उनमें कोई छोटा-सा भी दोष नहीं दिखायी देता। यदि इन्हें इनकी मनचाही वस्तु नहीं दी गयी तो ये अपनी तपस्यासे चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंका नाश कर डालेंगे। इस समय सारी दिशाएँ धूमसे आच्छादित हो गयी हैं, कहीं कुछ भी सूझता नहीं है॥ १२-१३॥

सागराः क्षुभिताः सर्वे विशीर्यन्ते च पर्वताः।
प्रकम्पते च वसुधा वायुर्वातीह संकुलः॥ १४॥

'समुद्र क्षुब्ध हो उठे हैं, सारे पर्वत विदीर्ण हुए जाते हैं, धरती डगमग हो रही है और प्रचण्ड आँधी चलने लगी है॥ १४॥

ब्रह्मन् न प्रतिजानीमो नास्तिको जायते जनः।
सम्मूढमिव त्रैलोक्यं सम्प्रक्षुभितमानसम्॥ १५॥

'ब्रह्मन्! हमें इस उपद्रवके निवारणका कोई उपाय नहीं समझमें आता है। सब लोग नास्तिककी भाँति कर्मानुष्ठानसे शून्य हो रहे हैं। तीनों लोकोंके प्राणियोंका मन क्षुब्ध हो गया है। सभी किंकर्तव्यविमूढ़-से हो रहे हैं॥ १५॥

भास्करो निष्प्रभश्चैव महर्षेस्तस्य तेजसा।
बुद्धिं न कुरुते यावन्नाशे देव महामुनिः॥ १६॥
तावत् प्रसादो भगवन्नग्निरूपो महाद्युतिः।

'महर्षि विश्वामित्रके तेजसे सूर्यकी प्रभा फीकी पड़ गयी है। भगवन्! ये महाकान्तिमान् मुनि अग्निस्वरूप हो रहे हैं। देव! महामुनि विश्वामित्र जबतक जगत्के विनाशका विचार नहीं करते तबतक ही इन्हें प्रसन्न कर लेना चाहिये॥ १६½॥

कालाग्निना यथा पूर्वं त्रैलोक्यं दह्यतेऽखिलम्॥ १७॥
देवराज्यं चिकीर्षेत दीयतामस्य यन्मनः।

'जैसे पूर्वकालमें प्रलयकालिक अग्निने सम्पूर्ण त्रिलोकीको दग्ध कर डाला था, उसी प्रकार ये भी सबको जलाकर भस्म कर देंगे। यदि ये देवताओंका राज्य प्राप्त करना चाहें तो वह भी इन्हें दे दिया जाय। इनके मनमें जो भी अभिलाषा हो, उसे पूर्ण किया जाय'॥ १७½॥

ततः सुरगणाः सर्वे पितामहपुरोगमाः॥ १८॥
विश्वामित्रं महात्मानं वाक्यं मधुरमब्रुवन्।

तदनन्तर ब्रह्मा आदि सब देवता महात्मा विश्वामित्रके पास जाकर मधुर वाणीमें बोले— ॥ १८½॥

ब्रह्मर्षे स्वागतं तेऽस्तु तपसा स्म सुतोषिताः॥ १९॥
ब्राह्मण्यं तपसोग्रेण प्राप्तवानसि कौशिक।

'ब्रह्मर्षे! तुम्हारा स्वागत है, हम तुम्हारी तपस्यासे बहुत संतुष्ट हुए हैं। कुशिकनन्दन! तुमने अपनी उग्रतपस्यासे ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया॥ १९½॥

दीर्घमायुश्च ते ब्रह्मन् ददामि समरुद्गणः॥ २०॥
स्वस्ति प्राप्नुहि भद्रं ते गच्छ सौम्य यथासुखम्।

'ब्रह्मन्! मरुद्गणोंसहित मैं तुम्हें दीर्घायु प्रदान करता हूँ। तुम्हारा कल्याण हो। सौम्य! तुम मङ्गलके भागी बनो और तुम्हारी जहाँ इच्छा हो वहाँ सुखपूर्वक जाओ'॥ २०½॥

पितामहवचः श्रुत्वा सर्वेषां त्रिदिवौकसाम्॥ २१॥
कृत्वा प्रणामं मुदितो व्याजहार महामुनिः।

पितामह ब्रह्माजीकी यह बात सुनकर महामुनि विश्वामित्रने अत्यन्त प्रसन्न होकर सम्पूर्ण देवताओंको प्रणाम किया और कहा— ॥ २१½॥

ब्राह्मण्यं यदि मे प्राप्तं दीर्घमायुस्तथैव च॥ २२॥
ॐकारोऽथ वषट्कारो वेदाश्च वरयन्तु माम्।
क्षत्रवेदविदां श्रेष्ठो ब्रह्मवेदविदामपि॥ २३॥
ब्रह्मपुत्रो वसिष्ठो मामेवं वदतु देवताः।
यद्येवं परमः कामः कृतो यान्तु सुरर्षभाः॥ २४॥

'देवगण! यदि मुझे (आपकी कृपासे) ब्राह्मणत्व मिल गया और दीर्घ आयुकी भी प्राप्ति हो गयी तो ॐकार, वषट्कार और चारों वेद स्वयं आकर मेरा वरण करें। इसके सिवा जो क्षत्रिय-वेद (धनुर्वेद आदि) तथा ब्रह्मवेद (ऋक् आदि चारों वेद) के ज्ञाताओंमें भी सबसे श्रेष्ठ हैं, वे ब्रह्मपुत्र वसिष्ठ स्वयं आकर मुझसे ऐसा कहें (कि तुम ब्राह्मण हो गये), यदि ऐसा हो जाय तो मैं समझूँगा कि मेरा उत्तम मनोरथ पूर्ण हो गया। उस अवस्थामें आप सभी श्रेष्ठ देवगण यहाँसे जा सकते हैं'॥ २२—२४॥

ततः प्रसादितो देवैर्वसिष्ठो जपतां वरः।
सख्यं चकार ब्रह्मर्षिरेवमस्त्विति चाब्रवीत्॥ २५॥

तब देवताओंने मन्त्रजप करनेवालोंमें श्रेष्ठ वसिष्ठ मुनिको प्रसन्न किया। इसके बाद ब्रह्मर्षि वसिष्ठने 'एवमस्तु' कहकर विश्वामित्रका ब्रह्मर्षि होना स्वीकार कर लिया और उनके साथ मित्रता स्थापित कर ली ॥ २५ ॥

ब्रह्मर्षिस्त्वं न संदेहः सर्वं सम्पद्यते तव।
इत्युक्त्वा देवताश्चापि सर्वा जग्मुर्यथागतम् ॥ २६ ॥

'मुने! तुम ब्रह्मर्षि हो गये, इसमें संदेह नहीं है। तुम्हारा सब ब्राह्मणोचित संस्कार सम्पन्न हो गया।' ऐसा कहकर सम्पूर्ण देवता जैसे आये थे वैसे लौट गये ॥ २६ ॥

विश्वामित्रोऽपि धर्मात्मा लब्ध्वा ब्राह्मण्यमुत्तमम्।
पूजयामास ब्रह्मर्षिं वसिष्ठं जपतां वरम् ॥ २७ ॥

इस प्रकार उत्तम ब्राह्मणत्व प्राप्त करके धर्मात्मा विश्वामित्रजीने भी मन्त्र-जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ ब्रह्मर्षि वसिष्ठका पूजन किया ॥ २७ ॥

कृतकामो महीं सर्वां चचार तपसि स्थितः।
एवं त्वनेन ब्राह्मण्यं प्राप्तं राम महात्मना ॥ २८ ॥

इस तरह अपना मनोरथ सफल करके तपस्यामें लगे रहकर ही ये सम्पूर्ण पृथ्वीपर विचरने लगे। श्रीराम! इस प्रकार कठोर तपस्या करके इन महात्माने ब्राह्मणत्व प्राप्त किया ॥ २८ ॥

एष राम मुनिश्रेष्ठ एष विग्रहवांस्तपः।
एष धर्मः परो नित्यं वीर्यस्यैष परायणम् ॥ २९ ॥

रघुनन्दन! ये विश्वामित्रजी समस्त मुनियोंमें श्रेष्ठ हैं, ये तपस्याके मूर्तिमान् स्वरूप हैं, उत्तम धर्मके साक्षात् विग्रह हैं और पराक्रमकी परम निधि हैं ॥ २९ ॥

एवमुक्त्वा महातेजा विरराम द्विजोत्तमः।
शतानन्दवचः श्रुत्वा रामलक्ष्मणसंनिधौ ॥ ३० ॥
जनकः प्राञ्जलिर्वाक्यमुवाच कुशिकात्मजम्।

ऐसा कहकर महातेजस्वी विप्रवर शतानन्दजी चुप हो गये। शतानन्दजीके मुखसे यह कथा सुनकर महाराज जनकने श्रीराम और लक्ष्मणके समीप विश्वामित्रजीसे हाथ जोड़कर कहा— ॥ ३०½ ॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य मे मुनिपुङ्गव ॥ ३१ ॥
यज्ञं काकुत्स्थसहितः प्राप्तवानसि कौशिक।
पावितोऽहं त्वया ब्रह्मन् दर्शनेन महामुने ॥ ३२ ॥

'मुनिप्रवर कौशिक! आप ककुत्स्थकुलनन्दन श्रीराम और लक्ष्मणके साथ मेरे यज्ञमें पधारे, इससे मैं धन्य हो गया। आपने मुझपर बड़ी कृपा की। महामुने! ब्रह्मन्! आपने दर्शन देकर मुझे पवित्र कर दिया ॥ ३१-३२ ॥

गुणा बहुविधाः प्राप्तास्तव संदर्शनान्मया।
विस्तरेण च वै ब्रह्मन् कीर्त्यमानं महत्तपः ॥ ३३ ॥
श्रुतं मया महातेजो रामेण च महात्मना।
सदस्यैः प्राप्य च सदः श्रुतास्ते बहवो गुणाः ॥ ३४ ॥

'आपके दर्शनसे मुझे बड़ा लाभ हुआ, अनेक प्रकारके गुण उपलब्ध हुए। ब्रह्मन्! आज इस सभामें आकर मैंने महात्मा राम तथा अन्य सदस्योंके साथ आपके महान् तेज (प्रभाव) का वर्णन सुना है, बहुत-से गुण सुने हैं। ब्रह्मन्! शतानन्दजीने आपके महान् तपका वृत्तान्त विस्तारपूर्वक बताया है ॥

अप्रमेयं तपस्तुभ्यमप्रमेयं च ते बलम्।
अप्रमेया गुणाश्चैव नित्यं ते कुशिकात्मज ॥ ३५ ॥

'कुशिकनन्दन! आपकी तपस्या अप्रमेय है, आपका बल अनन्त है तथा आपके गुण भी सदा ही माप और संख्यासे परे हैं ॥ ३५ ॥

तृप्तिराश्चर्यभूतानां कथानां नास्ति मे विभो।
कर्मकालो मुनिश्रेष्ठ लम्बते रविमण्डलम् ॥ ३६ ॥

'प्रभो! आपकी आश्चर्यमयी कथाओंके श्रवणसे मुझे तृप्ति नहीं होती है; किंतु मुनिश्रेष्ठ! यज्ञका समय हो गया है, सूर्यदेव ढलने लगे हैं ॥ ३६ ॥

श्वः प्रभाते महातेजो द्रष्टुमर्हसि मां पुनः।
स्वागतं जपतां श्रेष्ठ मामनुज्ञातुमर्हसि ॥ ३७ ॥

'जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी मुने! आपका स्वागत है। कल प्रातःकाल फिर मुझे दर्शन दें, इस समय मुझे जानेकी आज्ञा प्रदान करें' ॥ ३७ ॥

एवमुक्तो मुनिवरः प्रशस्य पुरुषर्षभम्।
विससर्जाशु जनकं प्रीतं प्रीतमनास्तदा ॥ ३८ ॥

राजाके ऐसा कहनेपर मुनिवर विश्वामित्रजी मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने प्रीतियुक्त नरश्रेष्ठ राजा जनककी प्रशंसा करके शीघ्र ही उन्हें विदा कर दिया ॥ ३८ ॥

एवमुक्त्वा मुनिश्रेष्ठं वैदेहो मिथिलाधिपः।
प्रदक्षिणं चकाराशु सोपाध्यायः सबान्धवः ॥ ३९ ॥

उस समय मिथिलापति विदेहराज जनकने मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रसे पूर्वोक्त बात कहकर अपने उपाध्याय और बन्धु-बान्धवोंके साथ उनकी शीघ्र ही परिक्रमा की। फिर वहाँसे वे चल दिये ॥ ३९ ॥

विश्वामित्रोऽपि धर्मात्मा सहरामः सलक्ष्मणः।
स्ववासमभिचक्राम पूज्यमानो महात्मभिः ॥ ४० ॥

तत्पश्चात् धर्मात्मा विश्वामित्र भी महात्माओंसे पूजित होकर श्रीराम और लक्ष्मणके साथ अपने विश्राम-स्थानपर लौट आये ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें पैंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

—★—

षट्षष्टितमः सर्गः

राजा जनकका विश्वामित्र और राम-लक्ष्मणका सत्कार करके उन्हें अपने यहाँ रखे हुए धनुषका परिचय देना और धनुष चढ़ा देनेपर श्रीरामके साथ उनके ब्याहका निश्चय प्रकट करना

ततः प्रभाते विमले कृतकर्मा नराधिपः।
विश्वामित्रं महात्मानमाजुहाव सराघवम्॥ १॥
तमर्चयित्वा धर्मात्मा शास्त्रदृष्टेन कर्मणा।
राघवौ च महात्मानौ तदा वाक्यमुवाच ह॥ २॥

तदनन्तर दूसरे दिन निर्मल प्रभातकाल आनेपर धर्मात्मा राजा जनकने अपना नित्य नियम पूरा करके श्रीराम और लक्ष्मणसहित महात्मा विश्वामित्रजीको बुलाया और शास्त्रीय विधिके अनुसार मुनि तथा उन दोनों महामनस्वी राजकुमारोंका पूजन करके इस प्रकार कहा— ॥ १-२॥

भगवन् स्वागतं तेऽस्तु किं करोमि तवानघ।
भवानाज्ञापयतु मामाज्ञाप्यो भवता ह्यहम्॥ ३॥

'भगवन्! आपका स्वागत है। निष्पाप महर्षे! आप मुझे आज्ञा दीजिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ; क्योंकि मैं आपका आज्ञापालक हूँ'॥ ३॥

एवमुक्तः स धर्मात्मा जनकेन महात्मना।
प्रत्युवाच मुनिश्रेष्ठो वाक्यं वाक्यविशारदः॥ ४॥

महात्मा जनकके ऐसा कहनेपर बोलनेमें कुशल धर्मात्मा मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रने उनसे यह बात कही— ॥ ४॥

पुत्रौ दशरथस्येमौ क्षत्रियौ लोकविश्रुतौ।
द्रष्टुकामौ धनुःश्रेष्ठं यदेतत्त्वयि तिष्ठति॥ ५॥

'महाराज! राजा दशरथके ये दोनों पुत्र विश्वविख्यात क्षत्रिय वीर हैं और आपके यहाँ जो यह श्रेष्ठ धनुष रखा है, उसे देखनेकी इच्छा रखते हैं॥ ५॥

एतद् दर्शय भद्रं ते कृतकामौ नृपात्मजौ।
दर्शनादस्य धनुषो यथेष्टं प्रतियास्यतः॥ ६॥

'आपका कल्याण हो, वह धनुष इन्हें दिखा दीजिये। इससे इनकी इच्छा पूरी हो जायगी। फिर ये दोनों राजकुमार उस धनुषके दर्शनमात्रसे संतुष्ट हो इच्छानुसार अपनी राजधानीको लौट जायँगे'॥ ६॥

एवमुक्तस्तु जनकः प्रत्युवाच महामुनिम्।
श्रूयतामस्य धनुषो यदर्थमिह तिष्ठति॥ ७॥

मुनिके ऐसा कहनेपर राजा जनक महामुनि विश्वामित्रसे बोले—'मुनिवर! इस धनुषका वृत्तान्त सुनिये। जिस उद्देश्यसे यह धनुष यहाँ रखा गया, वह सब बताता हूँ॥

देवरात इति ख्यातो निमेर्ज्येष्ठो महीपतिः।
न्यासोऽयं तस्य भगवन् हस्ते दत्तो महात्मनः॥ ८॥

'भगवन्! निमिके ज्येष्ठ पुत्र राजा देवरातके नामसे विख्यात थे। उन्हीं महात्माके हाथमें यह धनुष धरोहरके रूपमें दिया गया था॥ ८॥

दक्षयज्ञवधे पूर्वं धनुरायम्य वीर्यवान्।
विध्वंस्य त्रिदशान् रोषात् सलीलमिदमब्रवीत्॥ ९॥
यस्माद् भागार्थिनो भागं नाकल्पयत मे सुराः।
वराङ्गानि महार्हाणि धनुषा शातयामि वः॥ १०॥

'कहते हैं, पूर्वकालमें दक्षयज्ञविध्वंसके समय परम पराक्रमी भगवान् शङ्करने खेल-खेलमें ही रोषपूर्वक इस धनुषको उठाकर यज्ञ-विध्वंसके पश्चात् देवताओंसे कहा—'देवगण! मैं यज्ञमें भाग प्राप्त करना चाहता था, किंतु तुमलोगोंने नहीं दिया। इसलिये इस धनुषसे मैं तुम सब लोगोंके परम पूजनीय श्रेष्ठ अङ्ग—मस्तक काट डालूँगा'॥

ततो विमनसः सर्वे देवा वै मुनिपुङ्गव।
प्रसादयन्त देवेशं तेषां प्रीतोऽभवद् भवः॥ ११॥

'मुनिश्रेष्ठ! यह सुनकर सम्पूर्ण देवता उदास हो गये और स्तुतिके द्वारा देवाधिदेव महादेवजीको प्रसन्न करने लगे। अन्तमें उनपर भगवान् शिव प्रसन्न हो गये॥ ११॥

प्रीतियुक्तस्तु सर्वेषां ददौ तेषां महात्मनाम्।
तदेतद् देवदेवस्य धनूरत्नं महात्मनः॥ १२॥
न्यासभूतं तदा न्यस्तमस्माकं पूर्वजे विभौ।

'प्रसन्न होकर उन्होंने उन सब महामनस्वी देवताओंको यह धनुष अर्पण कर दिया। वही यह देवाधिदेव महात्मा भगवान् शङ्करका धनुष-रत्न है, जो मेरे पूर्वज महाराज देवरातके पास धरोहरके रूपमें रखा गया था॥ १२½॥

अथ मे कृषतः क्षेत्रं लाङ्गलादुत्थिता ततः॥ १३॥
क्षेत्रं शोधयता लब्धा नाम्ना सीतेति विश्रुता।
भूतलादुत्थिता सा तु व्यवर्धत ममात्मजा॥ १४॥

'एक दिन मैं यज्ञके लिये भूमिशोधन करते समय खेतमें हल चला रहा था। उसी समय हलके अग्रभागसे जोती गयी भूमि (हराई या सीता) से एक कन्या प्रकट हुई। सीता (हलद्वारा खींची गयी रेखा) से उत्पन्न होनेके कारण उसका नाम सीता रखा गया। पृथ्वीसे प्रकट हुई वह मेरी कन्या क्रमशः बढ़कर सयानी हुई॥ १३-१४॥

वीर्यशुल्केति मे कन्या स्थापितेयमयोनिजा।
भूतलादुत्थितां तां तु वर्धमानां ममात्मजाम्॥ १५॥
वरयामासुरागत्य राजानो मुनिपुङ्गव।

'अपनी इस अयोनिजा कन्याके विषयमें मैंने यह निश्चय किया कि जो अपने पराक्रमसे इस धनुषको चढ़ा देगा, उसीके साथ मैं इसका ब्याह करूँगा। इस तरह इसे वीर्यशुल्का (पराक्रमरूप शुल्कवाली) बनाकर अपने घरमें रख छोड़ा है। मुनिश्रेष्ठ! भूतलसे प्रकट होकर दिनों-दिन

बढ़नेवाली मेरी पुत्री सीताको कई राजाओंने यहाँ आकर माँगा ॥ १५½ ॥

तेषां वरयतां कन्यां सर्वेषां पृथिवीक्षिताम् ॥ १६ ॥
वीर्यशुल्केति भगवन् न ददामि सुतामहम् ।

'परंतु भगवन्! कन्याका वरण करनेवाले उन सभी राजाओंको मैंने यह बता दिया कि मेरी कन्या वीर्यशुल्का है। (उचित पराक्रम प्रकट करनेपर ही कोई पुरुष उसके साथ विवाह करनेका अधिकारी हो सकता है।) यही कारण है कि मैंने आजतक किसीको अपनी कन्या नहीं दी ॥ १६½ ॥

ततः सर्वे नृपतयः समेत्य मुनिपुङ्गव ॥ १७ ॥
मिथिलामभ्युपागम्य वीर्यं जिज्ञासवस्तदा ।

'मुनिपुङ्गव! तब सभी राजा मिलकर मिथिलामें आये और पूछने लगे कि राजकुमारी सीताको प्राप्त करनेके लिये कौन-सा पराक्रम निश्चित किया गया है ॥ १७½ ॥

तेषां जिज्ञासमानानां शैवं धनुरुपाहृतम् ॥ १८ ॥
न शेकुर्ग्रहणे तस्य धनुषस्तोलनेऽपि वा ।

'मैंने पराक्रमकी जिज्ञासा करनेवाले उन राजाओंके सामने यह शिवजीका धनुष रख दिया; परंतु वे लोग इसे उठाने या हिलानेमें भी समर्थ न हो सके ॥ १८½ ॥

तेषां वीर्यवतां वीर्यमल्पं ज्ञात्वा महामुने ॥ १९ ॥
प्रत्याख्याता नृपतयस्तन्निबोध तपोधन ।

'महामुने! उन पराक्रमी नरेशोंकी शक्ति बहुत थोड़ी जानकर मैंने उन्हें कन्या देनेसे इन्कार कर दिया। तपोधन! इसके बाद जो घटना घटी, उसे भी आप सुन लीजिये ॥

ततः परमकोपेन राजानो मुनिपुङ्गव ॥ २० ॥
अरुन्धन् मिथिलां सर्वे वीर्यसंदेहमागताः ।

'मुनिप्रवर! मेरे इन्कार करनेपर ये सब राजा अत्यन्त कुपित हो उठे और अपने पराक्रमके विषयमें संशयापन्न हो मिथिलाको चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये ॥ २०½ ॥

आत्मानमवधूतं मे विज्ञाय नृपपुङ्गवाः ॥ २१ ॥
रोषेण महताविष्टाः पीडयन् मिथिलां पुरीम् ।

'मेरे द्वारा अपना तिरस्कार हुआ मानकर उन श्रेष्ठ नरेशोंने अत्यन्त रुष्ट हो मिथिलापुरीको सब ओरसे पीड़ा देना प्रारम्भ कर दिया ॥ २१½ ॥

ततः संवत्सरे पूर्णे क्षयं यातानि सर्वशः ॥ २२ ॥
साधनानि मुनिश्रेष्ठ ततोऽहं भृशदुःखितः ।

'मुनिश्रेष्ठ! पूरे एक वर्षतक वे घेरा डाले रहे। इस बीचमें युद्धके सारे साधन क्षीण हो गये। इससे मुझे बड़ा दुःख हुआ ॥

ततो देवगणान् सर्वांस्तपसाहं प्रसादयम् ॥ २३ ॥
ददुश्च परमप्रीताश्चतुरङ्गबलं सुराः ।

'तब मैंने तपस्याके द्वारा समस्त देवताओंको प्रसन्न करनेकी चेष्टा की। देवता बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने मुझे चतुरंगिणी सेना प्रदान की ॥ २३½ ॥

ततो भग्ना नृपतयो हन्यमाना दिशो ययुः ॥ २४ ॥
अवीर्या वीर्यसंदिग्धाः सामात्याः पापकारिणः ।

'फिर तो हमारे सैनिकोंकी मार खाकर वे सभी पापाचारी राजा, जो बलहीन थे अथवा जिनके बलवान् होनेमें संदेह था, मन्त्रियोंसहित भागकर विभिन्न दिशाओंमें चले गये ॥

तदेतन्मुनिशार्दूल धनुः परमभास्वरम् ॥ २५ ॥
रामलक्ष्मणयोश्चापि दर्शयिष्यामि सुव्रत ।

'मुनिश्रेष्ठ! यही वह परम प्रकाशमान धनुष है। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षे! मैं उसे श्रीराम और लक्ष्मणको भी दिखाऊँगा ॥ २५½ ॥

यद्यस्य धनुषो रामः कुर्यादारोपणं मुने ।
सुतामयोनिजां सीतां दद्यां दाशरथेरहम् ॥ २६ ॥

'मुने! यदि श्रीराम इस धनुषकी प्रत्यञ्चा चढ़ा दें तो मैं अपनी अयोनिजा कन्या सीताको इन दशरथकुमारके हाथमें दे दूँ' ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे षट्षष्टितमः सर्गः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें छाछठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

सप्तषष्टितमः सर्गः

श्रीरामके द्वारा धनुर्भङ्ग तथा राजा जनकका विश्वामित्रकी आज्ञासे राजा दशरथको बुलानेके लिये मन्त्रियोंको भेजना

जनकस्य वचः श्रुत्वा विश्वामित्रो महामुनिः ।
धनुर्दर्शय रामाय इति होवाच पार्थिवम् ॥ १ ॥

जनककी यह बात सुनकर महामुनि विश्वामित्र बोले—'राजन्! आप श्रीरामको अपना धनुष दिखाइये' ॥ १ ॥

ततः स राजा जनकः सचिवान् व्यादिदेश ह ।
धनुरानीयतां दिव्यं गन्धमाल्यानुलेपितम् ॥ २ ॥

तब राजा जनकने मन्त्रियोंको आज्ञा दी—'चन्दन और मालाओंसे सुशोभित वह दिव्य धनुष यहाँ ले आओ' ॥ २ ॥

जनकेन समादिष्टाः सचिवाः प्राविशन् पुरम् ।
तद्धनुः पुरतः कृत्वा निर्जग्मुरमितौजसः ॥ ३ ॥

राजा जनकको आज्ञा पाकर वे अमित तेजस्वी मन्त्री नगरमें गये और उस धनुषको आगे करके पुरीसे बाहर निकले ॥ ३ ॥

नृणां शतानि पञ्चाशद् व्यायतानां महात्मनाम् ।
मञ्जूषामष्टचक्रां तां समूहुस्ते कथंचन ॥ ४ ॥

वह धनुष आठ पहियोंवाली लोहेकी बहुत बड़ी संदूकमें रखा गया था। उसे मोटे-ताजे पाँच हजार महामनस्वी वीर किसी तरह ठेलकर वहाँतक ला सके ॥ ४ ॥

तामादाय सुमञ्जूषामायसीं यत्र तद्धनुः ।
सुरोपमं ते जनकमूचुर्नृपतिमन्त्रिणः ॥ ५ ॥

लोहेकी वह संदूक, जिसमें धनुष रखा गया था, लाकर उन मन्त्रियोंने देवोपम राजा जनकसे कहा— ॥ ५ ॥

इदं धनुर्वरं राजन् पूजितं सर्वराजभिः ।
मिथिलाधिप राजेन्द्र दर्शनीयं यदीच्छसि ॥ ६ ॥

'राजन्! मिथिलापते! राजेन्द्र! यह समस्त राजाओं द्वारा सम्मानित श्रेष्ठ धनुष है। यदि आप इन दोनों राजकुमारोंको दिखाना चाहते हैं तो दिखाइये' ॥ ६ ॥

तेषां नृपो वचः श्रुत्वा कृताञ्जलिरभाषत ।
विश्वामित्रं महात्मानं तावुभौ रामलक्ष्मणौ ॥ ७ ॥

उनकी बात सुनकर राजा जनकने हाथ जोड़कर महात्मा विश्वामित्र तथा दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणसे कहा— ॥

इदं धनुर्वरं ब्रह्मञ्जनकैरभिपूजितम् ।
राजभिश्च महावीर्यैरशक्तैः पूरितं तदा ॥ ८ ॥

'ब्रह्मन्! यही वह श्रेष्ठ धनुष है, जिसका जनकवंशी नरेशोंने सदा ही पूजन किया है तथा जो इसे उठानेमें समर्थ न हो सके, उन महापराक्रमी नरेशोंने भी इसका पूर्वकालमें सम्मान किया है ॥ ८ ॥

नैतत् सुरगणाः सर्वे सासुरा न च राक्षसाः ।
गन्धर्वयक्षप्रवराः सकिन्नरमहोरगाः ॥ ९ ॥

'इसे समस्त देवता, असुर, राक्षस, गन्धर्व, बड़े-बड़े यक्ष, किन्नर और महानाग भी नहीं चढ़ा सके हैं ॥ ९ ॥

क्व गतिर्मानुषाणां च धनुषोऽस्य प्रपूरणे ।
आरोपणे समायोगे वेपने तोलने तथा ॥ १० ॥

'फिर इस धनुषको खींचने, चढ़ाने, इसपर बाण संधान करने, इसकी प्रत्यञ्चापर टङ्कार देने तथा इसे उठाकर इधर-उधर हिलानेमें मनुष्योंकी कहाँ शक्ति है? ॥ १० ॥

तदेतद् धनुषां श्रेष्ठमानीतं मुनिपुङ्गव ।
दर्शयैतन्महाभाग अनयो राजपुत्रयोः ॥ ११ ॥

'मुनिप्रवर! यह श्रेष्ठ धनुष यहाँ लाया गया है। महाभाग! आप इसे इन दोनों राजकुमारोंको दिखाइये' ॥

विश्वामित्रः सरामस्तु श्रुत्वा जनकभाषितम् ।
वत्स राम धनुः पश्य इति राघवमब्रवीत् ॥ १२ ॥

श्रीरामसहित विश्वामित्रने जनकका वह कथन सुनकर रघुनन्दनसे कहा—'वत्स राम! इस धनुषको देखो' ॥ १२ ॥

महर्षेर्वचनाद् रामो यत्र तिष्ठति तद्धनुः ।
मञ्जूषां तामपावृत्य दृष्ट्वा धनुरथाब्रवीत् ॥ १३ ॥

महर्षिकी आज्ञासे श्रीरामने जिसमें वह धनुष था उस संदूकको खोलकर उस धनुषको देखा और कहा— ॥

इदं धनुर्वरं दिव्यं संस्पृशामीह पाणिना ।
यत्नवांश्च भविष्यामि तोलने पूरणेऽपि वा ॥ १४ ॥

'अच्छा अब मैं इस दिव्य एवं श्रेष्ठ धनुषमें हाथ लगाता हूँ। मैं इसे उठाने और चढ़ानेका भी प्रयत्न करूँगा' ॥ १४ ॥

बाढमित्यब्रवीद् राजा मुनिश्च समभाषत ।
लीलया स धनुर्मध्ये जग्राह वचनान्मुनेः ॥ १५ ॥
पश्यतां नृसहस्राणां बहूनां रघुनन्दनः ।
आरोपयत् स धर्मात्मा सलीलमिव तद्धनुः ॥ १६ ॥

तब राजा और मुनिने एक स्वरसे कहा—'हाँ, ऐसा ही करो।' मुनिकी आज्ञासे रघुकुलनन्दन धर्मात्मा श्रीरामने उस धनुषको बीचसे पकड़कर लीलापूर्वक उठा लिया और खेल-सा करते हुए उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी। उस समय कई हजार मनुष्योंकी दृष्टि उनपर लगी थी ॥ १५-१६ ॥

आरोपयित्वा मौर्वीं च पूरयामास तद्धनुः ।
तद् बभञ्ज धनुर्मध्ये नरश्रेष्ठो महायशाः ॥ १७ ॥

प्रत्यञ्चा चढ़ाकर महायशस्वी नरश्रेष्ठ श्रीरामने ज्यों ही उस धनुषको कानतक खींचा त्यों ही वह बीचसे ही टूट गया ॥

तस्य शब्दो महानासीन्निर्घातसमनिःस्वनः ।
भूमिकम्पश्च सुमहान् पर्वतस्येव दीर्यतः ॥ १८ ॥

टूटते समय उससे वज्रपातके समान बड़ी भारी आवाज हुई। ऐसा जान पड़ा मानो पर्वत फट पड़ा हो। उस समय महान् भूकम्प आ गया ॥ १८ ॥

निपेतुश्च नराः सर्वे तेन शब्देन मोहिताः ।
वर्जयित्वा मुनिवरं राजानं तौ च राघवौ ॥ १९ ॥

मुनिवर विश्वामित्र, राजा जनक तथा रघुकुलभूषण दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणको छोड़कर शेष जितने लोग वहाँ खड़े थे, वे सब धनुष टूटनेके उस भयंकर शब्दसे मूर्छित होकर गिर पड़े ॥ १९ ॥

प्रत्याश्वस्ते जने तस्मिन् राजा विगतसाध्वसः ।
उवाच प्राञ्जलिर्वाक्यं वाक्यज्ञो मुनिपुङ्गवम् ॥ २० ॥

थोड़ी देरमें जब सबको चेत हुआ, तब निर्भय हुए राजा जनकने, जो बोलनेमें कुशल और वाक्यके मर्मको समझनेवाले थे, हाथ जोड़कर मुनिवर विश्वामित्रसे कहा— ॥ २० ॥

भगवन् दृष्टवीर्यो मे रामो दशरथात्मजः ।
अत्यद्भुतमचिन्त्यं च अतर्कितमिदं मया ॥ २१ ॥

'भगवन्! मैंने दशरथनन्दन श्रीरामका पराक्रम आज अपनी आँखों देख लिया। महादेवजीके धनुषको चढ़ाना—यह अत्यन्त अद्भुत, अचिन्त्य और अतर्कित घटना है ॥ २१ ॥

जनकानां कुले कीर्तिमाहरिष्यति मे सुता ।
सीता भर्तारमासाद्य रामं दशरथात्मजम् ॥ २२ ॥

'मेरी पुत्री सीता दशरथकुमार श्रीरामको पतिरूपमें प्राप्त करके जनकवंशकी कीर्तिका विस्तार करेगी ॥ २२ ॥

मम सत्या प्रतिज्ञा सा वीर्यशुल्केति कौशिक।
सीता प्राणैर्बहुमता देया रामाय मे सुता॥ २३॥

'कुशिकनन्दन! मैंने सीताको वीर्यशुल्का (पराक्रमरूपी शुल्कसे ही प्राप्त होनेवाली) बताकर जो प्रतिज्ञा की थी, वह आज सत्य एवं सफल हो गयी। सीता मेरे लिये प्राणोंसे भी बढ़कर है। अपनी यह पुत्री मैं श्रीरामको समर्पित करूँगा॥

भवतोऽनुमते ब्रह्मञ्शीघ्रं गच्छन्तु मन्त्रिणः।
मम कौशिक भद्रं ते अयोध्यां त्वरिता रथैः॥ २४॥
राजानं प्रश्रितैर्वाक्यैरानयन्तु पुरं मम।
प्रदानं वीर्यशुल्कायाः कथयन्तु च सर्वशः॥ २५॥

'ब्रह्मन्! कुशिकनन्दन! आपका कल्याण हो। यदि आपकी आज्ञा हो तो मेरे मन्त्री रथपर सवार होकर बड़ी उतावलीके साथ शीघ्र ही अयोध्याको जायँ और विनययुक्त वचनोंद्वारा महाराज दशरथको मेरे नगरमें लिवा लावें। साथ ही यहाँका सब समाचार बताकर यह निवेदन करें कि जिसके लिये पराक्रमका ही शुल्क नियत किया गया था, उस जनककुमारी सीताका विवाह श्रीरामचन्द्रजीके साथ होने जा रहा है॥ २४-२५॥

मुनिगुप्तौ च काकुत्स्थौ कथयन्तु नृपाय वै।
प्रीतियुक्तं तु राजानमानयन्तु सुशीघ्रगाः॥ २६॥

'ये लोग महाराज दशरथसे यह भी कह दें कि आपके दोनों पुत्र श्रीराम और लक्ष्मण विश्वामित्रजीके द्वारा सुरक्षित हो मिथिलामें पहुँच गये हैं। इस प्रकार प्रीतियुक्त हुए राजा दशरथको ये शीघ्रगामी सचिव जल्दी यहाँ बुला लायें'॥

कौशिकस्तु तथेत्याह राजा चाभाष्य मन्त्रिणः।
अयोध्यां प्रेषयामास धर्मात्मा कृतशासनान्।
यथावृत्तं समाख्यातुमानेतुं च नृपं तथा॥ २७॥

विश्वामित्रने 'तथास्तु' कहकर राजाकी बातका समर्थन किया। तब धर्मात्मा राजा जनकने अपनी आज्ञाका पालन करनेवाले मन्त्रियोंको समझा-बुझाकर यहाँका ठीक-ठीक समाचार महाराज दशरथको बताने और उन्हें मिथिलापुरीमें ले आनेके लिये भेज दिया॥ २७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्तषष्टितमः सर्गः॥ ६७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें सरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ६७॥

अष्टषष्टितमः सर्गः

राजा जनकका संदेश पाकर मन्त्रियोंसहित महाराज दशरथका मिथिला जानेके लिये उद्यत होना

जनकेन समादिष्टा दूतास्ते क्लान्तवाहनाः।
त्रिरात्रमुषिता मार्गे तेऽयोध्यां प्राविशन् पुरीम्॥ १॥

राजा जनककी आज्ञा पाकर उनके दूत अयोध्याके लिये प्रस्थित हुए। रास्तेमें वाहनोंके थक जानेके कारण तीन रात विश्राम करके चौथे दिन वे अयोध्यापुरीमें जा पहुँचे॥ १॥

ते राजवचनाद् गत्वा राजवेश्म प्रवेशिताः।
ददृशुर्देवसंकाशं वृद्धं दशरथं नृपम्॥ २॥

राजाकी आज्ञासे उनका राजमहलमें प्रवेश हुआ। वहाँ जाकर उन्होंने देवतुल्य तेजस्वी बूढ़े महाराज दशरथका दर्शन किया॥ २॥

बद्धाञ्जलिपुटाः सर्वे दूता विगतसाध्वसाः।
राजानं प्रश्रितं वाक्यमब्रुवन् मधुराक्षरम्॥ ३॥
मैथिलो जनको राजा साग्निहोत्रपुरस्कृतः।
मुहुर्मुहुर्मधुरया स्नेहसंरक्तया गिरा॥ ४॥
कुशलं चाव्ययं चैव सोपाध्यायपुरोहितम्।
जनकस्त्वां महाराज पृच्छते सपुरःसरम्॥ ५॥

उन सभी दूतोंने दोनों हाथ जोड़ निर्भय हो राजासे मधुर वाणीमें यह विनययुक्त बात कही—'महाराज! मिथिलापति राजा जनकने अग्निहोत्रकी अग्निको सामने रखकर स्नेहयुक्त मधुर वाणीमें सेवकोंसहित आपका तथा आपके उपाध्याय और पुरोहितोंका बारम्बार कुशल-मङ्गल पूछा है॥ ३—५॥

पृष्ट्वा कुशलमव्यग्रं वैदेहो मिथिलाधिपः।
कौशिकानुमते वाक्यं भवन्तमिदमब्रवीत्॥ ६॥

'इस प्रकार व्यग्रतारहित कुशल पूछकर मिथिलापति विदेहराजने महर्षि विश्वामित्रकी आज्ञासे आपको यह संदेश दिया है॥ ६॥

पूर्वं प्रतिज्ञा विदिता वीर्यशुल्का ममात्मजा।
राजानश्च कृतामर्षा निर्वीर्या विमुखीकृताः॥ ७॥

'राजन्! आपको मेरी पहले की हुई प्रतिज्ञाका हाल मालूम होगा। मैंने अपनी पुत्रीके विवाहके लिये पराक्रमका ही शुल्क नियत किया था। उसे सुनकर कितने ही राजा अमर्षमें भरे हुए आये; किंतु यहाँ पराक्रमहीन सिद्ध हुए और विमुख होकर घर लौट गये॥ ७॥

सेयं मम सुता राजन् विश्वामित्रपुरस्कृतैः।
यदृच्छयागतै राजन् निर्जिता तव पुत्रकैः॥ ८॥

'नरेश्वर! मेरी इस कन्याको विश्वामित्रजीके साथ अकस्मात् घूमते-फिरते आये हुए आपके पुत्र श्रीरामने अपने पराक्रमसे जीत लिया है॥ ८॥

तच्च रत्नं धनुर्दिव्यं मध्ये भग्नं महात्मना।
रामेण हि महाबाहो महत्यां जनसंसदि॥ ९॥

'महाबाहो! महात्मा श्रीरामने महान् जनसमुदायके मध्य मेरे यहाँ रखे हुए रत्नस्वरूप दिव्य धनुषको बीचसे तोड़ डाला है॥ ९॥

अस्मै देया मया सीता वीर्यशुल्का महात्मने।
प्रतिज्ञां तर्तुमिच्छामि तदनुज्ञातुमर्हसि॥ १०॥

'अतः मैं इन महात्मा श्रीरामचन्द्रजीको अपनी वीर्यशुल्का कन्या सीता प्रदान करूँगा। ऐसा करके मैं अपनी प्रतिज्ञासे पार होना चाहता हूँ। आप इसके लिये मुझे आज्ञा देनेकी कृपा करें॥ १०॥

सोपाध्यायो महाराज पुरोहितपुरस्कृतः।
शीघ्रमागच्छ भद्रं ते द्रष्टुमर्हसि राघवौ॥ ११॥

'महाराज! आप अपने गुरु एवं पुरोहितके साथ यहाँ शीघ्र पधारें और अपने दोनों पुत्र रघुकुलभूषण श्रीराम और लक्ष्मणको देखें। आपका भला हो॥ ११॥

प्रतिज्ञां मम राजेन्द्र निर्वर्तयितुमर्हसि।
पुत्रयोरुभयोरेव प्रीतिं त्वमुपलप्स्यसे॥ १२॥

'राजेन्द्र! यहाँ पधारकर आप मेरी प्रतिज्ञा पूर्ण करें। यहाँ आनेसे आपको अपने दोनों पुत्रोंके विवाहजनित आनन्दकी प्राप्ति होगी॥ १२॥

एवं विदेहाधिपतिर्मधुरं वाक्यमब्रवीत्।
विश्वामित्राभ्यनुज्ञातः शतानन्दमते स्थितः॥ १३॥

'राजन्! इस तरह विदेहराजने आपके पास यह मधुर संदेश भेजा था। इसके लिये उन्हें विश्वामित्रजीकी आज्ञा और शतानन्दजीकी सम्मति भी प्राप्त हुई थी'॥ १३॥

दूतवाक्यं तु तच्छ्रुत्वा राजा परमहर्षितः।
वसिष्ठं वामदेवं च मन्त्रिणश्चैवमब्रवीत्॥ १४॥

संदेशवाहक मन्त्रियोंका यह वचन सुनकर राजा दशरथ बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने महर्षि वसिष्ठ, वामदेव तथा अन्य मन्त्रियोंसे कहा—॥ १४॥

गुप्तः कुशिकपुत्रेण कौसल्यानन्दवर्धनः।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा विदेहेषु वसत्यसौ॥ १५॥

'कुशिकनन्दन विश्वामित्रसे सुरक्षित हो कौसल्याका आनन्दवर्धन करनेवाले श्रीराम अपने छोटे भाई लक्ष्मणके साथ विदेहदेशमें निवास करते हैं॥ १५॥

दृष्टवीर्यस्तु काकुत्स्थो जनकेन महात्मना।
सम्प्रदानं सुतायास्तु राघवे कर्तुमिच्छति॥ १६॥

'वहाँ महात्मा राजा जनकने ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामके पराक्रमको प्रत्यक्ष देखा है। इसलिये वे अपनी पुत्री सीताका विवाह रघुकुलरत्न रामके साथ करना चाहते हैं॥ १६॥

यदि वो रोचते वृत्तं जनकस्य महात्मनः।
पुरीं गच्छामहे शीघ्रं मा भूत् कालस्य पर्ययः॥ १७॥

'यदि आपलोगोंकी रुचि एवं सम्मति हो तो हमलोग शीघ्र ही महात्मा जनककी मिथिलापुरीको चलें। इसमें विलम्ब न हो'॥ १७॥

मन्त्रिणो बाढमित्याहुः सह सर्वैर्महर्षिभिः।
सुप्रीतश्चाब्रवीद् राजा श्वो यात्रेति च मन्त्रिणः॥ १८॥

यह सुनकर समस्त महर्षियोंसहित मन्त्रियोंने 'बहुत अच्छा' कहकर एक स्वरसे चलनेकी सम्मति दी। राजा बड़े प्रसन्न हुए और मन्त्रियोंसे बोले—'कल सबेरे ही यात्रा कर देनी चाहिये'॥ १८॥

मन्त्रिणस्तु नरेन्द्रस्य रात्रिं परमसत्कृताः।
ऊषुः प्रमुदिताः सर्वे गुणैः सर्वैः समन्विताः॥ १९॥

महाराज दशरथके सभी मन्त्री समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न थे। राजाने उनका बड़ा सत्कार किया। अतः बारात चलनेकी बात सुनकर उन्होंने बड़े आनन्दसे वह रात्रि व्यतीत की॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डेऽष्टषष्टितमः सर्गः॥ ६८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें अड़सठवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ६८॥

एकोनसप्ततितमः सर्गः

दल-बलसहित राजा दशरथकी मिथिला-यात्रा और वहाँ राजा जनकके द्वारा उनका स्वागत-सत्कार

ततो रात्र्यां व्यतीतायां सोपाध्यायः सबान्धवः।
राजा दशरथो हृष्टः सुमन्त्रमिदमब्रवीत्॥ १॥

तदनन्तर रात्रि व्यतीत होनेपर उपाध्याय और बन्धुबान्धवोंसहित राजा दशरथ हर्षमें भरकर सुमन्त्रसे इस प्रकार बोले—॥ १॥

अद्य सर्वे धनाध्यक्षा धनमादाय पुष्कलम्।
व्रजन्त्वग्रे सुविहिता नानारत्नसमन्विताः॥ २॥

'आज हमारे सभी धनाध्यक्ष (खजांची) बहुत-सा धन लेकर नाना प्रकारके रत्नोंसे सम्पन्न हो सबसे आगे चलें। उनकी रक्षाके लिये हर तरहकी सुव्यवस्था होनी चाहिये॥

चतुरङ्गबलं चापि शीघ्रं निर्यातु सर्वशः।
ममाज्ञासमकालं च यानं युग्यमनुत्तमम्॥ ३॥

'सारी चतुरङ्गिणी सेना भी यहाँसे शीघ्र ही कूच कर दे। अभी मेरी आज्ञा सुनते ही सुन्दर-सुन्दर पालकियाँ और अच्छे-अच्छे घोड़े आदि वाहन तैयार होकर चल दें॥ ३॥

वसिष्ठो वामदेवश्च जाबालिरथ काश्यपः।
मार्कण्डेयस्तु दीर्घायुर्ऋषिः कात्यायनस्तथा॥ ४॥

एते द्विजाः प्रयान्त्वग्रे स्यन्दनं योजयस्व मे।
यथा कालात्ययो न स्याद् दूता हि त्वरयन्ति माम्॥ ५॥

'वसिष्ठ, वामदेव, जाबालि, कश्यप, दीर्घजीवी मार्कण्डेय

मुनि तथा कात्यायन—ये सभी ब्रह्मर्षि आगे-आगे चलें। मेरा रथ भी तैयार करो। देर नहीं होनी चाहिये। राजा जनकके दूत मुझे जल्दी करनेके लिये प्रेरित कर रहे हैं' ॥ ४-५ ॥

वचनाच्च नरेन्द्रस्य सेना च चतुरङ्गिणी।
राजानमृषिभिः सार्धं व्रजन्तं पृष्ठतोऽन्वयात्॥ ६ ॥

राजाकी इस आज्ञाके अनुसार चतुरङ्गिणी सेना तैयार हो गयी और ऋषियोंके साथ यात्रा करते हुए महाराज दशरथके पीछे-पीछे चली ॥ ६ ॥

गत्वा चतुरहं मार्गं विदेहानभ्युपेयिवान्।
राजा च जनकः श्रीमाञ्श्रुत्वा पूजामकल्पयत्॥ ७ ॥

चार दिनका मार्ग तय करके वे सब लोग विदेह-देशमें जा पहुँचे। उनके आगमनका समाचार सुनकर श्रीमान् राजा जनकने स्वागत-सत्कारकी तैयारी की ॥ ७ ॥

ततो राजानमासाद्य वृद्धं दशरथं नृपम्।
मुदितो जनको राजा प्रहर्षं परमं ययौ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् आनन्दमग्न हुए राजा जनक बूढ़े महाराज दशरथके पास पहुँचे। उनसे मिलकर उन्हें बड़ा हर्ष हुआ ॥

उवाच वचनं श्रेष्ठो नरश्रेष्ठं मुदान्वितम्।
स्वागतं ते नरश्रेष्ठ दिष्ट्या प्राप्तोऽसि राघव॥ ९ ॥

राजाओंमें श्रेष्ठ मिथिलानरेशने आनन्दमग्न हुए पुरुषप्रवर राजा दशरथसे कहा—'नरश्रेष्ठ रघुनन्दन! आपका स्वागत है। मेरे बड़े भाग्य, जो आप यहाँ पधारे ॥ ९ ॥

पुत्रयोरुभयोः प्रीतिं लप्स्यसे वीर्यनिर्जिताम्।
दिष्ट्या प्राप्तो महातेजा वसिष्ठो भगवानृषिः॥ १० ॥
सह सर्वैर्द्विजश्रेष्ठैर्देवैरिव शतक्रतुः।

'आप यहाँ अपने दोनों पुत्रोंकी प्रीति प्राप्त करेंगे, जो उन्होंने अपने पराक्रमसे जीतकर पायी है। महातेजस्वी भगवान् वसिष्ठ मुनिने भी हमारे सौभाग्यसे ही यहाँ पदार्पण किया है। ये इन सभी श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके साथ वैसी ही शोभा पा रहे हैं, जैसे देवताओंके साथ इन्द्र सुशोभित होते हैं ॥

दिष्ट्या मे निर्जिता विघ्ना दिष्ट्या मे पूजितं कुलम्॥ ११ ॥
राघवैः सह सम्बन्धाद् वीर्यश्रेष्ठैर्महाबलैः।

'सौभाग्यसे मेरी सारी विघ्न-बाधाएँ पराजित हो गयीं। रघुकुलके महापुरुष महान् बलसे सम्पन्न और पराक्रममें सबसे श्रेष्ठ होते हैं। इस कुलके साथ सम्बन्ध होनेके कारण आज मेरे कुलका सम्मान बढ़ गया ॥ ११½ ॥

श्वः प्रभाते नरेन्द्र त्वं संवर्तयितुमर्हसि॥ १२ ॥
यज्ञस्यान्ते नरश्रेष्ठ विवाहमृषिसत्तमैः।

'नरश्रेष्ठ नरेन्द्र! कल सबेरे इन सभी महर्षियोंके साथ उपस्थित हो मेरे यज्ञकी समाप्तिके बाद आप श्रीरामके विवाहका शुभकार्य सम्पन्न करें' ॥ १२½ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा ऋषिमध्ये नराधिपः॥ १३ ॥
वाक्यं वाक्यविदां श्रेष्ठः प्रत्युवाच महीपतिम्।

ऋषियोंकी मण्डलीमें राजा जनककी यह बात सुनकर बोलनेकी कला जाननेवाले विद्वानोंमें श्रेष्ठ एवं वाक्यमर्मज्ञ महाराज दशरथने मिथिलानरेशको इस* प्रकार उत्तर दिया— ॥ १३½ ॥

प्रतिग्रहो दातृवशः श्रुतमेतन्मया पुरा॥ १४ ॥
यथा वक्ष्यसि धर्मज्ञ तत् करिष्यामहे वयम्।

'धर्मज्ञ! मैंने पहलेसे यह सुन रखा है कि प्रतिग्रह दाताके अधीन होता है। अतः आप जैसा कहेंगे, हम वैसा ही करेंगे' ॥ १४½ ॥

तद् धर्मिष्ठं यशस्यं च वचनं सत्यवादिनः॥ १५ ॥
श्रुत्वा विदेहाधिपतिः परं विस्मयमागतः।

सत्यवादी राजा दशरथका वह धर्मानुकूल तथा यशोवर्धक वचन सुनकर विदेहराज जनकको बड़ा विस्मय हुआ ॥ १५½ ॥

ततः सर्वे मुनिगणाः परस्परसमागमे॥ १६ ॥
हर्षेण महता युक्तास्तां रात्रिमवसन् सुखम्।

तदनन्तर सभी महर्षि एक-दूसरेसे मिलकर बहुत प्रसन्न हुए और सबने बड़े सुखसे वह रात बितायी ॥ १६½ ॥

अथ रामो महातेजा लक्ष्मणेन समं ययौ॥ १७ ॥
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य पितुः पादावुपस्पृशन्।

इधर महातेजस्वी श्रीराम विश्वामित्रजीको आगे करके लक्ष्मणके साथ पिताजीके पास गये और उनके चरणोंका स्पर्श किया ॥ १७½ ॥

राजा च राघवौ पुत्रौ निशाम्य परिहर्षितः॥ १८ ॥
उवास परमप्रीतो जनकेनाभिपूजितः।

राजा दशरथने भी जनकके द्वारा आदर-सत्कार पाकर बड़ी प्रसन्नताका अनुभव किया तथा अपने दोनों रघुकुल-रत्न पुत्रोंको सकुशल देखकर उन्हें अपार हर्ष हुआ। वे रातमें बड़े सुखसे वहाँ रहे ॥ १८½ ॥

जनकोऽपि महातेजाः क्रिया धर्मेण तत्त्ववित्।
यज्ञस्य च सुताभ्यां च कृत्वा रात्रिमुवास ह॥ १९ ॥

महातेजस्वी तत्त्वज्ञ राजा जनकने भी धर्मके अनुसार यज्ञकार्य सम्पन्न किया तथा अपनी दोनों कन्याओंके लिये मङ्गलाचारका सम्पादन करके सुखसे वह रात्रि व्यतीत की ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकोनसप्ततितमः सर्गः॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उनहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६९ ॥

★

सप्ततितमः सर्गः

राजा जनकका अपने भाई कुशध्वजको सांकाश्या नगरीसे बुलवाना, राजा दशरथके अनुरोधसे वसिष्ठजीका सूर्यवंशका परिचय देते हुए श्रीराम और लक्ष्मणके लिये सीता तथा ऊर्मिलाको वरण करना

ततः प्रभाते जनकः कृतकर्मा महर्षिभिः।
उवाच वाक्यं वाक्यज्ञः शतानन्दं पुरोहितम्॥ १॥

तदनन्तर जब सवेरा हुआ और राजा जनक महर्षियोंके सहयोगसे अपना यज्ञ-कार्य सम्पन्न कर चुके, तब वे वाक्यमर्मज्ञ नरेश अपने पुरोहित शतानन्दजीसे इस प्रकार बोले—॥ १॥

भ्राता मम महातेजा वीर्यवानतिधार्मिकः।
कुशध्वज इति ख्यातः पुरीमध्यवसच्छुभाम्॥ २॥
वार्याफलकपर्यन्तां पिबन्निक्षुमतीं नदीम्।
सांकाश्यां पुण्यसंकाशां विमानमिव पुष्पकम्॥ ३॥

'ब्रह्मन्! मेरे महातेजस्वी और पराक्रमी भाई कुशध्वज जो अत्यन्त धर्मात्मा हैं, इस समय इक्षुमती नदीका जल पीते हुए उसके किनारे बसी हुई कल्याणमयी सांकाश्या नगरीमें निवास करते हैं। उसके चारों ओरके परकोटोंकी रक्षाके लिये शत्रुओंके निवारणमें समर्थ बड़े-बड़े यन्त्र लगाये गये हैं। वह पुरी पुष्पक विमानके समान विस्तृत तथा पुण्यसे उपलब्ध होनेवाले स्वर्गलोकके सदृश सुन्दर है॥ २-३॥

तमहं द्रष्टुमिच्छामि यज्ञगोप्ता स मे मतः।
प्रीतिं सोऽपि महातेजा इमां भोक्ता मया सह॥ ४॥

'वहाँ रहनेवाले अपने भाईको इस शुभ अवसरपर मैं यहाँ उपस्थित देखना चाहता हूँ; क्योंकि मेरी दृष्टिमें वे मेरे इस यज्ञके संरक्षक हैं। महातेजस्वी कुशध्वज भी मेरे साथ श्रीसीता-रामके विवाहसम्बन्धी इस मङ्गल समारोहका सुख उठावेंगे'॥ ४॥

एवमुक्ते तु वचने शतानन्दस्य संनिधौ।
आगताः केचिदव्यग्रा जनकस्तान् समादिशत्॥ ५॥

राजाके इस प्रकार कहनेपर शतानन्दजीके समीप कुछ धीर स्वभावके पुरुष आये और राजा जनकने उन्हें पूर्वोक्त आदेश सुनाया॥ ५॥

शासनात् तु नरेन्द्रस्य प्रययुः शीघ्रवाजिभिः।
समानेतुं नरव्याघ्रं विष्णुमिन्द्राज्ञया यथा॥ ६॥

राजाकी आज्ञासे वे श्रेष्ठ दूत तेज चलनेवाले घोड़ोंपर सवार हो पुरुषसिंह कुशध्वजको बुला लानेके लिये चल दिये। मानो इन्द्रकी आज्ञासे उनके दूत भगवान् विष्णुको बुलाने जा रहे हों॥ ६॥

सांकाश्यां ते समागम्य ददृशुश्च कुशध्वजम्।
न्यवेदयन् यथावृत्तं जनकस्य च चिन्तितम्॥ ७॥

सांकाश्यामें पहुँचकर उन्होंने कुशध्वजसे भेंट की और मिथिलाका यथार्थ समाचार एवं जनकका अभिप्राय भी निवेदन किया॥ ७॥

तद्वृत्तं नृपतिः श्रुत्वा दूतश्रेष्ठैर्महाजवैः।
आज्ञया तु नरेन्द्रस्य आजगाम कुशध्वजः॥ ८॥

उन महावेगशाली श्रेष्ठ दूतोंके मुखसे मिथिलाका सारा वृत्तान्त सुनकर राजा कुशध्वज महाराज जनककी आज्ञाके अनुसार मिथिलामें आये॥ ८॥

स ददर्श महात्मानं जनकं धर्मवत्सलम्।
सोऽभिवाद्य शतानन्दं जनकं चातिधार्मिकम्॥ ९॥
राजार्हं परमं दिव्यमासनं सोऽध्यरोहत।

वहाँ उन्होंने धर्मवत्सल महात्मा जनकका दर्शन किया। फिर शतानन्दजी तथा अत्यन्त धार्मिक जनकको प्रणाम करके वे राजाके योग्य परम दिव्य सिंहासनपर विराजमान हुए॥ ९½॥

उपविष्टावुभौ तौ तु भ्रातरावमितद्युती॥ १०॥
प्रेषयामासतुर्वीरौ मन्त्रिश्रेष्ठं सुदामनम्।
गच्छ मन्त्रिपते शीघ्रमिक्ष्वाकुममितप्रभम्॥ ११॥
आत्मजैः सह दुर्धर्षमानयस्व समन्त्रिणम्।

सिंहासनपर बैठे हुए उन दोनों अमिततेजस्वी वीर-बन्धुओंने मन्त्रिप्रवर सुदामनको भेजा और कहा—'मन्त्रिवर! आप शीघ्र ही अमिततेजस्वी इक्ष्वाकुकुलभूषण महाराज दशरथके पास जाइये और पुत्रों तथा मन्त्रियोंसहित उन दुर्जय नरेशको यहाँ बुला लाइये'॥ १०-११½॥

औपकार्यां स गत्वा तु रघूणां कुलवर्धनम्॥ १२॥
ददर्श शिरसा चैनमभिवाद्येदमब्रवीत्।

आज्ञा पाकर मन्त्री सुदामन महाराज दशरथके खेमेमें जाकर रघुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले उन नरेशसे मिले और मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम करनेके पश्चात् इस प्रकार बोले—॥

अयोध्याधिपते वीर वैदेहो मिथिलाधिपः॥ १३॥
स त्वां द्रष्टुं व्यवसितः सोपाध्यायपुरोहितम्।

'वीर अयोध्यानरेश! मिथिलापति विदेहराज जनक इस समय उपाध्याय और पुरोहितसहित आपका दर्शन करना चाहते हैं'॥ १३½॥

मन्त्रिश्रेष्ठवचः श्रुत्वा राजा सर्षिगणस्तथा॥ १४॥
सबन्धुरगमत् तत्र जनको यत्र वर्तते।

मन्त्रिवर! सुदामनकी बात सुनकर राजा दशरथ ऋषियों और बन्धु-बान्धवोंके साथ उस स्थानपर गये जहाँ राजा जनक विद्यमान थे॥ १४½॥

राजा च मन्त्रिसहितः सोपाध्यायः सबान्धवः ॥ १५ ॥
वाक्यं वाक्यविदां श्रेष्ठो वैदेहमिदमब्रवीत्।

मन्त्री, उपाध्याय और भाई-बन्धुओंसहित राजा दशरथ, जो बोलनेकी कला जाननेवाले विद्वानोंमें श्रेष्ठ थे, विदेहराज जनकसे इस प्रकार बोले— ॥ १५½ ॥

विदितं ते महाराज इक्ष्वाकुकुलदैवतम् ॥ १६ ॥
वक्ता सर्वेषु कृत्येषु वसिष्ठो भगवानृषिः।

'महाराज! आपको तो विदित ही होगा कि इक्ष्वाकु-कुलके देवता ये महर्षि वसिष्ठजी हैं। हमारे यहाँ सभी कार्योंमें ये भगवान् वसिष्ठ मुनि ही कर्तव्यका उपदेश करते हैं और इन्हींकी आज्ञाका पालन किया जाता है॥ १६½ ॥

विश्वामित्राभ्यनुज्ञातः सह सर्वैर्महर्षिभिः ॥ १७ ॥
एष वक्ष्यति धर्मात्मा वसिष्ठो मे यथाक्रमम्।

'यदि सम्पूर्ण महर्षियोंसहित विश्वामित्रजीकी आज्ञा हो तो ये धर्मात्मा वसिष्ठ ही पहले मेरी कुल-परम्पराका क्रमशः परिचय देंगे' ॥ १७½ ॥

तूष्णींभूते दशरथे वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ १८ ॥
उवाच वाक्यं वाक्यज्ञो वैदेहं सपुरोधसम्।

यों कहकर जब राजा दशरथ चुप हो गये, तब वाक्यवेत्ता भगवान् वसिष्ठ मुनि पुरोहितसहित विदेहराजसे इस प्रकार बोले— ॥ १८½ ॥

अव्यक्तप्रभवो ब्रह्मा शाश्वतो नित्य अव्ययः ॥ १९ ॥
तस्मान्मरीचिः संजज्ञे मरीचेः कश्यपः सुतः।
विवस्वान् कश्यपाज्जज्ञे मनुर्वैवस्वतः स्मृतः ॥ २० ॥

'ब्रह्माजीकी उत्पत्तिका कारण अव्यक्त है—ये स्वयम्भू हैं। नित्य, शाश्वत और अविनाशी हैं। उनसे मरीचिकी उत्पत्ति हुई। मरीचिके पुत्र कश्यप हैं, कश्यपसे विवस्वान्का और विवस्वान्से वैवस्वत मनुका जन्म हुआ॥ १९-२० ॥

मनुः प्रजापतिः पूर्वमिक्ष्वाकुश्च मनोः सुतः।
तमिक्ष्वाकुमयोध्यायां राजानं विद्धि पूर्वकम् ॥ २१ ॥

'मनु पहले प्रजापति थे, उनसे इक्ष्वाकु नामक पुत्र हुआ। उन इक्ष्वाकुको ही आप अयोध्याके प्रथम राजा समझें॥

इक्ष्वाकोस्तु सुतः श्रीमान् कुक्षिरित्येव विश्रुतः।
कुक्षेरथात्मजः श्रीमान् विकुक्षिरुदपद्यत ॥ २२ ॥

'इक्ष्वाकुके पुत्रका नाम कुक्षि था। वे बड़े तेजस्वी थे। कुक्षिसे विकुक्षि नामक कान्तिमान् पुत्रका जन्म हुआ॥

विकुक्षेस्तु महातेजा बाणः पुत्रः प्रतापवान्।
बाणस्य तु महातेजा अनरण्यः प्रतापवान् ॥ २३ ॥

'विकुक्षिके पुत्र महातेजस्वी और प्रतापी बाण हुए। बाणके पुत्रका नाम अनरण्य था। वे भी बड़े तेजस्वी और प्रतापी थे॥ २३ ॥

अनरण्यात् पृथुर्जज्ञे त्रिशङ्कुस्तु पृथोरपि।
त्रिशङ्कोरभवत् पुत्रो धुन्धुमारो महायशाः ॥ २४ ॥

'अनरण्यसे पृथु और पृथुसे त्रिशङ्कुका जन्म हुआ। त्रिशङ्कुके पुत्र महायशस्वी धुन्धुमार थे॥ २४ ॥

धुन्धुमारान्महातेजा युवनाश्वो महारथः।
युवनाश्वसुतश्चासीन्मान्धाता पृथिवीपतिः ॥ २५ ॥

'धुन्धुमारसे महातेजस्वी महारथी युवनाश्वका जन्म हुआ। युवनाश्वके पुत्र मान्धाता हुए, जो समस्त भूमण्डलके स्वामी थे॥ २५ ॥

मान्धातुस्तु सुतः श्रीमान् सुसन्धिरुदपद्यत।
सुसन्धेरपि पुत्रौ द्वौ ध्रुवसन्धिः प्रसेनजित् ॥ २६ ॥

'मान्धातासे सुसन्धि नामक कान्तिमान् पुत्रका जन्म हुआ। सुसन्धिके भी दो पुत्र हुए—ध्रुवसन्धि और प्रसेनजित्॥

यशस्वी ध्रुवसन्धेस्तु भरतो नाम नामतः।
भरतात् तु महातेजा असितो नाम जायत ॥ २७ ॥

'ध्रुवसन्धिसे भरत नामक यशस्वी पुत्रका जन्म हुआ। भरतसे महातेजस्वी असितकी उत्पत्ति हुई॥ २७ ॥

यस्यैते प्रतिराजान उदपद्यन्त शत्रवः।
हैहयास्तालजङ्घाश्च शूराश्च शशबिन्दवः ॥ २८ ॥

'राजा असितके साथ हैहय, तालजङ्घ और शशबिन्दु—इन तीन राजवंशोंके लोग शत्रुता रखने लगे थे॥ २८ ॥

तांश्च स प्रतियुध्यन् वै युद्धे राजा प्रवासितः।
हिमवन्तमुपागम्य भार्याभ्यां सहितस्तदा ॥ २९ ॥

'युद्धमें इन तीनों शत्रुओंका सामना करते हुए राजा असित प्रवासी हो गये। वे अपनी दो रानियोंके साथ हिमालयपर आकर रहने लगे॥ २९ ॥

असितोऽल्पबलो राजा कालधर्ममुपेयिवान्।
द्वे चास्य भार्ये गर्भिण्यौ बभूवतुरिति श्रुतिः ॥ ३० ॥

'राजा असितके पास बहुत थोड़ी सेना शेष रह गयी थी। वे हिमालयपर ही मृत्युको प्राप्त हो गये। उस समय उनकी दोनों रानियाँ गर्भवती थीं, ऐसा सुना गया है॥ ३० ॥

एका गर्भविनाशार्थं सपत्न्यै सगरं ददौ।

'उनमेंसे एक रानीने अपनी सौतका गर्भ नष्ट करनेके लिये उसे विषयुक्त भोजन दे दिया॥ ३०½ ॥

ततः शैलवरे रम्ये बभूवाभिरतो मुनिः ॥ ३१ ॥
भार्गवश्च्यवनो नाम हिमवन्तमुपाश्रितः।
तत्र चैका महाभागा भार्गवं देववर्चसम् ॥ ३२ ॥
ववन्दे पद्मपत्राक्षी काङ्क्षन्ती सुतमुत्तमम्।
तमृषिं साभ्युपागम्य कालिन्दी चाभ्यवादयत् ॥ ३३ ॥

'उस समय उस रमणीय एवं श्रेष्ठ पर्वतपर भृगुकुलमें उत्पन्न हुए महामुनि च्यवन तपस्यामें लगे हुए थे। हिमालयपर ही उनका आश्रम था। उन दोनों रानियोंमेंसे एक (जिसे जहर दिया गया था) कालिन्दीनामसे प्रसिद्ध थी। विकसित कमलदलके समान नेत्रोंवाली महाभागा कालिन्दी एक उत्तम पुत्र पानेकी इच्छा रखती थी। उसने देवतुल्य

तेजस्वी भृगुनन्दन च्यवनके पास जाकर उन्हें प्रणाम किया॥

स तामभ्यवदद् विप्रः पुत्रेप्सुं पुत्रजन्मनि।
तव कुक्षौ महाभागे सुपुत्रः सुमहाबलः॥ ३४॥
महावीर्यो महातेजा अचिरात् संजनिष्यति।
गरेण सहितः श्रीमान् मा शुचः कमलेक्षणे॥ ३५॥

'उस समय ब्रह्मर्षि च्यवनने पुत्रकी अभिलाषा रखनेवाली कालिन्दीसे पुत्र-जन्मके विषयमें कहा— 'महाभागे! तुम्हारे उदरमें एक महान् बलवान्, महातेजस्वी और महापराक्रमी उत्तम पुत्र है, वह कान्तिमान् बालक थोड़े ही दिनोंमें गर (जहर) के साथ उत्पन्न होगा। अतः कमललोचने! तुम पुत्रके लिये चिन्ता न करो' ॥ ३४-३५॥

च्यवनं च नमस्कृत्य राजपुत्री पतिव्रता।
पत्या विरहिता तस्मात् पुत्रं देवी व्यजायत॥ ३६॥

'वह विधवा राजकुमारी कालिन्दी बड़ी पतिव्रता थी। महर्षि च्यवनको नमस्कार करके वह देवी अपने आश्रमपर लौट आयी। फिर समय आनेपर उसने एक पुत्रको जन्म दिया॥ ३६॥

सपत्न्या तु गरस्तस्यै दत्तो गर्भजिघांसया।
सह तेन गरेणैव संजातः सगरोऽभवत्॥ ३७॥

'उसकी सौतने उसके गर्भको नष्ट कर देनेके लिये जो गर (विष) दिया था, उसके साथ ही उत्पन्न होनेके कारण वह राजकुमार 'सगर' नामसे विख्यात हुआ॥ ३७॥

सगरस्यासमञ्जस्तु असमञ्जादथांशुमान्।
दिलीपोंऽशुमतः पुत्रो दिलीपस्य भगीरथः॥ ३८॥

'सगरके पुत्र असमंज और असमंजके पुत्र अंशुमान् हुए। अंशुमान्‌के पुत्र दिलीप और दिलीपके पुत्र भगीरथ हुए॥

भगीरथात् ककुत्स्थश्च ककुत्स्थाच्च रघुस्तथा।
रघोस्तु पुत्रस्तेजस्वी प्रवृद्धः पुरुषादकः॥ ३९॥

'भगीरथसे ककुत्स्थ और ककुत्स्थसे रघुका जन्म हुआ। रघुके तेजस्वी पुत्र प्रवृद्ध हुए, जो शापसे राक्षस हो गये थे॥

कल्माषपादोऽप्यभवत् तस्माज्जातस्तु शङ्खणः।
सुदर्शनः शङ्खणस्य अग्निवर्णः सुदर्शनात्॥ ४०॥

'वे ही कल्माषपाद नामसे भी प्रसिद्ध हुए थे। उनसे शङ्खण नामक पुत्रका जन्म हुआ था। शङ्खणके पुत्र सुदर्शन और सुदर्शनके अग्निवर्ण हुए॥ ४०॥

शीघ्रगस्त्वग्निवर्णस्य शीघ्रगस्य मरुः सुतः।
मरोः प्रशुश्रुकस्त्वासीदम्बरीषः प्रशुश्रुकात्॥ ४१॥

'अग्निवर्णके शीघ्रग और शीघ्रगके पुत्र मरु थे। मरुसे प्रशुश्रुक और प्रशुश्रुकसे अम्बरीषकी उत्पत्ति हुई॥ ४१॥

अम्बरीषस्य पुत्रोऽभून्नहुषश्च महीपतिः।
नहुषस्य ययातिस्तु नाभागस्तु ययातिजः॥ ४२॥
नाभागस्य बभूवाज अजाद् दशरथोऽभवत्।
अस्माद् दशरथाज्जातौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ॥ ४३॥

'अम्बरीषके पुत्र राजा नहुष हुए। नहुषके ययाति और ययातिके पुत्र नाभाग थे। नाभागके अज हुए। अजसे दशरथका जन्म हुआ। इन्हीं महाराज दशरथसे ये दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण उत्पन्न हुए हैं॥ ४२-४३॥

आदिवंशविशुद्धानां राज्ञां परमधर्मिणाम्।
इक्ष्वाकुकुलजातानां वीराणां सत्यवादिनाम्॥ ४४॥

'इक्ष्वाकुकुलमें उत्पन्न हुए राजाओंका वंश आदिकालसे ही शुद्ध रहा है। ये सब-के-सब परम धर्मात्मा, वीर और सत्यवादी होते आये हैं॥ ४४॥

रामलक्ष्मणयोरर्थे त्वत्सुते वरये नृप।
सदृशाभ्यां नरश्रेष्ठ सदृशे दातुमर्हसि॥ ४५॥

'नरश्रेष्ठ! नरेश्वर! इसी इक्ष्वाकुकुलमें उत्पन्न हुए श्रीराम और लक्ष्मणके लिये मैं आपकी दो कन्याओंका वरण करता हूँ। ये आपकी कन्याओंके योग्य हैं और आपकी कन्याएँ इनके योग्य। अतः आप इन्हें कन्यादान करें' ॥ ४५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्ततितमः सर्गः॥ ७०॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें सत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ७०॥

—★—

एकसप्ततितमः सर्गः

राजा जनकका अपने कुलका परिचय देते हुए श्रीराम और लक्ष्मणके लिये क्रमशः सीता और ऊर्मिलाको देनेकी प्रतिज्ञा करना

एवं ब्रुवाणं जनकः प्रत्युवाच कृताञ्जलिः।
श्रोतुमर्हसि भद्रं ते कुलं नः परिकीर्तितम्॥ १॥
प्रदाने हि मुनिश्रेष्ठ कुलं निरवशेषतः।
वक्तव्यं कुलजातेन तन्निबोध महामते॥ २॥

महर्षि वसिष्ठ जब इस प्रकार इक्ष्वाकुवंशका परिचय दे चुके, तब राजा जनकने हाथ जोड़कर उनसे कहा— 'मुनिश्रेष्ठ! आपका भला हो। अब हम भी अपने कुलका परिचय दे रहे हैं, सुनिये। महामते! कुलीन पुरुषके लिये कन्यादानके समय अपने कुलका पूर्णरूपेण परिचय देना आवश्यक है; अतः आप सुननेकी कृपा करें॥ १-२॥

राजाभूत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतः स्वेन कर्मणा।
निमिः परमधर्मात्मा सर्वसत्त्ववतां वरः॥ ३॥

'प्राचीन कालमें निमि नामक एक परम धर्मात्मा राजा हुए हैं, जो सम्पूर्ण धैर्यशाली महापुरुषोंमें श्रेष्ठ तथा अपने

पराक्रमसे तीनों लोकोंमें विख्यात थे ॥ ३ ॥

तस्य पुत्रो मिथिर्नाम जनको मिथिपुत्रकः ।
प्रथमो जनको राजा जनकादप्युदावसुः ॥ ४ ॥

'उनके मिथि नामक एक पुत्र हुआ। मिथिके पुत्रका नाम जनक हुआ। ये ही हमारे कुलमें पहले जनक हुए हैं (इन्हींके नामपर हमारे वंशका प्रत्येक राजा 'जनक' कहलाता है)। जनकसे उदावसुका जन्म हुआ ॥ ४ ॥

उदावसोस्तु धर्मात्मा जातो वै नन्दिवर्धनः ।
नन्दिवर्धसुतः शूरः सुकेतुर्नाम नामतः ॥ ५ ॥

'उदावसुसे धर्मात्मा नन्दिवर्धन उत्पन्न हुए। नन्दिवर्धनके शूरवीर पुत्रका नाम सुकेतु हुआ ॥ ५ ॥

सुकेतोरपि धर्मात्मा देवरातो महाबलः ।
देवरातस्य राजर्षेर्बृहद्रथ इति स्मृतः ॥ ६ ॥

'सुकेतुके भी देवरात नामक पुत्र हुआ। देवरात महान् बलवान् और धर्मात्मा थे। राजर्षि देवरातके बृहद्रथ नामसे प्रसिद्ध एक पुत्र हुआ ॥ ६ ॥

बृहद्रथस्य शूरोऽभून्महावीरः प्रतापवान् ।
महावीरस्य धृतिमान् सुधृतिः सत्यविक्रमः ॥ ७ ॥

'बृहद्रथके पुत्र महावीर हुए, जो शूर और प्रतापी थे। महावीरके सुधृति हुए, जो धैर्यवान् और सत्यपराक्रमी थे ॥

सुधृतेरपि धर्मात्मा धृष्टकेतुः सुधार्मिकः ।
धृष्टकेतोश्च राजर्षेर्हर्यश्व इति विश्रुतः ॥ ८ ॥

'सुधृतिके भी धर्मात्मा धृष्टकेतु हुए, जो परम धार्मिक थे। राजर्षि धृष्टकेतुका पुत्र हर्यश्व नामसे विख्यात हुआ ॥

हर्यश्वस्य मरुः पुत्रो मरोः पुत्रः प्रतीन्धकः ।
प्रतीन्धकस्य धर्मात्मा राजा कीर्तिरथः सुतः ॥ ९ ॥

'हर्यश्वके पुत्र मरु, मरुके पुत्र प्रतीन्धक तथा प्रतीन्धकके पुत्र धर्मात्मा राजा कीर्तिरथ हुए ॥ ९ ॥

पुत्रः कीर्तिरथस्यापि देवमीढ इति स्मृतः ।
देवमीढस्य विबुधो विबुधस्य महीध्रकः ॥ १० ॥

'कीर्तिरथके पुत्र देवमीढ नामसे विख्यात हुए। देवमीढके विबुध और विबुधके पुत्र महीध्रक हुए ॥ १० ॥

महीध्रकसुतो राजा कीर्तिरातो महाबलः ।
कीर्तिरातस्य राजर्षेर्महारोमा व्यजायत ॥ ११ ॥

'महीध्रकके पुत्र महाबली राजा कीर्तिरात हुए। राजर्षि कीर्तिरातके महारोमा नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ११ ॥

महारोम्णस्तु धर्मात्मा स्वर्णरोमा व्यजायत ।
स्वर्णरोम्णस्तु राजर्षेर्ह्रस्वरोमा व्यजायत ॥ १२ ॥

'महारोमासे धर्मात्मा स्वर्णरोमाका जन्म हुआ। राजर्षि स्वर्णरोमासे ह्रस्वरोमा उत्पन्न हुए ॥ १२ ॥

तस्य पुत्रद्वयं राज्ञो धर्मज्ञस्य महात्मनः ।
ज्येष्ठोऽहमनुजो भ्राता मम वीरः कुशध्वजः ॥ १३ ॥

'धर्मज्ञ महात्मा राजा ह्रस्वरोमाके दो पुत्र उत्पन्न हुए, जिनमें ज्येष्ठ तो मैं ही हूँ और कनिष्ठ मेरा छोटा भाई वीर कुशध्वज है ॥ १३ ॥

मां तु ज्येष्ठं पिता राज्ये सोऽभिषिच्य पिता मम ।
कुशध्वजं समावेश्य भारं मयि वनं गतः ॥ १४ ॥

'मेरे पिता मुझ ज्येष्ठ पुत्रको राज्यपर अभिषिक्त करके कुशध्वजका सारा भार मुझे सौंपकर वनमें चले गये ॥ १४ ॥

वृद्धे पितरि स्वर्याते धर्मेण धुरमावहम् ।
भ्रातरं देवसंकाशं स्नेहात् पश्यन् कुशध्वजम् ॥ १५ ॥

'वृद्ध पिताके स्वर्गगामी हो जानेपर अपने देवतुल्य भाई कुशध्वजको स्नेह-दृष्टिसे देखता हुआ मैं इस राज्यका भार धर्मके अनुसार वहन करने लगा ॥ १५ ॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य सांकाश्यादागतः पुरात् ।
सुधन्वा वीर्यवान् राजा मिथिलामवरोधकः ॥ १६ ॥

'कुछ कालके अनन्तर पराक्रमी राजा सुधन्वाने सांकाश्य नगरसे आकर मिथिलाको चारों ओरसे घेर लिया ॥ १६ ॥

स च मे प्रेषयामास शैवं धनुरनुत्तमम् ।
सीता च कन्या पद्माक्षी मह्यं वै दीयतामिति ॥ १७ ॥

'उसने मेरे पास दूत भेजकर कहलाया कि 'तुम शिवजीके परम उत्तम धनुष तथा अपनी कमलनयनी कन्या सीताको मेरे हवाले कर दो' ॥ १७ ॥

तस्याप्रदानान्महर्षे युद्धमासीन्मया सह ।
स हतोऽभिमुखो राजा सुधन्वा तु मया रणे ॥ १८ ॥

'महर्षे! मैंने उसकी माँग पूरी नहीं की। इसलिये मेरे साथ उसका युद्ध हुआ। उस संग्राममें सम्मुख युद्ध करता हुआ राजा सुधन्वा मेरे हाथसे मारा गया ॥ १८ ॥

निहत्य तं मुनिश्रेष्ठ सुधन्वानं नराधिपम् ।
सांकाश्ये भ्रातरं शूरमभ्यषिञ्चं कुशध्वजम् ॥ १९ ॥

'मुनिश्रेष्ठ! राजा सुधन्वाका वध करके मैंने सांकाश्य नगरके राज्यपर अपने शूरवीर भ्राता कुशध्वजको अभिषिक्त कर दिया ॥ १९ ॥

कनीयानेष मे भ्राता अहं ज्येष्ठो महामुने ।
ददामि परमप्रीतो वध्वौ ते मुनिपुङ्गव ॥ २० ॥

'महामुने! ये मेरे छोटे भाई कुशध्वज हैं और मैं इनका बड़ा भाई हूँ। मुनिवर! मैं बड़ी प्रसन्नताके साथ आपको दो बहुएँ प्रदान करता हूँ ॥ २० ॥

सीतां रामाय भद्रं ते ऊर्मिलां लक्ष्मणाय वै ।
वीर्यशुल्कां मम सुतां सीतां सुरसुतोपमाम् ॥ २१ ॥
द्वितीयामूर्मिलां चैव त्रिर्वदामि न संशयः ।
ददामि परमप्रीतो वध्वौ ते मुनिपुङ्गव ॥ २२ ॥

'आपका भला हो! मैं सीताको श्रीरामके लिये और ऊर्मिलाको लक्ष्मणके लिये समर्पित करता हूँ। पराक्रम ही जिसको पानेका शुल्क (शर्त) था, उस देवकन्याके समान सुन्दरी अपनी प्रथम पुत्री सीताको श्रीरामके लिये तथा दूसरी

पुत्री ऊर्मिलाको लक्ष्मणके लिये दे रहा हूँ। मैं इस बातको तीन बार दुहराता हूँ, इसमें संशय नहीं है। मुनिप्रवर! मैं परम प्रसन्न होकर आपको दो बहुएँ दे रहा हूँ' ॥ २१-२२ ॥

रामलक्ष्मणयो राजन् गोदानं कारयस्व ह।
पितृकार्यं च भद्रं ते ततो वैवाहिकं कुरु ॥ २३ ॥

(वसिष्ठजीसे ऐसा कहकर राजा जनकने महाराज दशरथसे कहा—) 'राजन्! अब आप श्रीराम और लक्ष्मणके मङ्गलके लिये इनसे गोदान करवाइये, आपका कल्याण हो। नान्दीमुख श्राद्धका कार्य भी सम्पन्न कीजिये। इसके बाद विवाहका कार्य आरम्भ कीजियेगा ॥ २३ ॥

मघा ह्यद्य महाबाहो तृतीयदिवसे प्रभो।
फल्गुन्यामुत्तरे राजंस्तस्मिन् वैवाहिकं कुरु।
रामलक्ष्मणयोरर्थे दानं कार्यं सुखोदयम् ॥ २४ ॥

'महाबाहो! प्रभो! आज मघा नक्षत्र है। राजन्! आजके तीसरे दिन उत्तरा-फाल्गुनी नक्षत्रमें वैवाहिक कार्य कीजियेगा। आज श्रीराम और लक्ष्मणके अभ्युदयके लिये (गो, भूमि, तिल और सुवर्ण आदिका) दान कराना चाहिये; क्योंकि वह भविष्यमें सुख देनेवाला होता है' ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकसप्ततितमः सर्गः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें इकहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

द्विसप्ततितमः सर्गः

विश्वामित्रद्वारा भरत और शत्रुघ्नके लिये कुशध्वजकी कन्याओंका वरण, राजा जनकद्वारा इसकी स्वीकृति तथा राजा दशरथका अपने पुत्रोंके मङ्गलके लिये नान्दीश्राद्ध एवं गोदान करना

तमुक्तवन्तं वैदेहं विश्वामित्रो महामुनिः।
उवाच वचनं वीरं वसिष्ठसहितो नृपम् ॥ १ ॥

विदेहराज जनक जब अपनी बात समाप्त कर चुके, तब वसिष्ठसहित महामुनि विश्वामित्र उन वीर नरेशसे इस प्रकार बोले— ॥ १ ॥

अचिन्त्यान्यप्रमेयाणि कुलानि नरपुङ्गव।
इक्ष्वाकूणां विदेहानां नैषां तुल्योऽस्ति कश्चन ॥ २ ॥

'नरश्रेष्ठ! इक्ष्वाकु और विदेह दोनों ही राजाओंके वंश अचिन्तनीय हैं। दोनोंके ही प्रभावकी कोई सीमा नहीं है। इन दोनोंकी समानता करनेवाला दूसरा कोई राजवंश नहीं है ॥

सदृशो धर्मसम्बन्धः सदृशो रूपसम्पदा।
रामलक्ष्मणयो राजन् सीता चोर्मिलया सह ॥ ३ ॥

'राजन्! इन दोनों कुलोंमें जो यह धर्म-सम्बन्ध स्थापित होने जा रहा है, सर्वथा एक-दूसरेके योग्य है। रूप-वैभवकी दृष्टिसे भी समान योग्यताका है; क्योंकि ऊर्मिलासहित सीता श्रीराम और लक्ष्मणके अनुरूप है ॥ ३ ॥

वक्तव्यं च नरश्रेष्ठ श्रूयतां वचनं मम।
भ्राता यवीयान् धर्मज्ञ एष राजा कुशध्वजः ॥ ४ ॥
अस्य धर्मात्मनो राजन् रूपेणाप्रतिमं भुवि।
सुताद्वयं नरश्रेष्ठ पत्न्यर्थं वरयामहे ॥ ५ ॥
भरतस्य कुमारस्य शत्रुघ्नस्य च धीमतः।
वरये ते सुते राजंस्तयोरर्थे महात्मनोः ॥ ६ ॥

'नरश्रेष्ठ! इसके बाद मुझे भी कुछ कहना है; आप मेरी बात सुनिये। राजन्! आपके छोटे भाई जो ये धर्मज्ञ राजा कुशध्वज बैठे हैं, इन धर्मात्मा नरेशके भी दो कन्याएँ हैं, जो इस भूमण्डलमें अनुपम सुन्दरी हैं। नरश्रेष्ठ! भूपाल! मैं आपकी उन दोनों कन्याओंका कुमार भरत और बुद्धिमान् शत्रुघ्न इन दोनों महामनस्वी राजकुमारोंके लिये इनकी धर्मपत्नी बनानेके उद्देश्यसे वरण करता हूँ ॥ ४—६ ॥

पुत्रा दशरथस्येमे रूपयौवनशालिनः।
लोकपालसमाः सर्वे देवतुल्यपराक्रमाः ॥ ७ ॥

'राजा दशरथके ये सभी पुत्र रूप और यौवनसे सुशोभित, लोकपालोंके समान तेजस्वी तथा देवताओंके तुल्य पराक्रमी हैं ॥ ७ ॥

उभयोरपि राजेन्द्र सम्बन्धेनानुबध्यताम्।
इक्ष्वाकुकुलमव्यग्रं भवतः पुण्यकर्मणः ॥ ८ ॥

'राजेन्द्र! इन दोनों भाइयों (भरत और शत्रुघ्न) को भी कन्यादान करके आप इस समस्त इक्ष्वाकुकुलको अपने सम्बन्धसे बाँध लीजिये। आप पुण्यकर्मा पुरुष हैं; आपके चित्तमें व्यग्रता नहीं आनी चाहिये (अर्थात् आप यह सोचकर व्यग्र न हों कि ऐसे महान् सम्राट्के साथ मैं एक ही समय चार वैवाहिक सम्बन्धोंका निर्वाह कैसे कर सकता हूँ।)' ॥ ८ ॥

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा वसिष्ठस्य मते तदा।
जनकः प्राञ्जलिर्वाक्यमुवाच मुनिपुङ्गवौ ॥ ९ ॥

वसिष्ठजीकी सम्मतिके अनुसार विश्वामित्रजीका यह वचन सुनकर उस समय राजा जनकने हाथ जोड़कर उन दोनों मुनिवरोंसे कहा— ॥ ९ ॥

कुलं धन्यमिदं मन्ये येषां तौ मुनिपुङ्गवौ।
सदृशं कुलसम्बन्धं यदाज्ञापयतः स्वयम् ॥ १० ॥

'मुनिपुङ्गवो! मैं अपने इस कुलको धन्य मानता हूँ, जिसे आप दोनों इक्ष्वाकुवंशके योग्य समझकर इसके साथ सम्बन्ध जोड़नेके लिये स्वयं आज्ञा दे रहे हैं ॥ १० ॥

एवं भवतु भद्रं वः कुशध्वजसुते इमे।
पत्न्यौ भजेतां सहितौ शत्रुघ्नभरतावुभौ ॥ ११ ॥

'आपका कल्याण हो। आप जैसा कहते हैं, ऐसा ही हो। ये सदा साथ रहनेवाले दोनों भाई भरत और शत्रुघ्न कुशध्वजकी इन दोनों कन्याओं (मेंसे एक-एक) को अपनी-अपनी धर्मपत्नीके रूपमें ग्रहण करें॥ ११॥

एकाह्ना राजपुत्रीणां चतसृणां महामुने।
पाणीन् गृह्णन्तु चत्वारो राजपुत्रा महाबलाः॥ १२॥

'महामुने! ये चारों महाबली राजकुमार एक ही दिन हमारी चारों राजकुमारियोंका पाणिग्रहण करें॥ १२॥

उत्तरे दिवसे ब्रह्मन् फल्गुनीभ्यां मनीषिणः।
वैवाहिकं प्रशंसन्ति भगो यत्र प्रजापतिः॥ १३॥

'ब्रह्मन्! अगले दो दिन फाल्गुनी नामक नक्षत्रोंसे युक्त हैं। इनमें (पहले दिन तो पूर्वा फाल्गुनी है और) दूसरे दिन (अर्थात् परसों) उत्तरा फाल्गुनी नामक नक्षत्र होगा, जिसके देवता प्रजापति भग (तथा अर्यमा) हैं। मनीषी पुरुष उस नक्षत्रमें वैवाहिक कार्य करना बहुत उत्तम बताते हैं॥ १३॥

एवमुक्त्वा वचः सौम्यं प्रत्युत्थाय कृताञ्जलिः।
उभौ मुनिवरौ राजा जनको वाक्यमब्रवीत्॥ १४॥

इस प्रकार सौम्य (मनोहर) वचन कहकर राजा जनक उठकर खड़े हो गये और उन दोनों मुनिवरोंसे हाथ जोड़कर बोले—॥ १४॥

परो धर्मः कृतो मह्यं शिष्योऽस्मि भवतोस्तथा।
इमान्यासनमुख्यानि आस्यतां मुनिपुङ्गवौ॥ १५॥

'आपलोगोंने कन्याओंका विवाह निश्चित करके मेरे लिये महान् धर्मका सम्पादन कर दिया; मैं आप दोनोंका शिष्य हूँ। मुनिवरो! इन श्रेष्ठ आसनोंपर आप दोनों विराजमान हों॥ १५॥

यथा दशरथस्येयं तथायोध्या पुरी मम।
प्रभुत्वे नास्ति संदेहो यथार्हं कर्तुमर्हथ॥ १६॥

'आपके लिये जैसी राजा दशरथकी अयोध्या है, वैसी ही यह मेरी मिथिलापुरी भी है। आपका इसपर पूरा अधिकार है, इसमें संदेह नहीं; अतः आप हमें यथायोग्य आज्ञा प्रदान करते रहें'॥ १६॥

तथा ब्रुवति वैदेहे जनके रघुनन्दनः।
राजा दशरथो हृष्टः प्रत्युवाच महीपतिम्॥ १७॥

विदेहराज जनकके ऐसा कहनेपर रघुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले राजा दशरथने प्रसन्न होकर उन मिथिलानरेशको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १७॥

युवामसंख्येयगुणौ भ्रातरौ मिथिलेश्वरौ।
ऋषयो राजसङ्घाश्च भवद्भ्यामभिपूजिताः॥ १८॥

'मिथिलेश्वर! आप दोनों भाइयोंके गुण असंख्य हैं; आपलोगोंने ऋषियों तथा राजसमूहोंका भलीभाँति सत्कार किया है॥ १८॥

स्वस्ति प्राप्नुहि भद्रं ते गमिष्यामः स्वमालयम्।
श्राद्धकर्माणि विधिवद्विधास्य इति चाब्रवीत्॥ १९॥

'आपका कल्याण हो, आप मङ्गलके भागी हों। अब हम अपने विश्रामस्थानको जायँगे। वहाँ जाकर मैं विधिपूर्वक नान्दीमुखश्राद्धका कार्य सम्पन्न करूँगा।' यह बात भी राजा दशरथने कही॥ १९॥

तमापृष्ट्वा नरपतिं राजा दशरथस्तदा।
मुनीन्द्रौ तौ पुरस्कृत्य जगामाशु महायशाः॥ २०॥

तदनन्तर मिथिलानरेशकी अनुमति ले महायशस्वी राजा दशरथ मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र और वसिष्ठको आगे करके तुरंत अपने आवासस्थानपर चले गये॥ २०॥

स गत्वा निलयं राजा श्राद्धं कृत्वा विधानतः।
प्रभाते काल्यमुत्थाय चक्रे गोदानमुत्तमम्॥ २१॥

डेरेपर जाकर राजा दशरथने (अपराह्णकालमें) विधिपूर्वक आभ्युदयिक श्राद्ध सम्पन्न किया। तत्पश्चात् (रात बीतनेपर) प्रातःकाल उठकर राजाने तत्कालोचित उत्तम गोदान-कर्म किया॥ २१॥

गवां शतसहस्रं च ब्राह्मणेभ्यो नराधिपः।
एकैकशो ददौ राजा पुत्रानुद्दिश्य धर्मतः॥ २२॥

राजा दशरथने अपने एक-एक पुत्रके मङ्गलके लिये धर्मानुसार एक-एक लाख गौएँ ब्राह्मणोंको दान कीं॥ २२॥

सुवर्णशृङ्ग्यः सम्पन्नाः सवत्साः कांस्यदोहनाः।
गवां शतसहस्राणि चत्वारि पुरुषर्षभः॥ २३॥
वित्तमन्यच्च सुबहु द्विजेभ्यो रघुनन्दनः।
ददौ गोदानमुद्दिश्य पुत्राणां पुत्रवत्सलः॥ २४॥

उन सबके सींग सोनेसे मढ़े हुए थे। उन सबके साथ बछड़े और काँसेके दुग्धपात्र थे। इस प्रकार पुत्रवत्सल रघुकुलनन्दन पुरुषशिरोमणि राजा दशरथने चार लाख गौओंका दान किया तथा और भी बहुत-सा धन पुत्रोंके लिये गोदानके उद्देश्यसे ब्राह्मणोंको दिया॥ २३-२४॥

स सुतैः कृतगोदानैर्वृतः सन्नृपतिस्तदा।
लोकपालैरिवाभाति वृतः सौम्यः प्रजापतिः॥ २५॥

गोदान-कर्म सम्पन्न करके आये हुए पुत्रोंसे घिरे हुए राजा दशरथ उस समय लोकपालोंसे घिरकर बैठे हुए शान्तस्वभाव प्रजापति ब्रह्माके समान शोभा पा रहे थे॥ २५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे द्विसप्ततितमः सर्गः॥ ७२॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें बहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ७२॥

—★—

त्रिसप्ततितमः सर्गः

श्रीराम आदि चारों भाइयोंका विवाह

यस्मिंस्तु दिवसे राजा चक्रे गोदानमुत्तमम्।
तस्मिंस्तु दिवसे वीरो युधाजित् समुपेयिवान्॥ १॥
पुत्रः केकयराजस्य साक्षाद्भरतमातुलः।
दृष्ट्वा पृष्ट्वा च कुशलं राजानमिदमब्रवीत्॥ २॥

राजा दशरथने जिस दिन अपने पुत्रोंके विवाहके निमित्त उत्तम गोदान किया, उसी दिन भरतके सगे मामा केकयराजकुमार वीर युधाजित् वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने महाराजका दर्शन करके कुशल-मङ्गल पूछा और इस प्रकार कहा— ॥ १-२॥

केकयाधिपती राजा स्नेहात् कुशलमब्रवीत्।
येषां कुशलकामोऽसि तेषां सम्प्रत्यनामयम्॥ ३॥
स्वस्रीयं मम राजेन्द्र द्रष्टुकामो महीपतिः।
तदर्थमुपयातोऽहमयोध्यां रघुनन्दन॥ ४॥

'रघुनन्दन! केकयदेशके महाराजने बड़े स्नेहके साथ आपका कुशल-समाचार पूछा है और आप भी हमारे यहाँके जिन-जिन लोगोंकी कुशलवार्ता जानना चाहते होंगे, वे सब इस समय स्वस्थ और सानन्द हैं। राजेन्द्र! केकयनरेश मेरे भान्जे भरतको देखना चाहते हैं। अतः इन्हें लेनेके लिये ही मैं अयोध्या आया था॥ ३-४॥

श्रुत्वा त्वहमयोध्यायां विवाहार्थं तवात्मजान्।
मिथिलामुपयातांस्तु त्वया सह महीपते॥ ५॥
त्वरयाभ्युपयातोऽहं द्रष्टुकामः स्वसुः सुतम्।

'परंतु पृथ्वीनाथ! अयोध्यामें यह सुनकर कि 'आपके सभी पुत्र विवाहके लिये आपके साथ मिथिला पधारे हैं,' मैं तुरंत यहाँ चला आया; क्योंकि मेरे मनमें अपनी बहिनके बेटेको देखनेकी बड़ी लालसा थी'॥ ५½॥

अथ राजा दशरथः प्रियातिथिमुपस्थितम्॥ ६॥
दृष्ट्वा परमसत्कारैः पूजनार्हमपूजयत्।

महाराज दशरथने अपने प्रिय अतिथिको उपस्थित देख बड़े सत्कारके साथ उनकी आवभगत की; क्योंकि वे सम्मान पानेके ही योग्य थे॥ ६½॥

ततस्तामुषितो रात्रिं सह पुत्रैर्महात्मभिः॥ ७॥
प्रभाते पुनरुत्थाय कृत्वा कर्माणि तत्त्ववित्।
ऋषींस्तदा पुरस्कृत्य यज्ञवाटमुपागमत्॥ ८॥

तदनन्तर अपने महामनस्वी पुत्रोंके साथ वह रात व्यतीत करके वे तत्त्वज्ञ नरेश प्रातःकाल उठे और नित्यकर्म करके ऋषियोंको आगे किये जनककी यज्ञशालामें जा पहुँचे॥

युक्ते मुहूर्ते विजये सर्वाभरणभूषितैः।
भ्रातृभिः सहितो रामः कृतकौतुकमङ्गलः॥ ९॥
वसिष्ठं पुरतः कृत्वा महर्षीनपरानपि।
वसिष्ठो भगवानेत्य वैदेहमिदमब्रवीत्॥ १०॥

तत्पश्चात् विवाहके योग्य विजय नामक मुहूर्त आनेपर दूल्हेके अनुरूप समस्त वेष-भूषासे अलंकृत हुए भाइयोंके साथ श्रीरामचन्द्रजी भी वहाँ आये। वे विवाहकालोचित मङ्गलाचार पूर्ण कर चुके थे तथा वसिष्ठ मुनि एवं अन्यान्य महर्षियोंको आगे करके उस मण्डपमें पधारे थे। उस समय भगवान् वसिष्ठने विदेहराज जनकके पास जाकर इस प्रकार कहा— ॥ ९-१०॥

राजा दशरथो राजन् कृतकौतुकमङ्गलैः।
पुत्रैर्नरवरश्रेष्ठो दातारमभिकाङ्क्षते॥ ११॥

'राजन्! नरेशोंमें श्रेष्ठ महाराज दशरथ अपने पुत्रोंका वैवाहिकसूत्र-बन्धनरूप मङ्गलाचार सम्पन्न करके उन सबके साथ पधारे हैं और भीतर आनेके लिये दाताके आदेशकी प्रतीक्षा कर रहे हैं॥ ११॥

दातृप्रतिग्रहीतृभ्यां सर्वार्थाः सम्भवन्ति हि।
स्वधर्मं प्रतिपद्यस्व कृत्वा वैवाह्यमुत्तमम्॥ १२॥

'क्योंकि दाता और प्रतिग्रहीता (दान ग्रहण करनेवाले) का संयोग होनेपर ही समस्त दान-धर्मोंका सम्पादन सम्भव होता है; अतः आप विवाह-कालोपयोगी शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करके उन्हें बुलाइये और कन्यादानरूप स्वधर्मका पालन कीजिये'॥ १२॥

इत्युक्तः परमोदारो वसिष्ठेन महात्मना।
प्रत्युवाच महातेजा वाक्यं परमधर्मवित्॥ १३॥

महात्मा वसिष्ठके ऐसा कहनेपर परम उदार, परम धर्मज्ञ और महातेजस्वी राजा जनकने इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ १३॥

कः स्थितः प्रतिहारो मे कस्याज्ञां सम्प्रतीक्षते।
स्वगृहे को विचारोऽस्ति यथा राज्यमिदं तव॥ १४॥
कृतकौतुकसर्वस्वा वेदिमूलमुपागताः।
मम कन्या मुनिश्रेष्ठ दीप्ता वह्नेरिवार्चिषः॥ १५॥

'मुनिश्रेष्ठ! महाराजके लिये मेरे यहाँ कौन-सा पहरेदार खड़ा है। वे किसके आदेशकी प्रतीक्षा करते हैं। अपने घरमें आनेके लिये कैसा सोच-विचार है? यह जैसे मेरा राज्य है, वैसे ही आपका है। मेरी कन्याओंका वैवाहिक सूत्र-बन्धनरूप मङ्गलकृत्य सम्पन्न हो चुका है। अब वे यज्ञवेदीके पास आकर बैठी हैं और अग्निकी प्रज्वलित शिखाओंके समान प्रकाशित हो रही हैं॥ १४-१५॥

सद्योऽहं त्वत्प्रतीक्षोऽस्मि वेद्यामस्यां प्रतिष्ठितः।
अविघ्नं क्रियतां सर्वं किमर्थं हि विलम्ब्यते॥ १६॥

'इस समय तो मैं आपकी ही प्रतीक्षामें वेदीपर बैठा हूँ। आप निर्विघ्नतापूर्वक सब कार्य पूर्ण कीजिये। विलम्ब किसलिये करते हैं?'॥ १६॥

तद् वाक्यं जनकेनोक्तं श्रुत्वा दशरथस्तदा।
प्रवेशयामास सुतान् सर्वानृषिगणानपि ॥ १७ ॥

वसिष्ठजीके मुखसे राजा जनककी कही हुई बात सुनकर महाराज दशरथ उस समय अपने पुत्रों और सम्पूर्ण महर्षियोंको महलके भीतर ले आये ॥ १७ ॥

ततो राजा विदेहानां वसिष्ठमिदमब्रवीत्।
कारयस्व ऋषे सर्वामृषिभिः सह धार्मिक ॥ १८ ॥
रामस्य लोकरामस्य क्रियां वैवाहिकीं प्रभो।

तदनन्तर विदेहराजने वसिष्ठजीसे इस प्रकार कहा—'धर्मात्मा महर्षे! प्रभो! आप ऋषियोंको साथ लेकर लोकाभिराम श्रीरामके विवाहकी सम्पूर्ण क्रिया कराइये' ॥

तथेत्युक्त्वा तु जनकं वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ १९ ॥
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य शतानन्दं च धार्मिकम्।
प्रपामध्ये तु विधिवद् वेदिं कृत्वा महातपाः ॥ २० ॥
अलंचकार तां वेदिं गन्धपुष्पैः समन्ततः।
सुवर्णपालिकाभिश्च चित्रकुम्भैश्च साङ्कुरैः ॥ २१ ॥
अङ्कुराढ्यैः शरावैश्च धूपपात्रैः सधूपकैः।
शङ्खपात्रैः स्रुवैः स्रुग्भिः पात्रैरर्घ्यादिपूजितैः ॥ २२ ॥
लाजपूर्णैश्च पात्रीभिरक्षतैरपि संस्कृतैः।
दर्भैः समैः समास्तीर्य विधिवन्मन्त्रपूर्वकम् ॥ २३ ॥
अग्निमाधाय तं वेद्यां विधिमन्त्रपुरस्कृतम्।
जुहावाग्नौ महातेजा वसिष्ठो मुनिपुङ्गवः ॥ २४ ॥

तब जनकजीसे 'बहुत अच्छा' कहकर महातपस्वी भगवान् वसिष्ठ मुनिने विश्वामित्र और धर्मात्मा शतानन्दजीको आगे करके विवाह-मण्डपके मध्यभागमें विधिपूर्वक वेदी बनायी और गन्ध तथा फूलोंके द्वारा उसे चारों ओरसे सुन्दर रूपमें सजाया। साथ ही बहुत-सी सुवर्ण-पालिकाएँ, यवके अङ्कुरोंसे युक्त चित्रित कलश, अङ्कुर जमाये हुए सकोरे, धूपयुक्त धूपपात्र, शङ्खपात्र, स्रुवा, स्रुक्, अर्घ्य आदि पूजनपात्र, लाजा (खीलों) से भरे हुए पात्र तथा धोये हुए अक्षत आदि समस्त सामग्रियोंको भी यथास्थान रख दिया। तत्पश्चात् महातेजस्वी मुनिवर वसिष्ठजीने बराबर-बराबर कुशोंको वेदीके चारों ओर बिछाकर मन्त्रोच्चारण करते हुए विधिपूर्वक अग्नि-स्थापन किया और विधिको प्रधानता देते हुए मन्त्रपाठपूर्वक प्रज्वलित अग्निमें हवन किया ॥ १९—२४ ॥

ततः सीतां समानीय सर्वाभरणभूषिताम्।
समक्षमग्नेः संस्थाप्य राघवाभिमुखे तदा ॥ २५ ॥
अब्रवीज्जनको राजा कौसल्यानन्दवर्धनम्।
इयं सीता मम सुता सहधर्मचरी तव ॥ २६ ॥
प्रतीच्छ चैनां भद्रं ते पाणिं गृह्णीष्व पाणिना।
पतिव्रता महाभागा छायेवानुगता सदा ॥ २७ ॥

तदनन्तर राजा जनकने सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित सीताको ले आकर अग्निके समक्ष श्रीरामचन्द्रजीके सामने बिठा दिया और माता कौसल्याका आनन्द बढ़ानेवाले उन श्रीरामसे कहा—'रघुनन्दन! तुम्हारा कल्याण हो। यह मेरी पुत्री सीता तुम्हारी सहधर्मिणीके रूपमें उपस्थित है; इसे स्वीकार करो और इसका हाथ अपने हाथमें लो। यह परम पतिव्रता, महान् सौभाग्यवती और छायाकी भाँति सदा तुम्हारे पीछे चलनेवाली होगी' ॥ २५—२७ ॥

इत्युक्त्वा प्राक्षिपद् राजा मन्त्रपूतं जलं तदा।
साधुसाध्विति देवानामृषीणां वदतां तदा ॥ २८ ॥

यह कहकर राजाने श्रीरामके हाथमें मन्त्रसे पवित्र हुआ संकल्पका जल छोड़ दिया। उस समय देवताओं और ऋषियोंके मुखसे जनकके लिये साधुवाद सुनायी देने लगा ॥ २८ ॥

देवदुन्दुभिनिर्घोषः पुष्पवर्षो महानभूत्।
एवं दत्त्वा सुतां सीतां मन्त्रोदकपुरस्कृताम् ॥ २९ ॥
अब्रवीज्जनको राजा हर्षेणाभिपरिप्लुतः।
लक्ष्मणागच्छ भद्रं ते ऊर्मिलामुद्यतां मया ॥ ३० ॥
प्रतीच्छ पाणिं गृह्णीष्व मा भूत् कालस्य पर्ययः।

देवताओंके नगाड़े बजने लगे और आकाशसे फूलोंकी बड़ी भारी वर्षा हुई। इस प्रकार मन्त्र और संकल्पके जलके साथ अपनी पुत्री सीताका दान करके हर्षमग्न हुए राजा जनकने लक्ष्मणसे कहा—'लक्ष्मण! तुम्हारा कल्याण हो। आओ, मैं ऊर्मिलाको तुम्हारी सेवामें दे रहा हूँ। इसे स्वीकार करो। इसका हाथ अपने हाथमें लो। इसमें विलम्ब नहीं होना चाहिये' ॥ २९-३०½ ॥

तमेवमुक्त्वा जनको भरतं चाभ्यभाषत ॥ ३१ ॥
गृहाण पाणिं माण्डव्याः पाणिना रघुनन्दन।

लक्ष्मणसे ऐसा कहकर जनकने भरतसे कहा—'रघुनन्दन! माण्डवीका हाथ अपने हाथमें लो' ॥ ३१½ ॥

शत्रुघ्नं चापि धर्मात्मा अब्रवीन्मिथिलेश्वरः ॥ ३२ ॥
श्रुतकीर्तेर्महाबाहो पाणिं गृह्णीष्व पाणिना।
सर्वे भवन्तः सौम्याश्च सर्वे सुचरितव्रताः ॥ ३३ ॥
पत्नीभिः सन्तु काकुत्स्था मा भूत् कालस्य पर्ययः।

फिर धर्मात्मा मिथिलेशने शत्रुघ्नको सम्बोधित करके कहा—'महाबाहो! तुम अपने हाथसे श्रुतकीर्तिका पाणिग्रहण करो। तुम चारों भाई शान्तस्वभाव हो। तुम सबने उत्तम व्रतका भलीभाँति आचरण किया है। ककुत्स्थकुलके भूषणरूप तुम चारों भाई पत्नीसे संयुक्त हो जाओ। इस कार्यमें विलम्ब नहीं होना चाहिये' ॥ ३२-३३½ ॥

जनकस्य वचः श्रुत्वा पाणीन् पाणिभिरस्पृशन् ॥ ३४ ॥
चत्वारस्ते चतसृणां वसिष्ठस्य मते स्थिताः।
अग्निं प्रदक्षिणं कृत्वा वेदिं राजानमेव च ॥ ३५ ॥
ऋषींश्चापि महात्मानः सहभार्या रघूद्वहाः।
यथोक्तेन ततश्चक्रुर्विवाहं विधिपूर्वकम् ॥ ३६ ॥

राजा जनकका यह वचन सुनकर उन चारों राजकुमारोंने चारों राजकुमारियोंके हाथ अपने हाथमें लिये। फिर वसिष्ठजीकी सम्मतिसे उन रघुकुलरत्न महामनस्वी राजकुमारोंने अपनी-अपनी पत्नीके साथ अग्नि, वेदी, राजा दशरथ तथा ऋषि-मुनियोंकी परिक्रमा की और वेदोक्त विधिके अनुसार वैवाहिक कार्य पूर्ण किया॥ ३४—३६॥

पुष्पवृष्टिर्महत्यासीदन्तरिक्षात् सुभास्वरा।
दिव्यदुन्दुभिनिर्घोषैर्गीतवादित्रनिःस्वनैः॥ ३७॥
ननृतुश्चाप्सरःसङ्घा गन्धर्वाश्च जगुः कलम्।
विवाहे रघुमुख्यानां तदद्भुतमदृश्यत॥ ३८॥

उस समय आकाशसे फूलोंकी बड़ी भारी वर्षा हुई, जो सुहावनी लगती थी। दिव्य दुन्दुभियोंकी गम्भीर ध्वनि, दिव्य गीतोंके मनोहर शब्द और दिव्य वाद्योंके मधुर घोषके साथ झुंड-की-झुंड अप्सराएँ नृत्य करने लगीं और गन्धर्व मधुर गीत गाने लगे। उन रघुवंशशिरोमणि राजकुमारोंके विवाहमें वह अद्भुत दृश्य दिखायी दिया॥ ३७-३८॥

ईदृशे वर्तमाने तु तूर्योद्घुष्टनिनादिते।
त्रिरग्निं ते परिक्रम्य ऊहुर्भार्या महौजसः॥ ३९॥

शहनाई आदि बाजोंके मधुर घोषसे गूँजते हुए उस वर्तमान विवाहोत्सवमें उन महातेजस्वी राजकुमारोंने अग्निकी तीन बार परिक्रमा करके पत्नियोंको स्वीकार करते हुए विवाहकर्म सम्पन्न किया॥ ३९॥

अथोपकार्यं जग्मुस्ते सभार्या रघुनन्दनाः।
राजाप्यनुययौ पश्यन् सर्षिसङ्घः सबान्धवः॥ ४०॥

तदनन्तर रघुकुलको आनन्द प्रदान करनेवाले वे चारों भाई अपनी पत्नियोंके साथ जनवासेमें चले गये। राजा दशरथ भी ऋषियों और बन्धु-बान्धवोंके साथ पुत्रों और पुत्र-वधुओंको देखते हुए उनके पीछे-पीछे गये॥ ४०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे त्रिसप्ततितमः सर्गः॥ ७३॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें तिहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ७३॥

चतुःसप्ततितमः सर्गः

विश्वामित्रका अपने आश्रमको प्रस्थान, राजा जनकका कन्याओंको भारी दहेज देकर राजा दशरथ आदिको विदा करना, मार्गमें शुभाशुभ शकुन और परशुरामजीका आगमन

अथ रात्र्यां व्यतीतायां विश्वामित्रो महामुनिः।
आपृष्ट्वा तौ च राजानौ जगामोत्तरपर्वतम्॥ १॥

तदनन्तर जब रात बीती और सबेरा हुआ, तब महामुनि विश्वामित्र राजा जनक और महाराज दशरथ दोनों राजाओंसे पूछकर उनकी स्वीकृति ले उत्तरपर्वतपर (हिमालयकी शाखाभूत पर्वतपर, जहाँ कौशिकीके तटपर उनका आश्रम था, वहाँ) चले गये॥ १॥

विश्वामित्रे गते राजा वैदेहं मिथिलाधिपम्।
आपृष्ट्वैव जगामाशु राजा दशरथः पुरीम्॥ २॥

विश्वामित्रजीके चले जानेपर महाराज दशरथ भी विदेहराज मिथिलानरेशसे अनुमति लेकर ही शीघ्र अपनी पुरी अयोध्याको जानेके लिये तैयार हो गये॥ २॥

अथ राजा विदेहानां ददौ कन्याधनं बहु।
गवां शतसहस्राणि बहूनि मिथिलेश्वरः॥ ३॥
कम्बलानां च मुख्यानां क्षौमान् कोट्यम्बराणि च।
हस्त्यश्वरथपादातं दिव्यरूपं स्वलंकृतम्॥ ४॥

उस समय विदेहराज जनकने अपनी कन्याओंके निमित्त दहेजमें बहुत अधिक धन दिया। उन मिथिला-नरेशने कई लाख गौएँ, कितनी ही अच्छी-अच्छी कालीनें तथा करोड़ोंकी संख्यामें रेशमी और सूती वस्त्र दिये, भाँति-भाँतिके गहनोंसे सजे हुए बहुत-से दिव्य हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिक भेंट किये॥ ३-४॥

ददौ कन्याशतं तासां दासीदासमनुत्तमम्।
हिरण्यस्य सुवर्णस्य मुक्तानां विद्रुमस्य च॥ ५॥

अपनी पुत्रियोंके लिये सहेलीके रूपमें उन्होंने सौ-सौ कन्याएँ तथा उत्तम दास-दासियाँ अर्पित कीं। इन सबके अतिरिक्त राजाने उन सबके लिये एक करोड़ स्वर्णमुद्रा, रजतमुद्रा, मोती तथा मूँगे भी दिये॥ ५॥

ददौ राजा सुसंहृष्टः कन्याधनमनुत्तमम्।
दत्त्वा बहुविधं राजा समनुज्ञाप्य पार्थिवम्॥ ६॥
प्रविवेश स्वनिलयं मिथिलां मिथिलेश्वरः।
राजाप्ययोध्याधिपतिः सह पुत्रैर्महात्मभिः॥ ७॥
ऋषीन् सर्वान् पुरस्कृत्य जगाम सबलानुगः।

इस प्रकार मिथिलापति राजा जनकने बड़े हर्षके साथ उत्तमोत्तम कन्याधन (दहेज) दिया। नाना प्रकारकी वस्तुएँ दहेजमें देकर महाराज दशरथकी आज्ञा ले वे पुनः मिथिलानगरके भीतर अपने महलमें लौट आये। उधर अयोध्यानरेश राजा दशरथ भी सम्पूर्ण महर्षियोंको आगे करके अपने महात्मा पुत्रों, सैनिकों तथा सेवकोंके साथ अपनी राजधानीकी ओर प्रस्थित हुए॥ ६-७½॥

गच्छन्तं तु नरव्याघ्रं सर्षिसङ्घं सराघवम्॥ ८॥
घोरास्तु पक्षिणो वाचो व्याहरन्ति समन्ततः।
भौमाश्चैव मृगाः सर्वे गच्छन्ति स्म प्रदक्षिणम्॥ ९॥

उस समय ऋषि-समूह तथा श्रीरामचन्द्रजीके साथ यात्रा

करते हुए पुरुषसिंह महाराज दशरथके चारों ओर भयंकर बोली बोलनेवाले पक्षी चहचहाने लगे और भूमिपर विचरनेवाले समस्त मृग उन्हें दाहिने रखकर जाने लगे ॥ ८-९ ॥

तान् दृष्ट्वा राजशार्दूलो वसिष्ठं पर्यपृच्छत।
असौम्याः पक्षिणो घोरा मृगाश्चापि प्रदक्षिणाः ॥ १० ॥
किमिदं हृदयोत्कम्पि मनो मम विषीदति।

उन सबको देखकर राजसिंह दशरथने वसिष्ठजीसे पूछा—'मुनिवर! एक ओर तो ये भयंकर पक्षी घोर शब्द कर रहे हैं और दूसरी ओर ये मृग हमें दाहिनी ओर करके जा रहे हैं, यह अशुभ और शुभ दो प्रकारका शकुन कैसा? यह मेरे हृदयको कम्पित किये देता है। मेरा मन विषादमें डूबा जाता है' ॥ १०½ ॥

राज्ञो दशरथस्यैतच्छ्रुत्वा वाक्यं महानृषिः ॥ ११ ॥
उवाच मधुरां वाणीं श्रूयतामस्य यत् फलम्।
उपस्थितं भयं घोरं दिव्यं पक्षिमुखाच्च्युतम् ॥ १२ ॥
मृगाः प्रशमयन्त्येते संतापस्त्यज्यतामयम्।

राजा दशरथका यह वचन सुनकर महर्षि वसिष्ठने मधुर वाणीमें कहा—'राजन्! इस शकुनका जो फल है, उसे सुनिये—आकाशमें पक्षियोंके मुखसे जो बात निकल रही है, वह बताती है कि इस समय कोई घोर भय उपस्थित होनेवाला है, परंतु हमें दाहिने रखकर जानेवाले ये मृग उस भयके शान्त हो जानेकी सूचना दे रहे हैं, इसलिये आप यह चिन्ता छोड़िये' ॥

तेषां संवदतां तत्र वायुः प्रादुर्बभूव ह ॥ १३ ॥
कम्पयन् मेदिनीं सर्वां पातयंश्च महाद्रुमान्।
तमसा संवृतः सूर्यः सर्वे नावेदिषुर्दिशः ॥ १४ ॥
भस्मना चावृतं सर्वं सम्मूढमिव तद्बलम्।

इन लोगोंमें इस प्रकार बातें हो ही रही थीं कि वहाँ बड़े जोरोंकी आँधी उठी। वह सारी पृथ्वीको कँपाती हुई बड़े-बड़े वृक्षोंको धराशायी करने लगी। सूर्य अन्धकारसे आच्छन्न हो गये। किसीको दिशाओंका भान न रहा। धूलसे ढक जानेके कारण वह सारी सेना मूर्च्छित-सी हो गयी ॥ १३-१४½ ॥

वसिष्ठ ऋषयश्चान्ये राजा च ससुतस्तदा ॥ १५ ॥
ससंज्ञा इव तत्रासन् सर्वमन्यद्विचेतनम्।
तस्मिंस्तमसि घोरे तु भस्मच्छन्नेव सा चमूः ॥ १६ ॥

उस समय केवल वसिष्ठ मुनि, अन्यान्य ऋषियों तथा पुत्रोंसहित राजा दशरथको ही चेत रह गया था, शेष सभी लोग अचेत हो गये थे। उस घोर अन्धकारमें राजाकी वह सेना धूलसे आच्छादित-सी हो गयी थी ॥ १५-१६ ॥

ददर्श भीमसंकाशं जटामण्डलधारिणम्।
भार्गवं जामदग्न्येयं राजा राजविमर्दनम् ॥ १७ ॥
कैलासमिव दुर्धर्षं कालाग्निमिव दुःसहम्।
ज्वलन्तमिव तेजोभिर्दुर्निरीक्ष्यं पृथग्जनैः ॥ १८ ॥
स्कन्धे चासज्ज्य परशुं धनुर्विद्युद्गणोपमम्।
प्रगृह्य शरमुग्रं च त्रिपुरघ्नं यथा शिवम् ॥ १९ ॥

उस समय राजा दशरथने देखा—क्षत्रिय राजाओंका मान-मर्दन करनेवाले भृगुकुलनन्दन जमदग्निकुमार परशुराम सामनेसे आ रहे हैं। वे बड़े भयानक-से दिखायी देते थे। उन्होंने मस्तकपर बड़ी-बड़ी जटाएँ धारण कर रखी थीं। वे कैलासके समान दुर्जय और कालाग्निके समान दुःसह प्रतीत होते थे। तेजोमण्डलद्वारा जाज्वल्यमान-से हो रहे थे। साधारण लोगोंके लिये उनकी ओर देखना भी कठिन था। वे कंधेपर फरसा रखे और हाथमें विद्युद्गणोंके समान दीप्तिमान् धनुष एवं भयंकर बाण लिये त्रिपुरविनाशक भगवान् शिवके समान जान पड़ते थे ॥ १७—१९ ॥

तं दृष्ट्वा भीमसंकाशं ज्वलन्तमिव पावकम्।
वसिष्ठप्रमुखा विप्रा जपहोमपरायणाः ॥ २० ॥
संगता मुनयः सर्वे संजजल्पुरथो मिथः।

प्रज्वलित अग्निके समान भयानक-से प्रतीत होनेवाले परशुरामको उपस्थित देख जप और होममें तत्पर रहनेवाले वसिष्ठ आदि सभी ब्रह्मर्षि एकत्र हो परस्पर इस प्रकार बातें करने लगे— ॥ २०½ ॥

कच्चित् पितृवधामर्षी क्षत्रं नोत्सादयिष्यति ॥ २१ ॥
पूर्वं क्षत्रवधं कृत्वा गतमन्युर्गतज्वरः।
क्षत्रस्योत्सादनं भूयो न खल्वस्य चिकीर्षितम् ॥ २२ ॥

'क्या अपने पिताके वधसे अमर्षके वशीभूत हो ये क्षत्रियोंका संहार नहीं कर डालेंगे? पूर्वकालमें क्षत्रियोंका वध करके इन्होंने अपना क्रोध उतार लिया है। अब इनकी बदला लेनेकी चिन्ता दूर हो चुकी है। अतः फिर क्षत्रियोंका संहार करना इनके लिये अभीष्ट नहीं है, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है' ॥ २१-२२ ॥

एवमुक्त्वार्घ्यमादाय भार्गवं भीमदर्शनम्।
ऋषयो राम रामेति मधुरं वाक्यमब्रुवन् ॥ २३ ॥

ऐसा कहकर ऋषियोंने भयंकर दिखायी देनेवाले भृगुनन्दन परशुरामको अर्घ्य लेकर दिया और 'राम! राम!' कहकर उनसे मधुर वाणीमें बातचीत की ॥ २३ ॥

प्रतिगृह्य तु तां पूजामृषिदत्तां प्रतापवान्।
रामं दाशरथिं रामो जामदग्न्योऽभ्यभाषत ॥ २४ ॥

ऋषियोंकी दी हुई उस पूजाको स्वीकार करके प्रतापी जमदग्निपुत्र परशुरामने दशरथनन्दन श्रीरामसे इस प्रकार कहा ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें चौहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७४ ॥

—★—

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

राजा दशरथकी बात अनसुनी करके परशुरामका श्रीरामको वैष्णव-धनुषपर बाण चढ़ानेके लिये ललकारना

राम दाशरथे वीर वीर्यं ते श्रूयतेऽद्भुतम्।
धनुषो भेदनं चैव निखिलेन मया श्रुतम्॥ १॥

'दशरथनन्दन श्रीराम! वीर! सुना जाता है कि तुम्हारा पराक्रम अद्भुत है। तुम्हारे द्वारा शिव-धनुषके तोड़े जानेका सारा समाचार भी मेरे कानोंमें पड़ चुका है॥ १॥

तदद्भुतमचिन्त्यं च भेदनं धनुषस्तथा।
तच्छ्रुत्वाहमनुप्राप्तो धनुर्गृह्यापरं शुभम्॥ २॥

'उस धनुषका तोड़ना अद्भुत और अचिन्त्य है; उसके टूटनेकी बात सुनकर मैं एक दूसरा उत्तम धनुष लेकर आया हूँ॥ २॥

तदिदं घोरसंकाशं जामदग्न्यं महद्धनुः।
पूरयस्व शरेणैव स्वबलं दर्शयस्व च॥ ३॥

'यह है वह जमदग्निकुमार परशुरामका भयंकर और विशाल धनुष। तुम इसे खींचकर इसके ऊपर बाण चढ़ाओ और अपना बल दिखाओ॥ ३॥

तदहं ते बलं दृष्ट्वा धनुषोऽप्यस्य पूरणे।
द्वन्द्वयुद्धं प्रदास्यामि वीर्यश्लाघ्यमहं तव॥ ४॥

'इस धनुषके चढ़ानेमें भी तुम्हारा बल कैसा है? यह देखकर मैं तुम्हें ऐसा द्वन्द्वयुद्ध प्रदान करूँगा, जो तुम्हारे पराक्रमके लिये स्पृहणीय होगा'॥ ४॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राजा दशरथस्तदा।
विषण्णवदनो दीनः प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत्॥ ५॥

परशुरामजीका वह वचन सुनकर उस समय राजा दशरथके मुखपर विषाद छा गया। वे दीनभावसे हाथ जोड़कर बोले—॥ ५॥

क्षत्ररोषात् प्रशान्तस्त्वं ब्राह्मणश्च महातपाः।
बालानां मम पुत्राणामभयं दातुमर्हसि॥ ६॥
भार्गवाणां कुले जातः स्वाध्यायव्रतशालिनाम्।
सहस्राक्षे प्रतिज्ञाय शस्त्रं प्रक्षिप्तवानसि॥ ७॥

'ब्रह्मन्! आप स्वाध्याय और व्रतसे शोभा पानेवाले भृगुवंशी ब्राह्मणोंके कुलमें उत्पन्न हुए हैं और स्वयं भी महान् तपस्वी और ब्रह्मज्ञानी हैं; क्षत्रियोंपर अपना रोष प्रकट करके अब शान्त हो चुके हैं; इसलिये मेरे बालक पुत्रोंको आप अभयदान देनेकी कृपा करें; क्योंकि आपने इन्द्रके समीप प्रतिज्ञा करके शस्त्रका परित्याग कर दिया है॥ ६-७॥

स त्वं धर्मपरो भूत्वा कश्यपाय वसुंधराम्।
दत्त्वा वनमुपागम्य महेन्द्रकृतकेतनः॥ ८॥

'इस तरह आप धर्ममें तत्पर हो कश्यपजीको पृथ्वीका दान करके वनमें आकर महेन्द्रपर्वतपर आश्रम बनाकर रहते हैं॥ ८॥

मम सर्वविनाशाय सम्प्राप्तस्त्वं महामुने।
न चैकस्मिन् हते रामे सर्वे जीवामहे वयम्॥ ९॥

'महामुने! (इस प्रकार शस्त्रत्यागकी प्रतिज्ञा करके भी) आप मेरा सर्वनाश करनेके लिये कैसे आ गये? (यदि कहें—मेरा रोष तो केवल रामपर है तो) एकमात्र रामके मारे जानेपर ही हम सब लोग अपने जीवनका परित्याग कर देंगे'॥ ९॥

ब्रुवत्येवं दशरथे जामदग्न्यः प्रतापवान्।
अनादृत्य तु तद्वाक्यं राममेवाभ्यभाषत॥ १०॥

राजा दशरथ इस प्रकार कहते ही रह गये; परंतु प्रतापी परशुरामने उनके उन वचनोंकी अवहेलना करके रामसे ही बातचीत जारी रखी॥ १०॥

इमे द्वे धनुषी श्रेष्ठे दिव्ये लोकाभिपूजिते।
दृढे बलवती मुख्ये सुकृते विश्वकर्मणा॥ ११॥

वे बोले—'रघुनन्दन! ये दो धनुष सबसे श्रेष्ठ और दिव्य थे। सारा संसार इन्हें सम्मानकी दृष्टिसे देखता था। साक्षात् विश्वकर्माने इन्हें बनाया था। ये बड़े प्रबल और दृढ़ थे॥ ११॥

अनुसृष्टं सुरैरेकं त्र्यम्बकाय युयुत्सवे।
त्रिपुरघ्नं नरश्रेष्ठ भग्नं काकुत्स्थ यत्त्वया॥ १२॥

'नरश्रेष्ठ! इनमेंसे एकको देवताओंने त्रिपुरासुरसे युद्ध करनेके लिये भगवान् शङ्करको दे दिया था। ककुत्स्थनन्दन! जिससे त्रिपुरका नाश हुआ था, वह वही धनुष था; जिसे तुमने तोड़ डाला है॥ १२॥

इदं द्वितीयं दुर्धर्षं विष्णोर्दत्तं सुरोत्तमैः।
तदिदं वैष्णवं राम धनुः परपुरंजयम्॥ १३॥

'और दूसरा दुर्धर्ष धनुष यह है, जो मेरे हाथमें है। इसे श्रेष्ठ देवताओंने भगवान् विष्णुको दिया था। श्रीराम! शत्रुनगरीपर विजय पानेवाला वही यह वैष्णव धनुष है॥

समानसारं काकुत्स्थ रौद्रेण धनुषा त्विदम्।
तदा तु देवताः सर्वाः पृच्छन्ति स्म पितामहम्॥ १४॥
शितिकण्ठस्य विष्णोश्च बलाबलनिरीक्षया।

'ककुत्स्थनन्दन! यह भी शिवजीके धनुषके समान ही प्रबल है। उन दिनों समस्त देवताओंने भगवान् शिव और विष्णुके बलाबलकी परीक्षाके लिये पितामह ब्रह्माजीसे पूछा था कि 'इन दोनों देवताओंमें कौन अधिक बलशाली है'॥

अभिप्रायं तु विज्ञाय देवतानां पितामहः॥ १५॥
विरोधं जनयामास तयोः सत्यवतां वरः।

'देवताओंके इस अभिप्रायको जानकर सत्यवादियोंमें श्रेष्ठ पितामह ब्रह्माजीने उन दोनों देवताओं (शिव और विष्णु) में विरोध उत्पन्न कर दिया॥ १५½॥

विरोधे तु महद् युद्धमभवद् रोमहर्षणम्॥ १६॥
शितिकण्ठस्य विष्णोश्च परस्परजयैषिणोः।

'विरोध पैदा होनेपर एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छावाले शिव और विष्णुमें बड़ा भारी युद्ध हुआ, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाला था॥ १६½॥

तदा तु जृम्भितं शैवं धनुर्भीमपराक्रमम्॥ १७॥
हुंकारेण महादेवः स्तम्भितोऽथ त्रिलोचनः।

'उस समय भगवान् विष्णुने हुङ्कारमात्रसे शिवजीके भयंकर बलशाली धनुषको शिथिल तथा त्रिनेत्रधारी महादेवजीको भी स्तम्भित कर दिया॥ १७½॥

देवैस्तदा समागम्य सर्षिसङ्घैः सचारणैः॥ १८॥
याचितौ प्रशमं तत्र जग्मतुस्तौ सुरोत्तमौ।

'तब ऋषिसमूहों तथा चारणोंसहित देवताओंने आकर उन दोनों श्रेष्ठ देवताओंसे शान्तिके लिये याचना की; फिर वे दोनों वहाँ शान्त हो गये॥ १८½॥

जृम्भितं तद् धनुर्दृष्ट्वा शैवं विष्णुपराक्रमैः॥ १९॥
अधिकं मेनिरे विष्णुं देवाः सर्षिगणास्तथा।

'भगवान् विष्णुके पराक्रमसे शिवजीके उस धनुषको शिथिल हुआ देख ऋषियोंसहित देवताओंने भगवान् विष्णुको श्रेष्ठ माना॥

धनू रुद्रस्तु संक्रुद्धो विदेहेषु महायशाः॥ २०॥
देवरातस्य राजर्षेर्ददौ हस्ते ससायकम्।

'तदनन्तर कुपित हुए महायशस्वी रुद्रने बाणसहित अपना धनुष विदेहदेशके राजर्षि देवरातके हाथमें दे दिया॥ २०॥

इदं च वैष्णवं राम धनुः परपुरंजयम्॥ २१॥
ऋचीके भार्गवे प्रादाद् विष्णुः स न्यासमुत्तमम्।

'श्रीराम! शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले इस वैष्णव-धनुषको भगवान् विष्णुने भृगुवंशी ऋचीकमुनिको उत्तम धरोहरके रूपमें दिया था॥ २१½॥

ऋचीकस्तु महातेजाः पुत्रस्याप्रतिकर्मणः॥ २२॥
पितुर्मम ददौ दिव्यं जमदग्नेर्महात्मनः।

'फिर महातेजस्वी ऋचीकने प्रतीकार (प्रतिशोध) की भावनासे रहित अपने पुत्र एवं मेरे पिता महात्मा जमदग्निके अधिकारमें यह दिव्य धनुष दे दिया॥ २२½॥

न्यस्तशस्त्रे पितरि मे तपोबलसमन्विते॥ २३॥
अर्जुनो विदधे मृत्युं प्राकृतां बुद्धिमास्थितः।

'तपोबलसे सम्पन्न मेरे पिता जमदग्नि अस्त्र-शस्त्रोंका परित्याग करके जब ध्यानस्थ होकर बैठे थे, उस समय प्राकृत बुद्धिका आश्रय लेनेवाले कृतवीर्यकुमार अर्जुनने उनको मार डाला॥ २३½॥

वधमप्रतिरूपं तु पितुः श्रुत्वा सुदारुणम्।
क्षत्रमुत्सादयं रोषाज्जातं जातमनेकशः॥ २४॥

'पिताके इस अत्यन्त भयंकर वधका, जो उनके योग्य नहीं था, समाचार सुनकर मैंने रोषपूर्वक बारंबार उत्पन्न हुए क्षत्रियोंका अनेक बार संहार किया॥ २४॥

पृथिवीं चाखिलां प्राप्य कश्यपाय महात्मने।
यज्ञस्यान्तेऽददं राम दक्षिणां पुण्यकर्मणे॥ २५॥

'श्रीराम! फिर सारी पृथ्वीपर अधिकार करके मैंने एक यज्ञ किया और उस यज्ञके समाप्त होनेपर पुण्यकर्मा महात्मा कश्यपको दक्षिणारूपसे यह सारी पृथ्वी दे डाली॥ २५॥

दत्त्वा महेन्द्रनिलयस्तपोबलसमन्वितः।
श्रुत्वा तु धनुषो भेदं ततोऽहं द्रुतमागतः॥ २६॥

'पृथ्वीका दान करके मैं महेन्द्रपर्वतपर रहने लगा और वहाँ तपस्या करके तपोबलसे सम्पन्न हुआ। वहाँसे शिवजीके धनुषके तोड़े जानेका समाचार सुनकर मैं शीघ्रतापूर्वक यहाँ आया हूँ॥ २६॥

तदेवं वैष्णवं राम पितृपैतामहं महत्।
क्षत्रधर्मं पुरस्कृत्य गृह्णीष्व धनुरुत्तमम्॥ २७॥
योजयस्व धनुःश्रेष्ठे शरं परपुरंजयम्।
यदि शक्तोऽसि काकुत्स्थ द्वन्द्वं दास्यामि ते ततः॥ २८॥

'श्रीराम! इस प्रकार यह महान् वैष्णवधनुष मेरे पिता-पितामहोंके अधिकारमें रहता चला आया है; अब तुम क्षत्रियधर्मको सामने रखकर यह उत्तम धनुष हाथमें लो और इस श्रेष्ठ धनुषपर एक ऐसा बाण चढ़ाओ, जो शत्रुनगरीपर विजय पानेमें समर्थ हो; यदि तुम ऐसा कर सके तो मैं तुम्हें द्वन्द्व-युद्धका अवसर दूँगा॥ २७-२८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे पञ्चसप्ततितमः सर्गः॥ ७५॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें पचहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ७५॥

—★—

षट्सप्ततितमः सर्गः

श्रीरामका वैष्णव-धनुषको चढ़ाकर अमोघ बाणके द्वारा परशुरामके तपःप्राप्त पुण्यलोकोंका नाश करना तथा परशुरामका महेन्द्रपर्वतको लौट जाना

श्रुत्वा तु जामदग्न्यस्य वाक्यं दाशरथिस्तदा।
गौरवाद्यन्त्रितकथः पितू राममथाब्रवीत्॥ १॥

दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजी अपने पिताके गौरवका ध्यान रखकर संकोचवश वहाँ कुछ बोल नहीं रहे थे, परंतु

जमदग्निकुमार परशुरामजीकी उपर्युक्त बात सुनकर उस समय वे मौन न रह सके। उन्होंने परशुरामजीसे कहा— ॥ १ ॥

कृतवानसि यत् कर्म श्रुतवानस्मि भार्गव।
अनुरुध्यामहे ब्रह्मन् पितुरानृण्यमास्थितः ॥ २ ॥

'भृगुनन्दन ! ब्रह्मन्! आपने पिताके ऋणसे उऋण होनेकी—पिताके मारनेवालेका वध करके वैरका बदला चुकानेकी भावना लेकर जो क्षत्रिय-संहाररूपी कर्म किया है, उसे मैंने सुना है और हमलोग आपके उस कर्मका अनुमोदन भी करते हैं (क्योंकि वीर पुरुष वैरका प्रतिशोध लेते ही हैं) ॥ २ ॥

वीर्यहीनमिवाशक्तं क्षत्रधर्मेण भार्गव।
अवजानासि मे तेजः पश्य मेऽद्य पराक्रमम् ॥ ३ ॥

'भार्गव ! मैं क्षत्रियधर्मसे युक्त हूँ (इसीलिये आप ब्राह्मण-देवताके समक्ष विनीत रहकर कुछ बोल नहीं रहा हूँ) तो भी आप मुझे पराक्रमहीन और असमर्थ-सा मानकर मेरा तिरस्कार कर रहे हैं। अच्छा, अब मेरा तेज और पराक्रम देखिये' ॥ ३ ॥

इत्युक्त्वा राघवः क्रुद्धो भार्गवस्य वरायुधम्।
शरं च प्रतिजग्राह हस्ताल्लघुपराक्रमः ॥ ४ ॥

ऐसा कहकर शीघ्र पराक्रम करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीने कुपित हो परशुरामजीके हाथसे वह उत्तम धनुष और बाण ले लिया (साथ ही उनसे अपनी वैष्णवी शक्तिको भी वापस ले लिया) ॥ ४ ॥

आरोप्य स धनू रामः शरं सज्यं चकार ह।
जामदग्न्यं ततो रामं रामः क्रुद्धोऽब्रवीदिदम् ॥ ५ ॥

उस धनुषको चढ़ाकर श्रीरामने उसकी प्रत्यञ्चापर बाण रखा, फिर कुपित होकर उन्होंने जमदग्निकुमार परशुरामजीसे इस प्रकार कहा— ॥ ५ ॥

ब्राह्मणोऽसीति पूज्यो मे विश्वामित्रकृतेन च।
तस्माच्छक्तो न ते राम मोक्तुं प्राणहरं शरम् ॥ ६ ॥

'(भृगुनन्दन) राम ! आप ब्राह्मण होनेके नाते मेरे पूज्य हैं तथा विश्वामित्रजीके साथ भी आपका सम्बन्ध है—इन सब कारणोंसे मैं इस प्राण-संहारक बाणको आपके शरीरपर नहीं छोड़ सकता ॥ ६ ॥

इमां वा त्वद्गतिं राम तपोबलसमर्जितान्।
लोकानप्रतिमान् वापि हनिष्यामीति मे मतिः ॥ ७ ॥
न ह्ययं वैष्णवो दिव्यः शरः परपुरंजयः।
मोघः पतति वीर्येण बलदर्पविनाशनः ॥ ८ ॥

'राम ! मेरा विचार है कि आपको जो सर्वत्र शीघ्रतापूर्वक आने-जानेकी शक्ति प्राप्त हुई है उसे अथवा आपने अपने तपोबलसे जिन अनुपम पुण्यलोकोंको प्राप्त किया है उन्हींको नष्ट कर डालूँ; क्योंकि अपने पराक्रमसे विपक्षीके बलके घमंडको चूर कर देनेवाला यह दिव्य वैष्णव बाण, जो शत्रुओंकी नगरीपर विजय दिलानेवाला है, कभी निष्फल नहीं जाता है' ॥ ७-८ ॥

वरायुधधरं रामं द्रष्टुं सर्षिगणाः सुराः।
पितामहं पुरस्कृत्य समेतास्तत्र सर्वशः ॥ ९ ॥

उस समय उस उत्तम धनुष और बाणको धारण करके खड़े हुए श्रीरामचन्द्रजीको देखनेके लिये सम्पूर्ण देवता और ऋषि ब्रह्माजीको आगे करके वहाँ एकत्र हो गये ॥ ९ ॥

गन्धर्वाप्सरसश्चैव सिद्धचारणकिन्नराः।
यक्षराक्षसनागाश्च तद् द्रष्टुं महदद्भुतम् ॥ १० ॥

गन्धर्व, अप्सराएँ, सिद्ध, चारण, किन्नर, यक्ष, राक्षस और नाग भी उस अत्यन्त अद्भुत दृश्यको देखनेके लिये वहाँ आ पहुँचे ॥ १० ॥

जडीकृते तदा लोके रामे वरधनुर्धरे।
निर्वीर्यो जामदग्न्योऽसौ रामो राममुदैक्षत ॥ ११ ॥

जब श्रीरामचन्द्रजीने वह श्रेष्ठ धनुष हाथमें ले लिया, उस समय सब लोग आश्चर्यसे जडवत् हो गये। (परशुरामजीका वैष्णव तेज निकलकर श्रीरामचन्द्रजीमें मिल गया। इसलिये) वीर्यहीन हुए जमदग्निकुमार रामने दशरथनन्दन श्रीरामकी ओर देखा ॥ ११ ॥

तेजोभिर्गतवीर्यत्वाज्जामदग्न्यो जडीकृतः।
रामं कमलपत्राक्षं मन्दं मन्दमुवाच ह ॥ १२ ॥

तेज निकल जानेसे वीर्यहीन हो जानेके कारण जडवत् बने हुए जमदग्निकुमार परशुरामने कमलनयन श्रीरामसे धीरे-धीरे कहा— ॥ १२ ॥

काश्यपाय मया दत्ता यदा पूर्वं वसुंधरा।
विषये मे न वस्तव्यमिति मां काश्यपोऽब्रवीत् ॥ १३ ॥

'रघुनन्दन ! पूर्वकालमें मैंने कश्यपजीको जब यह पृथिवी दान की थी, तब उन्होंने मुझसे कहा था कि 'तुम्हें मेरे राज्यमें नहीं रहना चाहिये' ॥ १३ ॥

सोऽहं गुरुवचः कुर्वन् पृथिव्यां न वसे निशाम्।
तदाप्रभृति काकुत्स्थ कृता मे काश्यपस्य ह ॥ १४ ॥

'ककुत्स्थकुलनन्दन ! तभीसे अपने गुरु कश्यपजीकी इस आज्ञाका पालन करता हुआ मैं कभी रातमें पृथिवीपर नहीं निवास करता हूँ; क्योंकि यह बात सर्वविदित है कि मैंने कश्यपके सामने रातको पृथिवीपर न रहनेकी प्रतिज्ञा कर रखी है ॥ १४ ॥

तामिमां मद्गतिं वीर हन्तुं नार्हसि राघव।
मनोजवं गमिष्यामि महेन्द्रं पर्वतोत्तमम् ॥ १५ ॥

'इसलिये वीर राघव ! आप मेरी इस गमनशक्तिको नष्ट न करें। मैं मनके समान वेगसे अभी महेन्द्र नामक श्रेष्ठ पर्वतपर चला जाऊँगा ॥ १५ ॥

लोकास्त्वप्रतिमा राम निर्जितास्तपसा मया।
जहि ताञ्छरमुख्येन मा भूत् कालस्य पर्ययः ॥ १६ ॥

'परंतु श्रीराम! मैंने अपनी तपस्यासे जिन अनुपम लोकोंपर विजय पायी है, उन्हींको आप इस श्रेष्ठ बाणसे नष्ट कर दें; अब इसमें विलम्ब नहीं होना चाहिये ॥ १६ ॥

अक्षय्यं मधुहन्तारं जानामि त्वां सुरेश्वरम्।
धनुषोऽस्य परामर्शात् स्वस्ति तेऽस्तु परंतप ॥ १७ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले वीर! आपने जो इस धनुषको चढ़ा दिया, इससे मुझे निश्चितरूपसे ज्ञात हो गया कि आप मधु दैत्यको मारनेवाले अविनाशी देवेश्वर विष्णु हैं। आपका कल्याण हो ॥ १७ ॥

एते सुरगणाः सर्वे निरीक्षन्ते समागताः।
त्वामप्रतिमकर्माणमप्रतिद्वन्द्वमाहवे ॥ १८ ॥

'ये सब देवता एकत्र होकर आपकी ओर देख रहे हैं। आपके कर्म अनुपम हैं; युद्धमें आपका सामना करनेवाला दूसरा कोई नहीं है ॥ १८ ॥

न चेयं तव काकुत्स्थ व्रीडा भवितुमर्हति।
त्वया त्रैलोक्यनाथेन यदहं विमुखीकृतः ॥ १९ ॥

'ककुत्स्थकुलभूषण! आपके सामने जो मेरी असमर्थता प्रकट हुई—यह मेरे लिये लज्जाजनक नहीं हो सकती; क्योंकि आप त्रिलोकीनाथ श्रीहरिने मुझे पराजित किया है ॥

शरमप्रतिमं राम मोक्तुमर्हसि सुव्रत।
शरमोक्षे गमिष्यामि महेन्द्रं पर्वतोत्तमम् ॥ २० ॥

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले श्रीराम! अब आप अपना अनुपम बाण छोड़िये; इसके छूटनेके बाद ही मैं श्रेष्ठ महेन्द्र पर्वतपर जाऊँगा' ॥ २० ॥

तथा ब्रुवति रामे तु जामदग्न्ये प्रतापवान्।
रामो दाशरथिः श्रीमांश्चिक्षेप शरमुत्तमम् ॥ २१ ॥

जमदग्निनन्दन परशुरामजीके ऐसा कहनेपर प्रतापी दशरथनन्दन श्रीमान् रामचन्द्रजीने वह उत्तम बाण छोड़ दिया ॥ २१ ॥

स हतान् दृश्य रामेण स्वाँल्लोकांस्तपसार्जितान्।
जामदग्न्यो जगामाशु महेन्द्रं पर्वतोत्तमम् ॥ २२ ॥

अपनी तपस्याद्वारा उपार्जित किये हुए पुण्यलोकोंको श्रीरामचन्द्रजीके चलाये हुए उस बाणसे नष्ट हुआ देखकर परशुरामजी शीघ्र ही उत्तम महेन्द्र पर्वतपर चले गये ॥ २२ ॥

ततो वितिमिराः सर्वा दिशश्चोपदिशस्तथा।
सुराः सर्षिगणा रामं प्रशशंसुरुदायुधम् ॥ २३ ॥

उनके जाते ही समस्त दिशाओं तथा उपदिशाओंका अन्धकार दूर हो गया। उस समय ऋषियोंसहित देवता उत्तम आयुधधारी श्रीरामकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ २३ ॥

रामं दाशरथिं रामो जामदग्न्यः प्रपूजितः।
ततः प्रदक्षिणीकृत्य जगामात्मगतिं प्रभुः ॥ २४ ॥

तदनन्तर दशरथनन्दन श्रीरामने जमदग्निकुमार परशुरामका पूजन किया। उनसे पूजित हो प्रभावशाली परशुराम दशरथकुमार रामकी परिक्रमा करके अपने स्थानको चले गये ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे षट्सप्ततितमः सर्गः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें छिहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७६ ॥

सप्तसप्ततितमः सर्गः

राजा दशरथका पुत्रों और वधुओंके साथ अयोध्यामें प्रवेश, शत्रुघ्नसहित भरतका मामाके यहाँ जाना, श्रीरामके बर्तावसे सबका संतोष तथा सीता और श्रीरामका पारस्परिक प्रेम

गते रामे प्रशान्तात्मा रामो दाशरथिर्धनुः।
वरुणायाप्रमेयाय ददौ हस्ते महायशाः ॥ १ ॥

जमदग्निकुमार परशुरामजीके चले जानेपर महायशस्वी दशरथनन्दन श्रीरामने शान्तचित्त होकर अपार शक्तिशाली वरुणके हाथमें वह धनुष दे दिया ॥ १ ॥

अभिवाद्य ततो रामो वसिष्ठप्रमुखानृषीन्।
पितरं विकलं दृष्ट्वा प्रोवाच रघुनन्दनः ॥ २ ॥

तत्पश्चात् वसिष्ठ आदि ऋषियोंको प्रणाम करके रघुनन्दन श्रीरामने अपने पिताको विकल देखकर उनसे कहा— ॥ २ ॥

जामदग्न्यो गतो रामः प्रयातु चतुरङ्गिणी।
अयोध्याभिमुखी सेना त्वया नाथेन पालिता ॥ ३ ॥

'पिताजी! जमदग्निकुमार परशुरामजी चले गये। अब आपके अधिनायकत्वमें सुरक्षित यह चतुरङ्गिणी सेना अयोध्याकी ओर प्रस्थान करे' ॥ ३ ॥

रामस्य वचनं श्रुत्वा राजा दशरथः सुतम्।
बाहुभ्यां सम्परिष्वज्य मूर्ध्न्युपाघ्राय राघवम् ॥ ४ ॥
गतो राम इति श्रुत्वा हृष्टः प्रमुदितो नृपः।
पुनर्जातं तदा मेने पुत्रमात्मानमेव च ॥ ५ ॥

श्रीरामका यह वचन सुनकर राजा दशरथने अपने पुत्र रघुनाथजीको दोनों भुजाओंसे खींचकर छातीसे लगा लिया और उनका मस्तक सूँघा। 'परशुरामजी चले गये' यह सुनकर राजा दशरथको बड़ा हर्ष हुआ, वे आनन्दमग्न हो गये। उस समय उन्होंने अपना और अपने पुत्रका पुनर्जन्म हुआ माना ॥ ४-५ ॥

चोदयामास तां सेनां जगामाशु ततः पुरीम्।
पताकाध्वजिनीं रम्यां तूर्योद्घुष्टनिनादिताम् ॥ ६ ॥

तदनन्तर उन्होंने सेनाको नगरकी ओर कूँच करनेकी

आज्ञा दी और वहाँसे चलकर बड़ी शीघ्रताके साथ वे अयोध्यापुरीमें जा पहुँचे। उस समय उस पुरीमें सब ओर ध्वजा-पताकाएँ फहरा रही थीं। सजावटसे नगरकी रमणीयता बढ़ गयी थी और भाँति-भाँतिके वाद्योंकी ध्वनिसे सारी अयोध्या गूँज उठी थी ॥ ६ ॥

सिक्तराजपथारम्यां प्रकीर्णकुसुमोत्कराम्।
राजप्रवेशसुमुखैः पौरैर्मङ्गलपाणिभिः ॥ ७ ॥
सम्पूर्णां प्राविशद् राजा जनौघैः समलंकृताम्।
पौरैः प्रत्युद्गतो दूरं द्विजैश्च पुरवासिभिः ॥ ८ ॥

सड़कोंपर जलका छिड़काव हुआ था, जिससे पुरीकी सुरम्य शोभा बढ़ गयी थी। यत्र-तत्र ढेर-के-ढेर फूल बिखेरे गये थे। पुरवासी मनुष्य हाथोंमें माङ्गलिक वस्तुएँ लेकर राजाके प्रवेशमार्गपर प्रसन्नमुख होकर खड़े थे। इन सबसे भरी-पूरी तथा भारी जनसमुदायसे अलंकृत हुई अयोध्या-पुरीमें राजाने प्रवेश किया। नागरिकों तथा पुरवासी ब्राह्मणोंने दूरतक आगे जाकर महाराजकी अगवानी की थी ॥ ७-८ ॥

पुत्रैरनुगतः श्रीमाञ्श्रीमद्भिश्च महायशाः।
प्रविवेश गृहं राजा हिमवत्सदृशं प्रियम् ॥ ९ ॥

अपने कान्तिमान् पुत्रोंके साथ महायशस्वी श्रीमान् राजा दशरथने अपने प्रिय राजभवनमें, जो हिमालयके समान सुन्दर एवं गगनचुम्बी था, प्रवेश किया ॥ ९ ॥

ननन्द स्वजनै राजा गृहे कामैः सुपूजितः।
कौसल्या च सुमित्रा च कैकेयी च सुमध्यमा ॥ १० ॥
वधूप्रतिग्रहे युक्ता याश्चान्या राजयोषितः।

राजमहलमें स्वजनोंद्वारा मनोवाञ्छित वस्तुओंसे परम पूजित हो राजा दशरथने बड़े आनन्दका अनुभव किया। महारानी कौसल्या, सुमित्रा, सुन्दर कटिप्रदेशवाली कैकेयी तथा जो अन्य राजपत्नियाँ थीं, वे सब बहुओंको उतारनेके कार्यमें जुट गयीं ॥ १०½ ॥

ततः सीतां महाभागामूर्मिलां च यशस्विनीम् ॥ ११ ॥
कुशध्वजसुते चोभे जगृहुर्नृपयोषितः।
मङ्गलालापनैर्होमैः शोभिताः क्षौमवाससः ॥ १२ ॥

तदनन्तर राजपरिवारकी उन स्त्रियोंने परम सौभाग्यवती सीता, यशस्विनी ऊर्मिला तथा कुशध्वजकी दोनों कन्याओं—माण्डवी और श्रुतकीर्तिको सवारीसे उतारा और मङ्गल गीत गाती हुई सब बहुओंको घरमें ले गयीं। वे प्रवेशकालिक होमकर्मसे सुशोभित तथा रेशमी साड़ियोंसे अलंकृत थीं ॥ १२ ॥

देवतायतनान्याशु सर्वास्ताः प्रत्यपूजयन्।
अभिवाद्याभिवाद्यांश्च सर्वा राजसुतास्तदा ॥ १३ ॥
रेमिरे मुदिताः सर्वा भर्तृभिर्मुदिता रहः।

उन सबने देवमन्दिरोंमें ले जाकर उन बहुओंसे देवताओंका पूजन करवाया। तदनन्तर नववधूरूपमें आयी हुई उन सभी राजकुमारियोंने वन्दनीय सास-ससुर आदिके चरणोंमें प्रणाम किया और अपने-अपने पतिके साथ एकान्तमें रहकर वे सब-की-सब बड़े आनन्दसे समय व्यतीत करने लगीं ॥ १३ ॥

कृतदाराः कृतास्त्राश्च सधनाः ससुहृज्जनाः ॥ १४ ॥
शुश्रूषमाणाः पितरं वर्तयन्ति नरर्षभाः।
कस्यचित्त्वथ कालस्य राजा दशरथः सुतम् ॥ १५ ॥
भरतं कैकयीपुत्रमब्रवीद् रघुनन्दनः।

श्रीराम आदि पुरुषश्रेष्ठ चारों भाई अस्त्रविद्यामें निपुण और विवाहित होकर धन और मित्रोंके साथ रहते हुए पिताकी सेवा करने लगे। कुछ कालके बाद रघुकुलनन्दन राजा दशरथने अपने पुत्र कैकेयीकुमार भरतसे कहा— ॥

अयं केकयराजस्य पुत्रो वसति पुत्रक ॥ १६ ॥
त्वां नेतुमागतो वीरो युधाजिन्मातुलस्तव।

'बेटा! ये तुम्हारे मामा केकयराजकुमार वीर युधाजित् तुम्हें लेनेके लिये आये हैं और कई दिनोंसे यहाँ ठहरे हुए हैं' ॥ १६½ ॥

श्रुत्वा दशरथस्यैतद् भरतः कैकयीसुतः ॥ १७ ॥
गमनायाभिचक्राम शत्रुघ्नसहितस्तदा।

दशरथजीकी यह बात सुनकर कैकेयीकुमार भरतने उस समय शत्रुघ्नके साथ मामाके यहाँ जानेका विचार किया ॥

आपृच्छ्य पितरं शूरो रामं चाक्लिष्टकारिणम् ॥ १८ ॥
मातॄश्चापि नरश्रेष्ठः शत्रुघ्नसहितो ययौ।

वे नरश्रेष्ठ शूरवीर भरत अपने पिता राजा दशरथ, अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीराम तथा सभी माताओंसे पूछकर उनकी आज्ञा ले शत्रुघ्नसहित वहाँसे चल दिये ॥ १८½ ॥

युधाजित् प्राप्य भरतं सशत्रुघ्नं प्रहर्षितः ॥ १९ ॥
स्वपुरं प्राविशद् वीरः पिता तस्य तुतोष ह।

शत्रुघ्नसहित भरतको साथ लेकर वीर युधाजित्ने बड़े हर्षके साथ अपने नगरमें प्रवेश किया, इससे उनके पिताको बड़ा संतोष हुआ ॥ १९½ ॥

गते च भरते रामो लक्ष्मणश्च महाबलः ॥ २० ॥
पितरं देवसंकाशं पूजयामासतुस्तदा।

भरतके चले जानेपर महाबली श्रीराम और लक्ष्मण उन दिनों अपने देवोपम पिताकी सेवा-पूजामें संलग्न रहने लगे ॥

पितुराज्ञां पुरस्कृत्य पौरकार्याणि सर्वशः ॥ २१ ॥
चकार रामः सर्वाणि प्रियाणि च हितानि च।

पिताकी आज्ञा शिरोधार्य करके वे नगरवासियोंके सब काम देखने तथा उनके समस्त प्रिय तथा हितकर कार्य करने लगे ॥ २१½ ॥

मातृभ्यो मातृकार्याणि कृत्वा परमयन्त्रितः ॥ २२ ॥
गुरूणां गुरुकार्याणि काले कालेऽन्ववैक्षत।

वे अपनेको बड़े संयममें रखते थे और समय-समयपर माताओंके लिये उनके आवश्यक कार्य पूर्ण करके गुरुजनोंके भारी-से-भारी कार्योंको भी सिद्ध करनेका ध्यान रखते थे ॥

एवं दशरथः प्रीतो ब्राह्मणा नैगमास्तथा ॥ २३ ॥
रामस्य शीलवृत्तेन सर्वे विषयवासिनः ।

उनके इस बर्तावसे राजा दशरथ, वेदवेत्ता ब्राह्मण तथा वैश्यवर्ग बड़े प्रसन्न रहते थे; श्रीरामके उत्तम शील और सद्-व्यवहारसे उस राज्यके भीतर निवास करनेवाले सभी मनुष्य बहुत संतुष्ट रहते थे ॥ २३½ ॥

तेषामतियशा लोके रामः सत्यपराक्रमः ॥ २४ ॥
स्वयंभूरिव भूतानां बभूव गुणवत्तरः ।

राजाके इन चारों पुत्रोंमें सत्यपराक्रमी श्रीराम ही लोकमें अत्यन्त यशस्वी तथा महान् गुणवान् हुए—ठीक उसी तरह जैसे समस्त भूतोंमें स्वयम्भू ब्रह्मा ही अत्यन्त यशस्वी और महान् गुणवान् हैं ॥ २४½ ॥

रामश्च सीतया सार्धं विजहार बहूनृतून् ॥ २५ ॥
मनस्वी तद्गतमनास्तस्या हृदि समर्पितः ।

श्रीरामचन्द्रजी सदा सीताके हृदयमन्दिरमें विराजमान रहते थे तथा मनस्वी श्रीरामका मन भी सीतामें ही लगा रहता था; श्रीरामने सीताके साथ अनेक ऋतुओंतक विहार किया ॥

प्रिया तु सीता रामस्य दाराः पितृकृता इति ॥ २६ ॥
गुणाद्रूपगुणाच्चापि प्रीतिर्भूयोऽभिवर्धते ।
तस्याश्च भर्ता द्विगुणं हृदये परिवर्तते ॥ २७ ॥

सीता श्रीरामको बहुत ही प्रिय थीं; क्योंकि वे अपने पिता राजा जनकद्वारा श्रीरामके हाथमें पत्नीरूपसे समर्पित की गयी थीं। सीताके पातिव्रत्य आदि गुणसे तथा उनके सौन्दर्यगुणसे भी श्रीरामका उनके प्रति अधिकाधिक प्रेम बढ़ता रहता था; इसी प्रकार सीताके हृदयमें भी उनके पति श्रीराम अपने गुण और सौन्दर्यके कारण द्विगुण प्रीतिपात्र बनकर रहते थे ॥

अन्तर्गतमपि व्यक्तमाख्याति हृदयं हृदा ।
तस्य भूयो विशेषेण मैथिली जनकात्मजा ।
देवताभिः समा रूपे सीता श्रीरिव रूपिणी ॥ २८ ॥

जनकनन्दिनी मिथिलेशकुमारी सीता श्रीरामके हार्दिक अभिप्रायको भी अपने हृदयसे ही और अधिकरूपसे जान लेती थीं तथा स्पष्टरूपसे बता भी देती थीं। वे रूपमें देवाङ्गनाओंके समान थीं और मूर्तिमती लक्ष्मी-सी प्रतीत होती थीं ॥ २८ ॥

तया स राजर्षिसुतोऽभिकामया
समेयिवानुत्तमराजकन्यया ।
अतीव रामः शुशुभे मुदान्वितो
विभुः श्रिया विष्णुरिवामरेश्वरः ॥ २९ ॥

श्रेष्ठ राजकुमारी सीता श्रीरामकी ही कामना रखती थीं और श्रीराम भी एकमात्र उन्हींको चाहते थे; जैसे लक्ष्मीके साथ देवेश्वर भगवान् विष्णुकी शोभा होती है, उसी प्रकार उन सीतादेवीके साथ राजर्षि दशरथकुमार श्रीराम परम प्रसन्न रहकर बड़ी शोभा पाने लगे ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें सतहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७७ ॥

बालकाण्डं सम्पूर्णम्

॥ श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः ॥

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणम्

अयोध्याकाण्डम्

प्रथमः सर्गः

श्रीरामके सद्गुणोंका वर्णन, राजा दशरथका श्रीरामको युवराज बनानेका विचार तथा विभिन्न नरेशों और नगर एवं जनपदके लोगोंको मन्त्रणाके लिये अपने दरबारमें बुलाना

गच्छता मातुलकुलं भरतेन तदानघः ।
शत्रुघ्नो नित्यशत्रुघ्नो नीतः प्रीतिपुरस्कृतः ॥ १ ॥

(पहले यह बताया जा चुका है कि) भरत अपने मामाके यहाँ जाते समय काम आदि शत्रुओंको सदाके लिये नष्ट कर देनेवाले निष्पाप शत्रुघ्नको भी प्रेमवश अपने साथ लेते गये थे ॥ १ ॥

स तत्र न्यवसद् भ्रात्रा सह सत्कारसत्कृतः ।
मातुलेनाश्वपतिना पुत्रस्नेहेन लालितः ॥ २ ॥

वहाँ भाईसहित उनका बड़ा आदर-सत्कार हुआ और वे वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे। उनके मामा युधाजित्, जो अश्वयूथके अधिपति थे, उन दोनोंपर पुत्रसे भी अधिक स्नेह रखते और बड़ा लाड़ प्यार करते थे ॥ २ ॥

तत्रापि निवसन्तौ तौ तर्प्यमाणौ च कामतः ।
भ्रातरौ स्मरतां वीरौ वृद्धं दशरथं नृपम् ॥ ३ ॥

यद्यपि मामाके यहाँ उन दोनों वीर भाइयोंकी सभी इच्छाएँ पूर्ण करके उन्हें पूर्णतः तृप्त किया जाता था, तथापि वहाँ रहते हुए भी उन्हें अपने वृद्ध पिता महाराज दशरथकी याद कभी नहीं भूलती थी ॥ ३ ॥

राजापि तौ महातेजाः सस्मार प्रोषितौ सुतौ ।
उभौ भरतशत्रुघ्नौ महेन्द्रवरुणोपमौ ॥ ४ ॥

महातेजस्वी राजा दशरथ भी परदेशमें गये हुए महेन्द्र और वरुणके समान पराक्रमी अपने उन दोनों पुत्र भरत और शत्रुघ्नका सदा स्मरण किया करते थे ॥ ४ ॥

सर्व एव तु तस्येष्टाश्चत्वारः पुरुषर्षभाः ।
स्वशरीराद् विनिर्वृत्ताश्चत्वार इव बाहवः ॥ ५ ॥

अपने शरीरसे प्रकट हुई चारों भुजाओंके समान वे सब चारों ही पुरुषशिरोमणि पुत्र महाराजको बहुत ही प्रिय थे ॥

तेषामपि महातेजा रामो रतिकरः पितुः ।
स्वयम्भूरिव भूतानां बभूव गुणवत्तरः ॥ ६ ॥

परंतु उनमें भी महातेजस्वी श्रीराम सबकी अपेक्षा अधिक गुणवान् होनेके कारण समस्त प्राणियोंके लिये ब्रह्माजीकी भाँति पिताके लिये विशेष प्रीतिवर्धक थे ॥ ६ ॥

स हि देवैरुदीर्णस्य रावणस्य वधार्थिभिः ।
अर्थितो मानुषे लोके जज्ञे विष्णुः सनातनः ॥ ७ ॥

इसका एक कारण और भी था—वे साक्षात् सनातन विष्णु थे और परम प्रचण्ड रावणके वधकी अभिलाषा रखनेवाले देवताओंकी प्रार्थनापर मनुष्यलोकमें अवतीर्ण हुए थे ॥ ७ ॥

कौसल्या शुशुभे तेन पुत्रेणामिततेजसा ।
यथा वरेण देवानामदितिर्वज्रपाणिना ॥ ८ ॥

उन अमित तेजस्वी पुत्र श्रीरामचन्द्रजीसे महारानी कौसल्याकी वैसी ही शोभा होती थी, जैसे वज्रधारी देवराज इन्द्रसे देवमाता अदिति सुशोभित होती हैं ॥ ८ ॥

स हि रूपोपपन्नश्च वीर्यवाननसूयकः ।
भूमावनुपमः सूनुर्गुणैर्दशरथोपमः ॥ ९ ॥

श्रीराम बड़े ही रूपवान् और पराक्रमी थे। वे किसीके दोष नहीं देखते थे। भूमण्डलमें उनकी समता करनेवाला कोई नहीं था। वे अपने गुणोंसे पिता दशरथके समान एवं योग्य पुत्र थे ॥ ९ ॥

स च नित्यं प्रशान्तात्मा मृदुपूर्वं च भाषते ।
उच्यमानोऽपि परुषं नोत्तरं प्रतिपद्यते ॥ १० ॥

वे सदा शान्त चित्त रहते और सान्त्वनापूर्वक मीठे वचन बोलते थे; यदि उनसे कोई कठोर बात भी कह देता तो वे उसका उत्तर नहीं देते थे ॥ १० ॥

कदाचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति ।
न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया ॥ ११ ॥

कभी कोई एक बार भी उपकार कर देता तो वे उसके उस एक ही उपकारसे सदा संतुष्ट रहते थे और मनको वशमें रखनेके कारण किसीके सैकड़ों अपराध करनेपर भी उसके अपराधोंको याद नहीं रखते थे ॥ ११ ॥

शीलवृद्धैर्ज्ञानवृद्धैर्वयोवृद्धैश्च सज्जनैः ।
कथयन्नास्त वै नित्यमस्त्रयोग्यान्तरेष्वपि ॥ १२ ॥

अस्त्र-शस्त्रोंके अभ्यासके लिये उपयुक्त समयमें भी बीच-बीचमें अवसर निकालकर वे उत्तम चरित्रमें, ज्ञानमें तथा अवस्थामें बढ़े-चढ़े सत्पुरुषोंके साथ ही सदा बातचीत करते (और उनसे शिक्षा लेते थे) ॥ १२ ॥

बुद्धिमान् मधुराभाषी पूर्वभाषी प्रियंवदः ।
वीर्यवान्न च वीर्येण महता स्वेन विस्मितः ॥ १३ ॥

वे बड़े बुद्धिमान् थे और सदा मीठे वचन बोलते थे। अपने पास आये हुए मनुष्योंसे पहले स्वयं ही बात करते और ऐसी बातें मुँहसे निकालते जो उन्हें प्रिय लगें; बल और पराक्रमसे सम्पन्न होनेपर भी अपने महान् पराक्रमके कारण उन्हें कभी गर्व नहीं होता था ॥ १३ ॥

न चानृतकथो विद्वान् वृद्धानां प्रतिपूजकः ।
अनुरक्तः प्रजाभिश्च प्रजाश्चाप्यनुरज्यते ॥ १४ ॥

झूठी बात तो उनके मुखसे कभी निकलती ही नहीं थी। वे विद्वान् थे और सदा वृद्ध पुरुषोंका सम्मान किया करते थे। प्रजाका श्रीरामके प्रति और श्रीरामका प्रजाके प्रति बड़ा अनुराग था ॥ १४ ॥

सानुक्रोशो जितक्रोधो ब्राह्मणप्रतिपूजकः ।
दीनानुकम्पी धर्मज्ञो नित्यं प्रग्रहवाञ्छुचिः ॥ १५ ॥

वे परम दयालु क्रोधको जीतनेवाले और ब्राह्मणोंके पुजारी थे। उनके मनमें दीन-दुःखियोंके प्रति बड़ी दया थी। वे धर्मके रहस्यको जाननेवाले, इन्द्रियोंको सदा वशमें रखनेवाले और बाहर-भीतरसे परम पवित्र थे ॥ १५ ॥

कुलोचितमतिः क्षात्रं स्वधर्मं बहु मन्यते ।
मन्यते परया प्रीत्या महत् स्वर्गफलं ततः ॥ १६ ॥

अपने कुलोचित आचार, दया, उदारता और शरणागत-रक्षा आदिमें ही उनका मन लगता था। वे अपने क्षत्रिय-धर्मको अधिक महत्त्व देते और मानते थे। वे उस क्षत्रिय-धर्मके पालनसे महान् स्वर्ग (परम धाम) की प्राप्ति मानते थे; अतः बड़ी प्रसन्नताके साथ उसमें संलग्न रहते थे ॥ १६ ॥

नाश्रेयसि रतो यश्च न विरुद्धकथारुचिः ।
उत्तरोत्तरयुक्तीनां वक्ता वाचस्पतिर्यथा ॥ १७ ॥

अमङ्गलकारी निषिद्ध कर्ममें उनकी कभी प्रवृत्ति नहीं होती थी; शास्त्रविरुद्ध बातोंको सुननेमें उनकी रुचि नहीं थी; वे अपने न्याययुक्त पक्षके समर्थनमें बृहस्पतिके समान एक-से-एक बढ़कर युक्तियाँ देते थे ॥ १७ ॥

अरोगस्तरुणो वाग्मी वपुष्मान् देशकालवित् ।
लोके पुरुषसारज्ञः साधुरेको विनिर्मितः ॥ १८ ॥

उनका शरीर नीरोग था और अवस्था तरुण। वे अच्छे वक्ता, सुन्दर शरीरसे सुशोभित तथा देश-कालके तत्त्वको समझनेवाले थे। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था कि विधाताने संसारमें समस्त पुरुषोंके सारतत्त्वको समझनेवाले साधु पुरुषके रूपमें एकमात्र श्रीरामको ही प्रकट किया है ॥

स तु श्रेष्ठैर्गुणैर्युक्तः प्रजानां पार्थिवात्मजः ।
बहिश्चर इव प्राणो बभूव गुणतः प्रियः ॥ १९ ॥

राजकुमार श्रीराम श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त थे। वे अपने सद्गुणोंके कारण प्रजाजनोंको बाहर विचरनेवाले प्राणकी भाँति प्रिय थे ॥ १९ ॥

सर्वविद्याव्रतस्नातो यथावत् साङ्गवेदवित् ।
इष्वस्त्रे च पितुः श्रेष्ठो बभूव भरताग्रजः ॥ २० ॥

भरतके बड़े भाई श्रीराम सम्पूर्ण विद्याओंके व्रतमें निष्णात और छहों अङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेदोंके यथार्थ ज्ञाता थे। बाणविद्यामें तो वे अपने पितासे भी बढ़कर थे ॥ २० ॥

कल्याणाभिजनः साधुरदीनः सत्यवागृजुः ।
वृद्धैरभिविनीतश्च द्विजैर्धर्मार्थदर्शिभिः ॥ २१ ॥

वे कल्याणकी जन्मभूमि, साधु, दैन्यरहित, सत्यवादी और सरल थे; धर्म और अर्थके ज्ञाता वृद्ध ब्राह्मणोंके द्वारा उन्हें उत्तम शिक्षा प्राप्त हुई थी ॥ २१ ॥

धर्मकामार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान् प्रतिभानवान् ।
लौकिके समयाचारे कृतकल्पो विशारदः ॥ २२ ॥

उन्हें धर्म, काम और अर्थके तत्त्वका सम्यक् ज्ञान था। वे स्मरणशक्तिसे सम्पन्न और प्रतिभाशाली थे। वे लोक-व्यवहारके सम्पादनमें समर्थ और समयोचित धर्माचरणमें कुशल थे ॥ २२ ॥

निभृतः संवृताकारो गुप्तमन्त्रः सहायवान् ।
अमोघक्रोधहर्षश्च त्यागसंयमकालवित् ॥ २३ ॥

वे विनयशील, अपने आकार (अभिप्राय) को छिपानेवाले, मन्त्रको गुप्त रखनेवाले और उत्तम सहायकोंसे सम्पन्न थे। उनका क्रोध अथवा हर्ष निष्फल नहीं होता था। वे वस्तुओंके त्याग और संग्रहके अवसरको भलीभाँति जानते थे ॥ २३ ॥

दृढभक्तिः स्थिरप्रज्ञो नासद्ग्राही न दुर्वचः ।
निस्तन्द्रीरप्रमत्तश्च स्वदोषपरदोषवित् ॥ २४ ॥

गुरुजनोंके प्रति उनकी दृढ़ भक्ति थी। वे स्थितप्रज्ञ थे और असद्वस्तुओंको कभी ग्रहण नहीं करते थे। उनके मुखसे कभी दुर्वचन नहीं निकलता था। वे आलस्यरहित, प्रमादशून्य तथा अपने और पराये मनुष्योंके दोषोंको अच्छी प्रकार जाननेवाले थे ॥ २४ ॥

शास्त्रज्ञश्च कृतज्ञश्च पुरुषान्तरकोविदः ।
यः प्रग्रहानुग्रहयोर्यथान्यायं विचक्षणः ॥ २५ ॥

वे शास्त्रोंके ज्ञाता, उपकारियोंके प्रति कृतज्ञ तथा पुरुषोंके तारतम्यको अथवा दूसरे पुरुषोंके मनोभावको जाननेमें कुशल थे। यथायोग्य निग्रह और अनुग्रह करनेमें वे पूर्ण चतुर थे ॥ २५ ॥

सत्संग्रहानुग्रहणे स्थानविन्निग्रहस्य च।
आयकर्मण्युपायज्ञः संदृष्टव्ययकर्मवित्॥ २६॥

उन्हें सत्पुरुषोंके संग्रह और पालन तथा दुष्ट पुरुषोंके निग्रहके अवसरोंका ठीक-ठीक ज्ञान था। धनकी आयके उपायोंको वे अच्छी तरह जानते थे (अर्थात् फूलोंको नष्ट न करके उनसे रस लेनेवाले भ्रमरोंकी भाँति वे प्रजाओंको कष्ट दिये बिना ही उनसे न्यायोचित धनका उपार्जन करनेमें कुशल थे) तथा शास्त्रवर्णित व्यय कर्मका भी उन्हें ठीक-ठीक ज्ञान था[1]॥ २६॥

श्रैष्ठ्यं शास्त्रसमूहेषु प्राप्तो व्यामिश्रकेषु च।
अर्थधर्मौ च संगृह्य सुखतन्त्रो न चालसः॥ २७॥

उन्होंने सब प्रकारके शास्त्रसमूहों तथा संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओंसे मिश्रित नाटक आदिके ज्ञानमें निपुणता प्राप्त की थी। वे अर्थ और धर्मका संग्रह (पालन) करते हुए तदनुकूल कामका सेवन करते थे और कभी आलस्यको पास नहीं फटकने देते थे॥ २७॥

वैहारिकाणां शिल्पानां विज्ञातार्थविभागवित्।
आरोहे विनये चैव युक्तो वारणवाजिनाम्॥ २८॥

विहार (क्रीडा या मनोरञ्जन) के उपयोगमें आनेवाले संगीत, वाद्य और चित्रकारी आदि शिल्पोंके भी वे विशेषज्ञ थे। अर्थके विभाजनका भी उन्हें सम्यक् ज्ञान था।[2] वे हाथियों और घोड़ोंपर चढ़ने और उन्हें भाँति-भाँतिकी चालोंकी शिक्षा देनेमें भी निपुण थे॥ २८॥

धनुर्वेदविदां श्रेष्ठो लोकेऽतिरथसम्मतः।
अभियाता प्रहर्ता च सेनानयविशारदः॥ २९॥

श्रीरामचन्द्रजी इस लोकमें धनुर्वेदके सभी विद्वानोंमें श्रेष्ठ थे। अतिरथी वीर भी उनका विशेष सम्मान करते थे। शत्रुसेनापर आक्रमण और प्रहार करनेमें वे विशेष कुशल थे। सेना-संचालनकी नीतिमें उन्होंने अधिक निपुणता प्राप्त की थी॥ २९॥

अप्रधृष्यश्च संग्रामे क्रुद्धैरपि सुरासुरैः।
अनसूयो जितक्रोधो न दृप्तो न च मत्सरी॥ ३०॥

संग्राममें कुपित होकर आये हुए समस्त देवता और असुर भी उनको परास्त नहीं कर सकते थे। उनमें दोषदृष्टिका सर्वथा अभाव था। वे क्रोधको जीत चुके थे। दर्प और ईर्ष्याका उनमें अत्यन्त अभाव था॥ ३०॥

नावज्ञेयश्च भूतानां न च कालवशानुगः।
एवं श्रेष्ठैर्गुणैर्युक्तः प्रजानां पार्थिवात्मजः॥ ३१॥
सम्मतस्त्रिषु लोकेषु वसुधायाः क्षमागुणैः।
बुद्ध्या बृहस्पतेस्तुल्यो वीर्ये चापि शचीपतेः॥ ३२॥

किसी भी प्राणीके मनमें उनके प्रति अवहेलनाका भाव नहीं था। वे कालके वशमें होकर उसके पीछे-पीछे चलनेवाले नहीं थे (काल ही उनके पीछे चलता था)। इस प्रकार उत्तम गुणोंसे युक्त होनेके कारण राजकुमार श्रीराम समस्त प्रजाओं तथा तीनों लोकोंके प्राणियोंके लिये आदरणीय थे। वे अपने क्षमासम्बन्धी गुणोंके द्वारा पृथ्वीकी समानता करते थे। बुद्धिमें बृहस्पति और बल-पराक्रममें शचीपति इन्द्रके तुल्य थे॥ ३१-३२॥

तथा सर्वप्रजाकान्तैः प्रीतिसंजननैः पितुः।
गुणैर्विरुरुचे रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः॥ ३३॥

जैसे सूर्यदेव अपनी किरणोंसे प्रकाशित होते हैं। उसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजी समस्त प्रजाओंको प्रिय लगनेवाले तथा पिताकी प्रीति बढ़ानेवाले सद्गुणोंसे सुशोभित होते थे॥ ३३॥

तमेवंवृत्तसम्पन्नमप्रधृष्यपराक्रमम्।
लोकनाथोपमं नाथमकामयत मेदिनी॥ ३४॥

ऐसे सदाचारसम्पन्न, अजेय पराक्रमी और लोकपालोंके समान तेजस्वी श्रीरामचन्द्रजीको पृथ्वी (भूदेवी और भूमण्डलकी प्रजा) ने अपना स्वामी बनानेकी कामना की॥

एतैस्तु बहुभिर्युक्तं गुणैरनुपमैः सुतम्।
दृष्ट्वा दशरथो राजा चक्रे चिन्तां परंतपः॥ ३५॥

अपने पुत्र श्रीरामको अनेक अनुपम गुणोंसे युक्त देखकर शत्रुओंको संताप देनेवाले राजा दशरथने मन-ही-मन कुछ विचार करना आरम्भ किया॥ ३५॥

अथ राज्ञो बभूवैव वृद्धस्य चिरजीविनः।
प्रीतिरेषा कथं रामो राजा स्यान्मयि जीवति॥ ३६॥

उन चिरजीवी बूढ़े महाराज दशरथके हृदयमें यह चिन्ता हुई कि किस प्रकार मेरे जीते-जी श्रीरामचन्द्र राजा हो जायँ और उनके राज्याभिषेकसे प्राप्त होनेवाली यह प्रसन्नता मुझे कैसे सुलभ हो॥ ३६॥

---

१. शास्त्रमें व्ययका विधान इस प्रकार देखा जाता है—

कच्चिदायस्य चार्धेन चतुर्भागेन वा पुनः। पादभागैस्त्रिभिर्वापि व्ययः संशुद्ध्यते तव॥ (महा० सभा० ५। ७१)

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर! क्या तुम्हारी आयके एक चौथाई या आधे अथवा तीन चौथाई भागसे तुम्हारा सारा खर्च चल जाता है?

२. नीचे लिखी पाँच वस्तुओंके लिये अर्थका विभाजन करनेवाला मनुष्य इहलोक और परलोकमें भी सुखी होता है। वे वस्तुएँ हैं—धर्म, यश, अर्थ, आत्मा और स्वजन। यथा—

धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च। पञ्चधा विभजन् वित्तमिहामुत्र च मोदते॥ (श्रीमद्भा० ८। १९। ३७)

एषा ह्यस्य परा प्रीतिर्हृदि सम्परिवर्तते।
कदा नाम सुतं द्रक्ष्याम्यभिषिक्तमहं प्रियम्॥ ३७॥

उनके हृदयमें यह उत्तम अभिलाषा बारम्बार चक्कर लगाने लगी कि कब मैं अपने प्रिय पुत्र श्रीरामका राज्याभिषेक देखूँगा॥ ३७॥

वृद्धिकामो हि लोकस्य सर्वभूतानुकम्पकः।
मत्तः प्रियतरो लोके पर्जन्य इव वृष्टिमान्॥ ३८॥

वे सोचने लगे कि 'श्रीराम सब लोगोंके अभ्युदयकी कामना करते और सम्पूर्ण जीवोंपर दया रखते हैं। वे लोकमें वर्षा करनेवाले मेघकी भाँति मुझसे भी बढ़कर प्रिय हो गये हैं॥ ३८॥

यमशक्रसमो वीर्ये बृहस्पतिसमो मतौ।
महीधरसमो धृत्यां मत्तश्च गुणवत्तरः॥ ३९॥

'श्रीराम बल-पराक्रममें यम और इन्द्रके समान, बुद्धिमें बृहस्पतिके समान और धैर्यमें पर्वतके समान हैं। गुणोंमें तो वे मुझसे सर्वथा बढ़े-चढ़े हैं॥ ३९॥

महीमहमिमां कृत्स्नामधितिष्ठन्तमात्मजम्।
अनेन वयसा दृष्ट्वा यथा स्वर्गमवाप्नुयाम्॥ ४०॥

'मैं इसी उम्रमें अपने बेटे श्रीरामको इस सारी पृथ्वीका राज्य करते देख यथासमय सुखसे स्वर्ग प्राप्त करूँ, यही मेरे जीवनकी साध है'॥ ४०॥

इत्येवं विविधैस्तैस्तैरन्यपार्थिवदुर्लभैः।
शिष्टैरपरिमेयैश्च लोके लोकोत्तरैर्गुणैः॥ ४१॥
तं समीक्ष्य तदा राजा युक्तं समुदितैर्गुणैः।
निश्चित्य सचिवैः सार्धं यौवराज्यममन्यत॥ ४२॥

इस प्रकार विचारकर तथा अपने पुत्र श्रीरामको उन-उन नाना प्रकारके विलक्षण, सज्जनोचित, असंख्य तथा लोकोत्तर गुणोंसे, जो अन्य राजाओंमें दुर्लभ हैं, विभूषित देख राजा दशरथने मन्त्रियोंके साथ सलाह करके उन्हें युवराज बनानेका निश्चय कर लिया॥ ४१-४२॥

दिव्यन्तरिक्षे भूमौ च घोरमुत्पातजं भयम्।
संचचक्षेऽथ मेधावी शरीरे चात्मनो जराम्॥ ४३॥

बुद्धिमान् महाराज दशरथने मन्त्रीको स्वर्ग, अन्तरिक्ष तथा भूतलमें दृष्टिगोचर होनेवाले उत्पातोंका घोर भय सूचित किया और अपने शरीरमें वृद्धावस्थाके आगमनकी भी बात बतायी॥ ४३॥

पूर्णचन्द्राननस्याथ शोकापनुदमात्मनः।
लोके रामस्य बुबुधे सम्प्रियत्वं महात्मनः॥ ४४॥

पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाले महात्मा श्रीराम समस्त प्रजाके प्रिय थे। लोकमें उनका सर्वप्रिय होना राजाके अपने आन्तरिक शोकको दूर करनेवाला था, इस बातको राजाने अच्छी तरह समझा॥ ४४॥

आत्मनश्च प्रजानां च श्रेयसे च प्रियेण च।
प्राप्ते काले स धर्मात्मा भक्त्या त्वरितवान् नृपः॥ ४५॥

तदनन्तर उपयुक्त समय आनेपर धर्मात्मा राजा दशरथने अपने और प्रजाके कल्याणके लिये मन्त्रियोंको श्रीरामके राज्याभिषेकके लिये शीघ्र तैयारी करनेकी आज्ञा दी। इस उतावलीमें उनके हृदयका प्रेम और प्रजाका अनुराग भी कारण था॥ ४५॥

नानानगरवास्तव्यान् पृथग्जानपदानपि।
समानिनाय मेदिन्यां प्रधानान् पृथिवीपतिः॥ ४६॥

उन भूपालने भिन्न-भिन्न नगरोंमें निवास करनेवाले प्रधान-प्रधान पुरुषों तथा अन्य जनपदोंके सामन्त राजाओंको भी मन्त्रियोंद्वारा अयोध्यामें बुलवा लिया॥ ४६॥

तान् वेश्मनानाभरणैर्यथार्हं प्रतिपूजितान्।
ददर्शालंकृतो राजा प्रजापतिरिव प्रजाः॥ ४७॥

उन सबको ठहरनेके लिये घर देकर नाना प्रकारके आभूषणोंद्वारा उनका यथायोग्य सत्कार किया। तत्पश्चात् स्वयं भी अलंकृत होकर राजा दशरथ उन सबसे उसी प्रकार मिले, जैसे प्रजापति ब्रह्मा प्रजावर्गसे मिलते हैं॥ ४७॥

न तु केकयराजानं जनकं वा नराधिपः।
त्वरया चानयामास पश्चात्तौ श्रोष्यतः प्रियम्॥ ४८॥

जल्दीबाजीके कारण राजा दशरथने केकयनरेशको तथा मिथिलापति जनकको भी नहीं बुलवाया।* उन्होंने सोचा वे दोनों सम्बन्धी इस प्रिय समाचारको पीछे सुन लेंगे॥ ४८॥

अथोपविष्टे नृपतौ तस्मिन् परपुरार्दने।
ततः प्रविविशुः शेषा राजानो लोकसम्मताः॥ ४९॥

तदनन्तर शत्रुनगरोंको पीड़ित करनेवाले राजा दशरथ जब दरबारमें आ बैठे, तब (केकयराज और जनकको छोड़कर) शेष सभी लोकप्रिय नरेशोंने राजसभामें प्रवेश किया॥ ४९॥

अथ राजवितीर्णेषु विविधेष्वासनेषु च।
राजानमेवाभिमुखा निषेदुर्नियता नृपाः॥ ५०॥

वे सभी नरेश राजाद्वारा दिये गये नाना प्रकारके सिंहासनोंपर उन्हींकी ओर मुँह करके विनीतभावसे बैठे थे॥

स लब्धमानैर्विनयान्वितैर्नृपैः
पुरालयैर्जानपदैश्च मानवैः।
उपोपविष्टैर्नृपतिर्वृतो बभौ
सहस्रचक्षुर्भगवानिवामरैः॥ ५१॥

---

* केकयनरेशके साथ भरत-शत्रुघ्न भी आ जाते। इन सबके तथा राजा जनकके रहनेसे श्रीरामका राज्याभिषेक सम्पन्न हो जाता और वे वनमें नहीं जाने पाते—इसी डरसे देवताओंने राजा दशरथको इन सबको नहीं बुलानेकी बुद्धि दे दी।

राजासे सम्मानित होकर विनीतभावसे उन्हींके आस-पास बैठे हुए सामन्त नरेशों तथा नगर और जनपदके निवासी मनुष्योंसे घिरे हुए महाराज दशरथ उस समय देवताओंके बीचमें विराजमान सहस्रनेत्रधारी भगवान् इन्द्रके समान शोभा पा रहे थे ॥ ५१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पहला सर्ग पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयः सर्गः

राजा दशरथद्वारा श्रीरामके राज्याभिषेकका प्रस्ताव तथा सभासदोंद्वारा श्रीरामके गुणोंका वर्णन करते हुए उक्त प्रस्तावका सहर्ष युक्तियुक्त समर्थन

ततः परिषदं सर्वामामन्त्र्य वसुधाधिपः ।
हितमुद्धर्षणं चैवमुवाच प्रथितं वचः ॥ १ ॥
दुन्दुभिस्वरकल्पेन गम्भीरेणानुनादिना ।
स्वरेण महता राजा जीमूत इव नादयन् ॥ २ ॥

उस समय राजसभामें बैठे हुए सबलोगोंको सम्बोधित करके महाराज दशरथने मेघके समान शब्द करते हुए दुन्दुभिकी ध्वनिके सदृश अत्यन्त गम्भीर एवं गूँजते हुए उच्च स्वरसे सबके आनन्दको बढ़ानेवाली यह हितकारक बात कही ॥ १-२ ॥

राजलक्षणयुक्तेन कान्तेनानुपमेन च ।
उवाच रसयुक्तेन स्वरेण नृपतिर्नृपान् ॥ ३ ॥

राजा दशरथका स्वर राजोचित स्निग्धता और गम्भीरता आदि गुणोंसे युक्त था, अत्यन्त कमनीय और अनुपम था। वे उस अद्भुत रसमय स्वरसे समस्त नरेशोंको सम्बोधित करके बोले— ॥ ३ ॥

विदितं भवतामेतद् यथा मे राज्यमुत्तमम् ।
पूर्वकैर्मम राजेन्द्रैः सुतवत् परिपालितम् ॥ ४ ॥

'सज्जनो ! आपलोगोंको यह तो विदित ही है कि मेरे पूर्वज राजाधिराजोंने इस श्रेष्ठ राज्यका (यहाँकी प्रजाका) किस प्रकार पुत्रकी भाँति पालन किया था ॥ ४ ॥

सोऽहमिक्ष्वाकुभिः सर्वैर्नरेन्द्रैः प्रतिपालितम् ।
श्रेयसा योक्तुमिच्छामि सुखार्हमखिलं जगत् ॥ ५ ॥

'समस्त इक्ष्वाकुवंशी नरेशोंने जिसका प्रतिपालन किया है, उस सुख भोगनेके योग्य सम्पूर्ण जगत्‌को अब मैं भी कल्याणका भागी बनाना चाहता हूँ ॥ ५ ॥

मयाप्याचरितं पूर्वैः पन्थानमनुगच्छता ।
प्रजा नित्यमनिद्रेण यथाशक्त्यभिरक्षिताः ॥ ६ ॥

'मेरे पूर्वज जिस मार्गपर चलते आये हैं, उसीका अनुसरण करते हुए मैंने भी सदा जागरूक रहकर समस्त प्रजाजनोंकी यथाशक्ति रक्षा की है ॥ ६ ॥

इदं शरीरं कृत्स्नस्य लोकस्य चरता हितम् ।
पाण्डुरस्यातपत्रस्य च्छायायां जरितं मया ॥ ७ ॥

'समस्त संसारका हित-साधन करते हुए मैंने इस शरीरको श्वेत राजछत्रकी छायामें बूढ़ा किया है ॥ ७ ॥

प्राप्य वर्षसहस्राणि बहून्यायूंषि जीवतः ।
जीर्णस्यास्य शरीरस्य विश्रान्तिमभिरोचये ॥ ८ ॥

'अनेक सहस्र (साठ हजार) वर्षोंकी आयु पाकर जीवित रहते हुए अपने इस जराजीर्ण शरीरको अब मैं विश्राम देना चाहता हूँ ॥ ८ ॥

राजप्रभावजुष्टां च दुर्वहामजितेन्द्रियैः ।
परिश्रान्तोऽस्मि लोकस्य गुर्वीं धर्मधुरं वहन् ॥ ९ ॥

'जगत्‌के धर्मपूर्वक संरक्षणका भारी भार राजाओंके शौर्य आदि प्रभावोंसे ही उठाना सम्भव है। अजितेन्द्रिय पुरुषोंके लिये इस बोझको ढोना अत्यन्त कठिन है। मैं दीर्घकालसे इस भारी भारको वहन करते-करते थक गया हूँ ॥ ९ ॥

सोऽहं विश्राममिच्छामि पुत्रं कृत्वा प्रजाहिते ।
संनिकृष्टानिमान् सर्वाननुमान्य द्विजर्षभान् ॥ १० ॥

'इसलिये यहाँ पास बैठे हुए इन सम्पूर्ण श्रेष्ठ द्विजोंकी अनुमति लेकर प्रजाजनोंके हितके कार्यमें अपने पुत्र श्रीरामको नियुक्त करके अब मैं राजकार्यसे विश्राम लेना चाहता हूँ ॥ १० ॥

अनुजातो हि मां सर्वैर्गुणैः श्रेष्ठो ममात्मजः ।
पुरन्दरसमो वीर्ये रामः परपुरंजयः ॥ ११ ॥

'मेरे पुत्र श्रीराम मेरी अपेक्षा सभी गुणोंमें श्रेष्ठ हैं। शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेवाले श्रीरामचन्द्र बल-पराक्रममें देवराज इन्द्रके समान हैं ॥ ११ ॥

तं चन्द्रमिव पुष्येण युक्तं धर्मभृतां वरम् ।
यौवराज्ये नियोक्तास्मि प्रातः पुरुषपुङ्गवम् ॥ १२ ॥

'पुष्य-नक्षत्रसे युक्त चन्द्रमाकी भाँति समस्त कार्योंके साधनमें कुशल तथा धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ उन पुरुषशिरोमणि श्रीरामचन्द्रको मैं कल प्रातःकाल पुष्य नक्षत्रमें युवराजके पदपर नियुक्त करूँगा ॥ १२ ॥

अनुरूपः स वो नाथो लक्ष्मीवाँल्लक्ष्मणाग्रजः ।
त्रैलोक्यमपि नाथेन येन स्यान्नाथवत्तरम् ॥ १३ ॥

'लक्ष्मणके बड़े भाई श्रीमान् राम आपलोगोंके लिये योग्य स्वामी सिद्ध होंगे; उनके-जैसे स्वामीसे सम्पूर्ण त्रिलोकी भी परम सनाथ हो सकती है ॥ १३ ॥

अनेन श्रेयसा सद्यः संयोक्ष्येऽहमिमां महीम् ।
गतक्लेशो भविष्यामि सुते तस्मिन् निवेश्य वै ॥ १४ ॥

'ये श्रीराम कल्याणस्वरूप हैं; इनका शीघ्र ही अभिषेक करके मैं इस भूमण्डलको तत्काल कल्याणका भागी बनाऊँगा। अपने पुत्र श्रीरामपर राज्यका भार रखकर मैं सर्वथा क्लेशरहित—निश्चिन्त हो जाऊँगा॥ १४॥

यदिदं मेऽनुरूपार्थं मया साधु सुमन्त्रितम्।
भवन्तो मेऽनुमन्यन्तां कथं वा करवाण्यहम्॥ १५॥

'यदि मेरा यह प्रस्ताव आपलोगोंको अनुकूल जान पड़े और यदि मैंने यह अच्छी बात सोची हो तो आपलोग इसके लिये मुझे सहर्ष अनुमति दें अथवा यह बतावें कि मैं किस प्रकारसे कार्य करूँ॥ १५॥

यद्यप्येषा मम प्रीतिर्हितमन्यद् विचिन्त्यताम्।
अन्या मध्यस्थचिन्ता तु विमर्दाभ्यधिकोदया॥ १६॥

'यद्यपि यह श्रीरामके राज्याभिषेकका विचार मेरे लिये अधिक प्रसन्नताका विषय है तथापि यदि इसके अतिरिक्त भी कोई सबके लिये हितकर बात हो तो आपलोग उसे सोचें; क्योंकि मध्यस्थ पुरुषोंका विचार एकपक्षीय पुरुषकी अपेक्षा विलक्षण होता है, कारण कि वह पूर्वपक्ष और अपरपक्षको लक्ष्य करके किया गया होनेके कारण अधिक अभ्युदय करनेवाला होता है'॥ १६॥

इति ब्रुवन्तं मुदिताः प्रत्यनन्दन् नृपा नृपम्।
वृष्टिमन्तं महामेघं नर्दन्त इव बर्हिणः॥ १७॥

राजा दशरथ जब ऐसी बात कह रहे थे, उस समय वहाँ उपस्थित नरेशोंने अत्यन्त प्रसन्न होकर उन महाराजका उसी प्रकार अभिनन्दन किया, जैसे मोर मधुर केकारव फैलाते हुए वर्षा करनेवाले महामेघका अभिनन्दन करते हैं॥ १७॥

स्निग्धोऽनुनादः संजज्ञे ततो हर्षसमीरितः।
जनौघोद्घुष्टसंनादो मेदिनीं कम्पयन्निव॥ १८॥

तत्पश्चात् समस्त जनसमुदायकी स्नेहमयी हर्षध्वनि सुनायी पड़ी। वह इतनी प्रबल थी कि समस्त पृथ्वीको कँपाती हुई-सी जान पड़ी॥ १८॥

तस्य धर्मार्थविदुषो भावमाज्ञाय सर्वशः।
ब्राह्मणा बलमुख्याश्च पौरजानपदैः सह॥ १९॥
समेत्य ते मन्त्रयितुं समतागतबुद्धयः।
ऊचुश्च मनसा ज्ञात्वा वृद्धं दशरथं नृपम्॥ २०॥

धर्म और अर्थके ज्ञाता महाराज दशरथके अभिप्रायको पूर्णरूपसे जानकर सम्पूर्ण ब्राह्मण और सेनापति नगर और जनपदके प्रधान-प्रधान व्यक्तियोंके साथ मिलकर परस्पर सलाह करनेके लिये बैठे और मनसे सब कुछ समझकर जब वे एक निश्चयपर पहुँच गये, तब बूढ़े राजा दशरथसे इस प्रकार बोले—॥ १९-२०॥

अनेकवर्षसाहस्रो वृद्धस्त्वमसि पार्थिव।
स रामं युवराजानमभिषिञ्चस्व पार्थिवम्॥ २१॥

'पृथ्वीनाथ! आपकी अवस्था कई हजार वर्षोंकी हो गयी। आप बूढ़े हो गये। अतः पृथ्वीके पालनमें समर्थ अपने पुत्र श्रीरामका अवश्य ही युवराजके पदपर अभिषेक कीजिये॥ २१॥

इच्छामो हि महाबाहुं रघुवीरं महाबलम्।
गजेन महता यान्तं रामं छत्रावृताननम्॥ २२॥

'रघुकुलके वीर महाबलवान् महाबाहु श्रीराम महान् गजराजपर बैठकर यात्रा करते हों और उनके ऊपर श्वेत छत्र तना हुआ हो—इस रूपमें हम उनकी झाँकी करना चाहते हैं'॥ २२॥

इति तद्वचनं श्रुत्वा राजा तेषां मनःप्रियम्।
अजानन्निव जिज्ञासुरिदं वचनमब्रवीत्॥ २३॥

उनकी यह बात राजा दशरथके मनको प्रिय लगनेवाली थी; इसे सुनकर राजा दशरथ अनजान-से बनकर उन सबके मनोभावको जाननेकी इच्छासे इस प्रकार बोले—॥ २३॥

श्रुत्वैतद् वचनं यन्मे राघवं पतिमिच्छथ।
राजानः संशयोऽयं मे तदिदं ब्रूत तत्त्वतः॥ २४॥

'राजागण! मेरी यह बात सुनकर जो आपलोगोंने श्रीरामको राजा बनानेकी इच्छा प्रकट की है, इसमें मुझे यह संशय हो रहा है जिसे आपके समक्ष उपस्थित करता हूँ। आप इसे सुनकर इसका यथार्थ उत्तर दें॥ २४॥

कथं नु मयि धर्मेण पृथिवीमनुशासति।
भवन्तो द्रष्टुमिच्छन्ति युवराजं महाबलम्॥ २५॥

'मैं धर्मपूर्वक इस पृथ्वीका निरन्तर पालन कर रहा हूँ फिर मेरे रहते हुए आपलोग महाबली श्रीरामको युवराजके रूपमें क्यों देखना चाहते हैं?'॥ २५॥

ते तमूचुर्महात्मानः पौरजानपदैः सह।
बहवो नृप कल्याणगुणाः सन्ति सुतस्य ते॥ २६॥

यह सुनकर वे महात्मा नरेश नगर और जनपदके लोगोंके साथ राजा दशरथसे इस प्रकार बोले—'महाराज! आपके पुत्र श्रीराममें बहुत-से कल्याणकारी सद्गुण हैं॥ २६॥

गुणान् गुणवतो देव देवकल्पस्य धीमतः।
प्रियानानन्दनान् कृत्स्नान् प्रवक्ष्यामोऽद्य ताञ्शृणु॥ २७॥

'देव! देवताओंके तुल्य बुद्धिमान् और गुणवान् श्रीरामचन्द्रजीके सारे गुण सबको प्रिय लगनेवाले और आनन्ददायक हैं, हम इस समय उनका यत्किंचित् वर्णन कर रहे हैं, आप उन्हें सुनिये॥ २७॥

दिव्यैर्गुणैः शक्रसमो रामः सत्यपराक्रमः।
इक्ष्वाकुभ्योऽपि सर्वेभ्यो ह्यतिरिक्तो विशाम्पते॥ २८॥

'प्रजानाथ! सत्यपराक्रमी श्रीराम देवराज इन्द्रके समान दिव्य गुणोंसे सम्पन्न हैं। इक्ष्वाकुकुलमें भी ये सबसे श्रेष्ठ हैं॥ २८॥

रामः सत्पुरुषो लोके सत्यः सत्यपरायणः।
साक्षाद् रामाद् विनिर्वृत्तो धर्मश्चापि श्रिया सह॥ २९॥

'श्रीराम संसारमें सत्यवादी, सत्यपरायण और सत्पुरुष हैं। साक्षात् श्रीरामने ही अर्थके साथ धर्मको भी प्रतिष्ठित किया है॥ २९॥

प्रजासुखत्वे चन्द्रस्य वसुधायाः क्षमागुणैः।
बुद्ध्या बृहस्पतेस्तुल्यो वीर्ये साक्षाच्छचीपतेः॥ ३०॥

'वे प्रजाको सुख देनेमें चन्द्रमाकी और क्षमारूपी गुणमें पृथ्वीकी समानता करते हैं। बुद्धिमें बृहस्पति और बल-पराक्रममें साक्षात् शचीपति इन्द्रके समान हैं॥ ३०॥

धर्मज्ञः सत्यसंधश्च शीलवाननसूयकः।
क्षान्तः सान्त्वयिता श्लक्ष्णः कृतज्ञो विजितेन्द्रियः॥
मृदुश्च स्थिरचित्तश्च सदा भव्योऽनसूयकः।
प्रियवादी च भूतानां सत्यवादी च राघवः॥ ३२॥

'श्रीराम धर्मज्ञ, सत्यप्रतिज्ञ, शीलवान्, अदोषदर्शी, शान्त, दीन-दुःखियोंको सान्त्वना प्रदान करनेवाले, मृदुभाषी, कृतज्ञ, जितेन्द्रिय, कोमल स्वभाववाले, स्थिरबुद्धि, सदा कल्याणकारी, असूयारहित, समस्त प्राणियोंके प्रति प्रिय वचन बोलनेवाले और सत्यवादी हैं॥ ३१-३२॥

बहुश्रुतानां वृद्धानां ब्राह्मणानामुपासिता।
तेनास्येहातुला कीर्तिर्यशस्तेजश्च वर्धते॥ ३३॥

'वे बहुश्रुत विद्वानों, बड़े-बूढ़ों तथा ब्राह्मणोंके उपासक हैं—सदा ही उनका संग किया करते हैं, इसलिये इस जगत्‌में श्रीरामकी अनुपम कीर्ति, यश और तेजका विस्तार हो रहा है॥

देवासुरमनुष्याणां सर्वास्त्रेषु विशारदः।
सम्यग् विद्याव्रतस्नातो यथावत् साङ्गवेदवित्॥ ३४॥

'देवता, असुर और मनुष्योंके सम्पूर्ण अस्त्रोंका उन्हें विशेषरूपसे ज्ञान है। वे साङ्ग वेदके यथार्थ विद्वान् और सम्पूर्ण विद्याओंमें भलीभाँति निष्णात हैं॥ ३४॥

गान्धर्वे च भुवि श्रेष्ठो बभूव भरताग्रजः।
कल्याणाभिजनः साधुरदीनात्मा महामतिः॥ ३५॥

'भरतके बड़े भाई श्रीराम गान्धर्ववेद (संगीतशास्त्र)में भी इस भूतलपर सबसे श्रेष्ठ हैं। कल्याणकी तो वे जन्मभूमि हैं। उनका स्वभाव साधु पुरुषोंके समान है, हृदय उदार और बुद्धि विशाल है॥ ३५॥

द्विजैरभिविनीतश्च श्रेष्ठैर्धर्मार्थनैपुणैः।
यदा व्रजति संग्रामं ग्रामार्थे नगरस्य वा॥ ३६॥
गत्वा सौमित्रिसहितो नाविजित्य निवर्तते।

'धर्म और अर्थके प्रतिपादनमें कुशल श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने उन्हें उत्तम शिक्षा दी है। वे ग्राम अथवा नगरकी रक्षाके लिये लक्ष्मणके साथ जब संग्रामभूमिमें जाते हैं, उस समय वहाँ जाकर विजय प्राप्त किये बिना पीछे नहीं लौटते॥ ३६½॥

संग्रामात् पुनरागत्य कुञ्जरेण रथेन वा॥ ३७॥
पौरान् स्वजनवन्नित्यं कुशलं परिपृच्छति।
पुत्रेष्वग्निषु दारेषु प्रेष्यशिष्यगणेषु च॥ ३८॥

'संग्रामभूमिसे हाथी अथवा रथके द्वारा पुनः अयोध्या लौटनेपर वे पुरवासियोंसे स्वजनोंकी भाँति प्रतिदिन उनके पुत्रों, अग्निहोत्रकी अग्नियों, स्त्रियों, सेवकों और शिष्योंका कुशल-समाचार पूछते रहते हैं॥ ३७-३८॥

निखिलेनानुपूर्व्या च पिता पुत्रानिवौरसान्।
शुश्रूषन्ते च वः शिष्याः कच्चिद् वर्मसु दंशिताः॥ ३९॥
इति वः पुरुषव्याघ्रः सदा रामोऽभिभाषते।

'जैसे पिता अपने औरस पुत्रोंका कुशल-मङ्गल पूछता है, उसी प्रकार वे समस्त पुरवासियोंसे क्रमशः उनका सारा समाचार पूछा करते हैं। पुरुषसिंह श्रीराम ब्राह्मणोंसे सदा पूछते रहते हैं कि 'आपके शिष्य आपलोगोंकी सेवा करते हैं न?' क्षत्रियोंसे यह जिज्ञासा करते हैं कि 'आपके सेवक कवच आदिसे सुसज्जित हो आपकी सेवामें तत्पर रहते हैं न?'॥ ३९½॥

व्यसनेषु मनुष्याणां भृशं भवति दुःखितः॥ ४०॥
उत्सवेषु च सर्वेषु पितेव परितुष्यति।

'नगरके मनुष्योंपर संकट आनेपर वे बहुत दुःखी हो जाते हैं और उन सबके घरोंमें सब प्रकारके उत्सव होनेपर उन्हें पिताकी भाँति प्रसन्नता होती है॥ ४०½॥

सत्यवादी महेष्वासो वृद्धसेवी जितेन्द्रियः॥ ४१॥
स्मितपूर्वाभिभाषी च धर्मं सर्वात्मनाश्रितः।
सम्यग्योक्ता श्रेयसां च न विगृह्यकथारुचिः॥ ४२॥

'वे सत्यवादी, महान् धनुर्धर, वृद्ध पुरुषोंके सेवक और जितेन्द्रिय हैं। श्रीराम पहले मुसकराकर वार्तालाप आरम्भ करते हैं। उन्होंने सम्पूर्ण हृदयसे धर्मका आश्रय ले रखा है। वे कल्याणका सम्यक् आयोजन करनेवाले हैं, निन्दनीय बातोंकी चर्चामें उनकी कभी रुचि नहीं होती है॥ ४१-४२॥

उत्तरोत्तरयुक्तौ च वक्ता वाचस्पतिर्यथा।
सुभ्रूरायतताम्राक्षः साक्षाद् विष्णुरिव स्वयम्॥ ४३॥

'उत्तरोत्तर उत्तम युक्ति देते हुए वार्तालाप करनेमें वे साक्षात् बृहस्पतिके समान हैं। उनकी भौंहें सुन्दर हैं, आँखें विशाल और कुछ लालिमा लिये हुए हैं। वे साक्षात् विष्णुकी भाँति शोभा पाते हैं॥ ४३॥

रामो लोकाभिरामोऽयं शौर्यवीर्यपराक्रमैः।
प्रजापालनसंयुक्तो न रागोपहतेन्द्रियः॥ ४४॥

'सम्पूर्ण लोकोंको आनन्दित करनेवाले ये श्रीराम शूरता, वीरता और पराक्रम आदिके द्वारा सदा प्रजाका पालन करनेमें लगे रहते हैं। उनकी इन्द्रियाँ राग आदि दोषोंसे दूषित नहीं होती हैं॥ ४४॥

शक्तस्त्रैलोक्यमप्येष भोक्तुं किं नु महीमिमाम्।
नास्य क्रोधः प्रसादश्च निरर्थोऽस्ति कदाचन॥ ४५॥

'इस पृथ्वीकी तो बात ही क्या है, वे सम्पूर्ण त्रिलोकीकी भी रक्षा कर सकते हैं। उनका क्रोध और प्रसाद कभी

व्यर्थ नहीं होता है ॥ ४५ ॥

हन्त्येष नियमाद् वध्यानवध्येषु न कुप्यति ।
युनक्त्यर्थैः प्रहृष्टश्च तमसौ यत्र तुष्यति ॥ ४६ ॥

'जो शास्त्रके अनुसार प्राणदण्ड पानेके अधिकारी हैं, उनका ये नियमपूर्वक वध कर डालते हैं तथा जो शास्त्र-दृष्टिसे अवध्य हैं, उनपर ये कदापि कुपित नहीं होते हैं। जिसपर ये संतुष्ट होते हैं, उसे हर्षमें भरकर धनसे परिपूर्ण कर देते हैं ॥ ४६ ॥

दान्तैः सर्वप्रजाकान्तैः प्रीतिसंजननैर्नृणाम् ।
गुणैर्विरोचते रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः ॥ ४७ ॥

'समस्त प्रजाओंके लिये कमनीय तथा मनुष्योंका आनन्द बढ़ानेवाले मन और इन्द्रियोंके संयम आदि सद्गुणोंद्वारा श्रीराम वैसे ही शोभा पाते हैं, जैसे तेजस्वी सूर्य अपनी किरणोंसे सुशोभित होते हैं ॥ ४७ ॥

तमेवंगुणसम्पन्नं रामं सत्यपराक्रमम् ।
लोकपालोपमं नाथमकामयत मेदिनी ॥ ४८ ॥

'ऐसे सर्वगुणसम्पन्न, लोकपालोंके समान प्रभावशाली एवं सत्यपराक्रमी श्रीरामको इस पृथ्वीकी जनता अपना स्वामी बनाना चाहती है ॥ ४८ ॥

वत्सः श्रेयसि जातस्ते दिष्ट्यासौ तव राघवः ।
दिष्ट्या पुत्रगुणैर्युक्तो मारीच इव कश्यपः ॥ ४९ ॥

'हमारे सौभाग्यसे आपके वे पुत्र श्रीरघुनाथजी प्रजाका कल्याण करनेमें समर्थ हो गये हैं तथा आपके सौभाग्यसे वे मरीचिनन्दन कश्यपकी भाँति पुत्रोचित गुणोंसे सम्पन्न हैं ॥

बलमारोग्यमायुश्च रामस्य विदितात्मनः ।
देवासुरमनुष्येषु सगन्धर्वोरगेषु च ॥ ५० ॥
आशंसते जनः सर्वो राष्ट्रे पुरवरे तथा ।
आभ्यन्तरश्च बाह्यश्च पौरजानपदो जनः ॥ ५१ ॥

'देवताओं, असुरों, मनुष्यों, गन्धर्वों और नागोंमेंसे प्रत्येक वर्गके लोग तथा इस राज्य और राजधानीमें भी बाहर-भीतर आने-जानेवाले नगर और जनपदके सभी लोग सुविख्यात शीलस्वभाववाले श्रीरामचन्द्रजीके लिये सदा ही बल, आरोग्य और आयुकी शुभ कामना करते हैं ॥ ५०-५१ ॥

स्त्रियो वृद्धास्तरुण्यश्च सायं प्रातः समाहिताः ।
सर्वा देवान्नमस्यन्ति रामस्यार्थे मनस्विनः ॥
तेषां तद् याचितं देव त्वत्प्रसादात्समृद्ध्यताम् ॥ ५२ ॥

'इस नगरकी बूढ़ी और युवती—सब तरहकी स्त्रियाँ सबेरे और सायंकालमें एकाग्रचित्त होकर परम उदार श्रीरामचन्द्रजीके युवराज होनेके लिये देवताओंसे नमस्कारपूर्वक प्रार्थना किया करती हैं। देव ! उनकी वह प्रार्थना आपके कृपा-प्रसादसे अब पूर्ण होनी चाहिये ॥ ५२ ॥

राममिन्दीवरश्यामं सर्वशत्रुनिबर्हणम् ।
पश्यामो यौवराज्यस्थं तव राजोत्तमात्मजम् ॥ ५३ ॥

'नृपश्रेष्ठ ! जो नीलकमलके समान श्यामकान्तिसे सुशोभित तथा समस्त शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ हैं, आपके उन ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामको हम युवराज-पदपर विराजमान देखना चाहते हैं ॥ ५३ ॥

तं देवदेवोपममात्मजं ते
सर्वस्य लोकस्य हिते निविष्टम् ।
हिताय नः क्षिप्रमुदारजुष्टं
मुदाभिषेक्तुं वरद त्वमर्हसि ॥ ५४ ॥

'अतः वरदायक महाराज ! आप देवाधिदेव श्रीविष्णुके समान पराक्रमी, सम्पूर्ण लोकोंके हितमें संलग्न रहनेवाले और महापुरुषोंद्वारा सेवित अपने पुत्र श्रीरामचन्द्रजीका जितना शीघ्र हो सके प्रसन्नतापूर्वक राज्याभिषेक कीजिये, इसीमें हमलोगोंका हित है' ॥ ५४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें दूसरा सर्ग पूरा हुआ ॥ २ ॥

★

तृतीयः सर्गः

राजा दशरथका वसिष्ठ और वामदेवजीको श्रीरामके राज्याभिषेककी तैयारी करनेके लिये कहना और उनका सेवकोंको तदनुरूप आदेश देना; राजाकी आज्ञासे सुमन्त्रका श्रीरामको राजसभामें बुला लाना और राजाका अपने पुत्र श्रीरामको हितकर राजनीतिकी बातें बताना

तेषामञ्जलिपद्मानि प्रगृहीतानि सर्वशः ।
प्रतिगृह्याब्रवीद् राजा तेभ्यः प्रियहितं वचः ॥ १ ॥

सभासदोंने कमलपुष्पकी-सी आकृतिवाली अपनी अञ्जलियोंको सिरसे लगाकर सब प्रकारसे महाराजके प्रस्तावका समर्थन किया; उनकी वह पद्माञ्जलि स्वीकार करके राजा दशरथ उन सबसे प्रिय और हितकारी वचन बोले— ॥ १ ॥

अहोऽस्मि परमप्रीतः प्रभावश्चातुलो मम ।
यन्मे ज्येष्ठं प्रियं पुत्रं यौवराज्यस्थमिच्छथ ॥ २ ॥

'अहो ! आपलोग जो मेरे परमप्रिय ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामको युवराजके पदपर प्रतिष्ठित देखना चाहते हैं इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है तथा मेरा प्रभाव अनुपम हो गया है' ॥ २ ॥

इति प्रत्यर्चितान् राजा ब्राह्मणानिदमब्रवीत्।
वसिष्ठं वामदेवं च तेषामेवोपशृण्वताम्॥ ३॥

इस प्रकारकी बातोंसे पुरवासी तथा अन्यान्य सभासदोंका सत्कार करके राजाने उनके सुनते हुए ही वामदेव और वसिष्ठ आदि ब्राह्मणोंसे इस प्रकार कहा—॥ ३॥

चैत्रः श्रीमानयं मासः पुण्यः पुष्पितकाननः।
यौवराज्याय रामस्य सर्वमेवोपकल्प्यताम्॥ ४॥

'यह चैत्रमास बड़ा सुन्दर और पवित्र है, इसमें सारे वन-उपवन खिल उठे हैं; अतः इस समय श्रीरामका युवराजपदपर अभिषेक करनेके लिये आपलोग सब सामग्री एकत्र कराइये'॥ ४॥

राज्ञस्तूपरते वाक्ये जनघोषो महानभूत्।
शनैस्तस्मिन् प्रशान्ते च जनघोषे जनाधिपः॥ ५॥
वसिष्ठं मुनिशार्दूलं राजा वचनमब्रवीत्।

राजाकी यह बात समाप्त होनेपर सब लोग हर्षके कारण महान् कोलाहल करने लगे। धीरे-धीरे उस जनरवके शान्त होनेपर प्रजापालक नरेश दशरथने मुनिप्रवर वसिष्ठसे यह बात कही—॥ ५½॥

अभिषेकाय रामस्य यत् कर्म सपरिच्छदम्॥ ६॥
तदद्य भगवन् सर्वमाज्ञापयितुमर्हसि।

'भगवन्! श्रीरामके अभिषेकके लिये जो कर्म आवश्यक हो, उसे साङ्गोपाङ्ग बताइये और आज ही उस सबकी तैयारी करनेके लिये सेवकोंको आज्ञा दीजिये'॥

तच्छ्रुत्वा भूमिपालस्य वसिष्ठो मुनिसत्तमः॥ ७॥
आदिदेशाग्रतो राज्ञः स्थितान् युक्तान् कृताञ्जलीन्।

महाराजका यह वचन सुनकर मुनिवर वसिष्ठने राजाके सामने ही हाथ जोड़कर खड़े हुए आज्ञापालनके लिये तैयार रहनेवाले सेवकोंसे कहा—॥ ७½॥

सुवर्णादीनि रत्नानि बलीन् सर्वौषधीरपि॥ ८॥
शुक्लमाल्यानि लाजांश्च पृथक् च मधुसर्पिषी।
अहतानि च वासांसि रथं सर्वायुधान्यपि॥ ९॥
चतुरङ्गबलं चैव गजं च शुभलक्षणम्।
चामरव्यजने चोभे ध्वजं छत्रं च पाण्डुरम्॥ १०॥
शतं च शातकुम्भानां कुम्भानामग्निवर्चसाम्।
हिरण्यशृङ्गमृषभं समग्रं व्याघ्रचर्म च॥ ११॥
यच्चान्यत् किंचिदेष्टव्यं तत् सर्वमुपकल्प्यताम्।
उपस्थापयत प्रातरग्न्यगारे महीपतेः॥ १२॥

'तुमलोग सुवर्ण आदि रत्न, देवपूजनकी सामग्री, सब प्रकारकी ओषधियाँ, श्वेत पुष्पोंकी मालाएँ, खील, अलग-अलग पात्रोंमें शहद और घी, नये वस्त्र, रथ, सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्र, चतुरङ्गिणी सेना, उत्तम लक्षणोंसे युक्त हाथी, चमरी गायकी पूँछके बालोंसे बने हुए दो व्यजन, ध्वज, श्वेत छत्र, अग्निके समान देदीप्यमान सोनेके सौ कलश, सुवर्णसे मढ़े हुए सींगोंवाला एक साँड, समूचा व्याघ्रचर्म तथा और जो कुछ भी वाञ्छनीय वस्तुएँ हैं, उन सबको एकत्र करो और प्रातःकाल महाराजकी अग्निशालामें पहुँचा दो॥ ८—१२॥

अन्तःपुरस्य द्वाराणि सर्वस्य नगरस्य च।
चन्दनस्रग्भिरर्च्यन्तां धूपैश्च घ्राणहारिभिः॥ १३॥

'अन्तःपुर तथा समस्त नगरके सभी दरवाजोंको चन्दन और मालाओंसे सजा दो तथा वहाँ ऐसे धूप सुलगा दो जो अपनी सुगन्धसे लोगोंको आकर्षित कर लें॥ १३॥

प्रशस्तमन्नं गुणवद् दधिक्षीरोपसेचनम्।
द्विजानां शतसाहस्रं यत्प्रकाममलं भवेत्॥ १४॥

'दही, दूध और घी आदिसे संयुक्त अत्यन्त उत्तम एवं गुणकारी अन्न तैयार कराओ, जो एक लाख ब्राह्मणोंके भोजनके लिये पर्याप्त हो॥ १४॥

सत्कृत्य द्विजमुख्यानां श्वः प्रभाते प्रदीयताम्।
घृतं दधि च लाजाश्च दक्षिणाश्चापि पुष्कलाः॥ १५॥

'कल प्रातःकाल श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका सत्कार करके उन्हें वह अन्न प्रदान करो; साथ ही घी, दही, खील और पर्याप्त दक्षिणाएँ भी दो॥ १५॥

सूर्येऽभ्युदितमात्रे श्वो भविता स्वस्तिवाचनम्।
ब्राह्मणाश्च निमन्त्र्यन्तां कल्प्यन्तामासनानि च॥ १६॥

'कल सूर्योदय होते ही स्वस्तिवाचन होगा, इसके लिये ब्राह्मणोंको निमन्त्रित करो और उनके लिये आसनोंका प्रबन्ध कर लो॥ १६॥

आबध्यन्तां पताकाश्च राजमार्गश्च सिच्यताम्।
सर्वे च तालापचरा गणिकाश्च स्वलंकृताः॥ १७॥
कक्ष्यां द्वितीयामासाद्य तिष्ठन्तु नृपवेश्मनः।

'नगरमें सब ओर पताकाएँ फहरायी जायँ तथा राजमार्गोंपर छिड़काव कराया जाय। समस्त तालजीवी (संगीतनिपुण) पुरुष और सुन्दर वेष-भूषासे विभूषित वाराङ्गनाएँ (नर्तकियाँ) राजमहलकी दूसरी कक्षा (ड्योढ़ी) में पहुँचकर खड़ी रहें॥ १७½॥

देवायतनचैत्येषु सान्नभक्ष्याः सदक्षिणाः॥ १८॥
उपस्थापयितव्याः स्युर्माल्ययोग्याः पृथक्पृथक्।

'देव-मन्दिरोंमें तथा चैत्यवृक्षोंके नीचे या चौराहोंपर जो पूजनीय देवता हैं, उन्हें पृथक्-पृथक् भक्ष्य-भोज्य पदार्थ एवं दक्षिणा प्रस्तुत करनी चाहिये॥ १८½॥

दीर्घासिबद्धगोधाश्च संनद्धा मृष्टवाससः॥ १९॥
महाराजाङ्गनं शूराः प्रविशन्तु महोदयम्।

'लंबी तलवार लिये और गोधाचर्मके बने दस्ताने पहने और कमर कसकर तैयार रहनेवाले शूर-वीर योद्धा स्वच्छ वस्त्र धारण किये महाराजके महान् अभ्युदयशाली आँगनमें प्रवेश करें'॥ १९½॥

एवं व्यादिश्य विप्रौ तु क्रियास्तत्र विनिष्ठितौ ॥ २० ॥
चक्रतुश्चैव यच्छेषं पार्थिवाय निवेद्य च।

सेवकोंको इस प्रकार कार्य करनेका आदेश देकर दोनों ब्राह्मण वसिष्ठ और वामदेवने पुरोहितद्वारा सम्पादित होने योग्य क्रियाओंको स्वयं पूर्ण किया। राजाके बताये हुए कार्योंके अतिरिक्त भी जो शेष आवश्यक कर्तव्य था उसे भी उन दोनोंने राजासे पूछकर स्वयं ही सम्पन्न किया ॥ २०½ ॥

कृतमित्येव चाब्रूतामभिगम्य जगत्पतिम् ॥ २१ ॥
यथोक्तवचनं प्रीतौ हर्षयुक्तौ द्विजोत्तमौ।

तदनन्तर महाराजके पास जाकर प्रसन्नता और हर्षसे भरे हुए वे दोनों श्रेष्ठ द्विज बोले—'राजन्! आपने जैसा कहा था, उसके अनुसार सब कार्य सम्पन्न हो गया' ॥ २१½ ॥

ततः सुमन्त्रं द्युतिमान् राजा वचनमब्रवीत् ॥ २२ ॥
रामः कृतात्मा भवता शीघ्रमानीयतामिति।

इसके बाद तेजस्वी राजा दशरथने सुमन्त्रसे कहा—'सखे! पवित्रात्मा श्रीरामको तुम शीघ्र यहाँ बुला लाओ' ॥

स तथेति प्रतिज्ञाय सुमन्त्रो राजशासनात् ॥ २३ ॥
रामं तत्रानयांचक्रे रथेन रथिनां वरम्।

तब 'जो आज्ञा' कहकर सुमन्त्र गये तथा राजाके आदेशानुसार रथियोंमें श्रेष्ठ श्रीरामको रथपर बिठाकर ले आये ॥ २३ ॥

अथ तत्र सहासीनास्तदा दशरथं नृपम् ॥ २४ ॥
प्राच्योदीच्याः प्रतीच्याश्च दाक्षिणात्याश्च भूमिपाः।
म्लेच्छाश्चार्याश्च ये चान्ये वनशैलान्तवासिनः ॥ २५ ॥
उपासांचक्रिरे सर्वे तं देवा वासवं यथा।

उस राजभवनमें साथ बैठे हुए पूर्व, उत्तर, पश्चिम और दक्षिणके भूपाल, म्लेच्छ, आर्य तथा वनों और पर्वतोंमें रहनेवाले अन्यान्य मनुष्य सब-के-सब उस समय राजा दशरथकी उसी प्रकार उपासना कर रहे थे जैसे देवता देवराज इन्द्रकी ॥ २५ ॥

तेषां मध्ये स राजर्षिर्मरुतामिव वासवः ॥ २६ ॥
प्रासादस्थो दशरथो ददर्शायान्तमात्मजम्।
गन्धर्वराजप्रतिमं लोके विख्यातपौरुषम् ॥ २७ ॥

उनके बीच अट्टालिकाके भीतर बैठे हुए राजा दशरथ मरुद्गणोंके मध्य देवराज इन्द्रकी भाँति शोभा पा रहे थे; उन्होंने वहींसे अपने पुत्र श्रीरामको अपने पास आते देखा, जो गन्धर्वराजके समान तेजस्वी थे, उनका पौरुष समस्त संसारमें विख्यात था ॥ २६-२७ ॥

दीर्घबाहुं महासत्त्वं मत्तमातङ्गगामिनम्।
चन्द्रकान्ताननं राममतीव प्रियदर्शनम् ॥ २८ ॥
रूपौदार्यगुणैः पुंसां दृष्टिचित्तापहारिणम्।
घर्माभितप्ताः पर्जन्यं ह्लादयन्तमिव प्रजाः ॥ २९ ॥

उनकी भुजाएँ बड़ी और बल महान् था। वे मतवाले गजराजके समान बड़ी मस्तीके साथ चल रहे थे। उनका मुख चन्द्रमासे भी अधिक कान्तिमान् था। श्रीरामका दर्शन सबको अत्यन्त प्रिय लगता था। वे अपने रूप और उदारता आदि गुणोंसे लोगोंकी दृष्टि और मन आकर्षित कर लेते थे। जैसे धूपमें तपे हुए प्राणियोंको मेघ आनन्द प्रदान करता है, उसी प्रकार वे समस्त प्रजाको परम आह्लाद देते रहते थे ॥

न ततर्प समायान्तं पश्यमानो नराधिपः।
अवतार्य सुमन्त्रस्तु राघवं स्यन्दनोत्तमात् ॥ ३० ॥
पितुः समीपं गच्छन्तं प्राञ्जलिः पृष्ठतोऽन्वगात्।

आते हुए श्रीरामचन्द्रकी ओर एकटक देखते हुए राजा दशरथको तृप्ति नहीं होती थी। सुमन्त्रने उस श्रेष्ठ रथसे श्रीरामचन्द्रजीको उतारा और जब वे पिताके समीप जाने लगे, तब सुमन्त्र भी उनके पीछे-पीछे हाथ जोड़े हुए गये ॥

स तं कैलासशृङ्गाभं प्रासादं रघुनन्दनः ॥ ३१ ॥
आरुरोह नृपं द्रष्टुं सहसा तेन राघवः।

वह राजमहल कैलासशिखरके समान उज्ज्वल और ऊँचा था, रघुकुलको आनन्दित करनेवाले श्रीराम महाराजका दर्शन करनेके लिये सुमन्त्रके साथ सहसा उसपर चढ़ गये ॥

स प्राञ्जलिरभिप्रेत्य प्रणतः पितुरन्तिके ॥ ३२ ॥
नाम स्वं श्रावयन् रामो ववन्दे चरणौ पितुः।

श्रीराम दोनों हाथ जोड़कर विनीतभावसे पिताके पास गये और अपना नाम सुनाते हुए उन्होंने उनके दोनों चरणोंमें प्रणाम किया ॥ ३२½ ॥

तं दृष्ट्वा प्रणतं पार्श्वे कृताञ्जलिपुटं नृपः ॥ ३३ ॥
गृह्याञ्जलौ समाकृष्य सस्वजे प्रियमात्मजम्।

श्रीरामको पास आकर हाथ जोड़ प्रणाम करते देख राजाने उनके दोनों हाथ पकड़ लिये और अपने प्रिय पुत्रको पास खींचकर छातीसे लगा लिया ॥ ३३½ ॥

तस्मै चाभ्युद्यतं सम्यङ्मणिकाञ्चनभूषितम् ॥ ३४ ॥
दिदेश राजा रुचिरं रामाय परमासनम्।

उस समय राजाने उन श्रीरामचन्द्रजीको मणिजटित सुवर्णसे भूषित एक परम सुन्दर सिंहासनपर बैठनेकी आज्ञा दी, जो पहलेसे उन्हींके लिये वहाँ उपस्थित किया गया था ॥ ३४ ॥

तथाऽऽसनवरं प्राप्य व्यदीपयत राघवः ॥ ३५ ॥
स्वयैव प्रभया मेरुमुदये विमलो रविः।

जैसे निर्मल सूर्य उदयकालमें मेरुपर्वतको अपनी किरणोंसे उद्भासित कर देते हैं, उसी प्रकार श्रीरघुनाथजी उस श्रेष्ठ आसनको ग्रहण करके अपनी ही प्रभासे उसे प्रकाशित करने लगे ॥ ३५½ ॥

तेन विभ्राजिता तत्र सा सभापि व्यरोचत ॥ ३६ ॥
विमलग्रहनक्षत्रा शारदी द्यौरिवेन्दुना।

उनसे प्रकाशित हुई वह सभा भी बड़ी शोभा पा रही थी।

ठीक उसी तरह जैसे निर्मल ग्रह और नक्षत्रोंसे भरा हुआ शरत्-कालका आकाश चन्द्रमासे उद्भासित हो उठता है॥

तं पश्यमानो नृपतिस्तुतोष प्रियमात्मजम्॥ ३७॥
अलंकृतमिवात्मानमादर्शतलसंस्थितम्।

जैसे सुन्दर वेश-भूषासे अलंकृत हुए अपने ही प्रतिबिम्बको दर्पणमें देखकर मनुष्यको बड़ा संतोष प्राप्त होता है, उसी प्रकार अपने शोभाशाली प्रिय पुत्र उन श्रीरामको देखकर राजा बड़े प्रसन्न हुए॥ ३७½॥

स तं सुस्थितमाभाष्य पुत्रं पुत्रवतां वरः॥ ३८॥
उवाचेदं वचो राजा देवेन्द्रमिव कश्यपः।

जैसे कश्यप देवराज इन्द्रको पुकारते हैं, उसी प्रकार पुत्रवानोंमें श्रेष्ठ राजा दशरथ सिंहासनपर बैठे हुए अपने पुत्र श्रीरामको सम्बोधित करके उनसे इस प्रकार बोले—॥

ज्येष्ठायामसि मे पत्न्यां सदृश्यां सदृशः सुतः॥ ३९॥
उत्पन्नस्त्वं गुणज्येष्ठो मम रामात्मजः प्रियः।
त्वया यतः प्रजाश्चेमाः स्वगुणैरनुरञ्जिताः॥ ४०॥
तस्मात् त्वं पुष्ययोगेन यौवराज्यमवाप्नुहि।

'बेटा! तुम्हारा जन्म मेरी बड़ी महारानी कौसल्याके गर्भसे हुआ है। तुम अपनी माताके अनुरूप ही उत्पन्न हुए हो। श्रीराम! तुम गुणोंमें मुझसे भी बढ़कर हो, अतः मेरे परम प्रिय पुत्र हो। तुमने अपने गुणोंसे इन समस्त प्रजाओंको प्रसन्न कर लिया है, इसलिये कल पुष्यनक्षत्रके योगमें युवराजका पद ग्रहण करो॥ ३९-४०½॥

कामतस्त्वं प्रकृत्यैव निर्णीतो गुणवानिति॥ ४१॥
गुणवत्यपि तु स्नेहात् पुत्र वक्ष्यामि ते हितम्।
भूयो विनयमास्थाय भव नित्यं जितेन्द्रियः॥ ४२॥

'बेटा! यद्यपि तुम स्वभावसे ही गुणवान् हो और तुम्हारे विषयमें यही सबका निर्णय है तथापि मैं स्नेहवश सद्गुण-सम्पन्न होनेपर भी तुम्हें कुछ हितकी बातें बताता हूँ। तुम और भी अधिक विनयका आश्रय लेकर सदा जितेन्द्रिय बने रहो॥ ४१-४२॥

कामक्रोधसमुत्थानि त्यजस्व व्यसनानि च।
परोक्षया वर्तमानो वृत्त्या प्रत्यक्षया तथा॥ ४३॥

'काम और क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले दुर्व्यसनोंका सर्वथा त्याग कर दो, परोक्षवृत्तिसे (अर्थात् गुप्तचरोंद्वारा यथार्थ बातोंका पता लगाकर) तथा प्रत्यक्षवृत्तिसे (अर्थात् दरबारमें सामने आकर कहनेवाली जनताके मुखसे उसके वृत्तान्तोंको प्रत्यक्ष देख-सुनकर) ठीक-ठीक न्याय-विचारमें तत्पर रहो॥ ४३॥

अमात्यप्रभृतीः सर्वाः प्रजाश्चैवानुरञ्जय।
कोष्ठागारायुधागारैः कृत्वा संनिचयान् बहून्॥ ४४॥
इष्टानुरक्तप्रकृतिर्यः पालयति मेदिनीम्।
तस्य नन्दन्ति मित्राणि लब्ध्वामृतमिवामराः॥ ४५॥

'मन्त्री, सेनापति आदि समस्त अधिकारियों तथा प्रजाजनोंको सदा प्रसन्न रखना। जो राजा कोष्ठागार (भण्डारगृह) तथा शस्त्रागार आदिके द्वारा उपयोगी वस्तुओंका बहुत बड़ा संग्रह करके मन्त्री, सेनापति और प्रजा आदि समस्त प्रकृतियोंको प्रिय मानकर उन्हें अपने प्रति अनुरक्त एवं प्रसन्न रखते हुए पृथ्वीका पालन करता है, उसके मित्र उसी प्रकार आनन्दित होते हैं, जैसे अमृतको पाकर देवता प्रसन्न हुए थे॥ ४४-४५॥

तस्मात् पुत्र त्वमात्मानं नियम्यैवं समाचर।
तच्छ्रुत्वा सुहृदस्तस्य रामस्य प्रियकारिणः॥ ४६॥
त्वरिताः शीघ्रमागत्य कौसल्यायै न्यवेदयन्।

'इसलिये बेटा! तुम अपने चित्तको वशमें रखकर इस प्रकारके उत्तम आचरणोंका पालन करते रहो।' राजाकी ये बातें सुनकर श्रीरामचन्द्रजीका प्रिय करनेवाले सुहृदोंने तुरंत माता कौसल्याके पास जाकर उन्हें यह शुभ समाचार निवेदन किया॥ ४६½॥

सा हिरण्यं च गाश्चैव रत्नानि विविधानि च॥ ४७॥
व्यादिदेश प्रियाख्येभ्यः कौसल्या प्रमदोत्तमा।

नारियोंमें श्रेष्ठ कौसल्याने वह प्रिय संवाद सुनानेवाले उन सुहृदोंको तरह-तरहके रत्न, सुवर्ण और गौएँ पुरस्कार-रूपमें दीं॥ ४७½॥

अथाभिवाद्य राजानं रथमारुह्य राघवः।
ययौ स्वं द्युतिमद् वेश्म जनौघैः प्रतिपूजितः॥ ४८॥

इसके बाद श्रीरामचन्द्रजी राजाको प्रणाम करके रथपर बैठे और प्रजाजनोंसे सम्मानित होते हुए वे अपने शोभाशाली भवनमें चले गये॥ ४८॥

ते चापि पौरा नृपतेर्वचस्त-
च्छ्रुत्वा तदा लाभमिवेष्टमाशु।
नरेन्द्रमामन्त्र्य गृहाणि गत्वा
देवान् समानर्चुरभिप्रहृष्टाः॥ ४९॥

नगरनिवासी मनुष्योंने राजाकी बातें सुनकर मन-ही-मन यह अनुभव किया कि हमें शीघ्र ही अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति होगी, फिर भी महाराजकी आज्ञा लेकर अपने घरोंको गये और अत्यन्त हर्षसे भरकर अभीष्ट-सिद्धिके उपलक्ष्यमें देवताओंकी पूजा करने लगे॥ ४९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे तृतीयः सर्गः॥ ३॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तीसरा सर्ग पूरा हुआ॥ ३॥

—★—

चतुर्थः सर्गः

श्रीरामको राज्य देनेका निश्चय करके राजाका सुमन्त्रद्वारा पुनः श्रीरामको बुलवाकर उन्हें आवश्यक बातें बताना, श्रीरामका कौसल्याके भवनमें जाकर माताको यह समाचार बताना और मातासे आशीर्वाद पाकर लक्ष्मणसे प्रेमपूर्वक वार्तालाप करके अपने महलमें जाना

गतेष्वथ नृपो भूयः पौरेषु सह मन्त्रिभिः।
मन्त्रयित्वा ततश्चक्रे निश्चयज्ञः स निश्चयम्॥ १॥
श्व एव पुष्यो भविता श्वोऽभिषेच्यस्तु मे सुतः।
रामो राजीवपत्राक्षो युवराज इति प्रभुः॥ २॥

राजसभासे पुरवासियोंके चले जानेपर कार्यसिद्धिके योग्य देश कालके नियमको जाननेवाले प्रभावशाली नरेशने पुनः मन्त्रियोंके साथ सलाह करके यह निश्चय किया कि 'कल ही पुष्य नक्षत्र होगा, अतः कल ही मुझे अपने पुत्र कमलनयन श्रीरामका युवराजके पदपर अभिषेक कर देना चाहिये'॥

अथान्तर्गृहमाविश्य राजा दशरथस्तदा।
सूतमामन्त्रयामास रामं पुनरिहानय॥ ३॥

तदनन्तर अन्तःपुरमें जाकर महाराज दशरथने सूतको बुलाया और आज्ञा दी—'जाओ, श्रीरामको एक बार फिर यहाँ बुला लाओ'॥ ३॥

प्रतिगृह्य तु तद्वाक्यं सूतः पुनरुपाययौ।
रामस्य भवनं शीघ्रं राममानयितुं पुनः॥ ४॥

उनकी आज्ञा शिरोधार्य करके सुमन्त्र श्रीरामको शीघ्र बुला लानेके लिये पुनः उनके महलमें गये॥ ४॥

द्वाःस्थैरावेदितं तस्य रामायागमनं पुनः।
श्रुत्वैव चापि रामस्तं प्राप्तं शङ्कान्वितोऽभवत्॥ ५॥

द्वारपालोंने श्रीरामको सुमन्त्रके पुनः आगमनकी सूचना दी। उनका आगमन सुनते ही श्रीरामके मनमें संदेह हो गया॥ ५॥

प्रवेश्य चैनं त्वरितो रामो वचनमब्रवीत्।
यदागमनकृत्यं ते भूयस्तद्ब्रूह्यशेषतः॥ ६॥

उन्हें भीतर बुलाकर श्रीरामने उनसे बड़ी उतावलीके साथ पूछा—'आपको पुनः यहाँ आनेकी क्या आवश्यकता पड़ी ?' यह पूर्णरूपसे बताइये॥ ६॥

तमुवाच ततः सूतो राजा त्वां द्रष्टुमिच्छति।
श्रुत्वा प्रमाणं तत्र त्वं गमनायेतराय वा॥ ७॥

तब सूतने उनसे कहा—'महाराज आपसे मिलना चाहते हैं। मेरी इस बातको सुनकर वहाँ जाने या न जानेका निर्णय आप स्वयं करें'॥ ७॥

इति सूतवचः श्रुत्वा रामोऽपि त्वरयान्वितः।
प्रययौ राजभवनं पुनर्द्रष्टुं नरेश्वरम्॥ ८॥

सूतका यह वचन सुनकर श्रीरामचन्द्रजी महाराज दशरथका पुनः दर्शन करनेके लिये तुरंत उनके महलकी ओर चल दिये॥

तं श्रुत्वा समनुप्राप्तं रामं दशरथो नृपः।
प्रवेशयामास गृहं विवक्षुः प्रियमुत्तमम्॥ ९॥

श्रीरामको आया हुआ सुनकर राजा दशरथने उनसे प्रिय तथा उत्तम बात कहनेके लिये उन्हें महलके भीतर बुला लिया॥ ९॥

प्रविशन्नेव च श्रीमान् राघवो भवनं पितुः।
ददर्श पितरं दूरात् प्रणिपत्य कृताञ्जलिः॥ १०॥

पिताके भवनमें प्रवेश करते ही श्रीमान् रघुनाथजीने उन्हें देखा और दूरसे ही हाथ जोड़कर वे उनके चरणोंमें पड़ गये॥ १०॥

प्रणमन्तं तमुत्थाप्य सम्परिष्वज्य भूमिपः।
प्रदिश्य चासनं चास्मै रामं च पुनरब्रवीत्॥ ११॥

प्रणाम करते हुए श्रीरामको उठाकर महाराजने छातीसे लगा लिया और उन्हें बैठनेके लिये आसन देकर पुनः उनसे इस प्रकार कहना आरम्भ किया—॥ ११॥

राम वृद्धोऽस्मि दीर्घायुर्भुक्ता भोगा यथेप्सिताः।
अन्नवद्भिः क्रतुशतैर्यथेष्टं भूरिदक्षिणैः॥ १२॥

'श्रीराम! अब मैं बूढ़ा हुआ। मेरी आयु बहुत अधिक हो गयी। मैंने बहुत-से मनोवाञ्छित भोग भोग लिये, अन्न और बहुत-सी दक्षिणाओंसे युक्त सैकड़ों यज्ञ भी कर लिये॥ १२॥

जातमिष्टमपत्यं मे त्वमद्यानुपमं भुवि।
दत्तमिष्टमधीतं च मया पुरुषसत्तम॥ १३॥

'पुरुषोत्तम! तुम मेरे परम प्रिय अभीष्ट संतानके रूपमें प्राप्त हुए जिसकी इस भूमण्डलमें कहीं उपमा नहीं है, मैंने दान, यज्ञ और स्वाध्याय भी कर लिये॥ १३॥

अनुभूतानि चेष्टानि मया वीर सुखान्यपि।
देवर्षिपितृविप्राणामनृणोऽस्मि तथाऽऽत्मनः॥ १४॥

'वीर! मैंने अभीष्ट सुखोंका भी अनुभव कर लिया। मैं देवता, ऋषि, पितर और ब्राह्मणोंके तथा अपने ऋणसे भी उऋण हो गया॥ १४॥

न किंचिन्मम कर्तव्यं तवान्यत्राभिषेचनात्।
अतो यत्त्वामहं ब्रूयां तन्मे त्वं कर्तुमर्हसि॥ १५॥

'अब तुम्हें युवराज-पदपर अभिषिक्त करनेके सिवा और कोई कर्तव्य मेरे लिये शेष नहीं रह गया है, अतः मैं तुमसे जो कुछ कहूँ, मेरी उस आज्ञाका तुम्हें पालन करना चाहिये॥ १५॥

अद्य प्रकृतयः सर्वास्त्वामिच्छन्ति नराधिपम्।
अतस्त्वां युवराजानमभिषेक्ष्यामि पुत्रक ॥ १६ ॥

'बेटा! अब सारी प्रजा तुम्हें अपना राजा बनाना चाहती है, अतः मैं तुम्हें युवराजपदपर अभिषिक्त करूँगा ॥ १६ ॥

अपि चाद्याशुभान् राम स्वप्नान् पश्यामि राघव।
सनिर्घाता दिवोल्काश्च पतन्ति हि महास्वनाः ॥ १७ ॥

'रघुकुलनन्दन श्रीराम! आजकल मुझे बड़े बुरे सपने दिखायी देते हैं। दिनमें वज्रपातके साथ-साथ बड़ा भयंकर शब्द करनेवाली उल्काएँ भी गिर रही हैं ॥ १७ ॥

अवष्टब्धं च मे राम नक्षत्रं दारुणग्रहैः।
आवेदयन्ति दैवज्ञाः सूर्याङ्गारकराहुभिः ॥ १८ ॥

'श्रीराम! ज्योतिषियोंका कहना है कि मेरे जन्मनक्षत्रको सूर्य, मङ्गल और राहु नामक भयंकर ग्रहोंने आक्रान्त कर लिया है ॥ १८ ॥

प्रायेण च निमित्तानामीदृशानां समुद्भवे।
राजा हि मृत्युमाप्नोति घोरां चापदमृच्छति ॥ १९ ॥

'ऐसे अशुभ लक्षणोंका प्राकट्य होनेपर प्रायः राजा घोर आपत्तिमें पड़ जाता है और अन्ततोगत्वा उसकी मृत्यु भी हो जाती है ॥ १९ ॥

तद् यावदेव मे चेतो न विमुह्यति राघव।
तावदेवाभिषिञ्चस्व चला हि प्राणिनां मतिः ॥ २० ॥

'अतः रघुनन्दन! जबतक मेरे चित्तमें मोह नहीं छा जाता, तबतक ही तुम युवराज-पदपर अपना अभिषेक करा लो; क्योंकि प्राणियोंकी बुद्धि चञ्चल होती है ॥ २० ॥

अद्य चन्द्रोऽभ्युपगमत् पुष्यात् पूर्वं पुनर्वसुम्।
श्वः पुष्ययोगं नियतं वक्ष्यन्ते दैवचिन्तकाः ॥ २१ ॥

'आज चन्द्रमा पुष्यसे एक नक्षत्र पहले पुनर्वसुपर विराजमान हैं, अतः निश्चय ही कल वे पुष्य नक्षत्रपर रहेंगे—ऐसा ज्योतिषी कहते हैं ॥ २१ ॥

तत्र पुष्येऽभिषिञ्चस्व मनस्त्वरयतीव माम्।
श्वस्त्वाहमभिषेक्ष्यामि यौवराज्ये परंतप ॥ २२ ॥

'इसलिये उस पुष्य नक्षत्रमें ही तुम अपना अभिषेक करा लो। शत्रुओंको संताप देनेवाले वीर! मेरा मन इस कार्यमें बहुत शीघ्रता करनेको कहता है। इस कारण कल अवश्य ही मैं तुम्हारा युवराजपदपर अभिषेक कर दूँगा ॥ २२ ॥

तस्मात् त्वयाद्यप्रभृति निशेयं नियतात्मना।
सह वध्वोपवस्तव्या दर्भप्रस्तरशायिना ॥ २३ ॥

'अतः तुम इस समयसे लेकर सारी रात इन्द्रियसंयम-पूर्वक रहते हुए वधू सीताके साथ उपवास करो और कुशकी शय्यापर सोओ ॥ २३ ॥

सुहृदश्चाप्रमत्तास्त्वां रक्षन्त्वद्य समन्ततः।
भवन्ति बहुविघ्नानि कार्याण्येवंविधानि हि ॥ २४ ॥

'आज तुम्हारे सुहृद् सावधान रहकर सब ओरसे तुम्हारी रक्षा करें; क्योंकि इस प्रकारके शुभ कार्योंमें बहुत-से विघ्न आनेकी सम्भावना रहती है ॥ २४ ॥

विप्रोषितश्च भरतो यावदेव पुरादितः।
तावदेवाभिषेकस्ते प्राप्तकालो मतो मम ॥ २५ ॥

'जबतक भरत इस नगरसे बाहर अपने मामाके यहाँ निवास करते हैं, तबतक ही तुम्हारा अभिषेक हो जाना मुझे उचित प्रतीत होता है ॥ २५ ॥

कामं खलु सतां वृत्ते भ्राता ते भरतः स्थितः।
ज्येष्ठानुवर्ती धर्मात्मा सानुक्रोशो जितेन्द्रियः ॥ २६ ॥
किं नु चित्तं मनुष्याणामनित्यमिति मे मतम्।
सतां च धर्मनित्यानां कृतशोभि च राघव ॥ २७ ॥

'इसमें संदेह नहीं कि तुम्हारे भाई भरत सत्पुरुषोंके आचार-व्यवहारमें स्थित हैं, अपने बड़े भाईका अनुसरण करनेवाले, धर्मात्मा, दयालु और जितेन्द्रिय हैं तथापि मनुष्योंका चित्त प्रायः स्थिर नहीं रहता—ऐसा मेरा मत है। रघुनन्दन! धर्मपरायण सत्पुरुषोंका मन भी विभिन्न कारणोंसे राग-द्वेषादिसे संयुक्त हो जाता है' ॥ २६-२७ ॥

इत्युक्तः सोऽभ्यनुज्ञातः श्वोभाविन्यभिषेचने।
व्रजेति रामः पितरमभिवाद्याभ्ययाद् गृहम् ॥ २८ ॥

राजाके इस प्रकार कहने और कल होनेवाले राज्याभिषेकके निमित्त व्रतपालनके लिये जानेकी आज्ञा देनेपर श्रीरामचन्द्रजी पिताको प्रणाम करके अपने महलमें गये ॥ २८ ॥

प्रविश्य चात्मनो वेश्म राज्ञाऽऽदिष्टेऽभिषेचने।
तत्क्षणादेव निष्क्रम्य मातुरन्तःपुरं ययौ ॥ २९ ॥

राजाने राज्याभिषेकके लिये व्रतपालनके निमित्त जो आज्ञा दी थी, उसे सीताको बतानेके लिये अपने महलके भीतर प्रवेश करके जब श्रीरामने वहाँ सीताको नहीं देखा, तब वे तत्काल ही वहाँसे निकलकर माताके अन्तःपुरमें चले गये ॥ २९ ॥

तत्र तां प्रवणामेव मातरं क्षौमवासिनीम्।
वाग्यतां देवतागारे ददर्शायाचतीं श्रियम् ॥ ३० ॥

वहाँ जाकर उन्होंने देखा माता कौसल्या रेशमी वस्त्र पहने मौन हो देवमन्दिरमें बैठकर देवताकी आराधनामें लगी हैं और पुत्रके लिये राजलक्ष्मीकी याचना कर रही हैं ॥ ३० ॥

प्रागेव चागता तत्र सुमित्रा लक्ष्मणस्तथा।
सीता चानयिता श्रुत्वा प्रियं रामाभिषेचनम् ॥ ३१ ॥

श्रीरामके राज्याभिषेकका प्रिय समाचार सुनकर सुमित्रा और लक्ष्मण वहाँ पहलेसे ही आ गये थे तथा बादमें सीता वहीं बुला ली गयी थीं ॥ ३१ ॥

तस्मिन् कालेऽपि कौसल्या तस्थावामीलितेक्षणा।
सुमित्रयान्वास्यमाना सीतया लक्ष्मणेन च ॥ ३२ ॥

श्रीरामचन्द्रजी जब वहाँ पहुँचे, उस समय भी कौसल्या नेत्र बंद किये ध्यान लगाये बैठी थीं और सुमित्रा,

सीता तथा लक्ष्मण उनकी सेवामें खड़े थे ॥ ३२ ॥

श्रुत्वा पुष्ये च पुत्रस्य यौवराज्येऽभिषेचनम् ।
प्राणायामेन पुरुषं ध्यायमाना जनार्दनम् ॥ ३३ ॥

पुष्य नक्षत्रके योगमें पुत्रके युवराजपदपर अभिषिक्त होनेकी बात सुनकर वे उसकी मङ्गलकामनासे प्राणायामके द्वारा परमपुरुष नारायणका ध्यान कर रही थीं ॥ ३३ ॥

तथा सनियमामेव सोऽभिगम्याभिवाद्य च ।
उवाच वचनं रामो हर्षयंस्तामिदं वरम् ॥ ३४ ॥

इस प्रकार नियममें लगी हुई माताके निकट उसी अवस्थामें जाकर श्रीरामने उनको प्रणाम किया और उन्हें हर्ष प्रदान करते हुए यह श्रेष्ठ बात कही— ॥ ३४ ॥

अम्ब पित्रा नियुक्तोऽस्मि प्रजापालनकर्मणि ।
भविता श्वोऽभिषेको मे यथा मे शासनं पितुः ॥ ३५ ॥
सीतयाप्युपवस्तव्या रजनीयं मया सह ।
एवमुक्तमुपाध्यायैः स हि मामुक्तवान् पिता ॥ ३६ ॥

'माँ ! पिताजीने मुझे प्रजापालनके कर्ममें नियुक्त किया है। कल मेरा अभिषेक होगा। जैसा कि मेरे लिये पिताजीका आदेश है, उसके अनुसार सीताको भी मेरे साथ इस रातमें उपवास करना होगा। उपाध्यायोंने ऐसी ही बात बतायी थी, जिसे पिताजीने मुझसे कहा है ॥ ३५-३६ ॥

यानि यान्यत्र योग्यानि श्वोभाविन्यभिषेचने ।
तानि मे मङ्गलान्यद्य वैदेह्याश्चैव कारय ॥ ३७ ॥

'अतः कल होनेवाले अभिषेकके निमित्तसे आज मेरे और सीताके लिये जो-जो मङ्गलकार्य आवश्यक हों, वे सब कराओ' ॥ ३७ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु कौसल्या चिरकालाभिकाङ्क्षितम् ।
हर्षबाष्पाकुलं वाक्यमिदं राममभाषत ॥ ३८ ॥

चिरकालसे माताके हृदयमें जिस बातकी अभिलाषा थी, उसकी पूर्तिको सूचित करनेवाली यह बात सुनकर माता कौसल्याने आनन्दके आँसू बहाते हुए गद्गद कण्ठसे इस प्रकार कहा— ॥ ३८ ॥

वत्स राम चिरं जीव हतास्ते परिपन्थिनः ।
ज्ञातीन् मे त्वं श्रिया युक्तः सुमित्रायाश्च नन्दय ॥ ३९ ॥

'बेटा श्रीराम ! चिरञ्जीवी होओ। तुम्हारे मार्गमें विघ्न डालनेवाले शत्रु नष्ट हो जायँ। तुम राजलक्ष्मीसे युक्त होकर मेरे और सुमित्राके बन्धु-बान्धवोंको आनन्दित करो ॥ ३९ ॥

कल्याणे बत नक्षत्रे मया जातोऽसि पुत्रक ।
येन त्वया दशरथो गुणैराराधितः पिता ॥ ४० ॥

'बेटा ! तुम मेरे द्वारा किसी मङ्गलमय नक्षत्रमें उत्पन्न हुए थे, जिससे तुमने अपने गुणोंद्वारा पिता दशरथको प्रसन्न कर लिया ॥ ४० ॥

अमोघं बत मे क्षान्तं पुरुषे पुष्करेक्षणे ।
येयमिक्ष्वाकुराजश्रीः पुत्र त्वां संश्रयिष्यति ॥ ४१ ॥

'बड़े हर्षकी बात है कि मैंने कमलनयन भगवान् विष्णुकी प्रसन्नताके लिये जो व्रत-उपवास आदि किया था, वह आज सफल हो गया। बेटा ! उसीके फलसे यह इक्ष्वाकुकुलकी राजलक्ष्मी तुम्हें प्राप्त होनेवाली है' ॥ ४१ ॥

इत्येवमुक्तो मात्रा तु रामो भ्रातरमब्रवीत् ।
प्राञ्जलिं प्रह्वमासीनमभिवीक्ष्य स्मयन्निव ॥ ४२ ॥

माताके ऐसा कहनेपर श्रीरामने विनीतभावसे हाथ जोड़कर खड़े हुए अपने भाई लक्ष्मणकी ओर देखकर मुसकराते हुए-से कहा— ॥ ४२ ॥

लक्ष्मणेमां मया सार्धं प्रशाधि त्वं वसुंधराम् ।
द्वितीयं मेऽन्तरात्मानं त्वामियं श्रीरुपस्थिता ॥ ४३ ॥

'लक्ष्मण ! तुम मेरे साथ इस पृथ्वीके राज्यका शासन (पालन) करो। तुम मेरे द्वितीय अन्तरात्मा हो। यह राजलक्ष्मी तुम्हींको प्राप्त हो रही है ॥ ४३ ॥

सौमित्रे भुङ्क्ष्व भोगांस्त्वमिष्टान् राज्यफलानि च ।
जीवितं चापि राज्यं च त्वदर्थमभिकामये ॥ ४४ ॥

'सुमित्रानन्दन ! तुम अभीष्ट भोगों और राज्यके श्रेष्ठ फलोंका उपभोग करो। तुम्हारे लिये ही मैं इस जीवन तथा राज्यकी अभिलाषा करता हूँ' ॥ ४४ ॥

इत्युक्त्वा लक्ष्मणं रामो मातरावभिवाद्य च ।
अभ्यनुज्ञाप्य सीतां च ययौ स्वं च निवेशनम् ॥ ४५ ॥

लक्ष्मणसे ऐसा कहकर श्रीरामने दोनों माताओंको प्रणाम किया और सीताको भी साथ चलनेकी आज्ञा दिलाकर वे उनको लिये हुए अपने महलमें चले गये ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौथा सर्ग पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमः सर्गः

राजा दशरथके अनुरोधसे वसिष्ठजीका सीतासहित श्रीरामको उपवासव्रतकी दीक्षा देकर आना और राजाको इस समाचारसे अवगत कराना; राजाका अन्तःपुरमें प्रवेश

संदिश्य रामं नृपतिः श्वोभाविन्यभिषेचने ।
पुरोहितं समाहूय वसिष्ठमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

उधर महाराज दशरथ जब श्रीरामचन्द्रजीको दूसरे दिन होनेवाले अभिषेकके विषयमें आवश्यक संदेश दे चुके, तब

अपने पुरोहित वसिष्ठजीको बुलाकर बोले— ॥ १ ॥

गच्छोपवासं काकुत्स्थं कारयाद्य तपोधन।
श्रेयसे राज्यलाभाय वध्वा सह यतव्रत॥ २॥

'नियमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाले तपोधन! आप जाइये और विघ्ननिवारणरूप कल्याणकी सिद्धि तथा राज्यकी प्राप्तिके लिये बहूसहित श्रीरामसे उपवासव्रतका पालन कराइये' ॥ २ ॥

तथेति च स राजानमुक्त्वा वेदविदां वरः।
स्वयं वसिष्ठो भगवान् ययौ रामनिवेशनम्॥ ३॥
उपवासयितुं वीरं मन्त्रविन्मन्त्रकोविदम्।
ब्राह्मं रथवरं युक्तमास्थाय सुधृतव्रतः॥ ४॥

तब राजासे 'तथास्तु' कहकर वेदवेत्ता विद्वानोंमें श्रेष्ठ तथा उत्तम व्रतधारी स्वयं भगवान् वसिष्ठ मन्त्रवेत्ता वीर श्रीरामको उपवास-व्रतकी दीक्षा देनेके लिये ब्राह्मणके चढ़नेयोग्य जुते-जुताये श्रेष्ठ रथपर आरूढ़ हो श्रीरामके महलकी ओर चल दिये ॥ ३-४ ॥

स रामभवनं प्राप्य पाण्डुराभ्रघनप्रभम्।
तिस्रः कक्ष्या रथेनैव विवेश मुनिसत्तमः॥ ५॥

श्रीरामका भवन श्वेत बादलोंके समान उज्ज्वल था, उसके पास पहुँचकर मुनिवर वसिष्ठने उसकी तीन ड्योढ़ियोंमें रथके द्वारा ही प्रवेश किया ॥ ५ ॥

तमागतमृषिं रामस्त्वरन्निव ससम्भ्रमम्।
मानयिष्यन् स मानार्हं निश्चक्राम निवेशनात्॥ ६॥

वहाँ पधारे हुए उन सम्माननीय महर्षिका सम्मान करनेके लिये श्रीरामचन्द्रजी बड़ी उतावलीके साथ वेगपूर्वक घरसे बाहर निकले ॥ ६ ॥

अभ्येत्य त्वरमाणोऽथ रथाभ्याशं मनीषिणः।
ततोऽवतारयामास परिगृह्य रथात् स्वयम्॥ ७॥

उन मनीषी महर्षिके रथके समीप शीघ्रतापूर्वक जाकर श्रीरामने स्वयं उनका हाथ पकड़कर उन्हें रथसे नीचे उतारा ॥

स चैनं प्रश्रितं दृष्ट्वा सम्भाष्याभिप्रसाद्य च।
प्रियार्हं हर्षयन् राममित्युवाच पुरोहितः॥ ८॥

श्रीराम प्रिय वचन सुननेके योग्य थे। उन्हें इतना विनीत देखकर पुरोहितजीने 'वत्स!' कहकर पुकारा और उन्हें प्रसन्न करके उनका हर्ष बढ़ाते हुए इस प्रकार कहा— ॥ ८ ॥

प्रसन्नस्ते पिता राम यत्त्वं राज्यमवाप्स्यसि।
उपवासं भवानद्य करोतु सह सीतया॥ ९॥

'श्रीराम! तुम्हारे पिता तुमपर बहुत प्रसन्न हैं, क्योंकि तुम्हें उनसे राज्य प्राप्त होगा; अतः आजकी रातमें तुम वधू सीताके साथ उपवास करो ॥ ९ ॥

प्रातस्त्वामभिषेक्ता हि यौवराज्ये नराधिपः।
पिता दशरथः प्रीत्या ययातिं नहुषो यथा॥ १०॥

'रघुनन्दन! जैसे नहुषने ययातिका अभिषेक किया था, उसी प्रकार तुम्हारे पिता महाराज दशरथ कल प्रातःकाल बड़े प्रेमसे तुम्हारा युवराज-पदपर अभिषेक करेंगे' ॥ १० ॥

इत्युक्त्वा स तदा राममुपवासं यतव्रतः।
मन्त्रवत् कारयामास वैदेह्या सहितं शुचिः॥ ११॥

ऐसा कहकर उन व्रतधारी एवं पवित्र महर्षिने मन्त्रोच्चारणपूर्वक सीतासहित श्रीरामको उस समय उपवास-व्रतकी दीक्षा दी ॥ ११ ॥

ततो यथावद् रामेण स राज्ञो गुरुरर्चितः।
अभ्यनुज्ञाप्य काकुत्स्थं ययौ रामनिवेशनात्॥ १२॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजीने महाराजके भी गुरु वसिष्ठका यथावत् पूजन किया; फिर वे मुनि श्रीरामकी अनुमति ले उनके महलसे बाहर निकले ॥ १२ ॥

सुहृद्भिस्तत्र रामोऽपि सहासीनः प्रियंवदैः।
सभाजितो विवेशाथताननुज्ञाप्य सर्वशः॥ १३॥

श्रीराम भी वहाँ प्रियवचन बोलनेवाले सुहृदोंके साथ कुछ देरतक बैठे रहे; फिर उनसे सम्मानित हो उन सबकी अनुमति ले पुनः अपने महलके भीतर चले गये ॥ १३ ॥

हृष्टनारीनरयुतं रामवेश्म तदा बभौ।
यथा मत्तद्विजगणं प्रफुल्लनलिनं सरः॥ १४॥

उस समय श्रीरामका भवन हर्षोत्फुल्ल नर-नारियोंसे भरा हुआ था और मतवाले पक्षियोंके कलरवोंसे युक्त खिले हुए कमलवाले तालाबके समान शोभा पा रहा था ॥ १४ ॥

स राजभवनप्रख्यात् तस्माद् रामनिवेशनात्।
निर्गत्य ददृशे मार्गं वसिष्ठो जनसंवृतम्॥ १५॥

राजभवनोंमें श्रेष्ठ श्रीरामके महलसे बाहर आकर वसिष्ठजीने सारे मार्ग मनुष्योंकी भीड़से भरे हुए देखे ॥ १५ ॥

वृन्दवृन्दैरयोध्यायां राजमार्गाः समन्ततः।
बभूवुरभिसम्बाधाः कुतूहलजनैर्वृताः॥ १६॥

अयोध्याकी सड़कोंपर सब ओर झुंड-के-झुंड मनुष्य, जो श्रीरामका राज्याभिषेक देखनेके लिये उत्सुक थे, खचाखच भरे हुए थे; सारे राजमार्ग उनसे घिरे हुए थे ॥ १६ ॥

जनवृन्दोर्मिसंघर्षहर्षस्वनवृतस्तदा।
बभूव राजमार्गस्य सागरस्येव निःस्वनः॥ १७॥

जनसमुदायरूपी लहरोंके परस्पर टकरानेसे उस समय जो हर्षध्वनि प्रकट होती थी, उससे व्याप्त हुआ राजमार्गका कोलाहल समुद्रकी गर्जनाकी भाँति सुनायी देता था ॥ १७ ॥

सिक्तसम्मृष्टरथ्या हि तथा च वनमालिनी।
आसीदयोध्या तदहः समुच्छ्रितगृहध्वजा॥ १८॥

उस दिन वन और उपवनोंकी पंक्तियोंसे सुशोभित हुई अयोध्यापुरीके घर-घरमें ऊँची-ऊँची ध्वजाएँ फहरा रही थीं; वहाँकी सभी गलियों और सड़कोंको झाड़-बुहारकर वहाँ छिड़काव किया गया था ॥ १८ ॥

तदा ह्ययोध्यानिलयः सस्त्रीबालाकुलो जनः।
रामाभिषेकमाकाङ्क्षन्नाकाङ्क्षन्नुदयं रवेः॥ १९॥

स्त्रियों और बालकोंसहित अयोध्यावासी जनसमुदाय श्रीरामके राज्याभिषेकको देखनेकी इच्छासे उस समय शीघ्र सूर्योदय होनेकी कामना कर रहा था॥ १९॥

प्रजालंकारभूतं च जनस्यानन्दवर्धनम्।
उत्सुकोऽभूज्जनो द्रष्टुं तमयोध्यामहोत्सवम्॥ २०॥

अयोध्याका वह महान् उत्सव प्रजाओंके लिये अलंकार-रूप और सब लोगोंके आनन्दको बढ़ानेवाला था; वहाँके सभी मनुष्य उसे देखनेके लिये उत्कण्ठित हो रहे थे॥ २०॥

एवं तज्जनसम्बाधं राजमार्गं पुरोहितः।
व्यूहन्निव जनौघं तं शनै राजकुलं ययौ॥ २१॥

इस प्रकार मनुष्योंकी भीड़से भरे हुए राजमार्गपर पहुँचकर पुरोहितजी उस जनसमूहको एक ओर करते हुए-से धीरे-धीरे राजमहलकी ओर गये॥ २१॥

सिताभ्रशिखरप्रख्यं प्रासादमधिरुह्य च।
समीयाय नरेन्द्रेण शक्रेणेव बृहस्पतिः॥ २२॥

श्वेत जलद-खण्डके समान सुशोभित होनेवाले महलके ऊपर चढ़कर वसिष्ठजी राजा दशरथसे उसी प्रकार मिले, जैसे बृहस्पति देवराज इन्द्रसे मिल रहे हों॥ २२॥

तमागतमभिप्रेक्ष्य हित्वा राजासनं नृपः।
पप्रच्छ स्वमतं तस्मै कृतमित्यभिवेदयत्॥ २३॥

उन्हें आया देख राजा सिंहासन छोड़कर खड़े हो गये और पूछने लगे—'मुने! क्या आपने मेरा अभिप्राय सिद्ध किया।' वसिष्ठजीने उत्तर दिया—'हाँ! कर दिया'॥ २३॥

तेन चैव तदा तुल्यं सहासीनाः सभासदः।
आसनेभ्यः समुत्तस्थुः पूजयन्तः पुरोहितम्॥ २४॥

उनके साथ ही उस समय वहाँ बैठे हुए अन्य सभासद् भी पुरोहितका समादर करते हुए अपने-अपने आसनोंसे उठकर खड़े हो गये॥ २४॥

गुरुणा त्वभ्यनुज्ञातो मनुजौघं विसृज्य तम्।
विवेशान्तःपुरं राजा सिंहो गिरिगुहामिव॥ २५॥

तदनन्तर गुरुजीकी आज्ञा ले राजा दशरथने उस जनसमुदायको विदा करके पर्वतकी कन्दरामें घुसनेवाले सिंहके समान अपने अन्तःपुरमें प्रवेश किया॥ २५॥

तदग्र्यवेषप्रमदाजनाकुलं
महेन्द्रवेश्मप्रतिमं निवेशनम्।
व्यदीपयंश्चारु विवेश पार्थिवः
शशीव तारागणसंकुलं नभः॥ २६॥

सुन्दर वेश-भूषा धारण करनेवाली सुन्दरियोंसे भरे हुए इन्द्रसदनके समान उस मनोहर राजभवनको अपनी शोभासे प्रकाशित करते हुए राजा दशरथने उसके भीतर उसी प्रकार प्रवेश किया, जैसे चन्द्रमा ताराओंसे भरे हुए आकाशमें पदार्पण करते हैं॥ २६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चमः सर्गः॥ ५॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पाँचवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ५॥

षष्ठः सर्गः

सीतासहित श्रीरामका नियमपरायण होना, हर्षमें भरे पुरवासियोंद्वारा नगरकी सजावट, राजाके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना तथा अयोध्यापुरीमें जनपदवासी मनुष्योंकी भीड़का एकत्र होना

गते पुरोहिते रामः स्नातो नियतमानसः।
सह पत्न्या विशालाक्ष्या नारायणमुपागमत्॥ १॥

पुरोहितजीके चले जानेपर मनको संयममें रखनेवाले श्रीरामने स्नान करके अपनी विशाललोचना पत्नीके साथ श्रीनारायणकी[1] उपासना आरम्भ की॥ १॥

प्रगृह्य शिरसा पात्रीं हविषो विधिवत् ततः।
महते दैवतायाज्यं जुहाव ज्वलितानले॥ २॥

उन्होंने हविष्य-पात्रको सिर झुकाकर नमस्कार किया और प्रज्वलित अग्निमें महान् देवता (शेषशायी नारायण) की प्रसन्नताके लिये विधिपूर्वक उस हविष्यकी आहुति दी॥ २॥

शेषं च हविषस्तस्य प्राश्याशास्यात्मनः प्रियम्।
ध्यायन्नारायणं देवं स्वास्तीर्णे कुशसंस्तरे॥ ३॥
वाग्यतः सह वैदेह्या भूत्वा नियतमानसः।
श्रीमत्यायतने विष्णोः शिश्ये नरवरात्मजः॥ ४॥

तत्पश्चात् अपने प्रिय मनोरथकी सिद्धिका संकल्प लेकर उन्होंने उस यज्ञशेष हविष्यका भक्षण किया और मनको संयममें रखकर मौन हो वे राजकुमार श्रीराम विदेहनन्दिनी सीताके साथ भगवान् विष्णुके सुन्दर मन्दिरमें श्रीनारायण देवका ध्यान करते हुए वहाँ अच्छी तरह बिछी हुई कुशकी चटाईपर सोये॥ ३-४॥

---

१. ऐसा माना जाता है कि यहाँ नारायण शब्दसे श्रीरङ्गनाथजीकी वह अर्चा-मूर्ति अभिप्रेत है; जो कि पूर्वजोंके समयसे ही दीर्घकालतक अयोध्यामें उपास्य देवताके रूपमें रही। बादमें श्रीरामजीने वह मूर्ति विभीषणको दे दी थी, जिससे वह वर्तमान श्रीरंगक्षेत्रमें पहुँची। इसकी विस्तृत कथा पद्मपुराणमें है।

एकयामावशिष्टायां रात्र्यां प्रतिविबुध्य सः।
अलंकारविधिं सम्यक् कारयामास वेश्मनः॥ ५॥

जब तीन पहर बीतकर एक ही पहर रात शेष रह गयी, तब वे शयनसे उठ बैठे। उस समय उन्होंने सभामण्डपको सजानेके लिये सेवकोंको आज्ञा दी॥ ५॥

तत्र शृण्वन् सुखा वाचः सूतमागधवन्दिनाम्।
पूर्वां संध्यामुपासीनो जजाप सुसमाहितः॥ ६॥

वहाँ सूत, मागध और बंदियोंकी श्रवणसुखद वाणी सुनते हुए श्रीरामने प्रातःकालिक संध्योपासना की; फिर एकाग्रचित्त होकर वे जप करने लगे॥ ६॥

तुष्टाव प्रणतश्चैव शिरसा मधुसूदनम्।
विमलक्षौमसंवीतो वाचयामास स द्विजान्॥ ७॥

तदनन्तर रेशमी वस्त्र धारण किये हुए श्रीरामने मस्तक झुकाकर भगवान् मधुसूदनको प्रणाम और उनका स्तवन किया; इसके बाद ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया॥ ७॥

तेषां पुण्याहघोषोऽथ गम्भीरमधुरस्तथा।
अयोध्यां पूरयामास तूर्यघोषानुनादितः॥ ८॥

उन ब्राह्मणोंका पुण्याहवाचनसम्बन्धी गम्भीर एवं मधुर घोष नाना प्रकारके बाद्योंकी ध्वनिसे व्याप्त होकर सारी अयोध्यापुरीमें फैल गया॥ ८॥

कृतोपवासं तु तदा वैदेह्या सह राघवम्।
अयोध्यानिलयः श्रुत्वा सर्वः प्रमुदितो जनः॥ ९॥

उस समय अयोध्यावासी मनुष्योंने जब यह सुना कि श्रीरामचन्द्रजीने सीताके साथ उपवास-व्रत आरम्भ कर दिया है, तब उन सबको बड़ी प्रसन्नता हुई॥ ९॥

ततः पौरजनः सर्वः श्रुत्वा रामाभिषेचनम्।
प्रभातां रजनीं दृष्ट्वा चक्रे शोभयितुं पुरीम्॥ १०॥

सबेरा होनेपर श्रीरामके राज्याभिषेकका समाचार सुनकर समस्त पुरवासी अयोध्यापुरीको सजानेमें लग गये॥ १०॥

सिताभ्रशिखराभेषु देवतायतनेषु च।
चतुष्पथेषु रथ्यासु चैत्येष्वट्टालकेषु च॥ ११॥
नानापण्यसमृद्धेषु वणिजामापणेषु च।
कुटुम्बिनां समृद्धेषु श्रीमत्सु भवनेषु च॥ १२॥
सभासु चैव सर्वासु वृक्षेष्वालक्षितेषु च।
ध्वजाः समुच्छ्रिताः साधु पताकाश्चाभवंस्तथा॥ १३॥

जिनके शिखरोंपर श्वेत बादल विश्राम करते हैं, उन पर्वतोंके समान गगनचुम्बी देवमन्दिरों, चौराहों, गलियों, देववृक्षों, समस्त सभाओं, अट्टालिकाओं, नाना प्रकारकी बेचनेयोग्य वस्तुओंसे भरी हुई व्यापारियोंकी बड़ी-बड़ी दूकानों तथा कुटुम्बी गृहस्थोंके सुन्दर समृद्धिशाली भवनोंमें और दूरसे दिखायी देनेवाले वृक्षोंपर भी ऊँची ध्वजाएँ लगायी गयीं और उनमें पताकाएँ फहरायी गयीं॥ ११—१३॥

नटनर्तकसङ्घानां गायकानां च गायताम्।
मनःकर्णसुखा वाचः शुश्राव जनता ततः॥ १४॥

उस समय वहाँकी जनता सब ओर नटों और नर्तकोंके समूहों तथा गानेवाले गायकोंकी मन और कानोंको सुख देनेवाली वाणी सुनती थी॥ १४॥

रामाभिषेकयुक्ताश्च कथाश्चक्रुर्मिथो जनाः।
रामाभिषेके सम्प्राप्ते चत्वरेषु गृहेषु च॥ १५॥

श्रीरामके राज्याभिषेकका शुभ अवसर प्राप्त होनेपर प्रायः सबलोग चौराहोंपर और घरोंमें भी आपसमें श्रीरामके राज्याभिषेककी ही चर्चा करते थे॥ १५॥

बाला अपि क्रीडमाना गृहद्वारेषु सङ्घशः।
रामाभिषवसंयुक्ताश्चक्रुरेव कथा मिथः॥ १६॥

घरोंके दरवाजोंपर खेलते हुए झुंड-के-झुंड बालक भी आपसमें श्रीरामके राज्याभिषेककी ही बातें करते थे॥ १६॥

कृतपुष्पोपहारश्च धूपगन्धाधिवासितः।
राजमार्गः कृतः श्रीमान् पौरै रामाभिषेचने॥ १७॥

पुरवासियोंने श्रीरामके राज्याभिषेकके समय राजमार्गपर फूलोंकी भेंट चढ़ाकर वहाँ सब ओर धूपकी सुगन्ध फैला दी; ऐसा करके उन्होंने राजमार्गको बहुत सुन्दर बना दिया॥

प्रकाशकरणार्थं च निशागमनशङ्कया।
दीपवृक्षांस्तथा चक्रुरनुरथ्यासु सर्वशः॥ १८॥

राज्याभिषेक होते-होते रात हो जानेकी आशङ्कासे प्रकाशकी व्यवस्था करनेके लिये पुरवासियोंने सब ओर सड़कोंके दोनों तरफ वृक्षकी भाँति अनेक शाखाओंसे युक्त दीपस्तम्भ खड़े कर दिये॥ १८॥

अलंकारं पुरस्यैवं कृत्वा तत् पुरवासिनः।
आकाङ्क्षमाणा रामस्य यौवराज्याभिषेचनम्॥ १९॥
समेत्य सङ्घशः सर्वे चत्वरेषु सभासु च।
कथयन्तो मिथस्तत्र प्रशशंसुर्जनाधिपम्॥ २०॥

इस प्रकार नगरको सजाकर श्रीरामके युवराजपदपर अभिषेककी अभिलाषा रखनेवाले समस्त पुरवासी चौराहों और सभाओंमें झुंड-के-झुंड एकत्र हो वहाँ परस्पर बातें करते हुए महाराज दशरथकी प्रशंसा करने लगे—॥ १९-२०॥

अहो महात्मा राजायमिक्ष्वाकुकुलनन्दनः।
ज्ञात्वा वृद्धं स्वमात्मानं रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति॥ २१॥

'अहो! इक्ष्वाकुकुलको आनन्दित करनेवाले ये राजा दशरथ बड़े महात्मा हैं, जो कि अपने-आपको बूढ़ा हुआ जानकर श्रीरामका राज्याभिषेक करने जा रहे हैं॥ २१॥

सर्वे ह्यनुगृहीताः स्म यन्नो रामो महीपतिः।
चिराय भविता गोप्ता दृष्टलोकपरावरः॥ २२॥

'भगवान्‌का हम सब लोगोंपर बड़ा अनुग्रह है कि श्रीरामचन्द्रजी हमारे राजा होंगे और चिरकालतक हमारी रक्षा करते रहेंगे; क्योंकि वे समस्त लोकोंके निवासियोंमें जो

भलाई या बुराई है, उसे अच्छी तरह देख चुके हैं॥ २२॥

अनुद्धतमना विद्वान् धर्मात्मा भ्रातृवत्सलः।
यथा च भ्रातृषु स्निग्धस्तथास्मास्वपि राघवः॥ २३॥

'श्रीरामका मन कभी उद्धत नहीं होता। वे विद्वान्, धर्मात्मा और अपने भाइयोंपर स्नेह रखनेवाले हैं। उनका अपने भाइयोंपर जैसा स्नेह है, वैसा ही हमलोगोंपर भी है॥

चिरं जीवतु धर्मात्मा राजा दशरथोऽनघः।
यत्प्रसादेनाभिषिक्तं रामं द्रक्ष्यामहे वयम्॥ २४॥

'धर्मात्मा एवं निष्पाप राजा दशरथ चिरकालतक जीवित रहें, जिनके प्रसादसे हमें श्रीरामके राज्याभिषेकका दर्शन सुलभ होगा'॥ २४॥

एवंविधं कथयतां पौराणां शुश्रुवुः परे।
दिग्भ्यो विश्रुतवृत्तान्ताः प्राप्ता जानपदा जनाः॥ २५॥

अभिषेकका वृत्तान्त सुनकर नाना दिशाओंसे उस जनपदके लोग भी वहाँ पहुँचे थे, उन्होंने उपर्युक्त बातें कहनेवाले पुरवासियोंकी सभी बातें सुनीं॥ २५॥

ते तु दिग्भ्यः पुरीं प्राप्ता द्रष्टुं रामाभिषेचनम्।
रामस्य पूरयामासुः पुरीं जानपदा जनाः॥ २६॥

वे सब-के-सब श्रीरामका राज्याभिषेक देखनेके लिये अनेक दिशाओंसे अयोध्यापुरीमें आये थे। उन जनपद-निवासी मनुष्योंने श्रीरामपुरीको अपनी उपस्थितिसे भर दिया था॥ २६॥

जनौघैस्तैर्विसर्पद्भिः शुश्रुवे तत्र निःस्वनः।
पर्वसूदीर्णवेगस्य सागरस्येव निःस्वनः॥ २७॥

वहाँ मनुष्योंकी भीड़-भाड़ बढ़नेसे जो जनरव सुनायी देता था, वह पर्वके दिन बढ़े हुए वेगवाले महासागरकी गर्जनाके समान जान पड़ता था॥ २७॥

ततस्तदिन्द्रक्षयसंनिभं पुरं
दिदृक्षुभिर्जानपदैरुपाहितैः।
समन्ततः सस्वनमाकुलं बभौ
समुद्रयादोभिरिवार्णवोदकम्॥ २८॥

उस समय श्रीरामके अभिषेकका उत्सव देखनेके लिये पधारे हुए जनपदवासी मनुष्योंद्वारा सब ओरसे भरा हुआ वह इन्द्रपुरीके समान नगर अत्यन्त कोलाहलपूर्ण होनेके कारण मकर, नक्र, तिमिङ्गिल आदि विशाल जल-जन्तुओंसे परिपूर्ण महासागरके समान प्रतीत होता था॥ २८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षष्ठः सर्गः॥ ६॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें छठा सर्ग पूरा हुआ॥ ६॥

सप्तमः सर्गः

श्रीरामके अभिषेकका समाचार पाकर खिन्न हुई मन्थराका कैकेयीको उभाड़ना, परंतु प्रसन्न हुई कैकेयीका उसे पुरस्काररूपमें आभूषण देना और वर माँगनेके लिये प्रेरित करना

ज्ञातिदासी यतो जाता कैकेय्या तु सहोषिता।
प्रासादं चन्द्रसंकाशमारुरोह यदृच्छया॥ १॥

रानी कैकेयीके पास एक दासी थी, जो उसके मायकेसे आयी हुई थी। वह सदा कैकेयीके ही साथ रहा करती थी। उसका जन्म कहाँ हुआ था? उसके देश और माता-पिता कौन थे? इसका पता किसीको नहीं था। अभिषेकसे एक दिन पहले वह स्वेच्छासे ही कैकेयीके चन्द्रमाके समान कान्तिमान् महलकी छतपर जा चढ़ी॥ १॥

सिक्तराजपथां कृत्स्नां प्रकीर्णकमलोत्पलाम्।
अयोध्यां मन्थरा तस्मात् प्रासादादन्ववैक्षत॥ २॥

उस दासीका नाम था—मन्थरा। उसने उस महलकी छतसे देखा—अयोध्याकी सड़कोंपर छिड़काव किया गया है और सारी पुरीमें यत्र-तत्र खिले हुए कमल और उत्पल बिखेरे गये हैं॥ २॥

पताकाभिर्वराहाभिर्ध्वजैश्च समलंकृताम्।
सिक्तां चन्दनतोयैश्च शिरःस्नातजनैर्वृताम्॥ ३॥

सब ओर बहुमूल्य पताकाएँ फहरा रही हैं। ध्वजाओंसे इस पुरीकी अपूर्व शोभा हो रही है। राजमार्गोंपर चन्दनमिश्रित जलका छिड़काव किया गया है तथा अयोध्यापुरीके सब लोग उबटन लगाकर सिरके ऊपरसे स्नान किये हुए हैं॥ ३॥

माल्यमोदकहस्तैश्च द्विजेन्द्रैरभिनादिताम्।
शुक्लदेवगृहद्वारां सर्ववादित्रनादिताम्॥ ४॥
सम्प्रहृष्टजनाकीर्णां ब्रह्मघोषनिनादिताम्।
प्रहृष्टवरहस्त्यश्वां सम्प्रणर्दितगोवृषाम्॥ ५॥

श्रीरामके दिये हुए माल्य और मोदक हाथमें लिये श्रेष्ठ ब्राह्मण हर्षनाद कर रहे हैं, देवमन्दिरोंके दरवाजे चूने और चन्दन आदिसे लीपकर सफेद एवं सुन्दर बनाये गये हैं, सब प्रकारके बाजोंकी मनोहर ध्वनि हो रही है, अत्यन्त हर्षमें भरे हुए मनुष्योंसे सारा नगर परिपूर्ण है और चारों ओर वेदपाठकोंकी ध्वनि गूँज रही है, श्रेष्ठ हाथी और घोड़े हर्षसे उत्फुल्ल दिखायी देते हैं तथा गाय-बैल प्रसन्न होकर रँभा रहे हैं॥ ४-५॥

हृष्टप्रमुदितैः पौरैरुच्छ्रितध्वजमालिनीम्।
अयोध्यां मन्थरा दृष्ट्वा परं विस्मयमागता॥ ६॥

सारे नगरनिवासी हर्षजनित रोमाञ्चसे युक्त और आनन्दमग्न हैं तथा नगरमें सब ओर श्रेणीबद्ध ऊँचे-ऊँचे

ध्वज फहरा रहे हैं। अयोध्याकी ऐसी शोभाको देखकर मन्थराको बड़ा आश्चर्य हुआ॥ ६॥

सा हर्षोत्फुल्लनयनां पाण्डुरक्षौमवासिनीम्।
अविदूरे स्थितां दृष्ट्वा धात्रीं पप्रच्छ मन्थरा॥ ७॥

उसने पासके ही कोठेपर रामकी धायको खड़ी देखा, उसके नेत्र प्रसन्नतासे खिले हुए थे और शरीरपर पीले रंगकी रेशमी साड़ी शोभा पा रही थी। उसे देखकर मन्थराने उससे पूछा—॥ ७॥

उत्तमेनाभिसंयुक्ता हर्षेणार्थपरा सती।
राममाता धनं किं नु जनेभ्यः सम्प्रयच्छति॥ ८॥
अतिमात्रं प्रहर्षः किं जनस्यास्य च शंस मे।
कारयिष्यति किं वापि सम्प्रहृष्टो महीपतिः॥ ९॥

'धाय! आज श्रीरामचन्द्रजीकी माता अपने किसी अभीष्ट मनोरथके साधनमें तत्पर हो अत्यन्त हर्षमें भरकर लोगोंको धन क्यों बाँट रही हैं? आज यहाँके सभी मनुष्योंको इतनी अधिक प्रसन्नता क्यों है? इसका कारण मुझे बताओ! आज महाराज दशरथ अत्यन्त प्रसन्न होकर कौन-सा कर्म करायेंगे'॥ ८-९॥

विदीर्यमाणा हर्षेण धात्री तु परया मुदा।
आचचक्षेऽथ कुब्जायै भूयसीं राघवे श्रियम्॥ १०॥
श्वः पुष्येण जितक्रोधं यौवराज्येन चानघम्।
राजा दशरथो राममभिषेक्ता हि राघवम्॥ ११॥

श्रीरामकी धाय तो हर्षसे फूली नहीं समाती थी, उसने कुब्जाके पूछनेपर बड़े आनन्दके साथ उसे बताया—'कुब्जे! रघुनाथजीको बहुत बड़ी सम्पत्ति प्राप्त होनेवाली है। कल महाराज दशरथ पुष्य नक्षत्रके योगमें क्रोधको जीतनेवाले, पापरहित, रघुकुलनन्दन श्रीरामको युवराजके पदपर अभिषिक्त करेंगे'॥ १०-११॥

धात्र्यास्तु वचनं श्रुत्वा कुब्जा क्षिप्रममर्षिता।
कैलासशिखराकारात् प्रासादादवरोहत॥ १२॥

धायका यह वचन सुनकर कुब्जा मन-ही-मन कुढ़ गयी और उस कैलास-शिखरकी भाँति उज्ज्वल एवं गगनचुम्बी प्रासादसे तुरंत ही नीचे उतर गयी॥ १२॥

सा दह्यमाना क्रोधेन मन्थरा पापदर्शिनी।
शयानामेत्य कैकेयीमिदं वचनमब्रवीत्॥ १३॥

मन्थराको इसमें कैकेयीका अनिष्ट दिखायी देता था, वह क्रोधसे जल रही थी। उसने महलमें लेटी हुई कैकेयीके पास जाकर इस प्रकार कहा—॥ १३॥

उत्तिष्ठ मूढे किं शेषे भयं त्वामभिवर्तते।
उपप्लुतमघौघेन नात्मानमवबुध्यसे॥ १४॥

'मूर्खे! उठ। क्या सो रही है? तुझपर बड़ा भारी भय आ रहा है। अरी! तेरे ऊपर विपत्तिका पहाड़ टूट पड़ा है, फिर भी तुझे अपनी इस दुरवस्थाका बोध नहीं होता?'॥

अनिष्टे सुभगाकारे सौभाग्येन विकत्थसे।
चलं हि तव सौभाग्यं नद्याः स्रोत इवोष्णगे॥ १५॥

'तेरे प्रियतम तेरे सामने ऐसा आकार बनाये आते हैं मानो सारा सौभाग्य तुझे ही अर्पित कर देते हों, परंतु पीठ-पीछे वे तेरा अनिष्ट करते हैं। तू उन्हें अपनेमें अनुरक्त जानकर सौभाग्यकी डींग हाँका करती है, परंतु जैसे ग्रीष्म ऋतुमें नदीका प्रवाह सूखता चला जाता है, उसी प्रकार तेरा वह सौभाग्य अब अस्थिर हो गया है—तेरे हाथसे चला जाना चाहता है!'॥ १५॥

एवमुक्ता तु कैकेयी रुष्टया परुषं वचः।
कुब्जया पापदर्शिन्या विषादमगमत् परम्॥ १६॥

इष्टमें भी अनिष्टका दर्शन करानेवाली रोषभरी कुब्जाके इस प्रकार कठोर वचन कहनेपर कैकेयीके मनमें बड़ा दुःख हुआ॥ १६॥

कैकेयी त्वब्रवीत् कुब्जां कच्चित् क्षेमं न मन्थरे।
विषण्णवदनां हि त्वां लक्षये भृशदुःखिताम्॥ १७॥

उस समय केकयराजकुमारीने कुब्जासे पूछा—'मन्थरे! कोई अमङ्गलकी बात तो नहीं हो गयी; क्योंकि तेरे मुखपर विषाद छा रहा है और तू मुझे बहुत दुःखी दिखायी देती है'॥ १७॥

मन्थरा तु वचः श्रुत्वा कैकेय्या मधुराक्षरम्।
उवाच क्रोधसंयुक्ता वाक्यं वाक्यविशारदा॥ १८॥
सा विषण्णतरा भूत्वा कुब्जा तस्यां हितैषिणी।
विषादयन्ती प्रोवाच भेदयन्ती च राघवम्॥ १९॥

मन्थरा बातचीत करनेमें बड़ी कुशल थी, वह कैकेयीके मीठे वचन सुनकर और भी खिन्न हो गयी, उसके प्रति अपनी हितैषिता प्रकट करती हुई कुपित हो उठी और कैकेयीके मनमें श्रीरामके प्रति भेदभाव और विषाद उत्पन्न करती हुई इस प्रकार बोली—॥ १८-१९॥

अक्षयं सुमहद् देवि प्रवृत्तं त्वद्विनाशनम्।
रामं दशरथो राजा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति॥ २०॥

'देवि! तुम्हारे सौभाग्यके महान् विनाशका कार्य आरम्भ हो गया है, जिसका कोई प्रतीकार नहीं है। कल महाराज दशरथ श्रीरामको युवराजके पदपर अभिषिक्त कर देंगे॥

सास्म्यगाधे भये मग्ना दुःखशोकसमन्विता।
दह्यमानानलेनेव त्वद्धितार्थमिहागता॥ २१॥

'यह समाचार पाकर मैं दुःख और शोकसे व्याकुल हो अगाध भयके समुद्रमें डूब गयी हूँ, चिन्ताकी आगसे मानो जली जा रही हूँ और तुम्हारे हितकी बात बतानेके लिये यहाँ आयी हूँ'॥ २१॥

तव दुःखेन कैकेयि मम दुःखं महद् भवेत्।
त्वद्वृद्धौ मम वृद्धिश्च भवेदिह न संशयः॥ २२॥

'केकयनन्दिनि! यदि तुमपर कोई दुःख आया तो उससे

मुझे भी बड़े भारी दुःखमें पड़ना होगा। तुम्हारी उन्नतिमें ही मेरी भी उन्नति है, इसमें संशय नहीं है॥ २२॥

नराधिपकुले जाता महिषी त्वं महीपतेः।
उग्रत्वं राजधर्माणां कथं देवि न बुध्यसे॥ २३॥

'देवि! तुम राजाओंके कुलमें उत्पन्न हुई हो और एक महाराजकी महारानी हो, फिर भी राजधर्मोंकी उग्रताको कैसे नहीं समझ रही हो?॥ २३॥

धर्मवादी शठो भर्ता श्लक्ष्णवादी च दारुणः।
शुद्धभावेन जानीषे तेनैवमतिसंधिता॥ २४॥

'तुम्हारे स्वामी धर्मकी बातें तो बहुत करते हैं, परंतु हैं बड़े शठ। मुँहसे चिकनी-चुपड़ी बातें करते हैं, परंतु हृदयके बड़े क्रूर हैं। तुम समझती हो कि वे सारी बातें शुद्ध भावसे ही कहते हैं, इसीलिये आज उनके द्वारा तुम बेतरह ठगी गयी॥ २४॥

उपस्थितः प्रयुञ्जानस्त्वयि सान्त्वमनर्थकम्।
अर्थेनैवाद्य ते भर्ता कौसल्यां योजयिष्यति॥ २५॥

'तुम्हारे पति तुम्हें व्यर्थ सान्त्वना देनेके लिये यहाँ उपस्थित होते हैं, वे ही अब रानी कौसल्याको अर्थसे सम्पन्न करने जा रहे हैं॥ २५॥

अपवाह्य तु दुष्टात्मा भरतं तव बन्धुषु।
काल्ये स्थापयिता रामं राज्ये निहतकण्टके॥ २६॥

'उनका हृदय इतना दूषित है कि भरतको तो उन्होंने तुम्हारे मायके भेज दिया और कल सबेरे ही अवधके निष्कण्टक राज्यपर वे श्रीरामका अभिषेक करेंगे॥ २६॥

शत्रुः पतिप्रवादेन मात्रेव हितकाम्यया।
आशीविष इवाङ्केन बाले परिधृतस्त्वया॥ २७॥

'बाले! जैसे माता हितकी कामनासे पुत्रका पोषण करती है, उसी प्रकार 'पति' कहलानेवाले जिस व्यक्तिका तुमने पोषण किया है, वह वास्तवमें शत्रु निकला। जैसे कोई अज्ञानवश सर्पको अपनी गोदमें लेकर उसका लालन करे, उसी प्रकार तुमने उन सर्पवत् बर्ताव करनेवाले महाराजको अपने अङ्कमें स्थान दिया है॥ २७॥

यथा हि कुर्याच्छत्रुर्वा सर्पो वा प्रत्युपेक्षितः।
राज्ञा दशरथेनाद्य सपुत्रा त्वं तथा कृता॥ २८॥

'उपेक्षित शत्रु अथवा सर्प जैसा बर्ताव कर सकता है, राजा दशरथने आज पुत्रसहित तुझ कैकेयीके प्रति वैसा ही बर्ताव किया है॥ २८॥

पापेनानृतसान्त्वेन बाले नित्यं सुखोचिता।
रामं स्थापयता राज्ये सानुबन्धा हता ह्यसि॥ २९॥

'बाले! तुम सदा सुख भोगनेके योग्य हो, परंतु मनमें पाप (दुर्भावना) रखकर ऊपरसे झूठी सान्त्वना देनेवाले महाराजने अपने राज्यपर श्रीरामको स्थापित करनेका विचार करके आज सगे-सम्बन्धियोंसहित तुमको मानो मौतके मुखमें डाल दिया है॥ २९॥

सा प्राप्तकालं कैकेयि क्षिप्रं कुरु हितं तव।
त्रायस्व पुत्रमात्मानं मां च विस्मयदर्शने॥ ३०॥

'केकयराजकुमारी! तुम दुःखजनक बात सुनकर भी मेरी ओर इस तरह देख रही हो, मानो तुम्हें प्रसन्नता हुई हो और मेरी बातोंसे तुम्हें विस्मय हो रहा हो, परंतु यह विस्मय छोड़ो और जिसे करनेका समय आ गया है, अपने उस हितकर कार्यको शीघ्र करो तथा ऐसा करके अपनी, अपने पुत्रकी और मेरी भी रक्षा करो'॥ ३०॥

मन्थराया वचः श्रुत्वा शयनात् सा शुभानना।
उत्तस्थौ हर्षसम्पूर्णा चन्द्रलेखेव शारदी॥ ३१॥

मन्थराकी यह बात सुनकर सुन्दर मुखवाली कैकेयी सहसा शय्यासे उठ बैठी। उसका हृदय हर्षसे भर गया। वह शरत्पूर्णिमाके चन्द्रमण्डलकी भाँति उद्दीप्त हो उठी॥ ३१॥

अतीव सा तु संतुष्टा कैकेयी विस्मयान्विता।
दिव्यमाभरणं तस्यै कुब्जायै प्रददौ शुभम्॥ ३२॥

कैकेयी मन-ही-मन अत्यन्त संतुष्ट हुई। विस्मयविमुग्ध हो मुसकराते हुए उसने कुब्जाको पुरस्कारके रूपमें एक बहुत सुन्दर दिव्य आभूषण प्रदान किया॥ ३२॥

दत्त्वा त्वाभरणं तस्यै कुब्जायै प्रमदोत्तमा।
कैकेयी मन्थरां हृष्टा पुनरेवाब्रवीदिदम्॥ ३३॥
इदं तु मन्थरे मह्यमाख्यातं परमं प्रियम्।
एतन्मे प्रियमाख्यातं किं वा भूयः करोमि ते॥ ३४॥

कुब्जाको वह आभूषण देकर हर्षसे भरी हुई रमणी-शिरोमणि कैकेयीने पुनः मन्थरासे इस प्रकार कहा—'मन्थरे! यह तूने मुझे बड़ा ही प्रिय समाचार सुनाया। तूने मेरे लिये जो यह प्रिय संवाद सुनाया, इसके लिये मैं तेरा और कौन-सा उपकार करूँ॥ ३३-३४॥

रामे वा भरते वाहं विशेषं नोपलक्षये।
तस्मात् तुष्टास्मि यद् राजा रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति॥ ३५॥

'मैं भी राम और भरतमें कोई भेद नहीं समझती। अतः यह जानकर कि राजा श्रीरामका अभिषेक करनेवाले हैं, मुझे बड़ी खुशी हुई है॥ ३५॥

न मे परं किंचिदितो वरं पुनः
प्रियं प्रियार्हे सुवचं वचोऽमृतम्।
तथा ह्यवोचस्त्वमतः प्रियोत्तरं
वरं परं ते प्रददामि तं वृणु॥ ३६॥

'मन्थरे! तू मुझसे प्रिय वस्तु पानेके योग्य है। मेरे लिये श्रीरामके अभिषेकसम्बन्धी इस समाचारसे बढ़कर दूसरा

कोई प्रिय एवं अमृतके समान मधुर वचन नहीं कहा जा सकता। ऐसी परम प्रिय बात तुमने कही है; अतः अब यह प्रिय संवाद सुनानेके बाद तू कोई श्रेष्ठ वर माँग ले, मैं उसे अवश्य दूँगी' ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सातवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमः सर्गः

मन्थराका पुनः श्रीरामके राज्याभिषेकको कैकेयीके लिये अनिष्टकारी बताना, कैकेयीका श्रीरामके गुणोंको बताकर उनके अभिषेकका समर्थन करना तत्पश्चात् कुब्जाका पुनः श्रीरामराज्यको भरतके लिये भयजनक बताकर कैकेयीको भड़काना

मन्थरा त्वभ्यसूय्यैनामुत्सृज्याभरणं हि तत्।
उवाचेदं ततो वाक्यं कोपदुःखसमन्विता ॥ १ ॥

यह सुनकर मन्थराने कैकेयीकी निन्दा करके उसके दिये हुए आभूषणको उठाकर फेंक दिया और कोप तथा दुःखसे भरकर वह इस प्रकार बोली— ॥ १ ॥

हर्षं किमर्थमस्थाने कृतवत्यसि बालिशे।
शोकसागरमध्यस्थं नात्मानमवबुध्यसे ॥ २ ॥

'रानी! तुम बड़ी नादान हो। अहो! तुमने यह बेमौके हर्ष किसलिये प्रकट किया? तुम्हें शोकके स्थानपर प्रसन्नता कैसे हो रही है? अरी! तुम शोकके समुद्रमें डूबी हुई हो, तो भी तुम्हें अपनी इस विपन्नावस्थाका बोध नहीं हो रहा है ॥ २ ॥

मनसा प्रसहामि त्वां देवि दुःखार्दिता सती।
यच्छोचितव्ये हृष्टासि प्राप्य त्वं व्यसनं महत् ॥ ३ ॥

'देवि! महान् संकटमें पड़नेपर जहाँ तुम्हें शोक होना चाहिये, वहीं हर्ष हो रहा है। तुम्हारी यह अवस्था देखकर मुझे मन-ही-मन बड़ा क्लेश सहन करना पड़ता है। मैं दुःखसे व्याकुल हुई जाती हूँ ॥ ३ ॥

शोचामि दुर्मतित्वं ते का हि प्राज्ञा प्रहर्षयेत्।
अरेः सपत्नीपुत्रस्य वृद्धिं मृत्योरिवागताम् ॥ ४ ॥

'मुझे तुम्हारी दुर्बुद्धिके लिये ही अधिक शोक होता है। अरी! सौतका बेटा शत्रु होता है। वह सौतेली माँके लिये साक्षात् मृत्युके समान है। भला, उसके अभ्युदयका अवसर आया देख कौन बुद्धिमती स्त्री अपने मनमें हर्ष मानेगी ॥

भरतादेव रामस्य राज्यसाधारणाद् भयम्।
तद् विचिन्त्य विषण्णास्मि भयं भीताद्धि जायते ॥ ५ ॥

'यह राज्य भरत और राम दोनोंके लिये साधारण भोग्यवस्तु है, इसपर दोनोंका समान अधिकार है, इसलिये श्रीरामको भरतसे ही भय है। यही सोचकर मैं विषादमें डूबी जाती हूँ; क्योंकि भयभीतसे ही भय प्राप्त होता है अर्थात् आज जिसे भय है, वही राज्य प्राप्त कर लेनेपर जब सबल हो जायगा, तब अपने भयके हेतुको उखाड़ फेंकेगा ॥ ५ ॥

लक्ष्मणो हि महाबाहू रामं सर्वात्मना गतः।
शत्रुघ्नश्चापि भरतं काकुत्स्थं लक्ष्मणो यथा ॥ ६ ॥

'महाबाहु लक्ष्मण सम्पूर्ण हृदयसे श्रीरामचन्द्रजीके अनुगत हैं। जैसे लक्ष्मण श्रीरामके अनुगत हैं, उसी तरह शत्रुघ्न भी भरतका अनुसरण करनेवाले हैं ॥ ६ ॥

प्रत्यासन्नक्रमेणापि भरतस्यैव भामिनि।
राज्यक्रमो विसृष्टस्तु तयोस्तावद्यवीयसोः ॥ ७ ॥

'भामिनि! उत्पत्तिके क्रमसे श्रीरामके बाद भरतका ही पहले राज्यपर अधिकार हो सकता है (अतः भरतसे भय होना स्वाभाविक है)। लक्ष्मण और शत्रुघ्न तो छोटे हैं; अतः उनके लिये राज्यप्राप्तिकी सम्भावना दूर है ॥ ७ ॥

विदुषः क्षत्रचारित्रे प्राज्ञस्य प्राप्तकारिणः।
भयात् प्रवेपे रामस्य चिन्तयन्ती तवात्मजम् ॥ ८ ॥

'श्रीराम समस्त शास्त्रोंके ज्ञाता हैं, विशेषतः क्षत्रिय-चरित्र (राजनीति) के पण्डित हैं तथा समयोचित कर्तव्यका पालन करनेवाले हैं; अतः उनका तुम्हारे पुत्रके प्रति जो क्रूरतापूर्ण बर्ताव होगा, उसे सोचकर मैं भयसे काँप उठती हूँ ॥ ८ ॥

सुभगा किल कौसल्या यस्याः पुत्रोऽभिषेक्ष्यते।
यौवराज्येन महता श्वः पुष्येण द्विजोत्तमैः ॥ ९ ॥

'वास्तवमें कौसल्या ही सौभाग्यवती हैं, जिनके पुत्रका कल पुष्यनक्षत्रके योगमें श्रेष्ठ ब्राह्मणोंद्वारा युवराजके महान् पदपर अभिषेक होने जा रहा है ॥ ९ ॥

प्राप्तां वसुमतीं प्रीतिं प्रतीतां हतविद्विषम्।
उपस्थास्यसि कौसल्यां दासीवत् त्वं कृताञ्जलिः ॥ १० ॥

'वे भूमण्डलका निष्कण्टक राज्य पाकर प्रसन्न होंगी; क्योंकि वे राजाकी विश्वासपात्र हैं और तुम दासीकी भाँति हाथ जोड़कर उनकी सेवामें उपस्थित होओगी ॥ १० ॥

एवं च त्वं सहास्माभिस्तस्याः प्रेष्या भविष्यसि।
पुत्रश्च तव रामस्य प्रेष्यत्वं हि गमिष्यति ॥ ११ ॥

'इस प्रकार हमलोगोंके साथ तुम भी कौसल्याकी दासी बनोगी और तुम्हारे पुत्र भरतको भी श्रीरामचन्द्रजीकी गुलामी करनी पड़ेगी ॥ ११ ॥

हृष्टाः खलु भविष्यन्ति रामस्य परमाः स्त्रियः।
अप्रहृष्टा भविष्यन्ति स्नुषास्ते भरतक्षये॥ १२॥

'श्रीरामचन्द्रजीके अन्तःपुरकी परम सुन्दरी स्त्रियाँ—सीतादेवी और उनकी सखियाँ निश्चय ही बहुत प्रसन्न होंगी और भरतके प्रभुत्वका नाश होनेसे तुम्हारी बहुएँ शोकमग्न हो जायँगी'॥ १२॥

तां दृष्ट्वा परमप्रीतां ब्रुवन्तीं मन्थरां ततः।
रामस्यैव गुणान् देवी कैकेयी प्रशशंस ह॥ १३॥

मन्थराको अत्यन्त अप्रसन्नताके कारण इस प्रकार बहकी-बहकी बातें करती देख देवी कैकेयीने श्रीरामके गुणोंकी ही प्रशंसा करते हुए कहा—॥ १३॥

धर्मज्ञो गुणवान् दान्तः कृतज्ञः सत्यवाक्शुचिः।
रामो राजसुतो ज्येष्ठो यौवराज्यमतोऽर्हति॥ १४॥

'कुब्जे! श्रीराम धर्मके ज्ञाता, गुणवान्, जितेन्द्रिय, कृतज्ञ, सत्यवादी और पवित्र होनेके साथ ही महाराजके ज्येष्ठ पुत्र हैं; अतः युवराज होनेके योग्य वे ही हैं॥ १४॥

भ्रातॄन् भृत्यांश्च दीर्घायुः पितृवत् पालयिष्यति।
संतप्यसे कथं कुब्जे श्रुत्वा रामाभिषेचनम्॥ १५॥

'वे दीर्घजीवी होकर अपने भाइयों और भृत्योंका पिताकी भाँति पालन करेंगे। कुब्जे! उनके अभिषेककी बात सुनकर तू इतनी जल क्यों रही है?॥ १५॥

भरतश्चापि रामस्य ध्रुवं वर्षशतात् परम्।
पितृपैतामहं राज्यमवाप्स्यति नरर्षभः॥ १६॥

'श्रीरामकी राज्यप्राप्तिके सौ वर्ष बाद नरश्रेष्ठ भरतको भी निश्चय ही अपने पिता-पितामहोंका राज्य मिलेगा॥ १६॥

सा त्वमभ्युदये प्राप्ते दह्यमानेव मन्थरे।
भविष्यति च कल्याणे किमिदं परितप्यसे॥ १७॥

'मन्थरे! ऐसे अभ्युदयकी प्राप्तिके समय, जब कि भविष्यमें कल्याण-ही-कल्याण दिखायी दे रहा है, तू इस प्रकार जलती हुई-सी संतप्त क्यों हो रही है?॥ १७॥

यथा वै भरतो मान्यस्तथा भूयोऽपि राघवः।
कौसल्यातोऽतिरिक्तं च मम शुश्रूषते बहु॥ १८॥

'मेरे लिये जैसे भरत आदरके पात्र हैं, वैसे ही बल्कि उनसे भी बढ़कर श्रीराम हैं; क्योंकि वे कौसल्यासे भी बढ़कर मेरी बहुत सेवा किया करते हैं॥ १८॥

राज्यं यदि हि रामस्य भरतस्यापि तत् तदा।
मन्यते हि यथाऽऽत्मानं यथा भ्रातॄंस्तु राघवः॥ १९॥

'यदि श्रीरामको राज्य मिल रहा है तो उसे भरतको मिला हुआ समझ; क्योंकि श्रीरामचन्द्र अपने भाइयोंको भी अपने ही समान समझते हैं'॥ १९॥

कैकेय्या वचनं श्रुत्वा मन्थरा भृशदुःखिता।
दीर्घमुष्णं विनिःश्वस्य कैकेयीमिदमब्रवीत्॥ २०॥

कैकेयीकी यह बात सुनकर मन्थराको बड़ा दुःख हुआ। वह लंबी और गरम साँस खींचकर कैकेयीसे बोली—॥ २०॥

अनर्थदर्शिनी मौर्ख्यान्नात्मानमवबुध्यसे।
शोकव्यसनविस्तीर्णे मज्जन्ती दुःखसागरे॥ २१॥

'रानी! तुम मूर्खतावश अनर्थको ही अर्थ समझ रही हो। तुम्हें अपनी स्थितिका पता नहीं है। तुम दुःखके उस महासागरमें डूब रही हो, जो शोक (इष्टसे वियोगकी चिन्ता) और व्यसन (अनिष्टकी प्राप्तिके दुःख) से महान् विस्तारको प्राप्त हो रहा है॥ २१॥

भविता राघवो राजा राघवस्य च यः सुतः।
राजवंशात्तु भरतः कैकेयि परिहास्यते॥ २२॥

'केकयराजकुमारी! जब श्रीरामचन्द्र राजा हो जायँगे, तब उनके बाद उनका जो पुत्र होगा, उसीको राज्य मिलेगा। भरत तो राजपरम्परासे अलग हो जायँगे॥ २२॥

नहि राज्ञः सुताः सर्वे राज्ये तिष्ठन्ति भामिनि।
स्थाप्यमानेषु सर्वेषु सुमहाननयो भवेत्॥ २३॥

'भामिनि! राजाके सभी पुत्र राज्यसिंहासनपर नहीं बैठते हैं; यदि सबको बिठा दिया जाय तो बड़ा भारी अनर्थ हो जाय॥ २३॥

तस्माज्ज्येष्ठे हि कैकेयि राज्यतन्त्राणि पार्थिवाः।
स्थापयन्त्यनवद्याङ्गि गुणवत्स्वितरेष्वपि॥ २४॥

'परमसुन्दरी केकयनन्दिनि! इसीलिये राजालोग राज-काजका भार ज्येष्ठ पुत्रपर ही रखते हैं। यदि ज्येष्ठ पुत्र गुणवान् न हो तो दूसरे गुणवान् पुत्रोंको भी राज्य सौंप देते हैं॥ २४॥

असावत्यन्तनिर्भग्नस्तव पुत्रो भविष्यति।
अनाथवत् सुखेभ्यश्च राजवंशाच्च वत्सले॥ २५॥

'पुत्रवत्सले! तुम्हारा पुत्र राज्यके अधिकारसे तो बहुत दूर हटा ही दिया जायगा, वह अनाथकी भाँति समस्त सुखोंसे भी वञ्चित हो जायगा॥ २५॥

साहं त्वदर्थे सम्प्राप्ता त्वं तु मां नावबुद्ध्यसे।
सपत्निवृद्धौ या मे त्वं प्रदेयं दातुमर्हसि॥ २६॥

'इसलिये मैं तुम्हारे ही हितकी बात सुझानेके लिये यहाँ आयी हूँ; परंतु तुम मेरा अभिप्राय तो समझती नहीं, उलटे सौतका अभ्युदय सुनकर मुझे पारितोषिक देने चली हो॥

ध्रुवं तु भरतं रामः प्राप्य राज्यमकण्टकम्।
देशान्तरं नाययिता लोकान्तरमथापि वा॥ २७॥

'याद रखो, यदि श्रीरामको निष्कण्टक राज्य मिल गया तो वे भरतको अवश्य ही इस देशसे बाहर निकाल देंगे अथवा उन्हें परलोकमें भी पहुँचा सकते हैं॥ २७॥

बाल एव तु मातुल्यं भरतो नायितस्त्वया।
संनिकर्षाच्च सौहार्दं जायते स्थावरेष्विव॥ २८॥

'छोटी अवस्थामें ही तुमने भरतको मामाके घर भेज दिया। निकट रहनेसे सौहार्द उत्पन्न होता है। यह बात

स्थावर योनियोंमें भी देखी जाती है (लता और वृक्ष आदि एक-दूसरेके निकट होनेपर परस्पर आलिङ्गन-पाशमें बद्ध हो जाते हैं। यदि भरत यहाँ होते तो राजाका उनमें भी समानरूपसे स्नेह बढ़ता; अतः वे उन्हें भी आधा राज्य दे देते) ॥ २८ ॥

भरतानुवशात् सोऽपि शत्रुघ्नस्तत्समं गतः।
लक्ष्मणो हि यथा रामं तथायं भरतं गतः ॥ २९ ॥

'भरतके अनुरोधसे शत्रुघ्न भी उनके साथ ही चले गये (यदि वे यहाँ होते तो भरतका काम बिगड़ने नहीं पाता। क्योंकि—) जैसे लक्ष्मण रामके अनुगामी हैं, उसी प्रकार शत्रुघ्न भरतका अनुसरण करनेवाले हैं ॥ २९ ॥

श्रूयते हि द्रुमः कश्चिच्छेत्तव्यो वनजीवनैः।
संनिकर्षादिषीकाभिर्मोचितः परमाद् भयात् ॥ ३० ॥

'सुना जाता है, जंगलकी लकड़ी बेचकर जीविका चलानेवाले कुछ लोगोंने किसी वृक्षको काटनेका निश्चय किया, परंतु वह वृक्ष कँटीली झाड़ियोंसे घिरा हुआ था; इसलिये वे उसे काट नहीं सके। इस प्रकार उन कँटीली झाड़ियोंने निकट रहनेके कारण उस वृक्षको महान् भयसे बचा लिया ॥ ३० ॥

गोप्ता हि रामं सौमित्रिर्लक्ष्मणं चापि राघवः।
अश्विनोरिव सौभ्रात्रं तयोर्लोकेषु विश्रुतम् ॥ ३१ ॥

'सुमित्राकुमार लक्ष्मण श्रीरामकी रक्षा करते हैं और श्रीराम उनकी। उन दोनोंका उत्तम भ्रातृ-प्रेम दोनों अश्विनीकुमारोंकी भाँति तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है ॥ ३१ ॥

तस्मान्न लक्ष्मणे रामः पापं किंचित् करिष्यति।
रामस्तु भरते पापं कुर्यादेव न संशयः ॥ ३२ ॥

'इसलिये श्रीराम लक्ष्मणका तो किञ्चित् भी अनिष्ट नहीं करेंगे, परंतु भरतका अनिष्ट किये बिना वे रह नहीं सकते; इसमें संशय नहीं है ॥ ३२ ॥

तस्माद् राजगृहादेव वनं गच्छतु राघवः।
एतद्धि रोचते मह्यं भृशं चापि हितं तव ॥ ३३ ॥

'अतः श्रीरामचन्द्र महाराजके महलसे ही सीधे वनको चले जायँ—मुझे तो यही अच्छा जान पड़ता है और इसीमें तुम्हारा परम हित है ॥ ३३ ॥

एवं ते ज्ञातिपक्षस्य श्रेयश्चैव भविष्यति।
यदि चेद् भरतो धर्मात् पित्र्यं राज्यमवाप्स्यति ॥ ३४ ॥

'यदि भरत धर्मानुसार अपने पिताका राज्य प्राप्त कर लेंगे तो तुम्हारा और तुम्हारे पक्षके अन्य सब लोगोंका भी कल्याण होगा ॥ ३४ ॥

स ते सुखोचितो बालो रामस्य सहजो रिपुः।
समृद्धार्थस्य नष्टार्थो जीविष्यति कथं वशे ॥ ३५ ॥

'सौतेला भाई होनेके कारण जो श्रीरामका सहज शत्रु है, वह सुख भोगनेके योग्य तुम्हारा बालक भरत राज्य और धनसे वञ्चित हो राज्य पाकर समृद्धिशाली बने हुए श्रीरामके वशमें पड़कर कैसे जीवित रहेगा ॥ ३५ ॥

अभिद्रुतमिवारण्ये सिंहेन गजयूथपम्।
प्रच्छाद्यमानं रामेण भरतं त्रातुमर्हसि ॥ ३६ ॥

'जैसे वनमें सिंह हाथियोंके यूथपतिपर आक्रमण करता है और वह भागा फिरता है, उसी प्रकार राजा राम भरतका तिरस्कार करेंगे; अतः उस तिरस्कारसे तुम भरतकी रक्षा करो ॥ ३६ ॥

दर्पान्निराकृता पूर्वं त्वया सौभाग्यवत्तया।
राममाता सपत्नी ते कथं वैरं न यापयेत् ॥ ३७ ॥

'तुमने पहले पतिका अत्यन्त प्रेम प्राप्त होनेके कारण घमंडमें आकर जिनका अनादर किया था, वे ही तुम्हारी सौत श्रीराममाता कौसल्या पुत्रकी राज्यप्राप्तिसे परम सौभाग्य-शालिनी हो उठी हैं; अब वे तुमसे अपने वैरका बदला क्यों नहीं लेंगी ॥ ३७ ॥

यदा च रामः पृथिवीमवाप्स्यते
प्रभूतरत्नाकरशैलसंयुताम् ।
तदा गमिष्यस्यशुभं पराभवं
सहैव दीना भरतेन भामिनि ॥ ३८ ॥

'भामिनि! जब श्रीराम अनेक समुद्रों और पर्वतोंसे युक्त समस्त भूमण्डलका राज्य प्राप्त कर लेंगे, तब तुम अपने पुत्र भरतके साथ ही दीन-हीन होकर अशुभ पराभवका पात्र बन जाओगी ॥ ३८ ॥

यदा हि रामः पृथिवीमवाप्स्यते
ध्रुवं प्रणष्टो भरतो भविष्यति।
अतो हि संचिन्तय राज्यमात्मजे
परस्य चैवास्य विवासकारणम् ॥ ३९ ॥

'याद रखो, जब श्रीराम इस पृथ्वीपर अधिकार प्राप्त कर लेंगे, तब निश्चय ही तुम्हारे पुत्र भरत नष्टप्राय हो जायँगे। अतः ऐसा कोई उपाय सोचो, जिससे तुम्हारे पुत्रको तो राज्य मिले और शत्रुभूत श्रीरामका वनवास हो जाय' ॥ ३९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें आठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८ ॥

—★—

नवमः सर्गः

कुब्जाके कुचक्रसे कैकेयीका कोपभवनमें प्रवेश

एवमुक्ता तु कैकेयी क्रोधेन ज्वलितानना।
दीर्घमुष्णं विनिःश्वस्य मन्थरामिदमब्रवीत्॥ १॥

मन्थराके ऐसा कहनेपर कैकेयीका मुख क्रोधसे तमतमा उठा। वह लंबी और गरम साँस खींचकर उससे इस प्रकार बोली— ॥ १॥

अद्य राममितः क्षिप्रं वनं प्रस्थापयाम्यहम्।
यौवराज्येन भरतं क्षिप्रमद्याभिषेचये॥ २॥

'कुब्जे! मैं श्रीरामको शीघ्र ही यहाँसे वनमें भेजूँगी और तुरंत ही युवराजके पदपर भरतका अभिषेक कराऊँगी॥ २॥

इदं त्विदानीं सम्पश्य केनोपायेन साधये।
भरतः प्राप्नुयाद् राज्यं न तु रामः कथंचन॥ ३॥

'परंतु इस समय यह तो सोचो कि किस उपायसे अपना अभीष्ट साधन करूँ? भरतको राज्य प्राप्त हो जाय और श्रीराम उसे किसी तरह भी न पा सकें—यह काम कैसे बने?' ॥ ३॥

एवमुक्ता तु सा देव्या मन्थरा पापदर्शिनी।
रामार्थमुपहिंसन्ती कैकेयीमिदमब्रवीत्॥ ४॥

देवी कैकेयीके ऐसा कहनेपर पापका मार्ग दिखानेवाली मन्थरा श्रीरामके स्वार्थपर कुठाराघात करती हुई वहाँ कैकेयीसे इस प्रकार बोली— ॥ ४॥

हन्तेदानीं प्रपश्य त्वं कैकेयि श्रूयतां वचः।
यथा ते भरतो राज्यं पुत्रः प्राप्स्यति केवलम्॥ ५॥

'केकयनन्दिनि! अच्छा, अब देखो कि मैं क्या करती हूँ? तुम मेरी बात सुनो, जिससे केवल तुम्हारे पुत्र भरत ही राज्य प्राप्त करेंगे (श्रीराम नहीं) ॥ ५॥

किं न स्मरसि कैकेयि स्मरन्ती वा निगूहसे।
यदुच्यमानमात्मार्थं मत्तस्त्वं श्रोतुमिच्छसि॥ ६॥

'कैकेयि! क्या तुम्हें स्मरण नहीं है? या स्मरण होनेपर भी मुझसे छिपा रही हो? जिसकी तुम मुझसे अनेक बार चर्चा करती रहती हो, अपने उसी प्रयोजनको तुम मुझसे सुनना चाहती हो? इसका क्या कारण है? ॥ ६॥

मयोच्यमानं यदि ते श्रोतुं छन्दो विलासिनि।
श्रूयतामभिधास्यामि श्रुत्वा चैतद् विधीयताम्॥ ७॥

'विलासिनि! यदि मेरे ही मुँहसे सुननेके लिये तुम्हारा आग्रह है तो बताती हूँ, सुनो और सुनकर इसीके अनुसार कार्य करो' ॥ ७॥

श्रुत्वैवं वचनं तस्या मन्थरायास्तु कैकयी।
किंचिदुत्थाय शयनात् स्वास्तीर्णादिदमब्रवीत्॥ ८॥

मन्थराका यह वचन सुनकर कैकेयी अच्छी तरहसे बिछे हुए उस पलंगसे कुछ उठकर उससे यों बोली— ॥ ८॥

कथयस्व ममोपायं केनोपायेन मन्थरे।
भरतः प्राप्नुयाद् राज्यं न तु रामः कथंचन॥ ९॥

मन्थरे! मुझसे वह उपाय बताओ। किस उपायसे भरतको तो राज्य मिल जायगा, किंतु श्रीराम उसे किसी तरह नहीं पा सकेंगे' ॥ ९॥

एवमुक्ता तदा देव्या मन्थरा पापदर्शिनी।
रामार्थमुपहिंसन्ती कैकेयीमिदमब्रवीत्॥ १०॥

देवी कैकेयीके ऐसा कहनेपर पापका मार्ग दिखानेवाली मन्थरा श्रीरामके स्वार्थपर कुठाराघात करती हुई उस समय कैकेयीसे इस प्रकार बोली— ॥ १०॥

पुरा देवासुरे युद्धे सह राजर्षिभिः पतिः।
अगच्छत् त्वामुपादाय देवराजस्य साह्यकृत्॥ ११॥

'देवि! पूर्वकालकी बात है कि देवासुर-संग्रामके अवसरपर राजर्षियोंके साथ तुम्हारे पतिदेव तुम्हें साथ लेकर देवराजकी सहायता करनेके लिये गये थे॥ ११॥

दिशमास्थाय कैकेयि दक्षिणां दण्डकान् प्रति।
वैजयन्तमिति ख्यातं पुरं यत्र तिमिध्वजः॥ १२॥
स शम्बर इति ख्यातः शतमायो महासुरः।
ददौ शक्रस्य संग्रामं देवसङ्घैरनिर्जितः॥ १३॥

'केकयराजकुमारी! दक्षिण दिशामें दण्डकारण्यके भीतर वैजयन्त नामसे विख्यात एक नगर है, जहाँ शम्बर नामसे प्रसिद्ध एक महान् असुर रहता था। वह अपनी ध्वजामें तिमि (ह्वेल मछली) का चिह्न धारण करता था और सैकड़ों मायाओंका जानकार था। देवताओंके समूह भी उसे पराजित नहीं कर पाते थे। एक बार उसने इन्द्रके साथ युद्ध छेड़ दिया॥ १२-१३॥

तस्मिन् महति संग्रामे पुरुषान् क्षतविक्षतान्।
रात्रौ प्रसुप्तान् घ्नन्ति स्म तरसापास्य राक्षसाः॥ १४॥

'उस महान् संग्राममें क्षत-विक्षत हुए पुरुष जब रातमें थककर सो जाते, उस समय राक्षस उन्हें उनके बिस्तरसे खींच ले जाते और मार डालते थे॥ १४॥

तत्राकरोन्महायुद्धं राजा दशरथस्तदा।
असुरैश्च महाबाहुः शस्त्रैश्च शकलीकृतः॥ १५॥

'उन दिनों महाबाहु राजा दशरथने भी वहाँ असुरोंके साथ बड़ा भारी युद्ध किया। उस युद्धमें असुरोंने अपने अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा उनके शरीरको जर्जर कर दिया॥ १५॥

अपवाह्य त्वया देवि संग्रामान्नष्टचेतनः।
तत्रापि विक्षतः शस्त्रैः पतिस्ते रक्षितस्त्वया॥ १६॥

'देवि! जब राजाकी चेतना लुप्त-सी हो गयी, उस समय सारथिका काम करती हुई तुमने अपने पतिको रणभूमिसे दूर हटाकर उनकी रक्षा की। जब वहाँ भी राक्षसोंके शस्त्रोंसे वे घायल हो गये, तब तुमने पुनः वहाँसे अन्यत्र ले जाकर उनकी रक्षा की॥ १६॥

तुष्टेन तेन दत्तौ ते द्वौ वरौ शुभदर्शने।
स त्वयोक्तः पतिर्देवि यदेच्छेयं तदा वरम्॥ १७॥

गृह्णीयां तु तदा भर्तस्तथेत्युक्तं महात्मना।
अनभिज्ञा ह्यहं देवि त्वयैव कथितं पुरा॥ १८॥

'शुभदर्शने! इससे संतुष्ट होकर महाराजने तुम्हें दो वरदान देनेको कहा—देवि! उस समय तुमने अपने पतिसे कहा—'प्राणनाथ! जब मेरी इच्छा होगी, तब मैं इन वरोंको माँग लूँगी।' उस समय उन महात्मा नरेशने 'तथास्तु' कहकर तुम्हारी बात मान ली थी। देवि! मैं इस कथाको नहीं जानती थी। पूर्वकालमें तुम्हींने मुझसे यह वृत्तान्त कहा था॥ १८॥

कथैषा तव तु स्नेहान्मनसा धार्यते मया।
रामाभिषेकसम्भारान्निगृह्य विनिवर्तय॥ १९॥

'तबसे तुम्हारे स्नेहवश मैं इस बातको मन-ही-मन सदा याद रखती आयी हूँ। तुम इन वरोंके प्रभावसे स्वामीको वशमें करके श्रीरामके अभिषेकके आयोजनको पलट दो॥

तौ च याचस्व भर्तारं भरतस्याभिषेचनम्।
प्रव्राजनं च रामस्य वर्षाणि च चतुर्दश॥ २०॥

'तुम उन दोनों वरोंको अपने स्वामीसे माँगो। एक वरके द्वारा भरतका राज्याभिषेक और दूसरेके द्वारा श्रीरामका चौदह वर्षतकका वनवास माँग लो॥ २०॥

चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रव्राजिते वनम्।
प्रजाभावगतस्नेहः स्थिरः पुत्रो भविष्यति॥ २१॥

'जब श्रीराम चौदह वर्षोंके लिये वनमें चले जायँगे।' तब उतने समयमें तुम्हारे पुत्र भरत समस्त प्रजाके हृदयमें अपने लिये स्नेह पैदा कर लेंगे और इस राज्यपर स्थिर हो जायँगे॥

क्रोधागारं प्रविश्याद्य क्रुद्धेवाश्वपतेः सुते।
शेष्वानन्तर्हितायां त्वं भूमौ मलिनवासिनी॥ २२॥

'अश्वपतिकुमारी! तुम इस समय मैले वस्त्र पहन लो और कोपभवनमें प्रवेश करके कुपित-सी होकर बिना बिस्तरके ही भूमिपर लेट जाओ॥ २२॥

मा स्मैनं प्रत्युदीक्षेथा मा चैनमभिभाषथाः।
रुदन्ती पार्थिवं दृष्ट्वा जगत्यां शोकलालसा॥ २३॥

'राजा आवें तो उनकी ओर आँखें उठाकर न देखो और न उनसे कोई बात ही करो। महाराजको देखते ही रोती हुई शोकमग्न हो धरतीपर लोटने लगो॥ २३॥

दयिता त्वं सदा भर्तुरत्र मे नास्ति संशयः।
त्वत्कृते च महाराजो विशेदपि हुताशनम्॥ २४॥

'इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि तुम अपने पतिकी सदा ही बड़ी प्यारी रही हो। तुम्हारे लिये महाराज आगमें भी प्रवेश कर सकते हैं॥ २४॥

न त्वां क्रोधयितुं शक्तो न क्रुद्धां प्रत्युदीक्षितुम्।
तव प्रियार्थं राजा तु प्राणानपि परित्यजेत्॥ २५॥

'वे न तो तुम्हें कुपित कर सकते हैं और न कुपित अवस्थामें तुम्हें देख ही सकते हैं। राजा दशरथ तुम्हारा प्रिय करनेके लिये अपने प्राणोंका भी त्याग कर सकते हैं॥ २५॥

न ह्यतिक्रमितुं शक्तस्तव वाक्यं महीपतिः।
मन्दस्वभावे बुध्यस्व सौभाग्यबलमात्मनः॥ २६॥

'महाराज तुम्हारी बात किसी तरह टाल नहीं सकते। मुग्धे! तुम अपने सौभाग्यके बलका स्मरण करो॥ २६॥

मणिमुक्तासुवर्णानि रत्नानि विविधानि च।
दद्याद् दशरथो राजा मा स्म तेषु मनः कृथाः॥ २७॥

'राजा दशरथ तुम्हें भुलावेमें डालनेके लिये मणि, मोती, सुवर्ण तथा भाँति-भाँतिके रत्न देनेकी चेष्टा करेंगे; किंतु तुम उनकी ओर मन न चलाना॥ २७॥

यौ तौ देवासुरे युद्धे वरौ दशरथो ददौ।
तौ स्मारय महाभागे सोऽर्थो न त्वा क्रमेदति॥ २८॥

'महाभागे! देवासुर-संग्रामके अवसरपर राजा दशरथने वे जो दो वर दिये थे, उनका उन्हें स्मरण दिलाना। वरदानके रूपमें माँगा गया वह तुम्हारा अभीष्ट मनोरथ सिद्ध हुए बिना नहीं रह सकता॥ २८॥

यदा तु ते वरं दद्यात् स्वयमुत्थाप्य राघवः।
व्यवस्थाप्य महाराजं त्वमिमं वृणुया वरम्॥ २९॥

'रघुकुलनन्दन राजा दशरथ जब स्वयं तुम्हें धरतीसे उठाकर वर देनेको उद्यत हो जायँ, तब उन महाराजको सत्यकी शपथ दिलाकर खूब पक्का करके उनसे वर माँगना॥ २९॥

रामप्रव्रजनं दूरं नव वर्षाणि पञ्च च।
भरतः क्रियतां राजा पृथिव्यां पार्थिवर्षभ॥ ३०॥

'वर माँगते समय कहना कि नृपश्रेष्ठ! आप श्रीरामको चौदह वर्षोंके लिये बहुत दूर वनमें भेज दीजिये और भरतको भूमण्डलका राजा बनाइये॥ ३०॥

चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रव्राजिते वनम्।
रूढश्च कृतमूलश्च शेषं स्थास्यति ते सुतः॥ ३१॥

'श्रीरामके चौदह वर्षोंके लिये वनमें चले जानेपर तुम्हारे पुत्र भरतका राज्य सुदृढ़ हो जायगा और प्रजा आदिको वशमें कर लेनेसे यहाँ उनकी जड़ जम जायगी। फिर चौदह वर्षोंके बाद भी वे आजीवन स्थिर बने रहेंगे॥ ३१॥

रामप्रव्राजनं चैव देवि याचस्व तं वरम्।
एवं सेत्स्यन्ति पुत्रस्य सर्वार्थास्तव कामिनि॥ ३२॥

'देवि! तुम राजासे श्रीरामके वनवासका वर अवश्य माँगो। पुत्रके लिये राज्यकी कामना करनेवाली कैकेयि! ऐसा करनेसे तुम्हारे पुत्रके सभी मनोरथ सिद्ध हो जायँगे॥

एवं प्रव्राजितश्चैव रामोऽरामो भविष्यति।
भरतश्च गतामित्रस्तव राजा भविष्यति॥ ३३॥

'इस प्रकार वनवास मिल जानेपर ये राम राम नहीं रह जायँगे (इनका आज जो प्रभाव है वह भविष्यमें नहीं रह सकेगा) और तुम्हारे भरत भी शत्रुहीन राजा होंगे॥ ३३॥

येन कालेन रामश्च वनात् प्रत्यागमिष्यति।
अन्तर्बहिश्च पुत्रस्ते कृतमूलो भविष्यति॥ ३४॥

'जिस समय श्रीराम वनसे लौटेंगे, उस समयतक तुम्हारे पुत्र भरत भीतर और बाहरसे भी दृढ़मूल हो जायँगे ॥ ३४ ॥

संगृहीतमनुष्यश्च सुहृद्भिः साकमात्मवान्।
प्राप्तकालं नु मन्येऽहं राजानं वीतसाध्वसा ॥ ३५ ॥
रामाभिषेकसंकल्पान्निगृह्य विनिवर्तय।

'उनके पास सैनिक-बलका भी संग्रह हो जायगा; जितेन्द्रिय तो वे हैं ही; अपने सुहृदोंके साथ रहकर दृढ़मूल हो जायँगे। इस समय मेरी मान्यताके अनुसार राजाको श्रीरामके राज्याभिषेकके संकल्पसे हटा देनेका समय आ गया है, अतः तुम निर्भय होकर राजाको अपने वचनोंमें बाँध लो और उन्हें श्रीरामके अभिषेकके संकल्पसे हटा दो' ॥

अनर्थमर्थरूपेण ग्राहिता सा ततस्तया ॥ ३६ ॥
हृष्टा प्रतीता कैकेयी मन्थरामिदमब्रवीत्।
सा हि वाक्येन कुब्जायाः किशोरीवोत्पथं गता ॥ ३७ ॥
कैकेयी विस्मयं प्राप्य परं परमदर्शना।

ऐसी बातें कहकर मन्थराने कैकेयीकी बुद्धिमें अनर्थको ही अर्थरूपमें जँचा दिया। कैकेयीको उसकी बातपर विश्वास हो गया और वह मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुई। यद्यपि वह बहुत समझदार थी, तो भी कुबरीके कहनेसे नादान बालिकाकी तरह कुमार्गपर चली गयी—अनुचित काम करनेको तैयार हो गयी। उसे मन्थराकी बुद्धिपर बड़ा आश्चर्य हुआ और वह उससे इस प्रकार बोली— ॥ ३६-३७½ ॥

प्रज्ञां ते नावजानामि श्रेष्ठे श्रेष्ठाभिधायिनि ॥ ३८ ॥
पृथिव्यामसि कुब्जानामुत्तमा बुद्धिनिश्चये।
त्वमेव तु ममार्थेषु नित्ययुक्ता हितैषिणी ॥ ३९ ॥

'हितकी बात बतानेमें कुशल कुब्जे! तू एक श्रेष्ठ स्त्री है, मैं तेरी बुद्धिकी अवहेलना नहीं करूँगी। बुद्धिके द्वारा किसी कार्यका निश्चय करनेमें तू इस पृथ्वीपर सभी कुब्जाओंमें उत्तम है। केवल तू ही मेरी हितैषिणी है और सदा सावधान रहकर मेरा कार्य सिद्ध करनेमें लगी रहती है ॥ ३८-३९ ॥

नाहं समवबुद्ध्येयं कुब्जे राज्ञश्चिकीर्षितम्।
सन्ति दुःसंस्थिताः कुब्जाः वक्राः परमपापिकाः ॥ ४० ॥

'कुब्जे! यदि तू न होती तो राजा जो षड्यन्त्र रचना चाहते हैं, वह कदापि मेरी समझमें नहीं आता। तेरे सिवा जितनी कुब्जाएँ हैं, वे बेडौल शरीरवाली, टेढ़ी-मेढ़ी और बड़ी पापिनी होती हैं ॥ ४० ॥

त्वं पद्मामिव वातेन संनता प्रियदर्शना।
उरस्तेऽभिनिविष्टं वै यावत् स्कन्धात् समुन्नतम् ॥ ४१ ॥

'तू तो वायुके द्वारा झुकायी हुई कमलिनीकी भाँति कुछ झुकी हुई होनेपर भी देखनेमें प्रिय (सुन्दर) है। तेरा वक्षःस्थल कुब्जताके दोषसे व्याप्त है, अतएव कंधोंतक ऊँचा दिखायी देता है ॥ ४१ ॥

अधस्ताच्चोदरं शान्तं सुनाभमिव लज्जितम्।
प्रतिपूर्णं च जघनं सुपीनौ च पयोधरौ ॥ ४२ ॥

'वक्षःस्थलसे नीचे सुन्दर नाभिसे युक्त जो उदर है, वह मानो वक्षःस्थलकी ऊँचाई देखकर लज्जित-सा हो गया है, इसीलिये शान्त—कृश प्रतीत होता है। तेरा जघन विस्तृत है और दोनों स्तन सुन्दर एवं स्थूल हैं ॥ ४२ ॥

विमलेन्दुसमं वक्त्रमहो राजसि मन्थरे।
जघनं तव निर्मृष्टं रशनादामभूषितम् ॥ ४३ ॥

'मन्थरे! तेरा मुख निर्मल चन्द्रमाके समान अद्भुत शोभा पा रहा है। करधनीकी लड़ियोंसे विभूषित तेरी कटिका अग्रभाग बहुत ही स्वच्छ—रोमादिसे रहित है ॥ ४३ ॥

जङ्घे भृशमुपन्यस्ते पादौ च व्यायतावुभौ।
त्वमायताभ्यां सक्थिभ्यां मन्थरे क्षौमवासिनी ॥ ४४ ॥
अग्रतो मम गच्छन्ती राजसेऽतीव शोभने।

'मन्थरे! तेरी पिण्डलियाँ परस्पर अधिक सटी हुई हैं और दोनों पैर बड़े-बड़े हैं। तू विशाल ऊरुओं (जाँघों) से सुशोभित होती है। शोभने! जब तू रेशमी साड़ी पहनकर मेरे आगे-आगे चलती है, तब तेरी बड़ी शोभा होती है ॥

आसन् याः शम्बरे मायाः सहस्रमसुराधिपे ॥ ४५ ॥
हृदये ते निविष्टास्ता भूयश्चान्याः सहस्रशः।
तदेव स्थगु यद् दीर्घं रथघोणमिवायतम् ॥ ४६ ॥
मतयः क्षत्रविद्याश्च मायाश्चात्र वसन्ति ते।

'असुरराज शम्बरको जिन सहस्रों मायाओंका ज्ञान है, वे सब तेरे हृदयमें स्थित हैं; इनके अलावे भी तू हजारों प्रकारकी मायाएँ जानती है। इन मायाओंका समुदाय ही तेरा यह बड़ा-सा कुब्बड़ है, जो रथके नकुए (अग्रभाग) के समान बड़ा है। इसीमें तेरी मति, स्मृति और बुद्धि, क्षत्रविद्या (राजनीति) तथा नाना प्रकारकी मायाएँ निवास करती हैं ॥

अत्र तेऽहं प्रमोक्ष्यामि मालां कुब्जे हिरण्मयीम् ॥ ४७ ॥
अभिषिक्ते च भरते राघवे च वनं गते।
जात्येन च सुवर्णेन सुनिष्टप्तेन सुन्दरि ॥ ४८ ॥
लब्धार्था च प्रतीता च लेपयिष्यामि ते स्थगु।

'सुन्दरी कुब्जे! यदि भरतका राज्याभिषेक हुआ और श्रीराम वनको चले गये तो मैं सफलमनोरथ एवं संतुष्ट होकर अच्छी जातिके खूब तपाये हुए सोनेकी बनी हुई सुन्दर स्वर्णमाला तेरे इस कुब्बड़को पहनाऊँगी और इसपर चन्दनका लेप लगवाऊँगी ॥ ४७-४८½ ॥

मुखे च तिलकं चित्रं जातरूपमयं शुभम् ॥ ४९ ॥
कारयिष्यामि ते कुब्जे शुभान्याभरणानि च।
परिधाय शुभे वस्त्रे देवतेव चरिष्यसि ॥ ५० ॥

'कुब्जे! तेरे मुख (ललाट) पर सुन्दर और विचित्र सोनेका टीका लगवा दूँगी और तू बहुत-से सुन्दर आभूषण एवं दो उत्तम वस्त्र (लहँगा और दुपट्टा) धारण करके

देवाङ्गनाके समान विचरण करेगी ॥ ४९-५० ॥

चन्द्रमाह्वयमानेन मुखेनाप्रतिमानना ।
गमिष्यसि गतिं मुख्यां गर्वयन्ती द्विषज्जने ॥ ५१ ॥

'चन्द्रमासे होड़ लगानेवाले अपने मनोहर मुखद्वारा तू ऐसी सुन्दर लगेगी कि तेरे मुखकी कहीं समता नहीं रह जायेगी तथा शत्रुओंके बीचमें अपने सौभाग्यपर गर्व प्रकट करती हुई तू सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर लेगी ॥ ५१ ॥

तवापि कुब्जाः कुब्जायाः सर्वाभरणभूषिताः ।
पादौ परिचरिष्यन्ति यथैव त्वं सदा मम ॥ ५२ ॥

'जैसे तू सदा मेरे चरणोंकी सेवा किया करती है, उसी प्रकार समस्त आभूषणोंसे विभूषित बहुत-सी कुब्जाएँ तुझ कुब्जाके भी चरणोंकी सदा परिचर्या किया करेंगी' ॥ ५२ ॥

इति प्रशस्यमाना सा कैकेयीमिदमब्रवीत् ।
शयानां शयने शुभ्रे वेद्यामग्निशिखामिव ॥ ५३ ॥

जब इस प्रकार कुब्जाकी प्रशंसा की गयी, तब उसने वेदीपर प्रज्वलित अग्नि-शिखाके समान शुभ्र शय्यापर शयन करनेवाली कैकेयीसे इस प्रकार कहा— ॥ ५३ ॥

गतोदके सेतुबन्धो न कल्याणि विधीयते ।
उत्तिष्ठ कुरु कल्याणं राजानमनुदर्शय ॥ ५४ ॥

'कल्याणि ! नदीका पानी निकल जानेपर उसके लिये बाँध नहीं बाँधा जाता, (यदि रामका अभिषेक हो गया तो तुम्हारा वर माँगना व्यर्थ होगा; अतः बातोंमें समय न बिताओ) जल्दी उठो और अपना कल्याण करो। कोपभवनमें जाकर राजाको अपनी अवस्थाका परिचय दो' ॥

तथा प्रोत्साहिता देवी गत्वा मन्थरया सह ।
क्रोधागारं विशालाक्षी सौभाग्यमदगर्विता ॥ ५५ ॥
अनेकशतसाहस्रं मुक्ताहारं वराङ्गना ।
अवमुच्य वरार्हाणि शुभान्याभरणानि च ॥ ५६ ॥

मन्थराके इस प्रकार प्रोत्साहन देनेपर सौभाग्यके मदसे गर्व करनेवाली विशाललोचना सुन्दरी कैकेयी देवी उसके साथ ही कोपभवनमें जाकर लाखोंकी लागतके मोतियोंके हार तथा दूसरे-दूसरे सुन्दर बहुमूल्य आभूषणोंको अपने शरीरसे उतार-उतारकर फेंकने लगी ॥ ५५-५६ ॥

तदा हेमोपमा तत्र कुब्जावाक्यवशंगता ।
संविश्य भूमौ कैकेयी मन्थरामिदमब्रवीत् ॥ ५७ ॥

सोनेके समान सुन्दर कान्तिवाली कैकेयी कुब्जाकी बातोंके वशीभूत हो गयी थी, अतः वह धरतीपर लेटकर मन्थरासे इस प्रकार बोली— ॥ ५७ ॥

इह वा मां मृतां कुब्जे नृपायावेदयिष्यसि ।
वनं तु राघवे प्राप्ते भरतः प्राप्स्यते क्षितिम् ॥ ५८ ॥
सुवर्णेन न मे ह्यर्थो न रत्नैर्न च भोजनैः ।
एष मे जीवितस्यान्तो रामो यद्यभिषिच्यते ॥ ५९ ॥

'कुब्जे ! मुझे न तो सुवर्णसे, न रत्नोंसे और न भाँति-भाँतिके भोजनोंसे ही कोई प्रयोजन है; यदि श्रीरामका राज्याभिषेक हुआ तो यह मेरे जीवनका अन्त होगा। अब या तो श्रीरामके वनमें चले जानेपर भरतको इस भूतलका राज्य प्राप्त होगा अथवा तू यहाँ महाराजको मेरी मृत्युका समाचार सुनायेगी' ॥ ५८-५९ ॥

अथो पुनस्तां महिषीं महीक्षितो
वचोभिरत्यर्थमहापराक्रमैः ।
उवाच कुब्जा भरतस्य मातरं
हितं वचो राममुपेत्य चाहितम् ॥ ६० ॥

तदनन्तर कुब्जा महाराज दशरथकी रानी और भरतकी माता कैकेयीसे अत्यन्त क्रूर वचनोंद्वारा पुनः ऐसी बात कहने लगी, जो लौकिक दृष्टिसे भरतके लिये हितकर और श्रीरामके लिये अहितकर थी— ॥ ६० ॥

प्रपत्स्यते राज्यमिदं हि राघवो
यदि ध्रुवं त्वं ससुता च तप्स्यसे ।
ततो हि कल्याणि यतस्व तत् तथा
यथा सुतस्ते भरतोऽभिषेक्ष्यते ॥ ६१ ॥

'कल्याणि ! यदि श्रीराम इस राज्यको प्राप्त कर लेंगे तो निश्चय ही अपने पुत्र भरतसहित तुम भारी संतापमें पड़ जाओगी; अतः ऐसा प्रयत्न करो, जिससे तुम्हारे पुत्र भरतका राज्याभिषेक हो जाय' ॥ ६१ ॥

तथातिविद्धा महिषीति कुब्जया
समाहता वागिषुभिर्मुहुर्मुहुः ।
विधाय हस्तौ हृदयेऽतिविस्मिता
शशंस कुब्जां कुपिता पुनः पुनः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार कुब्जाने अपने वचनरूपी बाणोंका बारंबार प्रहार करके जब रानी कैकेयीको अत्यन्त घायल कर दिया, तब वह अत्यन्त विस्मित और कुपित हो अपने हृदयपर दोनों हाथ रखकर कुब्जासे बारंबार इस प्रकार कहने लगी— ॥

यमस्य वा मां विषयं गतामितो
निशाम्य कुब्जे प्रतिवेदयिष्यसि ।
वनं गते वा सुचिराय राघवे
समृद्धकामो भरतो भविष्यति ॥ ६३ ॥

'कुब्जे ! अब या तो रामचन्द्रके अधिक कालके लिये वनमें चले जानेपर भरतका मनोरथ सफल होगा या तू मुझे यहाँसे यमलोकमें चली गयी सुनकर महाराजसे यह समाचार निवेदन करेगी ॥ ६३ ॥

अहं हि नैवास्तरणानि न स्रजो
न चन्दनं नाञ्जनपानभोजनम् ।
न किंचिदिच्छामि न चेह जीवनं
न चेदितो गच्छति राघवो वनम् ॥ ६४ ॥

'यदि राम यहाँसे वनको नहीं गये तो मैं न तो भाँति-भाँतिके बिछौने, न फूलोंके हार, न चन्दन, न अञ्जन,

न पान, न भोजन और न दूसरी ही कोई वस्तु लेना चाहूँगी। उस दशामें तो मैं यहाँ इस जीवनको भी नहीं रखना चाहूँगी' ॥ ६४ ॥

अथैवमुक्त्वा वचनं सुदारुणं
निधाय सर्वाभरणानि भामिनी।
असंस्कृतामास्तरणेन मेदिनीं
तदाधिशिश्ये पतितेव किंनरी ॥ ६५ ॥

ऐसे अत्यन्त कठोर वचन कहकर कैकेयीने सारे आभूषण उतार दिये और बिना बिस्तरके ही वह खाली जमीनपर लेट गयी। उस समय वह स्वर्गसे भूतलपर गिरी हुई किसी किन्नरीके समान जान पड़ती थी ॥ ६५ ॥

उदीर्णसंरम्भतमोवृतानना
तदावमुक्तोत्तममाल्यभूषणा
नरेन्द्रपत्नी विमना बभूव सा
तमोवृता द्यौरिव मग्नतारका ॥ ६६ ॥

उसका मुख बढ़े हुए अमर्षरूपी अन्धकारसे आच्छादित हो रहा था। उसके अङ्गोंसे उत्तम पुष्पहार और आभूषण उतर चुके थे। उस दशामें उदास मनवाली राजरानी कैकेयी जिसके तारे डूब गये हों, उस अन्धकाराच्छन्न आकाशके समान प्रतीत होती थी ॥ ६६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें नवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दशमः सर्गः

राजा दशरथका कैकेयीके भवनमें जाना, उसे कोपभवनमें स्थित देखकर दुःखी होना और उसको अनेक प्रकारसे सान्त्वना देना

विदर्शिता यदा देवी कुब्जया पापया भृशम्।
तदा शेते स्म सा भूमौ दिग्धविद्धेव किंनरी ॥ १ ॥

पापिनी कुब्जाने जब देवी कैकेयीको बहुत उलटी बातें समझा दीं, तब वह विषाक्त बाणसे विद्ध हुई किन्नरीके समान धरतीपर लोटने लगी ॥ १ ॥

निश्चित्य मनसा कृत्यं सा सम्यगिति भामिनी।
मन्थरायै शनैः सर्वमाचचक्षे विचक्षणा ॥ २ ॥

मन्थराके बताये हुए समस्त कार्यको यह बहुत उत्तम है—ऐसा मन-ही-मन निश्चय करके बातचीतमें कुशल भामिनी कैकेयीने मन्थरासे धीरे-धीरे अपना सारा मन्तव्य बता दिया ॥ २ ॥

सा दीना निश्चयं कृत्वा मन्थरावाक्यमोहिता।
नागकन्येव निःश्वस्य दीर्घमुष्णं च भामिनी ॥ ३ ॥
मुहूर्तं चिन्तयामास मार्गमात्मसुखावहम्।

मन्थराके वचनोंसे मोहित एवं दीन हुई भामिनी कैकेयी पूर्वोक्त निश्चय करके नागकन्याकी भाँति गरम और लंबी साँस खींचने लगी और दो घड़ीतक अपने लिये सुखदायक मार्गका विचार करती रही ॥ ३½ ॥

सा सुहृच्चार्थकामा च तं निशम्य विनिश्चयम् ॥ ४ ॥
बभूव परमप्रीता सिद्धिं प्राप्येव मन्थरा।

और वह मन्थरा जो कैकेयीका हित चाहनेवाली सुहृद् थी और उसीके मनोरथको सिद्ध करनेकी अभिलाषा रखती थी, कैकेयीके उस निश्चयको सुनकर बहुत प्रसन्न हुई; मानो उसे कोई बहुत बड़ी सिद्धि मिल गयी हो ॥ ४½ ॥

अथ सा रुषिता देवी सम्यक्कृत्वा विनिश्चयम् ॥ ५ ॥
संविवेशाबला भूमौ निवेश्य भ्रुकुटिं मुखे।

तदनन्तर रोषमें भरी हुई देवी कैकेयी अपने कर्तव्यका भलीभाँति निश्चय कर मुखमण्डलमें स्थित भौंहोंको टेढ़ी करके धरतीपर सो गयी। और क्या करती अबला ही तो थी ॥ ५½ ॥

ततश्चित्राणि माल्यानि दिव्यान्याभरणानि च ॥ ६ ॥
अपविद्धानि कैकेय्या तानि भूमिं प्रपेदिरे।

तदनन्तर उस केकयराजकुमारीने अपने विचित्र पुष्पहारों और दिव्य आभूषणोंको उतारकर फेंक दिया। वे सारे आभूषण धरतीपर यत्र-तत्र पड़े थे ॥ ६½ ॥

तया तान्यपविद्धानि माल्यान्याभरणानि च ॥ ७ ॥
अशोभयन्त वसुधां नक्षत्राणि यथा नभः।

जैसे छिटके हुए तारे आकाशकी शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार फेंके हुए वे पुष्पहार और आभूषण वहाँ भूमिकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ ७½ ॥

क्रोधागारे च पतिता सा बभौ मलिनाम्बरा ॥ ८ ॥
एकवेणीं दृढां बद्ध्वा गतसत्त्वेव किंनरी।

मलिन वस्त्र पहनकर और सारे केशोंको दृढ़तापूर्वक एक ही वेणीमें बाँधकर कोपभवनमें पड़ी हुई कैकेयी बलहीन अथवा अचेत हुई किन्नरीके समान जान पड़ती थी ॥ ८½ ॥

आज्ञाप्य तु महाराजो राघवस्याभिषेचनम् ॥ ९ ॥
उपस्थानमनुज्ञाप्य प्रविवेश निवेशनम्।

उधर महाराज दशरथ मन्त्री आदिको श्रीरामके राज्याभिषेककी तैयारीके लिये आज्ञा दे सबको यथासमय उपस्थित होनेके लिये कहकर रनिवासमें गये ॥ ९½ ॥

अद्य रामाभिषेको वै प्रसिद्ध इति जज्ञिवान् ॥ १० ॥
प्रियार्हां प्रियमाख्यातुं विवेशान्तःपुरं वशी।

उन्होंने सोचा—आज ही श्रीरामके अभिषेककी बात

प्रसिद्ध की गयी है, इसलिये यह समाचार अभी किसी रानीको नहीं मालूम हुआ होगा; ऐसा विचारकर जितेन्द्रिय राजा दशरथने अपनी प्यारी रानीको यह प्रिय संवाद सुनानेके लिये अन्तःपुरमें प्रवेश किया ॥ १०½ ॥

स कैकेय्या गृहं श्रेष्ठं प्रविवेश महायशाः ॥ ११ ॥
पाण्डुराभ्रमिवाकाशं राहुयुक्तं निशाकरः ।

उन महायशस्वी नरेशने पहले कैकेयीके श्रेष्ठ भवनमें प्रवेश किया, मानो श्वेत बादलोंसे युक्त राहुयुक्त आकाशमें चन्द्रमाने पदार्पण किया हो ॥ ११½ ॥

शुकबर्हिसमायुक्तं क्रौञ्चहंसरुतायुतम् ॥ १२ ॥
वादित्ररवसंघुष्टं कुब्जावामनिकायुतम् ।
लतागृहैश्चित्रगृहैश्चम्पकाशोकशोभितैः ॥ १३ ॥

उस भवनमें तोते, मोर, क्रौञ्च और हंस आदि पक्षी कलरव कर रहे थे, वहाँ वाद्योंका मधुर घोष गूँज रहा था, बहुत-सी कुब्जा और बौनी दासियाँ भरी हुई थीं, चम्पा और अशोकसे सुशोभित बहुत-से लताभवन और चित्रमन्दिर उस महलकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ १२-१३ ॥

दान्तराजत सौवर्णवेदिकाभिः समायुतम् ।
नित्यपुष्पफलैर्वृक्षैर्वापीभिरुपशोभितम् ॥ १४ ॥

हाथीदाँत, चाँदी और सोनेकी बनी हुई वेदियोंसे संयुक्त उस भवनको नित्य फूलने-फलनेवाले वृक्ष और बहुत-सी बावड़ियाँ सुशोभित कर रही थीं ॥ १४ ॥

दान्तराजतसौवर्णैः संवृतं परमासनैः ।
विविधैरन्नपानैश्च भक्ष्यैश्च विविधैरपि ॥ १५ ॥
उपपन्नं महार्हैश्च भूषणैस्त्रिदिवोपमम् ।

उसमें हाथीदाँत, चाँदी और सोनेके बने हुए उत्तम सिंहासन रखे गये थे। नाना प्रकारके अन्न, पान और भाँति-भाँतिके भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंसे वह भवन भरा-पूरा था। बहुमूल्य आभूषणोंसे सम्पन्न कैकेयीका वह भवन स्वर्गके समान शोभा पा रहा था ॥ १५½ ॥

स प्रविश्य महाराजः स्वमन्तःपुरमृद्धिमत् ॥ १६ ॥
न ददर्श स्त्रियं राजा कैकेयीं शयनोत्तमे ।

अपने उस समृद्धिशाली अन्तःपुरमें प्रवेश करके महाराज राजा दशरथने वहाँकी उत्तम शय्यापर रानी कैकेयीको नहीं देखा ॥ १६½ ॥

स कामबलसंयुक्तो रत्यर्थी मनुजाधिपः ॥ १७ ॥
अपश्यन् दयितां भार्यां पप्रच्छ विषसाद च ।

कामबलसे संयुक्त वे नरेश रानीकी प्रसन्नता बढ़ानेकी अभिलाषासे भीतर गये थे। वहाँ अपनी प्यारी पत्नीको न देखकर उनके मनमें बड़ा विषाद हुआ और वे उनके विषयमें पूछ-ताछ करने लगे ॥ १७½ ॥

नहि तस्य पुरा देवी तां वेलामत्यवर्तत ॥ १८ ॥
न च राजा गृहं शून्यं प्रविवेश कदाचन ।
ततो गृहगतो राजा कैकेयीं पर्यपृच्छत ॥ १९ ॥
यथापुरमविज्ञाय स्वार्थलिप्सुमपण्डिताम् ।

इससे पहले रानी कैकेयी राजाके आगमनकी उस बेलामें कहीं अन्यत्र नहीं जाती थीं, राजाने कभी सूने भवनमें प्रवेश नहीं किया था, इसीलिये वे घरमें आकर कैकेयीके बारेमें पूछने लगे। उन्हें यह मालूम नहीं था कि वह मूर्खा कोई स्वार्थ सिद्ध करना चाहती है, अतः उन्होंने पहलेकी ही भाँति प्रतिहारीसे उसके विषयमें पूछा ॥ १८-१९½ ॥

प्रतिहारी त्वथोवाच संत्रस्ता तु कृताञ्जलिः ॥ २० ॥
देव देवी भृशं क्रुद्धा क्रोधागारमभिद्रुता ।

प्रतिहारी बहुत डरी हुई थी। उसने हाथ जोड़कर कहा—'देव ! देवी कैकेयी अत्यन्त कुपित हो कोपभवनकी ओर दौड़ी गयी हैं' ॥ २०½ ॥

प्रतीहार्या वचः श्रुत्वा राजा परमदुर्मनाः ॥ २१ ॥
विषसाद पुनर्भूयो लुलितव्याकुलेन्द्रियः ।

प्रतिहारीकी यह बात सुनकर राजाका मन बहुत उदास हो गया, उनकी इन्द्रियाँ चञ्चल एवं व्याकुल हो उठीं और वे पुनः अधिक विषाद करने लगे ॥ २१½ ॥

तत्र तां पतितां भूमौ शयानामतथोचिताम् ॥ २२ ॥
प्रतप्त इव दुःखेन सोऽपश्यज्जगतीपतिः ।

कोपभवनमें वह भूमिपर पड़ी थी और इस तरह लेटी हुई थी, जो उसके लिये योग्य नहीं था। राजाने दुःखके कारण संतप्त-से होकर उसे इस अवस्थामें देखा ॥ २२½ ॥

सवृद्धस्तरुणीं भार्यां प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम् ॥ २३ ॥
अपापः पापसंकल्पां ददर्श धरणीतले ।
लतामिव विनिष्कृत्तां पतितां देवतामिव ॥ २४ ॥

राजा बूढ़े थे और उनकी वह पत्नी तरुणी थी, अतः वे उसे अपने प्राणोंसे भी बढ़कर मानते थे। राजाके मनमें कोई पाप नहीं था; परंतु कैकेयी अपने मनमें पापपूर्ण संकल्प लिये हुए थी। उन्होंने उसे कटी हुई लताकी भाँति पृथ्वीपर पड़ी देखा—मानो कोई देवाङ्गना स्वर्गसे भूतलपर गिर पड़ी हो ॥ २३-२४ ॥

किन्नरीमिव निर्धूतां च्युतामप्सरसं यथा ।
मायामिव परिभ्रष्टां हरिणीमिव संयताम् ॥ २५ ॥

वह स्वर्गभ्रष्ट किन्नरी, देवलोकसे च्युत हुई अप्सरा, लक्ष्यभ्रष्ट माया और जालमें बँधी हुई हरिणीके समान जान पड़ती थी ॥ २५ ॥

करेणुमिव दिग्धेन विद्धां मृगयुना वने ।
महागज इवारण्ये स्नेहात् परमदुःखिताम् ॥ २६ ॥
परिमृज्य च पाणिभ्यामभिसंत्रस्तचेतनः ।
कामी कमलपत्राक्षीमुवाच वनितामिदम् ॥ २७ ॥

जैसे कोई महान् गजराज वनमें व्याधके द्वारा विषलिप्त बाणसे विद्ध होकर गिरी हुई अत्यन्त दुःखित हथिनीका

स्नेहवश स्पर्श करता है, उसी प्रकार कामी राजा दशरथने महान् दुःखमें पड़ी हुई कमलनयनी भार्या कैकेयीका स्नेहपूर्वक दोनों हाथोंसे स्पर्श किया। उस समय उनके मनमें सब ओरसे यह भय समा गया था कि न जाने यह क्या कहेगी और क्या करेगी? वे उसके अङ्गोंपर हाथ फेरते हुए उससे इस प्रकार बोले— ॥ २६-२७ ॥

न तेऽहमभिजानामि क्रोधमात्मनि संश्रितम्।
देवि केनाभियुक्तासि केन वासि विमानिता ॥ २८ ॥

'देवि! तुम्हारा क्रोध मुझपर है, ऐसा तो मुझे विश्वास नहीं होता। फिर किसने तुम्हारा तिरस्कार किया है? किसके द्वारा तुम्हारी निन्दा की गयी है? ॥ २८ ॥

यदिदं मम दुःखाय शेषे कल्याणि पांसुषु।
भूमौ शेषे किमर्थं त्वं मयि कल्याणचेतसि ॥ २९ ॥
भूतोपहतचित्तेव मम चित्तप्रमाथिनि।

'कल्याणि! तुम जो इस तरह मुझे दुःख देनेके लिये धूलमें लोट रही हो, इसका क्या कारण है? मेरे चित्तको मथ डालनेवाली सुन्दरी! मेरे मनमें तो सदा तुम्हारे कल्याणकी ही भावना रहती है। फिर मेरे रहते हुए तुम किस लिये धरतीपर सो रही हो? जान पड़ता है तुम्हारे चित्तपर किसी पिशाचने अधिकार कर लिया है ॥ २९½ ॥

सन्ति मे कुशला वैद्यास्त्वभितुष्टाश्च सर्वशः ॥ ३० ॥
सुखितां त्वां करिष्यन्ति व्याधिमाचक्ष्व भामिनि।

'भामिनि! तुम अपना रोग बताओ। मेरे यहाँ बहुत-से चिकित्साकुशल वैद्य हैं, जिन्हें मैंने सब प्रकारसे संतुष्ट कर रखा है, वे तुम्हें सुखी कर देंगे ॥ ३०½ ॥

कस्य वापि प्रियं कार्यं केन वा विप्रियं कृतम् ॥ ३१ ॥
कः प्रियं लभतामद्य को वा सुमहदप्रियम्।

'अथवा कहो, आज किसका प्रिय करना है? या किसने तुम्हारा अप्रिय किया है? तुम्हारे किस उपकारीको आज प्रिय मनोरथ प्राप्त हो अथवा किस अपकारीको अत्यन्त अप्रिय—कठोर दण्ड दिया जाय? ॥ ३१½ ॥

मा रौत्सीर्मा च कार्षीस्त्वं देवि सम्परिशोषणम् ॥ ३२ ॥
अवध्यो वध्यतां को वा वध्यः को वा विमुच्यताम्।
दरिद्रः को भवेदाढ्यो द्रव्यवान् वाप्यकिंचनः ॥ ३३ ॥

'देवि! तुम न रोओ, अपनी देहको न सुखाओ; आज तुम्हारी इच्छाके अनुसार किस अवध्यका वध किया जाय? अथवा किस प्राणदण्ड पानेयोग्य अपराधीको भी मुक्त कर दिया जाय? किस दरिद्रको धनवान् और किस धनवान्को कंगाल बना दिया जाय? ॥ ३२-३३ ॥

अहं च हि मदीयाश्च सर्वे तव वशानुगाः।
न ते कंचिदभिप्रायं व्याहन्तुमहमुत्सहे ॥ ३४ ॥
आत्मनो जीवितेनापि ब्रूहि यन्मनसि स्थितम्।

'मैं और मेरे सभी सेवक तुम्हारी आज्ञाके अधीन हैं। तुम्हारे किसी भी मनोरथको मैं भंग नहीं कर सकता—उसे पूरा करके ही रहूँगा, चाहे उसके लिये मुझे अपने प्राण ही क्यों न देने पड़ें; अतः तुम्हारे मनमें जो कुछ हो, उसे स्पष्ट कहो ॥ ३४½ ॥

बलमात्मनि जानन्ती न मां शङ्कितुमर्हसि ॥ ३५ ॥
करिष्यामि तव प्रीतिं सुकृतेनापि ते शपे।

'अपने बलको जानते हुए भी तुम्हें मुझपर संदेह नहीं करना चाहिये। मैं अपने सत्कर्मोंकी शपथ खाकर कहता हूँ, जिससे तुम्हें प्रसन्नता हो, वही करूँगा ॥ ३५½ ॥

यावदावर्तते चक्रं तावती मे वसुंधरा ॥ ३६ ॥
द्राविडाः सिन्धुसौवीराः सौराष्ट्रा दक्षिणापथाः।
वङ्गाङ्गमगधा मत्स्याः समृद्धाः काशिकोसलाः ॥ ३७ ॥

'जहाँतक सूर्यका चक्र घूमता है, वहाँतक सारी पृथ्वी मेरे अधिकारमें है। द्रविड़, सिन्धु-सौवीर, सौराष्ट्र, दक्षिण भारतके सारे प्रदेश तथा अङ्ग, वङ्ग, मगध, मत्स्य, काशी और कोसल—इन सभी समृद्धिशाली देशोंपर मेरा आधिपत्य है ॥ ३७ ॥

तत्र जातं बहु द्रव्यं धनधान्यमजाविकम्।
ततो वृणीष्व कैकेयि यद् यत् त्वं मनसेच्छसि ॥ ३८ ॥

'केकयराजनन्दिनि! उनमें पैदा होनेवाले भाँति-भाँतिके द्रव्य, धन-धान्य और बकरी—भेड़ आदि जो भी तुम मनसे लेना चाहती हो, वह मुझसे माँग लो ॥ ३८ ॥

किमायासेन ते भीरु उत्तिष्ठोत्तिष्ठ शोभने।
तत्त्वं मे ब्रूहि कैकेयि यतस्ते भयमागतम्।
तत् ते व्यपनयिष्यामि नीहारमिव रश्मिवान् ॥ ३९ ॥

'भीरु! इतना क्लेश उठाने—प्रयास करनेकी क्या आवश्यकता है? शोभने! उठो, उठो। कैकेयि! ठीक-ठीक बताओ, तुम्हें किससे कौन-सा भय प्राप्त हुआ है? जैसे अंशुमाली सूर्य कुहरा दूर कर देते हैं, उसी प्रकार मैं तुम्हारे भयका सर्वथा निवारण कर दूँगा' ॥ ३९ ॥

तथोक्ता सा समाश्वस्ता वक्तुकामा तदप्रियम्।
परिपीडयितुं भूयो भर्तारमुपचक्रमे ॥ ४० ॥

राजाके ऐसा कहनेपर कैकेयीको कुछ सान्त्वना मिली। अब उसे अपने स्वामीसे वह अप्रिय बात कहनेकी इच्छा हुई। उसने पतिको और अधिक पीड़ा देनेकी तैयारी की ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे दशमः सर्गः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें दसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १० ॥

—★—

एकादशः सर्गः

कैकेयीका राजाको प्रतिज्ञाबद्ध करके उन्हें पहलेके दिये हुए दो वरोंका स्मरण दिलाकर भरतके लिये अभिषेक और रामके लिये चौदह वर्षोंका वनवास माँगना

तं मन्मथशरैर्विद्धं कामवेगवशानुगम्।
उवाच पृथिवीपालं कैकेयी दारुणं वचः॥ १॥

भूपाल दशरथ कामदेवके बाणोंसे पीड़ित तथा कामवेगके वशीभूत हो उसीका अनुसरण कर रहे थे। उनसे कैकेयीने यह कठोर वचन कहा—॥ १॥

नास्मि विप्रकृता देव केनचिन्नावमानिता।
अभिप्रायस्तु मे कश्चित् तमिच्छामि त्वया कृतम्॥ २॥

'देव! न तो किसीने मेरा अपकार किया है और न किसीके द्वारा मैं अपमानित या निन्दित ही हुई हूँ। मेरा कोई एक अभिप्राय (मनोरथ) है और मैं आपके द्वारा उसकी पूर्ति चाहती हूँ॥ २॥

प्रतिज्ञां प्रतिजानीष्व यदि त्वं कर्तुमिच्छसि।
अथ तं व्याहरिष्यामि यथाभिप्रार्थितं मया॥ ३॥

'यदि आप उसे पूर्ण करना चाहते हों तो प्रतिज्ञा कीजिये। इसके बाद मैं अपना वास्तविक अभिप्राय आपसे कहूँगी'॥ ३॥

तामुवाच महाराजः कैकेयीमीषदुत्स्मयः।
कामी हस्तेन संगृह्य मूर्धजेषु भुवि स्थिताम्॥ ४॥

महाराज दशरथ कामके अधीन हो रहे थे। वे कैकेयीकी बात सुनकर किंचित् मुसकराये और पृथ्वीपर पड़ी हुई उस देवीके केशोंको हाथसे पकड़कर—उसके सिरको अपनी गोदमें रखकर उससे इस प्रकार बोले—॥ ४॥

अवलिप्ते न जानासि त्वत्तः प्रियतरो मम।
मनुजो मनुजव्याघ्राद् रामादन्यो न विद्यते॥ ५॥

'अपने सौभाग्यपर गर्व करनेवाली कैकेयी! क्या तुम्हें मालूम नहीं है कि नरश्रेष्ठ श्रीरामके अतिरिक्त दूसरा कोई ऐसा मनुष्य नहीं है, जो मुझे तुमसे अधिक प्रिय हो॥ ५॥

तेनाजय्येन मुख्येन राघवेण महात्मना।
शपे ते जीवनार्हेण ब्रूहि यन्मनसेप्सितम्॥ ६॥

'जो प्राणोंके द्वारा भी आराधनीय हैं और जिन्हें जीतना किसीके लिये भी असम्भव है, उन प्रमुख वीर महात्मा श्रीरामकी शपथ खाकर कहता हूँ कि तुम्हारी कामना पूर्ण होगी; अतः तुम्हारे मनकी जो इच्छा हो उसे बताओ॥ ६॥

यं मुहूर्तमपश्यंस्तु न जीवे तमहं ध्रुवम्।
तेन रामेण कैकेयि शपे ते वचनक्रियाम्॥ ७॥

'कैकेयि! जिन्हें दो घड़ी भी न देखनेपर निश्चय ही मैं जीवित नहीं रह सकता, उन श्रीरामकी शपथ खाकर कहता हूँ कि तुम जो कहोगी, उसे पूर्ण करूँगा॥ ७॥

आत्मना चात्मजैश्चान्यैर्वृणे यं मनुजर्षभम्।
तेन रामेण कैकेयि शपे ते वचनक्रियाम्॥ ८॥

'केकयनन्दिनि! अपने तथा अपने दूसरे पुत्रोंको निछावर करके भी मैं जिन नरश्रेष्ठ श्रीरामका वरण करनेको उद्यत हूँ, उन्हींकी शपथ खाकर कहता हूँ कि तुम्हारी कही हुई बात पूरी करूँगा॥ ८॥

भद्रे हृदयमप्येतदनुमृश्योद्धरस्व मे।
एतत् समीक्ष्य कैकेयि ब्रूहि यत् साधु मन्यसे॥ ९॥

'भद्रे! केकयराजकुमारी! मेरा यह हृदय भी तुम्हारे वचनोंकी पूर्तिके लिये तत्पर है। ऐसा सोचकर तुम अपनी इच्छा व्यक्त करके इस दुःखसे मेरा उद्धार करो। श्रीराम सबको अधिक प्रिय हैं—इस बातपर दृष्टिपात करके तुम्हें जो अच्छा जान पड़े, वह कहो॥ ९॥

बलमात्मनि पश्यन्ती न विशङ्कितुमर्हसि।
करिष्यामि तव प्रीतिं सुकृतेनापि ते शपे॥ १०॥

'अपने बलको देखते हुए भी तुम्हें मुझपर शङ्का नहीं करनी चाहिये। मैं अपने सत्कर्मोंकी शपथ खाकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुम्हारा प्रिय कार्य अवश्य सिद्ध करूँगा'॥

सा तदर्थमना देवी तमभिप्रायमागतम्।
निर्माध्यस्थ्याच्च हर्षाच्च बभाषे दुर्वचं वचः॥ ११॥

रानी कैकेयीका मन स्वार्थकी सिद्धिमें ही लगा हुआ था। उसके हृदयमें भरतके प्रति पक्षपात था और राजाको अपने वशमें देखकर हर्ष हो रहा था; अतः यह सोचकर कि अब मेरे लिये अपना मतलब साधनेका अवसर आ गया है, वह राजासे ऐसी बात बोली, जिसे मुँहसे निकालना (शत्रुके लिये भी) कठिन है॥ ११॥

तेन वाक्येन संहृष्टा तमभिप्रायमात्मनः।
व्याजहार महाघोरमभ्यागतमिवान्तकम्॥ १२॥

राजाके उस शपथयुक्त वचनसे उसको बड़ा हर्ष हुआ था। उसने अपने उस अभिप्रायको जो पास आये हुए यमराजके समान अत्यन्त भयंकर था, इन शब्दोंमें व्यक्त किया—॥

यथा क्रमेण शपसे वरं मम ददासि च।
तच्छृण्वन्तु त्रयस्त्रिंशद् देवाः सेन्द्रपुरोगमाः॥ १३॥

'राजन्! आप जिस तरह क्रमशः शपथ खाकर मुझे वर देनेको उद्यत हुए हैं, उसे इन्द्र आदि तैंतीस देवता सुन लें॥

चन्द्रादित्यौ नभश्चैव ग्रहा रात्र्यहनी दिशः।
जगच्च पृथिवी चेयं सगन्धर्वा सराक्षसा॥ १४॥
निशाचराणि भूतानि गृहेषु गृहदेवताः।
यानि चान्यानि भूतानि जानीयुर्भाषितं तव॥ १५॥

'चन्द्रमा, सूर्य, आकाश, ग्रह, रात, दिन, दिशा, जगत्, यह पृथ्वी, गन्धर्व, राक्षस, रातमें विचरनेवाले प्राणी, घरोंमें रहनेवाले गृहदेवता तथा इनके अतिरिक्त भी जितने प्राणी हों, वे सब आपके कथनको जान लें—आपकी बातोंके साक्षी बनें ॥ १४-१५ ॥

सत्यसंधो महातेजा धर्मज्ञः सत्यवाक्शुचिः ।
वरं मम ददात्येष सर्वे शृण्वन्तु दैवताः ॥ १६ ॥

'सब देवता सुनें! महातेजस्वी, सत्यप्रतिज्ञ, धर्मके ज्ञाता, सत्यवादी तथा शुद्ध आचार-विचारवाले ये महाराज मुझे वर दे रहे हैं' ॥ १६ ॥

इति देवी महेष्वासं परिगृह्याभिशस्य च ।
ततः परमुवाचेदं वरदं काममोहितम् ॥ १७ ॥

इस प्रकार काममोहित होकर वर देनेको उद्यत हुए महाधनुर्धर राजा दशरथको अपनी मुट्ठीमें करके देवी कैकेयीने पहले उनकी प्रशंसा की; फिर इस प्रकार कहा— ॥ १७ ॥

स्मर राजन् पुरा वृत्तं तस्मिन् देवासुरे रणे ।
तत्र त्वां च्यावयच्छत्रुस्तव जीवितमन्तरा ॥ १८ ॥

'राजन्! उस पुरानी बातको याद कीजिये, जब कि देवासुरसंग्राम हो रहा था। वहाँ शत्रुने आपको घायल करके गिरा दिया था, केवल प्राण नहीं लिये थे ॥ १८ ॥

तत्र चापि मया देव यत् त्वं समभिरक्षितः ।
जाग्रत्या यतमानायास्ततो मे प्रददौ वरौ ॥ १९ ॥

'देव! उस युद्धस्थलमें सारी रात जागकर अनेक प्रकारके प्रयत्न करके जो मैंने आपके जीवनकी रक्षा की थी उससे संतुष्ट होकर आपने मुझे दो वर दिये थे ॥ १९ ॥

तौ दत्तौ च वरौ देव निक्षेपौ मृगयाम्यहम् ।
तवैव पृथिवीपाल सकाशे रघुनन्दन ॥ २० ॥

'देव! पृथ्वीपाल रघुनन्दन! आपके दिये हुए वे दोनों वर मैंने धरोहरके रूपमें आपके ही पास रख दिये थे। आज इस समय उन्हींकी मैं खोज करती हूँ ॥ २० ॥

तत् प्रतिश्रुत्य धर्मेण न चेद् दास्यसि मे वरम् ।
अद्यैव हि प्रहास्यामि जीवितं त्वद्विमानिता ॥ २१ ॥

'इस प्रकार धर्मतः प्रतिज्ञा करके यदि आप मेरे उन वरोंको नहीं देंगे तो मैं अपनेको आपके द्वारा अपमानित हुई समझकर आज ही प्राणोंका परित्याग कर दूँगी' ॥ २१ ॥

वाङ्मात्रेण तदा राजा कैकेय्या स्ववशे कृतः ।
प्रचस्कन्द विनाशाय पाशं मृग इवात्मनः ॥ २२ ॥

जैसे मृग बहेलियेकी वाणीमात्रसे अपने ही विनाशके लिये उसके जालमें फँस जाता है, उसी प्रकार कैकेयीके वशीभूत हुए राजा दशरथ उस समय पूर्वकालके वरदान-वाक्यका स्मरण करानेमात्रसे अपने ही विनाशके लिये प्रतिज्ञाके बन्धनमें बँध गये ॥ २२ ॥

ततः परमुवाचेदं वरदं काममोहितम् ।
वरौ देयौ त्वया देव तदा दत्तौ महीपते ॥ २३ ॥
तौ तावदहमद्यैव वक्ष्यामि शृणु मे वचः ।
अभिषेकसमारम्भो राघवस्योपकल्पितः ॥ २४ ॥
अनेनैवाभिषेकेण भरतो मेऽभिषिच्यताम् ।

तदनन्तर कैकेयीने काममोहित होकर वर देनेके लिये उद्यत हुए राजासे इस प्रकार कहा—'देव! पृथ्वीनाथ! उन दिनों आपने जो दो वर देनेकी प्रतिज्ञा की थी, उन्हें अब मुझे देना चाहिये। उन दोनों वरोंको मैं अभी बताऊँगी—आप मेरी बात सुनिये—यह जो श्रीरामके राज्याभिषेककी तैयारी की गयी है, इसी अभिषेक-सामग्रीद्वारा मेरे पुत्र भरतका अभिषेक किया जाय ॥ २३-२४½ ॥

यो द्वितीयो वरो देव दत्तः प्रीतेन मे त्वया ॥ २५ ॥
तदा देवासुरे युद्धे तस्य कालोऽयमागतः ।

'देव! आपने उस समय देवासुरसंग्राममें प्रसन्न होकर मेरे लिये जो दूसरा वर दिया था, उसे प्राप्त करनेका यह समय भी अभी आया है ॥ २५½ ॥

नव पञ्च च वर्षाणि दण्डकारण्यमाश्रितः ॥ २६ ॥
चीराजिनधरो धीरो रामो भवतु तापसः ।
भरतो भजतामद्य यौवराज्यमकण्टकम् ॥ २७ ॥

'धीर स्वभाववाले श्रीराम तपस्वीके वेशमें वल्कल तथा मृगचर्म धारण करके चौदह वर्षोंतक दण्डकारण्यमें जाकर रहें। भरतको आज निष्कण्टक युवराजपद प्राप्त हो जाय ॥

एष मे परमः कामो दत्तमेव वरं वृणे ।
अद्य चैव हि पश्येयं प्रयान्तं राघवं वने ॥ २८ ॥

'यही मेरी सर्वश्रेष्ठ कामना है। मैं आपसे पहलेका दिया हुआ वर ही माँगती हूँ। आप ऐसी व्यवस्था करें, जिससे मैं आज ही श्रीरामको वनकी ओर जाते देखूँ ॥ २८ ॥

स राजराजो भव सत्यसंगरः
कुलं च शीलं च हि जन्म रक्ष च ।
परत्र वासे हि वदन्त्यनुत्तमं
तपोधनाः सत्यवचो हितं नृणाम् ॥ २९ ॥

'आप राजाओंके राजा हैं; अतः सत्यप्रतिज्ञ बनिये और उस सत्यके द्वारा अपने कुल, शील तथा जन्मकी रक्षा कीजिये। तपस्वी पुरुष कहते हैं कि सत्य बोलना सबसे श्रेष्ठ धर्म है। वह परलोकमें निवास होनेपर मनुष्योंके लिये परम कल्याणकारी होता है ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें ग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११ ॥

★

द्वादशः सर्गः

महाराज दशरथकी चिन्ता, विलाप, कैकेयीको फटकारना, समझाना और उससे वैसा वर न माँगनेके लिये अनुरोध करना

ततः श्रुत्वा महाराजः कैकेय्या दारुणं वचः।
चिन्तामभिसमापेदे मुहूर्तं प्रतताप च॥ १॥

कैकेयीका यह कठोर वचन सुनकर महाराज दशरथको बड़ी चिन्ता हुई। वे एक मुहूर्ततक अत्यन्त संताप करते रहे॥

किं नु मेऽयं दिवास्वप्नश्चित्तमोहोऽपि वा मम।
अनुभूतोपसर्गो वा मनसो वाप्युपद्रवः॥ २॥

उन्होंने सोचा—'क्या दिनमें ही यह मुझे स्वप्न दिखायी दे रहा है? अथवा मेरे चित्तका मोह है? या किसी भूत (ग्रह आदि) के आवेशसे चित्तमें विकलता आ गयी है? या आधि-व्याधिके कारण यह कोई मनका ही उपद्रव है'॥ २॥

इति संचिन्त्य तद् राजा नाध्यगच्छत् तदासुखम्।
प्रतिलभ्य ततः संज्ञां कैकेयीवाक्यतापितः॥ ३॥

यही सोचते हुए उन्हें अपने भ्रमके कारणका पता नहीं लगा। उस समय राजाको मूर्च्छित कर देनेवाला महान् दुःख प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् होशमें आनेपर कैकेयीकी बातको याद करके उन्हें पुनः संताप होने लगा॥ ३॥

व्यथितो विक्लवश्चैव व्याघ्रीं दृष्ट्वा यथा मृगः।
असंवृतायामासीनो जगत्यां दीर्घमुच्छ्वसन्॥ ४॥
मण्डले पन्नगो रुद्धो मन्त्रैरिव महाविषः।

जैसे किसी बाघिनको देखकर मृग व्यथित हो जाता है, उसी प्रकार वे नरेश कैकेयीको देखकर पीड़ित एवं व्याकुल हो उठे। बिस्तररहित खाली भूमिपर बैठे हुए राजा लंबी साँस खींचने लगे, मानो कोई महा विषैला सर्प किसी मण्डलमें मन्त्रोंद्वारा अवरुद्ध हो गया हो॥ ४½॥

अहो धिगिति सामर्षो वाचमुक्त्वा नराधिपः॥ ५॥
मोहमापेदिवान् भूयः शोकोपहतचेतनः।

राजा दशरथ रोषमें भरकर 'अहो! धिक्कार है' यह कहकर पुनः मूर्च्छित हो गये। शोकके कारण उनकी चेतना लुप्त-सी हो गयी॥ ५½॥

चिरेण तु नृपः संज्ञां प्रतिलभ्य सुदुःखितः॥ ६॥
कैकेयीमब्रवीत् क्रुद्धो निर्दहन्निव तेजसा।

बहुत देरके बाद जब उन्हें फिर चेत हुआ, तब वे नरेश अत्यन्त दुःखी होकर कैकेयीको अपने तेजसे दग्ध-सी करते हुए क्रोधपूर्वक उससे बोले—॥ ६½॥

नृशंसे दुष्टचारित्रे कुलस्यास्य विनाशिनि॥ ७॥
किं कृतं तव रामेण पापे पापं मयापि वा।

'दयाहीन दुराचारिणी कैकेयि! तू इस कुलका विनाश करनेवाली डाइन है। पापिनि! बता, मैंने अथवा श्रीरामने तेरा क्या बिगाड़ा है?॥ ७½॥

सदा ते जननीतुल्यां वृत्तिं वहति राघवः॥ ८॥
तस्यैवं त्वमनर्थाय किंनिमित्तमिहोद्यता।

'श्रीरामचन्द्र तो तेरे साथ सदा सगी माताका-सा बर्ताव करते आये हैं; फिर तू किस लिये उनका इस तरह अनिष्ट करनेपर उतारू हो गयी है॥ ८½॥

त्वं मयाऽऽत्मविनाशाय भवनं स्वं निवेशिता॥ ९॥
अविज्ञानान्नृपसुता व्याला तीक्ष्णविषा यथा।

'मालूम होता है—मैंने अपने विनाशके लिये ही तुझे अपने घरमें लाकर रखा था। मैं नहीं जानता था कि तू राजकन्याके रूपमें तीखे विषवाली नागिन है॥ ९½॥

जीवलोको यदा सर्वो रामस्याह गुणस्तवम्॥ १०॥
अपराधं कमुद्दिश्य त्यक्ष्यामीष्टमहं सुतम्।

'जब सारा जीव-जगत् श्रीरामके गुणोंकी प्रशंसा करता है, तब मैं किस अपराधके कारण अपने उस प्यारे पुत्रको त्याग दूँ?॥ १०½॥

कौसल्यां च सुमित्रां च त्यजेयमपि वा श्रियम्॥ ११॥
जीवितं चात्मनो रामं न त्वेव पितृवत्सलम्।

'मैं कौसल्या और सुमित्राको भी छोड़ सकता हूँ, राजलक्ष्मीका भी परित्याग कर सकता हूँ, परंतु अपने प्राणस्वरूप पितृभक्त श्रीरामको नहीं छोड़ सकता॥ ११½॥

परा भवति मे प्रीतिर्दृष्ट्वा तनयमग्रजम्॥ १२॥
अपश्यतस्तु मे रामं नष्टं भवति चेतनम्।

'अपने ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामको देखते ही मेरे हृदयमें परम-प्रेम उमड़ आता है; परंतु जब मैं श्रीरामको नहीं देखता हूँ, तब मेरी चेतना नष्ट होने लगती है॥ १२½॥

तिष्ठेल्लोको विना सूर्यं सस्यं वा सलिलं विना॥ १३॥
न तु रामं विना देहे तिष्ठेत्तु मम जीवितम्।

'सम्भव है सूर्यके बिना यह संसार टिक सके अथवा पानीके बिना खेती उपज सके, परंतु श्रीरामके बिना मेरे शरीरमें प्राण नहीं रह सकते॥ १३½॥

तदलं त्यज्यतामेष निश्चयः पापनिश्चये॥ १४॥
अपि ते चरणौ मूर्ध्ना स्पृशाम्येष प्रसीद मे।
किमर्थं चिन्तितं पापे त्वया परमदारुणम्॥ १५॥

'अतः ऐसा वर माँगनेसे कोई लाभ नहीं। पापपूर्ण निश्चयवाली कैकेयि! तू इस निश्चय अथवा दुराग्रहको त्याग दे। यह लो, मैं तेरे पैरोंपर अपना मस्तक रखता हूँ, मुझपर प्रसन्न हो जा। पापिनि! तूने ऐसी परम क्रूरतापूर्ण बात किस लिये सोची है?॥

अथ जिज्ञाससे मां त्वं भरतस्य प्रियाप्रिये।
अस्तु यत्तत्त्वया पूर्वं व्याहृतं राघवं प्रति॥ १६॥

'यदि यह जानना चाहती है कि भरत मुझे प्रिय हैं या अप्रिय तो रघुनन्दन भरतके सम्बन्धमें तू पहले जो कुछ कह चुकी है, वह पूर्ण हो अर्थात् तेरे प्रथम वरके अनुसार मैं भरतका राज्याभिषेक स्वीकार करता हूँ ॥ १६ ॥

स मे ज्येष्ठसुतः श्रीमान् धर्मज्येष्ठ इतीव मे ।
तत् त्वया प्रियवादिन्या सेवार्थं कथितं भवेत् ॥ १७ ॥

'तू पहले कहा करती थी कि 'श्रीराम मेरे बड़े बेटे हैं, वे धर्माचरणमें भी सबसे बड़े हैं !' परंतु अब मालूम हुआ कि तू ऊपर-ऊपरसे चिकनी-चुपड़ी बातें किया करती थी और वह बात तूने श्रीरामसे अपनी सेवा करानेके लिये ही कही होगी ॥

तच्छ्रुत्वा शोकसंतप्ता संतापयसि मां भृशम् ।
आविष्टासि गृहे शून्ये सा त्वं परवशं गता ॥ १८ ॥

'आज श्रीरामके अभिषेककी बात सुनकर तू शोकसे संतप्त हो उठी है और मुझे भी बहुत संताप दे रही है; इससे जान पड़ता है कि इस सूने घरमें तुझपर भूत आदिका आवेश हो गया है, अतः तू परवश होकर ऐसी बातें कह रही है ॥

इक्ष्वाकूणां कुले देवि सम्प्राप्तः सुमहानयम् ।
अनयो नयसम्पन्ने यत्र ते विकृता मतिः ॥ १९ ॥

'देवि ! न्यायशील इक्ष्वाकुवंशमें यह बड़ा भारी अन्याय आकर उपस्थित हुआ है, जहाँ तेरी बुद्धि इस प्रकार विकृत हो गयी है ॥ १९ ॥

नहि किंचिदयुक्तं वा विप्रियं वा पुरा मम ।
अकरोस्त्वं विशालाक्षि तेन न श्रद्दधामि ते ॥ २० ॥

'विशाललोचने ! आजसे पहले तूने कभी कोई ऐसा आचरण नहीं किया है, जो अनुचित अथवा मेरे लिये अप्रिय हो; इसीलिये तेरी आजकी बातपर भी मुझे विश्वास नहीं होता है ॥ २० ॥

ननु ते राघवस्तुल्यो भरतेन महात्मना ।
बहुशो हि स्म बाले त्वं कथाः कथयसे मम ॥ २१ ॥

'तेरे लिये तो श्रीराम भी महात्मा भरतके ही तुल्य हैं। बाले ! तू बहुत बार बातचीतके प्रसंगमें स्वयं ही यह बात मुझसे कहती रही है ॥ २१ ॥

तस्य धर्मात्मनो देवि वने वासं यशस्विनः ।
कथं रोचयसे भीरु नव वर्षाणि पञ्च च ॥ २२ ॥

'भीरु स्वभाववाली देवि ! उन्हीं धर्मात्मा और यशस्वी श्रीरामका चौदह वर्षोंके लिये वनवास तुझे कैसे अच्छा लगता है ? ॥ २२ ॥

अत्यन्तसुकुमारस्य तस्य धर्मे कृतात्मनः ।
कथं रोचयसे वासमरण्ये भृशदारुणे ॥ २३ ॥

'जो अत्यन्त सुकुमार और धर्ममें दृढ़तापूर्वक मन लगाये रखनेवाले हैं, उन्हीं श्रीरामको वनवास देना तुझे कैसे रुचिकर जान पड़ता है ? अहो ! तेरा हृदय बड़ा कठोर है ॥ २३ ॥

रोचयस्यभिरामस्य रामस्य शुभलोचने ।
तव शुश्रूषमाणस्य किमर्थं विप्रवासनम् ॥ २४ ॥

'सुन्दर नेत्रोंवाली कैकेयि ! जो सदा तेरी सेवा-शुश्रूषामें लगे रहते हैं, उन नयनाभिराम श्रीरामको देशनिकाला दे देनेकी इच्छा तुझे किस लिये हो रही है ? ॥ २४ ॥

रामो हि भरताद् भूयस्तव शुश्रूषते सदा ।
विशेषं त्वयि तस्मात् तु भरतस्य न लक्षये ॥ २५ ॥

'मैं देखता हूँ, भरतसे अधिक श्रीराम ही सदा तेरी सेवा करते हैं। भरत उनसे अधिक तेरी सेवामें रहते हों, ऐसा मैंने कभी नहीं देखा है ॥ २५ ॥

शुश्रूषां गौरवं चैव प्रमाणं वचनक्रियाम् ।
कस्तु भूयस्तरं कुर्यादन्यत्र पुरुषर्षभात् ॥ २६ ॥

'नरश्रेष्ठ श्रीरामसे बढ़कर दूसरा कौन है, जो गुरुजनोंकी सेवा करने, उन्हें गौरव देने, उनकी बातोंको मान्यता देने और उनकी आज्ञाका तुरंत पालन करनेमें अधिक तत्परता दिखाता हो ॥ २६ ॥

बहूनां स्त्रीसहस्राणां बहूनां चोपजीविनाम् ।
परिवादोऽपवादो वा राघवे नोपपद्यते ॥ २७ ॥

'मेरे यहाँ कई सहस्र स्त्रियाँ हैं और बहुत-से उपजीवी भृत्यजन हैं, परंतु किसीके मुँहसे श्रीरामके सम्बन्धमें सच्ची या झूठी किसी प्रकारकी शिकायत नहीं सुनी जाती ॥ २७ ॥

सान्त्वयन् सर्वभूतानि रामः शुद्धेन चेतसा ।
गृह्णाति मनुजव्याघ्रः प्रियैर्विषयवासिनः ॥ २८ ॥

'पुरुषसिंह श्रीराम समस्त प्राणियोंको शुद्ध हृदयसे सान्त्वना देते हुए प्रिय आचरणोंद्वारा राज्यकी समस्त प्रजाओंको अपने वशमें किये रहते हैं ॥ २८ ॥

सत्येन लोकाञ्जयति द्विजान् दानेन राघवः ।
गुरूञ्छुश्रूषया वीरो धनुषा युधि शात्रवान् ॥ २९ ॥

'वीर श्रीरामचन्द्र अपने सात्त्विक भावसे समस्त लोकोंको, दानके द्वारा द्विजोंको, सेवासे गुरुजनोंको और धनुष-बाणद्वारा युद्धस्थलमें शत्रु-सैनिकोंको जीतकर अपने अधीन कर लेते हैं ॥ २९ ॥

सत्यं दानं तपस्त्यागो मित्रता शौचमार्जवम् ।
विद्या च गुरुशुश्रूषा ध्रुवाण्येतानि राघवे ॥ ३० ॥

'सत्य, दान, तप, त्याग, मित्रता, पवित्रता, सरलता, विद्या और गुरु-शुश्रूषा—ये सभी सद्गुण श्रीराममें स्थिररूपसे रहते हैं ॥ ३० ॥

तस्मिन्नार्जवसम्पन्ने देवि देवोपमे कथम् ।
पापमाशंससे रामे महर्षिसमतेजसि ॥ ३१ ॥

'देवि ! महर्षियोंके समान तेजस्वी उन सीधे-सादे देव-तुल्य श्रीरामका तू क्यों अनिष्ट करना चाहती है ? ॥ ३१ ॥

न स्मराम्यप्रियं वाक्यं लोकस्य प्रियवादिनः ।
स कथं त्वत्कृते रामं वक्ष्यामि प्रियमप्रियम् ॥ ३२ ॥

'श्रीराम सब लोगोंसे प्रिय बोलते हैं। उन्होंने कभी किसीको अप्रिय वचन कहा हो, ऐसा मुझे याद नहीं पड़ता। ऐसे सर्वप्रिय रामसे मैं तेरे लिये अप्रिय बात कैसे कहूँगा ? ॥ ३२ ॥

क्षमा यस्मिंस्तपस्त्यागः सत्यं धर्मः कृतज्ञता ।
अप्यहिंसा च भूतानां तमृते का गतिर्मम ॥ ३३ ॥

'जिनमें क्षमा, तप, त्याग, सत्य, धर्म, कृतज्ञता और समस्त जीवोंके प्रति दया भरी हुई है, उन श्रीरामके बिना मेरी क्या गति होगी ? ॥ ३३ ॥

मम वृद्धस्य कैकेयि गतान्तस्य तपस्विनः ।
दीनं लालप्यमानस्य कारुण्यं कर्तुमर्हसि ॥ ३४ ॥

'कैकेयि ! मैं बूढ़ा हूँ। मौतके किनारे बैठा हूँ। मेरी अवस्था शोचनीय हो रही है और मैं दीनभावसे तेरे सामने गिड़गिड़ा रहा हूँ। तुझे मुझपर दया करनी चाहिये ॥ ३४ ॥

पृथिव्यां सागरान्तायां यत् किंचिदधिगम्यते ।
तत् सर्वं तव दास्यामि मा च त्वं मन्युमाविश ॥ ३५ ॥

'समुद्रपर्यन्त पृथ्वीपर जो कुछ मिल सकता है, वह सब मैं तुझे दे दूँगा, परंतु तू ऐसे दुराग्रहमें न पड़, जो मुझे मौतके मुँहमें ढकेलनेवाला हो ॥ ३५ ॥

अञ्जलिं कुर्मि कैकेयि पादौ चापि स्पृशामि ते ।
शरणं भव रामस्य माधर्मो मामिह स्पृशेत् ॥ ३६ ॥

'केकयनन्दिनि ! मैं हाथ जोड़ता हूँ और तेरे पैरों पड़ता हूँ। तू श्रीरामको शरण दे, जिससे यहाँ मुझे पाप न लगे' ॥

इति दुःखाभिसंतप्तं विलपन्तमचेतनम् ।
घूर्णमानं महाराजं शोकेन समभिप्लुतम् ॥ ३७ ॥
पारं शोकार्णवस्याशु प्रार्थयन्तं पुनः पुनः ।
प्रत्युवाचाथ कैकेयी रौद्रा रौद्रतरं वचः ॥ ३८ ॥

महाराज दशरथ इस प्रकार दुःखसे संतप्त होकर विलाप कर रहे थे। उनकी चेतना बार-बार लुप्त हो जाती थी। उनके मस्तिष्कमें चक्कर आ रहा था और वे शोकमग्न हो उस शोकसागरसे शीघ्र पार होनेके लिये बारंबार अनुनय-विनय कर रहे थे, तो भी कैकेयीका हृदय नहीं पिघला। वह और भी भीषण रूप धारण करके अत्यन्त कठोर वाणीमें उन्हें इस प्रकार उत्तर देने लगी— ॥ ३७-३८ ॥

यदि दत्त्वा वरौ राजन् पुनः प्रत्यनुतप्यसे ।
धार्मिकत्वं कथं वीर पृथिव्यां कथयिष्यसि ॥ ३९ ॥

'राजन् ! यदि दो वरदान देकर आप फिर उनके लिये पश्चात्ताप करते हैं तो वीर नरेश्वर ! इस भूमण्डलमें आप अपनी धार्मिकताका ढिंढोरा कैसे पीट सकेंगे ? ॥ ३९ ॥

यदा समेता बहवस्त्वया राजर्षयः सह ।
कथयिष्यन्ति धर्मज्ञ तत्र किं प्रतिवक्ष्यसि ॥ ४० ॥

'धर्मके ज्ञाता महाराज ! जब बहुत-से राजर्षि एकत्र होकर आपके साथ मुझे दिये हुए वरदानके विषयमें बातचीत करेंगे, उस समय वहाँ आप उन्हें क्या उत्तर देंगे ? ॥ ४० ॥

यस्याः प्रसादे जीवामि या च मामभ्यपालयत् ।
तस्याः कृता मया मिथ्या कैकेय्या इति वक्ष्यसि ॥ ४१ ॥

'यही कहेंगे न, कि जिसके प्रसादसे मैं जीवित हूँ, जिसने (बहुत बड़े संकटसे) मेरी रक्षा की, उसी कैकेयीको वर देनेके लिये की हुई प्रतिज्ञा मैंने झूठी कर दी ॥ ४१ ॥

किल्बिषं त्वं नरेन्द्राणां करिष्यसि नराधिप ।
यो दत्त्वा वरमद्यैव पुनरन्यानि भाषसे ॥ ४२ ॥

'महाराज ! आज ही वरदान देकर यदि आप फिर उससे विपरीत बात कहेंगे तो अपने कुलके राजाओंके माथे कलंकका टीका लगायेंगे ॥ ४२ ॥

शैब्यः श्येनकपोतीये स्वमांसं पक्षिणे ददौ ।
अलर्कश्चक्षुषी दत्त्वा जगाम गतिमुत्तमाम् ॥ ४३ ॥

'राजा शैब्यने बाज और कबूतरके झगड़ेमें (कबूतरके प्राण बचानेकी प्रतिज्ञाको पूर्ण करनेके लिये) बाज नामक पक्षीको अपने शरीरका मांस काटकर दे दिया था। इसी तरह राजा अलर्कने (एक अंधे ब्राह्मणको) अपने दोनों नेत्रोंका दान करके परम उत्तम गति प्राप्त की थी ॥ ४३ ॥

सागरः समयं कृत्वा न वेलामतिवर्तते ।
समयं मानृतं कार्षीः पूर्ववृत्तमनुस्मरन् ॥ ४४ ॥

'समुद्रने (देवताओंके समक्ष) अपनी नियत सीमाको न लाँघनेकी प्रतिज्ञा की थी, सो अबतक वह उसका उल्लङ्घन नहीं करता है। आप भी पूर्ववर्ती महापुरुषोंके बर्तावको सदा ध्यानमें रखकर अपनी प्रतिज्ञा झूठी न करें ॥ ४४ ॥

स त्वं धर्मं परित्यज्य रामं राज्येऽभिषिच्य च ।
सह कौसल्यया नित्यं रन्तुमिच्छसि दुर्मते ॥ ४५ ॥

'(परंतु आप मेरी बात क्यों सुनेंगे ?) दुर्बुद्धि नरेश ! आप तो धर्मको तिलाञ्जलि देकर श्रीरामको राज्यपर अभिषिक्त करके रानी कौसल्याके साथ सदा मौज उड़ाना चाहते हैं ॥ ४५ ॥

भवत्वधर्मो धर्मो वा सत्यं वा यदि वानृतम् ।
यत्त्वया संश्रुतं मह्यं तस्य नास्ति व्यतिक्रमः ॥ ४६ ॥

'अब धर्म हो या अधर्म, झूठ हो या सच, जिस बातके लिये आपने मुझसे प्रतिज्ञा कर ली है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता ॥ ४६ ॥

अहं हि विषमद्यैव पीत्वा बहु तवाग्रतः ।
पश्यतस्ते मरिष्यामि रामो यद्यभिषिच्यते ॥ ४७ ॥

'यदि श्रीरामका राज्याभिषेक होगा तो मैं आपके सामने आपके देखते-देखते आज ही बहुत-सा विष पीकर मर जाऊँगी ॥ ४७ ॥

एकाहमपि पश्येयं यद्यहं राममातरम् ।
अञ्जलिं प्रतिगृह्णन्तीं श्रेयो ननु मृतिर्मम ॥ ४८ ॥

'यदि मैं एक दिन भी राममाता कौसल्याको राजमाता

होनेके नाते दूसरे लोगोंसे अपनेको हाथ जोड़वाती देख लूँगी तो उस समय मैं अपने लिये मर जाना ही अच्छा समझूँगी ॥

भरतेनात्मना चाहं शपे ते मनुजाधिप ।
यथा नान्येन तुष्येयमृते रामविवासनात् ॥ ४९ ॥

'नरेश्वर ! मैं आपके सामने अपनी और भरतकी शपथ खाकर कहती हूँ कि श्रीरामको इस देशसे निकाल देनेके सिवा दूसरे किसी वरसे मुझे संतोष नहीं होगा' ॥ ४९ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं कैकेयी विरराम ह ।
विलपन्तं च राजानं न प्रतिव्याजहार सा ॥ ५० ॥

इतना कहकर कैकेयी चुप हो गयी। राजा बहुत रोये-गिड़गिड़ाये; किंतु उसने उनकी किसी बातका जवाब नहीं दिया ॥ ५० ॥

श्रुत्वा तु राजा कैकेय्या वाक्यं परमशोभनम् ।
रामस्य च वने वासमैश्वर्यं भरतस्य च ॥ ५१ ॥
नाभ्यभाषत कैकेयीं मुहूर्तं व्याकुलेन्द्रियः ।
प्रैक्षतानिमिषो देवीं प्रियामप्रियवादिनीम् ॥ ५२ ॥

'श्रीरामका वनवास हो और भरतका राज्याभिषेक' कैकेयीके मुखसे यह परम अमङ्गलकारी वचन सुनकर राजाकी सारी इन्द्रियाँ व्याकुल हो उठीं। वे एक मुहूर्ततक कैकेयीसे कुछ न बोले। उस अप्रिय वचन बोलनेवाली प्यारी रानीकी ओर केवल एकटक दृष्टिसे देखते रहे ॥ ५१-५२ ॥

तां हि वज्रसमां वाचमाकर्ण्य हृदयाप्रियाम् ।
दुःखशोकमयीं श्रुत्वा राजा न सुखितोऽभवत् ॥ ५३ ॥

मनको अप्रिय लगनेवाली कैकेयीकी वह वज्रके समान कठोर तथा दुःख-शोकमयी वाणी सुनकर राजाको बड़ा दुःख हुआ। उनकी सुख-शान्ति छिन गयी ॥ ५३ ॥

स देव्या व्यवसायं च घोरं च शपथं कृतम् ।
ध्यात्वा रामेति निःश्वस्य छिन्नस्तरुरिवापतत् ॥ ५४ ॥

देवी कैकेयीके उस घोर निश्चय और किये हुए शपथकी ओर ध्यान जाते ही वे 'हा राम !' कहकर लंबी साँस खींचते हुए कटे वृक्षकी भाँति गिर पड़े ॥ ५४ ॥

नष्टचित्तो यथोन्मत्तो विपरीतो यथातुरः ।
हततेजा यथा सर्पो बभूव जगतीपतिः ॥ ५५ ॥

उनकी चेतना लुप्त-सी हो गयी। वे उन्मादग्रस्त-से प्रतीत होने लगे। उनकी प्रकृति विपरीत-सी हो गयी। वे रोगी-से जान पड़ते थे। इस प्रकार भूपाल दशरथ मन्त्रसे जिसका तेज हर लिया गया हो उस सर्पके समान निश्चेष्ट हो गये ॥ ५५ ॥

दीनयाऽऽतुरया वाचा इति होवाच कैकयीम् ।
अनर्थमिममर्थाभं केन त्वमुपदेशिता ॥ ५६ ॥

तदनन्तर उन्होंने दीन और आतुर वाणीमें कैकेयीसे इस प्रकार कहा—'अरी ! तुझे अनर्थ ही अर्थ-सा प्रतीत हो रहा है, किसने तुझे इसका उपदेश दिया है ? ॥ ५६ ॥

भूतोपहतचित्तेव ब्रुवन्ती मां न लज्जसे ।
शीलव्यसनमेतत् ते नाभिजानाम्यहं पुरा ॥ ५७ ॥

'जान पड़ता है, तेरा चित्त किसी भूतके आवेशसे दूषित हो गया है। पिशाचग्रस्त नारीकी भाँति मेरे सामने ऐसी बातें कहती हुई तू लज्जित क्यों नहीं होती ? मुझे पहले इस बातका पता नहीं था कि तेरा यह कुलाङ्गनोचित शील इस तरह नष्ट हो गया है ॥ ५७ ॥

बालायास्तत् त्विदानीं ते लक्षये विपरीतवत् ।
कुतो वा ते भयं जातं या त्वमेवंविधं वरम् ॥ ५८ ॥
राष्ट्रे भरतमासीनं वृणीषे राघवं वने ।
विरमैतेन भावेन त्वमेतेनानृतेन च ॥ ५९ ॥

'बालावस्थामें जो तेरा शील था, उसे इस समय मैं विपरीत-सा देख रहा हूँ। तुझे किस बातका भय हो गया है जो इस तरहका वर माँगती है ? भरत राज्य-सिंहासनपर बैठें और श्रीराम वनमें रहें—यही तू माँग रही है। यह बड़ा असत्य तथा ओछा विचार है। तू अब भी इससे विरत हो जा ॥ ५९ ॥

यदि भर्तुः प्रियं कार्यं लोकस्य भरतस्य च ।
नृशंसे पापसंकल्पे क्षुद्रे दुष्कृतकारिणि ॥ ६० ॥

'क्रूर स्वभाव और पापपूर्ण विचारवाली नीच दुराचारिणि ! यदि अपने पतिका, सारे जगत्‌का और भरतका भी प्रिय करना चाहती है तो इस दूषित संकल्पको त्याग दे ॥ ६० ॥

किं नु दुःखमलीकं वा मयि रामे च पश्यसि ।
न कथंचिदृते रामाद् भरतो राज्यमावसेत् ॥ ६१ ॥

'तू मुझमें या श्रीराममें कौन-सा दुःखदायक या अप्रिय बर्ताव देख रही है (कि ऐसा नीच कर्म करनेपर उतारू हो गयी है); श्रीरामके बिना भरत किसी तरह राज्य लेना स्वीकार नहीं करेंगे ॥ ६१ ॥

रामादपि हि तं मन्ये धर्मतो बलवत्तरम् ।
कथं द्रक्ष्यामि रामस्य वनं गच्छेति भाषिते ॥ ६२ ॥
मुखवर्णं विवर्णं तु यथैवेन्दुमुपप्लुतम् ।

'क्योंकि मेरी समझमें धर्मपालनकी दृष्टिसे भरत श्रीरामसे भी बढ़े-चढ़े हैं। श्रीरामसे यह कह देनेपर कि तुम वनको जाओ; जब उनके मुखकी कान्ति राहुग्रस्त चन्द्रमाकी भाँति फीकी पड़ जायगी, उस समय मैं कैसे उनके उस उदास मुखको ओर देख सकूँगा ? ॥ ६२½ ॥

तां तु मे सुकृतां बुद्धिं सुहृद्भिः सह निश्चिताम् ॥ ६३ ॥
कथं द्रक्ष्याम्यपावृत्तां परैरिव हतां चमूम् ।

'मैंने श्रीरामके अभिषेकका निश्चय सुहृदोंके साथ विचार करके किया है, मेरी यह बुद्धि शुभ कर्ममें प्रवृत्त हुई है; अब मैं इसे शत्रुओंद्वारा पराजित हुई सेनाकी भाँति पलटी हुई कैसे देखूँगा ? ॥ ६३½ ॥

किं मां वक्ष्यन्ति राजानो नानादिग्भ्यः समागताः ॥ ६४ ॥
बालो बतायमैक्ष्वाकश्चिरं राज्यमकारयत् ।

'नाना दिशाओंसे आये हुए राजालोग मुझे लक्ष्य करके खेदपूर्वक कहेंगे कि इस मूढ़ इक्ष्वाकुवंशी राजाने कैसे दीर्घकालतक इस राज्यका पालन किया है ?' ॥ ६४½ ॥

यदा हि बहवो वृद्धा गुणवन्तो बहुश्रुताः ॥ ६५ ॥
परिप्रक्ष्यन्ति काकुत्स्थं वक्ष्यामीह कथं तदा ।
कैकेय्या क्लिश्यमानेन पुत्रः प्रव्राजितो मया ॥ ६६ ॥

'जब बहुत-से बहुश्रुत गुणवान् एवं वृद्ध पुरुष आकर मुझसे पूछेंगे कि श्रीराम कहाँ हैं ? तब मैं उनसे कैसे यह कहूँगा कि कैकेयीके दबाव देनेपर मैंने अपने बेटेको घरसे निकाल दिया ॥ ६५-६६ ॥

यदि सत्यं ब्रवीम्येतत् तदसत्यं भविष्यति ।
किं मां वक्ष्यति कौसल्या राघवे वनमास्थिते ॥ ६७ ॥
किं चैनां प्रतिवक्ष्यामि कृत्वा विप्रियमीदृशम् ।

'यदि कहूँ कि श्रीरामको वनवास देकर मैंने सत्यका पालन किया है तो इसके पहले जो उन्हें राज्य देनेकी बात कह चुका हूँ, वह असत्य हो जायगी । यदि राम वनको चले गये तो कौसल्या मुझे क्या कहेगी ? उसका ऐसा महान् अपकार करके मैं उसे क्या उत्तर दूँगा ॥ ६७½ ॥

यदा यदा च कौसल्या दासीव च सखीव च ॥ ६८ ॥
भार्यावद् भगिनीवच्च मातृवच्चोपतिष्ठति ।
सततं प्रियकामा मे प्रियपुत्रा प्रियंवदा ॥ ६९ ॥
न मया सत्कृता देवी सत्कारार्हा कृते तव ।

'हाय ! जिसका पुत्र मुझे सबसे अधिक प्रिय है, वह प्रिय वचन बोलनेवाली कौसल्या जब-जब दासी, सखी, पत्नी, बहिन और माताकी भाँति मेरा प्रिय करनेकी इच्छासे मेरी सेवामें उपस्थित होती थी, तब-तब उस सत्कार पानेयोग्य देवीका भी मैंने तेरे ही कारण कभी सत्कार नहीं किया ॥६८-६९½ ॥

इदानीं तत्तपति मां यन्मया सुकृतं त्वयि ॥ ७० ॥
अपथ्यव्यञ्जनोपेतं भुक्तमन्नमिवातुरम् ।

'तेरे साथ जो मैंने इतना अच्छा बर्ताव किया, वह याद आकर इस समय मुझे उसी प्रकार संताप दे रहा है, जैसे अपथ्य (हानिकारक) व्यञ्जनोंसे युक्त खाया हुआ अन्न किसी रोगीको कष्ट देता है ॥ ७०½ ॥

विप्रकारं च रामस्य सम्प्रयाणं वनस्य च ॥ ७१ ॥
सुमित्रा प्रेक्ष्य वै भीता कथं मे विश्वसिष्यति ।

'श्रीरामके अभिषेकका निवारण और उनका वनकी ओर प्रस्थान देखकर निश्चय ही सुमित्रा भयभीत हो जायगी, फिर वह कैसे मेरा विश्वास करेगी ? ॥ ७१½ ॥

कृपणं बत वैदेही श्रोष्यति द्वयमप्रियम् ॥ ७२ ॥
मां च पञ्चत्वमापन्नं रामं च वनमाश्रितम् ।

'हाय ! बेचारी सीताको एक ही साथ दो दुःखद एवं अप्रिय समाचार सुनने पड़ेंगे—श्रीरामका वनवास और मेरी मृत्यु ॥

वैदेही बत मे प्राणाञ्शोचन्ती क्षपयिष्यति ॥ ७३ ॥
हीना हिमवतः पार्श्वे किंनरेणेव किंनरी ।

'जब वह श्रीरामके लिये शोक करने लगेगी, उस समय मेरे प्राणोंका नाश कर डालेगी—उसका शोक देखकर मेरे प्राण इस शरीरमें नहीं रह सकेंगे । उसकी दशा हिमालयके पार्श्वभागमें अपने स्वामी किन्नरसे बिछुड़ी हुई किन्नरीके समान हो जायगी ॥ ७३½ ॥

नहि राममहं दृष्ट्वा प्रवसन्तं महावने ॥ ७४ ॥
चिरं जीवितुमाशंसे रुदन्तीं चापि मैथिलीम् ।
सा नूनं विधवा राज्यं सपुत्रा कारयिष्यसि ॥ ७५ ॥

'मैं श्रीरामको विशाल वनमें निवास करते और मिथिलेशकुमारी सीताको रोती देख अधिक कालतक जीवित रहना नहीं चाहता । ऐसी दशामें तू निश्चय ही विधवा होकर बेटेके साथ अयोध्याका राज्य करना ॥ ७४-७५ ॥

सतीं त्वामहमत्यन्तं व्यवस्याम्यसतीं सतीम् ।
रूपिणीं विषसंयुक्तां पीत्वेव मदिरां नरः ॥ ७६ ॥

'ओह ! मैं तुझे अत्यन्त सती-साध्वी समझता था, परंतु तू बड़ी दुष्टा निकली; ठीक उसी तरह जैसे कोई मनुष्य देखनेमें सुन्दर मदिराको पीकर पीछे उसके द्वारा किये गये विकारसे यह समझ पाता है कि इसमें विष मिला हुआ था ॥

अनृतैर्बत मां सान्त्वैः सान्त्वयन्ती स्म भाषसे ।
गीतशब्देन संरुध्य लुब्धो मृगमिवावधीः ॥ ७७ ॥

'अबतक जो तू सान्त्वनापूर्ण मीठे वचन बोलकर मुझे आश्वासन देती हुई बातें किया करती थी, वे तेरी कही हुई सारी बातें झूठी थीं । जैसे व्याध हरिणको मधुर संगीतसे आकृष्ट करके उसे मार डालता है, उसी प्रकार तू भी पहले मुझे लुभाकर अब मेरे प्राण ले रही है ॥ ७७ ॥

अनार्य इति मामार्याः पुत्रविक्रायकं ध्रुवम् ।
विकरिष्यन्ति रथ्यासु सुरापं ब्राह्मणं यथा ॥ ७८ ॥

'श्रेष्ठ पुरुष निश्चय ही मुझे नीच और एक नारीके मोहमें पड़कर बेटेको बेच देनेवाला कहकर शराबी ब्राह्मणकी भाँति मेरी राह-बाट और गली-कूचोंमें निन्दा करेंगे ॥ ७८ ॥

अहो दुःखमहो कृच्छ्रं यत्र वाचः क्षमे तव ।
दुःखमेवंविधं प्राप्तं पुरा कृतमिवाशुभम् ॥ ७९ ॥

'अहो ! कितना दुःख है ! कितना कष्ट है ! ! जहाँ मुझे तेरी ये बातें सहन करनी पड़ती हैं । मानो यह मेरे पूर्वजन्मके किये हुए पापका ही अशुभ फल है, जो मुझपर ऐसा महान् दुःख आ पड़ा ॥ ७९ ॥

चिरं खलु मया पापे त्वं पापेनाभिरक्षिता ।
अज्ञानादुपसम्पन्ना रज्जुरुद्बन्धनी यथा ॥ ८० ॥

'पापिनि ! मुझ पापीने बहुत दिनोंसे तेरी रक्षा की और अज्ञानवश तुझे गले लगाया; किंतु तू आज मेरे गलेमें पड़ी हुई फाँसीकी रस्सी बन गयी ॥ ८० ॥

रममाणस्त्वया सार्धं मृत्युं त्वां नाभिलक्षये।
बालो रहसि हस्तेन कृष्णसर्पमिवास्पृशम्॥ ८१॥

'जैसे बालक एकान्तमें खेलता-खेलता काले नागको हाथमें पकड़ ले, उसी प्रकार मैंने एकान्तमें तेरे साथ क्रीड़ा करते हुए तेरा आलिङ्गन किया है; परंतु उस समय मुझे यह न सूझा कि तू ही एक दिन मेरी मृत्युका कारण बनेगी॥

तं तु मां जीवलोकोऽयं नूनमाक्रोष्टुमर्हति।
मया ह्यपितृकः पुत्रः स महात्मा दुरात्मना॥ ८२॥

'हाय! मुझ दुरात्माने जीते-जी ही अपने महात्मा पुत्रको पितृहीन बना दिया। मुझे यह सारा संसार निश्चय ही धिक्कारेगा—गालियाँ देगा, जो उचित ही होगा॥ ८२॥

बालिशो बत कामात्मा राजा दशरथो भृशम्।
स्त्रीकृते यः प्रियं पुत्रं वनं प्रस्थापयिष्यति॥ ८३॥

'लोग मेरी निन्दा करते हुए कहेंगे कि राजा दशरथ बड़ा ही मूर्ख और कामी है, जो एक स्त्रीको संतुष्ट करनेके लिये अपने प्यारे पुत्रको वनमें भेज रहा है॥ ८३॥

वेदैश्च ब्रह्मचर्यैश्च गुरुभिश्चोपकर्शितः।
भोगकाले महत्कृच्छ्रं पुनरेव प्रपत्स्यते॥ ८४॥

'हाय! अबतक तो श्रीराम वेदोंका अध्ययन करने, ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करने तथा अनेकानेक गुरुजनोंकी सेवामें संलग्न रहनेके कारण दुबले होते चले आये हैं। अब जब इनके लिये सुखभोगका समय आया है, तब ये वनमें जाकर महान् कष्टमें पड़ेंगे॥ ८४॥

नालं द्वितीयं वचनं पुत्रो मां प्रतिभाषितुम्।
स वनं प्रव्रजेत्युक्तो बाढमित्येव वक्ष्यति॥ ८५॥

'अपने पुत्र श्रीरामसे यदि मैं कह दूँ कि तुम वनको चले जाओ तो वे तुरंत 'बहुत अच्छा' कहकर मेरी आज्ञाको स्वीकार कर लेंगे। मेरे पुत्र राम दूसरी कोई बात कहकर मुझे प्रतिकूल उत्तर नहीं दे सकते॥ ८५॥

यदि मे राघवः कुर्याद् वनं गच्छेति चोदितः।
प्रतिकूलं प्रियं मे स्यान्न तु वत्सः करिष्यति॥ ८६॥

'यदि मेरे वन जानेकी आज्ञा दे देनेपर भी श्रीरामचन्द्र उसके विपरीत करते—वनमें नहीं जाते तो वही मेरे लिये प्रिय कार्य होगा; किंतु मेरा बेटा ऐसा नहीं कर सकता॥

राघवे हि वनं प्राप्ते सर्वलोकस्य धिक्कृतम्।
मृत्युरक्षमणीयं मां नयिष्यति यमक्षयम्॥ ८७॥

'यदि रघुनन्दन राम वनको चले गये तो सब लोगोंके धिक्कारपात्र बने हुए मुझ अक्षम्य अपराधीको मृत्यु अवश्य यमलोकमें पहुँचा देगी॥ ८७॥

मृते मयि गते रामे वनं मनुजपुङ्गवे।
इष्टे मम जने शेषे किं पापं प्रतिपत्स्यसे॥ ८८॥

'यदि नरश्रेष्ठ श्रीरामके वनमें चले जानेपर मेरी मृत्यु हो गयी तो शेष जो मेरे प्रियजन (कौसल्या आदि) यहाँ रहेंगे, उनपर तू कौन-सा अत्याचार करेगी?॥ ८८॥

कौसल्या मां च रामं च पुत्रौ च यदि हास्यति।
दुःखान्यसहती देवी मामेवानुगमिष्यति॥ ८९॥

'देवी कौसल्याको यदि मुझसे, श्रीरामसे तथा शेष दोनों पुत्र लक्ष्मण और शत्रुघ्नसे बिछोह हो जायगा तो वह इतने बड़े दुःखको सहन नहीं कर सकेगी; अतः मेरे ही पीछे वह भी परलोक सिधार जायगी। (सुमित्राका भी यही हाल होगा)॥ ८९॥

कौसल्यां च सुमित्रां च मां च पुत्रैस्त्रिभिः सह।
प्रक्षिप्य नरके सा त्वं कैकेयि सुखिता भव॥ ९०॥

'कैकेयि! इस प्रकार कौसल्याको, सुमित्राको और तीनों पुत्रोंके साथ मुझे भी नरक-तुल्य महान् शोकमें डालकर तू स्वयं सुखी होना॥ ९०॥

मया रामेण च त्यक्तं शाश्वतं सत्कृतं गुणैः।
इक्ष्वाकुकुलमक्षोभ्यमाकुलं पालयिष्यसि॥ ९१॥

'अनेकानेक गुणोंसे सत्कृत, शाश्वत तथा क्षोभरहित यह इक्ष्वाकुकुल जब मुझसे और श्रीरामसे परित्यक्त होकर शोकसे व्याकुल हो जायगा, तब उस अवस्थामें तू इसका पालन करेगी॥ ९१॥

प्रियं चेद् भरतस्यैतद् रामप्रव्राजनं भवेत्।
मा स्म मे भरतः कार्षीत् प्रेतकृत्यं गतायुषः॥ ९२॥

'यदि भरतको भी श्रीरामका यह वनमें भेजा जाना प्रिय लगता हो तो मेरी मृत्युके बाद वे मेरे शरीरका दाह-संस्कार न करें॥ ९२॥

मृते मयि गते रामे वनं पुरुषपुङ्गवे।
सेदानीं विधवा राज्यं सपुत्रा कारयिष्यसि॥ ९३॥

'पुरुषशिरोमणि श्रीरामके वन-गमनके पश्चात् मेरी मृत्यु हो जानेपर अब विधवा होकर तू बेटेके साथ अयोध्याका राज्य करेगी॥ ९३॥

त्वं राजपुत्रि दैवेन न्यवसो मम वेश्मनि।
अकीर्तिश्चातुला लोके ध्रुवः परिभवश्च मे।
सर्वभूतेषु चावज्ञा यथा पापकृतस्तथा॥ ९४॥

'राजकुमारी! तू मेरे दुर्भाग्यसे मेरे घरमें आकर बस गयी। तेरे कारण संसारमें पापाचारीकी भाँति मुझे निश्चय ही अनुपम अपयश, तिरस्कार और समस्त प्राणियोंसे अवहेलना प्राप्त होगी॥ ९४॥

कथं रथैर्विभुर्यात्वा गजाश्वैश्च मुहुर्मुहुः।
पद्भ्यां रामो महारण्ये वत्सो मे विचरिष्यति॥ ९५॥

'मेरे पुत्र सामर्थ्यशाली राम बारंबार रथों, हाथियों और घोड़ोंसे यात्रा किया करते थे। वे ही अब उस विशाल वनमें पैदल कैसे चलेंगे?॥ ९५॥

यस्य चाहारसमये सूदाः कुण्डलधारिणः।
अहंपूर्वाः पचन्ति स्म प्रसन्नाः पानभोजनम्॥ ९६॥

स कथं नु कषायाणि तिक्तानि कटुकानि च।
भक्षयन् वन्यमाहारं सुतो मे वर्तयिष्यति॥ ९७॥

'भोजनके समय जिनके लिये कुण्डलधारी रसोइये प्रसन्न होकर 'पहले मैं बनाऊँगा' ऐसा कहते हुए खाने-पीनेकी वस्तुएँ तैयार करते थे, वे ही मेरे पुत्र रामचन्द्र वनमें कसैले, तिक्त और कड़वे फलोंका आहार करते हुए किस तरह निर्वाह करेंगे॥ ९६-९७॥

महार्हवस्त्रसम्बद्धो भूत्वा चिरसुखोचितः।
काषायपरिधानस्तु कथं रामो भविष्यति॥ ९८॥

'जो सदा बहुमूल्य वस्त्र पहना करते थे और जिनका चिरकालसे सुखमें ही समय बीता है, वे ही श्रीराम वनमें गेरुए वस्त्र पहनकर कैसे रह सकेंगे?॥ ९८॥

कस्येदं दारुणं वाक्यमेवंविधमपीरितम्।
रामस्यारण्यगमनं भरतस्याभिषेचनम्॥ ९९॥

'श्रीरामका वनगमन और भरतका अभिषेक—ऐसा कठोर वाक्य तूने किसकी प्रेरणासे अपने मुँहसे निकाला है॥

धिगस्तु योषितो नाम शठाः स्वार्थपरायणाः।
न ब्रवीमि स्त्रियः सर्वा भरतस्यैव मातरम्॥ १००॥

'स्त्रियोंको धिक्कार है; क्योंकि वे शठ और स्वार्थपरायण होती हैं; परंतु मैं सारी स्त्रियोंके लिये ऐसा नहीं कह सकता, केवल भरतकी माताकी ही निन्दा करता हूँ॥ १००॥

अनर्थभावेऽर्थपरे नृशंसे
ममानुतापाय निवेशितासि।
किमप्रियं पश्यसि मन्निमित्तं
हितानुकारिण्यथवापि रामे॥ १०१॥

'अनर्थमें ही अर्थबुद्धि रखनेवाली क्रूर कैकेयि! तू मुझे संताप देनेके लिये ही इस घरमें बसायी गयी है। अरी! मेरे कारण तू अपना कौन-सा अप्रिय होता देख रही है? अथवा सबका निरन्तर हित करनेवाले श्रीराममें ही तुझे कौन-सी बुराई दिखायी देती है॥ १०१॥

परित्यजेयुः पितरोऽपि पुत्रान्
भार्याः पतींश्चापि कृतानुरागाः।
कृत्स्नं हि सर्वं कुपितं जगत् स्याद्
दृष्ट्वैव रामं व्यसने निमग्नम्॥ १०२॥

'श्रीरामको संकटके समुद्रमें डूबा हुआ देखकर तो पिता अपने पुत्रोंको त्याग देंगे। अनुरागिणी स्त्रियाँ भी अपने पतियोंको त्याग देंगी। इस प्रकार यह सारा जगत् ही कुपित-विपरीत व्यवहार करनेवाला हो जायगा॥ १०२॥

अहं पुनर्देवकुमाररूप-
मलंकृतं तं सुतमाव्रजन्तम्।
नन्दामि पश्यन्निव दर्शनेन
भवामि दृष्ट्वैव पुनर्युवेव॥ १०३॥

'देवकुमारके समान कमनीय रूपवाले अपने पुत्र श्रीरामको जब वस्त्र और आभूषणोंसे विभूषित होकर सामने आते देखता हूँ तो नेत्रोंसे उनकी शोभा निहारकर निहाल हो जाता हूँ। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता है मानो मैं फिर जवान हो गया॥ १०३॥

विना हि सूर्येण भवेत् प्रवृत्ति-
रवर्षता वज्रधरेण वापि।
रामं तु गच्छन्तमितः समीक्ष्य
जीवेन्न कश्चित्त्विति चेतना मे॥ १०४॥

'कदाचित् सूर्यके बिना भी संसारका काम चल जाय, वज्रधारी इन्द्रके वर्षा न करनेपर भी प्राणियोंका जीवन सुरक्षित रह जाय, परंतु रामको यहाँसे वनकी ओर जाते देखकर कोई भी जीवित नहीं रह सकता—मेरी ऐसी धारणा है॥ १०४॥

विनाशकामामहिताममित्रा-
मावासयं मृत्युमिवात्मनस्त्वाम्।
चिरं बताङ्केन धृतासि सर्पी
महाविषा तेन हतोऽस्मि मोहात्॥ १०५॥

'अरी! तू मेरा विनाश चाहनेवाली, अहित करनेवाली और शत्रुरूप है। जैसे कोई अपनी ही मृत्युको घरमें स्थान दे दे, उसी प्रकार मैंने तुझे घरमें बसा लिया है। खेदकी बात है कि मैंने मोहवश तुझ महाविषैली नागिनको चिरकालसे अपने अङ्कमें धारण कर रखा है; इसीलिये आज मैं मारा गया॥

मया च रामेण सलक्ष्मणेन
प्रशास्तु हीनो भरतस्त्वया सह।
पुरं च राष्ट्रं च निहत्य बान्धवान्
ममाहितानां च भवाभिहर्षिणी॥ १०६॥

'मुझसे, श्रीराम और लक्ष्मणसे हीन होकर भरत समस्त बान्धवोंका विनाश करके तेरे साथ इस नगर तथा राष्ट्रका शासन करें तथा तू मेरे शत्रुओंका हर्ष बढ़ानेवाली हो॥

नृशंसवृत्ते व्यसनप्रहारिणि
प्रसह्य वाक्यं यदिहाद्य भाषसे।
न नाम ते तेन मुखात् पतन्त्यधो
विशीर्यमाणा दशनाः सहस्रधा॥ १०७॥

'क्रूरतापूर्ण बर्ताव करनेवाली कैकेयी! तू संकटमें पड़े हुएपर प्रहार कर रही है। अरी! जब तू दुराग्रहपूर्वक आज ऐसी कठोर बातें मुँहसे निकालती है, उस समय तेरे दाँतोंके हजारों टुकड़े होकर मुँहसे नीचे क्यों नहीं गिर जाते?॥

न किंचिदाहाहितमप्रियं वचो
न वेत्ति रामः परुषाणि भाषितुम्।
कथं तु रामे ह्यभिरामवादिनि
ब्रवीषि दोषान् गुणनित्यसम्मते॥ १०८॥

'श्रीराम कभी किसीसे कोई अहितकारक या अप्रिय वचन नहीं करते हैं। वे कटुवचन बोलना जानते ही नहीं हैं।

उनका अपने गुणोंके कारण सदा-सर्वदा सम्मान होता है। उन्हीं मनोहर वचन बोलनेवाले श्रीराममें तू दोष कैसे बता रही है? क्योंकि वनवास उसीको दिया जाता है, जिसके बहुत-से दोष सिद्ध हो चुके हों॥ १०८॥

प्रताम्य वा प्रज्वल वा प्रणश्य वा
सहस्रशो वा स्फुटितां महीं व्रज।
न ते करिष्यामि वचः सुदारुणं
ममाहितं केकयराजपांसने॥ १०९॥

'ओ केकयराजके कुलकी जीती-जागती कलङ्क! तू चाहे ग्लानिमें डूब जा अथवा आगमें जलकर खाक हो जा या विष खाकर प्राण दे दे अथवा पृथ्वीमें हजारों दरारें बनाकर उसीमें समा जा; परंतु मेरा अहित करनेवाली तेरी यह अत्यन्त कठोर बात मैं कदापि नहीं मानूँगा॥ १०९॥

क्षुरोपमां नित्यमसत्प्रियंवदां
प्रदुष्टभावां स्वकुलोपघातिनीम्।
न जीवितुं त्वां विषहेऽमनोरमां
दिधक्षमाणां हृदयं सबन्धनम्॥ ११०॥

'तू छुरेके समान घात करनेवाली है। बातें तो मीठी-मीठी करती है, परंतु वे सदा झूठी और सद्भावनासे रहित होती हैं। तेरे हृदयका भाव अत्यन्त दूषित है तथा तू अपने कुलका भी नाश करनेवाली है। इतना ही नहीं, तू प्राणोंसहित मेरे हृदयको भी जलाकर भस्म कर डालना चाहती है; इसीलिये मेरे मनको नहीं भाती है। तुझ पापिनीका जीवित रहना मैं नहीं सह सकता॥ ११०॥

न जीवितं मेऽस्ति कुतः पुनः सुखं
विनात्मजेनात्मवतां कुतो रतिः।
ममाहितं देवि न कर्तुमर्हसि
स्पृशामि पादावपि ते प्रसीद मे॥ १११॥

'देवि! अपने बेटे श्रीरामके बिना मेरा जीवन नहीं रह सकता, फिर कहाँसे सुख हो सकता है? आत्मज्ञ पुरुषोंको भी अपने पुत्रसे बिछोह हो जानेपर कैसे चैन मिल सकता है? अतः तू मेरा अहित न कर। मैं तेरे पैर छूता हूँ, तू मुझपर प्रसन्न हो जा'॥ १११॥

स भूमिपालो विलपन्ननाथवत्
स्त्रिया गृहीतो हृदयेऽतिमात्रया।
पपात देव्याश्चरणौ प्रसारिता-
वुभावसम्प्राप्य यथाऽऽतुरस्तथा॥ ११२॥

इस प्रकार महाराज दशरथ मर्यादाका उल्लङ्घन करनेवाली उस हठीली स्त्रीके वशमें पड़कर अनाथकी भाँति विलाप कर रहे थे। वे देवी कैकेयीके फैलाये हुए दोनों चरणोंको छूना चाहते थे; परंतु उन्हें न पाकर बीचमें ही मूर्च्छित होकर गिर पड़े। ठीक उसी तरह, जैसे कोई रोगी किसी वस्तुको छूना चाहता है; किंतु दुर्बलताके कारण वहाँतक न पहुँचकर बीचमें ही अचेत होकर गिर जाता है॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्वादशः सर्गः॥ १२॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बारहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १२॥

★

त्रयोदशः सर्गः

राजाका विलाप और कैकेयीसे अनुनय-विनय

अतदर्हं महाराजं शयानमतथोचितम्।
ययातिमिव पुण्यान्ते देवलोकात् परिच्युतम्॥ १॥
अनर्थरूपासिद्धार्था ह्यभीता भयदर्शिनी।
पुनराकारयामास तमेव वरमङ्गना॥ २॥

महाराज दशरथ उस अयोग्य और अनुचित अवस्थामें पृथ्वीपर पड़े थे। उस समय वे पुण्य समाप्त होनेपर देवलोकसे भ्रष्ट हुए राजा ययातिके समान जान पड़ते थे। उनकी वैसी दशा देख अनर्थकी साक्षात् मूर्ति कैकेयी, जिसका प्रयोजन अभीतक सिद्ध नहीं हुआ था, जो लोकापवादका भय छोड़ चुकी थी और श्रीरामसे भरतके लिये भय देखती थी, पुनः उसी वरके लिये राजाको सम्बोधित करके कहने लगी—॥ १-२॥

त्वं कत्थसे महाराज सत्यवादी दृढव्रतः।
मम चेदं वरं कस्माद् विधारयितुमिच्छसि॥ ३॥

'महाराज! आप तो डींग मारा करते थे कि मैं बड़ा सत्यवादी और दृढ़प्रतिज्ञ हूँ, फिर आप मेरे इस वरदानको क्यों हजम कर जाना चाहते हैं?'॥ ३॥

एवमुक्तस्तु कैकेय्या राजा दशरथस्तदा।
प्रत्युवाच ततः क्रुद्धो मुहूर्तं विह्वलन्निव॥ ४॥

कैकेयीके ऐसा कहनेपर राजा दशरथ दो घड़ीतक व्याकुल-सी अवस्थामें रहे। तत्पश्चात् कुपित होकर उसे इस प्रकार उत्तर देने लगे—॥ ४॥

मृते मयि गते रामे वनं मनुजपुङ्गवे।
हन्तानार्ये ममामित्रे सकामा सुखिनी भव॥ ५॥

'ओ नीच! तू मेरी शत्रु है। नरश्रेष्ठ श्रीरामके वनमें चले जानेपर जब मेरी मृत्यु हो जायगी, उस समय तू सफलमनोरथ होकर सुखसे रहना॥ ५॥

स्वर्गेऽपि खलु रामस्य कुशलं दैवतैरहम्।
प्रत्यादेशादभिहितं धारयिष्ये कथं बत॥ ६॥

'हाय! स्वर्गमें भी जब देवता मुझसे श्रीरामका कुशल-

समाचार पूछेंगे, उस समय मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा? यदि कहूँ, उन्हें वनमें भेज दिया तो उसके बाद वे लोग जो मेरे प्रति धिक्कारपूर्ण बात कहेंगे, उसे कैसे सह सकूँगा? इसके लिये मुझे बड़ा खेद है॥ ६॥

कैकेय्याः प्रियकामेन रामः प्रव्राजितो वनम्।
यदि सत्यं ब्रवीम्येतत् तदसत्यं भविष्यति॥ ७॥

'कैकेयीका प्रिय करनेकी इच्छासे उसके माँगे हुए वरदानके अनुसार मैंने श्रीरामको वनमें भेज दिया, यदि ऐसा कहूँ और इसे सत्य बताऊँ तो मेरी वह पहली बात असत्य हो जायगी, जिसके द्वारा मैंने रामको राज्य देनेका आश्वासन दिया है॥ ७॥

अपुत्रेण मया पुत्रः श्रमेण महता महान्।
रामो लब्धो महातेजाः स कथं त्यज्यते मया॥ ८॥

'मैं पहले पुत्रहीन था, फिर महान् परिश्रम करके मैंने जिन महातेजस्वी महापुरुष श्रीरामको पुत्ररूपमें प्राप्त किया है, उनका मेरे द्वारा त्याग कैसे किया जा सकता है?॥ ८॥

शूरश्च कृतविद्यश्च जितक्रोधः क्षमापरः।
कथं कमलपत्राक्षो मया रामो विवास्यते॥ ९॥

'जो शूरवीर, विद्वान्, क्रोधको जीतनेवाले और क्षमापरायण हैं, उन कमलनयन श्रीरामको मैं देशनिकाला कैसे दे सकता हूँ?॥ ९॥

कथमिन्दीवरश्यामं दीर्घबाहुं महाबलम्।
अभिराममहं रामं स्थापयिष्यामि दण्डकान्॥ १०॥

'जिनकी अङ्गकान्ति नीलकमलके समान श्याम है, भुजाएँ विशाल और बल महान् हैं, उन नयनाभिराम श्रीरामको मैं दण्डकवनमें कैसे भेज सकूँगा?॥ १०॥

सुखानामुचितस्यैव दुःखैरनुचितस्य च।
दुःखं नामानुपश्येयं कथं रामस्य धीमतः॥ ११॥

'जो सदा सुख भोगनेके ही योग्य हैं, कदापि दुःख भोगनेके योग्य नहीं हैं, उन बुद्धिमान् श्रीरामको दुःख उठाते मैं कैसे देख सकता हूँ?॥ ११॥

यदि दुःखमकृत्वा तु मम संक्रमणं भवेत्।
अदुःखार्हस्य रामस्य ततः सुखमवाप्नुयाम्॥ १२॥

'जो दुःख भोगनेके योग्य नहीं हैं, उन श्रीरामको यह वनवासका दुःख दिये बिना ही यदि मैं इस संसारसे विदा हो जाता तो मुझे बड़ा सुख मिलता॥ १२॥

नृशंसे पापसंकल्पे रामं सत्यपराक्रमम्।
किं विप्रियेण कैकेयि प्रियं योजयसे मम॥ १३॥
अकीर्तिरतुला लोके ध्रुवं परिभविष्यति।

'ओ पापपूर्ण विचार रखनेवाली पाषाणहृदया कैकेयि! सत्यपराक्रमी श्रीराम मुझे बहुत प्रिय हैं, तू मुझसे उनका विछोह क्यों करा रही है? अरी! ऐसा करनेसे निश्चय ही संसारमें तेरी वह अपकीर्ति फैलेगी, जिसकी कहीं तुलना नहीं है'॥ १३½॥

तथा विलपतस्तस्य परिभ्रमितचेतसः॥ १४॥
अस्तमभ्यागमत् सूर्यो रजनी चाभ्यवर्तत।

इस प्रकार विलाप करते-करते राजा दशरथका चित्त अत्यन्त व्याकुल हो उठा। इतनेमें ही सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये और प्रदोषकाल आ पहुँचा॥ १४½॥

सा त्रियामा तदार्तस्य चन्द्रमण्डलमण्डिता॥ १५॥
राज्ञो विलपमानस्य न व्यभासत शर्वरी।

वह तीन पहरोंवाली रात यद्यपि चन्द्रमण्डलकी चारुचन्द्रिकासे आलोकित हो रही थी, तो भी उस समय आर्त होकर विलाप करते हुए राजा दशरथके लिये प्रकाश या उल्लास न दे सकी॥ १५½॥

सदैवोष्णं विनिःश्वस्य वृद्धो दशरथो नृपः॥ १६॥
विललापार्तवद् दुःखं गगनासक्तलोचनः।

बूढ़े राजा दशरथ निरन्तर गरम उच्छ्वास लेते हुए आकाशकी ओर दृष्टि लगाये आर्तकी भाँति दुःखपूर्ण विलाप करने लगे—॥ १६½॥

न प्रभातं त्वयेच्छामि निशे नक्षत्रभूषिते॥ १७॥
क्रियतां मे दया भद्रे मयायं रचितोऽञ्जलिः।

'नक्षत्रमालाओंसे अलंकृत कल्याणमयी रात्रिदेवि! मैं नहीं चाहता कि तुम्हारे द्वारा प्रभात-काल लाया जाय। मुझपर दया करो। मैं तुम्हारे सामने हाथ जोड़ता हूँ॥ १७½॥

अथवा गम्यतां शीघ्रं नाहमिच्छामि निर्घृणाम्॥ १८॥
नृशंसां कैकयीं द्रष्टुं यत्कृते व्यसनं मम।

'अथवा शीघ्र बीत जाओ; क्योंकि जिसके कारण मुझे भारी संकट प्राप्त हुआ है, उस निर्दय और क्रूर कैकेयीको अब मैं नहीं देखना चाहता'॥ १८½॥

एवमुक्त्वा ततो राजा कैकेयीं संयताञ्जलिः॥ १९॥
प्रसादयामास पुनः कैकेयीं राजधर्मवित्।

कैकेयीसे ऐसा कहकर राजधर्मके ज्ञाता राजा दशरथने पुनः हाथ जोड़कर उसे मनाने या प्रसन्न करनेकी चेष्टा आरम्भ की—॥ १९½॥

साधुवृत्तस्य दीनस्य त्वद्गतस्य गतायुषः॥ २०॥
प्रसादः क्रियतां भद्रे देवि राज्ञो विशेषतः।

'कल्याणमयी देवि! जो सदाचारी, दीन, तेरे आश्रित, गतायु (मरणासन्न) और विशेषतः राजा है—ऐसे मुझ दशरथपर कृपा कर॥ २०½॥

शून्ये न खलु सुश्रोणि मयेदं समुदाहृतम्॥ २१॥
कुरु साधुप्रसादं मे बाले सहृदया ह्यसि।

'सुन्दर कटिप्रदेशवाली केकयनन्दिनि! मैंने जो यह श्रीरामको राज्य देनेकी बात कही है, वह किसी सूने घरमें नहीं, भरी सभामें घोषित की है, अतः बाले! तू बड़ी सुहृदय है; इसलिये मुझपर भलीभाँति कृपा कर (जिससे सभासदोंद्वारा मेरा उपहास न हो)॥ २१½॥

प्रसीद देवि रामो मे त्वद्दत्तं राज्यमव्ययम्॥ २२॥
लभतामसितापाङ्गे यशः परमवाप्स्यसि।

'देवि! प्रसन्न हो जा। कजरारे नेत्रप्रान्तवाली प्रिये! मेरे श्रीराम तेरे ही दिये हुए इस अक्षय राज्यको प्राप्त करें, इससे तुझे उत्तम यशकी प्राप्ति होगी॥ २२½॥

मम रामस्य लोकस्य गुरूणां भरतस्य च।
प्रियमेतद् गुरुश्रोणि कुरु चारुमुखेक्षणे॥ २३॥

'पृथुल नितम्बवाली देवि! सुमुखि! सुलोचने! यह प्रस्ताव मुझको, श्रीरामको, समस्त प्रजावर्गको, गुरुजनोंको तथा भरतको भी प्रिय होगा, अतः इसे पूर्ण कर'॥ २३॥

विशुद्धभावस्य हि दुष्टभावा
दीनस्य ताम्राश्रुकलस्य राज्ञः।
श्रुत्वा विचित्रं करुणं विलापं
भर्तुर्नृशंसा न चकार वाक्यम्॥ २४॥

राजाके हृदयका भाव अत्यन्त शुद्ध था, उनके आँसूभरे नेत्र लाल हो गये थे और वे दीनभावसे विचित्र करुणाजनक विलाप कर रहे थे, किंतु मनमें दूषित विचार रखनेवाली निष्ठुर कैकेयीने पतिके उस विलापको सुनकर भी उनकी आज्ञाका पालन नहीं किया॥ २४॥

ततः स राजा पुनरेव मूर्च्छितः
प्रियामतुष्टां प्रतिकूलभाषिणीम्।
समीक्ष्य पुत्रस्य विवासनं प्रति
क्षितौ विसंज्ञो निपपात दुःखितः॥ २५॥

(इतनी अनुनय-विनयके बाद भी) जब प्रिया कैकेयी किसी तरह संतुष्ट न हो सकी और बराबर प्रतिकूल बात ही मुँहसे निकालती गयी, तब पुत्रके वनवासकी बात सोचकर राजा पुनः दुःखके मारे मूर्च्छित हो गये और सुध-बुध खोकर पृथ्वीपर गिर पड़े॥ २५॥

इतीव राज्ञो व्यथितस्य सा निशा
जगाम घोरं श्वसतो मनस्विनः।
विबोध्यमानः प्रतिबोधनं तदा
निवारयामास स राजसत्तमः॥ २६॥

इस प्रकार व्यथित होकर भयंकर उच्छ्वास लेते हुए मनस्वी राजा दशरथकी वह रात धीरे-धीरे बीत गयी। प्रातःकाल राजाको जगानेके लिये मनोहर वाद्योंके साथ मङ्गलगान होने लगा, परंतु उन राजशिरोमणिने तत्काल मनाही भेजकर वह सब बंद करा दिया॥ २६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रयोदशः सर्गः॥ १३॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तेरहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १३॥

—★—

चतुर्दशः सर्गः

कैकेयीका राजाको सत्यपर दृढ़ रहनेके लिये प्रेरणा देकर अपने वरोंकी पूर्तिके लिये दुराग्रह दिखाना, महर्षि वसिष्ठका अन्तःपुरके द्वारपर आगमन और सुमन्त्रको महाराजके पास भेजना, राजाकी आज्ञासे सुमन्त्रका श्रीरामको बुलानेके लिये जाना

पुत्रशोकार्दितं पापा विसंज्ञं पतितं भुवि।
विचेष्टमानमुत्प्रेक्ष्य ऐक्ष्वाकमिदमब्रवीत्॥ १॥

इक्ष्वाकुनन्दन राजा दशरथ पुत्रशोकसे पीड़ित हो पृथ्वीपर अचेत पड़े थे और वेदनासे छटपटा रहे थे, उन्हें इस अवस्थामें देखकर पापिनी कैकेयी इस प्रकार बोली—॥ १॥

पापं कृत्वेव किमिदं मम संश्रुत्य संश्रवम्।
शेषे क्षितितले सन्नः स्थित्यां स्थातुं त्वमर्हसि॥ २॥

'महाराज! आपने मुझे दो वर देनेकी प्रतिज्ञा की थी और जब मैंने उन्हें माँगा, तब आप इस प्रकार सन्न होकर पृथ्वीपर गिर पड़े, मानो कोई पाप करके पछता रहे हों, यह क्या बात है? आपको सत्पुरुषोंकी मर्यादामें स्थिर रहना चाहिये॥ २॥

आहुः सत्यं हि परमं धर्मं धर्मविदो जनाः।
सत्यमाश्रित्य च मया त्वं धर्मं प्रतिचोदितः॥ ३॥

'धर्मज्ञ पुरुष सत्यको ही सबसे श्रेष्ठ धर्म बतलाते हैं, उस सत्यका सहारा लेकर मैंने आपको धर्मका पालन करनेके लिये ही प्रेरित किया है॥ ३॥

संश्रुत्य शैब्यः श्येनाय स्वां तनुं जगतीपतिः।
प्रदाय पक्षिणे राजा जगाम गतिमुत्तमाम्॥ ४॥

'पृथ्वीपति राजा शैब्यने बाज पक्षीको अपना शरीर देनेकी प्रतिज्ञा करके उसे दे ही दिया और देकर उत्तम गति प्राप्त कर ली॥ ४॥

तथा ह्यलर्कस्तेजस्वी ब्राह्मणे वेदपारगे।
याचमाने स्वके नेत्रे उद्धृत्याविमना ददौ॥ ५॥

'इसी प्रकार तेजस्वी राजा अलर्कने वेदोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणको उसके याचना करनेपर मनमें खेद न लाते हुए अपनी दोनों आँखें निकालकर दे दी थीं॥ ५॥

सरितां तु पतिः स्वल्पां मर्यादां सत्यमन्वितः।
सत्यानुरोधात् समये वेलां स्वां नातिवर्तते॥ ६॥

'सत्यको प्राप्त हुआ समुद्र सत्यका ही अनुसरण करनेके कारण पर्व आदिके समय भी अपनी छोटी-सी सीमातट—भूमिका भी उल्लङ्घन नहीं करता॥ ६॥

सत्यमेकपदं ब्रह्म सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः।
सत्यमेवाक्षया वेदाः सत्येनावाप्यते परम्॥ ७॥

'सत्य ही प्रणवरूप शब्दब्रह्म है, सत्यमें ही धर्म प्रतिष्ठित है, सत्य ही अविनाशी वेद है और सत्यसे ही परब्रह्मकी प्राप्ति होती है ॥ ७ ॥

सत्यं समनुवर्तस्व यदि धर्मे धृता मतिः ।
स वरः सफलो मेऽस्तु वरदो ह्यसि सत्तम ॥ ८ ॥

'इसलिये यदि आपकी बुद्धि धर्ममें स्थित है तो सत्यका अनुसरण कीजिये। साधुशिरोमणे! मेरा माँगा हुआ वह वर सफल होना चाहिये; क्योंकि आप स्वयं ही उस वरके दाता हैं ॥ ८ ॥

धर्मस्यैवाभिकामार्थं मम चैवाभिचोदनात् ।
प्रव्राजय सुतं रामं त्रिः खलु त्वां ब्रवीम्यहम् ॥ ९ ॥

'धर्मके ही अभीष्ट फलकी सिद्धिके लिये तथा मेरी प्रेरणासे भी आप अपने पुत्र श्रीरामको घरसे निकाल दीजिये। मैं अपने इस कथनको तीन बार दुहराती हूँ ॥ ९ ॥

समयं च ममार्येमं यदि त्वं न करिष्यसि ।
अग्रतस्ते परित्यक्ता परित्यक्ष्यामि जीवितम् ॥ १० ॥

'आर्य! यदि मुझसे की हुई इस प्रतिज्ञाका आप पालन नहीं करेंगे तो मैं आपसे परित्यक्त (उपेक्षित) होकर आपके सामने ही अपने प्राणोंका परित्याग कर दूँगी' ॥ १० ॥

एवं प्रचोदितो राजा कैकेय्या निर्विशङ्कया ।
नाशकत् पाशमुन्मोक्तुं बलिरिन्द्रकृतं यथा ॥ ११ ॥

इस प्रकार कैकेयीने जब निःशङ्क होकर राजाको प्रेरित किया, तब वे उस सत्यरूपी बन्धनको वैसे ही नहीं खोल सके—उस बन्धनसे अपनेको उसी तरह नहीं मुक्त कर सके, जैसे राजा बलि इन्द्रप्रेरित वामनके पाशसे अपनेको मुक्त करनेमें असमर्थ हो गये थे ॥ ११ ॥

उद्भ्रान्तहृदयश्चापि विवर्णवदनोऽभवत् ।
स धुर्यो वै परिस्पन्दन् युगचक्रान्तरं यथा ॥ १२ ॥

दो पहियोंके बीचमें फँसकर वहाँसे निकलनेकी चेष्टा करनेवाले गाड़ीके बैलकी भाँति उनका हृदय उद्भ्रान्त हो उठा था और उनके मुखकी कान्ति भी फीकी पड़ गयी थी ॥

विकलाभ्यां च नेत्राभ्यामपश्यन्निव भूमिपः ।
कृच्छ्राद् धैर्येण संस्तभ्य कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ १३ ॥

अपने विकल नेत्रोंसे कुछ भी देखनेमें असमर्थ-से होकर भूपाल दशरथने बड़ी कठिनाईसे धैर्य धारण करके अपने हृदयको सँभाला और कैकेयीसे इस प्रकार कहा— ॥ १३ ॥

यस्ते मन्त्रकृतः पाणिरग्नौ पापे मया धृतः ।
संत्यजामि स्वजं चैव तव पुत्रं सह त्वया ॥ १४ ॥

'पापिनि! मैंने अग्निके समीप '**साङ्गुष्ठं ते गृभ्णामि सौभगत्वाय हस्तम्**' इत्यादि वैदिक मन्त्रका पाठ करके तेरे जिस हाथको पकड़ा था, उसे आज छोड़ रहा हूँ। साथ ही तेरे और अपने द्वारा उत्पन्न हुए तेरे पुत्रका भी त्याग करता हूँ ॥ १४ ॥

प्रयाता रजनी देवि सूर्यस्योदयनं प्रति ।
अभिषेकाय हि जनस्त्वरयिष्यति मां ध्रुवम् ॥ १५ ॥

'देवि! रात बीत गयी। सूर्योदय होते ही सब लोग निश्चय ही श्रीरामका राज्याभिषेक करनेके लिये मुझे शीघ्रता करनेको कहेंगे ॥ १५ ॥

रामाभिषेकसम्भारैस्तदर्थमुपकल्पितैः ।
रामः कारयितव्यो मे मृतस्य सलिलक्रियाम् ॥ १६ ॥
सपुत्रया त्वया नैव कर्तव्या सलिलक्रिया ।

'उस समय जो सामान श्रीरामके अभिषेकके लिये जुटाया गया है, उसके द्वारा मेरे मरनेके बाद श्रीरामके हाथसे मुझे जलाञ्जलि दिलवा देना; परंतु अपने पुत्रसहित तू मेरे लिये जलाञ्जलि न देना ॥ १६½ ॥

व्याहन्तास्यशुभाचारे यदि रामाभिषेचनम् ॥ १७ ॥
न शक्तोऽद्यास्म्यहं द्रष्टुं दृष्ट्वा पूर्वं तथामुखम् ।
हतहर्षं तथानन्दं पुनर्जनमवाङ्मुखम् ॥ १८ ॥

'पापाचारिणि! यदि तू श्रीरामके अभिषेकमें विघ्न डालेगी (तो तुझे मेरे लिये जलाञ्जलि देनेका कोई अधिकार न होगा)। मैं पहले श्रीरामके राज्याभिषेकके समाचारसे जो जन-समुदायका हर्षोल्लाससे परिपूर्ण उन्नत मुख देख चुका हूँ, वैसा देखनेके पश्चात् आज पुनः उसी जनताके हर्ष और आनन्दसे शून्य, नीचे लटके हुए मुखको मैं नहीं देख सकूँगा' ॥ १७-१८ ॥

तां तथा ब्रुवतस्तस्य भूमिपस्य महात्मनः ।
प्रभाता शर्वरी पुण्या चन्द्रनक्षत्रमालिनी ॥ १९ ॥

महात्मा राजा दशरथके कैकेयीसे इस तरहकी बातें करते-करते ही चन्द्रमा और नक्षत्रमालाओंसे अलंकृत वह पुण्यमयी रजनी बीत गयी और प्रभात-काल आ गया ॥ १९ ॥

ततः पापसमाचारा कैकेयी पार्थिवं पुनः ।
उवाच परुषं वाक्यं वाक्यज्ञा रोषमूर्च्छिता ॥ २० ॥

तदनन्तर बातचीतके मर्मको समझनेवाली पापाचारिणी कैकेयी रोषसे मूर्च्छित-सी होकर राजासे पुनः कठोर वाणीमें बोली— ॥ २० ॥

किमिदं भाषसे राजन् वाक्यं गररुजोपमम् ।
आनाययितुमक्लिष्टं पुत्रं राममिहार्हसि ॥ २१ ॥
स्थाप्य राज्ये मम सुतं कृत्वा रामं वनेचरम् ।
निःसपत्नां च मां कृत्वा कृतकृत्यो भविष्यसि ॥ २२ ॥

'राजन्! आप विष और शूल आदि रोगोंके समान कष्ट देनेवाले ऐसे वचन क्यों बोल रहे हैं (इन बातोंसे कुछ होने-जानेवाला नहीं है)। आप बिना किसी क्लेशके अपने पुत्र श्रीरामको यहाँ बुलवाइये। मेरे पुत्रको राज्यपर प्रतिष्ठित कीजिये और श्रीरामको वनमें भेजकर मुझे निष्कण्टक बनाइये; तभी आप कृतकृत्य हो सकेंगे' ॥ २१-२२ ॥

स तुन्न इव तीक्ष्णेन प्रतोदेन हयोत्तमः।
राजा प्रचोदितोऽभीक्ष्णं कैकेय्या वाक्यमब्रवीत्॥ २३॥

तीखे कोड़ेकी मारसे पीड़ित हुए उत्तम अश्वकी भाँति कैकेयीद्वारा बारंबार प्रेरित होनेपर व्यथित हुए राजा दशरथने इस प्रकार कहा— ॥ २३॥

धर्मबन्धेन बद्धोऽस्मि नष्टा च मम चेतना।
ज्येष्ठं पुत्रं प्रियं रामं द्रष्टुमिच्छामि धार्मिकम्॥ २४॥

'मैं धर्मके बन्धनमें बँधा हुआ हूँ। मेरी चेतना लुप्त होती जा रही है। इसलिये इस समय मैं अपने धर्मपरायण परम प्रिय ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामको देखना चाहता हूँ' ॥ २४॥

ततः प्रभातां रजनीमुदिते च दिवाकरे।
पुण्ये नक्षत्रयोगे च मुहूर्ते च समागते॥ २५॥
वसिष्ठो गुणसम्पन्नः शिष्यैः परिवृतस्तथा।
उपगृह्याशु सम्भारान् प्रविवेश पुरोत्तमम्॥ २६॥

इधर जब रात बीती, प्रभात हुआ, सूर्यदेवका उदय हो गया और पुण्यनक्षत्रके योगमें अभिषेकका शुभ मुहूर्त आ पहुँचा, उस समय शिष्योंसे घिरे हुए शुभगुणसम्पन्न महर्षि वसिष्ठ अभिषेककी आवश्यक सामग्रियोंका संग्रह करके शीघ्रतापूर्वक उस श्रेष्ठ पुरीमें आये॥ २५-२६॥

सिक्तसम्मार्जितपथां पताकोत्तमभूषिताम्।
संहृष्टमनुजोपेतां समृद्धविपणापणाम्॥ २७॥

उस पुण्यवेलामें अयोध्याकी सड़कें झाड़-बुहारकर साफ की गयी थीं और उनपर जलका छिड़काव हुआ था। सारी पुरी उत्तम पताकाओंसे सुशोभित थी। वहाँके सभी मनुष्य हर्ष और उत्साहसे भरे हुए थे। बाजार और दूकानें इस तरह सजी हुई थीं कि उनकी समृद्धि देखते ही बनती थी॥ २७॥

महोत्सवसमायुक्तां राघवार्थे समुत्सुकाम्।
चन्दनागुरुधूपैश्च सर्वतः परिधूमिताम्॥ २८॥

सब ओर महान् उत्सव हो रहा था। सारी नगरी श्रीरामचन्द्रजीके अभिषेकके लिये उत्सुक थी। चारों ओर चन्दन, अगर और धूपकी सुगन्ध व्याप्त हो रही थी॥ २८॥

तां पुरीं समतिक्रम्य पुरंदरपुरोपमाम्।
ददर्शान्तःपुरं श्रीमान् नानाध्वजगणायुतम्॥ २९॥

इन्द्रनगरी अमरावतीके समान शोभा पानेवाली उस पुरीको पार करके श्रीमान् वसिष्ठजीने राजा दशरथके अन्तःपुरका दर्शन किया। जहाँ सहस्रों ध्वजाएँ फहरा रही थीं॥ २९॥

पौरजानपदाकीर्णं ब्राह्मणैरुपशोभितम्।
यष्टिमद्भिः सुसम्पूर्णं सदश्वैः परमार्चितैः॥ ३०॥

नगर और जनपदके लोग वहाँ भरे हुए थे। बहुत-से ब्राह्मण उस स्थानकी शोभा बढ़ाते थे। छड़ीदार राजसेवक तथा सजे-सजाये सुन्दर घोड़े वहाँ अधिक संख्यामें उपस्थित थे॥ ३०॥

तदन्तःपुरमासाद्य व्यतिचक्राम तं जनम्।
वसिष्ठः परमप्रीतः परमर्षिभिरावृतः॥ ३१॥

श्रेष्ठ महर्षियोंसे घिरे हुए वसिष्ठजी परम प्रसन्न हो उस अन्तःपुरमें पहुँचकर उस जन-समुदायको लाँघकर आगे बढ़ गये॥ ३१॥

स त्वपश्यद् विनिष्क्रान्तं सुमन्त्रं नाम सारथिम्।
द्वारे मनुजसिंहस्य सचिवं प्रियदर्शनम्॥ ३२॥

वहाँ उन्होंने महाराजके सुन्दर सचिव तथा सारथि सुमन्त्रको अन्तःपुरके द्वारपर उपस्थित देखा, जो उसी समय भीतरसे निकले थे॥ ३२॥

तमुवाच महातेजाः सूतपुत्रं विशारदम्।
वसिष्ठः क्षिप्रमाचक्ष्व नृपतेर्मामिहागतम्॥ ३३॥

तब महातेजस्वी वसिष्ठने परम चतुर सूतपुत्र सुमन्त्रसे कहा—'सूत! तुम महाराजको शीघ्र ही मेरे आगमनकी सूचना दो॥ ३३॥

इमे गङ्गोदकघटाः सागरेभ्यश्च काञ्चनाः।
औदुम्बरं भद्रपीठमभिषेकार्थमाहृतम्॥ ३४॥

'(उन्हें बताओ कि श्रीरामके राज्याभिषेकके लिये सारी सामग्री एकत्र कर ली गयी है) ये गङ्गाजलसे भरे कलश रखे हैं, इन सोनेके कलशोंमें समुद्रोंसे लाया हुआ जल भरा हुआ है। यह गूलरकी लकड़ीका बना हुआ भद्रपीठ है, जो अभिषेकके लिये लाया गया है (इसीपर बिठाकर श्रीरामका अभिषेक होगा)॥ ३४॥

सर्वबीजानि गन्धाश्च रत्नानि विविधानि च।
क्षौद्रं दधि घृतं लाजा दर्भाः सुमनसः पयः॥ ३५॥
अष्टौ च कन्या रुचिरा मत्तश्च वरवारणः।
चतुरश्वो रथः श्रीमान् निस्त्रिंशो धनुरुत्तमम्॥ ३६॥
वाहनं नरसंयुक्तं छत्रं च शशिसंनिभम्।
श्वेते च वालव्यजने भृङ्गारं च हिरण्मयम्॥ ३७॥
हेमदामपिनद्धश्च ककुद्मान् पाण्डुरो वृषः।
केसरी च चतुर्दंष्ट्रो हरिश्रेष्ठो महाबलः॥ ३८॥
सिंहासनं व्याघ्रतनुः समिद्धश्च हुताशनः।
सर्वे वादित्रसङ्घाश्च वेश्याश्चालंकृताः स्त्रियः॥ ३९॥
आचार्या ब्राह्मणा गावः पुण्याश्च मृगपक्षिणः।
पौरजानपदश्रेष्ठा नैगमाश्च गणैः सह॥ ४०॥
एते चान्ये च बहवः प्रीयमाणाः प्रियंवदाः।
अभिषेकाय रामस्य सह तिष्ठन्ति पार्थिवैः॥ ४१॥

'सब प्रकारके बीज, गन्ध, भाँति-भाँतिके रत्न, मधु, दही, घी, लावा या खील, कुश, फूल, दूध, आठ सुन्दरी कन्याएँ, मत्त गजराज, चार घोड़ोंवाला रथ, चमचमाता हुआ खड्ग, उत्तम धनुष, मनुष्योंद्वारा ढोयी जानेवाली सवारी (पालकी आदि), चन्द्रमाके समान श्वेत छत्र, सफेद चँवर, सोनेकी झारी, सुवर्णकी मालासे अलंकृत ऊँचे डीलवाला श्वेत-

पीतवर्णका वृषभ, चार दाढ़ोंवाला सिंह, महाबलवान् उत्तम अश्व, सिंहासन, व्याघ्रचर्म, समिधाएँ, अग्नि, सब प्रकारके बाजे, वाराङ्गनाएँ, शृङ्गारयुक्त सौभाग्यवती स्त्रियाँ, आचार्य, ब्राह्मण, गौ, पवित्र पशु-पक्षी, नगर और जनपदके श्रेष्ठ पुरुष अपने सेवक-गणोंसहित प्रसिद्ध-प्रसिद्ध व्यापारी—ये तथा और भी बहुत-से प्रियवादी मनुष्य बहुसंख्यक राजाओंके साथ प्रसन्नतापूर्वक श्रीरामके अभिषेकके लिये यहाँ उपस्थित हैं॥ ३५—४१॥

त्वरयस्व महाराजं यथा समुदितेऽहनि।
पुष्ये नक्षत्रयोगे च रामो राज्यमवाप्नुयात्॥ ४२॥

'तुम महाराजसे शीघ्रता करनेके लिये कहो, जिससे अब सूर्योदयके पश्चात् पुष्य नक्षत्रके योगमें श्रीराम राज्य प्राप्त कर लें'॥ ४२॥

इति तस्य वचः श्रुत्वा सूतपुत्रो महाबलः।
स्तुवन् नृपतिशार्दूलं प्रविवेश निवेशनम्॥ ४३॥

वसिष्ठजीके ये वचन सुनकर महाबली सूतपुत्र सुमन्त्रने राजसिंह दशरथकी स्तुति करते हुए उनके भवनमें प्रवेश किया॥ ४३॥

तं तु पूर्वोदितं वृद्धं द्वारस्था राजसम्मताः।
न शेकुरभिसंरोद्धुं राज्ञः प्रियचिकीर्षवः॥ ४४॥

राजाका प्रिय करनेकी इच्छा रखनेवाले और उनके द्वारा सम्मानित द्वारपाल उन बूढ़े सचिवको भीतर जानेसे रोक न सके; क्योंकि उनके लिये पहलेसे ही महाराजकी आज्ञा थी कि ये किसी समय भी भीतर आनेसे रोके न जायँ॥ ४४॥

स समीपस्थितो राज्ञस्तामवस्थामजज्ञिवान्।
वाग्भिः परमतुष्टाभिरभिष्टोतुं प्रचक्रमे॥ ४५॥

सुमन्त्र राजाके पास जाकर खड़े हो गये। उन्हें उनकी उस अवस्थाका पता नहीं था; इसलिये वे अत्यन्त संतोषदायक वचनोंद्वारा उनकी स्तुति करनेको उद्यत हुए॥ ४५॥

ततः सूतो यथापूर्वं पार्थिवस्य निवेशने।
सुमन्त्रः प्राञ्जलिर्भूत्वा तुष्टाव जगतीपतिम्॥ ४६॥

सूत सुमन्त्र राजाके उस महलमें पहलेकी ही भाँति हाथ जोड़कर उन महाराजकी स्तुति करने लगे—॥ ४६॥

यथा नन्दति तेजस्वी सागरो भास्करोदये।
प्रीतः प्रीतेन मनसा तथा नन्दय नस्ततः॥ ४७॥

'महाराज! जैसे सूर्योदय होनेपर तेजस्वी समुद्र स्वयं हर्षकी तरंगोंसे उल्लसित हो उसमें स्नानकी इच्छावाले मनुष्योंको आनन्दित करता है, उसी प्रकार आप स्वयं प्रसन्न हो प्रसन्नतापूर्ण हृदयसे हम सेवकोंको आनन्द प्रदान कीजिये॥ ४७॥

इन्द्रमस्यां तु वेलायामभितुष्टाव मातलिः।
सोऽजयद् दानवान् सर्वांस्तथा त्वां बोधयाम्यहम्॥ ४८॥

'देवसारथि मातलिने इसी वेलामें देवराज इन्द्रकी स्तुति की थी, जिससे उन्होंने समस्त दानवोंपर विजय प्राप्त कर ली, उसी प्रकार मैं भी स्तुति-वचनोंद्वारा आपको जगा रहा हूँ॥

वेदाः सहाङ्गा विद्याश्च यथा ह्यात्मभुवं प्रभुम्।
ब्रह्माणं बोधयन्त्यद्य तथा त्वां बोधयाम्यहम्॥ ४९॥

'छहों अङ्गोंसहित चारों वेद तथा समस्त विद्याएँ जैसे स्वयम्भू भगवान् ब्रह्माको जगाती हैं, उसी प्रकार आज मैं आपको जगा रहा हूँ॥ ४९॥

आदित्यः सह चन्द्रेण यथा भूतधरां शुभाम्।
बोधयत्यद्य पृथिवीं तथा त्वां बोधयाम्यहम्॥ ५०॥

'जैसे चन्द्रमाके साथ सूर्य समस्त भूतोंकी आधारभूता इस शुभ-स्वरूपा पृथ्वीको जगाया करते हैं, उसी प्रकार आज मैं आपको जगा रहा हूँ॥ ५०॥

उत्तिष्ठ सुमहाराज कृतकौतुकमङ्गलः।
विराजमानो वपुषा मेरोरिव दिवाकरः॥ ५१॥

'महाराज! उठिये और उत्सवकालिक मङ्गलकृत्य पूर्ण करके वस्त्राभूषणोंसे सुशोभित शरीरसे सिंहासनपर विराजमान होइये। फिर मेरु पर्वतसे ऊपर उठनेवाले सूर्यदेवके समान आपकी शोभा होती रहे॥ ५१॥

सोमसूर्यौ च काकुत्स्थ शिववैश्रवणावपि।
वरुणश्चाग्निरिन्द्रश्च विजयं प्रदिशन्तु ते॥ ५२॥

'ककुत्स्थ-कुलनन्दन! चन्द्रमा, सूर्य, शिव, कुबेर, वरुण, अग्नि और इन्द्र आपको विजय प्रदान करें॥ ५२॥

गता भगवती रात्रिः कृतं कृत्यमिदं तव।
बुध्यस्व नृपशार्दूल कुरु कार्यमनन्तरम्॥ ५३॥

'राजसिंह! भगवती रात्रिदेवी विदा हो गयीं। आपने जिसके लिये आज्ञा दी थी, आपका वह सारा कार्य पूर्ण हो गया। इस बातको आप जान लें और इसके बाद जो अभिषेकका कार्य शेष है, उसे पूर्ण करें॥ ५३॥

उदतिष्ठत रामस्य समग्रमभिषेचनम्।
पौरजानपदाश्चापि नैगमश्च कृताञ्जलिः॥ ५४॥

'श्रीरामके अभिषेककी सारी तैयारी हो चुकी है। नगर और जनपदके लोग तथा मुख्य-मुख्य व्यापारी भी हाथ जोड़े हुए उपस्थित हैं॥ ५४॥

स्वयं वसिष्ठो भगवान् ब्राह्मणैः सह तिष्ठति।
क्षिप्रमाज्ञाप्यतां राजन् राघवस्याभिषेचनम्॥ ५५॥

'राजन्! ये भगवान् वसिष्ठ मुनि ब्राह्मणोंके साथ द्वारपर खड़े हैं; अतः श्रीरामके अभिषेकका कार्य आरम्भ करनेके लिये शीघ्र आज्ञा दीजिये॥ ५५॥

यथा ह्यपालाः पशवो यथा सेना ह्यनायका।
यथा चन्द्रं विना रात्रिर्यथा गावो विना वृषम्॥ ५६॥
एवं हि भविता राष्ट्रं यत्र राजा न दृश्यते।

'जैसे चरवाहोंके बिना पशु, सेनापतिके बिना सेना, चन्द्रमाके बिना रात्रि और साँड़के बिना गौओंकी शोभा नहीं

होती, ऐसी ही दशा उस राष्ट्रकी हो जाती है, जहाँ राजाका दर्शन नहीं होता है' ॥ ५६½ ॥

एवं तस्य वचः श्रुत्वा सान्त्वपूर्वमिवार्थवत् ॥ ५७ ॥
अभ्यकीर्यत शोकेन भूय एव महीपतिः ।

सुमन्त्रके इस प्रकार कहे हुए सान्त्वनापूर्ण और सार्थक वचनको सुनकर राजा दशरथ पुनः शोकसे ग्रस्त हो गये ॥

ततस्तु राजा तं सूतं सन्नहर्षः सुतं प्रति ॥ ५८ ॥
शोकरक्तेक्षणः श्रीमानुद्वीक्ष्योवाच धार्मिकः ।
वाक्यैस्तु खलु मर्माणि मम भूयो निकृन्तसि ॥ ५९ ॥

उस समय पुत्रके वियोगकी सम्भावनासे उनकी प्रसन्नता नष्ट हो चुकी थी। शोकके कारण उनके नेत्र लाल हो गये थे। उन धर्मात्मा श्रीमान् नरेशने एक बार दृष्टि उठाकर सूतकी ओर देखा और इस प्रकार कहा—'तुम ऐसी बातें सुनाकर मेरे मर्म-स्थानोंपर और अधिक आघात क्यों कर रहे हो' ॥ ५८-५९ ॥

सुमन्त्रः करुणं श्रुत्वा दृष्ट्वा दीनं च पार्थिवम् ।
प्रगृहीताञ्जलिः किंचित् तस्माद् देशादपाक्रमत् ॥ ६० ॥

राजाके ये करुण वचन सुनकर और उनकी दीन-दशापर दृष्टिपात करके सुमन्त्र हाथ जोड़े हुए उस स्थानसे कुछ पीछे हट गये ॥ ६० ॥

यदा वक्तुं स्वयं दैन्यान्न शशाक महीपतिः ।
तदा सुमन्त्रं मन्त्रज्ञा कैकेयी प्रत्युवाच ह ॥ ६१ ॥

जब दुःख और दीनताके कारण राजा स्वयं कुछ भी न कह सके, तब मन्त्रणाका ज्ञान रखनेवाली कैकेयीने सुमन्त्रको इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ ६१ ॥

सुमन्त्र राजा रजनीं रामहर्षसमुत्सुकः ।
प्रजागरपरिश्रान्तो निद्रावशमुपागतः ॥ ६२ ॥

'सुमन्त्र ! राजा रातभर श्रीरामके राज्याभिषेकजनित हर्षके कारण उत्कण्ठित होकर जागते रहे हैं। अधिक जागरणसे थक जानेके कारण इस समय इन्हें नींद आ गयी है ॥ ६२ ॥

तद् गच्छ त्वरितं सूत राजपुत्रं यशस्विनम् ।
राममानय भद्रं ते नात्र कार्या विचारणा ॥ ६३ ॥

'अतः सूत ! तुम्हारा भला हो। तुम तुरंत जाओ और यशस्वी राजकुमार श्रीरामको यहाँ बुला लाओ। इस विषयमें तुम्हें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये' ॥ ६३ ॥

अश्रुत्वा राजवचनं कथं गच्छामि भामिनि ।
तच्छ्रुत्वा मन्त्रिणो वाक्यं राजा मन्त्रिणमब्रवीत् ॥ ६४ ॥

तब सुमन्त्रने कहा—'भामिनि ! मैं महाराजकी आज्ञा सुने बिना कैसे जा सकता हूँ ?' मन्त्रीकी बात सुनकर राजाने उनसे कहा— ॥ ६४ ॥

सुमन्त्र रामं द्रक्ष्यामि शीघ्रमानय सुन्दरम् ।
स मन्यमानः कल्याणं हृदयेन ननन्द च ॥ ६५ ॥

'सुमन्त्र ! मैं सुन्दर श्रीरामको देखना चाहता हूँ। तुम शीघ्र उन्हें यहाँ ले आओ।' उस समय श्रीरामके दर्शनसे ही कल्याण मानते हुए राजा मन-ही-मन आनन्दका अनुभव करने लगे ॥ ६५ ॥

निर्जगाम च स प्रीत्या त्वरितो राजशासनात् ।
सुमन्त्रश्चिन्तयामास त्वरितं चोदितस्तया ॥ ६६ ॥

इधर सुमन्त्र राजाकी आज्ञासे तुरंत प्रसन्नतापूर्वक वहाँसे चल दिये। कैकेयीने जो तुरंत श्रीरामको बुला लानेकी आज्ञा दी थी, उसे याद करके वे सोचने लगे—'पता नहीं, यह उन्हें बुलानेके लिये इतनी जल्दी क्यों मचा रही है ?' ॥ ६६ ॥

व्यक्तं रामाभिषेकार्थे इहायास्यति धर्मराट् ।
इति सूतो मतिं कृत्वा हर्षेण महता पुनः ॥ ६७ ॥
निर्जगाम महातेजा राघवस्य दिदृक्षया ।
सागरह्रदसंकाशात्सुमन्त्रोऽन्तःपुराच्छुभात् ।
निष्क्रम्य जनसम्बाधं ददर्श द्वारमग्रतः ॥ ६८ ॥

'जान पड़ता है, श्रीरामचन्द्रके अभिषेकके लिये ही यह जल्दी कर रही है। इस कार्यमें धर्मराज राजा दशरथको अधिक आयास करना पड़ता है (शायद इसीलिये ये बाहर नहीं निकलते)।' ऐसा निश्चय करके महातेजस्वी सूत सुमन्त्र फिर बड़े हर्षके साथ श्रीरामके दर्शनकी इच्छासे चल पड़े। समुद्रके अन्तर्वर्ती जलाशयके समान उस सुन्दर अन्तःपुरसे निकलकर सुमन्त्रने द्वारके सामने मनुष्योंकी भारी भीड़ एकत्र हुई देखी ॥ ६७-६८ ॥

ततः पुरस्तात् सहसा विनिःसृतो
महीपतेर्द्वारगतान् विलोकयन् ।
ददर्श पौरान् विविधान् महाधना-
नुपस्थितान् द्वारमुपेत्य विष्ठितान् ॥ ६९ ॥

राजाके अन्तःपुरसे सहसा निकलकर सुमन्त्रने द्वारपर एकत्र हुए लोगोंकी ओर दृष्टिपात किया। उन्होंने देखा, बहुसंख्यक पुरवासी वहाँ उपस्थित थे और अनेकानेक महाधनी पुरुष राजद्वारपर आकर खड़े थे ॥ ६९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौदहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १४ ॥

—★—

पञ्चदशः सर्गः

सुमन्त्रका राजाकी आज्ञासे श्रीरामको बुलानेके लिये उनके महलमें जाना

ते तु तां रजनीमुष्य ब्राह्मणा वेदपारगाः।
उपतस्थुरुपस्थानं सह राजपुरोहिताः॥ १॥

वे वेदोंके पारङ्गत ब्राह्मण तथा राजपुरोहित वह रात बिताकर प्रातःकाल (राजाकी प्रेरणाके अनुसार) राजद्वारपर उपस्थित हुए थे॥ १॥

अमात्या बलमुख्याश्च मुख्या ये निगमस्य च।
राघवस्याभिषेकार्थे प्रीयमाणाः सुसंगताः॥ २॥

मन्त्री, सेनाके मुख्य-मुख्य अधिकारी और बड़े-बड़े सेठ-साहूकार श्रीरामचन्द्रजीके अभिषेकके लिये बड़ी प्रसन्नताके साथ वहाँ एकत्र हुए थे॥ २॥

उदिते विमले सूर्ये पुष्ये चाभ्यागतेऽहनि।
लग्ने कर्कटके प्राप्ते जन्म रामस्य च स्थिते॥ ३॥
अभिषेकाय रामस्य द्विजेन्द्रैरुपकल्पितम्।
काञ्चना जलकुम्भाश्च भद्रपीठं स्वलंकृतम्॥ ४॥
रथश्च सम्यगास्तीर्णो भास्वता व्याघ्रचर्मणा।
गङ्गायमुनयोः पुण्यात् संगमादाहृतं जलम्॥ ५॥

निर्मल सूर्योदय होनेपर दिनमें जब पुष्य नक्षत्रका योग आया तथा श्रीरामके जन्मका कर्क लग्न उपस्थित हुआ, उस समय श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने श्रीरामके अभिषेकके लिये सारी सामग्री एकत्र करके उसे जँचाकर रख दिया। जलसे भरे हुए सोनेके कलश, भलीभाँति सजाया हुआ भद्रपीठ, चमकीले व्याघ्रचर्मसे अच्छी तरह आवृत रथ, गङ्गा-यमुनाके पवित्र सङ्गमसे लाया हुआ जल—ये सब वस्तुएँ एकत्र कर ली गयी थीं॥ ३—५॥

याश्चान्याः सरितः पुण्या ह्रदाः कूपाः सरांसि च।
प्राग्वहाश्चोर्ध्ववाहाश्च तिर्यग्वाहाश्च क्षीरिणः॥ ६॥
ताभ्यश्चैवाहृतं तोयं समुद्रेभ्यश्च सर्वशः।
क्षौद्रं दधि घृतं लाजा दर्भाः सुमनसः पयः॥ ७॥
अष्टौ च कन्या रुचिरा मत्तश्च वरवारणः।
सजलाः क्षीरिभिश्छन्ना घटाः काञ्चनराजताः॥ ८॥
पद्मोत्पलयुता भान्ति पूर्णाः परमवारिणा।

इनके सिवा जो अन्य नदियाँ, पवित्र जलाशय, कूप और सरोवर हैं तथा जो पूर्वकी ओर बहनेवाली (गोदावरी और कावेरी आदि) नदियाँ हैं, ऊपरकी ओर प्रवाहवाले जो (ब्रह्मावर्त आदि) सरोवर हैं तथा दक्षिण और उत्तरकी ओर बहनेवाली जो (गण्डकी एवं शोणभद्र आदि) नदियाँ हैं, जिनमें दूधके समान निर्मल जल भरा रहता है, उन सबसे और समस्त समुद्रोंसे भी लाया हुआ जल वहाँ संग्रह करके रखा गया था। इनके अतिरिक्त दूध, दही, घी, मधु, लावा, कुश, फूल, आठ सुन्दर कन्याएँ, मदमत्त गजराज और दूधवाले वृक्षोंके पल्लवोंसे ढके हुए सोने-चाँदीके जलपूर्ण कलश भी वहाँ विराजमान थे, जो उत्तम जलसे भरे होनेके साथ ही पद्म और उत्पलोंसे संयुक्त होनेके कारण बड़ी शोभा पा रहे थे॥ ६—८½॥

चन्द्रांशुविकचप्रख्यं पाण्डुरं रत्नभूषितम्॥ ९॥
सज्जं तिष्ठति रामस्य वालव्यजनमुत्तमम्।

श्रीरामके लिये चन्द्रमाकी किरणोंके समान विकसित कान्तिसे युक्त श्वेत, पीतवर्णका रत्नजटित उत्तम चँवर सुसज्जितरूपसे रखा हुआ था॥ ९½॥

चन्द्रमण्डलसंकाशमातपत्रं च पाण्डुरम्॥ १०॥
सज्जं द्युतिकरं श्रीमदभिषेकपुरस्सरम्।

चन्द्रमण्डलके समान सुसज्जित श्वेत छत्र भी अभिषेक-सामग्रीके साथ शोभा पा रहा था, जो परम सुन्दर और प्रकाश फैलानेवाला था॥ १०½॥

पाण्डुरश्च वृषः सज्जः पाण्डुराश्वश्च संस्थितः॥ ११॥

सुसज्जित श्वेत वृषभ और श्वेत अश्व भी खड़े थे॥ ११॥

वादित्राणि च सर्वाणि वन्दिनश्च तथापरे।
इक्ष्वाकूणां यथा राज्ये सम्भ्रियेताभिषेचनम्॥ १२॥
तथाजातीयमादाय राजपुत्राभिषेचनम्।
ते राजवचनात् तत्र समवेता महीपतिम्॥ १३॥

सब प्रकारके बाजे मौजूद थे। स्तुति-पाठ करनेवाले वन्दी तथा अन्य मागध आदि भी उपस्थित थे। इक्ष्वाकुवंशी राजाओंके राज्यमें जैसी अभिषेक-सामग्रीका संग्रह होना चाहिये, राजकुमारके अभिषेककी वैसी ही सामग्री साथ लेकर वे सब लोग महाराज दशरथकी आज्ञाके अनुसार वहाँ उनके दर्शनके लिये एकत्र हुए थे॥ १२-१३॥

अपश्यन्तोऽब्रुवन् को नु राज्ञो नः प्रतिवेदयेत्।
न पश्यामश्च राजानमुदितश्च दिवाकरः॥ १४॥
यौवराज्याभिषेकश्च सज्जो रामस्य धीमतः।

राजाको द्वारपर न देखकर वे कहने लगे—'कौन महाराजके पास जाकर हमारे आगमनकी सूचना देगा। हम महाराजको यहाँ नहीं देखते हैं। सूर्योदय हो गया है और बुद्धिमान् श्रीरामके यौवराज्याभिषेककी सारी सामग्री जुट गयी है'॥ १४½॥

इति तेषु ब्रुवाणेषु सर्वांस्तांश्च महीपतीन्॥ १५॥
अब्रवीत् तानिदं वाक्यं सुमन्त्रो राजसत्कृतः।

वे सब लोग जब इस प्रकारकी बातें कर रहे थे, उसी समय राजाद्वारा सम्मानित सुमन्त्रने वहाँ खड़े हुए उन समस्त भूपतियोंसे यह बात कही—॥ १५½॥

रामं राज्ञो नियोगेन त्वरया प्रस्थितो ह्यहम्॥ १६॥
पूज्या राज्ञो भवन्तश्च रामस्य तु विशेषतः।
अयं पृच्छामि वचनात् सुखमायुष्मतामहम्॥ १७॥

'मैं महाराजकी आज्ञासे श्रीरामको बुलानेके लिये तुरंत जा रहा हूँ। आप सब लोग महाराजके तथा विशेषतः श्रीरामचन्द्रजीके पूजनीय हैं। मैं उन्हींकी ओरसे आप समस्त चिरंजीवी पुरुषोंके कुशल-समाचार पूछ रहा हूँ। आपलोग सुखसे हैं न?' ॥ १६-१७ ॥

राज्ञः सम्प्रतिबुद्धस्य चानागमनकारणम्।
इत्युक्त्वान्तःपुरद्वारमाजगाम पुराणवित्॥ १८॥

ऐसा कहकर और जगे हुए होनेपर श्रीमहाराजके बाहर न आनेका कारण बताकर पुरातन वृत्तान्तोंको जाननेवाले सुमन्त्र पुनः अन्तःपुरके द्वारपर लौट आये॥ १८॥

सदा सक्तं च तद् वेश्म सुमन्त्रः प्रविवेश ह।
तुष्टावास्य तदा वंशं प्रविश्य स विशाम्पतेः॥ १९॥

वह राजभवन सुमन्त्रके लिये सदा खुला रहता था। उन्होंने भीतर प्रवेश किया और प्रवेश करके महाराजके वंशकी स्तुति की॥ १९॥

शयनीयं नरेन्द्रस्य तदासाद्य व्यतिष्ठत।
सोऽत्यासाद्य तु तद् वेश्म तिरस्करणिमन्तरा॥ २०॥
आशीर्भिर्गुणयुक्ताभिरभितुष्टाव राघवम्।

तदनन्तर वे राजाके शयनगृहके पास जाकर खड़े हो गये। उस घरके अत्यन्त निकट पहुँचकर जहाँ बीचमें केवल चिकका अन्तर रह गया था, खड़े हो वे गुणवर्णनपूर्वक आशीर्वादसूचक वचनोंद्वारा रघुकुलनरेशकी स्तुति करने लगे—॥ २०½॥

सोमसूर्यौ च काकुत्स्थ शिववैश्रवणावपि॥ २१॥
वरुणश्चाग्निरिन्द्रश्च विजयं प्रदिशन्तु ते।

'ककुत्स्थनन्दन! चन्द्रमा, सूर्य, शिव, कुबेर, वरुण, अग्नि और इन्द्र आपको विजय प्रदान करें॥ २१½॥

गता भगवती रात्रिरहः शिवमुपस्थितम्॥ २२॥
बुद्ध्यस्व राजशार्दूल कुरु कार्यमनन्तरम्।

'भगवती रात्रि विदा हो गयी। अब कल्याणस्वरूप दिन उपस्थित हुआ है। राजसिंह! निद्रा त्यागकर जग जाइये और अब जो कार्य प्राप्त है, उसे कीजिये॥ २२½॥

ब्राह्मणा बलमुख्याश्च नैगमाश्चागतास्त्विह॥ २३॥
दर्शनं तेऽभिकाङ्क्षन्ते प्रतिबुद्ध्यस्व राघव।

'ब्राह्मण, सेनाके मुख्य अधिकारी और बड़े-बड़े सेठ-साहूकार यहाँ आ गये हैं। वे सब लोग आपका दर्शन चाहते हैं। रघुनन्दन! जागिये' ॥ २३½॥

स्तुवन्तं तं तदा सूतं सुमन्त्रं मन्त्रकोविदम्॥ २४॥
प्रतिबुद्ध्य ततो राजा इदं वचनमब्रवीत्।

मन्त्रणा करनेमें कुशल सूत सुमन्त्र जब इस प्रकार स्तुति करने लगे, तब राजाने जागकर उनसे यह बात कही—॥

राममानय सूतेति यदस्यभिहितो मया॥ २५॥
किमिदं कारणं येन ममाज्ञा प्रतिवाह्यते।
न चैव सम्प्रसुप्तोऽहमानयेहाशु राघवम्॥ २६॥

'सूत! श्रीरामको बुला लाओ'—यह जो मैंने तुमसे कहा था, उसका पालन क्यों नहीं हुआ? ऐसा कौन-सा कारण है, जिससे मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन किया जा रहा है? मैं सोया नहीं हूँ। तुम श्रीरामको शीघ्र यहाँ बुला लाओ' ॥

इति राजा दशरथः सूतं तत्रान्वशात् पुनः।
स राजवचनं श्रुत्वा शिरसा प्रतिपूज्य तम्॥ २७॥
निर्जगाम नृपावासान्मन्यमानः प्रियं महत्।
प्रपन्नो राजमार्गं च पताकाध्वजशोभितम्॥ २८॥

इस प्रकार राजा दशरथने जब सूतको फिर उपदेश दिया, तब वे राजाकी वह आज्ञा सुनकर सिर झुकाकर उसका सम्मान करते हुए राजभवनसे बाहर निकल गये। वे मन-ही-मन अपना महान् प्रिय हुआ मानने लगे। राजभवनसे निकलकर सुमन्त्र ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित राजमार्गपर आ गये॥ २७-२८॥

हृष्टः प्रमुदितः सूतो जगामाशु विलोकयन्।
स सूतस्तत्र शुश्राव रामाधिकरणाः कथाः॥ २९॥
अभिषेचनसंयुक्ताः सर्वलोकस्य हृष्टवत्।

वे हर्ष और उल्लासमें भरकर सब ओर दृष्टि डालते हुए शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़ने लगे। सूत सुमन्त्र वहाँ मार्गमें सब लोगोंके मुँहसे श्रीरामके राज्याभिषेककी आनन्ददायिनी बातें सुनते जा रहे थे॥ २९½॥

ततो ददर्श रुचिरं कैलाससदृशप्रभम्॥ ३०॥
रामवेश्म सुमन्त्रस्तु शक्रवेश्मसमप्रभम्।
महाकपाटपिहितं वितर्दिशतशोभितम्॥ ३१॥

तदनन्तर सुमन्त्रको श्रीरामका सुन्दर भवन दिखायी दिया, जो कैलासपर्वतके समान श्वेत प्रभासे प्रकाशित हो रहा था। वह इन्द्रभवनके समान दीप्तिमान् था। उसका फाटक विशाल किवाड़ोंसे बंद था (उसके भीतरका छोटा-सा द्वार ही खुला हुआ था)। सैकड़ों वेदिकाएँ उस भवनकी शोभा बढ़ा रही थीं॥ ३०-३१॥

काञ्चनप्रतिमैकाग्रं मणिविद्रुमतोरणम्।
शारदाभ्रघनप्रख्यं दीप्तं मेरुगुहासमम्॥ ३२॥

उसका मुख्य अग्रभाग सोनेकी देव-प्रतिमाओंसे अलंकृत था। उसके बाहर फाटकमें मणि और मूँगे जड़े हुए थे। वह सारा भवन शरद् ऋतुके बादलोंकी भाँति श्वेत कान्तिसे युक्त, दीप्तिमान् और मेरुपर्वतकी कन्दराके समान शोभायमान था॥ ३२॥

मणिभिर्वरमाल्यानां सुमहद्भिरलंकृतम्।
मुक्तामणिभिराकीर्णं चन्दनागुरुभूषितम्॥ ३३॥

सुवर्णनिर्मित पुष्पोंकी मालाओंके बीच-बीचमें पिरोयी हुई बहुमूल्य मणियोंसे वह भवन सजा हुआ था। दीवारोंमें जड़ी हुई मुक्तामणियोंसे व्याप्त होकर जगमगा रहा था (अथवा वहाँ मोती और मणियोंके भण्डार भरे हुए थे)। चन्दन और

अगरकी सुगन्ध उसकी शोभा बढ़ा रही थी ॥ ३३ ॥

गन्धान् मनोज्ञान् विसृजद् दार्दुरं शिखरं यथा ।
सारसैश्च मयूरैश्च विनदद्भिर्विराजितम् ॥ ३४ ॥

वह भवन मलयाचलके समीपवर्ती दर्दुर नामक चन्दनगिरिके शिखरकी भाँति सब ओर मनोहर सुगन्ध बिखेर रहा था। कलरव करते हुए सारस और मयूर आदि पक्षी उसकी शोभावृद्धि कर रहे थे ॥ ३४ ॥

सुकृतेहामृगाकीर्णमुत्कीर्णं भक्तिभिस्तथा ।
मनश्चक्षुश्च भूतानामाददत् तिग्मतेजसा ॥ ३५ ॥

सोने आदिकी सुन्दर ढंगसे बनी हुई भेड़ियोंकी मूर्तियोंसे वह व्याप्त था। शिल्पियोंने उसकी दीवारोंमें बड़ी सुन्दर नक्काशी की थी। वह अपनी उत्कृष्ट शोभासे समस्त प्राणियोंके मन और नेत्रोंको आकृष्ट कर लेता था ॥ ३५ ॥

चन्द्रभास्करसंकाशं कुबेरभवनोपमम् ।
महेन्द्रधामप्रतिमं नानापक्षिसमाकुलम् ॥ ३६ ॥

चन्द्रमा और सूर्यके समान तेजस्वी, कुबेर-भवनके समान अक्षय सम्पत्तिसे पूर्ण तथा इन्द्रधामके समान भव्य एवं मनोरम उस श्रीरामभवनमें नाना प्रकारके पक्षी चहक रहे थे ॥

मेरुशृङ्गसमं सूतो रामवेश्म ददर्श ह ।
उपस्थितैः समाकीर्णं जनैरञ्जलिकारिभिः ॥ ३७ ॥

सुमन्त्रने देखा—श्रीरामका महल मेरु-पर्वतके शिखरकी भाँति शोभा पा रहा है। हाथ जोड़कर श्रीरामकी वन्दना करनेके लिये उपस्थित हुए असंख्य मनुष्योंसे वह भरा हुआ है ॥ ३७ ॥

उपादाय समाक्रान्तैस्तदा जानपदैर्जनैः ।
रामाभिषेकसुमुखैरुन्मुखैः समलंकृतम् ॥ ३८ ॥

भाँति-भाँतिके उपहार लेकर जनपद-निवासी मनुष्य उस समय वहाँ पहुँचे हुए थे। श्रीरामके अभिषेकका समाचार सुनकर उनके मुख प्रसन्नतासे खिल उठे थे। वे उस उत्सवको देखनेके लिये उत्कण्ठित थे। उन सबकी उपस्थितिसे भवनकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ३८ ॥

महामेघसमप्रख्यमुदग्रं सुविराजितम् ।
नानारत्नसमाकीर्णं कुब्जकैरपि चावृतम् ॥ ३९ ॥

वह विशाल राजभवन महान् मेघखण्डके समान ऊँचा और सुन्दर शोभासे सम्पन्न था। उसकी दीवारोंमें नाना प्रकारके रत्न जड़े गये थे और कुबड़े सेवकोंसे वह भरा हुआ था ॥ ३९ ॥

स वाजियुक्तेन रथेन सारथिः
समाकुलं राजकुलं विराजयन् ।
वरूथिना राजगृहाभिपातिना
पुरस्य सर्वस्य मनांसि हर्षयन् ॥ ४० ॥

सारथि सुमन्त्र राजभवनकी ओर जानेवाले वरूथ (लोहेकी चद्दर या साँकचोंके बने हुए आवरण) से युक्त तथा अच्छे घोड़ोंसे जुते हुए रथके द्वारा मनुष्योंकी भीड़से भरे राजमार्गकी शोभा बढ़ाते तथा समस्त नगर-निवासियोंके मनको आनन्द प्रदान करते हुए श्रीरामके भवनके पास जा पहुँचे ॥ ४० ॥

ततः समासाद्य महाधनं महत्
प्रहृष्टरोमा स बभूव सारथिः ।
मृगैर्मयूरैश्च समाकुलोल्बणं
गृहं वरार्हस्य शचीपतेरिव ॥ ४१ ॥

उत्तम वस्तुको प्राप्त करनेके अधिकारी श्रीरामका वह महान् समृद्धिशाली विशाल भवन शचीपति इन्द्रके भवनकी भाँति सुशोभित होता था। इधर-उधर फैले हुए मृगों और मयूरोंसे उसकी शोभा और भी बढ़ गयी थी। वहाँ पहुँचकर सारथि सुमन्त्रके शरीरमें अधिक हर्षके कारण रोमाञ्च हो आया ॥ ४१ ॥

स तत्र कैलासनिभाः स्वलंकृताः
प्रविश्य कक्ष्यास्त्रिदशालयोपमाः ।
प्रियान् वरान् राममते स्थितान् बहून्
व्यपोह्य शुद्धान्तमुपस्थितो रथी ॥ ४२ ॥

वहाँ कैलास और स्वर्गके समान दिव्य शोभासे युक्त, सुन्दर सजी हुई अनेक ड्यौढ़ियोंको लाँघकर श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञामें चलनेवाले बहुतेरे श्रेष्ठ मनुष्योंको बीचमें छोड़ते हुए रथसहित सुमन्त्र अन्तःपुरके द्वारपर उपस्थित हुए ॥ ४२ ॥

स तत्र शुश्राव च हर्षयुक्ता
रामाभिषेकार्थकृतां जनानाम् ।
नरेन्द्रसूनोरभिमङ्गलार्थाः
सर्वस्य लोकस्य गिरः प्रहृष्टाः ॥ ४३ ॥

उस स्थानपर उन्होंने श्रीरामके अभिषेक-सम्बन्धी कर्म करनेवाले लोगोंकी हर्षभरी बातें सुनीं, जो राजकुमार श्रीरामके लिये सब ओरसे मङ्गलकामना सूचित करती थीं। इसी प्रकार उन्होंने अन्य सब लोगोंकी भी हर्षोल्लाससे परिपूर्ण वार्ताओंको श्रवण किया ॥ ४३ ॥

महेन्द्रसद्मप्रतिमं च वेश्म
रामस्य रम्यं मृगपक्षिजुष्टम् ।
ददर्श मेरोरिव शृङ्गमुच्चं
विभ्राजमानं प्रभया सुमन्त्रः ॥ ४४ ॥

श्रीरामका वह भवन इन्द्रसदनकी शोभाको तिरस्कृत कर रहा था। मृगों और पक्षियोंसे सेवित होनेके कारण उसकी रमणीयता और भी बढ़ गयी थी। सुमन्त्रने उस भवनको देखा। वह अपनी प्रभासे प्रकाशित होनेवाले मेरुगिरिके ऊँचे शिखरकी भाँति सुशोभित हो रहा था ॥ ४४ ॥

उपस्थितैरञ्जलिकारिभिश्च
सोपायनैर्जानपदैर्जनैश्च ।
कोट्या परार्धैश्च विमुक्तयानैः
समाकुलं द्वारपदं ददर्श ॥ ४५ ॥

उस भवनके द्वारपर पहुँचकर सुमन्त्रने देखा—श्रीरामकी वन्दनाके लिये हाथ जोड़े उपस्थित हुए जनपद-वासी मनुष्य अपनी सवारियोंसे उतरकर हाथोंमें भाँति-भाँतिके उपहार लिये करोड़ों और परार्धोंकी संख्यामें खड़े थे, जिससे वहाँ बड़ी भारी भीड़ लग गयी थी ॥ ४५ ॥

ततो महामेघमहीधराभं प्रभिन्नमत्यङ्कुशमत्यसह्यम् ।
रामोपवाह्यं रुचिरं ददर्श शत्रुञ्जयं नागमुदग्रकायम् ॥ ४६ ॥

तदनन्तर उन्होंने श्रीरामकी सवारीमें आनेवाले सुन्दर शत्रुञ्जय नामक विशालकाय गजराजको देखा, जो महान् मेघसे युक्त पर्वतके समान प्रतीत होता था। उसके गण्डस्थलसे मदकी धारा बह रही थी। वह अंकुशसे काबूमें आनेवाला नहीं था। उसका वेग शत्रुओंके लिये अत्यन्त असह्य था। उसका जैसा नाम था, वैसा ही गुण भी था ॥

स्वलंकृतान् साश्वरथान् सकुञ्जरा-
नमात्यमुख्यांश्च ददर्श वल्लभान् ।
व्यपोह्य सूतः सहितान् समन्ततः
समृद्धमन्तःपुरमाविवेश ह ॥ ४७ ॥

उन्होंने वहाँ राजाके परम प्रिय मुख्य-मुख्य मन्त्रियोंको भी एक साथ उपस्थित देखा, जो सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे विभूषित थे और घोड़े, रथ तथा हाथियोंके साथ वहाँ आये थे। सुमन्त्रने उन सबको एक ओर हटाकर स्वयं श्रीरामके समृद्धिशाली अन्तःपुरमें प्रवेश किया ॥ ४७ ॥

ततोऽद्रिकूटाचलमेघसंनिभं
महाविमानोपमवेश्मसंयुतम् ।
अवार्यमाणः प्रविवेश सारथिः
प्रभूतरत्नं मकरो यथार्णवम् ॥ ४८ ॥

जैसे मगर प्रचुर रत्नोंसे भरे हुए समुद्रमें बेरोक-टोक प्रवेश करता है, उसी प्रकार सारथि सुमन्त्रने पर्वत-शिखरपर आरूढ़ हुए अविचल मेघके समान शोभायमान महान् विमानके सदृश सुन्दर गृहोंसे संयुक्त तथा प्रचुर रत्न-भण्डारसे भरपूर उस महलमें बिना किसी रोक-टोकके प्रवेश किया ॥ ४८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पंद्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १५ ॥

षोडशः सर्गः

सुमन्त्रका श्रीरामके महलमें पहुँचकर महाराजका संदेश सुनाना और श्रीरामका सीतासे अनुमति ले लक्ष्मणके साथ रथपर बैठकर गाजेबाजेके साथ मार्गमें स्त्री-पुरुषोंकी बातें सुनते हुए जाना

स तदन्तःपुरद्वारं समतीत्य जनाकुलम् ।
प्रविविक्तां ततः कक्ष्यामाससाद पुराणवित् ॥ १ ॥

पुरातन वृत्तान्तोंके ज्ञाता सूत सुमन्त्र मनुष्योंकी भीड़से भरे हुए उस अन्तःपुरके द्वारको लाँघकर महलकी एकान्तकक्षामें जा पहुँचे, जहाँ भीड़ बिलकुल नहीं थी ॥ १ ॥

प्रासकार्मुकबिभ्रद्भिर्युवभिर्मृष्टकुण्डलैः ।
अप्रमादिभिरेकाग्रैः स्वानुरक्तैरधिष्ठिताम् ॥ २ ॥

वहाँ श्रीरामके चरणोंमें अनुराग रखनेवाले एकाग्रचित्त एवं सावधान युवक प्रास और धनुष आदि लिये डटे हुए थे। उनके कानोंमें शुद्ध सुवर्णके बने हुए कुण्डल झलमला रहे थे ॥ २ ॥

तत्र काषायिणो वृद्धान् वेत्रपाणीन् स्वलंकृतान् ।
ददर्श विष्ठितान् द्वारि स्त्र्यध्यक्षान् सुसमाहितान् ॥ ३ ॥

उस ड्योढ़ीमें सुमन्त्रको गेरुआ वस्त्र पहने और हाथमें छड़ी लिये वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत बहुत-से वृद्ध पुरुष बड़ी सावधानीके साथ द्वारपर बैठे दिखायी दिये, जो अन्तःपुरकी स्त्रियोंके अध्यक्ष (संरक्षक) थे ॥ ३ ॥

ते समीक्ष्य समायान्तं रामप्रियचिकीर्षवः ।
सहसोत्पतिताः सर्वे ह्यासनेभ्यः ससम्भ्रमाः ॥ ४ ॥

सुमन्त्रको आते देख श्रीरामका प्रिय करनेकी इच्छावाले वे सभी पुरुष सहसा वेगपूर्वक आसनोंसे उठकर खड़े हो गये ॥ ४ ॥

तानुवाच विनीतात्मा सूतपुत्रः प्रदक्षिणः ।
क्षिप्रमाख्यात रामाय सुमन्त्रो द्वारि तिष्ठति ॥ ५ ॥

राजसेवामें अत्यन्त कुशल तथा विनीत हृदयवाले सूतपुत्र सुमन्त्रने उनसे कहा—'आपलोग श्रीरामचन्द्रजीसे शीघ्र जाकर कहें, कि सुमन्त्र दरवाजेपर खड़े हैं' ॥ ५ ॥

ते राममुपसङ्गम्य भर्तुः प्रियचिकीर्षवः ।
सहभार्याय रामाय क्षिप्रमेवाचचक्षिरे ॥ ६ ॥

स्वामीका प्रिय करनेकी इच्छावाले वे सब सेवक श्रीरामचन्द्रजीके पास जा पहुँचे। उस समय श्रीराम अपनी धर्मपत्नी सीताके साथ विराजमान थे। उन सेवकोंने शीघ्र ही उन्हें सुमन्त्रका संदेश सुना दिया ॥ ६ ॥

प्रतिवेदितमाज्ञाय सूतमभ्यन्तरं पितुः ।
तत्रैवानाययामास राघवः प्रियकाम्यया ॥ ७ ॥

द्वाररक्षकोंद्वारा दी हुई सूचना पाकर श्रीरामने पिताकी प्रसन्नताके लिये उनके अन्तरङ्ग सेवक सुमन्त्रको वहीं अन्तःपुरमें बुलवा लिया ॥ ७ ॥

तं वैश्रवणसंकाशमुपविष्टं स्वलंकृतम्।
ददर्श सूतः पर्यङ्के सौवर्णे सोत्तरच्छदे॥ ८॥

वहाँ पहुँचकर सुमन्त्रने देखा श्रीरामचन्द्रजी वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हो कुबेरके समान जान पड़ते हैं और बिछौनोंसे युक्त सोनेके पलंगपर विराजमान हैं॥ ८॥

वराहरुधिराभेण शुचिना च सुगन्धिना।
अनुलिप्तं परार्घ्येन चन्दनेन परंतपम्॥ ९॥
स्थितया पार्श्वतश्चापि वालव्यजनहस्तया।
उपेतं सीतया भूयश्चित्रया शशिनं यथा॥ १०॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले रघुनाथजीके श्रीअङ्गोंमें वाराहके रुधिरकी भाँति लाल, पवित्र और सुगन्धित उत्तम चन्दनका लेप लगा हुआ है और देवी सीता उनके पास बैठकर अपने हाथसे चवँर डुला रही हैं। सीताके अत्यन्त समीप बैठे हुए श्रीराम चित्रासे संयुक्त चन्द्रमाकी भाँति शोभा पाते हैं॥ ९-१०॥

तं तपन्तमिवादित्यमुपपन्नं स्वतेजसा।
ववन्दे वरदं वन्दी विनयज्ञो विनीतवत्॥ ११॥

विनयके ज्ञाता वन्दी सुमन्त्रने तपते हुए सूर्यकी भाँति अपने नित्य प्रकाशसे सम्पन्न रहकर अधिक प्रकाशित होनेवाले वरदायक श्रीरामको विनीतभावसे प्रणाम किया॥

प्राञ्जलिः सुमुखं दृष्ट्वा विहारशयनासने।
राजपुत्रमुवाचेदं सुमन्त्रो राजसत्कृतः॥ १२॥

विहारकालिक शयनके लिये जो आसन था, उस पलंगपर बैठे हुए प्रसन्न मुखवाले राजकुमार श्रीरामका दर्शन करके राजा दशरथद्वारा सम्मानित सुमन्त्रने हाथ जोड़कर इस प्रकार कहा—॥ १२॥

कौसल्या सुप्रजा राम पिता त्वां द्रष्टुमिच्छति।
महिष्यापि हि कैकेय्या गम्यतां तत्र मा चिरम्॥ १३॥

'श्रीराम! आपको पाकर महारानी कौसल्या सर्वश्रेष्ठ संतानवाली हो गयी हैं। इस समय रानी कैकेयीके साथ बैठे हुए आपके पिताजी आपको देखना चाहते हैं, अतः वहाँ चलिये, विलम्ब न कीजिये'॥ १३॥

एवमुक्तस्तु संहृष्टो नरसिंहो महाद्युतिः।
ततः सम्मानयामास सीतामिदमुवाच ह॥ १४॥

सुमन्त्रके ऐसा कहनेपर महातेजस्वी नरश्रेष्ठ श्रीरामने सीताजीका सम्मान करते हुए प्रसन्नतापूर्वक उनसे इस प्रकार कहा—॥ १४॥

देवि देवश्च देवी च समागम्य मदन्तरे।
मन्त्रयेते ध्रुवं किंचिदभिषेचनसंहितम्॥ १५॥

'देवि! जान पड़ता है, पिताजी और माता कैकेयी दोनों मिलकर मेरे विषयमें ही कुछ विचार कर रहे हैं। निश्चय ही मेरे अभिषेकके सम्बन्धमें ही कोई बात होती होगी॥ १५॥

लक्षयित्वा ह्यभिप्रायं प्रियकामा सुदक्षिणा।
संचोदयति राजानं मदर्थमसितेक्षणा॥ १६॥

'मेरे अभिषेकके विषयमें राजाके अभिप्रायको लक्ष्य करके उनका प्रिय करनेकी इच्छावाली परम उदार एवं समर्थ कजरारे नेत्रोंवाली कैकेयी मेरे अभिषेकके लिये ही राजाको प्रेरित कर रही होंगी॥ १६॥

सा प्रहृष्टा महाराजं हितकामानुवर्तिनी।
जननी चार्थकामा मे केकयाधिपतेः सुता॥ १७॥

'मेरी माता केकयराजकुमारी इस समाचारसे बहुत प्रसन्न हुई होंगी। वे महाराजका हित चाहनेवाली और उनकी अनुगामिनी हैं। साथ ही वे मेरा भी भला चाहती हैं। अतः वे महाराजको अभिषेक करनेके लिये जल्दी करनेको कह रही होंगी॥ १७॥

दिष्ट्या खलु महाराजो महिष्या प्रियया सह।
सुमन्त्रं प्राहिणोद् दूतमर्थकामकरं मम॥ १८॥

'सौभाग्यकी बात है कि महाराज अपनी प्यारी रानीके साथ बैठे हैं और उन्होंने मेरे अभीष्ट अर्थको सिद्ध करनेवाले सुमन्त्रको ही दूत बनाकर भेजा है॥ १८॥

यादृशी परिषत् तत्र तादृशो दूत आगतः।
ध्रुवमद्यैव मां राजा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति॥ १९॥

'जैसी वहाँ अन्तरङ्ग परिषद् बैठी है, वैसे ही दूत सुमन्त्रजी यहाँ पधारे हैं। अवश्य आज ही महाराज मुझे युवराजके पदपर अभिषिक्त करेंगे॥ १९॥

हन्त शीघ्रमितो गत्वा द्रक्ष्यामि च महीपतिम्।
सह त्वं परिवारेण सुखमास्स्व रमस्व च॥ २०॥

'अतः मैं प्रसन्नतापूर्वक यहाँसे शीघ्र जाकर महाराजका दर्शन करूँगा। तुम परिजनोंके साथ यहाँ सुखपूर्वक बैठो और आनन्द करो'॥ २०॥

पतिसम्मानिता सीता भर्तारमसितेक्षणा।
आ द्वारमनुवव्राज मङ्गलान्यभिदध्युषी॥ २१॥

पतिके द्वारा इस प्रकार सम्मानित होकर कजरारे नेत्रोंवाली सीतादेवी उनका मङ्गल-चिन्तन करती हुई स्वामीके साथ-साथ द्वारतक उन्हें पहुँचानेके लिये गयीं॥ २१॥

राज्यं द्विजातिभिर्जुष्टं राजसूयाभिषेचनम्।
कर्तुमर्हति ते राजा वासवस्येव लोककृत्॥ २२॥

उस समय वे बोलीं—'आर्यपुत्र! ब्राह्मणोंके साथ रहकर आपका युवराजपदपर अभिषेक करके महाराज दूसरे समयमें राजसूय-यज्ञमें सम्राट्के पदपर आपका अभिषेक करनेयोग्य हैं। ठीक उसी तरह जैसे लोकस्रष्टा ब्रह्माने देवराज इन्द्रका अभिषेक किया था॥ २२॥

दीक्षितं व्रतसम्पन्नं वराजिनधरं शुचिम्।
कुरङ्गशृङ्गपाणिं च पश्यन्ती त्वां भजाम्यहम्॥ २३॥

'आप राजसूय-यज्ञमें दीक्षित हो तदनुकूल व्रतका पालन

करनेमें तत्पर, श्रेष्ठ मृगचर्मधारी, पवित्र तथा हाथमें मृगका शृङ्ग धारण करनेवाले हों और इस रूपमें आपका दर्शन करती हुई मैं आपकी सेवामें संलग्न रहूँ—यही मेरी शुभ-कामना है ॥ २३ ॥

पूर्वां दिशं वज्रधरो दक्षिणां पातु ते यमः ।
वरुणः पश्चिमामाशां धनेशस्तूत्तरां दिशम् ॥ २४ ॥

'आपकी पूर्व दिशामें वज्रधारी इन्द्र, दक्षिण दिशामें यमराज, पश्चिम दिशामें वरुण और उत्तर दिशामें कुबेर रक्षा करें' ॥ २४ ॥

अथ सीतामनुज्ञाप्य कृतकौतुकमङ्गलः ।
निश्चक्राम सुमन्त्रेण सह रामो निवेशनात् ॥ २५ ॥

तदनन्तर सीताकी अनुमति ले उत्सवकालिक मङ्गलकृत्य पूर्ण करके श्रीरामचन्द्रजी सुमन्त्रके साथ अपने महलसे बाहर निकले ॥ २५ ॥

पर्वतादिव निष्क्रम्य सिंहो गिरिगुहाशयः ।
लक्ष्मणं द्वारि सोऽपश्यत् प्रह्वाञ्जलिपुटं स्थितम् ॥ २६ ॥

पर्वतकी गुफामें शयन करनेवाला सिंह जैसे पर्वतसे निकलकर आता है, उसी प्रकार महलसे निकलकर श्रीरामचन्द्रजीने द्वारपर लक्ष्मणको उपस्थित देखा, जो विनीतभावसे हाथ जोड़े खड़े थे ॥ २६ ॥

अथ मध्यमकक्ष्यायां समागच्छत् सुहृज्जनैः ।
स सर्वानर्थिनो दृष्ट्वा समेत्य प्रतिनन्द्य च ॥ २७ ॥
ततः पावकसंकाशमारुरोह रथोत्तमम् ।
वैयाघ्रं पुरुषव्याघ्रो राजितं राजनन्दनः ॥ २८ ॥

तदनन्तर मध्यम कक्षामें आकर वे मित्रोंसे मिले। फिर, प्रार्थी जनोंको उपस्थित देख उन सबसे मिलकर उन्हें संतुष्ट करके पुरुषसिंह राजकुमार श्रीराम व्याघ्रचर्मसे आवृत, शोभाशाली तथा अग्निके समान तेजस्वी उत्तम रथपर आरूढ़ हुए ॥ २७-२८ ॥

मेघनादमसम्बाधं मणिहेमविभूषितम् ।
मुष्णन्तमिव चक्षूंषि प्रभया मेरुवर्चसम् ॥ २९ ॥

उस रथकी घरघराहट मेघकी गम्भीर गर्जनाके समान प्रतीत होती थी। उसमें स्थानकी संकीर्णता नहीं थी। वह विस्तृत था और मणि एवं सुवर्णसे विभूषित था। उसकी कान्ति सुवर्णमय मेरुपर्वतके समान जान पड़ती थी। वह रथ अपनी प्रभासे लोगोंकी आँखोंमें चकाचौंध-सा पैदा कर देता था ॥ २९ ॥

करेणुशिशुकल्पैश्च युक्तं परमवाजिभिः ।
हरियुक्तं सहस्राक्षो रथमिन्द्र इवाशुगम् ॥ ३० ॥

उसमें उत्तम घोड़े जुते हुए थे, जो अधिक पुष्ट होनेके कारण हाथीके बच्चोंके समान प्रतीत होते थे। जैसे सहस्र नेत्रधारी इन्द्र हरे रंगके घोड़ोंसे युक्त शीघ्रगामी रथपर सवार होते हैं, उसी प्रकार श्रीराम अपने उस रथपर आरूढ़ थे ॥

प्रययौ तूर्णमास्थाय राघवो ज्वलितः श्रिया ।
स पर्जन्य इवाकाशे स्वनवानभिनादयन् ॥ ३१ ॥
निकेतान्निर्ययौ श्रीमान् महाभ्रादिव चन्द्रमाः ।

अपनी सहज शोभासे प्रकाशित श्रीरघुनाथजी उस रथपर आरूढ़ हो तुरंत वहाँसे चल दिये। वह तेजस्वी रथ आकाशमें गरजनेवाले मेघकी भाँति अपनी घर्घर ध्वनिसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करता हुआ महान् मेघखण्डसे निकलनेवाले चन्द्रमाके समान श्रीरामके उस भवनसे बाहर निकला ॥ ३१½ ॥

चित्रचामरपाणिस्तु लक्ष्मणो राघवानुजः ॥ ३२ ॥
जुगोप भ्रातरं भ्राता रथमास्थाय पृष्ठतः ।

श्रीरामके छोटे भाई लक्ष्मण भी हाथमें विचित्र चँवर लिये उस रथपर बैठ गये और पीछेसे अपने ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामकी रक्षा करने लगे ॥ ३२½ ॥

ततो हलहलाशब्दस्तुमुलः समजायत ॥ ३३ ॥
तस्य निष्क्रममाणस्य जनौघस्य समन्ततः ।

फिर तो सब ओरसे मनुष्योंकी भारी भीड़ निकलने लगी। उस समय उस जन-समूहके चलनेसे सहसा भयंकर कोलाहल मच गया ॥ ३३½ ॥

ततो हयवरा मुख्या नागाश्च गिरिसंनिभाः ॥ ३४ ॥
अनुजग्मुस्तथा रामं शतशोऽथ सहस्रशः ।

श्रीरामके पीछे-पीछे अच्छे-अच्छे घोड़े और पर्वतोंके समान विशालकाय श्रेष्ठ गजराज सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें चलने लगे ॥ ३४½ ॥

अग्रतश्चास्य संनद्धाश्चन्दनागुरुभूषिताः ॥ ३५ ॥
खड्गचापधराः शूरा जग्मुराशंसवो जनाः ।

उनके आगे-आगे कवच आदिसे सुसज्जित तथा चन्दन और अगुरुसे विभूषित हो खड्ग और धनुष धारण किये बहुत-से शूरवीर तथा मङ्गलाशंसी मनुष्य—वन्दी आदि चल रहे थे ॥ ३५½ ॥

ततो वादित्रशब्दाश्च स्तुतिशब्दाश्च वन्दिनाम् ॥ ३६ ॥
सिंहनादाश्च शूराणां ततः शुश्रुविरे पथि ।
हर्म्यवातायनस्थाभिर्भूषिताभिः समन्ततः ॥ ३७ ॥
कीर्यमाणः सुपुष्पौघैर्ययौ स्त्रीभिररिंदमः ।

तदनन्तर मार्गमें वाद्योंकी ध्वनि, वन्दीजनोंके स्तुतिपाठके शब्द तथा शूरवीरोंके सिंहनाद सुनायी देने लगे। महलोंकी खिड़कियोंमें बैठी हुई वस्त्राभूषणोंसे विभूषित वनिताएँ सब ओरसे शत्रुदमन श्रीरामपर ढेर-के-ढेर सुन्दर पुष्प बिखेर रही थीं। इस अवस्थामें श्रीराम आगे बढ़ते चले जा रहे थे ॥

रामं सर्वानवद्याङ्ग्यो रामपिप्रीषया ततः ॥ ३८ ॥
वचोभिरग्र्यैर्हर्म्यस्थाः क्षितिस्थाश्च ववन्दिरे ।

उस समय अट्टालिकाओं और भूतलपर खड़ी हुई सर्वाङ्गसुन्दरी युवतियाँ श्रीरामका प्रिय करनेकी इच्छासे श्रेष्ठ

वचनोंद्वारा उनकी स्तुति गाने लगीं ॥ ३८½ ॥

नूनं नन्दति ते माता कौसल्या मातृनन्दन ॥ ३९ ॥
पश्यन्ती सिद्धयात्रं त्वां पित्र्यं राज्यमुपस्थितम् ।

'माताको आनन्द प्रदान करनेवाले रघुवीर ! आपकी यह यात्रा सफल होगी और आपको पैतृक राज्य प्राप्त होगा। इस अवस्थामें आपको देखती हुई आपकी माता कौसल्या निश्चय ही आनन्दित हो रही होंगी ॥ ३९½ ॥

सर्वसीमन्तिनीभ्यश्च सीतां सीमन्तिनीं वराम् ॥ ४० ॥
अमन्यन्त हि ता नार्यो रामस्य हृदयप्रियाम् ।
तया सुचरितं देव्या पुरा नूनं महत् तपः ॥ ४१ ॥
रोहिणीव शशाङ्केन रामसंयोगमाप या ।

'वे नारियाँ श्रीरामकी हृदयवल्लभा सीमन्तिनी सीताको संसारकी समस्त सौभाग्यवती स्त्रियोंसे श्रेष्ठ मानती हुई कहने लगीं—'उन देवी सीताने पूर्वकालमें निश्चय ही बड़ा भारी तप किया होगा, तभी उन्होंने चन्द्रमासे संयुक्त हुई रोहिणीकी भाँति श्रीरामका संयोग प्राप्त किया है' ॥ ४०-४१½ ॥

इति प्रासादशृङ्गेषु प्रमदाभिर्नरोत्तमः ।
शुश्राव राजमार्गस्थः प्रिया वाच उदाहृताः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार राजमार्गपर रथपर बैठे हुए श्रीरामचन्द्रजी प्रासादशिखरोंपर बैठी हुई युवती स्त्रियोंके द्वारा कही गयी ये प्यारी बातें सुन रहे थे ॥ ४२ ॥

स राघवस्तत्र तदा प्रलापा-
ञ्छुश्राव लोकस्य समागतस्य ।
आत्माधिकारा विविधाश्च वाचः
प्रहृष्टरूपस्य पुरे जनस्य ॥ ४३ ॥

उस समय अयोध्यामें आये हुए दूर-दूरके लोग अत्यन्त हर्षसे भरकर वहाँ श्रीरामचन्द्रजीके विषयमें जो वार्तालाप और तरह-तरहकी बातें करते थे, अपने विषयमें कही गयी उन सभी बातोंको श्रीरघुनाथजी सुनते जा रहे थे ॥ ४३ ॥

एष श्रियं गच्छति राघवोऽद्य
राजप्रसादाद् विपुलां गमिष्यन् ।
एते वयं सर्वसमृद्धकामा
येषामयं नो भविता प्रशास्ता ॥ ४४ ॥

वे कहते थे—'इस समय ये श्रीरामचन्द्रजी महाराज दशरथकी कृपासे बहुत बड़ी सम्पत्तिके अधिकारी होने जा रहे हैं। अब हम सब लोगोंकी समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जायँगी, क्योंकि ये श्रीराम हमारे शासक होंगे ॥ ४४ ॥

लाभो जनस्यास्य यदेष सर्वं
प्रपत्स्यते राष्ट्रमिदं चिराय ।
न ह्यप्रियं किंचन जातु कश्चित्
पश्येन्न दुःखं मनुजाधिपेऽस्मिन् ॥ ४५ ॥

यदि यह सारा राज्य चिरकालके लिये इनके हाथमें आ जाय तो इस जगत्की समस्त जनताके लिये यह महान् लाभ होगा। इनके राजा होनेपर कभी किसीका अप्रिय नहीं होगा और किसीको कोई दुःख भी नहीं देखना पड़ेगा' ॥ ४५ ॥

स घोषवद्भिश्च हयैः सनागैः
पुरःसरैः स्वस्तिकसूतमागधैः ।
महीयमानः प्रवरैश्च वादकै-
रभिष्टुतो वैश्रवणो यथा ययौ ॥ ४६ ॥

हिनहिनाते हुए घोड़ों, चिग्घाड़ते हुए हाथियों, जय-जयकार करते हुए आगे-आगे चलनेवाले वन्दियों, स्तुतिपाठ करनेवाले सूतों, वंशकी विरुदावलि बखाननेवाले मागधों तथा सर्वश्रेष्ठ गुणगायकोंके तुमुल घोषके बीच उन वन्दी आदिसे पूजित एवं प्रशंसित होते हुए श्रीरामचन्द्रजी कुबेरके समान चल रहे थे ॥ ४६ ॥

करेणुमातङ्गरथाश्वसंकुलं
महाजनौघैः परिपूर्णचत्वरम् ।
प्रभूतरत्नं बहुपण्यसंचयं
ददर्श रामो विमलं महापथम् ॥ ४७ ॥

यात्रा करते हुए श्रीरामने उस विशाल राजमार्गको देखा, जो हथिनियों, मतवाले हाथियों, रथों और घोड़ोंसे खचाखच भरा हुआ था। उसके प्रत्येक चौराहेपर मनुष्योंकी भारी भीड़ इकट्ठी हो रही थी। उसके दोनों पार्श्वभागोंमें प्रचुर रत्नोंसे भरी हुई दुकानें थीं तथा विक्रयके योग्य और भी बहुत-से द्रव्योंके ढेर वहाँ दिखायी देते थे। वह राजमार्ग बहुत साफ-सुथरा था ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सोलहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १६ ॥

★

सप्तदशः सर्गः

श्रीरामका राजपथकी शोभा देखते और सुहृदोंकी बातें सुनते हुए पिताके भवनमें प्रवेश

स रामो रथमास्थाय सम्प्रहृष्टसुहृज्जनः ।
पताकाध्वजसम्पन्नं महार्हागुरुधूपितम् ॥ १ ॥
अपश्यन्नगरं श्रीमान् नानाजनसमन्वितम् ।
स गृहैरभ्रसंकाशैः पाण्डुरैरुपशोभितम् ॥ २ ॥
राजमार्गं ययौ रामो मध्येनागुरुधूपितम् ।

इस प्रकार श्रीमान् रामचन्द्रजी अपने सुहृदोंको आनन्द प्रदान करते हुए रथपर बैठे राजमार्गके बीचसे चले जा रहे थे; उन्होंने देखा—सारा नगर ध्वजा और पताकाओंसे सुशोभित हो रहा है, चारों ओर बहुमूल्य अगुरु नामक धूपकी सुगन्ध छा रही है और सब ओर असंख्य मनुष्योंकी

भीड़ दिखायी देती है। वह राजमार्ग श्वेत बादलोंके समान उज्ज्वल भव्य भवनोंसे सुशोभित तथा अगुरुकी सुगन्धसे व्याप्त हो रहा था ॥ २ ॥

चन्दनानां च मुख्यानामगुरूणां च संचयैः ॥ ३ ॥
उत्तमानां च गन्धानां क्षौमकौशाम्बरस्य च।
अविद्धाभिश्च मुक्ताभिरुत्तमैः स्फाटिकैरपि ॥ ४ ॥
शोभमानमसम्बाधं तं राजपथमुत्तमम्।
संवृतं विविधैः पुष्पैर्भक्ष्यैरुच्चावचैरपि ॥ ५ ॥
ददर्श तं राजपथं दिवि देवपतिर्यथा।
दध्यक्षतहविर्लाजैर्धूपैरगुरुचन्दनैः ॥ ६ ॥
नानामाल्योपगन्धैश्च सदाभ्यर्चितचत्वरम्।

अच्छी श्रेणीके चन्दनों, अगुरु नामक धूपों, उत्तम गन्धद्रव्यों, अलसी या सन आदिके रेशोंसे बने हुए कपड़ों तथा रेशमी वस्त्रोंके ढेर, अनबिंधे मोती और उत्तमोत्तम स्फटिक रत्न उस विस्तृत एवं उत्तम राजमार्गकी शोभा बढ़ा रहे थे। वह नाना प्रकारके पुष्पों तथा भाँति-भाँतिके भक्ष्य पदार्थोंसे भरा हुआ था। उसके चौराहोंकी दही, अक्षत, हविष्य, लावा, धूप, अगर, चन्दन, नाना प्रकारके पुष्पहार और गन्धद्रव्योंसे सदा पूजा की जाती थी। स्वर्गलोकमें बैठे हुए देवराज इन्द्रकी भाँति रथारूढ़ श्रीरामने उस राजमार्गको देखा ॥ ३—६ ॥

आशीर्वादान् बहूञ्शृण्वन् सुहृद्भिः समुदीरितान् ॥ ७ ॥
यथार्हं चापि सम्पूज्य सर्वानेव नरान् ययौ।

वे अपने सुहृदोंके मुखसे कहे गये बहुत-से आशीर्वादोंको सुनते और यथायोग्य उन सब लोगोंका सम्मान करते हुए चले जा रहे थे ॥ ७½ ॥

पितामहैराचरितं तथैव प्रपितामहैः ॥ ८ ॥
अद्योपादाय तं मार्गमभिषिक्तोऽनुपालय।

(उनके हितैषी सुहृद् कहते थे—) 'रघुनन्दन! तुम्हारे पितामह और प्रपितामह (दादे और परदादे) जिसपर चलते आये हैं, आज उसी मार्गको ग्रहण करके युवराज-पदपर अभिषिक्त हो आप हम सब लोगोंका निरन्तर पालन करें' ॥

यथा स्म पोषिताः पित्रा यथा सर्वैः पितामहैः।
ततः सुखतरं सर्वे रामे वत्स्याम राजनि ॥ ९ ॥

(फिर वे आपसमें कहने लगे—) 'भाइयो! श्रीरामके पिता तथा समस्त पितामहोंद्वारा जिस प्रकार हमलोगोंका पालन-पोषण हुआ है, श्रीरामके राजा होनेपर हम उससे भी अधिक सुखी रहेंगे ॥ ९ ॥

अलमद्य हि भुक्तेन परमार्थैरलं च नः।
यदि पश्याम निर्यान्तं रामं राज्ये प्रतिष्ठितम् ॥ १० ॥

'यदि हम राज्यपर प्रतिष्ठित हुए श्रीरामको पिताके घरसे निकलते हुए देख लें—यदि राजा रामका दर्शन कर लें तो अब हमें इहलोकके भोग और परमार्थस्वरूप मोक्ष लेकर क्या करना है ॥ १० ॥

ततो हि नः प्रियतरं नान्यत् किंचिद् भविष्यति।
यथाभिषेको रामस्य राज्येनामिततेजसः ॥ ११ ॥

'अमित तेजस्वी श्रीरामका यदि राज्यपर अभिषेक हो जाय तो वह हमारे लिये जैसा प्रियतर कार्य होगा, उससे बढ़कर दूसरा कोई परम प्रिय कार्य नहीं होगा' ॥ ११ ॥

एताश्चान्याश्च सुहृदामुदासीनः शुभाः कथाः।
आत्मसम्पूजनीः शृण्वन् ययौ रामो महापथम् ॥ १२ ॥

सुहृदोंके मुँहसे निकली हुई ये तथा और भी कई तरहकी अपनी प्रशंसासे सम्बन्ध रखनेवाली सुन्दर बातें सुनते हुए श्रीरामचन्द्रजी राजपथपर बढ़े चले जा रहे थे ॥ १२ ॥

न हि तस्मान्मनः कश्चिच्चक्षुषी वा नरोत्तमात्।
नरः शक्नोत्यपाक्रष्टुमतिक्रान्तेऽपि राघवे ॥ १३ ॥

(जो श्रीरामकी ओर एक बार देख लेता, वह उन्हें देखता ही रह जाता था।) श्रीरघुनाथजीके दूर चले जानेपर भी कोई उन पुरुषोत्तमकी ओरसे अपना मन या दृष्टि नहीं हटा पाता था ॥ १३ ॥

यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति।
निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हते ॥ १४ ॥

उस समय जो श्रीरामको नहीं देखता और जिसे श्रीराम नहीं देख लेते थे, वह समस्त लोकोंमें निन्दित समझा जाता था तथा स्वयं उसकी अन्तरात्मा भी उसे धिक्कारती थी ॥

सर्वेषु स हि धर्मात्मा वर्णानां कुरुते दयाम्।
चतुर्णां हि वयःस्थानां तेन ते तमनुव्रताः ॥ १५ ॥

धर्मात्मा श्रीराम चारों वर्णोंके सभी मनुष्योंपर उनकी अवस्थाके अनुरूप दया करते थे, इसलिये वे सभी उनके भक्त थे ॥ १५ ॥

चतुष्पथान् देवपथांश्चैत्यांश्चायतनानि च।
प्रदक्षिणं परिहरञ्जगाम नृपतेः सुतः ॥ १६ ॥

राजकुमार श्रीराम चौराहों, देवमार्गों, चैत्यवृक्षों तथा देवमन्दिरोंको अपने दाहिने छोड़ते हुए आगे बढ़ रहे थे ॥

स राजकुलमासाद्य मेघसङ्घोपमैः शुभैः।
प्रासादशृङ्गैर्विविधैः कैलासशिखरोपमैः ॥ १७ ॥
आवारयद्भिर्गगनं विमानैरिव पाण्डुरैः।
वर्धमानगृहैश्चापि रत्नजालपरिष्कृतैः ॥ १८ ॥
तत् पृथिव्यां गृहवरं महेन्द्रसदनोपमम्।
राजपुत्रः पितुर्वेश्म प्रविवेश श्रिया ज्वलन् ॥ १९ ॥

राजा दशरथका भवन मेघसमूहोंके समान शोभा पानेवाले, सुन्दर अनेक रूप-रंगवाले कैलासशिखरके समान उज्ज्वल प्रासादशिखरों (अट्टालिकाओं) से सुशोभित था। उसमें रत्नोंकी जालीसे विभूषित तथा विमानाकार क्रीडागृह भी बने हुए थे, जो अपनी श्वेत आभासे प्रकाशित होते थे। वे अपनी ऊँचाईसे आकाशको भी लाँघते हुए-से प्रतीत होते

थे; ऐसे गृहोंसे युक्त वह श्रेष्ठ भवन इस भूतलपर इन्द्रसदनके समान शोभा पाता था। उस राजभवनके पास पहुँचकर अपनी शोभासे प्रकाशित होनेवाले राजकुमार श्रीरामने पिताके महलमें प्रवेश किया॥ १७—१९॥

स कक्ष्या धन्विभिर्गुप्तास्तिस्रोऽतिक्रम्य वाजिभिः।
पदातिरपरे कक्ष्ये द्वे जगाम नरोत्तमः॥ २०॥

उन्होंने धनुर्धर वीरोंद्वारा सुरक्षित महलकी तीन ड्यौढ़ियोंको तो घोड़े जुते हुए रथसे ही पार किया, फिर दो ड्यौढ़ियोंमें वे पुरुषोत्तम राम पैदल ही गये॥ २०॥

स सर्वाः समतिक्रम्य कक्ष्या दशरथात्मजः।
संनिवर्त्य जनं सर्वं शुद्धान्तःपुरमत्यगात्॥ २१॥

इस प्रकार सारी ड्यौढ़ियोंको पार करके दशरथनन्दन श्रीराम साथ आये हुए सब लोगोंको लौटाकर स्वयं अन्तःपुरमें गये॥ २१॥

तस्मिन् प्रविष्टे पितुरन्तिकं तदा
जनः स सर्वो मुदितो नृपात्मजे।
प्रतीक्षते तस्य पुनः स्म निर्गमं
यथोदयं चन्द्रमसः सरित्पतिः॥ २२॥

जब राजकुमार श्रीराम पिताके पास जानेके लिये अन्तःपुरमें प्रविष्ट हुए, तब आनन्दमग्न हुए सब लोग बाहर खड़े होकर उनके पुनः निकलनेकी प्रतीक्षा करने लगे, ठीक उसी तरह जैसे सरिताओंका स्वामी समुद्र चन्द्रोदयकी प्रतीक्षा करता रहता है॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तदशः सर्गः॥ १७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सत्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १७॥

अष्टादशः सर्गः

श्रीरामका कैकेयीसे पिताके चिन्तित होनेका कारण पूछना और कैकेयीका कठोरतापूर्वक अपने माँगे हुए वरोंका वृत्तान्त बताकर श्रीरामको वनवासके लिये प्रेरित करना

स ददर्शासने रामो विषण्णं पितरं शुभे।
कैकेय्या सहितं दीनं मुखेन परिशुष्यता॥ १॥

महलमें जाकर श्रीरामने पिताको कैकेयीके साथ एक सुन्दर आसनपर बैठे देखा। वे विषादमें डूबे हुए थे, उनका मुँह सूख गया था और वे बड़े दयनीय दिखायी देते थे॥

स पितुश्चरणौ पूर्वमभिवाद्य विनीतवत्।
ततो ववन्दे चरणौ कैकेय्याः सुसमाहितः॥ २॥

निकट पहुँचनेपर श्रीरामने विनीतभावसे पहले अपने पिताके चरणोंमें प्रणाम किया; उसके बाद बड़ी सावधानीके साथ उन्होंने कैकेयीके चरणोंमें भी मस्तक झुकाया॥ २॥

रामेत्युक्त्वा तु वचनं बाष्पपर्याकुलेक्षणः।
शशाक नृपतिर्दीनो नेक्षितुं नाभिभाषितुम्॥ ३॥

उस समय दीनदशामें पड़े हुए राजा दशरथ एक बार 'राम!' ऐसा कहकर चुप हो गये (इससे आगे उनसे बोला नहीं गया)। उनके नेत्रोंमें आँसू भर आये, अतः वे श्रीरामकी ओर न तो देख सके और न उनसे कोई बात ही कर सके॥

तदपूर्वं नरपतेर्दृष्ट्वा रूपं भयावहम्।
रामोऽपि भयमापन्नः पदा स्पृष्ट्वेव पन्नगम्॥ ४॥

राजाका वह अभूतपूर्व भयंकर रूप देखकर श्रीरामको भी भय हो गया, मानो उन्होंने पैरसे किसी सर्पको छू दिया हो॥

इन्द्रियैरप्रहृष्टैस्तं शोकसंतापकर्शितम्।
निःश्वसन्तं महाराजं व्यथिताकुलचेतसम्॥ ५॥
ऊर्मिमालिनमक्षोभ्यं क्षुभ्यन्तमिव सागरम्।
उपप्लुतमिवादित्यमुक्तानृतमृषिं यथा॥ ६॥

राजाकी इन्द्रियोंमें प्रसन्नता नहीं थी; वे शोक और संतापसे दुर्बल हो रहे थे, बारंबार लंबी साँसें भरते थे तथा उनके चित्तमें बड़ी व्यथा और व्याकुलता थी। वे ऐसे दीखते थे, मानो तरङ्गमालाओंसे उपलक्षित अक्षोभ्य समुद्र क्षुब्ध हो उठा हो, सूर्यको राहुने ग्रस लिया हो अथवा किसी महर्षिने झूठ बोल दिया हो॥ ६॥

अचिन्त्यकल्पं नृपतेस्तं शोकमुपधारयन्।
बभूव संरब्धतरः समुद्र इव पर्वणि॥ ७॥

राजाका वह शोक सम्भावनासे परे था। इस शोकका क्या कारण है—यह सोचते हुए श्रीरामचन्द्रजी पूर्णिमाके समुद्रकी भाँति अत्यन्त विक्षुब्ध हो उठे॥ ७॥

चिन्तयामास चतुरो रामः पितृहिते रतः।
किंस्विदद्यैव नृपतिर्न मां प्रत्यभिनन्दति॥ ८॥

पिताके हितमें तत्पर रहनेवाले परम चतुर श्रीराम सोचने लगे कि 'आज ही ऐसी क्या बात हो गयी' जिससे महाराज मुझसे प्रसन्न होकर बोलते नहीं हैं॥ ८॥

अन्यदा मां पिता दृष्ट्वा कुपितोऽपि प्रसीदति।
तस्य मामद्य सम्प्रेक्ष्य किमायासः प्रवर्तते॥ ९॥

'और दिन तो पिताजी कुपित होनेपर भी मुझे देखते ही प्रसन्न हो जाते थे, आज मेरी ओर दृष्टिपात करके इन्हें क्लेश क्यों हो रहा है'॥ ९॥

स दीन इव शोकार्तो विषण्णवदनद्युतिः।
कैकेयीमभिवाद्यैव रामो वचनमब्रवीत्॥ १०॥

यह सब सोचकर श्रीराम दीन-से हो गये, शोकसे कातर हो उठे, विषादके कारण उनके मुखकी कान्ति फीकी पड़ गयी। वे कैकेयीको प्रणाम करके उसीसे पूछने लगे—॥

कच्चिन्मया नापराद्धमज्ञानाद् येन मे पिता।
कुपितस्तन्ममाचक्ष्व त्वमेवैनं प्रसादय॥ ११॥

'मा! मुझसे अनजानमें कोई अपराध तो नहीं हो गया, जिससे पिताजी मुझपर नाराज हो गये हैं। तुम यह बात मुझे बताओ और तुम्हीं इन्हें मना दो॥ ११॥

अप्रसन्नमनाः किं नु सदा मां प्रति वत्सलः।
विषण्णवदनो दीनः नहि मां प्रति भाषते॥ १२॥

'ये तो सदा मुझे प्यार करते थे, आज इनका मन अप्रसन्न क्यों हो गया? देखता हूँ, ये आज मुझसे बोलतेतक नहीं हैं, इनके मुखपर विषाद छा रहा है और ये अत्यन्त दुःखी हो रहे हैं॥ १२॥

शारीरो मानसो वापि कच्चिदेनं न बाधते।
संतापो वाभितापो वा दुर्लभं हि सदा सुखम्॥ १३॥

'कोई शारीरिक व्याधिजनित संताप अथवा मानसिक अभिताप (चिन्ता) तो इन्हें पीड़ित नहीं कर रहा है? क्योंकि मनुष्यको सदा सुख-ही-सुख मिले—ऐसा सुयोग प्रायः दुर्लभ होता है॥ १३॥

कच्चिन्न किंचिद् भरते कुमारे प्रियदर्शने।
शत्रुघ्ने वा महासत्त्वे मातॄणां वा ममाशुभम्॥ १४॥

'प्रियदर्शन कुमार भरत, महाबली शत्रुघ्न अथवा मेरी माताओंका तो कोई अमङ्गल नहीं हुआ है?॥ १४॥

अतोषयन् महाराजमकुर्वन् वा पितुर्वचः।
मुहूर्तमपि नेच्छेयं जीवितुं कुपिते नृपे॥ १५॥

'महाराजको असंतुष्ट करके अथवा इनकी आज्ञा न मानकर इन्हें कुपित कर देनेपर मैं दो घड़ी भी जीवित रहना नहीं चाहूँगा॥ १५॥

यतोमूलं नरः पश्येत् प्रादुर्भावमिहात्मनः।
कथं तस्मिन् न वर्तेत प्रत्यक्षे सति दैवते॥ १६॥

'मनुष्य जिसके कारण इस जगत्में अपना प्रादुर्भाव (जन्म) देखता है, उस प्रत्यक्ष देवता पिताके जीते-जी वह उसके अनुकूल बर्ताव क्यों न करेगा?॥ १६॥

कच्चित्ते परुषं किंचिदभिमानात् पिता मम।
उक्तो भवत्या रोषेण येनास्य लुलितं मनः॥ १७॥

'कहीं तुमने तो अभिमान या रोषके कारण मेरे पिताजीसे कोई कठोर बात नहीं कह डाली, जिससे इनका मन दुःखी हो गया है?॥ १७॥

एतदाचक्ष्व मे देवि तत्त्वेन परिपृच्छतः।
किंनिमित्तमपूर्वोऽयं विकारो मनुजाधिपे॥ १८॥

'देवि! मैं सच्ची बात पूछता हूँ, बताओ, किस कारणसे महाराजके मनमें आज इतना विकार (संताप) है? इनकी ऐसी अवस्था तो पहले कभी नहीं देखी गयी थी'॥ १८॥

एवमुक्ता तु कैकेयी राघवेण महात्मना।
उवाचेदं सुनिर्लज्जा धृष्टमात्महितं वचः॥ १९॥

महात्मा श्रीरामके इस प्रकार पूछनेपर अत्यन्त निर्लज्ज कैकेयी बड़ी ढिठाईके साथ अपने मतलबकी बात इस प्रकार बोली—॥ १९॥

न राजा कुपितो राम व्यसनं नास्य किंचन।
किंचिन्मनोगतं त्वस्य त्वद्भयान्नानुभाषते॥ २०॥

'राम! महाराज कुपित नहीं हैं और न इन्हें कोई कष्ट ही हुआ है। इनके मनमें कोई बात है, जिसे तुम्हारे डरसे ये कह नहीं पा रहे हैं॥ २०॥

प्रियं त्वामप्रियं वक्तुं वाणी नास्य प्रवर्तते।
तदवश्यं त्वया कार्यं यदनेनाश्रुतं मम॥ २१॥

'तुम इनके प्रिय हो, तुमसे कोई अप्रिय बात कहनेके लिये इनकी जबान नहीं खुलती; किंतु इन्होंने जिस कार्यके लिये मेरे सामने प्रतिज्ञा की है, उसका तुम्हें अवश्य पालन करना चाहिये॥ २१॥

एष मह्यं वरं दत्त्वा पुरा मामभिपूज्य च।
स पश्चात् तप्यते राजा यथान्यः प्राकृतस्तथा॥ २२॥

'इन्होंने पहले तो मेरा सत्कार करते हुए मुझे मुँहमाँगा वरदान दे दिया और अब ये दूसरे गँवार मनुष्योंकी भाँति उसके लिये पश्चात्ताप करते हैं॥ २२॥

अतिसृज्य ददानीति वरं मम विशाम्पतिः।
स निरर्थं गतजले सेतुं बन्धितुमिच्छति॥ २३॥

'ये प्रजानाथ पहले 'मैं दूँगा'—ऐसी प्रतिज्ञा करके मुझे वर दे चुके हैं और अब उसके निवारणके लिये व्यर्थ प्रयत्न कर रहे हैं, पानी निकल जानेपर उसे रोकनेके लिये बाँध बाँधनेकी निरर्थक चेष्टा करते हैं॥ २३॥

धर्ममूलमिदं राम विदितं च सतामपि।
तत् सत्यं न त्यजेद् राजा कुपितस्त्वत्कृते यथा॥ २४॥

'राम! सत्य ही धर्मकी जड़ है, यह सत्पुरुषोंका भी निश्चय है। कहीं ऐसा न हो कि ये महाराज तुम्हारे कारण मुझपर कुपित होकर अपने उस सत्यको ही छोड़ बैठें। जैसे भी इनके सत्यका पालन हो, वैसा तुम्हें करना चाहिये॥ २४॥

यदि तद् वक्ष्यते राजा शुभं वा यदि वाशुभम्।
करिष्यसि ततः सर्वमाख्यास्यामि पुनस्त्वहम्॥ २५॥

'यदि राजा जिस बातको कहना चाहते हैं, वह शुभ हो या अशुभ, तुम सर्वथा उसका पालन करो तो मैं सारी बात पुनः तुमसे कहूँगी॥ २५॥

यदि त्वभिहितं राज्ञा त्वयि तन्न विपत्स्यते।
ततोऽहमभिधास्यामि न ह्येष त्वयि वक्ष्यति॥ २६॥

'यदि राजाकी कही हुई बात तुम्हारे कानोंमें पड़कर वहीं नष्ट न हो जाय—यदि तुम उनकी प्रत्येक आज्ञाका पालन कर सको तो मैं तुमसे सब कुछ खोलकर बता दूँगी, ये स्वयं तुमसे कुछ नहीं कहेंगे'॥ २६॥

एतत् तु वचनं श्रुत्वा कैकेय्या समुदाहतम्।
उवाच व्यथितो रामस्तां देवीं नृपसंनिधौ॥ २७॥

कैकेयीकी कही हुई यह बात सुनकर श्रीरामके मनमें बड़ी व्यथा हुई। उन्होंने राजाके समीप ही देवी कैकेयीसे इस प्रकार कहा—॥ २७॥

अहो धिङ् नार्हसे देवि वक्तुं मामीदृशं वचः।
अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेयमपि पावके॥ २८॥
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे।
नियुक्तो गुरुणा पित्रा नृपेण च हितेन च॥ २९॥
तद् ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकाङ्क्षितम्।
करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते॥ ३०॥

'अहो! धिक्कार है! देवि! तुम्हें मेरे प्रति ऐसी बात मुँहसे नहीं निकालनी चाहिये। मैं महाराजके कहनेसे आगमें भी कूद सकता हूँ, तीव्र विषका भी भक्षण कर सकता हूँ और समुद्रमें भी गिर सकता हूँ। महाराज मेरे गुरु, पिता और हितैषी हैं, मैं उनकी आज्ञा पाकर क्या नहीं कर सकता? इसलिये देवि! राजाको जो अभीष्ट है, वह बात मुझे बताओ! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, उसे पूर्ण करूँगा। राम दो तरहकी बात नहीं करता है' ॥ २८—३०॥

तमार्जवसमायुक्तमनार्या　　　सत्यवादिनम्।
उवाच रामं कैकेयी वचनं भृशदारुणम्॥ ३१॥

श्रीराम सरल स्वभावसे युक्त और सत्यवादी थे, उनकी बात सुनकर अनार्या कैकेयीने अत्यन्त दारुण वचन कहना आरम्भ किया—॥ ३१॥

पुरा देवासुरे युद्धे पित्रा ते मम राघव।
रक्षितेन वरौ दत्तौ सशल्येन महारणे॥ ३२॥

'रघुनन्दन! पहलेकी बात है, देवासुरसंग्राममें तुम्हारे पिता शत्रुओंके बाणोंसे बिंध गये थे, उस महासमरमें मैंने इनकी रक्षा की थी, उससे प्रसन्न होकर इन्होंने मुझे दो वर दिये थे॥ ३२॥

तत्र मे याचितो राजा भरतस्याभिषेचनम्।
गमनं दण्डकारण्ये तव चाद्यैव राघव॥ ३३॥

'राघव! उन्हींमेंसे एक वरके द्वारा तो मैंने महाराजसे यह याचना की है कि भरतका राज्याभिषेक हो और दूसरा वर यह माँगा है कि तुम्हें आज ही दण्डकारण्यमें भेज दिया जाय॥

यदि सत्यप्रतिज्ञं त्वं पितरं कर्तुमिच्छसि।
आत्मानं च नरश्रेष्ठ मम वाक्यमिदं शृणु॥ ३४॥

'नरश्रेष्ठ! यदि तुम अपने पिताको सत्यप्रतिज्ञ बनाना चाहते हो और अपनेको भी सत्यवादी सिद्ध करनेकी इच्छा रखते हो तो मेरी यह बात सुनो॥ ३४॥

संनिदेशे पितुस्तिष्ठ यथानेन प्रतिश्रुतम्।
त्वयारण्यं प्रवेष्टव्यं नव वर्षाणि पञ्च च॥ ३५॥

'तुम पिताकी आज्ञाके अधीन रहो, जैसी इन्होंने प्रतिज्ञा की है, उसके अनुसार तुम्हें चौदह वर्षोंके लिये वनमें प्रवेश करना चाहिये॥ ३५॥

भरतश्चाभिषिच्येत　　　यदेतदभिषेचनम्।
त्वदर्थे विहितं राज्ञा तेन सर्वेण राघव॥ ३६॥

'रघुनन्दन! राजाने तुम्हारे लिये जो यह अभिषेकका सामान जुटाया है, उस सबके द्वारा यहाँ भरतका अभिषेक किया जाय॥ ३६॥

सप्त सप्त च वर्षाणि दण्डकारण्यमाश्रितः।
अभिषेकमिदं त्यक्त्वा जटाचीरधरो भव॥ ३७॥

'और तुम इस अभिषेकको त्यागकर चौदह वर्षोंतक दण्डकारण्यमें रहते हुए जटा और चीर धारण करो॥ ३७॥

भरतः कोसलपतेः प्रशास्तु वसुधामिमाम्।
नानारत्नसमाकीर्णां　　सवाजिरथसंकुलाम्॥ ३८॥

'कोसलनरेशकी इस वसुधाका, जो नाना प्रकारके रत्नोंसे भरी-पूरी और घोड़े तथा रथोंसे व्याप्त है, भरत शासन करें॥ ३८॥

एतेन त्वां नरेन्द्रोऽयं कारुण्येन समाप्लुतः।
शोकैः संक्लिष्टवदनो न शक्नोति निरीक्षितुम्॥ ३९॥

'बस इतनी ही बात है, ऐसा करनेसे तुम्हारे वियोगका कष्ट सहन करना पड़ेगा, यह सोचकर महाराज करुणामें डूब रहे हैं। इसी शोकसे इनका मुख सूख गया है और इन्हें तुम्हारी ओर देखनेका साहस नहीं होता॥ ३९॥

एतत् कुरु नरेन्द्रस्य वचनं रघुनन्दन।
सत्येन महता राम तारयस्व नरेश्वरम्॥ ४०॥

'रघुनन्दन राम! तुम राजाकी इस आज्ञाका पालन करो और इनके महान् सत्यकी रक्षा करके इन नरेशको संकटसे उबार लो'॥ ४०॥

इतीव तस्यां परुषं वदन्त्यां
न चैव रामः प्रविवेश शोकम्।
प्रविव्यथे चापि महानुभावो
राजा च पुत्रव्यसनाभितप्तः॥ ४१॥

कैकेयीके इस प्रकार कठोर वचन कहनेपर भी श्रीरामके हृदयमें शोक नहीं हुआ, परंतु महानुभाव राजा दशरथ पुत्रके भावी वियोगजनित दुःखसे संतप्त एवं व्यथित हो उठे॥ ४१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टादशः सर्गः॥ १८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अठारहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १८॥

——★——

एकोनविंशः सर्गः

श्रीरामकी कैकेयीके साथ बातचीत और वनमें जाना स्वीकार करके उनका माता कौसल्याके पास आज्ञा लेनेके लिये जाना

तदप्रियममित्रघ्नो वचनं मरणोपमम्।
श्रुत्वा न विव्यथे रामः कैकेयीं चेदमब्रवीत्॥ १॥

वह अप्रिय तथा मृत्युके समान कष्टदायक वचन सुनकर भी शत्रुसूदन श्रीराम व्यथित नहीं हुए। उन्होंने कैकेयीसे इस प्रकार कहा—॥ १॥

एवमस्तु गमिष्यामि वनं वस्तुमहं त्वितः।
जटाचीरधरो राज्ञः प्रतिज्ञामनुपालयन्॥ २॥

'मा! बहुत अच्छा! ऐसा ही हो। मैं महाराजकी प्रतिज्ञाका पालन करनेके लिये जटा और चीर धारण करके वनमें रहनेके निमित्त अवश्य यहाँसे चला जाऊँगा॥ २॥

इदं तु ज्ञातुमिच्छामि किमर्थं मां महीपतिः।
नाभिनन्दति दुर्धर्षो यथापूर्वमरिंदमः॥ ३॥

'परंतु मैं यह जानना चाहता हूँ कि आज दुर्जय तथा शत्रुओंका दमन करनेवाले महाराज मुझसे पहलेकी तरह प्रसन्नतापूर्वक बोलते क्यों नहीं हैं?॥ ३॥

मन्युर्न च त्वया कार्यो देवि ब्रूमि तवाग्रतः।
यास्यामि भव सुप्रीता वनं चीरजटाधरः॥ ४॥

'देवि! मैं तुम्हारे सामने ऐसी बात पूछ रहा हूँ, इसलिये तुम्हें क्रोध नहीं करना चाहिये। निश्चय चीर और जटा धारण करके मैं वनको चला जाऊँगा, तुम प्रसन्न रहो॥ ४॥

हितेन गुरुणा पित्रा कृतज्ञेन नृपेण च।
नियुज्यमानो विस्रब्धः किं न कुर्यामहं प्रियम्॥ ५॥

'राजा मेरे हितैषी, गुरु, पिता और कृतज्ञ हैं। इनकी आज्ञा होनेपर मैं इनका कौन-सा ऐसा प्रिय कार्य है, जिसे निःशङ्क होकर न कर सकूँ?॥ ५॥

अलीकं मानसं त्वेकं हृदयं दहते मम।
स्वयं यन्नाह मां राजा भरतस्याभिषेचनम्॥ ६॥

'किंतु मेरे मनको एक ही हार्दिक दुःख अधिक जला रहा है कि स्वयं महाराजने मुझसे भरतके अभिषेककी बात नहीं कही॥ ६॥

अहं हि सीतां राज्यं च प्राणानिष्टान् धनानि च।
हृष्टो भ्रात्रे स्वयं दद्यां भरताय प्रचोदितः॥ ७॥

'मैं केवल तुम्हारे कहनेसे भी अपने भाई भरतके लिये इस राज्यको, सीताको, प्यारे प्राणोंको तथा सारी सम्पत्तिको भी प्रसन्नतापूर्वक सभी ही दे सकता हूँ॥ ७॥

किं पुनर्मनुजेन्द्रेण स्वयं पित्रा प्रचोदितः।
तव च प्रियकामार्थं प्रतिज्ञामनुपालयन्॥ ८॥

'फिर यदि स्वयं महाराज—मेरे पिताजी आज्ञा दें और वह भी तुम्हारा प्रिय कार्य करनेके लिये, तो मैं प्रतिज्ञाका पालन करते हुए उस कार्यको क्यों नहीं करूँगा?॥ ८॥

तथाश्वासय ह्रीमन्तं किं त्विदं यन्महीपतिः।
वसुधासक्तनयनो मन्दमश्रूणि मुञ्चति॥ ९॥

'तुम मेरी ओरसे विश्वास दिलाकर इन लज्जाशील महाराजको आश्वासन दो। ये पृथ्वीनाथ पृथ्वीकी ओर दृष्टि किये धीरे-धीरे आँसू क्यों बहा रहे हैं?॥ ९॥

गच्छन्तु चैवानयितुं दूताः शीघ्रजवैर्हयैः।
भरतं मातुलकुलादद्यैव नृपशासनात्॥ १०॥

'आज ही महाराजकी आज्ञासे दूत शीघ्रगामी घोड़ोंपर सवार होकर भरतको मामाके यहाँसे बुलानेके लिये चले जायँ॥ १०॥

दण्डकारण्यमेषोऽहं गच्छाम्येव हि सत्वरः।
अविचार्य पितुर्वाक्यं समा वस्तुं चतुर्दश॥ ११॥

'मैं अभी पिताकी बातपर कोई विचार न करके चौदह वर्षोंतक वनमें रहनेके लिये तुरंत दण्डकारण्यको चला ही जाता हूँ॥ ११॥

सा हृष्टा तस्य तद् वाक्यं श्रुत्वा रामस्य कैकयी।
प्रस्थानं श्रद्दधाना सा त्वरयामास राघवम्॥ १२॥

श्रीरामकी वह बात सुनकर कैकेयी बहुत प्रसन्न हुई। उसे विश्वास हो गया कि ये वनको चले जायँगे। अतः श्रीरामको जल्दी जानेकी प्रेरणा देती हुई वह बोली—॥ १२॥

एवं भवतु यास्यन्ति दूताः शीघ्रजवैर्हयैः।
भरतं मातुलकुलादिहावर्तयितुं नराः॥ १३॥

'तुम ठीक कहते हो, ऐसा ही होना चाहिये। भरतको मामाके यहाँसे बुला लानेके लिये दूतलोग शीघ्रगामी घोड़ोंपर सवार होकर अवश्य जायँगे॥ १३॥

तव त्वहं क्षमं मन्ये नोत्सुकस्य विलम्बनम्।
राम तस्मादितः शीघ्रं वनं त्वं गन्तुमर्हसि॥ १४॥

'परंतु राम! तुम वनमें जानेके लिये स्वयं ही उत्सुक जान पड़ते हो; अतः तुम्हारा विलम्ब करना मैं ठीक नहीं समझती। जितना शीघ्र सम्भव हो, तुम्हें यहाँसे वनको चल देना चाहिये॥ १४॥

व्रीडान्वितः स्वयं यच्च नृपस्त्वां नाभिभाषते।
नैतत् किंचिन्नरश्रेष्ठ मन्युरेषोऽपनीयताम्॥ १५॥

'नरश्रेष्ठ! राजा लज्जित होनेके कारण जो स्वयं तुमसे नहीं कहते हैं, यह कोई विचारणीय बात नहीं है। अतः इसका दुःख तुम अपने मनसे निकाल दो॥ १५॥

यावत्त्वं न वनं यातः पुरादस्मादतित्वरम्।
पिता तावन्न ते राम स्नास्यते भोक्ष्यतेऽपि वा॥ १६॥

'श्रीराम! तुम जबतक अत्यन्त उतावलीके साथ इस नगरसे वनको नहीं चले जाते, तबतक तुम्हारे पिता स्नान अथवा भोजन नहीं करेंगे' ॥ १६ ॥

धिक्कष्टमिति निःश्वस्य राजा शोकपरिप्लुतः।
मूर्च्छितो न्यपतत् तस्मिन् पर्यङ्के हेमभूषिते ॥ १७ ॥

कैकेयीकी यह बात सुनकर शोकमें डूबे हुए राजा दशरथ लंबी साँस खींचकर बोले—'धिक्कार है! हाय! बड़ा कष्ट हुआ!' इतना कहकर वे मूर्च्छित हो उस सुवर्णभूषित पलंगपर गिर पड़े ॥ १७ ॥

रामोऽप्युत्थाप्य राजानं कैकेय्याभिप्रचोदितः।
कशयेव हतो वाजी वनं गन्तुं कृतत्वरः ॥ १८ ॥

उस समय श्रीरामने राजाको उठाकर बैठा दिया और कैकेयीसे प्रेरित हो कोड़ेकी चोट खाये हुए घोड़ेकी भाँति वे शीघ्रतापूर्वक वनको जानेके लिये उतावले हो उठे ॥ १८ ॥

तदप्रियमनार्याया वचनं दारुणोदयम्।
श्रुत्वा गतव्यथो रामः कैकेयीं वाक्यमब्रवीत् ॥ १९ ॥

अनार्या कैकेयीके उस अप्रिय एवं दारुण वचनको सुनकर भी श्रीरामके मनमें व्यथा नहीं हुई। वे कैकेयीसे बोले— ॥ १९ ॥

नाहमर्थपरो देवि लोकमावस्तुमुत्सहे।
विद्धि मामृषिभिस्तुल्यं विमलं धर्ममास्थितम् ॥ २० ॥

'देवि! मैं धनका उपासक होकर संसारमें नहीं रहना चाहता। तुम विश्वास रखो! मैंने भी ऋषियोंकी ही भाँति निर्मल धर्मका आश्रय ले रखा है ॥ २० ॥

यत् तत्रभवतः किंचिच्छक्यं कर्तुं प्रियं मया।
प्राणानपि परित्यज्य सर्वथा कृतमेव तत् ॥ २१ ॥

'पूज्य पिताजीका जो भी प्रिय कार्य मैं कर सकता हूँ, उसे प्राण देकर भी करूँगा। तुम उसे सर्वथा मेरे द्वारा हुआ ही समझो ॥ २१ ॥

न ह्यतो धर्मचरणं किंचिदस्ति महत्तरम्।
यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया ॥ २२ ॥

'पिताकी सेवा अथवा उनकी आज्ञाका पालन करना, जैसा महत्त्वपूर्ण धर्म है, उससे बढ़कर संसारमें दूसरा कोई धर्माचरण नहीं है ॥ २२ ॥

अनुक्तोऽप्यत्रभवता भवत्या वचनादहम्।
वने वत्स्यामि विजने वर्षाणीह चतुर्दश ॥ २३ ॥

'यद्यपि पूज्य पिताजीने स्वयं मुझसे नहीं कहा है, तथापि मैं तुम्हारे ही कहनेसे चौदह वर्षोंतक इस भूतलपर निर्जन वनमें निवास करूँगा ॥ २३ ॥

न नूनं मयि कैकेयि किंचिदाशंससे गुणान्।
यद् राजानमवोचस्त्वं ममेश्वरतरा सती ॥ २४ ॥

'कैकेयि! तुम्हारा मुझपर पूरा अधिकार है। मैं तुम्हारी प्रत्येक आज्ञाका पालन कर सकता हूँ; फिर भी तुमने स्वयं मुझसे न कहकर इस कार्यके लिये महाराजसे कहा—इनको कष्ट दिया। इससे जान पड़ता है कि तुम मुझमें कोई गुण नहीं देखती हो ॥ २४ ॥

यावन्मातरमापृच्छे सीतां चानुनयाम्यहम्।
ततोऽद्यैव गमिष्यामि दण्डकानां महद् वनम् ॥ २५ ॥

'अच्छा! अब मैं माता कौसल्यासे आज्ञा ले लूँ और सीताको भी समझा-बुझा लूँ, इसके बाद आज ही विशाल दण्डकवनकी यात्रा करूँगा ॥ २५ ॥

भरतः पालयेद् राज्यं शुश्रूषेच्च पितुर्यथा।
तथा भवत्या कर्तव्यं स हि धर्मः सनातनः ॥ २६ ॥

'तुम ऐसा प्रयत्न करना, जिससे भरत इस राज्यका पालन और पिताजीकी सेवा करते रहें; क्योंकि यही सनातन धर्म है' ॥ २६ ॥

रामस्य तु वचः श्रुत्वा भृशं दुःखगतः पिता।
शोकादशक्नुवन् वक्तुं प्ररुरोद महास्वनम् ॥ २७ ॥

श्रीरामका यह वचन सुनकर पिताको बहुत दुःख हुआ। वे शोकके आवेगसे कुछ बोल न सके, केवल फूट-फूटकर रोने लगे ॥ २७ ॥

वन्दित्वा चरणौ राज्ञो विसंज्ञस्य पितुस्तदा।
कैकेय्याश्चाप्यनार्याया निष्पपात महाद्युतिः ॥ २८ ॥

महातेजस्वी श्रीराम उस समय अचेत पड़े हुए पिता महाराज दशरथ तथा अनार्या कैकेयीके भी चरणोंमें प्रणाम करके उस भवनसे निकले ॥ २८ ॥

स रामः पितरं कृत्वा कैकेयीं च प्रदक्षिणम्।
निष्क्रम्यान्तःपुरात् तस्मात् स्वं ददर्श सुहृज्जनम् ॥ २९ ॥

पिता दशरथ और माता कैकेयीकी परिक्रमा करके उस अन्तःपुरसे बाहर निकलकर श्रीराम अपने सुहृदोंसे मिले।

तं बाष्पपरिपूर्णाक्षः पृष्ठतोऽनुजगाम ह।
लक्ष्मणः परमक्रुद्धः सुमित्रानन्दवर्धनः ॥ ३० ॥

सुमित्राका आनन्द बढ़ानेवाले लक्ष्मण उस अन्यायको देखकर अत्यन्त कुपित हो उठे थे, तथापि दोनों नेत्रोंमें आँसू भरकर वे चुपचाप श्रीरामचन्द्रजीके पीछे-पीछे चले गये॥

आभिषेचनिकं भाण्डं कृत्वा रामः प्रदक्षिणम्।
शनैर्जगाम सापेक्षो दृष्टिं तत्राविचालयन् ॥ ३१ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके मनमें अब वन जानेकी आकाङ्क्षाका उदय हो गया था, अतः अभिषेकके लिये एकत्र की हुई सामग्रियोंकी प्रदक्षिणा करते हुए वे धीरे-धीरे आगे बढ़ गये। उनकी ओर उन्होंने दृष्टिपात नहीं किया ॥ ३१ ॥

न चास्य महतीं लक्ष्मीं राज्यनाशोऽपकर्षति।
लोककान्तस्य कान्तत्वाच्छीतरश्मेरिव क्षयः ॥ ३२ ॥

श्रीराम अविनाशी कान्तिसे युक्त थे, इसलिये उस समय राज्यका न मिलना उन लोककमनीय श्रीरामकी महती शोभामें कोई अन्तर न डाल सका; जैसे चन्द्रमाका क्षीण

होना उसकी सहज शोभाका अपकर्ष नहीं कर पाता है ॥

न वनं गन्तुकामस्य त्यजतश्च वसुंधराम्।
सर्वलोकातिगस्येव लक्ष्यते चित्तविक्रिया ॥ ३३ ॥

वे वनमें जानेको उत्सुक थे और सारी पृथ्वीका राज्य छोड़ रहे थे; फिर भी उनके चित्तमें सर्वलोकातीत जीवन्मुक्त महात्माकी भाँति कोई विकार नहीं देखा गया ॥ ३३ ॥

प्रतिषिध्य शुभं छत्रं व्यजने च स्वलंकृते।
विसर्जयित्वा स्वजनं रथं पौरांस्तथा जनान् ॥ ३४ ॥
धारयन् मनसा दुःखमिन्द्रियाणि निगृह्य च।
प्रविवेशात्मवान् वेश्म मातुरप्रियशंसिवान् ॥ ३५ ॥

श्रीरामने अपने ऊपर सुन्दर छत्र लगानेकी मनाही कर दी। डुलाये जानेवाले सुसज्जित चँवर भी रोक दिये। वे रथको लौटाकर स्वजनों तथा पुरवासी मनुष्योंको भी बिदा करके (आत्मीय जनोंके दुःखसे होनेवाले) दुःखको मनमें ही दबाकर इन्द्रियोंको काबूमें करके यह अप्रिय समाचार सुनानेके लिये माता कौसल्याके महलमें गये। उस समय उन्होंने मनको पूर्णतः वशमें कर रखा था ॥ ३४-३५ ॥

सर्वोऽप्यभिजनः श्रीमाञ्श्रीमतः सत्यवादिनः।
नालक्षयत रामस्य कंचिदाकारमानने ॥ ३६ ॥

जो शोभाशाली मनुष्य सदा सत्यवादी श्रीमान् रामके निकट रहा करते थे, उन्होंने भी उनके मुखपर कोई विकार नहीं देखा ॥ ३६ ॥

उचितं च महाबाहुर्न जहौ हर्षमात्मवान्।
शारदः समुदीर्णांशुश्चन्द्रस्तेज इवात्मजम् ॥ ३७ ॥

मनको वशमें रखनेवाले महाबाहु श्रीरामने अपनी स्वाभाविक प्रसन्नता उसी तरह नहीं छोड़ी थी, जैसे शरद्-कालका उद्दीप्त किरणोंवाला चन्द्रमा अपने सहज तेजका परित्याग नहीं करता है ॥ ३७ ॥

वाचा मधुरया रामः सर्वं सम्मानयञ्जनम्।
मातुः समीपं धर्मात्मा प्रविवेश महायशाः ॥ ३८ ॥

महायशस्वी धर्मात्मा श्रीराम मधुर वाणीसे सब लोगोंका सम्मान करते हुए अपनी माताके समीप गये ॥ ३८ ॥

तं गुणैः समतां प्राप्तो भ्राता विपुलविक्रमः।
सौमित्रिरनुवव्राज धारयन् दुःखमात्मजम् ॥ ३९ ॥

उस समय गुणोंमें श्रीरामकी ही समानता करनेवाले महापराक्रमी भ्राता सुमित्राकुमार लक्ष्मण भी अपने मानसिक दुःखको मनमें ही धारण किये हुए श्रीरामके पीछे-पीछे गये ॥

प्रविश्य वेश्मातिभृशं मुदा युतं
समीक्ष्य तां चार्थविपत्तिमागताम्।
न चैव रामोऽत्र जगाम विक्रियां
सुहृज्जनस्यात्मविपत्तिशङ्कया ॥ ४० ॥

अत्यन्त आनन्दसे भरे हुए उस भवनमें प्रवेश करके लौकिक दृष्टिसे अपने अभीष्ट अर्थका विनाश हुआ देखकर भी हितैषी सुहृदोंके प्राणोंपर संकट आ जानेकी आशङ्कासे श्रीरामने यहाँ अपने मुखपर कोई विकार नहीं प्रकट होने दिया ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनविंशः सर्गः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

★

विंशः सर्गः

राजा दशरथकी अन्य रानियोंका विलाप, श्रीरामका कौसल्याजीके भवनमें जाना और उन्हें अपने वनवासकी बात बताना, कौसल्याका अचेत होकर गिरना और श्रीरामके उठा देनेपर उनकी ओर देखकर विलाप करना

तस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्रे निष्क्रामति कृताञ्जलौ।
आर्तशब्दो महान् जज्ञे स्त्रीणामन्तःपुरे तदा ॥ १ ॥

उधर पुरुषसिंह श्रीराम हाथ जोड़े हुए ज्यों ही कैकेयीके महलसे बाहर निकलने लगे, त्यों ही अन्तःपुरमें रहनेवाली राजमहिलाओंका महान् आर्तनाद प्रकट हुआ ॥ १ ॥

कृत्येष्वचोदितः पित्रा सर्वस्यान्तःपुरस्य च।
गतिश्च शरणं चासीत् स रामोऽद्य प्रवत्स्यति ॥ २ ॥

वे कह रही थीं—'हाय! जो पिताके आज्ञा न देनेपर भी समस्त अन्तःपुरके आवश्यक कार्योंमें स्वतः संलग्न रहते थे, जो हमलोगोंके सहारे और रक्षक थे, वे श्रीराम आज वनको चले जायँगे ॥ २ ॥

कौसल्यायां यथा युक्तो जनन्यां वर्तते सदा।
तथैव वर्ततेऽस्मासु जन्मप्रभृति राघवः ॥ ३ ॥

'वे रघुनाथजी जन्मसे ही अपनी माता कौसल्याके प्रति सदा जैसा बर्ताव करते थे, वैसा ही हमारे साथ भी करते थे ॥

न क्रुध्यत्यभिशप्तोऽपि क्रोधनीयानि वर्जयन्।
क्रुद्धान् प्रसादयन् सर्वान् स इतोऽद्य प्रवत्स्यति ॥ ४ ॥

'जो कठोर बात कह देनेपर भी कुपित नहीं होते थे, दूसरोंके मनमें क्रोध उत्पन्न करनेवाली बातें नहीं बोलते थे तथा जो सभी रूठे हुए व्यक्तियोंको मना लिया करते थे, वे ही श्रीराम आज यहाँसे वनको चले जायँगे ॥ ४ ॥

अबुद्धिर्बत नो राजा जीवलोकं चरत्ययम्।
यो गतिं सर्वभूतानां परित्यजति राघवम् ॥ ५ ॥

'बड़े खेदकी बात है कि हमारे महाराजकी बुद्धि मारी गयी। ये इस समय सम्पूर्ण जीव-जगत्‌का विनाश करनेपर तुले हुए हैं, तभी तो ये समस्त प्राणियोंके जीवनाधार श्रीरामका परित्याग कर रहे हैं' ॥ ५ ॥

इति सर्वा महिष्यस्ता विवत्सा इव धेनवः ।
पतिमाचुक्रुशुश्चापि सस्वनं चापि चुक्रुशुः ॥ ६ ॥

इस प्रकार समस्त रानियाँ अपने पतिको कोसने लगीं और बछड़ोंसे बिछुड़ी हुई गौओंकी तरह उच्च स्वरसे क्रन्दन करने लगीं ॥ ६ ॥

स हि चान्तःपुरे घोरमार्तशब्दं महीपतिः ।
पुत्रशोकाभिसंतप्तः श्रुत्वा व्यालीयतासने ॥ ७ ॥

अन्तःपुरका वह भयङ्कर आर्तनाद सुनकर महाराज दशरथने पुत्रशोकसे संतप्त हो लज्जाके मारे बिछौनेमें ही अपनेको छिपा लिया ॥ ७ ॥

रामस्तु भृशमायस्तो निःश्वसन्निव कुञ्जरः ।
जगाम सहितो भ्रात्रा मातुरन्तःपुरं वशी ॥ ८ ॥

इधर जितेन्द्रिय श्रीरामचन्द्रजी स्वजनोंके दुःखसे अधिक खिन्न होकर हाथीके समान लंबी साँस खींचते हुए भाई लक्ष्मणके साथ माताके अन्तःपुरमें गये ॥ ८ ॥

सोऽपश्यत् पुरुषं तत्र वृद्धं परमपूजितम् ।
उपविष्टं गृहद्वारि तिष्ठतश्चापरान् बहून् ॥ ९ ॥

वहाँ उन्होंने उस घरके दरवाजेपर एक परम पूजित वृद्ध पुरुषको बैठा हुआ देखा और दूसरे भी बहुत-से मनुष्य वहाँ खड़े दिखायी दिये ॥ ९ ॥

दृष्ट्वैव तु तदा रामं ते सर्वे समुपस्थिताः ।
जयेन जयतां श्रेष्ठं वर्धयन्ति स्म राघवम् ॥ १० ॥

वे सब-के-सब विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ रघुनन्दन श्रीरामको देखते ही जय-जयकार करते हुए उनकी सेवामें उपस्थित हुए और उन्हें बधाई देने लगे ॥ १० ॥

प्रविश्य प्रथमां कक्ष्यां द्वितीयायां ददर्श सः ।
ब्राह्मणान् वेदसम्पन्नान् वृद्धान् राज्ञाभिसत्कृतान् ॥ ११ ॥

पहली ड्योढ़ी पार करके जब वे दूसरीमें पहुँचे, तब वहाँ उन्हें राजाके द्वारा सम्मानित बहुत-से वेदज्ञ ब्राह्मण दिखायी दिये ॥ ११ ॥

प्रणम्य रामस्तान् वृद्धांस्तृतीयायां ददर्श सः ।
स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च द्वाररक्षणतत्पराः ॥ १२ ॥

उन वृद्ध ब्राह्मणोंको प्रणाम करके श्रीरामचन्द्रजी जब तीसरी ड्योढ़ीमें पहुँचे, तब वहाँ उन्हें द्वाररक्षाके कार्यमें लगी हुई बहुत-सी नवयस्का एवं वृद्ध अवस्थावाली स्त्रियाँ दिखायी दीं ॥ १२ ॥

वर्धयित्वा प्रहृष्टास्ताः प्रविश्य च गृहं स्त्रियः ।
न्यवेदयन्त त्वरितं राममातुः प्रियं तदा ॥ १३ ॥

उन्हें देखकर उन स्त्रियोंको बड़ा हर्ष हुआ। श्रीरामको बधाई देकर उन स्त्रियोंने तत्काल महलके भीतर प्रवेश किया और तुरंत ही श्रीरामचन्द्रजीकी माताको उनके आगमनका प्रिय समाचार सुनाया ॥ १३ ॥

कौसल्यापि तदा देवी रात्रिं स्थित्वा समाहिता ।
प्रभाते चाकरोत् पूजां विष्णोः पुत्रहितैषिणी ॥ १४ ॥

उस समय देवी कौसल्या पुत्रकी मङ्गलकामनासे रातभर जागकर सबेरे एकाग्रचित्त हो भगवान् विष्णुकी पूजा कर रही थीं ॥ १४ ॥

सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा ।
अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत् कृतमङ्गला ॥ १५ ॥

वे रेशमी वस्त्र पहनकर बड़ी प्रसन्नताके साथ निरन्तर व्रतपरायण होकर मङ्गलकृत्य पूर्ण करनेके पश्चात् मन्त्रोच्चारण-पूर्वक उस समय अग्निमें आहुति दे रही थीं ॥ १५ ॥

प्रविश्य तु तदा रामो मातुरन्तःपुरं शुभम् ।
ददर्श मातरं तत्र हावयन्तीं हुताशनम् ॥ १६ ॥

उसी समय श्रीरामने माताके शुभ अन्तःपुरमें प्रवेश करके वहाँ माताको देखा। वे अग्निमें हवन करा रही थीं ॥ १६ ॥

देवकार्यनिमित्तं च तत्रापश्यत् समुद्यतम् ।
दध्यक्षतघृतं चैव मोदकान् हविषस्तथा ॥ १७ ॥
लाजान् माल्यानि शुक्लानि पायसं कृसरं तथा ।
समिधः पूर्णकुम्भांश्च ददर्श रघुनन्दनः ॥ १८ ॥

रघुनन्दनने देखा तो वहाँ देव-कार्यके लिये बहुत-सी सामग्री संग्रह करके रखी हुई है। दही, अक्षत, घी, मोदक, हविष्य, धानका लावा, सफेद माला, खीर, खिचड़ी समिधा और भरे हुए कलश—ये सब वहाँ दृष्टिगोचर हुए ॥१७-१८॥

तां शुक्लक्षौमसंवीतां व्रतयोगेन कर्शिताम् ।
तर्पयन्तीं ददर्शाद्भिर्देवतां वरवर्णिनीम् ॥ १९ ॥

उत्तम कान्तिवाली माता कौसल्या सफेद रंगकी रेशमी साड़ी पहने हुए थीं। वे व्रतके अनुष्ठानसे दुर्बल हो गयी थीं और इष्टदेवताका तर्पण कर रही थीं। इस अवस्थामें श्रीरामने उन्हें देखा ॥ १९ ॥

सा चिरस्यात्मजं दृष्ट्वा मातृनन्दनमागतम् ।
अभिचक्राम संहृष्टा किशोरं वडवा यथा ॥ २० ॥

माताका आनन्द बढ़ानेवाले प्रिय पुत्रको बहुत देरके बाद सामने उपस्थित देख कौसल्यादेवी बड़े हर्षमें भरकर उसकी ओर चलीं, मानो कोई घोड़ी अपने बछेड़ेको देखकर बड़े हर्षसे उसके पास आयी हो ॥ २० ॥

स मातरमुपक्रान्तामुपसंगृह्य राघवः ।
परिष्वक्तश्च बाहुभ्यामवघ्रातश्च मूर्धनि ॥ २१ ॥

श्रीरघुनाथजीने निकट आयी हुई माताके चरणोंमें प्रणाम किया और माता कौसल्याने उन्हें दोनों भुजाओंसे कसकर छातीसे लगा लिया तथा बड़े प्यारसे उनका मस्तक सूँघा ॥

तमुवाच दुराधर्षं राघवं सुतमात्मनः।
कौसल्या पुत्रवात्सल्यादिदं प्रियहितं वचः॥ २२॥

उस समय कौसल्यादेवीने अपने दुर्जय पुत्र श्रीरामचन्द्रजीसे पुत्रस्नेहवश यह प्रिय एवं हितकर बात कही—॥ २२॥

वृद्धानां धर्मशीलानां राजर्षीणां महात्मनाम्।
प्राप्नुह्यायुश्च कीर्तिं च धर्मं चाप्युचितं कुले॥ २३॥

'बेटा! तुम धर्मशील, वृद्ध एवं महात्मा राजर्षियोंके समान आयु, कीर्ति और कुलोचित धर्म प्राप्त करो॥ २३॥

सत्यप्रतिज्ञं पितरं राजानं पश्य राघव।
अद्यैव त्वां स धर्मात्मा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति॥ २४॥

'रघुनन्दन! अब तुम जाकर अपने सत्यप्रतिज्ञ पिता राजाका दर्शन करो। वे धर्मात्मा नरेश आज ही तुम्हारा युवराजके पदपर अभिषेक करेंगे'॥ २४॥

दत्तमासनमालभ्य भोजनेन निमन्त्रितः।
मातरं राघवः किंचित् प्रसार्याञ्जलिमब्रवीत्॥ २५॥

यह कहकर माताने उन्हें बैठनेके लिये आसन दिया और भोजन करनेको कहा। भोजनके लिये निमन्त्रित होकर श्रीरामने उस आसनका स्पर्शमात्र कर लिया। फिर वे अञ्जलि फैलाकर मातासे कुछ कहनेको उद्यत हुए॥ २५॥

स स्वभावविनीतश्च गौरवाच्च तथानतः।
प्रस्थितो दण्डकारण्यमाप्रष्टुमुपचक्रमे॥ २६॥

वे स्वभावसे ही विनयशील थे तथा माताके गौरवसे भी उनके सामने नतमस्तक हो गये थे। उन्हें दण्डकारण्यको प्रस्थान करना था, अतः वे उसके लिये आज्ञा लेनेका उपक्रम करने लगे॥ २६॥

देवि नूनं न जानीषे महद् भयमुपस्थितम्।
इदं तव च दुःखाय वैदेह्या लक्ष्मणस्य च॥ २७॥

उन्होंने कहा—'देवि! निश्चय ही तुम्हें मालूम नहीं है, तुम्हारे ऊपर महान् भय उपस्थित हो गया है। इस समय मैं जो बात कहने जा रहा हूँ, उसे सुनकर तुमको, सीताको और लक्ष्मणको भी दुःख होगा; तथापि कहूँगा॥ २७॥

गमिष्ये दण्डकारण्यं किमनेनासनेन मे।
विष्टरासनयोग्यो हि कालोऽयं मामुपस्थितः॥ २८॥

'अब तो मैं दण्डकारण्यमें जाऊँगा, अतः ऐसे बहुमूल्य आसनकी मुझे क्या आवश्यकता है? अब मेरे लिये यह कुशकी चटाईपर बैठनेका समय आया है॥ २८॥

चतुर्दश हि वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने।
कन्दमूलफलैर्जीवन् हित्वा मुनिवदामिषम्॥ २९॥

'मैं राजभोग्य वस्तुका त्याग करके मुनिकी भाँति कन्द, मूल और फलोंसे जीवन-निर्वाह करता हुआ चौदह वर्षोंतक निर्जन वनमें निवास करूँगा॥ २९॥

भरताय महाराजो यौवराज्यं प्रयच्छति।
मां पुनर्दण्डकारण्यं विवासयति तापसम्॥ ३०॥

'महाराज युवराजका पद भरतको दे रहे हैं और मुझे तपस्वी बनाकर दण्डकारण्यमें भेज रहे हैं॥ ३०॥

स षट् चाष्टौ च वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने।
आसेवमानो वन्यानि फलमूलैश्च वर्तयन्॥ ३१॥

'अतः चौदह वर्षोंतक निर्जन वनमें रहूँगा और जंगलमें सुलभ होनेवाले वल्कल आदिको धारण करके फल-मूलके आहारसे ही जीवन-निर्वाह करता रहूँगा'॥ ३१॥

सा निकृत्तेव सालस्य यष्टिः परशुना वने।
पपात सहसा देवी देवतेव दिवश्च्युता॥ ३२॥

यह अप्रिय बात सुनकर वनमें फरसेसे काटी हुई शालवृक्षकी शाखाके समान कौसल्या देवी सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ीं, मानो स्वर्गसे कोई देवाङ्गना भूतलपर आ गिरी हो॥

तामदुःखोचितां दृष्ट्वा पतितां कदलीमिव।
रामस्तूत्थापयामास मातरं गतचेतसम्॥ ३३॥

जिन्होंने जीवनमें कभी दुःख नहीं देखा था—जो दुःख भोगनेके योग्य थीं ही नहीं, उन्हीं माता कौसल्याको कटी हुई कदलीकी भाँति अचेत-अवस्थामें भूमिपर पड़ी देख श्रीरामने हाथका सहारा देकर उठाया॥ ३३॥

उपावृत्योत्थितां दीनां वडवामिव वाहिताम्।
पांसुगुण्ठितसर्वाङ्गीं विममर्श च पाणिना॥ ३४॥

जैसे कोई घोड़ी पहले बड़ा भारी बोझ ढो चुकी हो और थकावट दूर करनेके लिये धरतीपर लोट-पोटकर उठी हो, उसी तरह उठी हुई कौसल्याजीके समस्त अङ्गोंमें धूल लिपट गयी थी और वे अत्यन्त दीन दशाको पहुँच गयी थीं। उस अवस्थामें श्रीरामने अपने हाथसे उनके अङ्गोंकी धूल पोंछी॥ ३४॥

सा राघवमुपासीनमसुखार्ता सुखोचिता।
उवाच पुरुषव्याघ्रमुपशृण्वति लक्ष्मणे॥ ३५॥

कौसल्याजीने जीवनमें पहले सदा सुख ही देखा था और उसीके योग्य थीं, परंतु उस समय वे दुःखसे कातर हो उठी थीं। उन्होंने लक्ष्मणके सुनते हुए अपने पास बैठे पुरुषसिंह श्रीरामसे इस प्रकार कहा—॥ ३५॥

यदि पुत्र न जायेथा मम शोकाय राघव।
न स्म दुःखमतो भूयः पश्येयमहमप्रजाः॥ ३६॥

'बेटा रघुनन्दन! यदि तुम्हारा जन्म न हुआ होता तो मुझे इस एक ही बातका शोक रहता। आज जो मुझपर इतना भारी दुःख आ पड़ा है, इसे वन्ध्या होनेपर मुझे नहीं देखना पड़ता॥ ३६॥

एक एव हि वन्ध्यायाः शोको भवति मानसः।
अप्रजास्मीति संतापो न ह्यन्यः पुत्र विद्यते॥ ३७॥

'बेटा! वन्ध्याको एक मानसिक शोक होता है। उसके मनमें यह संताप बना रहता है कि मुझे कोई संतान नहीं है, इसके सिवा दूसरा कोई दुःख उसे नहीं होता॥ ३७॥

न दृष्टपूर्वं कल्याणं सुखं वा पतिपौरुषे।
अपि पुत्रे विपश्येयमिति रामास्थितं मया॥ ३८॥

'बेटा राम! पतिके प्रभुत्वकालमें एक ज्येष्ठ पत्नीको जो कल्याण या सुख प्राप्त होना चाहिये, वह मुझे पहले कभी नहीं देखनेको मिला। सोचती थी, पुत्रके राज्यमें मैं सब सुख देख लूँगी और इसी आशासे मैं अबतक जीती रही॥ ३८॥

सा बहून्यमनोज्ञानि वाक्यानि हृदयच्छिदाम्।
अहं श्रोष्ये सपत्नीनामवराणां परा सती॥ ३९॥

'बड़ी रानी होकर भी मुझे अपनी बातोंसे हृदयको विदीर्ण कर देनेवाली छोटी सौतोंके बहुत-से अप्रिय वचन सुनने पड़ेंगे॥ ३९॥

अतो दुःखतरं किं नु प्रमदानां भविष्यति।
मम शोको विलापश्च यादृशोऽयमनन्तकः॥ ४०॥

'स्त्रियोंके लिये इससे बढ़कर महान् दुःख और क्या होगा; अतः मेरा शोक और विलाप जैसा है, उसका कभी अन्त नहीं है॥ ४०॥

त्वयि संनिहितेऽप्येवमहमासं निराकृता।
किं पुनः प्रोषिते तात ध्रुवं मरणमेव हि॥ ४१॥

'तात! तुम्हारे निकट रहनेपर भी मैं इस प्रकार सौतोंसे तिरस्कृत रही हूँ, फिर तुम्हारे परदेश चले जानेपर मेरी क्या दशा होगी? उस दशामें तो मेरा मरण ही निश्चित है॥ ४१॥

अत्यन्तं निगृहीतास्मि भर्तुर्नित्यमसम्मता।
परिवारेण कैकेय्याः समा वाप्यथवावरा॥ ४२॥

'पतिकी ओरसे मुझे सदा अत्यन्त तिरस्कार अथवा कड़ी फटकार ही मिली है, कभी प्यार और सम्मान नहीं प्राप्त हुआ है। मैं कैकेयीकी दासियोंके बराबर अथवा उनसे भी गयी-बीती समझी जाती हूँ॥ ४२॥

यो हि मां सेवते कश्चिदपि वाप्यनुवर्तते।
कैकेय्याः पुत्रमन्वीक्ष्य स जनो नाभिभाषते॥ ४३॥

'जो कोई मेरी सेवामें रहता या मेरा अनुसरण करता है, वह भी कैकेयीके बेटेको देखकर चुप हो जाता है, मुझसे बात नहीं करता है॥ ४३॥

नित्यक्रोधतया तस्याः कथं नु खरवादि तत्।
कैकेय्या वदनं द्रष्टुं पुत्र शक्ष्यामि दुर्गता॥ ४४॥

'बेटा! इस दुर्गतिमें पड़कर मैं सदा क्रोधी स्वभावके कारण कटुवचन बोलनेवाले उस कैकेयीके मुखको कैसे देख सकूँगी॥ ४४॥

दश सप्त च वर्षाणि जातस्य तव राघव।
अतीतानि प्रकाङ्क्षन्त्या मया दुःखपरिक्षयम्॥ ४५॥

'रघुनन्दन! तुम्हारे उपनयनरूप द्वितीय जन्म लिये सत्रह वर्ष बीत गये (अर्थात् तुम अब सत्ताईस वर्षके हो गये)। अबतक मैं यही आशा लगाये चली आ रही थी कि अब मेरा दुःख दूर हो जायगा॥ ४५॥

तदक्षयं महद्दुःखं नोत्सहे सहितुं चिरात्।
विप्रकारं सपत्नीनामेवं जीर्णापि राघव॥ ४६॥

'राघव! अब इस बुढ़ापेमें इस तरह सौतोंका तिरस्कार और उससे होनेवाले महान् अक्षय दुःखको मैं अधिक कालतक नहीं सह सकती॥ ४६॥

अपश्यन्ती तव मुखं परिपूर्णशशिप्रभम्।
कृपणा वर्तयिष्यामि कथं कृपणजीविका॥ ४७॥

'पूर्ण चन्द्रमाके समान तुम्हारे मनोहर मुखको देखे बिना मैं दुःखिनी दयनीय जीवनवृत्तिसे रहकर कैसे निर्वाह करूँगी॥ ४७॥

उपवासैश्च योगैश्च बहुभिश्च परिश्रमैः।
दुःखसंवर्धितो मोघं त्वं हि दुर्गतया मया॥ ४८॥

'बेटा! (यदि तुझे इस देशसे निकल ही जाना है तो) मुझ भाग्यहीनाने बारंबार उपवास, देवताओंका ध्यान तथा बहुत-से परिश्रमजनक उपाय करके व्यर्थ ही तुम्हारा इतने कष्टसे पालन-पोषण किया है॥ ४८॥

स्थिरं नु हृदयं मन्ये ममेदं यन्न दीर्यते।
प्रावृषीव महानद्याः स्पृष्टं कूलं नवाम्भसा॥ ४९॥

'मैं समझती हूँ कि निश्चय ही यह मेरा हृदय बड़ा कठोर है, जो तुम्हारे बिछोहकी बात सुनकर भी वर्षाकालके नूतन जलके प्रवाहसे टकराये हुए महानदीके कगारकी भाँति फट नहीं जाता है॥ ४९॥

ममैव नूनं मरणं न विद्यते
न चावकाशोऽस्ति यमक्षये मम।
यदन्तकोऽद्यैव न मां जिहीर्षति
प्रसह्य सिंहो रुदतीं मृगीमिव॥ ५०॥

निश्चय ही मेरे लिये कहीं मौत नहीं है, यमराजके घरमें भी मेरे लिये जगह नहीं है, तभी तो जैसे किसी रोती हुई मृगीको सिंह जबरदस्ती उठा ले जाता है, उसी प्रकार यमराज मुझे आज ही उठा ले जाना नहीं चाहता है॥ ५०॥

स्थिरं हि नूनं हृदयं ममायसं
न भिद्यते यद् भुवि नो विदीर्यते।
अनेन दुःखेन च देहमर्पितं
ध्रुवं ह्यकाले मरणं न विद्यते॥ ५१॥

'अवश्य ही मेरा कठोर हृदय लोहेका बना हुआ है, जो पृथिवीपर पड़नेपर भी न तो फटता है और न टूक-टूक हो जाता है। इसी दुःखसे व्याप्त हुए इस शरीरके भी टुकड़े-टुकड़े नहीं हो जाते हैं। निश्चय ही, मृत्युकाल आये बिना किसीका मरण नहीं होता है॥ ५१॥

इदं तु दुःखं यदनर्थकानि मे
व्रतानि दानानि च संयमाश्च हि।
तपश्च तप्तं यदपत्यकाम्यया
सुनिष्फलं बीजमिवोप्तमूषरे॥ ५२॥

'सबसे अधिक दुःखकी बात तो यह है कि पुत्रके सुखके लिये मेरे द्वारा किये गये व्रत, दान और संयम सब व्यर्थ हो गये। मैंने संतानकी हित-कामनासे जो तप किया है, वह भी ऊसरमें बोये हुए बीजकी भाँति निष्फल हो गया॥ ५२॥

यदि ह्यकाले मरणं यदृच्छया
लभेत कश्चिद् गुरुदुःखकर्शितः।
गताहमद्यैव परेतसंसदं
विना त्वया धेनुरिवात्मजेन वै॥ ५३॥

'यदि कोई मनुष्य भारी दुःखसे पीड़ित हो असमयमें भी अपनी इच्छाके अनुसार मृत्यु पा सके तो मैं तुम्हारे बिना अपने बछड़ेसे बिछुड़ी हुई गायकी भाँति आज ही यमराजकी सभामें चली जाऊँ॥ ५३॥

अथापि किं जीवितमद्य मे वृथा
त्वया विना चन्द्रनिभाननप्रभ।
अनुव्रजिष्यामि वनं त्वयैव गौः
सुदुर्बला वत्समिवाभिकाङ्क्षया॥ ५४॥

'चन्द्रमाके समान मनोहर मुख-कान्तिवाले श्रीराम! यदि मेरी मृत्यु नहीं होती है तो तुम्हारे बिना यहाँ व्यर्थ कुत्सित जीवन क्यों बिताऊँ? बेटा! जैसे गौ दुर्बल होनेपर भी अपने बछड़ेके लोभसे उसके पीछे-पीछे चली जाती है, उसी प्रकार मैं भी तुम्हारे साथ ही वनको चली चलूँगी'॥ ५४॥

भृशमसुखममर्षिता तदा बहु
विललाप समीक्ष्य राघवम्।
व्यसनमुपनिशाम्य सा महत्
सुतमिव बद्धमवेक्ष्य किंनरी॥ ५५॥

आनेवाले भारी दुःखको सहनेमें असमर्थ हो महान् संकटका विचार करके सत्यके ध्यानमें बँधे हुए अपने पुत्र श्रीरघुनाथजीकी ओर देखकर माता कौसल्या उस समय बहुत विलाप करने लगीं, मानो कोई किंनरी अपने पुत्रको बन्धनमें पड़ा हुआ देखकर बिलख रही हो॥ ५५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे विंशः सर्गः॥ २०॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २०॥

एकविंशः सर्गः

लक्ष्मणका रोष, उनका श्रीरामको बलपूर्वक राज्यपर अधिकार कर लेनेके लिये प्रेरित करना तथा श्रीरामका पिताकी आज्ञाके पालनको ही धर्म बताकर माता और लक्ष्मणको समझाना

तथा तु विलपन्तीं तां कौसल्यां राममातरम्।
उवाच लक्ष्मणो दीनस्तत्कालसदृशं वचः॥ १॥

इस प्रकार विलाप करती हुई श्रीराममाता कौसल्यासे अत्यन्त दुःखी हुए लक्ष्मणने उस समयके योग्य बात कही—॥ १॥

न रोचते ममाप्येतदार्ये यद् राघवो वनम्।
त्यक्त्वा राज्यश्रियं गच्छेत् स्त्रिया वाक्यवशंगतः॥ २॥
विपरीतश्च वृद्धश्च विषयैश्च प्रधर्षितः।
नृपः किमिव न ब्रूयाच्चोद्यमानः समन्मथः॥ ३॥

'बड़ी माँ! मुझे भी यह अच्छा नहीं लगता कि श्रीराम राज्यलक्ष्मीका परित्याग करके वनमें जायँ। महाराज तो इस समय स्त्रीकी बातमें आ गये हैं, इसलिये उनकी प्रकृति विपरीत हो गयी है। एक तो वे बूढ़े हैं, दूसरे विषयोंने उन्हें वशमें कर लिया है; अतः कामदेवके वशीभूत हुए वे नरेश कैकेयी-जैसी स्त्रीकी प्रेरणासे क्या नहीं कह सकते हैं?॥ २-३॥

नास्यापराधं पश्यामि नापि दोषं तथाविधम्।
येन निर्वास्यते राष्ट्राद् वनवासाय राघवः॥ ४॥

'मैं श्रीरघुनाथजीका ऐसा कोई अपराध या दोष नहीं देखता, जिससे इन्हें राज्यसे निकाला जाय और वनमें रहनेके लिये विवश किया जाय॥ ४॥

न तं पश्याम्यहं लोके परोक्षमपि यो नरः।
स्वमित्रोऽपि निरस्तोऽपि योऽस्य दोषमुदाहरेत्॥ ५॥

'मैं संसारमें एक मनुष्यको भी ऐसा नहीं देखता, जो अत्यन्त शत्रु एवं तिरस्कृत होनेपर भी परोक्षमें भी इनका कोई दोष बता सके॥ ५॥

देवकल्पमृजुं दान्तं रिपूणामपि वत्सलम्।
अवेक्षमाणः को धर्मं त्यजेत् पुत्रमकारणात्॥ ६॥

'धर्मपर दृष्टि रखनेवाला कौन ऐसा राजा होगा, जो देवताके समान शुद्ध, सरल, जितेन्द्रिय और शत्रुओंपर भी स्नेह रखनेवाले (श्रीराम-जैसे) पुत्रका अकारण परित्याग करेगा?॥ ६॥

तदिदं वचनं राज्ञः पुनर्बाल्यमुपेयुषः।
पुत्रः को हृदये कुर्याद् राजवृत्तमनुस्मरन्॥ ७॥

'जो पुनः बालभाव (विवेकशून्यता) को प्राप्त हो गये हैं, ऐसे राजाके इस वचनको राजनीतिका ध्यान रखनेवाला कौन पुत्र अपने हृदयमें स्थान दे सकता है?॥ ७॥

यावदेव न जानाति कश्चिदर्थमिमं नरः।
तावदेव मया सार्धमात्मस्थं कुरु शासनम्॥ ८॥

'रघुनन्दन! जबतक कोई भी मनुष्य आपके वनवासकी

बातको नहीं जानता है, तबतक ही, आप मेरी सहायतासे इस राज्यके शासनकी बागडोर अपने हाथमें ले लीजिये ॥ ८ ॥

मया पार्श्वे सधनुषा तव गुप्तस्य राघव।
कः समर्थोऽधिकं कर्तुं कृतान्तस्येव तिष्ठतः ॥ ९ ॥

'रघुवीर! जब मैं धनुष लिये आपके पास रहकर आपकी रक्षा करता रहूँ और आप कालके समान युद्धके लिये डट जायँ, उस समय आपसे अधिक पौरुष प्रकट करनेमें कौन समर्थ हो सकता है? ॥ ९ ॥

निर्मनुष्यामिमां सर्वामयोध्यां मनुजर्षभ।
करिष्यामि शरैस्तीक्ष्णैर्यदि स्थास्यति विप्रिये ॥ १० ॥

'नरश्रेष्ठ! यदि नगरके लोग विरोधमें खड़े होंगे तो मैं अपने तीखे बाणोंसे सारी अयोध्याको मनुष्योंसे सूनी कर दूँगा ॥ १० ॥

भरतस्याथ पक्ष्यो वा यो वास्य हितमिच्छति।
सर्वांस्तांश्च वधिष्यामि मृदुर्हि परिभूयते ॥ ११ ॥

'जो-जो भरतका पक्ष लेगा अथवा केवल जो उन्हींका हित चाहेगा, उन सबका मैं वध कर डालूँगा; क्योंकि जो कोमल या नम्र होता है, उसका सभी तिरस्कार करते हैं ॥

प्रोत्साहितोऽयं कैकेय्या संतुष्टो यदि नः पिता।
अमित्रभूतो निःसङ्गं वध्यतां वध्यतामपि ॥ १२ ॥

'यदि कैकेयीके प्रोत्साहन देनेपर उसके ऊपर संतुष्ट हो पिताजी हमारे शत्रु बन रहे हैं तो हमें भी मोह-ममता छोड़कर इन्हें कैद कर लेना या मार डालना चाहिये ॥ १२ ॥

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथं प्रतिपन्नस्य कार्यं भवति शासनम् ॥ १३ ॥

'क्योंकि यदि गुरु भी घमंडमें आकर कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान खो बैठे और कुमार्गपर चलने लगे तो उसे भी दण्ड देना आवश्यक हो जाता है ॥ १३ ॥

बलमेष किमाश्रित्य हेतुं वा पुरुषोत्तम।
दातुमिच्छति कैकेय्यै उपस्थितमिदं तव ॥ १४ ॥

'पुरुषोत्तम! राजा किस बलका सहारा लेकर अथवा किस कारणको सामने रखकर आपको न्यायतः प्राप्त हुआ यह राज्य अब कैकेयीको देना चाहते हैं? ॥ १४ ॥

त्वया चैव मया चैव कृत्वा वैरमनुत्तमम्।
कास्य शक्तिः श्रियं दातुं भरतायारिशासन ॥ १५ ॥

'शत्रुदमन श्रीराम! आपके और मेरे साथ भारी वैर बाँधकर इनकी क्या शक्ति है कि यह राज्यलक्ष्मी ये भरतको दे दें? ॥ १५ ॥

अनुरक्तोऽस्मि भावेन भ्रातरं देवि तत्त्वतः।
सत्येन धनुषा चैव दत्तेनेष्टेन ते शपे ॥ १६ ॥

'देवि! (बड़ी माँ!) मैं सत्य, धनुष, दान तथा यज्ञ आदिकी शपथ खाकर तुमसे सच्ची बात कहता हूँ कि मेरा अपने पूज्य भ्राता श्रीराममें हार्दिक अनुराग है ॥ १६ ॥

दीप्तमग्निमरण्यं वा यदि रामः प्रवेक्ष्यति।
प्रविष्टं तत्र मां देवि त्वं पूर्वमवधारय ॥ १७ ॥

'देवि! आप विश्वास रखें, यदि श्रीराम जलती हुई आगमें या घोर वनमें प्रवेश करनेवाले होंगे तो मैं इनसे भी पहले उसमें प्रविष्ट हो जाऊँगा ॥ १७ ॥

हरामि वीर्याद् दुःखं ते तमः सूर्य इवोदितः।
देवी पश्यतु मे वीर्यं राघवश्चैव पश्यतु ॥ १८ ॥

'इस समय आप, रघुनाथजी तथा अन्य सब लोग भी मेरे पराक्रमको देखें। जैसे सूर्य उदित होकर अन्धकारका नाश कर देता है, उसी प्रकार मैं भी अपनी शक्तिसे आपके सब दुःख दूर कर दूँगा ॥ १८ ॥

हनिष्ये पितरं वृद्धं कैकेय्यासक्तमानसम्।
कृपणं च स्थितं बाल्ये वृद्धभावेन गर्हितम् ॥ १९ ॥

'जो कैकेयीमें आसक्तचित्त होकर दीन बन गये हैं, बालभाव (अविवेक) में स्थित हैं और अधिक बुढ़ापेके कारण निन्दित हो रहे हैं, उन वृद्ध पिताको मैं अवश्य मार डालूँगा' ॥ १९ ॥

एतत् तु वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणस्य महात्मनः।
उवाच रामं कौसल्या रुदती शोकलालसा ॥ २० ॥

महामनस्वी लक्ष्मणके ये ओजस्वी वचन सुनकर शोकमग्न कौसल्या श्रीरामसे रोती हुई बोलीं— ॥ २० ॥

भ्रातुस्ते वदतः पुत्र लक्ष्मणस्य श्रुतं त्वया।
यदत्रानन्तरं तत्त्वं कुरुष्व यदि रोचते ॥ २१ ॥

'बेटा! तुमने अपने भाई लक्ष्मणकी कही हुई सारी बातें सुन लीं, यदि जँचे तो अब इसके बाद तुम जो कुछ करना उचित समझो, उसे करो ॥ २१ ॥

न चाधर्म्यं वचः श्रुत्वा सपत्न्या मम भाषितम्।
विहाय शोकसंतप्तां गन्तुमर्हसि मामितः ॥ २२ ॥

'मेरी सौतकी कही हुई अधर्मयुक्त बात सुनकर मुझ शोकसे संतप्त हुई माताको छोड़कर तुम्हें यहाँसे नहीं जाना चाहिये ॥ २२ ॥

धर्मज्ञ इति धर्मिष्ठ धर्मं चरितुमिच्छसि।
शुश्रूष मामिहस्थस्त्वं चर धर्ममनुत्तमम् ॥ २३ ॥

'धर्मिष्ठ! तुम धर्मको जाननेवाले हो, इसलिये यदि धर्मका पालन करना चाहो तो यहीं रहकर मेरी सेवा करो और इस प्रकार परम उत्तम धर्मका आचरण करो ॥ २३ ॥

शुश्रूषुर्जननीं पुत्र स्वगृहे नियतो वसन्।
परेण तपसा युक्तः काश्यपस्त्रिदिवं गतः ॥ २४ ॥

'वत्स! अपने घरमें नियमपूर्वक रहकर माताकी सेवा करनेवाले काश्यप उत्तम तपस्यासे युक्त हो स्वर्गलोकमें चले गये थे ॥ २४ ॥

यथैव राजा पूज्यस्ते गौरवेण तथा ह्यहम्।
त्वां साहं नानुजानामि न गन्तव्यमितो वनम् ॥ २५ ॥

'जैसे गौरवके कारण राजा तुम्हारे पूज्य हैं, उसी प्रकार मैं भी हूँ। मैं तुम्हें वन जानेकी आज्ञा नहीं देती, अतः तुम्हें यहाँसे वनको नहीं जाना चाहिये ॥ २५ ॥

त्वद्वियोगान्न मे कार्यं जीवितेन सुखेन च ।
त्वया सह मम श्रेयस्तृणानामपि भक्षणम् ॥ २६ ॥

'तुम्हारे साथ तिनके चबाकर रहना भी मेरे लिये श्रेयस्कर है, परंतु तुमसे विलग हो जानेपर न मुझे इस जीवनसे कोई प्रयोजन है और न सुखसे ॥ २६ ॥

यदि त्वं यास्यसि वनं त्यक्त्वा मां शोकलालसाम् ।
अहं प्रायमिहासिष्ये न च शक्ष्यामि जीवितुम् ॥ २७ ॥

'यदि तुम मुझे शोकमें डूबी हुई छोड़कर वनको चले जाओगे तो मैं उपवास करके प्राण त्याग दूँगी, जीवित नहीं रह सकूँगी ॥ २७ ॥

ततस्त्वं प्राप्स्यसे पुत्र निरयं लोकविश्रुतम् ।
ब्रह्महत्यामिवाधर्मात् समुद्रः सरितां पतिः ॥ २८ ॥

'बेटा ! ऐसा होनेपर तुम संसारप्रसिद्ध वह नरकतुल्य कष्ट पाओगे, जो ब्रह्महत्याके समान है और जिसे सरिताओंके स्वामी समुद्रने अपने अधर्मके फलरूपसे प्राप्त किया था' * ॥ २८ ॥

विलपन्तीं तथा दीनां कौसल्यां जननीं ततः ।
उवाच रामो धर्मात्मा वचनं धर्मसंहितम् ॥ २९ ॥

माता कौसल्याको इस प्रकार दीन होकर विलाप करती देख धर्मात्मा श्रीरामचन्द्रने यह धर्मयुक्त वचन कहा— ॥

नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम ।
प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम् ॥ ३० ॥

'माता ! मैं तुम्हारे चरणोंमें सिर झुकाकर तुम्हें प्रसन्न करना चाहता हूँ। मुझमें पिताजीकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेकी शक्ति नहीं है, अतः मैं वनको ही जाना चाहता हूँ ॥ ३० ॥

ऋषिणा च पितुर्वाक्यं कुर्वता वनचारिणा ।
गौर्हता जानताधर्मं कण्डुना च विपश्चिता ॥ ३१ ॥

'वनवासी विद्वान् कण्डु मुनिने पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये अधर्म समझते हुए भी गौका वध कर डाला था ॥ ३१ ॥

अस्माकं तु कुले पूर्वं सगरस्याज्ञया पितुः ।
खनद्भिः सागरैर्भूमिमवाप्तः सुमहान् वधः ॥ ३२ ॥

'हमारे कुलमें भी पहले राजा सगरके पुत्र ऐसे हो गये हैं, जो पिताकी आज्ञासे पृथ्वी खोदते हुए बुरी तरहसे मारे गये ॥

जामदग्न्येन रामेण रेणुका जननी स्वयम् ।
कृत्ता परशुनारण्ये पितुर्वचनकारणात् ॥ ३३ ॥

'जमदग्निके पुत्र परशुरामने पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये ही वनमें फरसेसे अपनी माता रेणुकाका गला काट डाला था ॥ ३३ ॥

एतैरन्यैश्च बहुभिर्देवि देवसमैः कृतम् ।
पितुर्वचनमक्लीबं करिष्यामि पितुर्हितम् ॥ ३४ ॥

'देवि ! इन्होंने तथा और भी बहुत-से देवतुल्य मनुष्योंने उत्साहके साथ पिताके आदेशका पालन किया है। अतः मैं भी कायरता छोड़कर पिताका हित-साधन करूँगा ॥ ३४ ॥

न खल्वेतन्मयैकेन क्रियते पितृशासनम् ।
एतैरपि कृतं देवि ये मया परिकीर्तिताः ॥ ३५ ॥

'देवि ! केवल मैं ही इस प्रकार पिताके आदेशका पालन नहीं कर रहा हूँ। जिनकी मैंने अभी चर्चा की है, उन सबने भी पिताके आदेशका पालन किया है ॥ ३५ ॥

नाहं धर्ममपूर्वं ते प्रतिकूलं प्रवर्तये ।
पूर्वैरयमभिप्रेतो गतो मार्गोऽनुगम्यते ॥ ३६ ॥

'मा ! मैं तुम्हारे प्रतिकूल किसी नवीन धर्मका प्रचार नहीं कर रहा हूँ। पूर्वकालके धर्मात्मा पुरुषोंको भी यह अभीष्ट था। मैं तो उनके चले हुए मार्गका ही अनुसरण करता हूँ ॥ ३६ ॥

तदेतत् तु मया कार्यं क्रियते भुवि नान्यथा ।
पितुर्हि वचनं कुर्वन् न कश्चिन्नाम हीयते ॥ ३७ ॥

'इस भूमण्डलपर जो सबके लिये करनेयोग्य है, वही मैं भी करने जा रहा हूँ। इसके विपरीत कोई न करनेयोग्य काम नहीं कर रहा हूँ। पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाला कोई भी पुरुष धर्मसे भ्रष्ट नहीं होता' ॥ ३७ ॥

तामेवमुक्त्वा जननीं लक्ष्मणं पुनरब्रवीत् ।
वाक्यं वाक्यविदां श्रेष्ठः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥ ३८ ॥

अपनी मातासे ऐसा कहकर वाक्यवेत्ताओंमें श्रेष्ठ समस्त धनुर्धरशिरोमणि श्रीरामने पुनः लक्ष्मणसे कहा— ॥ ३८ ॥

तव लक्ष्मण जानामि मयि स्नेहमनुत्तमम् ।
विक्रमं चैव सत्त्वं च तेजश्च सुदुरासदम् ॥ ३९ ॥

'लक्ष्मण ! मेरे प्रति तुम्हारा जो परम उत्तम स्नेह है, उसे मैं जानता हूँ। तुम्हारे पराक्रम, धैर्य और दुर्धर्ष तेजका भी मुझे ज्ञान है ॥ ३९ ॥

मम मातुर्महद् दुःखमतुलं शुभलक्षण ।
अभिप्रायं न विज्ञाय सत्यस्य च शमस्य च ॥ ४० ॥

'शुभलक्षण लक्ष्मण ! मेरी माताको जो अनुपम एवं महान् दुःख हो रहा है, वह सत्य और शमके विषयमें मेरे अभिप्रायको न समझनेके कारण है ॥ ४० ॥

---

* किसी कल्पमें समुद्रने अपनी माताको दुःख दिया था, उससे पिप्पलाद नामक ब्रह्मर्षिने उस अधर्मका दण्ड देनेके लिये उसके ऊपर एक कृत्याका प्रयोग किया। इससे समुद्रको नरकवासतुल्य महान् दुःख भोगना पड़ा था।

धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम्।
धर्मसंश्रितमप्येतत् पितुर्वचनमुत्तमम्॥ ४१॥

'संसारमें धर्म ही सबसे श्रेष्ठ है। धर्ममें ही सत्यकी प्रतिष्ठा है। पिताजीका यह वचन भी धर्मके आश्रित होनेके कारण परम उत्तम है॥ ४१॥

संश्रुत्य च पितुर्वाक्यं मातुर्वा ब्राह्मणस्य वा।
न कर्तव्यं वृथा वीर धर्ममाश्रित्य तिष्ठता॥ ४२॥

'वीर! धर्मका आश्रय लेकर रहनेवाले पुरुषको पिता, माता अथवा ब्राह्मणके वचनोंका पालन करनेकी प्रतिज्ञा करके उसे मिथ्या नहीं करना चाहिये॥ ४२॥

सोऽहं न शक्ष्यामि पुनर्नियोगमतिवर्तितुम्।
पितुर्हि वचनाद् वीर कैकेय्याहं प्रचोदितः॥ ४३॥

'वीर! अतः मैं पिताजीकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकता; क्योंकि पिताजीके कहनेसे ही कैकेयीने मुझे वनमें जानेकी आज्ञा दी है॥ ४३॥

तदेतां विसृजानार्यां क्षत्रधर्माश्रितां मतिम्।
धर्ममाश्रय मा तैक्ष्ण्यं मद्बुद्धिरनुगम्यताम्॥ ४४॥

'इसलिये केवल क्षात्रधर्मका अवलम्बन करनेवाली इस ओछी बुद्धिका त्याग करो, धर्मका आश्रय लो, कठोरता छोड़ो और मेरे विचारके अनुसार चलो'॥ ४४॥

तमेवमुक्त्वा सौहार्दाद् भ्रातरं लक्ष्मणाग्रजः।
उवाच भूयः कौसल्यां प्राञ्जलिः शिरसा नतः॥ ४५॥

अपने भाई लक्ष्मणसे सौहार्दवश ऐसी बात कहकर उनके बड़े भ्राता श्रीरामने पुनः कौसल्याके चरणोंमें मस्तक झुकाया और हाथ जोड़कर कहा—॥ ४५॥

अनुमन्यस्व मां देवि गमिष्यन्तमितो वनम्।
शापितासि मम प्राणैः कुरु स्वस्त्ययनानि मे॥ ४६॥

'देवि! मैं यहाँसे वनको जाऊँगा। तुम मुझे आज्ञा दो और स्वस्तिवाचन कराओ। यह बात मैं अपने प्राणोंकी शपथ दिलाकर कहता हूँ॥ ४६॥

तीर्णप्रतिज्ञश्च वनात् पुनरेष्याम्यहं पुरीम्।
ययातिरिव राजर्षिः पुरा हित्वा पुनर्दिवम्॥ ४७॥

'जैसे पूर्वकालमें राजर्षि ययाति स्वर्गलोकका त्याग करके पुनः भूतलपर उतर आये थे, उसी प्रकार मैं भी प्रतिज्ञा पूर्ण करके पुनः वनसे अयोध्यापुरीको लौट आऊँगा॥ ४७॥

शोकः संधार्यतां मातर्हृदये साधु मा शुचः।
वनवासादिहैष्यामि पुनः कृत्वा पितुर्वचः॥ ४८॥

'मा! शोकको अपने हृदयमें ही अच्छी तरह दबाये रखो। शोक न करो। पिताकी आज्ञाका पालन करके मैं फिर वनवाससे यहाँ लौट आऊँगा॥ ४८॥

त्वया मया च वैदेह्या लक्ष्मणेन सुमित्रया।
पितुर्नियोगे स्थातव्यमेष धर्मः सनातनः॥ ४९॥

'तुमको, मुझको, सीताको, लक्ष्मणको और माता सुमित्राको भी पिताजीकी आज्ञामें ही रहना चाहिये। यही सनातन धर्म है॥ ४९॥

अम्ब सम्भृत्य सम्भारान् दुःखं हृदि निगृह्य च।
वनवासकृता बुद्धिर्मम धर्म्यानुवर्त्यताम्॥ ५०॥

'मा! यह अभिषेकको सामग्री ले जाकर रख दो। अपने मनका दुःख मनमें ही दबा लो और वनवासके सम्बन्धमें जो मेरा धर्मानुकूल विचार है, उसका अनुसरण करो—मुझे जानेकी आज्ञा दो'॥ ५०॥

एतद् वचस्तस्य निशम्य माता
सुधर्म्यमव्यग्रमविक्लवं च।
मृतेव संज्ञां प्रतिलभ्य देवी
समीक्ष्य रामं पुनरित्युवाच॥ ५१॥

श्रीरामचन्द्रजीकी यह धर्मानुकूल तथा व्यग्रता और आकुलतासे रहित बात सुनकर जैसे मरे हुए मनुष्यमें प्राण आ जाय, उसी प्रकार देवी कौसल्या मूर्च्छा त्यागकर होशमें आ गयीं तथा अपने पुत्र श्रीरामकी ओर देखकर इस प्रकार कहने लगीं—॥ ५१॥

यथैव ते पुत्र पिता तथाहं
गुरुः स्वधर्मेण सुहृत्तया च।
न त्वानुजानामि न मां विहाय
सुदुःखितामर्हसि पुत्र गन्तुम्॥ ५२॥

'बेटा! धर्म और सौहार्दके नाते जैसे पिता तुम्हारे लिये आदरणीय गुरुजन हैं, वैसी ही मैं भी हूँ। मैं तुम्हें वनमें जानेकी आज्ञा नहीं देती। वत्स! मुझ दुःखियाको छोड़कर तुम्हें कहीं नहीं जाना चाहिये॥ ५२॥

किं जीवितेनेह विना त्वया मे
लोकेन वा किं स्वधयामृतेन।
श्रेयो मुहूर्तं तव संनिधानं
ममैव कृत्स्नादपि जीवलोकात्॥ ५३॥

'तुम्हारे विना मुझे यहाँ इस जीवनसे क्या लाभ है? इन स्वजनोंसे, देवता तथा पितरोंकी पूजासे और अमृतसे भी क्या लेना है? तुम दो घड़ी भी मेरे पास रहो तो वही मेरे लिये सम्पूर्ण संसारके राज्यसे भी बढ़कर सुख देनेवाला है'॥

नरैरिवोल्काभिरपोह्यमानो
महागजो ध्वान्तमभिप्रविष्टः।
भूयः प्रजज्वाल विलापमेवं
निशम्य रामः करुणं जनन्याः॥ ५४॥

जैसे कोई विशाल गजराज किसी अन्धकूपमें पड़ जाय और लोग उसे जलते लुआठोंसे मार-मारकर पीड़ित करने लगें, उस दशामें वह क्रोधसे जल उठे, उसी प्रकार श्रीराम भी माताका बारंबार करुण-विलाप सुनकर (इसे स्वधर्म-पालनमें बाधा मानकर) आवेशमें भर गये। (वनमें जानेका ही दृढ़ निश्चय कर लिया)॥ ५४॥

स मातरं चैव विसंज्ञकल्या-
मार्तं च सौमित्रिमभिप्रतप्तम्।
धर्मे स्थितो धर्म्यमुवाच वाक्यं
यथा स एवार्हति तत्र वक्तुम्॥ ५५॥

उन्होंने धर्ममें ही दृढ़तापूर्वक स्थित रहकर अचेत-सी हो रही मातासे और आर्त एवं संतप्त हुए सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे भी ऐसी धर्मानुकूल बात कही, जैसी उस अवसरपर वे ही कह सकते थे॥ ५५॥

अहं हि ते लक्ष्मण नित्यमेव
जानामि भक्तिं च पराक्रमं च।
मम त्वभिप्रायमसंनिरीक्ष्य
मात्रा सहाभ्यर्दसि मा सुदुःखम्॥ ५६॥

'लक्ष्मण! मैं जानता हूँ, तुम सदा ही मुझमें भक्ति रखते हो और तुम्हारा पराक्रम कितना महान् है, यह भी मुझसे छिपा नहीं है; तथापि तुम मेरे अभिप्रायकी ओर ध्यान न देकर माताजीके साथ स्वयं भी मुझे पीड़ा दे रहे हो। इस तरह मुझे अत्यन्त दुःखमें न डालो॥ ५६॥

धर्मार्थकामाः खलु जीवलोके
समीक्षिता धर्मफलोदयेषु।
ये तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे
भार्येव वश्याभिमता सपुत्रा॥ ५७॥

'इस जीवजगत्में पूर्वकृत धर्मके फलकी प्राप्तिके अवसरोंपर जो धर्म, अर्थ और काम तीनों देखे गये हैं, वे सब-के-सब जहाँ धर्म है, वहाँ अवश्य प्राप्त होते हैं—इसमें संशय नहीं है; ठीक उसी तरह जैसे भार्या धर्म, अर्थ और काम तीनोंकी साधन होती है। वह पतिके वशीभूत या अनुकूल रहकर अतिथि-सत्कार आदि धर्मके पालनमें सहायक होती है। प्रेयसी रूपसे कामका साधन बनती है और पुत्रवती होकर उत्तम लोककी प्राप्तिरूप अर्थकी साधिका होती है॥ ५७॥

यस्मिंस्तु सर्वे स्युरसंनिविष्टा
धर्मो यतः स्यात् तदुपक्रमेत।
द्वेष्यो भवत्यर्थपरो हि लोके
कामात्मता खल्वपि न प्रशस्ता॥ ५८॥

'जिस कर्ममें धर्म आदि सब पुरुषार्थोंका समावेश न हो, उसको नहीं करना चाहिये। जिससे धर्मकी सिद्धि होती हो, उसीका आरम्भ करना चाहिये। जो केवल अर्थपरायण होता है, वह लोकमें सबके द्वेषका पात्र बन जाता है तथा धर्मविरुद्ध काममें अत्यन्त आसक्त होना प्रशंसा नहीं, निन्दाकी बात है॥ ५८॥

गुरुश्च राजा च पिता च वृद्धः
क्रोधात् प्रहर्षादथवापि कामात्।
यद् व्यादिशेत् कार्यमवेक्ष्य धर्मं
कस्तं न कुर्यादनृशंसवृत्तिः॥ ५९॥

'महाराज हमलोगोंके गुरु, राजा और पिता होनेके साथ ही बड़े-बूढ़े माननीय पुरुष हैं। वे क्रोधसे, हर्षसे अथवा कामसे प्रेरित होकर भी यदि किसी कार्यके लिये आज्ञा दें तो हमें धर्म समझकर उसका पालन करना चाहिये। जिसके आचरणोंमें क्रूरता नहीं है, ऐसा कौन पुरुष पिताकी आज्ञाके पालनरूप धर्मका आचरण नहीं करेगा॥ ५९॥

न तेन शक्नोमि पितुः प्रतिज्ञा-
मिमां न कर्तुं सकलां यथावत्।
स ह्यावयोस्तात गुरुर्नियोगे
देव्याश्च भर्ता स गतिश्च धर्मः॥ ६०॥

'इसलिये मैं पिताकी इस सम्पूर्ण प्रतिज्ञाका यथावत् पालन करनेसे मुँह नहीं मोड़ सकता। तात लक्ष्मण! वे हम दोनोंको आज्ञा देनेमें समर्थ गुरु हैं और माताजीके तो वे ही पति, गति तथा धर्म हैं॥ ६०॥

तस्मिन् पुनर्जीवति धर्मराजे
विशेषतः स्वे पथि वर्तमाने।
देवी मया सार्धमितोऽभिगच्छेत्
कथंस्विदन्या विधवेव नारी॥ ६१॥

'वे धर्मके प्रवर्तक महाराज अभी जीवित हैं और विशेषतः अपने धर्ममय मार्गपर स्थित हैं, ऐसी दशामें माताजी, जैसे दूसरी कोई विधवा स्त्री बेटेके साथ रहती है, उस प्रकार मेरे साथ यहाँसे वनमें कैसे चल सकती हैं?॥

सा मानुमन्यस्व वनं व्रजन्तं
कुरुष्व नः स्वस्त्ययनानि देवि।
यथा समाप्ते पुनराव्रजेयं
यथा हि सत्येन पुनर्ययातिः॥ ६२॥

'अतः देवि! तुम मुझे वनमें जानेकी आज्ञा दो और हमारे मङ्गलके लिये स्वस्तिवाचन कराओ, जिससे वनवासकी अवधि समाप्त होनेपर मैं फिर तुम्हारी सेवामें आ जाऊँ। जैसे राजा ययाति सत्यके प्रभावसे फिर स्वर्गमें लौट आये थे॥ ६२॥

यशो ह्यहं केवलराज्यकारणा-
न्न पृष्ठतः कर्तुमलं महोदयम्।
अदीर्घकालेन तु देवि जीविते
वृणेऽवरामद्य महीमधर्मतः॥ ६३॥

'केवल धर्महीन राज्यके लिये मैं महान् फलदायक धर्मपालनरूप सुयशको पीछे नहीं ढकेल सकता। मा! जीवन अधिक कालतक रहनेवाला नहीं है; इसके लिये मैं आज अधर्मपूर्वक इस तुच्छ पृथ्वीका राज्य लेना नहीं चाहता'॥ ६३॥

प्रसादयन्नरवृषभः स मातरं
पराक्रमाज्जिगमिषुरेव दण्डकान्।
अथानुजं भृशमनुशास्य दर्शनं
चकार तां हृदि जननीं प्रदक्षिणम्॥ ६४॥

इस प्रकार नरश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीने धैर्यपूर्वक दण्डकारण्यमें जानेकी इच्छासे माताको प्रसन्न करनेका प्रयत्न किया तथा अपने छोटे भाई लक्ष्मणको भी अपने विचारके अनुसार भलीभाँति धर्मका रहस्य समझाकर मन-ही-मन माताकी परिक्रमा करनेका संकल्प किया ॥ ६४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकविंशः सर्गः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें इक्कीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशः सर्गः

श्रीरामका लक्ष्मणको समझाते हुए अपने वनवासमें दैवको ही कारण बताना और अभिषेककी सामग्रीको हटा लेनेका आदेश देना

अथ तं व्यथया दीनं सविशेषममर्षितम्।
सरोषमिव नागेन्द्रं रोषविस्फारितेक्षणम् ॥ १ ॥
आसाद्य रामः सौमित्रिं सुहृदं भ्रातरं प्रियम्।
उवाचेदं स धैर्येण धारयन् सत्त्वमात्मवान् ॥ २ ॥

(श्रीरामके राज्याभिषेकमें विघ्न पड़नेके कारण) सुमित्राकुमार लक्ष्मण मानसिक व्यथासे बहुत दुःखी थे। उनके मनमें विशेष अमर्ष भरा हुआ था। वे रोषसे भरे हुए गजराजकी भाँति क्रोधसे आँखें फाड़-फाड़कर देख रहे थे। अपने मनको वशमें रखनेवाले श्रीराम धैर्यपूर्वक चित्तको निर्विकाररूपसे काबूमें रखते हुए अपने हितैषी सुहृद् प्रिय भाई लक्ष्मणके पास जाकर इस प्रकार बोले— ॥ १-२ ॥

निगृह्य रोषं शोकं च धैर्यमाश्रित्य केवलम्।
अवमानं निरस्यैनं गृहीत्वा हर्षमुत्तमम् ॥ ३ ॥
उपक्लृप्तं यदैतन्मे अभिषेकार्थमुत्तमम्।
सर्वं निवर्तय क्षिप्रं कुरु कार्यं निरव्ययम् ॥ ४ ॥

'लक्ष्मण! केवल धैर्यका आश्रय लेकर अपने मनके क्रोध और शोकको दूर करो, चित्तसे अपमानकी भावना निकाल दो और हृदयमें भलीभाँति हर्ष भरकर मेरे अभिषेकके लिये यह जो उत्तम सामग्री एकत्र की गयी है, इसे शीघ्र हटा दो और ऐसा कार्य करो, जिससे मेरे वनगमनमें बाधा उपस्थित न हो ॥ ३-४ ॥

सौमित्रे योऽभिषेकार्थे मम सम्भारसम्भ्रमः।
अभिषेकनिवृत्त्यर्थे सोऽस्तु सम्भारसम्भ्रमः ॥ ५ ॥

'सुमित्रानन्दन! अबतक अभिषेकके लिये सामग्री जुटानेमें जो तुम्हारा उत्साह था, वह इसे रोकने और मेरे वन जानेकी तैयारी करनेमें होना चाहिये ॥ ५ ॥

यस्या मदभिषेकार्थे मानसं परितप्यते।
माता नः सा यथा न स्यात् सविशङ्का तथा कुरु ॥ ६ ॥

'मेरे अभिषेकके कारण जिसके चित्तमें संताप हो रहा है, उस हमारी माता कैकेयीको जिससे किसी तरहकी शङ्का न रह जाय, वही काम करो ॥ ६ ॥

तस्याः शङ्कामयं दुःखं मुहूर्तमपि नोत्सहे।
मनसि प्रतिसंजातं सौमित्रेऽहमुपेक्षितुम् ॥ ७ ॥

'लक्ष्मण! उसके मनमें संदेहके कारण दुःख उत्पन्न हो, इस बातको मैं दो घड़ीके लिये भी नहीं सह सकता और न इसकी उपेक्षा ही कर सकता हूँ ॥ ७ ॥

न बुद्धिपूर्वं नाबुद्धं स्मरामीह कदाचन।
मातॄणां वा पितुर्वाहं कृतमल्पं च विप्रियम् ॥ ८ ॥

'मैंने यहाँ कभी जान-बूझकर या अनजानमें माताओंका अथवा पिताजीका कोई छोटा-सा भी अपराध किया हो, ऐसा याद नहीं आता ॥ ८ ॥

सत्यः सत्याभिसंधश्च नित्यं सत्यपराक्रमः।
परलोकभयाद् भीतो निर्भयोऽस्तु पिता मम ॥ ९ ॥

'पिताजी सदा सत्यवादी और सत्यपराक्रमी रहे हैं। वे परलोकके भयसे सदा डरते रहते हैं; इसलिये मुझे वही काम करना चाहिये, जिससे मेरे पिताजीका पारलौकिक भय दूर हो जाय ॥ ९ ॥

तस्यापि हि भवेदस्मिन् कर्मण्यप्रतिसंहृते।
सत्यं नेति मनस्तापस्तस्य तापस्तपेच्च माम् ॥ १० ॥

'यदि इस अभिषेकसम्बन्धी कार्यको रोक नहीं दिया गया तो पिताजीको भी मन-ही-मन यह सोचकर संताप होगा कि मेरी बात सच्ची नहीं हुई और उनका वह मनस्ताप मुझे सदा संतप्त करता रहेगा ॥ १० ॥

अभिषेकविधानं तु तस्मात् संहृत्य लक्ष्मण।
अन्वगेवाहमिच्छामि वनं गन्तुमितः पुरः ॥ ११ ॥

'लक्ष्मण! इन्हीं सब कारणोंसे मैं अपने अभिषेकका कार्य रोककर शीघ्र ही इस नगरसे वनको चला जाना चाहता हूँ ॥ ११ ॥

मम प्रव्राजनादद्य कृतकृत्या नृपात्मजा।
सुतं भरतमव्यग्रमभिषेचयतां ततः ॥ १२ ॥

'आज मेरे चले जानेसे कृतकृत्य हुई राजकुमारी कैकेयी अपने पुत्र भरतका निर्भय एवं निश्चिन्त होकर अभिषेक करावे ॥ १२ ॥

मयि चीराजिनधरे जटामण्डलधारिणि।
गतेऽरण्यं च कैकेय्या भविष्यति मनः सुखम् ॥ १३ ॥

'मैं वल्कल और मृगचर्म धारण करके सिरपर जटाजूट

बाँधे जब वनको चला जाऊँगा, तभी कैकेयीके मनको सुख प्राप्त होगा ॥ १३ ॥

बुद्धिः प्रणीता येनेयं मनश्च सुसमाहितम्।
तं नु नार्हामि संक्लेष्टुं प्रव्रजिष्यामि मा चिरम्॥ १४॥

'जिस विधाताने कैकेयीको ऐसी बुद्धि प्रदान की है तथा जिसकी प्रेरणासे उसका मन मुझे वन भेजनेमें अत्यन्त दृढ़ हो गया है, उसे विफलमनोरथ करके कष्ट देना मेरे लिये उचित नहीं है ॥ १४ ॥

कृतान्त एव सौमित्रे द्रष्टव्यो मत्प्रवासने।
राज्यस्य च वितीर्णस्य पुनरेव निवर्तने॥ १५॥

'सुमित्राकुमार! मेरे इस प्रवासमें तथा पिताद्वारा दिये हुए राज्यके फिर हाथसे निकल जानेमें दैवको ही कारण समझना चाहिये ॥ १५ ॥

कैकेय्याः प्रतिपत्तिर्हि कथं स्यान्मम वेदने।
यदि तस्या न भावोऽयं कृतान्तविहितो भवेत्॥ १६॥

'मेरी समझसे कैकेयीका यह विपरीत मनोभाव दैवका ही विधान है। यदि ऐसा न होता तो वह मुझे वनमें भेजकर पीड़ा देनेका विचार क्यों करती ॥ १६ ॥

जानासि हि यथा सौम्य न मातृषु ममान्तरम्।
भूतपूर्वं विशेषो वा तस्या मयि सुतेऽपि वा॥ १७॥

'सौम्य! तुम तो जानते ही हो कि मेरे मनमें पहले भी कभी माताओंके प्रति भेदभाव नहीं हुआ और कैकेयी भी पहले मुझमें या अपने पुत्रमें कोई अन्तर नहीं समझती थी ॥

सोऽभिषेकनिवृत्त्यर्थैः प्रवासार्थैश्च दुर्वचैः।
उग्रैर्वाक्यैरहं तस्या नान्यद् दैवात् समर्थये॥ १८॥

'मेरे अभिषेकको रोकने और मुझे वनमें भेजनेके लिये उसने राजाको प्रेरित करनेके निमित्त जिन भयंकर और कटुवचनोंका प्रयोग किया है, उन्हें साधारण मनुष्योंके लिये भी मुँहसे निकालना कठिन है। उसकी ऐसी चेष्टामें मैं दैवके सिवा दूसरे किसी कारणका समर्थन नहीं करता ॥ १८ ॥

कथं प्रकृतिसम्पन्ना राजपुत्री तथागुणा।
ब्रूयात् सा प्राकृतेव स्त्री मत्पीडां भर्तृसंनिधौ॥ १९॥

'यदि ऐसी बात न होती तो वैसे उत्तम स्वभाव और श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त राजकुमारी कैकेयी एक साधारण स्त्रीकी भाँति अपने पतिके समीप मुझे पीड़ा देनेवाली बात कैसे कहती—मुझे कष्ट देनेके लिये रामको वनमें भेजनेका प्रस्ताव कैसे उपस्थित करती ॥ १९ ॥

यदचिन्त्यं तु तद् दैवं भूतेष्वपि न हन्यते।
व्यक्तं मयि च तस्यां च पतितो हि विपर्ययः॥ २०॥

'जिसके विषयमें कभी कुछ सोचा न गया हो, वही दैवका विधान है। प्राणियोंमें अथवा उनके अधिष्ठाता देवताओंमें भी कोई ऐसा नहीं है, जो उस दैवके विधानको मेट सके; अतः निश्चय ही उसीकी प्रेरणासे मुझमें और कैकेयीमें यह भारी उलट-फेर हुआ है (मेरे हाथमें आया हुआ राज्य चला गया और कैकेयीकी बुद्धि बदल गयी) ॥

कश्च दैवेन सौमित्रे योद्धुमुत्सहते पुमान्।
यस्य नु ग्रहणं किंचित् कर्मणोऽन्यत्र दृश्यते॥ २१॥

'सुमित्रानन्दन! कर्मके सुख-दुःखादिरूप फल प्राप्त होनेपर ही जिसका ज्ञान होता है, कर्मफलसे अन्यत्र कहीं भी जिसका पता नहीं चलता, उस दैवके साथ कौन पुरुष युद्ध कर सकता है? ॥ २१ ॥

सुखदुःखे भयक्रोधौ लाभालाभौ भवाभवौ।
यस्य किंचित् तथाभूतं ननु दैवस्य कर्म तत्॥ २२॥

'सुख-दुःख, भय-क्रोध (क्षोभ), लाभ-हानि, उत्पत्ति और विनाश तथा इस प्रकारके और भी जितने परिणाम प्राप्त होते हैं, जिनका कोई कारण समझमें नहीं आता, वे सब दैवके ही कर्म हैं ॥ २२ ॥

ऋषयोऽप्युग्रतपसो दैवेनाभिप्रचोदिताः।
उत्सृज्य नियमांस्तीव्रान् भ्रश्यन्ते काममन्युभिः॥ २३॥

'उग्र तपस्वी ऋषि भी दैवसे प्रेरित होकर अपने तीव्र नियमोंको छोड़ बैठते और काम-क्रोधके द्वारा विवश हो मर्यादासे भ्रष्ट हो जाते हैं ॥ २३ ॥

असंकल्पितमेवेह यदकस्मात् प्रवर्तते।
निवर्त्यारब्धमारम्भैर्ननु दैवस्य कर्म तत्॥ २४॥

'जो बात विना सोचे-विचारे अकस्मात् सिरपर आ पड़ती है और प्रयत्नोंद्वारा आरम्भ किये हुए कार्यको रोककर एक नया ही काण्ड उपस्थित कर देती है, अवश्य वह दैवका ही विधान है ॥ २४ ॥

एतया तत्त्वया बुद्ध्या संस्तभ्यात्मानमात्मना।
व्याहतेऽप्यभिषेके मे परितापो न विद्यते॥ २५॥

'इस तात्त्विक बुद्धिके द्वारा स्वयं ही मनको स्थिर कर लेनेके कारण मुझे अपने अभिषेकमें विघ्न पड़ जानेपर भी दुःख या संताप नहीं हो रहा है ॥ २५ ॥

तस्मादपरितापः संस्त्वमप्यनुविधाय माम्।
प्रतिसंहारय क्षिप्रमाभिषेचनिकीं क्रियाम्॥ २६॥

'इसी प्रकार तुम भी मेरे विचारका अनुसरण करके संतापशून्य हो राज्याभिषेकके इस आयोजनको शीघ्र बंद करा दो ॥ २६ ॥

एभिरेव घटैः सर्वैरभिषेचनसम्भृतैः।
मम लक्ष्मण तापस्ये व्रतस्नानं भविष्यति॥ २७॥

'लक्ष्मण! राज्याभिषेकके लिये सँजोकर रखे गये इन्हीं सब कलशोंद्वारा मेरा तापस-व्रतके संकल्पके लिये आवश्यक स्नान होगा ॥ २७ ॥

अथवा किं ममैतेन राज्यद्रव्यमयेन तु।
उद्धृतं मे स्वयं तोयं व्रतादेशं करिष्यति॥ २८॥

'अथवा राज्याभिषेकसम्बन्धी मङ्गल द्रव्यमय इस

कलशजलकी मुझे क्या आवश्यकता है? स्वयं मेरे द्वारा अपने हाथसे निकाला हुआ जल ही मेरे व्रतादेशका साधक होगा॥ २८॥

मा च लक्ष्मण संतापं कार्षीर्लक्ष्म्या विपर्यये।
राज्यं वा वनवासो वा वनवासो महोदयः॥ २९॥

'लक्ष्मण! लक्ष्मीके इस उलट-फेरके विषयमें तुम कोई चिन्ता न करो। मेरे लिये राज्य अथवा वनवास दोनों समान हैं, बल्कि विशेष विचार करनेपर वनवास ही महान् अभ्युदयकारी प्रतीत होता है॥ २९॥

न लक्ष्मणास्मिन् मम राज्यविघ्ने
माता यवीयस्यभिशङ्कितव्या।
दैवाभिपन्ना न पिता कथंचि-
ज्जानासि दैवं हि तथाप्रभावम्॥ ३०॥

'लक्ष्मण! मेरे राज्याभिषेकमें जो विघ्न आया है, इसमें मेरी सबसे छोटी माता कारण है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये; क्योंकि वह दैवके अधीन थी। इसी प्रकार पिताजी भी किसी तरह इसमें कारण नहीं हैं। तुम तो दैव और उसके अद्भुत प्रभावको जानते ही हो, वही कारण है'॥ ३०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्वाविंशः सर्गः॥ २२॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २२॥

त्रयोविंश सर्गः

लक्ष्मणकी ओजभरी बातें, उनके द्वारा दैवका खण्डन और पुरुषार्थका प्रतिपादन तथा उनका श्रीरामके अभिषेकके निमित्त विरोधियोंसे लोहा लेनेके लिये उद्यत होना

इति ब्रुवति रामे तु लक्ष्मणोऽवाक्शिरा इव।
ध्यात्वा मध्यं जगामाशु सहसा दैन्यहर्षयोः॥ १॥

श्रीरामचन्द्रजी जब इस प्रकार कह रहे थे, उस समय लक्ष्मण सिर झुकाये कुछ सोचते रहे; फिर सहसा शीघ्रतापूर्वक वे दुःख और हर्षके बीचकी स्थितिमें आ गये (श्रीरामके राज्याभिषेकमें विघ्न पड़नेके कारण उन्हें दुःख हुआ और उनकी धर्ममें दृढ़ता देखकर प्रसन्नता हुई)॥ १॥

तदा तु बद्ध्वा भ्रुकुटीं भ्रुवोर्मध्ये नरर्षभः।
निशश्वास महासर्पो बिलस्थ इव रोषितः॥ २॥

नरश्रेष्ठ लक्ष्मणने उस समय ललाटमें भौंहोंको चढ़ाकर लंबी साँस खींचना आरम्भ किया, मानो बिलमें बैठा हुआ महान् सर्प रोषमें भरकर फुंकार मार रहा हो॥ २॥

तस्य दुष्प्रतिवीक्ष्यं तद् भ्रुकुटीसहितं तदा।
बभौ क्रुद्धस्य सिंहस्य मुखस्य सदृशं मुखम्॥ ३॥

तनी हुई भौंहोंके साथ उस समय उनका मुख कुपित हुए सिंहके मुखके समान जान पड़ता था, उसकी ओर देखना कठिन हो रहा था॥ ३॥

अग्रहस्तं विधुन्वंस्तु हस्ती हस्तमिवात्मनः।
तिर्यगूर्ध्वं शरीरे च पातयित्वा शिरोधराम्॥ ४॥
अग्राक्ष्णा वीक्षमाणस्तु तिर्यग्भ्रातरमब्रवीत्।

जैसे हाथी अपनी सूँड़ हिलाया करता है, उसी प्रकार वे अपने दाहिने हाथको हिलाते और गर्दनको शरीरमें ऊपर-नीचे और अगल-बगल सब ओर घुमाते हुए नेत्रोंके अग्रभागसे टेढ़ी नजरोंद्वारा अपने भाई श्रीरामको देखकर उनसे बोले—॥ ४½॥

अस्थाने सम्भ्रमो यस्य जातो वै सुमहानयम्॥ ५॥
धर्मदोषप्रसङ्गेन लोकस्यानतिशङ्कया।
कथं ह्येतदसम्भ्रान्तस्त्वद्विधो वक्तुमर्हति॥ ६॥
यथा ह्येवमशौण्डीरं शौण्डीरः क्षत्रियर्षभः।
किं नाम कृपणं दैवमशक्तमभिशंससि॥ ७॥

'भैया! आप समझते हैं कि यदि पिताकी इस आज्ञाका पालन करनेके लिये मैं वनको न जाऊँ तो धर्मके विरोधका प्रसङ्ग उपस्थित होता है, इसके सिवा लोगोंके मनमें यह बड़ी भारी शङ्का उठ खड़ी होगी कि जो पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घन करता है, वह यदि राजा ही हो जाय तो हमारा धर्मपूर्वक पालन कैसे करेगा? साथ ही आप यह भी सोचते हैं कि यदि मैं पिताकी इस आज्ञाका पालन नहीं करूँ तो दूसरे लोग भी नहीं करेंगे। इस प्रकार धर्मकी अवहेलना होनेसे जगत्के विनाशका भय उपस्थित होगा। इन सब दोषों और शङ्काओंका निराकरण करनेके लिये आपके मनमें वनगमनके प्रति जो यह बड़ा भारी सम्भ्रम (उतावलापन) आ गया है, यह सर्वथा अनुचित एवं भ्रममूलक ही है; क्योंकि आप असमर्थ 'दैव' नामक तुच्छ वस्तुको प्रबल बता रहे हैं। दैवका निराकरण करनेमें समर्थ आप-जैसा क्षत्रियशिरोमणि वीर यदि भ्रममें नहीं पड़ गया होता तो ऐसी बात कैसे कह सकता था? अतः असमर्थ पुरुषोंद्वारा ही अपनाये जाने योग्य और पौरुषके निकट कुछ भी करनेमें असमर्थ 'दैव' की आप साधारण मनुष्यके समान इतनी स्तुति या प्रशंसा क्यों कर रहे हैं?॥ ५—७॥

पापयोस्ते कथं नाम तयोः शङ्का न विद्यते।
सन्ति धर्मोपधासक्ता धर्मात्मन् किं न बुध्यसे॥ ८॥

'धर्मात्मन्! आपको उन दोनों पापियोंपर संदेह क्यों नहीं होता? संसारमें कितने ही ऐसे पापासक्त मनुष्य हैं, जो दूसरोंको ठगनेके लिये धर्मका ढोंग बनाये रहते हैं; क्या आप

उन्हें नहीं जानते हैं ? ॥ ८ ॥

तयोः सुचरितं स्वार्थं शाठ्यात् परिजिहीर्षतोः ।
यदि नैवं व्यवसितं स्याद्धि प्रागेव राघव ।
तयोः प्रागेव दत्तश्च स्याद् वरःप्रकृतश्च सः ॥ ९ ॥

'रघुनन्दन ! वे दोनों अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये शठतावश धर्मके बहाने आप-जैसे सच्चरित्र पुरुषका परित्याग करना चाहते हैं। यदि उनका ऐसा विचार न होता तो जो कार्य आज हुआ है, वह पहले ही हो गया होता। यदि वरदानवाली बात सच्ची होती तो आपके अभिषेकका कार्य आरम्भ होनेसे पहले ही इस तरहका वर दे दिया गया होता ॥ ९ ॥

लोकविद्विष्टमारब्धं त्वदन्यस्याभिषेचनम् ।
नोत्सहे सहितुं वीर तत्र मे क्षन्तुमर्हसि ॥ १० ॥

(गुणवान् ज्येष्ठ पुत्रके रहते हुए छोटेका अभिषेक करना) यह लोकविरुद्ध कार्य है, जिसका आज आरम्भ किया गया है। आपके सिवा दूसरे किसीका राज्याभिषेक हो, यह मुझसे सहन नहीं होनेका। इसके लिये आप मुझे क्षमा करेंगे ॥ १० ॥

येनैवमागता द्वैधं तव बुद्धिर्महामते ।
सोऽपि धर्मो मम द्वेष्यो यत्प्रसङ्गाद् विमुह्यसि ॥ ११ ॥

'महामते ! पिताके जिस वचनको मानकर आप मोहमें पड़े हुए हैं और जिसके कारण आपकी बुद्धिमें दुविधा उत्पन्न हो गयी है, मैं उसे धर्म माननेका पक्षपाती नहीं हूँ; ऐसे धर्मका तो मैं घोर विरोध करता हूँ ॥ ११ ॥

कथं त्वं कर्मणा शक्तः कैकेयीवशवर्तिनः ।
करिष्यसि पितुर्वाक्यमधर्मिष्ठं विगर्हितम् ॥ १२ ॥

'आप अपने पराक्रमसे सब कुछ करनेमें समर्थ होकर भी कैकेयीके वशमें रहनेवाले पिताके अधर्मपूर्ण एवं निन्दित वचनका पालन कैसे करेंगे ? ॥ १२ ॥

यदयं किल्बिषाद् भेदः कृतोऽप्येवं न गृह्यते ।
जायते तत्र मे दुःखं धर्मसङ्गश्च गर्हितः ॥ १३ ॥

'वरदानकी झूठी कल्पनाका पाप करके आपके अभिषेकमें रोड़ा अटकाया गया है, फिर भी आप इस रूपमें नहीं ग्रहण करते हैं। इसके लिये मेरे मनमें बड़ा दुःख होता है। ऐसे कपटपूर्ण धर्मके प्रति होनेवाली आसक्ति निन्दित है ॥ १३ ॥

तवायं धर्मसंयोगो लोकस्यास्य विगर्हितः ।
मनसापि कथं कामं कुर्यात् त्वां कामवृत्तयोः ।
तयोस्त्वहितयोर्नित्यं शत्र्वोः पित्रभिधानयोः ॥ १४ ॥

'ऐसे पाखण्डपूर्ण धर्मके पालनमें जो आपकी प्रवृत्ति हो रही है, वह यहाँके जनसमुदायकी दृष्टिमें निन्दित है। आपके सिवा दूसरा कोई पुरुष सदा पुत्रका अहित करनेवाले, पिता-माता नामधारी उन कामाचारी शत्रुओंके मनोरथको मनसे भी कैसे पूर्ण कर सकता है (उसकी पूर्तिका विचार भी मनमें कैसे ला सकता है ?) ॥ १४ ॥

यद्यपि प्रतिपत्तिस्ते दैवी चापि तयोर्मतम् ।
तथाप्युपेक्षणीयं ते न मे तदपि रोचते ॥ १५ ॥

'माता-पिताके इस विचारको कि—'आपका राज्याभिषेक न हो' जो आप दैवकी प्रेरणाका फल मानते हैं, यह भी मुझे अच्छा नहीं लगता। यद्यपि वह आपका मत है, तथापि आपको उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिये ॥ १५ ॥

विक्लवो वीर्यहीनो यः स दैवमनुवर्तते ।
वीराः सम्भावितात्मानो न दैवं पर्युपासते ॥ १६ ॥

'जो कायर है, जिसमें पराक्रमका नाम नहीं है, वही दैवका भरोसा करता है। सारा संसार जिन्हें आदरकी दृष्टिसे देखता है, वे शक्तिशाली वीर पुरुष दैवकी उपासना नहीं करते हैं ॥ १६ ॥

दैवं पुरुषकारेण यः समर्थः प्रबाधितुम् ।
न दैवेन विपन्नार्थः पुरुषः सोऽवसीदति ॥ १७ ॥

'जो अपने पुरुषार्थसे दैवको दबानेमें समर्थ है, वह पुरुष दैवके द्वारा अपने कार्यमें बाधा पड़नेपर खेद नहीं करता—शिथिल होकर नहीं बैठता ॥ १७ ॥

द्रक्ष्यन्ति त्वद्य दैवस्य पौरुषं पुरुषस्य च ।
दैवमानुषयोरद्य व्यक्ता व्यक्तिर्भविष्यति ॥ १८ ॥

'आज संसारके लोग देखेंगे कि दैवकी शक्ति बड़ी है या पुरुषका पुरुषार्थ। आज दैव और मनुष्यमें कौन बलवान् है और कौन दुर्बल—इसका स्पष्ट निर्णय हो जायगा ॥ १८ ॥

अद्य मे पौरुषहतं दैवं द्रक्ष्यन्ति वै जनाः ।
यैर्दैवादाहतं तेऽद्य दृष्टं राज्याभिषेचनम् ॥ १९ ॥

'जिन लोगोंने दैवके बलसे आज आपके राज्याभिषेकको नष्ट हुआ देखा है, वे ही आज मेरे पुरुषार्थसे अवश्य ही दैवका भी विनाश देख लेंगे ॥ १९ ॥

अत्यङ्कुशमिवोद्दामं गजं मदजलोद्धतम् ।
प्रधावितमहं दैवं पौरुषेण निवर्तये ॥ २० ॥

'जो अङ्कुशकी परवा नहीं करता और रस्से या साँकलको भी तोड़ देता है, मदकी धारा बहानेवाले उस मत्त गजराजकी भाँति वेगपूर्वक दौड़नेवाले दैवको भी आज मैं अपने पुरुषार्थसे पीछे लौटा दूँगा ॥ २० ॥

लोकपालाः समस्तास्ते नाद्य रामाभिषेचनम् ।
न च कृत्स्नास्त्रयो लोका विहन्युः किं पुनः पिता ॥ २१ ॥

'समस्त लोकपाल और तीनों लोकोंके सम्पूर्ण प्राणी आज श्रीरामके राज्याभिषेकको नहीं रोक सकते, फिर केवल पिताजीकी तो बात ही क्या है ? ॥ २१ ॥

यैर्विवासस्तवारण्ये मिथो राजन् समर्थितः ।
अरण्ये ते विवत्स्यन्ति चतुर्दश समास्तथा ॥ २२ ॥

'राजन्! जिन लोगोंने आपसमें आपके वनवासका समर्थन किया है, वे स्वयं चौदह वर्षोंतक वनमें जाकर छिपे रहेंगे ॥ २२ ॥

अहं तदाशां धक्ष्यामि पितुस्तस्याश्च या तव।
अभिषेकविघातेन पुत्रराज्याय वर्तते ॥ २३ ॥

'मैं पिताकी और जो आपके अभिषेकमें विघ्न डालकर अपने पुत्रको राज्य देनेके प्रयत्नमें लगी हुई है, उस कैकेयीकी भी उस आशाको जलाकर भस्म कर डालूँगा ॥ २३ ॥

मद्बलेन विरुद्धाय न स्याद् दैवबलं तथा।
प्रभविष्यति दुःखाय यथोग्रं पौरुषं मम ॥ २४ ॥

'जो मेरे बलके विरोधमें खड़ा होगा, उसे मेरा भयंकर पुरुषार्थ जैसा दुःख देनेमें समर्थ होगा, वैसा दैवबल उसे सुख नहीं पहुँचा सकेगा ॥ २४ ॥

ऊर्ध्वं वर्षसहस्रान्ते प्रजापाल्यमनन्तरम्।
आर्यपुत्राः करिष्यन्ति वनवासं गते त्वयि ॥ २५ ॥

'सहस्रों वर्ष बीतनेके पश्चात् जब आप अवस्थाक्रमसे वनमें निवास करनेके लिये जायँगे, उस समय आपके बाद आपके पुत्र प्रजापालनरूप कार्य करेंगे (अर्थात् उस समय भी दूसरोंको इस राज्यमें दखल देनेका अवसर नहीं प्राप्त होगा) ॥ २५ ॥

पूर्वराजर्षिवृत्त्या हि वनवासोऽभिधीयते।
प्रजा निक्षिप्य पुत्रेषु पुत्रवत् परिपालने ॥ २६ ॥

'पुरातन राजर्षियोंकी आचारपरम्पराके अनुसार प्रजाका पुत्रवत् पालन करनेके निमित्त प्रजावर्गको पुत्रोंके हाथमें सौंपकर वृद्ध राजाका वनमें निवास करना उचित बताया जाता है ॥ २६ ॥

स चेत् राजन्यनेकाग्रे राज्यविभ्रमशङ्कया।
नैवमिच्छसि धर्मात्मन् राज्यं राम त्वमात्मनि ॥ २७ ॥

'धर्मात्मा श्रीराम! हमारे महाराज वानप्रस्थधर्मके पालनमें चित्तको एकाग्र नहीं कर रहे हैं, इसीलिये यदि आप यह समझते हों कि उनकी आज्ञाके विरुद्ध राज्य ग्रहण कर लेनेपर समस्त जनता विद्रोही हो जायगी, अतः राज्य अपने हाथमें नहीं रह सकेगा और इसी शङ्कासे यदि आप अपने ऊपर राज्यका भार नहीं लेना चाहते हैं अथवा वनमें चले जाना चाहते हैं तो इस शङ्काको छोड़ दीजिये ॥ २७ ॥

प्रतिजाने च ते वीर मा भूवं वीरलोकभाक्।
राज्यं च तव रक्षेयमहं वेलेव सागरम् ॥ २८ ॥

'वीर! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि जैसे तटभूमि समुद्रको रोके रहती है, उसी प्रकार मैं आपकी और आपके राज्यकी रक्षा करूँगा। यदि ऐसा न करूँ तो वीरलोकका भागी न होऊँ ॥ २८ ॥

मङ्गलैरभिषिञ्चस्व तत्र त्वं व्यापृतो भव।
अहमेको महीपालानलं वारयितुं बलात् ॥ २९ ॥

'इसलिये आप मङ्गलमयी अभिषेक-सामग्रीसे अपना अभिषेक होने दीजिये। इस अभिषेकके कार्यमें आप तत्पर हो जाइये। मैं अकेला ही बलपूर्वक समस्त विरोधी भूपालोंको रोक रखनेमें समर्थ हूँ ॥ २९ ॥

न शोभार्थाविमौ बाहू न धनुर्भूषणाय मे।
नासिराबन्धनार्थाय न शराः स्तम्भहेतवः ॥ ३० ॥

'ये मेरी दोनों भुजाएँ केवल शोभाके लिये नहीं हैं। मेरे इस धनुषका आभूषण नहीं बनेगा। यह तलवार केवल कमरमें बाँधे रखनेके लिये नहीं है तथा इन बाणोंके खम्भे नहीं बनेंगे ॥ ३० ॥

अमित्रमथनार्थाय सर्वमेतच्चतुष्टयम्।
न चाहं कामयेऽत्यर्थं यः स्याच्छत्रुर्मतो मम ॥ ३१ ॥

'ये सब चारों वस्तुएँ शत्रुओंका दमन करनेके लिये ही हैं। जिसे मैं अपना शत्रु समझता हूँ, उसे कदापि जीवित रहने देना नहीं चाहता ॥ ३१ ॥

असिना तीक्ष्णधारेण विद्युच्चलितवर्चसा।
प्रगृहीतेन वै शत्रुं वज्रिणं वा न कल्पये ॥ ३२ ॥

'जिस समय मैं इस तीखी धारवाली तलवारको हाथमें लेता हूँ, यह बिजलीकी तरह चञ्चल प्रभासे चमक उठती है। इसके द्वारा अपने किसी भी शत्रुको, वह वज्रधारी इन्द्र ही क्यों न हो, मैं कुछ नहीं समझता ॥ ३२ ॥

खड्गनिष्पेषनिष्पिष्टैर्गहना दुश्चरा च मे।
हस्त्यश्वरथिहस्तोरुशिरोभिर्भविता मही ॥ ३३ ॥

'आज मेरे खड्गके प्रहारसे पीस डाले गये हाथी, घोड़े और रथियोंके हाथ, जाँघ और मस्तकोंद्वारा पटी हुई यह पृथ्वी ऐसी गहन हो जायगी कि इसपर चलना-फिरना कठिन हो जायगा ॥ ३३ ॥

खड्गधाराहता मेऽद्य दीप्यमाना इवाग्नयः।
पतिष्यन्ति द्विषो भूमौ मेघा इव सविद्युतः ॥ ३४ ॥

'मेरी तलवारकी धारसे कटकर रक्तसे लथपथ हुए शत्रु जलती हुई आगके समान जान पड़ेंगे और बिजलीसहित मेघोंके समान आज पृथ्वीपर गिरेंगे ॥ ३४ ॥

बद्धगोधाङ्गुलित्राणे प्रगृहीतशरासने।
कथं पुरुषमानी स्यात् पुरुषाणां मयि स्थिते ॥ ३५ ॥

'अपने हाथोंमें गोहके चर्मसे बने हुए दस्तानेको बाँधकर जब हाथमें धनुष ले मैं युद्धके लिये खड़ा हो जाऊँगा, उस समय पुरुषोंमेंसे कोई भी मेरे सामने कैसे अपने पौरुषपर अभिमान कर सकेगा? ॥ ३५ ॥

बहुभिश्चैकमत्यस्यन्नेकेन च बहूञ्जनान्।
विनियोक्ष्याम्यहं बाणान्नृवाजिगजमर्मसु ॥ ३६ ॥

'मैं बहुत-से बाणोंद्वारा एकको और एक ही बाणसे बहुत-से योद्धाओंको धराशायी करता हुआ मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंके मर्मस्थानोंपर बाण मारूँगा ॥ ३६ ॥

अद्य मेऽस्त्रप्रभावस्य प्रभावः प्रभविष्यति।
राज्ञश्चाप्रभुतां कर्तुं प्रभुत्वं च तव प्रभो॥ ३७॥

'प्रभो! आज राजा दशरथकी प्रभुताको मिटाने और आपके प्रभुत्वकी स्थापना करनेके लिये अस्त्रबलसे सम्पन्न मुझ लक्ष्मणका प्रभाव प्रकट होगा॥ ३७॥

अद्य चन्दनसारस्य केयूरामोक्षणस्य च।
वसूनां च विमोक्षस्य सुहृदां पालनस्य च॥ ३८॥
अनुरूपाविमौ बाहू राम कर्म करिष्यतः।
अभिषेचनविघ्नस्य कर्तॄणां ते निवारणे॥ ३९॥

'श्रीराम! आज मेरी ये दोनों भुजाएँ, जो चन्दनका लेप लगाने, बाजूबंद पहनने, धनका दान करने और सुहृदोंके पालनमें संलग्न रहनेके योग्य हैं, आपके राज्याभिषेकमें विघ्न डालनेवालोंको रोकनेके लिये अपने अनुरूप पराक्रम प्रकट करेंगी॥ ३८-३९॥

ब्रवीहि कोऽद्यैव मया वियुज्यतां
तवासुहृत् प्राणयशःसुहृज्जनैः।
यथा तवेयं वसुधा वशा भवेत्
तथैव मां शाधि तवास्मि किंकरः॥ ४०॥

'प्रभो! बतलाइये, मैं आपके किस शत्रुको अभी प्राण, यश और सुहृज्जनोंसे सदाके लिये बिलग कर दूँ। जिस उपायसे भी यह पृथ्वी आपके अधिकारमें आ जाय, उसके लिये मुझे आज्ञा दीजिये, मैं आपका दास हूँ'॥ ४०॥

विमृज्य बाष्पं परिसान्त्वय चासकृत्
स लक्ष्मणं राघववंशवर्धनः।
उवाच पित्रोर्वचने व्यवस्थितं
निबोध मामेष हि सौम्य सत्पथः॥ ४१॥

रघुवंशकी वृद्धि करनेवाले श्रीरामने लक्ष्मणकी ये बातें सुनकर उनके आँसू पोंछे और उन्हें बारंबार सान्त्वना देते हुए कहा—'सौम्य! मुझे तो तुम माता-पिताकी आज्ञाके पालनमें ही दृढ़तापूर्वक स्थित समझो। यही सत्पुरुषोंका मार्ग है'॥ ४१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रयोविंशः सर्गः॥ २३॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तेईसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २३॥

चतुर्विंशः सर्गः

विलाप करती हुई कौसल्याका श्रीरामसे अपनेको भी साथ ले चलनेके लिये आग्रह करना तथा पतिकी सेवा ही नारीका धर्म है, यह बताकर श्रीरामका उन्हें रोकना और वन जानेके लिये उनकी अनुमति प्राप्त करना

तं समीक्ष्य व्यवसितं पितुर्निर्देशपालने।
कौसल्या बाष्पसंरुद्धा वचो धर्मिष्ठमब्रवीत्॥ १॥

कौसल्याने जब देखा कि श्रीरामने पिताकी आज्ञाके पालनका ही दृढ़ निश्चय कर लिया है, तब वे आँसुओंसे रुँधी हुई गद्गद वाणीमें धर्मात्मा श्रीरामसे इस प्रकार बोलीं—॥

अदृष्टदुःखो धर्मात्मा सर्वभूतप्रियंवदः।
मयि जातो दशरथात् कथमुञ्छेन वर्तयेत्॥ २॥

'हाय! जिसने जीवनमें कभी दुःख नहीं देखा है, जो समस्त प्राणियोंसे सदा प्रिय वचन बोलता है, जिसका जन्म महाराज दशरथसे मेरे द्वारा हुआ है, वह मेरा धर्मात्मा पुत्र उञ्छवृत्तिसे—खेतमें गिरे हुए अनाजके एक-एक दानेको बीनकर कैसे जीवन-निर्वाह कर सकेगा?॥ २॥

यस्य भृत्याश्च दासाश्च मृष्टान्यन्नानि भुञ्जते।
कथं स भोक्ष्यते रामो वने मूलफलान्ययम्॥ ३॥

'जिनके भृत्य और दास भी शुद्ध, स्वादिष्ट अन्न खाते हैं, वे ही श्रीराम वनमें फल-मूलका आहार कैसे करेंगे?॥

क एतच्छ्रद्दधेच्छ्रुत्वा कस्य वा न भवेद् भयम्।
गुणवान् दयितो राज्ञः काकुत्स्थो यद् विवास्यते॥ ४॥

'जो सद्गुणसम्पन्न और महाराज दशरथके प्रिय हैं, उन्हीं ककुत्स्थ-कुल-भूषण श्रीरामको जो वनवास दिया जा रहा है, इसे सुनकर कौन इसपर विश्वास करेगा? अथवा ऐसी बात सुनकर किसको भय नहीं होगा?॥ ४॥

नूनं तु बलवाँल्लोके कृतान्तः सर्वमादिशन्।
लोके रामाभिरामस्त्वं वनं यत्र गमिष्यसि॥ ५॥

'श्रीराम! निश्चय ही इस जगत्‌में दैव सबसे बड़ा बलवान् है। उसकी आज्ञा सबके ऊपर चलती है—वही सबको सुख-दुःखसे संयुक्त करता है; क्योंकि उसीके प्रभावमें आकर तुम्हारे-जैसा लोकप्रिय मनुष्य भी वनमें जानेको उद्यत है॥ ५॥

अयं तु मामात्मभवस्तवादर्शनमारुतः।
विलापदुःखसमिधो रुदिताश्रुहुताहुतिः॥ ६॥
चिन्ताबाष्पमहाधूमस्तवागमनचिन्तजः।
कर्शयित्वाधिकं पुत्र निःश्वासायाससम्भवः॥ ७॥
त्वया विहीनामिह मां शोकाग्निरतुलो महान्।
प्रधक्ष्यति यथा कक्षं चित्रभानुर्हिमात्यये॥ ८॥

'परंतु बेटा! तुमसे बिछुड़ जानेपर यहाँ मुझे शोककी अनुपम एवं बहुत बढ़ी हुई आग उसी तरह जलाकर भस्म कर डालेगी, जैसे ग्रीष्मऋतुमें दावानल सूखी लकड़ियों और

घास-फूसको जला डालता है। शोकको यह आग मेरे अपने ही मनमें प्रकट हुई है। तुम्हें न देख पानेकी सम्भावना ही वायु बनकर इस अग्निको उद्दीप्त कर रही है। विलापजनित दुःख ही इसमें ईंधनका काम कर रहे हैं। रोनेसे जो अश्रुपात होते हैं, वे ही मानो इसमें दी हुई घीकी आहुति हैं। चिन्ताके कारण जो गरम-गरम उच्छ्वास उठ रहा है, वही इसका महान् धूम है। तुम दूर देशमें जाकर फिर किस तरह आओगे—इस प्रकारकी चिंता ही इस शोकाग्निको जन्म दे रही है। साँस लेनेका जो प्रयत्न है, उसीसे इस आगकी प्रतिक्षण वृद्धि हो रही है। तुम्हीं इसे बुझानेके लिये जल हो। तुम्हारे बिना यह आग मुझे अधिक सुखाकर जला डालेगी॥ ६—८॥

कथं हि धेनुः स्वं वत्सं गच्छन्तमनुगच्छति।
अहं त्वानुगमिष्यामि यत्र वत्स गमिष्यसि॥ ९॥

'वत्स! धेनु आगे जाते हुए अपने बछड़ेके पीछे-पीछे कैसे चली जाती है, उसी प्रकार मैं भी तुम जहाँ भी जाओगे, तुम्हारे पीछे-पीछे चली चलूँगी'॥ ९॥

यथा निगदितं मात्रा तद् वाक्यं पुरुषर्षभः।
श्रुत्वा रामोऽब्रवीद् वाक्यं मातरं भृशदुःखिताम्॥ १०॥

माता कौसल्याने जैसे जो कुछ कहा, उस वचनको सुनकर पुरुषोत्तम श्रीरामने अत्यन्त दुःखमें डूबी हुई अपनी माँसे पुनः इस प्रकार कहा—॥ १०॥

कैकेय्या वञ्चितो राजा मयि चारण्यमाश्रिते।
भवत्या च परित्यक्तो न नूनं वर्तयिष्यति॥ ११॥

'माँ! कैकेयीने राजाके साथ धोखा किया है। इधर मैं वनको चला जा रहा हूँ। इस दशामें यदि तुम भी उनका परित्याग कर दोगी तो निश्चय ही वे जीवित नहीं रह सकेंगे॥

भर्तुः किल परित्यागो नृशंसः केवलं स्त्रियाः।
स भवत्या न कर्तव्यो मनसापि विगर्हितः॥ १२॥

'पतिका परित्याग नारीके लिये बड़ा ही क्रूरतापूर्ण कर्म है। सत्पुरुषोंने इसकी बड़ी निन्दा की है; अतः तुम्हें तो ऐसी बात कभी मनमें भी नहीं लानी चाहिये॥ १२॥

यावज्जीवति काकुत्स्थः पिता मे जगतीपतिः।
शुश्रूषा क्रियतां तावत् स हि धर्मः सनातनः॥ १३॥

'मेरे पिता ककुत्स्थकुल-भूषण महाराज दशरथ जबतक जीवित हैं, तबतक तुम उन्हींकी सेवा करो। पतिकी सेवा ही स्त्रीके लिये सनातन धर्म है'॥ १३॥

एवमुक्ता तु रामेण कौसल्या शुभदर्शना।
तथेत्युवाच सुप्रीता राममक्लिष्टकारिणम्॥ १४॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर शुभ कर्मोंपर दृष्टि रखनेवाली देवी कौसल्याने अत्यन्त प्रसन्न होकर अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरामसे कहा—'अच्छा बेटा! ऐसा ही करूँगी'॥

एवमुक्तस्तु वचनं रामो धर्मभृतां वरः।
भूयस्तामब्रवीद् वाक्यं मातरं भृशदुःखिताम्॥ १५॥

माँके इस प्रकार स्वीकृतिसूचक बात कहनेपर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ श्रीरामने अत्यन्त दुःखमें पड़ी हुई अपनी मातासे पुनः इस प्रकार कहा॥ १५॥

मया चैव भवत्या च कर्तव्यं वचनं पितुः।
राजा भर्ता गुरुः श्रेष्ठः सर्वेषामीश्वरः प्रभुः॥ १६॥

'माँ! पिताजीकी आज्ञाका पालन करना मेरा और तुम्हारा—दोनोंका कर्तव्य है; क्योंकि राजा हम सब लोगोंके स्वामी, श्रेष्ठ गुरु, ईश्वर एवं प्रभु हैं॥ १६॥

इमानि तु महारण्ये विहृत्य नव पञ्च च।
वर्षाणि परमप्रीत्या स्थास्यामि वचने तव॥ १७॥

'इन चौदह वर्षोंतक मैं विशाल वनमें घूम-फिरकर लौट आऊँगा और बड़े प्रेमसे तुम्हारी आज्ञाका पालन करता रहूँगा'॥ १७॥

एवमुक्ता प्रियं पुत्रं बाष्पपूर्णानना तदा।
उवाच परमार्ता तु कौसल्या सुतवत्सला॥ १८॥

उनके ऐसा कहनेपर पुत्रवत्सला कौसल्याके मुखपर पुनः आँसुओंकी धारा बह चली। वे उस समय अत्यन्त आर्त होकर अपने प्रिय पुत्रसे बोलीं—॥ १८॥

आसां राम सपत्नीनां वस्तुं मध्ये न मे क्षमम्।
नय मामपि काकुत्स्थ वनं वन्यां मृगीमिव॥ १९॥
यदि ते गमने बुद्धिः कृता पितुरपेक्षया।

'बेटा राम! अब मुझसे इन सौतोंके बीचमें नहीं रहा जायगा। काकुत्स्थ! यदि पिताकी आज्ञाका पालन करनेकी इच्छासे तुमने वनमें जानेका ही निश्चय किया है तो मुझे भी वनवासिनी हरिणीकी भाँति वनमें ही ले चलो'॥ १९½॥

तां तथा रुदतीं रामो रुदन् वचनमब्रवीत्॥ २०॥
जीवन्त्या हि स्त्रिया भर्ता दैवतं प्रभुरेव च।
भवत्या मम चैवाद्य राजा प्रभवति प्रभुः॥ २१॥

यह कहकर माता कौसल्या रोने लगीं। उन्हें उस तरह रोती देख श्रीराम भी रो पड़े और उन्हें सान्त्वना देते हुए बोले—'माँ! स्त्रीके जीते-जी उसका पति ही उसके लिये देवता और ईश्वरके समान है। महाराज तुम्हारे और मेरे दोनोंके प्रभु हैं॥ २०-२१॥

न ह्यनाथा वयं राज्ञा लोकनाथेन धीमता।
भरतश्चापि धर्मात्मा सर्वभूतप्रियंवदः॥ २२॥
भवतीमनुवर्तेत स हि धर्मरतः सदा।

'जबतक बुद्धिमान् जगदीश्वर महाराज दशरथ जीवित हैं, तबतक हमें अपनेको अनाथ नहीं समझना चाहिये। भरत भी बड़े धर्मात्मा हैं। वे समस्त प्राणियोंके प्रति प्रिय वचन बोलनेवाले और सदा ही धर्ममें तत्पर रहनेवाले हैं; अतः वे तुम्हारा अनुसरण—तुम्हारी सेवा करेंगे॥ २२½॥

यथा मयि तु निष्क्रान्ते पुत्रशोकेन पार्थिवः॥ २३॥
श्रमं नावाप्नुयात् किंचिदप्रमत्ता तथा कुरु।

'मेरे चले जानेपर जिस तरह भी महाराजको पुत्रशोकके कारण कोई विशेष कष्ट न हो, तुम सावधानीके साथ वैसा ही प्रयत्न करना॥ २३½॥

दारुणश्चाप्ययं शोको यथैनं न विनाशयेत्॥ २४॥
राज्ञो वृद्धस्य सततं हितं चर समाहिता।

'कहीं ऐसा न हो कि यह दारुण शोक इनकी जीवनलीला ही समाप्त कर डाले। जैसे भी सम्भव हो, तुम सदा सावधान रहकर बूढ़े महाराजके हित-साधनमें लगी रहना॥ २४½॥

व्रतोपवासनिरता या नारी परमोत्तमा॥ २५॥
भर्तारं नानुवर्तेत सा च पापगतिर्भवेत्।

'उत्कृष्ट गुण और जाति आदिकी दृष्टिसे परम उत्तम तथा व्रत-उपवासमें तत्पर होकर भी जो नारी पतिकी सेवा नहीं करती है, उसे पापियोंको मिलनेवाली गति (नरक आदि) की प्राप्ति होती है॥ २५½॥

भर्तुः शुश्रूषया नारी लभते स्वर्गमुत्तमम्॥ २६॥
अपि या निर्नमस्कारा निवृत्ता देवपूजनात्।

'जो अन्यान्य देवताओंकी वन्दना और पूजासे दूर रहती है, वह नारी भी केवल पतिकी सेवामात्रसे उत्तम स्वर्गलोकको प्राप्त कर लेती है॥ २६½॥

शुश्रूषामेव कुर्वीत भर्तुः प्रियहिते रता॥ २७॥
एष धर्मः स्त्रिया नित्योवेदेलोके श्रुतः स्मृतः।

'अतः नारीको चाहिये कि वह पतिके प्रिय एवं हितसाधनमें तत्पर रहकर सदा उसकी सेवा ही करे,यही स्त्रीका वेद और लोकमें प्रसिद्ध नित्य (सनातन) धर्म है। इसीका श्रुतियों और स्मृतियोंमें भी वर्णन है॥ २७½॥

अग्निकार्येषु च सदा सुमनोभिश्च देवताः॥ २८॥
पूज्यास्ते मत्कृते देवि ब्राह्मणाश्चैव सत्कृताः।

'देवि! तुम्हें मेरी मङ्गल-कामनासे सदा अग्निहोत्रके अवसरोंपर पुष्पोंसे देवताओंका तथा सत्कारपूर्वक ब्राह्मणोंका भी पूजन करते रहना चाहिये॥ २८½॥

एवं कालं प्रतीक्षस्व ममागमनकाङ्क्षिणी॥ २९॥
नियता नियताहारा भर्तृशुश्रूषणे रता।

'इस प्रकार तुम नियमित आहार करके नियमोंका पालन करती हुई स्वामीकी सेवामें लगी रहो और मेरे आगमनकी इच्छा रखकर समयकी प्रतीक्षा करो॥ २९½॥

प्राप्स्यसे परमं कामं मयि पर्यागते सति॥ ३०॥
यदि धर्मभृतां श्रेष्ठो धारयिष्यति जीवितम्।

'यदि धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महाराज जीवित रहेंगे तो मेरे लौट आनेपर तुम्हारी भी शुभ कामना पूर्ण होगी'॥ ३०½॥

एवमुक्ता तु रामेण बाष्पपर्याकुलेक्षणा॥ ३१॥
कौसल्या पुत्रशोकार्ता रामं वचनमब्रवीत्।

श्रीरामके ऐसा कहनेपर कौसल्याके नेत्रोंमें आँसू छलक आये। वे पुत्रशोकसे पीड़ित होकर श्रीरामचन्द्रजीसे बोलीं— ॥

गमने सुकृतां बुद्धिं न ते शक्नोमि पुत्रक॥ ३२॥
विनिवर्तयितुं वीर नूनं कालो दुरत्ययः।

'बेटा! मैं तुम्हारे वनमें जानेके निश्चित विचारको नहीं पलट सकती। वीर! निश्चय ही कालकी आज्ञाका उल्लङ्घन करना अत्यन्त कठिन है॥ ३२½॥

गच्छ पुत्र त्वमेकाग्रो भद्रं तेऽस्तु सदा विभो॥ ३३॥
पुनस्त्वयि निवृत्ते तु भविष्यामि गतक्लमा।

'सामर्थ्यशाली पुत्र! अब तुम निश्चिन्त होकर वनको जाओ, तुम्हारा सदा ही कल्याण हो। जब फिर तुम वनसे लौट आओगे, उस समय मेरे सारे क्लेश—सब संताप दूर हो जायँगे॥ ३३½॥

प्रत्यागते महाभागे कृतार्थे चरितव्रते।
पितुरानृण्यतां प्राप्ते स्वपिष्ये परमं सुखम्॥ ३४॥

'बेटा! जब तुम वनवासका महान् व्रत पूर्ण करके कृतार्थ एवं महान् सौभाग्यशाली होकर लौट आओगे और ऐसा करके पिताके ऋणसे उऋण हो जाओगे, तभी मैं उत्तम सुखकी नींद सो सकूँगी॥ ३४॥

कृतान्तस्य गतिः पुत्र दुर्विभाव्या सदा भुवि।
यस्त्वां संचोदयति मे वच आविध्य राघव॥ ३५॥

'बेटा रघुनन्दन! इस भूतलपर दैवकी गतिको समझना बहुत ही कठिन है, जो मेरी बात काटकर तुम्हें वन जानेके लिये प्रेरित कर रहा है॥ ३५॥

गच्छेदानीं महाबाहो क्षेमेण पुनरागतः।
नन्दयिष्यसि मां पुत्र साम्ना श्लक्ष्णेन चारुणा॥ ३६॥

'बेटा! महाबाहो! इस समय जाओ, फिर कुशलपूर्वक लौटकर सान्त्वनाभरे मधुर एवं मनोहर वचनोंसे मुझे आनन्दित करना॥ ३६॥

अपीदानीं स कालः स्याद् वनात् प्रत्यागतं पुनः।
यत् त्वां पुत्रक पश्येयं जटावल्कलधारिणम्॥ ३७॥

'वत्स! क्या वह समय अभी आ सकता है, जब कि जटा-वल्कल धारण किये वनसे लौटकर आये हुए तुमको फिर देख सकूँगी'॥ ३७॥

तथा हि रामं वनवासनिश्चितं
ददर्श देवी परमेण चेतसा।
उवाच रामं शुभलक्षणं वचो
बभूव च स्वस्त्ययनाभिकाङ्क्षिणी॥ ३८॥

देवी कौसल्याने जब देखा कि इस प्रकार श्रीराम वनवासका दृढ़ निश्चय कर चुके हैं, तब वे परम आदरयुक्त हृदयसे उनको शुभसूचक आशीर्वाद देने और उनके लिये स्वस्तिवाचन करानेकी इच्छा करने लगीं॥ ३८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुर्विंशः सर्गः॥ २४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौबीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २४॥

पञ्चविंशः सर्गः

कौसल्याका श्रीरामकी वनयात्राके लिये मङ्गलकामनापूर्वक स्वस्तिवाचन करना और श्रीरामका उन्हें प्रणाम करके सीताके भवनकी ओर जाना

सा विनीय तमायासमुपस्पृश्य जलं शुचि।
चकार माता रामस्य मङ्गलानि मनस्विनी॥ १॥

तदनन्तर उस क्लेशजनक शोकको मनसे निकालकर श्रीरामकी मनस्विनी माता कौसल्याने पवित्र जलसे आचमन किया, फिर वे यात्राकालिक मङ्गलकृत्योंका अनुष्ठान करने लगीं॥ १॥

न शक्यसे वारयितुं गच्छेदानीं रघूत्तम।
शीघ्रं च विनिवर्तस्व वर्तस्व च सतां क्रमे॥ २॥

(इसके बाद वे आशीर्वाद देती हुई बोलीं—) 'रघुकुलभूषण! अब मैं तुम्हें रोक नहीं सकती, इस समय जाओ, सत्पुरुषोंके मार्गपर स्थिर रहो और शीघ्र ही वनसे लौट आओ॥ २॥

यं पालयसि धर्मं त्वं प्रीत्या च नियमेन च।
स वै राघवशार्दूल धर्मस्त्वामभिरक्षतु॥ ३॥

'रघुकुलसिंह! तुम नियमपूर्वक प्रसन्नताके साथ जिस धर्मका पालन करते हो, वही सब ओरसे तुम्हारी रक्षा करे॥ ३॥

येभ्यः प्रणमसे पुत्र देवेष्वायतनेषु च।
ते च त्वामभिरक्षन्तु वने सह महर्षिभिः॥ ४॥

'बेटा! देवस्थानों और मन्दिरोंमें जाकर तुम जिनको प्रणाम करते हो, वे सब देवता महर्षियोंके साथ वनमें तुम्हारी रक्षा करें॥ ४॥

यानि दत्तानि तेऽस्त्राणि विश्वामित्रेण धीमता।
तानि त्वामभिरक्षन्तु गुणैः समुदितं सदा॥ ५॥

'तुम सद्‌गुणोंसे प्रकाशित हो, बुद्धिमान् विश्वामित्रजीने तुम्हें जो-जो अस्त्र दिये हैं, वे सब-के-सब सदा सब ओरसे तुम्हारी रक्षा करें॥ ५॥

पितृशुश्रूषया पुत्र मातृशुश्रूषया तथा।
सत्येन च महाबाहो चिरं जीवाभिरक्षितः॥ ६॥

'महाबाहु पुत्र! तुम पिताकी शुश्रूषा, माताकी सेवा तथा सत्यके पालनसे सुरक्षित होकर चिरंजीवी बने रहो॥ ६॥

समित्कुशपवित्राणि वेद्यश्चायतनानि च।
स्थण्डिलानि च विप्राणां शैला वृक्षाः क्षुपा ह्रदाः।
पतङ्गाः पन्नगाः सिंहास्त्वां रक्षन्तु नरोत्तम॥ ७॥

'नरश्रेष्ठ! समिधा, कुशा, पवित्री, वेदियाँ, मन्दिर, ब्राह्मणोंके देवपूजनसम्बन्धी स्थान, पर्वत, वृक्ष, क्षुप (छोटी शाखावाले वृक्ष), जलाशय, पक्षी, सर्प और सिंह वनमें तुम्हारी रक्षा करें॥ ७॥

स्वस्ति साध्याश्च विश्वे च मरुतश्च महर्षिभिः।
स्वस्ति धाता विधाता च स्वस्ति पूषा भगोऽर्यमा॥ ८॥

'साध्य, विश्वेदेव तथा महर्षियोंसहित मरुद्‌गण तुम्हारा कल्याण करें; धाता और विधाता तुम्हारे लिये मङ्गलकारी हों; पूषा, भग और अर्यमा तुम्हारा कल्याण करें॥ ८॥

लोकपालाश्च ते सर्वे वासवप्रमुखास्तथा।
ऋतवः षट् च ते सर्वे मासाः संवत्सराः क्षपाः॥ ९॥
दिनानि च मुहूर्ताश्च स्वस्ति कुर्वन्तु ते सदा।
श्रुतिः स्मृतिश्च धर्मश्च पातु त्वां पुत्र सर्वतः॥ १०॥

'वे इन्द्र आदि समस्त लोकपाल, छहों ऋतुएँ, सभी मास, संवत्सर, रात्रि, दिन और मुहूर्त सदा तुम्हारा मङ्गल करें। बेटा! श्रुति, स्मृति और धर्म भी सब ओरसे तुम्हारी रक्षा करें॥ ९-१०॥

स्कन्दश्च भगवान् देवः सोमश्च सबृहस्पतिः।
सप्तर्षयो नारदश्च ते त्वां रक्षन्तु सर्वतः॥ ११॥

'भगवान् स्कन्ददेव, सोम, बृहस्पति, सप्तर्षिगण और नारद—ये सभी सब ओरसे तुम्हारी रक्षा करें॥ ११॥

ते चापि सर्वतः सिद्धा दिशश्च सदिगीश्वराः।
स्तुता मया वने तस्मिन् पान्तु त्वां पुत्र नित्यशः॥ १२॥

'बेटा! वे प्रसिद्ध सिद्धगण, दिशाएँ और दिक्पाल मेरी की हुई स्तुतिसे संतुष्ट हो उस वनमें सदा सब ओरसे तुम्हारी रक्षा करें॥ १२॥

शैलाः सर्वे समुद्राश्च राजा वरुण एव च।
द्यौरन्तरिक्षं पृथिवी वायुश्च सचराचरः॥ १३॥
नक्षत्राणि च सर्वाणि ग्रहाश्च सह दैवतैः।
अहोरात्रे तथा संध्ये पान्तु त्वां वनमाश्रितम्॥ १४॥

'समस्त पर्वत, समुद्र, राजा वरुण, द्युलोक, अन्तरिक्ष, पृथिवी, वायु, चराचर प्राणी, समस्त नक्षत्र, देवताओंसहित ग्रह, दिन और रात तथा दोनों संध्याएँ—ये सब-के-सब वनमें जानेपर सदा तुम्हारी रक्षा करें॥ १३-१४॥

ऋतवश्चापि षट् चान्ये मासाः संवत्सरास्तथा।
कलाश्च काष्ठाश्च तथा तव शर्म दिशन्तु ते॥ १५॥

'छः ऋतुएँ, अन्यान्य मास, संवत्सर, कला और काष्ठा—ये सब तुम्हें कल्याण प्रदान करें॥ १५॥

महावनेऽपि चरतो मुनिवेषस्य धीमतः।
तथा देवाश्च दैत्याश्च भवन्तु सुखदाः सदा॥ १६॥

'मुनिका वेष धारण करके उस विशाल वनमें विचरते हुए तुझ बुद्धिमान् पुत्रके लिये समस्त देवता और दैत्य सदा सुखदायक हों॥ १६॥

राक्षसानां पिशाचानां रौद्राणां क्रूरकर्मणाम्।
क्रव्यादानां च सर्वेषां मा भूत् पुत्रक ते भयम्॥ १७॥

'बेटा! तुम्हें भयंकर राक्षसों, क्रूरकर्मा पिशाचों तथा

समस्त मांसभक्षी जन्तुओंसे कभी भय न हो ॥ १७ ॥

प्लवगा वृश्चिका दंशा मशकाश्चैव कानने।
सरीसृपाश्च कीटाश्च मा भूवन् गहने तव ॥ १८ ॥

'वनमें जो मेढक या वानर, बिच्छू, डाँस, मच्छर, पर्वतीय सर्प और कीड़े होते हैं, वे उस गहन वनमें तुम्हारे लिये हिंसक न हों ॥ १८ ॥

महाद्विपाश्च सिंहाश्च व्याघ्रा ऋक्षाश्च दंष्ट्रिणः।
महिषाः शृङ्गिणो रौद्रा न ते द्रुह्यन्तु पुत्रक ॥ १९ ॥

'पुत्र! बड़े-बड़े हाथी, सिंह, व्याघ्र, रीछ, दाढ़वाले अन्य जीव तथा विशाल सींगवाले भयंकर भैंसे वनमें तुमसे द्रोह न करें ॥ १९ ॥

नृमांसभोजना रौद्रा ये चान्ये सर्वजातयः।
मा च त्वां हिंसिषुः पुत्र मया सम्पूजितास्त्विह ॥ २० ॥

'वत्स! इनके सिवा जो सभी जातियोंमें नरमांसभक्षी भयंकर प्राणी हैं, वे मेरे द्वारा यहाँ पूजित होकर वनमें तुम्हारी हिंसा न करें ॥ २० ॥

आगमास्ते शिवाः सन्तु सिध्यन्तु च पराक्रमाः।
सर्वसम्पत्तयो राम स्वस्तिमान् गच्छ पुत्रक ॥ २१ ॥

'बेटा राम! सभी मार्ग तुम्हारे लिये मङ्गलकारी हों। तुम्हारे पराक्रम सफल हों तथा तुम्हें सब सम्पत्तियाँ प्राप्त होती रहें। तुम सकुशल यात्रा करो ॥ २१ ॥

स्वस्ति तेऽस्त्वान्तरिक्षेभ्यः पार्थिवेभ्यः पुनः पुनः ॥ २२ ॥
सर्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो ये च ते परिपन्थिनः ॥ २२ ॥

'तुम्हें आकाशचारी प्राणियोंसे, भूतलके जीव-जन्तुओंसे, समस्त देवताओंसे तथा जो तुम्हारे शत्रु हैं, उनसे भी सदा कल्याण प्राप्त होता रहे ॥ २२ ॥

शुक्रः सोमश्च सूर्यश्च धनदोऽथ यमस्तथा।
पान्तु त्वामर्चिता राम दण्डकारण्यवासिनम् ॥ २३ ॥

'श्रीराम! शुक्र, सोम, सूर्य, कुबेर तथा यम—ये मुझसे पूजित हो दण्डकारण्यमें निवास करते समय सदा तुम्हारी रक्षा करें ॥ २३ ॥

अग्निर्वायुस्तथा धूमो मन्त्राश्चर्षिमुखच्युताः।
उपस्पर्शनकाले तु पान्तु त्वां रघुनन्दन ॥ २४ ॥

'रघुनन्दन! स्नान और आचमनके समय अग्नि, वायु, धूम तथा ऋषियोंके मुखसे निकले हुए मन्त्र तुम्हारी रक्षा करें ॥ २४ ॥

सर्वलोकप्रभुर्ब्रह्मा भूतकर्तृ तथर्षयः।
ये च शेषाः सुरास्ते तु रक्षन्तु वनवासिनम् ॥ २५ ॥

'समस्त लोकोंके स्वामी ब्रह्मा, जगत्‌के कारणभूत परब्रह्म, ऋषिगण तथा उनके अतिरिक्त जो देवता हैं, वे सब-के-सब वनवासके समय तुम्हारी रक्षा करें' ॥ २५ ॥

इति माल्यैः सुरगणान् गन्धैश्चापि यशस्विनी।
स्तुतिभिश्चानुरूपाभिरानर्चायतलोचना ॥ २६ ॥

ऐसा कहकर विशाललोचना यशस्विनी रानी कौसल्याने पुष्पमाला और गन्ध आदि उपचारोंसे तथा अनुरूप स्तुतियोंद्वारा देवताओंका पूजन किया ॥ २६ ॥

ज्वलनं समुपादाय ब्राह्मणेन महात्मना।
हावयामास विधिना राममङ्गलकारणात् ॥ २७ ॥

उन्होंने श्रीरामकी मङ्गल-कामनासे अग्निको लाकर एक महात्मा ब्राह्मणके द्वारा उसमें विधिपूर्वक होम करवाया ॥

घृतं श्वेतानि माल्यानि समिधश्चैव सर्षपान्।
उपसम्पादयामास कौसल्या परमाङ्गना ॥ २८ ॥

श्रेष्ठ नारी महारानी कौसल्याने घी, श्वेत पुष्प और माला, समिधा तथा सरसों आदि वस्तुएँ ब्राह्मणके समीप रखवा दीं ॥ २८ ॥

उपाध्यायः स विधिना हुत्वा शान्तिमनामयम्।
हुतहव्यावशेषेण बाह्यं बलिमकल्पयत् ॥ २९ ॥

पुरोहितजीने समस्त उपद्रवोंकी शान्ति और आरोग्यके उद्देश्यसे विधिपूर्वक अग्निमें होम करके हवनसे बचे हुए हविष्यके द्वारा होमकी वेदीसे बाहर दसों दिशाओंमें इन्द्र आदि लोकपालोंके लिये बलि अर्पित की ॥ २९ ॥

मधुदध्यक्षतघृतैः स्वस्तिवाच्यं द्विजांस्ततः।
वाचयामास रामस्य वने स्वस्त्ययनक्रियाम् ॥ ३० ॥

तदनन्तर स्वस्तिवाचनके उद्देश्यसे ब्राह्मणोंको मधु, दही, अक्षत और घृत अर्पित करके 'वनमें श्रीरामका सदा मङ्गल हो' इस कामनासे कौसल्याजीने उन सबसे स्वस्त्ययनसम्बन्धी मन्त्रोंका पाठ करवाया ॥ ३० ॥

ततस्तस्मै द्विजेन्द्राय राममाता यशस्विनी।
दक्षिणां प्रददौ काम्यां राघवं चेदमब्रवीत् ॥ ३१ ॥

इसके बाद यशस्विनी श्रीराममाताने उन विप्रवर पुरोहितजीको उनकी इच्छाके अनुसार दक्षिणा दी और श्रीरघुनाथजीसे इस प्रकार कहा— ॥ ३१ ॥

यन्मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते।
वृत्रनाशे समभवत् तत् ते भवतु मङ्गलम् ॥ ३२ ॥

'वृत्रासुरका नाश करनेके निमित्त सर्वदेववन्दित सहस्रनेत्रधारी इन्द्रको जो मङ्गलमय आशीर्वाद प्राप्त हुआ था, वही मङ्गल तुम्हारे लिये भी हो ॥ ३२ ॥

यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत् पुरा।
अमृतं प्रार्थयानस्य तत् ते भवतु मङ्गलम् ॥ ३३ ॥

'पूर्वकालमें विनतादेवीने अमृत लानेकी इच्छावाले अपने पुत्र गरुड़के लिये जो मङ्गलकृत्य किया था, वही मङ्गल तुम्हें भी प्राप्त हो ॥ ३३ ॥

अमृतोत्पादने दैत्यान् घ्नतो वज्रधरस्य यत्।
अदितिर्मङ्गलं प्रादात् तत् ते भवतु मङ्गलम् ॥ ३४ ॥

'अमृतकी उत्पत्तिके समय दैत्योंका संहार करनेवाले वज्रधारी इन्द्रके लिये माता अदितिने जो मङ्गलमय आशीर्वाद

दिया था, वही मङ्गल तुम्हारे लिये भी सुलभ हो ॥ ३४ ॥

त्रिविक्रमान् प्रक्रमतो विष्णोरतुलतेजसः ।
यदासीन्मङ्गलं राम तत् ते भवतु मङ्गलम् ॥ ३५ ॥

'श्रीराम! तीन पगोंको बढ़ाते हुए अनुपम तेजस्वी भगवान् विष्णुके लिये जो मङ्गलाशंसा की गयी थी, वही मङ्गल तुम्हारे लिये भी प्राप्त हो ॥ ३५ ॥

ऋषयः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ।
मङ्गलानि महाबाहो दिशन्तु शुभमङ्गलम् ॥ ३६ ॥

'महाबाहो! ऋषि, समुद्र, द्वीप, वेद, समस्त लोक और दिशाएँ तुम्हें मङ्गल प्रदान करें। तुम्हारा सदा शुभ मङ्गल हो' ॥ ३६ ॥

इति पुत्रस्य शेषाश्च कृत्वा शिरसि भामिनी ।
गन्धैश्चापि समालभ्य राममायतलोचना ॥ ३७ ॥
औषधीं च सुसिद्धार्थां विशल्यकरणीं शुभाम् ।
चकार रक्षां कौसल्या मन्त्रैरभिजजाप च ॥ ३८ ॥

इस प्रकार आशीर्वाद देकर विशाललोचना भामिनी कौसल्याने पुत्रके मस्तकपर अक्षत रखकर चन्दन और रोली लगायी तथा सब मनोरथोंको सिद्ध करनेवाली विशल्यकरणी नामक शुभ ओषधि लेकर रक्षाके उद्देश्यसे मन्त्र पढ़ते हुए उसको श्रीरामके हाथमें बाँध दिया; फिर उसमें उत्कर्ष लानेके लिये मन्त्रका जप भी किया ॥ ३७-३८ ॥

उवाचापि प्रहृष्टेव सा दुःखवशवर्तिनी ।
वाङ्मात्रेण न भावेन वाचा संसज्जमानया ॥ ३९ ॥

तदनन्तर दुःखके अधीन हुई कौसल्याने ऊपरसे प्रसन्न-सी होकर मन्त्रोंका स्पष्ट उच्चारण भी किया। उस समय वे वाणीमात्रसे ही मन्त्रोच्चारण कर सकीं, हृदयसे नहीं (क्योंकि हृदय श्रीरामके वियोगकी सम्भावनासे व्यथित था, इसीलिये) वे खेदसे गद्गद, लड़खड़ाती हुई वाणीसे मन्त्र बोल रही थीं ॥ ३९ ॥

आनम्य मूर्ध्नि चाघ्राय परिष्वज्य यशस्विनी ।
अवदत् पुत्रमिष्टार्थो गच्छ राम यथासुखम् ॥ ४० ॥
अरोगं सर्वसिद्धार्थमयोध्यां पुनरागतम् ।
पश्यामि त्वां सुखं वत्स संधितं राजवर्त्मसु ॥ ४१ ॥

इसके बाद उनके मस्तकको कुछ झुकाकर यशस्विनी माताने सूँघा और बेटेको हृदयसे लगाकर कहा—'वत्स राम! तुम सफलमनोरथ होकर सुखपूर्वक वनको जाओ। जब पूर्णकाम होकर रोगरहित सकुशल अयोध्यामें लौटोगे, उस समय तुम्हें राजमार्गपर स्थित देखकर सुखी होऊँगी ॥ ४०-४१ ॥

प्रणष्टदुःखसंकल्पा हर्षविद्योतितानना ।
द्रक्ष्यामि त्वां वनात् प्राप्तं पूर्णचन्द्रमिवोदितम् ॥ ४२ ॥

'उस समय मेरे दुःखपूर्ण संकल्प मिट जायँगे, मुखपर हर्षजनित उल्लास छा जायगा और मैं वनसे आये हुए तुमको पूर्णिमाकी रातमें उदित हुए पूर्ण चन्द्रमाकी भाँति देखूँगी ॥

भद्रासनगतं राम वनवासादिहागतम् ।
द्रक्ष्यामि च पुनस्त्वां तु तीर्णवन्तं पितुर्वचः ॥ ४३ ॥

'श्रीराम! वनवाससे यहाँ आकर पिताकी प्रतिज्ञाको पूर्ण करके जब तुम राजसिंहासनपर बैठोगे, उस समय मैं पुनः प्रसन्नतापूर्वक तुम्हारा दर्शन करूँगी ॥ ४३ ॥

मङ्गलैरुपसम्पन्नो वनवासादिहागतः ।
वध्वाश्च मम नित्यं त्वं कामान् संवर्ध याहि भोः ॥ ४४ ॥

'अब जाओ और वनवाससे यहाँ लौटकर राजोचित मङ्गलमय वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो तुम सदा मेरी बहू सीताकी समस्त कामनाएँ पूर्ण करते रहो ॥ ४४ ॥

मयार्चिता देवगणाः शिवादयो
महर्षयो भूतगणाः सुरोरगाः ।
अभिप्रयातस्य वनं चिराय ते
हितानि काङ्क्षन्तु दिशश्च राघव ॥ ४५ ॥

'रघुनन्दन! मैंने सदा जिनका पूजन और सम्मान किया है, वे शिव आदि देवता, महर्षि, भूतगण, देवोपम नाग और सम्पूर्ण दिशाएँ—ये सब-के-सब वनमें जानेपर चिरकालतक तुम्हारे हितसाधनकी कामना करते रहें' ॥ ४५ ॥

अतीव चाश्रुप्रतिपूर्णलोचना
समाप्य च स्वस्त्ययनं यथाविधि ।
प्रदक्षिणं चापि चकार राघवं
पुनः पुनश्चापि निरीक्ष्य सस्वजे ॥ ४६ ॥

इस प्रकार माताने नेत्रोंमें अत्यन्त आँसू भरकर विधिपूर्वक वह स्वस्तिवाचन कर्म पूर्ण किया। फिर श्रीरामकी परिक्रमा की और बारंबार उनकी ओर देखकर उन्हें छातीसे लगाया ॥ ४६ ॥

तया हि देव्या च कृतप्रदक्षिणो
निपीड्य मातुश्चरणौ पुनः पुनः ।
जगाम सीतानिलयं महायशाः
स राघवः प्रज्वलितस्तया श्रिया ॥ ४७ ॥

देवी कौसल्याने जब श्रीरामकी प्रदक्षिणा कर ली, तब महायशस्वी रघुनाथजी बारंबार माताके चरणोंको दबाकर प्रणाम करके माताकी मङ्गलकामनाजनित उत्कृष्ट शोभासे सम्पन्न हो सीताजीके महलकी ओर चल दिये ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चविंशः सर्गः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पचीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २५ ॥

★

षड्विंशः सर्गः

श्रीरामको उदास देखकर सीताका उनसे इसका कारण पूछना और श्रीरामका पिताकी आज्ञासे वनमें जानेका निश्चय बताते हुए सीताको घरमें रहनेके लिये समझाना

अभिवाद्य तु कौसल्यां रामः सम्प्रस्थितो वनम्।
कृतस्वस्त्ययनो मात्रा धर्मिष्ठे वर्त्मनि स्थितः॥ १॥

धर्मिष्ठ मार्गपर स्थित हुए श्रीराम माताद्वारा स्वस्तिवाचन-कर्म सम्पन्न हो जानेपर कौसल्याको प्रणाम करके वहाँसे वनके लिये प्रस्थित हुए॥ १॥

विराजयन् राजसुतो राजमार्गं नरैर्वृतम्।
हृदयान्याममन्थेव जनस्य गुणवत्तया॥ २॥

उस समय मनुष्योंकी भीड़से भरे हुए राजमार्गको प्रकाशित करते हुए राजकुमार श्रीराम अपने सद्गुणोंके कारण लोगोंके मनको मथने-से लगे (ऐसे गुणवान् श्रीरामको वनवास दिया जा रहा है, यह सोचकर वहाँके लोगोंका जी कचोटने लगा)॥ २॥

वैदेही चापि तत् सर्वं न शुश्राव तपस्विनी।
तदेव हृदि तस्याश्च यौवराज्याभिषेचनम्॥ ३॥

तपस्विनी विदेहनन्दिनी सीताने अभीतक वह सारा हाल नहीं सुना था। उनके हृदयमें यही बात समायी हुई थी कि मेरे पतिका युवराजपदपर अभिषेक हो रहा होगा॥ ३॥

देवकार्यं स्म सा कृत्वा कृतज्ञा हृष्टचेतना।
अभिज्ञा राजधर्माणां राजपुत्री प्रतीक्षति॥ ४॥

विदेहराजकुमारी सीता सामयिक कर्तव्यों तथा राजधर्मोंको जानती थीं, अतः देवताओंकी पूजा करके प्रसन्नचित्तसे श्रीरामके आगमनकी प्रतीक्षा कर रही थीं॥ ४॥

प्रविवेशाथ रामस्तु स्ववेश्म सुविभूषितम्।
प्रहृष्टजनसम्पूर्णं ह्रिया किंचिदवाङ्मुखः॥ ५॥

इतनेमें ही श्रीरामने अपने भलीभाँति सजे-सजाये अन्तःपुरमें, जो प्रसन्न मनुष्योंसे भरा हुआ था, प्रवेश किया। उस समय लज्जासे उनका मुख कुछ नीचा हो रहा था॥ ५॥

अथ सीता समुत्पत्य वेपमाना च तं पतिम्।
अपश्यच्छोकसंतप्तं चिन्ताव्याकुलितेन्द्रियम्॥ ६॥

सीता उन्हें देखते ही आसनसे उठकर खड़ी हो गयीं। उनकी अवस्था देखकर काँपने लगीं और चिन्तासे व्याकुल इन्द्रियोंवाले अपने उन शोकसंतप्त पतिको निहारने लगीं॥

तां दृष्ट्वा स हि धर्मात्मा न शशाक मनोगतम्।
तं शोकं राघवः सोढुं ततो विवृततां गतः॥ ७॥

धर्मात्मा श्रीराम सीताको देखकर अपने मानसिक शोकका वेग सहन न कर सके, अतः उनका वह शोक प्रकट हो गया॥ ७॥

विवर्णवदनं दृष्ट्वा तं प्रस्विन्नममर्षणम्।
आह दुःखाभिसंतप्ता किमिदानीमिदं प्रभो॥ ८॥

उनका मुख उदास हो गया था। उनके अङ्गोंसे पसीना निकल रहा था। वे अपने शोकको दबाये रखनेमें असमर्थ हो गये थे। उन्हें इस अवस्थामें देखकर सीता दुःखसे संतप्त हो उठीं और बोलीं—'प्रभो! इस समय यह आपकी कैसी दशा है?॥ ८॥

अद्य बार्हस्पतः श्रीमान् युक्तः पुष्येण राघव।
प्रोच्यते ब्राह्मणैः प्राज्ञैः केन त्वमसि दुर्मनाः॥ ९॥

'रघुनन्दन! आज बृहस्पति देवता-सम्बन्धी मङ्गलमय पुष्यनक्षत्र है, जो अभिषेकके योग्य है। उसकी पुष्यनक्षत्रके योगमें विद्वान् ब्राह्मणोंने आपका अभिषेक बताया है। ऐसे समयमें जब कि आपको प्रसन्न होना चाहिये था, आपका मन इतना उदास क्यों है?॥ ९॥

न ते शतशलाकेन जलफेननिभेन च।
आवृतं वदनं वल्गु छत्रेणाभिविराजते॥ १०॥

'मैं देखती हूँ, इस समय आपका मनोहर मुख जलके फेनके समान उज्ज्वल तथा सौ तीलियोंवाले श्वेत छत्रसे आच्छादित नहीं है, अतएव अधिक शोभा नहीं पा रहा है॥ १०॥

व्यजनाभ्यां च मुख्याभ्यां शतपत्रनिभेक्षणम्।
चन्द्रहंसप्रकाशाभ्यां वीज्यते न तवाननम्॥ ११॥

'कमल-जैसे सुन्दर नेत्र धारण करनेवाले आपके इस मुखपर चन्द्रमा और हंसके समान श्वेत वर्णवाले दो श्रेष्ठ चँवरोंद्वारा हवा नहीं की जा रही है॥ ११॥

वाग्मिनो वन्दिनश्चापि प्रहृष्टास्त्वां नरर्षभ।
स्तुवन्तो नाद्य दृश्यन्ते मङ्गलैः सूतमागधाः॥ १२॥

'नरश्रेष्ठ! प्रवचनकुशल वन्दी, सूत और मागधजन आज अत्यन्त प्रसन्न हो अपने माङ्गलिक वचनोंद्वारा आपकी स्तुति करते नहीं दिखायी देते हैं॥ १२॥

न ते क्षौद्रं च दधि च ब्राह्मणा वेदपारगाः।
मूर्ध्नि मूर्धाभिषिक्तस्य ददति स्म विधानतः॥ १३॥

'वेदोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणोंने आज मूर्धाभिषिक्त हुए आपके मस्तकपर तीर्थोदकमिश्रित मधु और दधिका विधि-पूर्वक अभिषेक नहीं किया॥ १३॥

न त्वां प्रकृतयः सर्वाः श्रेणीमुख्याश्च भूषिताः।
अनुव्रजितुमिच्छन्ति पौरजानपदास्तथा॥ १४॥

'मन्त्री-सेनापति आदि सारी प्रकृतियाँ, वस्त्राभूषणोंसे विभूषित मुख्य-मुख्य सेठ-साहूकार तथा नगर और जनपदके लोग आज आपके पीछे-पीछे चलनेकी इच्छा नहीं कर रहे हैं! (इसका क्या कारण है?)॥ १४॥

चतुर्भिर्वेगसम्पन्नैर्हयैः काञ्चनभूषणैः।
मुख्यः पुष्परथो युक्तः किं न गच्छति तेऽग्रतः॥ १५॥

'सुनहरे साज-बाजसे सजे हुए चार वेगशाली घोड़ोंसे जुता हुआ श्रेष्ठ पुष्परथ (पुष्पभूषित केवल भ्रमणोपयोगी रथ) आज आपके आगे-आगे क्यों नहीं चल रहा है?॥

न हस्ती चाग्रतः श्रीमान् सर्वलक्षणपूजितः।
प्रयाणे लक्ष्यते वीर कृष्णमेघगिरिप्रभः॥ १६॥

'वीर! आपकी यात्राके समय समस्त शुभ लक्षणोंसे प्रशंसित तथा काले मेघवाले पर्वतके समान विशालकाय तेजस्वी गजराज आज आपके आगे क्यों नहीं दिखायी देता है?॥ १६॥

न च काञ्चनचित्रं ते पश्यामि प्रियदर्शन।
भद्रासनं पुरस्कृत्य यान्तं वीर पुरःसरम्॥ १७॥

'प्रियदर्शन वीर! आज आपके सुवर्णजटित भद्रासनको सादर हाथमें लेकर अग्रगामी सेवक आगे जाता क्यों नहीं दिखायी देता है?॥ १७॥

अभिषेको यदा सज्जः किमिदानीमिदं तव।
अपूर्वो मुखवर्णश्च न प्रहर्षश्च लक्ष्यते॥ १८॥

'जब अभिषेककी सारी तैयारी हो चुकी है, ऐसे समयमें आपकी यह क्या दशा हो रही है? आपके मुखकी कान्ति उड़ गयी है। ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था। आपके चेहरेपर प्रसन्नताका कोई चिह्न नहीं दिखायी देता है। इसका क्या कारण है?'॥ १८॥

इतीव विलपन्तीं तां प्रोवाच रघुनन्दनः।
सीते तत्रभवांस्तातः प्रव्राजयति मां वनम्॥ १९॥

इस प्रकार विलाप करती हुई सीतासे रघुनन्दन श्रीरामने कहा—'सीते! आज पूज्य पिताजी मुझे वनमें भेज रहे हैं॥

कुले महति सम्भूते धर्मज्ञे धर्मचारिणि।
शृणु जानकि येनेदं क्रमेणाद्यागतं मम॥ २०॥

'महान् कुलमें उत्पन्न, धर्मको जाननेवाली तथा धर्मपरायणे जनकनन्दिनि! जिस कारण यह वनवास आज मुझे प्राप्त हुआ है, वह क्रमशः बताता हूँ, सुनो॥ २०॥

राज्ञा सत्यप्रतिज्ञेन पित्रा दशरथेन वै।
कैकेय्यै मम मात्रे तु पुरा दत्तौ महावरौ॥ २१॥

'मेरे सत्यप्रतिज्ञ पिता महाराज दशरथने माता कैकेयीको पहले कभी दो महान् वर दिये थे॥ २१॥

तयाद्य मम सज्जेऽस्मिन्नभिषेके नृपोद्यते।
प्रचोदितः स समयो धर्मेण प्रतिनिर्जितः॥ २२॥

'इधर जब महाराजके उद्योगसे मेरे राज्याभिषेककी तैयारी होने लगी, तब कैकेयीने उस वरदानकी प्रतिज्ञाको याद दिलाया और महाराजको धर्मतः अपने काबूमें कर लिया॥

चतुर्दश हि वर्षाणि वस्तव्यं दण्डके मया।
पित्रा मे भरतश्चापि यौवराज्ये नियोजितः॥ २३॥

'इससे विवश होकर पिताजीने भरतको तो युवराजके पदपर नियुक्त किया और मेरे लिये दूसरा वर स्वीकार किया, जिसके अनुसार मुझे चौदह वर्षोंतक दण्डकारण्यमें निवास करना होगा॥ २३॥

सोऽहं त्वामागतो द्रष्टुं प्रस्थितो विजनं वनम्।
भरतस्य समीपे ते नाहं कथ्यः कदाचन॥ २४॥
ऋद्धियुक्ता हि पुरुषा न सहन्ते परस्तवम्।
तस्मान्न ते गुणाः कथ्या भरतस्याग्रतो मम॥ २५॥

'इस समय मैं निर्जन वनमें जानेके लिये प्रस्थान कर चुका हूँ और तुमसे मिलनेके लिये यहाँ आया हूँ। तुम भरतके समीप कभी मेरी प्रशंसा न करना; क्योंकि समृद्धिशाली पुरुष दूसरेकी स्तुति नहीं सहन कर पाते हैं। इसीलिये कहता हूँ कि तुम भरतके सामने मेरे गुणोंकी प्रशंसा न करना॥ २४-२५॥

अहं ते नानुवक्तव्यो विशेषेण कदाचन।
अनुकूलतया शक्यं समीपे तस्य वर्तितुम्॥ २६॥

'विशेषतः तुम्हें भरतके समक्ष अपनी सखियोंके साथ भी बारंबार मेरी चर्चा नहीं करनी चाहिये; क्योंकि उनके मनके अनुकूल बर्ताव करके ही तुम उनके निकट रह सकती हो॥ २६॥

तस्मै दत्तं नृपतिना यौवराज्यं सनातनम्।
स प्रसाद्यस्त्वया सीते नृपतिश्च विशेषतः॥ २७॥

'सीते! राजाने उन्हें सदाके लिये युवराजपद दे दिया है, इसलिये तुम्हें विशेष प्रयत्नपूर्वक उन्हें प्रसन्न रखना चाहिये; क्योंकि अब वे ही राजा होंगे॥ २७॥

अहं चापि प्रतिज्ञां तां गुरोः समनुपालयन्।
वनमद्यैव यास्यामि स्थिरीभव मनस्विनि॥ २८॥

'मैं भी पिताजीकी उस प्रतिज्ञाका पालन करनेके लिये आज ही वनको चला जाऊँगा। मनस्विनि! तुम धैर्य धारण करके रहना॥ २८॥

याते च मयि कल्याणि वनं मुनिनिषेवितम्।
व्रतोपवासपरया भवितव्यं त्वयानघे॥ २९॥

'कल्याणि! निष्पाप सीते! मेरे मुनिजनसेवित वनको चले जानेपर तुम्हें प्रायः व्रत और उपवासमें संलग्न रहना चाहिये॥ २९॥

कल्यमुत्थाय देवानां कृत्वा पूजां यथाविधि।
वन्दितव्यो दशरथः पिता मम जनेश्वरः॥ ३०॥

'प्रतिदिन सबेरे उठकर देवताओंकी विधिपूर्वक पूजा करके तुम्हें मेरे पिता महाराज दशरथकी वन्दना करनी चाहिये॥ ३०॥

माता च मम कौसल्या वृद्धा संतापकर्शिता।
धर्ममेवाग्रतः कृत्वा त्वत्तः सम्मानमर्हति॥ ३१॥

'मेरी माता कौसल्याको भी प्रणाम करना चाहिये। एक

तो वे बूढ़ी हुईं, दूसरे दुःख और संतापने उन्हें दुर्बल कर दिया है; अतः धर्मको ही सामने रखकर तुमसे वे विशेष सम्मान पानेके योग्य हैं॥ ३१॥

वन्दितव्याश्च ते नित्यं याः शेषा मम मातरः।
स्नेहप्रणयसम्भोगैः समा हि मम मातरः॥ ३२॥

'जो मेरी शेष माताएँ हैं, उनके चरणोंमें भी तुम्हें प्रतिदिन प्रणाम करना चाहिये; क्योंकि स्नेह, उत्कृष्ट प्रेम और पालन-पोषणकी दृष्टिसे सभी माताएँ मेरे लिये समान हैं॥ ३२॥

भ्रातृपुत्रसमौ चापि द्रष्टव्यौ च विशेषतः।
त्वया भरतशत्रुघ्नौ प्राणैः प्रियतरौ मम॥ ३३॥

'भरत और शत्रुघ्न मुझे प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय हैं, अतः तुम्हें उन दोनोंको विशेषतः अपने भाई और पुत्रके समान देखना और मानना चाहिये॥ ३३॥

विप्रियं च न कर्तव्यं भरतस्य कदाचन।
स हि राजा च वैदेहि देशस्य च कुलस्य च॥ ३४॥

'विदेहनन्दिनि! तुम्हें भरतकी इच्छाके विरुद्ध कोई काम नहीं करना चाहिये; क्योंकि इस समय वे मेरे देश और कुलके राजा हैं॥ ३४॥

आराधिता हि शीलेन प्रयत्नैश्चोपसेविताः।
राजानः सम्प्रसीदन्ति प्रकुप्यन्ति विपर्यये॥ ३५॥

'अनुकूल आचरणके द्वारा आराधना और प्रयत्नपूर्वक सेवा करनेपर राजा लोग प्रसन्न होते हैं तथा विपरीत बर्ताव करनेपर वे कुपित हो जाते हैं॥ ३५॥

औरस्यानपि पुत्रान् हि त्यजन्त्यहितकारिणः।
समर्थान् सम्प्रगृह्णन्ति जनानपि नराधिपाः॥ ३६॥

'जो अहित करनेवाले हैं वे अपने औरस पुत्र ही क्यों न हों, राजा उन्हें त्याग देते हैं और आत्मीय न होनेपर भी जो सामर्थ्यवान् होते हैं, उन्हें वे अपना बना लेते हैं॥ ३६॥

सा त्वं वसेह कल्याणि राज्ञः समनुवर्तिनी।
भरतस्य रता धर्मे सत्यव्रतपरायणा॥ ३७॥

'अतः कल्याणि! तुम राजा भरतके अनुकूल बर्ताव करती हुई धर्म एवं सत्यव्रतमें तत्पर रहकर यहाँ निवास करो॥ ३७॥

अहं गमिष्यामि महावनं प्रिये
त्वया हि वस्तव्यमिहैव भामिनि।
यथा व्यलीकं कुरुषे न कस्यचित्-
तथा त्वया कार्यमिदं वचो मम॥ ३८॥

'प्रिये! अब मैं उस विशाल वनमें चला जाऊँगा। भामिनि! तुम्हें यहीं निवास करना होगा। तुम्हारे बर्तावसे किसीको कष्ट न हो, इसका ध्यान रखते हुए तुम्हें यहाँ मेरी इस आज्ञाका पालन करते रहना चाहिये'॥ ३८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षड्विंशः सर्गः॥ २६॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें छब्बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २६॥

★

सप्तविंशः सर्गः

सीताकी श्रीरामसे अपनेको भी साथ ले चलनेके लिये प्रार्थना

एवमुक्ता तु वैदेही प्रियार्हा प्रियवादिनी।
प्रणयादेव संक्रुद्धा भर्तारमिदमब्रवीत्॥ १॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर प्रियवादिनी विदेहकुमारी सीताजी, जो सब प्रकारसे अपने स्वामीका प्यार पानेयोग्य थीं, प्रेमसे ही कुछ कुपित होकर पतिसे इस प्रकार बोलीं—॥ १॥

किमिदं भाषसे राम वाक्यं लघुतया ध्रुवम्।
त्वया यदपहास्यं मे श्रुत्वा नरवरोत्तम॥ २॥

'नरश्रेष्ठ श्रीराम! आप मुझे ओछी समझकर यह क्या कह रहे हैं? आपकी ये बातें सुनकर मुझे बहुत हँसी आती है॥ २॥

वीराणां राजपुत्राणां शस्त्रास्त्रविदुषां नृप।
अनर्हमयशस्यं च न श्रोतव्यं त्वयेरितम्॥ ३॥

'नरेश्वर! आपने जो कुछ कहा है, वह अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता वीर राजकुमारोंके योग्य नहीं है। वह अपयशका टीका लगानेवाला होनेके कारण सुननेयोग्य भी नहीं है॥ ३॥

आर्यपुत्र पिता माता भ्राता पुत्रस्तथा स्नुषा।
स्वानि पुण्यानि भुञ्जानाः स्वं स्वं भाग्यमुपासते॥ ४॥

'आर्यपुत्र! पिता, माता, भाई, पुत्र और पुत्रवधू—ये सब पुण्यादि कर्मोंका फल भोगते हुए अपने-अपने भाग्य (शुभाशुभ कर्म)-के अनुसार जीवन-निर्वाह करते हैं॥ ४॥

भर्तुर्भाग्यं तु नार्येका प्राप्नोति पुरुषर्षभ।
अतश्चैवाहमादिष्टा वने वस्तव्यमित्यपि॥ ५॥

'पुरुषप्रवर! केवल पत्नी ही अपने पतिके भाग्यका अनुसरण करती है, अतः आपके साथ ही मुझे भी वनमें रहनेकी आज्ञा मिल गयी है॥ ५॥

न पिता नात्मजो वात्मा न माता न सखीजनः।
इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गतिः सदा॥ ६॥

'नारियोंके लिये इस लोक और परलोकमें एकमात्र पति ही सदा आश्रय देनेवाला है। पिता, पुत्र, माता, सखियाँ तथा अपना यह शरीर भी उसका सच्चा सहायक नहीं है॥ ६॥

यदि त्वं प्रस्थितो दुर्गं वनमद्यैव राघव।
अग्रतस्ते गमिष्यामि मृद्नन्ती कुशकण्टकान्॥ ७॥

'रघुनन्दन! यदि आप आज ही दुर्गम वनकी ओर प्रस्थान कर रहे हैं तो मैं रास्तेके कुश और काँटोंको कुचलती हुई आपके आगे-आगे चलूँगी ॥ ७ ॥

ईर्ष्यां रोषं बहिष्कृत्य भुक्तशेषमिवोदकम्।
नय मां वीर विस्रब्धः पापं मयि न विद्यते ॥ ८ ॥

'अतः वीर! आप ईर्ष्या[1] और रोषको[2] दूर करके पीनेसे[3] बचे हुए जलकी भाँति मुझे निःशङ्क होकर साथ ले चलिये। मुझमें ऐसा कोई पाप—अपराध नहीं है, जिसके कारण आप मुझे यहाँ त्याग दें ॥ ८ ॥

प्रासादाग्रे विमानैर्वा वैहायसगतेन वा।
सर्वावस्थागता भर्तुः पादच्छाया विशिष्यते ॥ ९ ॥

'ऊँचे-ऊँचे महलोंमें रहना, विमानोंपर चढ़कर घूमना अथवा अणिमा आदि सिद्धियोंके द्वारा आकाशमें विचरना—इन सबकी अपेक्षा स्त्रीके लिये सभी अवस्थाओंमें पतिके चरणोंकी छायामें रहना विशेष महत्त्व रखता है ॥ ९ ॥

अनुशिष्टास्मि मात्रा च पित्रा च विविधाश्रयम्।
नास्मि सम्प्रति वक्तव्या वर्तितव्यं यथा मया ॥ १० ॥

'मुझे किसके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये, इस विषयमें मेरी माता और पिताने मुझे अनेक प्रकारसे शिक्षा दी है। इस समय इसके विषयमें मुझे कोई उपदेश देनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ १० ॥

अहं दुर्गं गमिष्यामि वनं पुरुषवर्जितम्।
नानामृगगणाकीर्णं शार्दूलगणसेवितम् ॥ ११ ॥

'अतः नाना प्रकारके वन्य पशुओंसे व्याप्त तथा सिंहों और व्याघ्रोंसे सेवित उस निर्जन एवं दुर्गम वनमें मैं अवश्य चलूँगी ॥ ११ ॥

सुखं वने निवत्स्यामि यथैव भवने पितुः।
अचिन्तयन्ती त्रींल्लोकांश्चिन्तयन्ती पतिव्रतम् ॥ १२ ॥

'मैं तो जैसे अपने पिताके घरमें रहती थी, उसी प्रकार उस वनमें भी सुखपूर्वक निवास करूँगी। वहाँ तीनों लोकोंके ऐश्वर्यको भी कुछ न समझती हुई मैं सदा पतिव्रत धर्मका चिन्तन करती हुई आपकी सेवामें लगी रहूँगी ॥ १२ ॥

शुश्रूषमाणा ते नित्यं नियता ब्रह्मचारिणी।
सह रंस्ये त्वया वीर वनेषु मधुगन्धिषु ॥ १३ ॥

'वीर! नियमपूर्वक रहकर ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करूँगी और सदा आपकी सेवामें तत्पर रहकर आपहीके साथ मीठी-मीठी सुगन्धसे भरे हुए वनोंमें विचरूँगी ॥ १३ ॥

त्वं हि कर्तुं वने शक्तो राम सम्परिपालनम्।
अन्यस्यापि जनस्येह किं पुनर्मम मानद ॥ १४ ॥

'दूसरोंको मान देनेवाले श्रीराम! आप तो वनमें रहकर दूसरे लोगोंकी भी रक्षा कर सकते हैं, फिर मेरी रक्षा करना आपके लिये कौन बड़ी बात है? ॥ १४ ॥

साहं त्वया गमिष्यामि वनमद्य न संशयः।
नाहं शक्या महाभाग निवर्तयितुमुद्यता ॥ १५ ॥

'महाभाग! अतः मैं आपके साथ आज अवश्य वनमें चलूँगी। इसमें संशय नहीं है। मैं हर तरह चलनेको तैयार हूँ। मुझे किसी तरह भी रोका नहीं जा सकता ॥ १५ ॥

फलमूलाशना नित्यं भविष्यामि न संशयः।
न ते दुःखं करिष्यामि निवसन्ती त्वया सदा ॥ १६ ॥

'वहाँ चलकर मैं आपको कोई कष्ट नहीं दूँगी, सदा आपके साथ रहूँगी और प्रतिदिन फल-मूल खाकर ही निर्वाह करूँगी। मेरे इस कथनमें किसी प्रकारके संदेहके लिये स्थान नहीं है ॥ १६ ॥

अग्रतस्ते गमिष्यामि भोक्ष्ये भुक्तवति त्वयि।
इच्छामि परतः शैलान् पल्वलानि सरांसि च ॥ १७ ॥
द्रष्टुं सर्वत्र निर्भीता त्वया नाथेन धीमता।

'आपके आगे-आगे चलूँगी और आपके भोजन कर लेनेपर जो कुछ बचेगा, उसे ही खाकर रहूँगी। प्रभो! मेरी बड़ी इच्छा है कि मैं आप बुद्धिमान् प्राणनाथके साथ निर्भय हो वनमें सर्वत्र घूमकर पर्वतों, छोटे-छोटे तालाबों और सरोवरोंको देखूँ ॥ १७½ ॥

हंसकारण्डवाकीर्णाः पद्मिनीः साधुपुष्पिताः ॥ १८ ॥
इच्छेयं सुखिनी द्रष्टुं त्वया वीरेण संगता।

'आप मेरे वीर स्वामी हैं। मैं आपके साथ रहकर सुखपूर्वक उन सुन्दर सरोवरोंकी शोभा देखना चाहती हूँ, जो श्रेष्ठ कमलपुष्पोंसे सुशोभित हैं तथा जिनमें हंस और कारण्डव आदि पक्षी भरे रहते हैं ॥ १८½ ॥

अभिषेकं करिष्यामि तासु नित्यमनुव्रता ॥ १९ ॥
सह त्वया विशालाक्ष रंस्ये परमनन्दिनी।

'विशाल नेत्रोंवाले आर्यपुत्र! आपके चरणोंमें अनुरक्त रहकर मैं प्रतिदिन उन सरोवरोंमें स्नान करूँगी और आपके साथ वहाँ सब ओर विचरूँगी, इससे मुझे परम आनन्दका अनुभव होगा ॥ १९½ ॥

एवं वर्षसहस्राणि शतं वापि त्वया सह ॥ २० ॥
व्यतिक्रमं न वेत्स्यामि स्वर्गोऽपि हि न मे मतः।

---

१. स्त्री होकर यह वनमें जानेका साहस कैसे करती है? इस विचारसे ईर्ष्या होती है।

२. यह मेरी बात नहीं मान रही है, यह सोचकर रोष प्रकट होता है। इन दोनोंका त्याग अपेक्षित है।

३. जैसे किसी जलहीन बीहड़ पथमें लोग अपने पीनेसे बचे हुए पानीको साथ ले चलते हैं, उसी प्रकार मुझे भी आप साथ ले चलें—यह सीताका अनुरोध है।

'इस तरह सैकड़ों या हजारों वर्षोंतक भी यदि आपके साथ रहनेका सौभाग्य मिले तो मुझे कभी कष्टका अनुभव नहीं होगा। यदि आप साथ न हों तो मुझे स्वर्गलोककी प्राप्ति भी अभीष्ट नहीं है॥ २०½ ॥

स्वर्गेऽपि च विना वासो भविता यदि राघव।
त्वया विना नरव्याघ्र नाहं तदपि रोचये॥ २१ ॥

'पुरुषसिंह रघुनन्दन! आपके बिना यदि मुझे स्वर्गलोकका निवास भी मिल रहा हो तो वह मेरे लिये रुचिकर नहीं हो सकता—मैं उसे लेना नहीं चाहूँगी॥ २१ ॥

अहं गमिष्यामि वनं सुदुर्गमं
मृगायुतं वानरवारणैश्च।
वने निवत्स्यामि यथा पितुर्गृहे
तवैव पादावुपगृह्य सम्मता॥ २२ ॥

'प्राणनाथ! अतः उस अत्यन्त दुर्गम वनमें, जहाँ सहस्रों मृग, वानर और हाथी निवास करते हैं, मैं अवश्य चलूँगी और आपके ही चरणोंकी सेवामें रहकर आपके अनुकूल चलती हुई उस वनमें उसी तरह सुखसे रहूँगी, जैसे पिताके घरमें रहा करती थी॥ २२ ॥

अनन्यभावामनुरक्तचेतसं
त्वया वियुक्तां मरणाय निश्चिताम्।
नयस्व मां साधु कुरुष्व याचनां
नातो मया ते गुरुता भविष्यति॥ २३ ॥

'मेरे हृदयका सम्पूर्ण प्रेम एकमात्र आपको ही अर्पित है, आपके सिवा और कहीं मेरा मन नहीं जाता, यदि आपसे वियोग हुआ तो निश्चय ही मेरी मृत्यु हो जायगी। इसलिये आप मेरी याचना सफल करें, मुझे साथ लें चलें, यही अच्छा होगा; मेरे रहनेसे आपपर कोई भार नहीं पड़ेगा'॥

तथा ब्रुवाणामपि धर्मवत्सलां
न च स्म सीतां नृवरो निनीषति।
उवाच चैनां बहु संनिवर्तने
वने निवासस्य च दुःखितां प्रति॥ २४ ॥

धर्ममें अनुरक्त रहनेवाली सीताके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर भी नरश्रेष्ठ श्रीरामकी उन्हें साथ ले जानेकी इच्छा नहीं हुई। वे उन्हें वनवासके विचारसे निवृत्त करनेके लिये वहाँके कष्टोंका अनेक प्रकारसे विस्तारपूर्वक वर्णन करने लगे॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तविंशः सर्गः॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सत्ताईसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २७ ॥

★

अष्टाविंशः सर्गः

श्रीरामका वनवासके कष्टका वर्णन करते हुए सीताको वहाँ चलनेसे मना करना

स एवं ब्रुवतीं सीतां धर्मज्ञां धर्मवत्सलः।
न नेतुं कुरुते बुद्धिं वने दुःखानि चिन्तयन्॥ १ ॥

धर्मको जाननेवाली सीताके इस प्रकार कहनेपर भी धर्मवत्सल श्रीरामने वनमें होनेवाले दुःखोंको सोचकर उन्हें साथ ले जानेका विचार नहीं किया॥ १ ॥

सान्त्वयित्वा ततस्तां तु बाष्पदूषितलोचनाम्।
निवर्तनार्थे धर्मात्मा वाक्यमेतदुवाच ह॥ २ ॥

सीताके नेत्रोंमें आँसू भरे हुए थे। धर्मात्मा श्रीराम उन्हें वनवासके विचारसे निवृत्त करनेके लिये सान्त्वना देते हुए इस प्रकार बोले—॥ २ ॥

सीते महाकुलीनासि धर्मे च निरता सदा।
इहाचरस्व धर्मं त्वं यथा मे मनसः सुखम्॥ ३ ॥

'सीते! तुम अत्यन्त उत्तम कुलमें उत्पन्न हुई हो और सदा धर्मके आचरणमें ही लगी रहती हो; अतः यहीं रहकर धर्मका पालन करो, जिससे मेरे मनको संतोष हो॥ ३ ॥

सीते यथा त्वां वक्ष्यामि तथा कार्यं त्वयाबले।
वने दोषा हि बहवो वसतस्तान् निबोध मे॥ ४ ॥

'सीते! मैं तुमसे जैसा कहूँ, वैसा ही करना तुम्हारा कर्तव्य है। तुम अबला हो, वनमें निवास करनेवाले मनुष्यको बहुत-से दोष प्राप्त होते हैं; उन्हें बता रहा हूँ, मुझसे सुनो॥ ४ ॥

सीते विमुच्यतामेषा वनवासकृता मतिः।
बहुदोषं हि कान्तारं वनमित्यभिधीयते॥ ५ ॥

'सीते! वनवासके लिये चलनेका यह विचार छोड़ दो, वनको अनेक प्रकारके दोषोंसे व्याप्त और दुर्गम बताया जाता है॥

हितबुद्ध्या खलु वचो मयैतदभिधीयते।
सदा सुखं न जानामि दुःखमेव सदा वनम्॥ ६ ॥

'तुम्हारे हितकी भावनासे ही मैं ये सब बातें कह रहा हूँ। जहाँतक मेरी जानकारी है, वनमें सदा सुख नहीं मिलता। वहाँ तो सदा दुःख ही मिला करता है॥ ६ ॥

गिरिनिर्झरसम्भूता गिरिनिर्दरिवासिनाम्।
सिंहानां निनदा दुःखाः श्रोतुं दुःखमतो वनम्॥ ७ ॥

'पर्वतोंसे गिरनेवाले झरनोंके शब्दको सुनकर उन पर्वतोंकी कन्दराओंमें रहनेवाले सिंह दहाड़ने लगते हैं। उनकी वह गर्जना सुननेमें बड़ी दुःखदायिनी प्रतीत होती है, इसलिये वन दुःखमय ही है॥ ७ ॥

क्रीडमानाश्च विस्रब्धा मत्ताः शून्ये तथा मृगाः।
दृष्ट्वा समभिवर्तन्ते सीते दुःखमतो वनम्॥ ८ ॥

'सीते! सूने वनमें निर्भय होकर क्रीड़ा करनेवाले मतवाले जंगली पशु मनुष्यको देखते ही उसपर चारों ओरसे टूट पड़ते हैं; अतः वन दुःखसे भरा हुआ है॥ ८॥

सग्राहाः सरितश्चैव पङ्कवत्यस्तु दुस्तराः।
मत्तैरपि गजैर्नित्यमतो दुःखतरं वनम्॥ ९॥

'वनमें जो नदियाँ होती हैं, उनके भीतर ग्राह निवास करते हैं, उनमें कीचड़ अधिक होनेके कारण उन्हें पार करना अत्यन्त कठिन होता है। इसके सिवा वनमें मतवाले हाथी सदा घूमते रहते हैं। इस सब कारणोंसे वन बहुत ही दुःखदायक होता है॥ ९॥

लताकण्टकसंकीर्णाः कृकवाकूपनादिताः।
निरपाश्च सुदुःखाश्च मार्गा दुःखमतो वनम्॥ १०॥

'वनके मार्ग लताओं और काँटोंसे भरे रहते हैं। वहाँ जंगली मुर्गे बोला करते हैं, उन मार्गोंपर चलनेमें बड़ा कष्ट होता है तथा वहाँ आस-पास जल नहीं मिलता, इससे वनमें दुःख-ही-दुःख है॥ १०॥

सुप्यते पर्णशय्यासु स्वयंभग्नासु भूतले।
रात्रिषु श्रमखिन्नेन तस्माद् दुःखमतो वनम्॥ ११॥

'दिनभरके परिश्रमसे थके-माँदे मनुष्यको रातमें जमीनके ऊपर अपने-आप गिरे हुए सूखे पत्तोंके बिछौनेपर सोना पड़ता है, अतः वन दुःखसे भरा हुआ है॥ ११॥

अहोरात्रं च संतोषः कर्तव्यो नियतात्मना।
फलैर्वृक्षावपतितैः सीते दुःखमतो वनम्॥ १२॥

'सीते! वहाँ मनको वशमें रखकर वृक्षोंसे स्वतः गिरे हुए फलोंके आहारपर ही दिन-रात संतोष करना पड़ता है, अतः वन दुःख देनेवाला ही है॥ १२॥

उपवासश्च कर्तव्यो यथा प्राणेन मैथिलि।
जटाभारश्च कर्तव्यो वल्कलाम्बरधारणम्॥ १३॥

'मिथिलेशकुमारी! अपनी शक्तिके अनुसार उपवास करना, सिरपर जटाका भार ढोना और वल्कल वस्त्र धारण करना—यही वहाँकी जीवनशैली है॥ १३॥

देवतानां पितॄणां च कर्तव्यं विधिपूर्वकम्।
प्राप्तानामतिथीनां च नित्यशः प्रतिपूजनम्॥ १४॥

'देवताओंका, पितरोंका तथा आये हुए अतिथियोंका प्रतिदिन शास्त्रोक्तविधिके अनुसार पूजन करना—यह वनवासीका प्रधान कर्तव्य है॥ १४॥

कार्यस्त्रिरभिषेकश्च काले काले च नित्यशः।
चरतां नियमेनैव तस्माद् दुःखतरं वनम्॥ १५॥

'वनवासीको प्रतिदिन नियमपूर्वक तीनों समय स्नान करना होता है। इसलिये वन बहुत ही कष्ट देनेवाला है॥

उपहारश्च कर्तव्यः कुसुमैः स्वयमाहृतैः।
आर्षेण विधिना वेद्यां सीते दुःखमतो वनम्॥ १६॥

'सीते! वहाँ स्वयं चुनकर लाये हुए फूलोंद्वारा वेदोक्त विधिसे वेदीपर देवताओंकी पूजा करनी पड़ती है। इसलिये वनको कष्टप्रद कहा गया है॥ १६॥

यथालब्धेन कर्तव्यः संतोषस्तेन मैथिलि।
यताहारैर्वनचरैः सीते दुःखमतो वनम्॥ १७॥

'मिथिलेशकुमारी जानकी! वनवासियोंको जब जैसा आहार मिल जाय उसीपर संतोष करना पड़ता है; अतः वन दुःखरूप ही है॥ १७॥

अतीव वातस्तिमिरं बुभुक्षा चाति नित्यशः।
भयानि च महान्त्यत्र ततो दुःखतरं वनम्॥ १८॥

'वनमें प्रचण्ड आँधी, घोर अन्धकार, प्रतिदिन भूखका कष्ट तथा और भी बड़े-बड़े भय प्राप्त होते हैं, अतः वन अत्यन्त कष्टप्रद है॥ १८॥

सरीसृपाश्च बहवो बहुरूपाश्च भामिनि।
चरन्ति पथि ते दर्पात् ततो दुःखतरं वनम्॥ १९॥

'भामिनि! वहाँ बहुत-से पहाड़ी सर्प, जो अनेक प्रकारके रूपवाले होते हैं, दर्पवश बीच रास्तेमें विचरते रहते हैं; अतः वन अत्यन्त कष्टदायक है॥ १९॥

नदीनिलयनाः सर्पा नदीकुटिलगामिनः।
तिष्ठन्त्यावृत्य पन्थानमतो दुःखतरं वनम्॥ २०॥

'जो नदियोंमें निवास करते और नदियोंके समान ही कुटिल गतिसे चलते हैं, ऐसे बहुसंख्यक सर्प वनमें रास्तेको घेरकर पड़े रहते हैं; इसलिये वन बहुत ही कष्टदायक है॥ २०॥

पतङ्गा वृश्चिकाः कीटा दंशाश्च मशकैः सह।
बाधन्ते नित्यमबले सर्वं दुःखमतो वनम्॥ २१॥

'अबले! पतंगे, बिच्छू, कीड़े, डाँस और मच्छर वहाँ सदा कष्ट पहुँचाते रहते हैं; अतः सारा वन दुःखरूप ही है॥ २१॥

द्रुमाः कण्टकिनश्चैव कुशाः काशाश्च भामिनि।
वने व्याकुलशाखाग्रास्तेन दुःखमतो वनम्॥ २२॥

'भामिनि! वनमें काँटेदार वृक्ष, कुश और कास होते हैं, जिनकी शाखाओंके अग्रभाग सब ओर फैले हुए होते हैं; इसलिये वन विशेष कष्टदायक होता है॥ २२॥

कायक्लेशाश्च बहवो भयानि विविधानि च।
अरण्यवासे वसतो दुःखमेव सदा वनम्॥ २३॥

'वनमें निवास करनेवाले मनुष्यको बहुत-से शारीरिक क्लेशों और नाना प्रकारके भयोंका सामना करना पड़ता है, अतः वन सदा दुःखरूप ही होता है॥ २३॥

क्रोधलोभौ विमोक्तव्यौ कर्तव्या तपसे मतिः।
न भेतव्यं च भेतव्ये दुःखं नित्यमतो वनम्॥ २४॥

'वहाँ क्रोध और लोभको त्याग देना होता है, तपस्यामें मन लगाना पड़ता है और जहाँ भयका स्थान है, वहाँ भी भयभीत न होनेकी आवश्यकता होती है; अतः वनमें

सदा दुःख-ही-दुःख है ॥ २४ ॥

तदलं ते वनं गत्वा क्षेमं नहि वनं तव।
विमृशन्निव पश्यामि बहुदोषकरं वनम्॥ २५॥

'इसलिये तुम्हारा वनमें जाना ठीक नहीं है। वहाँ जाकर तुम सकुशल नहीं रह सकती। मैं बहुत सोच-विचारकर देखता और समझता हूँ—कि वनमें रहना अनेक दोषोंका उत्पादक बहुत ही कष्टदायक है॥ २५॥

वनं तु नेतुं न कृता मतिर्यदा
बभूव रामेण तदा महात्मना।
न तस्य सीता वचनं चकार तं
ततोऽब्रवीद् राममिदं सुदुःखिता॥ २६॥

जब महात्मा श्रीरामने उस समय सीताको वनमें ले जानेका विचार नहीं किया, तब सीताने भी उनकी उस बातको नहीं माना। वे अत्यन्त दुःखी होकर श्रीरामसे इस प्रकार बोलीं॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टाविंशः सर्गः॥ २८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अट्ठाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २८॥

—★—

एकोनत्रिंशः सर्गः

सीताका श्रीरामके समक्ष उनके साथ अपने वनगमनका औचित्य बताना

एतत् तु वचनं श्रुत्वा सीता रामस्य दुःखिता।
प्रसक्ताश्रुमुखी मन्दमिदं वचनमब्रवीत्॥ १॥

श्रीरामचन्द्रजीकी यह बात सुनकर सीताको बड़ा दुःख हुआ, उनके मुखपर आँसुओंकी धारा बह चली और वे धीरे-धीरे इस प्रकार कहने लगीं—॥ १॥

ये त्वया कीर्तिता दोषा वने वस्तव्यतां प्रति।
गुणानित्येव तान् विद्धि तव स्नेहपुरस्कृता॥ २॥

'प्राणनाथ! आपने वनमें रहनेके जो-जो दोष बताये हैं, वे सब आपका स्नेह पाकर मेरे लिये गुणरूप हो जायँगे। इस बातको आप अच्छी तरह समझ लें॥ २॥

मृगाः सिंहा गजाश्चैव शार्दूलाः शरभास्तथा।
चमराः सृमराश्चैव ये चान्ये वनचारिणः॥ ३॥
अदृष्टपूर्वरूपत्वात् सर्वे ते तव राघव।
रूपं दृष्ट्वापसर्पेयुस्तव सर्वे हि बिभ्यति॥ ४॥

'रघुनन्दन! मृग, सिंह, हाथी, शेर, शरभ, चमरी गाय, नीलगाय तथा जो अन्य जंगली जीव हैं, वे सब-के-सब आपका रूप देखकर भाग जायँगे; क्योंकि ऐसा प्रभावशाली स्वरूप उन्होंने पहले कभी नहीं देखा होगा। आपसे तो सभी डरते हैं; फिर वे पशु क्यों नहीं डरेंगे?॥ ३-४॥

त्वया च सह गन्तव्यं मया गुरुजनाज्ञया।
त्वद्वियोगेन मे राम त्यक्तव्यमिह जीवितम्॥ ५॥

'श्रीराम! मुझे गुरुजनोंकी आज्ञासे निश्चय ही आपके साथ चलना है; क्योंकि आपका वियोग हो जानेपर मैं यहाँ अपने जीवनका परित्याग कर दूँगी॥ ५॥

नहि मां त्वत्समीपस्थामपि शक्नोऽपि राघव।
सुराणामीश्वरः शक्तः प्रधर्षयितुमोजसा॥ ६॥

'रघुनाथजी! आपके समीप रहनेपर देवताओंके राजा इन्द्र भी बलपूर्वक मेरा तिरस्कार नहीं कर सकते॥ ६॥

पतिहीना तु या नारी न सा शक्ष्यति जीवितुम्।
काममेवंविधं राम त्वया मम निदर्शितम्॥ ७॥

'श्रीराम! पतिव्रता स्त्री अपने पतिसे वियोग होनेपर जीवित नहीं रह सकेगी; ऐसी बात आपने भी मुझे भलीभाँति दर्शायी है॥ ७॥

अथापि च महाप्राज्ञ ब्राह्मणानां मया श्रुतम्।
पुरा पितृगृहे सत्यं वस्तव्यं किल मे वने॥ ८॥

'महाप्राज्ञ! यद्यपि वनमें दोष और दुःख ही भरे हैं, तथापि अपने पिताके घरपर रहते समय मैं ब्राह्मणोंके मुखसे पहले यह बात सुन चुकी हूँ कि 'मुझे अवश्य ही वनमें रहना पड़ेगा' यह बात मेरे जीवनमें सत्य होकर रहेगी॥ ८॥

लक्षणिभ्यो द्विजातिभ्यः श्रुत्वाहं वचनं गृहे।
वनवासकृतोत्साहा नित्यमेव महाबल॥ ९॥

'महाबली वीर! हस्तरेखा देखकर भविष्यकी बातें जान लेनेवाले ब्राह्मणोंके मुखसे अपने घरपर ऐसी बात सुनकर मैं सदा ही वनवासके लिये उत्साहित रहती हूँ॥ ९॥

आदेशो वनवासस्य प्राप्तव्यः स मया किल।
सा त्वया सह भर्त्राहं यास्यामि प्रिय नान्यथा॥ १०॥

'प्रियतम! ब्राह्मणसे ज्ञात हुआ वनमें रहनेका आदेश एक-न-एक दिन मुझे पूरा करना ही पड़ेगा, यह किसी तरह पलट नहीं सकता। अतः मैं अपने स्वामी आपके साथ वनमें अवश्य चलूँगी॥ १०॥

कृतादेशा भविष्यामि गमिष्यामि त्वया सह।
कालश्चायं समुत्पन्नः सत्यवान् भवतु द्विजः॥ ११॥

'ऐसा होनेसे मैं उस भाग्यके विधानको भोग लूँगी। उसके लिये यह समय आ गया है, अतः आपके साथ मुझे चलना ही है; इससे उस ब्राह्मणकी बात भी सच्ची हो जायगी॥ ११॥

वनवासे हि जानामि दुःखानि बहुधा किल।
प्राप्यन्ते नियतं वीर पुरुषैरकृतात्मभिः॥ १२॥

'वीर! मैं जानती हूँ कि वनवासमें अवश्य ही बहुत-से दुःख प्राप्त होते हैं; परंतु वे उन्हींको दुःख जान पड़ते हैं, जिनकी इन्द्रियाँ और मन अपने वशमें नहीं हैं॥ १२॥

कन्यया च पितुर्गेहे वनवासः श्रुतो मया।
भिक्षिण्याः शमवृत्ताया मम मातुरिहाग्रतः॥ १३॥

'पिताके घरपर कुमारी अवस्थामें एक शान्तिपरायणा भिक्षुकीके मुखसे भी मैंने अपने वनवासकी बात सुनी थी। उसने मेरी माताके सामने ही ऐसी बात कही थी॥ १३॥

प्रसादितश्च वै पूर्वं त्वं मे बहुतिथं प्रभो।
गमनं वनवासस्य काङ्क्षितं हि सह त्वया॥ १४॥

'प्रभो! यहाँ आनेपर भी मैंने पहले ही कई बार आपसे कुछ कालतक वनमें रहनेके लिये प्रार्थना की थी और आपको राजी भी कर लिया था। इससे आप निश्चितरूपसे जान लें कि आपके साथ वनको चलना मुझे पहलेसे ही अभीष्ट है॥ १४॥

कृतक्षणाहं भद्रं ते गमनं प्रति राघव।
वनवासस्य शूरस्य मम चर्या हि रोचते॥ १५॥

'रघुनन्दन! आपका भला हो। मैं वहाँ चलनेके लिये पहलेसे ही आपकी अनुमति प्राप्त कर चुकी हूँ। अपने शूरवीर वनवासी पतिकी सेवा करना मेरे लिये अधिक रुचिकर है॥ १५॥

शुद्धात्मन् प्रेमभावाद्धि भविष्यामि विकल्मषा।
भर्तारमनुगच्छन्ती भर्ता हि परदैवतम्॥ १६॥

'शुद्धात्मन्! आप मेरे स्वामी हैं, आपके पीछे प्रेमभावसे वनमें आनेपर मेरे पाप दूर हो जायँगे; क्योंकि स्वामी ही स्त्रीके लिये सबसे बड़ा देवता है॥ १६॥

प्रेत्यभावे हि कल्याणः संगमो मे सदा त्वया।
श्रुतिर्हि श्रूयते पुण्या ब्राह्मणानां यशस्विनाम्॥ १७॥

'आपके अनुगमनसे परलोकमें भी मेरा कल्याण होगा और सदा आपके साथ मेरा संयोग बना रहेगा। इस विषयमें यशस्वी ब्राह्मणोंके मुखसे एक पवित्र श्रुति सुनी जाती है (जो इस प्रकार है—)॥ १७॥

इहलोके च पितृभिर्या स्त्री यस्य महाबल।
अद्भिर्दत्ता स्वधर्मेण प्रेत्यभावेऽपि तस्य सा॥ १८॥

'महाबली वीर! इस लोकमें पिता आदिके द्वारा जो कन्या जिस पुरुषको अपने धर्मके अनुसार जलसे संकल्प करके दे दी जाती है, वह मरनेके बाद परलोकमें भी उसीकी स्त्री होती है॥ १८॥

एवमस्मात् स्वकां नारीं सुवृत्तां हि पतिव्रताम्।
नाभिरोचयसे नेतुं त्वं मां केनेह हेतुना॥ १९॥

'मैं आपकी धर्मपत्नी हूँ, उत्तम व्रतका पालन करनेवाली और पतिव्रता हूँ, फिर क्या कारण है कि आप मुझे यहाँसे अपने साथ ले चलना नहीं चाहते हैं॥ १९॥

भक्तां पतिव्रतां दीनां मां समां सुखदुःखयोः।
नेतुमर्हसि काकुत्स्थ समानसुखदुःखिनीम्॥ २०॥

'ककुत्स्थकुलभूषण! मैं आपकी भक्त हूँ, पातिव्रत्यका पालन करती हूँ, आपके बिछोहके भयसे दीन हो रही हूँ तथा आपके सुख-दुःखमें समानरूपसे हाथ बँटानेवाली हूँ। मुझे सुख मिले या दुःख, मैं दोनों अवस्थाओंमें सम रहूँगी—हर्ष या शोकके वशीभूत नहीं होऊँगी। अतः आप अवश्य ही मुझे साथ ले चलनेकी कृपा करें॥ २०॥

यदि मां दुःखितामेवं वनं नेतुं न चेच्छसि।
विषमग्निं जलं वाहमास्थास्ये मृत्युकारणात्॥ २१॥

'यदि आप इस प्रकार दुःखमें पड़ी हुई मुझ सेविकाको अपने साथ वनमें ले जाना नहीं चाहते हैं तो मैं मृत्युके लिये विष खा लूँगी, आगमें कूद पड़ूँगी अथवा जलमें डूब जाऊँगी'॥ २१॥

एवं बहुविधं तं सा याचते गमनं प्रति।
नानुमेने महाबाहुस्तां नेतुं विजनं वनम्॥ २२॥

इस तरह अनेक प्रकारसे सीताजी वनमें जानेके लिये याचना कर रही थीं तथापि महाबाहु श्रीरामने उन्हें अपने साथ निर्जन वनमें ले जानेकी अनुमति नहीं दी॥ २२॥

एवमुक्ता तु सा चिन्तां मैथिली समुपागता।
स्नापयन्तीव गामुष्णैरश्रुभिर्नयनच्युतैः॥ २३॥

इस प्रकार उनके अस्वीकार कर देनेपर मिथिलेशकुमारी सीताको बड़ी चिन्ता हुई और वे अपने नेत्रोंसे गरम-गरम आँसू बहाकर धरतीको भिगोने-सी लगीं॥ २३॥

चिन्तयन्तीं तदा तां तु निवर्तयितुमात्मवान्।
क्रोधाविष्टां तु वैदेहीं काकुत्स्थो बह्वसान्त्वयत्॥ २४॥

उस समय विदेहनन्दिनी जानकीको चिन्तित और कुपित देख मनको वशमें रखनेवाले श्रीरामचन्द्रजीने उन्हें वनवासके विचारसे निवृत्त करनेके लिये भाँति-भाँतिकी बातें कहकर समझाया॥ २४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनत्रिंशः सर्गः॥ २९॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें उनतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २९॥

—★—

त्रिंशः सर्गः

सीताका वनमें चलनेके लिये अधिक आग्रह, विलाप और घबराहट देखकर श्रीरामका उन्हें साथ ले चलनेकी स्वीकृति देना, पिता-माता और गुरुजनोंकी सेवाका महत्त्व बताना तथा सीताको वनमें चलनेकी तैयारीके लिये घरकी वस्तुओंका दान करनेकी आज्ञा देना

सान्त्व्यमाना तु रामेण मैथिली जनकात्मजा।
वनवासनिमित्तार्थं भर्तारमिदमब्रवीत्॥ १॥

श्रीरामके समझानेपर मिथिलेशकुमारी जानकी वनवासकी आज्ञा प्राप्त करनेके लिये अपने पतिसे फिर इस प्रकार बोलीं॥ १॥

सा तमुत्तमसंविग्ना सीता विपुलवक्षसम्।
प्रणयाच्चाभिमानाच्च परिचिक्षेप राघवम्॥ २॥

सीता अत्यन्त डरी हुई थीं। वे प्रेम और स्वाभिमानके कारण विशाल वक्षःस्थलवाले श्रीरामचन्द्रजीपर आक्षेप-सा करती हुई कहने लगीं—॥ २॥

किं त्वामन्यत वैदेहः पिता मे मिथिलाधिपः।
राम जामातरं प्राप्य स्त्रियं पुरुषविग्रहम्॥ ३॥

'श्रीराम! क्या मेरे पिता मिथिलानरेश विदेहराज जनकने आपको जामाताके रूपमें पाकर कभी यह भी समझा था कि आप केवल शरीरसे ही पुरुष हैं; कार्य-कलापसे तो स्त्री ही हैं॥ ३॥

अनृतं बत लोकोऽयमज्ञानाद् यदि वक्ष्यति।
तेजो नास्ति परं रामे तपतीव दिवाकरे॥ ४॥

'नाथ! आपके मुझे छोड़कर चले जानेपर संसारके लोग अज्ञानवश यदि यह कहने लगें कि सूर्यके समान तपनेवाले श्रीरामचन्द्रमें तेज और पराक्रमका अभाव है तो उनकी यह असत्य धारणा मेरे लिये कितने दुःखकी बात होगी॥ ४॥

किं हि कृत्वा विषण्णस्त्वं कुतो वा भयमस्ति ते।
यत् परित्यक्तुकामस्त्वं मामनन्यपरायणाम्॥ ५॥

'आप क्या सोचकर विषादमें पड़े हुए हैं अथवा किससे आपको भय हो रहा है, जिसके कारण आप अपनी पत्नी मुझ सीताका, जो एकमात्र आपके ही आश्रित है, परित्याग करना चाहते हैं॥ ५॥

द्युमत्सेनसुतं वीरं सत्यवन्तमनुव्रताम्।
सावित्रीमिव मां विद्धि त्वमात्मवशवर्तिनीम्॥ ६॥

'जैसे सावित्री द्युमत्सेनकुमार वीरवर सत्यवान्‌की ही अनुगामिनी थी, उसी प्रकार आप मुझे भी अपनी ही आज्ञाके अधीन समझिये॥ ६॥

न त्वहं मनसा त्वन्यं द्रष्टास्मि त्वदृतेऽनघ।
त्वया राघव गच्छेयं यथान्या कुलपांसनी॥ ७॥

'निष्पाप रघुनन्दन! जैसी दूसरी कोई कुलकलङ्किनी स्त्री परपुरुषपर दृष्टि रखती है, वैसी मैं नहीं हूँ। मैं तो आपके सिवा किसी दूसरे पुरुषको मनसे भी नहीं देख सकती। इसलिये आपके साथ ही चलूँगी (आपके बिना अकेली यहाँ नहीं रहूँगी)॥ ७॥

स्वयं तु भार्यां कौमारीं चिरमध्युषितां सतीम्।
शैलूष इव मां राम परेभ्यो दातुमिच्छसि॥ ८॥

'श्रीराम! जिसका कुमारावस्थामें ही आपके साथ विवाह हुआ है और जो चिरकालतक आपके साथ रह चुकी है, उसी मुझ अपनी सती-साध्वी पत्नीको आप औरतकी कमाई खानेवाले नटकी भाँति दूसरोंके हाथमें सौंपना चाहते हैं?॥ ८॥

यस्य पथ्यंचरामात्थ यस्य चार्थेऽवरुध्यसे।
त्वं तस्य भव वश्यश्च विधेयश्च सदानघ॥ ९॥

'निष्पाप रघुनन्दन! आप मुझे जिसके अनुकूल चलनेकी शिक्षा दे रहे हैं और जिसके लिये आपका राज्याभिषेक रोक दिया गया है, उस भरतके सदा ही वशवर्ती और आज्ञा-पालक बनकर आप ही रहिये, मैं नहीं रहूँगी॥ ९॥

स मामनादाय वनं न त्वं प्रस्थितुमर्हसि।
तपो वा यदि वारण्यं स्वर्गो वा स्यात् त्वया सह॥ १०॥

'इसलिये आपका मुझे अपने साथ लिये बिना वनकी ओर प्रस्थान करना उचित नहीं है। यदि तपस्या करनी हो, वनमें रहना हो अथवा स्वर्गमें जाना हो तो सभी जगह मैं आपके साथ रहना चाहती हूँ॥ १०॥

न च मे भविता तत्र कश्चित् पथि परिश्रमः।
पृष्ठतस्तव गच्छन्त्या विहारशयनेष्विव॥ ११॥

'जैसे बगीचेमें घूमने और पलंगपर सोनेमें कोई कष्ट नहीं होता, उसी प्रकार आपके पीछे-पीछे वनके मार्गपर चलनेमें भी मुझे कोई परिश्रम नहीं जान पड़ेगा॥ ११॥

कुशकाशशरेषीका ये च कण्टकिनो द्रुमाः।
तूलाजिनसमस्पर्शा मार्गे मम सह त्वया॥ १२॥

'रास्तेमें जो कुश-कास, सरकंडे, सींक और काँटेदार वृक्ष मिलेंगे, उनका स्पर्श मुझे आपके साथ रहनेसे रूई और मृगचर्मके समान सुखद प्रतीत होगा॥ १२॥

महावातसमुद्भूतं यन्मामवकरिष्यति।
रजो रमण तन्मन्ये परार्ध्यमिव चन्दनम्॥ १३॥

'प्राणवल्लभ! प्रचण्ड आँधीसे उड़कर मेरे शरीरपर जो धूल पड़ेगी, उसे मैं उत्तम चन्दनके समान समझूँगी॥ १३॥

शाद्वलेषु यदा शिश्ये वनान्तर्वनगोचरा।
कुथास्तरणयुक्तेषु किं स्यात् सुखतरं ततः॥ १४॥

'जब वनके भीतर रहूँगी, तब आपके साथ घासोंपर भी

सो लूँगी। रंग-बिरंगे कालीनों और मुलायम बिछौनोंसे युक्त पलंगोंपर क्या उससे अधिक सुख हो सकता है ?॥ १४॥

पत्रं मूलं फलं यत्तु अल्पं वा यदि वा बहु।
दास्यसे स्वयमाहृत्य तन्मेऽमृतरसोपमम्॥ १५॥

'आप अपने हाथसे लाकर थोड़ा या बहुत फल, मूल या पत्ता, जो कुछ दे देंगे, वही मेरे लिये अमृत-रसके समान होगा॥ १५॥

न मातुर्न पितुस्तत्र स्मरिष्यामि न वेश्मनः।
आर्तवान्युपभुञ्जाना पुष्पाणि च फलानि च॥ १६॥

'ऋतुके अनुकूल जो भी फल-फूल प्राप्त होंगे, उन्हें खाकर रहूँगी और माता-पिता अथवा महलको कभी याद नहीं करूँगी॥ १६॥

न च तत्र ततः किंचिद् द्रष्टुमर्हसि विप्रियम्।
मत्कृते न च ते शोको न भविष्यामि दुर्भरा॥ १७॥

'वहाँ रहते समय मेरा कोई भी प्रतिकूल व्यवहार आप नहीं देख सकेंगे। मेरे लिये आपको कोई कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा। मेरा निर्वाह आपके लिये दूभर नहीं होगा॥ १७॥

यस्त्वया सह स स्वर्गो निरयो यस्त्वया विना।
इति जानन् परां प्रीतिं गच्छ राम मया सह॥ १८॥

'आपके साथ जहाँ भी रहना पड़े, वही मेरे लिये स्वर्ग है और आपके बिना जो कोई भी स्थान हो, वह मेरे लिये नरकके समान है। श्रीराम! मेरे इस निश्चयको जानकर आप मेरे साथ अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक वनको चलें॥ १८॥

अथ मामेवमव्यग्रां वनं नैव नयिष्यसे।
विषमद्यैव पास्यामि मा वशं द्विषतां गमम्॥ १९॥

'मुझे वनवासके कष्टसे कोई घबराहट नहीं है। यदि इस दशामें भी आप अपने साथ मुझे वनमें नहीं ले चलेंगे तो मैं आज ही विष पी लूँगी, परंतु शत्रुओंके अधीन होकर नहीं रहूँगी॥ १९॥

पश्चादपि हि दुःखेन मम नैवास्ति जीवितम्।
उज्झितायास्त्वया नाथ तदैव मरणं वरम्॥ २०॥

नाथ! यदि आप मुझे त्यागकर वनको चले जायँगे तो पीछे भी इस भारी दुःखके कारण मेरा जीवित रहना सम्भव नहीं है; ऐसी दशामें मैं इसी समय आपके जाते ही अपना प्राण त्याग देना अच्छा समझती हूँ॥ २०॥

इमं हि सहितुं शोकं मुहूर्तमपि नोत्सहे।
किं पुनर्दश वर्षाणि त्रीणि चैकं च दुःखिता॥ २१॥

'आपके विरहका यह शोक मैं दो घड़ी भी नहीं सह सकूँगी। फिर मुझ दुःखियासे यह चौदह वर्षोंतक कैसे सहा जायगा?'॥ २१॥

इति सा शोकसंतप्ता विलप्य करुणं बहु।
चुक्रोश पतिमायस्ता भृशमालिङ्ग्य सस्वरम्॥ २२॥

इस प्रकार बहुत देरतक करुणाजनक विलाप करके शोकसे संतप्त हुई सीता शिथिल हो अपने पतिको जोरसे पकड़कर—उनका गाढ़ आलिङ्गन करके फूट-फूटकर रोने लगीं॥ २२॥

सा विद्धा बहुभिर्वाक्यैर्दिग्धैरिव गजाङ्गना।
चिरसंनियतं बाष्पं मुमोचाग्निमिवारणिः॥ २३॥

जैसे कोई हथिनी विषमें बुझे हुए बहुसंख्यक बाणोंद्वारा घायल कर दी गयी हो, उसी प्रकार सीता श्रीरामचन्द्रजीके पूर्वोक्त अनेकानेक वचनोंद्वारा मर्माहत हो उठी थीं; अतः जैसे अरणी आग प्रकट करती है, उसी प्रकार वे बहुत देरसे रोके हुए आँसुओंको बरसाने लगीं॥ २३॥

तस्याः स्फटिकसंकाशं वारि संतापसम्भवम्।
नेत्राभ्यां परिसुस्राव पङ्कजाभ्यामिवोदकम्॥ २४॥

उनके दोनों नेत्रोंसे स्फटिकके समान निर्मल संतापजनित अश्रुजल झर रहा था, मानो दो कमलोंसे जलकी धारा गिर रही हो॥ २४॥

तत्सितामलचन्द्राभं मुखमायतलोचनम्।
पर्यशुष्यत बाष्पेण जलोद्धृतमिवाम्बुजम्॥ २५॥

बड़े-बड़े नेत्रोंसे सुशोभित और पूर्णिमाके निर्मल चन्द्रमाके समान कान्तिमान् उनका वह मनोहर मुख संतापजनित तापके कारण पानीसे बाहर निकाले हुए कमलके समान सूख-सा गया था॥ २५॥

तां परिष्वज्य बाहुभ्यां विसंज्ञामिव दुःखिताम्।
उवाच वचनं रामः परिविश्वासयंस्तदा॥ २६॥

सीताजी दुःखके मारे अचेत-सी हो रही थीं। श्रीरामचन्द्रजीने उन्हें दोनों हाथोंसे सँभालकर हृदयसे लगा लिया और उस समय उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—॥ २६॥

न देवि बत दुःखेन स्वर्गमप्यभिरोचये।
नहि मेऽस्ति भयं किंचित् स्वयम्भोरिव सर्वतः॥ २७॥

'देवि! तुम्हें दुःख देकर मुझे स्वर्गका सुख मिलता हो तो मैं उसे भी लेना नहीं चाहूँगा। स्वयम्भू ब्रह्माजीकी भाँति मुझे किसीसे किञ्चित् भी भय नहीं है॥ २७॥

तव सर्वमभिप्रायमविज्ञाय शुभानने।
वासं न रोचयेऽरण्ये शक्तिमानपि रक्षणे॥ २८॥

'शुभानने! यद्यपि वनमें तुम्हारी रक्षा करनेके लिये मैं सर्वथा समर्थ हूँ तो भी तुम्हारे हार्दिक अभिप्रायको पूर्णरूपसे जाने बिना तुमको वनवासिनी बनाना मैं उचित नहीं समझता था॥ २८॥

यत् सृष्टासि मया सार्धं वनवासाय मैथिलि।
न विहातुं मया शक्या प्रीतिरात्मवता यथा॥ २९॥

'मिथिलेशकुमारी! जब तुम मेरे साथ वनमें रहनेके लिये ही उत्पन्न हुई हो तो मैं तुम्हें छोड़ नहीं सकता, ठीक उसी तरह जैसे आत्मज्ञानी पुरुष अपनी स्वाभाविक प्रसन्नताका त्याग नहीं करते॥ २९॥

धर्मस्तु गजनासोरु सद्भिराचरितः पुरा।
तं चाहमनुवर्तिष्ये यथा सूर्यं सुवर्चला॥ ३०॥

'हाथीकी सूँड़के समान जाँघवाली जनककिशोरी! पूर्वकालके सत्पुरुषोंने अपनी पत्नीके साथ रहकर जिस धर्मका आचरण किया था, उसीका मैं भी तुम्हारे साथ रहकर अनुसरण करूँगा तथा जैसे सुवर्चला (संज्ञा) अपने पति सूर्यका अनुगमन करती है, उसी प्रकार तुम भी मेरा अनुसरण करो॥ ३०॥

न खल्वहं न गच्छेयं वनं जनकनन्दिनि।
वचनं तन्नयति मां पितुः सत्योपबृंहितम्॥ ३१॥

'जनकनन्दिनि! यह तो किसी प्रकार सम्भव ही नहीं है कि मैं वनको न जाऊँ; क्योंकि पिताजीका वह सत्ययुक्त वचन ही मुझे वनकी ओर ले जा रहा है॥ ३१॥

एष धर्मश्च सुश्रोणि पितुर्मातुश्च वश्यता।
आज्ञां चाहं व्यतिक्रम्य नाहं जीवितुमुत्सहे॥ ३२॥

'सुश्रोणि! पिता और माताकी आज्ञाके अधीन रहना पुत्रका धर्म है, इसलिये मैं उनकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके जीवित नहीं रह सकता॥ ३२॥

अस्वाधीनं कथं दैवं प्रकारैरभिराध्यते।
स्वाधीनं समतिक्रम्य मातरं पितरं गुरुम्॥ ३३॥

'जो अपनी सेवाके अधीन हैं, उन प्रत्यक्ष देवता माता, पिता एवं गुरुका उल्लङ्घन करके जो सेवाके अधीन नहीं है, उस अप्रत्यक्ष देवता दैवकी विभिन्न प्रकारसे किस तरह आराधना की जा सकती है॥ ३३॥

यत्र त्रयं त्रयो लोकाः पवित्रं तत्समं भुवि।
नान्यदस्ति शुभापाङ्गे तेनेदमभिराध्यते॥ ३४॥

'सुन्दर नेत्रप्रान्तवाली सीते! जिनकी आराधना करनेपर धर्म, अर्थ और काम तीनों प्राप्त होते हैं तथा तीनों लोकोंकी आराधना सम्पन्न हो जाती है, उन माता, पिता और गुरुके समान दूसरा कोई पवित्र देवता इस भूतलपर नहीं है। इसीलिये भूतलके निवासी इन तीनों देवताओंकी आराधना करते हैं॥ ३४॥

न सत्यं दानमानौ वा यज्ञो वाप्याप्तदक्षिणाः।
तथा बलकराः सीते यथा सेवा पितुर्मता॥ ३५॥

'सीते! पिताकी सेवा करना कल्याणकी प्राप्तिका जैसा प्रबल साधन माना गया है, वैसा न सत्य है, न दान है, न मान है और न पर्याप्त दक्षिणावाले यज्ञ ही हैं॥ ३५॥

स्वर्गो धनं वा धान्यं वा विद्या पुत्राः सुखानि च।
गुरुवृत्त्यनुरोधेन न किंचिदपि दुर्लभम्॥ ३६॥

'गुरुजनोंकी सेवाका अनुसरण करनेसे स्वर्ग, धन-धान्य, विद्या, पुत्र और सुख—कुछ भी दुर्लभ नहीं है॥ ३६॥

देवगन्धर्वगोलोकान् ब्रह्मलोकांस्तथापरान्।
प्राप्नुवन्ति महात्मानो मातापितृपरायणाः॥ ३७॥

'माता-पिताकी सेवामें लगे रहनेवाले महात्मा पुरुष देवलोक, गन्धर्वलोक, ब्रह्मलोक, गोलोक तथा अन्य लोकोंको भी प्राप्त कर लेते हैं॥ ३७॥

स मा पिता यथा शास्ति सत्यधर्मपथे स्थितः।
तथा वर्तितुमिच्छामि स हि धर्मः सनातनः॥ ३८॥

'इसीलिये सत्य और धर्मके मार्गपर स्थित रहनेवाले पूज्य पिताजी मुझे जैसी आज्ञा दे रहे हैं, मैं वैसा ही बर्ताव करना चाहता हूँ; क्योंकि वह सनातनधर्म है॥ ३८॥

मम सन्ना मतिः सीते नेतुं त्वां दण्डकावनम्।
वसिष्यामीति सा त्वं मामनुयातुं सुनिश्चिता॥ ३९॥

'सीते! 'मैं आपके साथ वनमें निवास करूँगी'—ऐसा कहकर तुमने मेरे साथ चलनेका दृढ़ निश्चय कर लिया है, इसलिये तुम्हें दण्डकारण्य ले चलनेके सम्बन्धमें जो मेरा पहला विचार था, वह अब बदल गया है॥ ३९॥

सा हि दिष्टानवद्याङ्गि वनाय मदिरेक्षणे।
अनुगच्छस्व मां भीरु सहधर्मचरी भव॥ ४०॥

'मदभरे नेत्रोंवाली सुन्दरी! अब मैं तुम्हें वनमें चलनेके लिये आज्ञा देता हूँ। भीरु! तुम मेरी अनुगामिनी बनो और मेरे साथ रहकर धर्मका आचरण करो॥ ४०॥

सर्वथा सदृशं सीते मम स्वस्य कुलस्य च।
व्यवसायमनुक्रान्ता कान्ते त्वमतिशोभनम्॥ ४१॥

'प्राणवल्लभे सीते! तुमने मेरे साथ चलनेका जो यह परम सुन्दर निश्चय किया है, यह तुम्हारे और मेरे कुलके सर्वथा योग्य ही है॥ ४१॥

आरभस्व शुभश्रोणि वनवासक्षमाः क्रियाः।
नेदानीं त्वदृते सीते स्वर्गोऽपि मम रोचते॥ ४२॥

'सुश्रोणि! अब तुम वनवासके योग्य दान आदि कर्म प्रारम्भ करो। सीते! इस समय तुम्हारे इस प्रकार दृढ़ निश्चय कर लेनेपर तुम्हारे बिना स्वर्ग भी मुझे अच्छा नहीं लगता है॥ ४२॥

ब्राह्मणेभ्यश्च रत्नानि भिक्षुकेभ्यश्च भोजनम्।
देहि चाशंसमानेभ्यः संत्वरस्व च मा चिरम्॥ ४३॥

'ब्राह्मणोंको रत्नस्वरूप उत्तम वस्तुएँ दान करो और भोजन माँगनेवाले भिक्षुकोंको भोजन दो। शीघ्रता करो, विलम्ब नहीं होना चाहिये॥ ४३॥

भूषणानि महार्हाणि वरवस्त्राणि यानि च।
रमणीयाश्च ये केचित् क्रीडार्थाश्चाप्युपस्कराः॥ ४४॥
शयनीयानि यानानि मम चान्यानि यानि च।
देहि स्वभृत्यवर्गस्य ब्राह्मणानामनन्तरम्॥ ४५॥

तुम्हारे पास जितने बहुमूल्य आभूषण हों, जो-जो अच्छे-अच्छे वस्त्र हों, जो कोई भी रमणीय पदार्थ हों तथा मनोरञ्जनकी जो-जो सुन्दर सामग्रियाँ हों, मेरे और तुम्हारे उपयोगमें आनेवाली जो उत्तमोत्तम शय्याएँ, सवारियाँ तथा

अन्य वस्तुएँ हों, उनमेंसे ब्राह्मणोंको दान करनेके पश्चात् जो बचें उन सबको अपने सेवकोंको बाँट दो' ॥ ४४-४५ ॥

अनुकूलं तु सा भर्तुर्ज्ञात्वा गमनमात्मनः।
क्षिप्रं प्रमुदिता देवी दातुमेव प्रचक्रमे ॥ ४६ ॥

'स्वामीने वनमें मेरा जाना स्वीकार कर लिया—मेरा वनगमन उनके मनके अनुकूल हो गया' यह जानकर देवी सीता बहुत प्रसन्न हुईं और शीघ्रतापूर्वक सब वस्तुओंका दान करनेमें जुट गयीं ॥ ४६ ॥

ततः प्रहृष्टा प्रतिपूर्णमानसा
यशस्विनी भर्तुरवेक्ष्य भाषितम्।
धनानि रत्नानि च दातुमङ्गना
प्रचक्रमे धर्मभृतां मनस्विनी ॥ ४७ ॥

तदनन्तर अपना मनोरथ पूर्ण हो जानेसे अत्यन्त हर्षमें भरी हुई यशस्विनी एवं मनस्विनी सीता देवी स्वामीके आदेशपर विचार करके धर्मात्मा ब्राह्मणोंको धन और रत्नोंका दान करनेके लिये उद्यत हो गयीं ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रिंशः सर्गः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणका संवाद, श्रीरामकी आज्ञासे लक्ष्मणका सुहृदोंसे पूछकर और दिव्य आयुध लाकर वनगमनके लिये तैयार होना, श्रीरामका उनसे ब्राह्मणोंको धन बाँटनेका विचार व्यक्त करना

एवं श्रुत्वा स संवादं लक्ष्मणः पूर्वमागतः।
बाष्पपर्याकुलमुखः शोकं सोढुमशक्नुवन् ॥ १ ॥

जिस समय श्रीराम और सीतामें बातचीत हो रही थी, लक्ष्मण वहाँ पहलेसे ही आ गये थे। उन दोनोंका ऐसा संवाद सुनकर उनका मुखमण्डल आँसुओंसे भीग गया। भाईके विरहका शोक अब उनके लिये भी असह्य हो उठा ॥ १ ॥

स भ्रातुश्चरणौ गाढं निपीड्य रघुनन्दनः।
सीतामुवाचातियशां राघवं च महाव्रतम् ॥ २ ॥

रघुकुलको आनन्दित करनेवाले लक्ष्मणने ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामचन्द्रजीके दोनों पैर जोरसे पकड़ लिये और अत्यन्त यशस्विनी सीता तथा महान् व्रतधारी श्रीरघुनाथजीसे कहा— ॥ २ ॥

यदि गन्तुं कृता बुद्धिर्वनं मृगगजायुतम्।
अहं त्वानुगमिष्यामि वनमग्रे धनुर्धरः ॥ ३ ॥

'आर्य ! यदि आपने सहस्रों वन्य पशुओं तथा हाथियोंसे भरे हुए वनमें जानेका निश्चय कर ही लिया है तो मैं भी आपका अनुसरण करूँगा। धनुष हाथमें लेकर आगे-आगे चलूँगा ॥ ३ ॥

मया समेतोऽरण्यानि रम्याणि विचरिष्यसि।
पक्षिभिर्मृगयूथैश्च संघुष्टानि समन्ततः ॥ ४ ॥

'आप मेरे साथ पक्षियोंके कलरव और भ्रमरसमूहोंके गुञ्जारवसे गूँजते हुए रमणीय वनोंमें सब ओर विचरण कीजियेगा ॥ ४ ॥

न देवलोकाक्रमणं नामरत्वमहं वृणे।
ऐश्वर्यं चापि लोकानां कामये न त्वया विना ॥ ५ ॥

'मैं आपके बिना स्वर्गमें जाने, अमर होने तथा सम्पूर्ण लोकोंका ऐश्वर्य प्राप्त करनेकी भी इच्छा नहीं रखता' ॥ ५ ॥

एवं ब्रुवाणः सौमित्रिर्वनवासाय निश्चितः।
रामेण बहुभिः सान्त्वैर्निषिद्धः पुनरब्रवीत् ॥ ६ ॥

वनवासके लिये निश्चित विचार करके ऐसी बात कहनेवाले सुमित्राकुमार लक्ष्मणको श्रीरामचन्द्रजीने बहुत-से सान्त्वनापूर्ण वचनोंद्वारा समझाकर जब वनमें चलनेसे मना किया, तब वे फिर बोले— ॥ ६ ॥

अनुज्ञातस्तु भवता पूर्वमेव यदस्म्यहम्।
किमिदानीं पुनरपि क्रियते मे निवारणम् ॥ ७ ॥

'भैया ! आपने तो पहलेसे ही मुझे अपने साथ रहनेकी आज्ञा दे रखी है, फिर इस समय आप मुझे क्यों रोकते हैं ? ॥ ७ ॥

यदर्थं प्रतिषेधो मे क्रियते गन्तुमिच्छतः।
एतदिच्छामि विज्ञातुं संशयो हि ममानघ ॥ ८ ॥

'निष्पाप रघुनन्दन ! जिस कारणसे आपके साथ चलनेकी इच्छावाले मुझको आप मना करते हैं, उस कारणको मैं जानना चाहता हूँ। मेरे हृदयमें इसके लिये बड़ा संशय हो रहा है' ॥ ८ ॥

ततोऽब्रवीन्महातेजा रामो लक्ष्मणमग्रतः।
स्थितं प्राग्गामिनं धीरं याचमानं कृताञ्जलिम् ॥ ९ ॥

ऐसा कहकर धीर-वीर लक्ष्मण आगे जानेके लिये तैयार हो भगवान् श्रीरामके सामने खड़े हो गये और हाथ जोड़कर याचना करने लगे। तब महातेजस्वी श्रीरामने उनसे कहा— ॥ ९ ॥

स्निग्धो धर्मरतो धीरः सततं सत्पथे स्थितः।
प्रियः प्राणसमो वश्यो विजेयश्च सखा च मे ॥ १० ॥

'लक्ष्मण ! तुम मेरे स्नेही, धर्मपरायण, धीर-वीर

तथा सदा सन्मार्गमें स्थित रहनेवाले हो। मुझे प्राणोंके समान प्रिय हो तथा मेरे वशमें रहनेवाले आज्ञापालक और सखा हो ॥ १० ॥

मयाद्य सह सौमित्रे त्वयि गच्छति तद्वनम्।
को भजिष्यति कौसल्यां सुमित्रां वा यशस्विनीम् ॥ ११ ॥

'सुमित्रानन्दन ! यदि आज मेरे साथ तुम भी वनको चल दोगे तो परमयशस्विनी माता कौसल्या और सुमित्राकी सेवा कौन करेगा ? ॥ ११ ॥

अभिवर्षति कामैर्यः पर्जन्यः पृथिवीमिव।
स कामपाशपर्यस्तो महातेजा महीपतिः ॥ १२ ॥

'जैसे मेघ पृथ्वीपर जलकी वर्षा करता है, उसी प्रकार जो सबकी कामनाएँ पूर्ण करते थे, वे महातेजस्वी महाराज दशरथ अब कैकेयीके प्रेमपाशमें बँध गये हैं ॥ १२ ॥

सा हि राज्यमिदं प्राप्य नृपस्याश्वपतेः सुता।
दुःखितानां सपत्नीनां न करिष्यति शोभनम् ॥ १३ ॥

'केकयराज अश्वपतिकी पुत्री कैकेयी महाराजके इस राज्यको पाकर मेरे वियोगके दुःखमें डूबी हुई अपनी सौतोंके साथ अच्छा बर्ताव नहीं करेगी ॥ १३ ॥

न भरिष्यति कौसल्यां सुमित्रां च सुदुःखिताम्।
भरतो राज्यमासाद्य कैकेय्यां पर्यवस्थितः ॥ १४ ॥

'भरत भी राज्य पाकर कैकेयीके अधीन रहनेके कारण दुःखिया कौसल्या और सुमित्राका भरण-पोषण नहीं करेंगे ॥ १४ ॥

तामार्यां स्वयमेवेह राजानुग्रहणेन वा।
सौमित्रे भर कौसल्यामुक्तमर्थममुं चर ॥ १५ ॥

'अतः सुमित्राकुमार ! तुम यहीं रहकर अपने प्रयत्नसे अथवा राजाकी कृपा प्राप्त करके माता कौसल्याका पालन करो। मेरे बताये हुए इस प्रयोजनको ही सिद्ध करो ॥ १५ ॥

एवं मयि च ते भक्तिर्भविष्यति सुदर्शिता।
धर्मज्ञगुरुपूजायां धर्मश्चाप्यतुलो महान् ॥ १६ ॥

'ऐसा करनेसे मेरे प्रति जो तुम्हारी भक्ति है, वह भी भलीभाँति प्रकट हो जायगी तथा धर्मज्ञ गुरुजनोंकी पूजा करनेसे जो अनुपम एवं महान् धर्म होता है, वह भी तुम्हें प्राप्त हो जायगा ॥ १६ ॥

एवं कुरुष्व सौमित्रे मत्कृते रघुनन्दन।
अस्माभिर्विप्रहीणाया मातुर्नो न भवेत् सुखम् ॥ १७ ॥

'रघुकुलको आनन्दित करनेवाले सुमित्राकुमार ! तुम मेरे लिये ऐसा ही करो; क्योंकि हमलोगोंसे बिछुड़ी हुई हमारी माँको कभी सुख नहीं होगा (वह सदा हमारी ही चिन्तामें डूबी रहेगी)' ॥ १७ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः श्लक्ष्णया गिरा।
प्रत्युवाच तदा रामं वाक्यज्ञो वाक्यकोविदम् ॥ १८ ॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर बातचीतके मर्मको समझनेवाले लक्ष्मणने उस समय बातका तात्पर्य समझनेवाले श्रीरामको मधुर वाणीमें उत्तर दिया— ॥ १८ ॥

तवैव तेजसा वीर भरतः पूजयिष्यति।
कौसल्यां च सुमित्रां च प्रयतो नास्ति संशयः ॥ १९ ॥

'वीर ! आपके ही तेज (प्रभाव) से भरत माता कौसल्या और सुमित्रा दोनोंका पवित्र भावसे पूजन करेंगे, इसमें संशय नहीं है ॥ १९ ॥

यदि दुःस्थो न रक्षेत भरतो राज्यमुत्तमम्।
प्राप्य दुर्मनसा वीर गर्वेण च विशेषतः ॥ २० ॥
तमहं दुर्मतिं क्रूरं वधिष्यामि न संशयः।
तत्पक्षानपि तान् सर्वांस्त्रैलोक्यमपि किं तु सा ॥ २१ ॥
कौसल्या बिभृयादार्या सहस्रं मद्विधानपि।
यस्याः सहस्रं ग्रामाणां सम्प्राप्तमुपजीविनाम् ॥ २२ ॥

'वीरवर ! इस उत्तम राज्यको पाकर यदि भरत बुरे रास्तेपर चलेंगे और दूषित हृदय एवं विशेषतः घमण्डके कारण माताओंकी रक्षा नहीं करेंगे तो मैं उन दुर्बुद्धि और क्रूर भरतका तथा उनके पक्षका समर्थन करनेवाले उन सब लोगोंका वध कर डालूँगा; इसमें संशय नहीं है। यदि सारी त्रिलोकी उनका पक्ष करने लगे तो उसे भी अपने प्राणोंसे हाथ धोना पड़ेगा, परंतु बड़ी माता कौसल्या तो स्वयं ही मेरे-जैसे सहस्रों मनुष्योंका भी भरण कर सकती हैं; क्योंकि उन्हें अपने आश्रितोंका पालन करनेके लिये एक सहस्र गाँव मिले हुए हैं ॥ २०—२२ ॥

तदात्मभरणे चैव मम मातुस्तथैव च।
पर्याप्ता मद्विधानां च भरणाय मनस्विनी ॥ २३ ॥

'इसलिये वे मनस्विनी कौसल्या स्वयं ही अपना, मेरी माताका तथा मेरे-जैसे और भी बहुत-से मनुष्योंका भरण-पोषण करनेमें समर्थ हैं ॥ २३ ॥

कुरुष्व मामनुचरं वैधर्म्यं नेह विद्यते।
कृतार्थोऽहं भविष्यामि तव चार्थः प्रकल्प्यते ॥ २४ ॥

'अतः आप मुझको अपना अनुगामी बना लीजिये। इसमें कोई धर्मकी हानि नहीं होगी। मैं कृतार्थ हो जाऊँगा तथा आपका भी प्रयोजन मेरे द्वारा सिद्ध हुआ करेगा ॥

धनुरादाय सगुणं खनित्रपिटकाधरः।
अग्रतस्ते गमिष्यामि पन्थानं तव दर्शयन् ॥ २५ ॥

'प्रत्यञ्चासहित धनुष लेकर खंती और पिटारी लिये आपको रास्ता दिखाता हुआ मैं आपके आगे-आगे चलूँगा ॥

आहरिष्यामि ते नित्यं मूलानि च फलानि च।
वन्यानि च तथान्यानि स्वाहार्हाणि तपस्विनाम् ॥ २६ ॥

'प्रतिदिन आपके लिये फल-मूल लाऊँगा तथा तपस्वीजनोंके लिये वनमें मिलनेवाली तथा अन्यान्य हवन-सामग्री जुटाता रहूँगा ॥ २६ ॥

भवांस्तु सह वैदेह्या गिरिसानुषु रंस्य से।
अहं सर्वं करिष्यामि जाग्रतः स्वपतश्च ते॥ २७॥

'आप विदेहकुमारीके साथ पर्वतशिखरोंपर भ्रमण करेंगे। वहाँ आप जागते हों या सोते, मैं हर समय आपके सभी आवश्यक कार्य पूर्ण करूँगा'॥ २७॥

रामस्त्वनेन वाक्येन सुप्रीतः प्रत्युवाच तम्।
व्रजापृच्छस्व सौमित्रे सर्वमेव सुहृज्जनम्॥ २८॥

लक्ष्मणकी इस बातसे श्रीरामचन्द्रजीको बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने उनसे कहा—'सुमित्रानन्दन! जाओ, माता आदि सभी सुहृदोंसे मिलकर अपनी वनयात्राके विषयमें पूछ लो—उनकी आज्ञा एवं अनुमति ले लो॥ २८॥

ये च राज्ञो ददौ दिव्ये महात्मा वरुणः स्वयम्।
जनकस्य महायज्ञे धनुषी रौद्रदर्शने॥ २९॥
अभेद्ये कवचे दिव्ये तूणी चाक्षय्यसायकौ।
आदित्यविमलाभौ द्वौ खड्गौ हेमपरिष्कृतौ॥ ३०॥
सत्कृत्य निहितं सर्वमेतदाचार्यसद्मनि।
सर्वमायुधमादाय क्षिप्रमाव्रज लक्ष्मण॥ ३१॥

'लक्ष्मण! राजा जनकके महान् यज्ञमें स्वयं महात्मा वरुणने उन्हें जो देखनेमें भयंकर दो दिव्य धनुष दिये थे, साथ ही, जो दो दिव्य अभेद्य कवच, अक्षय बाणोंसे भरे हुए दो तरकस तथा सूर्यकी भाँति निर्मल दीप्तिसे दमकते हुए जो दो सुवर्णभूषित खड्ग प्रदान किये थे (वे सभी दिव्यास्त्र मिथिलानरेशने मुझे दहेजमें दे दिये थे), उन सबको आचार्यदेवके घरमें सत्कारपूर्वक रखा गया है। तुम उन सारे आयुधोंको लेकर शीघ्र लौट आओ'॥ २९—३१॥

स सुहृज्जनमामन्त्र्य वनवासाय निश्चितः।
इक्ष्वाकुगुरुमागम्य जग्राहायुधमुत्तमम्॥ ३२॥

आज्ञा पाकर लक्ष्मणजी गये और सुहृज्जनोंकी अनुमति लेकर वनवासके लिये निश्चितरूपसे तैयार हो इक्ष्वाकुकुलके गुरु वसिष्ठजीके यहाँ गये। वहाँसे उन्होंने उन उत्तम आयुधोंको ले लिया॥ ३२॥

तद् दिव्यं राजशार्दूलः सत्कृतं माल्यभूषितम्।
रामाय दर्शयामास सौमित्रिः सर्वमायुधम्॥ ३३॥

क्षत्रियशिरोमणि सुमित्राकुमार लक्ष्मणने सत्कारपूर्वक रखे हुए उन माल्यविभूषित समस्त दिव्य आयुधोंको लाकर उन्हें श्रीरामको दिखाया॥ ३३॥

तमुवाचात्मवान् रामः प्रीत्या लक्ष्मणमागतम्।
काले त्वमागतः सौम्य काङ्क्षिते मम लक्ष्मण॥ ३४॥

तब मनस्वी श्रीरामने वहाँ आये हुए लक्ष्मणसे प्रसन्न होकर कहा—'सौम्य! लक्ष्मण! तुम ठीक समयपर आ गये। इसी समय तुम्हारा आना मुझे अभीष्ट था॥ ३४॥

अहं प्रदातुमिच्छामि यदिदं मामकं धनम्।
ब्राह्मणेभ्यस्तपस्विभ्यस्त्वया सह परंतप॥ ३५॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले वीर! मेरा जो यह धन है, इसे मैं तुम्हारे साथ रहकर तपस्वी ब्राह्मणोंको बाँटना चाहता हूँ॥ ३५॥

वसन्तीह दृढं भक्त्या गुरुषु द्विजसत्तमाः।
तेषामपि च मे भूयः सर्वेषां चोपजीविनाम्॥ ३६॥

'गुरुजनोंके प्रति सुदृढ़ भक्तिभावसे युक्त जो श्रेष्ठ ब्राह्मण यहाँ मेरे पास रहते हैं, उनको तथा समस्त आश्रितजनोंको भी मुझे अपना यह धन बाँटना है॥ ३६॥

वसिष्ठपुत्रं तु सुयज्ञमार्यं
त्वमानयाशु प्रवरं द्विजानाम्।
अपि प्रयास्यामि वनं समस्ता-
नभ्यर्च्य शिष्टानपरान् द्विजातीन्॥ ३७॥

'वसिष्ठजीके पुत्र जो ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ आर्य सुयज्ञ हैं, उन्हें तुम शीघ्र यहाँ बुला लाओ। मैं इन सबका तथा और जो ब्राह्मण शेष रह गये हों, उनका भी सत्कार करके वनको जाऊँगा'॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकत्रिंशः सर्गः॥ ३१॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें इकतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३१॥

—★—

द्वात्रिंशः सर्गः

सीतासहित श्रीरामका वसिष्ठपुत्र सुयज्ञको बुलाकर उनके तथा उनकी पत्नीके लिये बहुमूल्य आभूषण, रत्न और धन आदिका दान तथा लक्ष्मणसहित श्रीरामद्वारा ब्राह्मणों, ब्रह्मचारियों, सेवकों, त्रिजट ब्राह्मण और सुहृज्जनोंको धनका वितरण

ततः शासनमाज्ञाय भ्रातुः प्रियकरं हितम्।
गत्वा स प्रविवेशाशु सुयज्ञस्य निवेशनम्॥ १॥

तदनन्तर अपने भाई श्रीरामकी प्रियकारक एवं हितकर आज्ञा पाकर लक्ष्मण वहाँसे चल दिये। उन्होंने शीघ्र ही गुरुपुत्र सुयज्ञके घरमें प्रवेश किया॥ १॥

तं विप्रमग्न्यगारस्थं वन्दित्वा लक्ष्मणोऽब्रवीत्।
सखेऽभ्यागच्छ पश्य त्वं वेश्म दुष्करकारिणः॥ २॥

उस समय विप्रवर सुयज्ञ अग्निशालामें बैठे हुए थे। लक्ष्मणने उन्हें प्रणाम करके कहा—'सखे! दुष्कर कर्म करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीके घरपर आओ और उनका कार्य देखो'॥ २॥

ततः संध्यामुपास्थाय गत्वा सौमित्रिणा सह ।
ऋद्धं स प्राविशल्लक्ष्म्या रम्यं रामनिवेशनम् ॥ ३ ॥

सुयज्ञने मध्याह्नकालकी संध्योपासना पूरी करके लक्ष्मणके साथ जाकर श्रीरामके रमणीय भवनमें प्रवेश किया, जो लक्ष्मीसे सम्पन्न था ॥ ३ ॥

तमागतं वेदविदं प्राञ्जलिः सीतया सह ।
सुयज्ञमभिचक्राम राघवोऽग्निमिवार्चितम् ॥ ४ ॥

होमकालमें पूजित अग्निके समान तेजस्वी वेदवेत्ता सुयज्ञको आया जान सीतासहित श्रीरामने हाथ जोड़कर उनकी अगवानी की ॥ ४ ॥

जातरूपमयैर्मुख्यैरङ्गदैः कुण्डलैः शुभैः ।
सहेमसूत्रैर्मणिभिः केयूरैर्वलयैरपि ॥ ५ ॥
अन्यैश्च रत्नैर्बहुभिः काकुत्स्थः प्रत्यपूजयत् ।

तत्पश्चात् ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामने सोनेके बने हुए श्रेष्ठ अङ्गदों, सुन्दर कुण्डलों, सुवर्णमय सूत्रमें पिरोयी हुई मणियों, केयूरों, वलयों तथा अन्य बहुत-से रत्नोंद्वारा उनका पूजन किया ॥

सुयज्ञं स तदोवाच रामः सीताप्रचोदितः ॥ ६ ॥
हारं च हेमसूत्रं च भार्यायै सौम्य हारय ।
रशनां चाथ सा सीता दातुमिच्छति ते सखी ॥ ७ ॥

इसके बाद सीताकी प्रेरणासे श्रीरामने सुयज्ञसे कहा— 'सौम्य ! तुम्हारी पत्नीकी सखी सीता तुम्हें अपना हार, सुवर्णसूत्र और करधनी देना चाहती है। इन वस्तुओंको अपनी पत्नीके लिये ले जाओ ॥ ६-७ ॥

अङ्गदानि च चित्राणि केयूराणि शुभानि च ।
प्रयच्छति सखी तुभ्यं भार्यायै गच्छती वनम् ॥ ८ ॥

'वनको प्रस्थान करनेवाली तुम्हारी स्त्रीकी सखी सीता तुम्हें तुम्हारी पत्नीके लिये विचित्र अङ्गद और सुन्दर केयूर भी देना चाहती है ॥ ८ ॥

पर्यङ्कमग्र्यास्तरणं नानारत्नविभूषितम् ।
तमपीच्छति वैदेही प्रतिष्ठापयितुं त्वयि ॥ ९ ॥

'उत्तम बिछौनोंसे युक्त तथा नाना प्रकारके रत्नोंसे विभूषित जो पलंग है, उसे भी विदेहनन्दिनी सीता तुम्हारे ही घरमें भेज देना चाहती है ॥ ९ ॥

नागः शत्रुंजयो नाम मातुलोऽयं ददौ मम ।
तं ते निष्कसहस्रेण ददामि द्विजपुङ्गव ॥ १० ॥

विप्रवर ! शत्रुञ्जय नामक जो हाथी है, जिसे मेरे मामाने मुझे भेंट किया था, उसे एक हजार अशर्फियोंके साथ मैं तुम्हें अर्पित करता हूँ' ॥ १० ॥

इत्युक्तः स तु रामेण सुयज्ञः प्रतिगृह्य तत् ।
रामलक्ष्मणसीतानां प्रयुयोजाशिषः शिवाः ॥ ११ ॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर सुयज्ञने वे सब वस्तुएँ ग्रहण करके श्रीराम, लक्ष्मण और सीताके लिये मङ्गलमय आशीर्वाद प्रदान किये ॥ ११ ॥

अथ भ्रातरमव्यग्रं प्रियं रामः प्रियंवदम् ।
सौमित्रिं तमुवाचेदं ब्रह्मेव त्रिदशेश्वरम् ॥ १२ ॥

तदनन्तर श्रीरामने शान्तभावसे खड़े हुए और प्रिय वचन बोलनेवाले अपने प्रिय भ्राता सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे उसी तरह निम्नाङ्कित बात कही, जैसे ब्रह्मा देवराज इन्द्रसे कुछ कहते हैं ॥ १२ ॥

अगस्त्यं कौशिकं चैव तावुभौ ब्राह्मणोत्तमौ ।
अर्चयाहूय सौमित्रे रत्नैः सस्यमिवाम्बुभिः ॥ १३ ॥
तर्पयस्व महाबाहो गोसहस्रेण राघव ।
सुवर्णरजतैश्चैव मणिभिश्च महाधनैः ॥ १४ ॥

'सुमित्रानन्दन ! अगस्त्य और विश्वामित्र दोनों उत्तम ब्राह्मणोंको बुलाकर रत्नोंद्वारा उनकी पूजा करो। महाबाहु रघुनन्दन ! जैसे मेघ जलकी वर्षाद्वारा खेतीको तृप्त करता है, उसी प्रकार तुम उन्हें सहस्रों गौओं, सुवर्णमुद्राओं, रजतद्रव्यों और बहुमूल्य मणियोंद्वारा संतुष्ट करो ॥ १३-१४ ॥

कौसल्यां च य आशीर्भिर्भक्तः पर्युपतिष्ठति ।
आचार्यस्तैत्तिरीयाणामभिरूपश्च वेदवित् ॥ १५ ॥
तस्य यानं च दासीश्च सौमित्रे सम्प्रदापय ।
कौशेयानि च वस्त्राणि यावत् तुष्यति स द्विजः ॥ १६ ॥

'लक्ष्मण ! यजुर्वेदीय तैत्तिरीय शाखाका अध्ययन करनेवाले ब्राह्मणोंके जो आचार्य और सम्पूर्ण वेदोंके विद्वान् हैं, साथ ही जिनमें दानप्राप्तिकी योग्यता है तथा जो माता कौसल्याके प्रति भक्तिभाव रखकर प्रतिदिन उनके पास आकर उन्हें आशीर्वाद प्रदान करते हैं, उनको सवारी, दास-दासी, रेशमी वस्त्र और जितने धनसे वे ब्राह्मणदेवता संतुष्ट हों, उतना धन खजानेसे दिलवाओ ॥ १५-१६ ॥

सूतश्चित्ररथश्चार्यः सचिवः सुचिरोषितः ।
तोषयैनं महार्हैश्च रत्नैर्वस्त्रैर्धनैस्तथा ॥ १७ ॥
पशुकाभिश्च सर्वाभिर्गवां दशशतेन च ।

'चित्ररथ नामक सूत श्रेष्ठ सचिव भी हैं। वे सुदीर्घकालसे यहाँ राजकुलकी सेवामें रहते हैं। इनको भी तुम बहुमूल्य रत्न, वस्त्र और धन देकर संतुष्ट करो। साथ ही, इन्हें उत्तम श्रेणीके अज आदि सभी पशु और एक सहस्र गौएँ अर्पित करके पूर्ण संतोष प्रदान करो ॥ १७½ ॥

ये चेमे कठकालापा बहवो दण्डमाणवाः ॥ १८ ॥
नित्यस्वाध्यायशीलत्वान्नान्यत् कुर्वन्ति किंचन ।
अलसाः स्वादुकामाश्च महतां चापि सम्मताः ॥ १९ ॥
तेषामशीतियानानि रत्नपूर्णानि दापय ।
शालिवाहसहस्रं च द्वे शते भद्रकांस्तथा ॥ २० ॥

'मुझसे सम्बन्ध रखनेवाले जो कठशाखा और कलाप-शाखाके अध्येता बहुत-से दण्डधारी ब्रह्मचारी हैं, वे सदा स्वाध्यायमें ही संलग्न रहनेके कारण दूसरा कोई कार्य नहीं कर पाते। भिक्षा माँगनेमें आलसी हैं, परंतु स्वादिष्ट अन्न खानेकी

इच्छा रखते हैं। महान् पुरुष भी उनका सम्मान करते हैं। उनके लिये रत्नोंके बोझसे लदे हुए अस्सी ऊँट, अगहनी चावलका भार ढोनेवाले एक सहस्र बैल तथा भद्रक नामक धान्यविशेष (चने, मूँग आदि) का भार लिये हुए दो सौ बैल और दिलवाओ॥ १८—२०॥

व्यञ्जनार्थं च सौमित्रे गोसहस्रमुपाकुरु।
मेखलीनां महासङ्घः कौसल्यां समुपस्थितः।
तेषां सहस्रं सौमित्रे प्रत्येकं सम्प्रदापय॥ २१॥

'सुमित्राकुमार! उपर्युक्त वस्तुओंके सिवा उनके लिये दही, घी आदि व्यञ्जनके निमित्त एक सहस्र गौएँ भी हँकवा दो। माता कौसल्याके पास मेखलाधारी ब्रह्मचारियोंका बहुत बड़ा समुदाय आया है। उनमेंसे प्रत्येकको एक-एक हजार स्वर्णमुद्राएँ दिलवा दो॥ २१॥

अम्बा यथा नो नन्देच्च कौसल्या मम दक्षिणाम्।
तथा द्विजातींस्तान् सर्वाल्लँक्ष्मणार्चय सर्वशः॥ २२॥

'लक्ष्मण! उन समस्त ब्रह्मचारी ब्राह्मणोंको मेरेद्वारा दिलायी हुई दक्षिणा देखकर जिस प्रकार मेरी माता कौसल्या आनन्दित हो उठे, उसी प्रकार तुम उन सबकी सब प्रकारसे पूजा करो'॥ २२॥

ततः पुरुषशार्दूलस्तद् धनं लक्ष्मणः स्वयम्।
यथोक्तं ब्राह्मणेन्द्राणामददाद् धनदो यथा॥ २३॥

इस प्रकार आज्ञा प्राप्त होनेपर पुरुषसिंह लक्ष्मणने स्वयं ही कुबेरकी भाँति श्रीरामके कथनानुसार उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको उस धनका दान किया॥ २३॥

अथाब्रवीद् बाष्पगलांस्तिष्ठतश्चोपजीविनः।
स प्रदाय बहुद्रव्यमेकैकस्योपजीवनम्॥ २४॥
लक्ष्मणस्य च यद् वेश्म गृहं च यदिदं मम।
अशून्यं कार्यमेकैकं यावदागमनं मम॥ २५॥

इसके बाद वहाँ खड़े हुए अपने आश्रित सेवकोंको जिनका गला आँसुओंसे रुँधा हुआ था, बुलाकर श्रीरामने उनमेंसे एक-एकको चौदह वर्षोंतक जीविका चलानेयोग्य बहुत-सा द्रव्य प्रदान किया और उन सबसे कहा—'जबतक मैं वनसे लौटकर न आऊँ, तबतक तुमलोग लक्ष्मणके और मेरे इस घरको कभी सूना न करना—छोड़कर अन्यत्र न जाना'॥ २४-२५॥

इत्युक्त्वा दुःखितं सर्वं जनं तमुपजीविनम्।
उवाचेदं धनाध्यक्षं धनमानीयतां मम॥ २६॥

वे सब सेवक श्रीरामके वनगमनसे बहुत दुःखी थे। उनसे उपर्युक्त बात कहकर श्रीराम अपने धनाध्यक्ष (खजांची) से बोले—'खजानेमें मेरा जितना धन है, वह सब ले आओ'॥

ततोऽस्य धनमाजह्रुः सर्वमेवोपजीविनः।
स राशिः सुमहांस्तत्र दर्शनीयो ह्यदृश्यत॥ २७॥

यह सुनकर सभी सेवक उनका धन ढो-ढोकर ले आने लगे। वहाँ उस धनकी बहुत बड़ी राशि एकत्र हुई दिखायी देने लगी, जो देखने ही योग्य थी॥ २७॥

ततः स पुरुषव्याघ्रस्तद् धनं सहलक्ष्मणः।
द्विजेभ्यो बालवृद्धेभ्यः कृपणेभ्यो ह्यदापयत्॥ २८॥

तब लक्ष्मणसहित पुरुषसिंह श्रीरामने बालक और बूढ़े ब्राह्मणों तथा दीन-दुःखियोंको वह सारा धन बँटवा दिया॥

तत्रासीत् पिङ्गलो गार्ग्यस्त्रिजटो नाम वै द्विजः।
क्षतवृत्तिर्वने नित्यं फालकुद्दाललाङ्गली॥ २९॥

उन दिनों वहाँ अयोध्याके आस-पास वनमें त्रिजट नामवाले एक गर्गगोत्रीय ब्राह्मण रहते थे। उनके पास जीविकाका कोई साधन नहीं था, इसलिये उपवास आदिके कारण उनके शरीरका रंग पीला पड़ गया था। वे सदा फाल, कुदाल और हल लिये वनमें फल-मूलकी तलाशमें घूमा करते थे॥ २९॥

तं वृद्धं तरुणी भार्या बालानादाय दारकान्।
अब्रवीद् ब्राह्मणं वाक्यं स्त्रीणां भर्ता हि देवता॥ ३०॥
अपास्य फालं कुद्दालं कुरुष्व वचनं मम।
रामं दर्शय धर्मज्ञं यदि किंचिदवाप्स्यसि॥ ३१॥

वे स्वयं तो बूढ़े हो चले थे, परंतु उनकी पत्नी अभी तरुणी थी। उसने छोटे बच्चोंको लेकर ब्राह्मणदेवतासे यह बात कही—'प्राणनाथ! (यद्यपि) स्त्रियोंके लिये पति ही देवता है, (अतः मुझे आपको आदेश देनेका कोई अधिकार नहीं है, तथापि मैं आपकी भक्त हूँ; इसलिये विनयपूर्वक यह अनुरोध करती हूँ कि—) आप यह फाल और कुदाल फेंककर मेरा कहना कीजिये। धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्रजीसे मिलिये। यदि आप ऐसा करें तो वहाँ अवश्य कुछ पा जायँगे'॥ ३०-३१॥

स भार्याया वचः श्रुत्वा शाटीमाच्छाद्य दुश्छदाम्।
स प्रातिष्ठत पन्थानं यत्र रामनिवेशनम्॥ ३२॥

पत्नीकी बात सुनकर ब्राह्मण एक फटी धोती, जिससे मुश्किलसे शरीर ढक पाता था, पहनकर उस मार्गपर चल दिये, जहाँ श्रीरामचन्द्रजीका महल था॥ ३२॥

भृग्वङ्गिरःसमं दीप्त्या त्रिजटं जनसंसदि।
आपञ्चमायाः कक्ष्याया नैनं कश्चिदवारयत्॥ ३३॥

भृगु और अङ्गिराके समान तेजस्वी त्रिजट जनसमुदायके बीचसे होकर श्रीराम-भवनकी पाँचवीं ड्यौढ़ीतक चले गये, परंतु उनके लिये किसीने रोक-टोक नहीं की॥ ३३॥

स राममासाद्य तदा त्रिजटो वाक्यमब्रवीत्।
निर्धनो बहुपुत्रोऽस्मि राजपुत्र महाबल॥ ३४॥
क्षतवृत्तिर्वने नित्यं प्रत्यवेक्षस्व मामिति।

उस समय श्रीरामके पास पहुँचकर त्रिजटने कहा—'महाबली राजकुमार! मैं निर्धन हूँ, मेरे बहुत-से पुत्र हैं, जीविका नष्ट हो जानेसे सदा वनमें ही रहता हूँ, आप मुझपर कृपादृष्टि कीजिये'॥ ३४½॥

तमुवाच ततो रामः परिहाससमन्वितम्॥ ३५॥

गवां सहस्रमप्येकं न च विश्राणितं मया।
परिक्षिपसि दण्डेन यावत्तावदवाप्स्यसे ॥ ३६ ॥

तब श्रीरामने विनोदपूर्वक कहा—'ब्रह्मन्! मेरे पास असंख्य गौएँ हैं, इनमेंसे एक सहस्रका भी मैंने अभीतक किसीको दान नहीं किया है। आप अपना डंडा जितनी दूर फेंक सकेंगे, वहाँतककी सारी गौएँ आपको मिल जायँगी' ॥

स शाटीं परितः कट्यां सम्भ्रान्तः परिवेष्ट्य ताम्।
आविध्य दण्डं चिक्षेप सर्वप्राणेन वेगतः ॥ ३७ ॥

यह सुनकर उन्होंने बड़ी तेजीके साथ धोतीके पल्लेको सब ओरसे कमरमें लपेट लिया और अपनी सारी शक्ति लगाकर डंडेको बड़े वेगसे घुमाकर फेंका ॥ ३७ ॥

स तीर्त्वा सरयूपारं दण्डस्तस्य कराच्च्युतः।
गोव्रजे बहुसाहस्रे पपातोक्षणसंनिधौ ॥ ३८ ॥

ब्राह्मणके हाथसे छूटा हुआ वह डंडा सरयूके उस पार जाकर हजारों गौओंसे भरे हुए गोष्ठमें एक साँड़के पास गिरा ॥ ३८ ॥

तं परिष्वज्य धर्मात्मा आ तस्मात् सरयूतटात्।
आनयामास ता गावस्त्रिजटस्याश्रमं प्रति ॥ ३९ ॥

धर्मात्मा श्रीरामने त्रिजटको छातीसे लगा लिया और उस सरयूतटसे लेकर उस पार गिरे हुए डंडेके स्थानतक जितनी गौएँ थीं, उन सबको मँगवाकर त्रिजटके आश्रमपर भेज दिया ॥

उवाच च तदा रामस्तं गार्ग्यमभिसान्त्वयन्।
मन्युर्न खलु कर्तव्यः परिहासो ह्ययं मम ॥ ४० ॥

उस समय श्रीरामने गर्गवंशी त्रिजटको सान्त्वना देते हुए कहा—'ब्रह्मन्! मैंने विनोदमें यह बात कही थी, आप इसके लिये बुरा न मानियेगा ॥ ४० ॥

इदं हि तेजस्तव यद् दुरत्ययं
तदेव जिज्ञासितुमिच्छता मया।
इमं भवानर्थमभिप्रचोदितो
वृणीष्व किंचेदपरं व्यवस्यसि ॥ ४१ ॥

'आपका यह जो दुर्लङ्घ्य तेज है, इसीको जाननेकी इच्छासे मैंने आपको यह डंडा फेंकनेके लिये प्रेरित किया था, यदि आप और कुछ चाहते हों तो माँगिये ॥ ४१ ॥

ब्रवीमि सत्येन न ते स्म यन्त्रणां
धनं हि यद्यन्मम विप्रकारणात्।
भवत्सु सम्यक्प्रतिपादनेन
मयार्जितं चैव यशस्करं भवेत् ॥ ४२ ॥

मैं सच कहता हूँ कि इसमें आपके लिये कोई संकोचकी बात नहीं है। मेरे पास जो-जो धन है, वह सब ब्राह्मणोंके लिये ही है। आप-जैसे ब्राह्मणोंको शास्त्रीय विधिके अनुसार दान देनेसे मेरे द्वारा उपार्जित किया हुआ धन मेरे यशकी वृद्धि करनेवाला होगा' ॥ ४२ ॥

ततः सभार्यस्त्रिजटो महामुनि-
र्गवामनीकं प्रतिगृह्य मोदितः।
यशोबलप्रीतिसुखोपबृंहिणी-
स्तदाशिषः प्रत्यवदन्महात्मनः ॥ ४३ ॥

गौओंके उस महान् समूहको पाकर पत्नीसहित महामुनि त्रिजटको बड़ी प्रसन्नता हुई, वे महात्मा श्रीरामको यश, बल, प्रीति तथा सुख बढ़ानेवाले आशीर्वाद देने लगे ॥ ४३ ॥

स चापि रामः प्रतिपूर्णपौरुषो
महाधनं धर्मबलैरुपार्जितम्।
नियोजयामास सुहृज्जने चिराद्
यथार्हसम्मानवचः प्रचोदितः ॥ ४४ ॥

तदनन्तर पूर्ण पराक्रमी भगवान् श्रीराम धर्मबलसे उपार्जित किये हुए उस महान् धनको लोगोंके यथायोग्य सम्मानपूर्ण वचनोंसे प्रेरित हो बहुत देरतक अपने सुहृदोंमें बाँटते रहे ॥ ४४ ॥

द्विजः सुहृद् भृत्यजनोऽथवा तदा
दरिद्रभिक्षाचरणश्च यो भवेत्।
न तत्र कश्चिन्न बभूव तर्पितो
यथार्हसम्माननदानसम्भ्रमैः ॥ ४५ ॥

उस समय वहाँ कोई भी ब्राह्मण, सुहृद्, सेवक, दरिद्र अथवा भिक्षुक ऐसा नहीं था, जो श्रीरामके यथायोग्य सम्मान, दान तथा आदर-सत्कारसे तृप्त न किया गया हो ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

—★—

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

सीता और लक्ष्मणसहित श्रीरामका दुःखी नगरवासियोंके मुखसे तरह-तरहकी बातें सुनते हुए पिताके दर्शनके लिये कैकेयीके महलमें जाना

दत्त्वा तु सह वैदेह्या ब्राह्मणेभ्यो धनं बहु।
जग्मतुः पितरं द्रष्टुं सीतया सह राघवौ ॥ १ ॥

विदेहकुमारी सीताके साथ श्रीराम और लक्ष्मण ब्राह्मणोंको बहुत-सा धन दान करके वन जानेके लिये उद्यत हो पिताका दर्शन करनेके लिये गये ॥ १ ॥

ततो गृहीते प्रेष्याभ्यामशोभेतां तदायुधे।
मालादामभिरासक्ते सीतया समलंकृते ॥ २ ॥

उनके साथ दो सेवक श्रीराम और लक्ष्मणके वे धनुष

आदि आयुध लेकर चले, जिन्हें फूलकी मालाओंसे सजाया गया था और सीताजीने पूजाके लिये चढ़ाये हुए चन्दन आदिसे अलंकृत किया था। उन दोनोंके आयुधोंको उस समय बड़ी शोभा हो रही थी॥ २॥

ततः प्रासादहर्म्याणि विमानशिखराणि च।
अभिरुह्य जनः श्रीमानुदासीनो व्यलोकयत्॥ ३॥

उस अवसरपर धनी लोग प्रासादों (तिमंजिले महलों), हर्म्यगृहों (राजभवनों) तथा विमानों (सात मंजिले महलों) की ऊपरी छतोंपर चढ़कर उदासीन भावसे उन तीनोंकी ओर देखने लगे॥ ३॥

न हि रथ्याः सुशक्यन्ते गन्तुं बहुजनाकुलाः।
आरुह्य तस्मात् प्रासादाद् दीनाः पश्यन्ति राघवम्॥ ४॥

उस समय सड़कें मनुष्योंकी भीड़से भरी थीं। इसलिये उनपर सुगमतापूर्वक चलना कठिन हो गया था। अतः अधिकांश मनुष्य प्रासादों (तिमंजिले मकानों) पर चढ़कर वहींसे दुःखी होकर श्रीरामचन्द्रजीकी ओर देख रहे थे॥ ४॥

पदातिं सानुजं दृष्ट्वा ससीतं च जनास्तदा।
ऊचुर्बहुजना वाचः शोकोपहतचेतसः॥ ५॥

श्रीरामको अपने छोटे भाई लक्ष्मण और पत्नी सीताके साथ पैदल जाते देख बहुत-से मनुष्योंका हृदय शोकसे व्याकुल हो उठा। वे खेदपूर्वक कहने लगे—॥ ५॥

यं यान्तमनुयाति स्म चतुरङ्गबलं महत्।
तमेकं सीतया सार्धमनुयाति स्म लक्ष्मणः॥ ६॥

'हाय! यात्राके समय जिनके पीछे विशाल चतुरङ्गिणी सेना चलती थी, वे ही श्रीराम आज अकेले जा रहे हैं और उनके पीछे सीताके साथ लक्ष्मण चल रहे हैं॥ ६॥

ऐश्वर्यस्य रसज्ञः सन् कामानां चाकरो महान्।
नेच्छत्येवानृतं कर्तुं वचनं धर्मगौरवात्॥ ७॥

'जो ऐश्वर्यके सुखका अनुभव करनेवाले तथा भोग्य वस्तुओंके महान् भण्डार थे—जहाँ सबकी कामनाएँ पूर्ण होती थीं, वे ही श्रीराम आज धर्मका गौरव रखनेके लिये पिताकी बात झूठी करना नहीं चाहते हैं॥ ७॥

या न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि।
तामद्य सीतां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः॥ ८॥

'ओह! पहले जिसे आकाशमें विचरनेवाले प्राणी भी नहीं देख पाते थे, उसी सीताको इस समय सड़कोंपर खड़े हुए लोग देख रहे हैं॥ ८॥

अङ्गरागोचितां सीतां रक्तचन्दनसेविनीम्।
वर्षमुष्णं च शीतं च नेष्यन्त्याशु विवर्णताम्॥ ९॥

'सीता अङ्गराग-सेवनके योग्य हैं, लाल चन्दनका सेवन करनेवाली हैं। अब वर्षा, गर्मी और सर्दी शीघ्र ही इनके अङ्गोंकी कान्ति फीकी कर देगी॥ ९॥

अद्य नूनं दशरथः सत्त्वमाविश्य भाषते।
नहि राजा प्रियं पुत्रं विवासयितुमर्हति॥ १०॥

'निश्चय ही आज राजा दशरथ किसी पिशाचके आवेशमें पड़कर अनुचित बात कह रहे हैं; क्योंकि अपनी स्वाभाविक स्थितिमें रहनेवाला कोई भी राजा अपने प्यारे पुत्रको घरसे निकाल नहीं सकता॥ १०॥

निर्गुणस्यापि पुत्रस्य कथं स्याद् विनिवासनम्।
किं पुनर्यस्य लोकोऽयं जितो वृत्तेन केवलम्॥ ११॥

'पुत्र यदि गुणहीन हो तो भी उसे घरसे निकाल देनेका साहस कैसे हो सकता है? फिर जिसके केवल चरित्रसे ही यह सारा संसार वशीभूत हो जाता है, उसको वनवास देनेकी तो बात ही कैसे की जा सकती है?॥ ११॥

आनृशंस्यमनुक्रोशः श्रुतं शीलं दमः शमः।
राघवं शोभयन्त्येते षड्गुणाः पुरुषर्षभम्॥ १२॥

'क्रूरताका अभाव, दया, विद्या, शील, दम (इन्द्रिय-संयम) और शम (मनोनिग्रह)—ये छः गुण नरश्रेष्ठ श्रीरामको सदा ही सुशोभित करते हैं॥ १२॥

तस्मात् तस्योपघातेन प्रजाः परमपीडिताः।
औदकानीव सत्त्वानि ग्रीष्मे सलिलसंक्षयात्॥ १३॥

'अतः इनके ऊपर आघात करने—इनके राज्याभिषेकमें विघ्न डालनेसे प्रजाको उसी तरह महान् क्लेश पहुँचा है, जैसे गर्मीमें जलाशयका पानी सूख जानेसे उसके भीतर रहनेवाले जीव तड़पने लगते हैं॥ १३॥

पीडया पीडितं सर्वं जगदस्य जगत्पतेः।
मूलस्येवोपघातेन वृक्षः पुष्पफलोपगः॥ १४॥

'इन जगदीश्वर श्रीरामकी व्यथासे सम्पूर्ण जगत् व्यथित हो उठा है, जैसे जड़ काट देनेसे पुष्प और फलसहित सारा वृक्ष सूख जाता है॥ १४॥

मूलं ह्येष मनुष्याणां धर्मसारो महाद्युतिः।
पुष्पं फलं च पत्रं च शाखाश्चास्येतरे जनाः॥ १५॥

'ये महान् तेजस्वी श्रीराम सम्पूर्ण मनुष्योंके मूल हैं, धर्म ही इनका बल है। जगत्‌के दूसरे प्राणी पत्र, पुष्प, फल और शाखाएँ हैं॥ १५॥

ते लक्ष्मण इव क्षिप्रं सपत्न्यः सहबान्धवाः।
गच्छन्तमनुगच्छामो येन गच्छति राघवः॥ १६॥

'अतः हमलोग भी लक्ष्मणकी भाँति पत्नी और बन्धुबान्धवोंके साथ शीघ्र ही इन जानेवाले श्रीरामके ही पीछे-पीछे चल दें। जिस मार्गसे श्रीरघुनाथजी जा रहे हैं, उसीका हम भी अनुसरण करें॥ १६॥

उद्यानानि परित्यज्य क्षेत्राणि च गृहाणि च।
एकदुःखसुखा राममनुगच्छाम धार्मिकम्॥ १७॥

'बाग-बगीचे, घर-द्वार और खेती-बारी—सब छोड़कर धर्मात्मा श्रीरामका अनुगमन करें। इनके दुःख-सुखके साथी बनें॥

समुद्धृतनिधानानि परिध्वस्ताजिराणि च।
उपात्तधनधान्यानि हृतसाराणि सर्वशः॥ १८॥
रजसाभ्यवकीर्णानि परित्यक्तानि दैवतैः।
मूषकैः परिधावद्भिरुद्बिलैरावृतानि च॥ १९॥
अपेतोदकधूमानि हीनसम्मार्जनानि च।
प्रणष्टबलिकर्मेज्यामन्त्रहोमजपानि च॥ २०॥
दुष्कालेनेव भग्नानि भिन्नभाजनवन्ति च।
अस्मत्त्यक्तानि कैकेयी वेश्मानि प्रतिपद्यताम्॥ २१॥

'हम अपने घरोंकी गड़ी हुई निधि निकालें। आँगनकी फर्श खोद डालें। सारा धन-धान्य साथ ले लें। सारी आवश्यक वस्तुएँ हटा लें। इनमें चारों ओर धूल भर जाय। देवता इन घरोंको छोड़कर भाग जायँ। चूहे बिलसे बाहर निकलकर इनमें चारों ओर दौड़ लगाने लगें और उनसे ये घर भर जायँ। इनमें न कभी आग जले, न पानी रहे और न झाड़ू ही लगे। यहाँ बलिवैश्वदेव, यज्ञ, मन्त्रपाठ, होम और जप बंद हो जाय। मानो बड़ा भारी अकाल पड़ गया हो, इस प्रकार ये सारे घर ढह जायँ। इनमें टूटे बर्तन बिखरे पड़े हों और हम सदाके लिये इन्हें छोड़ दें—ऐसी दशामें इन घरोंपर कैकेयी आकर अधिकार कर ले॥ १८—२१॥

वनं नगरमेवास्तु येन गच्छति राघवः।
अस्माभिश्च परित्यक्तं पुरं सम्पद्यतां वनम्॥ २२॥

'जहाँ पहुँचनेके लिये ये श्रीरामचन्द्रजी जा रहे हैं, वह वन ही नगर हो जाय और हमारे छोड़ देनेपर यह नगर भी वनके रूपमें परिणत हो जाय॥ २२॥

बिलानि दंष्ट्रिणः सर्वे सानूनि मृगपक्षिणः।
त्यजन्त्वस्मद्भयाद्भीता गजाः सिंहा वनान्यपि॥ २३॥

'वनमें हमलोगोंके भयसे साँप अपने बिल छोड़कर भाग जायँ। पर्वतपर रहनेवाले मृग और पक्षी उसके शिखरोंको छोड़ दें तथा हाथी और सिंह भी उन वनोंको त्यागकर दूर चले जायँ॥ २३॥

अस्मत्त्यक्तं प्रपद्यन्तु सेव्यमानं त्यजन्तु च।
तृणमांसफलादानां देशं व्यालमृगद्विजम्॥ २४॥
प्रपद्यतां हि कैकेयी सपुत्रा सह बान्धवैः।
राघवेण वयं सर्वे वने वत्स्याम निर्वृताः॥ २५॥

'वे सर्प आदि उन स्थानोंमें चले जायँ, जिन्हें हमलोगोंने छोड़ रखा है और उन स्थानोंको त्याग दें, जिनका हम सेवन करते हैं। यह देश घास चरनेवाले पशुओं, मांसभक्षी हिंसक जन्तुओं और फल खानेवाले पक्षियोंका निवासस्थान बन जाय। यहाँ सर्प, पशु और पक्षी रहने लगें। उस दशामें पुत्र और बन्धु-बान्धवोंसहित कैकेयी इसे अपने अधिकारमें कर ले। हम सब लोग वनमें श्रीरघुनाथजीके साथ बड़े आनन्दसे रहेंगे'॥ २४-२५॥

इत्येवं विविधा वाचो नानाजनसमीरिताः।
शुश्राव राघवः श्रुत्वा न विचक्रेऽस्य मानसम्॥ २६॥
स तु वेश्म पुनर्मातुः कैलासशिखरप्रभम्।
अभिचक्राम धर्मात्मा मत्तमातङ्गविक्रमः॥ २७॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीने बहुत-से मनुष्योंके मुँहसे निकली हुई तरह-तरहकी बातें सुनीं; किंतु सुनकर भी उनके मनमें कोई विकार नहीं हुआ। मतवाले गजराजके समान पराक्रमी धर्मात्मा श्रीराम पुनः माता कैकेयीके कैलासशिखरके सदृश शुभ्र भवनमें गये॥ २६-२७॥

विनीतवीरपुरुषं प्रविश्य तु नृपालयम्।
ददर्शावस्थितं दीनं सुमन्त्रमविदूरतः॥ २८॥

विनयशील वीर पुरुषोंसे युक्त उस राजभवनमें प्रवेश करके उन्होंने देखा—सुमन्त्र पास ही दुःखी होकर खड़े हैं॥ २८॥

प्रतीक्षमाणोऽभिजनं तदार्त-
मनार्तरूपः प्रहसन्निवाथ।
जगाम रामः पितरं दिदृक्षुः
पितुर्निदेशं विधिवच्चिकीर्षुः॥ २९॥

पुरवासियोंकी निवासभूमि अवधके मनुष्य वहाँ शोकसे आतुर होकर खड़े थे। उन्हें देखकर भी श्रीराम स्वयं शोकसे पीड़ित नहीं हुए—उनके शरीरपर व्यथाका कोई चिह्न प्रकट नहीं हुआ। वे पिताकी आज्ञाका विधिपूर्वक पालन करनेकी इच्छासे उनका दर्शन करनेके लिये हँसते हुए-से आगे बढ़े॥ २९॥

तत्पूर्वमैक्ष्वाकसुतो महात्मा
रामो गमिष्यन् नृपमार्तरूपम्।
व्यतिष्ठत प्रेक्ष्य तदा सुमन्त्रं
पितुर्महात्मा प्रतिहारणार्थम्॥ ३०॥

शोकाकुलरूपसे पड़े हुए राजाके पास जानेवाले महात्मा महामना इक्ष्वाकुकुलनन्दन श्रीराम वहाँ पहुँचनेसे पहले सुमन्त्रको देखकर पिताके पास अपने आगमनकी सूचना भेजनेके लिये उस समय वहीं ठहर गये॥ ३०॥

पितुर्निदेशेन तु धर्मवत्सलो
वनप्रवेशे कृतबुद्धिनिश्चयः।
स राघवः प्रेक्ष्य सुमन्त्रमब्रवी-
न्निवेदयस्वागमनं नृपाय मे॥ ३१॥

पिताके आदेशसे वनमें प्रवेश करनेका बुद्धिपूर्वक निश्चय करके आये हुए धर्मवत्सल श्रीरामचन्द्रजी सुमन्त्रकी ओर देखकर बोले—'आप महाराजको मेरे आगमनकी सूचना दे दें'॥ ३१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रयस्त्रिंशः सर्गः॥ ३३॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३३॥

—★—

चतुस्त्रिंशः सर्गः

सीता और लक्ष्मणसहित श्रीरामका रानियोंसहित राजा दशरथके पास जाकर वनवासके लिये विदा माँगना, राजाका शोक और मूर्च्छा, श्रीरामका उन्हें समझाना तथा राजाका श्रीरामको हृदयसे लगाकर पुनः मूर्च्छित हो जाना

ततः कमलपत्राक्षः श्यामो निरुपमो महान्।
उवाच रामस्तं सूतं पितुराख्याहि मामिति॥ १॥
स रामप्रेषितः क्षिप्रं संतापकलुषेन्द्रियम्।
प्रविश्य नृपतिं सूतो निःश्वसन्तं ददर्श ह॥ २॥

तब कमलनयन श्यामसुन्दर उपमारहित महापुरुष श्रीरामने सूत सुमन्त्रसे कहा—'आप पिताजीको मेरे आगमनकी सूचना दे दीजिये' तब श्रीरामकी प्रेरणासे शीघ्र ही भीतर जाकर सारथि सुमन्त्रने राजाका दर्शन किया। उनकी सारी इन्द्रियाँ संतापसे कलुषित हो रही थीं। वे लम्बी साँस खींच रहे थे॥ १-२॥

उपरक्तमिवादित्यं भस्मच्छन्नमिवानलम्।
तटाकमिव निस्तोयमपश्यज्जगतीपतिम्॥ ३॥
आलोक्य च महाप्राज्ञः परमाकुलचेतनम्।
राममेवानुशोचन्तं सूतः प्राञ्जलिरब्रवीत्॥ ४॥

सुमन्त्रने देखा, पृथ्वीपति महाराज दशरथ राहुग्रस्त सूर्य, राखसे ढकी हुई आग तथा जलशून्य तालाबके समान श्रीहीन हो रहे हैं। उनका चित्त अत्यन्त व्याकुल है और वे श्रीरामका ही चिन्तन कर रहे हैं। तब महाप्राज्ञ सूतने महाराजको सम्बोधित करके हाथ जोड़कर कहा॥ ३-४॥

तं वर्धयित्वा राजानं पूर्वं सूतो जयाशिषा।
भयविक्लवया वाचा मन्दया श्लक्ष्णयाब्रवीत्॥ ५॥

पहले तो सूत सुमन्त्रने विजयसूचक आशीर्वाद देते हुए महाराजकी अभ्युदय-कामना की; फिर भयसे व्याकुल मन्द-मधुर वाणीद्वारा यह बात कही—॥ ५॥

अयं स पुरुषव्याघ्रो द्वारि तिष्ठति ते सुतः।
ब्राह्मणेभ्यो धनं दत्त्वा सर्वं चैवोपजीविनाम्॥ ६॥
स त्वां पश्यतु भद्रं ते रामः सत्यपराक्रमः।
सर्वान् सुहृद आपृच्छ्य त्वां हीदानीं दिदृक्षते॥ ७॥
गमिष्यति महारण्यं तं पश्य जगतीपते।
वृतं राजगुणैः सर्वैरादित्यमिव रश्मिभिः॥ ८॥

'पृथ्वीनाथ! आपके पुत्र ये सत्यपराक्रमी पुरुषसिंह श्रीराम ब्राह्मणों तथा आश्रित सेवकोंको अपना सारा धन देकर द्वारपर खड़े हैं। आपका कल्याण हो, ये अपने सब सुहृदोंसे मिलकर—उनसे विदा लेकर इस समय आपका दर्शन करना चाहते हैं। आज्ञा हो तो यहाँ आकर आपका दर्शन करें। राजन्! अब ये विशाल वनमें चले जायँगे, अतः किरणोंसे युक्त सूर्यकी भाँति समस्त राजोचित गुणोंसे सम्पन्न इन श्रीरामको आप भी जी भरकर देख लीजिये'॥

स सत्यवाक्यो धर्मात्मा गाम्भीर्यात् सागरोपमः।
आकाश इव निष्पङ्को नरेन्द्रः प्रत्युवाच तम्॥ ९॥

यह सुनकर समुद्रके समान गम्भीर तथा आकाशकी भाँति निर्मल, सत्यवादी धर्मात्मा महाराज दशरथने उन्हें उत्तर दिया—॥ ९॥

सुमन्त्रानय मे दारान् ये केचिदिह मामकाः।
दारैः परिवृतः सर्वैर्द्रष्टुमिच्छामि राघवम्॥ १०॥

'सुमन्त्र! यहाँ जो कोई भी मेरी स्त्रियाँ हैं, उन सबको बुलाओ। उन सबके साथ मैं श्रीरामको देखना चाहता हूँ'॥

सोऽन्तःपुरमतीत्यैव स्त्रियस्ता वाक्यमब्रवीत्।
आर्यो ह्वयति वो राजा गम्यतां तत्र मा चिरम्॥ ११॥

तब सुमन्त्रने बड़े वेगसे अन्तःपुरमें जाकर सब स्त्रियोंसे कहा—'देवियो! आपलोगोंको महाराज बुला रहे हैं, अतः वहाँ शीघ्र चलें'॥ ११॥

एवमुक्ताः स्त्रियः सर्वाः सुमन्त्रेण नृपाज्ञया।
प्रचक्रमुस्तद् भवनं भर्तुराज्ञाय शासनम्॥ १२॥

राजाकी आज्ञासे सुमन्त्रके ऐसा कहनेपर वे सब रानियाँ स्वामीका आदेश समझकर उस भवनकी ओर चलीं॥ १२॥

अर्धसप्तशतास्तत्र प्रमदास्ताम्रलोचनाः।
कौसल्यां परिवार्याथ शनैर्जग्मुर्धृतव्रताः॥ १३॥

कुछ-कुछ लाल नेत्रोंवाली साढ़े तीन सौ पतिव्रता युवती स्त्रियाँ महारानी कौसल्याको सब ओरसे घेरकर धीरे-धीरे उस भवनमें गयीं॥ १३॥

आगतेषु च दारेषु समवेक्ष्य महीपतिः।
उवाच राजा तं सूतं सुमन्त्रानय मे सुतम्॥ १४॥

उन सबके आ जानेपर उन्हें देखकर पृथ्वीपति राजा दशरथने सूतसे कहा—'सुमन्त्र! अब मेरे पुत्रको ले आओ'॥ १४॥

स सूतो राममादाय लक्ष्मणं मैथिलीं तथा।
जगामाभिमुखस्तूर्णं सकाशं जगतीपतेः॥ १५॥

आज्ञा पाकर सुमन्त्र गये और श्रीराम, लक्ष्मण तथा सीताको साथ लेकर शीघ्र ही महाराजके पास लौट आये॥ १५॥

स राजा पुत्रमायान्तं दृष्ट्वा चारात् कृताञ्जलिम्।
उत्पपातासनात् तूर्णमार्तः स्त्रीजनसंवृतः॥ १६॥

महाराज दूरसे ही अपने पुत्रको हाथ जोड़कर आते देख सहसा अपने आसनसे उठ खड़े हुए। उस समय स्त्रियोंसे घिरे हुए वे नरेश शोकसे आर्त हो रहे थे॥ १६॥

सोऽभिदुद्राव वेगेन रामं दृष्ट्वा विशाम्पतिः।
तमसम्प्राप्य दुःखार्तः पपात भुवि मूर्च्छितः॥ १७॥

श्रीरामको देखते ही वे प्रजापालक महाराज बड़े वेगसे उनकी ओर दौड़े, किंतु उनके पास पहुँचनेके पहले ही दुःखसे व्याकुल हो पृथ्वीपर गिर पड़े और मूर्च्छित हो गये॥ १७॥

तं रामोऽभ्यपतत् क्षिप्रं लक्ष्मणश्च महारथः।
विसंज्ञमिव दुःखेन सशोकं नृपतिं तथा॥ १८॥

उस समय श्रीराम और महारथी लक्ष्मण बड़ी तेजीसे चलकर दुःखके कारण अचेत-से हुए शोकमग्न महाराजके पास जा पहुँचे॥ १८॥

स्त्रीसहस्रनिनादश्च संजज्ञे राजवेश्मनि।
हा हा रामेति सहसा भूषणध्वनिमिश्रितः॥ १९॥

इतनेहीमें उस राजभवनके भीतर सहसा आभूषणोंकी ध्वनिके साथ सहस्रों स्त्रियोंका 'हा राम! हा राम!' यह आर्तनाद गूँज उठा॥ १९॥

तं परिष्वज्य बाहुभ्यां तावुभौ रामलक्ष्मणौ।
पर्यङ्के सीतया सार्धं रुदन्तः समवेशयन्॥ २०॥

श्रीराम और लक्ष्मण दोनों भाई भी सीताके साथ रो पड़े और उन तीनोंने महाराजको दोनों भुजाओंसे उठाकर पलंगपर बिठा दिया॥ २०॥

अथ रामो मुहूर्तस्य लब्धसंज्ञं महीपतिम्।
उवाच प्राञ्जलिर्बाष्पशोकार्णवपरिप्लुतम्॥ २१॥

शोकाश्रुके सागरमें डूबे हुए महाराज दशरथको दो घड़ीमें जब फिर चेत हुआ, तब श्रीरामने हाथ जोड़कर उनसे कहा—॥ २१॥

आपृच्छे त्वां महाराज सर्वेषामीश्वरोऽसि नः।
प्रस्थितं दण्डकारण्यं पश्य त्वं कुशलेन माम्॥ २२॥

'महाराज! आप हमलोगोंके स्वामी हैं। मैं दण्डकारण्यको जा रहा हूँ और आपसे आज्ञा लेने आया हूँ। आप अपनी कल्याणमयी दृष्टिसे मेरी ओर देखिये॥ २२॥

लक्ष्मणं चानुजानीहि सीता चान्वेतु मां वनम्।
कारणैर्बहुभिस्तथ्यैर्वार्यमाणौ न चेच्छतः॥ २३॥
अनुजानीहि सर्वान् नः शोकमुत्सृज्य मानद।
लक्ष्मणं मां च सीतां च प्रजापतिरिवात्मजान्॥ २४॥

'मेरे साथ लक्ष्मणको भी वनमें जानेकी आज्ञा दीजिये। साथ ही यह भी स्वीकार कीजिये कि सीता भी मेरे साथ वनको जाय। मैंने बहुत-से सच्चे कारण बताकर इन दोनोंको रोकनेकी चेष्टा की है, परंतु ये यहाँ रहना नहीं चाहते हैं; अतः दूसरोंको मान देनेवाले नरेश! आप शोक छोड़कर हम सबको—मुझको, लक्ष्मणको और सीताको भी उसी तरह वनमें जानेकी आज्ञा दीजिये, जैसे ब्रह्माजीने अपने पुत्र सनकादिकोंको तपके लिये वनमें जानेकी अनुमति दी थी'॥ २४॥

प्रतीक्षमाणमव्यग्रमनुज्ञां जगतीपतेः।
उवाच राजा सम्प्रेक्ष्य वनवासाय राघवम्॥ २५॥

इस प्रकार शान्तभावसे वनवासके लिये राजाकी आज्ञाकी प्रतीक्षा करते हुए श्रीरामचन्द्रजीकी ओर देखकर महाराजने उनसे कहा—॥ २५॥

अहं राघव कैकेय्या वरदानेन मोहितः।
अयोध्यायां त्वमेवाद्य भव राजा निगृह्य माम्॥ २६॥

'रघुनन्दन! मैं कैकेयीको दिये हुए वरके कारण मोहमें पड़ गया हूँ। तुम मुझे कैद करके स्वयं ही अब अयोध्याके राजा बन जाओ'॥ २६॥

एवमुक्तो नृपतिना रामो धर्मभृतां वरः।
प्रत्युवाचाञ्जलिं कृत्वा पितरं वाक्यकोविदः॥ २७॥

महाराजके ऐसा कहनेपर बातचीत करनेमें कुशल धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ श्रीरामने दोनों हाथ जोड़कर पिताको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ २७॥

भवान् वर्षसहस्राय पृथिव्या नृपते पतिः।
अहं त्वरण्ये वत्स्यामि न मे राज्यस्य काङ्क्षिता॥ २८॥

'महाराज! आप सहस्रों वर्षोंतक इस पृथ्वीके अधिपति बने रहें। मैं तो अब वनमें ही निवास करूँगा। मुझे राज्य लेनेकी इच्छा नहीं है॥ २८॥

नव पञ्च च वर्षाणि वनवासे विहृत्य ते।
पुनः पादौ ग्रहीष्यामि प्रतिज्ञान्ते नराधिप॥ २९॥

'नरेश्वर! चौदह वर्षोंतक वनमें घूम-फिरकर आपकी प्रतिज्ञा पूरी कर लेनेके पश्चात् मैं पुनः आपके युगल चरणोंमें मस्तक झुकाऊँगा'॥ २९॥

रुदन्नार्तः प्रियं पुत्रं सत्यपाशेन संयुतः।
कैकेय्या चोद्यमानस्तु मिथो राजा तमब्रवीत्॥ ३०॥

राजा दशरथ एक तो सत्यके बन्धनमें बँधे हुए थे, दूसरे एकान्तमें कैकेयी उन्हें श्रीरामको वनमें तुरंत भेजनेके लिये बाध्य कर रही थी—इस अवस्थामें वे आर्तभावसे रोते हुए वहाँ अपने प्रिय पुत्र श्रीरामसे बोले—॥ ३०॥

श्रेयसे वृद्धये तात पुनरागमनाय च।
गच्छस्वारिष्टमव्यग्रः पन्थानमकुतोभयम्॥ ३१॥

'तात! तुम कल्याणके लिये, वृद्धिके लिये और फिर लौट आनेके लिये शान्तभावसे जाओ। तुम्हारा मार्ग विघ्न-बाधाओंसे रहित और निर्भय हो॥ ३१॥

न हि सत्यात्मनस्तात धर्माभिमनसस्तव।
संनिवर्तयितुं बुद्धिः शक्यते रघुनन्दन॥ ३२॥
अद्य त्विदानीं रजनीं पुत्र मा गच्छ सर्वथा।
एकाहं दर्शनेनापि साधु तावच्चराम्यहम्॥ ३३॥

'बेटा रघुनन्दन! तुम सत्यस्वरूप और धर्मात्मा हो। तुम्हारे विचारको पलटना तो असम्भव है; परंतु रातभर और रह जाओ। सिर्फ एक रातके लिये सर्वथा अपनी यात्रा रोक

दो। केवल एक दिन भी तो तुम्हें देखनेका सुख उठा लूँ॥

मातरं मां च सम्पश्यन् वसेमामद्य शर्वरीम्।
तर्पितः सर्वकामैस्त्वं श्वः काल्ये साधयिष्यसि ॥ ३४ ॥

'अपनी माताको और मुझको इस अवस्थामें देखकर आजकी इस रातमें यहीं रह जाओ। मेरे द्वारा सम्पूर्ण अभिलषित वस्तुओंसे तृप्त होकर कल प्रातःकाल यहाँसे जाना ॥ ३४ ॥

दुष्करं क्रियते पुत्र सर्वथा राघव प्रिय।
त्वया हि मत्प्रियार्थं तु वनमेवमुपाश्रितम् ॥ ३५ ॥

'मेरे प्रिय पुत्र श्रीराम! तुम सर्वथा दुष्कर कार्य कर रहे हो। मेरा प्रिय करनेके लिये ही तुमने इस प्रकार वनका आश्रय लिया है ॥ ३५ ॥

न चैतन्मे प्रियं पुत्र शपे सत्येन राघव।
छन्नया चलितस्त्वस्मि स्त्रिया भस्माग्निकल्पया ॥ ३६ ॥
वञ्चना या तु लब्धा मे तां त्वं निस्तर्तुमिच्छसि।
अनया वृत्तसादिन्या कैकेय्याभिप्रचोदितः ॥ ३७ ॥

'परंतु बेटा रघुनन्दन! मैं सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ कि यह मुझे प्रिय नहीं है। मुझे तुम्हारा वनमें जाना अच्छा नहीं लगता। यह मेरी स्त्री कैकेयी राखमें छिपी हुई आगके समान भयंकर है। इसने अपने क्रूर अभिप्रायको छिपा रखा था। इसीने आज मुझे मेरे अभीष्ट संकल्पसे विचलित कर दिया है। कुलोचित सदाचारका विनाश करनेवाली इस कैकेयीने मुझे वरदानके लिये प्रेरित करके मेरे साथ बहुत बड़ा धोखा किया है। इसके द्वारा जो वञ्चना मुझे प्राप्त हुई है, उसीको तुम पार करना चाहते हो ॥ ३६-३७ ॥

न चैतदाश्चर्यतमं यत् त्वं ज्येष्ठः सुतो मम।
अपानृतकथं पुत्र पितरं कर्तुमिच्छसि ॥ ३८ ॥

'पुत्र! तुम अपने पिताको सत्यवादी बनाना चाहते हो। तुम्हारे लिये यह कोई अधिक आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि तुम गुण और अवस्था दोनों ही दृष्टियोंसे मेरे ज्येष्ठ पुत्र हो' ॥ ३८ ॥

अथ रामस्तदा श्रुत्वा पितुरार्तस्य भाषितम्।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा दीनो वचनमब्रवीत् ॥ ३९ ॥

अपने शोकाकुल पिताका यह कथन सुनकर उस समय छोटे भाई लक्ष्मणसहित श्रीरामने दुःखी होकर कहा— ॥ ३९ ॥

प्राप्स्यामि यानद्य गुणान् को मे श्वस्तान् प्रदास्यति।
अपक्रमणमेवातः सर्वकामैरहं वृणे ॥ ४० ॥

'महाराज! आज यात्रा करके मैं जिन गुणों (लाभों) को पाऊँगा, उन्हें कल कौन मुझे देगा?* अतः मैं सम्पूर्ण कामनाओंके बदले आज यहाँसे निकल जाना ही अच्छा समझता हूँ और इसीका वरण करता हूँ ॥ ४० ॥

इयं सराष्ट्रा सजना धनधान्यसमाकुला।
मया विसृष्टा वसुधा भरताय प्रदीयताम् ॥ ४१ ॥

'राष्ट्र और यहाँके निवासी मनुष्योंसहित धन-धान्यसे सम्पन्न यह सारी पृथ्वी मैंने छोड़ दी। आप इसे भरतको दे दें ॥ ४१ ॥

वनवासकृता बुद्धिर्न च मेऽद्य चलिष्यति।
यस्तु युद्धे वरो दत्तः कैकेय्यै वरद त्वया ॥ ४२ ॥
दीयतां निखिलेनैव सत्यस्त्वं भव पार्थिव।

'मेरा वनवासविषयक निश्चय अब बदल नहीं सकेगा। वरदायक नरेश! आपने देवासुर-संग्राममें कैकेयीको जो वर देनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसे पूर्णरूपसे दीजिये और सत्यवादी बनिये ॥ ४२ 1/2 ॥

अहं निदेशं भवतो यथोक्तमनुपालयन् ॥ ४३ ॥
चतुर्दश समा वत्स्ये वने वनचरैः सह।
मा विमर्शो वसुमती भरताय प्रदीयताम् ॥ ४४ ॥

'मैं आपकी उक्त आज्ञाका पालन करता हुआ चौदह वर्षोंतक वनमें वनचारी प्राणियोंके साथ निवास करूँगा। आपके मनमें कोई अन्यथा विचार नहीं होना चाहिये। आप यह सारी पृथ्वी भरतको दे दीजिये ॥ ४३-४४ ॥

नहि मे काङ्क्षितं राज्यं सुखमात्मनि वा प्रियम्।
यथानिदेशं कर्तुं वै तवैव रघुनन्दन ॥ ४५ ॥

'रघुनन्दन! मैंने अपने मनको सुख देने अथवा स्वजनोंका प्रिय करनेके उद्देश्यसे राज्य लेनेकी इच्छा नहीं की थी। आपकी आज्ञाका यथावत्‌रूपसे पालन करनेके लिये ही मैंने उसे ग्रहण करनेकी अभिलाषा की थी ॥ ४५ ॥

अपगच्छतु ते दुःखं मा भूर्बाष्पपरिप्लुतः।
नहि क्षुभ्यति दुर्धर्षः समुद्रः सरितां पतिः ॥ ४६ ॥

'आपका दुःख दूर हो जाय, आप इस प्रकार आँसू न बहावें। सरिताओंका स्वामी दुर्धर्ष समुद्र क्षुब्ध नहीं होता है—अपनी मर्यादाका त्याग नहीं करता है (इसी तरह आपको भी क्षुब्ध नहीं होना चाहिये) ॥ ४६ ॥

नैवाहं राज्यमिच्छामि न सुखं न च मेदिनीम्।
नैव सर्वानिमान् कामान् न स्वर्गं न च जीवितुम् ॥ ४७ ॥

'मुझे न तो इस राज्यकी, न सुखकी, न पृथ्वीकी, न इन सम्पूर्ण भोगोंकी, न स्वर्गकी और न जीवनकी ही इच्छा है ॥ ४७ ॥

---

* 'प्राप्स्यामि……' इस आधे श्लोकका अर्थ यह भी हो सकता है कि आज यहाँ रहकर जिन उत्तमोत्तम अभीष्ट पदार्थोंको मैं पाऊँगा, उन्हें कलसे कौन देगा?

त्वामहं सत्यमिच्छामि नानृतं पुरुषर्षभ।
प्रत्यक्षं तव सत्येन सुकृतेन च ते शपे॥ ४८॥

'पुरुषशिरोमणे! मेरे मनमें यदि कोई इच्छा है तो यही कि आप सत्यवादी बनें। आपका वचन मिथ्या न होने पावे। यह बात मैं आपके सामने सत्य और शुभ कर्मोंकी शपथ खाकर कहता हूँ॥ ४८॥

न च शक्यं मया तात स्थातुं क्षणमपि प्रभो।
स शोकं धारयस्वेमं नहि मेऽस्ति विपर्ययः॥ ४९॥

'तात! प्रभो! अब मैं यहाँ एक क्षण भी नहीं ठहर सकता। अतः आप इस शोकको अपने भीतर ही दबा लें। मैं अपने निश्चयके विपरीत कुछ नहीं कर सकता॥ ४९॥

अर्थितो ह्यस्मि कैकेय्या वनं गच्छेति राघव।
मया चोक्तं व्रजामीति तत्सत्यमनुपालये॥ ५०॥

'रघुनन्दन! कैकेयीने मुझसे यह याचना की कि 'राम! तुम वनको चले जाओ' मैंने वचन दिया था कि 'अवश्य जाऊँगा' उस सत्यका मुझे पालन करना है॥ ५०॥

मा चोत्कण्ठां कृथा देव वने रंस्यामहे वयम्।
प्रशान्तहरिणाकीर्णे नानाशकुनिनादिते॥ ५१॥

'देव! बीचमें हमें देखने या हमसे मिलनेके लिये आप उत्कण्ठित न होंगे। शान्तस्वभाववाले मृगोंसे भरे हुए और भाँति-भाँतिके पक्षियोंके कलरवोंसे गूँजते हुए उस वनमें हमलोग बड़े आनन्दसे रहेंगे॥ ५१॥

पिता हि दैवतं तात देवतानामपि स्मृतम्।
तस्माद् दैवतमित्येव करिष्यामि पितुर्वचः॥ ५२॥

'तात! पिता देवताओंके भी देवता माने गये हैं। अतः मैं देवता समझकर ही पिता (आप) की आज्ञाका पालन करूँगा॥ ५२॥

चतुर्दशसु वर्षेषु गतेषु नृपसत्तम।
पुनर्द्रक्ष्यसि मां प्राप्तं संतापोऽयं विमुच्यताम्॥ ५३॥

'नृपश्रेष्ठ! अब यह संताप छोड़िये। चौदह वर्ष बीत जानेपर आप फिर मुझे आया हुआ देखेंगे॥ ५३॥

येन संस्तम्भनीयोऽयं सर्वो बाष्पकलो जनः।
स त्वं पुरुषशार्दूल किमर्थं विक्रियां गतः॥ ५४॥

'पुरुषसिंह! यहाँ जितने लोग आँसू बहा रहे हैं, इन सबको धैर्य बँधाना आपका कर्तव्य है; फिर आप स्वयं ही इतने विकल कैसे हो रहे हैं?॥ ५४॥

पुरं च राष्ट्रं च मही च केवला
मया विसृष्टा भरताय दीयताम्।
अहं निदेशं भवतोऽनुपालयन्
वनं गमिष्यामि चिराय सेवितुम्॥ ५५॥

'यह नगर, यह राज्य और यह सारी पृथ्वी मैंने छोड़ दी। आप यह सब कुछ भरतको दे दीजिये। अब मैं आपके आदेशका पालन करता हुआ दीर्घकालतक वनमें निवास करनेके लिये यहाँसे यात्रा कर रहा हूँ॥ ५५॥

मया विसृष्टां भरतो महीमिमां
सशैलखण्डां सपुरोपकाननाम्।
शिवासु सीमास्वनुशास्तु केवलं
त्वया यदुक्तं नृपते तथास्तु तत्॥ ५६॥

'मेरी छोड़ी हुई पर्वतखण्डों, नगरों और उपवनोंसहित इस सारी पृथ्वीका भरत कल्याणकारिणी मर्यादाओंमें स्थित रहकर पालन करें। नरेश्वर! आपने जो वचन दिया है, वह पूर्ण हो॥ ५६॥

न मे तथा पार्थिव धीयते मनो
महत्सु कामेषु न चात्मनः प्रिये।
यथा निदेशे तव शिष्टसम्मते
व्यपैतु दुःखं तव मत्कृतेऽनघ॥ ५७॥

'पृथ्वीनाथ! निष्पाप महाराज! सत्पुरुषोंद्वारा अनुमोदित आपकी आज्ञाका पालन करनेमें मेरा मन जैसा लगता है, वैसा बड़े-बड़े भोगोंमें तथा अपने किसी प्रिय पदार्थमें भी नहीं लगता; अतः मेरे लिये आपके मनमें जो दुःख है, वह दूर हो जाना चाहिये॥ ५७॥

तदद्य नैवानघ राज्यमव्ययं
न सर्वकामान् वसुधां न मैथिलीम्।
न चिन्तितं त्वामनृतेन योजयन्
वृणीय सत्यं व्रतमस्तु ते तथा॥ ५८॥

'निष्पाप नरेश! आज आपको मिथ्यावादी बनाकर मैं अक्षय राज्य, सब प्रकारके भोग, वसुधाका आधिपत्य, मिथिलेशकुमारी सीता तथा अन्य किसी अभिलषित पदार्थको भी स्वीकार नहीं कर सकता। मेरी एकमात्र इच्छा यही है कि 'आपकी प्रतिज्ञा सत्य हो'॥ ५८॥

फलानि मूलानि च भक्षयन् वने
गिरींश्च पश्यन् सरितः सरांसि च।
वनं प्रविश्यैव विचित्रपादपं
सुखी भविष्यामि तवास्तु निर्वृतिः॥ ५९॥

'मैं विचित्र वृक्षोंसे युक्त वनमें प्रवेश करके फल-मूलका भोजन करता हुआ वहाँके पर्वतों, नदियों और सरोवरोंको देख-देखकर सुखी होऊँगा; इसलिये आप अपने मनको शान्त कीजिये'॥ ५९॥

एवं स राजा व्यसनाभिपन्न-
स्तापेन दुःखेन च पीड्यमानः।
आलिङ्ग्य पुत्रं सुविनष्टसंज्ञो
भूमिं गतो नैव चिचेष्ट किंचित्॥ ६०॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर पुत्र-विछोहके संकटमें पड़े हुए राजा दशरथने दुःख और संतापसे पीड़ित हो उन्हें छातीसे लगाया और फिर अचेत होकर वे पृथ्वीपर गिर पड़े। उस समय उनका शरीर जड़की भाँति कुछ भी चेष्टा न कर सका॥ ६०॥

देव्यः समस्ता रुरुदुः समेता-
स्तां वर्जयित्वा नरदेवपत्नीम्।
रुदन् सुमन्त्रोऽपि जगाम मूर्छां
हाहाकृतं तत्र बभूव सर्वम्॥ ६१॥

यह देख राजरानी कैकेयीको छोड़कर वहाँ एकत्र हुई अन्य सभी रानियाँ रो पड़ीं। सुमन्त्र भी रोते-रोते मूर्च्छित हो गये तथा वहाँ सब ओर हाहाकार मच गया॥ ६१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुस्त्रिंशः सर्गः॥ ३४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३४॥

पञ्चत्रिंशः सर्गः

सुमन्त्रके समझाने और फटकारनेपर भी कैकेयीका टस-से-मस न होना

ततो निधूय सहसा शिरो निःश्वस्य चासकृत्।
पाणिं पाणौ विनिष्पिष्य दन्तान् कटकटाय्य च॥ १॥
लोचने कोपसंरक्ते वर्णं पूर्वोचितं जहत्।
कोपाभिभूतः सहसा संतापमशुभं गतः॥ २॥
मनः समीक्षमाणश्च सूतो दशरथस्य च।
कम्पयन्निव कैकेय्या हृदयं वाक्शरैः शितैः॥ ३॥

तदनन्तर होशमें आनेपर सारथि सुमन्त्र सहसा उठकर खड़े हो गये। उनके मनमें बड़ा संताप हुआ, जो अमङ्गलकारी था। वे क्रोधके मारे काँपने लगे। उनके शरीर और मुखकी पहली स्वाभाविक कान्ति बदल गयी। वे क्रोधसे आँखें लाल करके दोनों हाथोंसे सिर पीटने लगे और बारम्बार लम्बी साँस खींचकर, हाथसे हाथ मलकर, दाँत कटकटाकर राजा दशरथके मनकी वास्तविक अवस्था देखते हुए अपने वचनरूपी तीखे बाणोंसे कैकेयीके हृदयको कम्पित-सा करने लगे—॥ १—३॥

वाक्यवज्रैरनुपमैर्निर्भिन्दन्निव चाशुभैः।
कैकेय्याः सर्वमर्माणि सुमन्त्रः प्रत्यभाषत॥ ४॥

अपने अशुभ एवं अनुपम वचनरूपी वज्रसे कैकेयीके सारे मर्मस्थानोंको विदीर्ण-से करते हुए सुमन्त्रने उससे इस प्रकार कहना आरम्भ किया—॥ ४॥

यस्यास्तव पतिस्त्यक्तो राजा दशरथः स्वयम्।
भर्ता सर्वस्य जगतः स्थावरस्य चरस्य च॥ ५॥
नह्यकार्यतमं किंचित्तव देवीह विद्यते।
पतिघ्नीं त्वामहं मन्ये कुलघ्नीमपि चान्ततः॥ ६॥

'देवि! जब तुमने सम्पूर्ण चराचर जगत्‌के स्वामी स्वयं अपने पति महाराज दशरथका ही त्याग कर दिया, तब इस जगत्‌में कोई ऐसा कुकर्म नहीं है, जिसे तुम न कर सको; मैं तो समझता हूँ कि तुम पतिकी हत्या करनेवाली तो हो ही; अन्ततः कुलघातिनी भी हो॥ ५-६॥

यन्महेन्द्रमिवाजय्यं दुष्प्रकम्प्यमिवाचलम्।
महोदधिमिवाक्षोभ्यं संतापयसि कर्मभिः॥ ७॥

'ओह! जो देवराज इन्द्रके समान अजेय, पर्वतके समान अकम्पनीय और महासागरके समान क्षोभरहित हैं, उन महाराज दशरथको भी तुम अपने कर्मोंसे संतप्त कर रही हो॥ ७॥

मावमंस्था दशरथं भर्तारं वरदं पतिम्।
भर्तुरिच्छा हि नारीणां पुत्रकोट्या विशिष्यते॥ ८॥

राजा दशरथ तुम्हारे पति, पालक और वरदाता हैं। तुम इनका अपमान न करो। नारियोंके लिये पतिकी इच्छाका महत्त्व करोड़ों पुत्रोंसे भी अधिक है॥ ८॥

यथावयो हि राज्यानि प्राप्नुवन्ति नृपक्षये।
इक्ष्वाकुकुलनाथेऽस्मिंस्तं लोपयितुमिच्छसि॥ ९॥

'इस कुलमें राजाका परलोकवास हो जानेपर उसके पुत्रोंकी अवस्थाका विचार करके जो ज्येष्ठ पुत्र होते हैं, वे ही राज्य पाते हैं। राजकुलके इस परम्परागत आचारको तुम इन इक्ष्वाकुवंशके स्वामी महाराज दशरथके जीते-जी ही मिटा देना चाहती हो॥ ९॥

राजा भवतु ते पुत्रो भरतः शास्तु मेदिनीम्।
वयं तत्र गमिष्यामो यत्र रामो गमिष्यति॥ १०॥

'तुम्हारे पुत्र भरत राजा हो जायँ और इस पृथ्वीका शासन करें; किंतु हमलोग तो वहीं चले जायँगे जहाँ श्रीराम जायँगे॥ १०॥

न च ते विषये कश्चिद् ब्राह्मणो वस्तुमर्हति।
तादृशं त्वममर्यादमद्य कर्म करिष्यसि॥ ११॥
नूनं सर्वे गमिष्यामो मार्गं रामनिषेवितम्।

'तुम्हारे राज्यमें कोई भी ब्राह्मण निवास नहीं करेगा; यदि तुम आज वैसा मर्यादाहीन कर्म करोगी तो निश्चय ही हम सब लोग उसी मार्गपर चले जायँगे, जिसका श्रीरामने सेवन किया है॥ ११½॥

त्यक्ता या बान्धवैः सर्वैर्ब्राह्मणैः साधुभिः सदा॥ १२॥
का प्रीती राज्यलाभेन तव देवि भविष्यति।
तादृशं त्वममर्यादं कर्म कर्तुं चिकीर्षसि॥ १३॥

'सम्पूर्ण बन्धु-बान्धव और सदाचारी ब्राह्मण भी तुम्हारा त्याग कर देंगे। देवि! फिर इस राज्यको पाकर तुम्हें क्या आनन्द मिलेगा। ओह! तुम ऐसा मर्यादाहीन कर्म करना चाहती हो॥ १२-१३॥

आश्चर्यमिव पश्यामि यस्यास्ते वृत्तमीदृशम्।
आचरन्त्या न विदृता सद्यो भवति मेदिनी॥ १४॥

'मुझे तो यह देखकर आश्चर्य-सा हो रहा है कि तुम्हारे इतने बड़े अत्याचार करनेपर भी पृथ्वी तुरंत फट क्यों नहीं जाती?॥ १४॥

महाब्रह्मर्षिसृष्टा वा ज्वलन्तो भीमदर्शनाः।
धिग्वाग्दण्डा न हिंसन्ति रामप्रव्राजने स्थिताम्॥ १५॥

'अथवा बड़े-बड़े ब्रह्मर्षियोंके धिक्कारपूर्ण वाग्दण्ड (शाप) जो देखनेमें भयंकर और जलाकर भस्म कर देनेवाले होते हैं, श्रीरामको घरसे निकालनेके लिये तैयार खड़ी हुई तुम-जैसी पाषाणहृदयाका सर्वनाश क्यों नहीं कर डालते हैं?॥ १५॥

आम्रं छित्त्वा कुठारेण निम्बं परिचरेत् तु कः।
यश्चैनं पयसा सिञ्चेन्नैवास्य मधुरो भवेत्॥ १६॥

'भला आमको कुल्हाड़ीसे काटकर उसकी जगह नीमका सेवन कौन करेगा? जो आमकी जगह नीमको ही दूधसे सींचता है, उसके लिये भी यह नीम मीठा फल देनेवाला नहीं हो सकता (अतः वरदानके बहाने श्रीरामको वनवास देकर कैकेयीके चित्तको संतुष्ट करना राजाके लिये कभी सुखद परिणामका जनक नहीं हो सकता)॥ १६॥

आभिजात्यं हि ते मन्ये यथा मातुस्तथैव च।
न हि निम्बात् स्रवेत् क्षौद्रं लोके निगदितं वचः॥ १७॥

'कैकेयि! मैं समझता हूँ कि तुम्हारी माताका अपने कुलके अनुरूप जैसा स्वभाव था, वैसा ही तुम्हारा भी है। लोकमें कही जानेवाली यह कहावत सत्य ही है कि नीमसे मधु नहीं टपकता॥ १७॥

तव मातुरसद्ग्राहं विद्म पूर्वं यथा श्रुतम्।
पितुस्ते वरदः कश्चिद् ददौ वरमनुत्तमम्॥ १८॥

'तुम्हारी माताके दुराग्रहकी बात भी हम जानते हैं। इसके विषयमें पहले जैसा सुना गया है, वह बताया जाता है। एक समय किसी वर देनेवाले साधुने तुम्हारे पिताको अत्यन्त उत्तम वर दिया था॥ १८॥

सर्वभूतरुतं तस्मात् संजज्ञे वसुधाधिपः।
तेन तिर्यग्गतानां च भूतानां विदितं वचः॥ १९॥

'उस वरके प्रभावसे केकयनरेश समस्त प्राणियोंकी बोली समझने लगे। तिर्यक् योनिमें पड़े हुए प्राणियोंकी बातें भी उनकी समझमें आ जाती थीं॥ १९॥

ततो जृम्भस्य शयने विरुताद् भूरिवर्चसः।
पितुस्ते विदितो भावः स तत्र बहुधाहसत्॥ २०॥

'एक दिन तुम्हारे महातेजस्वी पिता शय्यापर लेटे हुए थे। उसी समय जृम्भ नामक पक्षीकी आवाज उनके कानोंमें पड़ी। उसकी बोलीका अभिप्राय उनकी समझमें आ गया। अतः वे वहाँ कई बार हँसे॥ २०॥

तत्र ते जननी क्रुद्धा मृत्युपाशमभीप्सती।
हासं ते नृपते सौम्य जिज्ञासामीति चाब्रवीत्॥ २१॥

'उसी शय्यापर तुम्हारी माँ भी सोयी थी। वह यह समझकर कि राजा मेरी ही हँसी उड़ा रहे हैं, कुपित हो उठी और गलेमें मौतकी फाँसी लगानेकी इच्छा रखती हुई बोली—'सौम्य! नरेश्वर! तुम्हारे हँसनेका क्या कारण है, यह मैं जानना चाहती हूँ'॥ २१॥

नृपश्चोवाच तां देवीं हासं शंसामि ते यदि।
ततो मे मरणं सद्यो भविष्यति न संशयः॥ २२॥

'तब राजाने उस देवीसे कहा—'रानी! यदि मैं अपने हँसनेका कारण बता दूँ तो उसी क्षण मेरी मृत्यु हो जायगी, इसमें संशय नहीं है'॥ २२॥

माता ते पितरं देवि पुनः केकयमब्रवीत्।
शंस मे जीव वा मा वा न मां त्वं प्रहसिष्यसि॥ २३॥

'देवि! यह सुनकर तुम्हारी रानी माताने तुम्हारे पिता केकयराजसे फिर कहा—'तुम जीओ या मरो, मुझे कारण बता दो। भविष्यमें तुम फिर मेरी हँसी नहीं उड़ा सकोगे'॥ २३॥

प्रियया च तथोक्तः स केकयः पृथिवीपतिः।
तस्मै तं वरदायार्थं कथयामास तत्त्वतः॥ २४॥

'अपनी प्यारी रानीके ऐसा कहनेपर केकयनरेशने उस वर देनेवाले साधुके पास जाकर सारा समाचार ठीक-ठीक कह सुनाया॥ २४॥

ततः स वरदः साधू राजानं प्रत्यभाषत।
म्रियतां ध्वंसतां वेयं मा शंसीस्त्वं महीपते॥ २५॥

'तब उस वर देनेवाले साधुने राजाको उत्तर दिया—'महाराज! रानी मरे या घरसे निकल जाय; तुम कदापि यह बात उसे न बताना'॥ २५॥

स तच्छ्रुत्वा वचस्तस्य प्रसन्नमनसो नृपः।
मातरं ते निरस्याशु विजहार कुबेरवत्॥ २६॥

'प्रसन्न चित्तवाले उस साधुका यह वचन सुनकर केकयनरेशने तुम्हारी माताको तुरंत घरसे निकाल दिया और स्वयं कुबेरके समान विहार करने लगे॥ २६॥

तथा त्वमपि राजानं दुर्जनाचरिते पथि।
असद्ग्राहमिमं मोहात् कुरुषे पापदर्शिनी॥ २७॥

'तुम भी इसी प्रकार दुर्जनोंके मार्गपर स्थित हो पापपर ही दृष्टि रखकर मोहवश राजासे यह अनुचित आग्रह कर रही हो॥ २७॥

सत्यश्चात्र प्रवादोऽयं लौकिकः प्रतिभाति मा।
पितॄन् समनुजायन्ते नरा मातरमङ्गनाः॥ २८॥

'आज मुझे यह लोकोक्ति सोलह आने सच मालूम होती है कि पुत्र पिताके समान होते हैं और कन्याएँ माताके समान॥ २८॥

नैवं भव गृहाणेदं यदाह वसुधाधिपः ।
भर्तुरिच्छामुपास्वेह जनस्यास्य गतिर्भव ॥ २९ ॥

'तुम ऐसी न बनो—इस लोकोक्तिको अपने जीवनमें चरितार्थ न करो। राजाने जो कुछ कहा है, उसे स्वीकार करो (श्रीरामका राज्याभिषेक होने दो)। अपने पतिकी इच्छाका अनुसरण करके इस जन-समुदायको यहाँ शरण देनेवाली बनो ॥ २९ ॥

मा त्वं प्रोत्साहिता पापैर्देवराजसमप्रभम् ।
भर्तारं लोकभर्तारमसद्धर्ममुपादध ॥ ३० ॥

'पापपूर्ण विचार रखनेवाले लोगोंके बहकावेमें आकर तुम देवराज इन्द्रके तुल्य तेजस्वी अपने लोक-प्रतिपालक स्वामीको अनुचित कर्ममें न लगाओ ॥ ३० ॥

नहि मिथ्या प्रतिज्ञातं करिष्यति तवानघः ।
श्रीमान् दशरथो राजा देवि राजीवलोचनः ॥ ३१ ॥

'देवि! कमलनयन श्रीमान् राजा दशरथ पापसे दूर रहते हैं। वे अपनी प्रतिज्ञा झूठी नहीं करेंगे ॥ ३१ ॥

ज्येष्ठो वदान्यः कर्मण्यः स्वधर्मस्यापि रक्षिता ।
रक्षिता जीवलोकस्य बली रामोऽभिषिच्यताम् ॥ ३२ ॥

'श्रीरामचन्द्रजी अपने भाइयोंमें ज्येष्ठ, उदार, कर्मठ, स्वधर्मके पालक, जीवजगत्के रक्षक और बलवान् हैं। इनका इस राज्यपर अभिषेक होने दो ॥ ३२ ॥

परिवादो हि ते देवि महाँल्लोके चरिष्यति ।
यदि रामो वनं याति विहाय पितरं नृपम् ॥ ३३ ॥

'देवि! यदि श्रीराम अपने पिता राजा दशरथको छोड़कर वनको चले जायँगे तो संसारमें तुम्हारी बड़ी निन्दा होगी ॥

स्वराज्यं राघवः पातु भव त्वं विगतज्वरा ।
नहि ते राघवादन्यः क्षमः पुरवरे वसन् ॥ ३४ ॥

'अतः श्रीरामचन्द्रजी ही अपने राज्यका पालन करें और तुम निश्चिन्त होकर बैठो। श्रीरामके सिवा दूसरा कोई राजा इस श्रेष्ठ नगरमें रहकर तुम्हारे अनुकूल आचरण नहीं कर सकता ॥ ३४ ॥

रामे हि यौवराज्यस्थे राजा दशरथो वनम् ।
प्रवेक्ष्यति महेष्वासः पूर्ववृत्तमनुस्मरन् ॥ ३५ ॥

'श्रीरामके युवराजपदपर प्रतिष्ठित हो जानेके बाद महाधनुर्धर राजा दशरथ पूर्वजोंके वृत्तान्तका स्मरण करके स्वयं वनमें प्रवेश करेंगे' ॥ ३५ ॥

इति सान्त्वैश्च तीक्ष्णैश्च कैकेयीं राजसंसदि ।
भूयः संक्षोभयामास सुमन्त्रस्तु कृताञ्जलिः ॥ ३६ ॥
नैव सा क्षुभ्यते देवी न च स्म परिदूयते ।
न चास्या मुखवर्णस्य लक्ष्यते विक्रिया तदा ॥ ३७ ॥

इस प्रकार सुमन्त्रने हाथ जोड़कर कैकेयीको उस राजभवनमें सान्त्वनापूर्ण तथा तीखे वचनोंसे भी बारम्बार विचलित करनेकी चेष्टा की; किंतु वह टस-से-मस न हुई। देवी कैकेयीके मनमें न तो क्षोभ हुआ और न दुःख ही। उस समय उसके चेहरेके रंगमें भी कोई फर्क पड़ता नहीं दिखायी दिया ॥ ३६-३७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशः सर्गः

राजा दशरथका श्रीरामके साथ सेना और खजाना भेजनेका आदेश, कैकेयीद्वारा इसका विरोध, सिद्धार्थका कैकेयीको समझाना तथा राजाका श्रीरामके साथ जानेकी इच्छा प्रकट करना

ततः सुमन्त्रमैक्ष्वाकः पीडितोऽत्र प्रतिज्ञया ।
सबाष्पमतिनिःश्वस्य जगादेदं पुनर्वचः ॥ १ ॥

तब इक्ष्वाकुकुलनन्दन राजा दशरथ वहाँ अपनी प्रतिज्ञासे पीड़ित हो आँसू बहाते हुए लम्बी साँस खींचकर सुमन्त्रसे फिर इस प्रकार बोले— ॥ १ ॥

सूत रत्नसुसम्पूर्णा चतुर्विधबला चमूः ।
राघवस्यानुयात्रार्थं क्षिप्रं प्रतिविधीयताम् ॥ २ ॥

'सूत! तुम शीघ्र ही रत्नोंसे भरी-पूरी चतुरङ्गिणी सेनाको श्रीरामके पीछे-पीछे जानेकी आज्ञा दो ॥ २ ॥

रूपाजीवाश्च वादिन्यो वणिजश्च महाधनाः ।
शोभयन्तु कुमारस्य वाहिनीः सुप्रसारिताः ॥ ३ ॥

'रूपसे आजीविका चलाने और सरस वचन बोलनेवाली स्त्रियाँ तथा महाधनी एवं विक्रययोग्य द्रव्योंका प्रसारण करनेमें कुशल वैश्य राजकुमार श्रीरामकी सेनाओंको सुशोभित करें ॥ ३ ॥

ये चैनमुपजीवन्ति रमते यैश्च वीर्यतः ।
तेषां बहुविधं दत्त्वा तानप्यत्र नियोजय ॥ ४ ॥

'जो श्रीरामके पास रहकर जीवन-निर्वाह करते हैं तथा जिन मल्लोंसे ये उनका पराक्रम देखकर प्रसन्न रहते हैं, उन सबको अनेक प्रकारका धन देकर उन्हें भी इनके साथ जानेकी आज्ञा दे दो ॥ ४ ॥

आयुधानि च मुख्यानि नागराः शकटानि च ।
अनुगच्छन्तु काकुत्स्थं व्याधाश्चारण्यकोविदाः ॥ ५ ॥

'मुख्य-मुख्य आयुध, नगरके निवासी, छकड़े तथा वनके भीतरी रहस्यको जाननेवाले व्याध ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामके पीछे-पीछे जायँ ॥ ५ ॥

निघ्नन् मृगान् कुञ्जरांश्च पिबंश्चारण्यकं मधु।
नदीश्च विविधाः पश्यन् न राज्यं संस्मरिष्यति ॥ ६ ॥

'वे रास्तेमें आये हुए मृगों एवं हाथियोंको पीछे लौटाते, जंगली मधुका पान करते और नाना प्रकारकी नदियोंको देखते हुए अपने राज्यका स्मरण नहीं करेंगे ॥ ६ ॥

धान्यकोशश्च यः कश्चिद् धनकोशश्च मामकः।
तौ राममनुगच्छेतां वसन्तं निर्जने वने ॥ ७ ॥

'श्रीराम निर्जन वनमें निवास करनेके लिये जा रहे हैं, अतः मेरा खजाना और अन्नभण्डार—ये दोनों वस्तुएँ इनके साथ जायँ ॥ ७ ॥

यजन् पुण्येषु देशेषु विसृजंश्चाप्तदक्षिणाः।
ऋषिभिश्चापि संगम्य प्रवत्स्यति सुखं वने ॥ ८ ॥

'ये वनके पावन प्रदेशोंमें यज्ञ करेंगे, उनमें आचार्य आदिको पर्याप्त दक्षिणा देंगे तथा ऋषियोंसे मिलकर वनमें सुखपूर्वक रहेंगे ॥ ८ ॥

भरतश्च महाबाहुरयोध्यां पालयिष्यति।
सर्वकामैः पुनः श्रीमान् रामः संसाध्यतामिति ॥ ९ ॥

'महाबाहु भरत अयोध्याका पालन करेंगे। श्रीमान् रामको सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोगोंसे सम्पन्न करके यहाँसे भेजा जाय' ॥ ९ ॥

एवं ब्रुवति काकुत्स्थे कैकेय्या भयमागतम्।
मुखं चाप्यगमच्छोषं स्वरश्चापि व्यरुध्यत ॥ १० ॥

जब महाराज दशरथ ऐसी बातें कहने लगे, तब कैकेयीको बड़ा भय हुआ। उसका मुँह सूख गया और उसका स्वर भी रुँध गया ॥ १० ॥

सा विषण्णा च संत्रस्ता मुखेन परिशुष्यता।
राजानमेवाभिमुखी कैकेयी वाक्यमब्रवीत् ॥ ११ ॥

वह केकयराजकुमारी विषादग्रस्त एवं त्रस्त होकर सूखे मुँहसे राजाकी ओर ही मुँह करके बोली— ॥ ११ ॥

राज्यं गतधनं साधो पीतमण्डां सुरामिव।
निरास्वाद्यतमं शून्यं भरतो नाभिपत्स्यते ॥ १२ ॥

'श्रेष्ठ महाराज! जिसका सारभाग पहलेसे ही पी लिया गया हो, उस आस्वादरहित सुराको जैसे उसका सेवन करनेवाले लोग नहीं ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार इस धनहीन और सूने राज्यको, जो कदापि सेवन करनेयोग्य नहीं रह जायगा, भरत कदापि नहीं ग्रहण करेंगे' ॥ १२ ॥

कैकेय्यां मुक्तलज्जायां वदन्त्यामतिदारुणम्।
राजा दशरथो वाक्यमुवाचायतलोचनाम् ॥ १३ ॥

कैकेयी लाज छोड़कर जब वह अत्यन्त दारुण वचन बोलने लगी, तब राजा दशरथने उस विशाललोचना कैकेयीसे इस प्रकार कहा— ॥ १३ ॥

वहन्तं किं तुदसि मां नियुज्य धुरि माहिते।
अनार्ये कृत्यमारब्धं किं न पूर्वमुपारुधः ॥ १४ ॥

'अनार्ये! अहितकारिणि! तू रामको वनवास देनेके दुर्वह भारमें लगाकर जब मैं उस भारको ढो रहा हूँ, उस अवस्थामें क्यों अपने वचनोंका चाबुक मारकर मुझे पीड़ा दे रही है? इस समय जो कार्य तूने आरम्भ किया है अर्थात् श्रीरामके साथ सेना और सामग्री भेजनेमें जो प्रतिबन्ध लगाया है, इसके लिये तूने पहले ही क्यों नहीं प्रार्थना की थी? (अर्थात् पहले ही यह क्यों नहीं कह दिया था कि श्रीरामको अकेले वनमें जाना पड़ेगा, उनके साथ सेना आदि सामग्री नहीं जा सकती)' ॥ १४ ॥

तस्यैतत् क्रोधसंयुक्तमुक्तं श्रुत्वा वराङ्गना।
कैकेयी द्विगुणं क्रुद्धा राजानमिदमब्रवीत् ॥ १५ ॥

राजाका यह क्रोधयुक्त वचन सुनकर सुन्दरी कैकेयी उनकी अपेक्षा दूना क्रोध करके उनसे इस प्रकार बोली— ॥ १५ ॥

तवैव वंशे सगरो ज्येष्ठपुत्रमुपारुधत्।
असमञ्ज इति ख्यातं तथायं गन्तुमर्हति ॥ १६ ॥

'महाराज! आपके ही वंशमें पहले राजा सगर हो गये हैं, जिन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र असमञ्जको निकालकर उसके लिये राज्यका दरवाजा सदाके लिये बंद कर दिया था। इसी तरह इनको भी यहाँसे निकल जाना चाहिये' ॥ १६ ॥

एवमुक्तो धिगित्येव राजा दशरथोऽब्रवीत्।
व्रीडितश्च जनः सर्वः सा च तन्नावबुध्यत ॥ १७ ॥

उसके ऐसा कहनेपर राजा दशरथने कहा—'धिक्कार है!' वहाँ जितने लोग बैठे थे सभी लाजसे गड़ गये; किंतु कैकेयी अपने कथनके अनौचित्यको अथवा राजाद्वारा दिये गये धिक्कारके औचित्यको नहीं समझ सकी ॥ १७ ॥

तत्र वृद्धो महामात्रः सिद्धार्थो नाम नामतः।
शुचिर्बहुमतो राज्ञः कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ १८ ॥

उस समय वहाँ राजाके प्रधान और वयोवृद्ध मन्त्री सिद्धार्थ बैठे थे। वे बड़े ही शुद्ध स्वभाववाले और राजाके विशेष आदरणीय थे। उन्होंने कैकेयीसे इस प्रकार कहा— ॥ १८ ॥

असमञ्जो गृहीत्वा तु क्रीडतः पथि दारकान्।
सरय्वां प्रक्षिपन्नप्सु रमते तेन दुर्मतिः ॥ १९ ॥

'देवि! असमञ्ज बड़ी दुष्ट बुद्धिका राजकुमार था। वह मार्गपर खेलते हुए बालकोंको पकड़कर सरयूके जलमें फेंक देता था और ऐसे ही कार्योंसे अपना मनोरञ्जन करता था ॥ १९ ॥

तं दृष्ट्वा नागराः सर्वे क्रुद्धा राजानमब्रुवन्।
असमञ्जं वृणीष्वैकमस्मान् वा राष्ट्रवर्धन ॥ २० ॥

'उसकी यह करतूत देखकर सभी नगरनिवासी कुपित हो राजाके पास जाकर बोले—'राष्ट्रकी वृद्धि करनेवाले महाराज! या तो आप अकेले असमञ्जको लेकर रहिये या इन्हें निकालकर हमें इस नगरमें रहने दीजिये' ॥ २० ॥

तानुवाच ततो राजा किंनिमित्तमिदं भयम्।
ताश्चापि राज्ञा सम्पृष्टा वाक्यं प्रकृतयोऽब्रुवन्॥ २१ ॥

'तब राजाने उनसे पूछा—'तुम्हें असमञ्जसे किस कारण भय हुआ है?' राजाके पूछनेपर उन प्रजाजनोंने यह बात कही— ॥ २१ ॥

क्रीडतस्त्वेष नः पुत्रान् बालानुद्भ्रान्तचेतसः।
सरय्वां प्रक्षिपन्मौर्ख्यादतुलां प्रीतिमश्नुते॥ २२ ॥

'महाराज! यह हमारे खेलते हुए छोटे-छोटे बच्चोंको पकड़ लेते हैं और जब वे बहुत घबरा जाते हैं, तब उन्हें सरयूमें फेंक देते हैं। मूर्खतावश ऐसा करके इन्हें अनुपम आनन्द प्राप्त होता है' ॥ २२ ॥

स तासां वचनं श्रुत्वा प्रकृतीनां नराधिपः।
तं तत्याजाहितं पुत्रं तासां प्रियचिकीर्षया॥ २३ ॥

'उन प्रजाजनोंकी वह बात सुनकर राजा सगरने उनका प्रिय करनेकी इच्छासे अपने उस अहितकारक दुष्ट पुत्रको त्याग दिया ॥ २३ ॥

तं यानं शीघ्रमारोप्य सभार्यं सपरिच्छदम्।
यावज्जीवं विवास्योऽयमिति तानन्वशात् पिता॥ २४ ॥

'पिताने अपने उस पुत्रको पत्नी और आवश्यक सामग्रीसहित शीघ्र रथपर बिठाकर अपने सेवकोंको आज्ञा दी—'इसे जीवनभरके लिये राज्यसे बाहर निकाल दो' ॥

स फालपिटकं गृह्य गिरिदुर्गाण्यलोकयत्।
दिशः सर्वास्त्वनुचरन् स यथा पापकर्मकृत्॥ २५ ॥
इत्येनमत्यजद् राजा सगरो वै सुधार्मिकः।
रामः किमकरोत् पापं येनैवमुपरुध्यते॥ २६ ॥

'असमञ्जने फाल और पिटारी लेकर पर्वतोंकी दुर्गम गुफाओंको ही अपने निवासके योग्य देखा और कन्द आदिके लिये वह सम्पूर्ण दिशाओंमें विचरने लगा। वह जैसा कि बताया गया है, पापाचारी था, इसलिये परम धार्मिक राजा सगरने उसको त्याग दिया था। श्रीरामने ऐसा कौन-सा अपराध किया है, जिसके कारण इन्हें इस तरह राज्य पानेसे रोका जा रहा है? ॥ २५-२६ ॥

नहि कंचन पश्यामो राघवस्यागुणं वयम्।
दुर्लभो ह्यस्य निरयः शशाङ्कस्येव कल्मषम्॥ २७ ॥

'हमलोग तो श्रीरामचन्द्रजीमें कोई अवगुण नहीं देखते हैं; जैसे (शुक्लपक्षकी द्वितीयाके) चन्द्रमामें मलिनताका दर्शन दुर्लभ है, उसी प्रकार इनमें कोई पाप या अपराध ढूँढ़नेसे भी नहीं मिल सकता ॥ २७ ॥

अथवा देवि त्वं कंचिद् दोषं पश्यसि राघवे।
तमद्य ब्रूहि तत्त्वेन तदा रामो विवास्यते॥ २८ ॥

'अथवा देवि! यदि तुम्हें श्रीरामचन्द्रजीमें कोई दोष दिखायी देता हो तो आज उसे ठीक-ठीक बताओ। उस दशामें श्रीरामको निकाल दिया जा सकता है ॥ २८ ॥

अदुष्टस्य हि संत्यागः सत्पथे निरतस्य च।
निर्दहेदपि शक्रस्य द्युतिं धर्मविरोधवान्॥ २९ ॥

'जिसमें कोई दुष्टता नहीं है, जो सदा सन्मार्गमें ही स्थित है, ऐसे पुरुषका त्याग धर्मसे विरुद्ध माना जाता है। ऐसा धर्मविरोधी कर्म तो इन्द्रके भी तेजको दग्ध कर देगा ॥ २९ ॥

तदलं देवि रामस्य श्रिया विहतया त्वया।
लोकतोऽपि हि ते रक्ष्यः परिवादः शुभानने॥ ३० ॥

'अतः देवि! श्रीरामचन्द्रजीके राज्याभिषेकमें विघ्न डालनेसे तुम्हें कोई लाभ नहीं होगा। शुभानने! तुम्हें लोकनिन्दासे भी बचनेकी चेष्टा करनी चाहिये' ॥ ३० ॥

श्रुत्वा तु सिद्धार्थवचो राजा श्रान्ततरस्वरः।
शोकोपहतया वाचा कैकेयीमिदमब्रवीत्॥ ३१ ॥

सिद्धार्थकी बातें सुनकर राजा दशरथ अत्यन्त थके हुए स्वरसे शोकाकुल वाणीमें कैकेयीसे इस प्रकार बोले— ॥ ३१ ॥

एतद्वचो नेच्छसि पापरूपे
हितं न जानासि ममात्मनोऽथवा।
आस्थाय मार्गं कृपणं कुचेष्टा
चेष्टा हि ते साधुपथादपेता॥ ३२ ॥

'पापिनि! क्या तुझे यह बात नहीं रुची? तुझे मेरे या अपने हितका भी बिलकुल ज्ञान नहीं है? तू दुःखद मार्गका आश्रय लेकर ऐसी कुचेष्टा कर रही है। तेरी यह सारी चेष्टा साधु पुरुषोंके मार्गके विपरीत है ॥ ३२ ॥

अनुव्रजिष्याम्यहमद्य रामं
राज्यं परित्यज्य सुखं धनं च।
सर्वे च राज्ञा भरतेन च त्वं
यथासुखं भुङ्क्ष्व चिराय राज्यम्॥ ३३ ॥

'अब मैं भी यह राज्य, धन और सुख छोड़कर श्रीरामके पीछे चला जाऊँगा। ये सब लोग भी उन्हींके साथ जायँगे। तू अकेली राजा भरतके साथ चिरकालतक सुखपूर्वक राज्य भोगती रह' ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षट्त्रिंशः सर्गः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें छत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

—★—

सप्तत्रिंशः सर्गः

श्रीराम आदिका वल्कल-वस्त्र-धारण, सीताके वल्कल-धारणसे रनिवासकी स्त्रियोंको खेद तथा गुरु वसिष्ठका कैकेयीको फटकारते हुए सीताके वल्कल-धारणका अनौचित्य बताना

महामात्रवचः श्रुत्वा रामो दशरथं तदा।
अभ्यभाषत वाक्यं तु विनयज्ञो विनीतवत्॥ १॥

प्रधान मन्त्रीकी पूर्वोक्त बात सुनकर विनयके ज्ञाता श्रीरामने उस समय राजा दशरथसे विनीत होकर कहा— ॥

त्यक्तभोगस्य मे राजन् वने वन्येन जीवतः।
किं कार्यमनुयात्रेण त्यक्तसङ्गस्य सर्वतः॥ २॥

'राजन्! मैं भोगोंका परित्याग कर चुका हूँ। मुझे जंगलके फल-मूलोंसे जीवन-निर्वाह करना है। जब मैं सब ओरसे आसक्ति छोड़ चुका हूँ, तब मुझे सेनासे क्या प्रयोजन है? ॥ २॥

यो हि दत्त्वा द्विपश्रेष्ठं कक्ष्यायां कुरुते मनः।
रज्जुस्नेहेन किं तस्य त्यजतः कुञ्जरोत्तमम्॥ ३॥

'जो श्रेष्ठ गजराजका दान करके उसके रस्सेमें मन लगाता है—लोभवश रस्सेको रख लेना चाहता है, वह अच्छा नहीं करता; क्योंकि उत्तम हाथीका त्याग करनेवाले पुरुषको उसके रस्सेमें आसक्ति रखनेकी क्या आवश्यकता है? ॥ ३॥

तथा मम सतां श्रेष्ठ किं ध्वजिन्या जगत्पते।
सर्वाण्येवानुजानामि चीराण्येवानयन्तु मे॥ ४॥

'सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ महाराज! इसी तरह मुझे सेना लेकर क्या करना है? मैं ये सारी वस्तुएँ भरतको अर्पित करनेकी अनुमति देता हूँ। मेरे लिये तो (माता कैकेयीकी दासियाँ) चीर (चिथड़े या वल्कल-वस्त्र) ला दें॥ ४॥

खनित्रपिटके चोभे समानयत गच्छत।
चतुर्दश वने वासं वर्षाणि वसतो मम॥ ५॥

'दासियो! जाओ, खन्ती और पेटारी अथवा कुदारी और खाँची ये दोनों वस्तुएँ लाओ। चौदह वर्षोंतक वनमें रहनेके लिये ये चीजें उपयोगी हो सकती हैं' ॥ ५॥

अथ चीराणि कैकेयी स्वयमाहृत्य राघवम्।
उवाच परिधत्स्वेति जनौघे निरपत्रपा॥ ६॥

कैकेयी लाज-संकोच छोड़ चुकी थी। वह स्वयं ही जाकर बहुत-सी चीर ले आयी और जनसमुदायमें श्रीरामचन्द्रजीसे बोली, 'लो, पहन लो' ॥ ६॥

स चीरे पुरुषव्याघ्रः कैकेय्याः प्रतिगृह्य ते।
सूक्ष्मवस्त्रमवक्षिप्य मुनिवस्त्राण्यवस्त ह॥ ७॥

पुरुषसिंह श्रीरामने कैकेयीके हाथसे दो चीर ले लिये और अपने महीन वस्त्र उतारकर मुनियोंके-से वस्त्र धारण कर लिये॥ ७॥

लक्ष्मणश्चापि तत्रैव विहाय वसने शुभे।
तापसाच्छादने चैव जग्राह पितुरग्रतः॥ ८॥

इसी प्रकार लक्ष्मणने भी अपने पिताके सामने ही दोनों सुन्दर वस्त्र उतारकर तपस्वियोंके-से वल्कल-वस्त्र पहन लिये॥ ८॥

अथात्मपरिधानार्थं सीता कौशेयवासिनी।
सम्प्रेक्ष्य चीरं संत्रस्ता पृषती वागुरामिव॥ ९॥
सा व्यपत्रपमाणेव प्रगृह्य च सुदुर्मनाः।
कैकेय्याः कुशचीरे ते जानकी शुभलक्षणा॥ १०॥
अश्रुसम्पूर्णनेत्रा च धर्मज्ञा धर्मदर्शिनी।
गन्धर्वराजप्रतिमं भर्तारमिदमब्रवीत्॥ ११॥
कथं नु चीरं बध्नन्ति मुनयो वनवासिनः।
इति ह्यकुशला सीता सा मुमोह मुहुर्मुहुः॥ १२॥

तदनन्तर रेशमी-वस्त्र पहनने और धर्मपर ही दृष्टि रखनेवाली धर्मज्ञा शुभलक्षणा जनकनन्दिनी सीता अपने पहननेके लिये भी चीरवस्त्रको प्रस्तुत देख उसी प्रकार डर गयीं, जैसे मृगी बिछे हुए जालको देखकर भयभीत हो जाती है। वे कैकेयीके हाथसे दो वल्कल-वस्त्र लेकर लज्जित-सी हो गयीं। उनके मनमें बड़ा दुःख हुआ और नेत्रोंमें आँसू भर आये। उस समय उन्होंने गन्धर्वराजके समान तेजस्वी पतिसे इस प्रकार पूछा—'नाथ! वनवासी मुनिलोग चीर कैसे बाँधते हैं?' यह कहकर उसे धारण करनेमें कुशल न होनेके कारण सीता बारम्बार मोहमें पड़ जाती थीं—भूल कर बैठती थीं॥ ९—१२॥

कृत्वा कण्ठे स्म सा चीरमेकमादाय पाणिना।
तस्थौ ह्यकुशला तत्र व्रीडिता जनकात्मजा॥ १३॥

चीर-धारणमें कुशल न होनेसे जनकनन्दिनी सीता लज्जित हो एक वल्कल गलेमें डाल दूसरा हाथमें लेकर चुपचाप खड़ी रहीं॥ १३॥

तस्यास्तत् क्षिप्रमागत्य रामो धर्मभृतां वरः।
चीरं बबन्ध सीतायाः कौशेयस्योपरि स्वयम्॥ १४॥

तब धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ श्रीराम जल्दीसे उनके पास आकर स्वयं अपने हाथोंसे उनके रेशमी वस्त्रके ऊपर वल्कल-वस्त्र बाँधने लगे॥ १४॥

रामं प्रेक्ष्य तु सीताया बध्नन्तं चीरमुत्तमम्।
अन्तःपुरचरा नार्यो मुमुचुर्वारि नेत्रजम्॥ १५॥

सीताको उत्तम चीरवस्त्र पहनाते हुए श्रीरामकी ओर देखकर रनवासकी स्त्रियाँ अपने नेत्रोंसे आँसू बहाने लगीं॥

ऊचुश्च परमायत्ता रामं ज्वलिततेजसम्।
वत्स नैवं नियुक्तेयं वनवासे मनस्विनी॥ १६॥

वे सब अत्यन्त खिन्न होकर उद्दीप्त तेजवाले श्रीरामसे

बोलीं—'बेटा! मनस्विनी सीताको इस प्रकार वनवासकी आज्ञा नहीं दी गयी है॥ १६॥

पितुर्वाक्यानुरोधेन गतस्य विजनं वनम्।
तावद् दर्शनमस्या नः सफलं भवतु प्रभो॥ १७॥

'प्रभो! तुम पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये जबतक निर्जन वनमें जाकर रहोगे, तबतक इसीको देखकर हमारा जीवन सफल होने दो॥ १७॥

लक्ष्मणेन सहायेन वनं गच्छस्व पुत्रक।
नेयमर्हति कल्याणि वस्तुं तापसवद् वने॥ १८॥

'बेटा! तुम लक्ष्मणको अपना साथी बनाकर उनके साथ वनको जाओ, परंतु यह कल्याणी सीता तपस्वी मुनिकी भाँति वनमें निवास करनेके योग्य नहीं है॥ १८॥

कुरु नो याचनां पुत्र सीता तिष्ठतु भामिनी।
धर्मनित्यः स्वयं स्थातुं न हीदानीं त्वमिच्छसि॥ १९॥

'पुत्र! तुम हमारी यह याचना सफल करो। भामिनी सीता यहीं रहे। तुम तो नित्य धर्मपरायण हो अतः स्वयं इस समय यहाँ नहीं रहना चाहते हो (परंतु सीताको तो रहने दो)'॥ १९॥

तासामेवंविधा वाचः शृण्वन् दशरथात्मजः।
बबन्धैव तथा चीरं सीतया तुल्यशीलया॥ २०॥
चीरे गृहीते तु तया सबाष्पो नृपतेर्गुरुः।
निवार्य सीतां कैकेयीं वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत्॥ २१॥

माताओंकी ऐसी बातें सुनते हुए भी दशरथनन्दन श्रीरामने सीताको वल्कल-वस्त्र पहना ही दिया। पतिके समान शीलस्वभाववाली सीताके वल्कल धारण कर लेनेपर राजाके गुरु वसिष्ठजीके नेत्रोंमें आँसू भर आया। उन्होंने सीताको रोककर कैकेयीसे कहा— ॥ २०-२१॥

अतिप्रवृत्ते दुर्मेधे कैकेयि कुलपांसनि।
वञ्चयित्वा तु राजानं न प्रमाणेऽवतिष्ठसि॥ २२॥

'मर्यादाका उल्लङ्घन करके अधर्मकी ओर पैर बढ़ानेवाली दुर्बुद्धि कैकेयी! तू केकयराजके कुलकी जीती-जागती कलङ्क है। अरी! राजाको धोखा देकर अब तू सीमाके भीतर नहीं रहना चाहती है?॥ २२॥

न गन्तव्यं वनं देव्या सीतया शीलवर्जिते।
अनुष्ठास्यति रामस्य सीता प्रकृतमासनम्॥ २३॥

'शीलका परित्याग करनेवाली दुष्टे! देवी सीता वनमें नहीं जायँगी। रामके लिये प्रस्तुत हुए राजसिंहासनपर ये ही बैठेंगी॥ २३॥

आत्मा हि दाराः सर्वेषां दारसंग्रहवर्तिनाम्।
आत्मेयमिति रामस्य पालयिष्यति मेदिनीम्॥ २४॥

'सम्पूर्ण गृहस्थोंकी पत्नियाँ उनका आधा अङ्ग हैं। इस तरह सीता देवी भी श्रीरामकी आत्मा हैं; अतः उनकी जगह ये ही इस राज्यका पालन करेंगी॥ २४॥

अथ यास्यति वैदेही वनं रामेण संगता।
वयमत्रानुयास्यामः पुरं चेदं गमिष्यति॥ २५॥
अन्तपालाश्च यास्यन्ति सदारो यत्र राघवः।
सहोपजीव्यं राष्ट्रं च पुरं च सपरिच्छदम्॥ २६॥

'यदि विदेहनन्दिनी सीता श्रीरामके साथ वनमें जायँगी तो हमलोग भी इनके साथ चले जायँगे। यह सारा नगर भी चला जायगा और अन्तःपुरके रक्षक भी चले जायँगे। अपनी पत्नीके साथ श्रीरामचन्द्रजी जहाँ निवास करेंगे, वहीं इस राज्य और नगरके लोग भी धन-दौलत और आवश्यक सामान लेकर चले जायँगे॥ २५-२६॥

भरतश्च सशत्रुघ्नश्चीरवसा वनेचरः।
वने वसन्तं काकुत्स्थमनुवत्स्यति पूर्वजम्॥ २७॥

'भरत और शत्रुघ्न भी चीरवस्त्र धारण करके वनमें रहेंगे और वहाँ निवास करनेवाले अपने बड़े भाई श्रीरामकी सेवा करेंगे॥ २७॥

ततः शून्यां गतजनां वसुधां पादपैः सह।
त्वमेका शाधि दुर्वृत्ता प्रजानामहिते स्थिता॥ २८॥

'फिर तू वृक्षोंके साथ अकेली रहकर इस निर्जन एवं सूनी पृथ्वीका राज्य करना। तू बड़ी दुराचारिणी है और प्रजाका अहित करनेमें लगी हुई है॥ २८॥

न हि तद् भविता राष्ट्रं यत्र रामो न भूपतिः।
तद् वनं भविता राष्ट्रं यत्र रामो निवत्स्यति॥ २९॥

'याद रख, श्रीराम जहाँके राजा न होंगे, वह राज्य राज्य नहीं रह जायगा—जंगल हो जायगा तथा श्रीराम जहाँ निवास करेंगे, वह वन एक स्वतन्त्र राष्ट्र बन जायगा॥ २९॥

न ह्यदत्तां महीं पित्रा भरतः शास्तुमिच्छति।
त्वयि वा पुत्रवद् वस्तुं यदि जातो महीपतेः॥ ३०॥

'यदि भरत राजा दशरथसे पैदा हुए हैं तो पिताके प्रसन्नतापूर्वक दिये बिना इस राज्यको कदापि लेना नहीं चाहेंगे तथा तेरे साथ पुत्रवत् बर्ताव करनेके लिये भी वहाँ बैठे रहनेकी इच्छा नहीं करेंगे॥ ३०॥

यद्यपि त्वं क्षितितलाद् गगनं चोत्पतिष्यसि।
पितृवंशचरित्रज्ञः सोऽन्यथा न करिष्यति॥ ३१॥

'तू पृथ्वी छोड़कर आसमानमें उड़ जाय तो भी अपने पितृकुलके आचार-व्यवहारको जाननेवाले भरत उसके विरुद्ध कुछ नहीं करेंगे॥ ३१॥

तत् त्वया पुत्रगर्धिन्या पुत्रस्य कृतमप्रियम्।
लोके नहि स विद्येत यो न राममनुव्रतः॥ ३२॥

'तूने पुत्रका प्रिय करनेकी इच्छासे वास्तवमें उसका अप्रिय ही किया है; क्योंकि संसारमें कोई ऐसा पुरुष नहीं है जो श्रीरामका भक्त न हो॥ ३२॥

द्रक्ष्यस्यद्यैव कैकेयि पशुव्यालमृगद्विजान्।
गच्छतः सह रामेण पादपांश्च तदुन्मुखान्॥ ३३॥

'कैकेयि! तू आज ही देखेगी कि वनको जाते हुए श्रीरामके साथ पशु, सर्प, मृग और पक्षी भी चले जा रहे हैं। औरोंकी तो बात ही क्या, वृक्ष भी उनके साथ जानेको उत्सुक हैं॥ ३३॥

अथोत्तमान्याभरणानि देवि
देहि स्नुषायै व्यपनीय चीरम्।
न चीरमस्याः प्रविधीयतेति
न्यवारयत् तद् वसनं वसिष्ठः॥ ३४॥

'देवि! सीता तेरी पुत्रवधू है। इनके शरीरसे वल्कल-वस्त्र हटाकर तू इन्हें पहननेके लिये उत्तमोत्तम वस्त्र और आभूषण दे। इनके लिये वल्कल-वस्त्र देना कदापि उचित नहीं है।' ऐसा कहकर वसिष्ठने उसे जानकीको वल्कल-वस्त्र पहनानेसे मना किया॥ ३४॥

एकस्य रामस्य वने निवास-
स्त्वया वृतः केकयराजपुत्रि।
विभूषितेयं प्रतिकर्मनित्या
वसत्वरण्ये सह राघवेण॥ ३५॥

वे फिर बोले—'केकयराजकुमारी! तूने अकेले श्रीरामके लिये ही वनवासका वर माँगा है (सीताके लिये नहीं); अतः ये राजकुमारी वस्त्राभूषणोंसे विभूषित होकर सदा शृङ्गार धारण करके वनमें श्रीरामचन्द्रजीके साथ निवास करें॥ ३५॥

यानैश्च मुख्यैः परिचारकैश्च
सुसंवृता गच्छतु राजपुत्री।
वस्त्रैश्च सर्वैः सहितैर्विधानै-
र्नेयं वृता ते वरसम्प्रदाने॥ ३६॥

'राजकुमारी सीता मुख्य-मुख्य सेवकों तथा सवारियोंके साथ सब प्रकारके वस्त्रों और आवश्यक उपकरणोंसे सम्पन्न होकर वनकी यात्रा करें। तूने वर माँगते समय पहले सीताके वनवासकी कोई चर्चा नहीं की थी (अतः इन्हें वल्कलवस्त्र नहीं पहनाया जा सकता)'॥ ३६॥

तस्मिंस्तथा जल्पति विप्रमुख्ये
गुरौ नृपस्याप्रतिमप्रभावे।
नैव स्म सीता विनिवृत्तभावा
प्रियस्य भर्तुः प्रतिकारकामा॥ ३७॥

ब्राह्मणशिरोमणि अप्रतिम प्रभावशाली राजगुरु महर्षि वसिष्ठके ऐसा कहनेपर भी सीता अपने प्रियतम पतिके समान ही वेश-भूषा धारण करनेकी इच्छा रखकर उस चीर-धारणसे विरत नहीं हुईं॥ ३७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तत्रिंशः सर्गः॥ ३७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३७॥

—★—

अष्टात्रिंशः सर्गः

राजा दशरथका सीताको वल्कल धारण कराना अनुचित बताकर कैकेयीको फटकारना और श्रीरामका उनसे कौसल्यापर कृपादृष्टि रखनेके लिये अनुरोध करना

तस्यां चीरं वसानायां नाथवत्यामनाथवत्।
प्रचुक्रोश जनः सर्वो धिक् त्वां दशरथं त्विति॥ १॥

सीताजी सनाथ होकर भी जब अनाथकी भाँति चीरवस्त्र धारण करने लगीं, तब सब लोग चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगे—'राजा दशरथ! तुम्हें धिक्कार है!'॥ १॥

तेन तत्र प्रणादेन दुःखितः स महीपतिः।
चिच्छेद जीविते श्रद्धां धर्मे यशसि चात्मनः॥ २॥
स निःश्वस्योष्णमैक्ष्वाकस्तां भार्यामिदमब्रवीत्।
कैकेयि कुशचीरेण न सीता गन्तुमर्हति॥ ३॥

वहाँ होनेवाले उस कोलाहलसे दुःखी हो इक्ष्वाकुवंशी महाराज दशरथने अपने जीवन, धर्म और यशकी उत्कट इच्छा त्याग दी। फिर वे गरम साँस खींचकर अपनी भार्या कैकेयीसे इस प्रकार बोले—'कैकेयि! सीता कुश-चीर (वल्कल-वस्त्र) पहनकर वनमें जानेके योग्य नहीं है॥

सुकुमारी च बाला च सततं च सुखोचिता।
नेयं वनस्य योग्येति सत्यमाह गुरुर्मम॥ ४॥

'यह सुकुमारी है, बालिका है और सदा सुखोंमें ही पली है। मेरे गुरुजी ठीक कहते हैं कि यह सीता वनमें जाने योग्य नहीं है॥

इयं हि कस्यापि करोति किंचित्
तपस्विनी राजवरस्य पुत्री।
या चीरमासाद्य जनस्य मध्ये
स्थिता विसंज्ञा श्रमणीव काचित्॥ ५॥

'राजाओंमें श्रेष्ठ जनककी यह तपस्विनी पुत्री क्या किसीका भी कुछ बिगाड़ती है? जो इस प्रकार जन-समुदायके बीच किसी किंकर्तव्यविमूढ़ भिक्षुकीके समान चीर धारण करके खड़ी है?॥ ५॥

चीराण्यपास्याज्जनकस्य कन्या
नेयं प्रतिज्ञा मम दत्तपूर्वा।
यथासुखं गच्छतु राजपुत्री
वनं समग्रा सह सर्वरत्नैः॥ ६॥

'जनकनन्दिनी अपने चीर-वस्त्र उतार डाले। 'यह इस रूपमें वन जाय' ऐसी कोई प्रतिज्ञा मैंने पहले नहीं की है और न किसीको इस तरहका वचन ही दिया है। अतः राजकुमारी सीता सम्पूर्ण वस्त्रालंकारोंसे सम्पन्न हो सब प्रकारके रत्नोंके साथ जिस तरह भी वह सुखी रह सके, उसी तरह वनको जा सकती है॥ ६॥

अजीवनार्हेण मया नृशंसा
कृता प्रतिज्ञा नियमेन तावत्।
त्वया हि बाल्यात् प्रतिपन्नमेतत्
तन्मा दहेद् वेणुमिवात्मपुष्पम्॥ ७॥

'मैं जीवित रहनेयोग्य नहीं हूँ। मैंने तेरे वचनोंमें बँधकर एक तो यों ही नियम (शपथ) पूर्वक बड़ी क्रूर प्रतिज्ञा कर डाली है, दूसरे तूने अपनी नादानीके कारण सीताको इस तरह चीर पहनाना प्रारम्भ कर दिया। जिस प्रकार बाँसका फूल उसीको सुखा डालता है, उसी प्रकार मेरी की हुई प्रतिज्ञा मुझीको भस्म किये डालती है॥ ७॥

रामेण यदि ते पापे किंचित्कृतमशोभनम्।
अपकारः क इह ते वैदेह्या दर्शितोऽधमे॥ ८॥

'नीच पापिनि! यदि श्रीरामने तेरा कोई अपराध किया है तो (उन्हें तो तू वनवास दे ही चुकी) विदेहनन्दिनी सीताने ऐसा दण्ड पानेयोग्य तेरा कौन-सा अपकार कर डाला है?॥ ८॥

मृगीवोत्फुल्लनयना मृदुशीला मनस्विनी।
अपकारं कमिव ते करोति जनकात्मजा॥ ९॥

'जिसके नेत्र हरिणीके नेत्रोंके समान खिले हुए हैं, जिसका स्वभाव अत्यन्त कोमल एवं मधुर है, वह मनस्विनी जनकनन्दिनी तेरा कौन-सा अपराध कर रही है?॥ ९॥

ननु पर्याप्तमेवं ते पापे रामविवासनम्।
किमेभिः कृपणैर्भूयः पातकैरपि ते कृतैः॥ १०॥

'पापिनि! तूने श्रीरामको वनवास देकर ही पूरा पाप कमा लिया है। अब सीताको भी वनमें भेजने और वल्कल पहनाने आदिका अत्यन्त दुःखद कार्य करके फिर तू इतने पातक किसलिये बटोर रही है?॥ १०॥

प्रतिज्ञातं मया तावत् त्वयोक्तं देवि शृण्वता।
रामं यदभिषेकाय त्वमिहागतमब्रवीः॥ ११॥

'देवि! श्रीराम जब अभिषेकके लिये यहाँ आये थे, उस समय तूने उनसे जो कुछ कहा था, उसे सुनकर मैंने उतनेके लिये ही प्रतिज्ञा की थी॥ ११॥

तत्त्वेतत् समतिक्रम्य निरयं गन्तुमिच्छसि।
मैथिलीमपि या हि त्वमीक्षसे चीरवासिनीम्॥ १२॥

'उसका उल्लङ्घन करके जो तू मिथिलेशकुमारी जानकीको भी वल्कल-वस्त्र पहने देखना चाहती है, इससे जान पड़ता है, तुझे नरकमें ही जानेकी इच्छा हो रही है'॥ १२॥

एवं ब्रुवन्तं पितरं रामः सम्प्रस्थितो वनम्।
अवाक्शिरसमासीनमिदं वचनमब्रवीत्॥ १३॥

राजा दशरथ सिर नीचा किये बैठे हुए जब इस प्रकार कह रहे थे, उस समय वनकी ओर जाते हुए श्रीरामने पितासे इस प्रकार कहा—॥ १३॥

इयं धार्मिक कौसल्या मम माता यशस्विनी।
वृद्धा चाक्षुद्रशीला च न च त्वां देव गर्हते॥ १४॥
मया विहीनां वरद प्रपन्नां शोकसागरम्।
अदृष्टपूर्वव्यसनां भूयः सम्मन्तुमर्हसि॥ १५॥

'धर्मात्मन्! ये मेरी यशस्विनी माता कौसल्या अब वृद्ध हो चली हैं। इनका स्वभाव बहुत ही उच्च और उदार है। देव! यह कभी आपकी निन्दा नहीं करती हैं। इन्होंने पहले कभी ऐसा भारी संकट नहीं देखा होगा। वरदायक नरेश! ये मेरे न रहनेसे शोकके समुद्रमें डूब जायँगी। अतः आप सदा इनका अधिक सम्मान करते रहें॥ १४-१५॥

पुत्रशोकं यथा नर्च्छेत् त्वया पूज्येन पूजिता।
मां हि संचिन्तयन्ती सा त्वयि जीवेत् तपस्विनी॥ १६॥

'आप पूज्यतम पतिसे सम्मानित हो जिस प्रकार यह पुत्रशोकका अनुभव न कर सकें और मेरा चिन्तन करती हुई भी आपके आश्रयमें ही ये मेरी तपस्विनी माता जीवन धारण करें, ऐसा प्रयत्न आपको करना चाहिये॥ १६॥

इमां महेन्द्रोपम जातगर्धिनीं
तथा विधातुं जननीं ममार्हसि।
यथा वनस्थे मयि शोककर्शिता
न जीवितं न्यस्य यमक्षयं व्रजेत्॥ १७॥

'इन्द्रके समान तेजस्वी महाराज! ये निरन्तर अपने बिछुड़े हुए बेटेको देखनेके लिये उत्सुक रहेंगी। कहीं ऐसा न हो मेरे वनमें रहते समय ये शोकसे कातर हो अपने प्राणोंको त्याग करके यमलोकको चली जायँ। अतः आप मेरी माताको सदा ऐसी ही परिस्थितिमें रखें, जिससे उक्त आशङ्काके लिये अवकाश न रह जाय'॥ १७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टात्रिंशः सर्गः॥ ३८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अड़तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३८॥

★

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

राजा दशरथका विलाप, उनकी आज्ञासे सुमन्त्रका रामके लिये रथ जोतकर लाना, कोषाध्यक्षका सीताको बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण देना, कौसल्याका सीताको पतिसेवाका उपदेश, सीताके द्वारा उसकी स्वीकृति तथा श्रीरामका अपनी मातासे पिताके प्रति दोषदृष्टि न रखनेका अनुरोध करके अन्य माताओंसे भी विदा माँगना

रामस्य तु वचः श्रुत्वा मुनिवेषधरं च तम्।
समीक्ष्य सह भार्याभी राजा विगतचेतनः ॥ १ ॥

श्रीरामकी बात सुनकर और उन्हें मुनिवेष धारण किये देख स्त्रियोंसहित राजा दशरथ शोकसे अचेत हो गये ॥ १ ॥

नैनं दुःखेन संतप्तः प्रत्यवैक्षत राघवम्।
न चैनमभिसम्प्रेक्ष्य प्रत्यभाषत दुर्मनाः ॥ २ ॥

दुःखसे संतप्त होनेके कारण वे श्रीरामकी ओर भर आँख देख भी न सके और देखकर भी मनमें दुःख होनेके कारण उन्हें कुछ उत्तर न दे सके ॥ २ ॥

स मुहूर्तमिवासंज्ञो दुःखितश्च महीपतिः।
विललाप महाबाहू राममेवानुचिन्तयन् ॥ ३ ॥

दो घड़ीतक अचेत-सा रहनेके बाद जब उन्हें होश हुआ, तब वे महाबाहु नरेश श्रीरामका ही चिन्तन करते हुए दुःखी होकर विलाप करने लगे— ॥ ३ ॥

मन्ये खलु मया पूर्वं विवत्सा बहवः कृताः।
प्राणिनो हिंसिता वापि तन्मामिदमुपस्थितम् ॥ ४ ॥

'मालूम होता है, मैंने पूर्वजन्ममें अवश्य ही बहुत-सी गौओंका उनके बछड़ोंसे विछोह कराया है अथवा अनेक प्राणियोंकी हिंसा की है, इसीसे आज मेरे ऊपर यह संकट आ पड़ा है ॥ ४ ॥

न त्वेवानागते काले देहाच्च्यवति जीवितम्।
कैकेय्या क्लिश्यमानस्य मृत्युर्मम न विद्यते ॥ ५ ॥

'समय पूरा हुए बिना किसीके शरीरसे प्राण नहीं निकलते; तभी तो कैकेयीके द्वारा इतना क्लेश पानेपर भी मेरी मृत्यु नहीं हो रही है ॥ ५ ॥

योऽहं पावकसंकाशं पश्यामि पुरतः स्थितम्।
विहाय वसने सूक्ष्मे तापसाच्छादमात्मजम् ॥ ६ ॥

'ओह ! अपने अग्निके समान तेजस्वी पुत्रको महीन वस्त्र त्यागकर तपस्वियोंके-से वल्कल-वस्त्र धारण किये सामने खड़ा देख रहा हूँ (फिर भी मेरे प्राण नहीं निकलते हैं) ॥

एकस्याः खलु कैकेय्याः कृतेऽयं खिद्यते जनः।
स्वार्थे प्रयतमानायाः संश्रित्य निकृतिं त्विमाम् ॥ ७ ॥

'इस वरदानरूप शठताका आश्रय लेकर अपने स्वार्थ-साधनके प्रयत्नमें लगी हुई एकमात्र कैकेयीके कारण ये सब लोग महान् कष्टमें पड़ गये हैं' ॥ ७ ॥

एवमुक्त्वा तु वचनं बाष्पेण विहतेन्द्रियः।
रामेति सकृदेवोक्त्वा व्याहर्तुं न शशाक सः ॥ ८ ॥

'ऐसी बात कहते-कहते राजाके नेत्रोंमें आँसू भर आये। उनकी इन्द्रियाँ शिथिल हो गयीं और वे एक ही बार 'हे राम !' कहकर मूर्च्छित हो गये। आगे कुछ न बोल सके ॥

संज्ञां तु प्रतिलभ्यैव मुहूर्तात् स महीपतिः।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां सुमन्त्रमिदमब्रवीत् ॥ ९ ॥

दो घड़ी बाद होशमें आते ही वे महाराज आँसू-भरे नेत्रोंसे देखते हुए सुमन्त्रसे इस प्रकार बोले— ॥ ९ ॥

औपवाह्यं रथं युक्त्वा त्वमायाहि हयोत्तमैः।
प्रापयैनं महाभागमितो जनपदात् परम् ॥ १० ॥

'तुम सवारीके योग्य एक रथको उसमें उत्तम घोड़े जोतकर यहाँ ले आओ और इन महाभाग श्रीरामको उसपर बिठाकर इस जनपदसे बाहरतक पहुँचा आओ ॥ १० ॥

एवं मन्ये गुणवतां गुणानां फलमुच्यते।
पित्रा मात्रा च यत्साधुर्वीरो निर्वास्यते वनम् ॥ ११ ॥

'अपने श्रेष्ठ वीर पुत्रको स्वयं माता-पिता ही जब घरसे निकालकर वनमें भेज रहे हैं, तब ऐसा मालूम होता है कि शास्त्रमें गुणवान् पुरुषोंके गुणोंका यही फल बताया जाता है' ॥ ११ ॥

राज्ञो वचनमाज्ञाय सुमन्त्रः शीघ्रविक्रमः।
योजयित्वा ययौ तत्र रथमश्वैरलंकृतम् ॥ १२ ॥

राजाकी आज्ञा शिरोधार्य करके शीघ्रगामी सुमन्त्र गये और उत्तम घोड़ोंसे सुशोभित रथ जोतकर ले आये ॥ १२ ॥

तं रथं राजपुत्राय सूतः कनकभूषितम्।
आचचक्षेऽञ्जलिं कृत्वा युक्तं परमवाजिभिः ॥ १३ ॥

फिर सूत सुमन्त्रने हाथ जोड़कर कहा—'महाराज ! राजकुमार श्रीरामके लिये उत्तम घोड़ोंसे जुता हुआ सुवर्ण-भूषित रथ तैयार है' ॥ १३ ॥

राजा सत्वरमाहूय व्यापृतं वित्तसंचये।
उवाच देशकालज्ञो निश्चितं सर्वतः शुचिः ॥ १४ ॥

तब देश और कालको समझनेवाले, सब ओरसे शुद्ध (इहलोक और परलोकसे उऋण) राजा दशरथने तुरंत ही धन-संग्रहके व्यापारमें नियुक्त कोषाध्यक्षको बुलाकर यह निश्चित बात कही— ॥ १४ ॥

वासांसि च वरार्हाणि भूषणानि महान्ति च।
वर्षाण्येतानि संख्याय वैदेह्याः क्षिप्रमानय ॥ १५ ॥

'तुम विदेहकुमारी सीताके पहननेयोग्य बहुमूल्य वस्त्र और महान् आभूषण जो चौदह वर्षोंके लिये पर्याप्त हों

गिनकर शीघ्र ले आओ' ॥ १५ ॥

नरेन्द्रेणैवमुक्तस्तु गत्वा कोशगृहं ततः ।
प्रायच्छत् सर्वमाहृत्य सीतायै क्षिप्रमेव तत् ॥ १६ ॥

महाराजके ऐसा कहनेपर कोषाध्यक्षने खजानेमें जा वहाँसे सब चीजें लाकर शीघ्र ही सीताको समर्पित कर दीं ॥ १६ ॥

सा सुजाता सुजातानि वैदेही प्रस्थिता वनम् ।
भूषयामास गात्राणि तैर्विचित्रैर्विभूषणैः ॥ १७ ॥

उत्तम कुलमें उत्पन्न अथवा अयोनिजा और वनवासके लिये प्रस्थित विदेहकुमारी सीताने सुन्दर लक्षणोंसे युक्त अपने सभी अङ्गोंको उन विचित्र आभूषणोंसे विभूषित किया ॥ १७ ॥

व्यराजयत वैदेही वेश्म तत् सुविभूषिता ।
उद्यतोंऽशुमतः काले खं प्रभेव विवस्वतः ॥ १८ ॥

उन आभूषणोंसे विभूषित हुई विदेहनन्दिनी सीता उस घरको उसी प्रकार सुशोभित करने लगीं, जैसे प्रातःकाल उगते हुए अंशुमाली सूर्यकी प्रभा आकाशको प्रकाशित करती है ॥ १८ ॥

तां भुजाभ्यां परिष्वज्य श्वश्रूर्वचनमब्रवीत् ।
अनाचरन्तीं कृपणं मूर्ध्न्युपाघ्राय मैथिलीम् ॥ १९ ॥

उस समय सास कौसल्याने कभी दुःखद बर्ताव न करनेवाली मिथिलेशकुमारी सीताको अपनी दोनों भुजाओंसे कसकर छातीसे लगा लिया और उनके मस्तकको सूँघकर कहा— ॥ १९ ॥

असत्यः सर्वलोकेऽस्मिन् सततं सत्कृताः प्रियैः ।
भर्तारं नानुमन्यन्ते विनिपातगतं स्त्रियः ॥ २० ॥

'बेटी ! जो स्त्रियाँ अपने प्रियतम पतिके द्वारा सदा सम्मानित होकर भी संकटमें पड़नेपर उसका आदर नहीं करती हैं, वे इस सम्पूर्ण जगत्में 'असती' (दुष्टा) के नामसे पुकारी जाती हैं ॥ २० ॥

एष स्वभावो नारीणामनुभूय पुरा सुखम् ।
अल्पामप्यापदं प्राप्य दुष्यन्ति प्रजहत्यपि ॥ २१ ॥

'दुष्टा स्त्रियोंका यह स्वभाव होता है कि पहले तो वे पतिके द्वारा यथेष्ट सुख भोगती हैं, परंतु जब वह थोड़ी-सी भी विपत्तिमें पड़ता है, तब उसपर दोषारोपण करती और उसका साथ छोड़ देती हैं ॥ २१ ॥

असत्यशीला विकृता दुर्गा अहृदयाः सदा ।
असत्यः पापसंकल्पाः क्षणमात्रविरागिणः ॥ २२ ॥

'जो झूठ बोलनेवाली, विकृत चेष्टा करनेवाली, दुष्ट पुरुषोंसे संसर्ग रखनेवाली, पतिके प्रति सदा हृदयहीनताका परिचय देनेवाली, कुलटा, पापके ही मनसूबे बाँधनेवाली और छोटी-सी बातके लिये भी क्षणमात्रमें पतिकी ओरसे विरक्त हो जानेवाली हैं, वे सब-की-सब असती या दुष्टा कही गयी हैं ॥

न कुलं न कृतं विद्या न दत्तं नापि संग्रहः ।
स्त्रीणां गृह्णाति हृदयमनित्यहृदया हि ताः ॥ २३ ॥

'उत्तम कुल, किया हुआ उपकार, विद्या, भूषण आदिका दान और संग्रह (पतिके द्वारा स्नेहपूर्वक अपनाया जाना), यह सब कुछ दुष्टा स्त्रियोंके हृदयको नहीं वशमें कर पाता है; क्योंकि उनका चित्त अव्यवस्थित होता है ॥ २३ ॥

साध्वीनां तु स्थितानां तु शीले सत्ये श्रुते स्थिते ।
स्त्रीणां पवित्रं परमं पतिरेको विशिष्यते ॥ २४ ॥

'इसके विपरीत जो सत्य, सदाचार, शास्त्रोंकी आज्ञा और कुलोचित मर्यादाओंमें स्थित रहती हैं, उन साध्वी-स्त्रियोंके लिये एकमात्र पति ही परम पवित्र एवं सर्वश्रेष्ठ देवता है ॥

स त्वया नावमन्तव्यः पुत्रः प्रव्राजितो वनम् ।
तव देवसमस्त्वेष निर्धनः सधनोऽपि वा ॥ २५ ॥

'इसलिये तुम मेरे पुत्र श्रीरामका, जिन्हें वनवासकी आज्ञा मिली है, कभी अनादर न करना। ये निर्धन हों या धनी, तुम्हारे लिये देवताके तुल्य हैं' ॥ २५ ॥

विज्ञाय वचनं सीता तस्या धर्मार्थसंहितम् ।
कृत्वाञ्जलिमुवाचेदं श्वश्रूमभिमुखे स्थिता ॥ २६ ॥

सासके धर्म और अर्थयुक्त वचनोंका तात्पर्य भलीभाँति समझकर उनके सामने खड़ी हुई सीताने हाथ जोड़कर उनसे इस प्रकार कहा— ॥ २६ ॥

करिष्ये सर्वमेवाहमार्या यदनुशास्ति माम् ।
अभिज्ञास्मि यथा भर्तुर्वर्तितव्यं श्रुतं च मे ॥ २७ ॥

'आर्ये ! आप मेरे लिये जो कुछ उपदेश दे रही हैं, मैं उसका पूर्णरूपसे पालन करूँगी। स्वामीके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये, यह मुझे भलीभाँति विदित है; क्योंकि इस विषयको मैंने पहलेसे ही सुन रखा है ॥ २७ ॥

न मामसज्जनेनार्या समानयितुमर्हति ।
धर्माद् विचलितुं नाहमलं चन्द्रादिव प्रभा ॥ २८ ॥

'पूजनीया माताजी ! आपको मुझे असती स्त्रियोंके समान नहीं मानना चाहिये; क्योंकि जैसे प्रभा चन्द्रमासे दूर नहीं हो सकती, उसी प्रकार मैं पतिव्रत-धर्मसे विचलित नहीं हो सकती ॥ २८ ॥

नातन्त्री वाद्यते वीणा नाचक्रो विद्यते रथः ।
नापतिः सुखमेधेत या स्यादपि शतात्मजा ॥ २९ ॥

'जैसे बिना तारकी वीणा नहीं बज सकती और बिना पहियेका रथ नहीं चल सकता है, उसी प्रकार नारी सौ बेटोंकी माता होनेपर भी बिना पतिके सुखी नहीं हो सकती ॥

मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः ।
अमितस्य तु दातारं भर्तारं का न पूजयेत् ॥ ३० ॥

'पिता, भ्राता और पुत्र—ये परिमित सुख प्रदान करते हैं, परंतु पति अपरिमित सुखका दाता है—उसकी सेवासे इहलोक और परलोक दोनोंमें कल्याण होता है; अतः ऐसी कौन स्त्री है, जो अपने पतिका सत्कार नहीं करेगी ॥ ३० ॥

साहमेवंगता श्रेष्ठा श्रुतधर्मपरावरा।
आर्ये किमवमन्येयं स्त्रिया भर्ता हि दैवतम्॥ ३१॥

'आर्ये! मैंने श्रेष्ठ स्त्रियों—माता आदिके मुखसे नारीके सामान्य और विशेष धर्मोंका श्रवण किया है। इस प्रकार पातिव्रत्यका महत्त्व जानकर भी मैं पतिका क्यों अपमान करूँगी? मैं जानती हूँ कि पति ही स्त्रीका देवता है'॥ ३१॥

सीताया वचनं श्रुत्वा कौसल्या हृदयङ्गमम्।
शुद्धसत्त्वा मुमोचाश्रु सहसा दुःखहर्षजम्॥ ३२॥

सीताका यह मनोहर वचन सुनकर शुद्ध अन्तःकरणवाली देवी कौसल्याके नेत्रोंसे सहसा दुःख और हर्षके आँसू बहने लगे॥

तां प्राञ्जलिरभिप्रेक्ष्य मातृमध्येऽतिसत्कृताम्।
रामः परमधर्मात्मा मातरं वाक्यमब्रवीत्॥ ३३॥

तब परम धर्मात्मा श्रीरामने माताओंके बीचमें अत्यन्त सम्मानित होकर खड़ी हुई माता कौसल्याकी ओर देख हाथ जोड़कर कहा—॥ ३३॥

अम्ब मा दुःखिता भूत्वा पश्येस्त्वं पितरं मम।
क्षयोऽपि वनवासस्य क्षिप्रमेव भविष्यति॥ ३४॥

'माँ! (इन्हींके कारण मेरे पुत्रका वनवास हुआ है; ऐसा समझकर) तुम मेरे पिताजीकी ओर दुःखित होकर न देखना। वनवासकी अवधि भी शीघ्र ही समाप्त हो जायगी॥ ३४॥

सुप्तायास्ते गमिष्यन्ति नव वर्षाणि पञ्च च।
समग्रमिह सम्प्राप्तं मां द्रक्ष्यसि सुहृद्वृतम्॥ ३५॥

'ये चौदह वर्ष तो तुम्हारे सोते-सोते निकल जायँगे, फिर एक दिन देखोगी कि मैं अपने सुहृदोंसे घिरा हुआ सीता और लक्ष्मणके साथ सम्पूर्णरूपसे यहाँ आ पहुँचा हूँ'॥ ३५॥

एतावदभिनीतार्थमुक्त्वा स जननीं वचः।
त्रयः शतशतार्धा हि ददर्शावेक्ष्य मातरः॥ ३६॥
ताश्चापि स तथैवार्ता मातॄर्दशरथात्मजः।
धर्मयुक्तमिदं वाक्यं निजगाद कृताञ्जलिः॥ ३७॥

मातासे इस प्रकार अपना निश्चित अभिप्राय बताकर दशरथनन्दन श्रीरामने अपनी अन्य साढ़े तीन सौ माताओंकी ओर दृष्टिपात किया और उनको भी कौसल्याकी ही भाँति शोकाकुल पाया। तब उन्होंने हाथ जोड़कर उन सबसे यह धर्मयुक्त बात कही—॥ ३६-३७॥

संवासात् परुषं किंचिदज्ञानादपि यत् कृतम्।
तन्मे समुपजानीत सर्वाश्चामन्त्रयामि वः॥ ३८॥

'माताओ! सदा एक साथ रहनेके कारण मैंने जो कुछ कठोर वचन कह दिये हों अथवा अनजानमें भी मुझसे जो अपराध बन गये हों, उनके लिये आप मुझे क्षमा कर दें। मैं आप सब माताओंसे विदा माँगता हूँ'॥ ३८॥

वचनं राघवस्यैतद् धर्मयुक्तं समाहितम्।
शुश्रुवुस्ताः स्त्रियः सर्वाः शोकोपहतचेतसः॥ ३९॥

राजा दशरथकी उन सभी स्त्रियोंने श्रीरघुनाथजीका यह समाधानकारी धर्मयुक्त वचन सुना, सुनकर उन सबका चित्त शोकसे व्याकुल हो गया॥ ३९॥

जज्ञेऽथ तासां संनादः क्रौञ्चीनामिव निःस्वनः।
मानवेन्द्रस्य भार्याणामेवं वदति राघवे॥ ४०॥

श्रीरामके ऐसी बात कहते समय महाराज दशरथकी रानियाँ कुररियोंके समान विलाप करने लगीं। उनका वह आर्तनाद उस राजभवनमें सब ओर गूँज उठा॥ ४०॥

मुरजपणवमेघघोषवद्
दशरथवेश्मबभूव यत् पुरा।
विलपितपरिदेवनाकुलं
व्यसनगतं तदभूत् सुदुःखितम्॥ ४१॥

राजा दशरथका जो भवन पहले मुरज, पणव और मेघ आदि वाद्योंके गम्भीर घोषसे गूँजता रहता था, वही विलाप और रोदनसे व्याप्त हो संकटमें पड़कर अत्यन्त दुःखमय प्रतीत होने लगा॥ ४१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनचत्वारिंशः सर्गः॥ ३९॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें उन्तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३९॥

चत्वारिंशः सर्गः

सीता, राम और लक्ष्मणका दशरथकी परिक्रमा करके कौसल्या आदिको प्रणाम करना, सुमित्राका लक्ष्मणको उपदेश, सीतासहित श्रीराम और लक्ष्मणका रथमें बैठकर वनकी ओर प्रस्थान, पुरवासियों तथा रानियोंसहित महाराज दशरथकी शोकाकुल अवस्था

अथ रामश्च सीता च लक्ष्मणश्च कृताञ्जलिः।
उपसंगृह्य राजानं चक्रुर्दीनाः प्रदक्षिणम्॥ १॥

तदनन्तर राम, लक्ष्मण और सीताने हाथ जोड़कर दीनभावसे राजा दशरथके चरणोंका स्पर्श करके उनकी दक्षिणावर्त परिक्रमा की॥ १॥

तं चापि समनुज्ञाप्य धर्मज्ञः सह सीतया।
राघवः शोकसम्मूढो जननीमभ्यवादयत्॥ २॥

उनसे विदा लेकर सीतासहित धर्मज्ञ रघुनाथजीने माताका कष्ट देखकर शोकसे व्याकुल हो उनके चरणोंमें प्रणाम किया॥ २॥

अन्वक्षं लक्ष्मणो भ्रातुः कौसल्यामभ्यवादयत्।
अपि मातुः सुमित्राया जग्राह चरणौ पुनः॥ ३॥

श्रीरामके बाद लक्ष्मणने भी पहले माता कौसल्याको प्रणाम किया, फिर अपनी माता सुमित्राके भी दोनों पैर पकड़े॥ ३॥

तं वन्दमानं रुदती माता सौमित्रिमब्रवीत्।
हितकामा महाबाहुं मूर्ध्न्युपाघ्राय लक्ष्मणम्॥ ४॥

अपने पुत्र महाबाहु लक्ष्मणको प्रणाम करते देख उनका हित चाहनेवाली माता सुमित्राने बेटेका मस्तक सूँघकर कहा—॥ ४॥

सृष्टस्त्वं वनवासाय स्वनुरक्तः सुहृज्जने।
रामे प्रमादं मा कार्षीः पुत्र भ्रातरि गच्छति॥ ५॥

'वत्स! तुम अपने सुहृद् श्रीरामके परम अनुरागी हो, इसलिये मैं तुम्हें वनवासके लिये विदा करती हूँ। अपने बड़े भाईके वनमें इधर-उधर जाते समय तुम उनकी सेवामें कभी प्रमाद न करना॥ ५॥

व्यसनी वा समृद्धो वा गतिरेष तवानघ।
एष लोके सतां धर्मो यज्ज्येष्ठवशगो भवेत्॥ ६॥

'ये संकटमें हों या समृद्धिमें, ये ही तुम्हारी परम गति हैं। निष्पाप लक्ष्मण! संसारमें सत्पुरुषोंका यही धर्म है कि सर्वदा अपने बड़े भाईकी आज्ञाके अधीन रहें॥ ६॥

इदं हि वृत्तमुचितं कुलस्यास्य सनातनम्।
दानं दीक्षा च यज्ञेषु तनुत्यागो मृधेषु हि॥ ७॥

'दान देना, यज्ञमें दीक्षा ग्रहण करना और युद्धमें शरीर त्यागना—यही इस कुलका उचित एवं सनातन आचार है'॥ ७॥

लक्ष्मणं त्वेवमुक्त्वासौ संसिद्धं प्रियराघवम्।
सुमित्रा गच्छ गच्छेति पुनः पुनरुवाच तम्॥ ८॥

अपने पुत्र लक्ष्मणसे ऐसा कहकर सुमित्राने वनवासके लिये निश्चित विचार रखनेवाले सर्वप्रिय श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—'बेटा! जाओ, जाओ (तुम्हारा मार्ग मङ्गलमय हो)।' इसके बाद वे लक्ष्मणसे फिर बोलीं—॥ ८॥

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्॥ ९॥

'बेटा! तुम श्रीरामको ही अपने पिता महाराज दशरथ समझो, जनकनन्दिनी सीताको ही अपनी माता सुमित्रा मानो और वनको ही अयोध्या जानो। अब सुखपूर्वक यहाँसे प्रस्थान करो'॥ ९॥

ततः सुमन्त्रः काकुत्स्थं प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत्।
विनीतो विनयज्ञश्च मातलिर्वासवं यथा॥ १०॥

इसके बाद जैसे मातलि इन्द्रसे कोई बात कहते हैं, उसी प्रकार विनयके ज्ञाता सुमन्त्रने ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामसे विनयपूर्वक हाथ जोड़कर कहा—॥ १०॥

रथमारोह भद्रं ते राजपुत्र महायशः।
क्षिप्रं त्वां प्रापयिष्यामि यत्र मां राम वक्ष्यसे॥ ११॥

'महायशस्वी राजकुमार श्रीराम! आपका कल्याण हो। आप इस रथपर बैठिये। आप मुझसे जहाँ कहेंगे, वहीं मैं शीघ्र आपको पहुँचा दूँगा॥ ११॥

चतुर्दश हि वर्षाणि वस्तव्यानि वने त्वया।
तान्युपक्रमितव्यानि यानि देव्या प्रचोदितः॥ १२॥

'आपको जिन चौदह वर्षोंतक वनमें रहना है, उनकी गणना आजसे ही आरम्भ हो जानी चाहिये; क्योंकि देवी कैकेयीने आज ही आपको वनमें जानेके लिये प्रेरित किया है'॥ १२॥

ते रथं सूर्यसंकाशं सीता हृष्टेन चेतसा।
आरुरोह वरारोहा कृत्वालंकारमात्मनः॥ १३॥

तब सुन्दरी सीता अपने अङ्गोंमें उत्तम अलंकार धारण करके प्रसन्न चित्तसे उस सूर्यके समान तेजस्वी रथपर आरूढ़ हुईं॥ १३॥

वनवासं हि संख्याय वासांस्याभरणानि च।
भर्तारमनुगच्छन्त्यै सीतायै श्वशुरो ददौ॥ १४॥

पतिके साथ जानेवाली सीताके लिये उनके श्वशुरने वनवासकी वर्षसंख्या गिनकर उसके अनुसार ही वस्त्र और आभूषण दिये थे॥ १४॥

तथैवायुधजातानि भ्रातृभ्यां कवचानि च।
रथोपस्थे प्रविन्यस्य सचर्म कठिनं च यत्॥ १५॥

इसी प्रकार महाराजने दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणके लिये जो बहुत-से अस्त्र-शस्त्र और कवच प्रदान किये थे, उन्हें रथके पिछले भागमें रखकर उन्होंने चमड़ेसे मढ़ी हुई पिटारी और खन्ती या कुदारी भी उसीपर रख दी॥ १५॥

अथो ज्वलनसंकाशं चामीकरविभूषितम्।
तमारुरुहतुस्तूर्णं भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ॥ १६॥

इसके बाद दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण उस अग्निके समान दीप्तिमान् सुवर्णभूषित रथपर शीघ्र ही आरूढ़ हो गये॥ १६॥

सीतातृतीयानारूढान् दृष्ट्वा रथमचोदयत्।
सुमन्त्रः सम्मतानश्वान् वायुवेगसमाञ्जवे॥ १७॥

जिनमें सीताकी संख्या तीसरी थी, उन श्रीराम आदिको रथपर आरूढ़ हुआ देख सारथि सुमन्त्रने रथको आगे बढ़ाया। उसमें जुते हुए वायुके समान वेगशाली उत्तम घोड़ोंको हाँका॥ १७॥

प्रयाते तु महारण्यं चिररात्राय राघवे।
बभूव नगरे मूर्च्छा बलमूर्च्छा जनस्य च॥ १८॥

जब श्रीरामचन्द्रजी सुदीर्घकालके लिये महान् वनकी ओर जाने लगे, उस समय समस्त पुरवासियों, सैनिकों तथा दर्शकरूपमें आये हुए बाहरी लोगोंको भी मूर्च्छा आ गयी॥

ततः समाकुलसम्भ्रान्तं मत्तसंकुपितद्विपम्।
हयसिञ्जितनिर्घोषं पुरमासीन्महास्वनम्॥ १९॥

उस समय सारी अयोध्यामें महान् कोलाहल मच गया। सब लोग व्याकुल होकर घबरा उठे। मतवाले हाथी श्रीरामके वियोगसे कुपित हो उठे और इधर-उधर भागते हुए घोड़ोंके हिनहिनाने एवं उनके आभूषणोंके खनखनानेकी आवाज सब ओर गूँजने लगी॥ १९॥

ततः सबालवृद्धा सा पुरी परमपीडिता।
राममेवाभिदुद्राव घर्मार्तः सलिलं यथा॥ २०॥

अयोध्यापुरीके आबाल वृद्ध सब लोग अत्यन्त पीड़ित होकर श्रीरामके ही पीछे दौड़े, मानो धूपसे पीड़ित हुए प्राणी पानीकी ओर भागे जाते हों॥ २०॥

पार्श्वतः पृष्ठतश्चापि लम्बमानास्तदुन्मुखाः।
बाष्पपूर्णमुखाः सर्वे तमूचुर्भृशनिःस्वनाः॥ २१॥

उनमेंसे कुछ लोग रथके पीछे और अगल-बगलमें लटक गये। सभी श्रीरामके लिये उत्कण्ठित थे और सबके मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही थी। वे सब-के-सब उच्चस्वरसे कहने लगे—॥ २१॥

संयच्छ वाजिनां रश्मीन् सूत याहि शनैः शनैः।
मुखं द्रक्ष्याम रामस्य दुर्दर्शं नो भविष्यति॥ २२॥

'सूत! घोड़ोंकी लगाम खींचो। रथको धीरे-धीरे ले चलो। हम श्रीरामका मुख देखेंगे; क्योंकि अब इस मुखका दर्शन हमलोगोंके लिये दुर्लभ हो जायगा॥ २२॥

आयसं हृदयं नूनं राममातुरसंशयम्।
यद् देवगर्भप्रतिमे वनं याति न भिद्यते॥ २३॥

निश्चय ही श्रीरामचन्द्रजीकी माताका हृदय लोहेका बना हुआ है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है। तभी तो देव-कुमारके समान तेजस्वी पुत्रके वनकी ओर जाते समय फट नहीं जाता है॥ २३॥

कृतकृत्या हि वैदेही छायेवानुगता पतिम्।
न जहाति रता धर्मे मेरुमर्कप्रभा यथा॥ २४॥

'विदेहनन्दिनी सीता कृतार्थ हो गयीं; क्योंकि वे पतिव्रत-धर्ममें तत्पर रहकर छायाकी भाँति पतिके पीछे-पीछे चली जा रही हैं। वे श्रीरामका साथ उसी प्रकार नहीं छोड़ती हैं, जैसे सूर्यकी प्रभा मेरुपर्वतका त्याग नहीं करती है॥ २४॥

अहो लक्ष्मण सिद्धार्थः सततं प्रियवादिनम्।
भ्रातरं देवसंकाशं यस्त्वं परिचरिष्यसि॥ २५॥

'अहो लक्ष्मण! तुम भी कृतार्थ हो गये; क्योंकि तुम सदा प्रिय वचन बोलनेवाले अपने देवतुल्य भाईकी वनमें सेवा करोगे॥ २५॥

महत्येषा हि ते बुद्धिरेष चाभ्युदयो महान्।
एष स्वर्गस्य मार्गश्च यदेनमनुगच्छसि॥ २६॥

'तुम्हारी यह बुद्धि विशाल है। तुम्हारा यह महान् अभ्युदय है और तुम्हारे लिये यह स्वर्गका मार्ग मिल गया है; क्योंकि तुम श्रीरामका अनुसरण कर रहे हो'॥ २६॥

एवं वदन्तस्ते सोढुं न शेकुर्बाष्पमागतम्।
नरास्तमनुगच्छन्ति प्रियमिक्ष्वाकुनन्दनम्॥ २७॥

ऐसी बातें कहते हुए वे पुरवासी मनुष्य उमड़े हुए आँसुओंका वेग न सह सके। वे लोग सबके प्रेमपात्र इक्ष्वाकु-कुलनन्दन श्रीरामचन्द्रजीके पीछे-पीछे चले जा रहे थे॥ २७॥

अथ राजा वृतः स्त्रीभिर्दीनाभिर्दीनचेतनः।
निर्जगाम प्रियं पुत्रं द्रक्ष्यामीति ब्रुवन् गृहात्॥ २८॥

उसी समय दयनीय दशाको प्राप्त हुई अपनी स्त्रियोंसे घिरे हुए राजा दशरथ अत्यन्त दीन होकर 'मैं अपने प्यारे पुत्र श्रीरामको देखूँगा' ऐसा कहते हुए महलसे बाहर निकल आये॥ २८॥

शुश्रुवे चाग्रतः स्त्रीणां रुदतीनां महास्वनः।
यथा नादः करेणूनां बद्धे महति कुञ्जरे॥ २९॥

उन्होंने अपने आगे रोती हुई स्त्रियोंका महान् आर्तनाद सुना। वह वैसा ही जान पड़ता था, जैसे बड़े हाथी यूथपतिके बाँध लिये जानेपर हथिनियोंका चीत्कार सुनायी देता है॥

पिता हि राजा काकुत्स्थः श्रीमान् सन्नस्तदा बभौ।
परिपूर्णः शशी काले ग्रहेणोपप्लुतो यथा॥ ३०॥

उस समय श्रीरामके पिता ककुत्स्थवंशी श्रीमान् राजा दशरथ उसी तरह खिन्न जान पड़ते थे, जैसे पर्वके समय राहुसे ग्रस्त होनेपर पूर्ण चन्द्रमा श्रीहीन प्रतीत होते हैं॥ ३०॥

स च श्रीमानचिन्त्यात्मा रामो दशरथात्मजः।
सूतं संचोदयामास त्वरितं वाह्यतामिति॥ ३१॥

यह देख अचिन्त्यस्वरूप दशरथनन्दन श्रीमान् भगवान् रामने सुमन्त्रको प्रेरित करते हुए कहा—'आप रथको तेजीसे चलाइये'॥ ३१॥

रामो याहीति तं सूतं तिष्ठेति च जनस्तथा।
उभयं नाशकत् सूतः कर्तुमध्वनि चोदितः॥ ३२॥

एक ओर श्रीरामचन्द्रजी सारथिसे रथ हाँकनेके लिये कहते थे और दूसरी ओर सारा जनसमुदाय उन्हें ठहर जानेके लिये कहता था। इस प्रकार दुविधामें पड़कर सारथि सुमन्त्र उस मार्गपर दोनोंमेंसे कुछ न कर सके—न तो रथको आगे बढ़ा सके और न सर्वथा रोक ही सके॥ ३२॥

निर्गच्छति महाबाहौ रामे पौरजनाश्रुभिः।
पतितैरभ्यवहितं प्रणनाश महीरजः॥ ३३॥

महाबाहु श्रीरामके नगरसे निकलते समय पुरवासियोंके नेत्रोंसे गिरे हुए आँसुओंद्वारा भीगकर धरतीकी उड़ती हुई धूल शान्त हो गयी॥ ३३॥

रुदिताश्रुपरिद्यूनं हाहाकृतमचेतनम्।
प्रयाणे राघवस्यासीत् पुरं परमपीडितम्॥ ३४॥

श्रीरामचन्द्रजीके प्रस्थान करते समय सारा नगर अत्यन्त

पीड़ित हो गया। सब रोने और आँसू बहाने लगे तथा सभी हाहाकार करते-करते अचेत-से हो गये ॥ ३४ ॥

सुस्राव नयनैः स्त्रीणामस्रमायाससम्भवम्।
मीनसंक्षोभचलितैः सलिलं पङ्कजैरिव ॥ ३५ ॥

नारियोंके नेत्रोंसे उसी तरह खेदजनित अश्रु झर रहे थे, जैसे मछलियोंके उछलनेसे हिले हुए कमलोंद्वारा जलकणोंकी वर्षा होने लगती है ॥ ३५ ॥

दृष्ट्वा तु नृपतिः श्रीमानेकचित्तगतं पुरम्।
निपपातैव दुःखेन कृत्तमूल इव द्रुमः ॥ ३६ ॥

श्रीमान् राजा दशरथ सारी अयोध्यापुरीके लोगोंको एक-सा व्याकुलचित्त देखकर अत्यन्त दुःखके कारण जड़से कटे हुए वृक्षकी भाँति भूमिपर गिर पड़े ॥ ३६ ॥

ततो हलहलाशब्दो जज्ञे रामस्य पृष्ठतः।
नराणां प्रेक्ष्य राजानं सीदन्तं भृशदुःखितम् ॥ ३७ ॥

उस समय राजाको अत्यन्त दुःखमें मग्न हो कष्ट पाते देख श्रीरामके पीछे जाते हुए मनुष्योंका पुनः महान् कोलाहल प्रकट हुआ ॥ ३७ ॥

हा रामेति जनाः केचिद् राममातेति चापरे।
अन्तःपुरसमृद्धं च क्रोशन्तं पर्यदेवयन् ॥ ३८ ॥

अन्तःपुरकी रानियोंके सहित राजा दशरथको उच्चस्वरसे विलाप करते देख कोई 'हा राम!' कहकर और कोई 'हा राममाता!' की पुकार मचाकर करुणक्रन्दन करने लगे ॥

अन्वीक्षमाणो रामस्तु विषण्णं भ्रान्तचेतसम्।
राजानं मातरं चैव ददर्शानुगतौ पथि ॥ ३९ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्रजीने पीछे घूमकर देखा तो उन्हें विषादग्रस्त तथा भ्रान्तचित्त पिता राजा दशरथ और दुःखमें डूबी हुई माता कौसल्या दोनों ही मार्गपर अपने पीछे आते हुए दिखायी दिये ॥ ३९ ॥

स बद्ध इव पाशेन किशोरो मातरं यथा।
धर्मपाशेन संयुक्तः प्रकाशं नाभ्युदैक्षत ॥ ४० ॥

जैसे रस्सीमें बँधा हुआ घोड़ेका बच्चा अपनी माको नहीं देख पाता, उसी प्रकार धर्मके बन्धनमें बँधे हुए श्रीरामचन्द्रजी अपनी माताकी ओर स्पष्टरूपसे न देख सके ॥ ४० ॥

पदातिनौ च यानार्हावदुःखार्हौ सुखोचितौ।
दृष्ट्वा संचोदयामास शीघ्रं याहीति सारथिम् ॥ ४१ ॥

जो सवारीपर चलने योग्य, दुःख भोगनेके अयोग्य और सुख भोगनेके ही योग्य थे, उन माता-पिताको पैदल ही अपने पीछे-पीछे आते देख श्रीरामचन्द्रजीने सारथिको शीघ्र रथ हाँकनेके लिये प्रेरित किया ॥ ४१ ॥

नहि तत् पुरुषव्याघ्रो दुःखजं दर्शनं पितुः।
मातुश्च सहितुं शक्तस्तोत्त्रैर्नुन्न इव द्विपः ॥ ४२ ॥

जैसे अङ्कुशसे पीड़ित किया हुआ गजराज उस कष्टको नहीं सहन कर पाता है, उसी प्रकार पुरुषसिंह श्रीरामके लिये माता-पिताको इस दुःखद अवस्थामें देखना असह्य हो गया ॥ ४२ ॥

प्रत्यगारमिवायान्ती सवत्सा वत्सकारणात्।
बद्धवत्सा यथा धेनू राममाताभ्यधावत ॥ ४३ ॥

जैसे बँधे हुए बछड़ेवाली सवत्सा गौ शामको घरकी ओर लौटते समय बछड़ेके स्नेहसे दौड़ी चली आती है, उसी प्रकार श्रीरामकी माता कौसल्या उनकी ओर दौड़ी आ रही थीं ॥ ४३ ॥

तथा रुदन्तीं कौसल्यां रथं तमनुधावतीम्।
क्रोशन्तीं राम रामेति हा सीते लक्ष्मणेति च ॥ ४४ ॥
रामलक्ष्मणसीतार्थं स्रवन्तीं वारि नेत्रजम्।
असकृत् प्रैक्षत स तां नृत्यन्तीमिव मातरम् ॥ ४५ ॥

'हा राम! हा राम! हा सीते! हा लक्ष्मण!' की रट लगाती और रोती हुई कौसल्या उस रथके पीछे दौड़ रही थीं। वे श्रीराम, लक्ष्मण और सीताके लिये नेत्रोंसे आँसू बहा रही थीं एवं इधर-उधर नाचती—चक्कर लगाती-सी डोल रही थीं। इस अवस्थामें माता कौसल्याको श्रीरामचन्द्रजीने बारंबार देखा ॥ ४४-४५ ॥

तिष्ठेति राजा चुक्रोश याहि याहीति राघवः।
सुमन्त्रस्य बभूवात्मा चक्रयोरिव चान्तरा ॥ ४६ ॥

राजा दशरथ चिल्लाकर कहते थे—'सुमन्त्र! ठहरो।' किंतु श्रीरामचन्द्रजी कहते थे—'आगे बढ़िये, शीघ्र आगे बढ़िये।' उन दो प्रकारके आदेशोंमें पड़े हुए बेचारे सुमन्त्रका मन उस समय दो पहियोंके बीचमें फँसे हुए मनुष्यका-सा हो रहा था ॥ ४६ ॥

नाश्रौषमिति राजानमुपालब्धोऽपि वक्ष्यसि।
चिरं दुःखस्य पापिष्ठमिति रामस्तमब्रवीत् ॥ ४७ ॥

उस समय श्रीरामने सुमन्त्रसे कहा—'यहाँ अधिक विलम्ब करना मेरे और पिताजीके लिये दुःख ही नहीं, महान् दुःखका कारण होगा; इसलिये रथ आगे बढ़ाइये। लौटनेपर महाराज उलाहना दें तो कह दीजियेगा, मैंने आपकी बात नहीं सुनी' ॥ ४७ ॥

स रामस्य वचः कुर्वन्ननुज्ञाप्य च तं जनम्।
व्रजतोऽपि हयाञ्शीघ्रं चोदयामास सारथिः ॥ ४८ ॥

अन्तमें श्रीरामके ही आदेशका पालन करते हुए सारथिने पीछेसे आनेवाले लोगोंसे जानेकी आज्ञा ली और स्वतः चलते हुए घोड़ोंको भी तीव्रगतिसे चलनेके लिये हाँका ॥ ४८ ॥

न्यवर्तत जनो राज्ञो रामं कृत्वा प्रदक्षिणम्।
मनसाप्याशुवेगेन न न्यवर्तत मानुषम् ॥ ४९ ॥

राजा दशरथके साथ आनेवाले लोग मन-ही-मन श्रीरामकी परिक्रमा करके शरीरमात्रसे लौटे (मनसे नहीं लौटे); क्योंकि वह उनके रथकी अपेक्षा भी तीव्रगामी था।

दूसरे मनुष्योंका समुदाय शीघ्रगामी मन और शरीर दोनोंसे ही नहीं लौटा (वे सब लोग श्रीरामके पीछे-पीछे दौड़े चले गये) ॥ ४९ ॥

यमिच्छेत् पुनरायातं नैनं दूरमनुव्रजेत्।
इत्यमात्या महाराजमूचुर्दशरथं वचः ॥ ५० ॥

इधर मन्त्रियोंने महाराज दशरथसे कहा—'राजन्! जिसके लिये यह इच्छा की जाय कि वह पुनः शीघ्र लौट आये, उसके पीछे दूरतक नहीं जाना चाहिये' ॥ ५० ॥

तेषां वचः सर्वगुणोपपन्नः
प्रस्विन्नगात्रः प्रविषण्णरूपः।
निशम्य राजा कृपणः सभार्यो
व्यवस्थितस्तं सुतमीक्षमाणः ॥ ५१ ॥

सर्वगुणसम्पन्न राजा दशरथका शरीर पसीनेसे भीग रहा था। वे विषादके मूर्तिमान् स्वरूप जान पड़ते थे। अपने मन्त्रियोंकी उपर्युक्त बात सुनकर वे वहीं खड़े हो गये और रानियोंसहित अत्यन्त दीनभावसे पुत्रकी ओर देखने लगे ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशः सर्गः

श्रीरामके वनगमनसे रनवासकी स्त्रियोंका विलाप तथा नगरनिवासियोंकी शोकाकुल अवस्था

तस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्रे निष्क्रामति कृताञ्जलौ।
आर्तशब्दो हि संजज्ञे स्त्रीणामन्तःपुरे महान् ॥ १ ॥

पुरुषसिंह श्रीरामने माताओंसहित पिताके लिये दूरसे ही हाथ जोड़ रखे थे, उसी अवस्थामें जब वे रथद्वारा नगरसे बाहर निकलने लगे, उस समय रनवासकी रानियोंमें बड़ा हाहाकार मच गया ॥ १ ॥

अनाथस्य जनस्यास्य दुर्बलस्य तपस्विनः।
यो गतिः शरणं चासीत् स नाथः क्व नु गच्छति ॥ २ ॥

वे रोती हुई कहने लगीं—'हाय! जो हम अनाथ, दुर्बल और शोचनीय जनोंकी गति (सब सुखोंकी प्राप्ति करानेवाले) और शरण (समस्त आपत्तियोंसे रक्षा करने वाले) थे, वे हमारे नाथ (मनोरथ पूर्ण करनेवाले) श्रीराम कहाँ चले जा रहे हैं? ॥ २ ॥

न क्रुध्यत्यभिशस्तोऽपि क्रोधनीयानि वर्जयन्।
क्रुद्धान् प्रसादयन् सर्वान् समदुःखः क्व गच्छति ॥ ३ ॥

'जो किसीके द्वारा झूठा कलंक लगाये जानेपर भी क्रोध नहीं करते थे, क्रोध दिलानेवाली बातें नहीं कहते थे और रूठे हुए सभी लोगोंको मनाकर प्रसन्न कर लेते थे, वे दूसरोंके दुःखमें समवेदना प्रकट करनेवाले राम कहाँ जा रहे हैं? ॥ ३ ॥

कौसल्यायां महातेजा यथा मातरि वर्तते।
तथा यो वर्ततेऽस्मासु महात्मा क्व नु गच्छति ॥ ४ ॥

'जो महातेजस्वी महात्मा श्रीराम अपनी माता कौसल्याके साथ जैसा बर्ताव करते थे, वैसा ही बर्ताव हमारे साथ भी करते थे, वे कहाँ चले जा रहे हैं? ॥ ४ ॥

कैकेय्या क्लिश्यमानेन राज्ञा संचोदितो वनम्।
परित्राता जनस्यास्य जगतः क्व नु गच्छति ॥ ५ ॥

'कैकेयीके द्वारा क्लेशमें डाले गये महाराजके वन जानेके लिये कहनेपर हमलोगोंकी अथवा समस्त जगत्‌की रक्षा करनेवाले श्रीरघुवीर कहाँ चले जा रहे हैं? ॥ ५ ॥

अहो निश्चेतनो राजा जीवलोकस्य संक्षयम्।
धर्म्यं सत्यव्रतं रामं वनवासे प्रवत्स्यति ॥ ६ ॥

'अहो! ये राजा बड़े बुद्धिहीन हैं, जो कि जीवजगत्‌के आश्रयभूत, धर्मपरायण, सत्यव्रती श्रीरामको वनवासके लिये देशनिकाला दे रहे हैं' ॥ ६ ॥

इति सर्वा महिष्यस्ता विवत्सा इव धेनवः।
रुरुदुश्चैव दुःखार्ताः सस्वरं च विचुक्रुशुः ॥ ७ ॥

इस प्रकार वे सब-की-सब रानियाँ बछड़ोंसे बिछुड़ी हुई गौओंकी तरह दुःखसे आर्त होकर रोने और उच्चस्वरसे क्रन्दन करने लगीं ॥ ७ ॥

स तमन्तःपुरे घोरमार्तशब्दं महीपतिः।
पुत्रशोकाभिसंतप्तः श्रुत्वा चासीत् सुदुःखितः ॥ ८ ॥

अन्तःपुरमें वह घोर आर्तनाद सुनकर पुत्रशोकसे संतप्त हुए महाराज दशरथ बहुत दुःखी हो गये ॥ ८ ॥

नाग्निहोत्राण्यहूयन्त नापचन् गृहमेधिनः।
अकुर्वन् न प्रजाः कार्यं सूर्यश्चान्तरधीयत ॥ ९ ॥
व्यसृजन् कवलान् नागा गावो वत्सान् न पाययन्।
पुत्रं प्रथमजं लब्ध्वा जननी नाभ्यनन्दत ॥ १० ॥

उस दिन अग्निहोत्र बंद हो गया, गृहस्थोंके घर भोजन नहीं बना, प्रजाओंने कोई काम नहीं किया, सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये, हाथियोंने मुँहमें लिया हुआ चारा छोड़ दिया, गौओंने बछड़ोंको दूध नहीं पिलाया और पहले-पहल पुत्रको जन्म देकर भी कोई माता प्रसन्न नहीं हुई ॥

त्रिशङ्कुर्लोहिताङ्गश्च बृहस्पतिबुधावपि।
दारुणाः सोममभ्येत्य ग्रहाः सर्वे व्यवस्थिताः ॥ ११ ॥

त्रिशंकु, मङ्गल, गुरु, बुध तथा अन्य समस्त ग्रह शुक्र, शनि आदि रातमें वक्रगतिसे चन्द्रमाके पास पहुँचकर दारुण (क्रूरकान्तियुक्त) होकर स्थित हो गये ॥ ११ ॥

नक्षत्राणि गतार्चींषि ग्रहाश्च गततेजसः ।
विशाखाश्च सधूमाश्च नभसि प्रचकाशिरे ॥ १२ ॥

नक्षत्रोंकी कान्ति फीकी पड़ गयी और ग्रह निस्तेज हो गये। वे सब-के-सब आकाशमें विपरीत मार्गपर स्थित हो धूमाच्छन्न प्रतीत हो रहे थे ॥ १२ ॥

कालिकानिलवेगेन महोदधिरिवोत्थितः ।
रामे वनं प्रव्रजिते नगरं प्रचचाल तत् ॥ १३ ॥

आकाशमें छायी हुई मेघमाला वायुके वेगसे उमड़े हुए समुद्रके समान प्रतीत होती थी। श्रीरामके वनको जाते समय वह सारा नगर जोर-जोरसे हिलने लगा (वहाँ भूकम्प आ गया) ॥ १३ ॥

दिशः पर्याकुलाः सर्वास्तिमिरेणेव संवृताः ।
न ग्रहो नापि नक्षत्रं प्रचकाशे न किंचन ॥ १४ ॥

समस्त दिशाएँ व्याकुल हो उठीं, उनमें अन्धकार-सा छा गया। न कोई ग्रह प्रकाशित होता था, न नक्षत्र ॥ १४ ॥

अकस्मान्नागरः सर्वो जनो दैन्यमुपागमत् ।
आहारे वा विहारे वा न कश्चिदकरोन्मनः ॥ १५ ॥

सहसा सारे नागरिक दीन-दशाको प्राप्त हो गये। किसीने भी आहार या विहारमें मन नहीं लगाया ॥ १५ ॥

शोकपर्यायसंतप्तः सततं दीर्घमुच्छ्वसन् ।
अयोध्यायां जनः सर्वश्चुक्रोश जगतीपतिम् ॥ १६ ॥

अयोध्यावासी सब लोग शोकपरम्परासे संतप्त हो निरन्तर लंबी साँस खींचते हुए राजा दशरथको कोसने लगे ॥ १६ ॥

बाष्पपर्याकुलमुखो राजमार्गगतो जनः ।
न हृष्टो लभ्यते कश्चित् सर्वः शोकपरायणः ॥ १७ ॥

सड़कपर निकला हुआ कोई भी मनुष्य प्रसन्न नहीं दिखायी देता था। सबका मुख आँसुओंसे भीगा हुआ था और सभी शोकमग्न हो रहे थे ॥ १७ ॥

न वाति पवनः शीतो न शशी सौम्यदर्शनः ।
न सूर्यस्तपते लोकं सर्वं पर्याकुलं जगत् ॥ १८ ॥

शीतल वायु नहीं चलती थी। चन्द्रमा सौम्य नहीं दिखायी देता था। सूर्य भी जगत्को उचित मात्रामें ताप या प्रकाश नहीं दे रहा था। सारा संसार ही व्याकुल हो उठा था ॥ १८ ॥

अनर्थिनः सुताः स्त्रीणां भर्तारो भ्रातरस्तथा ।
सर्वे सर्वं परित्यज्य राममेवान्वचिन्तयन् ॥ १९ ॥

बालक माँ-बापको भूल गये। पतियोंको स्त्रियोंकी याद नहीं आती थी और भाई भाईका स्मरण नहीं करते थे—सभी सब कुछ छोड़कर केवल श्रीरामका ही चिन्तन करने लगे ॥

ये तु रामस्य सुहृदः सर्वे ते मूढचेतसः ।
शोकभारेण चाक्रान्ताः शयनं नैव भेजिरे ॥ २० ॥

जो श्रीरामके मित्र थे, वे सब तो और भी अपनी सुध-बुध खो बैठे थे। शोकके भारसे आक्रान्त होनेके कारण वे रातमें सोयेतक नहीं ॥ २० ॥

ततस्त्वयोध्या रहिता महात्मना
पुरन्दरेणेव मही सपर्वता ।
चचाल घोरं भयशोकदीपिता
सनागयोधाश्वगणा ननाद च ॥ २१ ॥

इस प्रकार सारी अयोध्यापुरी श्रीरामसे रहित होकर भय और शोकसे प्रज्वलित-सी होकर उसी प्रकार घोर हलचलमें पड़ गयी, जैसे देवराज इन्द्रसे रहित हुई मेरुपर्वत सहित यह पृथ्वी डगमगाने लगती है। हाथी, घोड़े और सैनिकोंसहित उस नगरीमें भयंकर आर्तनाद होने लगा ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें इकतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशः सर्गः

राजा दशरथका पृथ्वीपर गिरना, श्रीरामके लिये विलाप करना, कैकेयीको अपने पास आनेसे मना करना और उसे त्याग देना, कौसल्या और सेवकोंकी सहायतासे उनका कौसल्याके भवनमें आना और वहाँ भी श्रीरामके लिये दुःखका ही अनुभव करना

यावत् तु निर्यतस्तस्य रजोरूपमदृश्यत ।
नैवेक्ष्वाकुवरस्तावत् संजहारात्मचक्षुषी ॥ १ ॥

वनकी ओर जाते हुए श्रीरामके रथकी धूल जबतक दिखायी देती रही, तबतक इक्ष्वाकुवंशके स्वामी राजा दशरथने उधरसे अपनी आँखें नहीं हटायीं ॥ १ ॥

यावद् राजा प्रियं पुत्रं पश्यत्यत्यन्तधार्मिकम् ।
तावद् व्यवर्धतेवास्य धरण्यां पुत्रदर्शने ॥ २ ॥

वे महाराज अपने अत्यन्त धार्मिक प्रिय पुत्रको जबतक देखते रहे, तबतक पुत्रको देखनेके लिये उनका शरीर मानो पृथ्वीपर बढ़ रहा था—वे ऊँचे उठ-उठकर उनकी ओर निहार रहे थे ॥ २ ॥

न पश्यति रजोऽप्यस्य यदा रामस्य भूमिपः ।
तदार्तश्च निषण्णश्च पपात धरणीतले ॥ ३ ॥

जब राजाको श्रीरामके रथकी धूल भी नहीं दिखायी देने लगी, तब वे अत्यन्त आर्त और विषादग्रस्त हो पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३ ॥

तस्य दक्षिणमन्वागात् कौसल्या बाहुमङ्गना ।
परं चास्यान्वगात् पार्श्वं कैकेयी सा सुमध्यमा ॥ ४ ॥

उस समय उन्हें सहारा देनेके लिये उनकी धर्मपत्नी कौसल्या देवी दाहिनी बाँहके पास आयीं और सुन्दरी कैकेयी उनके वामभागमें जा पहुँचीं॥ ४॥

तां नयेन च सम्पन्नो धर्मेण विनयेन च।
उवाच राजा कैकेयीं समीक्ष्य व्यथितेन्द्रियः॥ ५॥

कैकेयीको देखते ही नय, विनय और धर्मसे सम्पन्न राजा दशरथकी समस्त इन्द्रियाँ व्यथित हो उठीं; वे बोल उठे—॥ ५॥

कैकेयि मामकाङ्गानि मा स्प्राक्षीः पापनिश्चये।
नहि त्वां द्रष्टुमिच्छामि न भार्या न च बान्धवी॥ ६॥

'पापपूर्ण विचार रखनेवाली कैकेयि! तू मेरे अङ्गोंका स्पर्श न कर। मैं तुझे देखना नहीं चाहता। तू न तो मेरी भार्या है और न बान्धवी॥ ६॥

ये च त्वामनुजीवन्ति नाहं तेषां न ते मम।
केवलार्थपरां हि त्वां त्यक्तधर्मां त्यजाम्यहम्॥ ७॥

'जो तेरा आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करते हैं, मैं उनका स्वामी नहीं हूँ और वे मेरे परिजन नहीं हैं। तूने केवल धनमें आसक्त होकर धर्मका त्याग किया है, इसलिये मैं तेरा परित्याग करता हूँ॥ ७॥

अगृह्णां यच्च ते पाणिमग्निं पर्यणयं च यत्।
अनुजानामि तत् सर्वमस्मिँल्लोके परत्र च॥ ८॥

'मैंने जो तेरा पाणिग्रहण किया है और तुझे साथ लेकर अग्निकी परिक्रमा की है, तेरे साथका वह सारा सम्बन्ध इस लोक और परलोकके लिये भी त्याग देता हूँ॥ ८॥

भरतश्चेत् प्रतीतः स्याद् राज्यं प्राप्यैतदव्ययम्।
यन्मे स दद्यात् पित्रर्थं मा मां तद्दत्तमागमत्॥ ९॥

'तेरा पुत्र भरत भी यदि इस विघ्न-बाधासे रहित राज्यको पाकर प्रसन्न हो तो वह मेरे लिये श्राद्धमें जो कुछ पिण्ड या जल आदि दान करे, वह मुझे प्राप्त न हो'॥ ९॥

अथ रेणुसमुद्ध्वस्तं समुत्थाप्य नराधिपम्।
न्यवर्तत तदा देवी कौसल्या शोककर्शिता॥ १०॥

तदनन्तर शोकसे कातर हुई कौसल्या देवी उस समय धरतीपर लोटनेके कारण धूलसे व्याप्त हुए महाराजको उठाकर उनके साथ राजभवनकी ओर लौटीं॥ १०॥

हत्वेव ब्राह्मणं कामात् स्पृष्ट्वाग्निमिव पाणिना।
अन्वतप्यत धर्मात्मा पुत्रं संचिन्त्य राघवम्॥ ११॥

जैसे कोई जान-बूझकर स्वेच्छापूर्वक ब्राह्मणकी हत्या कर डाले अथवा हाथसे प्रज्वलित अग्निका स्पर्श कर ले और ऐसा करके संतप्त होता रहे, उसी प्रकार धर्मात्मा राजा दशरथ अपने ही दिये हुए वरदानके कारण वनमें गये हुए श्रीरामका चिन्तन करके अनुतप्त हो रहे थे॥ ११॥

निवृत्यैव निवृत्यैव सीदतो रथवर्त्मसु।
राज्ञो नातिबभौ रूपं ग्रस्तस्यांशुमतो यथा॥ १२॥

राजा दशरथ बारंबार पीछे लौटकर रथके मार्गोंपर देखनेका कष्ट उठाते थे। उस समय उनका रूप राहुग्रस्त सूर्यकी भाँति अधिक शोभा नहीं पाता था॥ १२॥

विललाप स दुःखार्तः प्रियं पुत्रमनुस्मरन्।
नगरान्तमनुप्राप्तं बुद्ध्वा पुत्रमथाब्रवीत्॥ १३॥

वे अपने प्रिय पुत्रका बारंबार स्मरण करके दुःखसे आतुर हो विलाप करने लगे। वे बेटेको नगरकी सीमापर पहुँचा हुआ समझकर इस प्रकार कहने लगे—॥ १३॥

वाहनानां च मुख्यानां वहतां तं ममात्मजम्।
पदानि पथि दृश्यन्ते स महात्मा न दृश्यते॥ १४॥

'हाय! मेरे पुत्रको वनकी ओर ले जाते हुए श्रेष्ठ वाहनों (घोड़ों) के पदचिह्न तो मार्गमें दिखायी देते हैं; परंतु उन महात्मा श्रीरामका दर्शन नहीं हो रहा है॥ १४॥

यः सुखेनोपधानेषु शेते चन्दनरूषितः।
वीज्यमानो महार्हाभिः स्त्रीभिर्मम सुतोत्तमः॥ १५॥
स नूनं क्वचिदेवाद्य वृक्षमूलमुपाश्रितः।
काष्ठं वा यदि वाश्मानमुपधाय शयिष्यते॥ १६॥

'जो मेरे श्रेष्ठ पुत्र श्रीराम चन्दनसे चर्चित हो तकियोंका सहारा लेकर उत्तम शय्याओंपर सुखसे सोते थे और उत्तम अलंकारोंसे विभूषित सुन्दरी स्त्रियाँ जिन्हें व्यजन डुलाती थीं, वे निश्चय ही आज कहीं वृक्षकी जड़का आश्रय ले अथवा किसी काठ या पत्थरको सिरके नीचे रखकर भूमिपर ही शयन करेंगे॥

उत्थास्यति च मेदिन्याः कृपणः पांसुगुण्ठितः।
विनिःश्वसन् प्रस्रवणात् करेणूनामिवर्षभः॥ १७॥

'फिर अङ्गोंमें धूल लपेटे दीनकी भाँति लंबी साँस खींचते हुए वे उस शयन-भूमिसे उसी प्रकार उठेंगे, जैसे किसी झरनेके पाससे गजराज उठता है॥ १७॥

द्रक्ष्यन्ति नूनं पुरुषा दीर्घबाहुं वनेचराः।
राममुत्थाय गच्छन्तं लोकनाथमनाथवत्॥ १८॥

'निश्चय ही वनमें रहनेवाले मनुष्य लोकनाथ महाबाहु श्रीरामको वहाँसे अनाथकी भाँति उठकर जाते हुए देखेंगे॥

सा नूनं जनकस्येष्टा सुता सुखसदोचिता।
कण्टकाक्रमणक्रान्ता वनमद्य गमिष्यति॥ १९॥

'जो सदा सुख भोगनेके ही योग्य है, वह जनककी प्यारी पुत्री सीता आज अवश्य ही काँटोंपर पैर पड़नेसे व्यथाका अनुभव करती हुई वनको जायगी॥ १९॥

अनभिज्ञा वनानां सा नूनं भयमुपैष्यति।
श्वपदानर्दितं श्रुत्वा गम्भीरं रोमहर्षणम्॥ २०॥

'वह वनके कष्टोंसे अनभिज्ञ है। वहाँ व्याघ्र आदि हिंसक जन्तुओंका गम्भीर तथा रोमाञ्चकारी गर्जन-तर्जन सुनकर निश्चय ही भयभीत हो जायगी॥ २०॥

सकामा भव कैकेयि विधवा राज्यमावस।
नहि तं पुरुषव्याघ्रं विना जीवितुमुत्सहे॥ २१॥

'अरी कैकेयी ! तू अपनी कामना सफल कर ले और विधवा होकर राज्य भोग। मैं पुरुषसिंह श्रीरामके बिना जीवित नहीं रह सकता' ॥ २१ ॥

इत्येवं विलपन् राजा जनौघेनाभिसंवृतः ।
अपस्नात इवारिष्टं प्रविवेश गृहोत्तमम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार विलाप करते हुए राजा दशरथने मरघटसे नहाकर आये हुए पुरुषकी भाँति मनुष्योंकी भारी भीड़से घिरकर अपने शोकपूर्ण उत्तम भवनमें प्रवेश किया ॥ २२ ॥

शून्यचत्वरवेश्मान्तां संवृतापणवेदिकाम् ।
क्लान्तदुर्बलदुःखार्तां नात्याकीर्णमहापथाम् ॥ २३ ॥
तामवेक्ष्य पुरीं सर्वां राममेवानुचिन्तयन् ।
विलपन् प्राविशद् राजा गृहं सूर्य इवाम्बुदम् ॥ २४ ॥

उन्होंने देखा, अयोध्यापुरीके प्रत्येक घरका बाहरी चबूतरा और भीतरी भाग भी सूना हो रहा है। (क्योंकि उन घरोंके सब लोग श्रीरामके पीछे चले गये थे।) बाजार-हाट बंद है। जो लोग नगरमें हैं, वे भी अत्यन्त क्लान्त, दुर्बल और दुःखसे आतुर हो रहे हैं तथा बड़ी-बड़ी सड़कोंपर भी अधिक आदमी जाते-आते नहीं दिखायी देते हैं। सारे नगरकी यह अवस्था देखकर श्रीरामके लिये ही चिन्ता और विलाप करते हुए राजा उसी तरह महलके भीतर गये, जैसे सूर्य मेघोंकी घटामें छिप जाते हैं ॥ २३-२४ ॥

महाह्रदमिवाक्षोभ्यं सुपर्णेन हृतोरगम् ।
रामेण रहितं वेश्म वैदेह्या लक्ष्मणेन च ॥ २५ ॥

श्रीराम, लक्ष्मण और सीतासे रहित वह राजभवन उस महान् अक्षोभ्य जलाशयके समान जान पड़ता था, जिसके भीतरके नागको गरुड़ उठा ले गये हों ॥ २५ ॥

अथ गद्गदशब्दस्तु विलपन् वसुधाधिपः ।
उवाच मृदु मन्दार्थं वचनं दीनमस्वरम् ॥ २६ ॥

उस समय विलाप करते हुए राजा दशरथने गद्गद वाणीमें द्वारपालोंसे यह मधुर, अस्पष्ट, दीनतायुक्त और स्वाभाविक स्वरसे रहित बात कही— ॥ २६ ॥

कौसल्याया गृहं शीघ्रं राममातुर्नयन्तु माम् ।
नह्यन्यत्र ममाश्वासो हृदयस्य भविष्यति ॥ २७ ॥

'मुझे शीघ्र ही श्रीराम-माता कौसल्याके घरमें पहुँचा दो; क्योंकि मेरे हृदयको और कहीं शान्ति नहीं मिल सकती' ॥

इति ब्रुवन्तं राजानमनयन् द्वारदर्शिनः ।
कौसल्याया गृहं तत्र न्यवेशयत विनीतवत् ॥ २८ ॥

ऐसी बात कहते हुए राजा दशरथको द्वारपालोंने बड़ी विनयके साथ रानी कौसल्याके भवनमें पहुँचाया और पलंगपर सुला दिया ॥ २८ ॥

ततस्तत्र प्रविष्टस्य कौसल्याया निवेशनम् ।
अधिरुह्यापि शयनं बभूव लुलितं मनः ॥ २९ ॥

वहाँ कौसल्याके भवनमें प्रवेश करके पलंगपर आरूढ़ हो जानेपर भी राजा दशरथका मन चञ्चल एवं मलिन ही रहा ॥ २९ ॥

पुत्रद्वयविहीनं च स्नुषया च विवर्जितम् ।
अपश्यद् भवनं राजा नष्टचन्द्रमिवाम्बरम् ॥ ३० ॥

दोनों पुत्र और पुत्रवधू सीतासे रहित वह भवन राजाको चन्द्रहीन आकाशकी भाँति श्रीहीन दिखायी देने लगा ॥ ३० ॥

तच्च दृष्ट्वा महाराजो भुजमुद्यम्य वीर्यवान् ।
उच्चैःस्वरेण प्राक्रोशद्धा राम विजहासि नौ ॥ ३१ ॥
सुखिता बत तं कालं जीविष्यन्ति नरोत्तमाः ।
परिष्वजन्तो ये रामं द्रक्ष्यन्ति पुनरागतम् ॥ ३२ ॥

उसे देखकर पराक्रमी महाराजने एक बाँह ऊपर उठाकर उच्चस्वरसे विलाप करते हुए कहा—'हा राम ! तुम हम दोनों माता-पिताको त्याग दे रहे हो। जो नरश्रेष्ठ चौदह वर्षोंकी अवधितक जीवित रहेंगे और अयोध्यामें पुनः लौटे हुए श्रीरामको हृदयसे लगाकर देखेंगे, वे ही वास्तवमें सुखी होंगे' ॥ ३१-३२ ॥

अथ रात्र्यां प्रपन्नायां कालरात्र्यामिवात्मनः ।
अर्धरात्रे दशरथः कौसल्यामिदमब्रवीत् ॥ ३३ ॥

तदनन्तर अपनी कालरात्रिके समान वह रात्रि आनेपर राजा दशरथने आधी रात होनेपर कौसल्यासे इस प्रकार कहा— ॥ ३३ ॥

न त्वां पश्यामि कौसल्ये साधु मां पाणिना स्पृश ।
रामं मेऽनुगता दृष्टिरद्यापि न निवर्तते ॥ ३४ ॥

'कौसल्ये ! मेरी दृष्टि श्रीरामके ही साथ चली गयी और वह अबतक नहीं लौटी है; अतः मैं तुम्हें देख नहीं पाता हूँ। एक बार अपने हाथसे मेरे शरीरका स्पर्श तो करो' ॥ ३४ ॥

तं राममेवानुविचिन्तयन्तं
समीक्ष्य देवी शयने नरेन्द्रम् ।
उपोपविश्याधिकमार्तरूपा
विनिश्वसन्तं विललाप कृच्छ्रम् ॥ ३५ ॥

शय्यापर पड़े हुए महाराज दशरथको श्रीरामका ही चिन्तन करते और लंबी साँस खींचते देख देवी कौसल्या अत्यन्त व्यथित हो उनके पास आ बैठीं और बड़े कष्टसे विलाप करने लगीं ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बयालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

—★—

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

महारानी कौसल्याका विलाप

ततः समीक्ष्य शयने सन्नं शोकेन पार्थिवम्।
कौसल्या पुत्रशोकार्ता तमुवाच महीपतिम्॥ १॥

शय्यापर पड़े हुए राजाको पुत्रशोकसे व्याकुल देख पुत्रके ही शोकसे पीड़ित हुई कौसल्याने उन महाराजसे कहा—॥ १॥

राघवे नरशार्दूले विषं मुक्त्वाहिजिह्मगा।
विचरिष्यति कैकेयी निर्मुक्तेव हि पन्नगी॥ २॥

'नरश्रेष्ठ श्रीरामपर अपना विष उँड़ेलकर टेढ़ी चालसे चलनेवाली कैकेयी केंचुल छोड़कर नूतन शरीरसे प्रकट हुई सर्पिणीकी भाँति अब स्वच्छन्द विचरेगी॥ २॥

विवास्य रामं सुभगा लब्धकामा समाहिता।
त्रासयिष्यति मां भूयो दुष्टाहिरिव वेश्मनि॥ ३॥

'जैसे घरमें रहनेवाला दुष्ट सर्प बारंबार भय देता रहता है, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्रको वनवास देकर सफलमनोरथ हुई सुभगा कैकेयी सदा सावधान होकर मुझे त्रास देती रहेगी।

अथास्मिन् नगरे रामश्चरन् भैक्षं गृहे वसेत्।
कामकारो वरं दातुमपि दासं ममात्मजम्॥ ४॥

'यदि श्रीराम इस नगरमें भीख माँगते हुए भी घरमें रहते अथवा मेरे पुत्रको कैकेयीका दास भी बना दिया गया होता तो वैसा वरदान मुझे भी अभीष्ट होता (क्योंकि उस दशामें मुझे भी श्रीरामका दर्शन होता रहता। श्रीरामके वनवासका वरदान तो कैकेयीने मुझे दुःख देनेके लिये ही माँगा है।)॥

पातयित्वा तु कैकेय्या रामं स्थानाद् यथेष्टतः।
प्रविद्धो रक्षसां भागः पर्वणीवाहिताग्निना॥ ५॥

'कैकेयीने अपनी इच्छाके अनुसार श्रीरामको उनके स्थानसे भ्रष्ट करके वैसा ही किया है, जैसे किसी अग्निहोत्रीने पर्वके दिन देवताओंको उनके भागसे वञ्चित करके राक्षसोंको वह भाग अर्पित कर दिया हो॥ ५॥

नागराजगतिर्वीरो महाबाहुर्धनुर्धरः।
वनमाविशते नूनं सभार्यः सहलक्ष्मणः॥ ६॥

'गजराजके समान मन्द गतिसे चलनेवाले वीर महाबाहु धनुर्धर श्रीराम निश्चय ही अपनी पत्नी और लक्ष्मणके साथ वनमें प्रवेश कर रहे होंगे॥ ६॥

वने त्वदृष्टदुःखानां कैकेय्यनुमते त्वया।
त्यक्तानां वनवासाय कान्यावस्था भविष्यति॥ ७॥

'महाराज! जिन्होंने जीवनमें कभी दुःख नहीं देखे थे, उन श्रीराम, लक्ष्मण और सीताको आपने कैकेयीकी बातोंमें आकर वनमें भेज दिया। अब उन बेचारोंकी वनवासके कष्ट भोगनेके सिवा और क्या अवस्था होगी?॥ ७॥

ते रत्नहीनास्तरुणाः फलकाले विवासिताः।
कथं वत्स्यन्ति कृपणाः फलमूलैः कृताशनाः॥ ८॥

'रत्नतुल्य उत्तम वस्तुओंसे वञ्चित वे तीनों तरुण सुखरूप फल भोगनेके समय घरसे निकाल दिये गये। अब वे बेचारे फल-मूलका भोजन करके कैसे रह सकेंगे?॥ ८॥

अपीदानीं स कालः स्यान्मम शोकक्षयः शिवः।
सहभार्यं सह भ्रात्रा पश्येयमिह राघवम्॥ ९॥

'क्या अब फिर मेरे शोकको नष्ट करनेवाला वह शुभ समय आयेगा, जब मैं सीता और लक्ष्मणके साथ वनसे लौटे हुए श्रीरामको देखूँगी?॥ ९॥

श्रुत्वैवोपस्थितौ वीरौ कदायोध्या भविष्यति।
यशस्विनी हृष्टजना सूच्छ्रितध्वजमालिनी॥ १०॥

'कब वह शुभ अवसर प्राप्त होगा जब कि 'वीर श्रीराम और लक्ष्मण वनसे लौट आये' यह सुनते ही यशस्विनी अयोध्यापुरीके सब लोग हर्षसे उल्लसित हो उठेंगे और घर-घर फहराये गये ऊँचे-ऊँचे ध्वज-समूह पुरीकी शोभा बढ़ाने लगेंगे॥ १०॥

कदा प्रेक्ष्य नरव्याघ्रावरण्यात् पुनरागतौ।
भविष्यति पुरी हृष्टा समुद्र इव पर्वणि॥ ११॥

'नरश्रेष्ठ श्रीराम और लक्ष्मणको पुनः वनसे आया हुआ देख यह अयोध्यापुरी पूर्णिमाके उमड़ते हुए समुद्रकी भाँति कब हर्षोल्लाससे परिपूर्ण होगी?॥ ११॥

कदायोध्यां महाबाहुः पुरीं वीरः प्रवेक्ष्यति।
पुरस्कृत्य रथे सीतां वृषभो गोवधूमिव॥ १२॥

'जैसे साँड़ गायको आगे करके चलता है, उसी प्रकार वीर महाबाहु श्रीराम रथपर सीताको आगे करके कब अयोध्यापुरीमें प्रवेश करेंगे?॥ १२॥

कदा प्राणिसहस्राणि राजमार्गे ममात्मजौ।
लाजैरवकरिष्यन्ति प्रविशन्तावरिंदमौ॥ १३॥

'कब यहाँके सहस्रों मनुष्य पुरीमें प्रवेश करते और राजमार्गपर चलते हुए मेरे दोनों शत्रुदमन पुत्रोंपर लावा (खील) की वर्षा करेंगे?॥ १३॥

प्रविशन्तौ कदायोध्यां द्रक्ष्यामि शुभकुण्डलौ।
उदग्रायुधनिस्त्रिंशौ सशृङ्गाविव पर्वतौ॥ १४॥

'उत्तम आयुध एवं खड्ग लिये शिखरयुक्त पर्वतोंके समान प्रतीत होनेवाले श्रीराम और लक्ष्मण सुन्दर कुण्डलोंसे अलंकृत हो कब अयोध्यापुरीमें प्रवेश करते हुए मेरे नेत्रोंके समक्ष प्रकट होंगे?॥ १४॥

कदा सुमनसःकन्या द्विजातीनां फलानि च।
प्रदिशन्त्यः पुरीं हृष्टाः करिष्यन्ति प्रदक्षिणम्॥ १५॥

'कब ब्राह्मणोंकी कन्याएँ हर्षपूर्वक फूल और फल अर्पण करती हुई अयोध्यापुरीकी परिक्रमा करेंगी?॥ १५॥

कदा परिणतो बुद्ध्या वयसा चामरप्रभः।
अभ्युपैष्यति धर्मात्मा सुवर्ष इव लालयन्॥ १६॥

'कब ज्ञानमें बढ़े-चढ़े और अवस्थामें देवताओंके समान तेजस्वी धर्मात्मा श्रीराम उत्तम वर्षाकी भाँति जनसमुदायका लालन करते हुए यहाँ पधारेंगे ?॥ १६॥

निःसंशयं मया मन्ये पुरा वीर कदर्यया।
पातुकामेषु वत्सेषु मातॄणां शातिताः स्तनाः॥ १७॥

'वीर! इसमें संदेह नहीं कि पूर्व जन्ममें मुझ नीच आचार-विचारवाली नारीने बछड़ोंके दूध पीनेके लिये उद्यत होते ही उनकी माताओंके स्तन काट दिये होंगे॥ १७॥

साहं गौरिव सिंहेन विवत्सा वत्सला कृता।
कैकेय्या पुरुषव्याघ्र बालवत्सेव गौर्बलात्॥ १८॥

'पुरुषसिंह! जैसे किसी सिंहने छोटेसे बछड़ेवाली वत्सला गौको बलपूर्वक बछड़ेसे हीन कर दिया हो, उसी प्रकार कैकेयीने मुझे बलात् अपने बेटेसे विलग कर दिया है॥ १८॥

नहि तावद्गुणैर्जुष्टं सर्वशास्त्रविशारदम्।
एकपुत्रा विना पुत्रमहं जीवितुमुत्सहे॥ १९॥

'जो उत्तम गुणोंसे युक्त और सम्पूर्ण शास्त्रोंमें प्रवीण हैं, उन अपने पुत्र श्रीरामके बिना मैं इकलौते बेटेवाली माँ जीवित नहीं रह सकती॥ १९॥

न हि मे जीविते किंचित् सामर्थ्यमिह कल्प्यते।
अपश्यन्त्याः प्रियं पुत्रं लक्ष्मणं च महाबलम्॥ २०॥

'अब प्यारे पुत्र श्रीराम और महाबली लक्ष्मणको देखे बिना मुझमें जीवित रहनेकी कुछ भी शक्ति नहीं है॥ २०॥

अयं हि मां दीपयतेऽद्य वह्नि-
स्तनूजशोकप्रभवो महाहितः।
महीमिमां रश्मिभिरुत्तमप्रभो
यथा निदाघे भगवान् दिवाकरः॥ २१॥

'जैसे ग्रीष्म ऋतुमें उत्कृष्ट प्रभावाले भगवान् सूर्य अपनी किरणोंद्वारा इस पृथ्वीको अधिक ताप देते हैं, उसी प्रकार यह पुत्रशोकजनित महान् अहितकारक अग्नि आज मुझे जलाये दे रही है'॥ २१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रिचत्वारिंशः सर्गः॥ ४३॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ४३॥

—★—

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

सुमित्राका कौसल्याको आश्वासन देना

विलपन्तीं तथा तां तु कौसल्यां प्रमदोत्तमाम्।
इदं धर्मे स्थिता धर्म्यं सुमित्रा वाक्यमब्रवीत्॥ १॥

नारियोंमें श्रेष्ठ कौसल्याको इस प्रकार विलाप करती देख धर्मपरायणा सुमित्रा यह धर्मयुक्त बात बोली—॥ १॥

तवार्ये सद्गुणैर्युक्तः स पुत्रः पुरुषोत्तमः।
किं ते विलपितेनैवं कृपणं रुदितेन वा॥ २॥

'आर्ये! तुम्हारे पुत्र श्रीराम उत्तम गुणोंसे युक्त और पुरुषोंमें श्रेष्ठ हैं। उनके लिये इस प्रकार विलाप करना और दीनतापूर्वक रोना व्यर्थ है, इस तरह रोने-धोनेसे क्या लाभ?॥ २॥

यस्तवार्ये गतः पुत्रस्त्यक्त्वा राज्यं महाबलः।
साधु कुर्वन् महात्मानं पितरं सत्यवादिनम्॥ ३॥
शिष्टैराचरिते सम्यक्शश्वत् प्रेत्य फलोदये।
रामो धर्मे स्थितः श्रेष्ठो न स शोच्यः कदाचन॥ ४॥

'बहिन! जो राज्य छोड़कर अपने महात्मा पिताको भलीभाँति सत्यवादी बनानेके लिये वनमें चले गये हैं, वे तुम्हारे महाबली श्रेष्ठ पुत्र श्रीराम उस उत्तम धर्ममें स्थित हैं, जिसका सत्पुरुषोंने सर्वदा और सम्यक् प्रकारसे पालन किया है तथा जो परलोकमें भी सुखमय फल प्रदान करनेवाला है। ऐसे धर्मात्माके लिये कदापि शोक नहीं करना चाहिये॥

वर्तते चोत्तमां वृत्तिं लक्ष्मणोऽस्मिन् सदानघः।
दयावान् सर्वभूतेषु लाभस्तस्य महात्मनः॥ ५॥

'निष्पाप लक्ष्मण समस्त प्राणियोंके प्रति दयालु हैं। वे सदा श्रीरामके प्रति उत्तम बर्ताव करते हैं, अतः उन महात्मा लक्ष्मणके लिये यह लाभकी ही बात है॥ ५॥

अरण्यवासे यद् दुःखं जानन्त्येव सुखोचिता।
अनुगच्छति वैदेही धर्मात्मानं तवात्मजम्॥ ६॥

'विदेहनन्दिनी सीता भी जो सुख भोगनेके ही योग्य हैं, वनवासके दुःखोंको भलीभाँति सोच-समझकर ही तुम्हारे धर्मात्मा पुत्रका अनुसरण करती हैं॥ ६॥

कीर्तिभूतां पताकां यो लोके भ्रमयति प्रभुः।
धर्मः सत्यव्रतपरः किं न प्राप्तस्तवात्मजः॥ ७॥

'जो प्रभु संसारमें अपनी कीर्तिमयी पताका फहरा रहे हैं और सदा सत्यव्रतके पालनमें तत्पर रहते हैं, उन धर्मस्वरूप तुम्हारे पुत्र श्रीरामको कौन-सा श्रेय प्राप्त नहीं हुआ है॥ ७॥

व्यक्तं रामस्य विज्ञाय शौचं माहात्म्यमुत्तमम्।
न गात्रमंशुभिः सूर्यः संतापयितुमर्हति॥ ८॥

'श्रीरामकी पवित्रता और उत्तम माहात्म्यको जानकर निश्चय ही सूर्य अपनी किरणोंद्वारा उनके शरीरको संतप्त नहीं कर सकते॥ ८॥

शिवः सर्वेषु कालेषु काननेभ्यो विनिःसृतः।
राघवं युक्तशीतोष्णः सेविष्यति सुखोऽनिलः॥ ९॥

'सभी समयोंमें वनोंसे निकली हुई उचित सरदी और गरमीसे युक्त सुखद एवं मङ्गलमय वायु श्रीरघुनाथजीकी सेवा करेगी॥ ९॥

शयानमनघं रात्रौ पितेवाभिपरिष्वजन्।
धर्मज्ञः संस्पृशञ्छीतश्चन्द्रमा ह्लादयिष्यति॥ १०॥

'रात्रिकालमें धूपका कष्ट दूर करनेवाले शीतल चन्द्रमा सोते हुए निष्पाप श्रीरामका अपने किरणरूपी करोंसे आलिङ्गन और स्पर्श करके उन्हें आह्लाद प्रदान करेंगे॥ १०॥

ददौ चास्त्राणि दिव्यानि यस्मै ब्रह्मा महौजसे।
दानवेन्द्रं हतं दृष्ट्वा तिमिध्वजसुतं रणे॥ ११॥

'श्रीरामके द्वारा रणभूमिमें तिमिध्वज (शम्बर) के पुत्र दानवराज सुबाहुको मारा गया देख विश्वामित्रजीने उन महातेजस्वी वीरको बहुत-से दिव्यास्त्र प्रदान किये थे॥ ११॥

स शूरः पुरुषव्याघ्रः स्वबाहुबलमाश्रितः।
असंत्रस्तो ह्यरण्येऽसौ वेश्मनीव निवत्स्यते॥ १२॥

'वे पुरुषसिंह श्रीराम बड़े शूरवीर हैं। वे अपने ही बाहुबलका आश्रय लेकर जैसे महलमें रहते थे, उसी तरह वनमें भी निडर होकर रहेंगे॥ १२॥

यस्येषुपथमासाद्य विनाशं यान्ति शत्रवः।
कथं न पृथिवी तस्य शासने स्थातुमर्हति॥ १३॥

'जिनके बाणोंका लक्ष्य बनकर सभी शत्रु विनाशको प्राप्त होते हैं, उनके शासनमें यह पृथ्वी और यहाँके प्राणी कैसे नहीं रहेंगे ?॥ १३॥

या श्रीः शौर्यं च रामस्य या च कल्याणसत्त्वता।
निवृत्तारण्यवासः स्वं क्षिप्रं राज्यमवाप्स्यति॥ १४॥

'श्रीरामकी जैसी शारीरिक शोभा है, जैसा पराक्रम है और जैसी कल्याणकारिणी शक्ति है, उससे जान पड़ता है कि वे वनवाससे लौटकर शीघ्र ही अपना राज्य प्राप्त कर लेंगे॥

सूर्यस्यापि भवेत् सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः।
श्रियाः श्रीश्च भवेदग्र्या कीर्त्याः कीर्तिः क्षमाक्षमा॥
दैवतं देवतानां च भूतानां भूतसत्तमः।
तस्य के ह्यगुणा देवि वने वाप्यथवा पुरे॥ १६॥

'देवि! श्रीराम सूर्यके भी सूर्य (प्रकाशक) और अग्निके भी अग्नि (दाहक) हैं। वे प्रभुके भी प्रभु, लक्ष्मीकी भी उत्तम लक्ष्मी और क्षमाकी भी क्षमा हैं। इतना ही नहीं—वे देवताओंके भी देवता तथा भूतोंके भी उत्तम भूत हैं। वे वनमें रहें या नगरमें, उनके लिये कौन-से चराचर प्राणी दोषावह हो सकते हैं॥ १५-१६॥

पृथिव्या सह वैदेह्या श्रिया च पुरुषर्षभः।
क्षिप्रं तिसृभिरेताभिः सह रामोऽभिषेक्ष्यते॥ १७॥

'पुरुषशिरोमणि श्रीराम शीघ्र ही पृथ्वी, सीता और लक्ष्मी—इन तीनोंके साथ राज्यपर अभिषिक्त होंगे॥ १७॥

दुःखजं विसृजत्यश्रु निष्क्रामन्तमुदीक्ष्य यम्।
अयोध्यायां जनः सर्वः शोकवेगसमाहतः॥ १८॥
कुशचीरधरं वीरं गच्छन्तमपराजितम्।
सीतेवानुगता लक्ष्मीस्तस्य किं नाम दुर्लभम्॥ १९॥

जिनको नगरसे निकलते देख अयोध्याका सारा जनसमुदाय शोकके वेगसे आहत हो नेत्रोंसे दुःखके आँसू बहा रहा है, कुश और चीर धारण करके वनको जाते हुए जिन अपराजित नित्यविजयी वीरके पीछे-पीछे सीताके रूपमें साक्षात् लक्ष्मी ही गयी है, उनके लिये क्या दुर्लभ है ?॥

धनुर्ग्रहवरो यस्य बाणखड्गास्त्रभृत् स्वयम्।
लक्ष्मणो व्रजति ह्यग्रे तस्य किं नाम दुर्लभम्॥ २०॥

'जिनके आगे धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ लक्ष्मण स्वयं बाण और खड्ग आदि अस्त्र लिये जा रहे हैं, उनके लिये जगत्में कौन-सी वस्तु दुर्लभ है ?॥ २०॥

निवृत्तवनवासं तं द्रष्टासि पुनरागतम्।
जहि शोकं च मोहं च देवि सत्यं ब्रवीमि ते॥ २१॥

'देवि! मैं तुमसे सत्य कहती हूँ। तुम वनवासकी अवधि पूर्ण होनेपर यहाँ लौटे हुए श्रीरामको फिर देखोगी, इसलिये तुम शोक और मोह छोड़ दो॥ २१॥

शिरसा चरणावेतौ वन्दमानमनिन्दिते।
पुनर्द्रक्ष्यसि कल्याणि पुत्रं चन्द्रमिवोदितम्॥ २२॥

'कल्याणि! अनिन्दिते! तुम नवोदित चन्द्रमाके समान अपने पुत्रको पुनः अपने चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम करते देखोगी॥ २२॥

पुनः प्रविष्टं दृष्ट्वा तमभिषिक्तं महाश्रियम्।
समुत्स्रक्ष्यसि नेत्राभ्यां शीघ्रमानन्दजं जलम्॥ २३॥

'राजभवनमें प्रविष्ट होकर पुनः राजपदपर अभिषिक्त हुए अपने पुत्रको बड़ी भारी राजलक्ष्मीसे सम्पन्न देखकर तुम शीघ्र ही अपने नेत्रोंसे आनन्दके आँसू बहाओगी॥ २३॥

मा शोको देवि दुःखं वा न रामे दृष्यतेऽशिवम्।
क्षिप्रं द्रक्ष्यसि पुत्रं त्वं ससीतं सहलक्ष्मणम्॥ २४॥

'देवि! श्रीरामके लिये तुम्हारे मनमें शोक और दुःख नहीं होना चाहिये; क्योंकि उनमें कोई अशुभ बात नहीं दिखायी देती। तुम सीता और लक्ष्मणके साथ अपने पुत्र श्रीरामको शीघ्र ही यहाँ उपस्थित देखोगी॥ २४॥

त्वयाशेषो जनश्चायं समाश्वास्यो यतोऽनघे।
किमिदानीमिदं देवि करोषि हृदि विक्लवम्॥ २५॥

'पापरहित देवि! तुम्हें तो इन सब लोगोंको धैर्य बँधाना चाहिये, फिर स्वयं ही इस समय अपने हृदयमें इतना दुःख क्यों करती हो ?॥ २५॥

नार्हा त्वं शोचितुं देवि यस्यास्ते राघवः सुतः।
नहि रामात् परो लोके विद्यते सत्पथे स्थितः॥ २६॥

'देवि! तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये; क्योंकि तुम्हें रघुकुलनन्दन राम-जैसा बेटा मिला है। श्रीरामसे बढ़कर सन्मार्गमें स्थिर रहनेवाला मनुष्य संसारमें दूसरा कोई नहीं है॥ २६॥

अभिवादयमानं तं दृष्ट्वा ससुहृदं सुतम्।
मुदाश्रु मोक्ष्यसे क्षिप्रं मेघरेखेव वार्षिकी॥ २७॥

'कब ज्ञानमें बढ़े-चढ़े और अवस्थामें देवताओंके समान तेजस्वी धर्मात्मा श्रीराम उत्तम वर्षाकी भाँति जनसमुदायका लालन करते हुए यहाँ पधारेंगे ? ॥ १६ ॥

निःसंशयं मया मन्ये पुरा वीर कदर्यया ।
पातुकामेषु वत्सेषु मातॄणां शातिताः स्तनाः ॥ १७ ॥

'वीर ! इसमें संदेह नहीं कि पूर्व जन्ममें मुझ नीच आचार-विचारवाली नारीने बछड़ोंके दूध पीनेके लिये उद्यत होते ही उनकी माताओंके स्तन काट दिये होंगे ॥ १७ ॥

साहं गौरिव सिंहेन विवत्सा वत्सला कृता ।
कैकेय्या पुरुषव्याघ्र बालवत्सेव गौर्बलात् ॥ १८ ॥

'पुरुषसिंह ! जैसे किसी सिंहने छोटेसे बछड़ेवाली वत्सला गौको बलपूर्वक बछड़ेसे हीन कर दिया हो, उसी प्रकार कैकेयीने मुझे बलात् अपने बेटेसे बिलग कर दिया है ॥ १८ ॥

नहि तावद्गुणैर्जुष्टं सर्वशास्त्रविशारदम् ।
एकपुत्रा विना पुत्रमहं जीवितुमुत्सहे ॥ १९ ॥

'जो उत्तम गुणोंसे युक्त और सम्पूर्ण शास्त्रोंमें प्रवीण हैं, उन अपने पुत्र श्रीरामके बिना मैं इकलौते बेटेवाली माँ जीवित नहीं रह सकती ॥ १९ ॥

न हि मे जीविते किंचित् सामर्थ्यमिह कल्प्यते ।
अपश्यन्त्याः प्रियं पुत्रं लक्ष्मणं च महाबलम् ॥ २० ॥

'अब प्यारे पुत्र श्रीराम और महाबली लक्ष्मणको देखे बिना मुझमें जीवित रहनेकी कुछ भी शक्ति नहीं है ॥ २० ॥

अयं हि मां दीपयतेऽद्य वह्नि-
स्तनूजशोकप्रभवो महाहितः ।
महीमिमां रश्मिभिरुत्तमप्रभो
यथा निदाघे भगवान् दिवाकरः ॥ २१ ॥

'जैसे ग्रीष्म ऋतुमें उत्कृष्ट प्रभावाले भगवान् सूर्य अपनी किरणोंद्वारा इस पृथ्वीको अधिक ताप देते हैं, उसी प्रकार यह पुत्रशोकजनित महान् अहितकारक अग्नि आज मुझे जलाये दे रही है ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

सुमित्राका कौसल्याको आश्वासन देना

विलपन्तीं तथा तां तु कौसल्यां प्रमदोत्तमाम् ।
इदं धर्मे स्थिता धर्म्यं सुमित्रा वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

नारियोंमें श्रेष्ठ कौसल्याको इस प्रकार विलाप करती देख धर्मपरायणा सुमित्रा यह धर्मयुक्त बात बोली— ॥ १ ॥

तवार्ये सद्गुणैर्युक्तः स पुत्रः पुरुषोत्तमः ।
किं ते विलपितेनैवं कृपणं रुदितेन वा ॥ २ ॥

'आर्ये ! तुम्हारे पुत्र श्रीराम उत्तम गुणोंसे युक्त और पुरुषोंमें श्रेष्ठ हैं। उनके लिये इस प्रकार विलाप करना और दीनतापूर्वक रोना व्यर्थ है, इस तरह रोने-धोनेसे क्या लाभ ? ॥ २ ॥

यस्तवार्ये गतः पुत्रस्त्यक्त्वा राज्यं महाबलः ।
साधु कुर्वन् महात्मानं पितरं सत्यवादिनम् ॥ ३ ॥
शिष्टैराचरिते सम्यक्शश्वत् प्रेत्य फलोदये ।
रामो धर्मे स्थितः श्रेष्ठो न स शोच्यः कदाचन ॥ ४ ॥

'बहिन ! जो राज्य छोड़कर अपने महात्मा पिताको भलीभाँति सत्यवादी बनानेके लिये वनमें चले गये हैं, वे तुम्हारे महाबली श्रेष्ठ पुत्र श्रीराम उस उत्तम धर्ममें स्थित हैं, जिसका सत्पुरुषोंने सर्वदा और सम्यक् प्रकारसे पालन किया है तथा जो परलोकमें भी सुखमय फल प्रदान करनेवाला है। ऐसे धर्मात्माके लिये कदापि शोक नहीं करना चाहिये ॥

वर्तते चोत्तमां वृत्तिं लक्ष्मणोऽस्मिन् सदानघः ।
दयावान् सर्वभूतेषु लाभस्तस्य महात्मनः ॥ ५ ॥

'निष्पाप लक्ष्मण समस्त प्राणियोंके प्रति दयालु हैं। वे सदा श्रीरामके प्रति उत्तम बर्ताव करते हैं, अतः उन महात्मा लक्ष्मणके लिये यह लाभकी ही बात है ॥ ५ ॥

अरण्यवासे यद् दुःखं जानन्त्येव सुखोचिता ।
अनुगच्छति वैदेही धर्मात्मानं तवात्मजम् ॥ ६ ॥

'विदेहनन्दिनी सीता भी जो सुख भोगनेके ही योग्य है, वनवासके दुःखोंको भलीभाँति सोच-समझकर ही तुम्हारे धर्मात्मा पुत्रका अनुसरण करती है ॥ ६ ॥

कीर्तिभूतां पताकां यो लोके भ्रमयति प्रभुः ।
धर्मः सत्यव्रतपरः किं न प्राप्तस्तवात्मजः ॥ ७ ॥

'जो प्रभु संसारमें अपनी कीर्तिमयी पताका फहरा रहे हैं और सदा सत्यव्रतके पालनमें तत्पर रहते हैं, उन धर्मस्वरूप तुम्हारे पुत्र श्रीरामको कौन-सा श्रेय प्राप्त नहीं हुआ है ॥ ७ ॥

व्यक्तं रामस्य विज्ञाय शौचं माहात्म्यमुत्तमम् ।
न गात्रमंशुभिः सूर्यः संतापयितुमर्हति ॥ ८ ॥

'श्रीरामकी पवित्रता और उत्तम माहात्म्यको जानकर निश्चय ही सूर्य अपनी किरणोंद्वारा उनके शरीरको संतप्त नहीं कर सकते ॥ ८ ॥

शिवः सर्वेषु कालेषु काननेभ्यो विनिःसृतः ।
राघवं युक्तशीतोष्णः सेविष्यति सुखोऽनिलः ॥ ९ ॥

'सभी समयोंमें वनोंसे निकली हुई उचित सरदी और गरमीसे युक्त सुखद एवं मङ्गलमय वायु श्रीरघुनाथजीकी सेवा करेगी ॥ ९ ॥

शयानमनघं रात्रौ पितेवाभिपरिष्वजन्।
धर्मज्ञः संस्पृशञ्छीतश्चन्द्रमा ह्लादयिष्यति ॥ १० ॥

'रात्रिकालमें धूपका कष्ट दूर करनेवाले शीतल चन्द्रमा सोते हुए निष्पाप श्रीरामका अपने किरणरूपी करोंसे आलिङ्गन और स्पर्श करके उन्हें आह्लाद प्रदान करेंगे ॥ १० ॥

ददौ चास्त्राणि दिव्यानि यस्मै ब्रह्मा महौजसे।
दानवेन्द्रं हतं दृष्ट्वा तिमिध्वजसुतं रणे ॥ ११ ॥

'श्रीरामके द्वारा रणभूमिमें तिमिध्वज (शम्बर) के पुत्र दानवराज सुबाहुको मारा गया देख विश्वामित्रजीने उन महातेजस्वी वीरको बहुत-से दिव्यास्त्र प्रदान किये थे ॥ ११ ॥

स शूरः पुरुषव्याघ्रः स्वबाहुबलमाश्रितः।
असंत्रस्तो ह्यरण्येऽसौ वेश्मनीव निवत्स्यते ॥ १२ ॥

'वे पुरुषसिंह श्रीराम बड़े शूरवीर हैं। वे अपने ही बाहुबलका आश्रय लेकर जैसे महलमें रहते थे, उसी तरह वनमें भी निडर होकर रहेंगे ॥ १२ ॥

यस्येषुपथमासाद्य विनाशं यान्ति शत्रवः।
कथं न पृथिवी तस्य शासने स्थातुमर्हति ॥ १३ ॥

'जिनके बाणोंका लक्ष्य बनकर सभी शत्रु विनाशको प्राप्त होते हैं, उनके शासनमें यह पृथ्वी और यहाँके प्राणी कैसे नहीं रहेंगे ? ॥ १३ ॥

या श्रीः शौर्यं च रामस्य या च कल्याणसत्त्वता।
निवृत्तारण्यवासः स्वं क्षिप्रं राज्यमवाप्स्यति ॥ १४ ॥

'श्रीरामकी जैसी शारीरिक शोभा है, जैसा पराक्रम है और जैसी कल्याणकारिणी शक्ति है, उससे जान पड़ता है कि वे वनवाससे लौटकर शीघ्र ही अपना राज्य प्राप्त कर लेंगे ॥

सूर्यस्यापि भवेत् सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः।
श्रियाः श्रीश्च भवेदग्र्या कीर्त्याः कीर्तिः क्षमाक्षमा ॥
दैवतं देवतानां च भूतानां भूतसत्तमः।
तस्य के ह्यगुणा देवि वने वाप्यथवा पुरे ॥ १६ ॥

'देवि ! श्रीराम सूर्यके भी सूर्य (प्रकाशक) और अग्निके भी अग्नि (दाहक) हैं। वे प्रभुके भी प्रभु, लक्ष्मीकी भी उत्तम लक्ष्मी और क्षमाकी भी क्षमा हैं। इतना ही नहीं—वे देवताओंके भी देवता तथा भूतोंके भी उत्तम भूत हैं। वे वनमें रहें या नगरमें, उनके लिये कौन-से चराचर प्राणी दोषावह हो सकते हैं ॥ १५-१६ ॥

पृथिव्या सह वैदेह्या श्रिया च पुरुषर्षभः।
क्षिप्रं तिसृभिरेताभिः सह रामोऽभिषेक्ष्यते ॥ १७ ॥

'पुरुषशिरोमणि श्रीराम शीघ्र ही पृथ्वी, सीता और लक्ष्मी—इन तीनोंके साथ राज्यपर अभिषिक्त होंगे ॥ १७ ॥

दुःखजं विसृजत्यश्रु निष्क्रामन्तमुदीक्ष्य यम्।
अयोध्यायां जनः सर्वः शोकवेगसमाहतः ॥ १८ ॥
कुशचीरधरं वीरं गच्छन्तमपराजितम्।
सीतेवानुगता लक्ष्मीस्तस्य किं नाम दुर्लभम् ॥ १९ ॥

जिनको नगरसे निकलते देख अयोध्याका सारा जनसमुदाय शोकके वेगसे आहत हो नेत्रोंसे दुःखके आँसू बहा रहा है, कुश और चीर धारण करके वनको जाते हुए जिन अपराजित नित्यविजयी वीरके पीछे-पीछे सीताके रूपमें साक्षात् लक्ष्मी ही गयी है, उनके लिये क्या दुर्लभ है ? ॥

धनुर्ग्रहवरो यस्य बाणखड्गास्त्रभृत् स्वयम्।
लक्ष्मणो व्रजति ह्यग्रे तस्य किं नाम दुर्लभम् ॥ २० ॥

'जिनके आगे धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ लक्ष्मण स्वयं बाण और खड्ग आदि अस्त्र लिये जा रहे हैं, उनके लिये जगत्में कौन-सी वस्तु दुर्लभ है ? ॥ २० ॥

निवृत्तवनवासं तं द्रष्टासि पुनरागतम्।
जहि शोकं च मोहं च देवि सत्यं ब्रवीमि ते ॥ २१ ॥

'देवि ! मैं तुमसे सत्य कहती हूँ। तुम वनवासकी अवधि पूर्ण होनेपर यहाँ लौटे हुए श्रीरामको फिर देखोगी, इसलिये तुम शोक और मोह छोड़ दो ॥ २१ ॥

शिरसा चरणावेतौ वन्दमानमनिन्दिते।
पुनर्द्रक्ष्यसि कल्याणि पुत्रं चन्द्रमिवोदितम् ॥ २२ ॥

'कल्याणि ! अनिन्दिते ! तुम नवोदित चन्द्रमाके समान अपने पुत्रको पुनः अपने चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम करते देखोगी ॥ २२ ॥

पुनः प्रविष्टं दृष्ट्वा तमभिषिक्तं महाश्रियम्।
समुत्स्रक्ष्यसि नेत्राभ्यां शीघ्रमानन्दजं जलम् ॥ २३ ॥

'राजभवनमें प्रविष्ट होकर पुनः राजपदपर अभिषिक्त हुए अपने पुत्रको बड़ी भारी राजलक्ष्मीसे सम्पन्न देखकर तुम शीघ्र ही अपने नेत्रोंसे आनन्दके आँसू बहाओगी ॥ २३ ॥

मा शोको देवि दुःखं वा न रामे दृष्यतेऽशिवम्।
क्षिप्रं द्रक्ष्यसि पुत्रं त्वं ससीतं सहलक्ष्मणम् ॥ २४ ॥

'देवि ! श्रीरामके लिये तुम्हारे मनमें शोक और दुःख नहीं होना चाहिये; क्योंकि उनमें कोई अशुभ बात नहीं दिखायी देती। तुम सीता और लक्ष्मणके साथ अपने पुत्र श्रीरामको शीघ्र ही यहाँ उपस्थित देखोगी ॥ २४ ॥

त्वयाशेषो जनश्चायं समाश्वास्यो यतोऽनघे।
किमिदानीमिदं देवि करोषि हृदि विक्लवम् ॥ २५ ॥

'पापरहित देवि ! तुम्हें तो इन सब लोगोंको धैर्य बँधाना चाहिये, फिर स्वयं ही इस समय अपने हृदयमें इतना दुःख क्यों करती हो ? ॥ २५ ॥

नार्हा त्वं शोचितुं देवि यस्यास्ते राघवः सुतः।
नहि रामात् परो लोके विद्यते सत्पथे स्थितः ॥ २६ ॥

'देवि ! तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये; क्योंकि तुम्हें रघुकुलनन्दन राम-जैसा बेटा मिला है। श्रीरामसे बढ़कर सन्मार्गमें स्थिर रहनेवाला मनुष्य संसारमें दूसरा कोई नहीं है ॥ २६ ॥

अभिवादयमानं तं दृष्ट्वा ससुहृदं सुतम्।
मुदाश्रु मोक्ष्यसे क्षिप्रं मेघरेखेव वार्षिकी ॥ २७ ॥

'जैसे वर्षाकालके मेघोंकी घटा जलकी वृष्टि करती है, उसी प्रकार तुम सुहृदोंसहित अपने पुत्र श्रीरामको अपने चरणोंमें प्रणाम करते देख शीघ्र ही आनन्दपूर्वक आँसुओंकी वर्षा करोगी ॥ २७ ॥

पुत्रस्ते वरदः क्षिप्रमयोध्यां पुनरागतः ।
कराभ्यां मृदुपीनाभ्यां चरणौ पीडयिष्यति ॥ २८ ॥

'तुम्हारे वरदायक पुत्र पुनः शीघ्र ही अयोध्यामें आकर अपने मोटे-मोटे कोमल हाथोंद्वारा तुम्हारे दोनों पैरोंको दबायेंगे ॥

अभिवाद्य नमस्यन्तं शूरं ससुहृदं सुतम् ।
मुदास्त्रैः प्रोक्षसे पुत्रं मेघराजिरिवाचलम् ॥ २९ ॥

'जैसे मेघमाला पर्वतको नहलाती है, उसी प्रकार तुम अभिवादन करके नमस्कार करते हुए सुहृदोंसहित अपने शूर-वीर पुत्रका आनन्दके आँसुओंसे अभिषेक करोगी' ॥

आश्वासयन्ती विविधैश्च वाक्यै-
र्वाक्योपचारे कुशलानवद्या ।
रामस्य तां मातरमेवमुक्त्वा
देवी सुमित्रा विरराम रामा ॥ ३० ॥

बातचीत करनेमें कुशल, दोषरहित तथा रमणीय रूपवाली देवी सुमित्रा इस प्रकार तरह-तरहकी बातोंसे श्रीराममाता कौसल्याको आश्वासन देती हुई उपर्युक्त बातें कहकर चुप हो गयीं ॥ ३० ॥

निशम्य तल्लक्ष्मणमातृवाक्यं
रामस्य मातुर्नरदेवपत्न्याः ।
सद्यः शरीरे विननाश शोकः
शरद्गतो मेघ इवाल्पतोयः ॥ ३१ ॥

लक्ष्मणकी माताका वह वचन सुनकर महाराज दशरथकी पत्नी तथा श्रीरामकी माता कौशल्याका सारा शोक उनके शरीर (मन) में ही तत्काल विलीन हो गया। ठीक उसी तरह, जैसे शरद् ऋतुका थोड़े जलवाला बादल शीघ्र ही छिन्न-भिन्न हो जाता है ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौवालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

श्रीरामका पुरवासियोंसे भरत और महाराज दशरथके प्रति प्रेम-भाव रखनेका अनुरोध करते हुए लौट जानेके लिये कहना; नगरके वृद्ध ब्राह्मणोंका श्रीरामसे लौट चलनेके लिये आग्रह करना तथा उन सबके साथ श्रीरामका तमसातटपर पहुँचना

अनुरक्ता महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम् ।
अनुजग्मुः प्रयान्तं तं वनवासाय मानवाः ॥ १ ॥

उधर सत्यपराक्रमी महात्मा श्रीराम जब वनको ओर जाने लगे, उस समय उनके प्रति अनुराग रखनेवाले बहुत-से अयोध्यावासी मनुष्य वनमें निवास करनेके लिये उनके पीछे-पीछे चल दिये ॥ १ ॥

निवर्तितेऽतीव बलात् सुहृद्धर्मेण राजनि ।
नैव ते संन्यवर्तन्त रामस्यानुगता रथम् ॥ २ ॥

'जिसके जल्दी लौटनेकी कामना की जाय, उस स्वजनको दूरतक नहीं पहुँचाना चाहिये'—इत्यादि रूपसे बताये गये सुहृद्धर्मके अनुसार जब राजा दशरथ बलपूर्वक लौटा दिये गये, तब भी जो श्रीरामजीके रथके पीछे-पीछे लगे हुए थे, वे अयोध्यावासी अपने घरको ओर नहीं लौटे ॥ २ ॥

अयोध्यानिलयानां हि पुरुषाणां महायशाः ।
बभूव गुणसम्पन्नः पूर्णचन्द्र इव प्रियः ॥ ३ ॥

क्योंकि अयोध्यावासी पुरुषोंके लिये सद्गुणसम्पन्न महायशस्वी श्रीराम पूर्ण चन्द्रमाके समान प्रिय हो गये थे ॥

स याच्यमानः काकुत्स्थस्ताभिः प्रकृतिभिस्तदा ।
कुर्वाणः पितरं सत्यं वनमेवान्वपद्यत ॥ ४ ॥

उन प्रजाजनोंने श्रीरामसे घर लौट चलनेके लिये बहुत प्रार्थना की; किंतु वे पिताके सत्यकी रक्षा करनेके लिये वनकी ओर ही बढ़ते गये ॥ ४ ॥

अवेक्षमाणः सस्नेहं चक्षुषा प्रपिबन्निव ।
उवाच रामः सस्नेहं ताः प्रजाः स्वाः प्रजा इव ॥ ५ ॥

वे प्रजाजनोंको इस प्रकार स्नेहभरी दृष्टिसे देख रहे थे मानो नेत्रोंसे उन्हें पी रहे हों। उस समय श्रीरामने अपनी संतानके समान प्रिय उन प्रजाजनोंसे स्नेहपूर्वक कहा— ॥

या प्रीतिर्बहुमानश्च मय्ययोध्यानिवासिनाम् ।
मत्प्रियार्थं विशेषेण भरते सा विधीयताम् ॥ ६ ॥

'अयोध्यानिवासियोंका मेरे प्रति जो प्रेम और आदर है, वह मेरी ही प्रसन्नताके लिये भरतके प्रति और अधिकरूपमें होना चाहिये ॥ ६ ॥

स हि कल्याणचारित्रः कैकेय्यानन्दवर्धनः ।
करिष्यति यथावद् वः प्रियाणि च हितानि च ॥ ७ ॥

'उनका चरित्र बड़ा ही सुन्दर और सबका कल्याण करनेवाला है। कैकेयीका आनन्द बढ़ानेवाले भरत आप लोगोंका यथावत् प्रिय और हित करेंगे ॥ ७ ॥

ज्ञानवृद्धो वयोबालो मृदुर्वीर्यगुणान्वितः ।
अनुरूपः स वो भर्ता भविष्यति भयापहः ॥ ८ ॥

'वे अवस्थामें छोटे होनेपर भी ज्ञानमें बड़े हैं। पराक्रमोचित

गुणोंसे सम्पन्न होनेपर भी स्वभावके बड़े कोमल हैं। वे आपलोगोंके लिये योग्य राजा होंगे और प्रजाके भयका निवारण करेंगे ॥ ८ ॥

स हि राजगुणैर्युक्तो युवराजः समीक्षितः ।
अपि चापि मया शिष्टैः कार्यं वो भर्तृशासनम् ॥ ९ ॥

'वे मुझसे भी अधिक राजोचित गुणोंसे युक्त हैं, इसीलिये महाराजने उन्हें युवराज बनानेका निश्चय किया है; अतः आपलोगोंको अपने स्वामी भरतकी आज्ञाका सदा पालन करना चाहिये ॥ ९ ॥

न संतप्येद् यथा चासौ वनवासं गते मयि ।
महाराजस्तथा कार्यो मम प्रियचिकीर्षया ॥ १० ॥

'मेरे वनमें चले जानेपर महाराज दशरथ जिस प्रकार भी शोकसे संतप्त न होने पायें, इस बातके लिये आपलोग सदा चेष्टा रखें। मेरा प्रिय करनेकी इच्छासे आपको मेरी इस प्रार्थनापर अवश्य ध्यान देना चाहिये' ॥ १० ॥

यथा यथा दाशरथिर्धर्ममेवाश्रितो भवेत् ।
तथा तथा प्रकृतयो रामं पतिमकामयन् ॥ ११ ॥

दशरथनन्दन श्रीरामने ज्यों-ज्यों धर्मका आश्रय लेनेके लिये ही दृढ़ता दिखायी, त्यों-ही-त्यों प्रजाजनोंके मनमें उन्हींको अपना स्वामी बनानेकी इच्छा प्रबल होती गयी ॥

बाष्पेण पिहितं दीनं रामः सौमित्रिणा सह ।
चकर्षेव गुणैर्बद्धं जनं पुरनिवासिनम् ॥ १२ ॥

समस्त पुरवासी अत्यन्त दीन होकर आँसू बहा रहे थे और लक्ष्मणसहित श्रीराम मानो अपने गुणोंमें बाँधकर उन्हें खींचे लिये जा रहे थे ॥ १२ ॥

ते द्विजास्त्रिविधं वृद्धा ज्ञानेन वयसौजसा ।
वयःप्रकम्पशिरसो दूरादूचुरिदं वचः ॥ १३ ॥

उनमें बहुत-से ब्राह्मण थे, जो ज्ञान, अवस्था और तपोबल—तीनों ही दृष्टियोंसे बड़े थे। वृद्धावस्थाके कारण कितनोंके तो सिर काँप रहे थे। वे दूरसे ही इस प्रकार बोले— ॥

वहन्तो जवना रामं भो भो जात्यास्तुरंगमाः ।
निवर्तध्वं न गन्तव्यं हिता भवत भर्तरि ॥ १४ ॥

'अरे ! ओ तेज चलनेवाले अच्छी जातिके घोड़ो ! तुम बड़े वेगशाली हो और श्रीरामको वनकी ओर लिये जा रहे हो, लौटो ! अपने स्वामीके हितैषी बनो ! तुम्हें वनमें नहीं जाना चाहिये ॥ १४ ॥

कर्णवन्ति हि भूतानि विशेषेण तुरङ्गमाः ।
यूयं तस्मान्निवर्तध्वं याचनां प्रतिवेदिताः ॥ १५ ॥

'यों तो सभी प्राणियोंके कान होते हैं, परंतु घोड़ोंके कान बड़े होते हैं; अतः तुम्हें हमारी याचनाका ज्ञान तो हो ही गया होगा; इसलिये घरकी ओर लौट चलो ॥ १५ ॥

धर्मतः स विशुद्धात्मा वीरः शुभदृढव्रतः ।
उपवाह्यस्तु वो भर्ता नापवाह्यः पुराद् वनम् ॥ १६ ॥

'तुम्हारे स्वामी श्रीराम विशुद्धात्मा, वीर और उत्तम व्रतका दृढ़तासे पालन करनेवाले हैं, अतः तुम्हें इनका उपवहन करना चाहिये—इन्हें बाहरसे नगरके समीप ले चलना चाहिये। नगरसे वनकी ओर इनका अपवहन करना—इन्हें ले जाना तुम्हारे लिये कदापि उचित नहीं है' ॥ १६ ॥

एवमार्तप्रलापांस्तान् वृद्धान् प्रलपतो द्विजान् ।
अवेक्ष्य सहसा रामो रथादवततार ह ॥ १७ ॥

वृद्ध ब्राह्मणोंको इस प्रकार आर्तभावसे प्रलाप करते देख श्रीरामचन्द्रजी सहसा रथसे नीचे उतर गये ॥ १७ ॥

पद्भ्यामेव जगामाथ ससीतः सहलक्ष्मणः ।
संनिकृष्टपदन्यासो रामो वनपरायणः ॥ १८ ॥

वे सीता और लक्ष्मणके साथ पैदल ही चलने लगे। ब्राह्मणोंका साथ न छूटे, इसके लिये वे अपना पैर बहुत निकट रखते थे— लंबे डगसे नहीं चलते थे। वनमें पहुँचना ही उनकी यात्राका परम लक्ष्य था ॥ १८ ॥

द्विजातीन् हि पदातींस्तान् रामश्चारित्रवत्सलः ।
न शशाक घृणाचक्षुः परिमोक्तुं रथेन सः ॥ १९ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके चरित्रमें वात्सल्य-गुणकी प्रधानता थी। उनकी दृष्टिमें दया भरी हुई थी; इसलिये वे रथके द्वारा चलकर उन पैदल चलनेवाले ब्राह्मणोंको पीछे छोड़नेका साहस न कर सके ॥ १९ ॥

गच्छन्तमेव तं दृष्ट्वा रामं सम्भ्रान्तमानसाः ।
ऊचुः परमसंतप्ता रामं वाक्यमिदं द्विजाः ॥ २० ॥

श्रीरामको अब भी वनकी ओर ही जाते देख वे ब्राह्मण मन-ही-मन घबरा उठे और अत्यन्त संतप्त होकर उनसे इस प्रकार बोले— ॥ २० ॥

ब्राह्मण्यं कृत्स्नमेतत् त्वां ब्रह्मण्यमनुगच्छति ।
द्विजस्कन्धाधिरूढास्त्वामग्नयोऽप्यनुयान्त्वमी ॥ २१ ॥

'रघुनन्दन ! तुम ब्राह्मणोंके हितैषी हो, इसीसे यह सारा ब्राह्मण-समाज तुम्हारे पीछे-पीछे चल रहा है। इन ब्राह्मणोंके कंधोंपर चढ़कर अग्निदेव भी तुम्हारा अनुसरण कर रहे हैं ॥ २१ ॥

वाजपेयसमुत्थानि छत्राण्येतानि पश्य नः ।
पृष्ठतोऽनुप्रयातानि मेघानिव जलात्यये ॥ २२ ॥

'वर्षा बीतनेपर शरद् ऋतुमें दिखायी देनेवाले सफेद बादलोंके समान हमारे इन श्वेत छत्रोंकी ओर देखो, जो तुम्हारे पीछे-पीछे चल पड़े हैं। ये हमें वाजपेय यज्ञमें प्राप्त हुए थे ॥ २२ ॥

अनवाप्तातपत्रस्य रश्मिसंतापितस्य ते ।
एभिश्छायां करिष्यामः स्वैश्छत्रैर्वाजपेयकैः ॥ २३ ॥

'तुम्हें राजकीय श्वेतच्छत्र नहीं प्राप्त हुआ, अतएव तुम सूर्यदेवकी किरणोंसे संतप्त हो रहे हो। इस अवस्थामें हम वाजपेय-यज्ञमें प्राप्त हुए इन अपने छत्रोंद्वारा तुम्हारे लिये

छाया करेंगे ॥ २३ ॥

या हि नः सततं बुद्धिर्वेदमन्त्रानुसारिणी ।
त्वत्कृते सा कृता वत्स वनवासानुसारिणी ॥ २४ ॥

'वत्स ! हमारी जो बुद्धि सदा वेदमन्त्रोंके पीछे चलती थी—उन्हींके चिन्तनमें लगी रहती थी, वही तुम्हारे लिये वनवासका अनुसरण करनेवाली हो गयी है ॥ २४ ॥

हृदयेष्ववतिष्ठन्ते वेदा ये नः परं धनम् ।
वत्स्यन्त्य पिगृहेष्वेव दाराश्चारित्ररक्षिताः ॥ २५ ॥

'जो हमारे परम धन वेद हैं, वे हमारे हृदयोंमें स्थित हैं। हमारी स्त्रियाँ अपने चरित्रबलसे सुरक्षित रहकर घरोंमें ही रहेंगी ॥ २५ ॥

पुनर्न निश्चयः कार्यस्त्वद्गतौ सुकृता मतिः ।
त्वयि धर्मव्यपेक्षे तु किं स्याद् धर्मपथे स्थितम् ॥ २६ ॥

'अब हमें अपने कर्तव्यके विषयमें पुनः कुछ निश्चय नहीं करना है। हमने तुम्हारे साथ जानेका विचार स्थिर कर लिया है। तो भी हमें इतना अवश्य कहना है कि 'जब तुम ही ब्राह्मणकी आज्ञाके पालनरूपी धर्मकी ओरसे निरपेक्ष हो जाओगे, तब दूसरा कौन प्राणी धर्ममार्गपर स्थित रह सकेगा ॥ २६ ॥

याचितो नो निवर्तस्व हंसशुक्लशिरोरुहैः ।
शिरोभिर्निभृताचार महीपतनपांसुलैः ॥ २७ ॥

'सदाचारका पोषण करनेवाले श्रीराम ! हमारे सिरके बाल पककर हंसके समान सफेद हो गये हैं और पृथ्वीपर पड़कर साष्टाङ्ग प्रणाम करनेसे इनमें धूल भर गयी है। हम अपने ऐसे मस्तकोंको झुकाकर तुमसे याचना करते हैं कि तुम घरको लौट चलो (वे तत्त्वज्ञ ब्राह्मण यह जानते थे कि श्रीराम साक्षात् भगवान् विष्णु हैं। इसीलिये उनका श्रीरामके प्रति प्रणाम करना दोषकी बात नहीं है) ॥ २७ ॥

बहूनां वितता यज्ञा द्विजानां य इहागताः ।
तेषां समाप्तिरायत्ता तव वत्स निवर्तने ॥ २८ ॥

'(इतनेपर भी जब श्रीराम नहीं रुके, तब वे ब्राह्मण बोले—) वत्स ! जो लोग यहाँ आये हैं, इनमें बहुत-से ऐसे ब्राह्मण हैं, जिन्होंने यज्ञ आरम्भ कर दिया है; अब इनके यज्ञोंकी समाप्ति तुम्हारे लौटनेपर ही निर्भर है ॥ २८ ॥

भक्तिमन्तीह भूतानि जङ्गमाजङ्गमानि च ।
याचमानेषु तेषु त्वं भक्तिं भक्तेषु दर्शय ॥ २९ ॥

'संसारके स्थावर और जङ्गम सभी प्राणी तुम्हारे प्रति भक्ति रखते हैं। वे सब तुमसे लौट चलनेकी प्रार्थना कर रहे हैं। अपने उन भक्तोंपर तुम अपना स्नेह दिखाओ ॥ २९ ॥

अनुगन्तुमशक्तास्त्वां मूलैरुद्धतवेगिनः ।
उन्नता वायुवेगेन विक्रोशन्तीव पादपाः ॥ ३० ॥

'ये वृक्ष अपनी जड़ोंके कारण अत्यन्त वेगहीन हैं, इसीसे तुम्हारे पीछे नहीं चल सकते; परंतु वायुके वेगसे इनमें जो सनसनाहट पैदा होती है, उनके द्वारा ये ऊँचे वृक्ष मानो तुम्हें पुकार रहे हैं—तुमसे लौट चलनेकी प्रार्थना कर रहे हैं ॥ ३० ॥

निश्चेष्टाहारसंचारा वृक्षैकस्थाननिश्चिताः ।
पक्षिणोऽपि प्रयाचन्ते सर्वभूतानुकम्पिनम् ॥ ३१ ॥

'जो सब प्रकारकी चेष्टा छोड़ चुके हैं, चारा चुगनेके लिये भी कहीं उड़कर नहीं जाते हैं और निश्चितरूपसे वृक्षके एक स्थानपर ही पड़े रहते हैं, वे पक्षी भी तुमसे लौट चलनेके लिये प्रार्थना कर रहे हैं; क्योंकि तुम समस्त प्राणियोंपर कृपा करनेवाले हो' ॥ ३१ ॥

एवं विक्रोशतां तेषां द्विजातीनां निवर्तने ।
ददृशे तमसा तत्र वारयन्तीव राघवम् ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीरामसे लौटनेके लिये पुकार मचाते हुए उन ब्राह्मणोंपर मानो कृपा करनेके लिये मार्गमें तमसा नदी दिखायी दी, जो अपने तिर्यक्-प्रवाह (तिरछी धारा) से श्रीरघुनाथजीको रोकती हुई-सी प्रतीत होती थी ॥ ३२ ॥

ततः सुमन्त्रोऽपि रथाद् विमुच्य
श्रान्तान् हयान् सम्परिवर्त्य शीघ्रम् ।
पीतोदकांस्तोयपरिप्लुताङ्ग-
नचारयद् वै तमसाविदूरे ॥ ३३ ॥

वहाँ पहुँचनेपर सुमन्त्रने भी थके हुए घोड़ोंको शीघ्र ही रथसे खोलकर उन सबको टहलाया, फिर पानी पिलाया और नहलाया, तत्पश्चात् तमसाके निकट ही चरनेके लिये छोड़ दिया ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशः सर्गः

सीता और लक्ष्मणसहित श्रीरामका रात्रिमें तमसा-तटपर निवास, माता-पिता और अयोध्याके लिये चिन्ता तथा पुरवासियोंको सोते छोड़कर वनकी ओर जाना

ततस्तु तमसातीरं रम्यमाश्रित्य राघवः ।
सीतामुद्वीक्ष्य सौमित्रिमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

तदनन्तर तमसाके रमणीय तटका आश्रय लेकर श्रीरामने सीताकी ओर देखकर सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

इयमद्य निशा पूर्वा सौमित्रे प्रहिता वनम् ।
वनवासस्य भद्रं ते न चोत्कण्ठितुमर्हसि ॥ २ ॥

'सुमित्रानन्दन ! तुम्हारा कल्याण हो। हमलोग जो

वनकी ओर प्रस्थित हुए हैं, हमारे उस वनवासकी आज यह पहली रात प्राप्त हुई है; अतः अब तुम्हें नगरके लिये उत्कण्ठित नहीं होना चाहिये ॥ २ ॥

पश्य शून्यान्यरण्यानि रुदन्तीव समन्ततः।
यथा निलयमायद्भिर्निलीनानि मृगद्विजैः ॥ ३ ॥

'इन सूने वनोंकी ओर तो देखो, इनमें वन्य पशु-पक्षी अपने-अपने स्थानपर आकर अपनी बोली बोल रहे हैं। उनके शब्दसे सारी वनस्थली व्याप्त हो गयी है, मानो ये सारे वन हमें इस अवस्थामें देखकर खिन्न हो सब ओरसे रो रहे हैं ॥ ३ ॥

अद्यायोध्या तु नगरी राजधानी पितुर्मम।
सस्त्रीपुंसा गतानस्माञ्शोचिष्यति न संशयः ॥ ४ ॥

'आज मेरे पिताकी राजधानी अयोध्या नगरी वनमें आये हुए हमलोगोंके लिये समस्त नर-नारियोंसहित शोक करेगी, इसमें संशय नहीं है ॥ ४ ॥

अनुरक्ता हि मनुजा राजानं बहुभिर्गुणैः।
त्वां च मां च नरव्याघ्र शत्रुघ्नभरतौ तथा ॥ ५ ॥

'पुरुषसिंह! अयोध्याके मनुष्य बहुत-से सद्गुणोंके कारण महाराजमें, तुममें, मुझमें तथा भरत और शत्रुघ्नमें भी अनुरक्त हैं ॥ ५ ॥

पितरं चानुशोचामि मातरं च यशस्विनीम्।
अपि नान्धौ भवेतां नौ रुदन्तौ तावभीक्ष्णशः ॥ ६ ॥

'इस समय मुझे पिता और यशस्विनी माताके लिये बड़ा शोक हो रहा है; कहीं ऐसा न हो कि वे निरन्तर रोते रहनेके कारण अंधे हो जायँ ॥ ६ ॥

भरतः खलु धर्मात्मा पितरं मातरं च मे।
धर्मार्थकामसहितैर्वाक्यैराश्वासयिष्यति ॥ ७ ॥

'परंतु भरत बड़े धर्मात्मा हैं। अवश्य ही वे धर्म, अर्थ और काम—तीनोंके अनुकूल वचनोंद्वारा पिताजीको और मेरी माताको भी सान्त्वना देंगे ॥ ७ ॥

भरतस्यानृशंसत्वं संचिन्त्याहं पुनः पुनः।
नानुशोचामि पितरं मातरं च महाभुज ॥ ८ ॥

'महाबाहो! जब मैं भरतके कोमल स्वभावका बार-बार स्मरण करता हूँ, तब मुझे माता-पिताके लिये अधिक चिन्ता नहीं होती ॥ ८ ॥

त्वया कार्यं नरव्याघ्र मामनुव्रजता कृतम्।
अन्वेष्टव्या हि वैदेह्या रक्षणार्थे सहायता ॥ ९ ॥

'नरश्रेष्ठ लक्ष्मण! तुमने मेरे साथ आकर बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया है; क्योंकि तुम न आते तो मुझे विदेहकुमारी सीताकी रक्षाके लिये कोई सहायक ढूँढ़ना पड़ता ॥ ९ ॥

अद्भिरेव हि सौमित्रे वत्स्याम्यद्य निशामिमाम्।
एतद्धि रोचते मह्यं वन्येऽपि विविधे सति ॥ १० ॥

'सुमित्रानन्दन! यद्यपि यहाँ नाना प्रकारके जंगली फल-मूल मिल सकते हैं तथापि आजकी यह रात मैं केवल जल पीकर ही बिताऊँगा। यही मुझे अच्छा जान पड़ता है' ॥ १० ॥

एवमुक्त्वा तु सौमित्रिं सुमन्त्रमपि राघवः।
अप्रमत्तस्त्वमश्वेषु भव सौम्येत्युवाच ह ॥ ११ ॥

लक्ष्मणसे ऐसा कहकर श्रीरामचन्द्रजीने सुमन्त्रसे भी कहा—'सौम्य! अब आप घोड़ोंकी रक्षापर ध्यान दें, उनकी ओरसे असावधान न हों' ॥ ११ ॥

सोऽश्वान् सुमन्त्रः संयम्य सूर्येऽस्तं समुपागते।
प्रभूतयवसान् कृत्वा बभूव प्रत्यनन्तरः ॥ १२ ॥

सुमन्त्रने सूर्यास्त हो जानेपर घोड़ोंको लाकर बाँध दिया और उनके आगे बहुत-सा चारा डालकर वे श्रीरामके पास आ गये ॥ १२ ॥

उपास्य तु शिवां संध्यां दृष्ट्वा रात्रिमुपागताम्।
रामस्य शयनं चक्रे सूतः सौमित्रिणा सह ॥ १३ ॥

फिर (वर्णानुकूल) कल्याणमयी संध्योपासना करके रात आयी देख लक्ष्मणसहित सुमन्त्रने श्रीरामचन्द्रजीके शयन करनेयोग्य स्थान और आसन ठीक किया ॥ १३ ॥

तां शय्यां तमसातीरे वीक्ष्य वृक्षदलैर्वृताम्।
रामः सौमित्रिणा सार्धं सभार्यः संविवेश ह ॥ १४ ॥

तमसाके तटपर वृक्षके पत्तोंसे बनी हुई वह शय्या देखकर श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मण और सीताके साथ उसपर बैठे ॥ १४ ॥

सभार्यं सम्प्रसुप्तं तु श्रान्तं सम्प्रेक्ष्य लक्ष्मणः।
कथयामास सूताय रामस्य विविधान् गुणान् ॥ १५ ॥

थोड़ी देरमें सीतासहित श्रीरामको थककर सोया हुआ देख लक्ष्मण सुमन्त्रसे उनके नाना प्रकारके गुणोंका वर्णन करने लगे ॥ १५ ॥

जाग्रतोरेव तां रात्रिं सौमित्रेरुदितो रविः।
सूतस्य तमसातीरे रामस्य ब्रुवतो गुणान् ॥ १६ ॥

सुमन्त्र और लक्ष्मण तमसाके किनारे श्रीरामके गुणोंकी चर्चा करते हुए रातभर जागते रहे। इतनेहीमें सूर्योदयका समय निकट आ पहुँचा ॥ १६ ॥

गोकुलाकुलतीरायास्तमसाया विदूरतः।
अवसत् तत्र तां रात्रिं रामः प्रकृतिभिः सह ॥ १७ ॥

तमसाका वह तट गौओंके समुदायसे भरा हुआ था। श्रीरामचन्द्रजीने प्रजाजनोंके साथ वहीं रात्रिमें निवास किया। वे प्रजाजनोंसे कुछ दूरपर सोये थे ॥ १७ ॥

उत्थाय च महातेजाः प्रकृतीस्ता निशाम्य च।
अब्रवीद् भ्रातरं रामो लक्ष्मणं पुण्यलक्षणम् ॥ १८ ॥

महातेजस्वी श्रीराम तड़के ही उठे और प्रजाजनोंको सोते देख पवित्र लक्षणोंवाले भाई लक्ष्मणसे इस प्रकार बोले— ॥

अस्मद्व्यपेक्षान् सौमित्रे निर्व्यपेक्षान् गृहेष्वपि।
वृक्षमूलेषु संसक्तान् पश्य लक्ष्मण साम्प्रतम् ॥ १९ ॥

'सुमित्राकुमार लक्ष्मण! इन पुरवासियोंकी ओर देखो, ये इस समय वृक्षोंकी जड़से सटकर सो रहे हैं। इन्हें केवल हमारी चाह है। ये अपने घरोंकी ओरसे भी पूर्ण निरपेक्ष हो गये हैं॥

यथैते नियमं पौराः कुर्वन्त्यस्मन्निवर्तने।
अपि प्राणान् न्यसिष्यन्ति न तु त्यक्ष्यन्ति निश्चयम्॥

'हमें लौटा ले चलनेके लिये ये जैसा उद्योग कर रहे हैं, इससे जान पड़ता है, ये अपना प्राण त्याग देंगे; किंतु अपना निश्चय नहीं छोड़ेंगे॥ २०॥

यावदेव तु संसुप्तास्तावदेव वयं लघु।
रथमारुह्य गच्छामः पन्थानमकुतोभयम्॥ २१॥

'अतः जबतक ये सो रहे हैं तभीतक हमलोग रथपर सवार होकर शीघ्रतापूर्वक यहाँसे चल दें। फिर हमें इस मार्गपर और किसीके आनेका भय नहीं रहेगा॥ २१॥

अतो भूयोऽपि नेदानीमिक्ष्वाकुपुरवासिनः।
स्वपेयुरनुरक्ता मा वृक्षमूलेषु संश्रिताः॥ २२॥

'अयोध्यावासी हमलोगोंके अनुरागी हैं। जब हम यहाँसे निकल चलेंगे, तब उन्हें फिर अब इस प्रकार वृक्षोंकी जड़ोंसे सटकर नहीं सोना पड़ेगा॥ २२॥

पौरा ह्यात्मकृताद् दुःखाद् विप्रमोच्या नृपात्मजैः।
न तु खल्वात्मना योज्या दुःखेन पुरवासिनः॥ २३॥

'राजकुमारोंका यह कर्तव्य है कि वे पुरवासियोंको अपने द्वारा होनेवाले दुःखसे मुक्त करें, न कि अपना दुःख देकर उन्हें और दुःखी बना दें'॥ २३॥

अब्रवील्लक्ष्मणो रामं साक्षाद् धर्ममिव स्थितम्।
रोचते मे तथा प्राज्ञ क्षिप्रमारुह्यतामिति॥ २४॥

यह सुनकर लक्ष्मणने साक्षात् धर्मके समान विराजमान भगवान् श्रीरामसे कहा—'परम बुद्धिमान् आर्य! मुझे आपकी राय पसंद है। शीघ्र ही रथपर सवार होइये'॥ २४॥

अथ रामोऽब्रवीत् सूतं शीघ्रं संयुज्यतां रथः।
गमिष्यामि ततोऽरण्यं गच्छ शीघ्रमितः प्रभो॥ २५॥

तब श्रीरामने सुमन्त्रसे कहा—'प्रभो! आप जाइये और शीघ्र ही रथ जोतकर तैयार कीजिये। फिर मैं जल्दी ही यहाँसे वनकी ओर चलूँगा'॥ २५॥

सूतस्ततः संत्वरितः स्यन्दनं तैर्हयोत्तमैः।
योजयित्वा तु रामस्य प्राञ्जलिः प्रत्यवेदयत्॥ २६॥

आज्ञा पाकर सुमन्त्रने उन उत्तम घोड़ोंको तुरंत ही रथमें जोत दिया और श्रीरामके पास हाथ जोड़कर निवेदन किया—॥ २६॥

अयं युक्तो महाबाहो रथस्ते रथिनां वर।
त्वरयाऽऽरोह भद्रं ते ससीतः सहलक्ष्मणः॥ २७॥

'महाबाहो! रथियोंमें श्रेष्ठ वीर! आपका कल्याण हो। आपका यह रथ जुता हुआ तैयार है। अब सीता और लक्ष्मणके साथ शीघ्र इसपर सवार होइये'॥ २७॥

तं स्यन्दनमधिष्ठाय राघवः सपरिच्छदः।
शीघ्रगामाकुलावर्तां तमसामतरन्नदीम्॥ २८॥

श्रीरामचन्द्रजी सबके साथ रथपर बैठकर तीव्र-गतिसे बहनेवाली भँवरोंसे भरी हुई तमसा नदीके उस पार गये॥

स संतीर्य महाबाहुः श्रीमाञ्शिवमकण्टकम्।
प्रापद्यत महामार्गमभयं भयदर्शिनाम्॥ २९॥

नदीको पार करके महाबाहु श्रीमान् राम ऐसे महान् मार्गपर जा पहुँचे जो कल्याणप्रद, कण्टकरहित तथा सर्वत्र भय देखनेवालोंके लिये भी भयसे रहित था॥ २९॥

मोहनार्थं तु पौराणां सूतं रामोऽब्रवीद् वचः।
उदङ्मुखः प्रयाहि त्वं रथमारुह्य सारथे॥ ३०॥
मुहूर्तं त्वरितं गत्वा निवर्तय रथं पुनः।
यथा न विद्युः पौरा मां तथा कुरु समाहितः॥ ३१॥

उस समय श्रीरामने पुरवासियोंको भुलावा देनेके लिये सुमन्त्रसे यह बात कही—'सारथे! (हमलोग तो यहीं उतर जाते हैं;) परंतु आप रथपर आरूढ़ होकर पहले उत्तर दिशाकी ओर जाइये। दो घड़ीतक तीव्र गतिसे उत्तर जाकर फिर दूसरे मार्गसे रथको यहीं लौटा लाइये। जिस तरह भी पुरवासियोंको मेरा पता न चले, वैसा एकाग्रतापूर्वक प्रयत्न कीजिये'॥ ३०-३१॥

रामस्य तु वचः श्रुत्वा तथा चक्रे च सारथिः।
प्रत्यागम्य च रामस्य स्यन्दनं प्रत्यवेदयत्॥ ३२॥

श्रीरामजीका यह वचन सुनकर सारथिने वैसा ही किया और लौटकर पुनः श्रीरामकी सेवामें रथ उपस्थित कर दिया॥

तौ सम्प्रयुक्तं तु रथं समास्थितौ
तदा ससीतौ रघुवंशवर्धनौ।
प्रचोदयामास ततस्तुरंगमान्
स सारथिर्येन पथा तपोवनम्॥ ३३॥

तत्पश्चात् सीतासहित श्रीराम और लक्ष्मण, जो रघुवंशकी वृद्धि करनेवाले थे, लौटाकर लाये गये उस रथपर चढ़े। तदनन्तर सारथिने घोड़ोंको उस मार्गपर बढ़ा दिया, जिससे तपोवनमें पहुँचा जा सकता था॥ ३३॥

ततः समास्थाय रथं महारथः
ससारथिर्दाशरथिर्वनं ययौ।
उदङ्मुखं तं तु रथं चकार
प्रयाणमाङ्गल्यनिमित्तदर्शनात्॥ ३४॥

तदनन्तर सारथिसहित महारथी श्रीरामने यात्राकालिक मङ्गलसूचक शकुन देखनेके लिये पहले तो उस रथको उत्तराभिमुख खड़ा किया; फिर वे उस रथपर आरूढ़ होकर वनकी ओर चल दिये॥ ३४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षट्चत्वारिंशः सर्गः॥ ४६॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें छियालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ४६॥

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

प्रातःकाल उठनेपर पुरवासियोंका विलाप करना और निराश होकर नगरको लौटना

प्रभातायां तु शर्वर्यां पौरास्ते राघवं विना।
शोकोपहतनिश्चेष्टा बभूवुर्हतचेतसः॥ १॥

इधर रात बीतनेपर जब सबेरा हुआ, तब अयोध्यावासी मनुष्य श्रीरघुनाथजीको न देखकर अचेत हो गये। शोकसे व्याकुल होनेके कारण उनसे कोई भी चेष्टा करते न बनी॥ १॥

शोकजाश्रुपरिद्यूना वीक्षमाणास्ततस्ततः।
आलोकमपि रामस्य न पश्यन्ति स्म दुःखिताः॥ २॥

वे शोकजनित आँसू बहाते हुए अत्यन्त खिन्न हो गये तथा इधर-उधर उनकी खोज करने लगे। परंतु उन दुःखी पुरवासियोंको श्रीराम किधर गये, इस बातका पता देनेवाला कोई चिह्नतक नहीं दिखायी दिया॥ २॥

ते विषादार्तवदना रहितास्तेन धीमता।
कृपणाः करुणा वाचो वदन्ति स्म मनीषिणः॥ ३॥

बुद्धिमान् श्रीरामसे विलग होकर वे अत्यन्त दीन हो गये। उनके मुखपर विषादजनित वेदना स्पष्ट दिखायी देती थी। वे मनीषी पुरवासी करुणाभरे वचन बोलते हुए विलाप करने लगे—॥ ३॥

धिगस्तु खलु निद्रां तां ययापहृतचेतसः।
नाद्य पश्यामहे रामं पृथूरस्कं महाभुजम्॥ ४॥

'हाय! हमारी उस निद्राको धिक्कार है, जिससे अचेत हो जानेके कारण हम उस समय विशाल वक्षवाले महाबाहु श्रीरामके दर्शनसे वञ्चित हो गये हैं॥ ४॥

कथं रामो महाबाहुः स तथावितथक्रियः।
भक्तं जनमभित्यज्य प्रवासं तापसो गतः॥ ५॥

'जिनकी कोई भी क्रिया कभी निष्फल नहीं होती, वे तापसवेषधारी महाबाहु श्रीराम हम भक्तजनोंको छोड़कर परदेश (वन) में कैसे चले गये?॥ ५॥

यो नः सदा पालयति पिता पुत्रानिवौरसान्।
कथं रघूणां स श्रेष्ठस्त्यक्त्वा नो विपिनं गतः॥ ६॥

'जैसे पिता अपने औरस पुत्रोंका पालन करता है, उसी प्रकार जो सदा हमारी रक्षा करते थे, वे ही रघुकुलश्रेष्ठ श्रीराम आज हमें छोड़कर वनको क्यों चले गये?॥ ६॥

इहैव निधनं याम महाप्रस्थानमेव वा।
रामेण रहितानां नो किमर्थं जीवितं हितम्॥ ७॥

'अब हमलोग यहीं प्राण दे दें या मरनेका निश्चय करके उत्तर दिशाकी ओर चल दें। श्रीरामसे रहित होकर हमारा जीवन-धारण किसलिये हितकर हो सकता है?॥ ७॥

सन्ति शुष्काणि काष्ठानि प्रभूतानि महान्ति च।
तैः प्रज्वाल्य चितां सर्वे प्रविशामोऽथवा वयम्॥ ८॥

'अथवा यहाँ बहुत-से बड़े-बड़े सूखे काठ पड़े हैं, उनसे चिता जलाकर हम सब लोग उसीमें प्रवेश कर जायँ॥ ८॥

किं वक्ष्यामो महाबाहुरनसूयः प्रियंवदः।
नीतः स राघवोऽस्माभिरिति वक्तुं कथं क्षमम्॥ ९॥

'(यदि हमसे कोई श्रीरामका वृत्तान्त पूछेगा तो हम उसे क्या उत्तर देंगे?) क्या हम यह कहेंगे कि जो किसीके दोष नहीं देखते और सबसे प्रिय वचन बोलते हैं, उन महाबाहु श्रीरघुनाथजीको हमने वनमें पहुँचा दिया है? हाय! यह अयोग्य बात हमारे मुँहसे कैसे निकल सकती है?॥ ९॥

सा नूनं नगरी दीना दृष्ट्वास्मान् राघवं विना।
भविष्यति निरानन्दा सस्त्रीबालवयोऽधिका॥ १०॥

'श्रीरामके बिना हमलोगोंको लौटा हुआ देखकर स्त्री, बालक और वृद्धोंसहित सारी अयोध्यानगरी निश्चय ही दीन और आनन्दहीन हो जायगी॥ १०॥

निर्यातास्तेन वीरेण सह नित्यं महात्मना।
विहीनास्तेन च पुनः कथं द्रक्ष्याम तां पुरीम्॥ ११॥

'हमलोग वीरवर महात्मा श्रीरामके साथ सर्वदा निवास करनेके लिये निकले थे। अब उनसे बिछुड़कर हम अयोध्यापुरीको कैसे देख सकेंगे'॥ ११॥

इतीव बहुधा वाचो बाहुमुद्यम्य ते जनाः।
विलपन्ति स्म दुःखार्ता हृतवत्सा इवाग्रगाः॥ १२॥

इस प्रकार अनेक तरहकी बातें कहते हुए वे समस्त पुरवासी अपनी भुजा उठाकर विलाप करने लगे। वे बछड़ोंसे बिछुड़ी हुई अग्रगामिनी गौओंकी भाँति दुःखसे व्याकुल हो रहे थे॥ १२॥

ततो मार्गानुसारेण गत्वा किंचित् ततः क्षणम्।
मार्गनाशाद् विषादेन महता समभिप्लुताः॥ १३॥

फिर रास्तेपर रथकी लीक देखते हुए सब-के-सब कुछ दूरतक गये; किंतु क्षणभरमें मार्गका चिह्न न मिलनेके कारण वे महान् शोकमें डूब गये॥ १३॥

रथमार्गानुसारेण न्यवर्तन्त मनस्विनः।
किमिदं किं करिष्यामो दैवेनोपहता इति॥ १४॥

उस समय यह कहते हुए कि 'यह क्या हुआ? अब हम क्या करें? दैवने हमें मार डाला' वे मनस्वी पुरुष रथकी लीकका अनुसरण करते हुए अयोध्याकी ओर लौट पड़े॥

तदा यथागतेनैव मार्गेण क्लान्तचेतसः।
अयोध्यामगमन् सर्वे पुरीं व्यथितसज्जनाम्॥ १५॥

उनका चित्त क्लान्त हो रहा था। वे सब जिस मार्गसे गये थे, उसीसे लौटकर अयोध्यापुरीमें जा पहुँचे, जहाँकि सभी सत्पुरुष श्रीरामके लिये व्यथित थे॥ १५॥

आलोक्य नगरीं तां च क्षयव्याकुलमानसाः।
आवर्तयन्त तेऽश्रूणि नयनैः शोकपीडितैः॥ १६॥

उस नगरीको देखकर उनका हृदय दुःखसे व्याकुल हो उठा। वे अपने शोकपीड़ित नेत्रोंद्वारा आँसुओंकी वर्षा करने लगे ॥ १६ ॥

एषा रामेण नगरी रहिता नातिशोभते।
आपगा गरुडेनेव ह्रदादुद्धृतपन्नगा ॥ १७ ॥

(वे बोले—) 'जिसके गहरे कुण्डसे वहाँका नाग गरुड़के द्वारा निकाल लिया गया हो, वह नदी जैसे शोभाहीन हो जाती है, उसी प्रकार श्रीरामसे रहित हुई यह अयोध्यानगरी अब अधिक शोभा नहीं पाती है' ॥ १७ ॥

चन्द्रहीनमिवाकाशं तोयहीनमिवार्णवम्।
अपश्यन् निहतानन्दं नगरं ते विचेतसः ॥ १८ ॥

उन्होंने देखा, सारा नगर चन्द्रहीन आकाश और जलहीन समुद्रके समान आनन्दशून्य हो गया है। पुरीकी यह दुरवस्था देख वे अचेत-से हो गये ॥ १८ ॥

ते तानि वेश्मानि महाधनानि
दुःखेन दुःखोपहता विशन्तः।
नैव प्रजग्मुः स्वजनं परं वा
निरीक्ष्यमाणाः प्रविनष्टहर्षाः ॥ १९ ॥

उनके हृदयका सारा उल्लास नष्ट हो चुका था। वे दुःखसे पीड़ित हो उन महान् वैभवसम्पन्न गृहोंमें बड़े क्लेशके साथ प्रविष्ट हो सबको देखते हुए भी अपने और परायेकी पहचान न कर सके ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

नगरनिवासिनी स्त्रियोंका विलाप करना

तेषामेवं विषण्णानां पीडितानामतीव च।
बाष्पविप्लुतनेत्राणां सशोकानां मुमूर्षया ॥ १ ॥
अभिगम्य निवृत्तानां रामं नगरवासिनाम्।
उद्गतानीव सत्त्वानि बभूवुरमनस्विनाम् ॥ २ ॥

इस प्रकार जो विषादग्रस्त, अत्यन्त पीड़ित, शोकमग्न तथा प्राण त्याग देनेकी इच्छासे युक्त हो नेत्रोंसे आँसू बहा रहे थे, श्रीरामचन्द्रजीके साथ जाकर भी जो उन्हें लिये बिना लौट आये थे और इसीलिये जिनका चित्त ठिकाने नहीं था, उन नगरवासियोंकी ऐसी दशा हो रही थी मानो उनके प्राण निकल गये हों ॥ १-२ ॥

स्वं स्वं निलयमागम्य पुत्रदारैः समावृताः।
अश्रूणि मुमुचुः सर्वे बाष्पेण पिहिताननाः ॥ ३ ॥

वे सब अपने-अपने घरमें आकर पत्नी और पुत्रोंसे घिरे हुए आँसू बहाने लगे। उनके मुख अश्रुधारासे आच्छादित थे ॥ ३ ॥

न चाहृष्यन् न चामोदन् वणिजो न प्रसारयन्।
न चाशोभन्त पण्यानि नापचन् गृहमेधिनः ॥ ४ ॥

उनके शरीरमें हर्षका कोई चिह्न नहीं दिखायी देता था तथा मनमें भी आनन्दका अभाव ही था। वैश्योंने अपनी दुकानें नहीं खोलीं। क्रय-विक्रयकी वस्तुएँ बाजारोंमें फैलायी जानेपर भी उनकी शोभा नहीं हुई (उन्हें लेनेके लिये ग्राहक नहीं आये)। उस दिन गृहस्थोंके घरमें चूल्हे नहीं जले—रसोई नहीं बनी ॥ ४ ॥

नष्टं दृष्ट्वा नाभ्यनन्दन् विपुलं वा धनागमम्।
पुत्रं प्रथमजं लब्ध्वा जननी नाभ्यनन्दत ॥ ५ ॥

खोयी हुई वस्तु मिल जानेपर भी किसीको प्रसन्नता नहीं हुई, विपुल धन-राशि प्राप्त हो जानेपर भी किसीने उसका अभिनन्दन नहीं किया। जिसने प्रथम बार पुत्रको जन्म दिया था, वह माता भी आनन्दित नहीं हुई ॥ ५ ॥

गृहे गृहे रुदत्यश्च भर्तारं गृहमागतम्।
व्यगर्हयन्त दुःखार्ता वाग्भिस्तोत्त्रैरिव द्विपान् ॥ ६ ॥

प्रत्येक घरकी स्त्रियाँ अपने पतियोंको श्रीरामके बिना ही लौटकर आये देख रो पड़ीं और दुःखसे आतुर हो कठोर वचनोंद्वारा उन्हें कोसने लगीं, मानो महावत अङ्कुशोंसे हाथियोंको मार रहे हों ॥ ६ ॥

किं नु तेषां गृहैः कार्यं किं दारैः किं धनेन वा।
पुत्रैर्वापि सुखैर्वापि ये न पश्यन्ति राघवम् ॥ ७ ॥

वे बोलीं—'जो लोग श्रीरामको नहीं देखते, उन्हें घर-द्वार, स्त्री-पुत्र, धन-दौलत और सुख-भोगोंसे क्या प्रयोजन है? ॥ ७ ॥

एकः सत्पुरुषो लोके लक्ष्मणः सह सीतया।
योऽनुगच्छति काकुत्स्थं रामं परिचरन् वने ॥ ८ ॥

'संसारमें एकमात्र लक्ष्मण ही सत्पुरुष हैं, जो सीताके साथ श्रीरामकी सेवा करनेके लिये उनके पीछे-पीछे वनमें जा रहे हैं ॥ ८ ॥

आपगाः कृतपुण्यास्ताः पद्मिन्यश्च सरांसि च।
येषु यास्यति काकुत्स्थो विगाह्य सलिलं शुचि ॥ ९ ॥

'उन नदियों, कमलमण्डित बावड़ियों तथा सरोवरोंने अवश्य ही बहुत पुण्य किया होगा, जिनके पवित्र जलमें स्नान करके श्रीरामचन्द्रजी आगे जायँगे ॥ ९ ॥

शोभयिष्यन्ति काकुत्स्थमटव्यो रम्यकाननाः।
आपगाश्च महानूपाः सानुमन्तश्च पर्वताः ॥ १० ॥

'जिनमें रमणीय वृक्षावलियाँ शोभा पाती हैं, वे सुन्दर वनश्रेणियाँ, बड़े कछारवाली नदियाँ और शिखरोंसे सम्पन्न पर्वत श्रीरामकी शोभा बढ़ायेंगे ॥ १० ॥

काननं वापि शैलं वा यं रामोऽनुगमिष्यति ।
प्रियातिथिमिव प्राप्तं नैनं शक्ष्यन्त्यनर्चितुम् ॥ ११ ॥

'श्रीराम जिस वन अथवा पर्वतपर जायँगे, वहाँ उन्हें अपने प्रिय अतिथिकी भाँति आया हुआ देख वे वन और पर्वत उनकी पूजा किये बिना नहीं रह सकेंगे ॥ ११ ॥

विचित्रकुसुमापीडा बहुमञ्जरिधारिणः ।
राघवं दर्शयिष्यन्ति नगा भ्रमरशालिनः ॥ १२ ॥

'विचित्र फूलोंके मुकुट पहने और बहुत-सी मञ्जरियाँ धारण किये भ्रमरोंसे सुशोभित वृक्ष वनमें श्रीरामचन्द्रजीको अपनी शोभा दिखायेंगे ॥ १२ ॥

अकाले चापि मुख्यानि पुष्पाणि च फलानि च ।
दर्शयिष्यन्त्यनुक्रोशाद् गिरयो राममागतम् ॥ १३ ॥

'वहाँके पर्वत अपने यहाँ पधारे हुए श्रीरामको अत्यन्त आदरके कारण असमयमें भी उत्तम-उत्तम फूल और फल दिखायेंगे (भेंट करेंगे) ॥ १३ ॥

प्रस्रविष्यन्ति तोयानि विमलानि महीधराः ।
विदर्शयन्तो विविधान् भूयश्चित्रांश्च निर्झरान् ॥ १४ ॥

'वे पर्वत बारंबार नाना प्रकारके विचित्र झरने दिखाते हुए श्रीरामके लिये निर्मल जलके स्रोत बहायेंगे ॥ १४ ॥

पादपाः पर्वताग्रेषु रमयिष्यन्ति राघवम् ।
यत्र रामो भयं नात्र नास्ति तत्र पराभवः ॥ १५ ॥
स हि शूरो महाबाहुः पुत्रो दशरथस्य च ।
पुरा भवति नोऽदूरादनुगच्छाम राघवम् ॥ १६ ॥

'पर्वत-शिखरोंपर लहलहाते हुए वृक्ष श्रीरघुनाथजीका मनोरंजन करेंगे। जहाँ श्रीराम हैं वहाँ न तो कोई भय है और न किसीके द्वारा पराभव ही हो सकता है; क्योंकि दशरथनन्दन महाबाहु श्रीराम बड़े शूरवीर हैं। अतः जबतक वे हमलोगोंसे बहुत दूर नहीं निकल जाते, इसके पहले ही हमें उनके पास पहुँचकर पीछे लग जाना चाहिये ॥ १५-१६ ॥

पादच्छाया सुखं भर्तुस्तादृशस्य महात्मनः ।
स हि नाथो जनस्यास्य स गतिः स परायणम् ॥ १७ ॥

'उनके-जैसे महात्मा एवं स्वामीके चरणोंकी छाया ही हमारे लिये परम सुखद है। वे ही हमारे रक्षक, गति और परम आश्रय हैं ॥ १७ ॥

वयं परिचरिष्यामः सीतां यूयं च राघवम् ।
इति पौरस्त्रियोभर्तॄन् दुःखार्तास्तत्तदब्रुवन् ॥ १८ ॥

'हम स्त्रियाँ सीताजीकी सेवा करेंगी और तुम सब लोग श्रीरघुनाथजीकी सेवामें लगे रहना।' इस प्रकार पुरवासियोंकी स्त्रियाँ दुःखसे आतुर हो अपने पतियोंसे उपर्युक्त बातें कहने लगीं ॥ १८ ॥

युष्माकं राघवोऽरण्ये योगक्षेमं विधास्यति ।
सीता नारीजनस्यास्य योगक्षेमं करिष्यति ॥ १९ ॥

(वे पुनः बोलीं—) 'वनमें श्रीरामचन्द्रजी आपलोगोंका योगक्षेम सिद्ध करेंगे और सीताजी हम नारियोंके योगक्षेमका निर्वाह करेंगी ॥ १९ ॥

को न्वनेनाप्रतीतेन सोत्कण्ठितजनेन च ।
सम्प्रीयेतामनोज्ञेन वासेन हतचेतसा ॥ २० ॥

'यहाँका निवास प्रीति और प्रतीतिसे रहित है। यहाँके सब लोग श्रीरामके लिये उत्कण्ठित रहते हैं। किसीको यहाँका रहना अच्छा नहीं लगता तथा यहाँ रहनेसे मन अपनी सुध-बुध खो बैठता है। भला, ऐसे निवाससे किसको प्रसन्नता होगी ? ॥ २० ॥

कैकेय्या यदि चेद् राज्यं स्यादधर्म्यमनाथवत् ।
न हि नो जीवितेनार्थः कुतः पुत्रैः कुतो धनैः ॥ २१ ॥

'यदि इस राज्यपर कैकेयीका अधिकार हो गया तो यह अनाथ-सा हो जायगा। इसमें धर्मकी मर्यादा नहीं रहने पायेगी। ऐसे राज्यमें तो हमें जीवित रहनेकी ही आवश्यकता नहीं जान पड़ती, फिर यहाँ धन और पुत्रोंसे क्या लेना है ? ॥ २१ ॥

यया पुत्रश्च भर्ता च त्यक्तावैश्वर्यकारणात् ।
कं सा परिहरेदन्यं कैकेयी कुलपांसनी ॥ २२ ॥

'जिसने राज्य-वैभवके लिये अपने पुत्र और पतिको त्याग दिया, वह कुलकलङ्किनी कैकेयी दूसरे किसका त्याग नहीं करेगी ? ॥ २२ ॥

कैकेय्या न वयं राज्ये भृतका हि वसेमहि ।
जीवन्त्या जातु जीवन्त्यः पुत्रैरपि शपामहे ॥ २३ ॥

'हम अपने पुत्रोंकी शपथ खाकर कहती हैं कि जबतक कैकेयी जीवित रहेगी, तबतक हम जीते-जी कभी उसके राज्यमें नहीं रह सकेंगी, भले ही यहाँ हमारा पालन-पोषण होता रहे (फिर भी हम यहाँ रहना नहीं चाहेंगी) ॥ २३ ॥

या पुत्रं पार्थिवेन्द्रस्य प्रवासयति निर्घृणा ।
कस्तां प्राप्य सुखं जीवेदधर्म्यां दुष्टचारिणीम् ॥ २४ ॥

'जिस निर्दय स्वभाववाली नारीने महाराजके पुत्रको राज्यसे बाहर निकलवा दिया है, उस अधर्मपरायणा दुराचारिणी कैकेयीके अधिकारमें रहकर कौन सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकता है ? ॥ २४ ॥

उपद्रुतमिदं सर्वमनालम्भमनायकम् ।
कैकेय्यास्तु कृते सर्वं विनाशमुपयास्यति ॥ २५ ॥

'कैकेयीके कारण यह सारा राज्य अनाथ एवं यज्ञरहित होकर उपद्रवका केन्द्र बन गया है, अतः एक दिन सबका विनाश हो जायगा ॥ २५ ॥

नहि प्रव्रजिते रामे जीविष्यति महीपतिः ।
मृते दशरथे व्यक्तं विलोपस्तदनन्तरम् ॥ २६ ॥

उस नगरीको देखकर उनका हृदय दुःखसे व्याकुल हो उठा। वे अपने शोकपीड़ित नेत्रोंद्वारा आँसुओंकी वर्षा करने लगे॥ १६॥

एषा रामेण नगरी रहिता नातिशोभते।
आपगा गरुडेनेव ह्रदादुद्धृतपन्नगा॥ १७॥

(वे बोले—)'जिसके गहरे कुण्डसे वहाँका नाग गरुड़के द्वारा निकाल लिया गया हो, वह नदी जैसे शोभाहीन हो जाती है, उसी प्रकार श्रीरामसे रहित हुई यह अयोध्यानगरी अब अधिक शोभा नहीं पाती है'॥ १७॥

चन्द्रहीनमिवाकाशं तोयहीनमिवार्णवम्।
अपश्यन् निहतानन्दं नगरं ते विचेतसः॥ १८॥

उन्होंने देखा, सारा नगर चन्द्रहीन आकाश और जलहीन समुद्रके समान आनन्दशून्य हो गया है। पुरीकी यह दुरवस्था देख वे अचेत-से हो गये॥ १८॥

ते तानि वेश्मानि महाधनानि
दुःखेन दुःखोपहता विशन्तः।
नैव प्रजग्मुः स्वजनं परं वा
निरीक्ष्यमाणाः प्रविनष्टहर्षाः॥ १९॥

उनके हृदयका सारा उल्लास नष्ट हो चुका था। वे दुःखसे पीड़ित हो उन महान् वैभवसम्पन्न गृहोंमें बड़े क्लेशके साथ प्रविष्ट हो सबको देखते हुए भी अपने और परायेकी पहचान न कर सके॥ १९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तचत्वारिंशः सर्गः॥ ४७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ४७॥

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

नगरनिवासिनी स्त्रियोंका विलाप करना

तेषामेवं विषण्णानां पीडितानामतीव च।
बाष्पविप्लुतनेत्राणां सशोकानां मुमूर्षया॥ १॥
अभिगम्य निवृत्तानां रामं नगरवासिनाम्।
उद्गतानीव सत्त्वानि बभूवुरमनस्विनाम्॥ २॥

इस प्रकार जो विषादग्रस्त, अत्यन्त पीड़ित, शोकमग्न तथा प्राण त्याग देनेकी इच्छासे युक्त हो नेत्रोंसे आँसू बहा रहे थे, श्रीरामचन्द्रजीके साथ जाकर भी जो उन्हें लिये बिना लौट आये थे और इसीलिये जिनका चित्त ठिकाने नहीं था, उन नगरवासियोंकी ऐसी दशा हो रही थी मानो उनके प्राण निकल गये हों॥ १-२॥

स्वं स्वं निलयमागम्य पुत्रदारैः समावृताः।
अश्रूणि मुमुचुः सर्वे बाष्पेण पिहिताननाः॥ ३॥

वे सब अपने-अपने घरमें आकर पत्नी और पुत्रोंसे घिरे हुए आँसू बहाने लगे। उनके मुख अश्रुधारासे आच्छादित थे॥ ३॥

न चाहृष्यन् न चामोदन् वणिजो न प्रसारयन्।
न चाशोभन्त पण्यानि नापचन् गृहमेधिनः॥ ४॥

उनके शरीरमें हर्षका कोई चिह्न नहीं दिखायी देता था तथा मनमें भी आनन्दका अभाव ही था। वैश्योंने अपनी दुकानें नहीं खोलीं। क्रय-विक्रयकी वस्तुएँ बाजारोंमें फैलायी जानेपर भी उनकी शोभा नहीं हुई (उन्हें लेनेके लिये ग्राहक नहीं आये)। उस दिन गृहस्थोंके घरमें चूल्हे नहीं जले—रसोई नहीं बनी॥ ४॥

नष्टं दृष्ट्वा नाभ्यनन्दन् विपुलं वा धनागमम्।
पुत्रं प्रथमजं लब्ध्वा जननी नाभ्यनन्दत॥ ५॥

खोयी हुई वस्तु मिल जानेपर भी किसीको प्रसन्नता नहीं हुई, विपुल धन-राशि प्राप्त हो जानेपर भी किसीने उसका अभिनन्दन नहीं किया। जिसने प्रथम बार पुत्रको जन्म दिया था, वह माता भी आनन्दित नहीं हुई॥ ५॥

गृहे गृहे रुदत्यश्च भर्तारं गृहमागतम्।
व्यगर्हयन्त दुःखार्ता वाग्भिस्तोत्रैरिव द्विपान्॥ ६॥

प्रत्येक घरकी स्त्रियाँ अपने पतियोंको श्रीरामके बिना ही लौटकर आये देख रो पड़ीं और दुःखसे आतुर हो कठोर वचनोंद्वारा उन्हें कोसने लगीं, मानो महावत अङ्कुशोंसे हाथियोंको मार रहे हों॥ ६॥

किं नु तेषां गृहैः कार्यं किं दारैः किं धनेन वा।
पुत्रैर्वापि सुखैर्वापि ये न पश्यन्ति राघवम्॥ ७॥

वे बोलीं—'जो लोग श्रीरामको नहीं देखते, उन्हें घर-द्वार, स्त्री-पुत्र, धन-दौलत और सुख-भोगोंसे क्या प्रयोजन है?॥ ७॥

एकः सत्पुरुषो लोके लक्ष्मणः सह सीतया।
योऽनुगच्छति काकुत्स्थं रामं परिचरन् वने॥ ८॥

'संसारमें एकमात्र लक्ष्मण ही सत्पुरुष हैं, जो सीताके साथ श्रीरामकी सेवा करनेके लिये उनके पीछे-पीछे वनमें जा रहे हैं॥ ८॥

आपगाः कृतपुण्यास्ताः पद्मिन्यश्च सरांसि च।
येषु यास्यति काकुत्स्थो विगाह्य सलिलं शुचि॥ ९॥

'उन नदियों, कमलमण्डित बावड़ियों तथा सरोवरोंने अवश्य ही बहुत पुण्य किया होगा, जिनके पवित्र जलमें स्नान करके श्रीरामचन्द्रजी आगे जायँगे॥ ९॥

शोभयिष्यन्ति काकुत्स्थमटव्यो रम्यकाननाः।
आपगाश्च महानूपाः सानुमन्तश्च पर्वताः॥ १०॥

'जिनमें रमणीय वृक्षावलियाँ शोभा पाती हैं, वे सुन्दर वनश्रेणियाँ, बड़े कछारवाली नदियाँ और शिखरोंसे सम्पन्न पर्वत श्रीरामकी शोभा बढ़ायेंगे ॥ १० ॥

काननं वापि शैलं वा यं रामोऽनुगमिष्यति ।
प्रियातिथिमिव प्राप्तं नैनं शक्ष्यन्त्यनर्चितुम् ॥ ११ ॥

'श्रीराम जिस वन अथवा पर्वतपर जायँगे, वहाँ उन्हें अपने प्रिय अतिथिकी भाँति आया हुआ देख वे वन और पर्वत उनकी पूजा किये बिना नहीं रह सकेंगे ॥ ११ ॥

विचित्रकुसुमापीडा बहुमञ्जरिधारिणः ।
राघवं दर्शयिष्यन्ति नगा भ्रमरशालिनः ॥ १२ ॥

'विचित्र फूलोंके मुकुट पहने और बहुत-सी मञ्जरियाँ धारण किये भ्रमरोंसे सुशोभित वृक्ष वनमें श्रीरामचन्द्रजीको अपनी शोभा दिखायेंगे ॥ १२ ॥

अकाले चापि मुख्यानि पुष्पाणि च फलानि च ।
दर्शयिष्यन्त्यनुक्रोशाद् गिरयो राममागतम् ॥ १३ ॥

'वहाँके पर्वत अपने यहाँ पधारे हुए श्रीरामको अत्यन्त आदरके कारण असमयमें भी उत्तम-उत्तम फूल और फल दिखायेंगे (भेंट करेंगे) ॥ १३ ॥

प्रस्रविष्यन्ति तोयानि विमलानि महीधराः ।
विदर्शयन्तो विविधान् भूयश्चित्रांश्च निर्झरान् ॥ १४ ॥

'वे पर्वत बारंबार नाना प्रकारके विचित्र झरने दिखाते हुए श्रीरामके लिये निर्मल जलके स्रोत बहायेंगे ॥ १४ ॥

पादपाः पर्वताग्रेषु रमयिष्यन्ति राघवम् ।
यत्र रामो भयं नात्र नास्ति तत्र पराभवः ॥ १५ ॥
स हि शूरो महाबाहुः पुत्रो दशरथस्य च ।
पुरा भवति नोऽदूरादनुगच्छाम राघवम् ॥ १६ ॥

'पर्वत-शिखरोंपर लहलहाते हुए वृक्ष श्रीरघुनाथजीका मनोरंजन करेंगे। जहाँ श्रीराम हैं वहाँ न तो कोई भय है और न किसीके द्वारा पराभव ही हो सकता है; क्योंकि दशरथनन्दन महाबाहु श्रीराम बड़े शूरवीर हैं। अतः जबतक वे हमलोगोंसे बहुत दूर नहीं निकल जाते, इसके पहले ही हमें उनके पास पहुँचकर पीछे लग जाना चाहिये ॥ १५-१६ ॥

पादच्छाया सुखं भर्तुस्तादृशस्य महात्मनः ।
स हि नाथो जनस्यास्य स गतिः स परायणम् ॥ १७ ॥

'उनके-जैसे महात्मा एवं स्वामीके चरणोंकी छाया ही हमारे लिये परम सुखद है। वे ही हमारे रक्षक, गति और परम आश्रय हैं ॥ १७ ॥

वयं परिचरिष्यामः सीतां यूयं च राघवम् ।
इति पौरस्त्रियोभर्तॄन् दुःखार्तास्तत्तदब्रुवन् ॥ १८ ॥

'हम स्त्रियाँ सीताजीकी सेवा करेंगी और तुम सब लोग श्रीरघुनाथजीकी सेवामें लगे रहना।' इस प्रकार पुरवासियोंकी स्त्रियाँ दुःखसे आतुर हो अपने पतियोंसे उपर्युक्त बातें कहने लगीं ॥ १८ ॥

युष्माकं राघवोऽरण्ये योगक्षेमं विधास्यति ।
सीता नारीजनस्यास्य योगक्षेमं करिष्यति ॥ १९ ॥

(वे पुनः बोलीं—) 'वनमें श्रीरामचन्द्रजी आपलोगोंका योगक्षेम सिद्ध करेंगे और सीताजी हम नारियोंके योगक्षेमका निर्वाह करेंगी ॥ १९ ॥

को न्वनेनाप्रतीतेन सोत्कण्ठितजनेन च ।
सम्प्रीयेतामनोज्ञेन वासेन हृतचेतसा ॥ २० ॥

'यहाँका निवास प्रीति और प्रतीतिसे रहित है। यहाँके सब लोग श्रीरामके लिये उत्कण्ठित रहते हैं। किसीको यहाँका रहना अच्छा नहीं लगता तथा यहाँ रहनेसे मन अपनी सुध-बुध खो बैठता है। भला, ऐसे निवाससे किसको प्रसन्नता होगी ? ॥ २० ॥

कैकेय्या यदि चेद् राज्यं स्यादधर्म्यमनाथवत् ।
न हि नो जीवितेनार्थः कुतः पुत्रैः कुतो धनैः ॥ २१ ॥

'यदि इस राज्यपर कैकेयीका अधिकार हो गया तो यह अनाथ-सा हो जायगा। इसमें धर्मकी मर्यादा नहीं रहने पायेगी। ऐसे राज्यमें तो हमें जीवित रहनेकी ही आवश्यकता नहीं जान पड़ती, फिर यहाँ धन और पुत्रोंसे क्या लेना है ? ॥ २१ ॥

यया पुत्रश्च भर्ता च त्यक्तावैश्वर्यकारणात् ।
कं सा परिहरेदन्यं कैकेयी कुलपांसनी ॥ २२ ॥

'जिसने राज्य-वैभवके लिये अपने पुत्र और पतिको त्याग दिया, वह कुलकलङ्किनी कैकेयी दूसरे किसका त्याग नहीं करेगी ? ॥ २२ ॥

कैकेय्या न वयं राज्ये भृतका हि वसेमहि ।
जीवन्त्या जातु जीवन्त्यः पुत्रैरपि शपामहे ॥ २३ ॥

'हम अपने पुत्रोंकी शपथ खाकर कहती हैं कि जबतक कैकेयी जीवित रहेगी, तबतक हम जीते-जी कभी उसके राज्यमें नहीं रह सकेंगी, भले ही यहाँ हमारा पालन-पोषण होता रहे (फिर भी हम यहाँ रहना नहीं चाहेंगी) ॥ २३ ॥

या पुत्रं पार्थिवेन्द्रस्य प्रवासयति निर्घृणा ।
कस्तां प्राप्य सुखं जीवेदधर्म्यां दुष्टचारिणीम् ॥ २४ ॥

'जिस निर्दय स्वभाववाली नारीने महाराजके पुत्रको राज्यसे बाहर निकलवा दिया है, उस अधर्मपरायणा दुराचारिणी कैकेयीके अधिकारमें रहकर कौन सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकता है ? ॥ २४ ॥

उपद्रुतमिदं सर्वमनालम्बमनायकम् ।
कैकेय्यास्तु कृते सर्वं विनाशमुपयास्यति ॥ २५ ॥

'कैकेयीके कारण यह सारा राज्य अनाथ एवं यज्ञरहित होकर उपद्रवका केन्द्र बन गया है, अतः एक दिन सबका विनाश हो जायगा ॥ २५ ॥

नहि प्रव्रजिते रामे जीविष्यति महीपतिः ।
मृते दशरथे व्यक्तं विलोपस्तदनन्तरम् ॥ २६ ॥

'श्रीरामचन्द्रजीके वनवासी हो जानेपर महाराज दशरथ जीवित नहीं रहेंगे। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि राजा दशरथकी मृत्युके पश्चात् इस राज्यका लोप हो जायगा॥ २६॥

ते विषं पिबतालोड्य क्षीणपुण्याः सुदुःखिताः।
राघवं वानुगच्छध्वमश्रुतिं वापि गच्छत॥ २७॥

'इसलिये अब तुमलोग यह समझ लो कि अब हमारे पुण्य समाप्त हो गये। यहाँ रहकर हमें अत्यन्त दुःख ही भोगना पड़ेगा। ऐसी दशामें या तो जहर घोलकर पी जाओ या श्रीरामका अनुसरण करो अथवा किसी ऐसे देशमें चले चलो, जहाँ कैकेयीका नाम भी न सुनायी पड़े॥ २७॥

मिथ्याप्रव्राजितो रामः सभार्यः सहलक्ष्मणः।
भरते संनिबद्धाः स्मः सौनिके पशवो यथा॥ २८॥

'झूठे वरकी कल्पना करके पत्नी और लक्ष्मणके साथ श्रीरामको देशनिकाला दे दिया गया और हमें भरतके साथ बाँध दिया गया। अब हमारी दशा कसाईके घर बँधे हुए पशुओंके समान हो गयी है॥ २८॥

पूर्णचन्द्राननः श्यामो गूढजत्रुररिंदमः।
आजानुबाहुः पद्माक्षो रामो लक्ष्मणपूर्वजः॥ २९॥
पूर्वाभिभाषी मधुरः सत्यवादी महाबलः।
सौम्यश्च सर्वलोकस्य चन्द्रवत् प्रियदर्शनः॥ ३०॥

'लक्ष्मणके ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामका मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर है। उनके शरीरकी कान्ति श्याम, गलेकी हँसली मांससे ढकी हुई, भुजाएँ घुटनोंतक लंबी और नेत्र कमलके समान सुन्दर हैं। वे सामने आनेपर पहले ही बातचीत छेड़ते हैं तथा मीठे और सत्य वचन बोलते हैं। श्रीराम शत्रुओंका दमन करनेवाले और महान् बलवान् हैं। समस्त जगत्‌के लिये सौम्य (कोमल स्वभाववाले) हैं। उनका दर्शन चन्द्रमाके समान प्यारा है॥ २९-३०॥

नूनं पुरुषशार्दूलो मत्तमातङ्गविक्रमः।
शोभयिष्यत्यरण्यानि विचरन् स महारथः॥ ३१॥

'निश्चय ही मतवाले गजराजके समान पराक्रमी पुरुषसिंह महारथी श्रीराम भूतलपर विचरते हुए वनस्थलियोंकी शोभा बढ़ायेंगे'॥ ३१॥

तास्तथा विलपन्त्यस्तु नगरे नागरस्त्रियः।
चुक्रुशुर्दुःखसंतप्ता मृत्योरिव भयागमे॥ ३२॥

नगरमें नागरिकोंकी स्त्रियाँ इस प्रकार विलाप करती हुई दुःखसे संतप्त हो इस तरह जोर-जोरसे रोने लगीं मानो उनपर मृत्युका भय आ गया हो॥ ३२॥

इत्येवं विलपन्तीनां स्त्रीणां वेश्मसु राघवम्।
जगामास्तं दिनकरो रजनी चाभ्यवर्तत॥ ३३॥

अपने-अपने घरोंमें श्रीरामके लिये स्त्रियाँ इस प्रकार दिनभर विलाप करती रहीं। धीरे-धीरे सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये और रात हो गयी॥ ३३॥

नष्टज्वलनसंतापा प्रशान्ताध्यायसत्कथा।
तिमिरेणानुलिप्तेव तदा सा नगरी बभौ॥ ३४॥

उस समय किसीके घरमें अग्निहोत्रके लिये भी आग नहीं जली। स्वाध्याय और कथावार्ता भी नहीं हुई। सारी अयोध्यापुरी अन्धकारसे पुती हुई-सी प्रतीत होती थी॥ ३४॥

उपशान्तवणिक्पण्या नष्टहर्षा निराश्रया।
अयोध्या नगरी चासीन्नष्टतारमिवाम्बरम्॥ ३५॥

बनियोंकी दुकानें बंद होनेके कारण वहाँ चहल-पहल नहीं थी, सारी पुरीकी हँसी-खुशी छिन गयी थी, श्रीरामरूपी आश्रयसे रहित अयोध्यानगरी जिसके तारे छिप गये हों, उस आकाशके समान श्रीहीन जान पड़ती थी॥ ३५॥

तदा स्त्रियो रामनिमित्तमातुरा
यथा सुते भ्रातरि वा विवासिते।
विलप्य दीना रुरुदुर्विचेतसः
सुतैर्हितासामधिकोऽपि सोऽभवत्॥ ३६॥

उस समय नगरवासिनी स्त्रियाँ श्रीरामके लिये इस तरह शोकातुर हो रही थीं, मानो उनके सगे बेटे या भाईको देशनिकाला दे दिया गया हो। वे अत्यन्त दीनभावसे विलाप करके रोने लगीं और रोते-रोते अचेत हो गयीं; क्योंकि श्रीराम उनके लिये पुत्रों (तथा भाइयों) से भी बढ़कर थे॥ ३६॥

प्रशान्तगीतोत्सवनृत्यवादना
विभ्रष्टहर्षा पिहितापणोदया।
तदा ह्ययोध्या नगरी बभूव सा
महार्णवः संक्षपितोदको यथा॥ ३७॥

वहाँ गाने, बजाने और नाचनेके उत्सव बंद हो गये, सबका उत्साह जाता रहा, बाजारकी दुकानें नहीं खुलीं, इन सब कारणोंसे उस समय अयोध्यानगरी जलहीन समुद्रके समान सूनसान लग रही थी॥ ३७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टचत्वारिंशः सर्गः॥ ४८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अड़तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ४८॥

★

एकोनपञ्चाशः सर्गः

ग्रामवासियोंकी बातें सुनते हुए श्रीरामका कोसल जनपदको लाँघते हुए आगे जाना और वेदश्रुति, गोमती एवं स्यन्दिका नदियोंको पार करके सुमन्त्रसे कुछ कहना

रामोऽपि रात्रिशेषेण तेनैव महदन्तरम्।
जगाम पुरुषव्याघ्रः पितुराज्ञामनुस्मरन्॥ १॥

उधर पुरुषसिंह श्रीराम भी पिताकी आज्ञाका बारंबार स्मरण करते हुए उस शेष रात्रिमें ही बहुत दूर निकल गये॥

तथैव गच्छतस्तस्य व्यपायाद् रजनी शिवा।
उपास्य तु शिवां संध्यां विषयानत्यगाहत॥ २॥

उसी तरह चलते-चलते उनकी वह कल्याणमयी रजनी भी व्यतीत हो गयी। सबेरा होनेपर मङ्गलमयी संध्योपासना करके वे विभिन्न जनपदोंको लाँघते हुए चल दिये॥ २॥

ग्रामान् विकृष्टसीमान्तान् पुष्पितानि वनानि च।
पश्यन्नतिययौ शीघ्रं शनैरिव हयोत्तमैः॥ ३॥

जिनकी सीमाके पासकी भूमि जोत दी गयी थी, उन ग्रामों तथा फूलोंसे सुशोभित वनोंको देखते हुए वे उन उत्तम घोड़ोंद्वारा शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़े जा रहे थे तथापि सुन्दर दृश्योंके देखनेमें तन्मय रहनेके कारण उन्हें उस रथकी गति धीमी-सी ही जान पड़ती थी॥ ३॥

शृण्वन् वाचो मनुष्याणां ग्रामसंवासवासिनाम्।
राजानं धिग् दशरथं कामस्य वशमास्थितम्॥ ४॥

मार्गमें जो बड़े और छोटे गाँव मिलते थे, उनमें निवास करनेवाले मनुष्योंकी निम्नाङ्कित बातें उनके कानोंमें पड़ रही थीं—'अहो! कामके वशमें पड़े हुए राजा दशरथको धिक्कार है!॥ ४॥

हा नृशंसाद्य कैकेयी पापा पापानुबन्धिनी।
तीक्ष्णा सम्भिन्नमर्यादा तीक्ष्णकर्मणि वर्तते॥ ५॥

'हाय! हाय! पापशीला, पापासक्त, क्रूर तथा धर्ममर्यादाका त्याग करनेवाली कैकेयीको तो दया छू भी नहीं गयी है, वह क्रूर अब निष्ठुर कर्ममें ही लगी रहती है॥ ५॥

या पुत्रमीदृशं राज्ञः प्रवासयति धार्मिकम्।
वनवासे महाप्राज्ञं सानुक्रोशं जितेन्द्रियम्॥ ६॥

'जिसने महाराजके ऐसे धर्मात्मा, महाज्ञानी, दयालु और जितेन्द्रिय पुत्रको वनवासके लिये घरसे निकलवा दिया है॥ ६॥

कथं नाम महाभागा सीता जनकनन्दिनी।
सदा सुखेष्वभिरता दुःखान्यनुभविष्यति॥ ७॥

'जनकनन्दिनी महाभागा सीता, जो सदा सुखोंमें ही रत रहती थीं, अब वनवासके दुःख कैसे भोग सकेंगी?॥ ७॥

अहो दशरथो राजा निःस्नेहः स्वसुतं प्रति।
प्रजानामनघं रामं परित्यक्तुमिहेच्छति॥ ८॥

'अहो! क्या राजा दशरथ अपने पुत्रके प्रति इतने स्नेहहीन हो गये, जो प्रजाओंके प्रति कोई अपराध न करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीका यहाँ परित्याग कर देना चाहते हैं'॥ ८॥

एता वाचो मनुष्याणां ग्रामसंवासवासिनाम्।
शृण्वन्नतिययौ वीरः कोसलान् कोसलेश्वरः॥ ९॥

छोटे-बड़े गाँवोंमें रहनेवाले मनुष्योंकी ये बातें सुनते हुए वीर कोसलपति श्रीराम कोसल जनपदकी सीमा लाँघकर आगे बढ़ गये॥ ९॥

ततो वेदश्रुतिं नाम शिववारिवहां नदीम्।
उत्तीर्याभिमुखः प्रायादगस्त्याध्युषितां दिशम्॥ १०॥

तदनन्तर शीतल एवं सुखद जल बहानेवाली वेदश्रुति नामक नदीको पार करके श्रीरामचन्द्रजी अगस्त्यसेवित दक्षिणदिशाकी ओर बढ़ गये॥ १०॥

गत्वा तु सुचिरं कालं ततः शीतवहां नदीम्।
गोमतीं गोयुतानूपामतरत् सागरङ्गमाम्॥ ११॥

दीर्घकालतक चलकर उन्होंने समुद्रगामिनी गोमती नदीको पार किया, जो शीतल जलका स्रोत बहाती थी। उसके कछारमें बहुत-सी गौएँ विचरती थीं॥ ११॥

गोमतीं चाप्यतिक्रम्य राघवः शीघ्रगैर्हयैः।
मयूरहंसाभिरुतां ततार स्यन्दिकां नदीम्॥ १२॥

शीघ्रगामी घोड़ोंद्वारा गोमती नदीको लाँघ करके श्रीरघुनाथजीने मोरों और हंसोंके कलरवोंसे व्याप्त स्यन्दिका नामक नदीको भी पार किया॥ १२॥

स महीं मनुना राज्ञा दत्तामिक्ष्वाकवे पुरा।
स्फीतां राष्ट्रवृतां रामो वैदेहीमन्वदर्शयत्॥ १३॥

वहाँ जाकर श्रीरामने धन-धान्यसे सम्पन्न और अनेक अवान्तर जनपदोंसे घिरी हुई भूमिका सीताको दर्शन कराया, जिसे पूर्वकालमें राजा मनुने इक्ष्वाकुको दिया था॥ १३॥

सूत इत्येव चाभाष्य सारथिं तमभीक्ष्णशः।
हंसमत्तस्वरः श्रीमानुवाच पुरुषोत्तमः॥ १४॥

फिर श्रीमान् पुरुषोत्तम श्रीरामने 'सूत!' कहकर सारथिको बारंबार सम्बोधित किया और मदमत्त हंसके समान मधुर स्वरमें इस प्रकार कहा—॥ १४॥

कदाहं पुनरागम्य सरय्वाः पुष्पिते वने।
मृगयां पर्यटिष्यामि मात्रा पित्रा च संगतः॥ १५॥

'सूत! मैं कब पुनः लौटकर माता-पितासे मिलूँगा और सरयूके पार्श्ववर्ती पुष्पित वनमें मृगयाके लिये भ्रमण करूँगा?॥ १५॥

नात्यर्थमभिकाङ्क्षामि मृगयां सरयूवने।
रतिर्ह्येषातुला लोके राजर्षिगणसम्मता॥ १६॥

'मैं सरयूके वनमें शिकार खेलनेकी बहुत अधिक अभिलाषा नहीं रखता। यह लोकमें एक प्रकारकी अनुपम क्रीड़ा है, जो राजर्षियोंके समुदायको अभिमत है॥ १६॥

राजर्षीणां हि लोकेऽस्मिन् रत्यर्थं मृगया वने।
काले कृतां तां मनुजैर्धन्विनामभिकाङ्क्षिताम्॥ १७॥

'इस लोकमें वनमें जाकर शिकार खेलना राजर्षियोंकी क्रीड़ाके लिये प्रचलित हुआ था। अतः मनुपुत्रोंद्वारा उस समय की गयी यह क्रीड़ा अन्य धनुर्धरोंको भी अभीष्ट हुई'॥ १७॥

स तमध्वानमैक्ष्वाकः सूतं मधुरया गिरा।
तं तमर्थमभिप्रेत्य ययौ वाक्यमुदीरयन्॥ १८॥

इक्ष्वाकुनन्दन श्रीरामचन्द्रजी विभिन्न विषयोंको लेकर सूतसे मधुर वाणीमें उपयुक्त बातें कहते हुए उस मार्गपर बढ़ते चले गये॥ १८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनपञ्चाशः सर्गः॥ ४९॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें उनचासवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ४९॥

पञ्चाशः सर्गः

श्रीरामका मार्गमें अयोध्यापुरीसे वनवासकी आज्ञा माँगना और शृङ्गवेरपुरमें गङ्गातटपर पहुँचकर रात्रिमें निवास करना, वहाँ निषादराज गुहद्वारा उनका सत्कार

विशालान् कोसलान् रम्यान् यात्वा लक्ष्मणपूर्वजः।
अयोध्यामुन्मुखो धीमान् प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत्॥

इस प्रकार विशाल और रमणीय कोसलदेशकी सीमाको पार करके लक्ष्मणके बड़े भाई बुद्धिमान् श्रीरामचन्द्रजीने अयोध्याकी ओर अपना मुख किया और हाथ जोड़कर कहा—॥ १॥

आपृच्छे त्वां पुरिश्रेष्ठे काकुत्स्थपरिपालिते।
दैवतानि च यानि त्वां पालयन्त्यावसन्ति च॥ २॥

'ककुत्स्थवंशी राजाओंसे परिपालित पुरीशिरोमणि अयोध्ये! मैं तुमसे तथा जो-जो देवता तुम्हारी रक्षा करते और तुम्हारे भीतर निवास करते हैं, उनसे भी वनमें जानेकी आज्ञा चाहता हूँ॥ २॥

निवृत्तवनवासस्त्वामनृणो जगतीपतेः।
पुनर्द्रक्ष्यामि मात्रा च पित्रा च सह संगतः॥ ३॥

'वनवासकी अवधि पूरी करके महाराजके ऋणसे उऋण हो मैं पुनः लौटकर तुम्हारा दर्शन करूँगा और अपने माता-पितासे भी मिलूँगा'॥ ३॥

ततो रुचिरताम्राक्षो भुजमुद्यम्य दक्षिणम्।
अश्रुपूर्णमुखो दीनोऽब्रवीज्जानपदं जनम्॥ ४॥

इसके बाद सुन्दर एवं अरुण नेत्रवाले श्रीरामने दाहिनी भुजा उठाकर नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए दुःखी होकर जनपदके लोगोंसे कहा—॥ ४॥

अनुक्रोशो दया चैव यथार्हं मयि वः कृतः।
चिरं दुःखस्य पापीयो गम्यतामर्थसिद्धये॥ ५॥

'आपने मुझपर बड़ी कृपा की और यथोचित दया दिखायी। मेरे लिये आपलोगोंने बहुत देरतक कष्ट सहन किया। इस तरह आपका देरतक दुःखमें पड़े रहना अच्छा नहीं है; इसलिये अब आपलोग अपना-अपना कार्य करनेके लिये जाइये'॥ ५॥

तेऽभिवाद्य महात्मानं कृत्वा चापि प्रदक्षिणम्।
विलपन्तो नरा घोरं व्यतिष्ठंश्च क्वचित् क्वचित्॥ ६॥

यह सुनकर उन मनुष्योंने महात्मा श्रीरामको प्रणाम करके उनकी परिक्रमा की और घोर विलाप करते हुए वे जहाँ-तहाँ खड़े हो गये॥ ६॥

तथा विलपतां तेषामतृप्तानां च राघवः।
अचक्षुर्विषयं प्रायाद् यथार्कः क्षणदामुखे॥ ७॥

उनकी आँखें अभी श्रीरामके दर्शनसे तृप्त नहीं हुई थीं और वे पूर्वोक्त रूपसे विलाप कर ही रहे थे, इतनेमें श्रीरघुनाथजी उनकी दृष्टिसे ओझल हो गये, जैसे सूर्य प्रदोषकालमें छिप जाते हैं॥ ७॥

ततो धान्यधनोपेतान् दानशीलजनाञ्छिवान्।
अकुतश्चिद्भयान् रम्यांश्चैत्ययूपसमावृतान्॥ ८॥
उद्यानाम्रवणोपेतान् सम्पन्नसलिलाशयान्।
तुष्टपुष्टजनाकीर्णान् गोकुलाकुलसेवितान्॥ ९॥
रक्षणीयान् नरेन्द्राणां ब्रह्मघोषाभिनादितान्।
रथेन पुरुषव्याघ्रः कोसलानत्यवर्तत॥ १०॥

इसके बाद पुरुषसिंह श्रीराम रथके द्वारा ही उस कोसल जनपदको लाँघ गये, जो धन-धान्यसे सम्पन्न और सुखदायक था। वहाँके सब लोग दानशील थे। उस जनपदमें कहींसे कोई भय नहीं था। वहाँके भूभाग रमणीय एवं चैत्य-वृक्षों तथा यज्ञसम्बन्धी यूपोंसे व्याप्त थे। बहुत-से उद्यान और आमोंके वन उस जनपदकी शोभा बढ़ाते थे। वहाँ जलसे भरे हुए बहुत-से जलाशय सुशोभित थे। सारा जनपद हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरा था; गौओंके समूहोंसे व्याप्त और सेवित था। वहाँके ग्रामोंकी बहुत-से नरेश रक्षा करते थे तथा वहाँ वेदमन्त्रोंकी ध्वनि गूँजती रहती थी॥ ८—१०॥

मध्येन मुदितं स्फीतं रम्योद्यानसमाकुलम्।
राज्यं भोज्यं नरेन्द्राणां ययौ धृतिमतां वरः॥ ११॥

कोसलदेशसे आगे बढ़नेपर धैर्यवानोंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी मध्यमार्गसे ऐसे राज्यमें होकर निकले, जो सुख-सुविधासे युक्त, धन-धान्यसे सम्पन्न, रमणीय उद्यानोंसे व्याप्त तथा सामन्त नरेशोंके उपभोगमें आनेवाला था॥ ११॥

तत्र त्रिपथगां दिव्यां शीततोयामशैवलाम्।
ददर्श राघवो गङ्गां रम्यामृषिनिषेविताम्॥ १२॥

उस राज्यमें श्रीरघुनाथजीने त्रिपथगामिनी दिव्य नदी गङ्गाका दर्शन किया, जो शीतल जलसे भरी हुई, सेवारोंसे रहित तथा रमणीय थीं। बहुत-से महर्षि उनका सेवन करते थे॥

आश्रमैरविदूरस्थैः श्रीमद्भिः समलंकृताम्।
कालेऽप्सरोभिर्हृष्टाभिः सेविताम्भोह्रदां शिवाम्॥ १३॥

उनके तटपर थोड़ी-थोड़ी दूरपर बहुत-से सुन्दर आश्रम बने थे, जो उन देवनदीकी शोभा बढ़ाते थे। समय-समयपर हर्षभरी अप्सराएँ भी उतरकर उनके जलकुण्डका सेवन करती हैं। वे गङ्गा सबका कल्याण करनेवाली हैं॥ १३॥

देवदानवगन्धर्वैः किंनरैरुपशोभिताम्।
नागगन्धर्वपत्नीभिः सेवितां सततं शिवाम्॥ १४॥

देवता, दानव, गन्धर्व और किन्नर उन शिवस्वरूपा भागीरथीकी शोभा बढ़ाते हैं। नागों और गन्धर्वोंकी पत्नियाँ उनके जलका सदा सेवन करती हैं॥ १४॥

देवाक्रीडशताकीर्णां देवोद्यानयुतां नदीम्।
देवार्थमाकाशगतां विख्यातां देवपद्मिनीम्॥ १५॥

गङ्गाके दोनों तटोंपर देवताओंके सैकड़ों पर्वतीय क्रीडास्थल हैं। उनके किनारे देवताओंके बहुत-से उद्यान भी हैं। वे देवताओंकी क्रीडाके लिये आकाशमें भी विद्यमान हैं और वहाँ देवपद्मिनीके रूपमें विख्यात हैं॥ १५॥

जलाघाताट्टहासोग्रां फेननिर्मलहासिनीम्।
क्वचिद् वेणीकृतजलां क्वचिदावर्तशोभिताम्॥ १६॥

प्रस्तरखण्डोंसे गङ्गाके जलके टकरानेसे जो शब्द होता है, वही मानो उनका उग्र अट्टहास है। जलसे जो फेन प्रकट होता है, वही उन दिव्य नदीका निर्मल हास है। कहीं तो उनका जल वेणीके आकारका है और कहीं वे भँवरोंसे सुशोभित होती हैं॥ १६॥

क्वचित् स्तिमितगम्भीरां क्वचिद् वेगसमाकुलाम्।
क्वचिद् गम्भीरनिर्घोषां क्वचिद् भैरवनिःस्वनाम्॥ १७॥

कहीं उनका जल निश्चल एवं गहरा है। कहीं वे महान् वेगसे व्याप्त हैं। कहीं उनके जलसे मृदङ्ग आदिके समान गम्भीर घोष प्रकट होता है और कहीं वज्रपात आदिके समान भयंकर नाद सुनायी पड़ता है॥ १७॥

देवसंघाप्लुतजलां निर्मलोत्पलसंकुलाम्।
क्वचिदाभोगपुलिनां क्वचिन्निर्मलवालुकाम्॥ १८॥

उनके जलमें देवताओंके समुदाय गोते लगाते हैं। कहीं-कहीं उनका जल नील कमलों अथवा कुमुदोंसे आच्छादित होता है। कहीं विशाल पुलिनका दर्शन होता है तो कहीं निर्मल बालुका-राशिका॥ १८॥

हंससारससंघुष्टां चक्रवाकोपशोभिताम्।
सदामत्तैश्च विहगैरभिपन्नामनिन्दिताम्॥ १९॥

हंसों और सारसोंके कलरव वहाँ गूँजते रहते हैं, चकवे उन देवनदीकी शोभा बढ़ाते हैं। सदा मदमत्त रहनेवाले विहंगम उनके जलपर मँडराते रहते हैं। वे उत्तम शोभासे सम्पन्न हैं॥ १९॥

क्वचित् तीररुहैर्वृक्षैर्मालाभिरिव शोभिताम्।
क्वचित् फुल्लोत्पलच्छन्नां क्वचित् पद्मवनाकुलाम्॥ २०॥

कहीं तटवर्ती वृक्ष मालाकार होकर उनकी शोभा बढ़ाते हैं। कहीं तो उनका जल खिले हुए उत्पलोंसे आच्छादित है और कहीं कमलवनोंसे व्याप्त॥ २०॥

क्वचित् कुमुदखण्डैश्च कुड्मलैरुपशोभिताम्।
नानापुष्परजोध्वस्तां समदामिव च क्वचित्॥ २१॥

कहीं कुमुदसमूह तथा कहीं कलिकाएँ उन्हें सुशोभित करती हैं। कहीं नाना प्रकारके पुष्पोंके परागोंसे व्याप्त होकर वे मदमत्त नारीके समान प्रतीत होती हैं॥ २१॥

व्यपेतमलसंघातां मणिनिर्मलदर्शनाम्।
दिशागजैर्वनगजैर्मत्तैश्च वरवारणैः॥ २२॥
देवराजोपवाह्यैश्च संनादितवनान्तराम्।

वे मलसमूह (पापराशि) दूर कर देती हैं। उनका जल इतना स्वच्छ है कि मणिके समान निर्मल दिखायी देता है। उनके तटवर्ती वनका भीतरी भाग मदमत्त दिग्गजों, जंगली हाथियों तथा देवराजकी सवारीमें आनेवाले श्रेष्ठ गजराजोंसे कोलाहलपूर्ण बना रहता है॥ २२½॥

प्रमदामिव यत्नेन भूषितां भूषणोत्तमैः॥ २३॥
फलपुष्पैः किसलयैर्वृतां गुल्मैर्द्विजैस्तथा।
विष्णुपादच्युतां दिव्यामपापां पापनाशिनीम्॥ २४॥

वे फलों, फूलों, पल्लवों, गुल्मों तथा पक्षियोंसे आवृत होकर उत्तम आभूषणोंसे यत्नपूर्वक विभूषित हुई युवतीके समान शोभा पाती हैं। उनका प्राकट्य भगवान् विष्णुके चरणोंसे हुआ है। उनमें पापका लेश भी नहीं है। वे दिव्य नदी गङ्गा जीवोंके समस्त पापोंका नाश कर देनेवाली हैं॥

शिंशुमारैश्च नक्रैश्च भुजंगैश्च समन्विताम्।
शंकरस्य जटाजूटाद् भ्रष्टां सागरतेजसा॥ २५॥
समुद्रमहिषीं गङ्गां सारसक्रौञ्चनादिताम्।
आससाद महाबाहुः शृङ्गवेरपुरं प्रति॥ २६॥

उनके जलमें सूँस, घड़ियाल और सर्प निवास करते हैं। सगरवंशी राजा भगीरथके तपोमय तेजसे जिनका शंकरजीके जटाजूटसे अवतरण हुआ था, जो समुद्रकी रानी हैं तथा

जिनके निकट सारस और क्रौञ्च पक्षी कलरव करते रहते हैं, उन्हीं देवनदी गङ्गाके पास महाबाहु श्रीरामजी पहुँचे। गङ्गाकी वह धारा शृङ्गवेरपुरमें बह रही थी॥ २५-२६॥

तामूर्मिकलिलावर्तामन्ववेक्ष्य महारथः।
सुमन्त्रमब्रवीत् सूतमिहैवाद्य वसामहे॥ २७॥

जिनके आवर्त (भँवरें) लहरोंसे व्याप्त थे, उन गङ्गाजीका दर्शन करके महारथी श्रीरामने सारथि सुमन्त्रसे कहा—'सूत! आज हमलोग यहीं रहेंगे'॥ २७॥

अविदूरादयं नद्या बहुपुष्पप्रवालवान्।
सुमहानिङ्गुदीवृक्षो वसामोऽत्रैव सारथे॥ २८॥

'सारथे! गङ्गाजीके समीप ही जो यह बहुत-से फूलों और नये-नये पल्लवोंसे सुशोभित महान् इङ्गुदीका वृक्ष है, इसीके नीचे आज रातमें हम निवास करेंगे'॥ २८॥

प्रेक्षामि सरितां श्रेष्ठां सम्मान्यसलिलां शिवाम्।
देवमानवगन्धर्वमृगपन्नगपक्षिणाम्॥ २९॥

'जिनका जल देवताओं, मनुष्यों, गन्धर्वों, सर्पों, पशुओं तथा पक्षियोंके लिये भी समादरणीय है, उन कल्याणस्वरूपा, सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गाजीका भी मुझे यहाँसे दर्शन होता रहेगा'॥ २९॥

लक्ष्मणश्च सुमन्त्रश्च बाढमित्येव राघवम्।
उक्त्वा तमिङ्गुदीवृक्षं तदोपययतुर्हयैः॥ ३०॥

तब लक्ष्मण और सुमन्त्र भी श्रीरामचन्द्रजीसे बहुत अच्छा कहकर अश्वोंद्वारा उस इङ्गुदी वृक्षके समीप गये॥

रामोऽभियाय तं रम्यं वृक्षमिक्ष्वाकुनन्दनः।
रथादवतरत् तस्मात् सभार्यः सहलक्ष्मणः॥ ३१॥

उस रमणीय वृक्षके पास पहुँचकर इक्ष्वाकुनन्दन श्रीराम अपनी पत्नी सीता और भाई लक्ष्मणके साथ रथसे उतर गये॥ ३१॥

सुमन्त्रोऽप्यवतीर्याथ मोचयित्वा हयोत्तमान्।
वृक्षमूलगतं राममुपतस्थे कृताञ्जलिः॥ ३२॥

फिर सुमन्त्रने भी उतरकर उत्तम घोड़ोंको खोल दिया और वृक्षकी जड़पर बैठे हुए श्रीरामचन्द्रजीके पास जाकर वे हाथ जोड़कर खड़े हो गये॥ ३२॥

तत्र राजा गुहो नाम रामस्यात्मसमः सखा।
निषादजात्यो बलवान् स्थपतिश्चेति विश्रुतः॥ ३३॥

शृङ्गवेरपुरमें गुहनामका राजा राज्य करता था। वह श्रीरामचन्द्रजीका प्राणोंके समान प्रिय मित्र था। उसका जन्म निषादकुलमें हुआ था। वह शारीरिक शक्ति और सैनिक शक्तिकी दृष्टिसे भी बलवान् था तथा वहाँके निषादोंका सुविख्यात राजा था॥ ३३॥

स श्रुत्वा पुरुषव्याघ्रं रामं विषयमागतम्।
वृद्धैः परिवृतोऽमात्यैर्ज्ञातिभिश्चाप्युपागतः॥ ३४॥

उसने जब सुना कि पुरुषसिंह श्रीराम मेरे राज्यमें पधारे हैं, तब वह बूढ़े मन्त्रियों और बन्धु-बान्धवोंसे घिरा हुआ वहाँ आया॥ ३४॥

ततो निषादाधिपतिं दृष्ट्वा दूरादुपस्थितम्।
सह सौमित्रिणा रामः समागच्छद् गुहेन सः॥ ३५॥

निषादराजको दूरसे आया हुआ देख श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणके साथ आगे बढ़कर उससे मिले॥ ३५॥

तमार्तः सम्परिष्वज्य गुहो राघवमब्रवीत्।
यथायोध्या तथेदं ते राम किं करवाणि ते॥ ३६॥
ईदृशं हि महाबाहो कः प्राप्स्यत्यतिथिं प्रियम्।

श्रीरामचन्द्रजीको वल्कल आदि धारण किये देख गुहको बड़ा दुःख हुआ। उसने श्रीरघुनाथजीको हृदयसे लगाकर कहा—'श्रीराम! आपके लिये जैसे अयोध्याका राज्य है, उसी प्रकार यह राज्य भी है। बताइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ? महाबाहो! आप-जैसा प्रिय अतिथि किसको सुलभ होगा?'॥ ३६½॥

ततो गुणवदन्नाद्यमुपादाय पृथग्विधम्॥ ३७॥
अर्घ्यं चोपानयच्छीघ्रं वाक्यं चेदमुवाच ह।
स्वागतं ते महाबाहो तवेयमखिला मही॥ ३८॥
वयं प्रेष्या भवान् भर्ता साधु राज्यं प्रशाधि नः।
भक्ष्यं भोज्यं च पेयं च लेह्यं चैतदुपस्थितम्।
शयनानि च मुख्यानि वाजिनां खादनं च ते॥ ३९॥

फिर भाँति-भाँतिका उत्तम अन्न लेकर वह सेवामें उपस्थित हुआ। उसने शीघ्र ही अर्घ्य निवेदन किया और इस प्रकार कहा—'महाबाहो! आपका स्वागत है। यह सारी भूमि, जो मेरे अधिकारमें है, आपकी ही है। हम आपके सेवक हैं और आप हमारे स्वामी, आजसे आप ही हमारे इस राज्यका भलीभाँति शासन करें। यह भक्ष्य (अन्न आदि), भोज्य (खीर आदि), पेय (पानकरस आदि) तथा लेह्य (चटनी आदि) आपकी सेवामें उपस्थित है, इसे स्वीकार करें। ये उत्तमोत्तम शय्याएँ हैं तथा आपके घोड़ोंके खानेके लिये चने और घास आदि भी प्रस्तुत हैं—ये सब सामग्री ग्रहण करें'॥ ३७—३९॥

गुहमेवं ब्रुवाणं तु राघवः प्रत्युवाच ह।
अर्चिताश्चैव हृष्टाश्च भवता सर्वदा वयम्॥ ४०॥
पद्भ्यामभिगमाच्चैव स्नेहसंदर्शनेन च।

गुहके ऐसा कहनेपर श्रीरामचन्द्रजीने उसे इस प्रकार उत्तर दिया—'सखे! तुम्हारे यहाँतक पैदल आने और स्नेह दिखानेसे ही हमारा सदाके लिये भलीभाँति पूजन—स्वागत-सत्कार हो गया। तुमसे मिलकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई है'॥ ४०½॥

भुजाभ्यां साधुवृत्ताभ्यां पीडयन् वाक्यमब्रवीत्॥ ४१॥
दिष्ट्या त्वां गुह पश्यामि ह्यरोगं सह बान्धवैः।
अपि ते कुशलं राष्ट्रे मित्रेषु च वनेषु च॥ ४२॥

फिर श्रीरामने अपनी दोनों गोल-गोल भुजाओंसे गुहका अच्छी तरह आलिङ्गन करते हुए कहा—'गुह! सौभाग्यकी बात है कि मैं आज तुम्हें बन्धु-बान्धवोंके साथ स्वस्थ एवं सानन्द देख रहा हूँ। बताओ, तुम्हारे राज्यमें, मित्रोंके यहाँ तथा वनोंमें सर्वत्र कुशल तो है? ॥ ४१-४२ ॥

यत् त्विदं भवता किंचित् प्रीत्या समुपकल्पितम्।
सर्वं तदनुजानामि नहि वर्ते प्रतिग्रहे ॥ ४३ ॥

'तुमने प्रेमवश यह जो कुछ सामग्री प्रस्तुत की है, इसे स्वीकार करके मैं तुम्हें वापिस ले जानेकी आज्ञा देता हूँ; क्योंकि इस समय दूसरोंकी दी हुई कोई भी वस्तु मैं ग्रहण नहीं करता—अपने उपयोगमें नहीं लाता ॥ ४३ ॥

कुशचीराजिनधरं फलमूलाशनं च माम्।
विद्धि प्रणिहितं धर्मे तापसं वनगोचरम् ॥ ४४ ॥

'वल्कल और मृगचर्म धारण करके फल-मूलका आहार करता हूँ और धर्ममें स्थित रहकर तापसवेशमें वनके भीतर ही विचरता हूँ। इन दिनों तुम मुझे इसी नियममें स्थित जानो ॥ ४४ ॥

अश्वानां खादनेनाहमर्थी नान्येन केनचित्।
एतावतात्र भवता भविष्यामि सुपूजितः ॥ ४५ ॥

'इन सामग्रियोंमें जो घोड़ोंके खाने-पीनेकी वस्तु है, उसीकी इस समय मुझे आवश्यकता है, दूसरी किसी वस्तुकी नहीं। घोड़ोंको खिला-पिला देनेमात्रसे तुम्हारे द्वारा मेरा पूर्ण सत्कार हो जायगा ॥ ४५ ॥

एते हि दयिता राज्ञः पितुर्दशरथस्य मे।
एतैः सुविहितैरश्वैर्भविष्याम्यहमर्चितः ॥ ४६ ॥

'ये घोड़े मेरे पिता महाराज दशरथको बहुत प्रिय हैं। इनके खाने-पीनेका सुन्दर प्रबन्ध कर देनेसे मेरा भलीभाँति पूजन हो जायगा' ॥ ४६ ॥

अश्वानां प्रतिपानं च खादनं चैव सोऽन्वशात्।
गुहस्तत्रैव पुरुषांस्त्वरितं दीयतामिति ॥ ४७ ॥

तब गुहने अपने सेवकोंको उसी समय यह आज्ञा दी कि तुम घोड़ोंके खाने-पीनेके लिये आवश्यक वस्तुएँ शीघ्र लाकर दो ॥

ततश्चीरोत्तरासङ्गः संध्यामन्वास्य पश्चिमाम्।
जलमेवाददे भोज्यं लक्ष्मणेनाहृतं स्वयम् ॥ ४८ ॥

तत्पश्चात् वल्कलका उत्तरीय-वस्त्र धारण करनेवाले श्रीरामने सायंकालकी संध्योपासना करके भोजनके नामपर स्वयं लक्ष्मणका लाया हुआ केवल जलमात्र पी लिया ॥

तस्य भूमौ शयानस्य पादौ प्रक्षाल्य लक्ष्मणः।
सभार्यस्य ततोऽभ्येत्य तस्थौ वृक्षमुपाश्रितः ॥ ४९ ॥

फिर पत्नीसहित श्रीराम भूमिपर ही तृणकी शय्या बिछाकर सोये। उस समय लक्ष्मण उनके दोनों चरणोंको धो-पोंछकर वहाँसे कुछ दूरपर हट आये और एक वृक्षका सहारा लेकर बैठ गये ॥ ४९ ॥

गुहोऽपि सह सूतेन सौमित्रिमनुभाषयन्।
अन्वजाग्रत् ततो राममप्रमत्तो धनुर्धरः ॥ ५० ॥

गुह भी सावधानीके साथ धनुष धारण करके सुमन्त्रके साथ बैठकर सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे बातचीत करता हुआ श्रीरामकी रक्षाके लिये रातभर जागता रहा ॥ ५० ॥

तथा शयानस्य ततो यशस्विनो
मनस्विनो दाशरथेर्महात्मनः।
अदृष्टदुःखस्य सुखोचितस्य सा
तदा व्यतीता सुचिरेण शर्वरी ॥ ५१ ॥

इस प्रकार सोये हुए यशस्वी मनस्वी दशरथनन्दन महात्मा श्रीरामकी, जिन्होंने कभी दुःख नहीं देखा था तथा जो सुख भोगनेके ही योग्य थे, वह रात उस समय (नींद न आनेके कारण) बहुत देरके बाद व्यतीत हुई ॥ ५१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चाशः सर्गः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशः सर्गः

निषादराज गुहके समक्ष लक्ष्मणका विलाप

तं जाग्रतमदम्भेन भ्रातुरर्थाय लक्ष्मणम्।
गुहः संतापसंतप्तो राघवं वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

लक्ष्मणको अपने भाईके लिये स्वाभाविक अनुरागसे जागते देख निषादराज गुहको बड़ा संताप हुआ। उसने रघुकुलनन्दन लक्ष्मणसे कहा— ॥ १ ॥

इयं तात सुखा शय्या त्वदर्थमुपकल्पिता।
प्रत्याश्वसिहि साध्वस्यां राजपुत्र यथासुखम् ॥ २ ॥

'तात! राजकुमार! तुम्हारे लिये यह आराम देनेवाली शय्या तैयार है, इसपर सुखपूर्वक सोकर भलीभाँति विश्राम कर लो ॥ २ ॥

उचितोऽयं जनः सर्वः क्लेशानां त्वं सुखोचितः।
गुप्त्यर्थं जागरिष्यामः काकुत्स्थस्य वयं निशाम् ॥ ३ ॥

'यह (मैं) सेवक तथा इसके साथके सब लोग वनवासी होनेके कारण सब प्रकारके क्लेश सहन करनेके योग्य हैं (क्योंकि हम सबको कष्ट सहनेका अभ्यास है), परंतु तुम सुखमें ही पले हो, अतः उसीके योग्य हो (इसलिये सो जाओ)। हम सब लोग श्रीरामचन्द्रजीकी रक्षाके लिये रातभर जागते रहेंगे ॥ ३ ॥

नहि रामात् प्रियतमो ममास्ते भुवि कश्चन।
ब्रवीम्येव च ते सत्यं सत्येनैव च ते शपे॥ ४॥

'मैं सत्यकी ही शपथ खाकर तुमसे सत्य कहता हूँ कि इस भूतलपर मुझे श्रीरामसे बढ़कर प्रिय दूसरा कोई नहीं है॥ ४॥

अस्य प्रसादादाशंसे लोकेऽस्मिन् सुमहद् यशः।
धर्मावाप्तिं च विपुलामर्थकामौ च पुष्कलौ॥ ५॥

'इन श्रीरघुनाथजीके प्रसादसे ही मैं इस लोकमें महान् यश, विपुल धर्म-लाभ तथा प्रचुर अर्थ एवं भोग्य वस्तु पानेकी आशा करता हूँ॥ ५॥

सोऽहं प्रियसखं रामं शयानं सह सीतया।
रक्षिष्यामि धनुष्पाणिः सर्वथा ज्ञातिभिः सह॥ ६॥

'अतः मैं अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ हाथमें धनुष लेकर सीतासहित सोये हुए प्रिय-सखा श्रीरामकी सब प्रकारसे रक्षा करूँगा॥ ६॥

न मेऽस्त्यविदितं किंचिद् वनेऽस्मिंश्चरतः सदा।
चतुरङ्गं ह्यतिबलं सुमहत् संतरेमहि॥ ७॥

'इस वनमें सदा विचरते रहनेके कारण मुझसे यहाँकी कोई बात छिपी नहीं है। हमलोग यहाँ शत्रुकी अत्यन्त शक्तिशालिनी विशाल चतुरङ्गिणी सेनाको भी अनायास ही जीत लेंगे'॥ ७॥

लक्ष्मणस्तु तदोवाच रक्ष्यमाणास्त्वयानघ।
नात्र भीता वयं सर्वे धर्ममेवानुपश्यता॥ ८॥
कथं दाशरथौ भूमौ शयाने सह सीतया।
शक्या निद्रा मया लब्धुं जीवितं वा सुखानि वा॥ ९॥

यह सुनकर लक्ष्मणने कहा—'निष्पाप निषादराज! तुम धर्मपर ही दृष्टि रखते हुए हमारी रक्षा करते हो, इसलिये इस स्थानपर हम सब लोगोंके लिये कोई भय नहीं है। फिर भी जब महाराज दशरथके ज्येष्ठ पुत्र सीताके साथ भूमिपर शयन कर रहे हैं, तब मेरे लिये उत्तम शय्यापर सोकर नींद लेना, जीवन-धारणके लिये स्वादिष्ट अन्न खाना अथवा दूसरे-दूसरे सुखोंको भोगना कैसे सम्भव हो सकता है?॥ ८-९॥

यो न देवासुरैः सर्वैः शक्यः प्रसहितुं युधि।
तं पश्य सुखसंसुप्तं तृणेषु सह सीतया॥ १०॥

'देखो! सम्पूर्ण देवता और असुर मिलकर भी युद्धमें जिनके वेगको नहीं सह सकते, वे ही श्रीराम इस समय सीताके साथ तिनकोंके ऊपर सुखसे सो रहे हैं॥ १०॥

यो मन्त्रतपसा लब्धो विविधैश्च पराक्रमैः।
एको दशरथस्यैष पुत्रः सदृशलक्षणः॥ ११॥
अस्मिन् प्रव्रजिते राजा न चिरं वर्तयिष्यति।
विधवा मेदिनी नूनं क्षिप्रमेव भविष्यति॥ १२॥

'गायत्री आदि मन्त्रोंके जप, कृच्छ्रचान्द्रायण आदि तप तथा नाना प्रकारके पराक्रम (यज्ञानुष्ठान आदि प्रयत्न) करनेसे जो महाराज दशरथको अपने समान उत्तम लक्षणोंसे युक्त ज्येष्ठ पुत्रके रूपमें प्राप्त हुए हैं, उन्हीं इन श्रीरामके वनमें आ जानेसे अब राजा दशरथ अधिक कालतक जीवन धारण नहीं कर सकेंगे। जान पड़ता है, निश्चय ही यह पृथ्वी अब शीघ्र विधवा हो जायगी॥ ११-१२॥

विनद्य सुमहानादं श्रमेणोपरताः स्त्रियः।
निर्घोषोपरतं तात मन्ये राजनिवेशनम्॥ १३॥

तात! रनिवासकी स्त्रियाँ बड़े जोरसे आर्तनाद करके अधिक श्रमके कारण अब चुप हो गयी होंगी। मैं समझता हूँ, राजभवनका हाहाकार और चीत्कार अब शान्त हो गया होगा॥ १३॥

कौसल्या चैव राजा च तथैव जननी मम।
नाशंसे यदि जीवन्ति सर्वे ते शर्वरीमिमाम्॥ १४॥

'महारानी कौसल्या, राजा दशरथ तथा मेरी माता सुमित्रा—ये सब लोग आजकी राततक जीवित रहेंगे या नहीं, यह मैं नहीं कह सकता॥ १४॥

जीवेदपि हि मे माता शत्रुघ्नस्यान्ववेक्षया।
तद् दुःखं यदि कौसल्या वीरसूर्विनशिष्यति॥ १५॥

'शत्रुघ्नकी बाट देखनेके कारण सम्भव है मेरी माता जीवित रह जाय, परंतु यदि वीरजननी कौसल्या श्रीरामके विरहमें नष्ट हो जायँगी तो यह हमलोगोंके लिये बड़े दुःखकी बात होगी॥ १५॥

अनुरक्तजनाकीर्णा सुखालोकप्रियावहा।
राजव्यसनसंसृष्टा सा पुरी विनशिष्यति॥ १६॥

'जिसमें श्रीरामके अनुरागी मनुष्य भरे हुए हैं तथा जो सदा सुखका दर्शनरूप प्रिय वस्तुकी प्राप्ति करानेवाली रही है, वह अयोध्यापुरी राजा दशरथके निधनजनित दुःखसे युक्त होकर नष्ट हो जायगी॥ १६॥

कथं पुत्रं महात्मानं ज्येष्ठपुत्रमपश्यतः।
शरीरं धारयिष्यन्ति प्राणा राज्ञो महात्मनः॥ १७॥

'अपने ज्येष्ठ पुत्र महात्मा श्रीरामको न देखनेपर महामना राजा दशरथके प्राण उनके शरीरमें कैसे टिके रह सकेंगे॥

विनष्टे नृपतौ पश्चात् कौसल्या विनशिष्यति।
अनन्तरं च मातापि मम नाशमुपैष्यति॥ १८॥

'महाराजके नष्ट होनेपर देवी कौसल्या भी नष्ट हो जायँगी। तदनन्तर मेरी माता सुमित्रा भी नष्ट हुए बिना नहीं रहेंगी॥

अतिक्रान्तमतिक्रान्तमनवाप्य मनोरथम्।
राज्ये राममनिक्षिप्य पिता मे विनशिष्यति॥ १९॥

'(महाराजकी इच्छा थी कि श्रीरामको राज्यपर अभिषिक्त करूँ) अपने उस मनोरथको न पाकर श्रीरामको राज्यपर स्थापित किये बिना ही 'हाय! मेरा सब कुछ नष्ट हो गया, नष्ट हो गया' ऐसा कहते हुए मेरे पिताजी अपने प्राणोंका परित्याग कर देंगे॥ १९॥

सिद्धार्थाः पितरं वृत्तं तस्मिन् काले ह्युपस्थिते।
प्रेतकार्येषु सर्वेषु संस्करिष्यन्ति राघवम्॥ २०॥

'उनकी उस मृत्युका समय उपस्थित होनेपर जो लोग रहेंगे और मेरे मरे हुए पिता रघुकुलशिरोमणि दशरथका सभी प्रेतकार्योंमें संस्कार करेंगे, वे ही सफलमनोरथ और भाग्यशाली हैं॥ २०॥

रम्यचत्वरसंस्थानां संविभक्तमहापथाम्।
हर्म्यप्रासादसम्पन्नां गणिकावरशोभिताम्॥ २१॥
रथाश्वगजसम्बाधां तूर्यनादनिनादिताम्।
सर्वकल्याणसम्पूर्णां हृष्टपुष्टजनाकुलाम्॥ २२॥
आरामोद्यानसम्पन्नां समाजोत्सवशालिनीम्।
सुखिता विचरिष्यन्ति राजधानीं पितुर्मम॥ २३॥

'(यदि पिताजी जीवित रहे तो) रमणीय चबूतरों और चौराहोंके सुन्दर स्थानोंसे युक्त, पृथक्-पृथक् बने हुए विशाल राजमार्गोंसे अलंकृत, धनिकोंकी अट्टालिकाओं और देवमन्दिरों एवं राजभवनोंसे सम्पन्न, श्रेष्ठ वाराङ्गनाओंसे सुशोभित, रथों, घोड़ों और हाथियोंके आवागमनसे भरी हुई, विविध वाद्योंकी ध्वनियोंसे निनादित, समस्त कल्याणकारी वस्तुओंसे भरपूर, हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे सेवित, पुष्पवाटिकाओं और उद्यानोंसे विभूषित तथा सामाजिक उत्सवोंसे सुशोभित हुई मेरे पिताकी राजधानी अयोध्यापुरीमें जो लोग विचरेंगे, वास्तवमें वे ही सुखी हैं॥ २१—२३॥

अपि जीवेद् दशरथो वनवासात् पुनर्वयम्।
प्रत्यागम्य महात्मानमपि पश्याम सुव्रतम्॥ २४॥

'क्या मेरे पिता महाराज दशरथ हमलोगोंके लौटनेतक जीवित रहेंगे? क्या वनवाससे लौटकर उन उत्तम व्रतधारी महात्माका हम फिर दर्शन कर सकेंगे?॥ २४॥

अपि सत्यप्रतिज्ञेन सार्धं कुशलिना वयम्।
निवृत्ते वनवासेऽस्मिन्नयोध्यां प्रविशेमहि॥ २५॥

'क्या वनवासकी इस अवधिके समाप्त होनेपर हमलोग सत्यप्रतिज्ञ श्रीरामके साथ कुशलपूर्वक अयोध्यापुरीमें प्रवेश कर सकेंगे?'॥ २५॥

परिदेवयमानस्य दुःखार्तस्य महात्मनः।
तिष्ठतो राजपुत्रस्य शर्वरी सात्यवर्तत॥ २६॥

इस प्रकार दुःखसे आर्त होकर विलाप करते हुए महामना राजकुमार लक्ष्मणको वह सारी रात जागते ही बीती॥ २६॥

तथा हि सत्यं ब्रुवति प्रजाहिते
नरेन्द्रसूनौ गुरुसौहृदाद् गुहः।
मुमोच वाष्पं व्यसनाभिपीडितो
ज्वरातुरो नाग इव व्यथातुरः॥ २७॥

प्रजाके हितमें संलग्न रहनेवाले राजकुमार लक्ष्मण जब बड़े भाईके प्रति सौहार्दवश उपर्युक्तरूपसे यथार्थ बात कह रहे थे, उस समय उसे सुनकर निषादराज गुह दुःखसे पीड़ित हो उठा और व्यथासे व्याकुल हो ज्वरसे आतुर हुए हाथीकी भाँति आँसू बहाने लगा॥ २७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकपञ्चाशः सर्गः॥ ५१॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें इक्यावनवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ५१॥

द्विपञ्चाशः सर्गः

श्रीरामकी आज्ञासे गुहका नाव मँगाना, श्रीरामका सुमन्त्रको समझा-बुझाकर अयोध्यापुरी लौट जानेके लिये आज्ञा देना और माता-पिता आदिसे कहनेके लिये संदेश सुनाना, सुमन्त्रके वनमें ही चलनेके लिये आग्रह करनेपर श्रीरामका उन्हें युक्तिपूर्वक समझाकर लौटनेके लिये विवश करना, फिर तीनोंका नावपर बैठना, सीताकी गङ्गाजीसे प्रार्थना, नावसे पार उतरकर श्रीराम आदिका वत्सदेशमें पहुँचना और सायंकालमें एक वृक्षके नीचे रहनेके लिये जाना

प्रभातायां तु शर्वर्यां पृथुवक्षा महायशाः।
उवाच रामः सौमित्रिं लक्ष्मणं शुभलक्षणम्॥ १॥

जब रात बीती और प्रभात हुआ, उस समय विशाल वक्षवाले महायशस्वी श्रीरामने शुभलक्षणसम्पन्न सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे इस प्रकार कहा—॥ १॥

भास्करोदयकालोऽसौ गता भगवती निशा।
असौ सुकृष्णो विहगः कोकिलस्तात कूजति॥ २॥

'तात! भगवती रात्रि व्यतीत हो गयी। अब सूर्योदयका समय आ पहुँचा है। वह अत्यन्त काले रंगका पक्षी कोकिल कुहू-कुहू बोल रहा है॥ २॥

बर्हिणानां च निर्घोषः श्रूयते नदतां वने।
तराम जाह्नवीं सौम्य शीघ्रगां सागरङ्गमाम्॥ ३॥

'वनमें अव्यक्त शब्द करनेवाले मयूरोंकी केका वाणी भी सुनायी देती है; अतः सौम्य! अब हमें तीव्र गतिसे बहनेवाली समुद्रगामिनी गङ्गाजीके पार उतरना चाहिये'॥

विज्ञाय रामस्य वचः सौमित्रिर्मित्रनन्दनः।
गुहमामन्त्र्य सूतं च सोऽतिष्ठद् भ्रातुरग्रतः॥ ४॥

मित्रोंको आनन्दित करनेवाले सुमित्राकुमार लक्ष्मणने

श्रीरामचन्द्रजीके कथनका अभिप्राय समझकर गुह और सुमन्त्रको बुलाकर पार उतरनेकी व्यवस्था करनेके लिये कहा और स्वयं वे भाईके सामने आकर खड़े हो गये ॥ ४ ॥

स तु रामस्य वचनं निशम्य प्रतिगृह्य च ।
स्थपतिस्तूर्णमाहूय सचिवानिदमब्रवीत् ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका वचन सुनकर उनका आदेश शिरोधार्य करके निषादराजने तुरंत अपने सचिवोंको बुलाया और इस प्रकार कहा— ॥ ५ ॥

अस्ववाहनसंयुक्तां कर्णग्राहवतीं शुभाम् ।
सुप्रतारां दृढां तीर्थे शीघ्रं नावमुपाहर ॥ ६ ॥

'तुम घाटपर शीघ्र ही एक ऐसी नाव ले आओ, जो मजबूत होनेके साथ ही सुगमतापूर्वक खेनेयोग्य हो, उसमें डाँड़ लगा हुआ हो, कर्णधार बैठा हो तथा वह नाव देखनेमें सुन्दर हो' ॥ ६ ॥

तं निशम्य गुहादेशं गुहामात्यो गतो महान् ।
उपोह्य रुचिरां नावं गुहाय प्रत्यवेदयत् ॥ ७ ॥

निषादराज गुहका वह आदेश सुनकर उसका महान् मन्त्री गया और एक सुन्दर नाव घाटपर पहुँचाकर उसने गुहको इसकी सूचना दी ॥ ७ ॥

ततः स प्राञ्जलिर्भूत्वा गुहो राघवमब्रवीत् ।
उपस्थितेयं नौर्देव भूयः किं करवाणि ते ॥ ८ ॥

तब गुहने हाथ जोड़कर श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—'देव ! यह नौका उपस्थित है; बताइये, इस समय आपकी और क्या सेवा करूँ ? ॥ ८ ॥

तवामरसुतप्रख्य तर्तुं सागरगामिनीम् ।
नौरियं पुरुषव्याघ्र शीघ्रमारोह सुव्रत ॥ ९ ॥

'देवकुमारके समान तेजस्वी तथा उत्तम व्रतका पालन करनेवाले पुरुषसिंह श्रीराम ! समुद्रगामिनी गङ्गानदीको पार करनेके लिये आपकी सेवामें यह नाव आ गयी है, अब आप शीघ्र इसपर आरूढ़ होइये' ॥ ९ ॥

अथोवाच महातेजा रामो गुहमिदं वचः ।
कृतकामोऽस्मि भवता शीघ्रमारोप्यतामिति ॥ १० ॥

तब महातेजस्वी श्रीराम गुहसे इस प्रकार बोले—'सखे ! तुमने मेरा सारा मनोरथ पूर्ण कर दिया, अब शीघ्र ही सब सामान नावपर चढ़ाओ' ॥ १० ॥

ततः कलापान् संनह्य खड्गौ बध्वा च धन्विनौ ।
जग्मतुर्येन तां गङ्गां सीतया सह राघवौ ॥ ११ ॥

यह कहकर श्रीराम और लक्ष्मणने कवच धारण करके तरकस एवं तलवार बाँधी तथा धनुष लेकर वे दोनों भाई जिस मार्गसे सब लोग घाटपर जाया करते थे, उसीसे सीताके साथ गङ्गाजीके तटपर गये ॥ ११ ॥

राममेवं तु धर्मज्ञमुपागत्य विनीतवत् ।
किमहं करवाणीति सूतः प्राञ्जलिरब्रवीत् ॥ १२ ॥

उस समय धर्मके ज्ञाता भगवान् श्रीरामके पास जाकर सारथि सुमन्त्रने विनीतभावसे हाथ जोड़कर पूछा—'प्रभो ! अब मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?' ॥ १२ ॥

ततोऽब्रवीद् दाशरथिः सुमन्त्रं
स्पृशन् करेणोत्तमदक्षिणेन ।
सुमन्त्र शीघ्रं पुनरेव याहि
राज्ञः सकाशे भव चाप्रमत्तः ॥ १३ ॥

तब दशरथनन्दन श्रीरामने सुमन्त्रको उत्तम दाहिने हाथसे स्पर्श करते हुए कहा—'सुमन्त्रजी ! अब आप शीघ्र ही पुनः महाराजके पास लौट जाइये और वहाँ सावधान होकर रहिये' ॥ १३ ॥

निवर्तस्वेत्युवाचैनमेतावद्धि कृतं मम ।
रथं विहाय पद्भ्यां तु गमिष्यामो महावनम् ॥ १४ ॥

उन्होंने फिर कहा—'इतनी दूरतक महाराजकी आज्ञासे मैंने रथद्वारा यात्रा की है, अब हमलोग रथ छोड़कर पैदल ही महान् वनकी यात्रा करेंगे; अतः आप लौट जाइये' ॥

आत्मानं त्वभ्यनुज्ञातमवेक्ष्यार्तः स सारथिः ।
सुमन्त्रः पुरुषव्याघ्रमैक्ष्वाकमिदमब्रवीत् ॥ १५ ॥

अपनेको घर लौटनेकी आज्ञा प्राप्त हुई देख सारथि सुमन्त्र शोकसे व्याकुल हो उठे और इक्ष्वाकुनन्दन पुरुषसिंह श्रीरामसे इस प्रकार बोले— ॥ १५ ॥

नातिक्रान्तमिदं लोके पुरुषेणेह केनचित् ।
तव सभ्रातृभार्यस्य वासः प्राकृतवद् वने ॥ १६ ॥

'रघुनन्दन ! जिसकी प्रेरणासे आपको भाई और पत्नीके साथ साधारण मनुष्योंकी भाँति वनमें रहनेको विवश होना पड़ा है, उस दैवका इस संसारमें किसी भी पुरुषने उल्लङ्घन नहीं किया ॥ १६ ॥

न मन्ये ब्रह्मचर्ये वा स्वधीते वा फलोदयः ।
मार्दवार्जवयोर्वापि त्वां चेद् व्यसनमागतम् ॥ १७ ॥

'जब आप-जैसे महान् पुरुषपर यह संकट आ गया, तब मैं समझता हूँ कि ब्रह्मचर्य-पालन, वेदोंके स्वाध्याय, दयालुता अथवा सरलतामें भी किसी फलकी सिद्धि नहीं है ॥ १७ ॥

सह राघव वैदेह्या भ्रात्रा चैव वने वसन् ।
त्वं गतिं प्राप्स्यसे वीर त्रींल्लोकांस्तु जयन्निव ॥ १८ ॥

'वीर रघुनन्दन ! (इस प्रकार पिताके सत्यकी रक्षाके लिये) विदेहनन्दिनी सीता और भाई लक्ष्मणके साथ वनमें निवास करते हुए आप तीनों लोकोंपर विजय प्राप्त करनेवाले महापुरुष नारायणकी भाँति उत्कर्ष (महान् यश) प्राप्त करेंगे ॥

वयं खलु हता राम ये त्वया ह्युपवञ्चिताः ।
कैकेय्या वशमेष्यामः पापाया दुःखभागिनः ॥ १९ ॥

'श्रीराम ! निश्चय ही हमलोग हर तरहसे मारे गये; क्योंकि आपने हम पुरवासियोंको अपने साथ न ले जाकर अपने दर्शनजनित सुखसे वञ्चित कर दिया। अब हम पापिनी

कैकेयीके वशमें पड़ेंगे और दुःख भोगते रहेंगे' ॥ १९ ॥

इति ब्रुवन्नात्मसमं सुमन्त्रः सारथिस्तदा ।
दृष्ट्वा दूरगतं रामं दुःखार्तो रुरुदे चिरम् ॥ २० ॥

आत्माके समान प्रिय श्रीरामचन्द्रजीसे ऐसी बात कहकर उन्हें दूर जानेको उद्यत देख सारथि सुमन्त्र दुःखसे व्याकुल होकर देरतक रोते रहे ॥ २० ॥

ततस्तु विगते बाष्पे सूतं स्पृष्टोदकं शुचिम् ।
रामस्तु मधुरं वाक्यं पुनः पुनरुवाच तम् ॥ २१ ॥

आँसुओंका प्रवाह रुकनेपर आचमन करके पवित्र हुए सारथिसे श्रीरामचन्द्रजीने बारंबार मधुर वाणीमें कहा— ॥

इक्ष्वाकूणां त्वया तुल्यं सुहृदं नोपलक्षये ।
यथा दशरथो राजा मां न शोचेत् तथा कुरु ॥ २२ ॥

'सुमन्त्रजी ! मेरी दृष्टिमें इक्ष्वाकुवंशियोंका हित करनेवाला सुहृद् आपके समान दूसरा कोई नहीं है। आप ऐसा प्रयत्न करें, जिससे महाराज दशरथको मेरे लिये शोक न हो ॥ २२ ॥

शोकोपहतचेताश्च वृद्धश्च जगतीपतिः ।
कामभारावसन्नश्च तस्मादेतद् ब्रवीमि ते ॥ २३ ॥

'पृथिवीपति महाराज दशरथ एक तो बूढ़े हैं, दूसरे उनका सारा मनोरथ चूर-चूर हो गया है; इसलिये उनका हृदय शोकसे पीड़ित है। यही कारण है कि मैं आपको उनकी सँभालके लिये कहता हूँ ॥ २३ ॥

यद् यथा ज्ञापयेत् किंचित् स महात्मा महीपतिः ।
कैकेय्याः प्रियकामार्थं कार्यं तदविकाङ्क्षया ॥ २४ ॥

'वे महामनस्वी महाराज कैकेयीका प्रिय करनेकी इच्छासे आपको जो कुछ जैसी भी आज्ञा दें, उसका आप आदरपूर्वक पालन करें—यही मेरा अनुरोध है ॥ २४ ॥

एतदर्थं हि राज्यानि प्रशासति नराधिपाः ।
यदेषां सर्वकृत्येषु मनो न प्रतिहन्यते ॥ २५ ॥

'राजालोग इसीलिये राज्यका पालन करते हैं कि किसी भी कार्यमें इनके मनकी इच्छा-पूर्तिमें विघ्न न डाला जाय ॥

यद् यथा स महाराजो नालीकमधिगच्छति ।
न च ताम्यति शोकेन सुमन्त्र कुरु तत् तथा ॥ २६ ॥

'सुमन्त्रजी ! जिस किसी भी कार्यमें जिस किसी तरह भी महाराजको अप्रिय बातसे खिन्न होनेका अवसर न आवे तथा वे शोकसे दुबले न हों, वह आपको उसी प्रकार करना चाहिये ॥ २६ ॥

अदृष्टदुःखं राजानं वृद्धमार्यं जितेन्द्रियम् ।
ब्रूयास्त्वमभिवाद्यैव मम हेतोरिदं वचः ॥ २७ ॥

'जिन्होंने कभी दुःख नहीं देखा है, उन आर्य, जितेन्द्रिय और वृद्ध महाराजको मेरी ओरसे प्रणाम करके यह बात कहियेगा ॥

न चाहमनुशोचामि लक्ष्मणो न च शोचति ।
अयोध्यायाश्च्युताश्चेति वने वत्स्यामहेति वा ॥ २८ ॥

'हमलोग अयोध्यासे निकल गये अथवा हमें वनमें रहना पड़ेगा, इस बातको लेकर न तो मैं कभी शोक करता हूँ और न लक्ष्मणको ही इसका शोक है ॥ २८ ॥

चतुर्दशसु वर्षेषु निवृत्तेषु पुनः पुनः ।
लक्ष्मणं मां च सीतां च द्रक्ष्यसे शीघ्रमागतान् ॥ २९ ॥

'चौदह वर्ष समाप्त होनेपर हम पुनः शीघ्र ही लौट आयेंगे और उस समय आप मुझे, लक्ष्मणको और सीताको भी फिर देखेंगे ॥ २९ ॥

एवमुक्त्वा तु राजानं मातरं च सुमन्त्र मे ।
अन्याश्च देवीः सहिताः कैकेयीं च पुनः पुनः ॥ ३० ॥

'सुमन्त्रजी ! महाराजसे ऐसा कहकर आप मेरी मातासे, उनके साथ बैठी हुई अन्य देवियों (माताओं) से तथा कैकेयीसे भी बारंबार मेरा कुशल-समाचार कहियेगा ॥

आरोग्यं ब्रूहि कौसल्यामथ पादाभिवन्दनम् ।
सीताया मम चार्यस्य वचनाल्लक्ष्मणस्य च ॥ ३१ ॥

'माता कौसल्यासे कहियेगा कि तुम्हारा पुत्र स्वस्थ एवं प्रसन्न है। इसके बाद सीताकी ओरसे, मुझ ज्येष्ठ पुत्रकी ओरसे तथा लक्ष्मणकी ओरसे भी माताकी चरणवन्दना कह दीजियेगा ॥ ३१ ॥

ब्रूयाश्चापि महाराजं भरतं क्षिप्रमानय ।
आगतश्चापि भरतः स्थाप्यो नृपमते पदे ॥ ३२ ॥

'तदनन्तर मेरी ओरसे महाराजसे भी यह निवेदन कीजियेगा कि आप भरतको शीघ्र ही बुलवा लें और जब वे आ जायँ, तब आपने अभीष्ट युवराजपदपर उनका अभिषेक कर दें ॥ ३२ ॥

भरतं च परिष्वज्य यौवराज्येऽभिषिच्य च ।
अस्मत्संतापजं दुःखं न त्वामभिभविष्यति ॥ ३३ ॥

'भरतको छातीसे लगाकर और युवराजके पदपर अभिषिक्त करके आपको हमलोगोंके वियोगसे होनेवाला दुःख दबा नहीं सकेगा ॥ ३३ ॥

भरतश्चापि वक्तव्यो यथा राजनि वर्तसे ।
तथा मातृषु वर्तेथाः सर्वास्वेवाविशेषतः ॥ ३४ ॥

'भरतसे भी हमारा यह संदेश कह दीजियेगा कि महाराजके प्रति जैसा तुम्हारा बर्ताव है, वैसा ही समानरूपसे सभी माताओंके प्रति होना चाहिये ॥ ३४ ॥

यथा च तव कैकेयी सुमित्रा चाविशेषतः ।
तथैव देवी कौसल्या मम माता विशेषतः ॥ ३५ ॥

'तुम्हारी दृष्टिमें कैकेयीका जो स्थान है, वही समानरूपसे सुमित्रा और मेरी माता कौसल्याका भी होना उचित है, इन सबमें कोई अन्तर न रखना ॥ ३५ ॥

तातस्य प्रियकामेन यौवराज्यमवेक्षता ।
लोकयोरुभयोः शक्यं नित्यदा सुखमेधितुम् ॥ ३६ ॥

'पिताजीका प्रिय करनेकी इच्छासे युवराजपदको स्वीकार

करके यदि तुम राजकाजकी देखभाल करते रहोगे तो इहलोक और परलोकमें सदा ही सुख पाओगे' ॥ ३६ ॥

निवर्त्यमानो रामेण सुमन्त्रः प्रतिबोधितः ।
तत्सर्वं वचनं श्रुत्वा स्नेहात् काकुत्स्थमब्रवीत् ॥ ३७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने सुमन्त्रको लौटाते हुए जब इस प्रकार समझाया, तब उनकी सारी बातें सुनकर वे श्रीरामसे स्नेह-पूर्वक बोले— ॥ ३७ ॥

यदहं नोपचारेण ब्रूयां स्नेहादविक्लवम् ।
भक्तिमानिति तत् तावद् वाक्यं त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ ३८ ॥
कथं हि त्वद्विहीनोऽहं प्रतियास्यामि तां पुरीम् ।
तव तात वियोगेन पुत्रशोकातुरामिव ॥ ३९ ॥

'तात ! सेवकका स्वामीके प्रति जो सत्कारपूर्ण बर्ताव होना चाहिये, उसका यदि मैं आपसे बात करते समय पालन न कर सकूँ, यदि मेरे मुखसे स्नेहवश कोई धृष्टतापूर्ण बात निकल जाय तो 'यह मेरा भक्त है' ऐसा समझकर आप मुझे क्षमा कीजियेगा। जो आपके वियोगसे पुत्रशोकसे आतुर हुई माताकी भाँति संतप्त हो रही है, उस अयोध्यापुरीमें मैं आपको साथ लिये बिना कैसे लौटकर जा सकूँगा ? ॥ ३८-३९ ॥

सराममपि तावन्मे रथं दृष्ट्वा तदा जनः ।
विना रामं रथं दृष्ट्वा विदीर्येतापि सा पुरी ॥ ४० ॥

'आते समय लोगोंने मेरे रथमें श्रीरामको विराजमान देखा था, अब इस रथको श्रीरामसे रहित देखकर उन लोगोंका और उस अयोध्यापुरीका भी हृदय विदीर्ण हो जायगा ॥

दैन्यं हि नगरी गच्छेद् दृष्ट्वा शून्यमिमं रथम् ।
सूतावशेषं स्वं सैन्यं हतवीरमिवाहवे ॥ ४१ ॥

'जैसे युद्धमें अपने स्वामी वीर रथीके मारे जानेपर जिसमें केवल सारथि शेष रह गया हो ऐसे रथको देखकर उसकी अपनी सेना अत्यन्त दयनीय अवस्थामें पड़ जाती है, उसी प्रकार मेरे इस रथको आपसे सूना देखकर सारी अयोध्या नगरी दीन दशाको प्राप्त हो जायगी ॥ ४१ ॥

दूरेऽपि निवसन्तं त्वां मानसेनाग्रतः स्थितम् ।
चिन्तयन्तोऽद्य नूनं त्वां निराहाराः कृताः प्रजाः ॥ ४२ ॥

'आप दूर रहकर भी प्रजाके हृदयमें निवास करनेके कारण सदा उसके सामने ही खड़े रहते हैं। निश्चय ही इस समय प्रजावर्गके सब लोगोंने आपका ही चिन्तन करते हुए खाना-पीना छोड़ दिया होगा ॥ ४२ ॥

दृष्टं तद् वै त्वया राम यादृशं त्वत्प्रवासने ।
प्रजानां संकुलं वृत्तं त्वच्छोकक्लान्तचेतसाम् ॥ ४३ ॥

'श्रीराम ! जिस समय आप वनको आने लगे, उस समय आपके शोकसे व्याकुलचित्त हुई प्रजाने जैसा आर्तनाद एवं क्षोभ प्रकट किया था, उसे तो आपने देखा ही था ॥ ४३ ॥

आर्तनादो हि यः पौरैरुन्मुक्तस्त्वत्प्रवासने ।
सरथं मां निशाम्यैव कुर्युः शतगुणं ततः ॥ ४४ ॥

'आपके अयोध्यासे निकलते समय पुरवासियोंने जैसा आर्तनाद किया था, आपके बिना मुझे खाली रथ लिये लौटा देख वे उससे भी सौगुना हाहाकार करेंगे ॥ ४४ ॥

अहं किं चापि वक्ष्यामि देवीं तव सुतो मया ।
नीतोऽसौ मातुलकुलं संतापं मा कृथा इति ॥ ४५ ॥
असत्यमपि नैवाहं ब्रूयां वचनमीदृशम् ।
कथमप्रियमेवाहं ब्रूयां सत्यमिदं वचः ॥ ४६ ॥

'क्या मैं महारानी कौसल्यासे जाकर कहूँगा कि मैंने आपके बेटेको मामाके घर पहुँचा दिया है ? इसलिये आप संताप न करें, यह बात प्रिय होनेपर भी असत्य है, अतः ऐसा असत्य वचन भी मैं कभी नहीं कह सकता। फिर यह अप्रिय सत्य भी कैसे सुना सकूँगा कि मैं आपके पुत्रको वनमें पहुँचा आया ॥ ४५-४६ ॥

मम तावन्नियोगस्थास्त्वद्बन्धुजनवाहिनः ।
कथं रथं त्वया हीनं प्रवाह्यन्ति हयोत्तमाः ॥ ४७ ॥

'ये उत्तम घोड़े मेरी आज्ञाके अधीन रहकर आपके बन्धुजनोंका भार वहन करते हैं (आपके बन्धुजनोंसे हीन रथका ये वहन नहीं करते हैं), ऐसी दशामें आपसे सूने रथको ये कैसे खींच सकेंगे ? ॥ ४७ ॥

तत्र शक्ष्याम्यहं गन्तुमयोध्यां त्वदृतेऽनघ ।
वनवासानुयानाय मामनुज्ञातुमर्हसि ॥ ४८ ॥

'अतः निष्पाप रघुनन्दन ! अब मैं आपके बिना अयोध्या लौटकर नहीं जा सकूँगा। मुझे भी वनमें चलनेकी ही आज्ञा दीजिये ॥ ४८ ॥

यदि मे याचमानस्य त्यागमेव करिष्यसि ।
सरथोऽग्निं प्रवेक्ष्यामि त्यक्तमात्र इह त्वया ॥ ४९ ॥

'यदि इस तरह याचना करनेपर भी आप मुझे त्याग ही देंगे तो मैं आपके द्वारा परित्यक्त होकर यहाँ रथसहित अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा ॥ ४९ ॥

भविष्यन्ति वने यानि तपोविघ्नकराणि ते ।
रथेन प्रतिबाधिष्ये तानि सर्वाणि राघव ॥ ५० ॥

'रघुनन्दन ! वनमें आपकी तपस्यामें विघ्न डालनेवाले जो-जो जन्तु उपस्थित होंगे, मैं इस रथके द्वारा उन सबको दूर भगा दूँगा ॥ ५० ॥

त्वत्कृतेन मया प्राप्तं रथचर्याकृतं सुखम् ।
आशंसे त्वत्कृतेनाहं वनवासकृतं सुखम् ॥ ५१ ॥

'श्रीराम ! आपकी कृपासे मुझे आपको रथपर बिठाकर यहाँतक लानेका सुख प्राप्त हुआ। अब आपके ही अनुग्रहसे मैं आपके साथ वनमें रहनेका सुख भी पानेकी आशा करता हूँ ॥ ५१ ॥

प्रसीदेच्छामि तेऽरण्ये भवितुं प्रत्यनन्तरः ।
प्रीत्याभिहितमिच्छामि भव मे प्रत्यनन्तरः ॥ ५२ ॥

'आप प्रसन्न होकर आज्ञा दीजिये। मैं वनमें आपके पास

ही रहना चाहता हूँ। मेरी इच्छा है कि आप प्रसन्नतापूर्वक कह दें कि तुम वनमें मेरे साथ ही रहो॥ ५२॥

इमेऽपि च हया वीर यदि ते वनवासिनः।
परिचर्यां करिष्यन्ति प्राप्स्यन्ति परमां गतिम्॥ ५३॥

'वीर! ये घोड़े भी यदि वनमें रहते समय आपकी सेवा करेंगे तो इन्हें परमगतिकी प्राप्ति होगी॥ ५३॥

तव शुश्रूषणं मूर्ध्ना करिष्यामि वने वसन्।
अयोध्यां देवलोकं वा सर्वथा प्रजहाम्यहम्॥ ५४॥

'प्रभो! मैं वनमें रहकर अपने सिरसे (सारे शरीरसे) आपकी सेवा करूँगा और इस सुखके आगे अयोध्या तथा देवलोकका भी सर्वथा त्याग कर दूँगा॥ ५४॥

नहि शक्या प्रवेष्टुं सा मयायोध्या त्वया विना।
राजधानी महेन्द्रस्य यथा दुष्कृतकर्मणा॥ ५५॥

'जैसे सदाचारहीन प्राणी इन्द्रकी राजधानी स्वर्गमें नहीं प्रवेश कर सकता, उसी प्रकार आपके बिना मैं अयोध्यापुरीमें नहीं जा सकता॥ ५५॥

वनवासे क्षयं प्राप्ते ममैष हि मनोरथः।
यदनेन रथेनैव त्वां वहेयं पुरीं पुनः॥ ५६॥

'मेरी यह अभिलाषा है कि जब वनवासकी अवधि समाप्त हो जाय, तब फिर इसी रथपर बिठाकर आपको अयोध्यापुरीमें ले चलूँ॥ ५६॥

चतुर्दश हि वर्षाणि सहितस्य त्वया वने।
क्षणभूतानि यास्यन्ति शतसंख्यानि चान्यथा॥ ५७॥

'वनमें आपके साथ रहनेसे ये चौदह वर्ष मेरे लिये चौदह क्षणोंके समान बीत जायँगे। अन्यथा चौदह सौ वर्षोंके समान भारी जान पड़ेंगे॥ ५७॥

भृत्यवत्सल तिष्ठन्तं भर्तृपुत्रगते पथि।
भक्तं भृत्यं स्थितं स्थित्या न मा त्वं हातुमर्हसि॥ ५८॥

'अतः भक्तवत्सल! आप मेरे स्वामीके पुत्र हैं। आप जिस पथपर चल रहे हैं, उसीपर आपकी सेवाके लिये साथ चलनेको मैं भी तैयार खड़ा हूँ। मैं आपके प्रति भक्ति रखता हूँ, आपका भृत्य हूँ और भृत्यजनोचित मर्यादाके भीतर स्थित हूँ; अतः आप मेरा परित्याग न करें'॥ ५८॥

एवं बहुविधं दीनं याचमानं पुनः पुनः।
रामो भृत्यानुकम्पी तु सुमन्त्रमिदमब्रवीत्॥ ५९॥

इस तरह अनेक प्रकारसे दीन वचन कहकर बारंबार याचना करनेवाले सुमन्त्रसे सेवकोंपर कृपा करनेवाले श्रीरामने इस प्रकार कहा—॥ ५९॥

जानामि परमां भक्तिमहं ते भर्तृवत्सल।
शृणु चापि यदर्थं त्वां प्रेषयामि पुरीमितः॥ ६०॥

'सुमन्त्रजी! आप स्वामीके प्रति स्नेह रखनेवाले हैं। मुझमें आपकी जो उत्कृष्ट भक्ति है, उसे मैं जानता हूँ; फिर भी जिस कार्यके लिये मैं आपको यहाँसे अयोध्यापुरीमें भेज रहा हूँ, उसे सुनिये॥ ६०॥

नगरीं त्वां गतं दृष्ट्वा जननी मे यवीयसी।
कैकेयी प्रत्ययं गच्छेदिति रामो वनं गतः॥ ६१॥

'जब आप नगरको लौट जायँगे, तब आपको देखकर मेरी छोटी माता कैकेयीको यह विश्वास हो जायगा कि राम वनको चले गये॥ ६१॥

विपरीते तुष्टिहीना वनवासं गते मयि।
राजानं नातिशङ्केत मिथ्यावादीति धार्मिकम्॥ ६२॥

'इसके विपरीत यदि आप नहीं गये तो उसे संतोष नहीं होगा। मेरे वनवासी हो जानेपर भी वह धर्मपरायण महाराज दशरथके प्रति मिथ्यावादी होनेका संदेह करे, ऐसा मैं नहीं चाहता॥ ६२॥

एष मे प्रथमः कल्पो यदम्बा मे यवीयसी।
भरतारक्षितं स्फीतं पुत्रराज्यमवाप्स्यते॥ ६३॥

'आपको भेजनेमें मेरा मुख्य उद्देश्य यही है कि मेरी छोटी माता कैकेयी भरतद्वारा सुरक्षित समृद्धिशाली राज्यको हस्तगत कर ले॥ ६३॥

मम प्रियार्थं राज्ञश्च सुमन्त्र त्वं पुरीं व्रज।
संदिष्टश्चापि यानर्थांस्तांस्तान् ब्रूयास्तथा तथा॥ ६४॥

'सुमन्त्रजी! मेरा तथा महाराजका प्रिय करनेके लिये आप अयोध्यापुरीको अवश्य पधारिये और आपको जिनके लिये जो संदेश दिया गया है, वह सब वहाँ जाकर उन लोगोंसे कह दीजिये'॥ ६४॥

इत्युक्त्वा वचनं सूतं सान्त्वयित्वा पुनः पुनः।
गुहं वचनमक्लीबो रामो हेतुमदब्रवीत्॥ ६५॥

ऐसा कहकर श्रीरामने सुमन्त्रको बारंबार सान्त्वना दी। इसके बाद उन्होंने गुहसे उत्साहपूर्वक यह युक्तियुक्त बात कही—॥ ६५॥

नेदानीं गुह योग्योऽयं वासो मे सजने वने।
अवश्यमाश्रमे वासः कर्तव्यस्तद्गतो विधिः॥ ६६॥

'निषादराज गुह! इस समय मेरे लिये ऐसे वनमें रहना उचित नहीं है, जहाँ जनपदके लोगोंका आना-जाना अधिक होता हो, अब अवश्य मुझे निर्जन वनके आश्रममें ही वास करना होगा। इसके लिये जटा धारण आदि आवश्यक विधिका मुझे पालन करना चाहिये॥ ६६॥

सोऽहं गृहीत्वा नियमं तपस्विजनभूषणम्।
हितकामः पितुर्भूयः सीताया लक्ष्मणस्य च॥ ६७॥
जटाः कृत्वा गमिष्यामि न्यग्रोधक्षीरमानय।
तत्क्षीरं राजपुत्राय गुहः क्षिप्रमुपाहरत्॥ ६८॥

'अतः फल-मूलका आहार और पृथ्वीपर शयन आदि नियमोंको ग्रहण करके मैं सीता और लक्ष्मणकी अनुमति लेकर पिताका हित करनेकी इच्छासे सिरपर तपस्वी जनोंके आभूषणरूप जटा धारण करके यहाँसे वनको जाऊँगा। मेरे

केशोंको जटाका रूप देनेके लिये तुम बड़का दूध ला दो।' गुहने तुरंत ही बड़का दूध लाकर श्रीरामको दिया ॥ ६७-६८ ॥

लक्ष्मणस्यात्मनश्चैव रामस्तेनाकरोज्जटाः ।
दीर्घबाहुर्नरव्याघ्रो जटिलत्वमधारयत् ॥ ६९ ॥

श्रीरामने उसके द्वारा लक्ष्मणकी तथा अपनी जटाएँ बनायीं। महाबाहु पुरुषसिंह श्रीराम तत्काल जटाधारी हो गये ॥ ६९ ॥

तौ तदा चीरसम्पन्नौ जटामण्डलधारिणौ ।
अशोभेतामृषिसमौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ७० ॥

उस समय वे दोनों भाई श्रीराम-लक्ष्मण वल्कल वस्त्र और जटामण्डल धारण करके ऋषियोंके समान शोभा पाने लगे ॥ ७० ॥

ततो वैखानसं मार्गमास्थितः सहलक्ष्मणः ।
व्रतमादिष्टवान् रामः सहायं गुहमब्रवीत ॥ ७१ ॥

तदनन्तर वानप्रस्थमार्गका आश्रय लेकर लक्ष्मणसहित श्रीरामने वानप्रस्थोचित व्रतको ग्रहण किया। तत्पश्चात् वे अपने सहायक गुहसे बोले— ॥ ७१ ॥

अप्रमत्तो बले कोशे दुर्गे जनपदे तथा ।
भवेथा गुह राज्यं हि दुरारक्षतमं मतम् ॥ ७२ ॥

'निषादराज ! तुम सेना, खजाना, किला और राज्यके विषयमें सदा सावधान रहना; क्योंकि राज्यकी रक्षाका काम बड़ा कठिन माना गया है' ॥ ७२ ॥

ततस्तं समनुज्ञाप्य गुहमिक्ष्वाकुनन्दनः ।
जगाम तूर्णमव्यग्रः सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥ ७३ ॥

गुहको इस प्रकार आज्ञा देकर उससे विदा ले इक्ष्वाकुकुलनन्दन श्रीरामचन्द्रजी पत्नी और लक्ष्मणके साथ तुरंत ही वहाँसे चल दिये। उस समय उनके चित्तमें तनिक भी व्यग्रता नहीं थी ॥ ७३ ॥

स तु दृष्ट्वा नदीतीरे नावमिक्ष्वाकुनन्दनः ।
तितीर्षुः शीघ्रगां गङ्गामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ७४ ॥

नदीके तटपर लगी हुई नावको देखकर इक्ष्वाकुनन्दन श्रीरामने शीघ्रगामी गङ्गानदीके पार जानेकी इच्छासे लक्ष्मणको सम्बोधित करके कहा— ॥ ७४ ॥

आरोह त्वं नरव्याघ्र स्थितां नावमिमां शनैः ।
सीतां चारोपयान्वक्षं परिगृह्य मनस्विनीम् ॥ ७५ ॥

'पुरुषसिंह ! यह सामने नाव खड़ी है। तुम मनस्विनी सीताको पकड़कर धीरेसे उसपर बिठा दो, फिर स्वयं भी नावपर बैठ जाओ' ॥ ७५ ॥

स भ्रातुः शासनं श्रुत्वा सर्वमप्रतिकूलयन् ।
आरोप्य मैथिलीं पूर्वमारुरोहात्मवांस्ततः ॥ ७६ ॥

भाईका यह आदेश सुनकर मनको वशमें रखनेवाले लक्ष्मणने पूर्णतः उसके अनुकूल चलते हुए पहले मिथिलेशकुमारी श्रीसीताको नावपर बिठाया, फिर स्वयं भी उसपर आरूढ़ हुए ॥ ७६ ॥

अथारुरोह तेजस्वी स्वयं लक्ष्मणपूर्वजः ।
ततो निषादाधिपतिर्गुहो ज्ञातीनचोदयत् ॥ ७७ ॥

सबके अन्तमें लक्ष्मणके बड़े भाई तेजस्वी श्रीराम स्वयं नौकापर बैठे। तदनन्तर निषादराज गुहने अपने भाई-बन्धुओंको नौका खेनेका आदेश दिया ॥ ७७ ॥

राघवोऽपि महातेजा नावमारुह्य तां ततः ।
ब्रह्मवत्क्षत्रवच्चैव जजाप हितमात्मनः ॥ ७८ ॥

महातेजस्वी श्रीरामचन्द्रजी भी उस नावपर आरूढ़ होनेके पश्चात् अपने हितके उद्देश्यसे ब्राह्मण और क्षत्रियके जपनेयोग्य 'दैवी नाव' इत्यादि वैदिक मन्त्रका जप करने लगे ॥ ७८ ॥

आचम्य च यथाशास्त्रं नदीं तां सह सीतया ।
प्रणमत्प्रीतिसंतुष्टो लक्ष्मणश्च महारथः ॥ ७९ ॥

फिर शास्त्रविधिके अनुसार आचमन करके सीताके साथ उन्होंने प्रसन्नचित्त होकर गङ्गाजीको प्रणाम किया। महारथी लक्ष्मणने भी उन्हें मस्तक झुकाया ॥ ७९ ॥

अनुज्ञाय सुमन्त्रं च सबलं चैव तं गुहम् ।
आस्थाय नावं रामस्तु चोदयामास नाविकान् ॥ ८० ॥

इसके बाद श्रीरामने सुमन्त्रको तथा सेनासहित गुहको भी जानेकी आज्ञा दे नावपर भलीभाँति बैठकर मल्लाहोंको उसे चलानेका आदेश दिया ॥ ८० ॥

ततस्तैश्चालिता नौका कर्णधारसमाहिता ।
शुभस्फ्यवेगाभिहता शीघ्रं सलिलमत्यगात् ॥ ८१ ॥

तदनन्तर मल्लाहोंने नाव चलायी। कर्णधार सावधान होकर उसका संचालन करता था। वेगसे सुन्दर डाँड़ चलानेके कारण वह नाव बड़ी तेजीसे पानीपर बढ़ने लगी ॥

मध्यं तु समनुप्राप्य भागीरथ्यास्त्वनिन्दिता ।
वैदेही प्राञ्जलिर्भूत्वा तां नदीमिदमब्रवीत् ॥ ८२ ॥

भागीरथीकी बीच धारामें पहुँचकर सती साध्वी विदेह-नन्दिनी सीताने हाथ जोड़कर गङ्गाजीसे यह प्रार्थना की— ॥

पुत्रो दशरथस्यायं महाराजस्य धीमतः ।
निदेशं पालयत्वेनं गङ्गे त्वदभिरक्षितः ॥ ८३ ॥

'देवि गङ्गे ! ये परम बुद्धिमान् महाराज दशरथके पुत्र हैं और पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये वनमें जा रहे हैं। ये आपसे सुरक्षित होकर पिताकी इस आज्ञाका पालन कर सकें—ऐसी कृपा कीजिये ॥ ८३ ॥

चतुर्दश हि वर्षाणि समग्राण्युष्य कानने ।
भ्रात्रा सह मया चैव पुनः प्रत्यागमिष्यति ॥ ८४ ॥

'वनमें पूरे चौदह वर्षोंतक निवास करके ये मेरे तथा अपने भाईके साथ पुनः अयोध्यापुरीको लौटेंगे ॥ ८४ ॥

ततस्त्वां देवि सुभगे क्षेमेण पुनरागता ।
यक्ष्ये प्रमुदिता गङ्गे सर्वकामसमृद्धिनी ॥ ८५ ॥

'सौभाग्यशालिनी देवि गङ्गे ! उस समय वनसे पुनः

कुशलपूर्वक लौटनेपर सम्पूर्ण मनोरथोंसे सम्पन्न हुई मैं बड़ी प्रसन्नताके साथ आपकी पूजा करूँगी ॥ ८५ ॥

त्वं हि त्रिपथगे देवि ब्रह्मलोकं समक्षसे।
भार्या चोदधिराजस्य लोकेऽस्मिन् सम्प्रदृश्यसे ॥ ८६ ॥

'स्वर्ग, भूतल और पाताल—तीनों मार्गोंपर विचरनेवाली देवि! तुम यहाँसे ब्रह्मलोकतक फैली हुई हो और इस लोकमें समुद्रराजकी पत्नीके रूपमें दिखायी देती हो ॥ ८६ ॥

सा त्वां देवि नमस्यामि प्रशंसामि च शोभने।
प्राप्तराज्ये नरव्याघ्रे शिवेन पुनरागते ॥ ८७ ॥

'शोभाशालिनी देवि! पुरुषसिंह श्रीराम जब पुनः वनसे सकुशल लौटकर अपना राज्य प्राप्त कर लेंगे, तब मैं सीता पुनः आपको मस्तक झुकाऊँगी और आपकी स्तुति करूँगी ॥

गवां शतसहस्रं च वस्त्राण्यन्नं च पेशलम्।
ब्राह्मणेभ्यः प्रदास्यामि तव प्रियचिकीर्षया ॥ ८८ ॥

'इतना ही नहीं, मैं आपका प्रिय करनेकी इच्छासे ब्राह्मणोंको एक लाख गौएँ, बहुत-से वस्त्र तथा उत्तमोत्तम अन्न प्रदान करूँगी ॥ ८८ ॥

सुराघटसहस्रेण मांसभूतौदनेन च।
यक्ष्ये त्वां प्रीयतां देवि पुरीं पुनरुपागता ॥ ८९ ॥

'देवि! पुनः अयोध्यापुरीमें लौटनेपर मैं सहस्रों देवदुर्लभ पदार्थोंसे तथा राजकीय भागसे रहित पृथ्वी, वस्त्र और अन्नके द्वारा भी आपकी पूजा करूँगी। आप मुझपर प्रसन्न हों* ॥ ८९ ॥

यानि त्वत्तीरवासीनि दैवतानि च सन्ति हि।
तानि सर्वाणि यक्ष्यामि तीर्थान्यायतनानि च ॥ ९० ॥

'आपके किनारे जो-जो देवता, तीर्थ और मन्दिर हैं, उन सबका मैं पूजन करूँगी ॥ ९० ॥

पुनरेव महाबाहुर्मया भ्रात्रा च संगतः।
अयोध्यां वनवासात् तु प्रविशत्वनघोऽनघे ॥ ९१ ॥

'निष्पाप गङ्गे! ये महाबाहु पापरहित मेरे पतिदेव मेरे तथा अपने भाईके साथ वनवाससे लौटकर पुनः अयोध्या नगरीमें प्रवेश करें' ॥ ९१ ॥

तथा सम्भाषमाणा सा सीता गङ्गामनिन्दिता।
दक्षिणा दक्षिणं तीरं क्षिप्रमेवाभ्युपागमत् ॥ ९२ ॥

पतिके अनुकूल रहनेवाली सती-साध्वी सीता इस प्रकार गङ्गाजीसे प्रार्थना करती हुई शीघ्र ही दक्षिणतटपर जा पहुँचीं ॥ ९२ ॥

तीरं तु समनुप्राप्य नावं हित्वा नरर्षभः।
प्रातिष्ठत सह भ्रात्रा वैदेह्या च परंतपः ॥ ९३ ॥

किनारे पहुँचकर शत्रुओंको संताप देनेवाले नरश्रेष्ठ श्रीरामने नाव छोड़ दी और भाई लक्ष्मण तथा विदेहनन्दिनी सीताके साथ आगेको प्रस्थान किया ॥ ९३ ॥

अथाब्रवीन्महाबाहुः सुमित्रानन्दवर्धनम्।
भव संरक्षणार्थाय सजने विजनेऽपि वा ॥ ९४ ॥
अवश्यं रक्षणं कार्यं मद्विधैर्विजने वने।
अग्रतो गच्छ सौमित्रे सीता त्वामनुगच्छतु ॥ ९५ ॥
पृष्ठतोऽनुगमिष्यामि सीतां त्वां चानुपालयन्।
अन्योन्यस्य हि नो रक्षा कर्तव्या पुरुषर्षभ ॥ ९६ ॥

तदनन्तर महाबाहु श्रीराम सुमित्रानन्दन लक्ष्मणसे बोले—'सुमित्राकुमार! अब तुम सजन या निर्जन वनमें सीताकी रक्षाके लिये सावधान हो जाओ। हम-जैसे लोगोंको निर्जन वनमें नारीकी रक्षा अवश्य करनी चाहिये। अतः तुम आगे-आगे चलो, सीता तुम्हारे पीछे-पीछे चलें और मैं सीताकी तथा तुम्हारी रक्षा करता हुआ सबसे पीछे चलूँगा। पुरुषप्रवर! हमलोगोंको एक-दूसरेकी रक्षा करनी चाहिये ॥

न हि तावदतिक्रान्तासुकरा काचन क्रिया।
अद्य दुःखं तु वैदेही वनवासस्य वेत्स्यति ॥ ९७ ॥

'अबतक कोई भी दुष्कर कार्य समाप्त नहीं हुआ है—इस समयसे ही कठिनाइयोंका सामना आरम्भ हुआ है। आज विदेहकुमारी सीताको वनवासके वास्तविक कष्टका अनुभव होगा ॥ ९७ ॥

प्रणष्टजनसम्बाधं क्षेत्रारामविवर्जितम्।
विषमं च प्रपातं च वनमद्य प्रवेक्ष्यति ॥ ९८ ॥

'अब ये ऐसे वनमें प्रवेश करेंगी, जहाँ मनुष्योंके आने-जानेका कोई चिह्न नहीं दिखायी देगा, न धान आदिके खेत होंगे, न टहलनेके लिये बगीचे। जहाँ ऊँची-नीची भूमि होगी और गड्ढे मिलेंगे, जिसमें गिरनेका भय रहेगा' ॥ ९८ ॥

श्रुत्वा रामस्य वचनं प्रतस्थे लक्ष्मणोऽग्रतः।
अनन्तरं च सीताया राघवो रघुनन्दनः ॥ ९९ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका यह वचन सुनकर लक्ष्मण आगे बढ़े। उनके पीछे सीता चलने लगीं तथा सीताके पीछे रघुकुलनन्दन श्रीराम थे ॥ ९९ ॥

गतं तु गङ्गापरपारमाशु
रामं सुमन्त्रः सततं निरीक्ष्य।
अध्वप्रकर्षाद् विनिवृत्तदृष्टि-
र्मुमोच बाष्पं व्यथितस्तपस्वी ॥ १०० ॥

श्रीरामचन्द्रजी शीघ्र गङ्गाजीके उस पार पहुँचकर जबतक दिखायी दिये तबतक सुमन्त्र निरन्तर उन्हींकी ओर दृष्टि

---

* इस श्लोकमें आये हुए 'सुराघटसहस्रेण' की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—सुरेषु देवेषु न घटन्ते न सन्तीत्यर्थः, तेषां सहस्रं तेन सहस्रसंख्याकसुरदुर्लभपदार्थेनित्यर्थः। 'मांसभूतौदनेन' की व्युत्पत्ति इस प्रकार समझनी चाहिये—मांसभूतौदनेन मा नास्ति अंसो राजभागो यस्यां सा एव भूः पृथ्वी च उतं वस्त्रं च ओदनं च एतेषां समाहारः, तेन च त्वां यक्ष्ये।

लगाये देखते रहे। जब वनके मार्गमें बहुत दूर निकल जानेके कारण वे दृष्टिसे ओझल हो गये, तब तपस्वी सुमन्त्रके हृदयमें बड़ी व्यथा हुई। वे नेत्रोंसे आँसू बहाने लगे ॥ १०० ॥

स लोकपालप्रतिमप्रभाव-
स्तीर्त्वा महात्मा वरदो महानदीम्।
ततः समृद्धाञ्शुभसस्यमालिनः
क्रमेण वत्सान् मुदितानुपागमत् ॥ १०१ ॥

लोकपालोंके समान प्रभावशाली वरदायक महात्मा श्रीराम महानदी गङ्गाको पार करके क्रमशः समृद्धिशाली वत्सदेश-(प्रयाग-) में जा पहुँचे, जो सुन्दर धन-धान्यसे सम्पन्न था। वहाँके लोग बड़े हृष्ट-पुष्ट थे ॥ १०१ ॥

तौ तत्र हत्वा चतुरो महामृगान्
वराहमृश्यं पृषतं महारुरुम्।
आदाय मेध्यं त्वरितं बुभुक्षितौ
वासाय काले ययतुर्वनस्पतिम् ॥ १०२ ॥

वहाँ उन दोनों भाइयोंने मृगया-विनोदके लिये वराह, ऋष्य, पृषत् और महारुरु— इन चार महामृगोंपर बाणोंका प्रहार किया। तत्पश्चात् जब उन्हें भूख लगी, तब पवित्र कन्द-मूल आदि लेकर सायंकालके समय ठहरनेके लिये (वे सीताजीके साथ) एक वृक्षके नीचे चले गये ॥ १०२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्विपञ्चाशः सर्गः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशः सर्गः

श्रीरामका राजाको उपालम्भ देते हुए कैकेयीसे कौसल्या आदिके अनिष्टकी आशङ्का बताकर लक्ष्मणको अयोध्या लौटानेके लिये प्रयत्न करना, लक्ष्मणका श्रीरामके बिना अपना जीवन असम्भव बताकर वहाँ जानेसे इनकार करना, फिर श्रीरामका उन्हें वनवासकी अनुमति देना

स तं वृक्षं समासाद्य संध्यामन्वास्य पश्चिमाम्।
रामो रमयतां श्रेष्ठ इति होवाच लक्ष्मणम् ॥ १ ॥

उस वृक्षके नीचे पहुँचकर आनन्द प्रदान करनेवालोंमें श्रेष्ठ श्रीरामने सायंकालकी संध्योपासना करके लक्ष्मणसे इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

अद्येयं प्रथमा रात्रिर्याता जनपदाद् बहिः।
या सुमन्त्रेण रहिता तां नोत्कण्ठितुमर्हसि ॥ २ ॥

'सुमित्रानन्दन! आज हमें अपने जनपदसे बाहर यह पहली रात प्राप्त हुई है, जिसमें सुमन्त्र हमारे साथ नहीं हैं। इस रातको पाकर तुम्हें नगरकी सुख-सुविधाओंके लिये उत्कण्ठित नहीं होना चाहिये ॥ २ ॥

जागर्तव्यमतन्द्रिभ्यामद्यप्रभृति रात्रिषु।
योगक्षेमौ हि सीताया वर्तेते लक्ष्मणावयोः ॥ ३ ॥

'लक्ष्मण! आजसे हम दोनों भाइयोंको आलस्य छोड़कर रातमें जागना होगा; क्योंकि सीताके योगक्षेम हम दोनोंके ही अधीन हैं ॥ ३ ॥

रात्रिं कथंचिदेवेमां सौमित्रे वर्तयामहे।
अपवर्तामहे भूमावास्तीर्य स्वयमर्जितैः ॥ ४ ॥

'सुमित्रानन्दन! यह रात हमलोग किसी तरह बितायेंगे और स्वयं संग्रह करके लाये हुए तिनकों और पत्तोंकी शय्या बनाकर उसे भूमिपर बिछाकर उसपर किसी तरह सो लेंगे' ॥

स तु संविश्य मेदिन्यां महार्हशयनोचितः।
इमाः सौमित्रये रामो व्याजहार कथाः शुभाः ॥ ५ ॥

जो बहुमूल्य शय्यापर सोनेके योग्य थे, वे श्रीराम भूमिपर ही बैठकर सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे ये शुभ बातें कहने लगे—* ॥ ५ ॥

ध्रुवमद्य महाराजो दुःखं स्वपिति लक्ष्मण।
कृतकामा तु कैकेयी तुष्टा भवितुमर्हति ॥ ६ ॥

'लक्ष्मण! आज महाराज निश्चय ही बड़े दुःखसे सो रहे होंगे; परंतु कैकेयी सफलमनोरथ होनेके कारण बहुत संतुष्ट होगी ॥ ६ ॥

सा हि देवी महाराजं कैकेयी राज्यकारणात्।
अपि न च्यावयेत् प्राणान् दृष्ट्वा भरतमागतम् ॥ ७ ॥

'कहीं ऐसा न हो कि रानी कैकेयी भरतको आया देख राज्यके लिये महाराजको प्राणोंसे भी वियुक्त कर दे ॥ ७ ॥

अनाथश्च हि वृद्धश्च मया चैव विना कृतः।
किं करिष्यति कामात्मा कैकेय्या वशमागतः ॥ ८ ॥

'महाराजका कोई रक्षक न होनेके कारण वे इस समय अनाथ हैं, बूढ़े हैं और उन्हें मेरे वियोगका सामना करना पड़ा है। उनकी कामना मनमें ही रह गयी तथा वे कैकेयीके वशमें पड़ गये हैं; ऐसी दशामें वे बेचारे अपनी रक्षाके लिये क्या करेंगे? ॥ ८ ॥

---

* श्लोक ६ से लेकर २६ तक श्रीरामचन्द्रजीने जो बातें कही हैं, वे लक्ष्मणकी परीक्षाके लिये तथा उन्हें अयोध्या लौटानेके लिये कही गयी हैं; वास्तवमें उनकी ऐसी मान्यता नहीं थी। यही बात यहाँ सभी व्याख्याकारोंने स्वीकार की है।

इदं व्यसनमालोक्य राज्ञश्च मतिविभ्रमम्।
काम एवार्थधर्माभ्यां गरीयानिति मे मतिः ॥ ९ ॥

'अपने ऊपर आये हुए इस संकटको और राजाकी मतिभ्रान्तिको देखकर मुझे ऐसा मालूम होता है कि अर्थ और धर्मकी अपेक्षा कामका ही गौरव अधिक है। ॥ ९ ॥

को ह्यविद्वानपि पुमान् प्रमदायाः कृते त्यजेत्।
छन्दानुवर्तिनं पुत्रं तातो मामिव लक्ष्मण ॥ १० ॥

'लक्ष्मण! पिताजीने जिस तरह मुझे त्याग दिया है, उस प्रकार अत्यन्त अज्ञ होनेपर भी कौन ऐसा पुरुष होगा, जो एक स्त्रीके लिये अपने आज्ञाकारी पुत्रका परित्याग कर दे? ॥ १० ॥

सुखी बत सुभार्यश्च भरतः केकयीसुतः।
मुदितान् कोसलानेको यो भोक्ष्यत्यधिराजवत् ॥ ११ ॥

'कैकेयीकुमार भरत ही सुखी और सौभाग्यवती स्त्रीके पति हैं, जो अकेले ही हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरे हुए कोसलदेशका सम्राट्की भाँति पालन करेंगे ॥ ११ ॥

स हि राज्यस्य सर्वस्य सुखमेकं भविष्यति।
ताते तु वयसातीते मयि चारण्यमाश्रिते ॥ १२ ॥

'पिताजी अत्यन्त वृद्ध हो गये हैं और मैं वनमें चला आया हूँ, ऐसी दशामें केवल भरत ही समस्त राज्यके श्रेष्ठ सुखका उपभोग करेंगे ॥ १२ ॥

अर्थधर्मौ परित्यज्य यः काममनुवर्तते।
एवमापद्यते क्षिप्रं राजा दशरथो यथा ॥ १३ ॥

'सच है, जो अर्थ और धर्मका परित्याग करके केवल कामका अनुसरण करता है, वह उसी प्रकार शीघ्र ही आपत्तिमें पड़ जाता है, जैसे इस समय महाराज दशरथ पड़े हैं ॥ १३ ॥

मन्ये दशरथान्ताय मम प्रव्राजनाय च।
कैकेयी सौम्य सम्प्राप्ता राज्याय भरतस्य च ॥ १४ ॥

'सौम्य! मैं समझता हूँ कि महाराज दशरथके प्राणोंका अन्त करने, मुझे देशनिकाला देने और भरतको राज्य दिलानेके लिये ही कैकेयी इस राजभवनमें आयी थी ॥ १४ ॥

अपीदानीं तु कैकेयी सौभाग्यमदमोहिता।
कौसल्यां च सुमित्रां च सा प्रबाधेत मत्कृते ॥ १५ ॥

'इस समय भी सौभाग्यके मदसे मोहित हुई कैकेयी मेरे कारण कौसल्या और सुमित्राको कष्ट पहुँचा सकती है ॥

मातास्मत्कारणाद् देवी सुमित्रा दुःखमावसेत्।
अयोध्यामित एव त्वं काले प्रविश लक्ष्मण ॥ १६ ॥

'हमलोगोंके कारण तुम्हारी माता सुमित्रादेवीको बड़े दुःखके साथ वहाँ रहना पड़ेगा; अतः लक्ष्मण! तुम यहींसे कल प्रातःकाल अयोध्याको लौट जाओ ॥ १६ ॥

अहमेको गमिष्यामि सीतया सह दण्डकान्।
अनाथाया हि नाथस्त्वं कौसल्याया भविष्यसि ॥ १७ ॥

'मैं अकेला ही सीताके साथ दण्डकवनको जाऊँगा। तुम वहाँ मेरी असहाय माता कौसल्याके सहायक हो जाओगे। ॥ १७ ॥

क्षुद्रकर्मा हि कैकेयी द्वेषादन्यायमाचरेत्।
परिदद्याद्धि धर्मज्ञ गरं ते मम मातरम् ॥ १८ ॥

'धर्मज्ञ लक्ष्मण! कैकेयीके कर्म बड़े खोटे हैं। वह द्वेषवश अन्याय भी कर सकती है। तुम्हारी और मेरी माताको जहर भी दे सकती है ॥ १८ ॥

नूनं जात्यन्तरे तात स्त्रियः पुत्रैर्वियोजिताः।
जनन्या मम सौमित्रे तदप्येतदुपस्थितम् ॥ १९ ॥

'तात सुमित्राकुमार! निश्चय ही पूर्वजन्ममें मेरी माताने कुछ स्त्रियोंका उनके पुत्रोंसे वियोग कराया होगा, उसी पापका यह पुत्र बिछोहरूप फल आज उन्हें प्राप्त हुआ है ॥ १९ ॥

मया हि चिरपुष्टेन दुःखसंवर्धितेन च।
विप्रयुज्यत कौसल्या फलकाले धिगस्तु माम् ॥ २० ॥

'मेरी माताने चिरकालतक मेरा पालन-पोषण किया और स्वयं दुःख सहकर मुझे बड़ा किया। अब जब पुत्रसे प्राप्त होनेवाले सुखरूपी फलके भोगनेका अवसर आया, तब मैंने माता कौसल्याको अपनेसे बिलग कर दिया। मुझे धिक्कार है! ॥ २० ॥

मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत् पुत्रमीदृशम्।
सौमित्रे योऽहमम्बाया दद्मि शोकमनन्तकम् ॥ २१ ॥

'सुमित्रानन्दन! कोई भी सौभाग्यवती स्त्री कभी ऐसे पुत्रको जन्म न दे, जैसा मैं हूँ; क्योंकि मैं अपनी माताको अनन्त शोक दे रहा हूँ ॥ २१ ॥

मन्ये प्रीतिविशिष्टा सा मत्तो लक्ष्मण सारिका।
यत्तस्याः श्रूयते वाक्यं शुक पादमरेर्दश ॥ २२ ॥

'लक्ष्मण! मैं तो ऐसा मानता हूँ कि माता कौसल्यामें मुझसे अधिक प्रेम उनकी पाली हुई वह सारिका ही करती है; क्योंकि उसके मुखसे माँको सदा यह बात सुनायी देती है, कि 'ऐ तोते! तू शत्रुके पैरको काट खा' (अर्थात् हमें पालनेवाली माता कौसल्याके शत्रुके पाँवको चोंच मार दे। वह पक्षिणी होकर माताका इतना ध्यान रखती है और मैं उनका पुत्र होकर भी उनके लिये कुछ नहीं कर पाता) ॥ २२ ॥

शोचन्त्याश्चाल्पभाग्याया न किंचिदुपकुर्वता।
पुत्रेण किमपुत्राया मया कार्यमरिंदम ॥ २३ ॥

'शत्रुदमन! जो मेरे लिये शोकमग्न रहती है, मन्दभागिनी-सी हो रही है और पुत्रका कोई फल न पानेके कारण निपूती-सी हो गयी है, उस मेरी माताको कुछ भी उपकार न करनेवाले मुझ-जैसे पुत्रसे क्या प्रयोजन है? ॥

अल्पभाग्या हि मे माता कौसल्या रहिता मया।
शेते परमदुःखार्ता पतिता शोकसागरे ॥ २४ ॥

'मुझसे बिछुड़ जानेके कारण माता कौसल्या वास्तवमें

मन्दभागिनी हो गयी है और शोकके समुद्रमें पड़कर अत्यन्त दुःखसे आतुर हो उसीमें शयन करती है॥ २४॥

एको ह्यहमयोध्यां च पृथिवीं चापि लक्ष्मण।
तरेयमिषुभिः क्रुद्धो ननु वीर्यमकारणम्॥ २५॥

'लक्ष्मण! यदि मैं कुपित हो जाऊँ तो अपने बाणोंद्वारा अकेला ही अयोध्यापुरी तथा समस्त भूमण्डलको निष्कण्टक बनाकर अपने अधिकारमें कर लूँ; परंतु पारलौकिक हित-साधनमें बल-पराक्रम कारण नहीं होता है (इसीलिये मैं ऐसा नहीं कर रहा हूँ।)॥ २५॥

अधर्मभयभीतश्च परलोकस्य चानघ।
तेन लक्ष्मण नाद्याहमात्मानमभिषेचये॥ २६॥

'निष्पाप लक्ष्मण! मैं अधर्म और परलोकके डरसे डरता हूँ; इसीलिये आज अयोध्याके राज्यपर अपना अभिषेक नहीं कराता हूँ'॥ २६॥

एतदन्यच्च करुणं विलप्य विजने बहु।
अश्रुपूर्णमुखो दीनो निशि तूष्णीमुपाविशत्॥ २७॥

यह तथा और भी बहुत-सी बातें कहकर श्रीरामने उस निर्जन वनमें करुणाजनक विलाप किया। तत्पश्चात् वे उस रातमें चुपचाप बैठ गये। उस समय उनके मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही थी और दीनता छा रही थी॥ २७॥

विलापोपरतं रामं गतार्चिषमिवानलम्।
समुद्रमिव निर्वेगमाश्वासयत लक्ष्मणः॥ २८॥

विलापसे निवृत्त होनेपर श्रीराम ज्वालारहित अग्नि और वेगशून्य समुद्रके समान शान्त प्रतीत होते थे। उस समय लक्ष्मणने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा—॥ २८॥

ध्रुवमद्य पुरी राम अयोध्याऽऽयुधिनां वर।
निष्प्रभा त्वयि निष्क्रान्ते गतचन्द्रेव शर्वरी॥ २९॥

'अस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ श्रीराम! आपके निकल आनेसे निश्चय ही आज अयोध्यापुरी चन्द्रहीन रात्रिके समान निस्तेज हो गयी॥

नैतदौपयिकं राम यदिदं परितप्यसे।
विषादयसि सीतां च मां चैव पुरुषर्षभ॥ ३०॥

'पुरुषोत्तम श्रीराम! आप जो इस तरह संतप्त हो रहे हैं, यह आपके लिये कदापि उचित नहीं है। आप ऐसा करके सीताको और मुझको भी खेदमें डाल रहे हैं॥ ३०॥

न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव।
मुहूर्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ॥ ३१॥

'रघुनन्दन! आपके बिना सीता और मैं दोनों दो घड़ी भी जीवित नहीं रह सकते। ठीक उसी तरह, जैसे जलसे निकाले हुए मत्स्य नहीं जीते हैं॥ ३१॥

नहि तातं न शत्रुघ्नं न सुमित्रां परंतप।
द्रष्टुमिच्छेयमद्याहं स्वर्गं चापि त्वया विना॥ ३२॥

'शत्रुओंको ताप देनेवाले रघुवीर! आपके बिना आज मैं न तो पिताजीको, न भाई शत्रुघ्नको, न माता सुमित्राको और न स्वर्गलोकको ही देखना चाहता हूँ'॥ ३२॥

ततस्तत्र समासीनौ नातिदूरे निरीक्ष्य ताम्।
न्यग्रोधे सुकृतां शय्यां भेजाते धर्मवत्सलौ॥ ३३॥

तदनन्तर वहाँ बैठे हुए धर्मवत्सल सीता और श्रीरामने थोड़ी ही दूरपर वटवृक्षके नीचे लक्ष्मणद्वारा सुन्दर ढंगसे निर्मित हुई शय्या देखकर उसीका आश्रय लिया (अर्थात् वे दोनों वहाँ जाकर सो गये।)॥ ३३॥

स लक्ष्मणस्योत्तमपुष्कलं वचो
निशम्य चैवं वनवासमादरात्।
समाः समस्ता विदधे परंतपः
प्रपद्य धर्मं सुचिराय राघवः॥ ३४॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले रघुनाथजीने इस प्रकार वनवासके प्रति आदरपूर्वक कहे हुए लक्ष्मणके अत्यन्त उत्तम वचनोंको सुनकर स्वयं भी दीर्घकालके लिये वनवास-रूप धर्मको स्वीकार करके सम्पूर्ण वर्षोंतक लक्ष्मणको अपने साथ वनमें रहनेकी अनुमति दे दी॥ ३४॥

ततस्तु तस्मिन् विजने महाबलौ
महावने राघववंशवर्धनौ।
न तौ भयं सम्भ्रममभ्युपेयतु-
र्यथैव सिंहौ गिरिसानुगोचरौ॥ ३५॥

तदनन्तर उस महान् निर्जन वनमें रघुवंशकी वृद्धि करनेवाले वे दोनों महाबली वीर पर्वतशिखरपर विचरनेवाले दो सिंहोंके समान कभी भय और उद्वेगको नहीं प्राप्त हुए॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रिपञ्चाशः सर्गः॥ ५३॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तिरपनवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ५३॥

★

चतुःपञ्चाशः सर्गः

लक्ष्मण और सीतासहित श्रीरामका प्रयागमें गङ्गा-यमुना-संगमके समीप भरद्वाज-आश्रममें जाना, मुनिके द्वारा उनका अतिथिसत्कार, उन्हें चित्रकूट पर्वतपर ठहरनेका आदेश तथा चित्रकूटकी महत्ता एवं शोभाका वर्णन

ते तु तस्मिन् महावृक्षे उषित्वा रजनीं शुभाम्।
विमलेऽभ्युदिते सूर्ये तस्माद् देशात् प्रतस्थिरे॥ १॥

उस महान् वृक्षके नीचे वह सुन्दर रात बिताकर वे सब लोग निर्मल सूर्योदयकालमें उस स्थानसे आगेको प्रस्थित हुए॥ १॥

यत्र भागीरथीं गङ्गां यमुनाभिप्रवर्तते।
जग्मुस्तं देशमुद्दिश्य विगाह्य सुमहद् वनम्॥ २॥

जहाँ भागीरथी गङ्गासे यमुना मिलती हैं, उस स्थानपर जानेके लिये वे महान् वनके भीतरसे होकर यात्रा करने लगे॥ २॥

ते भूमिभागान् विविधान् देशांश्चापि मनोहरान्।
अदृष्टपूर्वान् पश्यन्तस्तत्र तत्र यशस्विनः॥ ३॥

वे तीनों यशस्वी यात्री मार्गमें जहाँ-तहाँ जो पहले कभी देखनेमें नहीं आये थे, ऐसे अनेक प्रकारके भू-भाग तथा मनोहर प्रदेश देखते हुए आगे बढ़ रहे थे॥ ३॥

यथा क्षेमेण सम्पश्यन् पुष्पितान् विविधान् द्रुमान्।
निर्वृत्तमात्रे दिवसे रामः सौमित्रिमब्रवीत्॥ ४॥

सुखपूर्वक आरामसे उठते-बैठते यात्रा करते हुए उन तीनोंने फूलोंसे सुशोभित भाँति-भाँतिके वृक्षोंका दर्शन किया। इस प्रकार जब दिन प्रायः समाप्त हो चला, तब श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा—॥ ४॥

प्रयागमभितः पश्य सौमित्रे धूममुत्तमम्।
अग्नेर्भगवतः केतुं मन्ये संनिहितो मुनिः॥ ५॥

'सुमित्रानन्दन! वह देखो, प्रयागके पास भगवान् अग्निदेवकी ध्वजारूप उत्तम धूम उठ रहा है। मालूम होता है, मुनिवर भरद्वाज यहीं हैं॥ ५॥

नूनं प्राप्ताः स्म सम्भेदं गङ्गायमुनयोर्वयम्।
तथाहि श्रूयते शब्दो वारिणोर्वारिघर्षजः॥ ६॥

'निश्चय ही हमलोग गङ्गा-यमुनाके सङ्गमके पास आ पहुँचे हैं; क्योंकि दो नदियोंके जलोंके परस्पर टकरानेसे जो शब्द प्रकट होता है, वह सुनायी दे रहा है॥ ६॥

दारूणि परिभिन्नानि वनजैरुपजीविभिः।
छिन्नाश्चाप्याश्रमे चैते दृश्यन्ते विविधा द्रुमाः॥ ७॥

'वनमें उत्पन्न हुए फल-मूल और काष्ठ आदिसे जीविका चलानेवाले लोगोंने जो लकड़ियाँ काटी हैं, वे दिखायी देती हैं तथा जिनकी लकड़ियाँ काटी गयी हैं, वे नाना प्रकारके वृक्ष भी आश्रमके समीप दृष्टिगोचर हो रहे हैं'॥ ७॥

धन्विनौ तौ सुखं गत्वा लम्बमाने दिवाकरे।
गङ्गायमुनयोः संधौ प्रापतुर्निलयं मुनेः॥ ८॥

इस प्रकार बातचीत करते हुए वे दोनों धनुर्धर वीर श्रीराम और लक्ष्मण सूर्यास्त होते-होते गङ्गा-यमुनाके सङ्गमके समीप मुनिवर भरद्वाजके आश्रमपर जा पहुँचे॥ ८॥

रामस्त्वाश्रममासाद्य त्रासयन् मृगपक्षिणः।
गत्वा मुहूर्तमध्वानं भरद्वाजमुपागमत्॥ ९॥

श्रीरामचन्द्रजी आश्रमकी सीमामें पहुँचकर अपने धनुर्धर वेशके द्वारा वहाँके पशु-पक्षियोंको डराते हुए दो ही घड़ीमें तै करनेयोग्य मार्गसे चलकर भरद्वाज मुनिके समीप जा पहुँचे॥ ९॥

ततस्त्वाश्रममासाद्य मुनेर्दर्शनकाङ्क्षिणौ।
सीतयानुगतौ वीरौ दूरादेवावतस्थतुः॥ १०॥

आश्रममें पहुँचकर महर्षिके दर्शनकी इच्छावाले सीतासहित वे दोनों वीर कुछ दूरपर ही खड़े हो गये॥ १०॥

स प्रविश्य महात्मानमृषिं शिष्यगणैर्वृतम्।
संशितव्रतमेकाग्रं तपसा लब्धचक्षुषम्॥ ११॥
हुताग्निहोत्रं दृष्ट्वैव महाभागः कृताञ्जलिः।
रामः सौमित्रिणा सार्धं सीतया चाभ्यवादयत्॥ १२॥

(दूर खड़े हो महर्षिके शिष्यसे अपने आगमनकी सूचना दिलवाकर भीतर आनेकी अनुमति प्राप्त कर लेनेके बाद) पर्णशालामें प्रवेश करके उन्होंने तपस्याके प्रभावसे तीनों कालोंकी सारी बातें देखनेकी दिव्य दृष्टि प्राप्त कर लेनेवाले एकाग्रचित्त तथा तीक्ष्ण व्रतधारी महात्मा भरद्वाज ऋषिका दर्शन किया, जो अग्निहोत्र करके शिष्योंसे घिरे हुए आसनपर विराजमान थे। महर्षिको देखते ही लक्ष्मण और सीतासहित महाभाग श्रीरामने हाथ जोड़कर उनके चरणोंमें प्रणाम किया॥ ११-१२॥

न्यवेदयत चात्मानं तस्मै लक्ष्मणपूर्वजः।
पुत्रौ दशरथस्यावां भगवन् रामलक्ष्मणौ॥ १३॥
भार्या ममेयं कल्याणी वैदेही जनकात्मजा।
मां चानुयाता विजनं तपोवनमनिन्दिता॥ १४॥

तत्पश्चात् लक्ष्मणके बड़े भाई श्रीरघुनाथजीने उनसे इस प्रकार अपना परिचय दिया—'भगवन्! हम दोनों राजा दशरथके पुत्र हैं। मेरा नाम राम और इनका लक्ष्मण है तथा ये विदेहराज जनककी पुत्री और मेरी कल्याणमयी पत्नी सती साध्वी सीता हैं, जो निर्जन तपोवनमें भी मेरा साथ देनेके लिये आयी हैं॥ १३-१४॥

पित्रा प्रव्राज्यमानं मां सौमित्रिरनुजः प्रियः।
अयमन्वगमद् भ्राता वनमेव धृतव्रतः॥ १५॥

'पिताकी आज्ञासे मुझे वनकी ओर आते देख ये मेरे प्रिय अनुज भाई सुमित्राकुमार लक्ष्मण भी वनमें ही रहनेका व्रत लेकर मेरे पीछे-पीछे चले आये हैं॥ १५॥

पित्रा नियुक्ता भगवन् प्रवेक्ष्यामस्तपोवनम्।
धर्ममेवाचरिष्यामस्तत्र मूलफलाशनाः॥ १६॥

'भगवन्! इस प्रकार पिताकी आज्ञासे हम तीनों तपोवनमें जायँगे और वहाँ फल-मूलका आहार करते हुए धर्मका ही आचरण करेंगे'॥ १६॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राजपुत्रस्य धीमतः।
उपानयत धर्मात्मा गामर्घ्यमुदकं ततः॥ १७॥

परम बुद्धिमान् राजकुमार श्रीरामका वह वचन सुनकर धर्मात्मा भरद्वाज मुनिने उनके लिये आतिथ्यसत्कारके रूपमें एक गौ तथा अर्घ्य-जल समर्पित किये॥ १७॥

नानाविधानन्नरसान् वन्यमूलफलाश्रयान्।
तेभ्यो ददौ तप्ततपा वासं चैवाभ्यकल्पयत्॥ १८॥

उन तपस्वी महात्माने उन सबको नाना प्रकारके अन्न, रस और जंगली फल-मूल प्रदान किये। साथ ही उनके ठहरनेके लिये स्थानकी भी व्यवस्था की॥ १८॥

मृगपक्षिभिरासीनो मुनिभिश्च समन्ततः।
राममागतमभ्यर्च्य स्वागतेनागतं मुनिः॥ १९॥
प्रतिगृह्य तु तामर्चामुपविष्टं स राघवम्।
भरद्वाजोऽब्रवीद् वाक्यं धर्मयुक्तमिदं तदा॥ २०॥

महर्षिके चारों ओर मृग, पक्षी और ऋषि-मुनि बैठे थे और उनके बीचमें वे विराजमान थे। उन्होंने अपने आश्रमपर अतिथिरूपमें पधारे हुए श्रीरामका स्वागतपूर्वक सत्कार किया। उनके उस सत्कारको ग्रहण करके श्रीरामचन्द्रजी जब आसनपर विराजमान हुए, तब भरद्वाजजीने उनसे यह धर्मयुक्त वचन कहा—॥ १९-२०॥

चिरस्य खलु काकुत्स्थ पश्याम्यहमुपागतम्।
श्रुतं तव मया चैव विवासनमकारणम्॥ २१॥

'ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम! मैं इस आश्रमपर दीर्घकालसे तुम्हारे शुभागमनकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ (आज मेरा मनोरथ सफल हुआ है)। मैंने यह भी सुना है कि तुम्हें अकारण ही वनवास दे दिया गया है॥ २१॥

अवकाशो विविक्तोऽयं महानद्योः समागमे।
पुण्यश्च रमणीयश्च वसत्विह भवान् सुखम्॥ २२॥

'गङ्गा और यमुना—इन दोनों महानदियोंके संगमके पासका यह स्थान बड़ा ही पवित्र और एकान्त है। यहाँकी प्राकृतिक छटा भी मनोरम है, अतः तुम यहीं सुखपूर्वक निवास करो'॥ २२॥

एवमुक्तस्तु वचनं भरद्वाजेन राघवः।
प्रत्युवाच शुभं वाक्यं रामः सर्वहिते रतः॥ २३॥

भरद्वाज मुनिके ऐसा कहनेपर समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले रघुकुलनन्दन श्रीरामने इन शुभ वचनोंके द्वारा उन्हें उत्तर दिया—॥ २३॥

भगवन्नित आसन्नः पौरजानपदो जनः।
सुदर्शमिह मां प्रेक्ष्य मन्येऽहमिममाश्रमम्॥ २४॥
आगमिष्यति वैदेहीं मां चापि प्रेक्षको जनः।
अनेन कारणेनाहमिह वासं न रोचये॥ २५॥

'भगवन्! मेरे नगर और जनपदके लोग यहाँसे बहुत निकट पड़ते हैं, अतः मैं समझता हूँ कि यहाँ मुझसे मिलना सुगम समझकर लोग इस आश्रमपर मुझे और सीताको देखनेके लिये प्रायः आते-जाते रहेंगे; इस कारण यहाँ निवास करना मुझे ठीक नहीं जान पड़ता॥ २४-२५॥

एकान्ते पश्य भगवन्नाश्रमस्थानमुत्तमम्।
रमते यत्र वैदेही सुखार्हा जनकात्मजा॥ २६॥

'भगवन्! किसी एकान्त प्रदेशमें आश्रमके योग्य उत्तम स्थान देखिये (सोचकर बताइये), जहाँ सुख भोगनेके योग्य विदेहराजकुमारी जानकी प्रसन्नतापूर्वक रह सकें'॥ २६॥

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं भरद्वाजो महामुनिः।
राघवस्य तु तद् वाक्यमर्थग्राहकमब्रवीत्॥ २७॥

श्रीरामचन्द्रजीका यह शुभ वचन सुनकर महामुनि भरद्वाजजीने उनके उक्त उद्देश्यकी सिद्धिका बोध करानेवाली बात कही—॥ २७॥

दशक्रोश इतस्तात गिरिर्यस्मिन् निवत्स्यसि।
महर्षिसेवितः पुण्यः पर्वतः शुभदर्शनः॥ २८॥

'तात! यहाँसे दस कोस (अन्य व्याख्याके अनुसार ३० कोस)* की दूरीपर एक सुन्दर और महर्षियोंद्वारा सेवित परम पवित्र पर्वत है, जिसपर तुम्हें निवास करना होगा॥

गोलाङ्गूलानुचरितो वानरर्क्षनिषेवितः।
चित्रकूट इति ख्यातो गन्धमादनसंनिभः॥ २९॥

'उसपर बहुत-से लंगूर विचरते रहते हैं। वहाँ वानर और रीछ भी निवास करते हैं। वह पर्वत चित्रकूट नामसे विख्यात है और गन्धमादनके समान मनोहर है॥ २९॥

यावता चित्रकूटस्य नरः शृङ्गाण्यवेक्षते।
कल्याणानि समाधत्ते न पापे कुरुते मनः॥ ३०॥

'जब मनुष्य चित्रकूटके शिखरोंका दर्शन कर लेता है, तब कल्याणकारी पुण्य कर्मोंका फल पा लेता है और कभी पापमें मन नहीं लगाता है॥ ३०॥

ऋषयस्तत्र बहवो विहृत्य शरदां शतम्।
तपसा दिवमारूढाः कपालशिरसा सह॥ ३१॥

'वहाँ बहुत-से ऋषि, जिनके सिरके बाल वृद्धावस्थाके कारण खोपड़ीकी भाँति सफेद हो गये थे, तपस्याद्वारा सैकड़ों वर्षोंतक क्रीड़ा करके स्वर्गलोकको चले गये हैं॥ ३१॥

प्रविविक्तमहं मन्ये तं वासं भवतः सुखम्।
इह वा वनवासाय वस राम मया सह॥ ३२॥

'उसी पर्वतको मैं तुम्हारे लिये एकान्तवासके योग्य और सुखद मानता हूँ अथवा श्रीराम! तुम वनवासके उद्देश्यसे मेरे साथ इस आश्रमपर ही रहो'॥ ३२॥

---

* रामायणशिरोमणिकार दस कोसका अर्थ तीस कोस करते हैं और 'दश च दश च दश च' ऐसी व्युत्पत्ति करके एकशेषके नियमानुसार एक ही दशका प्रयोग होनेपर भी उसे ३० संख्याका बोधक मानते हैं। प्रयागसे चित्रकूटकी दूरी लगभग २८ कोस मानी जाती है, जो उपर्युक्त संख्यासे मिलती-जुलती ही है। आधुनिक मापके अनुसार प्रयागसे चित्रकूट ८० मील है। इस हिसाबसे चालीस कोसकी दूरी हुई। परंतु पहलेका क्रोशमान आधुनिक मानसे कुछ बड़ा रहा होगा, तभी यह अन्तर है।

स रामं सर्वकामैस्तं भरद्वाजः प्रियातिथिम्।
सभार्यं सह च भ्रात्रा प्रतिजग्राह हर्षयन्॥ ३३॥

ऐसा कहकर भरद्वाजजीने पत्नी और भ्रातासहित प्रिय अतिथि श्रीरामका हर्ष बढ़ाते हुए सब प्रकारकी मनोवाञ्छित वस्तुओंद्वारा उन सबका आतिथ्यसत्कार किया॥ ३३॥

तस्य प्रयागे रामस्य तं महर्षिमुपेयुषः।
प्रपन्ना रजनी पुण्या चित्राः कथयतः कथाः॥ ३४॥

प्रयागमें श्रीरामचन्द्रजी महर्षिके पास बैठकर विचित्र बातें करते रहे, इतनेमें ही पुण्यमयी रात्रिका आगमन हुआ॥

सीतातृतीयः काकुत्स्थः परिश्रान्तः सुखोचितः।
भरद्वाजाश्रमे रम्ये तां रात्रिमवसत् सुखम्॥ ३५॥

वे सुख भोगनेयोग्य होनेपर भी परिश्रमसे बहुत थक गये थे, इसलिये भरद्वाज मुनिके उस मनोहर आश्रममें श्रीरामने लक्ष्मण और सीताके साथ सुखपूर्वक वह रात्रि व्यतीत की॥

प्रभातायां तु शर्वर्यां भरद्वाजमुपागमत्।
उवाच नरशार्दूलो मुनिं ज्वलिततेजसम्॥ ३६॥

तदनन्तर जब रात बीती और प्रातःकाल हुआ, तब पुरुषसिंह श्रीराम प्रज्वलित तेजवाले भरद्वाज मुनिके पास गये और बोले—॥ ३६॥

शर्वरीं भगवन्नद्य सत्यशील तवाश्रमे।
उषिताः स्मोऽह वसतिमनुजानातु नो भवान्॥ ३७॥

'भगवन्! आप स्वभावतः सत्य बोलनेवाले हैं। आज हमलोगोंने आपके आश्रममें बड़े आरामसे रात बितायी है, अब आप हमें आगेके गन्तव्य-स्थानपर जानेके लिये आज्ञा प्रदान करें'॥ ३७॥

रात्र्यां तु तस्यां व्युष्टायां भरद्वाजोऽब्रवीदिदम्।
मधुमूलफलोपेतं चित्रकूटं व्रजेति ह॥ ३८॥
वासमौपयिकं मन्ये तव राम महाबल।

रात बीतने और सबेरा होनेपर श्रीरामके इस प्रकार पूछनेपर भरद्वाजजीने कहा—'महाबली श्रीराम! तुम मधुर फल-मूलसे सम्पन्न चित्रकूट पर्वतपर जाओ। मैं उसीको तुम्हारे लिये उपयुक्त निवासस्थान मानता हूँ॥ ३८½॥

नानानगगणोपेतः किन्नरोरगसेवितः॥ ३९॥
मयूरनादाभिरतो गजराजनिषेवितः।
गम्यतां भवता शैलश्चित्रकूटः स विश्रुतः॥ ४०॥

'वह सुविख्यात चित्रकूट पर्वत नाना प्रकारके वृक्षोंसे हरा-भरा है। वहाँ बहुत-से किन्नर और सर्प निवास करते हैं। मोरोंके कलरवोंसे वह और भी रमणीय प्रतीत होता है। बहुत-से गजराज उस पर्वतका सेवन करते हैं। तुम वहीं चले जाओ॥

पुण्यश्च रमणीयश्च बहुमूलफलायुतः।
तत्र कुञ्जरयूथानि मृगयूथानि चैव हि॥ ४१॥
विचरन्ति वनान्तेषु तानि द्रक्ष्यसि राघव।
सरित्प्रस्रवणप्रस्थान् दरीकन्दरनिर्झरान्।
चरतः सीतया सार्धं नन्दिष्यति मनस्तव॥ ४२॥

'वह पर्वत परम पवित्र, रमणीय तथा बहुसंख्यक फल-मूलोंसे सम्पन्न है। वहाँ झुंड-के-झुंड हाथी और हिरन वनके भीतर विचरते रहते हैं। रघुनन्दन! तुम उन सबको प्रत्यक्ष देखोगे। मन्दाकिनी नदी, अनेकानेक जलस्रोत, पर्वतशिखर, गुफा, कन्दरा और झरने भी तुम्हारे देखनेमें आयेंगे। वह पर्वत सीताके साथ विचरते हुए तुम्हारे मनको आनन्द प्रदान करेगा॥ ४१-४२॥

प्रहृष्टकोयष्टिभकोकिलस्वनै-
र्विनोदयन्तं च सुखं परं शिवम्।
मृगैश्च मत्तैर्बहुभिश्च कुञ्जरैः
सुरम्यमासाद्य समावसाश्रयम्॥ ४३॥

'हर्षमें भरे हुए टिट्टिभ और कोकिलोंके कलरवोंद्वारा वह पर्वत यात्रियोंका मनोरञ्जन-सा करता है। वह परम सुखद एवं कल्याणकारी है, मदमत्त मृगों और बहुसंख्यक मतवाले हाथियोंने उसकी रमणीयताको और बढ़ा दिया है। तुम उसी पर्वतपर जाकर डेरा डालो और उसमें निवास करो'॥ ४३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुःपञ्चाशः सर्गः॥ ५४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौवनवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ५४॥

—★—

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

भरद्वाजजीका श्रीराम आदिके लिये स्वस्तिवाचन करके उन्हें चित्रकूटका मार्ग बताना, उन सबका अपने ही बनाये हुए बेड़ेसे यमुनाजीको पार करना, सीताकी यमुना और श्यामवटसे प्रार्थना, तीनोंका यमुनाके किनारेके मार्गसे एक कोसतक जाकर वनमें घूमना-फिरना, यमुनाजीके समतल तटपर रात्रिमें निवास करना

उषित्वा रजनीं तत्र राजपुत्रावरिंदमौ।
महर्षिमभिवाद्याथ जग्मतुस्तं गिरिं प्रति॥ १॥

उस आश्रममें रातभर रहकर शत्रुओंका दमन करनेवाले वे दोनों राजकुमार महर्षिको प्रणाम करके चित्रकूट पर्वतपर जानेको उद्यत हुए॥ १॥

तेषां स्वस्त्ययनं चैव महर्षिः स चकार ह।
प्रस्थितान् प्रेक्ष्य तांश्चैव पिता पुत्रानिवौरसान्॥ २॥

उन तीनोंको प्रस्थान करते देख महर्षिने उनके लिये उसी

प्रकार स्वस्तिवाचन किया जैसे पिता अपने औरस पुत्रोंको यात्रा करते देख उनके लिये मङ्गलसूचक आशीर्वाद देता है ॥ २ ॥

ततः प्रचक्रमे वक्तुं वचनं स महामुनिः।
भरद्वाजो महातेजा रामं सत्यपराक्रमम् ॥ ३ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी महामुनि भरद्वाजने सत्य पराक्रमी श्रीरामसे इस प्रकार कहना आरम्भ किया— ॥ ३ ॥

गङ्गायमुनयोः संधिमासाद्य मनुजर्षभौ।
कालिन्दीमनुगच्छेतां नदीं पश्चान्मुखाश्रिताम् ॥ ४ ॥

'नरश्रेष्ठ ! तुम दोनों भाई गङ्गा और यमुनाके संगमपर पहुँचकर जिनमें पश्चिममुखी होकर गङ्गा मिली हैं, उन महानदी यमुनाके निकट जाना ॥ ४ ॥

अथासाद्य तु कालिन्दीं प्रतिस्रोतःसमागताम्।
तस्यास्तीर्थं प्रचरितं प्रकामं प्रेक्ष्य राघव।
तत्र यूयं प्लवं कृत्वा तरतांशुमतीं नदीम् ॥ ५ ॥

'रघुनन्दन ! तदनन्तर गङ्गाजीके जलके वेगसे अपने प्रवाहके प्रतिकूल दिशामें मुड़ी हुई यमुनाके पास पहुँचकर लोगोंके आने-जानेके कारण उनके पदचिह्नोंसे चिह्नित हुए अवतरण-प्रदेश (पार उतरनेके लिये उपयोगी घाट) को अच्छी तरह देख-भालकर वहाँ जाना और एक बेड़ा बनाकर उसीके द्वारा सूर्यकन्या यमुनाके उस पार उतर जाना ॥ ५ ॥

ततो न्यग्रोधमासाद्य महान्तं हरितच्छदम्।
परीतं बहुभिर्वृक्षैः श्यामं सिद्धोपसेवितम् ॥ ६ ॥
तस्मिन् सीताञ्जलिं कृत्वा प्रयुञ्जीताशिषां क्रियाम्।
समासाद्य च तं वृक्षं वसेद् वातिक्रमेत वा ॥ ७ ॥

'तत्पश्चात् आगे जानेपर एक बहुत बड़ा बरगदका वृक्ष मिलेगा, जिसके पत्ते हरे रंगके हैं। वह चारों ओरसे बहुसंख्यक दूसरे वृक्षोंद्वारा घिरा हुआ है। उस वृक्षका नाम श्यामवट है। उसकी छायाके नीचे बहुत-से सिद्ध पुरुष निवास करते हैं। वहाँ पहुँचकर सीता दोनों हाथ जोड़कर उस वृक्षसे आशीर्वादकी याचना करें। यात्रीकी इच्छा हो तो उस वृक्षके पास जाकर कुछ कालतक वहाँ निवास करे अथवा वहाँसे आगे बढ़ जाय ॥ ६-७ ॥

क्रोशमात्रं ततो गत्वा नीलं प्रेक्ष्य च काननम्।
सल्लकीबदरीमिश्रं रम्यं वंशैश्च यामुनैः ॥ ८ ॥

'श्यामवटके एक कोस दूर जानेपर तुम्हें नीलवनका दर्शन होगा; वहाँ सल्लकी (चीड़) और बेरके भी पेड़ मिले हुए हैं। यमुनाके तटपर उत्पन्न हुए बाँसोंके कारण वह और भी रमणीय दिखायी देता है ॥ ८ ॥

स पन्थाश्चित्रकूटस्य गतस्य बहुशो मया।
रम्यो मार्दवयुक्तश्च दावैश्चैव विवर्जितः ॥ ९ ॥

'यह वही स्थान है जहाँसे चित्रकूटको रास्ता जाता है। मैं उस मार्गसे कई बार गया हूँ। वहाँकी भूमि कोमल और दृश्य रमणीय है। उधर कभी दावानलका भय नहीं होता है' ॥ ९ ॥

इति पन्थानमादिश्य महर्षिः संन्यवर्तत।
अभिवाद्य तथेत्युक्त्वा रामेण विनिवर्तितः ॥ १० ॥

इस प्रकार मार्ग बताकर जब महर्षि भरद्वाज लौटने लगे, तब श्रीरामने 'तथास्तु' कहकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया और कहा—'अब आप आश्रमको लौट जाइये' ॥ १० ॥

उपावृत्ते मुनौ तस्मिन् रामो लक्ष्मणमब्रवीत्।
कृतपुण्याः स्म भद्रं ते मुनिर्यन्नोऽनुकम्पते ॥ ११ ॥

उन महर्षिके लौट जानेपर श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा—'सुमित्रानन्दन ! तुम्हारा कल्याण हो। ये मुनि हमारे ऊपर जो इतनी कृपा रखते हैं, इससे जान पड़ता है कि हमलोगोंने पहले कभी महान् पुण्य किया है' ॥ ११ ॥

इति तौ पुरुषव्याघ्रौ मन्त्रयित्वा मनस्विनौ।
सीतामेवाग्रतः कृत्वा कालिन्दीं जग्मतुर्नदीम् ॥ १२ ॥

इस प्रकार बातचीत करते हुए वे दोनों मनस्वी पुरुषसिंह सीताको ही आगे करके यमुना नदीके तटपर गये ॥ १२ ॥

अथासाद्य तु कालिन्दीं शीघ्रस्रोतस्विनीं नदीम्।
चिन्तामापेदिरे सद्यो नदीजलतितीर्षवः ॥ १३ ॥

वहाँ कालिन्दीका स्रोत बड़ी तीव्रगतिसे प्रवाहित हो रहा था; वहाँ पहुँचकर वे इस चिन्तामें पड़े कि कैसे नदीको पार किया जाय; क्योंकि वे तुरंत ही यमुनाजीके जलको पार करना चाहते थे ॥ १३ ॥

तौ काष्ठसंघाटमथो चक्रतुः सुमहाप्लवम्।
शुष्कैर्वंशैः समाकीर्णमुशीरैश्च समावृतम् ॥ १४ ॥
ततो वैतसशाखाश्च जम्बुशाखाश्च वीर्यवान्।
चकार लक्ष्मणश्छित्त्वा सीतायाः सुखमासनम् ॥ १५ ॥

फिर उन दोनों भाइयोंने जंगलके सूखे काठ बटोरकर उन्हींके द्वारा एक बहुत बड़ा बेड़ा तैयार किया। वह बेड़ा सूखे बाँसोंसे व्याप्त था और उसके ऊपर खस बिछाया गया था। तदनन्तर पराक्रमी लक्ष्मणने बेंत और जामुनकी टहनियोंको काटकर सीताके बैठनेके लिये एक सुखद आसन तैयार किया ॥ १४-१५ ॥

तत्र श्रियमिवाचिन्त्यां रामो दाशरथिः प्रियाम्।
ईषत्स लज्जमानां तामध्यारोपयत प्लवम् ॥ १६ ॥
पार्श्वे तत्र च वैदेह्या वसने भूषणानि च।
प्लवे कठिनकाजं च रामश्चक्रे समाहितः ॥ १७ ॥

दशरथनन्दन श्रीरामने लक्ष्मीके समान अचिन्त्य ऐश्वर्यवाली अपनी प्रिया सीताको जो कुछ लज्जित-सी हो रही थीं, उस बेड़ेपर चढ़ा दिया और उनके बगलमें वस्त्र एवं आभूषण रख दिये; फिर श्रीरामने बड़ी सावधानीके साथ खन्ती (कुदारी) और बकरेके चमड़ेसे मढ़ी हुई पिटारीको भी बेड़ेपर ही रखा ॥ १६-१७ ॥

आरोप्य सीतां प्रथमं संघाटं परिगृह्य तौ।
ततः प्रतेरतुर्यत्तौ प्रीतौ दशरथात्मजौ ॥ १८ ॥

इस प्रकार पहले सीताको चढ़ाकर वे दोनों भाई दशरथकुमार श्रीराम और लक्ष्मण उस बेड़ेको पकड़कर खेने लगे। उन्होंने बड़े प्रयत्न और प्रसन्नताके साथ नदीको पार करना आरम्भ किया ॥ १८ ॥

कालिन्दीमध्यमायाता सीता त्वेनामवन्दत।
स्वस्ति देवि तरामि त्वां पारयेन्मे पतिर्व्रतम्॥ १९ ॥

यमुनाकी बीच धारामें आनेपर सीताने उन्हें प्रणाम किया और कहा—'देवि! इस बेड़ेद्वारा मैं आपके पार जा रही हूँ। आप ऐसी कृपा करें, जिससे हमलोग सकुशल पार हो जायँ और मेरे पतिदेव अपनी वनवासविषयक प्रतिज्ञाको निर्विघ्न पूर्ण करें ॥ १९ ॥

यक्ष्ये त्वां गोसहस्रेण सुराघटशतेन च।
स्वस्ति प्रत्यागते रामे पुरीमिक्ष्वाकुपालिताम्॥ २० ॥

'इक्ष्वाकुवंशी वीरोंद्वारा पालित अयोध्यापुरीमें श्रीरघुनाथजीके सकुशल लौट आनेपर मैं आपके किनारे एक सहस्र गौओंका दान करूँगी और सैकड़ों देवदुर्लभ पदार्थ अर्पित करके आपकी पूजा सम्पन्न करूँगी' ॥ २० ॥

कालिन्दीमथ सीता तु याचमाना कृताञ्जलिः।
तीरमेवाभिसम्प्राप्ता दक्षिणं वरवर्णिनी॥ २१ ॥

इस प्रकार सुन्दरी सीता हाथ जोड़कर यमुनाजीसे प्रार्थना कर रही थीं, इतनेहीमें वे दक्षिण तटपर जा पहुँचीं ॥ २१ ॥

ततः प्लवेनांशुमतीं शीघ्रगामूर्मिमालिनीम्।
तीरजैर्बहुभिर्वृक्षैः संतेरुर्यमुनां नदीम्॥ २२ ॥

इस तरह उन तीनोंने उसी बेड़ेद्वारा बहुसंख्यक तटवर्ती वृक्षोंसे सुशोभित और तरङ्गमालाओंसे अलंकृत शीघ्रगामिनी सूर्य-कन्या यमुना नदीको पार किया ॥ २२ ॥

ते तीर्णाः प्लवमुत्सृज्य प्रस्थाय यमुनावनात्।
श्यामं न्यग्रोधमासेदुः शीतलं हरितच्छदम्॥ २३ ॥

पार उतरकर उन्होंने बेड़ेको तो वहीं तटपर छोड़ दिया और यमुना-तटवर्ती वनसे प्रस्थान करके वे हरे-हरे पत्तोंसे सुशोभित शीतल छायावाले श्यामवटके पास जा पहुँचे ॥ २३ ॥

न्यग्रोधं समुपागम्य वैदेही चाभ्यवन्दत।
नमस्तेऽस्तु महावृक्ष पारयेन्मे पतिर्व्रतम्॥ २४ ॥

वटके समीप पहुँचकर विदेहनन्दिनी सीताने उसे मस्तक झुकाया और इस प्रकार कहा—'महावृक्ष! आपको नमस्कार है। आप ऐसी कृपा करें, जिससे मेरे पतिदेव अपने वनवासविषयक व्रतको पूर्ण करें ॥ २४ ॥

कौसल्यां चैव पश्येम सुमित्रां च यशस्विनीम्।
इति सीताञ्जलिं कृत्वा पर्यगच्छन्मनस्विनी॥ २५ ॥

'तथा हमलोग वनसे सकुशल लौटकर माता कौसल्या तथा यशस्विनी सुमित्रादेवीका दर्शन कर सकें।' इस प्रकार कहकर मनस्विनी सीताने हाथ जोड़े हुए उस वृक्षकी परिक्रमा की ॥ २५ ॥

अवलोक्य ततः सीतामायाचन्तीमनिन्दिताम्।
दयितां च विधेयां च रामो लक्ष्मणमब्रवीत्॥ २६ ॥

सदा अपनी आज्ञाके अधीन रहनेवाली प्राणप्यारी सती-साध्वी सीताको श्यामवटसे आशीर्वादकी याचना करती देख श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा— ॥ २६ ॥

सीतामादाय गच्छ त्वमग्रतो भरतानुज।
पृष्ठतोऽनुगमिष्यामि सायुधो द्विपदां वर॥ २७ ॥

'भरतके छोटे भाई नरश्रेष्ठ लक्ष्मण! तुम सीताको साथ लेकर आगे-आगे चलो और मैं धनुष धारण किये पीछेसे तुमलोगोंकी रक्षा करता हुआ चलूँगा ॥ २७ ॥

यद् यत् फलं प्रार्थयते पुष्पं वा जनकात्मजा।
तत् तत् प्रयच्छ वैदेह्या यत्रास्या रमते मनः॥ २८ ॥

'विदेहकुलनन्दिनी जनकदुलारी सीता जो-जो फल या फूल माँगे अथवा जिस वस्तुको पाकर इनका मन प्रसन्न रहे, वह सब इन्हें देते रहो' ॥ २८ ॥

एकैकं पादपं गुल्मं लतां वा पुष्पशालिनीम्।
अदृष्टरूपां पश्यन्ती रामं प्रपच्छ साबला॥ २९ ॥

अबला सीता एक-एक वृक्ष, झाड़ी अथवा पहलेकी न देखी हुई पुष्पशोभित लताको देखकर उसके विषयमें श्रीरामचन्द्रजीसे पूछती थीं ॥ २९ ॥

रमणीयान् बहुविधान् पादपान् कुसुमोत्करान्।
सीतावचनसंरब्ध आनयामास लक्ष्मणः॥ ३० ॥

तथा लक्ष्मण सीताके कथनानुसार तुरंत ही भाँति-भाँतिके वृक्षोंकी मनोहर शाखाएँ और फूलोंके गुच्छे ला-लाकर उन्हें देते थे ॥ ३० ॥

विचित्रवालुकजलां हंससारसनादिताम्।
रेमे जनकराजस्य सुता प्रेक्ष्य तदा नदीम्॥ ३१ ॥

उस समय जनकराजकिशोरी सीता विचित्र बालुका और जलराशिसे सुशोभित तथा हंस और सारसोंके कलनादसे मुखरित यमुना नदीको देखकर बहुत प्रसन्न होती थीं ॥ ३१ ॥

क्रोशमात्रं ततो गत्वा भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
बहून् मेध्यान् मृगान् हत्वा चेरतुर्यमुनावने॥ ३२ ॥

इस तरह एक कोसकी यात्रा करके दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण (प्राणियोंके हितके लिये) मार्गमें मिले हुए हिंसक पशुओंका वध करते हुए यमुना-तटवर्ती वनमें विचरने लगे ॥ ३२ ॥

विहृत्य ते बर्हिणपूगनादिते
शुभे वने वारणवानरायुते।
समं नदीवप्रमुपेत्य सत्वरं
निवासमाजग्मुरदीनदर्शनाः॥ ३३ ॥

उदार दृष्टिवाले वे सीता, लक्ष्मण और श्रीराम मोरोंके

झुंडोंकी मीठी बोलीसे गूँजते तथा हाथियों और वानरोंसे भरे हुए उस सुन्दर वनमें घूम-फिरकर शीघ्र ही यमुनानदीके समतल तटपर आ गये और रातमें उन्होंने वहीं निवास किया ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पचपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशः सर्गः

वनकी शोभा देखते-दिखाते हुए श्रीराम आदिका चित्रकूटमें पहुँचना, वाल्मीकिजीका दर्शन करके श्रीरामकी आज्ञासे लक्ष्मणद्वारा पर्णशालाका निर्माण तथा उसकी वास्तुशान्ति करके उन सबका कुटीमें प्रवेश

अथ रात्र्यां व्यतीतायामवसुप्तमनन्तरम्।
प्रबोधयामास शनैर्लक्ष्मणं रघुपुङ्गवः ॥ १ ॥

तदनन्तर रात्रि व्यतीत होनेपर रघुकुलशिरोमणि श्रीरामने अपने जागनेके बाद वहाँ सोये हुए लक्ष्मणको धीरेसे जगाया (और इस प्रकार कहा—) ॥ १ ॥

सौमित्रे शृणु वन्यानां वल्गु व्याहरतां स्वनम्।
सम्प्रतिष्ठामहे कालः प्रस्थानस्य परंतप ॥ २ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले सुमित्राकुमार! मीठी बोली बोलनेवाले शुक-पिक आदि जंगली पक्षियोंका कलरव सुनो। अब हमलोग यहाँसे प्रस्थान करें; क्योंकि प्रस्थानके योग्य समय आ गया है' ॥ २ ॥

प्रसुप्तस्तु ततो भ्रात्रा समये प्रतिबोधितः।
जहौ निद्रां च तन्द्रां च प्रसक्तं च परिश्रमम् ॥ ३ ॥

सोये हुए लक्ष्मणने अपने बड़े भाईद्वारा ठीक समयपर जगा दिये जानेपर निद्रा, आलस्य तथा राह चलनेकी थकावटको दूर कर दिया ॥ ३ ॥

तत उत्थाय ते सर्वे स्पृष्ट्वा नद्याः शिवं जलम्।
पन्थानमृषिभिर्जुष्टं चित्रकूटस्य तं ययुः ॥ ४ ॥

फिर सब लोग उठे और यमुना नदीके शीतल जलमें स्नान आदि करके ऋषि-मुनियोंद्वारा सेवित चित्रकूटके उस मार्गपर चल दिये ॥ ४ ॥

ततः सम्प्रस्थितः काले रामः सौमित्रिणा सह।
सीतां कमलपत्राक्षीमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

उस समय लक्ष्मणके साथ वहाँसे प्रस्थित हुए श्रीरामने कमलनयनी सीतासे इस प्रकार कहा— ॥ ५ ॥

आदीप्तानिव वैदेहि सर्वतः पुष्पितान् नगान्।
स्वैः पुष्पैः किंशुकान् पश्य मालिनः शिशिरात्यये ॥ ६ ॥

'विदेहराजनन्दिनी! इस वसन्त-ऋतुमें सब ओरसे खिले हुए इन पलाश-वृक्षोंको तो देखो। ये अपने ही पुष्पोंसे पुष्पमालाधारी-से प्रतीत होते हैं और उन फूलोंकी अरुण प्रभाके कारण प्रज्वलित होते-से दिखायी देते हैं ॥ ६ ॥

पश्य भल्लातकान् बिल्वान् नरैरनुपसेवितान्।
फलपुष्पैरवनतान् नूनं शक्ष्याम जीवितुम् ॥ ७ ॥

'देखो, ये भिलावे और बेलके पेड़ अपने फूलों और फलोंके भारसे झुके हुए हैं। दूसरे मनुष्योंका यहाँतक आना सम्भव न होनेसे ये उनके द्वारा उपयोगमें नहीं लाये गये हैं; अतः निश्चय ही इन फलोंसे हम जीवन-निर्वाह कर सकेंगे' ॥ ७ ॥

पश्य द्रोणप्रमाणानि लम्बमानानि लक्ष्मण।
मधूनि मधुकारीभिः सम्भृतानि नगे नगे ॥ ८ ॥

(फिर लक्ष्मणसे कहा—) 'लक्ष्मण! देखो, यहाँके एक-एक वृक्षमें मधुमक्खियोंद्वारा लगाये और पुष्ट किये गये मधुके छत्ते कैसे लटक रहे हैं। इन सबमें एक-एक द्रोण (लगभग सोलह सेर) मधु भरा हुआ है ॥ ८ ॥

एष क्रोशति नत्यूहस्तं शिखी प्रतिकूजति।
रमणीये वनोद्देशे पुष्पसंस्तरसंकटे ॥ ९ ॥

'वनका यह भाग बड़ा ही रमणीय है, यहाँ फूलोंकी वर्षा-सी हो रही है और सारी भूमि पुष्पोंसे आच्छादित दिखायी देती है। इस वनप्रान्तमें यह चातक 'पी कहाँ' 'पी कहाँ' की रट लगा रहा है। उधर वह मोर बोल रहा है, मानो पपीहेकी बातका उत्तर दे रहा हो ॥ ९ ॥

मातङ्गयूथानुसृतं पक्षिसंघानुनादितम्।
चित्रकूटमिमं पश्य प्रवृद्धशिखरं गिरिम् ॥ १० ॥

'यह रहा चित्रकूट पर्वत—इसका शिखर बहुत ऊँचा है। झुंड-के-झुंड हाथी उसी ओर जा रहे हैं और वहाँ बहुत-से पक्षी चहक रहे हैं ॥ १० ॥

समभूमितले रम्ये द्रुमैर्बहुभिरावृते।
पुण्ये रंस्यामहे तात चित्रकूटस्य कानने ॥ ११ ॥

'तात! जहाँकी भूमि समतल है और जो बहुत-से वृक्षोंसे भरा हुआ है, चित्रकूटके उस पवित्र काननमें हमलोग बड़े आनन्दसे विचरेंगे' ॥ ११ ॥

ततस्तौ पादचारेण गच्छन्तौ सह सीतया।
रम्यमासेदतुः शैलं चित्रकूटं मनोरमम् ॥ १२ ॥

सीताके साथ दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण पैदल ही यात्रा करते हुए यथासमय रमणीय एवं मनोरम पर्वत चित्रकूटपर जा पहुँचे ॥ १२ ॥

तं तु पर्वतमासाद्य नानापक्षिगणायुतम्।
बहुमूलफलं रम्यं सम्पन्नसरसोदकम्॥ १३॥

वह पर्वत नाना प्रकारके पक्षियोंसे परिपूर्ण था। वहाँ फल-मूलोंकी बहुतायत थी और स्वादिष्ट जल पर्याप्त मात्रामें उपलब्ध होता था। उस रमणीय शैलके समीप जाकर श्रीरामने कहा—॥ १३॥

मनोज्ञोऽयं गिरिः सौम्य नानाद्रुमलतायुतः।
बहुमूलफलो रम्यः स्वाजीवः प्रतिभाति मे॥ १४॥

'सौम्य! यह पर्वत बड़ा मनोहर है। नाना प्रकारके वृक्ष और लताएँ इसकी शोभा बढ़ाती हैं। यहाँ फल-मूल भी बहुत हैं; यह रमणीय तो है ही। मुझे जान पड़ता है कि यहाँ बड़े सुखसे जीवन-निर्वाह हो सकता है॥ १४॥

मुनयश्च महात्मानो वसन्त्यस्मिञ्शिलोच्चये।
अयं वासो भवेत् तात वयमत्र वसेमहि॥ १५॥

'इस पर्वतपर बहुत-से महात्मा मुनि निवास करते हैं। तात! यही हमारा वासस्थान होनेयोग्य है। हम यहीं निवास करेंगे'॥ १५॥

इति सीता च रामश्च लक्ष्मणश्च कृताञ्जलिः।
अभिगम्याश्रमं सर्वे वाल्मीकिमभिवादयन्॥ १६॥

ऐसा निश्चय करके सीता, श्रीराम और लक्ष्मणने हाथ जोड़कर महर्षि वाल्मीकिके आश्रममें प्रवेश किया और सबने उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया॥ १६॥

तान् महर्षिः प्रमुदितः पूजयामास धर्मवित्।
आस्यतामिति चोवाच स्वागतं तं निवेद्य च॥ १७॥

धर्मको जाननेवाले महर्षि उनके आगमनसे बहुत प्रसन्न हुए और 'आपलोगोंका स्वागत है। आइये, बैठिये।' ऐसा कहते हुए उन्होंने उनका आदर-सत्कार किया॥ १७॥

ततोऽब्रवीन्महाबाहुर्लक्ष्मणं लक्ष्मणाग्रजः।
संनिवेद्य यथान्यायमात्मानमृषये प्रभुः॥ १८॥

तदनन्तर महाबाहु भगवान् श्रीरामने महर्षिको अपना यथोचित परिचय दिया और लक्ष्मणसे कहा—॥ १८॥

लक्ष्मणानय दारूणि दृढानि च वराणि च।
कुरुष्वावसथं सौम्य वासे मेऽभिरतं मनः॥ १९॥

'सौम्य लक्ष्मण! तुम जंगलसे अच्छी-अच्छी मजबूत लकड़ियाँ ले आओ और रहनेके लिये एक कुटी तैयार करो। यहाँ निवास करनेको मेरा जी चाहता है'॥ १९॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सौमित्रिर्विविधान् द्रुमान्।
आजहार ततश्चक्रे पर्णशालामरिंदमः॥ २०॥

श्रीरामकी यह बात सुनकर शत्रुदमन लक्ष्मण अनेक प्रकारके वृक्षोंकी डालियाँ काट लाये और उनके द्वारा एक पर्णशाला तैयार की॥ २०॥

तां निष्ठितां बद्धकटां दृष्ट्वा रामः सुदर्शनाम्।
शुश्रूषमाणमेकाग्रमिदं वचनमब्रवीत्॥ २१॥

वह कुटी बाहर-भीतरसे लकड़ीकी ही दीवारसे सुस्थिर बनायी गयी थी और उसे ऊपरसे छा दिया गया था, जिससे वर्षा आदिका निवारण हो। वह देखनेमें बड़ी सुन्दर लगती थी। उसे तैयार हुई देखकर एकाग्रचित्त होकर अपनी बात सुननेवाले लक्ष्मणसे श्रीरामने इस प्रकार कहा—॥ २१॥

ऐणेयं मांसमाहृत्य शालां यक्ष्यामहे वयम्।
कर्तव्यं वास्तुशमनं सौमित्रे चिरजीविभिः॥ २२॥

'सुमित्राकुमार! हम गजकन्दका गूदा लेकर उसीसे पर्णशालाके अधिष्ठाता देवताओंका पूजन करेंगे;[1] क्योंकि दीर्घ जीवनकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंको वास्तुशान्ति अवश्य करनी चाहिये॥ २२॥

मृगं हत्वाऽऽनय क्षिप्रं लक्ष्मणेह शुभेक्षण।
कर्तव्यः शास्त्रदृष्टो हि विधिर्धर्ममनुस्मर॥ २३॥

'कल्याणदर्शी लक्ष्मण! तुम 'गजकन्द' नामक कन्दको[2] उखाड़कर या खोदकर शीघ्र यहाँ ले आओ; क्योंकि शास्त्रोक्त विधिका अनुष्ठान हमारे लिये अवश्यकर्तव्य है। तुम धर्मका ही सदा चिन्तन किया करो'॥ २३॥

भ्रातुर्वचनमाज्ञाय लक्ष्मणः परवीरहा।
चकार च यथोक्तं हि तं रामः पुनरब्रवीत्॥ २४॥

भाईकी इस बातको समझकर शत्रुवीरोंका वध करनेवाले लक्ष्मणने उनके कथनानुसार कार्य किया। तब श्रीरामने पुनः उनसे कहा—॥ २४॥

ऐणेयं श्रपयस्वैतच्छालां यक्ष्यामहे वयम्।
त्वर सौम्यमुहूर्तोऽयं ध्रुवश्च दिवसो ह्ययम्॥ २५॥

'लक्ष्मण! इस गजकन्दको पकाओ। हम पर्णशालाके अधिष्ठाता देवताओंका पूजन करेंगे। जल्दी करो। यह

---

१. यहाँ 'ऐणेयं मांसम्' का अर्थ है—गजकन्द नामक कन्द-विशेषका गूदा। इस प्रसंगमें मांसपरक अर्थ नहीं लेना चाहिये; क्योंकि ऐसा अर्थ लेनेपर 'हित्वा मुनिवदामिषम्' (२।२०।२९), 'फलानि मूलानि च भक्षयन् वने' (२।३४।५९) तथा 'धर्ममेवाचरिष्यामस्तत्र मूलफलाशनाः' (२।५४।१६) इत्यादि रूपसे की हुई श्रीरामकी प्रतिज्ञाओंसे विरोध पड़ेगा। इन वचनोंमें निरामिष रहने और फल-मूल खाकर धर्माचरण करनेकी ही बात कही गयी है। 'रामो द्विर्नाभिभाषते' (श्रीराम दो तरहकी बात नहीं कहते हैं, एक बार जो कह दिया, वह अटल है) इस कथनके अनुसार श्रीरामकी प्रतिज्ञा टलनेवाली नहीं है।

२. मदनपाल-निघण्टुके अनुसार 'मृग' का अर्थ गजकन्द है।

सौम्यमुहूर्त है और यह दिन भी 'ध्रुव'[1] संज्ञक है (अतः इसीमें यह शुभ कार्य होना चाहिये)' ॥ २५ ॥

स लक्ष्मणः कृष्ण मृगं हत्वा मेध्यं प्रतापवान्।
अथ चिक्षेप सौमित्रिः समिद्धे जातवेदसि ॥ २६ ॥

प्रतापी सुमित्राकुमार लक्ष्मणने पवित्र और काले छिलकेवाले गजकन्दको उखाड़कर प्रज्वलित आगमें डाल दिया ॥

तत् तु पक्वं समाज्ञाय निष्टप्तं छिन्नशोणितम्।
लक्ष्मणः पुरुषव्याघ्रमथ राघवमब्रवीत् ॥ २७ ॥

रक्तविकारका नाश करनेवाले[2] उस गजकंदको भलीभाँति पका हुआ जानकर लक्ष्मणने पुरुषसिंह श्रीरघुनाथजीसे कहा— ॥

अयं सर्वः समस्ताङ्गः शृतः कृष्णमृगो मया।
देवता देवसंकाश यजस्व कुशलो ह्यसि ॥ २८ ॥

'देवोपम तेजस्वी श्रीरघुनाथजी! यह काले छिलकेवाला गजकन्द, जो बिगड़े हुए सभी अङ्गोंको ठीक करनेवाला है,[3] मेरेद्वारा सम्पूर्णतः पका दिया गया है। अब आप वास्तुदेवताओंका यजन कीजिये; क्योंकि आप इस कर्ममें कुशल हैं ॥ २८ ॥

रामः स्नात्वा तु नियतो गुणवाञ्जपकोविदः।
संग्रहेणाकरोत् सर्वान् मन्त्रान् सत्रावसानिकान् ॥ २९ ॥

सद्गुणसम्पन्न तथा जपकर्मके ज्ञाता श्रीरामचन्द्रजीने स्नान करके शौच-संतोषादि नियमोंके पालनपूर्वक संक्षेपसे उन सभी मन्त्रोंका पाठ एवं जप किया, जिनसे वास्तुयज्ञकी पूर्ति हो जाती है ॥ २९ ॥

इष्ट्वा देवगणान् सर्वान् विवेशावसथं शुचिः।
बभूव च मनोह्लादो रामस्यामिततेजसः ॥ ३० ॥

समस्त देवताओंका पूजन करके पवित्र भावसे श्रीरामने पर्णकुटीमें प्रवेश किया। उस समय अमिततेजस्वी श्रीरामके मनमें बड़ा आह्लाद हुआ ॥ ३० ॥

वैश्वदेवबलिं कृत्वा रौद्रं वैष्णवमेव च।
वास्तुसंशमनीयानि मङ्गलानि प्रवर्तयन् ॥ ३१ ॥

तत्पश्चात् बलिवैश्वदेव कर्म, रुद्रयाग तथा वैष्णवयाग करके श्रीरामने वास्तुदोषकी शान्तिके लिये मङ्गलपाठ किया ॥ ३१ ॥

जपं च न्यायतः कृत्वा स्नात्वा नद्यां यथाविधि।
पापसंशमनं रामश्चकार बलिमुत्तमम् ॥ ३२ ॥

नदीमें विधिपूर्वक स्नान करके न्यायतः गायत्री आदि मन्त्रोंका जप करनेके अनन्तर श्रीरामने पञ्चसूना आदि दोषोंकी शान्तिके लिये उत्तम बलिकर्म सम्पन्न किया ॥ ३२ ॥

वेदिस्थलविधानानि चैत्यान्यायतनानि च।
आश्रमस्यानुरूपाणि स्थापयामास राघवः ॥ ३३ ॥

रघुनाथजीने अपनी छोटी-सी कुटीके अनुरूप ही वेदिस्थलों (आठ दिक्पालोंके लिये बलि-समर्पणके स्थानों), चैत्यों (गणेश आदिके स्थानों) तथा आयतनों (विष्णु आदि देवोंके स्थानों) का निर्माण एवं स्थापना की ॥ ३३ ॥

तां वृक्षपर्णच्छदनां मनोज्ञां
यथाप्रदेशं सुकृतां निवाताम्।
वासाय सर्वे विविशुः समेताः
सभां यथा देवगणाः सुधर्माम् ॥ ३४ ॥

वह मनोहर कुटी उपयुक्त स्थानपर बनी थी। उसे वृक्षोंके पत्तोंसे छाया गया था और उसके भीतर प्रचण्ड वायुसे बचनेका पूरा प्रबन्ध था। सीता, लक्ष्मण और श्रीराम सबने एक साथ उसमें निवासके लिये प्रवेश किया। ठीक वैसे ही, जैसे देवतालोग सुधर्मा सभामें प्रवेश करते हैं ॥ ३४ ॥

सुरम्यमासाद्य तु चित्रकूटं
नदीं च तां माल्यवतीं सुतीर्थाम्।
ननन्द हृष्टो मृगपक्षिजुष्टां
जहौ च दुःखं पुरविप्रवासात् ॥ ३५ ॥

चित्रकूट पर्वत बड़ा ही रमणीय था। वहाँ उत्तम तीर्थों (तीर्थस्थान, सीढ़ी और घाटों) से सुशोभित माल्यवती (मन्दाकिनी) नदी बह रही थी, जिसका बहुत-से पशु-पक्षी सेवन करते थे। उस पर्वत और नदीका सांनिध्य पाकर श्रीरामचन्द्रजीको बड़ा हर्ष और आनन्द हुआ। वे नगरसे दूर वनमें आनेके कारण होनेवाले कष्टको भूल गये ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षट्पञ्चाशः सर्गः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें छप्पनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

—★—

१. 'उत्तरात्रयरोहिण्यो भास्करश्च ध्रुवं स्थिरम्।' (मुहूर्तचिन्तामणि)

अर्थात् तीनों उत्तरा और रोहिणी नक्षत्र तथा रविवार—ये 'ध्रुव' एवं 'स्थिर' संज्ञक हैं। इसमें गृहशान्ति या वास्तुशान्ति आदि कार्य अच्छे माने गये हैं।

२. 'छिन्नशोणितम्' की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'छिन्नं शोणितं रक्तविकाररूपं रोगजातं येन सः तम्।' 'गजकन्द' रोगविकारका नाशक है यह वैद्यकमें प्रसिद्ध है। मदनपाल-निघण्टुके 'चद्दोषादिकुष्ठहन्ता' आदि वचनसे भी यह चर्मदोष तथा कुष्ठ आदि रक्तविकारका नाशक सिद्ध होता है।

३. 'समस्ताङ्गः' की व्युत्पत्ति यों समझनी चाहिये—'सम्यग् भवन्ति अस्तानि अङ्गानि येन सः।'

सप्तपञ्चाशः सर्गः

सुमन्त्रका अयोध्याको लौटना, उनके मुखसे श्रीरामका संदेश सुनकर पुरवासियोंका विलाप, राजा दशरथ और कौसल्याकी मूर्च्छा तथा अन्तःपुरकी रानियोंका आर्तनाद

कथयित्वा तु दुःखार्तः सुमन्त्रेण चिरं सह।
रामे दक्षिणकूलस्थे जगाम स्वगृहं गुहः॥ १॥

इधर, जब श्रीराम गङ्गाके दक्षिणतटपर उतर गये, तब गुह दुःखसे व्याकुल हो सुमन्त्रके साथ बड़ी देरतक बातचीत करता रहा। इसके बाद वह सुमन्त्रको साथ ले अपने घरको चला गया॥ १॥

भरद्वाजाभिगमनं प्रयागे च सभाजनम्।
आ गिरेर्गमनं तेषां तत्रस्थैरभिलक्षितम्॥ २॥

श्रीरामचन्द्रजीका प्रयागमें भरद्वाजके आश्रमपर जाना, मुनिके द्वारा सत्कार पाना तथा चित्रकूट पर्वतपर पहुँचना—ये सब वृत्तान्त शृङ्गवेरके निवासी गुप्तचरोंने देखे और लौटकर गुहको इन बातोंसे अवगत कराया॥ २॥

अनुज्ञातः सुमन्त्रोऽथ योजयित्वा हयोत्तमान्।
अयोध्यामेव नगरीं प्रययौ गाढदुर्मनाः॥ ३॥

इन सब बातोंको जानकर सुमन्त्र गुहसे विदा ले अपने उत्तम घोड़ोंको रथमें जोतकर अयोध्याकी ओर ही लौट पड़े। उस समय उनके मनमें बड़ा दुःख हो रहा था॥ ३॥

स वनानि सुगन्धीनि सरितश्च सरांसि च।
पश्यन् यतो ययौ शीघ्रं ग्रामाणि नगराणि च॥ ४॥

वे मार्गमें सुगन्धित वनों, नदियों, सरोवरों, गाँवों और नगरोंको देखते हुए बड़ी सावधानीके साथ शीघ्रतापूर्वक जा रहे थे॥ ४॥

ततः सायाह्नसमये द्वितीयेऽहनि सारथिः।
अयोध्यां समनुप्राप्य निरानन्दां ददर्श ह॥ ५॥

शृङ्गवेरपुरसे लौटनेके दूसरे दिन सायंकालमें अयोध्या पहुँचकर उन्होंने देखा, सारी पुरी आनन्दशून्य हो गयी है॥

स शून्यामिव निःशब्दां दृष्ट्वा परमदुर्मनाः।
सुमन्त्रश्चिन्तयामास शोकवेगसमाहतः॥ ६॥

वहाँ कहीं एक शब्द भी सुनायी नहीं देता था। सारी पुरी ऐसी नीरव थी, मानो मनुष्योंसे सूनी हो गयी हो। अयोध्याकी ऐसी दशा देखकर सुमन्त्रके मनमें बड़ा दुःख हुआ। वे शोकके वेगसे पीड़ित हो इस प्रकार चिन्ता करने लगे—॥

कच्चिन्न सगजा साश्वा सजना सजनाधिपा।
रामसंतापदुःखेन दग्धा शोकाग्निना पुरी॥ ७॥

'कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि श्रीरामके विरहजनित संतापके दुःखसे व्यथित हो हाथी, घोड़े, मनुष्य और महाराजसहित सारी अयोध्यापुरी शोकाग्निसे दग्ध हो गयी हो'॥ ७॥

इति चिन्तापरः सूतो वाजिभिः शीघ्रयायिभिः।
नगरद्वारमासाद्य त्वरितः प्रविवेश ह॥ ८॥

इसी चिन्तामें पड़े हुए सारथि सुमन्त्रने शीघ्रगामी घोड़ोंद्वारा नगरद्वारपर पहुँचकर तुरंत ही पुरीके भीतर प्रवेश किया॥ ८॥

सुमन्त्रमभिधावन्तः शतशोऽथ सहस्रशः।
क्व राम इति पृच्छन्तः सूतमभ्यद्रवन् नराः॥ ९॥

सुमन्त्रको देखकर सैकड़ों और हजारों पुरवासी मनुष्य दौड़े आये और 'श्रीराम कहाँ हैं?' यह पूछते हुए उनके रथके साथ-साथ दौड़ने लगे॥ ९॥

तेषां शशंस गङ्गायामहमापृच्छ्य राघवम्।
अनुज्ञातो निवृत्तोऽस्मि धार्मिकेण महात्मना॥ १०॥
ते तीर्णा इति विज्ञाय बाष्पपूर्णमुखा नराः।
अहो धिगिति निःश्वस्य हा रामेति विचुक्रुशुः॥ ११॥

उस समय सुमन्त्रने उन लोगोंसे कहा—'सज्जनो! मैं गङ्गाजीके किनारेतक श्रीरघुनाथजीके साथ गया था। वहाँसे उन धर्मनिष्ठ महात्माने मुझे लौट जानेकी आज्ञा दी। अतः मैं उनसे विदा लेकर यहाँ लौट आया हूँ। 'वे तीनों व्यक्ति गङ्गाके उस पार चले गये' यह जानकर सब लोगोंके मुखपर आँसुओंकी धाराएँ बह चलीं। 'अहो! हमें धिक्कार है।' ऐसा कहकर वे लंबी साँसें खींचते और 'हा राम!' की पुकार मचाते हुए जोर-जोरसे करुणक्रन्दन करने लगे॥ १०-११॥

शुश्राव च वचस्तेषां वृन्दं वृन्दं च तिष्ठताम्।
हताः स्म खलु ये नेह पश्याम इति राघवम्॥ १२॥

सुमन्त्रने उनकी बातें सुनीं। वे झुंड-के-झुंड खड़े होकर कह रहे थे—'हाय! निश्चय ही हमलोग मारे गये; क्योंकि अब हम यहाँ श्रीरामचन्द्रजीको नहीं देख पायँगे॥ १२॥

दानयज्ञविवाहेषु समाजेषु महत्सु च।
न द्रक्ष्यामः पुनर्जातु धार्मिकं राममन्तरा॥ १३॥

'दान, यज्ञ, विवाह तथा बड़े-बड़े सामाजिक उत्सवोंके समय अब हम कभी धर्मात्मा श्रीरामको अपने बीचमें खड़ा हुआ नहीं देख सकेंगे॥ १३॥

किं समर्थं जनस्यास्य किं प्रियं किं सुखावहम्।
इति रामेण नगरं पित्रेव परिपालितम्॥ १४॥

'अमुक पुरुषके लिये कौन-सी वस्तु उपयोगी है? क्या करनेसे उसका प्रिय होगा? और कैसे किस-किस वस्तुसे उसे सुख मिलेगा, इत्यादि बातोंका विचार करते हुए श्रीरामचन्द्रजी पिताकी भाँति इस नगरका पालन करते थे'॥

वातायनगतानां च स्त्रीणामन्वन्तरापणम्।
राममेवाभितप्तानां शुश्राव परिदेवनाम्॥ १५॥

बाजारके बीचसे निकलते समय सारथिके कानोंमें स्त्रियोंके

रोनेकी आवाज सुनायी दी, जो महलोंकी खिड़कियोंमें बैठकर श्रीरामके लिये ही संतप्त हो विलाप कर रही थीं ॥ १५ ॥

स राजमार्गमध्येन सुमन्त्रः पिहिताननः।
यत्र राजा दशरथस्तदेवोपययौ गृहम् ॥ १६ ॥

राजमार्गके बीचसे जाते हुए सुमन्त्रने कपड़ेसे अपना मुँह ढक लिया। वे रथ लेकर उसी भवनकी ओर गये, जहाँ राजा दशरथ मौजूद थे ॥ १६ ॥

सोऽवतीर्य रथाच्छीघ्रं राजवेश्म प्रविश्य च।
कक्ष्याः सप्ताभिचक्राम महाजनसमाकुलाः ॥ १७ ॥

राजमहलके पास पहुँचकर वे शीघ्र ही रथसे उतर पड़े और भीतर प्रवेश करके बहुत-से मनुष्योंसे भरी हुई सात ड्योढ़ियोंको पार कर गये ॥ १७ ॥

हर्म्यैर्विमानैः प्रासादैरवेक्ष्याथ समागतम्।
हाहाकारकृता नार्यो रामादर्शनकर्शिताः ॥ १८ ॥

धनियोंकी अट्टालिकाओं, सतमंजिले मकानों तथा राजभवनोंमें बैठी हुई स्त्रियाँ सुमन्त्रको लौटा हुआ देख श्रीरामके दर्शनसे वञ्चित होनेके दुःखसे दुर्बल हो हाहाकार कर उठीं ॥ १८ ॥

आयतैर्विमलैर्नेत्रैरश्रुवेगपरिप्लुतैः।
अन्योन्यमभिवीक्षन्तेऽव्यक्तमार्ततराः स्त्रियः ॥ १९ ॥

उनके कज्जल आदिसे रहित बड़े-बड़े नेत्र आँसुओंके वेगमें डूबे हुए थे। वे स्त्रियाँ अत्यन्त आर्त होकर अव्यक्त-भावसे एक-दूसरीकी ओर देख रही थीं ॥ १९ ॥

ततो दशरथस्त्रीणां प्रासादेभ्यस्ततस्ततः।
रामशोकाभितप्तानां मन्दं शुश्राव जल्पितम् ॥ २० ॥

तदनन्तर राजमहलोंमें जहाँ-तहाँसे श्रीरामके शोकसे संतप्त हुई राजा दशरथकी रानियोंके मन्दस्वरमें कहे गये वचन सुनायी पड़े ॥ २० ॥

सह रामेण निर्यातो विना राममिहागतः।
सूतः किं नाम कौसल्यां क्रोशन्तीं प्रतिवक्ष्यति ॥ २१ ॥

'ये सारथि सुमन्त्र श्रीरामके साथ यहाँसे गये थे और उनके बिना ही यहाँ लौटे हैं, ऐसी दशामें करुणक्रन्दन करती हुई कौसल्याको ये क्या उत्तर देंगे? ॥ २१ ॥

यथा च मन्ये दुर्जीवमेवं न सुकरं ध्रुवम्।
आच्छिद्य पुत्रे निर्याते कौसल्या यत्र जीवति ॥ २२ ॥

'मैं समझती हूँ, जैसे जीवन दुःखजनित है, निश्चय ही उसी प्रकार इसका नाश भी सुकर नहीं है; तभी तो न्यायतः प्राप्त हुए अभिषेकको त्यागकर पुत्रके वनमें चले जानेपर भी कौसल्या अभीतक जीवित हैं' ॥ २२ ॥

सत्यरूपं तु तद् वाक्यं राजस्त्रीणां निशामयन्।
प्रदीप्त इव शोकेन विवेश सहसा गृहम् ॥ २३ ॥

रानियोंकी वह सच्ची बात सुनकर शोकसे दग्ध-से होते हुए सुमन्त्रने सहसा राजभवनमें प्रवेश किया ॥ २३ ॥

स प्रविश्याष्टमीं कक्ष्यां राजानं दीनमातुरम्।
पुत्रशोकपरिद्यूनमपश्यत् पाण्डुरे गृहे ॥ २४ ॥

आठवीं ड्योढ़ीमें प्रवेश करके उन्होंने देखा, राजा एक श्वेत भवनमें बैठे और पुत्रशोकसे मलिन, दीन एवं आतुर हो रहे हैं ॥ २४ ॥

अभिगम्य तमासीनं राजानमभिवाद्य च।
सुमन्त्रो रामवचनं यथोक्तं प्रत्यवेदयत् ॥ २५ ॥

सुमन्त्रने वहाँ बैठे हुए महाराजके पास जाकर उन्हें प्रणाम किया और उन्हें श्रीरामचन्द्रजीकी कही हुई बातें ज्यों-की-त्यों सुना दीं ॥ २५ ॥

स तूष्णीमेव तच्छ्रुत्वा राजा विद्रुतमानसः।
मूर्च्छितो न्यपतद् भूमौ रामशोकाभिपीडितः ॥ २६ ॥

राजाने चुपचाप ही वह सुन लिया, सुनकर उनका हृदय द्रवित (व्याकुल) हो गया। फिर वे श्रीरामके शोकसे अत्यन्त पीड़ित हो मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २६ ॥

ततोऽन्तःपुरमाविद्धं मूर्च्छिते पृथिवीपतौ।
उच्छ्रित्य बाहू चुक्रोश नृपतौ पतिते क्षितौ ॥ २७ ॥

महाराजके मूर्च्छित हो जानेपर सारा अन्तःपुर दुःखसे व्यथित हो उठा। राजाके पृथ्वीपर गिरते ही सब लोग दोनों बाहें उठाकर जोर-जोरसे चीत्कार करने लगे ॥ २७ ॥

सुमित्रया तु सहिता कौसल्या पतितं पतिम्।
उत्थापयामास तदा वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २८ ॥

उस समय कौसल्याने सुमित्राकी सहायतासे अपने गिरे हुए पतिको उठाया और इस प्रकार कहा— ॥ २८ ॥

इमं तस्य महाभाग दूतं दुष्करकारिणः।
वनवासादनुप्राप्तं कस्मान्न प्रतिभाषसे ॥ २९ ॥

'महाभाग! ये सुमन्त्रजी दुष्कर कर्म करनेवाले श्रीरामके दूत होकर—उनका संदेश लेकर वनवाससे लौटे हैं। आप इनसे बात क्यों नहीं करते हैं? ॥ २९ ॥

अद्येममनयं कृत्वा व्यपत्रपसि राघव।
उत्तिष्ठ सुकृतं तेऽस्तु शोके न स्यात् सहायता ॥ ३० ॥

'रघुनन्दन! पुत्रको वनवास दे देना अन्याय है। यह अन्याय करके आप लज्जित क्यों हो रहे हैं? उठिये, आपको अपने सत्यके पालनका पुण्य प्राप्त हो। जब आप इस तरह शोक करेंगे, तब आपके सहायकोंका समुदाय भी आपके साथ ही नष्ट हो जायगा ॥ ३० ॥

देव यस्या भयाद् रामं नानुपृच्छसि सारथिम्।
नेह तिष्ठति कैकेयी विश्रब्धं प्रतिभाष्यताम् ॥ ३१ ॥

'देव! आप जिसके भयसे सुमन्त्रजीसे श्रीरामका समाचार नहीं पूछ रहे हैं, वह कैकेयी यहाँ मौजूद नहीं है; अतः निर्भय होकर बात कीजिये' ॥ ३१ ॥

सा तथोक्त्वा महाराजं कौसल्या शोकलालसा।
धरण्यां निपपाताशु बाष्पविप्लुतभाषिणी ॥ ३२ ॥

महाराजसे ऐसा कहकर कौसल्याका गला भर आया। आँसुओंके कारण उनसे बोला नहीं गया और वे शोकसे व्याकुल होकर तुरंत ही पृथ्वीपर गिर पड़ीं॥ ३२॥

विलपन्तीं तथा दृष्ट्वा कौसल्यां पतितां भुवि।
पतिं चावेक्ष्य ताः सर्वाः समन्ताद् रुरुदुः स्त्रियः॥ ३३॥

इस प्रकार विलाप करती हुई कौसल्याको भूमिपर पड़ी देख और अपने पतिकी मूर्च्छित दशापर दृष्टिपात करके सभी रानियाँ उन्हें चारों ओरसे घेरकर रोने लगीं॥ ३३॥

ततस्तमन्तःपुरनादमुत्थितं
समीक्ष्य वृद्धास्तरुणाश्च मानवाः।
स्त्रियश्च सर्वा रुरुदुः समन्ततः
पुरं तदासीत् पुनरेव संकुलम्॥ ३४॥

अन्तःपुरसे उठे हुए उस आर्तनादको देख-सुनकर नगरके बूढ़े और जवान पुरुष रो पड़े। सारी स्त्रियाँ भी रोने लगीं। वह सारा नगर उस समय सब ओरसे पुनः शोकसे व्याकुल हो उठा॥ ३४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तपञ्चाशः सर्गः॥ ५७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सतावनवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ५७॥

अष्टपञ्चाशः सर्गः

महाराज दशरथकी आज्ञासे सुमन्त्रका श्रीराम और लक्ष्मणके संदेश सुनाना

प्रत्याश्वस्तो यदा राजा मोहात् प्रत्यागतस्मृतिः।
तदाजुहाव तं सूतं रामवृत्तान्तकारणात्॥ १॥

मूर्च्छा दूर होनेपर जब राजाको चेत हुआ तब सुस्थिर चित्त होकर उन्होंने श्रीरामका वृत्तान्त सुननेके लिये सारथि सुमन्त्रको सामने बुलाया॥ १॥

तदा सूतो महाराजं कृताञ्जलिरुपस्थितः।
राममेवानुशोचन्तं दुःखशोकसमन्वितम्॥ २॥

उस समय सुमन्त्र श्रीरामके ही शोक और चिन्तामें निरन्तर डूबे रहनेवाले दुःख-शोकसे व्याकुल महाराज दशरथके पास हाथ जोड़कर खड़े हो गये॥ २॥

वृद्धं परमसंतप्तं नवग्रहमिव द्विपम्।
विनिःश्वसन्तं ध्यायन्तमस्वस्थमिव कुञ्जरम्॥ ३॥
राजा तु रजसा सूतं ध्वस्ताङ्गं समुपस्थितम्।
अश्रुपूर्णमुखं दीनमुवाच परमार्तवत्॥ ४॥

जैसे जंगलसे तुरंत पकड़कर लाया हुआ हाथी अपने यूथपति गजराजका चिन्तन करके लंबी साँस खींचता और अत्यन्त संतप्त तथा अस्वस्थ हो जाता है, उसी प्रकार बूढ़े राजा दशरथ श्रीरामके लिये अत्यन्त संतप्त हो लंबी साँस खींचकर उन्हींका ध्यान करते हुए अस्वस्थ-से हो गये थे। राजाने देखा, सारथिका सारा शरीर धूलसे भर गया है। यह सामने खड़ा है। इसके मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही है और यह अत्यन्त दीन दिखायी देता है। उस अवस्थामें राजाने अत्यन्त आर्त होकर उससे पूछा—॥ ३-४॥

क्व नु वत्स्यति धर्मात्मा वृक्षमूलमुपाश्रितः।
सोऽत्यन्तसुखितः सूत किमशिष्यति राघवः॥ ५॥

'सूत! धर्मात्मा श्रीराम वृक्षकी जड़का सहारा ले कहाँ निवास करेंगे? जो अत्यन्त सुखमें पले थे, वे मेरे लाड़ले राम वहाँ क्या खायेंगे?॥ ५॥

दुःखस्यानुचितो दुःखं सुमन्त्र शयनोचितः।
भूमिपालात्मजो भूमौ शेते कथमनाथवत्॥ ६॥

'सुमन्त्र! जो दुःख भोगनेके योग्य नहीं हैं, उन्हीं श्रीरामको भारी दुःख प्राप्त हुआ है। जो राजोचित शय्यापर शयन करनेयोग्य हैं, वे राजकुमार श्रीराम अनाथकी भाँति भूमिपर कैसे सोते होंगे?॥ ६॥

यं यान्तमनुयान्ति स्म पदातिरथकुञ्जराः।
स वत्स्यति कथं रामो विजनं वनमाश्रितः॥ ७॥

'जिनके यात्रा करते समय पीछे-पीछे पैदलों, रथियों और हाथीसवारोंकी सेना चलती थी, वे ही श्रीराम निर्जन वनमें पहुँचकर वहाँ कैसे निवास करेंगे?॥ ७॥

व्यालैर्मृगैराचरितं कृष्णसर्पनिषेवितम्।
कथं कुमारौ वैदेह्या सार्धं वनमुपाश्रितौ॥ ८॥

'जहाँ अजगर और व्याघ्र-सिंह आदि हिंसक पशु विचरते हैं तथा काले सर्प जिसका सेवन करते हैं, उसी वनका आश्रय लेनेवाले मेरे दोनों कुमार सीताके साथ वहाँ कैसे रहेंगे?॥ ८॥

सुकुमार्या तपस्विन्या सुमन्त्र सह सीतया।
राजपुत्रौ कथं पादैरवरुह्य रथाद् गतौ॥ ९॥

'सुमन्त्र! परम सुकुमारी तपस्विनी सीताके साथ वे दोनों राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण रथसे उतरकर पैदल कैसे गये होंगे?॥ ९॥

सिद्धार्थः खलु सूत त्वं येन दृष्टौ ममात्मजौ।
वनान्तं प्रविशन्तौ तावश्विनाविव मन्दरम्॥ १०॥

'सारथे! तुम कृतकृत्य हो गये; क्योंकि जैसे दोनों अश्विनीकुमार मन्दराचलके वनमें जाते हैं, उसी प्रकार वनके भीतर प्रवेश करते हुए मेरे दोनों पुत्रोंको तुमने अपनी आँखोंसे देखा है॥ १०॥

किमुवाच वचो रामः किमुवाच च लक्ष्मणः।
सुमन्त्र वनमासाद्य किमुवाच च मैथिली॥ ११॥

'सुमन्त्र! वनमें पहुँचकर श्रीरामने तुमसे क्या कहा? लक्ष्मणने भी क्या कहा? तथा मिथिलेशकुमारी सीताने क्या संदेश दिया?॥ ११॥

आसितं शयितं भुक्तं सूत रामस्य कीर्तय।
जीविष्याम्यहमेतेन ययातिरिव साधुषु॥ १२॥

'सूत! तुम श्रीरामके बैठने, सोने और खाने-पीनेसे सम्बन्ध रखनेवाली बातें बताओ। जैसे स्वर्गसे गिरे हुए राजा ययाति सत्पुरुषोंके बीचमें उपस्थित होनेपर सत्संगके प्रभावसे पुनः सुखी हो गये थे, उसी प्रकार तुम-जैसे साधुपुरुषके मुखसे पुत्रका वृत्तान्त सुननेसे मैं सुखपूर्वक जीवन धारण कर सकूँगा'॥ १२॥

इति सूतो नरेन्द्रेण चोदितः सज्जमानया।
उवाच वाचा राजानं स बाष्पपरिबद्धया॥ १३॥

महाराजके इस प्रकार पूछनेपर सारथि सुमन्त्रने आँसुओंसे रुँधी हुई गद्गद वाणीद्वारा उनसे कहा—॥

अब्रवीन्मे महाराज धर्ममेवानुपालयन्।
अञ्जलिं राघवः कृत्वा शिरसाभिप्रणम्य च॥ १४॥
सूत मद्वचनात् तस्य तातस्य विदितात्मनः।
शिरसा वन्दनीयस्य वन्द्यौ पादौ महात्मनः॥ १५॥
सर्वमन्तःपुरं वाच्यं सूत मद्वचनात् त्वया।
आरोग्यमविशेषेण यथार्हमभिवादनम्॥ १६॥

'महाराज! श्रीरामचन्द्रजीने धर्मका ही निरन्तर पालन करते हुए दोनों हाथ जोड़कर और मस्तक झुकाकर कहा है—'सूत! तुम मेरी ओरसे आत्मज्ञानी तथा वन्दनीय मेरे महात्मा पिताके दोनों चरणोंमें प्रणाम कहना तथा अन्तःपुरमें सभी माताओंको मेरे आरोग्यका समाचार देते हुए उनसे विशेषरूपसे मेरा यथोचित प्रणाम निवेदन करना॥

माता च मम कौसल्या कुशलं चाभिवादनम्।
अप्रमादं च वक्तव्या ब्रूयाश्चैनामिदं वचः॥ १७॥
धर्मनित्या यथाकालमग्न्यगारपरा भव।
देवि देवस्य पादौ च देववत् परिपालय॥ १८॥

'इसके बाद मेरी माता कौसल्यासे मेरा प्रणाम करके बताना कि 'मैं कुशलसे हूँ और धर्मपालनमें सावधान रहता हूँ।' फिर उनको मेरा यह संदेश सुनाना कि 'मा! तुम सदा धर्ममें तत्पर रहकर यथासमय अग्निशालाके सेवन (अग्निहोत्र-कार्य) में संलग्न रहना। देवि! महाराजको देवताके समान मानकर उनके चरणोंकी सेवा करना॥

अभिमानं च मानं च त्यक्त्वा वर्तस्व मातृषु।
अनुराजानमार्यां च कैकेयीमम्ब कारय॥ १९॥

'अभिमान[1] और मानको[2] त्यागकर सभी माताओंके प्रति समान बर्ताव करना—उनके साथ हिल-मिलकर रहना। अम्ब! जिसमें राजाका अनुराग है, उस कैकेयीको भी श्रेष्ठ मानकर उसका सत्कार करना॥ १९॥

कुमारे भरते वृत्तिर्वर्तितव्या च राजवत्।
अप्यज्येष्ठा हि राजानो राजधर्ममनुस्मर॥ २०॥

'कुमार भरतके प्रति राजोचित बर्ताव करना। राजा छोटी उम्रके हों तो भी वे आदरणीय ही होते हैं—इस राजधर्मको याद रखना'॥ २०॥

भरतः कुशलं वाच्यो वाच्यो मद्वचनेन च।
सर्वास्वेव यथान्यायं वृत्तिं वर्तस्व मातृषु॥ २१॥

'कुमार भरतसे भी मेरा कुशल-समाचार बताकर उनसे मेरी ओरसे कहना—'भैया! तुम सभी माताओंके प्रति न्यायोचित बर्ताव करते रहना॥ २१॥

वक्तव्यश्च महाबाहुरिक्ष्वाकुकुलनन्दनः।
पितरं यौवराज्यस्थो राज्यस्थमनुपालय॥ २२॥

'इक्ष्वाकुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले महाबाहु भरतसे यह भी कहना चाहिये कि युवराजपदपर अभिषिक्त होनेके बाद भी तुम राज्यसिंहासनपर विराजमान पिताजीकी रक्षा एवं सेवामें संलग्न रहना॥ २२॥

अतिक्रान्तवया राजा मा स्मैनं व्यपरोरुधः।
कुमारराज्ये जीवस्व तस्यैवाज्ञाप्रवर्तनात्॥ २३॥

'राजा बहुत बूढ़े हो गये हैं—ऐसा मानकर तुम उनका विरोध न करना—उन्हें राजसिंहासनसे न उतारना। युवराज-पदपर ही प्रतिष्ठित रहकर उनकी आज्ञाका पालन करते हुए ही जीवन-निर्वाह करना॥ २३॥

अब्रवीच्चापि मां भूयो भृशमश्रूणि वर्तयन्।
मातेव मम माता ते द्रष्टव्या पुत्रगर्धिनी॥ २४॥
इत्येवं मां महाबाहुर्ब्रुवन्नेव महायशाः।
रामो राजीवपत्राक्षो भृशमश्रूण्यवर्तयत्॥ २५॥

'फिर उन्होंने नेत्रोंसे बहुत आँसू बहाते हुए मुझसे भरतसे कहनेके लिये ही यह संदेश दिया—'भरत! मेरी पुत्रवत्सला माताको अपनी ही माताके समान समझना।' मुझसे इतना ही कहकर महाबाहु महायशस्वी कमलनयन श्रीराम बड़े वेगसे आँसुओंकी वर्षा करने लगे॥ २४-२५॥

लक्ष्मणस्तु सुसंक्रुद्धो निःश्वसन् वाक्यमब्रवीत्।
केनायमपराधेन राजपुत्रो विवासितः॥ २६॥

'परंतु लक्ष्मण उस समय अत्यन्त कुपित हो लंबी साँस खींचते हुए बोले—'सुमन्त्रजी! किस अपराधके कारण महाराजने इन राजकुमार श्रीरामको देशनिकाला दे दिया है?॥ २६॥

---

१. मुख्य पटरानी होनेका अहङ्कार। २. अपने बड़प्पनके घमंडमें आकर दूसरोंके तिरस्कार करनेकी भावना।

राज्ञा तु खलु कैकेय्या लघु चाश्रुत्य शासनम्।
कृतं कार्यमकार्यं वा वयं येनाभिपीडिताः ॥ २७ ॥

'राजाने कैकेयीका आदेश सुनकर झटसे उसे पूर्ण करनेकी प्रतिज्ञा कर ली। उनका यह कार्य उचित हो या अनुचित, परंतु हमलोगोंको उसके कारण कष्ट भोगना ही पड़ता है ॥ २७ ॥

यदि प्रव्राजितो रामो लोभकारणकारितम्।
वरदाननिमित्तं वा सर्वथा दुष्कृतं कृतम् ॥ २८ ॥

'श्रीरामको वनवास देना कैकेयीके लोभके कारण हुआ हो अथवा राजाके दिये हुए वरदानके कारण, मेरी दृष्टिमें यह सर्वथा पाप ही किया गया है ॥ २८ ॥

इदं तावद् यथाकाममीश्वरस्य कृते कृतम्।
रामस्य तु परित्यागे न हेतुमुपलक्षये ॥ २९ ॥

'यह श्रीरामको वनवास देनेका कार्य राजाकी स्वेच्छाचारिताके कारण किया गया हो अथवा ईश्वरकी प्रेरणासे, परंतु मुझे श्रीरामके परित्यागका कोई समुचित कारण नहीं दिखायी देता है ॥ २९ ॥

असमीक्ष्य समारब्धं विरुद्धं बुद्धिलाघवात्।
जनयिष्यति संक्रोशं राघवस्य विवासनम् ॥ ३० ॥

'बुद्धिकी कमी अथवा तुच्छताके कारण उचित-अनुचितका विचार किये बिना ही जो यह राम-वनवासरूपी शास्त्रविरुद्ध कार्य आरम्भ किया गया है, यह अवश्य ही निन्दा और दुःखका जनक होगा ॥ ३० ॥

अहं तावन्महाराजे पितृत्वं नोपलक्षये।
भ्राता भर्ता च बन्धुश्च पिता च मम राघवः ॥ ३१ ॥

'मुझे इस समय महाराजमें पिताका भाव नहीं दिखायी देता। अब तो रघुकुलनन्दन श्रीराम ही मेरे भाई, स्वामी, बन्धु-बान्धव तथा पिता हैं ॥ ३१ ॥

सर्वलोकप्रियं त्यक्त्वा सर्वलोकहिते रतम्।
सर्वलोकोऽनुरज्येत कथं चानेन कर्मणा ॥ ३२ ॥

'जो सम्पूर्ण लोकोंके हितमें तत्पर होनेके कारण सब लोगोंके प्रिय हैं, उन श्रीरामका परित्याग करके राजाने जो यह क्रूरतापूर्ण पापकृत्य किया है, इसके कारण अब सारा संसार उनमें कैसे अनुरक्त रह सकता है? (अब उनमें राजोचित गुण कहाँ रह गया है?) ॥ ३२ ॥

सर्वप्रजाभिरामं हि रामं प्रव्राज्य धार्मिकम्।
सर्वलोकविरोधेन कथं राजा भविष्यति ॥ ३३ ॥

'जिनमें समस्त प्रजाका मन रमता है, उन धर्मात्मा श्रीरामको देशनिकाला देकर समस्त लोकोंका विरोध करनेके कारण अब वे कैसे राजा हो सकेंगे? ॥ ३३ ॥

जानकी तु महाराज निःश्वसन्ती तपस्विनी।
भूतोपहतचित्तेव विष्ठिता विस्मृता स्थिता ॥ ३४ ॥

'महाराज! तपस्विनी जनकनन्दिनी सीता तो लंबी साँस खींचती हुई इस प्रकार निश्चेष्ट खड़ी थीं, मानो उनमें किसी भूतका आवेश हो गया हो। वे भूली-सी जान पड़ती थीं ॥

अदृष्टपूर्वव्यसना राजपुत्री यशस्विनी।
तेन दुःखेन रुदती नैव मां किंचिदब्रवीत् ॥ ३५ ॥

'उन यशस्विनी राजकुमारीने पहले कभी ऐसा संकट नहीं देखा था। वे पतिके ही दुःखसे दुःखी होकर रो रही थीं। उन्होंने मुझसे कुछ भी नहीं कहा ॥ ३५ ॥

उद्वीक्षमाणा भर्तारं मुखेन परिशुष्यता।
मुमोच सहसा बाष्पं प्रयान्तमुपवीक्ष्य सा ॥ ३६ ॥

'मुझे इधर आनेके लिये उद्यत देख वे सूखे मुँहसे पतिकी ओर देखती हुई सहसा आँसू बहाने लगी थीं ॥ ३६ ॥

तथैव रामोऽश्रुमुखः कृताञ्जलिः
स्थितोऽब्रवील्लक्ष्मणबाहुपालितः।
तथैव सीता रुदती तपस्विनी
निरीक्षते राजरथं तथैव माम् ॥ ३७ ॥

'इसी प्रकार लक्ष्मणकी भुजाओंसे सुरक्षित श्रीराम उस समय हाथ जोड़े खड़े थे। उनके मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही थी। मनस्विनी सीता भी रोती हुई कभी आपके इस रथकी ओर देखती थीं और कभी मेरी ओर' ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अट्ठावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमः सर्गः

सुमन्त्रद्वारा श्रीरामके शोकसे जड-चेतन एवं अयोध्यापुरीकी दुरवस्थाका वर्णन तथा राजा दशरथका विलाप

मम त्वश्वा निवृत्तस्य न प्रावर्तन्त वर्त्मनि।
उष्णमश्रु विमुञ्चन्तो रामे सम्प्रस्थिते वनम् ॥ १ ॥
उभाभ्यां राजपुत्राभ्यामथ कृत्वाहमञ्जलिम्।
प्रस्थितो रथमास्थाय तद्दुःखमपि धारयन् ॥ २ ॥

सुमन्त्रने कहा—'जब श्रीरामचन्द्रजी वनकी ओर प्रस्थित हुए, तब मैंने उन दोनों राजकुमारोंको हाथ जोड़कर प्रणाम किया और उनके वियोगके दुःखको हृदयमें धारण करके रथपर आरूढ़ हो उधरसे लौटा। लौटते समय मेरे घोड़े नेत्रोंसे गरम-गरम आँसू बहाने लगे। रास्ता चलनेमें उनका मन नहीं लगता था ॥ १-२ ॥

गुहेन सार्धं तत्रैव स्थितोऽस्मि दिवसान् बहून्।
आशया यदि मां रामः पुनः शब्दापयेदिति ॥ ३ ॥

'मैं गुहके साथ कई दिनोंतक वहाँ इस आशासे ठहरा रहा कि सम्भव है, श्रीराम फिर मुझे बुला लें ॥ ३ ॥

विषये ते महाराज महाव्यसनकर्शिताः।
अपि वृक्षाः परिम्लानाः सपुष्पाङ्कुरकोरकाः ॥ ४ ॥

'महाराज ! आपके राज्यमें वृक्ष भी इस महान् संकटसे कृशकाय हो गये हैं, फूल अङ्कुर और कलियोंसहित मुरझा गये हैं ॥ ४ ॥

उपतप्तोदका नद्यः पल्वलानि सरांसि च।
परिशुष्कपलाशानि वनान्युपवनानि च ॥ ५ ॥

'नदियों, छोटे जलाशयों तथा बड़े सरोवरोंके जल गरम हो गये हैं। वनों और उपवनोंके पत्ते सूख गये हैं ॥ ५ ॥

न च सर्पन्ति सत्त्वानि व्याला न प्रचरन्ति च।
रामशोकाभिभूतं तन्निष्कूजमभवद् वनम् ॥ ६ ॥

'वनके जीव-जन्तु आहारके लिये भी कहीं नहीं जाते हैं। अजगर आदि सर्प भी जहाँ-के-तहाँ पड़े हैं, आगे नहीं बढ़ते हैं। श्रीरामके शोकसे पीड़ित हुआ वह सारा वन नीरव-सा हो गया है ॥ ६ ॥

लीनपुष्करपत्राश्च नद्यश्च कलुषोदकाः।
संतप्तपद्माः पद्मिन्यो लीनमीनविहंगमाः ॥ ७ ॥

'नदियोंके जल मलिन हो गये हैं। उनमें फैले हुए कमलोंके पत्ते गल गये हैं। सरोवरोंके कमल भी सूख गये हैं। उनमें रहनेवाले मत्स्य और पक्षी भी नष्टप्राय हो गये हैं ॥

जलजानि च पुष्पाणि माल्यानि स्थलजानि च।
नातिभान्त्यल्पगन्धीनि फलानि च यथापुरम् ॥ ८ ॥

'जलमें उत्पन्न होनेवाले पुष्प तथा स्थलसे पैदा होनेवाले फूल भी बहुत थोड़ी सुगन्धसे युक्त होनेके कारण अधिक शोभा नहीं पाते हैं तथा फल भी पूर्ववत् नहीं दृष्टिगोचर होते हैं ॥ ८ ॥

अत्रोद्यानानि शून्यानि प्रलीनविहगानि च।
न चाभिरामानारामान् पश्यामि मनुजर्षभ ॥ ९ ॥

'नरश्रेष्ठ ! अयोध्याके उद्यान भी सूने हो गये हैं, उनमें रहनेवाले पक्षी भी कहीं छिप गये हैं। वहाँके बगीचे भी मुझे पहलेकी भाँति मनोहर नहीं दिखायी देते हैं ॥ ९ ॥

प्रविशन्तमयोध्यायां न कश्चिदभिनन्दति।
नरा राममपश्यन्तो निःश्वसन्ति मुहुर्मुहुः ॥ १० ॥

'अयोध्यामें प्रवेश करते समय मुझसे किसीने प्रसन्न होकर बात नहीं की। श्रीरामको न देखकर लोग बारंबार लंबी साँसें खींचने लगे ॥ १० ॥

देव राजरथं दृष्ट्वा विना राममिहागतम्।
दूरादश्रुमुखः सर्वो राजमार्गे गतो जनः ॥ ११ ॥

'देव ! सड़कपर आये हुए सब लोग राजाका रथ श्रीरामके बिना ही यहाँ लौट आया है, यह देखकर दूरसे ही आँसू बहाने लगे थे ॥ ११ ॥

हर्म्यैर्विमानैः प्रासादैरवेक्ष्य रथमागतम्।
हाहाकारकृता नार्यो रामादर्शनकर्शिताः ॥ १२ ॥

'अट्टालिकाओं, विमानों और प्रासादोंपर बैठी हुई स्त्रियाँ वहाँसे रथको सूना ही लौटा देखकर श्रीरामको न देखनेके कारण व्यथित हो उठीं और हाहाकार करने लगीं ॥ १२ ॥

आयतैर्विमलैर्नेत्रैरश्रुवेगपरिप्लुतैः।
अन्योन्यमभिवीक्षन्तेऽव्यक्तमार्ततराः स्त्रियः ॥ १३ ॥

'उनके कज्जल आदिसे रहित बड़े-बड़े नेत्र आँसुओंके वेगमें डूबे हुए थे। वे स्त्रियाँ अत्यन्त आर्त होकर अव्यक्त भावसे एक-दूसरीकी ओर देख रही थीं ॥ १३ ॥

नामित्राणां न मित्राणामुदासीनजनस्य च।
अहमार्ततया कंचिद् विशेषं नोपलक्षये ॥ १४ ॥

'शत्रुओं, मित्रों तथा उदासीन (मध्यस्थ) मनुष्योंको भी मैंने समानरूपसे दुःखी देखा है। किसीके शोकमें मुझे कुछ अन्तर नहीं दिखायी दिया है ॥ १४ ॥

अप्रहृष्टमनुष्या च दीननागतुरंगमा।
आर्तस्वरपरिम्लाना विनिःश्वसितनिःस्वना ॥ १५ ॥
निरानन्दा महाराज रामप्रव्राजनातुरा।
कौसल्या पुत्रहीनेव अयोध्या प्रतिभाति मे ॥ १६ ॥

'महाराज ! अयोध्याके मनुष्योंका हर्ष छिन गया है। वहाँके घोड़े और हाथी भी बहुत दुःखी हैं। सारी पुरी आर्तनादसे मलिन दिखायी देती है। लोगोंकी लंबी-लंबी साँसें ही इस नगरीका उच्छ्वास बन गयी हैं। यह अयोध्यापुरी श्रीरामके वनवाससे व्याकुल हुई पुत्रवियोगिनी कौसल्याकी भाँति मुझे आनन्दशून्य प्रतीत हो रही है' ॥ १५-१६ ॥

सूतस्य वचनं श्रुत्वा वाचा परमदीनया।
बाष्पोपहतया सूतमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १७ ॥

सुमन्त्रके वचन सुनकर राजाने उनसे अश्रु-गद्गद परम दीन वाणीमें कहा— ॥ १७ ॥

कैकेय्या विनियुक्तेन पापाभिजनभावया।
मया न मन्त्रकुशलैर्वृद्धैः सह समर्थितम् ॥ १८ ॥

'सूत ! जो पापी कुल और पापपूर्ण देशमें उत्पन्न हुई है तथा जिसके विचार भी पापसे भरे हैं, उस कैकेयीके कहनेमें आकर मैंने सलाह देनेमें कुशल वृद्ध पुरुषोंके साथ बैठकर इस विषयमें कोई परामर्श भी नहीं किया ॥ १८ ॥

न सुहृद्भिर्न चामात्यैर्मन्त्रयित्वा सनैगमैः।
मयायमर्थः सम्मोहात् स्त्रीहेतोः सहसा कृतः ॥ १९ ॥

'सुहृदों, मन्त्रियों और वेदवेत्ताओंसे सलाह लिये बिना ही मैंने मोहवश केवल एक स्त्रीकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये सहसा यह अनर्थमय कार्य कर डाला है ॥ १९ ॥

भवितव्यतया नूनमिदं वा व्यसनं महत्।
कुलस्यास्य विनाशाय प्राप्तं सूत यदृच्छया॥ २०॥

'सुमन्त्र! होनहारवश यह भारी विपत्ति निश्चय ही इस कुलका विनाश करनेके लिये अकस्मात् आ पहुँची है॥

सूत यद्यस्ति ते किंचिन्मयापि सुकृतं कृतम्।
त्वं प्रापयाशु मां रामं प्राणाः संत्वरयन्ति माम्॥ २१॥

'सारथे! यदि मैंने तुम्हारा कभी कुछ थोड़ा-सा भी उपकार किया हो तो तुम मुझे शीघ्र ही श्रीरामके पास पहुँचा दो। मेरे प्राण मुझे श्रीरामके दर्शनके लिये शीघ्रता करनेकी प्रेरणा दे रहे हैं॥ २१॥

यद्यद्यापि ममैवाज्ञा निवर्तयतु राघवम्।
न शक्ष्यामि विना रामं मुहूर्तमपि जीवितुम्॥ २२॥

'यदि आज भी इस राज्यमें मेरी ही आज्ञा चलती हो तो तुम मेरे ही आदेशसे जाकर श्रीरामको वनसे लौटा ले आओ; क्योंकि अब मैं उनके बिना दो घड़ी भी जीवित नहीं रह सकूँगा॥ २२॥

अथवापि महाबाहुर्गतो दूरं भविष्यति।
मामेव रथमारोप्य शीघ्रं रामाय दर्शय॥ २३॥

'अथवा महाबाहु श्रीराम तो अब दूर चले गये होंगे, इसलिये मुझे ही रथपर बिठाकर ले चलो और शीघ्र ही रामका दर्शन कराओ॥

वृत्तदंष्ट्रो महेष्वासः क्वासौ लक्ष्मणपूर्वजः।
यदि जीवामि साध्वेनं पश्येयं सीतया सह॥ २४॥

'कुन्दकलीके समान श्वेत दाँतोंवाले, लक्ष्मणके बड़े भाई महाधनुर्धर श्रीराम कहाँ हैं? यदि सीताके साथ भली-भाँति उनका दर्शन कर लूँ, तभी मैं जीवित रह सकता हूँ॥ २४॥

लोहिताक्षं महाबाहुमामुक्तमणिकुण्डलम्।
रामं यदि न पश्येयं गमिष्यामि यमक्षयम्॥ २५॥

'जिनके लाल नेत्र और बड़ी-बड़ी भुजाएँ हैं तथा जो मणियोंके कुण्डल धारण करते हैं, उन श्रीरामको यदि मैं नहीं देखूँगा तो अवश्य यमलोकको चला जाऊँगा॥ २५॥

अतो नु किं दुःखतरं योऽहमिक्ष्वाकुनन्दनम्।
इमामवस्थामापन्नो नेह पश्यामि राघवम्॥ २६॥

'इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या होगी कि मैं इस मरणासन्न अवस्थामें पहुँचकर भी इक्ष्वाकुकुलनन्दन राघवेन्द्र श्रीरामको यहाँ नहीं देख रहा हूँ॥ २६॥

हा राम रामानुज हा हा वैदेहि तपस्विनि।
न मां जानीत दुःखेन म्रियमाणमनाथवत्॥ २७॥

'हा राम! हा लक्ष्मण! हा विदेहराजकुमारी तपस्विनी सीते! तुम्हें पता नहीं होगा कि मैं किस प्रकार दुःखसे अनाथकी भाँति मर रहा हूँ'॥ २७॥

स तेन राजा दुःखेन भृशमर्पितचेतनः।
अवगाढः सुदुष्पारं शोकसागरमब्रवीत्॥ २८॥

राजा उस दुःखसे अत्यन्त अचेत हो रहे थे, अतः वे उस परम दुर्लङ्घ्य शोकसमुद्रमें निमग्न होकर बोले—॥ २८॥

रामशोकमहावेगः सीताविरहपारगः।
श्वसितोर्मिमहावर्तो बाष्पवेगजलाविलः॥ २९॥
बाहुविक्षेपमीनोऽसौ विक्रन्दितमहास्वनः।
प्रकीर्णकेशशैवालः कैकेयीवडवामुखः॥ ३०॥
ममाश्रुवेगप्रभवः कुब्जावाक्यमहाग्रहः।
वरवेलो नृशंसाया रामप्रव्राजनायतः॥ ३१॥
यस्मिन् बत निमग्नोऽहं कौसल्ये राघवं विना।
दुस्तरो जीवता देवि मयायं शोकसागरः॥ ३२॥

'देवि कौसल्ये! मैं श्रीरामके बिना जिस शोक-समुद्रमें डूबा हुआ हूँ, उसे जीते-जी पार करना मेरे लिये अत्यन्त कठिन है। श्रीरामका शोक ही उस समुद्रका महान् वेग है। सीताका बिछोह ही उसका दूसरा छोर है। लंबी-लंबी साँसें उसकी लहरें और बड़ी-बड़ी भँवरें हैं। आँसुओंका वेगपूर्वक उमड़ा हुआ प्रवाह ही उसका मलिन जल है। मेरा हाथ पटकना ही उसमें उछलती हुई मछलियोंका विलास है। करुण-क्रन्दन ही उसकी महान् गर्जना है। ये बिखरे हुए केश ही उसमें उपलब्ध होनेवाले सेवार हैं। कैकेयी वड़वानल है। वह शोक-समुद्र मेरी वेगपूर्वक होनेवाली अश्रुवर्षाकी उत्पत्तिका मूल कारण है। मन्थराके कुटिलतापूर्ण वचन ही उस समुद्रके बड़े-बड़े ग्राह हैं। क्रूर कैकेयीके माँगे हुए दो वर ही उसके दो तट हैं तथा श्रीरामका वनवास ही उस शोक-सागरका महान् विस्तार है॥ २९—३२॥

अशोभनं योऽहमिहाद्य राघवं
दिदृक्षमाणो न लभे सलक्ष्मणम्।
इतीव राजा विलपन् महायशाः
पपात तूर्णं शयने स मूर्च्छितः॥ ३३॥

'मैं लक्ष्मणसहित श्रीरामको देखना चाहता हूँ, परंतु इस समय उन्हें यहाँ देख नहीं पाता हूँ—यह मेरे बहुत बड़े पापका फल है।' इस तरह विलाप करते हुए महायशस्वी राजा दशरथ तुरंत ही मूर्च्छित होकर शय्यापर गिर पड़े॥

इति विलपति पार्थिवे प्रणष्टे
करुणतरं द्विगुणं च रामहेतोः।
वचनमनुनिशम्य तस्य देवी
भयमगमत् पुनरेव राममाता॥ ३४॥

श्रीरामचन्द्रजीके लिये इस प्रकार विलाप करते हुए राजा दशरथके मूर्च्छित हो जानेपर उनके उस अत्यन्त करुणाजनक वचनको सुनकर राममाता देवी कौसल्याको पुनः दुगुना भय हो गया॥ ३४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनषष्टितमः सर्गः॥ ५९॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें उनसठवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ५९॥

★

षष्टितमः सर्गः

कौसल्याका विलाप और सारथि सुमन्त्रका उन्हें समझाना

ततो भूतोपसृष्टेव वेपमाना पुनः पुनः।
धरण्यां गतसत्त्वेव कौसल्या सूतमब्रवीत्॥ १॥

तदनन्तर जैसे उनमें भूतका आवेश हो गया हो, इस प्रकार कौसल्या देवी बारंबार काँपने लगीं और अचेत-सी होकर पृथ्वीपर गिर पड़ीं। उसी अवस्थामें उन्होंने सारथिसे कहा— ॥ १॥

नय मां यत्र काकुत्स्थः सीता यत्र च लक्ष्मणः।
तान् विना क्षणमप्यद्य जीवितुं नोत्सहे ह्यहम्॥ २॥

'सुमन्त्र! जहाँ श्रीराम हैं, जहाँ सीता और लक्ष्मण हैं, वहीं मुझे भी पहुँचा दो। मैं उनके बिना अब एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकती॥ २॥

निवर्तय रथं शीघ्रं दण्डकान् नय मामपि।
अथ तान् नानुगच्छामि गमिष्यामि यमक्षयम्॥ ३॥

जल्दी रथ लौटाओ और मुझे भी दण्डकारण्यमें ले चलो। यदि मैं उनके पास न जा सकी तो यमलोककी यात्रा करूँगी'॥ ३॥

बाष्पवेगोपहतया स वाचा सज्जमानया।
इदमाश्वासयन् देवीं सूतः प्राञ्जलिरब्रवीत्॥ ४॥

देवी कौसल्याकी बात सुनकर सारथि सुमन्त्रने हाथ जोड़कर उन्हें समझाते हुए आँसुओंके वेगसे अवरुद्ध हुई गद्गदवाणीमें कहा— ॥ ४॥

त्यज शोकं च मोहं च सम्भ्रमं दुःखजं तथा।
व्यवधूय च संतापं वने वत्स्यति राघवः॥ ५॥

'महारानी! यह शोक, मोह और दुःखजनित व्याकुलता छोड़िये। श्रीरामचन्द्रजी इस समय सारा संताप भूलकर वनमें निवास करते हैं॥ ५॥

लक्ष्मणश्चापि रामस्य पादौ परिचरन् वने।
आराधयति धर्मज्ञः परलोकं जितेन्द्रियः॥ ६॥

'धर्मज्ञ एवं जितेन्द्रिय लक्ष्मण भी उस वनमें श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंकी सेवा करते हुए अपना परलोक बना रहे हैं॥ ६॥

विजनेऽपि वने सीता वासं प्राप्य गृहेष्विव।
विस्रम्भं लभतेऽभीता रामेविन्यस्तमानसा॥ ७॥

'सीताका मन भगवान् श्रीराममें ही लगा हुआ है। इसलिये निर्जन वनमें रहकर भी घरकी ही भाँति प्रेम एवं प्रसन्नता पाती तथा निर्भय रहती है॥ ७॥

नास्या दैन्यं कृतं किंचित् सुसूक्ष्ममपि लक्ष्यते।
उचितेव प्रवासानां वैदेही प्रतिभाति मे॥ ८॥

'वनमें रहनेके कारण उनके मनमें कुछ थोड़ा-सा भी दुःख नहीं दिखायी देता। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है, मानो विदेहराजकुमारी सीताको परदेशमें रहनेका पहलेसे ही अभ्यास हो॥ ८॥

नगरोपवनं गत्वा यथा स्म रमते पुरा।
तथैव रमते सीता निर्जनेषु वनेष्वपि॥ ९॥

'जैसे यहाँ नगरके उपवनमें जाकर वे पहले घूमा करती थीं, उसी प्रकार निर्जन वनमें भी सीता सानन्द विचरती हैं॥ ९॥

बालेव रमते सीताबालचन्द्रनिभानना।
रामा रामे ह्यदीनात्मा विजनेऽपि वने सती॥ १०॥

'पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाली रमणी-शिरोमणि उदारहृदया सती-साध्वी सीता उस निर्जन वनमें भी श्रीरामके समीप बालिकाके समान खेलती और प्रसन्न रहती हैं॥ १०॥

तद्गतं हृदयं यस्यास्तदधीनं च जीवितम्।
अयोध्या हि भवेदस्या रामहीना तथा वनम्॥ ११॥

'उनका हृदय श्रीराममें ही लगा हुआ है। उनका जीवन भी श्रीरामके ही अधीन है, अतः रामके बिना अयोध्या भी उनके लिये वनके समान ही होगी (और श्रीरामके साथ रहनेपर वे वनमें भी अयोध्याके समान ही सुखका अनुभव करेंगी)॥ ११॥

परिपृच्छति वैदेही ग्रामांश्च नगराणि च।
गतिं दृष्ट्वा नदीनां च पादपान् विविधानपि॥ १२॥

'विदेहनन्दिनी सीता मार्गमें मिलनेवाले गाँवों, नगरों, नदियोंके प्रवाहों और नाना प्रकारके वृक्षोंको देखकर उनका परिचय पूछा करती हैं॥ १२॥

रामं वा लक्ष्मणं वापि दृष्ट्वा जानाति जानकी।
अयोध्या क्रोशमात्रे तु विहारमिव साश्रिता॥ १३॥

'श्रीराम और लक्ष्मणको अपने पास देखकर जानकीको यही जान पड़ता है कि मैं अयोध्यासे एक कोसकी दूरीपर मानो घूमने-फिरनेके लिये ही आयी हूँ॥ १३॥

इदमेव स्मराम्यस्याः सहसैवोपजल्पितम्।
कैकेयीसंश्रितं जल्पं नेदानीं प्रतिभाति माम्॥ १४॥

'सीताके सम्बन्धमें मुझे इतना ही स्मरण है। उन्होंने कैकेयीको लक्ष्य करके जो सहसा कोई बात कह दी थी, वह इस समय मुझे याद नहीं आ रही है'॥ १४॥

ध्वंसयित्वा तु तद् वाक्यं प्रमादात् पर्युपस्थितम्।
ह्लादनं वचनं सूतो देव्या मधुरमब्रवीत्॥ १५॥

इस प्रकार भूलसे निकली हुई कैकेयीविषयक उस बातको पलटकर सारथि सुमन्त्रने देवी कौसल्याके हृदयको आह्लाद प्रदान करनेवाला मधुर वचन कहा— ॥ १५॥

अध्वना वातवेगेन सम्भ्रमेणातपेन च।
न विगच्छति वैदेह्याश्चन्द्रांशुसदृशी प्रभा॥ १६॥

'मार्गमें चलनेकी थकावट, वायुके वेग, भयदायक

वस्तुओंको देखनेके कारण होनेवाली घबराहट तथा धूपसे भी विदेहराजकुमारीकी चन्द्रकिरणोंके समान कमनीय कान्ति उनसे दूर नहीं होती है ॥ १६ ॥

सदृशं शतपत्रस्य पूर्णचन्द्रोपमप्रभम्।
वदनं तद् वदान्याया वैदेह्या न विकम्पते ॥ १७ ॥

'उदारहृदया सीताका विकसित कमलके समान सुन्दर तथा पूर्ण चन्द्रमाके समान आनन्ददायक कान्तिसे युक्त मुख कभी मलिन नहीं होता है ॥ १७ ॥

अलक्तरसरक्ताभावलक्तरसवर्जितौ ।
अद्यापि चरणौ तस्याः पद्मकोशसमप्रभौ ॥ १८ ॥

'जिनमें महावरके रंग नहीं लग रहे हैं, सीताके वे दोनों चरण आज भी महावरके समान ही लाल तथा कमलकोशके समान कान्तिमान् हैं ॥ १८ ॥

नूपुरोत्कृष्टलीलेव खेलं गच्छति भामिनी ।
इदानीमपि वैदेही तद्रागान्यस्तभूषणा ॥ १९ ॥

'श्रीरामचन्द्रजीके प्रति अनुरागके कारण उन्हींकी प्रसन्नताके लिये जिन्होंने आभूषणोंका परित्याग नहीं किया है, वे विदेहराजकुमारी भामिनी सीता इस समय भी अपने नूपुरोंकी झनकारसे हंसोंके कलनादका तिरस्कार-सा करती हुई लीलाविलासयुक्त गतिसे चलती हैं ॥ १९ ॥

गजं वा वीक्ष्य सिंहं वा व्याघ्रं वा वनमाश्रिता ।
नाहारयति संत्रासं बाहू रामस्य संश्रिता ॥ २० ॥

'वे श्रीरामचन्द्रजीके बाहुबलका भरोसा करके वनमें रहती हैं और हाथी, बाघ अथवा सिंहको भी देखकर कभी भय नहीं मानती हैं ॥ २० ॥

न शोच्यास्ते न चात्मा ते शोच्यो नापि जनाधिपः ।
इदं हि चरितं लोके प्रतिष्ठास्यति शाश्वतम् ॥ २१ ॥

'अतः आप श्रीराम, लक्ष्मण अथवा सीताके लिये शोक न करें, अपने और महाराजके लिये भी चिन्ता छोड़ें। श्रीरामचन्द्रजीका यह पावन चरित्र संसारमें सदा ही स्थिर रहेगा ॥ २१ ॥

विधूय शोकं परिहृष्टमानसा
महर्षियाते पथि सुव्यवस्थिताः ।
वने रता वन्यफलाशनाः पितुः
शुभां प्रतिज्ञां प्रतिपालयन्ति ते ॥ २२ ॥

'वे तीनों ही शोक छोड़कर प्रसन्नचित्त हो महर्षियोंके मार्गपर दृढ़तापूर्वक स्थित हैं और वनमें रहकर फल-मूलका भोजन करते हुए पिताकी उत्तम प्रतिज्ञाका पालन कर रहे हैं' ॥ २२ ॥

तथापि सूतेन सुयुक्तवादिना
निवार्यमाणा सुतशोककर्शिता ।
न चैव देवी विरराम कूजितात्
प्रियेति पुत्रेति च राघवेति च ॥ २३ ॥

इस प्रकार युक्तियुक्त वचन कहकर सारथि सुमन्त्रने पुत्रशोकसे पीड़ित हुई कौसल्याको चिन्ता करने और रोनेसे रोका तो भी देवी कौसल्या विलापसे विरत न हुईं। वे 'हा प्यारे !' 'हा पुत्र !' और 'हा रघुनन्दन !' की रट लगाती हुई करुणक्रन्दन करती ही रहीं ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षष्टितमः सर्गः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें साठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६० ॥

★

एकषष्टितमः सर्गः

कौसल्याका विलापपूर्वक राजा दशरथको उपालम्भ देना

वनं गते धर्मरते रामे रमयतां वरे ।
कौसल्या रुदती चार्ता भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

प्रजाजनोंको आनन्द प्रदान करनेवाले पुरुषोंमें श्रेष्ठ धर्मपरायण श्रीरामके वनमें चले जानेपर आर्त होकर रोती हुई कौसल्याने अपने पतिसे इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

यद्यपि त्रिषु लोकेषु प्रथितं ते महद् यशः ।
सानुक्रोशो वदान्यश्च प्रियवादी च राघवः ॥ २ ॥

'महाराज ! यद्यपि तीनों लोकोंमें आपका महान् यश फैला हुआ है,—सब लोग यही जानते हैं कि—रघुकुलनरेश दशरथ बड़े दयालु, उदार और प्रिय वचन बोलनेवाले हैं ॥ २ ॥

कथं नरवरश्रेष्ठ पुत्रौ तौ सह सीतया ।
दुःखितौ सुखसंवृद्धौ वने दुःखं सहिष्यतः ॥ ३ ॥

'नरेशोंमें श्रेष्ठ आर्यपुत्र ! तथापि आपने इस बातका विचार नहीं किया कि सुखमें पले हुए आपके वे दोनों पुत्र सीताके साथ वनवासका कष्ट कैसे सहन करेंगे ॥ ३ ॥

सा नूनं तरुणी श्यामा सुकुमारी सुखोचिता ।
कथमुष्णं च शीतं च मैथिली विसहिष्यते ॥ ४ ॥

'वह सोलह-अठारह वर्षोंकी सुकुमारी तरुणी मिथिलेश-कुमारी सीता, जो सुख भोगनेके ही योग्य है, वनमें सर्दी-गरमीका दुःख कैसे सहेगी ? ॥ ४ ॥

भुक्त्वाशनं विशालाक्षी सूपदंशान्वितं शुभम् ।
वन्यं नैवारमाहारं कथं सीतोपभोक्ष्यते ॥ ५ ॥

'विशाललोचना सीता सुन्दर व्यञ्जनोंसे युक्त सुन्दर स्वादिष्ट अन्न भोजन किया करती थी, अब वह जंगलकी तिन्नीके चावलका सूखा भात कैसे खायगी ? ॥ ५ ॥

गीतवादित्रनिर्घोषं श्रुत्वा शुभसमन्विता।
कथं क्रव्यादसिंहानां शब्दं श्रोष्यत्यशोभनम्॥ ६॥

'जो माङ्गलिक वस्तुओंसे सम्पन्न रहकर सदा गीत और वाद्यकी मधुर ध्वनि सुना करती थी, वही जंगलमें मांसभक्षी सिंहोंका अशोभन (अमङ्गलकारी) शब्द कैसे सुन सकेगी? ॥ ६॥

महेन्द्रध्वजसंकाशः क्व नु शेते महाभुजः।
भुजं परिघसंकाशमुपाधाय महाबलः॥ ७॥

'जो इन्द्रध्वजके समान समस्त लोकोंके लिये उत्सव प्रदान करनेवाले थे, वे महाबली, महाबाहु श्रीराम अपनी परिघ-जैसी मोटी बाँहका तकिया लगाकर कहाँ सोते होंगे? ॥ ७॥

पद्मवर्णं सुकेशान्तं पद्मनिःश्वासमुत्तमम्।
कदा द्रक्ष्यामि रामस्य वदनं पुष्करेक्षणम्॥ ८॥

'जिसकी कान्ति कमलके समान है, जिसके ऊपर सुन्दर केश शोभा पाते हैं, जिसकी प्रत्येक साँससे कमलकी-सी सुगन्ध निकलती है तथा जिसमें विकसित कमलके सदृश सुन्दर नेत्र सुशोभित होते हैं, श्रीरामके उस मनोहर मुखको मैं कब देखूँगी? ॥ ८॥

वज्रसारमयं नूनं हृदयं मे न संशयः।
अपश्यन्त्या न तं यद् वै फलतीदं सहस्रधा॥ ९॥

'मेरा हृदय निश्चय ही लोहेका बना हुआ है, इसमें संशय नहीं है; क्योंकि श्रीरामको न देखनेपर भी मेरे इस हृदयके सहस्रों टुकड़े नहीं हो जाते हैं॥ ९॥

यत् त्वया करुणं कर्म व्यपोह्य मम बान्धवाः।
निरस्ताः परिधावन्ति सुखार्हाः कृपणा वने॥ १०॥

'आपने यह बड़ा ही निर्दयतापूर्ण कर्म किया है कि बिना कुछ सोच-विचार किये मेरे बान्धवोंको (कैकेयीके कहनेसे) निकाल दिया है, जिसके कारण वे सुख भोगनेके योग्य होनेपर भी दीन होकर वनमें दौड़ रहे हैं॥ १०॥

यदि पञ्चदशे वर्षे राघवः पुनरेष्यति।
जह्याद् राज्यं च कोशं च भरतो नोपलक्ष्यते॥ ११॥

'यदि पंद्रहवें वर्षमें श्रीरामचन्द्र पुनः वनसे लौटें तो भरत उनके लिये राज्य और खजाना छोड़ देंगे, ऐसी सम्भावना नहीं दिखायी देती॥ ११॥

भोजयन्ति किल श्राद्धे केचित् स्वानेव बान्धवान्।
ततः पश्चात् समीक्षन्ते कृतकार्या द्विजोत्तमान्॥ १२॥
तत्र ये गुणवन्तश्च विद्वांसश्च द्विजातयः।
न पश्चात् तेऽभिमन्यन्ते सुधामपि सुरोपमाः॥ १३॥

'कहते हैं, कुछ लोग श्राद्धमें पहले अपने बान्धवों (दौहित्र आदि) को ही भोजन करा देते हैं, उसके बाद कृतकृत्य होकर निमन्त्रित श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी ओर ध्यान देते हैं। परंतु वहाँ जो गुणवान् एवं विद्वान् देवतुल्य उत्तम ब्राह्मण होते हैं, वे पीछे अमृत भी परोसा गया हो तो उसको स्वीकार नहीं करते हैं॥ १२-१३॥

ब्राह्मणेष्वपि वृत्तेषु भुक्तशेषं द्विजोत्तमाः।
नाभ्युपेतुमलं प्राज्ञाः शृङ्गच्छेदमिवर्षभाः॥ १४॥

'यद्यपि पहली पंक्तिमें भी ब्राह्मण ही भोजन करके उठे होते हैं, तथापि जो श्रेष्ठ और विद्वान् ब्राह्मण हैं, वे अपमानके भयसे उस भुक्तशेष अन्नको उसी तरह ग्रहण नहीं कर पाते जैसे अच्छे बैल अपने सींग कटानेको नहीं तैयार होते हैं॥ १४॥

एवं कनीयसा भ्रात्रा भुक्तं राज्यं विशाम्पते।
भ्राता ज्येष्ठो वरिष्ठश्च किमर्थं नावमन्यते॥ १५॥

'महाराज! इसी प्रकार ज्येष्ठ और श्रेष्ठ भ्राता अपने छोटे भाईके भोगे हुए राज्यको कैसे ग्रहण करेंगे? वे उसका तिरस्कार (त्याग) क्यों नहीं कर देंगे? ॥ १५॥

न परेणाहृतं भक्ष्यं व्याघ्रः खादितुमिच्छति।
एवमेव नरव्याघ्रः परलीढं न मंस्यते॥ १६॥

'जैसे बाघ गीदड़ आदि दूसरे जन्तुओंके लाये या खाये हुए भक्ष्य पदार्थ (शिकार) को खाना नहीं चाहता, इसी प्रकार पुरुषसिंह श्रीराम दूसरोंके चाटे (भोगे) हुए राज्य-भोगको नहीं स्वीकार करेंगे॥ १६॥

हविराज्यं पुरोडाशः कुशा यूपाश्च खादिराः।
नैतानि यातयामानि कुर्वन्ति पुनरध्वरे॥ १७॥

'हविष्य, घृत, पुरोडाश, कुश और खदिर (खैर) के यूप—ये एक यज्ञके उपयोगमें आ जानेपर 'यातयाम' (उपभुक्त) हो जाते हैं; इसलिये विद्वान् इनका फिर दूसरे यज्ञमें उपयोग नहीं करते हैं॥ १७॥

तथा ह्यात्तमिदं राज्यं हृतसारां सुरामिव।
नाभिमन्तुमलं रामो नष्टसोममिवाध्वरम्॥ १८॥

'इसी प्रकार निःसार सुरा और भुक्तावशिष्ट यज्ञसम्बन्धी सोमरसकी भाँति इस भोगे हुए राज्यको श्रीराम नहीं ग्रहण कर सकते॥ १८॥

नैवंविधमसत्कारं राघवो मर्षयिष्यति।
बलवानिव शार्दूलो बालधेरभिमर्शनम्॥ १९॥

'जैसे बलवान् शेर किसीके द्वारा अपनी पूँछका पकड़ा जाना नहीं सह सकता, उसी प्रकार श्रीराम ऐसे अपमानको नहीं सह सकेंगे॥ १९॥

नैतस्य सहिता लोका भयं कुर्युर्महामृधे।
अधर्मं त्विह धर्मात्मा लोकं धर्मेण योजयेत्॥ २०॥

'समस्त लोक एक साथ होकर यदि महासमरमें आ जायँ तो भी वे श्रीरामचन्द्रजीके मनमें भय उत्पन्न नहीं कर सकते, तथापि इस तरह राज्य लेनेमें अधर्म मानकर उन्होंने इसपर अधिकार नहीं किया। जो धर्मात्मा समस्त जगत्‌को धर्ममें लगाते हैं, वे स्वयं अधर्म कैसे कर सकते हैं? ॥ २०॥

नन्वसौ काञ्चनैर्बाणैर्महावीर्यो महाभुजः ।
युगान्त इव भूतानि सागरानपि निर्दहेत् ॥ २१ ॥

'वे महापराक्रमी महाबाहु श्रीराम अपने सुवर्णभूषित बाणोंद्वारा सारे समुद्रोंको भी उसी प्रकार दग्ध कर सकते हैं, जैसे संवर्तक अग्निदेव प्रलयकालमें सम्पूर्ण प्राणियोंको भस्म कर डालते हैं ॥ २१ ॥

स तादृशः सिंहबलो वृषभाक्षो नरर्षभः ।
स्वयमेव हतः पित्रा जलजेनात्मजो यथा ॥ २२ ॥

'सिंहके समान बल और बैलके समान बड़े-बड़े नेत्रवाला वैसा नरश्रेष्ठ वीर पुत्र स्वयं अपने पिताके ही हाथों-द्वारा मारा गया (राज्यसे वञ्चित कर दिया गया)। ठीक उसी तरह, जैसे मत्स्यका बच्चा अपने पिता मत्स्यके द्वारा ही खा लिया जाता है ॥ २२ ॥

द्विजातिचरितो धर्मः शास्त्रे दृष्टः सनातनैः ।
यदि ते धर्मनिरते त्वया पुत्रे विवासिते ॥ २३ ॥

'आपके द्वारा धर्मपरायण पुत्रको देशनिकाला दे दिया गया, अतः यह प्रश्न उठता है कि सनातन ऋषियोंने वेदमें जिसका साक्षात्कार किया है तथा श्रेष्ठ द्विज जिसे अपने आचरणमें लाये हैं, वह धर्म आपकी दृष्टिमें सत्य है या नहीं ॥ २३ ॥

गतिरेका पतिर्नार्या द्वितीया गतिरात्मजः ।
तृतीया ज्ञातयो राजंश्चतुर्थी नैव विद्यते ॥ २४ ॥

'राजन्! नारीके लिये एक सहारा उसका पति है, दूसरा उसका पुत्र है तथा तीसरा सहारा उसके पिता-भाई आदि बन्धु-बान्धव हैं, चौथा कोई सहारा उसके लिये नहीं है ॥ २४ ॥

तत्र त्वं मम नैवासि रामश्च वनमाहितः ।
न वनं गन्तुमिच्छामि सर्वथा हा हता त्वया ॥ २५ ॥

'इन सहारोंमेंसे आप तो मेरे हैं ही नहीं (क्योंकि आप सौतके अधीन हैं)। दूसरा सहारा श्रीराम हैं, जो वनमें भेज दिये गये (और बन्धु-बान्धव भी दूर हैं। अतः तीसरा सहारा भी नहीं रहा)। आपकी सेवा छोड़कर मैं श्रीरामके पास वनमें जाना नहीं चाहती हूँ, इसलिये सर्वथा आपके द्वारा मारी ही गयी ॥ २५ ॥

हतं त्वया राष्ट्रमिदं सराज्यं
हताः स्म सर्वाः सह मन्त्रिभिश्च ।
हता सपुत्रास्मि हताश्च पौराः
सुतश्च भार्या च तव प्रहृष्टौ ॥ २६ ॥

'आपने श्रीरामको वनमें भेजकर इस राष्ट्रका तथा आस-पासके अन्य राज्योंका भी नाश कर डाला, मन्त्रियोंसहित सारी प्रजाका वध कर डाला। आपके द्वारा पुत्रसहित मैं भी मारी गयी और इस नगरके निवासी भी नष्टप्राय हो गये। केवल आपके पुत्र भरत और पत्नी कैकेयी दो ही प्रसन्न हुए हैं' ॥ २६ ॥

इमां गिरं दारुणशब्दसंहितां
निशम्य रामेति मुमोह दुःखितः ।
ततः स शोकं प्रविवेश पार्थिवः
स्वदुष्कृतं चापि पुनस्तथास्मरत् ॥ २७ ॥

कौसल्याकी यह कठोर शब्दोंसे युक्त वाणी सुनकर राजा दशरथको बड़ा दुःख हुआ। वे 'हा राम!' कहकर मूर्च्छित हो गये। राजा शोकमें डूब गये। फिर उसी समय उन्हें अपने एक पुराने दुष्कर्मका स्मरण हो आया, जिसके कारण उन्हें यह दुःख प्राप्त हुआ था ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकषष्टितमः सर्गः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एकसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमः सर्गः

दुःखी हुए राजा दशरथका कौसल्याको हाथ जोड़कर मनाना और कौसल्याका उनके चरणोंमें पड़कर क्षमा माँगना

एवं तु क्रुद्धया राजा राममात्रा सशोकया ।
श्रावितः परुषं वाक्यं चिन्तयामास दुःखितः ॥ १ ॥

शोकमग्न हो कुपित हुई श्रीराममाता कौसल्याने जब राजा दशरथको इस प्रकार कठोर वचन सुनाया, तब वे दुःखित होकर बड़ी चिन्तामें पड़ गये ॥ १ ॥

चिन्तयित्वा स च नृपो मोहव्याकुलितेन्द्रियः ।
अथ दीर्घेण कालेन संज्ञामाप परंतपः ॥ २ ॥

चिन्तित होनेके कारण राजाकी सारी इन्द्रियाँ मोहसे आच्छन्न हो गयीं। तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् शत्रुओंको संताप देनेवाले राजा दशरथको चेत हुआ ॥ २ ॥

स संज्ञामुपलभ्यैव दीर्घमुष्णं च निःश्वसन् ।
कौसल्यां पार्श्वतो दृष्ट्वा ततश्चिन्तामुपागमत् ॥ ३ ॥

होशमें आनेपर उन्होंने गरम-गरम लंबी साँस ली और कौसल्याको बगलमें बैठी हुई देख वे फिर चिन्तामें पड़ गये ॥ ३ ॥

तस्य चिन्तयमानस्य प्रत्यभात् कर्म दुष्कृतम् ।
यदनेन कृतं पूर्वमज्ञानाच्छब्दवेधिना ॥ ४ ॥

चिन्तामें पड़े-पड़े ही उन्हें अपने एक दुष्कर्मका स्मरण हो आया, जो इन शब्दवेधी बाण चलानेवाले नरेशके द्वारा पहले अनजानमें बन गया था ॥ ४ ॥

अमनास्तेन शोकेन रामशोकेन च प्रभुः।
द्वाभ्यामपि महाराजः शोकाभ्यामभितप्यते ॥ ५ ॥

उस शोकसे तथा श्रीरामके शोकसे भी राजाके मनमें बड़ी वेदना हुई। उन दोनों ही शोकोंसे महाराज संतप्त होने लगे ॥

दह्यमानस्तु शोकाभ्यां कौसल्यामाह दुःखितः।
वेपमानोऽञ्जलिं कृत्वा प्रसादार्थमवाङ्मुखः ॥ ६ ॥

उन दोनों शोकोंसे दग्ध होते हुए दुःखी राजा दशरथ नीचे मुँह किये थर-थर काँपने लगे और कौसल्याको मनानेके लिये हाथ जोड़कर बोले— ॥ ६ ॥

प्रसादये त्वां कौसल्ये रचितोऽयं मयाञ्जलिः।
वत्सला चानृशंसा च त्वं हि नित्यं परेष्वपि ॥ ७ ॥

'कौसल्ये! मैं तुमसे निहोरा करता हूँ, तुम प्रसन्न हो जाओ। देखो, मैंने ये दोनों हाथ जोड़ लिये हैं। तुम तो दूसरोंपर भी सदा वात्सल्य और दया दिखानेवाली हो (फिर मेरे प्रति क्यों कठोर हो गयी?) ॥ ७ ॥

भर्ता तु खलु नारीणां गुणवान् निर्गुणोऽपि वा।
धर्मं विमृशमानानां प्रत्यक्षं देवि दैवतम् ॥ ८ ॥

'देवि! पति गुणवान् हो या गुणहीन, धर्मका विचार करनेवाली सती नारियोंके लिये वह प्रत्यक्ष देवता है ॥ ८ ॥

सा त्वं धर्मपरा नित्यं दृष्टलोकपरावरा।
नार्हसे विप्रियं वक्तुं दुःखितापि सुदुःखितम् ॥ ९ ॥

'तुम तो सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाली और लोकमें भले-बुरेको समझनेवाली हो। यद्यपि तुम भी दुःखित हो तथापि मैं भी महान् दुःखमें पड़ा हुआ हूँ, अतः तुम्हें मुझसे कठोर वचन नहीं कहना चाहिये' ॥ ९ ॥

तद् वाक्यं करुणं राज्ञः श्रुत्वा दीनस्य भाषितम्।
कौसल्याव्यसृजद् बाष्पं प्रणालीव नवोदकम् ॥ १० ॥

दुःखी हुए राजा दशरथके मुखसे कहे गये उस करुणाजनक वचनको सुनकर कौसल्या अपने नेत्रोंसे आँसू बहाने लगीं, मानो छतकी नालीसे नूतन (वर्षाका) जल गिर रहा हो ॥ १० ॥

सा मूर्ध्नि बद्ध्वा रुदती राज्ञः पद्ममिवाञ्जलिम्।
सम्भ्रमादब्रवीत् त्रस्ता त्वरमाणाक्षरं वचः ॥ ११ ॥

वे अधर्मके भयसे रो पड़ीं और राजाके जुड़े हुए कमलसदृश हाथोंको अपने सिरसे सटाकर घबराहटके कारण शीघ्रतापूर्वक एक-एक अक्षरका उच्चारण करती हुई बोलीं— ॥

प्रसीद शिरसा याचे भूमौ निपतितास्मि ते।
याचितास्मि हता देव क्षन्तव्याहं नहि त्वया ॥ १२ ॥

'देव! मैं आपके सामने पृथ्वीपर पड़ी हूँ। आपके चरणोंमें मस्तक रखकर याचना करती हूँ, आप प्रसन्न हों। यदि आपने उलटे मुझसे ही याचना की, तब तो मैं मारी गयी। मुझसे अपराध हुआ हो तो भी मैं आपसे क्षमा पानेके योग्य हूँ, प्रहार पानेके नहीं ॥ १२ ॥

नैषा हि सा स्त्री भवति श्लाघनीयेन धीमता।
उभयोर्लोकयोर्लोके पत्या या सम्प्रसाद्यते ॥ १३ ॥

'पति अपनी स्त्रीके लिये इहलोक और परलोकमें भी स्पृहणीय है। इस जगत्‌में जो स्त्री अपने बुद्धिमान् पतिके द्वारा मनायी जाती है, वह कुल-स्त्री कहलानेके योग्य नहीं है ॥ १३ ॥

जानामि धर्मं धर्मज्ञ त्वां जाने सत्यवादिनम्।
पुत्रशोकार्तया तत्तु मया किमपि भाषितम् ॥ १४ ॥

'धर्मज्ञ महाराज! मैं स्त्री-धर्मको जानती हूँ और यह भी जानती हूँ कि आप सत्यवादी हैं। इस समय मैंने जो कुछ भी न कहने योग्य बात कह दी है, वह पुत्रशोकसे पीड़ित होनेके कारण मेरे मुखसे निकल गयी है ॥ १४ ॥

शोको नाशयते धैर्यं शोको नाशयते श्रुतम्।
शोको नाशयते सर्वं नास्ति शोकसमो रिपुः ॥ १५ ॥

'शोक धैर्यका नाश कर देता है। शोक शास्त्रज्ञानको भी लुप्त कर देता है तथा शोक सब कुछ नष्ट कर देता है; अतः शोकके समान दूसरा कोई शत्रु नहीं है ॥ १५ ॥

शक्यमापतितः सोढुं प्रहारो रिपुहस्ततः।
सोढुमापतितः शोकः सुसूक्ष्मोऽपि न शक्यते ॥ १६ ॥

'शत्रुके हाथसे अपने ऊपर पड़ा हुआ शस्त्रोंका प्रहार सह लिया जा सकता है; परंतु दैववश प्राप्त हुआ थोड़ा-सा भी शोक नहीं सहा जा सकता ॥ १६ ॥

वनवासाय रामस्य पञ्चरात्रोऽत्र गण्यते।
यः शोकहतहर्षायाः पञ्चवर्षोपमो मम ॥ १७ ॥

'श्रीरामको वनमें गये आज पाँच रातें बीत गयीं। मैं यही गिनती रहती हूँ। शोकने मेरे हर्षको नष्ट कर दिया है, अतः ये पाँच रात मेरे लिये पाँच वर्षोंके समान प्रतीत हुई हैं ॥ १७ ॥

तं हि चिन्तयमानायाः शोकोऽयं हृदि वर्धते।
नदीनामिव वेगेन समुद्रसलिलं महत् ॥ १८ ॥

'श्रीरामका ही चिन्तन करनेके कारण मेरे हृदयका यह शोक बढ़ता जा रहा है, जैसे नदियोंके वेगसे समुद्रका जल बहुत बढ़ जाता है' ॥ १८ ॥

एवं हि कथयन्त्यास्तु कौसल्यायाः शुभं वचः।
मन्दरश्मिरभूत् सूर्यो रजनी चाभ्यवर्तत ॥ १९ ॥
अथ प्रह्लादितो वाक्यैर्देव्या कौसल्यया नृपः।
शोकेन च समाक्रान्तो निद्राया वशमेयिवान् ॥ २० ॥

कौसल्या इस प्रकार शुभ वचन कह ही रही थीं कि सूर्यकी किरणें मन्द पड़ गयीं और रात्रिकाल आ पहुँचा। देवी कौसल्याकी इन बातोंसे राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई। साथ ही वे श्रीरामके शोकसे भी पीड़ित थे। इस हर्ष और शोककी अवस्थामें उन्हें नींद आ गयी ॥ १९-२० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्विषष्टितमः सर्गः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बासठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

—★—

त्रिषष्टितमः सर्गः

राजा दशरथका शोक और उनका कौसल्यासे अपने द्वारा मुनिकुमारके मारे जानेका प्रसङ्ग सुनाना

प्रतिबुद्धो मुहूर्तेन शोकोपहतचेतनः।
अथ राजा दशरथः स चिन्तामभ्यपद्यत॥ १॥

राजा दशरथ दो ही घड़ीके बाद फिर जाग उठे। उस समय उनका हृदय शोकसे व्याकुल हो रहा था। वे मन-ही-मन चिन्ता करने लगे॥ १॥

रामलक्ष्मणयोश्चैव विवासाद् वासवोपमम्।
आपेदे उपसर्गस्तं तमः सूर्यमिवासुरम्॥ २॥

श्रीराम और लक्ष्मणके वनमें चले जानेसे इन्द्रतुल्य तेजस्वी महाराज दशरथको शोकने उसी प्रकार घर दबाया था, जैसे राहुका अन्धकार सूर्यको ढक देता है॥ २॥

सभार्ये हि गते रामे कौसल्यां कोसलेश्वरः।
विवक्षुरसितापाङ्गीं स्मृत्वा दुष्कृतमात्मनः॥ ३॥

पत्नीसहित श्रीरामके वनमें चले जानेपर कोसलनरेश दशरथने अपने पुरातन पापका स्मरण करके कजरारे नेत्रोंवाली कौसल्यासे कहनेका विचार किया॥ ३॥

स राजा रजनीं षष्ठीं रामे प्रव्राजिते वनम्।
अर्धरात्रे दशरथः सोऽस्मरद् दुष्कृतं कृतम्॥ ४॥

उस समय श्रीरामचन्द्रजीको वनमें गये छठी रात बीत रही थी। जब आधी रात हुई, तब राजा दशरथको उस पहलेके किये हुए दुष्कर्मका स्मरण हुआ॥ ४॥

स राजा पुत्रशोकार्तः स्मृत्वा दुष्कृतमात्मनः।
कौसल्यां पुत्रशोकार्तामिदं वचनमब्रवीत्॥ ५॥

पुत्रशोकसे पीड़ित हुए महाराजने अपने उस दुष्कर्मको याद करके पुत्रशोकसे व्याकुल हुई कौसल्यासे इस प्रकार कहना आरम्भ किया—॥ ५॥

यदाचरति कल्याणि शुभं वा यदि वाशुभम्।
तदेव लभते भद्रे कर्ता कर्मजमात्मनः॥ ६॥

'कल्याणि! मनुष्य शुभ या अशुभ जो भी कर्म करता है, भद्रे! अपने उसी कर्मके फलस्वरूप सुख या दुःख कर्ताको प्राप्त होते हैं॥ ६॥

गुरुलाघवमर्थानामारम्भे कर्मणां फलम्।
दोषं वा यो न जानाति स बाल इति होच्यते॥ ७॥

'जो कर्मोंका आरम्भ करते समय उनके फलोंकी गुरुता या लघुताको नहीं जानता, उनसे होनेवाले लाभरूपी गुण अथवा हानिरूपी दोषको नहीं समझता, वह मनुष्य बालक (मूर्ख) कहा जाता है॥ ७॥

कश्चिदाम्रवणं छित्त्वा पलाशांश्च निषिञ्चति।
पुष्पं दृष्ट्वा फले गृध्नुः स शोचति फलागमे॥ ८॥

'कोई मनुष्य पलाशका सुन्दर फूल देखकर मन-ही-मन यह अनुमान करके कि इसका फल और भी मनोहर तथा सुस्वादु होगा, फलकी अभिलाषासे आमके बगीचेको काटकर वहाँ पलाशके पौदे लगाता और सींचता है, वह फल लगनेके समय पश्चात्ताप करता है (क्योंकि उससे अपनी आशाके अनुरूप फल वह नहीं पाता है)॥ ८॥

अविज्ञाय फलं यो हि कर्म त्वेवानुधावति।
स शोचेत् फलवेलायां यथा किंशुकसेचकः॥ ९॥

'जो क्रियमाण कर्मके फलका ज्ञान या विचार न करके केवल कर्मकी ओर ही दौड़ता है, उसे उसका फल मिलनेके समय उसी तरह शोक होता है, जैसा कि आम काटकर पलाश सींचनेवालेको हुआ करता है॥ ९॥

सोऽहमाम्रवणं छित्त्वा पलाशांश्च न्यषेचयम्।
रामं फलागमे त्यक्त्वा पश्चाच्छोचामि दुर्मतिः॥ १०॥

'मैंने भी आमका वन काटकर पलाशोंको ही सींचा है, इस कर्मके फलकी प्राप्तिके समय अब श्रीरामको खोकर मैं पश्चात्ताप कर रहा हूँ। मेरी बुद्धि कैसी खोटी है?॥ १०॥

लब्धशब्देन कौसल्ये कुमारेण धनुष्मता।
कुमारः शब्दवेधीति मया पापमिदं कृतम्॥ ११॥

'कौसल्ये! पिताके जीवनकालमें जब मैं केवल राजकुमार था, एक अच्छे धनुर्धरके रूपमें मेरी ख्याति फैल गयी थी। सब लोग यही कहते थे कि 'राजकुमार दशरथ शब्द-वेधी बाण चलाना जानते हैं।' इसी ख्यातिमें पड़कर मैंने यह एक पाप कर डाला था (जिसे अभी बताऊँगा)॥

तदिदं मेऽनुसम्प्राप्तं देवि दुःखं स्वयंकृतम्।
सम्मोहादिह बालेन यथा स्याद् भक्षितं विषम्॥ १२॥

'देवि! उस अपने ही किये हुए कुकर्मका फल मुझे इस महान् दुःखके रूपमें प्राप्त हुआ है। जैसे कोई बालक अज्ञानवश विष खा ले तो उसे भी वह विष मार ही डालता है, उसी प्रकार मोह या अज्ञानवश किये हुए दुष्कर्मका फल भी यहाँ मुझे भोगना पड़ रहा है॥ १२॥

यथान्यः पुरुषः कश्चित् पलाशैर्मोहितो भवेत्।
एवं मयाप्यविज्ञातं शब्दवेध्यमिदं फलम्॥ १३॥

'जैसे दूसरा कोई गँवार मनुष्य पलाशके फूलोंपर ही मोहित हो उसके कड़वे फलको नहीं जानता, उसी प्रकार मैं भी 'शब्द-वेधी बाण-विद्या' की प्रशंसा सुनकर उसपर लट्टू हो गया। उसके द्वारा ऐसा क्रूरतापूर्ण पापकर्म बन सकता है और ऐसा भयंकर फल प्राप्त हो सकता है, इसका ज्ञान मुझे नहीं हुआ॥

देव्यनूढा त्वमभवो युवराजो भवाम्यहम्।
ततः प्रावृडनुप्राप्ता मम कामविवर्धिनी॥ १४॥

'देवि! तुम्हारा विवाह नहीं हुआ था और मैं अभी युवराज ही था, उन्हीं दिनोंकी बात है। मेरी कामभावनाको बढ़ानेवाली वर्षा ऋतु आयी ॥ १४ ॥

अपास्य हि रसान् भौमांस्तप्त्वा च जगदंशुभिः।
परेताचरितां भीमां रविराचरते दिशम् ॥ १५ ॥

'सूर्यदेव पृथ्वीके रसोंको सुखाकर और जगत्को अपनी किरणोंसे भलीभाँति संतप्त करके जिसमें यमलोकवर्ती प्रेत विचरा करते हैं, उस भयंकर दक्षिण दिशामें संचरण करते थे ॥ १५ ॥

उष्णमन्तर्दधे सद्यः स्निग्धा ददृशिरे घनाः।
ततो जहृषिरे सर्वे भेकसारङ्गबर्हिणः ॥ १६ ॥

'सब ओर सजल मेघ दृष्टिगोचर होने लगे और गरमी तत्काल शान्त हो गयी; इससे समस्त मेढकों, चातकों और मयूरोंमें हर्ष छा गया ॥ १६ ॥

क्लिन्नपक्षोत्तराः स्नाताः कृच्छ्रादिव पतत्रिणः।
वृष्टिवाताववधूताग्रान् पादपानभिपेदिरे ॥ १७ ॥

'पक्षियोंकी पाँखें ऊपरसे भींग गयी थीं। वे नहा उठे थे और बड़ी कठिनाईसे उन वृक्षोंतक पहुँच पाते थे, जिनकी डालियोंके अग्रभाग वर्षा और वायुके झोंकोंसे झूम रहे थे ॥ १७ ॥

पतितेनाम्भसाऽऽच्छन्नः पतमानेन चासकृत्।
आबभौ मत्तसारङ्गस्तोयराशिरिवाचलः ॥ १८ ॥

'गिरे हुए और बारंबार गिरते हुए जलसे आच्छादित हुआ मतवाला हाथी तरङ्गरहित प्रशान्त समुद्र तथा भीगे पर्वतके समान प्रतीत होता था ॥ १८ ॥

पाण्डुरारुणवर्णानि स्रोतांसि विमलान्यपि।
सुस्रुवुर्गिरिधातुभ्यः सभस्मानि भुजंगवत् ॥ १९ ॥

'पर्वतोंसे गिरनेवाले स्रोत या झरने निर्मल होनेपर भी पर्वतीय धातुओंके सम्पर्कसे श्वेत, लाल और भस्मयुक्त होकर सर्पोंकी भाँति कुटिल गतिसे बह रहे थे ॥ १९ ॥

तस्मिन्नतिसुखे काले धनुष्मानिषुमान् रथी।
व्यायामकृतसंकल्पः सरयूमन्वगां नदीम् ॥ २० ॥

'वर्षा ऋतुके उस अत्यन्त सुखद सुहावने समयमें मैं धनुष-बाण लेकर रथपर सवार हो शिकार खेलनेके लिये सरयू नदीके तटपर गया ॥ २० ॥

निपाने महिषं रात्रौ गजं वाभ्यागतं मृगम्।
अन्यद् वा श्वापदं किंचिज्जिघांसुरजितेन्द्रियः ॥ २१ ॥

'मेरी इन्द्रियाँ मेरे वशमें नहीं थीं। मैंने सोचा था कि पानी पीनेके घाटपर रातके समय जब कोई उपद्रवकारी भैंसा, मतवाला हाथी अथवा सिंह-व्याघ्र आदि दूसरा कोई हिंसक जन्तु आवेगा तो उसे मारूँगा ॥ २१ ॥

अथान्धकारे त्वश्रौषं जले कुम्भस्य पूर्यतः।
अचक्षुर्विषये घोषं वारणस्येव नर्दतः ॥ २२ ॥

'उस समय वहाँ सब ओर अन्धकार छा रहा था। मुझे अकस्मात् पानीमें घड़ा भरनेकी आवाज सुनायी पड़ी। मेरी दृष्टि तो वहाँतक पहुँचती नहीं थी, किंतु वह आवाज मुझे हाथीके पानी पीते समय होनेवाले शब्दके समान जान पड़ी ॥ २२ ॥

ततोऽहं शरमुद्धृत्य दीप्तमाशीविषोपमम्।
शब्दं प्रति गजप्रेप्सुरभिलक्ष्यमपातयम् ॥ २३ ॥

'तब मैंने यह समझकर कि हाथी ही अपनी सूँड़में पानी खींच रहा होगा; अतः वही मेरे बाणका निशाना बनेगा। तरकससे एक तीर निकाला और उस शब्दको लक्ष्य करके चला दिया। वह दीप्तिमान् बाण विषधर सर्पके समान भयंकर था ॥ २३ ॥

अमुञ्चं निशितं बाणमहमाशीविषोपमम्।
तत्र वागुषसि व्यक्ता प्रादुरासीद् वनौकसः ॥ २४ ॥
हा हेति पततस्तोये बाणाद् व्यथितमर्मणः।
तस्मिन्निपतिते भूमौ वागभूत् तत्र मानुषी ॥ २५ ॥

'वह उषःकालकी वेला थी। विषैले सर्पके सदृश उस तीखे बाणको मैंने ज्यों ही छोड़ा, त्यों ही वहाँ पानीमें गिरते हुए किसी वनवासीका हाहाकार मुझे स्पष्टरूपसे सुनायी दिया। मेरे बाणसे उसके मर्ममें बड़ी पीड़ा हो रही थी। उस पुरुषके धराशायी हो जानेपर वहाँ यह मानव-वाणी प्रकट हुई—सुनायी देने लगी— ॥ २४-२५ ॥

कथमस्मद्विधे शस्त्रं निपतेच्च तपस्विनि।
प्रविविक्तां नदीं रात्रावुदाहारोऽहमागतः ॥ २६ ॥

''आह! मेरे-जैसे तपस्वीपर शस्त्रका प्रहार कैसे सम्भव हुआ? मैं तो नदीके इस एकान्त तटपर रातमें पानी लेनेके लिये आया था ॥ २६ ॥

इषुणाभिहतः केन कस्य वापकृतं मया।
ऋषेर्हि न्यस्तदण्डस्य वने वन्येन जीवतः ॥ २७ ॥
कथं नु शस्त्रेण वधो मद्विधस्य विधीयते।
जटाभारधरस्यैव वल्कलाजिनवाससः ॥ २८ ॥
को वधेन ममार्थी स्यात् किं वास्यापकृतं मया।
एवं निष्फलमारब्धं केवलानर्थसंहितम् ॥ २९ ॥

''किसने मुझे बाण मारा है? मैंने किसका क्या बिगाड़ा था? मैं तो सभी जीवोंको पीड़ा देनेकी वृत्तिका त्याग करके ऋषि-जीवन बिताता था, वनमें रहकर जंगली फल-मूलोंसे ही जीविका चलाता था। मुझ-जैसे निरपराध मनुष्यका शस्त्रसे वध क्यों किया जा रहा है? मैं वल्कल और मृगचर्म पहननेवाला जटाधारी तपस्वी हूँ। मेरा वध करनेमें किसने अपना क्या लाभ सोचा होगा? मैंने मारनेवालेका क्या अपराध किया था? मेरी हत्याका प्रयत्न व्यर्थ ही किया गया! इससे किसीको कुछ लाभ नहीं होगा, केवल अनर्थ ही हाथ लगेगा ॥ २७—२९ ॥

न क्वचित् साधु मन्येत यथैव गुरुतल्पगम्।
नेमं तथानुशोचामि जीवितक्षयमात्मनः ॥ ३० ॥
मातरं पितरं चोभावनुशोचामि मद्वधे।
तदेतन्मिथुनं वृद्धं चिरकालभृतं मया ॥ ३१ ॥
मयि पञ्चत्वमापन्ने कां वृत्तिं वर्तयिष्यति।
वृद्धौ च मातापितरावहं चैकेषुणा हतः ॥ ३२ ॥
केन स्म निहताः सर्वे सुबालेनाकृतात्मना।

''इस हत्यारेको संसारमें कहीं भी कोई उसी तरह अच्छा नहीं समझेगा, जैसे गुरुपत्नीगामीको। मुझे अपने इस जीवनके नष्ट होनेकी उतनी चिन्ता नहीं है; मेरे मारे जानेसे मेरे माता-पिताको जो कष्ट होगा, उसीके लिये मुझे बारंबार शोक हो रहा है। मैंने इन दोनों वृद्धोंका बहुत समयसे पालन-पोषण किया है; अब मेरे शरीरके न रहनेपर वे किस प्रकार जीवन-निर्वाह करेंगे? घातकने एक ही बाणसे मुझे और मेरे बूढ़े माता-पिताको भी मौतके मुखमें डाल दिया। किस विवेकहीन और अजितेन्द्रिय पुरुषने हम सब लोगोंका एक साथ ही वध कर डाला?' ॥ ३०—३२½ ॥

तां गिरं करुणं श्रुत्वा मम धर्मानुकाङ्क्षिणः ॥ ३३ ॥
कराभ्यां सशरं चापं व्यथितस्यापतद् भुवि।

'ये करुणाभरे वचन सुनकर मेरे मनमें बड़ी व्यथा हुई। कहाँ तो मैं धर्मकी अभिलाषा रखनेवाला था और कहाँ यह अधर्मका कार्य बन गया। उस समय मेरे हाथोंसे धनुष और बाण छूटकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३३½ ॥

तस्याहं करुणं श्रुत्वा ऋषेर्विलपतो निशि ॥ ३४ ॥
सम्भ्रान्तः शोकवेगेन भृशमासं विचेतनः।

'रातमें विलाप करते हुए ऋषिका वह करुण वचन सुनकर मैं शोकके वेगसे घबरा उठा। मेरी चेतना अत्यन्त विलुप्त-सी होने लगी ॥ ३४½ ॥

तं देशमहमागम्य दीनसत्त्वः सुदुर्मनाः ॥ ३५ ॥
अपश्यमिषुणा तीरे सरय्वास्तापसं हतम्।
अवकीर्णजटाभारं प्रविद्धकलशोदकम् ॥ ३६ ॥
पांसुशोणितदिग्धाङ्गं शयानं शल्यवेधितम्।
स मामुद्वीक्ष्य नेत्राभ्यां त्रस्तमस्वस्थचेतनम् ॥ ३७ ॥
इत्युवाच वचः क्रूरं दिधक्षन्निव तेजसा।

'मेरे हृदयमें दीनता छा गयी, मन बहुत दुःखी हो गया। सरयूके किनारे उस स्थानपर जाकर मैंने देखा—एक तपस्वी बाणसे घायल होकर पड़े हैं। उनकी जटाएँ बिखरी हुई हैं, घड़ेका जल गिर गया है तथा सारा शरीर धूल और खूनमें सना हुआ है। वे बाणसे बिंधे हुए पड़े थे। उनकी अवस्था देखकर मैं डर गया, मेरा चित्त ठिकाने नहीं था। उन्होंने दोनों नेत्रोंसे मेरी ओर इस प्रकार देखा, मानो अपने तेजसे मुझे भस्म कर देना चाहते हों। वे कठोर वाणीमें यों बोले— ॥ ३५—३७½ ॥

किं तवापकृतं राजन् वने निवसता मया ॥ ३८ ॥
जिहीर्षुरम्भो गुर्वर्थं यदहं ताडितस्त्वया।

''राजन्! वनमें रहते हुए मैंने तुम्हारा कौन-सा अपराध किया था, जिससे तुमने मुझे बाण मारा? मैं तो माता-पिताके लिये पानी लेनेकी इच्छासे यहाँ आया था ॥ ३८½ ॥

एकेन खलु बाणेन मर्मण्यभिहते मयि ॥ ३९ ॥
द्वावन्धौ निहतौ वृद्धौ माता जनयिता च मे। *

''तुमने एक ही बाणसे मेरा मर्म विदीर्ण करके मेरे दोनों अन्धे और बूढ़े माता-पिताको भी मार डाला ॥ ३९½ ॥

तौ नूनं दुर्बलावन्धौ मत्प्रतीक्षौ पिपासितौ ॥ ४० ॥
चिरमाशां कृतां कष्टां तृष्णां संधारयिष्यतः।

''वे दोनों बहुत दुबले और अन्धे हैं। निश्चय ही प्याससे पीड़ित होकर वे मेरी प्रतीक्षामें बैठे होंगे। वे देरतक मेरे आगमनकी आशा लगाये दुःखदायिनी प्यास लिये बाट जोहते रहेंगे ॥ ४०½ ॥

न नूनं तपसो वास्ति फलयोगः श्रुतस्य वा ॥ ४१ ॥
पिता यन्मां न जानीते शयानं पतितं भुवि।

''अवश्य ही मेरी तपस्या अथवा शास्त्रज्ञानका कोई फल यहाँ प्रकट नहीं हो रहा है; क्योंकि पिताजीको यह नहीं मालूम है कि मैं पृथ्वीपर गिरकर मृत्युशय्यापर पड़ा हुआ हूँ ॥

जानन्नपि च किं कुर्यादशक्तश्चापरिक्रमः ॥ ४२ ॥
भिद्यमानमिवाशक्तस्त्रातुमन्यो नगो नगम्।

''यदि जान भी लें तो क्या कर सकते हैं; क्योंकि असमर्थ हैं और चल-फिर भी नहीं सकते हैं। जैसे वायु आदिके द्वारा तोड़े जाते हुए वृक्षको कोई दूसरा वृक्ष नहीं बचा सकता, उसी प्रकार मेरे पिता भी मेरी रक्षा नहीं कर सकते ॥ ४२½ ॥

पितुस्त्वमेव मे गत्वा शीघ्रमाचक्ष्व राघव ॥ ४३ ॥
न त्वामनुदहेत् क्रुद्धो वनमग्निरिवैधितः।

''अतः रघुकुलनरेश! अब तुम्हीं जाकर शीघ्र ही मेरे पिताको यह समाचार सुना दो। (यदि स्वयं कह दोगे तो) जैसे प्रज्वलित अग्नि समूचे वनको जला डालती है, उस प्रकार वे क्रोधमें भरकर तुमको भस्म नहीं करेंगे ॥ ४३½ ॥

इयमेकपदी राजन् यतो मे पितुराश्रमः ॥ ४४ ॥
तं प्रसादय गत्वा त्वं न त्वा संकुपितः शपेत्।

''राजन्! यह पगडंडी उधर ही गयी है, जहाँ मेरे पिताका आश्रम है। तुम जाकर उन्हें प्रसन्न करो, जिससे वे कुपित होकर तुम्हें शाप न दें ॥ ४४½ ॥

विशल्यं कुरु मां राजन् मर्म मे निशितः शरः ॥ ४५ ॥
रुणद्धि मृदु सोत्सेधं तीरमम्बुरयो यथा।

''राजन्! मेरे शरीरसे इस बाणको निकाल दो। यह तीखा बाण मेरे मर्मस्थानको उसी प्रकार पीड़ा दे रहा है, जैसे नदीके जलका वेग उसके कोमल बालुकामय ऊँचे तटको छिन्न-भिन्न कर देता है' ॥ ४५½ ॥

सशल्यः क्लिश्यते प्राणैर्विशल्यो विनशिष्यति ॥ ४६ ॥
इति मामविशच्चिन्ता तस्य शल्यापकर्षणे ।
दुःखितस्य च दीनस्य मम शोकातुरस्य च ॥ ४७ ॥
लक्षयामास स ऋषिश्चिन्तां मुनिसुतस्तदा ।

'मुनिकुमारकी यह बात सुनकर मेरे मनमें यह चिन्ता समायी कि यदि बाण नहीं निकालता हूँ तो इन्हें क्लेश होता है और निकाल देता हूँ तो ये अभी प्राणोंसे भी हाथ धो बैठते हैं। इस प्रकार बाणको निकालनेके विषयमें मुझ दीन-दुःखी और शोकाकुल दशरथकी इस चिन्ताको उस समय मुनिकुमारने लक्ष्य किया ॥ ४६-४७½ ॥

ताम्यमानं स मां कृच्छ्रादुवाच परमार्थवित् ॥ ४८ ॥
सीदमानो विवृत्ताङ्गोऽवेष्टमानो गतः क्षयम् ।
संस्तभ्य शोकं धैर्येण स्थिरचित्तो भवाम्यहम् ॥ ४९ ॥

'यथार्थ बातको समझ लेनेवाले उन महर्षिने मुझे अत्यन्त ग्लानिमें पड़ा हुआ देख बड़े कष्टसे कहा—'राजन्! मुझे बड़ा कष्ट हो रहा है। मेरी आँखें चढ़ गयी हैं, अङ्ग-अङ्गमें तड़पन हो रही है। मुझसे कोई चेष्टा नहीं बन पाती। अब मैं मृत्युके समीप पहुँच गया हूँ, फिर भी धैर्यके द्वारा शोकको रोककर अपने चित्तको स्थिर करता हूँ (अब मेरी बात सुनो) ॥ ४८-४९ ॥

ब्रह्महत्याकृतं तापं हृदयादपनीयताम् ।
न द्विजातिरहं राजन् मा भूत् ते मनसो व्यथा ॥ ५० ॥

''मुझसे ब्रह्महत्या हो गयी—इस चिन्ताको अपने हृदयसे निकाल दो। राजन्! मैं ब्राह्मण नहीं हूँ, इसलिये तुम्हारे मनमें ब्राह्मणवधको लेकर कोई व्यथा नहीं होनी चाहिये ॥ ५० ॥

शूद्रायामस्मि वैश्येन जातो नरवराधिप ।
इतीव वदतः कृच्छ्राद् बाणाभिहतमर्मणः ॥ ५१ ॥
विघूर्णतो विचेष्टस्य वेपमानस्य भूतले ।
तस्य त्वाताम्यमानस्य तं बाणमहमुद्धरम् ।
स मामुद्वीक्ष्य संत्रस्तो जहौ प्राणांस्तपोधनः ॥ ५२ ॥

''नरश्रेष्ठ! मैं वैश्य पिताद्वारा शूद्रजातीय माताके गर्भसे उत्पन्न हुआ हूँ।' बाणसे मर्ममें आघात पहुँचनेके कारण वे बड़े कष्टसे इतना ही कह सके। उनकी आँखें घूम रही थीं। उनसे कोई चेष्टा नहीं बनती थी। वे पृथ्वीपर पड़े-पड़े छटपटा रहे थे और अत्यन्त कष्टका अनुभव करते थे। उस अवस्थामें मैंने उनके शरीरसे उस बाणको निकाल दिया। फिर तो अत्यन्त भयभीत हो उन तपोधनने मेरी ओर देखकर अपने प्राण त्याग दिये॥ ५१-५२ ॥

जलार्द्रगात्रं तु विलप्य कृच्छ्रं
मर्मव्रणं संततमुच्छ्वसन्तम् ।
ततः सरय्वां तमहं शयानं
समीक्ष्य भद्रे सुभृशं विषण्णः ॥ ५३ ॥

'पानीमें गिरनेके कारण उनका सारा शरीर भीग गया था। मर्ममें आघात लगनेके कारण बड़े कष्टसे विलाप करके और बारंबार उच्छ्वास लेकर उन्होंने प्राणोंका त्याग किया था। कल्याणी कौसल्ये! उस अवस्थामें सरयूके तटपर मरे पड़े मुनिपुत्रको देखकर मुझे बड़ा दुःख हुआ' ॥ ५३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रिषष्टितमः सर्गः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तिरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

—★—

चतुःषष्टितमः सर्गः

राजा दशरथका अपने द्वारा मुनिकुमारके वधसे दुःखी हुए उनके माता-पिताके विलाप और उनके दिये हुए शापका प्रसंग सुनाकर कौसल्याके समीप रोते-विलखते हुए आधी रातके समय अपने प्राणोंको त्याग देना

वधमप्रतिरूपं तु महर्षेस्तस्य राघवः ।
विलपन्नेव धर्मात्मा कौसल्यामिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

उन महर्षिके अनुचित वधका स्मरण करके धर्मात्मा रघुकुलनरेशने अपने पुत्रके लिये विलाप करते हुए ही रानी कौसल्यासे इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

तदज्ञानान्महत्पापं कृत्वा संकुलितेन्द्रियः ।
एकस्त्वचिन्तयं बुद्ध्या कथं नु सुकृतं भवेत् ॥ २ ॥

'देवि! अनजानमें यह महान् पाप कर डालनेके कारण मेरी सारी इन्द्रियाँ व्याकुल हो रही थीं। मैं अकेला ही बुद्धि लगाकर सोचने लगा, अब किस उपायसे मेरा कल्याण हो? ॥ २ ॥

ततस्तं घटमादाय पूर्णं परमवारिणा ।
आश्रमं तमहं प्राप्य यथाख्यातपथं गतः ॥ ३ ॥

'तदनन्तर उस घड़ेको उठाकर मैंने सरयूके उत्तम जलसे भरा और उसे लेकर मुनिकुमारके बताये हुए मार्गसे उनके आश्रमपर गया ॥ ३ ॥

तत्राहं दुर्बलावन्धौ वृद्धावपरिणायकौ ।
अपश्यं तस्य पितरौ लूनपक्षाविव द्विजौ ॥ ४ ॥

'वहाँ पहुँचकर मैंने उनके दुबले, अन्धे और बूढ़े माता-पिताको देखा, जिनका दूसरा कोई सहायक नहीं था। उनकी अवस्था पंख कटे हुए दो पक्षियोंके समान थी ॥ ४ ॥

तन्निमित्ताभिरासीनौ कथाभिरपरिश्रमौ ।
तामाशां मत्कृते हीनावुपासीनावनाथवत् ॥ ५ ॥

'वे अपने पुत्रकी ही चर्चा करते हुए उसके आनेकी आशा लगाये बैठे थे। उस चर्चाके कारण उन्हें कुछ परिश्रम या थकावटका अनुभव नहीं होता था। यद्यपि मेरे कारण उनकी वह आशा धूलमें मिल चुकी थी तो भी वे उसीके आसरे बैठे थे। अब वे दोनों सर्वथा अनाथ-से हो गये थे॥ ५॥

शोकोपहतचित्तश्च भयसंत्रस्तचेतनः ।
तच्चाश्रमपदं गत्वा भूयः शोकमहं गतः ॥ ६ ॥

'मेरा हृदय पहलेसे ही शोकके कारण घबराया हुआ था। भयसे मेरा होश ठिकाने नहीं था। मुनिके आश्रमपर पहुँचकर मेरा वह शोक और भी अधिक हो गया॥ ६॥

पदशब्दं तु मे श्रुत्वा मुनिर्वाक्यमभाषत ।
किं चिरायसि मे पुत्र पानीयं क्षिप्रमानय ॥ ७ ॥

'मेरे पैरोंकी आहट सुनकर वे मुनि इस प्रकार बोले—'बेटा! देर क्यों लगा रहे हो? शीघ्र पानी ले आओ॥ ७॥

यन्निमित्तमिदं तात सलिले क्रीडितं त्वया ।
उत्कण्ठिता ते मातेयं प्रविश क्षिप्रमाश्रमम् ॥ ८ ॥

''तात! जिस कारणसे तुमने बड़ी देरतक जलमें क्रीड़ा की है, उसी कारणको लेकर तुम्हारी यह माता तुम्हारे लिये उत्कण्ठित हो गयी है; अतः शीघ्र ही आश्रमके भीतर प्रवेश करो॥ ८॥

यद् व्यलीकं कृतं पुत्र मात्रा ते यदि वा मया ।
न तन्मनसि कर्तव्यं त्वया तात तपस्विना ॥ ९ ॥

''बेटा! तात! यदि तुम्हारी माताने अथवा मैंने तुम्हारा कोई अप्रिय किया हो तो उसे तुम्हें अपने मनमें नहीं लाना चाहिये; क्योंकि तुम तपस्वी हो॥ ९॥

त्वं गतिस्त्वगतीनां च चक्षुस्त्वं हीनचक्षुषाम् ।
समासक्तास्त्वयि प्राणाः कथं त्वं नाभिभाषसे ॥ १० ॥

'हम असहाय हैं, तुम्हीं हमारे सहायक हो। हम अन्धे हैं, तुम्हीं हमारे नेत्र हो। हमलोगोंके प्राण तुम्हींमें अटके हुए हैं। बताओ, तुम बोलते क्यों नहीं हो?' ॥ १०॥

मुनिमव्यक्तया वाचा तमहं सज्जमानया ।
हीनव्यञ्जनया प्रेक्ष्य भीतचित्त इवाब्रुवम् ॥ ११ ॥

'मुनिको देखते ही मेरे मनमें भय-सा समा गया। मेरी जबान लड़खड़ाने लगी। कितने अक्षरोंका उच्चारण नहीं हो पाता था। इस प्रकार अस्पष्ट वाणीमें मैंने बोलनेका प्रयास किया॥ ११॥

मनसः कर्म चेष्टाभिरभिसंस्तभ्य वाग्बलम् ।
आचचक्षे त्वहं तस्मै पुत्रव्यसनजं भयम् ॥ १२ ॥

'मानसिक भयको बाहरी चेष्टाओंसे दबाकर मैंने कुछ कहनेकी क्षमता प्राप्त की और मुनिपर पुत्रकी मृत्युसे जो संकट आ पड़ा था, वह उनपर प्रकट करते हुए कहा— ॥

क्षत्रियोऽहं दशरथो नाहं पुत्रो महात्मनः ।
सज्जनावमतं दुःखमिदं प्राप्तं स्वकर्मजम् ॥ १३ ॥

''महात्मन्! मैं आपका पुत्र नहीं, दशरथ नामका एक क्षत्रिय हूँ। मैंने अपने कर्मवश यह ऐसा दुःख पाया है, जिसकी सत्पुरुषोंने सदा निन्दा की है॥ १३॥

भगवंश्चापहस्तोऽहं सरयूतीरमागतः ।
जिघांसुः श्वापदं किंचिन्निपाने वागतं गजम् ॥ १४ ॥

''भगवन्! मैं धनुष-बाण लेकर सरयूके तटपर आया था। मेरे आनेका उद्देश्य यह था कि कोई जंगली हिंसक पशु अथवा हाथी घाटपर पानी पीनेके लिये आवे तो मैं उसे मारूँ॥ १४॥

ततः श्रुतो मया शब्दो जले कुम्भस्य पूर्यतः ।
द्विपोऽयमिति मत्वाहं बाणेनाभिहतो मया ॥ १५ ॥

''थोड़ी देर बाद मुझे जलमें घड़ा भरनेका शब्द सुनायी पड़ा। मैंने समझा कोई हाथी आकर पानी पी रहा है, इसलिये उसपर बाण चला दिया॥ १५॥

गत्वा तस्यास्ततस्तीरमपश्यमिषुणा हृदि ।
विनिर्भिन्नं गतप्राणं शयानं भुवि तापसम् ॥ १६ ॥

''फिर सरयूके तटपर जाकर देखा कि मेरा बाण एक तपस्वीकी छातीमें लगा है और वे मृतप्राय होकर धरतीपर पड़े हैं॥ १६॥

ततस्तस्यैव वचनादुपेत्य परितप्यतः ।
स मया सहसा बाण उद्धृतो मर्मतस्तदा ॥ १७ ॥

''उस बाणसे उन्हें बड़ी पीड़ा हो रही थी, अतः उस समय उन्हींके कहनेसे मैंने सहसा वह बाण उनके मर्म-स्थानसे निकाल दिया॥ १७॥

स चोद्धृतेन बाणेन सहसा स्वर्गमास्थितः ।
भगवन्तावुभौ शोचन्नन्धाविति विलप्य च ॥ १८ ॥

''बाण निकलनेके साथ ही वे तत्काल स्वर्ग सिधार गये। मरते समय उन्होंने आप दोनों पूजनीय अंधे पिता-माताके लिये बड़ा शोक और विलाप किया था॥ १८॥

अज्ञानाद् भवतः पुत्रः सहसाभिहतो मया ।
शेषमेवं गते यत् स्यात् तत् प्रसीदतु मे मुनिः ॥ १९ ॥

''इस प्रकार अनजानमें मेरे हाथसे आपके पुत्रका वध हो गया है। ऐसी अवस्थामें मेरे प्रति जो शाप या अनुग्रह शेष हो, उसे देनेके लिये आप महर्षि मुझपर प्रसन्न हों' ॥ १९॥

स तच्छ्रुत्वा वचः क्रूरं मया तदघशंसिना ।
नाशकत् तीव्रमायासं स कर्तुं भगवानृषिः ॥ २० ॥

'मैंने अपने मुँहसे अपना पाप प्रकट कर दिया था, इसलिये मेरी क्रूरतासे भरी हुई वह बात सुनकर भी वे पूज्यपाद महर्षि मुझे कठोर दण्ड—भस्म हो जानेका शाप नहीं दे सके॥ २०॥

स बाष्पपूर्णवदनो निःश्वसञ्शोकमूर्च्छितः ।
मामुवाच महातेजाः कृताञ्जलिमुपस्थितम् ॥ २१ ॥

'उनके मुखपर आँसुओंकी धारा बह चली और वे शोकसे मूर्च्छित होकर दीर्घ निःश्वास लेने लगे। मैं हाथ जोड़े उनके सामने खड़ा था। उस समय उन महातेजस्वी मुनिने मुझसे कहा— ॥ २१ ॥

यद्येतदशुभं कर्म न स्म मे कथयेः स्वयम्।
फलेन्मूर्धा स्म ते राजन् सद्यः शतसहस्रधा ॥ २२ ॥

''राजन्! यदि यह अपना पापकर्म तुम स्वयं यहाँ आकर न बताते तो शीघ्र ही तुम्हारे मस्तकके सैकड़ों-हजारों टुकड़े हो जाते ॥ २२ ॥

क्षत्रियेण वधो राजन् वानप्रस्थे विशेषतः।
ज्ञानपूर्वं कृतः स्थानाच्च्यावयेदपि वज्रिणम् ॥ २३ ॥

''नरेश्वर! यदि क्षत्रिय जान-बूझकर विशेषतः किसी वानप्रस्थीका वध कर डाले तो वह वज्रधारी इन्द्र ही क्यों न हो, वह उसे अपने स्थानसे भ्रष्ट कर देता है ॥ २३ ॥

सप्तधा तु भवेन्मूर्धा मुनौ तपसि तिष्ठति।
ज्ञानाद् विसृजतः शस्त्रं तादृशे ब्रह्मवादिनि ॥ २४ ॥

''तपस्यामें लगे हुए वैसे ब्रह्मवादी मुनिपर जान-बूझकर शस्त्रका प्रहार करनेवाले पुरुषके मस्तकके सात टुकड़े हो जाते हैं ॥ २४ ॥

अज्ञानाद्धि कृतं यस्मादिदं ते तेन जीवसे।
अपि ह्यकुशलं न स्याद् राघवाणां कुतो भवान् ॥ २५ ॥

''तुमने अनजानमें यह पाप किया है, इसीलिये अभीतक जीवित हो। यदि जान-बूझकर किया होता तो समस्त रघुवंशियोंका कुल ही नष्ट हो जाता, अकेले तुम्हारी तो बात ही क्या है?' ॥ २५ ॥

नय नौ नृपं तं देशमिति मां चाभ्यभाषत।
अद्य तं द्रष्टुमिच्छावः पुत्रं पश्चिमदर्शनम् ॥ २६ ॥

'उन्होंने मुझसे यह भी कहा—'नरेश्वर! तुम हम दोनोंको उस स्थानपर ले चलो, जहाँ हमारा पुत्र मरा पड़ा है। इस समय हम उसे देखना चाहते हैं। यह हमारे लिये उसका अन्तिम दर्शन होगा' ॥ २६ ॥

रुधिरेणावसिक्ताङ्गं प्रकीर्णाजिनवाससम्।
शयानं भुवि निःसंज्ञं धर्मराजवशं गतम् ॥ २७ ॥
अथाहमेकस्तं देशं नीत्वा तौ भृशदुःखितौ।
अस्पर्शयमहं पुत्रं तं मुनिं सह भार्यया ॥ २८ ॥

'तब मैं अकेला ही अत्यन्त दुःखमें पड़े हुए उन दम्पतिको उस स्थानपर ले गया, जहाँ उनका पुत्र कालके अधीन होकर पृथ्वीपर अचेत पड़ा था। उसके सारे अङ्ग खूनसे लथपथ हो रहे थे, मृगचर्म और वस्त्र बिखरे पड़े थे। मैंने पत्नीसहित मुनिको उनके पुत्रके शरीरका स्पर्श कराया ॥ २७-२८ ॥

तौ पुत्रमात्मनः स्पृष्ट्वा तमासाद्य तपस्विनौ।
निपेततुः शरीरेऽस्य पिता चैनमुवाच ह ॥ २९ ॥

'वे दोनों तपस्वी अपने उस पुत्रका स्पर्श करके उसके अत्यन्त निकट जाकर उसके शरीरपर गिर पड़े। फिर पिताने पुत्रको सम्बोधित करके उससे कहा— ॥ २९ ॥

नाभिवादयसे माद्य न च मामभिभाषसे।
किं च शेषे तु भूमौ त्वं वत्स किं कुपितो ह्यसि ॥ ३० ॥

''बेटा! आज तुम मुझे न तो प्रणाम करते हो और न मुझसे बोलते ही हो। तुम धरतीपर क्यों सो रहे हो? क्या तुम हमसे रूठ गये हो? ॥ ३० ॥

नन्वहं तेऽप्रियः पुत्र मातरं पश्य धार्मिकीम्।
किं च नालिङ्गसे पुत्र सुकुमार वचो वद ॥ ३१ ॥

''बेटा! यदि मैं तुम्हारा प्रिय नहीं हूँ तो तुम अपनी इस धर्मात्मा माताकी ओर तो देखो। तुम इसके हृदयसे क्यों नहीं लग जाते हो? वत्स! कुछ तो बोलो ॥ ३१ ॥

कस्य वा पररात्रेऽहं श्रोष्यामि हृदयङ्गमम्।
अधीयानस्य मधुरं शास्त्रं वान्यद् विशेषतः ॥ ३२ ॥

''अब पिछली रातमें मधुर स्वरसे शास्त्र या पुराण आदि अन्य किसी ग्रन्थका विशेषरूपसे स्वाध्याय करते हुए किसके मुँहसे मैं मनोरम शास्त्रचर्चा सुनूँगा? ॥ ३२ ॥

को मां संध्यामुपास्यैव स्नात्वा हुतहुताशनः।
श्लाघयिष्यत्युपासीनः पुत्रशोकभयार्दितम् ॥ ३३ ॥

''अब कौन स्नान, संध्योपासना तथा अग्निहोत्र करके मेरे पास बैठकर पुत्रशोकके भयसे पीड़ित हुए मुझ बूढ़ेको सान्त्वना देता हुआ मेरी सेवा करेगा? ॥ ३३ ॥

कन्दमूलफलं हृत्वा यो मां प्रियमिवातिथिम्।
भोजयिष्यत्यकर्मण्यमप्रग्रहमनायकम् ॥ ३४ ॥

''अब कौन ऐसा है, जो कन्द, मूल और फल लाकर मुझ अकर्मण्य, अन्नसंग्रहसे रहित और अनाथको प्रिय अतिथिकी भाँति भोजन करायेगा ॥ ३४ ॥

इमामन्धां च वृद्धां च मातरं ते तपस्विनीम्।
कथं पुत्र भरिष्यामि कृपणां पुत्रगर्धिनीम् ॥ ३५ ॥

''बेटा! तुम्हारी यह तपस्विनी माता अन्धी, बूढ़ी, दीन तथा पुत्रके लिये उत्कण्ठित रहनेवाली है। मैं (स्वयं अन्धा होकर) इसका भरण-पोषण कैसे करूँगा? ॥ ३५ ॥

तिष्ठ मा मा गमः पुत्र यमस्य सदनं प्रति।
श्वो मया सह गन्तासि जनन्या च समेधितः ॥ ३६ ॥

''पुत्र! ठहरो, आज यमराजके घर न जाओ। कल मेरे और अपनी माताके साथ चलना ॥ ३६ ॥

उभावपि च शोकार्तावनाथौ कृपणौ वने।
क्षिप्रमेव गमिष्यावस्त्वया हीनौ यमक्षयम् ॥ ३७ ॥

''हम दोनों शोकसे आर्त्त, अनाथ और दीन हैं। तुम्हारे न रहनेपर हम शीघ्र ही यमलोककी राह लेंगे ॥ ३७ ॥

ततो वैवस्वतं दृष्ट्वा तं प्रवक्ष्यामि भारतीम्।
क्षमतां धर्मराजो मे बिभृयात् पितरावयम् ॥ ३८ ॥

''तदनन्तर सूर्यपुत्र यमराजका दर्शन करके मैं उनसे

यह बात कहूँगा—धर्मराज मेरे अपराधको क्षमा करें और मेरे पुत्रको छोड़ दें, जिससे यह अपने माता-पिताका भरण-पोषण कर सके ॥ ३८ ॥

दातुमर्हति धर्मात्मा लोकपालो महायशाः ।
ईदृशस्य ममाक्षय्यामेकामभयदक्षिणाम् ॥ ३९ ॥

"ये धर्मात्मा हैं, महायशस्वी लोकपाल हैं। मुझ-जैसे अनाथको वह एक बार अभय दान दे सकते हैं ॥ ३९ ॥

अपापोऽसि यथा पुत्र निहतः पापकर्मणा ।
तेन सत्येन गच्छाशु ये लोकास्त्वस्त्रयोधिनाम् ॥ ४० ॥
यां हि शूरा गतिं यान्ति संग्रामेष्वनिवर्तिनः ।
हतास्त्वभिमुखाः पुत्र गतिं तां परमां व्रज ॥ ४१ ॥

"बेटा ! तुम निष्पाप हो, किंतु एक पापकर्मा क्षत्रियने तुम्हारा वध किया है, इस कारण मेरे सत्यके प्रभावसे तुम शीघ्र ही उन लोकोंमें जाओ, जो अस्त्रयोधी शूरवीरोंको प्राप्त होते हैं। बेटा ! युद्धमें पीठ न दिखानेवाले शूरवीर सम्मुख युद्धमें मारे जानेपर जिस गतिको प्राप्त होते हैं, उसी उत्तम गतिको तुम भी जाओ ॥ ४०-४१ ॥

यां गतिं सगरः शैब्यो दिलीपो जनमेजयः ।
नहुषो धुन्धुमारश्च प्राप्तास्तां गच्छ पुत्रक ॥ ४२ ॥

'वत्स ! राजा सगर, शैब्य, दिलीप, जनमेजय, नहुष और धुन्धुमार जिस गतिको प्राप्त हुए हैं, वही तुम्हें भी मिले ॥

या गतिः सर्वभूतानां स्वाध्यायात् तपसश्च या ।
भूमिदस्याहिताग्नेश्च एकपत्नीव्रतस्य च ॥ ४३ ॥
गोसहस्रप्रदातॄणां गुरुसेवाभृतामपि ।
देहन्यासकृतां या च तां गतिं गच्छ पुत्रक ॥ ४४ ॥

"स्वाध्याय और तपस्यासे समस्त प्राणियोंके आश्रयभूत जिस परब्रह्मकी प्राप्ति होती है, वही तुम्हें भी प्राप्त हो। वत्स ! भूमिदाता, अग्निहोत्री, एकपत्नीव्रती, एक हजार गौओंका दान करनेवाले, गुरुकी सेवा करनेवाले तथा महाप्रस्थान आदिके द्वारा देहत्याग करनेवाले पुरुषोंको जो गति मिलती है, वही तुम्हें भी प्राप्त हो ॥ ४३-४४ ॥

नहि त्वस्मिन् कुले जातो गच्छत्यकुशलां गतिम् ।
स तु यास्यति येन त्वं निहतो मम बान्धवः ॥ ४५ ॥

"हम-जैसे तपस्वियोंके इस कुलमें पैदा हुआ कोई पुरुष बुरी गतिको नहीं प्राप्त हो सकता। बुरी गति तो उसकी होगी, जिसने मेरे बान्धवरूप तुम्हें अकारण मारा है ?' ॥ ४५ ॥

एवं स कृपणं तत्र पर्यदेवयतासकृत् ।
ततोऽस्मै कर्तुमुदकं प्रवृत्तः सह भार्यया ॥ ४६ ॥

'इस प्रकार वे दीनभावसे बारम्बार विलाप करने लगे। तत्पश्चात् अपनी पत्नीके साथ वे पुत्रको जलाञ्जलि देनेके कार्यमें प्रवृत्त हुए ॥ ४६ ॥

स तु दिव्येन रूपेण मुनिपुत्रः स्वकर्मभिः ।
स्वर्गमध्यारुहत् क्षिप्रं शक्रेण सह धर्मवित् ॥ ४७ ॥

'इसी समय वह धर्मज्ञ मुनिकुमार अपने पुण्य-कर्मोंके प्रभावसे दिव्य रूप धारण करके शीघ्र ही इन्द्रके साथ स्वर्गको जाने लगा ॥ ४७ ॥

आबभाषे च तौ वृद्धौ शक्रेण सह तापसः ।
आश्वास्य च मुहूर्तं तु पितरं वाक्यमब्रवीत् ॥ ४८ ॥

'इन्द्रसहित उस तपस्वीने अपने दोनों बूढ़े पिता-माताको एक मुहूर्ततक आश्वासन देते हुए उनसे बातचीत की; फिर वह अपने पितासे बोला— ॥ ४८ ॥

स्थानमस्मि महत् प्राप्तो भवतोः परिचारणात् ।
भवन्तावपि च क्षिप्रं मम मूलमुपैष्यथः ॥ ४९ ॥

"मैं आप दोनोंकी सेवासे महान् स्थानको प्राप्त हुआ हूँ, अब आपलोग भी शीघ्र ही मेरे पास आ जाइयेगा' ॥ ४९ ॥

एवमुक्त्वा तु दिव्येन विमानेन वपुष्मता ।
आरुरोह दिवं क्षिप्रं मुनिपुत्रो जितेन्द्रियः ॥ ५० ॥

'यह कहकर वह जितेन्द्रिय मुनिकुमार उस सुन्दर आकार-वाले दिव्य विमानसे शीघ्र ही देवलोकको चला गया ॥ ॥

स कृत्वाथोदकं तूर्णं तापसः सह भार्यया ।
मामुवाच महातेजाः कृताञ्जलिमुपस्थितम् ॥ ५१ ॥

'तदनन्तर पत्नीसहित उन महातेजस्वी तपस्वी मुनिने तुरंत ही पुत्रको जलाञ्जलि देकर हाथ जोड़े खड़े हुए मुझसे कहा— ॥ ५१ ॥

अद्यैव जहि मां राजन् मरणे नास्ति मे व्यथा ।
यः शरेणैकपुत्रं मां त्वमकार्षीरपुत्रकम् ॥ ५२ ॥

"राजन् ! तुम आज ही मुझे भी मार डालो; अब मरनेमें मुझे कष्ट नहीं होगा। मेरे एक ही बेटा था, जिसे तुमने अपने बाणका निशाना बनाकर मुझे पुत्रहीन कर दिया ॥ ५२ ॥

त्वयापि च यदज्ञानान्निहतो मे स बालकः ।
तेन त्वामपि शप्स्येऽहं सुदुःखमतिदारुणम् ॥ ५३ ॥

"तुमने अज्ञानवश जो मेरे बालककी हत्या की है, उसके कारण मैं तुम्हें भी अत्यन्त भयंकर एवं भलीभाँति दुःख देनेवाला शाप दूँगा ॥ ५३ ॥

पुत्रव्यसनजं दुःखं यदेतन्मम साम्प्रतम् ।
एवं त्वं पुत्रशोकेन राजन् कालं करिष्यसि ॥ ५४ ॥

'राजन् ! इस समय पुत्रके वियोगसे मुझे जैसा कष्ट हो रहा है, ऐसा ही तुम्हें भी होगा। तुम भी पुत्रशोकसे ही कालके गालमें जाओगे ॥ ५४ ॥

अज्ञानात्तु हतो यस्मात् क्षत्रियेण त्वया मुनिः ।
तस्मात् त्वां नाविशत्याशु ब्रह्महत्या नराधिप ॥ ५५ ॥
त्वामप्येतादृशो भावः क्षिप्रमेव गमिष्यति ।
जीवितान्तकरो घोरो दातारमिव दक्षिणाम् ॥ ५६ ॥

"नरेश्वर ! क्षत्रिय होकर अनजानमें तुमने वैश्यजातीय मुनिका वध किया है, इसलिये शीघ्र ही तुम्हें ब्रह्महत्याका पाप तो नहीं लगेगा तथापि जल्दी ही तुम्हें भी ऐसी ही

भयानक और प्राण लेनेवाली अवस्था प्राप्त होगी। ठीक उसी तरह, जैसे दक्षिणा देनेवाले दाताको उसके अनुरूप फल प्राप्त होता है, ॥ ५५-५६ ॥

एवं शापं मयि न्यस्य विलप्य करुणं बहु।
चितामारोप्य देहं तन्मिथुनं स्वर्गमभ्ययात् ॥ ५७ ॥

'इस प्रकार मुझे शाप देकर वे बहुत देरतक करुणाजनक विलाप करते रहे; फिर वे दोनों पति-पत्नी अपने शरीरोंको जलती हुई चितामें डालकर स्वर्गको चले गये ॥ ५७ ॥

तदेतच्चिन्तयानेन स्मृतं पापं मया स्वयम्।
तदा बाल्यात् कृतं देवि शब्दवेध्यनुकर्षिणा ॥ ५८ ॥

'देवि! इस प्रकार बालस्वभावके कारण मैंने पहले शब्दवेधी बाण मारकर और फिर उस मुनिके शरीरसे बाणको खींचकर जो उनका वधरूपी पाप किया था, वह आज इस पुत्रवियोगकी चिन्तामें पड़े हुए मुझे स्वयं ही स्मरण हो आया है। ॥ ५८ ॥

तस्यायं कर्मणो देवि विपाकः समुपस्थितः।
अपथ्यैः सह सम्भुक्ते व्याधिरन्नरसे यथा ॥ ५९ ॥
तस्मान्मामागतं भद्रे तस्योदारस्य तद् वचः।

'देवि! अपथ्य वस्तुओंके साथ अन्नरस ग्रहण कर लेनेपर जैसे शरीरमें रोग पैदा हो जाता है, उसी प्रकार यह उस पापकर्मका फल उपस्थित हुआ है। अतः कल्याणि! उन उदार महात्माका शापरूपी वचन इस समय मेरे पास फल देनेके लिये आ गया है' ॥ ५९½ ॥

इत्युक्त्वा स रुदंस्त्रस्तो भार्यामाह तु भूमिपः ॥ ६० ॥
यदहं पुत्रशोकेन संत्यजिष्यामि जीवितम्।
चक्षुर्भ्यां त्वां न पश्यामि कौसल्ये त्वं हि मां स्पृश ॥ ६१ ॥

ऐसा कहकर वे भूपाल मृत्युके भयसे त्रस्त हो अपनी पत्नीसे रोते हुए बोले—'कौसल्ये! अब मैं पुत्र-शोकसे अपने प्राणोंका त्याग करूँगा। इस समय मैं तुम्हें अपनी आँखोंसे देख नहीं पाता हूँ; तुम मेरा स्पर्श करो ॥ ६०-६१ ॥

यमक्षयमनुप्राप्ता द्रक्ष्यन्ति नहि मानवाः।
यदि मां संस्पृशेद् रामः सकृदन्वारभेत वा ॥ ६२ ॥
धनं वा यौवराज्यं वा जीवेयमिति मे मतिः।

'जो मनुष्य यमलोकमें जानेवाले (मरणासन्न) होते हैं, वे अपने बान्धवजनोंको नहीं देख पाते हैं। यदि श्रीराम आकर एक बार मेरा स्पर्श करें अथवा यह धन-वैभव और युवराजपद स्वीकार कर लें तो मेरा विश्वास है कि मैं जी सकता हूँ ॥ ६२½ ॥

न तन्मे सदृशं देवि यन्मया राघवे कृतम् ॥ ६३ ॥
सदृशं तत्तु तस्यैव यदनेन कृतं मयि।

'देवि! मैंने श्रीरामके साथ जो बर्ताव किया है, वह मेरे योग्य नहीं था; परंतु श्रीरामने मेरे साथ जो व्यवहार किया है, वह सर्वथा उन्हींके योग्य है ॥ ६३½ ॥

दुर्वृत्तमपि कः पुत्रं त्यजेद् भुवि विचक्षणः ॥ ६४ ॥
कश्च प्रव्राज्यमानो वा नासूयेत् पितरं सुतः।

'कौन बुद्धिमान् पुरुष इस भूतलपर अपने दुराचारी पुत्रका भी परित्याग कर सकता है? (एक मैं हूँ, जिसने अपने धर्मात्मा पुत्रको त्याग दिया) तथा कौन ऐसा पुत्र है, जिसे घरसे निकाल दिया जाय और वह पिताको कोसेतक नहीं? (परंतु श्रीराम चुपचाप चले गये। उन्होंने मेरे विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहा) ॥ ६४½ ॥

चक्षुषा त्वां न पश्यामि स्मृतिर्मम विलुप्यते ॥ ६५ ॥
दूता वैवस्वतस्यैते कौसल्ये त्वरयन्ति माम्।

'कौसल्ये! अब मेरी आँखें तुम्हें नहीं देख पाती हैं, स्मरण-शक्ति भी लुप्त होती जा रही है। उधर देखो, ये यमराजके दूत मुझे यहाँसे ले जानेके लिये उतावले हो उठे हैं ॥ ६५½ ॥

अतस्तु किं दुःखतरं यदहं जीवितक्षये ॥ ६६ ॥
नहि पश्यामि धर्मज्ञं रामं सत्यपराक्रमम्।

'इससे बढ़कर दुःख मेरे लिये और क्या हो सकता है कि मैं प्राणान्तके समय सत्यपराक्रमी धर्मज्ञ रामका दर्शन नहीं पा रहा हूँ ॥ ६६½ ॥

तस्यादर्शनजः शोकः सुतस्याप्रतिकर्मणः ॥ ६७ ॥
उच्छोषयति वै प्राणान् वारि स्तोकमिवातपः।

'जिनकी समता करनेवाला संसारमें दूसरा कोई नहीं है, उन प्रिय पुत्र श्रीरामके न देखनेका शोक मेरे प्राणोंको उसी तरह सुखाये डालता है, जैसे धूप थोड़े-से जलको शीघ्र सुखा देती है ॥ ६७½ ॥

न ते मनुष्या देवास्ते ये चारुशुभकुण्डलम् ॥ ६८ ॥
मुखं द्रक्ष्यन्ति रामस्य वर्षे पञ्चदशे पुनः।

'वे मनुष्य नहीं देवता हैं, जो आपके पंद्रहवें वर्ष वनसे लौटनेपर श्रीरामका सुन्दर मनोहर कुण्डलोंसे अलंकृत मुख देखेंगे ॥ ६८½ ॥

पद्मपत्रेक्षणं सुभ्रु सुदंष्ट्रं चारुनासिकम् ॥ ६९ ॥
धन्या द्रक्ष्यन्ति रामस्य ताराधिपसमं मुखम्।

'जो कमलके समान नेत्र, सुन्दर भौंहें, स्वच्छ दाँत और मनोहर नासिकासे सुशोभित श्रीरामके चन्द्रोपम मुखका दर्शन करेंगे, वे धन्य हैं ॥ ६९½ ॥

सदृशं शारदस्येन्दोः फुल्लस्य कमलस्य च ॥ ७० ॥
सुगन्धि मम रामस्य धन्या द्रक्ष्यन्ति ये मुखम्।
निवृत्तवनवासं तमयोध्यां पुनरागतम् ॥ ७१ ॥
द्रक्ष्यन्ति सुखिनो रामं शुक्रं मार्गगतं यथा।

'जो मेरे श्रीरामके शरच्चन्द्रसदृश मनोहर और प्रफुल्ल कमलके समान सुवासित मुखका दर्शन करेंगे, वे धन्य हैं। जैसे (मूढ़ता आदि अवस्थाओंको त्यागकर अपने उच्च) मार्गमें स्थित शुक्रका दर्शन करके लोग सुखी होते हैं, उसी प्रकार वनवासकी अवधि पूरी करके पुनः अयोध्यामें लौटकर आये

हुए श्रीरामको जो लोग देखेंगे वे ही सुखी होंगे ॥ ७०-७१½ ॥

कौसल्ये चित्तमोहेन हृदयं सीदतेतराम् ॥ ७२ ॥
वेदये न च संयुक्ताञ्शब्दस्पर्शरसानहम् ।

'कौसल्ये ! मेरे चित्तपर मोह छा रहा है, हृदय विदीर्ण-सा हो रहा है, इन्द्रियोंसे संयोग होनेपर भी मुझे शब्द, स्पर्श और रस आदि विषयोंका अनुभव नहीं हो रहा है ॥ ७२½ ॥

चित्तनाशाद् विपद्यन्ते सर्वाण्येवेन्द्रियाणि हि ।
क्षीणस्नेहस्य दीपस्य संरक्ता रश्मयो यथा ॥ ७३ ॥

'जैसे तेल समाप्त हो जानेपर दीपककी अरुण प्रभा विलीन हो जाती है, उसी प्रकार चेतनाके नष्ट होनेसे मेरी सारी इन्द्रियाँ ही नष्ट हो चली हैं ॥ ७३ ॥

अयमात्मभवः शोको मामनाथमचेतनम् ।
संसाधयति वेगेन यथा कूलं नदीरयः ॥ ७४ ॥

'जिस प्रकार नदीका वेग अपने ही किनारेको काट गिराता है, उसी प्रकार मेरा अपना ही उत्पन्न किया हुआ शोक मुझे वेगपूर्वक अनाथ और अचेत किये दे रहा है ॥ ७४ ॥

हा राघव महाबाहो हा ममायासनाशन ।
हा पितृप्रिय मे नाथ हा ममासि गतः सुत ॥ ७५ ॥

'हा महाबाहु रघुनन्दन ! हा मेरे कष्टोंको दूर करनेवाले श्रीराम ! हा पिताके प्रिय पुत्र ! हा मेरे नाथ ! हा मेरे बेटे ! तुम कहाँ चले गये ? ॥ ७५ ॥

हा कौसल्ये न पश्यामि हा सुमित्रे तपस्विनि ।
हा नृशंसे ममामित्रे कैकेयि कुलपांसनि ॥ ७६ ॥

'हा कौसल्ये ! अब मुझे कुछ नहीं दिखायी देता । हा तपस्विनि सुमित्रे ! अब मैं इस लोकसे जा रहा हूँ । हा मेरी शत्रु, क्रूर, कुलाङ्गार कैकेयि ! (तेरी कुटिल इच्छा पूरी हुई)' ॥ ७६ ॥

इति मातुश्च रामस्य सुमित्रायाश्च संनिधौ ।
राजा दशरथः शोचञ्जीवितान्तमुपागमत् ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीराम-माता कौसल्या और सुमित्राके निकट शोकपूर्ण विलाप करते हुए राजा दशरथके जीवनका अन्त हो गया ॥ ७७ ॥

तथा तु दीनः कथयन् नराधिपः
प्रियस्य पुत्रस्य विवासनातुरः ।
गतेऽर्धरात्रे भृशदुःखपीडित-
स्तदा जहौ प्राणमुदारदर्शनः ॥ ७८ ॥

अपने प्रिय पुत्रके वनवाससे शोकाकुल हुए राजा दशरथ इस प्रकार दीनतापूर्ण वचन कहते हुए आधी रात बीतते-बीतते अत्यन्त दुःखसे पीड़ित हो गये और उसी समय उन उदारदर्शी नरेशने अपने प्राणोंको त्याग दिया ॥ ७८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुःषष्टितमः सर्गः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमः सर्गः

वन्दीजनोंका स्तुतिपाठ, राजा दशरथको दिवंगत हुआ जान उनकी रानियोंका करुण-विलाप

अथ रात्र्यां व्यतीतायां प्रातरेवापरेऽहनि ।
वन्दिनः पर्युपातिष्ठंस्तत्पार्थिवनिवेशनम् ॥ १ ॥

तदनन्तर रात बीतनेपर दूसरे दिन सवेरे ही वन्दीजन (महाराजकी स्तुति करनेके लिये) राजमहलमें उपस्थित हुए ॥ १ ॥

सूताः परमसंस्कारा मागधाश्चोत्तमश्रुताः ।
गायकाः श्रुतिशीलाश्च निगदन्तः पृथक्पृथक् ॥ २ ॥

व्याकरण-ज्ञानसे सम्पन्न (अथवा उत्तम अलङ्कारोंसे विभूषित) सूत, उत्तमरूपसे वंशपरम्पराका श्रवण करानेवाले मागध और सङ्गीतशास्त्रका अनुशीलन करनेवाले गायक अपने-अपने मार्गके अनुसार पृथक्-पृथक् यशोगान करते हुए वहाँ आये ॥ २ ॥

राजानं स्तुवतां तेषामुदात्ताभिहिताशिषाम् ।
प्रासादाभोगविस्तीर्णः स्तुतिशब्दो ह्यवर्तत ॥ ३ ॥

उच्च स्वरसे आशीर्वाद देते हुए राजाकी स्तुति करनेवाले उन सूत-मागध आदिका शब्द राजमहलोंके भीतरी भागमें फैलकर गूँजने लगा ॥ ३ ॥

ततस्तु स्तुवतां तेषां सूतानां पाणिवादकाः ।
अपदानान्युदाहृत्य पाणिवादानवादयन् ॥ ४ ॥

वे सूतगण स्तुति कर रहे थे; इतनेहीमें पाणिवादक (हाथोंसे ताल देकर गानेवाले) वहाँ आये और राजाओंके बीते हुए अद्भुत कर्मोंका बखान करते हुए तालगतिके अनुसार तालियाँ बजाने लगे ॥ ४ ॥

तेन शब्देन विहगाः प्रतिबुद्धाश्च सस्वनुः ।
शाखास्थाः पञ्जरस्थाश्च ये राजकुलगोचराः ॥ ५ ॥

उस शब्दसे वृक्षोंकी शाखाओंपर बैठे हुए तथा राजकुलमें ही विचरनेवाले पिंजड़ेमें बंद शुक आदि पक्षी जागकर चहचहाने लगे ॥ ५ ॥

व्याहृताः पुण्यशब्दाश्च वीणानां चापि निःस्वनाः ।
आशीर्गेयं च गाथानां पूरयामास वेश्म तत् ॥ ६ ॥

शुक आदि पक्षियों तथा ब्राह्मणोंके मुखसे निकले हुए पवित्र शब्द, वीणाओंके मधुर नाद तथा गाथाओंके आशीर्वादयुक्त गानसे वह सारा भवन गूँज उठा ॥ ६ ॥

ततः शुचिसमाचाराः पर्युपस्थानकोविदाः ।
स्त्रीवर्षवरभूयिष्ठा उपतस्थुर्यथापुरा ॥ ७ ॥

तदनन्तर सदाचारी तथा परिचर्याकुशल सेवक, जिनमें

स्त्रियों और खोजोंकी संख्या अधिक थी, पहलेकी भाँति उस दिन भी राजभवनमें उपस्थित हुए॥ ७॥

हरिचन्दनसम्पृक्तमुदकं काञ्चनैर्घटैः।
आनिन्युः स्नानशिक्षाज्ञा यथाकालं यथाविधि॥ ८॥

स्नानविधिके ज्ञाता भृत्यजन विधिपूर्वक सोनेके घड़ोंमें चन्दनमिश्रित जल लेकर ठीक समयपर आये॥ ८॥

मङ्गलालम्भनीयानि प्राशनीयान्युपस्करान्।
उपानिन्युस्तथा पुण्याः कुमारीबहुलाः स्त्रियः॥ ९॥

पवित्र आचार-विचारवाली स्त्रियाँ, जिनमें कुमारी कन्याओंकी संख्या अधिक थी, मङ्गलके लिये स्पर्श करने योग्य गौ आदि, पीने योग्य गङ्गाजल आदि तथा अन्य उपकरण—दर्पण, आभूषण और वस्त्र आदि ले आयीं॥

सर्वलक्षणसम्पन्नं सर्वं विधिवदर्चितम्।
सर्वं सुगुणलक्ष्मीवत् तदभूदाभिहारिकम्॥ १०॥

प्रातःकाल राजाओंके मङ्गलके लिये जो-जो वस्तुएँ लायी जाती हैं, उनका नाम आभिहारिक है। वहाँ लायी गयी सारी आभिहारिक सामग्री समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न, विधिके अनुरूप, आदर और प्रशंसाके योग्य उत्तम गुणसे युक्त तथा शोभायमान थी॥ १०॥

ततः सूर्योदयं यावत् सर्वं परिसमुत्सुकम्।
तस्थावनुपसम्प्राप्तं किंस्विदित्युपशङ्कितम्॥ ११॥

सूर्योदय होनेतक राजाकी सेवाके लिये उत्सुक हुआ सारा परिजनवर्ग वहाँ आकर खड़ा हो गया। जब उस समयतक राजा बाहर नहीं निकले, तब सबके मनमें यह शङ्का हो गयी कि महाराजके न आनेका क्या कारण हो सकता है?॥

अथ याः कोसलेन्द्रस्य शयनं प्रत्यनन्तराः।
ताः स्त्रियस्तु समागम्य भर्तारं प्रत्यबोधयन्॥ १२॥

तदनन्तर जो कोसलनरेश दशरथके समीप रहनेवाली स्त्रियाँ थीं, वे उनकी शय्याके पास आकर अपने स्वामीको जगाने लगीं॥ १२॥

अथाप्युचितवृत्तास्ता विनयेन नयेन च।
न ह्यस्य शयनं स्पृष्ट्वा किंचिदप्युपलेभिरे॥ १३॥

वे स्त्रियाँ उनका स्पर्श आदि करनेके योग्य थीं; अतः विनीतभावसे युक्तिपूर्वक उन्होंने उनकी शय्याका स्पर्श किया। स्पर्श करके भी वे उनमें जीवनका कोई चिह्न नहीं पा सकीं॥ १३॥

ताः स्त्रियः स्वप्नशीलज्ञाश्चेष्टां संचलनादिषु।
ता वेपथुपरीताश्च राज्ञः प्राणेषु शङ्किताः॥ १४॥

सोये हुए पुरुषकी जैसी स्थिति होती है, उसको भी वे स्त्रियाँ अच्छी तरह समझती थीं; अतः उन्होंने हृदय एवं हाथके मूलभागमें चलनेवाली नाड़ियोंकी भी परीक्षा की, किंतु वहाँ भी कोई चेष्टा नहीं प्रतीत हुई। फिर तो वे काँप उठीं। उनके मनमें राजाके प्राणोंके निकल जानेकी आशङ्का हो गयी॥ १४॥

प्रतिस्रोतस्तृणाग्राणां सदृशं संचकाशिरे।
अथ संदेहमानानां स्त्रीणां दृष्ट्वा च पार्थिवम्।
यत् तदाशङ्कितं पापं तदा जज्ञे विनिश्चयः॥ १५॥

वे जलके प्रवाहके सम्मुख पड़े हुए तिनकोंके अग्रभागकी भाँति काँपती हुई प्रतीत होने लगीं। संशयमें पड़ी हुई उन स्त्रियोंको राजाकी ओर देखकर उनकी मृत्युके विषयमें जो शङ्का हुई थी, उसका उस समय उन्हें पूरा निश्चय हो गया॥

कौसल्या च सुमित्रा च पुत्रशोकपराजिते।
प्रसुप्ते न प्रबुध्येते यथा कालसमन्विते॥ १६॥

पुत्रशोकसे आक्रान्त हुई कौसल्या और सुमित्रा उस समय मरी हुईके समान सो गयी थीं और उस समयतक उनकी नींद नहीं खुल पायी थी॥ १६॥

निष्प्रभासा विवर्णा च सन्ना शोकेन संनता।
न व्यराजत कौसल्या तारेव तिमिरावृता॥ १७॥

सोयी हुई कौसल्या श्रीहीन हो गयी थीं। उनके शरीरका रंग बदल गया था। वे शोकसे पराजित एवं पीड़ित हो अन्धकारसे आच्छादित हुई तारिकाके समान शोभा नहीं पा रही थीं॥ १७॥

कौसल्यानन्तरं राज्ञः सुमित्रा तदनन्तरम्।
न स्म विभ्राजते देवी शोकाश्रुलुलिताननाः॥ १८॥

राजाके पास कौसल्या थीं और कौसल्याके समीप देवी सुमित्रा थीं। दोनों ही निद्रामग्न हो जानेके कारण शोभाहीन प्रतीत होती थीं। उन दोनोंके मुखपर शोकके आँसू फैले हुए थे॥ १८॥

ते च दृष्ट्वा तदा सुप्ते उभे देव्यौ च तं नृपम्।
सुप्तमेवोद्गतप्राणमन्तःपुरममन्यत॥ १९॥

उस समय उन दोनों देवियोंको निद्रामग्न देख अन्तःपुरकी अन्य स्त्रियोंने यही समझा कि सोते अवस्थामें ही महाराजके प्राण निकल गये हैं॥ १९॥

ततः प्रचुक्रुशुर्दीनाः सस्वरं ता वराङ्गनाः।
करेणव इवारण्ये स्थानप्रच्युतयूथपाः॥ २०॥

फिर तो जैसे जंगलमें यूथपति गजराजके अपने वासस्थानसे अन्यत्र चले जानेपर हथिनियाँ करुण चीत्कार करने लगती हैं, उसी प्रकार वे अन्तःपुरकी सुन्दरी रानियाँ अत्यन्त दुःखी हो उच्च स्वरसे आर्तनाद करने लगीं॥ २०॥

तासामाक्रन्दशब्देन सहसोद्गतचेतने।
कौसल्या च सुमित्रा च त्यक्तनिद्रे बभूवतुः॥ २१॥

उनके रोनेकी आवाजसे कौसल्या और सुमित्राकी भी नींद टूट गयी और वे दोनों सहसा जाग उठीं॥ २१॥

कौसल्या च सुमित्रा च दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा च पार्थिवम्।
हा नाथेति परिक्रुश्य पेततुर्धरणीतले॥ २२॥

कौसल्या और सुमित्राने राजाको देखा, उनके शरीरका स्पर्श किया और 'हा नाथ!' की पुकार मचाती हुई वे दोनों

रानियाँ पृथ्वीपर गिर पड़ीं ॥ २२ ॥

सा कोसलेन्द्रदुहिता चेष्टमाना महीतले ।
न भ्राजते रजोध्वस्ता तारेव गगनच्युता ॥ २३ ॥

कोसलराजकुमारी कौसल्या धरतीपर लोटने और छटपटाने लगीं। उनका धूलि-धूसरित शरीर शोभाहीन दिखायी देने लगा, मानो आकाशसे टूटकर गिरी हुई कोई तारा धूलमें लोट रही हो ॥ २३ ॥

नृपे शान्तगुणे जाते कौसल्यां पतितां भुवि ।
अपश्यंस्ताः स्त्रियः सर्वा हतां नागवधूमिव ॥ २४ ॥

राजा दशरथके शरीरकी उष्णता शान्त हो गयी थी। इस प्रकार उनका जीवन शान्त हो जानेपर भूमिपर अचेत पड़ी हुई कौसल्याको अन्तःपुरकी उन सारी स्त्रियोंने मरी हुई नागिनके समान देखा ॥ २४ ॥

ततः सर्वा नरेन्द्रस्य कैकेयीप्रमुखाः स्त्रियः ।
रुदत्यः शोकसंतप्ता निपेतुर्गतचेतनाः ॥ २५ ॥

तदनन्तर पीछे आयी हुई महाराजकी कैकेयी आदि सारी रानियाँ शोकसे संतप्त होकर रोने लगीं और अचेत होकर गिर पड़ीं ॥ २५ ॥

ताभिः स बलवान् नादः क्रोशन्तीभिरनुद्रुतः ।
येन स्फीतीकृतो भूयस्तद् गृहं समनादयत् ॥ २६ ॥

उन क्रन्दन करती हुई रानियोंने वहाँ पहलेसे होनेवाले प्रबल आर्तनादको और भी बढ़ा दिया। उस बढ़े हुए आर्तनादसे वह सारा राजमहल पुनः बड़े जोरसे गूँज उठा ॥ २६ ॥

तत् परित्रस्तसम्भ्रान्तपर्युत्सुकजनाकुलम् ।
सर्वतस्तुमुलाक्रन्दं परितापार्तबान्धवम् ॥ २७ ॥
सद्योनिपतितानन्दं दीनं विक्लवदर्शनम् ।
बभूव नरदेवस्य सद्म दिष्टान्तमीयुषः ॥ २८ ॥

कालधर्मको प्राप्त हुए राजा दशरथका वह भवन डरे, घबराये और अत्यन्त उत्सुक हुए मनुष्योंसे भर गया। सब ओर रोने-चिल्लानेका भयंकर शब्द होने लगा। वहाँ राजाके सभी बन्धु-बान्धव शोक-संतापसे पीड़ित होकर जुट गये। वह सारा भवन तत्काल आनन्दशून्य हो दीन-दुःखी एवं व्याकुल दिखायी देने लगा ॥ २७-२८ ॥

अतीतमाज्ञाय तु पार्थिवर्षभं
यशस्विनं तं परिवार्य पत्नयः ।
भृशं रुदत्यः करुणं सुदुःखिताः
प्रगृह्य बाहू व्यलपन्ननाथवत् ॥ २९ ॥

उन यशस्वी भूपालशिरोमणिको दिवङ्गत हुआ जान उनकी सारी पत्नियाँ उन्हें चारों ओरसे घेरकर अत्यन्त दुःखी हो ओर-जोरसे रोने लगीं और उनकी दोनों बाँहें पकड़कर अनाथकी भाँति करुण-विलाप करने लगीं ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पैंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

——★——

षट्षष्टितमः सर्गः

राजाके लिये कौसल्याका विलाप और कैकेयीकी भर्त्सना, मन्त्रियोंका राजाके शवको तेलसे भरे हुए कड़ाहमें सुलाना, रानियोंका विलाप, पुरीकी श्रीहीनता और पुरवासियोंका शोक

तमग्निमिव संशान्तमम्बुहीनमिवार्णवम् ।
नतप्रभमिवादित्यं स्वर्गस्थं प्रेक्ष्य भूमिपम् ॥ १ ॥
कौसल्या बाष्पपूर्णाक्षी विविधं शोककर्शिता ।
उपगृह्य शिरो राज्ञः कैकेयीं प्रत्यभाषत ॥ २ ॥

बुझी हुई आग, जलहीन समुद्र तथा प्रभाहीन सूर्यकी भाँति शोभाहीन हुए दिवङ्गत राजाका शव देखकर कौसल्याके नेत्रोंमें आँसू भर आये। वे अनेक प्रकारसे शोकाकुल होकर राजाके मस्तकको गोदमें ले कैकेयीसे इस प्रकार बोलीं— ॥ १-२ ॥

सकामा भव कैकेयी भुङ्क्ष्व राज्यमकण्टकम् ।
त्यक्त्वा राजनमेकाग्रा नृशंसे दुष्टचारिणि ॥ ३ ॥

'दुराचारिणी क्रूर कैकेयी! ले, तेरी कामना सफल हुई। अब राजाको भी त्यागकर एकाग्रचित्त हो अपना अकण्टक राज्य भोग ॥ ३ ॥

विहाय मां गतो रामो भर्ता च स्वर्गतो मम ।
विपथे सार्थहीनेव नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ ४ ॥

'राम मुझे छोड़कर वनमें चले गये और मेरे स्वामी स्वर्ग सिधारे। अब मैं दुर्गम मार्गमें साथियोंसे बिछुड़कर असहाय हुई अबलाकी भाँति जीवित नहीं रह सकती ॥ ४ ॥

भर्तारं तु परित्यज्य का स्त्री दैवतमात्मनः ।
इच्छेज्जीवितुमन्यत्र कैकेय्यास्त्यक्तधर्मणः ॥ ५ ॥

'नारीधर्मको त्याग देनेवाली कैकेयीके सिवा संसारमें दूसरी कौन ऐसी स्त्री होगी जो अपने लिये आराध्य देवस्वरूप पतिका परित्याग करके जीना चाहेगी? ॥ ५ ॥

न लुब्धो बुध्यते दोषान् किंपाकमिव भक्षयन् ।
कुब्जानिमित्तं कैकेय्या राघवाणां कुलं हतम् ॥ ६ ॥

'जैसे कोई धनका लोभी दूसरोंको विष खिला देता है और उससे होनेवाले हत्याके दोषोंपर ध्यान नहीं देता, उसी प्रकार इस कैकेयीने कुब्जाके कारण रघुवंशियोंके इस कुलका नाश कर डाला ॥

अनियोगे नियुक्तेन राज्ञा रामं विवासितम् ।
सभार्यं जनकः श्रुत्वा परितप्स्यत्यहं यथा ॥ ७ ॥

'कैकेयीने महाराजको अयोग्य कार्यमें लगाकर उनके द्वारा पत्नीसहित श्रीरामको वनवास दिलवा दिया। यह समाचार जब राजा जनक सुनेंगे, तब मेरे ही समान उनको भी बड़ा कष्ट होगा ॥ ७ ॥

स मामनाथां विधवां नाद्य जानाति धार्मिकः।
रामः कमलपत्राक्षो जीवन्नाशमितो गतः॥ ८॥

'मैं अनाथ और विधवा हो गयी—यह बात मेरे धर्मात्मा पुत्र कमलनयन श्रीरामको नहीं मालूम है। वे तो यहाँसे जीते-जी अदृश्य हो गये हैं ॥ ८ ॥

विदेहराजस्य सुता तथा चारुतपस्विनी।
दुःखस्यानुचिता दुःखं वने पर्युद्विजिष्यति॥ ९॥

'पति-सेवारूप मनोहर तप करनेवाली विदेहराजकुमारी सीता दुःख भोगनेके योग्य नहीं है। वह वनमें दुःखका अनुभव करके उद्विग्न हो उठेगी ॥ ९ ॥

नदतां भीमघोषाणां निशासु मृगपक्षिणाम्।
निशम्यमाना संत्रस्ता राघवं संश्रयिष्यति॥ १०॥

'रातके समय भयानक शब्द करनेवाले पशु-पक्षियोंकी बोली सुनकर भयभीत हो सीता श्रीरामकी ही शरण लेगी—उन्हींकी गोदमें जाकर छिपेगी ॥ १० ॥

वृद्धश्चैवाल्पपुत्रश्च वैदेहीमनुचिन्तयन्।
सोऽपि शोकसमाविष्टो नूनं त्यक्ष्यति जीवितम्॥ ११॥

'जो बूढ़े हो गये हैं, कन्याएँमात्र ही जिनकी संतति हैं, वे राजा जनक भी सीताकी ही बारम्बार चिन्ता करते हुए शोकमें डूबकर अवश्य ही अपने प्राणोंका परित्याग कर देंगे ॥ ११ ॥

साहमद्यैव दिष्टान्तं गमिष्यामि पतिव्रता।
इदं शरीरमालिङ्ग्य प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्॥ १२॥

'मैं भी आज ही मृत्युका वरण करूँगी। एक पतिव्रताकी भाँति पतिके शरीरका आलिङ्गन करके चिताकी आगमें प्रवेश कर जाऊँगी' ॥ १२ ॥

तां ततः सम्परिष्वज्य विलपन्तीं तपस्विनीम्।
व्यपनिन्युः सुदुःखार्तां कौसल्यां व्यावहारिकाः॥ १३॥

पतिके शरीरको हृदयसे लगाकर अत्यन्त दुःखसे आर्त हो करुण विलाप करती हुई तपस्विनी कौसल्याको राजकाज देखनेवाले मन्त्रियोंने दूसरी स्त्रियोंद्वारा वहाँसे हटवा दिया ॥ १३ ॥

तैलद्रोण्यां तदामात्याः संवेश्य जगतीपतिम्।
राज्ञः सर्वाण्यथादिष्टाश्चक्रुः कर्माण्यनन्तरम्॥ १४॥

फिर उन्होंने महाराजके शरीरको तेलसे भरे हुए कड़ाहमें रखकर वसिष्ठ आदिकी आज्ञाके अनुसार शवकी रक्षा आदि अन्य सब राजकीय कार्योंकी सँभाल आरम्भ कर दी ॥ १४ ॥

न तु संकालनं राज्ञो विना पुत्रेण मन्त्रिणः।
सर्वज्ञाः कर्तुमीषुस्ते ततो रक्षन्ति भूमिपम्॥ १५॥

वे सर्वज्ञ मन्त्री पुत्रके बिना राजाका दाह-संस्कार न कर सके, इसलिये उनके शवकी रक्षा करने लगे ॥ १५ ॥

तैलद्रोण्यां शायितं तं सचिवैस्तु नराधिपम्।
हा मृतोऽयमिति ज्ञात्वा स्त्रियस्ताः पर्यदेवयन्॥ १६॥

जब मन्त्रियोंने राजाके शवको तेलके कड़ाहमें सुलाया, तब यह जानकर सारी रानियाँ 'हाय! ये महाराज परलोक-वासी हो गये' ऐसा कहती हुई पुनः विलाप करने लगीं ॥

बाहूनुच्छ्रित्य कृपणा नेत्रप्रस्रवणैर्मुखैः।
रुदत्यः शोकसंतप्ताः कृपणं पर्यदेवयन्॥ १७॥

उनके मुखपर नेत्रोंसे आँसुओंके झरने झर रहे थे। वे अपनी भुजाओंको ऊपर उठाकर दीनभावसे रोने और शोकसंतप्त हो दयनीय विलाप करने लगीं ॥ १७ ॥

हा महाराज रामेण सततं प्रियवादिना।
विहीनाः सत्यसंधेन किमर्थं विजहासि नः॥ १८॥

वे बोलीं—'हा महाराज! हम सत्यप्रतिज्ञ एवं सदा प्रिय बोलनेवाले अपने पुत्र श्रीरामसे तो बिछुड़ी ही थीं, अब आप भी क्यों हमारा परित्याग कर रहे हैं? ॥ १८ ॥

कैकेय्या दुष्टभावाया राघवेण विवर्जिताः।
कथं सपत्न्या वत्स्यामः समीपे विधवा वयम्॥ १९॥

'श्रीरामसे बिछुड़कर हम सब विधवाएँ इस दुष्ट विचारवाली सौत कैकेयीके समीप कैसे रहेंगी? ॥ १९ ॥

स हि नाथः स चास्माकं तव च प्रभुरात्मवान्।
वनं रामो गतः श्रीमान् विहाय नृपतिश्रियम्॥ २०॥

'जो हमारे और आपके भी रक्षक और प्रभु थे, वे मनस्वी श्रीरामचन्द्र राजलक्ष्मीको छोड़कर वन चले गये ॥ २० ॥

त्वया तेन च वीरेण विना व्यसनमोहिताः।
कथं वयं निवत्स्यामः कैकेय्या च विदूषिताः॥ २१॥

'वीरवर श्रीराम और आपके भी न रहनेसे हमारे ऊपर बड़ा भारी संकट आ गया, जिससे हम मोहित हो रही हैं। अब सौत कैकेयीके द्वारा तिरस्कृत हो हम यहाँ कैसे रह सकेंगी? ॥ २१ ॥

यया च राजा रामश्च लक्ष्मणश्च महाबलः।
सीतया सह संत्यक्ताः सा कमन्यं न हास्यति॥ २२॥

'जिसने राजाका तथा सीतासहित श्रीराम और महाबली लक्ष्मणका भी परित्याग कर दिया, वह दूसरे किसका त्याग नहीं करेगी? ॥ २२ ॥

ता बाष्पेण च संवीताः शोकेन विपुलेन च।
व्यचेष्टन्त निरानन्दा राघवस्य वरस्त्रियः॥ २३॥

रघुकुलनरेश दशरथकी वे सुन्दरी रानियाँ महान् शोकसे ग्रस्त हो आँसू बहाती हुई नाना प्रकारकी चेष्टाएँ और विलाप कर रही थीं। उनका आनन्द लुट गया था। ॥ २३ ॥

निशा नक्षत्रहीनेव स्त्रीव भर्तृविवर्जिता।
पुरी नाराजतायोध्या हीना राज्ञा महात्मना॥ २४॥

महामना राजा दशरथसे हीन हुई वह अयोध्यापुरी

नक्षत्रहीन रात्रि और पतिविहीना नारीकी भाँति श्रीहीन हो गयी थी ॥ २४ ॥

बाष्पपर्याकुलजना हाहाभूतकुलाङ्गना ।
शून्यचत्वरवेश्मान्ता न बभ्राज यथापुरम् ॥ २५ ॥

नगरके सभी मनुष्य आँसू बहा रहे थे। कुलवती स्त्रियाँ हाहाकार कर रही थीं। चौराहे तथा घरोंके द्वार सूने दिखायी देते थे। (वहाँ झाड़-बुहार, लीपने-पोतने तथा बलि अर्पण करने आदिकी क्रियाएँ नहीं होती थीं।) इस प्रकार वह पुरी पहलेकी भाँति शोभा नहीं पाती थी ॥ २५ ॥

गते तु शोकात् त्रिदिवं नराधिपे
महीतलस्थासु नृपाङ्गनासु च ।
निवृत्तचारः सहसा गतो रविः
प्रवृत्तचारा रजनी ह्युपस्थिता ॥ २६ ॥

राजा दशरथ शोकवश स्वर्ग सिधारे और उनकी रानियाँ शोकसे ही भूतलपर लोटती रहीं। इस शोकमें ही सहसा सूर्यकी किरणोंका प्रचार बंद हो गया और सूर्यदेव अस्त हो गये। तत्पश्चात् अन्धकारका प्रचार करती हुई रात्रि उपस्थित हुई ॥ २६ ॥

ऋते तु पुत्राद् दहनं महीपते-
र्नारोचयंस्ते सुहृदः समागताः ।
इतीव तस्मिञ्शयने न्यवेशयन्
विचिन्त्य राजानमचिन्त्यदर्शनम् ॥ २७ ॥

वहाँ पधारे हुए सुहृदोंने किसी भी पुत्रके बिना राजाका दाह-संस्कार होना नहीं पसंद किया। अब राजाका दर्शन अचिन्त्य हो गया, यह सोचते हुए उन सबने उस तैलपूर्ण कड़ाहमें उनके शवको सुरक्षित रख दिया ॥ २७ ॥

गतप्रभा द्यौरिव भास्करं विना
व्यपेतनक्षत्रगणेव शर्वरी ।
पुरी बभासे रहिता महात्मना
कण्ठास्रकण्ठाकुलमार्गचत्वरा ॥ २८ ॥

सूर्यके बिना प्रभाहीन आकाश तथा नक्षत्रोंके बिना शोभाहीन रात्रिकी भाँति अयोध्यापुरी महात्मा राजा दशरथसे रहित हो श्रीहीन प्रतीत होती थी। उसकी सड़कों और चौराहोंपर आँसुओंसे अवरुद्ध कण्ठवाले मनुष्योंकी भीड़ एकत्र हो गयी थी ॥ २८ ॥

नराश्च नार्यश्च समेत्य संघशो
विगर्हमाणा भरतस्य मातरम् ।
तदा नगर्यां नरदेवसंक्षये
बभूवुरार्ता न च शर्म लेभिरे ॥ २९ ॥

झुंड-के-झुंड स्त्री और पुरुष एक साथ खड़े होकर भरत-माता कैकेयीकी निन्दा करने लगे। उस समय महाराजकी मृत्युसे अयोध्यापुरीमें रहनेवाले सभी लोग शोकाकुल हो रहे थे। कोई भी शान्ति नहीं पाता था ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षट्षष्टितमः सर्गः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें छाछठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

सप्तषष्टितमः सर्गः

मार्कण्डेय आदि मुनियों तथा मन्त्रियोंका राजाके बिना होनेवाली देशकी दुरवस्थाका वर्णन करके वसिष्ठजीसे किसीको राजा बनानेके लिये अनुरोध

आक्रन्दिता निरानन्दा सास्रकण्ठजनाविला ।
अयोध्यायामवतता सा व्यतीयाय शर्वरी ॥ १ ॥

अयोध्यामें लोगोंकी वह रात रोते-कलपते ही बीती। उसमें आनन्दका नाम भी नहीं था। आँसुओंसे सब लोगोंके कण्ठ भरे हुए थे। दुःखके कारण वह रात सबको बड़ी लम्बी प्रतीत हुई थी ॥ १ ॥

व्यतीतायां तु शर्वर्यामादित्यस्योदये ततः ।
समेत्य राजकर्तारः सभामीयुर्द्विजातयः ॥ २ ॥

जब रात बीत गयी और सूर्योदय हुआ, तब राज्यका प्रबन्ध करनेवाले ब्राह्मणलोग एकत्र हो दरबारमें आये ॥ २ ॥

मार्कण्डेयोऽथ मौद्गल्यो वामदेवश्च कश्यपः ।
कात्यायनो गौतमश्च जाबालिश्च महायशाः ॥ ३ ॥
एते द्विजाः सहामात्यैः पृथग्वाचमुदीरयन् ।
वसिष्ठमेवाभिमुखाः श्रेष्ठं राजपुरोहितम् ॥ ४ ॥

मार्कण्डेय, मौद्गल्य, वामदेव, कश्यप, कात्यायन, गौतम और महायशस्वी जाबालि—ये सभी ब्राह्मणश्रेष्ठ राजपुरोहित वसिष्ठजीके सामने बैठकर मन्त्रियोंके साथ अपनी अलग-अलग राय देने लगे ॥ ३-४ ॥

अतीता शर्वरी दुःखं या नो वर्षशतोपमा ।
अस्मिन् पञ्चत्वमापन्ने पुत्रशोकेन पार्थिवे ॥ ५ ॥

वे बोले—'पुत्रशोकसे इन महाराजके स्वर्गवासी होनेके कारण यह रात बड़े दुःखसे बीती है, जो हमारे लिये सौ वर्षोंके समान प्रतीत हुई थी ॥ ५ ॥

स्वर्गस्थश्च महाराजो रामश्चारण्यमाश्रितः ।
लक्ष्मणश्चापि तेजस्वी रामेणैव गतः सह ॥ ६ ॥

'महाराज दशरथ स्वर्ग सिधारे। श्रीरामचन्द्रजी वनमें रहने लगे और तेजस्वी लक्ष्मण भी श्रीरामके साथ ही चले गये ॥ ६ ॥

उभौ भरतशत्रुघ्नौ केकयेषु परंतपौ।
पुरे राजगृहे रम्ये मातामहनिवेशने॥ ७॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले दोनों भाई भरत और शत्रुघ्न केकयदेशके रमणीय राजगृहमें नानाके घरमें निवास करते हैं॥ ७॥

इक्ष्वाकूणामिहाद्यैव कश्चिद् राजा विधीयताम्।
अराजकं हि नो राष्ट्रं विनाशं समवाप्नुयात्॥ ८॥

'इक्ष्वाकुवंशी राजकुमारोंमेंसे किसीको आज ही यहाँका राजा बनाया जाय; क्योंकि राजाके बिना हमारे इस राज्यका नाश हो जायगा॥ ८॥

नाराजके जनपदे विद्युन्माली महास्वनः।
अभिवर्षति पर्जन्यो महीं दिव्येन वारिणा॥ ९॥

'जहाँ कोई राजा नहीं होता, ऐसे जनपदमें विद्युन्मालाओंसे अलंकृत महान् गर्जन करनेवाला मेघ पृथ्वीपर दिव्य जलकी वर्षा नहीं करता है॥ ९॥

नाराजके जनपदे बीजमुष्टिः प्रकीर्यते।
नाराजके पितुः पुत्रो भार्या वा वर्तते वशे॥ १०॥

'जिस जनपदमें कोई राजा नहीं, वहाँके खेतोंमें मुट्ठी-के-मुट्ठी बीज नहीं बिखेरे जाते। राजासे रहित देशमें पुत्र पिता और स्त्री पतिके वशमें नहीं रहती॥ १०॥

अराजके धनं नास्ति नास्ति भार्याप्यराजके।
इदमत्याहितं चान्यत् कुतः सत्यमराजके॥ ११॥

'राजहीन देशमें धन अपना नहीं होता है। बिना राजाके राज्यमें पत्नी भी अपनी नहीं रह पाती है। राजारहित देशमें यह महान् भय बना रहता है। (जब वहाँ पति-पत्नी आदिका सत्य सम्बन्ध नहीं रह सकता, तब) फिर दूसरा कोई सत्य कैसे रह सकता है?॥ ११॥

नाराजके जनपदे कारयन्ति सभां नराः।
उद्यानानि च रम्याणि हृष्टाः पुण्यगृहाणि च॥ १२॥

'बिना राजाके राज्यमें मनुष्य कोई पञ्चायत-भवन नहीं बनवाते, रमणीय उद्यानका भी निर्माण नहीं करवाते तथा हर्ष और उत्साहके साथ पुण्यगृह (धर्मशाला, मन्दिर आदि) भी नहीं बनवाते हैं॥ १२॥

नाराजके जनपदे यज्ञशीला द्विजातयः।
सत्राण्यन्वासते दान्ता ब्राह्मणाः संशितव्रताः॥ १३॥

'जहाँ कोई राजा नहीं, उस जनपदमें स्वभावतः यज्ञ करनेवाले द्विज और कठोर व्रतका पालन करनेवाले जितेन्द्रिय ब्राह्मण उन बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान नहीं करते, जिनमें सभी ऋत्विज् और सभी यजमान होते हैं॥ १३॥

नाराजके जनपदे महायज्ञेषु यज्वनः।
ब्राह्मणा वसुसम्पूर्णा विसृजन्त्याप्तदक्षिणाः॥ १४॥

'राजारहित जनपदमें कदाचित् महायज्ञोंका आरम्भ हो भी तो उनमें धनसम्पन्न ब्राह्मण भी ऋत्विजोंको पर्याप्त दक्षिणा नहीं देते (उन्हें भय रहता है कि लोग हमें धनी समझकर लूट न लें)॥

नाराजके जनपदे प्रहृष्टनटनर्तकाः।
उत्सवाश्च समाजाश्च वर्धन्ते राष्ट्रवर्धनाः॥ १५॥

'अराजक देशमें राष्ट्रको उन्नतिशील बनानेवाले उत्सव, जिनमें नट और नर्तक हर्षमें भरकर अपनी कलाका प्रदर्शन करते हैं, बढ़ने नहीं पाते हैं तथा दूसरे-दूसरे राष्ट्रहितकारी संघ भी नहीं पनपने पाते हैं॥ १५॥

नाराजके जनपदे सिद्धार्था व्यवहारिणः।
कथाभिरभिरज्यन्ते कथाशीलाः कथाप्रियैः॥ १६॥

'बिना राजाके राज्यमें वादी और प्रतिवादीके विवादका संतोषजनक निपटारा नहीं हो पाता अथवा व्यापारियोंको लाभ नहीं होता। कथा सुननेकी इच्छावाले लोग कथावाचक पौराणिकोंकी कथाओंसे प्रसन्न नहीं होते॥ १६॥

नाराजके जनपदे तूद्यानानि समागताः।
सायाह्ने क्रीडितुं यान्ति कुमार्यो हेमभूषिताः॥ १७॥

'राजारहित जनपदमें सोनेके आभूषणोंसे विभूषित हुई कुमारियाँ एक साथ मिलकर संध्याके समय उद्यानोंमें क्रीड़ा करनेके लिये नहीं जाती हैं॥ १७॥

नाराजके जनपदे धनवन्तः सुरक्षिताः।
शेरते विवृतद्वाराः कृषिगोरक्षजीविनः॥ १८॥

'बिना राजाके राज्यमें धनीलोग सुरक्षित नहीं रह पाते तथा कृषि और गोरक्षासे जीवन-निर्वाह करनेवाले वैश्य भी दरवाजा खोलकर नहीं सो पाते हैं॥ १८॥

नाराजके जनपदे वाहनैः शीघ्रवाहिभिः।
नरा निर्यान्त्यरण्यानि नारीभिः सह कामिनः॥ १९॥

'राजासे रहित जनपदमें कामी मनुष्य नारियोंके साथ शीघ्रगामी वाहनोंद्वारा वनविहारके लिये नहीं निकलते हैं॥

नाराजके जनपदे बद्धघण्टा विषाणिनः।
अटन्ति राजमार्गेषु कुञ्जराः षष्टिहायनाः॥ २०॥

'जहाँ कोई राजा नहीं होता, उस जनपदमें साठ वर्षके दन्तार हाथी घंटे बाँधकर सड़कोंपर नहीं घूमते हैं॥ २०॥

नाराजके जनपदे शरान् संततमस्यताम्।
श्रूयते तलनिर्घोष इष्वस्त्राणामुपासने॥ २१॥

'बिना राजाके राज्यमें धनुर्विद्याके अभ्यासकालमें निरन्तर लक्ष्यकी ओर बाण चलानेवाले वीरोंकी प्रत्यञ्चा तथा करतलका शब्द नहीं सुनायी देता है॥ २१॥

नाराजके जनपदे वणिजो दूरगामिनः।
गच्छन्ति क्षेममध्वानं बहुपण्यसमाचिताः॥ २२॥

'राजासे रहित जनपदमें दूर जाकर व्यापार करनेवाले वणिक् बेचनेकी बहुत-सी वस्तुएँ साथ लेकर कुशलपूर्वक मार्ग तै नहीं कर सकते॥ २२॥

नाराजके जनपदे चरत्येकचरो वशी।
भावयन्नात्मनाऽऽत्मानं यत्र सायं गृहो मुनिः॥ २३॥

'जहाँ कोई राजा नहीं होता, उस जनपदमें जहाँ संध्या हो वहीं डेरा डाल देनेवाला, अपने अन्तःकरणके द्वारा परमात्माका ध्यान करनेवाला और अकेला ही विचरनेवाला जितेन्द्रिय मुनि नहीं घूमता-फिरता है (क्योंकि उसे कोई भोजन देनेवाला नहीं होता) ॥ २३ ॥

नाराजके जनपदे योगक्षेमः प्रवर्तते।
न चाप्यराजके सेना शत्रून् विषहते युधि ॥ २४ ॥

'अराजक देशमें लोगोंको अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति और प्राप्त वस्तुकी रक्षा नहीं हो पाती। राजाके न रहनेपर सेना भी युद्धमें शत्रुओंका सामना नहीं करती ॥ २४ ॥

नाराजके जनपदे हृष्टैः परमवाजिभिः।
नराः संयान्ति सहसा रथैश्च प्रतिमण्डिताः ॥ २५ ॥

'बिना राजाके राज्यमें लोग वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो हृष्ट-पुष्ट उत्तम घोड़ों तथा रथोंद्वारा सहसा यात्रा नहीं करते हैं (क्योंकि उन्हें लुटेरोंका भय बना रहता है) ॥ २५ ॥

नाराजके जनपदे नराः शास्त्रविशारदाः।
संवदन्तोपतिष्ठन्ते वनेषूपवनेषु वा ॥ २६ ॥

'राजासे रहित राज्यमें शास्त्रोंके विशिष्ट विद्वान् मनुष्य वनों और उपवनोंमें शास्त्रोंकी व्याख्या करते हुए नहीं ठहर पाते हैं ॥ २६ ॥

नाराजके जनपदे माल्यमोदकदक्षिणाः।
देवताभ्यर्चनार्थाय कल्प्यन्ते नियतैर्जनैः ॥ २७ ॥

'जहाँ अराजकता फैल जाती है, उस जनपदमें मनको वशमें रखनेवाले लोग देवताओंकी पूजाके लिये फूल, मिठाई और दक्षिणाकी व्यवस्था नहीं करते हैं ॥ २७ ॥

नाराजके जनपदे चन्दनागुरुरूषिताः।
राजपुत्रा विराजन्ते वसन्ते इव शाखिनः ॥ २८ ॥

'जिस जनपदमें कोई राजा नहीं होता है, वहाँ चन्दन और अगुरुका लेप लगाये हुए राजकुमार वसन्त-ऋतुके खिले हुए वृक्षोंकी भाँति शोभा नहीं पाते हैं ॥ २८ ॥

यथा ह्यनुदका नद्यो यथा वाप्यतृणं वनम्।
अगोपाला यथा गावस्तथा राष्ट्रमराजकम् ॥ २९ ॥

'जैसे जलके बिना नदियाँ, घासके बिना वन और ग्वालोंके बिना गौओंकी शोभा नहीं होती, उसी प्रकार राजाके बिना राज्य शोभा नहीं पाता है ॥ २९ ॥

ध्वजो रथस्य प्रज्ञानं धूमो ज्ञानं विभावसोः।
तेषां यो नो ध्वजो राजा स देवत्वमितो गतः ॥ ३० ॥

'जैसे ध्वज रथका ज्ञान कराता है और धूम अग्निका बोधक होता है, उसी प्रकार राजकाज देखनेवाले हमलोगोंके अधिकारको प्रकाशित करनेवाले जो महाराज थे, वे यहाँसे देवलोकको चले गये ॥ ३० ॥

नाराजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचित्।
मत्स्या इव जना नित्यं भक्षयन्ति परस्परम् ॥ ३१ ॥

'राजाके न रहनेपर राज्यमें किसी भी मनुष्यकी कोई भी वस्तु अपनी नहीं रह जाती। जैसे मत्स्य एक-दूसरेको खा जाते हैं, उसी प्रकार अराजक देशके लोग सदा एक-दूसरेको खाते—लूटते-खसोटते रहते हैं ॥ ३१ ॥

ये हि सम्भिन्नमर्यादा नास्तिकाश्छिन्नसंशयाः।
तेऽपि भावाय कल्पन्ते राजदण्डनिपीडिताः ॥ ३२ ॥

'जो वेद-शास्त्रोंकी तथा अपनी-अपनी जातिके लिये नियत वर्णाश्रमकी मर्यादाको भङ्ग करनेवाले नास्तिक मनुष्य पहले राजदण्डसे पीड़ित होकर दबे रहते थे, वे भी अब राजाके न रहनेसे निःशङ्क होकर अपना प्रभुत्व प्रकट करेंगे ॥ ३२ ॥

यथा दृष्टिः शरीरस्य नित्यमेव प्रवर्तते।
तथा नरेन्द्रो राष्ट्रस्य प्रभवः सत्यधर्मयोः ॥ ३३ ॥

'जैसे दृष्टि सदा ही शरीरके हितमें प्रवृत्त रहती है, उसी प्रकार राजा राज्यके भीतर सत्य और धर्मका प्रवर्तक होता है। ॥ ३३ ॥

राजा सत्यं च धर्मश्च राजा कुलवतां कुलम्।
राजा माता पिता चैव राजा हितकरो नृणाम् ॥ ३४ ॥

'राजा ही सत्य और धर्म है। राजा ही कुलवानोंका कुल है। राजा ही माता और पिता है तथा राजा ही मनुष्योंका हित करनेवाला है ॥ ३४ ॥

यमो वैश्रवणः शक्रो वरुणश्च महाबलः।
विशिष्यन्ते नरेन्द्रेण वृत्तेन महता ततः ॥ ३५ ॥

'राजा अपने महान् चरित्रके द्वारा यम, कुबेर, इन्द्र और महाबली वरुणसे भी बढ़ जाते हैं (यमराज केवल दण्ड देते हैं, कुबेर केवल धन देते हैं, इन्द्र केवल पालन करते हैं और वरुण केवल सदाचारमें नियन्त्रित करते हैं; परंतु एक श्रेष्ठ राजामें ये चारों गुण मौजूद होते हैं। अतः वह इनसे बढ़ जाता है) ॥ ३५ ॥

अहो तम इवेदं स्यान्न प्रज्ञायेत किंचन।
राजा चेन्न भवेल्लोके विभजन् साध्वसाधुनी ॥ ३६ ॥

'यदि संसारमें भले-बुरेका विभाग करनेवाला राजा न हो तो यह सारा जगत् अन्धकारसे आच्छन्न-सा हो जाय, कुछ भी सूझ न पड़े ॥ ३६ ॥

जीवत्यपि महाराजे तवैव वचनं वयम्।
नातिक्रमामहे सर्वे वेलां प्राप्येव सागरः ॥ ३७ ॥

'वसिष्ठजी! जैसे उमड़ता हुआ समुद्र अपनी तटभूमितक पहुँचकर उससे आगे नहीं बढ़ता, उसी प्रकार हम सब लोग महाराजके जीवनकालमें भी केवल आपकी ही बातका उल्लङ्घन नहीं करते थे ॥ ३७ ॥

स नः समीक्ष्य द्विजवर्य वृत्तं
नृपं विना राष्ट्रमरण्यभूतम्।
कुमारमिक्ष्वाकुसुतं तथान्यं
त्वमेव राजानमिहाभिषेचय ॥ ३८ ॥

'अतः विप्रवर! इस समय हमारे व्यवहारको देखकर तथा राजाके अभावमें जंगल बने हुए इस देशपर दृष्टिपात करके आप ही किसी इक्ष्वाकुवंशी राजकुमारको अथवा दूसरे किसी योग्य पुरुषको राजाके पदपर अभिषिक्त कीजिये'॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तषष्टितमः सर्गः॥ ६७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ६७॥

अष्टषष्टितमः सर्गः

वसिष्ठजीकी आज्ञासे पाँच दूतोंका अयोध्यासे केकयदेशके राजगृह नगरमें जाना

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा वसिष्ठः प्रत्युवाच ह।
मित्रामात्यजनान् सर्वान् ब्राह्मणांस्तानिदं वचः॥ १॥

मार्कण्डेय आदिके ऐसे वचन सुनकर महर्षि वसिष्ठने मित्रों, मन्त्रियों और उन समस्त ब्राह्मणोंको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १॥

यदसौ मातुलकुले दत्तराज्यः परं सुखी।
भरतो वसति भ्रात्रा शत्रुघ्नेन मुदान्वितः॥ २॥

'राजा दशरथने जिनको राज्य दिया है, वे भरत इस समय अपने भाई शत्रुघ्नके साथ मामाके यहाँ बड़े सुख और प्रसन्नताके साथ निवास करते हैं॥ २॥

तच्छीघ्रं जवना दूता गच्छन्तु त्वरितं हयैः।
आनेतुं भ्रातरौ वीरौ किं समीक्षामहे वयम्॥ ३॥

'उन दोनों वीर बन्धुओंको बुलानेके लिये शीघ्र ही तेज चलनेवाले दूत घोड़ोंपर सवार होकर यहाँसे जायँ, इसके सिवा हमलोग और क्या विचार कर सकते हैं?'॥ ३॥

गच्छन्त्विति ततः सर्वे वसिष्ठं वाक्यमब्रुवन्।
तेषां तद् वचनं श्रुत्वा वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत्॥ ४॥

इसपर सबने वसिष्ठजीसे कहा—'हाँ, दूत अवश्य भेजे जायँ।' उनका वह कथन सुनकर वसिष्ठजीने दूतोंको सम्बोधित करके कहा—॥ ४॥

एहि सिद्धार्थ विजय जयन्ताशोकनन्दन।
श्रूयतामितिकर्तव्यं सर्वानेव ब्रवीमि वः॥ ५॥

'सिद्धार्थ! विजय! जयन्त! अशोक! और नन्दन! तुम सब यहाँ आओ और तुम्हें जो काम करना है, उसे सुनो। मैं तुम सब लोगोंसे ही कहता हूँ॥ ५॥

पुरं राजगृहं गत्वा शीघ्रं शीघ्रजवैर्हयैः।
त्यक्तशोकैरिदं वाच्यः शासनाद् भरतो मम॥ ६॥

'तुमलोग शीघ्रगामी घोड़ोंपर सवार होकर तुरंत ही राजगृह नगरको जाओ और शोकका भाव न प्रकट करते हुए मेरी आज्ञाके अनुसार भरतसे इस प्रकार कहो॥ ६॥

पुरोहितस्त्वां कुशलं प्राह सर्वे च मन्त्रिणः।
त्वरमाणश्च निर्याहि कृत्यमात्ययिकं त्वया॥ ७॥

'कुमार! पुरोहितजी तथा समस्त मन्त्रियोंने आपसे कुशल-मङ्गल कहा है। अब आप यहाँसे शीघ्र ही चलिये। अयोध्यामें आपसे अत्यन्त आवश्यक कार्य है॥ ७॥

मा चास्मै प्रोषितं रामं मा चास्मै पितरं मृतम्।
भवन्तः शंसिषुर्गत्वा राघवाणामितः क्षयम्॥ ८॥

'भरतको श्रीरामचन्द्रके वनवास और पिताकी मृत्युका हाल मत बतलाना और इन परिस्थितियोंके कारण रघुवंशियोंके यहाँ जो कुहराम मचा हुआ है, इसकी चर्चा भी न करना॥ ८॥

कौशेयानि च वस्त्राणि भूषणानि वराणि च।
क्षिप्रमादाय राज्ञश्च भरतस्य च गच्छत॥ ९॥

'केकयराज तथा भरतको भेंट देनेके लिये रेशमी वस्त्र और उत्तम आभूषण लेकर तुमलोग यहाँसे शीघ्र चल दो'॥

दत्तपथ्यशना दूता जग्मुः स्वं स्वं निवेशनम्।
केकयांस्ते गमिष्यन्तो हयानारुह्य सम्मतान्॥ १०॥

केकय देशको जानेवाले वे दूत रास्तेका खर्च ले अच्छे घोड़ोंपर सवार हो अपने-अपने घरको गये॥ १०॥

ततः प्रास्थानिकं कृत्वा कार्यशेषमनन्तरम्।
वसिष्ठेनाभ्यनुज्ञाता दूताः संत्वरितं ययुः॥ ११॥

तदनन्तर यात्रासम्बन्धी शेष तैयारी पूरी करके वसिष्ठजीकी आज्ञा ले सभी दूत तुरंत वहाँसे प्रस्थित हो गये॥ ११॥

न्यन्तेनापरतालस्य प्रलम्बस्योत्तरं प्रति।
निषेवमाणास्ते जग्मुर्नदीं मध्येन मालिनीम्॥ १२॥

अपरताल नामक पर्वतके अन्तिम छोर अर्थात् दक्षिण भाग और प्रलम्बगिरिके उत्तरभागमें दोनों पर्वतोंके बीचसे बहनेवाली मालिनी नदीके तटपर होते हुए वे दूत आगे बढ़े॥ १२॥

ते हास्तिनपुरे गङ्गां तीर्त्वा प्रत्यङ्मुखा ययुः।
पाञ्चालदेशमासाद्य मध्येन कुरुजाङ्गलम्॥ १३॥

हस्तिनापुरमें गङ्गाको पार करके वे पश्चिमकी ओर गये और पाञ्चालदेशमें पहुँचकर कुरुजाङ्गल प्रदेशके बीचसे होते हुए आगे बढ़ गये॥ १३॥

सरांसि च सुफुल्लानि नदीश्च विमलोदकाः।
निरीक्षमाणाजग्मुस्ते दूताः कार्यवशाद्द्रुतम्॥ १४॥

मार्गमें सुन्दर फूलोंसे सुशोभित सरोवरों तथा निर्मल जलवाली नदियोंका दर्शन करते हुए वे दूत कार्यवश तीव्र-गतिसे आगे बढ़ते गये॥ १४॥

ते प्रसन्नोदकां दिव्यां नानाविहगसेविताम्।
उपातिजग्मुर्वेगेन शरदण्डां जलाकुलाम्॥ १५॥

तदनन्तर वे स्वच्छ जलसे सुशोभित, पानीसे भरी हुई और भाँति-भाँतिके पक्षियोंसे सेवित दिव्य नदी शरदण्डाके तटपर पहुँचकर उसे वेगपूर्वक लाँघ गये ॥ १५ ॥

निकूलवृक्षमासाद्य दिव्यं सत्योपयाचनम्।
अभिगम्याभिवाद्यं तं कुलिङ्गां प्राविशन् पुरीम् ॥ १६ ॥

शरदण्डाके पश्चिमतटपर एक दिव्य वृक्ष था, जिसपर किसी देवताका आवास था; इसीलिये वहाँ जो याचना की जाती थी, वह सत्य (सफल) होती थी, अतः उसका नाम सत्योपयाचन हो गया था। उस वन्दनीय वृक्षके निकट पहुँचकर दूतोंने उसकी परिक्रमा की और वहाँसे आगे जाकर उन्होंने कुलिङ्गा नामक पुरीमें प्रवेश किया ॥ १६ ॥

अभिकालं ततः प्राप्य तेजोऽभिभवनाच्च्युताः।
पितृपैतामहीं पुण्यां तेरुरिक्षुमतीं नदीम् ॥ १७ ॥

वहाँसे तेजोऽभिभवन नामक गाँवको पार करते हुए वे अभिकाल नामक गाँवमें पहुँचे और वहाँसे आगे बढ़नेपर उन्होंने राजा दशरथके पिता-पितामहोंद्वारा सेवित पुण्यसलिला इक्षुमती नदीको पार किया ॥ १७ ॥

अवेक्ष्याञ्जलिपानांश्च ब्राह्मणान् वेदपारगान्।
ययुर्मध्येन बाह्लीकान् सुदामानं च पर्वतम् ॥ १८ ॥

वहाँ केवल अञ्जलिभर जल पीकर तपस्या करनेवाले वेदोंके पारगामी ब्राह्मणोंका दर्शन करके वे दूत बाह्लीक देशके मध्यभागमें स्थित सुदामा नामक पर्वतके पास जा पहुँचे ॥ १८ ॥

विष्णोः पदं प्रेक्ष्यमाणा विपाशां चापि शाल्मलीम्।
नदीर्वापीतटाकानि पल्वलानि सरांसि च ॥ १९ ॥
पश्यन्तो विविधांश्चापि सिंहान् व्याघ्रान् मृगान् द्विपान्।
ययुः पथातिमहता शासनं भर्तुरीप्सवः ॥ २० ॥

उस पर्वतके शिखरपर स्थित भगवान् विष्णुके चरण-चिह्नका दर्शन करके वे विपाशा (व्यास) नदी और उसके तटवर्ती शाल्मली वृक्षके निकट गये। वहाँसे आगे बढ़नेपर बहुत-सी नदियों, बावड़ियों, पोखरों, छोटे तालाबों, सरोवरों तथा भाँति-भाँतिके वनजन्तुओं—सिंह, व्याघ्र, मृग और हाथियोंका दर्शन करते हुए वे दूत अत्यन्त विशाल मार्गके द्वारा आगे बढ़ने लगे। वे अपने स्वामीकी आज्ञाका शीघ्र पालन करनेकी इच्छा रखते थे ॥ १९-२० ॥

ते श्रान्तवाहना दूता विकृष्टेन सता पथा।
गिरिव्रजं पुरवरं शीघ्रमासेदुरञ्जसा ॥ २१ ॥

उन दूतोंके वाहन (घोड़े) चलते-चलते थक गये थे। वह मार्ग बड़ी दूरका होनेपर उपद्रवसे रहित था। उसे तै करके सारे दूत शीघ्र ही बिना किसी कष्टके श्रेष्ठ नगर गिरिव्रजमें जा पहुँचे ॥ २१ ॥

भर्तुः प्रियार्थं कुलरक्षणार्थं
भर्तुश्च वंशस्य परिग्रहार्थम्।
अहेडमानास्त्वरया स्म दूता
रात्र्यां तु ते तत्पुरमेव याताः ॥ २२ ॥

अपने स्वामी (आज्ञा देनेवाले वसिष्ठजी) का प्रिय और प्रजावर्गकी रक्षा करने तथा महाराज दशरथके वंशपरम्परागत राज्यको भरतजीसे स्वीकार करानेके लिये सादर तत्पर हुए वे दूत बड़ी उतावलीके साथ चलकर रातमें ही उस नगरमें जा पहुँचे ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टषष्टितमः सर्गः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमः सर्गः

भरतकी चिन्ता, मित्रोंद्वारा उन्हें प्रसन्न करनेका प्रयास तथा उनके पूछनेपर भरतका मित्रोंके समक्ष अपने देखे हुए भयंकर दुःस्वप्नका वर्णन करना

यामेव रात्रिं ते दूताः प्रविशन्ति स्म तां पुरीम्।
भरतेनापि तां रात्रिं स्वप्नो दृष्टोऽयमप्रियः ॥ १ ॥

जिस रातमें दूतोंने उस नगरमें प्रवेश किया था, उससे पहली रातमें भरतने भी एक अप्रिय स्वप्न देखा था ॥ १ ॥

व्युष्टामेव तु तां रात्रिं दृष्ट्वा तं स्वप्नमप्रियम्।
पुत्रो राजाधिराजस्य सुभृशं पर्यतप्यत ॥ २ ॥

रात बीतकर प्रायः सवेरा हो चला था तभी उस अप्रिय स्वप्नको देखकर राजाधिराज दशरथके पुत्र भरत मन-ही-मन बहुत संतप्त हुए ॥ २ ॥

तप्यमानं तमाज्ञाय वयस्याः प्रियवादिनः।
आयासं विनयिष्यन्तः सभायां चक्रिरे कथाः ॥ ३ ॥

उन्हें चिन्तित जान उनके अनेक प्रियवादी मित्रोंने उनका मानसिक क्लेश दूर करनेकी इच्छासे एक गोष्ठी की और उसमें अनेक प्रकारकी बातें करने लगे ॥ ३ ॥

वादयन्ति तदा शान्तिं लासयन्त्यपि चापरे।
नाटकान्यपरे स्माहुर्हास्यानि विविधानि च ॥ ४ ॥

कुछ लोग वीणा आदि बजाने लगे। दूसरे लोग उनके खेदकी शान्तिके लिये नृत्य कराने लगे। दूसरे मित्रोंने नाना प्रकारके नाटकोंका आयोजन किया, जिनमें हास्यरसकी प्रधानता थी ॥ ४ ॥

स तैर्महात्मा भरतः सखिभिः प्रियवादिभिः।
गोष्ठीहास्यानि कुर्वद्भिर्न प्राहृष्यत राघवः ॥ ५ ॥

किंतु रघुकुलभूषण महात्मा भरत उन प्रियवादी मित्रोंकी गोष्ठीमें हास्यविनोद करनेपर भी प्रसन्न नहीं हुए॥ ५॥

तमब्रवीत् प्रियसखो भरतं सखिभिर्वृतम्।
सुहृद्भिः पर्युपासीनः किं सखे नानुमोदसे॥ ६॥

तब सुहृदोंसे घिरकर बैठे हुए एक प्रिय मित्रने मित्रोंके बीचमें विराजमान भरतसे पूछा—'सखे! तुम आज प्रसन्न क्यों नहीं होते हो?'॥ ६॥

एवं ब्रुवाणं सुहृदं भरतः प्रत्युवाच ह।
शृणु त्वं यन्निमित्तं मे दैन्यमेतदुपागतम्॥ ७॥
स्वप्ने पितरमद्राक्षं मलिनं मुक्तमूर्धजम्।
पतन्तमद्रिशिखरात् कलुषे गोमये ह्रदे॥ ८॥

इस प्रकार पूछते हुए सुहृद्‌को भरतने इस प्रकार उत्तर दिया—'मित्र! जिस कारणसे मेरे मनमें यह दैन्य आया है, वह बताता हूँ, सुनो। मैंने आज स्वप्नमें अपने पिताजीको देखा है। उनका मुख मलिन था; बाल खुले हुए थे और वे पर्वतकी चोटीसे एक ऐसे गंदे गड्ढेमें गिर पड़े थे, जिसमें गोबर भरा हुआ था॥ ७-८॥

प्लवमानश्च मे दृष्टः स तस्मिन् गोमये ह्रदे।
पिबन्नञ्जलिना तैलं हसन्निव मुहुर्मुहुः॥ ९॥

'मैंने उस गोबरके कुण्डमें उन्हें तैरते देखा था। वे अञ्जलिमें तेल लेकर पी रहे थे और बारम्बार हँसते हुए-से प्रतीत होते थे॥ ९॥

ततस्तिलोदनं भुक्त्वा पुनः पुनरधःशिराः।
तैलेनाभ्यक्तसर्वाङ्गस्तैलमेवान्वगाहत॥ १०॥

'फिर उन्होंने तिल और भात खाया। इसके बाद उनके सारे शरीरमें तेल लगाया गया और फिर वे सिर नीचे किये तैलमें ही गोते लगाने लगे॥ १०॥

स्वप्नेऽपि सागरं शुष्कं चन्द्रं च पतितं भुवि।
उपरुद्धां च जगतीं तमसेव समावृताम्॥ ११॥

'स्वप्नमें ही मैंने यह भी देखा है कि समुद्र सूख गया, चन्द्रमा पृथ्वीपर गिर पड़े हैं, सारी पृथ्वी उपद्रवसे ग्रस्त और अन्धकारसे आच्छादित-सी हो गयी है॥ ११॥

औपवाह्यस्य नागस्य विषाणं शकलीकृतम्।
सहसा चापि संशान्ता ज्वलिता जातवेदसः॥ १२॥

'महाराजकी सवारीके काममें आनेवाले हाथीका दाँत टूक-टूक हो गया है और पहलेसे प्रज्वलित होती हुई आग सहसा बुझ गयी है॥ १२॥

अवदीर्णां च पृथिवीं शुष्कांश्च विविधान् द्रुमान्।
अहं पश्यामि विध्वस्तान् सधूमांश्चैव पर्वतान्॥ १३॥

'मैंने यह भी देखा है कि पृथ्वी फट गयी है, नाना प्रकारके वृक्ष सूख गये हैं तथा पर्वत ढह गये हैं और उनसे धुआँ निकल रहा है॥ १३॥

पीठे कार्ष्णायसे चैवं निषण्णं कृष्णवाससम्।
प्रहसन्ति स्म राजानं प्रमदाः कृष्णपिङ्गलाः॥ १४॥

'काले लोहेकी चौकीपर महाराज दशरथ बैठे हैं। उन्होंने काला ही वस्त्र पहन रखा है और काले एवं पिङ्गलवर्णकी स्त्रियाँ उनके ऊपर प्रहार करती हैं॥ १४॥

त्वरमाणश्च धर्मात्मा रक्तमाल्यानुलेपनः।
रथेन खरयुक्तेन प्रयातो दक्षिणामुखः॥ १५॥

'धर्मात्मा राजा दशरथ लाल रंगके फूलोंकी माला पहने और लाल चन्दन लगाये गधे जुते हुए रथपर बैठकर बड़ी तेजीके साथ दक्षिण दिशाकी ओर गये हैं॥ १५॥

प्रहसन्तीव राजानं प्रमदा रक्तवासिनी।
प्रकर्षन्ती मया दृष्टा राक्षसी विकृतानना॥ १६॥

'लाल वस्त्र धारण करनेवाली एक स्त्री, जो विकराल मुखवाली राक्षसी प्रतीत होती थी, महाराजको हँसती हुई-सी खींचकर लिये जा रही थी। यह दृश्य भी मेरे देखनेमें आया॥ १६॥

एवमेतन्मया दृष्टमिमां रात्रिं भयावहाम्।
अहं रामोऽथवा राजा लक्ष्मणो वा मरिष्यति॥ १७॥

'इस प्रकार इस भयंकर रात्रिके समय मैंने यह स्वप्न देखा है। इसका फल यह होगा कि मैं, श्रीराम, राजा दशरथ अथवा लक्ष्मण—इनमेंसे किसी एककी अवश्य मृत्यु होगी॥ १७॥

नरो यानेन यः स्वप्ने खरयुक्तेन याति हि।
अचिरात्तस्य धूमाग्रं चितायां सम्प्रदृश्यते॥ १८॥
एतन्निमित्तं दीनोऽहं न वचः प्रतिपूजये।
शुष्यतीव च मे कण्ठो न स्वस्थमिव मे मनः॥ १९॥

'जो मनुष्य स्वप्नमें गधे जुते हुए रथसे यात्रा करता दिखायी देता है, उसकी चिताका धुआँ शीघ्र ही देखनेमें आता है। यही कारण है कि मैं दुःखी हो रहा हूँ और आपलोगोंकी बातोंका आदर नहीं करता हूँ। मेरा गला सूखा-सा जा रहा है और मन अस्वस्थ-सा हो चला है॥ १८-१९॥

न पश्यामि भयस्थानं भयं चैवोपधारये।
भ्रष्टश्च स्वरयोगो मे छाया चापगता मम।
जुगुप्सु इव चात्मानं न च पश्यामि कारणम्॥ २०॥

'मैं भयका कोई कारण नहीं देखता तो भी भयको प्राप्त हो रहा हूँ। मेरा स्वर बदल गया है तथा मेरी कान्ति भी फीकी पड़ गयी है। मैं अपने-आपसे घृणा-सी करने लगा हूँ, परंतु इसका कारण क्या है, यह मेरी समझमें नहीं आता॥ २०॥

इमां च दुःस्वप्नगतिं निशाम्य हि
त्वनेकरूपामवितर्कितां पुरा।
भयं महत्तद्धृदयान्न याति मे
विचिन्त्य राजानमचिन्त्यदर्शनम्॥ २१॥

'जिनके विषयमें मैंने पहले कभी सोचातक नहीं था, ऐसे अनेक प्रकारके दुःस्वप्नोंको देखकर तथा महाराजका दर्शन इस रूपमें क्यों हुआ, जिसकी मेरे मनमें कोई कल्पना नहीं थी—यह सोचकर मेरे हृदयसे महान् भय दूर नहीं हो रहा है' ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनसप्ततितमः सर्गः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें उनहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६९ ॥

सप्ततितमः सर्गः

दूतोंका भरतको उनके नाना और मामाके लिये उपहारकी वस्तुएँ अर्पित करना और वसिष्ठजीका संदेश सुनाना, भरतका पिता आदिकी कुशल पूछना और नानासे आज्ञा तथा उपहारकी वस्तुएँ पाकर शत्रुघ्नके साथ अयोध्याकी ओर प्रस्थान करना

भरते ब्रुवति स्वप्नं दूतास्ते क्लान्तवाहनाः ।
प्रविश्यासह्यपरिखं रम्यं राजगृहं पुरम् ॥ १ ॥

इस प्रकार भरत जब अपने मित्रोंको स्वप्नका वृत्तान्त बता रहे थे, उसी समय थके हुए वाहनोंवाले वे दूत उस रमणीय राजगृहपुरमें प्रविष्ट हुए, जिसकी खाईको लाँघनेका कष्ट शत्रुओंके लिये असह्य था ॥ १ ॥

समागम्य च राज्ञा ते राजपुत्रेण चार्चिताः ।
राज्ञः पादौ गृहीत्वा च तमूचुर्भरतं वचः ॥ २ ॥

नगरमें आकर वे दूत केकयदेशके राजा और राजकुमारसे मिले तथा उन दोनोंने भी उनका सत्कार किया। फिर वे भावी राजा भरतके चरणोंका स्पर्श करके उनसे इस प्रकार बोले— ॥ २ ॥

पुरोहितस्त्वां कुशलं प्राह सर्वे च मन्त्रिणः ।
त्वरमाणश्च निर्याहि कृत्यमात्ययिकं त्वया ॥ ३ ॥

'कुमार! पुरोहितजी तथा समस्त मन्त्रियोंने आपसे कुशल-मङ्गल कहा है। अब आप यहाँसे शीघ्र चलिये। अयोध्यामें आपसे अत्यन्त आवश्यक कार्य है ॥ ३ ॥

इमानि च महार्हाणि वस्त्राण्याभरणानि च ।
प्रतिगृह्य विशालाक्ष मातुलस्य च दापय ॥ ४ ॥

'विशाल नेत्रोंवाले राजकुमार! ये बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण आप स्वयं भी ग्रहण कीजिये और अपने मामाको भी दीजिये ॥ ४ ॥

अत्र विंशतिकोट्यस्तु नृपतेर्मातुलस्य ते ।
दशकोट्यस्तु सम्पूर्णास्तथैव च नृपात्मज ॥ ५ ॥

'राजकुमार! यहाँ जो बहुमूल्य सामग्री लायी गयी है, इसमें बीस करोड़की लागतका सामान आपके नाना केकयनरेशके लिये है और पूरे दस करोड़की लागतका सामान आपके मामाके लिये है' ॥ ५ ॥

प्रतिगृह्य तु तत् सर्वं स्वनुरक्तः सुहृज्जने ।
दूतानुवाच भरतः कामैः सम्प्रतिपूज्य तान् ॥ ६ ॥

वे सारी वस्तुएँ लेकर मामा आदि सुहृदोंमें अनुराग रखनेवाले भरतने उन्हें भेंट कर दीं। तत्पश्चात् इच्छानुसार वस्तुएँ देकर दूतोंका सत्कार करनेके अनन्तर उनसे इस प्रकार कहा— ॥ ६ ॥

कच्चित् स कुशली राजा पिता दशरथो मम ।
कच्चिदारोग्यता रामे लक्ष्मणे च महात्मनि ॥ ७ ॥

'मेरे पिता महाराज दशरथ सकुशल तो हैं न? महात्मा श्रीराम और लक्ष्मण नीरोग तो हैं न? ॥ ७ ॥

आर्या च धर्मनिरता धर्मज्ञा धर्मवादिनी ।
अरोगा चापि कौसल्या माता रामस्य धीमतः ॥ ८ ॥

'धर्मको जानने और धर्मकी ही चर्चा करनेवाली बुद्धिमान् श्रीरामकी माता धर्मपरायणा आर्या कौसल्याको तो कोई रोग या कष्ट नहीं है? ॥ ८ ॥

कच्चित् सुमित्रा धर्मज्ञा जननी लक्ष्मणस्य या ।
शत्रुघ्नस्य च वीरस्य अरोगा चापि मध्यमा ॥ ९ ॥

'क्या वीर लक्ष्मण और शत्रुघ्नकी जननी मेरी मझली माता धर्मज्ञा सुमित्रा स्वस्थ और सुखी हैं? ॥ ९ ॥

आत्मकामा सदा चण्डी क्रोधना प्राज्ञमानिनी ।
अरोगा चापि मे माता कैकेयी किमुवाच ह ॥ १० ॥

'जो सदा अपना ही स्वार्थ सिद्ध करना चाहती और अपनेको बड़ी बुद्धिमती समझती है, उस उग्र स्वभाववाली कोपशीला मेरी माता कैकेयीको तो कोई कष्ट नहीं है? उसने क्या कहा है?' ॥ १० ॥

एवमुक्तास्तु ते दूता भरतेन महात्मना ।
ऊचुः सम्प्रश्रितं वाक्यमिदं तं भरतं तदा ॥ ११ ॥

महात्मा भरतके इस प्रकार पूछनेपर उस समय दूतोंने विनयपूर्वक उनसे यह बात कही— ॥ ११ ॥

कुशलास्ते नरव्याघ्र येषां कुशलमिच्छसि ।
श्रीश्च त्वां वृणुते पद्मा युज्यतां चापि ते रथः ॥ १२ ॥

'पुरुषसिंह! आपको जिनका कुशल-मङ्गल अभिप्रेत है, वे सकुशल हैं। हाथमें कमल लिये रहनेवाली लक्ष्मी (शोभा) आपका वरण कर रही है। अब यात्राके लिये शीघ्र ही आपका रथ जुतकर तैयार हो जाना चाहिये' ॥ १२ ॥

भरतश्चापि तान् दूतानेवमुक्तोऽभ्यभाषत ।
आपृच्छेऽहं महाराजं दूताः संत्वरयन्ति माम् ॥ १३ ॥

उन दूतोंके ऐसा कहनेपर भरतने उनसे कहा—'अच्छा

मैं महाराजसे पूछता हूँ कि दूत मुझसे शीघ्र अयोध्या चलनेके लिये कह रहे हैं। आपकी क्या आज्ञा है?' ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा तु तान् दूतान् भरतः पार्थिवात्मजः।
दूतैः संचोदितो वाक्यं मातामहमुवाच ह ॥ १४ ॥

दूतोंसे ऐसा कहकर राजकुमार भरत उनसे प्रेरित हो नानाके पास जाकर बोले— ॥ १४ ॥

राजन् पितुर्गमिष्यामि सकाशं दूतचोदितः।
पुनरप्यहमेष्यामि यदा मे त्वं स्मरिष्यसि ॥ १५ ॥

'राजन्! मैं दूतोंके कहनेसे इस समय पिताजीके पास जा रहा हूँ। पुनः जब आप मुझे याद करेंगे, यहाँ आ जाऊँगा' ॥

भरतेनैवमुक्तस्तु नृपो मातामहस्तदा।
तमुवाच शुभं वाक्यं शिरस्याघ्राय राघवम् ॥ १६ ॥

भरतके ऐसा कहनेपर नाना केकयनरेशने उस समय उन रघुकुलभूषण भरतका मस्तक सूँघकर यह शुभ वचन कहा— ॥ १६ ॥

गच्छ तातानुजाने त्वां कैकेयी सुप्रजास्त्वया।
मातरं कुशलं ब्रूयाः पितरं च परंतप ॥ १७ ॥

'तात! जाओ, मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ। तुम्हें पाकर कैकेयी उत्तम संतानवाली हो गयी। शत्रुओंको संताप देनेवाले वीर! तुम अपनी माता और पितासे यहाँका कुशल-समाचार कहना ॥ १७ ॥

पुरोहितं च कुशलं ये चान्ये द्विजसत्तमाः।
तौ च तात महेष्वासौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ १८ ॥

'तात! अपने पुरोहितजीसे तथा अन्य जो श्रेष्ठ ब्राह्मण हों, उनसे भी मेरा कुशल-मङ्गल कहना। उन महाधनुर्धर दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणसे भी यहाँका कुशल-समाचार सुना देना' ॥ १८ ॥

तस्मै हस्त्युत्तमांश्चित्रान् कम्बलानजिनानि च।
सत्कृत्य केकयो राजा भरताय ददौ धनम् ॥ १९ ॥

ऐसा कहकर केकयनरेशने भरतका सत्कार करके उन्हें बहुत-से उत्तम हाथी, विचित्र कालीन, मृगचर्म और बहुत-सा धन दिये ॥ १९ ॥

अन्तःपुरेऽतिसंवृद्धान् व्याघ्रवीर्यबलोपमान्।
दंष्ट्रायुक्तान् महाकायाञ्शुनश्चोपायनं ददौ ॥ २० ॥

जो अन्तःपुरमें पाल-पोसकर बड़े किये गये थे, बल और पराक्रममें बाघोंके समान थे, जिनकी दाढ़ें बड़ी-बड़ी और काया विशाल थी, ऐसे बहुत-से कुत्ते भी केकयनरेशने भरतको भेंटमें दिये ॥ २० ॥

रुक्मनिष्कसहस्रे द्वे षोडशाश्वशतानि च।
सत्कृत्य कैकेयीपुत्रं केकयो धनमादिशत् ॥ २१ ॥

दो हजार सोनेकी मोहरें और सोलह सौ घोड़े भी दिये। इस प्रकार केकयनरेशने केकयीकुमार भरतको सत्कारपूर्वक बहुत-सा धन दिया ॥ २१ ॥

तदामात्यानभिप्रेतान् विश्वास्यांश्च गुणान्वितान्।
ददावश्वपतिः शीघ्रं भरतायानुयायिनः ॥ २२ ॥

उस समय केकयनरेश अश्वपतिने अपने अभीष्ट, विश्वासपात्र और गुणवान् मन्त्रियोंको भरतके साथ जानेके लिये शीघ्र आज्ञा दी ॥ २२ ॥

ऐरावतानैन्द्रशिरान् नागान् वै प्रियदर्शनान्।
खराञ्शीघ्रान् सुसंयुक्तान् मातुलोऽस्मै धनं ददौ ॥ २३ ॥

भरतके मामाने उन्हें उपहारमें दिये जानेवाले फलके रूपमें इरावान् पर्वत और इन्द्रशिर नामक स्थानके आस-पास उत्पन्न होनेवाले बहुत-से सुन्दर-सुन्दर हाथी तथा तेज चलनेवाले सुशिक्षित खच्चर दिये ॥ २३ ॥

स दत्तं केकयेन्द्रेण धनं तन्नाभ्यनन्दत।
भरतः कैकयीपुत्रो गमनत्वरया तदा ॥ २४ ॥

उस समय जानेकी जल्दी होनेके कारण केकयीपुत्र भरतने केकयराजके दिये हुए उस धनका अभिनन्दन नहीं किया ॥ २४ ॥

बभूव ह्यस्य हृदये चिन्ता सुमहती तदा।
त्वरया चापि दूतानां स्वप्नस्यापि च दर्शनात् ॥ २५ ॥

उस अवसरपर उनके हृदयमें बड़ी भारी चिन्ता हो रही थी। इसके दो कारण थे, एक तो दूत वहाँसे चलनेकी जल्दी मचा रहे थे, दूसरे उन्हें दुःस्वप्नका दर्शन भी हुआ था ॥ २५ ॥

स स्ववेश्माभ्यतिक्रम्य नरनागाश्वसंकुलम्।
प्रपेदे सुमहच्छ्रीमान् राजमार्गमनुत्तमम् ॥ २६ ॥

वे यात्राकी तैयारीके लिये पहले अपने आवासस्थानपर गये। फिर वहाँसे निकलकर मनुष्यों, हाथियों और घोड़ोंसे भरे हुए परम उत्तम राजमार्गपर गये। उस समय भरतजीके पास बहुत बड़ी सम्पत्ति जुट गयी थी ॥ २६ ॥

अभ्यतीत्य ततोऽपश्यदन्तःपुरमनुत्तमम्।
ततस्तद् भरतः श्रीमानाविवेशानिवारितः ॥ २७ ॥

सड़कको पार करके श्रीमान् भरतने राजभवनके परम उत्तम अन्तःपुरका दर्शन किया और उसमें वे बेरोक-टोक घुस गये ॥ २७ ॥

स मातामहमापृच्छ्य मातुलं च युधाजितम्।
रथमारुह्य भरतः शत्रुघ्नसहितो ययौ ॥ २८ ॥

वहाँ नाना, नानी, मामा युधाजित् और मामीसे विदा ले शत्रुघ्नसहित रथपर सवार हो भरतने यात्रा आरम्भ की ॥ २८ ॥

रथान् मण्डलचक्रांश्च योजयित्वा परः शतम्।
उष्ट्रगोऽश्वखरैर्भृत्या भरतं यान्तमन्वयुः ॥ २९ ॥

गोलाकार पहियेवाले सौसे भी अधिक रथोंमें ऊँट, बैल, घोड़े और खच्चर जोतकर सेवकोंने जाते हुए भरतका अनुसरण किया ॥ २९ ॥

बलेन गुप्तो भरतो महात्मा
सहार्यकस्यात्मसमैरमात्यैः ।
आदाय शत्रुघ्नमपेतशत्रु-
र्गृहाद् ययौ सिद्ध इवेन्द्रलोकात् ॥ ३० ॥

शत्रुहीन महामना भरत अपनी और मामाकी सेनासे सुरक्षित हो शत्रुघ्नको अपने साथ रथपर लेकर नानाके अपने ही समान माननीय मन्त्रियोंके साथ मामाके घरसे चले; मानो कोई सिद्ध पुरुष इन्द्रलोकसे किसी अन्य स्थानके लिये प्रस्थित हुआ हो ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्ततितमः सर्गः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७० ॥

—★—

एकसप्ततितमः सर्गः

रथ और सेनासहित भरतकी यात्रा, विभिन्न स्थानोंको पार करके उनका उज्जिहाना नगरीके उद्यानमें पहुँचना और सेनाको धीरे-धीरे आनेकी आज्ञा दे स्वयं रथद्वारा तीव्रवेगसे आगे बढ़ते हुए सालवनको पार करके अयोध्याके निकट जाना, वहाँसे अयोध्याकी दुरवस्था देखते हुए आगे बढ़ना और सारथिसे अपना दुःखपूर्ण उद्गार प्रकट करते हुए राजभवनमें प्रवेश करना

**स प्राङ्मुखो राजगृहादभिनिर्याय वीर्यवान् ।
ततः सुदामां द्युतिमान् संतीर्यावेक्ष्य तां नदीम् ॥ १ ॥
ह्लादिनीं दूरपारां च प्रत्यक्स्रोतस्तरङ्गिणीम् ।
शतद्रूमतरच्छ्रीमान् नदीमिक्ष्वाकुनन्दनः ॥ २ ॥**

राजगृहसे निकलकर पराक्रमी भरत पूर्वदिशाकी ओर चले।* उन तेजस्वी राजकुमारने मार्गमें सुदामा नदीका दर्शन करके उसे पार किया। तत्पश्चात् इक्ष्वाकुनन्दन श्रीमान् भरतने, जिसका पाट दूरतक फैला हुआ था, उस ह्लादिनी नदीको लाँघकर पश्चिमाभिमुख बहनेवाली शतद्रु नदी (सतलज) को पार किया ॥ १-२ ॥

**ऐलधाने नदीं तीर्त्वा प्राप्य चापरपर्वतान् ।
शिलामाकुर्वतीं तीर्त्वा आग्नेयं शल्यकर्षणम् ॥ ३ ॥**

वहाँसे ऐलधान नामक गाँवमें जाकर वहाँ बहनेवाली नदीको पार किया। तत्पश्चात् वे अपरपर्वत नामक जनपदमें गये। वहाँ शिला नामकी नदी बहती थी, जो अपने भीतर पड़ी हुई वस्तुको शिलास्वरूप बना देती थी। उसे पार करके भरत वहाँसे आग्नेय कोणमें स्थित शल्यकर्षण नामक देशमें गये, जहाँ शरीरसे काँटेको निकालनेमें सहायता करनेवाली ओषधि उपलब्ध होती थी ॥ ३ ॥

**सत्यसंधः शुचिर्भूत्वा प्रेक्षमाणः शिलावहाम् ।
अभ्यगात् स महाशैलान् वनं चैत्ररथं प्रति ॥ ४ ॥**

तदनन्तर सत्यप्रतिज्ञ भरतने पवित्र होकर शिलावहा नामक नदीका दर्शन किया (जो अपनी प्रखर धारासे शिलाखण्डों—बड़ी-बड़ी चट्टानोंको भी बहा ले जानेके कारण उक्त नामसे प्रसिद्ध थी)। उस नदीका दर्शन करके वे आगे बढ़ गये और बड़े-बड़े पर्वतोंको लाँघते हुए चैत्ररथ नामक वनमें जा पहुँचे ॥ ४ ॥

**सरस्वतीं च गङ्गां च युग्मेन प्रतिपद्य च ।
उत्तरान् वीरमत्स्यानां भारुण्डं प्राविशद् वनम् ॥ ५ ॥**

तत्पश्चात् पश्चिमवाहिनी सरस्वती तथा गङ्गाकी धारा-विशेषके सङ्गमसे होते हुए उन्होंने वीरमत्स्य देशके उत्तरवर्ती देशोंमें पदार्पण किया और वहाँसे आगे बढ़कर वे भारुण्डवनके भीतर गये ॥ ५ ॥

**वेगिनीं च कुलिङ्गाख्यां ह्लादिनीं पर्वतावृताम् ।
यमुनां प्राप्य संतीर्णो बलमाश्वासयत् तदा ॥ ६ ॥**

फिर अत्यन्त वेगसे बहनेवाली तथा पर्वतोंसे घिरी होनेके कारण अपने प्रखर प्रवाहके द्वारा कलकल नाद करनेवाली कुलिङ्गा नदीको पार करके यमुनाके तटपर पहुँचकर उन्होंने सेनाको विश्राम कराया ॥ ६ ॥

**शीतीकृत्य तु गात्राणि क्लान्तानाश्वास्य वाजिनः ।
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च प्रायादादाय चोदकम् ॥ ७ ॥
राजपुत्रो महारण्यमनभीक्ष्णोपसेवितम् ।
भद्रो भद्रेण यानेन मारुतः खमिवात्यगात् ॥ ८ ॥**

थके हुए घोड़ोंको नहलाकर उनके अङ्गोंको शीतलता प्रदान करके उन्हें छायामें घास आदि देकर आराम करनेका अवसर दे राजकुमार भरत स्वयं भी स्नान और जलपान करके रास्तेके लिये जल साथ ले आगे बढ़े। मङ्गलाचारसे युक्त हो माङ्गलिक रथके द्वारा उन्होंने, जिसमें मनुष्योंका

* अयोध्यासे जो पाँच दूत चले थे, वे सीधी राहसे राजगृहमें आये थे; अतः उनके मार्गमें जो-जो स्थान पड़े थे, वे भरतके मार्गमें नहीं पड़े थे। भरतके साथ रथ और चतुरङ्गिणी सेना थी, अतः उसके निर्वाहके अनुकूल मार्गसे चलकर वे अयोध्या पहुँचे थे। इसलिये इनके मार्गमें सर्वथा नये ग्रामों और स्थानोंका उल्लेख मिलता है।

बहुधा आना-जाना या रहना नहीं होता था, उस विशाल वनको उसी प्रकार वेगपूर्वक पार किया, जैसे वायु आकाशको लाँघ जाती है॥ ७-८॥

भागीरथीं दुष्प्रतरां सोंऽशुधाने महानदीम्।
उपायाद् राघवस्तूर्णं प्राग्वटे विश्रुते पुरे॥ ९॥

तत्पश्चात् अंशुधान नामक ग्रामके पास महानदी भागीरथी गङ्गाको दुस्तर जानकर रघुनन्दन भरत तुरंत ही प्राग्वट नामसे विख्यात नगरमें आ गये॥ ९॥

स गङ्गां प्राग्वटे तीर्त्वा समायात् कुटिकोष्ठिकाम्।
सबलस्तां स तीर्त्वाथ समगाद् धर्मवर्धनम्॥ १०॥

प्राग्वट नगरमें गङ्गाको पार करके वे कुटिकोष्ठिका नामवाली नदीके तटपर आये और सेनासहित उसको भी पार करके धर्मवर्धन नामक ग्राममें जा पहुँचे॥ १०॥

तोरणं दक्षिणार्धेन जम्बूप्रस्थं समागमत्।
वरूथं च ययौ रम्यं ग्रामं दशरथात्मजः॥ ११॥

वहाँसे तोरण ग्रामके दक्षिणार्ध भागमें होते हुए जम्बूप्रस्थमें गये। तदनन्तर दशरथकुमार भरत एक रमणीय ग्राममें गये, जो वरूथके नामसे विख्यात था॥ ११॥

तत्र रम्ये वने वासं कृत्वासौ प्राङ्मुखो ययौ।
उद्यानमुज्जिहानायाः प्रियका यत्र पादपाः॥ १२॥

वहाँ एक रमणीय वनमें निवास करके वे प्रातःकाल पूर्व दिशाकी ओर गये। जाते-जाते उज्जिहाना नगरीके उद्यानमें पहुँच गये, जहाँ कदम्ब नामवाले वृक्षोंकी बहुतायत थी।

स तांस्तु प्रियकान् प्राप्य शीघ्रानास्थाय वाजिनः।
अनुज्ञाप्याथ भरतो वाहिनीं त्वरितो ययौ॥ १३॥

उन कदम्बोंके उद्यानमें पहुँचकर अपने रथमें शीघ्रगामी घोड़ोंको जोतकर सेनाको धीरे-धीरे आनेकी आज्ञा दे भरत तीव्रगतिसे चल दिये॥ १३॥

वासं कृत्वा सर्वतीर्थे तीर्त्वा चोत्तानिकां नदीम्।
अन्या नदीश्च विविधैः पार्वतीयैस्तुरङ्गमैः॥ १४॥
हस्तिपृष्ठकमासाद्य कुटिकामप्यवर्तत।
ततार च नरव्याघ्रो लोहित्ये च कपीवतीम्॥ १५॥

तत्पश्चात् सर्वतीर्थ नामक ग्राममें एक रात रहकर उत्तानिका नदी तथा अन्य नदियोंको भी नाना प्रकारके पर्वतीय घोड़ोंद्वारा जुते हुए रथसे पार करके नरश्रेष्ठ भरतजी हस्तिपृष्ठक नामक ग्राममें जा पहुँचे। वहाँसे आगे जानेपर उन्होंने कुटिका नदी पार की। फिर लोहित्य नामक ग्राममें पहुँचकर कपीवती नामक नदीको पार किया॥ १४-१५॥

एकसाले स्थाणुमतीं विनते गोमतीं नदीम्।
कलिङ्गनगरे चापि प्राप्य सालवनं तदा॥ १६॥

फिर एकसाल नगरके पास स्थाणुमती और विनत-ग्रामके निकट गोमती नदीको पार करके वे तुरंत ही कलिङ्गनगरके पास सालवनमें जा पहुँचे॥ १६॥

भरतः क्षिप्रमागच्छत् सुपरिश्रान्तवाहनः।
वनं च समतीत्याशु शर्वर्यामरुणोदये॥ १७॥
अयोध्यां मनुना राज्ञा निर्मितां स ददर्श ह।
तां पुरीं पुरुषव्याघ्रः सप्तरात्रोषितः पथि॥ १८॥

वहाँ जाते-जाते भरतके घोड़े थक गये। तब उन्हें विश्राम देकर वे रातों-रात शीघ्र ही सालवनको लाँघ गये और अरुणोदयकालमें राजा मनुकी बसायी हुई अयोध्यापुरीका उन्होंने दर्शन किया। पुरुषसिंह भरत मार्गमें सात रातें व्यतीत करके आठवें दिन अयोध्यापुरीका दर्शन कर सके थे॥

अयोध्यामग्रतो दृष्ट्वा सारथिं चेदमब्रवीत्।
एषा नातिप्रतीता मे पुण्योद्याना यशस्विनी॥ १९॥
अयोध्या दृश्यते दूरात् सारथे पाण्डुमृत्तिका।
यज्वभिर्गुणसम्पन्नैर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः॥ २०॥
भूयिष्ठमृद्धैराकीर्णा राजर्षिवरपालिता।

सामने अयोध्यापुरीको देखकर वे अपने सारथिसे इस प्रकार बोले—'सूत! पवित्र उद्यानोंसे सुशोभित यह यशस्विनी नगरी आज मुझे अधिक प्रसन्न नहीं दिखायी देती है। यह वही नगरी है, जहाँ निरन्तर यज्ञ-याग करनेवाले गुणवान् और वेदोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मण निवास करते हैं, जहाँ बहुत-से धनियोंकी भी बस्ती है तथा राजर्षियोंमें श्रेष्ठ महाराज दशरथ जिसका पालन करते हैं, वही अयोध्या इस समय दूरसे सफेद मिट्टीके ढूहकी भाँति दीख रही है॥

अयोध्यायां पुरा शब्दः श्रूयते तुमुलो महान्।
समन्तान्नरनारीणां तमद्य न शृणोम्यहम्॥ २१॥

'पहले अयोध्यामें चारों ओर नर-नारियोंका महान् तुमुलनाद सुनायी पड़ता था; परंतु आज मैं उसे नहीं सुन रहा हूँ॥ २१½॥

उद्यानानि हि सायाह्ने क्रीडित्वोपरतैर्नरैः॥ २२॥
समन्ताद् विप्रधावद्भिः प्रकाशन्ते ममान्यथा।
तान्यद्यानुरुदन्तीव परित्यक्तानि कामिभिः॥ २३॥

'सायंकालके समय लोग उद्यानोंमें प्रवेश करके वहाँ क्रीड़ा करते और उस क्रीड़ासे निवृत्त होकर सब ओरसे अपने घरोंकी ओर दौड़ते थे, अतः उस समय इन उद्यानोंकी अपूर्व शोभा होती थी, परंतु आज ये मुझे कुछ और ही प्रकारके दिखायी देते हैं। वे ही उद्यान आज कामीजनोंसे परित्यक्त होकर रोते हुए-से प्रतीत होते हैं॥ २२-२३॥

अरण्यभूतेव पुरी सारथे प्रतिभाति माम्।
नह्यत्र यानैर्दृश्यन्ते न गजैर्न च वाजिभिः।
निर्यान्तो वाभियान्तो वा नरमुख्या यथा पुरा॥ २४॥

'सारथे! यह पुरी मुझे जंगल-सी जान पड़ती है। अब यहाँ पहलेकी भाँति घोड़ों, हाथियों तथा दूसरी-दूसरी सवारियोंसे आते-जाते हुए श्रेष्ठ मनुष्य नहीं दिखायी दे रहे हैं॥ २४॥

उद्यानानि पुरा भान्ति मत्तप्रमुदितानि च।
जनानां रतिसंयोगेष्वत्यन्तगुणवन्ति च ॥ २५ ॥
तान्येतान्यद्य पश्यामि निरानन्दानि सर्वशः।
स्रस्तपर्णैरनुपथं विक्रोशद्भिरिव द्रुमैः ॥ २६ ॥

'जो उद्यान पहले मदमत्त एवं आनन्दमग्न भ्रमरों, कोकिलों और नर-नारियोंसे भरे प्रतीत होते थे तथा लोगोंके प्रेम-मिलनके लिये अत्यन्त गुणकारी (अनुकूल सुविधाओंसे सम्पन्न) थे, उन्हींको आज मैं सर्वथा आनन्दशून्य देख रहा हूँ। वहाँ मार्गपर वृक्षोंके जो पत्ते गिर रहे हैं, उनके द्वारा मानो वे वृक्ष करुण क्रन्दन कर रहे हैं (और उनसे उपलक्षित होनेके कारण वे उद्यान आनन्दहीन प्रतीत होते हैं) ॥ २५-२६ ॥

नाद्यापि श्रूयते शब्दो मत्तानां मृगपक्षिणाम्।
सरक्तां मधुरां वाणीं कलं व्याहरतां बहु ॥ २७ ॥

'रागयुक्त मधुर कलरव करनेवाले मतवाले मृगों और पक्षियोंका तुमुल शब्द अभीतक सुनायी नहीं पड़ रहा है ॥

चन्दनागुरुसम्पृक्तो धूपसम्मूर्च्छितोऽमलः।
प्रवाति पवनः श्रीमान् किं नु नाद्य यथा पुरा ॥ २८ ॥

'चन्दन और अगुरुकी सुगन्धसे मिश्रित तथा धूपकी मनोहर गन्धसे व्याप्त निर्मल मनोरम समीर आज पहलेकी भाँति क्यों नहीं प्रवाहित हो रहा है ? ॥ २८ ॥

भेरीमृदङ्गवीणानां कोणसंघट्टितः पुनः।
किमद्य शब्दो विरतः सदादीनगतिः पुरा ॥ २९ ॥

'वादनदण्डद्वारा बजायी जानेवाली भेरी, मृदङ्ग और वीणाका जो आघातजनित शब्द होता है, वह पहले अयोध्यामें सदा होता रहता था, कभी उसकी गति अवरुद्ध नहीं होती थी; परंतु आज वह शब्द न जाने क्यों बंद हो गया है ? ॥ २९ ॥

अनिष्टानि च पापानि पश्यामि विविधानि च।
निमित्तान्यमनोज्ञानि तेन सीदति मे मनः ॥ ३० ॥

'मुझे अनेक प्रकारके अनिष्टकारी, क्रूर और अशुभ-सूचक अपशकुन दिखायी दे रहे हैं, जिससे मेरा मन खिन्न हो रहा है ॥ ३० ॥

सर्वथा कुशलं सूत दुर्लभं मम बन्धुषु।
तथा ह्यसति सम्मोहे हृदयं सीदतीव मे ॥ ३१ ॥

'सारथे ! इससे प्रतीत होता है कि इस समय मेरे बान्धवोंको कुशल-मङ्गल सर्वथा दुर्लभ है, तभी तो मोहका कोई कारण न होनेपर भी मेरा हृदय बैठा जा रहा है' ॥ ३१ ॥

विषण्णः श्रान्तहृदयस्त्रस्तः संलुलितेन्द्रियः।
भरतः प्रविवेशाशु पुरीमिक्ष्वाकुपालिताम् ॥ ३२ ॥

भरत मन-ही-मन बहुत खिन्न थे। उनका हृदय शिथिल हो रहा था। वे डरे हुए थे और उनकी सारी इन्द्रियाँ क्षुब्ध हो उठी थीं, इसी अवस्थामें उन्होंने शीघ्रतापूर्वक इक्ष्वाकुवंशी राजाओंद्वारा पालित अयोध्यापुरीमें प्रवेश किया ॥ ३२ ॥

द्वारेण वैजयन्तेन प्राविशच्छ्रान्तवाहनः।
द्वाःस्थैरुत्थाय विजयमुक्तस्तैः सहितो ययौ ॥ ३३ ॥

पुरीके द्वारपर सदा वैजयन्ती पताका फहरानेके कारण उस द्वारका नाम वैजयन्त रखा गया था। (यह पुरीके पश्चिम भागमें था।) उस वैजयन्तद्वारसे भरत पुरीके भीतर प्रविष्ट हुए। उस समय उनके रथके घोड़े बहुत थके हुए थे। द्वारपालोंने उठकर कहा—'महाराजकी जय हो !', फिर वे उनके साथ आगे बढ़े ॥ ३३ ॥

स त्वनेकाग्रहृदयो द्वाःस्थं प्रत्यर्च्य तं जनम्।
सूतमश्वपतेः क्लान्तमब्रवीत् तत्र राघवः ॥ ३४ ॥

भरतका हृदय एकाग्र नहीं था—वे घबराये हुए थे। अतः उन रघुकुलनन्दन भरतने साथ आये हुए द्वारपालोंको सत्कारपूर्वक लौटा दिया और केकयराज अश्वपतिके थके-माँदे सारथिसे वहाँ इस प्रकार कहा— ॥ ३४ ॥

किमहं त्वरयाऽऽनीतः कारणेन विनानघ।
अशुभाशङ्कि हृदयं शीलं च पततीव मे ॥ ३५ ॥

'निष्पाप सूत ! मैं बिना कारण ही इतनी उतावलीके साथ क्यों बुलाया गया ? इस बातका विचार करके मेरे हृदयमें अशुभकी आशङ्का होती है। मेरा दीनतारहित स्वभाव भी अपनी स्थितिसे भ्रष्ट-सा हो रहा है ॥ ३५ ॥

श्रुता नु यादृशाः पूर्वं नृपतीनां विनाशने।
आकारांस्तानहं सर्वानिह पश्यामि सारथे ॥ ३६ ॥

'सारथे ! अबसे पहले मैंने राजाओंके विनाशके जैसे-जैसे लक्षण सुन रखे हैं, उन सभी लक्षणोंको आज मैं यहाँ देख रहा हूँ ॥ ३६ ॥

सम्मार्जनविहीनानि परुषाण्युपलक्षये।
असंयतकवाटानि श्रीविहीनानि सर्वशः ॥ ३७ ॥
बलिकर्मविहीनानि धूपसम्मोदनेन च।
अनाशितकुटुम्बानि प्रभाहीनजनानि च ॥ ३८ ॥
अलक्ष्मीकानि पश्यामि कुटुम्बिभवनान्यहम्।

'मैं देखता हूँ—गृहस्थोंके घरोंमें झाड़ू नहीं लगी है। वे रूखे और श्रीहीन दिखायी देते हैं। इनकी किवाड़ें खुली हैं। इन घरोंमें बलिवैश्वदेवकर्म नहीं हो रहे हैं। ये धूपकी सुगन्धसे वञ्चित हैं। इनमें रहनेवाले कुटुम्बीजनोंको भोजन नहीं प्राप्त हुआ है तथा ये सारे गृह प्रभाहीन (उदास) दिखायी देते हैं। जान पड़ता है—इनमें लक्ष्मीका निवास नहीं है ॥ ३७-३८½ ॥

अपेतमाल्यशोभानि असम्मृष्टाजिराणि च ॥ ३९ ॥
देवागाराणि शून्यानि न भान्तीह यथा पुरा।

'देवमन्दिर फूलोंसे सजे हुए नहीं दिखायी देते। इनके आँगन झाड़े-बुहारे नहीं गये हैं। ये मनुष्योंसे सूने हो रहे हैं, अतएव इनकी पहले-जैसी शोभा नहीं हो रही है ॥ ३९½ ॥

देवतार्चाः प्रविद्धाश्च यज्ञगोष्ठास्तथैव च ॥ ४० ॥
माल्यापणेषु राजन्ते नाद्य पण्यानि वा तथा।

दृश्यन्ते वणिजोऽप्यद्य न यथापूर्वमत्र वै ॥ ४१ ॥
ध्यानसंविग्नहृदया नष्टव्यापारयन्त्रिताः ।

'देवप्रतिमाओंकी पूजा बंद हो गयी है। यज्ञशालाओंमें यज्ञ नहीं हो रहे हैं। फूलों और मालाओंके बाजारमें आज बिकनेकी कोई वस्तुएँ नहीं शोभित हो रही हैं। यहाँ पहलेके समान बनिये भी आज नहीं दिखायी देते हैं। चिन्तासे उनका हृदय उद्विग्न जान पड़ता है और अपना व्यापार नष्ट हो जानेके कारण वे संकुचित हो रहे हैं॥ ४०-४१½॥

देवायतनचैत्येषु दीनाः पक्षिमृगास्तथा ॥ ४२ ॥
मलिनं चाश्रुपूर्णाक्षं दीनं ध्यानपरं कृशम्।
सस्त्रीपुंसं च पश्यामि जनमुत्कण्ठितं पुरे ॥ ४३ ॥

'देवालयों तथा चैत्य (देव) वृक्षोंपर जिनका निवास है, वे पशु-पक्षी दीन दिखायी दे रहे हैं। मैं देखता हूँ, नगरके सभी स्त्री-पुरुषोंका मुख मलिन है, उनकी आँखोंमें आँसू भरे हैं और वे सब-के-सब दीन, चिन्तित, दुर्बल तथा उत्कण्ठित हैं' ॥ ४२-४३ ॥

इत्येवमुक्त्वा भरतः सूतं तं दीनमानसः।
तान्यनिष्टान्ययोध्यायां प्रेक्ष्य राजगृहं ययौ ॥ ४४ ॥

सारथिसे ऐसा कहकर अयोध्यामें होनेवाले उन अनिष्ट-सूचक चिह्नोंको देखते हुए भरत मन-ही-मन दुःखी हो राजमहलमें गये ॥ ४४ ॥

तां शून्यशृङ्गाटकवेश्मरथ्यां
रजोरुणद्वारकवाटयन्त्राम्।
दृष्ट्वा पुरीमिन्द्रपुरीप्रकाशां
दुःखेन सम्पूर्णतरो बभूव ॥ ४५ ॥

जो अयोध्यापुरी कभी देवराज इन्द्रकी नगरीके समान शोभा पाती थी; उसीके चौराहे, घर और सड़कें आज सूनी दिखायी देती थीं तथा दरवाजोंकी किवाड़ें धूलि-धूसर हो रही थीं, उसकी ऐसी दुर्दशा देख भरत पूर्णतः दुःखमें निमग्न हो गये ॥ ४५ ॥

बभूव पश्यन् मनसोऽप्रियाणि
यान्यन्यदा नास्य पुरे बभूवुः।
अवाक्शिरा दीनमना न हृष्टः
पितुर्महात्मा प्रविवेश वेश्म ॥ ४६ ॥

उस नगरमें जो पहले कभी नहीं हुई थीं, ऐसी अप्रिय बातोंको देखकर महात्मा भरतने अपना मस्तक नीचेको झुका लिया, उनका हर्ष छिन गया और उन्होंने दीन-हृदयसे पिताके भवनमें प्रवेश किया ॥ ४६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकसप्ततितमः सर्गः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें इकहत्तरहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

★

द्विसप्ततितमः सर्गः

भरतका कैकेयीके भवनमें जाकर उसे प्रणाम करना, उसके द्वारा पिताके परलोकवासका समाचार पा दुःखी हो विलाप करना तथा श्रीरामके विषयमें पूछनेपर कैकेयीद्वारा उनका श्रीरामके वनगमनके वृत्तान्तसे अवगत होना

अपश्यंस्तु ततस्तत्र पितरं पितुरालये।
जगाम भरतो द्रष्टुं मातरं मातुरालये ॥ १ ॥

तदनन्तर पिताके घरमें पिताको न देखकर भरत माताका दर्शन करनेके लिये अपनी माताके महलमें गये ॥ १ ॥

अनुप्राप्तं तु तं दृष्ट्वा कैकेयी प्रोषितं सुतम्।
उत्पपात तदा हृष्टा त्यक्त्वा सौवर्णमासनम् ॥ २ ॥

अपने परदेश गये हुए पुत्रको घर आया देख उस समय कैकेयी हर्षसे भर गयी और अपने सुवर्णमय आसनको छोड़ उछलकर खड़ी हो गयी ॥ २ ॥

स प्रविश्यैव धर्मात्मा स्वगृहं श्रीविवर्जितम्।
भरतः प्रेक्ष्य जग्राह जनन्याश्चरणौ शुभौ ॥ ३ ॥

धर्मात्मा भरतने अपने उस घरमें प्रवेश करके देखा कि सारा घर श्रीहीन हो रहा है, फिर उन्होंने माताके शुभ चरणोंका स्पर्श किया ॥ ३ ॥

तं मूर्ध्नि समुपाघ्राय परिष्वज्य यशस्विनम्।
अङ्के भरतमारोप्य प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ ४ ॥

अपने यशस्वी पुत्र भरतको छातीसे लगाकर कैकेयीने उनका मस्तक सूँघा और उन्हें गोदमें बिठाकर पूछना आरम्भ किया— ॥ ४ ॥

अद्य ते कतिचिद् रात्र्यश्च्युतस्यार्यकवेश्मनः।
अपि नाध्वश्रमः शीघ्रं रथेनापततस्तव ॥ ५ ॥

'बेटा! तुम्हें अपने नानाके घरसे चले आज कितनी रातें व्यतीत हो गयीं? तुम रथके द्वारा बड़ी शीघ्रताके साथ आये हो। रास्तेमें तुम्हें अधिक थकावट तो नहीं हुई? ॥ ५ ॥

आर्यकस्ते सुकुशली युधाजिन्मातुलस्तव।
प्रवासाच्च सुखं पुत्र सर्वं मे वक्तुमर्हसि ॥ ६ ॥

'तुम्हारे नाना सकुशल तो हैं न? तुम्हारे मामा युधाजित् तो कुशलसे हैं? बेटा! जब तुम यहाँसे गये थे, तबसे लेकर अबतक सुखसे रहे हो न? ये सारी बातें मुझे बताओ' ॥ ६ ॥

एवं पृष्टस्तु कैकेय्या प्रियं पार्थिवनन्दनः।
आचष्ट भरतः सर्वं मात्रे राजीवलोचनः ॥ ७ ॥

कैकेयीके इस प्रकार प्रिय वाणीमें पूछनेपर दशरथनन्दन

कमलनयन भरतने माताको सब बातें बतायीं ॥ ७ ॥

अद्य मे सप्तमी रात्रिश्च्युतस्यार्यकवेश्मनः ।
अम्बायाः कुशली तातो युधाजिन्मातुलश्च मे ॥ ८ ॥

(वे बोले—) 'मा! नानाके घरसे चले मेरी यह सातवीं रात बीती है। मेरे नानाजी और मामा युधाजित् भी कुशलसे हैं ॥ ८ ॥

यन्मे धनं च रत्नं च ददौ राजा परंतपः ।
परिश्रान्तं पथ्यभवत् ततोऽहं पूर्वमागतः ॥ ९ ॥
राजवाक्यहरैर्दूतैस्त्वर्यमाणोऽहमागतः ।
यदहं प्रष्टुमिच्छामि तदम्बा वक्तुमर्हति ॥ १० ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले केकयनरेशने मुझे जो धन-रत्न प्रदान किये हैं, उनके भारसे मार्गमें सब वाहन थक गये थे, इसलिये मैं राजकीय संदेश लेकर गये हुए दूतोंके जल्दी मचानेसे यहाँ पहले ही चला आया हूँ। अच्छा माँ, अब मैं जो कुछ पूछता हूँ, उसे तुम बताओ' ॥ ९-१० ॥

शून्योऽयं शयनीयस्ते पर्यङ्को हेमभूषितः ।
न चायमिक्ष्वाकुजनः प्रहृष्टः प्रतिभाति मे ॥ ११ ॥

'यह तुम्हारी शय्या सुवर्णभूषित पलंग इस समय सूना है, इसका क्या कारण है (आज यहाँ महाराज उपस्थित क्यों नहीं हैं) ? ये महाराजके परिजन आज प्रसन्न क्यों नहीं जान पड़ते हैं? ॥ ११ ॥

राजा भवति भूयिष्ठमिहाम्बाया निवेशने ।
तमहं नाद्य पश्यामि द्रष्टुमिच्छन्निहागतः ॥ १२ ॥

'महाराज (पिताजी) प्रायः माताजीके ही महलमें रहा करते थे, किंतु आज मैं उन्हें यहाँ नहीं देख रहा हूँ। मैं उन्हींका दर्शन करनेकी इच्छासे यहाँ आया हूँ ॥ १२ ॥

पितुर्ग्रहीष्ये पादौ च तं ममाख्याहि पृच्छतः ।
आहोस्विदम्बाज्येष्ठायाः कौसल्याया निवेशने ॥ १३ ॥

'मैं पूछता हूँ, बताओ, पिताजी कहाँ हैं? मैं उनके पैर पकड़ूँगा। अथवा बड़ी माता कौसल्याके घरमें तो वे नहीं हैं?' ॥

तं प्रत्युवाच कैकेयी प्रियवद् घोरमप्रियम् ।
अजानन्तं प्रजानन्ती राज्यलोभेन मोहिता ॥ १४ ॥

कैकेयी राज्यके लोभसे मोहित हो रही थी। वह राजाका वृत्तान्त न जाननेवाले भरतसे उस घोर अप्रिय समाचारको प्रिय-सा समझती हुई इस प्रकार बताने लगी— ॥ १४ ॥

या गतिः सर्वभूतानां तां गतिं ते पिता गतः ।
राजा महात्मा तेजस्वी यायजूकः सतां गतिः ॥ १५ ॥

'बेटा! तुम्हारे पिता महाराज दशरथ बड़े महात्मा, तेजस्वी, यज्ञशील और सत्पुरुषोंके आश्रयदाता थे। एक दिन समस्त प्राणियोंकी जो गति होती है, उसी गतिको वे भी प्राप्त हुए हैं' ॥ १५ ॥

तच्छ्रुत्वा भरतो वाक्यं धर्माभिजनवाञ्छुचिः ।
पपात सहसा भूमौ पितृशोकबलार्दितः ॥ १६ ॥
हा हतोऽस्मीति कृपणां दीनां वाचमुदीरयन् ।
निपपात महाबाहुर्बाहू विक्षिप्य वीर्यवान् ॥ १७ ॥

भरत धार्मिक कुलमें उत्पन्न हुए थे और उनका हृदय शुद्ध था। माताकी बात सुनकर वे पितृशोकसे अत्यन्त पीड़ित हो सहसा पृथ्वीपर गिर पड़े और 'हाय, मैं मारा गया!' इस प्रकार अत्यन्त दीन और दुःखमय वचन कहकर रोने लगे। पराक्रमी महाबाहु भरत अपनी भुजाओंको बारम्बार पृथ्वीपर पटककर गिरने और लोटने लगे ॥ १६-१७ ॥

ततः शोकेन संवीतः पितुर्मरणदुःखितः ।
विललाप महातेजा भ्रान्ताकुलितचेतनः ॥ १८ ॥

उन महातेजस्वी राजकुमारकी चेतना भ्रान्त और व्याकुल हो गयी। वे पिताकी मृत्युसे दुःखी और शोकसे व्याकुलचित्त होकर विलाप करने लगे— ॥ १८ ॥

एतत् सुरुचिरं भाति पितुर्मे शयनं पुरा ।
शशिनेवामलं रात्रौ गगनं तोयदात्यये ॥ १९ ॥
तदिदं न विभात्यद्य विहीनं तेन धीमता ।
व्योमेव शशिना हीनमप्शुष्क इव सागरः ॥ २० ॥

'हाय! मेरे पिताजीकी जो यह अत्यन्त सुन्दर शय्या पहले शरत्कालकी रातमें चन्द्रमासे सुशोभित होनेवाले निर्मल आकाशकी भाँति शोभा पाती थी, वही यह आज उन्हीं बुद्धिमान् महाराजसे रहित होकर चन्द्रमासे हीन आकाश और सूखे हुए समुद्रके समान श्रीहीन प्रतीत होती है' ॥ १९-२० ॥

बाष्पमुत्सृज्य कण्ठेन स्वात्मना परिपीडितः ।
प्रच्छाद्य वदनं श्रीमद् वस्त्रेण जयतां वरः ॥ २१ ॥

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ भरत अपने सुन्दर मुख वस्त्रसे ढककर अपने कण्ठस्वरके साथ आँसू गिराकर मन-ही-मन अत्यन्त पीड़ित हो पृथ्वीपर पड़कर विलाप करने लगे ॥

तमार्तं देवसंकाशं समीक्ष्य पतितं भुवि ।
निकृत्तमिव सालस्य स्कन्धं परशुना वने ॥ २२ ॥
माता मातङ्गसंकाशं चन्द्रार्कसदृशं सुतम् ।
उत्थापयित्वा शोकार्तं वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २३ ॥

देवतुल्य भरत शोकसे व्याकुल हो वनमें फरसेसे काटे गये साखूके तनेकी भाँति पृथ्वीपर पड़े थे, मतवाले हाथीके समान पुष्ट तथा चन्द्रमा या सूर्यके समान तेजस्वी अपने शोकाकुल पुत्रको इस तरह भूमिपर पड़ा देख माता कैकेयीने उन्हें उठाया और इस प्रकार कहा— ॥ २२-२३ ॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ किं शेषे राजन्नत्र महायशः ।
त्वद्विधा नहि शोचन्ति सन्तः सदसि सम्मताः ॥ २४ ॥

'राजन्! उठो! उठो! महायशस्वी कुमार! तुम इस तरह यहाँ धरतीपर क्यों पड़े हो? तुम्हारे-जैसे सभाओंमें सम्मानित होनेवाले सत्पुरुष शोक नहीं किया करते हैं ॥

दानयज्ञाधिकारा हि शीलश्रुतितपोनुगा ।
बुद्धिस्ते बुद्धिसम्पन्न प्रभेवार्कस्य मन्दिरे ॥ २५ ॥

'बुद्धिसम्पन्न पुत्र ! जैसे सूर्यमण्डलमें प्रभा निश्चल रूपसे रहती है, उसी प्रकार तुम्हारी बुद्धि सुस्थिर है। वह दान और यज्ञमें लगनेकी अधिकारिणी है; क्योंकि सदाचार और वेदवाक्योंका अनुसरण करनेवाली है' ॥ २५ ॥

स रुदित्वा चिरं कालं भूमौ परिविवृत्य च।
जननीं प्रत्युवाचेदं शोकैर्बहुभिरावृतः ॥ २६ ॥

भरत पृथ्वीपर लोटते-पोटते बहुत देरतक रोते रहे। तत्पश्चात् अधिकाधिक शोकसे आकुल होकर वे मातासे इस प्रकार बोले— ॥ २६ ॥

अभिषेक्ष्यति रामं तु राजा यज्ञं नु यक्ष्यते।
इत्यहं कृतसंकल्पो हृष्टो यात्रामयासिषम् ॥ २७ ॥

'मैंने तो यह सोचा था कि महाराज श्रीरामका राज्याभिषेक करेंगे और स्वयं यज्ञका अनुष्ठान करेंगे—यही सोचकर मैंने बड़े हर्षके साथ वहाँसे यात्रा की थी ॥ २७ ॥

तदिदं ह्यन्यथाभूतं व्यवदीर्णं मनो मम।
पितरं यो न पश्यामि नित्यं प्रियहिते रतम् ॥ २८ ॥

'किंतु यहाँ आनेपर सारी बातें मेरी आशाके विपरीत हो गयीं। मेरा हृदय फटा जा रहा है; क्योंकि सदा अपने प्रिय और हितमें लगे रहनेवाले पिताजीको मैं नहीं देख रहा हूँ ॥ २८ ॥

अम्ब केनात्यगाद् राजा व्याधिना मय्यनागते।
धन्या रामादयः सर्वे यैः पिता संस्कृतः स्वयम् ॥ २९ ॥

'मा ! महाराजको ऐसा कौन-सा रोग हो गया था, जिससे वे मेरे आनेके पहले ही चल बसे ? श्रीराम आदि सब भाई धन्य हैं, जिन्होंने स्वयं उपस्थित रहकर पिताजीका अन्त्येष्टि-संस्कार किया ॥ २९ ॥

न नूनं मां महाराजः प्राप्तं जानाति कीर्तिमान्।
उपजिघ्रेत् तु मां मूर्ध्नि तातः संनाम्य सत्वरम् ॥ ३० ॥

'निश्चय ही मेरे पूज्य पिता यशस्वी महाराजको मेरे यहाँ आनेका कुछ पता नहीं है, अन्यथा वे शीघ्र ही मेरे मस्तकको झुकाकर उसे प्यारसे सूँघते ॥ ३० ॥

क्व स पाणिः सुखस्पर्शस्तातस्याक्लिष्टकर्मणः।
यो हि मां रजसा ध्वस्तमभीक्ष्णं परिमार्जति ॥ ३१ ॥

'हा ! अनायास ही महान् कर्म करनेवाले मेरे पिताका वह कोमल हाथ कहाँ है, जिसका स्पर्श मेरे लिये बहुत ही सुखदायक था ? वे उसी हाथसे मेरे धूलिधूसर शरीरको बारंबार पोंछा करते थे ॥ ३१ ॥

यो मे भ्राता पिता बन्धुर्यस्य दासोऽस्मि सम्मतः।
तस्य मां शीघ्रमाख्याहि रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥ ३२ ॥

'अब जो मेरे भाई, पिता और बन्धु हैं तथा जिनका मैं परम प्रिय दास हूँ, अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले उन श्रीरामचन्द्रजीको तुम शीघ्र ही मेरे आनेकी सूचना दो ॥ ३२ ॥

पिता हि भवति ज्येष्ठो धर्ममार्यस्य जानतः।
तस्य पादौ ग्रहीष्यामि स हीदानीं गतिर्मम ॥ ३३ ॥

'धर्मके ज्ञाता श्रेष्ठ पुरुषके लिये बड़ा भाई पिताके समान होता है। मैं उनके चरणोंमें प्रणाम करूँगा। अब वे ही मेरे आश्रय हैं ॥ ३३ ॥

धर्मविद् धर्मशीलश्च महाभागो दृढव्रतः।
आर्ये किमब्रवीद् राजा पिता मे सत्यविक्रमः ॥ ३४ ॥
पश्चिमं साधुसंदेशमिच्छामि श्रोतुमात्मनः।

'आर्ये ! धर्मका आचरण जिनका स्वभाव बन गया था तथा जो बड़ी दृढ़ताके साथ उत्तम व्रतका पालन करते थे, वे मेरे सत्यपराक्रमी और धर्मज्ञ पिता महाराज दशरथ अन्तिम समयमें क्या कह गये थे ? मेरे लिये जो उनका अन्तिम संदेश हो उसे मैं सुनना चाहता हूँ' ॥ ३४½ ॥

इति पृष्टा यथातत्त्वं कैकेयी वाक्यमब्रवीत् ॥ ३५ ॥
रामेति राजा विलपन् हा सीते लक्ष्मणेति च।
स महात्मा परं लोकं गतो मतिमतां वरः ॥ ३६ ॥

भरतके इस प्रकार पूछनेपर कैकेयीने सब बात ठीक-ठीक बता दी। वह कहने लगी—'बेटा ! बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ तुम्हारे महात्मा पिता महाराजने 'हा राम ! हा सीते ! हा लक्ष्मण !' इस प्रकार विलाप करते हुए परलोककी यात्रा की थी ॥ ३५-३६ ॥

इतीमां पश्चिमां वाचं व्याजहार पिता तव।
कालधर्मं परिक्षिप्तः पाशैरिव महागजः ॥ ३७ ॥

'जैसे पाशोंसे बँधा हुआ महान् गज विवश हो जाता है, उसी प्रकार कालधर्मके वशीभूत हुए तुम्हारे पिताने अन्तिम वचन इस प्रकार कहा था— ॥ ३७ ॥

सिद्धार्थास्तु नरा राममागतं सह सीतया।
लक्ष्मणं च महाबाहुं द्रक्ष्यन्ति पुनरागतम् ॥ ३८ ॥

'जो लोग सीताके साथ पुनः लौटकर आये हुए श्रीराम और महाबाहु लक्ष्मणको देखेंगे, वे ही कृतार्थ होंगे' ॥ ३८ ॥

तच्छ्रुत्वा विषसादैव द्वितीयाप्रियशंसनात्।
विषण्णवदनो भूत्वा भूयः पप्रच्छ मातरम् ॥ ३९ ॥

माताके द्वारा यह दूसरी अप्रिय बात कही जानेपर भरत और भी दुःखी ही हुए। उनके मुखपर विषाद छा गया और उन्होंने पुनः मातासे पूछा— ॥ ३९ ॥

क्व चेदानीं स धर्मात्मा कौसल्यानन्दवर्धनः।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सीतया च समागतः ॥ ४० ॥

'मा ! माता कौसल्याका आनन्द बढ़ानेवाले धर्मात्मा श्रीरामचन्द्रजी इस अवसरपर भाई लक्ष्मण और सीताके साथ कहाँ चले गये हैं ?' ॥ ४० ॥

तथा पृष्टा यथान्यायमाख्यातुमुपचक्रमे।
मातास्य युगपद्वाक्यं विप्रियं प्रियशंसया ॥ ४१ ॥

इस प्रकार पूछनेपर उनकी माता कैकेयीने एक साथ ही प्रिय बुद्धिसे वह अप्रिय संवाद यथोचित रीतिसे सुनाना

आरम्भ किया— ॥ ४१ ॥

स हि राजसुतः पुत्र चीरवासा महावनम्।
दण्डकान् सह वैदेह्या लक्ष्मणानुचरो गतः ॥ ४२ ॥

'बेटा! राजकुमार श्रीराम वल्कल-वस्त्र धारण करके सीताके साथ दण्डकवनमें चले गये हैं। लक्ष्मणने भी उन्हींका अनुसरण किया है' ॥ ४२ ॥

तच्छ्रुत्वा भरतस्त्रस्तो भ्रातुश्चारित्रशङ्कया।
स्वस्य वंशस्य माहात्म्यात् प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ ४३ ॥

यह सुनकर भरत डर गये, उन्हें अपने भाईके चरित्रपर शङ्का हो आयी। (वे सोचने लगे—श्रीराम कहीं धर्मसे गिर तो नहीं गये?) अपने वंशकी महत्ता (धर्मपरायणता) का स्मरण करके वे कैकेयीसे इस प्रकार पूछने लगे— ॥ ४३ ॥

कच्चिन्न ब्राह्मणधनं हृतं रामेण कस्यचित्।
कच्चिन्नाढ्यो दरिद्रो वा तेनापापो विहिंसितः ॥ ४४ ॥

'मा! श्रीरामने किसी कारणवश ब्राह्मणका धन तो नहीं हर लिया था? किसी निष्पाप धनी या दरिद्रकी हत्या तो नहीं कर डाली थी? ॥ ४४ ॥

कच्चिन्न परदारान् वा राजपुत्रोऽभिमन्यते।
कस्मात् स दण्डकारण्ये भ्राता रामो विवासितः ॥ ४५ ॥

'राजकुमार श्रीरामका मन किसी परायी स्त्रीकी ओर तो नहीं चला गया? किस अपराधके कारण भैया श्रीरामको दण्डकारण्यमें जानेके लिये निर्वासित कर दिया गया है?' ॥

अथास्य चपला माता तत् स्वकर्म यथातथम्।
तेनैव स्त्रीस्वभावेन व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥ ४६ ॥

तब चपल स्वभाववाली भरतकी माता कैकेयीने उस विवेकशून्य चञ्चल नारीस्वभावके कारण ही अपनी करतूतको ठीक-ठीक बताना आरम्भ किया ॥ ४६ ॥

एवमुक्ता तु कैकेयी भरतेन महात्मना।
उवाच वचनं हृष्टा वृथापण्डितमानिनी ॥ ४७ ॥

महात्मा भरतके पूर्वोक्त रूपसे पूछनेपर व्यर्थ ही अपनेको बड़ी विदुषी माननेवाली कैकेयीने बड़े हर्षमें भरकर कहा— ॥

न ब्राह्मणधनं किंचिद्धृतं रामेण कस्यचित्।
कश्चिन्नाढ्यो दरिद्रो वा तेनापापो विहिंसितः।
न रामः परदारान् स चक्षुर्भ्यामपि पश्यति ॥ ४८ ॥

'बेटा! श्रीरामने किसी कारणवश किञ्चिन्मात्र भी ब्राह्मणके धनका अपहरण नहीं किया है। किसी निरपराध धनी या दरिद्रकी हत्या भी उन्होंने नहीं की है। श्रीराम कभी किसी परायी स्त्रीपर दृष्टि नहीं डालते हैं ॥ ४८ ॥

मया तु पुत्र श्रुत्वैव रामस्येहाभिषेचनम्।
याचितस्ते पिता राज्यं रामस्य च विवासनम् ॥ ४९ ॥

'बेटा! (उनके वनमें जानेका कारण इस प्रकार है—) मैंने सुना था कि अयोध्यामें श्रीरामका राज्याभिषेक होने जा रहा है, तब मैंने तुम्हारे पितासे तुम्हारे लिये राज्य और श्रीरामके लिये वनवासकी प्रार्थना की ॥ ४९ ॥

स स्ववृत्तिं समास्थाय पिता ते तत् तथाकरोत्।
रामस्तु सहसौमित्रिः प्रेषितः सह सीतया ॥ ५० ॥
तमपश्यन् प्रियं पुत्रं महीपालो महायशाः।
पुत्रशोकपरिद्यूनः पञ्चत्वमुपपेदिवान् ॥ ५१ ॥

'उन्होंने अपने सत्यप्रतिज्ञ स्वभावके अनुसार मेरी माँग पूरी की। श्रीराम लक्ष्मण और सीताके साथ वनको भेज दिये गये, फिर अपने प्रिय पुत्र श्रीरामको न देखकर वे महायशस्वी महाराज पुत्रशोकसे पीड़ित हो परलोकवासी हो गये ॥

त्वया त्विदानीं धर्मज्ञ राजत्वमवलम्ब्यताम्।
त्वत्कृते हि मया सर्वमिदमेवंविधं कृतम् ॥ ५२ ॥

'धर्मज्ञ! अब तुम राजपद स्वीकार करो। तुम्हारे लिये ही मैंने इस प्रकारसे यह सब कुछ किया है ॥ ५२ ॥

मा शोकं मा च संतापं धैर्यमाश्रय पुत्रक।
त्वदधीना हि नगरी राज्यं चैतदनामयम् ॥ ५३ ॥

'बेटा! शोक और संताप न करो, धैर्यका आश्रय लो। अब यह नगर और निष्कण्टक राज्य तुम्हारे ही अधीन है ॥

तत् पुत्र शीघ्रं विधिना विधिज्ञै-
र्वसिष्ठमुख्यैः सहितो द्विजेन्द्रैः।
संकाल्य राजानमदीनसत्त्व-
मात्मानमुर्व्यामभिषेचयस्व ॥ ५४ ॥

'अतः वत्स! अब विधि-विधानके ज्ञाता वसिष्ठ आदि प्रमुख ब्राह्मणोंके साथ तुम उदार हृदयवाले महाराजका अन्त्येष्टि-संस्कार करके इस पृथ्वीके राज्यपर अपना अभिषेक कराओ' ॥ ५४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्विसप्ततितमः सर्गः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७२ ॥

—★—

त्रिसप्ततितमः सर्गः

भरतका कैकेयीको धिक्कारना और उसके प्रति महान् रोष प्रकट करना

श्रुत्वा च स पितुर्वृत्तं भ्रातरौ च विवासितौ।
भरतो दुःखसंतप्त इदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

पिताके परलोकवास और दोनों भाइयोंके वनवासका समाचार सुनकर भरत दुःखसे संतप्त हो उठे और इस प्रकार बोले— ॥ १ ॥

किं नु कार्यं हतस्येह मम राज्येन शोचतः।
विहीनस्याथ पित्रा च भ्रात्रा पितृसमेन च॥ २॥

'हाय! तूने मुझे मार डाला। मैं पितासे सदाके लिये बिछुड़ गया और पितृतुल्य बड़े भाईसे भी बिलग हो गया। अब तो मैं शोकमें डूब रहा हूँ, मुझे यहाँ राज्य लेकर क्या करना है?॥ २॥

दुःखे मे दुःखमकरोर्व्रणे क्षारमिवाददाः।
राजानं प्रेतभावस्थं कृत्वा रामं च तापसम्॥ ३॥

'तूने राजाको परलोकवासी तथा श्रीरामको तपस्वी बनाकर मुझे दुःख-पर-दुःख दिया है, घावपर नमक-सा छिड़क दिया है॥ ३॥

कुलस्य त्वमभावाय कालरात्रिरिवागता।
अङ्गारमुपगूह्य स्म पिता मे नावबुद्धवान्॥ ४॥

'तू इस कुलका विनाश करनेके लिये कालरात्रि बनकर आयी थी। मेरे पिताने तुझे अपनी पत्नी क्या बनाया, दहकते हुए अङ्गारको हृदयसे लगा लिया था; किंतु उस समय यह बात उनकी समझमें नहीं आयी थी॥ ४॥

मृत्युमापादितो राजा त्वया मे पापदर्शिनि।
सुखं परिहृतं मोहात् कुलेऽस्मिन् कुलपांसनि॥ ५॥

'पापपर ही दृष्टि रखनेवाली! कुलकलङ्किनी! तूने मेरे महाराजको कालके गालमें डाल दिया और मोहवश इस कुलका सुख सदाके लिये छीन लिया॥ ५॥

त्वां प्राप्य हि पिता मेऽद्य सत्यसंधो महायशाः।
तीव्रदुःखाभिसंतप्तो वृत्तो दशरथो नृपः॥ ६॥

'तुझे पाकर मेरे सत्यप्रतिज्ञ महायशस्वी पिता महाराज दशरथ इन दिनों दुःसह दुःखसे संतप्त होकर प्राण त्यागनेको विवश हुए हैं॥ ६॥

विनाशितो महाराजः पिता मे धर्मवत्सलः।
कस्मात् प्रव्राजितो रामः कस्मादेव वनं गतः॥ ७॥

'बता, तूने मेरे धर्मवत्सल पिता महाराज दशरथका विनाश क्यों किया? मेरे बड़े भाई श्रीरामको क्यों घरसे निकाला और वे भी क्यों (तेरे ही कहनेसे) वनको चले गये?॥ ७॥

कौसल्या च सुमित्रा च पुत्रशोकाभिपीडिते।
दुष्करं यदि जीवेतां प्राप्य त्वां जननीं मम॥ ८॥

'कौसल्या और सुमित्रा भी मेरी माता कहलानेवाली तुझ कैकेयीको पाकर पुत्रशोकसे पीड़ित हो गयीं। अब उनका जीवित रहना अत्यन्त कठिन है॥ ८॥

नन्वार्योऽपि च धर्मात्मा त्वयि वृत्तिमनुत्तमाम्।
वर्तते गुरुवृत्तिज्ञो यथा मातरि वर्तते॥ ९॥

'बड़े भैया श्रीराम धर्मात्मा हैं; गुरुजनोंके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये—इसे वे अच्छी तरह जानते हैं, इसलिये उनका अपनी माताके प्रति जैसा बर्ताव था, वैसा ही उत्तम व्यवहार वे तेरे साथ भी करते थे॥ ९॥

तथा ज्येष्ठा हि मे माता कौसल्या दीर्घदर्शिनी।
त्वयि धर्मं समास्थाय भगिन्यामिव वर्तते॥ १०॥

'मेरी बड़ी माता कौसल्या भी बड़ी दूरदर्शिनी हैं। वे धर्मका ही आश्रय लेकर तेरे साथ बहिनका-सा बर्ताव करती हैं॥ १०॥

तस्याः पुत्रं महात्मानं चीरवल्कलवाससम्।
प्रस्थाप्य वनवासाय कथं पापे न शोचसे॥ ११॥

'पापिनि! उनके महात्मा पुत्रको चीर और वल्कल पहनाकर तूने वनमें रहनेके लिये भेज दिया। फिर भी तुझे शोक क्यों नहीं हो रहा है?॥ ११॥

अपापदर्शिनं शूरं कृतात्मानं यशस्विनम्।
प्रव्राज्य चीरवसनं किं नु पश्यसि कारणम्॥ १२॥

'श्रीराम किसीकी बुराई नहीं देखते। वे शूरवीर, पवित्रात्मा और यशस्वी हैं। उन्हें चीर पहनाकर वनवास दे देनेमें तू कौन-सा लाभ देख रही है?॥ १२॥

लुब्धाया विदितो मन्ये न तेऽहं राघवं यथा।
तथा ह्यनर्थो राज्यार्थं त्वयाऽऽनीतो महानयम्॥ १३॥

'तू लोभिन है। मैं समझता हूँ, इसीलिये तुझे यह पता नहीं है कि मेरा श्रीरामचन्द्रजीके प्रति कैसा भाव है, तभी तूने राज्यके लिये यह महान् अनर्थ कर डाला है॥ १३॥

अहं हि पुरुषव्याघ्रावपश्यन् रामलक्ष्मणौ।
केन शक्तिप्रभावेण राज्यं रक्षितुमुत्सहे॥ १४॥

'मैं पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मणको न देखकर किस शक्तिके प्रभावसे इस राज्यकी रक्षा कर सकता हूँ? (मेरे बल तो मेरे भाई ही हैं)॥ १४॥

तं हि नित्यं महाराजो बलवन्तं महौजसम्।
उपाश्रितोऽभूद् धर्मात्मा मेरुर्मेरुवनं यथा॥ १५॥

'मेरे धर्मात्मा पिता महाराज दशरथ भी सदा उन महातेजस्वी बलवान् श्रीरामका ही आश्रय लेते थे (उन्हींसे अपने लोक-परलोककी सिद्धिकी आशा रखते थे), ठीक उसी तरह जैसे मेरुपर्वत अपनी रक्षाके लिये अपने ऊपर उत्पन्न हुए गहन वनका ही आश्रय लेता है (यदि वह दुर्गम वनसे घिरा हुआ न हो तो दूसरे लोग निश्चय ही उसपर आक्रमण कर सकते हैं)॥ १५॥

सोऽहं कथमिमं भारं महाधुर्यसमुद्यतम्।
दम्यो धुरमिवासाद्य सहेयं केन चौजसा॥ १६॥

'यह राज्यका भार, जिसे किसी महाधुरंधरने धारण किया था, मैं कैसे, किस बलसे धारण कर सकता हूँ? जैसे कोई छोटा-सा बछड़ा बड़े-बड़े बैलोंद्वारा ढोये जानेयोग्य महान् भारको नहीं खींच सकता, उसी प्रकार यह राज्यका महान् भार मेरे लिये असह्य है॥ १६॥

अथवा मे भवेच्छक्तिर्योगैर्बुद्धिबलेन वा।
सकामां न करिष्यामि त्वामहं पुत्रगर्द्धिनीम्॥ १७॥

'अथवा नाना प्रकारके उपायों तथा बुद्धिबलसे मुझमें

राज्यके भरण-पोषणकी शक्ति हो तो भी केवल अपने बेटेके लिये राज्य चाहनेवाली तुझ कैकेयीकी मनःकामना पूरी नहीं होने दूँगा ॥ १७ ॥

न मे विकाङ्क्षा जायेत त्यक्तुं त्वां पापनिश्चयाम्।
यदि रामस्य नावेक्षा त्वयि स्यान्मातृवत् सदा ॥ १८ ॥

'यदि श्रीराम तुझे सदा अपनी माताके समान नहीं देखते होते तो तेरी-जैसी पापपूर्ण विचारवाली माताका त्याग करनेमें मुझे तनिक भी हिचक नहीं होती ॥ १८ ॥

उत्पन्ना तु कथं बुद्धिस्तवेयं पापदर्शिनी।
साधुचारित्रविभ्रष्टे पूर्वेषां नो विगर्हिता ॥ १९ ॥

'उत्तम चरित्रसे गिरी हुई पापिनि! मेरे पूर्वजोंने जिसकी सदा निन्दा की है, वह पापपर ही दृष्टि रखनेवाली बुद्धि तुझमें कैसे उत्पन्न हो गयी? ॥ १९ ॥

अस्मिन् कुले हि सर्वेषां ज्येष्ठो राज्येऽभिषिच्यते।
अपरे भ्रातरस्तस्मिन् प्रवर्तन्ते समाहिताः ॥ २० ॥

'इस कुलमें जो सबसे बड़ा होता है, उसीका राज्याभिषेक होता है; दूसरे भाई सावधानीके साथ बड़ेकी आज्ञाके अधीन रहकर कार्य करते हैं ॥ २० ॥

न हि मन्ये नृशंसे त्वं राजधर्ममवेक्षसे।
गतिं वा न विजानासि राजवृत्तस्य शाश्वतीम् ॥ २१ ॥

'क्रूर स्वभाववाली कैकेयि! मेरी समझमें तू राजधर्मपर दृष्टि नहीं रखती है अथवा उसे बिलकुल नहीं जानती। राजाओंके बर्तावका जो सनातन स्वरूप है, उसका भी तुझे ज्ञान नहीं है ॥

सततं राजपुत्रेषु ज्येष्ठो राजाभिषिच्यते।
राज्ञामेतत् समं तत् स्यादिक्ष्वाकूणां विशेषतः ॥ २२ ॥

'राजकुमारोंमें जो ज्येष्ठ होता है, सदा उसीका राजाके पदपर अभिषेक किया जाता है। सभी राजाओंके यहाँ समान रूपसे इस नियमका पालन होता है। इक्ष्वाकुवंशी नरेशोंके कुलमें इसका विशेष आदर है ॥ २२ ॥

तेषां धर्मैकरक्षाणां कुलचारित्रशोभिनाम्।
अद्य चारित्रशौटीर्यं त्वां प्राप्य विनिवर्तितम् ॥ २३ ॥

'जिनकी एकमात्र धर्मसे ही रक्षा होती आयी है तथा जो कुलोचित सदाचारके पालनसे ही सुशोभित हुए हैं, उनका यह चरित्रविषयक अभिमान आज तुझे पाकर—तेरे सम्बन्धके कारण दूर हो गया ॥ २३ ॥

तवापि सुमहाभागे जनेन्द्रकुलपूर्वके।
बुद्धिमोहः कथमयं सम्भूतस्त्वयि गर्हितः ॥ २४ ॥

'महाभागे! तेरा जन्म भी तो महाराज केकयके कुलमें हुआ है, फिर तेरे हृदयमें यह निन्दित बुद्धिमोह कैसे उत्पन्न हो गया? ॥ २४ ॥

न तु कामं करिष्यामि तवाहं पापनिश्चये।
यया व्यसनमारब्धं जीवितान्तकरं मम ॥ २५ ॥

'अरी! तेरा विचार बड़ा ही पापपूर्ण है। मैं तेरी इच्छा कदापि नहीं पूर्ण करूँगा। तूने मेरे लिये उस विपत्तिकी नींव डाल दी है, जो मेरे प्राणतक ले सकती है ॥ २५ ॥

एष त्विदानीमेवाहमप्रियार्थं तवानघम्।
निवर्तयिष्यामि वनाद् भ्रातरं स्वजनप्रियम् ॥ २६ ॥

'यह ले, मैं अभी तेरा अप्रिय करनेके लिये तुल गया हूँ। मैं वनसे निष्पाप भ्राता श्रीरामको, जो स्वजनोंके प्रिय हैं, लौटा लाऊँगा ॥ २६ ॥

निवर्तयित्वा रामं च तस्याहं दीप्ततेजसः।
दासभूतो भविष्यामि सुस्थितेनान्तरात्मना ॥ २७ ॥

श्रीरामको लौटा लाकर उद्दीप्त तेजवाले उन्हीं महापुरुषका दास बनकर स्वस्थचित्तसे जीवन व्यतीत करूँगा' ॥ २७ ॥

इत्येवमुक्त्वा भरतो महात्मा
प्रियेतरैर्वाक्यगणैस्तुदंस्ताम्।
शोकार्दितश्चापि ननाद भूयः
सिंहो यथा मन्दरकन्दरस्थः ॥ २८ ॥

ऐसा कहकर महात्मा भरत शोकसे पीड़ित हो पुनः जली-कटी बातोंसे कैकेयीको व्यथित करते हुए उसे जोर-जोरसे फटकारने लगे, मानो मन्दराचलकी गुहामें बैठा हुआ सिंह गरज रहा हो ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तिहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७३ ॥

—★—

चतुःसप्ततितमः सर्गः

भरतका कैकेयीको कड़ी फटकार देना

तां तथा गर्हयित्वा तु मातरं भरतस्तदा।
रोषेण महताविष्टः पुनरेवाब्रवीद् वचः ॥ १ ॥

इस प्रकार माताकी निन्दा करके भरत उस समय महान् रोषावेशसे भर गये और फिर कठोर वाणीमें कहने लगे— ॥ १ ॥

राज्याद् भ्रंशस्व कैकेयि नृशंसे दुष्टचारिणि।
परित्यक्तासि धर्मेण मा मृतं रुदती भव ॥ २ ॥

'दुष्टतापूर्ण बर्ताव करनेवाली क्रूरहृदया कैकेयि! तू राज्यसे भ्रष्ट हो जा। धर्मने तेरा परित्याग कर दिया है, अतः अब तू मरे हुए महाराजके लिये रोना मत, (क्योंकि तू पत्नीधर्मसे गिर चुकी है) अथवा मुझे मरा हुआ समझकर तू जन्मभर पुत्रके लिये रोया कर ॥ २ ॥

किं नु तेऽदूषयद् रामो राजा वा भृशधार्मिकः ।
ययोर्मृत्युर्विवासश्च त्वत्कृते तुल्यमागतौ ॥ ३ ॥

'श्रीरामने अथवा अत्यन्त धर्मात्मा महाराज (पिताजी) ने तेरा क्या बिगाड़ा था, जिससे एक साथ ही उन्हें तुम्हारे कारण वनवास और मृत्युका कष्ट भोगना पड़ा ? ॥ ३ ॥

भ्रूणहत्यामसि प्राप्ता कुलस्यास्य विनाशनात् ।
कैकेयि नरकं गच्छ मा च तातसलोकताम् ॥ ४ ॥

कैकेयि ! तूने इस कुलका विनाश करनेके कारण भ्रूण-हत्याका पाप अपने सिरपर लिया है, इसलिये तू नरकमें जा और पिताजीका लोक तुझे न मिले ॥ ४ ॥

यत्त्वया हीदृशं पापं कृतं घोरेण कर्मणा ।
सर्वलोकप्रियं हित्वा ममाप्यापादितं भयम् ॥ ५ ॥

'तूने इस घोर कर्मके द्वारा समस्त लोकोंके प्रिय श्रीरामको देशनिकाला देकर जो ऐसा बड़ा पाप किया है, उसने मेरे लिये भी भय उपस्थित कर दिया है ॥ ५ ॥

त्वत्कृते मे पिता वृत्तो रामश्चारण्यमाश्रितः ।
अयशो जीवलोके च त्वयाहं प्रतिपादितः ॥ ६ ॥

'तेरे कारण मेरे पिताकी मृत्यु हुई, श्रीरामको वनका आश्रय लेना पड़ा और मुझे भी तूने इस जीवजगत्में अपयशका भागी बना दिया ॥ ६ ॥

मातृरूपे ममामित्रे नृशंसे राज्यकामुके ।
न तेऽहमभिभाष्योऽस्मि दुर्वृत्ते पतिघातिनि ॥ ७ ॥

'राज्यके लोभमें पड़कर क्रूरतापूर्ण कर्म करनेवाली दुराचारिणी पतिघातिनि ! तू माताके रूपमें मेरी शत्रु है। तुझे मुझसे बात नहीं करनी चाहिये ॥ ७ ॥

कौसल्या च सुमित्रा च याश्चान्या मम मातरः ।
दुःखेन महताविष्टास्त्वां प्राप्य कुलदूषिणीम् ॥ ८ ॥

'कौसल्या, सुमित्रा तथा जो अन्य मेरी माताएँ हैं, वे सब तुझ कुलकलङ्किनीके कारण महान् दुःखमें पड़ गयी हैं॥

न त्वमश्वपतेः कन्या धर्मराजस्य धीमतः ।
राक्षसी तत्र जातासि कुलप्रध्वंसिनी पितुः ॥ ९ ॥

'तू बुद्धिमान् धर्मराज अश्वपतिकी कन्या नहीं है। तू उनके कुलमें कोई राक्षसी पैदा हो गयी है, जो पिताके वंशका विध्वंस करनेवाली है ॥ ९ ॥

यत् त्वया धार्मिको रामो नित्यं सत्यपरायणः ।
वनं प्रस्थापितो वीरः पितापि त्रिदिवं गतः ॥ १० ॥
यत् प्रधानासि तत् पापं मयि पित्रा विना कृते ।
भ्रातृभ्यां च परित्यक्ते सर्वलोकस्य चाप्रिये ॥ ११ ॥

'तूने सदा सत्यमें तत्पर रहनेवाले धर्मात्मा वीर श्रीरामको जो वनमें भेज दिया और तेरे कारण जो मेरे पिता स्वर्गवासी हो गये, इन सब कुकृत्योंद्वारा तूने प्रधान रूपसे जिस पापका अर्जन किया है, वह पाप मुझमें आकर अपना फल दिखा रहा है; इसलिये मैं पितृहीन हो गया, अपने दो भाइयोंसे बिछुड़ गया और समस्त जगत्के लोगोंके लिये अप्रिय बन गया ॥ १०-११ ॥

कौसल्यां धर्मसंयुक्तां वियुक्तां पापनिश्चये ।
कृत्वा कं प्राप्स्यसे ह्यद्य लोकं निरयगामिनि ॥ १२ ॥

'पापपूर्ण विचार रखनेवाली नरकगामिनी कैकेयि ! धर्मपरायणा माता कौसल्याको पति और पुत्रसे वञ्चित करके अब तू किस लोकमें जायगी ? ॥ १२ ॥

किं नावबुध्यसे क्रूरे नियतं बन्धुसंश्रयम् ।
ज्येष्ठं पितृसमं रामं कौसल्यायात्मसम्भवम् ॥ १३ ॥

'क्रूरहृदये ! कौसल्यापुत्र श्रीराम मेरे बड़े भाई और पिताके तुल्य हैं। वे जितेन्द्रिय और बन्धुओंके आश्रयदाता हैं। क्या तू उन्हें इस रूपमें नहीं जानती है ? ॥ १३ ॥

अङ्गप्रत्यङ्गजः पुत्रो हृदयाच्चाभिजायते ।
तस्मात् प्रियतरो मातुः प्रिया एव तु बान्धवाः ॥ १४ ॥

'पुत्र माताके अङ्ग-प्रत्यङ्ग और हृदयसे उत्पन्न होता है, इसलिये वह माताको अधिक प्रिय होता है। अन्य भाई-बन्धु केवल प्रिय ही होते हैं (किंतु पुत्र प्रियतर होता है) ॥ १४ ॥

अन्यदा किल धर्मज्ञा सुरभिः सुरसम्मता ।
वहमानौ ददर्शोर्व्यां पुत्रौ विगतचेतसौ ॥ १५ ॥

'एक समयकी बात है कि धर्मको जाननेवाली देव-सम्मानित सुरभि (कामधेनु) ने पृथ्वीपर अपने दो पुत्रोंको देखा, जो हल जोतते-जोतते अचेत हो गये थे ॥ १५ ॥

तावर्धदिवसं श्रान्तौ दृष्ट्वा पुत्रौ महीतले ।
रुरोद पुत्रशोकेन बाष्पपर्याकुलेक्षणम् ॥ १६ ॥

'मध्याह्नका समय होनेतक लगातार हल जोतनेसे वे बहुत थक गये थे। पृथ्वीपर अपने उन दोनों पुत्रोंको ऐसी दुर्दशामें पड़ा देख सुरभि पुत्रशोकसे रोने लगी। उसके नेत्रोंमें आँसू उमड़ आये ॥ १६ ॥

अधस्ताद् व्रजतस्तस्याः सुरराज्ञो महात्मनः ।
बिन्दवः पतिता गात्रे सूक्ष्माः सुरभिगन्धिनः ॥ १७ ॥

'उसी समय महात्मा देवराज इन्द्र सुरभिके नीचेसे होकर कहीं जा रहे थे। उनके शरीरपर कामधेनुके दो बूँद सुगन्धित आँसू गिर पड़े ॥ १७ ॥

निरीक्षमाणस्तां शक्रो ददर्श सुरभिं स्थिताम् ।
आकाशे विष्ठितां दीनां रुदतीं भृशदुःखिताम् ॥ १८ ॥

'जब इन्द्रने ऊपर दृष्टि डाली, तब देखा—आकाशमें सुरभि खड़ी है और अत्यन्त दुःखी हो दीनभावसे रो रही है ॥

तां दृष्ट्वा शोकसंतप्तां वज्रपाणिर्यशस्विनीम् ।
इन्द्रः प्राञ्जलिरुद्विग्नः सुरराजोऽब्रवीद् वचः ॥ १९ ॥

'यशस्विनी सुरभिको शोकसे संतप्त हुई देख वज्रधारी देवराज इन्द्र उद्विग्न हो उठे और हाथ जोड़कर बोले— ॥

भयं कच्चिन्न चास्मासु कुतश्चिद् विद्यते महत् ।
कुतोनिमित्तः शोकस्ते ब्रूहि सर्वहितैषिणि ॥ २० ॥

'सबका हित चाहनेवाली देवि ! हमलोगोंपर कहींसे कोई महान् भय तो नहीं उपस्थित हुआ है ? बताओ, किस कारणसे तुम्हें यह शोक प्राप्त हुआ है ? ॥ २० ॥

एवमुक्ता तु सुरभिः सुरराजेन धीमता ।
प्रत्युवाच ततो धीरा वाक्यं वाक्यविशारदा ॥ २१ ॥

'बुद्धिमान् देवराज इन्द्रके इस प्रकार पूछनेपर बोलनेमें चतुर और धीरस्वभाववाली सुरभिने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ २१ ॥

शान्तं पापं न वः किंचित् कुतश्चिदमराधिप ।
अहं तु मग्नौ शोचामि स्व पुत्रौ विषमे स्थितौ ॥ २२ ॥

'देवेश्वर ! पाप शान्त हो। तुमलोगोंपर कहींसे कोई भय नहीं है। मैं तो अपने इन दोनों पुत्रोंको विषम अवस्था (घोर सङ्कट) में मग्न हुआ देख शोक कर रही हूँ ॥ २२ ॥

एतौ दृष्ट्वा कृशौ दीनौ सूर्यरश्मिप्रतापितौ ।
वध्यमानौ बलीवर्दौ कर्षकेण दुरात्मना ॥ २३ ॥

'ये दोनों बैल अत्यन्त दुर्बल और दुःखी हैं, सूर्यकी किरणोंसे बहुत तप गये हैं और ऊपरसे वह दुष्ट किसान इन्हें पीट रहा है ॥ २३ ॥

मम कायात् प्रसूतौ हि दुःखितौ भारपीडितौ ।
यौ दृष्ट्वा परितप्येऽहं नास्ति पुत्रसमः प्रियः ॥ २४ ॥

'मेरे शरीरसे इनकी उत्पत्ति हुई है। ये दोनों भारसे पीड़ित और दुःखी हैं, इसीलिये इन्हें देखकर मैं शोकसे संतप्त हो रही हूँ; क्योंकि पुत्रके समान प्रिय दूसरा कोई नहीं है' ॥ २४ ॥

यस्याः पुत्रसहस्रैस्तु कृत्स्नं व्याप्तमिदं जगत् ।
तां दृष्ट्वा रुदतीं शक्रो न सुतान् मन्यते परम् ॥ २५ ॥

'जिनके सहस्रों पुत्रोंसे यह सारा जगत् भरा हुआ है, उन्हीं कामधेनुको इस तरह रोती देख इन्द्रने यह माना कि पुत्रसे बढ़कर और कोई नहीं है ॥ २५ ॥

इन्द्रो ह्यश्रुनिपातं तं स्वगात्रे पुण्यगन्धिनम् ।
सुरभिं मन्यते दृष्ट्वा भूयसीं तामिहेश्वरः ॥ २६ ॥

'देवेश्वर इन्द्रने अपने शरीरपर उस पवित्र गन्धवाले अश्रुपातको देखकर देवी सुरभिको इस जगत्में सबसे श्रेष्ठ माना ॥ २६ ॥

समाप्रतिमवृत्ताया लोकधारणकाम्यया ।
श्रीमत्या गुणमुख्यायाः स्वभावपरिचेष्टया ॥ २७ ॥
यस्याः पुत्रसहस्राणि सापि शोचति कामधुक् ।
किं पुनर्या विना रामं कौसल्या वर्तयिष्यति ॥ २८ ॥

'जिनका चरित्र समस्त प्राणियोंके लिये समान रूपसे हितकर और अनुपम है, जो अभीष्ट दानरूप ऐश्वर्यशक्तिसे सम्पन्न, सत्यरूप प्रधान गुणसे युक्त तथा लोकरक्षाकी कामनासे कार्यमें प्रवृत्त होनेवाली हैं और जिनके सहस्रों पुत्र हैं, वे कामधेनु भी जब अपने दो पुत्रोंके लिये उनके स्वाभाविक चेष्टामें रत होनेपर भी कष्ट पानेके कारण शोक करती हैं तब जिनके एक ही पुत्र है, वे माता कौसल्या श्रीरामके बिना कैसे जीवित रहेंगी ? ॥ २७-२८ ॥

एकपुत्रा च साध्वी च विवत्सेयं त्वया कृता ।
तस्मात् त्वं सततं दुःखं प्रेत्य चेह च लप्स्यसे ॥ २९ ॥

'इकलौते बेटेवाली इन सती-साध्वी कौसल्याका तूने उनके पुत्रसे बिछोह करा दिया है, इसलिये तू सदा ही इस लोक और परलोकमें भी दुःख ही पायेगी ॥ २९ ॥

अहं त्वपचितिं भ्रातुः पितुश्च सकलामिमाम् ।
वर्धनं यशसश्चापि करिष्यामि न संशयः ॥ ३० ॥

'मैं तो यह राज्य लौटाकर भाईकी पूजा करूँगा और यह सारा अन्त्येष्टिसंस्कार आदि करके पिताका भी पूर्णरूपसे पूजन करूँगा तथा निःसंदेह मैं वही कर्म करूँगा, जो (तेरे दिये हुए कलङ्कको मिटानेवाला और) मेरे यशको बढ़ानेवाला हो ॥ ३० ॥

आनाय्य च महाबाहुं कोसलेन्द्रं महाबलम् ।
स्वयमेव प्रवेक्ष्यामि वनं मुनिनिषेवितम् ॥ ३१ ॥

'महाबली महाबाहु कोसलनरेश श्रीरामको यहाँ लौटा लाकर मैं स्वयं ही मुनिजनसेवित वनमें प्रवेश करूँगा ॥

नह्यहं पापसंकल्पे पापे पापं त्वया कृतम् ।
शक्तो धारयितुं पौरैरश्रुकण्ठैर्निरीक्षितः ॥ ३२ ॥

'पापपूर्ण संकल्प करनेवाली पापिनि ! पुरवासी मनुष्य आँसू बहाते हुए अवरुद्धकण्ठ हो मुझे देखें और मैं तेरे किये हुए इस पापका बोझ ढोता रहूँ—यह मुझसे नहीं हो सकता ॥ ३२ ॥

सा त्वमग्निं प्रविश वा स्वयं वा विश दण्डकान् ।
रज्जुं बद्ध्वाथवा कण्ठे नहि तेऽन्यत् परायणम् ॥ ३३ ॥

'अब तू जलती आगमें प्रवेश कर जा, या स्वयं दण्डकारण्यमें चली जा अथवा गलेमें रस्सी बाँधकर प्राण दे दे, इसके सिवा तेरे लिये दूसरी कोई गति नहीं है ॥ ३३ ॥

अहमप्यवनीं प्राप्ते रामे सत्यपराक्रमे ।
कृतकृत्यो भविष्यामि विप्रवासितकल्मषः ॥ ३४ ॥

'सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्रजी जब अयोध्याकी भूमिपर पदार्पण करेंगे, तभी मेरा कलङ्क दूर होगा और तभी मैं कृतकृत्य होऊँगा' ॥ ३४ ॥

इति नाग इवारण्ये तोमराङ्कुशतोदितः ।
पपात भुवि संक्रुद्धो निःश्वसन्निव पन्नगः ॥ ३५ ॥

यह कहकर भरत वनमें तोमर और अङ्कुशद्वारा पीड़ित किये गये हाथीकी भाँति मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े और क्रोधमें भरकर फुफकारते हुए साँपकी भाँति लम्बी साँस खींचने लगे ॥ ३५ ॥

संरक्तनेत्रः शिथिलाम्बरस्तथा
विधूतसर्वाभरणः परंतपः ।
बभूव भूमौ पतितो नृपात्मजः
शचीपतेः केतुरिवोत्सवक्षये ॥ ३६ ॥

शत्रुओंको तपानेवाले राजकुमार भरत उत्सव समाप्त होनेपर नीचे गिराये गये शचीपति इन्द्रके ध्वजकी भाँति उस समय पृथ्वीपर पड़े थे, उनके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये थे, वस्त्र ढीले पड़ गये थे और सारे आभूषण टूटकर बिखर गये थे ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७४ ॥

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

कौसल्याके सामने भरतका शपथ खाना

दीर्घकालात् समुत्थाय संज्ञां लब्ध्वा स वीर्यवान्।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां दीनामुद्वीक्ष्य मातरम् ॥ १ ॥
सोऽमात्यमध्ये भरतो जननीमभ्यकुत्सयत्।

बहुत देरके बाद होशमें आनेपर जब पराक्रमी भरत उठे, तब आँसूभरे नेत्रोंसे दीन बनी बैठी हुई माताकी ओर देखकर मन्त्रियोंके बीचमें उसकी निन्दा करते हुए बोले— ॥ १½ ॥

राज्यं न कामये जातु मन्त्रये नापि मातरम् ॥ २ ॥
अभिषेकं न जानामि योऽभूद् राज्ञा समीक्षितः।
विप्रकृष्टे ह्यहं देशे शत्रुघ्नसहितोऽभवम् ॥ ३ ॥

'मन्त्रिवरो! मैं राज्य नहीं चाहता और न मैंने कभी मातासे इसके लिये बातचीत ही की है। महाराजने जिस अभिषेकका निश्चय किया था, उसका भी मुझे पता नहीं था; क्योंकि उस समय मैं शत्रुघ्नके साथ दूर देशमें था ॥ २-३ ॥

वनवासं न जानामि रामस्याहं महात्मनः।
विवासनं च सौमित्रेः सीतायाश्च यथाभवत् ॥ ४ ॥

'महात्मा श्रीरामके वनवास और सीता तथा लक्ष्मणके निर्वासनका भी मुझे ज्ञान नहीं है कि वह कब और कैसे हुआ?' ॥ ४ ॥

तथैव क्रोशतस्तस्य भरतस्य महात्मनः।
कौसल्यां शब्दमाज्ञाय सुमित्रां चेदमब्रवीत् ॥ ५ ॥

महात्मा भरत जब इस प्रकार अपनी माताको कोस रहे थे, उस समय उनकी आवाजको पहचानकर कौसल्याने सुमित्रासे इस प्रकार कहा— ॥ ५ ॥

आगतः क्रूरकार्यायाः कैकेय्या भरतः सुतः।
तमहं द्रष्टुमिच्छामि भरतं दीर्घदर्शिनम् ॥ ६ ॥

'क्रूर कर्म करनेवाली कैकेयीके पुत्र भरत आ गये हैं। वे बड़े दूरदर्शी हैं, अतः मैं उन्हें देखना चाहती हूँ' ॥ ६ ॥

एवमुक्त्वा सुमित्रां तां विवर्णवदना कृशा।
प्रतस्थे भरतो यत्र वेपमाना विचेतना ॥ ७ ॥

सुमित्रासे ऐसा कहकर उदास मुखवाली, दुर्बल और अचेत-सी हुई कौसल्या जहाँ भरत थे, उस स्थानपर जानेके लिये काँपती हुई चलीं ॥ ७ ॥

स तु राजात्मजश्चापि शत्रुघ्नसहितस्तदा।
प्रतस्थे भरतो येन कौसल्याया निवेशनम् ॥ ८ ॥

उसी समय उधरसे राजकुमार भरत भी शत्रुघ्नको साथ लिये उसी मार्गसे चले आ रहे थे, जिससे कौसल्याके भवनमें आना-जाना होता था ॥ ८ ॥

ततः शत्रुघ्नभरतौ कौसल्यां प्रेक्ष्य दुःखितौ।
पर्यष्वजेतां दुःखार्तां पतितां नष्टचेतनाम् ॥ ९ ॥
रुदन्तौ रुदती दुःखात् समेत्यार्या मनस्विनी।
भरतं प्रत्युवाचेदं कौसल्या भृशदुःखिता ॥ १० ॥

तदनन्तर शत्रुघ्न और भरतने दूरसे ही देखा कि माता कौसल्या दुःखसे व्याकुल और अचेत होकर पृथ्वीपर गिर पड़ी हैं। यह देखकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ और वे दौड़कर उनकी गोदीसे लग गये तथा फूट-फूटकर रोने लगे। आर्या मनस्विनी कौसल्या भी दुःखसे रो पड़ीं और उन्हें छातीसे लगाकर अत्यन्त दुःखित हो भरतसे इस प्रकार बोलीं— ॥

इदं ते राज्यकामस्य राज्यं प्राप्तमकण्टकम्।
सम्प्राप्तं बत कैकेय्या शीघ्रं क्रूरेण कर्मणा ॥ ११ ॥

'बेटा! तुम राज्य चाहते थे न? सो यह निष्कण्टक राज्य तुम्हें प्राप्त हो गया; किंतु खेद यही है कि कैकेयीने जल्दीके कारण बड़े क्रूर कर्मके द्वारा इसे पाया है ॥ ११ ॥

प्रस्थाप्य चीरवसनं पुत्रं मे वनवासिनम्।
कैकेयी कं गुणं तत्र पश्यति क्रूरदर्शिनी ॥ १२ ॥

'क्रूरतापूर्ण दृष्टि रखनेवाली कैकेयी न जाने इसमें कौन-सा लाभ देखती थी कि उसने मेरे बेटेको चीर-वस्त्र पहनाकर वनमें भेज दिया और उसे वनवासी बना दिया ॥

क्षिप्रं मामपि कैकेयी प्रस्थापयितुमर्हति।
हिरण्यनाभो यत्रास्ते सुतो मे सुमहायशाः ॥ १३ ॥

'अब कैकेयीको चाहिये कि मुझे भी शीघ्र ही उसी स्थानपर भेज दे, जहाँ इस समय सुवर्णमयी नाभिसे सुशोभित मेरे महायशस्वी पुत्र श्रीराम हैं ॥ १३ ॥

अथवा स्वयमेवाहं सुमित्रानुचरा सुखम्।
अग्निहोत्रं पुरस्कृत्य प्रस्थास्ये यत्र राघवः ॥ १४ ॥

'अथवा सुमित्राको साथ लेकर और अग्निहोत्रको आगे करके मैं स्वयं ही सुखपूर्वक उस स्थानको प्रस्थान करूँगी, जहाँ श्रीराम निवास करते हैं ॥ १४ ॥

कामं वा स्वयमेवाद्य तत्र मां नेतुमर्हसि।
यत्रासौ पुरुषव्याघ्रस्तप्यते मे सुतस्तपः ॥ १५ ॥

'अथवा तुम स्वयं ही अपनी इच्छाके अनुसार अब मुझे

वहीं पहुँचा दो, जहाँ मेरे पुत्र पुरुषसिंह श्रीराम तप करते हैं॥

इदं हि तव विस्तीर्णं धनधान्यसमाचितम्।
हस्त्यश्वरथसम्पूर्णं राज्यं निर्यातितं तया॥ १६॥

'यह धन-धान्यसे सम्पन्न तथा हाथी, घोड़े एवं रथोंसे भरा-पूरा विस्तृत राज्य कैकेयीने (श्रीरामसे छीनकर) तुम्हें दिलाया है'॥ १६॥

इत्यादिबहुभिर्वाक्यैः क्रूरैः सम्भर्त्सितोऽनघः।
विव्यथे भरतोऽतीव व्रणे तुद्येव सूचिना॥ १७॥

इस तरहकी बहुत-सी कठोर बातें कहकर जब कौसल्याने निरपराध भरतकी भर्त्सना की, तब उनको बड़ी पीड़ा हुई; मानो किसीने घावमें सुई चुभो दी हो॥ १७॥

पपात चरणौ तस्यास्तदा सम्भ्रान्तचेतनः।
विलप्य बहुधासंज्ञो लब्धसंज्ञस्तदाभवत्॥ १८॥

वे कौसल्याके चरणोंमें गिर पड़े, उस समय उनके चित्तमें बड़ी घबराहट थी। वे बारम्बार विलाप करके अचेत हो गये। थोड़ी देर बाद उन्हें फिर चेत हुआ॥ १८॥

एवं विलपमानां तां प्राञ्जलिर्भरतस्तदा।
कौसल्यां प्रत्युवाचेदं शोकैर्बहुभिरावृताम्॥ १९॥

तब भरत अनेक प्रकारके शोकोंसे घिरी हुई और पूर्वोक्त रूपसे विलाप करती हुई माता कौसल्यासे हाथ जोड़कर इस प्रकार बोले—॥ १९॥

आर्ये कस्मादजानन्तं गर्हसे मामकल्मषम्।
विपुलां च मम प्रीतिं स्थितां जानासि राघवे॥ २०॥

'आर्ये! यहाँ जो कुछ हुआ है, इसकी मुझे बिलकुल जानकारी नहीं थी। मैं सर्वथा निरपराध हूँ, तो भी आप क्यों मुझे दोष दे रही हैं? आप तो जानती हैं कि श्रीरघुनाथजीमें मेरा कितना प्रगाढ़ प्रेम है॥ २०॥

कृतशास्त्रानुगा बुद्धिर्मा भूत् तस्य कदाचन।
सत्यसंधः सतां श्रेष्ठो यस्यार्योऽनुमते गतः॥ २१॥

'जिसकी अनुमतिसे सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ, सत्यप्रतिज्ञ, आर्य श्रीरामजी वनमें गये हों, उस पापीकी बुद्धि कभी गुरुसे सीखे हुए शास्त्रोंमें बताये गये मार्गका अनुसरण करनेवाली न हो॥ २१॥

प्रैष्यं पापीयसां यातु सूर्यं च प्रति मेहतु।
हन्तु पादेन गाः सुप्ता यस्यार्योऽनुमते गतः॥ २२॥

'जिसकी सलाहसे बड़े भाई श्रीरामको वनमें जाना पड़ा हो, वह अत्यन्त पापियों—हीन जातियोंका सेवक हो। सूर्यकी ओर मुँह करके मलमूत्रका त्याग करे और सोयी हुई गौओंको लातसे मारे (अर्थात् वह इन पापकर्मोंके दुष्परिणामका भागी हो)॥ २२॥

कारयित्वा महत् कर्म भर्ता भृत्यमनर्थकम्।
अधर्मो योऽस्य सोऽस्यास्तु यस्यार्योऽनुमते गतः॥ २३॥

'जिसकी सम्मतिसे भैया श्रीरामने वनको प्रस्थान किया हो, उसको वही पाप लगे, जो सेवकसे भारी काम कराकर उसे समुचित वेतन न देनेवाले स्वामीको लगता है॥ २३॥

परिपालयमानस्य राज्ञो भूतानि पुत्रवत्।
ततस्तु द्रुह्यतां पापं यस्यार्योऽनुमते गतः॥ २४॥

'जिसके कहनेसे आर्य श्रीरामको वनमें भेजा गया हो, उसको वही पाप लगे, जो समस्त प्राणियोंका पुत्रकी भाँति पालन करनेवाले राजासे द्रोह करनेवाले लोगोंको लगता है॥ २४॥

बलिषड्भागमुद्धृत्य नृपस्यारक्षितुः प्रजाः।
अधर्मो योऽस्य सोऽस्यास्तु यस्यार्योऽनुमते गतः॥ २५॥

'जिसकी अनुमतिसे आर्य श्रीराम वनमें गये हों, वह उसी अधर्मका भागी हो, जो प्रजासे उसकी आयका छठा भाग लेकर भी प्रजावर्गकी रक्षा न करनेवाले राजाको प्राप्त होता है॥ २५॥

संश्रुत्य च तपस्विभ्यः सत्रे वै यज्ञदक्षिणाम्।
तां चापलपतां पापं यस्यार्योऽनुमते गतः॥ २६॥

'जिसकी सलाहसे भैया श्रीरामको वनमें जाना पड़ा हो, उसे वही पाप लगे, जो यज्ञमें कष्ट सहनेवाले ऋत्विजोंको दक्षिणा देनेकी प्रतिज्ञा करके पीछे इनकार कर देनेवाले लोगोंको लगता है॥ २६॥

हस्त्यश्वरथसम्बाधे युद्धे शस्त्रसमाकुले।
मा स्म कार्षीत् सतां धर्मं यस्यार्योऽनुमते गतः॥ २७॥

'हाथी, घोड़े और रथोंसे भरे एवं अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षासे व्याप्त संग्राममें सत्पुरुषोंके धर्मका पालन न करनेवाले योद्धाओंको जो पाप लगता है, वही उस मनुष्यको भी प्राप्त हो, जिसकी सम्मतिसे आर्य श्रीरामजीको वनमें भेजा गया हो॥

उपदिष्टं सुसूक्ष्मार्थं शास्त्रं यत्नेन धीमता।
स नाशयतु दुष्टात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः॥ २८॥

'जिसकी सलाहसे आर्य श्रीरामको वनमें प्रस्थान करना पड़ा है, वह दुष्टात्मा बुद्धिमान् गुरुके द्वारा यत्नपूर्वक प्राप्त हुआ शास्त्रके सूक्ष्म विषयका उपदेश भुला दे॥ २८॥

मा च तं व्यूढबाह्वंसं चन्द्रभास्करतेजसम्।
द्राक्षीद् राज्यस्थमासीनं यस्यार्योऽनुमते गतः॥ २९॥

'जिसकी सलाहसे बड़े भैया श्रीरामको वनमें भेजा गया हो, वह चन्द्रमा और सूर्यके समान तेजस्वी तथा विशाल भुजाओं और कंधोंसे सुशोभित श्रीरामचन्द्रजीको राज्यसिंहासनपर विराजमान न देख सके—वह राजा श्रीरामके दर्शनसे वञ्चित रह जाय॥ २९॥

पायसं कृसरं छागं वृथा सोऽश्नातु निर्घृणः।
गुरूंश्चाप्यवजानातु यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ३०॥

'जिसकी सलाहसे आर्य श्रीरामचन्द्रजी वनमें गये हों, वह निर्दय मनुष्य खीर, खिचड़ी और बकरीके दूधको देवताओं, पितरों एवं भगवान्को निवेदन किये बिना व्यर्थ करके खाय॥ ३०॥

गाश्च स्पृशतु पादेन गुरून् परिवदेत च।
मित्रे द्रुह्येत सोऽत्यर्थं यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ३१॥

'जिसकी सम्मतिसे श्रीरामचन्द्रजीको वनमें जाना पड़ा हो, वह पापी मनुष्य गौओंके शरीरका पैरसे स्पर्श, गुरुजनोंकी निन्दा तथा मित्रके प्रति अत्यन्त द्रोह करे॥ ३१॥

विश्वासात् कथितं किंचित् परिवादं मिथः क्वचित्।
विवृणोतु स दुष्टात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ३२॥

'जिसके कहनेसे बड़े भैया श्रीराम वनमें गये हों, वह दुष्टात्मा गुप्त रखनेके विश्वासपर एकान्तमें कहे हुए किसीके दोषको दूसरोंपर प्रकट कर दे (अर्थात् उसे विश्वासघात करनेका पाप लगे)॥ ३२॥

अकर्ता चाकृतज्ञश्च त्यक्तात्मा निरपत्रपः।
लोके भवतु विद्विष्टो यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ३३॥

'जिसकी अनुमतिसे आर्य श्रीराम वनमें गये हों, वह मनुष्य उपकार न करनेवाला, कृतघ्न, सत्पुरुषोंद्वारा परित्यक्त, निर्लज्ज और जगत्‌में सबके द्वेषका पात्र हो॥ ३३॥

पुत्रैर्दासैश्च भृत्यैश्च स्वगृहे परिवारितः।
स एको मृष्टमश्नातु यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ३४॥

'जिसकी सलाहसे आर्य श्रीराम वनमें गये हों, वह अपने घरमें पुत्रों, दासों और भृत्योंसे घिरा रहकर भी अकेले ही मिष्टान्न भोजन करनेके पापका भागी हो॥ ३४॥

अप्राप्य सदृशान् दाराननपत्यः प्रमीयताम्।
अनवाप्य क्रियां धर्म्यां यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ३५॥

'जिसकी अनुमतिसे आर्य श्रीरामका वनगमन हुआ हो, वह अपने अनुरूप पत्नीको न पाकर अग्निहोत्र आदि धार्मिक कर्मोंका अनुष्ठान किये बिना संतानहीन अवस्थामें ही मर जाय॥ ३५॥

माऽऽत्मनः संततिं द्राक्षीत् स्वेषु दारेषु दुःखितः।
आयुःसमग्रमप्राप्य यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ३६॥

'जिसकी सम्मतिसे मेरे बड़े भाई श्रीराम वनमें गये हों, वह सदा दुःखी रहकर अपनी धर्मपत्नीसे होनेवाली संतानका मुँह न देखे तथा सम्पूर्ण आयुका उपभोग किये बिना ही मर जाय॥ ३६॥

राजस्त्रीबालवृद्धानां वधे यत् पापमुच्यते।
भृत्यत्यागे च यत् पापं तत् पापं प्रतिपद्यताम्॥ ३७॥

'राजा, स्त्री, बालक और वृद्धोंका वध करने तथा भृत्योंको त्याग देनेमें जो पाप होता है, वही पाप उसे भी लगे॥ ३७॥

लाक्षया मधुमांसेन लोहेन च विषेण च।
सदैव बिभृयाद् भृत्यान् यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ३८॥

'जिसकी सम्मतिसे श्रीरामका वनगमन हुआ हो, वह सदैव लाह, मधु, मांस, लोहा और विष आदि निषिद्ध वस्तुओंको बेचकर कमाये हुए धनसे अपने भरण-पोषणके योग्य कुटुम्बीजनोंका पालन करे॥ ३८॥

संग्रामे समुपोढे च शत्रुपक्षभयंकरे।
पलायमानो वध्येत यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ३९॥

'जिसकी रायसे श्रीराम वनमें जानेको विवश हुए हों, वह शत्रुपक्षको भय देनेवाले युद्धके प्राप्त होनेपर उसमें पीठ दिखाकर भागता हुआ मारा जाय॥ ३९॥

कपालपाणिः पृथिवीमटतां चीरसंवृतः।
भिक्षमाणो यथोन्मत्तो यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ४०॥

'जिसकी सम्मतिसे आर्य[*] श्रीराम वनमें गये हों, वह फटे-पुराने, मैले-कुचैले वस्त्रसे अपने शरीरको ढककर हाथमें खप्पर ले भीख माँगता हुआ उन्मत्तकी भाँति पृथ्वीपर घूमता फिरे॥ ४०॥

मद्यप्रसक्तो भवतु स्त्रीष्वक्षेषु च नित्यशः।
कामक्रोधाभिभूतश्च यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ४१॥

'जिसकी सलाहसे श्रीरामचन्द्रजीको वनमें जाना पड़ा हो, वह काम-क्रोधके वशीभूत होकर सदा ही मद्यपान, स्त्री-समागम और द्यूतक्रीड़ामें आसक्त रहे॥ ४१॥

मास्य धर्मे मनो भूयादधर्मं स निषेवताम्।
अपात्रवर्षी भवतु यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ४२॥

'जिसकी अनुमतिसे आर्य श्रीराम वनमें गये हों, उसका मन कभी धर्ममें न लगे, वह अधर्मका ही सेवन करे और अपात्रको धन दान करे॥ ४२॥

संचितान्यस्य वित्तानि विविधानि सहस्रशः।
दस्युभिर्विप्रलुप्यन्तां यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ४३॥

'जिसकी सलाहसे आर्य श्रीरामका वन-गमन हुआ हो, उसके द्वारा सहस्रोंकी संख्यामें संचित किये गये नाना प्रकारके धन-वैभवोंको लुटेरे लूट ले जायँ॥ ४३॥

उभे संध्ये शयानस्य यत् पापं परिकल्प्यते।
तच्च पापं भवेत् तस्य यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ४४॥
यदग्निदायके पापं यत् पापं गुरुतल्पगे।
मित्रद्रोहे च यत् पापं तत् पापं प्रतिपद्यताम्॥ ४५॥

'जिसके कहनेसे भैया श्रीरामको वनमें भेजा गया हो, उसे वही पाप लगे, जो दोनों संध्याओंके समय सोये हुए पुरुषको प्राप्त होता है। आग लगानेवाले मनुष्यको जो पाप लगता है, गुरुपत्नीगामीको जिस पापकी प्राप्ति होती है तथा मित्रद्रोह करनेसे जो पाप प्राप्त होता है, वही पाप उसे भी लगे॥ ४४-४५॥

देवतानां पितॄणां च मातापित्रोस्तथैव च।
मा स्म कार्षीत् स शुश्रूषां यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ४६॥

'जिसकी सम्मतिसे आर्य श्रीरामको वनमें जाना पड़ा है, वह देवताओं, पितरों और माता-पिताकी सेवा कभी न करे (अर्थात् उनकी सेवाके पुण्यसे वञ्चित रह जाय)॥ ४६॥

सतां लोकात् सतां कीर्त्याः सज्जुष्टात् कर्मणस्तथा।
भ्रश्यतु क्षिप्रमद्यैव यस्यार्योऽनुमते गतः॥ ४७॥

'जिसकी अनुमतिसे विवश होकर भैया श्रीरामने वनमें पदार्पण किया है, वह पापी आज ही सत्पुरुषोंके लोकसे, सत्पुरुषोंकी कीर्तिसे तथा सत्पुरुषोंद्वारा सेवित कर्मसे शीघ्र भ्रष्ट हो जाय ॥ ४७ ॥

अपास्य मातृशुश्रूषामनर्थे सोऽवतिष्ठताम्।
दीर्घबाहुर्महावक्षा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४८ ॥

'जिसकी सम्मतिसे बड़ी-बड़ी बाँह और विशाल वक्षवाले आर्य श्रीरामको वनमें जाना पड़ा है, वह माताकी सेवा छोड़कर अनर्थके पथमें स्थित रहे ॥ ४८ ॥

बहुभृत्यो दरिद्रश्च ज्वररोगसमन्वितः।
समायात् सततं क्लेशं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४९ ॥

'जिसकी सलाहसे श्रीरामका वनगमन हुआ हो, वह दरिद्र हो, उसके यहाँ भरण-पोषण पानेके योग्य पुत्र आदिकी संख्या बहुत अधिक हो तथा वह ज्वर-रोगसे पीड़ित होकर सदा क्लेश भोगता रहे ॥ ४९ ॥

आशामाशंसमानानां दीनानामूर्ध्वचक्षुषाम्।
अर्थिनां वितथां कुर्याद् यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५० ॥

'जिसकी अनुमति पाकर आर्य श्रीराम वनमें गये हों, वह आशा लगाये ऊपरकी ओर आँख उठाकर दाताके मुँहकी ओर देखनेवाले दीन याचकोंकी आशाको निष्फल कर दे ॥

मायया रमतां नित्यं परुषः पिशुनोऽशुचिः।
राज्ञो भीतस्त्वधर्मात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५१ ॥

'जिसके कहनेसे भैया श्रीरामने वनको प्रस्थान किया हो, वह पापात्मा पुरुष चुगला, अपवित्र तथा राजासे भयभीत रहकर सदा छल-कपटमें ही रचा-पचा रहे ॥ ५१ ॥

ऋतुस्नातां सतीं भार्यामृतुकालानुरोधिनीम्।
अतिवर्तेत दुष्टात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५२ ॥

'जिसके परामर्शसे आर्यका वनमगन हुआ हो, वह दुष्टात्मा ऋतु-स्नानकाल प्राप्त होनेके कारण अपने पास आयी हुई सती-साध्वी ऋतुस्नाता पत्नीको ठुकरा दे (उसकी इच्छा न पूर्ण करनेके पापका भागी हो) ॥ ५२ ॥

विप्रलुप्तप्रजातस्य दुष्कृतं ब्राह्मणस्य यत्।
तदेतत् प्रतिपद्येत यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५३ ॥

'जिसकी सलाहसे मेरे बड़े भाईको वनमें जाना पड़ा हो, उसको वही पाप लगे, जो (अन्न आदिका दान न करने अथवा स्त्रीसे द्वेष रखनेके कारण) नष्ट हुई संतानवाले ब्राह्मणको प्राप्त होता है ॥ ५३ ॥

ब्राह्मणायोद्यतां पूजां विहन्तु कलुषेन्द्रियः।
बालवत्सां च गां दोग्धु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५४ ॥

'जिसकी रायसे आर्यने वनमें पदार्पण किया हो, वह मलिन इन्द्रियवाला पुरुष ब्राह्मणके लिये की जाती हुई पूजामें विघ्न डाल दे और छोटे बछड़ेवाली (दस दिनके भीतरकी ब्यायी हुई) गायका दूध दुहे ॥ ५४ ॥

धर्मदारान् परित्यज्य परदारान् निषेवताम्।
त्यक्तधर्मरतिर्मूढो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५५ ॥

'जिसने आर्य श्रीरामके वनमगनकी अनुमति दी हो, वह मूढ़ धर्मपत्नीको छोड़कर परस्त्रीका सेवन करे तथा धर्मविषयक अनुरागको त्याग दे ॥ ५५ ॥

पानीयदूषके पापं तथैव विषदायके।
यत्तदेकः स लभतां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५६ ॥

'पानीको गन्दा करनेवाले तथा दूसरोंको जहर देनेवाले मनुष्यको जो पाप लगता है, वह सारा पाप अकेला वही प्राप्त करे, जिसकी अनुमतिसे विवश होकर आर्य श्रीरामको वनमें जाना पड़ा है ॥ ५६ ॥

तृषार्ते सति पानीये विप्रलम्भेन योजयन्।
यत् पापं लभते तत् स्याद् यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५७ ॥

'जिसकी सम्मतिसे आर्यका वनगमन हुआ हो, उसे वही पाप प्राप्त हो, जो पानी होते हुए भी प्यासेको उससे वञ्चित कर देनेवाले मनुष्यको लगता है ॥ ५७ ॥

भक्त्या विवदमानेषु मार्गमाश्रित्य पश्यतः।
तेन पापेन युज्येत यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५८ ॥

'जिसकी अनुमतिसे आर्य श्रीराम वनमें गये हों, वह उस पापका भागी हो, जो परस्पर झगड़ते हुए मनुष्योंमेंसे किसी एकके प्रति पक्षपात रखकर मार्गमें खड़ा हो उनका झगड़ा देखनेवाले कलहप्रिय मनुष्यको प्राप्त होता है' ॥ ५८ ॥

एवमाश्वासयन्नेव दुःखार्तोऽनुपपात ह।
विहीनां पतिपुत्राभ्यां कौसल्यां पार्थिवात्मजः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार पति और पुत्रसे बिछुड़ी हुई कौसल्याको शपथके द्वारा आश्वासन देते हुए ही राजकुमार भरत दुःखसे व्याकुल होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ५९ ॥

तदा तं शपथैः कष्टैः शपमानमचेतनम्।
भरतं शोकसंतप्तं कौसल्या वाक्यमब्रवीत् ॥ ६० ॥

उस समय दुष्कर शपथोंद्वारा अपनी सफाई देते हुए शोकसंतप्त एवं अचेत भरतसे कौसल्याने इस प्रकार कहा— ॥ ६० ॥

मम दुःखमिदं पुत्र भूयः समुपजायते।
शपथैः शपमानो हि प्राणानुपरुणत्सि मे ॥ ६१ ॥

'बेटा! तुम अनेकानेक शपथ खाकर जो मेरे प्राणोंको पीड़ा दे रहे हो, इससे मेरा यह दुःख और भी बढ़ता जा रहा है ॥ ६१ ॥

दिष्ट्या न चलितो धर्मादात्मा ते सहलक्ष्मणः।
वत्स सत्यप्रतिज्ञो हि सतां लोकानवाप्स्यसि ॥ ६२ ॥

'वत्स! सौभाग्यकी बात है कि शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न तुम्हारा चित्त धर्मसे विचलित नहीं हुआ है। तुम सत्यप्रतिज्ञ हो, इसलिये तुम्हें सत्पुरुषोंके लोक प्राप्त होंगे' ॥ ६२ ॥

इत्युक्त्वा चाङ्कमानीय भरतं भ्रातृवत्सलम्।
परिष्वज्य महाबाहुं रुरोद भृशदुःखिता ॥ ६३ ॥

ऐसा कहकर कौसल्याने भ्रातृभक्त महाबाहु भरतको गोदमें खींच लिया और अत्यन्त दुःखी हो उन्हें गलेसे लगाकर वे फूट-फूटकर रोने लगीं॥ ६३॥

एवं विलपमानस्य दुःखार्तस्य महात्मनः।
मोहाच्च शोकसंरम्भाद् बभूव लुलितं मनः॥ ६४॥

महात्मा भरत भी दुःखसे आर्त होकर विलाप कर रहे थे। उनका मन मोह और शोकके वेगसे व्याकुल हो गया था॥ ६४॥

लालप्यमानस्य विचेतनस्य प्रणष्टबुद्धेः पतितस्य भूमौ।
मुहुर्मुहुर्निःश्वसतश्च दीर्घं सा तस्य शोकेन जगाम रात्रिः॥ ६५॥

पृथ्वीपर पड़े हुए भरतकी बुद्धि (विवेकशक्ति) नष्ट हो गयी थी। वे अचेत-से होकर विलाप करते और बारंबार लंबी साँस खींचते थे। इस तरह शोकमें ही उनकी वह रात बीत गयी॥ ६५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चसप्ततितमः सर्गः॥ ७५॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पचहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ७५॥

षट्सप्ततितमः सर्गः

राजा दशरथका अन्त्येष्टिसंस्कार

तमेवं शोकसंतप्तं भरतं कैकयीसुतम्।
उवाच वदतां श्रेष्ठो वसिष्ठः श्रेष्ठवागृषिः॥ १॥

इस प्रकार शोकसे संतप्त हुए केकयीकुमार भरतसे वक्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षि वसिष्ठने उत्तम वाणीमें कहा—॥ १॥

अलं शोकेन भद्रं ते राजपुत्र महायशः।
प्राप्तकालं नरपतेः कुरु संयानमुत्तमम्॥ २॥

'महायशस्वी राजकुमार! तुम्हारा कल्याण हो। यह शोक छोड़ो, क्योंकि इससे कुछ होने-जानेवाला नहीं है। अब समयोचित कर्तव्यपर ध्यान दो। राजा दशरथके शवको दाहसंस्कारके लिये ले चलनेका उत्तम प्रबन्ध करो'॥ २॥

वसिष्ठस्य वचः श्रुत्वा भरतो धरणीं गतः।
प्रेतकृत्यानि सर्वाणि कारयामास धर्मवित्॥ ३॥

वसिष्ठजीका वचन सुनकर धर्मज्ञ भरतने पृथ्वीपर पड़कर उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया और मन्त्रियोंद्वारा पिताके सम्पूर्ण प्रेतकर्मका प्रबन्ध करवाया॥ ३॥

उद्धृत्य तैलसंसेकात् स तु भूमौ निवेशितम्।
आपीतवर्णवदनं प्रसुप्तमिव भूमिपम्॥ ४॥

राजा दशरथका शव तेलके कड़ाहसे निकालकर भूमिपर रखा गया। अधिक समयतक तेलमें पड़े रहनेसे उसका मुख कुछ पीला हो गया। उसे देखनेसे ऐसा जान पड़ता था, मानो भूमिपाल दशरथ सो रहे हों॥ ४॥

संवेश्य शयने चाग्र्ये नानारत्नपरिष्कृते।
ततो दशरथं पुत्रो विललाप सुदुःखितः॥ ५॥

तदनन्तर मृत राजा दशरथको धो-पोंछकर नाना प्रकारके रत्नोंसे विभूषित उत्तम शय्या (विमान) पर सुलाकर उनके पुत्र भरत अत्यन्त दुःखी हो विलाप करने लगे—॥ ५॥

किं ते व्यवसितं राजन् प्रोषिते मय्यनागते।
विवास्य रामं धर्मज्ञं लक्ष्मणं च महाबलम्॥ ६॥

'राजन्! मैं परदेशमें था और आपके पास पहुँचने भी नहीं पाया था, तबतक ही धर्मज्ञ श्रीराम और महाबली लक्ष्मणको वनमें भेजकर आपने इस तरह स्वर्गमें जानेका निश्चय कैसे कर लिया?॥ ६॥

क्व यास्यसि महाराज हित्वेमं दुःखितं जनम्।
हीनं पुरुषसिंहेन रामेणाक्लिष्टकर्मणा॥ ७॥

'महाराज! अनायास ही महान् कर्म करनेवाले पुरुषसिंह श्रीरामसे हीन इस दुःखी सेवकको छोड़ आप कहाँ चले जायँगे?॥ ७॥

योगक्षेमं तु तेऽव्यग्रं कोऽस्मिन् कल्पयिता पुरे।
त्वयि प्रयाते स्वस्तात रामे च वनमाश्रिते॥ ८॥

'तात! आप स्वर्गको चल दिये और श्रीरामने वनका आश्रय लिया—ऐसी दशामें आपके इस नगरमें निश्चिन्ततापूर्वक प्रजाके योगक्षेमकी व्यवस्था कौन करेगा?॥ ८॥

विधवा पृथिवी राजंस्त्वया हीना न राजते।
हीनचन्द्रेव रजनी नगरी प्रतिभाति माम्॥ ९॥

'राजन्! आपके बिना यह पृथ्वी विधवाके समान हो गयी है, अतः इसकी शोभा नहीं हो रही है। यह पुरी भी मुझे चन्द्रहीन रात्रिके समान श्रीहीन प्रतीत होती है'॥ ९॥

एवं विलपमानं तं भरतं दीनमानसम्।
अब्रवीद् वचनं भूयो वसिष्ठस्तु महामुनिः॥ १०॥

इस प्रकार दीनचित्त होकर विलाप करते हुए भरतसे महामुनि वसिष्ठने फिर कहा—॥ १०॥

प्रेतकार्याणि यान्यस्य कर्तव्यानि विशाम्पतेः।
तान्यव्यग्रं महाबाहो क्रियतामविचारितम्॥ ११॥

'महाबाहो! इन महाराजके लिये जो कुछ भी प्रेतकर्म करने हैं, उन्हें बिना विचारे शान्तचित्त होकर करो'॥ ११॥

तथेति भरतो वाक्यं वसिष्ठस्याभिपूज्य तत्।
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यांस्त्वरयामास सर्वशः॥ १२॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर भरतने वसिष्ठजीकी आज्ञा

शिरोधार्य की तथा ऋत्विक्, पुरोहित और आचार्य—सबको इस कार्यके लिये जल्दी करनेको कहा— ॥ १२ ॥

ये त्वग्नयो नरेन्द्रस्य अग्न्यगाराद् बहिष्कृताः ।
ऋत्विग्भिर्याजकैश्चैव ते हूयन्ते यथाविधि ॥ १३ ॥

राजाकी अग्निशालासे जो अग्नियाँ बाहर निकाली गयी थीं, उनमें ऋत्विजों और याजकोंद्वारा विधिपूर्वक हवन किया गया ॥

शिबिकायामथारोप्य राजानं गतचेतनम् ।
बाष्पकण्ठा विमनसस्तमूचुः परिचारकाः ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् महाराज दशरथके प्राणहीन शरीरको पालकीमें बिठाकर परिचारकगण उन्हें श्मशानभूमिको ले चले। उस समय आँसुओंसे उनका गला रुँध गया था और मन-ही-मन उन्हें बड़ा दुःख हो रहा था ॥ १४ ॥

हिरण्यं च सुवर्णं च वासांसि विविधानि च ।
प्रकिरन्तो जना मार्गे नृपतेरग्रतो ययुः ॥ १५ ॥

मार्गमें राजकीय पुरुष राजाके शवके आगे-आगे सोने, चाँदी तथा भाँति-भाँतिके वस्त्र लुटाते चलते थे ॥ १५ ॥

चन्दनागुरुनिर्यासान् सरलं पद्मकं तथा ।
देवदारूणि चाहृत्य क्षेपयन्ति तथापरे ॥ १६ ॥
गन्धानुच्चावचांश्चान्यांस्तत्र गत्वाथ भूमिपम् ।
तत्र संवेशयामासुश्चितामध्ये तमृत्विजः ॥ १७ ॥

श्मशानभूमिमें पहुँचकर चिता तैयार की जाने लगी, किसीने चन्दन लाकर रखा तो किसीने अगर, कोई-कोई गुग्गुल तथा कोई सरल, पद्मक और देवदारुकी लकड़ियाँ ला-लाकर चितामें डालने लगे। कुछ लोगोंने तरह-तरहके सुगन्धित पदार्थ लाकर छोड़े। इसके बाद ऋत्विजोंने राजाके शवको चितापर रखा ॥ १६-१७ ॥

तदा हुताशनं हुत्वा जेपुस्तस्य तदृत्विजः ।
जगुश्च ते यथाशास्त्रं तत्र सामानि सामगाः ॥ १८ ॥

उस समय अग्निमें आहुति देकर उनके ऋत्विजोंने वेदोक्त मन्त्रोंका जप किया। सामगान करनेवाले विद्वान् शास्त्रीय पद्धतिके अनुसार साम-श्रुतियोंका गायन करने लगे ॥ १८ ॥

शिबिकाभिश्च यानैश्च यथार्हं तस्य योषितः ।
नगरान्निर्ययुस्तत्र वृद्धैः परिवृतास्तथा ॥ १९ ॥
प्रसव्यं चापि तं चक्रुर्ऋत्विजोऽग्निचितं नृपम् ।
स्त्रियश्च शोकसंतप्ताः कौसल्याप्रमुखास्तदा ॥ २० ॥

(इसके बाद चितामें आग लगायी गयी) तदनन्तर राजा दशरथकी कौसल्या आदि रानियाँ बूढ़े रक्षकोंसे घिरी हुई यथायोग्य शिबिकाओं तथा रथोंपर आरूढ़ होकर नगरसे निकलीं तथा शोकसे संतप्त हो श्मशानभूमिमें आकर अश्वमेधान्त यज्ञोंके अनुष्ठाता राजा दशरथके शवकी परिक्रमा करने लगीं। साथ ही ऋत्विजोंने भी उस शवकी परिक्रमा की ॥ १९-२० ॥

क्रौञ्चीनामिव नारीणां निनादस्तत्र शुश्रुवे ।
आर्तानां करुणं काले क्रोशन्तीनां सहस्रशः ॥ २१ ॥

उस समय वहाँ करुण क्रन्दन करती हुई सहस्रों शोकार्त रानियोंका आर्तनाद कुररियोंके चीत्कारके समान सुनायी देता था ॥ २१ ॥

ततो रुदन्त्यो विवशा विलप्य च पुनः पुनः ।
यानेभ्यः सरयूतीरमवतेरुर्नृपाङ्गनाः ॥ २२ ॥

दाहकर्मके पश्चात् विवश होकर रोती हुई वे राजरानियाँ बारंबार विलाप करके सवारियोंसे ही सरयूके तटपर जाकर उतरीं ॥ २२ ॥

कृत्वोदकं ते भरतेन सार्धं
नृपाङ्गना मन्त्रिपुरोहिताश्च ।
पुरं प्रविश्याश्रुपरीतनेत्रा
भूमौ दशाहं व्यनयन्त दुःखम् ॥ २३ ॥

भरतके साथ रानियों, मन्त्रियों और पुरोहितोंने भी राजाके लिये जलाञ्जलि दी, फिर सब-के-सब नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए नगरमें आये और दस दिनोंतक भूमिपर शयन करते हुए उन्होंने बड़े दुःखसे अपना समय व्यतीत किया ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षट्सप्ततितमः सर्गः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें छिहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७६ ॥

सप्तसप्ततितमः सर्गः

भरतका पिताके श्राद्धमें ब्राह्मणोंको बहुत धन-रत्न आदिका दान देना, तेरहवें दिन अस्थि-संचयका शेष कार्य पूर्ण करनेके लिये पिताकी चिताभूमिपर जाकर भरत और शत्रुघ्नका विलाप करना और वसिष्ठ तथा सुमन्त्रका उन्हें समझाना

ततो दशाहेऽतिगते कृतशौचो नृपात्मजः ।
द्वादशेऽहनि सम्प्राप्ते श्राद्धकर्माण्यकारयत् ॥ १ ॥

तदनन्तर दशाह व्यतीत हो जानेपर राजकुमार भरतने ग्यारहवें दिन आत्मशुद्धिके लिये स्नान और एकादशाह श्राद्धका अनुष्ठान किया, फिर बारहवाँ दिन आनेपर उन्होंने अन्य श्राद्ध कर्म (मासिक और सपिण्डीकरण श्राद्ध) किये ॥ १ ॥

ब्राह्मणेभ्यो धनं रत्नं ददावन्नं च पुष्कलम् ।
वासांसि च महार्हाणि रत्नानि विविधानि च ।
वास्तिकं बहु शुक्लं च गाश्चापि बहुशस्तदा ॥ २ ॥

उसमें भरतने ब्राह्मणोंको धन, रत्न, प्रचुर अन्न, बहुमूल्य वस्त्र, नाना प्रकारके रत्न, बहुत-से बकरे, चाँदी और बहुतेरी गौएँ दान कीं॥ २॥

दासीर्दासांश्च यानानि वेश्मानि सुमहान्ति च।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ पुत्रो राज्ञस्तस्यौर्ध्वदेहिकम्॥ ३॥

राजपुत्र भरतने राजाके पारलौकिक हितके लिये बहुत-से दास, दासियाँ, सवारियाँ तथा बड़े-बड़े घर भी ब्राह्मणोंको दिये॥ ३॥

ततः प्रभातसमये दिवसे च त्रयोदशे।
विललाप महाबाहुर्भरतः शोकमूर्च्छितः॥ ४॥

तदनन्तर तेरहवें दिन प्रातःकाल महाबाहु भरत शोकसे मूर्च्छित होकर विलाप करने लगे॥ ४॥

शब्दापिहितकण्ठश्च शोधनार्थमुपागतः।
चितामूले पितुर्वाक्यमिदमाह सुदुःखितः॥ ५॥
तात यस्मिन् निसृष्टोऽहं त्वया भ्रातरि राघवे।
तस्मिन् वनं प्रव्रजिते शून्ये त्यक्तोऽस्म्यहं त्वया॥ ६॥

उस समय रोनेसे उनका गला भर आया था, वे पिताके चितास्थानपर अस्थिसंचयके लिये आये और अत्यन्त दुःखी होकर इस प्रकार कहने लगे—'तात! आपने मुझे जिन ज्येष्ठ भ्राता श्रीरघुनाथजीके हाथमें सौंपा था, उनके वनमें चले जानेपर आपने मुझे सूनेमें ही छोड़ दिया (इस समय मेरा कोई सहारा नहीं)॥ ५-६॥

यस्या गतिरनाथायाः पुत्रः प्रव्राजितो वनम्।
तामम्बां तात कौसल्यां त्यक्त्वा त्वं क्व गतो नृप॥ ७॥

'तात! नरेश्वर! जिन अनाथ हुई देवीके एकमात्र आधार पुत्रको आपने वनमें भेज दिया, उन माता कौसल्याको छोड़कर आप कहाँ चले गये?॥ ७॥

दृष्ट्वा भस्मारुणं तच्च दग्धास्थि स्थानमण्डलम्।
पितुः शरीरनिर्वाणं निष्टनन् विषसाद ह॥ ८॥

पिताकी चिताका वह स्थानमण्डल भस्मसे भरा हुआ था, अत्यन्त दाहके कारण कुछ लाल दिखायी देता था। वहाँ पिताकी जली हुई हड्डियाँ बिखरी हुई थीं। पिताके शरीरके निर्वाहका वह स्थान देखकर भरत अत्यन्त विलाप करते हुए शोकमें डूब गये॥ ८॥

स तु दृष्ट्वा रुदन् दीनः पपात धरणीतले।
उत्थाप्यमानः शक्रस्य यन्त्रध्वज इवोच्छ्रितः॥ ९॥

उस स्थानको देखते ही वे दीनभावसे रोकर पृथ्वीपर गिर पड़े। जैसे इन्द्रका यन्त्रबद्ध ऊँचा ध्वज ऊपरको उठाये जाते समय खिसककर गिर पड़ा हो॥ ९॥

अभिपेतुस्ततः सर्वे तस्यामात्याः शुचिव्रतम्।
अन्तकाले निपतितं ययातिमृषयो यथा॥ १०॥

तब उनके सारे मन्त्री उन पवित्र व्रतवाले भरतके पास आ पहुँचे, जैसे पुण्योंका अन्त होनेपर स्वर्गसे गिरे हुए राजा ययातिके पास अष्टक आदि राजर्षि आ गये थे॥ १०॥

शत्रुघ्नश्चापि भरतं दृष्ट्वा शोकपरिप्लुतम्।
विसंज्ञो न्यपतद् भूमौ भूमिपालमनुस्मरन्॥ ११॥

भरतको शोकमें डूबा हुआ देख शत्रुघ्न भी अपने पिता महाराज दशरथका बारंबार स्मरण करते हुए अचेत होकर पृथ्वीपर गिर पड़े॥ ११॥

उन्मत्त इव निश्चित्तो विललाप सुदुःखितः।
स्मृत्वा पितुर्गुणाङ्गानि तानि तानि तदा तदा॥ १२॥

वे समय-समयपर अनुभवमें आये हुए पिताके लालन-पालनसम्बन्धी उन-उन गुणोंका स्मरण करके अत्यन्त दुःखी हो सुध-बुध खोकर उन्मत्तके समान विलाप करने लगे—॥ १२॥

मन्थराप्रभवस्तीव्रः कैकेयीग्राहसंकुलः।
वरदानमयोऽक्षोभ्योऽमज्जयच्छोकसागरः॥ १३॥

हाय! मन्थरासे जिसका प्राकट्य हुआ है, कैकेयीरूपी ग्राहसे जो व्याप्त है तथा जो किसी प्रकार भी मिटाया नहीं जा सकता, उस वरदानमय शोकरूपी उग्र समुद्रने हम सब लोगोंको अपने भीतर निमग्न कर दिया है॥ १३॥

सुकुमारं च बालं च सततं लालितं त्वया।
क्व तात भरतं हित्वा विलपन्तं गतो भवान्॥ १४॥

'तात! आपने जिनका सदा लाड़-प्यार किया है तथा जो सुकुमार और बालक हैं, उन रोते-बिलखते हुए भरतको छोड़कर आप कहाँ चले गये?॥ १४॥

ननु भोज्येषु पानेषु वस्त्रेष्वाभरणेषु च।
प्रवारयति सर्वान् नस्तन्नः कोऽद्य करिष्यति॥ १५॥

'भोजन, पान, वस्त्र और आभूषण—इन सबको अधिक संख्यामें एकत्र करके आप हम सब लोगोंसे अपनी रुचिकी वस्तुएँ ग्रहण करनेको कहते थे। अब कौन हमारे लिये ऐसी व्यवस्था करेगा?॥ १५॥

अवदारणकाले तु पृथिवी नावदीर्यते।
विहीना या त्वया राज्ञा धर्मज्ञेन महात्मना॥ १६॥

'आप-जैसे धर्मज्ञ महात्मा राजासे रहित होनेपर पृथ्वीको फट जाना चाहिये। इस फटनेके अवसरपर भी जो यह फट नहीं रही है, यह आश्चर्यकी बात है॥ १६॥

पितरि स्वर्गमापन्ने रामे चारण्यमाश्रिते।
किं मे जीवितसामर्थ्यं प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्॥ १७॥

'पिता स्वर्गवासी हो गये और श्रीराम वनमें चले गये। अब मुझमें जीवित रहनेकी क्या शक्ति है? अब तो मैं अग्निमें ही प्रवेश करूँगा॥ १७॥

हीनो भ्रात्रा च पित्रा च शून्यामिक्ष्वाकुपालिताम्।
अयोध्यां न प्रवेक्ष्यामि प्रवेक्ष्यामि तपोवनम्॥ १८॥

'बड़े भाई और पितासे हीन होकर इक्ष्वाकुवंशी नरेशों-द्वारा पालित इस सूनी अयोध्यामें मैं प्रवेश नहीं करूँगा;

तपोवनको ही चला जाऊँगा' ॥ १८ ॥

तयोर्विलपितं श्रुत्वा व्यसनं चाप्यवेक्ष्य तत्।
भृशमार्ततरा भूयः सर्व एवानुगामिनः ॥ १९ ॥

उन दोनोंका विलाप सुनकर और उस संकटको देखकर समस्त अनुचर-वर्गके लोग पुनः अत्यन्त शोकसे व्याकुल हो उठे ॥ १९ ॥

ततो विषण्णौ श्रान्तौ च शत्रुघ्नभरतावुभौ।
धरायां स्म व्यचेष्टेतां भग्नशृङ्गाविवर्षभौ ॥ २० ॥

उस समय भरत और शत्रुघ्न दोनों भाई विषादग्रस्त और थकित होकर टूटे सींगोंवाले दो बैलोंके समान पृथ्वीपर लोट रहे थे ॥ २० ॥

ततः प्रकृतिमान् वैद्यः पितुरेषां पुरोहितः।
वसिष्ठो भरतं वाक्यमुत्थाप्य तमुवाच ह ॥ २१ ॥

तदनन्तर दैवी प्रकृतिसे युक्त और सर्वज्ञ वसिष्ठजी, जो इन श्रीराम आदिके पिताके पुरोहित थे, भरतको उठाकर उनसे इस प्रकार बोले— ॥ २१ ॥

त्रयोदशोऽयं दिवसः पितुर्वृत्तस्य ते विभो।
सावशेषास्थिनिचये किमिह त्वं विलम्बसे ॥ २२ ॥

'प्रभो! तुम्हारे पिताके दाहसंस्कार हुए यह तेरहवाँ दिन है; अब अस्थिसंचयका जो शेष कार्य है, उसके करनेमें तुम यहाँ विलम्ब क्यों लगा रहे हो? ॥ २२ ॥

त्रीणि द्वन्द्वानि भूतेषु प्रवृत्तान्यविशेषतः।
तेषु चापरिहार्येषु नैवं भवितुमर्हसि ॥ २३ ॥

'भूख-प्यास, शोक-मोह तथा जरा-मृत्यु—ये तीन द्वन्द्व सभी प्राणियोंमें समानरूपसे उपलब्ध होते हैं। इन्हें रोकना सर्वथा असम्भव है—ऐसी स्थितिमें तुम्हें इस तरह शोकाकुल नहीं होना चाहिये' ॥ २३ ॥

सुमन्त्रश्चापि शत्रुघ्नमुत्थाप्याभिप्रसाद्य च।
श्रावयामास तत्त्वज्ञः सर्वभूतभवाभवौ ॥ २४ ॥

तत्त्वज्ञ सुमन्त्रने भी शत्रुघ्नको उठाकर उनके चित्तको शान्त किया तथा समस्त प्राणियोंके जन्म और मरणकी अनिवार्यताका उपदेश सुनाया ॥ २४ ॥

उत्थितौ तौ नरव्याघ्रौ प्रकाशेते यशस्विनौ।
वर्षातपपरिग्लानौ पृथगिन्द्रध्वजाविव ॥ २५ ॥

उस समय उठे हुए वे दोनों यशस्वी नरश्रेष्ठ वर्षा और धूपसे मलिन हुए दो अलग-अलग इन्द्रध्वजोंके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ २५ ॥

अश्रूणि परिमृद्नन्तौ रक्ताक्षौ दीनभाषिणौ।
अमात्यास्त्वरयन्ति स्म तनयौ चापराः क्रियाः ॥ २६ ॥

वे आँसू पोंछते हुए दीनतापूर्ण वाणीमें बोलते थे। उन दोनोंकी आँखें लाल हो गयीं थीं तथा मन्त्रीलोग उन दोनों राजकुमारोंको दूसरी-दूसरी क्रियाएँ शीघ्र करनेके लिये प्रेरित कर रहे थे ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सतहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७७ ॥

अष्टसप्ततितमः सर्गः

शत्रुघ्नका रोष, उनका कुब्जाको घसीटना और भरतजीके कहनेसे उसे मूर्च्छित अवस्थामें छोड़ देना

अथ यात्रां समीहन्तं शत्रुघ्नो लक्ष्मणानुजः।
भरतं शोकसंतप्तमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

तेरहवें दिनका कार्य पूर्ण करके श्रीरामचन्द्रजीके पास जानेका विचार करते हुए शोकसंतप्त भरतसे लक्ष्मणके छोटे भाई शत्रुघ्नने इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

गतिर्यः सर्वभूतानां दुःखे किं पुनरात्मनः।
स रामः सत्त्वसम्पन्नः स्त्रिया प्रव्राजितो वनम् ॥ २ ॥

'भैया! जो दुःखके समय अपने तथा आत्मीयजनोंके लिये तो बात ही क्या है, समस्त प्राणियोंको भी सहारा देनेवाले हैं, वे सत्त्वगुणसम्पन्न श्रीराम एक स्त्रीके द्वारा वनमें भेज दिये गये (यह कितने खेदकी बात है) ॥ २ ॥

बलवान् वीर्यसम्पन्नो लक्ष्मणो नाम योऽप्यसौ।
किं न मोचयते रामं कृत्वापि पितृनिग्रहम् ॥ ३ ॥

'तथा वे जो बल और पराक्रमसे सम्पन्न लक्ष्मण नामधारी शूरवीर हैं, उन्होंने भी कुछ नहीं किया। मैं पूछता हूँ कि उन्होंने पिताको कैद करके भी श्रीरामको इस संकटसे क्यों नहीं छुड़ाया? ॥ ३ ॥

पूर्वमेव तु निग्राह्यः समवेक्ष्य नयानयौ।
उत्पथं यः समारूढो नार्या राजा वशं गतः ॥ ४ ॥

'जब राजा एक नारीके वशमें होकर बुरे मार्गपर आरूढ़ हो चुके थे, तब न्याय और अन्यायका विचार करके उन्हें पहले ही कैद कर लेना चाहिये था' ॥ ४ ॥

इति सम्भाषमाणे तु शत्रुघ्ने लक्ष्मणानुजे।
प्राग्द्वारेऽभूत् तदा कुब्जा सर्वाभरणभूषिता ॥ ५ ॥

लक्ष्मणके छोटे भाई शत्रुघ्न जब इस प्रकार रोषमें भरकर बोल रहे थे, उसी समय कुब्जा समस्त आभूषणोंसे विभूषित हो उस राजभवनके पूर्वद्वारपर आकर खड़ी हो गयी ॥ ५ ॥

लिप्ता चन्दनसारेण राजवस्त्राणि बिभ्रती।
विविधं विविधैस्तैस्तैर्भूषणैश्च विभूषिता ॥ ६ ॥

उसके अङ्गोंमें उत्तमोत्तम चन्दनका लेप लगा हुआ था तथा वह राजरानियोंके पहनने योग्य विविध वस्त्र धारण करके भाँति-भाँतिके आभूषणोंसे सज-धजकर वहाँ आयी थी ॥ ६ ॥

मेखलादामभिश्चित्रैरन्यैश्च वरभूषणैः।
बभासे बहुभिर्बद्धा रज्जुभिरिव वानरी॥ ७॥

करधनीकी विचित्र लड़ियों तथा अन्य बहुसंख्यक सुन्दर अलंकारोंसे अलंकृत हो वह बहुत-सी रस्सियोंमें बँधी हुई वानरीके समान जान पड़ती थी॥ ७॥

तां समीक्ष्य तदा द्वाःस्थो भृशं पापस्य कारिणीम्।
गृहीत्वाकरुणं कुब्जां शत्रुघ्नाय न्यवेदयत्॥ ८॥

वही सारी बुराइयोंकी जड़ थी। वही श्रीरामके वनवासरूपी पापका मूल कारण थी। उसपर दृष्टि पड़ते ही द्वारपालने उसे पकड़ लिया और बड़ी निर्दयताके साथ घसीट लाकर शत्रुघ्नके हाथमें देते हुए कहा—॥ ८॥

यस्याः कृते वने रामो न्यस्तदेहश्च वः पिता।
सेयं पापा नृशंसा च तस्याः कुरु यथामति॥ ९॥

'राजकुमार! जिसके कारण श्रीरामको वनमें निवास करना पड़ा है और आपलोगोंके पिताने शरीरका परित्याग किया है, वह क्रूर कर्म करनेवाली पापिनी यही है। आप इसके साथ जैसा बर्ताव उचित समझें करें'॥ ९॥

शत्रुघ्नश्च तदाज्ञाय वचनं भृशदुःखितः।
अन्तःपुरचरान् सर्वानित्युवाच धृतव्रतः॥ १०॥

द्वारपालकी बातपर विचार करके शत्रुघ्नका दुःख और बढ़ गया। उन्होंने अपने कर्तव्यका निश्चय किया और अन्तःपुरमें रहनेवाले सब लोगोंको सुनाकर इस प्रकार कहा—॥ १०॥

तीव्रमुत्पादितं दुःखं भ्रातॄणां मे तथा पितुः।
यथा सेयं नृशंसस्य कर्मणः फलमश्नुताम्॥ ११॥

'इस पापिनीने मेरे भाइयों तथा पिताको जैसा दुःसह दुःख पहुँचाया है, अपने उस क्रूर कर्मका वैसा ही फल यह भी भोगे'॥

एवमुक्त्वा च तेनाशु सखीजनसमावृता।
गृहीता बलवत् कुब्जा सा तद् गृहमनादयत्॥ १२॥

ऐसा कहकर शत्रुघ्नने सखियोंसे घिरी हुई कुब्जाको तुरंत ही बलपूर्वक पकड़ लिया। वह डरके मारे ऐसा चीखने-चिल्लाने लगी कि वह सारा महल गूँज उठा॥ १२॥

ततः सुभृशसंतप्तस्तस्याः सर्वः सखीजनः।
क्रुद्धमाज्ञाय शत्रुघ्नं व्यपलायत सर्वशः॥ १३॥

फिर तो उसकी सारी सखियाँ अत्यन्त संतप्त हो उठीं और शत्रुघ्नको कुपित जानकर सब ओर भाग चलीं॥ १३॥

अमन्त्रयत कृत्स्नश्च तस्याः सर्वः सखीजनः।
यथायं समुपक्रान्तो निःशेषं नः करिष्यति॥ १४॥

उसकी सम्पूर्ण सखियोंने एक जगह एकत्र होकर आपसमें सलाह की कि 'जिस प्रकार इन्होंने बलपूर्वक कुब्जाको पकड़ा है, उससे जान पड़ता है, ये हमलोगोंमेंसे किसीको जीवित नहीं छोड़ेंगे॥ १४॥

सानुक्रोशां वदान्यां च धर्मज्ञां च यशस्विनीम्।
कौसल्यां शरणं याम: सा हि नोऽस्ति ध्रुवा गतिः॥ १५॥

'अतः हमलोग परम दयालु, उदार, धर्मज्ञ और यशस्विनी महारानी कौसल्याकी शरणमें चलें। इस समय वे ही हमारी निश्चल गति हैं'॥ १५॥

स च रोषेण संवीतः शत्रुघ्नः शत्रुशासनः।
विचकर्ष तदा कुब्जां क्रोशन्तीं पृथिवीतले॥ १६॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले शत्रुघ्न रोषमें भरकर कुब्जाको जमीनपर घसीटने लगे। उस समय वह जोर-जोरसे चीत्कार कर रही थी॥ १६॥

तस्यां ह्याकृष्यमाणायां मन्थरायां ततस्ततः।
चित्रं बहुविधं भाण्डं पृथिव्यां तद्व्यशीर्यत॥ १७॥

जब मन्थरा घसीटी जा रही थी, उस समय उसके नाना प्रकारके विचित्र आभूषण टूट-टूटकर पृथ्वीपर इधर-उधर बिखरे जाते थे॥ १७॥

तेन भाण्डेन विस्तीर्णं श्रीमद् राजनिवेशनम्।
अशोभत तदा भूयः शारदं गगनं यथा॥ १८॥

आभूषणोंके उन टुकड़ोंसे वह शोभाशाली विशाल राजभवन नक्षत्रमालाओंसे अलंकृत शरत्कालके आकाशकी भाँति अधिक सुशोभित हो रहा था॥ १८॥

स बली बलवत् क्रोधाद् गृहीत्वा पुरुषर्षभः।
कैकेयीमभिनिर्भर्त्स्य बभाषे परुषं वचः॥ १९॥

बलवान् नरश्रेष्ठ शत्रुघ्न जिस समय रोषपूर्वक मन्थराको जोरसे पकड़कर घसीट रहे थे, उस समय उसे छुड़ानेके लिये कैकेयी उनके पास आयी। तब उन्होंने उसे धिक्कारते हुए उसके प्रति बड़ी कठोर बातें कहीं—उसे रोषपूर्वक फटकारा॥ १९॥

तैर्वाक्यैः परुषैर्दुःखैः कैकेयी भृशदुःखिता।
शत्रुघ्नभयसंत्रस्ता पुत्रं शरणमागता॥ २०॥

शत्रुघ्नके वे कठोर वचन बड़े ही दुःखदायी थे। उन्हें सुनकर कैकेयीको बहुत दुःख हुआ। वह शत्रुघ्नके भयसे थर्रा उठी और अपने पुत्रकी शरणमें आयी॥ २०॥

तं प्रेक्ष्य भरतः क्रुद्धं शत्रुघ्नमिदमब्रवीत्।
अवध्याः सर्वभूतानां प्रमदाः क्षम्यतामिति॥ २१॥

शत्रुघ्नको क्रोधमें भरा हुआ देख भरतने उनसे कहा—'सुमित्राकुमार! क्षमा करो। स्त्रियाँ सभी प्राणियोंके लिये अवध्य होती हैं॥ २१॥

हन्यामहमिमां पापां कैकेयीं दुष्टचारिणीम्।
यदि मां धार्मिको रामो नासूयेन्मातृघातकम्॥ २२॥

'यदि मुझे यह भय न होता कि धर्मात्मा श्रीराम मातृघाती समझकर मुझसे घृणा करने लगेंगे तो मैं भी इस दुष्ट आचरण करनेवाली पापिनी कैकेयीको मार डालता॥ २२॥

इमामपि हतां कुब्जां यदि जानाति राघवः।
त्वां च मां चैव धर्मात्मा नाभिभाषिष्यते ध्रुवम्॥ २३॥

'धर्मात्मा श्रीरघुनाथजी तो इस कुब्जाके भी मारे जानेका समाचार यदि जान लें तो वे निश्चय ही तुमसे और मुझसे

बोलना भी छोड़ देंगे' ॥ २३ ॥

भरतस्य वचः श्रुत्वा शत्रुघ्नो लक्ष्मणानुजः ।
न्यवर्तत ततो दोषात् तां मुमोच च मूर्च्छिताम् ॥ २४ ॥

भरतजीकी यह बात सुनकर लक्ष्मणके छोटे भाई शत्रुघ्न मन्थराके वधरूपी दोषसे निवृत्त हो गये और उसे मूर्च्छित अवस्थामें ही छोड़ दिया ॥ २४ ॥

सा पादमूले कैकेय्या मन्थरा निपपात ह ।
निःश्वसन्ती सुदुःखार्ता कृपणं विललाप ह ॥ २५ ॥

मन्थरा कैकेयीके चरणोंमें गिर पड़ी और लंबी साँस खींचती हुई अत्यन्त दुःखसे आर्त हो करुण विलाप करने लगी ॥ २५ ॥

शत्रुघ्नविक्षेपविमूढसंज्ञां
समीक्ष्य कुब्जां भरतस्य माता ।
शनैः समाश्वासयदार्तरूपां
क्रौञ्चीं विलग्नामिव वीक्षमाणाम् ॥ २६ ॥

शत्रुघ्नके पटकने और घसीटनेसे आर्त एवं अचेत हुई कुब्जाको देखकर भरतकी माता कैकेयी धीरे-धीरे उसे आश्वासन देने—होशमें लानेकी चेष्टा करने लगी। उस समय कुब्जा पिंजड़ेमें बँधी हुई क्रौञ्चीकी भाँति कातर दृष्टिसे उसकी ओर देख रही थी ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टसप्ततितमः सर्गः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अठहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७८ ॥

—★—

एकोनाशीतितमः सर्गः

मन्त्री आदिका भरतसे राज्य ग्रहण करनेके लिये प्रस्ताव तथा भरतका अभिषेक-सामग्रीकी परिक्रमा करके श्रीरामको ही राज्यका अधिकारी बताकर उन्हें लौटा लानेके लिये चलनेके निमित्त व्यवस्था करनेकी सबको आज्ञा देना

ततः प्रभातसमये दिवसेऽथ चतुर्दशे ।
समेत्य राजकर्तारो भरतं वाक्यमब्रुवन् ॥ १ ॥

तदनन्तर चौदहवें दिन प्रातःकाल समस्त राजकर्मचारी मिलकर भरतसे इस प्रकार बोले— ॥ १ ॥

गतो दशरथः स्वर्गं यो नो गुरुतरो गुरुः ।
रामं प्रव्राज्य वै ज्येष्ठं लक्ष्मणं च महाबलम् ॥ २ ॥
त्वमद्य भव नो राजा राजपुत्रो महायशः ।
संगत्या नापराध्नोति राज्यमेतदनायकम् ॥ ३ ॥

'महायशस्वी राजकुमार! जो हमारे सर्वश्रेष्ठ गुरु थे, वे महाराज दशरथ तो अपने ज्येष्ठ पुत्र श्रीराम तथा महाबली लक्ष्मणको वनमें भेजकर स्वयं स्वर्गलोकको चले गये, अब इस राज्यका कोई स्वामी नहीं है; इसलिये अब आप ही हमारे राजा हों। आपके बड़े भाईको स्वयं महाराजने वनवासकी आज्ञा दी और आपको यह राज्य प्रदान किया। अतः आपका राजा होना न्यायसङ्गत है। इस सङ्गतिके कारण ही आप राज्यको अपने अधिकारमें लेकर किसीके प्रति कोई अपराध नहीं कर रहे हैं ॥ २-३ ॥

आभिषेचनिकं सर्वमिदमादाय राघव ।
प्रतीक्षते त्वां स्वजनः श्रेणयश्च नृपात्मज ॥ ४ ॥

'राजकुमार रघुनन्दन! ये मन्त्री आदि स्वजन, पुरवासी तथा सेठलोग अभिषेककी सब सामग्री लेकर आपकी राह देखते हैं ॥ ४ ॥

राज्यं गृहाण भरत पितृपैतामहं ध्रुवम् ।
अभिषेचय चात्मानं पाहि चास्मान् नरर्षभ ॥ ५ ॥

'भरतजी! आप अपने माता-पितामहोंके इस राज्यको अवश्य ग्रहण कीजिये। नरश्रेष्ठ! राजाके पदपर अपना अभिषेक कराइये और हमलोगोंकी रक्षा कीजिये' ॥ ५ ॥

आभिषेचनिकं भाण्डं कृत्वा सर्वं प्रदक्षिणम् ।
भरतस्तं जनं सर्वं प्रत्युवाच धृतव्रतः ॥ ६ ॥

यह सुनकर उत्तम व्रतको धारण करनेवाले भरतने अभिषेकके लिये रखी हुई कलश आदि सब सामग्रीकी प्रदक्षिणा की और वहाँ उपस्थित हुए सब लोगोंको इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ ६ ॥

ज्येष्ठस्य राजता नित्यमुचिता हि कुलस्य नः ।
नैवं भवन्तो मां वक्तुमर्हन्ति कुशला जनाः ॥ ७ ॥

'सज्जनो! आपलोग बुद्धिमान् हैं, आपको मुझसे ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये। हमारे कुलमें सदा ज्येष्ठ पुत्र ही राज्यका अधिकारी होता आया है और यही उचित भी है ॥

रामः पूर्वो हि नो भ्राता भविष्यति महीपतिः ।
अहं त्वरण्ये वत्स्यामि वर्षाणि नव पञ्च च ॥ ८ ॥

'श्रीरामचन्द्रजी हमलोगोंके बड़े भाई हैं, अतः वे ही राजा होंगे। उनके बदले मैं ही चौदह वर्षोंतक वनमें निवास करूँगा ॥ ८ ॥

युज्यतां महती सेना चतुरङ्गमहाबला ।
आनयिष्याम्यहं ज्येष्ठं भ्रातरं राघवं वनात् ॥ ९ ॥

'आपलोग विशाल चतुरङ्गिणी सेना, जो सब प्रकारसे सबल हो, तैयार कीजिये। मैं अपने ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामचन्द्रजीको वनसे लौटा लाऊँगा ॥ ९ ॥

आभिषेचनिकं चैव सर्वमेतदुपस्कृतम् ।
पुरस्कृत्य गमिष्यामि रामहेतोर्वनं प्रति ॥ १० ॥

तत्रैव तं नरव्याघ्रमभिषिच्य पुरस्कृतम्।
आनयिष्यामि वै रामं हव्यवाहमिवाध्वरात्॥ ११॥

'अभिषेकके लिये संचित हुई इस सारी सामग्रीको आगे करके मैं श्रीरामसे मिलनेके लिये वनमें चलूँगा और उन नरश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीका वहीं अभिषेक करके यज्ञसे लायी जानेवाली अग्निके समान उन्हें आगे करके अयोध्यामें ले आऊँगा॥

न सकामां करिष्यामि स्वामिमां मातृगन्धिनीम्।
वने वत्स्याम्यहं दुर्गे रामो राजा भविष्यति॥ १२॥

'परंतु जिसमें लेशमात्र मातृभाव शेष है, अपनी माता कहलानेवाली इस कैकेयीको मैं कदापि सफलमनोरथ नहीं होने दूँगा। श्रीराम यहाँके राजा होंगे और मैं दुर्गम वनमें निवास करूँगा॥ १२॥

क्रियतां शिल्पिभिः पन्थाः समानि विषमाणि च।
रक्षिणश्चानुसंयान्तु पथि दुर्गविचारकाः॥ १३॥

'कारीगर आगे जाकर रास्ता बनायें, ऊँची-नीची भूमिको बराबर करें तथा मार्गमें दुर्गम स्थानोंकी जानकारी रखनेवाले रक्षक भी साथ-साथ चलें'॥ १३॥

एवं सम्भाषमाणं तं रामहेतोर्नृपात्मजम्।
प्रत्युवाच जनः सर्वः श्रीमद् वाक्यमनुत्तमम्॥ १४॥

श्रीरामचन्द्रजीके लिये ऐसी बातें कहते हुए राजकुमार भरतसे वहाँ आये हुए सब लोगोंने इस प्रकार सुन्दर एवं परम उत्तम बात कही—॥ १४॥

एवं ते भाषमाणस्य पद्मा श्रीरुपतिष्ठताम्।
यस्त्वं ज्येष्ठे नृपसुते पृथिवीं दातुमिच्छसि॥ १५॥

'भरतजी! ऐसे उत्तम वचन कहनेवाले आपके पास कमलवनमें निवास करनेवाली लक्ष्मी अवस्थित हों; क्योंकि आप राजाके ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामको स्वयं ही इस पृथिवीका राज्य लौटा देना चाहते हैं'॥ १५॥

अनुत्तमं तद्वचनं नृपात्मजः
प्रभाषितं संश्रवणे निशम्य च।
प्रहर्षजास्तं प्रति बाष्पबिन्दवो
निपेतुरार्याननेत्रसम्भवाः॥ १६॥

उन लोगोंका कहा हुआ वह परम उत्तम आशीर्वचन जब कानमें पड़ा, तब उसे सुनकर राजकुमार भरतको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन सबकी ओर देखकर भरतके मुखमण्डलमें सुशोभित होनेवाले नेत्रोंसे हर्षजनित आँसुओंकी बूँदें गिरने लगीं॥ १६॥

ऊचुस्ते वचनमिदं निशम्य हृष्टाः
सामात्याः सपरिषदो वियातशोकाः।
पन्थानं नरवरभक्तिमान् जनश्च
व्यादिष्टस्तव वचनाच्च शिल्पिवर्गः॥ १७॥

भरतके मुखसे श्रीरामको ले आनेकी बात सुनकर उस सभाके सभी सदस्यों और मन्त्रियोंसहित समस्त राजकर्मचारी हर्षसे खिल उठे। उनका सारा शोक दूर हो गया और वे भरतसे बोले—'नरश्रेष्ठ! आपकी आज्ञाके अनुसार राजपरिवारके प्रति भक्तिभाव रखनेवाले कारीगरों और रक्षकोंको मार्ग ठीक करनेके लिये भेज दिया गया है'॥ १७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनाशीतितमः सर्गः॥ ७९॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें उन्नासीवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ७९॥

अशीतितमः सर्गः

अयोध्यासे गङ्गातटतक सुरम्य शिविर और कूप आदिसे युक्त सुखद राजमार्गका निर्माण

अथ भूमिप्रदेशज्ञाः सूत्रकर्मविशारदाः।
स्वकर्माभिरताः शूराः खनका यन्त्रकास्तथा॥ १॥
कर्मान्तिकाः स्थपतयः पुरुषा यन्त्रकोविदाः।
तथा वर्धकयश्चैव मार्गिणो वृक्षतक्षकाः॥ २॥
सूपकाराः सुधाकारा वंशचर्मकृतस्तथा।
समर्था ये च द्रष्टारः पुरतश्च प्रतस्थिरे॥ ३॥

तत्पश्चात् ऊँची-नीची एवं सजल-निर्जल भूमिका ज्ञान रखनेवाले, सूत्रकर्म (छावनी आदि बनानेके लिये सूत धारण करने) में कुशल, मार्गकी रक्षा आदि अपने कर्ममें सदा सावधान रहनेवाले शूर-वीर, भूमि खोदने या सुरङ्ग आदि बनानेवाले, नदी आदि पार करनेके लिये तुरंत साधन उपस्थित करनेवाले अथवा जलके प्रवाहको रोकनेवाले वेतनभोगी कारीगर, थवई, रथ और यन्त्र आदि बनानेवाले पुरुष, बढ़ई, मार्गरक्षक, पेड़ काटनेवाले, रसोइये, चूनेसे पोतने आदिका काम करनेवाले, बाँसकी चटाई और सूप आदि बनानेवाले, चमड़ेका चारजामा आदि बनानेवाले तथा रास्तेकी विशेष जानकारी रखनेवाले सामर्थ्यशाली पुरुषोंने पहले प्रस्थान किया॥ १—३॥

स तु हर्षात् तमुद्देशं जनौघो विपुलः प्रयान्।
अशोभत महावेगः सागरस्येव पर्वणि॥ ४॥

उस समय मार्ग ठीक करनेके लिये एक विशाल जनसमुदाय बड़े हर्षके साथ वनप्रदेशकी ओर अग्रसर हुआ, जो पूर्णिमाके दिन उमड़े हुए समुद्रके महान् वेगकी भाँति शोभा पा रहा था॥ ४॥

ते स्ववारं समास्थाय वर्त्मकर्मणि कोविदाः।
करणैर्विविधोपेतैः पुरस्तात् सम्प्रतस्थिरे॥ ५॥

वे मार्ग-निर्माणमें निपुण कारीगर अपना-अपना दल साथ लेकर अनेक प्रकारके औजारोंके साथ आगे चल दिये॥ ५॥

लता वल्लीश्च गुल्मांश्च स्थाणूनश्मन एव च।
जनास्ते चक्रिरे मार्गं छिन्दन्तो विविधान् द्रुमान्॥ ६॥

वे लोग लताएँ, बेलें, झाड़ियाँ, ठूँठे वृक्ष तथा पत्थरोंको हटाते और नाना प्रकारके वृक्षोंको काटते हुए मार्ग तैयार करने लगे॥ ६॥

अवृक्षेषु च देशेषु केचिद् वृक्षानरोपयन्।
केचित् कुठारैष्टङ्कैश्च दात्रैश्छिन्दन् क्वचित् क्वचित्॥ ७॥

जिन स्थानोंमें वृक्ष नहीं थे, वहाँ कुछ लोगोंने वृक्ष भी लगाये। कुछ कारीगरोंने कुल्हाड़ों, टंकों (पत्थर तोड़नेके औजारों) तथा हँसियोंसे कहीं-कहीं वृक्षों और घासोंको काट-काटकर रास्ता साफ किया॥ ७॥

अपरे वीरणस्तम्बान् बलिनो बलवत्तराः।
विधमन्ति स्म दुर्गाणि स्थलानि च ततस्ततः॥ ८॥
अपरेऽपूरयन् कूपान् पांसुभिः श्वभ्रमायतम्।
निम्नभागांस्तथैवाशु समांश्चक्रुः समन्ततः॥ ९॥

अन्य प्रबल मनुष्योंने जिनकी जड़ें नीचेतक जमी हुई थीं, उन कुश, कास आदिके झुरमुटोंको हाथोंसे ही उखाड़ फेंका। वे जहाँ-तहाँ ऊँचे-नीचे दुर्गम स्थानोंको खोद-खोदकर बराबर कर देते थे। दूसरे लोग कुओं और लंबे-चौड़े गड्ढोंको धूलोंसे ही पाट देते थे। जो स्थान नीचे होते, वहाँ सब ओरसे मिट्टी डालकर वे उन्हें शीघ्र ही बराबर कर देते थे॥ ८-९॥

बबन्धुर्बन्धनीयांश्च क्षोद्यान् संचुक्षुदुस्तथा।
बिभिदुर्भेदनीयांश्च तांस्तान् देशान् नरास्तदा॥ १०॥

उन्होंने जहाँ पुल बाँधनेके योग्य पानी देखा, वहाँ पुल बाँध दिये। जहाँ कँकरीली जमीन दिखायी दी, वहाँ उसे ठोक-पीटकर मुलायम कर दिया और जहाँ पानी बहनेके लिये मार्ग बनाना आवश्यक समझा, वहाँ बाँध काट दिया। इस प्रकार विभिन्न देशोंमें वहाँकी आवश्यकताके अनुसार कार्य किया॥ १०॥

अचिरेण तु कालेन परिवाहान् बहूदकान्।
चक्रुर्बहुविधाकारान् सागरप्रतिमान् बहून्॥ ११॥

छोटे-छोटे सोतोंको, जिनका पानी सब ओर बह जाया करता था, चारों ओरसे बाँधकर शीघ्र ही अधिक जलवाला बना दिया। इस तरह थोड़े ही समयमें उन्होंने भिन्न-भिन्न आकार-प्रकारके बहुत-से सरोवर तैयार कर दिये, जो अगाध जलसे भरे होनेके कारण समुद्रके समान जान पड़ते थे॥ ११॥

निर्जलेषु च देशेषु खानयामासुरुत्तमान्।
उदपानान् बहुविधान् वेदिकापरिमण्डितान्॥ १२॥

निर्जल स्थानोंमें नाना प्रकारके अच्छे-अच्छे कुएँ और बावड़ी आदि बनवा दिये, जो आस-पास बनी हुई वेदिकाओंसे अलंकृत थे॥ १२॥

ससुधाकुट्टिमतलः प्रपुष्पितमहीरुहः।
मत्तोद्घुष्टद्विजगणः पताकाभिरलंकृतः॥ १३॥
चन्दनोदकसंसिक्तो नानाकुसुमभूषितः।
बह्वशोभत सेनायाः पन्थाः सुरपथोपमः॥ १४॥

इस प्रकार सेनाका वह मार्ग देवताओंके मार्गकी भाँति अधिक शोभा पाने लगा। उसकी भूमिपर चूना-सुर्खी और कंकरीट बिछाकर उसे कूट-पीटकर पक्का कर दिया गया था। उसके किनारे-किनारे फूलोंसे सुशोभित वृक्ष लगाये गये थे। वहाँके वृक्षोंपर मतवाले पक्षी चहक रहे थे। सारे मार्गको पताकाओंसे सजा दिया गया था, उसपर चन्दनमिश्रित जलका छिड़काव किया गया था तथा अनेक प्रकारके फूलोंसे वह सड़क सजायी गयी थी॥ १३-१४॥

आज्ञाप्याथ यथाज्ञप्ति युक्तास्तेऽधिकृता नराः।
रमणीयेषु देशेषु बहुस्वादुफलेषु च॥ १५॥
यो निवेशस्त्वभिप्रेतो भरतस्य महात्मनः।
भूयस्तं शोभयामासुर्भूषाभिर्भूषणोपमम्॥ १६॥

मार्ग बन जानेपर जहाँ-तहाँ छावनी आदि बनानेके लिये जिन्हें अधिकार दिया गया था, कार्यमें दत्त-चित्त रहनेवाले उन लोगोंने भरतकी आज्ञाके अनुसार सेवकोंको काम करनेका आदेश देकर जहाँ स्वादिष्ट फलोंकी अधिकता थी उन सुन्दर प्रदेशोंमें छावनियाँ बनवायीं और जो भरतको अभीष्ट था, मार्गके भूषण-रूप उस शिविरको नाना प्रकारके अलंकारोंसे और भी सजा दिया॥ १५-१६॥

नक्षत्रेषु प्रशस्तेषु मुहूर्तेषु च तद्विदः।
निवेशान् स्थापयामासुर्भरतस्य महात्मनः॥ १७॥

वास्तु-कर्मके ज्ञाता विद्वानोंने उत्तम नक्षत्रों और मुहूर्तोंमें महात्मा भरतके ठहरनेके लिये जो-जो स्थान बने थे, उनकी प्रतिष्ठा करवायी॥ १७॥

बहुपांसुचयाश्चापि परिखाः परिवारिताः।
तत्रेन्द्रनीलप्रतिमाः प्रतोलीवरशोभिताः॥ १८॥
प्रासादमालासंयुक्ताः सौधप्राकारसंवृताः।
पताकाशोभिताः सर्वे सुनिर्मितमहापथाः॥ १९॥
विसर्पद्भिरिवाकाशे विटङ्काग्रविमानकैः।
समुच्छ्रितैर्निवेशास्ते बभुः शक्रपुरोपमाः॥ २०॥

मार्गमें बने हुए वे निवेश (विश्राम-स्थान) इन्द्रपुरीके समान शोभा पाते थे। उनके चारों ओर खाइयाँ खोदी गयी थीं, धूल-मिट्टीके ऊँचे ढेर लगाये गये थे। खेमोंके भीतर इन्द्रनीलमणिकी बनी हुई प्रतिमाएँ सजायी गयी थीं।

गलियों और सड़कोंसे उनकी विशेष शोभा होती थी। राजकीय गृहों और देवस्थानोंसे युक्त वे शिविर चूने पुते हुए प्राकारों (चहारदीवारियों)-से घिरे थे। सभी विश्रामस्थान पताकाओंसे सुशोभित थे। सर्वत्र बड़ी-बड़ी सड़कोंका सुन्दर ढंगसे निर्माण किया गया था। विटङ्कों (कबूतरोंके रहनेके स्थानों—काबकों) और ऊँचे-ऊँचे श्रेष्ठ विमानोंके कारण उन सभी शिविरोंकी बड़ी शोभा हो रही थी॥ १८—२०॥

जाह्नवीं तु समासाद्य विविधद्रुमकाननाम्।
शीतलामलपानीयां महामीनसमाकुलाम्॥ २१॥

सचन्द्रतारागणमण्डितं यथा
नभः क्षपायाममलं विराजते।
नरेन्द्रमार्गः स तदा व्यराजत
क्रमेण रम्यः शुभशिल्पिनिर्मितः॥ २२॥

नाना प्रकारके वृक्षों और वनोंसे सुशोभित, शीतल निर्मल जलसे भरी हुई और बड़े-बड़े मत्स्योंसे व्याप्त गङ्गाके किनारेतक बना हुआ वह रमणीय राजमार्ग उस समय बड़ी शोभा पा रहा था। अच्छे कारीगरोंने उसका निर्माण किया था। रात्रिके समय वह चन्द्रमा और तारागणोंसे मण्डित निर्मल आकाशके समान सुशोभित होता था॥ २१-२२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽशीतितमः सर्गः॥ ८०॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अस्सीवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ८०॥

—★—

एकाशीतितमः सर्गः

प्रातःकालके मङ्गलवाद्य-घोषको सुनकर भरतका दुःखी होना और उसे बंद कराकर विलाप करना, वसिष्ठजीका सभामें आकर मन्त्री आदिको बुलानेके लिये दूत भेजना

ततो नान्दीमुखीं रात्रिं भरतं सूतमागधाः।
तुष्टुवुः सविशेषज्ञाः स्तवैर्मङ्गलसंस्तवैः॥ १॥

इधर अयोध्यामें उस अभ्युदयसूचक रात्रिका थोड़ा-सा ही भाग अवशिष्ट देख स्तुति-कलाके विशेषज्ञ सूत और मागधोंने मङ्गलमयी स्तुतियोंद्वारा भरतका स्तवन आरम्भ किया॥ १॥

सुवर्णकोणाभिहतः प्राणदद्यामदुन्दुभिः।
दध्मुः शङ्खांश्च शतशो वाद्यांश्चोच्चावचस्वरान्॥ २॥

प्रहरकी समाप्तिको सूचित करनेवाली दुन्दुभि सोनेके डंडेसे आहत होकर बज उठी। बाजे बजानेवालोंने शङ्ख तथा दूसरे-दूसरे नाना प्रकारके सैकड़ों बाजे बजाये॥ २॥

स तूर्यघोषः सुमहान् दिवमापूरयन्निव।
भरतं शोकसंतप्तं भूयः शोकैररन्ध्रयत्॥ ३॥

वाद्योंका वह महान् तुमुल घोष समस्त आकाशको व्याप्त करता हुआ-सा गूँज उठा और शोकसंतप्त भरतको पुनः शोकाग्निकी आँचसे राँधने लगा॥ ३॥

ततः प्रबुद्धो भरतस्तं घोषं संनिवर्त्य च।
नाहं राजेति चोक्त्वा तं शत्रुघ्नमिदमब्रवीत्॥ ४॥

वाद्योंकी उस ध्वनिसे भरतकी नींद खुल गयी; वे जाग उठे और 'मैं राजा नहीं हूँ' ऐसा कहकर उन्होंने उन बाजोंका बजना बंद करा दिया। तत्पश्चात् वे शत्रुघ्नसे बोले—॥ ४॥

पश्य शत्रुघ्न कैकेय्या लोकस्यापकृतं महत्।
विसृज्य मयि दुःखानि राजा दशरथो गतः॥ ५॥

'शत्रुघ्न! देखो तो सही, कैकेयीने जगत्‌का कितना महान् अपकार किया है। महाराज दशरथ मुझपर बहुत-से दुःखोंका बोझ डालकर स्वर्गलोकको चले गये॥ ५॥

तस्यैषा धर्मराजस्य धर्ममूला महात्मनः।
परिभ्रमति राजश्रीर्नौरिवाकर्णिका जले॥ ६॥

'आज उन धर्मराज महामना नरेशकी यह धर्ममूला राजलक्ष्मी जलमें पड़ी हुई बिना नाविककी नौकाके समान इधर-उधर डगमगा रही है॥ ६॥

यो हि नः सुमहान् नाथः सोऽपि प्रव्राजितो वने।
अनया धर्ममुत्सृज्य मात्रा मे राघवः स्वयम्॥ ७॥

'जो हमलोगोंके सबसे बड़े स्वामी और संरक्षक हैं, उन श्रीरघुनाथजीको भी स्वयं मेरी इस माताने धर्मको तिलाञ्जलि देकर वनमें भेज दिया'॥ ७॥

इत्येवं भरतं वीक्ष्य विलपन्तमचेतनम्।
कृपणा रुरुदुः सर्वाः सुस्वरं योषितस्तदा॥ ८॥

उस समय भरतको इस प्रकार अचेत हो-होकर विलाप करते देख रनिवासकी सारी स्त्रियाँ दीनभावसे फूट-फूटकर रोने लगीं॥ ८॥

तथा तस्मिन् विलपति वसिष्ठो राजधर्मवित्।
सभामिक्ष्वाकुनाथस्य प्रविवेश महायशाः॥ ९॥

जब भरत इस प्रकार विलाप कर रहे थे, उसी समय राजधर्मके ज्ञाता महायशस्वी महर्षि वसिष्ठने इक्ष्वाकुनाथ राजा दशरथके सभाभवनमें प्रवेश किया॥ ९॥

शातकुम्भमयीं रम्यां मणिहेमसमाकुलाम्।
सुधर्मामिव धर्मात्मा सगणः प्रत्यपद्यत॥ १०॥
स काञ्चनमयं पीठं स्वस्त्यास्तरणसंवृतम्।
अध्यास्त सर्ववेदज्ञो दूताननुशशास च॥ ११॥

वह सभाभवन अधिकांश सुवर्णका बना हुआ था। उसमें सोनेके खम्भे लगे थे। वह रमणीय सभा देवताओंकी

सुधर्मा सभाके समान शोभा पाती थी। सम्पूर्ण वेदोंके ज्ञाता धर्मात्मा वसिष्ठने अपने शिष्यगणके साथ उस सभामें पदार्पण किया और सुवर्णमय पीठपर जो स्वस्तिकाकार बिछौनेसे ढका हुआ था, वे विराजमान हुए। आसन ग्रहण करनेके पश्चात् उन्होंने दूतोंको आज्ञा दी— ॥ १०-११ ॥

ब्राह्मणान् क्षत्रियान् योधानमात्यान् गणवल्लभान्।
क्षिप्रमानयताव्यग्राः कृत्यमात्ययिकं हि नः ॥ १२ ॥
सराजपुत्रं शत्रुघ्नं भरतं च यशस्विनम्।
युधाजितं सुमन्त्रं च ये च तत्र हिता जनाः ॥ १३ ॥

'तुमलोग शान्तभावसे जाकर ब्राह्मणों, क्षत्रियों, योद्धाओं, अमात्यों और सेनापतियोंको शीघ्र बुला लाओ। अन्य राजकुमारोंके साथ यशस्वी भरत और शत्रुघ्नको, मन्त्री युधाजित् और सुमन्त्रको तथा और भी जो हितैषी पुरुष वहाँ हों उन सबको शीघ्र बुलाओ। हमें उनसे बहुत ही आवश्यक कार्य है' ॥ १२-१३ ॥

ततो हलहलाशब्दो महान् समुदपद्यत।
रथैरश्वैर्गजैश्चापि जनानामुपगच्छताम् ॥ १४ ॥

तदनन्तर घोड़े, हाथी और रथोंसे आनेवाले लोगोंका महान् कोलाहल आरम्भ हुआ ॥ १४ ॥

ततो भरतमायान्तं शतक्रतुमिवामराः।
प्रत्यनन्दन् प्रकृतयो यथा दशरथं तथा ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् जैसे देवता इन्द्रका अभिनन्दन करते हैं, उसी प्रकार समस्त प्रकृतियों (मन्त्री-प्रजा आदि) ने आते हुए भरतका राजा दशरथकी ही भाँति अभिनन्दन किया ॥ १५ ॥

ह्रद इव तिमिनागसंवृतः
स्तिमितजलो मणिशङ्खशर्करः।
दशरथसुतशोभिता सभा
सदशरथेव बभूव सा पुरा ॥ १६ ॥

तिमिनामक महान् मत्स्य और जलहस्तीसे युक्त, स्थिर जलवाले तथा मुक्ता आदि मणियोंसे युक्त शङ्ख और बालुकावाले समुद्रके जलाशयकी भाँति वह सभा दशरथपुत्र भरतसे सुशोभित होकर वैसी ही शोभा पाने लगी, जैसे पूर्वकालमें राजा दशरथकी उपस्थितिसे शोभा पाती थी* ॥ १६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकाशीतितमः सर्गः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें इक्यासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८१ ॥

—★—

द्व्यशीतितमः सर्गः

वसिष्ठजीका भरतको राज्यपर अभिषिक्त होनेके लिये आदेश देना तथा भरतका उसे अनुचित बताकर अस्वीकार करना और श्रीरामको लौटा लानेके लिये वनमें चलनेकी तैयारीके निमित्त सबको आदेश देना

तामार्यगणसम्पूर्णां भरतः प्रग्रहां सभाम्।
ददर्श बुद्धिसम्पन्नः पूर्णचन्द्रां निशामिव ॥ १ ॥

बुद्धिमान् भरतने उत्तम ग्रह-नक्षत्रोंसे सुशोभित और पूर्ण चन्द्रमण्डलसे प्रकाशित रात्रिकी भाँति उस सभाको देखा। वह श्रेष्ठ पुरुषोंकी मण्डलीसे भरी-पूरी तथा वसिष्ठ आदि श्रेष्ठ मुनियोंकी उपस्थितिसे शोभायमान थी ॥ १ ॥

आसनानि यथान्यायमार्याणां विशतां तदा।
वस्त्राङ्गरागप्रभया द्योतिता सा सभोत्तमा ॥ २ ॥

उस समय यथायोग्य आसनोंपर बैठे हुए आर्य पुरुषोंके वस्त्रों तथा अङ्गरागोंकी प्रभासे वह उत्तम सभा अधिक दीप्तिमती हो उठी थी ॥ २ ॥

सा विद्वज्जनसम्पूर्णा सभा सुरुचिरा तथा।
अदृश्यत घनापाये पूर्णचन्द्रेव शर्वरी ॥ ३ ॥

जैसे वर्षाकाल व्यतीत होनेपर शरद्‌ऋतुकी पूर्णिमाको पूर्ण चन्द्रमण्डलसे अलंकृत रजनी बड़ी मनोहर दिखायी देती है, उसी प्रकार विद्वानोंके समुदायसे भरी हुई वह सभा बड़ी सुन्दर दिखायी देती थी ॥ ३ ॥

राज्ञस्तु प्रकृतीः सर्वाः स सम्प्रेक्ष्य च धर्मवित्।
इदं पुरोहितो वाक्यं भरतं मृदु चाब्रवीत् ॥ ४ ॥

उस समय धर्मके ज्ञाता पुरोहित वसिष्ठजीने राजाकी सम्पूर्ण प्रकृतियोंको उपस्थित देख भरतसे यह मधुर वचन कहा— ॥

तात राजा दशरथः स्वर्गतो धर्ममाचरन्।
धनधान्यवतीं स्फीतां प्रदाय पृथिवीं तव ॥ ५ ॥

'तात! राजा दशरथ यह धन-धान्यसे परिपूर्ण समृद्धिशालिनी पृथिवी तुम्हें देकर स्वयं धर्मका आचरण करते हुए स्वर्गवासी हुए हैं ॥ ५ ॥

* यहाँ सभा उपमेय और ह्रद (जलाशय) उपमान है। जलाशयके जो विशेषण दिये गये हैं, वे सभामें इस प्रकार संगत होते हैं—सभामें तिमि और जलहस्तीके चित्र लगे हैं। स्थिर जलकी जगह उसमें स्थिर तेज है, खम्भोंमें मणियाँ जड़ी गयी हैं, शङ्खके चित्र हैं तथा फर्शमें सोनेका लेप लगा है, जो स्वर्णबालुका-सा प्रतीत होता है।

रामस्तथा सत्यवृत्तिः सतां धर्ममनुस्मरन्।
नाजहात् पितुरादेशं शशी ज्योत्स्नामिवोदितः॥ ६॥

'सत्यपूर्ण बर्ताव करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीने सत्पुरुषोंके धर्मका विचार करके पिताकी आज्ञाका उसी प्रकार उल्लङ्घन नहीं किया, जैसे उदित चन्द्रमा अपनी चाँदनीको नहीं छोड़ता है॥ ६॥

पित्रा भ्रात्रा च ते दत्तं राज्यं निहतकण्टकम्।
तद् भुङ्क्ष्व मुदितामात्यः क्षिप्रमेवाभिषेचय॥ ७॥
उदीच्याश्च प्रतीच्याश्च दाक्षिणात्याश्च केवलाः।
कोट्यापरान्ताः सामुद्रा रत्नान्युपहरन्तु ते॥ ८॥

'इस प्रकार पिता और ज्येष्ठ भ्राता—दोनोंने ही तुम्हें यह अकण्टक राज्य प्रदान किया है। अतः तुम मन्त्रियोंको प्रसन्न रखते हुए इसका पालन करो और शीघ्र ही अपना अभिषेक करा लो। जिससे उत्तर, पश्चिम, दक्षिण, पूर्व और अपरान्त देशके निवासी राजा तथा समुद्रमें जहाजोंद्वारा व्यापार करनेवाले व्यवसायी तुम्हें असंख्य रत्न प्रदान करें॥ ७-८॥

तच्छ्रुत्वा भरतो वाक्यं शोकेनाभिपरिप्लुतः।
जगाम मनसा रामं धर्मज्ञो धर्मकाङ्क्षया॥ ९॥

यह बात सुनकर धर्मज्ञ भरत शोकमें डूब गये और धर्म-पालनकी इच्छासे उन्होंने मन-ही-मन श्रीरामकी शरण ली॥

सबाष्पकलया वाचा कलहंसस्वरो युवा।
विललाप सभामध्ये जगर्हे च पुरोहितम्॥ १०॥

नवयुवक भरत उस भरी सभामें आँसू बहाते हुए गद्गद वाणीद्वारा कलहंसके समान मधुर स्वरसे विलाप करने और पुरोहितजीको उपालम्भ देने लगे—॥ १०॥

चरितब्रह्मचर्यस्य विद्यास्नातस्य धीमतः।
धर्मे प्रयतमानस्य को राज्यं मद्विधो हरेत्॥ ११॥

'गुरुदेव! जिन्होंने ब्रह्मचर्यका पालन किया, जो सम्पूर्ण विद्याओंमें निष्णात हुए तथा जो सदा ही धर्मके लिये प्रयत्नशील रहते हैं, उन बुद्धिमान् श्रीरामचन्द्रजीके राज्यका मेरे-जैसा कौन मनुष्य अपहरण कर सकता है?॥ ११॥

कथं दशरथाज्जातो भवेद् राज्यापहारकः।
राज्यं चाहं च रामस्य धर्मं वक्तुमिहार्हसि॥ १२॥

'महाराज दशरथका कोई भी पुत्र बड़े भाईके राज्यका अपहरण कैसे कर सकता है? यह राज्य और मैं दोनों ही श्रीरामके हैं; यह समझकर आपको इस सभामें धर्मसंगत बात कहनी चाहिये (अन्याययुक्त नहीं)॥ १२॥

ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च धर्मात्मा दिलीपनहुषोपमः।
लब्धुमर्हति काकुत्स्थो राज्यं दशरथो यथा॥ १३॥

'धर्मात्मा श्रीराम मुझसे अवस्थामें बड़े और गुणोंमें भी श्रेष्ठ हैं। वे दिलीप और नहुषके समान तेजस्वी हैं; अतः महाराज दशरथकी भाँति वे ही इस राज्यको पानेके अधिकारी हैं॥ १३॥

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यं कुर्यां पापमहं यदि।
इक्ष्वाकूणामहं लोके भवेयं कुलपांसनः॥ १४॥

'पापका आचरण तो नीच पुरुष करते हैं। वह मनुष्यको निश्चय ही नरकमें डालनेवाला है। यदि श्रीरामचन्द्रजीका राज्य लेकर मैं भी पापाचरण करूँ तो संसारमें इक्ष्वाकुकुलका कलंक समझा जाऊँगा॥ १४॥

यद्धि मात्रा कृतं पापं नाहं तदपि रोचये।
इहस्थो वनदुर्गस्थं नमस्यामि कृताञ्जलिः॥ १५॥

'मेरी माताने जो पाप किया है, उसे मैं कभी पसंद नहीं करता; इसीलिये यहाँ रहकर भी मैं दुर्गम वनमें निवास करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीको हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ॥ १५॥

राममेवानुगच्छामि स राजा द्विपदां वरः।
त्रयाणामपि लोकानां राघवो राज्यमर्हति॥ १६॥

'मैं श्रीरामका ही अनुसरण करूँगा। मनुष्योंमें श्रेष्ठ श्रीरघुनाथजी ही इस राज्यके राजा हैं। वे तीनों ही लोकोंके राजा होनेयोग्य हैं'॥ १६॥

तद्वाक्यं धर्मसंयुक्तं श्रुत्वा सर्वे सभासदः।
हर्षान्मुमुचुरश्रूणि रामे निहितचेतसः॥ १७॥

भरतका वह धर्मयुक्त वचन सुनकर सभी सभासद् श्रीराममें चित्त लगाकर हर्षके आँसू बहाने लगे॥ १७॥

यदि त्वार्यं न शक्ष्यामि विनिवर्तयितुं वनात्।
वने तत्रैव वत्स्यामि यथार्यो लक्ष्मणस्तथा॥ १८॥

भरतने फिर कहा—'यदि मैं आर्य श्रीरामको वनसे न लौटा सकूँगा तो स्वयं भी नरश्रेष्ठ लक्ष्मणकी भाँति वहीं निवास करूँगा॥ १८॥

सर्वोपायं तु वर्तिष्ये विनिवर्तयितुं बलात्।
समक्षमार्यमिश्राणां साधूनां गुणवर्तिनाम्॥ १९॥

'मैं आप सभी सद्गुणयुक्त बर्ताव करनेवाले पूजनीय श्रेष्ठ सभासदोंके समक्ष श्रीरामचन्द्रजीको बलपूर्वक लौटा लानेके लिये सारे उपायोंसे चेष्टा करूँगा॥ १९॥

विष्टिकर्मान्तिकाः सर्वे मार्गशोधकदक्षकाः।
प्रस्थापिता मया पूर्वं यात्रा च मम रोचते॥ २०॥

'मैंने मार्गशोधनमें कुशल सभी अवैतनिक तथा वेतनभोगी कार्यकर्ताओंको पहले ही यहाँसे भेज दिया है। अतः मुझे श्रीरामचन्द्रजीके पास चलना ही अच्छा जान पड़ता है'॥ २०॥

एवमुक्त्वा तु धर्मात्मा भरतो भ्रातृवत्सलः।
समीपस्थमुवाचेदं सुमन्त्रं मन्त्रकोविदम्॥ २१॥

सभासदोंसे ऐसा कहकर भ्रातृवत्सल धर्मात्मा भरत पास बैठे हुए मन्त्रवेत्ता सुमन्त्रसे इस प्रकार बोले—॥ २१॥

तूर्णमुत्थाय गच्छ त्वं सुमन्त्र मम शासनात्।
यात्रामाज्ञापय क्षिप्रं बलं चैव समानय॥ २२॥

'सुमन्त्रजी ! आप जल्दी उठकर जाइये और मेरी आज्ञासे सबको वनमें चलनेका आदेश सूचित कर दीजिये और सेनाको भी शीघ्र ही बुला भेजिये' ॥ २२ ॥

एवमुक्तः सुमन्त्रस्तु भरतेन महात्मना ।
प्रहृष्टः सोऽदिशत् सर्वं यथासंदिष्टमिष्टवत् ॥ २३ ॥

महात्मा भरतके ऐसा कहनेपर सुमन्त्रने बड़े हर्षके साथ सबको उनके कथनानुसार वह प्रिय संदेश सुना दिया ॥ २३ ॥

ताः प्रहृष्टाः प्रकृतयो बलाध्यक्षा बलस्य च ।
श्रुत्वा यात्रां समाज्ञप्तां राघवस्य निवर्तने ॥ २४ ॥

'श्रीरामचन्द्रजीको लौटा लानेके लिये भरत जायँगे और उनके साथ जानेके लिये सेनाको भी आदेश प्राप्त हुआ है'—यह समाचार सुनकर वे सभी प्रजाजन तथा सेनापतिगण बहुत प्रसन्न हुए ॥ २४ ॥

ततो योधाङ्गनाः सर्वा भर्तॄन् सर्वान् गृहे गृहे ।
यात्रागमनमाज्ञाय त्वरयन्ति स्म हर्षिताः ॥ २५ ॥

तदनन्तर उस यात्राका समाचार पाकर सैनिकोंकी सभी स्त्रियाँ घर-घरमें हर्षसे खिल उठीं और अपने पतियोंको जल्दी तैयार होनेके लिये प्रेरित करने लगीं ॥ २५ ॥

ते हयैर्गोरथैः शीघ्रं स्यन्दनैश्च मनोजवैः ।
सह योषिद्बलाध्यक्षा बलं सर्वमचोदयन् ॥ २६ ॥

सेनापतियोंने घोड़ों, बैलगाड़ियों तथा मनके समान वेगशाली रथोंसहित सम्पूर्ण सेनाको स्त्रियोंसहित यात्राके लिये शीघ्र तैयार होनेकी आज्ञा दी ॥ २६ ॥

सज्जं तु तद् बलं दृष्ट्वा भरतो गुरुसंनिधौ ।
रथं मे त्वरयस्वेति सुमन्त्रं पार्श्वतोऽब्रवीत् ॥ २७ ॥

सेनाको कूँचके लिये उद्यत देख भरतने गुरुके समीप ही बगलमें खड़े हुए सुमन्त्रसे कहा—'आप मेरे रथको शीघ्र तैयार करके लाइये' ॥ २७ ॥

भरतस्य तु तस्याज्ञां परिगृह्य प्रहर्षितः ।
रथं गृहीत्वोपययौ युक्तं परमवाजिभिः ॥ २८ ॥

भरतकी उस आज्ञाको शिरोधार्य करके सुमन्त्र बड़े हर्षके साथ गये और उत्तम घोड़ोंसे जुता हुआ रथ लेकर लौट आये ॥ २८ ॥

स राघवः सत्यधृतिः प्रतापवान्
ब्रुवन् सुयुक्तं दृढसत्यविक्रमः ।
गुरुं महारण्यगतं यशस्विनं
प्रसादयिष्यन् भरतोऽब्रवीत् तदा ॥ २९ ॥

तब सुदृढ़ एवं सत्य पराक्रमवाले सत्यपरायण प्रतापी भरत विशाल वनमें गये हुए अपने बड़े भाई यशस्वी श्रीरामको लौटा लानेके निमित्त राजी करनेके लिये यात्राके उद्देश्यसे उस समय इस प्रकार बोले— ॥ २९ ॥

तूर्णं त्वमुत्थाय सुमन्त्र गच्छ
बलस्य योगाय बलप्रधानान् ।
आनेतुमिच्छामि हि तं वनस्थं
प्रसाद्य रामं जगतो हिताय ॥ ३० ॥

'सुमन्त्रजी ! आप शीघ्र उठकर सेनापतियोंके पास जाइये और उनसे कहकर सेनाको कल कूँच करनेके लिये तैयार होनेका प्रबन्ध कीजिये; क्योंकि मैं सारे जगत्‌का कल्याण करनेके लिये उन वनवासी श्रीरामको प्रसन्न करके यहाँ ले आना चाहता हूँ' ॥ ३० ॥

स सूतपुत्रो भरतेन सम्य-
गाज्ञापितः सम्परिपूर्णकामः ।
शशास सर्वान् प्रकृतिप्रधानान्
बलस्य मुख्यांश्च सुहृज्जनं च ॥ ३१ ॥

भरतकी यह उत्तम आज्ञा पाकर सूतपुत्र सुमन्त्रने अपना मनोरथ सफल हुआ समझा और उन्होंने प्रजावर्गके सभी प्रधान व्यक्तियों, सेनापतियों तथा सुहृदोंको भरतका आदेश सुना दिया ॥ ३१ ॥

ततः समुत्थाय कुले कुले ते
राजन्यवैश्या वृषलाश्च विप्राः ।
अयूयुजन्नुष्ट्ररथान् खरांश्च
नागान् हयांश्चैव कुलप्रसूतान् ॥ ३२ ॥

तब प्रत्येक घरके लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र उठ-उठकर अच्छी जातिके घोड़े, हाथी, ऊँट, गधे तथा रथोंको जोतने लगे ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्व्यशीतितमः सर्गः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बयासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८२ ॥

—★—

त्र्यशीतितमः सर्गः

भरतकी वनयात्रा और शृङ्गवेरपुरमें रात्रिवास

ततः समुत्थितः कल्यमास्थाय स्यन्दनोत्तमम् ।
प्रययौ भरतः शीघ्रं रामदर्शनकाम्यया ॥ १ ॥

तदनन्तर प्रातःकाल उठकर भरतने उत्तम रथपर आरूढ़ हो श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनकी इच्छासे शीघ्रतापूर्वक प्रस्थान किया ॥ १ ॥

अग्रतः प्रययुस्तस्य सर्वे मन्त्रिपुरोहिताः ।
अधिरुह्य हयैर्युक्तान् रथान् सूर्यरथोपमान् ॥ २ ॥

उनके आगे-आगे सभी मन्त्री और पुरोहित घोड़े जुते हुए

रथोंपर बैठकर यात्रा कर रहे थे। वे रथ सूर्यदेवके रथके समान तेजस्वी दिखायी देते थे॥ २॥

नवनागसहस्राणि कल्पितानि यथाविधि।
अन्वयुर्भरतं यान्तमिक्ष्वाकुकुलनन्दनम्॥ ३॥

यात्रा करते हुए इक्ष्वाकुकुलनन्दन भरतके पीछे-पीछे विधिपूर्वक सजाये गये नौ हजार हाथी चल रहे थे॥ ३॥

षष्ठी रथसहस्राणि धन्विनो विविधायुधाः।
अन्वयुर्भरतं यान्तं राजपुत्रं यशस्विनम्॥ ४॥

यात्रापरायण यशस्वी राजकुमार भरतके पीछे साठ हजार रथ और नाना प्रकारके आयुध धारण करनेवाले धनुर्धर योद्धा भी जा रहे थे॥ ४॥

शतं सहस्राण्यश्वानां समारूढानि राघवम्।
अन्वयुर्भरतं यान्तं राजपुत्रं यशस्विनम्॥ ५॥

उसी प्रकार एक लाख घुड़सवार भी उन यशस्वी रघुकुलनन्दन राजकुमार भरतकी यात्राके समय उनका अनुसरण कर रहे थे॥ ५॥

कैकेयी च सुमित्रा च कौसल्या च यशस्विनी।
रामानयनसंतुष्टा ययुर्यानेन भास्वता॥ ६॥

कैकेयी, सुमित्रा और यशस्विनी कौसल्या देवी भी श्रीरामचन्द्रजीको लौटा लानेके लिये की जानेवाली उस यात्रासे संतुष्ट हो तेजस्वी रथके द्वारा प्रस्थित हुईं॥ ६॥

प्रयाताश्चार्यसंघाता रामं द्रष्टुं सलक्ष्मणम्।
तस्यैव च कथाश्चित्राः कुर्वाणा हृष्टमानसाः॥ ७॥

ब्राह्मण आदि आर्यों (त्रैवर्णिकों) के समूह मनमें अत्यन्त हर्ष लेकर लक्ष्मणसहित श्रीरामका दर्शन करनेके लिये उन्हींके सम्बन्धमें विचित्र बातें कहते-सुनते हुए यात्रा कर रहे थे॥ ७॥

मेघश्यामं महाबाहुं स्थिरसत्त्वं दृढव्रतम्।
कदा द्रक्ष्यामहे रामं जगतः शोकनाशनम्॥ ८॥

(वे आपसमें कहते थे—) 'हमलोग दृढ़ताके साथ उत्तम व्रतका पालन करनेवाले तथा संसारका दुःख दूर करनेवाले, स्थितप्रज्ञ, श्यामवर्ण महाबाहु श्रीरामका कब दर्शन करेंगे?॥ ८॥

दृष्ट एव हि नः शोकमपनेष्यति राघवः।
तमः सर्वस्य लोकस्य समुद्यन्निव भास्करः॥ ९॥

'जैसे सूर्यदेव उदय लेते ही सारे जगत्‌का अन्धकार हर लेते हैं, उसी प्रकार श्रीरघुनाथजी हमारी आँखोंके सामने पड़ते ही हमलोगोंका सारा शोक-संताप दूर कर देंगे'॥ ९॥

इत्येवं कथयन्तस्ते सम्प्रहृष्टाः कथाः शुभाः।
परिष्वजानाश्चान्योन्यं ययुर्नागरिकास्तदा॥ १०॥

इस प्रकारकी बातें कहते और अत्यन्त हर्षसे भरकर एक-दूसरेका आलिङ्गन करते हुए अयोध्याके नागरिक उस समय यात्रा कर रहे थे॥ १०॥

ये च तत्रापरे सर्वे सम्मता ये च नैगमाः।
रामं प्रतिययुर्हृष्टाः सर्वाः प्रकृतयः शुभाः॥ ११॥

उस नगरमें जो दूसरे सम्मानित पुरुष थे, वे सब लोग तथा व्यापारी और शुभ विचारवाले प्रजाजन भी बड़े हर्षके साथ श्रीरामसे मिलनेके लिये प्रस्थित हुए॥ ११॥

मणिकाराश्च ये केचित् कुम्भकाराश्च शोभनाः।
सूत्रकर्मविशेषज्ञा ये च शस्त्रोपजीविनः॥ १२॥
मायूरकाः क्राकचिका वेधका रोचकास्तथा।
दन्तकाराः सुधाकारा ये च गन्धोपजीविनः॥ १३॥
सुवर्णकाराः प्रख्यातास्तथा कम्बलकारकाः।
स्नापकोष्णोदका वैद्या धूपकाः शौण्डिकास्तथा॥ १४॥
रजकास्तुन्नवायाश्च ग्रामघोषमहत्तराः।
शैलूषाश्च सह स्त्रीभिर्यान्ति कैवर्तकास्तथा॥ १५॥
समाहिता वेदविदो ब्राह्मणा वृत्तसम्मताः।
गोरथैर्भरतं यान्तमनुजग्मुः सहस्रशः॥ १६॥

जो कोई मणिकार (मणियोंको सानपर चढ़ाकर चमका देनेवाले), अच्छे कुम्भकार, सूतका ताना-बाना करके वस्त्र बनानेकी कलाके विशेषज्ञ, शस्त्र निर्माण करके जीविका चलानेवाले, मायूरक (मोरकी पाँखोंसे छत्र-व्यजन आदि बनानेवाले), आरेसे चन्दन आदिकी लकड़ी चीरनेवाले, मणि-मोती आदिमें छेद करनेवाले, रोचक (दीवारों और वेदी आदिमें शोभाका सम्पादन करनेवाले), दन्तकार (हाथीके दाँत आदिसे नाना प्रकारकी वस्तुओंका निर्माण करनेवाले), सुधाकार (चूना बनानेवाले), गन्धी, प्रसिद्ध सोनार, कम्बल और कालीन बनानेवाले, गरम जलसे नहलानेका काम करनेवाले, वैद्य, धूपक, (धूपन-क्रियाद्वारा जीविका चलानेवाले), शौण्डिक (मद्यविक्रेता), धोबी, दर्जी, गाँवों तथा गोशालाओंके महतो, स्त्रियोंसहित नट, केवट तथा समाहितचित्त सदाचारी वेदवेत्ता सहस्रों ब्राह्मण बैलगाड़ियोंपर चढ़कर वनकी यात्रा करनेवाले भरतके पीछे-पीछे गये॥ १२—१६॥

सुवेषाः शुद्धवसनास्ताम्रमृष्टानुलेपिनः।
सर्वे ते विविधैर्यानैः शनैर्भरतमन्वयुः॥ १७॥

सबके वेश सुन्दर थे। सबने शुद्ध वस्त्र धारण कर रखे थे तथा सबके अङ्गोंमें ताँबेके समान लाल रंगका अङ्गराग लगा था। वे सब-के-सब नाना प्रकारके वाहनोंद्वारा धीरे-धीरे भरतका अनुसरण कर रहे थे॥ १७॥

प्रहृष्टमुदिता सेना सान्वयात् कैकेयीसुतम्।
भ्रातुरानयने यातं भरतं भ्रातृवत्सलम्॥ १८॥

हर्ष और आनन्दमें भरी हुई वह सेना भाईको बुलानेके लिये प्रस्थित हुए कैकेयीकुमार भ्रातृवत्सल भरतके पीछे-पीछे चलने लगी॥ १८॥

ते गत्वा दूरमध्वानं रथयानाश्वकुञ्जरैः।
समासेदुस्ततो गङ्गां शृङ्गवेरपुरं प्रति॥ १९॥

इस प्रकार रथ, पालकी, घोड़े और हाथियोंके द्वारा बहुत दूरतकका मार्ग तय कर लेनेके बाद वे सब लोग शृङ्गवेरपुरमें गङ्गाजीके तटपर जा पहुँचे ॥ १९ ॥

यत्र रामसखा वीरो गुहो ज्ञातिगणैर्वृतः ।
निवसत्यप्रमादेन देशं तं परिपालयन् ॥ २० ॥

जहाँ श्रीरामचन्द्रजीका सखा वीर निषादराज गुह सावधानीके साथ उस देशकी रक्षा करता हुआ अपने भाई-बन्धुओंके साथ निवास करता था ॥ २० ॥

उपेत्य तीरं गङ्गायाश्चक्रवाकैरलंकृतम् ।
व्यवतिष्ठत सा सेना भरतस्यानुयायिनी ॥ २१ ॥

चक्रवाकोंसे अलंकृत गङ्गातटपर पहुँचकर भरतका अनुसरण करनेवाली वह सेना ठहर गयी ॥ २१ ॥

निरीक्ष्यानुत्थितां सेनां तां च गङ्गां शिवोदकाम् ।
भरतः सचिवान् सर्वानब्रवीद् वाक्यकोविदः ॥ २२ ॥

पुण्यसलिला भागीरथीका दर्शन करके अपनी उस सेनाको शिथिल हुई देख बातचीत करनेकी कलामें कुशल भरतने समस्त सचिवोंसे कहा— ॥ २२ ॥

निवेशयत मे सैन्यमभिप्रायेण सर्वतः ।
विश्रान्ताः प्रतरिष्यामः श्व इमां सागरङ्गमाम् ॥ २३ ॥

'आपलोग मेरे सैनिकोंको उनकी इच्छाके अनुसार यहाँ सब ओर ठहरा दीजिये। आज रातमें विश्राम कर लेनेके बाद हम सब लोग कल सबेरे इन सागर-गामिनी नदी गङ्गाजीको पार करेंगे ॥ २३ ॥

दातुं च तावदिच्छामि स्वर्गतस्य महीपतेः ।
और्ध्वदेहनिमित्तार्थमवतीर्योदकं नदीम् ॥ २४ ॥

'यहाँ ठहरनेका एक और प्रयोजन है—मैं चाहता हूँ कि गङ्गाजीमें उतरकर स्वर्गीय महाराजके पारलौकिक कल्याणके लिये जलाञ्जलि दे दूँ' ॥ २४ ॥

तस्यैवं ब्रुवतोऽमात्यास्तथेत्युक्त्वा समाहिताः ।
न्यवेशयंस्तांश्छन्देन स्वेन स्वेन पृथक् पृथक् ॥ २५ ॥

उनके इस प्रकार कहनेपर सभी मन्त्रियोंने 'तथास्तु' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार की और समस्त सैनिकोंको उनकी इच्छाके अनुसार भिन्न-भिन्न स्थानोंपर ठहरा दिया ॥ २५ ॥

निवेश्य गङ्गामनु तां महानदीं
चमूं विधानैः परिबर्हशोभिनीम् ।
उवास रामस्य तदा महात्मनो
विचिन्तमानो भरतो निवर्तनम् ॥ २६ ॥

महानदी गङ्गाके तटपर खेमे आदिसे सुशोभित होनेवाली उस सेनाको व्यवस्थापूर्वक ठहराकर भरतने महात्मा श्रीरामके लौटनेके विषयमें विचार करते हुए उस समय वहीं निवास किया ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्र्यशीतितमः सर्गः ॥ ८३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तिरासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८३ ॥

चतुरशीतितमः सर्गः

निषादराज गुहका अपने बन्धुओंको नदीकी रक्षा करते हुए युद्धके लिये तैयार रहनेका आदेश दे भेंटकी सामग्री ले भरतके पास जाना और उनसे आतिथ्य स्वीकार करनेके लिये अनुरोध करना

ततो निविष्टां ध्वजिनीं गङ्गामन्वाश्रितां नदीम् ।
निषादराजो दृष्ट्वैव ज्ञातीन् स परितोऽब्रवीत् ॥ १ ॥

उधर निषादराज गुहने गङ्गा नदीके तटपर ठहरी हुई भरतकी सेनाको देखकर सब ओर बैठे हुए अपने भाई-बन्धुओंसे कहा— ॥ १ ॥

महतीयमितः सेना सागराभा प्रदृश्यते ।
नास्यान्तमवगच्छामि मनसापि विचिन्तयन् ॥ २ ॥

'भाइयो ! इस ओर जो यह विशाल सेना ठहरी हुई है समुद्रके समान अपार दिखायी देती है; मैं मनसे बहुत सोचनेपर भी इसका पार नहीं पाता हूँ ॥ २ ॥

यदा न खलु दुर्बुद्धिर्भरतः स्वयमागतः ।
स एष हि महाकायः कोविदारध्वजो रथे ॥ ३ ॥

'निश्चय ही इसमें स्वयं दुर्बुद्धि भरत भी आया हुआ है; यह कोविदारके चिह्नवाली विशाल ध्वजा उसीके रथपर फहरा रही है ॥ ३ ॥

बन्धयिष्यति वा पाशैरथ वास्मान् वधिष्यति ।
अनु दाशरथिं रामं पित्रा राज्याद् विवासितम् ॥ ४ ॥

'मैं समझता हूँ कि यह अपने मन्त्रियोंद्वारा पहले हमलोगोंको पाशोंसे बँधवायगा अथवा हमारा वध कर डालेगा; तत्पश्चात् जिन्हें पिताने राज्यसे निकाल दिया है, उन दशरथनन्दन श्रीरामको भी मार डालेगा ॥ ४ ॥

सम्पन्नां श्रियमन्विच्छंस्तस्य राज्ञः सुदुर्लभाम् ।
भरतः कैकेयीपुत्रो हन्तुं समधिगच्छति ॥ ५ ॥

'कैकेयीका पुत्र भरत राजा दशरथकी सम्पन्न एवं सुदुर्लभ राजलक्ष्मीको अकेला ही हड़प लेना चाहता है, इसीलिये वह श्रीरामचन्द्रजीको वनमें मार डालनेके लिये जा रहा है ॥ ५ ॥

भर्ता चैव सखा चैव रामो दाशरथिर्मम ।
तस्यार्थकामाः संनद्धा गङ्गानूपेऽत्र तिष्ठत ॥ ६ ॥

'परंतु दशरथकुमार श्रीराम मेरे स्वामी और सखा हैं, इसलिये उनके हितकी कामना रखकर तुमलोग अस्त्र-

शस्त्रोंसे सुसज्जित हो यहाँ गङ्गाके तटपर मौजूद रहो॥ ६॥

तिष्ठन्तु सर्वदाशाश्च गङ्गामन्वाश्रिता नदीम्।
बलयुक्ता नदीरक्षा मांसमूलफलाशनाः॥ ७॥

'सभी मल्लाह सेनाके साथ नदीकी रक्षा करते हुए गङ्गाके तटपर ही खड़े रहें और नावपर रखे हुए फल-मूल आदिका आहार करके ही आजकी रात बितावें॥ ७॥

नावां शतानां पञ्चानां कैवर्तानां शतं शतम्।
संनद्धानां तथा यूनां तिष्ठन्त्वित्यभ्यचोदयत्॥ ८॥

'हमारे पास पाँच सौ नावें हैं, उनमेंसे एक-एक नावपर मल्लाहोंके सौ-सौ जवान युद्ध-सामग्रीसे लैस होकर बैठे रहें।' इस प्रकार गुहने उन सबको आदेश दिया॥ ८॥

यदि तुष्टस्तु भरतो रामस्येह भविष्यति।
इयं स्वस्तिमती सेना गङ्गामद्य तरिष्यति॥ ९॥

उसने फिर कहा कि 'यदि यहाँ भरतका भाव श्रीरामके प्रति संतोषजनक होगा, तभी उनकी यह सेना आज कुशलपूर्वक गङ्गाके पार जा सकेगी'॥ ९॥

इत्युक्त्वोपायनं गृह्य मत्स्यमांसमधूनि च।
अभिचक्राम भरतं निषादाधिपतिर्गुहः॥ १०॥

यों कहकर निषादराज गुह मत्स्यण्डी[1] (मिश्री), फलके गूदे और मधु आदि भेंटकी सामग्री लेकर भरतके पास गया॥ १०॥

तमायान्तं तु सम्प्रेक्ष्य सूतपुत्रः प्रतापवान्।
भरतायाचचक्षेऽथ समयज्ञो विनीतवत्॥ ११॥

उसे आते देख समयोचित कर्तव्यको समझनेवाले प्रतापी सूतपुत्र सुमन्त्रने विनीतकी भाँति भरतसे कहा—॥ ११॥

एष ज्ञातिसहस्रेण स्थपतिः परिवारितः।
कुशलो दण्डकारण्ये वृद्धो भ्रातुश्च ते सखा॥ १२॥
तस्मात् पश्यतु काकुत्स्थ त्वां निषादाधिपो गुहः।
असंशयं विजानीते यत्र तौ रामलक्ष्मणौ॥ १३॥

'ककुत्स्थकुलभूषण! यह बूढ़ा निषादराज गुह अपने सहस्रों भाई-बन्धुओंके साथ यहाँ निवास करता है। यह तुम्हारे बड़े भाई श्रीरामका सखा है। इसे दण्डकारण्यके मार्गकी विशेष जानकारी है। निश्चय ही इसे पता होगा कि दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण कहाँ हैं, अतः निषादराज गुह यहाँ आकर तुमसे मिले, इसके लिये अवसर दो'॥ १२-१३॥

एतत् तु वचनं श्रुत्वा सुमन्त्राद् भरतः शुभम्।
उवाच वचनं शीघ्रं गुहः पश्यतु मामिति॥ १४॥

सुमन्त्रके मुखसे यह शुभ वचन सुनकर भरतने कहा—'निषादराज गुह मुझसे शीघ्र मिलें—इसकी व्यवस्था की जाय'॥ १४॥

लब्ध्वानुज्ञां सम्प्रहृष्टो ज्ञातिभिः परिवारितः।
आगम्य भरतं प्रह्वो गुहो वचनमब्रवीत्॥ १५॥

मिलनेकी अनुमति पाकर गुह अपने भाई-बन्धुओंके साथ वहाँ प्रसन्नतापूर्वक आया और भरतसे मिलकर बड़ी नम्रताके साथ बोला—॥ १५॥

निष्कुटश्चैव देशोऽयं वञ्चिताश्चापि ते वयम्।
निवेदयाम ते सर्वं स्वके दाशगृहे वस॥ १६॥

'यह वन-प्रदेश आपके लिये घरमें लगे हुए बगीचेके समान है। आपने अपने आगमनकी सूचना न देकर हमें धोखेमें रख दिया—हम आपके स्वागतकी कोई तैयारी न कर सके। हमारे पास जो कुछ है, वह सब आपकी सेवामें अर्पित है। यह निषादोंका घर आपका ही है, आप यहाँ सुखपूर्वक निवास करें॥ १६॥

अस्ति मूलफलं चैतन्निषादैः स्वयमर्जितम्।
आर्द्रं शुष्कं तथा मांसं वन्यं चोच्चावचं तथा॥ १७॥

'यह फल-मूल आपकी सेवामें प्रस्तुत है। इसे निषाद लोग स्वयं तोड़कर लाये हैं। इनमेंसे कुछ फल तो अभी हरे ताजे हैं और कुछ सूख गये हैं। इनके साथ तैयार किया हुआ फलका गूदा भी है। इन सबके सिवा नाना प्रकारके दूसरे-दूसरे वन्य पदार्थ भी हैं। इन सबको ग्रहण करें॥ १७॥

आशंसे स्वाशिता सेना वत्स्यत्वेनां विभावरीम्।
अर्चितो विविधैः कामैःश्वः ससैन्यो गमिष्यसि॥ १८॥

'हम आशा करते हैं कि यह सेना आजकी रात यहीं ठहरेगी और हमारा दिया हुआ भोजन स्वीकार करेगी। नाना प्रकारकी मनोवाञ्छित वस्तुओंसे आज हम सेनासहित आपका सत्कार करेंगे, फिर कल सबेरे आप अपने सैनिकोंके साथ यहाँसे अन्यत्र जाइयेगा'॥ १८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुरशीतितमः सर्गः॥ ८४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौरासीवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ८४॥

—★—

पञ्चाशीतितमः सर्गः

गुह और भरतकी बातचीत तथा भरतका शोक

एवमुक्तस्तु भरतो निषादाधिपतिं गुहम्।
प्रत्युवाच महाप्राज्ञो वाक्यं हेत्वर्थसंहितम्॥ १॥

निषादराज गुहके ऐसा कहनेपर महाबुद्धिमान् भरतने युक्ति और प्रयोजन युक्त वचनोंमें उसे इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १॥

---

१. यहाँ मूलमें 'मत्स्य' शब्द 'मत्स्यण्डी' अर्थात् मिश्रीका वाचक है। 'मत्स्यण्डी' इस नामका एक अंश 'मत्स्य' है, अतः नामके एक अंशके ग्रहणसे सम्पूर्ण नामका ग्रहण किया गया है।

ऊर्जितः खलु ते कामः कृतो मम गुरोः सखे।
यो मे त्वमीदृशीं सेनामभ्यर्चयितुमिच्छसि ॥ २ ॥

'भैया! तुम मेरे बड़े भाई श्रीरामके सखा हो। मेरी इतनी बड़ी सेनाका सत्कार करना चाहते हो, यह तुम्हारा मनोरथ बहुत ही ऊँचा है। तुम उसे पूर्ण ही समझो—तुम्हारी श्रद्धासे ही हम सब लोगोंका सत्कार हो गया' ॥ २ ॥

इत्युक्त्वा स महातेजा गुहं वचनमुत्तमम्।
अब्रवीद् भरतः श्रीमान् पन्थानं दर्शयन् पुनः ॥ ३ ॥

यह कहकर महातेजस्वी श्रीमान् भरतने गन्तव्य मार्गको हाथके संकेतसे दिखाते हुए पुनः गुहसे उत्तम वाणीमें पूछा— ॥ ३ ॥

कतरेण गमिष्यामि भरद्वाजाश्रमं यथा।
गहनोऽयं भृशं देशो गङ्गानूपो दुरत्ययः ॥ ४ ॥

'निषादराज! इन दो मार्गोंमेंसे किसके द्वारा मुझे भरद्वाज मुनिके आश्रमपर जाना होगा? गङ्गाके किनारेका यह प्रदेश तो बड़ा गहन मालूम होता है। इसे लाँघकर आगे बढ़ना कठिन है' ॥ ४ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राजपुत्रस्य धीमतः।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्भूत्वा गुहो गहनगोचरः ॥ ५ ॥

बुद्धिमान् राजकुमार भरतका यह वचन सुनकर वनमें विचरनेवाले गुहने हाथ जोड़कर कहा— ॥ ५ ॥

दाशास्त्वनुगमिष्यन्ति देशज्ञाः सुसमाहिताः।
अहं चानुगमिष्यामि राजपुत्र महाबल ॥ ६ ॥

'महाबली राजकुमार! आपके साथ बहुत-से मल्लाह जायँगे, जो इस प्रदेशसे पूर्ण परिचित तथा भली-भाँति सावधान रहनेवाले हैं। इनके सिवा मैं भी आपके साथ चलूँगा ॥ ६ ॥

कच्चिन्न दुष्टो व्रजसि रामस्याक्लिष्टकर्मणः।
इयं ते महती सेना शङ्कां जनयतीव मे ॥ ७ ॥

'परन्तु एक बात बताइये, अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीके प्रति आप कोई दुर्भावना लेकर तो नहीं जा रहे हैं? आपकी यह विशाल सेना मेरे मनमें शङ्का-सी उत्पन्न कर रही है' ॥ ७ ॥

तमेवमभिभाषन्तमाकाश इव निर्मलः।
भरतः श्लक्ष्णया वाचा गुहं वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

ऐसी बात कहते हुए गुहसे आकाशके समान निर्मल भरतने मधुर वाणीमें कहा— ॥ ८ ॥

मा भूत् स कालो यत् कष्टं न मां शङ्कितुमर्हसि।
राघवः स हि मे भ्राता ज्येष्ठः पितृसमो मतः ॥ ९ ॥

'निषादराज! ऐसा समय कभी न आये। तुम्हारी बात सुनकर मुझे बड़ा कष्ट हुआ। तुम्हें मुझपर संदेह नहीं करना चाहिये। श्रीरघुनाथजी मेरे बड़े भाई हैं। मैं उन्हें पिताके समान मानता हूँ ॥ ९ ॥

तं निवर्तयितुं यामि काकुत्स्थं वनवासिनम्।
बुद्धिरन्या न मे कार्या गुह सत्यं ब्रवीमि ते ॥ १० ॥

'ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम वनमें निवास करते हैं, अतः उन्हें लौटा लानेके लिये जा रहा हूँ। गुह! मैं तुमसे सच कहता हूँ। तुम्हें मेरे विषयमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये' ॥ १० ॥

स तु संहृष्टवदनः श्रुत्वा भरतभाषितम्।
पुनरेवाब्रवीद् वाक्यं भरतं प्रति हर्षितः ॥ ११ ॥

भरतकी बात सुनकर निषादराजका मुँह प्रसन्नतासे खिल उठा। वह हर्षसे भरकर पुनः भरतसे बोला— ॥ ११ ॥

धन्यस्त्वं न त्वया तुल्यं पश्यामि जगतीतले।
अयत्नादागतं राज्यं यस्त्वं त्यक्तुमिहेच्छसि ॥ १२ ॥

'आप धन्य हैं, जो बिना प्रयत्नके हाथमें आये हुए राज्यको त्याग देना चाहते हैं। आपके समान धर्मात्मा मुझे इस भूमण्डलमें कोई नहीं दिखायी देता ॥ १२ ॥

शाश्वती खलु ते कीर्तिर्लोकाननु चरिष्यति।
यस्त्वं कृच्छ्रगतं रामं प्रत्यानयितुमिच्छसि ॥ १३ ॥

'कष्टप्रद वनमें निवास करनेवाले श्रीरामको जो आप लौटा लाना चाहते हैं, इससे समस्त लोकोंमें आपकी अक्षय कीर्तिका प्रसार होगा' ॥ १३ ॥

एवं सम्भाषमाणस्य गुहस्य भरतं तदा।
बभौ नष्टप्रभः सूर्यो रजनी चाभ्यवर्तत ॥ १४ ॥

जब गुह भरतसे इस प्रकारकी बातें कह रहा था, उसी समय सूर्यदेवकी प्रभा अदृश्य हो गयी और रातका अन्धकार सब ओर फैल गया ॥ १४ ॥

संनिवेश्य स तां सेनां गुहेन परितोषितः।
शत्रुघ्नेन समं श्रीमाञ्छयनं पुनरागमत् ॥ १५ ॥

गुहके बर्तावसे श्रीमान् भरतको बड़ा संतोष हुआ और वे सेनाको विश्राम करनेकी आज्ञा दे शत्रुघ्नके साथ शयन करनेके लिये गये ॥ १५ ॥

रामचिन्तामयः शोको भरतस्य महात्मनः।
उपस्थितो ह्यनर्हस्य धर्मप्रेक्षस्य तादृशः ॥ १६ ॥

धर्मपर दृष्टि रखनेवाले महात्मा भरत शोकके योग्य नहीं थे तथापि उनके मनमें श्रीरामचन्द्रजीके लिये चिन्ताके कारण ऐसा शोक उत्पन्न हुआ, जिसका वर्णन नहीं हो सकता ॥ १६ ॥

अन्तर्दाहेन दहनः संतापयति राघवम्।
वनदाहाग्निसंतप्तं गूढोऽग्निरिव पादपम् ॥ १७ ॥

जैसे वनमें फैले हुए दावानलसे संतप्त हुए वृक्षको उसके खोखलेमें छिपी हुई आग और भी अधिक जलाती है, उसी प्रकार दशरथ-मरणजन्य चिन्ताकी आगसे संतप्त हुए रघुकुलनन्दन भरतको वह राम-वियोगसे उत्पन्न हुई शोकाग्नि और भी जलाने लगी ॥ १७ ॥

प्रसृतः सर्वगात्रेभ्यः स्वेदं शोकाग्निसम्भवम्।
यथा सूर्यांशुसंतप्तो हिमवान् प्रसृतो हिमम्॥ १८॥

जैसे सूर्यकी किरणोंसे तपा हुआ हिमालय अपनी पिघली हुई बर्फको बहाने लगता है, उसी प्रकार भरत शोकाग्निसे संतप्त होनेके कारण अपने सम्पूर्ण अङ्गोंसे पसीना बहाने लगे॥ १८॥

ध्याननिर्दरशैलेन विनिःश्वसितधातुना।
दैन्यपादपसंघेन शोकायासाधिशृङ्गिणा॥ १९॥
प्रमोहानन्तसत्त्वेन संतापौषधिवेणुना।
आक्रान्तो दुःखशैलेन महता कैकयीसुतः॥ २०॥

उस समय कैकेयीकुमार भरत दुःखके विशाल पर्वतसे आक्रान्त हो गये थे। श्रीरामचन्द्रजीका ध्यान ही उसमें छिद्ररहित शिलाओंका समूह था। दुःखपूर्ण उच्छ्वास ही गैरिक आदि धातुका स्थान ले रहा था। दीनता (इन्द्रियोंकी अपने विषयोंसे विमुखता) ही वृक्षसमूहोंके रूपमें प्रतीत होती थी। शोकजनित आयास ही उस दुःखरूपी पर्वतके ऊँचे शिखर थे। अतिशय मोह ही उसमें अनन्त प्राणी थे। बाहर-भीतरकी इन्द्रियोंमें होनेवाले संताप ही उस पर्वतकी ओषधियाँ तथा बाँसके वृक्ष थे॥ १९-२०॥

विनिःश्वसन् वै भृशदुर्मनास्ततः
प्रमूढसंज्ञः परमापदं गतः।
शमं न लेभे हृदयज्वरार्दितो
नरर्षभो यूथहतो यथर्षभः॥ २१॥

उनका मन बहुत दुःखी था। वे लंबी साँस खींचते हुए सहसा अपनी सुध-बुध खोकर बड़ी भारी आपत्तिमें पड़ गये। मानसिक चिन्तासे पीड़ित होनेके कारण नरश्रेष्ठ भरतको शान्ति नहीं मिलती थी। उनकी दशा अपने झुंडसे बिछुड़े हुए वृषभकी-सी हो रही थी॥ २१॥

गुहेन सार्धं भरतः समागतो
महानुभावः सजनः समाहितः।
सुदुर्मनास्तं भरतं तदा पुन-
र्गुहः समाश्वासयदग्रजं प्रति॥ २२॥

परिवारसहित एकाग्रचित्त महानुभाव भरत जब गुहसे मिले, उस समय उनके मनमें बड़ा दुःख था। वे अपने बड़े भाईके लिये चिन्तित थे, अतः गुहने उन्हें पुनः आश्वासन दिया॥ २२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चाशीतितमः सर्गः॥ ८५॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पचासीवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ८५॥

षडशीतितमः सर्गः

निषादराज गुहके द्वारा लक्ष्मणके सद्भाव और विलापका वर्णन

आचचक्षेऽथ सद्भावं लक्ष्मणस्य महात्मनः।
भरतायाप्रमेयाय गुहो गहनगोचरः॥ १॥

वनचारी गुहने अप्रमेय शक्तिशाली भरतसे महात्मा लक्ष्मणके सद्भावका इस प्रकार वर्णन किया—॥ १॥

तं जाग्रतं गुणैर्युक्तं वरचापेषुधारिणम्।
भ्रातृगुप्त्यर्थमत्यन्तमहं लक्ष्मणमब्रुवम्॥ २॥

"लक्ष्मण अपने भाईकी रक्षाके लिये श्रेष्ठ धनुष और बाण धारण किये अधिक कालतक जागते रहे। उस समय उन सद्गुणशाली लक्ष्मणसे मैंने इस प्रकार कहा—॥ २॥

इयं तात सुखा शय्या त्वदर्थमुपकल्पिता।
प्रत्याश्वसिहि शेष्वास्यां सुखं राघवनन्दन॥ ३॥
उचितोऽयं जनः सर्वो दुःखानां त्वं सुखोचितः।
धर्मात्मंस्तस्य गुप्त्यर्थं जागरिष्यामहे वयम्॥ ४॥

'तात रघुकुलनन्दन! मैंने तुम्हारे लिये यह सुखदायिनी शय्या तैयार की है। तुम इसपर सुखपूर्वक सोओ और भलीभाँति विश्राम करो। यह (मैं) सेवक तथा इसके साथके सब लोग वनवासी होनेके कारण दुःख सहन करनेके योग्य हैं (क्योंकि हम सबको कष्ट सहनेका अभ्यास है); परंतु तुम सुखमें ही पले होनेके कारण उसीके योग्य हो। धर्मात्मन्! हमलोग श्रीरामचन्द्रजीकी रक्षाके लिये रातभर जागते रहेंगे॥ ४॥

नहि रामात् प्रियतरो ममास्ति भुवि कश्चन।
मोत्सुको भूर्ब्रवीम्येतदथ सत्यं तवाग्रतः॥ ५॥

"मैं तुम्हारे सामने सत्य कहता हूँ कि इस भूमण्डलमें मुझे श्रीरामसे बढ़कर प्रिय दूसरा कोई नहीं है; अतः तुम इनकी रक्षाके लिये उत्सुक न होओ॥ ५॥

अस्य प्रसादादाशंसे लोकेऽस्मिन् सुमहद्यशः।
धर्मावाप्तिं च विपुलामर्थकामौ च केवलौ॥ ६॥

"इन श्रीरघुनाथजीके प्रसादसे ही मैं इस लोकमें महान् यश, प्रचुर धर्मलाभ तथा विशुद्ध अर्थ एवं भोग्य वस्तु पानेकी आशा करता हूँ॥ ६॥

सोऽहं प्रियसखं रामं शयानं सह सीतया।
रक्षिष्यामि धनुष्पाणिः सर्वैः स्वैर्ज्ञातिभिः सह॥ ७॥

"अतः मैं अपने समस्त बन्धु-बान्धवोंके साथ हाथमें धनुष लेकर सीताके साथ सोये प्रिय सखा श्रीरामकी (सब प्रकारसे) रक्षा करूँगा॥ ७॥

नहि मेऽविदितं किंचिद् वनेऽस्मिंश्चरतः सदा।
चतुरङ्गं ह्यपि बलं प्रसहेम वयं युधि॥ ८॥

"इस वनमें सदा विचरते रहनेके कारण मुझसे यहाँकी कोई बात छिपी नहीं है। हमलोग यहाँ युद्धमें शत्रुकी चतुरङ्गिणी सेनाका भी अच्छी तरह सामना कर सकते हैं"॥

एवमस्माभिरुक्तेन लक्ष्मणेन महात्मना।
अनुनीता वयं सर्वे धर्ममेवानुपश्यता॥ ९॥

"हमारे इस प्रकार कहनेपर धर्मपर ही दृष्टि रखनेवाले महात्मा लक्ष्मणने हम सब लोगोंसे अनुनयपूर्वक कहा—॥

कथं दाशरथौ भूमौ शयाने सह सीतया।
शक्या निद्रा मया लब्धुं जीवितानि सुखानि वा॥ १०॥

"निषादराज! जब दशरथनन्दन श्रीराम देवी सीताके साथ भूमिपर शयन कर रहे हैं, तब मेरे लिये उत्तम शय्यापर सोकर नींद लेना, जीवन-धारणके लिये स्वादिष्ट अन्न खाना अथवा दूसरे-दूसरे सुखोंको भोगना कैसे सम्भव हो सकता है?॥ १०॥

यो न देवासुरैः सर्वैः शक्यः प्रसहितुं युधि।
तं पश्य गुह संविष्टं तृणेषु सह सीतया॥ ११॥

"गुह! देखो, सम्पूर्ण देवता और असुर मिलकर भी युद्धमें जिनके वेगको नहीं सह सकते, वे ही श्रीराम इस समय सीताके साथ तिनकोंपर सो रहे हैं॥ ११॥

महता तपसा लब्धो विविधैश्च परिश्रमैः।
एको दशरथस्यैष पुत्रः सदृशलक्षणः॥ १२॥
अस्मिन् प्रव्राजिते राजा न चिरं वर्तयिष्यति।
विधवा मेदिनी नूनं क्षिप्रमेव भविष्यति॥ १३॥

"महान् तप और नाना प्रकारके परिश्रमसाध्य उपायोंद्वारा जो यह महाराज दशरथको अपने समान उत्तम लक्षणोंसे युक्त ज्येष्ठ पुत्रके रूपमें प्राप्त हुए हैं, उन्हीं इन श्रीरामके वनमें आ जानेसे राजा दशरथ अधिक कालतक जीवित नहीं रह सकेंगे। जान पड़ता है निश्चय ही यह पृथ्वी अब शीघ्र विधवा हो जायगी॥ १२-१३॥

विनद्य सुमहानादं श्रमेणोपरताः स्त्रियः।
निर्घोषो विरतो नूनमद्य राजनिवेशने॥ १४॥

"अवश्य ही अब रनिवासकी स्त्रियाँ बड़े जोरसे आर्तनाद करके अधिक श्रमके कारण अब चुप हो गयी होंगी और राजमहलका वह हाहाकार इस समय शान्त हो गया होगा॥

कौसल्या चैव राजा च तथैव जननी मम।
नाशंसे यदि ते सर्वे जीवेयुः शर्वरीमिमाम्॥ १५॥

"महारानी कौसल्या, राजा दशरथ तथा मेरी माता सुमित्रा—ये सब लोग आजकी इस राततक जीवित रह सकेंगे या नहीं; यह मैं नहीं कह सकता॥ १५॥

जीवेदपि च मे माता शत्रुघ्नस्यान्ववेक्षया।
दुःखिता या हि कौसल्या वीरसूर्विनशिष्यति॥ १६॥

"शत्रुघ्नकी बाट देखनेके कारण सम्भव है, मेरी माता सुमित्रा जीवित रह जायँ; परंतु पुत्रके विरहसे दुःखमें डूबी हुई वीर-जननी कौसल्या अवश्य नष्ट हो जायँगी॥ १६॥

अतिक्रान्तमतिक्रान्तमनवाप्य मनोरथम्।
राज्ये राममनिक्षिप्य पिता मे विनशिष्यति॥ १७॥

"(महाराजकी इच्छा थी कि श्रीरामको राज्यपर अभिषिक्त करूँ) अपने उस मनोरथको न पाकर श्रीरामको राज्यपर स्थापित किये बिना ही 'हाय! मेरा सब कुछ नष्ट हो गया! नष्ट हो गया!!' ऐसा कहते हुए मेरे पिताजी अपने प्राणोंका परित्याग कर देंगे॥ १७॥

सिद्धार्थाः पितरं वृत्तं तस्मिन् काले ह्युपस्थिते।
प्रेतकार्येषु सर्वेषु संस्करिष्यन्ति भूमिपम्॥ १८॥

"उनकी उस मृत्युका समय उपस्थित होनेपर जो लोग वहाँ रहेंगे और मेरे मरे हुए पिता महाराज दशरथका सभी प्रेतकार्योंमें संस्कार करेंगे, वे ही सफलमनोरथ और भाग्यशाली हैं॥ १८॥

रम्यचत्वरसंस्थानां सुविभक्तमहापथाम्।
हर्म्यप्रासादसम्पन्नां सर्वरत्नविभूषिताम्॥ १९॥
गजाश्वरथसम्बाधां तूर्यनादविनादिताम्।
सर्वकल्याणसम्पूर्णां हृष्टपुष्टजनाकुलाम्॥ २०॥
आरामोद्यानसम्पूर्णां समाजोत्सवशालिनीम्।
सुखिता विचरिष्यन्ति राजधानीं पितुर्मम॥ २१॥

"(यदि पिताजी जीवित रहे तो) रमणीय चबूतरों और चौराहोंके सुन्दर स्थानोंसे युक्त, पृथक्-पृथक् बने हुए विशाल राजमार्गोंसे अलंकृत, धनिकोंकी अट्टालिकाओं और देवमन्दिरों एवं राजभवनोंसे सम्पन्न, सब प्रकारके रत्नोंसे विभूषित, हाथियों, घोड़ों और रथोंके आवागमनसे भरी हुई, विविध बाद्योंकी ध्वनियोंसे निनादित, समस्त कल्याणकारी वस्तुओंसे भरपूर, हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे व्याप्त, पुष्पवाटिकाओं और उद्यानोंसे परिपूर्ण तथा सामाजिक उत्सवोंसे सुशोभित हुई मेरे पिताकी राजधानी अयोध्यापुरीमें जो लोग विचरेंगे, वास्तवमें वे ही सुखी हैं॥ १९—२१॥

अपि सत्यप्रतिज्ञेन सार्धं कुशलिना वयम्।
निवृत्ते समये ह्यस्मिन् सुखिताः प्रविशेमहि॥ २२॥

"क्या वनवासकी इस अवधिके समाप्त होनेपर सकुशल लौटे हुए सत्यप्रतिज्ञ श्रीरामके साथ हमलोग अयोध्यापुरीमें प्रवेश कर सकेंगे"॥ २२॥

परिदेवयमानस्य तस्यैवं हि महात्मनः।
तिष्ठतो राजपुत्रस्य शर्वरी सात्यवर्तत॥ २३॥

"इस प्रकार विलाप करते हुए महामनस्वी राजकुमार लक्ष्मणकी वह सारी रात जागते ही बीती॥ २३॥

प्रभाते विमले सूर्ये कारयित्वा जटा उभौ।
अस्मिन् भागीरथीतीरे सुखं संतारितौ मया॥ २४॥

"प्रातःकाल निर्मल सूर्योदय होनेपर मैंने भागीरथीके तटपर (वटके दूधसे) उन दोनोंके केशोंको जटाका रूप

दिलवाया और उन्हें सुखपूर्वक पार उतारा ॥ २४ ॥

जटाधरौ तौ द्रुमचीरवाससौ
महाबलौ कुञ्जरयूथपोपमौ।
वरेषुधीचापधरौ परंतपौ
व्यपेक्षमाणौ सह सीतया गतौ ॥ २५ ॥

"सिरपर जटा धारण करके वल्कल एवं चीर-वस्त्र पहने हुए, महाबली, शत्रुसंतापी श्रीराम और लक्ष्मण दो गजयूथपतियोंके समान शोभा पाते थे। वे सुन्दर तरकस और धनुष धारण किये इधर-उधर देखते हुए सीताके साथ चले गये" ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षडशीतितमः सर्गः ॥ ८६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें छियासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८६ ॥

सप्ताशीतितमः सर्गः

भरतकी मूर्च्छासे गुह, शत्रुघ्न और माताओंका दुःखी होना, होशमें आनेपर भरतका गुहसे श्रीराम आदिके भोजन और शयन आदिके विषयमें पूछना और गुहका उन्हें सब बातें बताना

गुहस्य वचनं श्रुत्वा भरतो भृशमप्रियम्।
ध्यानं जगाम तत्रैव यत्र तच्छ्रुतमप्रियम् ॥ १ ॥

गुहका श्रीरामके जटाधारण आदिसे सम्बन्ध रखनेवाला अत्यन्त अप्रिय वचन सुनकर भरत चिन्तामग्न हो गये। जिन श्रीरामके विषयमें उन्होंने अप्रिय बात सुनी थी, उन्हींका वे चिन्तन करने लगे (उन्हें यह चिन्ता हो गयी कि अब मेरा मनोरथ पूर्ण न हो सकेगा। श्रीरामने जब जटा धारण कर ली, तब वे शायद ही लौटें) ॥ १ ॥

सुकुमारो महासत्त्वः सिंहस्कन्धो महाभुजः।
पुण्डरीकविशालाक्षस्तरुणः प्रियदर्शनः ॥ २ ॥
प्रत्याश्वस्य मुहूर्तं तु कालं परमदुर्मनाः।
ससाद सहसा तोत्रैर्हृदि विद्ध इव द्विपः ॥ ३ ॥

भरत सुकुमार होनेके साथ ही महान् बलशाली थे, उनके कंधे सिंहके समान थे, भुजाएँ बड़ी-बड़ी और नेत्र विकसित कमलके सदृश सुन्दर थे। उनकी अवस्था तरुण थी और वे देखनेमें बड़े मनोरम थे। उन्होंने गुहकी बात सुनकर दो घड़ीतक किसी प्रकार धैर्य धारण किया, फिर उनके मनमें बड़ा दुःख हुआ। वे अंकुशसे विद्ध हुए हाथीके समान अत्यन्त व्यथित होकर सहसा दुःखसे शिथिल एवं मूर्च्छित हो गये ॥ २-३ ॥

भरतं मूर्च्छितं दृष्ट्वा विवर्णवदनो गुहः।
बभूव व्यथितस्तत्र भूमिकम्पे यथा द्रुमः ॥ ४ ॥

भरतको मूर्च्छित हुआ देख गुहके चेहरेका रंग उड़ गया। वह भूकम्पके समय मथित हुए वृक्षकी भाँति वहाँ व्यथित हो उठा ॥ ४ ॥

तदवस्थं तु भरतं शत्रुघ्नोऽनन्तरस्थितः।
परिष्वज्य रुरोदोच्चैर्विसंज्ञः शोककर्शितः ॥ ५ ॥

शत्रुघ्न भरतके पास ही बैठे थे। वे उनकी वैसी अवस्था देख उन्हें हृदयसे लगाकर जोर-जोरसे रोने लगे और शोकसे पीड़ित हो अपनी सुध-बुध खो बैठे ॥ ५ ॥

ततः सर्वाः समापेतुर्मातरो भरतस्य ताः।
उपवासकृशा दीना भर्तृव्यसनकर्शिताः ॥ ६ ॥

तदनन्तर भरतकी सभी माताएँ वहाँ आ पहुँचीं। वे पतिवियोगके दुःखसे दुःखी, उपवास करनेके कारण दुर्बल और दीन हो रही थीं ॥ ६ ॥

ताश्च तं पतितं भूमौ रुदत्यः पर्यवारयन्।
कौसल्या त्वनुसृत्यैनं दुर्मनाः परिषस्वजे ॥ ७ ॥

भूमिपर पड़े हुए भरतको उन्होंने चारों ओरसे घेर लिया और सब-की-सब रोने लगीं। कौसल्याका हृदय तो दुःखसे और भी कातर हो उठा। उन्होंने भरतके पास जाकर उन्हें अपनी गोदमें चिपका लिया ॥ ७ ॥

वत्सला स्वं यथा वत्समुपगुह्य तपस्विनी।
परिपप्रच्छ भरतं रुदती शोकलालसा ॥ ८ ॥

जैसे वत्सला गौ अपने बछड़ेको गलेसे लगाकर चाटती है, उसी तरह शोकसे व्याकुल हुई तपस्विनी कौसल्याने भरतको गोदमें लेकर रोते-रोते पूछा— ॥ ८ ॥

पुत्र व्याधिर्न ते कच्चिच्छरीरं प्रति बाधते।
अस्य राजकुलस्याद्य त्वदधीनं हि जीवितम् ॥ ९ ॥

'बेटा! तुम्हारे शरीरको कोई रोग तो कष्ट नहीं पहुँचा रहा है? अब इस राजवंशका जीवन तुम्हारे ही अधीन है ॥ ९ ॥

त्वां दृष्ट्वा पुत्र जीवामि रामे सभ्रातृके गते।
वृत्ते दशरथे राज्ञि नाथ एकस्त्वमद्य नः ॥ १० ॥

'वत्स! मैं तुम्हींको देखकर जी रही हूँ। श्रीराम लक्ष्मणके साथ वनमें चले गये और महाराज दशरथ स्वर्गवासी हो गये; अब एकमात्र तुम्हीं हमलोगोंके रक्षक हो ॥ १० ॥

कच्चिन्न लक्ष्मणे पुत्र श्रुतं ते किंचिदप्रियम्।
पुत्रे वा ह्येकपुत्रायाः सहभार्ये वनं गते ॥ ११ ॥

'बेटा! सच बताओ, तुमने लक्ष्मणके सम्बन्धमें अथवा मुझ एक ही पुत्रवाली माके बेटे वनमें सीतासहित गये हुए श्रीरामके विषयमें कोई अप्रिय बात तो नहीं सुनी है?' ॥

स मुहूर्तं समाश्वस्य रुदन्नेव महायशाः।
कौसल्यां परिसान्त्व्येदं गुहं वचनमब्रवीत् ॥ १२ ॥

दो ही घड़ीमें जब महायशस्वी भरतका चित्त स्वस्थ हुआ,

तब उन्होंने रोते-रोते ही कौसल्याको सान्त्वना दी (और कहा—'मा ! घबराओ मत, मैंने कोई अप्रिय बात नहीं सुनी है)। फिर निषादराज गुहसे इस प्रकार पूछा— ॥ १२ ॥

भ्राता मे क्वावसद् रात्रौ क्व सीता क्व च लक्ष्मणः ।
अस्वपच्छयने कस्मिन् किं भुक्त्वा गुह शंस मे ॥ १३ ॥

'गुह ! उस दिन रातमें मेरे भाई श्रीराम कहाँ ठहरे थे ? सीता कहाँ थीं ? और लक्ष्मण कहाँ रहे ? उन्होंने क्या भोजन करके कैसे बिछौनेपर शयन किया था ? ये सब बातें मुझे बताओ' ॥

सोऽब्रवीद् भरतं हृष्टो निषादाधिपतिर्गुहः ।
यद्विधं प्रतिपेदे च रामे प्रियहितेऽतिथौ ॥ १४ ॥

ये प्रश्न सुनकर निषादराज गुह बहुत प्रसन्न हुआ और उसने अपने प्रिय एवं हितकारी अतिथि श्रीरामके आनेपर उनके प्रति जैसा बर्ताव किया था, वह सब बताते हुए भरतसे कहा— ॥ १४ ॥

अन्नमुच्चावचं भक्ष्याः फलानि विविधानि च ।
रामायाभ्यवहारार्थं बहुशोऽपहृतं मया ॥ १५ ॥

'मैंने भाँति-भाँतिके अन्न, अनेक प्रकारके खाद्य-पदार्थ और कई तरहके फल श्रीरामचन्द्रजीके पास भोजनके लिये प्रचुर मात्रामें पहुँचाये ॥ १५ ॥

तत् सर्वं प्रत्यनुज्ञासीद् रामः सत्यपराक्रमः ।
न हि तत् प्रत्यगृह्णात् स क्षत्रधर्ममनुस्मरन् ॥ १६ ॥

'सत्यपराक्रमी श्रीरामने मेरी दी हुई सब वस्तुएँ स्वीकार तो कीं; किंतु क्षत्रियधर्मका स्मरण करते हुए उनको ग्रहण नहीं किया—मुझे आदरपूर्वक लौटा दिया ॥ १६ ॥

नह्यस्माभिः प्रतिग्राह्यं सखे देयं तु सर्वदा ।
इति तेन वयं सर्वे अनुनीता महात्मना ॥ १७ ॥

'फिर उन महात्माने हम सब लोगोंको समझाते हुए कहा—'सखे ! हम-जैसे क्षत्रियोंको किसीसे कुछ लेना नहीं चाहिये; अपितु सदा देना ही चाहिये' ॥ १७ ॥

लक्ष्मणेन यदानीतं पीतं वारि महात्मना ।
औपवास्यं तदाकार्षीद् राघवः सह सीतया ॥ १८ ॥

'सीतासहित श्रीरामने उस रातमें उपवास ही किया। लक्ष्मण जो जल ले आये थे, केवल उसीको उन महात्माने पीया ॥ १८ ॥

ततस्तु जलशेषेण लक्ष्मणोऽप्यकरोत् तदा ।
वाग्यतास्ते त्रयः संध्यां समुपासन्त संहिताः ॥ १९ ॥

'उनके पीनेसे बचा हुआ जल लक्ष्मणने ग्रहण किया। (जलपानके पहले) उन तीनोंने मौन एवं एकाग्रचित्त होकर संध्योपासना की थी ॥ १९ ॥

सौमित्रिस्तु ततः पश्चादकरोत् स्वास्तरं शुभम् ।
स्वयमानीय बर्हींषि क्षिप्रं राघवकारणात् ॥ २० ॥

'तदनन्तर लक्ष्मणने स्वयं कुश लाकर श्रीरामचन्द्रजीके लिये शीघ्र ही सुन्दर बिछौना बिछाया ॥ २० ॥

तस्मिन् समाविशद् रामः स्वास्तरे सह सीतया ।
प्रक्षाल्य च तयोः पादौ व्यपाक्रामत् सलक्ष्मणः ॥ २१ ॥

'उस सुन्दर बिस्तरपर जब सीताके साथ श्रीराम विराजमान हुए, तब लक्ष्मण उन दोनोंके चरण पखारकर वहाँसे दूर हट आये ॥ २१ ॥

एतत् तदिङ्गुदीमूलमिदमेव च तत् तृणम् ।
यस्मिन् रामश्च सीता च रात्रिं तां शयितावुभौ ॥ २२ ॥

यही वह इङ्गुदी-वृक्षकी जड़ है और यही वह तृण है, जहाँ श्रीराम और सीता—दोनोंने रात्रिमें शयन किया था ॥ २२ ॥

नियम्य पृष्ठे तु तलाङ्गुलित्रवान्-
शरैः सुपूर्णाविषुधी परंतपः ।
महद्धनुः सज्जमुपोह्य लक्ष्मणो
निशामतिष्ठत् परितोऽस्य केवलम् ॥ २३ ॥

'शत्रुसंतापी लक्ष्मण अपनी पीठपर बाणोंसे भरे दो तरकस बाँधे, दोनों हाथोंकी अंगुलियोंमें दस्ताने पहने और महान् धनुष चढ़ाये श्रीरामके चारों ओर घूमकर केवल पहरा देते हुए रातभर खड़े रहे ॥ २३ ॥

ततस्त्वहं चोत्तमबाणचापभृत्
स्थितोऽभवं तत्र स यत्र लक्ष्मणः ।
अतन्द्रितैर्ज्ञातिभिरात्तकार्मुकै-
र्महेन्द्रकल्पं परिपालयंस्तदा ॥ २४ ॥

'तदनन्तर मैं भी उत्तम बाण और धनुष लेकर वहीं आ खड़ा हुआ, जहाँ लक्ष्मण थे। उस समय अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ, जो निद्रा और आलस्यका त्याग करके धनुष-बाण लिये सदा सावधान रहे, मैं देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी श्रीरामकी रक्षा करता रहा' ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्ताशीतितमः सर्गः ॥ ८७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सतासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८७ ॥

अष्टाशीतितमः सर्गः

श्रीरामकी कुश-शय्या देखकर भरतका शोकपूर्ण उद्गार तथा स्वयं भी वल्कल और जटाधारण करके वनमें रहनेका विचार प्रकट करना

तच्छ्रुत्वा निपुणं सर्वं भरतः सह मन्त्रिभिः ।
इङ्गुदीमूलमागम्य रामशय्यामवेक्षत ॥ १ ॥

निषादराजकी सारी बातें ध्यानसे सुनकर मन्त्रियोंसहित भरतने इङ्गुदी वृक्षकी जड़के पास आकर श्रीरामचन्द्रजीकी शय्याका निरीक्षण किया ॥ १ ॥

अब्रवीज्जननीः सर्वा इह तस्य महात्मनः ।

शर्वरी शयिता भूमाविदमस्य विमर्दितम्॥ २॥

फिर उन्होंने समस्त माताओंसे कहा—'यहीं महात्मा श्रीरामने भूमिपर शयन करके रात्रि व्यतीत की थी। यही वह कुशसमूह है, जो उनके अङ्गोंसे विमर्दित हुआ था॥ २॥

महाराजकुलीनेन महाभागेन धीमता।
जातो दशरथेनोर्व्यां न रामः स्वप्तुमर्हति॥ ३॥

'महाराजोंके कुलमें उत्पन्न हुए परम बुद्धिमान् महाभाग राजा दशरथने जिन्हें जन्म दिया है, वे श्रीराम इस तरह भूमिपर शयन करनेके योग्य नहीं हैं॥ ३॥

अजिनोत्तरसंस्तीर्णे वरास्तरणसंचये।
शयित्वा पुरुषव्याघ्रः कथं शेते महीतले॥ ४॥

'जो पुरुषसिंह श्रीराम मुलायम मृगचर्मकी विशेष चादरसे ढके हुए तथा अच्छे-अच्छे बिछौनोंके समूहसे सजे हुए पलंगपर सदा सोते आये हैं, वे इस समय पृथ्वीपर कैसे शयन करते होंगे॥ ४॥

प्रासादाग्रविमानेषु वलभीषु च सर्वदा।
हैमराजतभौमेषु वरास्तरणशालिषु॥ ५॥
पुष्पसंचयचित्रेषु चन्दनागुरुगन्धिषु।
पाण्डुराभ्रप्रकाशेषु शुकसंघरुतेषु च॥ ६॥
प्रासादवरवर्येषु शीतवत्सु सुगन्धिषु।
उषित्वा मेरुकल्पेषु कृतकाञ्चनभित्तिषु॥ ७॥

'जो सदा विमानाकार प्रासादोंके श्रेष्ठ भवनों और अट्टालिकाओंमें सोते आये हैं तथा जिनकी फर्श सोने और चाँदीकी बनी हुई है, जो अच्छे बिछौनोंसे सुशोभित है, पुष्प-राशिसे विभूषित होनेके कारण जिनकी विचित्र शोभा होती है, जिनमें चन्दन और अगुरुकी सुगन्ध फैली रहती है, जो श्वेत बादलोंके समान उज्ज्वल कान्ति धारण करते हैं, जिनमें शुकसमूहोंका कलरव होता रहता है, जो शीतल हैं एवं कपूर आदिकी सुगन्धसे व्याप्त होते हैं, जिनकी दीवारोंपर सुवर्णका काम किया गया है तथा जो ऊँचाईमें मेरु पर्वतके समान जान पड़ते हैं, ऐसे सर्वोत्तम राजमहलोंमें जो निवास कर चुके हैं, वे श्रीराम वनमें पृथ्वीपर कैसे सोते होंगे?॥ ५—७॥

गीतवादित्रनिर्घोषैर्वराभरणनिःस्वनैः।
मृदङ्गवरशब्दैश्च सततं प्रतिबोधितः॥ ८॥
बन्दिभिर्वन्दितः काले बहुभिः सूतमागधैः।
गाथाभिरनुरूपाभिः स्तुतिभिश्च परंतपः॥ ९॥

'जो गीतों और वाद्योंकी ध्वनियोंसे, श्रेष्ठ आभूषणोंकी झनकारोंसे तथा मृदङ्गोंके उत्तम शब्दोंसे सदा जगाये जाते थे, बहुत-से वन्दीगण समय-समयपर जिनकी वन्दना करते थे, सूत और मागध अनुरूप गाथाओं और स्तुतियोंसे जिनको जगाते थे, वे शत्रुसंतापी श्रीराम अब भूमिपर कैसे शयन करते होंगे?॥ ८-९॥

अश्रद्धेयमिदं लोके न सत्यं प्रतिभाति मा।
मुह्यते खलु मे भावः स्वप्नोऽयमिति मे मतिः॥ १०॥

'यह बात जगत्‌में विश्वासके योग्य नहीं है। मुझे यह सत्य नहीं प्रतीत होती। मेरा अन्तःकरण अवश्य ही मोहित हो रहा है। मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि यह कोई स्वप्न है॥ १०॥

न नूनं दैवतं किंचित् कालेन बलवत्तरम्।
यत्र दाशरथी रामो भूमावेवमशेत सः॥ ११॥

'निश्चय ही कालके समान प्रबल कोई दूसरा देवता नहीं है, जिसके प्रभावसे दशरथनन्दन श्रीरामको भी इस प्रकार भूमिपर सोना पड़ा॥ ११॥

यस्मिन् विदेहराजस्य सुता च प्रियदर्शना।
दयिता शयिता भूमौ स्नुषा दशरथस्य च॥ १२॥

'उस कालके ही प्रभावसे विदेहराजकी परम सुन्दरी पुत्री और महाराज दशरथकी प्यारी पुत्रवधू सीता भी पृथ्वीपर शयन करती हैं॥ १२॥

इयं शय्या मम भ्रातुरिदमावर्तितं शुभम्।
स्थण्डिले कठिने सर्वं गात्रैर्विमृदितं तृणम्॥ १३॥

'यही मेरे बड़े भाईकी शय्या है। यहीं उन्होंने करवटें बदली थीं। इस कठोर वेदीपर उनका शुभ शयन हुआ था, जहाँ उनके अङ्गोंसे कुचला गया सारा तृण अभीतक पड़ा है॥ १३॥

मन्ये साभरणा सुप्ता सीतास्मिञ्शयने शुभा।
तत्र तत्र हि दृश्यन्ते सक्ताः कनकबिन्दवः॥ १४॥

'जान पड़ता है, शुभलक्षणा सीता शय्यापर आभूषण पहने ही सोयी थीं; क्योंकि यहाँ यत्र-तत्र सुवर्णके कण सटे दिखायी देते हैं॥ १४॥

उत्तरीयमिहासक्तं सुव्यक्तं सीतया तदा।
तथा ह्येते प्रकाशन्ते सक्ताः कौशेयतन्तवः॥ १५॥

'यहाँ उस समय सीताकी चादर उलझ गयी थी, यह साफ दिखायी दे रहा है; क्योंकि यहाँ सटे हुए ये रेशमके तागे चमक रहे हैं॥ १५॥

मन्ये भर्तुः सुखा शय्या येन बाला तपस्विनी।
सुकुमारी सती दुःखं न विजानाति मैथिली॥ १६॥

'मैं समझता हूँ कि पतिकी शय्या कोमल हो या कठोर, साध्वी स्त्रियोंके लिये वही सुखदायिनी होती है, तभी तो वह तपस्विनी एवं सुकुमारी बाला सती-साध्वी मिथिलेशकुमारी सीता यहाँ दुःखका अनुभव नहीं कर रही है॥ १६॥

हा हतोऽस्मि नृशंसोऽस्मि यत् सभार्यः कृते मम।
ईदृशीं राघवः शय्यामधिशेते ह्यनाथवत्॥ १७॥

'हाय! मैं मर गया—मेरा जीवन व्यर्थ है। मैं बड़ा क्रूर हूँ, जिसके कारण सीतासहित श्रीरामको अनाथकी भाँति ऐसी शय्यापर सोना पड़ता है॥ १७॥

सार्वभौमकुले जातः सर्वलोकसुखावहः।
सर्वप्रियकरस्त्यक्त्वा राज्यं प्रियमनुत्तमम्॥ १८॥
कथमिन्दीवरश्यामो रक्ताक्षः प्रियदर्शनः।
सुखभागी न दुःखार्हः शयितो भुवि राघवः॥ १९॥

'जो चक्रवर्ती सम्राट्के कुलमें उत्पन्न हुए हैं, समस्त लोकोंको सुख देनेवाले हैं तथा सबका प्रिय करनेमें तत्पर रहते हैं, जिनका शरीर नीले कमलके समान श्याम, आँखें लाल और दर्शन सबको प्रिय लगनेवाला है तथा जो सुख भोगनेके ही योग्य हैं, दुःख भोगनेके कदापि योग्य नहीं हैं, वे ही श्रीरघुनाथजी परम उत्तम प्रिय राज्यका परित्याग करके इस समय पृथ्वीपर शयन करते हैं ॥ १८-१९ ॥

धन्यः खलु महाभागो लक्ष्मणः शुभलक्षणः।
भ्रातरं विषमे काले यो राममनुवर्तते ॥ २० ॥

'उत्तम लक्षणोंवाले लक्ष्मण ही धन्य एवं बड़भागी हैं, जो संकटके समय बड़े भाई श्रीरामके साथ रहकर उनकी सेवा करते हैं ॥ २० ॥

सिद्धार्था खलु वैदेही पतिं यानुगता वनम्।
वयं संशयिताः सर्वे हीनास्तेन महात्मना ॥ २१ ॥

'निश्चय ही विदेहनन्दिनी सीता भी कृतार्थ हो गयीं, जिन्होंने पतिके साथ वनका अनुसरण किया है। हम सब लोग उन महात्मा श्रीरामसे बिछुड़कर संशयमें पड़ गये हैं (हमें यह संदेह होने लगा है कि श्रीराम हमारी सेवा स्वीकार करेंगे या नहीं) ॥ २१ ॥

अकर्णधारा पृथिवी शून्येव प्रतिभाति मे।
गते दशरथे स्वर्गं रामे चारण्यमाश्रिते ॥ २२ ॥

'महाराज दशरथ स्वर्गलोकको गये और श्रीराम वनवासी हो गये, ऐसी दशामें यह पृथ्वी बिना नाविककी नौकाके समान मुझे सूनी-सी प्रतीत हो रही है ॥ २२ ॥

न च प्रार्थयते कश्चिन्मनसापि वसुंधराम्।
वने निवसतस्तस्य बाहुवीर्याभिरक्षिताम् ॥ २३ ॥

'वनमें निवास करनेपर भी उन्हीं श्रीरामके बाहुबलसे सुरक्षित हुई इस वसुन्धराको कोई शत्रु मनसे भी नहीं लेना चाहता है ॥ २३ ॥

शून्यसंवरणारक्षामयन्त्रितहयद्विपाम्।
अनावृतपुरद्वारां राजधानीमरक्षिताम् ॥ २४ ॥
अप्रहृष्टबलां शून्यां विषमस्थामनावृताम्।
शत्रवो नाभिमन्यन्ते भक्ष्यान् विषकृतानिव ॥ २५ ॥

'इस समय अयोध्याकी चहारदीवारीकी सब ओरसे रक्षाका कोई प्रबन्ध नहीं है, हाथी और घोड़े बँधे नहीं रहते हैं—खुले विचरते हैं, नगरद्वारका फाटक खुला ही रहता है, सारी राजधानी अरक्षित है, सेनामें हर्ष और उत्साहका अभाव है, समस्त नगरी रक्षकोंसे सूनी-सी जान पड़ती है, सङ्कटमें पड़ी हुई है, रक्षकोंके अभावसे आवरणरहित हो गयी है, तो भी शत्रु विषमिश्रित भोजनकी भाँति इसे ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं करते हैं। श्रीरामके बाहुबलसे ही इसकी रक्षा हो रही है ॥ २४-२५ ॥

अद्यप्रभृति भूमौ तु शयिष्येऽहं तृणेषु वा।
फलमूलाशनो नित्यं जटाचीराणि धारयन् ॥ २६ ॥

'आजसे मैं भी पृथ्वीपर अथवा तिनकोंपर ही सोऊँगा, फल-मूलका ही भोजन करूँगा और सदा वल्कल वस्त्र तथा जटा धारण किये रहूँगा ॥ २६ ॥

तस्याहमुत्तरं कालं निवत्स्यामि सुखं वने।
तत् प्रतिश्रुतमार्यस्य नैव मिथ्या भविष्यति ॥ २७ ॥

'वनवासके जितने दिन बाकी हैं, उतने दिनोंतक मैं ही वहाँ सुखपूर्वक निवास करूँगा, ऐसा होनेसे आर्य श्रीरामकी की हुई प्रतिज्ञा झूठी नहीं होगी ॥ २७ ॥

वसन्तं भ्रातुरर्थाय शत्रुघ्नो मानुवत्स्यति।
लक्ष्मणेन सहायोध्यामार्यो मे पालयिष्यति ॥ २८ ॥

'भाईके लिये वनमें निवास करते समय शत्रुघ्न मेरे साथ रहेंगे और मेरे बड़े भाई श्रीराम लक्ष्मणको साथ लेकर अयोध्याका पालन करेंगे ॥ २८ ॥

अभिषेक्ष्यन्ति काकुत्स्थमयोध्यायां द्विजातयः।
अपि मे देवताः कुर्युरिमं सत्यं मनोरथम् ॥ २९ ॥

'अयोध्यामें ब्राह्मणलोग ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामका अभिषेक करेंगे। क्या देवता मेरे इस मनोरथको सत्य (सफल) करेंगे? ॥ २९ ॥

प्रसाद्यमानः शिरसा मया स्वयं
बहुप्रकारं यदि न प्रपत्स्यते।
ततोऽनुवत्स्यामि चिराय राघवं
वनेचरं नार्हति मामुपेक्षितुम् ॥ ३० ॥

'मैं उनके चरणोंपर मस्तक रखकर उन्हें मनानेकी चेष्टा करूँगा। यदि मेरे बहुत कहनेपर भी वे लौटनेको राजी न होंगे तो उन वनवासी श्रीरामके साथ मैं भी दीर्घकालतक वहीं निवास करूँगा। वे मेरी उपेक्षा नहीं करेंगे' ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टाशीतितमः सर्गः ॥ ८८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अट्ठासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८८ ॥

एकोननवतितमः सर्गः

भरतका सेनासहित गङ्गा पार करके भरद्वाजके आश्रमपर जाना

व्युष्य रात्रिं तु तत्रैव गङ्गाकूले स राघवः।
काल्यमुत्थाय शत्रुघ्नमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

शृङ्गवेरपुरमें ही गङ्गाके तटपर रात्रि बिताकर रघुकुलनन्दन भरत प्रातःकाल उठे और शत्रुघ्नसे इस प्रकार बोले— ॥ १ ॥

शत्रुघ्नोत्तिष्ठ किं शेषे निषादाधिपतिं गुहम्।
शीघ्रमानय भद्रं ते तारयिष्यति वाहिनीम्॥ २॥

'शत्रुघ्न! उठो, क्या सो रहे हो। तुम्हारा कल्याण हो, तुम निषादराज गुहको शीघ्र बुला लाओ, वही हमें गङ्गाके पार उतारेगा'॥ २॥

जागर्मि नाहं स्वपिमि तथैवार्यं विचिन्तयन्।
इत्येवमब्रवीद् भ्राता शत्रुघ्नो विप्रचोदितः॥ ३॥

उनसे इस प्रकार प्रेरित होनेपर शत्रुघ्नने कहा—'भैया! मैं भी आपकी ही भाँति आर्य श्रीरामका चिन्तन करता हुआ जाग रहा हूँ, सोता नहीं हूँ'॥ ३॥

इति संवदतोरेवमन्योन्यं नरसिंहयोः।
आगम्य प्राञ्जलिः काले गुहो वचनमब्रवीत्॥ ४॥

वे दोनों पुरुषसिंह जब इस प्रकार परस्पर बातचीत कर रहे थे, उसी समय गुह उपयुक्त वेलामें आ पहुँचा और हाथ जोड़कर बोला—॥ ४॥

कच्चित् सुखं नदीतीरेऽवात्सीः काकुत्स्थ शर्वरीम्।
कच्चिच्च सहसैन्यस्य तव नित्यमनामयम्॥ ५॥

'ककुत्स्थकुलभूषण भरतजी! इस नदीके तटपर आप रातमें सुखसे रहे हैं न? सेनासहित आपको यहाँ कोई कष्ट तो नहीं हुआ है? आप सर्वथा नीरोग हैं न?'॥ ५॥

गुहस्य तत् तु वचनं श्रुत्वा स्नेहादुदीरितम्।
रामस्यानुवशो वाक्यं भरतोऽपीदमब्रवीत्॥ ६॥

गुहके स्नेहपूर्वक कहे गये इस वचनको सुनकर श्रीरामके अधीन रहनेवाले भरतने यों कहा—॥ ६॥

सुखा नः शर्वरी धीमन् पूजिताश्चापि ते वयम्।
गङ्गां तु नौभिर्बह्वीभिर्दाशाः संतारयन्तु नः॥ ७॥

'बुद्धिमान् निषादराज! हम सब लोगोंकी रात बड़े सुखसे बीती है। तुमने हमारा बड़ा सत्कार किया। अब ऐसी व्यवस्था करो, जिससे तुम्हारे मल्लाह बहुत-सी नौकाओंद्वारा हमें गङ्गाके पार उतार दें'॥ ७॥

ततो गुहः संत्वरितः श्रुत्वा भरतशासनम्।
प्रतिप्रविश्य नगरं तं ज्ञातिजनमब्रवीत्॥ ८॥

भरतका यह आदेश सुनकर गुह तुरंत अपने नगरमें गया और भाई-बन्धुओंसे बोला—॥ ८॥

उत्तिष्ठत प्रबुध्यध्वं भद्रमस्तु हि वः सदा।
नावः समुपकर्षध्वं तारयिष्यामि वाहिनीम्॥ ९॥

'उठो, जागो, सदा तुम्हारा कल्याण हो। नौकाओंको खींचकर घाटपर ले आओ। भरतकी सेनाको गङ्गाजीके पार उतारूँगा'॥ ९॥

ते तथोक्ताः समुत्थाय त्वरिता राजशासनात्।
पञ्च नावां शतान्येव समानिन्युः समन्ततः॥ १०॥

गुहके इस प्रकार कहनेपर अपने राजाकी आज्ञासे सभी मल्लाह शीघ्र ही उठ खड़े हुए और चारों ओरसे पाँच सौ नौकाएँ एकत्र कर लाये॥ १०॥

अन्याः स्वस्तिकविज्ञेया महाघण्टाधरावराः।
शोभमानाः पताकिन्यो युक्तवाहाः सुसंहताः॥ ११॥

इन सबके अतिरिक्त कुछ स्वस्तिक नामसे प्रसिद्ध नौकाएँ थीं; जो स्वस्तिकके चिह्नोंसे अलंकृत होनेके कारण उन्हीं चिह्नोंसे पहचानी जाती थीं। उनपर ऐसी पताकाएँ फहरा रही थीं, जिनमें बड़ी-बड़ी घण्टियाँ लटक रही थीं। स्वर्ण आदिके बने हुए चित्रोंसे उन नौकाओंकी विशेष शोभा हो रही थी। उनमें नौका खेनेके लिये बहुत-से डाँड़ लगे हुए थे तथा चतुर नाविक उन्हें चलानेके लिये तैयार बैठे थे। वे सभी नौकाएँ बड़ी मजबूत बनी थीं॥ ११॥

ततः स्वस्तिकविज्ञेयां पाण्डुकम्बलसंवृताम्।
सनन्दिघोषां कल्याणीं गुहो नावमुपाहरत्॥ १२॥

उन्हींमेंसे एक कल्याणमयी नाव गुह स्वयं लेकर आया, जिसमें श्वेत कालीन बिछे हुए थे तथा उस स्वस्तिक नामवाली नावपर माङ्गलिक शब्द हो रहा था॥ १२॥

तामारुरोह भरतः शत्रुघ्नश्च महाबलः।
कौसल्या च सुमित्रा च याश्चान्या राजयोषितः॥ १३॥
पुरोहितश्च तत् पूर्वं गुरवो ब्राह्मणाश्च ये।
अनन्तरं राजदारास्तथैव शकटापणाः॥ १४॥

उसपर सबसे पहले पुरोहित, गुरु और ब्राह्मण बैठे। तत्पश्चात् उसपर भरत, महाबली शत्रुघ्न, कौसल्या, सुमित्रा, कैकेयी तथा राजा दशरथकी जो अन्य रानियाँ थीं, वे सब सवार हुईं। तदनन्तर राजपरिवारकी दूसरी स्त्रियाँ बैठीं। गाड़ियाँ तथा क्रय-विक्रयकी सामग्रियाँ दूसरी-दूसरी नावोंपर लादी गयीं॥ १३-१४॥

आवासमादीपयतां तीर्थं चाप्यवगाहताम्।
भाण्डानि चाददानानां घोषस्तु दिवमस्पृशत्॥ १५॥

कुछ सैनिक बड़ी-बड़ी मशालें जलाकर* अपने खेमोंमें छूटी हुई वस्तुओंको सँभालने लगे। कुछ लोग शीघ्रतापूर्वक घाटपर उतरने लगे तथा बहुत-से सैनिक अपने-अपने सामानको 'यह मेरा है, यह मेरा है' इस तरह पहचानकर उठाने लगे। उस समय जो महान् कोलाहल मचा, वह

---

* यहाँ 'आवासमादीपयताम्' का अर्थ कुछ टीकाकारोंने यह किया है कि 'वे अपने आवासस्थानमें आग लगाने लगे। आवश्यक वस्तुओंको लाद लेनेके बाद जो मामूली झोंपड़े और नगण्य वस्तुएँ शेष रह जाती हैं, उनमें छावनी उखाड़ते समय आग लगा देना—यह सेनाका धर्म बताया गया है। इसके दो रहस्य हैं, किसी शत्रुपक्षीय व्यक्तिके लिये अपना कोई निशान न छोड़ना—यह सैनिक नीति है। दूसरा यह है कि इस तरह आग लगाकर जानेसे विजय-लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है—ऐसा उनका परम्परागत विश्वास है।

आकाशमें गूँज उठा ॥ १५ ॥

पताकिन्यस्तु ता नावः स्वयं दाशैरधिष्ठिताः ।
वहन्त्यो जनमारूढं तदा सम्पेतुराशुगाः ॥ १६ ॥

उन सभी नावोंपर पताकाएँ फहरा रही थीं। सबके ऊपर खेनेवाले कई मल्लाह बैठे थे। वे सब नौकाएँ उस समय चढ़े हुए मनुष्योंको तीव्रगतिसे पार ले जाने लगीं ॥ १६ ॥

नारीणामभिपूर्णास्तु काश्चित् काश्चित् तु वाजिनाम् ।
काश्चित् तत्र वहन्ति स्म यानयुग्यं महाधनम् ॥ १७ ॥

कितनी ही नौकाएँ केवल स्त्रियोंसे भरी थीं, कुछ नावोंपर घोड़े थे तथा कुछ नौकाएँ गाड़ियों, उनमें जोते जानेवाले घोड़े, खच्चर, बैल आदि वाहनों तथा बहुमूल्य रत्न आदिको ढो रही थीं ॥ १७ ॥

तास्तु गत्वा परं तीरमवरोप्य च तं जनम् ।
निवृत्ता काण्डचित्राणि क्रियन्ते दाशबन्धुभिः ॥ १८ ॥

वे दूसरे तटपर पहुँचकर वहाँ लोगोंको उतारकर जब लौटीं, उस समय मल्लाहबन्धु जलमें उनकी विचित्र गतियोंका प्रदर्शन करने लगे ॥ १८ ॥

सवैजयन्तास्तु गजा गजारोहैः प्रचोदिताः ।
तरन्तः स्म प्रकाशन्ते सपक्षा इव पर्वताः ॥ १९ ॥

वैजयन्ती पताकाओंसे सुशोभित होनेवाले हाथी महावतोंसे प्रेरित होकर स्वयं ही नदी पार करने लगे। उस समय वे पंखधारी पर्वतोंके समान प्रतीत होते थे ॥ १९ ॥

नावश्चारुरुहुस्त्वन्ये प्लवैस्तेरुस्तथापरे ।
अन्ये कुम्भघटैस्तेरुरन्ये तेरुश्च बाहुभिः ॥ २० ॥

कितने ही मनुष्य नावोंपर बैठे थे और कितने ही बाँस तथा तिनकोंसे बने हुए बेड़ोंपर सवार थे। कुछ लोग बड़े-बड़े कलशों, कुछ छोटे घड़ों और कुछ अपनी बाहुओंसे ही तैरकर पार हो रहे थे ॥ २० ॥

सा पुण्या ध्वजिनी गङ्गां दाशैः संतारिता स्वयम् ।
मैत्रे मुहूर्ते प्रययौ प्रयागवनमुत्तमम् ॥ २१ ॥

इस प्रकार मल्लाहोंकी सहायतासे वह सारी पवित्र सेना गङ्गाके पार उतारी गयी। फिर वह स्वयं मैत्र[1] नामक मुहूर्तमें उत्तम प्रयागवनकी ओर प्रस्थित हो गयी ॥ २१ ॥

आश्वासयित्वा च चमूं महात्मा
निवेशयित्वा च यथोपजोषम् ।
द्रष्टुं भरद्वाजमृषिप्रवर्य-
मृत्विक्सदस्यैर्भरतः प्रतस्थे ॥ २२ ॥

वहाँ पहुँचकर महात्मा भरत सेनाको सुखपूर्वक विश्रामकी आज्ञा दे उसे प्रयागवनमें ठहराकर स्वयं ऋत्विजों तथा राजसभाके सदस्योंके साथ ऋषिश्रेष्ठ भरद्वाजका दर्शन करनेके लिये गये ॥ २२ ॥

स ब्राह्मणस्याश्रममभ्युपेत्य
महात्मनो देवपुरोहितस्य ।
ददर्श रम्योटजवृक्षदेशं
महद्वनं विप्रवरस्य रम्यम् ॥ २३ ॥

देवपुरोहित महात्मा ब्राह्मण भरद्वाज मुनिके आश्रमपर पहुँचकर भरतने उन विप्रशिरोमणिके रमणीय एवं विशाल वनको देखा, जो मनोहर पर्णशालाओं तथा वृक्षावलियोंसे सुशोभित था ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोननवतितमः सर्गः ॥ ८९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें नवासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८९ ॥

नवतितमः सर्गः

भरत और भरद्वाज मुनिकी भेंट एवं बातचीत तथा मुनिका अपने आश्रमपर ही ठहरनेका आदेश देना

भरद्वाजाश्रमं गत्वा क्रोशादेव नरर्षभः ।
जनं सर्वमवस्थाप्य जगाम सह मन्त्रिभिः ॥ १ ॥
पद्भ्यामेव तु धर्मज्ञो न्यस्तशस्त्रपरिच्छदः ।
वसानो वाससी क्षौमे पुरोधाय पुरोहितम् ॥ २ ॥

धर्मके ज्ञाता नरश्रेष्ठ भरतने भरद्वाज-आश्रमके पास पहुँचकर अपने साथके सब लोगोंको आश्रमसे एक कोस इधर ही ठहरा दिया था और अपने भी अस्त्र-शस्त्र तथा राजोचित वस्त्र उतारकर वहीं रख दिये थे। केवल दो रेशमी वस्त्र धारण करके पुरोहितको आगे किये वे मन्त्रियोंके साथ पैदल ही वहाँ गये ॥ १-२ ॥

ततः संदर्शने तस्य भरद्वाजस्य राघवः ।
मन्त्रिणस्तानवस्थाप्य जगामानुपुरोहितम् ॥ ३ ॥

---

[1] १. दो दो घड़ी (दण्ड) का एक मुहूर्त होता है। दिनमें कुल पंद्रह मुहूर्त बीतते हैं। इनमेंसे तीसरे मुहूर्तको 'मैत्र' कहते हैं। बृहस्पतिने पंद्रह मुहूर्तोंके नाम इस प्रकार गिनाये हैं—रौद्र, सार्प, मैत्र, पैत्र, वासव, आप्य, वैश्व, ब्राह्म, प्राज, ऐश, ऐन्द्र, ऐन्द्राग्न, नैर्ऋत, वारुणार्यमण तथा भगी। जैसा कि वचन है—

रौद्रः सार्पस्तथा मैत्रः पैत्रो वासव एव च। आप्यो वैश्वस्तथा ब्राह्मः प्राजेशैन्द्रास्तथैव च॥
ऐन्द्राग्नो नैर्ऋतश्चैव वारुणार्यमणो भगी। एतेऽह्नि क्रमशो ज्ञेया मुहूर्ता दश पञ्च च॥

आश्रममें प्रवेश करके जहाँ दूरसे ही मुनिवर भरद्वाजका दर्शन होने लगा। वहीं उन्होंने उन मन्त्रियोंको खड़ा कर दिया और पुरोहित वसिष्ठजीको आगे करके वे पीछे-पीछे ऋषिके पास गये॥ ३॥

वसिष्ठमथ दृष्ट्वैव भरद्वाजो महातपाः।
संचचालासनात् तूर्णं शिष्यानर्घ्यमिति ब्रुवन्॥ ४॥

महर्षि वसिष्ठको देखते ही महातपस्वी भरद्वाज आसनसे उठ खड़े हुए और शिष्योंसे शीघ्रतापूर्वक अर्घ्य ले आनेको कहा॥

समागम्य वसिष्ठेन भरतेनाभिवादितः।
अबुध्यत महातेजाः सुतं दशरथस्य तम्॥ ५॥

फिर वे वसिष्ठसे मिले। तत्पश्चात् भरतने उनके चरणोंमें प्रणाम किया। महातेजस्वी भरद्वाज समझ गये कि ये राजा दशरथके पुत्र हैं॥ ५॥

ताभ्यामर्घ्यं च पाद्यं च दत्त्वा पश्चात् फलानि च।
आनुपूर्व्याच्च धर्मज्ञः पप्रच्छ कुशलं कुले॥ ६॥

धर्मज्ञ ऋषिने क्रमशः वसिष्ठ और भरतको अर्घ्य, पाद्य तथा फल आदि निवेदन करके उन दोनोंके कुलका कुशल-समाचार पूछा॥ ६॥

अयोध्यायां बले कोशे मित्रेष्वपि च मन्त्रिषु।
जानन् दशरथं वृत्तं न राजानमुदाहरत्॥ ७॥

इसके बाद अयोध्या, सेना, खजाना, मित्रवर्ग तथा मन्त्रिमण्डलका हाल पूछा। राजा दशरथकी मृत्युका वृत्तान्त वे जानते थे; इसलिये उनके विषयमें उन्होंने कुछ नहीं पूछा॥ ७॥

वसिष्ठो भरतश्चैनं पप्रच्छतुरनामयम्।
शरीरेऽग्निषु शिष्येषु वृक्षेषु मृगपक्षिषु॥ ८॥

वसिष्ठ और भरतने भी महर्षिके शरीर, अग्निहोत्र, शिष्यवर्ग, पेड़-पत्ते तथा मृग-पक्षी आदिका कुशल-समाचार पूछा॥ ८॥

तथेति तु प्रतिज्ञाय भरद्वाजो महायशाः।
भरतं प्रत्युवाचेदं राघवस्नेहबन्धनात्॥ ९॥

महायशस्वी भरद्वाज 'सब ठीक है' ऐसा कहकर श्रीरामके प्रति स्नेह होनेके कारण भरतसे इस प्रकार बोले—॥ ९॥

किमिहागमने कार्यं तव राज्यं प्रशासतः।
एतदाचक्ष्व सर्वं मे न हि मे शुध्यते मनः॥ १०॥

'तुम तो राज्य कर रहे हो न? तुम्हें यहाँ आनेकी क्या आवश्यकता पड़ गयी? यह सब मुझे बताओ, क्योंकि मेरा मन तुम्हारी ओरसे शुद्ध नहीं हो रहा है—मेरा विश्वास तुमपर नहीं जमता है॥ १०॥

सुषुवे यममित्रघ्नं कौसल्याऽऽनन्दवर्धनम्।
भ्रात्रा सह सभार्यो यश्चिरं प्रव्राजितो वनम्॥ ११॥
नियुक्तः स्त्रीनिमित्तेन पित्रा योऽसौ महायशाः।
वनवासी भवेतीह समाः किल चतुर्दश॥ १२॥
कच्चिन्न तस्यापापस्य पापं कर्तुमिहेच्छसि।
अकण्टकं भोक्तुमना राज्यं तस्यानुजस्य च॥ १३॥

'जो शत्रुओंका नाश करनेवाला है, जिस आनन्दवर्धक पुत्रको कौसल्याने जन्म दिया है तथा तुम्हारे पिताने स्त्रीके कारण जिस महायशस्वी पुत्रको चौदह वर्षोंतक वनमें रहनेकी आज्ञा देकर उसे भाई और पत्नीके साथ दीर्घकालके लिये वनमें भेज दिया है, उस निरपराध श्रीराम और उसके छोटे भाई लक्ष्मणका तुम अकण्टक राज्य भोगनेकी इच्छासे कोई अनिष्ट तो नहीं करना चाहते हो?'॥ ११—१३॥

एवमुक्तो भरद्वाजं भरतः प्रत्युवाच ह।
पर्यश्रुनयनो दुःखाद् वाचा संसज्जमानया॥ १४॥

भरद्वाजजीके ऐसा कहनेपर दुःखके कारण भरतकी आँखें डबडबा आयीं। वे लड़खड़ाती हुई वाणीमें उनसे इस प्रकार बोले—॥ १४॥

हतोऽस्मि यदि मामेवं भगवानपि मन्यते।
मत्तो न दोषमाशङ्के मैवं मामनुशाधि हि॥ १५॥

'भगवन्! यदि आप पूज्यपाद महर्षि भी मुझे ऐसा समझते हैं, तब तो मैं हर तरहसे मारा गया। यह मैं निश्चित रूपसे जानता हूँ कि श्रीरामके वनवासमें मेरी ओरसे कोई अपराध नहीं हुआ है, अतः आप मुझसे ऐसी कठोर बात न कहें॥ १५॥

न चैतदिष्टं माता मे यदवोचन्मदन्तरे।
नाहमेतेन तुष्टश्च न तद्वचनमाददे॥ १६॥

'मेरी आड़ लेकर मेरी माताने जो कुछ कहा या किया है, यह मुझे अभीष्ट नहीं है। मैं इससे संतुष्ट नहीं हूँ और न माताकी उस बातको स्वीकार ही करता हूँ॥ १६॥

अहं तु तं नरव्याघ्रमुपयातः प्रसादकः।
प्रतिनेतुमयोध्यायां पादौ चास्याभिवन्दितुम्॥ १७॥

'मैं तो उन पुरुषसिंह श्रीरामको प्रसन्न करके अयोध्यामें लौटा लाने और उनके चरणोंकी वन्दना करनेके लिये जा रहा हूँ॥ १७॥

तं मामेवंगतं मत्वा प्रसादं कर्तुमर्हसि।
शंस मे भगवन् रामः क्व सम्प्रति महीपतिः॥ १८॥

'इसी उद्देश्यसे मैं यहाँ आया हूँ। ऐसा समझकर आपको मुझपर कृपा करनी चाहिये। भगवन्! आप मुझे बताइये कि इस समय महाराज श्रीराम कहाँ हैं?'॥ १८॥

वसिष्ठादिभिर्ऋत्विग्भिर्याचितो भगवांस्ततः।
उवाच तं भरद्वाजः प्रसादाद् भरतं वचः॥ १९॥

इसके बाद वसिष्ठ आदि ऋत्विजोंने भी यह प्रार्थना की कि भरतका कोई अपराध नहीं है। आप इनपर प्रसन्न हों। तब भगवान् भरद्वाजने प्रसन्न होकर भरतसे कहा—॥ १९॥

त्वय्येतत् पुरुषव्याघ्र युक्तं राघववंशजे।
गुरुवृत्तिर्दमश्चैव साधूनां चानुयायिता॥ २०॥

'पुरुषसिंह! तुम रघुकुलमें उत्पन्न हुए हो। तुममें गुरुजनोंकी सेवा, इन्द्रियसंयम तथा श्रेष्ठ पुरुषोंके अनुसरणका भाव होना उचित ही है॥ २०॥

जाने चैतन्मनःस्थं ते दृढीकरणमस्त्विति।
अपृच्छं त्वां तवात्यर्थं कीर्तिं समभिवर्धयन्॥ २१॥

'तुम्हारे मनमें जो बात है, उसे मैं जानता हूँ; तथापि मैंने इसलिये पूछा है कि तुम्हारा यह भाव और भी दृढ़ हो जाय तथा तुम्हारी कीर्तिका अधिकाधिक विस्तार हो॥ २१॥

जाने च रामं धर्मज्ञं ससीतं सहलक्ष्मणम्।
अयं वसति ते भ्राता चित्रकूटे महागिरौ॥ २२॥

'मैं सीता और लक्ष्मणसहित धर्मज्ञ श्रीरामका पता जानता हूँ। ये तुम्हारे भ्राता श्रीरामचन्द्र महापर्वत चित्रकूटपर निवास करते हैं॥ २२॥

श्वस्तु गन्तासि तं देशं वसाद्य सह मन्त्रिभिः।
एतं मे कुरु सुप्राज्ञ कामं कामार्थकोविद॥

'अब कल तुम उस स्थानकी यात्रा करना। आज अपने मन्त्रियोंके साथ इस आश्रममें ही रहो। महाबुद्धिमान् भरत! तुम मेरी इस अभीष्ट वस्तुको देनेमें समर्थ हो, अतः मेरी यह अभिलाषा पूर्ण करो'॥ २३॥

ततस्तथेत्येवमुदारदर्शनः
प्रतीतरूपो भरतोऽब्रवीद् वचः।
चकार बुद्धिं च तदाश्रमे तदा
निशानिवासाय नराधिपात्मजः॥ २४॥

तब जिनके स्वरूप एवं स्वभावका परिचय मिल गया था, उन उदार दृष्टिवाले भरतने 'तथास्तु' कहकर मुनिकी आज्ञा शिरोधार्य की तथा उन राजकुमारने उस समय रातको उस आश्रममें ही निवास करनेका विचार किया॥ २४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे नवतितमः सर्गः॥ ९०॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें नब्बेवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ९०॥

एकनवतितमः सर्गः

भरद्वाज मुनिके द्वारा सेनासहित भरतका दिव्य सत्कार

कृतबुद्धिं निवासाय तत्रैव स मुनिस्तदा।
भरतं केकयीपुत्रमातिथ्येन न्यमन्त्रयत्॥ १॥

जब भरतने उस आश्रममें ही निवासका दृढ़ निश्चय कर लिया, तब मुनिने कैकेयीकुमार भरतको अपना आतिथ्य ग्रहण करनेके लिये न्यौता दिया॥ १॥

अब्रवीद् भरतस्त्वेनं नन्विदं भवता कृतम्।
पाद्यमर्घ्यमथातिथ्यं वने यदुपपद्यते॥ २॥

यह सुनकर भरतने उनसे कहा—'मुने! वनमें जैसा आतिथ्य-सत्कार सम्भव है, वह तो आप पाद्य, अर्घ्य और फल-मूल आदि देकर कर ही चुके'॥ २॥

अथोवाच भरद्वाजो भरतं प्रहसन्निव।
जाने त्वां प्रीतिसंयुक्तं तुष्येस्त्वं येन केनचित्॥ ३॥

उनके ऐसा कहनेपर भरद्वाजजी भरतसे हँसते हुए-से बोले—'भरत! मैं जानता हूँ, मेरे प्रति तुम्हारा प्रेम है; अतः मैं तुम्हें जो कुछ दूँगा, उसीसे तुम संतुष्ट हो जाओगे॥ ३॥

सेनायास्तु तवैवास्याः कर्तुमिच्छामि भोजनम्।
मम प्रीतिर्यथारूपा त्वमर्हो मनुजर्षभ॥ ४॥

'किंतु इस समय मैं तुम्हारी सेनाको भोजन कराना चाहता हूँ। नरश्रेष्ठ! इससे मुझे प्रसन्नता होगी और जिस तरह मुझे प्रसन्नता हो, वैसा कार्य तुम्हें अवश्य करना चाहिये॥ ४॥

किमर्थं चापि निक्षिप्य दूरे बलमिहागतः।
कस्मान्नेहोपयातोऽसि सबलः पुरुषर्षभ॥ ५॥

'पुरुषप्रवर! तुम अपनी सेनाको किसलिये इतनी दूर छोड़कर यहाँ आये हो, सेनासहित यहाँ क्यों नहीं आये?'॥

भरतः प्रत्युवाचेदं प्राञ्जलिस्तं तपोधनम्।
न सैन्येनोपयातोऽस्मि भगवन् भगवद्भयात्॥ ६॥

तब भरतने हाथ जोड़कर उन तपोधन मुनिको उत्तर दिया—'भगवन्! मैं आपके ही भयसे सेनाके साथ यहाँ नहीं आया॥ ६॥

राज्ञा हि भगवन् नित्यं राजपुत्रेण वा तथा।
यत्नतः परिहर्तव्या विषयेषु तपस्विनः॥ ७॥

'प्रभो! राजा और राजपुत्रको चाहिये कि वे सभी देशोंमें प्रयत्नपूर्वक तपस्वीजनोंको दूर छोड़कर रहें (क्योंकि उनके द्वारा उन्हें कष्ट पहुँचनेकी सम्भावना रहती है)॥ ७॥

वाजिमुख्या मनुष्याश्च मत्ताश्च वरवारणाः।
प्रच्छाद्य भगवन् भूमिं महतीमनुयान्ति माम्॥ ८॥

'भगवन्! मेरे साथ बहुत-से अच्छे-अच्छे घोड़े, मनुष्य और मतवाले गजराज हैं, जो बहुत बड़े भूभागको ढककर मेरे पीछे-पीछे चलते हैं॥ ८॥

ते वृक्षानुदकं भूमिमाश्रमेषूटजांस्तथा।
न हिंस्युरिति तेनाहमेक एवागतस्ततः॥ ९॥

'वे आश्रमके वृक्ष, जल, भूमि और पर्णशालाओंको हानि न पहुँचायें, इसलिये मैं यहाँ अकेला ही आया हूँ'॥ ९॥

आनीयतामितः सेनेत्याज्ञप्तः परमर्षिणा।
तथानुचक्रे भरतः सेनायाः समुपागमम्॥ १०॥

तदनन्तर उन महर्षिने आज्ञा दी कि 'सेनाको यहीं ले

आओ।' तब भरतने सेनाको वहीं बुलवा लिया॥ १०॥

अग्निशालां प्रविश्याथ पीत्वापः परिमृज्य च।
आतिथ्यस्य क्रियाहेतोर्विश्वकर्माणमाह्वयत्॥ ११॥

इसके बाद मुनिवर भरद्वाजने अग्निशालामें प्रवेश करके जलका आचमन किया और ओठ पोंछकर भरतके आतिथ्य-सत्कारके लिये विश्वकर्मा आदिका आवाहन किया॥ ११॥

आह्वये विश्वकर्माणमहं त्वष्टारमेव च।
आतिथ्यं कर्तुमिच्छामि तत्र मे संविधीयताम्॥ १२॥

वे बोले—'मैं विश्वकर्मा त्वष्टा देवताका आवाहन करता हूँ। मेरे मनमें सेनासहित भरतका आतिथ्य-सत्कार करनेकी इच्छा हुई है। इसमें मेरे लिये वे आवश्यक प्रबन्ध करें॥

आह्वये लोकपालांस्त्रीन् देवाञ् शक्रपुरोगमान्।
आतिथ्यं कर्तुमिच्छामि तत्र मे संविधीयताम्॥ १३॥

'जिनके अगुआ इन्द्र हैं, उन तीन लोकपालोंका (अर्थात् इन्द्रसहित यम, वरुण और कुबेर नामक देवताओंका) मैं आवाहन करता हूँ। इस समय भरतका आतिथ्य-सत्कार करना चाहता हूँ, इसमें मेरे लिये वे लोग आवश्यक प्रबन्ध करें॥ १३॥

प्राक्स्रोतसश्च या नद्यस्तिर्यक्स्रोतस एव च।
पृथिव्यामन्तरिक्षे च समायान्त्वद्य सर्वशः॥ १४॥

'पृथिवी और आकाशमें जो पूर्व एवं पश्चिमकी ओर प्रवाहित होनेवाली नदियाँ हैं, उनका भी मैं आवाहन करता हूँ; वे सब आज यहाँ पधारें॥ १४॥

अन्याः स्रवन्तु मैरेयं सुरामन्याः सुनिष्ठिताम्।
अपराश्चोदकं शीतमिक्षुकाण्डरसोपमम्॥ १५॥

'कुछ नदियाँ मैरेय प्रस्तुत करें। दूसरी अच्छी तरह तैयार की हुई सुरा ले आवें तथा अन्य नदियाँ ईखके पोरुओंमें होनेवाले रसकी भाँति मधुर एवं शीतल जल तैयार करके रखें॥ १५॥

आह्वये देवगन्धर्वान् विश्वावसुहहाहुहून्।
तथैवाप्सरसो देवगन्धर्वैश्चापि सर्वशः॥ १६॥

'मैं विश्वावसु, हाहा और हूहू आदि देव-गन्धर्वोंका तथा उनके साथ समस्त अप्सराओंका भी आवाहन करता हूँ॥

घृताचीमथ विश्वाचीं मिश्रकेशीमलम्बुषाम्।
नागदत्तां च हेमां च सोमामद्रिकृतस्थलीम्॥ १७॥

'घृताची, विश्वाची, मिश्रकेशी, अलम्बुषा, नागदत्ता, हेमा, सोमा तथा अद्रिकृतस्थली (अथवा पर्वतपर निवास करनेवाली सोमा) का भी मैं आवाहन करता हूँ॥ १७॥

शक्रं याश्चोपतिष्ठन्ति ब्रह्माणं याश्च भामिनीः।
सर्वास्तुम्बुरुणा सार्धमाह्वये सपरिच्छदाः॥ १८॥

'जो अप्सराएँ इन्द्रकी सभामें उपस्थित होती हैं तथा जो देवाङ्गनाएँ ब्रह्माजीकी सेवामें जाया करती हैं, उन सबका मैं तुम्बुरुके साथ आवाहन करता हूँ। वे अलङ्कारों तथा नृत्यगीतके लिये अपेक्षित अन्यान्य उपकरणोंके साथ यहाँ पधारें॥ १८॥

वनं कुरुषु यद् दिव्यं वासोभूषणपत्रवत्।
दिव्यनारीफलं शश्वत् तत्कौबेरमिहैव तु॥ १९॥

'उत्तर कुरुवर्षमें जो दिव्य चैत्ररथ नामक वन है, जिसमें दिव्य वस्त्र और आभूषण ही वृक्षोंके पत्ते हैं और दिव्य नारियाँ ही फल हैं, कुबेरका वह सनातन दिव्य वन यहीं आ जाय॥ १९॥

इह मे भगवान् सोमो विधत्तामन्नमुत्तमम्।
भक्ष्यं भोज्यं च चोष्यं च लेह्यं च विविधं बहु॥ २०॥

'यहाँ भगवान् सोम मेरे अतिथियोंके लिये उत्तम अन्न, नाना प्रकारके भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्यकी प्रचुर मात्रामें व्यवस्था करें॥ २०॥

विचित्राणि च माल्यानि पादपप्रच्युतानि च।
सुरादीनि च पेयानि मांसानि विविधानि च॥ २१॥

'वृक्षोंसे तुरंत चुने गये नाना प्रकारके पुष्प, मधु आदि पेय पदार्थ तथा नाना प्रकारके फलोंके गूदे भी भगवान् सोम यहाँ प्रस्तुत करें'॥ २१॥

एवं समाधिना युक्तस्तेजसाप्रतिमेन च।
शिक्षास्वरसमायुक्तं सुव्रतश्चाब्रवीन्मुनिः॥ २२॥

इस प्रकार उत्तम व्रतका पालन करनेवाले भरद्वाज मुनिने एकाग्रचित्त और अनुपम तेजसे सम्पन्न हो शिक्षा (शिक्षा-शास्त्रमें बतायी गयी उच्चारणविधि) और (व्याकरणशास्त्रोक्त प्रकृति-प्रत्यय सम्बन्धी) स्वरसे युक्त वाणीमें उन सबका आवाहन किया॥ २२॥

मनसा ध्यायतस्तस्य प्राङ्मुखस्य कृताञ्जलेः।
आजग्मुस्तानि सर्वाणि दैवतानि पृथक् पृथक्॥ २३॥

इस तरह आवाहन करके मुनि पूर्वाभिमुख हो हाथ जोड़े मन-ही-मन ध्यान करने लगे। उनके स्मरण करते ही वे सभी देवता एक-एक करके वहाँ आ पहुँचे॥ २३॥

मलयं दर्दुरं चैव ततः स्वेदनुदोऽनिलः।
उपस्पृश्य ववौ युक्त्या सुप्रियात्मा सुखं शिवः॥ २४॥

फिर तो वहाँ मलय और दर्दुर नामक पर्वतोंका स्पर्श करके बहनेवाली अत्यन्त प्रिय और सुखदायिनी हवा धीरे-धीरे चलने लगी, जो स्पर्शमात्रसे शरीरके पसीनेको सुखा देनेवाली थी॥ २४॥

ततोऽभ्यवर्षन्त घना दिव्याः कुसुमवृष्टयः।
देवदुन्दुभिघोषश्च दिक्षु सर्वासु शुश्रुवे॥ २५॥

तत्पश्चात् मेघगण दिव्य पुष्पोंकी वर्षा करने लगे। सम्पूर्ण दिशाओंमें देवताओंकी दुन्दुभियोंका मधुर शब्द सुनायी देने लगा॥ २५॥

प्रववुश्चोत्तमा वाता ननृतुश्चाप्सरोगणाः।
प्रजगुर्देवगन्धर्वा वीणाः प्रमुमुचुः स्वरान्॥ २६॥

उत्तम वायु चलने लगी। अप्सराओंके समुदायोंका नृत्य होने लगा। देवगन्धर्व गाने लगे और सब ओर वीणाओंकी स्वरलहरियाँ फैल गयीं ॥ २६ ॥

स शब्दो द्यां च भूमिं च प्राणिनां श्रवणानि च।
विवेशोच्चावचः श्लक्ष्णः समो लयगुणान्वितः ॥ २७ ॥

सङ्गीतका वह शब्द पृथ्वी, आकाश तथा प्राणियोंके कर्णकुहरोंमें प्रविष्ट होकर गूँजने लगा। आरोह-अवरोहसे युक्त वह शब्द कोमल एवं मधुर था, समतालसे विशिष्ट और लयगुणसे सम्पन्न था ॥ २७ ॥

तस्मिन्नेवंगते शब्दे दिव्ये श्रोत्रसुखे नृणाम्।
ददर्श भारतं सैन्यं विधानं विश्वकर्मणः ॥ २८ ॥

इस प्रकार मनुष्योंके कानोंको सुख देनेवाला वह दिव्य शब्द हो ही रहा था कि भरतकी सेनाको विश्वकर्माका निर्माणकौशल दिखायी पड़ा ॥ २८ ॥

बभूव हि समा भूमिः समन्तात् पञ्चयोजनम्।
शाद्वलैर्बहुभिश्छन्ना नीलवैदूर्यसंनिभैः ॥ २९ ॥

चारों ओर पाँच योजनतककी भूमि समतल हो गयी। उसपर नीलम और वैदूर्य मणिके समान नाना प्रकारकी घनी घास छा रही थी ॥ २९ ॥

तस्मिन् बिल्वाः कपित्थाश्च पनसा बीजपूरकाः।
आमलक्यो बभूवुश्च चूताश्च फलभूषिताः ॥ ३० ॥

स्थान-स्थानपर बेल, कैथ, कटहल, आँवला, बिजौरा तथा आमके वृक्ष लगे थे, जो फलोंसे सुशोभित हो रहे थे ॥ ३० ॥

उत्तरेभ्यः कुरुभ्यश्च वनं दिव्योपभोगवत्।
आजगाम नदी सौम्या तीरजैर्बहुभिर्वृता ॥ ३१ ॥

उत्तर कुरुवर्षसे दिव्य भोगसामग्रियोंसे सम्पन्न चैत्ररथ नामक वन वहाँ आ गया। साथ ही वहाँकी रमणीय नदियाँ भी आ पहुँचीं, जो बहुसंख्यक तटवर्ती वृक्षोंसे घिरी हुई थीं ॥

चतुःशालानि शुभ्राणि शालाश्च गजवाजिनाम्।
हर्म्यप्रासादसंयुक्ततोरणानि शुभानि च ॥ ३२ ॥

उज्ज्वल, चार-चार कमरोंसे युक्त गृह (अथवा गृहयुक्त चबूतरे) तैयार हो गये। हाथी और घोड़ोंके रहनेके लिये शालाएँ बन गयीं। अट्टालिकाओं तथा सतमंजिले महलोंसे युक्त सुन्दर नगरद्वार भी निर्मित हो गये ॥ ३२ ॥

सितमेघनिभं चापि राजवेश्म सुतोरणम्।
शुक्लमाल्यकृताकारं दिव्यगन्धसमुक्षितम् ॥ ३३ ॥

राजपरिवारके लिये बना हुआ सुन्दर द्वारसे युक्त दिव्य भवन श्वेत बादलोंके समान शोभा पा रहा था। उसे सफेद फूलोंकी मालाओंसे सजाया और दिव्य सुगन्धित जलसे सींचा गया था ॥ ३३ ॥

चतुरस्त्रमसम्बाधं शयनासनयानवत्।
दिव्यैः सर्वरसैर्युक्तं दिव्यभोजनवस्त्रवत् ॥ ३४ ॥

वह महल चौकोना तथा बहुत बड़ा था—उसमें संकीर्णताका अनुभव नहीं होता था। उसमें सोने, बैठने और सवारियोंके रहनेके लिये अलग-अलग स्थान थे। वहाँ सब प्रकारके दिव्य रस, दिव्य भोजन और दिव्य वस्त्र प्रस्तुत थे ॥ ३४ ॥

उपकल्पितसर्वान्नं धौतनिर्मलभाजनम्।
क्लृप्तसर्वासनं श्रीमत्स्वास्तीर्णशयनोत्तमम् ॥ ३५ ॥

सब तरहके अन्न और धुले हुए स्वच्छ पात्र रखे गये थे। उस सुन्दर भवनमें कहीं बैठनेके लिये सब प्रकारके आसन उपस्थित थे और कहीं सोनेके लिये सुन्दर शय्याएँ बिछी थीं ॥ ३५ ॥

प्रविवेश महाबाहुरनुज्ञातो महर्षिणा।
वेश्म तद् रत्नसम्पूर्णं भरतः कैकयीसुतः ॥ ३६ ॥
अनुजग्मुश्च ते सर्वे मन्त्रिणः सपुरोहिताः।
बभूवुश्च मुदा युक्तास्तं दृष्ट्वा वेश्मसंविधिम् ॥ ३७ ॥

महर्षि भरद्वाजकी आज्ञासे कैकेयीपुत्र महाबाहु भरतने नाना प्रकारके रत्नोंसे भरे हुए उस महलमें प्रवेश किया। उनके साथ-साथ पुरोहित और मन्त्री भी उसमें गये। उस भवनका निर्माणकौशल देखकर उन सब लोगोंको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ३६-३७ ॥

तत्र राजासनं दिव्यं व्यजनं छत्रमेव च।
भरतो मन्त्रिभिः सार्धमभ्यवर्तत राजवत् ॥ ३८ ॥

उस भवनमें भरतने दिव्य राजसिंहासन, चँवर और छत्र भी देखे तथा वहाँ राजा श्रीरामकी भावना करके मन्त्रियोंके साथ उन समस्त राजभोग्य वस्तुओंकी प्रदक्षिणा की ॥ ३८ ॥

आसनं पूजयामास रामायाभिप्रणम्य च।
वालव्यजनमादाय न्यषीदत् सचिवासने ॥ ३९ ॥

सिंहासनपर श्रीरामचन्द्रजी महाराज विराजमान हैं, ऐसी धारणा बनाकर उन्होंने श्रीरामको प्रणाम किया और उस सिंहासनकी भी पूजा की। फिर अपने हाथमें चँवर ले, वे मन्त्रीके आसनपर जा बैठे ॥ ३९ ॥

आनुपूर्व्यान्निषेदुश्च सर्वे मन्त्रिपुरोहिताः।
ततः सेनापतिः पश्चात् प्रशास्ता च न्यषीदत ॥ ४० ॥

तत्पश्चात् पुरोहित और मन्त्री भी क्रमशः अपने योग्य आसनोंपर बैठे; फिर सेनापति और प्रशास्ता (छावनीकी रक्षा करनेवाले) भी बैठ गये ॥ ४० ॥

ततस्तत्र मुहूर्तेन नद्यः पायसकर्दमाः।
उपातिष्ठन्त भरतं भरद्वाजस्य शासनात् ॥ ४१ ॥

तदनन्तर वहाँ दो ही घड़ीमें भरद्वाज मुनिकी आज्ञासे भरतकी सेवामें नदियाँ उपस्थित हुईं, जिनमें कीचके स्थानमें खीर भरी थी ॥ ४१ ॥

आसामुभयतःकूलं पाण्डुमृत्तिकलेपनाः।
रम्याश्चावसथा दिव्या ब्राह्मणस्य प्रसादजाः ॥ ४२ ॥

उन नदियोंके दोनों तटोंपर ब्रह्मर्षि भरद्वाजकी कृपासे दिव्य एवं रमणीय भवन प्रकट हो गये थे, जो चूनेसे पुते हुए थे ॥ ४२ ॥

तेनैव च मुहूर्तेन दिव्याभरणभूषिताः ।
आगुर्विंशतिसाहस्रा ब्रह्मणा प्रहिताः स्त्रियः ॥ ४३ ॥

उसी मुहूर्तमें ब्रह्माजीकी भेजी हुई दिव्य आभूषणोंसे विभूषित बीस हजार दिव्याङ्गनाएँ वहाँ आयीं ॥ ४३ ॥

सुवर्णमणिमुक्तेन प्रवालेन च शोभिताः ।
आगुर्विंशतिसाहस्राः कुबेरप्रहिताः स्त्रियः ॥ ४४ ॥
याभिर्गृहीतः पुरुषः सोन्माद इव लक्ष्यते ।

इसी तरह सुवर्ण, मणि, मुक्ता और मूँगेके आभूषणोंसे सुशोभित, कुबेरकी भेजी हुई बीस हजार दिव्य महिलाएँ भी वहाँ उपस्थित हुईं, जिनका स्पर्श पाकर पुरुष उन्मादग्रस्त-सा दिखायी देता है ॥ ४४½ ॥

आगुर्विंशतिसाहस्रा नन्दनादप्सरोगणाः ॥ ४५ ॥
नारदस्तुम्बुरुर्गोपः प्रभया सूर्यवर्चसः ।
एते गन्धर्वराजानो भरतस्याग्रतो जगुः ॥ ४६ ॥

इनके सिवा नन्दनवनसे बीस हजार अप्सराएँ भी आयीं। नारद, तुम्बुरु और गोप अपनी कान्तिसे सूर्यके समान प्रकाशित होते थे। ये तीनों गन्धर्वराज भरतके सामने गीत गाने लगे ॥ ४५-४६ ॥

अलम्बुषा मिश्रकेशी पुण्डरीकाथ वामना ।
उपानृत्यन्त भरतं भरद्वाजस्य शासनात् ॥ ४७ ॥

अलम्बुषा, मिश्रकेशी, पुण्डरीका और वामना—ये चार अप्सराएँ भरद्वाज मुनिकी आज्ञासे भरतके समीप नृत्य करने लगीं ॥ ४७ ॥

यानि माल्यानि देवेषु यानि चैत्ररथे वने ।
प्रयागे तान्यदृश्यन्त भरद्वाजस्य तेजसा ॥ ४८ ॥

जो फूल देवताओंके उद्यानोंमें और जो चैत्ररथ वनमें हुआ करते हैं, वे महर्षि भरद्वाजके प्रतापसे प्रयागमें दिखायी देने लगे ॥

बिल्वा मार्दङ्गिका आसन् शम्याग्राहा बिभीतकाः ।
अश्वत्था नर्तकाश्चासन् भरद्वाजस्य तेजसा ॥ ४९ ॥

भरद्वाज मुनिके तेजसे बेलके वृक्ष मृदङ्ग बजाते, बहेड़ेके पेड़ शम्या नामक ताल देते और पीपलके वृक्ष वहाँ नृत्य करते थे ॥ ४९ ॥

ततः सरलतालाश्च तिलकाः सतमालकाः ।
प्रहृष्टास्तत्र सम्पेतुः कुब्जा भूत्वाथ वामनाः ॥ ५० ॥

तदनन्तर देवदारु, ताल, तिलक और तमाल नामक वृक्ष कुबड़े और बौने बनकर बड़े हर्षके साथ भरतकी सेवामें उपस्थित हुए ॥ ५० ॥

शिंशपाऽऽमलकी जम्ब्वूर्याश्चान्याः कानने लताः ।
मालती मल्लिका जातिर्याश्चान्याः कानने लताः ।
प्रमदाविग्रहं कृत्वा भरद्वाजाश्रमेऽवसन् ॥ ५१ ॥

शिंशपा, आमलकी और जम्बू आदि स्त्रीलिङ्ग वृक्ष तथा मालती, मल्लिका और जाति आदि वनकी लताएँ नारीका रूप धारण करके भरद्वाज मुनिके आश्रममें आ बसीं ॥ ५१ ॥

सुरां सुरापाः पिबत पायसं च बुभुक्षिताः ।
मांसानि च सुमेध्यानि भक्ष्यन्तां यो यदिच्छति ॥ ५२ ॥

(वे भरतके सैनिकोंको पुकार-पुकारकर कहती थीं—) 'मधुका पान करनेवाले लोगो ! लो, यह मधु पान कर लो। तुममेंसे जिन्हें भूख लगी हो, वे सब लोग यह खीर खाओ और परम पवित्र फलोंके गूदे भी प्रस्तुत हैं, इनका आस्वादन करो। जिसकी जो इच्छा हो, वही भोजन करो' ॥ ५२ ॥

उच्छोद्य स्नापयन्ति स्म नदीतीरेषु वल्गुषु ।
अप्येकमेकं पुरुषं प्रमदाः सप्त चाष्ट च ॥ ५३ ॥

सात-आठ तरुणी स्त्रियाँ मिलकर एक-एक पुरुषको नदीके मनोहर तटोंपर उबटन लगा-लगाकर नहलाती थीं ॥

संवाहन्त्यः समापेतुर्नार्यो विपुललोचनाः ।
परिमृज्य तदान्योन्यं पाययन्ति वराङ्गनाः ॥ ५४ ॥

बड़े-बड़े नेत्रोंवाली सुन्दरी रमणियाँ अतिथियोंका पैर दबानेके लिये आयी थीं। वे उनके भीगे हुए अङ्गोंको वस्त्रोंसे पोंछकर शुद्ध वस्त्र धारण कराकर उन्हें स्वादिष्ट पेय (दूध आदि) पिलाती थीं ॥ ५४ ॥

हयान् गजान् खरानुष्ट्रांस्तथैव सुरभेः सुतान् ।
अभोजयन् वाहनपास्तेषां भोज्यं यथाविधि ॥ ५५ ॥

तत्पश्चात् भिन्न-भिन्न वाहनोंकी रक्षामें नियुक्त मनुष्योंने हाथी, घोड़े, गधे, ऊँट और बैलोंको भलीभाँति दाना घास आदिका भोजन कराया ॥ ५५ ॥

इक्षूंश्च मधुलाजांश्च भोजयन्ति स्म वाहनान् ।
इक्ष्वाकुवरयोधानां चोदयन्तो महाबलाः ॥ ५६ ॥

इक्ष्वाकुकुलके श्रेष्ठ योद्धाओंकी सवारीमें आनेवाले वाहनोंको वे महाबली वाहन-रक्षक (जिन्हें महर्षिने सेवाके लिये नियुक्त किया था) प्रेरणा दे-देकर गन्नेके टुकड़े और मधुमिश्रित लावे खिलाते थे ॥ ५६ ॥

नाश्वबन्धोऽश्वमाजानान्न गजं कुञ्जरग्रहः ।
मत्तप्रमत्तमुदिता सा चमूस्तत्र सम्बभौ ॥ ५७ ॥

घोड़े बाँधनेवाले सईसको अपने घोड़ेका और हाथीवानको अपने हाथीका कुछ पता नहीं था। सारी सेना वहाँ मत्त-प्रमत्त और आनन्दमग्न प्रतीत होती थी ॥ ५७ ॥

तर्पिताः सर्वकामैश्च रक्तचन्दनरूषिताः ।
अप्सरोगणसंयुक्ताः सैन्या वाचमुदीरयन् ॥ ५८ ॥

सम्पूर्ण मनोवाञ्छित पदार्थोंसे तृप्त होकर लाल चन्दनसे चर्चित हुए सैनिक अप्सराओंका संयोग पाकर निम्नाङ्कित बातें कहने लगे— ॥ ५८ ॥

नैवायोध्यां गमिष्यामो न गमिष्याम दण्डकान् ।
कुशलं भरतस्यास्तु रामस्यास्तु तथा सुखम् ॥ ५९ ॥

'अब हम अयोध्या नहीं जायेंगे, दण्डकारण्यमें भी नहीं जायेंगे। भरत सकुशल रहें (जिनके कारण हमें इस भूतलपर स्वर्गका सुख मिला) तथा श्रीरामचन्द्रजी भी सुखी रहें (जिनके दर्शनके लिये आनेपर हमें इस दिव्य सुखकी प्राप्ति हुई)' ॥ ५९ ॥

इति पादातयोधाश्च हस्त्यश्वारोहबन्धकाः ।
अनाथास्तं विधिं लब्ध्वा वाचमेतामुदीरयन् ॥ ६० ॥

इस प्रकार पैदल सैनिक तथा हाथीसवार, घुड़सवार, सईस और महावत आदि उस सत्कारको पाकर स्वच्छन्द हो उपर्युक्त बातें कहने लगे ॥ ६० ॥

सम्प्रहृष्टा विनेदुस्ते नरास्तत्र सहस्रशः ।
भरतस्यानुयातारः स्वर्गोऽयमिति चाब्रुवन् ॥ ६१ ॥

भरतके साथ आये हुए हजारों मनुष्य वहाँका वैभव देखकर हर्षके मारे फूले नहीं समाते थे और जोर-जोरसे कहते थे—यह स्थान स्वर्ग है ॥ ६१ ॥

नृत्यन्तश्च हसन्तश्च गायन्तश्चैव सैनिकाः ।
समन्तात् परिधावन्तो माल्योपेताः सहस्रशः ॥ ६२ ॥

सहस्रों सैनिक फूलोंके हार पहनकर नाचते, हँसते और गाते हुए सब ओर दौड़ते फिरते थे ॥ ६२ ॥

ततो भुक्तवतां तेषां तदन्नममृतोपमम् ।
दिव्यानुद्वीक्ष्य भक्ष्यांस्तानभवद् भक्षणे मतिः ॥ ६३ ॥

उस अमृतके समान स्वादिष्ट अन्नका भोजन कर चुकनेपर भी उन दिव्य भक्ष्य पदार्थोंको देखकर उन्हें पुनः भोजन करनेकी इच्छा हो जाती थी ॥ ६३ ॥

प्रेष्याश्चेट्यश्च वध्यश्च बलस्थाश्चापि सर्वशः ।
बभूवुस्ते भृशं प्रीताः सर्वे चाहतवाससः ॥ ६४ ॥

दास दासियाँ, सैनिकोंकी स्त्रियाँ और सैनिक सब-के-सब नूतन वस्त्र धारण करके सब प्रकारसे अत्यन्त प्रसन्न हो गये थे ॥ ६४ ॥

कुञ्जराश्च खरोष्ट्राश्च गोऽश्वाश्च मृगपक्षिणः ।
बभूवुः सुभृतास्तत्र नातो ह्यन्यमकल्पयत् ॥ ६५ ॥

हाथी, घोड़े, गदहे, ऊँट, बैल, मृग तथा पक्षी भी वहाँ पूर्ण तृप्त हो गये थे; अतः कोई दूसरी किसी वस्तुकी इच्छा नहीं करता था ॥ ६५ ॥

नाशुक्लवासास्तत्रासीत् क्षुधितो मलिनोऽपि वा ।
रजसा ध्वस्तकेशो वा नरः कश्चिददृश्यत ॥ ६६ ॥

उस समय वहाँ कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं दिखायी देता था, जिसके कपड़े सफेद न हों, जो भूखा या मलिन रह गया हो, अथवा जिसके केश धूलसे धूसरित हो गये हों ॥ ६६ ॥

आजैश्चापि च वाराहैर्निष्ठानवरसंचयैः ।
फलनिर्यूहसंसिद्धैः सूपैर्गन्धरसान्वितैः ॥ ६७ ॥
पुष्पध्वजवतीः पूर्णाः शुक्लस्यान्नस्य चाभितः ।
ददृशुर्विस्मितास्तत्र नरा लौहीः सहस्रशः ॥ ६८ ॥

अजवाइन मिलाकर बनाये गये, वराही कन्दसे तैयार किये गये तथा आम आदि फलोंके गरम किये हुए रसमें पकाये गये उत्तमोत्तम व्यञ्जनोंके संग्रहों, सुगन्धयुक्त रसवाली दालों तथा श्वेत रंगके भातोंसे भरे हुए सहस्रों सुवर्ण आदिके पात्र वहाँ सब ओर रखे हुए थे, जिन्हें फूलोंकी ध्वजाओंसे सजाया गया था। भरतके साथ आये हुए सब लोगोंने उन पात्रोंको आश्चर्यचकित होकर देखा ॥ ६७-६८ ॥

बभूवुर्वनपार्श्वेषु कूपाः पायसकर्दमाः ।
ताश्च कामदुघा गावो द्रुमाश्चासन् मधुच्युतः ॥ ६९ ॥

वनके आस-पास जितने कुएँ थे, उन सबमें गाढ़ी स्वादिष्ट खीर भरी हुई थी। वहाँकी गौएँ कामधेनु (सब प्रकारकी कामनाओंको पूर्ण करनेवाली) हो गयी थीं और उस दिव्य वनके वृक्ष मधुकी वर्षा करते थे ॥ ६९ ॥

वाप्यो मैरेयपूर्णाश्च मृष्टमांसचयैर्वृताः ।
प्रतप्तपिठरैश्चापि मार्गमायूरकौक्कुटैः ॥ ७० ॥

भरतकी सेनामें आये हुए निषाद आदि निम्नवर्गके लोगोंकी तृप्तिके लिये वहाँ मधुसे भरी हुई बावड़ियाँ प्रकट हो गयी थीं तथा उनके तटोंपर तपे हुए पिठर (कुण्ड) में पकाये गये मृग, मोर और मुर्गोंके स्वच्छ मांस भी ढेर-के-ढेर रख दिये गये थे ॥ ७० ॥

पात्रीणां च सहस्राणि स्थालीनां नियुतानि च ।
न्यर्बुदानि च पात्राणि शातकुम्भमयानि च ॥ ७१ ॥

वहाँ सहस्रों सोनेके अन्नपात्र, लाखों व्यञ्जनपात्र और लगभग एक अरब थालियाँ संगृहीत थीं ॥ ७१ ॥

स्थाल्यः कुम्भ्यः करम्भ्यश्च दधिपूर्णाः सुसंस्कृताः ।
यौवनस्थस्य गौरस्य कपित्थस्य सुगन्धिनः ॥ ७२ ॥
ह्रदाः पूर्णा रसालस्य दध्नः श्वेतस्य चापरे ।
बभूवुः पायसस्यान्ये शर्कराणां च संचयाः ॥ ७३ ॥

पिठर, छोटे-छोटे घड़े तथा मटके दहीसे भरे हुए थे और उनमें दहीको सुस्वादु बनानेवाले सोंठ आदि मसाले पड़े हुए थे। एक पहर पहलेके तैयार किये हुए केसरमिश्रित पीत-वर्णवाले सुगन्धित तक्रके कई तालाब भरे हुए थे। जीरा आदि मिलाये हुए तक्र (रसाल), सफेद दही तथा दूधके भी कई कुण्ड पृथक्-पृथक् भरे हुए थे। शक्करोंके कई ढेर लगे थे ॥ ७२-७३ ॥

कल्कांश्चूर्णकषायांश्च स्नानानि विविधानि च ।
ददृशुर्भाजनस्थानि तीर्थेषु सरितां नराः ॥ ७४ ॥

स्नान करनेवाले मनुष्योंको नदीके घाटोंपर भिन्न-भिन्न पात्रोंमें पीसे हुए आँवले, सुगन्धित चूर्ण तथा और भी नाना प्रकारके स्नानोपयोगी पदार्थ दिखायी देते थे ॥ ७४ ॥

शुक्लानंशुमतश्चापि दन्तधावनसंचयान् ।
शुक्लांश्चन्दनकल्कांश्च समुद्गेष्ववतिष्ठतः ॥ ७५ ॥

साथ ही ढेर-के-ढेर दाँतन, जो सफेद कूँचेवाले थे, वहाँ

रखे हुए थे। सम्पुटोंमें घिसे हुए सफेद चन्दन विद्यमान थे। इन सब वस्तुओंको लोगोंने देखा ॥ ७५ ॥

दर्पणान् परिमृष्टांश्च वाससां चापि संचयान्।
पादुकोपानहं चैव युग्मान्यत्र सहस्रशः ॥ ७६ ॥

इतना ही नहीं, वहाँ बहुत-से स्वच्छ दर्पण, ढेर-के-ढेर वस्त्र और हजारों जोड़े खड़ाऊँ और जूते भी दिखायी देते थे ॥ ७६ ॥

आञ्जनीः कङ्कतान् कूर्चांश्छत्राणि च धनूंषि च।
मर्मत्राणानि चित्राणि शयनान्यासनानि च ॥ ७७ ॥

काजलोंसहित कजरौटे, कंघे, कूर्च (श्मश्रु या ब्रश), छत्र, धनुष, मर्मस्थानोंकी रक्षा करनेवाले कवच आदि तथा विचित्र शय्या और आसन भी वहाँ दृष्टिगोचर होते थे ॥

प्रतिपानह्रदान् पूर्णान् खरोष्ट्रगजवाजिनाम्।
अवगाह्यसुतीर्थांश्च ह्रदान् सोत्पलपुष्करान्।
आकाशवर्णप्रतिमान् स्वच्छतोयान् सुखोप्लवान् ॥ ७८ ॥

गधे, ऊँट, हाथी और घोड़ोंके पानी पीनेके लिये कई जलाशय भरे थे, जिनके घाट बड़े सुन्दर और सुखपूर्वक उतरने योग्य थे। उन जलाशयोंमें कमल और उत्पल शोभा पा रहे थे। उनका जल आकाशके समान स्वच्छ था तथा उनमें सुखपूर्वक तैरा जा सकता था ॥ ७८ ॥

नीलवैदूर्यवर्णांश्च मृदून् यवससंचयान्।
निर्वापार्थं पशूनां ते ददृशुस्तत्र सर्वशः ॥ ७९ ॥

पशुओंके खानेके लिये वहाँ सब ओर नील वैदूर्यमणिके समान रंगवाली हरी एवं कोमल घासकी ढेरियाँ लगी थीं। उन सब लोगोंने वे सारी वस्तुएँ देखीं ॥ ७९ ॥

व्यस्मयन्त मनुष्यास्ते स्वप्नकल्पं तदद्भुतम्।
दृष्ट्वाऽऽतिथ्यं कृतं तादृग् भरतस्य महर्षिणा ॥ ८० ॥

महर्षि भरद्वाजके द्वारा सेनासहित भरतका किया हुआ वह अनिर्वचनीय आतिथ्य-सत्कार अद्भुत और स्वप्नके समान था। उसे देखकर वे सब मनुष्य आश्चर्यचकित हो उठे ॥

इत्येवं रममाणानां देवानामिव नन्दने।
भरद्वाजाश्रमे रम्ये सा रात्रिर्व्यत्यवर्तत ॥ ८१ ॥

जैसे देवता नन्दनवनमें विहार करते हैं, उसी प्रकार भरद्वाज मुनिके रमणीय आश्रममें यथेष्ट क्रीडा-विहार करते हुए उन लोगोंकी वह रात्रि बड़े सुखसे बीती ॥ ८१ ॥

प्रतिजग्मुश्च ता नद्यो गन्धर्वाश्च यथागतम्।
भरद्वाजमनुज्ञाप्य ताश्च सर्वा वराङ्गनाः ॥ ८२ ॥

तत्पश्चात् वे नदियाँ, गन्धर्व और समस्त सुन्दरी अप्सराएँ भरद्वाजजीकी आज्ञा ले जैसे आयी थीं, उसी प्रकार लौट गयीं ॥ ८२ ॥

तथैव मत्ता मदिरोत्कटा नरा-
स्तथैव दिव्यागुरुचन्दनोक्षिताः।
तथैव दिव्या विविधाः स्रगुत्तमाः
पृथग्विकीर्णा मनुजैः प्रमर्दिताः ॥ ८३ ॥

सवेरा हो जानेपर भी लोग उसी प्रकार मधुपानसे मत्त एवं उन्मत्त दिखायी देते थे। उनके अङ्गोंपर दिव्य अगुरुयुक्त चन्दनका लेप ज्यों-का-त्यों दृष्टिगोचर हो रहा था। मनुष्योंके उपभोगमें लाये गये नाना प्रकारके दिव्य उत्तम पुष्पहार भी उसी अवस्थामें पृथक्-पृथक् बिखरे पड़े थे ॥ ८३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकनवतितमः सर्गः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें इक्यानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९१ ॥

द्विनवतितमः सर्गः

भरतका भरद्वाज मुनिसे जानेकी आज्ञा लेते हुए श्रीरामके आश्रमपर जानेका मार्ग जानना और मुनिको अपनी माताओंका परिचय देकर वहाँसे चित्रकूटके लिये सेनासहित प्रस्थान करना

ततस्तां रजनीं व्युष्य भरतः सपरिच्छदः।
कृतातिथ्यो भरद्वाजं कामादभिजगाम ह ॥ १ ॥

परिवारसहित भरत इच्छानुसार मुनिका आतिथ्य ग्रहण करके रातभर आश्रममें ही रहे। फिर सबेरे जानेकी आज्ञा लेनेके लिये वे महर्षि भरद्वाजके पास गये ॥ १ ॥

तमृषिः पुरुषव्याघ्रं प्रेक्ष्य प्राञ्जलिमागतम्।
हुताग्निहोत्रो भरतं भरद्वाजोऽभ्यभाषत ॥ २ ॥

पुरुषसिंह भरतको हाथ जोड़े अपने पास आया देख भरद्वाजजी अग्निहोत्रका कार्य करके उनसे बोले— ॥ २ ॥

कच्चिदत्र सुखा रात्रिस्तवास्मद्विषये गता।
समग्रस्ते जनः कच्चिदातिथ्ये शंस मेऽनघ ॥ ३ ॥

'निष्पाप भरत! क्या हमारे इस आश्रममें तुम्हारी यह रात सुखसे बीती है? क्या तुम्हारे साथ आये हुए सब लोग इस आतिथ्यसे संतुष्ट हुए हैं? यह बताओ' ॥ ३ ॥

तमुवाचाञ्जलिं कृत्वा भरतोऽभिप्रणम्य च।
आश्रमादुपनिष्क्रान्तमृषिमुत्तमतेजसम् ॥ ४ ॥

तब भरतने आश्रमसे बाहर निकले हुए उन उत्तम तेजस्वी महर्षिको प्रणाम करके उनसे हाथ जोड़कर कहा— ॥ ४ ॥

सुखोषितोऽस्मि भगवन् समग्रबलवाहनः।
बलवत्तर्पितश्चाहं बलवान् भगवंस्त्वया ॥ ५ ॥

'भगवन्! मैं सम्पूर्ण सेना और सवारीके साथ यहाँ सुखपूर्वक रहा हूँ तथा सैनिकोंसहित मुझे पूर्णरूपसे तृप्त किया गया है ॥ ५ ॥

अपेतक्लमसंतापाः सुभिक्षाः सुप्रतिश्रयाः।
अपि प्रेष्यानुपादाय सर्वे स्म सुसुखोषिताः॥ ६॥

'सेवकोंसहित हम सब लोग ग्लानि और संतापसे रहित हो उत्तम अन्न-पान ग्रहण करके सुन्दर गृहोंका आश्रय ले बड़े सुखसे यहाँ रातभर रहे हैं॥ ६॥

आमन्त्रयेऽहं भगवन् कामं त्वामृषिसत्तम।
समीपं प्रस्थितं भ्रातुर्मैत्रेणेक्षस्व चक्षुषा॥ ७॥

'भगवन्! मुनिश्रेष्ठ! अब मैं अपनी इच्छाके अनुसार आपसे आज्ञा लेने आया हूँ और अपने भाईके समीप प्रस्थान कर रहा हूँ; आप मुझे स्नेहपूर्ण दृष्टिसे देखिये॥ ७॥

आश्रमं तस्य धर्मज्ञ धार्मिकस्य महात्मनः।
आचक्ष्व कतमो मार्गः कियानिति च शंस मे॥ ८॥

'धर्मज्ञ मुनीश्वर! बताइये, धर्मपरायण महात्मा श्रीरामका आश्रम कहाँ है? कितनी दूर है? और वहाँ पहुँचनेके लिये कौन-सा मार्ग है? इसका भी मुझसे स्पष्टरूपसे वर्णन कीजिये'॥ ८॥

इति पृष्टस्तु भरतं भ्रातुर्दर्शनलालसम्।
प्रत्युवाच महातेजा भरद्वाजो महातपाः॥ ९॥

इस प्रकार पूछे जानेपर महातपस्वी, महातेजस्वी भरद्वाजमुनिने भाईके दर्शनकी लालसावाले भरतको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ९॥

भरतार्धतृतीयेषु योजनेष्वजने वने।
चित्रकूटगिरिस्तत्र रम्यनिर्झरकाननः॥ १०॥

'भरत! यहाँसे ढाई योजन (दस कोस)* की दूरीपर एक निर्जन वनमें चित्रकूट नामक पर्वत है, जहाँके झरने और वन बड़े ही रमणीय हैं (प्रयागसे चित्रकूटकी आधुनिक दूरी लगभग २८ कोस है)॥ १०॥

उत्तरं पार्श्वमासाद्य तस्य मन्दाकिनी नदी।
पुष्पितद्रुमसंछन्ना रम्यपुष्पितकानना॥ ११॥
अनन्तरं तत्सरितश्चित्रकूटं च पर्वतम्।
तयोः पर्णकुटीं तात तत्र तौ वसतो ध्रुवम्॥ १२॥

'उसके उत्तरी किनारेसे मन्दाकिनी नदी बहती है, जो फूलोंसे लदे सघन वृक्षोंसे आच्छादित रहती है, उसके आस-पासका वन बड़ा ही रमणीय और नाना प्रकारके पुष्पोंसे सुशोभित है। उस नदीके उस पार चित्रकूट पर्वत है। तात! वहाँ पहुँचकर तुम नदी और पर्वतके बीचमें श्रीरामकी पर्णकुटी देखोगे। वे दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण निश्चय ही उसीमें निवास करते हैं॥ ११-१२॥

दक्षिणेन च मार्गेण सव्यदक्षिणमेव च।
गजवाजिसमाकीर्णां वाहिनीं वाहिनीपते॥ १३॥
वाहयस्व महाभाग ततो द्रक्ष्यसि राघवम्।

'सेनापते! तुम यहाँसे हाथी-घोड़ोंसे भरी हुई अपनी सेना लेकर पहले यमुनाके दक्षिणी किनारेसे जो मार्ग गया है, उससे जाओ। आगे जाकर दो रास्ते मिलेंगे, उनमेंसे जो रास्ता बायें दाबकर दक्षिण दिशाकी ओर गया है, उसीसे सेनाको ले जाना। महाभाग! उस मार्गसे चलकर तुम शीघ्र ही श्रीरामचन्द्रजीका दर्शन पा जाओगे'॥ १३½॥

प्रयाणमिति च श्रुत्वा राजराजस्य योषितः॥ १४॥
हित्वा यानानि यानार्हा ब्राह्मणं पर्यवारयन्।

'अब यहाँसे प्रस्थान करना है'—यह सुनकर महाराज दशरथकी स्त्रियाँ, जो सवारीपर ही रहने योग्य थीं, सवारियोंको छोड़कर ब्रह्मर्षि भरद्वाजको प्रणाम करनेके लिये उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़ी हो गयीं॥ १४½॥

वेपमाना कृशा दीना सह देव्या सुमित्रया॥ १५॥
कौसल्या तत्र जग्राह कराभ्यां चरणौ मुनेः।

उपवासके कारण अत्यन्त दुर्बल एवं दीन हुई देवी कौसल्याने, जो काँप रही थीं, सुमित्रा देवीके साथ अपने दोनों हाथोंसे भरद्वाज मुनिके पैर पकड़ लिये।

असमृद्धेन कामेन सर्वलोकस्य गर्हिता॥ १६॥
कैकेयी तत्र जग्राह चरणौ सव्यपत्रपा।
तं प्रदक्षिणमागम्य भगवन्तं महामुनिम्॥ १७॥
अदूराद् भरतस्यैव तस्थौ दीनमनास्तदा।

तत्पश्चात् जो अपनी असफल कामनाके कारण सब लोगोंके लिये निन्दित हो गयी थी, उस कैकेयीने लज्जित होकर वहाँ मुनिके चरणोंका स्पर्श किया और उन महामुनि भगवान् भरद्वाजकी परिक्रमा करके वह दीनचित्त हो उस समय भरतके ही पास आकर खड़ी हो गयी॥ १६-१७½॥

तत्र पप्रच्छ भरतं भरद्वाजो महामुनिः॥ १८॥
विशेषं ज्ञातुमिच्छामि मातृणां तव राघव।

तब महामुनि भरद्वाजने वहाँ भरतसे पूछा—'रघुनन्दन! तुम्हारी इन माताओंका विशेष परिचय क्या है? यह मैं जानना चाहता हूँ'॥ १८½॥

एवमुक्तस्तु भरतो भरद्वाजेन धार्मिकः॥ १९॥
उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा वाक्यं वचनकोविदः।

---

* सर्ग ५४ के श्लोक २८ में मूल ग्रन्थमें दस कोसकी दूरी लिखी है और यहाँ ढाई योजन। दोनों स्थलोंमें दस कोसका ही संकेत है। रामायणशिरोमणि नामक व्याख्यामें दोनों जगह कपि-जलाधिकरणन्यायसे अथवा एकशेषके द्वारा यह दूरी तिगुनी करके दिखायी गयी है। प्रयागसे चित्रकूटकी दूरी लगभग २८ कोसकी मानी जाती है। रामायणशिरोमणिकारकी मान्यताके अनुसार ३० कोसकी दूरीमें और इस दूरीमें अधिक अन्तर नहीं है। मीलका माप पुराने क्रोश-मानकी अपेक्षा छोटा है, इसलिये ८० मीलकी यह दूरी मानी जाती है।

भरद्वाजके इस प्रकार पूछनेपर बोलनेकी कलामें कुशल धर्मात्मा भरतने हाथ जोड़कर कहा— ॥ १९½ ॥

यामिमां भगवन् दीनां शोकानशनकर्शिताम् ॥ २० ॥
पितुर्हि महिषीं देवीं देवतामिव पश्यसि ।
एषा तं पुरुषव्याघ्रं सिंहविक्रान्तगामिनम् ॥ २१ ॥
कौसल्या सुषुवे रामं धातारमदितिर्यथा ।

'भगवन्! आप जिन्हें शोक और उपवासके कारण अत्यन्त दुर्बल एवं दुःखी देख रहे हैं, जो देवी-सी दृष्टिगोचर हो रही हैं' ये मेरे पिताकी सबसे बड़ी महारानी कौसल्या हैं। जैसे अदितिने धाता नामक आदित्यको उत्पन्न किया था, उसी प्रकार इन कौसल्या देवीने सिंहके समान पराक्रमसूचक गतिसेचलनेवाले पुरुषसिंह श्रीरामको जन्म दिया है ॥

अस्या वामभुजं श्लिष्टा या सा तिष्ठति दुर्मनाः ॥ २२ ॥
इयं सुमित्रा दुःखार्ता देवी राज्ञश्च मध्यमा ।
कर्णिकारस्य शाखेव शीर्णपुष्पा वनान्तरे ॥ २३ ॥
एतस्यास्तौ सुतौ देव्याः कुमारौ देववर्णिनौ ।
उभौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ वीरौ सत्यपराक्रमौ ॥ २४ ॥

'इनकी बायीं बाँहसे सटकर जो उदास मनसे खड़ी हैं तथा दुःखसे आतुर हो रही हैं और आभूषणशून्य होनेसे वनके भीतर झड़े हुए पुष्पवाले कनेरकी डालके समान दिखायी देती हैं, ये महाराजकी मझली रानी देवी सुमित्रा हैं। सत्यपराक्रमी वीर तथा देवताओंके तुल्य कान्तिमान् वे दोनों भाई राजकुमार लक्ष्मण और शत्रुघ्न इन्हीं सुमित्रा देवीके पुत्र हैं ॥ २२—२४ ॥

यस्याः कृते नरव्याघ्रौ जीवनाशमितो गतौ ।
राजा पुत्रविहीनश्च स्वर्गं दशरथो गतः ॥ २५ ॥
क्रोधनामकृतप्रज्ञां दृप्तां सुभगमानिनीम् ।
ऐश्वर्यकामां कैकेयीमनार्यामार्यरूपिणीम् ॥ २६ ॥
ममैतां मातरं विद्धि नृशंसां पापनिश्चयाम् ।
यतोमूलं हि पश्यामि व्यसनं महदात्मनः ॥ २७ ॥

'और जिसके कारण पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मण यहाँसे प्राण-सङ्कटकी अवस्था (वनवास) में जा पहुँचे हैं तथा राजा दशरथ पुत्रवियोगका कष्ट पाकर स्वर्गवासी हुए हैं, जो स्वभावसे ही क्रोध करनेवाली, अशिक्षित बुद्धिवाली, गर्वीली, अपने-आपको सबसे अधिक सुन्दरी और भाग्यवती समझनेवाली तथा राज्यका लोभ रखनेवाली है, जो शक्लसूरतसे आर्या होनेपर भी वास्तवमें अनार्या है, इस कैकेयीको मेरी माता समझिये। यह बड़ी ही क्रूर और पापपूर्ण विचार रखनेवाली है। मैं अपने ऊपर जो महान् संकट आया हुआ देख रहा हूँ, इसका मूल कारण यही है' ॥ २५—२७ ॥

इत्युक्त्वा नरशार्दूलो बाष्पगद्गदया गिरा ।
विनिःश्वस्य स ताम्राक्षः क्रुद्धो नाग इवश्वसन् ॥ २८ ॥

अश्रुगद्गद वाणीसे इस प्रकार कहकर लाल आँखें किये पुरुषसिंह भरत रोषसे भरकर फुफकारते हुए सर्पकी भाँति लंबी साँस खींचने लगे ॥ २८ ॥

भरद्वाजो महर्षिस्तं ब्रुवन्तं भरतं तदा ।
प्रत्युवाच महाबुद्धिरिदं वचनमर्थवित् ॥ २९ ॥

उस समय ऐसी बातें कहते हुए भरतसे श्रीरामावतारके प्रयोजनको जाननेवाले महाबुद्धिमान् महर्षि भरद्वाजने उनसे यह बात कही— ॥ २९ ॥

न दोषेणावगन्तव्या कैकेयी भरत त्वया ।
रामप्रव्राजनं ह्येतत् सुखोदर्कं भविष्यति ॥ ३० ॥

'भरत! तुम कैकेयीके प्रति दोष-दृष्टि न करो। श्रीरामका यह वनवास भविष्यमें बड़ा ही सुखद होगा ॥ ३० ॥

देवानां दानवानां च ऋषीणां भावितात्मनाम् ।
हितमेव भविष्यद्धि रामप्रव्राजनादिह ॥ ३१ ॥

'श्रीरामके वनमें जानेसे देवताओं, दानवों तथा परमात्माका चिन्तन करनेवाले महर्षियोंका इस जगत्में हित ही होनेवाला है' ॥ ३१ ॥

अभिवाद्य तु संसिद्धः कृत्वा चैनं प्रदक्षिणम् ।
आमन्त्र्य भरतः सैन्यं युज्यतामिति चाब्रवीत् ॥ ३२ ॥

श्रीरामका पता जानकर और मुनिका आशीर्वाद पाकर कृतकृत्य हुए भरतने मुनिको मस्तक झुका उनकी प्रदक्षिणा करके जानेकी आज्ञा ले सेनाको कूचके लिये तैयार होनेका आदेश दिया ॥ ३२ ॥

ततो वाजिरथान् युक्त्वा दिव्यान् हेमविभूषितान् ।
अध्यारोहत् प्रयाणार्थं बहून् बहुविधो जनः ॥ ३३ ॥

तदनन्तर अनेक प्रकारकी वेष-भूषावाले लोग बहुत-से दिव्य घोड़ों और दिव्य रथोंको, जो सुवर्णसे विभूषित थे, जोतकर यात्राके लिये उनपर सवार हुए ॥ ३३ ॥

गजकन्या गजाश्चैव हेमकक्ष्याः पताकिनः ।
जीमूता इव घर्मान्ते सघोषाः सम्प्रतस्थिरे ॥ ३४ ॥

बहुत-सी हथिनियाँ और हाथी, जो सुनहरे रस्सोंसे कसे गये थे और जिनके ऊपर पताकाएँ फहरा रही थीं, वर्षाकालके गरजते हुए मेघोंके समान घण्टानाद करते हुए वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ ३४ ॥

विविधान्यपि यानानि महान्ति च लघूनि च ।
प्रययुः सुमहार्हाणि पादैरपि पदातयः ॥ ३५ ॥

नाना प्रकारके छोटे-बड़े बहुमूल्य वाहनोंपर सवार हो उनके अधिकारी चले और पैदल सैनिक अपने पैरोंसे ही यात्रा करने लगे ॥ ३५ ॥

अथ यानप्रवेकैस्तु कौसल्याप्रमुखाः स्त्रियः ।
रामदर्शनकाङ्क्षिण्यः प्रययुर्मुदितास्तदा ॥ ३६ ॥

तत्पश्चात् कौसल्या आदि रानियाँ उत्तम सवारियोंपर बैठकर श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनकी अभिलाषासे प्रसन्नतापूर्वक चलीं ॥ ३६ ॥

चन्द्रार्कतरुणाभासां नियुक्तां शिबिकां शुभाम्।
आस्थाय प्रययौ श्रीमान् भरतः सपरिच्छदः॥ ३७॥

इसी प्रकार श्रीमान् भरत नवोदित चन्द्रमा और सूर्यके समान कान्तिमती शिबिकामें बैठकर आवश्यक सामग्रियोंके साथ प्रस्थित हुए। उस शिबिकाको कहारोंने अपने कंधोंपर उठा रखा था॥ ३७॥

सा प्रयाता महासेना गजवाजिसमाकुला।
दक्षिणां दिशमावृत्य महामेघ इवोत्थितः॥ ३८॥

हाथी-घोड़ोंसे भरी हुई वह विशाल वाहिनी दक्षिण दिशाको घेरकर उमड़ी हुई महामेघोंकी घटाके समान चल पड़ी॥ ३८॥

वनानि च व्यतिक्रम्य जुष्टानि मृगपक्षिभिः।
गङ्गायाः परवेलायां गिरिष्वथ नदीष्वपि॥ ३९॥

गङ्गाके उस पार पर्वतों तथा नदियोंके निकटवर्ती वनोंको, जो मृगों और पक्षियोंसे सेवित थे, लाँघकर वह आगे बढ़ गयी॥

सा सम्प्रहृष्टद्विपवाजियूथा
वित्रासयन्ती मृगपक्षिसंघान्।
महद्वनं तत् प्रविगाहमाना
रराज सेना भरतस्य तत्र॥ ४०॥

उस सेनाके हाथी और घोड़ोंके समुदाय बड़े प्रसन्न थे। जंगलके मृगों और पक्षिसमूहोंको भयभीत करती हुई भरतकी वह सेना उस विशाल वनमें प्रवेश करके वहाँ बड़ी शोभा पा रही थी॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्विनवतितमः सर्गः॥ ९२॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ९२॥

—★—

त्रिनवतितमः सर्गः

सेनासहित भरतकी चित्रकूट-यात्राका वर्णन

तया महत्या यायिन्या ध्वजिन्या वनवासिनः।
अर्दिता यूथपा मत्ताः सयूथाः सम्प्रदुद्रुवुः॥ १॥

यात्रा करनेवाली उस विशाल वाहिनीसे पीड़ित हो वनवासी यूथपति मतवाले हाथी आदि अपने यूथोंके साथ भाग चले॥ १॥

ऋक्षाः पृषतमुख्याश्च रुरवश्च समन्ततः।
दृश्यन्ते वनवाटेषु गिरिष्वपि नदीषु च॥ २॥

रीछ, चितकबरे मृग तथा रुरु नामक मृग वनप्रदेशोंमें, पर्वतोंमें और नदियोंके तटोंपर चारों ओर उस सेनासे पीड़ित दिखायी देते थे॥ २॥

स सम्प्रतस्थे धर्मात्मा प्रीतो दशरथात्मजः।
वृतो महत्या नादिन्या सेनया चतुरङ्गया॥ ३॥

महान् कोलाहल करनेवाली उस विशाल चतुरंगिणी सेनासे घिरे हुए धर्मात्मा दशरथनन्दन भरत बड़ी प्रसन्नताके साथ यात्रा कर रहे थे॥ ३॥

सागरौघनिभा सेना भरतस्य महात्मनः।
महीं संछादयामास प्रावृषि द्यामिवाम्बुदः॥ ४॥

जैसे वर्षा-ऋतुमें मेघोंकी घटा आकाशको ढक लेती है, उसी प्रकार महात्मा भरतकी समुद्र-जैसी उस विशाल सेनाने दूरतकके भूभागको आच्छादित कर लिया था॥ ४॥

तुरंगौघैरवतता वारणैश्च महाबलैः।
अनालक्ष्या चिरं कालं तस्मिन् काले बभूव सा॥ ५॥

घोड़ोंके समूहों तथा महाबली हाथियोंसे भरी और दूरतक फैली हुई वह सेना उस समय बहुत देरतक दृष्टिमें ही नहीं आती थी॥ ५॥

स गत्वा दूरमध्वानं सम्परिश्रान्तवाहनः।
उवाच वचनं श्रीमान् वसिष्ठं मन्त्रिणां वरम्॥ ६॥

दूरतकका रास्ता तै कर लेनेपर जब भरतकी सवारियाँ बहुत थक गयीं, तब श्रीमान् भरतने मन्त्रियोंमें श्रेष्ठ वसिष्ठजीसे कहा— ॥ ६॥

यादृशं लक्ष्यते रूपं यथा चैव मया श्रुतम्।
व्यक्तं प्राप्ताः स्म तं देशं भरद्वाजो यमब्रवीत्॥ ७॥

'ब्रह्मन्! मैंने जैसा सुन रखा था और जैसा इस देशका स्वरूप दिखायी देता है, इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि भरद्वाजजीने जहाँ पहुँचनेका आदेश दिया था, उस देशमें हमलोग आ पहुँचे हैं॥

अयं गिरिश्चित्रकूटस्तथा मन्दाकिनी नदी।
एतत् प्रकाशते दूरान्नीलमेघनिभं वनम्॥ ८॥

'जान पड़ता है यही चित्रकूट पर्वत है तथा वह मन्दाकिनी नदी बह रही है। यह पर्वतके आस-पासका वन दूरसे नील मेघके समान प्रकाशित हो रहा है॥ ८॥

गिरेः सानूनि रम्याणि चित्रकूटस्य सम्प्रति।
वारणैरवमृद्यन्ते मामकैः पर्वतोपमैः॥ ९॥

'इस समय मेरे पर्वताकार हाथी चित्रकूटके रमणीय शिखरोंका अवमर्दन कर रहे हैं॥ ९॥

मुञ्चन्ति कुसुमान्येते नगाः पर्वतसानुषु।
नीला इवातपापाये तोयं तोयधरा घनाः॥ १०॥

'ये वृक्ष पर्वतशिखरोंपर उसी प्रकार फूलोंकी वर्षा कर रहे हैं, जैसे वर्षाकालमें नील जलधर मेघ उनपर जलकी वृष्टि करते हैं'॥ १०॥

किंनराचरितं देशं पश्य शत्रुघ्न पर्वते।
हयैः समन्तादाकीर्णं मकरैरिव सागरम्॥ ११॥

(इसके बाद भरत शत्रुघ्नसे कहने लगे—) 'शत्रुघ्न! देखो, इस पर्वतकी उपत्यकामें जो देश है, जहाँपर किन्नर विचरा करते हैं, वही प्रदेश हमारी सेनाके घोड़ोंसे व्याप्त होकर मगरोंसे भरे हुए समुद्रके समान प्रतीत होता है॥ ११॥

एते मृगगणा भान्ति शीघ्रवेगाः प्रचोदिताः।
वायुप्रविद्धाः शरदि मेघजाला इवाम्बरे॥ १२॥

'सैनिकोंके खदेड़े हुए ये मृगोंके झुंड तीव्र वेगसे भागते हुए वैसी ही शोभा पा रहे हैं, जैसे शरत्-कालके आकाशमें हवासे उड़ाये गये बादलोंके समूह सुशोभित होते हैं॥ १२॥

कुर्वन्ति कुसुमापीडाञ्शिरःसु सुरभीनमी।
मेघप्रकाशैः फलकैर्दाक्षिणात्या नरा यथा॥ १३॥

'ये सैनिक अथवा वृक्ष मेघके समान कान्तिवाली ढालोंसे उपलक्षित होनेवाले दक्षिण भारतीय मनुष्योंके समान अपने मस्तकों अथवा शाखाओंपर सुगन्धित पुष्प-गुच्छमय आभूषणोंको धारण करते हैं॥ १३॥

निष्कूजमिव भूत्वेदं वनं घोरप्रदर्शनम्।
अयोध्येव जनाकीर्णा सम्प्रति प्रतिभाति मे॥ १४॥

'यह वन जो पहले जनरव-शून्य होनेके कारण अत्यन्त भयंकर दिखायी देता था, वही इस समय हमारे साथ आये हुए लोगोंसे व्याप्त होनेके कारण मुझे अयोध्यापुरीके समान प्रतीत होता है॥ १४॥

खुरैरुदीरितो रेणुर्दिवं प्रच्छाद्य तिष्ठति।
तं वहत्यनिलः शीघ्रं कुर्वन्निव मम प्रियम्॥ १५॥

'घोड़ोंकी टापोंसे उड़ी हुई धूल आकाशको आच्छादित करके स्थित होती है, परंतु उसे हवा मेरा प्रिय करती हुई-सी शीघ्र ही अन्यत्र उड़ा ले जाती है॥ १५॥

स्यन्दनांस्तुरगोपेतान् सूतमुख्यैरधिष्ठितान्।
एतान् सम्पततः शीघ्रं पश्य शत्रुघ्न कानने॥ १६॥

'शत्रुघ्न! देखो, इस वनमें घोड़ोंसे जुते हुए और श्रेष्ठ सारथियोंद्वारा संचालित हुए ये रथ कितनी शीघ्रतासे आगे बढ़ रहे हैं॥ १६॥

एतान् वित्रासितान् पश्य बर्हिणः प्रियदर्शनान्।
एवमापततः शैलमधिवासं पतत्रिणः॥ १७॥

'जो देखनेमें बड़े प्यारे लगते हैं उन मोरोंको तो देखो। ये हमारे सैनिकोंके भयसे कितने डरे हुए हैं। इसी प्रकार अपने आवास-स्थान पर्वतकी ओर उड़ते हुए अन्य पक्षियोंपर भी दृष्टिपात करो॥ १७॥

अतिमात्रमयं देशो मनोज्ञः प्रतिभाति मे।
तापसानां निवासोऽयं व्यक्तं स्वर्गपथोऽनघ॥ १८॥

'निष्पाप शत्रुघ्न! यह देश मुझे बड़ा ही मनोहर प्रतीत होता है। तपस्वी जनोंका यह निवासस्थान वास्तवमें स्वर्गीय पथ है॥ १८॥

मृगा मृगीभिः सहिता बहवः पृषता वने।
मनोज्ञरूपा लक्ष्यन्ते कुसुमैरिव चित्रिताः॥ १९॥

'इस वनमें मृगियोंके साथ विचरनेवाले बहुत-से चितकबरे मृग ऐसे मनोहर दिखायी देते हैं, मानो इन्हें फूलोंसे चित्रित—सुसज्जित किया गया हो॥ १९॥

साधु सैन्याः प्रतिष्ठन्तां विचिन्वन्तु च काननम्।
यथा तौ पुरुषव्याघ्रौ दृश्येते रामलक्ष्मणौ॥ २०॥

'मेरे सैनिक यथोचित रूपसे आगे बढ़ें और वनमें सब ओर खोजें, जिससे उन दोनों पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मणका पता लग जाय'॥ २०॥

भरतस्य वचः श्रुत्वा पुरुषाः शस्त्रपाणयः।
विविशुस्तद्वनं शूरा धूमाग्रं ददृशुस्ततः॥ २१॥

भरतका यह वचन सुनकर बहुत-से शूरवीर पुरुषोंने हाथोंमें हथियार लेकर उस वनमें प्रवेश किया। तदनन्तर आगे जानेपर उन्हें कुछ दूरपर ऊपरको धुआँ उठता दिखायी दिया॥ २१॥

ते समालोक्य धूमाग्रमूचुर्भरतमागताः।
नामनुष्ये भवत्यग्निर्व्यक्तमत्रैव राघवौ॥ २२॥

उस धूमशिखाको देखकर वे लौट आये और भरतसे बोले—'प्रभो! जहाँ कोई मनुष्य नहीं होता, वहाँ आग नहीं होती। अतः श्रीराम और लक्ष्मण अवश्य यहीं होंगे॥ २२॥

अथ नात्र नरव्याघ्रौ राजपुत्रौ परंतपौ।
अन्ये रामोपमाः सन्ति व्यक्तमत्र तपस्विनः॥ २३॥

'यदि शत्रुओंको संताप देनेवाले पुरुषसिंह राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण यहाँ न हों तो भी श्रीराम-जैसे तेजस्वी दूसरे कोई तपस्वी तो अवश्य ही होंगे'॥ २३॥

तच्छ्रुत्वा भरतस्तेषां वचनं साधुसम्मतम्।
सैन्यानुवाच सर्वांस्तानमित्रबलमर्दनः॥ २४॥

उनकी बातें श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा मानने योग्य थीं, उन्हें सुनकर शत्रुसेनाका मर्दन करनेवाले भरतने उन समस्त सैनिकोंसे कहा—॥ २४॥

यत्ता भवन्तस्तिष्ठन्तु नेतो गन्तव्यमग्रतः।
अहमेव गमिष्यामि सुमन्त्रो धृतिरेव च॥ २५॥

'तुम सब लोग सावधान होकर यहीं ठहरो! यहाँसे आगे न जाना। अब मैं ही वहाँ जाऊँगा। मेरे साथ सुमन्त्र और धृति भी रहेंगे'॥ २५॥

एवमुक्तास्ततः सैन्यास्तत्र तस्थुः समन्ततः।
भरतो यत्र धूमाग्रं तत्र दृष्टिं समादधत्॥ २६॥

उनकी ऐसी आज्ञा पाकर समस्त सैनिक वहीं सब ओर फैलकर खड़े हो गये और भरतने जहाँ धुआँ उठ रहा था, उस ओर अपनी दृष्टि स्थिर की॥ २६॥

व्यवस्थिता या भरतेन सा चमू-
निरीक्षमाणापि च भूमिमग्रतः।
बभूव हृष्टा नचिरेण जानती
प्रियस्य रामस्य समागमं तदा ॥ २७ ॥

भरतके द्वारा वहाँ ठहरायी गयी वह सेना आगेकी भूमिका निरीक्षण करती हुई भी वहाँ हर्षपूर्वक खड़ी रही; क्योंकि उस समय उसे मालूम हो गया था कि अब शीघ्र ही श्रीरामचन्द्रजीसे मिलनेका अवसर आनेवाला है ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रिनवतितमः सर्गः ॥ ९३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तिरानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९३ ॥

चतुर्नवतितमः सर्गः

श्रीरामका सीताको चित्रकूटकी शोभा दिखाना

दीर्घकालोषितस्तस्मिन् गिरौ गिरिवरप्रियः।
वैदेह्याः प्रियमाकाङ्क्षन् स्वं च चित्तं विलोभयन् ॥ १ ॥
अथ दाशरथिश्चित्रं चित्रकूटमदर्शयत्।
भार्याममरसंकाशः शचीमिव पुरंदरः ॥ २ ॥

गिरिवर चित्रकूट श्रीरामको बहुत ही प्रिय लगता था। वे उस पर्वतपर बहुत दिनोंसे रह रहे थे। एक दिन अमरतुल्य तेजस्वी दशरथनन्दन श्रीराम विदेहराजकुमारी सीताका प्रिय करनेकी इच्छासे तथा अपने मनको भी बहलानेके लिये अपनी भार्याको विचित्र चित्रकूटकी शोभाका दर्शन कराने लगे, मानो देवराज इन्द्र अपनी पत्नी शचीको पर्वतीय सुषमाका दर्शन करा रहे हों ॥ १—२ ॥

न राज्यभ्रंशनं भद्रे न सुहृद्भिर्विनाभवः।
मनो मे बाधते दृष्ट्वा रमणीयमिमं गिरिम् ॥ ३ ॥

(वे बोले—) 'भद्रे! यद्यपि मैं राज्यसे भ्रष्ट हो गया हूँ तथा मुझे अपने हितैषी सुहृदोंसे विलग होकर रहना पड़ता है, तथापि जब मैं इस रमणीय पर्वतकी ओर देखता हूँ, तब मेरा सारा दुःख दूर हो जाता है—राज्यका न मिलना और सुहृदोंका विछोह होना भी मेरे मनको व्यथित नहीं कर पाता है ॥ ३ ॥

पश्येममचलं भद्रे नानाद्विजगणायुतम्।
शिखरैः खमिवोद्विद्धैर्धातुमद्भिर्विभूषितम् ॥ ४ ॥

'कल्याणि! इस पर्वतपर दृष्टिपात तो करो, नाना प्रकारके असंख्य पक्षी यहाँ कलरव कर रहे हैं। नाना प्रकारके धातुओंसे मण्डित इसके गगन-चुम्बी शिखर मानो आकाशको बेध रहे हैं। इन शिखरोंसे विभूषित हुआ यह चित्रकूट कैसी शोभा पा रहा है! ॥ ४ ॥

केचिद् रजतसंकाशाः केचित् क्षतजसंनिभाः।
पीतमाञ्जिष्ठवर्णाश्च केचिन्मणिवरप्रभाः ॥ ५ ॥
पुष्पार्ककेतकाभाश्च केचिज्ज्योतीरसप्रभाः।
विराजन्तेऽचलेन्द्रस्य देशा धातुविभूषिताः ॥ ६ ॥

'विभिन्न धातुओंसे अलंकृत अचलराज चित्रकूटके प्रदेश कितने सुन्दर लगते हैं! इनमेंसे कोई तो चाँदीके समान चमक रहे हैं। कोई लोहूकी लाल आभाका विस्तार करते हैं। किन्हीं प्रदेशोंके रंग पीले और मंजिष्ठ वर्णके हैं। कोई श्रेष्ठ मणियोंके समान उद्भासित होते हैं। कोई पुखराजके समान, कोई स्फटिकके सदृश और कोई केवड़ेके फूलके समान कान्तिवाले हैं तथा कुछ प्रदेश नक्षत्रों और पारेके समान प्रकाशित होते हैं ॥ ५-६ ॥

नानामृगगणैर्द्वीपितरक्ष्वृक्षगणैर्वृतः।
अदुष्टैर्भात्ययं शैलो बहुपक्षिसमाकुलः ॥ ७ ॥

'यह पर्वत बहुसंख्यक पक्षियोंसे व्याप्त है तथा नाना प्रकारके मृगों, बड़े-बड़े व्याघ्रों, चीतों और रीछोंसे भरा हुआ है। वे व्याघ्र आदि हिंसक जन्तु अपने दुष्टभावका परित्याग करके यहाँ रहते हैं और इस पर्वतकी शोभा बढ़ाते हैं ॥ ७ ॥

आम्रजम्ब्वसनैर्लोध्रैः प्रियालैः पनसैर्धवैः।
अङ्कोलैर्भव्यतिनिशैर्बिल्वतिन्दुकवेणुभिः ॥ ८ ॥
काश्मर्यरिष्टवरणैर्मधूकैस्तिलकैरपि।
बदर्यामलकैर्नीपैर्वेत्रधन्वनबीजकैः ॥ ९ ॥
पुष्पवद्भिः फलोपेतैश्छायावद्भिर्मनोरमैः।
एवमादिभिराकीर्णः श्रियं पुष्यत्ययं गिरिः ॥ १० ॥

'आम, जामुन, असन, लोध, प्रियाल, कटहल, धव, अंकोल, भव्य, तिनिश, बेल, तिन्दुक, बाँस, काश्मरी (मधुपर्णिका), अरिष्ट (नीम), वरण, महुआ, तिलक, बेर, आँवला, कदम्ब, बेत, धन्वन (इन्द्रजौ), बीजक (अनार) आदि घनी छायावाले वृक्षोंसे, जो फूलों और फलोंसे लदे होनेके कारण मनोरम प्रतीत होते थे, व्याप्त हुआ यह पर्वत अनुपम शोभाका पोषण एवं विस्तार कर रहा है ॥ ८—१० ॥

शैलप्रस्थेषु रम्येषु पश्येमान् कामहर्षणान्।
किंनरान् द्वन्द्वशो भद्रे रममाणान् मनस्विनः ॥ ११ ॥

'इन रमणीय शैलशिखरोंपर उन प्रदेशोंको देखो, जो प्रेममिलनकी भावनाका उद्दीपन करके आन्तरिक हर्षको बढ़ानेवाले हैं। वहाँ मनस्वी किंनर दो-दो एक साथ होकर टहल रहे हैं ॥ ११ ॥

शाखावसक्तान् खड्गांश्च प्रवराण्यम्बराणि च।
पश्य विद्याधरस्त्रीणां क्रीडोद्देशान् मनोरमान् ॥ १२ ॥

'इन किंनरोंके खड्ग पेड़ोंकी डालियोंमें लटक रहे हैं।

इधर विद्याधरोंकी स्त्रियोंके मनोरम क्रीडास्थलों तथा वृक्षोंकी शाखाओंपर रखे हुए उनके सुन्दर वस्त्रोंकी ओर भी देखो ॥ १२ ॥

जलप्रपातैरुद्भेदैर्निष्यन्दैश्च क्वचित् क्वचित्।
स्रवद्भिर्भात्ययं शैलः स्रवन्मद इव द्विपः ॥ १३ ॥

'इसके ऊपर कहीं ऊँचेसे झरने गिर रहे हैं, कहीं जमीनके भीतरसे सोते निकले हैं और कहीं-कहीं छोटे-छोटे स्रोत प्रवाहित हो रहे हैं। इन सबके द्वारा यह पर्वत मदकी धारा बहानेवाले हाथीके समान शोभा पाता है ॥ १३ ॥

गुहासमीरणो गन्धान् नानापुष्पभवान् बहून्।
घ्राणतर्पणमभ्येत्य कं नरं न प्रहर्षयेत् ॥ १४ ॥

'गुफाओंसे निकली हुई वायु नाना प्रकारके पुष्पोंकी प्रचुर गन्ध लेकर नासिकाको तृप्त करती हुई किस पुरुषके पास आकर उसका हर्ष नहीं बढ़ा रही है ॥ १४ ॥

यदीह शरदोऽनेकास्त्वया सार्धमनिन्दिते।
लक्ष्मणेन च वत्स्यामि न मां शोकः प्रधर्षति ॥ १५ ॥

'सती-साध्वी सीते! यदि तुम्हारे और लक्ष्मणके साथ मैं यहाँ अनेक वर्षोंतक रहूँ तो भी नगरत्यागका शोक मुझे कदापि पीड़ित नहीं करेगा ॥ १५ ॥

बहुपुष्पफले रम्ये नानाद्विजगणायुते।
विचित्रशिखरे ह्यस्मिन् रतवानस्मि भामिनि ॥ १६ ॥

'भामिनि! बहुतेरे फूलों और फलोंसे युक्त तथा नाना प्रकारके पक्षियोंसे सेवित इस विचित्र शिखरवाले रमणीय पर्वतपर मेरा मन बहुत लगता है ॥ १६ ॥

अनेन वनवासेन मम प्राप्तं फलद्वयम्।
पितुश्चानृण्यता धर्मे भरतस्य प्रियं तथा ॥ १७ ॥

'प्रिये! इस वनवाससे मुझे दो फल प्राप्त हुए हैं—दो लाभ हुए हैं—एक तो धर्मानुसार पिताकी आज्ञाका पालनरूप ऋण चुक गया और दूसरा भाई भरतका प्रिय हुआ ॥ १७ ॥

वैदेहि रमसे कच्चिच्चित्रकूटे मया सह।
पश्यन्ती विविधान् भावान् मनोवाक्कायसम्मतान् ॥ १८ ॥

'विदेहकुमारी! क्या चित्रकूट पर्वतपर मेरे साथ मन, वाणी और शरीरको प्रिय लगनेवाले भाँति-भाँतिके पदार्थोंको देखकर तुम्हें आनन्द प्राप्त होता है? ॥ १८ ॥

इदमेवामृतं प्राहू राज्ञि राजर्षयः परे।
वनवासं भवार्थाय प्रेत्य मे प्रपितामहाः ॥ १९ ॥

'रानी! मेरे प्रपितामह मनु आदि उत्कृष्ट राजर्षियोंने नियमपूर्वक किये गये इस वनवासको ही अमृत बतलाया है; इससे शरीरत्यागके पश्चात् परम कल्याणकी प्राप्ति होती है ॥ १९ ॥

शिलाः शैलस्य शोभन्ते विशालाः शतशोऽभितः।
बहुला बहुलैर्वर्णैर्नीलपीतसितारुणैः ॥ २० ॥

'चारों ओर इस पर्वतकी सैकड़ों विशाल शिलाएँ शोभा पा रही हैं, जो नीले, पीले, सफेद और लाल आदि विविध रंगोंसे अनेक प्रकारकी दिखायी देती हैं ॥ २० ॥

निशि भान्त्यचलेन्द्रस्य हुताशनशिखा इव।
ओषध्यः स्वप्रभालक्ष्म्या भ्राजमानाः सहस्रशः ॥ २१ ॥

'रातमें इस पर्वतराजके ऊपर लगी हुई सहस्रों ओषधियाँ अपनी प्रभासम्पत्तिसे प्रकाशित होती हुई अग्नि-शिखाके समान उद्भासित होती हैं ॥ २१ ॥

केचित् क्षयनिभा देशाः केचिदुद्यानसंनिभाः।
केचिदेकशिला भान्ति पर्वतस्यास्य भामिनि ॥ २२ ॥

'भामिनि! इस पर्वतके कई स्थान घरकी भाँति दिखायी देते हैं (क्योंकि वे वृक्षोंकी घनी छायासे आच्छादित हैं) और कई स्थान चम्पा, मालती आदि फूलोंकी अधिकताके कारण उद्यानके समान सुशोभित होते हैं तथा कितने ही स्थान ऐसे हैं जहाँ बहुत दूरतक एक ही शिला फैली हुई है। इन सबकी बड़ी शोभा होती है ॥ २२ ॥

भित्त्वेव वसुधां भाति चित्रकूटः समुत्थितः।
चित्रकूटस्य कूटोऽयं दृश्यते सर्वतः शुभः ॥ २३ ॥

'ऐसा जान पड़ता है कि यह चित्रकूट पर्वत पृथ्वीको फाड़कर ऊपर उठ आया है। चित्रकूटका यह शिखर सब ओरसे सुन्दर दिखायी देता है ॥ २३ ॥

कुष्ठस्थगरपुंनागभूर्जपत्रोत्तरच्छदान्।
कामिनां स्वास्तरान् पश्य कुशेशयदलायुतान् ॥ २४ ॥

'प्रिये! देखो, ये विलासियोंके बिस्तर हैं, जिनपर उत्पल, पुत्रजीवक, पुन्नाग और भोजपत्र—इनके पत्ते ही चादरका काम देते हैं तथा इनके ऊपर सब ओरसे कमलोंके पत्ते बिछे हुए हैं ॥ २४ ॥

मृदिताश्चापविद्धाश्च दृश्यन्ते कमलस्रजः।
कामिभिर्वनिते पश्य फलानि विविधानि च ॥ २५ ॥

'प्रियतमे! ये कमलोंकी मालाएँ दिखायी देती हैं, जो विलासियोंद्वारा मसलकर फेंक दी गयी हैं। उधर देखो, वृक्षोंमें नाना प्रकारके फल लगे हुए हैं ॥ २५ ॥

वस्वौकसारां नलिनीमतीत्यैवोत्तरान् कुरून्।
पर्वतश्चित्रकूटोऽसौ बहुमूलफलोदकः ॥ २६ ॥

'बहुत-से फल, मूल और जलसे सम्पन्न यह चित्रकूट पर्वत कुबेर-नगरी वस्वौकसारा (अलका), इन्द्रपुरी नलिनी (अमरावती अथवा नलिनी नामसे प्रसिद्ध कुबेरकी सौगन्धिक कमलोंसे युक्त पुष्करिणी) तथा उत्तर कुरुको भी अपनी शोभासे तिरस्कृत कर रहा है ॥ २६ ॥

इमं तु कालं वनिते विजह्रिवां-
स्त्वया च सीते सह लक्ष्मणेन।
रतिं प्रपत्स्ये कुलधर्मवर्धिनीं
सतां पथि स्वैर्नियमैः परैः स्थितः ॥ २७ ॥

'प्राणवल्लभे सीते ! अपने उत्तम नियमोंको पालन करते हुए सन्मार्गपर स्थित रहकर यदि तुम्हारे और लक्ष्मणके साथ यह चौदह वर्षोंका समय मैं सानन्द व्यतीत कर लूँगा तो मुझे वह सुख प्राप्त होगा जो कुलधर्मको बढ़ानेवाला है' ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुर्नवतितमः सर्गः ॥ ९४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौरानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९४ ॥

पञ्चनवतितमः सर्गः

श्रीरामका सीताके प्रति मन्दाकिनी नदीकी शोभाका वर्णन

अथ शैलाद् विनिष्क्रम्य मैथिलीं कोसलेश्वरः ।
अदर्शयच्छुभजलां रम्यां मन्दाकिनीं नदीम् ॥ १ ॥

तदनन्तर उस पर्वतसे निकलकर कोसलनरेश श्रीरामचन्द्रजीने मिथिलेशकुमारी सीताको पुण्यसलिला रमणीय मन्दाकिनी नदीका दर्शन कराया ॥ १ ॥

अब्रवीच्च वरारोहां चन्द्रचारुनिभाननाम् ।
विदेहराजस्य सुतां रामो राजीवलोचनः ॥ २ ॥

और उस समय कमलनयन श्रीरामने चन्द्रमाके समान मनोहर मुख तथा सुन्दर कटिप्रदेशवाली विदेहराजनन्दिनी सीतासे इस प्रकार कहा— ॥ २ ॥

विचित्रपुलिनां रम्यां हंससारससेविताम् ।
कुसुमैरुपसम्पन्नां पश्य मन्दाकिनीं नदीम् ॥ ३ ॥

'प्रिये ! अब मन्दाकिनी नदीकी शोभा देखो, हंस और सारसोंसे सेवित होनेके कारण यह कितनी सुन्दर जान पड़ती है। इसका किनारा बड़ा ही विचित्र है। नाना प्रकारके पुष्प इसकी शोभा बढ़ा रहे हैं ॥ ३ ॥

नानाविधैस्तीररुहैर्वृतां पुष्पफलद्रुमैः ।
राजन्तीं राजराजस्य नलिनीमिव सर्वतः ॥ ४ ॥

'फल और फूलोंके भारसे लदे हुए नाना प्रकारके तटवर्ती वृक्षोंसे घिरी हुई यह मन्दाकिनी कुबेरके सौगन्धिक सरोवरकी भाँति सब ओरसे सुशोभित हो रही है ॥ ४ ॥

मृगयूथनिपीतानि कलुषाम्भांसि साम्प्रतम् ।
तीर्थानि रमणीयानि रतिं संजनयन्ति मे ॥ ५ ॥

'हरिनोंके झुंड पानी पीकर इस समय यद्यपि यहाँका जल गँदला कर गये हैं तथापि इसके रमणीय घाट मेरे मनको बड़ा आनन्द दे रहे हैं ॥ ५ ॥

जटाजिनधराः काले वल्कलोत्तरवाससः ।
ऋषयस्त्ववगाहन्ते नदीं मन्दाकिनीं प्रिये ॥ ६ ॥

'प्रिये ! वह देखो, जटा, मृगचर्म और वल्कलका उत्तरीय धारण करनेवाले महर्षि उपयुक्त समयमें आकर इस मन्दाकिनी नदीमें स्नान कर रहे हैं ॥ ६ ॥

आदित्यमुपतिष्ठन्ते नियमादूर्ध्वबाहवः ।
एते परे विशालाक्षि मुनयः संशितव्रताः ॥ ७ ॥

'विशाललोचने ! ये दूसरे मुनि, जो कठोर व्रतका पालन करनेवाले हैं, नैत्यिक नियमके कारण दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर सूर्यदेवका उपस्थान कर रहे हैं ॥ ७ ॥

मारुतोद्धूतशिखरैः प्रनृत्त इव पर्वतः ।
पादपैः पुष्पपत्राणि सृजद्भिरभितो नदीम् ॥ ८ ॥

'हवाके झोंकेसे जिनकी शिखाएँ झूम रही हैं, अतएव जो मन्दाकिनी नदीके उभय तटोंपर फूल और पत्ते बिखेर रहे हैं, उन वृक्षोंसे उपलक्षित हुआ यह पर्वत मानो नृत्य-सा करने लगा है ॥ ८ ॥

क्वचिन्मणिनिकाशोदां क्वचित् पुलिनशालिनीम् ।
क्वचित् सिद्धजनाकीर्णां पश्य मन्दाकिनीं नदीम् ॥ ९ ॥

'देखो ! मन्दाकिनी नदीकी कैसी शोभा है; कहीं तो इसमें मोतियोंके समान स्वच्छ जल बहता दिखायी देता है, कहीं यह ऊँचे कगारोंसे ही शोभा पाती है (वहाँका जल कगारोंमें छिप जानेके कारण दिखायी नहीं देता है) और कहीं सिद्धजन इसमें अवगाहन कर रहे हैं तथा यह उनसे व्याप्त दिखायी देती है ॥ ९ ॥

निर्धूतान् वायुना पश्य विततान् पुष्पसंचयान् ।
पोप्लूयमानानपरान् पश्य त्वं तनुमध्यमे ॥ १० ॥

'सूक्ष्म कटिप्रदेशवाली सुन्दरि ! देखो, वायुके द्वारा उड़ाकर लाये हुए ये ढेर-के-ढेर फूल किस तरह मन्दाकिनीके दोनों तटोंपर फैले हुए हैं और वे दूसरे पुष्पसमूह कैसे पानीपर तैर रहे हैं ॥ १० ॥

पश्यैतद्वल्गुवचसो रथाङ्गाह्वयना द्विजाः ।
अधिरोहन्ति कल्याणि निष्कूजन्तः शुभा गिरः ॥ ११ ॥

'कल्याणि ! देखो तो सही, ये मीठी बोली बोलनेवाले चक्रवाक पक्षी सुन्दर कलरव करते हुए किस तरह नदीके तटोंपर आरूढ़ हो रहे हैं ॥ ११ ॥

दर्शनं चित्रकूटस्य मन्दाकिन्याश्च शोभने ।
अधिकं पुरवासाच्च मन्ये तव च दर्शनात् ॥ १२ ॥

'शोभने ! यहाँ जो प्रतिदिन चित्रकूट और मन्दाकिनीका दर्शन होता है, वह नित्य-निरन्तर तुम्हारा दर्शन होनेके कारण अयोध्यानिवासकी अपेक्षा भी अधिक सुखद जान पड़ता है ॥ १२ ॥

विधूतकल्मषैः सिद्धैस्तपोदमशमान्वितैः ।
नित्यविक्षोभितजलां विगाहस्व मया सह ॥ १३ ॥

'इस नदीमें प्रतिदिन तपस्या, इन्द्रियसंयम और

मनोनिग्रहसे सम्पन्न निष्पाप सिद्ध महात्माओंके अवगाहन करनेसे इसका जल विक्षुब्ध होता रहता है। चलो, तुम भी मेरे साथ इसमें स्नान करो॥ १३॥

सखीवच्च विगाहस्व सीते मन्दाकिनीं नदीम्।
कमलान्यवमज्जन्ती पुष्कराणि च भामिनि॥ १४॥

'भामिनि सीते! एक सखी दूसरी सखीके साथ जैसे क्रीड़ा करती है, उसी प्रकार तुम मन्दाकिनी नदीमें उतरकर इसके लाल और श्वेत कमलोंको जलमें डुबोती हुई इसमें स्नान-क्रीड़ा करो॥ १४॥

त्वं पौरजनवद् व्यालानयोध्यामिव पर्वतम्।
मन्यस्व वनिते नित्यं सरयूवदिमां नदीम्॥ १५॥

'प्रिये! तुम इस वनके निवासियोंको पुरवासी मनुष्योंके समान समझो, चित्रकूट पर्वतको अयोध्याके तुल्य मानो और इस मन्दाकिनी नदीको सरयूके सदृश जानो॥ १५॥

लक्ष्मणश्चैव धर्मात्मा मन्निदेशे व्यवस्थितः।
त्वं चानुकूला वैदेहि प्रीतिं जनयती मम॥ १६॥

'विदेहनन्दिनि! धर्मात्मा लक्ष्मण सदा मेरी आज्ञाके अधीन रहते हैं और तुम भी मेरे मनके अनुकूल ही चलती हो; इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है॥ १६॥

उपस्पृशंस्त्रिषवणं मधुमूलफलाशनः।
नायोध्यायै न राज्याय स्पृहये च त्वया सह॥ १७॥

'प्रिये! तुम्हारे साथ तीनों काल स्नान करके मधुर फल-मूलका आहार करता हुआ मैं न तो अयोध्या जानेकी इच्छा रखता हूँ और न राज्य पानेकी ही॥ १७॥

इमां हि रम्यां गजयूथलोडितां
निपीततोयां गजसिंहवानरैः।
सुपुष्पितां पुष्पभरैरलंकृतां
न सोऽस्ति यः स्यान्न गतक्लमः सुखी॥ १८॥

'जिसे हाथियोंके समूह मथे डालते हैं तथा सिंह और वानर जिसका जल पिया करते हैं, जिसके तटपर सुन्दर पुष्पोंसे लदे वृक्ष शोभा पाते हैं तथा जो पुष्पसमूहोंसे अलंकृत है, ऐसी इस रमणीय मन्दाकिनी नदीमें स्नान करके जो ग्लानिरहित और सुखी न हो जाय—ऐसा मनुष्य इस संसारमें नहीं है'॥ १८॥

इतीव रामो बहुसंगतं वचः
प्रियासहायः सरितं प्रति ब्रुवन्।
चचार रम्यं नयनाञ्जनप्रभं
स चित्रकूटं रघुवंशवर्धनः॥ १९॥

रघुवंशकी वृद्धि करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी मन्दाकिनी नदीके प्रति ऐसी अनेक प्रकारकी सुसंगत बातें कहते हुए नील-कान्तिवाले रमणीय चित्रकूटपर्वतपर अपनी प्रिया पत्नी सीताके साथ विचरने लगे॥ १९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चनवतितमः सर्गः॥ ९५॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पंचानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ९५॥

—★—

षण्णवतितमः सर्गः

वन-जन्तुओंके भागनेका कारण जाननेके लिये श्रीरामकी आज्ञासे लक्ष्मणका शाल-वृक्षपर चढ़कर भरतकी सेनाको देखना और उनके प्रति अपना रोषपूर्ण उद्गार प्रकट करना

तां तदा दर्शयित्वा तु मैथिलीं गिरिनिम्नगाम्।
निषसाद गिरिप्रस्थे सीतां मांसेन छन्दयन्॥ १॥

इस प्रकार मिथिलेशकुमारी सीताको मन्दाकिनी नदीका दर्शन कराकर उस समय श्रीरामचन्द्रजी पर्वतके समतल प्रदेशमें उनके साथ बैठ गये और तपस्वी-जनोंके उपभोगमें आने योग्य फल-मूलके गूदेसे उनकी मानसिक प्रसन्नताको बढ़ाने—उनका लालन करने लगे॥ १॥

इदं मेध्यमिदं स्वादु निष्टप्तमिदमग्निना।
एवमास्ते स धर्मात्मा सीतया सह राघवः॥ २॥

धर्मात्मा रघुनन्दन सीताजीके साथ इस प्रकारकी बातें कर रहे थे—'प्रिये! यह फल परम पवित्र है। यह बहुत स्वादिष्ट है तथा इस कन्दको अच्छी तरह आगपर सेंका गया है'॥

तथा तत्रासतस्तस्य भरतस्योपयायिनः।
सैन्यरेणुश्च शब्दश्च प्रादुरास्तां नभस्पृशौ॥ ३॥

इस प्रकार वे उस पर्वतीय प्रदेशमें बैठे हुए ही थे कि उनके पास आनेवाली भरतकी सेनाकी धूल और कोलाहल दोनों एक साथ प्रकट हुए और आकाशमें फैलने लगे॥ ३॥

एतस्मिन्नन्तरे त्रस्ताः शब्देन महता ततः।
अर्दिता यूथपा मत्ताः सयूथाद् दुद्रुवुर्दिशः॥ ४॥

इसी बीचमें सेनाके महान् कोलाहलसे भयभीत एवं पीड़ित हो हाथियोंके कितने ही मतवाले यूथपति अपने यूथोंके साथ सम्पूर्ण दिशाओंमें भागने लगे॥ ४॥

स तं सैन्यसमुद्भूतं शब्दं शुश्राव राघवः।
तांश्च विप्रद्रुतान् सर्वान् यूथपानन्ववैक्षत॥ ५॥

श्रीरामचन्द्रजीने सेनासे प्रकट हुए उस महान् कोलाहलको सुना तथा भागे आते हुए उन समस्त यूथपतियोंको भी देखा॥ ५॥

तांश्च विप्रद्रुतान् दृष्ट्वा तं च श्रुत्वा महास्वनम्।
उवाच रामः सौमित्रिं लक्ष्मणं दीप्ततेजसम्॥ ६॥

उन भागे हुए हाथियोंको देखकर और उस महाभयंकर

शब्दको सुनकर श्रीरामचन्द्रजी उद्दीप्त तेजवाले सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे बोले— ॥ ६ ॥

हन्त लक्ष्मण पश्येह सुमित्रा सुप्रजास्त्वया।
भीमस्तनितगम्भीरं तुमुलः श्रूयते स्वनः ॥ ७ ॥

'लक्ष्मण! इस जगत्‌में तुमसे ही माता सुमित्रा श्रेष्ठ पुत्रवाली हुई हैं। देखो तो सही—यह भयंकर गर्जनाके साथ कैसा गम्भीर तुमुल नाद सुनायी देता है॥ ७॥

गजयूथानि वारण्ये महिषा वा महावने।
वित्रासिता मृगाः सिंहैः सहसा प्रद्रुता दिशः ॥ ८ ॥
राजा वा राजपुत्रो वा मृगयामटते वने।
अन्यद्वा श्वापदं किंचित् सौमित्रे ज्ञातुमर्हसि ॥ ९ ॥

'सुमित्रानन्दन! पता तो लगाओ, इस विशाल वनमें ये जो हाथियोंके झुंड अथवा भैंसे या मृग जो सहसा सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर भाग चले हैं, इसका क्या कारण है? इन्हें सिंहोंने तो नहीं डरा दिया है अथवा कोई राजा या राजकुमार इस वनमें आकर शिकार तो नहीं खेल रहा है या दूसरा कोई हिंसक जन्तु तो नहीं प्रकट हो गया है? ॥ ८-९ ॥

सुदुश्चरो गिरिश्चायं पक्षिणामपि लक्ष्मण।
सर्वमेतद् यथातत्त्वमभिज्ञातुमिहार्हसि ॥ १० ॥

'लक्ष्मण! इस पर्वतपर अपरिचित पक्षियोंका आना-जाना भी अत्यन्त कठिन है (फिर यहाँ किसी हिंसक जन्तु या राजाका आक्रमण कैसे सम्भव है)। अतः इन सारी बातोंकी ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त करो' ॥ १० ॥

स लक्ष्मणः संत्वरितः सालमारुह्य पुष्पितम्।
प्रेक्षमाणो दिशः सर्वाः पूर्वां दिशमवैक्षत ॥ ११ ॥

भगवान् श्रीरामकी आज्ञा पाकर लक्ष्मण तुरंत ही फूलोंसे भरे हुए एक शाल-वृक्षपर चढ़ गये और सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर देखते हुए उन्होंने पूर्व दिशाकी ओर दृष्टिपात किया॥

उदङ्मुखः प्रेक्षमाणो ददर्श महतीं चमूम्।
गजाश्वरथसम्बाधां यत्तैर्युक्तां पदातिभिः ॥ १२ ॥

तत्पश्चात् उत्तरकी ओर मुँह करके देखनेपर उन्हें एक विशाल सेना दिखायी दी, जो हाथी, घोड़े और रथोंसे परिपूर्ण तथा प्रयत्नशील पैदल सैनिकोंसे संयुक्त थी॥ १२ ॥

तामश्वरथसम्पूर्णां रथध्वजविभूषिताम्।
शशंस सेनां रामाय वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १३ ॥

घोड़ों और रथोंसे भरी हुई तथा रथकी ध्वजासे विभूषित उस सेनाकी सूचना उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीको दी और यह बात कही— ॥ १३ ॥

अग्निं संशमयत्वार्यः सीता च भजतां गुहाम्।
सज्यं कुरुष्व चापं च शरांश्च कवचं तथा ॥ १४ ॥

'आर्य! अब आप आग बुझा दें (अन्यथा धुआँ देखकर यह सेना यहीं चली आयगी); देवी सीता गुफामें जा बैठें। आप अपने धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ा लें और बाण तथा कवच धारण कर लें' ॥ १४ ॥

तं रामः पुरुषव्याघ्रो लक्ष्मणं प्रत्युवाच ह।
अङ्गावेक्षस्व सौमित्रे कस्येमां मन्यसे चमूम् ॥ १५ ॥

यह सुनकर पुरुषसिंह श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा—'प्रिय सुमित्राकुमार! अच्छी तरह देखो तो सही, तुम्हारी समझमें यह किसकी सेना हो सकती है?' ॥ १५ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत्।
दिधक्षन्निव तां सेनां रुषितः पावको यथा ॥ १६ ॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर लक्ष्मण रोषसे प्रज्वलित हुए अग्निदेवकी भाँति उस सेनाकी ओर इस तरह देखने लगे, मानो उसे जलाकर भस्म कर देना चाहते हों और इस प्रकार बोले— ॥ १६ ॥

सम्पन्नं राज्यमिच्छंस्तु व्यक्तं प्राप्याभिषेचनम्।
आवां हन्तुं समभ्येति कैकेय्या भरतः सुतः ॥ १७ ॥

'भैया! निश्चय ही यह कैकेयीका पुत्र भरत है, जो अयोध्यामें अभिषिक्त होकर अपने राज्यको निष्कण्टक बनानेकी इच्छासे हम दोनोंको मार डालनेके लिये यहाँ आ रहा है॥ १७ ॥

एष वै सुमहाञ्श्रीमान् विटपी सम्प्रकाशते।
विराजत्युज्ज्वलस्कन्धः कोविदारध्वजो रथे ॥ १८ ॥

'सामनेकी ओर यह जो बहुत बड़ा शोभासम्पन्न वृक्ष दिखायी देता है, उसके समीप जो रथ है, उसपर उज्ज्वल तनेसे युक्त कोविदार वृक्षसे चिह्नित ध्वज शोभा पा रहा है॥ १८ ॥

भजन्त्येते यथाकाममश्वानारुह्य शीघ्रगान्।
एते भ्राजन्ति संहृष्टा गजानारुह्य सादिनः ॥ १९ ॥

'ये घुड़सवार सैनिक इच्छानुसार शीघ्रगामी घोड़ोंपर आरूढ़ हो इधर ही आ रहे हैं और ये हाथीसवार भी बड़े हर्षसे हाथियोंपर चढ़कर आते हुए प्रकाशित हो रहे हैं॥

गृहीतधनुषावावां गिरिं वीर श्रयावहे।
अथवेहैव तिष्ठावः संनद्धावुद्यतायुधौ ॥ २० ॥

'वीर! हम दोनोंको धनुष लेकर पर्वतके शिखरपर चलना चाहिये अथवा कवच बाँधकर अस्त्र-शस्त्र धारण किये यहीं डटे रहना चाहिये॥ २० ॥

अपि नौ वशमागच्छेत् कोविदारध्वजो रणे।
अपि द्रक्ष्यामि भरतं यत्कृते व्यसनं महत् ॥ २१ ॥
त्वया राघव सम्प्राप्तं सीतया च मया तथा।
यन्निमित्तं भवान् राज्याच्च्युतो राघव शाश्वतात् ॥ २२ ॥

'रघुनन्दन! आज यह कोविदारके चिह्नसे युक्त ध्वजवाला रथ रणभूमिमें हम दोनोंके अधिकारमें आ जायगा और आज मैं अपनी इच्छाके अनुसार उस भरतको भी सामने देखूँगा कि जिसके कारण आपको, सीताको और मुझे भी महान् संकटका सामना करना पड़ा है तथा जिसके कारण

आप अपने सनातन राज्याधिकारसे वञ्चित किये गये हैं॥

सम्प्राप्तोऽयमरिर्वीर भरतो वध्य एव हि।
भरतस्य वधे दोषं नाहं पश्यामि राघव॥ २३॥

'वीर रघुनाथजी! यह भरत हमारा शत्रु है और सामने आ गया है; अतः वधके ही योग्य है। भरतका वध करनेमें मुझे कोई दोष नहीं दिखायी देता॥ २३॥

पूर्वापकारिणं हत्वा न ह्यधर्मेण युज्यते।
पूर्वापकारी भरतस्त्यागेऽधर्मश्च राघव॥ २४॥

'रघुनन्दन! जो पहलेका अपकारी रहा हो, उसको मारकर कोई अधर्मका भागी नहीं होता है। भरतने पहले हमलोगोंका अपकार किया है, अतः उसे मारनेमें नहीं, जीवित छोड़ देनेमें ही अधर्म है॥ २४॥

एतस्मिन् निहते कृत्स्नामनुशाधि वसुंधराम्।
अद्य पुत्रं हतं संख्ये कैकेयी राज्यकामुका॥ २५॥
मया पश्येत् सुदुःखार्ता हस्तिभिन्नमिव द्रुमम्।

'इस भरतके मारे जानेपर आप समस्त वसुधाका शासन करें। जैसे हाथी किसी वृक्षको तोड़ डालता है, उसी प्रकार राज्यका लोभ करनेवाली कैकेयी आज अत्यन्त दुःखसे आर्त हो इसे मेरे द्वारा युद्धमें मारा गया देखे॥ २५½॥

कैकेयीं च वधिष्यामि सानुबन्धां सबान्धवाम्॥ २६॥
कलुषेणाद्य महता मेदिनी परिमुच्यताम्।

'मैं कैकेयीका भी उसके सगे-सम्बन्धियों एवं बन्धु-बान्धवोंसहित वध कर डालूँगा। आज यह पृथ्वी कैकेयीरूप महान् पापसे मुक्त हो जाय॥ २६½॥

अद्येमं संयतं क्रोधमसत्कारं च मानद॥ २७॥
मोक्ष्यामि शत्रुसैन्येषु कक्षेष्विव हुताशनम्।

'मानद! आज मैं अपने रोके हुए क्रोध और तिरस्कारको शत्रुकी सेनाओंपर उसी प्रकार छोड़ूँगा, जैसे सूखे घास-फूँसके ढेरमें आग लगा दी जाय॥ २७½॥

अद्यैव चित्रकूटस्य काननं निशितैः शरैः॥ २८॥
छिन्दञ्छत्रुशरीराणि करिष्ये शोणितोक्षितम्।

'अपने तीखे बाणोंसे शत्रुओंके शरीरोंके टुकड़े-टुकड़े करके मैं अभी चित्रकूटके इस वनको रक्तसे सींच दूँगा॥

शरैर्निर्भिन्नहृदयान् कुञ्जरांस्तुरगांस्तथा॥ २९॥
श्वापदाः परिकर्षन्तु नरांश्च निहतान् मया।

'मेरे बाणोंसे विदीर्ण हुए हृदयवाले हाथियों और घोड़ोंको तथा मेरे हाथसे मारे गये मनुष्योंको भी गीदड़ आदि मांसभक्षी जन्तु इधर-उधर घसीटें॥ २९½॥

शराणां धनुषश्चाहमनृणोऽस्मिन् महावने।
ससैन्यं भरतं हत्वा भविष्यामि न संशयः॥ ३०॥

'इस महान् वनमें सेनासहित भरतका वध करके मैं धनुष और बाणके ऋणसे उऋण हो जाऊँगा—इसमें संशय नहीं है'॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षण्णवतितमः सर्गः॥ ९६॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें छियानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ९६॥

—★—

सप्तनवतितमः सर्गः

श्रीरामका लक्ष्मणके रोषको शान्त करके भरतके सद्भावका वर्णन करना, लक्ष्मणका लज्जित हो श्रीरामके पास खड़ा होना और भरतकी सेनाका पर्वतके नीचे छावनी डालना

सुसंरब्धं तु भरतं लक्ष्मणं क्रोधमूर्च्छितम्।
रामस्तु परिसान्त्व्याथ वचनं चेदमब्रवीत्॥ १॥

लक्ष्मण भरतके प्रति रोषावेशके कारण क्रोधवश अपना बिवेक खो बैठे थे, उस अवस्थामें श्रीरामने उन्हें समझा-बुझाकर शान्त किया और इस प्रकार कहा—॥ १॥

किमत्र धनुषा कार्यमसिना वा सचर्मणा।
महाबले महोत्साहे भरते स्वयमागते॥ २॥

'लक्ष्मण! महाबली और महान् उत्साही भरत जब स्वयं यहाँ आ गये हैं, तब इस समय यहाँ धनुष अथवा ढाल-तलवारसे क्या काम है?॥ २॥

पितुः सत्यं प्रतिश्रुत्य हत्वा भरतमाहवे।
किं करिष्यामि राज्येन सापवादेन लक्ष्मण॥ ३॥

'लक्ष्मण! पिताके सत्यकी रक्षाके लिये प्रतिज्ञा करके यदि मैं युद्धमें भरतको मारकर उनका राज्य छीन लूँ तो संसारमें मेरी कितनी निन्दा होगी, फिर उस कलंकित राज्यको लेकर मैं क्या करूँगा?॥ ३॥

यद् द्रव्यं बान्धवानां वा मित्राणां वा क्षये भवेत्।
नाहं तत् प्रतिगृह्णीयां भक्ष्यान् विषकृतानिव॥ ४॥

'अपने बन्धु-बान्धवों या मित्रोंका विनाश करके जिस धनकी प्राप्ति होती हो, वह तो विषमिश्रित भोजनके समान सर्वथा त्याग देने योग्य है; उसे मैं कदापि ग्रहण नहीं करूँगा॥ ४॥

धर्ममर्थं च कामं च पृथिवीं चापि लक्ष्मण।
इच्छामि भवतामर्थे एतत् प्रतिशृणोमि ते॥ ५॥

'लक्ष्मण! मैं तुमसे प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि—धर्म, अर्थ, काम और पृथ्वीका राज्य भी मैं तुम्हीं लोगोंके लिये चाहता हूँ॥ ५॥

भ्रातॄणां संग्रहार्थं च सुखार्थं चापि लक्ष्मण।
राज्यमप्यहमिच्छामि सत्येनायुधमालभे॥ ६॥

'सुमित्राकुमार! मैं भाइयोंके संग्रह और सुखके लिये ही

राज्यकी भी इच्छा करता हूँ और इस बातकी सचाईके लिये मैं अपना धनुष छूकर शपथ खाता हूँ ॥ ६ ॥

नेयं मम मही सौम्य दुर्लभा सागराम्बरा ।
नहीच्छेयमधर्मेण शक्रत्वमपि लक्ष्मण ॥ ७ ॥

'सौम्य लक्ष्मण ! समुद्रसे घिरी हुई यह पृथिवी मेरे लिये दुर्लभ नहीं है, परंतु मैं अधर्मसे इन्द्रका पद पानेकी भी इच्छा नहीं कर सकता ॥ ७ ॥

यद् विना भरतं त्वां च शत्रुघ्नं वापि मानद ।
भवेन्मम सुखं किंचिद् भस्म तत् कुरुतां शिखी ॥ ८ ॥

'मानद ! भरतको, तुमको और शत्रुघ्नको छोड़कर यदि मुझे कोई सुख मिलता हो तो उसे अग्निदेव जलाकर भस्म कर डालें ॥ ८ ॥

मन्येऽहमागतोऽयोध्यां भरतो भ्रातृवत्सलः ।
मम प्राणैः प्रियतरः कुलधर्ममनुस्मरन् ॥ ९ ॥
श्रुत्वा प्रव्राजितं मां हि जटावल्कलधारिणम् ।
जानक्या सहितं वीर त्वया च पुरुषोत्तम ॥ १० ॥
स्नेहेनाक्रान्तहृदयः शोकेनाकुलितेन्द्रियः ।
द्रष्टुमभ्यागतो ह्येष भरतो नान्यथाऽऽगतः ॥ ११ ॥

'वीर ! पुरुषप्रवर ! भरत बड़े भ्रातृभक्त हैं। वे मुझे प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय हैं। मुझे तो ऐसा मालूम होता है, भरतने अयोध्यामें आनेपर जब सुना है कि मैं तुम्हारे और जानकीके साथ जटा-वल्कल धारण करके वनमें आ गया हूँ, तब उनकी इन्द्रियाँ शोकसे व्याकुल हो उठी हैं और वे कुलधर्मका विचार करके स्नेहयुक्त हृदयसे हमलोगोंसे मिलने आये हैं। इन भरतके आगमनका इसके सिवा दूसरा कोई उद्देश्य नहीं हो सकता ॥ ९—११ ॥

अम्बां च केकयीं रुष्य भरतश्चाप्रियं वदन् ।
प्रसाद्य पितरं श्रीमान् राज्यं मे दातुमागतः ॥ १२ ॥

'माता कैकेयीके प्रति कुपित हो, उन्हें कठोर वचन सुनाकर और पिताजीको प्रसन्न करके श्रीमान् भरत मुझे राज्य देनेके लिये आये हैं ॥ १२ ॥

प्राप्तकालं यथैषोऽस्मान् भरतो द्रष्टुमर्हति ।
अस्मासु मनसाप्येष नाहितं किंचिदाचरेत् ॥ १३ ॥

'भरतका हमलोगोंसे मिलनेके लिये आना सर्वथा समयोचित है। वे हमसे मिलनेके योग्य हैं। हमलोगोंका कोई अहित करनेका विचार तो वे कभी मनमें भी नहीं ला सकते ॥

विप्रियं कृतपूर्वं ते भरतेन कदा नु किम् ।
ईदृशं वा भयं तेऽद्य भरतं यद् विशङ्कसे ॥ १४ ॥

'भरतने तुम्हारे प्रति पहले कब कौन-सा अप्रिय बर्ताव किया है, जिससे आज तुम्हें उनसे ऐसा भय लग रहा है और तुम उनके विषयमें इस तरहकी आशङ्का कर रहे हो ? ॥

नहि ते निष्ठुरं वाच्यो भरतो नाप्रियं वचः ।
अहं ह्यप्रियमुक्तः स्यां भरतस्याप्रिये कृते ॥ १५ ॥

'भरतके आनेपर तुम उनसे कोई कठोर या अप्रिय वचन न बोलना। यदि तुमने उनसे कोई प्रतिकूल बात कही तो वह मेरे ही प्रति कही हुई समझी जायगी ॥

कथं नु पुत्राः पितरं हन्युः कस्यांचिदापदि ।
भ्राता वा भ्रातरं हन्यात् सौमित्रे प्राणमात्मनः ॥ १६ ॥

'सुमित्रानन्दन ! कितनी ही बड़ी आपत्ति क्यों न आ जाय, पुत्र अपने पिताको कैसे मार सकते हैं ? अथवा भाई अपने प्राणोंके समान प्रिय भाईकी हत्या कैसे कर सकता है ? ॥

यदि राज्यस्य हेतोस्त्वमिमां वाचं प्रभाषसे ।
वक्ष्यामि भरतं दृष्ट्वा राज्यमस्मै प्रदीयताम् ॥ १७ ॥

'यदि तुम राज्यके लिये ऐसी कठोर बात कहते हो तो मैं भरतसे मिलनेपर उन्हें कह दूँगा कि तुम यह राज्य लक्ष्मणको दे दो ॥ १७ ॥

उच्यमानो हि भरतो मया लक्ष्मण तद्वचः ।
राज्यमस्मै प्रयच्छेति बाढमित्येव मंस्यते ॥ १८ ॥

'लक्ष्मण ! यदि मैं भरतसे यह कहूँ कि 'तुम राज्य इन्हें दे दो' तो वे 'बहुत अच्छा' कहकर अवश्य मेरी बात मान लेंगे' ॥ १८ ॥

तथोक्तो धर्मशीलेन भ्रात्रा तस्य हिते रतः ।
लक्ष्मणः प्रविवेशेव स्वानि गात्राणि लज्जया ॥ १९ ॥

अपने धर्मपरायण भाईके ऐसा कहनेपर उन्हींके हितमें तत्पर रहनेवाले लक्ष्मण लज्जावश मानो अपने अङ्गोंमें ही समा गये—लाजसे गड़ गये ॥ १९ ॥

तद्वाक्यं लक्ष्मणः श्रुत्वा व्रीडितः प्रत्युवाच ह ।
त्वां मन्ये द्रष्टुमायातः पिता दशरथः स्वयम् ॥ २० ॥

श्रीरामका पूर्वोक्त वचन सुनकर लज्जित हुए लक्ष्मणने कहा—'भैया ! मैं समझता हूँ, हमारे पिता महाराज दशरथ स्वयं ही आपसे मिलने आये हैं' ॥ २० ॥

व्रीडितं लक्ष्मणं दृष्ट्वा राघवः प्रत्युवाच ह ।
एष मन्ये महाबाहुरिहास्मान् द्रष्टुमागतः ॥ २१ ॥

लक्ष्मणको लज्जित हुआ देख श्रीरामने उत्तर दिया—'मैं भी ऐसा ही मानता हूँ कि हमारे महाबाहु पिताजी ही हमलोगोंसे मिलने आये हैं ॥ २१ ॥

अथवा नौ ध्रुवं मन्ये मन्यमानः सुखोचितौ ।
वनवासमनुध्याय गृहाय प्रतिनेष्यति ॥ २२ ॥

'अथवा मैं ऐसा समझता हूँ कि हमें सुख भोगनेके योग्य मानते हुए पिताजी वनवासके कष्टका विचार करके हम दोनोंको निश्चय ही घर लौटा ले जायँगे ॥ २२ ॥

इमां चाप्येष वैदेहीमत्यन्तसुखसेविनीम् ।
पिता मे राघवः श्रीमान् वनादादाय यास्यति ॥ २३ ॥

'मेरे पिता रघुकुलतिलक श्रीमान् महाराज दशरथ अत्यन्त सुखका सेवन करनेवाली इन विदेहराजनन्दिनी सीताको भी वनसे साथ लेकर ही घरको लौटेंगे ॥ २३ ॥

एतौ तौ सम्प्रकाशेते गोत्रवन्तौ मनोरमौ।
वायुवेगसमौ वीरौ जवनौ तुरगोत्तमौ ॥ २४ ॥

'अच्छे घोड़ोंके कुलमें उत्पन्न हुए ये ही वे दोनों वायुके समान वेगशाली, शीघ्रगामी, वीर एवं मनोरम अपने उत्तम घोड़े चमक रहे हैं ॥ २४ ॥

स एष सुमहाकायः कम्पते वाहिनीमुखे।
नागः शत्रुंजयो नाम वृद्धस्तातस्य धीमतः ॥ २५ ॥

'परम बुद्धिमान् पिताजीकी सवारीमें रहनेवाला यह वही विशालकाय शत्रुंजय नामक बूढ़ा गजराज है, जो सेनाके मुहानेपर झूमता हुआ चल रहा है ॥ २५ ॥

न तु पश्यामि तच्छत्रं पाण्डुरं लोकविश्रुतम्।
पितुर्दिव्यं महाभाग संशयो भवतीह मे ॥ २६ ॥

'महाभाग! परंतु इसके ऊपर पिताजीका वह विश्वविख्यात दिव्य श्वेतछत्र मुझे नहीं दिखायी देता है—इससे मेरे मनमें संशय उत्पन्न होता है ॥ २६ ॥

वृक्षाग्रादवरोह त्वं कुरु लक्ष्मण मद्वचः।
इतीव रामो धर्मात्मा सौमित्रिं तमुवाच ह ॥ २७ ॥
अवतीर्य तु सालाग्रात् तस्मात् स समितिंजयः।
लक्ष्मणः प्राञ्जलिर्भूत्वा तस्थौ रामस्य पार्श्वतः ॥ २८ ॥

'लक्ष्मण! अब मेरी बात मानो और पेड़से नीचे उतर आओ।' धर्मात्मा श्रीरामने सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे जब ऐसी बात कही, तब युद्धमें विजय पानेवाले लक्ष्मण उस शाल वृक्षके अग्रभागसे उतरे और श्रीरामके पास हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥ २७-२८ ॥

भरतेनाथ संदिष्टा सम्मर्दो न भवेदिति।
समन्तात् तस्य शैलस्य सेना वासमकल्पयत् ॥ २९ ॥

उधर भरतने सेनाको आज्ञा दी कि 'यहाँ किसीको हमलोगोंके द्वारा बाधा नहीं पहुँचनी चाहिये।' उनका यह आदेश पाकर समस्त सैनिक पर्वतके चारों ओर नीचे ही ठहर गये ॥

अध्यर्धमिक्ष्वाकुचमूर्योजनं पर्वतस्य ह।
पार्श्वे न्यविशदावृत्य गजवाजिनराकुला ॥ ३० ॥

उस समय हाथी, घोड़े और मनुष्योंसे भरी हुई इक्ष्वाकुवंशी नरेशकी वह सेना पर्वतके आस-पासकी डेढ़ योजन (छः कोस) भूमि घेरकर पड़ाव डाले हुए थी ॥ ३० ॥

सा चित्रकूटे भरतेन सेना
धर्मं पुरस्कृत्य विधूय दर्पम्।
प्रसादनार्थं रघुनन्दनस्य
विरोचते नीतिमता प्रणीता ॥ ३१ ॥

नीतिज्ञ भरत धर्मको सामने रखते हुए गर्वको त्यागकर रघुकुलनन्दन श्रीरामको प्रसन्न करनेके लिये जिसे अपने साथ ले आये थे, वह सेना चित्रकूट पर्वतके समीप बड़ी शोभा पा रही थी ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तनवतितमः सर्गः ॥ ९७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सत्तानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९७ ॥

अष्टनवतितमः सर्गः

भरतके द्वारा श्रीरामके आश्रमकी खोजका प्रबन्ध तथा उन्हें आश्रमका दर्शन

निवेश्य सेनां तु विभुः पद्भ्यां पादवतां वरः।
अभिगन्तुं स काकुत्स्थमियेष गुरुवर्तकम् ॥ २ ॥
निविष्टमात्रे सैन्ये तु यथोद्देशं विनीतवत्।
भरतो भ्रातरं वाक्यं शत्रुघ्नमिदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

इस प्रकार सेनाको ठहराकर जंगम प्राणियोंमें श्रेष्ठ एवं प्रभावशाली भरतने गुरुसेवापरायण (एवं पिताके आज्ञापालक) श्रीरामचन्द्रजीके पास जानेका विचार किया। जब सारी सेना विनीत भावसे यथास्थान ठहर गयी, तब भरतने अपने भाई शत्रुघ्नसे इस प्रकार कहा— ॥ १-२ ॥

क्षिप्रं वनमिदं सौम्य नरसंघैः समन्ततः।
लुब्धैश्च सहितैरेभिस्त्वमन्वेषितुमर्हसि ॥ ३ ॥

'सौम्य! बहुत-से मनुष्योंके साथ इन निषादोंको भी साथ लेकर तुम्हें शीघ्र ही इस वनमें चारों ओर श्रीरामचन्द्रजीकी खोज करनी चाहिये ॥ ३ ॥

गुहो ज्ञातिसहस्रेण शरचापासिपाणिना।
समन्वेषतु काकुत्स्थावस्मिन् परिवृतः स्वयम् ॥ ४ ॥

'निषादराज गुह स्वयं भी धनुष-बाण और तलवार धारण करनेवाले अपने सहस्रों बन्धु-बान्धवोंसे घिरे हुए जायँ और इस वनमें ककुत्स्थवंशी श्रीराम और लक्ष्मणका अन्वेषण करें ॥ ४ ॥

अमात्यैः सह पौरैश्च गुरुभिश्च द्विजातिभिः।
सह सर्वं चरिष्यामि पद्भ्यां परिवृतः स्वयम् ॥ ५ ॥

'मैं स्वयं भी मन्त्रियों, पुरवासियों, गुरुजनों तथा ब्राह्मणोंके साथ उन सबसे घिरा रहकर पैदल ही सारे वनमें विचरण करूँगा ॥ ५ ॥

यावन्न रामं द्रक्ष्यामि लक्ष्मणं वा महाबलम्।
वैदेहीं वा महाभागां न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ६ ॥

'जबतक श्रीराम, महाबली लक्ष्मण अथवा महाभागा विदेहराजकुमारी सीताको न देख लूँगा, तबतक मुझे शान्ति नहीं मिलेगी ॥ ६ ॥

यावन्न चन्द्रसंकाशं तद् द्रक्ष्यामि शुभाननम्।
भ्रातुः पद्मविशालाक्षं न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ७ ॥

'जबतक अपने पूज्य भ्राता श्रीरामके कमलदलके सदृश विशाल नेत्रोंवाले सुन्दर मुखचन्द्रका दर्शन न कर लूँगा, तबतक मेरे मनको शान्ति नहीं प्राप्त होगी ॥ ७ ॥

सिद्धार्थः खलु सौमित्रिर्यश्चन्द्रविमलोपमम्।
मुखं पश्यति रामस्य राजीवाक्षं महाद्युति ॥ ८ ॥

'निश्चय ही सुमित्राकुमार लक्ष्मण कृतार्थ हो गये, जो श्रीरामचन्द्रजीके उस कमल-सदृश नेत्रवाले महातेजस्वी मुखका निरन्तर दर्शन करते हैं, जो चन्द्रमाके समान निर्मल एवं आह्लाद प्रदान करनेवाला है ॥ ८ ॥

यावन्न चरणौ भ्रातुः पार्थिवव्यञ्जनान्वितौ।
शिरसा प्रग्रहीष्यामि न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ९ ॥

'जबतक भाई श्रीरामके राजोचित लक्षणोंसे युक्त चरणारविन्दोंको अपने सिरपर नहीं रखूँगा, तबतक मुझे शान्ति नहीं मिलेगी ॥ ९ ॥

यावन्न राज्ये राज्यार्हः पितृपैतामहे स्थितः।
अभिषिक्तो जलक्लिन्नो न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ १० ॥

'जबतक राज्यके सच्चे अधिकारी आर्य श्रीराम पिता-पितामहोंके राज्यपर प्रतिष्ठित हो अभिषेकके जलसे आर्द्र नहीं हो जायँगे, तबतक मेरे मनको शान्ति नहीं प्राप्त होगी ॥ १० ॥

कृतकृत्या महाभागा वैदेही जनकात्मजा।
भर्तारं सागरान्तायाः पृथिव्या यानुगच्छति ॥ ११ ॥

'जो समुद्रपर्यन्त पृथ्वीके स्वामी अपने पतिदेव श्रीरामचन्द्रजीका अनुसरण करती हैं, वे जनककिशोरी विदेहराजनन्दिनी महाभागा सीता अपने इस सत्कर्मसे कृतार्थ हो गयीं ॥ ११ ॥

सुशुभश्चित्रकूटोऽसौ गिरिराजसमो गिरिः।
यस्मिन् वसति काकुत्स्थः कुबेर इव नन्दने ॥ १२ ॥

'जैसे नन्दनवनमें कुबेर निवास करते हैं, उसी प्रकार जिसके वनमें ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामचन्द्रजी विराज रहे हैं, वह चित्रकूट परम मङ्गलकारी तथा गिरिराज हिमालय एवं वेंकटाचलके समान श्रेष्ठ पर्वत है ॥ १२ ॥

कृतकार्यमिदं दुर्गवनं व्यालनिषेवितम्।
यदध्यास्ते महाराजो रामः शस्त्रभृतां वरः ॥ १३ ॥

'यह सर्पसेवित दुर्गम वन भी कृतार्थ हो गया, जहाँ शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ महाराज श्रीराम निवास करते हैं' ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुर्भरतः पुरुषर्षभः।
पद्भ्यामेव महातेजाः प्रविवेश महद् वनम् ॥ १४ ॥

ऐसा कहकर महातेजस्वी पुरुषप्रवर महाबाहु भरतने उस विशाल वनमें पैदल ही प्रवेश किया ॥ १४ ॥

स तानि द्रुमजालानि जातानि गिरिसानुषु।
पुष्पिताग्राणि मध्येन जगाम वदतां वरः ॥ १५ ॥

वक्ताओंमें श्रेष्ठ भरत पर्वतशिखरोंपर उत्पन्न हुए वृक्षसमूहोंके, जिनकी शाखाओंके अग्रभाग फूलोंसे भरे थे, बीचसे निकले ॥ १५ ॥

स गिरेश्चित्रकूटस्य सालमारुह्य सत्वरम्।
रामाश्रमगतस्याग्नेर्ददर्श ध्वजमुच्छ्रितम् ॥ १६ ॥

आगे जाकर वे बड़ी तेजीसे चित्रकूटपर्वतके एक शाल-वृक्षपर चढ़ गये और वहाँसे उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीके आश्रम-पर सुलगती हुई आगका ऊपर उठता हुआ धुआँ देखा ॥

तं दृष्ट्वा भरतः श्रीमान् मुमोद सहबान्धवः।
अत्र राम इति ज्ञात्वा गतः पारमिवाम्भसः ॥ १७ ॥

उस धूमको देखकर श्रीमान् भरतको अपने भाई शत्रुघ्न-सहित बड़ी प्रसन्नता हुई और 'यहीं श्रीराम हैं' यह जानकर उन्हें अथाह जलसे पार हो जानेके समान संतोष प्राप्त हुआ ॥

स चित्रकूटे तु गिरौ निशाम्य
रामाश्रमं पुण्यजनोपपन्नम्।
गुहेन सार्धं त्वरितो जगाम
पुनर्निवेश्यैव चमूं महात्मा ॥ १८ ॥

इस प्रकार चित्रकूट पर्वतपर पुण्यात्मा महर्षियोंसे युक्त श्रीरामचन्द्रजीका आश्रम देखकर महात्मा भरतने ढूँढ़नेके लिये आयी हुई सेनाको पुनः पूर्वस्थानपर ठहरा दिया और वे स्वयं गुहके साथ शीघ्रतापूर्वक आश्रमकी ओर चल दिये ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टनवतितमः सर्गः ॥ ९८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अट्ठानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९८ ॥

नवनवतितमः सर्गः

भरतका शत्रुघ्न आदिके साथ श्रीरामके आश्रमपर जाना, उनकी पर्णशालाको देखना तथा रोते-रोते उनके चरणोंमें गिर जाना, श्रीरामका उन सबको हृदयसे लगाना और मिलना

निविष्टायां तु सेनायामुत्सुको भरतस्ततः।
जगाम भ्रातरं द्रष्टुं शत्रुघ्नमनुदर्शयन् ॥ १ ॥

सेनाके ठहर जानेपर भाईके दर्शनके लिये उत्कण्ठित होकर भरत अपने छोटे भाई शत्रुघ्नको आश्रमके चिह्न दिखाते हुए उसकी ओर चले ॥ १ ॥

ऋषिं वसिष्ठं संदिश्य मातॄर्मे शीघ्रमानय।
इति त्वरितमग्रे स जगाम गुरुवत्सलः ॥ २ ॥

गुरुभक्त भरत महर्षि वसिष्ठको यह संदेश देकर कि

आप मेरी माताओंको साथ लेकर शीघ्र ही आइये, तुरंत आगे बढ़ गये ॥ २ ॥

सुमन्त्रस्त्वपि शत्रुघ्नमदूरादन्वपद्यत ।
रामदर्शनजस्तर्षो भरतस्येव तस्य च ॥ ३ ॥

सुमन्त्र भी शत्रुघ्नके समीप ही पीछे-पीछे चल रहे थे। उन्हें भी भरतके समान ही श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनकी तीव्र अभिलाषा थी ॥ ३ ॥

गच्छन्नेवाथ भरतस्तापसालयसंस्थिताम् ।
भ्रातुः पर्णकुटीं श्रीमानुटजं च ददर्श ह ॥ ४ ॥

चलते-चलते ही श्रीमान् भरतने तपस्वीजनोंके आश्रमोंके समान प्रतिष्ठित हुई भाईकी पर्णकुटी और झोंपड़ी देखी ॥

शालायास्त्वग्रतस्तस्या ददर्श भरतस्तदा ।
काष्ठानि चावभग्नानि पुष्पाण्यपचितानि च ॥ ५ ॥

उस पर्णशालाके सामने भरतने उस समय बहुत-से कटे हुए काष्ठके टुकड़े देखे, जो होमके लिये संगृहीत थे। साथ ही वहाँ पूजाके लिये संचित किये हुए फूल भी दृष्टिगोचर हुए ॥ ५ ॥

स लक्ष्मणस्य रामस्य ददर्शाश्रममीयुषः ।
कृतं वृक्षेष्वभिज्ञानं कुशचीरैः क्वचित् क्वचित् ॥ ६ ॥

आश्रमपर आने-जानेवाले श्रीराम और लक्ष्मणके द्वारा निर्मित मार्गबोधक चिह्न भी उन्हें वृक्षोंमें लगे दिखायी दिये, जो कुशों और चीरोंद्वारा तैयार करके कहीं-कहीं वृक्षोंकी शाखाओंमें लटका दिये गये थे ॥ ६ ॥

ददर्श च वने तस्मिन् महतः संचयान् कृतान् ।
मृगाणां महिषाणां च करीषैः शीतकारणात् ॥ ७ ॥

उस वनमें शीत-निवारणके लिये मृगोंकी लेंड़ी और भैंसोंके सूखे हुए गोबरके ढेर एकत्र करके रखे गये थे, जिन्हें भरतने अपनी आँखों देखा ॥ ७ ॥

गच्छन्नेव महाबाहुर्द्युतिमान् भरतस्तदा ।
शत्रुघ्नं चाब्रवीद्धृष्टस्तानमात्यांश्च सर्वशः ॥ ८ ॥

उस समय चलते-चलते ही परम कान्तिमान् महाबाहु भरतने शत्रुघ्न तथा सम्पूर्ण मन्त्रियोंसे अत्यन्त प्रसन्न होकर कहा— ॥ ८ ॥

मन्ये प्राप्ताः स्म तं देशं भरद्वाजो यमब्रवीत् ।
नातिदूरे हि मन्येऽहं नदीं मन्दाकिनीमितः ॥ ९ ॥

'जान पड़ता है कि महर्षि भरद्वाजने जिस स्थानका पता बताया था, वहाँ हमलोग आ गये हैं। मैं समझता हूँ मन्दाकिनी नदी यहाँसे अधिक दूर नहीं है ॥ ९ ॥

उच्चैर्बद्धानि चीराणि लक्ष्मणेन भवेदयम् ।
अभिज्ञानकृतः पन्था विकाले गन्तुमिच्छता ॥ १० ॥

'वृक्षोंमें ऊँचे बँधे हुए ये चीर दिखायी दे रहे हैं। अतः समय- बेसमय जल आदि लानेके निमित्त बाहर जानेकी इच्छावाले लक्ष्मणने जिसकी पहचानके लिये यह चिह्न बनाया है, वह आश्रमको जानेवाला मार्ग यही हो सकता है ॥ १० ॥

इतश्चोदात्तदन्तानां कुञ्जराणां तरस्विनाम् ।
शैलपार्श्वे परिक्रान्तमन्योन्यमभिगर्जताम् ॥ ११ ॥

'इधरसे बड़े-बड़े दाँतवाले वेगशाली हाथी निकलकर एक-दूसरेके प्रति गर्जना करते हुए इस पर्वतके पार्श्वभागमें चक्कर लगाते रहते हैं (अतः उधर जानेसे रोकनेके लिये लक्ष्मणने ये चिह्न बनाये होंगे) ॥ ११ ॥

यमेवाधातुमिच्छन्ति तापसाः सततं वने ।
तस्यासौ दृश्यते धूमः संकुलः कृष्णवर्त्मनः ॥ १२ ॥

'वनमें तपस्वी मुनि सदा जिनका आधान करना चाहते हैं, उन अग्निदेवका यह अति सघन धूम दृष्टिगोचर हो रहा है ॥

अत्राहं पुरुषव्याघ्रं गुरुसत्कारकारिणम् ।
आर्यं द्रक्ष्यामि संहृष्टं महर्षिमिव राघवम् ॥ १३ ॥

'यहाँ मैं गुरुजनोंका सत्कार करनेवाले पुरुषसिंह आर्य रघुनन्दनका सदा आनन्दमग्न रहनेवाले महर्षिकी भाँति दर्शन करूँगा' ॥ १३ ॥

अथ गत्वा मुहूर्तं तु चित्रकूटं स राघवः ।
मन्दाकिनीमनु प्राप्तस्तं जनं चेदमब्रवीत् ॥ १४ ॥

तदनन्तर रघुकुलभूषण भरत दो ही घड़ीमें मन्दाकिनीके तटपर विराजमान चित्रकूटके पास जा पहुँचे और अपने साथवाले लोगोंसे इस प्रकार बोले— ॥ १४ ॥

जगत्यां पुरुषव्याघ्र आस्ते वीरासने रतः ।
जनेन्द्रो निर्जनं प्राप्य धिङ्मे जन्म सजीवितम् ॥ १५ ॥

'अहो! मेरे ही कारण पुरुषसिंह महाराज श्रीरामचन्द्र इस निर्जन वनमें आकर खुली पृथ्वीके ऊपर वीरासनसे बैठते हैं; अतः मेरे जन्म और जीवनको धिक्कार है ॥ १५ ॥

मत्कृते व्यसनं प्राप्तो लोकनाथो महाद्युतिः ।
सर्वान् कामान् परित्यज्य वने वसति राघवः ॥ १६ ॥

'मेरे ही कारण महातेजस्वी लोकनाथ रघुनाथ भारी संकटमें पड़कर समस्त कामनाओंका परित्याग करके वनमें निवास करते हैं ॥ १६ ॥

इति लोकसमाक्रुष्टः पादेष्वद्य प्रसादयन् ।
रामं तस्य पतिष्यामि सीताया लक्ष्मणस्य च ॥ १७ ॥

'इसलिये मैं सब लोगोंके द्वारा निन्दित हूँ, अतः मेरे जन्मको धिक्कार है! आज मैं श्रीरामको प्रसन्न करनेके लिये उनके चरणोंमें गिर जाऊँगा। सीता और लक्ष्मणके भी पैरों पड़ूँगा' ॥ १७ ॥

एवं स विलपंस्तस्मिन् वने दशरथात्मजः ।
ददर्श महतीं पुण्यां पर्णशालां मनोरमाम् ॥ १८ ॥

इस तरह विलाप करते हुए दशरथकुमार भरतने उस वनमें एक बड़ी पर्णशाला देखी, जो परम पवित्र और मनोरम थी ॥

सालतालाश्वकर्णानां पर्णैर्बहुभिरावृताम् ।
विशालां मृदुभिस्तीर्णां कुशैर्वेदिमिवाध्वरे ॥ १९ ॥

वह शाल, ताल और अश्वकर्ण नामक वृक्षोंके बहुत-से पत्तोंद्वारा छायी हुई थी; अतः यज्ञशालामें जिसपर कोमल कुश बिछाये गये हों, उस लंबी-चौड़ी वेदीके समान शोभा पा रही थी ॥ १९ ॥

शक्रायुधनिकाशैश्च कार्मुकैर्भारसाधनैः ।
रुक्मपृष्ठैर्महासारैः शोभितां शत्रुबाधकैः ॥ २० ॥

वहाँ इन्द्रधनुषके समान बहुत-से धनुष रखे गये थे, जो गुरुतर कार्य-साधनमें समर्थ थे। जिनके पृष्ठभाग सोनेसे मढ़े गये थे और जो बहुत ही प्रबल तथा शत्रुओंको पीड़ा देनेवाले थे। उनसे उस पर्णकुटीकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ २० ॥

अर्करश्मिप्रतीकाशैर्घोरैस्तूणगतैः शरैः ।
शोभितां दीप्तवदनैः सर्पैर्भोगवतीमिव ॥ २१ ॥

वहाँ तरकसोंमें बहुत-से बाण भरे थे, जो सूर्यकी किरणोंके समान चमकीले और भयङ्कर थे। उन बाणोंसे वह पर्णशाला उसी प्रकार सुशोभित होती थी, जैसे दीप्तिमान् मुखवाले सर्पोंसे भोगवती पुरी शोभित होती है ॥ २१ ॥

महारजतवासोभ्यामसिभ्यां च विराजिताम् ।
रुक्मबिन्दुविचित्राभ्यां चर्मभ्यां चापि शोभिताम् ॥ २२ ॥

सोनेकी म्यानोंमें रखी हुई दो तलवारें और स्वर्णमय बिन्दुओंसे विभूषित दो विचित्र ढालें भी उस आश्रमकी शोभा बढ़ा रही थीं ॥ २२ ॥

गोधाङ्गुलित्रैरासक्तैश्चित्रकाञ्चनभूषितैः ।
अरिसंघैरनाधृष्यां मृगैः सिंहगुहामिव ॥ २३ ॥

वहाँ गोहके चमड़ेके बने हुए बहुत-से सुवर्णजटित दस्ताने भी टँगे हुए थे। जैसे मृग सिंहकी गुफापर आक्रमण नहीं कर सकते, उसी प्रकार वह पर्णशाला शत्रुसमूहोंके लिये अगम्य एवं अजेय थी ॥ २३ ॥

प्रागुदक्प्रवणां वेदिं विशालां दीप्तपावकाम् ।
ददर्श भरतस्तत्र पुण्यां रामनिवेशने ॥ २४ ॥

श्रीरामके उस निवासस्थानमें भरतने एक पवित्र एवं विशाल वेदी भी देखी, जो ईशानकोणकी ओर कुछ नीची थी। उसपर अग्नि प्रज्वलित हो रही थी ॥ २४ ॥

निरीक्ष्य स मुहूर्तं तु ददर्श भरतो गुरुम् ।
उटजे राममासीनं जटामण्डलधारिणम् ॥ २५ ॥
कृष्णाजिनधरं तं तु चीरवल्कलवाससम् ।
ददर्श राममासीनमभितः पावकोपमम् ॥ २६ ॥

पर्णशालाकी ओर थोड़ी देरतक देखकर भरतने कुटियामें बैठे हुए अपने पूजनीय भ्राता श्रीरामको देखा, जो सिरपर जटामण्डल धारण किये हुए थे। उन्होंने अपने अङ्गोंमें कृष्णमृगचर्म तथा चीर एवं वल्कल वस्त्र धारण कर रखे थे। भरतको दिखायी दिया कि श्रीराम पास ही बैठे हैं और प्रज्वलित अग्निके समान अपनी दिव्य प्रभा फैला रहे हैं ॥

सिंहस्कन्धं महाबाहुं पुण्डरीकनिभेक्षणम् ।
पृथिव्याः सागरान्ताया भर्तारं धर्मचारिणम् ॥ २७ ॥
उपविष्टं महाबाहुं ब्रह्माणमिव शाश्वतम् ।
स्थण्डिले दर्भसंस्तीर्णे सीतया लक्ष्मणेन च ॥ २८ ॥

समुद्रपर्यन्त पृथ्वीके स्वामी, धर्मात्मा, महाबाहु श्रीराम सनातन ब्रह्माकी भाँति कुश बिछी हुई वेदीपर बैठे थे। उनके कंधे सिंहके समान, भुजाएँ बड़ी-बड़ी और नेत्र प्रफुल्ल कमलके समान थे। उस वेदीपर वे सीता और लक्ष्मणके साथ विराजमान थे ॥ २७-२८ ॥

तं दृष्ट्वा भरतः श्रीमाञ्शोकमोहपरिप्लुतः ।
अभ्यधावत धर्मात्मा भरतः केकयीसुतः ॥ २९ ॥

उन्हें इस अवस्थामें देख धर्मात्मा श्रीमान् कैकेयीकुमार भरत शोक और मोहमें डूब गये तथा बड़े वेगसे उनकी ओर दौड़े ॥ २९ ॥

दृष्ट्वैव विललापार्तो बाष्पसंदिग्धया गिरा ।
अशक्नुवन् वारयितुं धैर्याद् वचनमब्रवन् ॥ ३० ॥

भाईकी ओर दृष्टि पड़ते ही भरत आर्तभावसे विलाप करने लगे। वे अपने शोकके आवेगको धैर्यसे रोक न सके और आँसू बहाते हुए गद्गद वाणीमें बोले— ॥ ३० ॥

यः संसदि प्रकृतिभिर्भवेद् युक्त उपासितुम् ।
वन्यैर्मृगैरुपासीनः सोऽयमास्ते ममाग्रजः ॥ ३१ ॥

'हाय! जो राजसभामें बैठकर प्रजा और मन्त्रिवर्गके द्वारा सेवा तथा सम्मान पानेके योग्य हैं, वे ही ये मेरे बड़े भ्राता श्रीराम यहाँ जंगली पशुओंसे घिरे हुए बैठे हैं ॥ ३१ ॥

वासोभिर्बहुसाहस्रैर्यो महात्मा पुरोचितः ।
मृगाजिने सोऽयमिह प्रवस्ते धर्ममाचरन् ॥ ३२ ॥

'जो महात्मा पहले कई सहस्र वस्त्रोंका उपयोग करते थे, वे अब धर्माचरण करते हुए यहाँ केवल दो मृगचर्म धारण करते हैं ॥ ३२ ॥

अधारयद् यो विविधाश्चित्राः सुमनसः सदा ।
सोऽयं जटाभारमिमं सहते राघवः कथम् ॥ ३३ ॥

'जो सदा नाना प्रकारके विचित्र फूलोंको अपने सिरपर धारण करते थे, वे ही ये श्रीरघुनाथजी इस समय इस जटाभारको कैसे सहन करते हैं? ॥ ३३ ॥

यस्य यज्ञैर्यथादिष्टैर्युक्तो धर्मस्य संचयः ।
शरीरक्लेशसम्भूतं स धर्मं परिमार्गति ॥ ३४ ॥

'जिनके लिये शास्त्रोक्त यज्ञोंके अनुष्ठानद्वारा धर्मका संग्रह करना उचित है, वे इस समय शरीरको कष्ट देनेसे प्राप्त होनेवाले धर्मका अनुसंधान कर रहे हैं ॥ ३४ ॥

चन्दनेन महार्हेण यस्याङ्गमुपसेवितम् ।
मलेन तस्याङ्गमिदं कथमार्यस्य सेव्यते ॥ ३५ ॥

'जिनके अङ्गोंकी बहुमूल्य चन्दनसे सेवा होती थी, उन्हीं मेरे पूज्य भ्राताका यह शरीर कैसे मलसे सेवित हो रहा है ॥

मन्निमित्तमिदं दुःखं प्राप्तो रामः सुखोचितः।
धिग्जीवितं नृशंसस्य मम लोकविगर्हितम्॥ ३६॥

'हाय! जो सर्वथा सुख भोगनेके योग्य हैं, वे श्रीराम मेरे ही कारण ऐसे दुःखमें पड़ गये हैं। ओह! मैं कितना क्रूर हूँ? मेरे इस लोकनिन्दित जीवनको धिक्कार है!'॥ ३६॥

इत्येवं विलपन् दीनः प्रस्विन्नमुखपङ्कजः।
पादावप्राप्य रामस्य पपात भरतो रुदन्॥ ३७॥

इस प्रकार विलाप करते-करते भरत अत्यन्त दुःखी हो गये। उनके मुखारविन्दपर पसीनेकी बूँदें दिखायी देने लगीं। वे श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंतक पहुँचनेके पहले ही पृथ्वीपर गिर पड़े॥ ३७॥

दुःखाभितप्तो भरतो राजपुत्रो महाबलः।
उक्त्वाऽऽर्येति सकृद् दीनं पुनर्नोवाच किंचन॥ ३८॥

अत्यन्त दुःखसे संतप्त होकर महाबली राजकुमार भरतने एक बार दीनवाणीमें 'आर्य' कहकर पुकारा। फिर वे कुछ न बोल सके॥ ३८॥

बाष्पैः पिहितकण्ठश्च प्रेक्ष्य रामं यशस्विनम्।
आर्येत्येवाभिसंक्रुश्य व्याहर्तुं नाशकत् ततः॥ ३९॥

आँसुओंसे उनका गला रुँध गया था। यशस्वी श्रीरामकी ओर देख वे 'हा! आर्य' कहकर चीख उठे। इससे आगे उनसे कुछ बोला न जा सका॥ ३९॥

शत्रुघ्नश्चापि रामस्य ववन्दे चरणौ रुदन्।
तावुभौ च समालिङ्ग्य रामोऽप्यश्रूण्यवर्तयत्॥ ४०॥

फिर शत्रुघ्नने भी रोते-रोते श्रीरामके चरणोंमें प्रणाम किया। श्रीरामने उन दोनोंको उठाकर छातीसे लगा लिया। फिर वे भी नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहाने लगे॥ ४०॥

ततः सुमन्त्रेण गुहेन चैव
समीयत् राजसुतावरण्ये।
दिवाकरश्चैव निशाकरश्च
यथाम्बरे शुक्रबृहस्पतिभ्याम्॥ ४१॥

तत्पश्चात् राजकुमार श्रीराम तथा लक्ष्मण उस वनमें सुमन्त्र और निषादराज गुहसे मिले, मानो आकाशमें सूर्य और चन्द्रमा, शुक्र और बृहस्पतिसे मिल रहे हों॥ ४१॥

तान् पार्थिवान् वारणयूथपार्हान्
समागतांस्तत्र महत्यरण्ये।
वनौकसस्तेऽभिसमीक्ष्य सर्वे
त्वश्रूण्यमुञ्चन् प्रविहाय हर्षम्॥ ४२॥

यूथपति गजराजपर बैठकर यात्रा करनेयोग्य उन चारों राजकुमारोंको उस विशाल वनमें आया देख समस्त वनवासी हर्ष छोड़कर शोकके आँसू बहाने लगे॥ ४२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे नवनवतितमः सर्गः॥ ९९॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें निन्यानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ९९॥

शततमः सर्गः

श्रीरामका भरतको कुशल-प्रश्नके बहाने राजनीतिका उपदेश करना

जटिलं चीरवसनं प्राञ्जलिं पतितं भुवि।
ददर्श रामो दुर्दर्शं युगान्ते भास्करं यथा॥ १॥
कथंचिदभिविज्ञाय विवर्णवदनं कृशम्।
भ्रातरं भरतं रामः परिजग्राह पाणिना॥ २॥
आघ्राय रामस्तं मूर्ध्नि परिष्वज्य च राघवम्।
अङ्के भरतमारोप्य पर्यपृच्छत सादरम्॥ ३॥

जटा और चीर-वस्त्र धारण किये भरत हाथ जोड़कर पृथ्वीपर पड़े थे, मानो प्रलयकालमें सूर्यदेव धरतीपर गिर गये हों। उनकी उस अवस्थामें देखना किसी भी स्नेही सुहृद्‌के लिये अत्यन्त कठिन था। श्रीरामने उन्हें देखा और जैसे-तैसे किसी तरह पहचाना। उनका मुख उदास हो गया था। वे बहुत दुर्बल हो गये थे। श्रीरामने भाई भरतको अपने हाथसे पकड़कर उठाया और उनका मस्तक सूँघकर उन्हें हृदयसे लगा लिया। इसके बाद रघुकुलभूषण भरतको गोदमें बिठाकर श्रीरामने बड़े आदरसे पूछा—॥ १—३॥

क्व नु तेऽभूत् पिता तात यदरण्यं त्वमागतः।
न हि त्वं जीवतस्तस्य वनमागन्तुमर्हसि॥ ४॥

'तात! पिताजी कहाँ थे कि तुम इस वनमें आये हो? उनके जीते-जी तो तुम वनमें नहीं आ सकते थे॥ ४॥

चिरस्य बत पश्यामि दूराद् भरतमागतम्।
दुष्प्रतीकमरण्येऽस्मिन् किं तात वनमागतः॥ ५॥

'मैं दीर्घकालके बाद दूरसे (नानाके घरसे) आये हुए भरतको आज इस वनमें देख रहा हूँ; परंतु इनका शरीर बहुत दुर्बल हो गया है। तात! तुम क्यों वनमें आये हो?॥ ५॥

कच्चिन्नु धरते तात राजा यत् त्वमिहागतः।
कच्चिन्न दीनः सहसा राजा लोकान्तरंगतः॥ ६॥

'भाई! महाराज जीवित हैं न? कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि वे अत्यन्त दुःखी होकर सहसा परलोकवासी हो गये हों और इसीलिये तुम्हें स्वयं यहाँ आना पड़ा हो?॥ ६॥

कच्चित् सौम्य न ते राज्यं भ्रष्टं बालस्य शाश्वतम्।
कच्चिच्छुश्रूषसे तात पितुः सत्यपराक्रम॥ ७॥

'सौम्य! तुम अभी बालक हो, इसलिये परम्परासे चला आता हुआ तुम्हारा राज्य नष्ट तो नहीं हो गया? सत्यपराक्रमी तात भरत! तुम पिताजीकी सेवा-शुश्रूषा तो करते हो न?॥

कच्चिद् दशरथो राजा कुशली सत्यसंगरः।
राजसूयाश्वमेधानामाहर्ता धर्मनिश्चितः॥ ८॥

'जो धर्मपर अटल रहनेवाले हैं तथा जिन्होंने राजसूय एवं अश्वमेध-यज्ञोंका अनुष्ठान किया है, वे सत्यप्रतिज्ञ महाराज दशरथ सकुशल तो हैं न?॥ ८॥

स कच्चिद् ब्राह्मणो विद्वान् धर्मनित्यो महाद्युतिः।
इक्ष्वाकूणामुपाध्यायो यथावत् तात पूज्यते॥ ९॥

'तात! क्या तुम सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाले, विद्वान्, ब्रह्मवेत्ता और इक्ष्वाकुकुलके आचार्य महातेजस्वी वसिष्ठजीकी यथावत् पूजा करते हो?॥ ९॥

तात कच्चिच्च कौसल्या सुमित्रा च प्रजावती।
सुखिनी कच्चिदार्या च देवी नन्दति कैकयी॥ १०॥

'भाई! क्या माता कौसल्या सुखसे हैं? उत्तम संतानवाली सुमित्रा प्रसन्न हैं और आर्या कैकेयी देवी भी आनन्दित हैं?॥ १०॥

कच्चिद् विनयसम्पन्नः कुलपुत्रो बहुश्रुतः।
अनसूयुरनुद्रष्टा सत्कृतस्ते पुरोहितः॥ ११॥

'जो उत्तम कुलमें उत्पन्न, विनयसम्पन्न, बहुश्रुत, किसीके दोष न देखनेवाले तथा शास्त्रोक्त धर्मोंपर निरन्तर दृष्टि रखनेवाले हैं, उन पुरोहितजीका तुमने पूर्णतः सत्कार किया है?॥ ११॥

कच्चिदग्निषु ते युक्तो विधिज्ञो मतिमानृजुः।
हुतं च होष्यमाणं च काले वेदयते सदा॥ १२॥

'हवनविधिके ज्ञाता, बुद्धिमान् और सरल स्वभाववाले जिन ब्राह्मण देवताको तुमने अग्निहोत्र-कार्यके लिये नियुक्त किया है, वे सदा ठीक समयपर आकर क्या तुम्हें यह सूचित करते हैं कि इस समय अग्निमें आहुति दे दी गयी और अब अमुक समयमें हवन करना है?॥ १२॥

कच्चिद् देवान् पितॄन् भृत्यान् गुरून् पितृसमानपि।
वृद्धांश्च तात वैद्यांश्च ब्राह्मणांश्चाभिमन्यसे॥ १३॥

'तात! क्या तुम देवताओं, पितरों, भृत्यों, गुरुजनों, पिताके समान आदरणीय वृद्धों, वैद्यों और ब्राह्मणोंका सम्मान करते हो?॥ १३॥

इष्वस्त्रवरसम्पन्नमर्थशास्त्रविशारदम्।
सुधन्वानमुपाध्यायं कच्चित् त्वं तात मन्यसे॥ १४॥

'भाई! जो मन्त्ररहित श्रेष्ठ बाणोंके प्रयोग तथा मन्त्रसहित उत्तम अस्त्रोंके प्रयोगके ज्ञानसे सम्पन्न और अर्थशास्त्र (राजनीति) के अच्छे पण्डित हैं, उन आचार्य सुधन्वाका क्या तुम समादर करते हो?॥ १४॥

कच्चिदात्मसमाः शूराः श्रुतवन्तो जितेन्द्रियाः।
कुलीनाश्चेङ्गितज्ञाश्च कृतास्ते तात मन्त्रिणः॥ १५॥

'तात! क्या तुमने अपने ही समान शूरवीर, शास्त्रज्ञ, जितेन्द्रिय, कुलीन तथा बाहरी चेष्टाओंसे ही मनकी बात समझ लेनेवाले सुयोग्य व्यक्तियोंको ही मन्त्री बनाया है?॥ १५॥

मन्त्रो विजयमूलं हि राज्ञां भवति राघव।
सुसंवृतो मन्त्रिधुरैरमात्यैः शास्त्रकोविदैः॥ १६॥

'रघुनन्दन! अच्छी मन्त्रणा ही राजाओंकी विजयका मूलकारण है। वह भी तभी सफल होती है, जब नीतिशास्त्रनिपुण मन्त्रिशिरोमणि अमात्य उसे सर्वथा गुप्त रखें॥ १६॥

कच्चिन्निद्रावशं नैषि कच्चित् कालेऽवबुध्यसे।
कच्चिच्चापररात्रेषु चिन्तयस्यर्थनैपुणम्॥ १७॥

'भरत! तुम असमयमें ही निद्राके वशीभूत तो नहीं होते? समयपर जाग जाते हो न? रातके पिछले पहरमें अर्थसिद्धिके उपायपर विचार करते हो न?॥ १७॥

कच्चिन्मन्त्रयसे नैकः कच्चिन्न बहुभिः सह।
कच्चित् ते मन्त्रितो मन्त्रो राष्ट्रं न परिधावति॥ १८॥

'(कोई भी गुप्त मन्त्रणा दोसे चार कानोंतक ही गुप्त रहती है; छः कानोंमें जाते ही वह फूट जाती है, अतः मैं पूछता हूँ—) तुम किसी गूढ़ विषयपर अकेले ही तो विचार नहीं करते? अथवा बहुत लोगोंके साथ बैठकर तो मन्त्रणा नहीं करते? कहीं ऐसा तो नहीं होता कि तुम्हारी निश्चित की हुई गुप्त मन्त्रणा फूटकर शत्रुके राज्यतक फैल जाती हो?॥

कच्चिदर्थं विनिश्चित्य लघुमूलं महोदयम्।
क्षिप्रमारभसे कर्म न दीर्घयसि राघव॥ १९॥

'रघुनन्दन! जिसका साधन बहुत छोटा और फल बहुत बड़ा हो, ऐसे कार्यका निश्चय करनेके बाद तुम उसे शीघ्र प्रारम्भ कर देते हो न? उसमें विलम्ब तो नहीं करते?॥

कच्चित्तु सुकृतान्येव कृतरूपाणि वा पुनः।
विदुस्ते सर्वकार्याणि न कर्तव्यानि पार्थिवाः॥ २०॥

'तुम्हारे सब कार्य पूर्ण हो जानेपर अथवा पूरे होनेके समीप पहुँचनेपर ही दूसरे राजाओंको ज्ञात होते हैं न? कहीं ऐसा तो नहीं होता कि तुम्हारे भावी कार्यक्रमको वे पहले ही जान लेते हों?॥ २०॥

कच्चिन्न तर्कैर्युक्त्या वा ये चाप्यपरिकीर्तिताः।
त्वया वा तव वामात्यैर्बुध्यते तात मन्त्रितम्॥ २१॥

'तात! तुम्हारे निश्चित किये हुए विचारोंको तुम्हारे या मन्त्रियोंके प्रकट न करनेपर भी दूसरे लोग तर्क और युक्तियोंके द्वारा जान तो नहीं लेते हैं? (तथा तुमको और तुम्हारे अमात्योंको दूसरोंके गुप्त विचारोंका पता लगता रहता है न?)॥ २१॥

कच्चित् सहस्रैर्मूर्खाणामेकमिच्छसि पण्डितम्।
पण्डितो ह्यर्थकृच्छ्रेषु कुर्यान्निःश्रेयसं महत्॥ २२॥

'क्या तुम सहस्रों मूर्खोंके बदले एक पण्डितको ही अपने पास रखनेकी इच्छा रखते हो? क्योंकि विद्वान् पुरुष ही अर्थसंकटके समय महान् कल्याण कर सकता है॥ २२॥

सहस्राण्यपि मूर्खाणां यद्युपास्ते महीपतिः ।
अथवाप्ययुतान्येव नास्ति तेषु सहायता ॥ २३ ॥

'यदि राजा हजार या दस हजार मूर्खोंको अपने पास रख ले तो भी उनसे अवसरपर कोई अच्छी सहायता नहीं मिलती ॥ २३ ॥

एकोऽप्यमात्यो मेधावी शूरो दक्षो विचक्षणः ।
राजानं राजपुत्रं वा प्रापयेन्महतीं श्रियम् ॥ २४ ॥

'यदि एक मन्त्री भी मेधावी, शूर-वीर, चतुर एवं नीतिज्ञ हो तो वह राजा या राजकुमारको बहुत बड़ी सम्पत्तिकी प्राप्ति करा सकता है ॥ २४ ॥

कच्चिन्मुख्या महत्स्वेव मध्यमेषु च मध्यमाः ।
जघन्याश्च जघन्येषु भृत्यास्ते तात योजिताः ॥ २५ ॥

'तात ! तुमने प्रधान व्यक्तियोंको प्रधान, मध्यम श्रेणीके मनुष्योंको मध्यम और छोटी श्रेणीके लोगोंको छोटे ही कामोंमें नियुक्त किया है न ? ॥ २५ ॥

अमात्यानुपधातीतान् पितृपैतामहाञ्छुचीन् ।
श्रेष्ठाञ्छ्रेष्ठेषु कच्चित् त्वं नियोजयसि कर्मसु ॥ २६ ॥

'जो घूस न लेते हों अथवा निश्छल हों, बाप-दादोंके समयसे ही काम करते आ रहे हों तथा बाहर-भीतरसे पवित्र एवं श्रेष्ठ हों, ऐसे अमात्योंको ही तुम उत्तम कार्योंमें नियुक्त करते हो न ? ॥ २६ ॥

कच्चिन्नोग्रेण दण्डेन भृशमुद्वेजिताः प्रजाः ।
राष्ट्रे तवावजानन्ति मन्त्रिणः कैकयीसुत ॥ २७ ॥

'कैकेयीकुमार ! तुम्हारे राज्यकी प्रजा कठोर दण्डसे अत्यन्त उद्विग्न होकर तुम्हारे मन्त्रियोंका तिरस्कार तो नहीं करती ? ॥ २७ ॥

कच्चित् त्वां नावजानन्ति याजकाः पतितं यथा ।
उग्रप्रतिग्रहीतारं कामयानमिव स्त्रियः ॥ २८ ॥

'जैसे पवित्र याजक पतित यजमानका तथा स्त्रियाँ कामचारी पुरुषका तिरस्कार कर देती हैं, उसी प्रकार प्रजा कठोरता पूर्वक अधिक कर लेनेके कारण तुम्हारा अनादर तो नहीं करती ? ॥ २८ ॥

उपायकुशलं वैद्यं भृत्यसंदूषणे रतम् ।
शूरमैश्वर्यकामं च यो हन्ति न स हन्यते ॥ २९ ॥

'जो साम-दाम आदि उपायोंके प्रयोगमें कुशल, राजनीति-शास्त्रका विद्वान्, विश्वासी भृत्योंको फोड़नेमें लगा हुआ, शूर (मरनेसे न डरनेवाला) तथा राजाके राज्यको हड़प लेनेकी इच्छा रखनेवाला है—ऐसे पुरुषको जो राजा नहीं मार डालता है, वह स्वयं उसके हाथसे मारा जाता है ॥ २९ ॥

कच्चिद् धृष्टश्च शूरश्च धृतिमान् मतिमाञ्छुचिः ।
कुलीनश्चानुरक्तश्च दक्षः सेनापतिः कृतः ॥ ३० ॥

'क्या तुमने सदा संतुष्ट रहनेवाले, शूर-वीर, धैर्यवान्, बुद्धिमान्, पवित्र, कुलीन एवं अपनेमें अनुराग रखनेवाले, रणकर्मदक्ष पुरुषको ही सेनापति बनाया है ? ॥ ३० ॥

बलवन्तश्च कच्चित् ते मुख्या युद्धविशारदाः ।
दृष्टापदाना विक्रान्तास्त्वया सत्कृत्य मानिताः ॥ ३१ ॥

'तुम्हारे प्रधान-प्रधान योद्धा (सेनापति) बलवान्, युद्धकुशल और पराक्रमी तो हैं न ? क्या तुमने उनके शौर्यकी परीक्षा कर ली है ? तथा क्या वे तुम्हारे द्वारा सत्कारपूर्वक सम्मान पाते रहते हैं ? ॥ ३१ ॥

कच्चिद् बलस्य भक्तं च वेतनं च यथोचितम् ।
सम्प्राप्तकालं दातव्यं ददासि न विलम्बसे ॥ ३२ ॥

'सैनिकोंको देनेके लिये नियत किया हुआ समुचित वेतन और भत्ता तुम समयपर दे देते हो न ? देनेमें विलम्ब तो नहीं करते ? ॥ ३२ ॥

कालातिक्रमणे ह्येव भक्तवेतनयोर्भृताः ।
भर्तुरप्यतिकुप्यन्ति सोऽनर्थः सुमहान् कृतः ॥ ३३ ॥

'यदि समय बिताकर भत्ता और वेतन दिये जाते हैं तो सैनिक अपने स्वामीपर भी अत्यन्त कुपित हो जाते हैं और इसके कारण बड़ा भारी अनर्थ घटित हो जाता है ॥ ३३ ॥

कच्चित् सर्वेऽनुरक्तास्त्वां कुलपुत्राः प्रधानतः ।
कच्चित् प्राणांस्तवार्थेषु संत्यजन्ति समाहिताः ॥ ३४ ॥

'क्या उत्तम कुलमें उत्पन्न मन्त्री आदि समस्त प्रधान अधिकारी तुमसे प्रेम रखते हैं ? क्या वे तुम्हारे लिये एकचित्त होकर अपने प्राणोंका त्याग करनेके लिये उद्यत रहते हैं ? ॥

कच्चिज्जानपदो विद्वान् दक्षिणः प्रतिभानवान् ।
यथोक्तवादी दूतस्ते कृतो भरत पण्डितः ॥ ३५ ॥

'भरत ! तुमने जिसे राजदूतके पदपर नियुक्त किया है, वह पुरुष अपने ही देशका निवासी, विद्वान्, कुशल, प्रतिभाशाली और जैसा कहा जाय, वैसी ही बात दूसरेके सामने कहनेवाला और सदसद्विवेकयुक्त है न ? ॥ ३५ ॥

कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दश पञ्च च ।
त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकैः ॥ ३६ ॥

'क्या तुम शत्रुपक्षके अठारह[1] और अपने पक्षके

---

१. शत्रुपक्षके मन्त्री, पुरोहित, युवराज, सेनापति, द्वारपाल, अन्तर्वेशिक (अन्तःपुरका अध्यक्ष), कारागाराध्यक्ष, कोषाध्यक्ष, यथायोग्य कार्योंमें धनका व्यय करनेवाला सचिव, प्रदेष्टा (पहरेदारोंको काम बतानेवाला), नगराध्यक्ष (कोतवाल), कार्यनिर्माणकर्ता (शिल्पियोंका परिचालक), धर्माध्यक्ष, सभाध्यक्ष, दण्डपाल, दुर्गपाल, राष्ट्रसीमापाल तथा वनरक्षक—ये अठारह तीर्थ हैं, जिनपर राजाकी दृष्टि रखनी चाहिये। मतान्तरसे ये अठारह तीर्थ इस प्रकार हैं—मन्त्री, पुरोहित, युवराज, सेनापति, द्वारपाल, अन्तःपुराध्यक्ष, कारागाराध्यक्ष, धनाध्यक्ष, राजाकी आज्ञासे सेवकोंको काम बतानेवाला, वादी-प्रतिवादीसे मामलेकी पूछताछ करनेवाला, प्राड्विवाक,

पंद्रह[2] तीर्थोंकी तीन-तीन अज्ञात गुप्तचरोंद्वारा देख-भाल या जाँच-पड़ताल करते रहते हो ? ॥ ३६ ॥

कच्चिद् व्यपास्तानहितान् प्रतियातांश्च सर्वदा ।
दुर्बलाननवज्ञाय वर्तसे रिपुसूदन ॥ ३७ ॥

'शत्रुसूदन ! जिन शत्रुओंको तुमने राज्यसे निकाल दिया है, वे यदि फिर लौटकर आते हैं तो तुम उन्हें दुर्बल समझकर उनकी उपेक्षा तो नहीं करते ? ॥ ३७ ॥

कच्चिन्न लोकायतिकान् ब्राह्मणांस्तात सेवसे ।
अनर्थकुशला ह्येते बालाः पण्डितमानिनः ॥ ३८ ॥

'तात ! तुम कभी नास्तिक ब्राह्मणोंका संग तो नहीं करते हो ? क्योंकि वे बुद्धिको परमार्थकी ओरसे विचलित करनेमें कुशल होते हैं तथा वास्तवमें अज्ञानी होते हुए भी अपनेको बहुत बड़ा पण्डित मानते हैं ॥ ३८ ॥

धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बुधाः ।
बुद्धिमान्वीक्षिकीं प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते ॥ ३९ ॥

'उनका ज्ञान वेदके विरुद्ध होनेके कारण दूषित होता है और वे प्रमाणभूत प्रधान-प्रधान धर्मशास्त्रोंके होते हुए भी तार्किक बुद्धिका आश्रय लेकर व्यर्थ बकवाद किया करते हैं ॥ ३९ ॥

वीरैरध्युषितां पूर्वमस्माकं तात पूर्वकैः ।
सत्यनामां दृढद्वारां हस्त्यश्वरथसंकुलाम् ॥ ४० ॥
ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः स्वकर्मनिरतैः सदा ।
जितेन्द्रियैर्महोत्साहैर्वृतामार्यैः सहस्रशः ॥ ४१ ॥
प्रासादैर्विविधाकारैर्वृतां वैद्यजनाकुलाम् ।
कच्चित् समुदितां स्फीतामयोध्यां परिरक्षसे ॥ ४२ ॥

'तात ! अयोध्या हमारे वीर पूर्वजोंकी निवासभूमि है; उसका जैसा नाम है, वैसा ही गुण है। उसके दरवाजे सब ओरसे सुदृढ़ हैं। वह हाथी, घोड़े और रथोंसे परिपूर्ण है। अपने-अपने कर्मोंमें लगे हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सहस्रोंकी संख्यामें वहाँ सदा निवास करते हैं। वे सब-के-सब महान् उत्साही, जितेन्द्रिय और श्रेष्ठ हैं। नाना प्रकारके राजभवन और मन्दिर उसकी शोभा बढ़ाते हैं। वह नगरी बहुसंख्यक विद्वानोंसे भरी है। ऐसी अभ्युदयशील और समृद्धिशालिनी नगरी अयोध्याकी तुम भलीभाँति रक्षा तो करते हो न ? ॥ ४०—४२ ॥

कच्चिच्चैत्यशतैर्जुष्टः सुनिविष्टजनाकुलः ।
देवस्थानैः प्रपाभिश्च तटाकैश्चोपशोभितः ॥ ४३ ॥
प्रहृष्टनरनारीकः समाजोत्सवशोभितः ।
सुकृष्टसीमापशुमान् हिंसाभिरभिवर्जितः ॥ ४४ ॥
अदेवमातृको रम्यः श्वापदैः परिवर्जितः ।
परित्यक्तो भयैः सर्वैः खनिभिश्चोपशोभितः ॥ ४५ ॥
विवर्जितो नरैः पापैर्मम पूर्वैः सुरक्षितः ।
कच्चिज्जनपदः स्फीतः सुखं वसति राघव ॥ ४६ ॥

'रघुनन्दन भरत ! जहाँ नाना प्रकारके अश्वमेध आदि महायज्ञोंके बहुत-से चयन-प्रदेश (अनुष्ठानस्थल) शोभा पाते हैं, जिसमें प्रतिष्ठित मनुष्य अधिक संख्यामें निवास करते हैं, अनेकानेक देवस्थान, पौंसले और तालाब जिसकी शोभा बढ़ाते हैं, जहाँके स्त्री-पुरुष सदा प्रसन्न रहते हैं, जो सामाजिक उत्सवोंके कारण सदा शोभासम्पन्न दिखायी देता है, जहाँ खेत जोतनेमें समर्थ पशुओंकी अधिकता है, जहाँ किसी प्रकारकी हिंसा नहीं होती, जहाँ खेतीके लिये वर्षाके जलपर निर्भर नहीं रहना पड़ता (नदियोंके जलसे ही सिंचाई हो जाती है), जो बहुत ही सुन्दर और हिंसक पशुओंसे रहित है, जहाँ किसी तरहका भय नहीं है, नाना प्रकारकी खानें जिसकी शोभा बढ़ाती हैं, जहाँ पापी मनुष्योंका सर्वथा अभाव है तथा हमारे पूर्वजोंने जिसकी भलीभाँति रक्षा की है, वह अपना कोसल देश धन-धान्यसे सम्पन्न और सुखपूर्वक बसा हुआ है न ? ॥ ४३—४६ ॥

कच्चित् ते दयिताः सर्वे कृषिगोरक्षजीविनः ।
वार्तायां संश्रितस्तात लोकोऽयं सुखमेधते ॥ ४७ ॥

'तात ! कृषि और गोरक्षासे आजीविका चलानेवाले सभी वैश्य तुम्हारे प्रीतिपात्र हैं न ? क्योंकि कृषि और व्यापार आदिमें संलग्न रहनेपर ही यह लोक सुखी एवं उन्नतिशील होता है ॥ ४७ ॥

तेषां गुप्तिपरीहारैः कच्चित् ते भरणं कृतम् ।
रक्ष्या हि राज्ञा धर्मेण सर्वे विषयवासिनः ॥ ४८ ॥

'उन वैश्योंको इष्टकी प्राप्ति कराकर और उनके अनिष्टका निवारण करके तुम उन सब लोगोंका भरण-पोषण तो करते हो न ? क्योंकि राजाको अपने राज्यमें निवास करनेवाले सब लोगोंका धर्मानुसार पालन करना चाहिये ॥ ४८ ॥

कच्चित् स्त्रियः सान्त्वयसे कच्चित् तास्ते सुरक्षिताः ।
कच्चिन्न श्रद्दधास्यासां कच्चिद् गुह्यं न भाषसे ॥ ४९ ॥

'क्या तुम अपनी स्त्रियोंको संतुष्ट रखते हो ? क्या वे तुम्हारे द्वारा भलीभाँति सुरक्षित रहती हैं ? तुम उनपर

(वकील), धर्मासनाधिकारी (न्यायाधीश), व्यवहार-निर्णेता, सभ्य, सेनाको जीविका-निर्वाहके लिये धन देनेका अधिकारी (सेनानायक), कर्मचारियोंको काम पूरा होनेपर वेतन देनेके लिये राजासे धन लेनेवाला, नगराध्यक्ष, राष्ट्रसीमापाल तथा वनरक्षक, दुष्टोंको दण्ड देनेका अधिकारी तथा जल, पर्वत, वन एवं दुर्गम भूमिकी रक्षा करनेवाला—इनपर राजाको दृष्टि रखनी चाहिये।

२. उपर्युक्त अठारह तीर्थोंमेंसे आदिके तीनको छोड़कर शेष पंद्रह तीर्थ अपने पक्षके भी सदा परीक्षणीय हैं।

अधिक विश्वास तो नहीं करते? उन्हें अपनी गुप्त बात तो नहीं कह देते? ॥ ४९ ॥

कच्चिन्नागवनं गुप्तं कच्चित् ते सन्ति धेनुकाः।
कच्चिन्न गणिकाश्वानां कुञ्जराणां च तृप्यसि ॥ ५० ॥

'जहाँ-हाथी उत्पन्न होते हैं, वे जंगल तुम्हारे द्वारा सुरक्षित हैं न? तुम्हारे पास दूध देनेवाली गौएँ तो अधिक संख्यामें हैं न? (अथवा हाथियोंको फँसानेवाली हथिनियोंकी तो तुम्हारे पास कमी नहीं है?) तुम्हें हथिनियों, घोड़ों और हाथियोंके संग्रहसे कभी तृप्ति तो नहीं होती? ॥ ५० ॥

कच्चिद् दर्शयसे नित्यं मानुषाणां विभूषितम्।
उत्थायोत्थाय पूर्वाह्णे राजपुत्र महापथे ॥ ५१ ॥

'राजकुमार! क्या तुम प्रतिदिन पूर्वाह्णकालमें वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो प्रधान सड़कपर जा-जाकर नगरवासी मनुष्योंको दर्शन देते हो? ॥ ५१ ॥

कच्चिन्न सर्वे कर्मान्ताः प्रत्यक्षास्तेऽविशङ्कया।
सर्वे वा पुनरुत्सृष्टा मध्यमेवात्र कारणम् ॥ ५२ ॥

'काम-काजमें लगे हुए सभी मनुष्य निडर होकर तुम्हारे सामने तो नहीं आते? अथवा वे सब सदा तुमसे दूर तो नहीं रहते? क्योंकि कर्मचारियोंके विषयमें मध्यम स्थितिका अवलम्बन करना ही अर्थसिद्धिका कारण होता है ॥ ५२ ॥

कच्चिद् दुर्गाणि सर्वाणि धनधान्यायुधोदकैः।
यन्त्रैश्च प्रतिपूर्णानि तथा शिल्पिधनुर्धरैः ॥ ५३ ॥

'क्या तुम्हारे सभी दुर्ग (किले) धन-धान्य, अस्त्र-शस्त्र, जल, यन्त्र (मशीन), शिल्पी तथा धनुर्धर सैनिकोंसे भरे-पूरे रहते हैं? ॥ ५३ ॥

आयस्ते विपुलः कच्चित् कच्चिदल्पतरो व्ययः।
अपात्रेषु न ते कच्चित् कोषो गच्छति राघव ॥ ५४ ॥

'रघुनन्दन! क्या तुम्हारी आय अधिक और व्यय बहुत कम है? तुम्हारे खजानेका धन अपात्रोंके हाथमें तो नहीं चला जाता? ॥ ५४ ॥

देवतार्थे च पित्रर्थे ब्राह्मणाभ्यागतेषु च।
योधेषु मित्रवर्गेषु कच्चिद् गच्छति ते व्ययः ॥ ५५ ॥

'देवता, पितर, ब्राह्मण, अभ्यागत, योद्धा तथा मित्रोंके लिये ही तो तुम्हारा धन खर्च होता है न? ॥ ५५ ॥

कच्चिदार्योऽपि शुद्धात्मा क्षारितश्चापकर्मणा।
अदृष्टः शास्त्रकुशलैर्न लोभाद् बध्यते शुचिः ॥ ५६ ॥

'कभी ऐसा तो नहीं होता कि कोई मनुष्य किसी श्रेष्ठ, निर्दोष और शुद्धात्मा पुरुषपर भी दोष लगा दे तथा शास्त्र-ज्ञानमें कुशल विद्वानोंद्वारा उसके विषयमें विचार कराये बिना ही लोभवश उसे आर्थिक दण्ड दे दिया जाता हो? ॥ ५६ ॥

गृहीतश्चैव पृष्टश्च काले दृष्टः सकारणः।
कच्चिन्न मुच्यते चोरो धनलोभान्नरर्षभ ॥ ५७ ॥

'नरश्रेष्ठ! जो चोरीमें पकड़ा गया हो, जिसे किसीने चोरी करते समय देखा हो, पूछ-ताछसे भी जिसके चोर होनेका प्रमाण मिल गया हो तथा जिसके विरुद्ध (चोरीका माल बरामद होना आदि) और भी बहुत-से कारण (सबूत) हों, ऐसे चोरको भी तुम्हारे राज्यमें धनके लालचसे छोड़ तो नहीं दिया जाता है? ॥ ५७ ॥

व्यसने कच्चिदाढ्यस्य दुर्बलस्य च राघव।
अर्थं विरागाः पश्यन्ति तवामात्या बहुश्रुताः ॥ ५८ ॥

'रघुकुलभूषण! यदि धनी और गरीबमें कोई विवाद छिड़ा हो और वह राज्यके न्यायालयमें निर्णयके लिये आया हो तो तुम्हारे बहुज्ञ मन्त्री धन आदिके लोभको छोड़कर उस मामलेपर विचार करते हैं न? ॥ ५८ ॥

यानि मिथ्याभिशस्तानां पतन्त्यश्रूणि राघव।
तानि पुत्रपशून् घ्नन्ति प्रीत्यर्थमनुशासतः ॥ ५९ ॥

'रघुनन्दन! निरपराध होनेपर भी जिन्हें मिथ्या दोष लगाकर दण्ड दिया जाता है, उन मनुष्योंकी आँखोंसे जो आँसू गिरते हैं, वे पक्षपातपूर्ण शासन करनेवाले राजाके पुत्र और पशुओंका नाश कर डालते हैं ॥ ५९ ॥

कच्चिद् वृद्धांश्च बालांश्च वैद्यान् मुख्यांश्च राघव।
दानेन मनसा वाचा त्रिभिरेतैर्बुभूषसे ॥ ६० ॥

'राघव! क्या तुम वृद्ध पुरुषों, बालकों और प्रधान-प्रधान वैद्योंका आन्तरिक अनुराग, मधुर वचन और धनदान—इन तीनोंके द्वारा सम्मान करते हो? ॥ ६० ॥

कच्चिद् गुरूंश्च वृद्धांश्च तापसान् देवतातिथीन्।
चैत्यांश्च सर्वान् सिद्धार्थान् ब्राह्मणांश्च नमस्यसि ॥ ६१ ॥

'गुरुजनों, वृद्धों, तपस्वियों, देवताओं, अतिथियों, चैत्य वृक्षों और समस्त पूर्णकाम ब्राह्मणोंको नमस्कार करते हो न? ॥ ६१ ॥

कच्चिदर्थेन वा धर्ममर्थं धर्मेण वा पुनः।
उभौ वा प्रीतिलोभेन कामेन न विबाधसे ॥ ६२ ॥

'तुम अर्थके द्वारा धर्मको अथवा धर्मके द्वारा अर्थको हानि तो नहीं पहुँचाते? अथवा आसक्ति और लोभरूप कामके द्वारा धर्म और अर्थ दोनोंमें बाधा तो नहीं आने देते? ॥ ६२ ॥

कच्चिदर्थं च कामं च धर्मं च जयतां वर।
विभज्य काले कालज्ञ सर्वान् वरद सेवसे ॥ ६३ ॥

'विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ, समयोचित कर्तव्यके ज्ञाता तथा दूसरोंको वर देनेमें समर्थ भरत! क्या तुम समयका विभाग करके धर्म, अर्थ और कामका योग्य समयमें सेवन करते हो? ॥ ६३ ॥

कच्चित् ते ब्राह्मणाः शर्म सर्वशास्त्रार्थकोविदाः।
आशंसन्ते महाप्राज्ञ पौरजानपदैः सह ॥ ६४ ॥

'महाप्राज्ञ! सम्पूर्ण शास्त्रोंके अर्थको जाननेवाले ब्राह्मण पुरवासी और जनपदवासी मनुष्योंके साथ तुम्हारे कल्याणकी कामना करते हैं न? ॥ ६४ ॥

नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम्।
अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं पञ्चवृत्तिताम्॥ ६५॥
एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च मन्त्रणम्।
निश्चितानामनारम्भं मन्त्रस्यापरिरक्षणम्॥ ६६॥
मङ्गलाद्यप्रयोगं च प्रत्युत्थानं च सर्वतः।
कच्चित् त्वं वर्जयस्येतान् राजदोषांश्चतुर्दश॥ ६७॥

'नास्तिकता, असत्य-भाषण, क्रोध, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, ज्ञानी पुरुषोंका संग न करना, आलस्य, नेत्र आदि पाँचों इन्द्रियोंके वशीभूत होना, राजकार्योंके विषयमें अकेले ही विचार करना, प्रयोजनको न समझनेवाले विपरीतदर्शी मूर्खोंसे सलाह लेना, निश्चित किये हुए कार्योंका शीघ्र प्रारम्भ न करना, गुप्त मन्त्रणाको सुरक्षित न रखकर प्रकट कर देना, माङ्गलिक आदि कार्योंका अनुष्ठान न करना तथा सब शत्रुओंपर एक ही साथ चढ़ाई कर देना—ये राजाके चौदह दोष हैं। तुम इन दोषोंका सदा परित्याग करते हो न? ॥ ६५—६७॥

दशपञ्चचतुर्वर्गान् सप्तवर्गं च तत्त्वतः।
अष्टवर्गं त्रिवर्गं च विद्यास्तिस्रश्च राघव॥ ६८॥
इन्द्रियाणां जयं बुद्ध्वा षाड्गुण्यं दैवमानुषम्।
कृत्यं विंशतिवर्गं च तथा प्रकृतिमण्डलम्॥ ६९॥
यात्रादण्डविधानं च द्वियोनी संधिविग्रहौ।
कच्चिदेतान् महाप्राज्ञ यथावदनुमन्यसे॥ ७०॥

'महाप्राज्ञ भरत! दशवर्ग,[१] पञ्चवर्ग,[२] चतुर्वर्ग,[३] सप्तवर्ग,[४] अष्टवर्ग,[५] त्रिवर्ग,[६] तीन विद्या,[७] बुद्धिके द्वारा इन्द्रियोंको जीतना, छः गुण,[८] दैवी[९] और मानुषी बाधाएँ, राजाके नीतिपूर्ण कार्य,[१०] विंशतिवर्ग,[११] प्रकृतिमण्डल,[१२] यात्रा (शत्रुपर आक्रमण), दण्डविधान (व्यूहरचना) तथा दो-दो गुणोंकी[१३] योनिभूत संधि और विग्रह—इन सबकी ओर तुम यथार्थ रूपसे ध्यान देते हो न? इनमेंसे त्यागनेयोग्य दोषोंको त्यागकर ग्रहण करनेयोग्य गुणोंको ग्रहण करते हो न? ॥ ६८—७०॥

---

१. कामसे उत्पन्न होनेवाले दस दोषोंको दशवर्ग कहते हैं। ये राजाके लिये त्याज्य हैं। मनुजीने उनके नाम इस प्रकार गिनाये हैं—आखेट, जुआ, दिनमें सोना, दूसरोंकी निन्दा करना, स्त्रीमें आसक्त होना, मद्यपान, नाचना, गाना, बाजा बजाना और व्यर्थ घूमना। २. जलदुर्ग, पर्वतदुर्ग, वृक्षदुर्ग, ईरिणदुर्ग और धन्वदुर्ग—ये पाँच प्रकारके दुर्ग पञ्चवर्ग कहलाते हैं। इनमें आरम्भके तीन तो प्रसिद्ध ही हैं। जहाँ किसी प्रकारकी खेती नहीं होती, ऐसे प्रदेशको ईरिण कहते हैं। बालूसे भरी मरुभूमिको धन्व कहते हैं। गर्मीके दिनोंमें वह शत्रुओंके लिये दुर्गम होती है। इन सब दुर्गोंका यथासमय उपयोग करके राजाको आत्मरक्षा करनी चाहिये। ३. साम, दान, भेद और दण्ड—इन चार प्रकारकी नीतिको चतुर्वर्ग कहते हैं। ४. राजा, मन्त्री, राष्ट्र, किला, खजाना, सेना और मित्रवर्ग—ये परस्पर उपकार करनेवाले राज्यके सात अङ्ग हैं। इन्हींको सप्तवर्ग कहा गया है। ५. चुगली, साहस, द्रोह, ईर्ष्या, दोषदर्शन, अर्थदूषण, वाणीकी कठोरता और दण्डकी कठोरता—ये क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले आठ दोष अष्टवर्ग माने गये हैं। किसी-किसीके मतमें खेतीकी उन्नति करना, व्यापारको बढ़ाना, दुर्ग बनवाना, पुल निर्माण कराना, जंगलसे हाथी पकड़कर मँगवाना, खानोंपर अधिकार प्राप्त करना, अधीन राजाओंसे कर लेना और निर्जन प्रदेशको आबाद करना—ये राजाके लिये उपादेय आठ गुण ही अष्टवर्ग हैं। ६. धर्म, अर्थ और कामको अथवा उत्साह-शक्ति, प्रभुशक्ति तथा मन्त्रशक्तिको त्रिवर्ग कहते हैं। ७. त्रयी, वार्ता और दण्डनीति—ये तीन विद्याएँ हैं। इनमें तीनों वेदोंको त्रयी कहते हैं। कृषि और गोरक्षा आदि वार्ताके अन्तर्गत हैं तथा नीतिशास्त्रका नाम दण्डनीति है। ८. संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय—ये छः गुण हैं। इनमें शत्रुसे मेल रखना संधि, उससे लड़ाई छेड़ना विग्रह, आक्रमण करना यान, अवसरकी प्रतीक्षामें बैठे रहना आसन, दुरंगी नीति बर्तना द्वैधीभाव और अपनेसे बलवान् राजाकी शरण लेना समाश्रय कहलाता है। ९. आग लगना, बाढ़ आना, बीमारी फैलना, अकाल पड़ना और महामारीका प्रकोप होना—ये पाँच दैवी बाधाएँ हैं। राज्यके अधिकारियों, चोरों, शत्रुओं और राजाके प्रिय व्यक्तियोंसे तथा स्वयं राजाके लोभसे जो भय प्राप्त होता है, उसे मानवी बाधा कहते हैं। १०. शत्रु राजाओंके सेवकोंमेंसे जिनको वेतन न मिला हो, जो अपमानित किये गये हों, जो अपने मालिकके किसी बर्तावसे कुपित हों तथा जिन्हें भय दिखाकर डराया गया हो, ऐसे लोगोंको मनचाही वस्तु देकर फोड़ लेना राजाका कृत्य (नीतिपूर्ण कार्य) माना गया है। ११. बालक, वृद्ध, दीर्घकालका रोगी, जातिच्युत, डरपोक, भीरु मनुष्योंको साथ रखनेवाला, लोभी-लालची लोगोंको आश्रय देनेवाला, मन्त्री, सेनापति आदि प्रकृतियोंको, असंतुष्ट रखनेवाला, विषयोंमें आसक्त, चञ्चलचित्त मनुष्योंसे सलाह लेनेवाला, देवता और ब्राह्मणोंकी निन्दा करनेवाला, दैवका मारा हुआ, भाग्यके भरोसे पुरुषार्थ न करनेवाला, दुर्भिक्षसे पीड़ित, सैनिक-कष्टसे युक्त (सेनारहित), स्वदेशमें न रहनेवाला, अधिक शत्रुओंवाला, अकाल (क्रूर ग्रहदशा आदिसे युक्त) और सत्यधर्मसे रहित—ये बीस प्रकारके राजा संधिके योग्य नहीं माने गये हैं। इन्हींको विंशतिवर्गके नामसे कहा गया है। १२. राज्यके स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और सेना—राज्यके इन सात अङ्गोंको ही प्रकृतिमण्डल कहते हैं। किसी-किसीके मतमें मन्त्री, राष्ट्र, किला, खजाना और दण्ड—ये पाँच प्रकृतियाँ अलग हैं और बारह राजाओंके समूहको मण्डल कहा है। १३. द्वैधीभाव और समाश्रय—ये इनकी योनिसंधि हैं और यान तथा आसन इनकी योनिविग्रह हैं, अर्थात् प्रथम दो संधिमूलक और अन्तिम दो विग्रहमूलक हैं।

मन्त्रिभिस्त्वं यथोद्दिष्टं चतुर्भिस्त्रिभिरेव वा।
कच्चित् समस्तैर्व्यस्तैश्च मन्त्रं मन्त्रयसे बुध॥ ७१॥

'विद्वन्! क्या तुम नीतिशास्त्रकी आज्ञाके अनुसार चार या तीन मन्त्रियोंके साथ—सबको एकत्र करके अथवा सबसे अलग-अलग मिलकर सलाह करते हो?॥ ७१॥

कच्चित् ते सफला वेदाः कच्चित् ते सफलाः क्रियाः।
कच्चित् ते सफला दाराः कच्चित् ते सफलं श्रुतम्॥

'क्या तुम वेदोंकी आज्ञाके अनुसार काम करके उन्हें सफल करते हो? क्या तुम्हारी क्रियाएँ सफल (उद्देश्यकी सिद्धि करनेवाली) हैं? क्या तुम्हारी स्त्रियाँ भी सफल (संतानवती) हैं? और क्या तुम्हारा शास्त्रज्ञान भी विनय आदि गुणोंका उत्पादक होकर सफल हुआ है?॥ ७२॥

कच्चिदेषैव ते बुद्धिर्यथोक्ता मम राघव।
आयुष्या च यशस्या च धर्मकामार्थसंहिता॥ ७३॥

'रघुनन्दन! मैंने जो कुछ कहा है, तुम्हारी बुद्धिका भी ऐसा ही निश्चय है न? क्योंकि यह विचार आयु और यशको बढ़ानेवाला तथा धर्म, काम और अर्थकी सिद्धि करनेवाला है।॥ ७३॥

यां वृत्तिं वर्तते तातो यां च नः प्रपितामहः।
तां वृत्तिं वर्तसे कच्चिद् या च सत्पथगा शुभा॥ ७४॥

'हमारे पिताजी जिस वृत्तिका आश्रय लेते हैं, हमारे प्रपितामहोंने जिस आचरणका पालन किया है, सत्पुरुष भी जिसका सेवन करते हैं और जो कल्याणका मूल है, उसीका तुम पालन करते हो न?॥ ७४॥

कच्चित् स्वादुकृतं भोज्यमेको नाश्नासि राघव।
कच्चिदाशंसमानेभ्यो मित्रेभ्यः सम्प्रयच्छसि॥ ७५॥

'रघुनन्दन! तुम स्वादिष्ट अन्न अकेले ही तो नहीं खा जाते? उसकी आशा रखनेवाले मित्रोंको भी देते हो न?॥

राजा तु धर्मेण हि पालयित्वा
महीपतिर्दण्डधरः प्रजानाम्।
अवाप्य कृत्स्नां वसुधां यथाव-
दितश्च्युतः स्वर्गमुपैति विद्वान्॥ ७६॥

'इस प्रकार धर्मके अनुसार दण्ड धारण करनेवाला विद्वान् राजा प्रजाओंका पालन करके समूची पृथ्वीको यथावत्‌रूपसे अपने अधिकारमें कर लेता है तथा देहत्याग करनेके पश्चात् स्वर्गलोकमें जाता है'॥ ७६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे शततमः सर्गः॥ १००॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सौवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १००॥

एकाधिकशततमः सर्गः

श्रीरामका भरतसे वनमें आगमनका प्रयोजन पूछना, भरतका उनसे राज्य ग्रहण करनेके लिये कहना और श्रीरामका उसे अस्वीकार कर देना

तं तु रामः समाज्ञाय भ्रातरं गुरुवत्सलम्।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा प्रष्टुं समुपचक्रमे॥ १॥

लक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्रजीने अपने गुरुभक्त भाई भरतको अच्छी तरह समझाकर अथवा उन्हें अपनेमें अनुरक्त जानकर उनसे इस प्रकार पूछना आरम्भ किया—॥ १॥

किमेतदिच्छेयमहं श्रोतुं प्रव्याहृतं त्वया।
यस्मात् त्वमागतो देशमिमं चीरजटाजिनी॥ २॥
यन्निमित्तमिमं देशं कृष्णाजिनजटाधरः।
हित्वा राज्यं प्रविष्टस्त्वं तत् सर्वं वक्तुमर्हसि॥ ३॥

'भाई! तुम राज्य छोड़कर वल्कल, कृष्णमृगचर्म और जटा धारण करके जो इस देशमें आये हो, इसका क्या कारण है? जिस निमित्तसे इस वनमें तुम्हारा प्रवेश हुआ है, वह मैं तुम्हारे मुँहसे सुनना चाहता हूँ। तुम्हें सब कुछ साफ-साफ बताना चाहिये'॥ २-३॥

इत्युक्तः केकयीपुत्रः काकुत्स्थेन महात्मना।
प्रगृह्य बलवद् भूयः प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत्॥ ४॥

ककुत्स्थवंशी महात्मा श्रीरामचन्द्रजीके इस प्रकार पूछनेपर भरतने बलपूर्वक आन्तरिक शोकको दबा पुनः हाथ जोड़कर इस प्रकार कहा—॥ ४॥

आर्य तातः परित्यज्य कृत्वा कर्म सुदुष्करम्।
गतः स्वर्गं महाबाहुः पुत्रशोकाभिपीडितः॥ ५॥

"आर्य! हमारे महाबाहु पिता अत्यन्त दुष्कर कर्म करके पुत्रशोकसे पीड़ित हो हमें छोड़कर स्वर्गलोकको चले गये॥ ५॥

स्त्रिया नियुक्तः कैकेय्या मम मात्रा परंतप।
चकार सा महत्पापमिदमात्मयशोहरम्॥ ६॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले रघुनन्दन! अपनी स्त्री एवं मेरी माता कैकेयीकी प्रेरणासे ही विवश हो पिताजीने ऐसा कठोर कार्य किया था। मेरी माँने अपने सुयशको नष्ट करनेवाला यह बड़ा भारी पाप किया है॥ ६॥

सा राज्यफलमप्राप्य विधवा शोककर्शिता।
पतिष्यति महाघोरे नरके जननी मम॥ ७॥

'अतः वह राज्यरूपी फल न पाकर विधवा हो गयी। अब मेरी माता शोकसे दुर्बल हो महाघोर नरकमें पड़ेगी॥

तस्य मे दासभूतस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि।
अभिषिञ्चस्व चाद्यैव राज्येन मघवानिव॥ ८॥

'अब आप अपने दासस्वरूप मुझ भरतपर कृपा कीजिये और इन्द्रकी भाँति आज ही राज्य ग्रहण करनेके लिये अपना अभिषेक कराइये ॥ ८ ॥

इमाः प्रकृतयः सर्वा विधवा मातरश्च याः ।
त्वत्सकाशमनुप्राप्ताः प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ ९ ॥

'ये सारी प्रकृतियाँ (प्रजा आदि) और सभी विधवा माताएँ आपके पास आयी हैं। आप इन सबपर कृपा करें ॥

तथानुपूर्व्या युक्तश्च युक्तं चात्मनि मानद ।
राज्यं प्राप्नुहि धर्मेण सकामान् सुहृदः कुरु ॥ १० ॥

'दूसरोंको मान देनेवाले रघुवीर ! आप ज्येष्ठ होनेके नाते राज्य-प्राप्तिके क्रमिक अधिकारसे युक्त हैं, न्यायतः आपको ही राज्य मिलना उचित है; अतः आप धर्मानुसार राज्य ग्रहण करें और अपने सुहृदोंको सफल-मनोरथ बनावें ॥ १० ॥

भवत्वविधवा भूमिः समग्रा पतिना त्वया ।
शशिना विमलेनेव शारदी रजनी यथा ॥ ११ ॥

'आप-जैसे पतिसे युक्त हो यह सारी वसुधा वैधव्यरहित हो जाय और निर्मल चन्द्रमासे सनाथ हुई शरत्कालकी रात्रिके समान शोभा पाने लगे ॥ ११ ॥

एभिश्च सचिवैः सार्धं शिरसा याचितो मया ।
भ्रातुः शिष्यस्य दासस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ १२ ॥

'मैं इन समस्त सचिवोंके साथ आपके चरणोंमें मस्तक रखकर यह याचना करता हूँ कि आप राज्य ग्रहण करें। मैं आपका भाई, शिष्य और दास हूँ। आप मुझपर कृपा करें ॥ १२ ॥

तदिदं शाश्वतं पित्र्यं सर्वं सचिवमण्डलम् ।
पूजितं पुरुषव्याघ्र नातिक्रमितुमर्हसि ॥ १३ ॥

'पुरुषसिंह ! यह सारा मन्त्रिमण्डल अपने यहाँ कुलपरम्परासे चला आ रहा है। ये सभी सचिव पिताजीके समयमें भी थे। हम सदासे इनका सम्मान करते आये हैं, अतः आप इनकी प्रार्थना न ठुकरायें' ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुः सबाष्पः कैकयीसुतः ।
रामस्य शिरसा पादौ जग्राह भरतः पुनः ॥ १४ ॥

ऐसा कहकर कैकेयीपुत्र महाबाहु भरतने नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए पुनः श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंसे माथा टेक दिया ॥

तं मत्तमिव मातङ्गं निःश्वसन्तं पुनः पुनः ।
भ्रातरं भरतं रामः परिष्वज्येदमब्रवीत् ॥ १५ ॥

उस समय वे मतवाले हाथीके समान बारंबार लंबी साँस खींचने लगे, तब श्रीरामने भाई भरतको उठाकर हृदयसे लगा लिया और इस प्रकार कहा— ॥ १५ ॥

कुलीनः सत्त्वसम्पन्नस्तेजस्वी चरितव्रतः ।
राज्यहेतोः कथं पापमाचरेन्मद्विधो जनः ॥ १६ ॥

'भाई ! तुम्हीं बताओ। उत्तम कुलमें उत्पन्न, सत्त्वगुणसम्पन्न, तेजस्वी और श्रेष्ठ व्रतोंका पालन करनेवाला मेरे-जैसा मनुष्य राज्यके लिये पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घन रूप पाप कैसे कर सकता है ? ॥ १६ ॥

न दोषं त्वयि पश्यामि सूक्ष्ममप्यरिसूदन ।
न चापि जननीं बाल्यात् त्वं विगर्हितुमर्हसि ॥ १७ ॥

'शत्रुसूदन ! मैं तुम्हारे अंदर थोड़ा-सा भी दोष नहीं देखता। अज्ञानवश तुम्हें अपनी माताकी भी निन्दा नहीं करनी चाहिये ॥ १७ ॥

कामकारो महाप्राज्ञ गुरूणां सर्वदानघ ।
उपपन्नेषु दारेषु पुत्रेषु च विधीयते ॥ १८ ॥

'निष्पाप महाप्राज्ञ ! गुरुजनोंका अपनी अभीष्ट स्त्रियों और प्रिय पुत्रोंपर सदा पूर्ण अधिकार होता है। वे उन्हें चाहे जैसी आज्ञा दे सकते हैं ॥ १८ ॥

वयमस्य यथा लोके संख्याताः सौम्य साधुभिः ।
भार्याः पुत्राश्च शिष्याश्च त्वमपि ज्ञातुमर्हसि ॥ १९ ॥

'सौम्य ! माताओंसहित हम भी इस लोकमें श्रेष्ठ पुरुषों-द्वारा महाराजके स्त्री-पुत्र और शिष्य कहे गये हैं, अतः हमें भी उनको सब तरहकी आज्ञा देनेका अधिकार था। इस बातको तुम भी समझनेयोग्य हो ॥ १९ ॥

वने वा चीरवसनं सौम्य कृष्णाजिनाम्बरम् ।
राज्ये वापि महाराजो मां वासयितुमीश्वरः ॥ २० ॥

'सौम्य ! महाराज मुझे वल्कल वस्त्र और मृगचर्म धारण कराकर वनमें ठहरावें अथवा राज्यपर बिठावें—इन दोनों बातोंके लिये वे सर्वथा समर्थ थे ॥ २० ॥

यावत् पितरि धर्मज्ञ गौरवं लोकसत्कृते ।
तावद् धर्मकृतां श्रेष्ठ जनन्यामपि गौरवम् ॥ २१ ॥

'धर्मज्ञ ! धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भरत ! मनुष्यकी विश्ववन्द्य पितामें जितनी गौरव-बुद्धि होती है, उतनी ही मातामें भी होनी चाहिये ॥ २१ ॥

एताभ्यां धर्मशीलाभ्यां वनं गच्छेति राघव ।
मातापितृभ्यामुक्तोऽहं कथमन्यत् समाचरे ॥ २२ ॥

'रघुनन्दन ! इन धर्मशील माता और पिता दोनोंने जब मुझे वनमें जानेकी आज्ञा दे दी है, तब मैं उनकी आज्ञाके विपरीत दूसरा कोई बर्ताव कैसे कर सकता हूँ ? ॥ २२ ॥

त्वया राज्यमयोध्यायां प्राप्तव्यं लोकसत्कृतम् ।
वस्तव्यं दण्डकारण्ये मया वल्कलवाससा ॥ २३ ॥

'तुम्हें अयोध्यामें रहकर समस्त जगत्के लिये आदरणीय राज्य प्राप्त करना चाहिये और मुझे वल्कल वस्त्र धारण करके दण्डकारण्यमें रहना चाहिये ॥ २३ ॥

एवमुक्त्वा महाराजो विभागं लोकसंनिधौ ।
व्यादिश्य च महाराजो दिवं दशरथो गतः ॥ २४ ॥

'क्योंकि महाराज दशरथ बहुत लोगोंके सामने हम दोनोंके लिये इस प्रकार पृथक्-पृथक् दो आज्ञाएँ देकर स्वर्गको सिधारे हैं ॥ २४ ॥

स च प्रमाणं धर्मात्मा राजा लोकगुरुस्तव।
पित्रा दत्तं यथाभागमुपभोक्तुं त्वमर्हसि॥ २५॥

'इस विषयमें लोकगुरु धर्मात्मा राजा ही तुम्हारे लिये प्रमाणभूत हैं—उन्हींकी आज्ञा तुम्हें माननी चाहिये और पिताने तुम्हारे हिस्सेमें जो कुछ दिया है, उसीका तुम्हें यथावत् रूपसे उपभोग करना चाहिये॥ २५॥

चतुर्दश समाः सौम्य दण्डकारण्यमाश्रितः।
उपभोक्ष्ये त्वहं दत्तं भागं पित्रा महात्मना॥ २६॥

'सौम्य! चौदह वर्षोंतक दण्डकारण्यमें रहनेके बाद ही महात्मा पिताके दिये हुए राज्य-भागका मैं उपभोग करूँगा॥

यदब्रवीन्मां नरलोकसत्कृतः
पिता महात्मा विबुधाधिपोपमः।
तदेव मन्ये परमात्मनो हितं
न सर्वलोकेश्वरभावमव्ययम्॥ २७॥

'मनुष्यलोकमें सम्मानित और देवराज इन्द्रके तुल्य तेजस्वी मेरे महात्मा पिताने मुझे जो वनवासकी आज्ञा दी है, उसीको मैं अपने लिये परम हितकारी समझता हूँ। उनकी आज्ञाके विरुद्ध सर्वलोकेश्वर ब्रह्माका अविनाशी पद भी मेरे लिये श्रेयस्कर नहीं है'॥ २७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकाधिकशततमः सर्गः॥ १०१॥

*इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ एकवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १०१॥**

—★—

द्व्यधिकशततमः सर्गः

भरतका पुनः श्रीरामसे राज्य ग्रहण करनेका अनुरोध करके उनसे पिताकी मृत्युका समाचार बताना

रामस्य वचनं श्रुत्वा भरतः प्रत्युवाच ह।
किं मे धर्माद् विहीनस्य राजधर्मः करिष्यति॥ १॥

श्रीरामचन्द्रजीकी बात सुनकर भरतने इस प्रकार उत्तर दिया—'भैया! मैं राज्यका अधिकारी न होनेके कारण उस राजधर्मके अधिकारसे रहित हूँ, अतः मेरे लिये यह राजधर्मका उपदेश किस काम आयगा?॥ १॥

शाश्वतोऽयं सदा धर्मः स्थितोऽस्मासु नरर्षभ।
ज्येष्ठे पुत्रे स्थिते राजा न कनीयान् भवेन्नृपः॥ २॥

'नरश्रेष्ठ! हमारे यहाँ सदासे ही इस शाश्वत धर्मका पालन होता आया है कि ज्येष्ठ पुत्रके रहते हुए छोटा पुत्र राजा नहीं हो सकता॥ २॥

स समृद्धां मया सार्धमयोध्यां गच्छ राघव।
अभिषेचय चात्मानं कुलस्यास्य भवाय नः॥ ३॥

'अतः रघुनन्दन! आप मेरे साथ समृद्धिशालिनी अयोध्यापुरीको चलिये और हमारे कुलके अभ्युदयके लिये राजाके पदपर अपना अभिषेक कराइये॥ ३॥

राजानं मानुषं प्राहुर्देवत्वे सम्मतो मम।
यस्य धर्मार्थसहितं वृत्तमाहुरमानुषम्॥ ४॥

'यद्यपि सब लोग राजाको मनुष्य कहते हैं, तथापि मेरी रायमें वह देवत्वपर प्रतिष्ठित है; क्योंकि उसके धर्म और अर्थयुक्त आचारको साधारण मनुष्यके लिये असम्भावित बताया गया है॥

केकयस्थे च मयि तु त्वयि चारण्यमाश्रिते।
धीमान् स्वर्गं गतो राजा यायजूकः सतां मतः॥ ५॥

'जब मैं केकयदेशमें था और आप वनमें चले आये थे, तब अश्वमेध आदि यज्ञोंके कर्ता और सत्पुरुषोंद्वारा सम्मानित बुद्धिमान् महाराज दशरथ स्वर्गलोकको चले गये॥ ५॥

निष्क्रान्तमात्रे भवति सहसीते सलक्ष्मणे।
दुःखशोकाभिभूतस्तु राजा त्रिदिवमभ्यगात्॥ ६॥

'सीता और लक्ष्मणके साथ आपके राज्यसे निकलते ही दुःख-शोकसे पीड़ित हुए महाराज स्वर्गलोकको चल दिये॥

उत्तिष्ठ पुरुषव्याघ्र क्रियतामुदकं पितुः।
अहं चायं च शत्रुघ्नः पूर्वमेव कृतोदकौ॥ ७॥

'पुरुषसिंह! उठिये और पिताको जलाञ्जलि दान कीजिये। मैं और यह शत्रुघ्न—दोनों पहले ही उनके लिये जलाञ्जलि दे चुके हैं॥

प्रियेण किल दत्तं हि पितृलोकेषु राघव।
अक्षयं भवतीत्याहुर्भवांश्चैव पितुः प्रियः॥ ८॥

'रघुनन्दन! कहते हैं, प्रिय पुत्रका दिया हुआ जल आदि पितृलोकमें अक्षय होता है और आप पिताके परम प्रिय पुत्र हैं॥

त्वामेव शोचंस्तव दर्शनेप्सु-
स्त्वय्येव सक्तामनिवर्त्य बुद्धिम्।
त्वया विहीनस्तव शोकरुग्ण-
स्त्वां संस्मरन्नेव गतः पिता ते॥ ९॥

'आपके पिता आपसे बिलग होते ही शोकके कारण रुग्ण हो गये और आपके ही शोकमें मग्न हो, आपको ही देखनेकी इच्छा रखकर, आपमें ही लगी हुई बुद्धिको आपकी ओरसे न हटाकर, आपका ही स्मरण करते हुए स्वर्गको चले गये'॥ ९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्व्यधिकशततमः सर्गः॥ १०२॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ दोवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १०२॥

—★—

* कुछ प्रतियोंमें यह सर्ग १०४ वें सर्गके रूपमें वर्णित है। १०० वें सर्गके बादके तीन सर्गोंके बाद इसका उल्लेख हुआ है।

त्र्यधिकशततमः सर्गः

श्रीराम आदिका विलाप, पिताके लिये जलाञ्जलि-दान, पिण्डदान और रोदन

तां श्रुत्वा करुणां वाचं पितुर्मरणसंहिताम्।
राघवो भरतेनोक्तां बभूव गतचेतनः॥ १॥

भरतकी कही हुई पिताकी मृत्युसे सम्बन्ध रखनेवाली करुणाजनक बात सुनकर श्रीरामचन्द्रजी दुःखके कारण अचेत हो गये॥ १॥

तं तु वज्रमिवोत्सृष्टमाहवे दानवारिणा।
वाग्वज्रं भरतेनोक्तममनोज्ञं परंतपः॥ २॥
प्रगृह्य रामो बाहू वै पुष्पिताङ्ग इव द्रुमः।
वने परशुना कृत्तस्तथा भुवि पपात ह॥ ३॥

भरतके मुखसे निकला हुआ वह वचन वज्र-सा लगा, मानो दानवशत्रु इन्द्रने युद्धस्थलमें वज्रका प्रहार-सा कर दिया हो। मनको प्रिय न लगनेवाले उस वाग्-वज्रको सुनकर शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीराम दोनों भुजाओंको ऊपर उठाकर जिसकी डालियाँ खिली हुई हों, वनमें कुल्हाड़ीसे कटे हुए उस वृक्षकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़े (भरतके दर्शनसे श्रीरामको हर्ष हुआ था, पिताकी मृत्युके संवादसे दुःख; अतः उन्हें खिले और कटे हुए पेड़की उपमा दी गयी है)॥ २-३॥

तथा हि पतितं रामं जगत्यां जगतीपतिम्।
कूलघातपरिश्रान्तं प्रसुप्तमिव कुञ्जरम्॥ ४॥
भ्रातरस्ते महेष्वासं सर्वतः शोककर्शितम्।
रुदन्तः सह वैदेह्या सिषिचुः सलिलेन वै॥ ५॥

पृथ्वीपति श्रीराम इस प्रकार पृथ्वीपर गिरकर नदीके तटको दाँतोंसे विदीर्ण करनेके परिश्रमसे थककर सोये हुए हाथीके समान प्रतीत होते थे। शोकके कारण दुर्बल हुए उन महाधनुर्धर श्रीरामको सब ओरसे घेरकर सीतासहित रोते हुए वे तीनों भाई आँसुओंके जलसे भिगोने लगे॥ ४-५॥

स तु संज्ञां पुनर्लब्ध्वा नेत्राभ्यामश्रुमुत्सृजन्।
उपाक्रामत काकुत्स्थः कृपणं बहु भाषितुम्॥ ६॥

थोड़ी देर बाद पुनः होशमें आनेपर नेत्रोंसे अश्रुवर्षा करते हुए ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामने अत्यन्त दीन वाणीमें विलाप आरम्भ किया॥ ६॥

स रामः स्वर्गतं श्रुत्वा पितरं पृथिवीपतिम्।
उवाच भरतं वाक्यं धर्मात्मा धर्मसंहितम्॥ ७॥

पृथ्वीपति महाराज दशरथको स्वर्गगामी हुआ सुनकर धर्मात्मा श्रीरामने भरतसे यह धर्मयुक्त बात कही—॥ ७॥

किं करिष्याम्ययोध्यायां ताते दिष्टां गतिं गते।
कस्तां राजवराद्धीनामयोध्यां पालयिष्यति॥ ८॥

'भैया! जब पिताजी परलोकवासी हो गये, तब अयोध्यामें चलकर अब मैं क्या करूँगा? उन राज-शिरोमणि पितासे हीन हुई उस अयोध्याका अब कौन पालन करेगा?॥ ८॥

किं नु तस्य मया कार्यं दुर्जातेन महात्मनः।
यो मृतो मम शोकेन स मया न च संस्कृतः॥ ९॥

'हाय! जो पिताजी मेरे ही शोकसे मृत्युको प्राप्त हुए, उन्हींका मैं दाह-संस्कारतक न कर सका। मुझ-जैसे व्यर्थ जन्म लेनेवाले पुत्रसे उन महात्मा पिताका कौन-सा कार्य सिद्ध हुआ?॥ ९॥

अहो भरत सिद्धार्थो येन राजा त्वयानघ।
शत्रुघ्नेन च सर्वेषु प्रेतकृत्येषु सत्कृतः॥ १०॥

'निष्पाप भरत! तुम्हीं कृतार्थ हो, तुम्हारा अहोभाग्य है, जिससे तुमने और शत्रुघ्नने सभी प्रेतकार्यों (पारलौकिक कृत्यों) में संस्कार-कर्मके द्वारा महाराजका पूजन किया है॥

निष्प्रधानामनेकाग्रां नरेन्द्रेण विना कृताम्।
निवृत्तवनवासोऽपि नायोध्यां गन्तुमुत्सहे॥ ११॥

'महाराज दशरथसे हीन हुई अयोध्या अब प्रधान शासकसे रहित हो अस्वस्थ एवं आकुल हो उठी है; अतः वनवाससे लौटनेपर भी मेरे मनमें अयोध्या जानेका उत्साह नहीं रह गया है॥ ११॥

समाप्तवनवासं मामयोध्यायां परंतप।
कोऽनुशासिष्यति पुनस्ताते लोकान्तरं गते॥ १२॥

'परंतप भरत! वनवासकी अवधि समाप्त करके यदि मैं अयोध्यामें जाऊँ तो फिर कौन मुझे कर्तव्यका उपदेश देगा; क्योंकि पिताजी तो परलोकवासी हो गये॥ १२॥

पुरा प्रेक्ष्य सुवृत्तं मां पिता यान्याह सान्त्वयन्।
वाक्यानि तानि श्रोष्यामि कुतः कर्णसुखान्यहम्॥ १३॥

'पहले जब मैं उनकी किसी आज्ञाका पालन करता था, तब वे मेरे सद्व्यवहारको देखकर मेरा उत्साह बढ़ानेके लिये जो-जो बातें कहा करते थे, कानोंको सुख पहुँचानेवाली उन बातोंको अब मैं किसके मुखसे सुनूँगा'॥ १३॥

एवमुक्त्वाथ भरतं भार्यामभ्येत्य राघवः।
उवाच शोकसंतप्तः पूर्णचन्द्रनिभाननाम्॥ १४॥

भरतसे ऐसा कहकर शोकसंतप्त श्रीरामचन्द्रजी पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाली अपनी पत्नीके पास आकर बोले—॥ १४॥

सीते मृतस्ते श्वशुरः पितृहीनोऽसि लक्ष्मण।
भरतो दुःखमाचष्टे स्वर्गतं पृथिवीपतेः॥ १५॥

'सीते! तुम्हारे श्वशुर चल बसे। लक्ष्मण! तुम पितृहीन हो गये। भरत पृथ्वीपति महाराज दशरथके स्वर्गवासका दुःखदायी समाचार सुना रहे हैं'॥ १५॥

ततो बहुगुणं तेषां बाष्पं नेत्रेष्वजायत।
तथा ब्रुवति काकुत्स्थे कुमाराणां यशस्विनाम्॥ १६॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर उन सभी यशस्वी

कुमारोंके नेत्रोंमें बहुत अधिक आँसू उमड़ आये ॥ १६ ॥

ततस्ते भ्रातरः सर्वे भृशमाश्वास्य दुःखितम्।
अब्रुवञ्जगतीभर्तुः क्रियतामुदकं पितुः ॥ १७ ॥

तदनन्तर सभी भाइयोंने दुःखी हुए श्रीरामचन्द्रजीको सान्त्वना देते हुए कहा—'भैया ! अब पृथ्वीपति पिताजीके लिये जलाञ्जलि दान कीजिये' ॥ १७ ॥

सा सीता स्वर्गतं श्रुत्वा श्वशुरं तं महानृपम्।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां न शशाकेक्षितुं प्रियम् ॥ १८ ॥

अपने श्वशुर महाराज दशरथके स्वर्गवासका समाचार सुनकर सीताके नेत्रोंमें आँसू भर आये। वे अपने प्रियतम श्रीरामचन्द्रजीको ओर देख न सकीं ॥ १८ ॥

सान्त्वयित्वा तु तां रामो रुदतीं जनकात्मजाम्।
उवाच लक्ष्मणं तत्र दुःखितो दुःखितं वचः ॥ १९ ॥

तदनन्तर रोती हुई जनककुमारीको सान्त्वना देकर दुःखमग्न श्रीरामने अत्यन्त दुःखी हुए लक्ष्मणसे कहा— ॥

आनयेङ्गुदिपिण्याकं चीरमाहर चोत्तरम्।
जलक्रियार्थं तातस्य गमिष्यामि महात्मनः ॥ २० ॥

'भाई ! तुम इङ्गुदीका पिसा हुआ फल और चीर एवं उत्तरीय ले आओ। मैं महात्मा पिताको जलदान देनेके लिये चलूँगा ॥ २० ॥

सीता पुरस्ताद् व्रजतु त्वमेनामभितो व्रज।
अहं पश्चाद् गमिष्यामि गतिर्ह्येषा सुदारुणा ॥ २१ ॥

'सीता आगे-आगे चले। इनके पीछे तुम चलो और तुम्हारे पीछे मैं चलूँगा। शोकके समयकी यही परिपाटी है, जो अत्यन्त दारुण होती है' ॥ २१ ॥

ततो नित्यानुगस्तेषां विदितात्मा महामतिः।
मृदुर्दान्तश्च कान्तश्च रामे च दृढभक्तिमान् ॥ २२ ॥
सुमन्त्रस्तैर्नृपसुतैः सार्धमाश्वास्य राघवम्।
अवतारयदालम्ब्य नदीं मन्दाकिनीं शिवाम् ॥ २३ ॥

तत्पश्चात् उनके कुलके परम्परागत सेवक, आत्मज्ञानी, परम बुद्धिमान्, कोमल स्वभाववाले, जितेन्द्रिय, तेजस्वी और श्रीरामके सुदृढ़ भक्त सुमन्त्र समस्त राजकुमारोंके साथ श्रीरामको धैर्य बँधाकर उन्हें हाथका सहारा दे कल्याणमयी मन्दाकिनीके तटपर ले गये ॥ २२-२३ ॥

ते सुतीर्थां ततः कृच्छ्रादुपगम्य यशस्विनः।
नदीं मन्दाकिनीं रम्यां सदा पुष्पितकाननाम् ॥ २४ ॥
शीघ्रस्रोतसमासाद्य तीर्थं शिवमकर्दमम्।
सिषिचुस्तूदकं राज्ञे तत एतद् भवत्विति ॥ २५ ॥

वे यशस्वी राजकुमार सदा पुष्पित काननसे सुशोभित, शीघ्र गतिसे प्रवाहित होनेवाली और उत्तम घाटवाली रमणीय नदी मन्दाकिनीके तटपर कठिनाईसे पहुँचे तथा उसके पङ्करहित, कल्याणप्रद, तीर्थभूत जलको लेकर उन्होंने राजाके लिये जल दिया। उस समय वे बोले—'पिताजी ! यह जल आपकी सेवामें उपस्थित हो' ॥ २४-२५ ॥

प्रगृह्य तु महीपालो जलापूरितमञ्जलिम्।
दिशं याम्यामभिमुखो रुदन् वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥
एतत् ते राजशार्दूल विमलं तोयमक्षयम्।
पितृलोकगतस्याद्य मद्दत्तमुपतिष्ठतु ॥ २७ ॥

पृथ्वीपालक श्रीरामने जलसे भरी हुई अञ्जलि ले दक्षिण दिशाकी ओर मुँह करके रोते हुए इस प्रकार कहा—'मेरे पूज्य पिता राजशिरोमणि महाराज दशरथ ! आज मेरा दिया हुआ यह निर्मल जल पितृलोकमें गये हुए आपको अक्षयरूपसे प्राप्त हो' ॥ २६-२७ ॥

ततो मन्दाकिनीतीरं प्रत्युत्तीर्य स राघवः।
पितुश्चकार तेजस्वी निर्वापं भ्रातृभिः सह ॥ २८ ॥

इसके बाद मन्दाकिनीके जलसे निकलकर किनारेपर आकर तेजस्वी श्रीरघुनाथजीने अपने भाइयोंके साथ मिलकर पिताके लिये पिण्डदान किया ॥ २८ ॥

ऐङ्गुदं बदरैर्मिश्रं पिण्याकं दर्भसंस्तरे।
न्यस्य रामः सुदुःखार्तो रुदन् वचनमब्रवीत् ॥ २९ ॥

उन्होंने इङ्गुदीके गूदेमें बेर मिलाकर उसका पिण्ड तैयार किया और बिछे हुए कुशोंपर उसे रखकर अत्यन्त दुःखसे आर्त हो रोते हुए यह बात कही— ॥ २९ ॥

इदं भुङ्क्ष्व महाराज प्रीतो यदशना वयम्।
यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः ॥ ३० ॥

'महाराज ! प्रसन्नतापूर्वक यह भोजन स्वीकार कीजिये; क्योंकि आजकल यही हमलोगोंका आहार है। मनुष्य स्वयं जो अन्न खाता है, वही उसके देवता भी ग्रहण करते हैं' ॥

ततस्तेनैव मार्गेण प्रत्युत्तीर्य सरित्तटात्।
आरुरोह नरव्याघ्रो रम्यसानुं महीधरम् ॥ ३१ ॥
ततः पर्णकुटीद्वारमासाद्य जगतीपतिः।
परिजग्राह पाणिभ्यामुभौ भरतलक्ष्मणौ ॥ ३२ ॥

इसके बाद उसी मार्गसे मन्दाकिनीतटके ऊपर आकर पृथ्वीपालक पुरुषसिंह श्रीराम सुन्दर शिखरवाले चित्रकूट पर्वतपर चढ़े और पर्णकुटीके द्वारपर आकर भरत और लक्ष्मण दोनों भाइयोंको दोनोंहाथोंसे पकड़कर रोने लगे ॥

तेषां तु रुदतां शब्दात् प्रतिशब्दोऽभवद् गिरौ।
भ्रातृणां सह वैदेह्या सिंहानां नर्दतामिव ॥ ३३ ॥

सीतासहित रोते हुए उन चारों भाइयोंके रुदन-शब्दसे उस पर्वतपर गरजते हुए सिंहोंके दहाड़नेके समान प्रतिध्वनि होने लगी ॥ ३३ ॥

महाबलानां रुदतां कुर्वतामुदकं पितुः।
विज्ञाय तुमुलं शब्दं त्रस्ता भरतसैनिकाः ॥ ३४ ॥
अब्रुवंश्चापि रामेण भरतः संगतो ध्रुवम्।
तेषामेव महाञ्शब्दः शोचतां पितरं मृतम् ॥ ३५ ॥

पिताको जलाञ्जलि देकर रोते हुए उन महाबली भाइयोंके

रोदनका तुमुल नाद सुनकर भरतके सैनिक किसी भयकी आशङ्कासे डर गये। फिर उसे पहचानकर वे एक-दूसरेसे बोले—'निश्चय ही भरत श्रीरामचन्द्रजीसे मिले हैं। अपने परलोकवासी पिताके लिये शोक करनेवाले उन चारों भाइयोंके रोनेका ही यह महान् शब्द है' ॥ ३४-३५ ॥

अथ वाहान् परित्यज्य तं सर्वेऽभिमुखाः स्वनम्।
अप्येकमनसो जग्मुर्यथास्थानं प्रधाविताः॥ ३६॥

यों कहकर उन सबने अपनी सवारियोंको तो वहीं छोड़ दिया और जिस स्थानसे वह आवाज आ रही थी, उसी ओर मुँह किये एकचित्त होकर वे दौड़ पड़े ॥ ३६ ॥

हयैरन्ये गजैरन्ये रथैरन्ये स्वलंकृतैः।
सुकुमारास्तथैवान्ये पद्भिरेव नरा ययुः॥ ३७॥

उनसे भिन्न जो सुकुमार मनुष्य थे, उनमेंसे कुछ लोग घोड़ोंसे, कुछ हाथियोंसे और कुछ सजे-सजाये रथोंसे ही आगे बढ़े। कितने ही मनुष्य पैदल ही चल दिये ॥ ३७ ॥

अचिरप्रोषितं रामं चिरविप्रोषितं यथा।
द्रष्टुकामो जनः सर्वो जगाम सहसाश्रमम्॥ ३८॥

यद्यपि श्रीरामचन्द्रजीको परदेशमें आये अभी थोड़े ही दिन हुए थे, तथापि लोगोंको ऐसा जान पड़ता था कि मानो वे दीर्घकालसे परदेशमें रह रहे हैं; अतः सब लोग उनके दर्शनकी इच्छासे सहसा आश्रमकी ओर चल दिये ॥ ३८ ॥

भ्रातॄणां त्वरितास्ते तु द्रष्टुकामाः समागमम्।
ययुर्बहुविधैर्यानैः खुरनेमिसमाकुलैः॥ ३९॥

वे लोग चारों भाइयोंका मिलन देखनेकी इच्छासे खुरों एवं पहियोंसे युक्त नाना प्रकारकी सवारियोंद्वारा बड़ी उतावलीके साथ चले ॥ ३९ ॥

सा भूमिर्बहुभिर्यानै रथनेमिसमाहता।
मुमोच तुमुलं शब्दं द्यौरिवाभ्रसमागमे॥ ४०॥

अनेक प्रकारकी सवारियों तथा रथकी पहियोंसे आक्रान्त हुई वह भूमि भयंकर शब्द करने लगी; ठीक उसी तरह जैसे मेघोंकी घटा घिर आनेपर आकाशमें गड़गड़ाहट होने लगती है ॥

तेन वित्रासिता नागाः करेणुपरिवारिताः।
आवासयन्तो गन्धेन जग्मुरन्यद्वनं ततः॥ ४१॥

उस तुमुलनादसे भयभीत हुए हाथी हथिनियोंसे घिरकर मदकी गन्धसे उस स्थानको सुवासित करते हुए वहाँसे दूसरे वनमें भाग गये ॥ ४१ ॥

वराहवृकसिंहाश्च महिषाः सृमरास्तथा।
व्याघ्रगोकर्णगवया वित्रेसुः पृषतैः सह॥ ४२॥

वराह, भेड़िये, सिंह, भैंसे, सृमर (मृगविशेष), व्याघ्र, गोकर्ण (मृगविशेष) और गवय (नीलगाय), चितकबरे हरिणोंसहित संत्रस्त हो उठे ॥ ४२ ॥

रथाह्वहंसानत्यूहाः प्लवाः कारण्डवाः परे।
तथा पुंस्कोकिलाः क्रौञ्चा विसंज्ञा भेजिरे दिशः॥ ४३॥

चक्रवाक, हंस, जलकुक्कुट, बक, कारण्डव, नरकोकिल और क्रौञ्च पक्षी होश-हवाश खोकर विभिन्न दिशाओंमें उड़ गये ॥ ४३ ॥

तेन शब्देन वित्रस्तैराकाशं पक्षिभिर्वृतम्।
मनुष्यैरावृता भूमिरुभयं प्रबभौ तदा॥ ४४॥

उस शब्दसे डरे हुए पक्षी आकाशमें छा गये और नीचेकी भूमि मनुष्योंसे भर गयी। इस प्रकार उन दोनोंकी समानरूपसे शोभा होने लगी ॥ ४४ ॥

ततस्तं पुरुषव्याघ्रं यशस्विनमकल्मषम्।
आसीनं स्थण्डिले रामं ददर्श सहसा जनः॥ ४५॥

लोगोंने सहसा पहुँचकर देखा—यशस्वी, पापरहित, पुरुषसिंह श्रीराम वेदीपर बैठे हैं ॥ ४५ ॥

विगर्हमाणः कैकेयीं मन्थरासहितामपि।
अभिगम्य जनो रामं बाष्पपूर्णमुखोऽभवत्॥ ४६॥

श्रीरामके पास जानेपर सबके मुख आँसुओंसे भीग गये और सब लोग मन्थरासहित कैकेयीकी निन्दा करने लगे ॥

तान् नरान् बाष्पपूर्णाक्षान् समीक्ष्याथ सुदुःखितान्।
पर्यष्वजत धर्मज्ञः पितृवन्मातृवच्च सः॥ ४७॥

उन सब लोगोंके नेत्र आँसुओंसे भरे हुए थे और वे सब-के-सब अत्यन्त दुःखी हो रहे थे। धर्मज्ञ श्रीरामने उन्हें देखकर पिता-माताकी भाँति हृदयसे लगाया ॥ ४७ ॥

स तत्र कांश्चित् परिषस्वजे नरान्
नराश्च केचित्तु तमभ्यवादयन्।
चकार सर्वान् सवयस्यबान्धवान्
यथार्हमासाद्य तदा नृपात्मजः॥ ४८॥

श्रीरामने कुछ मनुष्योंको वहाँ छातीसे लगाया तथा कुछ लोगोंने पहुँचकर वहाँ उनके चरणोंमें प्रणाम किया। राजकुमार श्रीरामने उस समय वहाँ आये हुए सभी मित्रों और बन्धु-बान्धवोंका यथायोग्य सम्मान किया ॥ ४८ ॥

ततः स तेषां रुदतां महात्मनां
भुवं च खं चानुविनादयन् स्वनः।
गुहा गिरीणां च दिशश्च संततं
मृदङ्गघोषप्रतिमो विशुश्रुवे॥ ४९॥

उस समय वहाँ रोते हुए उन महात्माओंका वह रोदन शब्द पृथ्वी, आकाश, पर्वतोंकी गुफा और सम्पूर्ण दिशाओंको निरन्तर प्रतिध्वनित करता हुआ मृदङ्गकी ध्वनिके समान सुनायी पड़ता था ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्र्यधिकशततमः सर्गः॥ १०३॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ तीनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १०३ ॥

—★—

चतुरधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठजीके साथ आती हुई कौसल्याका मन्दाकिनीके तटपर सुमित्रा आदिके समक्ष दुःखपूर्ण उद्गार, श्रीराम, लक्ष्मण और सीताके द्वारा माताओंकी चरणवन्दना तथा वसिष्ठजीको प्रणाम करके श्रीराम आदिका सबके साथ बैठना

वसिष्ठः पुरतः कृत्वा दारान् दशरथस्य च।
अभिचक्राम तं देशं रामदर्शनतर्षितः॥ १॥

महर्षि वसिष्ठजी महाराज दशरथकी रानियोंको आगे करके श्रीरामचन्द्रजीको देखनेकी अभिलाषा लिये उस स्थानकी ओर चले, जहाँ उनका आश्रम था॥ १॥

राजपत्न्यश्च गच्छन्त्यो मन्दं मन्दाकिनीं प्रति।
ददृशुस्तत्र तत् तीर्थं रामलक्ष्मणसेवितम्॥ २॥

राजरानियाँ मन्द गतिसे चलती हुई जब मन्दाकिनीके तटपर पहुँचीं, तब उन्होंने वहाँ श्रीराम और लक्ष्मणके स्नान करनेका घाट देखा॥ २॥

कौसल्या बाष्पपूर्णेन मुखेन परिशुष्यता।
सुमित्रामब्रवीद् दीनां याश्चान्या राजयोषितः॥ ३॥

इस समय कौसल्याके मुँहपर आँसुओंकी धारा बह चली। उन्होंने सूखे एवं उदास मुखसे दीन सुमित्रा तथा अन्य राजरानियोंसे कहा—॥ ३॥

इदं तेषामनाथानां क्लिष्टमक्लिष्टकर्मणाम्।
वने प्राक्कलनं तीर्थं ये ते निर्विषयीकृताः॥ ४॥

'जो राज्यसे निकाल दिये गये हैं तथा जो दूसरोंको क्लेश न देनेवाले कार्य ही करते हैं, उन मेरे अनाथ बच्चोंका यह वनमें दुर्गम तीर्थ है, जिसे इन्होंने पहले-पहल स्वीकार किया है॥ ४॥

इतः सुमित्रे पुत्रस्ते सदा जलमतन्द्रितः।
स्वयं हरति सौमित्रिर्मम पुत्रस्य कारणात्॥ ५॥

'सुमित्रे! आलस्यरहित तुम्हारे पुत्र लक्ष्मण स्वयं आकर सदा यहींसे मेरे पुत्रके लिये जल ले जाया करते हैं॥ ५॥

जघन्यमपि ते पुत्रः कृतवान् न तु गर्हितः।
भ्रातुर्यदर्थरहितं सर्वं तद् गर्हितं गुणैः॥ ६॥

'यद्यपि तुम्हारे पुत्रने छोटे-से-छोटा सेवा-कार्य भी स्वीकार किया है, तथापि इससे वे निन्दित नहीं हुए हैं; क्योंकि सद्गुणोंसे युक्त ज्येष्ठ भाईके प्रयोजनसे रहित जो कार्य होते हैं, वे ही सब निन्दित माने गये हैं॥ ६॥

अद्यायमपि ते पुत्रः क्लेशानामतथोचितः।
नीचानर्थसमाचारं सज्जं कर्म प्रमुञ्चतु॥ ७॥

'तुम्हारा यह पुत्र भी उन क्लेशोंके योग्य नहीं है, जिन्हें आजकल वह सहन करता है। अब श्रीराम लौट चलें और निम्न श्रेणीके पुरुषोंके योग्य जो दुःखजनक कार्य उसके सामने प्रस्तुत है, उसे वह छोड़ दे—उसे करनेका अवसर ही उसके लिये न रह जाय'॥ ७॥

दक्षिणाग्रेषु दर्भेषु सा ददर्श महीतले।
पितुरिङ्गुदिपिण्याकं न्यस्तमायतलोचना॥ ८॥

आगे जाकर विशाललोचना कौसल्याने देखा कि श्रीरामने पृथ्वीपर बिछे हुए दक्षिणाग्र कुशोंके ऊपर अपने पिताके लिये पिसे हुए इङ्गुदीके फलका पिण्ड रख छोड़ा है॥ ८॥

तं भूमौ पितुरार्तेन न्यस्तं रामेण वीक्ष्य सा।
उवाच देवी कौसल्या सर्वा दशरथस्त्रियः॥ ९॥

दुःखी रामके द्वारा पिताके लिये भूमिपर रखे हुए उस पिण्डको देखकर देवी कौसल्याने दशरथकी सब रानियोंसे कहा—॥ ९॥

इदमिक्ष्वाकुनाथस्य राघवस्य महात्मनः।
राघवेण पितुर्दत्तं पश्यतैतद् यथाविधि॥ १०॥

'बहनो! देखो, श्रीरामने इक्ष्वाकुकुलके स्वामी रघुकुलभूषण महात्मा पिताके लिये यह विधिपूर्वक पिण्डदान किया है॥ १०॥

तस्य देवसमानस्य पार्थिवस्य महात्मनः।
नैतदौपयिकं मन्ये भुक्तभोगस्य भोजनम्॥ ११॥

'देवताके समान तेजस्वी वे महामना भूपाल नाना प्रकारके उत्तम भोग भोग चुके हैं। उनके लिये यह भोजन मैं उचित नहीं मानती॥ ११॥

चतुरन्तां महीं भुक्त्वा महेन्द्रसदृशो भुवि।
कथमिङ्गुदिपिण्याकं स भुङ्क्ते वसुधाधिपः॥ १२॥

'जो चारों समुद्रोंतककी पृथ्वीका राज्य भोगकर भूतलपर देवराज इन्द्रके समान प्रतापी थे, वे भूपाल महाराज दशरथ पिसे हुए इङ्गुदी-फलका पिण्ड कैसे खा रहे होंगे?॥ १२॥

अतो दुःखतरं लोके न किंचित् प्रतिभाति मे।
यत्र रामः पितुर्दद्यादिङ्गुदीक्षोदमृद्धिमान्॥ १३॥

'संसारमें इससे बढ़कर महान् दुःख मुझे और कोई नहीं प्रतीत होता है, जिसके अधीन होकर श्रीराम समृद्धिशाली होते हुए भी अपने पिताको इङ्गुदीके पिसे हुए फलका पिण्ड दें॥ १३॥

रामेणेङ्गुदिपिण्याकं पितुर्दत्तं समीक्ष्य मे।
कथं दुःखेन हृदयं न स्फोटति सहस्रधा॥ १४॥

'श्रीरामने अपने पिताको इङ्गुदीका पिण्याक (पिसा हुआ फल) प्रदान किया है—यह देखकर दुःखसे मेरे हृदयके सहस्रों टुकड़े क्यों नहीं हो जाते हैं?॥ १४॥

श्रुतिस्तु खल्वियं सत्या लौकिकी प्रतिभाति मे।
यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः॥ १५॥

'यह लौकिकी श्रुति (लोकविख्यात कहावत) निश्चय ही मुझे सत्य प्रतीत हो रही है कि मनुष्य स्वयं जो अन्न खाता है, उसके देवता भी उसी अन्नको ग्रहण करते हैं' ॥ १५ ॥

एवमार्तां सपत्न्यस्ता जग्मुराश्वास्य तां तदा ।
ददृशुश्चाश्रमे रामं स्वर्गच्युतमिवामरम् ॥ १६ ॥

इस प्रकार शोकसे आर्त हुई कौसल्याको उस समय उनकी सौतें समझा-बुझाकर उन्हें आगे ले गयीं। आश्रमपर पहुँचकर उन सबने श्रीरामको देखा, जो स्वर्गसे गिरे हुए देवताके समान जान पड़ते थे ॥ १६ ॥

तं भोगैः सम्परित्यक्तं रामं सम्प्रेक्ष्य मातरः ।
आर्ता मुमुचुरश्रूणि सस्वरं शोककर्शिताः ॥ १७ ॥

भोगोंका परित्याग करके तपस्वी जीवन व्यतीत करनेवाले श्रीरामको देखकर उनकी माताएँ शोकसे कातर हो गयीं और आर्तभावसे फूट-फूटकर रोती हुई आँसू बहाने लगीं ॥ १७ ॥

तासां रामः समुत्थाय जग्राह चरणाम्बुजान् ।
मातॄणां मनुजव्याघ्रः सर्वासां सत्यसंगरः ॥ १८ ॥

सत्यप्रतिज्ञ नरश्रेष्ठ श्रीराम माताओंको देखते ही उठकर खड़े हो गये और बारी-बारीसे उन सबके चरणारविन्दोंका स्पर्श किया ॥ १८ ॥

ताः पाणिभिः सुखस्पर्शैर्मृद्वङ्गुलितलैः शुभैः ।
प्रममार्जू रजः पृष्ठाद् रामस्यायतलोचनाः ॥ १९ ॥

विशाल नेत्रोंवाली माताएँ स्नेहवश जिनकी अंगुलियाँ कोमल और स्पर्श सुखद था, उन सुन्दर हाथोंसे श्रीरामकी पीठसे धूल पोंछने लगीं ॥ १९ ॥

सौमित्रिरपि ताः सर्वा मातॄः सम्प्रेक्ष्य दुःखितः ।
अभ्यवादयदासक्तं शनै रामादनन्तरम् ॥ २० ॥

श्रीरामके बाद लक्ष्मण भी उन सभी दुःखिया माताओंको देखकर दुःखी हो गये और उन्होंने स्नेहपूर्वक धीरे-धीरे उनके चरणोंमें प्रणाम किया ॥ २० ॥

यथा रामे तथा तस्मिन् सर्वा ववृतिरे स्त्रियः ।
वृत्तिं दशरथाज्जाते लक्ष्मणे शुभलक्षणे ॥ २१ ॥

उन सब माताओंने श्रीरामके साथ जैसा बर्ताव किया था, वैसे ही उत्तम लक्षणोंसे युक्त दशरथनन्दन लक्ष्मणके साथ भी किया ॥ २१ ॥

सीतापि चरणांस्तासामुपसंगृह्य दुःखिता ।
श्वश्रूणामश्रुपूर्णाक्षी सम्बभूवाग्रतः स्थिता ॥ २२ ॥

तदनन्तर आँसूभरे नेत्रोंवाली दुःखिनी सीता भी सभी सासुओंके चरणोंमें प्रणाम करके उनके आगे खड़ी हो गयी ॥

तां परिष्वज्य दुःखार्ता माता दुहितरं यथा ।
वनवासकृतां दीनां कौसल्या वाक्यमब्रवीत् ॥ २३ ॥

तब दुःखसे पीड़ित हुई कौसल्याने जैसे माता अपनी बेटीको हृदयसे लगा लेती है, उसी प्रकार वनवासके कारण दीन (दुर्बल) हुई सीताको छातीसे चिपका लिया और इस प्रकार कहा— ॥ २३ ॥

वैदेहराजन्यसुता स्नुषा दशरथस्य च ।
रामपत्नी कथं दुःखं सम्प्राप्ता विजने वने ॥ २४ ॥

'विदेहराज जनककी पुत्री, राजा दशरथकी पुत्रवधू तथा श्रीरामकी पत्नी इस निर्जन वनमें क्यों दुःख भोग रही है ? ॥

पद्ममातपसंतप्तं परिक्लिष्टमिवोत्पलम् ।
काञ्चनं रजसा ध्वस्तं क्लिष्टं चन्द्रमिवाम्बुदैः ॥ २५ ॥

'बेटी ! तुम्हारा मुख धूपसे तपे हुए कमल, कुचले हुए उत्पल, धूलसे ध्वस्त हुए सुवर्ण और बादलोंसे ढके हुए चन्द्रमाकी भाँति श्रीहीन हो रहा है ॥ २५ ॥

मुखं ते प्रेक्ष्य मां शोको दहत्यग्निरिवाश्रयम् ।
भृशं मनसि वैदेहि व्यसनारणिसम्भवः ॥ २६ ॥

'विदेहनन्दिनि ! जैसे आग अपने उत्पत्तिस्थान काष्ठको दग्ध कर देती है, उसी प्रकार तुम्हारे इस मुखको देखकर मेरे मनमें संकटरूपी अरणिसे उत्पन्न हुआ यह शोकानल मुझे जलाये देता है' ॥ २६ ॥

ब्रुवन्त्यामेवमार्तायां जनन्यां भरताग्रजः ।
पादावासाद्य जग्राह वसिष्ठस्य च राघवः ॥ २७ ॥

शोकाकुल हुई माता जब इस प्रकार विलाप कर रही थी, उसी समय भरतके बड़े भाई श्रीरामने वसिष्ठजीके चरणोंमें पड़कर उन्हें दोनों हाथोंसे पकड़ लिया ॥ २७ ॥

पुरोहितस्याग्निसमस्य तस्य वै
बृहस्पतेरिन्द्र इवामराधिपः ।
प्रगृह्य पादौ सुसमृद्धतेजसः
सहैव तेनोपविवेश राघवः ॥ २८ ॥

जैसे देवराज इन्द्र बृहस्पतिके चरणोंका स्पर्श करते हैं, उसी प्रकार अग्निके समान बढ़े हुए तेजवाले पुरोहित वसिष्ठजीके दोनों पैर पकड़कर श्रीरामचन्द्रजी उनके साथ ही पृथ्वीपर बैठ गये ॥ २८ ॥

ततो जघन्यं सहितैः स्वमन्त्रिभिः
पुरप्रधानैश्च तथैव सैनिकैः ।
जनेन धर्मज्ञतमेन धर्मवा-
नुपोपविष्टो भरतस्तदाग्रजम् ॥ २९ ॥

तदनन्तर धर्मात्मा भरत एक साथ आये हुए अपने सभी मन्त्रियों, प्रधान-प्रधान पुरवासियों, सैनिकों तथा परम धर्मज्ञ पुरुषोंके साथ अपने बड़े भाईके पास उनके पीछे जा बैठे ॥

उपोपविष्टस्तु तदातिवीर्यवां-
स्तपस्विवेषेण समीक्ष्य राघवम् ।
श्रिया ज्वलन्तं भरतः कृताञ्जलि-
र्यथा महेन्द्रः प्रयतः प्रजापतिम् ॥ ३० ॥

उस समय श्रीरामके आसनके समीप बैठे हुए अत्यन्त पराक्रमी भरतने दिव्य दीप्तिसे प्रकाशित होनेवाले श्रीरघुनाथजीको तपस्वीके वेशमें देखकर उनके प्रति उसी

प्रकार हाथ जोड़ लिये जैसे देवराज इन्द्र प्रजापति ब्रह्माके समक्ष विनीतभावसे हाथ जोड़ते हैं॥ ३०॥

किमेष वाक्यं भरतोऽद्य राघवं
प्रणम्य सत्कृत्य च साधु वक्ष्यति।
इतीव तस्यार्यजनस्य तत्त्वतो
बभूव कौतूहलमुत्तमं तदा॥ ३१॥

उस समय वहाँ बैठे हुए श्रेष्ठ पुरुषोंके हृदयमें यथार्थ रूपसे यह उत्तम कौतूहल-सा जाग उठा कि देखें ये भरतजी श्रीरामचन्द्रजीको सत्कारपूर्वक प्रणाम करके आज उत्तम रीतिसे उनके समक्ष क्या कहते हैं?॥ ३१॥

स राघवः सत्यधृतिश्च लक्ष्मणो
महानुभावो भरतश्च धार्मिकः।
वृताः सुहृद्भिश्च विरेजिरेऽध्वरे
यथा सदस्यैः सहितास्त्रयोऽग्नयः॥ ३२॥

वे सत्यप्रतिज्ञ श्रीराम, महानुभाव लक्ष्मण तथा धर्मात्मा भरत—ये तीनों भाई अपने सुहृदोंसे घिरकर यज्ञशालामें सदस्योंद्वारा घिरे हुए त्रिविध अग्नियोंके समान शोभा पा रहे थे॥ ३२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुरधिकशततमः सर्गः॥ १०४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ चारवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १०४॥

पञ्चाधिकशततमः सर्गः

भरतका श्रीरामको अयोध्यामें चलकर राज्य ग्रहण करनेके लिये कहना, श्रीरामका जीवनकी अनित्यता बताते हुए पिताकी मृत्युके लिये शोक न करनेका भरतको उपदेश देना और पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये ही राज्य ग्रहण न करके वनमें रहनेका ही दृढ़ निश्चय बताना

ततः पुरुषसिंहानां वृतानां तैः सुहृद्गणैः।
शोचतामेव रजनी दुःखेन व्यत्यवर्तत॥ १॥
रजन्यां सुप्रभातायां भ्रातरस्ते सुहृद्वृताः।
मन्दाकिन्यां हुतं जप्यं कृत्वा राममुपागमन्॥ २॥

अपने सुहृदोंसे घिरकर बैठे हुए पुरुषसिंह श्रीराम आदि भाइयोंकी वह रात्रि पिताकी मृत्युके दुःखसे शोक करते हुए ही व्यतीत हुई। सबेरा होनेपर भरत आदि तीनों भाई सुहृदोंके साथ ही मन्दाकिनीके तटपर गये और स्नान, होम एवं जप आदि करके पुनः श्रीरामके पास लौट आये॥ १-२॥

तूष्णीं ते समुपासीना न कश्चित् किंचिदब्रवीत्।
भरतस्तु सुहृन्मध्ये रामं वचनमब्रवीत्॥ ३॥

वहाँ आकर सभी चुपचाप बैठ गये। कोई कुछ नहीं बोल रहा था। तब सुहृदोंके बीचमें बैठे हुए भरतने श्रीरामसे इस प्रकार कहा—॥ ३॥

सान्त्विता मामिका माता दत्तं राज्यमिदं मम।
तद् ददामि तवैवाहं भुङ्क्ष्व राज्यमकण्टकम्॥ ४॥

'भैया! पिताजीने वरदान देकर मेरी माताको संतुष्ट कर दिया और माताने यह राज्य मुझे दे दिया। अब मैं अपनी ओरसे यह अकण्टक राज्य आपकी ही सेवामें समर्पित करता हूँ। आप इसका पालन एवं उपभोग कीजिये॥ ४॥

महतेवाम्बुवेगेन भिन्नः सेतुर्जलागमे।
दुरावरं त्वदन्येन राज्यखण्डमिदं महत्॥ ५॥

'वर्षाकालमें जलके महान् वेगसे टूटे हुए सेतुकी भाँति इस विशाल राज्यखण्डको सँभालना आपके सिवा दूसरेके लिये अत्यन्त कठिन है॥ ५॥

गतिं खर इवाश्वस्य तार्क्ष्यस्येव पतत्त्रिणः।
अनुगन्तुं न शक्तिर्मे गतिं तव महीपते॥ ६॥

'पृथ्वीनाथ! जैसे गदहा घोड़ेकी और अन्य साधारण पक्षी गरुड़की चाल नहीं चल सकते, उसी प्रकार मुझमें आपकी गतिका—आपकी पालन-पद्धतिका अनुसरण करनेकी शक्ति नहीं है॥ ६॥

सुजीवं नित्यशस्तस्य यः परैरुपजीव्यते।
राम तेन तु दुर्जीवं यः परानुपजीवति॥ ७॥

'श्रीराम! जिसके पास आकर दूसरे लोग जीवन-निर्वाह करते हैं, उसीका जीवन उत्तम है और जो दूसरोंका आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करता है, उसका जीवन दुःखमय है (अतः आपके लिये राज्य करना ही उचित है)॥ ७॥

यथा तु रोपितो वृक्षः पुरुषेण विवर्धितः।
ह्रस्वकेन दुरारोहो रूढस्कन्धो महाद्रुमः॥ ८॥
स यदा पुष्पितो भूत्वा फलानि न विदर्शयेत्।
स तां नानुभवेत् प्रीतिं यस्य हेतोः प्ररोपितः॥ ९॥
एषोपमा महाबाहो तदर्थं वेत्तुमर्हसि।
यत्र त्वमस्मान् वृषभो भर्ता भृत्यान् न शाधि हि॥ १०॥

'जैसे फलकी इच्छा रखनेवाले किसी पुरुषने एक वृक्ष लगाया, उसे पाल-पोसकर बड़ा किया; फिर उसके तने मोटे हो गये और वह ऐसा विशाल वृक्ष हो गया कि किसी नाटे कदके पुरुषके लिये उसपर चढ़ना अत्यन्त कठिन था। उस वृक्षमें जब फूल लग जायँ, उसके बाद भी यदि वह फल न दिखा सके तो जिसके लिये उस वृक्षको लगाया गया था, वह उद्देश्य पूरा न हो सका। ऐसी स्थितिमें उसे लगानेवाला पुरुष उस प्रसन्नताका अनुभव नहीं करता, जो फलकी प्राप्ति

होनेसे सम्भावित थी। महाबाहो! यह एक उपमा है, इसका अर्थ आप स्वयं समझ लें (अर्थात् पिताजीने आप-जैसे सर्वसद्गुणसम्पन्न पुत्रको लोकरक्षाके लिये उत्पन्न किया था। यदि आपने राज्यपालनका भार अपने हाथमें नहीं लिया तो उनका वह उद्देश्य व्यर्थ हो जायगा)। इस राज्यपालनके अवसरपर आप श्रेष्ठ एवं भरण-पोषणमें समर्थ होकर भी यदि हम भृत्योंका शासन नहीं करेंगे तो पूर्वोक्त उपमा ही आपके लिये लागू होगी॥ ८—१०॥

श्रेणयस्त्वां महाराज पश्यन्त्वग्र्याश्च सर्वशः।
प्रतपन्तमिवादित्यं राज्यस्थितमरिंदमम्॥ ११॥

'महाराज! विभिन्न जातियोंके सङ्घ और प्रधान-प्रधान पुरुष आप शत्रुदमन नरेशको सब ओर तपते हुए सूर्यकी भाँति राज्यसिंहासनपर विराजमान देखें॥ ११॥

तथानुयाने काकुत्स्थ मत्ता नर्दन्तु कुञ्जराः।
अन्तःपुरगता नार्यो नन्दन्तु सुसमाहिताः॥ १२॥

'ककुत्स्थकुलभूषण! इस प्रकार आपके अयोध्याको लौटते समय मतवाले हाथी गर्जना करें और अन्तःपुरकी स्त्रियाँ एकाग्रचित्त होकर प्रसन्नतापूर्वक आपका अभिनन्दन करें'॥ १२॥

तस्य साध्वनुमन्यन्त नागरा विविधा जनाः।
भरतस्य वचः श्रुत्वा रामं प्रत्यनुयाचतः॥ १३॥

इस प्रकार श्रीरामसे राज्य-ग्रहणके लिये प्रार्थना करते हुए भरतजीकी बात सुनकर नगरके भिन्न-भिन्न मनुष्योंने उसका भलीभाँति अनुमोदन किया॥ १३॥

तमेवं दुःखितं प्रेक्ष्य विलपन्तं यशस्विनम्।
रामः कृतात्मा भरतं समाश्वासयदात्मवान्॥ १४॥

तब शिक्षित बुद्धिवाले अत्यन्त धीर भगवान् श्रीरामने यशस्वी भरतको इस तरह दुःखी हो विलाप करते देख उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—॥ १४॥

नात्मनः कामकारो हि पुरुषोऽयमनीश्वरः।
इतश्चेतरतश्चैनं कृतान्तः परिकर्षति॥ १५॥

'भाई! यह जीव ईश्वरके समान स्वतन्त्र नहीं है, अतः कोई यहाँ अपनी इच्छाके अनुसार कुछ नहीं कर सकता। काल इस पुरुषको इधर-उधर खींचता रहता है॥ १५॥

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥ १६॥

'समस्त संग्रहोंका अन्त विनाश है। लौकिक उन्नतियोंका अन्त पतन है। संयोगका अन्त वियोग है और जीवनका अन्त मरण है॥ १६॥

यथा फलानां पक्वानां नान्यत्र पतनाद् भयम्।
एवं नरस्य जातस्य नान्यत्र मरणाद् भयम्॥ १७॥

'जैसे पके हुए फलोंको पतनके सिवा और किसीसे भय नहीं है, उसी प्रकार उत्पन्न हुए मनुष्योंको मृत्युके सिवा और किसीसे भय नहीं है॥ १७॥

यथाऽऽगारं दृढस्थूणं जीर्णं भूत्वोपसीदति।
तथावसीदन्ति नरा जरामृत्युवशंगताः॥ १८॥

'जैसे सुदृढ़ खम्भेवाला मकान भी पुराना होनेपर गिर जाता है, उसी प्रकार मनुष्य जरा और मृत्युके वशमें पड़कर नष्ट हो जाते हैं॥ १८॥

अत्येति रजनी या तु सा न प्रतिनिवर्तते।
यात्येव यमुना पूर्णं समुद्रमुदकार्णवम्॥ १९॥

'जो रात बीत जाती है, वह लौटकर फिर नहीं आती है। जैसे यमुना जलसे भरे हुए समुद्रकी ओर जाती ही है, उधरसे लौटती नहीं॥ १९॥

अहोरात्राणि गच्छन्ति सर्वेषां प्राणिनामिह।
आयूंषि क्षपयन्त्याशु ग्रीष्मे जलमिवांशवः॥ २०॥

'दिन-रात लगातार बीत रहे हैं और इस संसारमें सभी प्राणियोंकी आयुका तीव्र गतिसे नाश कर रहे हैं। ठीक वैसे ही जैसे सूर्यकी किरणें ग्रीष्म ऋतुमें जलको शीघ्रतापूर्वक सोखती रहती हैं॥ २०॥

आत्मानमनुशोच त्वं किमन्यमनुशोचसि।
आयुस्तु हीयते यस्य स्थितस्यास्य गतस्य च॥ २१॥

'तुम अपने ही लिये चिन्ता करो, दूसरेके लिये क्यों बार-बार शोक करते हो। कोई इस लोकमें स्थित हो या अन्यत्र गया हो, जिस किसीकी भी आयु तो निरन्तर क्षीण ही हो रही है॥ २१॥

सहैव मृत्युर्व्रजति सह मृत्युर्निषीदति।
गत्वा सुदीर्घमध्वानं सह मृत्युर्निवर्तते॥ २२॥

'मृत्यु साथ ही चलती है, साथ ही बैठती है और बहुत बड़े मार्गकी यात्रामें भी साथ ही जाकर वह मनुष्यके साथ ही लौटती है॥ २२॥

गात्रेषु वलयः प्राप्ताः श्वेताश्चैव शिरोरुहाः।
जरया पुरुषो जीर्णः किं हि कृत्वा प्रभावयेत्॥ २३॥

'शरीरमें झुर्रियाँ पड़ गयीं, सिरके बाल सफेद हो गये। फिर जरावस्थासे जीर्ण हुआ मनुष्य कौन-सा उपाय करके मृत्युसे बचनेके लिये अपना प्रभाव प्रकट कर सकता है?॥ २३॥

नन्दन्त्युदित आदित्ये नन्दन्त्यस्तमितेऽहनि।
आत्मनो नावबुध्यन्ते मनुष्या जीवितक्षयम्॥ २४॥

'लोग सूर्योदय होनेपर प्रसन्न होते हैं, सूर्यास्त होनेपर भी खुश होते हैं; किंतु यह नहीं जानते कि प्रतिदिन अपने जीवनका नाश हो रहा है॥ २४॥

हृष्यन्त्यृतुमुखं दृष्ट्वा नवं नवमिवागतम्।
ऋतूनां परिवर्तेन प्राणिनां प्राणसंक्षयः॥ २५॥

'किसी ऋतुका प्रारम्भ देखकर मानो वह नयी-नयी आयी हो (पहले कभी आयी ही न हो) ऐसा समझकर लोग हर्षसे खिल उठते हैं, परंतु यह नहीं जानते कि इन ऋतुओंके

परिवर्तनसे प्राणियोंके प्राणोंका (आयुका) क्रमशः क्षय हो रहा है ॥ २५ ॥

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महार्णवे ।
समेत्य तु व्यपेयातां कालमासाद्य कंचन ॥ २६ ॥
एवं भार्याश्च पुत्राश्च ज्ञातयश्च वसूनि च ।
समेत्य व्यवधावन्ति ध्रुवो ह्येषां विनाभवः ॥ २७ ॥

'जैसे महासागरमें बहते हुए दो काठ कभी एक-दूसरेसे मिल जाते हैं और कुछ कालके बाद अलग भी हो जाते हैं, उसी प्रकार स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब और धन भी मिलकर बिछुड़ जाते हैं; क्योंकि इनका वियोग अवश्यम्भावी है ॥ २६-२७ ॥

नात्र कश्चिद् यथाभावं प्राणी समतिवर्तते ।
तेन तस्मिन् न सामर्थ्यं प्रेतस्यास्त्यनुशोचतः ॥ २८ ॥

'इस संसारमें कोई भी प्राणी यथासमय प्राप्त होनेवाले जन्म-मरणका उल्लङ्घन नहीं कर सकता। इसलिये जो किसी मरे हुए व्यक्तिके लिये बारंबार शोक करता है, उसमें भी यह सामर्थ्य नहीं है कि वह अपनी ही मृत्युको टाल सके ॥ २८ ॥

यथा हि सार्थं गच्छन्तं ब्रूयात् कश्चित् पथि स्थितः ।
अहमप्यागमिष्यामि पृष्ठतो भवतामिति ॥ २९ ॥
एवं पूर्वैर्गतो मार्गः पैतृपितामहैर्ध्रुवः ।
तमापन्नः कथं शोचेद् यस्य नास्ति व्यतिक्रमः ॥ ३० ॥

'जैसे आगे जाते हुए यात्रियों अथवा व्यापारियोंके समुदायसे रास्तेमें खड़ा हुआ पथिक यों कहे कि मैं भी आप लोगोंके पीछे-पीछे आऊँगा और तदनुसार वह उनके पीछे-पीछे जाय, उसी प्रकार हमारे पूर्वज पिता-पितामह आदि जिस मार्गसे गये हैं, जिसपर जाना अनिवार्य है तथा जिससे बचनेका कोई उपाय नहीं है, उसी मार्गपर स्थित हुआ मनुष्य किसी औरके लिये शोक कैसे करे ? ॥ २९-३० ॥

वयसः पतमानस्य स्रोतसो वानिवर्तिनः ।
आत्मा सुखे नियोक्तव्यः सुखभाजः प्रजाः स्मृताः ॥ ३१ ॥

'जैसे नदियोंका प्रवाह पीछे नहीं लौटता, उसी प्रकार दिन-दिन ढलती हुई अवस्था फिर नहीं लौटती है। उसका क्रमशः नाश हो रहा है, यह सोचकर आत्माको कल्याणके साधनभूत धर्ममें लगावे; क्योंकि सभी लोग अपना कल्याण चाहते हैं ॥

धर्मात्मा सुशुभैः कृत्स्नैः क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणैः ।
धूतपापो गतः स्वर्गं पिता नः पृथिवीपतिः ॥ ३२ ॥

'तात ! हमारे पिता धर्मात्मा थे। उन्होंने पर्याप्त दक्षिणाएँ देकर प्रायः सभी परम शुभकारक यज्ञोंका अनुष्ठान किया था। उनके सारे पाप धुल गये थे। अतः वे महाराज स्वर्गलोकमें गये हैं ॥ ३२ ॥

भृत्यानां भरणात् सम्यक् प्रजानां परिपालनात् ।
अर्थादानाच्च धर्मेण पिता नस्त्रिदिवं गतः ॥ ३३ ॥

'वे भरण-पोषणके योग्य परिजनोंका भरण करते थे। प्रजाजनोंका भलीभाँति पालन करते थे और प्रजाजनोंसे धर्मके अनुसार कर आदिके रूपमें धन लेते थे—इन सब कारणोंसे हमारे पिता उत्तम स्वर्गलोकमें पधारे हैं ॥ ३३ ॥

कर्मभिस्तु शुभैरिष्टैः क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणैः ।
स्वर्गं दशरथः प्राप्तः पिता नः पृथिवीपतिः ॥ ३४ ॥

'सर्वप्रिय शुभ कर्मों तथा प्रचुर दक्षिणावाले यज्ञोंके अनुष्ठानोंसे हमारे पिता पृथ्वीपति महाराज दशरथ स्वर्गलोकमें गये हैं ॥ ३४ ॥

इष्ट्वा बहुविधैर्यज्ञैर्भोगांश्चावाप्य पुष्कलान् ।
उत्तमं चायुरासाद्य स्वर्गतः पृथिवीपतिः ॥ ३५ ॥

'उन्होंने नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा यज्ञपुरुषकी आराधना की, प्रचुर भोग प्राप्त किये और उत्तम आयु पायी थी, इसके बाद वे महाराज यहाँसे स्वर्गलोकको पधारे हैं ॥ ३५ ॥

आयुरुत्तममासाद्य भोगानपि च राघवः ।
न स शोच्यः पिता तात स्वर्गतः सत्कृतः सताम् ॥ ३६ ॥

'तात ! अन्य राजाओंकी अपेक्षा उत्तम आयु और श्रेष्ठ भोगोंको पाकर हमारे पिता सदा सत्पुरुषोंके द्वारा सम्मानित हुए हैं; अतः स्वर्गवासी हो जानेपर भी वे शोक करनेयोग्य नहीं हैं ॥ ३६ ॥

स जीर्णमानुषं देहं परित्यज्य पिता हि नः ।
दैवीमृद्धिमनुप्राप्तो ब्रह्मलोकविहारिणीम् ॥ ३७ ॥

'हमारे पिताने जराजीर्ण मानव-शरीरका परित्याग करके दैवी सम्पत्ति प्राप्त की है, जो ब्रह्मलोकमें विहार करानेवाली है ॥ ३७ ॥

तं तु नैवंविधः कश्चित् प्राज्ञः शोचितुमर्हसि ।
त्वद्विधो मद्विधश्चापि श्रुतवान् बुद्धिमत्तरः ॥ ३८ ॥

'कोई भी ऐसा विद्वान्, जो तुम्हारे और मेरे समान शास्त्र-ज्ञान-सम्पन्न एवं परम बुद्धिमान् है, पिताजीके लिये शोक नहीं कर सकता ॥ ३८ ॥

एते बहुविधाः शोका विलापरुदिते तदा ।
वर्जनीया हि धीरेण सर्वावस्थासु धीमता ॥ ३९ ॥

'धीर एवं प्रज्ञावान् पुरुषको सभी अवस्थाओंमें ये नाना प्रकारके शोक, विलाप तथा रोदन त्याग देने चाहिये ॥ ३९ ॥

स स्वस्थो भव मा शोको यात्वा चावस तां पुरीम् ।
तथा पित्रा नियुक्तोऽसि वशिना वदतां वर ॥ ४० ॥

'इसलिये तुम स्वस्थ हो जाओ, तुम्हारे मनमें शोक नहीं होना चाहिये। वक्ताओंमें श्रेष्ठ भरत ! तुम यहाँसे जाकर अयोध्यापुरीमें निवास करो; क्योंकि मनको वशमें रखनेवाले पूज्य पिताजीने तुम्हारे लिये यही आदेश दिया है ॥ ४० ॥

यत्राहमपि तेनैव नियुक्तः पुण्यकर्मणा ।
तत्रैवाहं करिष्यामि पितुरार्यस्य शासनम् ॥ ४१ ॥

'उन पुण्यकर्मा महाराजने मुझे भी जहाँ रहनेकी आज्ञा दी है, वहीं रहकर मैं उन पूज्य पिताके आदेशका पालन करूँगा ॥ ४१ ॥

न मया शासनं तस्य त्यक्तुं न्याय्यमरिंदम।
स त्वयापि सदा मान्यः स वै बन्धुः स नः पिता॥ ४२॥

'शत्रुदमन भरत! पिताकी आज्ञाकी अवहेलना करना मेरे लिये कदापि उचित नहीं है। वे तुम्हारे लिये भी सर्वदा सम्मानके योग्य हैं; क्योंकि वे ही हमलोगोंके हितैषी बन्धु और जन्मदाता थे॥ ४२॥

तद् वचः पितुरेवाहं सम्मतं धर्मचारिणाम्।
कर्मणा पालयिष्यामि वनवासेन राघव॥ ४३॥

'रघुनन्दन! मैं इस वनवासरूपी कर्मके द्वारा पिताजीके ही वचनका जो धर्मात्माओंको भी मान्य है, पालन करूँगा॥ ४३॥

धार्मिकेणानृशंसेन नरेण गुरुवर्तिना।
भवितव्यं नरव्याघ्र परलोकं जिगीषता॥ ४४॥

'नरश्रेष्ठ! परलोकपर विजय पानेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यको धार्मिक, क्रूरतासे रहित और गुरुजनोंका आज्ञापालक होना चाहिये॥ ४४॥

आत्मानमनुतिष्ठ त्वं स्वभावेन नरर्षभ।
निशाम्य तु शुभं वृत्तं पितुर्दशरथस्य नः॥ ४५॥

'मनुष्योंमें श्रेष्ठ भरत! हमारे पूज्य पिता दशरथके शुभ आचरणोंपर दृष्टिपात करके तुम अपने धार्मिक स्वभावके द्वारा आत्माकी उन्नतिके लिये प्रयत्न करो'॥ ४५॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं महात्मा
पितुर्निदेशप्रतिपालनार्थम्।
यवीयसं भ्रातरमर्थवच्च
प्रभुर्मुहूर्ताद् विरराम रामः॥ ४६॥

सर्वशक्तिमान् महात्मा श्रीराम एक मुहूर्ततक अपने छोटे भाई भरतसे पिताकी आज्ञाका पालन करानेके उद्देश्यसे ये अर्थयुक्त वचन कहकर चुप हो गये॥ ४६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चाधिकशततमः सर्गः॥ १०५॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ पाँचवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १०५॥

षडधिकशततमः सर्गः

भरतकी पुनः श्रीरामसे अयोध्या लौटने और राज्य ग्रहण करनेकी प्रार्थना

एवमुक्त्वा तु विरते रामे वचनमर्थवत्।
ततो मन्दाकिनीतीरे रामं प्रकृतिवत्सलम्॥ १॥
उवाच भरतश्चित्रं धार्मिको धार्मिकं वचः।
को हि स्यादीदृशो लोके यादृशस्त्वमरिंदम॥ २॥

ऐसा अर्थयुक्त वचन कहकर जब श्रीराम चुप हो गये, तब धर्मात्मा भरतने मन्दाकिनीके तटपर प्रजावत्सल धर्मात्मा श्रीरामसे यह विचित्र बात कही—'शत्रुदमन रघुवीर! इस जगत्में जैसे आप हैं, वैसा दूसरा कौन हो सकता है?॥ १-२॥

न त्वां प्रव्यथयेद् दुःखं प्रीतिर्वा न प्रहर्षयेत्।
सम्मतश्चापि वृद्धानां तांश्च पृच्छसि संशयान्॥ ३॥

'कोई भी दुःख आपको व्यथित नहीं कर सकता। कितनी ही प्रिय बात क्यों न हो, वह आपको हर्षोत्फुल्ल नहीं कर सकती। वृद्ध पुरुषोंके सम्माननीय होकर भी आप उनसे संदेहकी बातें पूछते हैं॥ ३॥

यथा मृतस्तथा जीवन् यथासति तथासति।
यस्यैष बुद्धिलाभः स्यात् परितप्येत केन सः॥ ४॥

'जैसे मरे हुए जीवका अपने शरीर आदिसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता, उसी प्रकार जीते-जी भी वह उनके सम्बन्धसे रहित है। जैसे वस्तुके अभावमें उसके प्रति राग-द्वेष नहीं होता, वैसे ही उसके रहनेपर भी मनुष्यको राग-द्वेषसे शून्य होना चाहिये। जिसे ऐसी विवेकयुक्त बुद्धि प्राप्त हो गयी है, उसको संताप क्यों होगा?॥ ४॥

परावरज्ञो यश्च स्याद् यथा त्वं मनुजाधिप।
स एव व्यसनं प्राप्य न विषीदितुमर्हति॥ ५॥

'नरेश्वर! जिसे आपके समान आत्मा और अनात्माका ज्ञान है, वही संकटमें पड़नेपर भी विषाद नहीं कर सकता॥

अमरोपमसत्त्वस्त्वं महात्मा सत्यसंगरः।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च बुद्धिमांश्चासि राघव॥ ६॥

'रघुनन्दन! आप देवताओंकी भाँति सत्त्वगुणसे सम्पन्न, महात्मा, सत्यप्रतिज्ञ, सर्वज्ञ, सबके साक्षी और बुद्धिमान् हैं॥ ६॥

न त्वामेवंगुणैर्युक्तं प्रभवाभवकोविदम्।
अविषह्यतमं दुःखमासादयितुमर्हति॥ ७॥

'ऐसे उत्तम गुणोंसे युक्त और जन्म-मरणके रहस्यको जाननेवाले आपके पास असह्य दुःख नहीं आ सकता॥ ७॥

प्रोषिते मयि यत् पापं मात्रा मत्कारणात् कृतम्।
क्षुद्रया तदनिष्टं मे प्रसीदतु भवान् मम॥ ८॥

'जब मैं परदेशमें था, उस समय नीच विचार रखनेवाली मेरी माताने मेरे लिये जो पाप कर डाला, वह मुझे अभीष्ट नहीं है; अतः आप उसे क्षमा करके मुझपर प्रसन्न हों॥ ८॥

धर्मबन्धेन बद्धोऽस्मि तेनेमां नेह मातरम्।
हन्मि तीव्रेण दण्डेन दण्डार्हां पापकारिणीम्॥ ९॥

'मैं धर्मके बन्धनमें बँधा हूँ, इसलिये इस पाप करनेवाली एवं दण्डनीय माताको मैं कठोर दण्ड देकर मार नहीं डालता॥ ९॥

कथं दशरथाज्जातः शुभाभिजनकर्मणः ।
जानन् धर्ममधर्मं च कुर्यां कर्म जुगुप्सितम् ॥ १० ॥

'जिनके कुल और कर्म दोनों ही शुभ थे, उन महाराज दशरथसे उत्पन्न होकर धर्म और अधर्मको जानता हुआ भी मैं मातृवधरूपी लोकनिन्दित कर्म कैसे करूँ ? ॥ १० ॥

गुरुः क्रियावान् वृद्धश्च राजा प्रेतः पितेति च ।
तातं न परिगर्हेऽहं दैवतं चेति संसदि ॥ ११ ॥

'महाराज मेरे गुरु, श्रेष्ठ यज्ञकर्म करनेवाले, बड़े-बूढ़े, राजा, पिता और देवता रहे हैं और इस समय परलोकवासी हो चुके हैं, इसीलिये इस भरी सभामें मैं उनकी निन्दा नहीं करता हूँ ॥ ११ ॥

को हि धर्मार्थयोर्हीनमीदृशं कर्म किल्बिषम् ।
स्त्रियः प्रियचिकीर्षुः सन् कुर्याद् धर्मज्ञ धर्मवित् ॥ १२ ॥

'धर्मज्ञ रघुनन्दन ! कौन ऐसा मनुष्य है, जो धर्मको जानते हुए भी स्त्रीका प्रिय करनेकी इच्छासे ऐसा धर्म और अर्थसे हीन कुत्सित कर्म कर सकता है ? ॥ १२ ॥

अन्तकाले हि भूतानि मुह्यन्तीति पुरा श्रुतिः ।
राज्ञैवं कुर्वता लोके प्रत्यक्षा सा श्रुतिः कृता ॥ १३ ॥

'लोकमें एक प्राचीन किंवदन्ती है कि अन्तकालमें सब प्राणी मोहित हो जाते हैं—उनकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। राजा दशरथने ऐसा कठोर कर्म करके उस किंवदन्तीकी सत्यताको प्रत्यक्ष कर दिखाया ॥ १३ ॥

साध्वर्थमभिसंधाय क्रोधान्मोहाच्च साहसात् ।
तातस्य यदतिक्रान्तं प्रत्याहरतु तद् भवान् ॥ १४ ॥

'पिताजीने क्रोध, मोह और साहसके कारण ठीक समझ कर जो धर्मका उल्लङ्घन किया है, उसे आप पलट दें—उसका संशोधन कर दें ॥ १४ ॥

पितुर्हि समतिक्रान्तं पुत्रो यः साधु मन्यते ।
तदपत्यं मतं लोके विपरीतमतोऽन्यथा ॥ १५ ॥

'जो पुत्र पिताकी की हुई भूलको ठीक कर देता है, वही लोकमें उत्तम संतान माना गया है। जो इसके विपरीत बर्ताव करता है, वह पिताकी श्रेष्ठ संतति नहीं है ॥ १५ ॥

तदपत्यं भवानस्तु मा भवान् दुष्कृतं पितुः ।
अति यत् तत् कृतं कर्म लोके धीरविगर्हितम् ॥ १६ ॥

'अतः आप पिताकी योग्य संतान ही बने रहें। उनके अनुचित कर्मका समर्थन न करें। उन्होंने इस समय जो कुछ किया है, वह धर्मकी सीमासे बाहर है। संसारमें धीर पुरुष उसकी निन्दा करते हैं ॥ १६ ॥

कैकेयीं मां च तातं च सुहृदो बान्धवांश्च नः ।
पौरजानपदान् सर्वांस्त्रातु सर्वमिदं भवान् ॥ १७ ॥

'कैकेयी, मैं, पिताजी, सुहृद्गण, बन्धु-बान्धव, पुरवासी तथा राष्ट्रकी प्रजा—इन सबकी रक्षाके लिये आप मेरी प्रार्थना स्वीकार करें ॥ १७ ॥

क्व चारण्यं क्व च क्षात्रं क्व जटाः क्व च पालनम् ।
ईदृशं व्याहतं कर्म न भवान् कर्तुमर्हति ॥ १८ ॥

'कहाँ वनवास और कहाँ क्षात्रधर्म ? कहाँ जटा-धारण और कहाँ प्रजाका पालन ? ऐसे परस्परविरोधी कर्म आपको नहीं करने चाहिये ॥ १८ ॥

एष हि प्रथमो धर्मः क्षत्रियस्याभिषेचनम् ।
येन शक्यं महाप्राज्ञ प्रजानां परिपालनम् ॥ १९ ॥

'महाप्राज्ञ ! क्षत्रियके लिये पहला धर्म यही है कि उसका राज्यपर अभिषेक हो, जिससे वह प्रजाका भलीभाँति पालन कर सके ॥ १९ ॥

कश्च प्रत्यक्षमुत्सृज्य संशयस्थमलक्षणम् ।
आयतिस्थं चरेद् धर्मं क्षत्रबन्धुरनिश्चितम् ॥ २० ॥

'भला कौन ऐसा क्षत्रिय होगा, जो प्रत्यक्ष सुखके साधनभूत प्रजापालनरूप धर्मका परित्याग करके संशयमें स्थित, सुखके लक्षणसे रहित, भविष्यमें फल देनेवाले अनिश्चित धर्मका आचरण करेगा ? ॥ २० ॥

अथ क्लेशजमेव त्वं धर्मं चरितुमिच्छसि ।
धर्मेण चतुरो वर्णान् पालयन् क्लेशमाप्नुहि ॥ २१ ॥

'यदि आप क्लेशसाध्य धर्मका ही आचरण करना चाहते हैं तो धर्मानुसार चारों वर्णोंका पालन करते हुए ही कष्ट उठाइये ॥ २१ ॥

चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमुत्तमम् ।
आहुर्धर्मज्ञ धर्मज्ञास्तं कथं त्यक्तुमिच्छसि ॥ २२ ॥

'धर्मज्ञ रघुनन्दन ! धर्मके ज्ञाता पुरुष चारों आश्रमोंमें गार्हस्थ्यको ही श्रेष्ठ बतलाते हैं, फिर आप उसका परित्याग क्यों करना चाहते हैं ? ॥ २२ ॥

श्रुतेन बालः स्थानेन जन्मना भवतो ह्यहम् ।
स कथं पालयिष्यामि भूमिं भवति तिष्ठति ॥ २३ ॥

'मैं शास्त्रज्ञान और जन्मजात अवस्था दोनों ही दृष्टियोंसे आपकी अपेक्षा बालक हूँ, फिर आपके रहते हुए मैं वसुधाका पालन कैसे करूँगा ? ॥ २३ ॥

हीनबुद्धिगुणो बालो हीनस्थानेन चाप्यहम् ।
भवता च विनाभूतो न वर्तयितुमुत्सहे ॥ २४ ॥

'मैं बुद्धि और गुण दोनोंसे हीन हूँ, बालक हूँ तथा मेरा स्थान आपसे बहुत छोटा है; अतः मैं आपके बिना जीवन-धारण भी नहीं कर सकता, राज्यका पालन तो दूरकी बात है ॥ २४ ॥

इदं निखिलमप्यग्र्यं राज्यं पित्र्यमकण्टकम् ।
अनुशाधि स्वधर्मेण धर्मज्ञ सह बान्धवैः ॥ २५ ॥

'धर्मज्ञ रघुनन्दन ! पिताका यह सारा राज्य श्रेष्ठ और निष्कण्टक है, अतः आप बन्धु-बान्धवोंके साथ स्वधर्मानुसार इसका पालन कीजिये ॥ २५ ॥

इहैव त्वाभिषिञ्चन्तु सर्वाः प्रकृतयः सह ।
ऋत्विजः सवसिष्ठाश्च मन्त्रविन्मन्त्रकोविदाः ॥ २६ ॥

'मन्त्रज्ञ रघुवीर! मन्त्रोंके ज्ञाता महर्षि वसिष्ठ आदि सभी ऋत्विज तथा मन्त्री, सेनापति और प्रजा आदि सारी प्रकृतियाँ यहाँ उपस्थित हैं। ये सब लोग यहीं आपका राज्याभिषेक करें' ॥ २६ ॥

अभिषिक्तस्त्वमस्माभिरयोध्यां पालने व्रज।
विजित्य तरसा लोकान् मरुद्भिरिव वासवः ॥ २७ ॥

'हमलोगोंके द्वारा अभिषिक्त होकर आप मरुद्गणोंसे अभिषिक्त हुए इन्द्रकी भाँति वेगपूर्वक सब लोकोंको जीतकर प्रजाका पालन करनेके लिये अयोध्याको चलें' ॥ २७ ॥

ऋणानि त्रीण्यपाकुर्वन् दुर्हृदः साधु निर्दहन्।
सुहृदस्तर्पयन् कामैस्त्वमेवात्रानुशाधि माम् ॥ २८ ॥

'वहाँ देवता, ऋषि और पितरोंका ऋण चुकायें, दुष्ट शत्रुओंका भलीभाँति दमन करें तथा मित्रोंको उनके इच्छानुसार वस्तुओंद्वारा तृप्त करते हुए आप ही अयोध्यामें मुझे धर्मकी शिक्षा देते रहें' ॥ २८ ॥

अद्यार्य मुदिताः सन्तु सुहृदस्तेऽभिषेचने।
अद्य भीताः पलायन्तु दुष्प्रदास्ते दिशो दश ॥ २९ ॥

'आर्य! आपका अभिषेक सम्पन्न होनेपर सुहृद्गण प्रसन्न हों और दुःख देनेवाले आपके शत्रु भयभीत होकर दसों दिशाओंमें भाग जायँ' ॥ २९ ॥

आक्रोशं मम मातुश्च प्रमृज्य पुरुषर्षभ।
अद्य तत्रभवन्तं च पितरं रक्ष किल्बिषात् ॥ ३० ॥

'पुरुषप्रवर! आज आप मेरी माताके कलङ्कको धो-पोंछकर पूज्य पिताजीको भी निन्दासे बचाइये' ॥ ३० ॥

शिरसा त्वाभियाचेऽहं कुरुष्व करुणां मयि।
बान्धवेषु च सर्वेषु भूतेष्विव महेश्वरः ॥ ३१ ॥

'मैं आपके चरणोंमें माथा टेककर याचना करता हूँ। आप मुझपर दया कीजिये। जैसे महादेवजी सब प्राणियोंपर अनुग्रह करते हैं, उसी प्रकार आप भी अपने बन्धु-बान्धवोंपर कृपा कीजिये' ॥ ३१ ॥

अथवा पृष्ठतः कृत्वा वनमेव भवानितः।
गमिष्यति गमिष्यामि भवता सार्धमप्यहम् ॥ ३२ ॥

'अथवा यदि आप मेरी प्रार्थनाको ठुकराकर यहाँसे वनको ही जायँगे तो मैं भी आपके साथ जाऊँगा' ॥ ३२ ॥

तथाभिरामो भरतेन ताम्यता
प्रसाद्यमानः शिरसा महीपतिः।
न चैव चक्रे गमनाय सत्त्ववान्
मतिं पितुस्तद् वचने प्रतिष्ठितः ॥ ३३ ॥

ग्लानिमें पड़े हुए भरतने मनोभिराम राजा श्रीरामको उनके चरणोंमें माथा टेककर प्रसन्न करनेकी चेष्टा की तथापि उन सत्त्वगुणसम्पन्न रघुनाथजीने पिताकी आज्ञामें ही दृढ़तापूर्वक स्थित रहकर अयोध्या जानेका विचार नहीं किया ॥ ३३ ॥

तदद्भुतं स्थैर्यमवेक्ष्य राघवे
समं जनो हर्षमवाप दुःखितः।
न यात्ययोध्यामिति दुःखितोऽभवत्
स्थिरप्रतिज्ञत्वमवेक्ष्य हर्षितः ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी वह अद्भुत दृढ़ता देखकर सब लोग एक ही साथ दुःखी भी हुए और हर्षको भी प्राप्त हुए। ये अयोध्या नहीं जा रहे हैं—यह सोचकर वे दुःखी हुए और प्रतिज्ञा-पालनमें उनकी दृढ़ता देखकर उन्हें हर्ष हुआ ॥ ३४ ॥

तमृत्विजो नैगमयूथवल्लभा-
स्तथा विसंज्ञाश्रुकलाश्च मातरः।
तथा ब्रुवाणं भरतं प्रतुष्टुवुः
प्रणम्य रामं च ययाचिरे सह ॥ ३५ ॥

उस समय ऋत्विज पुरवासी, भिन्न-भिन्न समुदायके नेता और माताएँ अचेत-सी होकर आँसू बहाती हुई पूर्वोक्त बातें कहनेवाली भरतकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगीं और सबने उनके साथ ही योग्यतानुसार श्रीरामजीके सामने विनीत होकर उनसे अयोध्या लौट चलनेकी याचना की ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षडधिकशततमः सर्गः ॥ १०६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ छवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १०६ ॥

★

सप्ताधिकशततमः सर्गः

श्रीरामका भरतको समझाकर उन्हें अयोध्या जानेका आदेश देना

पुनरेवं ब्रुवाणं तं भरतं लक्ष्मणाग्रजः।
प्रत्युवाच ततः श्रीमाञ्ज्ञातिमध्ये सुसत्कृतः ॥ १ ॥

जब भरत पुनः इस प्रकार प्रार्थना करने लगे, तब कुटुम्बीजनोंके बीचमें सत्कारपूर्वक बैठे हुए लक्ष्मणके बड़े भाई श्रीमान् रामचन्द्रजीने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया— ॥

उपपन्नमिदं वाक्यं यस्त्वमेवमभाषथाः।
जातः पुत्रो दशरथात् कैकेय्यां राजसत्तमात् ॥ २ ॥

'भाई! तुम नृपश्रेष्ठ महाराज दशरथके द्वारा केकयराज-कन्या माता कैकेयीके गर्भसे उत्पन्न हुए हो; अतः तुमने जो ऐसे उत्तम वचन कहे हैं, वे सर्वथा तुम्हारे योग्य हैं' ॥ २ ॥

पुरा भ्रातः पिता नः स मातरं ते समुद्वहन्।
मातामहे समाश्रौषीद् राज्यशुल्कमनुत्तमम् ॥ ३ ॥

'भैया! आजसे बहुत पहलेकी बात है—पिताजीका जब तुम्हारी माताजीके साथ विवाह हुआ था, तभी उन्होंने तुम्हारे नानासे कैकेयीके पुत्रको राज्य देनेकी उत्तम शर्त कर ली थी ॥

देवासुरे च संग्रामे जनन्यै तव पार्थिवः।
सम्प्रहृष्टो ददौ राजा वरमाराधितः प्रभुः ॥ ४ ॥

'इसके बाद देवासुर-संग्राममें तुम्हारी माताने प्रभावशाली महाराजकी बड़ी सेवा की; इससे संतुष्ट होकर राजाने उन्हें वरदान दिया ॥ ४ ॥

ततः सा सम्प्रतिश्राव्य तव माता यशस्विनी।
अयाचत नरश्रेष्ठं द्वौ वरौ वरवर्णिनी॥ ५॥

'उसीकी पूर्तिके लिये प्रतिज्ञा कराकर तुम्हारी श्रेष्ठ वर्णवाली यशस्विनी माताने उन नरश्रेष्ठ पिताजीसे दो वर माँगे॥ ५॥

तव राज्यं नरव्याघ्र मम प्रव्राजनं तथा।
तच्च राजा तथा तस्यै नियुक्तः प्रददौ वरम्॥ ६॥

'पुरुषसिंह! एक वरके द्वारा इन्होंने तुम्हारे लिये राज्य माँगा और दूसरेके द्वारा मेरा वनवास। इनसे इस प्रकार प्रेरित होकर राजाने वे दोनों वर इन्हें दे दिये॥ ६॥

तेन पित्राहमप्यत्र नियुक्तः पुरुषर्षभ।
चतुर्दश वने वासं वर्षाणि वरदानिकम्॥ ७॥

'पुरुषप्रवर! इस प्रकार उन पिताजीने वरदानके रूपमें मुझे चौदह वर्षोंतक वनवासकी आज्ञा दी है॥ ७॥

सोऽयं वनमिदं प्राप्तो निर्जनं लक्ष्मणान्वितः।
सीतया चाप्रतिद्वन्द्वः सत्यवादे स्थितः पितुः॥ ८॥

'यही कारण है कि मैं सीता और लक्ष्मणके साथ इस निर्जन वनमें चला आया हूँ। यहाँ मेरा कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है। मैं यहाँ पिताजीके सत्यकी रक्षामें स्थित रहूँगा॥ ८॥

भवानपि तथेत्येव पितरं सत्यवादिनम्।
कर्तुमर्हसि राजेन्द्र क्षिप्रमेवाभिषिञ्चनात्॥ ९॥

'राजेन्द्र! तुम भी उनकी आज्ञा मानकर शीघ्र ही राज्यपदपर अपना अभिषेक करा लो और पिताको सत्यवादी बनाओ—यही तुम्हारे लिये उचित है॥ ९॥

ऋणान्मोचय राजानं मत्कृते भरत प्रभुम्।
पितरं त्राहि धर्मज्ञ मातरं चाभिनन्दय॥ १०॥

'धर्मज्ञ भरत! तुम मेरे लिये पूज्य पिता राजा दशरथको कैकेयीके ऋणसे मुक्त करो, उन्हें नरकमें गिरनेसे बचाओ और माताका भी आनन्द बढ़ाओ॥ १०॥

श्रूयते धीमता तात श्रुतिर्गीता यशस्विना।
गयेन यजमानेन गयेष्वेव पितॄन् प्रति॥ ११॥

'तात! सुना जाता है कि बुद्धिमान्, यशस्वी राजा गयने गय-देशमें ही यज्ञ करते हुए पितरोंके प्रति एक कहावत कही थी॥ ११॥

पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् पितरं त्रायते सुतः।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः पितॄन् यः पाति सर्वतः॥ १२॥

'(वह इस प्रकार है—) बेटा पुत् नामक नरकसे पिताका उद्धार करता है, इसलिये वह पुत्र कहा गया है। वही पुत्र है, जो पितरोंकी सब ओरसे रक्षा करता है॥ १२॥

एष्टव्या बहवः पुत्रा गुणवन्तो बहुश्रुताः।
तेषां वै समवेतानामपि कश्चिद् गयां व्रजेत्॥ १३॥

'बहुत-से गुणवान् और बहुश्रुत पुत्रोंकी इच्छा करनी चाहिये। सम्भव है कि प्राप्त हुए उन पुत्रोंमेंसे कोई एक भी गयाकी यात्रा करे?॥ १३॥

एवं राजर्षयः सर्वे प्रतीता रघुनन्दन।
तस्मात् त्राहि नरश्रेष्ठ पितरं नरकात् प्रभो॥ १४॥

'रघुनन्दन! नरश्रेष्ठ भरत! इस प्रकार सभी राजर्षियोंने पितरोंके उद्धारका निश्चय किया है, अतः प्रभो! तुम भी अपने पिताका नरकसे उद्धार करो॥ १४॥

अयोध्यां गच्छ भरत प्रकृतीरुपरञ्जय।
शत्रुघ्नसहितो वीर सह सर्वैर्द्विजातिभिः॥ १५॥

'वीर भरत! तुम शत्रुघ्न तथा समस्त ब्राह्मणोंको साथ लेकर अयोध्याको लौट जाओ और प्रजाको सुख दो॥ १५॥

प्रवेक्ष्ये दण्डकारण्यमहमप्यविलम्बयन्।
आभ्यां तु सहितो वीर वैदेह्या लक्ष्मणेन च॥ १६॥

'वीर! अब मैं भी लक्ष्मण और सीताके साथ शीघ्र ही दण्डकारण्यमें प्रवेश करूँगा॥ १६॥

त्वं राजा भरत भव स्वयं नराणां
वन्यानामहमपि राजराण्मृगाणाम्।
गच्छ त्वं पुरवरमद्य सम्प्रहृष्टः
संहृष्टस्त्वहमपि दण्डकान् प्रवेक्ष्ये॥ १७॥

'भरत! तुम स्वयं मनुष्योंके राजा बनो और मैं जंगली पशुओंका सम्राट् बनूँगा। अब तुम अत्यन्त हर्षपूर्वक श्रेष्ठ नगर अयोध्याको जाओ और मैं भी प्रसन्नतापूर्वक दण्डक-वनमें प्रवेश करूँगा॥ १७॥

छायां ते दिनकरभाः प्रबाधमानं
वर्षत्रं भरत करोतु मूर्ध्नि शीताम्।
एतेषामहमपि काननद्रुमाणां
छायां तामतिशयिनीं शनैः श्रयिष्ये॥ १८॥

'भरत! सूर्यकी प्रभाको तिरोहित कर देनेवाला छत्र तुम्हारे मस्तकपर शीतल छाया करे। अब मैं भी धीरे-धीरे इन जंगली वृक्षोंकी घनी छायाका आश्रय लूँगा॥ १८॥

शत्रुघ्नस्त्वतुलमतिस्तु ते सहायः
सौमित्रिर्मम विदितः प्रधानमित्रम्।
चत्वारस्तनयवरा वयं नरेन्द्रं
सत्यस्थं भरत चराम मा विषीद॥ १९॥

'भरत! अतुलित बुद्धिवाले शत्रुघ्न तुम्हारी सहायतामें रहें और सुविख्यात सुमित्राकुमार लक्ष्मण मेरे प्रधान मित्र (सहायक) हैं; हम चारों पुत्र अपने पिता राजा दशरथके सत्यकी रक्षा करें। तुम विषाद मत करो'॥ १९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्ताधिकशततमः सर्गः॥ १०७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ सातवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १०७॥

—★—

अष्टाधिकशततमः सर्गः

जाबालिका नास्तिकोंके मतका अवलम्बन करके श्रीरामको समझाना

आश्वासयन्तं भरतं जाबालिर्ब्राह्मणोत्तमः।
उवाच रामं धर्मज्ञं धर्मापेतमिदं वचः॥ १॥

जब धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्रजी भरतको इस प्रकार समझा-बुझा रहे थे, उसी समय ब्राह्मणशिरोमणि जाबालिने उनसे यह धर्मविरुद्ध वचन कहा—॥ १॥

साधु राघव मा भूत् ते बुद्धिरेवं निरर्थिका।
प्राकृतस्य नरस्येव ह्यार्यबुद्धेस्तपस्विनः॥ २॥

'रघुनन्दन! आपने ठीक कहा, परंतु आप श्रेष्ठ बुद्धिवाले और तपस्वी हैं; अतः आपको गँवार मनुष्यकी तरह ऐसा निरर्थक विचार मनमें नहीं लाना चाहिये॥ २॥

कः कस्य पुरुषो बन्धुः किमाप्यं कस्य केनचित्।
एको हि जायते जन्तुरेक एव विनश्यति॥ ३॥

'संसारमें कौन पुरुष किसका बन्धु है और किससे किसको क्या पाना है? जीव अकेला ही जन्म लेता और अकेला ही नष्ट हो जाता है॥ ३॥

तस्मान्माता पिता चेति राम सज्जेत यो नरः।
उन्मत्त इव स ज्ञेयो नास्ति कश्चिद्धि कस्यचित्॥ ४॥

'अतः श्रीराम! जो मनुष्य माता या पिता समझकर किसीके प्रति आसक्त होता है, उसे पागलके समान समझना चाहिये; क्योंकि यहाँ कोई किसीका कुछ भी नहीं है॥ ४॥

यथा ग्रामान्तरं गच्छन् नरः कश्चिद् बहिर्वसेत्।
उत्सृज्य च तमावासं प्रतिष्ठेतापरेऽहनि॥ ५॥
एवमेव मनुष्याणां पिता माता गृहं वसु।
आवासमात्रं काकुत्स्थ सज्जन्ते नात्र सज्जनाः॥ ६॥

'जैसे कोई मनुष्य दूसरे गाँवको जाते समय बाहर किसी धर्मशालामें एक रातके लिये ठहर जाता है और दूसरे दिन उस स्थानको छोड़कर आगेके लिये प्रस्थित हो जाता है, इसी प्रकार पिता, माता, घर और धन—ये मनुष्योंके आवासमात्र हैं। ककुत्स्थकुलभूषण! इनमें सज्जन पुरुष आसक्त नहीं होते हैं॥

पित्र्यं राज्यं समुत्सृज्य स नार्हसि नरोत्तम।
आस्थातुं कापथं दुःखं विषमं बहुकण्टकम्॥ ७॥

'अतः नरश्रेष्ठ! आपको पिताका राज्य छोड़कर इस दुःखमय, नीचे-ऊँचे तथा बहुकण्टकाकीर्ण वनके कुत्सित मार्गपर नहीं चलना चाहिये॥ ७॥

समृद्धायामयोध्यायामात्मानमभिषेचय।
एकवेणीधरा हि त्वा नगरी सम्प्रतीक्षते॥ ८॥

'आप समृद्धिशालिनी अयोध्यामें राजाके पदपर अपना अभिषेक कराइये। वह नगरी प्रोषितभर्तृका नारीकी भाँति एक वेणी धारण करके आपकी प्रतीक्षा करती है॥ ८॥

राजभोगाननुभवन् महार्हान् पार्थिवात्मज।
विहर त्वमयोध्यायां यथा शक्रस्त्रिविष्टपे॥ ९॥

'राजकुमार! जैसे देवराज इन्द्र स्वर्गमें विहार करते हैं, उसी प्रकार आप बहुमूल्य राजभोगोंका उपभोग करते हुए अयोध्यामें विहार कीजिये॥ ९॥

न ते कश्चिद् दशरथस्त्वं च तस्य च कश्चन।
अन्यो राजा त्वमन्यस्तु तस्मात् कुरु यदुच्यते॥ १०॥

'राजा दशरथ आपके कोई नहीं थे और आप भी उनके कोई नहीं हैं। राजा दूसरे थे और आप भी दूसरे हैं; इसलिये मैं जो कहता हूँ, वही कीजिये॥ १०॥

बीजमात्रं पिता जन्तोः शुक्रं शोणितमेव च।
संयुक्तमृतुमन्मात्रा पुरुषस्येह जन्म तत्॥ ११॥

'पिता जीवके जन्ममें निमित्तकारणमात्र होता है। वास्तवमें ऋतुमती माताके द्वारा गर्भमें धारण किये हुए वीर्य और रजका परस्पर संयोग होनेपर ही पुरुषका यहाँ जन्म होता है॥

गतः स नृपतिस्तत्र गन्तव्यं यत्र तेन वै।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां त्वं तु मिथ्या विहन्यसे॥ १२॥

'राजाको जहाँ जाना था, वहाँ चले गये। यह प्राणियोंके लिये स्वाभाविक स्थिति है। आप तो व्यर्थ ही मारे जाते (कष्ट उठाते) हैं॥ १२॥

अर्थधर्मपरा ये ये तांस्ताञ्शोचामि नेतरान्।
ते हि दुःखमिह प्राप्य विनाशं प्रेत्य लेभिरे॥ १३॥

'जो-जो मनुष्य प्राप्त हुए अर्थका परित्याग करके धर्मपरायण हुए हैं, उन्हीं-उन्हींके लिये मैं शोक करता हूँ, दूसरोंके लिये नहीं। वे इस जगत्‌में धर्मके नामपर केवल दुःख भोगकर मृत्युके पश्चात् नष्ट हो गये हैं॥ १३॥

अष्टकापितृदैवत्यमित्ययं प्रसृतो जनः।
अन्नस्योपद्रवं पश्य मृतो हि किमशिष्यति॥ १४॥

'अष्टका आदि जितने श्राद्ध हैं, उनके देवता पितर हैं—श्राद्धका दान पितरोंको मिलता है। यही सोचकर लोग श्राद्धमें प्रवृत्त होते हैं; किन्तु विचार करके देखिये तो इसमें अन्नका नाश ही होता है। भला, मरा हुआ मनुष्य क्या खायेगा॥ १४॥

यदि भुक्तमिहान्येन देहमन्यस्य गच्छति।
दद्यात् प्रवसतां श्राद्धं न तत् पथ्यशनं भवेत्॥ १५॥

'यदि यहाँ दूसरेका खाया हुआ अन्न दूसरेके शरीरमें चला जाता हो तो परदेशमें जानेवालोंके लिये श्राद्ध ही कर देना चाहिये; उनको रास्तेके लिये भोजन देना उचित नहीं है॥ १५॥

दानसंवनना ह्येते ग्रन्था मेधाविभिः कृताः।
यजस्व देहि दीक्षस्व तपस्तप्यस्व संत्यज॥ १६॥

'देवताओंके लिये यज्ञ और पूजन करो, दान दो, यज्ञकी दीक्षा ग्रहण करो, तपस्या करो और घर-द्वार छोड़कर संन्यासी

बन जाओ इत्यादि बातें बतानेवाले ग्रन्थ बुद्धिमान् मनुष्योंने दानकी ओर लोगोंकी प्रवृत्ति करानेके लिये ही बनाये हैं॥

स नास्ति परमित्येतत् कुरु बुद्धिं महामते।
प्रत्यक्षं यत् तदातिष्ठ परोक्षं पृष्ठतः कुरु॥ १७॥

'अतः महामते! आप अपने मनमें यह निश्चय कीजिये कि इस लोकके सिवा कोई दूसरा लोक नहीं है (अतः वहाँ फल भोगनेके लिये धर्म आदिके पालनकी आवश्यकता नहीं है)। जो प्रत्यक्ष राज्यलाभ है, उसका आश्रय लीजिये, परोक्ष (पारलौकिक लाभ) को पीछे ढकेल दीजिये॥ १७॥

सतां बुद्धिं पुरस्कृत्य सर्वलोकनिदर्शिनीम्।
राज्यं स त्वं निगृह्णीष्व भरतेन प्रसादितः॥ १८॥

'सत्पुरुषोंकी बुद्धि, जो सब लोगोंके लिये राह दिखानेवाली होनेके कारण प्रमाणभूत है, आगे करके भरतके अनुरोधसे आप अयोध्याका राज्य ग्रहण कीजिये'॥ १८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टाधिकशततमः सर्गः॥ १०८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ आठवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १०८॥

नवाधिकशततमः सर्गः

श्रीरामके द्वारा जाबालिके नास्तिक मतका खण्डन करके आस्तिक मतका स्थापन

जाबालेस्तु वचः श्रुत्वा रामः सत्यपराक्रमः।
उवाच परया सूक्त्या बुद्ध्याविप्रतिपन्नया॥ १॥

जाबालिका यह वचन सुनकर सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्रजीने अपनी संशयरहित बुद्धिके द्वारा श्रुतिसम्मत सदुक्तिका आश्रय लेकर कहा—॥ १॥

भवान् मे प्रियकामार्थं वचनं यदिहोक्तवान्।
अकार्यं कार्यसंकाशमपथ्यं पथ्य संनिभम्॥ २॥

'विप्रवर! आपने मेरा प्रिय करनेकी इच्छासे यहाँ जो बात कही है, वह कर्तव्य-सी दिखायी देती है; किंतु वास्तवमें करनेयोग्य नहीं है। वह पथ्य-सी दीखनेपर भी वास्तवमें अपथ्य है॥ २॥

निर्मर्यादस्तु पुरुषः पापाचारसमन्वितः।
मानं न लभते सत्सु भिन्नचारित्रदर्शनः॥ ३॥

'जो पुरुष धर्म अथवा वेदकी मर्यादाको त्याग देता है, वह पापकर्ममें प्रवृत्त हो जाता है। उसके आचार और विचार दोनों भ्रष्ट हो जाते हैं; इसलिये वह सत्पुरुषोंमें कभी सम्मान नहीं पाता है॥ ३॥

कुलीनमकुलीनं वा वीरं पुरुषमानिनम्।
चारित्रमेव व्याख्याति शुचिं वा यदि वाशुचिम्॥ ४॥

'आचार ही यह बताता है कि कौन पुरुष उत्तम कुलमें उत्पन्न हुआ है और कौन अधम कुलमें, कौन वीर है और कौन व्यर्थ ही अपनेको पुरुष मानता है तथा कौन पवित्र है और कौन अपवित्र?॥ ४॥

अनार्यस्त्वार्य संस्थानः शौचाद्धीनस्तथा शुचिः।
लक्षण्यवदलक्षण्यो दुःशीलः शीलवानिव॥ ५॥

'आपने जो आचार बताया है, उसे अपनानेवाला पुरुष श्रेष्ठ-सा दिखायी देनेपर भी वास्तवमें अनार्य होगा। बाहरसे पवित्र दीखनेपर भी भीतरसे अपवित्र होगा। उत्तम लक्षणोंसे युक्त-सा प्रतीत होनेपर भी वास्तवमें उसके विपरीत होगा तथा शीलवान्-सा दीखनेपर भी वस्तुतः वह दुःशील ही होगा॥ ५॥

अधर्मं धर्मवेषेण यद्यहं लोकसंकरम्।
अभिपत्स्ये शुभं हित्वा क्रियां विधिविवर्जिताम्॥ ६॥
कश्चेतयानः पुरुषः कार्याकार्य विचक्षणः।
बहु मन्येत मां लोके दुर्वृत्तं लोकदूषणम्॥ ७॥

'आपका उपदेश चोला तो धर्मका पहने हुए है, किंतु वास्तवमें अधर्म है। इससे संसारमें वर्णसंकरताका प्रचार होगा। यदि मैं इसे स्वीकार करके वेदोक्त शुभकर्मोंका अनुष्ठान छोड़ दूँ और विधिहीन कर्मोंमें लग जाऊँ तो कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान रखनेवाला कौन समझदार मनुष्य मुझे श्रेष्ठ समझकर आदर देगा? उस दशामें तो मैं इस जगत्‌में दुराचारी तथा लोकको कलङ्कित करनेवाला समझा जाऊँगा॥ ६-७॥

कस्य यास्याम्यहं वृत्तं केन वा स्वर्गमाप्नुयाम्।
अनया वर्तमानोऽहं वृत्त्या हीनप्रतिज्ञया॥ ८॥

'जहाँ अपनी की हुई प्रतिज्ञा तोड़ दी जाती है, उस वृत्तिके अनुसार बर्ताव करनेपर मैं किस साधनसे स्वर्गलोक प्राप्त करूँगा तथा आपने जिस आचारका उपदेश दिया है, वह किसका है, जिसका मुझे अनुसरण करना होगा; क्योंकि आपके कथनानुसार मैं पिता आदिमेंसे किसीका कुछ भी नहीं हूँ॥

कामवृत्तोऽन्वयं लोकः कृत्स्नः समुपवर्तते।
यद्वृत्ताः सन्ति राजानस्तद्वृत्ताः सन्ति हि प्रजाः॥ ९॥

'आपके बताये हुए मार्गसे चलनेपर पहले तो मैं स्वेच्छाचारी हूँगा। फिर यह सारा लोक स्वेच्छाचारी हो जायगा; क्योंकि राजाओंके जैसे आचरण होते हैं, प्रजा भी वैसा ही आचरण करने लगती है॥ ९॥

सत्यमेवानृशंसं च राजवृत्तं सनातनम्।
तस्मात् सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोकः प्रतिष्ठितः॥ १०॥

'सत्यका पालन ही राजाओंका दयाप्रधान धर्म है— सनातन आचार है, अतः राज्य सत्यस्वरूप है। सत्यमें ही सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित है॥ १०॥

ऋषयश्चैव देवाश्च सत्यमेव हि मेनिरे।
सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन् परं गच्छति चाक्षयम्॥ ११॥

'ऋषियों और देवताओंने सदा सत्यका ही आदर किया है। इस लोकमें सत्यवादी मनुष्य अक्षय परम धाममें जाता है॥ ११॥

उद्विजन्ते यथा सर्पान्नरादनृतवादिनः।
धर्मः सत्यपरो लोके मूलं सर्वस्य चोच्यते॥ १२॥

'झूठ बोलनेवाले मनुष्यसे सब लोग उसी तरह डरते हैं, जैसे साँपसे। संसारमें सत्य ही धर्मकी पराकाष्ठा है और वही सबका मूल कहा जाता है॥ १२॥

सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्॥ १३॥

'जगत्में सत्य ही ईश्वर है। सदा सत्यके ही आधारपर धर्मकी स्थिति रहती है। सत्य ही सबकी जड़ है। सत्यसे बढ़कर दूसरा कोई परम पद नहीं है॥ १३॥

दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च।
वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात् सत्यपरो भवेत्॥ १४॥

'दान, यज्ञ, होम, तपस्या और वेद—इन सबका आधार सत्य ही है; इसलिये सबको सत्यपरायण होना चाहिये॥

एकः पालयते लोकमेकः पालयते कुलम्।
मज्जत्येको हि निरय एकः स्वर्गे महीयते॥ १५॥

'एक मनुष्य सम्पूर्ण जगत्का पालन करता है, एक समूचे कुलका पालन करता है, एक नरकमें डूबता है और एक स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है॥ १५॥

सोऽहं पितुर्निदेशं तु किमर्थं नानुपालये।
सत्यप्रतिश्रवः सत्यं सत्येन समयीकृतम्॥ १६॥

'मैं सत्यप्रतिज्ञ हूँ और सत्यकी शपथ खाकर पिताके सत्यका पालन स्वीकार कर चुका हूँ, ऐसी दशामें मैं पिताके आदेशका किस लिये पालन नहीं करूँ?॥ १६॥

नैव लोभान्न मोहाद् वा न चाज्ञानात् तमोऽन्वितः।
सेतुं सत्यस्य भेत्स्यामि गुरोः सत्यप्रतिश्रवः॥ १७॥

'पहले सत्यपालनकी प्रतिज्ञा करके अब लोभ, मोह अथवा अज्ञानसे विवेकशून्य होकर मैं पिताके सत्यकी मर्यादा भङ्ग नहीं करूँगा॥ १७॥

असत्यसंधस्य सतश्चलस्यास्थिरचेतसः।
नैव देवा न पितरः प्रतीच्छन्तीति नः श्रुतम्॥ १८॥

'हमने सुना है कि जो अपनी प्रतिज्ञा झूठी करनेके कारण धर्मसे भ्रष्ट हो जाता है, उस चञ्चल चित्तवाले पुरुषके दिये हुए हव्य-कव्यको देवता और पितर नहीं स्वीकार करते हैं॥ १८॥

प्रत्यगात्ममिमं धर्मं सत्यं पश्याम्यहं ध्रुवम्।
भारः सत्पुरुषैश्चीर्णस्तदर्थमभिनन्द्यते॥ १९॥

'मैं इस सत्यरूपी धर्मको समस्त प्राणियोंके लिये हितकर और सब धर्मोंमें श्रेष्ठ समझता हूँ। सत्पुरुषोंने जटावल्कल आदिके धारणरूप तापस धर्मका पालन किया है, इसलिये मैं भी उसका अभिनन्दन करता हूँ॥ १९॥

क्षात्रं धर्ममहं त्यक्ष्ये ह्यधर्मं धर्मसंहितम्।
क्षुद्रैर्नृशंसैर्लुब्धैश्च सेवितं पापकर्मभिः॥ २०॥

'जो धर्मयुक्त प्रतीत हो रहा है, किंतु वास्तवमें अधर्मरूप है, जिसका नीच, क्रूर, लोभी और पापाचारी पुरुषोंने सेवन किया है, ऐसे क्षात्रधर्मका (पिताकी आज्ञा भङ्ग करके राज्य ग्रहण करनेका) मैं अवश्य त्याग करूँगा (क्योंकि वह न्याययुक्त नहीं है)॥ २०॥

कायेन कुरुते पापं मनसा सम्प्रधार्य तत्।
अनृतं जिह्वया चाह त्रिविधं कर्म पातकम्॥ २१॥

'मनुष्य अपने शरीरसे जो पाप करता है, उसे पहले मनके द्वारा कर्तव्यरूपसे निश्चित करता है। फिर जिह्वाकी सहायतासे उस अनृत कर्म (पाप) को वाणीद्वारा दूसरोंसे कहता है, तत्पश्चात् औरोंके सहयोगसे उसे शरीरद्वारा सम्पन्न करता है। इस तरह एक ही पातक कायिक, वाचिक और मानसिक भेदसे तीन प्रकारका होता है॥ २१॥

भूमिः कीर्तिर्यशो लक्ष्मीः पुरुषं प्रार्थयन्ति हि।
सत्यं समनुवर्तन्ते सत्यमेव भजेत् ततः॥ २२॥

'पृथ्वी, कीर्ति, यश और लक्ष्मी—ये सब-की-सब सत्यवादी पुरुषको पानेकी इच्छा रखती हैं और शिष्ट पुरुष सत्यका ही अनुसरण करते हैं, अतः मनुष्यको सदा सत्यका ही सेवन करना चाहिये॥ २२॥

श्रेष्ठं ह्यनार्यमेव स्याद् यद् भवानवधार्य माम्।
आह युक्तिकरैर्वाक्यैरिदं भद्रं कुरुष्व ह॥ २३॥

'आपने उचित सिद्ध करके तर्कपूर्ण वचनोंके द्वारा मुझसे जो यह कहा है कि राज्य ग्रहण करनेमें ही कल्याण है; अतः इसे अवश्य स्वीकार करो। आपका यह आदेश श्रेष्ठ-सा प्रतीत होनेपर भी सज्जन पुरुषोंद्वारा आचरणमें लानेयोग्य नहीं है (क्योंकि इसे स्वीकार करनेसे सत्य और न्यायका उल्लङ्घन होता है)॥ २३॥

कथं ह्यहं प्रतिज्ञाय वनवासमिमं गुरोः।
भरतस्य करिष्यामि वचो हित्वा गुरोर्वचः॥ २४॥

'मैं पिताजीके सामने इस तरह वनमें रहनेकी प्रतिज्ञा कर चुका हूँ। अब उनकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके मैं भरतकी बात कैसे मान लूँगा॥ २४॥

स्थिरा मया प्रतिज्ञाता प्रतिज्ञा गुरुसंनिधौ।
प्रहृष्टमानसा देवी कैकेयी चाभवत् तदा॥ २५॥

'गुरुके समीप की हुई मेरी वह प्रतिज्ञा अटल है—किसी तरह तोड़ी नहीं जा सकती। उस समय जब कि मैंने प्रतिज्ञा की थी, देवी कैकेयीका हृदय हर्षसे खिल उठा था॥ २५॥

वनवासं वसन्नेव शुचिर्नियतभोजनः।
मूलपुष्पफलैः पुण्यैः पितॄन् देवांश्च तर्पयन्॥ २६॥

'मैं वनमें ही रहकर बाहर-भीतरसे पवित्र हो नियमित भोजन करूँगा और पवित्र फल, मूल एवं पुष्पोंद्वारा देवताओं और पितरोंको तृप्त करता हुआ प्रतिज्ञाका पालन करूँगा॥

संतुष्टपञ्चवर्गोऽहं लोकयात्रां प्रवाहये।
अकुहः श्रद्दधानः सन् कार्याकार्यविचक्षणः॥ २७॥

'क्या करना चाहिये और क्या नहीं, इसका निश्चय मैं कर चुका हूँ। अतः फल-मूल आदिसे पाँचों इन्द्रियोंको संतुष्ट करके निश्छल, श्रद्धापूर्वक लोकयात्रा (पिताकी आज्ञाके पालनरूप व्यवहार) का निर्वाह करूँगा॥ २७॥

कर्मभूमिमिमां प्राप्य कर्तव्यं कर्म यच्छुभम्।
अग्निर्वायुश्च सोमश्च कर्मणां फलभागिनः॥ २८॥

'इस कर्मभूमिको पाकर जो शुभ कर्म हो, उसका अनुष्ठान करना चाहिये; क्योंकि अग्नि, वायु तथा सोम भी कर्मोंके ही फलसे उन-उन पदोंके भागी हुए हैं॥ २८॥

शतं क्रतूनामाहृत्य देवराट् त्रिदिवं गतः।
तपांस्युग्राणि चास्थाय दिवं प्राप्ता महर्षयः॥ २९॥

'देवराज इन्द्र सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करके स्वर्गलोकको प्राप्त हुए हैं। महर्षियोंने भी उग्र तपस्या करके दिव्य लोकोंमें स्थान प्राप्त किया है'॥ २९॥

अमृष्यमाणः पुनरुग्रतेजा
निशम्य तन्नास्तिकवाक्यहेतुम्।
अथाब्रवीत् तं नृपतेस्तनूजो
विगर्हमाणो वचनानि तस्य॥ ३०॥

उग्र तेजस्वी राजकुमार श्रीराम परलोककी सत्ताका खण्डन करनेवाले जाबालिके पूर्वोक्त वचनोंको सुनकर उन्हें सहन न कर सकनेके कारण उन वचनोंकी निन्दा करते हुए पुनः उनसे बोले—॥ ३०॥

सत्यं च धर्मं च पराक्रमं च
भूतानुकम्पां प्रियवादितां च।
द्विजातिदेवातिथिपूजनं च
पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्तः॥ ३१॥

'सत्य, धर्म, पराक्रम, समस्त प्राणियोंपर दया, सबसे प्रिय वचन बोलना तथा देवताओं, अतिथियों और ब्राह्मणोंकी पूजा करना—इन सबको साधु पुरुषोंने स्वर्गलोकका मार्ग बताया है॥ ३१॥

तेनैवमाज्ञाय यथावदर्थ-
मेकोदयं सम्प्रतिपद्य विप्राः।
धर्मं चरन्तः सकलं यथावत्
काङ्क्षन्ति लोकागममप्रमत्ताः॥ ३२॥

'सत्पुरुषोंके इस वचनके अनुसार धर्मका स्वरूप जानकर तथा अनुकूल तर्कसे उसका यथार्थ निर्णय करके एक निश्चयपर पहुँचे हुए सावधान ब्राह्मण भलीभाँति धर्माचरण करते हुए उन-उन उत्तम लोकोंको प्राप्त करना चाहते हैं॥

निन्दाम्यहं कर्म कृतं पितुस्तद्
यस्त्वामगृह्णाद् विषमस्थबुद्धिम्।
बुद्ध्यानयैवंविधया चरन्तं
सुनास्तिकं धर्मपथादपेतम्॥ ३३॥

'आपकी बुद्धि विषम-मार्गमें स्थित है—आपने वेद-विरुद्ध मार्गका आश्रय ले रखा है। आप घोर नास्तिक और धर्मके रास्तेसे कोसों दूर हैं। ऐसी पाखण्डमयी बुद्धिके द्वारा अनुचित विचारका प्रचार करनेवाले आपको मेरे पिताजीने जो अपना याजक बना लिया, उनके इस कार्यकी मैं निन्दा करता हूँ॥ ३३॥

यथा हि चोरः स तथा हि बुद्ध-
स्तथागतं नास्तिकमत्र विद्धि।
तस्माद्धि यः शक्यतमः प्रजानां
स नास्तिके नाभिमुखो बुधः स्यात्॥ ३४॥

'जैसे चोर दण्डनीय होता है, उसी प्रकार (वेदविरोधी) बुद्ध (बौद्धमतावलम्बी) भी दण्डनीय है। तथागत (नास्तिकविशेष) और नास्तिक (चार्वाक) को भी यहाँ इसी कोटिमें समझना चाहिये। इसलिये प्रजापर अनुग्रह करनेके लिये राजाद्वारा जिस नास्तिकको दण्ड दिलाया जा सके, उसे तो चोरके समान दण्ड दिलाया ही जाय; परंतु जो वशके बाहर हो, उस नास्तिकके प्रति विद्वान् ब्राह्मण कभी उन्मुख न हो—उससे वार्तालापतक न करे॥ ३४॥

त्वत्तो जनाः पूर्वतरे द्विजाश्च
शुभानि कर्माणि बहूनि चक्रुः।
छित्त्वा सदेमं च परं च लोकं
तस्माद् द्विजाः स्वस्ति कृतं हुतं च॥ ३५॥

'आपके सिवा पहलेके श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने इहलोक और परलोककी फल-कामनाका परित्याग करके वेदोक्त धर्म समझकर सदा ही बहुत-से शुभकर्मोंका अनुष्ठान किया है। अतः जो भी ब्राह्मण हैं, वे वेदोंको ही प्रमाण मानकर स्वस्ति (अहिंसा और सत्य आदि), कृत (तप, दान और परोपकार आदि) तथा हुत (यज्ञ-याग आदि) कर्मोंका सम्पादन करते हैं॥ ३५॥

धर्मे रताः सत्पुरुषैः समेता-
स्तेजस्विनो दानगुणप्रधानाः।
अहिंसका वीतमलाश्च लोके
भवन्ति पूज्या मुनयः प्रधानाः॥ ३६॥

'जो धर्ममें तत्पर रहते हैं, सत्पुरुषोंका साथ करते हैं, तेजसे सम्पन्न हैं, जिनमें दानरूपी गुणकी प्रधानता है, जो कभी किसी प्राणीकी हिंसा नहीं करते तथा जो मलसंसर्गसे रहित हैं, ऐसे श्रेष्ठ मुनि ही संसारमें पूजनीय होते हैं'॥ ३६॥

इति ब्रुवन्तं वचनं सरोषं
रामं महात्मानमदीनसत्त्वम्।
उवाच पथ्यं पुनरास्तिकं च
सत्यं वचः सानुनयं च विप्रः ॥ ३७ ॥

महात्मा श्रीराम स्वभावसे ही दैन्यभावसे रहित थे। उन्होंने जब रोषपूर्वक पूर्वोक्त बात कही, तब ब्राह्मण जाबालिने विनयपूर्वक यह आस्तिकतापूर्ण सत्य एवं हितकर वचन कहा— ॥ ३७ ॥

न नास्तिकानां वचनं ब्रवीम्यहं
न नास्तिकोऽहं न च नास्ति किंचन।
समीक्ष्य कालं पुनरास्तिकोऽभवं
भवेय काले पुनरेव नास्तिकः ॥ ३८ ॥

'रघुनन्दन! न तो मैं नास्तिक हूँ और न नास्तिकोंकी बात ही करता हूँ। परलोक आदि कुछ भी नहीं है, ऐसा मेरा मत नहीं है। मैं अवसर देखकर फिर आस्तिक हो गया और लौकिक व्यवहारके समय आवश्यकता होनेपर पुनः नास्तिक हो सकता हूँ—नास्तिकोंकी-सी बातें कर सकता हूँ॥ ३८ ॥

स चापि कालोऽयमुपागतः शनै-
र्यथा मया नास्तिकवागुदीरिता।
निवर्तनार्थं तव राम कारणात्
प्रसादनार्थं च मयैतदीरितम् ॥ ३९ ॥

'इस समय ऐसा अवसर आ गया था, जिससे मैंने धीरे-धीरे नास्तिकोंकी-सी बातें कह डालीं। श्रीराम! मैंने जो यह बात कही, इसमें मेरा उद्देश्य यही था कि किसी तरह आपको राजी करके अयोध्या लौटनेके लिये तैयार कर लूँ' ॥ ३९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे नवाधिकशततमः सर्गः ॥ १०९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ नौवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १०९ ॥

—★—

दशाधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठजीका सृष्टिपरम्पराके साथ इक्ष्वाकुकुलकी परम्परा बताकर ज्येष्ठके ही राज्याभिषेकका औचित्य सिद्ध करना और श्रीरामसे राज्य ग्रहण करनेके लिये कहना

क्रुद्धमाज्ञाय रामं तु वसिष्ठः प्रत्युवाच ह।
जाबालिरपि जानीते लोकस्यास्य गतागतिम् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजीको रुष्ट जानकर महर्षि वसिष्ठजीने उनसे कहा—'रघुनन्दन! महर्षि जाबालि भी यह जानते हैं कि इस लोकके प्राणियोंका परलोकमें जाना और आना होता रहता है (अतः ये नास्तिक नहीं हैं) ॥ १ ॥

निवर्तयितुकामस्तु त्वामेतद् वाक्यमब्रवीत्।
इमां लोकसमुत्पत्तिं लोकनाथ निबोध मे ॥ २ ॥

'जगदीश्वर! इस समय तुम्हें लौटानेकी इच्छासे ही इन्होंने यह नास्तिकतापूर्ण बात कही थी। तुम मुझसे इस लोककी उत्पत्तिका वृत्तान्त सुनो ॥ २ ॥

सर्वं सलिलमेवासीत् पृथिवी तत्र निर्मिता।
ततः समभवद् ब्रह्मा स्वयंभूर्दैवतैः सह ॥ ३ ॥

'सृष्टिके प्रारम्भकालमें सब कुछ जलमय ही था। उस जलके भीतर ही पृथ्वीका निर्माण हुआ। तदनन्तर देवताओंके साथ स्वयंभू ब्रह्मा प्रकट हुए ॥ ३ ॥

स वराहस्ततो भूत्वा प्रोज्जहार वसुंधराम्।
असृजच्च जगत् सर्वं सह पुत्रैः कृतात्मभिः ॥ ४ ॥

'इसके बाद उन भगवान् विष्णुस्वरूप ब्रह्माने ही वराहरूपसे प्रकट होकर जलके भीतरसे इस पृथ्वीको निकाला और अपने कृतात्मा पुत्रोंके साथ इस सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि की ॥ ४ ॥

आकाशप्रभवो ब्रह्मा शाश्वतो नित्य अव्ययः।
तस्मान्मरीचिः संजज्ञे मरीचेः कश्यपः सुतः ॥ ५ ॥

'आकाशस्वरूप परब्रह्म परमात्मासे ब्रह्माजीका प्रादुर्भाव हुआ है, जो नित्य, सनातन एवं अविनाशी हैं। उनसे मरीचि उत्पन्न हुए और मरीचिके पुत्र कश्यप हुए ॥ ५ ॥

विवस्वान् कश्यपाज्जज्ञे मनुर्वैवस्वतः स्वयम्।
स तु प्रजापतिः पूर्वमिक्ष्वाकुस्तु मनोः सुतः ॥ ६ ॥

'कश्यपसे विवस्वान्का जन्म हुआ। विवस्वान्के पुत्र साक्षात् वैवस्वत मनु हुए, जो पहले प्रजापति थे। मनुके पुत्र इक्ष्वाकु हुए ॥ ६ ॥

यस्येयं प्रथमं दत्ता समृद्धा मनुना मही।
तमिक्ष्वाकुमयोध्यायां राजानं विद्धि पूर्वकम् ॥ ७ ॥

'जिन्हें मनुने सबसे पहले इस पृथ्वीका समृद्धिशाली राज्य सौंपा था, उन राजा इक्ष्वाकुको तुम अयोध्याका प्रथम राजा समझो ॥ ७ ॥

इक्ष्वाकोस्तु सुतः श्रीमान् कुक्षिरित्येव विश्रुतः।
कुक्षेरथात्मजो वीरो विकुक्षिरुदपद्यत ॥ ८ ॥

'इक्ष्वाकुके पुत्र श्रीमान् कुक्षिके नामसे विख्यात हुए। कुक्षिके वीर पुत्र विकुक्षि हुए ॥ ८ ॥

विकुक्षेस्तु महातेजा बाणः पुत्रः प्रतापवान्।
बाणस्य च महाबाहुरनरण्यो महातपाः ॥ ९ ॥

—'विकुक्षिके महातेजस्वी प्रतापी पुत्र बाण हुए। बाणके महाबाहु पुत्र अनरण्य हुए, जो बड़े भारी तपस्वी थे ॥ ९ ॥

नानावृष्टिर्बभूवास्मिन् न दुर्भिक्षः सतां वरे।
अनरण्ये महाराजे तस्करो वापि कश्चन ॥ १० ॥

'सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ महाराज अनरण्यके राज्यमें कभी अनावृष्टि नहीं हुई, अकाल नहीं पड़ा और कोई चोर भी नहीं उत्पन्न हुआ ॥ १० ॥

अनरण्यान्महाराज पृथू राजा बभूव ह ।
तस्मात् पृथोर्महातेजास्त्रिशङ्कुरुदपद्यत ॥ ११ ॥

'महाराज! अनरण्यसे राजा पृथु हुए। उन पृथुसे महातेजस्वी त्रिशंकुकी उत्पत्ति हुई ॥ ११ ॥

स सत्यवचनाद् वीरः सशरीरो दिवं गतः ।
त्रिशङ्कोरभवत् सूनुर्धुन्धुमारो महायशाः ॥ १२ ॥

'वे वीर त्रिशंकु विश्वामित्रके सत्य वचनके प्रभावसे सदेह स्वर्गलोकको चले गये थे। त्रिशंकुके महायशस्वी धुन्धुमार हुए ॥ १२ ॥

धुन्धुमारान्महातेजा युवनाश्वो व्यजायत ।
युवनाश्वसुतः श्रीमान् मान्धाता समपद्यत ॥ १३ ॥

'धुन्धुमारसे महातेजस्वी युवनाश्वका जन्म हुआ। युवनाश्वके पुत्र श्रीमान् मान्धाता हुए ॥ १३ ॥

मान्धातुस्तु महातेजाः सुसंधिरुदपद्यत ।
सुसंधेरपि पुत्रौ द्वौ ध्रुवसंधिः प्रसेनजित् ॥ १४ ॥

'मान्धाताके महान् तेजस्वी पुत्र सुसंधि हुए। सुसंधिके दो पुत्र हुए—ध्रुवसंधि और प्रसेनजित् ॥ १४ ॥

यशस्वी ध्रुवसंधेस्तु भरतो रिपुसूदनः ।
भरतात् तु महाबाहोरसितो नाम जायत ॥ १५ ॥

'ध्रुवसंधिके यशस्वी पुत्र शत्रुसूदन भरत थे। महाबाहु भरतसे असित नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ १५ ॥

यस्यैते प्रतिराजान उदपद्यन्त शत्रवः ।
हैहयास्तालजङ्घाश्च शूराश्च शशबिन्दवः ॥ १६ ॥

'जिसके शत्रुभूत प्रतिपक्षी राजा ये हैहय, तालजंघ और शूर शशबिन्दु उत्पन्न हुए थे ॥ १६ ॥

तांस्तु सर्वान् प्रतिव्यूह्य युद्धे राजा प्रवासितः ।
स च शैलवरे रम्ये बभूवाभिरतो मुनिः ॥ १७ ॥

'उन सबका सामना करनेके लिये सेनाका व्यूह बनाकर युद्धके लिये डटे रहनेपर भी शत्रुओंकी संख्या अधिक होनेके कारण राजा असितको हारकर परदेशकी शरण लेनी पड़ी। वे रमणीय शैल-शिखरपर प्रसन्नतापूर्वक रहकर मुनिभावसे परमात्माका मनन-चिन्तन करने लगे ॥ १७ ॥

द्वे चास्य भार्ये गर्भिण्यौ बभूवतुरिति श्रुतिः ।
तत्र चैका महाभागा भार्गवं देववर्चसम् ॥ १८ ॥
ववन्दे पद्मपत्राक्षी काङ्क्षिणी पुत्रमुत्तमम् ।
एका गर्भविनाशाय सपत्न्यै गरलं ददौ ॥ १९ ॥

'सुना जाता है कि असितकी दो पत्नियाँ गर्भवती थीं। उनमेंसे एक महाभागा कमललोचना राजपत्नीने उत्तम पुत्र पानेकी अभिलाषा रखकर देवतुल्य तेजस्वी भृगुवंशी च्यवन मुनिके चरणोंमें वन्दना की और दूसरी रानीने अपनी सौतके गर्भका विनाश करनेके लिये उसे जहर दे दिया ॥ १८-१९ ॥

भार्गवश्च्यवनो नाम हिमवन्तमुपाश्रितः ।
तमृषिं साभ्युपागम्य कालिन्दी त्वभ्यवादयत् ॥ २० ॥

'उन दिनों भृगुवंशी च्यवन मुनि हिमालयपर रहते थे। राजा असितकी कालिन्दी नामवाली पत्नीने ऋषिके चरणोंमें पहुँचकर उन्हें प्रणाम किया ॥ २० ॥

स तामभ्यवदत् प्रीतो वरेप्सुं पुत्रजन्मनि ।
पुत्रस्ते भविता देवि महात्मा लोकविश्रुतः ॥ २१ ॥
धार्मिकश्च सुभीमश्च वंशकर्तारिसूदनः ।

'मुनिने प्रसन्न होकर पुत्रकी उत्पत्तिके लिये वरदान चाहनेवाली रानीसे इस प्रकार कहा—'देवि! तुम्हें एक महामनस्वी लोकविख्यात पुत्र प्राप्त होगा, जो धर्मात्मा, शत्रुओंके लिये अत्यन्त भयंकर, अपने वंशको चलानेवाला और शत्रुओंका संहारक होगा' ॥ २१½ ॥

श्रुत्वा प्रदक्षिणं कृत्वा मुनिं तमनुमान्य च ॥ २२ ॥
पद्मपत्रसमानाक्षं पद्मगर्भसमप्रभम् ।
ततः सा गृहमागम्य पत्नी पुत्रमजायत ॥ २३ ॥

'यह सुनकर रानीने मुनिकी परिक्रमा की और उनसे विदा लेकर वहाँसे अपने घर आनेपर उस रानीने एक पुत्रको जन्म दिया, जिसकी कान्ति कमलके भीतरी भागके समान सुन्दर थी और नेत्र कमलदलके समान मनोहर थे ॥ २२-२३ ॥

सपत्न्या तु गरस्तस्यै दत्तो गर्भजिघांसया ।
गरेण सह तेनैव तस्मात् स सगरोऽभवत् ॥ २४ ॥

'सौतने उसके गर्भको नष्ट करनेके लिये जो गर (विष) दिया था, उस गरके साथ ही वह बालक प्रकट हुआ; इसलिये सगर नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ २४ ॥

स राजा सगरो नाम यः समुद्रमखानयत् ।
इष्ट्वा पर्वणि वेगेन त्रासयान इमाः प्रजाः ॥ २५ ॥

'राजा सगर वे ही हैं, जिन्होंने पर्वके दिन यज्ञकी दीक्षा ग्रहण करके खुदाईके वेगसे इन समस्त प्रजाओंको भयभीत करते हुए अपने पुत्रोंद्वारा समुद्रको खुदवाया था ॥ २५ ॥

असमञ्जस्तु पुत्रोऽभूत् सगरस्येति नः श्रुतम् ।
जीवन्नेव स पित्रा तु निरस्तः पापकर्मकृत् ॥ २६ ॥

'हमारे सुननेमें आया है कि सगरके पुत्र असमञ्ज हुए, जिन्हें पापकर्ममें प्रवृत्त होनेके कारण पिताने जीते-जी ही राज्यसे निकाल दिया था ॥ २६ ॥

अंशुमानपि पुत्रोऽभूदसमञ्जस्य वीर्यवान् ।
दिलीपोऽंशुमतः पुत्रो दिलीपस्य भगीरथः ॥ २७ ॥

'असमञ्जके पुत्र अंशुमान् हुए, जो बड़े पराक्रमी थे। अंशुमान्‌के दिलीप और दिलीपके पुत्र भगीरथ हुए ॥ २७ ॥

भगीरथात् ककुत्स्थश्च काकुत्स्था येन तु स्मृताः ।
ककुत्स्थस्य तु पुत्रोऽभूद् रघुर्येन तु राघवाः ॥ २८ ॥

'भगीरथसे ककुत्स्थका जन्म हुआ, जिनसे उनके

वंशवाले 'काकुत्स्थ' कहलाते हैं। ककुत्स्थके पुत्र रघु हुए, जिनसे उस वंशके लोग 'राघव' कहलाये ॥ २८ ॥

रघोस्तु पुत्रस्तेजस्वी प्रवृद्धः पुरुषादकः।
कल्माषपादः सौदास इत्येवं प्रथितो भुवि ॥ २९ ॥

'रघुके तेजस्वी पुत्र कल्माषपाद हुए, जो बड़े होनेपर शापवश कुछ वर्षोंके लिये नरभक्षी राक्षस हो गये थे। वे इस पृथ्वीपर सौदास नामसे विख्यात थे ॥ २९ ॥

कल्माषपादपुत्रोऽभूच्छङ्खणस्त्विति नः श्रुतम्।
यस्तु तद्वीर्यमासाद्य सहसैन्यो व्यनीनशत् ॥ ३० ॥

'कल्माषपादके पुत्र शङ्खण हुए, यह हमारे सुननेमें आया है, जो युद्धमें सुप्रसिद्ध पराक्रम प्राप्त करके भी सेनासहित नष्ट हो गये थे ॥ ३० ॥

शङ्खणस्य तु पुत्रोऽभूच्छूरः श्रीमान् सुदर्शनः।
सुदर्शनस्याग्निवर्ण अग्निवर्णस्य शीघ्रगः ॥ ३१ ॥

'शङ्खणके शूरवीर पुत्र श्रीमान् सुदर्शन हुए। सुदर्शनके पुत्र अग्निवर्ण और अग्निवर्णके पुत्र शीघ्रग थे ॥ ३१ ॥

शीघ्रगस्य मरुः पुत्रो मरोः पुत्रः प्रशुश्रुवः।
प्रशुश्रुवस्य पुत्रोऽभूदम्बरीषो महामतिः ॥ ३२ ॥

'शीघ्रगके पुत्र मरु, मरुके पुत्र प्रशुश्रुव तथा प्रशुश्रुवके महाबुद्धिमान् पुत्र अम्बरीष हुए ॥ ३२ ॥

अम्बरीषस्य पुत्रोऽभून्नहुषः सत्यविक्रमः।
नहुषस्य च नाभागः पुत्रः परमधार्मिकः ॥ ३३ ॥

'अम्बरीषके पुत्र सत्यपराक्रमी नहुष थे। नहुषके पुत्र नाभाग हुए, जो बड़े धर्मात्मा थे ॥ ३३ ॥

अजश्च सुव्रतश्चैव नाभागस्य सुतावुभौ।
अजस्य चैव धर्मात्मा राजा दशरथः सुतः ॥ ३४ ॥

'नाभागके दो पुत्र हुए—अज और सुव्रत। अजके धर्मात्मा पुत्र राजा दशरथ थे ॥ ३४ ॥

तस्य ज्येष्ठोऽसि दायादो राम इत्यभिविश्रुतः।
तद् गृहाण स्वकं राज्यमवेक्षस्व जगन्नृप ॥ ३५ ॥

'दशरथके ज्येष्ठ पुत्र तुम हो, जिसकी 'श्रीराम' के नामसे प्रसिद्धि है। नरेश्वर! यह अयोध्याका राज्य तुम्हारा है, इसे ग्रहण करो और इसकी देख-भाल करते रहो ॥ ३५ ॥

इक्ष्वाकूणां हि सर्वेषां राजा भवति पूर्वजः।
पूर्वजे नावरः पुत्रो ज्येष्ठो राजाभिषिच्यते ॥ ३६ ॥

'समस्त इक्ष्वाकुवंशियोंके यहाँ ज्येष्ठ पुत्र ही राजा होता आया है। ज्येष्ठके होते हुए छोटा पुत्र राजा नहीं होता है। ज्येष्ठ पुत्रका ही राजाके पदपर अभिषेक होता है ॥ ३६ ॥

स राघवाणां कुलधर्ममात्मनः
सनातनं नाद्य विहन्तुमर्हसि।
प्रभूतरत्नामनुशाधि मेदिनीं
प्रभूतराष्ट्रां पितृवन्महायशः ॥ ३७ ॥

'महायशस्वी श्रीराम! रघुवंशियोंका जो अपना सनातन कुलधर्म है, उसको आज तुम नष्ट न करो। बहुत-से अवान्तर देशोंवाली तथा प्रचुर रत्नराशिसे सम्पन्न इस वसुधाका पिताकी भाँति पालन करो ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे दशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ दसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११० ॥

—★—

एकादशाधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठजीके समझानेपर भी श्रीरामको पिताकी आज्ञाके पालनसे विरत होते न देख भरतका धरना देनेको तैयार होना तथा श्रीरामका उन्हें समझाकर अयोध्या लौटनेकी आज्ञा देना

वसिष्ठः स तदा राममुक्त्वा राजपुरोहितः।
अब्रवीद् धर्मसंयुक्तं पुनरेवापरं वचः ॥ १ ॥

उस समय राजपुरोहित वसिष्ठने पूर्वोक्त बातें कहकर पुनः श्रीरामसे दूसरी धर्मयुक्त बातें कहीं— ॥ १ ॥

पुरुषस्येह जातस्य भवन्ति गुरवः सदा।
आचार्यश्चैव काकुत्स्थ पिता माता च राघव ॥ २ ॥

'रघुनन्दन! ककुत्स्थकुलभूषण! इस संसारमें उत्पन्न हुए पुरुषके सदा तीन गुरु होते हैं—आचार्य, पिता और माता ॥

पिता ह्येनं जनयति पुरुषं पुरुषर्षभ।
प्रज्ञां ददाति चाचार्यस्तस्मात् स गुरुरुच्यते ॥ ३ ॥

'पुरुषप्रवर! पिता पुरुषके शरीरको उत्पन्न करता है, इसलिये गुरु है और आचार्य उसे ज्ञान देता है, इसलिये गुरु कहलाता है ॥ ३ ॥

स तेऽहं पितुराचार्यस्तव चैव परंतप।
मम त्वं वचनं कुर्वन् नातिवर्तेः सतां गतिम् ॥ ४ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले रघुवीर! मैं तुम्हारे पिताका और तुम्हारा भी आचार्य हूँ; अतः मेरी आज्ञाका पालन करनेसे तुम सत्पुरुषोंके पथका त्याग करनेवाले नहीं समझे जाओगे ॥ ४ ॥

इमा हि ते परिषदो ज्ञातयश्च नृपास्तथा।
एषु तात चरन् धर्मं नातिवर्तेः सतां गतिम् ॥ ५ ॥

'तात! ये तुम्हारे सभासद्, बन्धु-बान्धव तथा सामन्त राजा पधारे हुए हैं, इनके प्रति धर्मानुकूल बर्ताव करनेसे भी तुम्हारे द्वारा सन्मार्गका उल्लङ्घन नहीं होगा ॥ ५ ॥

वृद्धाया धर्मशीलाया मातुर्नार्हस्यवर्तितुम्।
अस्या हि वचनं कुर्वन् नातिवर्तेः सतां गतिम् ॥ ६ ॥

'अपनी धर्मपरायणा बूढ़ी माताकी बात तो तुम्हें कभी

टालनी ही नहीं चाहिये। इनकी आज्ञाका पालन करके तुम श्रेष्ठ पुरुषोंके आश्रयभूत धर्मका उल्लङ्घन करनेवाले नहीं माने जाओगे ॥ ६ ॥

भरतस्य वचः कुर्वन् याचमानस्य राघव।
आत्मानं नातिवर्तेस्त्वं सत्यधर्मपराक्रम ॥ ७ ॥

'सत्य, धर्म और पराक्रमसे सम्पन्न रघुनन्दन! भरत अपने आत्मस्वरूप तुमसे राज्य ग्रहण करने और अयोध्या लौटनेकी प्रार्थना कर रहे हैं, उनकी बात मान लेनेसे भी तुम धर्मका उल्लङ्घन करनेवाले नहीं कहलाओगे' ॥ ७ ॥

एवं मधुरमुक्तः स गुरुणा राघवः स्वयम्।
प्रत्युवाच समासीनं वसिष्ठं पुरुषर्षभः ॥ ८ ॥

गुरु वसिष्ठने सुमधुर वचनोंमें जब इस प्रकार कहा, तब साक्षात् पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रने वहाँ बैठे हुए वसिष्ठजीको यों उत्तर दिया ॥ ८ ॥

यन्मातापितरौ वृत्तं तनये कुरुतः सदा।
न सुप्रतिकरं तत् तु मात्रा पित्रा च यत्कृतम् ॥ ९ ॥
यथाशक्तिप्रदानेन स्वापनोच्छादनेन च।
नित्यं च प्रियवादेन तथा संवर्धनेन च ॥ १० ॥

'माता और पिता पुत्रके प्रति जो सर्वदा स्नेहपूर्ण बर्ताव करते हैं, अपनी शक्तिके अनुसार उत्तम खाद्य पदार्थ देने, अच्छे बिछौनेपर सुलाने, उबटन आदि लगाने, सदा मीठी बातें बोलने तथा पालन-पोषण करने आदिके द्वारा माता और पिताने जो उपकार किया है, उसका बदला सहज ही नहीं चुकाया जा सकता ॥ ९-१० ॥

स हि राजा दशरथः पिता जनयिता मम।
आज्ञापयन्मां यत् तस्य न तन्मिथ्या भविष्यति ॥ ११ ॥

'अतः मेरे जन्मदाता पिता महाराज दशरथने मुझे जो आज्ञा दी है, वह मिथ्या नहीं होगी' ॥ ११ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण भरतः प्रत्यनन्तरम्।
उवाच विपुलोरस्कः सूतं परमदुर्मनाः ॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर चौड़ी छातीवाले भरतजीका मन बहुत उदास हो गया। वे पास ही बैठे हुए सूत सुमन्त्रसे बोले— ॥ १२ ॥

इह तु स्थण्डिले शीघ्रं कुशानास्तर सारथे।
आर्यं प्रत्युपवेक्ष्यामि यावन्मे सम्प्रसीदति ॥ १३ ॥
निराहारो निरालोको धनहीनो यथा द्विजः।
शये पुरस्ताच्छालायां यावन्मां प्रतियास्यति ॥ १४ ॥

'सारथे! आप इस वेदीपर शीघ्र ही बहुत-से कुश बिछा दीजिये। जबतक आर्य मुझपर प्रसन्न नहीं होंगे, तबतक मैं यहीं इनके पास धरना दूँगा। जैसे साहूकार या महाजनके द्वारा निर्धन किया हुआ ब्राह्मण उसके घरके दरवाजेपर मुँह ढककर बिना खाये-पिये पड़ा रहता है, उसी प्रकार मैं भी उपवासपूर्वक मुखपर आवरण डालकर इस कुटियाके सामने लेट जाऊँगा। जबतक मेरी बात मानकर ये अयोध्याको नहीं लौटेंगे, तबतक मैं इसी तरह पड़ा रहूँगा' ॥ १३-१४ ॥

स तु राममवेक्षन्तं सुमन्त्रं प्रेक्ष्य दुर्मनाः।
कुशोत्तरमुपस्थाप्य भूमावेवास्थितः स्वयम् ॥ १५ ॥

यह सुनकर सुमन्त्र श्रीरामचन्द्रजीका मुँह ताकने लगे। उन्हें इस अवस्थामें देख भरतके मनमें बड़ा दुःख हुआ और वे स्वयं ही कुशकी चटाई बिछाकर जमीनपर बैठ गये ॥

तमुवाच महातेजा रामो राजर्षिसत्तमः।
किं मां भरत कुर्वाणं तात प्रत्युपवेक्ष्यसे ॥ १६ ॥

तब महातेजस्वी राजर्षिशिरोमणि श्रीरामने उनसे कहा— 'तात भरत! मैं तुम्हारी क्या बुराई करता हूँ, जो मेरे आगे धरना दोगे?' ॥ १६ ॥

ब्राह्मणो ह्येकपार्श्वेन नरान् रोद्धुमिहार्हति।
न तु मूर्धाभिषिक्तानां विधिः प्रत्युपवेशने ॥ १७ ॥

'ब्राह्मण एक करवटसे सोकर—धरना देकर मनुष्योंको अन्यायसे रोक सकता है, परंतु राजतिलक ग्रहण करनेवाले क्षत्रियोंके लिये इस प्रकार धरना देनेका विधान नहीं है ॥

उत्तिष्ठ नरशार्दूल हित्वैतद् दारुणं व्रतम्।
पुरवर्यामितः क्षिप्रमयोध्यां याहि राघव ॥ १८ ॥

'अतः नरश्रेष्ठ रघुनन्दन! इस कठोर व्रतका परित्याग करके उठो और यहाँसे शीघ्र ही अयोध्यापुरीको जाओ' ॥

आसीनस्त्वेव भरतः पौरजानपदं जनम्।
उवाच सर्वतः प्रेक्ष्य किमार्यं नानुशासथ ॥ १९ ॥

यह सुनकर भरत वहाँ बैठे-बैठे ही सब ओर दृष्टि डालकर नगर और जनपदके लोगोंसे बोले—'आपलोग भैयाको क्यों नहीं समझाते हैं?' ॥ १९ ॥

ते तदोचुर्महात्मानं पौरजानपदा जनाः।
काकुत्स्थमभिजानीमः सम्यग् वदति राघवः ॥ २० ॥

तब नगर और जनपदके लोग महात्मा भरतसे बोले— 'हम जानते हैं, काकुत्स्थ श्रीरामचन्द्रजीके प्रति आप रघुकुल-तिलक भरतजी ठीक ही कहते हैं ॥ २० ॥

एषोऽपि हि महाभागः पितुर्वचसि तिष्ठति।
अत एव न शक्ताः स्मो व्यावर्तयितुमञ्जसा ॥ २१ ॥

'परंतु ये महाभाग श्रीरामचन्द्रजी भी पिताकी आज्ञाके पालनमें लगे हैं, इसलिये यह भी ठीक ही है। अतएव हम इन्हें सहसा उस ओरसे लौटानेमें असमर्थ हैं' ॥ २१ ॥

तेषामाज्ञाय वचनं रामो वचनमब्रवीत्।
एवं निबोध वचनं सुहृदां धर्मचक्षुषाम् ॥ २२ ॥

उन पुरवासियोंके वचनका तात्पर्य समझकर श्रीरामने भरतसे कहा—'भरत! धर्मपर दृष्टि रखनेवाले सुहृदोंके इस कथनको सुनो और समझो ॥ २२ ॥

एतच्चैवोभयं श्रुत्वा सम्यक् सम्पश्य राघव।
उत्तिष्ठ त्वं महाबाहो मां च स्पृश तथोदकम् ॥ २३ ॥

'रघुनन्दन ! मेरी और इनकी दोनों बातोंको सुनकर उनपर सम्यक् रूपसे विचार करो। महाबाहो ! अब शीघ्र उठो तथा मेरा और जलका स्पर्श करो' ॥ २३ ॥

अथोत्थाय जलं स्पृष्ट्वा भरतो वाक्यमब्रवीत्।
शृण्वन्तु मे परिषदो मन्त्रिणः शृणुयुस्तथा ॥ २४ ॥
न याचे पितरं राज्यं नानुशासामि मातरम्।
एवं परमधर्मज्ञं नानुजानामि राघवम् ॥ २५ ॥

यह सुनकर भरत उठकर खड़े हो गये और श्रीराम एवं जलका स्पर्श करके बोले—'मेरे सभासद् और मन्त्री सब लोग सुनें—न तो मैंने पिताजीसे राज्य माँगा था और न मातासे ही कभी इसके लिये कुछ कहा था। साथ ही, परम धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्रजीके वनवासमें भी मेरी कोई सम्मति नहीं है ॥ २४-२५ ॥

यदि त्ववश्यं वस्तव्यं कर्तव्यं च पितुर्वचः।
अहमेव निवत्स्यामि चतुर्दश वने समाः ॥ २६ ॥

'फिर भी यदि इनके लिये पिताजीकी आज्ञाका पालन करना और वनमें रहना अनिवार्य है तो इनके बदले मैं ही चौदह वर्षोंतक वनमें निवास करूँगा' ॥ २६ ॥

धर्मात्मा तस्य सत्येन भ्रातुर्वाक्येन विस्मितः।
उवाच रामः सम्प्रेक्ष्य पौरजानपदं जनम् ॥ २७ ॥

भाई भरतकी इस सत्य बातसे धर्मात्मा श्रीरामको बड़ा विस्मय हुआ और उन्होंने पुरवासी तथा राज्यनिवासी लोगोंकी ओर देखकर कहा— ॥ २७ ॥

विक्रीतमाहितं क्रीतं यत् पित्रा जीवता मम।
न तल्लोपयितुं शक्यं मया वा भरतेन वा ॥ २८ ॥

'पिताजीने अपने जीवनकालमें जो वस्तु बेंच दी है, या धरोहर रख दी है, अथवा खरीदी है, उसे मैं अथवा भरत कोई भी पलट नहीं सकता ॥ २८ ॥

उपाधिर्न मया कार्यो वनवासे जुगुप्सितः।
युक्तमुक्तं च कैकेय्या पित्रा मे सुकृतं कृतम् ॥ २९ ॥

'मुझे वनवासके लिये किसीको प्रतिनिधि नहीं बनाना चाहिये; क्योंकि सामर्थ्य रहते हुए प्रतिनिधिसे काम लेना लोकमें निन्दित है। कैकेयीने उचित माँग ही प्रस्तुत की थी और मेरे पिताजीने उसे देकर पुण्य कर्म ही किया था ॥ २९ ॥

जानामि भरतं क्षान्तं गुरुसत्कारकारिणम्।
सर्वमेवात्र कल्याणं सत्यसंधे महात्मनि ॥ ३० ॥

'मैं जानता हूँ, भरत बड़े क्षमाशील और गुरुजनोंका सत्कार करनेवाले हैं, इन सत्यप्रतिज्ञ महात्मामें सभी कल्याणकारी गुण मौजूद हैं ॥ ३० ॥

अनेन धर्मशीलेन वनात् प्रत्यागतः पुनः।
भ्रात्रा सह भविष्यामि पृथिव्याः पतिरुत्तमः ॥ ३१ ॥

'चौदह वर्षोंकी अवधि पूरी करके जब मैं वनसे लौटूँगा, तब अपने इन धर्मशील भाईके साथ इस भूमण्डलका श्रेष्ठ राजा होऊँगा ॥ ३१ ॥

वृतो राजा हि कैकेय्या मया तद्वचनं कृतम्।
अनृतान्मोचयानेन पितरं तं महीपतिम् ॥ ३२ ॥

'कैकेयीने राजासे वर माँगा और मैंने उसका पालन स्वीकार कर लिया, अतः भरत ! अब तुम मेरा कहना मानकर उस वरके पालनद्वारा अपने पिता महाराज दशरथको असत्यके बन्धनसे मुक्त करो' ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकादशाधिकशततमः सर्गः ॥ १११ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ ग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १११ ॥

—★—

द्वादशाधिकशततमः सर्गः

ऋषियोंका भरतको श्रीरामकी आज्ञाके अनुसार लौट जानेकी सलाह देना, भरतका पुनः श्रीरामके चरणोंमें गिरकर चलनेकी प्रार्थना करना, श्रीरामका उन्हें समझाकर अपनी चरणपादुका देकर उन सबको विदा करना

तमप्रतिमतेजोभ्यां भ्रातृभ्यां रोमहर्षणम्।
विस्मिताः संगमं प्रेक्ष्य समुपेता महर्षयः ॥ १ ॥

उन अनुपम तेजस्वी भ्राताओंका वह रोमाञ्चकारी समागम देख वहाँ आये हुए महर्षियोंको बड़ा विस्मय हुआ ॥ १ ॥

अन्तर्हिता मुनिगणाः स्थिताश्च परमर्षयः।
तौ भ्रातरौ महाभागौ काकुत्स्थौ प्रशशंसिरे ॥ २ ॥

अन्तरिक्षमें अदृश्य भावसे खड़े हुए मुनि तथा वहाँ प्रत्यक्षरूपमें बैठे हुए महर्षि उन महान् भाग्यशाली ककुत्स्थवंशी बन्धुओंकी इस प्रकार प्रशंसा करने लगे— ॥ २ ॥

सदार्यौ राजपुत्रौ द्वौ धर्मज्ञौ धर्मविक्रमौ।
श्रुत्वा वयं हि सम्भाषामुभयोः स्पृहयामहे ॥ ३ ॥

'ये दोनों राजकुमार सदा श्रेष्ठ, धर्मके ज्ञाता और धर्ममार्गपर ही चलनेवाले हैं। इन दोनोंकी बातचीत सुनकर हमें उसे बारंबार सुनते रहनेकी ही इच्छा होती है' ॥ ३ ॥

ततस्त्वृषिगणाः क्षिप्रं दशग्रीववधैषिणः।
भरतं राजशार्दूलमित्यूचुः संगता वचः ॥ ४ ॥

तदनन्तर दशग्रीव रावणके वधकी अभिलाषा रखनेवाले ऋषियोंने मिलकर राजसिंह भरतसे तुरंत ही यह बात कही— ॥ ४ ॥

कुले जात महाप्राज्ञ महावृत्त महायशः ।
ग्राह्यं रामस्य वाक्यं ते पितरं यद्यवेक्षसे ॥ ५ ॥

'महाप्राज्ञ ! तुम उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए हो। तुम्हारा आचरण बहुत उत्तम और यश महान् है। यदि तुम अपने पिताकी ओर देखो—उन्हें सुख पहुँचाना चाहो तो तुम्हें श्रीरामचन्द्रजीकी बात मान लेनी चाहिये ॥ ५ ॥

सदानृणमिमं रामं वयमिच्छामहे पितुः ।
अनृणत्वाच्च कैकेय्याः स्वर्गं दशरथो गतः ॥ ६ ॥

'हमलोग इन श्रीरामको पिताके ऋणसे सदा उऋण देखना चाहते हैं। कैकेयीका ऋण चुका देनेके कारण ही राजा दशरथ स्वर्गमें पहुँचे हैं' ॥ ६ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं गन्धर्वाः समहर्षयः ।
राजर्षयश्चैव तथा सर्वे स्वां स्वां गतिं गताः ॥ ७ ॥

इतना कहकर वहाँ आये हुए गन्धर्व, महर्षि और राजर्षि सब अपने-अपने स्थानको चले गये ॥ ७ ॥

ह्लादितस्तेन वाक्येन शुशुभे शुभदर्शनः ।
रामः संहृष्टवदनस्तानृषीनभ्यपूजयत् ॥ ८ ॥

जिनके दर्शनसे जगत्का कल्याण हो जाता है, वे भगवान् श्रीराम महर्षियोंके वचनसे बहुत प्रसन्न हुए। उनका मुख हर्षोल्लाससे खिल उठा, इससे उनकी बड़ी शोभा हुई और उन्होंने उन महर्षियोंकी सादर प्रशंसा की ॥ ८ ॥

त्रस्तगात्रस्तु भरतः स वाचा सज्जमानया ।
कृताञ्जलिरिदं वाक्यं राघवं पुनरब्रवीत् ॥ ९ ॥

परंतु भरतका सारा शरीर थर्रा उठा। वे लड़खड़ाती हुई जबानसे हाथ जोड़कर श्रीरामचन्द्रजीसे बोले— ॥ ९ ॥

राम धर्ममिमं प्रेक्ष्य कुलधर्मानुसंततम् ।
कर्तुमर्हसि काकुत्स्थ मम मातुश्च याचनाम् ॥ १० ॥

'ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम ! हमारे कुलधर्मसे सम्बन्ध रखनेवाला जो ज्येष्ठ पुत्रका राज्यग्रहण और प्रजापालनरूप धर्म है, उसकी ओर दृष्टि डालकर आप मेरी तथा माताकी याचना सफल कीजिये ॥ १० ॥

रक्षितुं सुमहद् राज्यमहमेकस्तु नोत्सहे ।
पौरजानपदांश्चापि रक्तान् रञ्जयितुं तदा ॥ ११ ॥

'मैं अकेला ही इस विशाल राज्यकी रक्षा नहीं कर सकता तथा आपके चरणोंमें अनुराग रखनेवाले इन पुरवासी तथा जनपदवासी लोगोंको भी आपके बिना प्रसन्न नहीं रख सकता ॥

ज्ञातयश्चापि योधाश्च मित्राणि सुहृदश्च नः ।
त्वामेव हि प्रतीक्षन्ते पर्जन्यमिव कर्षकाः ॥ १२ ॥

'जैसे किसान मेघकी प्रतीक्षा करते रहते हैं, उसी प्रकार हमारे बन्धु-बान्धव, योद्धा, मित्र और सुहृद् सब लोग आपकी ही बाट जोहते हैं ॥ १२ ॥

इदं राज्यं महाप्राज्ञ स्थापय प्रतिपद्य हि ।
शक्तिमान् स हि काकुत्स्थ लोकस्य परिपालने ॥ १३ ॥

'महाप्राज्ञ ! आप इस राज्यको स्वीकार करके दूसरे किसीको इसके पालनका भार सौंप दीजिये। वही पुरुष आपके प्रजावर्ग अथवा लोकका पालन करनेमें समर्थ हो सकता है ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वापतद् भ्रातुः पादयोर्भरतस्तदा ।
भृशं सम्प्रार्थयामास राघवेऽतिप्रियं वदन् ॥ १४ ॥

ऐसा कहकर भरत अपने भाईके चरणोंपर गिर पड़े। उस समय उन्होंने श्रीरघुनाथजीसे अत्यन्त प्रिय वचन बोलकर उनसे राज्यग्रहण करनेके लिये बड़ी प्रार्थना की ॥ १४ ॥

तमङ्के भ्रातरं कृत्वा रामो वचनमब्रवीत् ।
श्यामं नलिनपत्राक्षं मत्तहंसस्वरः स्वयम् ॥ १५ ॥

तब श्रीरामचन्द्रजीने श्यामवर्ण कमलनयन भाई भरतको उठाकर गोदमें बिठा लिया और मदमत्त हंसके समान मधुर स्वरमें स्वयं यह बात कही— ॥ १५ ॥

आगता त्वामियं बुद्धिः स्वजा वैनयिकी च या ।
भृशमुत्सहसे तात रक्षितुं पृथिवीमपि ॥ १६ ॥

'तात ! तुम्हें जो यह स्वाभाविक विनयशील बुद्धि प्राप्त हुई है इस बुद्धिके द्वारा तुम समस्त भूमण्डलकी रक्षा करनेमें भी पूर्णरूपसे समर्थ हो सकते हो ॥ १६ ॥

अमात्यैश्च सुहृद्भिश्च बुद्धिमद्भिश्च मन्त्रिभिः ।
सर्वकार्याणि सम्मन्त्र्य महान्त्यपि हि कारय ॥ १७ ॥

'इसके सिवा अमात्यों, सुहृदों और बुद्धिमान् मन्त्रियोंसे सलाह लेकर उनके द्वारा सब कार्य, वे कितने ही बड़े क्यों न हों, करा लिया करो ॥ १७ ॥

लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद् वा हिमवान् वा हिमं त्यजेत् ।
अतीयात् सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः ॥ १८ ॥

'चन्द्रमासे उसकी प्रभा अलग हो जाय, हिमालय हिमका परित्याग कर दे, अथवा समुद्र अपनी सीमाको लाँघकर आगे बढ़ जाय, किंतु मैं पिताकी प्रतिज्ञा नहीं तोड़ सकता ॥ १८ ॥

कामाद् वा तात लोभाद् वा मात्रा तुभ्यमिदं कृतम् ।
न तन्मनसि कर्तव्यं वर्तितव्यं च मातृवत् ॥ १९ ॥

'तात ! माता कैकेयीने कामनासे अथवा लोभवश तुम्हारे लिये जो कुछ किया है, उसको मनमें न लाना और उसके प्रति सदा वैसा ही बर्ताव करना जैसा अपनी पूजनीया माताके प्रति करना उचित है' ॥ १९ ॥

एवं ब्रुवाणं भरतः कौसल्यासुतमब्रवीत् ।
तेजसाऽऽदित्यसंकाशं प्रतिपच्चन्द्रदर्शनम् ॥ २० ॥

जो सूर्यके समान तेजस्वी हैं तथा जिनका दर्शन प्रतिपदा (द्वितीया) के चन्द्रमाकी भाँति आह्लादजनक है, उन कौसल्यानन्दन श्रीरामके इस प्रकार कहनेपर भरत उनसे यों बोले— ॥ २० ॥

अधिरोहार्य पादाभ्यां पादुके हेमभूषिते ।
एते हि सर्वलोकस्य योगक्षेमं विधास्यतः ॥ २१ ॥

'आर्य ! ये दो सुवर्णभूषित पादुकाएँ आपके चरणोंमें अर्पित हैं, आप इनपर अपने चरण रखें। ये ही सम्पूर्ण जगत्‌के योगक्षेमका निर्वाह करेंगी' ॥ २१ ॥

सोऽधिरुह्य नरव्याघ्रः पादुके व्यवमुच्य च।
प्रायच्छत् सुमहातेजा भरताय महात्मने ॥ २२ ॥

तब महातेजस्वी पुरुषसिंह श्रीरामने उन पादुकाओंपर चढ़कर उन्हें फिर अलग कर दिया और महात्मा भरतको सौंप दिया ॥ २२ ॥

स पादुके सम्प्रणम्य रामं वचनमब्रवीत्।
चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरो ह्यहम् ॥ २३ ॥
फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन।
तवागमनमाकाङ्क्षन् वसन् वै नगराद् बहिः ॥ २४ ॥
तव पादुकयोर्न्यस्य राज्यतन्त्रं परंतप।

उन पादुकाओंको प्रणाम करके भरतने श्रीरामसे कहा—'वीर रघुनन्दन ! मैं भी चौदह वर्षोंतक जटा और चीर धारण करके फल-मूलका भोजन करता हुआ आपके आगमनकी प्रतीक्षामें नगरसे बाहर ही रहूँगा। परंतप ! इतने दिनोंतक राज्यका सारा भार आपकी इन चरणपादुकाओंपर ही रखकर मैं आपकी बाट जोहता रहूँगा ॥ २३-२४½ ॥

चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम ॥ २५ ॥
न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्।

'रघुकुलशिरोमणे ! यदि चौदहवाँ वर्ष पूर्ण होनेपर नूतन वर्षके प्रथम दिन ही मुझे आपका दर्शन नहीं मिलेगा तो मैं जलती हुई आगमें प्रवेश कर जाऊँगा' ॥ २५½ ॥

तथेति च प्रतिज्ञाय तं परिष्वज्य सादरम् ॥ २६ ॥
शत्रुघ्नं च परिष्वज्य वचनं चेदमब्रवीत्।

श्रीरामचन्द्रजीने 'बहुत अच्छा' कहकर स्वीकृति दे दी और बड़े आदरके साथ भरतको हृदयसे लगाया। तत्पश्चात् शत्रुघ्नको भी छातीसे लगाकर यह बात कही— ॥ २६½ ॥

मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति ॥ २७ ॥
मया च सीतया चैव शप्तोऽसि रघुनन्दन।
इत्युक्त्वाश्रुपरीताक्षो भ्रातरं विससर्ज ह ॥ २८ ॥

'रघुनन्दन ! मैं तुम्हें अपनी और सीताकी शपथ दिलाकर कहता हूँ कि तुम माता कैकेयीकी रक्षा करना, उनके प्रति कभी क्रोध न करना'—इतना कहते-कहते उनकी आँखोंमें आँसू उमड़ आये। उन्होंने व्यथित हृदयसे भाई शत्रुघ्नको विदा किया ॥ २७-२८ ॥

स पादुके ते भरतः स्वलंकृते
महोज्ज्वले सम्परिगृह्य धर्मवित्।
प्रदक्षिणं चैव चकार राघवं
चकार चैवोत्तमनागमूर्धनि ॥ २९ ॥

धर्मज्ञ भरतने भलीभाँति अलंकृत की हुई उन परम उज्ज्वल चरणपादुकाओंको लेकर श्रीरामचन्द्रजीकी परिक्रमा की तथा उन पादुकाओंको राजाकी सवारीमें आनेवाले सर्वश्रेष्ठ गजराजके मस्तकपर स्थापित किया ॥ २९ ॥

अथानुपूर्व्या प्रतिपूज्य तं जनं
गुरूंश्च मन्त्रीन् प्रकृतीस्तथानुजौ।
व्यसर्जयद् राघववंशवर्धनः
स्थितः स्वधर्मे हिमवानिवाचलः ॥ ३० ॥

तदनन्तर अपने धर्ममें हिमालयकी भाँति अविचल भावसे स्थित रहनेवाले रघुवंशवर्धन श्रीरामने क्रमशः वहाँ आये हुए जनसमुदाय, गुरु, मन्त्री, प्रजा तथा दोनों भाइयोंका यथायोग्य सत्कार करके उन्हें विदा किया ॥ ३० ॥

तं मातरो बाष्पगृहीतकण्ठ्यो
दुःखेन नामन्त्रयितुं हि शेकुः।
स चैव मातॄरभिवाद्य सर्वा
रुदन् कुटीं स्वां प्रविवेश रामः ॥ ३१ ॥

उस समय कौसल्या आदि सभी माताओंका गला आँसुओंसे रुँध गया था। वे दुःखके कारण श्रीरामको सम्बोधित भी न कर सकीं। श्रीराम भी सब माताओंको प्रणाम करके रोते हुए अपनी कुटियामें चले गये ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्वादशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ बारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११२ ॥

—★—

त्रयोदशाधिकशततमः सर्गः

भरतका भरद्वाजसे मिलते हुए अयोध्याको लौट आना

ततः शिरसि कृत्वा तु पादुके भरतस्तदा।
आरुरोह रथं हृष्टः शत्रुघ्नसहितस्तदा ॥ १ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजीकी दोनों चरणपादुकाओंको अपने मस्तकपर रखकर भरत शत्रुघ्नके साथ प्रसन्नतापूर्वक रथपर बैठे ॥ १ ॥

वसिष्ठो वामदेवश्च जाबालिश्च दृढव्रतः।
अग्रतः प्रययुः सर्वे मन्त्रिणो मन्त्रपूजिताः ॥ २ ॥

वसिष्ठ, वामदेव तथा दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले जाबालि आदि सब मन्त्री, जो उत्तम मन्त्रणा देनेके कारण सम्मानित थे, आगे-आगे चले ॥ २ ॥

मन्दाकिनीं नदीं रम्यां प्राङ्मुखास्ते ययुस्तदा।
प्रदक्षिणं च कुर्वाणाश्चित्रकूटं महागिरिम् ॥ ३ ॥

वे सब लोग चित्रकूट नामक महान् पर्वतकी परिक्रमा करते हुए परम रमणीय मन्दाकिनी नदीको पार करके

पूर्वदिशाकी ओर प्रस्थित हुए ॥ ३ ॥

पश्यन् धातुसहस्राणि रम्याणि विविधानि च।
प्रययौ तस्य पार्श्वेन ससैन्यो भरतस्तदा ॥ ४ ॥

उस समय भरत अपनी सेनाके साथ सहस्रों प्रकारके रमणीय धातुओंको देखते हुए चित्रकूटके किनारेसे होकर निकले ॥ ४ ॥

अदूराच्चित्रकूटस्य ददर्श भरतस्तदा।
आश्रमं यत्र स मुनिर्भरद्वाजः कृतालयः ॥ ५ ॥

चित्रकूटसे थोड़ी ही दूर जानेपर भरतने वह आश्रम देखा, जहाँ मुनिवर भरद्वाजजी निवास करते थे* ॥ ५ ॥

स तमाश्रममागम्य भरद्वाजस्य वीर्यवान्।
अवतीर्य रथात् पादौ ववन्दे कुलनन्दनः ॥ ६ ॥

अपने कुलको आनन्दित करनेवाले पराक्रमी भरत महर्षि भरद्वाजके उस आश्रमपर पहुँचकर रथसे उतर पड़े और उन्होंने मुनिके चरणोंमें प्रणाम किया ॥ ६ ॥

ततो हृष्टो भरद्वाजो भरतं वाक्यमब्रवीत्।
अपि कृत्यं कृतं तात रामेण च समागतम् ॥ ७ ॥

उनके आनेसे महर्षि भरद्वाजको बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने भरतसे पूछा—'तात! क्या तुम्हारा कार्य सम्पन्न हुआ? क्या श्रीरामचन्द्रजीसे भेंट हुई?' ॥ ७ ॥

एवमुक्तः स तु ततो भरद्वाजेन धीमता।
प्रत्युवाच भरद्वाजं भरतो धर्मवत्सलः ॥ ८ ॥

बुद्धिमान् भरद्वाजजीके इस प्रकार पूछनेपर धर्मवत्सल भरतने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ ८ ॥

स याच्यमानो गुरुणा मया च दृढविक्रमः।
राघवः परमप्रीतो वसिष्ठं वाक्यमब्रवीत् ॥ ९ ॥

'मुने! भगवान् श्रीराम अपने पराक्रमपर दृढ़ रहनेवाले हैं। मैंने उनसे बहुत प्रार्थना की। गुरुजीने भी अनुरोध किया। तब उन्होंने अत्यन्त प्रसन्न होकर गुरुदेव वसिष्ठजीसे इस प्रकार कहा— ॥ ९ ॥

पितुः प्रतिज्ञां तामेव पालयिष्यामि तत्त्वतः।
चतुर्दश हि वर्षाणि या प्रतिज्ञा पितुर्मम ॥ १० ॥

'मैं चौदह वर्षोंतक वनमें रहूँ, इसके लिये मेरे पिताजीने जो प्रतिज्ञा कर ली थी, उनकी उस प्रतिज्ञाका ही मैं यथार्थरूपसे पालन करूँगा' ॥ १० ॥

एवमुक्तो महाप्राज्ञो वसिष्ठः प्रत्युवाच ह।
वाक्यज्ञो वाक्यकुशलं राघवं वचनं महत् ॥ ११ ॥

'उनके ऐसा कहनेपर बातके मर्मको समझनेवाले महाज्ञानी वसिष्ठजीने बातचीत करनेमें कुशल श्रीरघुनाथजीसे यह महत्त्वपूर्ण बात कही— ॥ ११ ॥

एते प्रयच्छ संहृष्टः पादुके हेमभूषिते।
अयोध्यायां महाप्राज्ञ योगक्षेमकरो भव ॥ १२ ॥

'महाप्राज्ञ! तुम प्रसन्नतापूर्वक ये स्वर्णभूषित पादुकाएँ अपने प्रतिनिधिके रूपमें भरतको दे दो और इन्हींके द्वारा अयोध्याके योगक्षेमका निर्वाह करो' ॥ १२ ॥

एवमुक्तो वसिष्ठेन राघवः प्राङ्मुखः स्थितः।
पादुके हेमविकृते मम राज्याय ते ददौ ॥ १३ ॥

'गुरु वसिष्ठजीके ऐसा कहनेपर पूर्वाभिमुख खड़े हुए श्रीरघुनाथजीने अयोध्याके राज्यका संचालन करनेके लिये ये दोनों स्वर्णभूषित पादुकाएँ मुझे दे दीं ॥ १३ ॥

निवृत्तोऽहमनुज्ञातो रामेण सुमहात्मना।
अयोध्यामेव गच्छामि गृहीत्वा पादुके शुभे ॥ १४ ॥

'तत्पश्चात् मैं महात्मा श्रीरामकी आज्ञा पाकर लौट आया हूँ और उनकी इन मङ्गलमयी चरणपादुकाओंको लेकर अयोध्याको ही जा रहा हूँ' ॥ १४ ॥

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं भरतस्य महात्मनः।
भरद्वाजः शुभतरं मुनिर्वाक्यमुदाहरत् ॥ १५ ॥

महात्मा भरतका यह शुभ वचन सुनकर भरद्वाज मुनिने यह परम मङ्गलमय बात कही— ॥ १५ ॥

नैतच्चित्रं नरव्याघ्रे शीलवृत्तविदां वरे।
यदार्यं त्वयि तिष्ठेत्तु निम्नोत्सृष्टमिवोदकम् ॥ १६ ॥

'भरत! तुम मनुष्योंमें सिंहके समान वीर तथा शील और सदाचारके ज्ञाताओंमें श्रेष्ठ हो। जैसे जल नीची भूमिवाले जलाशयमें सब ओरसे बहकर चला आता है, उसी प्रकार तुममें सारे श्रेष्ठ गुण स्थित हों—यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है ॥ १६ ॥

अनृणः स महाबाहुः पिता दशरथस्तव।
यस्य त्वमीदृशः पुत्रो धर्मात्मा धर्मवत्सलः ॥ १७ ॥

'तुम्हारे पिता महाबाहु राजा दशरथ सब प्रकारसे उऋण हो गये, जिनके तुम-जैसा धर्मप्रेमी एवं धर्मात्मा पुत्र है' ॥ १७ ॥

तमृषिं तु महाप्राज्ञमुक्तवाक्यं कृताञ्जलिः।
आमन्त्रयितुमारेभे चरणावुपगृह्य च ॥ १८ ॥

उन महाज्ञानी महर्षिके ऐसा कहनेपर भरतने हाथ जोड़कर उनके चरणोंका स्पर्श किया; फिर वे उनसे जानेकी आज्ञा लेनेको उद्यत हुए ॥ १८ ॥

---

* यह आश्रम यमुनासे दक्षिण दिशामें चित्रकूटके कुछ निकट था। गङ्गा और यमुनाके बीच प्रयागवाला आश्रम, जहाँ वनमें जाते समय श्रीरामचन्द्रजी तथा भरत आदिने विश्राम किया था, इससे भिन्न जान पड़ता है। तभी इस आश्रमपर भरद्वाजसे मिलनेके बाद भरत आदिके यमुना पार करनेका उल्लेख मिलता है—'ततस्ते यमुनां दिव्यां नदीं तीर्त्वोर्मिमालिनीम्।' इस द्वितीय आश्रमसे श्रीराम और भरतके समागमका समाचार शीघ्र प्राप्त हो सकता था; इसीलिये भरद्वाजजी भरतके लौटनेके समय यहीं मौजूद थे।

ततः प्रदक्षिणं कृत्वा भरद्वाजं पुनः पुनः।
भरतस्तु ययौ श्रीमानयोध्यां सह मन्त्रिभिः॥ १९॥

तदनन्तर श्रीमान् भरत बारंबार भरद्वाज मुनिकी परिक्रमा करके मन्त्रियोंसहित अयोध्याकी ओर चल दिये॥ १९॥

यानैश्च शकटैश्चैव हयैर्नागैश्च सा चमूः।
पुनर्निवृत्ता विस्तीर्णा भरतस्यानुयायिनी॥ २०॥

फिर वह विस्तृत सेना रथों, छकड़ों, घोड़ों और हाथियोंके साथ भरतका अनुसरण करती हुई अयोध्याको लौटी॥ २०॥

ततस्ते यमुनां दिव्यां नदीं तीर्त्वोर्मिमालिनीम्।
ददृशुस्तां पुनः सर्वे गङ्गां शिवजलां नदीम्॥ २१॥

तत्पश्चात् आगे जाकर उन सब लोगोंने तरंग-मालाओंसे सुशोभित दिव्य नदी यमुनाको पार करके पुनः शुभसलिला गङ्गाजीका दर्शन किया॥ २१॥

तां रम्यजलसम्पूर्णां संतीर्य सहबान्धवः।
शृङ्गवेरपुरं रम्यं प्रविवेश ससैनिकः॥ २२॥

फिर बन्धु-बान्धवों और सैनिकोंके साथ मनोहर जलसे भरी हुई गङ्गाको भी पार होकर वे परम रमणीय शृङ्गवेरपुरमें जा पहुँचे॥ २२॥

शृङ्गवेरपुराद् भूय अयोध्यां संददर्श ह।
अयोध्यां तु तदा दृष्ट्वा पित्रा भ्रात्रा विवर्जिताम्॥ २३॥
भरतो दुःखसंतप्तः सारथिं चेदमब्रवीत्।

शृङ्गवेरपुरसे प्रस्थान करनेपर उन्हें पुनः अयोध्यापुरीका दर्शन हुआ, जो उस समय पिता और भाई दोनोंसे विहीन थी। उसे देखकर भरतने दुःखसे संतप्त हो सारथिसे इस प्रकार कहा—॥ २३½॥

सारथे पश्य विध्वस्ता अयोध्या न प्रकाशते॥ २४॥
निराकारा निरानन्दा दीना प्रतिहतस्वना॥ २५॥

'सारथि सुमन्त्रजी! देखिये, अयोध्याकी सारी शोभा नष्ट हो गयी है; अतः यह पहलेकी भाँति प्रकाशित नहीं होती है। इसका वह सुन्दर रूप, वह आनन्द जाता रहा। इस समय यह अत्यन्त दीन और नीरव हो रही है'॥ २४-२५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रयोदशाधिकशततमः सर्गः॥ ११३॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ तेरहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ११३॥

चतुर्दशाधिकशततमः सर्गः

भरतके द्वारा अयोध्याकी दुरवस्थाका दर्शन तथा अन्तःपुरमें प्रवेश करके भरतका दुःखी होना

स्निग्धगम्भीरघोषेण स्यन्दनेनोपयान् प्रभुः।
अयोध्यां भरतः क्षिप्रं प्रविवेश महायशाः॥ १॥

इसके बाद प्रभावशाली महायशस्वी भरतने स्निग्ध, गम्भीर घर्घर घोषसे युक्त रथके द्वारा यात्रा करके शीघ्र ही अयोध्यामें प्रवेश किया॥ १॥

बिडालोलूकचरितामालीननरवारणाम्।
तिमिराभ्याहतां कालीमप्रकाशां निशामिव॥ २॥

उस समय वहाँ बिलाव और उल्लू विचर रहे थे। घरोंके किवाड़ बंद थे। सारे नगरमें अन्धकार छा रहा था। प्रकाश न होनेके कारण वह पुरी कृष्ण-पक्षकी काली रातके समान जान पड़ती थी॥ २॥

राहुशत्रोः प्रियां पत्नीं श्रिया प्रज्वलितप्रभाम्।
ग्रहेणाभ्युदितेनैकां रोहिणीमिव पीडिताम्॥ ३॥

जैसे चन्द्रमाकी प्रिय पत्नी और अपनी शोभासे प्रकाशित कान्तिवाली रोहिणी उदित हुए राहु नामक ग्रहके द्वारा अपने पतिके ग्रस लिये जानेपर अकेली—असहाय हो जाती है, उसी प्रकार दिव्य ऐश्वर्यसे प्रकाशित होनेवाली अयोध्या राजाके कालकवलित हो जानेके कारण पीड़ित एवं असहाय हो रही थी॥ ३॥

अल्पोष्णक्षुब्धसलिलां घर्मतप्तविहंगमाम्।
लीनमीनझषग्राहां कृशां गिरिनदीमिव॥ ४॥

वह पुरी उस पर्वतीय नदीकी भाँति कृशकाय दिखायी देती थी, जिसका जल सूर्यकी किरणोंसे तपकर कुछ गरम और गँदला हो रहा हो, जिसके पक्षी धूपसे संतप्त होकर भाग गये हों तथा जिसके मीन, मत्स्य और ग्राह गहरे जलमें छिप गये हों॥ ४॥

विधूमामिव हेमाभां शिखामग्नेः समुत्थिताम्।
हविरभ्युक्षितां पश्चाच्छिखां विप्रलयं गताम्॥ ५॥

जो अयोध्या पहले धूमरहित सुनहरी कान्तिवाली प्रज्वलित अग्निशिखाके समान प्रकाशित होती थी, वही श्रीरामवनवासके बाद हवनीय दुग्धसे सींची गयी अग्निकी ज्वालाके समान बुझकर विलीन-सी हो गयी है॥ ५॥

विध्वस्तकवचां रुग्णगजवाजिरथध्वजाम्।
हतप्रवीरामापन्नां चमूमिव महाहवे॥ ६॥

उस समय अयोध्या महासमरमें संकटग्रस्त हुई उस सेनाके समान प्रतीत होती थी, जिसके कवच कटकर गिर गये हों, हाथी, घोड़े, रथ और ध्वजा छिन्न-भिन्न हो गये हों और मुख्य-मुख्य वीर मार डाले गये हों॥ ६॥

सफेनां सस्वनां भूत्वा सागरस्य समुत्थिताम्।
प्रशान्तमारुतोद्धूतां जलोर्मिमिव निःस्वनाम्॥ ७॥

प्रबल वायुके वेगसे फेन और गर्जनाके साथ उठी हुई समुद्रकी उत्ताल तरंग सहसा वायुके शान्त हो जानेपर जैसे शिथिल और नीरव हो जाती है, उसी प्रकार कोलाहलपूर्ण अयोध्या अब शब्दशून्य-सी जान पड़ती थी॥ ७॥

त्यक्तां यज्ञायुधैः सर्वैरभिरूपैश्च याजकैः।
सुत्याकाले सुनिर्वृत्ते वेदिं गतरवामिव॥ ८॥

यज्ञकाल समाप्त होनेपर 'स्फ्य' आदि यज्ञसम्बन्धी आयुधों तथा श्रेष्ठ याजकोंसे सूनी हुई वेदी जैसे मन्त्रोच्चारणकी ध्वनिसे रहित हो जाती है, उसी प्रकार अयोध्या सुनसान दिखायी देती थी॥ ८॥

गोष्ठमध्ये स्थितामार्तामचरन्तीं नवं तृणम्।
गोवृषेण परित्यक्तां गवां पत्नीमिवोत्सुकाम्॥ ९॥

जैसे कोई गाय साँड़के साथ समागमके लिये उत्सुक हो, उसी अवस्थामें उसे साँड़से अलग कर दिया गया हो और वह नूतन घास चरना छोड़कर आर्त भावसे गोष्ठमें बँधी हुई खड़ी हो, उसी तरह अयोध्यापुरी भी आन्तरिक वेदनासे पीड़ित थी॥ ९॥

प्रभाकराद्यैः सुस्निग्धैः प्रज्वलद्भिरिवोत्तमैः।
वियुक्तां मणिभिर्जात्यैर्नवां मुक्तावलीमिव॥ १०॥

श्रीराम आदिसे रहित हुई अयोध्या मोतियोंकी उस नूतन मालाके समान श्रीहीन हो गयी थी, जिसकी अत्यन्त चिकनी-चमकीली, उत्तम तथा अच्छी जातिकी पद्मराग आदि मणियाँ उससे निकालकर अलग कर दी गयी हों॥ १०॥

सहसाचरितां स्थानान्महीं पुण्यक्षयाद् गताम्।
संहृतद्युतिविस्तारां तारामिव दिवश्च्युताम्॥ ११॥

जो पुण्य-क्षय होनेके कारण सहसा अपने स्थानसे भ्रष्ट हो पृथ्वीपर आ पहुँची हो, अतएव जिसकी विस्तृत प्रभा क्षीण हो गयी हो, आकाशसे गिरी हुई उस तारिकाकी भाँति अयोध्या शोभाहीन हो गयी थी॥ ११॥

पुष्पनद्धां वसन्तान्ते मत्तभ्रमरशालिनीम्।
द्रुतदावाग्निविप्लुष्टां क्लान्तां वनलतामिव॥ १२॥

जो ग्रीष्म ऋतुमें पहले फूलोंसे लदी हुई होनेके कारण मतवाले भ्रमरोंसे सुशोभित होती रही हो और फिर सहसा दावानलके लपेटमें आकर मुरझा गयी हो, वनकी उस लताके समान पहलेकी उल्लासपूर्ण अयोध्या अब उदास हो गयी थी॥ १२॥

सम्मूढनिगमां सर्वां संक्षिप्तविपणापणाम्।
प्रच्छन्नशशिनक्षत्रां द्यामिवाम्बुधरैर्युताम्॥ १३॥

वहाँके व्यापारी वणिक् शोकसे व्याकुल होनेके कारण किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये थे, बाजार-हाट और दूकानें बहुत कम खुली थीं। उस समय सारी पुरी उस आकाशकी भाँति शोभाहीन हो गयी थी, जहाँ बादलोंकी घटाएँ घिर आयी हों और तारे तथा चन्द्रमा ढक गये हों॥ १३॥

क्षीणपानोत्तमैर्भग्नैः शरावैरभिसंवृताम्।
हतशौण्डामिव ध्वस्तां पानभूमिमसंस्कृताम्॥ १४॥

(उन दिनों अयोध्यापुरीकी सड़कें झाड़ी-बुहारी नहीं गयी थीं, इसलिये यत्र-तत्र कूड़े-करकटके ढेर पड़े थे। उस अवस्थामें) वह नगरी उस उजड़ी हुई पानभूमि (मधुशाला) के समान श्रीहीन दिखायी देती थी, जिसकी सफाई न की गयी हो, जहाँ मधुसे खाली टूटी-फूटी प्यालियाँ पड़ी हों और जहाँके पीनेवाले भी नष्ट हो गये हों॥ १४॥

वृक्णभूमितलां निम्नां वृक्णपात्रैः समावृताम्।
उपयुक्तोदकां भग्नां प्रपां निपतितामिव॥ १५॥

उस पुरीकी दशा उस पौंसलेकी-सी हो रही थी, जो खम्भोंके टूट जानेसे ढह गया हो, जिसका चबूतरा छिन्न-भिन्न हो गया हो, भूमि नीची हो गयी हो, पानी चुक गया हो और जलपात्र-टूट-फूटकर इधर-उधर सब ओर बिखरे पड़े हों॥

विपुलां विततां चैव युक्तपाशां तरस्विनाम्।
भूमिं बाणैर्विनिष्कृत्तां पतितां ज्यामिवायुधात्॥ १६॥

जो विशाल और सम्पूर्ण धनुषमें फैली हुई हो, उसकी दोनों कोटियों (किनारों) में बाँधनेके लिये जिसमें रस्सी जुड़ी हुई हो, किंतु वेगशाली वीरोंके बाणोंसे कटकर धनुषसे पृथ्वीपर गिर पड़ी हो, उस प्रत्यञ्चाके समान ही अयोध्यापुरी भी स्थानभ्रष्ट हुई-सी दिखायी देती थी॥ १६॥

सहसा युद्धशौण्डेन हयारोहेण वाहिताम्।
निहतां प्रतिसैन्येन वडवामिव पातिताम्॥ १७॥

जिसपर युद्धकुशल घुड़सवारने सवारी की हो और जिसे शत्रुपक्षकी सेनाने सहसा मार गिराया हो, युद्धभूमिमें पड़ी हुई उस घोड़ीकी जो दशा होती है, वही उस समय अयोध्यापुरीकी भी थी (कैकेयीके कुचक्रसे उसके संचालक नरेशका स्वर्गवास और युवराजका वनवास हो गया था)॥ १७॥

भरतस्तु रथस्थः सञ्छ्रीमान् दशरथात्मजः।
वाहयन्तं रथश्रेष्ठं सारथिं वाक्यमब्रवीत्॥ १८॥

रथपर बैठे हुए श्रीमान् दशरथनन्दन भरतने उस समय श्रेष्ठ रथका संचालन करनेवाले सारथि सुमन्त्रसे इस प्रकार कहा—॥ १८॥

किं नु खल्वद्य गम्भीरो मूर्च्छितो न निशाम्यते।
यथापुरमयोध्यायां गीतवादित्रनिःस्वनः॥ १९॥

'अब अयोध्यामें पहलेकी भाँति सब ओर फैला हुआ गाने-बजानेका गम्भीर नाद नहीं सुनायी पड़ता; यह कितने कष्टकी बात है!॥ १९॥

वारुणीमदगन्धश्च माल्यगन्धश्च मूर्च्छितः।
चन्दनागुरुगन्धश्च न प्रवाति समन्ततः॥ २०॥

'अब चारों ओर वारुणी (मधु) की मादक गन्ध, व्याप्त हुई फूलोंकी सुगन्ध तथा चन्दन और अगुरुकी पवित्र गन्ध नहीं फैल रही है॥ २०॥

यानप्रवरघोषश्च सुस्निग्धहयनिःस्वनः।
प्रमत्तगजनादश्च महांश्च रथनिःस्वनः॥ २१॥

अच्छी-अच्छी सवारियोंकी आवाज, घोड़ोंके हींसनेका सुस्निग्ध शब्द, मतवाले हाथियोंका चिग्घाड़ना तथा रथोंकी

घर्घराहटका महान् शब्द—ये सब नहीं सुनायी दे रहे हैं॥

नेदानीं श्रूयते पुर्यामस्यां रामे विवासिते।
चन्दनागुरुगन्धांश्च महार्हाश्च वनस्रजः॥ २२॥
गते रामे हि तरुणाः संतप्ता नोपभुञ्जते।
बहिर्यात्रां न गच्छन्ति चित्रमाल्यधरा नराः॥ २३॥

'श्रीरामचन्द्रजीके निर्वासित होनेके कारण ही इस पुरीमें इस समय इन सब प्रकारके शब्दोंका श्रवण नहीं हो रहा है। श्रीरामके चले जानेसे यहाँके तरुण बहुत ही संतप्त हैं। वे चन्दन और अगुरुकी सुगन्धका सेवन नहीं करते तथा बहुमूल्य वनमालाएँ भी नहीं धारण करते। अब इस पुरीके लोग विचित्र फूलोंके हार पहनकर बाहर घूमनेके लिये नहीं निकलते हैं॥ २२-२३॥

नोत्सवाः सम्प्रवर्तन्ते रामशोकार्दिते पुरे।
सा हि नूनं मम भ्रात्रा पुरस्यास्य द्युतिर्गता॥ २४॥

'श्रीरामके शोकसे पीड़ित हुए इस नगरमें अब नाना प्रकारके उत्सव नहीं हो रहे हैं। निश्चय ही इस पुरीकी वह सारी शोभा मेरे भाईके साथ ही चली गयी॥ २४॥

नहि राजत्ययोध्येयं सासारेवार्जुनी क्षपा।
कदा नु खलु मे भ्राता महोत्सव इवागतः॥ २५॥
जनयिष्यत्ययोध्यायां हर्षं ग्रीष्म इवाम्बुदः।

'जैसे वेगयुक्त वर्षाके कारण शुक्लपक्षकी चाँदनी रात भी शोभा नहीं पाती है, उसी प्रकार नेत्रोंसे आँसू बहाती हुई यह अयोध्या भी शोभित नहीं हो रही है। अब कब मेरे भाई महोत्सवकी भाँति अयोध्यामें पधारेंगे और ग्रीष्म-ऋतुमें प्रकट हुए मेघकी भाँति सबके हृदयमें हर्षका संचार करेंगे॥

तरुणैश्चारुवेषैश्च नरैरुन्नतगामिभिः॥ २६॥
सम्पतद्भिरयोध्यायां नाभिभान्ति महापथाः।

'अब अयोध्याकी बड़ी-बड़ी सड़कें हर्षसे उछलकर चलते हुए मनोहर वेषधारी तरुणोंके शुभागमनसे शोभा नहीं पा रही हैं'॥ २६½॥

इति ब्रुवन् सारथिना दुःखितो भरतस्तदा॥ २७॥
अयोध्यां सम्प्रविश्यैव विवेश वसतिं पितुः।
तेन हीनां नरेन्द्रेण सिंहहीनां गुहामिव॥ २८॥

इस प्रकार सारथिके साथ बातचीत करते हुए दुःखी भरत उस समय सिंहसे रहित गुफाकी भाँति राजा दशरथसे हीन पिताके निवासस्थान राजमहलमें गये॥ २७-२८॥

तदा तदन्तःपुरमुज्झितप्रभं
सुरैरिवोत्कृष्टमभास्करं दिनम्।
निरीक्ष्य सर्वत्र विभक्तमात्मवान्
मुमोच बाष्पं भरतः सुदुःखितः॥ २९॥

जैसे सूर्यके छिप जानेसे दिनकी शोभा नष्ट हो जाती है और देवता शोक करने लगते हैं, उसी प्रकार उस समय वह अन्तःपुर शोभाहीन हो गया था और वहाँके लोग शोकमग्न थे। उसे सब ओरसे स्वच्छता और सजावटसे हीन देख भरत धैर्यवान् होनेपर भी अत्यन्त दुःखी हो आँसू बहाने लगे॥ २९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुर्दशाधिकशततमः सर्गः॥ ११४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ चौदहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ११४॥

—★—

पञ्चदशाधिकशततमः सर्गः

भरतका नन्दिग्राममें जाकर श्रीरामकी चरणपादुकाओंको राज्यपर अभिषिक्त करके उन्हें निवेदनपूर्वक राज्यका सब कार्य करना

ततो निक्षिप्य मातृस्ता अयोध्यायां दृढव्रतः।
भरतः शोकसंतप्तो गुरूनिदमथाब्रवीत्॥ १॥

तदनन्तर सब माताओंको अयोध्यामें रखकर दृढप्रतिज्ञ भरतने शोकसे संतप्त हो गुरुजनोंसे इस प्रकार कहा—॥

नन्दिग्रामं गमिष्यामि सर्वानामन्त्रयेऽत्र वः।
तत्र दुःखमिदं सर्वं सहिष्ये राघवं विना॥ २॥

'अब मैं नन्दिग्रामको जाऊँगा, इसके लिये आप सब लोगोंकी आज्ञा चाहता हूँ। वहाँ श्रीरामके बिना प्राप्त होनेवाले इस सारे दुःखको सहन करूँगा॥ २॥

गतश्चाहो दिवं राजा वनस्थः स गुरुर्मम।
रामं प्रतीक्षे राज्याय स हि राजा महायशाः॥ ३॥

'अहो! महाराज (पूज्य पिताजी) तो स्वर्गको सिधारे और वे मेरे गुरु (पूजनीय भ्राता) श्रीरामचन्द्रजी वनमें विराज रहे हैं। मैं इस राज्यके लिये वहाँ श्रीरामकी प्रतीक्षा करता रहूँगा; क्योंकि वे महायशस्वी श्रीराम ही हमारे राजा हैं'॥

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं भरतस्य महात्मनः।
अब्रुवन् मन्त्रिणः सर्वे वसिष्ठश्च पुरोहितः॥ ४॥

महात्मा भरतका यह शुभ वचन सुनकर सब मन्त्री और पुरोहित वसिष्ठजी बोले—॥ ४॥

सुभृशं श्लाघनीयं च यदुक्तं भरत त्वया।
वचनं भ्रातृवात्सल्यादनुरूपं तवैव तत्॥ ५॥

'भरत! भ्रातृभक्तिसे प्रेरित होकर तुमने जो बात कही है, वह बहुत ही प्रशंसनीय है। वास्तवमें वह तुम्हारे ही योग्य है॥ ५॥

नित्यं ते बन्धुलुब्धस्य तिष्ठतो भ्रातृसौहृदे।
मार्गमार्यं प्रपन्नस्य नानुमन्येत कः पुमान्॥ ६॥

'तुम अपने भाईके दर्शनके लिये सदा लालायित रहते हो और भाईके ही सौहार्द (हितसाधन) में संलग्न हो। साथ ही श्रेष्ठ मार्गपर स्थित हो, अतः कौन पुरुष तुम्हारे विचारका अनुमोदन नहीं करेगा'॥ ६॥

मन्त्रिणां वचनं श्रुत्वा यथाभिलषितं प्रियम्।
अब्रवीत् सारथिं वाक्यं रथो मे युज्यतामिति॥ ७॥

मन्त्रियोंका अपनी रुचिके अनुरूप प्रिय वचन सुनकर भरतने सारथिसे कहा—'मेरा रथ जोतकर तैयार किया जाय'॥ ७॥

प्रहृष्टवदनः सर्वा मातृः समभिभाष्य च।
आरुरोह रथं श्रीमाञ्शत्रुघ्नेन समन्वितः॥ ८॥

फिर उन्होंने प्रसन्नवदन होकर सब माताओंसे बातचीत करके जानेकी आज्ञा ली। इसके बाद शत्रुघ्नके सहित श्रीमान् भरत रथपर सवार हुए॥ ८॥

आरुह्य तु रथं क्षिप्रं शत्रुघ्नभरतावुभौ।
ययतुः परमप्रीतौ वृतौ मन्त्रिपुरोहितैः॥ ९॥

रथपर आरूढ़ होकर परम प्रसन्न हुए भरत और शत्रुघ्न दोनों भाई मन्त्रियों तथा पुरोहितोंसे घिरकर शीघ्रतापूर्वक वहाँसे प्रस्थित हुए॥ ९॥

अग्रतो गुरवः सर्वे वसिष्ठप्रमुखा द्विजाः।
प्रययुः प्राङ्मुखाः सर्वे नन्दिग्रामो यतो भवेत्॥ १०॥

आगे-आगे वसिष्ठ आदि सभी गुरुजन एवं ब्राह्मण चल रहे थे। उन सब लोगोंने अयोध्यासे पूर्वाभिमुख होकर यात्रा की और उस मार्गको पकड़ा, जो नन्दिग्रामकी ओर जाता था॥ १०॥

बलं च तदनाहूतं गजाश्वरथसंकुलम्।
प्रययौ भरते याते सर्वे च पुरवासिनः॥ ११॥

भरतके प्रस्थित होनेपर हाथी, घोड़े और रथोंसे भरी हुई सारी सेना भी बिना बुलाये ही उनके पीछे-पीछे चल दी और समस्त पुरवासी भी उनके साथ हो लिये॥ ११॥

रथस्थः स तु धर्मात्मा भरतो भ्रातृवत्सलः।
नन्दिग्रामं ययौ तूर्णं शिरस्याधाय पादुके॥ १२॥

धर्मात्मा भ्रातृवत्सल भरत अपने मस्तकपर भगवान् श्रीरामकी चरणपादुका लिये रथपर बैठकर बड़ी शीघ्रतासे नन्दिग्रामकी ओर चले॥ १२॥

भरतस्तु ततः क्षिप्रं नन्दिग्रामं प्रविश्य सः।
अवतीर्य रथात् तूर्णं गुरूनिदमभाषत॥ १३॥

नन्दिग्राममें शीघ्र पहुँचकर भरत तुरंत ही रथसे उतर पड़े और गुरुजनोंसे इस प्रकार बोले—॥ १३॥

एतद् राज्यं मम भ्रात्रा दत्तं संन्यासमुत्तमम्।
योगक्षेमवहे चेमे पादुके हेमभूषिते॥ १४॥

'मेरे भाईने यह उत्तम राज्य मुझे धरोहरके रूपमें दिया है, उनकी ये सुवर्णविभूषित चरणपादुकाएँ ही सबके योगक्षेमका निर्वाह करनेवाली हैं'॥ १४॥

भरतः शिरसा कृत्वा संन्यासं पादुके ततः।
अब्रवीद् दुःखसंतप्तः सर्वं प्रकृतिमण्डलम्॥ १५॥

तत्पश्चात् भरतने मस्तक झुकाकर उन चरणपादुकाओंके प्रति उस धरोहररूप राज्यको समर्पित करके दुःखसे संतप्त हो समस्त प्रकृतिमण्डल (मन्त्री, सेनापति और प्रजा आदि) से कहा—॥ १५॥

छत्रं धारयत क्षिप्रमार्यपादाविमौ मतौ।
आभ्यां राज्ये स्थितो धर्मः पादुकाभ्यां गुरोर्मम॥ १६॥

'आप सब लोग इन चरणपादुकाओंके ऊपर छत्र धारण करें। मैं इन्हें आर्य रामचन्द्रजीके साक्षात् चरण मानता हूँ। मेरे गुरुकी इन चरणपादुकाओंसे ही इस राज्यमें धर्मकी स्थापना होगी॥ १६॥

भ्रात्रा तु मयि संन्यासो निक्षिप्तः सौहृदादयम्।
तमिमं पालयिष्यामि राघवागमनं प्रति॥ १७॥

'मेरे भाईने प्रेमके कारण ही यह धरोहर मुझे सौंपी है, अतः मैं उनके लौटनेतक इसकी भलीभाँति रक्षा करूँगा॥

क्षिप्रं संयोजयित्वा तु राघवस्य पुनः स्वयम्।
चरणौ तौ तु रामस्य द्रक्ष्यामि सहपादुकौ॥ १८॥

'इसके बाद मैं स्वयं इन पादुकाओंको पुनः शीघ्र ही श्रीरघुनाथजीके चरणोंसे संयुक्त करके इन पादुकाओंसे सुशोभित श्रीरामके उन युगल चरणोंका दर्शन करूँगा॥

ततो निक्षिप्तभारोऽहं राघवेण समागतः।
निवेद्य गुरवे राज्यं भजिष्ये गुरुवर्तिताम्।

'श्रीरघुनाथजीके आनेपर उनसे मिलते ही मैं अपने उन गुरुदेवको यह राज्य समर्पित करके उनकी आज्ञाके अधीन हो उन्हींकी सेवामें लग जाऊँगा। राज्यका यह भार उनपर डालकर मैं हलका हो जाऊँगा॥ १९॥

राघवाय च संन्यासं दत्त्वेमे वरपादुके।
राज्यं चेदमयोध्यां च धूतपापो भवाम्यहम्॥ २०॥

'मेरे पास धरोहररूपमें रखे हुए इस राज्यको, अयोध्याको तथा इन श्रेष्ठ पादुकाओंको श्रीरघुनाथजीकी सेवामें समर्पित करके मैं सब प्रकारके पापतापसे मुक्त हो जाऊँगा॥ २०॥

अभिषिक्ते तु काकुत्स्थे प्रहृष्टमुदिते जने।
प्रीतिर्मम यशश्चैव भवेद् राज्याच्चतुर्गुणम्॥ २१॥

'ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामका अयोध्याके राज्यपर अभिषेक हो जानेपर जब सब लोग हर्ष और आनन्दमें निमग्न हो जायँगे, तब मुझे राज्य पानेकी अपेक्षा चौगुनी प्रसन्नता और चौगुने यशकी प्राप्ति होगी'॥ २१॥

एवं तु विलपन् दीनो भरतः स महायशाः।
नन्दिग्रामेऽकरोद् राज्यं दुःखितो मन्त्रिभिः सह॥ २२॥

इस प्रकार दीनभावसे विलाप करते हुए दुःखमग्न महायशस्वी भरत मन्त्रियोंके साथ नन्दिग्राममें रहकर राज्यका शासन करने लगे ॥ २२ ॥

स वल्कलजटाधारी मुनिवेषधरः प्रभुः ।
नन्दिग्रामेऽवसद् धीरः ससैन्यो भरतस्तदा ॥ २३ ॥

सेनासहित प्रभावशाली धीर-वीर भरतने उस समय वल्कल और जटा धारण करके मुनिवेषधारी हो नन्दिग्राममें निवास किया ॥

रामागमनमाकाङ्क्षन् भरतो भ्रातृवत्सलः ।
भ्रातुर्वचनकारी च प्रतिज्ञापारगस्तदा ।
पादुके त्वभिषिच्याथ नन्दिग्रामेऽवसत् तदा ॥ २४ ॥

भाईकी आज्ञाका पालन और प्रतिज्ञाके पार जानेकी इच्छा करनेवाले भ्रातृवत्सल भरत श्रीरामचन्द्रजीके आगमनकी आकाङ्क्षा रखते हुए उनकी चरणपादुकाओंको राज्यपर अभिषिक्त करके उन दिनों नन्दिग्राममें रहने लगे ॥ २४ ॥

सवालव्यजनं छत्रं धारयामास स स्वयम् ।
भरतः शासनं सर्वं पादुकाभ्यां निवेदयन् ॥ २५ ॥

भरतजी राज्य-शासनका समस्त कार्य भगवान् श्रीरामकी चरणपादुकाओंको निवेदन करके करते थे तथा स्वयं ही उनके ऊपर छत्र लगाते और चँवर डुलाते थे ॥ २५ ॥

ततस्तु भरतः श्रीमानभिषिच्यार्यपादुके ।
तदधीनस्तदा राज्यं कारयामास सर्वदा ॥ २६ ॥

श्रीमान् भरत बड़े भाईकी उन पादुकाओंको राज्यपर अभिषिक्त करके सदा उनके अधीन रहकर उन दिनों राज्यका सब कार्य मन्त्री आदिसे कराते थे ॥ २६ ॥

तदा हि यत् कार्यमुपैति किंचि-
दुपायनं चोपहृतं महार्हम् ।
स पादुकाभ्यां प्रथमं निवेद्य
चकार पश्चाद् भरतो यथावत् ॥ २७ ॥

उस समय जो कोई भी कार्य उपस्थित होता, जो भी बहुमूल्य भेंट आती, वह सब पहले उन पादुकाओंको निवेदन करके पीछे भरतजी उसका यथावत् प्रबन्ध करते थे ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चदशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ पंद्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११५ ॥

—★—

षोडशाधिकशततमः सर्गः

वृद्ध कुलपतिसहित बहुत-से ऋषियोंका चित्रकूट छोड़कर दूसरे आश्रममें जाना

प्रतियाते तु भरते वसन् रामस्तदा वने ।
लक्षयामास सोद्वेगमथौत्सुक्यं तपस्विनाम् ॥ १ ॥

भरतके लौट जानेपर श्रीरामचन्द्रजी उन दिनों जब वनमें निवास करने लगे, तब उन्होंने देखा कि वहाँके तपस्वी उद्विग्न हो वहाँसे अन्यत्र चले जानेके लिये उत्सुक हैं ॥ १ ॥

ये तत्र चित्रकूटस्य पुरस्तात् तापसाश्रमे ।
राममाश्रित्य निरतास्तानलक्षयदुत्सुकान् ॥ २ ॥

पहले चित्रकूटके उस आश्रममें जो तपस्वी श्रीरामका आश्रय लेकर सदा आनन्दमग्न रहते थे, उन्हींको श्रीरामने उत्कण्ठित देखा। (मानो वे कहीं जानेके विषयमें कुछ कहना चाहते हों) ॥ २ ॥

नयनैर्भ्रुकुटीभिश्च रामं निर्दिश्य शङ्किताः ।
अन्योन्यमुपजल्पन्तः शनैश्चक्रुर्मिथः कथाः ॥ ३ ॥

नेत्रोंसे, भौंहें टेढ़ी करके, श्रीरामकी ओर संकेत करके मन-ही-मन शङ्कित हो आपसमें कुछ सलाह करते हुए वे तपस्वी मुनि धीरे-धीरे परस्पर वार्तालाप कर रहे थे ॥ ३ ॥

तेषामौत्सुक्यमालक्ष्य रामस्त्वात्मनि शङ्कितः ।
कृताञ्जलिरुवाचेदमृषिं कुलपतिं ततः ॥ ४ ॥

उनकी उत्कण्ठा देख श्रीरामचन्द्रजीके मनमें यह शङ्का हुई कि मुझसे कोई अपराध तो नहीं बन गया। तब वे हाथ जोड़कर वहाँके कुलपति महर्षिसे इस प्रकार बोले— ॥ ४ ॥

न कच्चिद् भगवन् किंचित् पूर्ववृत्तमिदं मयि ।
दृश्यते विकृतं येन विक्रियन्ते तपस्विनः ॥ ५ ॥

'भगवन्! क्या मुझमें पूर्ववर्ती राजाओंका-सा कोई बर्ताव नहीं दिखायी देता अथवा मुझमें कोई विकृत भाव दृष्टिगोचर होता है, जिससे यहाँके तपस्वी मुनि विकारको प्राप्त हो रहे हैं ॥ ५ ॥

प्रमादाच्चरितं किंचित् कच्चिन्नावरजस्य मे ।
लक्ष्मणस्यर्षिभिर्दृष्टं नानुरूपं महात्मनः ॥ ६ ॥

'क्या मेरे छोटे भाई महात्मा लक्ष्मणका प्रमादवश किया हुआ कोई ऐसा आचरण ऋषियोंने देखा है, जो उसके योग्य नहीं है ॥ ६ ॥

कच्चिच्छुश्रूषमाणा वः शुश्रूषणपरा मयि ।
प्रमदाभ्युचितां वृत्तिं सीता युक्तां न वर्तते ॥ ७ ॥

'अथवा क्या जो अर्घ्य-पाद्य आदिके द्वारा सदा आपलोगोंकी सेवा करती रही है, वह सीता इस समय मेरी सेवामें लग जानेके कारण एक गृहस्थकी सती नारीके अनुरूप ऋषियोंकी समुचित सेवा नहीं कर पाती है?' ॥

अथर्षिर्जरया वृद्धस्तपसा च जरां गतः ।
वेपमान इवोवाच रामं भूतदयापरम् ॥ ८ ॥

श्रीरामके इस प्रकार पूछनेपर एक महर्षि जो जरावस्थाके कारण तो वृद्ध थे ही, तपस्याद्वारा भी वृद्ध हो गये थे,

समस्त प्राणियोंपर दया करनेवाले श्रीरामसे काँपते हुए-से बोले— ॥ ८ ॥

कुतः कल्याणसत्त्वायाः कल्याणाभिरतेः सदा ।
चलनं तात वैदेह्यास्तपस्विषु विशेषतः ॥ ९ ॥

'तात ! जो स्वभावसे ही कल्याणमयी है और सदा सबके कल्याणमें ही रत रहती है, वह विदेहनन्दिनी सीता विशेषतः तपस्वीजनोंके प्रति बर्ताव करते समय अपने कल्याणमय स्वभावसे विचलित हो जाय, यह कैसे सम्भव है ? ॥ ९ ॥

त्वन्निमित्तमिदं तावत् तापसान् प्रति वर्तते ।
रक्षोभ्यस्तेन संविग्नाः कथयन्ति मिथः कथाः ॥ १० ॥

'आपके ही कारण तापसोंपर यह राक्षसोंकी ओरसे भय उपस्थित होनेवाला है, उससे उद्विग्न हुए ऋषि आपसमें कुछ बातें (कानाफूसी) कर रहे हैं ॥ १० ॥

रावणावरजः कश्चित् खरो नामेह राक्षसः ।
उत्पाट्य तापसान् सर्वाञ्जनस्थाननिवासिनः ॥ ११ ॥
धृष्टश्च जितकाशी च नृशंसः पुरुषादकः ।
अवलिप्तश्च पापश्च त्वां च तात न मृष्यते ॥ १२ ॥

'तात ! यहाँ वनप्रान्तमें रावणका छोटा भाई खर नामक राक्षस है, जिसने जनस्थानमें रहनेवाले समस्त तापसोंको उखाड़ फेंका है। वह बड़ा ही ढीठ, विजयोन्मत्त, क्रूर, नरभक्षी और घमंडी है। वह आपको भी सहन नहीं कर पाता है ॥ ११-१२ ॥

त्वं यदाप्रभृति ह्यस्मिन्नाश्रमे तात वर्तसे ।
तदाप्रभृति रक्षांसि विप्रकुर्वन्ति तापसान् ॥ १३ ॥

'तात ! जबसे आप इस आश्रममें रह रहे हैं, तबसे सब राक्षस तापसोंको विशेषरूपसे सताने लगे हैं ॥ १३ ॥

दर्शयन्ति हि बीभत्सैः क्रूरैर्भीषणकैरपि ।
नानारूपैर्विरूपैश्च रूपैरसुखदर्शनैः ॥ १४ ॥
अप्रशस्तैरशुचिभिः सम्प्रयुज्य च तापसान् ।
प्रतिघ्नन्त्यपरान् क्षिप्रमनार्याः पुरतः स्थितान् ॥ १५ ॥

'वे अनार्य राक्षस बीभत्स (घृणित), क्रूर और भीषण, नाना प्रकारके विकृत एवं देखनेमें दुःखदायक रूप धारण करके सामने आते हैं और पापजनक अपवित्र पदार्थोंसे तपस्वियोंका स्पर्श कराकर अपने सामने खड़े हुए अन्य ऋषियोंको भी पीड़ा देते हैं ॥ १४-१५ ॥

तेषु तेष्वाश्रमस्थानेष्वबुद्धमवलीय च ।
रमन्ते तापसांस्तत्र नाशयन्तोऽल्पचेतसः ॥ १६ ॥

'वे उन-उन आश्रमोंमें अज्ञातरूपसे आकर छिप जाते हैं और अल्पज्ञ अथवा असावधान तापसोंका विनाश करते हुए वहाँ सानन्द विचरते रहते हैं ॥ १६ ॥

अवक्षिपन्ति स्रुग्भाण्डानग्नीन् सिञ्चन्ति वारिणा ।
कलशांश्च प्रमर्दन्ति हवने समुपस्थिते ॥ १७ ॥

'होमकर्म आरम्भ होनेपर वे स्रुक्-स्रुवा आदि यज्ञसामग्रियोंको इधर-उधर फेंक देते हैं। प्रज्वलित अग्निमें पानी डाल देते हैं और कलशोंको फोड़ डालते हैं ॥ १७ ॥

तैर्दुरात्मभिराविष्टानाश्रमान् प्रजिहासवः ।
गमनायान्यदेशस्य चोदयन्त्यृषयोऽद्य माम् ॥ १८ ॥

'उन दुरात्मा राक्षसोंसे आविष्ट हुए आश्रमोंको त्याग देनेकी इच्छा रखकर ये ऋषिलोग आज मुझे यहाँसे अन्य स्थानमें चलनेके लिये प्रेरित कर रहे हैं ॥ १८ ॥

तत् पुरा राम शारीरीमुपहिंसां तपस्विषु ।
दर्शयन्ति हि दुष्टास्ते त्यक्ष्याम इममाश्रमम् ॥ १९ ॥

'श्रीराम ! वे दुष्ट राक्षस तपस्वियोंकी शारीरिक हिंसाका प्रदर्शन करें, इसके पहले ही हम इस आश्रमको त्याग देंगे ॥

बहुमूलफलं चित्रमविदूरादितो वनम् ।
अश्वस्याश्रममेवाहं श्रयिष्ये सगणः पुनः ॥ २० ॥

'यहाँसे थोड़ी ही दूरपर एक विचित्र वन है, जहाँ फल-मूलकी अधिकता है। वहीं अश्वमुनिका आश्रम है, अतः ऋषियोंके समूहको साथ लेकर मैं पुनः उसी आश्रमका आश्रय लूँगा ॥ २० ॥

खरस्त्वय्यपि चायुक्तं पुरा राम प्रवर्तते ।
सहास्माभिरितो गच्छ यदि बुद्धिः प्रवर्तते ॥ २१ ॥

'श्रीराम ! खर आपके प्रति भी कोई अनुचित बर्ताव करे, उसके पहले ही यदि आपका विचार हो तो हमारे साथ ही यहाँसे चल दीजिये ॥ २१ ॥

सकलत्रस्य संदेहो नित्यं युक्तस्य राघव ।
समर्थस्यापि हि सतो वासो दुःखमिहाद्य ते ॥ २२ ॥

'रघुनन्दन ! यद्यपि आप सदा सावधान रहनेवाले तथा राक्षसोंके दमनमें समर्थ हैं, तथापि पत्नीके साथ आजकल उस आश्रममें आपका रहना संदेहजनक एवं दुःखदायक है' ॥ २२ ॥

इत्युक्तवन्तं रामस्तं राजपुत्रस्तपस्विनम् ।
न शशाकोत्तरैर्वाक्यैरवबद्धुं समुत्सुकम् ॥ २३ ॥

ऐसी बात कहकर अन्यत्र जानेके लिये उत्कण्ठित हुए उन तपस्वी मुनिको राजकुमार श्रीराम सान्त्वनाजनक उत्तर-वाक्योंद्वारा वहाँ रोक नहीं सके ॥ २३ ॥

अभिनन्द्य समापृच्छ्य समाधाय च राघवम् ।
स जगामाश्रमं त्यक्त्वा कुलैः कुलपतिः सह ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् वे कुलपति महर्षि श्रीरामचन्द्रजीका अभिनन्दन करके उनसे पूछकर और उन्हें सान्त्वना देकर इस आश्रमको छोड़ वहाँसे अपने दलके ऋषियोंके साथ चले गये ॥ २४ ॥

रामः संसाध्य ऋषिगणमनुगमनाद्
देशात् तस्मात् कुलपतिमभिवाद्य ऋषिम् ।
सम्यक्प्रीतैस्तैरनुमत उपदिष्टार्थः
पुण्यं वासाय स्वनिलयमुपसम्पेदे ॥ २५ ॥

श्रीरामचन्द्रजी वहाँसे जानेवाले ऋषियोंके पीछे-पीछे जाकर उन्हें विदा दे कुलपति ऋषिको प्रणाम करके परम प्रसन्न हुए उन ऋषियोंकी अनुमति ले उनके दिये हुए कर्तव्यविषयक उपदेशको सुनकर लौटे और निवास करनेके लिये अपने पवित्र आश्रममें आये॥ २५॥

आश्रममृषिविरहितं प्रभुः
क्षणमपि न जहौ स राघवः।
राघवं हि सततमनुगता-
स्तापसाश्चार्षचरिते धृतगुणाः॥ २६॥

उन ऋषियोंसे रहित हुए आश्रमको भगवान् श्रीरामने एक क्षणके लिये भी नहीं छोड़ा। जिनका ऋषियोंके समान ही चरित्र था, उन श्रीरामचन्द्रजीमें निश्चय ही ऋषियोंकी रक्षाकी शक्तिरूप गुण विद्यमान है। ऐसा विश्वास रखनेवाले कुछ तपस्वीजनोंने सदा श्रीरामका ही अनुसरण किया। वे दूसरे किसी आश्रममें नहीं गये॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षोडशाधिकशततमः सर्गः॥ ११६॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ सोलहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ११६॥

सप्तदशाधिकशततमः सर्गः

श्रीराम आदिका अत्रिमुनिके आश्रमपर जाकर उनके द्वारा सत्कृत होना तथा अनसूयाद्वारा सीताका सत्कार

राघवस्त्वपयातेषु सर्वेष्वनुविचिन्तयन्।
न तत्रारोचयद् वासं कारणैर्बहुभिस्तदा॥ १॥

उन सब ऋषियोंके चले जानेपर श्रीरामचन्द्रजीने जब बारंबार विचार किया, तब उन्हें बहुत-से ऐसे कारण ज्ञात हुए, जिनसे उन्होंने स्वयं भी वहाँ रहना उचित न समझा॥

इह मे भरतो दृष्टो मातरश्च सनागराः।
सा च मे स्मृतिरन्वेति तान् नित्यमनुशोचतः॥ २॥

उन्होंने मन-ही-मन सोचा, 'इस आश्रममें मैं भरतसे, माताओंसे तथा पुरवासी मनुष्योंसे मिल चुका हूँ। वह स्मृति मुझे बराबर बनी रहती है और मैं प्रतिदिन उन सब लोगोंका चिन्तन करके शोकमग्न हो जाता हूँ॥ २॥

स्कन्धावारनिवेशेन तेन तस्य महात्मनः।
हयहस्तिकरीषैश्च उपमर्दः कृतो भृशम्॥ ३॥

'महात्मा भरतकी सेनाका पड़ाव पड़नेके कारण हाथी और घोड़ोंकी लीदोंसे यहाँकी भूमि अधिक अपवित्र कर दी गयी है॥ ३॥

तस्मादन्यत्र गच्छाम इति संचिन्त्य राघवः।
प्रातिष्ठत स वैदेह्या लक्ष्मणेन च संगतः॥ ४॥

'अतः हमलोग भी अन्यत्र चले जायँ' ऐसा सोचकर श्रीरघुनाथजी सीता और लक्ष्मणके साथ वहाँसे चल दिये॥

सोऽत्रेराश्रममासाद्य तं ववन्दे महायशाः।
तं चापि भगवानत्रिः पुत्रवत् प्रत्यपद्यत॥ ५॥

वहाँसे अत्रिके आश्रमपर पहुँचकर महायशस्वी श्रीरामने उन्हें प्रणाम किया तथा भगवान् अत्रिने भी उन्हें अपने पुत्रकी भाँति स्नेहपूर्वक अपनाया॥ ५॥

स्वयमातिथ्यमादिश्य सर्वमस्य सुसत्कृतम्।
सौमित्रिं च महाभागं सीतां च समसान्त्वयत्॥ ६॥

उन्होंने स्वयं ही श्रीरामका सम्पूर्ण आतिथ्य-सत्कार करके महाभाग लक्ष्मण और सीताको भी सत्कारपूर्वक संतुष्ट किया॥ ६॥

पत्नीं च तमनुप्राप्तां वृद्धामामन्त्र्य सत्कृताम्।
सान्त्वयामास धर्मज्ञः सर्वभूतहिते रतः॥ ७॥
अनसूयां महाभागां तापसीं धर्मचारिणीम्।
प्रतिगृह्णीष्व वैदेहीमब्रवीदृषिसत्तमः॥ ८॥

सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले धर्मज्ञ मुनिश्रेष्ठ अत्रिने अपने समीप आयी हुई सबके द्वारा सम्मानित तापसी एवं धर्मपरायणा बूढ़ी पत्नी महाभागा अनसूयाको सम्बोधित करके सान्त्वनापूर्ण वचनोंद्वारा संतुष्ट किया और कहा—'देवि! विदेहराजनन्दिनी सीताको सत्कारपूर्वक हृदयसे लगाओ'॥ ७-८॥

रामाय चाचचक्षे तां तापसीं धर्मचारिणीम्।
दश वर्षाण्यनावृष्ट्या दग्धे लोके निरन्तरम्॥ ९॥
यया मूलफले सृष्टे जाह्नवी च प्रवर्तिता।
उग्रेण तपसा युक्ता नियमैश्चाप्यलंकृता॥ १०॥
दश वर्षसहस्राणि यया तप्तं महत् तपः।
अनसूयाव्रतैस्तात प्रत्यूहाश्च निबर्हिताः॥ ११॥

तत्पश्चात् उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीको धर्मपरायणा तपस्विनी अनसूयाका परिचय देते हुए कहा—'एक समय दस वर्षोंतक वृष्टि नहीं हुई, उस समय जब सारा जगत् निरन्तर दग्ध होने लगा, तब जिन्होंने उग्र तपस्यासे युक्त तथा कठोर नियमोंसे अलंकृत होकर अपने तपके प्रभावसे यहाँ फल-मूल उत्पन्न किये और मन्दाकिनीकी पवित्र धारा बहायी तथा तात! जिन्होंने दस हजार वर्षोंतक बड़ी भारी तपस्या करके अपने उत्तम व्रतोंके प्रभावसे ऋषियोंके समस्त विघ्नोंका निवारण किया था, वे ही यह अनसूया देवी हैं॥ ९—११॥

देवकार्यनिमित्तं च यया संत्वरमाणया।
दशरात्रं कृता रात्रिः सेयं मातेव तेऽनघ॥ १२॥

'निष्पाप श्रीराम! इन्होंने देवताओंके कार्यके लिये अत्यन्त उतावली होकर दस रातके बराबर एक ही रात बनायी थी; वे ही ये अनसूया देवी तुम्हारे लिये माताकी भाँति पूजनीया हैं॥ १२॥

तामिमां सर्वभूतानां नमस्कार्यां तपस्विनीम्।
अभिगच्छतु वैदेही वृद्धामक्रोधनां सदा॥ १३॥

'ये सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये वन्दनीया तपस्विनी हैं। क्रोध तो इन्हें कभी छू भी नहीं सका है। विदेहनन्दिनी सीता इन वृद्धा अनसूया देवीके पास जायँ'॥ १३॥

एवं ब्रुवाणं तमृषिं तथेत्युक्त्वा स राघवः।
सीतामालोक्य धर्मज्ञामिदं वचनमब्रवीत्॥ १४॥

ऐसी बात कहते हुए अत्रि मुनिसे 'बहुत अच्छा' कहकर श्रीरामचन्द्रजीने धर्मज्ञा सीताकी ओर देखकर यह बात कही—॥ १४॥

राजपुत्रि श्रुतं त्वेतन्मुनेरस्य समीरितम्।
श्रेयोऽर्थमात्मनः शीघ्रमभिगच्छ तपस्विनीम्॥ १५॥

'राजकुमारी! महर्षि अत्रिके वचन तो तुमने सुन ही लिये; अब अपने कल्याणके लिये तुम शीघ्र ही इन तपस्विनी देवीके पास जाओ॥ १५॥

अनसूयेति या लोके कर्मभिः ख्यातिमागता।
तां शीघ्रमभिगच्छ त्वमभिगम्यां तपस्विनीम्॥ १६॥

'जो अपने सत्कर्मोंसे संसारमें अनसूयाके नामसे विख्यात हुई हैं, वे तपस्विनी देवी तुम्हारे आश्रय लेने योग्य हैं; तुम शीघ्र उनके पास जाओ'॥ १६॥

सीता त्वेतद् वचः श्रुत्वा राघवस्य यशस्विनी।
तामत्रिपत्नीं धर्मज्ञामभिचक्राम मैथिली॥ १७॥

श्रीरामचन्द्रजीकी यह बात सुनकर यशस्विनी मिथिलेश-कुमारी सीता धर्मको जाननेवाली अत्रिपत्नी अनसूयाके पास गयीं॥ १७॥

शिथिलां वलितां वृद्धां जरापाण्डुरमूर्धजाम्।
सततं वेपमानाङ्गीं प्रवाते कदलीमिव॥ १८॥

अनसूया वृद्धावस्थाके कारण शिथिल हो गयी थीं; उनके शरीरमें झुर्रियाँ पड़ गयीं थीं तथा सिरके बाल सफेद हो गये थे। अधिक हवा चलनेपर हिलते हुए कदली-वृक्षके समान उनके सारे अङ्ग निरन्तर काँप रहे थे॥ १८॥

तां तु सीता महाभागामनसूयां पतिव्रताम्।
अभ्यवादयदव्यग्रा स्वं नाम समुदाहरत्॥ १९॥

सीताने निकट जाकर शान्तभावसे अपना नाम बताया और उन महाभागा पतिव्रता अनसूयाको प्रणाम किया॥ १९॥

अभिवाद्य च वैदेही तापसीं तां दमान्विताम्।
बद्धाञ्जलिपुटा हृष्टा पर्यपृच्छदनामयम्॥ २०॥

उन संयमशीला तपस्विनीको प्रणाम करके हर्षसे भरी हुई सीताने दोनों हाथ जोड़कर उनका कुशल-समाचार पूछा॥

ततः सीतां महाभागां दृष्ट्वा तां धर्मचारिणीम्।
सान्त्वयन्त्यब्रवीद् वृद्धा दिष्ट्या धर्ममवेक्षसे॥ २१॥

धर्मका आचरण करनेवाली महाभागा सीताको देखकर बूढ़ी अनसूया देवी उन्हें सान्त्वना देती हुई बोलीं—'सीते! सौभाग्यकी बात है कि तुम धर्मपर ही दृष्टि रखती हो॥ २१॥

त्यक्त्वा ज्ञातिजनं सीते मानवृद्धिं च मानिनि।
अवरुद्धं वने रामं दिष्ट्या त्वमनुगच्छसि॥ २२॥

'मानिनी सीते! बन्धु-बान्धवोंको छोड़कर और उनसे प्राप्त होनेवाली मान-प्रतिष्ठाका परित्याग करके तुम वनमें भेजे हुए श्रीरामका अनुसरण कर रही हो—यह बड़े सौभाग्यकी बात है॥ २२॥

नगरस्थो वनस्थो वा शुभो वा यदि वाशुभः।
यासां स्त्रीणां प्रियो भर्ता तासां लोका महोदयाः॥ २३॥

'अपने स्वामी नगरमें रहें या वनमें, भले हों या बुरे, जिन स्त्रियोंको वे प्रिय होते हैं, उन्हें महान् अभ्युदयशाली लोकोंकी प्राप्ति होती है॥ २३॥

दुःशीलः कामवृत्तो वा धनैर्वा परिवर्जितः।
स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः॥ २४॥

'पति बुरे स्वभावका, मनमाना बर्ताव करनेवाला अथवा धनहीन ही क्यों न हो, वह उत्तम स्वभाववाली नारियोंके लिये श्रेष्ठ देवताके समान है॥ २४॥

नातो विशिष्टं पश्यामि बान्धवं विमृशन्त्यहम्।
सर्वत्र योग्यं वैदेहि तपःकृतमिवाव्ययम्॥ २५॥

'विदेहराजनन्दिनि! मैं बहुत विचार करनेपर भी पतिसे बढ़कर कोई हितकारी बन्धु नहीं देखती। अपनी की हुई तपस्याके अविनाशी फलकी भाँति वह इस लोकमें और परलोकमें सर्वत्र सुख पहुँचानेमें समर्थ होता है॥ २५॥

न त्वेवमनुगच्छन्ति गुणदोषमसत्स्त्रियः।
कामवक्तव्यहृदया भर्तृनाथाश्चरन्ति याः॥ २६॥

जो अपने पतिपर भी शासन करती हैं, वे कामके अधीन चित्तवाली असाध्वी स्त्रियाँ इस प्रकार पतिका अनुसरण नहीं करतीं। उन्हें गुण-दोषोंका ज्ञान नहीं होता; अतः वे इच्छानुसार इधर-उधर विचरती रहती हैं॥ २६॥

प्राप्नुवन्त्ययशश्चैव धर्मभ्रंशं च मैथिलि।
अकार्यवशमापन्नाः स्त्रियो याः खलु तद्विधाः॥ २७॥

'मिथिलेशकुमारी! ऐसी नारियाँ अवश्य ही अनुचित कर्ममें फँसकर धर्मसे भ्रष्ट हो जाती हैं और संसारमें उन्हें अपयशकी प्राप्ति होती है॥ २७॥

त्वद्विधास्तु गुणैर्युक्ता दृष्टलोकपरावराः।
स्त्रियः स्वर्गे चरिष्यन्ति यथा पुण्यकृतस्तथा॥ २८॥

'किंतु जो तुम्हारे समान लोक-परलोकको जाननेवाली साध्वी स्त्रियाँ हैं, वे उत्तम गुणोंसे युक्त होकर पुण्यकर्मोंमें संलग्न रहती हैं; अतः वे दूसरे पुण्यात्माओंकी भाँति

स्वर्गलोकमें विचरण करेगी ॥ २८ ॥

तदेवमेतं त्वमनुव्रता सती
पतिप्रधाना समयानुवर्तिनी।
भव स्वभर्तुः सहधर्मचारिणी
यशश्च धर्मं च ततः समाप्स्यसि ॥ २९ ॥

'अतः तुम इसी प्रकार अपने इन पतिदेव श्रीरामचन्द्रजीकी सेवामें लगी रहो—सतीधर्मका पालन करो, पतिको प्रधान देवता समझो और प्रत्येक समय उनका अनुसरण करती हुई अपने स्वामीकी सहधर्मिणी बनो, इससे तुम्हें सुयश और धर्म दोनोंकी प्राप्ति होगी' ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तदशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ सत्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११७ ॥

—★—

अष्टादशाधिकशततमः सर्गः

सीता-अनसूया-संवाद, अनसूयाका सीताको प्रेमोपहार देना तथा अनसूयाके पूछनेपर सीताका उन्हें अपने स्वयंवरकी कथा सुनाना

सा त्वेवमुक्ता वैदेही त्वनसूयानसूयया।
प्रतिपूज्य वचो मन्दं प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ १ ॥

तपस्विनी अनसूयाके इस प्रकार उपदेश देनेपर किसीके प्रति दोषदृष्टि न रखनेवाली विदेहराजकुमारी सीताने उनके वचनोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा करके धीरे-धीरे इस प्रकार कहना आरम्भ किया— ॥ १ ॥

नैतदाश्चर्यमार्यायां यन्मां त्वमनुभाषसे।
विदितं तु ममाप्येतद् यथा नार्याः पतिर्गुरुः ॥ २ ॥

'देवि! आप संसारकी स्त्रियोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं। आपके मुँहसे ऐसी बातोंका सुनना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। नारीका गुरु पति ही है, इस विषयमें जैसा आपने उपदेश किया है, यह बात मुझे भी पहलेसे ही विदित है ॥ २ ॥

यद्यप्येष भवेद् भर्ता अनार्यो वृत्तिवर्जितः।
अद्वैधमत्र वर्तव्यं यथाप्येष मया भवेत् ॥ ३ ॥

'मेरे पतिदेव यदि अनार्य (चरित्रहीन) तथा जीविकाके साधनोंसे रहित (निर्धन) होते तो भी मैं बिना किसी दुविधाके इनकी सेवामें लगी रहती ॥ ३ ॥

किं पुनर्यो गुणश्लाघ्यः सानुक्रोशो जितेन्द्रियः।
स्थिरानुरागो धर्मात्मा मातृवत्पितृवत्प्रियः ॥ ४ ॥

'फिर जब कि ये अपने गुणोंके कारण ही सबकी प्रशंसाके पात्र हैं, तब तो इनकी सेवाके लिये कहना ही क्या है। ये श्रीरघुनाथजी परम दयालु, जितेन्द्रिय, दृढ़ अनुराग रखनेवाले, धर्मात्मा तथा माता-पिताके समान प्रिय हैं ॥ ४ ॥

यां वृत्तिं वर्तते रामः कौसल्यायां महाबलः।
तामेव नृपनारीणामन्यासामपि वर्तते ॥ ५ ॥

'महाबली श्रीराम अपनी माता कौसल्याके प्रति जैसा बर्ताव करते हैं वैसा ही महाराज दशरथकी दूसरी रानियोंके साथ भी करते हैं ॥ ५ ॥

सकृद् दृष्टास्वपि स्त्रीषु नृपेण नृपवत्सलः।
मातृवद् वर्तते वीरो मानमुत्सृज्य धर्मवित् ॥ ६ ॥

'महाराज दशरथने एक बार भी जिन स्त्रियोंको प्रेमदृष्टिसे देख लिया है, उनके प्रति भी ये पितृवत्सल धर्मज्ञ वीर श्रीराम मान छोड़कर माताके समान ही बर्ताव करते हैं ॥ ६ ॥

आगच्छन्त्याश्च विजनं वनमेवं भयावहम्।
समाहितं हि मे श्वश्र्वा हृदये यत् स्थिरं मम ॥ ७ ॥

'जब मैं पतिके साथ निर्जन वनमें आने लगी, उस समय मेरी सास कौसल्याने मुझे जो कर्तव्यका उपदेश दिया था, वह मेरे हृदयमें ज्यों-का-त्यों स्थिरभावसे अङ्कित है ॥ ७ ॥

पाणिप्रदानकाले च यत् पुरा त्वग्निसंनिधौ।
अनुशिष्टं जनन्या मे वाक्यं तदपि मे धृतम् ॥ ८ ॥

'पहले मेरे विवाह-कालमें अग्निके समीप माताने मुझे जो शिक्षा दी थी, वह भी मुझे अच्छी तरह याद है ॥ ८ ॥

न विस्मृतं तु मे सर्वं वाक्यैः स्वैर्धर्मचारिणि।
पतिशुश्रूषणान्नार्यास्तपो नान्यद् विधीयते ॥ ९ ॥

'धर्मचारिणि! इसके सिवा मेरे अन्य स्वजनोंने अपने वचनोंद्वारा जो-जो उपदेश किया है, वह भी मुझे भूला नहीं है। स्त्रीके लिये पतिकी सेवाके अतिरिक्त दूसरे किसी तपका विधान नहीं है ॥ ९ ॥

सावित्री पतिशुश्रूषां कृत्वा स्वर्गे महीयते।
तथावृत्तिश्च याता त्वं पतिशुश्रूषया दिवम् ॥ १० ॥

'सत्यवान्‌की पत्नी सावित्री पतिकी सेवा करके ही स्वर्गलोकमें पूजित हो रही है। उन्हींके समान बर्ताव करनेवाली आप (अनसूया देवी) ने भी पतिकी सेवाके ही प्रभावसे स्वर्गलोकमें स्थान प्राप्त कर लिया है ॥ १० ॥

वरिष्ठा सर्वनारीणामेषा च दिवि देवता।
रोहिणी न विना चन्द्रं मुहूर्तमपि दृश्यते ॥ ११ ॥

'सम्पूर्ण स्त्रियोंमें श्रेष्ठ यह स्वर्गकी देवी रोहिणी पतिसेवाके प्रभावसे ही एक मुहूर्तके लिये भी चन्द्रमासे विलग होती नहीं देखी जाती ॥ ११ ॥

एवंविधाश्च प्रवराः स्त्रियो भर्तृदृढव्रताः।
देवलोके महीयन्ते पुण्येन स्वेन कर्मणा ॥ १२ ॥

'इस प्रकार दृढ़तापूर्वक पातिव्रत्य धर्मका पालन

करनेवाली बहुत-सी साध्वी स्त्रियाँ अपने पुण्यकर्मके बलसे देवलोकमें आदर पा रही हैं' ॥ १२ ॥

ततोऽनसूया संहृष्टा श्रुत्वोक्तं सीतया वचः ।
शिरसाऽऽघ्राय चोवाच मैथिलीं हर्षयन्त्युत ॥ १३ ॥

तदनन्तर सीताके कहे हुए वचन सुनकर अनसूयाको बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने उनका मस्तक सूँघा और फिर उन मिथिलेशकुमारीका हर्ष बढ़ाते हुए इस प्रकार कहा— ॥

नियमैर्विविधैराप्तं तपो हि महदस्ति मे ।
तत् संश्रित्य बलं सीते छन्दये त्वां शुचिव्रते ॥ १४ ॥

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाली सीते! मैंने अनेक प्रकारके नियमोंका पालन करके बहुत बड़ी तपस्या संचित की है। उस तपोबलका ही आश्रय लेकर मैं तुमसे इच्छानुसार वर माँगनेके लिये कहती हूँ ॥ १४ ॥

उपपन्नं च युक्तं च वचनं तव मैथिलि ।
प्रीता चास्म्युचितां सीते करवाणि प्रियं च किम् ॥ १५ ॥

'मिथिलेशकुमारी सीते! तुमने बहुत ही युक्तियुक्त और उत्तम वचन कहा है। उसे सुनकर मुझे बड़ा संतोष हुआ है, अतः बताओ मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ?' ॥ १५ ॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा विस्मिता मन्दविस्मया ।
कृतमित्यब्रवीत् सीता तपोबलसमन्विताम् ॥ १६ ॥

उनका यह कथन सुनकर सीताको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे तपोबलसम्पन्न अनसूयासे मन्द-मन्द मुसकराती हुई बोलीं—'आपने अपने वचनोंद्वारा ही मेरा सारा प्रिय कार्य कर दिया, अब और कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं है' ॥

सा त्वेवमुक्ता धर्मज्ञा तया प्रीततराभवत् ।
सफलं च प्रहर्षं ते हन्त सीते करोम्यहम् ॥ १७ ॥

सीताके ऐसा कहनेपर धर्मज्ञ अनसूयाको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे बोलीं—'सीते! तुम्हारी निर्लोभतासे जो मुझे विशेष हर्ष हुआ है (अथवा तुममें जो लोभहीनताके कारण सदा आनन्दोत्सव भरा रहता है), उसे मैं अवश्य सफल करूँगी ॥ १७ ॥

इदं दिव्यं वरं माल्यं वस्त्रमाभरणानि च ।
अङ्गरागं च वैदेहि महार्हमनुलेपनम् ॥ १८ ॥
मया दत्तमिदं सीते तव गात्राणि शोभयेत् ।
अनुरूपमसंक्लिष्टं नित्यमेव भविष्यति ॥ १९ ॥

'यह सुन्दर दिव्य हार, यह वस्त्र, ये आभूषण, यह अङ्गराग और बहुमूल्य अनुलेपन मैं तुम्हें देती हूँ। विदेहनन्दिनि सीते! मेरी दी हुई ये वस्तुएँ तुम्हारे अङ्गोंकी शोभा बढ़ायेंगी। ये सब तुम्हारे ही योग्य हैं और सदा उपयोगमें लायी जानेपर निर्दोष एवं निर्विकार रहेंगी ॥ १८-१९ ॥

अङ्गरागेण दिव्येन लिप्ताङ्गी जनकात्मजे ।
शोभयिष्यसि भर्तारं यथा श्रीर्विष्णुमव्ययम् ॥ २० ॥

'जनककिशोरी! इस दिव्य अङ्गरागको अङ्गोंमें लगाकर तुम अपने पतिकी उसी प्रकार सुशोभित करोगी, जैसे लक्ष्मी अविनाशी भगवान् विष्णुकी शोभा बढ़ाती हैं' ॥ २० ॥

सा वस्त्रमङ्गरागं च भूषणानि स्रजस्तथा ।
मैथिली प्रतिजग्राह प्रीतिदानमनुत्तमम् ॥ २१ ॥
प्रतिगृह्य च तत् सीता प्रीतिदानं यशस्विनी ।
श्लिष्टाञ्जलिपुटा धीरा समुपास्त तपोधनाम् ॥ २२ ॥

अनसूयाकी आज्ञासे धीर स्वभाववाली यशस्विनी मिथिलेशकुमारी सीताने उस वस्त्र, अङ्गराग, आभूषण और हारको उनकी प्रसन्नताका परम उत्तम उपहार समझकर ले लिया। उस प्रेमोपहारको ग्रहण करके वे दोनों हाथ जोड़कर उन तपोधना अनसूयाकी सेवामें बैठी रहीं ॥ २१-२२ ॥

तथा सीतामुपासीनामनसूया दृढव्रता ।
वचनं प्रष्टुमारेभे कथां कांचिदनुप्रियाम् ॥ २३ ॥

तदनन्तर इस प्रकार अपने निकट बैठी हुई सीतासे दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाली अनसूयाने कोई परम प्रिय कथा सुनानेके लिये इस प्रकार पूछना आरम्भ किया— ॥ २३ ॥

स्वयंवरे किल प्राप्ता त्वमनेन यशस्विना ।
राघवेणेति मे सीते कथा श्रुतिमुपागता ॥ २४ ॥

'सीते! इन यशस्वी राघवेन्द्रने तुम्हें स्वयंवरमें प्राप्त किया था, यह बात मेरे सुननेमें आयी है ॥ २४ ॥

तां कथां श्रोतुमिच्छामि विस्तरेण च मैथिलि ।
यथाभूतं च कार्त्स्न्येन तन्मे त्वं वक्तुमर्हसि ॥ २५ ॥

'मिथिलेशनन्दिनि! मैं उस वृत्तान्तको विस्तारके साथ सुनना चाहती हूँ। अतः जो कुछ जिस प्रकार हुआ, वह सब पूर्णरूपसे मुझे बताओ' ॥ २५ ॥

एवमुक्ता तु सा सीता तापसीं धर्मचारिणीम् ।
श्रूयतामिति चोक्त्वा वै कथयामास तां कथाम् ॥ २६ ॥

उनके इस प्रकार आज्ञा देनेपर सीताने उन धर्मचारिणी तापसी अनसूयासे कहा—'माताजी! सुनिये।' ऐसा कहकर उन्होंने उस कथाको इस प्रकार कहना आरम्भ किया— ॥ २६ ॥

मिथिलाधिपतिर्वीरो जनको नाम धर्मवित् ।
क्षत्रकर्मण्यभिरतो न्यायतः शास्ति मेदिनीम् ॥ २७ ॥

'मिथिला जनपदके वीर राजा 'जनक' नामसे प्रसिद्ध हैं। वे धर्मके ज्ञाता हैं, अतः क्षत्रियोचित कर्ममें तत्पर रहकर न्यायपूर्वक पृथ्वीका पालन करते हैं ॥ २७ ॥

तस्य लाङ्गलहस्तस्य कृषतः क्षेत्रमण्डलम् ।
अहं किलोत्थिता भित्त्वा जगतीं नृपतेः सुता ॥ २८ ॥

'एक समयकी बात है, वे यज्ञके योग्य क्षेत्रको हाथमें हल लेकर जोत रहे थे; इसी समय मैं पृथ्वीको फाड़कर प्रकट हुई। इतनेमात्रसे ही मैं राजा जनककी पुत्री हुई ॥

स मां दृष्ट्वा नरपतिर्मुष्टिविक्षेपतत्परः ।
पांसुगुण्ठितसर्वाङ्गीं विस्मितो जनकोऽभवत् ॥ २९ ॥

'वे राजा उस क्षेत्रमें ओषधियोंको मुट्ठीमें लेकर बो रहे थे। इतनेहीमें उनकी दृष्टि मेरे ऊपर पड़ी। मेरे सारे अङ्गोंमें

धूल लिपटी हुई थी। उस अवस्थामें मुझे देखकर राजा जनकको बड़ा विस्मय हुआ॥ २९॥

अनपत्येन च स्नेहादङ्कमारोप्य च स्वयम्।
ममेयं तनयेत्युक्त्वा स्नेहो मयि निपातितः॥ ३०॥

'उन दिनों उनके कोई दूसरी संतान नहीं थी, इसलिये स्नेहवश उन्होंने स्वयं मुझे गोदमें ले लिया और 'यह मेरी बेटी है' ऐसा कहकर मुझपर अपने हृदयका सारा स्नेह उड़ेल दिया॥

अन्तरिक्षे च वागुक्ता प्रतिमामानुषी किल।
एवमेतन्नरपते धर्मेण तनया तव॥ ३१॥

'इसी समय आकाशवाणी हुई, जो स्वरूपतः मानवी भाषामें कही गयी थी (अथवा मेरे विषयमें प्रकट हुई वह वाणी अमानुषी—दिव्य थी)। उसने कहा—'नरेश्वर! तुम्हारा कथन ठीक है, यह कन्या धर्मतः तुम्हारी ही पुत्री है'॥ ३१॥

ततः प्रहृष्टो धर्मात्मा पिता मे मिथिलाधिपः।
अवाप्तो विपुलामृद्धिं मामवाप्य नराधिपः॥ ३२॥

'यह आकाशवाणी सुनकर मेरे धर्मात्मा पिता मिथिला-नरेश बड़े प्रसन्न हुए। मुझे पाकर उन नरेशने मानो कोई बड़ी समृद्धि पा ली थी॥ ३२॥

दत्ता चास्मीष्टवद्देव्यै ज्येष्ठायै पुण्यकर्मणे।
तया सम्भाविता चास्मि स्निग्धया मातृसौहृदात्॥ ३३॥

'उन्होंने पुण्यकर्मपरायणा बड़ी रानीको, जो उन्हें अधिक प्रिय थीं, मुझे दे दिया। उन स्नेहमयी महारानीने मातृसमुचित सौहार्दसे मेरा लालन-पालन किया॥ ३३॥

पतिसंयोगसुलभं वयो दृष्ट्वा तु मे पिता।
चिन्तामभ्यगमद् दीनो वित्तनाशादिवाधनः॥ ३४॥

'जब पिताने देखा कि मेरी अवस्था विवाहके योग्य हो गयी, तब इसके लिये वे बड़ी चिन्तामें पड़े। जैसे कमाये हुए धनका नाश हो जानेसे निर्धन मनुष्यको बड़ा दुःख होता है, उसी प्रकार वे मेरे विवाहकी चिन्तासे बहुत दुःखी हो गये॥

सदृशाच्चापकृष्टाच्च लोके कन्यापिता जनात्।
प्रधर्षणमवाप्नोति शक्रेणापि समो भुवि॥ ३५॥

'संसारमें कन्याके पिताको, वह भूतलपर इन्द्रके ही तुल्य क्यों न हो, वरपक्षके लोगोंसे, वे अपने समान या अपनेसे छोटी हैसियतके ही क्यों न हों, प्रायः अपमान उठाना पड़ता है॥ ३५॥

तां धर्षणामदूरस्थां संदृश्यात्मनि पार्थिवः।
चिन्तार्णवगतः पारं नाससादाप्लवो यथा॥ ३६॥

'वह अपमान सहन करनेकी घड़ी अपने लिये बहुत समीप आ गयी है, यह देखकर राजा चिन्ताके समुद्रमें डूब गये। जैसे नौकारहित मनुष्य पार नहीं पहुँच पाता, उसी प्रकार मेरे पिता भी चिन्ताका पार नहीं पा रहे थे॥ ३६॥

अयोनिजां हि मां ज्ञात्वा नाध्यगच्छत् स चिन्तयन्।
सदृशं चाभिरूपं च महीपालः पतिं मम॥ ३७॥

'मुझे अयोनिजा कन्या समझकर वे भूपाल मेरे लिये योग्य और परम सुन्दर पतिका विचार करने लगे; किंतु किसी निश्चयपर नहीं पहुँच सके॥ ३७॥

तस्य बुद्धिरियं जाता चिन्तयानस्य संततम्।
स्वयंवरं तनूजायाः करिष्यामीति धर्मतः॥ ३८॥

'सदा मेरे विवाहकी चिन्तामें पड़े रहनेवाले उन महाराजके मनमें एक दिन यह विचार उत्पन्न हुआ कि मैं धर्मतः अपनी पुत्रीका स्वयंवर करूँगा॥ ३८॥

महायज्ञे तदा तस्य वरुणेन महात्मना।
दत्तं धनुर्वरं प्रीत्या तूणी चाक्षय्यसायकौ॥ ३९॥

'उन्हीं दिनों उनके एक महान् यज्ञमें प्रसन्न होकर महात्मा वरुणने उन्हें एक श्रेष्ठ दिव्य धनुष तथा अक्षय बाणोंसे भरे हुए दो तरकस दिये॥ ३९॥

असंचाल्यं मनुष्यैश्च यत्नेनापि च गौरवात्।
तन्न शक्ता नमयितुं स्वप्नेष्वपि नराधिपाः॥ ४०॥

'वह धनुष इतना भारी था कि मनुष्य पूरा प्रयत्न करनेपर भी उसे हिला भी नहीं पाते थे। भूमण्डलके नरेश स्वप्नमें भी उस धनुषको झुकानेमें असमर्थ थे॥ ४०॥

तद्धनुः प्राप्य मे पित्रा व्याहृतं सत्यवादिना।
समवाये नरेन्द्राणां पूर्वमामन्त्र्य पार्थिवान्॥ ४१॥

'उस धनुषको पाकर मेरे सत्यवादी पिताने पहले भूमण्डलके राजाओंको आमन्त्रित करके उन नरेशोंके समूहमें यह बात कही—॥ ४१॥

इदं च धनुरुद्यम्य सज्यं यः कुरुते नरः।
तस्य मे दुहिता भार्या भविष्यति न संशयः॥ ४२॥

'जो मनुष्य इस धनुषको उठाकर इसपर प्रत्यञ्चा चढ़ा देगा, मेरी पुत्री सीता उसीकी पत्नी होगी; इसमें संशय नहीं है॥ ४२॥

तच्च दृष्ट्वा धनुःश्रेष्ठं गौरवाद् गिरिसंनिभम्।
अभिवाद्य नृपा जग्मुरशक्तास्तस्य तोलने॥ ४३॥

'अपने भारीपनके कारण पहाड़-जैसे प्रतीत होनेवाले उस श्रेष्ठ धनुषको देखकर वहाँ आये हुए राजा जब उसे उठानेमें समर्थ न हो सके, तब उसे प्रणाम करके चले गये॥ ४३॥

सुदीर्घस्य तु कालस्य राघवोऽयं महाद्युतिः।
विश्वामित्रेण सहितो यज्ञं द्रष्टुं समागतः॥ ४४॥
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा रामः सत्यपराक्रमः।
विश्वामित्रस्तु धर्मात्मा मम पित्रा सुपूजितः॥ ४५॥

'तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् ये महातेजस्वी रघुकुलनन्दन सत्यपराक्रमी श्रीराम अपने भाई लक्ष्मणको साथ ले विश्वामित्रजीके साथ मेरे पिताका यज्ञ देखनेके लिये मिथिलामें पधारे। उस समय मेरे पिताने धर्मात्मा विश्वामित्र मुनिका बड़ा आदर-सत्कार किया॥ ४४-४५॥

प्रोवाच पितरं तत्र राघवौ रामलक्ष्मणौ।
सुतौ दशरथस्येमौ धनुर्दर्शनकाङ्क्षिणौ।
धनुर्दर्शय रामाय राजपुत्राय दैविकम्॥ ४६॥

'तब वहाँ विश्वामित्रजी मेरे पितासे बोले—'राजन्! ये दोनों रघुकुलभूषण श्रीराम और लक्ष्मण महाराज दशरथके पुत्र हैं और आपके उस दिव्य धनुषका दर्शन करना चाहते हैं। आप अपना वह देवप्रदत्त धनुष राजकुमार श्रीरामको दिखाइये' ॥ ४६ ॥

इत्युक्तस्तेन विप्रेण तद् धनुः समुपानयत्।
तद् धनुर्दर्शयामास राजपुत्राय दैविकम्॥ ४७ ॥

'विप्रवर विश्वामित्रके ऐसा कहनेपर पिताजीने उस दिव्य धनुषको मँगवाया और राजकुमार श्रीरामको उसे दिखाया॥

निमेषान्तरमात्रेण तदानम्य महाबलः।
ज्यां समारोप्य झटिति पूरयामास वीर्यवान्॥ ४८ ॥

'महाबली और परम पराक्रमी श्रीरामने पलक मारते-मारते उस धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी और उसे तुरंत कानतक खींचा॥

तेनापूरयता वेगान्मध्ये भग्नं द्विधा धनुः।
तस्य शब्दोऽभवद् भीमः पतितस्याशनेर्यथा॥ ४९ ॥

'उनके वेगपूर्वक खींचते समय वह धनुष बीचसे ही टूट गया और उसके दो टुकड़े हो गये। उसके टूटते समय ऐसा भयंकर शब्द हुआ मानो वहाँ वज्र टूट पड़ा हो॥ ४९॥

ततोऽहं तत्र रामाय पित्रा सत्याभिसंधिना।
उद्यता दातुमुद्यम्य जलभाजनमुत्तमम्॥ ५० ॥

'तब मेरे सत्यप्रतिज्ञ पिताने जलका उत्तम पात्र लेकर श्रीरामके हाथमें मुझे दे देनेका उद्योग किया॥ ५०॥

दीयमानां न तु तदा प्रतिजग्राह राघवः।
अविज्ञाय पितुश्छन्दमयोध्याधिपतेः प्रभोः॥ ५१ ॥

'उस समय अपने पिता अयोध्यानरेश महाराज दशरथके अभिप्रायको जाने बिना श्रीरामने राजा जनकके देनेपर भी मुझे नहीं ग्रहण किया॥ ५१॥

ततः श्वशुरमामन्त्र्य वृद्धं दशरथं नृपम्।
मम पित्रा त्वहं दत्ता रामाय विदितात्मने॥ ५२ ॥

'तदनन्तर मेरे बूढ़े श्वशुर राजा दशरथकी अनुमति लेकर पिताजीने आत्मज्ञानी श्रीरामको मेरा दान कर दिया॥ ५२॥

मम चैवानुजा साध्वी ऊर्मिला शुभदर्शना।
भार्यार्थे लक्ष्मणस्यापि दत्ता पित्रा मम स्वयम्॥ ५३ ॥

'तत्पश्चात् पिताजीने स्वयं ही मेरी छोटी बहिन सती साध्वी परम सुन्दरी ऊर्मिलाको लक्ष्मणकी पत्नीरूपसे उनके हाथमें दे दिया॥ ५३॥

एवं दत्तास्मि रामाय तथा तस्मिन् स्वयंवरे।
अनुरक्तास्मि धर्मेण पतिं वीर्यवतां वरम्॥ ५४ ॥

'इस प्रकार उस स्वयंवरमें पिताजीने श्रीरामके हाथमें मुझको सौंपा था। मैं धर्मके अनुसार अपने पति बलवानोंमें श्रेष्ठ श्रीराममें सदा अनुरक्त रहती हूँ॥ ५४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टादशाधिकशततमः सर्गः॥ ११८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ अठारहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ११८॥

एकोनविंशत्यधिकशततमः सर्गः

अनसूयाकी आज्ञासे सीताका उनके दिये हुए वस्त्राभूषणोंको धारण करके श्रीरामजीके पास आना तथा श्रीराम आदिका रात्रिमें आश्रमपर रहकर प्रातःकाल अन्यत्र जानेके लिये ऋषियोंसे विदा लेना

अनसूया तु धर्मज्ञा श्रुत्वा तां महतीं कथाम्।
पर्यष्वजत बाहुभ्यां शिरस्याघ्राय मैथिलीम्॥ १ ॥

धर्मको जाननेवाली अनसूयाने उस लंबी कथाको सुनकर मिथिलेशकुमारी सीताको अपनी दोनों भुजाओंसे अङ्कमें भर लिया और उनका मस्तक सूँघकर कहा— ॥ १॥

व्यक्ताक्षरपदं चित्रं भाषितं मधुरं त्वया।
यथा स्वयंवरं वृत्तं तत् सर्वं च श्रुतं मया॥ २ ॥

'बेटी! तुमने सुस्पष्ट अक्षरवाले शब्दोंमें यह विचित्र एवं मधुर प्रसङ्ग सुनाया। तुम्हारा स्वयंवर जिस प्रकार हुआ था, वह सब मैंने सुन लिया॥ २॥

रमेयं कथया ते तु दृढं मधुरभाषिणि।
रविरस्तं गतः श्रीमानुपोह्य रजनीं शुभाम्॥ ३ ॥
दिवसं परिकीर्णानामाहारार्थं पतत्रिणाम्।
संध्याकाले निलीनानां निद्रार्थं श्रूयते ध्वनिः॥ ४ ॥

'मधुरभाषिणी सीते! तुम्हारी इस कथामें मेरा मन बहुत लग रहा है; तथापि तेजस्वी सूर्यदेव रजनीकी शुभ वेलाको निकट पहुँचाकर अस्त हो गये। जो दिनमें चारा चुगनेके लिये चारों ओर छिटके हुए थे, वे पक्षी अब संध्याकालमें नींद लेनेके लिये अपने घोंसलोंमें आकर छिप गये हैं; उनकी यह ध्वनि सुनायी दे रही है॥ ३-४॥

एते चाप्यभिषेकार्द्रा मुनयः कलशोद्यताः।
सहिता उपवर्तन्ते सलिलाप्लुतवल्कलाः॥ ५ ॥

'ये जलसे भीगे हुए वल्कल धारण करनेवाले मुनि, जिनके शरीर स्नानके कारण आर्द्र दिखायी देते हैं, जलसे भरे कलश उठाये एक साथ आश्रमकी ओर लौट रहे हैं॥ ५॥

अग्निहोत्रे च ऋषिणा हुते च विधिपूर्वकम्।
कपोताङ्गारुणो धूमो दृश्यते पवनोद्धतः॥ ६ ॥

'महर्षि (अत्रि) ने विधिपूर्वक अग्निहोत्र-सम्बन्धी होमकर्म सम्पन्न कर लिया है, अतः वायुके वेगसे ऊपरको उठा हुआ यह कबूतरके कण्ठकी भाँति श्यामवर्णका धूम दिखायी दे रहा है॥

अल्पपर्णा हि तरवो घनीभूताः समन्ततः।
विप्रकृष्टेन्द्रिये देशे न प्रकाशन्ति वै दिशः॥ ७ ॥

'अपनी इन्द्रियोंसे दूर देशमें चारों ओर जो वृक्ष दिखायी देते हैं, वे थोड़े पत्तेवाले होनेपर भी अन्धकारसे व्याप्त हो घनीभूत हो गये हैं; अतएव दिशाओंका भान नहीं हो रहा है ॥

रजनीचरसत्त्वानि प्रचरन्ति समन्ततः ।
तपोवनमृगा ह्येते वेदितीर्थेषु शेरते ॥ ८ ॥

'रातको विचरनेवाले प्राणी (उल्लू आदि) सब ओर विचरण कर रहे हैं तथा ये तपोवनके मृग पुण्यक्षेत्रस्वरूप आश्रमके वेदी आदि विभिन्न प्रदेशोंमें सो रहे हैं ॥ ८ ॥

सम्प्रवृत्ता निशा सीते नक्षत्रसमलंकृता ।
ज्योत्स्नाप्रावरणश्चन्द्रो दृश्यतेऽभ्युदितोऽम्बरे ॥ ९ ॥

'सीते ! अब रात हो गयी, वह नक्षत्रोंसे सज गयी है। आकाशमें चन्द्रदेव चाँदनीकी चादर ओढ़े उदित दिखायी देते हैं ॥

गम्यतामनुजानामि रामस्यानुचरी भव ।
कथयन्त्या हि मधुरं त्वयाहमपि तोषिता ॥ १० ॥

'अतः अब जाओ, मैं तुम्हें जानेकी आज्ञा देती हूँ। जाकर श्रीरामचन्द्रजीकी सेवामें लग जाओ। तुमने अपनी मीठी-मीठी बातोंसे मुझे भी बहुत संतुष्ट किया है ॥ १० ॥

अलंकुरु च तावत् त्वं प्रत्यक्षं मम मैथिलि ।
प्रीतिं जनय मे वत्से दिव्यालंकारशोभिनी ॥ ११ ॥

'बेटी ! मिथिलेशकुमारी ! पहले मेरी आँखोंके सामने अपने-आपको अलंकृत करो। इन दिव्य वस्त्र और आभूषणोंको धारण करके इनसे सुशोभित हो मुझे प्रसन्न करो' ॥ ११ ॥

सा तदा समलंकृत्य सीता सुरसुतोपमा ।
प्रणम्य शिरसा पादौ रामं त्वभिमुखी ययौ ॥ १२ ॥

यह सुनकर देवकन्याके समान सुन्दरी सीताने उस समय उन वस्त्राभूषणोंसे अपना शृङ्गार किया और अनसूयाके चरणोंमें सिर झुकाकर प्रणाम करनेके अनन्तर वे श्रीरामके सम्मुख गयीं ॥ १२ ॥

तथा तु भूषितां सीतां ददर्श वदतां वरः ।
राघवः प्रीतिदानेन तपस्विन्या जहर्ष च ॥ १३ ॥

श्रीरामने जब इस प्रकार सीताको वस्त्र और आभूषणोंसे विभूषित देखा, तब तपस्विनी अनसूयाके उस प्रेमोपहारके दर्शनसे वक्ताओंमें श्रेष्ठ श्रीरघुनाथजीको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ १३ ॥

न्यवेदयत् ततः सर्वं सीता रामाय मैथिली ।
प्रीतिदानं तपस्विन्या वसनाभरणस्रजाम् ॥ १४ ॥

उस समय मिथिलेशकुमारी सीताने तपस्विनी अनसूयाके हाथसे जिस प्रकार वस्त्र, आभूषण और हार आदिका प्रेमोपहार प्राप्त हुआ था, वह सब श्रीरामचन्द्रजीसे कह सुनाया ॥ १४ ॥

प्रहृष्टस्त्वभवद् रामो लक्ष्मणश्च महारथः ।
मैथिल्याः सत्क्रियां दृष्ट्वा मानुषेषु सुदुर्लभाम् ॥ १५ ॥

भगवान् श्रीराम और महारथी लक्ष्मण सीताका वह सत्कार, जो मनुष्योंके लिये सर्वथा दुर्लभ है, देखकर बहुत प्रसन्न हुए ॥

ततः स शर्वरीं प्रीतः पुण्यां शशिनिभाननाम् ।
अर्चितस्तापसैः सर्वैरुवास रघुनन्दनः ॥ १६ ॥

तदनन्तर समस्त तपस्विजनोंसे सम्मानित हुए रघुकुलनन्दन श्रीरामने अनसूयाके दिये हुए पवित्र अलंकार आदिसे अलंकृत चन्द्रमुखी सीताको देखकर बड़ी प्रसन्नताके साथ वहाँ रात्रिभर निवास किया ॥ १६ ॥

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायामभिषिच्य हुताग्निकान् ।
आपृच्छेतां नरव्याघ्रौ तापसान् वनगोचरान् ॥ १७ ॥

वह रात बीतनेपर जब सभी वनवासी तपस्वी मुनि स्नान करके अग्निहोत्र कर चुके, तब पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मणने उनसे जानेके लिये आज्ञा माँगी ॥ १७ ॥

तावूचुस्ते वनचरास्तापसा धर्मचारिणः ।
वनस्य तस्य संचारं राक्षसैः समभिप्लुतम् ॥ १८ ॥
रक्षांसि पुरुषादानि नानारूपाणि राघव ।
वसन्त्यस्मिन् महारण्ये व्यालाश्च रुधिराशनाः ॥ १९ ॥

तब वे धर्मपरायण वनवासी तपस्वी उन दोनों भाइयोंसे इस प्रकार बोले—'रघुनन्दन ! इस वनका मार्ग राक्षसोंसे आक्रान्त है—यहाँ उनका उपद्रव होता रहता है। इस विशाल वनमें नानारूपधारी नरभक्षी राक्षस तथा रक्तभोजी हिंसक पशु निवास करते हैं ॥ १८-१९ ॥

उच्छिष्टं वा प्रमत्तं वा तापसं ब्रह्मचारिणम् ।
अदन्त्यस्मिन् महारण्ये तान् निवारय राघव ॥ २० ॥

'राघवेन्द्र ! जो तपस्वी और ब्रह्मचारी यहाँ अपवित्र अथवा असावधान अवस्थामें मिल जाता है, उसे वे राक्षस और हिंसक जन्तु इस महान् वनमें खा जाते हैं; अतः आप उन्हें रोकिये—यहाँसे मार भगाइये ॥ २० ॥

एष पन्था महर्षीणां फलान्याहरतां वने ।
अनेन तु वनं दुर्गं गन्तुं राघव ते क्षमम् ॥ २१ ॥

'रघुकुलभूषण ! यही वह मार्ग है, जिससे महर्षिलोग वनके भीतर फल-मूल लेनेके लिये जाते हैं। आपको भी इसी मार्गसे इस दुर्गम वनमें प्रवेश करना चाहिये' ॥ २१ ॥

इतीरितः प्राञ्जलिभिस्तपस्विभि-
र्द्विजैः कृतस्वस्त्ययनः परंतपः ।
वनं सभार्यः प्रविवेश राघवः
सलक्ष्मणः सूर्य इवाभ्रमण्डलम् ॥ २२ ॥

तपस्वी ब्राह्मणोंने हाथ जोड़कर जब ऐसी बातें कहीं और उनकी मङ्गलयात्राके लिये स्वस्तिवाचन किया, तब शत्रुओंको संताप देनेवाले भगवान् श्रीरामने अपनी पत्नी सीता और भाई लक्ष्मणके साथ उस वनमें प्रवेश किया, मानो सूर्यदेव मेघोंकी घटाके भीतर घुस गये हों ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ ११९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११९ ॥

—★—

अयोध्याकाण्डं सम्पूर्णम्

—★—

॥ श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः ॥

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणम्

अरण्यकाण्डम्

प्रथमः सर्गः

श्रीराम, लक्ष्मण और सीताका तापसोंके आश्रममण्डलमें सत्कार

प्रविश्य तु महारण्यं दण्डकारण्यमात्मवान्।
रामो ददर्श दुर्धर्षस्तापसाश्रममण्डलम्॥ १॥

दण्डकारण्य नामक महान् वनमें प्रवेश करके मनको वशमें रखनेवाले दुर्जय वीर श्रीरामने तपस्वी मुनियोंके बहुत-से आश्रम देखे॥ १॥

कुशचीरपरिक्षिप्तं ब्राह्मया लक्ष्म्या समावृतम्।
यथा प्रदीप्तं दुर्दर्शं गगने सूर्यमण्डलम्॥ २॥

वहाँ कुश और वल्कल वस्त्र फैले हुए थे। वह आश्रम-मण्डल ऋषियोंकी ब्रह्मविद्याके अभ्याससे प्रकट हुए विलक्षण तेजसे व्याप्त था, इसलिये आकाशमें प्रकाशित होनेवाले दुर्दर्श सूर्य-मण्डलकी भाँति वह भूतलपर उद्दीप्त हो रहा था। राक्षस आदिके लिये उसकी ओर देखना भी कठिन था॥ २॥

शरण्यं सर्वभूतानां सुसम्मृष्टाजिरं सदा।
मृगैर्बहुभिराकीर्णं पक्षिसंघैः समावृतम्॥ ३॥

वह आश्रमसमुदाय सभी प्राणियोंको शरण देनेवाला था। उसका आँगन सदा झाड़ने-बुहारनेसे स्वच्छ बना रहता था। वहाँ बहुत-से वन्य पशु भरे रहते थे और पक्षियोंके समुदाय भी उसे सब ओरसे घेरे रहते थे॥ ३॥

पूजितं चोपनृत्तं च नित्यमप्सरसां गणैः।
विशालैरग्निशरणैः स्रुग्भाण्डैरजिनैः कुशैः॥ ४॥
समिद्भिस्तोयकलशैः फलमूलैश्च शोभितम्।
आरण्यैश्च महावृक्षैः पुण्यैः स्वादुफलैर्वृतम्॥ ५॥

वहाँका प्रदेश इतना मनोरम था कि वहाँ अप्सराएँ प्रतिदिन आकर नृत्य करती थीं। उस स्थानके प्रति उनके मनमें बड़े आदरका भाव था। बड़ी-बड़ी अग्निशालाएँ, स्रुवा आदि यज्ञपात्र, मृगचर्म, कुश, समिधा, जलपूर्ण कलश तथा फल-मूल उसकी शोभा बढ़ाते थे। स्वादिष्ट फल देनेवाले परम पवित्र तथा बड़े-बड़े वन्य वृक्षोंसे वह आश्रममण्डल घिरा हुआ था॥ ४-५॥

बलिहोमार्चितं पुण्यं ब्रह्मघोषनिनादितम्।
पुष्पैश्चान्यैः परिक्षिप्तं पद्मिन्या च सपद्मया॥ ६॥

बलिवैश्वदेव और होमसे पूजित वह पवित्र आश्रमसमूह वेदमन्त्रोंके पाठकी ध्वनिसे गूँजता रहता था। कमलपुष्पोंसे सुशोभित पुष्करिणी उस स्थानकी शोभा बढ़ाती थी तथा वहाँ और भी बहुत-से फूल सब ओर बिखरे हुए थे॥ ६॥

फलमूलाशनैर्दान्तैश्चीरकृष्णाजिनाम्बरैः।
सूर्यवैश्वानराभैश्च पुराणैर्मुनिभिर्युतम्॥ ७॥

उन आश्रमोंमें चीर और काला मृगचर्म धारण करनेवाले तथा फल-मूलका आहार करके रहनेवाले, जितेन्द्रिय एवं सूर्य और अग्निके तुल्य महातेजस्वी, पुरातन मुनि निवास करते थे॥ ७॥

पुण्यैश्च नियताहारैः शोभितं परमर्षिभिः।
तद् ब्रह्मभवनप्रख्यं ब्रह्मघोषनिनादितम्॥ ८॥

नियमित आहार करनेवाले पवित्र महर्षियोंसे सुशोभित वह आश्रमसमूह ब्रह्माजीके धामकी भाँति तेजस्वी तथा वेदध्वनिसे निनादित था॥ ८॥

ब्रह्मविद्भिर्महाभागैर्ब्राह्मणैरुपशोभितम्।
तद् दृष्ट्वा राघवः श्रीमांस्तापसाश्रममण्डलम्॥ ९॥
अभ्यगच्छन्महातेजा विज्यं कृत्वा महद् धनुः।

अनेक महाभाग ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण उन आश्रमोंकी शोभा बढ़ाते थे। महातेजस्वी श्रीरामने उस आश्रममण्डलको देखकर अपने महान् धनुषकी प्रत्यञ्चा उतार दी, फिर वे आश्रमके भीतर गये॥ ९½॥

दिव्यज्ञानोपपन्नास्ते रामं दृष्ट्वा महर्षयः॥ १०॥
अभिजग्मुस्तदा प्रीता वैदेहीं च यशस्विनीम्।

श्रीराम तथा यशस्विनी सीताको देखकर वे दिव्य ज्ञानसे सम्पन्न महर्षि बड़ी प्रसन्नताके साथ उनके पास गये॥

ते तु सोममिवोद्यन्तं दृष्ट्वा वै धर्मचारिणम्॥ ११॥
लक्ष्मणं चैव दृष्ट्वा तु वैदेहीं च यशस्विनीम्।
मङ्गलानि प्रयुञ्जानाः प्रत्यगृह्णन् दृढव्रताः॥ १२॥

दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले वे महर्षि उदयकालके चन्द्रमाकी भाँति मनोहर, धर्मात्मा श्रीरामको, लक्ष्मणको और यशस्विनी विदेहराजकुमारी सीताको भी देखकर उन सबके लिये मङ्गलमय आशीर्वाद देने लगे। उन्होंने उन तीनोंको आदरणीय अतिथिके रूपमें ग्रहण किया॥ ११-१२॥

रूपसंहननं लक्ष्मीं सौकुमार्यं सुवेषताम्।
ददृशुर्विस्मिताकारा रामस्य वनवासिनः॥ १३॥

श्रीरामके रूप, शरीरकी गठन, कान्ति, सुकुमारता तथा सुन्दर वेषको उन वनवासी मुनियोंने आश्चर्यचकित होकर देखा॥ १३॥

वैदेहीं लक्ष्मणं रामं नेत्रैरनिमिषैरिव।
आश्चर्यभूतान् ददृशुः सर्वे ते वनवासिनः॥ १४॥

वनमें निवास करनेवाले वे सभी मुनि श्रीराम, लक्ष्मण और सीता—तीनोंको एकटक नेत्रोंसे देखने लगे। उनका स्वरूप उन्हें आश्चर्यमय प्रतीत होता था॥ १४॥

अत्रैनं हि महाभागाः सर्वभूतहिते रताः।
अतिथिं पर्णशालायां राघवं संन्यवेशयन्॥ १५॥

समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले उन महाभाग महर्षियोंने वहाँ अपने प्रिय अतिथि इन भगवान् श्रीरामको पर्णशालामें ले जाकर ठहराया॥ १५॥

ततो रामस्य सत्कृत्य विधिना पावकोपमाः।
आजह्रुस्ते महाभागाः सलिलं धर्मचारिणः॥ १६॥

अग्नितुल्य तेजस्वी और धर्मपरायण उन महाभाग मुनियोंने श्रीरामको विधिवत् सत्कारके साथ जल समर्पित किया॥

मङ्गलानि प्रयुञ्जाना मुदा परमया युताः।
मूलं पुष्पं फलं सर्वमाश्रमं च महात्मनः॥ १७॥

फिर बड़ी प्रसन्नताके साथ मङ्गलसूचक आशीर्वाद देते हुए उन महात्मा श्रीरामको उन्होंने फल-मूल और फूल आदिके साथ सारा आश्रम भी समर्पित कर दिया॥ १७॥

निवेदयित्वा धर्मज्ञास्ते तु प्राञ्जलयोऽब्रुवन्।
धर्मपालो जनस्यास्य शरण्यश्च महायशाः॥ १८॥
पूजनीयश्च मान्यश्च राजा दण्डधरो गुरुः।
इन्द्रस्यैव चतुर्भागः प्रजा रक्षति राघव॥ १९॥
राजा तस्माद् वरान् भोगान् रम्यान् भुङ्क्ते नमस्कृतः।

सब कुछ निवेदन करके वे धर्मज्ञ मुनि हाथ जोड़कर बोले—'रघुनन्दन! दण्ड धारण करनेवाला राजा धर्मका पालक, महायशस्वी, इस जन-समुदायको शरण देनेवाला माननीय, पूजनीय और सबका गुरु है। इस भूतलपर इन्द्र (आदि लोकपालों) का ही चौथा अंश होनेके कारण वह प्रजाकी रक्षा करता है, अतः राजा सबसे वन्दित होता तथा उत्तम एवं रमणीय भोगोंका उपभोग करता है। (जब साधारण राजाकी यह स्थिति है, तब आपके लिये तो क्या कहना है। आप तो साक्षात् भगवान् हैं)॥ १८-१९½॥

ते वयं भवता रक्ष्या भवद्विषयवासिनः।
नगरस्थो वनस्थो वा त्वं नो राजा जनेश्वरः॥ २०॥

'हम आपके राज्यमें निवास करते हैं, अतः आपको हमारी रक्षा करनी चाहिये। आप नगरमें रहें या वनमें, हमलोगोंके राजा ही हैं। आप समस्त जनसमुदायके शासक एवं पालक हैं॥ २०॥

न्यस्तदण्डा वयं राजञ्जितक्रोधा जितेन्द्रियाः।
रक्षणीयास्त्वया शश्वद् गर्भभूतास्तपोधनाः॥ २१॥

'राजन्! हमने जीवमात्रको दण्ड देना छोड़ दिया है, क्रोध और इन्द्रियोंको जीत लिया है। अब तपस्या ही हमारा धन है। जैसे माता गर्भस्थ बालककी रक्षा करती है, उसी प्रकार आपको सदा सब तरहसे हमारी रक्षा करनी चाहिये'॥ २१॥

एवमुक्त्वा फलैर्मूलैः पुष्पैरन्यैश्च राघवम्।
वन्यैश्च विविधाहारैः सलक्ष्मणमपूजयन्॥ २२॥

ऐसा कहकर उन तपस्वी मुनियोंने वनमें उत्पन्न होनेवाले फल, मूल, फूल तथा अन्य अनेक प्रकारके आहारोंसे लक्ष्मण (और सीता) सहित भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका सत्कार किया॥

तथान्ये तापसाः सिद्धा रामं वैश्वानरोपमाः।
न्यायवृत्ता यथान्यायं तर्पयामासुरीश्वरम्॥ २३॥

इनके सिवा दूसरे अग्नितुल्य तेजस्वी तथा न्याययुक्त बर्तावबाले सिद्ध तापसोंने भी सर्वेश्वर भगवान् श्रीरामको यथोचित रूपसे तृप्त किया॥ २३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे प्रथमः सर्गः॥ १॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पहला सर्ग पूरा हुआ॥ १॥

★

द्वितीयः सर्गः

वनके भीतर श्रीराम, लक्ष्मण और सीतापर विराधका आक्रमण

कृतातिथ्योऽथ रामस्तु सूर्यस्योदयनं प्रति।
आमन्त्र्य स मुनीन् सर्वान् वनमेवान्वगाहत॥ १॥

रात्रिमें उन महर्षियोंका आतिथ्य ग्रहण करके सबेरे सूर्योदय होनेपर समस्त मुनियोंसे विदा ले श्रीरामचन्द्रजी पुनः वनमें ही आगे बढ़ने लगे॥ १॥

नानामृगगणाकीर्णमृक्षशार्दूलसेवितम्।
ध्वस्तवृक्षलतागुल्मं दुर्दर्शसलिलाशयम्॥ २॥
निष्कूजमानशकुनि झिल्लिकागणनादितम्।
लक्ष्मणानुचरो रामो वनमध्यं ददर्श ह॥ ३॥

जाते-जाते लक्ष्मणसहित श्रीरामने वनके मध्यभागमें एक ऐसे स्थानको देखा, जो नाना प्रकारके मृगोंसे व्याप्त था। वहाँ बहुत-से रीछ और बाघ रहा करते थे। वहाँके वृक्ष, लता और झाड़ियाँ नष्ट-भ्रष्ट हो गयी थीं। उस वनप्रान्तमें किसी जलाशयका दर्शन होना कठिन था। वहाँके पक्षी वहाँ चहक

रहे थे। झींगुरोंकी झंकार गूँज रही थी॥ २-३॥

सीतया सह काकुत्स्थस्तस्मिन् घोरमृगायुते।
ददर्श गिरिशृङ्गाभं पुरुषादं महास्वनम्॥ ४॥

भयंकर जंगली पशुओंसे भरे हुए उस दुर्गम वनमें सीताके साथ श्रीरामचन्द्रजीने एक नरभक्षी राक्षस देखा, जो पर्वतशिखरके समान ऊँचा था और उच्चस्वरसे गर्जना कर रहा था॥ ४॥

गभीराक्षं महावक्त्रं विकटं विकटोदरम्।
बीभत्सं विषमं दीर्घं विकृतं घोरदर्शनम्॥ ५॥

उसकी आँखें गहरी, मुँह बहुत बड़ा, आकार विकट, और पेट विकराल था। वह देखनेमें बड़ा भयंकर, घृणित, बेडौल, बहुत बड़ा और विकृत वेशसे युक्त था॥ ५॥

वसानं चर्म वैयाघ्रं वसार्द्रं रुधिरोक्षितम्।
त्रासनं सर्वभूतानां व्यादितास्यमिवान्तकम्॥ ६॥

उसने खूनसे भीगा और चरबीसे गीला व्याघ्रचर्म पहन रखा था। समस्त प्राणियोंको त्रास पहुँचानेवाला वह राक्षस यमराजके समान मुँह बाये खड़ा था॥ ६॥

त्रीन् सिंहांश्चतुरो व्याघ्रान् द्वौ वृकौ पृषतान् दश।
सविषाणं वसादिग्धं गजस्य च शिरो महत्॥ ७॥
अवसज्यायसे शूले विनदन्तं महास्वनम्।

वह एक लोहेके शूलमें तीन सिंह, चार बाघ, दो भेड़िये, दस चितकबरे हरिण और दाँतोंसहित एक बहुत बड़ा हाथीका मस्तक, जिसमें चर्बी लिपटी हुई थी, गाँथकर जोर-जोरसे दहाड़ रहा था॥ ७½॥

स रामं लक्ष्मणं चैव सीतां दृष्ट्वा च मैथिलीम्।
अभ्यधावत् सुसंक्रुद्धः प्रजाः काल इवान्तकः॥ ८॥
स कृत्वा भैरवं नादं चालयन्निव मेदिनीम्॥ ९॥

श्रीराम, लक्ष्मण और मिथिलेशकुमारी सीताको देखते ही वह क्रोधमें भरकर भैरवनाद करके पृथ्वीको कम्पित करता हुआ उन सबकी ओर उसी प्रकार दौड़ा, जैसे प्राणान्तकारी काल प्रजाकी ओर अग्रसर होता है॥ ८-९॥

अङ्केनादाय वैदेहीमपक्रम्य तदाब्रवीत्।
युवां जटाचीरधरौ सभार्यौ क्षीणजीवितौ॥ १०॥
प्रविष्टौ दण्डकारण्यं शरचापासिपाणिनौ।

वह विदेहनन्दिनी सीताको गोदमें ले कुछ दूर जाकर खड़ा हो गया। फिर उन दोनों भाइयोंसे बोला—'तुम दोनों जटा और चीर धारण करके भी स्त्रीके साथ रहते हो और हाथमें धनुष-बाण और तलवार लिये दण्डकवनमें घुस आये हो; अतः जान पड़ता है, तुम्हारा जीवन क्षीण हो चला है॥

कथं तापसयोर्वां च वासः प्रमदया सह॥ ११॥
अधर्मचारिणौ पापौ कौ युवां मुनिदूषकौ।

'तुम दोनों तो तपस्वी जान पड़ते हो, फिर तुम्हारा युवती स्त्रीके साथ रहना कैसे सम्भव हुआ? अधर्मपरायण, पापी तथा मुनिसमुदायको कलङ्कित करनेवाले तुम दोनों कौन हो?॥ ११½॥

अहं वनमिदं दुर्गं विराधो नाम राक्षसः॥ १२॥
चरामि सायुधो नित्यमृषिमांसानि भक्षयन्।

'मैं विराध नामक राक्षस हूँ और प्रतिदिन ऋषियोंके मांसका भक्षण करता हुआ हाथमें अस्त्र-शस्त्र लिये इस दुर्गम वनमें विचरता रहता हूँ॥ १२½॥

इयं नारी वरारोहा मम भार्या भविष्यति॥ १३॥
युवयोः पापयोश्चाहं पास्यामि रुधिरं मृधे।

'यह स्त्री बड़ी सुन्दरी है, अतः मेरी भार्या बनेगी और तुम दोनों पापियोंका मैं युद्धस्थलमें रक्त पान करूँगा'॥ १३½॥

तस्यैवं ब्रुवतो दुष्टं विराधस्य दुरात्मनः॥ १४॥
श्रुत्वा सगर्वितं वाक्यं सम्भ्रान्ता जनकात्मजा।
सीता प्रवेपितोद्वेगात् प्रवाते कदली यथा॥ १५॥

दुरात्मा विराधकी ये दुष्टता और घमंडसे भरी बातें सुनकर जनकनन्दिनी सीता घबरा गयीं और जैसे तेज हवा चलनेपर केलेका वृक्ष जोर-जोरसे हिलने लगता है, उसी प्रकार वे उद्वेगके कारण थरथर काँपने लगीं॥ १४-१५॥

तां दृष्ट्वा राघवः सीतां विराधाङ्कगतां शुभाम्।
अब्रवील्लक्ष्मणं वाक्यं मुखेन परिशुष्यता॥ १६॥

शुभलक्षणा सीताको सहसा विराधके चंगुलमें फँसी देख श्रीरामचन्द्रजी सूखते हुए मुँहसे लक्ष्मणको सम्बोधित करके बोले—॥ १६॥

पश्य सौम्य नरेन्द्रस्य जनकस्यात्मसम्भवाम्।
मम भार्यां शुभाचारां विराधाङ्के प्रवेशिताम्॥ १७॥

'सौम्य! देखो तो सही, महाराज जनककी पुत्री और मेरी सती-साध्वी पत्नी सीता विराधके अङ्कमें विवशतापूर्वक जा पहुँची है॥ १७॥

अत्यन्तसुखसंवृद्धां राजपुत्रीं यशस्विनीम्।
यदभिप्रेतमस्मासु प्रियं वरवृत्तं च यत्॥ १८॥
कैकेय्यास्तु सुसंवृत्तं क्षिप्रमद्यैव लक्ष्मण।
या न तुष्यति राज्येन पुत्रार्थे दीर्घदर्शिनी॥ १९॥

'अत्यन्त सुखमें पली हुई यशस्विनी राजकुमारी सीताकी वह अवस्था! (हाय! कितने कष्टकी बात है!) लक्ष्मण! वनमें हमारे लिये जिस दुःखकी प्राप्ति कैकेयीको अभीष्ट थी और जो कुछ उसे प्रिय था, जिसके लिये उसने वर माँगे थे, वह सब आज ही शीघ्रतापूर्वक सिद्ध हो गया। तभी तो वह दूरदर्शिनी कैकेयी अपने पुत्रके लिये केवल राज्य लेकर नहीं संतुष्ट हुई थी॥ १८-१९॥

ययाहं सर्वभूतानां प्रियः प्रस्थापितो वनम्।
अद्येदानीं सकामा सा या माता मध्यमा मम॥ २०॥

'जिसने समस्त प्राणियोंके लिये प्रिय होनेपर भी मुझे वनमें भेज दिया, वह मेरी मझली माता कैकेयी आज इस

समय सफलमनोरथ हुई है ॥ २० ॥

परस्पर्शात् तु वैदेह्या न दुःखतरमस्ति मे।
पितुर्विनाशात् सौमित्रे स्वराज्य हरणात् तथा ॥ २१ ॥

'विदेहनन्दिनीका दूसरा कोई स्पर्श कर ले, इससे बढ़कर दुःखकी बात मेरे लिये दूसरी कोई नहीं है। सुमित्रानन्दन! पिताजीकी मृत्यु तथा अपने राज्यके अपहरणसे भी उतना कष्ट मुझे नहीं हुआ था, जितना अब हुआ है' ॥ २१ ॥

इति ब्रुवति काकुत्स्थे बाष्पशोकपरिप्लुतः।
अब्रवील्लक्ष्मणः क्रुद्धो रुद्धो नाग इव श्वसन् ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर शोकके आँसू बहाते हुए लक्ष्मण कुपित हो मन्त्रसे अवरुद्ध हुए सर्पकी भाँति फुफकारते हुए बोले— ॥ २२ ॥

अनाथ इव भूतानां नाथस्त्वं वासवोपमः।
मया प्रेष्येण काकुत्स्थ किमर्थं परितप्यसे ॥ २३ ॥

'ककुत्स्थकुलभूषण! आप इन्द्रके समान समस्त प्राणियोंके स्वामी एवं संरक्षक हैं। मुझ दासके रहते हुए आप किस लिये अनाथकी भाँति संतप्त हो रहे हैं ?' ॥ २३ ॥

शरेण निहतस्याद्य मया क्रुद्धेन रक्षसः।
विराधस्य गतासोर्हि मही पास्यति शोणितम् ॥ २४ ॥

'मैं अभी कुपित होकर अपने बाणसे इस राक्षसका वध करता हूँ। आज यह पृथ्वी मेरे द्वारा मारे गये प्राणशून्य विराधका रक्त पीयेगी ॥ २४ ॥

राज्यकामे मम क्रोधो भरते यो बभूव ह।
तं विराधे विमोक्ष्यामि वज्री वज्रमिवाचले ॥ २५ ॥

'राज्यकी इच्छा रखनेवाले भरतपर मेरा जो क्रोध प्रकट हुआ था, उसे आज मैं विराधपर छोड़ूँगा। जैसे वज्रधारी इन्द्र पर्वतपर अपना वज्र छोड़ते हैं ॥ २५ ॥

मम भुजबलवेगवेगितः
पततुशरोऽस्य महान् महोरसि।
व्यपनयतु तनोश्च जीवितं
पततु ततश्च महीं विघूर्णितः ॥ २६ ॥

'मेरी भुजाओंके बलके वेगसे वेगवान् होकर छूटा हुआ मेरा महान् बाण आज विराधके विशाल वक्षःस्थलपर गिरे। इसके शरीरसे प्राणोंको अलग करे। तत्पश्चात् यह विराध चक्कर खाता हुआ पृथ्वीपर पड़ जाय' ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें दूसरा सर्ग पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयः सर्गः

विराध और श्रीरामकी बातचीत, श्रीराम और लक्ष्मणके द्वारा विराधपर प्रहार तथा विराधका इन दोनों भाइयोंको साथ लेकर दूसरे वनमें जाना

अथोवाच पुनर्वाक्यं विराधः पूरयन् वनम्।
पृच्छतो मम हि ब्रूतं कौ युवां क्व गमिष्यथः ॥ १ ॥

तदनन्तर विराधने उस वनको गुँजाते हुए कहा— 'अरे! मैं पूछता हूँ, मुझे बताओ। तुम दोनों कौन हो और कहाँ जाओगे ?' ॥ १ ॥

तमुवाच ततो रामो राक्षसं ज्वलिताननम्।
पृच्छन्तं सुमहातेजा इक्ष्वाकुकुलमात्मनः ॥ २ ॥
क्षत्रियौ वृत्तसम्पन्नौ विद्धि नौ वनगोचरौ।
त्वां तु वेदितुमिच्छावः कस्त्वं चरसि दण्डकान् ॥ ३ ॥

तब महातेजस्वी श्रीरामने अपना परिचय पूछते हुए प्रज्वलित मुखवाले उस राक्षससे इस प्रकार कहा—'तुझे मालूम होना चाहिये कि महाराज इक्ष्वाकुका कुल ही मेरा कुल है। हम दोनों भाई सदाचारका पालन करनेवाले क्षत्रिय हैं और कारणवश इस समय वनमें निवास करते हैं। अब हम तेरा परिचय जानना चाहते हैं। तू कौन है, जो दण्डकवनमें स्वेच्छासे विचर रहा है ?' ॥ २-३ ॥

तमुवाच विराधस्तु रामं सत्यपराक्रमम्।
हन्त वक्ष्यामि ते राजन् निबोध मम राघव ॥ ४ ॥

यह सुनकर विराधने सत्यपराक्रमी श्रीरामसे कहा— 'रघुवंशी नरेश! मैं प्रसन्नतापूर्वक अपना परिचय देता हूँ। तुम मेरे विषयमें सुनो ॥ ४ ॥

पुत्रः किल जवस्याहं माता मम शतह्रदा।
विराध इति मामाहुः पृथिव्यां सर्वराक्षसाः ॥ ५ ॥

'मैं 'जव' नामक राक्षसका पुत्र हूँ, मेरी माताका नाम 'शतह्रदा' है। भूमण्डलके समस्त राक्षस मुझे विराधके नामसे पुकारते हैं ॥ ५ ॥

तपसा चाभिसम्प्राप्ता ब्रह्मणो हि प्रसादजा।
शस्त्रेणावध्यता लोकेऽच्छेद्याभेद्यत्वमेव च ॥ ६ ॥

'मैंने तपस्याके द्वारा ब्रह्माजीको प्रसन्न करके यह वरदान प्राप्त किया है कि किसी भी शस्त्रसे मेरा वध न हो। मैं संसारमें अच्छेद्य और अभेद्य होकर रहूँ—कोई भी मेरे शरीरको छिन्न-भिन्न नहीं कर सके ॥ ६ ॥

उत्सृज्य प्रमदामेनामनपेक्षौ यथागतम्।
त्वरमाणौ पलायेथां न वां जीवितमाददे ॥ ७ ॥

'अब तुम दोनों इस युवती स्त्रीको यहीं छोड़कर इसे पानेकी इच्छा न रखते हुए जैसे आये हो उसी प्रकार तुरंत

यहाँसे भाग जाओ। मैं तुम दोनोंके प्राण नहीं लूँगा' ॥ ७ ॥

तं रामः प्रत्युवाचेदं कोपसंरक्तलोचनः ।
राक्षसं विकृताकारं विराधं पापचेतसम् ॥ ८ ॥

यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजीकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं। वे पापपूर्ण विचार और विकट आकारवाले उस पापी राक्षस विराधसे इस प्रकार बोले— ॥ ८ ॥

क्षुद्र धिक् त्वां तु हीनार्थं मृत्युमन्वेषसे ध्रुवम् ।
रणे प्राप्स्यसि संतिष्ठ न मे जीवन् विमोक्ष्यसे ॥ ९ ॥

'नीच! तुझे धिक्कार है। तेरा अभिप्राय बड़ा ही खोटा है। निश्चय ही तू अपनी मौत ढूँढ़ रहा है और वह तुझे युद्धमें मिलेगी। ठहर, अब तू मेरे हाथसे जीवित नहीं छूट सकेगा' ॥ ९ ॥

ततः सज्यं धनुः कृत्वा रामः सुनिशिताञ्शरान् ।
सुशीघ्रमभिसंधाय राक्षसं निजघान ह ॥ १० ॥

यह कहकर भगवान् श्रीरामने अपने धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी और तुरंत ही तीखे बाणोंका अनुसंधान करके उस राक्षसको बींधना आरम्भ किया ॥ १० ॥

धनुषा ज्यागुणवता सप्त बाणान् मुमोच ह ।
रुक्मपुङ्खान् महावेगान् सुपर्णानिलतुल्यगान् ॥ ११ ॥

उन्होंने प्रत्यञ्चायुक्त धनुषके द्वारा विराधके ऊपर लगातार सात बाण छोड़े, जो गरुड़ और वायुके समान महान् वेगशाली थे और सोनेके पंखोंसे सुशोभित हो रहे थे ॥ ११ ॥

ते शरीरं विराधस्य भित्त्वा बर्हिणवाससः ।
निपेतुः शोणितादिग्धा धरण्यां पावकोपमाः ॥ १२ ॥

प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी और मोरपंख लगे हुए वे बाण विराधके शरीरको छेदकर रक्तरञ्जित हो पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ १२ ॥

स विद्धो न्यस्य वैदेहीं शूलमुद्यम्य राक्षसः ।
अभ्यद्रवत् सुसंक्रुद्धस्तदा रामं सलक्ष्मणम् ॥ १३ ॥

घायल हो जानेपर उस राक्षसने विदेहकुमारी सीताको अलग रख दिया और स्वयं हाथमें शूल लिये अत्यन्त कुपित होकर श्रीराम तथा लक्ष्मणपर तत्काल टूट पड़ा ॥ १३ ॥

स विनद्य महानादं शूलं शक्रध्वजोपमम् ।
प्रगृह्याशोभत तदा व्यात्तानन इवान्तकः ॥ १४ ॥

वह बड़े जोरसे गर्जना करके इन्द्रध्वजके समान शूल लेकर उस समय मुँह बाये हुए कालके समान शोभा पा रहा था ॥

अथ तौ भ्रातरौ दीप्तं शरवर्षं ववर्षतुः ।
विराधे राक्षसे तस्मिन् कालान्तकयमोपमे ॥ १५ ॥

तब काल, अन्तक और यमराजके समान उस भयंकर राक्षस विराधके ऊपर उन दोनों भाइयोंने प्रज्वलित बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ १५ ॥

स प्रहस्य महारौद्रः स्थित्वाजृम्भत राक्षसः ।
जृम्भमाणस्य ते बाणाः कायान्निष्पेतुराशुगाः ॥ १६ ॥

'यह देख वह महाभयंकर राक्षस अट्टहास करके खड़ा हो गया और जँभाईके साथ अँगड़ाई लेने लगा। उसके वैसा करते ही शीघ्रगामी बाण उसके शरीरसे निकलकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ १६ ॥

स्पर्शात् तु वरदानेन प्राणान् संरोध्य राक्षसः ।
विराधः शूलमुद्यम्य राघवावभ्यधावत ॥ १७ ॥

वरदानके सम्बन्धसे उस राक्षस विराधने प्राणोंको रोक लिया और शूल उठाकर उन दोनों रघुवंशी वीरोंपर आक्रमण किया ॥ १७ ॥

तच्छूलं वज्रसंकाशं गगने ज्वलनोपमम् ।
द्वाभ्यां शराभ्यां चिच्छेद रामः शस्त्रभृतां वरः ॥ १८ ॥

उसका वह शूल आकाशमें वज्र और अग्निके समान प्रज्वलित हो उठा; परंतु शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीने दो बाण मारकर उसे काट डाला ॥ १८ ॥

तद् रामविशिखैश्छिन्नं शूलं तस्यापतद् भुवि ।
पपाताशनिना छिन्नं मेरोरिव शिलातलम् ॥ १९ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके बाणोंसे कटा हुआ विराधका वह शूल वज्रसे छिन्न-भिन्न हुए मेरुके शिलाखण्डकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १९ ॥

तौ खड्गौ क्षिप्रमुद्यम्य कृष्णसर्पाविवोद्यतौ ।
तूर्णमापेततुस्तस्य तदा प्रहरतां बलात् ॥ २० ॥

फिर तो वे दोनों भाई शीघ्र ही काले सर्पोंके समान दो तलवारें लेकर तुरंत उसपर टूट पड़े और तत्काल बलपूर्वक प्रहार करने लगे ॥ २० ॥

स वध्यमानः सुभृशं भुजाभ्यां परिगृह्य तौ ।
अप्रकम्प्यौ नरव्याघ्रौ रौद्रः प्रस्थातुमैच्छत ॥ २१ ॥

उनके आघातसे अत्यन्त घायल हुए उस भयंकर राक्षसने अपनी दोनों भुजाओंसे उन अकम्प्य पुरुषसिंह वीरोंको पकड़कर अन्यत्र जानेकी इच्छा की ॥ २१ ॥

तस्याभिप्रायमाज्ञाय रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
वहत्वयमलं तावत् पथानेन तु राक्षसः ॥ २२ ॥
यथा चेच्छति सौमित्रे तथा वहतु राक्षसः ।
अयमेव हि नः पन्था येन याति निशाचरः ॥ २३ ॥

उसके अभिप्रायको जानकर श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा—'सुमित्रानन्दन! यह राक्षस अपनी इच्छाके अनुसार हम लोगोंको इस मार्गसे ढोकर ले चले। यह जैसा चाहता है, उसी तरह हमारा वाहन बनकर हमें ले चले (इसमें बाधा डालनेकी आवश्यकता नहीं है)। जिस मार्गसे यह निशाचर चल रहा है, वही हमलोगोंके लिये आगे जानेका मार्ग है' ॥ २२-२३ ॥

स तु स्वबलवीर्येण समुत्क्षिप्य निशाचरः ।
बालाविव स्कन्धगतौ चकारातिबलोद्धतः ॥ २४ ॥

अत्यन्त बलसे उद्दण्ड बने हुए निशाचर विराधने अपने बल-पराक्रमसे उन दोनों भाइयोंको बालकोंकी तरह उठाकर

अपने दोनों कंधोंपर बिठा लिया ॥ २४ ॥

तावारोप्य ततः स्कन्धं राघवौ रजनीचरः।
विराधो विनदन् घोरं जगामाभिमुखो वनम् ॥ २५ ॥

उन दोनों रघुवंशी वीरोंको कंधेपर चढ़ा लेनेके बाद राक्षस विराध भयंकर गर्जना करता हुआ वनकी ओर चल दिया ॥

वनं महामेघनिभं प्रविष्टो द्रुमैर्महद्भिर्विविधैरुपेतम्।
नानाविधैः पक्षिकुलैर्विचित्रं शिवायुतं व्यालमृगैर्विकीर्णम् ॥ २६ ॥

तदनन्तर उसने एक ऐसे वनमें प्रवेश किया, जो महान् मेघोंकी घटाके समान घना और नीला था। नाना प्रकारके बड़े-बड़े वृक्ष वहाँ भरे हुए थे। भाँति-भाँतिके पक्षियोंके समुदाय उसे विचित्र शोभासे सम्पन्न बना रहे थे तथा बहुत-से गीदड़ और हिंसक पशु उसमें सब ओर फैले हुए थे ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें तीसरा सर्ग पूरा हुआ ॥ ३ ॥

—★—

चतुर्थः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणके द्वारा विराधका वध

ह्रियमाणौ तु काकुत्स्थौ दृष्ट्वा सीता रघूत्तमौ।
उच्चैः स्वरेण चुक्रोश प्रगृह्य सुमहाभुजौ ॥ १ ॥

रघुकुलके श्रेष्ठ वीर ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम और लक्ष्मणको राक्षस लिये जा रहा है—यह देखकर सीता अपनी दोनों बाँहें ऊपर उठाकर जोर-जोरसे रोने-चिल्लाने लगीं— ॥ १ ॥

एष दाशरथी रामः सत्यवाञ्छीलवाञ्शुचिः।
रक्षसा रौद्ररूपेण ह्रियते सहलक्ष्मणः ॥ २ ॥

'हाय! इन सत्यवादी, शीलवान् और शुद्ध आचार-विचारवाले दशरथनन्दन श्रीराम और लक्ष्मणको यह रौद्ररूपधारी राक्षस लिये जा रहा है ॥ २ ॥

मामृक्षा भक्षयिष्यन्ति शार्दूलद्वीपिनस्तथा।
मां हरोत्सृज काकुत्स्थौ नमस्ते राक्षसोत्तम ॥ ३ ॥

'राक्षसशिरोमणे! तुम्हें नमस्कार है। इस वनमें रीछ, व्याघ्र और चीते मुझे खा जायँगे, इसलिये तुम मुझे ही ले चलो, किंतु इन दोनों ककुत्स्थवंशी वीरोंको छोड़ दो' ॥ ३ ॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा वैदेह्या रामलक्ष्मणौ।
वेगं प्रचक्रतुर्वीरौ वधे तस्य दुरात्मनः ॥ ४ ॥

विदेहनन्दिनी सीताकी यह बात सुनकर वे दोनों वीर श्रीराम और लक्ष्मण उस दुरात्मा राक्षसका वध करनेमें शीघ्रता करने लगे ॥ ४ ॥

तस्य रौद्रस्य सौमित्रिः सव्यं बाहुं बभञ्ज ह।
रामस्तु दक्षिणं बाहुं तरसा तस्य रक्षसः ॥ ५ ॥

सुमित्राकुमार लक्ष्मणने उस राक्षसकी बायीं और श्रीरामने उसकी दाहिनी बाँह बड़े वेगसे तोड़ डाली ॥ ५ ॥

स भग्नबाहुः संविग्नः पपाताशु विमूर्च्छितः।
धरण्यां मेघसंकाशो वज्रभिन्न इवाचलः ॥ ६ ॥

भुजाओंके टूट जानेपर वह मेघके समान काला राक्षस व्याकुल हो गया और शीघ्र ही मूर्च्छित होकर वज्रके द्वारा टूटे हुए पर्वतशिखरकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ६ ॥

मुष्टिभिर्बाहुभिः पद्भिः सूदयन्तौ तु राक्षसम्।
उद्यम्योद्यम्य चाप्येनं स्थण्डिले निष्पिपेषतुः ॥ ७ ॥

तब श्रीराम और लक्ष्मण विराधको भुजाओं, मुक्कों और लातोंसे मारने लगे तथा उसे उठा-उठाकर पटकने और पृथ्वीपर रगड़ने लगे ॥ ७ ॥

स विद्धो बहुभिर्बाणैः खड्गाभ्यां च परिक्षतः।
निष्पिष्टो बहुधा भूमौ न ममार स राक्षसः ॥ ८ ॥

बहुसंख्यक बाणोंसे घायल और तलवारोंसे क्षत-विक्षत होनेपर तथा पृथ्वीपर बार-बार रगड़ा जानेपर भी वह राक्षस मरा नहीं ॥ ८ ॥

तं प्रेक्ष्य रामः सुभृशमवध्यमचलोपमम्।
भयेष्वभयदः श्रीमानिदं वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

अवध्य तथा पर्वतके समान अचल विराधको बारंबार देखकर भयके अवसरोंपर अभय देनेवाले श्रीमान् रामने लक्ष्मणसे यह बात कही— ॥ ९ ॥

तपसा पुरुषव्याघ्र राक्षसोऽयं न शक्यते।
शस्त्रेण युधि निर्जेतुं राक्षसं निखनावहे ॥ १० ॥

'पुरुषसिंह! यह राक्षस तपस्यासे (वर पाकर) अवध्य हो गया है। इसे शस्त्रके द्वारा युद्धमें नहीं जीता जा सकता। इसलिये हमलोग निशाचर विराधको पराजित करनेके लिये अब गड्ढा खोदकर गाड़ दें ॥ १० ॥

कुञ्जरस्येव रौद्रस्य राक्षसस्यास्य लक्ष्मण।
वनेऽस्मिन् सुमहच्छ्वभ्रं खन्यतां रौद्रवर्चसः ॥ ११ ॥

'लक्ष्मण! हाथीके समान भयंकर तथा रौद्र तेजवाले इस राक्षसके लिये इस वनमें बहुत बड़ा गड्ढा खोदो' ॥ ११ ॥

इत्युक्त्वा लक्ष्मणं रामः प्रदरः खन्यतामिति।
तस्थौ विराधमाक्रम्य कण्ठे पादेन वीर्यवान् ॥ १२ ॥

इस प्रकार लक्ष्मणको गड्ढा खोदनेकी आज्ञा देकर पराक्रमी श्रीराम अपने एक पैरसे विराधका गला दबाकर खड़े हो गये ॥ १२ ॥

तच्छ्रुत्वा राघवेणोक्तं राक्षसः प्रश्रितं वचः।
इदं प्रोवाच काकुत्स्थं विराधः पुरुषर्षभम्॥ १३॥

श्रीरामचन्द्रजीकी कही हुई यह बात सुनकर राक्षस विराधने पुरुषप्रवर श्रीरामसे यह विनययुक्त बात कही—॥

हतोऽहं पुरुषव्याघ्र शक्रतुल्यबलेन वै।
मया तु पूर्वं त्वं मोहान्न ज्ञातः पुरुषर्षभ॥ १४॥

'पुरुषसिंह! नरश्रेष्ठ! आपका बल देवराज इन्द्रके समान है। मैं आपके हाथसे मारा गया। मोहवश पहले मैं आपको पहचान न सका॥ १४॥

कौसल्या सुप्रजास्तात रामस्त्वं विदितो मया।
वैदेही च महाभागा लक्ष्मणश्च महायशाः॥ १५॥

'तात! आपके द्वारा माता कौसल्या उत्तम संतानवाली हुई है। मैं यह जान गया कि आप ही श्रीरामचन्द्रजी हैं। यह महाभागा विदेहनन्दिनी सीता हैं और ये आपके छोटे भाई महायशस्वी लक्ष्मण हैं॥ १५॥

अभिशापादहं घोरां प्रविष्टो राक्षसीं तनुम्।
तुम्बुरुर्नाम गन्धर्वः शप्तो वैश्रवणेन हि॥ १६॥

'मुझे शापके कारण इस भयंकर राक्षसशरीरमें आना पड़ा था। मैं तुम्बुरु नामक गन्धर्व हूँ। कुबेरने मुझे राक्षस होनेका शाप दिया था॥ १६॥

प्रसाद्यमानश्च मया सोऽब्रवीन्मां महायशाः।
यदा दाशरथी रामस्त्वां वधिष्यति संयुगे॥ १७॥
तदा प्रकृतिमापन्नो भवान् स्वर्गं गमिष्यति।

'जब मैंने उन्हें प्रसन्न करनेकी चेष्टा की, तब वे महायशस्वी कुबेर मुझसे इस प्रकार बोले—'गन्धर्व! जब दशरथनन्दन श्रीराम युद्धमें तुम्हारा वध करेंगे, तब तुम अपने पहले स्वरूपको प्राप्त होकर स्वर्गलोकको जाओगे॥ १७½॥

अनुपस्थीयमानो मां स क्रुद्धो व्याजहार ह॥ १८॥
इति वैश्रवणो राजा रम्भासक्तमुवाच ह।

'मैं रम्भा नामक अप्सरामें आसक्त था, इसलिये एक दिन ठीक समयसे उनकी सेवामें उपस्थित न हो सका। इसीलिये कुपित हो राजा वैश्रवण (कुबेर) ने मुझे पूर्वोक्त शाप देकर उससे छूटनेकी अवधि बतायी थी॥ १८½॥

तव प्रसादान्मुक्तोऽहमभिशापात् सुदारुणात्॥ १९॥
भुवनं स्वं गमिष्यामि स्वस्ति वोऽस्तु परंतप।

'शत्रुओंको संताप देनेवाले रघुवीर! आज आपकी कृपासे मुझे उस भयंकर शापसे छुटकारा मिल गया। आपका कल्याण हो, अब मैं अपने लोकको जाऊँगा॥

इतो वसति धर्मात्मा शरभङ्गः प्रतापवान्॥ २०॥
अध्यर्धयोजने तात महर्षिः सूर्यसंनिभः।
तं क्षिप्रमभिगच्छ त्वं स ते श्रेयोऽभिधास्यति॥ २१॥

'तात! यहाँसे डेढ़ योजनकी दूरीपर सूर्यके समान तेजस्वी प्रतापी और धर्मात्मा महामुनि शरभङ्ग निवास करते हैं। उनके पास आप शीघ्र चले जाइये, वे आपके कल्याणकी बात बतायेंगे॥ २०-२१॥

अवटे चापि मां राम निक्षिप्य कुशली व्रज।
रक्षसां गतसत्त्वानामेष धर्मः सनातनः॥ २२॥

'श्रीराम! आप मेरे शरीरको गड्ढेमें गाड़कर कुशलपूर्वक चले जाइये। मरे हुए राक्षसोंके शरीरको गड्ढेमें गाड़ना (कब्र खोदकर उसमें दफना देना) यह उनके लिये सनातन (परम्पराप्राप्त) धर्म है॥ २२॥

अवटे ये निधीयन्ते तेषां लोकाः सनातनाः।
एवमुक्त्वा तु काकुत्स्थं विराधः शरपीडितः॥ २३॥
बभूव स्वर्गसम्प्राप्तो न्यस्तदेहो महाबलः।

'जो राक्षस गड्ढेमें गाड़ दिये जाते हैं, उन्हें सनातन लोकोंकी प्राप्ति होती है।' श्रीरामसे ऐसा कहकर बाणोंसे पीड़ित हुआ महाबली विराध (जब उसका शरीर गड्ढेमें डाला गया, तब) उस शरीरको छोड़कर स्वर्गलोकको चला गया॥ २३½॥

तच्छ्रुत्वा राघवो वाक्यं लक्ष्मणं व्यादिदेश ह॥ २४॥
कुञ्जरस्येव रौद्रस्य राक्षसस्यास्य लक्ष्मण।
वनेऽस्मिन्सुमहाञ्छ्वभ्रः खन्यतां रौद्रकर्मणः॥ २५॥

(वह किस तरह गड्ढेमें डाला गया?—यह बात अब बतायी जाती है—) उसकी बात सुनकर श्रीरघुनाथजीने लक्ष्मणको आज्ञा दी—'लक्ष्मण! भयंकर कर्म करनेवाले तथा हाथीके समान भयानक इस राक्षसके लिये इस वनमें बहुत बड़ा गड्ढा खोदो'॥ २४-२५॥

इत्युक्त्वा लक्ष्मणं रामः प्रदरः खन्यतामिति।
तस्थौ विराधमाक्रम्य कण्ठे पादेन वीर्यवान्॥ २६॥

इस प्रकार लक्ष्मणको गड्ढा खोदनेका आदेश दे पराक्रमी श्रीराम एक पैरसे विराधका गला दबाकर खड़े हो गये॥

ततः खनित्रमादाय लक्ष्मणः श्वभ्रमुत्तमम्।
अखनत् पार्श्वतस्तस्य विराधस्य महात्मनः॥ २७॥

तब लक्ष्मणने फावड़ा लेकर उस विशालकाय विराधके पास ही एक बहुत बड़ा गड्ढा खोदकर तैयार किया॥ २७॥

तं मुक्तकण्ठमुत्क्षिप्य शङ्कुकर्णं महास्वनम्।
विराधं प्राक्षिपच्छ्वभ्रे नदन्तं भैरवस्वनम्॥ २८॥

तब श्रीरामने उसके गलेको छोड़ दिया और लक्ष्मणने खूँटे-जैसे कानवाले उस विराधको उठाकर उस गड्ढेमें डाल दिया, उस समय वह बड़ी भयानक आवाजमें जोर-जोरसे गर्जना कर रहा था॥ २८॥

तमाहवे दारुणमाशुविक्रमौ
स्थिरावुभौ संयति रामलक्ष्मणौ।
मुदान्वितौ चिक्षिपतुर्भयावहं
नदन्तमुत्क्षिप्य बलेन राक्षसम्॥ २९॥

युद्धमें स्थिर रहकर शीघ्रतापूर्वक पराक्रम प्रकट करनेवाले उन दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणने रणभूमिमें

क्रूरतापूर्ण कर्म करनेवाले उस भयंकर राक्षस विराधको बलपूर्वक उठाकर गड्ढेमें फेंक दिया। उस समय वह जोर-जोरसे चिल्ला रहा था। उसे गड्ढेमें डालकर वे दोनों बन्धु बड़े प्रसन्न हुए॥ २९॥

अवध्यतां प्रेक्ष्य महासुरस्य तौ
शितेन शस्त्रेण तदा नरर्षभौ।
समर्थ्य चात्यर्थविशारदावुभौ
बिले विराधस्य वधं प्रचक्रतुः॥ ३०॥

महान् असुर विराधका तीखे शस्त्रसे वध होनेवाला नहीं है, यह देखकर अत्यन्त कुशल दोनों भाई नरश्रेष्ठ श्रीराम और लक्ष्मणने उस समय गड्ढा खोदकर उस गड्ढेमें उसे डाल दिया और उसे मिट्टीसे पाटकर उस राक्षसका वध कर डाला॥

स्वयं विराधेन हि मृत्युमात्मनः
प्रसह्य रामेण यथार्थमीप्सितः।
निवेदितः काननचारिणा स्वयं
न मे वधः शस्त्रकृतो भवेदिति॥ ३१॥

वास्तवमें श्रीरामके हाथसे ही हठपूर्वक मरना उसे अभीष्ट था। उस अपनी मनोवाञ्छित मृत्युकी प्राप्तिके उद्देश्यसे स्वयं वनचारी विराधने ही श्रीरामको यह बता दिया था कि शस्त्रद्वारा मेरा वध नहीं हो सकता॥ ३१॥

तदेव रामेण निशम्य भाषितं
कृता मतिस्तस्य बिलप्रवेशने।
बिलं च तेनातिबलेन रक्षसा
प्रवेश्यमानेन वनं विनादितम्॥ ३२॥

उसकी कही हुई उसी बातको सुनकर श्रीरामने उसे गड्ढेमें गाड़ देनेका विचार किया था। जब वह गड्ढेमें डाला जाने लगा, उस समय उस अत्यन्त बलवान् राक्षसने अपनी चिल्लाहटसे सारे वनप्रान्तको गुँजा दिया॥ ३२॥

प्रहृष्टरूपाविव रामलक्ष्मणौ
विराधमुर्व्यां प्रदरे निपात्य तम्।
ननन्दतुर्वीतभयौ महावने
शिलाभिरन्तर्दधतुश्च राक्षसम्॥ ३३॥

राक्षस विराधको पृथ्वीके अंदर गड्ढेमें गिराकर श्रीराम और लक्ष्मणने बड़ी प्रसन्नताके साथ उसे ऊपरसे बहुतेरे पत्थर डालकर पाट दिया। फिर वे निर्भय हो उस महान् वनमें सानन्द विचरने लगे॥ ३३॥

ततस्तु तौ काञ्चनचित्रकार्मुकौ
निहत्य रक्षः परिगृह्य मैथिलीम्।
विजह्रतुस्तौ मुदितौ महावने
दिवि स्थितौ चन्द्रदिवाकराविव॥ ३४॥

इस प्रकार उस राक्षसका वध करके मिथिलेशकुमारी सीताको साथ ले सोनेके विचित्र धनुषोंसे सुशोभित हो वे दोनों भाई आकाशमें स्थित हुए चन्द्रमा और सूर्यकी भाँति उस महान् वनमें आनन्दमग्न हो विचरण करने लगे॥ ३४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे चतुर्थः सर्गः॥ ४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें चौथा सर्ग पूरा हुआ॥ ४॥

पञ्चमः सर्गः

श्रीराम, लक्ष्मण और सीताका शरभङ्ग मुनिके आश्रमपर जाना, देवताओंका दर्शन करना और मुनिसे सम्मानित होना तथा शरभङ्ग मुनिका ब्रह्मलोक-गमन

हत्वा तु तं भीमबलं विराधं राक्षसं वने।
ततः सीतां परिष्वज्य समाश्वास्य च वीर्यवान्॥ १॥
अब्रवीद् भ्रातरं रामो लक्ष्मणं दीप्ततेजसम्।
कष्टं वनमिदं दुर्गं न च स्मो वनगोचराः॥ २॥
अभिगच्छामहे शीघ्रं शरभङ्गं तपोधनम्।
आश्रमं शरभङ्गस्य राघवोऽभिजगाम ह॥ ३॥

वनमें उस भयंकर बलशाली राक्षस विराधका वध करके पराक्रमी श्रीरामने सीताको हृदयसे लगाकर सान्त्वना दी और उद्दीप्त तेजवाले भाई लक्ष्मणसे इस प्रकार कहा—'सुमित्रा-नन्दन! यह दुर्गम वन बड़ा कष्टप्रद है। हमलोग इसके पहले कभी ऐसे वनोंमें नहीं रहे हैं (अतः यहाँके कष्टोंका न तो अनुभव है और न अभ्यास ही है)। अच्छा! हमलोग अब शीघ्र ही तपोधन शरभङ्गजीके पास चलें'—ऐसा कहकर श्रीरामचन्द्रजी शरभङ्ग मुनिके आश्रमपर गये॥ १—३॥

तस्य देवप्रभावस्य तपसा भावितात्मनः।
समीपे शरभङ्गस्य ददर्श महदद्भुतम्॥ ४॥

देवताओंके तुल्य प्रभावशाली तथा तपस्यासे शुद्ध अन्तःकरणवाले (अथवा तपके द्वारा परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार करनेवाले) शरभङ्ग मुनिके समीप जानेपर श्रीरामने एक बड़ा अद्भुत दृश्य देखा॥ ४॥

विभ्राजमानं वपुषा सूर्यवैश्वानरप्रभम्।
रथप्रवरमारूढमाकाशे विबुधानुगम्॥ ५॥
असंस्पृशन्तं वसुधां ददर्श विबुधेश्वरम्।
सम्प्रभाभरणं देवं विरजोऽम्बरधारिणम्॥ ६॥

वहाँ उन्होंने आकाशमें एक श्रेष्ठ रथपर बैठे हुए देवताओंके स्वामी इन्द्रदेवका दर्शन किया, जो पृथ्वीका स्पर्श नहीं कर रहे थे। उनकी अङ्गकान्ति सूर्य और अग्निके समान प्रकाशित होती थी। वे अपने तेजस्वी शरीरसे देदीप्यमान हो

रहे थे। उनके पीछे और भी बहुत-से देवता थे। उनके दीप्तिमान् आभूषण चमक रहे थे तथा उन्होंने निर्मल वस्त्र धारण कर रखा था ॥ ५-६ ॥

तद्विधैरेव बहुभिः पूज्यमानं महात्मभिः ।
हरितैर्वाजिभिर्युक्तमन्तरिक्षगतं रथम् ॥ ७ ॥
ददर्शादूरतस्तस्य तरुणादित्यसंनिभम् ।

उन्हींके समान वेशभूषावाले दूसरे बहुत-से महात्मा इन्द्रदेवकी पूजा (स्तुति-प्रशंसा) कर रहे थे। उनका रथ आकाशमें खड़ा था और उसमें हरे रंगके घोड़े जुते हुए थे। श्रीरामने निकटसे उस रथको देखा। वह नवोदित सूर्यके समान प्रकाशित होता था ॥ ७½ ॥

पाण्डुराभ्रघनप्रख्यं चन्द्रमण्डलसंनिभम् ॥ ८ ॥
अपश्यद् विमलं छत्रं चित्रमाल्योपशोभितम् ।

उन्होंने यह भी देखा कि इन्द्रके मस्तकके ऊपर श्वेत बादलोंके समान उज्ज्वल तथा चन्द्रमण्डलके समान कान्तिमान् निर्मल छत्र तना हुआ है, जो विचित्र फूलोंकी मालाओंसे सुशोभित है ॥ ८½ ॥

चामरव्यजने चाग्र्ये रुक्मदण्डे महाधने ॥ ९ ॥
गृहीते वरनारीभ्यां धूयमाने च मूर्धनि ।

श्रीरामने सुवर्णमय डंडेवाले दो श्रेष्ठ एवं बहुमूल्य चँवर और व्यजन भी देखे, जिन्हें दो सुन्दरियाँ लेकर देवराजके मस्तकपर हवा कर रही थीं ॥ ९½ ॥

गन्धर्वामरसिद्धाश्च बहवः परमर्षयः ॥ १० ॥
अन्तरिक्षगतं देवं गीर्भिरग्र्याभिरैडयन् ।
सह सम्भाषमाणे तु शरभङ्गेन वासवे ॥ ११ ॥
दृष्ट्वा शतक्रतुं तत्र रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
रामोऽथ रथमुद्दिश्य भ्रातुर्दर्शयताद्भुतम् ॥ १२ ॥

उस समय बहुत-से गन्धर्व, देवता, सिद्ध और महर्षिगण उत्तम वचनोंद्वारा अन्तरिक्षमें विराजमान देवेन्द्रकी स्तुति करते थे और देवराज इन्द्र शरभङ्ग मुनिके साथ वार्तालाप कर रहे थे। वहाँ इस प्रकार शतक्रतु इन्द्रका दर्शन करके श्रीरामने उनके अद्भुत रथको ओर अँगुलीसे संकेत करते हुए उसे भाईको दिखाया और लक्ष्मणसे इस प्रकार कहा— ॥ १०—१२ ॥

अर्चिष्मन्तं श्रिया जुष्टमद्भुतं पश्य लक्ष्मण ।
प्रतपन्तमिवादित्यमन्तरिक्षगतं रथम् ॥ १३ ॥

'लक्ष्मण! आकाशमें वह अद्भुत रथ तो देखो, उससे तेजकी लपटें निकल रही हैं। वह सूर्यके समान तप रहा है। शोभा मानो मूर्तिमती होकर उसकी सेवा करती है ॥ १३ ॥

ये हयाः पुरुहूतस्य पुरा शक्रस्य नः श्रुताः ।
अन्तरिक्षगता दिव्यास्त इमे हरयो ध्रुवम् ॥ १४ ॥

'हमलोगोंने पहले देवराज इन्द्रके जिन दिव्य घोड़ोंके विषयमें जैसा सुन रखा है, निश्चय ही आकाशमें ये वैसे ही दिव्य अश्व विराजमान हैं ॥ १४ ॥

इमे च पुरुषव्याघ्र ये तिष्ठन्त्यभितो दिशम् ।
शतं शतं कुण्डलिनो युवानः खड्गपाणयः ॥ १५ ॥
विस्तीर्णविपुलोरस्काः परिघायतबाहवः ।
शोणांशुवसनाः सर्वे व्याघ्रा इव दुरासदाः ॥ १६ ॥

'पुरुषसिंह! इस रथके दोनों ओर जो ये हाथोंमें खड्ग लिये कुण्डलधारी सौ-सौ युवक खड़े हैं, इनके वक्षःस्थल विशाल एवं विस्तृत हैं, भुजाएँ परिघोंके समान सुदृढ़ एवं बड़ी-बड़ी हैं। ये सब-के-सब लाल वस्त्र धारण किये हुए हैं और व्याघ्रोंके समान दुर्जय प्रतीत होते हैं ॥ १५-१६ ॥

उरोदेशेषु सर्वेषां हारा ज्वलनसंनिभाः ।
रूपं बिभ्रति सौमित्रे पञ्चविंशतिवार्षिकम् ॥ १७ ॥

'सुमित्रानन्दन! इन सबके हृदयदेशोंमें अग्निके समान तेजसे जगमगाते हुए हार शोभा पाते हैं। ये नवयुवक पचीस वर्षोंकी अवस्थाका रूप धारण करते हैं ॥ १७ ॥

एतद्धि किल देवानां वयो भवति नित्यदा ।
यथेमे पुरुषव्याघ्रा दृश्यन्ते प्रियदर्शनाः ॥ १८ ॥

'कहते हैं, देवताओंकी सदा ऐसी ही अवस्था रहती है, जैसे ये पुरुषप्रवर दिखायी देते हैं। इनका दर्शन कितना प्यारा लगता है ॥ १८ ॥

इहैव सह वैदेह्या मुहूर्तं तिष्ठ लक्ष्मण ।
यावज्जानाम्यहं व्यक्तं क एष द्युतिमान् रथे ॥ १९ ॥

'लक्ष्मण! जबतक कि मैं स्पष्ट रूपसे यह पता न लगा लूँ कि रथपर बैठे हुए ये तेजस्वी पुरुष कौन हैं? तबतक तुम विदेहनन्दिनी सीताके साथ एक मुहूर्ततक यहीं ठहरो' ॥

तमेवमुक्त्वा सौमित्रिमिहैव स्थीयतामिति ।
अभिचक्राम काकुत्स्थः शरभङ्गाश्रमं प्रति ॥ २० ॥

इस प्रकार सुमित्राकुमारको वहीं ठहरनेका आदेश देकर श्रीरामचन्द्रजी टहलते हुए शरभङ्ग मुनिके आश्रमपर गये ॥

ततः समभिगच्छन्तं प्रेक्ष्य रामं शचीपतिः ।
शरभङ्गमनुज्ञाप्य विबुधानिदमब्रवीत् ॥ २१ ॥

श्रीरामको आते देख शचीपति इन्द्रने शरभङ्ग मुनिसे विदा ले देवताओंसे इस प्रकार कहा— ॥ २१ ॥

इहोपयात्यसौ रामो यावन्मां नाभिभाषते ।
निष्ठां नयत तावत् तु ततो माद्रष्टुमर्हति ॥ २२ ॥

'श्रीरामचन्द्रजी यहाँ आ रहे हैं। वे जबतक मुझसे कोई बात न करें, उसके पहले ही तुमलोग मुझे यहाँसे दूसरे स्थानमें ले चलो। इस समय श्रीरामसे मेरी मुलाकात नहीं होनी चाहिये ॥ २२ ॥

जितवन्तं कृतार्थं हि तदाहमचिरादिमम् ।
कर्म ह्यनेन कर्तव्यं महदन्यैः सुदुष्करम् ॥ २३ ॥

'इन्हें वह महान् कर्म करना है, जिसका सम्पादन करना दूसरोंके लिये बहुत कठिन है। जब ये रावणपर विजय पाकर अपना कर्तव्य पूर्ण करके कृतार्थ हो जायँगे, तब मैं शीघ्र ही

आकर इनका दर्शन करूँगा' ॥ २३ ॥

अथ वज्री तमामन्त्र्य मानयित्वा च तापसम्।
रथेन हययुक्तेन ययौ दिवमरिंदमः ॥ २४ ॥

यह कहकर वज्रधारी शत्रुदमन इन्द्रने तपस्वी शरभङ्गका सत्कार किया और उनसे पूछकर अनुमति ले वे घोड़े जुते हुए रथके द्वारा स्वर्गलोकको चल दिये ॥ २४ ॥

प्रयाते तु सहस्राक्षे राघवः सपरिच्छदः।
अग्निहोत्रमुपासीनं शरभङ्गमुपागमत् ॥ २५ ॥

सहस्र नेत्रधारी इन्द्रके चले जानेपर श्रीरामचन्द्रजी अपनी पत्नी और भाईके साथ शरभङ्ग मुनिके पास गये। उस समय वे अग्निके समीप बैठकर अग्निहोत्र कर रहे थे ॥ २५ ॥

तस्य पादौ च संगृह्य रामः सीता च लक्ष्मणः।
निषेदुस्तदनुज्ञाता लब्धवासा निमन्त्रिताः ॥ २६ ॥

श्रीराम, सीता और लक्ष्मणने मुनिके चरणोंमें प्रणाम किया और उनकी आज्ञासे वहाँ बैठ गये। शरभङ्गजीने उन्हें आतिथ्यके लिये निमन्त्रण दे ठहरनेके लिये स्थान दिया ॥ २६ ॥

ततः शक्रोपयानं तु पर्यपृच्छत राघवः।
शरभङ्गश्च तत् सर्वं राघवाय न्यवेदयत् ॥ २७ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजीने उनसे इन्द्रके आनेका कारण पूछा। तब शरभङ्ग मुनिने श्रीरघुनाथजीसे सब बातें निवेदन करते हुए कहा— ॥ २७ ॥

मामेष वरदो राम ब्रह्मलोकं निनीषति।
जितमुग्रेण तपसा दुष्प्रापमकृतात्मभिः ॥ २८ ॥

'श्रीराम! ये वर देनेवाले इन्द्र मुझे ब्रह्मलोकमें ले जाना चाहते हैं। मैंने अपनी उग्र तपस्यासे उस लोकपर विजय पायी है। जिनकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, उन पुरुषोंके लिये वह अत्यन्त दुर्लभ है ॥ २८ ॥

अहं ज्ञात्वा नरव्याघ्र वर्तमानमदूरतः।
ब्रह्मलोकं न गच्छामि त्वामदृष्ट्वा प्रियातिथिम् ॥ २९ ॥

'पुरुषसिंह! परंतु जब मुझे मालूम हो गया कि आप इस आश्रमके निकट आ गये हैं, तब मैंने निश्चय किया कि आप-जैसे प्रिय अतिथिका दर्शन किये बिना मैं ब्रह्मलोकको नहीं जाऊँगा ॥ २९ ॥

त्वयाहं पुरुषव्याघ्र धार्मिकेण महात्मना।
समागम्य गमिष्यामि त्रिदिवं चावरं परम् ॥ ३० ॥

'नरश्रेष्ठ! आप धर्मपरायण महात्मा पुरुषसे मिलकर ही मैं स्वर्गलोक तथा उससे ऊपरके ब्रह्मलोकको जाऊँगा ॥

अक्षया नरशार्दूल जिता लोका मया शुभाः।
ब्राह्म्याश्च नाकपृष्ठ्याश्च प्रतिगृह्णीष्व मामकान् ॥ ३१ ॥

'पुरुषशिरोमणे! मैंने ब्रह्मलोक और स्वर्गलोक आदि जिन अक्षय शुभ लोकोंपर विजय पायी है, मेरे उन सभी लोकोंको आप ग्रहण करें' ॥ ३१ ॥

एवमुक्तो नरव्याघ्रः सर्वशास्त्रविशारदः।
ऋषिणा शरभङ्गेन राघवो वाक्यमब्रवीत् ॥ ३२ ॥

शरभङ्ग मुनिके ऐसा कहनेपर सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञाता नरश्रेष्ठ श्रीरघुनाथजीने यह बात कही— ॥ ३२ ॥

अहमेवाहरिष्यामि सर्वाँल्लोकान् महामुने।
आवासं त्वहमिच्छामि प्रदिष्टमिह कानने ॥ ३३ ॥

'महामुने! मैं ही आपको उन सब लोकोंकी प्राप्ति कराऊँगा। इस समय तो मैं इस वनमें आपके बताये हुए स्थानपर निवासमात्र करना चाहता हूँ' ॥ ३३ ॥

राघवेणैवमुक्तस्तु शक्रतुल्यबलेन वै।
शरभङ्गो महाप्राज्ञः पुनरेवाब्रवीद् वचः ॥ ३४ ॥

इन्द्रके समान बलशाली श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर महाज्ञानी शरभङ्ग मुनि फिर बोले— ॥ ३४ ॥

इह राम महातेजाः सुतीक्ष्णो नाम धार्मिकः।
वसत्यरण्ये नियतः स ते श्रेयो विधास्यति ॥ ३५ ॥

'श्रीराम! इस वनमें थोड़ी ही दूरपर महातेजस्वी धर्मात्मा सुतीक्ष्ण मुनि नियमपूर्वक निवास करते हैं। वे ही आपका कल्याण (आपके लिये स्थान आदिका प्रबन्ध) करेंगे ॥

सुतीक्ष्णमभिगच्छ त्वं शुचौ देशे तपस्विनम्।
रमणीये वनोद्देशे स ते वासं विधास्यति ॥ ३६ ॥

'आप इस रमणीय वनप्रान्तके उस पवित्र स्थानमें तपस्वी सुतीक्ष्ण मुनिके पास चले जाइये। वे आपके निवासस्थानकी व्यवस्था करेंगे ॥ ३६ ॥

इमां मन्दाकिनीं राम प्रतिस्रोतामनुव्रज।
नदीं पुष्पोडुपवहां ततस्तत्र गमिष्यसि ॥ ३७ ॥

'श्रीराम! आप फूलके समान छोटी-छोटी डोंगियोंसे पार होने योग्य अथवा पुष्पमयी नौकाको बहानेवाली इस मन्दाकिनी नदीके स्रोतके विपरीत दिशामें इसीके किनारे-किनारे चले जाइये। इससे वहाँ पहुँच जाइयेगा ॥ ३७ ॥

एष पन्था नरव्याघ्र मुहूर्तं पश्य तात माम्।
यावज्जहामि गात्राणि जीर्णां त्वचमिवोरगः ॥ ३८ ॥

'नरश्रेष्ठ! यही वह मार्ग है, परंतु तात! दो घड़ी यहीं ठहरिये और जबतक पुरानी केंचुलका त्याग करनेवाले सर्पकी भाँति मैं अपने इन जराजीर्ण अङ्गोंका त्याग न कर दूँ, तबतक मेरी ही ओर देखिये' ॥ ३८ ॥

ततोऽग्निं स समाधाय हुत्वा चाज्येन मन्त्रवत्।
शरभङ्गो महातेजाः प्रविवेश हुताशनम् ॥ ३९ ॥

यों कहकर महातेजस्वी शरभङ्ग मुनिने विधिवत् अग्निकी स्थापना करके उसे प्रज्वलित किया और मन्त्रोच्चारण-पूर्वक घीकी आहुति देकर वे स्वयं भी उस अग्निमें प्रविष्ट हो गये ॥ ३९ ॥

तस्य रोमाणि केशांश्च तदा वह्निर्महात्मनः।
जीर्णां त्वचं तदस्थीनि यच्च मांसं च शोणितम् ॥ ४० ॥

उस समय अग्निने उन महात्माके रोम, केश, जीर्ण त्वचा, हड्डी, मांस और रक्त सबको जलाकर भस्म कर दिया॥

स च पावकसंकाशः कुमारः समपद्यत।
उत्थायाग्निचयात् तस्माच्छरभङ्गो व्यरोचत॥ ४१॥

वे शरभङ्ग मुनि अग्नितुल्य तेजस्वी कुमारके रूपमें प्रकट हो गये और उस अग्निराशिसे ऊपर उठकर बड़ी शोभा पाने लगे॥

स लोकानाहिताग्नीनामृषीणां च महात्मनाम्।
देवानां च व्यतिक्रम्य ब्रह्मलोकं व्यरोहत॥ ४२॥

वे अग्निहोत्री पुरुषों, महात्मा मुनियों और देवताओंके भी लोकोंको लाँघकर ब्रह्मलोकमें जा पहुँचे॥ ४२॥

स पुण्यकर्मा भुवने द्विजर्षभः
पितामहं सानुचरं ददर्श ह।
पितामहश्चापि समीक्ष्य तं द्विजं
ननन्द सुस्वागतमित्युवाच ह॥ ४३॥

पुण्यकर्म करनेवाले द्विजश्रेष्ठ शरभङ्गने ब्रह्मलोकमें पार्षदोंसहित पितामह ब्रह्माजीका दर्शन किया। ब्रह्माजी भी उन ब्रह्मर्षिको देखकर बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'महामुने! तुम्हारा शुभ स्वागत है'॥ ४३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे पञ्चमः सर्गः॥ ५॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पाँचवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ५॥

—★—

षष्ठः सर्गः

वानप्रस्थ मुनियोंका राक्षसोंके अत्याचारसे अपनी रक्षाके लिये श्रीरामचन्द्रजीसे प्रार्थना करना और श्रीरामका उन्हें आश्वासन देना

शरभङ्गे दिवं प्राप्ते मुनिसङ्घाः समागताः।
अभ्यगच्छन्त काकुत्स्थं रामं ज्वलिततेजसम्॥ १॥

शरभङ्ग मुनिके ब्रह्मलोक चले जानेपर प्रज्वलित तेजवाले ककुत्स्थवंशी श्रीरामचन्द्रजीके पास बहुत-से मुनियोंके समुदाय पधारे॥ १॥

वैखानसा वालखिल्याः सम्प्रक्षाला मरीचिपाः।
अश्मकुट्टाश्च बहवः पत्राहाराश्च तापसाः॥ २॥
दन्तोलूखलिनश्चैव तथैवोन्मज्जकाः परे।
गात्रशय्या अशय्याश्च तथैवानवकाशिकाः॥ ३॥
मुनयः सलिलहारा वायुभक्षास्तथापरे।
आकाशनिलयाश्चैव तथा स्थण्डिलशायिनः॥ ४॥
तथोर्ध्ववासिनो दान्तास्तथाऽऽर्द्रपटवाससः।
सजपाश्च तपोनिष्ठास्तथा पञ्चतपोऽन्विताः॥ ५॥

उनमें वैखानस[1], वालखिल्य[2], सम्प्रक्षाल[3], मरीचिप[4], अश्मकुट्ट[5], पत्राहार[6], दन्तोलूखली[7], उन्मज्जक[8], गात्रशय्य[9], अशय्य[10], अनवकाशिक[11], सलिलाहार[12], वायुभक्ष[13], आकाशनिलय[14], स्थण्डिलशायी[15], ऊर्ध्ववासी[16], दान्त[17], आर्द्रपटवासा[18], सजप[19], तपोनिष्ठ[20] और पञ्चाग्निसेवी[21]—इन सभी श्रेणियोंके तपस्वी मुनि थे॥ २—५॥

सर्वे ब्राह्म्या श्रिया युक्ता दृढयोगसमाहिताः।
शरभङ्गाश्रमे राममभिजग्मुश्च तापसाः॥ ६॥

वे सभी तपस्वी ब्रह्मतेजसे सम्पन्न थे और सुदृढ़ योगके अभ्याससे उन सबका चित्त एकाग्र हो गया था। वे सब-के-सब शरभङ्ग मुनिके आश्रमपर श्रीरामचन्द्रजीके समीप आये॥ ६॥

अभिगम्य च धर्मज्ञा रामं धर्मभृतां वरम्।
ऊचुः परमधर्मज्ञमृषिसङ्घाः समागताः॥ ७॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ परम धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्रजीके पास आकर वे धर्मके ज्ञाता समागत ऋषिसमुदाय उनसे बोले—॥ ७॥

त्वमिक्ष्वाकुकुलस्यास्य पृथिव्याश्च महारथः।
प्रधानश्चापि नाथश्च देवानां मघवानिव॥ ८॥

'रघुनन्दन! आप इस इक्ष्वाकुवंशके साथ ही समस्त भूमण्डलके भी स्वामी, संरक्षक एवं प्रधान महारथी वीर हैं। जैसे इन्द्र देवताओंके रक्षक हैं, उसी प्रकार आप

---

१. ऋषियोंका एक समुदाय जो ब्रह्माजीके नखसे उत्पन्न हुआ है। २. ब्रह्माजीके बाल (रोम) से प्रकट हुए महर्षियोंका समूह। ३. जो भोजनके बाद अपने बर्तन धो-पोंछकर रख देते हैं, दूसरे समयके लिये कुछ नहीं बचाते। ४. सूर्य अथवा चन्द्रमाकी किरणोंका पान करके रहनेवाले। ५. कच्चे अन्नको पत्थरसे कूटकर खानेवाले। ६. पत्तोंका आहार करनेवाले। ७. दाँतोंसे ही ऊखलका काम लेनेवाले। ८. कण्ठतक पानीमें डूबकर तपस्या करनेवाले। ९. शरीरसे ही शय्याका काम लेनेवाले अर्थात् बिना बिछौनेके ही भुजापर सिर रखकर सोनेवाले। १०. शय्याके साधनोंसे रहित। ११. निरन्तर सत्कर्ममें लगे रहनेके कारण कभी अवकाश न पानेवाले। १२. जल पीकर रहनेवाले। १३. हवा पीकर जीवननिर्वाह करनेवाले। १४. खुले मैदानमें रहनेवाले। १५. वेदीपर सोनेवाले। १६. पर्वतशिखर आदि ऊँचे स्थानोंमें निवास करनेवाले। १७. मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले। १८. सदा भीगे कपड़े पहननेवाले। १९. निरन्तर जप करनेवाले। २०. तपस्या अथवा परमात्मतत्त्वके विचारमें स्थित रहनेवाले। २१. गर्मीकी मौसममें ऊपरसे सूर्यका और चारों ओरसे अग्निका ताप सहन करनेवाले।

मनुष्यलोककी रक्षा करनेवाले हैं॥ ८॥

विश्रुतस्त्रिषु लोकेषु यशसा विक्रमेण च।
पितृव्रतत्वं सत्यं च त्वयि धर्मश्च पुष्कलः॥ ९॥

'आप अपने यश और पराक्रमसे तीनों लोकोंमें विख्यात हैं। आपमें पिताकी आज्ञाके पालनका व्रत, सत्य भाषण तथा सम्पूर्ण धर्म विद्यमान है॥ ९॥

त्वामासाद्य महात्मानं धर्मज्ञं धर्मवत्सलम्।
अर्थित्वान्नाथ वक्ष्यामस्तच्च नः क्षन्तुमर्हसि॥ १०॥

'नाथ! आप महात्मा, धर्मज्ञ और धर्मवत्सल हैं। हम आपके पास प्रार्थी होकर आये हैं; इसीलिये ये स्वार्थकी बात निवेदन करना चाहते हैं। आपको इसके लिये हमें क्षमा करना चाहिये॥ १०॥

अधर्मः सुमहान् नाथ भवेत् तस्य तु भूपतेः।
यो हरेद् बलिषड्भागं न च रक्षति पुत्रवत्॥ ११॥

'स्वामिन्! जो राजा प्रजासे उसकी आयका छठा भाग करके रूपमें ले ले और पुत्रकी भाँति प्रजाकी रक्षा न करे, उसे महान् अधर्मका भागी होना पड़ता है॥ ११॥

युञ्जानः स्वानिव प्राणान् प्राणैरिष्टान् सुतानिव।
नित्ययुक्तः सदा रक्षन् सर्वान् विषयवासिनः॥ १२॥
प्राप्नोति शाश्वतीं राम कीर्तिं स बहुवार्षिकीम्।
ब्रह्मणः स्थानमासाद्य तत्र चापि महीयते॥ १३॥

'श्रीराम! जो भूपाल प्रजाकी रक्षाके कार्यमें संलग्न हो अपने राज्यमें निवास करनेवाले सब लोगोंको प्राणोंके समान अथवा प्राणोंसे भी अधिक प्रिय पुत्रोंके समान समझकर सदा सावधानीके साथ उनकी रक्षा करता है, वह बहुत वर्षोंतक स्थिर रहनेवाली अक्षय कीर्ति पाता है और अन्तमें ब्रह्मलोकमें जाकर वहाँ भी विशेष सम्मानका भागी होता है॥ १२-१३॥

यत् करोति परं धर्मं मुनिर्मूलफलाशनः।
तत्र राज्ञश्चतुर्भागः प्रजा धर्मेण रक्षतः॥ १४॥

'राजाके राज्यमें मुनि फल-मूलका आहार करके जिस उत्तम धर्मका अनुष्ठान करता है, उसका चौथा भाग धर्मके अनुसार प्रजाकी रक्षा करनेवाले उस राजाको प्राप्त हो जाता है॥ १४॥

सोऽयं ब्राह्मणभूयिष्ठो वानप्रस्थगणो महान्।
त्वन्नाथोऽनाथवद् राम राक्षसैर्हन्यते भृशम्॥ १५॥

'श्रीराम! इस वनमें रहनेवाला वानप्रस्थ महात्माओंका यह महान् समुदाय, जिसमें ब्राह्मणोंकी ही संख्या अधिक है तथा जिसके रक्षक आप ही हैं, राक्षसोंके द्वारा अनाथकी तरह मारा जा रहा है—इस मुनि-समुदायका बहुत अधिक मात्रामें संहार हो रहा है॥ १५॥

एहि पश्य शरीराणि मुनीनां भावितात्मनाम्।
हतानां राक्षसैर्घोरैर्बहूनां बहुधा वने॥ १६॥

'आइये, देखिये, ये भयंकर राक्षसोंद्वारा बारम्बार अनेक प्रकारसे मारे गये बहुसंख्यक पवित्रात्मा मुनियोंके शरीर (शव या कंकाल) दिखायी देते हैं॥ १६॥

पम्पानदीनिवासानामनुमन्दाकिनीमपि।
चित्रकूटालयानां च क्रियते कदनं महत्॥ १७॥

'पम्पा सरोवर और उसके निकट बहनेवाली तुङ्गभद्रा नदीके तटपर जिनका निवास है, जो मन्दाकिनीके किनारे रहते हैं तथा जिन्होंने चित्रकूटपर्वतके किनारे अपना निवासस्थान बना लिया है, उन सभी ऋषि-महर्षियोंका राक्षसोंद्वारा महान् संहार किया जा रहा है।॥ १७॥

एवं वयं न मृष्यामो विप्रकारं तपस्विनाम्।
क्रियमाणं वने घोरं रक्षोभिर्भीमकर्मभिः॥ १८॥

'इन भयानक कर्म करनेवाले राक्षसोंने इस वनमें तपस्वी मुनियोंका जो ऐसा भयंकर विनाशकाण्ड मचा रखा है, वह हमलोगोंसे सहा नहीं जाता है॥ १८॥

ततस्त्वां शरणार्थं च शरण्यं समुपस्थिताः।
परिपालय नो राम वध्यमानान् निशाचरैः॥ १९॥

'अतः इन राक्षसोंसे बचनेके लिये शरण लेनेके उद्देश्यसे हम आपके पास आये हैं। श्रीराम! आप शरणागतवत्सल हैं, अतः इन निशाचरोंसे मारे जाते हुए हम मुनियोंकी रक्षा कीजिये॥ १९॥

परा त्वत्तो गतिर्वीर पृथिव्यां नोपपद्यते।
परिपालय नः सर्वान् राक्षसेभ्यो नृपात्मज॥ २०॥

'वीर राजकुमार! इस भूमण्डलमें हमें आपसे बढ़कर दूसरा कोई सहारा नहीं दिखायी देता। आप इन राक्षसोंसे हम सबको बचाइये'॥ २०॥

एतच्छ्रुत्वा तु काकुत्स्थस्तापसानां तपस्विनाम्।
इदं प्रोवाच धर्मात्मा सर्वानेव तपस्विनः॥ २१॥

तपस्यामें लगे रहनेवाले उन तपस्वी मुनियोंकी ये बातें सुनकर ककुत्स्थकुलभूषण धर्मात्मा श्रीरामने उन सबसे कहा—॥ २१॥

नैवमर्हथ मां वक्तुमाज्ञाप्योऽहं तपस्विनाम्।
केवलेन स्वकार्येण प्रवेष्टव्यं वनं मया॥ २२॥

'मुनिवरो! आपलोग मुझसे इस प्रकार प्रार्थना न करें। मैं तो तपस्वी महात्माओंका आज्ञापालक हूँ। मुझे केवल अपने ही कार्यसे वनमें तो प्रवेश करना ही है (इसके साथ ही आपलोगोंकी सेवाका सौभाग्य भी मुझे प्राप्त हो जायगा)॥ २२॥

विप्रकारमपाक्रष्टुं राक्षसैर्भवतामिमम्।
पितुस्तु निर्देशकरः प्रविष्टोऽहमिदं वनम्॥ २३॥

'राक्षसोंके द्वारा जो आपको यह कष्ट पहुँच रहा है, इसे दूर करनेके लिये ही मैं पिताके आदेशका पालन करता हुआ इस वनमें आया हूँ॥ २३॥

भवतामर्थसिद्ध्यर्थमागतोऽहं यदृच्छया।
तस्य मेऽयं वने वासो भविष्यति महाफलः॥ २४॥

'आपलोगोंके प्रयोजनकी सिद्धिके लिये मैं दैवात् यहाँ आ पहुँचा हूँ। आपकी सेवाका अवसर मिलनेसे मेरे लिये यह वनवास महान् फलदायक होगा॥ २४॥

तपस्विनां रणे शत्रून् हन्तुमिच्छामि राक्षसान्।
पश्यन्तु वीर्यमृषयः सभ्रातुर्मे तपोधनाः॥ २५॥

'तपोधनो! मैं तपस्वी मुनियोंसे शत्रुता रखनेवाले उन राक्षसोंका युद्धमें संहार करना चाहता हूँ। आप सब महर्षि भाईसहित मेरा पराक्रम देखें'॥ २५॥

दत्त्वा वरं चापि तपोधनानां
धर्मे धृतात्मा सह लक्ष्मणेन।
तपोधनैश्चापि सहार्यदत्तः
सुतीक्ष्णमेवाभिजगाम वीरः॥ २६॥

इस प्रकार उन तपोधनोंको वर देकर धर्ममें मन लगानेवाले तथा श्रेष्ठ दान देनेवाले वीर श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मण तथा तपस्वी महात्माओंके साथ सुतीक्ष्ण मुनिके पास गये॥ २६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे षष्ठः सर्गः॥ ६॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें छठा सर्ग पूरा हुआ॥ ६॥

सप्तमः सर्गः

सीता और भ्रातासहित श्रीरामका सुतीक्ष्णके आश्रमपर जाकर उनसे बातचीत करना तथा उनसे सत्कृत हो रातमें वहीं ठहरना

रामस्तु सहितो भ्रात्रा सीतया च परंतपः।
सुतीक्ष्णस्याश्रमपदं जगाम सह तैर्द्विजैः॥ १॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मण, सीता तथा उन ब्राह्मणोंके साथ सुतीक्ष्ण मुनिके आश्रमकी ओर चले॥ १॥

स गत्वा दूरमध्वानं नदीस्तीर्त्वा बहूदकाः।
ददर्श विमलं शैलं महामेरुमिवोन्नतम्॥ २॥

वे दूरतकका मार्ग तै करके अगाध जलसे भरी हुई बहुत-सी नदियोंको पार करते हुए जब आगे गये, तब उन्हें महान् मेरुगिरिके समान एक अत्यन्त ऊँचा पर्वत दिखायी दिया, जो बड़ा ही निर्मल था॥ २॥

ततस्तदिक्ष्वाकुवरौ सततं विविधैर्द्रुमैः।
काननं तौ विविशतुः सीतया सह राघवौ॥ ३॥

वहाँसे आगे बढ़कर वे दोनों इक्ष्वाकुकुलके श्रेष्ठ वीर रघुवंशी बन्धु सीताके साथ नाना प्रकारके वृक्षोंसे भरे हुए एक वनमें पहुँचे॥ ३॥

प्रविष्टस्तु वनं घोरं बहुपुष्पफलद्रुमम्।
ददर्शाश्रममेकान्ते चीरमालापरिष्कृतम्॥ ४॥

उस घोर वनमें प्रविष्ट हो श्रीरघुनाथजीने एकान्त स्थानमें एक आश्रम देखा, जहाँके वृक्ष प्रचुर फल-फूलोंसे लदे हुए थे। इधर-उधर टँगे हुए चीर वस्त्रोंके समुदाय उस आश्रमकी शोभा बढ़ाते थे॥ ४॥

तत्र तापसमासीनं मलपङ्कजधारिणम्।
रामः सुतीक्ष्णं विधिवत् तपोधनमभाषत॥ ५॥

वहाँ आन्तरिक मलकी शुद्धिके लिये पद्मासन धारण किये सुतीक्ष्ण मुनि ध्यानमग्न होकर बैठे थे। श्रीरामने उन तपोधन मुनिके पास विधिवत् जाकर उनसे इस प्रकार कहा—॥ ५॥

रामोऽहमस्मि भगवन् भवन्तं द्रष्टुमागतः।
तन्माभिवद धर्मज्ञ महर्षे सत्यविक्रम॥ ६॥

'सत्यपराक्रमी धर्मज्ञ महर्षे! भगवन्! मैं राम हूँ और यहाँ आपका दर्शन करनेके लिये आया हूँ, अतः आप मुझसे बात कीजिये'॥ ६॥

स निरीक्ष्य ततो धीरो रामं धर्मभृतां वरम्।
समाश्लिष्य च बाहुभ्यामिदं वचनमब्रवीत्॥ ७॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भगवान् श्रीरामका दर्शन करके धीर महर्षि सुतीक्ष्णने अपनी दोनों भुजाओंसे उनका आलिङ्गन किया और इस प्रकार कहा—॥ ७॥

स्वागतं ते रघुश्रेष्ठ राम सत्यभृतां वर।
आश्रमोऽयं त्वयाऽऽक्रान्तः सनाथ इव साम्प्रतम्॥ ८॥

'सत्यवादियोंमें श्रेष्ठ रघुकुलभूषण श्रीराम! आपका स्वागत है। इस समय आपके पदार्पण करनेसे यह आश्रम सनाथ हो गया॥ ८॥

प्रतीक्षमाणस्त्वामेव नारोहेऽहं महायशः।
देवलोकमितो वीर देहं त्यक्त्वा महीतले॥ ९॥

'महायशस्वी वीर! मैं आपकी ही प्रतीक्षामें था, इसीलिये अबतक इस पृथ्वीपर अपने शरीरको त्यागकर मैं यहाँसे देवलोक (ब्रह्मधाम) में नहीं गया॥ ९॥

चित्रकूटमुपादाय राज्यभ्रष्टोऽसि मे श्रुतः।
इहोपयातः काकुत्स्थ देवराजः शतक्रतुः॥ १०॥

'मैंने सुना था कि आप राज्यसे भ्रष्ट हो चित्रकूट पर्वतपर आकर रहते हैं। काकुत्स्थ! यहाँ सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले देवराज इन्द्र आये थे॥ १०॥

उपागम्य च मे देवो महादेवः सुरेश्वरः।
सर्वाँल्लोकाञ्जितानाह मम पुण्येन कर्मणा॥ ११॥

'वे महान् देवता देवेश्वर इन्द्रदेव मेरे पास आकर

कह रहे थे कि 'तुमने अपने पुण्यकर्मके द्वारा समस्त शुभ लोकोंपर विजय पायी है' ॥ ११ ॥

तेषु देवर्षिजुष्टेषु जितेषु तपसा मया।
मत्प्रसादात् सभार्यस्त्वं विहरस्व सलक्ष्मणः ॥ १२ ॥

'उनके कथनानुसार मैंने तपस्यासे जिन देवर्षिसेवित लोकोंपर अधिकार प्राप्त किया है, उन लोकोंमें आप सीता और लक्ष्मणके साथ विहार करें। मैं बड़ी प्रसन्नताके साथ वे सारे लोक आपकी सेवामें समर्पित करता हूँ' ॥ १२ ॥

तमुग्रतपसं दीप्तं महर्षिं सत्यवादिनम्।
प्रत्युवाचात्मवान् रामो ब्रह्माणमिव वासवः ॥ १३ ॥

जैसे इन्द्र ब्रह्माजीसे बात करते हैं, उसी प्रकार मनस्वी श्रीरामने उन उग्र तपस्यावाले तेजस्वी एवं सत्यवादी महर्षिको इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ १३ ॥

अहमेवाहरिष्यामि स्वयं लोकान् महामुने।
आवासं त्वहमिच्छामि प्रदिष्टमिह कानने ॥ १४ ॥

'महामुने! वे लोक तो मैं स्वयं ही आपको प्राप्त कराऊँगा, इस समय तो मेरी यह इच्छा है कि आप बतावें कि मैं इस वनमें अपने ठहरनेके लिये कहाँ कुटिया बनाऊँ?' ॥ १४ ॥

भवान् सर्वत्र कुशलः सर्वभूतहिते रतः।
आख्यातं शरभङ्गेन गौतमेन महात्मना ॥ १५ ॥

'आप समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर तथा इहलोक और परलोककी सभी बातोंके ज्ञानमें निपुण हैं, यह बात मुझसे गौतमगोत्रीय महात्मा शरभङ्गने कही थी' ॥ १५ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण महर्षिर्लोकविश्रुतः।
अब्रवीन्मधुरं वाक्यं हर्षेण महता युतः ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर उन लोकविख्यात महर्षिने बड़े हर्षके साथ मधुर वाणीमें कहा— ॥ १६ ॥

अयमेवाश्रमो राम गुणवान् रम्यतामिति।
ऋषिसंघानुचरितः सदा मूलफलैर्युतः ॥ १७ ॥

'श्रीराम! यही आश्रम सब प्रकारसे गुणवान् (सुविधाजनक) है, अतः आप यहीं सुखपूर्वक निवास कीजिये। यहाँ ऋषियोंका समुदाय सदा आता-जाता रहता है और फल-मूल भी सर्वदा सुलभ होते हैं ॥ १७ ॥

इममाश्रममागम्य मृगसंघा महीयसः।
अहत्वा प्रतिगच्छन्ति लोभयित्वाकुतोभयाः ॥ १८ ॥

'इस आश्रमपर बड़े-बड़े मृगोंके झुंड आते और अपने रूप, कान्ति एवं गतिसे मनको लुभाकर किसीको कष्ट दिये बिना ही यहाँसे लौट जाते हैं। उन्हें यहाँ किसीसे कोई भय नहीं प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

नान्यो दोषो भवेदत्र मृगेभ्योऽन्यत्र विद्धि वै।
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य महर्षेर्लक्ष्मणाग्रजः ॥ १९ ॥
उवाच वचनं धीरो विगृह्य सशरं धनुः।

'इस आश्रममें मृगोंके उपद्रवके सिवा और कोई दोष नहीं है, यह आप निश्चितरूपसे जान लें।' महर्षिका यह वचन सुनकर लक्ष्मणके बड़े भाई धीर-वीर भगवान् श्रीरामने हाथमें धनुष-बाण लेकर कहा— ॥ १९½ ॥

तानहं सुमहाभाग मृगसंघान् समागतान् ॥ २० ॥
हन्यां निशितधारेण शरेणानतपर्वणा।
भवांस्तत्राभिषज्येत किं स्यात् कृच्छ्रतरं ततः ॥ २१ ॥

'महाभाग! यहाँ आये हुए उन उपद्रवकारी मृगसमूहोंको यदि मैं झुकी हुई गाँठ और तीखी धारवाले बाणसे मार डालूँ तो इसमें आपका अपमान होगा। यदि ऐसा हुआ तो इससे बढ़कर कष्टकी बात मेरे लिये और क्या हो सकती है? ॥

एतस्मिन्नाश्रमे वासं चिरं तु न समर्थये।
तमेवमुक्त्वोपरमं रामः संध्यामुपागमत् ॥ २२ ॥

'इसलिये मैं इस आश्रममें अधिक समय नहीं निवास करना चाहता।' मुनिसे ऐसा कहकर मौन हो श्रीरामचन्द्रजी संध्योपासना करने चले गये ॥ २२ ॥

अन्वास्य पश्चिमां संध्यां तत्र वासमकल्पयत्।
सुतीक्ष्णस्याश्रमे रम्ये सीतया लक्ष्मणेन च ॥ २३ ॥

सायंकालकी संध्योपासना करके श्रीरामने सीता और लक्ष्मणके साथ सुतीक्ष्ण मुनिके उस रमणीय आश्रममें निवास किया ॥ २३ ॥

ततः शुभं तापसयोग्यमन्नं
स्वयं सुतीक्ष्णः पुरुषर्षभाभ्याम्।
ताभ्यां सुसत्कृत्य ददौ महात्मा
संध्यानिवृत्तौ रजनीं समीक्ष्य ॥ २४ ॥

संध्याका समय बीतनेपर रात हुई देख महात्मा सुतीक्ष्णने स्वयं ही तपस्वी-जनोंके सेवन करने योग्य शुभ अन्न ले आकर उन दोनों पुरुषशिरोमणि बन्धुओंको बड़े सत्कारके साथ अर्पित किया ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें सातवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७ ॥

—★—

अष्टमः सर्गः

प्रातःकाल सुतीक्ष्णसे विदा ले श्रीराम, लक्ष्मण, सीताका वहाँसे प्रस्थान

रामस्तु सहसौमित्रिः सुतीक्ष्णेनाभिपूजितः।
परिणाम्य निशां तत्र प्रभाते प्रत्यबुध्यत ॥ १ ॥

सुतीक्ष्णके द्वारा भलीभाँति पूजित हो लक्ष्मणसहित श्रीराम उनके आश्रममें ही रात बिताकर प्रातःकाल जाग उठे ॥

उत्थाय च यथाकालं राघवः सह सीतया।
उपस्पृश्य सुशीतेन तोयेनोत्पलगन्धिना॥ २॥
अथ तेऽग्निं सुरांश्चैव वैदेही रामलक्ष्मणौ।
काल्यं विधिवदभ्यर्च्य तपस्विशरणे वने॥ ३॥
उदयन्तं दिनकरं दृष्ट्वा विगतकल्मषाः।
सुतीक्ष्णमभिगम्येदं श्लक्ष्णं वचनमब्रुवन्॥ ४॥

सीतासहित श्रीराम और लक्ष्मणने ठीक समयसे उठकर कमलकी सुगन्धसे सुवासित परम शीतल जलके द्वारा स्नान किया। तदनन्तर उन तीनोंने ही मिलकर विधिपूर्वक अग्नि और देवताओंकी प्रातःकालिक पूजा की। इसके बाद तपस्वीजनोंके आश्रयभूत वनमें उदित हुए सूर्यदेवका दर्शन करके वे तीनों निष्पाप पथिक सुतीक्ष्ण मुनिके पास गये और यह मधुर वचन बोले— ॥ २—४॥

सुखोषिताः स्म भगवंस्त्वया पूज्येन पूजिताः।
आपृच्छामः प्रयास्यामो मुनयस्त्वरयन्ति नः॥ ५॥

'भगवन्! आपने पूजनीय होकर भी हमलोगोंकी पूजा की है। हम आपके आश्रममें बड़े सुखसे रहे हैं। अब हम यहाँसे जायँगे, इसके लिये आपकी आज्ञा चाहते हैं। ये मुनि हमें चलनेके लिये जल्दी मचा रहे हैं॥ ५॥

त्वरामहे वयं द्रष्टुं कृत्स्नमाश्रममण्डलम्।
ऋषीणां पुण्यशीलानां दण्डकारण्यवासिनाम्॥ ६॥

'हमलोग दण्डकारण्यमें निवास करनेवाले पुण्यात्मा ऋषियोंके सम्पूर्ण आश्रममण्डलका दर्शन करनेके लिये उतावले हो रहे हैं॥ ६॥

अभ्यनुज्ञातुमिच्छामः सहैभिर्मुनिपुंगवैः।
धर्मनित्यैस्तपोदान्तैर्विशिखैरिव पावकैः॥ ७॥

'अतः हमारी इच्छा है कि आप धूमरहित अग्निके समान तेजस्वी, तपस्याद्वारा इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले तथा नित्य-धर्मपरायण इन श्रेष्ठ महर्षियोंके साथ यहाँसे जानेके लिये हमें आज्ञा दें॥ ७॥

अविषह्यातपो यावत् सूर्यो नातिविराजते।
अमार्गेणागतां लक्ष्मीं प्राप्येवान्वयवर्जितः॥ ८॥
तावदिच्छामहे गन्तुमित्युक्त्वा चरणौ मुनेः।
ववन्दे सहसौमित्रिः सीतया सह राघवः॥ ९॥

'जैसे अन्यायसे आयी हुई सम्पत्तिको पाकर किसी नीच कुलके मनुष्यमें असह्य उग्रता आ जाती है, उसी प्रकार यह सूर्यदेव जबतक असह्य ताप देनेवाले होकर प्रचण्ड तेजसे प्रकाशित न होने लगें, उसके पहले ही हम यहाँसे चल देना चाहते हैं।' ऐसा कहकर लक्ष्मण और सीतासहित श्रीरामने मुनिके चरणोंकी वन्दना की॥ ८-९॥

तौ संस्पृशन्तौ चरणावुत्थाप्य मुनिपुंगवः।
गाढमाश्लिष्य सस्नेहमिदं वचनमब्रवीत्॥ १०॥

अपने चरणोंका स्पर्श करते हुए श्रीराम और लक्ष्मणको उठाकर मुनिवर सुतीक्ष्णने कसकर हृदयसे लगा लिया और बड़े स्नेहसे इस प्रकार कहा— ॥ १०॥

अरिष्टं गच्छ पन्थानं राम सौमित्रिणा सह।
सीतया चानया सार्धं छाययेवानुवृत्तया॥ ११॥

'श्रीराम! आप छायाकी भाँति अनुसरण करनेवाली इस धर्मपत्नी सीता तथा सुमित्राकुमार लक्ष्मणके साथ यात्रा कीजिये। आपका मार्ग विघ्न-बाधाओंसे रहित परम मङ्गलमय हो॥ ११॥

पश्याश्रमपदं रम्यं दण्डकारण्यवासिनाम्।
एषां तपस्विनां वीर तपसा भावितात्मनाम्॥ १२॥

'वीर! तपस्यासे शुद्ध अन्तःकरणवाले दण्डकारण्यवासी इन तपस्वी मुनियोंके रमणीय आश्रमोंका दर्शन कीजिये॥

सुप्राज्यफलमूलानि पुष्पितानि वनानि च।
प्रशस्तमृगयूथानि शान्तपक्षिगणानि च॥ १३॥

'इस यात्रामें आप प्रचुर फल-मूलोंसे युक्त तथा फूलोंसे सुशोभित अनेक वन देखेंगे; वहाँ उत्तम मृगोंके झुंड विचरते होंगे और पक्षी शान्तभावसे रहते होंगे॥ १३॥

फुल्लपङ्कजखण्डानि प्रसन्नसलिलानि च।
कारण्डवविकीर्णानि तटाकानि सरांसि च॥ १४॥

'आपको बहुत-से ऐसे तालाब और सरोवर दिखायी देंगे, जिनमें प्रफुल्ल कमलोंके समूह शोभा दे रहे होंगे। उनमें स्वच्छ जल भरे होंगे तथा कारण्डव आदि जलपक्षी सब ओर फैल रहे होंगे॥ १४॥

द्रक्ष्यसे दृष्टिरम्याणि गिरिप्रस्रवणानि च।
रमणीयान्यरण्यानि मयूराभिरुतानि च॥ १५॥

'नेत्रोंको रमणीय प्रतीत होनेवाले पहाड़ी झरनों और मोरोंकी मीठी बोलीसे गूँजती हुई सुरम्य वनस्थलियोंको भी आप देखेंगे॥ १५॥

गम्यतां वत्स सौमित्रे भवानपि च गच्छतु।
आगन्तव्यं च ते दृष्ट्वा पुनरेवाश्रमं प्रति॥ १६॥

'श्रीराम! जाइये, वत्स सुमित्राकुमार! तुम भी जाओ। दण्डकारण्यके आश्रमोंका दर्शन करके आपलोगोंको फिर इसी आश्रममें आ जाना चाहिये'॥ १६॥

एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा काकुत्स्थः सहलक्ष्मणः।
प्रदक्षिणं मुनिं कृत्वा प्रस्थातुमुपचक्रमे॥ १७॥

उनके ऐसा कहनेपर लक्ष्मणसहित श्रीरामने 'बहुत अच्छा' कहकर मुनिकी परिक्रमा की और वहाँसे प्रस्थान करनेकी तैयारी की॥ १७॥

ततः शुभतरे तूणी धनुषी चायतेक्षणा।
ददौ सीता तयोर्भ्रात्रोः खड्गौ च विमलौ ततः॥ १८॥

तदनन्तर विशाल नेत्रोंवाली सीताने उन दोनों भाइयोंके हाथमें दो परम सुन्दर तूणीर, धनुष और चमचमाते हुए खड्ग प्रदान किये॥ १८॥

आबध्य च शुभे तूणी चापे चादाय सस्वने।
निष्क्रान्तावाश्रमाद् गन्तुमुभौ तौ रामलक्ष्मणौ॥ १९॥

उन सुन्दर तूणीरोंको पीठपर बाँधकर टंकारते हुए धनुषोंको हाथमें ले वे दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण आश्रमसे बाहर निकले॥ १९॥

शीघ्रं तौ रूपसम्पन्नावनुज्ञातौ महर्षिणा।
प्रस्थितौ धृतचापासी सीतया सह राघवौ॥ २०॥

वे दोनों रघुवंशी वीर बड़े ही रूपवान् थे, उन्होंने खड्ग और धनुष धारण करके महर्षिकी आज्ञा ले सीताके साथ शीघ्र ही वहाँसे प्रस्थान किया॥ २०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डेऽष्टमः सर्गः॥ ८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें आठवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ८॥

नवमः सर्गः

सीताका श्रीरामसे निरपराध प्राणियोंको न मारने और अहिंसा-धर्मका पालन करनेके लिये अनुरोध

सुतीक्ष्णेनाभ्यनुज्ञातं प्रस्थितं रघुनन्दनम्।
हृद्यया स्निग्धया वाचा भर्तारमिदमब्रवीत्॥ १॥

सुतीक्ष्णकी आज्ञा लेकर वनकी ओर प्रस्थित हुए अपने स्वामी रघुकुलनन्दन श्रीरामसे सीताने स्नेहभरी मनोहर वाणीमें इस प्रकार कहा—॥ १॥

अधर्मं तु सुसूक्ष्मेण विधिना प्राप्यते महान्।
निवृत्तेन च शक्योऽयं व्यसनात् कामजादिह॥ २॥

'आर्यपुत्र! यद्यपि आप महान् पुरुष हैं तथापि अत्यन्त सूक्ष्म विधिसे विचार करनेपर आप अधर्मको प्राप्त हो रहे हैं। जब कामजनित व्यसनसे आप सर्वथा निवृत्त हैं, तब यहाँ इस अधर्मसे भी बच सकते हैं॥ २॥

त्रीण्येव व्यसनान्यत्र कामजानि भवन्त्युत।
मिथ्यावाक्यं तु परमं तस्माद् गुरुतरावुभौ॥ ३॥
परदाराभिगमनं विना वैरं च रौद्रता।
मिथ्यावाक्यं न ते भूतं न भविष्यति राघव॥ ४॥

'इस जगत्में कामसे उत्पन्न होनेवाले तीन ही व्यसन होते हैं। मिथ्याभाषण बहुत बड़ा व्यसन है, किंतु उससे भी भारी दो व्यसन और हैं—परस्त्रीगमन और बिना वैरके ही दूसरोंके प्रति क्रूरतापूर्ण बर्ताव। रघुनन्दन! इनमेंसे मिथ्याभाषणरूप व्यसन तो न आपमें कभी हुआ है और न आगे होगा ही॥

कुतोऽभिलषणं स्त्रीणां परेषां धर्मनाशनम्।
तव नास्ति मनुष्येन्द्र न चाभूत् ते कदाचन॥ ५॥
मनस्यपि तथा राम न चैतद् विद्यते क्वचित्।
स्वदारनिरतश्चैव नित्यमेव नृपात्मज॥ ६॥
धर्मिष्ठः सत्यसंधश्च पितुर्निर्देशकारकः।
त्वयि धर्मश्च सत्यं च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम्॥ ७॥

'परस्त्रीविषयक अभिलाषा तो आपको हो ही कैसे सकती है? नरेन्द्र! धर्मका नाश करनेवाली यह कुत्सित इच्छा न आपके मनमें कभी हुई थी, न है और न भविष्यमें कभी होनेकी सम्भावना ही है। राजकुमार श्रीराम! यह दोष तो आपके मनमें भी कभी उदित नहीं हुआ है। (फिर वाणी और क्रियामें कैसे आ सकता है?) आप सदा ही अपनी धर्मपत्नीमें अनुरक्त रहनेवाले, धर्मनिष्ठ, सत्यप्रतिज्ञ तथा पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाले हैं। आपमें धर्म और सत्य दोनोंकी स्थिति है। आपमें ही सब कुछ प्रतिष्ठित है॥

तच्च सर्वं महाबाहो शक्यं वोढुं जितेन्द्रियैः।
तव वश्येन्द्रियत्वं च जानामि शुभदर्शन॥ ८॥

'महाबाहो! जो लोग जितेन्द्रिय हैं, वे सदा सत्य और धर्मको पूर्णरूपसे धारण कर सकते हैं। शुभदर्शी महापुरुष! आपकी जितेन्द्रियताको मैं अच्छी तरह जानती हूँ (इसीलिये मुझे विश्वास है कि आपमें पूर्वोक्त दोनों दोष कदापि नहीं रह सकते)॥ ८॥

तृतीयं यदिदं रौद्रं परप्राणाभिहिंसनम्।
निर्वैरं क्रियते मोहात् तच्च ते समुपस्थितम्॥ ९॥

'परंतु दूसरोंके प्राणोंकी हिंसारूप जो यह तीसरा भयंकर दोष है, उसे लोग मोहवश बिना वैर-विरोधके भी किया करते हैं। वही दोष आपके सामने भी उपस्थित है॥ ९॥

प्रतिज्ञातस्त्वया वीर दण्डकारण्यवासिनाम्।
ऋषीणां रक्षणार्थाय वधः संयति रक्षसाम्॥ १०॥

'वीर! आपने दण्डकारण्यनिवासी ऋषियोंकी रक्षाके लिये युद्धमें राक्षसोंका वध करनेकी प्रतिज्ञा की है॥ १०॥

एतन्निमित्तं च वनं दण्डका इति विश्रुतम्।
प्रस्थितस्त्वं सह भ्रात्रा धृतबाणशरासनः॥ ११॥

'इसीके लिये आप भाईके साथ धनुष-बाण लेकर दण्डकारण्यके नामसे विख्यात वनकी ओर प्रस्थित हुए हैं॥ ११॥

ततस्त्वां प्रस्थितं दृष्ट्वा मम चिन्ताकुलं मनः।
त्वद्वृत्तं चिन्तयन्त्या वै भवेन्निःश्रेयसं हितम्॥ १२॥

'अतः आपको इस घोर कर्मके लिये प्रस्थित हुआ देख मेरा चित्त चिन्तासे व्याकुल हो उठा है। आपके प्रतिज्ञा-पालनरूप व्रतका विचार करके मैं सदा यही सोचती रहती हूँ कि कैसे आपका कल्याण हो?॥ १२॥

नहि मे रोचते वीर गमनं दण्डकान् प्रति।
कारणं तत्र वक्ष्यामि वदन्त्याः श्रूयतां मम॥ १३॥

'वीर! मुझे इस समय आपका दण्डकारण्यमें जाना अच्छा नहीं लगता है। इसका क्या कारण है—यह बता रही हूँ; आप मेरे मुँहसे सुनिये॥ १३॥

त्वं हि बाणधनुष्पाणिर्भ्रात्रा सह वनं गतः।
दृष्ट्वा वनचरान् सर्वान् कच्चित् कुर्याः शरव्ययम्॥ १४॥

'आप हाथमें धनुष-बाण लेकर अपने भाईके साथ वनमें आये हैं। सम्भव है, समस्त वनचारी राक्षसोंको देखकर कदाचित् आप उनके प्रति अपने बाणोंका प्रयोग कर बैठें॥

क्षत्रियाणामिह धनुर्हुताशस्येन्धनानि च।
समीपतः स्थितं तेजोबलमुच्छ्रयते भृशम्॥ १५॥

'जैसे आगके समीप रखे हुए ईंधन उसके तेजरूप बलको अत्यन्त उद्दीप्त कर देते हैं, उसी प्रकार जहाँ क्षत्रियोंके पास धनुष हो तो वह उनके बल और प्रतापको उद्दीपित कर देता है॥ १५॥

पुरा किल महाबाहो तपस्वी सत्यवाक्छुचिः।
कस्मिंश्चिदभवत् पुण्ये वने रतमृगद्विजे॥ १६॥

'महाबाहो! पूर्वकालकी बात है, किसी पवित्र वनमें, जहाँ मृग और पक्षी बड़े आनन्दसे रहते थे, एक सत्यवादी एवं पवित्र तपस्वी निवास करते थे॥ १६॥

तस्यैव तपसो विघ्नं कर्तुमिन्द्रः शचीपतिः।
खड्गपाणिरथागच्छदाश्रमं भटरूपधृक्॥ १७॥

'उन्हींकी तपस्यामें विघ्न डालनेके लिये शचीपति इन्द्र किसी योद्धाका रूप धारण करके हाथमें तलवार लिये एक दिन उनके आश्रमपर आये॥ १७॥

तस्मिंस्तदाश्रमपदे निहितः खड्ग उत्तमः।
स न्यासविधिना दत्तः पुण्ये तपसि तिष्ठतः॥ १८॥

'उन्होंने मुनिके आश्रममें अपना उत्तम खड्ग रख दिया। पवित्र तपस्यामें लगे हुए मुनिको धरोहरके रूपमें वह खड्ग दे दिया॥ १८॥

स तच्छस्त्रमनुप्राप्य न्यासरक्षणतत्परः।
वने तु विचरत्येव रक्षन् प्रत्ययमात्मनः॥ १९॥

'उस शस्त्रको पाकर मुनि उस धरोहरकी रक्षामें लग गये। वे अपने विश्वासकी रक्षाके लिये वनमें विचरते समय भी उसे साथ रखते थे॥ १९॥

यत्र गच्छत्युपादातुं मूलानि च फलानि च।
न विना याति तं खड्गं न्यासरक्षणतत्परः॥ २०॥

'धरोहरकी रक्षामें तत्पर रहनेवाले वे मुनि फल-मूल लानेके लिये जहाँ-कहीं भी जाते, उस खड्गको साथ लिये बिना नहीं जाते थे॥ २०॥

नित्यं शस्त्रं परिवहन् क्रमेण स तपोधनः।
चकार रौद्रीं स्वां बुद्धिं त्यक्त्वा तपसि निश्चयम्॥ २१॥

'तप ही जिनका धन था, उन मुनिने प्रतिदिन शस्त्र ढोते रहनेके कारण क्रमशः तपस्याका निश्चय छोड़कर अपनी बुद्धिको क्रूरतापूर्ण बना लिया॥ २१॥

ततः स रौद्राभिरतः प्रमत्तोऽधर्मकर्षितः।
तस्य शस्त्रस्य संवासाज्जगाम नरकं मुनिः॥ २२॥

'फिर तो अधर्मने उन्हें आकृष्ट कर लिया। वे मुनि प्रमादवश रौद्र-कर्ममें तत्पर हो गये और उस शस्त्रके सहवाससे उन्हें नरकमें जाना पड़ा॥ २२॥

एवमेतत् पुरावृत्तं शस्त्रसंयोगकारणम्।
अग्निसंयोगवद्धेतुः शस्त्रसंयोग उच्यते॥ २३॥

'इस प्रकार शस्त्रका संयोग होनेके कारण पूर्वकालमें उन तपस्वी मुनिको ऐसी दुर्दशा भोगनी पड़ी। जैसे आगका संयोग ईंधनोंको जलानेका कारण होता है, उसी प्रकार शस्त्रोंका संयोग शस्त्रधारीके हृदयमें विकारका उत्पादक कहा गया है॥ २३॥

स्नेहाच्च बहुमानाच्च स्मारये त्वां तु शिक्षये।
न कथंचन सा कार्या गृहीतधनुषा त्वया॥ २४॥
बुद्धिर्वैरं विना हन्तुं राक्षसान् दण्डकाश्रितान्।
अपराधं विना हन्तुं लोको वीर न मंस्यते॥ २५॥

'मेरे मनमें आपके प्रति जो स्नेह और विशेष आदर है, उसके कारण मैं आपको उस प्राचीन घटनाकी याद दिलाती हूँ तथा यह शिक्षा भी देती हूँ कि आपको धनुष लेकर किसी तरह बिना वैरके ही दण्डकारण्यवासी राक्षसोंके वधका विचार नहीं करना चाहिये। वीरवर! बिना अपराधके ही किसीको मारना संसारके लोग अच्छा नहीं समझेंगे॥

क्षत्रियाणां तु वीराणां वनेषु नियतात्मनाम्।
धनुषा कार्यमेतावदार्तानामभिरक्षणम्॥ २६॥

'अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले क्षत्रिय वीरोंके लिये वनमें धनुष धारण करनेका इतना ही प्रयोजन है कि वे संकटमें पड़े हुए प्राणियोंकी रक्षा करें॥ २६॥

क्व च शस्त्रं क्व च वनं क्व च क्षात्रं तपः क्व च।
व्याविद्धमिदमस्माभिर्देशधर्मस्तु पूज्यताम्॥ २७॥

'कहाँ शस्त्र-धारण और कहाँ वनवास! कहाँ क्षत्रियका हिंसामय कठोर कर्म और कहाँ सब प्राणियोंपर दया करना-रूप तप—ये परस्पर विरुद्ध जान पड़ते हैं। अतः हम-लोगोंको देशधर्मका ही आदर करना चाहिये (इस समय हम तपोवनरूप देशमें निवास करते हैं, अतः यहाँके अहिंसामय धर्मका पालन करना ही हमारा कर्तव्य है)॥ २७॥

कदर्यकलुषा बुद्धिर्जायते शस्त्रसेवनात्।
पुनर्गत्वा त्वयोध्यायां क्षत्रधर्मं चरिष्यसि॥ २८॥

'केवल शस्त्रका सेवन करनेसे मनुष्यकी बुद्धि कृपण पुरुषोंके समान कलुषित हो जाती है; अतः आप अयोध्यामें चलनेपर ही पुनः क्षात्रधर्मका अनुष्ठान कीजियेगा॥ २८॥

अक्षया तु भवेत् प्रीतिः श्वश्रूश्वशुरयोर्मम।
यदि राज्यं हि संन्यस्य भवेस्त्वं निरतो मुनिः॥ २९॥

'राज्य त्यागकर वनमें आ जानेपर यदि आप मुनि-वृत्तिसे ही रहें तो इससे मेरी सास और श्वशुरको अक्षय प्रसन्नता होगी॥ २९॥

धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात् प्रभवते सुखम्।
धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत्॥ ३०॥

'धर्मसे अर्थ प्राप्त होता है, धर्मसे सुखका उदय होता है और धर्मसे ही मनुष्य सब कुछ पा लेता है। इस संसारमें धर्म ही सार है॥ ३०॥

आत्मानं नियमैस्तैस्तैः कर्षयित्वा प्रयत्नतः।
प्राप्यते निपुणैर्धर्मो न सुखाल्लभते सुखम्॥ ३१॥

'चतुर मनुष्य भिन्न-भिन्न वानप्रस्थोचित नियमोंके द्वारा अपने शरीरको क्षीण करके यत्नपूर्वक धर्मका सम्पादन करते हैं; क्योंकि सुखदायक साधनसे सुखके हेतुभूत धर्मकी प्राप्ति नहीं होती है॥ ३१॥

नित्यं शुचिमतिः सौम्य चर धर्मं तपोवने।
सर्वं तु विदितं तुभ्यं त्रैलोक्यमपि तत्त्वतः॥ ३२॥

'सौम्य! प्रतिदिन शुद्धचित्त होकर तपोवनमें धर्मका अनुष्ठान कीजिये। त्रिलोकीमें जो कुछ भी है, आपको तो वह सब कुछ यथार्थरूपसे विदित ही है॥ ३२॥

स्त्रीचापलादेतदुपाहृतं मे
धर्मं च वक्तुं तव कः समर्थः।
विचार्य बुद्ध्या तु सहानुजेन
यद् रोचते तत् कुरु माचिरेण॥ ३३॥

'मैंने नारीजातिकी स्वाभाविक चपलताके कारण ही आपकी सेवामें ये बातें निवेदन कर दी हैं। वास्तवमें आपको धर्मका उपदेश करनेमें कौन समर्थ है? आप इस विषयमें अपने छोटे भाईके साथ बुद्धिपूर्वक विचार कर लें। फिर आपको जो ठीक जँचे, उसे ही शीघ्रतापूर्वक करें'॥ ३३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे नवमः सर्गः॥ ९॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें नवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ९॥

दशमः सर्गः

श्रीरामका ऋषियोंकी रक्षाके लिये राक्षसोंके वधके निमित्त की हुई प्रतिज्ञाके पालनपर दृढ़ रहनेका विचार प्रकट करना

वाक्यमेतत् तु वैदेह्या व्याहृतं भर्तृभक्तया।
श्रुत्वा धर्मे स्थितो रामः प्रत्युवाचाथ जानकीम्॥ १॥

अपने स्वामीके प्रति भक्ति रखनेवाली विदेहकुमारी सीताकी कही हुई यह बात सुनकर सदा धर्ममें स्थित रहनेवाले श्रीरामचन्द्रजीने जानकीको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १॥

हितमुक्तं त्वया देवि स्निग्धया सदृशं वचः।
कुलं व्यपदिशन्त्या च धर्मज्ञे जनकात्मजे॥ २॥

'देवि! धर्मको जाननेवाली जनककिशोरी! तुम्हारा मेरे ऊपर स्नेह है, इसलिये तुमने मेरे हितकी बात कही है। क्षत्रियोंके कुलधर्मका उपदेश करती हुई तुमने जो कुछ कहा है, वह तुम्हारे ही योग्य है॥ २॥

किं नु वक्ष्याम्यहं देवि त्वयैवोक्तमिदं वचः।
क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्तशब्दो भवेदिति॥ ३॥

'देवि! मैं तुम्हें क्या उत्तर दूँ, तुमने ही पहले यह बात कही है कि क्षत्रियलोग इसलिये धनुष धारण करते हैं कि किसीको दुःखी होकर हाहाकार न करना पड़े (यदि कोई दुःख या संकटमें पड़ा हो तो उसकी रक्षा की जाय)॥ ३॥

ते चार्ता दण्डकारण्ये मुनयः संशितव्रताः।
मां सीते स्वयमागम्य शरण्यं शरणं गताः॥ ४॥

'सीते! दण्डकारण्यमें रहकर कठोर व्रतका पालन करनेवाले वे मुनि बहुत दुःखी हैं, इसीलिये मुझे शरणागत-वत्सल जानकर वे स्वयं मेरे पास आये और शरणागत हुए॥

वसन्तः कालकालेषु वने मूलफलाशनाः।
न लभन्ते सुखं भीरु राक्षसैः क्रूरकर्मभिः॥ ५॥
भक्ष्यन्ते राक्षसैर्भीमैर्नरमांसोपजीविभिः।

'भीरु! सदा ही वनमें रहकर फल-मूलका आहार करनेवाले वे मुनि इन क्रूरकर्मा राक्षसोंके कारण कभी सुख नहीं पाते हैं। मनुष्योंके मांससे जीवननिर्वाह करनेवाले ये भयानक राक्षस उन्हें मारकर खा जाते हैं॥ ५½॥

ते भक्ष्यमाणा मुनयो दण्डकारण्यवासिनः॥ ६॥
अस्मानभ्यवपद्येति मामूचुर्द्विजसत्तमाः।

'उन राक्षसोंके ग्रास बने हुए वे दण्डकारण्यवासी द्विजश्रेष्ठ मुनि हमलोगोंके पास आकर मुझसे बोले—'प्रभो! हमपर अनुग्रह कीजिये'॥ ६½॥

मया तु वचनं श्रुत्वा तेषामेवं मुखाच्च्युतम्॥ ७॥
कृत्वा वचनशुश्रूषां वाक्यमेतदुदाहृतम्।

'उनके मुखसे निकली हुई इस प्रकार रक्षाकी पुकार सुनकर और उनकी आज्ञा-पालनरूपी सेवाका विचार मनमें लेकर मैंने उनसे यह बात कही॥ ७½॥

प्रसीदन्तु भवन्तो मे ह्रीरेषा तु ममातुला॥ ८॥
यदीदृशैरहं विप्रैरुपस्थेयैरुपस्थितः।
किं करोमीति च मया व्याहृतं द्विजसंनिधौ॥ ९॥

'महर्षियो! आप-जैसे ब्राह्मणोंकी सेवामें मुझे स्वयं ही उपस्थित होना चाहिये था, परंतु आप स्वयं ही अपनी रक्षाके लिये मेरे पास आये, यह मेरे लिये अनुपम लज्जाकी बात है; अतः आप प्रसन्न हों। बताइये, मैं आपलोगोंकी क्या सेवा करूँ?' यह बात मैंने उन ब्राह्मणोंके सामने कही॥ ८-९॥

सर्वैरेव समागम्य वागियं समुदाहृता।
राक्षसैर्दण्डकारण्ये बहुभिः कामरूपिभिः॥ १०॥
अर्दिताः स्म भृशं राम भवान् नस्तत्र रक्षतु।

'तब उन सभीने मिलकर अपना मनोभाव इन वचनोंमें प्रकट किया—'श्रीराम! दण्डकारण्यमें इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले बहुत-से राक्षस रहते हैं। उनसे हमें बड़ा कष्ट पहुँच रहा है, अतः वहाँ उनके भयसे आप हमारी रक्षा करें॥ १०½॥

होमकाले तु सम्प्राप्ते पर्वकालेषु चानघ॥ ११॥
धर्षयन्ति सुदुर्धर्षा राक्षसाः पिशिताशनाः।

'निष्पाप रघुनन्दन! अग्निहोत्रका समय आनेपर तथा पर्वके अवसरोंपर ये अत्यन्त दुर्धर्ष मांसभोजी राक्षस हमें धर दबाते हैं॥ ११½॥

राक्षसैर्धर्षितानां च तापसानां तपस्विनाम्॥ १२॥
गतिं मृगयमाणानां भवान् नः परमा गतिः।

'राक्षसोंद्वारा आक्रान्त होनेवाले हम तपस्वी तापस सदा अपने लिये कोई आश्रय ढूँढ़ते रहते हैं, अतः आप ही हमारे परम आश्रय हों॥ १२½॥

कामं तपःप्रभावेण शक्ता हन्तुं निशाचरान्॥ १३॥
चिरार्जितं न चेच्छामस्तपः खण्डयितुं वयम्।
बहुविघ्नं तपो नित्यं दुश्चरं चैव राघव॥ १४॥

'रघुनन्दन! यद्यपि हम तपस्याके प्रभावसे इच्छानुसार इन राक्षसोंका वध करनेमें समर्थ हैं तथापि चिरकालसे उपार्जित किये हुए तपको खण्डित करना नहीं चाहते हैं; क्योंकि तपमें सदा ही बहुत-से विघ्न आते रहते हैं तथा इसका सम्पादन बहुत ही कठिन होता है॥ १३-१४॥

तेन शापं न मुञ्चामो भक्ष्यमाणाश्च राक्षसैः।
तदर्द्यमानान् रक्षोभिर्दण्डकारण्यवासिभिः॥ १५॥
रक्ष नस्त्वं सह भ्रात्रा त्वन्नाथा हि वयं वने।

'यही कारण है कि राक्षसोंके ग्रास बन जानेपर भी हम उन्हें शाप नहीं देते हैं, इसलिये दण्डकारण्यवासी निशाचरोंसे पीड़ित हुए हम तापसोंकी भाईसहित आप रक्षा करें; क्योंकि इस वनमें अब आप ही हमारे रक्षक हैं॥ १५½॥

मया चैतद् वचः श्रुत्वा कार्त्स्न्येन परिपालनम्॥ १६॥
ऋषीणां दण्डकारण्ये संश्रुतं जनकात्मजे।

'जनकनन्दिनि! दण्डकारण्यमें ऋषियोंकी यह बात सुनकर मैंने पूर्णरूपसे उनकी रक्षा करनेकी प्रतिज्ञा की है॥ १६½॥

संश्रुत्य च न शक्ष्यामि जीवमानः प्रतिश्रवम्॥ १७॥
मुनीनामन्यथा कर्तुं सत्यमिष्टं हि मे सदा।

'मुनियोंके सामने यह प्रतिज्ञा करके अब मैं जीते-जी इस प्रतिज्ञाको मिथ्या नहीं कर सकूँगा; क्योंकि सत्यका पालन मुझे सदा ही प्रिय है॥ १७½॥

अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम्॥ १८॥
न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः।

'सीते! मैं अपने प्राण छोड़ सकता हूँ, तुम्हारा और लक्ष्मणका भी परित्याग कर सकता हूँ, किंतु अपनी प्रतिज्ञाको, विशेषतः ब्राह्मणोंके लिये की गयी प्रतिज्ञाको मैं कदापि नहीं तोड़ सकता॥ १८½॥

तदवश्यं मया कार्यमृषीणां परिपालनम्॥ १९॥
अनुक्तेनापि वैदेहि प्रतिज्ञाय कथं पुनः।

'इसलिये ऋषियोंकी रक्षा करना मेरे लिये आवश्यक कर्तव्य है। विदेहनन्दिनि! ऋषियोंके बिना कहे ही उनकी मुझे रक्षा करनी चाहिये थी; फिर जब उन्होंने स्वयं कहा और मैंने प्रतिज्ञा भी कर ली, तब अब उनकी रक्षासे कैसे मुँह मोड़ सकता हूँ॥ १९½॥

मम स्नेहाच्च सौहार्दादिदमुक्तं त्वया वचः॥ २०॥
परितुष्टोऽस्म्यहं सीते न ह्यनिष्टोऽनुशास्यते।

'सीते! तुमने स्नेह और सौहार्दवश जो मुझसे ये बातें कही हैं, इससे मैं बहुत संतुष्ट हूँ; क्योंकि जो अपना प्रिय न हो, उसे कोई हितकर उपदेश नहीं देता॥ २०½॥

सदृशं चानुरूपं च कुलस्य तव शोभने।
सधर्मचारिणी मे त्वं प्राणेभ्योऽपि गरीयसी॥ २१॥

'शोभने! तुम्हारा यह कथन तुम्हारे योग्य तो है ही, तुम्हारे कुलके भी सर्वथा अनुरूप है। तुम मेरी सहधर्मिणी हो और मुझे प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय हो'॥ २१॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं महात्मा
सीतां प्रियां मैथिलराजपुत्रीम्।
रामो धनुष्मान् सह लक्ष्मणेन
जगाम रम्याणि तपोवनानि॥ २२॥

महात्मा श्रीरामचन्द्रजी अपनी प्रिया मिथिलेशकुमारी सीतासे ऐसा वचन कहकर हाथमें धनुष ले लक्ष्मणके साथ रमणीय तपोवनोंमें विचरण करने लगे॥ २२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे दशमः सर्गः॥ १०॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें दसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १०॥

—★—

एकादशः सर्गः

पञ्चाप्सर तीर्थ एवं माण्डकर्णि मुनिकी कथा, विभिन्न आश्रमोंमें घूमकर श्रीराम आदिका सुतीक्ष्णके आश्रममें आना, वहाँ कुछ कालतक रहकर उनकी आज्ञासे अगस्त्यके भाई तथा अगस्त्यके आश्रमपर जाना तथा अगस्त्यके प्रभावका वर्णन

अग्रतः प्रययौ रामः सीता मध्ये सुशोभना।
पृष्ठतस्तु धनुष्पाणिर्लक्ष्मणोऽनुजगाम ह॥ १॥

तदनन्तर आगे-आगे श्रीराम चले, बीचमें परम सुन्दरी सीता चल रही थीं और उनके पीछे हाथमें धनुष लिये लक्ष्मण चलने लगे॥ १॥

तौ पश्यमानौ विविधाञ्शैलप्रस्थान् वनानि च।
नदीश्च विविधा रम्या जग्मतुः सह सीतया॥ २॥

सीताके साथ वे दोनों भाई भाँति-भाँतिके पर्वतीय शिखरों, वनों तथा नाना प्रकारकी रमणीय नदियोंको देखते हुए अग्रसर होने लगे॥ २॥

सारसांश्चक्रवाकांश्च नदीपुलिनचारिणः।
सरांसि च सपद्मानि युतानि जलजैः खगैः॥ ३॥

उन्होंने देखा, कहीं नदियोंके तटोंपर सारस और चक्रवाक विचर रहे हैं और कहीं खिले हुए कमलों और जलचर पक्षियोंसे युक्त सरोवर शोभा पाते हैं॥ ३॥

यूथबद्धांश्च पृषतान् मदोन्मत्तान् विषाणिनः।
महिषांश्च वराहांश्च गजांश्च द्रुमवैरिणः॥ ४॥

कहीं चितकबरे मृग यूथ बाँधे चले जा रहे थे, कहीं बड़े-बड़े सींगवाले मदमत्त भैंसे तथा बढ़े हुए दाँतवाले जंगली सूअर और वृक्षोंके वैरी दन्तार हाथी दिखायी देते थे॥ ४॥

ते गत्वा दूरमध्वानं लम्बमाने दिवाकरे।
ददृशुः सहिता रम्यं तटाकं योजनायुतम्॥ ५॥

दूरतक यात्रा ते करनेके बाद जब सूर्य अस्ताचलको जाने लगे, तब उन तीनोंने एक साथ देखा—सामने एक बड़ा ही सुन्दर तालाब है, जिसकी लम्बाई-चौड़ाई एक-एक योजनकी जान पड़ती है॥ ५॥

पद्मपुष्करसम्बाधं गजयूथैरलंकृतम्।
सारसैर्हंसकादम्बैः संकुलं जलजातिभिः॥ ६॥

वह सरोवर लाल और श्वेत कमलोंसे भरा हुआ था। उसमें क्रीड़ा करते हुए झुंड-के-झुंड हाथी उसकी शोभा बढ़ाते थे। तथा सारस, राजहंस और कलहंस आदि पक्षियों एवं जलमें उत्पन्न होनेवाले मत्स्य आदि जन्तुओंसे वह व्याप्त दिखायी देता था॥ ६॥

प्रसन्नसलिले रम्ये तस्मिन् सरसि शुश्रुवे।
गीतवादित्रनिर्घोषो न तु कश्चन दृश्यते॥ ७॥

स्वच्छ जलसे भरे हुए उस रमणीय सरोवरमें गाने-बजानेका शब्द सुनायी देता था, किंतु कोई दिखायी नहीं दे रहा था॥ ७॥

ततः कौतूहलाद् रामो लक्ष्मणश्च महारथः।
मुनिं धर्मभृतं नाम प्रष्टुं समुपचक्रमे॥ ८॥

तब श्रीराम और महारथी लक्ष्मणने कौतूहलवश अपने साथ आये हुए धर्मभृत् नामक मुनिसे पूछना आरम्भ किया—॥ ८॥

इदमत्यद्भुतं श्रुत्वा सर्वेषां नो महामुने।
कौतूहलं महज्जातं किमिदं साधु कथ्यताम्॥ ९॥

'महामुने! यह अत्यन्त अद्भुत संगीतकी ध्वनि सुनकर हम सब लोगोंको बड़ा कौतूहल हो रहा है। यह क्या है, इसे अच्छी तरह बताइये'॥ ९॥

तेनैवमुक्तो धर्मात्मा राघवेण मुनिस्तदा।
प्रभावं सरसः क्षिप्रमाख्यातुमुपचक्रमे॥ १०॥

श्रीरामचन्द्रजीके इस प्रकार पूछनेपर धर्मात्मा धर्मभृत् नामक मुनिने तुरंत ही उस सरोवरके प्रभावका वर्णन आरम्भ किया—॥ १०॥

इदं पञ्चाप्सरो नाम तटाकं सार्वकालिकम्।
निर्मितं तपसा राम मुनिना माण्डकर्णिना॥ ११॥

'श्रीराम! यह पञ्चाप्सर नामक सरोवर है, जो सर्वदा अगाध जलसे भरा रहता है। माण्डकर्णि नामक मुनिने अपने तपके द्वारा इसका निर्माण किया था॥ ११॥

स हि तेपे तपस्तीव्रं माण्डकर्णिर्महामुनिः।
दशवर्षसहस्राणि वायुभक्षो जलाशये॥ १२॥

'महामुनि माण्डकर्णिने एक जलाशयमें रहकर केवल वायुका आहार करते हुए दस सहस्र वर्षोंतक तीव्र तपस्या की थी॥ १२॥

ततः प्रव्यथिताः सर्वे देवाः साग्निपुरोगमाः।
अब्रुवन् वचनं सर्वे परस्परसमागताः॥ १३॥

'उस समय अग्नि आदि सब देवता उनके तपसे अत्यन्त व्यथित हो उठे और आपसमें मिलकर वे सब-के-सब इस प्रकार कहने लगे॥ १३॥

अस्माकं कस्यचित् स्थानमेष प्रार्थयते मुनिः।
इति संविग्नमनसः सर्वे तत्र दिवौकसः॥ १४॥

'जान पड़ता है, ये मुनि हमलोगोंमेंसे किसीके स्थानको लेना चाहते हैं, ऐसा सोचकर वे सब देवता वहाँ मन-ही-मन उद्विग्न हो उठे॥ १४॥

ततः कर्तुं तपोविघ्नं सर्वदेवैर्नियोजिताः।
प्रधानाप्सरसः पञ्च विद्युच्चलितवर्चसः॥ १५॥

'तब उनकी तपस्यामें विघ्न डालनेके लिये सम्पूर्ण

देवताओंने पाँच प्रधान अप्सराओंको नियुक्त किया, जिनकी अङ्गकान्ति विद्युत्‌के समान चञ्चल थी ॥ १५ ॥

अप्सरोभिस्ततस्ताभिर्मुनिर्दृष्टपरावरः ।
नीतो मदनवश्यत्वं देवानां कार्यसिद्धये ॥ १६ ॥

'तदनन्तर जिन्होंने लौकिक एवं पारलौकिक धर्माधर्मका ज्ञान प्राप्त कर लिया था, उन मुनिको उन पाँच अप्सराओंने देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये कामके अधीन कर दिया ॥

ताश्चैवाप्सरसः पञ्च मुनेः पत्नीत्वमागताः ।
तटाके निर्मितं तासां तस्मिन्नन्तर्हितं गृहम् ॥ १७ ॥

'मुनिकी पत्नी बनी हुई वे ही पाँच अप्सराएँ यहाँ रहती हैं। उनके रहनेके लिये इस तालाबके भीतर घर बना हुआ है, जो जलके अंदर छिपा हुआ है ॥ १७ ॥

तत्रैवाप्सरसः पञ्च निवसन्त्यो यथासुखम् ।
रमयन्ति तपोयोगान्मुनिं यौवनमास्थितम् ॥ १८ ॥

'उसी घरमें सुखपूर्वक रहती हुई पाँचों अप्सराएँ तपस्याके प्रभावसे युवावस्थाको प्राप्त हुए मुनिको अपनी सेवाओंसे संतुष्ट करती हैं ॥ १८ ॥

तासां संक्रीडमानानामेष वादित्रनिःस्वनः ।
श्रूयते भूषणोन्मिश्रो गीतशब्दो मनोहरः ॥ १९ ॥

'क्रीड़ा-विहारमें लगी हुई उन अप्सराओंके ही वाद्योंकी यह ध्वनि सुनायी देती है, जो भूषणोंकी झनकारके साथ मिली हुई है। साथ ही उनके गीतका भी मनोहर शब्द सुन पड़ता है' ॥ १९ ॥

आश्चर्यमिति तस्यैतद् वचनं भावितात्मनः ।
राघवः प्रतिजग्राह सह भ्रात्रा महायशाः ॥ २० ॥

अपने भाईके साथ महायशस्वी श्रीरघुनाथजीने उन भावितात्मा महर्षिके इस कथनको 'यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है' यों कहकर स्वीकार किया ॥ २० ॥

एवं कथयमानः स ददर्शाश्रममण्डलम् ।
कुशचीरपरिक्षिप्तं ब्राह्म्या लक्ष्म्या समावृतम् ॥ २१ ॥

इस प्रकार कहते हुए श्रीरामचन्द्रजीको एक आश्रम-मण्डल दिखायी दिया, जहाँ सब ओर कुश और वल्कल वस्त्र फैले हुए थे। वह आश्रम ब्राह्मी लक्ष्मी (ब्रह्मतेज) से प्रकाशित होता था ॥ २१ ॥

प्रविश्य सह वैदेह्या लक्ष्मणेन च राघवः ।
तदा तस्मिन् स काकुत्स्थः श्रीमत्याश्रममण्डले ॥ २२ ॥
उषित्वा स सुखं तत्र पूज्यमानो महर्षिभिः ।

विदेहनन्दिनी सीता तथा लक्ष्मणके साथ उस तेजस्वी आश्रममण्डलमें प्रवेश करके ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामने उस समय सुखपूर्वक निवास किया। वहाँके महर्षियोंने उनका बड़ा आदर-सत्कार किया ॥ २२½ ॥

जगाम चाश्रमांस्तेषां पर्यायेण तपस्विनाम् ॥ २३ ॥
येषामुषितवान् पूर्वं सकाशे स महास्त्रवित् ।

तदनन्तर महान् अस्त्रोंके ज्ञाता श्रीरामचन्द्रजी बारी-बारीसे उन सभी तपस्वी मुनियोंके आश्रमोंपर गये, जिनके यहाँ वे पहले रह चुके थे। उनके पास भी (उनकी भक्ति देख) दुबारा जाकर रहे ॥ २३½ ॥

क्वचित् परिदशान् मासानेकसंवत्सरं क्वचित् ॥ २४ ॥
क्वचिच्च चतुरो मासान् पञ्च षट् च परान् क्वचित् ।
अपरत्राधिकान् मासानध्यर्धमधिकं क्वचित् ॥ २५ ॥
त्रीन् मासानष्टमासांश्च राघवो न्यवसत् सुखम् ।

कहीं दस महीने, कहीं साल भर, कहीं चार महीने, कहीं पाँच या छः महीने, कहीं इससे भी अधिक समय (अर्थात् सात महीने), कहीं उससे भी अधिक (आठ महीने), कहीं आधे मास अधिक अर्थात् साढ़े आठ महीने, कहीं तीन महीने और कहीं आठ और तीन अर्थात् ग्यारह महीनेतक श्रीरामचन्द्रजीने सुखपूर्वक निवास किया ॥ २४-२५½ ॥

तत्र संवसतस्तस्य मुनीनामाश्रमेषु वै ॥ २६ ॥
रमतश्चानुकूल्येन ययुः संवत्सरा दश ।

इस प्रकार मुनियोंके आश्रमोंपर रहते और अनुकूलता पाकर आनन्दका अनुभव करते हुए उनके दस वर्ष बीत गये ॥ २६½ ॥

परिसृत्य च धर्मज्ञो राघवः सह सीतया ॥ २७ ॥
सुतीक्ष्णस्याश्रमपदं पुनरेवाजगाम ह ।

इस प्रकार सब ओर घूम-फिरकर धर्मके ज्ञाता भगवान् श्रीराम सीताके साथ फिर सुतीक्ष्णके आश्रमपर ही लौट आये ॥

स तमाश्रममागम्य मुनिभिः परिपूजितः ॥ २८ ॥
तत्रापि न्यवसद् रामः किंचित् कालमरिंदमः ।

शत्रुओंका दमन करनेवाले श्रीराम उस आश्रममें आकर वहाँ रहनेवाले मुनियोंद्वारा भलीभाँति सम्मानित हो वहाँ भी कुछ कालतक रहे ॥ २८½ ॥

अथाश्रमस्थो विनयात् कदाचित् तं महामुनिम् ॥ २९ ॥
उपासीनः स काकुत्स्थः सुतीक्ष्णमिदमब्रवीत् ।

उस आश्रममें रहते हुए श्रीरामने एक दिन महामुनि सुतीक्ष्णके पास बैठकर विनीतभावसे कहा— ॥ २९½ ॥

अस्मिन्नरण्ये भगवन्नगस्त्यो मुनिसत्तमः ॥ ३० ॥
वसतीति मया नित्यं कथाः कथयतां श्रुतम् ।
न तु जानामि तं देशं वनस्यास्य महत्तया ॥ ३१ ॥

'भगवन्! मैंने प्रतिदिन बातचीत करनेवाले लोगोंके मुँहसे सुना है कि इस वनमें कहीं मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यजी निवास करते हैं; किंतु इस वनकी विशालताके कारण मैं उस स्थानको नहीं जानता हूँ ॥ ३०-३१ ॥

कुत्राश्रमपदं रम्यं महर्षेस्तस्य धीमतः ।
प्रसादार्थं भगवतः सानुजः सह सीतया ॥ ३२ ॥
अगस्त्यमधिगच्छेयमभिवादयितुं मुनिम् ।
मनोरथो महानेष हृदि सम्परिवर्तते ॥ ३३ ॥

'उन बुद्धिमान् महर्षिका सुन्दर आश्रम कहाँ है? मैं लक्ष्मण और सीताके साथ भगवान् अगस्त्यको प्रसन्न करनेके लिये उन मुनीश्वरको प्रणाम करनेके उद्देश्यसे उनके आश्रमपर जाऊँ—यह महान् मनोरथ मेरे हृदयमें चक्कर लगा रहा है॥ ३२-३३॥

यदहं तं मुनिवरं शुश्रूषेयमपि स्वयम्।
इति रामस्य स मुनिः श्रुत्वा धर्मात्मनो वचः॥ ३४॥
सुतीक्ष्णः प्रत्युवाचेदं प्रीतो दशरथात्मजम्।

'मैं चाहता हूँ कि स्वयं भी मुनिवर अगस्त्यकी सेवा करूँ।' धर्मात्मा श्रीरामका यह वचन सुनकर सुतीक्ष्ण मुनि बड़े प्रसन्न हुए और उन दशरथनन्दनसे इस प्रकार बोले—॥ ३४½॥

अहमप्येतदेव त्वां वक्तुकामः सलक्ष्मणम्॥ ३५॥
अगस्त्यमभिगच्छेति सीतया सह राघव।
दिष्ट्या त्विदानीमर्थेऽस्मिन् स्वयमेव ब्रवीषि माम्॥ ३६॥

'रघुनन्दन! मैं भी लक्ष्मणसहित आपसे यही कहना चाहता था कि आप सीताके साथ महर्षि अगस्त्यके पास जायँ। सौभाग्यकी बात है कि इस समय आप स्वयं ही मुझसे वहाँ जानेके विषयमें पूछ रहे हैं॥ ३५-३६॥

अयमाख्यामि ते राम यत्रागस्त्यो महामुनिः।
योजनान्याश्रमात् तात याहि चत्वारि वै ततः।
दक्षिणेन महाञ्छ्रीमानगस्त्य भ्रातुराश्रमः॥ ३७॥

'श्रीराम! महामुनि अगस्त्य जहाँ रहते हैं, उस आश्रमका पता मैं अभी आपको बताये देता हूँ। तात! इस आश्रमसे चार योजन दक्षिण चले जाइये। वहाँ आपको अगस्त्यके भाईका बहुत बड़ा एवं सुन्दर आश्रम मिलेगा॥ ३७॥

स्थलीप्रायवनोद्देशे पिप्पलीवनशोभिते।
बहुपुष्पफलेरम्ये नानाविहगनादिते॥ ३८॥
पद्मिन्यो विविधास्तत्र प्रसन्नसलिलाशयाः।
हंसकारण्डवाकीर्णाश्चक्रवाकोपशोभिताः॥ ३९॥

'वहाँके वनकी भूमि प्रायः समतल है तथा पिप्पलीका वन उस आश्रमकी शोभा बढ़ाता है। वहाँ फूलों और फलोंकी बहुतायत है। नाना प्रकारके पक्षियोंके कलरवोंसे गूँजते हुए उस रमणीय आश्रमके पास भाँति-भाँतिके कमलमण्डित सरोवर हैं, जो स्वच्छ जलसे भरे हुए हैं। हंस और कारण्डव आदि पक्षी उनमें सब ओर फैले हुए हैं तथा चक्रवाक उनकी शोभा बढ़ाते हैं॥ ३८-३९॥

तत्रैकां रजनीं व्युष्य प्रभाते राम गम्यताम्।
दक्षिणां दिशमास्थाय वनखण्डस्य पार्श्वतः॥ ४०॥
तत्रागस्त्याश्रमपदं गत्वा योजनमन्तरम्।
रमणीये वनोद्देशे बहुपादपशोभिते॥ ४१॥

'श्रीराम! आप एक रात उस आश्रममें ठहरकर प्रातःकाल उस वनखण्डके किनारे दक्षिण दिशाकी ओर जायँ। इस प्रकार एक योजन आगे जानेपर अनेकानेक वृक्षोंसे सुशोभित वनके रमणीय भागमें अगस्त्य मुनिका आश्रम मिलेगा॥ ४०-४१॥

रंस्यते तत्र वैदेही लक्ष्मणश्च त्वया सह।
स हि रम्यो वनोद्देशो बहुपादपसंयुतः॥ ४२॥

'वहाँ विदेहनन्दिनी सीता और लक्ष्मण आपके साथ सानन्द विचरण करेंगे; क्योंकि बहुसंख्यक वृक्षोंसे सुशोभित वह वनप्रान्त बड़ा ही रमणीय है॥ ४२॥

यदि बुद्धिः कृता द्रष्टुमगस्त्यं तं महामुनिम्।
अद्यैव गमने बुद्धिं रोचयस्व महामते॥ ४३॥

'महामते! यदि आपने महामुनि अगस्त्यके दर्शनका निश्चित विचार कर लिया है तो आज ही वहाँकी यात्रा करनेका भी निश्चय करें'॥ ४३॥

इति रामो मुनेः श्रुत्वा सह भ्रात्राभिवाद्य च।
प्रतस्थेऽगस्त्यमुद्दिश्य सानुगः सह सीतया॥ ४४॥

मुनिका यह वचन सुनकर भाईसहित श्रीरामचन्द्रजीने उन्हें प्रणाम किया और सीता तथा लक्ष्मणके साथ अगस्त्यजीके आश्रमकी ओर चल दिये॥ ४४॥

पश्यन् वनानि चित्राणि पर्वतांश्चाभ्रसंनिभान्।
सरांसि सरितश्चैव पथि मार्गवशानुगान्॥ ४५॥

मार्गमें मिले हुए विचित्र-विचित्र वनों, मेघमालाके समान पर्वतमालाओं, सरोवरों और सरिताओंको देखते हुए वे आगे बढ़ते गये॥ ४५॥

सुतीक्ष्णेनोपदिष्टेन गत्वा तेन पथा सुखम्।
इदं परमसंहृष्टो वाक्यं लक्ष्मणमब्रवीत्॥ ४६॥

इस प्रकार सुतीक्ष्णके बताये हुए मार्गसे सुखपूर्वक चलते-चलते श्रीरामचन्द्रजीने अत्यन्त हर्षमें भरकर लक्ष्मणसे यह बात कही—॥ ४६॥

एतदेवाश्रमपदं नूनं तस्य महात्मनः।
अगस्त्यस्य मुनेर्भ्रातुर्दृश्यते पुण्यकर्मणः॥ ४७॥

'सुमित्रानन्दन! निश्चय ही यह पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले महात्मा अगस्त्यमुनिके भाईका आश्रम दिखायी दे रहा है॥ ४७॥

यथा हीमे वनस्यास्य ज्ञाताः पथि सहस्रशः।
संनताः फलभारेण पुष्पभारेण च द्रुमाः॥ ४८॥

'क्योंकि सुतीक्ष्णजीने जैसा बतलाया था, उसके अनुसार इस वनके मार्गमें फूलों और फलोंके भारसे झुके हुए सहस्रों परिचित वृक्ष शोभा पा रहे हैं॥ ४८॥

पिप्पलीनां च पक्वानां वनादस्मादुपागतः।
गन्धोऽयं पवनोत्क्षिप्तः सहसा कटुकोदयः॥ ४९॥

'इस वनमें पकी हुई पीपलियोंकी यह गन्ध वायुसे प्रेरित होकर सहसा इधर आयी है, जिससे कटु रसका उदय हो रहा है॥ ४९॥

तत्र तत्र च दृश्यन्ते संक्षिप्ताः काष्ठसंचयाः।
लूनाश्च परिदृश्यन्ते दर्भा वैदूर्यवर्चसः॥ ५०॥

'जहाँ-तहाँ लकड़ियोंके ढेर लगे दिखायी देते हैं और वैदूर्यमणिके समान रंगवाले कुश कटे हुए दृष्टिगोचर होते हैं॥ ५०॥

एतच्च वनमध्यस्थं कृष्णाभ्रशिखरोपमम्।
पावकस्याश्रमस्थस्य धूमाग्रं सम्प्रदृश्यते॥ ५१॥

'यह देखो, जंगलके बीचमें आश्रमकी अग्निका धुआँ उठता दिखायी दे रहा है, जिसका अग्रभाग काले मेघोंके ऊपरी भाग-सा प्रतीत होता है॥ ५१॥

विविक्तेषु च तीर्थेषु कृतस्नाना द्विजातयः।
पुष्पोपहारं कुर्वन्ति कुसुमैः स्वयमर्जितैः॥ ५२॥

'यहाँके एकान्त एवं पवित्र तीर्थोंमें स्नान करके आये हुए ब्राह्मण स्वयं चुनकर लाये हुए फूलोंसे देवताओंके लिये पुष्पोपहार अर्पित करते हैं॥ ५२॥

ततः सुतीक्ष्णवचनं यथा सौम्य मया श्रुतम्।
अगस्त्यस्याश्रमो भ्रातुर्नूनमेष भविष्यति॥ ५३॥

'सौम्य! मैंने सुतीक्ष्णजीका कथन जैसा सुना था, उसके अनुसार यह निश्चय ही अगस्त्यजीके भाईका आश्रम होगा॥ ५३॥

निगृह्य तरसा मृत्युं लोकानां हितकाम्यया।
यस्य भ्रात्रा कृतेयं दिक्शरण्या पुण्यकर्मणा॥ ५४॥

'इन्हींके भाई पुण्यकर्मा अगस्त्यजीने समस्त लोकोंके हितकी कामनासे मृत्युस्वरूप वातापि और इल्वलका वेगपूर्वक दमन करके इस दक्षिण दिशाको शरण लेनेके योग्य बना दिया॥ ५४॥

इहैकदा किल क्रूरो वातापिरपि चेल्वलः।
भ्रातरौ सहितावास्तां ब्राह्मणघ्नौ महासुरौ॥ ५५॥

'एक समयकी बात है, यहाँ क्रूर स्वभाववाला वातापि और इल्वल—ये दोनों भाई एक साथ रहते थे। ये दोनों महान् असुर ब्राह्मणोंकी हत्या करनेवाले थे॥ ५५॥

धारयन् ब्राह्मणं रूपमिल्वलः संस्कृतं वदन्।
आमन्त्रयति विप्रान् स श्राद्धमुद्दिश्य निर्घृणः॥ ५६॥
भ्रातरं संस्कृतं कृत्वा ततस्तं मेषरूपिणम्।
तान् द्विजान् भोजयामास श्राद्धदृष्टेन कर्मणा॥ ५७॥

'निर्दयी इल्वल ब्राह्मणका रूप धारण करके संस्कृत बोलता हुआ जाता और श्राद्धके लिये ब्राह्मणोंको निमन्त्रण दे आता था। फिर मेष (जीवशाक) का रूप धारण करनेवाले अपने भाई वातापिका संस्कार करके श्राद्धकल्पोक्त विधिसे ब्राह्मणोंको खिला देता था॥ ५६-५७॥

ततो भुक्तवतां तेषां विप्राणामिल्वलोऽब्रवीत्।
वातापे निष्क्रमस्वेति स्वरेण महता वदन्॥ ५८॥

'वे ब्राह्मण जब भोजन कर लेते, तब इल्वल उच्च स्वरसे बोलता—'वातापे! निकलो'॥ ५८॥

ततो भ्रातुर्वचः श्रुत्वा वातापिर्मेषवन्नदन्।
भित्त्वा भित्त्वा शरीराणि ब्राह्मणानां विनिष्पतत्॥ ५९॥

'भाईकी बात सुनकर वातापि भेड़के समान 'मैं-मैं' करता हुआ उन ब्राह्मणोंके पेट फाड़-फाड़कर निकल आता था॥

ब्राह्मणानां सहस्राणि तैरेवं कामरूपिभिः।
विनाशितानि संहत्य नित्यशः पिशिताशनैः॥ ६०॥

'इस प्रकार इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले उन मांसभक्षी असुरोंने प्रतिदिन मिलकर सहस्रों ब्राह्मणोंका विनाश कर डाला॥ ६०॥

अगस्त्येन तदा देवैः प्रार्थितेन महर्षिणा।
अनुभूय किल श्राद्धे भक्षितः स महासुरः॥ ६१॥

'उस समय देवताओंकी प्रार्थनासे महर्षि अगस्त्यने श्राद्धमें शाकरूपधारी उस महान् असुरको जान-बूझकर भक्षण किया॥ ६१॥

ततः सम्पन्नमित्युक्त्वा दत्त्वा हस्तेऽवनेजनम्।
भ्रातरं निष्क्रमस्वेति चेल्वलः समभाषत॥ ६२॥

'तदनन्तर श्राद्धकर्म सम्पन्न हो गया। ऐसा कहकर ब्राह्मणोंके हाथमें अवनेजनका जल दे इल्वलने भाईको सम्बोधित करके कहा, 'निकलो'॥ ६२॥

स तदा भाषमाणं तु भ्रातरं विप्रघातिनम्।
अब्रवीत् प्रहसन् धीमानगस्त्यो मुनिसत्तमः॥ ६३॥

'इस प्रकार भाईको पुकारते हुए उस ब्राह्मणघाती असुरसे बुद्धिमान् मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यने हँसकर कहा—॥ ६३॥

कुतो निष्क्रमितुं शक्तिर्मया जीर्णस्य रक्षसः।
भ्रातुस्तु मेषरूपस्य गतस्य यमसादनम्॥ ६४॥

'जिस जीवशाकरूपधारी तेरे भाई राक्षसको मैंने खाकर पचा लिया, वह तो यमलोकमें जा पहुँचा है। अब उसमें निकलनेकी शक्ति कहाँ है'॥ ६४॥

अथ तस्य वचः श्रुत्वा भ्रातुर्निधनसंश्रितम्।
प्रधर्षयितुमारेभे मुनिं क्रोधान्निशाचरः॥ ६५॥

'भाईकी मृत्युको सूचित करनेवाले मुनिके इस वचनको सुनकर उस निशाचरने क्रोधपूर्वक उन्हें मार डालनेका उद्योग आरम्भ किया॥ ६५॥

सोऽभ्यद्रवद् द्विजेन्द्रं तं मुनिना दीप्ततेजसा।
चक्षुषानलकल्पेन निर्दग्धो निधनं गतः॥ ६६॥

'उसने ज्यों ही द्विजराज अगस्त्यपर धावा किया, त्यों ही उद्दीप्त तेजवाले उन मुनिने अपनी अग्नितुल्य दृष्टिसे उस राक्षसको दग्ध कर डाला। इस प्रकार उसकी मृत्यु हो गयी॥

तस्यायमाश्रमो भ्रातुस्तटाकवनशोभितः।
विप्रानुकम्पया येन कर्मेदं दुष्करं कृतम्॥ ६७॥

'ब्राह्मणोंपर कृपा करके जिन्होंने यह दुष्कर कर्म किया था, उन्हीं महर्षि अगस्त्यके भाईका यह आश्रम है, जो सरोवर और वनसे सुशोभित हो रहा है'॥ ६७॥

एवं कथयमानस्य तस्य सौमित्रिणा सह।
रामस्यास्तं गतः सूर्यः संध्याकालोऽभ्यवर्तत॥ ६८॥

श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणके साथ इस प्रकार बातचीत कर रहे थे। इतनेमें ही सूर्यदेव अस्त हो गये और संध्याका समय हो गया॥ ६८॥

उपास्य पश्चिमां संध्यां सह भ्रात्रा यथाविधि।
प्रविवेशाश्रमपदं तमृषिं चाभ्यवादयत्॥ ६९॥

तब भाईके साथ विधिपूर्वक सायं संध्योपासना करके श्रीरामने आश्रममें प्रवेश किया और उन महर्षिके चरणोंमें मस्तक झुकाया॥ ६९॥

सम्यक्प्रतिगृहीतस्तु मुनिना तेन राघवः।
न्यवसत् तां निशामेकां प्राश्य मूलफलानि च॥ ७०॥

मुनिने उनका यथावत् आदर-सत्कार किया। सीता और लक्ष्मणसहित श्रीराम वहाँ फल-मूल खाकर एक रात उस आश्रममें रहे॥ ७०॥

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायामुदिते रविमण्डले।
भ्रातरं तमगस्त्यस्य आमन्त्रयत राघवः॥ ७१॥

वह रात बीतनेपर जब सूर्योदय हुआ, तब श्रीरामचन्द्रजीने अगस्त्यके भाईसे विदा माँगते हुए कहा— ॥ ७१॥

अभिवादये त्वां भगवन् सुखमस्म्युषितो निशाम्।
आमन्त्रये त्वां गच्छामि गुरुं ते द्रष्टुमग्रजम्॥ ७२॥

'भगवन्! मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ। यहाँ रातभर बड़े सुखसे रहा हूँ। अब आपके बड़े भाई मुनिवर अगस्त्यका दर्शन करनेके लिये जाऊँगा। इसके लिये आपसे आज्ञा चाहता हूँ'॥ ७२॥

गम्यतामिति तेनोक्तो जगाम रघुनन्दनः।
यथोद्दिष्टेन मार्गेण वनं तच्चावलोकयन्॥ ७३॥

तब महर्षिने कहा, 'बहुत अच्छा, जाइये।' इस प्रकार महर्षिसे आज्ञा पाकर भगवान् श्रीराम सुतीक्ष्णके बताये हुए मार्गसे वनकी शोभा देखते हुए आगे चले॥ ७३॥

नीवारान् पनसान् सालान् वञ्जुलांस्तिनिशांस्तथा।
चिरिबिल्वान् मधूकांश्च बिल्वानथ च तिन्दुकान्॥
पुष्पितान् पुष्पिताग्राभिर्लताभिरुपशोभितान्।
ददर्श रामः शतशस्तत्र कान्तारपादपान्॥ ७५॥
हस्तिहस्तैर्विमृदितान् वानरैरुपशोभितान्।
मत्तैः शकुनिसङ्घैश्च शतशः प्रतिनादितान्॥ ७६॥

श्रीरामने वहाँ मार्गमें नीवार (जलकदम्ब), कटहल, साखू, अशोक, तिनिश, चिरिबिल्व, महुआ, बेल, तेंदू तथा और भी सैकड़ों जंगली वृक्ष देखे, जो फूलोंसे भरे थे तथा खिली हुई लताओंसे परिवेष्टित हो बड़ी शोभा पा रहे थे। उनमेंसे कई वृक्षोंको हाथियोंने अपनी सूँड़ोंसे तोड़कर मसल डाला था और बहुत-से वृक्षोंपर बैठे हुए वानर उनकी शोभा बढ़ाते थे। सैकड़ों मतवाले पक्षी उनकी डालियोंपर चहक रहे थे॥ ७४—७६॥

ततोऽब्रवीत् समीपस्थं रामो राजीवलोचनः।
पृष्ठतोऽनुगतं वीरं लक्ष्मणं लक्ष्मिवर्धनम्॥ ७७॥

उस समय कमलनयन श्रीराम अपने पीछे-पीछे आते हुए शोभावर्धक वीर लक्ष्मणसे, जो उनके निकट ही थे, इस प्रकार बोले— ॥ ७७॥

स्निग्धपत्रा यथा वृक्षा यथा क्षान्ता मृगद्विजाः।
आश्रमो नातिदूरस्थो महर्षेर्भावितात्मनः॥ ७८॥

'यहाँके वृक्षोंके पत्ते जैसे सुने गये थे, वैसे ही चिकने दिखायी देते हैं तथा पशु और पक्षी क्षमाशील एवं शान्त हैं। इससे जान पड़ता है, उन भावितात्मा (शुद्ध अन्तःकरणवाले) महर्षि अगस्त्यका आश्रम यहाँसे अधिक दूर नहीं है॥ ७८॥

अगस्त्य इति विख्यातो लोके स्वेनैव कर्मणा।
आश्रमो दृश्यते तस्य परिश्रान्तश्रमापहः॥ ७९॥

'जो अपने कर्मसे ही संसारमें अगस्त्य[1] के नामसे विख्यात हुए हैं, उन्हींका यह आश्रम दिखायी देता है, जो थके-माँदे पथिकोंकी थकावटको दूर करनेवाला है॥ ७९॥

प्राज्यधूमाकुलवनश्चीरमालापरिष्कृतः।
प्रशान्तमृगयूथश्च नानाशकुनिनादितः॥ ८०॥

'इस आश्रमके वन यज्ञ-यागसम्बन्धी अधिक धूमोंसे व्याप्त हैं। चीरवस्त्रोंकी पंक्तियाँ इसकी शोभा बढ़ाती हैं। यहाँके मृगोंके झुंड सदा शान्त रहते हैं तथा इस आश्रममें नाना प्रकारके पक्षियोंके कलरव गूँजते रहते हैं॥ ८०॥

निगृह्य तरसा मृत्युं लोकानां हितकाम्यया।
दक्षिणा दिक् कृता येन शरण्या पुण्यकर्मणा॥ ८१॥
तस्येदमाश्रमपदं प्रभावाद् यस्य राक्षसैः।
दिगियं दक्षिणा त्रासाद् दृश्यते नोपभुज्यते॥ ८२॥

'जिन पुण्यकर्मा महर्षि अगस्त्यने समस्त लोकोंकी हितकामनासे मृत्युस्वरूप राक्षसोंका वेगपूर्वक दमन करके इस दक्षिण दिशाको शरण लेनेके योग्य बना दिया तथा जिनके प्रभावसे राक्षस इस दक्षिण दिशाको केवल दूरसे भयभीत होकर देखते हैं, इसका उपभोग भी नहीं करते, उन्हींका यह आश्रम है॥ ८१-८२॥

यदाप्रभृति चाक्रान्ता दिगियं पुण्यकर्मणा।
तदाप्रभृति निर्वैराः प्रशान्ता रजनीचराः॥ ८३॥

'पुण्यकर्मा महर्षि अगस्त्यने जबसे इस दिशामें पदार्पण किया है, तबसे यहाँके निशाचर वैररहित और शान्त हो गये हैं॥

नाम्ना चेयं भगवतो दक्षिणा दिक्प्रदक्षिणा।
प्रथिता त्रिषु लोकेषु दुर्धर्षा क्रूरकर्मभिः॥ ८४॥

---

१. अगं पर्वतं स्तम्भयति इति अगस्त्यः—जो अग अर्थात् पर्वतको स्तम्भित कर दे, उसे अगस्त्य कहते हैं।

'भगवान् अगस्त्यकी महिमासे इस आश्रमके आस-पास निर्वैरता आदि गुणोंके सम्पादनमें समर्थ तथा क्रूरकर्मा राक्षसोंके लिये दुर्जय होनेके कारण यह सम्पूर्ण दिशा नामसे भी तीनों लोकोंमें 'दक्षिणा' ही कहलायी, इसी नामसे विख्यात हुई तथा इसे 'अगस्त्यकी दिशा' भी कहते हैं॥

मार्गं निरोद्धुं सततं भास्करस्याचलोत्तमः।
संदेशं पालयंस्तस्य विन्ध्यशैलो न वर्धते॥ ८५॥

'एक बार पर्वतश्रेष्ठ विन्ध्य सूर्यका मार्ग रोकनेके लिये बढ़ा था, किंतु महर्षि अगस्त्यके कहनेसे वह नम्र हो गया। तबसे आजतक निरन्तर उनके आदेशका पालन करता हुआ वह कभी नहीं बढ़ता॥ ८५॥

अयं दीर्घायुषस्तस्य लोके विश्रुतकर्मणः।
अगस्त्यस्याश्रमः श्रीमान् विनीतमृगसेवितः॥ ८६॥

'वे दीर्घायु महात्मा हैं। उनका कर्म (समुद्रशोषण आदि कार्य) तीनों लोकोंमें विख्यात है। उन्हीं अगस्त्यका यह शोभा सम्पन्न आश्रम है, जो विनीत मृगोंसे सेवित है॥ ८६॥

एष लोकार्चितः साधुर्हिते नित्यं रतः सताम्।
अस्मानधिगतानेष श्रेयसा योजयिष्यति॥ ८७॥

'ये महात्मा अगस्त्यजी सम्पूर्ण लोकोंके द्वारा पूजित तथा सदा सज्जनोंके हितमें लगे रहनेवाले हैं। अपने पास आये हुए हमलोगोंको वे अपने आशीर्वादसे कल्याणके भागी बनायेंगे॥ ८७॥

आराधयिष्याम्यत्राहमगस्त्यं तं महामुनिम्।
शेषं च वनवासस्य सौम्य वत्स्याम्यहं प्रभो॥ ८८॥

'सेवा करनेमें समर्थ सौम्य लक्ष्मण! यहाँ रहकर मैं उन महामुनि अगस्त्यकी आराधना करूँगा और वनवासके शेष दिन यहीं रहकर बिताऊँगा॥ ८८॥

अत्र देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः।
अगस्त्यं नियताहाराः सततं पर्युपासते॥ ८९॥

'देवता, गन्धर्व, सिद्ध और महर्षि यहाँ नियमित आहार करते हुए सदा अगस्त्य मुनिकी उपासना करते हैं॥ ८९॥

नात्र जीवेन्मृषावादी क्रूरो वा यदि वा शठः।
नृशंसः पापवृत्तो वा मुनिरेष तथाविधः॥ ९०॥

'ये ऐसे प्रभावशाली मुनि हैं कि इनके आश्रममें कोई झूठ बोलनेवाला, क्रूर, शठ, नृशंस अथवा पापाचारी मनुष्य जीवित नहीं रह सकता॥ ९०॥

अत्र देवाश्च यक्षाश्च नागाश्च पतगैः सह।
वसन्ति नियताहारा धर्ममाराधयिष्णवः॥ ९१॥

'यहाँ धर्मकी आराधना करनेके लिये देवता, यक्ष, नाग और पक्षी नियमित आहार करते हुए निवास करते हैं॥

अत्र सिद्धा महात्मानो विमानैः सूर्यसंनिभैः।
त्यक्त्वा देहान् नवैर्देहैः स्वर्याताः परमर्षयः॥ ९२॥

'इस आश्रमपर अपने शरीरोंको त्यागकर अनेकानेक सिद्ध, महात्मा, महर्षि नूतन शरीरोंके साथ सूर्यतुल्य तेजस्वी विमानोंद्वारा स्वर्गलोकको प्राप्त हुए हैं॥ ९२॥

यक्षत्वममरत्वं च राज्यानि विविधानि च।
अत्र देवाः प्रयच्छन्ति भूतैराराधिताः शुभैः॥ ९३॥

'यहाँ सत्कर्मपरायण प्राणियोंद्वारा आराधित हुए देवता उन्हें यक्षत्व, अमरत्व तथा नाना प्रकारके राज्य प्रदान करते हैं॥ ९३॥

आगताः स्माश्रमपदं सौमित्रे प्रविशाग्रतः।
निवेदयेह मां प्राप्तमृषये सह सीतया॥ ९४॥

'सुमित्रानन्दन! अब हमलोग आश्रमपर आ पहुँचे। तुम पहले प्रवेश करो और महर्षियोंको सीताके साथ मेरे आगमनकी सूचना दो'॥ ९४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकादशः सर्गः॥ ११॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें ग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ११॥

—★—

द्वादशः सर्गः

श्रीराम आदिका अगस्त्यके आश्रममें प्रवेश, अतिथि-सत्कार तथा मुनिकी ओरसे उन्हें दिव्य अस्त्र-शस्त्रोंकी प्राप्ति

स प्रविश्याश्रमपदं लक्ष्मणो राघवानुजः।
अगस्त्यशिष्यमासाद्य वाक्यमेतदुवाच ह॥ १॥

श्रीरामचन्द्रजीके छोटे भाई लक्ष्मणने आश्रममें प्रवेश करके अगस्त्यजीके शिष्यसे भेंट की और उनसे यह बात कही—॥ १॥

राजा दशरथो नाम ज्येष्ठस्तस्य सुतो बली।
रामः प्राप्तो मुनिं द्रष्टुं भार्यया सह सीतया॥ २॥

'मुने! अयोध्यामें जो दशरथ नामसे प्रसिद्ध राजा थे, उन्हींके ज्येष्ठ पुत्र महाबली श्रीरामचन्द्रजी अपनी पत्नी सीताके साथ महर्षिका दर्शन करनेके लिये आये हैं॥ २॥

लक्ष्मणो नाम तस्याहं भ्राता त्ववरजो हितः।
अनुकूलश्च भक्तश्च यदि ते श्रोत्रमागतः॥ ३॥

'मैं उनका छोटा भाई, हितैषी और अनुकूल चलनेवाला भक्त हूँ। मेरा नाम लक्ष्मण है। सम्भव है यह नाम कभी आपके कानोंमें पड़ा हो॥ ३॥

ते वयं वनमत्युग्रं प्रविष्टाः पितृशासनात्।
द्रष्टुमिच्छामहे सर्वे भगवन्तं निवेद्यताम्॥ ४॥

'हम सब लोग पिताकी आज्ञासे इस अत्यन्त भयंकर

वनमें आये हैं और भगवान् अगस्त्य मुनिका दर्शन करना चाहते हैं। आप उनसे यह समाचार निवेदन कीजिये'॥ ४॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणस्य तपोधनः।
तथेत्युक्त्वाग्निशरणं प्रविवेश निवेदितुम्॥ ५॥

लक्ष्मणकी वह बात सुनकर उन तपोधनने 'बहुत अच्छा' कहकर महर्षिको समाचार देनेके लिये अग्निशालामें प्रवेश किया॥ ५॥

स प्रविश्य मुनिश्रेष्ठं तपसा दुष्प्रधर्षणम्।
कृताञ्जलिरुवाचेदं रामागमनमञ्जसा॥ ६॥
यथोक्तं लक्ष्मणेनैव शिष्योऽगस्त्यस्य सम्मतः।

अग्निशालामें प्रवेश करके अगस्त्यके उस प्रिय शिष्यने जो अपनी तपस्याके प्रभावसे दूसरोंके लिये दुर्जय थे, उन मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यके पास जा हाथ जोड़ लक्ष्मणके कथनानुसार उन्हें श्रीरामचन्द्रजीके आगमनका समाचार शीघ्रतापूर्वक यों सुनाया—॥ ६½॥

पुत्रौ दशरथस्येमौ रामो लक्ष्मण एव च॥ ७॥
प्रविष्टावाश्रमपदं सीतया सह भार्यया।
द्रष्टुं भवन्तमायातौ शुश्रूषार्थमरिंदमौ॥ ८॥
यदत्रानन्तरं तत् त्वमाज्ञापयितुमर्हसि।

'महामुने! राजा दशरथके ये दो पुत्र श्रीराम और लक्ष्मण आश्रममें पधारे हैं। श्रीराम अपनी धर्मपत्नी सीताके साथ हैं। ये दोनों शत्रुदमन वीर आपकी सेवाके उद्देश्यसे आपका दर्शन करनेके लिये आये हैं। अब इस विषयमें जो कुछ कहना या करना हो, इसके लिये आप मुझे आज्ञा दें'॥

ततः शिष्यादुपश्रुत्य प्राप्तं रामं सलक्ष्मणम्॥ ९॥
वैदेहीं च महाभागामिदं वचनमब्रवीत्।

शिष्यसे लक्ष्मणसहित श्रीराम और महाभागा विदेहनन्दिनी सीताके शुभागमनका समाचार सुनकर महर्षिने इस प्रकार कहा—॥ ९½॥

दिष्ट्या रामश्चिरस्याद्य द्रष्टुं मां समुपागतः॥ १०॥
मनसा काङ्क्षितं ह्यस्य मयाप्यागमनं प्रति।
गम्यतां सत्कृतो रामः सभार्यः सहलक्ष्मणः॥ ११॥
प्रवेश्यतां समीपं मे किमसौ न प्रवेशितः।

'सौभाग्यकी बात है कि आज चिरकालके बाद श्रीरामचन्द्रजी स्वयं ही मुझसे मिलनेके लिये आ गये। मेरे मनमें भी बहुत दिनोंसे यह अभिलाषा थी कि वे एक बार मेरे आश्रमपर पधारते। जाओ, पत्नीसहित श्रीराम और लक्ष्मणको सत्कारपूर्वक आश्रमके भीतर मेरे समीप ले आओ। तुम अबतक उन्हें ले क्यों नहीं आये?'॥

एवमुक्तस्तु मुनिना धर्मज्ञेन महात्मना॥ १२॥
अभिवाद्याब्रवीच्छिष्यस्तथेति नियताञ्जलिः।

धर्मज्ञ महात्मा अगस्त्य मुनिके ऐसा कहनेपर शिष्यने हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया और कहा—'बहुत अच्छा अभी ले आता हूँ'॥ १२½॥

तदा निष्क्रम्य सम्भ्रान्तः शिष्यो लक्ष्मणमब्रवीत्॥ १३॥
कोऽसौ रामो मुनिं द्रष्टुमेतु प्रविशतु स्वयम्।

इसके बाद वह शिष्य आश्रमसे निकलकर शीघ्रतापूर्वक लक्ष्मणके पास गया और बोला—'श्रीरामचन्द्रजी कौन हैं? वे स्वयं आश्रममें प्रवेश करें और मुनिका दर्शन करनेके लिये चलें'॥ १३½॥

ततो गत्वाऽऽश्रमपदं शिष्येण सह लक्ष्मणः॥ १४॥
दर्शयामास काकुत्स्थं सीतां च जनकात्मजाम्।

तब लक्ष्मणने शिष्यके साथ आश्रमके द्वारपर जाकर उसे श्रीरामचन्द्रजी तथा जनककिशोरी श्रीसीताका दर्शन कराया॥

तं शिष्यः प्रश्रितं वाक्यमगस्त्यवचनं ब्रुवन्॥ १५॥
प्रावेशयद् यथान्यायं सत्कारार्हं सुसत्कृतम्।

शिष्यने बड़ी विनयके साथ महर्षि अगस्त्यकी कही हुई बात वहाँ दुहरायी और जो सत्कारके योग्य थे, उन श्रीरामका यथोचित रीतिसे भलीभाँति सत्कार करके वह उन्हें आश्रममें ले गया॥ १५½॥

प्रविवेश ततो रामः सीतया सह लक्ष्मणः॥ १६॥
प्रशान्तहरिणाकीर्णमाश्रमं ह्यवलोकयन्।
स तत्र ब्रह्मणः स्थानमग्नेः स्थानं तथैव च॥ १७॥

उस समय श्रीरामने लक्ष्मण और सीताके साथ आश्रममें प्रवेश किया। वह आश्रम शान्तभावसे रहनेवाले हरिणोंसे भरा हुआ था। आश्रमकी शोभा देखते हुए उन्होंने वहाँ ब्रह्माजीका स्थान और अग्निदेवका स्थान देखा॥ १६-१७॥

विष्णोः स्थानं महेन्द्रस्य स्थानं चैव विवस्वतः।
सोमस्थानं भगस्थानं स्थानं कौबेरमेव च॥ १८॥
धातुर्विधातुः स्थानं च वायोः स्थानं तथैव च।
स्थानं च पाशहस्तस्य वरुणस्य महात्मनः॥ १९॥
स्थानं तथैव गायत्र्या वसूनां स्थानमेव च।
स्थानं च नागराजस्य गरुडस्थानमेव च॥ २०॥
कार्तिकेयस्य च स्थानं धर्मस्थानं च पश्यति।

फिर क्रमशः भगवान् विष्णु, महेन्द्र, सूर्य, चन्द्रमा, भग, कुबेर, धाता, विधाता, वायु, पाशधारी महात्मा वरुण, गायत्री, वसु, नागराज अनन्त, गरुड़, कार्तिकेय तथा धर्मराजके पृथक्-पृथक् स्थानका निरीक्षण किया॥ १८—२०½॥

ततः शिष्यैः परिवृतो मुनिरप्यभिनिष्पतत्॥ २१॥
तं ददर्शाग्रतो रामो मुनीनां दीप्ततेजसाम्।
अब्रवीद् वचनं वीरो लक्ष्मणं लक्ष्मिवर्धनम्॥ २२॥

इतनेहीमें मुनिवर अगस्त्य भी शिष्योंसे घिरे हुए अग्निशालासे बाहर निकले। वीर श्रीरामने मुनियोंके आगे-आगे आते हुए उद्दीप्त तेजस्वी अगस्त्यजीका दर्शन किया और अपनी शोभाका विस्तार करनेवाले लक्ष्मणसे इस प्रकार कहा—॥ २१-२२॥

बहिर्लक्ष्मण निष्क्रामत्यगस्त्यो भगवानृषिः।
औदार्येणावगच्छामि निधानं तपसामिमम्॥ २३॥

'लक्ष्मण! भगवान् अगस्त्य मुनि आश्रमसे बाहर निकल रहे हैं। ये तपस्याके निधि हैं। इनके विशिष्ट तेजके आधिक्यसे ही मुझे पता चलता है कि ये अगस्त्यजी हैं'॥

एवमुक्त्वा महाबाहुरगस्त्यं सूर्यवर्चसम्।
जग्राहापततस्तस्य पादौ च रघुनन्दनः॥ २४॥

सूर्यतुल्य तेजस्वी महर्षि अगस्त्यके विषयमें ऐसा कहकर महाबाहु रघुनन्दनने सामनेसे आते हुए उन मुनीश्वरके दोनों चरण पकड़ लिये॥ २४॥

अभिवाद्य तु धर्मात्मा तस्थौ रामः कृताञ्जलिः।
सीतया सह वैदेह्या तदा रामः सलक्ष्मणः॥ २५॥

जिनमें योगियोंका मन रमण करता है अथवा जो भक्तोंको आनन्द प्रदान करनेवाले हैं, वे धर्मात्मा श्रीराम उस समय विदेहकुमारी सीता और लक्ष्मणके साथ महर्षिके चरणोंमें प्रणाम करके हाथ जोड़कर खड़े हो गये॥ २५॥

प्रतिगृह्य च काकुत्स्थमर्चयित्वाऽऽसनोदकैः।
कुशलप्रश्नमुक्त्वा च आस्यतामिति सोऽब्रवीत्॥ २६॥

महर्षिने भगवान् श्रीरामको हृदयसे लगाया और आसन तथा जल (पाद्य, अर्घ्य आदि) देकर उनका आतिथ्य-सत्कार किया। फिर कुशल-समाचार पूछकर उन्हें बैठनेको कहा॥ २६॥

अग्निं हुत्वा प्रदायार्घ्यमतिथीन् प्रतिपूज्य च।
वानप्रस्थेन धर्मेण स तेषां भोजनं ददौ॥ २७॥

अगस्त्यजीने पहले अग्निमें आहुति दी, फिर वानप्रस्थ-धर्मके अनुसार अर्घ्य दे अतिथियोंका भलीभाँति पूजन करके उनके लिये भोजन दिया॥ २७॥

प्रथमं चोपविश्याथ धर्मज्ञो मुनिपुंगवः।
उवाच राममासीनं प्राञ्जलिं धर्मकोविदम्॥ २८॥
अग्निं हुत्वा प्रदायार्घ्यमतिथिं प्रतिपूजयेत्।
अन्यथा खलु काकुत्स्थ तपस्वी समुदाचरन्।
दुःसाक्षीव परे लोके स्वानि मांसानि भक्षयेत्॥ २९॥

धर्मके ज्ञाता मुनिवर अगस्त्यजी पहले स्वयं बैठे, फिर धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्रजी हाथ जोड़कर आसनपर विराजमान हुए। इसके बाद महर्षिने उनसे कहा—'काकुत्स्थ! वानप्रस्थको चाहिये कि वह पहले अग्निको आहुति दे। तदनन्तर अर्घ्य देकर अतिथिका पूजन करे। जो तपस्वी इसके विपरीत आचरण करता है, उसे झूठी गवाही देनेवालेकी भाँति परलोकमें अपने ही शरीरका मांस खाना पड़ता है॥

राजा सर्वस्य लोकस्य धर्मचारी महारथः।
पूजनीयश्च मान्यश्च भवान् प्राप्तः प्रियातिथिः॥ ३०॥

'आप सम्पूर्ण लोकके राजा, महारथी और धर्मका आचरण करनेवाले हैं तथा मेरे प्रिय अतिथिके रूपमें इस आश्रमपर पधारे हैं, अतएव आप हमलोगोंके माननीय एवं पूजनीय हैं'॥ ३०॥

एवमुक्त्वा फलैर्मूलैः पुष्पैश्चान्यैश्च राघवम्।
पूजयित्वा यथाकामं ततोऽगस्त्यस्तमब्रवीत्॥ ३१॥

ऐसा कहकर महर्षि अगस्त्यने फल, मूल, फूल तथा अन्य उपकरणोंसे इच्छानुसार भगवान् श्रीरामका पूजन किया। तत्पश्चात् अगस्त्यजी उनसे इस प्रकार बोले—॥

इदं दिव्यं महच्चापं हेमवज्रविभूषितम्।
वैष्णवं पुरुषव्याघ्र निर्मितं विश्वकर्मणा॥ ३२॥
अमोघः सूर्यसंकाशो ब्रह्मदत्तः शरोत्तमः।
दत्तौ मम महेन्द्रेण तूणी चाक्षय्यसायकौ॥ ३३॥
सम्पूर्णौ निशितैर्बाणैर्ज्वलद्भिरिव पावकैः।
महाराजतकोशोऽयमसिर्हेमविभूषितः॥ ३४॥

'पुरुषसिंह! यह महान् दिव्य धनुष विश्वकर्माजीने बनाया है। इसमें सुवर्ण और हीरे जड़े हैं। यह भगवान् विष्णुका दिया हुआ है तथा यह जो सूर्यके समान देदीप्यमान अमोघ उत्तम बाण है, ब्रह्माजीका दिया हुआ है। इनके सिवा इन्द्रने ये दो तरकस दिये हैं, जो तीखे तथा प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी बाणोंसे सदा भरे रहते हैं। कभी खाली नहीं होते। साथ ही यह तलवार भी है जिसकी मूठमें सोना जड़ा हुआ है। इसकी म्यान भी सोनेकी ही बनी हुई है॥ ३२—३४॥

अनेन धनुषा राम हत्वा संख्ये महासुरान्।
आजहार श्रियं दीप्तां पुरा विष्णुर्दिवौकसाम्॥ ३५॥
तद्धनुस्तौ च तूणी च शरं खड्गं च मानद।
जयाय प्रतिगृह्णीष्व वज्रं वज्रधरो यथा॥ ३६॥

'श्रीराम! पूर्वकालमें भगवान् विष्णुने इसी धनुषसे युद्धमें बड़े-बड़े असुरोंका संहार करके देवताओंकी उद्दीप्त लक्ष्मीको उनके अधिकारसे लौटाया था। मानद! आप यह धनुष, ये दोनों तरकस, ये बाण और यह तलवार (राक्षसोंपर) विजय पानेके लिये ग्रहण कीजिये। ठीक उसी तरह, जैसे वज्रधारी इन्द्र वज्र ग्रहण करते हैं'॥ ३५-३६॥

एवमुक्त्वा महातेजाः समस्तं तद्वरायुधम्।
दत्त्वा रामाय भगवानगस्त्यः पुनरब्रवीत्॥ ३७॥

ऐसा कहकर महान् तेजस्वी अगस्त्यने वे सभी श्रेष्ठ आयुध श्रीरामचन्द्रजीको सौंप दिये। तत्पश्चात् वे फिर बोले॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे द्वादशः सर्गः॥ १२॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें बारहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १२॥

—★—

त्रयोदशः सर्गः

महर्षि अगस्त्यका श्रीरामके प्रति अपनी प्रसन्नता प्रकट करके सीताकी प्रशंसा करना, श्रीरामके पूछनेपर उन्हें पञ्चवटीमें आश्रम बनाकर रहनेका आदेश देना तथा श्रीराम आदिका प्रस्थान

राम प्रीतोऽस्मि भद्रं ते परितुष्टोऽस्मि लक्ष्मण।
अभिवादयितुं यन्मां प्राप्तौ स्थः सह सीतया॥ १॥

'श्रीराम! आपका कल्याण हो। मैं आपपर बहुत प्रसन्न हूँ। लक्ष्मण! मैं तुमपर भी बहुत संतुष्ट हूँ। आप दोनों भाई मुझे प्रणाम करनेके लिये जो सीताके साथ यहाँतक आये, इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है॥ १॥

अध्वश्रमेण वां खेदो बाधते प्रचुरश्रमः।
व्यक्तमुत्कण्ठते वापि मैथिली जनकात्मजा॥ २॥

'रास्ता चलनेके परिश्रमसे आपलोगोंको बहुत थकावट हुई है। इसके कारण जो कष्ट हुआ है, वह आप दोनोंको पीड़ा दे रहा होगा। मिथिलेशकुमारी जानकी भी अपनी थकावट दूर करनेके लिये अधिक उत्कण्ठित है, यह बात स्पष्ट ही जान पड़ती है॥ २॥

एषा च सुकुमारी च खेदैश्च न विमानिता।
प्राज्यदोषं वनं प्राप्ता भर्तृस्नेहप्रचोदिता॥ ३॥

'यह सुकुमारी है और इससे पहले इसे ऐसे दुःखोंका सामना नहीं करना पड़ा है। वनमें अनेक प्रकारके कष्ट होते हैं, फिर भी यह पतिप्रेमसे प्रेरित होकर यहाँ आयी है॥ ३॥

यथैषा रमते राम इह सीता तथा कुरु।
दुष्करं कृतवत्येषा वने त्वामभिगच्छती॥ ४॥

'श्रीराम! जिस प्रकार सीताका यहाँ मन लगे—जैसे भी यह प्रसन्न रहे, वही कार्य आप करें। वनमें आपके साथ आकर इसने दुष्कर कार्य किया है॥ ४॥

एषा हि प्रकृतिः स्त्रीणामा सृष्टे रघुनन्दन।
समस्थमनुरज्यन्ते विषमस्थं त्यजन्ति च॥ ५॥

'रघुनन्दन! सृष्टिकालसे लेकर अबतक स्त्रियोंका प्रायः यही स्वभाव रहता आया है कि यदि पति सम अवस्थामें है अर्थात् धनधान्यसे सम्पन्न, स्वस्थ एवं सुखी है, तब तो वे उसमें अनुराग रखती हैं, परंतु यदि वह विषम अवस्थामें पड़ जाता है—दरिद्र एवं रोगी हो जाता है, तब उसे त्याग देती हैं॥ ५॥

शतह्रदानां लोलत्वं शस्त्राणां तीक्ष्णतां तथा।
गरुडानिलयोः शैघ्र्यमनुगच्छन्ति योषितः॥ ६॥

'स्त्रियाँ विद्युत्‌की चपलता, शस्त्रोंकी तीक्ष्णता तथा गरुड एवं वायुकी तीव्र गतिका अनुसरण करती हैं॥ ६॥

इयं तु भवतो भार्या दोषैरेतैर्विवर्जिता।
श्लाघ्या च व्यपदेश्या च यथा देवीष्वरुन्धती॥ ७॥

'आपकी यह धर्मपत्नी सीता इन सब दोषोंसे रहित है। स्पृहणीय एवं पतिव्रताओंमें उसी तरह अग्रगण्य है, जैसे देवियोंमें अरुन्धती॥ ७॥

अलंकृतोऽयं देशश्च यत्र सौमित्रिणा सह।
वैदेह्या चानया राम वत्स्यसि त्वमरिंदम॥ ८॥

'शत्रुदमन श्रीराम! आजसे इस देशकी शोभा बढ़ गयी, जहाँ सुमित्राकुमार लक्ष्मण और विदेहनन्दिनी सीताके साथ आप निवास करेंगे'॥ ८॥

एवमुक्तस्तु मुनिना राघवः संयताञ्जलिः।
उवाच प्रश्रितं वाक्यमृषिं दीप्तमिवानलम्॥ ९॥

मुनिके ऐसा कहनेपर श्रीरामचन्द्रजीने प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी उन महर्षिसे दोनों हाथ जोड़कर यह विनययुक्त बात कही—॥ ९॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य मे मुनिपुंगवः।
गुणैः सभ्रातृभार्यस्य गुरुर्नः परितुष्यति॥ १०॥

'भाई और पत्नीसहित जिसके अर्थात् मेरे गुणोंसे हमारे गुरुदेव मुनिवर अगस्त्यजी यदि संतुष्ट हो रहे हैं, तब तो मैं धन्य हूँ, मुझपर मुनीश्वरका महान् अनुग्रह है॥ १०॥

किं तु व्यादिश मे देशं सोदकं बहुकाननम्।
यत्राश्रमपदं कृत्वा वसेयं निरतः सुखम्॥ ११॥

'परंतु मुने! अब आप मुझे ऐसा कोई स्थान बताइये जहाँ बहुत-से वन हों, जलकी भी सुविधा हो तथा जहाँ आश्रम बनाकर मैं सुखपूर्वक सानन्द निवास कर सकूँ'॥ ११॥

ततोऽब्रवीन्मुनिश्रेष्ठः श्रुत्वा रामस्य भाषितम्।
ध्यात्वा मुहूर्तं धर्मात्मा ततोवाच वचः शुभम्॥ १२॥

श्रीरामका यह कथन सुनकर मुनिश्रेष्ठ धर्मात्मा अगस्त्यने दो घड़ीतक कुछ सोच-विचार किया। तदनन्तर वे यह शुभ वचन बोले—॥ १२॥

इतो द्वियोजने तात बहुमूलफलोदकः।
देशो बहुमृगः श्रीमान् पञ्चवट्यभिविश्रुतः॥ १३॥

'तात! यहाँसे दो योजनकी दूरीपर पञ्चवटी नामसे विख्यात एक बहुत ही सुन्दर स्थान है, जहाँ बहुत-से मृग रहते हैं तथा फल-मूल और जलकी अधिक सुविधा है॥

तत्र गत्वाऽऽश्रमपदं कृत्वा सौमित्रिणा सह।
रमस्व त्वं पितुर्वाक्यं यथोक्तमनुपालयन्॥ १४॥

'वहाँ जाकर लक्ष्मणके साथ आप आश्रम बनाइये और पिताकी यथोक्त आज्ञाका पालन करते हुए वहाँ सुखपूर्वक निवास कीजिये॥ १४॥

विदितो ह्येष वृत्तान्तो मम सर्वस्तवानघ।
तपसश्च प्रभावेण स्नेहाद् दशरथस्य च॥ १५॥

'अनघ! आपका और राजा दशरथका यह सारा वृत्तान्त मुझे अपनी तपस्याके प्रभावसे तथा आपके प्रति स्नेह होनेके कारण अच्छी तरह विदित है॥ १५॥

हृदयस्थं च ते च्छन्दो विज्ञातं तपसा मया ।
इह वासं प्रतिज्ञाय मया सह तपोवने ॥ १६ ॥

'आपने तपोवनमें मेरे साथ रहनेकी और वनवासका शेष समय यहीं बितानेकी अभिलाषा प्रकट करके भी जो यहाँसे अन्यत्र रहने योग्य स्थानके विषयमें मुझसे पूछा है, इसमें आपका हार्दिक अभिप्राय क्या है? यह मैंने अपने तपोबलसे जान लिया है (आपने ऋषियोंकी रक्षाके लिये राक्षसोंके वधकी प्रतिज्ञा की है। इस प्रतिज्ञाका निर्वाह अन्यत्र रहनेसे ही हो सकता है; क्योंकि यहाँ राक्षसोंका आना-जाना नहीं होता) ॥ १६ ॥

अतश्च त्वामहं ब्रूमि गच्छ पञ्चवटीमिति ।
स हि रम्यो वनोद्देशो मैथिली तत्र रंस्यते ॥ १७ ॥

'इसीलिये मैं आपसे कहता हूँ कि पञ्चवटीमें जाइये। वहाँकी वनस्थली बड़ी ही रमणीय है। वहाँ मिथिलेशकुमारी सीता आनन्दपूर्वक सब ओर विचरेंगी ॥ १७ ॥

स देशः श्लाघनीयश्च नातिदूरे च राघव ।
गोदावर्याः समीपे च मैथिली तत्र रंस्यते ॥ १८ ॥

'रघुनन्दन! वह स्पृहणीय स्थान यहाँसे अधिक दूर नहीं है। गोदावरीके पास (उसीके तटपर) है, अतः मैथिलीका मन वहाँ खूब लगेगा ॥ १८ ॥

प्राज्यमूलफलैश्चैव नानाद्विजगणैर्युतः ।
विविक्तश्च महाबाहो पुण्यो रम्यस्तथैव च ॥ १९ ॥

'महाबाहो! वह स्थान प्रचुर फल-मूलोंसे सम्पन्न, भाँति-भाँतिके विहङ्गमोंसे सेवित, एकान्त, पवित्र और रमणीय है ॥ १९ ॥

भवानपि सदाचारः शक्तश्च परिरक्षणे ।
अपि चात्र वसन् राम तापसान् पालयिष्यसि ॥ २० ॥

'श्रीराम! आप भी सदाचारी और ऋषियोंकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं। अतः वहाँ रहकर तपस्वी मुनियोंका पालन कीजियेगा ॥ २० ॥

एतदालक्ष्यते वीर मधूकानां महावनम् ।
उत्तरेणास्य गन्तव्यं न्यग्रोधमपि गच्छता ॥ २१ ॥
ततः स्थलमुपारुह्य पर्वतस्याविदूरतः ।
ख्यातः पञ्चवटीत्येव नित्यपुष्पितकाननः ॥ २२ ॥

'वीर! यह जो महुओंका विशाल वन दिखायी देता है, इसके उत्तरसे होकर जाना चाहिये। उस मार्गसे जाते हुए आपको आगे एक बरगदका वृक्ष मिलेगा। उससे आगे कुछ दूरतक ऊँचा मैदान है, उसे पार करनेके बाद एक पर्वत दिखायी देगा। उस पर्वतसे थोड़ी ही दूरपर पञ्चवटी नामसे प्रसिद्ध सुन्दर वन है, जो सदा फूलोंसे सुशोभित रहता है' ॥ २१-२२ ॥

अगस्त्येनैवमुक्तस्तु रामः सौमित्रिणा सह ।
सत्कृत्यामन्त्रयामास तमृषिं सत्यवादिनम् ॥ २३ ॥

महर्षि अगस्त्यके ऐसा कहनेपर लक्ष्मणसहित श्रीरामने उनका सत्कार करके उन सत्यवादी महर्षिसे वहाँ जानेकी आज्ञा माँगी ॥ २३ ॥

तौ तु तेनाभ्यनुज्ञातौ कृतपादाभिवन्दनौ ।
तमाश्रमं पञ्चवटीं जग्मतुः सह सीतया ॥ २४ ॥

उनकी आज्ञा पाकर उन दोनों भाइयोंने उनके चरणोंकी वन्दना की और सीताके साथ वे पञ्चवटी नामक आश्रमकी ओर चले ॥ २४ ॥

गृहीतचापौ तु नराधिपात्मजौ
विषक्ततूणी समरेष्वकातरौ ।
यथोपदिष्टेन पथा महर्षिणा
प्रजग्मतुः पञ्चवटीं समाहितौ ॥ २५ ॥

राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मणने पीठपर तरकस बाँध हाथमें धनुष ले लिये। वे दोनों भाई समराङ्गणोंमें कातरता दिखानेवाले नहीं थे। वे दोनों बन्धु महर्षिके बताये हुए मार्गसे बड़ी सावधानीके साथ पञ्चवटीकी ओर प्रस्थित हुए ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें तेरहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १३ ॥

—★—

चतुर्दशः सर्गः

पञ्चवटीके मार्गमें जटायुका मिलना और श्रीरामको अपना विस्तृत परिचय देना

अथ पञ्चवटीं गच्छन्नन्तरा रघुनन्दनः ।
आससाद महाकायं गृध्रं भीमपराक्रमम् ॥ १ ॥

पञ्चवटी जाते समय बीचमें श्रीरामचन्द्रजीको एक विशालकाय गृध्र मिला, जो भयंकर पराक्रम प्रकट करनेवाला था ॥ १ ॥

तं दृष्ट्वा तौ महाभागौ वनस्थं रामलक्ष्मणौ ।
मेनाते राक्षसं पक्षिं ब्रुवाणौ को भवानिति ॥ २ ॥

वनमें बैठे हुए उस विशाल पक्षीको देखकर महाभाग श्रीराम और लक्ष्मणने उसे राक्षस ही समझा और पूछा—'आप कौन हैं?' ॥ २ ॥

ततो मधुरया वाचा सौम्यया प्रीणयन्निव ।
उवाच वत्स मां विद्धि वयस्यं पितुरात्मनः ॥ ३ ॥

तब उस पक्षीने बड़ी मधुर और कोमल वाणीमें उन्हें प्रसन्न करते हुए-से कहा—'बेटा मुझे अपने पिताका मित्र समझो' ॥

स तं पितृसखं मत्वा पूजयामास राघवः ।
स तस्य कुलमव्यग्रमथ पप्रच्छ नाम च ॥ ४ ॥

पिताका मित्र जानकर श्रीरामचन्द्रजीने गृध्रका आदर किया और शान्तभावसे उसका कुल एवं नाम पूछा ॥ ४ ॥

रामस्य वचनं श्रुत्वा कुलमात्मानमेव च।
आचचक्षे द्विजस्तस्मै सर्वभूतसमुद्भवम्॥ ५ ॥

श्रीरामका यह प्रश्न सुनकर उस पक्षीने उन्हें अपने कुल और नामका परिचय देते हुए समस्त प्राणियोंकी उत्पत्तिका क्रम ही बताना आरम्भ किया ॥ ५ ॥

पूर्वकाले महाबाहो ये प्रजापतयोऽभवन्।
तान् मे निगदतः सर्वानादितः शृणु राघव॥ ६ ॥

'महाबाहु रघुनन्दन! पूर्वकालमें जो-जो प्रजापति हो चुके हैं, उन सबका आदिसे ही वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ ६ ॥

कर्दमः प्रथमस्तेषां विकृतस्तदनन्तरम्।
शेषश्च संश्रयश्चैव बहुपुत्रश्च वीर्यवान्॥ ७ ॥

'उन प्रजापतियोंमें सबसे प्रथम कर्दम हुए। तदनन्तर दूसरे प्रजापतिका नाम विकृत हुआ, तीसरे शेष, चौथे संश्रय और पाँचवें प्रजापति पराक्रमी बहुपुत्र हुए ॥ ७ ॥

स्थाणुर्मरीचिरत्रिश्च क्रतुश्चैव महाबलः।
पुलस्त्यश्चाङ्गिराश्चैव प्रचेताः पुलहस्तथा॥ ८ ॥

'छठे स्थाणु, सातवें मरीचि, आठवें अत्रि, नवें महान् शक्तिशाली क्रतु, दसवें पुलस्त्य, ग्यारहवें अङ्गिरा, बारहवें प्रचेता (वरुण) और तेरहवें प्रजापति पुलह हुए ॥ ८ ॥

दक्षो विवस्वानपरोऽरिष्टनेमिश्च राघव।
कश्यपश्च महातेजास्तेषामासीच्च पश्चिमः॥ ९ ॥

'चौदहवें दक्ष, पंद्रहवें विवस्वान्, सोलहवें अरिष्टनेमि और सत्रहवें प्रजापति महातेजस्वी कश्यप हुए। रघुनन्दन! यह कश्यपजी अन्तिम प्रजापति कहे गये हैं ॥ ९ ॥

प्रजापतेस्तु दक्षस्य बभूवुरिति विश्रुताः।
षष्टिर्दुहितरो राम यशस्विन्यो महायशः॥ १० ॥

'महायशस्वी श्रीराम! प्रजापति दक्षके साठ यशस्विनी कन्याएँ हुईं, जो बहुत ही विख्यात थीं ॥ १० ॥

कश्यपः प्रतिजग्राह तासामष्टौ सुमध्यमाः।
अदितिं च दितिं चैव दनूमपि च कालकाम्॥ ११ ॥
ताम्रां क्रोधवशां चैव मनुं चाप्यनलामपि।

उनमेंसे आठ * सुन्दरी कन्याओंको प्रजापति कश्यपने पत्नीरूपमें ग्रहण किया। जिनके नाम इस प्रकार हैं—अदिति, दिति, दनु, कालका, ताम्रा, क्रोधवशा, मनु और अनला ॥ ११½ ॥

तास्तु कन्यास्ततः प्रीतः कश्यपः पुनरब्रवीत्॥ १२ ॥
पुत्रांस्त्रैलोक्यभर्तॄन् वै जनयिष्यथ मत्समान्।

तदनन्तर उन कन्याओंसे प्रसन्न होकर कश्यपजीने फिर उनसे कहा—'देवियो! तुमलोग ऐसे पुत्रोंको जन्म दोगी, जो तीनों लोकोंका भरण-पोषण करनेमें समर्थ और मेरे समान तेजस्वी होंगे' ॥ १२½ ॥

अदितिस्तन्मना राम दितिश्च दनुरेव च॥ १३ ॥
कालका च महाबाहो शेषास्त्वमनसोऽभवन्।

'महाबाहु श्रीराम! इनमेंसे अदिति, दिति, दनु और कालका—इन चारोंने कश्यपजीकी कही हुई बातको मनसे ग्रहण किया; परंतु शेष स्त्रियोंने उधर मन नहीं लगाया। उनके मनमें वैसा मनोरथ नहीं उत्पन्न हुआ ॥ १३½ ॥

अदित्यां जज्ञिरे देवास्त्रयस्त्रिंशदरिंदम॥ १४ ॥
आदित्या वसवो रुद्रा अश्विनौ च परंतप।

'शत्रुओंका दमन करनेवाले रघुवीर! अदितिके गर्भसे तैंतीस देवता उत्पन्न हुए—बारह आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र और दो अश्विनीकुमार। शत्रुओंको ताप देनेवाले श्रीराम! ये ही तैंतीस देवता हैं ॥ १४½ ॥

दितिस्त्वजनयत् पुत्रान् दैत्यांस्तात यशस्विनः॥ १५ ॥
तेषामियं वसुमती पुराऽऽसीत् सवनार्णवा।

'तात! दितिने दैत्य नामसे प्रसिद्ध यशस्वी पुत्रोंको जन्म दिया। पूर्वकालमें वन और समुद्रोंसहित सारी पृथिवी उन्हींके अधिकारमें थी ॥ १५½ ॥

दनुस्त्वजनयत् पुत्रमश्वग्रीवमरिंदम॥ १६ ॥
नरकं कालकं चैव कालकापि व्यजायत।

'शत्रुदमन! दनुने अश्वग्रीव नामक पुत्रको उत्पन्न किया और कालकाने नरक एवं कालक नामक दो पुत्रोंको जन्म दिया ॥ १६½ ॥

क्रौञ्चीं भासीं तथा श्येनीं धृतराष्ट्रीं तथा शुकीम्॥ १७ ॥
ताम्रा तु सुषुवे कन्याः पञ्चैता लोकविश्रुताः।

'ताम्राने क्रौञ्ची, भासी, श्येनी, धृतराष्ट्री तथा शुकी—इन पाँच विश्वविख्यात कन्याओंको उत्पन्न किया ॥

उलूकाञ्जनयत् क्रौञ्ची भासी भासान् व्यजायत॥ १८ ॥
श्येनी श्येनांश्च गृध्रांश्च व्यजायत सुतेजसः।
धृतराष्ट्री तु हंसांश्च कलहंसांश्च सर्वशः॥ १९ ॥

'इनमेंसे क्रौञ्चीने उल्लुओंको, भासीने भास नामक पक्षियोंको, श्येनीने परम तेजस्वी श्येनों (बाजों) और गीधोंको तथा धृतराष्ट्रीने सब प्रकारके हंसों और कलहंसोंको जन्म दिया ॥ १८-१९ ॥

चक्रवाकांश्च भद्रं ते विजज्ञे सापि भामिनी।
शुकी नतां विजज्ञे तु नतायां विनता सुता॥ २० ॥

* यद्यपि पुराणग्रन्थोंमें 'कश्यपाय त्रयोदश' इत्यादि वचनोंद्वारा कश्यपकी तेरह पत्नियोंका उल्लेख किया गया है, तथापि यहाँ जिस संतानपरम्पराका वर्णन करना है, उसमें इन आठोंका ही उपयोग है, इसलिये यहाँ आठकी ही संख्या दी गयी है।

'श्रीराम! आपका कल्याण हो, उसी भामिनी श्रुत-राष्ट्रीने चक्रवाक नामक पक्षियोंको भी उत्पन्न किया था। ताम्राकी सबसे छोटी पुत्री शुकीने नता नामवाली कन्याको जन्म दिया। नतासे विनता नामवाली पुत्री उत्पन्न हुई॥ २०॥

दश क्रोधवशा राम विजज्ञेऽप्यात्मसंभवाः।
मृगीं च मृगमन्दां च हरीं भद्रमदामपि॥ २१॥
मातङ्गीमथ शार्दूलीं श्वेतां च सुरभीं तथा।
सर्वलक्षणसम्पन्नां सुरसां कद्रुकामपि॥ २२॥

'श्रीराम! क्रोधवशाने अपने पेटसे दस कन्याओंको जन्म दिया। जिनके नाम हैं—मृगी, मृगमन्दा, हरी, भद्रमदा, मातङ्गी, शार्दूली, श्वेता, सुरभी, सर्वलक्षणसम्पन्ना सुरसा और कद्रुका॥ २१-२२॥

अपत्यं तु मृगाः सर्वे मृग्या नरवरोत्तम।
ऋक्षाश्च मृगमन्दायाः सृमराश्चमरास्तथा॥ २३॥

'नरेशोंमें श्रेष्ठ श्रीराम! मृगीकी संतान सारे मृग हैं और मृगमन्दाके ऋक्ष, सृमर और चमर॥ २३॥

ततस्त्विरावतीं नाम जज्ञे भद्रमदा सुताम्।
तस्यास्त्वैरावतः पुत्रो लोकनाथो महागजः॥ २४॥

'भद्रमदाने इरावती नामक कन्याको जन्म दिया, जिसका पुत्र है ऐरावत नामक महान् गजराज, जो समस्त लोकोंको अभीष्ट है॥ २४॥

हर्यांश्च हरयोऽपत्यं वानराश्च तपस्विनः।
गोलाङ्गूलाश्च शार्दूली व्याघ्रांश्चाजनयत् सुतान्॥ २५॥

'हरीकी संतानें हरि (सिंह) तथा तपस्वी (विचारशील) वानर तथा गोलांगूल (लंगूर) हैं। क्रोधवशाकी पुत्री शार्दूलीने व्याघ्र नामक पुत्र उत्पन्न किये॥ २५॥

मातङ्ग्यास्त्वथ मातङ्गा अपत्यं मनुजर्षभ।
दिशागजं तु काकुत्स्थ श्वेता व्यजनयत् सुतम्॥ २६॥

'नरश्रेष्ठ! मातङ्गीकी संतानें मातङ्ग (हाथी) हैं। काकुत्स्थ! श्वेताने अपने पुत्रके रूपमें एक दिग्गजको जन्म दिया॥ २६॥

ततो दुहितरौ राम सुरभिर्द्वे व्यजायत।
रोहिणीं नाम भद्रं ते गन्धर्वीं च यशस्विनीम्॥ २७॥

'श्रीराम! आपका भला हो। क्रोधवशाकी पुत्री सुरभी देवीने दो कन्याएँ उत्पन्न कीं—रोहिणी और यशस्विनी गन्धर्वी॥ २७॥

रोहिण्यजनयद् गावो गन्धर्वी वाजिनः सुतान्।
सुरसाजनयन्नागान् राम कद्रूश्च पन्नगान्॥ २८॥

'रोहिणीने गौओंको जन्म दिया और गन्धर्वीने घोड़ोंको ही पुत्ररूपमें प्रकट किया। श्रीराम! सुरसाने नागोंको और कद्रूने पन्नगोंको जन्म दिया॥ २८॥

मनुर्मनुष्याञ्जनयत् कश्यपस्य महात्मनः।
ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वैश्याञ्छूद्रांश्च मनुजर्षभ॥ २९॥

'नरश्रेष्ठ! महात्मा कश्यपकी पत्नी मनुने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र जातिवाले मनुष्योंको जन्म दिया॥ २९॥

मुखतो ब्राह्मणा जाता उरसः क्षत्रियास्तथा।
ऊरुभ्यां जज्ञिरे वैश्याः पद्भ्यां शूद्रा इति श्रुतिः॥ ३०॥

'मुखसे ब्राह्मण उत्पन्न हुए और हृदयसे क्षत्रिय। दोनों ऊरुओंसे वैश्योंका जन्म हुआ और दोनों पैरोंसे शूद्रोंका—ऐसी प्रसिद्धि है॥ ३०॥

सर्वान् पुण्यफलान् वृक्षाननलापि व्यजायत।
विनता च शुकीपौत्री कद्रूश्च सुरसास्वसा॥ ३१॥

'(कश्यपपत्नी) अनलाने पवित्र फलवाले समस्त वृक्षोंको जन्म दिया। कश्यपपत्नी ताम्राकी पुत्री जो शुकी थी, उसकी पौत्री विनता थी तथा कद्रू सुरसाकी बहिन (एवं क्रोधवशाकी पुत्री) कही गयी है॥ ३१॥

कद्रूर्नागसहस्रं तु विजज्ञे धरणीधरान्।
द्वौ पुत्रौ विनतायास्तु गरुडोऽरुण एव च॥ ३२॥

'इनमेंसे कद्रूने एक सहस्र नागोंको उत्पन्न किया, जो इस पृथ्वीको धारण करनेवाले हैं तथा विनताके दो पुत्र हुए—गरुड़ और अरुण॥ ३२॥

तस्माज्जातोऽहमरुणात् सम्पातिश्च ममाग्रजः।
जटायुरिति मां विद्धि श्येनीपुत्रमरिंदम॥ ३३॥

'उन्हीं विनतानन्दन अरुणसे मैं तथा मेरे बड़े भाई सम्पाति उत्पन्न हुए। शत्रुदमन रघुवीर! आप मेरा नाम जटायु समझें। मैं श्येनीका पुत्र हूँ (ताम्राकी पुत्री जो श्येनी बतायी गयी है, उसीकी परम्परामें उत्पन्न हुई एक श्येनी मेरी माता हुई)॥ ३३॥

सोऽहं वाससहायस्ते भविष्यामि यदीच्छसि।
इदं दुर्गं हि कान्तारं मृगराक्षससेवितम्।
सीतां च तात रक्षिष्ये त्वयि याते सलक्ष्मणे॥ ३४॥

'तात! यदि आप चाहें तो मैं यहाँ आपके निवासमें सहायक होऊँगा। यह दुर्गम वन मृगों तथा राक्षसोंसे सेवित है। लक्ष्मणसहित आप यदि अपनी पर्णशालासे कभी बाहर चले जायँ तो उस अवसरपर मैं देवी सीताकी रक्षा करूँगा'॥ ३४॥

जटायुषं तु प्रतिपूज्य राघवो
मुदा परिष्वज्य च संनतोऽभवत्।
पितुर्हि शुश्राव सखित्वमात्मवा-
ञ्जटायुषा संकथितं पुनः पुनः॥ ३५॥

यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने जटायुका बड़ा सम्मान किया और प्रसन्नतापूर्वक उनके गले लगकर वे उनके सामने नतमस्तक हो गये। फिर पिताके साथ जिस प्रकार उनकी मित्रता हुई थी, वह प्रसङ्ग मनस्वी श्रीरामने जटायुके मुखसे बारंबार सुना॥ ३५॥

स तत्र सीतां परिदाय मैथिलीं
सहैव तेनातिबलेन पक्षिणा।
जगाम तां पञ्चवटीं सलक्ष्मणो
रिपून् दिधक्षञ्शलभानिवानलः॥ ३६॥

तत्पश्चात् वे मिथिलेशकुमारी सीताको उनके संरक्षणमें सौंपकर लक्ष्मण और उन अत्यन्त बलशाली पक्षी जटायुके साथ ही पञ्चवटीकी ओर ही चल दिये। श्रीरामचन्द्रजी मुनिद्रोही राक्षसोंको शत्रु समझकर उन्हें उसी प्रकार दग्ध कर डालना चाहते थे, जैसे आग पतिङ्गोंको जलाकर भस्म कर देती है॥ ३६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे चतुर्दशः सर्गः॥ १४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें चौदहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १४॥

पञ्चदशः सर्गः

पञ्चवटीके रमणीय प्रदेशमें श्रीरामकी आज्ञासे लक्ष्मणद्वारा सुन्दर पर्णशालाका निर्माण तथा उसमें सीता और लक्ष्मणसहित श्रीरामका निवास

ततः पञ्चवटीं गत्वा नानाव्यालमृगायुताम्।
उवाच लक्ष्मणं रामो भ्रातरं दीप्ततेजसम्॥ १॥

नाना प्रकारके सर्पों, हिंसक जन्तुओं और मृगोंसे भरी हुई पञ्चवटीमें पहुँचकर श्रीरामने उद्दीप्त तेजवाले अपने भाई लक्ष्मणसे कहा—॥ १॥

आगताः स्म यथोद्दिष्टं यं देशं मुनिरब्रवीत्।
अयं पञ्चवटीदेशः सौम्य पुष्पितकाननः॥ २॥

'सौम्य! मुनिवर अगस्त्यने हमें जिस स्थानका परिचय दिया था, उनके तथाकथित स्थानमें हमलोग आ पहुँचे। यही पञ्चवटीका प्रदेश है। यहाँका वनप्रान्त पुष्पोंसे कैसी शोभा पा रहा है॥ २॥

सर्वतश्चार्यतां दृष्टिः कानने निपुणो ह्यसि।
आश्रमः कतरस्मिन् नो देशे भवति सम्मतः॥ ३॥

'लक्ष्मण! तुम इस वनमें चारों ओर दृष्टि डालो; क्योंकि इस कार्यमें निपुण हो। देखकर यह निश्चय करो कि किस स्थानपर आश्रम बनाना हमारे लिये अच्छा होगा॥ ३॥

रमते यत्र वैदेही त्वमहं चैव लक्ष्मण।
तादृशो दृश्यतां देशः संनिकृष्टजलाशयः॥ ४॥
वनरामण्यकं यत्र जलरामण्यकं तथा।
संनिकृष्टं च यस्मिंस्तु समित्पुष्पकुशोदकम्॥ ५॥

'लक्ष्मण! तुम किसी ऐसे स्थानको ढूँढ़ निकालो, जहाँसे जलाशय निकट हो, जहाँ विदेहकुमारी सीताका मन लगे, जहाँ तुम और हम भी प्रसन्नतापूर्वक रह सकें, जहाँ वन और जल दोनोंका रमणीय दृश्य हो तथा जिस स्थानके आस-पास ही समिधा, फूल, कुश और जल मिलनेकी सुविधा हो'॥ ४-५॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः संयताञ्जलिः।
सीतासमक्षं काकुत्स्थमिदं वचनमब्रवीत्॥ ६॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर लक्ष्मण दोनों हाथ जोड़कर सीताके सामने ही उन ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामसे इस प्रकार बोले—॥ ६॥

परवानस्मि काकुत्स्थ त्वयि वर्षशतं स्थिते।
स्वयं तु रुचिरे देशे क्रियतामिति मां वद॥ ७॥

'काकुत्स्थ! आपके रहते हुए मैं सदा पराधीन ही हूँ। मैं सैकड़ों या अनन्त वर्षोंतक आपकी आज्ञाके अधीन ही रहना चाहता हूँ; अतः आप स्वयं ही देखकर जो स्थान सुन्दर जान पड़े, वहाँ आश्रम बनानेके लिये मुझे आज्ञा दें—मुझसे कहें कि तुम अमुक स्थानपर आश्रम बनाओ'॥ ७॥

सुप्रीतस्तेन वाक्येन लक्ष्मणस्य महाद्युतिः।
विमृशन् रोचयामास देशं सर्वगुणान्वितम्॥ ८॥
स तं रुचिरमाक्रम्य देशमाश्रमकर्मणि।
हस्ते गृहीत्वा हस्तेन रामः सौमित्रिमब्रवीत्॥ ९॥

लक्ष्मणके इस वचनसे अत्यन्त तेजस्वी भगवान् श्रीरामको बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने स्वयं ही सोच-विचारकर एक ऐसा स्थान पसंद किया, जो सब प्रकारके उत्तम गुणोंसे सम्पन्न और आश्रम बनानेके योग्य था। उस सुन्दर स्थानपर आकर श्रीरामने लक्ष्मणका हाथ अपने हाथमें लेकर कहा—॥ ८-९॥

अयं देशः समः श्रीमान् पुष्पितैस्तरुभिर्वृतः।
इहाश्रमपदं रम्यं यथावत् कर्तुमर्हसि॥ १०॥

'सुमित्रानन्दन! यह स्थान समतल और सुन्दर है तथा फूले हुए वृक्षोंसे घिरा है। तुम्हें इसी स्थानपर यथोचित रूपसे एक रमणीय आश्रमका निर्माण करना चाहिये॥ १०॥

इयमादित्यसंकाशैः पद्मैः सुरभिगन्धिभिः।
अदूरे दृश्यते रम्या पद्मिनी पद्मशोभिता॥ ११॥

'यह पास ही सूर्यके समान उज्ज्वल कान्तिवाले मनोरम गन्धयुक्त कमलोंसे रमणीय प्रतीत होनेवाली तथा पद्मोंकी शोभासे सम्पन्न पुष्करिणी दिखायी देती है॥ ११॥

यथाख्यातमगस्त्येन मुनिना भावितात्मना।
इयं गोदावरी रम्या पुष्पितैस्तरुभिर्वृता॥ १२॥

'पवित्र अन्तःकरणवाले अगस्त्य मुनिने जिसके विषयमें कहा था, वह विकसित वृक्षावलियोंसे घिरी हुई रमणीय

गोदावरी नदी यही है॥ १२॥

हंसकारण्डवाकीर्णा चक्रवाकोपशोभिता।
नातिदूरे न चासन्ने मृगयूथनिपीडिता॥ १३॥

'इसमें हंस और कारण्डव आदि जलपक्षी विचर रहे हैं। चकवे इसकी शोभा बढ़ा रहे हैं तथा पानी पीनेके लिये आये हुए मृगोंके झुंड इसके तटपर छाये रहते हैं। यह नदी इस स्थानसे न तो अधिक दूर है और न अत्यन्त निकट ही॥ १३॥

मयूरनादिता रम्याः प्रांशवो बहुकन्दराः।
दृश्यन्ते गिरयः सौम्य फुल्लैस्तरुभिरावृताः॥ १४॥

'सौम्य! यहाँ बहुत-सी कन्दराओंसे युक्त ऊँचे-ऊँचे पर्वत दिखायी दे रहे हैं, जहाँ मयूरोंकी मीठी बोली गूँज रही है। ये रमणीय पर्वत खिले हुए वृक्षोंसे व्याप्त हैं॥ १४॥

सौवर्णै राजतैस्ताम्रैर्देशे देशे तथा शुभैः।
गवाक्षिता इवाभान्ति गजाः परमभक्तिभिः॥ १५॥

'स्थान-स्थानपर सोने, चाँदी तथा ताँबेके समान रंगवाले सुन्दर गैरिक धातुओंसे उपलक्षित ये पर्वत ऐसे प्रतीत हो रहे हैं, मानो झरोखेके आकारमें की गयी नीले, पीले और सफेद आदि रंगोंकी उत्तम शृङ्गाररचनाओंसे अलंकृत हाथी शोभा पा रहे हों॥

सालैस्तालैस्तमालैश्च खर्जूरैः पनसैर्द्रुमैः।
नीवारैस्तिनिशैश्चैव पुन्नागैश्चोपशोभिताः॥ १६॥
चूतैरशोकैस्तिलकैः केतकैरपि चम्पकैः।
पुष्पगुल्मलतोपेतैस्तैस्तैस्तरुभिरावृताः॥ १७॥
स्यन्दनैश्चन्दनैर्नीपैः पर्णासैर्लकुचैरपि।
धवाश्वकर्णखदिरैः शमीकिंशुकपाटलैः॥ १८॥

पुष्पों, गुल्मों तथा लता-वल्लरियोंसे युक्त साल, ताल, तमाल, खजूर, कटहल, जलकदम्ब, तिनिश, पुंनाग, आम, अशोक, तिलक, केवड़ा, चम्पा, स्यन्दन, चन्दन, कदम्ब, पर्णास, लकुच, धव, अश्वकर्ण, खैर, शमी, पलाश और पाटल (पाडर) आदि वृक्षोंसे घिरे हुए ये पर्वत बड़ी शोभा पा रहे हैं॥ १६—१८॥

इदं पुण्यमिदं रम्यमिदं बहुमृगद्विजम्।
इह वत्स्याम सौमित्रे सार्धमेतेन पक्षिणा॥ १९॥

'सुमित्रानन्दन! यह बहुत ही पवित्र और बड़ा रमणीय स्थान है। यहाँ बहुत-से पशु-पक्षी निवास करते हैं। हमलोग भी यहीं इन पक्षिराज जटायुके साथ रहेंगे'॥ १९॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः परवीरहा।
अचिरेणाश्रमं भ्रातुश्चकार सुमहाबलः॥ २०॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले महाबली लक्ष्मणने भाईके लिये शीघ्र ही आश्रम बनाकर तैयार किया॥ २०॥

पर्णशालां सुविपुलां तत्र संघातमृत्तिकाम्।
सुस्तम्भां मस्करैर्दीर्घैः कृतवंशां सुशोभनाम्॥ २१॥
शमीशाखाभिरास्तीर्य दृढपाशावपाशिताम्।
कुशकाशशरैः पर्णैः सुपरिच्छादितां तथा॥ २२॥
समीकृततलां रम्यां चकार सुमहाबलः।
निवासं राघवस्यार्थे प्रेक्षणीयमनुत्तमम्॥ २३॥

वह आश्रम एक अत्यन्त विस्तृत पर्णशालाके रूपमें बनाया गया था। महाबली लक्ष्मणने पहले वहाँ मिट्टी एकत्र करके दीवार खड़ी की, फिर उसमें सुन्दर एवं सुदृढ़ खम्भे लगाये। खम्भोंके ऊपर बड़े-बड़े बाँस तिरछे करके रखे। बाँसोंके रख दिये जानेपर वह कुटी बड़ी सुन्दर दिखायी देने लगी। फिर उन बाँसोंपर उन्होंने शमीवृक्षकी शाखाएँ फैला दीं और उन्हें मजबूत रस्सियोंसे कसकर बाँध दिया। इसके बाद ऊपरसे कुश, कास, सरकंडे और पत्ते बिछाकर उस पर्णशालाको भलीभाँति छा दिया तथा नीचेकी भूमिको बराबर करके उस कुटीको बड़ा रमणीय बना दिया। इस प्रकार लक्ष्मणने श्रीरामचन्द्रजीके लिये परम उत्तम निवासगृह बना दिया, जो देखने ही योग्य था॥ २१—२३॥

स गत्वा लक्ष्मणः श्रीमान् नदीं गोदावरीं तदा।
स्नात्वा पद्मानि चादाय सफलः पुनरागतः॥ २४॥

उसे तैयार करके श्रीमान् लक्ष्मणने गोदावरी नदीके तटपर जाकर तत्काल उसमें स्नान किया और कमलके फूल तथा फल लेकर वे फिर वहीं लौट आये॥ २४॥

ततः पुष्पबलिं कृत्वा शान्तिं च स यथाविधि।
दर्शयामास रामाय तदाश्रमपदं कृतम्॥ २५॥

तदनन्तर शास्त्रीय विधिके अनुसार देवताओंके लिये फूलोंकी बलि (उपहारसामग्री) अर्पित की तथा वास्तुशान्ति करके उन्होंने अपना बनाया हुआ आश्रम श्रीरामचन्द्रजीको दिखाया॥ २५॥

स तं दृष्ट्वा कृतं सौम्यमाश्रमं सह सीतया।
राघवः पर्णशालायां हर्षमाहारयत् परम्॥ २६॥

भगवान् श्रीराम सीताके साथ उस नये बने हुए सुन्दर आश्रमको देखकर बहुत प्रसन्न हुए और कुछ कालतक उसके भीतर खड़े रहे॥ २६॥

सुसंहृष्टः परिष्वज्य बाहुभ्यां लक्ष्मणं तदा।
अतिस्निग्धं च गाढं च वचनं चेदमब्रवीत्॥ २७॥

तत्पश्चात् अत्यन्त हर्षमें भरकर उन्होंने दोनों भुजाओंसे लक्ष्मणको कसकर हृदयसे लगा लिया और बड़े स्नेहके साथ यह बात कही—॥ २७॥

प्रीतोऽस्मि ते महत् कर्म त्वया कृतमिदं प्रभो।
प्रदेयो यन्निमित्तं ते परिष्वङ्गो मया कृतः॥ २८॥

'सामर्थ्यशाली लक्ष्मण! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। तुमने यह महान् कार्य किया है। उसके लिये और कोई समुचित पुरस्कार न होनेसे मैंने तुम्हें गाढ़ आलिङ्गन प्रदान किया है॥ २८॥

भावज्ञेन कृतज्ञेन धर्मज्ञेन च लक्ष्मण।
त्वया पुत्रेण धर्मात्मा न संवृत्तः पिता मम॥ २९॥

'लक्ष्मण! तुम मेरे मनोभावको तत्काल समझ लेनेवाले, कृतज्ञ और धर्मज्ञ हो। तुम-जैसे पुत्रके कारण मेरे धर्मात्मा पिता अभी मरे नहीं हैं—तुम्हारे रूपमें वे अब भी जीवित ही हैं'॥ २९॥

एवं लक्ष्मणमुक्त्वा तु राघवो लक्ष्मिवर्धनः।
तस्मिन् देशे बहुफले न्यवसत् स सुखं सुखी॥ ३०॥

लक्ष्मणसे ऐसा कहकर अपनी शोभाका विस्तार करनेवाले सुखी श्रीरामचन्द्रजी प्रचुर फलोंसे सम्पन्न उस पञ्चवटी-प्रदेशमें सबके साथ सुखपूर्वक रहने लगे॥ ३०॥

कञ्चित् कालं स धर्मात्मा सीतया लक्ष्मणेन च।
अन्वास्यमानो न्यवसत् स्वर्गलोके यथामरः॥ ३१॥

सीता और लक्ष्मणसे सेवित हो धर्मात्मा श्रीराम कुछ कालतक वहाँ उसी प्रकार रहे, जैसे स्वर्गलोकमें देवता निवास करते हैं॥ ३१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे पञ्चदशः सर्गः॥ १५॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पंद्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १५॥

षोडशः सर्गः

लक्ष्मणके द्वारा हेमन्त ऋतुका वर्णन और भरतकी प्रशंसा तथा श्रीरामका उन दोनोंके साथ गोदावरी नदीमें स्नान

वसतस्तस्य तु सुखं राघवस्य महात्मनः।
शरद्व्यपाये हेमन्तऋतुरिष्टः प्रवर्तत॥ १॥

महात्मा श्रीरामको उस आश्रममें रहते हुए शरद् ऋतु बीत गयी और प्रिय हेमन्तका आरम्भ हुआ॥ १॥

स कदाचित् प्रभातायां शर्वर्यां रघुनन्दनः।
प्रययावभिषेकार्थं रम्यां गोदावरीं नदीम्॥ २॥

एक दिन प्रातःकाल रघुकुलनन्दन श्रीराम स्नान करनेके लिये परम रमणीय गोदावरी नदीके तटपर गये॥ २॥

प्रह्वः कलशहस्तस्तु सीतया सह वीर्यवान्।
पृष्ठतोऽनुव्रजन् भ्राता सौमित्रिरिदमब्रवीत्॥ ३॥

उनके छोटे भाई लक्ष्मण भी, जो बड़े ही विनीत और पराक्रमी थे, सीताके साथ-साथ हाथमें घड़ा लिये उनके पीछे-पीछे गये। जाते-जाते वे श्रीरामचन्द्रजीसे इस प्रकार बोले—॥ ३॥

अयं स कालः सम्प्राप्तः प्रियो यस्ते प्रियंवद।
अलंकृत इवाभाति येन संवत्सरः शुभः॥ ४॥

प्रिय वचन बोलनेवाले भैया श्रीराम! यह वही हेमन्त-काल आ पहुँचा है, जो आपको अधिक प्रिय है और जिससे यह शुभ संवत्सर अलंकृत-सा प्रतीत होता है॥ ४॥

नीहारपरुषो लोकः पृथिवी सस्यमालिनी।
जलान्यनुपभोग्यानि सुभगो हव्यवाहनः॥ ५॥

'इस ऋतुमें अधिक ठण्डक या पालेके कारण लोगोंका शरीर रूखा हो जाता है। पृथ्वीपर रबीकी खेती लहलहाने लगती है। जल अधिक शीतल होनेके कारण पीनेके योग्य नहीं रहता और आग बड़ी प्रिय लगती है॥ ५॥

नवाग्रयणपूजाभिरभ्यर्च्य पितृदेवताः।
कृताग्रयणकाः काले सन्तो विगतकल्मषाः॥ ६॥

'नवसस्येष्टि-कर्मके अनुष्ठानकी इस वेलामें नूतन अन्न ग्रहण करनेके लिये की गयी आग्रयणकर्मरूप पूजाओंद्वारा देवताओं तथा पितरोंको संतुष्ट करके उक्त आग्रयणकर्मका सम्पादन करनेवाले सत्पुरुष निष्पाप हो गये हैं॥ ६॥

प्राज्यकामा जनपदाः सम्पन्नतरगोरसाः।
विचरन्ति महीपाला यात्रार्थं विजिगीषवः॥ ७॥

'इस ऋतुमें प्रायः सभी जनपदोंके निवासियोंकी अन्न-प्राप्तिविषयक कामनाएँ प्रचुररूपसे पूर्ण हो जाती हैं। गोरसकी भी बहुतायत होती है तथा विजयकी इच्छा रखनेवाले भूपालगण युद्ध-यात्राके लिये विचरते रहते हैं॥ ७॥

सेवमाने दृढं सूर्ये दिशमन्तकसेविताम्।
विहीनतिलकेव स्त्री नोत्तरा दिक् प्रकाशते॥ ८॥

'सूर्यदेव इन दिनों यमसेवित दक्षिणदिशाका दृढ़तापूर्वक सेवन करने लगे हैं। इसलिये उत्तरदिशा सिंदूरबिन्दुसे वञ्चित हुई नारीकी भाँति सुशोभित या प्रकाशित नहीं हो रही है॥

प्रकृत्या हिमकोशाढ्यो दूरसूर्यश्च साम्प्रतम्।
यथार्थनामा सुव्यक्तं हिमवान् हिमवान् गिरिः॥ ९॥

'हिमालयपर्वत तो स्वभावसे ही घनीभूत हिमके खजानेसे भरा-पूरा होता है, परंतु इस समय सूर्यदेव भी दक्षिणायनमें चले जानेके कारण उससे दूर हो गये हैं; अतः अब अधिक हिमके संचयसे सम्पन्न होकर हिमवान् गिरि स्पष्ट ही अपने नामको सार्थक कर रहा है॥ ९॥

अत्यन्तसुखसंचारा मध्याह्ने स्पर्शतः सुखाः।
दिवसाः सुभगादित्याश्छायासलिलदुर्भगाः॥ १०॥

'मध्याह्नकालमें धूपका स्पर्श होनेसे हेमन्तके सुखमय दिन अत्यन्त सुखसे इधर-उधर विचरनेके योग्य होते हैं। इन दिनों सुसेव्य होनेके कारण सूर्यदेव सौभाग्यशाली जान पड़ते हैं और सेवनके योग्य न होनेके कारण छाँह तथा जल अभागे प्रतीत होते हैं॥ १०॥

मृदुसूर्याः सुनीहाराः पटुशीताः समारुताः।
शून्यारण्या हिमध्वस्ता दिवसा भान्ति साम्प्रतम्॥ ११॥

'आजकलके दिन ऐसे हैं कि सूर्यकी किरणोंका स्पर्श कोमल (प्रिय) जान पड़ता है। कुहासे अधिक पड़ते हैं। सरदी सबल होती है, कड़ाकेका जाड़ा पड़ने लगता है। साथ ही ठण्डी हवा चलती रहती है। पाला पड़नेसे पत्तोंके झड़ जानेके कारण जंगल सूने दिखायी देते हैं और हिमके स्पर्शसे कमल गल जाते हैं॥ ११॥

निवृत्ताकाशशयनाः पुष्यनीता हिमारुणाः।
शीतवृद्धतरायामास्त्रियामा यान्ति साम्प्रतम्॥ १२॥

'इस हेमन्तकालमें रातें बड़ी होने लगती हैं। इनमें सरदी बहुत बढ़ जाती है। खुले आकाशमें कोई नहीं सोते हैं। पौषमासकी ये रातें हिमपातके कारण धूसर प्रतीत होती हैं॥ १२॥

रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारारुणमण्डलः।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते॥ १३॥

'हेमन्तकालमें चन्द्रमाका सौभाग्य सूर्यदेवमें चला गया है (चन्द्रमा सरदीके कारण असेव्य और सूर्य मन्दरश्मि होनेके कारण सेव्य हो गये हैं)। चन्द्रमण्डल हिमकणोंसे आच्छन्न होकर धूमिल जान पड़ता है; अतः चन्द्रदेव निःश्वासवायुसे मलिन हुए दर्पणकी भाँति प्रकाशित नहीं हो रहे हैं॥ १३॥

ज्योत्स्ना तुषारमलिना पौर्णमास्यां न राजते।
सीतेव चातपश्यामा लक्ष्यते न च शोभते॥ १४॥

'इन दिनों पूर्णिमाकी चाँदनी रात भी तुहिन-बिन्दुओंसे मलिन दिखायी देती है—प्रकाशित नहीं होती है। ठीक उसी तरह, जैसे सीता अधिक धूप लगनेसे साँवली-सी दीखती है—पूर्ववत् शोभा नहीं पाती॥ १४॥

प्रकृत्या शीतलस्पर्शो हिमविद्धश्च साम्प्रतम्।
प्रवाति पश्चिमो वायुः काले द्विगुणशीतलः॥ १५॥

'स्वभावसे ही जिसका स्पर्श शीतल है, वह पछुआ हवा इस समय हिमकणोंसे व्याप्त हो जानेके कारण दूनी सरदी लेकर बड़े वेगसे बह रही है॥ १५॥

बाष्पच्छन्नान्यरण्यानि यवगोधूमवन्ति च।
शोभन्तेऽभ्युदिते सूर्ये नदद्भिः क्रौञ्चसारसैः॥ १६॥

'जौ और गेहूँके खेतोंसे युक्त ये बहुसंख्यक वन भापसे ढँके हुए हैं तथा क्रौञ्च और सारस इनमें कलरव कर रहे हैं। सूर्योदयकालमें इन वनोंकी बड़ी शोभा हो रही है॥ १६॥

खर्जूरपुष्पाकृतिभिः शिरोभिः पूर्णतण्डुलैः।
शोभन्ते किंचिदालम्बाः शालयः कनकप्रभाः॥ १७॥

'ये सुनहरे रंगके जड़हन धान खजूरके फूलके-से आकारवाली बालोंसे, जिनमें चावल भरे हुए हैं, कुछ लटक गये हैं। इन बालोंके कारण इनकी बड़ी शोभा होती है॥ १७॥

मयूखैरुपसर्पद्भिर्हिमनीहारसंवृतैः।
दूरमभ्युदितः सूर्यः शशाङ्क इव लक्ष्यते॥ १८॥

'कुहासेसे ढकी और फैलती हुई किरणोंसे उपलक्षित होनेवाले दूरोदित सूर्य चन्द्रमाके समान दिखायी देते हैं॥

आग्राह्यवीर्यः पूर्वाह्णे मध्याह्ने स्पर्शतः सुखः।
संरक्तः किंचिदापाण्डुरातपः शोभते क्षितौ॥ १९॥

'इस समय अधिक लाल और कुछ-कुछ श्वेत, पीत वर्णकी धूप पृथ्वीपर फैलकर शोभा पा रही है। पूर्वाह्णकालमें तो कुछ इसका बल जान ही नहीं पड़ता है, परंतु मध्याह्नकालमें इसके स्पर्शसे सुखका अनुभव होता है॥ १९॥

अवश्यायनिपातेन किंचित्प्रक्लिन्नशाद्वला।
वनानां शोभते भूमिर्निविष्टतरुणातपा॥ २०॥

'ओसकी बूँदें पड़नेसे जहाँकी घासें कुछ-कुछ भीगी हुई जान पड़ती हैं, वह वनभूमि नवोदित सूर्यकी धूपका प्रवेश होनेसे अद्भुत शोभा पा रही है॥ २०॥

स्पृशन् सुविपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम्।
अत्यन्ततृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम्॥ २१॥

'यह जंगली हाथी बहुत प्यासा हुआ है। यह सुखपूर्वक प्यास बुझानेके लिये अत्यन्त शीतल जलका स्पर्श तो करता है, किंतु उसकी ठंडक असह्य होनेके कारण अपनी सूँड़को तुरंत ही सिकोड़ लेता है॥ २१॥

एते हि समुपासीना विहगा जलचारिणः।
नावगाहन्ति सलिलमप्रगल्भा इवाहवम्॥ २२॥

'ये जलचर पक्षी जलके पास ही बैठे हैं; परंतु जैसे डरपोक मनुष्य युद्धभूमिमें प्रवेश नहीं करते हैं, उसी प्रकार ये पानीमें नहीं उतर रहे हैं॥ २२॥

अवश्यायतमोनद्धा नीहारतमसावृताः।
प्रसुप्ता इव लक्ष्यन्ते विपुष्पा वनराजयः॥ २३॥

'रातमें ओसबिन्दुओं और अन्धकारसे आच्छादित तथा प्रातःकाल कुहासेके अँधेरेसे ढकी हुई ये पुष्पहीन वनश्रेणियाँ सोयी हुई-सी दिखायी देती हैं॥ २३॥

बाष्पसंछन्नसलिला रुतविज्ञेयसारसाः।
हिमार्द्रवालुकैस्तीरैः सरितो भान्ति साम्प्रतम्॥ २४॥

'इस समय नदियोंके जल भापसे ढके हुए हैं। इनमें विचरनेवाले सारस केवल अपने कलरवोंसे पहचाने जाते हैं तथा ये सरिताएँ भी ओससे भीगी हुई बालूवाले अपने तटोंसे ही प्रकाशमें आती हैं (जलसे नहीं)॥ २४॥

तुषारपतनाच्चैव मृदुत्वाद् भास्करस्य च।
शैत्यादगाग्रस्थमपि प्रायेण रसवज्जलम्॥ २५॥

'बर्फ पड़नेसे और सूर्यकी किरणोंके मन्द होनेसे अधिक सर्दीके कारण इन दिनों पर्वतके शिखरपर पड़ा हुआ जल भी प्रायः स्वादिष्ट प्रतीत होता है॥ २५॥

जराजर्जरितैः पत्रैः शीर्णकेसरकर्णिकैः।
नालशेषा हिमध्वस्ता न भान्ति कमलाकराः॥ २६॥

'जो पुराने पड़ जानेके कारण जर्जर हो गये हैं, जिनकी कर्णिका और केसर जीर्ण-शीर्ण हो गये हैं, ऐसे दलोंसे उपलक्षित होनेवाले कमलोंके समूह पाला पड़नेसे गल गये हैं। उनमें डंठलमात्र शेष रह गये हैं। इसीलिये उनकी शोभा नष्ट हो गयी है॥ २६॥

अस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्र काले दुःखसमन्वितः।
तपश्चरति धर्मात्मा त्वद्भक्त्या भरतः पुरे॥ २७॥

'पुरुषसिंह श्रीराम! इस समय धर्मात्मा भरत आपके लिये बहुत दुःखी हैं और आपमें भक्ति रखते हुए नगरमें ही तपस्या कर रहे हैं॥ २७॥

त्यक्त्वा राज्यं च मानं च भोगांश्च विविधान् बहून्।
तपस्वी नियताहारः शेते शीते महीतले॥ २८॥

'वे राज्य, मान तथा नाना प्रकारके बहुसंख्यक भोगोंका परित्याग करके तपस्यामें संलग्न हैं एवं नियमित आहार करते हुए इस शीतल महीतलपर बिना बिस्तरके ही शयन करते हैं॥ २८॥

सोऽपि वेलामिमां नूनमभिषेकार्थमुद्यतः।
वृतः प्रकृतिभिर्नित्यं प्रयाति सरयूं नदीम्॥ २९॥

'निश्चय ही भरत भी इसी वेलामें स्नानके लिये उद्यत हो मन्त्री एवं प्रजाजनोंके साथ प्रतिदिन सरयू नदीके तटपर जाते होंगे॥ २९॥

अत्यन्तसुखसंवृद्धः सुकुमारो हिमार्दितः।
कथं त्वपररात्रेषु सरयूमवगाहते॥ ३०॥

'अत्यन्त सुखमें पले हुए सुकुमार भरत जाड़ेका कष्ट सहते हुए रातके पिछले पहरमें कैसे सरयूजीके जलमें डुबकी लगाते होंगे॥ ३०॥

पद्मपत्रेक्षणः श्यामः श्रीमान् निरुदरो महान्।
धर्मज्ञः सत्यवादी च ह्रीनिषेधो जितेन्द्रियः॥ ३१॥
प्रियाभिभाषी मधुरो दीर्घबाहुररिंदमः।
संत्यज्य विविधान् सौख्यानार्यं सर्वात्मनाश्रितः॥ ३२॥

'जिनके नेत्र कमलदलके समान शोभा पाते हैं, जिनकी अङ्गकान्ति श्याम है और जिनके उदरका कुछ पता ही नहीं लगता है, ऐसे महान् धर्मज्ञ, सत्यवादी, लज्जाशील, जितेन्द्रिय, प्रिय वचन बोलनेवाले, मृदुल स्वभाववाले महाबाहु शत्रुदमन श्रीमान् भरतने नाना प्रकारके सुखोंको त्यागकर सर्वथा आपका ही आश्रय ग्रहण किया है॥ ३१-३२॥

जितः स्वर्गस्तव भ्रात्रा भरतेन महात्मना।
वनस्थमपि तापस्ये यस्त्वामनुविधीयते॥ ३३॥

'आपके भाई महात्मा भरतने निश्चय ही स्वर्गलोकपर विजय प्राप्त कर ली है; क्योंकि वे भी तपस्यामें स्थित होकर आपके वनवासी जीवनका अनुसरण कर रहे हैं॥ ३३॥

न पित्र्यमनुवर्तन्ते मातृकं द्विपदा इति।
ख्यातो लोकप्रवादोऽयं भरतेनान्यथा कृतः॥ ३४॥

'मनुष्य प्रायः माताके गुणोंका ही अनुवर्तन करते हैं पिताके नहीं; इस लौकिक उक्तिको भरतने अपने बर्तावसे मिथ्या प्रमाणित कर दिया है॥ ३४॥

भर्ता दशरथो यस्याः साधुश्च भरतः सुतः।
कथं नु साम्बा कैकेयी तादृशी क्रूरदर्शिनी॥ ३५॥

'महाराज दशरथ जिसके पति हैं और भरत-जैसा साधु जिसका पुत्र है, वह माता कैकेयी वैसी क्रूरतापूर्ण दृष्टिवाली कैसे हो गयी?' ॥ ३५॥

इत्येवं लक्ष्मणे वाक्यं स्नेहाद् वदति धार्मिके।
परिवादं जनन्यास्तमसहन् राघवोऽब्रवीत्॥ ३६॥

धर्मपरायण लक्ष्मण जब स्नेहवश इस प्रकार कह रहे थे, उस समय श्रीरामचन्द्रजीसे माता कैकेयीकी निन्दा नहीं सही गयी। उन्होंने लक्ष्मणसे कहा— ॥ ३६॥

न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कदाचन।
तामेवेक्ष्वाकुनाथस्य भरतस्य कथां कुरु॥ ३७॥

'तात! तुम्हें मझली माता कैकेयीकी कभी निन्दा नहीं करनी चाहिये। (यदि कुछ कहना हो तो) पहलेकी भाँति इक्ष्वाकुवंशके स्वामी भरतकी ही चर्चा करो॥ ३७॥

निश्चितैव हि मे बुद्धिर्वनवासे दृढव्रता।
भरतस्नेहसंतप्ता बालिशीक्रियते पुनः॥ ३८॥

'यद्यपि मेरी बुद्धि दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करते हुए वनमें रहनेका अटल निश्चय कर चुकी है, तथापि भरतके स्नेहसे संतप्त होकर पुनः चञ्चल हो उठती है॥ ३८॥

संस्मराम्यस्य वाक्यानि प्रियाणि मधुराणि च।
हृद्यान्यमृतकल्पानि मनःप्रह्लादनानि च॥ ३९॥

'मुझे भरतकी वे परम प्रिय, मधुर, मनको भानेवाली और अमृतके समान हृदयको आह्लाद प्रदान करनेवाली बातें याद आ रही हैं॥ ३९॥

कदा ह्यहं समेष्यामि भरतेन महात्मना।
शत्रुघ्नेन च वीरेण त्वया च रघुनन्दन॥ ४०॥

'रघुकुलनन्दन लक्ष्मण! कब वह दिन आयेगा, जब मैं तुम्हारे साथ चलकर महात्मा भरत और वीरवर शत्रुघ्नसे मिलूँगा' ॥ ४०॥

इत्येवं विलपंस्तत्र प्राप्य गोदावरीं नदीम्।
चक्रेऽभिषेकं काकुत्स्थः सानुजः सह सीतया॥ ४१॥

इस प्रकार विलाप करते हुए ककुत्स्थकुलभूषण भगवान् श्रीरामने लक्ष्मण और सीताके साथ गोदावरी नदीके तटपर जाकर स्नान किया॥ ४१॥

तर्पयित्वाथ सलिलैस्तैः पितॄन् दैवतानपि।
स्तुवन्ति स्मोदितं सूर्यं देवताश्च तथानघाः॥ ४२॥

वहाँ स्नान करके उन्होंने गोदावरीके जलसे देवताओं

और पितरोंका तर्पण किया। तदनन्तर जब सूर्योदय हुआ, तब वे तीनों निष्पाप व्यक्ति भगवान् सूर्यका उपस्थान करके अन्य देवताओंकी भी स्तुति करने लगे॥ ४२॥

कृताभिषेकः स रराज रामः
सीताद्वितीयः सह लक्ष्मणेन।
कृताभिषेकस्त्वगराजपुत्र्या
रुद्रः सनन्दिर्भगवानिवेशः॥ ४३॥

सीता और लक्ष्मणके साथ स्नान करके भगवान् श्रीराम उसी प्रकार शोभा पाने लगे, जैसे पर्वतराजपुत्री उमा और नन्दीके साथ गङ्गाजीमें अवगाहन करके भगवान् रुद्र सुशोभित होते हैं॥ ४३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे षोडशः सर्गः॥ १६॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें सोलहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १६॥

सप्तदशः सर्गः

श्रीरामके आश्रममें शूर्पणखाका आना, उनका परिचय जानना और अपना परिचय देकर उनसे अपनेको भार्याके रूपमें ग्रहण करनेके लिये अनुरोध करना

कृताभिषेको रामस्तु सीता सौमित्रिरेव च।
तस्माद् गोदावरीतीरात् ततो जग्मुः स्वमाश्रमम्॥ १॥

स्नान करके श्रीराम, लक्ष्मण और सीता तीनों ही उस गोदावरीतटसे अपने आश्रममें लौट आये॥ १॥

आश्रमं तमुपागम्य राघवः सहलक्ष्मणः।
कृत्वा पौर्वाह्णिकं कर्म पर्णशालामुपागमत्॥ २॥

उस आश्रममें आकर लक्ष्मणसहित श्रीरामने पूर्वाह्ण-कालके होम-पूजन आदि कार्य पूर्ण किये, फिर वे दोनों भाई पर्णशालामें आकर बैठे॥ २॥

उवास सुखितस्तत्र पूज्यमानो महर्षिभिः।
स रामः पर्णशालायामासीनः सह सीतया॥ ३॥
विरराज महाबाहुश्चित्रया चन्द्रमा इव।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा चकार विविधाः कथाः॥ ४॥

वहाँ सीताके साथ वे सुखपूर्वक रहने लगे। उन दिनों बड़े-बड़े ऋषि-मुनि आकर वहाँ उनका सत्कार करते थे। पर्णशालामें सीताके साथ बैठे हुए महाबाहु श्रीरामचन्द्रजी चित्राके साथ विराजमान चन्द्रमाकी भाँति शोभा पा रहे थे। वे अपने भाई लक्ष्मणके साथ वहाँ तरह-तरहकी बातें किया करते थे॥ ३-४॥

तदासीनस्य रामस्य कथासंसक्तचेतसः।
तं देशं राक्षसी काचिदाजगाम यदृच्छया॥ ५॥
सा तु शूर्पणखा नाम दशग्रीवस्य रक्षसः।
भगिनी राममासाद्य ददर्श त्रिदशोपमम्॥ ६॥

उस समय जब कि श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणके साथ बातचीतमें लगे हुए थे, एक राक्षसी अकस्मात् उस स्थानपर आ पहुँची। वह दशमुख राक्षस रावणकी बहिन शूर्पणखा थी। उसने वहाँ आकर देवताओंके समान मनोहर रूपवाले श्रीरामचन्द्रजीको देखा॥ ५-६॥

दीप्तास्यं च महाबाहुं पद्मपत्रायतेक्षणम्।
गजविक्रान्तगमनं जटामण्डलधारिणम्॥ ७॥

उनका मुख तेजस्वी, भुजाएँ बड़ी-बड़ी और नेत्र प्रफुल्ल कमलदलके समान विशाल एवं सुन्दर थे। वे हाथीके समान मन्द गतिसे चलते थे। उन्होंने मस्तकपर जटामण्डल धारण कर रखा था॥ ७॥

सुकुमारं महासत्त्वं पार्थिवव्यञ्जनान्वितम्।
राममिन्दीवरश्यामं कंदर्पसदृशप्रभम्॥ ८॥
बभूवेन्द्रोपमं दृष्ट्वा राक्षसी काममोहिता।

परम सुकुमार, महान् बलशाली, राजोचित लक्षणोंसे युक्त, नील कमलके समान श्याम कान्तिसे सुशोभित, कामदेवके सदृश सौन्दर्यशाली तथा इन्द्रके समान तेजस्वी श्रीरामको देखते ही वह राक्षसी कामसे मोहित हो गयी॥

सुमुखं दुर्मुखी रामं वृत्तमध्यं महोदरी॥ ९॥
विशालाक्षं विरूपाक्षी सुकेशं ताम्रमूर्धजा।
प्रियरूपं विरूपा सा सुस्वरं भैरवस्वना॥ १०॥

श्रीरामका मुख सुन्दर था और शूर्पणखाका मुख बहुत ही भद्दा एवं कुरूप था। उनका मध्यभाग (कटिप्रदेश और उदर) क्षीण था; किंतु शूर्पणखा बेडौल लंबे पेटवाली थी। श्रीरामकी आँखें बड़ी-बड़ी होनेके कारण मनोहर थीं, परंतु उस राक्षसीके नेत्र कुरूप और डरावने थे। श्रीरघुनाथजीके केश चिकने और सुन्दर थे, परंतु उस निशाचरीके सिरके बाल ताँबे-जैसे लाल थे। श्रीरामका रूप बड़ा प्यारा लगता था, किंतु शूर्पणखाका रूप बीभत्स और विकराल था। श्रीराघवेन्द्र मधुर स्वरमें बोलते थे, किंतु वह राक्षसी भैरवनाद करनेवाली थी॥ ९—१०॥

तरुणं दारुणा वृद्धा दक्षिणं वामभाषिणी।
न्यायवृत्तं सुदुर्वृत्ता प्रियमप्रियदर्शना॥ ११॥

ये देखनेमें सौम्य और नित्य नूतन तरुण थे, किंतु वह निशाचरी क्रूर और हजारों वर्षोंकी बुढ़िया थी। ये सरलतासे बात करनेवाले और उदार थे, किंतु उसकी बातोंमें कुटिलता भरी रहती थी। ये न्यायोचित सदाचारका पालन करनेवाले थे और वह अत्यन्त दुराचारिणी थी। श्रीराम देखनेमें प्यारे लगते थे और शूर्पणखाको देखते ही घृणा पैदा होती थी॥

शरीरजसमाविष्टा राक्षसी राममब्रवीत्।
जटी तापसवेषेण सभार्यः शरचापधृक्॥ १२॥
आगतस्त्वमिमं देशं कथं राक्षससेवितम्।
किमागमनकृत्यं ते तत्त्वमाख्यातुमर्हसि॥ १३॥

तो वह राक्षसी कामभावसे आविष्ट हो (मनोहर रूप बनाकर) श्रीरामके पास आयी और बोली—'तपस्वीके वेशमें मस्तकपर जटा धारण किये, साथमें स्त्रीको लिये और हाथमें धनुष-बाण ग्रहण किये, इस राक्षसोंके देशमें तुम कैसे चले आये? यहाँ तुम्हारे आगमनका क्या प्रयोजन है? यह सब मुझे ठीक-ठीक बताओ'॥ १२-१३॥

एवमुक्तस्तु राक्षस्या शूर्पनख्या परंतपः।
ऋजुबुद्धितया सर्वमाख्यातुमुपचक्रमे॥ १४॥

राक्षसी शूर्पणखाके इस प्रकार पूछनेपर शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीरामचन्द्रजीने अपने सरलस्वभावके कारण सब कुछ बताना आरम्भ किया—॥ १४॥

आसीद् दशरथो नाम राजा त्रिदशविक्रमः।
तस्याहमग्रजः पुत्रो रामो नाम जनैः श्रुतः॥ १५॥

'देवि! दशरथ नामसे प्रसिद्ध एक चक्रवर्ती राजा हो गये हैं, जो देवताओंके समान पराक्रमी थे। मैं उन्हींका ज्येष्ठ पुत्र हूँ और लोगोंमें राम नामसे विख्यात हूँ॥ १५॥

भ्रातायं लक्ष्मणो नाम यवीयान् मामनुव्रतः।
इयं भार्या च वैदेही मम सीतेति विश्रुता॥ १६॥

'ये मेरे छोटे भाई लक्ष्मण हैं, जो सदा मेरी आज्ञाके अधीन रहते हैं और ये मेरी पत्नी हैं, जो विदेहराज जनककी पुत्री तथा सीता नामसे प्रसिद्ध हैं॥ १६॥

नियोगात् तु नरेन्द्रस्य पितुर्मातुश्च यन्त्रितः।
धर्मार्थं धर्मकाङ्क्षी च वनं वस्तुमिहागतः॥ १७॥

'अपने पिता महाराज दशरथ और माता कैकेयीकी आज्ञासे प्रेरित होकर मैं धर्मपालनकी इच्छा रखकर धर्मरक्षाके ही उद्देश्यसे इस वनमें निवास करनेके लिये यहाँ आया हूँ॥ १७॥

त्वां तु वेदितुमिच्छामि कस्य त्वं कासि कस्य वा।
त्वं हि तावन्मनोज्ञाङ्गी राक्षसी प्रतिभासि मे॥ १८॥
इह वा किंनिमित्तं त्वमागता ब्रूहि तत्त्वतः।

'अब मैं तुम्हारा परिचय प्राप्त करना चाहता हूँ। तुम किसकी पुत्री हो? तुम्हारा नाम क्या है? और तुम किसकी पत्नी हो? तुम्हारे अङ्ग इतने मनोहर हैं कि तुम मुझे इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली कोई राक्षसी प्रतीत होती हो। यहाँ किस लिये तुम आयी हो? यह ठीक-ठीक बताओ'॥ १८½॥

साब्रवीद् वचनं श्रुत्वा राक्षसी मदनार्दिता॥ १९॥
श्रूयतां राम तत्त्वार्थं वक्ष्यामि वचनं मम।
अहं शूर्पणखा नाम राक्षसी कामरूपिणी॥ २०॥

श्रीरामचन्द्रजीकी यह बात सुनकर वह राक्षसी कामसे पीड़ित होकर बोली—'श्रीराम! मैं सब कुछ ठीक-ठीक बता रही हूँ। तुम मेरी बात सुनो। मेरा नाम शूर्पणखा है और मैं इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली राक्षसी हूँ॥ १९-२०॥

अरण्यं विचरामीदमेका सर्वभयंकरा।
रावणो नाम मे भ्राता यदि ते श्रोत्रमागतः॥ २१॥

'मैं समस्त प्राणियोंके मनमें भय उत्पन्न करती हुई इस वनमें अकेली विचरती हूँ। मेरे भाईका नाम रावण है। सम्भव है, उसका नाम तुम्हारे कानोंतक पहुँचा हो॥ २१॥

वीरो विश्रवसः पुत्रो यदि ते श्रोत्रमागतः।
प्रवृद्धनिद्रश्च सदा कुम्भकर्णो महाबलः॥ २२॥

'रावण विश्रवा मुनिका वीर पुत्र है, यह बात भी तुम्हारे सुननेमें आयी होगी। मेरा दूसरा भाई महाबली कुम्भकर्ण है, जिसकी निद्रा सदा ही बढ़ी रहती है॥ २२॥

विभीषणस्तु धर्मात्मा न तु राक्षसचेष्टितः।
प्रख्यातवीर्यौ च रणे भ्रातरौ खरदूषणौ॥ २३॥

'मेरे तीसरे भाईका नाम विभीषण है, परंतु वह धर्मात्मा है, राक्षसोंके आचार-विचारका वह कभी पालन नहीं करता। युद्धमें जिनका पराक्रम विख्यात है, वे खर और दूषण भी मेरे भाई ही हैं॥ २३॥

तानहं समतिक्रान्ता राम त्वा पूर्वदर्शनात्।
समुपेतास्मि भावेन भर्तारं पुरुषोत्तमम्॥ २४॥

'श्रीराम! बल और पराक्रममें मैं अपने उन सभी भाइयोंसे बढ़कर हूँ। तुम्हारे प्रथम दर्शनसे ही मेरा मन तुममें आसक्त हो गया है। (अथवा तुम्हारा रूप-सौन्दर्य अपूर्व है। आजसे पहले देवताओंमें भी किसीका ऐसा रूप मेरे देखनेमें नहीं आया है, अतः इस अपूर्व रूपके दर्शनसे मैं तुम्हारे प्रति आकृष्ट हो गयी हूँ।) यही कारण है कि मैं तुम-जैसे पुरुषोत्तमके प्रति पतिकी भावना रखकर बड़े प्रेमसे पास आयी हूँ॥ २४॥

अहं प्रभावसम्पन्ना स्वच्छन्दबलगामिनी।
चिराय भव भर्ता मे सीतया किं करिष्यसि॥ २५॥

'मैं प्रभाव (उत्कृष्ट भाव—अनुराग अथवा महान् बल-पराक्रम) से सम्पन्न हूँ और अपनी इच्छा तथा शक्तिसे समस्त लोकोंमें विचरण कर सकती हूँ, अतः अब तुम दीर्घकालके लिये मेरे पति बन जाओ। इस अबला सीताको लेकर क्या करोगे?॥ २५॥

विकृता च विरूपा च न सेयं सदृशी तव।
अहमेवानुरूपा ते भार्यारूपेण पश्य माम्॥ २६॥

'यह विकारयुक्त और कुरूपा है, अतः तुम्हारे योग्य नहीं है। मैं ही तुम्हारे अनुरूप हूँ, अतः मुझे अपनी भार्याके रूपमें देखो॥

इमां विरूपामसतीं करालां निर्णतोदरीम्।
अनेन सह ते भ्रात्रा भक्षयिष्यामि मानुषीम्॥ २७॥

'यह सीता मेरी दृष्टिमें कुरूप, ओछी, विकृत, धँसे हुए पेटवाली और मानवी है, मैं इसे तुम्हारे इस भाईके साथ ही खा जाऊँगी ॥ २७ ॥

ततः पर्वतशृङ्गाणि वनानि विविधानि च।
पश्यन् सह मया कामी दण्डकान् विचरिष्यसि ॥ २८ ॥

'फिर तुम कामभावयुक्त हो मेरे साथ पर्वतीय शिखरों और नाना प्रकारके वनोंकी शोभा देखते हुए दण्डकवनमें विहार करना' ॥ २८ ॥

इत्येवमुक्तः काकुत्स्थः प्रहस्य मदिरेक्षणाम्।
इदं वचनमारेभे वक्तुं वाक्यविशारदः ॥ २९ ॥

शूर्पणखाके ऐसा कहनेपर बातचीत करनेमें कुशल ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामचन्द्रजी जोर-जोरसे हँसने लगे, फिर उन्होंने उस मतवाले नेत्रोंवाली निशाचरीसे इस प्रकार कहना आरम्भ किया ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें सत्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशः सर्गः

श्रीरामके टाल देनेपर शूर्पणखाका लक्ष्मणसे प्रणययाचना करना, फिर उनके भी टालनेपर उसका सीतापर आक्रमण और लक्ष्मणका उसके नाक-कान काट लेना

तां तु शूर्पणखां रामः कामपाशावपाशिताम्।
स्वेच्छया श्लक्ष्णया वाचा स्मितपूर्वमथाब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीरामने कामपाशसे बँधी हुई उस शूर्पणखासे अपनी इच्छाके अनुसार मधुर वाणीमें मन्द-मन्द मुसकराते हुए कहा— ॥ १ ॥

कृतदारोऽस्मि भवति भार्येयं दयिता मम।
त्वद्विधानां तु नारीणां सुदुःखा ससपत्नता ॥ २ ॥

'आदरणीया देवि! मैं विवाह कर चुका हूँ। यह मेरी प्यारी पत्नी विद्यमान है। तुम-जैसी स्त्रियोंके लिये तो सौतका रहना अत्यन्त दुःखदायी ही होगा ॥ २ ॥

अनुजस्त्वेष मे भ्राता शीलवान् प्रियदर्शनः।
श्रीमानकृतदारश्च लक्ष्मणो नाम वीर्यवान् ॥ ३ ॥
अपूर्वी भार्यया चार्थी तरुणः प्रियदर्शनः।
अनुरूपश्च ते भर्ता रूपस्यास्य भविष्यति ॥ ४ ॥

'ये मेरे छोटे भाई श्रीमान् लक्ष्मण बड़े शीलवान्, देखनेमें प्रिय लगनेवाले और बल-पराक्रमसे सम्पन्न हैं। इनके साथ स्त्री नहीं है। ये अपूर्व गुणोंसे सम्पन्न हैं। ये तरुण तो हैं ही, इनका रूप भी देखनेमें बड़ा मनोरम है। अतः यदि इन्हें भार्याकी चाह होगी तो ये ही तुम्हारे इस सुन्दर रूपके योग्य पति होंगे ॥ ३-४ ॥

एनं भज विशालाक्षि भर्तारं भ्रातरं मम।
असपत्ना वरारोहे मेरुमर्कप्रभा यथा ॥ ५ ॥

'विशाललोचने! वरारोहे! जैसे सूर्यकी प्रभा मेरुपर्वतका सेवन करती है, उसी प्रकार तुम मेरे इन छोटे भाई लक्ष्मणको पतिके रूपमें अपनाकर सौतके भयसे रहित हो इनकी सेवा करो' ॥ ५ ॥

इति रामेण सा प्रोक्ता राक्षसी काममोहिता।
विसृज्य रामं सहसा ततो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर वह कामसे मोहित हुई राक्षसी उन्हें छोड़कर सहसा लक्ष्मणके पास जा पहुँची और इस प्रकार बोली— ॥ ६ ॥

अस्य रूपस्य ते युक्ता भार्याहं वरवर्णिनी।
मया सह सुखं सर्वान् दण्डकान् विचरिष्यसि ॥ ७ ॥

'लक्ष्मण! तुम्हारे इस सुन्दर रूपके योग्य मैं ही हूँ, अतः मैं ही तुम्हारी परम सुन्दरी भार्या हो सकती हूँ। मुझे अङ्गीकार कर लेनेपर तुम मेरे साथ समूचे दण्डकारण्यमें सुखपूर्वक विचरण कर सकोगे' ॥ ७ ॥

एवमुक्तस्तु सौमित्री राक्षस्या वाक्यकोविदः।
ततः शूर्पनखीं स्मित्वा लक्ष्मणो युक्तमब्रवीत् ॥ ८ ॥

उस राक्षसीके ऐसा कहनेपर बातचीतमें निपुण सुमित्राकुमार लक्ष्मण मुसकराकर सूप-जैसे नखवाली उस निशाचरीसे यह युक्तियुक्त बात बोले— ॥ ८ ॥

कथं दासस्य मे दासी भार्या भवितुमिच्छसि।
सोऽहमार्येण परवान् भ्रात्रा कमलवर्णिनि ॥ ९ ॥

'लाल कमलके समान गौर वर्णवाली सुन्दरि! मैं तो दास हूँ, अपने बड़े भाई भगवान् श्रीरामके अधीन हूँ, तुम मेरी स्त्री होकर दासी बनना क्यों चाहती हो? ॥ ९ ॥

समृद्धार्थस्य सिद्धार्था मुदितामलवर्णिनी।
आर्यस्य त्वं विशालाक्षि भार्या भव यवीयसी ॥ १० ॥

'विशाललोचने! मेरे बड़े भैया सम्पूर्ण ऐश्वर्यों (अथवा सभी अभीष्ट वस्तुओं) से सम्पन्न हैं। तुम उन्हींकी छोटी स्त्री हो जाओ। इससे तुम्हारे सभी मनोरथ सिद्ध हो जायँगे और तुम सदा प्रसन्न रहोगी। तुम्हारे रूप-रंग उन्हींके योग्य निर्मल हैं ॥ १० ॥

एतां विरूपामसतीं करालां निर्णतोदरीम्।
भार्यां वृद्धां परित्यज्य त्वामेवैष भजिष्यति ॥ ११ ॥

'कुरूप, ओछी, विकृत, धँसे हुए पेटवाली और वृद्धा

भार्याको त्यागकर ये तुम्हें ही सादर ग्रहण करेंगे * ॥ ११ ॥

को हि रूपमिदं श्रेष्ठं संत्यज्य वरवर्णिनि ।
मानुषीषु वरारोहे कुर्याद् भावं विचक्षणः ॥ १२ ॥

'सुन्दर कटिप्रदेशवाली वरवर्णिनि ! कौन ऐसा बुद्धिमान् मनुष्य होगा, जो तुम्हारे इस श्रेष्ठ रूपको छोड़कर मानवकन्याओंसे प्रेम करेगा ?' ॥ १२ ॥

इति सा लक्ष्मणेनोक्ता कराला निर्णतोदरी ।
मन्यते तद्वचः सत्यं परिहासाविचक्षणा ॥ १३ ॥

लक्ष्मणके इस प्रकार कहनेपर परिहासको न समझनेवाली उस लंबे पेटवाली विकराल राक्षसीने उनकी बातको सच्ची माना ॥ १३ ॥

सा रामं पर्णशालायामुपविष्टं परंतपम् ।
सीतया सह दुर्धर्षमब्रवीत् काममोहिता ॥ १४ ॥

वह पर्णशालामें सीताके साथ बैठे हुए शत्रुसंतापी दुर्जय वीर श्रीरामचन्द्रजीके पास लौट आयी और कामसे मोहित होकर बोली— ॥ १४ ॥

इमां विरूपामसतीं करालां निर्णतोदरीम् ।
वृद्धां भार्यामवष्टभ्य न मां त्वं बहु मन्यसे ॥ १५ ॥

'राम ! तुम इस कुरूप, ओछी, विकृत, धँसे हुए पेटवाली और वृद्धाका आश्रय लेकर मेरा विशेष आदर नहीं करते हो ॥

अद्येमां भक्षयिष्यामि पश्यतस्तव मानुषीम् ।
त्वया सह चरिष्यामि निःसपत्ना यथासुखम् ॥ १६ ॥

'अतः आज तुम्हारे देखते-देखते मैं इस मानुषीको खा जाऊँगी और इस सौतके न रहनेपर तुम्हारे साथ सुखपूर्वक विचरण करूँगी' ॥ १६ ॥

इत्युक्त्वा मृगशावाक्षीमलातसदृशेक्षणा ।
अभ्यगच्छत् सुसंक्रुद्धा महोल्का रोहिणीमिव ॥ १७ ॥

ऐसा कहकर दहकते हुए अंगारोंके समान नेत्रोंवाली शूर्पणखा अत्यन्त क्रोधमें भरकर मृगनयनी सीताकी ओर झपटी, मानो कोई बड़ी भारी उल्का रोहिणी नामक तारेपर टूट पड़ी हो ॥ १७ ॥

तां मृत्युपाशप्रतिमामापतन्तीं महाबलः ।
विगृह्य रामः कुपितस्ततो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ १८ ॥

महाबली श्रीरामने मौतके फंदेकी तरह आती हुई उस राक्षसीको हुंकारसे रोककर कुपित हो लक्ष्मणसे कहा— ॥

क्रूरैरनार्यैः सौमित्रे परिहासः कथंचन ।
न कार्यः पश्य वैदेहीं कथंचित् सौम्य जीवतीम् ॥ १९ ॥

'सुमित्रानन्दन ! क्रूर कर्म करनेवाले अनार्योंसे किसी प्रकारका परिहास भी नहीं करना चाहिये । सौम्य ! देखो न, इस समय सीताके प्राण किसी प्रकार बड़ी मुश्किलसे बचे हैं ॥ १९ ॥

इमां विरूपामसतीमतिमत्तां महोदरीम् ।
राक्षसीं पुरुषव्याघ्र विरूपयितुमर्हसि ॥ २० ॥

'पुरुषसिंह ! तुम्हें इस कुरूपा, कुलटा, अत्यन्त मतवाली और लंबे पेटवाली राक्षसीको कुरूप—किसी अङ्गसे हीन कर देना चाहिये' ॥ २० ॥

इत्युक्तो लक्ष्मणस्तस्याः क्रुद्धो रामस्य पश्यतः ।
उद्धृत्य खड्गं चिच्छेद कर्णनासे महाबलः ॥ २१ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके इस प्रकार आदेश देनेपर क्रोधमें भरे हुए महाबली लक्ष्मणने उनके देखते-देखते म्यानसे तलवार खींच ली और शूर्पणखाके नाक-कान काट लिये ॥ २१ ॥

निकृत्तकर्णनासा तु विस्वरं सा विनद्य च ।
यथागतं प्रदुद्राव घोरा शूर्पणखा वनम् ॥ २२ ॥

नाक और कान कट जानेपर भयंकर राक्षसी शूर्पणखा बड़े जोरसे चिल्लाकर जैसे आयी थी, उसी तरह वनमें भाग गयी ॥ २२ ॥

सा विरूपा महाघोरा राक्षसी शोणितोक्षिता ।
ननाद विविधान् नादान् यथा प्रावृषि तोयदः ॥ २३ ॥

खूनसे भीगी हुई वह महाभयंकर एवं विकराल रूपवाली निशाचरी नाना प्रकारके स्वरोंमें जोर-जोरसे चीत्कार करने लगी, मानो वर्षाकालमें मेघोंकी घटा गर्जन-तर्जन कर रही हो ॥ २३ ॥

सा विक्षरन्ती रुधिरं बहुधा घोरदर्शना ।
प्रगृह्य बाहू गर्जन्ती प्रविवेश महावनम् ॥ २४ ॥

वह देखनेमें बड़ी भयानक थी । उसने अपने कटे हुए अङ्गोंसे बारंबार खूनकी धारा बहाते और दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर चिग्घाड़ते हुए एक विशाल वनके भीतर प्रवेश किया ॥ २४ ॥

ततस्तु सा राक्षससङ्घसंवृतं
खरं जनस्थानगतं विरूपिता ।
उपेत्य तं भ्रातरमुग्रतेजसं
पपात भूमौ गगनाद् यथाशनिः ॥ २५ ॥

लक्ष्मणके द्वारा कुरूप की गयी शूर्पणखा वहाँसे भागकर राक्षससमूहसे घिरे हुए भयंकर तेजवाले जनस्थाननिवासी भ्राता खरके पास गयी और जैसे आकाशसे बिजली गिरती है, उसी प्रकार वह पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ २५ ॥

---

* यहाँ लक्ष्मणने उन्हीं विशेषणोंको दुहराया है, जिन्हें शूर्पणखाने सीताके लिये प्रयुक्त किया था । शूर्पणखाकी दृष्टिसे जो अर्थ है, वह ऊपर दे दिया है; परंतु लक्ष्मणकी दृष्टिमें वे विशेषण निन्दापरक नहीं, स्तुतिपरक हैं, अतः उनकी दृष्टिसे उन विशेषणोंका अर्थ यहाँ दिया जाता है—विरूपा—विशिष्टरूपवाली त्रिभुवनसुन्दरी । असती—जिससे बढ़कर दूसरी कोई सती नहीं है ऐसी । कराला—शरीरकी गठनके अनुसार ऊँचे-नीचे अङ्गोंवाली । निर्णतोदरी—निम्न उदर अथवा क्षीण कटि-प्रदेशवाली । वृद्धा—ज्ञानमें बढ़ी-चढ़ी अर्थात् तुम्हें छोड़कर उक्त विशेषणोंवाली सीताको ही वे ग्रहण करेंगे ।

ततः सभार्यं भयमोह मूर्च्छिता
सलक्ष्मणं राघवमागतं वनम्।
विरूपणं चात्मनि शोणितोक्षिता
शशंस सर्वं भगिनी खरस्य सा ॥ २६ ॥

खरकी वह बहन रक्तसे नहा गयी थी और भय तथा मोहसे अचेत-सी हो रही थी। उसने वनमें सीता और लक्ष्मणके साथ श्रीरामचन्द्रजीके आने और अपने कुरूप किये जानेका सारा वृत्तान्त खरसे कह सुनाया ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डेऽष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें अठारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशः सर्गः

शूर्पणखाके मुखसे उसकी दुर्दशाका वृत्तान्त सुनकर क्रोधमें भरे हुए खरका श्रीराम आदिके वधके लिये चौदह राक्षसोंको भेजना

तां तथा पतितां दृष्ट्वा विरूपां शोणितोक्षिताम्।
भगिनीं क्रोधसंतप्तः खरः पप्रच्छ राक्षसः ॥ १ ॥

अपनी बहिनको इस प्रकार अङ्गहीन और रक्तसे भीगी हुई अवस्थामें पृथ्वीपर पड़ी देख राक्षस खर क्रोधसे जल उठा और इस प्रकार पूछने लगा— ॥ १ ॥

उत्तिष्ठ तावदाख्याहि प्रमोहं जहि सम्भ्रमम्।
व्यक्तमाख्याहि केन त्वमेवंरूपा विरूपिता ॥ २ ॥

'बहिन उठो और अपना हाल बताओ। मूर्च्छा और घबराहट छोड़ो तथा साफ-साफ कहो, किसने तुम्हें इस तरह रूपहीन बनाया है? ॥ २ ॥

कः कृष्णसर्पमासीनमाशीविषमनागसम्।
तुदत्यभिसमापन्नमङ्गुल्यग्रेण लीलया ॥ ३ ॥

'कौन अपने सामने आकर चुपचाप बैठे हुए निरपराध एवं विषैले काले साँपको अपनी अँगुलियोंके अग्रभागसे खेल-खेलमें पीड़ा दे रहा है? ॥ ३ ॥

कालपाशं समासज्य कण्ठे मोहान्न बुध्यते।
यस्त्वामद्य समासाद्य पीतवान् विषमुत्तमम् ॥ ४ ॥

'जिसने आज तुमपर आक्रमण करके तुम्हारे नाक-कान काटे हैं, उसने उच्चकोटिका विष पी लिया है तथा अपने गलेमें कालका फंदा डाल लिया है, फिर भी मोहवश वह इस बातको समझ नहीं रहा है। ॥ ४ ॥

बलविक्रमसम्पन्ना कामगा कामरूपिणी।
इमामवस्थां नीता त्वं केनान्तकसमागता ॥ ५ ॥

'तुम तो स्वयं ही दूसरे प्राणियोंके लिये यमराजके समान हो, बल और पराक्रमसे सम्पन्न हो तथा इच्छानुसार सर्वत्र विचरने और अपनी रुचिके अनुसार रूप धारण करनेमें समर्थ हो, फिर भी तुम्हें किसने इस दुरवस्थामें डाला है; जिससे दुःखी होकर तुम यहाँ आयी हो? ॥ ५ ॥

देवगन्धर्वभूतानामृषीणां च महात्मनाम्।
कोऽयमेवं महावीर्यस्त्वां विरूपां चकार ह ॥ ६ ॥

'देवताओं, गन्धर्वों, भूतों तथा महात्मा ऋषियोंमें यह कौन ऐसा महान् बलशाली है, जिसने तुम्हें रूपहीन बना दिया? ॥ ६ ॥

नहि पश्याम्यहं लोके यः कुर्यान्मम विप्रियम्।
अमरेषु सहस्राक्षं महेन्द्रं पाकशासनम् ॥ ७ ॥

'संसारमें तो मैं किसीको ऐसा नहीं देखता, जो मेरा अप्रिय कर सके। देवताओंमें सहस्रनेत्रधारी पाकशासन इन्द्र भी ऐसा साहस कर सके, यह मुझे नहीं दिखायी देता ॥ ७ ॥

अद्याहं मार्गणैः प्राणानादास्ये जीवितान्तगैः।
सलिले क्षीरमासक्तं निष्पिबन्निव सारसः ॥ ८ ॥

'जैसे हंस जलमें मिले हुए दूधको पी लेता है, उसी प्रकार मैं आज इन प्राणान्तकारी बाणोंसे तुम्हारे अपराधीके शरीरसे उसके प्राण ले लूँगा ॥ ८ ॥

निहतस्य मया संख्ये शरसंकृत्तमर्मणः।
सफेनं रुधिरं कस्य मेदिनी पातुमिच्छति ॥ ९ ॥

'युद्धमें मेरे बाणोंसे जिसके मर्मस्थान छिन्न-भिन्न हो गये हैं तथा जो मेरे हाथों मारा गया है, ऐसे किस पुरुषके फेन-सहित गरम-गरम रक्तको यह पृथ्वी पीना चाहती है? ॥ ९ ॥

कस्य पत्ररथाः कायान्मांसमुत्कृत्य संगताः।
प्रहृष्टा भक्षयिष्यन्ति निहतस्य मया रणे ॥ १० ॥

'रणभूमिमें मेरेद्वारा मारे गये किस व्यक्तिके शरीरसे मांस कुतर-कुतरकर ये हर्षमें भरे हुए झुंड-के-झुंड पक्षी खायँगे? ॥ १० ॥

तं न देवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः।
मयापकृष्टं कृपणं शक्तास्त्रातुं महाहवे ॥ ११ ॥

'जिसे मैं महासमरमें खींच लूँ, उस दीन अपराधीको देवता, गन्धर्व, पिशाच और राक्षस भी नहीं बचा सकते ॥

उपलभ्य शनैः संज्ञां तं मे शंसितुमर्हसि।
येन त्वं दुर्विनीतेन वने विक्रम्य निर्जिता ॥ १२ ॥

'धीरे-धीरे होशमें आकर तुम मुझे उसका नाम बताओ, जिस उद्दण्डने वनमें तुमपर बलपूर्वक आक्रमण करके तुम्हें परास्त किया है' ॥ १२ ॥

इति भ्रातुर्वचः श्रुत्वा क्रुद्धस्य च विशेषतः।
ततः शूर्पणखा वाक्यं सबाष्पमिदमब्रवीत् ॥ १३ ॥

भाईका विशेषतः क्रोधमें भरे हुए भाई खरका यह वचन

सुनकर शूर्पणखा नेत्रोंसे आँसू बहाती हुई इस प्रकार बोली— ॥

तरुणौ रूपसम्पन्नौ सुकुमारौ महाबलौ ।
पुण्डरीकविशालाक्षौ चीरकृष्णाजिनाम्बरौ ॥ १४ ॥

'भैया ! वनमें दो तरुण पुरुष आये हैं, जो देखनेमें बड़े ही सुकुमार, रूपवान् और महान् बलवान् हैं। उन दोनोंके बड़े-बड़े नेत्र ऐसे जान पड़ते हैं मानो खिले हुए कमल हों। वे दोनों ही वल्कल-वस्त्र और मृगचर्म पहने हुए हैं ॥ १४ ॥

फलमूलाशनौ दान्तौ तापसौ ब्रह्मचारिणौ ।
पुत्रौ दशरथस्यास्तां भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ १५ ॥

'फल और मूल ही उनका भोजन है। वे जितेन्द्रिय, तपस्वी और ब्रह्मचारी हैं। दोनों ही राजा दशरथके पुत्र और आपसमें भाई-भाई हैं। उनके नाम राम और लक्ष्मण हैं ॥

गन्धर्वराजप्रतिमौ पार्थिवव्यञ्जनान्वितौ ।
देवौ वा दानवावेतौ न तर्कयितुमुत्सहे ॥ १६ ॥

'वे दो गन्धर्वराजोंके समान जान पड़ते हैं और राजोचित लक्षणोंसे सम्पन्न हैं। ये दोनों भाई देवता अथवा दानव हैं, यह मैं अनुमानसे भी नहीं जान सकती ॥ १६ ॥

तरुणी रूपसम्पन्ना सर्वाभरणभूषिता ।
दृष्टा तत्र मया नारी तयोर्मध्ये सुमध्यमा ॥ १७ ॥

'उन दोनोंके बीचमें एक तरुण अवस्थावाली रूपवती स्त्री भी वहाँ देखी है, जिसके शरीरका मध्यभाग बड़ा ही सुन्दर है। वह सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित है ॥ १७ ॥

ताभ्यामुभाभ्यां सम्भूय प्रमदामधिकृत्य ताम् ।
इमामवस्थां नीताहं यथानाथासती तथा ॥ १८ ॥

'उस स्त्रीके ही कारण उन दोनोंने मिलकर मेरी एक अनाथ और कुलटा स्त्रीकी भाँति ऐसी दुर्गति की है ॥ १८ ॥

तस्याश्चानृजुवृत्तायास्तयोश्च हतयोरहम् ।
सफेनं पातुमिच्छामि रुधिरं रणमूर्धनि ॥ १९ ॥

'मैं युद्धमें उस कुटिल आचारवाली स्त्रीके और उन दोनों राजकुमारोंके भी मारे जानेपर उनका फेनसहित रक्त पीना चाहती हूँ ॥ १९ ॥

एष मे प्रथमः कामः कृतस्तत्र त्वया भवेत् ।
तस्यास्तयोश्च रुधिरं पिबेयमहमाहवे ॥ २० ॥

'रणभूमिमें उस स्त्रीका और उन पुरुषोंका भी रक्त मैं पी सकूँ—यह मेरी पहली और प्रमुख इच्छा है, जो तुम्हारे द्वारा पूर्ण की जानी चाहिये ॥ २० ॥

इति तस्यां ब्रुवाणायां चतुर्दश महाबलान् ।
व्यादिदेश खरः क्रुद्धो राक्षसानन्तकोपमान् ॥ २१ ॥

शूर्पणखाके ऐसा कहनेपर खरने कुपित होकर अत्यन्त बलवान् चौदह राक्षसोंको, जो यमराजके समान भयंकर थे, यह आदेश दिया— ॥ २१ ॥

मानुषौ शस्त्रसम्पन्नौ चीरकृष्णाजिनाम्बरौ ।
प्रविष्टौ दण्डकारण्यं घोरं प्रमदया सह ॥ २२ ॥

'वीरो ! इस भयंकर दण्डकारण्यके भीतर चीर और काला मृगचर्म धारण किये दो शस्त्रधारी मनुष्य एक युवती स्त्रीके साथ घुस आये हैं ॥ २२ ॥

तौ हत्वा तां च दुर्वृत्तामुपावर्तितुमर्हथ ।
इयं च भगिनी तेषां रुधिरं मम पास्यति ॥ २३ ॥

'तुमलोग वहाँ जाकर पहले उन दोनों पुरुषोंको मार डालो; फिर उस दुराचारिणी स्त्रीके भी प्राण ले लो। मेरी यह बहिन उन तीनोंका रक्त पीयेगी ॥ २३ ॥

मनोरथोऽयमिष्टोऽस्या भगिन्या मम राक्षसाः ।
शीघ्रं सम्पाद्यतां गत्वा तौ प्रमथ्य स्वतेजसा ॥ २४ ॥

'राक्षसो ! मेरी इस बहिनका यह प्रिय मनोरथ है। तुम वहाँ जाकर अपने प्रभावसे उन दोनों मनुष्योंको मार गिराओ और बहिनके इस मनोरथको शीघ्र पूरा करो ॥ २४ ॥

युष्माभिर्निहतौ दृष्ट्वा तावुभौ भ्रातरौ रणे ।
इयं प्रहृष्टा मुदिता रुधिरं युधि पास्यति ॥ २५ ॥

'रणभूमिमें उन दोनों भाइयोंको तुम्हारे द्वारा मारा गया देख यह हर्षसे खिल उठेगी और आनन्दमग्न होकर युद्धस्थलमें उनका रक्त पान करेगी' ॥ २५ ॥

इति प्रतिसमादिष्टा राक्षसास्ते चतुर्दश ।
तत्र जग्मुस्तया सार्धं घना वातेरिता इव ॥ २६ ॥

खरकी ऐसी आज्ञा पाकर वे चौदहों राक्षस हवाके उड़ाये हुए बादलोंके समान विवश हो शूर्पणखाके साथ पञ्चवटीको गये ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकोनविंशः सर्गः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

—★—

विंशः सर्गः

श्रीरामद्वारा खरके भेजे हुए चौदह राक्षसोंका वध

ततः शूर्पणखा घोरा राघवाश्रममागता ।
राक्षसानाचचक्षे तौ भ्रातरौ सह सीतया ॥ १ ॥

तदनन्तर भयानक राक्षसी शूर्पणखा श्रीरामचन्द्रजीके आश्रमपर आयी। उसने सीतासहित उन दोनों भाइयोंका उन राक्षसोंको परिचय दिया ॥ १ ॥

ते रामं पर्णशालायामुपविष्टं महाबलम् ।
ददृशुः सीतया सार्धं लक्ष्मणेनापि सेवितम् ॥ २ ॥

राक्षसोंने देखा—महाबली श्रीराम सीताके साथ पर्ण-

शालामें बैठे हैं और लक्ष्मण भी उनकी सेवामें उपस्थित हैं ॥

तां दृष्ट्वा राघवः श्रीमानागतांस्तांश्च राक्षसान्।
अब्रवीद् भ्रातरं रामो लक्ष्मणं दीप्ततेजसम्॥ ३॥

इधर श्रीमान् रघुनाथजीने भी शूर्पणखा तथा उसके साथ आये हुए उन राक्षसोंको भी देखा। देखकर वे उद्दीप्त तेजवाले अपने भाई लक्ष्मणसे इस प्रकार बोले— ॥ ३॥

मुहूर्तं भव सौमित्रे सीतायाः प्रत्यनन्तरः।
इमानस्या वधिष्यामि पदवीमागतानिह॥ ४॥

'सुमित्राकुमार! तुम थोड़ी देरतक सीताके पास खड़े हो जाओ। मैं इस राक्षसीके सहायक बनकर पीछे-पीछे आये हुए इन निशाचरोंका यहाँ अभी वध कर डालूँगा' ॥ ४॥

वाक्यमेतत् ततः श्रुत्वा रामस्य विदितात्मनः।
तथेति लक्ष्मणो वाक्यं राघवस्य प्रपूजयन्॥ ५॥

अपने स्वरूपको समझनेवाले श्रीरामचन्द्रजीकी यह बात सुनकर लक्ष्मणने इसकी भूरि-भूरि सराहना करते हुए 'तथास्तु' कहकर उनकी आज्ञा शिरोधार्य की ॥ ५॥

राघवोऽपि महच्चापं चामीकरविभूषितम्।
चकार सज्यं धर्मात्मा तानि रक्षांसि चाब्रवीत्॥ ६॥

तब धर्मात्मा रघुनाथजीने अपने सुवर्णमण्डित विशाल धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी और उन राक्षसोंसे कहा— ॥ ६॥

पुत्रौ दशरथस्यावां भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
प्रविष्टौ सीतया सार्धं दुश्चरं दण्डकावनम्॥ ७॥
फलमूलाशनौ दान्तौ तापसौ ब्रह्मचारिणौ।
वसन्तौ दण्डकारण्ये किमर्थमुपहिंसथ॥ ८॥

'हम दोनों भाई राजा दशरथके पुत्र राम और लक्ष्मण हैं तथा सीताके साथ इस दुर्गम दण्डकारण्यमें आकर फल-मूलका आहार करते हुए इन्द्रियसंयमपूर्वक तपस्यामें संलग्न हैं और ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं। इस प्रकार दण्डकवनमें निवास करनेवाले हम दोनों भाइयोंकी तुम किसलिये हिंसा करना चाहते हो? ॥ ७-८॥

युष्मान् पापात्मकान् हन्तुं विप्रकारान् महाहवे।
ऋषीणां तु नियोगेन सम्प्राप्तः सशरासनः॥ ९॥

'देखो, तुम सब-के-सब पापात्मा तथा ऋषियोंका अपराध करनेवाले हो। उन ऋषि-मुनियोंकी आज्ञासे ही मैं धनुष-बाण लेकर महासमरमें तुम्हारा वध करनेके लिये यहाँ आया हूँ ॥ ९॥

तिष्ठतैवात्र संतुष्टा नोपवर्तितुमर्हथ।
यदि प्राणैरिहार्थो वो निवर्तध्वं निशाचराः॥ १०॥

'निशाचरो! यदि तुम्हें युद्धसे संतोष प्राप्त होता हो तो यहाँ खड़े ही रहो, भाग मत जाना और यदि तुम्हें प्राणोंका लोभ हो तो लौट जाओ (एक क्षणके लिये भी यहाँ न रुको)' ॥ १०॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राक्षसास्ते चतुर्दश।
ऊचुर्वाचं सुसंक्रुद्धा ब्रह्मघ्नाः शूलपाणयः॥ ११॥
संरक्तनयना घोरा रामं संरक्तलोचनम्।
परुषा मधुराभाषं हृष्टा दृष्टपराक्रमम्॥ १२॥

श्रीरामकी यह बात सुनकर वे चौदहों राक्षस अत्यन्त कुपित हो उठे। ब्राह्मणोंकी हत्या करनेवाले वे घोर निशाचर हाथोंमें शूल लिये क्रोधसे लाल आँखें करके कठोर वाणीमें हर्ष और उत्साहके साथ स्वभावतः लाल नेत्रोंवाले मधुरभाषी श्रीरामसे, जिनका पराक्रम वे देख चुके थे, यों बोले— ॥ ११-१२॥

क्रोधमुत्पाद्य नो भर्तुः खरस्य सुमहात्मनः।
त्वमेव हास्यसे प्राणान् सद्योऽस्माभिर्हतो युधि॥ १३॥

'अरे! तूने हमारे स्वामी महाकाय खरको क्रोध दिलाया है; अतः हमलोगोंके हाथसे युद्धमें मारा जाकर तू स्वयं ही तत्काल अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठेगा ॥ १३॥

का हि ते शक्तिरेकस्य बहूनां रणमूर्धनि।
अस्माकमग्रतः स्थातुं किं पुनर्योद्धुमाहवे॥ १४॥

'हम बहुत-से हैं और तू अकेला, तेरी क्या शक्ति है कि तू हमारे सामने रणभूमिमें खड़ा भी रह सके, फिर युद्ध करना तो दूरकी बात है ॥ १४॥

एभिर्बाहुप्रयुक्तैश्च परिघैः शूलपट्टिशैः।
प्राणांस्त्यक्ष्यसि वीर्यं च धनुश्च करपीडितम्॥ १५॥

'हमारी भुजाओंद्वारा छोड़े गये इन परिघों, शूलों और पट्टिशोंकी मार खाकर तू अपने हाथमें दबाये हुए इस धनुषको, बल-पराक्रमके अभिमानको तथा अपने प्राणोंको भी एक साथ ही त्याग देगा' ॥ १५॥

इत्येवमुक्त्वा संरब्धा राक्षसास्ते चतुर्दश।
उद्यतायुधनिस्त्रिंशा राममेवाभिदुद्रुवुः॥ १६॥

ऐसा कहकर क्रोधमें भरे हुए वे चौदहों राक्षस तरह-तरहके आयुध और तलवारें लिये श्रीरामपर ही टूट पड़े ॥

चिक्षिपुस्तानि शूलानि राघवं प्रति दुर्जयम्।
तानि शूलानि काकुत्स्थः समस्तानि चतुर्दश॥ १७॥
तावद्भिरेव चिच्छेद शरैः काञ्चनभूषितैः।

उन राक्षसोंने दुर्जय वीर श्रीराघवेन्द्रपर वे शूल चलाये, परंतु ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामचन्द्रजीने उन समस्त चौदहों शूलोंको उतने ही सुवर्णभूषित बाणोंद्वारा काट डाला ॥

ततः पश्चान्महातेजा नाराचान् सूर्यसंनिभान्॥ १८॥
जग्राह परमक्रुद्धश्चतुर्दश शिलाशितान्।
गृहीत्वा धनुरायम्य लक्ष्यानुद्दिश्य राक्षसान्॥ १९॥
मुमोच राघवो बाणान् वज्रानिव शतक्रतुः।

तत्पश्चात् महातेजस्वी रघुनाथजीने अत्यन्त कुपित हो शानपर चढ़ाकर तेज किये गये सूर्यतुल्य तेजस्वी चौदह नाराच हाथमें लिये। फिर धनुष लेकर उसपर उन बाणोंको रखा और कानतक खींचकर राक्षसोंको लक्ष्य करके छोड़ दिया। मानो इन्द्रने वज्रोंका प्रहार किया हो ॥ १८-१९½॥

ते भित्त्वा रक्षसां वेगाद् वक्षांसि रुधिरप्लुताः ॥ २० ॥
विनिष्पेतुस्तदा भूमौ वल्मीकादिव पन्नगाः ।

वे बाण बड़े वेगसे उन राक्षसोंकी छाती छेदकर रुधिरमें डूबे हुए निकले और बाँबीसे बाहर आये हुए सर्पोंकी भाँति तत्काल पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २०½ ॥

तैर्भग्नहृदया भूमौ छिन्नमूला इव द्रुमाः ॥ २१ ॥
निपेतुः शोणितस्नाता विकृता विगतासवः ।

उन नाराचोंसे हृदय विदीर्ण हो जानेके कारण वे राक्षस जड़से कटे हुए वृक्षोंकी भाँति धराशायी हो गये। वे सब-के-सब खूनसे नहा गये थे। उनके शरीर विकृत हो गये थे। उस अवस्थामें उनके प्राणपखेरू उड़ गये ॥ २१½ ॥

तान् भूमौ पतितान् दृष्ट्वा राक्षसी क्रोधमूर्छिता ॥ २२ ॥
उपगम्य खरं सा तु किंचित्संशुष्कशोणिता ।
पपात पुनरेवार्ता सनिर्यासेव वल्लरी ॥ २३ ॥

उन सबको पृथ्वीपर पड़ा देख वह राक्षसी क्रोधसे मूर्च्छित हो गयी और खरके पास जाकर पुनः आर्तभावसे गिर पड़ी। उसके कटे हुए कानों और नाकोंका खून सूख गया था इसलिये गोंदयुक्त लताके समान प्रतीत होती थी ॥ २२-२३ ॥

भ्रातुः समीपे शोकार्ता ससर्ज निनदं महत् ।
सस्वरं मुमुचे बाष्पं विवर्णवदना तदा ॥ २४ ॥

भाईके निकट शोकसे पीड़ित हुई शूर्पणखा बड़े जोरसे आर्तनाद करने और फूट-फूटकर रोने तथा आँसू बहाने लगी। उस समय उसके मुखकी कान्ति फीकी पड़ गयी थी ॥ २४ ॥

निपातितान् प्रेक्ष्य रणे तु राक्षसान्
प्रधाविता शूर्पणखा पुनस्ततः ।
वधं च तेषां निखिलेन रक्षसां
शशंस सर्वं भगिनी खरस्य सा ॥ २५ ॥

रणभूमिमें उन राक्षसोंको मारा गया देख खरकी बहिन शूर्पणखा पुनः वहाँसे भागी हुई आयी। उसने उन समस्त राक्षसोंके वधका सारा समाचार भाईसे कह सुनाया ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे विंशः सर्गः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २० ॥

—★—

एकविंशः सर्गः

शूर्पणखाका खरके पास आकर उन राक्षसोंके वधका समाचार बताना और रामका भय दिखाकर उसे युद्धके लिये उत्तेजित करना

स पुनः पतितां दृष्ट्वा क्रोधाच्छूर्पणखां पुनः ।
उवाच व्यक्तया वाचा तामनर्थार्थमागताम् ॥ १ ॥

शूर्पणखाको पुनः पृथ्वीपर पड़ी हुई देख अनर्थके लिये आयी हुई उस बहिनसे खरने क्रोधपूर्वक स्पष्ट वाणीमें फिर कहा— ॥ १ ॥

मया त्विदानीं शूरास्ते राक्षसाः पिशिताशनाः ।
त्वत्प्रियार्थं विनिर्दिष्टाः किमर्थं रुद्यते पुनः ॥ २ ॥

'बहिन! मैंने तुम्हारा प्रिय करनेके लिये उस समय बहुत से शूरवीर एवं मांसाहारी राक्षसोंको जानेकी आज्ञा दे दी थी, अब फिर तुम किसलिये रो रही हो? ॥ २ ॥

भक्ताश्चैवानुरक्ताश्च हिताश्च मम नित्यशः ।
हन्यमाना न हन्यन्ते न न कुर्युर्वचो मम ॥ ३ ॥

'मैंने जिन राक्षसोंको भेजा था, वे मेरे भक्त, मुझमें अनुराग रखनेवाले और सदा मेरा हित चाहनेवाले हैं। वे किसीके मारनेपर भी मर नहीं सकते। उनके द्वारा मेरी आज्ञाका पालन न हो, यह भी सम्भव नहीं है ॥ ३ ॥

किमेतच्छ्रोतुमिच्छामि कारणं यत्कृते पुनः ।
हा नाथेति विनर्दन्ती सर्पवच्चेष्टसे क्षितौ ॥ ४ ॥

'फिर ऐसा कौन-सा कारण उपस्थित हो गया, जिसके लिये तुम 'हा नाथ' की पुकार मचाती हुई साँपकी तरह धरतीपर लोट रही हो। मैं उसे सुनना चाहता हूँ ॥ ४ ॥

अनाथवद् विलपसि किं नु नाथे मयि स्थिते ।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ मा मैवं वैक्लव्यं त्यज्यतामिति ॥ ५ ॥

'मेरे-जैसे संरक्षकके रहते हुए तुम अनाथकी तरह विलाप क्यों करती हो? उठो! उठो!! इस तरह लोटो मत। घबराहट छोड़ दो' ॥ ५ ॥

इत्येवमुक्ता दुर्धर्षा खरेण परिसान्त्विता ।
विमृज्य नयने सास्रे खरं भ्रातरमब्रवीत् ॥ ६ ॥

खरके इस प्रकार सान्त्वना देनेपर वह दुर्धर्ष राक्षसी अपने आँसूभरे नेत्रोंको पोंछकर भाई खरसे बोली— ॥ ६ ॥

अस्मीदानीमहं प्राप्ता हतश्रवणनासिका ।
शोणितौघपरिक्लिन्ना त्वया च परिसान्त्विता ॥ ७ ॥

'भैया मैं इस समय फिर तुम्हारे पास क्यों आयी हूँ—यह बताती हूँ, सुनो—मेरे नाक-कान कट गये और मैं खूनकी धारासे नहा उठी, उस अवस्थामें जब पहली बार मैं आयी थी, तब तुमने मुझे बड़ी सान्त्वना दी थी ॥ ७ ॥

प्रेषिताश्च त्वया शूरा राक्षसास्ते चतुर्दश ।
निहन्तुं राघवं घोरं मत्प्रियार्थं सलक्ष्मणम् ॥ ८ ॥
ते तु रामेण सामर्षाः शूलपट्टिशपाणयः ।
समरे निहताः सर्वे सायकैर्मर्मभेदिभिः ॥ ९ ॥

'तत्पश्चात् मेरा प्रिय करनेके लिये लक्ष्मणसहित रामका वध करनेके उद्देश्यसे तुमने जो वे चौदह शूरवीर राक्षस भेजे थे, वे सब-के-सब अमर्षमें भरकर हाथोंमें शूल और पट्टिश लिये वहाँ जा पहुँचे, परंतु रामने अपने मर्मभेदी बाणोंद्वारा उन सबको समराङ्गणमें मार गिराया ॥ ८-९ ॥

तान् भूमौ पतितान् दृष्ट्वा क्षणेनैव महाजवान्।
रामस्य च महत्कर्म महांस्त्रासोऽभवन्मम ॥ १० ॥

'उन महान् वेगशाली निशाचरोंको क्षणभरमें ही धराशायी हुआ देख रामके उस महान् पराक्रमपर दृष्टिपात करके मेरे मनमें बड़ा भय उत्पन्न हो गया ॥ १० ॥

सास्मि भीता समुद्विग्ना विषण्णा च निशाचर।
शरणं त्वां पुनः प्राप्ता सर्वतो भयदर्शिनी ॥ ११ ॥

'निशाचरराज ! मैं भयभीत, उद्विग्न और विषादग्रस्त हो गयी हूँ। मुझे सब ओर भय-ही-भय दिखायी देता है, इसीलिये फिर तुम्हारी शरणमें आयी हूँ ॥ ११ ॥

विषादनक्राध्युषिते परित्रासोर्मिमालिनि।
किं मां न त्रायसे मग्नां विपुले शोकसागरे ॥ १२ ॥

'मैं शोकके उस विशाल समुद्रमें डूब गयी हूँ, जहाँ विषादरूपी मगर निवास करते हैं और त्रासकी तरङ्गमालाएँ उठती रहती हैं। तुम उस शोकसागरसे मेरा उद्धार क्यों नहीं करते हो ! ॥ १२ ॥

एते च निहता भूमौ रामेण निशितैः शरैः।
ये च मे पदवीं प्राप्ता राक्षसाः पिशिताशनाः ॥ १३ ॥

'जो मांसभक्षी राक्षस मेरे साथ गये थे, वे सब-के-सब रामके पैने बाणोंसे मारे जाकर पृथ्वीपर पड़े हैं ॥ १३ ॥

मयि ते यद्यनुक्रोशो यदि रक्षःसु तेषु च।
रामेण यदि शक्तिस्ते तेजो वास्ति निशाचर ॥ १४ ॥
दण्डकारण्यनिलयं जहि राक्षसकण्टकम्।

'राक्षसराज ! यदि मुझपर और उन मरे हुए राक्षसोंपर तुम्हें दया आती हो तथा यदि रामके साथ लोहा लेनेके लिये तुममें शक्ति और तेज हो तो उन्हें मार डालो; क्योंकि दण्डकारण्यमें घर बनाकर रहनेवाले राम राक्षसोंके लिये कण्टक हैं ॥ १४½ ॥

यदि राममित्रघ्नं न त्वमद्य वधिष्यसि ॥ १५ ॥
तव चैवाग्रतः प्राणांस्त्यक्ष्यामि निरपत्रपा।

'यदि तुम आज ही शत्रुघाती रामका वध नहीं कर डालोगे तो मैं तुम्हारे सामने ही अपने प्राण त्याग दूँगी; क्योंकि मेरी लाज लुट चुकी है ॥ १५½ ॥

बुद्ध्याहमनुपश्यामि न त्वं रामस्य संयुगे ॥ १६ ॥
स्थातुं प्रतिमुखे शक्तः सबलोऽपि महारणे।

'मैं बुद्धिसे बारंबार सोचकर देखती हूँ कि तुम महासमरमें सबल होकर भी रामके सामने युद्धमें नहीं ठहर सकोगे ॥ १६½ ॥

शूरमानी न शूरस्त्वं मिथ्यारोपितविक्रमः ॥ १७ ॥
अपयाहि जनस्थानात् त्वरितः सहबान्धवः।
जहि त्वं समरे मूढान्यथा तु कुलपांसन ॥ १८ ॥

'तुम अपनेको शूरवीर मानते हो, किंतु तुममें शौर्य है ही नहीं। तुमने झूठे ही अपने-आपमें पराक्रमका आरोप कर लिया है। मूढ़ ! तुम समराङ्गणमें उन दोनोंको मार डालो अन्यथा अपने कुलमें कलङ्क लगाकर भाई-बन्धुओंके साथ तुरंत ही इस जनस्थानसे भाग जाओ ॥ १७-१८ ॥

मानुषौ तौ न शक्नोषि हन्तुं वै रामलक्ष्मणौ।
निःसत्त्वस्याल्पवीर्यस्य वासस्ते कीदृशस्त्विह ॥ १९ ॥

'राम और लक्ष्मण मनुष्य हैं, यदि उन्हें भी मारनेकी तुममें शक्ति नहीं है तो तुम्हारे-जैसे निर्बल और पराक्रमशून्य राक्षसका यहाँ रहना कैसे सम्भव हो सकता है ? ॥ १९ ॥

रामतेजोऽभिभूतो हि त्वं क्षिप्रं विनशिष्यसि।
स हि तेजःसमायुक्तो रामो दशरथात्मजः ॥ २० ॥
भ्राता चास्य महावीर्यो येन चास्मि विरूपिता।

'तुम रामके तेजसे पराजित होकर शीघ्र ही नष्ट हो जाओगे; क्योंकि दशरथकुमार राम बड़े तेजस्वी हैं। उनका भाई भी महान् पराक्रमी है, जिसने मुझे नाक-कानसे हीन करके अत्यन्त कुरूप बना दिया' ॥ २०½ ॥

एवं विलप्य बहुशो राक्षसी प्रदरोदरी ॥ २१ ॥
भ्रातुः समीपे शोकार्ता नष्टसंज्ञा बभूव ह।
कराभ्यामुदरं हत्वा रुरोद भृशदुःखिता ॥ २२ ॥

इस प्रकार बहुत विलाप करके गुफाके समान गहरे पेटवाली वह राक्षसी शोकसे आतुर हो अपने भाईके पास मूर्च्छित-सी हो गयी और अत्यन्त दुःखी हो दोनों हाथोंसे पेट पीटती हुई फूट-फूटकर रोने लगी ॥ २१-२२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकविंशः सर्गः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें इक्कीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २१ ॥

★

द्वाविंशः सर्गः

चौदह हजार राक्षसोंकी सेनाके साथ खर-दूषणका जनस्थानसे पञ्चवटीकी ओर प्रस्थान

एवमाधर्षितः शूरः शूर्पनख्या खरस्ततः।
उवाच रक्षसां मध्ये खरः खरतरं वचः ॥ १ ॥

शूर्पणखाद्वारा इस प्रकार तिरस्कृत होकर शूरवीर खरने राक्षसोंके बीच अत्यन्त कठोर वाणीमें कहा— ॥ १ ॥

तवापमानप्रभवः क्रोधोऽयमतुलो मम।
न शक्यते धारयितुं लवणाम्भ इवोल्बणम्॥ २॥

'बहिन! तुम्हारे अपमानके कारण मुझे बेतरह क्रोध चढ़ आया है। इसे धारण करना या दबा देना उसी प्रकार असम्भव है, जैसे पूर्णिमाको प्रचण्ड वेगसे बढ़े हुए खारे पानीके समुद्रके जलको (अथवा यह उसी प्रकार असह्य है, जैसे घावपर नमकीन पानीका छिड़कना)॥ २॥

न रामं गणये वीर्यान्मानुषं क्षीणजीवितम्।
आत्मदुश्चरितैः प्राणान् हतो योऽद्य विमोक्ष्यते॥ ३॥

'मैं पराक्रमकी दृष्टिसे रामको कुछ भी नहीं गिनता हूँ; क्योंकि उस मनुष्यका जीवन अब क्षीण हो चला है। वह अपने दुष्कर्मोंसे ही मारा जाकर आज प्राणोंसे हाथ धो बैठेगा॥ ३॥

बाष्पः संधार्यतामेष सम्भ्रमश्च विमुच्यताम्।
अहं रामं सह भ्रात्रा नयामि यमसादनम्॥ ४॥

'तुम अपने आँसुओंको रोको और यह घबराहट छोड़ो। मैं भाईसहित रामको अभी यमलोक पहुँचा देता हूँ॥ ४॥

परश्वधहतस्याद्य मन्दप्राणस्य भूतले।
रामस्य रुधिरं रक्तमुष्णं पास्यसि राक्षसि॥ ५॥

'राक्षसी! आज मेरे फरसेकी मारसे निष्प्राण होकर धरतीपर पड़े हुए रामका गरम-गरम रक्त तुम्हें पीनेको मिलेगा'॥ ५॥

सम्प्रहृष्टा वचः श्रुत्वा खरस्य वदनाच्च्युतम्।
प्रशशंस पुनर्मौर्ख्याद् भ्रातरं रक्षसां वरम्॥ ६॥

खरके मुखसे निकली हुई इस बातको सुनकर शूर्पणखाको बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने मूर्खतावश राक्षसोंमें श्रेष्ठ भाई खरकी पुनः भूरि-भूरि प्रशंसा की॥ ६॥

तया परुषितः पूर्वं पुनरेव प्रशंसितः।
अब्रवीद् दूषणं नाम खरः सेनापतिं तदा॥ ७॥

उसने पहले जिसका कठोर वाणोंद्वारा तिरस्कार किया और पुनः जिसकी अत्यन्त सराहना की, उस खरने उस समय अपने सेनापति दूषणसे कहा—॥ ७॥

चतुर्दश सहस्राणि मम चित्तानुवर्तिनाम्।
रक्षसां भीमवेगानां समरेष्वनिवर्तिनाम्॥ ८॥
नीलजीमूतवर्णानां लोकहिंसाविहारिणाम्।
सर्वोद्योगमुदीर्णानां रक्षसां सौम्य कारय॥ ९॥

'सौम्य! मेरे मनके अनुकूल चलनेवाले, युद्धके मैदानसे पीछे न हटनेवाले, भयंकर वेगशाली, मेघोंकी काली घटाके समान काले रंगवाले, लोगोंकी हिंसासे ही क्रीड़ा-विहार करनेवाले तथा युद्धमें उत्साहपूर्वक आगे बढ़नेवाले चौदह सहस्र राक्षसोंको युद्धके लिये भेजनेकी पूरी तैयारी कराओ॥

उपस्थापय मे क्षिप्रं रथं सौम्य धनूंषि च।
शरांश्च चित्रान् खड्गांश्च शक्तीश्च विविधाः शिताः॥

सौम्य सेनापते! तुम शीघ्र ही मेरा रथ भी यहाँ मँगवा लो। उसपर बहुत-से धनुष, बाण, विचित्र-विचित्र खड्ग और नाना प्रकारकी तीखी शक्तियोंको भी रख दो॥ १०॥

अग्रे निर्यातुमिच्छामि पौलस्त्यानां महात्मनाम्।
वधार्थं दुर्विनीतस्य रामस्य रणकोविद॥ ११॥

'रणकुशल वीर! मैं इस उद्दण्ड रामका वध करनेके लिये महामनस्वी पुलस्त्यवंशी राक्षसोंके आगे-आगे जाना चाहता हूँ'॥ ११॥

इति तस्य ब्रुवाणस्य सूर्यवर्णं महारथम्।
सदश्वैः शबलैर्युक्तमाचचक्षेऽथ दूषणः॥ १२॥

उसके इस प्रकार आज्ञा देते ही एक सूर्यके समान प्रकाशमान और चितकबरे रंगके अच्छे घोड़ोंसे जुता हुआ विशाल रथ वहाँ आ गया। दूषणने खरको इसकी सूचना दी॥ १२॥

तं मेरुशिखराकारं तप्तकाञ्चनभूषणम्।
हेमचक्रमसम्बाधं वैदूर्यमयकूबरम्॥ १३॥
मत्स्यैः पुष्पैर्द्रुमैः शैलैश्चन्द्रसूर्यैश्च काञ्चनैः।
माङ्गल्यैः पक्षिसङ्घैश्च ताराभिश्च समावृतम्॥ १४॥
ध्वजनिस्त्रिंशसम्पन्नं किंकिणीवरभूषितम्।
सदश्वयुक्तं सोऽमर्षादारुरोह खरस्तदा॥ १५॥

वह रथ मेरुपर्वतके शिखरकी भाँति ऊँचा था, उसे तपाये हुए सोनेके बने हुए साज-बाजसे सजाया गया था, उसके पहियोंमें सोना जड़ा हुआ था, उसका विस्तार बहुत बड़ा था, उस रथके कूबर वैदूर्यमणिसे जड़े गये थे, उसकी सजावटके लिये सोनेके बने हुए मत्स्य, फूल, वृक्ष, पर्वत, चन्द्रमा, सूर्य, माङ्गलिक पक्षियोंके समुदाय तथा तारिकाओंसे वह रथ सुशोभित हो रहा था, उसपर ध्वजा फहरा रही थी तथा रथके भीतर खड्ग आदि अस्त्र-शस्त्र रखे हुए थे, छोटी-छोटी घण्टियों अथवा सुन्दर घुँघुरुओंसे सजे और उत्तम घोड़ोंसे जुते हुए उस रथपर राक्षसराज खर उस समय आरूढ़ हुआ। अपनी बहिनके अपमानका स्मरण करके उसके मनमें बड़ा अमर्ष हो रहा था॥ १३—१५॥

खरस्तु तन्महत्सैन्यं रथचर्मायुधध्वजम्।
निर्यातेत्यब्रवीत् प्रेक्ष्य दूषणः सर्वराक्षसान्॥ १६॥

रथ, ढाल, अस्त्र-शस्त्र तथा ध्वजसे सम्पन्न उस विशाल सेनाको ओर देखकर खर और दूषणने समस्त राक्षसोंसे कहा—'निकलो, आगे बढ़ो'॥ १६॥

ततस्तद् राक्षसं सैन्यं घोरचर्मायुधध्वजम्।
निर्जगाम जनस्थानान्महानादं महाजवम्॥ १७॥

कूच करनेकी आज्ञा प्राप्त होते ही भयंकर ढाल, अस्त्र-शस्त्र तथा ध्वजासे युक्त वह विशाल राक्षस-सेना जोर-जोरसे गर्जना करती हुई जनस्थानसे बड़े वेगके साथ निकली॥ १७॥

मुद्गरैः पट्टिशैः शूलैः सुतीक्ष्णैश्च परश्वधैः ।
खड्गैश्चक्रैश्च हस्तस्थैर्भ्राजमानैः सतोमरैः ॥ १८ ॥
शक्तिभिः परिघैर्घोरैरतिमात्रैश्च कार्मुकैः ।
गदासिमुसलैर्वज्रैर्गृहीतैर्भीमदर्शनैः ॥ १९ ॥
राक्षसानां सुघोराणां सहस्राणि चतुर्दश ।
निर्यातानि जनस्थानात् खरचित्तानुवर्तिनाम् ॥ २० ॥

सैनिकोंके हाथमें मुद्गर, पट्टिश, शूल, अत्यन्त तीखे फरसे, खड्ग, चक्र और तोमर चमक उठे। शक्ति, भयंकर परिघ, विशाल धनुष, गदा, तलवार, मुसल तथा वज्र (आठ कोणवाले आयुधविशेष) उन राक्षसोंके हाथोंमें आकर बड़े भयानक दिखायी दे रहे थे। इन अस्त्र-शस्त्रोंसे उपलक्षित और खरके मनकी इच्छाके अनुसार चलनेवाले अत्यन्त भयंकर चौदह हजार राक्षस जनस्थानसे युद्धके लिये चले ॥ १८—२० ॥

तांस्तु निर्धावतो दृष्ट्वा राक्षसान् भीमदर्शनान् ।
खरस्याथ रथः किंचिज्जगाम तदनन्तरम् ॥ २१ ॥

उन भयंकर दिखायी देनेवाले राक्षसोंको धावा करते देख खरका रथ भी कुछ देर सैनिकोंके निकलनेकी प्रतीक्षा करके उनके साथ ही आगे बढ़ा ॥ २१ ॥

ततस्ताञ्छबलानश्वांस्तप्तकाञ्चनभूषितान् ।
खरस्य मतमाज्ञाय सारथिः पर्यचोदयत् ॥ २२ ॥

तदनन्तर खरका अभिप्राय जानकर उसके सारथिने तपाये हुए सोनेके आभूषणोंसे विभूषित उन चितकबरे घोड़ोंको हाँका ॥

संचोदितो रथः शीघ्रं खरस्य रिपुघातिनः ।
शब्देनापूरयामास दिशः सप्रदिशस्तथा ॥ २३ ॥

उसके हाँकनेपर शत्रुघाती खरका रथ शीघ्र ही अपने घर-घर शब्दसे सम्पूर्ण दिशाओं तथा उपदिशाओंको प्रतिध्वनित करने लगा ॥ २३ ॥

प्रवृद्धमन्युस्तु खरः खरस्वरो
रिपोर्वधार्थं त्वरितो यथान्तकः ।
अचूचुदत् सारथिमुन्नदन् पुन-
र्महाबलो मेघ इवाश्मवर्षवान् ॥ २४ ॥

उस समय खरका क्रोध बढ़ा हुआ था। उसका स्वर भी कठोर हो गया था। वह शत्रुके वधके लिये उतावला होकर यमराजके समान भयानक जान पड़ता था। जैसे ओलोंकी वर्षा करनेवाला मेघ बड़े जोरसे गर्जना करता है, उसी प्रकार महाबली खरने उच्चस्वरसे सिंहनाद करके पुनः सारथिको रथ हाँकनेके लिये प्रेरित किया ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे द्वाविंशः सर्गः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें बाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २२ ॥

★

त्रयोविंशः सर्गः

भयंकर उत्पातोंको देखकर भी खरका उनकी परवा नहीं करना तथा राक्षस-सेनाका श्रीरामके आश्रमके समीप पहुँचना

तत्प्रयातं बलं घोरमशिवं शोणितोदकम् ।
अभ्यवर्षन्महाघोरस्तुमुलो गर्दभारुणः ॥ १ ॥

उस सेनाके प्रस्थान करते समय आकाशमें गधेके समान धूसर रंगवाले बादलोंकी महाभयंकर घटा घिर आयी। उसकी तुमुल गर्जना होने लगी तथा सैनिकोंके ऊपर घोर अमङ्गलसूचक रक्तमय जलकी वर्षा आरम्भ हो गयी ॥ १ ॥

निपेतुस्तुरगास्तस्य रथयुक्ता महाजवाः ।
समे पुष्पचिते देशे राजमार्गे यदृच्छया ॥ २ ॥

खरके रथमें जुते हुए महान् वेगशाली घोड़े फूल बिछे हुए समतलस्थानमें सड़कपर चलते-चलते अकस्मात् गिर पड़े ॥

श्यामं रुधिरपर्यन्तं बभूव परिवेषणम् ।
अलातचक्रप्रतिमं प्रतिगृह्य दिवाकरम् ॥ ३ ॥

सूर्यमण्डलके चारों ओर अलातचक्रके समान गोलाकार घेरा दिखायी देने लगा, जिसका रंग काला और किनारेका रंग लाल था ॥ ३ ॥

ततो ध्वजमुपागम्य हेमदण्डं समुच्छ्रितम् ।
समाक्रम्य महाकायस्तस्थौ गृध्रः सुदारुणः ॥ ४ ॥

तदनन्तर खरके रथकी सुवर्णमय दण्डवाली ऊँची ध्वजापर एक विशालकाय गीध आकर बैठ गया, जो देखनेमें बड़ा ही भयंकर था ॥ ४ ॥

जनस्थानसमीपे च समाक्रम्य खरस्वनाः ।
विस्वरान् विविधान् नादान् मांसादा मृगपक्षिणः ॥ ५ ॥
व्याजह्रुरभिदीप्तायां दिशि वै भैरवस्वनम् ।
अशिवं यातुधानानां शिवा घोरा महास्वनाः ॥ ६ ॥

कठोर स्वरवाले मांसभक्षी पशु और पक्षी जनस्थानके पास आकर विकृत स्वरमें अनेक प्रकारके विकट शब्द बोलने लगे तथा सूर्यकी प्रभासे प्रकाशित हुई दिशाओंमें जोर-जोरसे चीत्कार करनेवाले और मुँहसे आग उगलनेवाले भयंकर गीदड़ राक्षसोंके लिये अमङ्गलजनक भैरवनाद करने लगे ॥ ५-६ ॥

प्रभिन्नगजसंकाशास्तोयशोणितधारिणः ।
आकाशं तदनाकाशं चक्रुर्भीमाम्बुवाहकाः ॥ ७ ॥

भयंकर मेघ, जो मदकी धारा बहानेवाले गजराजके समान दिखायी देते थे और जलकी जगह रक्त धारण किये

हुए थे, तत्काल घिर आये। उन्होंने समूचे आकाशको ढक दिया। थोड़ा-सा भी अवकाश नहीं रहने दिया॥ ७॥

बभूव तिमिरं घोरमुद्धतं रोमहर्षणम्।
दिशो वा प्रदिशो वापि सुव्यक्तं न चकाशिरे॥ ८॥

सब ओर अत्यन्त भयंकर तथा रोमाञ्चकारी घना अन्धकार छा गया। दिशाओं अथवा कोणोंका स्पष्टरूपसे भान नहीं हो पाता था॥ ८॥

क्षतजार्द्रसवर्णाभा संध्या कालं विना बभौ।
खरं चाभिमुखं नेदुस्तदा घोरा मृगाः खगाः॥ ९॥

बिना समयके ही खूनसे भीगे हुए वस्त्रके समान रंगवाली संध्या प्रकट हो गयी। उस समय भयंकर पशु-पक्षी खरके सामने आकर गर्जना करने लगे॥ ९॥

कङ्कगोमायुगृध्राश्च चुक्रुशुर्भयशंसिनः।
नित्याशिवकरा युद्धे शिवा घोरनिदर्शनाः॥ १०॥
नेदुर्बलस्याभिमुखं ज्वालोद्गारिभिराननैः।

भयकी सूचना देनेवाले कङ्क (सफेद चील), गीदड़ और गीध खरके सामने चीत्कार करने लगे। युद्धमें सदा अमङ्गल सूचित करनेवाली और भय दिखानेवाली गीदड़ियाँ खरकी सेनाके सामने आकर आग उगलनेवाले मुखोंसे घोर शब्द करने लगीं॥ १०½॥

कबन्धः परिघाभासो दृश्यते भास्करान्तिके॥ ११॥
जग्राह सूर्यं स्वर्भानुरपर्वणि महाग्रहः।
प्रवाति मारुतः शीघ्रं निष्प्रभोऽभूद् दिवाकरः॥ १२॥

सूर्यके निकट परिघके समान कबन्ध (सिर कटा हुआ धड़) दिखायी देने लगा। महान् ग्रह राहु अमावास्याके बिना ही सूर्यको ग्रसने लगा। हवा तीव्र गतिसे चलने लगी एवं सूर्यदेवकी प्रभा फीकी पड़ गयी॥ ११-१२॥

उत्पेतुश्च विना रात्रिं ताराः खद्योतसप्रभाः।
संलीनमीनविहगा नलिन्यः शुष्कपङ्कजाः॥ १३॥

बिना रातके ही जुगनूके समान चमकनेवाले तारे आकाशमें उदित हो गये। सरोवरोंमें मछली और जलपक्षी विलीन हो गये। उनके कमल सूख गये॥ १३॥

तस्मिन् क्षणे बभूवुश्च विना पुष्पफलैर्द्रुमाः।
उद्धूतश्च विना वातं रेणुर्जलधरारुणः॥ १४॥

उस क्षणमें वृक्षोंके फूल और फल झड़ गये। बिना हवाके ही बादलोंके समान धूसर रंगकी धूल ऊपर उठकर आकाशमें छा गयी॥ १४॥

चीचीकूचीति वाश्यन्त्यो बभूवुस्तत्र सारिकाः।
उल्काश्चापि सनिर्घोषा निपेतुर्घोरदर्शनाः॥ १५॥

वहाँ वनकी सारिकाएँ चें-चें करने लगीं। भारी आवाजके साथ भयानक उल्काएँ आकाशसे पृथ्वीपर गिरने लगीं॥

प्रचचाल मही चापि सशैलवनकानना।
खरस्य च रथस्थस्य नर्दमानस्य धीमतः॥ १६॥
प्राकम्पत भुजः सव्यः स्वरश्चास्यावसज्जत।
सास्रा सम्पद्यते दृष्टिः पश्यमानस्य सर्वतः॥ १७॥

पर्वत, वन और काननोंसहित धरती डोलने लगी। बुद्धिमान् खर रथपर बैठकर गर्जना कर रहा था। उस समय उसकी बायीं भुजा सहसा काँप उठी। स्वर अवरुद्ध हो गया और सब ओर देखते समय उसकी आँखोंमें आँसू आने लगे॥ १६-१७॥

ललाटे च रुजो जाता न च मोहान्न्यवर्तत।
तान् समीक्ष्य महोत्पातानुत्थितान् रोमहर्षणान्॥ १८॥
अब्रवीद् राक्षसान् सर्वान् प्रहसन् स खरस्तदा।

उसके सिरमें दर्द होने लगा, फिर भी मोहवश वह युद्धसे निवृत्त नहीं हुआ। उस समय प्रकट हुए उन बड़े-बड़े रोमाञ्चकारी उत्पातोंको देखकर खर जोर-जोरसे हँसने लगा और समस्त राक्षसोंसे बोला—॥ १८½॥

महोत्पातानिमान् सर्वानुत्थितान् घोरदर्शनान्॥ १९॥
न चिन्तयाम्यहं वीर्याद् बलवान् दुर्बलानिव।
तारा अपि शरैस्तीक्ष्णैः पातयेयं नभस्तलात्॥ २०॥

'ये जो भयानक दिखायी देनेवाले बड़े-बड़े उत्पात प्रकट हो रहे हैं, इन सबको मैं अपने बलके भरोसे कोई परवा नहीं करता; ठीक उसी तरह, जैसे बलवान् वीर दुर्बल शत्रुओंको कुछ नहीं समझता है। मैं अपने तीखे बाणोंद्वारा आकाशसे तारोंको भी गिरा सकता हूँ॥ १९-२०॥

मृत्युं मरणधर्मेण संक्रुद्धो योजयाम्यहम्।
राघवं तं बलोत्सिक्तं भ्रातरं चापि लक्ष्मणम्॥ २१॥
अहत्वा सायकैस्तीक्ष्णैर्नोपावर्तितुमुत्सहे।

'यदि कुपित हो जाऊँ तो मृत्युको भी मौतके मुखमें डाल सकता हूँ। आज बलका घमंड रखनेवाले राम और उसके भाई लक्ष्मणको तीखे बाणोंसे मारे बिना मैं पीछे नहीं लौट सकता॥ २१½॥

यन्निमित्तं तु रामस्य लक्ष्मणस्य विपर्ययः॥ २२॥
सकामा भगिनी मेऽस्तु पीत्वा तु रुधिरं तयोः।

'जिसे दण्ड देनेके लिये राम और लक्ष्मणकी बुद्धिमें विपरीत विचार (क्रूरतापूर्ण कर्म करनेके भाव) का उदय हुआ है, वह मेरी बहिन शूर्पणखा उन दोनोंका खून पीकर सफलमनोरथ हो जाय॥ २२½॥

न क्वचित् प्राप्तपूर्वो मे संयुगेषु पराजयः॥ २३॥
युष्माकमेतत् प्रत्यक्षं नानृतं कथयाम्यहम्।

'आजतक जितने युद्ध हुए हैं, उनमेंसे किसीमें भी पहले मेरी कभी पराजय नहीं हुई है; यह तुमलोगोंने प्रत्यक्ष देखा है। मैं झूठ नहीं कहता हूँ॥ २३½॥

देवराजमपि क्रुद्धो मत्तैरावतगामिनम्॥ २४॥
वज्रहस्तं रणे हन्यां किं पुनस्तौ च मानवौ।

'मैं मतवाले ऐरावतपर चलनेवाले वज्रधारी देवराज

इन्द्रको भी रणभूमिमें कुपित होकर कालके गालमें डाल सकता हूँ, फिर उन दो मनुष्योंकी तो बात ही क्या है?' ॥

सा तस्य गर्जितं श्रुत्वा राक्षसानां महाचमूः ॥ २५ ॥
प्रहर्षमतुलं लेभे मृत्युपाशावपाशिता ।

खरकी यह गर्जना सुनकर राक्षसोंकी वह विशाल सेना, जो मौतके पाशसे बँधी हुई थी, अनुपम हर्षसे भर गयी ॥

समेयुश्च महात्मानो युद्धदर्शनकाङ्क्षिणः ॥ २६ ॥
ऋषयो देवगन्धर्वाः सिद्धाश्च सह चारणैः ।
समेत्य चोचुः सहितास्तेऽन्योन्यं पुण्यकर्मणः ॥ २७ ॥

उस समय युद्ध देखनेकी इच्छावाले बहुत-से पुण्यकर्मा महात्मा, ऋषि, देवता, गन्धर्व, सिद्ध और चारण वहाँ एकत्र हो गये। एकत्र हो वे सभी मिलकर एक-दूसरेसे कहने लगे— ॥ २६-२७ ॥

स्वस्ति गोब्राह्मणेभ्यस्तु लोकानां ये च सम्मताः ।
जयतां राघवो युद्धे पौलस्त्यान् रजनीचरान् ॥ २८ ॥
चक्रहस्तो यथा विष्णुः सर्वानसुरसत्तमान् ।

'गौओं और ब्राह्मणोंका कल्याण हो तथा जो अन्य लोकप्रिय महात्मा हैं, वे भी कल्याणके भागी हों। जैसे चक्रधारी भगवान् विष्णु समस्त असुरशिरोमणियोंको परास्त कर देते हैं, उसी प्रकार रघुकुलभूषण श्रीराम युद्धमें इन पुलस्त्यवंशी निशाचरोंको पराजित करें' ॥ २८½ ॥

एतच्चान्यच्च बहुशो ब्रुवाणाः परमर्षयः ॥ २९ ॥
जातकौतूहलास्तत्र विमानस्थाश्च देवताः ।
ददृशुर्वाहिनीं तेषां राक्षसानां गतायुषाम् ॥ ३० ॥

ये तथा और भी बहुत-सी मङ्गलकामनासूचक बातें कहते हुए वे महर्षि और देवता कौतूहलवश विमानपर बैठकर जिनकी आयु समाप्त हो चली थी, उन राक्षसोंकी उस विशाल वाहिनीको देखने लगे ॥ २९-३० ॥

रथेन तु खरो वेगात् सैन्यस्याग्राद् विनिःसृतः ।
श्येनगामी पृथुग्रीवो यज्ञशत्रुर्विहंगमः ॥ ३१ ॥
दुर्जयः करवीराक्षः परुषः कालकार्मुकः ।
हेममाली महामाली सर्पास्यो रुधिराशनः ॥ ३२ ॥
द्वादशैते महावीर्याः प्रतस्थुरभितः खरम् ।

खर रथके द्वारा बड़े वेगसे चलकर सारी सेनासे आगे निकल आया और श्येनगामी, पृथुग्रीव, यज्ञशत्रु, विहंगम, दुर्जय, करवीराक्ष, परुष, कालकार्मुक, हेममाली, महामाली, सर्पास्य तथा रुधिराशन—ये बारह महापराक्रमी राक्षस खरको दोनों ओरसे घेरकर उसके साथ-साथ चलने लगे ॥

महाकपालः स्थूलाक्षः प्रमाथस्त्रिशिरास्तथा ।
चत्वार एते सेनाग्रे दूषणं पृष्ठतोऽन्वयुः ॥ ३३ ॥

महाकपाल, स्थूलाक्ष, प्रमाथ और त्रिशिरा—ये चार राक्षस-वीर सेनाके आगे और सेनापति दूषणके पीछे-पीछे चल रहे थे ॥ ३३ ॥

सा भीमवेगा समराभिकाङ्क्षिणी
सुदारुणा राक्षसवीरसेना ।
तौ राजपुत्रौ सहसाभ्युपेता
माला ग्रहाणामिव चन्द्रसूर्यौ ॥ ३४ ॥

राक्षस-वीरोंकी वह भयंकर वेगवाली अत्यन्त दारुण सेना, जो युद्धकी अभिलाषासे आ रही थी, सहसा उन दोनों राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मणके पास जा पहुँची, मानो ग्रहोंकी पंक्ति चन्द्रमा और सूर्यके समीप प्रकाशित हो रही हो ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे त्रयोविंशः सर्गः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें तेईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २३ ॥

★

चतुर्विंशः सर्गः

श्रीरामका तात्कालिक शकुनोंद्वारा राक्षसोंके विनाश और अपनी विजयकी सम्भावना करके सीतासहित लक्ष्मणको पर्वतकी गुफामें भेजना और युद्धके लिये उद्यत होना

आश्रमं प्रतियाते तु खरे खरपराक्रमे ।
तानेवौत्पातिकान् रामः सह भ्रात्रा ददर्श ह ॥ १ ॥

प्रचण्ड पराक्रमी खर जब श्रीरामके आश्रमकी ओर चला, तब भाईसहित श्रीरामने भी उन्हीं उत्पातसूचक लक्षणोंको देखा ॥ १ ॥

तानुत्पातान् महाघोरान् रामो दृष्ट्वात्यमर्षणः ।
प्रजानामहितान् दृष्ट्वा वाक्यं लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ २ ॥

प्रजाके अहितकी सूचना देनेवाले उन महाभयंकर उत्पातोंको देखकर श्रीरामचन्द्रजी राक्षसोंके उपद्रवका विचार करके अत्यन्त अमर्षमें भर गये और लक्ष्मणसे इस प्रकार बोले— ॥ २ ॥

इमान् पश्य महाबाहो सर्वभूतापहारिणः ।
समुत्थितान् महोत्पातान् संहर्तुं सर्वराक्षसान् ॥ ३ ॥

'महाबाहो! ये जो बड़े-बड़े उत्पात प्रकट हो रहे हैं, इनकी ओर दृष्टिपात करो। समस्त भूतोंके संहारकी सूचना देनेवाले ये महान् उत्पात इस समय इन सारे राक्षसोंका संहार करनेके लिये उत्पन्न हुए हैं ॥ ३ ॥

अमी रुधिरधारास्तु विसृजन्ते खरस्वनाः ।
व्योम्नि मेघा निवर्तन्ते परुषा गर्दभारुणाः ॥ ४ ॥

'आकाशमें जो गधोंके समान धूसर वर्णवाले बादल

इधर-उधर विचर रहे हैं, ये प्रचण्ड गर्जना करते हुए खूनकी धाराएँ बरसा रहे हैं॥ ४॥

सधूमाश्च शराः सर्वे मम युद्धाभिनन्दिताः।
रुक्मपृष्ठानि चापानि विचेष्टन्ते विचक्षण॥ ५॥

'युद्धकुशल लक्ष्मण! मेरे सारे बाण उत्पातवश उठनेवाले धूमसे सम्बद्ध हो युद्धके लिये मानो आनन्दित हो रहे हैं तथा जिनके पृष्ठभागमें सुवर्ण मढ़ा हुआ है, वे मेरे धनुष भी प्रत्यञ्चासे जुड़ जानेके लिये स्वयं ही चेष्टाशील जान पड़ते हैं॥ ५॥

यादृशा इह कूजन्ति पक्षिणो वनचारिणः।
अग्रतो नोऽभयं प्राप्तं संशयो जीवितस्य च॥ ६॥

'यहाँ जैसे-जैसे वनचारी पक्षी बोल रहे हैं, उनसे हमारे लिये भविष्यमें अभयकी और राक्षसोंके लिये प्राणसंकटकी प्राप्ति सूचित हो रही है॥ ६॥

सम्प्रहारस्तु सुमहान् भविष्यति न संशयः।
अयमाख्याति मे बाहुः स्फुरमाणो मुहुर्मुहुः॥ ७॥

'मेरी यह दाहिनी भुजा बारंबार फड़ककर इस बातकी सूचना देती है कि कुछ ही देरमें बहुत बड़ा युद्ध होगा, इसमें संशय नहीं है॥ ७॥

संनिकर्षे तु नः शूर जयं शत्रोः पराजयम्।
सुप्रभं च प्रसन्नं च तव वक्त्रं हि लक्ष्यते॥ ८॥

'शूरवीर लक्ष्मण! परंतु निकटभविष्यमें ही हमारी विजय और शत्रुकी पराजय होगी; क्योंकि तुम्हारा मुख कान्तिमान् एवं प्रसन्न दिखायी दे रहा है॥ ८॥

उद्यतानां हि युद्धार्थं येषां भवति लक्ष्मण।
निष्प्रभं वदनं तेषां भवत्यायुः परिक्षयः॥ ९॥

'लक्ष्मण! युद्धके लिये उद्यत होनेपर जिनका मुख प्रभाहीन (उदास) हो जाता है, उनकी आयु नष्ट हो जाती है॥

रक्षसां नर्दतां घोरः श्रूयतेऽयं महाध्वनिः।
आहतानां च भेरीणां राक्षसैः क्रूरकर्मभिः॥ १०॥

'गरजते हुए राक्षसोंका यह घोर नाद सुनायी देता है, तथा क्रूरकर्मा राक्षसोंद्वारा बजायी गयी भेरियोंकी यह महाभयंकर ध्वनि कानोंमें पड़ रही है॥ १०॥

अनागतविधानं तु कर्तव्यं शुभमिच्छता।
आपदं शङ्कमानेन पुरुषेण विपश्चिता॥ ११॥

'अपना कल्याण चाहनेवाले विद्वान् पुरुषको उचित है कि आपत्तिकी आशङ्का होनेपर पहलेसे ही उससे बचनेका उपाय कर ले॥ ११॥

तस्माद् गृहीत्वा वैदेहीं शरपाणिर्धनुर्धरः।
गुहामाश्रय शैलस्य दुर्गां पादपसंकुलाम्॥ १२॥

'इसलिये तुम धनुष-बाण धारण करके विदेहकुमारी सीताको साथ ले पर्वतकी उस गुफामें चले जाओ, जो वृक्षोंसे आच्छादित है॥ १२॥

प्रतिकूलितुमिच्छामि न हि वाक्यमिदं त्वया।
शापितो मम पादाभ्यां गम्यतां वत्स मा चिरम्॥ १३॥

'वत्स! तुम मेरे इस वचनके प्रतिकूल कुछ कहो या करो, यह मैं नहीं चाहता। अपने चरणोंकी शपथ दिलाकर कहता हूँ, शीघ्र चले जाओ॥ १३॥

त्वं हि शूरश्च बलवान् हन्या एतान् न संशयः।
स्वयं निहन्तुमिच्छामि सर्वानेव निशाचरान्॥ १४॥

'इसमें संदेह नहीं कि तुम बलवान् और शूरवीर हो तथा इन राक्षसोंका वध कर सकते हो; तथापि मैं स्वयं ही इन निशाचरोंका संहार करना चाहता हूँ (इसलिये तुम मेरी बात मानकर सीताको सुरक्षित रखनेके लिये इसे गुफामें ले जाओ)'॥ १४॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः सह सीतया।
शरानादाय चापं च गुहां दुर्गां समाश्रयत्॥ १५॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर लक्ष्मण धनुष-बाण ले सीताके साथ पर्वतकी दुर्गम गुफामें चले गये॥ १५॥

तस्मिन् प्रविष्टे तु गुहां लक्ष्मणे सह सीतया।
हन्त निर्युक्तमित्युक्त्वा रामः कवचमाविशत्॥ १६॥

सीतासहित लक्ष्मणके गुफाके भीतर चले जानेपर श्रीरामचन्द्रजीने 'हर्षकी बात है, लक्ष्मणने शीघ्र मेरी बात मान ली और सीताकी रक्षाका समुचित प्रबन्ध हो गया' ऐसा कहकर कवच धारण किया॥ १६॥

स तेनाग्निनिकाशेन कवचेन विभूषितः।
बभूव रामस्तिमिरे महानग्निरिवोत्थितः॥ १७॥

प्रज्वलित आगके समान प्रकाशित होनेवाले उस कवचसे विभूषित हो श्रीराम अन्धकारमें प्रकट हुए महान् अग्निदेवके समान शोभा पाने लगे॥ १७॥

स चापमुद्यम्य महच्छरानादाय वीर्यवान्।
सम्बभूवास्थितस्तत्र ज्यास्वनैः पूरयन् दिशः॥ १८॥

पराक्रमी श्रीराम महान् धनुष एवं बाण हाथमें लेकर युद्धके लिये डटकर खड़े हो गये और प्रत्यञ्चाकी टंकारसे सम्पूर्ण दिशाओंको गुँजाने लगे॥ १८॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च सह चारणैः।
समेयुश्च महात्मानो युद्धदर्शनकाङ्क्षया॥ १९॥

तदनन्तर श्रीराम और राक्षसोंका युद्ध देखनेकी इच्छासे देवता, गन्धर्व, सिद्ध और चारण आदि महात्मा वहाँ एकत्र हो गये॥ १९॥

ऋषयश्च महात्मानो लोके ब्रह्मर्षिसत्तमाः।
समेत्य चोचुः सहितास्तेऽन्योन्यं पुण्यकर्मणः॥ २०॥
स्वस्ति गोब्राह्मणानां च लोकानां चेति संस्थिताः।
जयतां राघवो युद्धे पौलस्त्यान् रजनीचरान्॥ २१॥
चक्रहस्तो यथा युद्धे सर्वानसुरपुंगवान्।

इनके सिवा, जो तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध ब्रह्मर्षिशिरोमणि

पुण्यकर्मा महात्मा ऋषि हैं, वे सभी वहाँ जुट गये और एक साथ खड़े हो परस्पर मिलकर यों कहने लगे—'गौओं, ब्राह्मणों और समस्त लोकोंका कल्याण हो। जैसे चक्रधारी भगवान् विष्णु युद्धमें समस्त श्रेष्ठ असुरोंको परास्त कर देते हैं, उसी प्रकार इस संग्राममें श्रीरामचन्द्रजी पुलस्त्यवंशी निशाचरोंपर विजय प्राप्त करें' ॥ २०-२१½ ॥

एवमुक्त्वा पुनः प्रोचुरालोक्य च परस्परम् ॥ २२ ॥
चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम्।
एकश्च रामो धर्मात्मा कथं युद्धं भविष्यति ॥ २३ ॥

ऐसा कहकर वे पुनः एक-दूसरेकी ओर देखते हुए बोले—'एक ओर भयंकर कर्म करनेवाले चौदह हजार राक्षस हैं और दूसरी ओर अकेले धर्मात्मा श्रीराम हैं, फिर यह युद्ध कैसे होगा?' ॥ २२-२३ ॥

इति राजर्षयः सिद्धाः सगणाश्च द्विजर्षभाः।
जातकौतूहलास्तस्थुर्विमानस्थाश्च देवताः ॥ २४ ॥

ऐसी बातें करते हुए राजर्षि, सिद्ध, विद्याधर आदि देवयोनिगणसहित श्रेष्ठ ब्रह्मर्षि तथा विमानपर स्थित हुए देवता कौतूहलवश वहाँ खड़े हो गये ॥ २४ ॥

आविष्टं तेजसा रामं संग्रामशिरसि स्थितम्।
दृष्ट्वा सर्वाणि भूतानि भयाद् विव्यथिरे तदा ॥ २५ ॥

युद्धके मुहानेपर वैष्णव तेजसे आविष्ट हुए श्रीरामको खड़ा देख उस समय सब प्राणी (उनके प्रभावको न जाननेके कारण) भयसे व्यथित हो उठे ॥ २५ ॥

रूपमप्रतिमं तस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः।
बभूव रूपं क्रुद्धस्य रुद्रस्येव महात्मनः ॥ २६ ॥

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले तथा रोषमें भरे हुए महात्मा श्रीरामका वह रूप कुपित हुए रुद्रदेवके समान तुलनारहित प्रतीत होता था ॥ २६ ॥

इति सम्भाष्यमाणे तु देवगन्धर्वचारणैः।
ततो गम्भीरनिर्ह्रादं घोरचर्मायुधध्वजम् ॥ २७ ॥
अनीकं यातुधानानां समन्तात् प्रत्यपद्यत।

जब देवता, गन्धर्व और चारण पूर्वोक्तरूपसे श्रीरामकी मङ्गलकामना कर रहे थे, उसी समय भयंकर ढाल-तलवार आदि आयुधों और ध्वजाओंसे उपलक्षित होनेवाली निशाचरोंकी वह सेना गम्भीर गर्जना करती हुई चारों ओरसे श्रीरामजीके पास आ पहुँची ॥ २७½ ॥

वीरालापान् विसृजतामन्योन्यमभिगच्छताम् ॥ २८ ॥
चापानि विस्फारयतां जृम्भतां चाप्यभीक्ष्णशः।
विप्रघुष्टस्वनानां च दुन्दुभींश्चापि निघ्नताम् ॥ २९ ॥
तेषां सुतुमुलः शब्दः पूरयामास तद् वनम्।

वे राक्षस-सैनिक वीरोचित वार्तालाप करते, युद्धका ढंग बतानेके लिये एक-दूसरेके सामने जाते, धनुषोंको खींचकर उनकी टंकार फैलाते, बारंबार मदमत्त होकर उछलते, जोर-जोरसे गर्जना करते और नगाड़े पीटते थे। उनका वह अत्यन्त तुमुल नाद उस वनमें सब ओर गूँजने लगा ॥ २८-२९ ॥

तेन शब्देन वित्रस्ताः श्वापदा वनचारिणः ॥ ३० ॥
दुद्रुवुर्यत्र निःशब्दं पृष्ठतो नावलोकयन्।

उस शब्दसे डरे हुए वनचारी हिंसक जन्तु उस वनमें गये, जहाँ किसी प्रकारका कोलाहल नहीं सुनायी पड़ता था। वे वनजन्तु भयके मारे पीछे फिरकर देखते भी नहीं थे ॥

तच्चानीकं महावेगं रामं समनुवर्तत ॥ ३१ ॥
धृतनानाप्रहरणं गम्भीरं सागरोपमम्।

वह सेना बड़े वेगसे श्रीरामकी ओर चली। उसमें नाना प्रकारके आयुध धारण करनेवाले सैनिक थे। वह समुद्रके समान गम्भीर दिखायी देती थी ॥ ३१½ ॥

रामोऽपि चारयंश्चक्षुः सर्वतो रणपण्डितः ॥ ३२ ॥
ददर्श खरसैन्यं तद् युद्धायाभिमुखो गतः।

युद्धकलाके विद्वान् श्रीरामचन्द्रजीने भी चारों ओर दृष्टिपात करते हुए खरकी सेनाका निरीक्षण किया और वे युद्धके लिये उसके सामने बढ़ गये ॥ ३२½ ॥

वितत्य च धनुर्भीमं तूण्याश्चोद्धृत्य सायकान् ॥ ३३ ॥
क्रोधमाहारयत् तीव्रं वधार्थं सर्वरक्षसाम्।
दुष्प्रेक्ष्यश्चाभवत् क्रुद्धो युगान्ताग्निरिव ज्वलन् ॥ ३४ ॥

फिर उन्होंने तरकससे अनेक बाण निकाले और अपने भयंकर धनुषको खींचकर सम्पूर्ण राक्षसोंका वध करनेके लिये तीव्र क्रोध प्रकट किया। कुपित होनेपर वे प्रलयकालिक अग्निके समान प्रज्वलित होने लगे। उस समय उनकी ओर देखना भी कठिन हो गया ॥ ३३-३४ ॥

तं दृष्ट्वा तेजसाऽऽविष्टं प्राव्यथन् वनदेवताः।
तस्य रुष्टस्य रूपं तु रामस्य ददृशे तदा।
दक्षस्येव क्रतुं हन्तुमुद्यतस्य पिनाकिनः ॥ ३५ ॥

तेजसे आविष्ट हुए श्रीरामको देखकर वनके देवता व्यथित हो उठे। उस समय रोषमें भरे हुए श्रीरामका रूप दक्षयज्ञका विनाश करनेके लिये उद्यत हुए पिनाकधारी महादेवजीके समान दिखायी देने लगा ॥ ३५ ॥

तत्कार्मुकैराभरणै रथैश्च
तद्वर्मभिश्चाग्निसमानवर्णैः।
बभूव सैन्यं पिशिताशनानां
सूर्योदये नीलमिवाभ्रजालम् ॥ ३६ ॥

धनुषों, आभूषणों, रथों और अग्निके समान कान्तिवाले चमकीले कवचोंसे युक्त वह पिशाचोंकी सेना सूर्योदयकालमें नीले मेघोंकी घटाके समान प्रतीत होती थी ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे चतुर्विंशः सर्गः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें चौबीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशः सर्गः

राक्षसोंका श्रीरामपर आक्रमण और श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा राक्षसोंका संहार

अवष्टब्धधनुं रामं क्रुद्धं तं रिपुघातिनम्।
ददर्शाश्रममागम्य खरः सह पुरःसरैः॥ १॥
तं दृष्ट्वा सगुणं चापमुद्यम्य खरनिःस्वनम्।
रामस्याभिमुखं सूतं चोद्यतामित्यचोदयत्॥ २॥

खरने अपने अग्रगामी सैनिकोंके साथ आश्रमके पास पहुँचकर क्रोधमें भरे हुए शत्रुघाती श्रीरामको देखा, जो हाथमें धनुष लिये खड़े थे। उन्हें देखते ही अपने तीव्र टंकार करनेवाले प्रत्यञ्चासहित धनुषको उठाकर सूतको आज्ञा दी—'मेरा रथ रामके सामने ले चलो'॥ १-२॥

स खरस्याज्ञया सूतस्तुरगान् समचोदयत्।
यत्र रामो महाबाहुरेको धुन्वन् धनुः स्थितः॥ ३॥

खरकी आज्ञासे सारथिने घोड़ोंको उधर ही बढ़ाया, जहाँ महाबाहु श्रीराम अकेले खड़े होकर अपने धनुषकी टंकार कर रहे थे॥ ३॥

तं तु निष्पतितं दृष्ट्वा सर्वतो रजनीचराः।
मुञ्चमाना महानादं सचिवाः पर्यवारयन्॥ ४॥

खरको श्रीरामके समीप पहुँचा देख श्येनगामी आदि उसके निशाचर मन्त्री भी बड़े जोरसे सिंहनाद करके उसे चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये॥ ४॥

स तेषां यातुधानानां मध्ये रथगतः खरः।
बभूव मध्ये ताराणां लोहिताङ्ग इवोदितः॥ ५॥

उन राक्षसोंके बीचमें रथपर बैठा हुआ खर तारोंके मध्यभागमें उगे हुए मङ्गलकी भाँति शोभा पा रहा था॥ ५॥

ततः शरसहस्रेण राममप्रतिमौजसम्।
अर्दयित्वा महानादं ननाद समरे खरः॥ ६॥

उस समय खरने समराङ्गणमें सहस्रों बाणोंद्वारा अप्रतिम बलशाली श्रीरामको पीड़ित-सा करके बड़े जोरसे गर्जना की॥ ६॥

ततस्तं भीमधन्वानं क्रुद्धाः सर्वे निशाचराः।
रामं नानाविधैः शस्त्रैरभ्यवर्षन्त दुर्जयम्॥ ७॥

तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए समस्त निशाचर भयंकर धनुष धारण करनेवाले दुर्जय वीर श्रीरामपर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे॥ ७॥

मुद्गरैरायसैः शूलैः प्रासैः खड्गैः परश्वधैः।
राक्षसाः समरे शूरं निजघ्नू रोषतत्पराः॥ ८॥

उस समराङ्गणमें रुष्ट हुए राक्षसोंने शूरवीर श्रीरामपर लोहेके मुद्गरों, शूलों, प्रासों, खड्गों और फरसोंद्वारा प्रहार किया॥ ८॥

ते बलाहकसंकाशा महाकाया महाबलाः।
अभ्यधावन्त काकुत्स्थं रथैर्वाजिभिरेव च॥ ९॥
गजैः पर्वतकूटाभै रामं युद्धे जिघांसवः।

वे मेघोंके समान काले, विशालकाय और महाबली निशाचर रथों, घोड़ों और पर्वतशिखरके समान गजराजोंद्वारा ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामपर चारों ओरसे टूट पड़े। वे युद्धमें उन्हें मार डालना चाहते थे॥ ९½॥

ते रामे शरवर्षाणि व्यसृजन् रक्षसां गणाः॥ १०॥
शैलेन्द्रमिव धाराभिर्वर्षमाणा महाघनाः।

जैसे बड़े-बड़े मेघ गिरिराजपर जलकी धाराएँ बरसा रहे हों, उसी प्रकार वे राक्षसगण श्रीरामपर बाणोंकी वृष्टि कर रहे थे॥ १०½॥

सर्वैः परिवृतो रामो राक्षसैः क्रूरदर्शनैः॥ ११॥
तिथिष्विव महादेवो वृतः पारिषदां गणैः।

क्रूरतापूर्ण दृष्टिसे देखनेवाले उन सभी राक्षसोंने श्रीरामको उसी प्रकार घेर रखा था, जैसे प्रदोषसंज्ञक तिथियोंमें भगवान् शिवके पार्षदगण उन्हें घेरे रहते हैं॥ ११½॥

तानि मुक्तानि शस्त्राणि यातुधानैः स राघवः॥ १२॥
प्रतिजग्राह विशिखैर्नद्योघानिव सागरः।

श्रीरघुनाथजीने राक्षसोंके छोड़े हुए उन अस्त्र-शस्त्रोंको अपने बाणोंद्वारा उसी तरह ग्रस लिया, जैसे समुद्र नदियोंके प्रवाहको आत्मसात् कर लेता है॥ १२½॥

स तैः प्रहरणैर्घोरैर्भिन्नगात्रो न विव्यथे॥ १३॥
रामः प्रदीप्तैर्बहुभिर्वज्रैरिव महाचलः।

उन राक्षसोंके घोर अस्त्र-शस्त्रोंके प्रहारसे यद्यपि श्रीरामका शरीर क्षत-विक्षत हो गया था तो भी वे व्यथित या विचलित नहीं हुए, जैसे बहुसंख्यक दीप्तिमान् वज्रोंके आघात सहकर भी महान् पर्वत अडिग बना रहता है॥

स विद्धः क्षतजादिग्धः सर्वगात्रेषु राघवः॥ १४॥
बभूव रामः संध्याभ्रैर्दिवाकर इवावृतः।

श्रीरघुनाथजीके सारे अङ्गोंमें अस्त्र-शस्त्रोंके आघातसे घाव हो गया था। वे लहू-लुहान हो रहे थे, अतः उस समय संध्याकालके बादलोंसे घिरे हुए सूर्यदेवके समान शोभा पा रहे थे॥ १४½॥

विषेदुर्देवगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः॥ १५॥
एकं सहस्रैर्बहुभिस्तदा दृष्ट्वा समावृतम्।

श्रीराम अकेले थे। उस समय उन्हें अनेक सहस्र शत्रुओंसे घिरा हुआ देख देवता, सिद्ध, गन्धर्व और महर्षि विषादमें डूब गये॥ १५½॥

ततो रामस्तु संक्रुद्धो मण्डलीकृतकार्मुकः॥ १६॥
ससर्ज निशितान् बाणाञ्छतशोऽथ सहस्रशः।
दुरावारान् दुर्विषहान् कालपाशोपमान् रणे॥ १७॥

तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजीने अत्यन्त कुपित हो अपने धनुषको इतना खींचा कि वह गोलाकार दिखायी देने लगा। फिर तो वे उस धनुषसे रणभूमिमें सैकड़ों, हजारों ऐसे पैने

बाण छोड़ने लगे, जिन्हें रोकना सर्वथा कठिन था, जो दुःसह होनेके साथ ही कालपाशके समान भयंकर थे ॥ १६-१७ ॥

मुमोच लीलया कङ्कपत्रान् काञ्चनभूषणान् ।
ते शराः शत्रुसैन्येषु मुक्ता रामेण लीलया ॥ १८ ॥
आददू रक्षसां प्राणान् पाशाः कालकृता इव ।

उन्होंने खेल-खेलमें ही चीलके परोंसे युक्त असंख्य सुवर्णभूषित बाण छोड़े। शत्रुके सैनिकोंपर श्रीरामद्वारा लीलापूर्वक छोड़े गये वे बाण कालपाशके समान राक्षसोंके प्राण लेने लगे ॥ १८½ ॥

भित्त्वा राक्षसदेहांस्तांस्ते शरा रुधिराप्लुताः ॥ १९ ॥
अन्तरिक्षगता रेजुर्दीप्ताग्निसमतेजसः ।

राक्षसोंके शरीरोंको छेदकर खूनमें डूबे हुए वे बाण जब आकाशमें पहुँचते, तब प्रज्वलित अग्निके समान तेजसे प्रकाशित होने लगते थे ॥ १९½ ॥

असंख्येयास्तु रामस्य सायकाश्चापमण्डलात् ॥ २० ॥
विनिष्पेतुरतीवोग्रा रक्षःप्राणापहारिणः ।

श्रीरामके मण्डलाकार धनुषसे अत्यन्त भयंकर और राक्षसोंके प्राण लेनेवाले असंख्य बाण छूटने लगे ॥ २०½ ॥

तैर्धनूंषि ध्वजाग्राणि चर्माणि कवचानि च ॥ २१ ॥
बाहून् सहस्ताभरणानूरून् करिकरोपमान् ।
चिच्छेद रामः समरे शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २२ ॥

उन बाणोंद्वारा श्रीरामने समराङ्गणमें शत्रुओंके सैकड़ों-हजारों धनुष, ध्वजाओंके अग्रभाग, ढाल, कवच, आभूषणोंसहित भुजाएँ तथा हाथीकी सूँड़के समान जाँघें काट डालीं ॥ २१-२२ ॥

हयान् काञ्चनसंनाहान् रथयुक्तान् ससारथीन् ।
गजांश्च सगजारोहान् सहयान् सादिनस्तदा ॥ २३ ॥
चिच्छिदुर्बिभिदुश्चैव रामबाणा गुणच्युताः ।
पदातीन् समरे हत्वा ह्यनयद् यमसादनम् ॥ २४ ॥

प्रत्यञ्चासे छूटे हुए श्रीरामके बाणोंने उस समय सोनेके साज-बाज एवं कवचसे सजे और रथोंमें जुते हुए घोड़ों, सारथियों, हाथियों, हाथीसवारों, घोड़ों और घुड़सवारोंको भी छिन्न-भिन्न कर डाला। इसी प्रकार श्रीरामने समरभूमिमें पैदल सैनिकोंको भी मारकर यमलोक पहुँचा दिया ॥

ततो नालीकनाराचैस्तीक्ष्णाग्रैश्च विकर्णिभिः ।
भीममार्तस्वरं चक्रुश्छिद्यमाना निशाचराः ॥ २५ ॥

उस समय उनके नालीक, नाराच और तीखे अग्रभागवाले विकर्णी नामक बाणोंद्वारा छिन्न-भिन्न होते हुए निशाचर भयंकर आर्तनाद करने लगे ॥ २५ ॥

[illegible] विविधैर्बाणैरर्दितं मर्मभेदिभिः ।
[illegible] सुखं लेभे शुष्कं वनमिवाग्निना ॥ २६ ॥

[illegible]के चलाये हुए नाना प्रकारके मर्मभेदी बाणोंद्वारा [illegible] हुई वह राक्षससेना आगसे जलते हुए सूखे वनकी भाँति सुख-शान्ति नहीं पाती थी ॥ २६ ॥

केचिद् भीमबलाः शूराः प्रासाञ्शूलान् परश्वधान् ।
चिक्षिपुः परमक्रुद्धा रामाय रजनीचराः ॥ २७ ॥

कुछ भयंकर बलशाली शूरवीर निशाचर अत्यन्त कुपित हो श्रीरामपर प्रासों, शूलों और फरसोंका प्रहार करने लगे ॥

तेषां बाणैर्महाबाहुः शस्त्राण्यावार्य वीर्यवान् ।
जहार समरे प्राणांश्चिच्छेद च शिरोधरान् ॥ २८ ॥

परंतु पराक्रमी महाबाहु श्रीरामने रणभूमिमें अपने बाणोंद्वारा उनके उन अस्त्र-शस्त्रोंको रोककर उनके गले काट डाले और प्राण हर लिये ॥ २८ ॥

ते छिन्नशिरसः पेतुश्छिन्नचर्मशरासनाः ।
सुपर्णवातविक्षिप्ता जगत्यां पादपा यथा ॥ २९ ॥
अवशिष्टाश्च ये तत्र विषण्णास्ते निशाचराः ।
खरमेवाभ्यधावन्त शरणार्थं शराहताः ॥ ३० ॥

सिर, ढाल और धनुषके कट जानेपर वे निशाचर गरुड़के पंखकी हवासे टूटकर गिरनेवाले नन्दनवनके वृक्षोंकी भाँति धराशायी हो गये। जो बचे थे, वे राक्षस भी श्रीरामके बाणोंसे आहत हो विषादमें डूब गये और अपनी रक्षाके लिये खरके पास ही दौड़े गये ॥ २९-३० ॥

तान् सर्वान् धनुरादाय समाश्वास्य च दूषणः ।
अभ्यधावत् सुसंक्रुद्धः क्रुद्धं क्रुद्ध इवान्तकः ॥ ३१ ॥

परंतु बीचमें दूषणने धनुष लेकर उन सबको आश्वासन दिया और अत्यन्त कुपित हो रोषमें भरे हुए यमराजकी भाँति वह क्रुद्ध होकर युद्धके लिये डटे हुए श्रीरामचन्द्रजीकी ओर दौड़ा ॥ ३१ ॥

निवृत्तास्तु पुनः सर्वे दूषणाश्रयनिर्भयाः ।
राममेवाभ्यधावन्त सालतालशिलायुधाः ॥ ३२ ॥

दूषणका सहारा मिल जानेसे निर्भय हो वे सब-के-सब फिर लौट आये और साखू, ताड़ आदिके वृक्ष तथा पत्थर लेकर पुनः श्रीरामपर ही टूट पड़े ॥ ३२ ॥

शूलमुद्गरहस्ताश्च पाशहस्ता महाबलाः ।
सृजन्तः शरवर्षाणि शस्त्रवर्षाणि संयुगे ॥ ३३ ॥

उस युद्धस्थलमें अपने हाथोंमें शूल, मुद्गर और पाश धारण किये वे महाबली निशाचर बाणों तथा अन्य अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे ॥ ३३ ॥

द्रुमवर्षाणि मुञ्चन्तः शिलावर्षाणि राक्षसाः ।
तद् बभूवाद्भुतं युद्धं तुमुलं रोमहर्षणम् ॥ ३४ ॥
रामस्यास्य महाघोरं पुनस्तेषां च रक्षसाम् ।

कोई राक्षस वृक्षोंकी वर्षा करने लगे तो कोई पत्थरोंकी। उस समय इन श्रीराम और उन निशाचरोंमें पुनः बड़ा ही अद्भुत, महाभयंकर, घमासान और रोमाञ्चकारी युद्ध होने लगा ॥ ३४½ ॥

ते समन्तादभिक्रुद्धा राघवं पुनरार्दयन् ॥ ३५ ॥
ततः सर्वा दिशो दृष्ट्वा प्रदिशश्च समावृताः ।

राक्षसैः सर्वतः प्राप्तैः शरवर्षाभिरावृतः ॥ ३६ ॥
स कृत्वा भैरवं नादमस्त्रं परमभास्वरम्।
समयोजयद् गान्धर्वं राक्षसेषु महाबलः ॥ ३७ ॥

वे राक्षस कुपित होकर चारों ओरसे पुनः श्रीरामचन्द्रजीको पीड़ित करने लगे। तब सब ओरसे आये हुए राक्षसोंसे सम्पूर्ण दिशाओं और उपदिशाओंको घिरी हुई देख बाण-वर्षासे आच्छादित हुए महाबली श्रीरामने भैरव-नाद करके उन राक्षसोंपर परम तेजस्वी गान्धर्व नामक अस्त्रका प्रयोग किया ॥ ३५—३७ ॥

ततः शरसहस्राणि निर्ययुश्चापमण्डलात्।
सर्वा दश दिशो बाणैरापूर्यन्त समागतैः ॥ ३८ ॥

फिर तो उनके मण्डलाकार धनुषसे सहस्रों बाण छूटने लगे। उन बाणोंसे दसों दिशाएँ पूर्णतः आच्छादित हो गयीं ॥ ३८ ॥

नाददानं शरान् घोरान् विमुञ्चन्तं शरोत्तमान्।
विकर्षमाणं पश्यन्ति राक्षसास्ते शरार्दिताः ॥ ३९ ॥

बाणोंसे पीड़ित राक्षस यह नहीं देख पाते थे कि श्रीरामचन्द्रजी कब भयंकर बाण हाथमें लेते हैं और कब उन उत्तम बाणोंको छोड़ देते हैं। वे केवल उनको धनुष खींचते देखते थे ॥ ३९ ॥

शरान्धकारमाकाशमावृणोत् सदिवाकरम्।
बभूवावस्थितो रामः प्रक्षिपन्निव ताञ्छरान् ॥ ४० ॥

श्रीरामचन्द्रजीके बाणसमुदायरूपी अन्धकारने सूर्यसहित सारे आकाशमण्डलको ढक दिया। उस समय श्रीराम उन बाणोंको लगातार छोड़ते हुए एक स्थानपर खड़े थे ॥ ४० ॥

युगपत्पतमानैश्च युगपच्च हतैर्भृशम्।
युगपत्पतितैश्चैव विकीर्णा वसुधाभवत् ॥ ४१ ॥

एक ही समय बाणोंद्वारा अत्यन्त घायल हो एक साथ ही गिरते और गिरे हुए बहुसंख्यक राक्षसोंकी लाशोंसे वहाँकी भूमि पट गयी ॥ ४१ ॥

निहताः पतिताः क्षीणाश्छिन्ना भिन्ना विदारिताः।
तत्र तत्र स्म दृश्यन्ते राक्षसास्ते सहस्रशः ॥ ४२ ॥

जहाँ-जहाँ दृष्टि जाती थी, वहीं-वहीं वे हजारों राक्षस मरे, गिरे, क्षीण हुए, कटे-पिटे और विदीर्ण हुए दिखायी देते थे ॥

सोष्णीषैरुत्तमाङ्गैश्च साङ्गदैर्बाहुभिस्तथा।
ऊरुभिर्बाहुभिश्छिन्नैर्नानारूपैर्विभूषणैः ॥ ४३ ॥
हयैश्च द्विपमुख्यैश्च रथैर्भिन्नैरनेकशः।
चामरव्यजनैश्छत्रैर्ध्वजैर्नानाविधैरपि ॥ ४४ ॥
रामेण बाणाभिहतैर्विच्छिन्नैः शूलपट्टिशैः।
खड्गैः खण्डीकृतैः प्रासैर्विकीर्णैश्च परश्वधैः ॥ ४५ ॥
चूर्णिताभिः शिलाभिश्च शरैश्चित्रैरनेकशः।
विच्छिन्नैः समरे भूमिर्विस्तीर्णाभूद् भयंकरा ॥ ४६ ॥

वहाँ श्रीरामके बाणोंसे कटे हुए पगड़ियोंसहित मस्तकों, बाजूबंदसहित भुजाओं, जाँघों, बाँहों, भाँति-भाँतिके आभूषणों, घोड़ों, श्रेष्ठ हाथियों, टूटे-फूटे अनेकानेक रथों, चँवरों, व्यजनों, छत्रों, नाना प्रकारकी ध्वजाओं, छिन्न-भिन्न हुए शूलों, पट्टिशों, खण्डित खड्गों, बिखरे प्रासों, फरसों, चूर-चूर हुई शिलाओं तथा टुकड़े-टुकड़े हुए बहुतेरे विचित्र बाणोंसे पटी हुई वह समरभूमि अत्यन्त भयंकर दिखायी देती थी ॥ ४३—४६ ॥

तान् दृष्ट्वा निहतान् सर्वे राक्षसाः परमातुराः।
न तत्र चलितुं शक्ता रामं परपुरंजयम् ॥ ४७ ॥

उन सबको मारा गया देख शेष राक्षस अत्यन्त आतुर हो वहाँ शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले श्रीरामके सम्मुख जानेमें असमर्थ हो गये ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे पञ्चविंशः सर्गः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पचीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २५ ॥

★

षड्विंशः सर्गः

श्रीरामके द्वारा दूषणसहित चौदह सहस्र राक्षसोंका वध

दूषणस्तु स्वकं सैन्यं हन्यमानं विलोक्य च।
संदिदेश महाबाहुर्भीमवेगान् दुरासदान् ॥ १ ॥
राक्षसान् पञ्चसाहस्रान् समरेष्वनिवर्तिनः।

महाबाहु दूषणने जब देखा कि मेरी सेना बुरी तरहसे मारी जा रही है, तब उसने युद्धसे पीछे पैर न हटानेवाले भयंकर वेगशाली पाँच हजार राक्षसोंको, जिन्हें जीतना बड़ा ही कठिन था, आगे बढ़नेकी आज्ञा दी ॥ १½ ॥

ते शूलैः पट्टिशैः खड्गैः शिलावर्षैर्द्रुमैरपि ॥ २ ॥
शरवर्षैरविच्छिन्नं ववर्षुस्तं समन्ततः।

वे श्रीरामपर चारों ओरसे शूल, पट्टिश, तलवार, पत्थर, वृक्ष और बाणोंकी लगातार वर्षा करने लगे ॥ २½ ॥

तद् द्रुमाणां शिलानां च वर्षं प्राणहरं महत् ॥ ३ ॥
प्रतिजग्राह धर्मात्मा राघवस्तीक्ष्णसायकैः।

यह देख धर्मात्मा श्रीरघुनाथजीने वृक्षों और शिलाओंकी उस प्राणहारिणी महावृष्टिको अपने तीखे सायकोंद्वारा रोका ॥

प्रतिगृह्य च तद् वर्षं निमीलित इवर्षभः ॥ ४ ॥
रामः क्रोधं परं लेभे वधार्थं सर्वरक्षसाम्।

उस सारी वर्षाको रोककर आँख मूँदे हुए साँड़की भाँति अविचल भावसे खड़े हुए श्रीरामने समस्त राक्षसोंके वधके लिये महान् क्रोध धारण किया ॥ ४½ ॥

ततः क्रोधसमाविष्टः प्रदीप्त इव तेजसा ॥ ५ ॥
शरैरभ्यकिरत् सैन्यं सर्वतः सहदूषणम्।

क्रोधसे युक्त और तेजसे उद्दीप्त हुए श्रीरामने दूषणसहित सारी राक्षस-सेनापर चारों ओरसे बाणकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ५½ ॥

ततः सेनापतिः क्रुद्धो दूषणः शत्रुदूषणः ॥ ६ ॥
शरैरशनिकल्पैस्तं राघवं समवारयत्।

इससे शत्रुदूषण सेनापति दूषणको बड़ा क्रोध हुआ और उसने वज्रके समान बाणोंसे श्रीरामचन्द्रजीको रोका ॥ ६½ ॥

ततो रामः सुसंक्रुद्धः क्षुरेणास्य महद् धनुः ॥ ७ ॥
चिच्छेद समरे वीरश्चतुर्भिश्चतुरो हयान्।
हत्वा चाश्वाञ्छरैस्तीक्ष्णैरर्धचन्द्रेण सारथेः ॥ ८ ॥
शिरो जहार तद्रक्षस्त्रिभिर्विव्याध वक्षसि।

तब अत्यन्त कुपित हुए वीर श्रीरामने समराङ्गणमें क्षुरनामक बाणसे दूषणके विशाल धनुषको काट डाला और चार तीखे सायकोंसे उसके चारों घोड़ोंको मौतके घाट उतारकर एक अर्धचन्द्राकार बाणसे सारथिका भी सिर उड़ा दिया तथा तीन बाणोंसे उस राक्षसकी भी छातीमें चोट पहुँचायी ॥ ७-८½ ॥

स छिन्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः ॥ ९ ॥
जग्राह गिरिशृङ्गाभं परिघं रोमहर्षणम्।
वेष्टितं काञ्चनैः पट्टैर्देवसैन्याभिमर्दनम् ॥ १० ॥

धनुष कट जाने और घोड़ों तथा सारथिके मारे जानेपर रथहीन हुए दूषणने पर्वतशिखरके समान एक रोमाञ्चकारी परिघ हाथमें लिया, जिसके ऊपर सोनेके पत्र मढ़े गये थे। वह परिघ देवताओंकी सेनाको भी कुचल डालनेवाला था ॥ ९-१० ॥

आयसैः शङ्कुभिस्तीक्ष्णैः कीर्णं परवसोक्षितम्।
वज्राशनिसमस्पर्शं परगोपुरदारणम् ॥ ११ ॥

उसपर चारों ओरसे लोहेकी तीखी कीलें लगी हुई थीं। वह शत्रुओंकी चर्बीसे लिपटा हुआ था। उसका स्पर्श हीरे तथा वज्रके समान कठोर एवं असह्य था। वह शत्रुओंके नगरद्वारको विदीर्ण कर डालनेमें समर्थ था ॥ ११ ॥

तं महोरगसंकाशं प्रगृह्य परिघं रणे।
दूषणोऽभ्यपतद् रामं क्रूरकर्मा निशाचरः ॥ १२ ॥

रणभूमिमें बहुत बड़े सर्पके समान भयंकर उस परिघको हाथमें लेकर वह क्रूरकर्मा निशाचर दूषण श्रीरामपर टूट पड़ा ॥ १२ ॥

तस्याभिपतमानस्य दूषणस्य च राघवः।
द्वाभ्यां शराभ्यां चिच्छेद सहस्ताभरणौ भुजौ ॥ १३ ॥

उसे अपने ऊपर आक्रमण करते देख श्रीरामचन्द्रजीने दो बाणोंसे आभूषणोंसहित उसकी दोनों भुजाएँ काट डालीं ॥ १३ ॥

भ्रष्टस्तस्य महाकायः पपात रणमूर्धनि।
परिघश्छिन्नहस्तस्य शक्रध्वज इवाग्रतः ॥ १४ ॥

युद्धके मुहानेपर जिसकी दोनों भुजाएँ कट गयी थीं, उस दूषणके हाथसे खिसककर वह विशालकाय परिघ इन्द्र-ध्वजके समान सामने गिर पड़ा ॥ १४ ॥

कराभ्यां च विकीर्णाभ्यां पपात भुवि दूषणः।
विषाणाभ्यां विशीर्णाभ्यां मनस्वीव महागजः ॥ १५ ॥

जैसे दोनों दाँतोंके उखाड़ लिये जानेपर महान् मनस्वी गजराज उनके साथ ही धराशायी हो जाता है, उसी प्रकार कटकर गिरी हुई अपनी भुजाओंके साथ ही दूषण भी पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १५ ॥

दृष्ट्वा तं पतितं भूमौ दूषणं निहतं रणे।
साधु साध्विति काकुत्स्थं सर्वभूतान्यपूजयन् ॥ १६ ॥

रणभूमिमें मारे गये दूषणको धराशायी हुआ देख समस्त प्राणियोंने 'साधु-साधु' कहकर भगवान् श्रीरामकी प्रशंसा की ॥ १६ ॥

एतस्मिन्नन्तरे क्रुद्धास्त्रयः सेनाग्रयायिनः।
संहत्याभ्यद्रवन् रामं मृत्युपाशावपाशिताः ॥ १७ ॥
महाकपालः स्थूलाक्षः प्रमाथी च महाबलः।

इसी समय सेनाके आगे चलनेवाले महाकपाल, स्थूलाक्ष और महाबली प्रमाथी—ये तीन राक्षस कुपित हो मौतके फंदेमें फँसकर संगठितरूपसे श्रीरामचन्द्रजीके ऊपर टूट पड़े ॥ १७½ ॥

महाकपालो विपुलं शूलमुद्यम्य राक्षसः ॥ १८ ॥
स्थूलाक्षः पट्टिशं गृह्य प्रमाथी च परश्वधम्।

राक्षस महाकपालने एक विशाल शूल उठाया, स्थूलाक्षने पट्टिश हाथमें लिया और प्रमाथीने फरसा सँभालकर आक्रमण किया ॥ १८½ ॥

दृष्ट्वैवापततस्तांस्तु राघवः सायकैः शितैः ॥ १९ ॥
तीक्ष्णाग्रैः प्रतिजग्राह सम्प्राप्तानतिथीनिव।

उन तीनोंको अपनी ओर आते देख भगवान् श्रीरामने तीखे अग्रभागवाले पैने सायकोंद्वारा द्वारपर आये हुए अतिथियोंके समान उनका स्वागत किया ॥ १९½ ॥

महाकपालस्य शिरश्चिच्छेद रघुनन्दनः ॥ २० ॥
असंख्येयैस्तु बाणौघैः प्रममाथ प्रमाथिनम्।
स्थूलाक्षस्याक्षिणी स्थूले पूरयामास सायकैः ॥ २१ ॥

श्रीरघुनन्दनने महाकपालका सिर एवं कपाल उड़ा दिया। प्रमाथीको असंख्य बाणसमूहोंसे मथ डाला और स्थूलाक्षकी स्थूल आँखोंको सायकोंसे भर दिया ॥ २०-२१ ॥

स पपात हतो भूमौ विटपीव महाद्रुमः।
दूषणस्यानुगान् पञ्चसाहस्रान् कुपितः क्षणात् ॥ २२ ॥
हत्वा तु पञ्चसाहस्रैरनयद् यमसादनम्।

तीनों अग्रगामी सैनिकोंका वह समूह अनेक शाखावाले विशाल वृक्षकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा। तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजीने कुपित हो दूषणके अनुयायी पाँच हजार

राक्षसोंको उतने ही बाणोंका निशाना बनाकर क्षणभरमें यमलोक पहुँचा दिया ॥ २२½ ॥

दूषणं निहतं श्रुत्वा तस्य चैव पदानुगान् ॥ २३ ॥
व्यादिदेश खरः क्रुद्धः सेनाध्यक्षान् महाबलान् ।
अयं विनिहतः संख्ये दूषणः सपदानुगः ॥ २४ ॥
महत्या सेनया सार्धं युद्ध्वा रामं कुमानुषम् ।
शस्त्रैर्नानाविधाकारैर्हनध्वं सर्वराक्षसाः ॥ २५ ॥

दूषण और उसके अनुयायी मारे गये—यह सुनकर खरको बड़ा क्रोध हुआ। उसने अपने महाबली सेनापतियोंको आज्ञा दी—'वीरो ! यह दूषण अपने सेवकोंसहित युद्धमें मार डाला गया। अतः अब तुम सभी राक्षस बहुत बड़ी सेनाके साथ धावा करके इस दुष्ट मनुष्य रामके साथ युद्ध करो और नाना प्रकारके शस्त्रोंद्वारा इसका वध कर डालो' ॥ २३—२५ ॥

एवमुक्त्वा खरः क्रुद्धो राममेवाभिदुद्रुवे ।
श्येनगामी पृथुग्रीवो यज्ञशत्रुर्विहंगमः ॥ २६ ॥
दुर्जयः करवीराक्षः परुषः कालकार्मुकः ।
हेममाली महामाली सर्पास्यो रुधिराशनः ॥ २७ ॥
द्वादशैते महावीर्या बलाध्यक्षाः ससैनिकाः ।
राममेवाभ्यधावन्त विसृजन्तः शरोत्तमान् ॥ २८ ॥

ऐसा कहकर कुपित हुए खरने श्रीरामपर ही धावा किया। साथ ही श्येनगामी, पृथुग्रीव, यज्ञशत्रु, विहङ्गम, दुर्जय, करवीराक्ष, परुष, कालकार्मुक, हेममाली, महामाली, सर्पास्य तथा रुधिराशन—ये बारह महापराक्रमी सेनापति भी उत्तम बाणोंकी वर्षा करते हुए अपने सैनिकोंके साथ श्रीरामपर ही टूट पड़े ॥ २६—२८ ॥

ततः पावकसंकाशैर्हेमवज्रविभूषितैः ।
जघान शेषं तेजस्वी तस्य सैन्यस्य सायकैः ॥ २९ ॥

तब तेजस्वी श्रीरामचन्द्रजीने सोने और हीरोंसे विभूषित अग्नितुल्य तेजस्वी सायकोंद्वारा उस सेनाके बचे-खुचे सिपाहियोंका भी संहार कर डाला ॥ २९ ॥

ते रुक्मपुङ्खा विशिखाः सधूमा इव पावकाः ।
निजघ्नुस्तानि रक्षांसि वज्रा इव महाद्रुमान् ॥ ३० ॥

जैसे वज्र बड़े-बड़े वृक्षोंको नष्ट कर डालते हैं, उसी प्रकार धूमयुक्त अग्निके समान प्रतीत होनेवाले उन सोनेकी पाँखवाले बाणोंने उन समस्त राक्षसोंका विनाश कर डाला ॥ ३० ॥

रक्षसां तु शतं रामः शतेनैकेन कर्णिना ।
सहस्रं तु सहस्रेण जघान रणमूर्धनि ॥ ३१ ॥

उस युद्धके मुहानेपर श्रीरामने कर्णिनामक सौ बाणोंसे सौ राक्षसोंका और सहस्र बाणोंसे सहस्र निशाचरोंका एक साथ ही संहार कर डाला ॥ ३१ ॥

तैर्भिन्नवर्माभरणाश्छिन्नभिन्नशरासनाः ।
निपेतुः शोणितादिग्धा धरण्यां रजनीचराः ॥ ३२ ॥

उन बाणोंसे निशाचरोंके कवच, आभूषण और धनुष छिन्न-भिन्न हो गये तथा वे खूनसे लथपथ हो पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३२ ॥

तैर्मुक्तकेशैः समरे पतितैः शोणितोक्षितैः ।
विस्तीर्णा वसुधा कृत्स्ना महावेदिः कुशैरिव ॥ ३३ ॥

कुशोंसे ढकी हुई विशाल वेदीके समान युद्धमें लोहूलुहान होकर गिरे हुए खुले केशवाले राक्षसोंसे सारी रणभूमि पट गयी ॥ ३३ ॥

तत्क्षणे तु महाघोरं वनं निहतराक्षसम् ।
बभूव निरयप्रख्यं मांसशोणितकर्दमम् ॥ ३४ ॥

राक्षसोंके मारे जानेसे उस समय वहाँ रक्त और मांसकी कीचड़ जम गयी; अतः वह महाभयंकर वन नरकके समान प्रतीत होने लगा ॥ ३४ ॥

चतुर्दशसहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम् ।
हतान्येकेन रामेण मानुषेण पदातिना ॥ ३५ ॥

मानवरूपधारी श्रीराम अकेले और पैदल थे, तो भी उन्होंने भयानक कर्म करनेवाले चौदह हजार राक्षसोंको तत्काल मौतके घाट उतार दिया ॥ ३५ ॥

तस्य सैन्यस्य सर्वस्य खरः शेषो महारथः ।
राक्षसस्त्रिशिराश्चैव रामश्च रिपुसूदनः ॥ ३६ ॥

उस समूची सेनामें केवल महारथी खर और त्रिशिरा—ये दो ही राक्षस बच रहे। उधर शत्रुसंहारक भगवान् श्रीराम ज्यों-के-त्यों युद्धके लिये डटे रहे ॥ ३६ ॥

शेषा हता महावीर्या राक्षसा रणमूर्धनि ।
घोरा दुर्विषहाः सर्वे लक्ष्मणस्याग्रजेन ते ॥ ३७ ॥

उपर्युक्त दो राक्षसोंको छोड़कर शेष सभी निशाचर, जो महान् पराक्रमी, भयंकर और दुर्धर्ष थे, युद्धके मुहानेपर लक्ष्मणके बड़े भाई श्रीरामके हाथों मारे गये ॥ ३७ ॥

ततस्तु तद्भीमबलं महाहवे
समीक्ष्य रामेण हतं बलीयसा ।
रथेन रामं महता खरस्ततः
समाससादेन्द्र इवोद्यताशनिः ॥ ३८ ॥

तदनन्तर महासमरमें महाबली श्रीरामके द्वारा अपनी भयंकर सेनाको मारी गयी देख खर एक विशाल रथके द्वारा श्रीरामका सामना करनेके लिये आया, मानो वज्रधारी इन्द्रने किसी शत्रुपर आक्रमण किया हो ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे षड्विंशः सर्गः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें छब्बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २६ ॥

—★—

सप्तविंशः सर्गः

त्रिशिराका वध

खरं तु रामाभिमुखं प्रयान्तं वाहिनीपतिः ।
राक्षसस्त्रिशिरा नाम संनिपत्येदमब्रवीत् ॥ १ ॥

खरको भगवान् श्रीरामके सम्मुख जाते देख सेनापति राक्षस त्रिशिरा तुरंत उसके पास आ पहुँचा और इस प्रकार बोला— ॥ १ ॥

मां नियोजय विक्रान्तं त्वं निवर्तस्व साहसात् ।
पश्य रामं महाबाहुं संयुगे विनिपातितम् ॥ २ ॥

'राक्षसराज ! मुझ पराक्रमी वीरको इस युद्धमें लगाइये और स्वयं इस साहसपूर्ण कार्यसे अलग रहिये। देखिये, मैं अभी महाबाहु रामको युद्धमें मार गिराता हूँ ॥ २ ॥

प्रतिजानामि ते सत्यमायुधं चाहमालभे ।
यथा रामं वधिष्यामि वधार्हं सर्वरक्षसाम् ॥ ३ ॥

'आपके सामने मैं सच्ची प्रतिज्ञा करता हूँ और अपने हथियार छूकर शपथ खाता हूँ कि जो समस्त राक्षसोंके लिये वधके योग्य है, उन रामका मैं अवश्य वध करूँगा ॥ ३ ॥

अहं वास्य रणे मृत्युरेष वा समरे मम ।
विनिवर्त्य रणोत्साहं मुहूर्तं प्राश्निको भव ॥ ४ ॥

'इस युद्धमें या तो मैं इनकी मृत्यु बनूँगा, या ये ही समराङ्गणमें मेरी मृत्युका कारण होंगे। आप इस समय अपने युद्धविषयक उत्साहको रोककर एक मुहूर्तके लिये जय-पराजयका निर्णय करनेवाले साक्षी बन जाइये ॥ ४ ॥

प्रहृष्टो वा हते रामे जनस्थानं प्रयास्यसि ।
मयि वा निहते रामं संयुगाय प्रयास्यसि ॥ ५ ॥

'यदि मेरेद्वारा राम मारे गये तो आप प्रसन्नतापूर्वक जनस्थानको लौट जाइये अथवा यदि रामने ही मुझे मार दिया तो आप युद्धके लिये इनपर धावा बोल दीजियेगा' ॥ ५ ॥

खरस्त्रिशिरसा तेन मृत्युलोभात् प्रसादितः ।
गच्छ युध्येत्यनुज्ञातो राघवाभिमुखो ययौ ॥ ६ ॥

भगवान्‌के हाथसे मृत्युका लोभ होनेके कारण जब त्रिशिराने इस प्रकार खरको राजी किया, तब उसने आज्ञा दे दी—'अच्छा जाओ, युद्ध करो। आज्ञा पाकर वह श्रीरामचन्द्रजीकी ओर चला ॥ ६ ॥

त्रिशिरास्तु रथेनैव वाजियुक्तेन भास्वता ।
अभ्यद्रवद् रणे रामं त्रिशृङ्ग इव पर्वतः ॥ ७ ॥

घोड़े जुते हुए एक तेजस्वी रथके द्वारा त्रिशिराने रणभूमिमें श्रीरामपर आक्रमण किया। उस समय वह तीन शिखरोंवाले पर्वतके समान जान पड़ता था ॥ ७ ॥

शरधारासमूहान् स महामेघ इवोत्सृजन् ।
व्यसृजत् सदृशं नादं जलार्द्रस्येव दुन्दुभेः ॥ ८ ॥

उसने आते ही बड़े भारी मेघकी भाँति बाणरूपी धाराओंकी वर्षा आरम्भ कर दी और वह जलसे भीगे हुए नगाड़ेकी तरह विकट गर्जना करने लगा ॥ ८ ॥

आगच्छन्तं त्रिशिरसं राक्षसं प्रेक्ष्य राघवः ।
धनुषा प्रतिजग्राह विधुन्वन् सायकाञ्छितान् ॥ ९ ॥

त्रिशिरानामक राक्षसको आते देख श्रीरघुनाथजीने धनुषके द्वारा पैने बाण छोड़ते हुए उसे अपने प्रतिद्वन्द्वीके रूपमें ग्रहण किया (अथवा उसे आगे बढ़नेसे रोक दिया) ॥ ९ ॥

स सम्प्रहारस्तुमुलो रामत्रिशिरसोस्तदा ।
सम्बभूवातिबलिनोः सिंहकुञ्जरयोरिव ॥ १० ॥

अत्यन्त बलशाली श्रीराम और त्रिशिराका वह संग्राम महाबली सिंह और गजराजके युद्धकी भाँति बड़ा भयंकर प्रतीत होता था ॥ १० ॥

ततस्त्रिशिरसा बाणैर्ललाटे ताडितस्त्रिभिः ।
अमर्षी कुपितो रामः संरब्ध इदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

उस समय त्रिशिराने तीन बाणोंसे श्रीरामचन्द्रजीके ललाटको बींध डाला। श्रीराम उसकी यह उद्दण्डता सहन न कर सके। वे कुपित हो रोषावेशमें भरकर इस प्रकार बोले— ॥ ११ ॥

अहो विक्रमशूरस्य राक्षसस्येदृशं बलम् ।
पुष्पैरिव शरैर्योऽहं ललाटेऽस्मि परिक्षतः ॥ १२ ॥
ममापि प्रतिगृह्णीष्व शरांश्चापगुणाच्च्युतान् ।

'अहो ! पराक्रम प्रकट करनेमें शूरवीर राक्षसका ऐसा ही बल है, जो तुमने फूलों-जैसे बाणोंद्वारा मेरे ललाटपर प्रहार किया है। अच्छा, अब धनुषकी डोरीसे छूटे हुए मेरे बाणोंको भी ग्रहण करो' ॥ १२ १/२ ॥

एवमुक्त्वा सुसंरब्धः शरानाशीविषोपमान् ॥ १३ ॥
त्रिशिरोवक्षसि क्रुद्धो निजघान चतुर्दश ।

ऐसा कहकर रोषमें भरे हुए श्रीरामने त्रिशिराकी छातीमें क्रोधपूर्वक चौदह बाण मारे, जो विषधर सर्पोंके समान भयंकर थे ॥ १३ १/२ ॥

चतुर्भिस्तुरगानस्य शरैः संनतपर्वभिः ॥ १४ ॥
न्यपातयत तेजस्वी चतुरस्तस्य वाजिनः ।
अष्टभिः सायकैः सूतं रथोपस्थे न्यपातयत् ॥ १५ ॥

तदनन्तर तेजस्वी रघुनाथजीने झुकी गाँठवाले चार बाणोंसे उसके चारों घोड़ोंको मार गिराया। फिर आठ सायकोंद्वारा उसके सारथिको भी रथकी बैठकमें ही सुला दिया ॥ १४-१५ ॥

रामश्चिच्छेद बाणेन ध्वजं चास्य समुच्छ्रितम् ।
ततो हतरथात् तस्मादुत्पतन्तं निशाचरम् ॥ १६ ॥
चिच्छेद रामस्तं बाणैर्हृदये सोऽभवज्जडः ।

इसके बाद श्रीरामने एक बाणसे उसकी ध्वजा भी काट डाली। तदनन्तर जब वह उस नष्ट हुए रथसे कूदने लगा, उसी समय श्रीराघवेन्द्रने अनेक बाणोंद्वारा उस निशाचरकी छाती छेद डाली। फिर तो वह जडवत् हो गया ॥ १६ १/२ ॥

सायकैश्चाप्रमेयात्मा सामर्षस्तस्य रक्षसः ॥ १७ ॥
शिरांस्यपातयत् त्रीणि वेगवद्भिस्त्रिभिः शरैः ।

इसके बाद अप्रमेयस्वरूप श्रीरामने अमर्षमें भरकर तीन वेगशाली एवं विनाशकारी बाणोंद्वारा उस राक्षसके तीनों मस्तक काट गिराये ॥ १७½ ॥

स धूमशोणितोद्गारी रामबाणाभिपीडितः ॥ १८ ॥
न्यपतत् पतितैः पूर्वं समरस्थो निशाचरः ।

समराङ्गणमें खड़ा हुआ वह निशाचर श्रीरामचन्द्रजीके बाणोंसे पीड़ित हो अपने धड़से भापसहित रुधिर उगलता हुआ पहले गिरे हुए मस्तकोंके साथ ही धराशायी हो गया ॥

हतशेषास्ततो भग्ना राक्षसाः खरसंश्रयाः ॥ १९ ॥
द्रवन्ति स्म न तिष्ठन्ति व्याघ्रत्रस्ता मृगा इव ।

तत्पश्चात् खरकी सेवामें रहनेवाले राक्षस, जो मरनेसे बचे हुए थे, भाग खड़े हुए। वे व्याघ्रसे डरे हुए मृगोंके समान भागते ही चले जाते थे, खड़े नहीं होते थे ॥ १९½ ॥

तान् खरो द्रवतो दृष्ट्वा निवर्त्य रुषितस्त्वरन् ।
राममेवाभिदुद्राव राहुश्चन्द्रमसं यथा ॥ २० ॥

उन्हें भागते देख रोषमें भरे हुए खरने तुरंत लौटाया और जैसे राहु चन्द्रमापर आक्रमण करता है, उसी प्रकार उसने श्रीरामपर ही धावा किया ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे सप्तविंशः सर्गः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें सत्ताईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशः सर्गः

खरके साथ श्रीरामका घोर युद्ध

निहतं दूषणं दृष्ट्वा रणे त्रिशिरसा सह ।
खरस्याप्यभवत् त्रासो दृष्ट्वा रामस्य विक्रमम् ॥ १ ॥

त्रिशिरासहित दूषणको रणभूमिमें मारा गया देख श्रीरामके पराक्रमपर दृष्टिपात करके खरको भी बड़ा भय हुआ ॥ १ ॥

स दृष्ट्वा राक्षसं सैन्यमविषह्यं महाबलम् ।
हतमेकेन रामेण दूषणस्त्रिशिरा अपि ॥ २ ॥
तद्बलं हतभूयिष्ठं विमनाः प्रेक्ष्य राक्षसः ।
आससाद खरो रामं नमुचिर्वासवं यथा ॥ ३ ॥

एकमात्र श्रीरामने महान् बलशाली और असह्य राक्षस-सेनाका वध कर डाला। दूषण और त्रिशिराको भी मार गिराया तथा मेरी सेनाके अधिकांश (चौदह हजार) प्रमुख वीरोंको कालके गालमें भेज दिया—यह सब देख और सोचकर राक्षस खर उदास हो गया। उसने श्रीरामपर उसी तरह आक्रमण किया, जैसे नमुचिने इन्द्रपर किया था ॥ २-३ ॥

विकृष्य बलवच्चापं नाराचान् रक्तभोजनान् ।
खरश्चिक्षेप रामाय क्रुद्धानाशीविषानिव ॥ ४ ॥

खरने एक प्रबल धनुषको खींचकर श्रीरामके प्रति बहुत-से नाराच चलाये, जो रक्त पीनेवाले थे। वे समस्त नाराच रोषमें भरे हुए विषधर सर्पोंके समान प्रतीत होते थे ॥ ४ ॥

ज्यां विधुन्वन् सुबहुशः शिक्षयास्त्राणि दर्शयन् ।
चचार समरे मार्गाञ्शरै रथगतः खरः ॥ ५ ॥

धनुर्विद्याके अभ्याससे प्रत्यञ्चाको हिलाता और नाना प्रकारके अस्त्रोंका प्रदर्शन करता हुआ रथारूढ़ खर समराङ्गणमें युद्धके अनेक पैंतरे दिखाता हुआ विचरने लगा ॥ ५ ॥

स सर्वाश्च दिशो बाणैः प्रदिशश्च महारथः ।
पूरयामास तं दृष्ट्वा रामोऽपि सुमहद् धनुः ॥ ६ ॥

उस महारथी वीरने अपने बाणोंसे समस्त दिशाओं और विदिशाओंको ढक दिया। उसे ऐसा करते देख श्रीरामने भी अपना विशाल धनुष उठाया और समस्त दिशाओंको बाणोंसे आच्छादित कर दिया ॥ ६ ॥

स सायकैर्दुर्विषहैर्विस्फुलिङ्गैरिवाग्निभिः ।
नभश्चकाराविवरं पर्जन्य इव वृष्टिभिः ॥ ७ ॥

जैसे मेघ जलकी वर्षासे आकाशको ढक देता है, उसी प्रकार श्रीरघुनाथजीने भी आगकी चिनगारियोंके समान दुःसह सायकोंकी वर्षा करके आकाशको ठसाठस भर दिया। वहाँ थोड़ी-सी भी जगह खाली नहीं रहने दी ॥ ७ ॥

तद् बभूव शितैर्बाणैः खररामविसर्जितैः ।
पर्याकाशमनाकाशं सर्वतः शरसंकुलम् ॥ ८ ॥

खर और श्रीरामद्वारा छोड़े गये पैने बाणोंसे व्याप्त हो सब ओर फैला हुआ आकाश चारों ओरसे बाणोंद्वारा भर जानेके कारण अवकाशरहित हो गया ॥ ८ ॥

शरजालावृतः सूर्यो न तदा स्म प्रकाशते ।
अन्योन्यवधसंरम्भादुभयोः सम्प्रयुध्यतोः ॥ ९ ॥

एक-दूसरेके वधके लिये रोषपूर्वक जूझते हुए उन दोनों वीरोंके बाणजालसे आच्छादित होकर सूर्यदेव प्रकाशित नहीं होते थे ॥ ९ ॥

ततो नालीकनाराचैस्तीक्ष्णाग्रैश्च विकर्णिभिः ।
आजघान रणे रामं तोत्रैरिव महाद्विपम् ॥ १० ॥

तदनन्तर खरने रणभूमिमें श्रीरामपर नालीक, नाराच और तीखे अग्रभागवाले विकर्णि नामक बाणोंद्वारा प्रहार किया, मानो किसी महान् गजराजको अङ्कुशोंद्वारा मारा गया हो ॥

तं रथस्थं धनुष्पाणिं राक्षसं पर्यवस्थितम् ।
ददृशुः सर्वभूतानि पाशहस्तमिवान्तकम् ॥ ११ ॥

उस समय हाथमें धनुष लेकर रथमें स्थिरतापूर्वक बैठे

हुए राक्षस खरको समस्त प्राणियोंने पाशधारी यमराजके समान देखा ॥ ११ ॥

हन्तारं सर्वसैन्यस्य पौरुषे पर्यवस्थितम् ।
परिश्रान्तं महासत्त्वं मेने रामं खरस्तदा ॥ १२ ॥

उस वेलामें समस्त सेनाओंका वध करनेवाले तथा पुरुषार्थ-पर डटे हुए महान् बलशाली श्रीरामको खरने थका हुआ समझा ॥

तं सिंहमिव विक्रान्तं सिंहविक्रान्तगामिनम् ।
दृष्ट्वा नोद्विजते रामः सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥ १३ ॥

यद्यपि वह सिंहके समान चलता और सिंहके ही तुल्य पराक्रम प्रकट करता था तो भी उस खरको देखकर श्रीराम उसी तरह उद्विग्न नहीं होते थे, जैसे छोटे-से मृगको देखकर सिंह भयभीत नहीं होता है ॥ १३ ॥

ततः सूर्यनिकाशेन रथेन महता खरः ।
आससादाथ तं रामं पतङ्ग इव पावकम् ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् जैसे पतिङ्गा आगके पास जाता है, उसी प्रकार खर अपने सूर्यतुल्य तेजस्वी विशाल रथके द्वारा श्रीरामचन्द्रजीके पास गया ॥ १४ ॥

ततोऽस्य सशरं चापं मुष्टिदेशे महात्मनः ।
खरश्चिच्छेद रामस्य दर्शयन् हस्तलाघवम् ॥ १५ ॥

वहाँ जाकर उस राक्षस खरने अपने हाथकी फुर्ती दिखाते हुए महात्मा श्रीरामके बाणसहित धनुषको मुट्ठी पकड़नेकी जगहसे काट डाला ॥ १५ ॥

स पुनस्त्वपरान् सप्त शरानादाय मर्मणि ।
निजघान रणे क्रुद्धः शक्राशनिसमप्रभान् ॥ १६ ॥

फिर इन्द्रके वज्रकी भाँति प्रकाशित होनेवाले दूसरे सात बाण लेकर रणभूमिमें कुपित हुए खरने उनके द्वारा श्रीरामके मर्मस्थलमें चोट पहुँचायी ॥ १६ ॥

ततः शरसहस्रेण राममप्रतिमौजसम् ।
अर्दयित्वा महानादं ननाद समरे खरः ॥ १७ ॥

तदनन्तर अप्रतिम बलशाली श्रीरामको सहस्रों बाणोंसे पीड़ित करके निशाचर खर समरभूमिमें जोर-जोरसे गर्जना करने लगा ॥ १७ ॥

ततस्तत्प्रहतं बाणैः खरमुक्तैः सुपर्वभिः ।
पपात कवचं भूमौ रामस्यादित्यवर्चसम् ॥ १८ ॥

खरके छोड़े हुए उत्तम गाँठवाले बाणोंद्वारा कटकर श्रीरामका सूर्यतुल्य तेजस्वी कवच पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १८ ॥

स शरैरर्पितः क्रुद्धः सर्वगात्रेषु राघवः ।
रराज समरे रामो विधूमोऽग्निरिव ज्वलन् ॥ १९ ॥

उनके सभी अङ्गोंमें खरके बाण धँस गये थे। उस समय कुपित हो समरभूमिमें खड़े हुए श्रीरघुनाथजी धूमरहित प्रज्वलित अग्निकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ १९ ॥

ततो गम्भीरनिर्ह्रादं रामः शत्रुनिबर्हणः ।
चकारान्ताय स रिपोः सज्यमन्यन्महद्धनुः ॥ २० ॥

तब शत्रुओंका नाश करनेवाले भगवान् श्रीरामने अपने विपक्षीका विनाश करनेके लिये एक दूसरे विशाल धनुषपर, जिसकी ध्वनि बहुत ही गम्भीर थी, प्रत्यञ्चा चढ़ायी ॥ २० ॥

सुमहद् वैष्णवं यत् तदतिसृष्टं महर्षिणा ।
वरं तद् धनुरुद्यम्य खरं समभिधावत ॥ २१ ॥

महर्षि अगस्त्यने जो महान् और उत्तम वैष्णव धनुष प्रदान किया था, उसीको लेकर उन्होंने खरपर धावा किया ॥ २१ ॥

ततः कनकपुङ्खैस्तु शरैः संनतपर्वभिः ।
चिच्छेद रामः संक्रुद्धः खरस्य समरे ध्वजम् ॥ २२ ॥

उस समय अत्यन्त क्रोधमें भरकर श्रीरामने सोनेकी पाँख और झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा समराङ्गणमें खरकी ध्वजा काट डाली ॥ २२ ॥

स दर्शनीयो बहुधा विच्छिन्नः काञ्चनो ध्वजः ।
जगाम धरणीं सूर्यो देवतानामिवाज्ञया ॥ २३ ॥

वह दर्शनीय सुवर्णमय ध्वज अनेक टुकड़ोंमें कटकर धरतीपर गिर पड़ा, मानो देवताओंकी आज्ञासे सूर्यदेव भूमिपर उतर आये हों ॥ २३ ॥

तं चतुर्भिः खरः क्रुद्धो रामं गात्रेषु मार्गणैः ।
विव्याध हृदि मर्मज्ञो मातङ्गमिव तोमरैः ॥ २४ ॥

क्रोधमें भरे हुए खरको मर्मस्थानोंका ज्ञान था। उसने श्रीरामके अङ्गोंमें, विशेषतः उनकी छातीमें चार बाण मारे, मानो किसी महावतने गजराजपर तोमरोंसे प्रहार किया हो ॥ २४ ॥

स रामो बहुभिर्बाणैः खरकार्मुकनिःसृतैः ।
विद्धो रुधिरसिक्ताङ्गो बभूव रुषितो भृशम् ॥ २५ ॥

खरके धनुषसे छूटे हुए बहुसंख्यक बाणोंसे घायल होकर श्रीरामका सारा शरीर लहूलुहान हो गया। इससे उनको बड़ा रोष हुआ ॥ २५ ॥

स धनुर्धन्विनां श्रेष्ठः संगृह्य परमाहवे ।
मुमोच परमेष्वासः षट् शरानभिलक्षितान् ॥ २६ ॥

धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ महाधनुर्धर श्रीरामने युद्धस्थलमें पूर्वोक्त श्रेष्ठ धनुषको हाथमें लेकर लक्ष्य निश्चित करके खरको छः बाण मारे ॥ २६ ॥

शिरस्येकेन बाणेन द्वाभ्यां बाह्वोरथार्पयत् ।
त्रिभिश्चन्द्रार्धवक्त्रैश्च वक्षस्यभिजघान ह ॥ २७ ॥

उन्होंने एक बाण उसके मस्तकमें, दोसे उसकी भुजाओंमें और तीन अर्धचन्द्राकार बाणोंसे उसकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ २७ ॥

ततः पश्चान्महातेजा नाराचान् भास्करोपमान् ।
जघान राक्षसं क्रुद्धस्त्रयोदश शिलाशितान् ॥ २८ ॥

तत्पश्चात् महातेजस्वी श्रीरामचन्द्रजीने कुपित होकर उस राक्षसको शानपर तेज किये हुए और सूर्यके समान चमकनेवाले तेरह बाण मारे ॥ २८ ॥

रथस्य युगमेकेन चतुर्भिः शबलान् हयान्।
षष्ठेन च शिरः संख्ये चिच्छेद खरसारथेः॥ २९॥

एक बाणसे तो उसके रथका जुआ काट दिया, चार बाणोंसे चारों चितकबरे घोड़े मार डाले और छठे बाणसे युद्धस्थलमें खरके सारथिका मस्तक काट गिराया॥ २९॥

त्रिभिस्त्रिवेणून् बलवान् द्वाभ्यामक्षं महाबलः।
द्वादशेन तु बाणेन खरस्य सशरं धनुः॥ ३०॥
छित्त्वा वज्रनिकाशेन राघवः प्रहसन्निव।
त्रयोदशेनेन्द्रसमो बिभेद समरे खरम्॥ ३१॥

तत्पश्चात् तीन बाणोंसे त्रिवेणु (जुएके आधारदण्ड) और दोसे रथके धुरेको खण्डित करके महान् शक्तिशाली और बलवान् श्रीरामने बारहवें बाणसे खरके बाणसहित धनुषके दो टुकड़े कर दिये। इसके बाद इन्द्रके समान तेजस्वी श्रीराघवेन्द्रने हँसते-हँसते वज्रतुल्य तेरहवें बाणके द्वारा समराङ्गणमें खरको घायल कर दिया॥ ३०-३१॥

प्रभग्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः।
गदापाणिरवप्लुत्य तस्थौ भूमौ खरस्तदा॥ ३२॥

धनुषके खण्डित होने, रथके टूटने, घोड़ोंके मारे जाने और सारथिके भी नष्ट हो जानेपर खर उस समय हाथमें गदा ले रथसे कूदकर धरतीपर खड़ा हो गया॥ ३२॥

तत् कर्म रामस्य महारथस्य
समेत्य देवाश्च महर्षयश्च।
अपूजयन् प्राञ्जलयः प्रहृष्टा-
स्तदा विमानाग्रगताः समेता॥ ३३॥

उस अवसरपर विमानपर बैठे हुए देवता और महर्षि हर्षसे उत्फुल्ल हो परस्पर मिलकर हाथ जोड़ महारथी श्रीरामके उस कर्मकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे॥ ३३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डेऽष्टाविंशः सर्गः॥ २८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें अट्ठाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २८॥

—★—

एकोनत्रिंशः सर्गः

श्रीरामका खरको फटकारना तथा खरका भी उन्हें कठोर उत्तर देकर उनके ऊपर गदाका प्रहार करना और श्रीरामद्वारा उस गदाका खण्डन

खरं तु विरथं रामो गदापाणिमवस्थितम्।
मृदुपूर्वं महातेजाः परुषं वाक्यमब्रवीत्॥ १॥

खरको रथहीन होकर गदा हाथमें लिये सामने उपस्थित देख महातेजस्वी भगवान् श्रीराम पहले कोमल और फिर कठोर वाणीमें बोले—॥ १॥

गजाश्वरथसम्बाधे बले महति तिष्ठता।
कृतं ते दारुणं कर्म सर्वलोकजुगुप्सितम्॥ २॥
उद्वेजनीयो भूतानां नृशंसः पापकर्मकृत्।
त्रयाणामपि लोकानामीश्वरोऽपि न तिष्ठति॥ ३॥
कर्म लोकविरुद्धं तु कुर्वाणं क्षणदाचर।
तीक्ष्णं सर्वजनो हन्ति सर्पं दुष्टमिवागतम्॥ ४॥

'निशाचर! हाथी, घोड़े और रथोंसे भरी हुई विशाल सेनाके बीचमें खड़े रहकर (असंख्य राक्षसोंके स्वामित्वका अभिमान लेकर) तूने सदा जो क्रूरतापूर्ण कर्म किया है, उसकी समस्त लोकोंद्वारा निन्दा हुई है। जो समस्त प्राणियोंको उद्वेगमें डालनेवाला, क्रूर और पापाचारी है, वह तीनों लोकोंका ईश्वर हो तो भी अधिक कालतक टिक नहीं सकता। जो लोकविरोधी कठोर कर्म करनेवाला है, उसे सब लोग सामने आये हुए दुष्ट सर्पकी भाँति मारते हैं॥ २—४॥

लोभात् पापानि कुर्वाणः कामाद् वायो न बुध्यते।
हृष्टः पश्यति तस्यान्तं ब्राह्मणी करकादिव॥ ५॥

'जो वस्तु प्राप्त नहीं हुई है, उसकी इच्छाको 'काम' कहते हैं और प्राप्त हुई वस्तुको अधिक-से-अधिक संख्यामें पानेकी इच्छाका नाम 'लोभ' है। जो काम अथवा लोभसे प्रेरित हो पाप करता है और उसके (विनाशकारी) परिणामको नहीं समझता है, उलटे उस पापमें हर्षका अनुभव करता है, वह उसी प्रकार अपना विनाशरूप परिणाम देखता है जैसे वर्षाके साथ गिरे हुए ओलेको खाकर ब्राह्मणी (रक्तपुच्छिका) नामवाली कीड़ी अपना विनाश देखती है *॥ ५॥

वसतो दण्डकारण्ये तापसान् धर्मचारिणः।
किं नु हत्वा महाभागान् फलं प्राप्स्यसि राक्षस॥ ६॥

'राक्षस! दण्डकारण्यमें निवास करनेवाले तपस्यामें संलग्न धर्मपरायण महाभाग मुनियोंकी हत्या करके न जाने तू कौन-सा फल पायेगा?॥ ६॥

* लाल पूँछवाली एक कीड़ी होती है, जो ओला खा लेनेपर मर जाती है। वह उसके लिये विषका काम करता है—यह बात लोकमें प्रसिद्ध है।

न चिरं पापकर्माणः क्रूरा लोकजुगुप्सिताः।
ऐश्वर्यं प्राप्य तिष्ठन्ति शीर्णमूला इव द्रुमाः॥ ७॥

'जिनकी जड़ खोखली हो गयी हो, वे वृक्ष जैसे अधिक कालतक नहीं खड़े रह सकते, उसी प्रकार पापकर्म करनेवाले लोकनिन्दित क्रूर पुरुष (किसी पूर्वपुण्यके प्रभावसे) ऐश्वर्यको पाकर भी चिरकालतक उसमें प्रतिष्ठित नहीं रह पाते (उससे भ्रष्ट हो ही जाते हैं)॥ ७॥

अवश्यं लभते कर्ता फलं पापस्य कर्मणः।
घोरं पर्यागते काले द्रुमः पुष्पमिवार्तवम्॥ ८॥

'जैसे समय आनेपर वृक्षमें ऋतुके अनुसार फूल लगते ही हैं, उसी प्रकार पापकर्म करनेवाले पुरुषको समयानुसार अपने उस पापकर्मका भयंकर फल अवश्य ही प्राप्त होता है॥ ८॥

नचिरात् प्राप्यते लोके पापानां कर्मणां फलम्।
सविषाणामिवान्नानां भुक्तानां क्षणदाचर॥ ९॥

'निशाचर! जैसे खाये हुए विषमिश्रित अन्नका परिणाम तुरंत ही भोगना पड़ता है, उसी प्रकार लोकमें किये गये पापकर्मोंका फल शीघ्र ही प्राप्त होता है॥ ९॥

पापमाचरतां घोरं लोकस्याप्रियमिच्छताम्।
अहमासादितो राज्ञा प्राणान् हन्तुं निशाचर॥ १०॥

'राक्षस! जो संसारका बुरा चाहते हुए घोर पापकर्ममें लगे हुए हैं, उन्हें प्राणदण्ड देनेके लिये मेरे पिता महाराज दशरथने मुझे यहाँ वनमें भेजा है॥ १०॥

अद्य भित्त्वा मया मुक्ताः शराः काञ्चनभूषणाः।
विदार्यातिपतिष्यन्ति वल्मीकमिव पन्नगाः॥ ११॥

'आज मेरे छोड़े हुए सुवर्णभूषित बाण जैसे सर्प बाँबीको छेदकर निकलते हैं, उसी प्रकार तेरे शरीरको फाड़कर पृथ्वीको भी विदीर्ण करके पातालमें जाकर गिरेंगे॥

ये त्वया दण्डकारण्ये भक्षिता धर्मचारिणः।
तानद्य निहतः संख्ये ससैन्योऽनुगमिष्यसि॥ १२॥

'तूने दण्डकारण्यमें जिन धर्मपरायण ऋषियोंका भक्षण किया है, आज युद्धमें मारा जाकर सेनासहित तू भी उन्हींका अनुसरण करेगा॥ १२॥

अद्य त्वां निहतं बाणैः पश्यन्तु परमर्षयः।
निरयस्थं विमानस्था ये त्वया निहताः पुरा॥ १३॥

'पहले तूने जिनका वध किया है, वे महर्षि विमानपर बैठकर आज तुझे मेरे बाणोंसे मारा गया और नरकतुल्य कष्ट भोगता हुआ देखें॥ १३॥

प्रहरस्व यथाकामं कुरु यत्नं कुलाधम।
अद्य ते पातयिष्यामि शिरस्तालफलं यथा॥ १४॥

'कुलाधम! तेरी जितनी इच्छा हो, प्रहार कर। जितना सम्भव हो, मुझे परास्त करनेका प्रयत्न कर, किंतु आज मैं तेरे मस्तकको ताड़के फलकी भाँति अवश्य काट गिराऊँगा'॥ १४॥

एवमुक्तस्तु रामेण क्रुद्धः संरक्तलोचनः।
प्रत्युवाच ततो रामं प्रहसन् क्रोधमूर्च्छितः॥ १५॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर खर कुपित हो उठा। उसकी आँखें लाल हो गयीं। वह क्रोधसे अचेत-सा होकर हँसता हुआ श्रीरामको इस प्रकार उत्तर देने लगा—॥ १५॥

प्राकृतान् राक्षसान् हत्वा युद्धे दशरथात्मज।
आत्मना कथमात्मानमप्रशस्यं प्रशंससि॥ १६॥

'दशरथकुमार! तुम साधारण राक्षसोंको युद्धमें मारकर स्वयं ही अपनी इतनी प्रशंसा कैसे कर रहे हो? तुम प्रशंसाके योग्य कदापि नहीं हो॥ १६॥

विक्रान्ता बलवन्तो वा ये भवन्ति नरर्षभाः।
कथयन्ति न ते किंचित् तेजसा चातिगर्विताः॥ १७॥

'जो श्रेष्ठ पुरुष पराक्रमी अथवा बलवान् होते हैं, वे अपने प्रतापके कारण अधिक घमंडमें भरकर कोई बात नहीं कहते हैं (अपने विषयमें मौन ही रहते हैं)॥ १७॥

प्राकृतास्त्वकृतात्मानो लोके क्षत्रियपांसनाः।
निरर्थकं विकत्थन्ते यथा राम विकत्थसे॥ १८॥

'राम! जो क्षुद्र, अजितात्मा और क्षत्रियकुलकलंक होते हैं, वे ही संसारमें अपनी बड़ाईके लिये व्यर्थ डींग हाँका करते हैं; जैसे इस समय तुम (अपने विषयमें) बढ़-बढ़कर बातें बना रहे हो॥ १८॥

कुलं व्यपदिशन् वीरः समरे कोऽभिधास्यति।
मृत्युकाले तु सम्प्राप्ते स्वयमप्रस्तवे स्तवम्॥ १९॥

'जब कि मृत्युके समान युद्धका अवसर उपस्थित है, ऐसे समयमें बिना किसी प्रस्तावके ही समराङ्गणमें कौन वीर अपनी कुलीनता प्रकट करता हुआ आप ही अपनी स्तुति करेगा?॥ १९॥

सर्वथा तु लघुत्वं ते कत्थनेन विदर्शितम्।
सुवर्णप्रतिरूपेण तप्तेनेव कुशाग्निना॥ २०॥

'जैसे पीतल सुवर्णशोधक आगमें तपाये जानेपर अपनी लघुता (कालेपन) को ही व्यक्त करता है, उसी प्रकार अपनी झूठी प्रशंसाके द्वारा तुमने सर्वथा अपने ओछेपनका ही परिचय दिया है॥ २०॥

न तु मामिह तिष्ठन्तं पश्यसि त्वं गदाधरम्।
धराधरमिवाकम्प्यं पर्वतं धातुभिश्चितम्॥ २१॥

'क्या तुम नहीं देखते कि मैं नाना प्रकारके धातुओंकी खानोंसे युक्त तथा पृथ्वीको धारण करनेवाले अविचल कुलपर्वतके समान यहाँ स्थिरभावसे तुम्हारे सामने गदा लेकर खड़ा हूँ॥

पर्याप्तोऽहं गदापाणिर्हन्तुं प्राणान् रणे तव।
त्रयाणामपि लोकानां पाशहस्त इवान्तकः॥ २२॥

'मैं अकेला ही पाशधारी यमराजकी भाँति गदा हाथमें लेकर रणभूमिमें तुम्हारे और तीनों लोकोंके भी प्राण लेनेकी शक्ति रखता हूँ॥ २२॥

कामं बह्वपि वक्तव्यं त्वयि वक्ष्यामि न त्वहम्।
अस्तं प्राप्नोति सविता युद्धविघ्नस्ततो भवेत्॥ २३॥

यद्यपि तुम्हारे विषयमें मैं इच्छानुसार बहुत कुछ कह सकता हूँ तथापि इस समय कुछ नहीं कहूँगा; क्योंकि सूर्यदेव अस्ताचलको जा रहे हैं, अतः युद्धमें विघ्न पड़ जायगा॥ २३॥

चतुर्दश सहस्राणि राक्षसानां हतानि ते।
त्वद्विनाशात् करोम्यद्य तेषामश्रुप्रमार्जनम्॥ २४॥

'तुमने चौदह हजार राक्षसोंका संहार किया है, अतः आज तुम्हारा भी विनाश करके मैं उन सबके आँसू पोछूँगा—उनकी मौतका बदला चुकाऊँगा'॥ २४॥

इत्युक्त्वा परमक्रुद्धः स गदां परमाङ्गदाम्।
खरश्चिक्षेप रामाय प्रदीप्तामशनिं यथा॥ २५॥

ऐसा कहकर अत्यन्त क्रोधसे भरे हुए खरने उत्तम वलय (कड़े) से विभूषित तथा प्रज्वलित वज्रके समान भयंकर गदाको श्रीरामचन्द्रजीके ऊपर चलाया॥ २५॥

खरबाहुप्रमुक्ता सा प्रदीप्ता महती गदा।
भस्म वृक्षांश्च गुल्मांश्च कृत्वागात् तत्समीपतः॥ २६॥

खरके हाथोंसे छूटी हुई वह दीप्तिमान् विशाल गदा वृक्षों और लताओंको भस्म करके उनके समीप जा पहुँची॥ २६॥

तामापतन्तीं महतीं मृत्युपाशोपमां गदाम्।
अन्तरिक्षगतां रामश्चिच्छेद बहुधा शरैः॥ २७॥

मृत्युके पाशकी भाँति उस विशाल गदाको अपने ऊपर आती देख श्रीरामचन्द्रजीने अनेक बाण मारकर आकाशमें ही उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले॥ २७॥

सा विशीर्णा शरैर्भिन्ना पपात धरणीतले।
गदा मन्त्रौषधिबलैर्व्यालीव विनिपातिता॥ २८॥

बाणोंसे विदीर्ण एवं चूर-चूर होकर वह गदा पृथ्वीपर गिर पड़ी, मानो कोई सर्पिणी मन्त्र और ओषधियोंके बलसे गिरायी गयी हो॥ २८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकोनत्रिंशः सर्गः॥ २९॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें उनतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २९॥

—★—

त्रिंशः सर्गः

श्रीरामके व्यङ्ग करनेपर खरका उन्हें फटकारकर उनके ऊपर सालवृक्षका प्रहार करना, श्रीरामका उस वृक्षको काटकर एक तेजस्वी बाणसे खरको मार गिराना तथा देवताओं और महर्षियोंद्वारा श्रीरामकी प्रशंसा

भित्त्वा तु तां गदां बाणै राघवो धर्मवत्सलः।
स्मयमान इदं वाक्यं संरब्धमिदमब्रवीत्॥ १॥

धर्मप्रेमी भगवान् श्रीरामने अपने बाणोंद्वारा खरकी उस गदाको विदीर्ण करके मुसकराते हुए यह रोषसूचक बात कही—॥ १॥

एतत् ते बलसर्वस्वं दर्शितं राक्षसाधम।
शक्तिहीनतरो मत्तो वृथा त्वमुपगर्जसि॥ २॥

'राक्षसाधम! यही तेरा सारा बल है, जिसे तूने इस गदाके साथ दिखाया है। अब सिद्ध हो गया कि तू मुझसे अत्यन्त शक्तिहीन है, व्यर्थ ही अपने बलकी डींग हाँक रहा था॥ २॥

एषा बाणविनिर्भिन्ना गदा भूमितलं गता।
अभिधानप्रगल्भस्य तव प्रत्ययघातिनी॥ ३॥

'मेरे बाणोंसे छिन्न-भिन्न होकर तेरी यह गदा पृथ्वीपर पड़ी हुई है। तेरे मनमें जो यह विश्वास था कि मैं इस गदासे शत्रुका वध कर डालूँगा, इसका खण्डन तेरी इस गदाने ही कर दिया। अब यह स्पष्ट हो गया कि तू केवल बातें बनानेमें ढीठ है (तुझसे कोई पराक्रम नहीं हो सकता)॥ ३॥

यत् त्वयोक्तं विनष्टानामिदमश्रुप्रमार्जनम्।
राक्षसानां करोमीति मिथ्या तदपि ते वचः॥ ४॥

'तूने जो यह कहा था कि मैं तुम्हारा वध करके तुम्हारे हाथसे मारे गये राक्षसोंका अभी आँसू पोछूँगा, तेरी वह बात भी झूठी हो गयी॥ ४॥

नीचस्य क्षुद्रशीलस्य मिथ्यावृत्तस्य रक्षसः।
प्राणानपहरिष्यामि गरुत्मानमृतं यथा॥ ५॥

'तू नीच, क्षुद्रस्वभावसे युक्त और मिथ्याचारी राक्षस है। मैं तेरे प्राणोंको उसी प्रकार हर लूँगा, जैसे गरुड़ने देवताओंके यहाँसे अमृतका अपहरण किया था॥ ५॥

अद्य ते भिन्नकण्ठस्य फेनबुद्बुदभूषितम्।
विदारितस्य मद्बाणैर्मही पास्यति शोणितम्॥ ६॥

'अब मैं अपने बाणोंसे तेरे शरीरको विदीर्ण करके तेरा गला भी काट डालूँगा। फिर यह पृथ्वी फेन और बुदबुदोंसे युक्त तेरे गरम-गरम रक्तका पान करेगी॥ ६॥

पांसुरूषितसर्वाङ्गः स्रस्तन्यस्तभुजद्वयः।
स्वप्स्यसे गां समाश्लिष्य दुर्लभां प्रमदामिव॥ ७॥

'तेरे सारे अङ्ग धूलसे धूसर हो जायँगे, तेरी दोनों भुजाएँ शरीरसे अलग होकर पृथ्वीपर गिर जायँगी और उस दशामें तू दुर्लभ युवतीके समान इस पृथ्वीका आलिङ्गन करके सदाके लिये सो जायगा॥ ७॥

प्रवृद्धनिद्रे शयिते त्वयि राक्षसपांसने।
भविष्यन्ति शरण्यानां शरण्या दण्डका इमे॥ ८॥

'तेरे-जैसे राक्षसकुलकलङ्कके सदाके लिये महानिद्रामें सो जानेपर ये दण्डकवनके प्रदेश शरणार्थियोंको शरण देनेवाले हो जायँगे ॥ ८ ॥

जनस्थाने हतस्थाने तव राक्षस मच्छरैः।
निर्भया विचरिष्यन्ति सर्वतो मुनयो वने ॥ ९ ॥

'राक्षस! मेरे बाणोंसे जनस्थानमें बने हुए तेरे निवासस्थानके नष्ट हो जानेपर मुनिगण इस वनमें सब ओर निर्भय विचर सकेंगे ॥ ९ ॥

अद्य विप्रसरिष्यन्ति राक्षस्यो हतबान्धवाः।
बाष्पार्द्रवदना दीना भयादन्यभयावहाः ॥ १० ॥

'जो अबतक दूसरोंको भय देती थीं, वे राक्षसियाँ आज अपने बान्धवजनोंके मारे जानेसे दीन हो आँसुओंसे भीगे मुँह लिये जनस्थानसे स्वयं ही भयके कारण भाग जायँगी ॥ १० ॥

अद्य शोकरसज्ञास्ता भविष्यन्ति निरर्थिकाः।
अनुरूपकुलाः पत्न्यो यासां त्वं पतिरीदृशः ॥ ११ ॥

'जिनका तुझ-जैसा दुराचारी पति है, वे तदनुरूप कुलवाली तेरी पत्नियाँ आज तेरे मारे जानेपर काम आदि पुरुषार्थोंसे वञ्चित हो शोकरूपी स्थायी भाववाले करुणरसका अनुभव करनेवाली होंगी ॥ ११ ॥

नृशंसशील क्षुद्रात्मन् नित्यं ब्राह्मणकण्टक।
त्वत्कृते शङ्कितैरग्नौ मुनिभिः पात्यते हविः ॥ १२ ॥

'क्रूरस्वभाववाले निशाचर! तेरा हृदय सदा ही क्षुद्र विचारोंसे भरा रहता है। तू ब्राह्मणोंके लिये कण्टकरूप है तेरे ही कारण मुनिलोग शङ्कित रहकर ही अग्निमें हविष्यकी आहुतियाँ डालते हैं' ॥ १२ ॥

तमेवमभिसंरब्धं ब्रुवाणं राघवं वने।
खरो निर्भर्त्सयामास रोषात् खरतरस्वरः ॥ १३ ॥

वनमें श्रीरामचन्द्रजी जब इस प्रकार रोषपूर्ण बातें कह रहे थे, उस समय क्रोधके कारण खरका भी स्वर अत्यन्त कठोर हो गया और उसने उन्हें फटकारते हुए कहा— ॥ १३ ॥

दृढं खल्ववलिप्तोऽसि भयेष्वपि च निर्भयः।
वाच्यावाच्यं ततो हि त्वं मृत्योर्वश्यो न बुध्यसे ॥ १४ ॥

'अहो! निश्चय ही तुम बड़े घमंडी हो, भयके अवसरोंपर भी निर्भय बने हुए हो। जान पड़ता है कि तुम मृत्युके अधीन हो गये हो, इस कारणसे ही तुम्हें यह भी पता नहीं है कि कब क्या कहना चाहिये और क्या नहीं कहना चाहिये? ॥ १४ ॥

कालपाशपरिक्षिप्ता भवन्ति पुरुषा हि ये।
कार्याकार्यं न जानन्ति ते निरस्तषडिन्द्रियाः ॥ १५ ॥

'जो पुरुष कालके फन्देमें फँस जाते हैं, उनकी छहों इन्द्रियाँ बेकाम हो जाती हैं; इसीलिये उन्हें कर्तव्य और अकर्तव्यका ज्ञान नहीं रह जाता है' ॥ १५ ॥

एवमुक्त्वा ततो रामं संरुध्य भृकुटिं ततः।
स ददर्श महासालमविदूरे निशाचरः ॥ १६ ॥
रणे प्रहरणस्यार्थे सर्वतो ह्यवलोकयन्।
स तमुत्पाटयामास संदष्टदशनच्छदम् ॥ १७ ॥

ऐसा कहकर उस निशाचरने एक बार श्रीरामकी ओर भौंहें टेढ़ी करके देखा और रणभूमिमें उनपर प्रहार करनेके लिये वह चारों ओर दृष्टिपात करने लगा। इतनेमें ही उसे एक विशाल सालूका वृक्ष दिखायी दिया, जो निकट ही था। खरने अपने होठोंको दाँतोंसे दबाकर उस वृक्षको उखाड़ लिया ॥ १६-१७ ॥

तं समुत्क्षिप्य बाहुभ्यां विनर्दित्वा महाबलः।
राममुद्दिश्य चिक्षेप हतस्त्वमिति चाब्रवीत् ॥ १८ ॥

फिर उस महाबली निशाचरने विकट गर्जना करके दोनों हाथोंसे उस वृक्षको उठा लिया और श्रीरामपर दे मारा। साथ ही यह भी कहा—'लो, अब तुम मारे गये' ॥ १८ ॥

तमापतन्तं बाणौघैश्छित्त्वा रामः प्रतापवान्।
रोषमाहारयत् तीव्रं निहन्तुं समरे खरम् ॥ १९ ॥

परमप्रतापी भगवान् श्रीरामने अपने ऊपर आते हुए उस वृक्षको बाण-समूहोंसे काट गिराया और उस समरभूमिमें खरको मार डालनेके लिये अत्यन्त क्रोध प्रकट किया ॥

जातस्वेदस्ततो रामो रोषरक्तान्तलोचनः।
निर्बिभेद सहस्रेण बाणानां समरे खरम् ॥ २० ॥

उस समय श्रीरामके शरीरमें पसीना आ गया। उनके नेत्रप्रान्त रोषसे रक्तवर्णके हो गये। उन्होंने सहस्रों बाणोंका प्रहार करके समराङ्गणमें खरको क्षत-विक्षत कर दिया ॥

तस्य बाणान्तराद् रक्तं बहु सुस्राव फेनिलम्।
गिरेः प्रस्रवणस्येव धाराणां च परिस्रवः ॥ २१ ॥

उनके बाणोंके आघातसे उस निशाचरके शरीरमें जो घाव हुए थे, उनसे अधिक मात्रामें फेनयुक्त रक्त प्रवाहित होने लगा, मानो पर्वतके झरनेसे जलकी धाराएँ गिर रही हों ॥ २१ ॥

विकलः स कृतो बाणैः खरो रामेण संयुगे।
मत्तो रुधिरगन्धेन तमेवाभ्यद्रवद् द्रुतम् ॥ २२ ॥

श्रीरामने युद्धस्थलमें अपने बाणोंकी मारसे खरको व्याकुल कर दिया; तो भी (उसका साहस कम नहीं हुआ।) वह खूनकी गन्धसे उन्मत्त होकर बड़े वेगसे श्रीरामकी ओर ही दौड़ा ॥ २२ ॥

तमापतन्तं संक्रुद्धं कृतास्त्रो रुधिराप्लुतम्।
अपासर्पद् द्वित्रिपदं किंचित्त्वरितविक्रमः ॥ २३ ॥

अस्त्र-विद्याके ज्ञाता भगवान् श्रीरामने देखा कि यह राक्षस खूनसे लथपथ होनेपर भी अत्यन्त क्रोधपूर्वक मेरी ही ओर बढ़ा आ रहा है तो वे तुरंत चरणोंका संचालन करके

दो-तीन पग पीछे हट गये (क्योंकि बहुत निकट होनेपर बाण चलाना सम्भव नहीं हो सकता था) ॥ २३ ॥

ततः पावकसंकाशं वधाय समरे शरम्।
खरस्य रामो जग्राह ब्रह्मदण्डमिवापरम् ॥ २४ ॥

तदनन्तर श्रीरामने समराङ्गणमें खरका वध करनेके लिये एक अग्निके समान तेजस्वी बाण हाथमें लिया, जो दूसरे ब्रह्मदण्डके समान भयंकर था ॥ २४ ॥

स तद् दत्तं मघवता सुरराजेन धीमता।
संदधे च स धर्मात्मा मुमोच च खरं प्रति ॥ २५ ॥

वह बाण बुद्धिमान् देवराज इन्द्रका दिया हुआ था। धर्मात्मा श्रीरामने उसे धनुषपर रखा और खरको लक्ष्य करके छोड़ दिया ॥ २५ ॥

स विमुक्तो महाबाणो निर्घातसमनिःस्वनः।
रामेण धनुरायम्य खरस्योरसि चापतत् ॥ २६ ॥

उस महाबाणके छूटते ही वज्रपातके समान भयानक शब्द हुआ। श्रीरामने अपने धनुषको कानतक खींचकर उसे छोड़ा था। वह खरकी छातीमें जा लगा ॥ २६ ॥

स पपात खरो भूमौ दह्यमानः शराग्निना।
रुद्रेणेव विनिर्दग्धः श्वेतारण्ये यथान्धकः ॥ २७ ॥

जैसे श्वेतवनमें भगवान् रुद्रने अन्धकासुरको जलाकर भस्म किया था, उसी प्रकार दण्डकवनमें श्रीरामके उस बाणकी आगमें जलता हुआ निशाचर खर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २७ ॥

स वृत्र इव वज्रेण फेनेन नमुचिर्यथा।
बलो वेन्द्राशनिहतो निपपात हतः खरः ॥ २८ ॥

जैसे वज्रसे वृत्रासुर, फेनसे नमुचि और इन्द्रकी अशनिसे बलासुर मारा गया था, उसी प्रकार श्रीरामके उस बाणसे आहत होकर खर धराशायी हो गया ॥ २८ ॥

एतस्मिन्नन्तरे देवाश्चारणैः सह संगताः।
दुन्दुभींश्चाभिनिघ्नन्तः पुष्पवर्षं समन्ततः ॥ २९ ॥
रामस्योपरि संहृष्टा ववर्षुर्विस्मितास्तदा।
अर्धाधिकमुहूर्तेन रामेण निशितैः शरैः ॥ ३० ॥
चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां कामरूपिणाम्।
खरदूषणमुख्यानां निहतानि महामृधे ॥ ३१ ॥

इसी समय देवता चारणोंके साथ मिलकर आये और हर्षमें भरकर दुन्दुभि बजाते हुए वहाँ श्रीरामके ऊपर चारों ओरसे फूलोंकी वर्षा करने लगे। उस समय उन्हें यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ था कि श्रीरामने अपने पैने बाणोंसे डेढ़ मुहूर्तमें ही इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले खर-दूषण आदि चौदह हजार राक्षसोंका इस महासमरमें संहार कर डाला ॥ २९—३१ ॥

अहो बत महत्कर्म रामस्य विदितात्मनः।
अहो वीर्यमहो दार्ढ्यं विष्णोरिव हि दृश्यते ॥ ३२ ॥

वे बोले—'अहो! अपने स्वरूपको जाननेवाले भगवान् श्रीरामका यह कर्म महान् और अद्भुत है, इनका बल-पराक्रम भी अद्भुत है और इनमें भगवान् विष्णुकी भाँति आश्चर्यजनक दृढ़ता दिखायी देती है' ॥ ३२ ॥

इत्येवमुक्त्वा ते सर्वे ययुर्देवा यथागतम्।
ततो राजर्षयः सर्वे संगताः परमर्षयः ॥ ३३ ॥
सभाज्य मुदिता रामं सागस्त्या इदमब्रुवन्।

ऐसा कहकर वे सब देवता जैसे आये थे, वैसे ही चले गये। तदनन्तर बहुत-से राजर्षि और अगस्त्य आदि महर्षि मिलकर वहाँ आये तथा प्रसन्नतापूर्वक श्रीरामका सत्कार करके उनसे इस प्रकार बोले— ॥ ३३½ ॥

एतदर्थं महातेजा महेन्द्रः पाकशासनः ॥ ३४ ॥
शरभङ्गाश्रमं पुण्यमाजगाम पुरंदरः।
आनीतस्त्वमिमं देशमुपायेन महर्षिभिः ॥ ३५ ॥

'रघुनन्दन! इसीलिये महातेजस्वी पाकशासन पुरंदर इन्द्र शरभङ्ग मुनिके पवित्र आश्रमपर आये थे और इसी कार्यकी सिद्धिके लिये महर्षियोंने विशेष उपाय करके आपको पञ्चवटीके इस प्रदेशमें पहुँचाया था ॥ ३४-३५ ॥

एषां वधार्थं शत्रूणां रक्षसां पापकर्मणाम्।
तदिदं नः कृतं कार्यं त्वया दशरथात्मज ॥ ३६ ॥
स्वधर्मं प्रचरिष्यन्ति दण्डकेषु महर्षयः।

'मुनियोंके शत्रुरूप इन पापाचारी राक्षसोंके वधके लिये ही आपका यहाँ शुभागमन आवश्यक समझा गया था। दशरथनन्दन! आपने हमलोगोंका यह बहुत बड़ा कार्य सिद्ध कर दिया। अब बड़े-बड़े ऋषि-मुनि दण्डकारण्यके विभिन्न प्रदेशोंमें निर्भय होकर अपने धर्मका अनुष्ठान करेंगे' ॥ ३६½ ॥

एतस्मिन्नन्तरे वीरो लक्ष्मणः सह सीतया।
गिरिदुर्गाद् विनिष्क्रम्य संविवेशाश्रमे सुखी ॥ ३७ ॥

इसी बीचमें वीर लक्ष्मण भी सीताके साथ पर्वतकी कन्दरासे निकलकर प्रसन्नतापूर्वक आश्रममें आ गये ॥ ३७½ ॥

ततो रामस्तु विजयी पूज्यमानो महर्षिभिः ॥ ३८ ॥
प्रविवेशाश्रमं वीरो लक्ष्मणेनाभिपूजितः।

तत्पश्चात् महर्षियोंसे प्रशंसित और लक्ष्मणसे पूजित विजयी वीर श्रीरामने आश्रममें प्रवेश किया ॥ ३८½ ॥

तं दृष्ट्वा शत्रुहन्तारं महर्षीणां सुखावहम् ॥ ३९ ॥
बभूव हृष्टा वैदेही भर्तारं परिषस्वजे।
मुदा परमया युक्ता दृष्ट्वा रक्षोगणान् हतान्।
रामं चैवाव्ययं दृष्ट्वा तुतोष जनकात्मजा ॥ ४० ॥

महर्षियोंको सुख देनेवाले अपने शत्रुहन्ता पतिका दर्शन करके विदेहराजनन्दिनी सीताको बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने परमानन्दमें निमग्न होकर अपने स्वामीका आलिङ्गन किया। राक्षस-समूह मारे गये और श्रीरामको कोई क्षति नहीं पहुँची—

यह देख और जानकर जानकीजीको बहुत संतोष हुआ ॥

ततस्तु तं राक्षससङ्घमर्दनं
सम्पूज्यमानं मुदितैर्महात्मभिः ।
पुनः परिष्वज्य मुदान्वितानना
बभूव हृष्टा जनकात्मजा तदा ॥ ४१ ॥

प्रसन्नतासे भरे हुए महात्मा मुनि जिनकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे थे तथा जिन्होंने राक्षसोंके समुदायको कुचल डाला था, उन प्राणवल्लभ, श्रीरामका बारम्बार आलिङ्गन करके उस समय जनकनन्दिनी सीताको बड़ा हर्ष हुआ। उनका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे त्रिंशः सर्गः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशः सर्गः

रावणका अकम्पनकी सलाहसे सीताका अपहरण करनेके लिये जाना और मारीचके कहनेसे लङ्काको लौट आना

**त्वरमाणस्ततो गत्वा जनस्थानादकम्पनः ।
प्रविश्य लङ्कां वेगेन रावणं वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥**

तदनन्तर जनस्थानसे अकम्पन नामक राक्षस बड़ी उतावलीके साथ लङ्काकी ओर गया और शीघ्र ही उस पुरीमें प्रवेश करके रावणसे इस प्रकार बोला— ॥ १ ॥

**जनस्थानस्थिता राजन् राक्षसा बहवो हताः ।
खरश्च निहतः संख्ये कथंचिदहमागतः ॥ २ ॥**

'राजन्! जनस्थानमें जो बहुत-से राक्षस रहते थे, वे मार डाले गये। खर युद्धमें मारा गया। मैं किसी तरह जान बचाकर यहाँ आया हूँ' ॥ २ ॥

**एवमुक्तो दशग्रीवः क्रुद्धः संरक्तलोचनः ।
अकम्पनमुवाचेदं निर्दहन्निव तेजसा ॥ ३ ॥**

अकम्पनके ऐसा कहते ही दशमुख रावण क्रोधसे जल उठा और लाल आँखें करके उससे इस तरह बोला, मानो उसे अपने तेजसे जलाकर भस्म कर डालेगा ॥ ३ ॥

**केन भीमं जनस्थानं हतं मम परासुना ।
को हि सर्वेषु लोकेषु गतिं नाधिगमिष्यति ॥ ४ ॥**

वह बोला—'कौन मौतके मुखमें जाना चाहता है, जिसने मेरे भयंकर जनस्थानका विनाश किया है? कौन वह दुःसाहसी है, जिसे समस्त लोकोंमें कहीं भी ठौर-ठिकाना नहीं मिलनेवाला है? ॥ ४ ॥

**न हि मे विप्रियं कृत्वा शक्यं मघवता सुखम् ।
प्राप्तुं वैश्रवणेनापि न यमेन च विष्णुना ॥ ५ ॥**

'मेरा अपराध करके इन्द्र, यम, कुबेर और विष्णु भी चैनसे नहीं रह सकेंगे ॥ ५ ॥

**कालस्य चाप्यहं कालो दहेयमपि पावकम् ।
मृत्युं मरणधर्मेण संयोजयितुमुत्सहे ॥ ६ ॥**

'मैं कालका भी काल हूँ, आगको भी जला सकता हूँ तथा मौतको भी मृत्युके मुखमें डाल सकता हूँ ॥ ६ ॥

**वातस्य तरसा वेगं निहन्तुमपि चोत्सहे ।
दहेयमपि संक्रुद्धस्तेजसाऽऽदित्यपावकौ ॥ ७ ॥**

'यदि मैं क्रोधमें भर जाऊँ तो अपने वेगसे वायुकी गतिको भी रोक सकता हूँ तथा अपने तेजसे सूर्य और अग्निको भी जलाकर भस्म कर सकता हूँ' ॥ ७ ॥

**तथा क्रुद्धं दशग्रीवं कृताञ्जलिरकम्पनः ।
भयात् संदिग्धया वाचा रावणं याचतेऽभयम् ॥ ८ ॥**

रावणको इस प्रकार क्रोधसे भरा देख भयके मारे अकम्पनकी बोलती बंद हो गयी। उसने हाथ जोड़कर संशययुक्त वाणीमें रावणसे अभयकी याचना की ॥ ८ ॥

**दशग्रीवोऽभयं तस्मै प्रददौ रक्षसां वरः ।
स विस्रब्धोऽब्रवीद् वाक्यमसंदिग्धमकम्पनः ॥ ९ ॥**

तब राक्षसोंमें श्रेष्ठ दशग्रीवने उसे अभयदान दिया। इससे अकम्पनको अपने प्राण बचनेका विश्वास हुआ और वह संशयरहित होकर बोला— ॥ ९ ॥

**पुत्रो दशरथस्यास्ते सिंहसंहननो युवा ।
रामो नाम महास्कन्धो वृत्तायतमहाभुजः ॥ १० ॥
श्यामः पृथुयशाः श्रीमानतुल्यबलविक्रमः ।
हतस्तेन जनस्थाने खरश्च सहदूषणः ॥ ११ ॥**

'राक्षसराज! राजा दशरथके नवयुवक पुत्र श्रीराम पञ्चवटीमें रहते हैं। उनके शरीरकी गठन सिंहके समान है, कंधे मोटे और भुजाएँ गोल तथा लम्बी हैं, शरीरका रंग साँवला है। वे बड़े यशस्वी और तेजस्वी दिखायी देते हैं। उनके बल और पराक्रमकी कहीं तुलना नहीं है। उन्होंने जनस्थानमें रहनेवाले खर और दूषण आदिका वध किया है' ॥ १०-११ ॥

**अकम्पनवचः श्रुत्वा रावणो राक्षसाधिपः ।
नागेन्द्र इव निःश्वस्य इदं वचनमब्रवीत् ॥ १२ ॥**

अकम्पनकी यह बात सुनकर राक्षसराज रावणने नागराज (महान् सर्प) की भाँति लम्बी साँस खींचकर इस प्रकार कहा— ॥ १२ ॥

**स सुरेन्द्रेण संयुक्तो रामः सर्वामरैः सह ।
उपयातो जनस्थानं ब्रूहि कच्चिदकम्पन ॥ १३ ॥**

अकम्पन ! बताओ तो सही क्या राम सम्पूर्ण देवताओं तथा देवराज इन्द्रके साथ जनस्थानमें आये हैं?' ॥ १३ ॥

रावणस्य पुनर्वाक्यं निशम्य तदकम्पनः ।
आचचक्षे बलं तस्य विक्रमं च महात्मनः ॥ १४ ॥

रावणका यह प्रश्न सुनकर अकम्पनने महात्मा श्रीरामके बल और पराक्रमका पुनः इस प्रकार वर्णन किया— ॥

रामो नाम महातेजाः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ।
दिव्यास्त्रगुणसम्पन्नः परं धर्मं गतो युधि ॥ १५ ॥

'लङ्केश्वर ! जिनका नाम राम है, वे संसारके समस्त धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ और अत्यन्त तेजस्वी हैं। दिव्यास्त्रोंके प्रयोगका जो गुण है, उससे भी वे पूर्णतः सम्पन्न हैं। युद्धकी कलामें तो वे पराकाष्ठाको पहुँचे हुए हैं ॥ १५ ॥

तस्यानुरूपो बलवान् रक्ताक्षो दुन्दुभिस्वनः ।
कनीयाँल्लक्ष्मणो भ्राता राकाशशिनिभाननः ॥ १६ ॥

'श्रीरामके साथ उनके छोटे भाई लक्ष्मण भी हैं, जो उन्हींके समान बलवान् हैं। उनका मुख पूर्णिमाके चन्द्रमाकी भाँति मनोहर है। उनकी आँखें कुछ-कुछ लाल हैं और स्वर दुन्दुभिके समान गम्भीर है ॥ १६ ॥

स तेन सह संयुक्तः पावकेनानिलो यथा ।
श्रीमान् राजवरस्तेन जनस्थानं निपातितम् ॥ १७ ॥

'जैसे अग्निके साथ वायु हों, उसी प्रकार अपने भाईके साथ संयुक्त हुए राजाधिराज श्रीमान् राम बड़े प्रबल हैं। उन्होंने ही जनस्थानको उजाड़ डाला है ॥ १७ ॥

नैव देवा महात्मानो नात्र कार्या विचारणा ।
शरा रामेण तूत्सृष्टा रुक्मपुङ्खाः पतत्रिणः ॥ १८ ॥
सर्पाः पञ्चानना भूत्वा भक्षयन्ति स्म राक्षसान् ।

'उनके साथ न कोई देवता हैं, न महात्मा मुनि। इस विषयमें आप कोई विचार न करें। श्रीरामके छोड़े हुए सोनेकी पाँखवाले बाण पाँच मुखवाले सर्प बनकर राक्षसोंको खा जाते थे ॥ १८½ ॥

येन येन च गच्छन्ति राक्षसा भयकर्षिताः ॥ १९ ॥
तेन तेन स्म पश्यन्ति राममेवाग्रतः स्थितम् ।
इत्थं विनाशितं तेन जनस्थानं तवानघ ॥ २० ॥

'भयसे कातर हुए राक्षस जिस-जिस मार्गसे भागते थे, वहाँ-वहाँ वे श्रीरामको ही अपने सामने खड़ा देखते थे। अनघ ! इस प्रकार अकेले श्रीरामने ही आपके जनस्थानका विनाश किया है' ॥ १९-२० ॥

अकम्पनवचः श्रुत्वा रावणो वाक्यमब्रवीत् ।
गमिष्यामि जनस्थानं रामं हन्तुं सलक्ष्मणम् ॥ २१ ॥

अकम्पनकी यह बात सुनकर रावणने कहा—'मैं अभी लक्ष्मणसहित रामका वध करनेके लिये जनस्थानको जाऊँगा' ॥

अथैवमुक्ते वचने प्रोवाचेदमकम्पनः ।
शृणु राजन् यथावृत्तं रामस्य बलपौरुषम् ॥ २२ ॥

उसके ऐसा कहनेपर अकम्पन बोला—'राजन् ! श्रीरामका बल और पुरुषार्थ जैसा है, उसका यथावत् वर्णन मुझसे सुनिये ॥ २२ ॥

असाध्यः कुपितो रामो विक्रमेण महायशाः ।
आपगायास्तु पूर्णाया वेगं परिहरेच्छरैः ॥ २३ ॥
सताराग्रहनक्षत्रं नभश्चाप्यवसादयेत् ।

'महायशस्वी श्रीराम यदि कुपित हो जायँ तो उन्हें अपने पराक्रमके द्वारा कोई भी काबूमें नहीं कर सकता। वे अपने बाणोंसे भरी हुई नदीके वेगको भी पलट सकते हैं तथा तारा, ग्रह और नक्षत्रोंसहित सम्पूर्ण आकाशमण्डलको पीड़ा दे सकते हैं ॥ २३½ ॥

असौ रामस्तु सीदन्तीं श्रीमानभ्युद्धरेन्महीम् ॥ २४ ॥
भित्त्वा वेलां समुद्रस्य लोकानाप्लावयेद् विभुः ।
वेगं वापि समुद्रस्य वायुं वा विधमेच्छरैः ॥ २५ ॥

'वे श्रीमान् भगवान् राम समुद्रमें डूबती हुई पृथ्वीको ऊपर उठा सकते हैं, महासागरकी मर्यादाका भेदन करके समस्त लोकोंको उसके जलसे आप्लावित कर सकते हैं तथा अपने बाणोंसे समुद्रके वेग अथवा वायुको भी नष्ट कर सकते हैं ॥ २४-२५ ॥

संहृत्य वा पुनर्लोकान् विक्रमेण महायशाः ।
शक्तः श्रेष्ठः स पुरुषः स्रष्टुं पुनरपि प्रजाः ॥ २६ ॥

'वे महायशस्वी पुरुषोत्तम अपने पराक्रमसे सम्पूर्ण लोकोंका संहार करके पुनः नये सिरेसे प्रजाकी सृष्टि करनेमें समर्थ हैं ॥

नहि रामो दशग्रीव शक्यो जेतुं रणे त्वया ।
रक्षसां वापि लोकेन स्वर्गः पापजनैरिव ॥ २७ ॥

'दशग्रीव ! जैसे पापी पुरुष स्वर्गपर अधिकार नहीं प्राप्त कर सकते, उसी प्रकार आप अथवा समस्त राक्षस-जगत् भी युद्धमें श्रीरामको नहीं जीत सकते ॥ २७ ॥

न तं वध्यमहं मन्ये सर्वैर्देवासुरैरपि ।
अयं तस्य वधोपायस्तन्ममैकमनाः शृणु ॥ २८ ॥

'मेरी समझमें सम्पूर्ण देवता और असुर मिलकर भी उनका वध नहीं कर सकते। उनके वधका यह एक उपाय मुझे सूझा है, उसे आप मेरे मुखसे एकचित्त होकर सुनिये ॥

भार्या तस्योत्तमा लोके सीता नाम सुमध्यमा ।
श्यामा समविभक्ताङ्गी स्त्रीरत्नं रत्नभूषिता ॥ २९ ॥

'श्रीरामकी पत्नी सीता संसारकी सर्वोत्तम सुन्दरी है। उसने यौवनके मध्यमें पदार्पण किया है। उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुन्दर और सुडौल हैं। वह रत्नमय आभूषणोंसे विभूषित रहती है। सीता सम्पूर्ण स्त्रियोंमें एक रत्न है ॥ २९ ॥

नैव देवी न गन्धर्वी नाप्सरा न च पन्नगी ।
तुल्या सीमन्तिनी तस्या मानुषी तु कुतो भवेत् ॥ ३० ॥

'देवकन्या, गन्धर्वकन्या, अप्सरा अथवा नागकन्या कोई भी रूपमें उसकी समानता नहीं कर सकती, फिर मनुष्य-

जातिकी दूसरी कोई नारी उसके समान कैसे हो सकती है॥

तस्यापहर भार्यां त्वं तं प्रमथ्य महावने।
सीतया रहितो रामो न चैव हि भविष्यति॥ ३१॥

'उस विशाल वनमें जिस किसी भी उपायसे श्रीरामको धोखेमें डालकर आप उनकी पत्नीका अपहरण कर लें। सीतासे बिछुड़ जानेपर श्रीराम कदापि जीवित नहीं रहेंगे'॥ ३१॥

अरोचयत तद्वाक्यं रावणो राक्षसाधिपः।
चिन्तयित्वा महाबाहुरकम्पनमुवाच ह॥ ३२॥

राक्षसराज रावणको अकम्पनकी वह बात पसंद आ गयी। उस महाबाहु दशग्रीवने कुछ सोचकर अकम्पनसे कहा—॥

बाढं कल्यं गमिष्यामि ह्येकः सारथिना सह।
आनेष्यामि च वैदेहीमिमां हृष्टो महापुरीम्॥ ३३॥

'ठीक है, कल प्रातःकाल सारथिके साथ मैं अकेला ही जाऊँगा और विदेहकुमारी सीताको प्रसन्नतापूर्वक इस महापुरीमें ले आऊँगा'॥ ३३॥

तदेवमुक्त्वा प्रययौ खरयुक्तेन रावणः।
रथेनादित्यवर्णेन दिशः सर्वाः प्रकाशयन्॥ ३४॥

ऐसा कहकर रावण गधोंसे जुते हुए सूर्यतुल्य तेजस्वी रथपर आरूढ़ हो सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित करता हुआ वहाँसे चला॥ ३४॥

स रथो राक्षसेन्द्रस्य नक्षत्रपथगो महान्।
चञ्चूर्यमाणः शुशुभे जलदे चन्द्रमा इव॥ ३५॥

नक्षत्रोंके मार्गपर विचरता हुआ राक्षसराजका वह विशाल रथ बादलोंकी आड़में प्रकाशित होनेवाले चन्द्रमाके समान शोभा पा रहा था॥ ३५॥

स दूरे चाश्रमं गत्वा ताटकेयमुपागमत्।
मारीचेनार्चितो राजा भक्ष्यभोज्यैरमानुषैः॥ ३६॥

कुछ दूरपर स्थित एक आश्रममें जाकर वह ताटकापुत्र मारीचसे मिला। मारीचने अलौकिक भक्ष्य-भोज्य अर्पित करके राजा रावणका स्वागत-सत्कार किया॥ ३६॥

तं स्वयं पूजयित्वा तु आसनेनोदकेन च।
अर्थोपहितया वाचा मारीचो वाक्यमब्रवीत्॥ ३७॥

आसन और जल आदिके द्वारा स्वयं ही उसका पूजन करके मारीचने अर्थयुक्त वाणीमें पूछा—॥ ३७॥

कच्चित् सकुशलं राजँल्लोकानां राक्षसाधिप।
आशङ्के नाधिजाने त्वं यतस्तूर्णमुपागतः॥ ३८॥

'राक्षसराज! तुम्हारे राज्यमें लोगोंकी कुशल तो है न? तुम बड़ी उतावलीके साथ आ रहे हो, इसलिये मेरे मनमें कुछ खटका हुआ है। मैं समझता हूँ, तुम्हारे यहाँका अच्छा हाल नहीं है'॥ ३८॥

एवमुक्तो महातेजा मारीचेन स रावणः।
ततः पश्चादिदं वाक्यमब्रवीद् वाक्यकोविदः॥ ३९॥

मारीचके इस प्रकार पूछनेपर बातचीतकी कलाको जाननेवाले महातेजस्वी रावणने इस प्रकार कहा—॥ ३९॥

आरक्षो मे हतस्तात रामेणाक्लिष्टकारिणा।
जनस्थानमवध्यं तत् सर्वं युधि निपातितम्॥ ४०॥

'तात! अनायास ही महान् पराक्रम दिखानेवाले श्रीरामने मेरे राज्यकी सीमाके रक्षक खर-दूषण आदिको मार डाला है तथा जो जनस्थान अवध्य समझा जाता था, वहाँके सारे राक्षसोंको उन्होंने युद्धमें मार गिराया है॥ ४०॥

तस्य मे कुरु साचिव्यं तस्य भार्यापहारणे।
राक्षसेन्द्रवचः श्रुत्वा मारीचो वाक्यमब्रवीत्॥ ४१॥

'अतः इसका बदला लेनेके लिये मैं उनकी स्त्रीका अपहरण करना चाहता हूँ। इस कार्यमें तुम मेरी सहायता करो।' राक्षसराज रावणका यह वचन सुनकर मारीच बोला—॥ ४१॥

आख्याता केन वा सीता मित्ररूपेण शत्रुणा।
त्वया राक्षसशार्दूल को न नन्दति नन्दितः॥ ४२॥

'निशाचरशिरोमणे! मित्रके रूपमें तुम्हारा वह कौन-सा ऐसा शत्रु है, जिसने तुम्हें सीताको हर लेनेकी सलाह दी है? कौन ऐसा पुरुष है, जो तुमसे सुख और आदर पाकर भी प्रसन्न नहीं है, अतः तुम्हारी बुराई करना चाहता है?॥

सीतामिहानयस्वेति को ब्रवीति ब्रवीहि मे।
रक्षोलोकस्य सर्वस्य कः शृङ्गं छेत्तुमिच्छति॥ ४३॥

'कौन कहता है कि तुम सीताको यहाँ हर ले आओ? मुझे उसका नाम बताओ। वह कौन है, जो समस्त राक्षस-जगत्‌का सींग काट लेना चाहता है?॥ ४३॥

प्रोत्साहयति यश्च त्वां स च शत्रुरसंशयम्।
आशीविषमुखाद् दंष्ट्रामुद्धर्तुं चेच्छति त्वया॥ ४४॥

'जो इस कार्यमें तुम्हें प्रोत्साहन दे रहा है, वह तुम्हारा शत्रु है, इसमें संशय नहीं है। वह तुम्हारे हाथों विषधर सर्पके मुखसे उसके दाँत उखड़वाना चाहता है॥ ४४॥

कर्मणानेन केनासि कापथं प्रतिपादितः।
सुखसुप्तस्य ते राजन् प्रहृतं केन मूर्धनि॥ ४५॥

'राजन्! किसने तुम्हें ऐसी खोटी सलाह देकर कुमार्गपर पहुँचाया है? किसने सुखपूर्वक सोते समय तुम्हारे मस्तकपर लात मारी है॥ ४५॥

विशुद्धवंशाभिजनाग्रहस्त-
तेजोमदः संस्थितदोर्विषाणः।
उदीक्षितुं रावण नेह युक्तः
स संयुगे राघवगन्धहस्ती॥ ४६॥

'रावण! राघवेन्द्र श्रीराम वह गन्धयुक्त गजराज हैं, जिसकी गन्ध सूँघकर ही गजरूपी योद्धा दूर भाग जाते हैं। विशुद्ध कुलमें जन्म ग्रहण करना ही उस राघवरूपी गजराजका शुण्डदण्ड है, प्रताप ही मद है और सुडौल बाँहें ही दोनों दाँत हैं। युद्धस्थलमें उनकी ओर देखना भी तुम्हारे

लिये उचित नहीं है; फिर जूझनेकी तो बात ही क्या है ॥ ४६ ॥

असौ रणान्तःस्थितिसंधिवालो
विदग्धरक्षोमृगहा नृसिंहः ।
सुप्तस्त्वया बोधयितुं न शक्यः
शराङ्गपूर्णो निशितासिदंष्ट्रः ॥ ४७ ॥

'वे श्रीराम मनुष्यके रूपमें एक सिंह हैं। रणभूमिके भीतर स्थित होना ही उनके अङ्गोंकी संधियाँ तथा बाल हैं। वह सिंह चतुर राक्षसरूपी मृगोंका वध करनेवाला है, बाणरूपी अङ्गोंसे परिपूर्ण है तथा तलवारें ही उसकी तीखी दाढ़ें हैं। उस सोते हुए सिंहको तुम नहीं जगा सकते ॥ ४७ ॥

चापापहारे भुजवेगपङ्के
शरोर्मिमाले सुमहाहवौघे ।
न रामपातालमुखेऽतिघोरे
प्रस्कन्दितुं राक्षसराज युक्तम् ॥ ४८ ॥

'राक्षसराज ! श्रीराम एक पातालतलव्यापी महासागर हैं, धनुष ही उस समुद्रके भीतर रहनेवाला ग्राह है, भुजाओंका वेग ही कीचड़ है, बाण ही तरंगमालाएँ हैं और महान् युद्ध ही उसकी अगाध जलराशि है। उसके अत्यन्त भयंकर मुख अर्थात् बड़वानलमें कूद पड़ना तुम्हारे लिये कदापि उचित नहीं है ॥ ४८ ॥

प्रसीद लङ्केश्वर राक्षसेन्द्र
लङ्कां प्रसन्नो भव साधु गच्छ ।
त्वं स्वेषु दारेषु रमस्व नित्यं
रामः सभार्यो रमतां वनेषु ॥ ४९ ॥

'लंकेश्वर ! प्रसन्न होओ। राक्षसराज ! सानन्द रहो और सकुशल लंकाको लौट जाओ। तुम सदा पुरीमें अपनी स्त्रियोंके साथ रमण करो और राम अपनी पत्नीके साथ वनमें विहार करें' ॥ ४९ ॥

एवमुक्तो दशग्रीवो मारीचेन स रावणः ।
न्यवर्तत पुरीं लङ्कां विवेश च गृहोत्तमम् ॥ ५० ॥

मारीचके ऐसा कहनेपर दशमुख रावण लंकाको लौटा और अपने सुन्दर महलमें चला गया ॥ ५० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकत्रिंशः सर्गः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें एकतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशः सर्गः

शूर्पणखाका लंकामें रावणके पास जाना

ततः शूर्पणखा दृष्ट्वा सहस्राणि चतुर्दश ।
हतान्येकेन रामेण रक्षसां भीमकर्मणाम् ॥ १ ॥
दूषणं च खरं चैव हतं त्रिशिरसं रणे ।
दृष्ट्वा पुनर्महानादान् ननाद जलदोपमा ॥ २ ॥

उधर शूर्पणखाने जब देखा कि श्रीरामने भयंकर कर्म करनेवाले चौदह हजार राक्षसोंको अकेले ही मार गिराया तथा युद्धके मैदानमें दूषण, खर और त्रिशिराको भी मौतके घाट उतार दिया, तब वह शोकके कारण मेघ-गर्जनाके समान पुनः बड़े जोर-जोरसे घोर चीत्कार करने लगी ॥ १-२ ॥

सा दृष्ट्वा कर्म रामस्य कृतमन्यैः सुदुष्करम् ।
जगाम परमोद्विग्ना लङ्कां रावणपालिताम् ॥ ३ ॥

श्रीरामने वह कर्म कर दिखाया, जो दूसरोंके लिये अत्यन्त दुष्कर है; यह अपनी आँखों देखकर वह अत्यन्त उद्विग्न हो उठी और रावणद्वारा सुरक्षित लंकापुरीको गयी ॥ ३ ॥

सा ददर्श विमानाग्रे रावणं दीप्ततेजसम् ।
उपोपविष्टं सचिवैर्मरुद्भिरिव वासवम् ॥ ४ ॥

वहाँ पहुँचकर उसने देखा, रावण पुष्पक विमान (या सातमहले मकान) के ऊपरी भागमें बैठा हुआ है। उसका राजोचित तेज उद्दीप्त हो रहा है तथा मरुद्गणोंसे घिरे हुए इन्द्रकी भाँति वह आसपास बैठे हुए मन्त्रियोंसे घिरा है ॥ ४ ॥

आसीनं सूर्यसंकाशे काञ्चने परमासने ।
रुक्मवेदिगतं प्राज्यं ज्वलन्तमिव पावकम् ॥ ५ ॥

रावण जिस उत्तम सुवर्णमय सिंहासनपर विराजमान था, वह सूर्यके समान जगमगा रहा था। जैसे सोनेकी ईंटोंसे बनी हुई वेदीपर स्थापित अग्निदेव घीकी अधिक आहुति पाकर प्रज्वलित हो उठे हों, उसी प्रकार उस स्वर्णसिंहासनपर रावण शोभा पा रहा था ॥ ५ ॥

देवगन्धर्वभूतानामृषीणां च महात्मनाम् ।
अजेयं समरे घोरं व्यात्ताननमिवान्तकम् ॥ ६ ॥
देवासुरविमर्देषु वज्राशनिकृतव्रणम् ।
ऐरावतविषाणाग्रैरुत्कृष्टकिणवक्षसम् ॥ ७ ॥

देवता, गन्धर्व, भूत और महात्मा ऋषि भी उसे जीतनेमें असमर्थ थे। समरभूमिमें वह मुँह फैलाकर खड़े हुए यमराजकी भाँति भयानक जान पड़ता था। देवताओं और असुरोंके संग्रामके अवसरोंपर उसके शरीरमें वज्र और अशनिके जो घाव हुए थे, उनके चिह्न अबतक विद्यमान थे। उसकी छातीमें ऐरावत हाथीने जो अपने दाँत गड़ाये थे, उसके निशान अब भी दिखायी देते थे ॥ ६-७ ॥

विंशद्भुजं दशग्रीवं दर्शनीयपरिच्छदम् ।
विशालवक्षसं वीरं राजलक्षणलक्षितम् ॥ ८ ॥
नद्धवैदूर्यसंकाशं तप्तकाञ्चनभूषणम् ।
सुभुजं शुक्लदशनं महास्यं पर्वतोपमम् ॥ ९ ॥

उसके बीस भुजाएँ और दस मस्तक थे। उसके छत्र, चँवर और आभूषण आदि उपकरण देखने ही योग्य थे। वक्षःस्थल विशाल था। वह वीर राजोचित लक्षणोंसे सम्पन्न दिखायी देता था। वह अपने शरीरमें जो वैदूर्यमणि (नीलम) का आभूषण पहने हुए था, उसके समान ही उसके शरीरकी कान्ति भी थी। उसने तपाये हुए सोनेके आभूषण भी पहन रखे थे। उसकी भुजाएँ सुन्दर, दाँत सफेद, मुँह बहुत बड़ा और शरीर पर्वतके समान विशाल था॥ ८-९॥

विष्णुचक्रनिपातैश्च शतशो देवसंयुगे।
अन्यैः शस्त्रैः प्रहारैश्च महायुद्धेषु ताडितम्॥ १०॥

देवताओंके साथ युद्ध करते समय उसके अङ्गोंपर सैकड़ों बार भगवान् विष्णुके चक्रका प्रहार हुआ था। बड़े-बड़े युद्धोंमें अन्यान्य अस्त्र-शस्त्रोंकी भी उसपर मार पड़ी थी (उन सबके चिह्न दृष्टिगोचर होते थे)॥ १०॥

अहताङ्गैः समस्तैस्तं देवप्रहरणैस्तदा।
अक्षोभ्याणां समुद्राणां क्षोभणं क्षिप्रकारिणम्॥ ११॥

देवताओंके समस्त आयुधोंके प्रहारोंसे भी जो खण्डित न हो सके थे, उन्हीं अङ्गोंसे वह अक्षोभ्य समुद्रोंमें भी क्षोभ (हलचल) पैदा कर देता था। वह सभी कार्य बड़ी शीघ्रतासे करता था॥ ११॥

क्षेप्तारं पर्वताग्राणां सुराणां च प्रमर्दनम्।
उच्छेत्तारं च धर्माणां परदाराभिमर्शनम्॥ १२॥

पर्वतशिखरोंको भी तोड़कर फेंक देता था, देवताओंको भी रौंद डालता था। धर्मकी तो वह जड़ ही काट देता था और परायी स्त्रियोंके सतीत्वका नाश करनेवाला था॥ १२॥

सर्वदिव्यास्त्रयोक्तारं यज्ञविघ्नकरं सदा।
पुरीं भोगवतीं गत्वा पराजित्य च वासुकिम्॥ १३॥
तक्षकस्य प्रियां भार्यां पराजित्य जहार यः।

वह सब प्रकारके दिव्यास्त्रोंका प्रयोग करनेवाला और सदा यज्ञोंमें विघ्न डालनेवाला था। एक समय पातालकी भोगवती पुरीमें जाकर नागराज वासुकिको परास्त करके तक्षकको भी हराकर उसकी प्यारी पत्नीको वह हर ले आया था॥ १३½॥

कैलासं पर्वतं गत्वा विजित्य नरवाहनम्॥ १४॥
विमानं पुष्पकं तस्य कामगं वै जहार यः।

इसी तरह कैलास पर्वतपर जाकर कुबेरको युद्धमें पराजित करके उसने उनके इच्छानुसार चलनेवाले पुष्पकविमानको अपने अधिकारमें कर लिया॥ १४½॥

वनं चैत्ररथं दिव्यं नलिनीं नन्दनं वनम्॥ १५॥
विनाशयति यः क्रोधाद् देवोद्यानानि वीर्यवान्।

वह पराक्रमी निशाचर क्रोधपूर्वक कुबेरके दिव्य चैत्ररथ वनको, सौगन्धिक कमलोंसे युक्त नलिनी नामवाली पुष्करिणीको, इन्द्रके नन्दनवनको तथा देवताओंके दूसरे-दूसरे उद्यानोंको नष्ट करता रहता था॥ १५½॥

चन्द्रसूर्यौ महाभागावुत्तिष्ठन्तौ परंतपौ॥ १६॥
निवारयति बाहुभ्यां यः शैलशिखरोपमः।

वह पर्वत-शिखरके समान आकार धारण करके शत्रुओंको संताप देनेवाले महाभाग चन्द्रमा और सूर्यको उनके उदय-कालमें अपने हाथोंसे रोक देता था॥ १६½॥

दशवर्षसहस्राणि तपस्तप्त्वा महावने॥ १७॥
पुरा स्वयंभुवे धीरः शिरांस्युपजहार यः।

उस धीर स्वभाववाले रावणने पूर्वकालमें एक विशाल वनके भीतर दस हजार वर्षोंतक घोर तपस्या करके ब्रह्माजीको अपने मस्तकोंकी बलि दे दी थी॥ १७½॥

देवदानवगन्धर्वपिशाचपतगोरगैः॥ १८॥
अभयं यस्य संग्रामे मृत्युतो मानुषादृते।

उसके प्रभावसे उसे देवता, दानव, गन्धर्व, पिशाच, पक्षी और सर्पोंसे भी संग्राममें अभय प्राप्त हो गया था। मनुष्यके सिवा और किसीके हाथसे उसे मृत्युका भय नहीं था॥ १८½॥

मन्त्रैरभिष्टुतं पुण्यमध्वरेषु द्विजातिभिः॥ १९॥
हविर्धानेषु यः सोममुपहन्ति महाबलः।

वह महाबली राक्षस सोमसवनकर्मविशिष्ट यज्ञोंमें द्विजातियोंद्वारा वेदमन्त्रोंके उच्चारणपूर्वक निकाले गये तथा वैदिक मन्त्रोंसे ही सुसंस्कृत एवं स्तुत हुए पवित्र सोमरसको वहाँ पहुँचकर नष्ट कर देता था॥ १९½॥

प्राप्तयज्ञहरं दुष्टं ब्रह्मघ्नं क्रूरकारिणम्॥ २०॥
कर्कशं निरनुक्रोशं प्रजानामहिते रतम्।

समाप्तिके निकट पहुँचे हुए यज्ञोंका विध्वंस करनेवाला वह दुष्ट निशाचर ब्राह्मणोंकी हत्या तथा दूसरे-दूसरे क्रूर कर्म करता था। वह बड़े ही रूखे स्वभावका और निर्दय था। सदा प्रजाजनोंके अहितमें ही लगा रहता था॥ २०½॥

रावणं सर्वभूतानां सर्वलोकभयावहम्॥ २१॥
राक्षसी भ्रातरं क्रूरं सा ददर्श महाबलम्।

समस्त लोकोंको भय देनेवाले और सम्पूर्ण प्राणियोंको रुलानेवाले अपने इस महाबली क्रूर भाईको राक्षसी शूर्पणखाने उस समय देखा॥ २१½॥

तं दिव्यवस्त्राभरणं दिव्यमाल्योपशोभितम्॥ २२॥
आसने सूपविष्टं तं काले कालमिवोद्यतम्।
राक्षसेन्द्रं महाभागं पौलस्त्यकुलनन्दनम्॥ २३॥

वह दिव्य वस्त्रों और आभूषणोंसे विभूषित था। दिव्य पुष्पोंकी मालाएँ उसकी शोभा बढ़ा रही थीं। सिंहासनपर बैठा हुआ राक्षसराज पुलस्त्यकुलनन्दन महाभाग दशग्रीव प्रलयकालमें संहारके लिये उद्यत हुए महाकालके समान जान पड़ता था॥ २२-२३॥

उपगम्याब्रवीद् वाक्यं राक्षसी भयविह्वला।
रावणं शत्रुहन्तारं मन्त्रिभिः परिवारितम्॥ २४॥

मन्त्रियोंसे घिरे हुए शत्रुहन्ता भाई रावणके पास जाकर भयसे विह्वल हुई वह राक्षसी कुछ कहनेको उद्यत हुई॥ २४॥

तमब्रवीद् दीप्तविशाललोचनं
प्रदर्शयित्वा भयलोभमोहिता।
सुदारुणं वाक्यमभीतचारिणी
महात्मना शूर्पणखा विरूपिता॥ २५॥

महात्मा लक्ष्मणने नाक-कान काटकर जिसे कुरूप कर दिया था तथा जो निर्भय विचरनेवाली थी, वह भय और लोभसे मोहित हुई शूर्पणखा बड़े-बड़े चमकीले नेत्रोंवाले अत्यन्त क्रूर रावणको अपनी दुर्दशा दिखाकर उससे बोली॥ २५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे द्वात्रिंशः सर्गः॥ ३२॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें बत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३२॥

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

शूर्पणखाका रावणको फटकारना

ततः शूर्पणखा दीना रावणं लोकरावणम्।
अमात्यमध्ये संक्रुद्धा परुषं वाक्यमब्रवीत्॥ १॥

उस समय शूर्पणखा श्रीरामसे तिरस्कृत होनेके कारण बहुत दुःखी थी। उसने मन्त्रियोंके बीचमें बैठे हुए समस्त लोकोंको रुलानेवाले रावणसे अत्यन्त कुपित होकर कठोर वाणीमें कहा—॥ १॥

प्रमत्तः कामभोगेषु स्वैरवृत्तो निरङ्कुशः।
समुत्पन्नं भयं घोरं बोद्धव्यं नावबुध्यसे॥ २॥

'राक्षसराज! तुम स्वेच्छाचारी और निरङ्कुश होकर विषय-भोगोंमें मतवाले हो रहे हो। तुम्हारे लिये घोर भय उत्पन्न हो गया है। तुम्हें इसकी जानकारी होनी चाहिये थी, किंतु तुम इसके विषयमें कुछ नहीं जानते हो॥ २॥

सक्तं ग्राम्येषु भोगेषु कामवृत्तं महीपतिम्।
लुब्धं न बहु मन्यन्ते श्मशानाग्निमिव प्रजाः॥ ३॥

'जो राजा निम्न श्रेणीके भोगोंमें आसक्त हो स्वेच्छाचारी और लोभी हो जाता है, उसे मरघट की आगके समान हेय मानकर प्रजा उसका अधिक आदर नहीं करती है॥ ३॥

स्वयं कार्याणि यः काले नानुतिष्ठति पार्थिवः।
स तु वै सह राज्येन तैश्च कार्यैर्विनश्यति॥ ४॥

'जो राजा ठीक समयपर स्वयं ही अपने कार्योंका सम्पादन नहीं करता है, वह राज्य और उन कार्योंके साथ ही नष्ट हो जाता है॥ ४॥

अयुक्तचारं दुर्दर्शमस्वाधीनं नराधिपम्।
वर्जयन्ति नरा दूरान्नदीपङ्कमिव द्विपाः॥ ५॥

'जो राज्यकी देख-भालके लिये गुप्तचरोंको नियुक्त नहीं करता है, प्रजाजनोंको जिसका दर्शन दुर्लभ हो जाता है और कामिनी आदि भोगोंमें आसक्त होनेके कारण अपनी स्वाधीनता खो बैठता है, ऐसे राजाको प्रजा दूरसे ही त्याग देती है। ठीक उसी तरह, जैसे हाथी नदीकी कीचड़से दूर ही रहते हैं॥ ५॥

ये न रक्षन्ति विषयमस्वाधीनं नराधिपाः।
ते न वृद्ध्या प्रकाशन्ते गिरयः सागरे यथा॥ ६॥

जो नरेश अपने राज्यके उस प्रान्तकी, जो अपनी ही असावधानीके कारण दूसरेके अधिकारमें चला गया हो, रक्षा नहीं करते—उसे पुनः अपने अधिकारमें नहीं लाते, वे समुद्रमें डूबे हुए पर्वतोंकी भाँति अपने अभ्युदयसे प्रकाशित नहीं होते हैं॥ ६॥

आत्मवद्भिर्विगृह्य त्वं देवगन्धर्वदानवैः।
अयुक्तचारश्चपलः कथं राजा भविष्यसि॥ ७॥

'जो अपने मनको काबूमें रखनेवाले एवं प्रयत्नशील हैं, उन देवताओं, गन्धर्वों तथा दानवोंके साथ विरोध करके तुमने अपने राज्यकी देखभालके लिये गुप्तचर नहीं नियुक्त किये हैं, ऐसी दशामें तुम-जैसा विषयलोलुप चपल पुरुष कैसे राजा बना रह सकेगा?॥ ७॥

त्वं तु बालस्वभावश्च बुद्धिहीनश्च राक्षस।
ज्ञातव्यं तन्न जानीषे कथं राजा भविष्यसि॥ ८॥

'राक्षस! तुम्हारा स्वभाव बालकों-जैसा है। तुम निरे बुद्धिहीन हो। तुम्हें जाननेयोग्य बातोंका भी ज्ञान नहीं है। ऐसी दशामें तुम किस तरह राजा बने रह सकोगे?॥ ८॥

येषां चाराश्च कोशश्च नयश्च जयतां वर।
अस्वाधीना नरेन्द्राणां प्राकृतैस्ते जनैः समाः॥ ९॥

'विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ निशाचरपते! जिन नरेशोंके गुप्तचर, कोष और नीति—ये सब अपने अधीन नहीं हैं, वे साधारण लोगोंके ही समान हैं॥ ९॥

यस्मात् पश्यन्ति दूरस्थान् सर्वानर्थान् नराधिपाः।
चारेण तस्मादुच्यन्ते राजानो दीर्घचक्षुषः॥ १०॥

'गुप्तचरोंकी सहायतासे राजालोग दूर-दूरके सारे कार्योंकी देखभाल करते-रहते हैं, इसीलिये वे दीर्घदर्शी या दूरदर्शी कहलाते हैं॥ १०॥

अयुक्तचारं मन्ये त्वां प्राकृतैः सचिवैर्युतः।
स्वजनं च जनस्थानं निहतं नावबुध्यसे॥ ११॥

'मैं समझती हूँ, तुम गवाँर मन्त्रियोंसे घिरे हुए हो, तभी तो तुमने अपने राज्यके भीतर गुप्तचर नहीं तैनात किये हैं।

तुम्हारे स्वजन मारे गये और जनस्थान उजाड़ हो गया, फिर भी तुम्हें इसका पता नहीं लगा है॥ ११॥

चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम्।
हतान्येकेन रामेण खरश्च सहदूषणः॥ १२॥
ऋषीणामभयं दत्तं कृतक्षेमाश्च दण्डकाः।
धर्षितं च जनस्थानं रामेणाक्लिष्टकारिणा॥ १३॥

'अकेले रामने, जो अनायास ही महान् कर्म करनेवाले हैं, भीमकर्मा राक्षसोंकी चौदह हजार सेनाको यमलोक पहुँचा दिया, खर और दूषणके भी प्राण ले लिये, ऋषियोंको भी अभयदान कर दिया तथा दण्डकारण्यमें राक्षसोंकी ओरसे जो विघ्न-बाधाएँ थीं, उन सबको दूर करके वहाँ शान्ति स्थापित कर दी। जनस्थानको तो उन्होंने चौपट ही कर डाला॥

त्वं तु लुब्धः प्रमत्तश्च पराधीनश्च राक्षस।
विषये स्वे समुत्पन्नं यद् भयं नावबुध्यसे॥ १४॥

'राक्षस! तुम तो लोभ और प्रमादमें फँसकर पराधीन हो रहे हो, अतः अपने ही राज्यमें उत्पन्न हुए भयका तुम्हें कुछ पता ही नहीं है॥ १४॥

तीक्ष्णमल्पप्रदातारं प्रमत्तं गर्वितं शठम्।
व्यसने सर्वभूतानि नाभिधावन्ति पार्थिवम्॥ १५॥

'जो राजा कठोरतापूर्ण बर्ताव करता अथवा तीखे स्वभावका परिचय देता है, सेवकोंको बहुत कम वेतन देता है, प्रमादमें पड़ा और गर्वमें भरा रहता है तथा स्वभावसे ही शठ होता है, उसके संकटमें पड़नेपर सभी प्राणी उसका साथ छोड़ देते हैं—उसकी सहायताके लिये आगे नहीं बढ़ते हैं॥ १५॥

अतिमानिनमग्राह्यमात्मसम्भावितं नरम्।
क्रोधनं व्यसने हन्ति स्वजनोऽपि नराधिपम्॥ १६॥

'जो अत्यन्त अभिमानी, अपनानेके अयोग्य, आप ही अपनेको बहुत बड़ा माननेवाला और क्रोधी होता है, ऐसे नर अथवा नरेशको संकटकालमें आत्मीय जन भी मार डालते हैं॥

नानुतिष्ठति कार्याणि भयेषु न बिभेति च।
क्षिप्रं राज्याच्च्युतो दीनस्तृणैस्तुल्यो भवेदिह॥ १७॥

'जो राजा अपने कर्तव्यका पालन अथवा करनेयोग्य कार्योंका सम्पादन नहीं करता तथा भयके अवसरोंपर भयभीत (एवं अपनी रक्षाके लिये सावधान) नहीं होता, वह शीघ्र ही राज्यसे भ्रष्ट एवं दीन होकर इस भूतलपर तिनकोंके समान उपेक्षणीय हो जाता है॥ १७॥

शुष्ककाष्ठैर्भवेत् कार्यं लोष्टैरपि च पांसुभिः।
न तु स्थानात् परिभ्रष्टैः कार्यं स्याद् वसुधाधिपैः॥ १८॥

'लोगोंको सूखे काठोंसे, मिट्टीके ढेलों तथा धूलसे भी कुछ प्रयोजन होता है, किंतु स्थानभ्रष्ट राजाओंसे उन्हें कोई प्रयोजन नहीं रहता॥ १८॥

उपभुक्तं यथा वासः स्रजो वा मृदिता यथा।
एवं राज्यात् परिभ्रष्टः समर्थोऽपि निरर्थकः॥ १९॥

'जैसे पहना हुआ वस्त्र और मसल डाली गयी फूलोंकी माला दूसरोंके उपयोगमें आनेयोग्य नहीं होती, इसी प्रकार राज्यसे भ्रष्ट हुआ राजा समर्थ होनेपर भी दूसरोंके लिये निरर्थक है॥ १९॥

अप्रमत्तश्च यो राजा सर्वज्ञो विजितेन्द्रियः।
कृतज्ञो धर्मशीलश्च स राजा तिष्ठते चिरम्॥ २०॥

'परंतु जो राजा सदा सावधान रहता, राज्यके समस्त कार्योंकी जानकारी रखता, इन्द्रियोंको वशमें किये रहता, कृतज्ञ (दूसरोंके उपकारको माननेवाला) तथा स्वभावसे ही धर्मपरायण होता है, वह राजा बहुत दिनोंतक राज्य करता है॥ २०॥

नयनाभ्यां प्रसुप्तो वा जागर्ति नयचक्षुषा।
व्यक्तक्रोधप्रसादश्च स राजा पूज्यते जनैः॥ २१॥

'जो स्थूल आँखोंसे तो सोता है, परंतु नीतिकी आँखोंसे सदा जागता रहता है तथा जिसके क्रोध और अनुग्रहका फल प्रत्यक्ष प्रकट होता है, उसी राजाकी लोग पूजा करते हैं॥ २१॥

त्वं तु रावण दुर्बुद्धिर्गुणैरेतैर्विवर्जितः।
यस्य तेऽविदितश्चारै रक्षसां सुमहान् वधः॥ २२॥

'रावण! तुम्हारी बुद्धि दूषित है और तुम इन सभी राजोचित गुणोंसे वञ्चित हो; क्योंकि तुम्हें अबतक गुप्तचरोंकी सहायतासे राक्षसोंके इस महान् संहारका समाचार ज्ञात नहीं हो सका था॥ २२॥

परावमन्ता विषयेषु सङ्गवान्
न देशकालप्रविभागतत्त्ववित्।
अयुक्तबुद्धिर्गुणदोषनिश्चये
विपन्नराज्यो न चिराद् विपत्स्यसे॥ २३॥

'तुम दूसरोंका अनादर करनेवाले, विषयासक्त और देश-कालके विभागको यथार्थरूपसे न जाननेवाले हो, तुमने गुण और दोषके विचार एवं निश्चयमें कभी अपनी बुद्धिको नहीं लगाया है, अतः तुम्हारा राज्य शीघ्र ही नष्ट हो जायगा और तुम स्वयं भी भारी विपत्तिमें पड़ जाओगे'॥ २३॥

इति स्वदोषान् परिकीर्तितांस्तथा
समीक्ष्य बुद्ध्या क्षणदाचरेश्वरः।
धनेन दर्पेण बलेन चान्वितो
विचिन्तयामास चिरं स रावणः॥ २४॥

शूर्पणखाके द्वारा कहे गये अपने दोषोंपर बुद्धिपूर्वक विचार करके धन, अभिमान और बलसे सम्पन्न वह निशाचर रावण बहुत देरतक सोच-विचार एवं चिन्तामें पड़ा रहा॥ २४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे त्रयस्त्रिंशः सर्गः॥ ३३॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें तैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३३॥

★

चतुस्त्रिंशः सर्गः

रावणके पूछनेपर शूर्पणखाका उससे राम, लक्ष्मण और सीताका परिचय देते हुए सीताको भार्या बनानेके लिये उसे प्रेरित करना

ततः शूर्पणखां दृष्ट्वा ब्रुवन्तीं परुषं वचः।
अमात्यमध्ये संक्रुद्धः परिपप्रच्छ रावणः॥ १॥

शूर्पणखाको इस प्रकार कठोर बातें कहती देख मन्त्रियोंके बीचमें बैठे हुए रावणने अत्यन्त कुपित होकर पूछा—॥ १॥

कश्च रामः कथंवीर्यः किंरूपः किंपराक्रमः।
किमर्थं दण्डकारण्यं प्रविष्टश्च सुदुस्तरम्॥ २॥

'राम कौन है? उसका बल कैसा है? रूप और पराक्रम कैसे हैं? अत्यन्त दुस्तर दण्डकारण्यमें उसने किस लिये प्रवेश किया है?॥ २॥

आयुधं किं च रामस्य येन ते राक्षसा हताः।
खरश्च निहतः संख्ये दूषणस्त्रिशिरास्तथा॥ ३॥

'रामके पास कौन-सा ऐसा अस्त्र है, जिससे वे सब राक्षस मारे गये तथा युद्धमें खर, दूषण और त्रिशिराका भी संहार हो गया॥ ३॥

तत्त्वं ब्रूहि मनोज्ञाङ्गि केन त्वं च विरूपिता।
इत्युक्ता राक्षसेन्द्रेण राक्षसी क्रोधमूर्च्छिता॥ ४॥

'मनोहर अङ्गोंवाली शूर्पणखे! ठीक-ठीक बताओ, किसने तुम्हें कुरूप बनाया है—किसने तुम्हारी नाक और कान काट डाले हैं?' राक्षसराज रावणके इस प्रकार पूछनेपर वह राक्षसी क्रोधसे अचेत-सी हो उठी॥ ४॥

ततो रामं यथान्यायमाख्यातुमुपचक्रमे।
दीर्घबाहुर्विशालाक्षश्चीरकृष्णाजिनाम्बरः॥ ५॥
कन्दर्पसमरूपश्च रामो दशरथात्मजः।

तदनन्तर उसने श्रीरामका यथावत् परिचय देना आरम्भ किया—'भैया! श्रीरामचन्द्र राजा दशरथके पुत्र हैं, उनकी भुजाएँ लंबी, आँखें बड़ी-बड़ी और रूप कामदेवके समान है। वे चीर और काला मृगचर्म धारण करते हैं॥ ५½॥

शक्रचापनिभं चापं विकृष्य कनकाङ्गदम्॥ ६॥
दीप्तान् क्षिपति नाराचान् सर्पानिव महाविषान्।

'श्रीराम इन्द्रधनुषके समान अपने विशाल धनुषको, जिसमें सोनेके छल्ले शोभा दे रहे हैं, खींचकर उसके द्वारा महाविषैले सर्पोंके समान तेजस्वी नाराचोंकी वर्षा करते हैं॥

नाददानं शरान् घोरान् विमुञ्चन्तं महाबलम्॥ ७॥
न कार्मुकं विकर्षन्तं रामं पश्यामि संयुगे।

'वे महाबली राम युद्धस्थलमें कब धनुष खींचते, कब भयंकर बाण हाथमें लेते और कब उन्हें छोड़ते हैं—यह मैं नहीं देख पाती थी॥ ७½॥

हन्यमानं तु तत्सैन्यं पश्यामि शरवृष्टिभिः॥ ८॥
इन्द्रेणेवोत्तमं सस्यमाहतं त्वश्मवृष्टिभिः।

'उनके बाणोंकी वर्षासे राक्षसोंकी सेना मर रही है—इतना ही मुझे दिखायी देता था। जैसे इन्द्र (मेघ) द्वारा बरसाये गये ओलोंकी वृष्टिसे अच्छी खेती चौपट हो जाती है, उसी प्रकार रामके बाणोंसे राक्षसोंका विनाश हो गया॥ ८½॥

रक्षसां भीमवीर्याणां सहस्राणि चतुर्दश॥ ९॥
निहतानि शरैस्तीक्ष्णैस्तेनैकेन पदातिना।
अर्धाधिकमुहूर्तेन खरश्च सहदूषणः॥ १०॥
ऋषीणामभयं दत्तं कृतक्षेमाश्च दण्डकाः॥ ११॥

'श्रीराम अकेले और पैदल थे, तो भी उन्होंने डेढ़ मुहूर्त (तीन घड़ी) के भीतर ही खर और दूषणसहित चौदह हजार भयंकर बलशाली राक्षसोंका तीखे बाणोंसे संहार कर डाला, ऋषियोंको अभय दे दिया और समस्त दण्डकवनको राक्षसोंकी विघ्नबाधासे रहित कर दिया॥ ९—११॥

एका कथंचिन्मुक्ताहं परिभूय महात्मना।
स्त्रीवधं शङ्कमानेन रामेण विदितात्मना॥ १२॥

'आत्मज्ञानी महात्मा श्रीरामने स्त्रीका वध हो जानेके भयसे एकमात्र मुझे किसी तरह केवल अपमानित करके ही छोड़ दिया॥ १२॥

भ्राता चास्य महातेजा गुणतस्तुल्यविक्रमः।
अनुरक्तश्च भक्तश्च लक्ष्मणो नाम वीर्यवान्॥ १३॥
अमर्षी दुर्जयो जेता विक्रान्तो बुद्धिमान् बली।
रामस्य दक्षिणो बाहुर्नित्यं प्राणो बहिश्चरः॥ १४॥

'उनका एक बड़ा ही तेजस्वी भाई है, जो गुण और पराक्रममें उन्हींके समान है। उसका नाम है लक्ष्मण। वह पराक्रमी वीर अपने बड़े भाईका प्रेमी और भक्त है, उसकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण है, वह अमर्षशील, दुर्जय, विजयी तथा बल-विक्रमसे सम्पन्न है। श्रीरामका वह मानो दाहिना हाथ और सदा बाहर विचरनेवाला प्राण है॥ १३-१४॥

रामस्य तु विशालाक्षी पूर्णेन्दुसदृशानना।
धर्मपत्नी प्रिया नित्यं भर्तुः प्रियहिते रता॥ १५॥

'श्रीरामकी धर्मपत्नी भी उनके साथ है। वह पतिको बहुत प्यारी है और सदा अपने स्वामीका प्रिय तथा हित करनेमें ही लगी रहती है। उसकी आँखें विशाल और मुख पूर्ण चन्द्रके समान मनोरम है॥ १५॥

सा सुकेशी सुनासोरुः सुरूपा च यशस्विनी।
देवतेव वनस्यास्य राजते श्रीरिवापरा॥ १६॥

'उसके केश, नासिका, ऊरु तथा रूप बड़े ही सुन्दर तथा मनोहर हैं। वह यशस्विनी राजकुमारी इस दण्डकवनकी

देवी-सी जान पड़ती है और दूसरी लक्ष्मीके समान शोभा पाती है ॥ १६ ॥

तप्तकाञ्चनवर्णाभा रक्ततुङ्गनखी शुभा।
सीता नाम वरारोहा वैदेही तनुमध्यमा ॥ १७ ॥

'उसका सुन्दर शरीर तपाये हुए सुवर्णकी कान्ति धारण करता है, नख ऊँचे तथा लाल हैं। वह शुभलक्षणोंसे सम्पन्न है। उसके सभी अङ्ग सुडौल हैं और कटिभाग सुन्दर तथा पतला है। वह विदेहराज जनककी कन्या है और सीता उसका नाम है ॥ १७ ॥

नैव देवी न गन्धर्वी न यक्षी न च किंनरी।
तथारूपा मया नारी दृष्टपूर्वा महीतले ॥ १८ ॥

'देवताओं, गन्धर्वों, यक्षों और किन्नरोंकी स्त्रियोंमें भी कोई उसके समान सुन्दरी नहीं है। इस भूतलपर वैसी रूपवती नारी मैंने पहले कभी नहीं देखी थी ॥ १८ ॥

यस्य सीता भवेद् भार्या यं च हृष्टा परिष्वजेत्।
अभिजीवेत् स सर्वेषु लोकेष्वपि पुरंदरात् ॥ १९ ॥

'सीता जिसकी भार्या हो और वह हर्षमें भरकर जिसका आलिङ्गन करे, समस्त लोकोंमें उसीका जीवन इन्द्रसे भी अधिक भाग्यशाली है ॥ १९ ॥

सा सुशीला वपुःश्लाघ्या रूपेणाप्रतिमा भुवि।
तवानुरूपा भार्या सा त्वं च तस्याः पतिर्वरः ॥ २० ॥

'उसका शील-स्वभाव बड़ा ही उत्तम है। उसका एक-एक अङ्ग स्तुत्य एवं स्पृहणीय है। उसके रूपकी समानता करनेवाली भूमण्डलमें दूसरी कोई स्त्री नहीं है। वह तुम्हारे योग्य भार्या होगी और तुम भी उसके योग्य श्रेष्ठ पति होओगे ॥ २० ॥

तां तु विस्तीर्णजघनां पीनोत्तुङ्गपयोधराम्।
भार्यार्थे तु तवानेतुमुद्यताहं वराननाम् ॥ २१ ॥
विरूपितास्मि क्रूरेण लक्ष्मणेन महाभुज।

'महाबाहो! विस्तृत जघन और उठे हुए पुष्ट कुचोंवाली उस सुमुखी स्त्रीको जब मैं तुम्हारी भार्या बनानेके लिये ले आनेको उद्यत हुई, तब क्रूर लक्ष्मणने मुझे इस तरह कुरूप कर दिया ॥ २१½ ॥

तां तु दृष्ट्वाद्य वैदेहीं पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ॥ २२ ॥
मन्मथस्य शराणां च त्वं विधेयो भविष्यसि।

'पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाली विदेहराजकुमारी सीताको देखते ही तुम कामदेवके बाणोंके लक्ष्य बन जाओगे ॥

यदि तस्यामभिप्रायो भार्यात्वे तव जायते।
शीघ्रमुद्ध्रियतां पादो जयार्थमिह दक्षिणः ॥ २३ ॥

'यदि तुम्हें सीताको अपनी भार्या बनानेकी इच्छा हो तो शीघ्र ही श्रीरामको जीतनेके लिये यहाँ अपना दाहिना पैर आगे बढ़ाओ ॥ २३ ॥

रोचते यदि ते वाक्यं ममैतद् राक्षसेश्वर।
क्रियतां निर्विशङ्केन वचनं मम रावण ॥ २४ ॥

'राक्षसराज रावण! यदि तुम्हें मेरी यह बात पसंद हो तो निःशङ्क होकर मेरे कथनानुसार कार्य करो ॥ २४ ॥

विज्ञायैषामशक्तिं च क्रियतां च महाबल।
सीता तवानवद्याङ्गी भार्यात्वे राक्षसेश्वर ॥ २५ ॥

'महाबली राक्षसेश्वर! इन राम आदिकी असमर्थता और अपनी शक्तिका विचार करके सर्वाङ्गसुन्दरी सीताको अपनी भार्या बनानेका प्रयत्न करो (उसे हर लाओ) ॥ २५ ॥

निशम्य रामेण शरैरजिह्मगै-
र्हताञ्जनस्थानगतान् निशाचरान्।
खरं च दृष्ट्वा निहतं च दूषणं
त्वमद्य कृत्यं प्रतिपत्तुमर्हसि ॥ २६ ॥

'श्रीरामने अपने सीधे जानेवाले बाणोंद्वारा जनस्थाननिवासी निशाचरोंको मार डाला और खर तथा दूषणको भी मौतके घाट उतार दिया, यह सब सुनकर और देखकर अब तुम्हारा क्या कर्तव्य है, इसका निश्चय तुम्हें कर लेना चाहिये' ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें चौंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशः सर्गः

रावणका समुद्रतटवर्ती प्रान्तकी शोभा देखते हुए पुनः मारीचके पास जाना

ततः शूर्पणखावाक्यं तच्छ्रुत्वा रोमहर्षणम्।
सचिवानभ्यनुज्ञाय कार्यं बुद्ध्वा जगाम ह ॥ १ ॥

शूर्पणखाकी ये रोंगटे खड़े कर देनेवाली बातें सुनकर रावण मन्त्रियोंसे सलाह ले अपने कर्तव्यका निश्चय करके वहाँसे चल दिया ॥ १ ॥

तत् कार्यमनुगम्याथ यथावदुपलभ्य च।
दोषाणां च गुणानां च सम्प्रधार्य बलाबलम् ॥ २ ॥
इति कर्तव्यमित्येव कृत्वा निश्चयमात्मनः।
स्थिरबुद्धिस्ततो रम्यां यानशालां जगाम ह ॥ ३ ॥

उसने पहले सीताहरणरूपी कार्यपर मन-ही-मन विचार किया। फिर उसके दोषों और गुणोंका यथावत् ज्ञान प्राप्त करके बलाबलका निश्चय किया। अन्तमें यह स्थिर किया कि इस कामको करना ही चाहिये। जब इस बातपर उसकी बुद्धि जम गयी, तब वह रमणीय रथशालामें गया ॥ २-३ ॥

यानशालां ततो गत्वा प्रच्छन्नं राक्षसाधिपः ।
सूतं संचोदयामास रथः संयुज्यतामिति ॥ ४ ॥

गुप्तरूपसे रथशालामें जाकर राक्षसराज रावणने अपने सारथिको यह आज्ञा दी कि 'मेरा रथ जोतकर तैयार करो' ॥

एवमुक्तः क्षणेनैव सारथिर्लघुविक्रमः ।
रथं संयोजयामास तस्याभिमतमुत्तमम् ॥ ५ ॥

सारथि शीघ्रतापूर्वक कार्य करनेमें कुशल था। रावणकी उपर्युक्त आज्ञा पाकर उसने एक ही क्षणमें उसके मनके अनुकूल उत्तम रथ जोतकर तैयार कर दिया ॥ ५ ॥

कामगं रथमास्थाय काञ्चनं रत्नभूषितम् ।
पिशाचवदनैर्युक्तं खरैः कनकभूषणैः ॥ ६ ॥

वह रथ इच्छानुसार चलनेवाला तथा सुवर्णमय था। उसे रत्नोंसे विभूषित किया गया था। उसमें सोनेके साज-बाजोंसे सजे हुए गधे जुते थे, जिनका मुख पिशाचोंके समान था। रावण उसपर आरूढ़ होकर चला ॥ ६ ॥

मेघप्रतिमनादेन स तेन धनदानुजः ।
राक्षसाधिपतिः श्रीमान् ययौ नदनदीपतिम् ॥ ७ ॥

वह रथ मेघ-गर्जनाके समान गम्भीर घर-घर ध्वनि फैलाता हुआ चलता था। उसके द्वारा वह कुबेरका छोटा भाई श्रीमान् राक्षसराज रावण समुद्रके तटपर गया ॥ ७ ॥

स श्वेतवालव्यजनः श्वेतच्छत्रो दशाननः ।
स्निग्धवैदूर्यसंकाशस्तप्तकाञ्चनभूषणः ॥ ८ ॥
दशग्रीवो विंशतिभुजो दर्शनीयपरिच्छदः ।
त्रिदशारिर्मुनीन्द्रघ्नो दशशीर्ष इवाद्रिराट् ॥ ९ ॥

उस समय उसके लिये सफेद चँवरसे हवा की जा रही थी। सिरके ऊपर श्वेत छत्र तना हुआ था। उसकी अङ्गकान्ति स्निग्ध वैदूर्यमणिके समान नीली या काली थी। वह पक्के सोनेके आभूषणोंसे विभूषित था। उसके दस मुख, दस कण्ठ और बीस भुजाएँ थीं। उसके वस्त्राभूषण आदि अन्य उपकरण भी देखने ही योग्य थे। देवताओंका शत्रु और मुनीश्वरोंका हत्यारा वह निशाचर दस शिखरोंवाले पर्वतराजके समान प्रतीत होता था ॥ ८-९ ॥

कामगं रथमास्थाय शुशुभे राक्षसाधिपः ।
विद्युन्मण्डलवान् मेघः सबलाक इवाम्बरे ॥ १० ॥

इच्छानुसार चलनेवाले उस रथपर आरूढ़ हो राक्षसराज रावण आकाशमें विद्युन्मण्डलसे घिरे हुए तथा बकपंक्तियोंसे सुशोभित मेघके समान शोभा पा रहा था ॥ १० ॥

सशैलसागरानूपं वीर्यवानवलोकयन् ।
नानापुष्पफलैर्वृक्षैरनुकीर्णं सहस्रशः ॥ ११ ॥
शीतमङ्गलतोयाभिः पद्मिनीभिः समन्ततः ।
विशालैराश्रमपदैर्वेदिमद्भिरलंकृतम् ॥ १२ ॥

पराक्रमी रावण पर्वतयुक्त समुद्रके तटपर पहुँचकर उसकी शोभा देखने लगा। सागरका वह किनारा नाना प्रकारके फल-फूलवाले सहस्रों वृक्षोंसे व्याप्त था। चारों ओर मङ्गलकारी शीतल जलसे भरी हुई पुष्करिणियाँ और वेदिकाओंसे मण्डित विशाल आश्रम उस सिन्धुतटकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ ११-१२ ॥

कदल्यटविसंशोभं नारिकेलोपशोभितम् ।
सालैस्तालैस्तमालैश्च तरुभिश्च सुपुष्पितैः ॥ १३ ॥

कहीं कदलीवन और कहीं नारियलके कुञ्ज शोभा दे रहे थे। साल, ताल, तमाल तथा सुन्दर फूलोंसे भरे हुए दूसरे-दूसरे वृक्ष उस तटप्रान्तको अलंकृत कर रहे थे ॥ १३ ॥

अत्यन्तनियताहारैः शोभितं परमर्षिभिः ।
नागैः सुपर्णैर्गन्धर्वैः किंनरैश्च सहस्रशः ॥ १४ ॥

अत्यन्त नियमित आहार करनेवाले बड़े-बड़े महर्षियों, नागों, सुपर्णों (गरुड़ों), गन्धर्वों तथा सहस्रों किन्नरोंसे भी उस स्थानकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ १४ ॥

जितकामैश्च सिद्धैश्च चारणैश्चोपशोभितम् ।
आजैर्वैखानसैर्माषैर्वालखिल्यैर्मरीचिपैः ॥ १५ ॥

कामविजयी सिद्धों, चारणों, ब्रह्माजीके पुत्रों, वानप्रस्थों, माष गोत्रमें उत्पन्न मुनियों, बालखिल्य महात्माओं तथा केवल सूर्य-किरणोंका पान करनेवाले तपस्वीजनोंसे भी वह सागरका तटप्रान्त सुशोभित हो रहा था ॥ १५ ॥

दिव्याभरणमाल्याभिर्दिव्यरूपाभिरावृतम् ।
क्रीडारतविधिज्ञाभिरप्सरोभिः सहस्रशः ॥ १६ ॥
सेवितं देवपत्नीभिः श्रीमतीभिरुपासितम् ।
देवदानवसङ्घैश्च चरितं त्वमृताशिभिः ॥ १७ ॥

दिव्य आभूषणों और पुष्पमालाओंको धारण करनेवाली तथा क्रीड़ा-विहारकी विधिको जाननेवाली सहस्रों दिव्यरूपिणी अप्सराएँ वहाँ सब ओर विचर रही थीं। कितनी ही शोभाशालिनी देवाङ्गनाएँ उस सिन्धुतटका सेवन करती हुई आस-पास बैठी थीं। देवताओं और दानवोंके समूह तथा अमृतभोजी देवगण वहाँ विचर रहे थे ॥ १६-१७ ॥

हंसक्रौञ्चप्लवाकीर्णं सारसैः सम्प्रसादितम् ।
वैदूर्यप्रस्तरं स्निग्धं सान्द्रं सागरतेजसा ॥ १८ ॥

सिन्धुका वह तट समुद्रके तेजसे उसकी तरङ्गमालाओंके स्पर्शसे स्निग्ध एवं शीतल था। वहाँ हंस, क्रौञ्च तथा मेढक सब ओर फैले हुए थे और सारस उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। उस तटपर वैदूर्यमणिके सदृश श्याम रंगके प्रस्तर दिखायी देते थे ॥ १८ ॥

पाण्डुराणि विशालानि दिव्यमाल्ययुतानि च ।
तूर्यगीताभिजुष्टानि विमानानि समन्ततः ॥ १९ ॥
तपसा जितलोकानां कामगान्यभिसम्पतन् ।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव ददर्श धनदानुजः ॥ २० ॥

आकाशमार्गसे यात्रा करते हुए कुबेरके छोटे भाई रावणने रास्तेमें सब ओर बहुत-से श्वेत वर्णके विमानों, गन्धर्वों तथा

अप्सराओंको भी देखा। वे इच्छानुसार चलनेवाले विशाल विमान उन पुण्यात्मा पुरुषोंके थे, जिन्होंने तपस्यासे पुण्यलोकोंपर विजय पायी थी। उन विमानोंको दिव्य पुष्पोंसे सजाया गया था और उनके भीतरसे गीत-वाद्यकी ध्वनि प्रकट हो रही थी॥ १९-२०॥

निर्यासरसमूलानां चन्दनानां सहस्रशः।
वनानि पश्यन् सौम्यानि घ्राणतृप्तिकराणि च॥ २१॥

आगे बढ़नेपर उसने, जिनकी जड़ोंसे गोंद निकले हुए थे, ऐसे चन्दनोंके सहस्रों वन देखे, जो बड़े ही सुहावने और अपनी सुगन्धसे नासिकाको तृप्त करनेवाले थे॥ २१॥

अगुरूणां च मुख्यानां वनान्युपवनानि च।
तक्कोलानां च जात्यानां फलिनां च सुगन्धिनाम्॥ २२॥
पुष्पाणि च तमालस्य गुल्मानि मरिचस्य च।
मुक्तानां च समूहानि शुष्यमाणानि तीरतः॥ २३॥
शैलानि प्रवरांश्चैव प्रवालनिचयांस्तथा।
काञ्चनानि च शृङ्गाणि राजतानि तथैव च॥ २४॥
प्रस्रवाणि मनोज्ञानि प्रसन्नान्यद्भुतानि च।
धनधान्योपपन्नानि स्त्रीरत्नैरावृतानि च॥ २५॥
हस्त्यश्वरथगाढानि नगराणि विलोकयन्।

कहीं श्रेष्ठ अगुरुके वन थे, कहीं उत्तम जातिके सुगन्धित फलवाले तक्कोलों (वृक्षविशेषों) के उपवन थे। कहीं तमालके फूल खिले हुए थे। कहीं गोल मिर्चकी झाड़ियाँ शोभा पाती थीं और कहीं समुद्रके तटपर ढेर-के-ढेर मोती सूख रहे थे। कहीं श्रेष्ठ पर्वतमालाएँ, कहीं मूँगोंकी राशियाँ, कहीं सोने-चाँदीके शिखर तथा कहीं सुन्दर, अद्भुत और स्वच्छ पानीके झरने दिखायी देते थे। कहीं धन-धान्यसे सम्पन्न, स्त्री-रत्नोंसे भरे हुए तथा हाथी, घोड़े और रथोंसे व्याप्त नगर दृष्टिगोचर होते थे। इन सबको देखता हुआ रावण आगे बढ़ा॥ २२—२५½॥

तं समं सर्वतः स्निग्धं मृदुसंस्पर्शमारुतम्॥ २६॥
अनूपे सिन्धुराजस्य ददर्श त्रिदिवोपमम्।

फिर उसने सिंधुराजके तटपर एक ऐसा स्थान देखा, जो स्वर्गके समान मनोहर, सब ओरसे समतल और स्निग्ध था। वहाँ मन्द-मन्द वायु चलती थी, जिसका स्पर्श बड़ा कोमल जान पड़ता था॥ २६½॥

तत्रापश्यत् स मेघाभं न्यग्रोधं मुनिभिर्वृतम्॥ २७॥
समन्ताद् यस्य ताः शाखाः शतयोजनमायताः।

वहाँ सागरतटपर एक बरगदका वृक्ष दिखायी दिया, जो अपनी घनी छायाके कारण मेघोंकी घटाके समान प्रतीत होता था। उसके नीचे चारों ओर मुनि निवास करते थे। उस वृक्षकी सुप्रसिद्ध शाखाएँ चारों ओर सौ योजनोंतक फैली हुई थीं॥

यस्य हस्तिनमादाय महाकायं च कच्छपम्॥ २८॥
भक्षार्थं गरुडः शाखामाजगाम महाबलः।

यह वही वृक्ष था, जिसकी शाखापर किसी समय महाबली गरुड़ एक विशालकाय हाथी और कछुएको लेकर उन्हें खानेके लिये आ बैठे थे॥ २८½॥

तस्य तां सहसा शाखां भारेण पतगोत्तमः॥ २९॥
सुपर्णः पर्णबहुलां बभञ्जाथ महाबलः।

पक्षियोंमें श्रेष्ठ महाबली गरुड़ने बहुसंख्यक पत्तोंसे भरी हुई उस शाखाको सहसा अपने भारसे तोड़ डाला था॥

तत्र वैखानसा माषा वालखिल्या मरीचिपाः॥ ३०॥
आजा बभूवुर्धूम्राश्च संगताः परमर्षयः।

उस शाखाके नीचे बहुत-से वैखानस, माष, वालखिल्य, मरीचिप (सूर्य-किरणोंका पान करनेवाले), ब्रह्मपुत्र और धूम्रप संज्ञावाले महर्षि एक साथ रहते थे॥ ३०½॥

तेषां दयार्थं गरुडस्तां शाखां शतयोजनाम्॥ ३१॥
भग्नामादाय वेगेन तौ चोभौ गजकच्छपौ।
एकपादेन धर्मात्मा भक्षयित्वा पदामिषम्॥ ३२॥
निषादविषयं हत्वा शाखया पतगोत्तमः।
प्रहर्षमतुलं लेभे मोक्षयित्वा महामुनीन्॥ ३३॥

उनपर दया करके उनके जीवनकी रक्षा करनेके लिये पक्षियोंमें श्रेष्ठ धर्मात्मा गरुड़ने उस टूटी हुई सौ योजन लंबी शाखाको और उन दोनों हाथी तथा कछुएको भी वेगपूर्वक एक ही पंजेसे पकड़ लिया तथा आकाशमें ही उन दोनों जंतुओंके मांस खाकर फेंकी हुई उस डालीके द्वारा निषाद देशका संहार कर डाला। उस समय पूर्वोक्त महामुनियोंको मृत्युके संकटसे बचा लेनेसे गरुड़को अनुपम हर्ष प्राप्त हुआ॥ ३१—३३॥

स तु तेन प्रहर्षेण द्विगुणीकृतविक्रमः।
अमृतानयनार्थं वै चकार मतिमान् मतिम्॥ ३४॥

उस महान् हर्षसे बुद्धिमान् गरुड़का पराक्रम दूना हो गया और उन्होंने अमृत ले आनेके लिये पक्का निश्चय कर लिया॥ ३४॥

अयोजालानि निर्मथ्य भित्त्वा रत्नगृहं वरम्।
महेन्द्रभवनाद् गुप्तमाजहारामृतं ततः॥ ३५॥

तत्पश्चात् इन्द्रलोकमें जाकर उन्होंने इन्द्रभवनकी उन जालियोंको तोड़ डाला, जो लोहेकी सींकचोंसे बनी हुई थीं। फिर रत्ननिर्मित श्रेष्ठ भवनको नष्ट-भ्रष्ट करके वहाँ छिपाकर रखे हुए अमृतको वे महेन्द्रभवनसे हर लाये॥ ३५॥

तं महर्षिगणैर्जुष्टं सुपर्णकृतलक्षणम्।
नाम्ना सुभद्रं न्यग्रोधं ददर्श धनदानुजः॥ ३६॥

गरुड़के द्वारा तोड़ी हुई डालीका वह चिह्न उस बरगदमें उस समय भी मौजूद था। उस वृक्षका नाम था सुभद्रवट। बहुत-से महर्षि उस वृक्षकी छायामें निवास करते थे। कुबेरके छोटे भाई रावणने उस वटवृक्षको देखा॥ ३६॥

तं तु गत्वा परं पारं समुद्रस्य नदीपतेः।
ददर्शाश्रममेकान्ते पुण्ये रम्ये वनान्तरे॥ ३७॥

नदियोंके स्वामी समुद्रके दूसरे तटपर जाकर उसने एक रमणीय वनके भीतर पवित्र एवं एकान्तस्थानमें एक आश्रमका दर्शन किया ॥ ३७ ॥

तत्र कृष्णाजिनधरं जटामण्डलधारिणम्।
ददर्श नियताहारं मारीचं नाम राक्षसम् ॥ ३८ ॥

वहाँ शरीरमें काला मृगचर्म और सिरपर जटाओंका समूह धारण किये नियमित आहार करते हुए मारीच नामक राक्षस निवास करता था। रावण वहाँ जाकर उससे मिला ॥ ३८ ॥

स रावणः समागम्य विधिवत् तेन रक्षसा।
मारीचेनार्चितो राजा सर्वकामैरमानुषैः ॥ ३९ ॥

मिलनेपर उस राक्षस मारीचने सब प्रकारके अलौकिक कमनीय पदार्थ अर्पित करके राजा रावणका विधिपूर्वक आतिथ्य-सत्कार किया ॥ ३९ ॥

तं स्वयं पूजयित्वा च भोजनेनोदकेन च।
अर्थोपहितया वाचा मारीचो वाक्यमब्रवीत् ॥ ४० ॥

अन्न और जलसे स्वयं उसका पूर्ण सत्कार करके मारीचने प्रयोजनकी बातें पूछते हुए उससे इस प्रकार कहा— ॥ ४० ॥

कच्चित्ते कुशलं राजल्लँङ्कायां राक्षसेश्वर।
केनार्थेन पुनस्त्वं वै तूर्णमेव इहागतः ॥ ४१ ॥

'राजन्! तुम्हारी लङ्कामें कुशल तो है? राक्षसराज! तुम किस कामके लिये पुनः इतनी जल्दी यहाँ आये हो? ॥

एवमुक्तो महातेजा मारीचेन स रावणः।
ततः पश्चादिदं वाक्यमब्रवीद् वाक्यकोविदः ॥ ४२ ॥

मारीचके इस प्रकार पूछनेपर बातचीत करनेमें कुशल महातेजस्वी रावणने उससे इस प्रकार कहा— ॥ ४२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशः सर्गः

रावणका मारीचसे श्रीरामके अपराध बताकर उनकी पत्नी सीताके अपहरणमें सहायताके लिये कहना

मारीच श्रूयतां तात वचनं मम भाषतः।
आर्तोऽस्मि मम चार्तस्य भवान् हि परमा गतिः ॥ १ ॥

'तात मारीच! मैं सब बता रहा हूँ। मेरी बात सुनो। इस समय मैं बहुत दुःखी हूँ और इस दुःखकी अवस्थामें तुम्हीं मुझे सबसे बढ़कर सहारा देनेवाले हो ॥ १ ॥

जानीषे त्वं जनस्थानं भ्राता यत्र खरो मम।
दूषणश्च महाबाहुः स्वसा शूर्पणखा च मे ॥ २ ॥
त्रिशिराश्च महाबाहू राक्षसः पिशिताशनः।
अन्ये च बहवः शूरा लब्धलक्षा निशाचराः ॥ ३ ॥

'तुम जनस्थानको जानते हो, जहाँ मेरा भाई खर, महाबाहु दूषण, मेरी बहिन शूर्पणखा, मांसभोजी राक्षस महाबाहु त्रिशिरा तथा और भी बहुत-से लक्ष्यवेधमें कुशल शूरवीर निशाचर रहा करते थे ॥ २-३ ॥

वसन्ति मन्नियोगेन अधिवासं च राक्षसाः।
बाधमाना महारण्ये मुनीन् ये धर्मचारिणः ॥ ४ ॥

'वे सभी राक्षस मेरी आज्ञासे वहाँ घर बनाकर रहते थे और उस विशाल वनमें जो धर्माचरण करनेवाले मुनि थे, उन्हें सताया करते थे ॥ ४ ॥

चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम्।
शूराणां लब्धलक्षाणां खरचित्तानुवर्तिनाम् ॥ ५ ॥

'वहाँ खरके मनका अनुसरण करनेवाले तथा युद्ध-विषयक उत्साहसे सम्पन्न चौदह हजार शूरवीर राक्षस रहते थे, जो भयंकर कर्म करनेवाले थे ॥ ५ ॥

ते त्विदानीं जनस्थाने वसमाना महाबलाः।
सङ्गताः परमायत्ता रामेण सह संयुगे ॥ ६ ॥

'जनस्थानमें निवास करनेवाले जितने महाबली राक्षस थे, वे सब-के-सब उस समय अच्छी तरह सन्नद्ध होकर युद्धक्षेत्रमें रामके साथ जा भिड़े थे ॥ ६ ॥

नानाशस्त्रप्रहरणाः खरप्रमुखराक्षसाः।
तेन संजातरोषेण रामेण रणमूर्धनि ॥ ७ ॥
अनुक्त्वा परुषं किंचिच्छरैर्व्यापारितं धनुः।

'वे खर आदि राक्षस नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करनेमें कुशल थे, परंतु युद्धके मुहानेपर रोषमें भरे हुए श्रीरामने अपने मुँहसे कोई कड़वी बात न कहकर बाणोंके साथ धनुषका ही व्यापार आरम्भ किया ॥ ७½ ॥

चतुर्दश सहस्राणि रक्षसामुग्रतेजसाम् ॥ ८ ॥
निहतानि शरैर्दीप्तैर्मानुषेण पदातिना।
खरश्च निहतः संख्ये दूषणश्च निपातितः ॥ ९ ॥
हत्वा त्रिशिरसं चापि निर्भया दण्डकाः कृताः।

'पैदल और मनुष्य होकर भी रामने अपने दमकते हुए बाणोंसे भयंकर तेजवाले चौदह हजार राक्षसोंका विनाश कर डाला और उसी युद्धमें खरको भी मौतके घाट उतारकर दूषणको भी मार गिराया। साथ ही त्रिशिराका वध करके उसने दण्डकारण्यको दूसरोंके लिये निर्भय बना दिया ॥

पित्रा निरस्तः क्रुद्धेन सभार्यः क्षीणजीवितः ॥ १० ॥
स हन्ता तस्य सैन्यस्य रामः क्षत्रियपांसनः।

'उसके पिताने कुपित होकर उसे पत्नीसहित घरसे निकाल दिया है। उसका जीवन क्षीण हो चला है। यह क्षत्रियकुल-कलङ्क राम ही उस राक्षस-सेनाका घातक है॥ १०½॥

अशीलः कर्कशस्तीक्ष्णो मूर्खो लुब्धोऽजितेन्द्रियः।
त्यक्तधर्मा त्वधर्मात्मा भूतानामहिते रतः।
येन वैरं विनारण्ये सत्त्वमास्थाय केवलम्॥ १२॥
कर्णनासापहारेण भगिनी मे विरूपिता।
अस्य भार्यां जनस्थानात् सीतां सुरसुतोपमाम्॥ १३॥
आनयिष्यामि विक्रम्य सहायस्तत्र मे भव।

'वह शीलरहित, क्रूर, तीखे स्वभाववाला, मूर्ख, लोभी, अजितेन्द्रिय, धर्मत्यागी, अधर्मात्मा और समस्त प्राणियोंके अहितमें तत्पर रहनेवाला है। जिसने बिना किसी वैर-विरोधके केवल बलका आश्रय ले मेरी बहिनके नाक-कान काटकर उसका रूप बिगाड़ दिया, उससे बदला लेनेके लिये मैं भी उसकी देव-कन्याके समान सुन्दरी पत्नी सीताको जनस्थानसे बलपूर्वक हर लाऊँगा। तुम उस कार्यमें मेरी सहायता करो॥ ११—१३½॥

त्वया ह्यहं सहायेन पार्श्वस्थेन महाबल॥ १४॥
भ्रातृभिश्च सुरान् सर्वान् नाहमत्राभिचिन्तये।
तत्सहायो भव त्वं मे समर्थो ह्यसि राक्षस॥ १५॥

'महाबली राक्षस! तुम-जैसे पार्श्ववर्ती सहायकके और अपने भाइयोंके बलपर ही मैं समस्त देवताओंकी यहाँ कोई परवा नहीं करता, अतः तुम मेरे सहायक हो जाओ; क्योंकि तुम मेरी सहायता करनेमें समर्थ हो॥ १४-१५॥

वीर्ये युद्धे च दर्पे च न ह्यस्ति सदृशस्तव।
उपायतो महाञ्शूरो महामायाविशारदः॥ १६॥

'पराक्रममें, युद्धमें और वीरोचित अभिमानमें तुम्हारे समान कोई नहीं है। नाना प्रकारके उपाय बतानेमें भी तुम बड़े बहादुर हो। बड़ी-बड़ी मायाओंका प्रयोग करनेमें भी विशेष कुशल हो॥

एतदर्थमहं प्राप्तस्त्वत्समीपं निशाचर।
शृणु तत् कर्म साहाय्ये यत् कार्यं वचनान्मम॥ १७॥

'निशाचर! इसीलिये मैं तुम्हारे पास आया हूँ। सहायताके लिये मेरे कथनानुसार तुम्हें कौन-सा काम करना है, वह भी सुनो॥

सौवर्णस्त्वं मृगो भूत्वा चित्रो रजतबिन्दुभिः।
आश्रमे तस्य रामस्य सीतायाः प्रमुखे चर॥ १८॥

'तुम सोनेके बने हुए मृग-जैसा रूप धारण करके रजतमय बिन्दुओंसे युक्त चितकबरे हो जाओ और रामके आश्रममें सीताके सामने विचरो॥ १८॥

त्वां तु निःसंशयं सीता दृष्ट्वा तु मृगरूपिणम्।
गृह्यतामिति भर्तारं लक्ष्मणं चाभिधास्यति॥ १९॥

'विचित्र मृगके रूपमें तुम्हें देखकर सीता अवश्य ही अपने पति रामसे तथा लक्ष्मणसे भी कहेगी कि आपलोग इसे पकड़ लावें॥ १९॥

ततस्तयोरपाये तु शून्ये सीतां यथासुखम्।
निराबाधो हरिष्यामि राहुश्चन्द्रप्रभामिव॥ २०॥

'जब वे दोनों तुम्हें पकड़नेके लिये दूर निकल जायँगे, तब मैं बिना किसी विघ्न-बाधाके सूने आश्रमसे सीताको उसी तरह सुखपूर्वक हर लाऊँगा, जैसे राहु चन्द्रमाकी प्रभाका अपहरण कर लेता है॥ २०॥

ततः पश्चात् सुखं रामे भार्याहरणकर्शिते।
विस्रब्धं प्रहरिष्यामि कृतार्थेनान्तरात्मना॥ २१॥

'उसके बाद स्त्रीका अपहरण हो जानेसे जब राम अत्यन्त दुःखी और दुर्बल हो जायगा, उस समय मैं निर्भय हो सुखपूर्वक उसके ऊपर कृतार्थचित्तसे प्रहार करूँगा'॥ २१॥

तस्य रामकथां श्रुत्वा मारीचस्य महात्मनः।
शुष्कं समभवद् वक्त्रं परित्रस्तो बभूव च॥ २२॥

रावणके मुखसे श्रीरामचन्द्रजीकी चर्चा सुनकर महात्मा मारीचका मुँह सूख गया। वह भयसे थर्रा उठा॥ २२॥

ओष्ठौ परिलिहञ्शुष्कौ नेत्रैरनिमिषैरिव।
मृतभूत इवार्तस्तु रावणं समुदैक्षत॥ २३॥

वह अपलक नेत्रोंसे देखता हुआ अपने सूखे ओठोंको चाटने लगा। उसे इतना दुःख हुआ कि वह मुर्दा-सा दिखायी देने लगा। उसी अवस्थामें उसने रावणकी ओर देखा॥

स रावणं त्रस्तविषण्णचेता
महावने रामपराक्रमज्ञः।
कृताञ्जलिस्तत्त्वमुवाच वाक्यं
हितं च तस्मै हितमात्मनश्च॥ २४॥

उसे महान् वनमें श्रीरामचन्द्रजीके पराक्रमका ज्ञान हो चुका था; इसलिये वह मन-ही-मन अत्यन्त भयभीत और दुःखी हो गया तथा हाथ जोड़कर रावणसे यथार्थ वचन बोला। उसकी वह बात रावणके तथा अपने लिये भी हितकर थी॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे षट्त्रिंशः सर्गः॥ ३६॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें छत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३६॥

सप्तत्रिंशः सर्गः

मारीचका रावणको श्रीरामचन्द्रजीके गुण और प्रभाव बताकर सीताहरणके उद्योगसे रोकना

तच्छ्रुत्वा राक्षसेन्द्रस्य वाक्यं वाक्यविशारदः।
प्रत्युवाच महातेजा मारीचो राक्षसेश्वरम्॥ १॥

राक्षसराज रावणकी पूर्वोक्त बात सुनकर बातचीत करनेमें कुशल महातेजस्वी मारीचने उसे इस प्रकार उत्तर दिया—॥

सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥ २॥

'राजन्! सदा प्रिय वचन बोलनेवाले पुरुष तो सर्वत्र सुलभ होते हैं; परंतु जो अप्रिय होनेपर भी हितकर हो, ऐसी बातके कहने और सुननेवाले दोनों ही दुर्लभ हैं॥ २॥

न नूनं बुध्यसे रामं महावीर्यगुणोन्नतम्।
अयुक्तचारश्चपलो महेन्द्रवरुणोपमम्॥ ३॥

'तुम कोई गुप्तचर तो रखते नहीं और तुम्हारा हृदय भी बहुत ही चञ्चल है; अतः निश्चय ही तुम श्रीरामचन्द्रजीको बिलकुल नहीं जानते। वे पराक्रमोचित गुणोंमें बहुत बढ़े-चढ़े तथा इन्द्र और वरुणके समान हैं॥ ३॥

अपि स्वस्ति भवेत् तात सर्वेषामपि रक्षसाम्।
अपि रामो न संक्रुद्धः कुर्याल्लोकानराक्षसान्॥ ४॥

'तात! मैं तो यही चाहता हूँ कि समस्त राक्षसोंका कल्याण हो। कहीं ऐसा न हो कि श्रीरामचन्द्रजी अत्यन्त कुपित हो समस्त लोकोंको राक्षसोंसे शून्य कर दें?॥ ४॥

अपि ते जीवितान्ताय नोत्पन्ना जनकात्मजा।
अपि सीतानिमित्तं च न भवेद् व्यसनं महत्॥ ५॥

'जनकनन्दिनी सीता तुम्हारे जीवनका अन्त करनेके लिये तो नहीं उत्पन्न हुई है? कहीं ऐसा न हो कि सीताके कारण तुम्हारे ऊपर कोई बहुत बड़ा सङ्कट आ जाय?॥ ५॥

अपि त्वामीश्वरं प्राप्य कामवृत्तं निरङ्कुशम्।
न विनश्येत् पुरी लङ्का त्वया सह सराक्षसा॥ ६॥

'तुम-जैसे स्वेच्छाचारी और उच्छृङ्खल राजाको पाकर लङ्कापुरी तुम्हारे और राक्षसोंके साथ ही नष्ट न हो जाय?॥

त्वद्विधः कामवृत्तो हि दुःशीलः पापमन्त्रितः।
आत्मानं स्वजनं राष्ट्रं स राजा हन्ति दुर्मतिः॥ ७॥

'जो राजा तुम्हारे समान दुराचारी, स्वेच्छाचारी, पापपूर्ण विचार रखनेवाला और खोटी बुद्धिवाला होता है, वह अपना, अपने स्वजनोंका तथा समूचे राष्ट्रका भी विनाश कर डालता है॥ ७॥

न च पित्रा परित्यक्तो नामर्यादः कथंचन।
न लुब्धो न च दुःशीलो न च क्षत्रियपांसनः॥ ८॥

'श्रीरामचन्द्रजी न तो पिताद्वारा त्यागे या निकाले गये हैं, न उन्होंने धर्मकी मर्यादाका किसी तरह त्याग किया है, न वे लोभी, न दूषित आचार-विचारवाले और न क्षत्रियकुलकलङ्क ही हैं॥ ८॥

न च धर्मगुणैर्हीनः कौसल्यानन्दवर्धनः।
न च तीक्ष्णो हि भूतानां सर्वभूतहिते रतः॥ ९॥

'कौसल्याका आनन्द बढ़ानेवाले श्रीराम धर्मसम्बन्धी गुणोंसे हीन नहीं हुए हैं। उनका स्वभाव भी किसी प्राणीके प्रति तीखा नहीं है। वे सदा समस्त प्राणियोंके हितमें ही तत्पर रहते हैं॥ ९॥

वञ्चितं पितरं दृष्ट्वा कैकेय्या सत्यवादिनम्।
करिष्यामीति धर्मात्मा ततः प्रव्रजितो वनम्॥ १०॥

'रानी कैकेयीने पिताको धोखेमें डालकर मेरे वनवासका वर माँग लिया—यह देखकर धर्मात्मा श्रीरामने मन-ही-मन यह निश्चय किया कि मैं पिताको सत्यवादी बनाऊँगा (उनके दिये हुए वर या वचनको पूरा करूँगा); इस निश्चयके अनुसार वे स्वयं ही वनको चल दिये॥ १०॥

कैकेय्याः प्रियकामार्थं पितुर्दशरथस्य च।
हित्वा राज्यं च भोगांश्च प्रविष्टो दण्डकावनम्॥ ११॥

'माता कैकेयी और पिता राजा दशरथका प्रिय करनेकी इच्छासे ही वे स्वयं राज्य और भोगोंका परित्याग करके दण्डकवनमें प्रविष्ट हुए हैं॥ ११॥

न रामः कर्कशस्तात नाविद्वान् नाजितेन्द्रियः।
अनृतं न श्रुतं चैव नैव त्वं वक्तुमर्हसि॥ १२॥

'तात! श्रीराम क्रूर नहीं हैं। वे मूर्ख और अजितेन्द्रिय भी नहीं हैं। श्रीराममें मिथ्याभाषणका दोष मैंने कभी नहीं सुना है; अतः उनके विषयमें तुम्हें ऐसी उलटी बातें कभी नहीं कहनी चाहिये॥ १२॥

रामो विग्रहवान् धर्मः साधुः सत्यपराक्रमः।
राजा सर्वस्य लोकस्य देवानामिव वासवः॥ १३॥

'श्रीराम धर्मके मूर्तिमान् स्वरूप हैं। वे साधु और सत्यपराक्रमी हैं। जैसे इन्द्र समस्त देवताओंके अधिपति हैं, उसी प्रकार श्रीराम भी सम्पूर्ण जगत्के राजा हैं॥ १३॥

कथं नु तस्य वैदेहीं रक्षितां स्वेन तेजसा।
इच्छसे प्रसभं हर्तुं प्रभामिव विवस्वतः॥ १४॥

'उनकी पत्नी विदेहराजकुमारी सीता अपने ही पातिव्रत्यके तेजसे सुरक्षित हैं। जैसे सूर्यकी प्रभा उससे अलग नहीं की जा सकती, उसी तरह सीताको श्रीरामसे अलग करना असम्भव है। ऐसी दशामें तुम बलपूर्वक उनका अपहरण कैसे करना चाहते हो?॥ १४॥

शरार्चिषमनाधृष्यं चापखड्गेन्धनं रणे।
रामाग्निं सहसा दीप्तं न प्रवेष्टुं त्वमर्हसि॥ १५॥

'श्रीराम प्रज्वलित अग्निके समान हैं। बाण ही उस अग्निकी ज्वाला है। धनुष और खड्ग ही उसके लिये ईंधनका काम करते हैं। तुम्हें युद्धके लिये सहसा उस अग्निमें प्रवेश नहीं करना चाहिये॥ १५॥

धनुर्व्यादितदीप्तास्यं शरार्चिषममर्षणम्
चापबाणधरं तीक्ष्णं शत्रुसेनापहारिणम्॥ १६॥
राज्यं सुखं च संत्यज्य जीवितं चेष्टमात्मनः।
नात्यासादयितुं तात रामान्तकमिहार्हसि॥ १७॥

'तात! धनुष ही जिसका फैला हुआ दीप्तिमान् मुख है और बाण ही प्रभा है, जो अमर्षमें भरा हुआ है, धनुष और बाण धारण किये खड़ा है, रोषवश तीखे स्वभावका परिचय

देता है और शत्रुसेनाके प्राण लेनेमें समर्थ है, उस रामरूपी यमराजके पास तुम्हें यहाँ अपने राज्यसुख और प्यारे प्राणोंका मोह छोड़कर सहसा नहीं जाना चाहिये ॥ १६-१७ ॥

अप्रमेयं हि तत्तेजो यस्य सा जनकात्मजा ।
न त्वं समर्थस्तां हर्तुं रामचापाश्रयां वने ॥ १८ ॥

'जनककिशोरी सीता जिनकी धर्मपत्नी हैं, उनका तेज अप्रमेय है। श्रीरामचन्द्रजीका धनुष उनका आश्रय है, अतः तुममें इतनी शक्ति नहीं है कि वनमें उनका अपहरण कर सको ॥ १८ ॥

तस्य वै नरसिंहस्य सिंहोरस्कस्य भामिनी ।
प्राणेभ्योऽपि प्रियतरा भार्या नित्यमनुव्रता ॥ १९ ॥

'श्रीरामचन्द्रजी मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी हैं। उनका वक्षःस्थल सिंहके समान उन्नत है। भामिनी सीता उनकी प्राणोंसे भी अधिक प्रियतमा पत्नी हैं। वे सदा अपने पतिका ही अनुसरण करती हैं ॥ १९ ॥

न सा धर्षयितुं शक्या मैथिल्योजस्विनः प्रिया ।
दीप्तस्येव हुताशस्य शिखा सीता सुमध्यमा ॥ २० ॥

'मिथिलेशकुमारी सीता ओजस्वी श्रीरामकी प्यारी पत्नी हैं। वे प्रज्वलित अग्निकी ज्वालाके समान असह्य हैं, अतः उन सुन्दरी सीतापर बलात्कार नहीं किया जा सकता ॥ २० ॥

किमुद्यमं व्यर्थमिमं कृत्वा ते राक्षसाधिप ।
दृष्टश्चेत् त्वं रणे तेन तदन्तमुपजीवितम् ॥ २१ ॥

'राक्षसराज ! यह व्यर्थका उद्योग करनेसे तुम्हें क्या लाभ होगा ? जिस दिन युद्धमें तुम्हारे ऊपर श्रीरामकी दृष्टि पड़ जाय, उसी दिन तुम अपने जीवनका अन्त समझना ॥ २१ ॥

जीवितं च सुखं चैव राज्यं चैव सुदुर्लभम् ।
यदीच्छसि चिरं भोक्तुं मा कृथा रामविप्रियम् ॥ २२ ॥

'यदि तुम अपने जीवनका, सुखका और परम दुर्लभ राज्यका चिरकालतक उपभोग करना चाहते हो तो श्रीरामका अपराध न करो ॥ २२ ॥

स सर्वैः सचिवैः सार्धं विभीषणपुरस्कृतैः ।
मन्त्रयित्वा स धर्मिष्ठैः कृत्वा निश्चयमात्मनः ।
दोषाणां च गुणानां च सम्प्रधार्य बलाबलम् ॥ २३ ॥
आत्मनश्च बलं ज्ञात्वा राघवस्य च तत्त्वतः ।
हितं हि तव निश्चित्य क्षमं त्वं कर्तुमर्हसि ॥ २४ ॥

'तुम विभीषण आदि सभी धर्मात्मा मन्त्रियोंके साथ सलाह करके अपने कर्तव्यका निश्चय करो। अपने और श्रीरामके दोषों तथा गुणोंके बलाबलपर भलीभाँति विचार करके अपनी और श्रीरामचन्द्रजीकी शक्तिको ठीक-ठीक समझ लो। फिर क्या करनेसे तुम्हारा हित होगा, इसका निश्चय करके जो उचित जान पड़े, वही कार्य तुम्हें करना चाहिये ॥ २३-२४ ॥

अहं तु मन्ये तव न क्षमं रणे
समागमं कोसलराजसूनुना ।
इदं हि भूयः शृणु वाक्यमुत्तमं
क्षमं च युक्तं च निशाचराधिप ॥ २५ ॥

'निशाचरराज ! मैं तो समझता हूँ कि कोसलराजकुमार श्रीरामचन्द्रजीके साथ तुम्हारा युद्ध करना उचित नहीं है। अब पुनः मेरी एक बात और सुनो, यह तुम्हारे लिये बहुत ही उत्तम, उचित और उपयुक्त सिद्ध होगी' ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें सैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टात्रिंशः सर्गः

श्रीरामकी शक्तिके विषयमें अपना अनुभव बताकर मारीचका रावणको उनका अपराध करनेसे मना करना

कदाचिदप्यहं वीर्यात् पर्यटन् पृथिवीमिमाम् ।
बलं नागसहस्रस्य धारयन् पर्वतोपमः ॥ १ ॥

'एक समयकी बात है कि मैं अपने पराक्रमके अभिमानमें आकर पर्वतके समान शरीर धारण किये इस पृथ्वीपर चक्कर लगा रहा था। उस समय मुझमें एक हजार हाथियोंका बल था ॥ १ ॥

नीलजीमूतसंकाशस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः ।
भयं लोकस्य जनयन् किरीटी परिघायुधः ॥ २ ॥
व्यचरन् दण्डकारण्यमृषिमांसानि भक्षयन् ।

'मेरा शरीर नील मेघके समान काला था। मैंने कानोंमें पके सोनेके कुण्डल पहन रखे थे। मेरे मस्तकपर किरीट था और हाथमें परिघ। मैं ऋषियोंके मांस खाता और समस्त जगत्‌के मनमें भय उत्पन्न करता हुआ दण्डकारण्यमें विचर रहा था ॥ २½ ॥

विश्वामित्रोऽथ धर्मात्मा मद्वित्रस्तो महामुनिः ॥ ३ ॥
स्वयं गत्वा दशरथं नरेन्द्रमिदमब्रवीत् ।

'उन दिनों धर्मात्मा महामुनि विश्वामित्रको मुझसे बड़ा भय हो गया था। वे स्वयं राजा दशरथके पास गये और उनसे इस प्रकार बोले— ॥ ३½ ॥

अयं रक्षतु मां रामः पर्वकाले समाहितः ॥ ४ ॥
मारीचान्मे भयं घोरं समुत्पन्नं नरेश्वर ।

'नरेश्वर ! मुझे मारीच नामक राक्षससे घोर भय प्राप्त हुआ

है, अतः ये श्रीराम मेरे साथ चलें और पर्वके दिन एकाग्रचित्त हो मेरी रक्षा करें' ॥ ४½ ॥

इत्येवमुक्तो धर्मात्मा राजा दशरथस्तदा ॥ ५ ॥
प्रत्युवाच महाभागं विश्वामित्रं महामुनिम्।

'मुनिके ऐसा कहनेपर उस समय धर्मात्मा राजा दशरथने महाभाग महामुनि विश्वामित्रको इस प्रकार उत्तर दिया— ॥

ऊनद्वादशवर्षोऽयमकृतास्त्रश्च राघवः ॥ ६ ॥
कामं तु मम तत् सैन्यं मया सह गमिष्यति।
बलेन चतुरङ्गेण स्वयमेत्य निशाचरम् ॥ ७ ॥
वधिष्यामि मुनिश्रेष्ठ शत्रुं तव यथेप्सितम्।

'मुनिश्रेष्ठ! रघुकुलनन्दन रामकी अवस्था अभी बारह[1] वर्षसे भी कम है। इन्हें अस्त्र-शस्त्रोंके चलानेका पूरा अभ्यास भी नहीं है। आप चाहें तो मेरे साथ मेरी सारी सेना वहाँ चलेगी और मैं चतुरङ्गिणी सेनाके साथ स्वयं ही चलकर आपकी इच्छाके अनुसार उस शत्रुरूप निशाचरका वध करूँगा' ॥ ६-७½ ॥

एवमुक्तः स तु मुनी राजानमिदमब्रवीत् ॥ ८ ॥
रामान्नान्यद् बलं लोके पर्याप्तं तस्य रक्षसः।

'राजाके ऐसा कहनेपर मुनि उनसे इस प्रकार बोले— 'उस राक्षसके लिये श्रीरामके सिवा दूसरी कोई शक्ति पर्याप्त नहीं है ॥ ८½ ॥

देवतानामपि भवान् समरेष्वभिपालकः ॥ ९ ॥
आसीत् तव कृतं कर्म त्रिलोकविदितं नृप।

'राजन्! इसमें संदेह नहीं कि आप समरभूमिमें देवताओंकी भी रक्षा करनेमें समर्थ हैं। आपने जो महान् कार्य किया है, वह तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है ॥ ९½ ॥

काममस्ति महत् सैन्यं तिष्ठत्विह परंतप ॥ १० ॥
बालोऽप्येष महातेजाः समर्थस्तस्य निग्रहे।
गमिष्ये राममादाय स्वस्ति तेऽस्तु परंतप ॥ ११ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश! आपके पास जो विशाल सेना है, वह आपकी इच्छा हो तो यहीं रहे (आप भी यहीं रहें।) महातेजस्वी श्रीराम बालक हैं तो भी उस राक्षसका दमन करनेमें समर्थ हैं, अतः मैं श्रीरामको ही साथ लेकर जाऊँगा; आपका कल्याण हो' ॥ १०-११ ॥

इत्येवमुक्त्वा स मुनिस्तमादाय नृपात्मजम्।
जगाम परमप्रीतो विश्वामित्रः स्वमाश्रमम् ॥ १२ ॥

'ऐसा कहकर (लक्ष्मणसहित) राजकुमार श्रीरामको साथ ले महामुनि विश्वामित्र बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने आश्रमको गये ॥ १२ ॥

तं तथा दण्डकारण्ये यज्ञमुद्दिश्य दीक्षितम्।
बभूवोपस्थितो रामश्चित्रं विस्फारयन् धनुः ॥ १३ ॥

'इस प्रकार दण्डकारण्यमें जाकर उन्होंने यज्ञके लिये दीक्षा ग्रहण की और श्रीराम अपने अद्भुत धनुषकी टङ्कार करते हुए उनकी रक्षाके लिये पास ही खड़े हो गये ॥ १३ ॥

अजातव्यञ्जनः श्रीमान् बालः श्यामः शुभेक्षणः।
एकवस्त्रधरो धन्वी शिखी कनकमालया ॥ १४ ॥

'उस समयतक श्रीराममें जवानीके चिन्ह प्रकट नहीं हुए थे। (उनकी किशोरावस्था थी।) वे एक शोभाशाली बालकके रूपमें दिखायी देते थे। उनके श्रीअङ्गका रंग साँवला और आँखें बड़ी सुन्दर थीं। वे एक वस्त्र धारण किये, हाथोंमें धनुष लिये सुन्दर शिखा और सोनेके हारसे सुशोभित थे ॥ १४ ॥

शोभयन् दण्डकारण्यं दीप्तेन स्वेन तेजसा।
अदृश्यत तदा रामो बालचन्द्र इवोदितः ॥ १५ ॥

'उस समय अपने उद्दीप्त तेजसे दण्डकारण्यकी शोभा बढ़ाते हुए श्रीरामचन्द्र नवोदित बालचन्द्रके समान दृष्टिगोचर होते थे ॥ १५ ॥

ततोऽहं मेघसंकाशस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः।
बली दत्तवरो दर्पादाजगामाश्रमान्तरम् ॥ १६ ॥

'इधर मैं भी मेघके समान काले शरीरसे बड़े घमंडके साथ उस आश्रमके भीतर घुसा। मेरे कानोंमें तपाये हुए सुवर्णके कुण्डल झलमला रहे थे। मैं बलवान् तो था ही, मुझे वरदान भी मिल चुका था कि देवता मुझे मार नहीं सकेंगे ॥ १६ ॥

तेन दृष्टः प्रविष्टोऽहं सहसैवोद्यतायुधः।
मां तु दृष्ट्वा धनुः सज्यमसम्भ्रान्तश्चकार ह ॥ १७ ॥

'भीतर प्रवेश करते ही श्रीरामचन्द्रजीकी दृष्टि मुझपर पड़ी। मुझे देखते ही उन्होंने सहसा धनुष उठा लिया और बिना किसी घबराहटके उसपर डोरी चढ़ा दी ॥ १७ ॥

अवजानन्नहं मोहाद् बालोऽयमिति राघवम्।
विश्वामित्रस्य तां वेदिमभ्यधावं कृतत्वरः ॥ १८ ॥

'मैं मोहवश श्रीरामचन्द्रजीको 'यह बालक है, ऐसा समझकर उनकी अवहेलना करता हुआ बड़ी तेजीके साथ विश्वामित्रकी उस यज्ञवेदीकी ओर दौड़ा ॥ १८ ॥

तेन मुक्तस्ततो बाणः शितः शत्रुनिबर्हणः।
तेनाहं ताडितः क्षिप्तः समुद्रे शतयोजने ॥ १९ ॥

'इतनेहीमें श्रीरामने एक ऐसा तीखा बाण छोड़ा, जो शत्रुका संहार करनेवाला था; परंतु उस बाणकी चोट खाकर (मैं मरा नहीं) सौ योजन दूर समुद्रमें आकर गिर पड़ा ॥

---

१. यद्यपि बालकाण्डके २०वें सर्गके दूसरे श्लोकमें राजा दशरथने श्रीरामकी अवस्था सोलह वर्षसे कम (पंद्रह वर्षकी) बतायी थी, तथापि यहाँ मारीचने रावणके मनमें भय उत्पन्न करनेके लिये चार वर्ष कम अवस्था बतायी है। जो छोटी अवस्थामें इतने महान् पराक्रमी थे, वे अब बड़े होनेपर न जाने कैसे होंगे? यह लक्ष्य कराना ही यहाँ मारीचको अभीष्ट है।

नेच्छता तात मां हन्तुं तदा वीरेण रक्षितः।
रामस्य शरवेगेन निरस्तो भ्रान्तचेतनः॥ २०॥
पातितोऽहं तदा तेन गम्भीरे सागराम्भसि।
प्राप्य संज्ञां चिरात् तात लङ्कां प्रति गतः पुरीम्॥ २१॥

'तात! वीर श्रीरामचन्द्रजी उस समय मुझे मारना नहीं चाहते थे, इसीलिये मेरी जान बच गयी। उनके बाणके वेगसे मैं भ्रान्तचित्त होकर दूर फेंक दिया गया और समुद्रके गहरे जलमें गिरा दिया गया। तात! फिर दीर्घकालके पश्चात् जब मुझे चेत हुआ, तब मैं लंकापुरीमें गया॥ २०-२१॥

एवमस्मि तदा मुक्तः सहायास्ते निपातिताः।
अकृतास्त्रेण रामेण बालेनाक्लिष्टकर्मणा॥ २२॥

'इस प्रकार उस समय मैं मरनेसे बचा। अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीराम उन दिनों अभी बालक थे और उन्हें अस्त्र चलानेका पूरा अभ्यास भी नहीं था तो भी उन्होंने मेरे उन सभी सहायकोंको मार गिराया, जो मेरे साथ गये थे॥

तन्मया वार्यमाणस्तु यदि रामेण विग्रहम्।
करिष्यस्यापदं घोरां क्षिप्रं प्राप्य न शिष्यसि॥ २३॥

'इसलिये मेरे मना करनेपर भी यदि तुम श्रीरामके साथ विरोध करोगे तो शीघ्र ही घोर आपत्तिमें पड़ जाओगे और अन्तमें अपने जीवनसे भी हाथ धो बैठोगे॥ २३॥

क्रीडारतिविधिज्ञानां समाजोत्सवदर्शिनाम्।
रक्षसां चैव संतापमनर्थं चाहरिष्यसि॥ २४॥

'खेल-कूद और भोग-विलासके क्रमको जाननेवाले तथा सामाजिक उत्सवोंको ही देख-देखकर दिल बहलानेवाले राक्षसोंके लिये तुम संताप और अनर्थ (मौत) बुला लाओगे॥ २४॥

हर्म्यप्रासादसम्बाधां नानारत्नविभूषिताम्।
द्रक्ष्यसि त्वं पुरीं लङ्कां विनष्टां मैथिलीकृते॥ २५॥

'मिथिलेशकुमारी सीताके लिये तुम्हें धनियोंकी अट्टालिकाओं तथा राजभवनोंसे भरी हुई एवं नाना प्रकारके रत्नोंसे विभूषित लंकापुरीका विनाश भी अपनी आँखों देखना पड़ेगा॥ २५॥

अकुर्वन्तोऽपि पापानि शुचयः पापसंश्रयात्।
परपापैर्विनश्यन्ति मत्स्या नागह्रदे यथा॥ २६॥

जो लोग आचार-विचारसे शुद्ध हैं और पाप या अपराध नहीं करते हैं, वे भी यदि पापियोंके सम्पर्कमें चले जायँ तो दूसरोंके पापोंसे ही नष्ट हो जाते हैं, जैसे साँपवाले सरोवरमें निवास करनेवाली मछलियाँ उस सर्पके साथ ही मारी जाती हैं॥ २६॥

दिव्यचन्दनदिग्धाङ्गान् दिव्याभरणभूषितान्।
द्रक्ष्यस्यभिहतान् भूमौ तव दोषात् तु राक्षसान्॥ २७॥

'तुम देखोगे कि जिनके अङ्ग दिव्य चन्दनसे चर्चित होते थे तथा जो दिव्य आभूषणोंसे विभूषित रहते थे, वे ही राक्षस तुम्हारे ही अपराधसे मारे जाकर पृथ्वीपर पड़े हुए हैं॥ २७॥

हृतदारान् सदारांश्च दश विद्रवतो दिशः।
हतशेषानशरणान् द्रक्ष्यसि त्वं निशाचरान्॥ २८॥

'तुम्हें यह भी दिखायी देगा कि कितने ही निशाचरोंकी स्त्रियाँ हर ली गयी हैं और कुछकी स्त्रियाँ साथ हैं तथा वे युद्धमें मरनेसे बचकर असहाय अवस्थामें दसों दिशाओंकी ओर भाग रहे हैं॥ २८॥

शरजालपरिक्षिप्तामग्निज्वालासमावृताम्।
प्रदग्धभवनां लङ्कां द्रक्ष्यसि त्वमसंशयम्॥ २९॥

'निःसंदेह तुम्हारे सामने वह दृश्य भी आयेगा कि लंकापुरीपर बाणोंका जाल-सा बिछ गया है। वह आगकी ज्वालाओंसे घिर गयी है और उसका एक-एक घर जलकर भस्म हो गया है॥ २९॥

परदाराभिमर्शात् तु नान्यत् पापतरं महत्।
प्रमदानां सहस्राणि तव राजन् परिग्रहे॥ ३०॥
भव स्वदारनिरतः स्वकुलं रक्ष राक्षसान्।
मानं वृद्धिं च राज्यं च जीवितं चेष्टमात्मनः॥ ३१॥

'राजन्! परायी स्त्रीके संसर्गसे बढ़कर दूसरा कोई महान् पाप नहीं है। तुम्हारे अन्तःपुरमें हजारों युवती स्त्रियाँ हैं, उन अपनी ही स्त्रियोंमें अनुराग रखो। अपने कुलकी रक्षा करो, राक्षसोंके प्राण बचाओ तथा अपनी मान, प्रतिष्ठा, उन्नति, राज्य और प्यारे जीवनको नष्ट न होने दो॥ ३०-३१॥

कलत्राणि च सौम्यानि मित्रवर्गं तथैव च।
यदीच्छसि चिरं भोक्तुं मा कृथा रामविप्रियम्॥ ३२॥

'यदि तुम अपनी सुन्दरी स्त्रियों तथा मित्रोंका सुख अधिक कालतक भोगना चाहते हो तो श्रीरामका अपराध न करो॥ ३२॥

निवार्यमाणः सुहृदा मया भृशं
प्रसह्य सीतां यदि धर्षयिष्यसि।
गमिष्यसि क्षीणबलः सबान्धवो
यमक्षयं रामशरात्तजीवितः॥ ३३॥

'मैं तुम्हारा हितैषी सुहृद् हूँ। यदि मेरे बारंबार मना करनेपर भी तुम हठपूर्वक सीताका अपहरण करोगे तो तुम्हारी सारी सेना नष्ट हो जायगी और तुम श्रीरामके बाणोंसे अपने प्राण गँवाकर बन्धु-बान्धवोंके साथ यमलोककी यात्रा करोगे'॥ ३३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डेऽष्टात्रिंशः सर्गः॥ ३८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें अड़तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३८॥

★

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

मारीचका रावणको समझाना

एवमस्मि तदा मुक्तः कथंचित् तेन संयुगे।
इदानीमपि यद् वृत्तं तच्छृणुष्व यदुत्तरम्॥ १॥

'इस प्रकार इस समय तो मैं किसी तरह श्रीरामचन्द्रजीके हाथसे जीवित बच गया। उसके बाद इन दिनों जो घटना घटित हुई है, उसे भी सुन लो॥ १॥

राक्षसाभ्यामहं द्वाभ्यामनिर्विण्णस्तथाकृतः।
सहितो मृगरूपाभ्यां प्रविष्टो दण्डकावने॥ २॥

'श्रीरामने मेरी वैसी दुर्दशा कर दी थी, तो भी मैं उनके विरोधसे बाज नहीं आया। एक दिन मृगरूपधारी दो राक्षसोंके साथ मैं भी मृगका ही रूप धारण करके दण्डक-वनमें गया॥ २॥

दीप्तजिह्वो महादंष्ट्रस्तीक्ष्णशृङ्गो महाबलः।
व्यचरन् दण्डकारण्यं मांसभक्षो महामृगः॥ ३॥

'मैं महान् बलशाली तो था ही, मेरी जीभ आगके समान उद्दीप्त हो रही थी। दाढ़ें भी बहुत बड़ी थीं, सींग तीखे थे और मैं महान् मृगके रूपमें मांस खाता हुआ दण्डकारण्यमें विचरने लगा॥ ३॥

अग्निहोत्रेषु तीर्थेषु चैत्यवृक्षेषु रावण।
अत्यन्तघोरो व्यचरंस्तापसांस्तान् प्रधर्षयन्॥ ४॥

'रावण! मैं अत्यन्त भयंकर रूप धारण किये अग्नि-शालाओंमें, जलाशयोंके घाटोंपर तथा देववृक्षोंके नीचे बैठे हुए तपस्वीजनोंको तिरस्कृत करता हुआ सब ओर विचरण करने लगा॥ ४॥

निहत्य दण्डकारण्ये तापसान् धर्मचारिणः।
रुधिराणि पिबंस्तेषां तन्मांसानि च भक्षयन्॥ ५॥

'दण्डकारण्यके भीतर धर्मानुष्ठानमें लगे हुए तापसोंको मारकर उनका रक्त पीना और मांस खाना यही मेरा काम था॥

ऋषिमांसाशनः क्रूरस्त्रासयन् वनगोचरान्।
तदा रुधिरमत्तोऽहं व्यचरं दण्डकावनम्॥ ६॥

'मेरा स्वभाव तो क्रूर था ही, मैं ऋषियोंके मांस खाता और वनमें विचरनेवाले प्राणियोंको डराता हुआ रक्तपान करके मतवाला हो दण्डकवनमें घूमने लगा॥ ६॥

तदाहं दण्डकारण्ये विचरन् धर्मदूषकः।
आसादयं तदा रामं तापसं धर्ममाश्रितम्॥ ७॥
वैदेहीं च महाभागां लक्ष्मणं च महारथम्।
तापसं नियताहारं सर्वभूतहिते रतम्॥ ८॥

'इस प्रकार उस समय दण्डकारण्यमें विचरता हुआ धर्मको कलङ्कित करनेवाला मैं मारीच तापस धर्मका आश्रय लेनेवाले श्रीराम, विदेहनन्दिनी महाभागा सीता तथा मिताहारी तपस्वीके रूपमें समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले महारथी लक्ष्मणके पास जा पहुँचा॥ ७-८॥

सोऽहं वनगतं रामं परिभूय महाबलम्।
तापसोऽयमिति ज्ञात्वा पूर्ववैरमनुस्मरन्॥ ९॥
अभ्यधावं सुसंक्रुद्धस्तीक्ष्णशृङ्गो मृगाकृतिः।
जिघांसुरकृतप्रज्ञस्तं प्रहारमनुस्मरन्॥ १०॥

'वनमें आये हुए महाबली श्रीरामको 'यह एक तपस्वी है' ऐसा जानकर उनकी अवहेलना करके मैं आगे बढ़ा और पहलेके वैरका बारंबार स्मरण करके अत्यन्त कुपित हो उनकी ओर दौड़ा। उस समय मेरी आकृति मृगके ही समान थी। मेरे सींग बड़े तीखे थे। उनके पहलेके प्रहारको याद करके मैं उन्हें मार डालना चाहता था। मेरी बुद्धि शुद्ध न होनेके कारण मैं उनकी शक्ति और प्रभावको भूल-सा गया था॥ ९-१०॥

तेन त्यक्तास्त्रयो बाणाः शिताः शत्रुनिबर्हणाः।
विकृष्य सुमहच्चापं सुपर्णानिलतुल्यगाः॥ ११॥

'हम तीनोंको आते देख श्रीरामने अपने विशाल धनुषको खींचकर तीन पैने बाण छोड़े, जो गरुड़ और वायुके समान शीघ्रगामी तथा शत्रुके प्राण लेनेवाले थे॥ ११॥

ते बाणा वज्रसंकाशाः सुघोरा रक्तभोजनाः।
आजग्मुः सहिताः सर्वे त्रयः संनतपर्वणः॥ १२॥

'झुकी हुई गाँठवाले वे सब तीनों बाण, जो वज्रके समान दुःसह, अत्यन्त भयंकर तथा रक्त पीनेवाले थे, एक साथ ही हमारी ओर आये॥ १२॥

पराक्रमज्ञो रामस्य शठो दृष्टभयः पुरा।
समुत्क्रान्तस्ततो मुक्तस्तावुभौ राक्षसौ हतौ॥ १३॥

'मैं तो श्रीरामके पराक्रमको जानता था और पहले एक बार उनके भयका सामना कर चुका था, इसलिये शठता-पूर्वक उछलकर भाग निकला। भाग जानेसे मैं तो बच गया; किंतु मेरे वे दोनों साथी राक्षस मारे गये॥ १३॥

शरेण मुक्तो रामस्य कथंचित् प्राप्य जीवितम्।
इह प्रव्राजितो युक्तस्तापसोऽहं समाहितः॥ १४॥

'इस बार श्रीरामके बाणसे किसी तरह छुटकारा पाकर मुझे नया जीवन मिला और तभीसे संन्यास लेकर समस्त दुष्कर्मोंका परित्याग करके स्थिरचित्त हो योगाभ्यासमें तत्पर रहकर तपस्यामें लग गया॥ १४॥

वृक्षे वृक्षे हि पश्यामि चीरकृष्णाजिनाम्बरम्।
गृहीतधनुषं रामं पाशहस्तमिवान्तकम्॥ १५॥

'अब मुझे एक-एक वृक्षमें चीर, काला मृगचर्म और धनुष धारण किये श्रीराम ही दिखायी देते हैं, जो मुझे पाशधारी यमराजके समान प्रतीत होते हैं॥ १५॥

अपि रामसहस्राणि भीतः पश्यामि रावण।
रामभूतमिदं सर्वमरण्यं प्रतिभाति मे॥ १६॥

'रावण! मैं भयभीत होकर हजारों रामोंको अपने सामने

खड़ा देखता हूँ। यह सारा वन ही मुझे राममय प्रतीत हो रहा है॥ १६॥

राममेव हि पश्यामि रहिते राक्षसेश्वर।
दृष्ट्वा स्वप्नगतं राममुद्भ्रमामि विचेतनः॥ १७॥

'राक्षसराज! जब मैं एकान्तमें बैठता हूँ, तब मुझे श्रीरामके ही दर्शन होते हैं। सपनेमें श्रीरामको देखकर मैं उद्भ्रान्त और अचेत-सा हो उठता हूँ॥ १७॥

रकारादीनि नामानि रामत्रस्तस्य रावण।
रत्नानि च रथाश्चैव वित्रासं जनयन्ति मे॥ १८॥

'रावण! मैं रामसे इतना भयभीत हो गया हूँ कि रत्न और रथ आदि जितने भी रकारादि नाम हैं, वे मेरे कानोंमें पड़ते ही मनमें भारी भय उत्पन्न कर देते हैं॥ १८॥

अहं तस्य प्रभावज्ञो न युद्धं तेन ते क्षमम्।
बलिं वा नमुचिं वापि हन्याद्धि रघुनन्दनः॥ १९॥

'मैं उनके प्रभावको अच्छी तरह जानता हूँ। इसीलिये कहता हूँ कि श्रीरामके साथ तुम्हारा युद्ध करना कदापि उचित नहीं है। रघुकुलनन्दन श्रीराम राजा बलि अथवा नमुचिका भी वध कर सकते हैं॥ १९॥

रणे रामेण युद्ध्यस्व क्षमां वा कुरु रावण।
न ते रामकथा कार्या यदि मां द्रष्टुमिच्छसि॥ २०॥

'रावण! तुम्हारी इच्छा हो तो रणभूमिमें श्रीरामके साथ युद्ध करो अथवा उन्हें क्षमा कर दो, किंतु यदि मुझे जीवित देखना चाहते हो तो मेरे सामने श्रीरामकी चर्चा न करो॥

बहवः साधवो लोके युक्ता धर्ममनुष्ठिताः।
परेषामपराधेन विनष्टाः सपरिच्छदाः॥ २१॥

'लोकमें बहुत-से साधुपुरुष, जो योगयुक्त होकर केवल धर्मके ही अनुष्ठानमें लगे रहते थे, दूसरोंके अपराधसे ही परिकरोंसहित नष्ट हो गये॥ २१॥

सोऽहं परापराधेन विनशेयं निशाचर।
कुरु यत् ते क्षमं तत्त्वमहं त्वां नानुयामि वै॥ २२॥

'निशाचर! मैं भी किसी तरह दूसरोंके अपराधसे नष्ट हो सकता हूँ, अतः तुम्हें जो उचित जान पड़े, वह करो। मैं इस कार्यमें तुम्हारा साथ नहीं दे सकता॥ २२॥

रामश्च हि महातेजा महासत्त्वो महाबलः।
अपि राक्षसलोकस्य भवेदन्तकरोऽपि हि॥ २३॥

'क्योंकि श्रीरामचन्द्रजी बड़े तेजस्वी, महान् आत्मबलसे सम्पन्न तथा अधिक बलशाली हैं। वे समस्त राक्षस-जगत्का भी संहार कर सकते हैं॥ २३॥

यदि शूर्पणखाहेतोर्जनस्थानगतः खरः।
अतिवृत्तो हतः पूर्वं रामेणाक्लिष्टकर्मणा।
अत्र ब्रूहि यथातत्त्वं को रामस्य व्यतिक्रमः॥ २४॥

'यदि शूर्पणखाका बदला लेनेके लिये जनस्थान-निवासी खर पहले श्रीरामपर चढ़ाई करनेके लिये गया और अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरामके हाथसे मारा गया तो तुम्हीं ठीक-ठीक बताओ, इसमें श्रीरामका क्या अपराध है?॥ २४॥

इदं वचो बन्धुहितार्थिना मया
यथोच्यमानं यदि नाभिपत्स्यसे।
सबान्धवस्त्यक्ष्यसि जीवितं रणे
हतोऽद्य रामेण शरैरजिह्मगैः॥ २५॥

'तुम मेरे बन्धु हो। मैं तुम्हारा हित करनेकी इच्छासे ही ये बातें कह रहा हूँ। यदि नहीं मानोगे तो युद्धमें आज रामके सीधे जानेवाले बाणोंद्वारा घायल होकर तुम्हें बन्धु-बान्धवोंसहित प्राणोंका परित्याग करना पड़ेगा'॥ २५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकोनचत्वारिंशः सर्गः॥ ३९॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें उनतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३९॥

—★—

चत्वारिंशः सर्गः

रावणका मारीचको फटकारना और सीताहरणके कार्यमें सहायता करनेकी आज्ञा देना

मारीचस्य तु तद् वाक्यं क्षमं युक्तं च रावणः।
उक्तो न प्रतिजग्राह मर्तुकाम इवौषधम्॥ १॥

मारीचका वह कथन उचित और माननेयोग्य था तो भी जैसे मरनेकी इच्छावाला रोगी दवा नहीं लेता, उसी प्रकार उसके बहुत कहनेपर भी रावणने उसकी बात नहीं मानी॥

तं पथ्यहितवक्तारं मारीचं राक्षसाधिपः।
अब्रवीत् परुषं वाक्यमयुक्तं कालचोदितः॥ २॥

कालसे प्रेरित हुए उस राक्षसराजने यथार्थ और हितकी बात बतानेवाले मारीचसे अनुचित और कठोर वाणीमें कहा—॥ २॥

दुष्कुलैतदयुक्तार्थं मारीच मयि कथ्यते।
वाक्यं निष्फलमत्यर्थं बीजमुप्तमिवोषरे॥ ३॥

'दूषित कुलमें उत्पन्न मारीच! तुमने मेरे प्रति जो ये अनाप-शनाप बातें कही हैं, ये मेरे लिये अनुचित और असंगत हैं, ऊसरमें बोये हुए बीजके समान अत्यन्त निष्फल हैं॥ ३॥

त्वद्वाक्यैर्न तु मां शक्यं भेत्तुं रामस्य संयुगे।
मूर्खस्य पापशीलस्य मानुषस्य विशेषतः॥ ४॥

'तुम्हारे इन वचनोंद्वारा मूर्ख, पापाचारी और विशेषतः मनुष्य रामके साथ युद्ध करने अथवा उसकी स्त्रीका अपहरण करनेके निश्चयसे मुझे विचलित नहीं किया जा सकता॥ ४॥

यस्त्यक्त्वा सुहृदो राज्यं मातरं पितरं तथा।
स्त्रीवाक्यं प्राकृतं श्रुत्वा वनमेकपदे गतः॥ ५॥
अवश्यं तु मया तस्य संयुगे खरघातिनः।
प्राणैः प्रियतरा सीता हर्तव्या तव संनिधौ॥ ६॥

'एक स्त्री (कैकेयी) के मूर्खतापूर्ण वचन सुनकर जो राज्य, मित्र, माता और पिताको छोड़कर सहसा जंगलमें चला आया है तथा जिसने युद्धमें खरका वध किया है, उस रामचन्द्रकी प्राणोंसे भी प्यारी भार्या सीताका मैं तुम्हारे निकट ही अवश्य हरण करूँगा॥ ५-६॥

एवं मे निश्चिता बुद्धिर्हृदि मारीच विद्यते।
न व्यावर्तयितुं शक्या सेन्द्रैरपि सुरासुरैः॥ ७॥

'मारीच! ऐसा मेरे हृदयका निश्चित विचार है, इसे इन्द्र आदि देवता और सारे असुर मिलकर भी बदल नहीं सकते॥ ७॥

दोषं गुणं वा सम्पृष्टस्त्वमेवं वक्तुमर्हसि।
अपायं वा उपायं वा कार्यस्यास्य विनिश्चये॥ ८॥

'यदि इस कार्यका निर्णय करनेके लिये तुमसे पूछा जाता 'इसमें क्या दोष है, क्या गुण है, इसकी सिद्धिमें कौन-सा विघ्न है अथवा इस कार्यको सिद्ध करनेका कौन-सा उपाय है' तो तुम्हें ऐसी बातें कहनी चाहिये थीं॥ ८॥

सम्पृष्टेन तु वक्तव्यं सचिवेन विपश्चिता।
उद्यताञ्जलिना राज्ञो य इच्छेद् भूतिमात्मनः॥ ९॥

'जो अपना कल्याण चाहता हो, उस बुद्धिमान् मन्त्रीको उचित है कि वह राजासे उसके पूछनेपर ही अपना अभिप्राय प्रकट करे और वह भी हाथ जोड़कर नम्रताके साथ॥ ९॥

वाक्यमप्रतिकूलं तु मृदुपूर्वं शुभं हितम्।
उपचारेण वक्तव्यो युक्तं च वसुधाधिपः॥ १०॥

'राजाके सामने ऐसी बात कहनी चाहिये, जो सर्वथा अनुकूल, मधुर, उत्तम, हितकर, आदरसे युक्त और उचित हो॥

सावमर्दं तु यद्वाक्यमथवा हितमुच्यते।
नाभिनन्देत तद् राजा मानार्थी मानवर्जितम्॥ ११॥

'राजा सम्मानका भूखा होता है। उसकी बातका खण्डन करके आक्षेपपूर्ण भाषामें यदि हितकर वचन भी कहा जाय तो उस अपमानपूर्ण वचनका वह कभी अभिनन्दन नहीं कर सकता॥ ११॥

पञ्च रूपाणि राजानो धारयन्त्यमितौजसः।
अग्नेरिन्द्रस्य सोमस्य यमस्य वरुणस्य च॥ १२॥
औष्ण्यं तथा विक्रमं च सौम्यं दण्डं प्रसन्नताम्।
धारयन्ति महात्मानो राजानः क्षणदाचर॥ १३॥

'निशाचर! अमित तेजस्वी महामनस्वी राजा अग्नि, इन्द्र, सोम, यम और वरुण—इन पाँच देवताओंके स्वरूप धारण किये रहते हैं, इसीलिये वे अपनेमें इन पाँचोंके गुण-प्रताप, पराक्रम, सौम्यभाव, दण्ड और प्रसन्नता भी धारण करते हैं॥

तस्मात् सर्वास्ववस्थासु मान्याः पूज्याश्च नित्यदा।
त्वं तु धर्ममविज्ञाय केवलं मोहमाश्रितः॥ १४॥
अभ्यागतं तु दौरात्म्यात् परुषं वदसीदृशम्।
गुणदोषौ न पृच्छामि क्षेमं चात्मनि राक्षस॥ १५॥

'अतः सभी अवस्थाओंमें सदा राजाओंका सम्मान और पूजन ही करना चाहिये। तुम तो अपने धर्मको न जानकर केवल मोहके वशीभूत हो रहे हो। मैं तुम्हारा अभ्यागत-अतिथि हूँ तो भी तुम दुष्टतावश मुझसे ऐसी कठोर बातें कह रहे हो। राक्षस! मैं तुमसे अपने कर्तव्यके गुण-दोष नहीं पूछता हूँ और न यही जानना चाहता हूँ कि मेरे लिये क्या उचित है॥ १४-१५॥

मयोक्तमपि चैतावत् त्वां प्रत्यमितविक्रम।
अस्मिंस्तु स भवान् कृत्ये साहाय्यं कर्तुमर्हसि॥ १६॥

'अमितपराक्रमी मारीच! मैंने तो तुमसे इतना ही कहा था कि इस कार्यमें तुम्हें मेरी सहायता करनी चाहिये॥ १६॥

शृणु तत्कर्म साहाय्ये यत्कार्यं वचनान्मम।
सौवर्णस्त्वं मृगो भूत्वा चित्रो रजतबिन्दुभिः॥ १७॥
आश्रमे तस्य रामस्य सीतायाः प्रमुखे चर।
प्रलोभयित्वा वैदेहीं यथेष्टं गन्तुमर्हसि॥ १८॥

'अच्छा, अब तुम्हें सहायताके लिये मेरे कथनानुसार जो कार्य करना है, उसे सुनो। तुम सुवर्णमय चर्मसे युक्त चितकबरे रंगके मृग हो जाओ। तुम्हारे सारे अङ्गमें चाँदीकी-सी सफेद बूँदें रहनी चाहिये। ऐसा रूप धारण करके तुम रामके आश्रममें सीताके सामने विचरो। एक बार विदेहकुमारीको लुभाकर जहाँ तुम्हारी इच्छा हो उधर ही चले जाओ॥ १७-१८॥

त्वां हि मायामयं दृष्ट्वा काञ्चनं जातविस्मया।
आनयैनमिति क्षिप्रं रामं वक्ष्यति मैथिली॥ १९॥

'तुम मायामय काञ्चन मृगको देखकर मिथिलेशकुमारी सीताको बड़ा आश्चर्य होगा और वह शीघ्र ही रामसे कहेगी कि आप इसे पकड़ लाइये॥ १९॥

अपक्रान्ते च काकुत्स्थे दूरं गत्वाप्युदाहर।
हा सीते लक्ष्मणेत्येवं रामवाक्यानुरूपकम्॥ २०॥

'जब राम तुम्हें पकड़नेके लिये आश्रमसे दूर चले जायँ तो तुम भी दूरतक जाकर श्रीरामकी बोलीके अनुरूप ही—ठीक उन्हींके स्वरमें 'हा सीते! हा लक्ष्मण!' कहकर पुकारना॥ २०॥

तच्छ्रुत्वा रामपदवीं सीतया च प्रचोदितः।
अनुगच्छति सम्भ्रान्तं सौमित्रिरपि सौहृदात्॥ २१॥

'तुम्हारी उस पुकारको सुनकर सीताकी प्रेरणासे सुमित्राकुमार लक्ष्मण भी स्नेहवश घबराये हुए अपने भाईके ही मार्गका अनुसरण करेंगे॥ २१॥

अपक्रान्ते च काकुत्स्थे लक्ष्मणे च यथासुखम्।
आहरिष्यामि वैदेहीं सहस्राक्षः शचीमिव॥ २२॥

'इस प्रकार राम और लक्ष्मण दोनोंके आश्रमसे दूर निकल जानेपर मैं सुखपूर्वक सीताको हर लाऊँगा, ठीक उसी तरह जैसे इन्द्र शचीको हर लाये थे॥ २२॥

एवं कृत्वा त्विदं कार्यं यथेष्टं गच्छ राक्षस।
राज्यस्यार्धं प्रदास्यामि मारीच तव सुव्रत॥ २३॥

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले राक्षस मारीच! इस प्रकार इस कार्यको सम्पन्न करके जहाँ तुम्हारी इच्छा हो, वहाँ चले जाना। मैं इसके लिये तुम्हें अपना आधा राज्य दे दूँगा॥ २३॥

गच्छ सौम्य शिवं मार्गं कार्यस्यास्य विवृद्धये।
अहं त्वानुगमिष्यामि सरथो दण्डकावनम्॥ २४॥

'सौम्य! अब इस कार्यकी सिद्धिके लिये प्रस्थान करो। तुम्हारा मार्ग मङ्गलमय हो। मैं रथपर बैठकर दण्डकवनतक तुम्हारे पीछे-पीछे चलूँगा॥ २४॥

प्राप्य सीतामयुद्धेन वञ्चयित्वा तु राघवम्।
लङ्कां प्रति गमिष्यामि कृतकार्यः सह त्वया॥ २५॥

'रामको धोखा देकर बिना युद्ध किये ही सीताको अपने हाथमें करके कृतार्थ हो तुम्हारे साथ ही लंकाको लौट चलूँगा॥ २५॥

नो चेत् करोषि मारीच हन्मि त्वामहमद्य वै।
एतत् कार्यमवश्यं मे बलादपि करिष्यसि।
राज्ञो विप्रतिकूलस्थो न जातु सुखमेधते॥ २६॥

मारीच! यदि तुम इनकार करोगे तो तुम्हें अभी मार डालूँगा। मेरा यह कार्य तुम्हें अवश्य करना पड़ेगा। मैं बलप्रयोग करके भी तुमसे यह काम कराऊँगा। राजाके प्रतिकूल चलनेवाला पुरुष कभी सुखी नहीं होता है॥ २६॥

आसाद्य तं जीवितसंशयस्ते
मृत्युर्ध्रुवो ह्यद्य मया विरुध्यतः।
एतद् यथावत् परिगण्य बुद्ध्या
यदत्र पथ्यं कुरु तत्तथा त्वम्॥ २७॥

'रामके सामने जानेपर तुम्हारे प्राण जानेका संदेहमात्र है, परंतु मेरे साथ विरोध करनेपर तो आज ही तुम्हारी मृत्यु निश्चित है। इन बातोंपर बुद्धि लगाकर भलीभाँति विचार कर लो। उसके बाद यहाँ जो हितकर जान पड़े, उसे उसी प्रकार तुम करो'॥ २७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे चत्वारिंशः सर्गः॥ ४०॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें चालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ४०॥

एकचत्वारिंशः सर्गः

मारीचका रावणको विनाशका भय दिखाकर पुनः समझाना

आज्ञप्तो रावणेनेत्थं प्रतिकूलं च राजवत्।
अब्रवीत् परुषं वाक्यं निःशङ्को राक्षसाधिपम्॥ १॥

रावणने जब राजाकी भाँति उसे ऐसी प्रतिकूल आज्ञा दी, तब मारीचने निःशङ्क होकर उस राक्षसराजसे कठोर वाणीमें कहा—॥

केनायमुपदिष्टस्ते विनाशः पापकर्मणा।
सपुत्रस्य सराज्यस्य सामात्यस्य निशाचर॥ २॥

'निशाचर! किस पापीने तुम्हें पुत्र, राज्य और मन्त्रियोंसहित तुम्हारे विनाशका यह मार्ग बताया है?॥ २॥

कस्त्वया सुखिना राजन् नाभिनन्दति पापकृत्।
केनेदमुपदिष्टं ते मृत्युद्वारमुपायतः॥ ३॥

'राजन्! कौन ऐसा पापाचारी है, जो तुम्हें सुखी देखकर प्रसन्न नहीं हो रहा है? किसने युक्तिसे तुम्हें मौतके द्वारपर जानेकी यह सलाह दी है?॥ ३॥

शत्रवस्तव सुव्यक्तं हीनवीर्या निशाचर।
इच्छन्ति त्वां विनश्यन्तमुपरुद्धं बलीयसा॥ ४॥

'निशाचर! आज यह बात स्पष्टरूपसे ज्ञात हो गयी कि तुम्हारे दुर्बल शत्रु तुम्हें किसी बलवान्से भिड़ाकर नष्ट होते देखना चाहते हैं॥ ४॥

केनेदमुपदिष्टं ते क्षुद्रेणाहितबुद्धिना।
यस्त्वामिच्छति नश्यन्तं स्वकृतेन निशाचर॥ ५॥

'राक्षसराज! तुम्हारे अहितका विचार रखनेवाले किस नीचने तुम्हें यह पाप करनेका उपदेश दिया है? जान पड़ता है कि वह तुम्हें अपने ही कुकर्मसे नष्ट होते देखना चाहता है॥ ५॥

वध्याः खलु न वध्यन्ते सचिवास्तव रावण।
ये त्वामुत्पथमारूढं न निगृह्णन्ति सर्वशः॥ ६॥

'रावण! निश्चय ही वधके योग्य तुम्हारे वे मन्त्री हैं, जो कुमार्गपर आरूढ़ हुए तुम-जैसे राजाको सब प्रकारसे रोक नहीं रहे हैं; किंतु तुम उनका वध नहीं करते हो॥ ६॥

अमात्यैः कामवृत्तो हि राजा कापथमाश्रितः।
निग्राह्यः सर्वथा सद्भिः स निग्राह्यो न गृह्यसे॥ ७॥

'अच्छे मन्त्रियोंको चाहिये कि जो राजा स्वेच्छाचारी होकर कुमार्गपर चलने लगे, उसे सब प्रकारसे वे रोकें। तुम भी रोकनेके ही योग्य हो; फिर भी वे मन्त्री तुम्हें रोक नहीं रहे हैं॥ ७॥

धर्ममर्थं च कामं च यशश्च जयतां वर।
स्वामिप्रसादात् सचिवाः प्राप्नुवन्ति निशाचर॥ ८॥

'विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ निशाचर! मन्त्री अपने स्वामी राजाकी कृपासे ही धर्म, अर्थ, काम और यश पाते हैं॥ ८॥

विपर्यये तु तत्सर्वं व्यर्थं भवति रावण।
व्यसनं स्वामिवैगुण्यात् प्राप्नुवन्तीतरे जनाः॥ ९॥

'रावण ! यदि स्वामीकी कृपा न हो तो सब व्यर्थ हो जाता है। राजाके दोषसे दूसरे लोगोंको भी कष्ट भोगना पड़ता है ॥ ९ ॥

राजमूलो हि धर्मश्च यशश्च जयतां वर।
तस्मात् सर्वास्ववस्थासु रक्षितव्या नराधिपाः ॥ १० ॥

'विजयशीलोंमें श्रेष्ठ राक्षसराज ! धर्म और यशकी प्राप्तिका मूल कारण राजा ही है; अतः सभी अवस्थाओंमें राजाकी रक्षा करनी चाहिये ॥ १० ॥

राज्यं पालयितुं शक्यं न तीक्ष्णेन निशाचर।
न चातिप्रतिकूलेन नाविनीतेन राक्षस ॥ ११ ॥

'रात्रिमें विचरनेवाले राक्षस ! जिसका स्वभाव अत्यन्त तीखा हो, जो जनताके अत्यन्त प्रतिकूल चलनेवाला और उद्दण्ड हो, ऐसे राजासे राज्यकी रक्षा नहीं हो सकती ॥ ११ ॥

ये तीक्ष्णमन्त्राः सचिवा भुज्यन्ते सह तेन वै।
विषमेषु रथाः शीघ्रं मन्दसारथयो यथा ॥ १२ ॥

जो मन्त्री तीखे उपायका उपदेश करते हैं, वे अपनी सलाह माननेवाले उस राजाके साथ ही दुःख भोगते हैं, जैसे जिनके सारथि मूर्ख हों, ऐसे रथ नीची-ऊँची भूमिमें जानेपर सारथियोंके साथ ही संकटमें पड़ जाते हैं ॥ १२ ॥

बहवः साधवो लोके युक्तधर्ममनुष्ठिताः।
परेषामपराधेन विनष्टाः सपरिच्छदाः ॥ १३ ॥

'उपयुक्त धर्मका अनुष्ठान करनेवाले बहुत-से साधु-पुरुष इस जगत्में दूसरोंके अपराधसे परिवारसहित नष्ट हो गये हैं ॥ १३ ॥

स्वामिना प्रतिकूलेन प्रजास्तीक्ष्णेन रावण।
रक्ष्यमाणा न वर्धन्ते मेषा गोमायुना यथा ॥ १४ ॥

'रावण ! प्रतिकूल बर्ताव और तीखे स्वभाववाले राजासे रक्षित होनेवाली प्रजा उसी तरह वृद्धिको नहीं प्राप्त होती है, जैसे गीदड़ या भेड़ियेसे पालित होनेवाली भेड़ें ॥ १४ ॥

अवश्यं विनशिष्यन्ति सर्वे रावण राक्षसाः।
येषां त्वं कर्कशो राजा दुर्बुद्धिरजितेन्द्रियः ॥ १५ ॥

'रावण ! जिनके तुम क्रूर, दुर्बुद्धि और अजितेन्द्रिय राजा हो, वे सब राक्षस अवश्य ही नष्ट हो जायँगे ॥ १५ ॥

तदिदं काकतालीयं घोरमासादितं मया।
अत्र त्वं शोचनीयोऽसि ससैन्यो विनशिष्यसि ॥ १६ ॥

'काकतालीय न्यायके अनुसार मुझे तुमसे अकस्मात् ही यह घोर दुःख प्राप्त हो गया। इस विषयमें मुझे तुम ही शोकके योग्य जान पड़ते हो; क्योंकि सेनासहित तुम्हारा नाश हो जायगा ॥ १६ ॥

मां निहत्य तु रामोऽसावचिरात् त्वां वधिष्यति।
अनेन कृतकृत्योऽस्मि म्रिये चाप्यरिणा हतः ॥ १७ ॥

'श्रीरामचन्द्रजी मुझे मारकर तुम्हारा भी शीघ्र ही वध कर डालेंगे। जब दोनों ही तरहसे मेरी मृत्यु निश्चित है, तब श्रीरामके हाथसे होनेवाली जो यह मृत्यु है, इसे पाकर मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा; क्योंकि शत्रुके द्वारा युद्धमें मारा जाकर प्राणत्याग करूँगा (तुम-जैसे राजाके हाथसे बलपूर्वक प्राणदण्ड पानेका कष्ट नहीं भोगूँगा) ॥ १७ ॥

दर्शनादेव रामस्य हतं मामवधारय।
आत्मानं च हतं विद्धि हृत्वा सीतां सबान्धवम् ॥ १८ ॥

'राजन् ! यह निश्चित समझो कि श्रीरामके सामने जाकर उनकी दृष्टि पड़ते ही मैं मारा जाऊँगा और यदि तुमने सीताका हरण किया तो तुम अपनेको भी बन्धु-बान्धवोंसहित मरा हुआ ही मानो ॥ १८ ॥

आनयिष्यसि चेत् सीतामाश्रमात् सहितो मया।
नैव त्वमपि नाहं वै नैव लङ्का न राक्षसाः ॥ १९ ॥

'यदि तुम मेरे साथ जाकर श्रीरामके आश्रमसे सीताका अपहरण करोगे, तब न तो तुम जीवित बचोगे और न मैं ही। न लंकापुरी रहने पायेगी और न वहाँके निवासी राक्षस ही ॥

निवार्यमाणस्तु मया हितैषिणा
न मृष्यसे वाक्यमिदं निशाचर।
परेतकल्पा हि गतायुषो नरा
हितं न गृह्णन्ति सुहृद्भिरीरितम् ॥ २० ॥

'निशाचर ! मैं तुम्हारा हितैषी हूँ, इसीलिये तुम्हें पापकर्मसे रोक रहा हूँ; किंतु तुम्हें मेरी बात सहन नहीं होती है। सच है जिनकी आयु समाप्त हो जाती है, वे मरणासन्न पुरुष अपने सुहृदोंकी कही हुई हितकर बातें नहीं स्वीकार करते हैं' ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें इकतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशः सर्गः

मारीचका सुवर्णमय मृगरूप धारण करके श्रीरामके आश्रमपर जाना और सीताका उसे देखना

एवमुक्त्वा तु परुषं मारीचो रावणं ततः।
गच्छावेत्यब्रवीद् दीनो भयाद् रात्रिंचरप्रभोः ॥ १ ॥

रावणसे इस प्रकार कठोर बातें कहकर उस निशाचर-राजके भयसे दुःखी हुए मारीचने कहा—'चलो चलें ॥ १ ॥

दृष्टश्चाहं पुनस्तेन शरचापासिधारिणा।
मद्वधोद्यतशस्त्रेण निहतं जीवितं च मे ॥ २ ॥

'मेरे वधके लिये जिनका हथियार सदा उठा ही रहता है, उन धनुष-बाण और तलवार धारण करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीने

यदि फिर मुझे देख लिया तो मेरे जीवनका अन्त निश्चित है ॥

नहि रामं पराक्रम्य जीवन् प्रतिनिवर्तते ।
वर्तते प्रतिरूपोऽसौ यमदण्डहतस्य ते ॥ ३ ॥

'श्रीरामचन्द्रजीके साथ पराक्रम दिखाकर कोई जीवित नहीं लौटता है। तुम यमदण्डसे मारे गये हो (इसीलिये उनसे भिड़नेकी बात सोचते हो)। वे श्रीरामचन्द्रजी तुम्हारे लिये यमदण्डके ही समान हैं ॥ ३ ॥

किं नु कर्तुं मया शक्यमेवं त्वयि दुरात्मनि ।
एष गच्छाम्यहं तात स्वस्ति तेऽस्तु निशाचर ॥ ४ ॥

'परंतु जब तुम इस प्रकार दुष्टतापर उतारू हो गये, तब मैं क्या कर सकता हूँ। लो, यह मैं चलता हूँ। तात निशाचर! तुम्हारा कल्याण हो' ॥ ४ ॥

प्रहृष्टस्त्वभवत् तेन वचनेन स राक्षसः ।
परिष्वज्य सुसंश्लिष्टमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

मारीचके उस वचनसे राक्षस रावणको बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने उसे कसकर हृदयसे लगा लिया और इस प्रकार कहा— ॥ ५ ॥

एतच्छौटीर्ययुक्तं ते मच्छन्दवशवर्तिनः ।
इदानीमसि मारीचः पूर्वमन्यो हि राक्षसः ॥ ६ ॥

'यह तुमने वीरताकी बात कही है; क्योंकि अब तुम मेरी इच्छाके वशवर्ती हो गये हो। इस समय तुम वास्तवमें मारीच हो। पहले तुममें किसी दूसरे राक्षसका आवेश हो गया था ॥

आरुह्यतामयं शीघ्रं खगो रत्नविभूषितः ।
मया सह रथो युक्तः पिशाचवदनैः खरैः ॥ ७ ॥

'यह रत्नोंसे विभूषित मेरा आकाशगामी रथ तैयार है, इसमें पिशाचोंके-से मुखवाले गधे जुते हुए हैं, इसपर मेरे साथ जल्दीसे बैठ जाओ ॥ ७ ॥

प्रलोभयित्वा वैदेहीं यथेष्टं गन्तुमर्हसि ।
तां शून्ये प्रसभं सीतामानयिष्यामि मैथिलीम् ॥ ८ ॥

'(तुम्हारे जिम्मे एक ही काम है) विदेहकुमारी सीताके मनमें अपने लिये लोभ उत्पन्न कर दो। उसे लुभाकर तुम जहाँ चाहो जा सकते हो। आश्रम सूना हो जानेपर मैं मिथिलेशकुमारी सीताको जबरदस्ती उठा लाऊँगा' ॥ ८ ॥

ततस्तथेत्युवाचैनं रावणं ताटकासुतः ।
ततो रावणमारीचौ विमानमिव तं रथम् ॥ ९ ॥
आरुह्यायतुः शीघ्रं तस्मादाश्रममण्डलात् ।

तब ताटकाकुमार मारीचने रावणसे कहा—'तथास्तु' ऐसा ही हो। तदनन्तर रावण और मारीच दोनों उस विमानाकार रथपर बैठकर शीघ्र ही उस आश्रममण्डलसे चल दिये ॥ ९½ ॥

तथैव तत्र पश्यन्तौ पत्तनानि वनानि च ॥ १० ॥
गिरींश्च सरितः सर्वा राष्ट्राणि नगराणि च ।
समेत्य दण्डकारण्यं राघवस्याश्रमं ततः ॥ ११ ॥
ददर्श सहमारीचो रावणो राक्षसाधिपः ।

मार्गमें पहलेकी ही भाँति अनेकानेक पत्तनों, वनों, पर्वतों, समस्त नदियों, राष्ट्रों तथा नगरोंको देखते हुए दोनोंने दण्डकारण्यमें प्रवेश किया और वहाँ मारीचसहित राक्षसराज रावणने श्रीरामचन्द्रजीका आश्रम देखा ॥ १०-११½ ॥

अवतीर्य रथात् तस्मात् ततः काञ्चनभूषणात् ॥ १२ ॥
हस्ते गृहीत्वा मारीचं रावणो वाक्यमब्रवीत् ।

तब उस सुवर्णभूषित रथसे उतरकर रावणने मारीचका हाथ अपने हाथमें ले उससे कहा— ॥ १२½ ॥

एतद् रामाश्रमपदं दृश्यते कदलीवृतम् ॥ १३ ॥
क्रियतां तत् सखे शीघ्रं यदर्थं वयमागताः ।

'सखे! यह केलोंसे घिरा हुआ रामका आश्रम दिखायी दे रहा है। अब शीघ्र ही वह कार्य करो, जिसके लिये हमलोग यहाँ आये हैं' ॥ १३½ ॥

स रावणवचः श्रुत्वा मारीचो राक्षसस्तदा ॥ १४ ॥
मृगो भूत्वाऽऽश्रमद्वारि रामस्य विचचार ह ।

रावणकी बात सुनकर राक्षस मारीच उस समय मृगका रूप धारण करके श्रीरामके आश्रमके द्वारपर विचरने लगा ॥

स तु रूपं समास्थाय महदद्भुतदर्शनम् ॥ १५ ॥
मणिप्रवरशृङ्गाग्रः सितासितमुखाकृतिः ।
रक्तपद्मोत्पलमुख इन्द्रनीलोत्पलश्रवाः ॥ १६ ॥
किंचिदभ्युन्नतग्रीव इन्द्रनीलनिभोदरः ।
मधूकनिभपार्श्वश्च कञ्जकिञ्जल्कसंनिभः ॥ १७ ॥

उस समय उसने देखनेमें बड़ा ही अद्भुत रूप धारण कर रखा था। उसके सींगोंके ऊपरी भाग इन्द्रनील नामक श्रेष्ठ मणिके बने हुए जान पड़ते थे, मुखमण्डलपर सफेद और काले रंगकी बूँदें थीं, मुखका रंग लाल कमलके समान था। उसके कान नीलकमलके तुल्य थे और गरदन कुछ ऊँची थी, उदरका भाग इन्द्रनीलमणिकी कान्ति धारण कर रहा था। पार्श्वभाग महुएके फूलके समान श्वेतवर्णके थे, शरीरका सुनहरा रंग कमलके केसरकी भाँति सुशोभित होता था ॥

वैदूर्यसंकाशखुरस्तनुजङ्घः सुसंहतः ।
इन्द्रायुधसवर्णेन पुच्छेनोर्ध्वं विराजितः ॥ १८ ॥

उसके खुर वैदूर्यमणिके समान, पिंडलियाँ पतली और पूँछ ऊपरसे इन्द्रधनुषके रंगकी थी, जिससे उसका संगठित शरीर विशेष शोभा पा रहा था ॥ १८ ॥

मनोहरस्निग्धवर्णो रत्नैर्नानाविधैर्वृतः ।
क्षणेन राक्षसो जातो मृगः परमशोभनः ॥ १९ ॥

उसकी देहकी कान्ति बड़ी ही मनोहर और चिकनी थी। वह नाना प्रकारकी रत्नमयी बुँदकियोंसे विभूषित दिखायी देता था। राक्षस मारीच क्षणभरमें ही परम शोभाशाली मृग बन गया ॥ १९ ॥

वनं प्रज्वलयन् रम्यं रामाश्रमपदं च तत् ।
मनोहरं दर्शनीयं रूपं कृत्वा स राक्षसः ॥ २० ॥

प्रलोभनार्थं वैदेह्या नानाधातुविचित्रितम्।
विचरन् गच्छते सम्यक् शाद्वलानि समन्ततः॥ २१॥

सीताको लुभानेके लिये विविध धातुओंसे चित्रित मनोहर एवं दर्शनीय रूप बनाकर वह निशाचर उस रमणीय वन तथा श्रीरामके उस आश्रमको प्रकाशित करता हुआ सब ओर उत्तम घासोंको चरने और विचरने लगा॥ २०-२१॥

रौप्यैर्बिन्दुशतैश्चित्रं भूत्वा च प्रियदर्शनः।
विटपीनां किसलयान् भक्षयन् विचचार ह॥ २२॥

सैकड़ों रजतमय बिन्दुओंसे युक्त विचित्र रूप धारण करके वह मृग बड़ा प्यारा दिखायी देता था। वह वृक्षोंके कोमल पल्लवोंको खाता हुआ इधर-उधर विचरने लगा॥

कदलीगृहकं गत्वा कर्णिकारानितस्ततः।
समाश्रयन् मन्दगतिं सीतासंदर्शनं ततः॥ २३॥

केलेके बगीचेमें जाकर वह कनेरोंके कुञ्जमें जा पहुँचा। फिर जहाँ सीताकी दृष्टि पड़ सके, ऐसे स्थानमें जाकर मन्दगतिका आश्रय ले इधर-उधर घूमने लगा॥ २३॥

राजीवचित्रपृष्ठः स विरराज महामृगः।
रामाश्रमपदाभ्याशे विचचार यथासुखम्॥ २४॥

उसका पृष्ठभाग कमलके केसरकी भाँति सुनहरे रंगका होनेके कारण विचित्र दिखायी देता था, इससे उस महान् मृगकी बड़ी शोभा हो रही थी। श्रीरामचन्द्रजीके आश्रमके निकट ही वह अपनी मौजसे घूम रहा था॥ २४॥

पुनर्गत्वा निवृत्तश्च विचचार मृगोत्तमः।
गत्वा मुहूर्तं त्वरया पुनः प्रतिनिवर्तते॥ २५॥

वह श्रेष्ठ मृग कुछ दूर जाकर फिर लौट आता था और वहीं घूमने लगता था। दो घड़ीके लिये कहीं चला जाता और फिर बड़ी उतावलीके साथ लौट आता था॥ २५॥

विक्रीडंश्च क्वचिद् भूमौ पुनरेव निषीदति।
आश्रमद्वारमागम्य मृगयूथानि गच्छति॥ २६॥

वह कहीं खेलता, कूदता और पुनः भूमिपर ही बैठ जाता था, फिर आश्रमके द्वारपर आकर मृगोंके झुंडके पीछे-पीछे चल देता॥ २६॥

मृगयूथैरनुगतः पुनरेव निवर्तते।
सीतादर्शनमाकाङ्क्षन् राक्षसो मृगतां गतः॥ २७॥

तत्पश्चात् झुंड-के-झुंड मृगोंको साथ लिये फिर लौट आता था। उस मृगरूपधारी राक्षसके मनमें केवल यह अभिलाषा थी कि किसी तरह सीताकी दृष्टि मुझपर पड़ जाय॥ २७॥

परिभ्रमति चित्राणि मण्डलानि विनिष्पतन्।
समुद्वीक्ष्य च सर्वे तं मृगा येऽन्ये वनेचराः॥ २८॥
उपगम्य समाघ्राय विद्रवन्ति दिशो दश।

सीताके समीप आते समय वह विचित्र मण्डल (पैंतरे) दिखाता हुआ चारों ओर चक्कर लगाता था। उस वनमें विचरनेवाले जो दूसरे मृग थे, वे सब उसे देखकर पास आते और उसे सूँघकर दसों दिशाओंमें भाग जाते थे॥ २८½॥

राक्षसः सोऽपि तान् वन्यान् मृगान् मृगवधे रतः॥ २९॥
प्रच्छादनार्थं भावस्य न भक्षयति संस्पृशन्।

राक्षस मारीच यद्यपि मृगोंके वधमें ही तत्पर रहता था तथापि उस समय अपने भावको छिपानेके लिये उन वन्य मृगोंका स्पर्श करके भी उन्हें खाता नहीं था॥ २९½॥

तस्मिन्नेव ततः काले वैदेही शुभलोचना॥ ३०॥
कुसुमापचये व्यग्रा पादपानत्यवर्तत।
कर्णिकारानशोकांश्च चूतांश्च मदिरेक्षणा॥ ३१॥

उसी समय मदभरे सुन्दर नेत्रोंवाली विदेहनन्दिनी सीता, जो फूल चुननेमें लगी हुई थीं, कनेर, अशोक और आमके वृक्षोंको लाँघती हुई उधर आ निकलीं॥ ३०-३१॥

कुसुमान्यपचिन्वन्ती चचार रुचिरानना।
अनर्हा वनवासस्य सा तं रत्नमयं मृगम्॥ ३२॥
मुक्तामणिविचित्राङ्गं ददर्श परमाङ्गना।

फूलोंको चुनती हुई वे वहीं विचरने लगीं। उनका मुख बड़ा ही सुन्दर था। वे वनवासका कष्ट भोगनेके योग्य नहीं थीं। परम सुन्दरी सीताने उस रत्नमय मृगको देखा, जिसका अङ्ग-प्रत्यङ्ग मुक्तामणियोंसे चित्रित-सा जान पड़ता था॥ ३२½॥

तं वै रुचिरदन्तोष्ठं रूप्यधातुतनूरुहम्॥ ३३॥
विस्मयोत्फुल्लनयना सस्नेहं समुदैक्षत।

उसके दाँत और ओठ बड़े सुन्दर थे तथा शरीरके रोएँ चाँदी एवं ताँबे आदि धातुओंके बने हुए जान पड़ते थे। उसके ऊपर दृष्टि पड़ते ही सीताजीकी आँखें आश्चर्यसे खिल उठीं और वे बड़े स्नेहसे उसकी ओर निहारने लगीं॥ ३३½॥

स च तां रामदयितां पश्यन् मायामयो मृगः॥ ३४॥
विचचार ततस्तत्र दीपयन्निव तद् वनम्।

वह मायामय मृग भी श्रीरामकी प्राणवल्लभा सीताको देखता और उस वनको प्रकाशित-सा करता हुआ वहीं विचरने लगा॥ ३४½॥

अदृष्टपूर्वं दृष्ट्वा तं नानारत्नमयं मृगम्।
विस्मयं परमं सीता जगाम जनकात्मजा॥ ३५॥

सीताने वैसा मृग पहले कभी नहीं देखा था। वह नाना प्रकारके रत्नोंका ही बना जान पड़ता था। उसे देखकर जनककिशोरी सीताको बड़ा विस्मय हुआ॥ ३५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे द्विचत्वारिंशः सर्गः॥ ४२॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें बयालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ४२॥

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

कपटमृगको देखकर लक्ष्मणका संदेह, सीताका उस मृगको जीवित या मृत अवस्थामें भी ले आनेके लिये श्रीरामको प्रेरित करना तथा श्रीरामका लक्ष्मणको समझा-बुझाकर सीताकी रक्षाका भार सौंपकर उस मृगको मारनेके लिये जाना

सा तं सम्प्रेक्ष्य सुश्रोणी कुसुमानि विचिन्वती।
हेमराजतवर्णाभ्यां पार्श्वाभ्यामुपशोभितम्॥ १॥
प्रहृष्टा चानवद्याङ्गी मृष्टहाटकवर्णिनी।
भर्तारमपि चक्रन्द लक्ष्मणं चैव सायुधम्॥ २॥

वह मृग सोने और चाँदीके समान कान्तिवाले पार्श्व-भागोंसे सुशोभित था। शुद्ध सुवर्णके समान कान्ति तथा निर्दोष अङ्गोंवाली सुन्दरी सीता फूल चुनते-चुनते ही उस मृगको देखकर मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुई और अपने पति श्रीराम तथा देवर लक्ष्मणको हथियार लेकर आनेके लिये पुकारने लगीं॥ १-२॥

आहूयाहूय च पुनस्तं मृगं साधु वीक्षते।
आगच्छागच्छ शीघ्रं वै आर्यपुत्र सहानुज॥ ३॥

वे बार-बार उन्हें पुकारतीं और फिर उस मृगको अच्छी तरह देखने लगती थीं। वे बोलीं, 'आर्यपुत्र! अपने भाईके साथ आइये, शीघ्र आइये'॥ ३॥

तावाहूतौ नरव्याघ्रौ वैदेह्या रामलक्ष्मणौ।
वीक्षमाणौ तु तं देशं तदा ददृशतुर्मृगम्॥ ४॥

विदेहकुमारी सीताके द्वारा पुकारे जानेपर नरश्रेष्ठ श्रीराम और लक्ष्मण वहाँ आये और उस स्थानपर सब ओर दृष्टि डालते हुए उन्होंने उस समय उस मृगको देखा॥ ४॥

शङ्कमानस्तु तं दृष्ट्वा लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत्।
तमेवैनमहं मन्ये मारीचं राक्षसं मृगम्॥ ५॥

उसे देखकर लक्ष्मणके मनमें संदेह हुआ और वे बोले—'भैया! मैं तो समझता हूँ कि इस मृगके रूपमें वह मारीच नामका राक्षस ही आया है॥ ५॥

चरन्तो मृगयां हृष्टाः पापेनोपाधिना वने।
अनेन निहता राम राजानः कामरूपिणा॥ ६॥

'श्रीराम! स्वेच्छानुसार रूप धारण करनेवाले इस पापीने कपट-वेष बनाकर वनमें शिकार खेलनेके लिये आये हुए कितने ही हर्षोत्फुल्ल नरेशोंका वध किया है॥ ६॥

अस्य मायाविदो माया मृगरूपमिदं कृतम्।
भानुमत् पुरुषव्याघ्र गन्धर्वपुरसंनिभम्॥ ७॥

'पुरुषसिंह! यह अनेक प्रकारकी मायाएँ जानता है। इसकी जो माया सुनी गयी है, वही इस प्रकाशमान मृगरूपमें परिणत हो गयी है। यह गन्धर्व-नगरके समान देखनेभरके लिये ही है (इसमें वास्तविकता नहीं है)॥ ७॥

मृगो ह्येवंविधो रत्नविचित्रो नास्ति राघव।
जगत्यां जगतीनाथ मायैषा हि न संशयः॥ ८॥

'रघुनन्दन! पृथ्वीनाथ! इस भूतलपर कहीं भी ऐसा विचित्र रत्नमय मृग नहीं है; अतः निःसंदेह यह माया ही है'॥ ८॥

एवं ब्रुवाणं काकुत्स्थं प्रतिवार्य शुचिस्मिता।
उवाच सीता संहृष्टा छद्मना हृतचेतना॥ ९॥

मारीचके छलसे जिनकी विचारशक्ति हर ली गयी थी, उन पवित्र मुसकानवाली सीताने उपर्युक्त बातें कहते हुए लक्ष्मणको रोककर स्वयं ही बड़े हर्षके साथ कहा—॥ ९॥

आर्यपुत्राभिरामोऽसौ मृगो हरति मे मनः।
आनयैनं महाबाहो क्रीडार्थं नो भविष्यति॥ १०॥

'आर्यपुत्र! यह मृग बड़ा ही सुन्दर है। इसने मेरे मनको हर लिया है। महाबाहो! इसे ले आइये। यह हमलोगोंके मन-बहलावके लिये रहेगा॥ १०॥

इहाश्रमपदेऽस्माकं बहवः पुण्यदर्शनाः।
मृगाश्चरन्ति सहिताश्चमराः सृमरास्तथा॥ ११॥
ऋक्षाः पृषतसङ्घाश्च वानराः किंनरास्तथा।
विहरन्ति महाबाहो रूपश्रेष्ठा महाबलाः॥ १२॥
न चान्यः सदृशो राजन् दृष्टः पूर्वं मृगो मया।
तेजसा क्षमया दीप्त्या यथायं मृगसत्तमः॥ १३॥

'राजन्! महाबाहो! यद्यपि हमारे इस आश्रमपर बहुत-से पवित्र एवं दर्शनीय मृग एक साथ आकर चरते हैं तथा सृमर (काली पूँछवाली चवँरी गाय), चमर (सफेद पूँछवाली चवँरी गाय), रीछ, चितकबरे मृगोंके झुंड, वानर तथा सुन्दर रूपवाले महाबली किंनर भी विचरण करते हैं, तथापि आजके पहले मैंने दूसरा कोई ऐसा तेजस्वी, सौम्य और दीप्तिमान् मृग नहीं देखा था, जैसा कि यह श्रेष्ठ मृग दिखायी दे रहा है॥ ११—१३॥

नानावर्णविचित्राङ्गो रत्नभूतो ममाग्रतः।
द्योतयन् वनमव्यग्रं शोभते शशिसंनिभः॥ १४॥

'नाना प्रकारके रंगोंसे युक्त होनेके कारण इसके अङ्ग विचित्र जान पड़ते हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो यह अङ्गोंका ही बना हुआ हो। मेरे आगे निर्भय एवं शान्तभावसे स्थित होकर इस वनको प्रकाशित करता हुआ यह चन्द्रमाके समान शोभा पा रहा है॥ १४॥

अहो रूपमहो लक्ष्मीः स्वरसम्पच्च शोभना।
मृगोऽद्भुतो विचित्राङ्गो हृदयं हरतीव मे॥ १५॥

'इसका रूप अद्भुत है। इसकी शोभा अवर्णनीय है। इसकी स्वरसम्पत्ति (बोली) बड़ी सुन्दर है। विचित्र अङ्गोंसे सुशोभित यह अद्भुत मृग मेरे मनको मोहे लेता है॥ १५॥

यदि ग्रहणमभ्येति जीवन्नेव मृगस्तव।
आश्चर्यभूतं भवति विस्मयं जनयिष्यति॥ १६॥

'यदि यह मृग जीते-जी ही आपकी पकड़में आ जाय तो एक आश्चर्यकी वस्तु होगा और सबके हृदयमें विस्मय उत्पन्न कर देगा॥ १६॥

समाप्तवनवासानां राज्यस्थानां च नः पुनः।
अन्तःपुरे विभूषार्थो मृग एष भविष्यति॥ १७॥

'जब हमारे वनवासकी अवधि पूरी हो जायगी और हम पुनः अपना राज्य पा लेंगे, उस समय यह मृग हमारे अन्तःपुरकी शोभा बढ़ायेगा॥ १७॥

भरतस्यार्यपुत्रस्य श्वश्रूणां मम च प्रभो।
मृगरूपमिदं दिव्यं विस्मयं जनयिष्यति॥ १८॥

'प्रभो! इस मृगका यह दिव्य रूप भरतके, आपके, मेरी सासुओंके और मेरे लिये भी विस्मयजनक होगा॥ १८॥

जीवन्न यदि तेऽभ्येति ग्रहणं मृगसत्तमः।
अजिनं नरशार्दूल रुचिरं तु भविष्यति॥ १९॥

'पुरुषसिंह! यदि कदाचित् यह श्रेष्ठ मृग जीते-जी पकड़ा न जा सके तो इसका चमड़ा ही बहुत सुन्दर होगा॥ १९॥

निहतस्यास्य सत्त्वस्य जाम्बूनदमयत्वचि।
शष्पवृस्यां विनीतायामिच्छाम्यहमुपासितुम्॥ २०॥

'घास-फूसकी बनी हुई चटाईपर इस मरे हुए मृगका सुवर्णमय चमड़ा बिछाकर मैं इसपर आपके साथ बैठना चाहती हूँ॥ २०॥

कामवृत्तमिदं रौद्रं स्त्रीणामसदृशं मतम्।
वपुषा त्वस्य सत्त्वस्य विस्मयो जनितो मम॥ २१॥

'यद्यपि स्वेच्छासे प्रेरित होकर अपने पतिको ऐसे काममें लगाना यह भयंकर स्वेच्छाचार है और साध्वी स्त्रियोंके लिये उचित नहीं माना गया है तथापि इस जन्तुके शरीरने मेरे हृदयमें विस्मय उत्पन्न कर दिया है (इसीलिये मैं इसको पकड़ लानेके लिये अनुरोध करती हूँ)'॥ २१॥

तेन काञ्चनरोम्णा तु मणिप्रवरशृङ्गिणा।
तरुणादित्यवर्णेन नक्षत्रपथवर्चसा॥ २२॥
बभूव राघवस्यापि मनो विस्मयमागतम्।
इति सीतावचः श्रुत्वा दृष्ट्वा च मृगमद्भुतम्॥ २३॥
लोभितस्तेन रूपेण सीतया च प्रचोदितः।
उवाच राघवो हृष्टो भ्रातरं लक्ष्मणं वचः॥ २४॥

सुनहरी रोमावली, इन्द्रनील मणिके समान सींग, उदयकालके सूर्यकी-सी कान्ति तथा नक्षत्रलोककी भाँति बिन्दुयुक्त तेजसे सुशोभित उस मृगको देखकर श्रीरामचन्द्रजीका मन भी विस्मित हो उठा। सीताकी पूर्वोक्त बातको सुनकर, उस मृगके अद्भुत रूपको देखकर, उसके उस रूपपर लुभाकर और सीतासे प्रेरित होकर हर्षसे भरे हुए श्रीरामने अपने भाई लक्ष्मणसे कहा—॥ २२—२४॥

पश्य लक्ष्मण वैदेह्याः स्पृहामुल्लसितामिमाम्।
रूपश्रेष्ठतया ह्येष मृगोऽद्य न भविष्यति॥ २५॥

'लक्ष्मण! देखो तो सही, विदेहनन्दिनी सीताके मनमें इस मृगको पानेके लिये कितनी प्रबल इच्छा जाग उठी है? वास्तवमें इसका रूप है भी बहुत ही सुन्दर। अपने रूपकी इस श्रेष्ठताके कारण ही यह मृग आज जीवित नहीं रह सकेगा॥ २५॥

न वने नन्दनोद्देशे न चैत्ररथसंश्रये।
कुतः पृथिव्यां सौमित्रे योऽस्य कश्चित् समो मृगः॥ २६॥

'सुमित्रानन्दन! देवराज इन्द्रके नन्दनवनमें और कुबेरके चैत्ररथवनमें भी कोई ऐसा मृग नहीं होगा, जो इसकी समानता कर सके। फिर पृथ्वीपर तो हो ही कहाँसे सकता है॥ २६॥

प्रतिलोमानुलोमाश्च रुचिरा रोमराजयः।
शोभन्ते मृगमाश्रित्य चित्राः कनकबिन्दुभिः॥ २७॥

'टेढ़ी और सीधी रुचिर रोमावलियाँ इस मृगके शरीरका आश्रय ले सुनहरे बिन्दुओंसे चित्रित हो बड़ी शोभा पा रही हैं॥ २७॥

पश्यास्य जृम्भमाणस्य दीप्तामग्निशिखोपमाम्।
जिह्वां मुखान्निःसरन्तीं मेघादिव शतह्रदाम्॥ २८॥

'देखो न, जब यह जँभाई लेता है, तब इसके मुखसे प्रज्वलित अग्निशिखाके समान दमकती हुई जिह्वा बाहर निकल आती है और मेघसे प्रकट हुई बिजलीके समान चमकने लगती है॥ २८॥

मसारगल्वर्कमुखः शङ्खमुक्तानिभोदरः।
कस्य नामानिरूप्योऽसौ न मनो लोभयेन्मृगः॥ २९॥

'इसका मुख-सम्पुट इन्द्रनीलमणिके बने हुए चषक (पानपात्र) के समान जान पड़ता है, उदर शङ्ख और मोतीके समान सफेद है। यह अवर्णनीय मृग किसके मनको नहीं लुभा लेगा॥ २९॥

कस्य रूपमिदं दृष्ट्वा जाम्बूनदमयप्रभम्।
नानारत्नमयं दिव्यं न मनो विस्मयं व्रजेत्॥ ३०॥

'नाना प्रकारके रत्नोंसे विभूषित इसके सुनहरी प्रभावाले दिव्य रूपको देखकर किसके मनमें विस्मय नहीं होगा॥

मांसहेतोरपि मृगान् विहारार्थं च धन्विनः।
घ्नन्ति लक्ष्मण राजानो मृगयायां महावने॥ ३१॥

'लक्ष्मण! राजालोग बड़े-बड़े वनोंमें मृगया खेलते समय मांस (मृगचर्म) के लिये और शिकार खेलनेका शौक पूरा करनेके लिये भी धनुष हाथमें लेकर मृगोंको मारते हैं॥

धनानि व्यवसायेन विचीयन्ते महावने।
धातवो विविधाश्चापि मणिरत्नसुवर्णिनः॥ ३२॥

मृगयाके उद्योगसे ही राजा लोग विशाल वनमें धनका भी संग्रह करते हैं; क्योंकि वहाँ मणि, रत्न और सुवर्ण आदिसे युक्त नाना प्रकारकी धातुएँ उपलब्ध होती हैं॥ ३२॥

तत् सारमखिलं नृणां धनं निचयवर्धनम्।
मनसा चिन्तितं सर्वं यथा शुक्रस्य लक्ष्मण॥ ३३॥

'लक्ष्मण! कोशकी वृद्धि करनेवाला वह वन्य धन मनुष्योंके लिये अत्यन्त उत्कृष्ट होता है। ठीक उसी तरह, जैसे ब्रह्मभावको प्राप्त हुए पुरुषके लिये मनके चिन्तनमात्रसे प्राप्त हुई सारी वस्तुएँ अत्यन्त उत्तम बतायी गयी हैं॥ ३३॥

अर्थी येनार्थकृत्येन संव्रजत्यविचारयन्।
तमर्थमर्थशास्त्रज्ञाः प्राहुरर्थ्याः सुलक्ष्मण॥ ३४॥

'लक्ष्मण! अर्थी मनुष्य जिस अर्थ (प्रयोजन) का सम्पादन करनेके लिये उसके प्रति आकृष्ट हो बिना विचारे ही चल देता है, उस अत्यन्त आवश्यक प्रयोजनको ही अर्थसाधनमें चतुर एवं अर्थशास्त्रके ज्ञाता विद्वान् 'अर्थ' कहते हैं॥ ३४॥

एतस्य मृगरत्नस्य परार्ध्ये काञ्चनत्वचि।
उपवेक्ष्यति वैदेही मया सह सुमध्यमा॥ ३५॥

'इस रत्नस्वरूप श्रेष्ठ मृगके बहुमूल्य सुनहरे चमड़ेपर सुन्दरी विदेहराजनन्दिनी सीता मेरे साथ बैठेगी॥ ३५॥

न कादली न प्रियकी न प्रवेणी न चाविकी।
भवेदेतस्य सदृशी स्पर्शेऽनेनेति मे मतिः॥ ३६॥

'कदली (कोमल ऊँचे चितकबरे और नीलाग्ररोमवाले मृगविशेष), प्रियक (कोमल ऊँचे चिकने और घने रोमवाले मृगविशेष), प्रवेण (विशेष प्रकारके बकरे) और अवि (भेड़) की त्वचा भी स्पर्श करनेमें इस काञ्चन मृगके छालेके समान कोमल एवं सुखद नहीं हो सकती, ऐसा मेरा विश्वास है॥ ३६॥

एष चैव मृगः श्रीमान् यश्च दिव्यो नभश्चरः।
उभावेतौ मृगौ दिव्यौ तारामृगमहीमृगौ॥ ३७॥

'यह सुन्दर मृग और यह जो दिव्य आकाशचारी मृग (मृगशिरानक्षत्र) है, ये दोनों ही दिव्य मृग हैं। इनमेंसे एक तारामृग[1] और दूसरा महीमृग[2] है॥ ३७॥

यदि वायं तथा यन्मां भवेद् वदसि लक्ष्मण।
मायैषा राक्षसस्येति कर्तव्योऽस्य वधो मया॥ ३८॥

'लक्ष्मण! तुम मुझसे जैसा कह रहे हो यदि वैसा ही यह मृग हो, यदि यह राक्षसकी माया ही हो तो भी मुझे उसका वध करना ही चाहिये॥ ३८॥

एतेन हि नृशंसेन मारीचेनाकृतात्मना।
वने विचरता पूर्वं हिंसिता मुनिपुंगवाः॥ ३९॥

'क्योंकि अपवित्र (दुष्ट) चित्तवाले इस क्रूरकर्मा मारीचने वनमें विचरते समय पहले अनेकानेक श्रेष्ठ मुनियोंकी हत्या की है॥ ३९॥

उत्थाय बहवोऽनेन मृगयायां जनाधिपाः।
निहताः परमेष्वासास्तस्माद् वध्यस्त्वयं मृगः॥ ४०॥

'इसने मृगयाके समय प्रकट होकर बहुत-से महाधनुर्धर नरेशोंका वध किया है, अतः इस मृगके रूपमें इसका भी वध अवश्य करनेयोग्य है॥ ४०॥

पुरस्तादिह वातापिः परिभूय तपस्विनः।
उदरस्थो द्विजान् हन्ति स्वगर्भोऽश्वतरीमिव॥ ४१॥

'इसी वनमें पहले वातापि नामक राक्षस रहता था, जो तपस्वी महात्माओंका तिरस्कार करके कपटपूर्ण उपायसे उनके पेटमें पहुँच जाता और जैसे खचरीको अपने ही गर्भका बच्चा नष्ट कर देता है, उसी प्रकार उन ब्रह्मर्षियोंको नष्ट कर देता था॥ ४१॥

स कदाचिच्चिराल्लोभादाससाद महामुनिम्।
अगस्त्यं तेजसा युक्तं भक्ष्यस्तस्य बभूव ह॥ ४२॥

'वह वातापि एक दिन दीर्घकालके पश्चात् लोभवश तेजस्वी महामुनि अगस्त्यजीके पास जा पहुँचा और (श्राद्धकालमें) उनका आहार बन गया। उनके पेटमें पहुँच गया॥ ४२॥

समुत्थाने च तद्रूपं कर्तुकामं समीक्ष्य तम्।
उत्स्मयित्वा तु भगवान् वातापिमिदमब्रवीत्॥ ४३॥

'श्राद्धके अन्तमें जब वह अपना राक्षसरूप प्रकट करनेकी इच्छा करने लगा—उनका पेट फाड़कर निकल आनेको उद्यत हुआ, तब उस वातापिको लक्ष्य करके भगवान् अगस्त्य मुसकराये और उससे इस प्रकार बोले— ॥ ४३॥

त्वयाविगण्य वातापे परिभूताश्च तेजसा।
जीवलोके द्विजश्रेष्ठास्तस्मादसि जरां गतः॥ ४४॥

'वातापे! तुमने बिना सोचे-विचारे इस जीव-जगत्में बहुत-से श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको अपने तेजसे तिरस्कृत किया है, इसी पापसे अब तुम पच गये'॥ ४४॥

तद् रक्षो न भवेदेव वातापिरिव लक्ष्मण।
मद्विधं योऽतिमन्येत धर्मनित्यं जितेन्द्रियम्॥ ४५॥

'लक्ष्मण! जो सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाले मुझ-जैसे जितेन्द्रिय पुरुषका भी अतिक्रमण करे, उस मारीच नामक राक्षसको भी वातापिके समान ही नष्ट हो जाना चाहिये॥

भवेद्धतोऽयं वातापिरगस्त्येनेव मा गतः।
इह त्वं भव संनद्धो यन्त्रितो रक्ष मैथिलीम्॥ ४६॥

'जैसे वातापि अगस्त्यके द्वारा नष्ट हुआ, उसी प्रकार यह मारीच अब मेरे सामने आकर अवश्य ही मारा जायगा। तुम अस्त्र और कवच आदिसे सुसज्जित हो जाओ और यहाँ

---

१. नक्षत्रलोकमें विचरनेवाला मृग (मृगशिरा नक्षत्र)।
२. दूसरा पृथ्वीपर विचरनेवाला काञ्चन मृग।

सावधानीके साथ मिथिलेशकुमारीकी रक्षा करो ॥ ४६ ॥

अस्मामायत्तमस्माकं यत् कृत्यं रघुनन्दन।
अहमेनं वधिष्यामि ग्रहीष्याम्यथवा मृगम् ॥ ४७ ॥

'रघुनन्दन! हमलोगोंका जो आवश्यक कर्तव्य है, वह सीताकी रक्षाके ही अधीन है। मैं इस मृगको मार डालूँगा अथवा इसे जीता ही पकड़ लाऊँगा ॥ ४७ ॥

यावद् गच्छामि सौमित्रे मृगमानयितुं द्रुतम्।
पश्य लक्ष्मण वैदेह्या मृगत्वचि गतां स्पृहाम् ॥ ४८ ॥

'सुमित्राकुमार लक्ष्मण! देखो, इस मृगका चर्म हस्तगत करनेके लिये विदेहनन्दिनीको कितनी उत्कण्ठा हो रही है, इसलिये इस मृगको ले आनेके लिये मैं तुरंत ही जा रहा हूँ ॥ ४८ ॥

त्वचा प्रधानया ह्येष मृगोऽद्य न भविष्यति।
अप्रमत्तेन ते भाव्यमाश्रमस्थेन सीतया ॥ ४९ ॥
यावत् पृषतमेकेन सायकेन निहन्म्यहम्।
हत्वैतच्चर्म चादाय शीघ्रमेष्यामि लक्ष्मण ॥ ५० ॥

'इस मृगको मारनेका प्रधान हेतु है, इसके चमड़ेको प्राप्त करना। आज इसीके कारण यह मृग जीवित नहीं रह सकेगा। लक्ष्मण! तुम आश्रमपर रहकर सीताके साथ सावधान रहना—सावधानीके साथ तबतक इसकी रक्षा करना, जबतक कि मैं एक ही बाणसे इस चितकबरे मृगको मार नहीं डालता हूँ। मारनेके पश्चात् इसका चमड़ा लेकर मैं शीघ्र लौट आऊँगा ॥ ४९-५० ॥

प्रदक्षिणेनातिबलेन पक्षिणा
जटायुषा बुद्धिमता च लक्ष्मण।
भवाप्रमत्तः प्रतिगृह्य मैथिलीं
प्रतिक्षणं सर्वत एव शङ्कितः ॥ ५१ ॥

'लक्ष्मण! बुद्धिमान् पक्षी गृध्रराज जटायु बड़े ही बलवान् और सामर्थ्यशाली हैं। उनके साथ ही यहाँ सदा सावधान रहना। मिथिलेशकुमारी सीताको अपने संरक्षणमें लेकर प्रतिक्षण सब दिशाओंमें रहनेवाले राक्षसोंकी ओरसे चौकन्ने रहना' ॥ ५१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें तैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

—★—

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

श्रीरामके द्वारा मारीचका वध और उसके द्वारा सीता और लक्ष्मणके पुकारनेका शब्द सुनकर श्रीरामकी चिन्ता

तथा तु तं समादिश्य भ्रातरं रघुनन्दनः।
बबन्धासिं महातेजा जाम्बूनदमयत्सरुम् ॥ १ ॥

लक्ष्मणको इस प्रकार आदेश देकर रघुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले महातेजस्वी श्रीरामचन्द्रजीने सोनेकी मूँठवाली तलवार कमरमें बाँध ली ॥ १ ॥

ततस्त्रिविनतं चापमादायात्मविभूषणम्।
आबध्य च कलापौ द्वौ जगामोदग्रविक्रमः ॥ २ ॥

तत्पश्चात् महापराक्रमी रघुनाथजी तीन स्थानोंमें झुके हुए अपने आभूषणरूप धनुषको हाथमें ले पीठपर दो तरकस बाँधकर वहाँसे चल दिये ॥ २ ॥

तं वन्यराजो राजेन्द्रमापतन्तं निरीक्ष्य वै।
बभूवान्तर्हितस्त्रासात् पुनः संदर्शनेऽभवत् ॥ ३ ॥

राजाधिराज श्रीरामको आते देख वह वन्य मृगोंका राजा काञ्चनमृग भयके मारे छिप गया, किंतु फिर तुरंत ही उनके दृष्टिपथमें आ गया ॥ ३ ॥

बद्धासिर्धनुरादाय प्रदुद्राव यतो मृगः।
तं स्म पश्यति रूपेण द्योतयन्तमिवाग्रतः ॥ ४ ॥
अवेक्ष्यावेक्ष्य धावन्तं धनुष्पाणिर्महावने।
अतिवृत्तमिवोत्पाताल्लोभयानं कदाचन ॥ ५ ॥
शङ्कितं तु समुद्भ्रान्तमुत्पतन्तमिवाम्बरम्।
दृश्यमानमदृश्यं च वनोद्देशेषु केषुचित् ॥ ६ ॥
छिन्नाभ्रैरिव संवीतं शारदं चन्द्रमण्डलम्।
मुहूर्तादेव ददृशे मुहुर्दूरात् प्रकाशते ॥ ७ ॥

तब तलवार बाँधे और धनुष लिये श्रीराम जिस ओर वह मृग था, उसी ओर दौड़े। धनुर्धर श्रीरामने देखा, वह अपने रूपसे सामनेकी दिशाको प्रकाशित-सी कर रहा था। उस महान् वनमें वह पीछेकी ओर देख-देखकर आगेकी ओर भाग रहा था। कभी छलाँगें मारकर बहुत दूर निकल जाता और कभी इतना निकट दिखायी देता कि हाथसे पकड़ लेनेका लोभ पैदा कर देता था। कभी डरा हुआ, कभी घबराया हुआ और कभी आकाशमें उछलता हुआ दीख पड़ता था। कभी वनके किन्हीं स्थानोंमें छिपकर अदृश्य हो जाता था, मानो शरद्ऋतुका चन्द्रमण्डल मेघखण्डोंसे आवृत हो गया हो। एक ही मुहूर्तमें वह निकट दिखायी देता और पुनः बहुत दूरके स्थानमें चमक उठता था ॥ ४—७ ॥

दर्शनादर्शनेनैव सोऽपाकर्षत राघवम्।
स दूरमाश्रमस्यास्य मारीचो मृगतां गतः ॥ ८ ॥

इस तरह प्रकट होता और छिपता हुआ वह मृगरूपधारी मारीच श्रीरघुनाथजीको उनके आश्रमसे बहुत दूर खींच ले गया ॥ ८ ॥

आसीत् क्रुद्धस्तु काकुत्स्थो विवशस्तेन मोहितः।
अथावतस्थे सुश्रान्तश्छायामाश्रित्य शाद्वले ॥ ९ ॥

उस समय उससे मोहित और विवश होकर श्रीराम कुछ कुपित हो उठे और थककर एक जगह छायाका आश्रय ले हरी-हरी घासवाली भूमिपर खड़े हो गये ॥ ९ ॥

स तमुन्मादयामास मृगरूपो निशाचरः।
मृगैः परिवृतोऽथान्यैरदूरात् प्रत्यदृश्यत ॥ १० ॥

इस मृगरूपधारी निशाचरने उन्हें उन्मत्त-सा कर दिया था। थोड़ी ही देरमें वह दूसरे मृगोंसे घिरा हुआ पास ही दिखायी दिया ॥ १० ॥

ग्रहीतुकामं दृष्ट्वा तं पुनरेवाभ्यधावत।
तत्क्षणादेव संत्रासात् पुनरन्तर्हितोऽभवत् ॥ ११ ॥

श्रीराम मुझे पकड़ना चाहते हैं, यह देखकर वह फिर भागा और भयके मारे पुनः तत्काल ही अदृश्य हो गया ॥

पुनरेव ततो दूराद् वृक्षखण्डाद् विनिःसृतः।
दृष्ट्वा रामो महातेजास्तं हन्तुं कृतनिश्चयः ॥ १२ ॥

तदनन्तर वह पुनः दूरवर्ती वृक्ष-समूहसे होकर निकला। उसे देखकर महातेजस्वी श्रीरामने मार डालनेका निश्चय किया ॥ १२ ॥

भूयस्तु शरमुद्धृत्य कुपितस्तत्र राघवः।
सूर्यरश्मिप्रतीकाशं ज्वलन्तमरिमर्दनम् ॥ १३ ॥
संधाय सुदृढे चापे विकृष्य बलवद्बली।
तमेव मृगमुद्दिश्य श्वसन्तमिव पन्नगम् ॥ १४ ॥
मुमोच ज्वलितं दीप्तमस्त्रं ब्रह्मविनिर्मितम्।

तब वहाँ क्रोधमें भरे हुए बलवान् राघवेन्द्र श्रीरामने तरकससे सूर्यकी किरणोंके समान तेजस्वी एक प्रज्वलित एवं शत्रु-संहारक बाण निकालकर उसे अपने सुदृढ़ धनुषपर रखा और उस धनुषको जोरसे खींचकर उस मृगको ही लक्ष्य करके फुफकारते सर्पके समान सनसनाता हुआ वह प्रज्वलित एवं तेजस्वी बाण, जिसे ब्रह्माजीने बनाया था, छोड़ दिया ॥ १३-१४½ ॥

शरीरं मृगरूपस्य विनिर्भिद्य शरोत्तमः ॥ १५ ॥
मारीचस्यैव हृदयं बिभेदाशनिसंनिभः।

वज्रके समान तेजस्वी उस उत्तम बाणने मृगरूपधारी मारीचके शरीरको चीरकर उसके हृदयको भी विदीर्ण कर दिया ॥

तालमात्रमथोत्प्लुत्य न्यपतत् स भृशातुरः ॥ १६ ॥
व्यनदद् भैरवं नादं धरण्यामल्पजीवितः।

उसकी चोटसे अत्यन्त आतुर हो वह राक्षस ताड़के बराबर उछलकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। उसका जीवन समाप्त हो चला। वह पृथ्वीपर पड़ा-पड़ा भयंकर गर्जना करने लगा ॥

म्रियमाणस्तु मारीचो जहौ तां कृत्रिमां तनुम् ॥ १७ ॥
स्मृत्वा तद्वचनं रक्षो दध्यौ केन तु लक्ष्मणम्।
इह प्रस्थापयेत् सीता तां शून्ये रावणो हरेत् ॥ १८ ॥

मरते समय मारीचने अपने उस कृत्रिम शरीरको त्याग दिया। फिर रावणके वचनका स्मरण करके उस राक्षसने सोचा, किस उपायसे सीता लक्ष्मणको यहाँ भेज दे और सूने आश्रमसे रावण उसे हर ले जाय ॥ १७-१८ ॥

स प्राप्तकालमाज्ञाय चकार च ततः स्वनम्।
सदृशं राघवस्येव हा सीते लक्ष्मणेति च ॥ १९ ॥

रावणके बताये हुए उपायको काममें लानेका अवसर आ गया है—यह समझकर उसने श्रीरामचन्द्रजीके ही समान स्वरमें 'हा सीते! हा लक्ष्मण!' कहकर पुकारा ॥ १९ ॥

तेन मर्मणि निर्विद्धं शरेणानुपमेन हि।
मृगरूपं तु तत् त्यक्त्वा राक्षसं रूपमास्थितः ॥ २० ॥

श्रीरामके अनुपम बाणसे उसका मर्म विदीर्ण हो गया था, अतः उस मृगरूपको त्यागकर उसने राक्षसरूप धारण कर लिया ॥ २० ॥

चक्रे स सुमहाकायं मारीचो जीवितं त्यजन्।
तं दृष्ट्वा पतितं भूमौ राक्षसं भीमदर्शनम् ॥ २१ ॥
रामो रुधिरसिक्ताङ्गं चेष्टमानं महीतले।
जगाम मनसा सीतां लक्ष्मणस्य वचः स्मरन् ॥ २२ ॥

प्राणत्याग करते समय मारीचने अपने शरीरको बहुत बड़ा बना लिया था। भयंकर दिखायी देनेवाले उस राक्षसको भूमिपर पड़कर खूनसे लथपथ हो धरतीपर लोटते और छटपटाते देख श्रीरामको लक्ष्मणकी कही हुई बात याद आ गयी और वे मन-ही-मन सीताकी चिन्ता करने लगे ॥

मारीचस्य तु मायैषा पूर्वोक्तं लक्ष्मणेन तु।
तत् तथा ह्यभवच्चाद्य मारीचोऽयं मया हतः ॥ २३ ॥

वे सोचने लगे, 'अहो! जैसा लक्ष्मणने पहले कहा था, उसके अनुसार यह वास्तवमें मारीचकी माया ही थी। लक्ष्मणकी बात ठीक निकली। आज मेरे द्वारा यह मारीच ही मारा गया ॥ २३ ॥

हा सीते लक्ष्मणेत्येवमाक्रुश्य तु महास्वनम्।
ममार राक्षसः सोऽयं श्रुत्वा सीता कथं भवेत् ॥ २४ ॥
लक्ष्मणश्च महाबाहुः कामवस्थां गमिष्यति।

'परंतु यह राक्षस उच्चस्वरसे 'हा सीते! हा लक्ष्मण!' की पुकार करके मरा है। उसके उस शब्दको सुनकर सीताकी कैसी अवस्था हो जायगी और महाबाहु लक्ष्मणकी भी क्या दशा होगी?' ॥ २४½ ॥

इति संचिन्त्य धर्मात्मा रामो हृष्टतनूरुहः ॥ २५ ॥
तत्र रामं भयं तीव्रमाविवेश विषादजम्।
राक्षसं मृगरूपं तं हत्वा श्रुत्वा च तत्स्वनम् ॥ २६ ॥

ऐसा सोचकर धर्मात्मा श्रीरामके रोंगटे खड़े हो गये। उस समय वहाँ मृगरूपधारी उस राक्षसको मारकर और उसके उस शब्दको सुनकर श्रीरामके मनमें विषादजनित तीव्र भय समा गया ॥ २५-२६ ॥

निहत्य पृषतं चान्यं मांसमादाय राघवः।
त्वरमाणो जनस्थानं ससाराभिमुखं तदा॥ २७॥

उस लोकविलक्षण मृगका वध करके तपस्वीके उपभोगमें आनेयोग्य फल-मूल आदि लेकर श्रीराम तत्काल ही जनस्थानके निकटवर्ती पञ्चवटीमें स्थित अपने आश्रमकी ओर बड़ी उतावलीके साथ चले॥ २७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे चतुश्चत्वारिंशः सर्गः॥ ४४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें चौवालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ४४॥

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

सीताके मार्मिक वचनोंसे प्रेरित होकर लक्ष्मणका श्रीरामके पास जाना

आर्तस्वरं तु तं भर्तुर्विज्ञाय सदृशं वने।
उवाच लक्ष्मणं सीता गच्छ जानीहि राघवम्॥ १॥

उस समय वनमें जो आर्तनाद हुआ, उसे अपने पतिके स्वरसे मिलता-जुलता जान श्रीसीताजी लक्ष्मणसे बोलीं—'भैया! जाओ, श्रीरघुनाथजीकी सुधि लो—उनका समाचार जानो॥ १॥

नहि मे जीवितं स्थाने हृदयं वावतिष्ठते।
क्रोशतः परमार्तस्य श्रुतः शब्दो मया भृशम्॥ २॥

'उन्होंने बड़े आर्तस्वरसे हमलोगोंको पुकारा है। मैंने उनका वह शब्द सुना है। वह बहुत उच्च स्वरसे बोला गया था। उसे सुनकर मेरे प्राण और मन अपने स्थानपर नहीं रह गये हैं— मैं घबरा उठी हूँ॥ २॥

आक्रन्दमानं तु वने भ्रातरं त्रातुमर्हसि।
तं क्षिप्रमभिधाव त्वं भ्रातरं शरणैषिणम्॥ ३॥
रक्षसां वशमापन्नं सिंहानामिव गोवृषम्।
न जगाम तथोक्तस्तु भ्रातुराज्ञाय शासनम्॥ ४॥

'तुम्हारे भाई वनमें आर्तनाद कर रहे हैं। वे कोई शरण—रक्षाका सहारा चाहते हैं। तुम उन्हें बचाओ। जल्दी ही अपने भाईके पास दौड़े हुए जाओ। जैसे कोई साँड़ सिंहोंके पंजेमें फँस गया हो, उसी प्रकार वे राक्षसोंके वशमें पड़ गये हैं, अतः जाओ।' सीताके ऐसा कहनेपर भी भाईके आदेशका विचार करके लक्ष्मण नहीं गये॥ ३-४॥

तमुवाच ततस्तत्र क्षुभिता जनकात्मजा।
सौमित्रे मित्ररूपेण भ्रातुस्त्वमसि शत्रुवत्॥ ५॥
यस्त्वमस्यामवस्थायां भ्रातरं नाभिपद्यसे।
इच्छसि त्वं विनश्यन्तं रामं लक्ष्मण मत्कृते॥ ६॥

उनके इस व्यवहारसे वहाँ जनककिशोरी सीता क्षुब्ध हो उठीं और उनसे इस प्रकार बोलीं—'सुमित्राकुमार! तुम मित्ररूपमें अपने भाईके शत्रु ही जान पड़ते हो, इसीलिये तुम इस संकटकी अवस्थामें भी भाईके पास नहीं पहुँच रहे हो। लक्ष्मण! मैं जानती हूँ, तुम मुझपर अधिकार करनेके लिये इस समय श्रीरामका विनाश ही चाहते हो॥ ५-६॥

लोभात्तु मत्कृते नूनं नानुगच्छसि राघवम्।
व्यसनं ते प्रियं मन्ये स्नेहो भ्रातरि नास्ति ते॥ ७॥

'मेरे लिये तुम्हारे मनमें लोभ हो गया है, निश्चय ही इसीलिये तुम श्रीरघुनाथजीके पीछे नहीं जा रहे हो। मैं समझती हूँ, श्रीरामका संकटमें पड़ना ही तुम्हें प्रिय है। तुम्हारे मनमें अपने भाईके प्रति स्नेह नहीं है॥ ७॥

तेन तिष्ठसि विस्रब्धं तमपश्यन् महाद्युतिम्।
किं हि संशयमापन्ने तस्मिन्निह मया भवेत्॥ ८॥
कर्तव्यमिह तिष्ठन्त्या यत्प्रधानस्त्वमागतः।

'यही कारण है कि तुम उन महातेजस्वी श्रीरामचन्द्रजीको देखने न जाकर यहाँ निश्चिन्त खड़े हो। हाय! जो मुख्यतः तुम्हारे सेव्य हैं, जिनकी रक्षा और सेवाके लिये तुम यहाँ आये हो, यदि उन्हींके प्राण संकटमें पड़ गये तो यहाँ मेरी रक्षासे क्या होगा?'॥ ८½॥

एवं ब्रुवाणां वैदेहीं बाष्पशोकसमन्विताम्॥ ९॥
अब्रवील्लक्ष्मणस्त्रस्तां सीतां मृगवधूमिव।

'विदेहकुमारी सीताजीकी दशा भयभीत हुई हरिणीके समान हो रही थी। उन्होंने शोकमग्न होकर आँसू बहाते हुए जब उपर्युक्त बातें कहीं, तब लक्ष्मण उनसे इस प्रकार बोले—॥ ९½॥

पन्नगासुरगन्धर्वदेवदानवराक्षसैः॥ १०॥
अशक्यस्तव वैदेहि भर्ता जेतुं न संशयः।

'विदेहनन्दिनि! आप विश्वास करें; नाग, असुर, गन्धर्व, देवता, दानव तथा राक्षस—ये सब मिलकर भी आपके पतिको परास्त नहीं कर सकते, मेरे इस कथनमें संशय नहीं है॥ १०½॥

देवि देवमनुष्येषु गन्धर्वेषु पतत्रिषु॥ ११॥
राक्षसेषु पिशाचेषु किन्नरेषु मृगेषु च।
दानवेषु च घोरेषु न स विद्येत शोभने॥ १२॥
यो रामं प्रतियुध्येत समरे वासवोपमम्।
अवध्यः समरे रामो नैवं त्वं वक्तुमर्हसि॥ १३॥

'देवि! शोभने! देवताओं, मनुष्यों, गन्धर्वों, पक्षियों, राक्षसों, पिशाचों, किन्नरों, मृगों तथा घोर दानवोंमें भी ऐसा कोई वीर नहीं है, जो समराङ्गणमें इन्द्रके समान पराक्रमी श्रीरामका सामना कर सके। भगवान् श्रीराम युद्धमें अवध्य हैं, अतएव आपको ऐसी बात ही नहीं कहनी चाहिये॥

न त्वामस्मिन् वने हातुमुत्सहे राघवं विना ।
अनिवार्यं बलं तस्य बलैर्बलवतामपि ॥ १४ ॥
त्रिभिर्लोकैः समुदितैः सेश्वरैः सामरैरपि ।
हृदयं निर्वृतं तेऽस्तु संतापस्त्यज्यतां तव ॥ १५ ॥

'श्रीरामचन्द्रजीकी अनुपस्थितिमें इस वनके भीतर मैं आपको अकेली नहीं छोड़ सकता। सैनिक-बलसे सम्पन्न बड़े-बड़े राजा अपनी सारी सेनाओंके द्वारा भी श्रीरामके बलको कुण्ठित नहीं कर सकते। देवताओं तथा इन्द्र आदिके साथ मिले हुए तीनों लोक भी यदि आक्रमण करें तो वे श्रीरामके बलका वेग नहीं रोक सकते; अतः आपका हृदय शान्त हो। आप संताप छोड़ दें ॥ १४-१५ ॥

आगमिष्यति ते भर्ता शीघ्रं हत्वा मृगोत्तमम् ।
न स तस्य स्वरो व्यक्तं न कश्चिदपि दैवतः ॥ १६ ॥
गन्धर्वनगरप्रख्या माया तस्य च रक्षसः ।

'आपके पतिदेव उस सुन्दर मृगको मारकर शीघ्र ही लौट आयेंगे। वह शब्द जो आपने सुना था, अवश्य ही उनका नहीं था। किसी देवताने कोई शब्द प्रकट किया हो, ऐसी बात भी नहीं है। वह तो उस राक्षसकी गन्धर्वनगरके समान झूठी माया ही थी ॥ १६½ ॥

न्यासभूतासि वैदेहि न्यस्ता मयि महात्मना ॥ १७ ॥
रामेण त्वं वरारोहे न त्वां त्यक्तुमिहोत्सहे ।

'सुन्दरि ! विदेहनन्दिनि ! महात्मा श्रीरामचन्द्रजीने मुझपर आपकी रक्षाका भार सौंपा है। इस समय आप मेरे पास उनकी धरोहरके रूपमें हैं। अतः आपको मैं यहाँ अकेली नहीं छोड़ सकता ॥ १७½ ॥

कृतवैराश्च कल्याणि वयमेतैर्निशाचरैः ॥ १८ ॥
खरस्य निधने देवि जनस्थानवधं प्रति ।

'कल्याणमयी देवि ! जिस समय खरका वध किया गया, उस समय जनस्थाननिवासी दूसरे बहुत-से राक्षस भी मारे गये थे, इस कारण इन निशाचरोंने हमारे साथ वैर बाँध लिया है ॥

राक्षसा विविधा वाचो व्याहरन्ति महावने ॥ १९ ॥
हिंसाविहारा वैदेहि न चिन्तयितुमर्हसि ।

'विदेहनन्दिनि ! प्राणियोंकी हिंसा ही जिनका क्रीडा-विहार या मनोरञ्जन है, वे राक्षस ही इस विशाल वनमें नाना प्रकारकी बोलियाँ बोला करते हैं; अतः आपको चिन्ता नहीं करनी चाहिये' ॥

लक्ष्मणेनैवमुक्ता तु क्रुद्धा संरक्तलोचना ॥ २० ॥
अब्रवीत् परुषं वाक्यं लक्ष्मणं सत्यवादिनम् ।

लक्ष्मणके ऐसा कहनेपर सीताको बड़ा क्रोध हुआ, उनकी आँखें लाल हो गयीं और वे सत्यवादी लक्ष्मणसे कठोर बातें कहने लगीं— ॥ २०½ ॥

अनार्याकरुणारम्भ नृशंस कुलपांसन ॥ २१ ॥
अहं तव प्रियं मन्ये रामस्य व्यसनं महत् ।
रामस्य व्यसनं दृष्ट्वा तेनैतानि प्रभाषसे ॥ २२ ॥

'अनार्य ! निर्दयी ! क्रूरकर्मा ! कुलाङ्गार ! मैं तुझे खूब समझती हूँ। श्रीराम किसी भारी विपत्तिमें पड़ जायँ, यही तुझे प्रिय है। इसीलिये तू रामपर संकट आया देखकर भी ऐसी बातें बना रहा है ॥ २१-२२ ॥

नैव चित्रं सपत्नेषु पापं लक्ष्मण यद् भवेत् ।
त्वद्विधेषु नृशंसेषु नित्यं प्रच्छन्नचारिषु ॥ २३ ॥

'लक्ष्मण ! तेरे-जैसे क्रूर एवं सदा छिपे हुए शत्रुओंके मनमें इस तरहका पापपूर्ण विचार होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है ॥ २३ ॥

सुदुष्टस्त्वं वने राममेकमेकोऽनुगच्छसि ।
मम हेतोः प्रतिच्छन्नः प्रयुक्तो भरतेन वा ॥ २४ ॥

'तू बड़ा दुष्ट है, श्रीरामको अकेले वनमें आते देख मुझे प्राप्त करनेके लिये ही अपने भावको छिपाकर तू भी अकेला ही उनके पीछे-पीछे चला आया है, अथवा यह भी सम्भव है कि भरतने ही तुझे भेजा हो ॥ २४ ॥

तन्न सिध्यति सौमित्रे तवापि भरतस्य वा ।
कथमिन्दीवरश्यामं रामं पद्मनिभेक्षणम् ॥ २५ ॥
उपसंश्रित्य भर्तारं कामयेयं पृथग्जनम् ।

'परंतु सुमित्राकुमार ! तेरा या भरतका वह मनोरथ सिद्ध नहीं हो सकता। नीलकमलके समान श्यामसुन्दर कमलनयन श्रीरामको पतिरूपमें पाकर मैं दूसरे किसी क्षुद्र पुरुषकी कामना कैसे कर सकती हूँ ? ॥ २५½ ॥

समक्षं तव सौमित्रे प्राणांस्त्यक्ष्याम्यसंशयम् ॥ २६ ॥
रामं विना क्षणमपि नैव जीवामि भूतले ।

'सुमित्राकुमार ! मैं तेरे सामने ही निःसंदेह अपने प्राण त्याग दूँगी, किंतु श्रीरामके बिना एक क्षण भी इस भूतलपर जीवित नहीं रह सकूँगी' ॥ २६½ ॥

इत्युक्तः परुषं वाक्यं सीतया रोमहर्षणम् ॥ २७ ॥
अब्रवील्लक्ष्मणः सीतां प्राञ्जलिः स जितेन्द्रियः ।
उत्तरं नोत्सहे वक्तुं दैवतं भवती मम ॥ २८ ॥

सीताने जब इस प्रकार कठोर तथा रोंगटे खड़े कर देनेवाली बात कही, तब जितेन्द्रिय लक्ष्मण हाथ जोड़कर उनसे बोले—'देवि ! मैं आपकी बातका जवाब नहीं दे सकता; क्योंकि आप मेरे लिये आराधनीया देवीके समान हैं ॥

वाक्यमप्रतिरूपं तु न चित्रं स्त्रीषु मैथिलि ।
स्वभावस्त्वेष नारीणामेषु लोकेषु दृश्यते ॥ २९ ॥

'मिथिलेशकुमारी ! ऐसी अनुचित और प्रतिकूल बातें मुँहसे निकालना स्त्रियोंके लिये आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि इस संसारमें नारियोंका ऐसा स्वभाव बहुधा देखा जाता है ॥ २९ ॥

विमुक्तधर्माश्चपलास्तीक्ष्णा भेदकराः स्त्रियः ।
न सहे हीदृशं वाक्यं वैदेहि जनकात्मजे ॥ ३० ॥
श्रोत्रयोरुभयोर्मध्ये तप्तनाराचसंनिभम् ।

'स्त्रियाँ प्रायः विनय आदि धर्मोंसे रहित, चञ्चल, कठोर तथा घरमें फूट डालनेवाली होती हैं। विदेहकुमारी जानकी ! आपकी यह बात मेरे दोनों कानोंमें तपाये हुए लोहेके समान लगी है। मैं ऐसी बात सह नहीं सकता ॥ ३०½ ॥

उपशृण्वन्तु मे सर्वे साक्षिणो हि वनेचराः ॥ ३१ ॥
न्यायवादी यथा वाक्यमुक्तोऽहं परुषं त्वया ।
धिक् त्वामद्य विनश्यन्तीं यन्मामेवं विशङ्कसे ॥ ३२ ॥
स्त्रीत्वाद् दुष्टस्वभावेन गुरुवाक्ये व्यवस्थितम् ।
गच्छामि यत्र काकुत्स्थः स्वस्ति तेऽस्तु वरानने ॥ ३३ ॥

'इस वनमें विचरनेवाले सभी प्राणी साक्षी होकर मेरा कथन सुनें। मैंने न्याययुक्त बात कही है तो भी आपने मेरे प्रति ऐसी कठोर बात अपने मुँहसे निकाली है। निश्चय ही आज आपकी बुद्धि मारी गयी है। आप नष्ट होना चाहती हैं। धिक्कार है आपको, जो आप मुझपर ऐसा संदेह करती हैं। मैं बड़े भाईकी आज्ञाका पालन करनेमें दृढ़तापूर्वक तत्पर हूँ और आप केवल नारी होनेके कारण साधारण स्त्रियोंके दुष्ट स्वभावको अपनाकर मेरे प्रति ऐसी आशङ्का करती हैं। अच्छा अब मैं वहीं जाता हूँ, जहाँ भैया श्रीराम गये हैं। सुमुखि ! आपका कल्याण हो ॥ ३१—३३ ॥

रक्षन्तु त्वां विशालाक्षि समग्रा वनदेवताः ।
निमित्तानि हि घोराणि यानि प्रादुर्भवन्ति मे ।
अपि त्वां सह रामेण पश्येयं पुनरागतः ॥ ३४ ॥

'विशाललोचने ! वनके सम्पूर्ण देवता आपकी रक्षा करें; क्योंकि इस समय मेरे सामने जो बड़े भयंकर अपशकुन प्रकट हो रहे हैं, उन्होंने मुझे संशयमें डाल दिया है। क्या मैं श्रीरामचन्द्रजीके साथ लौटकर पुनः आपको सकुशल देख सकूँगा ?' ॥ ३४ ॥

लक्ष्मणेनैवमुक्ता तु रुदती जनकात्मजा ।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं तीव्रबाष्पपरिप्लुता ॥ ३५ ॥

लक्ष्मणके ऐसा कहनेपर जनककिशोरी सीता रोने लगीं। उनके नेत्रोंसे आँसुओंकी तीव्र धारा बह चली। वे उन्हें इस प्रकार उत्तर देती हुई बोलीं— ॥ ३५ ॥

गोदावरीं प्रवेक्ष्यामि हीना रामेण लक्ष्मण ।
आबन्धिष्येऽथवा त्यक्ष्ये विषमे देहमात्मनः ॥ ३६ ॥
पिबामि वा विषं तीक्ष्णं प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ।
न त्वहं राघवादन्यं कदापि पुरुषं स्पृशे ॥ ३७ ॥

'लक्ष्मण ! मैं श्रीरामसे बिछुड़ जानेपर गोदावरी नदीमें समा जाऊँगी अथवा गलेमें फाँसी लगा लूँगी अथवा पर्वतके दुर्गम शिखरपर चढ़कर वहाँसे अपने शरीरको नीचे डाल दूँगी या तीव्र विष पान कर लूँगी अथवा जलती आगमें प्रवेश कर जाऊँगी, परंतु श्रीरघुनाथजीके सिवा दूसरे किसी पुरुषका कदापि स्पर्श नहीं करूँगी' ॥ ३६-३७ ॥

इति लक्ष्मणमाश्रुत्य सीता शोकसमन्विता ।
पाणिभ्यां रुदती दुःखादुदरं प्रजघान ह ॥ ३८ ॥

लक्ष्मणके सामने यह प्रतिज्ञा करके शोकमग्न होकर रोती हुई सीता अधिक दुःखके कारण दोनों हाथोंसे अपने उदरपर आघात करने लगीं—छाती पीटने लगीं ॥ ३८ ॥

तामार्तरूपां विमना रुदन्तीं
सौमित्रिरालोक्य विशालनेत्राम् ।
आश्वासयामास न चैव भर्तु-
स्तं भ्रातरं किंचिदुवाच सीता ॥ ३९ ॥

विशाललोचना सीताको आर्त होकर रोती देख सुमित्रा-कुमार लक्ष्मणने मन-ही-मन उन्हें सान्त्वना दी, परंतु सीता उस समय अपने देवरसे कुछ नहीं बोलीं ॥ ३९ ॥

ततस्तु सीतामभिवाद्य लक्ष्मणः
कृताञ्जलिः किंचिदभिप्रणम्य ।
अवेक्षमाणो बहुशः स मैथिलीं
जगाम रामस्य समीपमात्मवान् ॥ ४० ॥

तब मनको वशमें रखनेवाले लक्ष्मणने दोनों हाथ जोड़ कुछ झुककर मिथिलेशकुमारी सीताको प्रणाम किया और बारंबार उनकी ओर देखते हुए वे श्रीरामचन्द्रजीके पास चल दिये ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

—★—

षट्चत्वारिंशः सर्गः

रावणका साधुवेषमें सीताके पास जाकर उनका परिचय पूछना और सीताका आतिथ्यके लिये उसे आमन्त्रित करना

तया परुषमुक्तस्तु कुपितो राघवानुजः ।
स विकाङ्क्षन् भृशं रामं प्रतस्थे नचिरादिव ॥ १ ॥

सीताके कठोर वचन कहनेपर कुपित हुए लक्ष्मण श्रीरामसे मिलनेकी विशेष इच्छा रखकर शीघ्र ही वहाँसे चल दिये ॥ १ ॥

तदासाद्य दशग्रीवः क्षिप्रमन्तरमास्थितः ।
अभिचक्राम वैदेहीं परिव्राजकरूपधृक् ॥ २ ॥

लक्ष्मणके चले जानेपर रावणको मौका मिल गया, अतः वह संन्यासीका वेष धारण करके शीघ्र ही विदेहकुमारी सीताके समीप गया ॥ २ ॥

श्लक्ष्णकाषायसंवीतः शिखी छत्री उपानही।
वामे चांसेऽवसज्याथ शुभे यष्टिकमण्डलू॥ ३॥

वह शरीरपर साफ-सुथरा गेरुए रंगका वस्त्र लपेटे हुए था। उसके मस्तकपर शिखा, हाथमें छाता और पैरोंमें जूते थे। उसने बायें कंधेपर डंडा रखकर उसमें कमण्डलु लटका रखा था॥ ३॥

परिव्राजकरूपेण वैदेहीमन्ववर्तत।
तामाससादातिबलो भ्रातृभ्यां रहितां वने॥ ४॥

अत्यन्त बलवान् रावण उस वनमें परिव्राजकका रूप धारण करके श्रीराम और लक्ष्मण दोनों बन्धुओंसे रहित हुई अकेली विदेहकुमारी सीताके पास गया॥ ४॥

रहितां सूर्यचन्द्राभ्यां संध्यामिव महत्तमः।
तामपश्यत् ततो बालां राजपुत्रीं यशस्विनीम्॥ ५॥
रोहिणीं शशिना हीनां ग्रहवद् भृशदारुणः।

जैसे सूर्य और चन्द्रमासे हीन हुई संध्याके पास महान् अंधकार उपस्थित हो, उसी प्रकार वह सीताके निकट गया। तदनन्तर जैसे चन्द्रमासे रहित हुई रोहिणीपर अत्यन्त दारुण ग्रह मंगल या शनैश्चरकी दृष्टि पड़े, उसी प्रकार उस अतिशय क्रूर रावणने उस भोली-भाली यशस्विनी राजकुमारीको ओर देखा॥ ५½॥

तमुग्रं पापकर्माणं जनस्थानगता द्रुमाः॥ ६॥
संदृश्य न प्रकम्पन्ते न प्रवाति च मारुतः।
शीघ्रस्रोताश्च तं दृष्ट्वा वीक्षन्तं रक्तलोचनम्॥ ७॥
स्तिमितं गन्तुमारेभे भयाद् गोदावरी नदी।

उस भयंकर पापाचारीको आया देख जनस्थानके वृक्षोंने हिलना बंद कर दिया और हवाका वेग रुक गया। लाल नेत्रोंवाले रावणको अपनी ओर दृष्टिपात करते देख तीव्र गतिसे बहनेवाली गोदावरी नदी भयके मारे धीरे-धीरे बहने लगी॥

रामस्य त्वन्तरं प्रेप्सुर्दशग्रीवस्तदन्तरे॥ ८॥
उपतस्थे च वैदेहीं भिक्षुरूपेण रावणः।

रामसे बदला लेनेका अवसर ढूँढ़नेवाला दशमुख रावण उस समय भिक्षुरूपसे विदेहकुमारी सीताके पास पहुँचा॥

अभव्यो भव्यरूपेण भर्तारमनुशोचतीम्॥ ९॥
अभ्यवर्तत वैदेहीं चित्रामिव शनैश्चरः।

उस समय विदेहराजकुमारी सीता अपने पतिके लिये शोक और चिन्तामें डूबी हुई थीं। उसी अवस्थामें अभव्य रावण भव्य रूप धारण करके उनके सामने उपस्थित हुआ, मानो शनैश्चर ग्रह चित्राके सामने जा पहुँचा हो॥ ९½॥

सहसा भव्यरूपेण तृणैः कूप इवावृतः॥ १०॥
अतिष्ठत् प्रेक्ष्य वैदेहीं रामपत्नीं यशस्विनीम्।

जैसे कुआँ तिनकोंसे ढका हुआ हो, उसी प्रकार भव्य रूपसे अपनी अभव्यताको छिपाकर रावण सहसा वहाँ जा पहुँचा और यशस्विनी रामपत्नी वैदेहीको देखकर खड़ा हो गया॥ १०½॥

तिष्ठन् सम्प्रेक्ष्य च तदा पत्नीं रामस्य रावणः॥ ११॥
शुभां रुचिरदन्तोष्ठीं पूर्णचन्द्रनिभाननाम्।
आसीनां पर्णशालायां बाष्पशोकाभिपीडिताम्॥ १२॥

उस समय रावण वहाँ खड़ा-खड़ा रामपत्नी सीताको देखने लगा। वे बड़ी सुन्दरी थीं। उनके दाँत और ओठ भी सुन्दर थे, मुख पूर्ण चन्द्रमाकी शोभाको छीने लेता था। वे पर्णशालामें बैठी हुई शोकसे पीड़ित हो आँसू बहा रही थीं॥ ११-१२॥

स तां पद्मपलाशाक्षीं पीतकौशेयवासिनीम्।
अभ्यगच्छत वैदेहीं हृष्टचेता निशाचरः॥ १३॥

वह निशाचर प्रसन्नचित्त हो रेशमी पीताम्बरसे सुशोभित कमलनयनी विदेहकुमारीके सामने गया॥ १३॥

दृष्ट्वा कामशराविद्धो ब्रह्मघोषमुदीरयन्।
अब्रवीत् प्रश्रितं वाक्यं रहिते राक्षसाधिपः॥ १४॥

उन्हें देखते ही कामदेवके बाणोंसे घायल हो राक्षसराज रावण वेदमन्त्रका उच्चारण करने लगा और उस एकान्त स्थानमें विनीतभावसे उनसे कुछ कहनेको उद्यत हुआ॥

तामुत्तमां त्रिलोकानां पद्महीनामिव श्रियम्।
विभ्राजमानां वपुषा रावणः प्रशशंस ह॥ १५॥

त्रिलोकसुन्दरी सीता अपने शरीरसे कमलसे रहित कमलालया लक्ष्मीकी भाँति शोभा पा रही थीं। रावण उनकी प्रशंसा करता हुआ बोला—॥ १५॥

रौप्यकाञ्चनवर्णाभे पीतकौशेयवासिनि।
कमलानां शुभां मालां पद्मिनीव च बिभ्रती॥ १६॥

'उत्तम सुवर्णकी-सी कान्तिवाली तथा रेशमी पीताम्बर धारण करनेवाली सुन्दरी! (तुम कौन हो?) तुम्हारे मुख, नेत्र, हाथ और पैर कमलोंके समान हैं, अतः तुम पद्मिनी (पुष्करिणी) की भाँति कमलोंकी सुन्दर-सी माला धारण करती हो॥ १६॥

ह्रीः श्रीः कीर्तिः शुभा लक्ष्मीरप्सरा वा शुभानने।
भूतिर्वा त्वं वरारोहे रतिर्वा स्वैरचारिणी॥ १७॥

'शुभानने! तुम श्री, ह्री, कीर्ति, शुभस्वरूपा लक्ष्मी अथवा अप्सरा तो नहीं हो? अथवा वरारोहे! तुम भूति या स्वेच्छापूर्वक विहार करनेवाली कामदेवकी पत्नी रति तो नहीं हो?॥ १७॥

समाः शिखरिणः स्निग्धाः पाण्डुरा दशनास्तव।
विशाले विमले नेत्रे रक्तान्ते कृष्णतारके॥ १८॥
विशालं जघनं पीनमूरू करिकरोपमौ।

तुम्हारे दाँत बराबर हैं। उनके अग्रभाग कुन्दकी कलियोंके समान शोभा पाते हैं। वे सब-के-सब चिकने और सफेद हैं। तुम्हारी दोनों आँखें बड़ी-बड़ी और निर्मल हैं। उनके दोनों कोये लाल हैं और पुतलियाँ काली हैं। कटिका अग्रभाग विशाल एवं मांसल है। दोनों जाँघें हाथीकी सूँड़के समान शोभा पाती हैं॥ १८½॥

एतावुपचितौ वृत्तौ संहतौ सम्प्रगल्भितौ ॥ १९ ॥
पीनोन्नतमुखौ कान्तौ स्निग्धतालफलोपमौ ।
मणिप्रवेकाभरणौ रुचिरौ ते पयोधरौ ॥ २० ॥

'तुम्हारे ये दोनों स्तन पुष्ट, गोलाकार, परस्पर सटे हुए, प्रगल्भ, मोटे, उठे हुए मुखवाले, कमनीय, चिकने ताड़फलके समान आकारवाले, परम सुन्दर और श्रेष्ठ मणिमय आभूषणोंसे विभूषित हैं ॥ १९-२० ॥

चारुस्मिते चारुदति चारुनेत्रे विलासिनि ।
मनो हरसि मे रामे नदीकूलमिवाम्भसा ॥ २१ ॥

'सुन्दर मुसकान, रुचिर दन्तावली और मनोहर नेत्रवाली विलासिनी रमणी ! तुम अपने रूप-सौन्दर्यसे मेरे मनको वैसे ही हरे लेती हो, जैसे नदी जलके द्वारा अपने तटका अपहरण करती है ॥ २१ ॥

करान्तमितमध्यासि सुकेशे संहतस्तनि ।
नैव देवी न गन्धर्वी न यक्षी न च किंनरी ॥ २२ ॥

'तुम्हारी कमर इतनी पतली है कि मुट्ठीमें आ जाय। केश चिकने और मनोहर हैं। दोनों स्तन एक-दूसरेसे सटे हुए हैं। सुन्दरी ! देवता, गन्धर्व, यक्ष और किन्नर जातिकी स्त्रियोंमें भी कोई तुम-जैसी नहीं है ॥ २२ ॥

नैवंरूपा मया नारी दृष्टपूर्वा महीतले ।
रूपमग्र्यं च लोकेषु सौकुमार्यं वयश्च ते ॥ २३ ॥
इह वासश्च कान्तारे चित्तमुन्माथयन्ति मे ।
सा प्रतिक्राम भद्रं ते न त्वं वस्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

'पृथ्वीपर तो ऐसी रूपवती नारी मैंने आजसे पहले कभी देखी ही नहीं थी। कहाँ तो तुम्हारा यह तीनों लोकोंमें सबसे सुन्दर रूप, सुकुमारता और नयी अवस्था और कहाँ इस दुर्गम वनमें निवास ! ये सब बातें ध्यानमें आते ही मेरे मनको मथे डालती हैं। तुम्हारा कल्याण हो। यहाँसे चली जाओ। तुम यहाँ रहनेके योग्य नहीं हो ॥ २३-२४ ॥

राक्षसानामयं वासो घोराणां कामरूपिणाम् ।
प्रासादाग्राणि रम्याणि नगरोपवनानि च ॥ २५ ॥
सम्पन्नानि सुगन्धीनि युक्तान्याचरितुं त्वया ।

'यह तो इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले भयंकर राक्षसोंके रहनेकी जगह है। तुम्हें तो रमणीय राजमहलों, समृद्धिशाली नगरों और सुगन्धयुक्त उपवनोंमें निवास करना और विचरना चाहिये ॥ २५½ ॥

वरं माल्यं वरं गन्धं वरं वस्त्रं च शोभने ॥ २६ ॥
भर्तारं च वरं मन्ये त्वद्युक्तमसितेक्षणे ।

'शोभने ! वही पुरुष श्रेष्ठ है, वही गन्ध उत्तम है और वही वस्त्र सुन्दर है, जो तुम्हारे उपयोगमें आये। कजरारे नेत्रोंवाली सुन्दरी ! मैं उसीको श्रेष्ठ पति मानता हूँ, जिसे तुम्हारा सुखद संयोग प्राप्त हो ॥ २६½ ॥

का त्वं भवसि रुद्राणां मरुतां वा शुचिस्मिते ॥ २७ ॥
वसूनां वा वरारोहे देवता प्रतिभासि मे ।

'पवित्र मुसकान और सुन्दर अङ्गोंवाली देवि ! तुम कौन हो ? मुझे तो तुम रुद्रों, मरुद्गणों अथवा वसुओंसे सम्बन्ध रखनेवाली देवी जान पड़ती हो ॥ २७½ ॥

नेह गच्छन्ति गन्धर्वा न देवा न च किन्नराः ॥ २८ ॥
राक्षसानामयं वासः कथं तु त्वमिहागता ।

'यहाँ गन्धर्व, देवता तथा किन्नर नहीं आते-जाते हैं। यह राक्षसोंका निवासस्थान है, फिर तुम कैसे यहाँ आ गयी ॥

इह शाखामृगाः सिंहा द्वीपिव्याघ्रमृगा वृकाः ॥ २९ ॥
ऋक्षास्तरक्षवः कङ्काः कथं तेभ्यो न बिभ्यसे ।

'यहाँ वानर, सिंह, चीते, व्याघ्र, मृग, भेड़िये, रीछ, शेर और कंक (गीध आदि पक्षी) रहते हैं। तुम्हें इनसे भय क्यों नहीं हो रहा है ? ॥ २९½ ॥

मदान्वितानां घोराणां कुञ्जराणां तरस्विनाम् ॥ ३० ॥
कथमेका महारण्ये न बिभेषि वरानने ।

'वरानने ! इस विशाल वनके भीतर अत्यन्त वेगशाली और भयंकर मदमत्त गजराजोंके बीच अकेली रहती हुई तुम भयभीत कैसे नहीं होती हो ? ॥ ३०½ ॥

कासि कस्य कुतश्च त्वं किं निमित्तं च दण्डकान् ॥ ३१ ॥
एका चरसि कल्याणि घोरान् राक्षससेवितान् ।

'कल्याणमयी देवि ! बताओ, तुम कौन हो ? किसकी हो ? और कहाँसे आकर किस कारण इस राक्षससेवित घोर दण्डकारण्यमें अकेली विचरण करती हो ?' ॥ ३१½ ॥

इति प्रशस्ता वैदेही रावणेन महात्मना ॥ ३२ ॥
द्विजातिवेषेण हि तं दृष्ट्वा रावणमागतम् ।
सर्वैरतिथिसत्कारैः पूजयामास मैथिली ॥ ३३ ॥

वेषभूषासे महात्मा बनकर आये हुए रावणने जब विदेहकुमारी सीताकी इस प्रकार प्रशंसा की, तब ब्राह्मणवेषमें वहाँ पधारे हुए रावणको देखकर मैथिलीने अतिथि-सत्कारके लिये उपयोगी सभी सामग्रियोंद्वारा उसका पूजन किया ॥

उपानीयासनं पूर्वं पाद्येनाभिनिमन्त्र्य च ।
अब्रवीत् सिद्धमित्येव तदा तं सौम्यदर्शनम् ॥ ३४ ॥

पहले बैठनेके लिये आसन दे, पाद्य (पैर धोनेके लिये जल) निवेदन किया। तदनन्तर ऊपरसे सौम्य दिखायी देनेवाले उस अतिथिको भोजनके लिये निमन्त्रण देते हुए कहा—'ब्रह्मन् ! भोजन तैयार है, ग्रहण कीजिये' ॥ ३४ ॥

द्विजातिवेषेण समीक्ष्य मैथिली
समागतं पात्रकुसुम्भधारिणम् ।
अशक्यमुद्द्वेष्टुमुपायदर्शना-
न्न्यमन्त्रयद् ब्राह्मणवत् तथागतम् ॥ ३५ ॥

वह ब्राह्मणके वेषमें आया था, कमण्डलु और गेरुआ वस्त्र धारण किये हुए था। ब्राह्मण-वेषमें आये हुए अतिथिकी उपेक्षा असम्भव थी। उसकी वेषभूषामें ब्राह्मणत्वका निश्चय करानेवाले चिह्न दिखायी देते थे, अतः उस रूपमें आये हुए

उस रावणको देखकर मैथिलीने ब्राह्मणके योग्य सत्कार करनेके लिये ही उसे निमन्त्रित किया॥ ३५॥

इयं बृसी ब्राह्मण काममास्यता-
मिदं च पाद्यं प्रतिगृह्यतामिति।
इदं च सिद्धं वनजातमुत्तमं
त्वदर्थमव्यग्रमिहोपभुज्यताम्॥ ३६॥

वे बोलीं—'ब्राह्मण! यह चटाई है, इसपर इच्छानुसार बैठ जाइये। यह पैर धोनेके लिये जल है, इसे ग्रहण कीजिये और यह वनमें ही उत्पन्न हुआ उत्तम फल-मूल आपके लिये ही तैयार करके रखा गया है, यहाँ शान्तभावसे उसका उपभोग कीजिये'॥ ३६॥

निमन्त्र्यमाणः प्रतिपूर्णभाषिणीं
नरेन्द्रपत्नीं प्रसमीक्ष्य मैथिलीम्।
प्रसह्य तस्या हरणे दृढं मनः
समर्पयामास वधाय रावणः॥ ३७॥

'अतिथिके लिये सब कुछ तैयार है' ऐसा कहकर सीताने जब उसे भोजनके लिये निमन्त्रित किया, तब रावणने 'सर्वं सम्पन्नम्' कहनेवाली राजरानी मैथिलीकी ओर देखा और अपने ही वधके लिये उसने हठपूर्वक सीताका हरण करनेके निमित्त मनमें दृढ़ निश्चय कर लिया॥ ३७॥

ततः सुवेषं मृगयागतं पतिं
प्रतीक्षमाणा सहलक्ष्मणं तदा।
निरीक्षमाणा हरितं ददर्श त-
न्महद् वनं नैव तु रामलक्ष्मणौ॥ ३८॥

तदनन्तर सीता शिकार खेलनेके लिये गये हुए लक्ष्मणसहित अपने सुन्दर वेषधारी पति श्रीरामचन्द्रजीकी प्रतीक्षा करने लगीं। उन्होंने चारों ओर दृष्टि दौड़ायी, किंतु उन्हें सब ओर हराभरा विशाल वन ही दिखायी दिया, श्रीराम और लक्ष्मण नहीं दीख पड़े॥ ३८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे षट्चत्वारिंशः सर्गः॥ ४६॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें छियालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ४६॥

★

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

सीताका रावणको अपना और पतिका परिचय देकर वनमें आनेका कारण बताना, रावणका उन्हें अपनी पटरानी बनानेकी इच्छा प्रकट करना और सीताका उसे फटकारना

रावणेन तु वैदेही तदा पृष्टा जिहीर्षुणा।
परिव्राजकरूपेण शशंसात्मानमात्मना॥ १॥

सीताको हरनेकी इच्छासे परिव्राजक (संन्यासी)-का रूप धारण करके आये हुए रावणने उस समय जब विदेह-राजकुमारीसे इस प्रकार पूछा, तब उन्होंने स्वयं ही अपना परिचय दिया॥ १॥

ब्राह्मणश्चातिथिश्चैष अनुक्तो हि शपेत माम्।
इति ध्यात्वा मुहूर्तं तु सीता वचनमब्रवीत्॥ २॥

वे दो घड़ीतक इस विचारमें पड़ी रहीं कि ये ब्राह्मण और अतिथि हैं, यदि इनकी बातका उत्तर न दिया जाय तो ये मुझे शाप दे देंगे। यह सोचकर सीताने इस प्रकार कहना आरम्भ किया—॥ २॥

दुहिता जनकस्याहं मैथिलस्य महात्मनः।
सीता नाम्नास्मि भद्रं ते रामस्य महिषी प्रिया॥ ३॥

'ब्रह्मन्! आपका भला हो। मैं मिथिलानरेश महात्मा जनककी पुत्री और अवधनरेश श्रीरामचन्द्रजीकी प्यारी रानी हूँ। मेरा नाम सीता है॥ ३॥

उषित्वा द्वादश समा इक्ष्वाकूणां निवेशने।
भुञ्जाना मानुषान् भोगान् सर्वकामसमृद्धिनी॥ ४॥

'विवाहके बाद बारह वर्षोंतक इक्ष्वाकुवंशी महाराज दशरथके महलमें रहकर मैंने अपने पतिके साथ सभी मानवोचित भोग भोगे हैं। मैं वहाँ सदा मनोवाञ्छित सुख-सुविधाओंसे सम्पन्न रही हूँ॥ ४॥

तत्र त्रयोदशे वर्षे राजामन्त्रयत प्रभुः।
अभिषेचयितुं रामं समेतो राजमन्त्रिभिः॥ ५॥

'तेरहवें वर्षके प्रारम्भमें सामर्थ्यशाली महाराज दशरथने राजमन्त्रियोंसे मिलकर सलाह की और श्रीरामचन्द्रजीका युवराजपदपर अभिषेक करनेका निश्चय किया॥ ५॥

तस्मिन् सम्भ्रियमाणे तु राघवस्याभिषेचने।
कैकेयी नाम भर्तारं ममार्या याचते वरम्॥ ६॥

'जब श्रीरघुनाथजीके राज्याभिषेककी सामग्री जुटायी जाने लगी, उस समय मेरी सास कैकेयीने अपने पतिसे वर माँगा॥ ६॥

परिगृह्य तु कैकेयी श्वशुरं सुकृतेन मे।
मम प्रव्राजनं भर्तुर्भरतस्याभिषेचनम्॥ ७॥
द्वावयाचत भर्तारं सत्यसंधं नृपोत्तमम्।

'कैकेयीने मेरे श्वशुरको पुण्यकी शपथ दिलाकर वचनबद्ध कर लिया, फिर अपने सत्यप्रतिज्ञ पति उन राजशिरोमणिसे दो वर माँगे—मेरे पतिके लिये वनवास और भरतके लिये राज्याभिषेक॥ ७½॥

नाद्य भोक्ष्ये न च स्वप्स्ये न पास्ये न कदाचन॥ ८॥
एष मे जीवितस्यान्तो रामो यद्यभिषिच्यते।

'कैकेयी हठपूर्वक कहने लगी—यदि आज श्रीरामका अभिषेक किया गया तो मैं न तो खाऊँगी, न पीऊँगी और

न कभी सोऊँगी ही। यही मेरे जीवनका अन्त होगा ॥ ८½ ॥

इति ब्रुवाणां कैकेयीं श्वशुरो मे स पार्थिवः ॥ ९ ॥
अयाचतार्थैरन्वर्थैर्न च याच्ञां चकार सा।

'ऐसी बात कहती हुई कैकेयीसे मेरे श्वशुर महाराज दशरथने यह याचना की कि 'तुम सब प्रकारकी उत्तम वस्तुएँ ले लो; किंतु श्रीरामके अभिषेकमें विघ्न न डालो।' किंतु कैकेयीने उनकी वह याचना सफल नहीं की ॥ ९½ ॥

मम भर्ता महातेजा वयसा पञ्चविंशकः ॥ १० ॥
अष्टादश हि वर्षाणि मम जन्मनि गण्यते।

'उस समय मेरे महातेजस्वी पतिकी अवस्था पचीस सालसे ऊपरकी थी और मेरे जन्मकालसे लेकर वनगमन-कालतक मेरी अवस्था वर्षगणनाके अनुसार अठारह सालकी हो गयी थी ॥ १०½ ॥

रामेति प्रथितो लोके सत्यवाञ्शीलवाञ्शुचिः ॥ ११ ॥
विशालाक्षो महाबाहुः सर्वभूतहिते रतः।

'श्रीराम जगत्में सत्यवादी, सुशील और पवित्र रूपसे विख्यात हैं। उनके नेत्र बड़े-बड़े और भुजाएँ विशाल हैं। वे समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहते हैं ॥ ११½ ॥

कामार्तश्च महाराजः पिता दशरथः स्वयम् ॥ १२ ॥
कैकेय्याः प्रियकामार्थं तं रामं नाभ्यषेचयत्।

'उनके पिता महाराज दशरथने स्वयं कामपीड़ित होनेके कारण कैकेयीका प्रिय करनेकी इच्छासे श्रीरामका अभिषेक नहीं किया ॥ १२½ ॥

अभिषेकाय तु पितुः समीपं राममागतम् ॥ १३ ॥
कैकेयी मम भर्तारमित्युवाच द्रुतं वचः।

'श्रीरामचन्द्रजी जब अभिषेकके लिये पिताके समीप आये, तब कैकेयीने मेरे उन पतिदेवसे तुरंत यह बात कही ॥

तव पित्रा समाज्ञप्तं ममेदं शृणु राघव ॥ १४ ॥
भरताय प्रदातव्यमिदं राज्यमकण्टकम्।
त्वया तु खलु वस्तव्यं नव वर्षाणि पञ्च च ॥ १५ ॥
वने प्रव्रज काकुत्स्थ पितरं मोचयानृतात्।

'रघुनन्दन! तुम्हारे पिताने जो आज्ञा दी है, इसे मेरे मुँहसे सुनो। यह निष्कण्टक राज्य भरतको दिया जायगा, तुम्हें तो चौदह वर्षोंतक वनमें ही निवास करना होगा। काकुत्स्थ! तुम वनको जाओ और पिताको असत्यके बन्धनसे छुड़ाओ ॥

तथेत्युवाच तां रामः कैकेयीमकुतोभयः ॥ १६ ॥
चकार तद्वचः श्रुत्वा भर्ता मम दृढव्रतः।

'किसीसे भी भय न माननेवाले श्रीरामने कैकेयीकी वह बात सुनकर कहा—'बहुत अच्छा'। उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया। मेरे स्वामी दृढ़तापूर्वक अपनी प्रतिज्ञाका पालन करनेवाले हैं ॥ १६½ ॥

दद्यान्न प्रतिगृह्णीयात् सत्यं ब्रूयान्न चानृतम् ॥ १७ ॥
एतद् ब्राह्मण रामस्य व्रतं ध्रुवमनुत्तमम्।

'श्रीराम केवल देते हैं, किसीसे कुछ लेते नहीं। वे सदा सत्य बोलते हैं, झूठ नहीं। ब्राह्मण! यह श्रीरामचन्द्रजीका सर्वोत्तम व्रत है, जिसे उन्होंने धारण कर रखा है ॥ १७½ ॥

तस्य भ्राता तु वैमात्रो लक्ष्मणो नाम वीर्यवान् ॥ १८ ॥
रामस्य पुरुषव्याघ्रः सहायः समरेऽरिहा।
स भ्राता लक्ष्मणो नाम ब्रह्मचारी दृढव्रतः ॥ १९ ॥

'श्रीरामके सौतेले भाई लक्ष्मण बड़े पराक्रमी हैं। समरभूमिमें शत्रुओंका संहार करनेवाले पुरुषसिंह लक्ष्मण श्रीरामके सहायक हैं, बन्धु हैं, ब्रह्मचारी और उत्तम व्रतका दृढ़तापूर्वक पालन करनेवाले हैं ॥ १८-१९ ॥

अन्वगच्छद् धनुष्पाणिः प्रव्रजन्तं मया सह।
जटी तापसरूपेण मया सह सहानुजः ॥ २० ॥
प्रविष्टो दण्डकारण्यं धर्मनित्यो दृढव्रतः।

'श्रीरघुनाथजी मेरे साथ जब वनमें आने लगे, तब लक्ष्मण भी हाथमें धनुष लेकर उनके पीछे हो लिये। इस प्रकार मेरे और अपने छोटे भाईके साथ श्रीराम इस दण्डकारण्यमें आये हैं। वे दृढ़प्रतिज्ञ तथा नित्य-निरन्तर धर्ममें तत्पर रहनेवाले हैं और सिरपर जटा धारण किये तपस्वीके वेशमें यहाँ रहते हैं ॥ २०½ ॥

ते वयं प्रच्युता राज्यात् कैकेय्यास्तु कृते त्रयः ॥ २१ ॥
विचराम द्विजश्रेष्ठ वनं गम्भीरमोजसा।
समाश्वस मुहूर्तं तु शक्यं वस्तुमिह त्वया ॥ २२ ॥
आगमिष्यति मे भर्ता वन्यमादाय पुष्कलम्।

'द्विजश्रेष्ठ! इस प्रकार हम तीनों कैकेयीके कारण राज्यसे वञ्चित हो इस गम्भीर वनमें अपने ही बलके भरोसे विचरते हैं। आप यहाँ ठहर सकें तो दो घड़ी विश्राम करें। अभी मेरे स्वामी प्रचुरमात्रामें जंगली फल-मूल लेकर आते होंगे ॥

रुरून् गोधान् वराहांश्च हत्वाऽऽदायामिषं बहु ॥ २३ ॥
स त्वं नाम च गोत्रं च कुलमाचक्ष्व तत्त्वतः।
एकश्च दण्डकारण्ये किमर्थं चरसि द्विज ॥ २४ ॥

'रुरु, गोह और जंगली सूअर आदि हिंसक पशुओंका वध करके तपस्वी जनोंके उपभोगमें आने योग्य बहुत-सा फल-मूल लेकर वे अभी आयेंगे (उस समय आपका विशेष सत्कार होगा)। ब्रह्मन्! अब आप भी अपने नाम-गोत्र और कुलका ठीक-ठीक परिचय दीजिये। आप अकेले इस दण्डकारण्यमें किस लिये विचरते हैं!' ॥

एवं ब्रुवत्यां सीतायां रामपत्न्यां महाबलः।
प्रत्युवाचोत्तरं तीव्रं रावणो राक्षसाधिपः ॥ २५ ॥

श्रीरामपत्नी सीताके इस प्रकार पूछनेपर महाबली राक्षसराज रावणने अत्यन्त कठोर शब्दोंमें उत्तर दिया— ॥

येन वित्रासिता लोकाः सदेवासुरमानुषाः।
अहं स रावणो नाम सीते रक्षोगणेश्वरः ॥ २६ ॥

'सीते! जिसके नामसे देवता, असुर और मनुष्योंसहित

तीनों लोक थर्रा उठते हैं, मैं वही राक्षसोंका राजा रावण हूँ॥

त्वां तु काञ्चनवर्णाभां दृष्ट्वा कौशेयवासिनीम्।
रतिं स्वकेषु दारेषु नाधिगच्छाम्यनिन्दिते॥ २७॥

'अनिन्द्यसुन्दरि! तुम्हारे अङ्गोंकी कान्ति सुवर्णके समान है, जिनपर रेशमी साड़ी शोभा पा रही है। तुम्हें देखकर अब मेरा मन अपनी स्त्रियोंकी ओर नहीं जाता है॥ २७॥

बह्वीनामुत्तमस्त्रीणामाहृतानामितस्ततः।
सर्वासामेव भद्रं ते ममाग्रमहिषी भव॥ २८॥

'मैं इधर-उधरसे बहुत-सी सुन्दरी स्त्रियोंको हर लाया हूँ। उन सबमें तुम मेरी पटरानी बनो। तुम्हारा भला हो॥ २८॥

लङ्का नाम समुद्रस्य मध्ये मम महापुरी।
सागरेण परिक्षिप्ता निविष्टा गिरिमूर्धनि॥ २९॥

'मेरी राजधानीका नाम लङ्का है। वह महापुरी समुद्रके बीचमें एक पर्वतके शिखरपर बसी हुई है। समुद्रने उसे चारों ओरसे घेर रखा है॥ २९॥

तत्र सीते मया सार्धं वनेषु विचरिष्यसि।
न चास्य वनवासस्य स्पृहयिष्यसि भामिनि॥ ३०॥

'सीते! वहाँ रहकर तुम मेरे साथ नाना प्रकारके वनोंमें विचरण करोगी। भामिनि! फिर तुम्हारे मनमें इस वनवासकी इच्छा कभी नहीं होगी॥ ३०॥

पञ्च दास्यः सहस्राणि सर्वाभरणभूषिताः।
सीते परिचरिष्यन्ति भार्या भवसि मे यदि॥ ३१॥

'सीते! यदि तुम मेरी भार्या हो जाओगी तो सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित पाँच हजार दासियाँ सदा तुम्हारी सेवा किया करेंगी'॥ ३१॥

रावणेनैवमुक्ता तु कुपिता जनकात्मजा।
प्रत्युवाचानवद्याङ्गी तमनादृत्य राक्षसम्॥ ३२॥

रावणके ऐसा कहनेपर निर्दोष अङ्गोंवाली जनकनन्दिनी सीता कुपित हो उठीं और राक्षसका तिरस्कार करके उसे यों उत्तर देने लगीं—॥ ३२॥

महागिरिमिवाकम्प्यं महेन्द्रसदृशं पतिम्।
महोदधिमिवाक्षोभ्यमहं राममनुव्रता॥ ३३॥

'मेरे पतिदेव भगवान् श्रीराम महान् पर्वतके समान अविचल हैं, इन्द्रके तुल्य पराक्रमी हैं और महासागरके समान प्रशान्त हैं, उन्हें कोई क्षुब्ध नहीं कर सकता। मैं तन-मन-प्राणसे उन्हींका अनुसरण करनेवाली तथा उन्हींकी अनुरागिणी हूँ॥ ३३॥

सर्वलक्षणसम्पन्नं न्यग्रोधपरिमण्डलम्।
सत्यसंधं महाभागमहं राममनुव्रता॥ ३४॥

'श्रीरामचन्द्रजी समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न, वट-वृक्षकी भाँति सबको अपनी छायामें आश्रय देनेवाले, सत्यप्रतिज्ञ और महान् सौभाग्यशाली हैं। मैं उन्हींकी अनन्य अनुरागिणी हूँ॥ ३४॥

महाबाहुं महोरस्कं सिंहविक्रान्तगामिनम्।
नृसिंहं सिंहसंकाशमहं राममनुव्रता॥ ३५॥

'उनकी भुजाएँ बड़ी-बड़ी और छाती चौड़ी है। वे सिंहके समान पाँव बढ़ाते हुए बड़े गर्वके साथ चलते हैं और सिंहके ही समान पराक्रमी हैं। मैं उन पुरुषसिंह श्रीराममें ही अनन्य भक्ति रखनेवाली हूँ॥ ३५॥

पूर्णचन्द्राननं रामं राजवत्सं जितेन्द्रियम्।
पृथुकीर्तिं महाबाहुमहं राममनुव्रता॥ ३६॥

'राजकुमार श्रीरामका मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर है। वे जितेन्द्रिय हैं और उनका यश महान् है। उन महाबाहु श्रीराममें ही दृढ़तापूर्वक मेरा मन लगा हुआ है॥ ३६॥

त्वं पुनर्जम्बुकः सिंहीं मामिहेच्छसि दुर्लभाम्।
नाहं शक्या त्वया स्प्रष्टुमादित्यस्य प्रभा यथा॥ ३७॥

'पापी निशाचर! तू सियार है और मैं सिंहिनी हूँ। मैं तेरे लिये सर्वथा दुर्लभ हूँ। क्या तू यहाँ मुझे प्राप्त करनेकी इच्छा रखता है। अरे! जैसे सूर्यकी प्रभापर कोई हाथ नहीं लगा सकता, उसी प्रकार तू मुझे छू भी नहीं सकता॥ ३७॥

पादपान् काञ्चनान् नूनं बहून् पश्यसि मन्दभाक्।
राघवस्य प्रियां भार्यां यस्त्वमिच्छसि राक्षस॥ ३८॥

'अभागे राक्षस! तेरा इतना साहस! तू श्रीरघुनाथजीकी प्यारी पत्नीका अपहरण करना चाहता है! निश्चय ही तुझे बहुत-से सोनेके वृक्ष दिखायी देने लगे हैं—अब तू मौतके निकट जा पहुँचा है॥ ३८॥

क्षुधितस्य च सिंहस्य मृगशत्रोस्तरस्विनः।
आशीविषस्य वदनाद् दंष्ट्रामादातुमिच्छसि॥ ३९॥
मन्दरं पर्वतश्रेष्ठं पाणिना हर्तुमिच्छसि।
कालकूटं विषं पीत्वा स्वस्तिमान् गन्तुमिच्छसि॥ ४०॥
अक्षि सूच्या प्रमृजसि जिह्वयालेढि च क्षुरम्।
राघवस्य प्रियां भार्यामधिगन्तुं त्वमिच्छसि॥ ४१॥

'तू श्रीरामकी प्यारी पत्नीको हस्तगत करना चाहता है। जान पड़ता है, अत्यन्त वेगशाली मृगवैरी भूखे सिंह और विषधर सर्पके मुखसे उनके दाँत तोड़ लेना चाहता है, पर्वतश्रेष्ठ मन्दराचलको हाथसे उठाकर ले जानेकी इच्छा करता है, कालकूट विषको पीकर कुशलपूर्वक लौट जानेकी अभिलाषा रखता है तथा आँखको सूईसे पोंछता और छुरेको जीभसे चाटता है॥ ३९—४१॥

अवसज्य शिलां कण्ठे समुद्रं तर्तुमिच्छसि।
सूर्याचन्द्रमसौ चोभौ पाणिभ्यां हर्तुमिच्छसि॥ ४२॥
यो रामस्य प्रियां भार्यां प्रधर्षयितुमिच्छसि।

'क्या तू अपने गलेमें पत्थर बाँधकर समुद्रको पार करना चाहता है? सूर्य और चन्द्रमा दोनोंको अपने दोनों हाथोंसे हर लानेकी इच्छा करता है? जो श्रीरामचन्द्रजीकी प्यारी पत्नीपर बलात्कार करनेको उतारू हुआ है॥ ४२½॥

अग्निं प्रज्वलितं दृष्ट्वा वस्त्रेणाहर्तुमिच्छसि ॥ ४३ ॥
कल्याणवृत्तां यो भार्यां रामस्याहर्तुमिच्छसि ।

'यदि तू कल्याणमय आचारका पालन करनेवाली श्रीरामकी भार्याका अपहरण करना चाहता है तो अवश्य ही जलती हुई आगको देखकर भी तू उसे कपड़ेमें बाँधकर ले जानेकी इच्छा करता है ॥ ४३½ ॥

अयोमुखानां शूलानामग्रे चरितुमिच्छसि ।
रामस्य सदृशीं भार्यां योऽधिगन्तुं त्वमिच्छसि ॥ ४४ ॥

'अरे तू श्रीरामकी भार्याको, जो सर्वथा उन्हींके योग्य है, हस्तगत करना चाहता है, तो निश्चय ही लोहमय मुखवाले शूलोंकी नोकपर चलनेकी अभिलाषा करता है ॥ ४४ ॥

यदन्तरं सिंहसृगालयोर्वने
यदन्तरं स्यन्दनिकासमुद्रयोः ।
सुराग्र्यसौवीरकयोर्यदन्तरं
तदन्तरं दाशरथेस्तवैव च ॥ ४५ ॥

'वनमें रहनेवाले सिंह और सियारमें, समुद्र और छोटी नदीमें तथा अमृत और काँजीमें जो अन्तर है, वही अन्तर दशरथनन्दन श्रीराममें और तुझमें है ॥ ४५ ॥

यदन्तरं काञ्चनसीसलोहयो-
र्यदन्तरं चन्दनवारिपङ्कयोः ।
यदन्तरं हस्तिबिडालयोर्वने
तदन्तरं दाशरथेस्तवैव च ॥ ४६ ॥

'सोने और सीसेमें, चन्दनमिश्रित जल और कीचड़में तथा वनमें रहनेवाले हाथी और बिलावमें जो अन्तर है, वही अन्तर दशरथनन्दन श्रीराम और तुझमें है ॥ ४६ ॥

यदन्तरं वायसवैनतेययो-
र्यदन्तरं मद्गुमयूरयोरपि ।
यदन्तरं हंसकगृध्रयोर्वने
तदन्तरं दाशरथेस्तवैव च ॥ ४७ ॥

'गरुड़ और कौएमें, मोर और जलकाकमें तथा वनवासी हंस और गीधमें जो अन्तर है, वही अन्तर दशरथनन्दन श्रीराम और तुझमें है ॥ ४७ ॥

तस्मिन् सहस्राक्षसमप्रभावे
रामे स्थिते कार्मुकबाणपाणौ ।
हृतापि तेऽहं न जरां गमिष्ये
आज्यं यथा मक्षिकयावगीर्णम् ॥ ४८ ॥

'जिस समय सहस्र नेत्रधारी इन्द्रके समान प्रभावशाली श्रीरामचन्द्रजी हाथमें धनुष और बाण लेकर खड़े हो जायँगे, उस समय तू मेरा अपहरण करके भी मुझे पचा नहीं सकेगा, ठीक उसी तरह जैसे मक्खी घी पीकर उसे पचा नहीं सकती' ॥ ४८ ॥

इतीव तद्वाक्यमदुष्टभावा
सुदुष्टमुक्त्वा रजनीचरं तम् ।
गात्रप्रकम्पाद् व्यथिता बभूव
वातोद्धुता सा कदलीव तन्वी ॥ ४९ ॥

सीताके मनमें कोई दुर्भाव नहीं था तो भी उस राक्षससे यह अत्यन्त दुःखजनक बात कहकर सीता रोषसे काँपने लगीं। शरीरके कम्पनसे कृशाङ्गी सीता हवासे हिलायी गयी कदलीके समान व्यथित हो उठीं ॥ ४९ ॥

तां वेपमानामुपलक्ष्य सीतां
स रावणो मृत्युसमप्रभावः ।
कुलं बलं नाम च कर्म चात्मनः
समाचचक्षे भयकारणार्थम् ॥ ५० ॥

सीताको काँपती देख मौतके समान प्रभाव रखनेवाला रावण उनके मनमें भय उत्पन्न करनेके लिये अपने कुल, बल, नाम और कर्मका परिचय देने लगा ॥ ५० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें सैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

—★—

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

रावणके द्वारा अपने पराक्रमका वर्णन और सीताद्वारा उसको कड़ी फटकार

एवं ब्रुवत्यां सीतायां संरब्धः परुषं वचः ।
ललाटे भ्रुकुटिं कृत्वा रावणः प्रत्युवाच ह ॥ १ ॥

सीताके ऐसा कहनेपर रावण रोषमें भर गया और ललाटमें भौंहें टेढ़ी करके वह कठोर वाणीमें बोला— ॥ १ ॥

भ्राता वैश्रवणस्याहं सापत्नो वरवर्णिनि ।
रावणो नाम भद्रं ते दशग्रीवः प्रतापवान् ॥ २ ॥

'सुन्दरी ! मैं कुबेरका सौतेला भाई परम प्रतापी दशग्रीव रावण हूँ। तुम्हारा भला हो ॥ २ ॥

यस्य देवाः सगन्धर्वाः पिशाचपतगोरगाः ।
विद्रवन्ति सदा भीता मृत्योरिव सदा प्रजाः ॥ ३ ॥
येन वैश्रवणो भ्राता वैमात्रः कारणान्तरे ।
द्वन्द्वमासादितः क्रोधाद् रणे विक्रम्य निर्जितः ॥ ४ ॥

'जैसे प्रजा मौतके भयसे सदा डरती रहती है, उसी प्रकार देवता, गन्धर्व, पिशाच, पक्षी और नाग सदा जिससे भयभीत होकर भागते हैं, जिसने किसी कारणवश अपने सौतेले भाई कुबेरके साथ द्वन्द्वयुद्ध किया और क्रोध-

पूर्वक पराक्रम करके रणभूमिमें उन्हें परास्त कर दिया था, वही रावण मैं हूँ॥ ३-४॥

मद्भयार्तः परित्यज्य स्वमधिष्ठानमृद्धिमत्।
कैलासं पर्वतश्रेष्ठमध्यास्ते नरवाहनः॥ ५॥

'मेरे ही भयसे पीड़ित हो नरवाहन कुबेरने अपनी समृद्धिशालिनी पुरी लङ्काका परित्याग करके इस समय पर्वतश्रेष्ठ कैलासकी शरण ली है॥ ५॥

यस्य तत् पुष्पकं नाम विमानं कामगं शुभम्।
वीर्यादावर्जितं भद्रे येन यामि विहायसम्॥ ६॥

'भद्रे! उनका सुप्रसिद्ध पुष्पक नामक सुन्दर विमान, जो इच्छाके अनुसार चलनेवाला है, मैंने पराक्रमसे जीत लिया है और उसी विमानके द्वारा मैं आकाशमें विचरता हूँ॥ ६॥

मम संजातरोषस्य मुखं दृष्ट्वैव मैथिलि।
विद्रवन्ति परित्रस्ताः सुराः शक्रपुरोगमाः॥ ७॥

'मिथिलेशकुमारी! जब मुझे रोष चढ़ता है, उस समय इन्द्र आदि सब देवता मेरा मुँह देखकर ही भयसे थर्रा उठते हैं और इधर-उधर भाग जाते हैं॥ ७॥

यत्र तिष्ठाम्यहं तत्र मारुतो वाति शङ्कितः।
तीव्रांशुः शिशिरांशुश्च भयात् सम्पद्यते दिवि॥ ८॥

'जहाँ मैं खड़ा होता हूँ, वहाँ हवा डरकर धीरे-धीरे चलने लगती है। मेरे भयसे आकाशमें प्रचण्ड किरणोंवाला सूर्य भी चन्द्रमाके समान शीतल हो जाता है॥ ८॥

निष्कम्पपत्रास्तरवो नद्यश्च स्तिमितोदकाः।
भवन्ति यत्र तत्राहं तिष्ठामि च चरामि च॥ ९॥

'जिस स्थानपर मैं ठहरता या भ्रमण करता हूँ, वहाँ वृक्षोंके पत्तेतक नहीं हिलते और नदियोंका पानी स्थिर हो जाता है॥ ९॥

मम पारे समुद्रस्य लङ्का नाम पुरी शुभा।
सम्पूर्णा राक्षसैर्घोरैर्यथेन्द्रस्यामरावती॥ १०॥

'समुद्रके उस पार लङ्का नामक मेरी सुन्दर पुरी है, जो इन्द्रकी अमरावतीके समान मनोहर तथा घोर राक्षसोंसे भरी हुई है॥ १०॥

प्राकारेण परिक्षिप्ता पाण्डुरेण विराजिता।
हेमकक्ष्या पुरी रम्या वैदूर्यमयतोरणा॥ ११॥

'उसके चारों ओर बनी हुई सफेद चहारदिवारी उस पुरीकी शोभा बढ़ाती है। लङ्कापुरीके महलोंके दालान, फर्श आदि सोनेके बने हैं और उसके बाहरी दरवाजे वैदूर्यमय हैं। वह पुरी बहुत ही रमणीय है॥ ११॥

हस्त्यश्वरथसम्बाधा तूर्यनादविनादिता।
सर्वकामफलैर्वृक्षैः संकुलोद्यानभूषिता॥ १२॥

'हाथी, घोड़े और रथोंसे वहाँकी सड़कें भरी रहती हैं। भाँति-भाँतिके बाजोंकी ध्वनि गूँजा करती है। सब प्रकारके मनोवाञ्छित फल देनेवाले वृक्षोंसे लङ्कापुरी व्याप्त है। नाना प्रकारके उद्यान उसकी शोभा बढ़ाते हैं॥ १२॥

तत्र त्वं वस हे सीते राजपुत्रि मया सह।
न स्मरिष्यसि नारीणां मानुषीणां मनस्विनि॥ १३॥

'राजकुमारी सीते! तुम मेरे साथ उस पुरीमें चलकर निवास करो। मनस्विनि! वहाँ रहकर तुम मानवी स्त्रियोंको भूल जाओगी॥ १३॥

भुञ्जाना मानुषान् भोगान् दिव्यांश्च वरवर्णिनि।
न स्मरिष्यसि रामस्य मानुषस्य गतायुषः॥ १४॥

'सुन्दरी! लङ्कामें दिव्य और मानुष-भोगोंका उपभोग करती हुई तुम उस मनुष्य रामका कभी स्मरण नहीं करोगी, जिसकी आयु अब समाप्त हो चली है॥ १४॥

स्थापयित्वा प्रियं पुत्रं राज्ये दशरथो नृपः।
मन्दवीर्यस्ततो ज्येष्ठः सुतः प्रस्थापितो वनम्॥ १५॥
तेन किं भ्रष्टराज्येन रामेण गतचेतसा।
करिष्यसि विशालाक्षि तापसेन तपस्विना॥ १६॥

'विशाललोचने! राजा दशरथने अपने प्यारे पुत्रको राज्यपर बिठाकर जिस अल्पपराक्रमी ज्येष्ठ पुत्रको वनमें भेज दिया, उस राज्यभ्रष्ट, बुद्धिहीन एवं तपस्यामें लगे हुए तापस रामको लेकर क्या करोगी!॥ १५-१६॥

रक्ष राक्षसभर्तारं कामय स्वयमागतम्।
न मन्मथशराविष्टं प्रत्याख्यातुं त्वमर्हसि॥ १७॥

'यह राक्षसोंका स्वामी स्वयं तुम्हारे द्वारपर आया है, तुम इसकी रक्षा करो, इसे मनसे चाहो। यह कामदेवके बाणोंसे पीड़ित है। इसे ठुकराना तुम्हारे लिये उचित नहीं है॥ १७॥

प्रत्याख्याय हि मां भीरु पश्चात्तापं गमिष्यसि।
चरणेनाभिहत्येव पुरूरवसमुर्वशी॥ १८॥

'भीरु! मुझे ठुकराकर तुम उसी तरह पश्चात्ताप करोगी, जैसे पुरूरवाको लात मारकर उर्वशी पछतायी थी॥ १८॥

अङ्गुल्या न समो रामो मम युद्धे स मानुषः।
तव भाग्येन सम्प्राप्तं भजस्व वरवर्णिनि॥ १९॥

'सुन्दरी! युद्धमें मनुष्यजातीय राम मेरी एक अङ्गुलिके बराबर भी नहीं है। तुम्हारे भाग्यसे मैं आ गया हूँ। तुम मुझे स्वीकार करो'॥ १९॥

एवमुक्ता तु वैदेही क्रुद्धा संरक्तलोचना।
अब्रवीत् परुषं वाक्यं रहिते राक्षसाधिपम्॥ २०॥

रावणके ऐसा कहनेपर विदेहकुमारी सीताके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये। उन्होंने उस एकान्त स्थानमें राक्षसराज रावणसे कठोर वाणीमें कहा—॥ २०॥

कथं वैश्रवणं देवं सर्वदेवनमस्कृतम्।
भ्रातरं व्यपदिश्य त्वमशुभं कर्तुमिच्छसि॥ २१॥

'अरे! भगवान् कुबेर तो सम्पूर्ण देवताओंके वन्दनीय हैं। तू उन्हें अपना भाई बताकर ऐसा पापकर्म कैसे करना चाहता है?॥ २१॥

अवश्यं विनशिष्यन्ति सर्वे रावण राक्षसाः।
येषां त्वं कर्कशो राजा दुर्बुद्धिरजितेन्द्रियः॥ २२॥

'रावण! जिनका तुझ-जैसा क्रूर, दुर्बुद्धि और अजितेन्द्रिय राजा है, वे सब राक्षस अवश्य ही नष्ट हो जायँगे॥ २२॥

अपहृत्य शचीं भार्यां शक्यमिन्द्रस्य जीवितुम्।
नहि रामस्य भार्यां मामानीय स्वस्तिमान् भवेत्॥ २३॥

'इन्द्रकी पत्नी शचीका अपहरण करके सम्भव है कोई जीवित रह जाय; किंतु रामपत्नी मुझ सीताका हरण करके कोई कुशलसे नहीं रह सकता॥ २३॥

जीवेच्चिरं वज्रधरस्य पश्चा-
च्छचीं प्रधृष्याप्रतिरूपरूपाम्।
न मादृशीं राक्षस धर्षयित्वा
पीतामृतस्यापि तवास्ति मोक्षः॥ २४॥

'राक्षस! वज्रधारी इन्द्रकी अनुपम रूपवती भार्या शचीका तिरस्कार करके सम्भव है कोई उसके बाद भी चिरकालतक जीवित रह जाय; परंतु मेरी-जैसी स्त्रीका अपमान करके तू अमृत पी ले तो भी तुझे जीते-जी छुटकारा नहीं मिल सकता'॥ २४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डेऽष्टचत्वारिंशः सर्गः॥ ४८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें अड़तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ४८॥

एकोनपञ्चाशः सर्गः

रावणद्वारा सीताका अपहरण, सीताका विलाप और उनके द्वारा जटायुका दर्शन

सीताया वचनं श्रुत्वा दशग्रीवः प्रतापवान्।
हस्ते हस्तं समाहत्य चकार सुमहद् वपुः॥ १॥

सीताके इस वचनको सुनकर प्रतापी दशमुख रावणने अपने हाथपर हाथ मारकर शरीरको बहुत बड़ा बना लिया॥

स मैथिलीं पुनर्वाक्यं बभाषे वाक्यकोविदः।
नोन्मत्तया श्रुतौ मन्ये मम वीर्यपराक्रमौ॥ २॥

वह बातचीत करनेकी कला जानता था। उसने मिथिलेशकुमारी सीतासे फिर इस प्रकार कहना आरम्भ किया—'मेरी समझमें तुम पागल हो गयी हो, इसीलिये तुमने मेरे बल और पराक्रमकी बातें अनसुनी कर दी हैं॥

उद्वहेयं भुजाभ्यां तु मेदिनीमम्बरे स्थितः।
आपिबेयं समुद्रं च मृत्युं हन्यां रणे स्थितः॥ ३॥

'अरी! मैं आकाशमें खड़ा हो इन दोनों भुजाओंसे ही सारी पृथ्वीको उठा ले जा सकता हूँ। समुद्रको पी जा सकता हूँ और युद्धमें स्थित हो मौतको भी मार सकता हूँ॥ ३॥

अर्कं तुद्यां शरैस्तीक्ष्णैर्विभिन्द्यां हि महीतलम्।
कामरूपेण उन्मत्ते पश्य मां कामरूपिणम्॥ ४॥

'काम तथा रूपसे उन्मत्त रहनेवाली नारी! यदि चाहूँ तो अपने तीखे बाणोंसे सूर्यको भी व्यथित कर दूँ और इस भूतलको भी विदीर्ण कर डालूँ। मैं इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ हूँ। तुम मेरी ओर देखो'॥ ४॥

एवमुक्तवतस्तस्य रावणस्य शिखिप्रभे।
क्रुद्धस्य हरिपर्यन्ते रक्ते नेत्रे बभूवतुः॥ ५॥

ऐसा कहते-कहते क्रोधसे भरे हुए रावणकी आँखें, जिनके प्रान्तभाग काले थे, जलती आगके समान लाल हो गयीं॥ ५॥

सद्यः सौम्यं परित्यज्य तीक्ष्णरूपं स रावणः।
स्वं रूपं कालरूपाभं भेजे वैश्रवणानुजः॥ ६॥

कुबेरके छोटे भाई रावणने तत्काल अपने सौम्य रूपको त्यागकर तीखा एवं कालके समान विकराल अपना स्वाभाविक रूप धारण कर लिया॥ ६॥

संरक्तनयनः श्रीमांस्तप्तकाञ्चनभूषणः।
क्रोधेन महताविष्टो नीलजीमूतसंनिभः॥ ७॥

उस समय श्रीमान् रावणके सभी नेत्र लाल हो रहे थे। वह पके सोनेके आभूषणोंसे अलंकृत था और महान् क्रोधसे आविष्ट हो नीलमेघके समान काला दिखायी देने लगा॥

दशास्यो विंशतिभुजो बभूव क्षणदाचरः।
स परिव्राजकच्छद्म महाकायो विहाय तत्॥ ८॥

वह विशालकाय निशाचर परिव्राजकके उस छद्मवेशको त्यागकर दस मुखों और बीस भुजाओंसे संयुक्त हो गया॥

प्रतिपेदे स्वकं रूपं रावणो राक्षसाधिपः।
रक्ताम्बरधरस्तस्थौ स्त्रीरत्नं प्रेक्ष्य मैथिलीम्॥ ९॥

उस समय राक्षसराज रावणने अपने सहज रूपको ग्रहण कर लिया और लाल रंगके वस्त्र पहनकर वह स्त्री-रत्न सीताकी ओर देखता हुआ खड़ा हो गया॥ ९॥

स तामसितकेशान्तां भास्करस्य प्रभामिव।
वसनाभरणोपेतां मैथिलीं रावणोऽब्रवीत्॥ १०॥

काले केशवाली मैथिली वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो सूर्यकी प्रभा-सी जान पड़ती थीं। रावणने उनसे कहा—॥

त्रिषु लोकेषु विख्यातं यदि भर्तारमिच्छसि।
मामाश्रय वरारोहे तवाहं सदृशः पतिः॥ ११॥

'वरारोहे! यदि तुम तीनों लोकोंमें विख्यात पुरुषको अपना पति बनाना चाहती हो तो मेरा आश्रय लो। मैं ही तुम्हारे योग्य पति हूँ॥ ११॥

मां भजस्व चिराय त्वमहं श्लाघ्यः पतिस्तव।
नैव चाहं क्वचिद् भद्रे करिष्ये तव विप्रियम्॥ १२॥

'भद्रे! मुझे सुदीर्घकालके लिये स्वीकार करो। मैं तुम्हारे लिये स्पृहणीय एवं प्रशंसनीय पति होऊँगा तथा कभी तुम्हारे मनके प्रतिकूल कोई बर्ताव नहीं करूँगा॥ १२॥

त्यज्यतां मानुषो भावो मयि भावः प्रणीयताम्।
राज्याच्च्युतमसिद्धार्थं रामं परिमितायुषम्॥ १३॥
कैर्गुणैरनुरक्तासि मूढे पण्डितमानिनि।

'मनुष्य रामके विषयमें जो तुम्हारा अनुराग है, उसे त्याग दो और मुझसे स्नेह करो। अपनेको पण्डित (बुद्धिमती) माननेवाली मूढ़ नारी! जो राज्यसे भ्रष्ट है, जिसका मनोरथ सफल नहीं हुआ तथा जिसकी आयु सीमित है, उस राममें किन गुणोंके कारण तुम अनुरक्त हो॥ १३½॥

यः स्त्रियो वचनाद् राज्यं विहाय ससुहृज्जनम्॥ १४॥
अस्मिन् व्यालानुचरिते वने वसति दुर्मतिः।

'जो एक स्त्रीके कहनेसे सुहृदोंसहित सारे राज्यका त्याग करके इस हिंसक जन्तुओंसे सेवित वनमें निवास करता है, उसकी बुद्धि कैसी खोटी है? (वह सर्वथा मूढ़ है)'॥

इत्युक्त्वा मैथिलीं वाक्यं प्रियार्हां प्रियवादिनीम्॥ १५॥
अभिगम्य सुदुष्टात्मा राक्षसः काममोहितः।
जग्राह रावणः सीतां बुधः खे रोहिणीमिव॥ १६॥

जो प्रिय वचन सुननेके योग्य और सबसे प्रिय वचन बोलनेवाली थीं, उन मिथिलेशकुमारी सीतासे ऐसा अप्रिय वचन कहकर कामसे मोहित हुए उस अत्यन्त दुष्टात्मा राक्षस रावणने निकट जाकर (माताके समान आदरणीया) सीताको पकड़ लिया, मानो बुधने आकाशमें अपनी माता रोहिणीको पकड़नेका दुस्साहस किया हो*॥ १५-१६॥

वामेन सीतां पद्माक्षीं मूर्धजेषु करेण सः।
ऊर्वोस्तु दक्षिणेनैव परिजग्राह पाणिना॥ १७॥

उसने बायें हाथसे कमलनयनी सीताके केशोंसहित मस्तकको पकड़ा तथा दाहिना हाथ उनकी दोनों जाँघोंके नीचे लगाकर उसके द्वारा उन्हें उठा लिया॥ १७॥

तं दृष्ट्वा गिरिशृङ्गाभं तीक्ष्णदंष्ट्रं महाभुजम्।
प्राद्रवन् मृत्युसंकाशं भयार्ता वनदेवताः॥ १८॥

उस समय तीखी दाढ़ों और विशाल भुजाओंसे युक्त पर्वतशिखरके समान प्रतीत होनेवाले उस कालके समान विकराल राक्षसको देखकर वनके समस्त देवता भयभीत होकर भाग गये॥ १८॥

स च मायामयो दिव्यः खरयुक्तः खरस्वनः।
प्रत्यदृश्यत हेमाङ्गो रावणस्य महारथः॥ १९॥

इतनेहीमें गधोंसे जुता हुआ और गधोंके समान ही शब्द करनेवाला रावणका वह विशाल सुवर्णमय मायानिर्मित दिव्य रथ वहाँ दिखायी दिया॥ १९॥

ततस्तां परुषैर्वाक्यैरभितर्ज्य महास्वनः।
अङ्केनादाय वैदेहीं रथमारोपयत् तदा॥ २०॥

रथके प्रकट होते ही जोर-जोरसे गर्जना करनेवाले रावणने कठोर बचनोंद्वारा विदेहनन्दिनी सीताको डाँटा और पूर्वोक्त रूपसे गोदमें उठाकर तत्काल रथपर बिठा दिया॥

सा गृहीतातिचुक्रोश रावणेन यशस्विनी।
रामेति सीता दुःखार्ता रामं दूरं गतं वने॥ २१॥

रावणके द्वारा पकड़ी जानेपर यशस्विनी सीता दुःखसे व्याकुल हो गयीं और वनमें दूर गये हुए श्रीरामचन्द्रजीको 'हे राम!' कहकर जोर-जोरसे पुकारने लगीं॥ २१॥

तामकामां स कामार्तः पन्नगेन्द्रवधूमिव।
विचेष्टमानामादाय उत्पपाताथ रावणः॥ २२॥

सीताके मनमें रावणकी कामना नहीं थी—वे उसकी ओरसे सर्वथा विरक्त थीं और उसकी कैदसे अपनेको छुड़ानेके लिये चोट खायी हुई नागिनकी तरह उस रथपर छटपटा रही थीं। उसी अवस्थामें कामपीड़ित राक्षस उन्हें लेकर आकाशमें उड़ चला॥ २२॥

ततः सा राक्षसेन्द्रेण ह्रियमाणा विहायसा।
भृशं चुक्रोश मत्तेव भ्रान्तचित्ता यथातुरा॥ २३॥

राक्षसराज जब सीताको हरकर आकाशमार्गसे ले जाने लगा, उस समय उनका चित्त भ्रमित हो उठा। वे पगली-सी हो गयीं और दुःखसे आतुर-सी होकर जोर-जोरसे विलाप करने लगीं—॥ २३॥

हा लक्ष्मण महाबाहो गुरुचित्तप्रसादक।
ह्रियमाणां न जानीषे रक्षसा कामरूपिणा॥ २४॥

'हा महाबाहु लक्ष्मण! तुम गुरुजनोंके मनको प्रसन्न करनेवाले हो। इस समय इच्छानुसार रूप धारण करनेवाला राक्षस मुझे हरकर लिये जाता है, किंतु तुम्हें इसका पता नहीं है॥ २४॥

जीवितं सुखमर्थं च धर्महेतोः परित्यजन्।
ह्रियमाणामधर्मेण मां राघव न पश्यसि॥ २५॥

'हा रघुनन्दन! आपने धर्मके लिये प्राणोंका मोह, शरीरका सुख तथा राज्य-वैभव सब कुछ छोड़ दिया है। यह राक्षस मुझे अधर्मपूर्वक हरकर लिये जा रहा है, परंतु आप नहीं देखते हैं॥ २५॥

---

* यहाँ अभूतोपमालंकार है। बुध चन्द्रमाके पुत्र हैं और रोहिणी चन्द्रमाकी पत्नी। बुधने न तो कभी रोहिणीको पकड़ा है और न वे ऐसा कर ही सकते हैं। यहाँ यह दिखाया गया है कि यदि कदाचित् बुध कामवश अपनी माता रोहिणीको पकड़ लें तो वह जैसा घोर पाप होगा, वही पाप रावणने सीताको पकड़नेके कारण किया था।

ननु मामाविनीतानां विनेतासि परंतप।
कथमेवंविधं पापं न त्वं शाधि हि रावणम्॥ २६॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले आर्यपुत्र! आप तो कुमार्गपर चलनेवाले उद्दण्ड पुरुषोंको दण्ड देकर उन्हें राहपर लानेवाले हैं, फिर ऐसे पापी रावणको क्यों नहीं दण्ड देते हैं॥ २६॥

न तु सद्योऽविनीतस्य दृश्यते कर्मणः फलम्।
कालोऽप्यङ्गीभवत्यत्र सस्यानामिव पक्तये॥ २७॥

'उद्दण्ड पुरुषके उद्दण्डतापूर्ण कर्मका फल तत्काल मिलता नहीं दिखायी देता है; क्योंकि इसमें काल भी सहकारी कारण होता है, जैसे कि खेतीके पकनेके लिये तदनुकूल समयकी अपेक्षा होती है॥ २७॥

त्वं कर्म कृतवानेतत् कालोपहतचेतनः।
जीवितान्तकरं घोरं रामाद् व्यसनमाप्नुहि॥ २८॥

'रावण! तेरे सिरपर काल नाच रहा है। उसीने तेरी विचारशक्तिको नष्ट कर दी है, इसीलिये तूने ऐसा पापकर्म किया है। तुझे श्रीरामसे वह भयंकर संकट प्राप्त हो, जो तेरे प्राणोंका अन्त कर डाले॥ २८॥

हन्तेदानीं सकामा तु कैकेयी बान्धवैः सह।
ह्रियेयं धर्मकामस्य धर्मपत्नी यशस्विनः॥ २९॥

'हाय! इस समय कैकेयी अपने बन्धु-बान्धवोंसहित सफलमनोरथ हो गयी; क्योंकि धर्मकी अभिलाषा रखनेवाले यशस्वी श्रीरामकी धर्मपत्नी होकर भी मैं एक राक्षसद्वारा हरी जा रही हूँ॥ २९॥

आमन्त्रये जनस्थाने कर्णिकारांश्च पुष्पितान्।
क्षिप्रं रामाय शंसध्वं सीतां हरति रावणः॥ ३०॥

'मैं जनस्थानमें खिले हुए कनेर वृक्षोंसे प्रार्थना करती हूँ, तुमलोग शीघ्र ही श्रीरामसे कहना कि सीताको रावण हर ले जा रहा है॥ ३०॥

हंससारससंघुष्टां वन्दे गोदावरीं नदीम्।
क्षिप्रं रामाय शंस त्वं सीतां हरति रावणः॥ ३१॥

'हंसों और सारसोंके कलरवोंसे मुखरित हुई गोदावरी नदीको मैं प्रणाम करती हूँ। माँ! तुम श्रीरामसे शीघ्र ही कह देना, सीताको रावण हर ले जा रहा है॥ ३१॥

दैवतानि च यान्यस्मिन् वने विविधपादपे।
नमस्करोम्यहं तेभ्यो भर्तुः शंसत मां हृताम्॥ ३२॥

'इस वनके विभिन्न वृक्षोंपर निवास करनेवाले जो-जो देवता हैं, उन सबको मैं नमस्कार करती हूँ। आप सब लोग शीघ्र ही मेरे स्वामीको सूचना दे दें कि आपकी स्त्रीको राक्षस हर ले गया॥ ३२॥

यानि कानिचिदप्यत्र सत्त्वानि विविधानि च।
सर्वाणि शरणं यामि मृगपक्षिगणानि वै॥ ३३॥
ह्रियमाणां प्रियां भर्तुः प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम्।
विवशा ते हृता सीता रावणेनेति शंसत॥ ३४॥

'यहाँ पशु-पक्षी आदि जो कोई भी नाना प्रकारके प्राणी रहते हों, उन सबकी मैं शरण लेती हूँ। वे मेरे स्वामी श्रीरामचन्द्रजीसे कहें कि जो आपको प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय थी, वह सीता हरी गयी। आपकी सीताको असहाय अवस्थामें रावण हर ले गया॥ ३३-३४॥

विदित्वा तु महाबाहुरमुत्रापि महाबलः।
आनेष्यति पराक्रम्य वैवस्वतहृतामपि॥ ३५॥

'महाबाहु श्रीराम बड़े बलवान् हैं। वे मुझे परलोकमें भी गयी हुई जान लें तो यमराजके द्वारा अपहृत होनेपर भी मुझको पराक्रमपूर्वक वहाँसे लौटा लायेंगे'॥ ३५॥

सा तदा करुणा वाचो विलपन्ती सुदुःखिता।
वनस्पतिगतं गृध्रं ददर्शायतलोचना॥ ३६॥

उस समय अत्यन्त दुःखी हो करुणाजनक बातें कहकर विलाप करती हुई विशाललोचना सीताने एक वृक्षपर बैठे हुए गृध्रराज जटायुको देखा॥ ३६॥

सा तमुद्वीक्ष्य सुश्रोणी रावणस्य वशंगता।
समाक्रन्दद् भयपरा दुःखोपहतया गिरा॥ ३७॥

रावणके वशमें पड़ जानेके कारण सुन्दरी सीता अत्यन्त भयभीत हो रही थीं। जटायुको देखकर वे दुःखभरी वाणीमें करुण क्रन्दन करने लगीं—॥ ३७॥

जटायो पश्य मामार्य ह्रियमाणामनाथवत्।
अनेन राक्षसेन्द्रेणाकरुणं पापकर्मणा॥ ३८॥

'आर्य जटायो! देखिये, यह पापाचारी राक्षसराज अनाथकी भाँति मुझे निर्दयतापूर्वक हरकर लिये जा रहा है॥

नैष वारयितुं शक्यस्त्वया क्रूरो निशाचरः।
सत्ववाञ्जितकाशी च सायुधश्चैव दुर्मतिः॥ ३९॥

'परंतु आप इस क्रूर निशाचरको रोक नहीं सकते; क्योंकि यह बलवान् है, अनेक युद्धोंमें विजय पानेके कारण इसका दुस्साहस बढ़ा हुआ है। इसके हाथोंमें हथियार है और इसके मनमें दुष्टता भी भरी हुई है॥ ३९॥

रामाय तु यथातत्त्वं जटायो हरणं मम।
लक्ष्मणाय च तत् सर्वमाख्यातव्यमशेषतः॥ ४०॥

'आर्य जटायो! जिस प्रकार मेरा अपहरण हुआ है, यह सब समाचार आप श्रीराम और लक्ष्मणसे ज्यों-का-त्यों पूर्णरूपसे बता दीजियेगा'॥ ४०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकोनपञ्चाशः सर्गः॥ ४९॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें उनचासवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ४९॥

पञ्चाशः सर्गः

जटायुका रावणको सीताहरणके दुष्कर्मसे निवृत्त होनेके लिये समझाना और अन्तमें युद्धके लिये ललकारना

तं शब्दमवसुप्तस्तु जटायुरथ शुश्रुवे।
निरैक्षद् रावणं क्षिप्रं वैदेहीं च ददर्श सः॥ १॥

जटायु उस समय सो रहे थे। उसी अवस्थामें उन्होंने सीताकी वह करुण पुकार सुनी। सुनते ही तुरंत आँख खोलकर उन्होंने विदेहनन्दिनी सीता तथा रावणको देखा॥

ततः पर्वतशृङ्गाभस्तीक्ष्णतुण्डः खगोत्तमः।
वनस्पतिगतः श्रीमान् व्याजहार शुभां गिरम्॥ २॥

पक्षियोंमें श्रेष्ठ श्रीमान् जटायुका शरीर पर्वत-शिखरके समान ऊँचा था और उनकी चोंच बड़ी ही तीखी थी। वे पेड़पर बैठे-ही-बैठे रावणको लक्ष्य करके यह शुभ वचन बोले—॥ २॥

दशग्रीव स्थितो धर्मे पुराणे सत्यसंश्रयः।
भ्रातस्त्वं निन्दितं कर्म कर्तुं नार्हसि साम्प्रतम्॥ ३॥
जटायुर्नाम नाम्नाहं गृध्रराजो महाबलः।

'दशमुख रावण! मैं प्राचीन (सनातन) धर्ममें स्थित, सत्यप्रतिज्ञ और महाबलवान् गृध्रराज हूँ। मेरा नाम जटायु है। भैया! इस समय मेरे सामने तुम्हें ऐसा निन्दित कर्म नहीं करना चाहिये॥ ३½॥

राजा सर्वस्य लोकस्य महेन्द्रवरुणोपमः॥ ४॥
लोकानां च हिते युक्तो रामो दशरथात्मजः।

'दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजी सम्पूर्ण जगत्के स्वामी, इन्द्र और वरुणके समान पराक्रमी तथा सब लोगोंके हितमें संलग्न रहनेवाले हैं॥ ४½॥

तस्यैषा लोकनाथस्य धर्मपत्नी यशस्विनी॥ ५॥
सीता नाम वरारोहा यां त्वं हर्तुमिहेच्छसि।

'ये उन्हीं जगदीश्वर श्रीरामकी यशस्विनी धर्मपत्नी हैं। इन सुन्दर शरीरवाली देवीका नाम सीता है, जिन्हें तुम हरकर ले जाना चाहते हो॥ ५½॥

कथं राजा स्थितो धर्मे परदारान् परामृशेत्॥ ६॥
रक्षणीया विशेषेण राजदारा महाबल।
निवर्तय गतिं नीचां परदाराभिमर्शनात्॥ ७॥

'अपने धर्ममें स्थित रहनेवाला कोई भी राजा भला परायी स्त्रीका स्पर्श कैसे कर सकता है? महाबली रावण! राजाओंकी स्त्रियोंकी तो सभीको विशेषरूपसे रक्षा करनी चाहिये। परायी स्त्रीके स्पर्शसे जो नीच गति प्राप्त होनेवाली है, उसे अपने-आपसे दूर हटा दो॥ ६-७॥

न तत् समाचरेद् धीरो यत् परोऽस्य विगर्हयेत्।
यथाऽऽत्मनस्तथान्येषां दारा रक्ष्या विमर्शनात्॥ ८॥

'धीर (बुद्धिमान्) वह कर्म न करे, जिसकी दूसरे लोग निन्दा करें। जैसे पराये पुरुषोंके स्पर्शसे अपनी स्त्रीकी रक्षा की जाती है, उसी प्रकार दूसरोंकी स्त्रियोंकी भी रक्षा करनी चाहिये॥ ८॥

अर्थं वा यदि वा कामं शिष्टाः शास्त्रेष्वनागतम्।
व्यवस्यन्त्यनु राजानं धर्मं पौलस्त्यनन्दन॥ ९॥

'पुलस्त्यकुलनन्दन! जिनकी शास्त्रोंमें चर्चा नहीं है ऐसे धर्म, अर्थ अथवा कामका भी श्रेष्ठ पुरुष केवल राजाकी देखादेखी आचरण करने लगते हैं (अतः राजाको अनुचित या अशास्त्रीय कर्ममें प्रवृत्त नहीं होना चाहिये)॥ ९॥

राजा धर्मश्च कामश्च द्रव्याणां चोत्तमो निधिः।
धर्मः शुभं वा पापं वा राजमूलं प्रवर्तते॥ १०॥

'राजा धर्म और कामका प्रवर्तक तथा द्रव्योंकी उत्तम निधि है, अतः धर्म, सदाचार अथवा पाप—इनकी प्रवृत्तिका मूल कारण राजा ही है॥ १०॥

पापस्वभावश्चपलः कथं त्वं रक्षसां वर।
ऐश्वर्यमभिसम्प्राप्तो विमानमिव दुष्कृती॥ ११॥

'राक्षसराज! जब तुम्हारा स्वभाव ऐसा पापपूर्ण है और तुम इतने चपल हो, तब पापीको देवताओंके विमानकी भाँति तुम्हें यह ऐश्वर्य कैसे प्राप्त हो गया?॥ ११॥

कामस्वभावो यःसोऽसौ न शक्यस्तं प्रमार्जितुम्।
नहि दुष्टात्मनामार्यमावसत्यालये चिरम्॥ १२॥

'जिसके स्वभावमें कामकी प्रधानता है, उसके उस स्वभावका परिमार्जन नहीं किया जा सकता; क्योंकि दुष्टात्माओंके घरमें दीर्घकालके बाद भी पुण्यका आवास नहीं होता॥ १२॥

विषये वा पुरे वा ते यदा रामो महाबलः।
नापराध्यति धर्मात्मा कथं तस्यापराध्यसि॥ १३॥

'जब महाबली धर्मात्मा श्रीराम तुम्हारे राज्य अथवा नगरमें कोई अपराध नहीं करते हैं, तब तुम उनका अपराध कैसे कर रहे हो?॥ १३॥

यदि शूर्पणखाहेतोर्जनस्थानगतः खरः।
अतिवृत्तो हतः पूर्वं रामेणाक्लिष्टकर्मणा॥ १४॥
अत्र ब्रूहि यथातत्त्वं को रामस्य व्यतिक्रमः।
यस्य त्वं लोकनाथस्य हृत्वा भार्यां गमिष्यसि॥ १५॥

'यदि पहले शूर्पणखाका बदला लेनेके लिये चढ़कर आये हुए अत्याचारी खरका अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरामने वध किया तो तुम्हीं ठीक-ठीक बताओ कि इसमें श्रीरामका क्या अपराध है, जिससे तुम उन जगदीश्वरकी पत्नीको हर ले जाना चाहते हो?॥ १४-१५॥

क्षिप्रं विसृज वैदेहीं मा त्वा घोरेण चक्षुषा।
दहेद् दहनभूतेन वृत्रमिन्द्राशनिर्यथा॥ १६॥

'रावण! अब शीघ्र ही विदेहकुमारी सीताको छोड़ दो, जिससे श्रीरामचन्द्रजी अपनी अग्निके समान भयंकर दृष्टिसे तुम्हें जलाकर भस्म न कर डालें। जैसे इन्द्रका वज्र वृत्रासुरका विनाश कर डाला था, उसी प्रकार श्रीरामकी रोषपूर्ण दृष्टि दग्ध कर डालेगी॥ १६॥

सर्पमाशीविषं बद्ध्वा वस्त्रान्ते नावबुध्यसे।
ग्रीवायां प्रतिमुक्तं च कालपाशं न पश्यसि॥ १७॥

'तुमने अपने कपड़ेमें विषधर सर्पको बाँध लिया है, फिर भी इस बातको समझ नहीं पाते हो। तुमने अपने गलेमें मौतकी फाँसी डाल ली है, फिर भी यह तुम्हें सूझ नहीं रहा है॥ १७॥

स भारः सौम्य भर्तव्यो यो नरं नावसादयेत्।
तदन्नमपि भोक्तव्यं जीर्यते यदनामयम्॥ १८॥

'सौम्य! पुरुषको उतना ही बोझ उठाना चाहिये, जो उसे शिथिल न कर दे और वही अन्न भोजन करना चाहिये, जो पेटमें जाकर पच जाय, रोग न पैदा करे॥ १८॥

यत् कृत्वा न भवेद् धर्मो न कीर्तिर्न यशो ध्रुवम्।
शरीरस्य भवेत् खेदः कस्तत् कर्म समाचरेत्॥ १९॥

'जो कार्य करनेसे न तो धर्म होता हो, न कीर्ति बढ़ती हो और न अक्षय यश ही प्राप्त होता हो, उल्टे शरीरको खेद हो रहा हो, उस कर्मका अनुष्ठान कौन करेगा?॥ १९॥

षष्टिवर्षसहस्राणि जातस्य मम रावण।
पितृपैतामहं राज्यं यथावदनुतिष्ठतः॥ २०॥

'रावण! बाप-दादोंसे प्राप्त इस पक्षियोंके राज्यका विधिवत् पालन करते हुए मुझे जन्मसे लेकर अबतक साठ हजार वर्ष बीत गये॥ २०॥

वृद्धोऽहं त्वं युवा धन्वी सरथः कवची शरी।
न चाप्यादाय कुशली वैदेहीं मे गमिष्यसि॥ २१॥

'अब मैं बूढ़ा हो गया हूँ और तुम नवयुवक हो। (मेरे पास कोई युद्धका साधन नहीं है, किंतु) तुम्हारे पास धनुष, कवच, बाण तथा रथ सब कुछ है, फिर भी तुम सीताको लेकर कुशलपूर्वक नहीं जा सकोगे॥ २१॥

न शक्तस्त्वं बलाद्धर्तुं वैदेहीं मम पश्यतः।
हेतुभिर्न्यायसंयुक्तैर्ध्रुवां वेदश्रुतीमिव॥ २२॥

'मेरे देखते-देखते तुम विदेहनन्दिनी सीताका बलपूर्वक अपहरण नहीं कर सकते; ठीक उसी तरह जैसे कोई न्याय-सङ्गत हेतुओंसे सत्य सिद्ध हुई वैदिक श्रुतिको अपनी युक्तियोंके बलपर पलट नहीं सकता॥ २२॥

युध्यस्व यदि शूरोऽसि मुहूर्तं तिष्ठ रावण।
शयिष्यसे हतो भूमौ यथा पूर्वं खरस्तथा॥ २३॥

'रावण! यदि शूरवीर हो तो युद्ध करो। मेरे सामने दो घड़ी ठहर जाओ; फिर जैसे पहले खर मारा गया था, उसी प्रकार तुम भी मेरेद्वारा मारे जाकर सदाके लिये सो जाओगे॥ २३॥

असकृत्संयुगे येन निहता दैत्यदानवाः।
न चीराच्चीरवासास्त्वां रामो युधि वधिष्यति॥ २४॥

'जिन्होंने युद्धमें अनेक बार दैत्यों और दानवोंका वध किया है, वे चीरवस्त्रधारी भगवान् श्रीराम तुम्हारा भी शीघ्र ही युद्धभूमिमें विनाश करेंगे॥ २४॥

किं नु शक्यं मया कर्तुं गतौ दूरं नृपात्मजौ।
क्षिप्रं त्वं नश्यसे नीच तयोर्भीतो न संशयः॥ २५॥

'इस समय मैं क्या कर सकता हूँ, वे दोनों राजकुमार बहुत दूर चले गये हैं। नीच! (यदि मैं उन्हें बुलाने जाऊँ तो) तुम उन दोनोंसे भयभीत होकर शीघ्र ही भाग जाओगे (आँखोंसे ओझल हो जाओगे), इसमें संशय नहीं है॥

नहि मे जीवमानस्य नयिष्यसि शुभामिमाम्।
सीतां कमलपत्राक्षीं रामस्य महिषीं प्रियाम्॥ २६॥

'कमलके समान नेत्रोंवाली ये शुभलक्षणा सीता श्रीरामचन्द्रजीकी प्यारी पटरानी हैं। इन्हें मेरे जीते-जी तुम नहीं ले जाने पाओगे॥ २६॥

अवश्यं तु मया कार्यं प्रियं तस्य महात्मनः।
जीवितेनापि रामस्य तथा दशरथस्य च॥ २७॥

'मुझे अपने प्राण देकर भी महात्मा श्रीराम तथा राजा दशरथका प्रिय कार्य अवश्य करना होगा॥ २७॥

तिष्ठ तिष्ठ दशग्रीव मुहूर्तं पश्य रावण।
वृन्तादिव फलं त्वां तु पातयेयं रथोत्तमात्।
युद्धातिथ्यं प्रदास्यामि यथाप्राणं निशाचर॥ २८॥

'दशमुख रावण! ठहरो, ठहरो! केवल दो घड़ी रुक जाओ, फिर देखो, जैसे डंठलसे फल गिरता है, उसी प्रकार तुम्हें इस उत्तम रथसे नीचे गिराये देता हूँ। निशाचर! अपनी शक्तिके अनुसार युद्धमें मैं तुम्हारा पूरा आतिथ्य-सत्कार करूँगा—तुम्हें भलीभाँति भेंटपूजा दूँगा'॥ २८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे पञ्चाशः सर्गः॥ ५०॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पचासवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ५०॥

—★—

एकपञ्चाशः सर्गः

जटायु तथा रावणका घोर युद्ध और रावणके द्वारा जटायुका वध

इत्युक्तः क्रोधताम्राक्षस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः।
राक्षसेन्द्रोऽभिदुद्राव पतगेन्द्रममर्षणः॥ १॥

जटायुके ऐसा कहनेपर राक्षसराज रावण क्रोधसे आँखें लाल किये अमर्षमें भरकर उन पक्षिराजकी ओर दौड़ा। उस

समय उसके कानोंमें तपाये हुए सोनेके कुण्डल झलमला रहे थे ॥

स सम्प्रहारस्तुमुलस्तयोस्तस्मिन् महामृधे ।
बभूव वातोद्धुतयोर्मेघयोर्गगने यथा ॥ २ ॥

उस महासमरमें उन दोनोंका एक-दूसरेपर भयंकर प्रहार होने लगा, मानो आकाशमें वायुसे उड़ाये गये दो मेघखण्ड आपसमें टकरा गये ॥ २ ॥

तद् बभूवाद्भुतं युद्धं गृध्रराक्षसयोस्तदा ।
सपक्षयोर्माल्यवतोर्महापर्वतयोरिव ॥ ३ ॥

उस समय गृध्र और राक्षसमें वह बड़ा अद्भुत युद्ध होने लगा, मानो दो पंखधारी माल्यवान्[1] पर्वत एक-दूसरेसे भिड़ गये हों ॥ ३ ॥

ततो नालीकनाराचैस्तीक्ष्णाग्रैश्च विकर्णिभिः ।
अभ्यवर्षन्महाघोरैर्गृध्रराजं महाबलम् ॥ ४ ॥

रावणने महाबली गृध्रराज जटायुपर नालीक, नाराच तथा तीखे अग्रभागवाले विकर्णी नामक महाभयंकर अस्त्रोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ४ ॥

स तानि शरजालानि गृध्रः पत्ररथेश्वरः ।
जटायुः प्रतिजग्राह रावणास्त्राणि संयुगे ॥ ५ ॥

पक्षिराज गृध्रजातीय जटायुने युद्धमें रावणके उन बाणसमूहों तथा अन्य अस्त्रोंका आघात सह लिया ॥ ५ ॥

तस्य तीक्ष्णनखाभ्यां तु चरणाभ्यां महाबलः ।
चकार बहुधा गात्रे व्रणान् पतगसत्तमः ॥ ६ ॥

साथ ही उन महाबली पक्षिशिरोमणिने अपने तीखे नखोंवाले पंजोंसे मार-मारकर रावणके शरीरमें बहुत-से घाव कर दिये ॥ ६ ॥

अथ क्रोधाद् दशग्रीवो जग्राह दश मार्गणान् ।
मृत्युदण्डनिभान् घोराञ्छत्रोर्निधनकाङ्क्षया ॥ ७ ॥

तब दशग्रीवने क्रोधमें भरकर अपने शत्रुको मार डालनेकी इच्छासे दस बाण हाथमें लिये, जो कालदण्डके समान भयंकर थे ॥ ७ ॥

स तैर्बाणैर्महावीर्यः पूर्णमुक्तैरजिह्मगैः ।
बिभेद निशितैस्तीक्ष्णैर्गृध्रं घोरैः शिलीमुखैः ॥ ८ ॥

महापराक्रमी रावणने धनुषको पूर्णतः खींचकर छोड़े गये उन सीधे जानेवाले तीखे, पैने और भयंकर बाणोंद्वारा, जिनके मुखपर शल्य (काँटे) लगे हुए थे। गृध्रराजको क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ८ ॥

स राक्षसरथे पश्यञ्जानकीं बाष्पलोचनाम् ।
अचिन्तयित्वा बाणांस्तान् राक्षसं समभिद्रवत् ॥ ९ ॥

जटायुने देखा, जनकनन्दिनी सीता राक्षसके रथपर बैठी हैं और नेत्रोंसे आँसू बहा रही हैं। उन्हें देखकर गृध्रराज अपने शरीरमें लगते हुए उन बाणोंकी परवा न करके सहसा उस राक्षसपर टूट पड़े ॥ ९ ॥

ततोऽस्य सशरं चापं मुक्तामणिविभूषितम् ।
चरणाभ्यां महातेजा बभञ्ज पतगोत्तमः ॥ १० ॥

महातेजस्वी पक्षिराज जटायुने मोती-मणियोंसे विभूषित, बाणसहित रावणके धनुषको अपने दोनों पैरोंसे मारकर तोड़ दिया ॥ १० ॥

ततोऽन्यद् धनुरादाय रावणः क्रोधमूर्च्छितः ।
ववर्ष शरवर्षाणि शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ११ ॥

फिर तो रावण क्रोधसे भर गया और दूसरा धनुष हाथमें लेकर उसने सैकड़ों-हजारों बाणोंकी झड़ी लगा दी ॥ ११ ॥

शरैरावारितस्तस्य संयुगे पतगेश्वरः ।
कुलायमभिसम्प्राप्तः पक्षिवच्च बभौ तदा ॥ १२ ॥

उस समय उस युद्धस्थलमें गृध्रराजके चारों ओर बाणोंका जाल-सा तन गया। वे उस समय घोंसलेमें बैठे हुए पक्षीके समान प्रतीत होने लगे ॥ १२ ॥

स तानि शरजालानि पक्षाभ्यां तु विधूय ह ।
चरणाभ्यां महातेजा बभञ्जास्य महद् धनुः ॥ १३ ॥

तब महातेजस्वी जटायुने अपने दोनों पंखोंसे ही उन बाणोंको उड़ा दिया और पंजोंकी मारसे पुनः उसके धनुषके टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ १३ ॥

तच्चाग्निसदृशं दीप्तं रावणस्य शरावरम् ।
पक्षाभ्यां च महातेजा व्यधुनोत् पतगेश्वरः ॥ १४ ॥

रावणका कवच अग्निके समान प्रज्वलित हो रहा था। महातेजस्वी पक्षिराजने उसे भी पंखोंसे ही मारकर छिन्न-भिन्न कर दिया ॥ १४ ॥

काञ्चनोरश्छदान् दिव्यान् पिशाचवदनान् खरान् ।
तांश्चास्य जवसम्पन्नाञ्जघान समरे बली ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् उन बलवान् वीरने समराङ्गणमें पिशाचके-से मुखवाले उन वेगशाली गधोंको भी, जिनकी छातीपर सोनेके कवच बँधे हुए थे, मार डाला ॥ १५ ॥

अथ त्रिवेणुसम्पन्नं कामगं पावकार्चिषम् ।
मणिसोपानचित्राङ्गं बभञ्ज च महारथम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर अग्निकी भाँति दीप्तिमान्, मणिमय सोपानसे विचित्र अङ्गोंवाले तथा इच्छानुसार चलनेवाले उसके त्रिवेणुसम्पन्न[2] विशाल रथको भी तोड़-फोड़ डाला ॥ १६ ॥

---

* १. माल्यवान् पर्वत दो माने गये हैं, एक तो दण्डकारण्यमें किष्किन्धाके समीप है और दूसरा मेरुपर्वतके निकट बताया गया है। ये दोनों पर्वत परस्पर इतने दूर हैं कि इनमें संघर्षकी कोई सम्भावना नहीं हो सकती। इसलिये 'सपक्ष' (पंखधारी) विशेषण दिया गया है। पाँखवाले पर्वत कदाचित् उड़कर एक-दूसरेके समीप पहुँच सकते हैं।

२. त्रिवेणु रथका वह अङ्ग है, जो जूएको धारण करता है। इसका पर्याय है युगन्धर।

पूर्णचन्द्रप्रतीकाशं छत्रं च व्यजनैः सह।
पातयामास वेगेन ग्राहिभी राक्षसैः सह॥ १७॥
सारथेश्चास्य वेगेन तुण्डेन च महच्छिरः।
पुनर्व्यपहनच्छ्रीमान् पक्षिराजो महाबलः॥ १८॥

इसके बाद पूर्ण चन्द्रमाकी भाँति सुशोभित छत्र और चवँरको भी उन्हें धारण करनेवाले राक्षसोंके साथ ही वेगपूर्वक मार गिराया। फिर उन महाबली तेजस्वी पक्षिराजने बड़े वेगसे चोंच मारकर रावणके सारथिका विशाल मस्तक भी धड़से अलग कर दिया॥ १७-१८॥

स भग्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः।
अङ्केनादाय वैदेहीं पपात भुवि रावणः॥ १९॥

इस प्रकार जब धनुष टूटा, रथ चौपट हुआ, घोड़े मारे गये और सारथि भी कालके गालमें चला गया, तब रावण सीताको गोदमें लिये-लिये पृथ्वीपर गिर पड़ा॥ १९॥

दृष्ट्वा निपतितं भूमौ रावणं भग्नवाहनम्।
साधु साध्विति भूतानि गृध्रराजमपूजयन्॥ २०॥

रथ टूट जानेसे रावणको धरतीपर पड़ा देख सब प्राणी 'साधु-साधु' कहकर गृध्रराजकी प्रशंसा करने लगे॥ २०॥

परिश्रान्तं तु तं दृष्ट्वा जरया पक्षियूथपम्।
उत्पपात पुनर्हृष्टो मैथिलीं गृह्य रावणः॥ २१॥

वृद्धावस्थाके कारण पक्षिराजको थका हुआ देख रावणको बड़ा हर्ष हुआ और वह मैथिलीको लिये हुए फिर आकाशमें उड़ चला॥ २१॥

तं प्रहृष्टं निधायाङ्के रावणं जनकात्मजाम्।
गच्छन्तं खड्गशेषं च प्रणष्टहतसाधनम्॥ २२॥
गृध्रराजः समुत्पत्य रावणं समभिद्रवत्।
समावार्य महातेजा जटायुरिदमब्रवीत्॥ २३॥

जनककिशोरीको गोदमें लेकर जब रावण प्रसन्नतापूर्वक जाने लगा, उस समय उसके अन्य सब साधन तो नष्ट हो गये थे, किंतु एक तलवार उसके पास शेष रह गयी थी। उसे जाते देख महातेजस्वी गृध्रराज जटायु उड़कर रावणकी ओर दौड़े और उसे रोककर इस प्रकार बोले—॥ २२-२३॥

वज्रसंस्पर्शबाणस्य भार्यां रामस्य रावण।
अल्पबुद्धे हरस्येनां वधाय खलु रक्षसाम्॥ २४॥

'मन्दबुद्धि रावण! जिनके बाणोंका स्पर्श वज्रके समान है, उन श्रीरामकी इन धर्मपत्नी सीताको तुम अवश्य राक्षसोंके वधके लिये ही लिये जा रहे हो॥ २४॥

समित्रबन्धुः सामात्यः सबलः सपरिच्छदः।
विषपानं पिबस्येतत् पिपासित इवोदकम्॥ २५॥

'जैसे प्यासा मनुष्य जल पी रहा हो, उसी प्रकार तुम मित्र, बन्धु, मन्त्री, सेना तथा परिवारसहित यह विषपान कर रहे हो॥

अनुबन्धमजानन्तः कर्मणामविचक्षणाः।
शीघ्रमेव विनश्यन्ति यथा त्वं विनशिष्यसि॥ २६॥

'अपने कर्मोंका परिणाम न जाननेवाले अज्ञानीजन जैसे शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार तुम भी विनाशके गर्तमें गिरोगे॥ २६॥

बद्धस्त्वं कालपाशेन क्व गतस्तस्य मोक्ष्यसे।
वधाय बडिशं गृह्य सामिषं जलजो यथा॥ २७॥

'तुम कालपाशमें बँध गये हो। कहाँ जाकर उससे छुटकारा पाओगे? जैसे जलमें उत्पन्न होनेवाला मत्स्य मांसयुक्त बंसीको अपने बधके लिये ही निगल जाता है, उसी प्रकार तुम भी अपने मौतके लिये ही सीताका अपहरण करते हो॥ २७॥

नहि जातु दुराधर्षौ काकुत्स्थौ तव रावण।
धर्षणं चाश्रमस्यास्य क्षमिष्येते तु राघवौ॥ २८॥

'रावण! ककुत्स्थकुलभूषण रघुकुलनन्दन श्रीराम और लक्ष्मण दोनों भाई दुर्धर्ष वीर हैं। वे तुम्हारे द्वारा अपने आश्रमपर किये गये इस अपमानजनक अपराधको कभी क्षमा नहीं करेंगे॥ २८॥

यथा त्वया कृतं कर्म भीरुणा लोकगर्हितम्।
तस्कराचरितो मार्गो नैष वीरनिषेवितः॥ २९॥

'तुम कायर और डरपोक हो। तुमने जो जैसा लोकनिन्दित कर्म किया है, यह चोरोंका मार्ग है। वीर पुरुष ऐसे मार्गका आश्रय नहीं लेते हैं॥ २९॥

युद्ध्यस्व यदि शूरोऽसि मुहूर्तं तिष्ठ रावण।
शयिष्यसे हतो भूमौ यथा भ्राता खरस्तथा॥ ३०॥

'रावण! यदि शूरवीर हो तो दो घड़ी और ठहरो और मुझसे युद्ध करो। फिर तो तुम भी उसी प्रकार मरकर पृथ्वीपर सो जाओगे, जैसे तुम्हारा भाई खर सोया था॥

परेतकाले पुरुषो यत् कर्म प्रतिपद्यते।
विनाशायात्मनोऽधर्म्यं प्रतिपन्नोऽसि कर्म तत्॥ ३१॥

'विनाशके समय पुरुष जैसा कर्म करता है, तुमने भी अपने विनाशके लिये वैसे ही अधर्मपूर्ण कर्मको अपनाया है॥

पापानुबन्धो वै यस्य कर्मणः को नु तत् पुमान्।
कुर्वीत लोकाधिपतिः स्वयंभूर्भगवानपि॥ ३२॥

'जिस कर्मको करनेसे कर्ताका पापके फलसे सम्बन्ध होता है, उस कर्मको कौन पुरुष निश्चितरूपसे कर सकता है। लोकपाल इन्द्र तथा भगवान् स्वयम्भू (ब्रह्मा) भी वैसा कर्म नहीं कर सकते'॥ ३२॥

एवमुक्त्वा शुभं वाक्यं जटायुस्तस्य रक्षसः।
निपपात भृशं पृष्ठे दशग्रीवस्य वीर्यवान्॥ ३३॥
तं गृहीत्वा नखैस्तीक्ष्णैर्विददार समन्ततः।
अधिरूढो गजारोहो यथा स्याद् दुष्टवारणम्॥ ३४॥

इस प्रकार उत्तम वचन कहकर पराक्रमी जटायु उस राक्षस दशग्रीवकी पीठपर बड़े वेगसे जा बैठे और उसे पकड़कर अपने तीखे नखोंद्वारा चारों ओरसे चीरने लगे।

मानो कोई हाथीवान् किसी दुष्ट हाथीके ऊपर सवार होकर उसे अङ्कुशसे छेद रहा हो ॥ ३३-३४ ॥

विददार नखैरस्य तुण्डं पृष्ठे समर्पयन्।
केशांश्चोत्पाटयामास नखपक्षमुखायुधः ॥ ३५ ॥

नख, पाँख और चोंच—ये ही जटायुके हथियार थे। वे नखोंसे खरोंचते थे, पीठपर चोंच मारते थे और बाल पकड़कर उखाड़ लेते थे ॥ ३५ ॥

स तथा गृध्रराजेन क्लिश्यमानो मुहुर्मुहुः।
अमर्षस्फुरितोष्ठः सन् प्राकम्पत च राक्षसः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार जब गृध्रराजने बारंबार क्लेश पहुँचाया, तब राक्षस रावण काँप उठा। क्रोधके मारे उसके ओठ फड़कने लगे ॥ ३६ ॥

सम्परिष्वज्य वैदेहीं वामेनाङ्केन रावणः।
तलेनाभिजघानार्तो जटायुं क्रोधमूर्च्छितः ॥ ३७ ॥

उस समय क्रोधसे भरे रावणने विदेहनन्दिनी सीताको बायीं गोदमें करके अत्यन्त पीड़ित हो जटायुपर तमाचेका प्रहार किया ॥ ३७ ॥

जटायुस्तमतिक्रम्य तुण्डेनास्य खगाधिपः।
वामबाहून् दश तदा व्यपाहरदरिंदमः ॥ ३८ ॥

परंतु उस वारको बचाकर शत्रुदमन गृध्रराज जटायुने अपनी चोंचसे मार-मारकर रावणकी दसों बायीं भुजाओंको उखाड़ लिया ॥ ३८ ॥

संछिन्नबाहोः सद्यो वै बाहवः सहसाभवन्।
विषज्वालावलीयुक्ता वल्मीकादिव पन्नगाः ॥ ३९ ॥

उन बाँहोंके कट जानेपर बाँबीसे प्रकट होनेवाले विषकी ज्वाला-मालाओंसे युक्त सर्पोंकी भाँति तुरंत दूसरी नयी भुजाएँ सहसा उत्पन्न हो गयीं ॥ ३९ ॥

ततः क्रोधाद् दशग्रीवः सीतामुत्सृज्य वीर्यवान्।
मुष्टिभ्यां चरणाभ्यां च गृध्रराजमपोथयत् ॥ ४० ॥

तब पराक्रमी दशाननने सीताको तो छोड़ दिया और गृध्रराजको क्रोधपूर्वक मुक्कों और लातोंसे मारना आरम्भ किया ॥

ततो मुहूर्तं संग्रामो बभूवातुलवीर्ययोः।
राक्षसानां च मुख्यस्य पक्षिणां प्रवरस्य च ॥ ४१ ॥

उस समय उन दोनों अनुपम पराक्रमी वीर राक्षसराज रावण और पक्षिराज जटायुमें दो घड़ीतक घोर संग्राम होता रहा ॥ ४१ ॥

तस्य व्यायच्छमानस्य रामस्यार्थे स रावणः।
पक्षौ पादौ च पार्श्वौ च खड्गमुद्धृत्य सोऽच्छिनत् ॥

तदनन्तर रावणने तलवार निकाली और श्रीरामचन्द्रजीके लिये पराक्रम करनेवाले जटायुके दोनों पंख, पैर तथा पार्श्वभाग काट डाले ॥ ४२ ॥

सच्छिन्नपक्षः सहसा रक्षसा रौद्रकर्मणा।
निपपात महागृध्रो धरण्यामल्पजीवितः ॥ ४३ ॥

भयंकर कर्म करनेवाले उस राक्षसके द्वारा सहसा पंख काट लिये जानेपर महागृध्र जटायु पृथ्वीपर गिर पड़े। अब वे थोड़ी ही देरके मेहमान थे ॥ ४३ ॥

तं दृष्ट्वा पतितं भूमौ क्षतजार्द्रं जटायुषम्।
अभ्यधावत वैदेही स्वबन्धुमिव दुःखिता ॥ ४४ ॥

अपने बान्धवके समान जटायुको खूनसे लथपथ होकर पृथ्वीपर पड़ा देख सीता दुःखसे व्याकुल हो उनकी ओर दौड़ीं ॥ ४४ ॥

तं नीलजीमूतनिकाशकल्पं
सपाण्डुरोरस्कमुदारवीर्यम्।
ददर्श लङ्काधिपतिः पृथिव्यां
जटायुषं शान्तमिवाग्निदावम् ॥ ४५ ॥

जटायुके शरीरकी कान्ति नीले मेघके समान काली थी। उनकी छातीका रंग श्वेत था। वे बड़े पराक्रमी थे, तो भी उस समय बुझे हुए दावानलके समान पृथ्वीपर पड़ गये। लङ्कापति रावणने उन्हें इस अवस्थामें देखा ॥ ४५ ॥

ततस्तु तं पत्ररथं महीतले
निपातितं रावणवेगमर्दितम्।
पुनश्च संगृह्य शशिप्रभानना
रुरोद सीता जनकात्मजा तदा ॥ ४६ ॥

तदनन्तर रावणके वेगसे रौंदे जाकर धराशायी हुए जटायुको पकड़कर चन्द्रमुखी जनकनन्दिनी सीता पुनः उस समय वहाँ रोने लगीं ॥ ४६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकपञ्चाशः सर्गः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें इक्यावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशः सर्गः

रावणद्वारा सीताका अपहरण

सा तु ताराधिपमुखी रावणेन निरीक्ष्य तम्।
गृध्रराजं विनिहतं विललाप सुदुःखिता ॥ १ ॥

रावणके द्वारा मारे गये गृध्रराजको और देखकर चन्द्रमुखी सीता अत्यन्त दुःखी होकर विलाप करने लगीं— ॥ १ ॥

निमित्तं लक्षणं स्वप्नं शकुनिस्वरदर्शनम्।
अवश्यं सुखदुःखेषु नराणां परिदृश्यते ॥ २ ॥

'मनुष्योंको सुख-दुःखकी प्राप्तिके सूचक लक्षण, स्वप्न, पक्षियोंके स्वर तथा उनके दायें-बायें दर्शन आदि शुभाशुभ

निमित्त अवश्य दिखायी देते हैं ॥ २ ॥

न नूनं राम जानासि महद्व्यसनमात्मनः।
धावन्ति नूनं काकुत्स्थ मदर्थं मृगपक्षिणः॥ ३ ॥

'ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम! मेरे अपहरणकी सूचना देनेके लिये निश्चय ही ये मृग और पक्षी अशुभसूचक मार्गसे दौड़ रहे हैं, परंतु उनके द्वारा सूचित होनेपर भी अपने इस महान् संकटको अवश्य ही आप नहीं जानते हैं (क्योंकि जाननेपर आप इसकी उपेक्षा नहीं कर सकते थे) ॥ ३ ॥

अयं हि कृपया राम मां त्रातुमिह संगतः।
शेते विनिहतो भूमौ ममाभाग्याद् विहंगमः॥ ४ ॥

'हा राम! मेरा कैसा अभाग्य है कि जो कृपा करके मुझे बचानेके लिये यहाँ आये थे, वे पक्षिप्रवर जटायु इस निशाचरद्वारा मारे जाकर पृथ्वीपर पड़े हैं॥ ४ ॥

त्राहि मामद्य काकुत्स्थ लक्ष्मणेति वराङ्गना।
सुसंत्रस्ता समाक्रन्दच्छृण्वतां तु यथान्तिके॥ ५ ॥

'हे राम! हे लक्ष्मण! अब आप ही दोनों मेरी रक्षा करें।' यों कहकर अत्यन्त डरी हुई सुन्दरी सीता इस प्रकार क्रन्दन करने लगीं, जिससे निकटवर्ती देवता और मनुष्य सुन सकें॥ ५ ॥

तां क्लिष्टमाल्याभरणां विलपन्तीमनाथवत्।
अभ्यधावत वैदेहीं रावणो राक्षसाधिपः॥ ६ ॥

उनके पुष्पहार और आभूषण मसलकर छिन्न-भिन्न हो गये थे। वे अनाथकी भाँति विलाप कर रही थीं। उस अवस्थामें राक्षसराज रावण उन विदेहकुमारी सीताकी ओर दौड़ा॥ ६ ॥

तां लतामिव वेष्टन्तीमालिङ्गन्तीं महाद्रुमान्।
मुञ्च मुञ्चेति बहुशः प्राप तां राक्षसाधिपः॥ ७ ॥

वे लिपटी हुई लताकी भाँति बड़े-बड़े वृक्षोंसे लिपट जातीं और बारंबार कहतीं—'मुझे इस संकटसे छुड़ाओ, छुड़ाओ।' इतनेहीमें वह निशाचरराज उनके पास जा पहुँचा॥ ७ ॥

क्रोशन्तीं राम रामेति रामेण रहितां वने।
जीवितान्ताय केशेषु जग्राहान्तकसंनिभः॥ ८ ॥
प्रधर्षितायां वैदेह्यां बभूव सचराचरम्।
जगत् सर्वममर्यादं तमसान्धेन संवृतम्॥ ९ ॥

वनमें श्रीरामसे रहित होकर सीताको राम-रामकी रट लगाती देख उस कालके समान विकराल राक्षसने अपने ही विनाशके लिये उनके केश पकड़ लिये। सीताका इस प्रकार तिरस्कार होनेपर समस्त चराचर जगत् मर्यादारहित तथा अन्धकारसे आच्छन्न-सा हो गया॥ ८-९ ॥

न वाति मारुतस्तत्र निष्प्रभोऽभूद् दिवाकरः।
दृष्ट्वा सीतां परामृष्टां देवो दिव्येन चक्षुषा॥ १० ॥
कृतं कार्यमिति श्रीमान् व्याजहार पितामहः।

वहाँ वायुकी गति रुक गयी और सूर्यकी भी प्रभा फीकी पड़ गयी। श्रीमान् पितामह ब्रह्माजी दिव्य दृष्टिसे विदेहनन्दिनीका वह राक्षसके द्वारा केशाकर्षणरूप अपमान देखकर बोले—'बस अब कार्य सिद्ध हो गया'॥ १०½ ॥

प्रहृष्टा व्यथिताश्चासन् सर्वे ते परमर्षयः॥ ११ ॥
दृष्ट्वा सीतां परामृष्टां दण्डकारण्यवासिनः।
रावणस्य विनाशं च प्राप्तं बुद्ध्वा यदृच्छया॥ १२ ॥

सीताके केशोंका खींचा जाना देखकर दण्डकारण्यमें निवास करनेवाले वे सब महर्षि मन-ही-मन व्यथित हो उठे। साथ ही अकस्मात् रावणका विनाश निकट आया जान उनको बड़ा हर्ष हुआ॥ ११—१२ ॥

स तु तां राम रामेति रुदतीं लक्ष्मणेति च।
जगामादाय चाकाशं रावणो राक्षसेश्वरः॥ १३ ॥

बेचारी सीता 'हा राम! हा राम' कहकर रो रही थीं। लक्ष्मणको भी पुकार रही थीं। उसी अवस्थामें राक्षसोंका राजा रावण उन्हें लेकर आकाशमार्गसे चल दिया॥ १३ ॥

तप्ताभरणवर्णाङ्गी पीतकौशेयवासिनी।
रराज राजपुत्री तु विद्युत्सौदामनी यथा॥ १४ ॥

तपाये हुए सोनेके आभूषणोंसे उनका सारा अङ्ग विभूषित था। वे पीले रंगकी रेशमी साड़ी पहने हुए थीं। अतः उस समय राजकुमारी सीता सुदाम पर्वतसे प्रकट हुई विद्युत्के समान प्रकाशित हो रही थीं॥ १४ ॥

उद्धूतेन च वस्त्रेण तस्याः पीतेन रावणः।
अधिकं परिबभ्राज गिरिर्दीप्त इवाग्निना॥ १५ ॥

उनके फहराते हुए पीले वस्त्रसे उपलक्षित रावण दावानलसे उद्भासित होनेवाले पर्वतके समान अधिक शोभा पाने लगा॥ १५ ॥

तस्याः परमकल्याण्यास्ताम्राणि सुरभीणि च।
पद्मपत्राणि वैदेह्या अभ्यकीर्यन्त रावणम्॥ १६ ॥

उन परम कल्याणी विदेहकुमारीके अङ्गोंमें जो कमलपुष्प थे, उनके किंचित् अरुण और सुगन्धित दल बिखर-बिखरकर रावणपर गिरने लगे॥ १६ ॥

तस्याः कौशेयमुद्धूतमाकाशे कनकप्रभम्।
बभौ चादित्यरागेण ताम्रमभ्रमिवातपे॥ १७ ॥

आकाशमें उड़ता हुआ उनका सुवर्णके समान कान्तिमान् रेशमी पीताम्बर संध्याकालमें सूर्यकी किरणोंसे रँगे हुए ताम्रवर्णके मेघखण्डकी भाँति शोभा पाता था॥ १७ ॥

तस्यास्तद् विमलं वक्त्रमाकाशे रावणाङ्कगम्।
न रराज विना रामं विनालमिव पङ्कजम्॥ १८ ॥

आकाशमें रावणके अङ्कमें स्थित सीताका निर्मल मुख श्रीरामके बिना नालरहित कमलकी भाँति शोभित नहीं होता था॥ १८ ॥

बभूव जलदं नीलं भित्त्वा चन्द्र इवोदितः।
सुललाटं सुकेशान्तं पद्मगर्भाभमव्रणम्॥ १९ ॥

शुक्लैः सुविमलैर्दन्तैः प्रभावद्भिरलंकृतम्।
तस्याः सुनयनं वक्त्रमाकाशे रावणाङ्कगम्॥ २०॥

सुन्दर ललाट और मनोहर केशोंसे, युक्त कमलके भीतरी भागके समान कान्तिमान्, चेचक आदिके दागसे रहित, श्वेत, निर्मल और दीप्तिमान् दाँतोंसे अलंकृत तथा सुन्दर नेत्रोंसे सुशोभित सीताका मुख आकाशमें रावणके अङ्कमें ऐसा जान पड़ता था मानो मेघोंकी काली घटाका भेदन करके चन्द्रमा उदित हुआ हो॥ १९-२०॥

रुदितं व्यपमृष्टास्त्रं चन्द्रवत्प्रियदर्शनम्।
सुनासं चारुताम्रोष्ठमाकाशे हाटकप्रभम्॥ २१॥
राक्षसेन्द्रसमाधूतं तस्यास्तद् वदनं शुभम्।
शुशुभे न विना रामं दिवा चन्द्र इवोदितः॥ २२॥

चन्द्रमाके समान प्यारा दिखायी देनेवाला सीताका वह सुन्दर मुख तुरंतका रोया हुआ था। उसके आँसू पोंछ दिये गये थे। उसकी सुघड़ नासिका तथा ताँबे-जैसे लाल-लाल मनोहर ओठ थे। आकाशमें वह अपनी सुनहरी प्रभा बिखेर रहा था तथा राक्षसराजके वेगपूर्वक चलनेसे उसमें कम्पन हो रहा था। इस प्रकार वह मनोहर मुख भी श्रीरामके बिना उस समय दिनमें उगे हुए चन्द्रमाके समान शोभाहीन प्रतीत होता था॥ २१-२२॥

सा हेमवर्णा नीलाङ्गं मैथिली राक्षसाधिपम्।
शुशुभे काञ्चनी काञ्ची नीलं गजमिवाश्रिता॥ २३॥

मिथिलेशकुमारी सीताका श्रीअङ्ग सुवर्णके समान दीप्तिमान् था और राक्षसराज रावणका शरीर बिलकुल काला था। उसकी गोदमें वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो काले हाथीको सोनेकी करधनी पहना दी गयी हो॥ २३॥

सा पद्मपीता हेमाभा रावणं जनकात्मजा।
विद्युद् घनमिवाविश्य शुशुभे तप्तभूषणा॥ २४॥

कमलके केसरकी भाँति पीली एवं सुनहरी कान्तिवाली जनककुमारी सीता तपे हुए सोनेके आभूषण धारण किये रावणकी पीठपर वैसी ही शोभा पा रही थीं, जैसे मेघमालाका आश्रय लेकर बिजली चमक रही हो॥ २४॥

तस्या भूषणघोषेण वैदेह्या राक्षसेश्वरः।
बभूव विमलो नीलः सघोष इव तोयदः॥ २५॥

विदेहनन्दिनीके आभूषणोंकी झनकारसे राक्षसराज रावण गर्जना करते हुए निर्मल नील मेघके समान प्रतीत होता था॥

उत्तमाङ्गच्युता तस्याः पुष्पवृष्टिः समन्ततः।
सीताया ह्रियमाणायाः पपात धरणीतले॥ २६॥

हरकर ले जायी जाती हुई सीताके सिरसे उनके केशोंमें गुँथे हुए फूल बिखरकर सब ओर पृथ्वीपर गिर रहे थे॥

सा तु रावणवेगेन पुष्पवृष्टिः समन्ततः।
समाधूता दशग्रीवं पुनरेवाभ्यवर्तत॥ २७॥

चारों ओर होनेवाली वह फूलोंकी वर्षा रावणके वेगसे उठी हुई वायुके द्वारा प्रेरित हो फिर उस दशाननपर ही आकर पड़ती थी॥ २७॥

अभ्यवर्तत पुष्पाणां धारा वैश्रवणानुजम्।
नक्षत्रमाला विमला मेरुं नगमिवोन्नतम्॥ २८॥

कुबेरके छोटे भाई रावणके ऊपर जब वह फूलोंकी धारा गिरती थी, उस समय ऊँचे मेरुपर्वतपर उतरनेवाली निर्मल नक्षत्रमालाकी भाँति शोभा पाती थी॥ २८॥

चरणान्नूपुरं भ्रष्टं वैदेह्या रत्नभूषितम्।
विद्युन्मण्डलसंकाशं पपात धरणीतले॥ २९॥

विदेहनन्दिनीका रत्नजटित नूपुर उनके एक चरणसे खिसककर विद्युन्मण्डलके समान पृथ्वीपर गिर पड़ा॥ २९॥

तरुप्रवालरक्ता सा नीलाङ्गं राक्षसेश्वरम्।
प्राशोभयत वैदेही गजं कक्ष्येव काञ्चनी॥ ३०॥

वृक्षोंके नूतन पल्लवोंके समान किंचित् अरुण वर्णवाली सीता उस काले-कलूटे राक्षसराजको उसी प्रकार सुशोभित कर रही थीं, जैसे हाथीको कसनेवाला सुनहरा रस्सा उसकी शोभा बढ़ाता हो॥ ३०॥

तां महोल्कामिवाकाशे दीप्यमानां स्वतेजसा।
जहाराकाशमाविश्य सीतां वैश्रवणानुजः॥ ३१॥

आकाशमें अपने तेजसे बहुत बड़ी उल्काके समान प्रकाशित होनेवाली सीताको रावण आकाशमार्गका ही आश्रय ले हर ले गया॥ ३१॥

तस्यास्तान्यग्निवर्णानि भूषणानि महीतले।
सघोषाण्यवशीर्यन्त क्षीणास्तारा इवाम्बरात्॥ ३२॥

जानकीके शरीरपर अग्निके समान प्रकाशमान् आभूषण थे। वे उस समय खन-खनकी आवाज करते हुए एक-एक करके गिरने लगे, मानो आकाशसे ताराएँ टूट-टूटकर पृथ्वीपर गिर रही हों॥ ३२॥

तस्याः स्तनान्तराद् भ्रष्टो हारस्ताराधिपद्युतिः।
वैदेह्या निपतन् भाति गङ्गेव गगनच्युता॥ ३३॥

उन विदेहनन्दिनी सीताके स्तनोंके बीचसे खिसककर गिरता हुआ चन्द्रमाके समान उज्ज्वल हार गगनमण्डलसे उतरती हुई गङ्गाके समान प्रतीत हुआ॥ ३३॥

उत्पातवाताभिरता नानाद्विजगणायुताः।
मा भैरिति विधूताग्रा व्याजह्रुरिव पादपाः॥ ३४॥

रावणके वेगसे उत्पन्न हुई उत्पातसूचक वायुके झकोरोंसे हिलते हुए वृक्षोंपर नाना प्रकारके पक्षी कोलाहल कर रहे थे। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो वे वृक्ष अपने सिरोंको हिला-हिलाकर संकेत करते हुए सीतासे कह रहे हैं कि 'तुम डरो मत'॥ ३४॥

नलिन्यो ध्वस्तकमलास्त्रस्तमीनजलेचराः।
सखीमिव गतोत्साहां शोचन्तीव स्म मैथिलीम्॥ ३५॥

जिनके कमल सूख गये थे और मत्स्य आदि जलचर

जीव डर गये थे, वे पुष्करिणियाँ उत्साहहीन हुई मिथिलेश-कुमारी सीताको मानो अपनी सखी मानकर उनके लिये शोक कर रही थीं ॥ ३५ ॥

समन्तादभिसम्पत्य सिंहव्याघ्रमृगद्विजाः ।
अन्वधावंस्तदा रोषात् सीताच्छायानुगामिनः ॥ ३६ ॥

उस सीताहरणके समय रावणपर रोष-सा करके सिंह, व्याघ्र, मृग और पक्षी सब ओरसे सीताकी परछाहींका अनुसरण करते हुए दौड़ रहे थे ॥ ३६ ॥

जलप्रपातास्रमुखाः शृङ्गैरुच्छ्रितबाहुभिः ।
सीतायां ह्रियमाणायां विक्रोशन्तीव पर्वताः ॥ ३७ ॥

जब सीता हरी जाने लगीं, उस समय वहाँके पर्वत झरनोंके रूपमें आँसू बहाते हुए, ऊँचे शिखरोंके रूपमें अपनी भुजाएँ ऊपर उठाकर मानो जोर-जोरसे चीत्कार कर रहे थे ॥

ह्रियमाणां तु वैदेहीं दृष्ट्वा दीनो दिवाकरः ।
प्रविध्वस्तप्रभः श्रीमानासीत् पाण्डुरमण्डलः ॥ ३८ ॥

सीताका हरण होता देख श्रीमान् सूर्यदेव दुःखी हो गये। उनकी प्रभा नष्ट-सी हो गयी तथा उनका मुखमण्डल पीला पड़ गया ॥ ३८ ॥

नास्ति धर्मः कुतः सत्यं नार्जवं नानृशंसता ।
यत्र रामस्य वैदेहीं सीतां हरति रावणः ॥ ३९ ॥
इति भूतानि सर्वाणि गणशः पर्यदेवयन् ।
वित्रस्तका दीनमुखा रुरुदुर्मृगपोतकाः ॥ ४० ॥

हाय ! हाय ! जब श्रीरामचन्द्रजीकी धर्मपत्नी विदेह-नन्दिनी सीताको रावण हरकर लिये जा रहा है, तब यही कहना पड़ता है कि 'संसारमें धर्म नहीं है, सत्य भी कहाँ है ? सरलता और दयाका भी सर्वथा लोप हो गया है।' इस प्रकार वहाँ झुंड-के-झुंड एकत्र हो सब प्राणी विलाप कर रहे थे। मृगोंके बच्चे भयभीत हो दीनमुखसे रो रहे थे ॥ ३९-४० ॥

उद्वीक्ष्योद्वीक्ष्य नयनैर्भयादिव विलक्षणैः ।
सुप्रवेपितगात्राश्च बभूवुर्वनदेवताः ॥ ४१ ॥
विक्रोशन्तीं दृढं सीतां दृष्ट्वा दुःखं तथा गताम् ।

श्रीरामको जोर-जोरसे पुकारती और वैसे भारी दुःखमें पड़ी हुई सीताको अपनी विलक्षण आँखोंसे बारंबार देख-देखकर भयके मारे वनदेवताओंके अङ्ग थरथर काँपने लगे ॥ ४१½ ॥

तां तु लक्ष्मण रामेति क्रोशन्तीं मधुरस्वराम् ॥ ४२ ॥
अवेक्षमाणां बहुशो वैदेहीं धरणीतलम् ।
स तामाकुलकेशान्तां विप्रमृष्टविशेषकाम् ।
जहारात्मविनाशाय दशग्रीवो मनस्विनीम् ॥ ४३ ॥

'विदेहनन्दिनी मधुर स्वरमें 'हा राम, हा लक्ष्मण' की पुकार करती हुई बारंबार भूतलकी ओर देख रही थीं। उनके केश खुलकर सब ओर फैल गये थे और ललाटकी बेंदी मिट गयी थी। वैसी अवस्थामें दशग्रीव रावण अपने ही विनाशके लिये मनस्विनी सीताको लिये जा रहा था ॥ ४२-४३ ॥

ततस्तु सा चारुदती शुचिस्मिता
विनाकृता बन्धुजनेन मैथिली ।
अपश्यती राघवलक्ष्मणावुभौ
विवर्णवक्त्रा भयभारपीडिता ॥ ४४ ॥

उस समय मनोहर दाँत और पवित्र मुसकानवाली मिथिलेशकुमारी सीता, जो अपने बन्धुजनोंसे बिछुड़ गयी थीं, दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणको न देखकर भयके भारसे व्यथित हो उठीं। उनके मुखमण्डलकी कान्ति फीकी पड़ गयी ॥ ४४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे द्विपञ्चाशः सर्गः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें बावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

★

त्रिपञ्चाशः सर्गः

सीताका रावणको धिक्कारना

खमुत्पतन्तं तं दृष्ट्वा मैथिली जनकात्मजा ।
दुःखिता परमोद्विग्ना भये महति वर्तिनी ॥ १ ॥

रावणको आकाशमें उड़ते देख मिथिलेशकुमारी जानकी दुःखमग्न हो अत्यन्त उद्विग्न हो रही थीं। वे बहुत बड़े भयमें पड़ गयी थीं ॥ १ ॥

रोषरोदनताम्राक्षी भीमाक्षं राक्षसाधिपम् ।
रुदती करुणं सीता ह्रियमाणा तमब्रवीत् ॥ २ ॥

रोष और रोदनके कारण उनकी आँखें लाल हो गयी थीं। हरी जाती हुई सीता करुणाजनक स्वरमें रोती हुई उस भयंकर नेत्रवाले राक्षसराजसे इस प्रकार बोलीं ॥ २ ॥

न व्यपत्रपसे नीच कर्मणानेन रावण ।
ज्ञात्वा विरहितां यो मां चोरयित्वा पलायसे ॥ ३ ॥

ओ नीच रावण ! क्या तुझे अपने इस कुकर्मसे लज्जा नहीं आती है, जो मुझे स्वामीसे रहित अकेली और असहाय जानकर चुराये लिये भागा जाता है ? ॥ ३ ॥

त्वयैव नूनं दुष्टात्मन् भीरुणा हर्तुमिच्छता ।
ममापवाहितो भर्ता मृगरूपेण मायया ॥ ४ ॥

'दुष्टात्मन् ! तू बड़ा कायर और डरपोक है। निश्चय ही मुझे हर ले जानेकी इच्छासे तूने ही मायाद्वारा मृगरूपमें उपस्थित हो मेरे स्वामीको आश्रमसे दूर हटा दिया था ॥ ४ ॥

यो हि मामुद्यतस्त्रातुं सोऽप्ययं विनिपातितः ।
गृध्रराजः पुराणोऽसौ श्वशुरस्य सखा मम ॥ ५ ॥

'मेरे श्वशुरके सखा वे जो बूढ़े जटायु मेरी रक्षा करनेके लिये उद्यत हुए थे, उनको भी तूने मार गिराया ॥ ५ ॥

परमं खलु ते वीर्यं दृश्यते राक्षसाधम।
विश्राव्य नामधेयं हि युद्धे नास्मि जिता त्वया ॥ ६ ॥
ईदृशं गर्हितं कर्म कथं कृत्वा न लज्जसे।
स्त्रियाश्चाहरणं नीच रहिते च परस्य च ॥ ७ ॥

'नीच राक्षस! अवश्य तुझमें बड़ा भारी बल दिखायी देता है (क्योंकि—तू बूढ़े पक्षीको भी मार गिराता है!), तूने अपना नाम बताकर श्रीराम-लक्ष्मणके साथ युद्ध करके मुझे नहीं जीता है। ओ नीच! जहाँ कोई रक्षक न हो—ऐसे स्थानपर आकर परायी स्त्रीके अपहरण-जैसा निन्दित कर्म करके तू लज्जित कैसे नहीं होता है? ॥ ६-७ ॥

कथयिष्यन्ति लोकेषु पुरुषाः कर्म कुत्सितम्।
सुनृशंसमधर्मिष्ठं तव शौटीर्यमानिनः ॥ ८ ॥

'तू तो अपनेको बड़ा शूर-वीर मानता है, परंतु संसारके सभी वीर पुरुष तेरे इस कर्मको घृणित, क्रूरतापूर्ण और पापरूप ही बतायेंगे ॥ ८ ॥

धिक् ते शौर्यं च सत्त्वं च यत्त्वया कथितं तदा।
कुलाक्रोशकरं लोके धिक् ते चारित्रमीदृशम् ॥ ९ ॥

'तूने पहले स्वयं ही जिसका बड़े तावसे वर्णन किया था, तेरे उस शौर्य और बलको धिक्कार है! कुलमें कलङ्क लगानेवाले तेरे ऐसे चरित्रको संसारमें सदा धिक्कार ही प्राप्त होगा ॥ ९ ॥

किं शक्यं कर्तुमेवं हि यज्जवेनैव धावसि।
मुहूर्तमपि तिष्ठ त्वं न जीवन् प्रतियास्यसि ॥ १० ॥

'किंतु इस समय क्या किया जा सकता है? क्योंकि तू बड़े वेगसे भागा जा रहा है। अरे! दो घड़ी भी तो ठहर जा, फिर यहाँसे जीवित नहीं लौट सकेगा ॥ १० ॥

नहि चक्षुःपथं प्राप्य तयोः पार्थिवपुत्रयोः।
ससैन्योऽपि समर्थस्त्वं मुहूर्तमपि जीवितुम् ॥ ११ ॥

'उन दोनों राजकुमारोंके दृष्टिपथमें आ जानेपर तू सेनाके साथ हो तो भी दो घड़ी भी जीवित नहीं रह सकता ॥ ११ ॥

न त्वं तयोः शरस्पर्शं सोढुं शक्तः कथंचन।
वने प्रज्वलितस्येव स्पर्शमग्नेर्विहंगमः ॥ १२ ॥

'जैसे कोई आकाशचारी पक्षी वनमें प्रज्वलित हुए दावानलका स्पर्श सहन करनेमें समर्थ नहीं होता, उसी प्रकार तू मेरे पति और उनके भाई दोनोंके बाणोंका स्पर्श किसी तरह सह नहीं सकता ॥ १२ ॥

साधु कृत्वाऽऽत्मनः पथ्यं साधु मां मुञ्च रावण।
मत्प्रधर्षणसंक्रुद्धो भ्रात्रा सह पतिर्मम ॥ १३ ॥
विधास्यति विनाशाय त्वं मां यदि न मुञ्चसि।

'रावण! यदि तू मुझे छोड़ नहीं देता है तो मेरे तिरस्कारसे कुपित हुए मेरे पतिदेव अपने भाईके साथ चढ़ आयेंगे और तेरे विनाशका उपाय करेंगे, अतः तू अच्छी तरह अपनी भलाई सोच ले और मुझे छोड़ दे। यही तेरे लिये अच्छा होगा ॥ १३½ ॥

येन त्वं व्यवसायेन बलान्मां हर्तुमिच्छसि ॥ १४ ॥
व्यवसायस्तु ते नीच भविष्यति निरर्थकः।

'नीच! तू जिस संकल्प या अभिप्रायसे बलपूर्वक मेरा हरण करना चाहता है, तेरा वह अभिप्राय व्यर्थ होगा ॥

नह्यहं तमपश्यन्ती भर्तारं विबुधोपमम् ॥ १५ ॥
उत्सहे शत्रुवशगा प्राणान् धारयितुं चिरम्।

'मैं अपने देवोपम पतिका दर्शन न पानेपर शत्रुके अधीनतामें अधिक कालतक अपने प्राणोंको नहीं धारण कर सकूँगी ॥ १५½ ॥

न नूनं चात्मनः श्रेयः पथ्यं वा समवेक्षसे ॥ १६ ॥
मृत्युकाले यथा मर्त्यो विपरीतानि सेवते।
मुमूर्षूणां तु सर्वेषां यत् पथ्यं तन्न रोचते ॥ १७ ॥

'निश्चय ही तू अपने कल्याण और हितका विचार नहीं करता है। जैसे मरनेके समय मनुष्य स्वास्थ्यके विरोधी पदार्थोंका सेवन करने लगता है, वही दशा तेरी है। प्रायः सभी मरणासन्न मनुष्योंको पथ्य (हितकारक सलाह या भोजन) नहीं रुचता है ॥ १६-१७ ॥

पश्यामीह हि कण्ठे त्वां कालपाशावपाशितम्।
यथा चास्मिन् भयस्थाने न बिभेषि निशाचर ॥ १८ ॥

'निशाचर! मैं देखती हूँ, तेरे गलेमें कालकी फाँसी पड़ चुकी है, इसीसे इस भयके स्थानपर भी तू निर्भय बना हुआ है ॥ १८ ॥

व्यक्तं हिरण्मयांस्त्वं हि सम्पश्यसि महीरुहान्।
नदीं वैतरणीं घोरां रुधिरौघविवाहिनीम् ॥ १९ ॥
खड्गपत्रवनं चैव भीमं पश्यसि रावण।
तप्तकाञ्चनपुष्पां च वैदूर्यप्रवरच्छदाम् ॥ २० ॥
द्रक्ष्यसे शाल्मलीं तीक्ष्णामायसैः कण्टकैश्चिताम्।

'रावण! अवश्य ही तू सुवर्णमय वृक्षोंको देख रहा है, रक्तका स्रोत बहानेवाली भयंकर वैतरणी नदीका दर्शन कर रहा है, भयानक असिपत्र-वनको भी देखना चाहता है तथा जिसमें तपाये हुए सुवर्णके समान फूल तथा श्रेष्ठ वैदूर्यमणि (नीलम) के समान पत्ते हैं और जिसमें लोहेके काँटे चिने गये हैं, उस तीखी शाल्मलिका भी अब तू शीघ्र ही दर्शन करेगा ॥ १९-२०½ ॥

नहि त्वमीदृशं कृत्वा तस्यालीकं महात्मनः ॥ २१ ॥
धारितुं शक्ष्यसि चिरं विषं पीत्वेव निर्घृण।
बद्धस्त्वं कालपाशेन दुर्निवारेण रावण ॥ २२ ॥

'निर्दयी निशाचर! तू महात्मा श्रीरामका ऐसा महान् अपराध करके विषपान किये हुए मनुष्यकी भाँति अधिक कालतक जीवन धारण नहीं कर सकेगा। रावण! तू अटल

कालपाशसे बँध गया है ॥ २१-२२ ॥

क्व गतो लप्स्यसे शर्म मम भर्तुर्महात्मनः।
निमेषान्तरमात्रेण विना भ्रातरमाहवे ॥ २३ ॥
राक्षसा निहता येन सहस्राणि चतुर्दश।
कथं स राघवो वीरः सर्वास्त्रकुशलो बली ॥ २४ ॥
न त्वां हन्याच्छरैस्तीक्ष्णैरिष्टभार्यापहारिणम्।

'मेरे महात्मा पतिसे बचकर तू कहाँ जाकर शान्ति पा सकेगा। जिन्होंने अपने भाई लक्ष्मणकी सहायता लिये बिना ही युद्धमें पलक मारते-मारते चौदह हजार राक्षसोंका विनाश कर डाला, वे सम्पूर्ण अस्त्रोंका प्रयोग करनेमें कुशल बलवान् वीर रघुनाथजी अपनी प्यारी पत्नीका अपहरण करनेवाले तुझ-जैसे पापीको तीखे बाणोंद्वारा क्यों नहीं कालके गालमें भेज देंगे' ॥ २३—२४½ ॥

एतच्चान्यच्च परुषं वैदेही रावणाङ्कगा।
भयशोकसमाविष्टा करुणं विललाप ह ॥ २५ ॥

रावणके चंगुलमें फँसी हुई विदेहराजकुमारी सीता भय और शोकसे व्याकुल हो ये तथा और भी बहुत-से कठोर वचन सुनाकर करुण-स्वरमें विलाप करने लगीं ॥ २५ ॥

तदा भृशार्तां बहु चैव भाषिणीं
विलापपूर्वं करुणं च भामिनीम्।
जहार पापस्तरुणीं विचेष्टतीं
नृपात्मजामागतगात्रवेपथुः ॥ २६ ॥

अत्यन्त दुःखसे आतुर हो विलापपूर्वक बहुत-सी करुणाजनक बातें कहती और छूटनेके लिये नाना प्रकारकी चेष्टा करती हुई तरुणी भामिनी राजकुमारी सीताको वह पापी निशाचर हर ले गया। उस समय अधिक बोझके कारण उसका शरीर काँप रहा था ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें तिरपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुष्पञ्चाशः सर्गः

सीताका पाँच वानरोंके बीच अपने भूषण और वस्त्रको गिराना, रावणका लङ्कामें पहुँचकर सीताको अन्तःपुरमें रखना तथा जनस्थानमें आठ राक्षसोंको गुप्तचरके रूपमें रहनेके लिये भेजना

ह्रियमाणा तु वैदेही कंचिन्नाथमपश्यती।
ददर्श गिरिशृङ्गस्थान् पञ्च वानरपुङ्गवान् ॥ १ ॥

रावणके द्वारा हरी जाती हुई विदेहनन्दिनी सीताको उस समय कोई भी अपना सहायक नहीं दिखायी देता था। मार्गमें उन्होंने एक पर्वतके शिखरपर पाँच श्रेष्ठ वानरोंको बैठे देखा ॥

तेषां मध्ये विशालाक्षी कौशेयं कनकप्रभम्।
उत्तरीयं वरारोहा शुभान्याभरणानि च ॥ २ ॥
मुमोच यदि रामाय शंसेयुरिति भामिनी।
वस्त्रमुत्सृज्य तन्मध्ये निक्षिप्तं सहभूषणम् ॥ ३ ॥

तब सुन्दर अङ्गोंवाली विशाललोचना भामिनी सीताने यह सोचकर कि शायद ये भगवान् श्रीरामको कुछ समाचार कह सकें, अपने सुनहरे रंगकी रेशमी चादर उतारी और उसमें वस्त्र और आभूषण रखकर उसे उनके बीचमें फेंक दिया ॥

सम्भ्रमात् तु दशग्रीवस्तत्कर्म च न बुद्धवान्।
पिङ्गाक्षास्तां विशालाक्षीं नेत्रैरनिमिषैरिव ॥ ४ ॥
विक्रोशन्तीं तदा सीतां ददृशुर्वानरोत्तमाः।

रावण बड़ी घबराहटमें था, इसलिये सीताके इस कार्यको वह न जान सका। वे भूरी आँखोंवाले श्रेष्ठ वानर उस समय उच्चस्वरसे विलाप करती हुई विशाललोचना सीताकी ओर एकटक नेत्रोंसे देखने लगे ॥ ४½ ॥

स च पम्पामतिक्रम्य लङ्कामभिमुखः पुरीम् ॥ ५ ॥
जगाम मैथिलीं गृह्य रुदतीं राक्षसेश्वरः।

राक्षसराज रावण पम्पासरोवरको लाँघकर रोती हुई मैथिली सीताको साथ लिये लङ्कापुरीकी ओर चल दिया ॥

तां जहार सुसंहृष्टो रावणो मृत्युमात्मनः ॥ ६ ॥
उत्सङ्गेनैव भुजगीं तीक्ष्णदंष्ट्रां महाविषाम्।

निशाचर रावण बड़े हर्षमें भरकर सीताके रूपमें अपनी मौतको ही हरकर लिये जा रहा था। उसने वैदेहीके रूपमें तीखे दाढ़वाली महाविषैली नागिनको ही अपनी गोदमें उठा रखा था ॥ ६½ ॥

वनानि सरितः शैलान् सरांसि च विहायसा ॥ ७ ॥
स क्षिप्रं समतीयाय शरश्चापादिव च्युतः।

वह धनुषसे छूटे हुए बाणकी तरह तीव्र गतिसे चलकर आकाशमार्गसे अनेकानेक वनों, नदियों, पर्वतों और सरोवरोंको तुरंत लाँघ गया ॥ ७½ ॥

तिमिनक्रनिकेतं तु वरुणालयमक्षयम् ॥ ८ ॥
सरितां शरणं गत्वा समतीयाय सागरम्।

उसने तिमि नामक मत्स्यों और नाकोंके निवासस्थान एवं वरुणके अक्षय गृह समुद्रको भी, जो समस्त नदियोंका आश्रय है, पार कर लिया ॥ ८½ ॥

सम्भ्रमात् परिवृत्तोर्मी रुद्धमीनमहोरगः ॥ ९ ॥
वैदेह्यां ह्रियमाणायां बभूव वरुणालयः।

विदेहनन्दिनी जगन्माता जानकीका अपहरण होते समय वरुणालय समुद्रको बड़ी घबराहट हुई। उससे उसकी उठती हुई लहरें शान्त हो गयीं। उसके भीतर रहनेवाली मछलियों और बड़े-बड़े सर्पोंकी गति रुक गयी ॥ ९½ ॥

अन्तरिक्षगता वाचः ससृजुश्चारणास्तदा ॥ १० ॥
एतदन्तो दशग्रीव इति सिद्धास्तथाब्रुवन्।

उस समय आकाशमें विचरनेवाले चारण यों बोले—'अब दशग्रीव रावणका यह अन्तकाल निकट आ पहुँचा है' तथा सिद्धोंने भी यही बात दुहरायी ॥ १०½ ॥

स तु सीतां विचेष्टन्तीमङ्केनादाय रावणः ॥ ११ ॥
प्रविवेश पुरीं लङ्कां रूपिणीं मृत्युमात्मनः।

सीता छटपटा रही थीं। रावणने अपनी साकार मृत्युकी भाँति उन्हें अङ्कमें लेकर लङ्कापुरीमें प्रवेश किया ॥ ११½ ॥

सोऽभिगम्य पुरीं लङ्कां सुविभक्तमहापथाम् ॥ १२ ॥
संरूढकक्ष्यां बहुलां स्वमन्तःपुरमाविशत्।

वहाँ पृथक्-पृथक् विशाल राजमार्ग बने हुए थे। पुरीके द्वारपर बहुत-से राक्षस इधर-उधर फैले हुए थे तथा उस नगरीका विस्तार बहुत बड़ा था। उसमें जाकर रावणने अपने अन्तःपुरमें प्रवेश किया ॥ १२½ ॥

तत्र तामसितापाङ्गीं शोकमोहसमन्विताम् ॥ १३ ॥
निदधे रावणः सीतां मयो मायामिवासुरीम्।

कजरारे नेत्रप्रान्तवाली सीता शोक और मोहमें डूबी हुई थीं। रावणने उन्हें अन्तःपुरमें रख दिया, मानो मयासुरने मूर्तिमती आसुरी मायाको वहाँ स्थापित कर दिया हो* ॥

अब्रवीच्च दशग्रीवः पिशाचीर्घोरदर्शनाः ॥ १४ ॥
यथा नैनां पुमान् स्त्री वा सीतां पश्यत्यसम्मतः।

इसके बाद दशग्रीवने भयंकर आकारवाली पिशाचिनोंको बुलाकर कहा—'(तुम सब सावधानीके साथ सीताकी रक्षा करो।) कोई भी स्त्री या पुरुष मेरी आज्ञाके बिना सीताको देखने या इनसे मिलने न पाये ॥ १४½ ॥

मुक्तामणिसुवर्णानि वस्त्राण्याभरणानि च ॥ १५ ॥
यद् यदिच्छेत् तदेवास्या देयं मच्छन्दतो यथा।

'उन्हें मोती, मणि, सुवर्ण, वस्त्र और आभूषण आदि जिस-जिस वस्तुकी इच्छा हो, वह तुरंत दी जाय; इसके लिये मेरी खुली आज्ञा है ॥ १५½ ॥

या च वक्ष्यति वैदेहीं वचनं किंचिदप्रियम् ॥ १६ ॥
अज्ञानाद् यदि वा ज्ञानान्न तस्या जीवितं प्रियम्।

'तुमलोगोंमेंसे जो कोई भी जानकर या बिना जाने विदेहकुमारी सीतासे कोई अप्रिय बात कहेगी, मैं समझूँगा, उसे अपनी जिंदगी प्यारी नहीं है' ॥ १६½ ॥

तथोक्त्वा राक्षसीस्तास्तु राक्षसेन्द्रः प्रतापवान् ॥ १७ ॥
निष्क्रम्यान्तःपुरात् तस्मात् किं कृत्यमिति चिन्तयन्।
ददर्शाष्टौ महावीर्यान् राक्षसान् पिशिताशनान् ॥ १८ ॥

राक्षसियोंको वैसी आज्ञा देकर प्रतापी राक्षसराज 'अब आगे क्या करना चाहिये' यह सोचता हुआ अन्तःपुरसे बाहर निकला और कच्चे मांसका आहार करनेवाले आठ महापराक्रमी राक्षसोंसे तत्काल मिला ॥ १७-१८ ॥

स तान् दृष्ट्वा महावीर्यो वरदानेन मोहितः।
उवाच तानिदं वाक्यं प्रशस्य बलवीर्यतः ॥ १९ ॥

उनसे मिलकर ब्रह्माजीके वरदानसे मोहित हुए महापराक्रमी रावणने उसके बल और वीर्यकी प्रशंसा करके उनसे इस प्रकार कहा— ॥ १९ ॥

नानाप्रहरणाः क्षिप्रमितो गच्छत सत्वराः।
जनस्थानं हतस्थानं भूतं पूर्वं खरालयम् ॥ २० ॥

'वीरो! तुमलोग नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र साथ लेकर शीघ्र ही जनस्थानको, जहाँ पहले खर रहता था, जाओ। वह स्थान इस समय उजाड़ पड़ा है ॥ २० ॥

तत्रास्यतां जनस्थाने शून्ये निहतराक्षसे।
पौरुषं बलमाश्रित्य त्रासमुत्सृज्य दूरतः ॥ २१ ॥

'वहाँके सभी राक्षस मार डाले गये हैं। उस सूने जनस्थानमें तुमलोग अपने ही बल-पौरुषका भरोसा करके भयको दूर हटाकर रहो ॥ २१ ॥

बहुसैन्यं महावीर्यं जनस्थाने निवेशितम्।
सदूषणखरं युद्धे निहतं रामसायकैः ॥ २२ ॥

'मैंने वहाँ बहुत बड़ी सेनाके साथ महापराक्रमी खर और दूषणको बसा रखा था, किंतु वे सब-के-सब युद्धमें रामके बाणोंसे मारे गये ॥ २२ ॥

ततः क्रोधो ममापूर्वो धैर्यस्योपरि वर्धते।
वैरं च सुमहज्जातं रामं प्रति सुदारुणम् ॥ २३ ॥

'इससे मेरे मनमें अपूर्व क्रोध जाग उठा है और वह धैर्यकी सीमासे ऊपर उठकर बढ़ने लगा है; इसीलिये रामके साथ मेरा बड़ा भारी और भयंकर वैर ठन गया है ॥ २३ ॥

निर्यातयितुमिच्छामि तच्च वैरं महारिपोः।
नहि लप्स्याम्यहं निद्रामहत्वा संयुगे रिपुम् ॥ २४ ॥

'मैं अपने महान् शत्रुसे उस वैरका बदला लेना चाहता हूँ। उस शत्रुको संग्राममें मारे बिना मैं चैनसे सो नहीं सकूँगा ॥ २४ ॥

तं त्विदानीमहं हत्वा खरदूषणघातिनम्।
रामं शर्मोपलप्स्यामि धनं लब्ध्वेव निर्धनः ॥ २५ ॥

'रामने खर और दूषणका वध किया है, अतः मैं भी इस समय उन्हें मारकर जब बदला चुका लूँगा, तभी मुझे शान्ति मिलेगी। जैसे निर्धन मनुष्य धन पाकर संतुष्ट होता है, उसी प्रकार मैं रामका वध करके शान्ति पा सकूँगा ॥ २५ ॥

---

* रामायणतिलक नामक व्याख्याके विद्वान् लेखकने यह बताया है कि यहाँ जो सीताकी मायासे उपमा दी गयी है, उसके द्वारा यह अभिप्राय व्यक्त किया गया है कि मायामयी सीता ही लङ्कामें आयी थीं; मुख्य सीता तो अग्निमें प्रविष्ट हो चुकी थीं। इसीलिये रावण इन्हें ला सका। मायारूपिणी होनेके कारण ही रावणको इनके स्वरूपका ज्ञान न हो सका।

जनस्थाने वसद्भिस्तु भवद्भी राममाश्रिता।
प्रवृत्तिरुपनेतव्या किं करोतीति तत्त्वतः॥ २६॥

'जनस्थानमें रहकर तुमलोग रामचन्द्रका समाचार जानो और वे कब क्या कर रहे हैं, इसका ठीक-ठीक पता लगाते रहो और जो कुछ मालूम हो, उसकी सूचना मेरे पास भेज दिया करो॥ २६॥

अप्रमादाच्च गन्तव्यं सर्वैरेव निशाचरैः।
कर्तव्यश्च सदा यत्नो राघवस्य वधं प्रति॥ २७॥

'तुम सभी निशाचर सावधानीके साथ वहाँ जाना और रामके वधके लिये सदा प्रयत्न करते रहना॥ २७॥

युष्माकं तु बलं ज्ञातं बहुशो रणमूर्धनि।
अतश्चास्मिञ्जनस्थाने मया यूयं निवेशिताः॥ २८॥

'मुझे अनेक बार युद्धके मुहानेपर तुमलोगोंके बलका परिचय मिल चुका है; इसीलिये इस जनस्थानमें मैंने तुम्हीं लोगोंको रखनेका निश्चय किया है'॥ २८॥

ततः प्रियं वाक्यमुपेत्य राक्षसा
महार्थमष्टावभिवाद्य रावणम्।
विहाय लङ्कां सहिताः प्रतस्थिरे
यतो जनस्थानमलक्ष्यदर्शनाः॥ २९॥

रावणकी यह महान् प्रयोजनसे भरी हुई प्रिय बातें सुनकर वे आठों राक्षस उसे प्रणाम करके अदृश्य हो एक साथ ही लङ्काको छोड़कर जनस्थानकी ओर प्रस्थित हो गये॥ २९॥

ततस्तु सीतामुपलभ्य रावणः
सुसम्प्रहृष्टः परिगृह्य मैथिलीम्।
प्रसज्य रामेण च वैरमुत्तमं
बभूव मोहान्मुदितः स रावणः॥ ३०॥

तदनन्तर मिथिलेशकुमारी सीताको पाकर उन्हें राक्षसियोंकी देख-रेखमें सौंपकर रावणको बड़ा हर्ष हुआ। श्रीरामके साथ भारी वैर ठानकर वह राक्षस मोहवश आनन्द मनाने लगा॥ ३०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे चतुःपञ्चाशः सर्गः॥ ५४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें चौवनवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ५४॥

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

रावणका सीताको अपने अन्तःपुरका दर्शन कराना और अपनी भार्या बन जानेके लिये समझाना

संदिश्य राक्षसान् घोरान् रावणोऽष्टौ महाबलान्।
आत्मानं बुद्धिवैक्लव्यात् कृतकृत्यममन्यत॥ १॥

इस प्रकार आठ महाबली भयंकर राक्षसोंको जनस्थानमें जानेकी आज्ञा दे रावणने विपरीत बुद्धिके कारण अपनेको कृतकृत्य माना॥ १॥

स चिन्तयानो वैदेहीं कामबाणैः प्रपीडितः।
प्रविवेश गृहं रम्यं सीतां द्रष्टुमभित्वरन्॥ २॥

वह विदेहकुमारी सीताका स्मरण करके काम-बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित हो रहा था; अतः उन्हें देखनेके लिये उसने बड़ी उतावलीके साथ अपने रमणीय अन्तःपुरमें प्रवेश किया॥ २॥

स प्रविश्य तु तद्वेश्म रावणो राक्षसाधिपः।
अपश्यद् राक्षसीमध्ये सीतां दुःखपरायणाम्॥ ३॥
अश्रुपूर्णमुखीं दीनां शोकभारावपीडिताम्।
वायुवेगैरिवाक्रान्तां मज्जन्तीं नावमर्णवे॥ ४॥
मृगयूथपरिभ्रष्टां मृगीं श्वभिरिवावृताम्।

उस भवनमें प्रवेश करके राक्षसोंके राजा रावणने देखा कि सीता राक्षसियोंके बीचमें बैठकर दुःखमें डूबी हुई हैं। उनके मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही है और वे शोकके दुस्सह भारसे अत्यन्त पीड़ित एवं दीन हो वायुके वेगसे आक्रान्त हो समुद्रमें डूबती हुई नौकाके समान जान पड़ती हैं। मृगोंके यूथसे बिछुड़कर कुत्तोंसे घिरी हुई अकेली हरिणीके समान दिखायी देती हैं॥ ३-४½॥

अधोगतमुखीं सीतां तामभ्येत्य निशाचरः॥ ५॥
तां तु शोकवशाद् दीनामवशां राक्षसाधिपः।
सबलाद् दर्शयामास गृहं देवगृहोपमम्॥ ६॥

शोकवश दीन और विवश हो नीचे मुँह किये बैठी हुई सीताके पास पहुँचकर राक्षसोंके राजा निशाचर रावणने उन्हें जबर्दस्ती अपने देवगृहके समान सुन्दर भवनका दर्शन कराया॥ ५-६॥

हर्म्यप्रासादसम्बाधं स्त्रीसहस्रनिषेवितम्।
नानापक्षिगणैर्जुष्टं नानारत्नसमन्वितम्॥ ७॥

वह ऊँचे-ऊँचे महलों और सातमंजिले मकानोंसे भरा हुआ था। उसमें सहस्रों स्त्रियाँ निवास करती थीं। झुंड-के-झुंड नाना जातिके पक्षी वहाँ कलरव करते थे। नाना प्रकारके रत्न उस अन्तःपुरकी शोभा बढ़ाते थे॥ ७॥

दान्तकैस्तापनीयैश्च स्फाटिकै राजतैस्तथा।
वज्रवैदूर्यचित्रैश्च स्तम्भैर्दृष्टिमनोरमैः॥ ८॥

उसमें बहुत-से मनोहर खंभे लगे थे, जो हाथीदाँत, पक्के सोने, स्फटिकमणि, चाँदी, हीरा और वैदूर्यमणि (नीलम) से जटित होनेके कारण बड़े विचित्र दिखायी देते थे॥ ८॥

दिव्यदुन्दुभिनिर्घोषं तप्तकाञ्चनभूषणम्।
सोपानं काञ्चनं चित्रमारुरोह तया सह॥ ९॥

उस महलमें दिव्य दुन्दुभियोंका मधुर घोष होता रहता

था। उस अन्तःपुरको तपाये हुए सुवर्णके आभूषणोंसे सजाया गया था। रावण सीताको साथ लेकर सोनेकी बनी हुई विचित्र सीढ़ीपर चढ़ा॥ ९॥

दान्तका राजताश्चैव गवाक्षाः प्रियदर्शनाः।
हेमजालावृताश्चासंस्तत्र प्रासादपङ्क्तयः॥ १०॥

वहाँ हाथीदाँत और चाँदीकी बनी हुई खिड़कियाँ थीं, जो बड़ी सुहावनी दिखायी देती थीं। सोनेकी जालियोंसे ढकी हुई प्रासादमालाएँ भी दृष्टिगोचर होती थीं॥ १०॥

सुधामणिविचित्राणि भूमिभागानि सर्वशः।
दशग्रीवः स्वभवने प्रादर्शयत मैथिलीम्॥ ११॥

उस महलमें जो भूभाग (फर्श) थे, वे सुर्खी-चूनाके पक्के बनाये गये थे और उनमें मणियाँ जड़ी गयी थीं, जिनसे वे सब-के-सब विचित्र दिखायी देते थे। दशग्रीवने अपने महलकी वे सारी वस्तुएँ मैथिलीको दिखायीं॥ ११॥

दीर्घिकाः पुष्करिण्यश्च नानापुष्पसमावृताः।
रावणो दर्शयामास सीतां शोकपरायणाम्॥ १२॥

रावणने बहुत-सी बावड़ियाँ और भाँति-भाँतिके फूलोंसे आच्छादित बहुत-सी पोखरियाँ भी सीताको दिखायीं। सीता वह सब देखकर शोकमें डूब गयीं॥ १२॥

दर्शयित्वा तु वैदेहीं कृत्स्नं तद्भवनोत्तमम्।
उवाच वाक्यं पापात्मा सीतां लोभितुमिच्छया॥ १३॥

वह पापात्मा निशाचर विदेहनन्दिनी सीताको अपना सारा सुन्दर भवन दिखाकर उन्हें लुभानेकी इच्छासे इस प्रकार बोला— ॥ १३॥

दश राक्षसकोट्यश्च द्वाविंशतिरथापराः।
वर्जयित्वा जरावृद्धान् बालांश्च रजनीचरान्॥ १४॥
तेषां प्रभुरहं सीते सर्वेषां भीमकर्मणाम्।
सहस्रमेकमेकस्य मम कार्यपुरःसरम्॥ १५॥

'सीते! मेरे अधीन बत्तीस करोड़ राक्षस हैं। यह संख्या बूढ़े और बालक निशाचरोंको छोड़कर बतायी गयी है। भयंकर कर्म करनेवाले इन सभी राक्षसोंका मैं ही स्वामी हूँ। अकेले मेरी सेवामें एक हजार राक्षस रहते हैं॥ १४-१५॥

यदिदं राज्यतन्त्रं मे त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।
जीवितं च विशालाक्षि त्वं मे प्राणैर्गरीयसी॥ १६॥

'विशाललोचने! मेरा यह सारा राज्य और जीवन तुमपर ही अवलम्बित है (अथवा यह सब कुछ तुम्हारे चरणोंमें समर्पित है)। तुम मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हो॥ १६॥

बह्वीनामुत्तमस्त्रीणां मम योऽसौ परिग्रहः।
तासां त्वमीश्वरी सीते मम भार्या भव प्रिये॥ १७॥

'सीते! मेरा अन्तःपुर मेरी बहुत-सी सुन्दरी भार्याओंसे भरा हुआ है, तुम उन सबकी स्वामिनी बनो—प्रिये! मेरी भार्या बन जाओ॥ १७॥

साधु किं तेऽन्यथाबुद्ध्या रोचयस्व वचो मम।
भजस्व माभितप्तस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि॥ १८॥

'मेरे इस हितकर वचनको मान लो—इसे पसंद करो; इससे विपरीत विचारको मनमें लानेसे तुम्हें क्या लाभ होगा? मुझे अङ्गीकार करो। मैं पीड़ित हूँ, मुझपर कृपा करो॥ १८॥

परिक्षिप्ता समुद्रेण लङ्केयं शतयोजना।
नेयं धर्षयितुं शक्या सेन्द्रैरपि सुरासुरैः॥ १९॥

'समुद्रसे घिरी हुई इस लङ्काके राज्यका विस्तार सौ योजन है। इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता और असुर मिलकर भी इसे ध्वस्त नहीं कर सकते॥ १९॥

न देवेषु न यक्षेषु न गन्धर्वेषु नर्षिषु।
अहं पश्यामि लोकेषु यो मे वीर्यसमो भवेत्॥ २०॥

'देवताओं, यक्षों, गन्धर्वों तथा ऋषियोंमें भी मैं किसीको ऐसा नहीं देखता, जो पराक्रममें मेरी समानता कर सके॥

राज्यभ्रष्टेन दीनेन तापसेन पदातिना।
किं करिष्यसि रामेण मानुषेणाल्पतेजसा॥ २१॥

'राम तो राज्यसे भ्रष्ट, दीन, तपस्वी, पैदल चलनेवाले और मनुष्य होनेके कारण अल्प तेजवाले हैं, उन्हें लेकर क्या करोगी?॥ २१॥

भजस्व सीते मामेव भर्ताहं सदृशस्तव।
यौवनं त्वध्रुवं भीरु रमस्वेह मया सह॥ २२॥

'सीते! मुझको ही अपनाओ! मैं तुम्हारे योग्य पति हूँ। भीरु! जवानी सदा रहनेवाली नहीं है, अतः यहाँ रहकर मेरे साथ रमण करो॥ २२॥

दर्शने मा कृथा बुद्धिं राघवस्य वरानने।
कास्य शक्तिरिहागन्तुमपि सीते मनोरथैः॥ २३॥

'वरानने! सीते! अब तुम रामके दर्शनका विचार छोड़ दो। इस राममें इतनी शक्ति कहाँ है कि यहाँतक आनेका मनोरथ भी कर सके॥ २३॥

न शक्यो वायुराकाशे पाशैर्बद्धुं महाजवः।
दीप्यमानस्य वाप्यग्नेर्ग्रहीतुं विमलाः शिखाः॥ २४॥

'आकाशमें महान् वेगसे बहनेवाली वायुको रस्सियोंमें नहीं बाँधा जा सकता अथवा प्रज्वलित अग्निकी निर्मल ज्वालाओंको हाथोंसे नहीं पकड़ा जा सकता॥ २४॥

त्रयाणामपि लोकानां न तं पश्यामि शोभने।
विक्रमेण नयेद् यस्त्वां मद्बाहुपरिपालिताम्॥ २५॥

'शोभने! मैं तीनों लोकोंमें किसी ऐसे वीरको नहीं देखता, जो मेरी भुजाओंसे सुरक्षित तुमको पराक्रम करके यहाँसे ले जा सके॥ २५॥

लङ्कायाः सुमहद्राज्यमिदं त्वमनुपालय।
त्वत्प्रेष्या मद्विधाश्चैव देवाश्चापि चराचरम्॥ २६॥

'लङ्काके इस विशाल राज्यका तुम्हीं पालन करो। मुझ-जैसे राक्षस,देवता तथा सम्पूर्ण चराचर जगत् तुम्हारे

सेवक बनकर रहेंगे ॥ २६ ॥

अभिषेकजलक्लिन्ना तुष्टा च रमयस्व च।
दुष्कृतं यत्पुरा कर्म वनवासेन तद्गतम् ॥ २७ ॥
यच्च ते सुकृतं कर्म तस्येह फलमाप्नुहि।

'स्नानके जलसे आर्द्र (अथवा लङ्काके राज्यपर अपना अभिषेक कराकर उसके जलसे आर्द्र) होकर संतुष्ट हो तुम अपने-आपको क्रीडाविनोदमें लगाओ। तुम्हारा पहलेका जो दुष्कर्म था, वह वनवासका कष्ट देकर समाप्त हो गया। अब जो तुम्हारा पुण्यकर्म शेष है, उसका फल यहाँ भोगो ॥

इह सर्वाणि माल्यानि दिव्यगन्धानि मैथिलि ॥ २८ ॥
भूषणानि च मुख्यानि तानि सेव मया सह।

'मिथिलेशकुमारी! तुम मेरे साथ यहाँ रहकर सब प्रकारके पुष्पहार, दिव्य गन्ध और श्रेष्ठ आभूषण आदिका सेवन करो ॥ २८½ ॥

पुष्पकं नाम सुश्रोणि भ्रातुर्वैश्रवणस्य मे ॥ २९ ॥
विमानं सूर्यसंकाशं तरसा निर्जितं रणे।
विशालं रमणीयं च तद्विमानं मनोजवम् ॥ ३० ॥
तत्र सीते मया सार्धं विहरस्व यथासुखम्।

'सुन्दर कटिप्रदेशवाली सुन्दरी! वह सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाला पुष्पकविमान मेरे भाई कुबेरका था। उसे मैंने बलपूर्वक जीता है। वह अत्यन्त रमणीय, विशाल तथा मनके समान वेगसे चलनेवाला है। सीते! तुम उसके ऊपर मेरे साथ बैठकर सुखपूर्वक विहार करो ॥ २९-३०½ ॥

वदनं पद्मसंकाशं विमलं चारुदर्शनम् ॥ ३१ ॥
शोकार्तं तु वरारोहे न भ्राजति वरानने।

'वरारोहे सुमुखि! तुम्हारा यह कमलके समान सुन्दर निर्मल और मनोहर दिखायी देनेवाला मुख शोकसे पीड़ित होनेके कारण शोभा नहीं पा रहा है' ॥ ३१½ ॥

एवं वदति तस्मिन् सा वस्त्रान्तेन वराङ्गना ॥ ३२ ॥
पिधायेन्दुनिभं सीता मन्दमश्रूण्यवर्तयत्।

जब रावण ऐसी बातें कहने लगा, तब परम सुन्दरी सीता देवी चन्द्रमाके समान मनोहर अपने मुखको आँचलसे ढककर धीरे-धीरे आँसू बहाने लगीं ॥ ३२½ ॥

ध्यायन्तीं तामिवास्वस्थां सीतां चिन्ताहतप्रभाम् ॥ ३३ ॥
उवाच वचनं वीरो रावणो रजनीचरः।

सीता शोकसे अस्वस्थ-सी हो रही थीं, चिन्तासे उनकी कान्ति नष्ट-सी हो गयी थी और वे भगवान् रामका ध्यान करने लगी थीं। उस अवस्थामें उनसे वह वीर निशाचर रावण इस प्रकार बोला— ॥ ३३½ ॥

अलं व्रीडेन वैदेहि धर्मलोपकृतेन ते ॥ ३४ ॥
आर्षोऽयं देवि निष्पन्दो यस्त्वामभिभविष्यति।

'विदेहनन्दिनि! अपने पतिके त्याग और परपुरुषके अङ्गीकारसे जो धर्मलोपकी आशङ्का होती है, उसके कारण तुम्हें यहाँ लज्जा नहीं होनी चाहिये, इस तरहकी लाज व्यर्थ है। देवि! तुम्हारे साथ जो मेरा स्नेह-सम्बन्ध होगा, यह आर्ष धर्मशास्त्रोंद्वारा[1] समर्थित है ॥ ३४½ ॥

एतौ पादौ मया स्निग्धौ शिरोभिः परिपीडितौ ॥ ३५ ॥
प्रसादं कुरु मे क्षिप्रं वश्यो दासोऽहमस्मि ते।

'तुम्हारे इन कोमल एवं चिकने चरणोंपर मैं अपने ये दसों मस्तक रख रहा हूँ। अब शीघ्र मुझपर कृपा करो। मैं सदा तुम्हारे अधीन रहनेवाला दास हूँ ॥ ३५½ ॥

इमाः शून्या मया वाचः शुष्यमाणेन भाषिताः ॥ ३६ ॥
न चापि रावणः कांचिन्मूर्ध्ना स्त्रीं प्रणमेत ह।

'मैंने कामाग्निसे संतप्त होकर ये बातें कही हैं। ये शून्य (निष्फल) न हों, ऐसी कृपा करो; क्योंकि रावण किसी स्त्रीको सिर झुकाकर प्रणाम नहीं करता, (केवल) तुम्हारे सामने इसका मस्तक झुका है' ॥ ३६½ ॥

एवमुक्त्वा दशग्रीवो मैथिलीं जनकात्मजाम्।
कृतान्तवशमापन्नो ममेयमिति मन्यते ॥ ३७ ॥

मिथिलेशकुमारी जानकीसे ऐसा कहकर कालके वशीभूत हुआ रावण मन-ही-मन मानने लगा कि 'वह अब मेरे अधीन हो गयी' ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पचपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

—★—

---

[1] ऐसा कहकर रावण देवी सीताको धोखा देना चाहता है। वास्तवमें ऐसे पापपूर्ण कृत्योंका समर्थन धर्मशास्त्रोंमें कहीं नहीं है। कुमारी कन्याका बलपूर्वक अपहरण शास्त्रोंमें राक्षसविवाह कहा गया है; किंतु वह भी निन्द्य ही माना गया है, यहाँ तो वह भी नहीं है। विवाहिता सती साध्वीका अपहरण घोर पाप माना गया है। इसी पापसे सोनेकी लङ्का मिट्टीमें मिल गयी और रावण दल-बल-कुल-परिवारसहित नष्ट हो गया।

षट्पञ्चाशः सर्गः

सीताका श्रीरामके प्रति अपना अनन्य अनुराग दिखाकर रावणको फटकारना तथा रावणकी आज्ञासे राक्षसियोंका उन्हें अशोकवाटिकामें ले जाकर डराना

सा तथोक्ता तु वैदेही निर्भया शोककर्शिता।
तृणमन्तरतः कृत्वा रावणं प्रत्यभाषत॥ १॥

रावणके ऐसा कहनेपर शोकसे कष्ट पाती हुई विदेह-राजकुमारी सीता बीचमें तिनकेकी ओट करके उस निशाचरसे निर्भय होकर बोलीं— ॥ १॥

राजा दशरथो नाम धर्मसेतुरिवाचलः।
सत्यसंधः परिज्ञातो यस्य पुत्रः स राघवः॥ २॥
रामो नाम स धर्मात्मा त्रिषु लोकेषु विश्रुतः।
दीर्घबाहुर्विशालाक्षो दैवतं स पतिर्मम॥ ३॥

'महाराज दशरथ धर्मके अचल सेतुके समान थे। वे अपनी सत्यप्रतिज्ञताके लिये सर्वत्र विख्यात थे। उनके पुत्र जो रघुकुलभूषण श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे भी अपने धर्मात्मापनके लिये तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध हैं, उनकी भुजाएँ लंबी और आँखें बड़ी-बड़ी हैं। वे ही मेरे आराध्य देवता और पति हैं॥ २-३॥

इक्ष्वाकूणां कुले जातः सिंहस्कन्धो महाद्युतिः।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा यस्ते प्राणान् वधिष्यति॥ ४॥

'उनका जन्म इक्ष्वाकुकुलमें हुआ है। उनके कंधे सिंहके समान और तेज महान् है। वे अपने भाई लक्ष्मणके साथ आकर तेरे प्राणोंका विनाश कर डालेंगे॥ ४॥

प्रत्यक्षं यद्यहं तस्य त्वया वै धर्षिता बलात्।
शयिता त्वं हतः संख्ये जनस्थाने यथा खरः॥ ५॥

'यदि तू उनके सामने बलपूर्वक मेरा अपहरण करता तो अपने भाई खरकी तरह जनस्थानके युद्धस्थलमें ही मारा जाकर सदाके लिये सो जाता॥ ५॥

य एते राक्षसाः प्रोक्ता घोररूपा महाबलाः।
राघवे निर्विषाः सर्वे सुपर्णे पन्नगा यथा॥ ६॥

'तूने जो इन घोर रूपधारी महाबली राक्षसोंकी चर्चा की है, श्रीरामके पास जाते ही इन सबका विष उतर जायगा; ठीक उसी तरह जैसे गरुड़के पास सारे सर्प विषके प्रभावसे रहित हो जाते हैं॥ ६॥

तस्य ज्याविप्रमुक्तास्ते शराः काञ्चनभूषणाः।
शरीरं विधमिष्यन्ति गङ्गाकूलमिवोर्मयः॥ ७॥

'जैसे बढ़ी हुई गङ्गाकी लहरें अपने कगारोंको काट गिराती हैं, उसी प्रकार श्रीरामके धनुषकी डोरीसे छूटे हुए सुवर्णभूषित बाण तेरे शरीरको छिन्न-भिन्न कर डालेंगे॥

असुरैर्वा सुरैर्वा त्वं यद्यवध्योऽसि रावण।
उत्पाद्य सुमहद् वैरं जीवंस्तस्य न मोक्ष्यसे॥ ८॥

'रावण! तू असुरों अथवा देवताओंसे यदि अवध्य है तो सम्भव है, वे तुझे न मार सकें; किंतु भगवान् श्रीरामके साथ यह महान् वैर ठानकर तू किसी तरह जीवित नहीं छूट सकेगा॥ ८॥

स ते जीवितशेषस्य राघवोऽन्तकरो बली।
पशोर्यूपगतस्येव जीवितं तव दुर्लभम्॥ ९॥

'श्रीरघुनाथजी बड़े बलवान् हैं। वे तेरे शेष जीवनका अन्त कर डालेंगे। यूपमें बँधे हुए पशुकी भाँति तेरा जीवन दुर्लभ हो जायगा॥ ९॥

यदि पश्येत् स रामस्त्वां रोषदीप्तेन चक्षुषा।
रक्षस्त्वमद्य निर्दग्धो यथा रुद्रेण मन्मथः॥ १०॥

'राक्षस! यदि श्रीरामचन्द्रजी अपनी रोषभरी दृष्टिसे तुझे देख लें तो तू अभी उसी तरह जलकर खाक हो जायगा जैसे भगवान् शङ्करने कामदेवको भस्म किया था॥ १०॥

यश्चन्द्रं नभसो भूमौ पातयेन्नाशयेत वा।
सागरं शोषयेद् वापि स सीतां मोचयेदिह॥ ११॥

'जो चन्द्रमाको आकाशसे पृथ्वीपर गिराने या नष्ट करनेकी शक्ति रखते हैं अथवा जो समुद्रको भी सुखा सकते हैं, वे भगवान् श्रीराम यहाँ पहुँचकर सीताको भी छुड़ा सकते हैं॥ ११॥

गतासुस्त्वं गतश्रीको गतसत्त्वो गतेन्द्रियः।
लङ्का वैधव्यसंयुक्ता त्वत्कृतेन भविष्यति॥ १२॥

'तू समझ ले कि तेरे प्राण अब चले गये। तेरी राज्य-लक्ष्मी नष्ट हो गयी। तेरे बल और इन्द्रियोंका भी नाश हो गया तथा तेरे ही पापके कारण तेरी यह लङ्का भी अब विधवा हो जायगी॥ १२॥

न ते पापमिदं कर्म सुखोदर्कं भविष्यति।
याहं नीता विनाभावं पतिपार्श्वात् त्वया बलात्॥ १३॥

'तेरा यह पापकर्म तुझे भविष्यमें सुख नहीं भोगने देगा; क्योंकि तूने मुझे बलपूर्वक पतिके पाससे दूर हटाया है॥

स हि देवरसंयुक्तो मम भर्ता महाद्युतिः।
निर्भयो वीर्यमाश्रित्य शून्ये वसति दण्डके॥ १४॥

'मेरे स्वामी महान् तेजस्वी हैं और मेरे देवरके साथ अपने ही पराक्रमका भरोसा करके सूने दण्डकारण्यमें निर्भयतापूर्वक निवास करते हैं॥ १४॥

स ते वीर्यं बलं दर्पमुत्सेकं च तथाविधम्।
अपनेष्यति गात्रेभ्यः शरवर्षेण संयुगे॥ १५॥

'वे युद्धमें बाणोंकी वर्षा करके तेरे शरीरसे बल, पराक्रम, घमंड तथा ऐसे उच्छृङ्खल आचरणको भी निकाल बाहर करेंगे॥

यदा विनाशो भूतानां दृश्यते कालचोदितः।
तदा कार्ये प्रमाद्यन्ति नराः कालवशं गताः॥ १६॥

'जब कालकी प्रेरणासे प्राणियोंका विनाश निकट आता है, उस समय मृत्युके अधीन हुए जीव प्रत्येक कार्यमें प्रमाद करने लगते हैं ॥ १६ ॥

मां प्रधृष्य स ते कालःप्राप्तोऽयं राक्षसाधम।
आत्मनो राक्षसानां च वधायान्तःपुरस्य च॥ १७॥

'अधम निशाचर! मेरा अपहरण करनेके कारण तेरे लिये भी वही काल आ पहुँचा है। तेरे अपने लिये, सारे राक्षसोंके लिये तथा इस अन्तःपुरके लिये भी विनाशकी घड़ी निकट आ गयी है॥ १७॥

न शक्या यज्ञमध्यस्था वेदिः स्रुग्भाण्डमण्डिता।
द्विजातिमन्त्रसम्पूता चण्डालेनावमर्दितुम्॥ १८॥

'यज्ञशालाके बीचकी वेदीपर, जो द्विजातियोंके मन्त्रद्वारा पवित्र की गयी होती है तथा जिसे स्रुक्, स्रुवा आदि यज्ञपात्र सुशोभित करते हैं, चाण्डाल अपना पैर नहीं रख सकता॥

तथाहं धर्मनित्यस्य धर्मपत्नी दृढव्रता।
त्वया स्प्रष्टुं न शक्याहं राक्षसाधम पापिना॥ १९॥

'उसी प्रकार मैं नित्य धर्मपरायण भगवान् श्रीरामकी धर्मपत्नी हूँ तथा दृढ़तापूर्वक पातिव्रत्यधर्मका पालन करती हूँ (अतः यज्ञवेदीके समान हूँ) और राक्षसाधम! तू महापापी है (अतः चाण्डालके तुल्य है); इसलिये मेरा स्पर्श नहीं कर सकता॥ १९॥

क्रीडन्ती राजहंसेन पद्मषण्डेषु नित्यशः।
हंसी सा तृणमध्यस्थं कथं द्रक्ष्येत मद्गुकम्॥ २०॥

'जो सदा कमलके समूहोंमें राजहंसके साथ क्रीड़ा करती है, वह हंसी तृणोंमें रहनेवाले जलकाककी ओर कैसे दृष्टिपात करेगी॥ २०॥

इदं शरीरं निःसंज्ञं बन्ध वा घातयस्व वा।
नेदं शरीरं रक्ष्यं मे जीवितं वापि राक्षस॥ २१॥

'राक्षस! तू इस संज्ञाशून्य जड शरीरको बाँधकर रख ले या काट डाल। मैं स्वयं ही इस शरीर और जीवनको नहीं रखना चाहती॥ २१॥

न तु शक्यमपक्रोशं पृथिव्यां दातुमात्मनः।
एवमुक्त्वा तु वैदेही क्रोधात् सुपरुषं वचः॥ २२॥
रावणं जानकी तत्र पुनर्नोवाच किंचन।

'मैं इस भूतलपर अपने लिये निन्दा या कलङ्क देनेवाला कोई कार्य नहीं कर सकती।' रावणसे क्रोधपूर्वक यह अत्यन्त कठोर वचन कहकर विदेहकुमारी जानकी चुप हो गयीं; वे वहाँ फिर कुछ नहीं बोलीं॥ २२½॥

सीताया वचनं श्रुत्वा परुषं रोमहर्षणम्॥ २३॥
प्रत्युवाच ततः सीतां भयसंदर्शनं वचः।

सीताका वह कठोर वचन रोंगटे खड़े कर देनेवाला था। उसे सुनकर रावणने उनसे भय दिखानेवाली बात कही—॥ २३½॥

शृणु मैथिलि मद्वाक्यं मासान् द्वादश भामिनि॥ २४॥
कालेनानेन नाभ्येषि यदि मां चारुहासिनि।
ततस्त्वां प्रातराशार्थं सूदाश्छेत्स्यन्ति लेशशः॥ २५॥

'मनोहर हास्यवाली भामिनि! मिथिलेशकुमारी! मेरी बात सुन लो। मैं तुम्हें बारह महीनेका समय देता हूँ। इतने समयमें यदि तुम स्वेच्छापूर्वक मेरे पास नहीं आओगी तो मेरे रसोइये सबेरेका कलेवा तैयार करनेके लिये तुम्हारे शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर डालेंगे'॥ २४-२५॥

इत्युक्त्वा परुषं वाक्यं रावणः शत्रुरावणः।
राक्षसीश्च ततः क्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत्॥ २६॥

सीतासे ऐसी कठोर बात कहकर शत्रुओंको रुलानेवाला रावण कुपित हो राक्षसियोंसे इस प्रकार बोला—॥ २६॥

शीघ्रमेव हि राक्षस्यो विरूपा घोरदर्शनाः।
दर्पमस्यापनेष्यन्तु मांसशोणितभोजनाः॥ २७॥

'अपने विकराल रूपके कारण भयङ्कर दिखायी देनेवाली तथा रक्त-मांसका आहार करनेवाली राक्षसियो! तुमलोग शीघ्र ही इस सीताका अहंकार दूर करो'॥ २७॥

वचनादेव तास्तस्य सुघोरा घोरदर्शनाः।
कृतप्राञ्जलयो भूत्वा मैथिलीं पर्यवारयन्॥ २८॥

रावणके इतना कहते ही वे भयंकर दिखायी देनेवाली अत्यन्त घोर राक्षसियाँ हाथ जोड़े मैथिलीको चारों ओरसे घेरकर खड़ी हो गयीं॥ २८॥

स ताः प्रोवाच राजासौ रावणो घोरदर्शनाः।
प्रचल्य चरणोत्कर्षैर्दारयन्निव मेदिनीम्॥ २९॥

तब राजा रावण अपने पैरोंके धमाकेसे पृथ्वीको विदीर्ण करता हुआ-सा दो-चार पग चलकर उन भयानक राक्षसियोंसे बोला—॥ २९॥

अशोकवनिकामध्ये मैथिली नीयतामिति।
तत्रेयं रक्ष्यतां गूढं युष्माभिः परिवारिता॥ ३०॥

'निशाचरियो! तुमलोग मिथिलेशकुमारी सीताको अशोकवाटिकामें ले जाओ और चारों ओरसे घेरकर वहाँ गूढ़ भावसे इसकी रक्षा करती रहो॥ ३०॥

तत्रैनां तर्जनैर्घोरैः पुनः सान्त्वैश्च मैथिलीम्।
आनयध्वं वशं सर्वा वन्यां गजवधूमिव॥ ३१॥

'वहाँ पहले तो भयंकर गर्जन-तर्जन करके इसे डराना; फिर मीठे-मीठे वचनोंसे समझा-बुझाकर जंगलकी हथिनीकी भाँति इस मिथिलेशकुमारीको तुम सब लोग वशमें लानेकी चेष्टा करना'॥

इति प्रतिसमादिष्टा राक्षस्यो रावणेन ताः।
अशोकवनिकां जग्मुर्मैथिलीं परिगृह्य तु॥ ३२॥

रावणके इस प्रकार आदेश देनेपर वे राक्षसियाँ मैथिलीको साथ लेकर अशोकवाटिकामें चली गयीं॥ ३२॥

सर्वकामफलैर्वृक्षैर्नानापुष्पफलैर्वृताम्।
सर्वकालमदैश्चापि द्विजैः समुपसेविताम्॥ ३३॥

वह वाटिका समस्त कामनाओंको फलरूपमें प्रदान करनेवाले कल्पवृक्षों तथा भाँति-भाँतिके फल-फूलवाले दूसरे-दूसरे वृक्षोंसे भी भरी थी तथा हर समय मदमत्त रहनेवाले पक्षी उसमें निवास करते थे ॥ ३३ ॥

सा तु शोकपरीताङ्गी मैथिली जनकात्मजा ।
राक्षसीवशमापन्ना व्याघ्रीणां हरिणी यथा ॥ ३४ ॥

परंतु वहाँ जानेपर मिथिलेशकुमारी जानकीके अङ्ग-अङ्गमें शोक व्याप्त हो गया। राक्षसियोंके वशमें पड़कर उनकी दशा बाघिनोंके बीचमें घिरी हुई हरिणीके समान हो गयी थी ॥ ३४ ॥

शोकेन महता ग्रस्ता मैथिली जनकात्मजा ।
न शर्म लभते भीरुः पाशबद्धा मृगी यथा ॥ ३५ ॥

महान् शोकसे ग्रस्त हुई मिथिलेशनन्दिनी जानकी जालमें फँसी हुई मृगीके समान भयभीत हो क्षणभरके लिये भी चैन नहीं पाती थीं ॥ ३५ ॥

न विन्दते तत्र तु शर्म मैथिली
विरूपनेत्राभिरतीव तर्जिता ।
पतिं स्मरन्ती दयितं च देवरं
विचेतनाभूद् भयशोकपीडिता ॥ ३६ ॥

विकराल रूप और नेत्रोंवाली राक्षसियोंकी अत्यन्त डाँट-फटकार सुननेके कारण मिथिलेशकुमारी सीताको वहाँ शान्ति नहीं मिली। वे भय और शोकसे पीड़ित हो प्रियतम पति और देवरका स्मरण करती हुई अचेत-सी हो गयीं ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे षट्पञ्चाशः सर्गः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें छप्पनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

प्रक्षिप्तः सर्गः[1]

ब्रह्माजीकी आज्ञासे देवराज इन्द्रका निद्रासहित लङ्कामें जाकर सीताको दिव्य खीर अर्पित करना और उनसे विदा लेकर लौटना

प्रवेशितायां सीतायां लङ्कां प्रति पितामहः ।
तदा प्रोवाच देवेन्द्रं परितुष्टं शतक्रतुम् ॥ १ ॥

जब सीताका लङ्कामें प्रवेश हो गया, तब पितामह ब्रह्माजीने संतुष्ट हुए देवराज इन्द्रसे इस प्रकार कहा— ॥

त्रैलोक्यस्य हितार्थाय रक्षसामहिताय च ।
लङ्कां प्रवेशिता सीता रावणेन दुरात्मना ॥ २ ॥

'देवराज ! तीनों लोकोंके हित और राक्षसोंके विनाशके लिये दुरात्मा रावणने सीताको लङ्कामें पहुँचा दिया ॥ २ ॥

पतिव्रता महाभागा नित्यं चैव सुखैधिता ।
अपश्यन्ती च भर्तारं पश्यन्ती राक्षसीजनम् ॥ ३ ॥
राक्षसीभिः परिवृता भर्तृदर्शनलालसा ।

'पतिव्रता महाभागा जानकी सदा सुखमें ही पली हैं। इस समय वे अपने पतिके दर्शनसे वंचित हो गयी हैं और राक्षसियोंसे घिरी रहनेके कारण सदा उन्हींको अपने सामने देखती हैं। उनके हृदयमें अपने पतिके दर्शनकी तीव्र लालसा बनी हुई है ॥ ३½ ॥

निविष्टा हि पुरी लङ्का तीरे नदनदीपतेः ॥ ४ ॥
कथं ज्ञास्यति तां रामस्तत्रस्थां तामनिन्दिताम् ।

'लङ्कापुरी समुद्रके तटपर बसी हुई है। वहाँ रहती हुई सती-साध्वी सीताका पता श्रीरामचन्द्रजीको कैसे लगेगा ॥ ४½ ॥

दुःखं संचिन्तयन्ती सा बहुशः परिदुर्लभा ॥ ५ ॥
प्राणयात्रामकुर्वाणा प्राणांस्त्यक्ष्यत्यसंशयम् ।
स भूयः संशयो जातः सीतायाः प्राणसंक्षये ॥ ६ ॥

'सीता दुःखके साथ नाना प्रकारकी चिन्ताओंमें डूबी रहती हैं। पतिके लिये इस समय वे अत्यन्त दुर्लभ हो गयी हैं। प्राणयात्रा (भोजन) नहीं करती हैं; अतः ऐसी दशामें निःसंदेह वे अपने प्राणोंका परित्याग कर देंगी। सीताके प्राणोंका क्षय हो जानेपर हमारे उद्देश्यकी सिद्धिमें पुनः पूर्ववत् संदेह उपस्थित हो जायगा ॥ ५-६ ॥

स त्वं शीघ्रमितो गत्वा सीतां पश्य शुभाननाम् ।
प्रविश्य नगरीं लङ्कां प्रयच्छ हविरुत्तमम् ॥ ७ ॥

'अतः तुम शीघ्र ही यहाँसे जाकर लङ्कापुरीमें प्रवेश करके सुमुखी सीतासे मिलो और उन्हें उत्तम हविष्य प्रदान करो' ॥

एवमुक्तोऽथ देवेन्द्रः पुरीं रावणपालिताम् ।
आगच्छन्निद्रया सार्धं भगवान् पाकशासनः ॥ ८ ॥

ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर पाकशासन भगवान् इन्द्र निद्राको साथ लेकर रावणद्वारा पालित लङ्कापुरीमें आये ॥

निद्रां चोवाच गच्छ त्वं राक्षसान् सम्प्रमोहय ।
सा तथोक्ता मघवता देवी परमहर्षिता ॥ ९ ॥
देवकार्यार्थसिद्ध्यर्थं प्रामोहयत राक्षसान् ।

वहाँ आकर इन्द्रने निद्रासे कहा—'तुम राक्षसोंको मोहित

---

[1] १. यह सर्ग प्रसंगके अनुकूल और उत्तम है। कुछ प्रतियोंमें यह सानुवाद प्रकाशित भी है, परंतु इसपर तिलक आदि संस्कृत टीकाएँ नहीं उपलब्ध होती हैं; इसलिये कुछ लोगोंने इसे प्रक्षिप्त माना है। उपयोगी होनेके कारण इसे भी यहाँ सानुवाद प्रकाशित किया जाता है।

करो।' इन्द्रसे ऐसी आज्ञा पाकर देवी निद्रा बहुत प्रसन्न हुई। देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये उन्होंने राक्षसोंको मोह (निद्रा) में डाल दिया॥ ९½॥

एतस्मिन्नन्तरे देवः सहस्राक्षः शचीपतिः॥ १०॥
आससाद वनस्थां तां वचनं चेदमब्रवीत्।

इसी बीचमें सहस्र नेत्रधारी शचीपति देवराज इन्द्र अशोकवाटिकामें बैठी हुई सीताके पास गये और इस प्रकार बोले— ॥ १०½॥

देवराजोऽस्मि भद्रं ते इह चास्मि शुचिस्मिते॥ ११॥
अहं त्वां कार्यसिद्ध्यर्थं राघवस्य महात्मनः।
साहाय्यं कल्पयिष्यामि मा शुचो जनकात्मजे॥ १२॥

'पवित्र मुसकानवाली देवि! आपका भला हो। मैं देवराज इन्द्र यहाँ आपके पास आया हूँ। जनककिशोरी! मैं आपके उद्धारकार्यकी सिद्धिके लिये महात्मा श्रीरघुनाथजीकी सहायता करूँगा, अतः आप शोक न करें॥ ११-१२॥

मत्प्रसादात् समुद्रं स तरिष्यति बलैः सह।
मयैवेह च राक्षस्यो मायया मोहिताः शुभे॥ १३॥

'वे मेरे प्रसादसे बड़ी भारी सेनाके साथ समुद्रको पार करेंगे। शुभे! मैंने ही यहाँ इन राक्षसियोंको अपनी मायासे मोहित किया है॥ १३॥

तस्मादन्नमिदं सीते हविष्यान्नमहं स्वयम्।
स त्वां संगृह्य वैदेहि आगतः सह निद्रया॥ १४॥

'विदेहनन्दिनी सीते! इसलिये मैं स्वयं ही यह भोजन—यह हविष्यान्न लेकर निद्राके साथ तुम्हारे पास आया हूँ॥ १४॥

एतदत्स्यसि मद्धस्तान्न त्वां बाधिष्यते शुभे।
क्षुधा तृषा च रम्भोरु वर्षाणामयुतैरपि॥ १५॥

'शुभे! रम्भोरु! यदि मेरे हाथसे इस हविष्यको लेकर खा लोगी तो तुम्हें हजारों वर्षोंतक भूख और प्यास नहीं सतायेगी'॥ १५॥

एवमुक्ता तु देवेन्द्रमुवाच परिशङ्किता।
कथं जानामि देवेन्द्रं त्वामिहस्थं शचीपतिम्॥ १६॥

देवराजके ऐसा कहनेपर शङ्कित हुई सीताने उनसे कहा—'मुझे कैसे विश्वास हो कि आप शचीपति देवराज इन्द्र ही यहाँ पधारे हैं?॥ १६॥

देवलिङ्गानि दृष्टानि रामलक्ष्मणसंनिधौ।
तानि दर्शय देवेन्द्र यदि त्वं देवराट् स्वयम्॥ १७॥

'देवेन्द्र! मैंने श्रीराम और लक्ष्मणके समीप देवताओंके लक्षण अपनी आँखों देखे हैं। यदि आप साक्षात् देवराज हैं तो उन लक्षणोंको दिखाइये'॥ १७॥

सीताया वचनं श्रुत्वा तथा चक्रे शचीपतिः।
पृथिवीं नास्पृशत् पद्भ्यामनिमेषेक्षणानि च॥ १८॥
अरजोऽम्बरधारी च नम्लानकुसुमस्तथा।
तं ज्ञात्वा लक्षणैः सीता वासवं परिहर्षिता॥ १९॥

सीताकी यह बात सुनकर शचीपति इन्द्रने वैसा ही किया। उन्होंने अपने पैरोंसे पृथ्वीका स्पर्श नहीं किया—आकाशमें निराधार खड़े रहे। उनकी आँखोंकी पलकें नहीं गिरती थीं। उन्होंने जो वस्त्र धारण किया था, उसपर धूलका स्पर्श नहीं होता था। उनके कण्ठमें जो पुष्पमाला थी, उसके पुष्प कुम्हलाते नहीं थे। देवोचित लक्षणोंसे इन्द्रको पहचानकर सीता बहुत प्रसन्न हुई॥ १८-१९॥

उवाच वाक्यं रुदती भगवन् राघवं प्रति।
सह भ्रात्रा महाबाहुर्दिष्ट्या मे श्रुतिमागतः॥ २०॥

वे भगवान् श्रीरामके लिये रोती हुई बोलीं—'भगवन्! सौभाग्यकी बात है कि आज भाईसहित महाबाहु श्रीरामका नाम मेरे कानोंमें पड़ा है॥ २०॥

यथा मे श्वशुरो राजा यथा च मिथिलाधिपः।
तथा त्वामद्य पश्यामि सनाथो मे पतिस्त्वया॥ २१॥

'मेरे लिये जैसे मेरे श्वशुर महाराज दशरथ तथा पिता मिथिलानरेश जनक हैं, उसी रूपमें मैं आज आपको देखती हूँ। मेरे पति आपके द्वारा सनाथ हैं॥ २१॥

तवाज्ञया च देवेन्द्र पयोभूतमिदं हविः।
अशिष्यामि त्वया दत्तं रघूणां कुलवर्धनम्॥ २२॥

'देवेन्द्र! आपकी आज्ञासे मैं यह पायसरूप हविष्य (दूधकी बनी हुई खीर), जिसे आपने दिया है, खाऊँगी। यह रघुकुलकी वृद्धि करनेवाला हो'॥ २२॥

इन्द्रहस्ताद् गृहीत्वा तत् पायसं सा शुचिस्मिता।
न्यवेदयत भर्त्रे सा लक्ष्मणाय च मैथिली॥ २३॥

इन्द्रके हाथसे उस खीरको लेकर उन पवित्र मुसकानवाली मैथिलीने मन-ही-मन पहले उसे अपने स्वामी श्रीराम और देवर लक्ष्मणको निवेदन किया और इस प्रकार कहा— ॥ २३॥

यदि जीवति मे भर्ता सह भ्रात्रा महाबलः।
इदमस्तु तयोर्भक्त्या तदाश्नात् पायसं स्वयम्॥ २४॥

'यदि मेरे महाबली स्वामी अपने भाईके साथ जीवित हैं तो यह भक्तिभावसे उन दोनोंके लिये समर्पित है।' इतना कहनेके पश्चात् उन्होंने स्वयं उस खीरको खाया॥ २४॥

इतीव तत् प्राश्य हविर्वरानना
जहौ क्षुधादुःखसमुद्भवं च तम्।
इन्द्रात् प्रवृत्तिमुपलभ्य जानकी
काकुत्स्थयोः प्रीतमना बभूव॥ २५॥

इस प्रकार उस हविष्यको खाकर सुन्दर मुखवाली जानकीने भूख-प्यासके कष्टको त्याग दिया और इन्द्रके मुखसे श्रीराम तथा लक्ष्मणका समाचार पाकर वे जनकनन्दिनी मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुईं॥ २५॥

स चापि शक्रस्त्रिदिवालयं तदा
प्रीतो ययौ राघवकार्यसिद्धये।
आमन्त्र्य सीतां स ततो महात्मा
जगाम निद्रासहितः स्वमालयम्॥ २६॥

तब निद्रासहित महात्मा देवराज इन्द्र भी प्रसन्न हो सीतासे विदा लेकर श्रीरामचन्द्रजीके कार्यकी सिद्धिके लिये अपने निवासस्थान देवलोकको चले गये॥ २६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे प्रक्षिप्तः सर्गः॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें प्रक्षिप्त सर्ग पूरा हुआ॥

सप्तपञ्चाशः सर्गः

श्रीरामका लौटना, मार्गमें अपशकुन देखकर चिन्तित होना तथा लक्ष्मणसे मिलनेपर उन्हें उलाहना दे सीतापर सङ्कट आनेकी आशङ्का करना

राक्षसं मृगरूपेण चरन्तं कामरूपिणम्।
निहत्य रामो मारीचं तूर्णं पथि न्यवर्तत॥ १॥

इधर मृगरूपसे विचरते हुए उस इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले राक्षस मारीचका वध करके श्रीरामचन्द्रजी तुरंत ही आश्रमके मार्गपर लौटे॥ १॥

तस्य संत्वरमाणस्य द्रष्टुकामस्य मैथिलीम्।
क्रूरस्वनोऽथ गोमायुर्विननादास्य पृष्ठतः॥ २॥

वे सीताको देखनेके लिये जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाते हुए आ रहे थे। इतनेहीमें पीछेकी ओरसे एक सियारिन बड़े कठोर स्वरमें चीत्कार करने लगी॥ २॥

स तस्य स्वरमाज्ञाय दारुणं रोमहर्षणम्।
चिन्तयामास गोमायोः स्वरेण परिशङ्कितः॥ ३॥

गीदड़ीके उस स्वरसे श्रीरामचन्द्रजीके मनमें कुछ शङ्का हुई। उसका स्वर बड़ा ही भयंकर तथा रोंगटे खड़े कर देनेवाला था। उसका अनुभव करके वे बड़ी चिन्तामें पड़ गये॥ ३॥

अशुभं बत मन्येऽहं गोमायुर्वाश्यते यथा।
स्वस्ति स्यादपि वैदेह्या राक्षसैर्भक्षणं विना॥ ४॥

वे मन-ही-मन कहने लगे—'यह सियारिन जैसी बोली बोल रही है, इससे तो मुझे मालूम हो रहा है कि कोई अशुभ घटना घटित हो गयी। क्या विदेहनन्दिनी सीता कुशलसे होंगी? उन्हें राक्षस तो नहीं खा गये?॥ ४॥

मारीचेन तु विज्ञाय स्वरमालक्ष्य मामकम्।
विक्रुष्टं मृगरूपेण लक्ष्मणः शृणुयाद् यदि॥ ५॥

'मृगरूपधारी मारीचने जान-बूझकर मेरे स्वरका अनुसरण करते हुए जो आर्त-पुकार की थी, वह इसलिये कि शायद इसे लक्ष्मण सुन सकें॥ ५॥

स सौमित्रिः स्वरं श्रुत्वा तां च हित्वाथ मैथिलीम्।
तयैव प्रहितः क्षिप्रं मत्सकाशमिहैष्यति॥ ६॥

'सुमित्रानन्दन लक्ष्मण वह स्वर सुनते ही सीताके ही भेजनेपर उसे अकेली छोड़कर तुरंत मेरे पास यहाँ पहुँचनेके लिये चल देंगे॥ ६॥

राक्षसैः सहितैर्नूनं सीताया ईप्सितो वधः।
काञ्चनश्च मृगो भूत्वा व्यपनीयाश्रमात्तु माम्॥ ७॥
दूरं नीत्वाथ मारीचो राक्षसोऽभूच्छराहतः।
हा लक्ष्मण हतोऽस्मीति यद्वाक्यं व्याजहार ह॥ ८॥

'राक्षसलोग तो सब-के-सब मिलकर सीताका वध अवश्य कर देना चाहते हैं। इसी उद्देश्यसे यह मारीच राक्षस सोनेका मृग बनकर मुझे आश्रमसे दूर हटा ले आया था और मेरे बाणोंसे आहत होनेपर जो उसने आर्तनाद करते हुए कहा था कि 'हा लक्ष्मण! मैं मारा गया' इसमें भी उसका वही उद्देश्य छिपा था॥ ७-८॥

अपि स्वस्ति भवेद् द्वाभ्यां रहिताभ्यां मया वने।
जनस्थाननिमित्तं हि कृतवैरोऽस्मि राक्षसैः॥ ९॥

वनमें हम दोनों भाइयोंके आश्रमसे अलग हो जानेपर क्या सीता सकुशल वहाँ रह सकेगी? जनस्थानमें जो राक्षसोंका संहार हुआ है, उसके कारण सारे राक्षस मुझसे वैर बाँधे ही हुए हैं॥ ९॥

निमित्तानि च घोराणि दृश्यन्तेऽद्य बहूनि च।
इत्येवं चिन्तयन् रामः श्रुत्वा गोमायुनिःस्वनम्॥ १०॥
निवर्तमानस्त्वरितो जगामाश्रममात्मवान्।

'आज बहुत-से भयङ्कर अपशकुन भी दिखायी देते हैं।' सियारिनकी बोली सुनकर इस प्रकार चिन्ता करते हुए मनको वशमें रखनेवाले श्रीराम तुरंत लौटकर आश्रमकी ओर चले॥ १० १/२॥

आत्मनश्चापनयनं मृगरूपेण रक्षसा॥ ११॥
आजगाम जनस्थानं राघवः परिशङ्कितः।

मृगरूपधारी राक्षसके द्वारा अपनेको आश्रमसे दूर हटानेकी घटनापर विचार करके श्रीरघुनाथजी शङ्कितहृदयसे जनस्थानको आये॥ ११ १/२॥

तं दीनमानसं दीनमासेदुर्मृगपक्षिणः॥ १२॥
सव्यं कृत्वा महात्मानं घोरांश्च ससृजुः स्वरान्।

उनका मन बहुत दुःखी था। वे दीन हो रहे थे। उसी अवस्थामें वनके मृग और पक्षी उन्हें बायें रखते हुए वहाँ

आये और भयङ्कर स्वरमें अपनी बोली बोलने लगे ॥ १२½ ॥

तानि दृष्ट्वा निमित्तानि महाघोराणि राघवः।
न्यवर्तताथ त्वरितो जवेनाश्रममात्मनः ॥ १३ ॥

उन महाभयङ्कर अपशकुनोंको देखकर श्रीरामचन्द्रजी तुरंत ही बड़े वेगसे अपने आश्रमकी ओर लौटे ॥ १३ ॥

ततो लक्ष्मणमायान्तं ददर्श विगतप्रभम्।
ततोऽविदूरे रामेण समीयाय स लक्ष्मणः ॥ १४ ॥

इतनेहीमें उन्हें लक्ष्मण आते दिखायी दिये। उनकी कान्ति फीकी पड़ गयी थी। थोड़ी ही देरमें निकट आकर लक्ष्मण श्रीरामचन्द्रजीसे मिले ॥ १४ ॥

विषण्णः सन् विषण्णेन दुःखितो दुःखभागिना।
स जगर्हेऽथ तं भ्राता दृष्ट्वा लक्ष्मणमागतम् ॥ १५ ॥
विहाय सीतां विजने वने राक्षससेविते।

दुःख और विषादमें डूबे हुए लक्ष्मणने दुःखी और विषादग्रस्त श्रीरामचन्द्रजीसे भेंट की। उस समय राक्षसोंसे सेवित निर्जन वनमें सीताको अकेली छोड़कर आये हुए लक्ष्मणको देख भाई श्रीरामने उनकी निन्दा की ॥ १५½ ॥

गृहीत्वा च करं सव्यं लक्ष्मणं रघुनन्दनः ॥ १६ ॥
उवाच मधुरोदर्कमिदं परुषमार्तवत्।

लक्ष्मणका बायाँ हाथ पकड़कर रघुनन्दन आर्त-से हो गये और पहले कठोर तथा अन्तमें मधुर वाणीद्वारा इस प्रकार बोले— ॥ १६½ ॥

अहो लक्ष्मण गर्ह्यं ते कृतं यत् त्वं विहाय ताम् ॥ १७ ॥
सीतामिहागतः सौम्य कच्चित् स्वस्ति भवेदिति।

'अहो सौम्य लक्ष्मण! यह तुमने बहुत बुरा किया, जो सीताको अकेली छोड़कर यहाँ चले आये। क्या वहाँ सीता सकुशल होगी?' ॥ १७½ ॥

न मेऽस्ति संशयो वीर सर्वथा जनकात्मजा ॥ १८ ॥
विनष्टा भक्षिता वापि राक्षसैर्वनचारिभिः।

'वीर! मुझे इस बातमें संदेह नहीं है कि वनमें विचरनेवाले राक्षसोंने जनककुमारी सीताको या तो सर्वथा नष्ट कर दिया होगा या वे उन्हें खा गये होंगे ॥ १८½ ॥

अशुभान्येव भूयिष्ठं यथा प्रादुर्भवन्ति मे ॥ १९ ॥
अपि लक्ष्मण सीतायाः सामग्र्यं प्राप्नुयामहे।
जीवन्त्याः पुरुषव्याघ्र सुताया जनकस्य वै ॥ २० ॥

'क्योंकि मेरे आसपास बहुत-से अपशकुन हो रहे हैं। पुरुषसिंह लक्ष्मण! क्या हमलोग जीती-जागती हुई जनक-दुलारी सीताको पूर्णतः स्वस्थ एवं सकुशल पा सकेंगे?' ॥

यथा वै मृगसंघाश्च गोमायुश्चैव भैरवम्।
वाश्यन्ते शकुनाश्चापि प्रदीप्तामभितो दिशम्।
अपि स्वस्ति भवेत् तस्या राजपुत्र्या महाबल ॥ २१ ॥

'महाबली लक्ष्मण! ये मृगोंके झुंड (दाहिनी ओरसे आकर) जैसा अमङ्गल सूचित कर रहे हैं, ये गीदड़ जिस तरह भैरवनाद कर रहे हैं तथा जलती-सी प्रतीत होनेवाली सम्पूर्ण दिशाओंमें पक्षी जिस तरहकी बोली बोल रहे हैं—इन सबसे यही अनुमान होता है कि राजकुमारी सीता शायद ही कुशलसे हों ॥ २१ ॥

इदं हि रक्षो मृगसंनिकाशं
प्रलोभ्य मां दूरमनुप्रयातम्।
हतं कथंचिन्महता श्रमेण
स राक्षसोऽभून्म्रियमाण एव ॥ २२ ॥

'यह राक्षस मृगके समान रूप धारण करके मुझे लुभाकर दूर चला आया था। महान् परिश्रम करके जब मैंने इसे किसी तरह मारा, तब यह मरते ही राक्षस हो गया ॥ २२ ॥

मनश्च मे दीनमिहाप्रहृष्टं
चक्षुश्च सव्यं कुरुते विकारम्।
असंशयं लक्ष्मण नास्ति सीता
हृता मृता वा पथि वर्तते वा ॥ २३ ॥

'लक्ष्मण! अतः मेरा मन अत्यन्त दीन और अप्रसन्न हो रहा है। मेरी बायीं आँख फड़क रही है, इससे जान पड़ता है, निःसंदेह आश्रमपर सीता नहीं है। उसे कोई हर ले गया, वह मारी गयी अथवा (किसी राक्षसके साथ) मार्गमें होगी' ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें सत्तावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

—★—

अष्टपञ्चाशः सर्गः

मार्गमें अनेक प्रकारकी आशङ्का करते हुए लक्ष्मणसहित श्रीरामका आश्रममें आना और वहाँ सीताको न पाकर व्यथित होना

स दृष्ट्वा लक्ष्मणं दीनं शून्यं दशरथात्मजः।
पर्यपृच्छत धर्मात्मा वैदेहीमागतं विना ॥ १ ॥

लक्ष्मणको दीन, संतोषशून्य तथा सीताको साथ लिये बिना आया देख धर्मात्मा दशरथनन्दन श्रीरामने पूछा— ॥

प्रस्थितं दण्डकारण्यं या मामनुजगाम ह।
क्व सा लक्ष्मण वैदेही यां हित्वा त्वमिहागतः ॥ २ ॥

'लक्ष्मण! जो दण्डकारण्यकी ओर प्रस्थित होनेपर अयोध्यासे मेरे पीछे-पीछे चली आयी तथा जिसे तुम

अकेली छोड़कर यहाँ आ गये, वह विदेहराजकुमारी सीता इस समय कहाँ है ? ॥ २ ॥

राज्यभ्रष्टस्य दीनस्य दण्डकान् परिधावतः ।
क्व सा दुःखसहाया मे वैदेही तनुमध्यमा ॥ ३ ॥

'मैं राज्यसे भ्रष्ट और दीन होकर दण्डकारण्यमें चक्कर लगा रहा हूँ। इस दुःखमें जो मेरी सहायिका हुई, वह तनुमध्यमा (सूक्ष्मकटिप्रदेशवाली) विदेहराजकुमारी कहाँ है ? ॥ ३ ॥

यां विना नोत्सहे वीर मुहूर्तमपि जीवितुम् ।
क्व सा प्राणसहाया मे सीता सुरसुतोपमा ॥ ४ ॥

'वीर ! जिसके बिना मैं दो घड़ी भी जीवित नहीं रह सकता तथा जो मेरे प्राणोंकी सहचरी है, वह देवकन्याके समान सुन्दरी सीता इस समय कहाँ है ? ॥ ४ ॥

पतित्वममराणां हि पृथिव्याश्चापि लक्ष्मण ।
विना तां तपनीयाभां नेच्छेयं जनकात्मजाम् ॥ ५ ॥

'लक्ष्मण ! तपाये हुए सोनेके समान कान्तिवाली जनकनन्दिनी सीताके बिना मैं पृथ्वीका राज्य और देवताओंका आधिपत्य भी नहीं चाहता ॥ ५ ॥

कच्चिज्जीवति वैदेही प्राणैः प्रियतरा मम ।
कच्चित् प्रव्राजनं वीर न मे मिथ्या भविष्यति ॥ ६ ॥

'वीर ! जो मुझे प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय है, वह विदेह-राजकुमारी सीता क्या अब जीवित होगी ? मेरा वनमें आना सीताको खो देनेके कारण व्यर्थ तो नहीं हो जायगा ? ॥ ६ ॥

सीतानिमित्तं सौमित्रे मृते मयि गते त्वयि ।
कच्चित् सकामा कैकेयी सुखिता सा भविष्यति ॥ ७ ॥

'सुमित्रानन्दन ! सीताके नष्ट हो जानेके कारण जब मैं मर जाऊँगा और तुम अकेले ही अयोध्याको लौटोगे, उस समय क्या माता कैकेयी सफलमनोरथ एवं सुखी होगी ? ॥ ७ ॥

सपुत्रराज्यां सिद्धार्थां मृतपुत्रा तपस्विनी ।
उपस्थास्यति कौसल्या कच्चिन्न सौम्येन कैकयीम् ॥

'जिसका इकलौता पुत्र मैं मर जाऊँगा, वह तपस्विनी माता कौसल्या क्या पुत्र और राज्यसे सम्पन्न तथा कृतकृत्य हुई कैकेयीकी सेवामें विनीतभावसे उपस्थित होगी ? ॥ ८ ॥

यदि जीवति वैदेही गमिष्याम्याश्रमं पुनः ।
संवृत्ता यदि वृत्ता सा प्राणांस्त्यक्ष्यामि लक्ष्मण ॥ ९ ॥

'लक्ष्मण ! यदि विदेहनन्दिनी सीता जीवित होगी, तभी मैं फिर आश्रममें पैर रखूँगा। यदि सदाचार-परायणा मैथिली मर गयी होगी तो मैं भी प्राणोंका परित्याग कर दूँगा ॥ ९ ॥

यदि मामाश्रमगतं वैदेही नाभिभाषते ।
पुनः प्रहसिता सीता विनशिष्यामि लक्ष्मण ॥ १० ॥

'लक्ष्मण ! यदि आश्रममें जानेपर विदेहराजकुमारी सीता हँसते हुए मुखसे सामने आकर मुझसे बात नहीं करेगी तो मैं जीवित नहीं रहूँगा ॥ १० ॥

ब्रूहि लक्ष्मण वैदेही यदि जीवति वा न वा ।
त्वयि प्रमत्ते रक्षोभिर्भक्षिता वा तपस्विनी ॥ ११ ॥

'लक्ष्मण ! बोलो तो सही ! वैदेही जीवित है या नहीं ? तुम्हारे असावधान होनेके कारण राक्षस उस तपस्विनीको खा तो नहीं गये ? ॥ ११ ॥

सुकुमारी च बाला च नित्यं चादुःखभागिनी ।
मद्वियोगेन वैदेही व्यक्तं शोचति दुर्मनाः ॥ १२ ॥

'जो सुकुमारी है, बाला (भोली-भाली) है तथा जिसने वनवासके पहले दुःखका अनुभव नहीं किया था, वह वैदेही आज मेरे वियोगसे व्यथित-चित्त होकर अवश्य ही शोक कर रही होगी ॥ १२ ॥

सर्वथा रक्षसा तेन जिह्मेन सुदुरात्मना ।
वदता लक्ष्मणेत्युच्चैस्तवापि जनितं भयम् ॥ १३ ॥

'उस कुटिल एवं दुरात्मा राक्षसने उच्चस्वरसे 'हा लक्ष्मण!' ऐसा पुकारकर तुम्हारे मनमें भी सर्वथा भय उत्पन्न कर दिया ॥

श्रुतश्च मन्ये वैदेह्या स स्वरः सदृशो मम ।
त्रस्तया प्रेषितस्त्वं च द्रष्टुं मां शीघ्रमागतः ॥ १४ ॥

'जान पड़ता है, वैदेहीने भी मेरे स्वरसे मिलता-जुलता उस राक्षसका स्वर सुन लिया और भयभीत होकर तुम्हें भेज दिया और तुम भी शीघ्र ही मुझे देखनेके लिये चले आये ॥

सर्वथा तु कृतं कष्टं सीतामुत्सृजता वने ।
प्रतिकर्तुं नृशंसानां रक्षसां दत्तमन्तरम् ॥ १५ ॥

'जो भी हो—तुमने वनमें सीताको अकेली छोड़कर सर्वथा दुःखद कार्य कर डाला। क्रूर कर्म करनेवाले राक्षसोंको बदला लेनेका अवसर दे दिया ॥ १५ ॥

दुःखिताः खरघातेन राक्षसाः पिशिताशनाः ।
तैः सीता निहता घोरैर्भविष्यति न संशयः ॥ १६ ॥

'मांसभक्षी निशाचर मेरे हाथों खरके मारे जानेसे बहुत दुःखी थे। उन घोर राक्षसोंने सीताको मार डाला होगा, इसमें संशय नहीं है ॥ १६ ॥

अहोऽस्मि व्यसने मग्नः सर्वथा रिपुनाशन ।
किं त्विदानीं करिष्यामि शङ्के प्राप्तव्यमीदृशम् ॥ १७ ॥

'शत्रुनाशन ! मैं सर्वथा संकटके समुद्रमें डूब गया हूँ। ऐसे दुःखका अवश्य ही अनुभव करना पड़ेगा—ऐसी शङ्का हो रही है। अतः अब मैं क्या करूँ ?' ॥ १७ ॥

इति सीतां वरारोहां चिन्तयन्नेव राघवः ।
आजगाम जनस्थानं त्वरया सहलक्ष्मणः ॥ १८ ॥

इस प्रकार सुन्दरी सीताके विषयमें चिन्ता करते हुए ही लक्ष्मणसहित श्रीरघुनाथजी तुरंत जनस्थानमें आये ॥ १८ ॥

विगर्हमाणोऽनुजमार्तरूपं
क्षुधाश्रमेणैव पिपासया च ।
विनिःश्वसञ्शुष्कमुखो विषण्णः
प्रतिश्रयं प्राप्य समीक्ष्य शून्यम् ॥ १९ ॥

अपने दुःखी अनुज लक्ष्मणको कोसते एवं भूख-प्यास तथा परिश्रमसे लंबी साँस खींचते हुए सूखे मुँहवाले श्रीरामचन्द्रजी आश्रमके निकटवर्ती स्थानपर आकर उसे सूना देख विषादमें डूब गये ॥ १९ ॥

स्वमाश्रमं स प्रविगाह्य वीरो विहारदेशाननुसृत्य कांश्चित्।
एतत्तदित्येव निवासभूमौ प्रहृष्टरोमा व्यथितो बभूव ॥ २० ॥

वीर श्रीरामने आश्रममें प्रवेश करके उसे भी सूना देख कुछ ऐसे स्थलोंमें अनुसंधान किया, जो सीताके विहारस्थान थे। उन्हें भी सूना पाकर उस क्रीडाभूमिमें यही वह स्थान है, जहाँ मैंने अमुक प्रकारकी क्रीडा की थी, ऐसा स्मरण करके उनके शरीरमें रोमाञ्च हो आया और वे व्यथासे पीड़ित हो गये ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डेऽष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें अट्ठावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

—★—

एकोनषष्टितमः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणकी बातचीत

अथाश्रमादुपावृत्तमन्तरा रघुनन्दनः।
परिपप्रच्छ सौमित्रिं रामो दुःखार्दितं वचः ॥ १ ॥

(आश्रममें आनेसे पहले मार्गमें श्रीराम और लक्ष्मणने परस्पर जो बातें की थीं, उन्हें पुनः विस्तारके साथ बता रहे हैं—) सीताके कथनानुसार आश्रमसे अपने पास आये हुए सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे मार्गमें भी रघुकुलनन्दन श्रीरामने बड़े दुःखसे यह बात पूछी— ॥ १ ॥

तमुवाच किमर्थं त्वमागतोऽपास्य मैथिलीम्।
यदा सा तव विश्वासाद् वने विरहिता मया ॥ २ ॥

'लक्ष्मण! जब मैंने तुम्हारे विश्वासपर ही वनमें सीताको छोड़ा था, तब तुम उसे अकेली छोड़कर क्यों चले आये? ॥

दृष्ट्वैवाभ्यागतं त्वां मे मैथिलीं त्यज्य लक्ष्मण।
शङ्कमानं महत् पापं यत्सत्यं व्यथितं मनः ॥ ३ ॥

'लक्ष्मण! मिथिलेशकुमारीको छोड़कर तुम जो मेरे पास आये हो, तुम्हें देखते ही जिस महान् अनिष्टकी आशङ्का करके मेरा मन व्यथित हो रहा था, वह सत्य जान पड़ने लगा है ॥ ३ ॥

स्फुरते नयनं सव्यं बाहुश्च हृदयं च मे।
दृष्ट्वा लक्ष्मण दूरे त्वां सीताविरहितं पथि ॥ ४ ॥

'लक्ष्मण! मेरी बायीं आँख और बायीं भुजा फड़क रही है। तुम्हें आश्रमसे दूर सीताके बिना ही मार्गपर आते देख मेरा हृदय भी धक-धक कर रहा है' ॥ ४ ॥

एवमुक्तस्तु सौमित्रिर्लक्ष्मणः शुभलक्षणः।
भूयो दुःखसमाविष्टो दुःखितं राममब्रवीत् ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न सुमित्राकुमार लक्ष्मण अत्यन्त दुःखी होकर अपने शोकग्रस्त भाई श्रीरामसे बोले— ॥ ५ ॥

न स्वयं कामकारेण तां त्यक्त्वाहमिहागतः।
प्रचोदितस्तयैवोग्रैस्त्वत्सकाशमिहागतः ॥ ६ ॥

'भैया! मैं स्वयं अपनी इच्छासे उन्हें छोड़कर नहीं आया हूँ। उन्हींके कठोर वचनोंसे प्रेरित होकर मुझे आपके पास आना पड़ा है ॥ ६ ॥

आर्येणेव परिक्रुष्टं लक्ष्मणेति सुविस्वरम्।
परित्राहीति यद्वाक्यं मैथिल्यास्तच्छ्रुतिं गतम् ॥ ७ ॥

'आपके ही समान स्वरमें किसीने जोरसे पुकारा, 'लक्ष्मण! मुझे बचाओ।' यह वाक्य मिथिलेशकुमारीके कानोंमें भी पड़ा ॥ ७ ॥

सा तमार्तस्वरं श्रुत्वा तव स्नेहेन मैथिली।
गच्छ गच्छेति मामाशु रुदती भयविह्वला ॥ ८ ॥

'उस आर्तनादको सुनकर मैथिली आपके प्रति स्नेहके कारण भयसे व्याकुल हो गयीं और रोती हुई मुझसे तुरंत बोलीं—'जाओ, जाओ' ॥ ८ ॥

प्रचोद्यमानेन मया गच्छेति बहुशस्तया।
प्रत्युक्ता मैथिली वाक्यमिदं तत् प्रत्ययान्वितम् ॥ ९ ॥

'जब बारंबार उन्होंने 'जाओ' कहकर मुझे प्रेरित किया, तब उन्हें विश्वास दिलाते हुए मैंने मैथिलीसे यह बात कही— ॥ ९ ॥

न तत् पश्याम्यहं रक्षो यदस्य भयमावहेत्।
निर्वृता भव नास्त्येतत् केनाप्येतदुदाहृतम् ॥ १० ॥

''देवि! मैं ऐसे किसी राक्षसको नहीं देखता, जो भगवान् श्रीरामको भी भयमें डाल सके। आप शान्त रहें, यह भैयाकी आवाज नहीं है। किसी दूसरेने इस तरहकी पुकार की है ॥

विगर्हितं च नीचं च कथमार्योऽभिधास्यति।
त्राहीति वचनं सीते यस्त्रायेत् त्रिदशानपि ॥ ११ ॥

''सीते! जो देवताओंकी भी रक्षा कर सकते हैं, वे मेरे बड़े भाई 'मुझे बचाओ' ऐसा निन्दित (कायरतापूर्ण) वचन कैसे कहेंगे? ॥ ११ ॥

किंनिमित्तं तु केनापि भ्रातुरालम्ब्य मे स्वरम्।
विस्वरं व्याहृतं वाक्यं लक्ष्मण त्राहि मामिति ॥ १२ ॥

''किसी दूसरेने किसी बुरे उद्देश्यसे मेरे भैयाके स्वरकी नकल

करके 'लक्ष्मण ! मुझे बचाओ' यह बात जोरसे कही है ॥

राक्षसेनेरितं वाक्यं त्रासात् त्राहीति शोभने ।
न भवत्या व्यथा कार्या कुनारीजनसेविता ॥ १३ ॥

"शोभने ! उस राक्षसने ही भयके कारण (मुझे बचाओ) यह बात मुँहसे निकाली है। आपको व्यथित नहीं होना चाहिये। ऐसी व्यथाको नीच श्रेणीकी स्त्रियाँ ही अपने मनमें स्थान देती हैं ॥ १३ ॥

अलं विक्लवतां गन्तुं स्वस्था भव निरुत्सुका ।
न चास्ति त्रिषु लोकेषु पुमान् यो राघवं रणे ॥ १४ ॥
जातो वा जायमानो वा संयुगे यः पराजयेत् ।
अजेयो राघवो युद्धे देवैः शक्रपुरोगमैः ॥ १५ ॥

"तुम व्याकुल मत होओ, स्वस्थ हो जाओ, चिन्ता छोड़ो। तीनों लोकोंमें ऐसा कोई पुरुष न तो उत्पन्न हुआ है, न हो रहा है और न होगा ही, जो युद्धमें श्रीरघुनाथजीको परास्त कर सके। संग्राममें इन्द्र आदि देवता भी श्रीरामको नहीं जीत सकते' ॥ १४-१५ ॥

एवमुक्ता तु वैदेही परिमोहितचेतना ।
उवाचाश्रूणि मुञ्चन्ती दारुणं मामिदं वचः ॥ १६ ॥

'मेरे ऐसा कहनेपर विदेहराजकुमारीकी चेतना मोहसे आच्छन्न हो गयी। वे आँसू बहाती हुई मुझसे अत्यन्त कठोर वचन बोलीं— ॥ १६ ॥

भावो मयि तवात्यर्थंपाप एव निवेशितः ।
विनष्टे भ्रातरि प्राप्तुं न च त्वं मामवाप्स्यसे ॥ १७ ॥

"लक्ष्मण ! तेरे मनमें मेरे लिये अत्यन्त पापपूर्ण भाव भरा है। तू अपने भाईके मरनेपर मुझे प्राप्त करना चाहता है, परंतु मुझे पा नहीं सकेगा ॥ १७ ॥

संकेताद् भरतेन त्वं रामं समनुगच्छसि ।
क्रोशन्तं हि यथात्यर्थं नैनमभ्यवपद्यसे ॥ १८ ॥

"तू भरतके इशारेसे अपने स्वार्थके लिये श्रीरामचन्द्रजीके पीछे-पीछे आया है। तभी तो वे जोर-जोरसे चिल्ला रहे हैं और तू उनके पास जाता तक नहीं है ॥ १८ ॥

रिपुः प्रच्छन्नचारी त्वं मदर्थमनुगच्छसि ।
राघवस्यान्तरं प्रेप्सुस्तथैनं नाभिपद्यसे ॥ १९ ॥

"तू अपने भाईका छिपा हुआ शत्रु है। मेरे लिये ही श्रीरामका अनुसरण करता है और श्रीरामके छिद्र ढूँढ़ रहा है तभी तो संकटके समय उनके पास जानेका नाम नहीं लेता है' ॥

एवमुक्तस्तु वैदेह्या संरब्धो रक्तलोचनः ।
क्रोधात् प्रस्फुरमाणोष्ठ आश्रमादभिनिर्गतः ॥ २० ॥

'विदेहकुमारीके ऐसा कहनेपर मैं रोषसे भर गया। मेरी आँखें लाल हो गयीं और क्रोधसे मेरे होंठ फड़कने लगे। इस अवस्थामें मैं आश्रमसे निकल आया' ॥ २० ॥

एवं ब्रुवाणं सौमित्रिं रामः संतापमोहितः ।
अब्रवीद् दुष्कृतं सौम्य तां विना त्वमिहागतः ॥ २१ ॥

लक्ष्मणकी ऐसी बात सुनकर श्रीरामचन्द्रजी संतापसे मोहित हो गये और उनसे बोले—'सौम्य ! तुमने बड़ा बुरा किया, जो तुम सीताको छोड़कर यहाँ चले आये ॥ २१ ॥

जानन्नपि समर्थं मां रक्षसामपवारणे ।
अनेन क्रोधवाक्येन मैथिल्या निर्गतो भवान् ॥ २२ ॥

'मैं राक्षसोंका निवारण करनेमें समर्थ हूँ, यह जानते हुए भी तुम मैथिलीके क्रोधयुक्त वचनसे उत्तेजित होकर निकल पड़े ॥

नहि ते परितुष्यामि त्यक्त्वा यदसि मैथिलीम् ।
क्रुद्धायाः परुषं श्रुत्वा स्त्रिया यत् त्वमिहागतः ॥ २३ ॥

'क्रोधमें भरी हुई नारीके कठोर वचनको सुनकर जो तुम मिथिलेशकुमारीको छोड़कर यहाँ चले आये, इससे मैं तुम्हारे ऊपर संतुष्ट नहीं हूँ ॥ २३ ॥

सर्वथा त्वपनीतं ते सीतया यत् प्रचोदितः ।
क्रोधस्य वशमागम्य नाकरोः शासनं मम ॥ २४ ॥

'सीतासे प्रेरित होकर क्रोधके वशीभूत हो तुमने मेरे आदेशका पालन नहीं किया; यह सर्वथा तुम्हारा अन्याय है ॥

असौ हि राक्षसः शेते शरेणाभिहतो मया ।
मृगरूपेण येनाहमाश्रमादपवाहितः ॥ २५ ॥

'जिसने मृगरूप धारण करके मुझे आश्रमसे दूर हटा दिया, वह राक्षस मेरे बाणोंसे घायल होकर सदाके लिये सो रहा है ॥ २५ ॥

विकृष्य चापं परिधाय सायकं
सलीलबाणेन च ताडितो मया ।
मार्गीं तनुं त्यज्य च विक्लवस्वरो
बभूव केयूरधरः स राक्षसः ॥ २६ ॥

'धनुष खींचकर उस बाणका संधान करके मैंने लीलापूर्वक चलाये हुए बाणोंसे ज्यों ही उस मृगको मारा, त्यों ही वह मृगके शरीरका परित्याग करके बाँहोंमें बाजूबंद धारण करनेवाला राक्षस बन गया। उसके स्वरमें बड़ी व्याकुलता आ गयी थी ॥ २६ ॥

शराहतेनैव तदार्तया गिरा
स्वरं ममालम्ब्य सुदूरसुश्रवम् ।
उदाहृतं तद् वचनं सुदारुणं
त्वमागतो येन विहाय मैथिलीम् ॥ २७ ॥

'बाणसे आहत होनेपर ही उसने आर्तवाणीमें मेरे स्वरकी नकल करके बहुत दूरतक सुनायी देनेवाला वह अत्यन्त दारुण वचन कहा था, जिससे तुम मिथिलेशकुमारी सीताको छोड़कर यहाँ चले आये हो' ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकोनषष्टितमः सर्गः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें उनसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

—★—

षष्टितमः सर्गः

श्रीरामका विलाप करते हुए वृक्षों और पशुओंसे सीताका पता पूछना, भ्रान्त होकर रोना और बारंबार उनकी खोज करना

भृशमाव्रजमानस्य तस्याधो वामलोचनम्।
प्रास्फुरच्चास्खलद् रामो वेपथुश्चास्य जायते॥ १॥

आश्रमकी ओर आते समय श्रीरामकी बायीं आँखकी नीचेवाली पलक जोर-जोरसे फड़कने लगी। श्रीराम चलते-चलते लड़खड़ा गये और उनके शरीरमें कम्प होने लगा॥

उपालक्ष्य निमित्तानि सोऽशुभानि मुहुर्मुहुः।
अपि क्षेमं तु सीताया इति वै व्याजहार ह॥ २॥

बारंबार इन अपशकुनोंको देखकर वे कहने लगे—क्या सीता सकुशल होगी?॥ २॥

त्वरमाणो जगामाथ सीतादर्शनलालसः।
शून्यमावसथं दृष्ट्वा बभूवोद्विग्नमानसः॥ ३॥

सीताको देखनेके लिये उत्कण्ठित हो वे बड़ी उतावलीके साथ आश्रमपर गये। वहाँ कुटिया सूनी देख उनका मन अत्यन्त उद्विग्न हो उठा॥ ३॥

उद्भ्रमन्निव वेगेन विक्षिपन् रघुनन्दनः।
तत्र तत्रोटजस्थानमभिवीक्ष्य समन्ततः॥ ४॥
ददर्श पर्णशालां च सीतया रहितां तदा।
श्रिया विरहितां ध्वस्तां हेमन्ते पद्मिनीमिव॥ ५॥

रघुनन्दन बड़े वेगसे इधर-उधर चक्कर लगाने और हाथ-पैर चलाने लगे। उन्होंने वहाँ जहाँ-तहाँ बनी हुई एक-एक पर्णशालाको चारों ओरसे देख डाला, किंतु उस समय उसे सीतासे सूनी ही पाया। जैसे हेमन्त-ऋतुमें कमलिनी हिमसे ध्वस्त हो श्रीहीन हो जाती है, उसी प्रकार प्रत्येक पर्णशाला शोभाशून्य हो गयी थी॥ ४-५॥

रुदन्तमिव वृक्षैश्च ग्लानपुष्पमृगद्विजम्।
श्रिया विहीनं विध्वस्तं संत्यक्तं वनदैवतैः॥ ६॥

वह स्थान वृक्षों (की सनसनाहट) के द्वारा मानो रो रहा था, फूल मुरझा गये थे, मृग और पक्षी मन मारे बैठे थे। वहाँकी सम्पूर्ण शोभा नष्ट हो गयी थी। सारी कुटी उजाड़ दिखायी देती थी। वनके देवता भी उस स्थानको छोड़कर चले गये थे॥ ६॥

विप्रकीर्णाजिनकुशं विप्रविद्धबृसीकटम्।
दृष्ट्वा शून्योटजस्थानं विललाप पुनः पुनः॥ ७॥

सब ओर मृगचर्म और कुश बिखरे हुए थे। चटाइयाँ अस्त-व्यस्त पड़ी थीं। पर्णशालाको सूनी देख भगवान् श्रीराम बारंबार विलाप करने लगे—॥ ७॥

हृता मृता वा नष्टा वा भक्षिता वा भविष्यति।
निलीनाप्यथवा भीरुरथवा वनमाश्रिता॥ ८॥

'हाय! सीताको किसीने हर तो नहीं लिया। उसकी मृत्यु तो नहीं हो गयी अथवा वह खो तो नहीं गयी या किसी राक्षसने उसे खा तो नहीं लिया। वह भीरु कहीं छिप तो नहीं गयी है अथवा फल-फूल लानेके लिये वनके भीतर तो नहीं चली गयी॥ ८॥

गता विचेतुं पुष्पाणि फलान्यपि च वा पुनः।
अथवा पद्मिनीं याता जलार्थं वा नदीं गता॥ ९॥

'सम्भव है, फल-फूल लानेके लिये ही गयी हो या जल लानेके लिये किसी पुष्करिणी अथवा नदीके तटपर गयी हो'॥ ९॥

यत्नान्मृगयमाणस्तु नाससाद वने प्रियाम्।
शोकरक्तेक्षणः श्रीमानुन्मत्त इव लक्ष्यते॥ १०॥

श्रीरामचन्द्रजीने प्रयत्नपूर्वक अपनी प्रिय पत्नी सीताको वनमें चारों ओर ढूँढ़ा, किंतु कहीं भी उनका पता न लगा। शोकके कारण श्रीमान् रामकी आँखें लाल हो गयीं। वे उन्मत्तके समान दिखायी देने लगे॥ १०॥

वृक्षाद् वृक्षं प्रधावन् स गिरींश्चापि नदीनदम्।
बभ्राम विलपन् रामः शोकपङ्कार्णवप्लुतः॥ ११॥

एक वृक्षसे दूसरे वृक्षके पास दौड़ते हुए वे पर्वतों, नदियों और नदोंके किनारे घूमने लगे। शोकसे समुद्रमें डूबे हुए श्रीरामचन्द्रजी विलाप करते-करते वृक्षोंसे पूछने लगे—॥

अस्ति कच्चित्त्वया दृष्टा सा कदम्बप्रिया प्रिया।
कदम्ब यदि जानीषे शंस सीतां शुभाननाम्॥ १२॥
स्निग्धपल्लवसंकाशां पीतकौशेयवासिनीम्।
शंसस्व यदि सा दृष्टा बिल्व बिल्वोपमस्तनी॥ १३॥

'कदम्ब! मेरी प्रिया सीता तुम्हारे पुष्पसे बहुत प्रेम करती थी, क्या वह यहाँ है? क्या तुमने उसे देखा है? यदि जानते हो तो उस शुभानना सीताका पता बताओ। उसके अङ्ग सुस्निग्ध पल्लवोंके समान कोमल हैं तथा शरीरपर पीले रंगकी रेशमी साड़ी शोभा पाती है। बिल्व! मेरी प्रियाके स्तन तुम्हारे ही समान हैं। यदि तुमने उसे देखा हो तो बताओ॥ १२-१३॥

अथवार्जुन शंस त्वं प्रियां तामर्जुनप्रियाम्।
जनकस्य सुता तन्वी यदि जीवति वा न वा॥ १४॥

'अथवा अर्जुन! तुम्हारे फूलोंपर मेरी प्रियाका विशेष अनुराग था, अतः तुम्हीं उसका कुछ समाचार बताओ। कृशाङ्गी जनककिशोरी जीवित है या नहीं॥ १४॥

ककुभः ककुभोरुं तां व्यक्तं जानाति मैथिलीम्।
लतापल्लवपुष्पाढ्यो भाति ह्येष वनस्पतिः॥ १५॥
भ्रमरैरुपगीतश्च यथा द्रुमवरो ह्यसि।
एष व्यक्तं विजानाति तिलकस्तिलकप्रियाम्॥ १६॥

'यह ककुभ[1] अपने ही समान ऊरुवाली मिथिलेश-कुमारीको अवश्य जानता होगा; क्योंकि यह वनस्पति लता, पल्लव तथा फूलोंसे सम्पन्न हो बड़ी शोभा पा रहा है। ककुभ! तुम सब वृक्षोंमें श्रेष्ठ हो, क्योंकि ये भ्रमर तुम्हारे समीप आकर अपने झंकारोंद्वारा तुम्हारा यशोगान करते हैं। (तुम्हीं सीताका पता बताओ, अहो! यह भी कोई उत्तर नहीं दे रहा है।) यह तिलक वृक्ष अवश्य सीताके विषयमें जानता होगा; क्योंकि मेरी प्रिया सीताको भी तिलकसे प्रेम था॥ १५-१६॥

अशोक शोकापनुद शोकोपहतचेतनम्।
त्वन्नामानं कुरु क्षिप्रं प्रियासंदर्शनेन माम्॥ १७॥

'अशोक! तुम शोक दूर करनेवाले हो। इधर मैं शोकसे अपनी चेतना खो बैठा हूँ। मुझे मेरी प्रियतमाका दर्शन कराकर शीघ्र ही अपने-जैसे नामवाला बना दो—मुझे अशोक (शोकहीन) कर दो॥ १७॥

यदि ताल त्वया दृष्टा पक्वतालोपमस्तनी।
कथयस्व वरारोहां कारुण्यं यदि ते मयि॥ १८॥

'ताल वृक्ष! तुम्हारे पके हुए फलके समान स्तनवाली सीताको यदि तुमने देखा हो तो बताओ। यदि मुझपर तुम्हें दया आती हो तो उस सुन्दरीके विषयमें अवश्य कुछ कहो॥

यदि दृष्टा त्वया जम्बो जाम्बूनदसमप्रभा।
प्रियां यदि विजानासि निःशङ्कं कथयस्व मे॥ १९॥

'जामुन! जाम्बूनद (सुवर्ण) के समान कान्तिवाली मेरी प्रिया यदि तुम्हारी दृष्टिमें पड़ी हो, यदि तुम उसके विषयमें कुछ जानते हो तो निःशङ्क होकर मुझे बताओ॥ १९॥

अहो त्वं कर्णिकाराद्य पुष्पितः शोभसे भृशम्।
कर्णिकारप्रियां साध्वीं शंस दृष्टा यदि प्रिया॥ २०॥

'कनेर! आज तो फूलोंके लगनेसे तुम्हारी बड़ी शोभा हो रही है। अहो! मेरी प्रिया साध्वी सीताको तुम्हारे ये पुष्प बहुत पसंद थे। यदि तुमने उसे कहीं देखा हो तो मुझसे कहो'॥ २०॥

चूतनीपमहासालान् पनसान् कुरवान् धवान्।
दाडिमानपि तान् गत्वा दृष्ट्वा रामो महायशाः॥ २१॥
बकुलानथ पुन्नागांश्चन्दनान् केतकांस्तथा।
पृच्छन् रामो वने भ्रान्त उन्मत्त इव लक्ष्यते॥ २२॥

इसी प्रकार आम, कदम्ब, विशाल शाल, कटहल, कुरव, धव और अनार आदि वृक्षोंको भी देखकर महायशस्वी श्रीरामचन्द्रजी उनके पास गये और बकुल, पुन्नाग, चन्दन तथा केवड़े आदिके वृक्षोंसे भी पूछते फिरे। उस समय वे वनमें पागलकी तरह इधर उधर भटकते दिखायी देते थे॥ २१-२२॥

अथवा मृगशावाक्षीं मृग जानासि मैथिलीम्।
मृगविप्रेक्षणी कान्ता मृगीभिः सहिता भवेत्॥ २३॥

अपने सामने हरिणको देखकर वे बोले—'मृग! अथवा तुम्हीं बताओ! मृगनयनी मैथिलीको जानते हो। मेरी प्रियाकी दृष्टि भी तुम हरिणोंकी-सी है, अतः सम्भव है, वह हरिणियोंके ही साथ हो॥ २३॥

गज सा गजनासोरुर्यदि दृष्टा त्वया भवेत्।
तां मन्ये विदितां तुभ्यमाख्याहि वरवारण॥ २४॥

'श्रेष्ठ गजराज! तुम्हारी सूँड़के समान ही जिसके दोनों ऊरु हैं, उस सीताको सम्भवतः तुमने देखा होगा। मालूम होता है, तुम्हें उसका पता विदित है, अतः बताओ! वह कहाँ है?॥ २४॥

शार्दूल यदि सा दृष्टा प्रिया चन्द्रनिभानना।
मैथिली मम विस्रब्धः कथयस्व न ते भयम्॥ २५॥

'व्याघ्र! यदि तुमने मेरी प्रिया चन्द्रमुखी मैथिलीको देखा हो तो निःशङ्क होकर बता दो, मुझसे तुम्हें कोई भय नहीं होगा'॥ २५॥

किं धावसि प्रिये नूनं दृष्टासि कमलेक्षणे।
वृक्षैराच्छाद्य चात्मानं किं मां न प्रतिभाषसे॥ २६॥

(इतनेहीमें उनको भ्रम हुआ कि सीता उधर भागकर छिप रही है, तब वे बोले—) 'प्रिये! क्यों भागी जा रही हो। कमललोचने! निश्चय ही मैंने तुम्हें देख लिया है। तुम वृक्षोंकी ओटमें अपने-आपको छिपाकर मुझसे बात क्यों नहीं करती हो?॥ २६॥

तिष्ठ तिष्ठ वरारोहे न तेऽस्ति करुणा मयि।
नात्यर्थं हास्यशीलासि किमर्थं मामुपेक्षसे॥ २७॥

'वरारोहे! ठहरो, ठहरो। क्या तुम्हें मुझपर दया नहीं आती है। अधिक हास-परिहास करनेका तुम्हारा स्वभाव तो नहीं था, फिर किसलिये मेरी उपेक्षा करती हो?॥ २७॥

पीतकौशेयकेनासि सूचिता वरवर्णिनि।
धावन्त्यपि मया दृष्टा तिष्ठ यद्यस्ति सौहृदम्॥ २८॥

सुन्दरि'! पीली रेशमी साड़ीसे ही, तुम कहाँ हो—यह सूचना मिल जाती है। भागी जाती हो तो भी मैंने तुम्हें देख लिया है। यदि मेरे प्रति स्नेह एवं सौहार्द हो तो खड़ी हो जाओ'॥ २८॥

नैव सा नूनमथवा हिंसिता चारुहासिनी।
कृच्छ्रं प्राप्तं न मां नूनं यथोपेक्षितुमर्हति॥ २९॥

(फिर भ्रम दूर होनेपर बोले—) 'अथवा निश्चय ही वह नहीं है। उस मनोहर मुसकानवाली सीताको राक्षसोंने मार

---

१. रामायणके व्याख्याकारोंमेंसे किसीने ककुभका अर्थ मरुवक लिखा है और किसीने अर्जुनविशेष, किंतु कोषोंमें यह कुटजका पर्याय बताया गया है।

डाला, अन्यथा इस तरह संकटमें पड़े हुएकी (मेरी) वह कदापि उपेक्षा नहीं कर सकती थी ॥ २९ ॥

व्यक्तं सा भक्षिता बाला राक्षसैः पिशिताशनैः।
विभज्याङ्गानि सर्वाणि मया विरहिता प्रिया ॥ ३० ॥

'स्पष्ट जान पड़ता है कि मांसभक्षी राक्षसोंने मुझसे बिछुड़ी हुई मेरी भोली-भाली प्रिया मैथिलीको उसके सारे अङ्ग बाँटकर खा लिया ॥ ३० ॥

नूनं तच्छुभदन्तोष्ठं सुनासं शुभकुण्डलम्।
पूर्णचन्द्रनिभं ग्रस्तं मुखं निष्प्रभतां गतम् ॥ ३१ ॥

'सुन्दर दाँत, मनोहर ओठ, सुघड़ नासिकासे युक्त तथा रुचिर कुण्डलोंसे अलंकृत वह पूर्ण चन्द्रमाके समान अभिराम मुख राक्षसोंका ग्रास बनकर निश्चय ही अपनी प्रभा खो बैठा होगा ॥ ३१ ॥

सा हि चम्पकवर्णाभा ग्रीवा ग्रैवेयकोचिता।
कोमला विलपन्त्यास्तु कान्ताया भक्षिता शुभा ॥ ३२ ॥

'रोती-बिलखती हुई प्रियतमा सीताकी वह चम्पाके समान वर्णवाली कोमल एवं सुन्दर ग्रीवा, जो हार और हँसली आदि आभूषण पहननेके योग्य थी, निशाचरोंका आहार बन गयी ॥ ३२ ॥

नूनं विक्षिप्यमाणौ तौ बाहू पल्लवकोमलौ।
भक्षितौ वेपमानाग्रौ सहस्ताभरणाङ्गदौ ॥ ३३ ॥

'वे नूतन पल्लवोंके समान कोमल भुजाएँ, जो इधर-उधर पटकी जा रही होंगी और जिनके अग्रभाग काँप रहे होंगे, हाथोंके आभूषण तथा बाजूबंदसहित निश्चय ही राक्षसोंके पेटमें चली गयीं ॥ ३३ ॥

मया विरहिता बाला रक्षसां भक्षणाय वै।
सार्थेनेव परित्यक्ता भक्षिता बहुबान्धवा ॥ ३४ ॥

'मैंने राक्षसोंका भक्ष्य बननेके लिये ही उस बालाको अकेली छोड़ दिया। यद्यपि उसके बन्धु-बान्धव बहुत हैं, तथापि वह यात्रियोंके समुदायसे बिलग हुई किसी अकेली स्त्रीकी भाँति निशाचरोंका ग्रास बन गयी ॥ ३४ ॥

हा लक्ष्मण महाबाहो पश्यसे त्वं प्रियां क्वचित्।
हा प्रिये क्व गता भद्रे हा सीतेति पुनः पुनः ॥ ३५ ॥
इत्येवं विलपन् रामः परिधावन् वनाद् वनम्।
क्वचिदुद्भ्रमते वेगात् क्वचिद् विभ्रमते बलात् ॥ ३६ ॥

'हा महाबाहु लक्ष्मण! क्या तुम कहीं मेरी प्रियतमाको देखते हो! हा प्रिये! हा भद्रे! हा सीते! तुम कहाँ चली गयी?' इस तरह बारंबार विलाप करते हुए श्रीरामचन्द्रजी एक वनसे दूसरे वनमें दौड़ने लगे। वे कहीं सीताकी समानता पाकर उद्भ्रान्त हो उठते (उछल पड़ते थे) और कहीं शोककी प्रबलताके कारण विभ्रान्त हो जाते (बवंडरकी भाँति चक्कर काटने लगते) थे ॥ ३५-३६ ॥

क्वचिन्मत्त इवाभाति कान्तान्वेषणतत्परः।
स वनानि नदीः शैलान् गिरिप्रस्रवणानि च।
काननानि च वेगेन भ्रमत्यपरिसंस्थितः ॥ ३७ ॥

अपनी प्रियतमाकी खोज करते हुए वे कभी-कभी पागलोंकी-सी चेष्टा करने लगते थे। उन्होंने बड़ी दौड़-धूप करके कहीं भी विश्राम न करते हुए वनों, नदियों, पर्वतों, पहाड़ी झरनों और विभिन्न काननोंमें घूम-घूमकर अन्वेषण किया ॥ ३७ ॥

तदा स गत्वा विपुलं महद् वनं
परीत्य सर्वं त्वथ मैथिलीं प्रति।
अनिष्ठिताशः स चकार मार्गणे
पुनः प्रियायाः परमं परिश्रमम् ॥ ३८ ॥

उस समय मिथिलेशकुमारीको ढूँढ़नेके लिये वे उस विशाल एवं विस्तृत वनमें गये और सबमें चक्कर लगाकर थक गये तो भी निराश नहीं हुए। उन्होंने पुनः अपनी प्रियतमाके अनुसंधानके लिये बड़ा भारी परिश्रम किया ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे षष्टितमः सर्गः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें साठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्टितमः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणके द्वारा सीताकी खोज और उनके न मिलनेसे श्रीरामकी व्याकुलता

दृष्ट्वाऽऽश्रमपदं शून्यं रामो दशरथात्मजः।
रहितां पर्णशालां च प्रविद्धान्यासनानि च ॥ १ ॥
अदृष्ट्वा तत्र वैदेहीं संनिरीक्ष्य च सर्वशः।
उवाच रामः प्राक्रुश्य प्रगृह्य रुचिरौ भुजौ ॥ २ ॥

दशरथनन्दन श्रीरामने देखा कि आश्रमके सभी स्थान सीतासे सूने हैं तथा पर्णशालामें भी सीता नहीं है और बैठनेके आसन इधर-उधर फेंके पड़े हैं। तब उन्होंने पुनः वहाँके सभी स्थानोंका निरीक्षण किया और चारों ओर ढूँढ़नेपर भी जब विदेहकुमारीका कहीं पता नहीं लगा, तब श्रीरामचन्द्रजी अपनी दोनों सुन्दर भुजाएँ ऊपर उठाकर सीताका नाम ले जोर-जोरसे पुकार करके लक्ष्मणसे बोले— ॥ १-२ ॥

क्व नु लक्ष्मण वैदेही कं वा देशमितो गता।
केनाहृता वा सौमित्रे भक्षिता केन वा प्रिया ॥ ३ ॥

'भैया लक्ष्मण! विदेहराजकुमारी कहाँ है? यहाँसे किस देशमें चली गयीं? सुमित्रानन्दन! मेरी प्रिया सीताको कौन हर ले गया? अथवा किस राक्षसने खा डाला? ॥ ३ ॥

वृक्षेणावार्य यदि मां सीते हसितुमिच्छसि।
अलं ते हसितेनाद्य मां भजस्व सुदुःखितम्॥ ४॥

(फिर वे सीताको सम्बोधित करके बोले—) 'सीते! यदि तुम वृक्षोंकी आड़में अपनेको छिपाकर मुझसे हँसी करना चाहती हो तो इस समय यह हँसी ठीक नहीं है। मैं बहुत दुःखी हो रहा हूँ, तुम मेरे पास आ जाओ॥ ४॥

यैः परिक्रीडसे सीते विश्वस्तैर्मृगपोतकैः।
एते हीनास्त्वया सौम्ये ध्यायन्त्यस्राविलेक्षणाः॥ ५॥

'सौम्य स्वभाववाली सीते! जिन विश्वस्त मृगछौनोंके साथ तुम खेला करती थीं, वे आज तुम्हारे बिना दुःखी हो आँखोंमें आँसू भरकर चिन्तामग्न हो गये हैं'॥ ५॥

सीतया रहितोऽहं वै नहि जीवामि लक्ष्मण।
वृतं शोकेन महता सीताहरणजेन माम्॥ ६॥
परलोके महाराजो नूनं द्रक्ष्यति मे पिता।

'लक्ष्मण! सीतासे रहित होकर मैं जीवित नहीं रह सकता। सीताहरणजनित महान् शोकने मुझे चारों ओरसे घेर लिया है। निश्चय ही अब परलोकमें मेरे पिता महाराज दशरथ मुझे देखेंगे॥ ६½॥

कथं प्रतिज्ञां संश्रुत्य मया त्वमभियोजितः॥ ७॥
अपूरयित्वा तं कालं मत्सकाशमिहागतः।

'वे मुझे उपालम्भ देते हुए कहेंगे—'मैंने तो तुम्हें वनवासके लिये आज्ञा दी थी और तुमने भी वहाँ रहनेकी प्रतिज्ञा कर ली थी। फिर उतने समयतक वहाँ रहकर उस प्रतिज्ञाको पूर्ण किये बिना ही तुम यहाँ मेरे पास कैसे चले आये?॥ ७½॥

कामवृत्तमनार्यं वा मृषावादिनमेव च॥ ८॥
धिक् त्वामिति परे लोके व्यक्तं वक्ष्यति मे पिता।

'तुम-जैसे स्वेच्छाचारी, अनार्य और मिथ्यावादीको धिक्कार है।' यह बात परलोकमें पिताजी मुझसे अवश्य कहेंगे'॥ ८½॥

विवशं शोकसंतप्तं दीनं भग्नमनोरथम्॥ ९॥
मामिहोत्सृज्य करुणं कीर्तिर्नरमिवानृजुम्।
क्व गच्छसि वरारोहे मा मोत्सृज सुमध्यमे॥ १०॥

'वरारोहे! सुमध्यमे! सीते! मैं विवश, शोक-संतप्त, दीन, भग्नमनोरथ हो करुणाजनक अवस्थामें पड़ गया हूँ। जैसे कुटिल मनुष्यको कीर्ति त्याग देती है, उसी प्रकार तुम मुझे यहाँ छोड़कर कहाँ चली जा रही हो? मुझे न छोड़ो, न छोड़ो॥ ९-१०॥

त्वया विरहितश्चाहं त्यक्ष्ये जीवितमात्मनः।
इतीव विलपन् रामः सीतादर्शनलालसः॥ ११॥
न ददर्श सुदुःखार्तो राघवो जनकात्मजाम्।

'तुम्हारे वियोगमें मैं अपने प्राण त्याग दूँगा।' इस प्रकार अत्यन्त दुःखसे आतुर हो विलाप करते हुए रघुकुलनन्दन श्रीराम सीताके दर्शनके लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हो गये, किंतु वे जनकनन्दिनी उन्हें दिखायी न पड़ीं॥ ११½॥

अनासादयमानं तं सीतां शोकपरायणम्॥ १२॥
पङ्कमासाद्य विपुलं सीदन्तमिव कुञ्जरम्।
लक्ष्मणो राममत्यर्थमुवाच हितकाम्यया॥ १३॥

जैसे कोई हाथी किसी बड़ी भारी दलदलमें फँसकर कष्ट पा रहा हो, उसी प्रकार सीताको न पाकर अत्यन्त शोकमें डूबे हुए श्रीरामसे उनके हितकी कामना रखकर लक्ष्मण यों बोले—॥ १२-१३॥

मा विषादं महाबुद्धे कुरु यत्नं मया सह।
इदं गिरिवरं वीर बहुकन्दरशोभितम्॥ १४॥
प्रियकाननसंचारा वनोन्मत्ता च मैथिली।
सा वनं वा प्रविष्टा स्यान्नलिनीं वा सुपुष्पिताम्॥ १५॥
सरितं वापि सम्प्राप्ता मीनवञ्जुलसेविताम्।
वित्रासयितुकामा वा लीना स्यात् कानने क्वचित्॥ १६॥
जिज्ञासमाना वैदेही त्वां मां च पुरुषर्षभ।

'महामते! आप विषाद न करें; मेरे साथ जानकीको ढूँढ़नेका प्रयत्न करें। वीरवर! यह सामने जो ऊँचा पहाड़ दिखायी देता है, अनेक कन्दराओंसे सुशोभित है। मिथिलेशकुमारीको वनमें घूमना प्रिय लगता है, वे वनकी शोभा देखकर हर्षसे उन्मत्त हो उठती हैं; अतः वनमें गयी होंगी, अथवा सुन्दर कमलके फूलोंसे भरे हुए इस सरोवरके या मत्स्य तथा वेतसलतासे सुशोभित सरिताके तटपर जा पहुँची होंगी। अथवा पुरुषप्रवर! हमलोगोंको डरानेकी इच्छासे हम दोनों उन्हें खोज पाते हैं कि नहीं, इस जिज्ञासासे कहीं वनमें ही छिप गयी होंगी॥ १४—१६½॥

तस्या ह्यन्वेषणे श्रीमन् क्षिप्रमेव यतावहे॥ १७॥
वनं सर्वं विचिनुवो यत्र सा जनकात्मजा।

'अतः श्रीमन्! वनमें जहाँ-जहाँ जानकीके होनेकी सम्भावना हो, उन सभी स्थानोंपर हम दोनों शीघ्र ही उनकी खोजके लिये प्रयत्न करें॥ १७½॥

मन्यसे यदि काकुत्स्थ मा स्म शोके मनः कृथाः॥ १८॥
एवमुक्तः स सौहार्दाल्लक्ष्मणेन समाहितः।
सह सौमित्रिणा रामो विचेतुमुपचक्रमे॥ १९॥

'रघुनन्दन! यदि आपको मेरी यह बात ठीक लगे तो आप शोक छोड़ दें।' लक्ष्मणके द्वारा इस प्रकार सौहार्दपूर्वक समझाये जानेपर श्रीरामचन्द्रजी सावधान हो गये और उन्होंने सुमित्राकुमारके साथ सीताको खोजना आरम्भ किया॥

तौ वनानि गिरींश्चैव सरितश्च सरांसि च।
निखिलेन विचिन्वन्तौ सीतां दशरथात्मजौ॥ २०॥
तस्य शैलस्य सानूनि शिलाश्च शिखराणि च।
निखिलेन विचिन्वन्तौ नैव तामभिजग्मतुः॥ २१॥

दशरथके वे दोनों पुत्र सीताकी खोज करते हुए वनोंमें, पर्वतोंपर, सरिताओं और सरोवरोंके किनारे घूम-घूमकर पूरी चेष्टाके साथ अनुसंधानमें लगे रहे। उस पर्वतकी चोटियों,

शिलाओं और शिखरोंपर उन्होंने अच्छी तरह जानकीको ढूँढ़ा; किंतु कहीं भी उनका पता नहीं लगा ॥ २०-२१ ॥

विचित्य सर्वतः शैलं रामो लक्ष्मणमब्रवीत्।
नेह पश्यामि सौमित्रे वैदेहीं पर्वते शुभाम्॥ २२ ॥

पर्वतके चारों ओर खोजकर श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणसे कहा—'सुमित्रानन्दन! इस पर्वतपर तो मैं सुन्दरी वैदेहीको नहीं देख पाता हूँ' ॥ २२ ॥

ततो दुःखाभिसंतप्तो लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत्।
विचरन् दण्डकारण्यं भ्रातरं दीप्ततेजसम्॥ २३ ॥

तब दुःखसे संतप्त हुए लक्ष्मणने दण्डकारण्यमें घूमते-घूमते अपने उद्दीप्त तेजस्वी भाईसे इस प्रकार कहा— ॥

प्राप्स्यसे त्वं महाप्राज्ञ मैथिलीं जनकात्मजाम्।
यथा विष्णुर्महाबाहुर्बलिं बद्ध्वा महीमिमाम्॥ २४ ॥

'महामते! जैसे महाबाहु भगवान् विष्णुने राजा बलिको बाँधकर यह पृथ्वी प्राप्त कर ली थी, उसी प्रकार आप भी मिथिलेशकुमारी जानकीको पा जायँगे' ॥ २४ ॥

एवमुक्तस्तु वीरेण लक्ष्मणेन स राघवः।
उवाच दीनया वाचा दुःखाभिहतचेतनः॥ २५ ॥

वीर लक्ष्मणके ऐसा कहनेपर दुःखसे व्याकुलचित्त हुए श्रीरघुनाथजीने दीन वाणीमें कहा— ॥ २५ ॥

वनं सुविचितं सर्वं पद्मिन्यः फुल्लपङ्कजाः।
गिरिश्चायं महाप्राज्ञ बहुकन्दरनिर्झरः।
नहि पश्यामि वैदेहीं प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम्॥ २६ ॥

'महाप्राज्ञ लक्ष्मण! मैंने सारा वन खोज डाला। विकसित कमलोंसे भरे हुए सरोवर भी देख लिये तथा अनेक कन्दराओं और झरनोंसे सुशोभित इस पर्वतको भी सब ओरसे छान डाला; परंतु मुझे अपने प्राणोंसे भी प्यारी वैदेही कहीं दिखायी नहीं पड़ी' ॥ २६ ॥

एवं स विलपन् रामः सीताहरणकर्षितः।
दीनः शोकसमाविष्टो मुहूर्तं विह्वलोऽभवत्॥ २७ ॥

इस प्रकार सीता-हरणके कष्टसे पीड़ित हो विलाप करते हुए श्रीरामचन्द्रजी दीन और शोकमग्न हो दो घड़ीतक अत्यन्त व्याकुलतामें पड़े रहे ॥ २७ ॥

स विह्वलितसर्वाङ्गो गतबुद्धिर्विचेतनः।
निषसादातुरो दीनो निःश्वस्याशीतमायतम्॥ २८ ॥

उनका सारा अङ्ग विह्वल (शिथिल) हो गया, बुद्धि काम नहीं दे रही थी, चेतना लुप्त-सी होती जा रही थी। वे गरम-गरम लंबी साँस खींचते हुए दीन और आतुर होकर विषादमें डूब गये ॥ २८ ॥

बहुशः स तु निःश्वस्य रामो राजीवलोचनः।
हा प्रियेति विचुक्रोश बहुशो बाष्पगद्गदः॥ २९ ॥

बारंबार उच्छ्वास लेकर कमलनयन श्रीराम आँसुओंसे गद्गद वाणीमें 'हा प्रिये!' कहकर बहुत रोने-बिलखने लगे ॥

तं सान्त्वयामास ततो लक्ष्मणः प्रियबान्धवम्।
बहुप्रकारं शोकार्तः प्रश्रितः प्रश्रिताञ्जलिः॥ ३० ॥

तब शोकसे पीड़ित हुए लक्ष्मणने विनीतभावसे हाथ जोड़कर अपने प्रिय भाईको अनेक प्रकारसे सान्त्वना दी ॥

अनादृत्य तु तद् वाक्यं लक्ष्मणोष्ठपुटच्युतम्।
अपश्यंस्तां प्रियां सीतां प्राक्रोशत् स पुनः पुनः॥ ३१ ॥

लक्ष्मणके ओष्ठपुटोंसे निकली हुई इस बातका आदर न करके श्रीरामचन्द्रजी अपनी प्यारी पत्नी सीताको न देखनेके कारण उन्हें बारंबार पुकारने और रोने लगे ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकषष्टितमः सर्गः॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें इकसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमः सर्गः

श्रीरामका विलाप

सीतामपश्यन् धर्मात्मा शोकोपहतचेतनः।
विललाप महाबाहू रामः कमललोचनः॥ १ ॥

सीताको न देखकर शोकसे व्याकुलचित्त हुए धर्मात्मा महाबाहु कमलनयन श्रीराम विलाप करने लगे ॥ १ ॥

पश्यन्निव च तां सीतामपश्यन्मन्मथार्दितः।
उवाच राघवो वाक्यं विलापाश्रयदुर्वचम्॥ २ ॥

रघुनाथजी सीताके प्रति अधिक प्रेमके कारण उनके वियोगमें कष्ट पा रहे थे। वे उन्हें न देखकर भी देखते हुएके समान ऐसी बात कहने लगे, जो विलापका आश्रय होनेसे गद्गदकण्ठके कारण कठिनतासे बोली जा रही थी— ॥ २ ॥

त्वमशोकस्य शाखाभिः पुष्पप्रियतरा प्रिये।
आवृणोषि शरीरं ते मम शोकविवर्धनी॥ ३ ॥

'प्रिये! तुम्हें फूल अधिक प्रिय हैं, इसलिये खिली हुई अशोककी शाखाओंसे अपने शरीरको छिपाती हो और मेरा शोक बढ़ा रही हो ॥ ३ ॥

कदलीकाण्डसदृशौ कदल्या संवृतावुभौ।
ऊरू पश्यामि ते देवि नासि शक्ता निगूहितुम्॥ ४ ॥

'देवि! मैं केलेके तनोंके तुल्य और कदलीदलसे ही छिपे हुए तुम्हारे दोनों ऊरुओं (जाँघों) को देख रहा हूँ। तुम उन्हें छिपा नहीं सकती ॥ ४ ॥

कर्णिकारवनं भद्रे हसन्ती देवि सेवसे।
अलं ते परिहासेन मम बाधावहेन वै॥ ५ ॥

'भद्रे! देवि! तुम हँसती हुई कनेर-पुष्पोंकी वाटिकाका सेवन करती हो। बंद करो इस परिहासको, इससे मुझे बड़ा कष्ट हो रहा है॥ ५॥

विशेषेणाश्रमस्थाने हासोऽयं न प्रशस्यते।
अवगच्छामि ते शीलं परिहासप्रियं प्रिये॥ ६॥
आगच्छ त्वं विशालाक्षि शून्योऽयमुटजस्तव।

'विशेषतः आश्रमके स्थानमें यह हास-परिहास अच्छा नहीं बताया जाता है। प्रिये! मैं जानता हूँ, तुम्हारा स्वभाव परिहासप्रिय है। विशाललोचने! आओ। तुम्हारी यह पर्णशाला सूनी है'॥ ६½॥

सुव्यक्तं राक्षसैः सीता भक्षिता वा हृतापि वा॥ ७॥
न हि सा विलपन्तं मामुपसम्प्रैति लक्ष्मण।

(फिर श्रम दूर होनेपर वे सुमित्राकुमारसे बोले—) 'लक्ष्मण! अब तो भलीभाँति स्पष्ट हो गया कि राक्षसोंने सीताको खा लिया अथवा हर लिया; क्योंकि मैं विलाप कर रहा हूँ और वह मेरे पास नहीं आ रही है॥ ७½॥

एतानि मृगयूथानि साश्रुनेत्राणि लक्ष्मण॥ ८॥
शंसन्तीव हि मे देवीं भक्षितां रजनीचरैः।

'लक्ष्मण! ये जो मृगसमूह हैं, ये भी अपने नेत्रोंमें आँसू भरकर मानो मुझसे यही कह रहे हैं कि देवी सीताको निशाचर खा गये॥ ८½॥

हा ममार्ये क्व यातासि हा साध्वि वरवर्णिनि॥ ९॥
हा सकामाद्य कैकेयी देवि मेऽद्य भविष्यति।

'हा मेरी आर्ये! (आदरणीये!) तुम कहाँ चली गयी? हा साध्वि! हा वरवर्णिनि! तुम कहाँ गयी? हा देवि! आज कैकेयी सफलमनोरथ हो जायगी॥ ९½॥

सीतया सह निर्यातो विना सीतामुपागतः॥ १०॥
कथं नाम प्रवेक्ष्यामि शून्यमन्तःपुरं मम।

'सीताके साथ अयोध्यासे निकला था। यदि सीताके बिना ही वहाँ लौटा तो अपने सूने अन्तःपुरमें कैसे प्रवेश करूँगा॥ १०½॥

निर्वीर्य इति लोको मां निर्दयश्चेति वक्ष्यति॥ ११॥
कातरत्वं प्रकाशं हि सीतापनयनेन मे।

'सारा संसार मुझे पराक्रमहीन और निर्दय कहेगा। सीताके अपहरणसे मेरी कायरता ही प्रकाशमें आयेगी॥ ११½॥

निवृत्तवनवासश्च जनकं मिथिलाधिपम्॥ १२॥
कुशलं परिपृच्छन्तं कथं शक्ष्ये निरीक्षितुम्।

'जब वनवाससे लौटनेपर मिथिलानरेश जनक मुझसे कुशल पूछने आयेंगे, उस समय मैं कैसे उनकी ओर देख सकूँगा?॥ १२½॥

विदेहराजो नूनं मां दृष्ट्वा विरहितं तया॥ १३॥
सुताविनाशसंतप्तो मोहस्य वशमेष्यति।

'मुझे सीतासे रहित देख विदेहराज जनक अपनी पुत्रीके विनाशसे संतप्त हो निश्चय ही मूर्च्छित हो जायँगे॥ १३½॥

अथवा न गमिष्यामि पुरीं भरतपालिताम्॥ १४॥
स्वर्गोऽपि हि तया हीनः शून्य एव मतो मम।

'अथवा अब मैं भरतद्वारा पालित अयोध्यापुरीको नहीं जाऊँगा। जानकीके बिना मुझे स्वर्ग भी सूना ही जान पड़ेगा॥ १४½॥

तन्मामुत्सृज्य हि वने गच्छायोध्यापुरीं शुभाम्॥ १५॥
न त्वहं तां विना सीतां जीवेयं हि कथंचन।

'इसलिये अब तुम मुझे वनमें ही छोड़कर सुन्दर अयोध्यापुरीको लौट जाओ। मैं तो अब सीताके बिना किसी तरह जीवित नहीं रह सकता॥ १५½॥

गाढमाश्लिष्य भरतो वाच्यो मद्वचनात् त्वया॥ १६॥
अनुज्ञातोऽसि रामेण पालयेति वसुंधराम्।

'भरतका गाढ़ आलिङ्गन करके तुम उनसे मेरा संदेश कह देना, 'कैकेयीनन्दन! तुम सारी पृथ्वीका पालन करो, इसके लिये रामने तुम्हें आज्ञा दे दी है॥ १६½॥

अम्बा च मम कैकेयी सुमित्रा च त्वया विभो॥ १७॥
कौसल्या च यथान्यायमभिवाद्या ममाज्ञया।
रक्षणीया प्रयत्नेन भवता सूक्तचारिणा॥ १८॥

'विभो! मेरी माता कौसल्या, कैकेयी तथा सुमित्राको प्रतिदिन यथोचित रीतिसे प्रणाम करते हुए उन सबकी रक्षा करना और सदा उनकी आज्ञाके अनुसार चलना,' यह तुम्हारे लिये मेरी आज्ञा है॥ १७-१८॥

सीतायाश्च विनाशोऽयं मम चामित्रसूदन।
विस्तरेण जनन्या मे विनिवेद्यस्त्वया भवेत्॥ १९॥

'शत्रुसूदन! मेरी माताके समक्ष सीताके विनाशका यह समाचार विस्तारपूर्वक कह सुनाना'॥ १९॥

इति विलपति राघवे तु दीने
वनमुपगम्य तया विना सुकेश्या।
भयविकलमुखस्तु लक्ष्मणोऽपि
व्यथितमना भृशमातुरो बभूव॥ २०॥

सुन्दर केशवाली सीताके विरहमें भगवान् श्रीराम वनके भीतर जाकर जब इस तरह दीनभावसे विलाप करने लगे, तब लक्ष्मणके भी मुखपर भयजनित व्याकुलताके चिह्न दिखायी देने लगे। उनका मन व्यथित हो उठा और वे अत्यन्त घबरा गये॥ २०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे द्विषष्टितमः सर्गः॥ ६२॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें बासठवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ६२॥

त्रिषष्टितमः सर्गः

श्रीरामका विलाप

स राजपुत्रः प्रियया विहीनः
शोकेन मोहेन च पीड्यमानः।
विषादयन् भ्रातरमार्तरूपो
भूयो विषादं प्रविवेश तीव्रम्॥ १॥

अपनी प्रिया सीतासे रहित हो राजकुमार श्रीराम शोक और मोहसे पीड़ित होने लगे। वे स्वयं तो पीड़ित थे ही, अपने भाई लक्ष्मणको भी विषादमें डालते हुए पुनः तीव्र शोकमें मग्न हो गये॥ १॥

स लक्ष्मणं शोकवशाभिपन्नं
शोके निमग्नो विपुले तु रामः।
उवाच वाक्यं व्यसनानुरूप-
मुष्णं विनिःश्वस्य रुदन् सशोकम्॥ २॥

लक्ष्मण शोकके अधीन हो रहे थे, उनसे महान् शोकमें डूबे हुए श्रीराम दुःखके साथ रोते हुए गरम उच्छ्वास लेकर अपने ऊपर पड़े हुए संकटके अनुरूप वचन बोले—॥ २॥

न मद्विधो दुष्कृतकर्मकारी
मन्ये द्वितीयोऽस्ति वसुंधरायाम्।
शोकानुशोको हि परम्पराया
मामेति भिन्दन् हृदयं मनश्च॥ ३॥

'सुमित्रानन्दन! मालूम होता है, मेरे-जैसा पापकर्म करनेवाला मनुष्य इस पृथ्वीपर दूसरा कोई नहीं है; क्योंकि एकके बाद दूसरा शोक मेरे हृदय (प्राण) और मनको विदीर्ण करता हुआ लगातार मुझपर आता जा रहा है॥ ३॥

पूर्वं मया नूनमभीप्सितानि
पापानि कर्माण्यसकृत्कृतानि।
तत्रायमद्यापतितो विपाको
दुःखेन दुःखं यदहं विशामि॥ ४॥

'निश्चय ही पूर्वजन्ममें मैंने अपनी इच्छाके अनुसार बारंबार बहुत-से पापकर्म किये हैं; उन्हींमेंसे कुछ कर्मोंका यह परिणाम आज प्राप्त हुआ है, जिससे मैं एक दुःखसे दूसरे दुःखमें पड़ता जा रहा हूँ॥ ४॥

राज्यप्रणाशः स्वजनैर्वियोगः
पितुर्विनाशो जननीवियोगः।
सर्वाणि मे लक्ष्मण शोकवेग-
मापूरयन्ति प्रविचिन्तितानि॥ ५॥

'पहले तो मैं राज्यसे वञ्चित हुआ; फिर मेरा स्वजनोंसे वियोग हुआ। तत्पश्चात् पिताजीका परलोकवास हुआ, फिर मातासे भी मुझे बिछुड़ जाना पड़ा। लक्ष्मण! ये सारी बातें जब मुझे याद आती हैं, तब मेरे शोकके वेगको बढ़ा देती हैं॥ ५॥

सर्वं तु दुःखं मम लक्ष्मणेदं
शान्तं शरीरे वनमेत्य क्लेशम्।
सीतावियोगात् पुनरप्युदीर्णं
काष्ठैरिवाग्निः सहसोपदीप्तः॥ ६॥

'लक्ष्मण! वनमें आकर क्लेशका अनुभव करके भी यह सारा दुःख सीताके समीप रहनेसे मेरे शरीरमें ही शान्त हो गया था, परंतु सीताके वियोगसे वह फिर उद्दीप्त हो उठा है, जैसे सूखे काठका संयोग पाकर आग सहसा प्रज्वलित हो उठती है॥ ६॥

सा नूनमार्या मम राक्षसेन
ह्यभ्याहृता खं समुपेत्य भीरुः।
अपस्वरं सुस्वरविप्रलापा
भयेन विक्रन्दितवत्यभीक्ष्णम्॥ ७॥

'हाय! मेरी श्रेष्ठ स्वभाववाली भीरु पत्नीको अवश्य ही राक्षसने आकाशमार्गसे हर लिया। उस समय सुमधुर स्वरमें विलाप करनेवाली सीता भयके मारे बारंबार विकृत स्वरमें क्रन्दन करने लगी होगी॥ ७॥

तौ लोहितस्य प्रियदर्शनस्य
सदोचितावुत्तमचन्दनस्य।
वृत्तौ स्तनौ शोणितपङ्कदिग्धौ
नूनं प्रियाया मम नाभिपातः॥ ८॥

'मेरी प्रियाके वे दोनों गोल-गोल स्तन, जो सदा लाल चन्दनसे चर्चित होनेयोग्य थे, निश्चय ही रक्तकी कीचमें सन गये होंगे। हाय! इतनेपर भी मेरे शरीरका पतन नहीं होता॥

तच्छ्लक्ष्णसुव्यक्तमृदुप्रलापं
तस्या मुखं कुञ्चितकेशभारम्।
रक्षोवशं नूनमुपागताया
न भ्राजते राहुमुखे यथेन्दुः॥ ९॥

'राक्षसके वशमें पड़ी हुई मेरी प्रियाका वह मुख जो स्निग्ध एवं सुस्पष्ट मधुर वार्तालाप करनेवाला तथा काले-काले घुँघराले केशोंके भारसे सुशोभित था, वैसे ही श्रीहीन हो गया होगा, जैसे राहुके मुखमें पड़ा हुआ चन्द्रमा शोभा नहीं पाता है॥ ९॥

तां हारपाशस्य सदोचितान्तां
ग्रीवां प्रियाया मम सुव्रतायाः।
रक्षांसि नूनं परिपीतवन्ति
शून्ये हि भित्त्वा रुधिराशनानि॥ १०॥

'हाय! उत्तम व्रतका पालन करनेवाली मेरी प्रियतमाका कण्ठ हर समय हारसे सुशोभित होनेयोग्य था, किंतु रक्तभोजी राक्षसोंने सूने वनमें अवश्य उसे फाड़कर उसका रक्त पिया होगा॥ १०॥

मया विहीना विजने वने सा
रक्षोभिराहृत्य विकृष्यमाणा।

नूनं विनादं कुररीव दीना
सा मुक्तवत्यायतकान्तनेत्रा ॥ ११ ॥

'मेरे न रहनेके कारण निर्जन वनमें राक्षसोंने उसे ले-लेकर घसीटा होगा और विशाल एवं मनोहर नेत्रोंवाली वह जानकी अत्यन्त दीनभावसे कुररीकी भाँति विलाप करती रही होगी ॥ ११ ॥

अस्मिन् मया सार्धमुदारशीला
शिलातले पूर्वमुपोपविष्टा ।
कान्तस्मिता लक्ष्मण जातहासा
त्वामाह सीता बहुवाक्यजातम् ॥ १२ ॥

'लक्ष्मण ! यह वही शिलातल है, जिसपर उदार स्वभाववाली सीता पहले एक दिन मेरे साथ बैठी हुई थी। उसकी मुसकान कितनी मनोहर थी, उस समय उसने हँस-हँसकर तुमसे भी बहुत-सी बातें कही थीं ॥ १२ ॥

गोदावरीयं सरितां वरिष्ठा
प्रिया प्रियाया मम नित्यकालम् ।
अप्यत्र गच्छेदिति चिन्तयामि
नैकाकिनी याति हि सा कदाचित् ॥ १३ ॥

'सरिताओंमें श्रेष्ठ यह गोदावरी मेरी प्रियतमाको सदा ही प्रिय रही है। सोचता हूँ, शायद वह इसीके तटपर गयी हो, किंतु अकेली तो वह कभी वहाँ नहीं जाती थी ॥ १३ ॥

पद्मानना पद्मपलाशनेत्रा
पद्मानि वानेतुमभिप्रयाता ।
तदप्ययुक्तं नहि सा कदाचि-
न्मया विना गच्छति पङ्कजानि ॥ १४ ॥

'उसका मुख और विशाल नेत्र प्रफुल्ल कमलोंके समान सुन्दर हैं, सम्भव है, वह कमलपुष्प लानेके लिये ही गोदावरीतटपर गयी हो, परंतु यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि वह मुझे साथ लिये बिना कभी कमलोंके पास नहीं जाती थी ॥ १४ ॥

कामं त्विदं पुष्पितवृक्षषण्डं
नानाविधैः पक्षिगणैरुपेतम् ।
वनं प्रयाता नु तदप्ययुक्त-
मेकाकिनी सातिबिभेति भीरुः ॥ १५ ॥

'हो सकता है कि वह इन पुष्पित वृक्षसमूहोंसे युक्त और नाना प्रकारके पक्षियोंसे सेवित वनमें भ्रमणके लिये गयी हो; परंतु यह भी ठीक नहीं लगता; क्योंकि वह भीरु तो अकेली वनमें जानेसे बहुत डरती थी ॥ १५ ॥

आदित्य भो लोककृताकृतज्ञ
लोकस्य सत्यानृतकर्मसाक्षिन् ।
मम प्रिया सा क्व गता हृता वा
शंसस्व मे शोकहतस्य सर्वम् ॥ १६ ॥

'सूर्यदेव ! संसारमें किसने क्या किया और क्या नहीं किया—इसे तुम जानते हो; लोगोंके सत्य-असत्य (पुण्य और पाप) कर्मोंके तुम्हीं साक्षी हो। मेरी प्रिया सीता कहाँ गयी अथवा उसे किसने हर लिया, यह सब मुझे बताओ; क्योंकि मैं उसके शोकसे पीड़ित हूँ ॥ १६ ॥

लोकेषु सर्वेषु न नास्ति किंचिद्
यत् ते न नित्यं विदितं भवेत् तत् ।
शंसस्व वायो कुलपालिनीं तां
मृता हृता वा पथि वर्तते वा ॥ १७ ॥

'वायुदेव ! समस्त विश्वमें ऐसी कोई बात नहीं है, जो तुम्हें सदा ज्ञात न रहती हो। मेरी कुलपालिका सीता कहाँ है, यह बता दो। वह मर गयी, हर ली गयी अथवा मार्गमें ही है' ॥ १७ ॥

इतीव तं शोकविधेयदेहं
रामं विसंज्ञं विलपन्तमेव ।
उवाच सौमित्रिरदीनसत्त्वो
न्याय्ये स्थितः कालयुतं च वाक्यम् ॥ १८ ॥

इस प्रकार शोकके अधीन होकर जब श्रीरामचन्द्रजी संज्ञाशून्य हो विलाप करने लगे, तब उनकी ऐसी अवस्था देख न्यायोचित मार्गपर स्थित रहनेवाले उदारचित्त सुमित्राकुमार लक्ष्मणने उनसे यह समयोचित बात कही— ॥ १८ ॥

शोकं विसृज्याद्य धृतिं भजस्व
सोत्साहता चास्तु विमार्गणेऽस्याः ।
उत्साहवन्तो हि नरा न लोके
सीदन्ति कर्मस्वतिदुष्करेषु ॥ १९ ॥

'आर्य ! आप शोक छोड़कर धैर्य धारण करें; सीताकी खोजके लिये मनमें उत्साह रखें; क्योंकि उत्साही मनुष्य जगत्‌में अत्यन्त दुष्कर कार्य आ पड़नेपर भी कभी दुःखी नहीं होते हैं' ॥ १९ ॥

इतीव सौमित्रिमुदग्रपौरुषं
ब्रुवन्तमार्तो रघुवंशवर्धनः ।
न चिन्तयामास धृतिं विमुक्तवान्
पुनश्च दुःखं महदभ्युपागमत् ॥ २० ॥

बढ़े हुए पुरुषार्थवाले सुमित्राकुमार लक्ष्मण जब इस प्रकारकी बातें कह रहे थे, उस समय रघुकुलकी वृद्धि करनेवाले श्रीरामने आर्त होकर उनके कथनके औचित्यपर कोई ध्यान नहीं दिया; उन्होंने धैर्य छोड़ दिया और वे पुनः महान् दुःखमें पड़ गये ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे त्रिषष्टितमः सर्गः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें तिरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

—★—

चतुःषष्टितमः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणके द्वारा सीताकी खोज, श्रीरामका शोकोद्गार, मृगोंद्वारा संकेत पाकर दोनों भाइयोंका दक्षिण दिशाकी ओर जाना, पर्वतपर क्रोध, सीताके बिखरे हुए फूल, आभूषणोंके कण और युद्धके चिह्न देखकर श्रीरामका देवता आदि-सहित समस्त त्रिलोकीपर रोष प्रकट करना

स दीनो दीनया वाचा लक्ष्मणं वाक्यमब्रवीत्।
शीघ्रं लक्ष्मण जानीहि गत्वा गोदावरीं नदीम्॥ १॥
अपि गोदावरीं सीता पद्मान्यानयितुं गता।

तदनन्तर दीन हुए श्रीरामचन्द्रजीने दीन वाणीमें लक्ष्मणसे कहा—'लक्ष्मण! तुम शीघ्र ही गोदावरी नदीके तटपर जाकर पता लगाओ। सीता कमल लानेके लिये तो नहीं चली गयी'॥ १½॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः पुनरेव हि॥ २॥
नदीं गोदावरीं रम्यां जगाम लघुविक्रमः।

श्रीरामकी ऐसी आज्ञा पाकर लक्ष्मण शीघ्र गतिसे पुनः रमणीय गोदावरी नदीके तटपर गये॥ २½॥

तां लक्ष्मणस्तीर्थवतीं विचित्वा राममब्रवीत्॥ ३॥
नैनां पश्यामि तीर्थेषु क्रोशतो न शृणोति मे।

अनेक तीर्थों-(घाटों-) से युक्त गोदावरीके तटपर खोजकर लक्ष्मण पुनः लौट आये और श्रीरामसे बोले—'भैया! मैं गोदावरीके घाटोंपर सीताको नहीं देख पाता हूँ; जोर-जोरसे पुकारनेपर भी वे मेरी बात नहीं सुनती हैं॥ ३½॥

कं नु सा देशमापन्ना वैदेही क्लेशनाशिनी॥ ४॥
नहि तं वेद्मि वै राम यत्र सा तनुमध्यमा।

'श्रीराम! क्लेशोंका नाश करनेवाली विदेहराजकुमारी न जाने किस देशमें चली गयीं। भैया श्रीराम! जहाँ कृशकटि-प्रदेशवाली सीता गयी हैं, उस स्थानको मैं नहीं जानता'॥

लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा दीनः संतापमोहितः॥ ५॥
रामः समभिचक्राम स्वयं गोदावरीं नदीम्।

लक्ष्मणकी यह बात सुनकर दीन एवं संतापसे मोहित हुए श्रीरामचन्द्रजी स्वयं ही गोदावरी नदीके तटपर गये॥ ५½॥

स तामुपस्थितो रामः क्व सीतेत्येवमब्रवीत्॥ ६॥
भूतानि राक्षसेन्द्रेण वधार्हेण हृतामपि।
न तां शशंसू रामाय तथा गोदावरी नदी॥ ७॥

वहाँ पहुँचकर श्रीरामने पूछा—'सीता कहाँ है?' परंतु वधके योग्य राक्षसराज रावणद्वारा हरी गयी सीताके विषयमें समस्त भूतोंमेंसे किसीने कुछ नहीं कहा। गोदावरी नदीने भी श्रीरामको कोई उत्तर नहीं दिया॥ ६-७॥

ततः प्रचोदिता भूतैः शंस चास्मै प्रियामिति।
न च सा ह्यवदत् सीतां पृष्टा रामेण शोचता॥ ८॥

तदनन्तर वनके समस्त प्राणियोंने उन्हें प्रेरित किया कि 'तुम श्रीरामको उनकी प्रियाका पता बता दो!' किंतु शोकमग्न श्रीरामके पूछनेपर भी गोदावरीने सीताका पता नहीं बताया॥

रावणस्य च तद्रूपं कर्माणि च दुरात्मनः।
ध्यात्वा भयात् तु वैदेहीं सा नदी न शशंस ह॥ ९॥

दुरात्मा रावणके उस रूप और कर्मको याद करके भयके मारे गोदावरी नदीने वैदेहीके विषयमें श्रीरामसे कुछ नहीं कहा॥ ९॥

निराशस्तु तया नद्या सीताया दर्शने कृतः।
उवाच रामः सौमित्रिं सीतादर्शनकर्शितः॥ १०॥

सीताके दर्शनके विषयमें जब नदीने उन्हें पूर्ण निराश कर दिया, तब सीताको न देखनेसे कष्टमें पड़े हुए श्रीराम सुमित्राकुमारसे इस प्रकार बोले—॥ १०॥

एषा गोदावरी सौम्य किंचिन्न प्रतिभाषते।
किं नु लक्ष्मण वक्ष्यामि समेत्य जनकं वचः॥ ११॥
मातरं चैव वैदेह्या विना तामहमप्रियम्।

'सौम्य लक्ष्मण! यह गोदावरी नदी तो मुझे कोई उत्तर ही नहीं देती है। अब मैं राजा जनकसे मिलनेपर उन्हें क्या जवाब दूँगा? जानकीके बिना उसकी मातासे मिलकर भी मैं उनसे यह अप्रिय बात कैसे सुनाऊँगा?॥ ११½॥

या मे राज्यविहीनस्य वने वन्येन जीवतः॥ १२॥
सर्वं व्यपानयच्छोकं वैदेही क्व नु सा गता।

'राज्यहीन होकर वनमें जंगली फल-मूलोंसे निर्वाह करते समय भी जो मेरे साथ रहकर मेरे सभी दुःखोंको दूर किया करती थी, वह विदेहराजकुमारी कहाँ चली गयी?॥

ज्ञातिवर्गविहीनस्य वैदेहीमप्यपश्यतः॥ १३॥
मन्ये दीर्घा भविष्यन्ति रात्रयो मम जाग्रतः।

'बन्धु-बान्धवोंसे तो मेरा बिछोह हो ही गया था, अब सीताके दर्शनसे भी मुझे वञ्चित होना पड़ा; उसकी चिन्तामें निरन्तर जागते रहनेके कारण अब मेरी सभी रातें बहुत बड़ी हो जायँगी॥ १३½॥

मन्दाकिनीं जनस्थानमिमं प्रस्रवणं गिरिम्॥ १४॥
सर्वाण्यनुचरिष्यामि यदि सीता हि लभ्यते।

'मन्दाकिनी नदी, जनस्थान तथा प्रस्रवण पर्वत—इन सभी स्थानोंपर मैं बारंबार भ्रमण करूँगा। शायद वहाँ सीताका पता चल जाय॥ १४½॥

एते महामृगा वीर मामीक्षन्ते पुनः पुनः॥ १५॥
वक्तुकामा इह हि मे इङ्गितान्युपलक्षये।

'वीर लक्ष्मण! ये विशाल मृग मेरी ओर बारंबार देख

रहे हैं, मानो यहाँ ये मुझसे कुछ कहना चाहते हैं। मैं इनकी चेष्टाओंको समझ रहा हूँ' ॥ १५½ ॥

तांस्तु दृष्ट्वा नरव्याघ्रो राघवः प्रत्युवाच ह ॥ १६ ॥
क्व सीतेति निरीक्षन् वै बाष्पसंरुद्धया गिरा ।
एवमुक्ता नरेन्द्रेण ते मृगाः सहसोत्थिताः ॥ १७ ॥
दक्षिणाभिमुखाः सर्वे दर्शयन्तो नभःस्थलम् ।

तदनन्तर उन सबकी ओर देखकर पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्रजीने उनसे कहा—'बताओ, सीता कहाँ है ?' उन मृगोंकी ओर देखते हुए राजा श्रीरामने जब अश्रुगद्गद वाणीसे इस प्रकार पूछा, तब वे मृग सहसा उठकर खड़े हो गये और ऊपरकी ओर देखकर आकाशमार्गकी ओर लक्ष्य कराते हुए सब-के-सब दक्षिण दिशाकी ओर मुँह किये दौड़े ॥

मैथिली ह्रियमाणा सा दिशं यामभ्यपद्यत ॥ १८ ॥
तेन मार्गेण गच्छन्तो निरीक्षन्ते नराधिपम् ।

मिथिलेशकुमारी सीता हरी जाकर जिस दिशाकी ओर गयी थीं, उसी ओरके मार्गसे जाते हुए वे मृग राजा श्रीरामचन्द्रजीकी ओर मुड़-मुड़कर देखते रहते थे ॥ १८½ ॥

येन मार्गं च भूमिं च निरीक्षन्ते स्म ते मृगाः ॥ १९ ॥
पुनर्नदन्तो गच्छन्ति लक्ष्मणेनोपलक्षिताः ।
तेषां वचनसर्वस्वं लक्षयामास चेङ्गितम् ॥ २० ॥

वे मृग आकाशमार्ग और भूमि दोनोंकी ओर देखते और गर्जना करते हुए पुनः आगे बढ़ते थे। लक्ष्मणने उनकी इस चेष्टाको लक्ष्य किया। वे जो कुछ कहना चाहते थे, उसका सारसर्वस्वरूप जो उनकी चेष्टा थी, उसे उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया ॥ १९-२० ॥

उवाच लक्ष्मणो धीमाञ्ज्येष्ठं भ्रातरमार्तवत् ।
क्व सीतेति त्वया पृष्टा यथेमे सह सोत्थिताः ॥ २१ ॥
दर्शयन्ति क्षितिं चैव दक्षिणां च दिशं मृगाः ।
साधु गच्छावहे देव दिशमेतां च नैर्ऋतीम् ॥ २२ ॥
यदि तस्यागमः कश्चिदार्या वा साथ लक्ष्यते ।

तदनन्तर बुद्धिमान् लक्ष्मणने आर्त-से होकर अपने बड़े भाईसे इस प्रकार कहा—'आर्य ! जब आपने पूछा कि सीता कहाँ है, तब ये मृग सहसा उठकर खड़े हो गये और पृथ्वी तथा दक्षिणकी ओर हमारा लक्ष्य कराने लगे हैं; अतः देव ! यही अच्छा होगा कि हमलोग इस नैर्ऋत्य दिशाकी ओर चलें। सम्भव है, इधर जानेसे सीताका कोई समाचार मिल जाय अथवा आर्या सीता स्वयं ही दृष्टिगोचर हो जायँ' ॥ २१-२२½ ॥

बाढमित्येव काकुत्स्थः प्रस्थितो दक्षिणां दिशम् ॥ २३ ॥
लक्ष्मणानुगतः श्रीमान् वीक्षमाणो वसुंधराम् ।

तब 'बहुत अच्छा' कहकर श्रीमान् रामचन्द्रजी लक्ष्मणको साथ ले पृथ्वीकी ओर ध्यानसे देखते हुए दक्षिण दिशाकी ओर चल दिये ॥ २३½ ॥

एवं सम्भाषमाणौ तावन्योन्यं भ्रातरावुभौ ॥ २४ ॥
वसुंधरायां पतितपुष्पमार्गमपश्यताम् ।

वे दोनों भाई आपसमें इसी प्रकारकी बातें करते हुए ऐसे मार्गपर जा पहुँचे, जहाँ भूमिपर कुछ फूल गिरे दिखायी देते थे ॥ २४½ ॥

पुष्पवृष्टिं निपतितां दृष्ट्वा रामो महीतले ॥ २५ ॥
उवाच लक्ष्मणं वीरो दुःखितो दुःखितं वचः ।

पृथ्वीपर फूलोंकी उस वर्षाको देखकर वीर श्रीरामने दुःखी हो लक्ष्मणसे यह दुःखभरा वचन कहा— ॥ २५½ ॥

अभिजानामि पुष्पाणि तानीमानीह लक्ष्मण ॥ २६ ॥
अपिनद्धानि वैदेह्या मया दत्तानि कानने ।

'लक्ष्मण ! मैं इन फूलोंको पहचानता हूँ। ये वे ही फूल यहाँ गिरे हैं, जिन्हें वनमें मैंने विदेहनन्दिनीको दिया था और उन्होंने अपने केशोंमें लगा लिया था ॥ २६½ ॥

मन्ये सूर्यश्च वायुश्च मेदिनी च यशस्विनी ॥ २७ ॥
अभिरक्षन्ति पुष्पाणि प्रकुर्वन्तो मम प्रियम् ।

'मैं समझता हूँ, सूर्य, वायु और यशस्विनी पृथ्वीने मेरा प्रिय करनेके लिये ही इन फूलोंको सुरक्षित रखा है' ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुर्लक्ष्मणं पुरुषर्षभम् ॥ २८ ॥
उवाच रामो धर्मात्मा गिरिं प्रस्रवणाकुलम् ।

पुरुषप्रवर लक्ष्मणसे ऐसा कहकर धर्मात्मा महाबाहु श्रीरामने झरनोंसे भरे हुए प्रस्रवण गिरिसे कहा— ॥ २८½ ॥

कच्चित् क्षितिभृतां नाथ दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी ॥ २९ ॥
रामा रम्ये वनोद्देशे मया विरहिता त्वया ।

'पर्वतराज ! क्या तुमने इस वनके रमणीय प्रदेशमें मुझसे बिछुड़ी हुई सर्वाङ्गसुन्दरी रमणी सीताको देखा है ?' ॥

क्रुद्धोऽब्रवीद् गिरिं तत्र सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥ ३० ॥
तां हेमवर्णां हेमाङ्गीं सीतां दर्शय पर्वत ।
यावत् सानूनि सर्वाणि न ते विध्वंसयाम्यहम् ॥ ३१ ॥

तदनन्तर जैसे सिंह छोटे मृगको देखकर दहाड़ता है, उसी प्रकार वे कुपित हो वहाँ उस पर्वतसे बोले—'पर्वत ! जबतक मैं तुम्हारे सारे शिखरोंका विध्वंस नहीं कर डालता हूँ, इसके पहले ही तुम उस काञ्चनकी-सी काया-कान्तिवाली सीताका मुझे दर्शन करा दो' ॥ ३०-३१ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण पर्वतो मैथिलीं प्रति ।
दर्शयन्निव तां सीतां नादर्शयत राघवे ॥ ३२ ॥

श्रीरामके द्वारा मैथिलीके लिये ऐसा कहे जानेपर उस पर्वतने सीताको दिखाता हुआ-सा कुछ चिह्न प्रकट कर दिया। श्रीरघुनाथजीके समीप वह सीताको साक्षात् उपस्थित न कर सका ॥ ३२ ॥

ततो दाशरथी राम उवाच च शिलोच्चयम् ।
मम बाणाग्निनिर्दग्धो भस्मीभूतो भविष्यसि ॥ ३३ ॥
असेव्यः सर्वतश्चैव निस्तृणद्रुमपल्लवः ।

तब दशरथनन्दन श्रीरामने उस पर्वतसे कहा—'अरे ! तू मेरे बाणोंकी आगसे जलकर भस्मीभूत हो जायगा। किसी भी ओरसे तू सेवनके योग्य नहीं रह जायगा। तेरे तृण, वृक्ष और पल्लव नष्ट हो जायँगे' ॥ ३३½ ॥

इमां वा सरितं चाद्य शोषयिष्यामि लक्ष्मण ॥ ३४ ॥
यदि नाख्याति मे सीतामद्य चन्द्रनिभाननाम्।

(इसके बाद वे सुमित्राकुमारसे बोले—) 'लक्ष्मण ! यदि यह नदी आज मुझे चन्द्रमुखी सीताका पता नहीं बताती है तो मैं अब इसे भी सुखा डालूँगा' ॥ ३४½ ॥

एवं प्ररुषितो रामो दिधक्षन्निव चक्षुषा ॥ ३५ ॥
ददर्श भूमौ निष्क्रान्तं राक्षसस्य पदं महत्।

ऐसा कहकर रोषमें भरे हुए श्रीरामचन्द्रजी उसकी ओर इस तरह देखने लगे, मानो अपनी दृष्टिद्वारा उसे जलाकर भस्म कर देना चाहते हैं। इतनेहीमें उस पर्वत और गोदावरीके समीपकी भूमिपर राक्षसका विशाल पदचिह्न उभरा हुआ दिखायी दिया ॥ ३५½ ॥

त्रस्ताया रामकाङ्क्षिण्याः प्रधावन्त्या इतस्ततः ॥ ३६ ॥
राक्षसेनानुसृप्ताया वैदेह्याश्च पदानि तु।

साथ ही राक्षसने जिनका पीछा किया था और जो श्रीरामकी अभिलाषा रखकर रावणके भयसे संत्रस्त हो इधर-उधर भागती फिरी थीं, उन विदेहराजकुमारी सीताके चरणचिह्न भी वहाँ दिखायी दिये ॥ ३६½ ॥

स समीक्ष्य परिक्रान्तं सीताया राक्षसस्य च ॥ ३७ ॥
भग्नं धनुश्च तूणी च विकीर्णं बहुधा रथम्।
सम्भ्रान्तहृदयो रामः शशंस भ्रातरं प्रियम् ॥ ३८ ॥

सीता और राक्षसके पैरोंके निशान, टूटे धनुष, तरकस और छिन्न-भिन्न होकर अनेक टुकड़ोंमें बिखरे हुए रथको देखकर श्रीरामचन्द्रजीका हृदय घबरा उठा। वे अपने प्रिय भ्राता सुमित्राकुमारसे बोले— ॥ ३७-३८ ॥

पश्य लक्ष्मण वैदेह्याः कीर्णाः कनकबिन्दवः।
भूषणानां हि सौमित्रे माल्यानि विविधानि च ॥ ३९ ॥

'लक्ष्मण ! देखो, ये सीताके आभूषणोंमें लगे हुए सोनेके घुँघरू बिखरे पड़े हैं। सुमित्रानन्दन ! उसके नाना प्रकारके हार भी टूटे पड़े हैं ॥ ३९ ॥

तप्तबिन्दुनिकाशैश्च चित्रैः क्षतजबिन्दुभिः।
आवृतं पश्य सौमित्रे सर्वतो धरणीतलम् ॥ ४० ॥

'सुमित्राकुमार ! देखो, यहाँकी भूमि सब ओरसे सुवर्णकी बूँदोंके समान ही विचित्र रक्तबिन्दुओंसे रँगी दिखायी देती है ॥ ४० ॥

मन्ये लक्ष्मण वैदेही राक्षसैः कामरूपिभिः।
भित्त्वा भित्त्वा विभक्ता वा भक्षिता वा भविष्यति ॥ ४१ ॥

'लक्ष्मण ! मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले राक्षसोंने यहाँ सीताके टुकड़े-टुकड़े करके उसे आपसमें बाँटा और खाया होगा ॥ ४१ ॥

तस्या निमित्तं सीताया द्वयोर्विवदमानयोः।
बभूव युद्धं सौमित्रे घोरं राक्षसयोरिह ॥ ४२ ॥

'सुमित्रानन्दन ! सीताके लिये परस्पर विवाद करनेवाले दो राक्षसोंमें यहाँ घोर युद्ध भी हुआ है ॥ ४२ ॥

मुक्तामणिचितं चेदं रमणीयं विभूषितम्।
धरण्यां पतितं सौम्य कस्य भग्नं महद् धनुः ॥ ४३ ॥

'सौम्य ! तभी तो यहाँ यह मोती और मणियोंसे जटित एवं विभूषित किसीका अत्यन्त सुन्दर और विशाल धनुष खण्डित होकर पृथ्वीपर पड़ा है। यह किसका धनुष हो सकता है ? ॥ ४३ ॥

राक्षसानामिदं वत्स सुराणामथवापि वा।
तरुणादित्यसंकाशं वैदूर्यगुलिकाचितम् ॥ ४४ ॥

'वत्स ! पता नहीं, यह राक्षसोंका है या देवताओंका; यह प्रातःकालके सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहा है तथा इसमें वैदूर्यमणि (नीलम) के टुकड़े जड़े हुए हैं ॥ ४४ ॥

विशीर्णं पतितं भूमौ कवचं कस्य काञ्चनम्।
छत्रं शतशलाकं च दिव्यमाल्योपशोभितम् ॥ ४५ ॥
भग्नदण्डमिदं सौम्य भूमौ कस्य निपातितम्।

'सौम्य ! उधर पृथ्वीपर टूटा हुआ एक सोनेका कवच पड़ा है, न जाने वह किसका है ? दिव्य मालाओंसे सुशोभित यह सौ कमानियोंवाला छत्र किसका है ? इसका डंडा टूट गया है और यह धरतीपर गिरा दिया गया है ॥ ४५½ ॥

काञ्चनोरश्छदाश्चेमे पिशाचवदनाः खराः ॥ ४६ ॥
भीमरूपा महाकायाः कस्य वा निहता रणे।

'इधर ये पिशाचोंके समान मुखवाले भयंकर रूपधारी गधे मरे पड़े हैं। इनका शरीर बहुत ही विशाल रहा है; इन सबकी छातीमें सोनेके कवच बँधे हैं। ये युद्धमें मारे गये जान पड़ते हैं। पता नहीं ये किसके थे ॥ ४६½ ॥

दीप्तपावकसंकाशो द्युतिमान् समरध्वजः ॥ ४७ ॥
अपविद्धश्च भग्नश्च कस्य साङ्ग्रामिको रथः।

'तथा संग्राममें काम देनेवाला यह किसका रथ पड़ा है ? इसे किसीने उलटा गिराकर तोड़ डाला है। समराङ्गणमें स्वामीको सूचित करनेवाली ध्वजा भी इसमें लगी थी। यह तेजस्वी रथ प्रज्वलित अग्निके समान दमक रहा है ॥ ४७½ ॥

रथाक्षमात्रा विशिखास्तपनीयविभूषणाः ॥ ४८ ॥
कस्येमे निहता बाणाः प्रकीर्णा घोरदर्शनाः।

'ये भयंकर बाण, जो यहाँ टुकड़े-टुकड़े होकर बिखरे पड़े हैं, किसके हैं ? इनकी लंबाई और मोटाई रथके धुरेके समान प्रतीत होती है। इनके फल-भाग टूट गये हैं तथा ये सुवर्णसे विभूषित हैं ॥ ४८½ ॥

शरावरौ शरैः पूर्णौ विध्वस्तौ पश्य लक्ष्मण ॥ ४९ ॥
प्रतोदाभीषुहस्तोऽयं कस्य वा सारथिर्हतः।

'लक्ष्मण! उधर देखो, ये बाणोंसे भरे हुए दो तरकस पड़े हैं, जो नष्ट कर दिये गये हैं। यह किसका सारथि मरा पड़ा है, जिसके हाथमें चाबुक और लगाम अभीतक मौजूद हैं॥

पदवी पुरुषस्यैषा व्यक्तं कस्यापि रक्षसः ॥ ५० ॥
वैरं शतगुणं पश्य मम तैर्जीवितान्तकम्।
सुघोरहृदयैः सौम्य राक्षसैः कामरूपिभिः ॥ ५१ ॥

'सौम्य! यह अवश्य ही किसी राक्षसका पदचिह्न दिखायी देता है। इन अत्यन्त क्रूर हृदयवाले कामरूपी राक्षसोंके साथ मेरा वैर सौगुना बढ़ गया है। देखो, यह वैर उनके प्राण लेकर ही शान्त होगा॥ ५०-५१॥

हृता मृता वा वैदेही भक्षिता वा तपस्विनी।
न धर्मस्त्रायते सीतां ह्रियमाणां महावने ॥ ५२ ॥

'अवश्य ही तपस्विनी विदेहराजकुमारी हर ली गयी, मृत्युको प्राप्त हो गयी अथवा राक्षसोंने उसे खा लिया। इस विशाल वनमें हरी जाती हुई सीताकी रक्षा धर्म भी नहीं कर रहा है॥ ५२॥

भक्षितायां हि वैदेह्यां हृतायामपि लक्ष्मण।
के हि लोके प्रियं कर्तुं शक्ताः सौम्य ममेश्वराः ॥ ५३ ॥

'सौम्य लक्ष्मण! जब विदेहनन्दिनी राक्षसोंका ग्रास बन गयी अथवा उनके द्वारा हर ली गयी और कोई सहायक नहीं हुआ, तब इस जगत्में कौन ऐसे पुरुष हैं, जो मेरा प्रिय करनेमें समर्थ हों॥ ५३॥

कर्तारमपि लोकानां शूरं करुणवेदिनम्।
अज्ञानादवमन्येरन् सर्वभूतानि लक्ष्मण ॥ ५४ ॥

'लक्ष्मण! जो समस्त लोकोंकी सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले 'त्रिपुर-विजय' आदि शौर्यसे सम्पन्न महेश्वर हैं, वे भी जब अपने करुणामय स्वभावके कारण चुप बैठे रहते हैं, तब सारे प्राणी उनके ऐश्वर्यको न जाननेसे उनका तिरस्कार करने लग जाते हैं॥ ५४॥

मृदुं लोकहिते युक्तं दान्तं करुणवेदिनम्।
निर्वीर्य इति मन्यन्ते नूनं मां त्रिदशेश्वराः ॥ ५५ ॥

'मैं लोकहितमें तत्पर, युक्तचित्त, जितेन्द्रिय तथा जीवोंपर करुणा करनेवाला हूँ, इसीलिये ये इन्द्र आदि देवेश्वर निश्चय ही मुझे निर्बल मान रहे हैं (तभी तो इन्होंने सीताकी रक्षा नहीं की है)॥ ५५॥

मां प्राप्य हि गुणो दोषः संवृत्तः पश्य लक्ष्मण।
अद्यैव सर्वभूतानां रक्षसामभवाय च ॥ ५६ ॥
संहृत्यैव शशिज्योत्स्नां महान् सूर्य इवोदितः।
संहृत्यैव गुणान् सर्वान् मम तेजः प्रकाशते ॥ ५७ ॥

'लक्ष्मण! देखो तो सही, यह दयालुता आदि गुण मेरे पास आकर दोष बन गया (तभी तो मुझे निर्बल मानकर मेरी स्त्रीका अपहरण किया गया है। अतः अब मुझे पुरुषार्थ ही प्रकट करना होगा)। जैसे प्रलयकालमें उदित हुआ महान् सूर्य चन्द्रमाकी ज्योत्स्ना (चाँदनी) का संहार करके प्रचण्ड तेजसे प्रकाशित हो उठता है, उसी प्रकार अब मेरा तेज आज ही समस्त प्राणियों तथा राक्षसोंका अन्त करनेके लिये मेरे उन कोमल स्वभाव आदि गुणोंको समेटकर प्रचण्डरूपमें प्रकाशित होगा, यह भी तुम देखो॥ ५६-५७॥

नैव यक्षा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः।
किंनरा वा मनुष्या वा सुखं प्राप्स्यन्ति लक्ष्मण ॥ ५८ ॥

'लक्ष्मण! अब न तो यक्ष, न गन्धर्व, न पिशाच, न राक्षस, न किंनर और न मनुष्य ही चैनसे रहने पायेंगे॥

ममास्त्रबाणसम्पूर्णमाकाशं पश्य लक्ष्मण।
असम्पातं करिष्यामि ह्यद्य त्रैलोक्यचारिणाम् ॥ ५९ ॥

'सुमित्रानन्दन! देखना, थोड़ी ही देरमें आकाशको मैं अपने चलाये हुए बाणोंसे भर दूँगा और तीन लोकोंमें विचरनेवाले प्राणियोंको हिलने-डुलने भी न दूँगा॥ ५९॥

संनिरुद्धग्रहगणमावारितनिशाकरम्।
विप्रणष्टानलमरुद्भास्करद्युतिसंवृतम् ॥ ६० ॥
विनिर्मथितशैलाग्रं शुष्यमाणजलाशयम्।
ध्वस्तद्रुमलतागुल्मं विप्रणाशितसागरम् ॥ ६१ ॥
त्रैलोक्यं तु करिष्यामि संयुक्तं कालकर्मणा।

'ग्रहोंकी गति रुक जायगी, चन्द्रमा छिप जायगा, अग्नि, मरुद्गण तथा सूर्यका तेज नष्ट हो जायगा, सब कुछ अन्धकारसे आच्छन्न हो जायगा, पर्वतोंके शिखर मथ डाले जायँगे, सारे जलाशय (नदी-सरोवर आदि) सूख जायँगे, वृक्ष, लता और गुल्म नष्ट हो जायँगे और समुद्रोंका भी नाश कर दिया जायगा। इस तरह मैं सारी त्रिलोकीमें ही कालकी विनाशलीला आरम्भ कर दूँगा॥ ६०—६१½॥

न ते कुशलिनीं सीतां प्रदास्यन्ति ममेश्वराः ॥ ६२ ॥
अस्मिन् मुहूर्ते सौमित्रे मम द्रक्ष्यन्ति विक्रमम्।

'सुमित्रानन्दन! यदि देवेश्वरगण इसी मुहूर्तमें मुझे सीता देवीको सकुशल नहीं लौटा देंगे तो वे मेरा पराक्रम देखेंगे॥

नाकाशमुत्पतिष्यन्ति सर्वभूतानि लक्ष्मण ॥ ६३ ॥
मम चापगुणोन्मुक्तैर्बाणजालैर्निरन्तरम्।

'लक्ष्मण! मेरे धनुषकी प्रत्यञ्चासे छूटे हुए बाण-समूहोंद्वारा आकाशके ठसाठस भर जानेके कारण उसमें कोई प्राणी उड़ नहीं सकेंगे॥ ६३½॥

मर्दितं मम नाराचैर्ध्वस्तभ्रान्तमृगद्विजम् ॥ ६४ ॥
समाकुलममर्यादं जगत् पश्याद्य लक्ष्मण।

'सुमित्रानन्दन! देखो, आज मेरे नाराचोंसे रौंदा जाकर यह सारा जगत् व्याकुल और मर्यादारहित हो जायगा। यहाँके मृग और पक्षी आदि प्राणी नष्ट एवं उद्भ्रान्त हो जायँगे॥ ६४½॥

आकर्णपूर्णैरिषुभिर्जीवलोकदुरावरैः ॥ ६५ ॥
करिष्ये मैथिलीहेतोरपिशाचमराक्षसम्।

'धनुषको कानतक खींचकर छोड़े गये मेरे बाणोंको

रोकना जीवजगत्‌के लिये बहुत कठिन होगा। मैं सीताके लिये उन बाणोंद्वारा इस जगत्‌के समस्त पिशाचों और राक्षसोंका संहार कर डालूँगा॥ ६५½॥

मम रोषप्रयुक्तानां विशिखानां बलं सुराः॥ ६६॥
द्रक्ष्यन्त्यद्य विमुक्तानाममर्षाद् दूरगामिनाम्।

'रोष और अमर्षपूर्वक छोड़े गये मेरे फलरहित दूरगामी बाणोंका बल आज देवतालोग देखेंगे॥ ६६½॥

नैव देवा न दैतेया न पिशाचा न राक्षसाः॥ ६७॥
भविष्यन्ति मम क्रोधात् त्रैलोक्ये विप्रणाशिते।

'मेरे क्रोधसे त्रिलोकीका विनाश हो जानेपर न देवता रह जायँगे न दैत्य, न पिशाच रहने पायँगे न राक्षस॥ ६७½॥

देवदानवयक्षाणां लोका ये रक्षसामपि॥ ६८॥
बहुधा निपतिष्यन्ति बाणौघैः शकलीकृताः।

'देवताओं, दानवों, यक्षों और राक्षसोंके जो लोक हैं, वे मेरे बाणसमूहोंसे टुकड़े-टुकड़े होकर बारंबार नीचे गिरेंगे॥

निर्मर्यादानिमाँल्लोकान् करिष्याम्यद्य सायकैः॥ ६९॥
हृतां मृतां वा सौमित्रे न दास्यन्ति ममेश्वराः।

'सुमित्रानन्दन! यदि देवेश्वरगण मेरी हरी या मरी हुई सीताको लाकर मुझे नहीं देंगे तो आज मैं अपने सायकोंकी मारसे इन तीनों लोकोंको मर्यादासे भ्रष्ट कर दूँगा॥ ६९½॥

तथारूपां हि वैदेहीं न दास्यन्ति यदि प्रियाम्॥ ७०॥
नाशयामि जगत् सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम्।
यावद् दर्शनमस्या वै तापयामि च सायकैः॥ ७१॥

'यदि वे मेरी प्रिया विदेहराजकुमारीको मुझे उसी रूपमें वापस नहीं लौटायेंगे तो मैं चराचर प्राणियोंसहित समस्त त्रिलोकीका नाश कर डालूँगा। जबतक सीताका दर्शन न होगा, तबतक मैं अपने सायकोंसे समस्त संसारको संतप्त करता रहूँगा'॥ ७०-७१॥

इत्युक्त्वा क्रोधताम्राक्षः स्फुरमाणोष्ठसम्पुटः।
वल्कलाजिनमाबद्ध्य जटाभारमबन्धयत्॥ ७२॥

ऐसा कहकर श्रीरामचन्द्रजीके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये, होठ फड़कने लगे। उन्होंने वल्कल और मृगचर्मको अच्छी तरह कसकर अपने जटाभारको भी बाँध लिया॥ ७२॥

तस्य क्रुद्धस्य रामस्य तथाभूतस्य धीमतः।
त्रिपुरं जघ्नुषः पूर्वं रुद्रस्येव बभौ तनुः॥ ७३॥

उस समय क्रोधमें भरकर उस तरह संहारके लिये उद्यत हुए भगवान् श्रीरामका शरीर पूर्वकालमें त्रिपुरका संहार करनेवाले रुद्रके समान प्रतीत होता था॥ ७३॥

लक्ष्मणादथ चादाय रामो निष्पीड्य कार्मुकम्।
शरमादाय संदीप्तं घोरमाशीविषोपमम्॥ ७४॥
संदधे धनुषि श्रीमान् रामः परपुरञ्जयः।
युगान्ताग्निरिव क्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत्॥ ७५॥

उस समय लक्ष्मणके हाथसे धनुष लेकर श्रीरामचन्द्रजीने उसे दृढ़तापूर्वक पकड़ लिया और एक विषधर सर्पके समान भयंकर और प्रज्वलित बाण लेकर उसे उस धनुषपर रखा। तत्पश्चात् शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले श्रीराम प्रलयाग्निके समान कुपित हो इस प्रकार बोले—॥ ७४-७५॥

यथा जरा यथा मृत्युर्यथा कालो यथा विधिः।
नित्यं न प्रतिहन्यन्ते सर्वभूतेषु लक्ष्मण।
तथाहं क्रोधसंयुक्तो न निवार्योऽस्म्यसंशयम्॥ ७६॥

'लक्ष्मण! जैसे बुढ़ापा, जैसे मृत्यु, जैसे काल और जैसे विधाता सदा समस्त प्राणियोंपर प्रहार करते हैं, किंतु उन्हें कोई रोक नहीं पाता है, उसी प्रकार निस्संदेह क्रोधमें भर जानेपर मेरा भी कोई निवारण नहीं कर सकता॥ ७६॥

पुरेव मे चारुदतीमनिन्दितां
दिशन्ति सीतां यदि नाद्य मैथिलीम्।
सदेवगन्धर्वमनुष्यपन्नगं
जगत् सशैलं परिवर्तयाम्यहम्॥ ७७॥

'यदि देवता आदि आज पहलेकी ही भाँति मनोहर दाँतोंवाली अनिन्द्यसुन्दरी मिथिलेशकुमारी सीताको मुझे लौटा नहीं देंगे तो मैं देवता, गन्धर्व, मनुष्य, नाग और पर्वतोंसहित सारे संसारको उलट दूँगा'॥ ७७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे चतुःषष्टितमः सर्गः॥ ६४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें चौसठवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ६४॥

पञ्चषष्टितमः सर्गः

लक्ष्मणका श्रीरामको समझा-बुझाकर शान्त करना

तप्यमानं तदा रामं सीताहरणकर्शितम्।
लोकानामभवे युक्तं सांवर्तकमिवानलम्॥ १॥
वीक्षमाणं धनुः सज्यं निःश्वसन्तं पुनः पुनः।
दग्धुकामं जगत् सर्वं युगान्ते च यथा हरम्॥ २॥
अदृष्टपूर्वं संक्रुद्धं दृष्ट्वा रामं स लक्ष्मणः।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं मुखेन परिशुष्यता॥ ३॥

सीताहरणके शोकसे पीड़ित हुए श्रीराम जब उस समय संतप्त हो प्रलयकालिक अग्निके समान समस्त लोकोंका संहार करनेको उद्यत हो गये और धनुषकी डोरी चढ़ाकर बारंबार उसकी ओर देखने लगे तथा लंबी साँस खींचने लगे, साथ ही कल्पान्तकालमें रुद्रदेवकी भाँति समस्त संसारको दग्ध कर देनेकी इच्छा करने लगे, तब जिन्हें इस रूपमें

पहले कभी देखा नहीं गया था, उन अत्यन्त कुपित हुए श्रीरामकी ओर देखकर लक्ष्मण हाथ जोड़ सूखे हुए मुँहसे इस प्रकार बोले— ॥ १—३ ॥

पुरा भूत्वा मृदुर्दान्तः सर्वभूतहिते रतः ।
न क्रोधवशमापन्नः प्रकृतिं हातुमर्हसि ॥ ४ ॥

'आर्य ! आप पहले कोमल स्वभावसे युक्त, जितेन्द्रिय और समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहे हैं। अब क्रोधके वशीभूत होकर अपनी प्रकृति (स्वभाव) का परित्याग न करें ॥ ४ ॥

चन्द्रे लक्ष्मीः प्रभा सूर्ये गतिर्वायौ भुवि क्षमा ।
एतच्च नियतं नित्यं त्वयि चानुत्तमं यशः ॥ ५ ॥

'चन्द्रमामें शोभा, सूर्यमें प्रभा, वायुमें गति और पृथ्वीमें क्षमा जैसे नित्य विराजमान रहती है, उसी प्रकार आपमें सर्वोत्तम यश सदा प्रकाशित होता है ॥ ५ ॥

एकस्य नापराधेन लोकान् हन्तुं त्वमर्हसि ।
नन्तु जानामि कस्यायं भग्नः सांग्रामिको रथः ॥ ६ ॥

'आप किसी एकके अपराधसे समस्त लोकोंका संहार न करें। मैं यह जाननेकी चेष्टा करता हूँ कि यह टूटा हुआ युद्धोपयोगी रथ किसका है ॥ ६ ॥

केन वा कस्य वा हेतोः सयुगः सपरिच्छदः ।
खुरनेमिक्षतश्चायं सिक्तो रुधिरबिन्दुभिः ॥ ७ ॥
देशो निर्वृत्तसंग्रामः सुघोरः पार्थिवात्मज ।
एकस्य तु विमर्दोऽयं न द्वयोर्वदतां वर ॥ ८ ॥
नहि वृत्तं हि पश्यामि बलस्य महतः पदम् ।
नैकस्य तु कृते लोकान् विनाशयितुमर्हसि ॥ ९ ॥

'अथवा किसने किस उद्देश्यसे जूए तथा अन्य उपकरणोंसहित इस रथको तोड़ा है ? इसका भी पता लगाना है। राजकुमार ! यह स्थान घोड़ोंकी खुरों और धक्के पहियोंसे खुदा हुआ है; साथ ही खूनकी बूँदोंसे सिंच उठा है। इससे सिद्ध होता है कि यहाँ बड़ा भयंकर संग्राम हुआ था, परंतु यह संग्राम-चिह्न किसी एक ही रथीका है, दोका नहीं। वक्ताओंमें श्रेष्ठ श्रीराम ! मैं यहाँ किसी विशाल सेनाका पदचिह्न नहीं देख रहा हूँ; अतः किसी एकहीके अपराधके कारण आपको समस्त लोकोंका विनाश नहीं करना चाहिये ॥ ७—९ ॥

युक्तदण्डा हि मृदवः प्रशान्ता वसुधाधिपाः ।
सदा त्वं सर्वभूतानां शरण्यः परमा गतिः ॥ १० ॥

'क्योंकि राजालोग अपराधके अनुसार ही उचित दण्ड देनेवाले, कोमल स्वभाववाले और शान्त होते हैं। आप तो सदा ही समस्त प्राणियोंको शरण देनेवाले तथा उनकी परम गति हैं ॥ १० ॥

को नु दारप्रणाशं ते साधु मन्येत राघव ।
सरितः सागराः शैला देवगन्धर्वदानवाः ॥ ११ ॥
नालं ते विप्रियं कर्तुं दीक्षितस्येव साधवः ।

'रघुनन्दन ! आपकी स्त्रीका विनाश या अपहरण कौन अच्छा समझेगा ? जैसे यज्ञमें दीक्षित हुए पुरुषका साधुस्वभाववाले ऋत्विज् कभी अप्रिय नहीं कर सकते, उसी प्रकार सरिताएँ, समुद्र, पर्वत, देवता, गन्धर्व और दानव—ये कोई भी आपके प्रतिकूल आचरण नहीं कर सकते ॥ ११½ ॥

येन राजन् हृता सीता तमन्वेषितुमर्हसि ॥ १२ ॥
मद्द्वितीयो धनुष्पाणिः सहायैः परमर्षिभिः ।

'राजन् ! जिसने सीताका अपहरण किया है, उसीका अन्वेषण करना चाहिये। आप मेरे साथ धनुष हाथमें लेकर बड़े-बड़े ऋषियोंकी सहायतासे उसका पता लगावें ॥

समुद्रं वा विचेष्यामः पर्वतांश्च वनानि च ॥ १३ ॥
गुहाश्च विविधा घोराः पद्मिन्यो विविधास्तथा ।
देवगन्धर्वलोकांश्च विचेष्यामः समाहिताः ॥ १४ ॥
यावन्नाधिगमिष्यामस्तव भार्यापहारिणम् ।
न चेत् साम्ना प्रदास्यन्ति पत्नीं ते त्रिदशेश्वराः ।
कोसलेन्द्र ततः पश्चात् प्राप्तकालं करिष्यसि ॥ १५ ॥

'हम सब लोग एकाग्रचित्त हो समुद्रमें खोजेंगे, पर्वतों और वनोंमें ढूँढ़ेंगे, नाना प्रकारकी भयंकर गुफाओं और भाँति-भाँतिके सरोवरोंको छान डालेंगे तथा देवताओं और गन्धर्वोंके लोकोंमें भी तलाश करेंगे। जबतक आपकी पत्नीका अपहरण करनेवाले दुरात्माका पता नहीं लगा लेंगे, तबतक हम अपना यह प्रयत्न जारी रखेंगे। कोसलनरेश ! यदि हमारे शान्तिपूर्ण बर्तावसे देवेश्वरगण आपकी पत्नीका पता नहीं देंगे तो उस अवसरके अनुरूप कार्य आप कीजियेगा ॥ १३—१५ ॥

शीलेन साम्ना विनयेन सीतां
नयेन न प्राप्स्यसि चेन्नरेन्द्र ।
ततः समुत्सादय हेमपुङ्खै-
र्महेन्द्रवज्रप्रतिमैः शरौघैः ॥ १६ ॥

'नरेन्द्र ! यदि अच्छे शील-स्वभाव, सामनीति, विनय और न्यायके अनुसार प्रयत्न करनेपर भी आपको सीताका पता न मिले, तब आप सुवर्णमय पंखवाले महेन्द्रके वज्रतुल्य बाणसमूहोंसे समस्त लोकोंका संहार कर डालें' ॥ १६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पैंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

★

षट्षष्टितमः सर्गः

लक्ष्मणका श्रीरामको समझाना

तं तथा शोकसंतप्तं विलपन्तमनाथवत्।
मोहेन महता युक्तं परिद्यूनमचेतसम्॥ १॥
ततः सौमित्रिराश्वस्य मुहूर्तादिव लक्ष्मणः।
रामं सम्बोधयामास चरणौ चाभिपीडयन्॥ २॥

श्रीरामचन्द्रजी शोकसे संतप्त हो अनाथकी तरह विलाप करने लगे। वे महान् मोहसे युक्त और अत्यन्त दुर्बल हो गये। उनका चित्त स्वस्थ नहीं था। उन्हें इस अवस्थामें देखकर सुमित्राकुमार लक्ष्मणने दो घड़ीतक आश्वासन दिया; फिर वे उनका पैर दबाते हुए उन्हें समझाने लगे—॥

महता तपसा चापि महता चापि कर्मणा।
राज्ञा दशरथेनासील्लब्धोऽमृतमिवामरैः॥ ३॥

'भैया! हमारे पिता महाराज दशरथने बड़ी तपस्या और महान् कर्मका अनुष्ठान करके आपको पुत्ररूपमें प्राप्त किया, जैसे देवताओंने महान् प्रयाससे अमृत पा लिया था॥ ३॥

तव चैव गुणैर्बद्धस्त्वद्वियोगान्महीपतिः।
राजा देवत्वमापन्नो भरतस्य यथा श्रुतम्॥ ४॥

'आपने भरतके मुँहसे जैसा सुना था, उसके अनुसार भूपाल महाराज दशरथ आपके ही गुणोंसे बँधे हुए थे और आपका ही वियोग होनेसे देवलोकको प्राप्त हुए॥ ४॥

यदि दुःखमिदं प्राप्तं काकुत्स्थ न सहिष्यसे।
प्राकृतश्चाल्पसत्त्वश्च इतरः कः सहिष्यति॥ ५॥

'ककुत्स्थकुलभूषण! यदि अपने ऊपर आये हुए इस दुःखको आप ही धैर्यपूर्वक नहीं सहेंगे तो दूसरा कौन साधारण पुरुष, जिसकी शक्ति बहुत थोड़ी है, सह सकेगा?॥ ५॥

आश्वसिहि नरश्रेष्ठ प्राणिनः कस्य नापदः।
संस्पृशन्त्यग्निवद् राजन् क्षणेन व्यपयान्ति च॥ ६॥

'नरश्रेष्ठ! आप धैर्य धारण करें। संसारमें किस प्राणीपर आपत्तियाँ नहीं आतीं। राजन्! आपत्तियाँ अग्निकी भाँति एक क्षणमें स्पर्श करतीं और दूसरे ही क्षणमें दूर हो जाती हैं॥ ६॥

दुःखितो हि भवाँल्लोकांस्तेजसा यदि धक्ष्यते।
आर्ताः प्रजा नरव्याघ्र क्व नु यास्यन्ति निर्वृतिम्॥ ७॥

'पुरुषसिंह! यदि आप दुःखी होकर अपने तेजसे समस्त लोकोंको दग्ध कर डालेंगे तो पीड़ित हुई प्रजा किसकी शरणमें जाकर सुख और शान्ति पायेगी॥ ७॥

लोकस्वभाव एवैष ययातिर्नहुषात्मजः।
गतः शक्रेण सालोक्यमनयस्तं समस्पृशत्॥ ८॥

'यह लोकका स्वभाव ही है कि यहाँ सबपर दुःख-शोक आता-जाता रहता है। नहुषपुत्र ययाति इन्द्रके समान लोक (देवेन्द्रपद) को प्राप्त हुए थे, किंतु वहाँ भी अन्यायमूलक दुःख उनका स्पर्श किये बिना न रहा॥ ८॥

महर्षियों वसिष्ठस्तु यः पितुर्नः पुरोहितः।
अह्ना पुत्रशतं जज्ञे तथैवास्य पुनर्हतम्॥ ९॥

'हमारे पिताके पुरोहित जो महर्षि वसिष्ठजी हैं, उन्हें एक ही दिनमें सौ पुत्र प्राप्त हुए और फिर एक ही दिन वे सब-के-सब विश्वामित्रके हाथसे मारे गये॥ ९॥

या चेयं जगतो माता सर्वलोकनमस्कृता।
अस्याश्च चलनं भूमेर्दृश्यते कोसलेश्वर॥ १०॥

'कोसलेश्वर! यह जो विश्ववन्दिता जगन्माता पृथ्वी है, इसका भी हिलना-डुलना देखा जाता है॥ १०॥

यौ धर्मौ जगतो नेत्रौ यत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्।
आदित्यचन्द्रौ ग्रहणमभ्युपेतौ महाबलौ॥ ११॥

'जो धर्मके प्रवर्तक और संसारके नेत्र हैं, जिनके आधारपर ही सारा जगत् टिका हुआ है, वे महाबली सूर्य और चन्द्रमा भी राहुके द्वारा ग्रहणको प्राप्त होते हैं॥ ११॥

सुमहान्त्यपि भूतानि देवाश्च पुरुषर्षभ।
न दैवस्य प्रमुञ्चन्ति सर्वभूतानि देहिनः॥ १२॥

'पुरुषप्रवर! बड़े-बड़े भूत और देवता भी दैव (प्रारब्ध कर्म) की अधीनतासे मुक्त नहीं हो पाते हैं; फिर समस्त देहधारी प्राणियोंके लिये तो कहना ही क्या है॥ १२॥

शक्रादिष्वपि देवेषु वर्तमानौ नयानयौ।
श्रूयेते नरशार्दूल न त्वं शोचितुमर्हसि॥ १३॥

'नरश्रेष्ठ! इन्द्र आदि देवताओंको भी नीति और अनीतिके कारण सुख और दुःखकी प्राप्ति होती सुनी जाती है; इसलिये आपको शोक नहीं करना चाहिये॥ १३॥

मृतायामपि वैदेह्यां नष्टायामपि राघव।
शोचितुं नार्हसे वीर यथान्यः प्राकृतस्तथा॥ १४॥

'वीर रघुनन्दन! विदेहराजकुमारी सीता यदि मर जायँ या नष्ट हो जायँ तो भी आपको दूसरे गँवार मनुष्योंकी तरह शोक-चिन्ता नहीं करनी चाहिये॥ १४॥

त्वद्विधा नहि शोचन्ति सततं सर्वदर्शनाः।
सुमहत्स्वपि कृच्छ्रेषु रामानिर्विण्णदर्शनाः॥ १५॥

'श्रीराम! आप-जैसे सर्वज्ञ पुरुष बड़ी-से-बड़ी विपत्ति आनेपर भी कभी शोक नहीं करते हैं। वे निर्वेद (खेद) रहित हो अपनी विचारशक्तिको नष्ट नहीं होने देते॥ १५॥

तत्त्वतो हि नरश्रेष्ठ बुद्ध्या समनुचिन्तय।
बुद्ध्या युक्ता महाप्राज्ञा विजानन्ति शुभाशुभे॥ १६॥

'नरश्रेष्ठ! आप बुद्धिके द्वारा तात्त्विक विचार कीजिये—क्या करना चाहिये और क्या नहीं; क्या उचित है और क्या अनुचित—इसका निश्चय कीजिये; क्योंकि बुद्धि-युक्त महाज्ञानी पुरुष ही शुभ और अशुभ (कर्तव्य-अकर्तव्य एवं उचित-अनुचित) को अच्छी तरह जानते हैं॥ १६॥

अदृष्टगुणदोषाणामधृवाणां तु कर्मणाम्।
नान्तरेण क्रियां तेषां फलमिष्टं च वर्तते ॥ १७ ॥

'जिनके गुण-दोष देखे या जाने नहीं गये हैं तथा जो अध्रुव हैं—फल देकर नष्ट हो जानेवाले हैं, ऐसे कर्मोंका शुभाशुभ फल उन्हें आचरणमें लाये बिना नहीं प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

मामेवं हि पुरा वीर त्वमेव बहुशोक्तवान्।
अनुशिष्याद्धि को नु त्वामपि साक्षाद् बृहस्पतिः ॥ १८ ॥

'वीर ! पहले आप ही अनेक बार इस तरहकी बातें कहकर मुझे समझा चुके हैं, आपको कौन सिखा सकता है। साक्षात् बृहस्पति भी आपको उपदेश देनेकी शक्ति नहीं रखते हैं ॥ १८ ॥

बुद्धिश्च ते महाप्राज्ञ देवैरपि दुरन्वया।
शोकेनाभिप्रसुप्तं ते ज्ञानं सम्बोधयाम्यहम् ॥ १९ ॥

'महाप्राज्ञ ! देवताओंके लिये भी आपकी बुद्धिका पता पाना कठिन है। इस समय शोकके कारण आपका ज्ञान सोया-खोया-सा जान पड़ता है। इसलिये मैं उसे जगा रहा हूँ ॥ १९ ॥

दिव्यं च मानुषं चैवमात्मनश्च पराक्रमम्।
इक्ष्वाकुवृषभावेक्ष्य यतस्व द्विषतां वधे ॥ २० ॥

'इक्ष्वाकुकुलशिरोमणे ! अपने देवोचित तथा मानवोचित पराक्रमको देखकर उसका अवसरके अनुरूप उपयोग करते हुए आप शत्रुओंके वधका प्रयत्न कीजिये ॥ २० ॥

किं ते सर्वविनाशेन कृतेन पुरुषर्षभ।
तमेव तु रिपुं पापं विज्ञायोद्धर्तुमर्हसि ॥ २१ ॥

'पुरुषप्रवर ! समस्त संसारका विनाश करनेसे आपको क्या लाभ होगा ? उस पापी शत्रुका पता लगाकर उसीको उखाड़ फेंकनेका प्रयत्न करना चाहिये' ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे षट्षष्टितमः सर्गः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें छाछठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

सप्तषष्टितमः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणकी पक्षिराज जटायुसे भेंट तथा श्रीरामका उन्हें गलेसे लगाकर रोना

पूर्वजोऽप्युक्तमात्रस्तु लक्ष्मणेन सुभाषितम्।
सारग्राही महासारं प्रतिजग्राह राघवः ॥ १ ॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी सब वस्तुओंका सार ग्रहण करनेवाले हैं। अवस्थामें बड़े होनेपर भी उन्होंने लक्ष्मणके कहे हुए अत्यन्त सारगर्भित उत्तम वचनोंको सुनकर उन्हें स्वीकार किया ॥ १ ॥

स निगृह्य महाबाहुः प्रवृद्धं रोषमात्मनः।
अवष्टभ्य धनुश्चित्रं रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ २ ॥

तदनन्तर महाबाहु श्रीरामने अपने बढ़े हुए रोषको रोका और उस विचित्र धनुषको उतारकर लक्ष्मणसे कहा— ॥

किं करिष्यावहे वत्स क्व वा गच्छाव लक्ष्मण।
केनोपायेन पश्यावः सीतामिह विचिन्तय ॥ ३ ॥

'वत्स ! अब हमलोग क्या करें ? कहाँ जायँ ? लक्ष्मण ! किस उपायसे हमें सीताका पता लगे ? यहाँ इसका विचार करो' ॥ ३ ॥

तं तथा परितापार्तं लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत्।
इदमेव जनस्थानं त्वमन्वेषितुमर्हसि ॥ ४ ॥

तब लक्ष्मणने इस प्रकार संतापपीड़ित हुए श्रीरामसे कहा— 'भैया ! आपको इस जनस्थानमें ही सीताकी खोज करनी चाहिये ॥ ४ ॥

राक्षसैर्बहुभिः कीर्णं नानाद्रुमलतायुतम्।
सन्तीह गिरिदुर्गाणि निर्दराः कन्दराणि च ॥ ५ ॥

'नाना प्रकारके वृक्ष और लताओंसे युक्त यह सघन वन अनेक राक्षसोंसे भरा हुआ है। इसमें पर्वतके ऊपर बहुत-से दुर्गम स्थान, फटे हुए पत्थर और कन्दराएँ हैं ॥ ५ ॥

गुहाश्च विविधा घोरा नानामृगगणाकुलाः।
आवासाः किंनराणां च गन्धर्वभवनानि च ॥ ६ ॥

'वहाँ भाँति-भाँतिकी भयंकर गुफाएँ हैं, जो नाना प्रकारके मृगगणोंसे भरी रहती हैं। यहाँके पर्वतपर किन्नरोंके आवासस्थान और गन्धर्वोंके भवन भी हैं ॥ ६ ॥

तानि युक्तो मया सार्धं समन्वेषितुमर्हसि।
त्वद्विधा बुद्धिसम्पन्ना महात्मानो नरर्षभाः ॥ ७ ॥
आपत्सु न प्रकम्पन्ते वायुवेगैरिवाचलाः।

'मेरे साथ चलकर आप उन सभी स्थानोंमें एकाग्रचित्त हो सीताकी खोज करें। जैसे पर्वत वायुके वेगसे कम्पित नहीं होते हैं, उसी प्रकार आप-जैसे बुद्धिमान् महात्मा नरश्रेष्ठ आपत्तियोंमें विचलित नहीं होते हैं' ॥ ७½ ॥

इत्युक्तस्तद् वनं सर्वं विचचार सलक्ष्मणः ॥ ८ ॥
क्रुद्धो रामः शरं घोरं संधाय धनुषि क्षुरम्।

उनके ऐसा कहनेपर लक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्रजी रोषपूर्वक अपने धनुषपर क्षुर नामक भयंकर बाण चढ़ाये वहाँ सारे वनमें विचरण करने लगे ॥ ८½ ॥

ततः पर्वतकूटाभं महाभागं द्विजोत्तमम् ॥ ९ ॥
ददर्श पतितं भूमौ क्षतजार्द्रं जटायुषम्।
तं दृष्ट्वा गिरिशृङ्गाभं रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ १० ॥

थोड़ी ही दूर आगे जानेपर उन्हें पर्वतशिखरके समान

विशाल शरीरवाले पक्षिराज महाभाग जटायु दिखायी पड़े, जो खूनसे लथपथ हो पृथ्वीपर पड़े थे। पर्वत-शिखरके समान प्रतीत होनेवाले उन गृध्रराजको देखकर श्रीराम लक्ष्मणसे बोले— ॥ ९-१० ॥

अनेन सीता वैदेही भक्षिता नात्र संशयः।
गृध्ररूपमिदं व्यक्तं रक्षो भ्रमति काननम्॥ ११॥

'लक्ष्मण! यह गृध्रके रूपमें अवश्य ही कोई राक्षस जान पड़ता है, जो इस वनमें घूमता रहता है। निःसंदेह इसीने विदेहराजकुमारी सीताको खा लिया होगा॥ ११॥

भक्षयित्वा विशालाक्षीमास्ते सीतां यथा सुखम्।
एनं वधिष्ये दीप्ताग्रैः शरैर्घोरैरजिह्मगैः॥ १२॥

'विशाललोचना सीताको खाकर यह यहाँ सुखपूर्वक बैठा हुआ है। मैं प्रज्वलित अग्रभागवाले तथा सीधे जानेवाले अपने भयंकर बाणोंसे इसका वध करूँगा'॥

इत्युक्त्वाभ्यपतद् द्रष्टुं संधाय धनुषि क्षुरम्।
क्रुद्धो रामः समुद्रान्तां चालयन्निव मेदिनीम्॥ १३॥

ऐसा कहकर क्रोधमें भरे हुए श्रीराम धनुषपर बाण चढ़ाये समुद्रपर्यन्त पृथ्वीको कम्पित करते हुए उसे देखनेके लिये आगे बढ़े॥ १३॥

तं दीनदीनया वाचा सफेनं रुधिरं वमन्।
अभ्यभाषत पक्षी स रामं दशरथात्मजम्॥ १४॥

इसी समय पक्षी जटायु अपने मुँहसे फेनयुक्त रक्त वमन करते हुए अत्यन्त दीन-वाणीमें दशरथनन्दन श्रीरामसे बोले— ॥ १४॥

यामोषधीमिवायुष्मन्नन्वेषसि महावने।
सा देवी मम च प्राणा रावणेनोभयं हृतम्॥ १५॥

'आयुष्मन्! इस महान् वनमें तुम जिसे ओषधिके समान ढूँढ़ रहे हो, उस देवी सीताको तथा मेरे इन प्राणोंको भी रावणने हर लिया॥ १५॥

त्वया विरहिता देवी लक्ष्मणेन च राघव।
ह्रियमाणा मया दृष्टा रावणेन बलीयसा॥ १६॥

'रघुनन्दन! तुम्हारे और लक्ष्मणके न रहनेपर महाबली रावण आया और देवी सीताको हरकर ले जाने लगा। उस समय मेरी दृष्टि सीतापर पड़ी॥ १६॥

सीतामभ्यवपन्नोऽहं रावणश्च रणे प्रभो।
विध्वंसितरथच्छत्रः पतितो धरणीतले॥ १७॥

'प्रभो! ज्यों ही मेरी दृष्टि पड़ी, मैं सीताकी सहायताके लिये दौड़ पड़ा। रावणके साथ मेरा युद्ध हुआ। मैंने उस युद्धमें रावणके रथ और छत्र आदि सभी साधन नष्ट कर दिये और वह भी घायल होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा॥ १७॥

एतदस्य धनुर्भग्नमेते चास्य शरास्तथा।
अयमस्य रणे राम भग्नः सांग्रामिको रथः॥ १८॥

'श्रीराम! यह रहा उसका टूटा हुआ धनुष, ये हैं उसके खण्डित हुए बाण और यह है उसका युद्धोपयोगी रथ, जो युद्धमें मेरेद्वारा तोड़ डाला गया है॥ १८॥

अयं तु सारथिस्तस्य मत्पक्षनिहतो भुवि।
परिश्रान्तस्य मे पक्षौ छित्त्वा खड्गेन रावणः॥ १९॥
सीतामादाय वैदेहीमुत्पपात विहायसम्।
रक्षसा निहतं पूर्वं मां न हन्तुं त्वमर्हसि॥ २०॥

'यह रावणका सारथि है, जिसे मैंने अपने पंखोंसे मार डाला था। जब मैं युद्ध करते-करते थक गया, तब रावणने तलवारसे मेरे दोनों पंख काट डाले और वह विदेहकुमारी सीताको लेकर आकाशमें उड़ गया। मैं उस राक्षसके हाथसे पहले ही मार डाला गया हूँ, अब तुम मुझे न मारो'॥

रामस्तस्य तु विज्ञाय सीतासक्तां प्रियां कथाम्।
गृध्रराजं परिष्वज्य परित्यज्य महद् धनुः॥ २१॥
निपपातावशो भूमौ रुरोद सहलक्ष्मणः।
द्विगुणीकृततापार्तो रामो धीरतरोऽपि सन्॥ २२॥

सीतासे सम्बन्ध रखनेवाली यह प्रिय वार्ता सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने अपना महान् धनुष फेंक दिया और गृध्रराज जटायुको गलेसे लगाकर वे शोकसे विवश हो पृथ्वीपर गिर पड़े और लक्ष्मणके साथ ही रोने लगे। अत्यन्त धीर होनेपर भी श्रीरामने उस समय दूने दुःखका अनुभव किया॥

एकमेकायने कृच्छ्रे निःश्वसन्तं मुहुर्मुहुः।
समीक्ष्य दुःखितो रामः सौमित्रिमिदमब्रवीत्॥ २३॥

असहाय हो एकमात्र ऊर्ध्वश्वासकी संकटपूर्ण अवस्थामें पड़कर बारंबार लंबी साँस खींचते हुए जटायुकी ओर देखकर श्रीरामको बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने सुमित्राकुमारसे कहा— ॥ २३॥

राज्यं भ्रष्टं वने वासः सीता नष्टा मृतो द्विजः।
ईदृशीयं ममालक्ष्मीर्दहेदपि हि पावकम्॥ २४॥

'लक्ष्मण! मेरा राज्य छिन गया, मुझे वनवास मिला (पिताजीकी मृत्यु हुई), सीताका अपहरण हुआ और ये मेरे परम सहायक पक्षिराज भी मर गये। ऐसा जो मेरा यह दुर्भाग्य है, यह तो अग्निको भी जलाकर भस्म कर सकता है॥ २४॥

सम्पूर्णमपि चेदद्य प्रतरेयं महोदधिम्।
सोऽपि नूनं ममालक्ष्म्या विशुष्येत् सरितां पतिः॥ २५॥

'यदि आज मैं भरे हुए महासागरको तैरने लगूँ तो मेरे दुर्भाग्यकी आँचसे वह सरिताओंका स्वामी समुद्र भी निश्चय ही सूख जायगा॥ २५॥

नास्त्यभाग्यतरो लोके मत्तोऽस्मिन् स चराचरे।
येनेयं महती प्राप्ता मया व्यसनवागुरा॥ २६॥

'इस चराचर जगत्में मुझसे बढ़कर भाग्यहीन दूसरा कोई नहीं है, जिस अभाग्यके कारण मुझे इस विपत्तिके बड़े भारी जालमें फँसना पड़ा है॥ २६॥

अयं पितुर्वयस्यो मे गृध्रराजो महाबलः।
शेते विनिहतो भूमौ मम भाग्यविपर्ययात्॥ २७॥

'ये महाबली गृध्रराज जटायु मेरे पिताजीके मित्र थे, किंतु आज मेरे दुर्भाग्यवश मारे जाकर इस समय पृथ्वीपर पड़े हैं'॥ २७॥

इत्येवमुक्त्वा बहुशो राघवः सहलक्ष्मणः।
जटायुषं च पस्पर्श पितृस्नेहं निदर्शयन्॥ २८॥

इस प्रकार बहुत-सी बातें कहकर लक्ष्मणसहित श्रीरघुनाथजीने जटायुके शरीरपर हाथ फेरा और पिताके प्रति जैसा स्नेह होना चाहिये, वैसा ही उनके प्रति प्रदर्शित किया॥ २८॥

निकृत्तपक्षं रुधिरावसिक्तं
तं गृध्रराजं परिगृह्य राघवः।
क्व मैथिली प्राणसमा गतेति
विमुच्य वाचं निपपात भूमौ॥ २९॥

पङ्ख कट जानेके कारण गृध्रराज जटायु लहू-लुहान हो रहे थे। उसी अवस्थामें उन्हें गलेसे लगाकर श्रीरघुनाथजीने पूछा—'तात! मेरी प्राणोंके समान प्रिया मिथिलेशकुमारी सीता कहाँ चली गयी?' इतनी ही बात मुँहसे निकालकर वे पृथ्वीपर गिर पड़े॥ २९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे सप्तषष्टितमः सर्गः॥ ६७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें सरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ६७॥

अष्टषष्टितमः सर्गः

जटायुका प्राण-त्याग और श्रीरामद्वारा उनका दाह-संस्कार

रामः प्रेक्ष्य तु तं गृध्रं भुवि रौद्रेण पातितम्।
सौमित्रिं मित्रसम्पन्नमिदं वचनमब्रवीत्॥ १॥

भयंकर राक्षस रावणने जिसे पृथ्वीपर मार गिराया था, उस गृध्रराज जटायुकी ओर दृष्टि डालकर भगवान् श्रीराम मित्रोचित गुणसे सम्पन्न सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे बोले—॥

ममायं नूनमर्थेषु यतमानो विहंगमः।
राक्षसेन हतः संख्ये प्राणांस्त्यजति मत्कृते॥ २॥

'भाई! यह पक्षी अवश्य मेरा ही कार्य सिद्ध करनेके लिये प्रयत्नशील था, किंतु उस राक्षसके द्वारा युद्धमें मारा गया। यह मेरे ही लिये अपने प्राणोंका परित्याग कर रहा है॥ २॥

अतिखिन्नः शरीरेऽस्मिन् प्राणो लक्ष्मण विद्यते।
तथा स्वरविहीनोऽयं विक्लवं समुदीक्षते॥ ३॥

'लक्ष्मण! इस शरीरके भीतर इसके प्राणोंको बड़ी वेदना हो रही है, इसीलिये इसकी आवाज बंद होती जा रही है तथा यह अत्यन्त व्याकुल होकर देख रहा है'॥ ३॥

जटायो यदि शक्नोषि वाक्यं व्याहरितुं पुनः।
सीतामाख्याहि भद्रं ते वधमाख्याहि चात्मनः॥ ४॥

(लक्ष्मणसे ऐसा कहकर श्रीराम उस पक्षीसे बोले—) 'जटायो! यदि आप पुनः बोल सकते हों तो आपका भला हो, बताइये, सीताकी क्या अवस्था है? और आपका वध किस प्रकार हुआ?॥ ४॥

किंनिमित्तो जहारार्यां रावणस्तस्य किं मया।
अपराधं तु यं दृष्ट्वा रावणेन हृता प्रिया॥ ५॥

'जिस अपराधको देखकर रावणने मेरी प्रिय भार्याका अपहरण किया है, उसका वह अपराध क्या है? और मैंने उसे कब किया? किस निमित्तको लेकर रावणने आर्या सीताका हरण किया है?॥ ५॥

कथं तच्चन्द्रसंकाशं मुखमासीन्मनोहरम्।
सीतया कानि चोक्तानि तस्मिन् काले द्विजोत्तम॥ ६॥

'पक्षिप्रवर! सीताका चन्द्रमाके समान मनोहर मुख कैसा हो गया था? तथा उस समय सीताने क्या-क्या बातें कही थीं?॥ ६॥

कथंवीर्यः कथंरूपः किंकर्मा स च राक्षसः।
क्व चास्य भवनं तात ब्रूहि मे परिपृच्छतः॥ ७॥

'तात! उस राक्षसका बल-पराक्रम तथा रूप कैसा है? वह क्या काम करता है? और उसका घर कहाँ है? मैं जो कुछ पूछ रहा हूँ, वह सब बताइये'॥ ७॥

तमुद्वीक्ष्य स धर्मात्मा विलपन्तमनाथवत्।
वाचा विक्लवया राममिदं वचनमब्रवीत्॥ ८॥

इस तरह अनाथकी भाँति विलाप करते हुए श्रीरामकी ओर देखकर धर्मात्मा जटायुने लड़खड़ाती जबानसे यों कहना आरम्भ किया—॥ ८॥

सा हृता राक्षसेन्द्रेण रावणेन दुरात्मना।
मायामास्थाय विपुलां वातदुर्दिनसंकुलाम्॥ ९॥

'रघुनन्दन! दुरात्मा राक्षसराज रावणने विपुल मायाका आश्रय ले आँधी-पानीकी सृष्टि करके (घबराहटकी अवस्थामें) सीताका हरण किया था॥ ९॥

परिक्लान्तस्य मे तात पक्षौ छित्त्वा निशाचरः।
सीतामादाय वैदेहीं प्रयातो दक्षिणामुखः॥ १०॥

'तात! जब मैं उससे लड़ता-लड़ता थक गया, उस अवस्थामें मेरे दोनों पंख काटकर वह निशाचर विदेहनन्दिनी सीताको साथ लिये यहाँसे दक्षिण दिशाकी ओर गया था॥

उपरुध्यन्ति मे प्राणा दृष्टिर्भ्रमति राघव।
पश्यामि वृक्षान् सौवर्णानुशीरकृतमूर्धजान्॥ ११॥

'रघुनन्दन! अब मेरे प्राणोंकी गति बंद हो रही है, दृष्टि घूम रही है और समस्त वृक्ष मुझे सुनहरे रंगके दिखायी देते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि उन वृक्षोंपर खशके केश जमे हुए हैं॥ ११॥

येन याति मुहूर्तेन सीतामादाय रावणः।
विप्रणष्टं धनं क्षिप्रं तत्स्वामी प्रतिपद्यते॥ १२॥
विन्दो नाम मुहूर्तोऽसौ न च काकुत्स्थ सोऽबुधत्।
त्वत्प्रियां जानकीं हत्वा रावणो राक्षसेश्वरः।
झषवद् बडिशं गृह्य क्षिप्रमेव विनश्यति॥ १३॥

'रावण सीताको जिस मुहूर्तमें ले गया है, उसमें खोया हुआ धन शीघ्र ही उसके स्वामीको मिल जाता है। काकुत्स्थ! वह 'विन्द' नामक मुहूर्त था, किंतु उस राक्षसको इसका पता नहीं था। जैसे मछली मौतके लिये ही बंसी पकड़ लेती है, उसी प्रकार वह भी सीताको ले जाकर शीघ्र ही नष्ट हो जायगा॥ १२-१३॥

न च त्वया व्यथा कार्या जनकस्य सुतां प्रति।
वैदेह्या रंस्यसे क्षिप्रं हत्वा तं रणमूर्धनि॥ १४॥

'अतः अब तुम जनकनन्दिनीके लिये अपने मनमें खेद न करो। संग्रामके मुहानेपर उस निशाचरका वध करके तुम शीघ्र ही पुनः विदेहराजकुमारीके साथ विहार करोगे'॥

असम्मूढस्य गृध्रस्य रामं प्रत्यनुभाषतः।
आस्यात् सुस्राव रुधिरं म्रियमाणस्य सामिषम्॥ १५॥

गृध्रराज जटायु यद्यपि मर रहे थे तो भी उनके मनपर मोह या भ्रम नहीं छाया था (उनके होश-हवास ठीक थे)। वे श्रीरामचन्द्रजीको उनकी बातका उत्तर दे ही रहे थे कि उनके मुखसे मांसयुक्त रुधिर निकलने लगा॥ १५॥

पुत्रो विश्रवसः साक्षाद् भ्राता वैश्रवणस्य च।
इत्युक्त्वा दुर्लभान् प्राणान् मुमोच पतगेश्वरः॥ १६॥

वे बोले—'रावण विश्रवाका पुत्र और कुबेरका सगा भाई है' इतना कहकर उन पक्षिराजने दुर्लभ प्राणोंका परित्याग कर दिया॥ १६॥

ब्रूहि ब्रूहीति रामस्य ब्रुवाणस्य कृताञ्जलेः।
त्यक्त्वा शरीरं गृध्रस्य प्राणा जग्मुर्विहायसम्॥ १७॥

श्रीरामचन्द्रजी हाथ जोड़े कह रहे थे, 'कहिये, कहिये, कुछ और कहिये!' किंतु उस समय गृध्रराजके प्राण उनका शरीर छोड़कर आकाशमें चले गये॥ १७॥

स निक्षिप्य शिरो भूमौ प्रसार्य चरणौ तथा।
विक्षिप्य च शरीरं स्वं पपात धरणीतले॥ १८॥

उन्होंने अपना मस्तक भूमिपर डाल दिया, दोनों पैर फैला दिये और अपने शरीरको भी पृथ्वीपर ही डालते हुए वे धराशायी हो गये॥ १८॥

तं गृध्रं प्रेक्ष्य ताम्राक्षं गतासुमचलोपमम्।
रामः सुबहुभिर्दुःखैर्दीनः सौमित्रिमब्रवीत्॥ १९॥

गृध्रराज जटायुकी आँखें लाल दिखायी देती थीं। प्राण निकल जानेसे वे पर्वतके समान अविचल हो गये। उन्हें इस अवस्थामें देखकर बहुत-से दुःखोंसे दुःखी हुए श्रीरामचन्द्रजीने सुमित्राकुमारसे कहा—॥ १९॥

बहूनि रक्षसां वासे वर्षाणि वसता सुखम्।
अनेन दण्डकारण्ये विशीर्णमिह पक्षिणा॥ २०॥

'लक्ष्मण! राक्षसोंके निवासस्थान इस दण्डकारण्यमें बहुत वर्षोंतक सुखपूर्वक रहकर इन पक्षिराजने यहीं अपने शरीरका त्याग किया है॥ २०॥

अनेकवार्षिको यस्तु चिरकालसमुत्थितः।
सोऽयमद्य हतः शेते कालो हि दुरतिक्रमः॥ २१॥

'इनकी अवस्था बहुत वर्षोंकी थी। इन्होंने सुदीर्घ काल-तक अपना अभ्युदय देखा है; किंतु आज इस वृद्धावस्थामें उस राक्षसके द्वारा मारे जाकर ये पृथ्वीपर सो रहे हैं; क्योंकि कालका उल्लङ्घन करना सबके ही लिये कठिन है॥ २१॥

पश्य लक्ष्मण गृध्रोऽयमुपकारी हतश्च मे।
सीतामभ्यवपन्नो हि रावणेन बलीयसा॥ २२॥

'लक्ष्मण! देखो, ये जटायु मेरे बड़े उपकारी थे, किंतु आज मारे गये। सीताकी रक्षाके लिये युद्धमें प्रवृत्त होनेपर अत्यन्त बलवान् रावणके हाथसे इनका वध हुआ है॥

गृध्रराज्यं परित्यज्य पितृपैतामहं महत्।
मम हेतोरयं प्राणान् मुमोच पतगेश्वरः॥ २३॥

'बाप-दादोंके द्वारा प्राप्त हुए गीधोंके विशाल राज्यका त्याग करके इन पक्षिराजने मेरे ही लिये अपने प्राणोंकी आहुति दी है॥ २३॥

सर्वत्र खलु दृश्यन्ते साधवो धर्मचारिणः।
शूराः शरण्याः सौमित्रे तिर्यग्योनिगतेष्वपि॥ २४॥

'शूर, शरणागतरक्षक, धर्मपरायण श्रेष्ठ पुरुष सभी जगह देखे जाते हैं। पशु-पक्षीकी योनियोंमें भी उनका अभाव नहीं है॥ २४॥

सीताहरणजं दुःखं न मे सौम्य तथागतम्।
यथा विनाशो गृध्रस्य मत्कृते च परंतप॥ २५॥

'सौम्य! शत्रुओंको संताप देनेवाले लक्ष्मण! इस समय मुझे सीताके हरणका उतना दुःख नहीं है, जितना कि मेरे लिये प्राणत्याग करनेवाले जटायुकी मृत्युसे हो रहा है॥

राजा दशरथः श्रीमान् यथा मम महायशाः।
पूजनीयश्च मान्यश्च तथायं पतगेश्वरः॥ २६॥

'महायशस्वी श्रीमान् राजा दशरथ जैसे मेरे माननीय और पूज्य थे, वैसे ही ये पक्षिराज जटायु भी हैं॥ २६॥

सौमित्रे हर काष्ठानि निर्मथिष्यामि पावकम्।
गृध्रराजं दिधक्ष्यामि मत्कृते निधनं गतम्॥ २७॥

'सुमित्रानन्दन! तुम सूखे काष्ठ ले आओ, मैं मथकर आग निकालूँगा और मेरे लिये मृत्युको प्राप्त हुए इन

गृध्रराजका दाह-संस्कार करूँगा ॥ २७ ॥

नाथं पतगलोकस्य चितिमारोपयाम्यहम्।
इमं धक्ष्यामि सौमित्रे हतं रौद्रेण रक्षसा ॥ २८ ॥

'सुमित्राकुमार! उस भयंकर राक्षसके द्वारा मारे गये इन पक्षिराजको मैं चितापर चढ़ाऊँगा और इनका दाह-संस्कार करूँगा' ॥ २८ ॥

या गतिर्यज्ञशीलानामाहिताग्नेश्च या गतिः।
अपरावर्तिनां या च या च भूमिप्रदायिनाम् ॥ २९ ॥
मया त्वं समनुज्ञातो गच्छ लोकाननुत्तमान्।
गृध्रराज महासत्त्व संस्कृतश्च मया व्रज ॥ ३० ॥

(फिर वे जटायुको सम्बोधित करके बोले—) 'महान् बलशाली गृध्रराज! यज्ञ करनेवाले, अग्निहोत्री, युद्धमें पीठ न दिखानेवाले और भूमिदान करनेवाले पुरुषोंको जिस गतिकी—जिन उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होती है, मेरी आज्ञासे उन्हीं सर्वोत्तम लोकोंमें तुम भी जाओ। मेरे द्वारा दाह-संस्कार किये जानेपर तुम्हारी सद्गति हो' ॥ २९-३० ॥

एवमुक्त्वा चितां दीप्तामारोप्य पतगेश्वरम्।
ददाह रामो धर्मात्मा स्वबन्धुमिव दुःखितः ॥ ३१ ॥

ऐसा कहकर धर्मात्मा श्रीरामचन्द्रजीने दुःखित हो पक्षिराजके शरीरको चितापर रखा और उसमें आग लगाकर अपने बन्धुकी भाँति उनका दाह-संस्कार किया ॥ ३१ ॥

रामोऽथ सहसौमित्रिर्वनं गत्वा स वीर्यवान्।
स्थूलान् हत्वा महारोहीननुतस्तार तं द्विजम् ॥ ३२ ॥
रोहिमांसानि चोद्धृत्य पेशीकृत्वा महायशाः।
शकुनाय ददौ रामो रम्ये हरितशाद्वले ॥ ३३ ॥

तदनन्तर लक्ष्मणसहित पराक्रमी श्रीराम वनमें जाकर मोटे-मोटे महारोही (कन्दमूल विशेष) काट लाये और उन्हें जटायुके लिये अर्पित करनेके उद्देश्यसे उन्होंने पृथ्वीपर कुश बिछाये। महायशस्वी श्रीरामने रोहीके गूदे निकालकर उनका पिण्ड बनाया और उन सुन्दर हरित कुशाओंपर जटायुको पिण्डदान किया ॥ ३२-३३ ॥

यत् तत् प्रेतस्य मर्त्यस्य कथयन्ति द्विजातयः।
तत् स्वर्गगमनं पित्र्यं तस्य रामो जजाप ह ॥ ३४ ॥

ब्राह्मणलोग परलोकवासी मनुष्यको स्वर्गकी प्राप्ति करानेके उद्देश्यसे जिन पितृसम्बन्धी मन्त्रोंका जप आवश्यक बतलाते हैं, उन सबका भगवान् श्रीरामने जप किया ॥ ३४ ॥

ततो गोदावरीं गत्वा नदीं नरवरात्मजौ।
उदकं चक्रतुस्तस्मै गृध्रराजाय तावुभौ ॥ ३५ ॥

तदनन्तर उन दोनों राजकुमारोंने गोदावरी नदीके तटपर जाकर उन गृध्रराजके लिये जलाञ्जलि दी ॥ ३५ ॥

शास्त्रदृष्टेन विधिना जलं गृध्राय राघवौ।
स्नात्वा तौ गृध्रराजाय उदकं चक्रतुस्तदा ॥ ३६ ॥

रघुकुलके उन दोनों महापुरुषोंने गोदावरीमें नहाकर शास्त्रीय विधिसे उन गृध्रराजके लिये उस समय जलाञ्जलिका दान किया ॥ ३६ ॥

स गृध्रराजः कृतवान् यशस्करं
सुदुष्करं कर्म रणे निपातितः।
महर्षिकल्पेन च संस्कृतस्तदा
जगाम पुण्यां गतिमात्मनः शुभाम् ॥ ३७ ॥

महर्षितुल्य श्रीरामके द्वारा दाहसंस्कार होनेके कारण गृध्रराज जटायुको आत्माका कल्याण करनेवाली परम पवित्र गति प्राप्त हुई। उन्होंने रणभूमिमें अत्यन्त दुष्कर और यशोवर्धक पराक्रम प्रकट किया था। परंतु अन्तमें रावणने उन्हें मार गिराया ॥ ३७ ॥

कृतोदकौ तावपि पक्षिसत्तमे
स्थिरां च बुद्धिं प्रणिधाय जग्मतुः।
प्रवेश्य सीताधिगमे ततो मनो
वनं सुरेन्द्राविव विष्णुवासवौ ॥ ३८ ॥

तर्पण करनेके पश्चात् वे दोनों भाई पक्षिराज जटायुमें पितृतुल्य सुस्थिरभाव रखकर सीताकी खोजके कार्यमें मन लगा देवेश्वर विष्णु और इन्द्रकी भाँति वनमें आगे बढ़े ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डेऽष्टषष्टितमः सर्गः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें अरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमः सर्गः

लक्ष्मणका अयोमुखीको दण्ड देना तथा श्रीराम और लक्ष्मणका कबन्धके बाहुबन्धमें पड़कर चिन्तित होना

कृत्वैवमुदकं तस्मै प्रस्थितौ राघवौ तदा।
अवेक्षन्तौ वने सीतां जग्मतुः पश्चिमां दिशम् ॥ १ ॥

इस प्रकार जटायुके लिये जलाञ्जलि दान करके वे दोनों रघुवंशी बन्धु उस समय वहाँसे प्रस्थित हुए और वनमें सीताकी खोज करते हुए पश्चिम दिशा (नैर्ऋत्य कोण) की ओर गये ॥

तां दिशं दक्षिणां गत्वा शरचापासिधारिणौ।
अविप्रहतमैक्ष्वाकौ पन्थानं प्रतिपेदतुः ॥ २ ॥

धनुष, बाण और खड्ग धारण किये वे दोनों इक्ष्वाकुवंशी वीर उस दक्षिण-पश्चिम दिशाकी ओर आगे बढ़ते हुए एक ऐसे मार्गपर जा पहुँचे, जिसपर लोगोंका आना-जाना नहीं होता था ॥

गुल्मैर्वृक्षैश्च बहुभिर्लताभिश्च प्रवेष्टितम्।
आवृतं सर्वतो दुर्गं गहनं घोरदर्शनम्॥ ३॥

वह मार्ग बहुत-से वृक्षों, झाड़ियों और लता-बेलोंद्वारा सब ओरसे घिरा हुआ था। वह बहुत ही दुर्गम, गहन और देखनेमें भयंकर था॥ ३॥

व्यतिक्रम्य तु वेगेन गृहीत्वा दक्षिणां दिशम्।
सुभीमं तन्महारण्यं व्यतियातौ महाबलौ॥ ४॥

उसे वेगपूर्वक लाँघकर वे दोनों महाबली राजकुमार दक्षिण दिशाका आश्रय ले उस अत्यन्त भयानक और विशाल वनसे आगे निकल गये॥ ४॥

ततः परं जनस्थानात् त्रिक्रोशं गम्य राघवौ।
क्रौञ्चारण्यं विविशतुर्गहनं तौ महौजसौ॥ ५॥

तदनन्तर जनस्थानसे तीन कोस दूर जाकर वे महाबली श्रीराम और लक्ष्मण क्रौञ्चारण्य नामसे प्रसिद्ध गहन वनके भीतर गये॥ ५॥

नानामेघघनप्रख्यं प्रहृष्टमिव सर्वतः।
नानावर्णैः शुभैः पुष्पैर्मृगपक्षिगणैर्युतम्॥ ६॥

वह वन अनेक मेघोंके समूहकी भाँति श्याम प्रतीत होता था। विविध रंगके सुन्दर फूलोंसे सुशोभित होनेके कारण वह सब ओरसे हर्षोत्फुल्ल-सा जान पड़ता था। उसके भीतर बहुतसे पशु-पक्षी निवास करते थे॥ ६॥

दिदृक्षमाणौ वैदेहीं तद् वनं तौ विचिक्यतुः।
तत्र तत्रावतिष्ठन्तौ सीताहरणदुःखितौ॥ ७॥

सीताका पता लगानेकी इच्छासे वे दोनों उस वनमें उनकी खोज करने लगे। जहाँ-तहाँ थक जानेपर वे विश्रामके लिये ठहर जाते थे। विदेहनन्दिनीके अपहरणसे उन्हें बड़ा दुःख हो रहा था॥ ७॥

ततः पूर्वेण तौ गत्वा त्रिक्रोशं भ्रातरौ तदा।
क्रौञ्चारण्यमतिक्रम्य मतङ्गाश्रममन्तरे॥ ८॥

तत्पश्चात् वे दोनों भाई तीन कोस पूर्व जाकर क्रौञ्चारण्यको पार करके मतङ्ग मुनिके आश्रमके पास गये॥ ८॥

दृष्ट्वा तु तद् वनं घोरं बहुभीममृगद्विजम्।
नानावृक्षसमाकीर्णं सर्वं गहनपादपम्॥ ९॥

वह वन बड़ा भयंकर था। उसमें बहुत-से भयानक पशु और पक्षी निवास करते थे। अनेक प्रकारके वृक्षोंसे व्याप्त वह सारा वन गहन वृक्षावलियोंसे भरा था॥ ९॥

ददृशाते गिरौ तत्र दरीं दशरथात्मजौ।
पातालसमगम्भीरां तमसा नित्यसंवृताम्॥ १०॥

वहाँ पहुँचकर उन दशरथराजकुमारोंने वहाँके पर्वतपर एक गुफा देखी, जो पातालके समान गहरी थी। वह सदा अन्धकारसे आवृत रहती थी॥ १०॥

आसाद्य च नरव्याघ्रौ दर्यास्तस्याविदूरतः।
ददर्शतुर्महारूपां राक्षसीं विकृताननाम्॥ ११॥

उसके समीप जाकर उन दोनों नरश्रेष्ठ वीरोंने एक विशालकाय राक्षसी देखी, जिसका मुख बड़ा विकराल था॥ ११॥

भयदामल्पसत्त्वानां बीभत्सां रौद्रदर्शनाम्।
लम्बोदरीं तीक्ष्णदंष्ट्रां करालीं परुषत्वचम्॥ १२॥

वह छोटे-छोटे जन्तुओंको भय देनेवाली तथा देखनेमें बड़ी भयंकर थी। उसकी सूरत देखकर घृणा होती थी। उसके लंबे पेट, तीखी दाढ़ें और कठोर त्वचा थी। वह बड़ी विकराल दिखायी देती थी॥ १२॥

भक्षयन्तीं मृगान् भीमान् विकटां मुक्तमूर्धजाम्।
अवैक्षतां तु तौ तत्र भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ॥ १३॥

भयानक पशुओंको भी पकड़कर खा जाती थी। उसका आकार विकट था और बाल खुले हुए थे। उस कन्दराके समीप दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणने उसे देखा॥ १३॥

सा समासाद्य तौ वीरौ व्रजन्तं भ्रातुरग्रतः।
एहि रंस्यावहेत्युक्त्वा समालम्बत लक्ष्मणम्॥ १४॥

वह राक्षसी उन दोनों वीरोंके पास आयी और अपने भाईके आगे-आगे चलते हुए लक्ष्मणकी ओर देखकर बोली—'आओ हम दोनों रमण करें।' ऐसा कहकर उसने लक्ष्मणका हाथ पकड़ लिया॥ १४॥

उवाच चैनं वचनं सौमित्रिमुपगुह्य च।
अहं त्वयोमुखी नाम लाभस्ते त्वमसि प्रियः॥ १५॥

इतना ही नहीं, उसने सुमित्राकुमारको अपनी भुजाओंमें कस लिया और इस प्रकार कहा—'मेरा नाम अयोमुखी है। मैं तुम्हें भार्यारूपसे मिल गयी तो समझ लो, बहुत बड़ा लाभ हुआ और तुम मेरे प्यारे पति हो'॥ १५॥

नाथ पर्वतदुर्गेषु नदीनां पुलिनेषु च।
आयुश्चिरमिदं वीर त्वं मया सह रंस्यसे॥ १६॥

'प्राणनाथ! वीर! यह दीर्घकालतक स्थिर रहनेवाली आयु पाकर तुम पर्वतकी दुर्गम कन्दराओंमें तथा नदियोंके तटोंपर मेरे साथ सदा रमण करोगे'॥ १६॥

एवमुक्तस्तु कुपितः खड्गमुद्धृत्य लक्ष्मणः।
कर्णनासस्तनं तस्या निचकर्तारिसूदनः॥ १७॥

राक्षसीके ऐसा कहनेपर शत्रुसूदन लक्ष्मण क्रोधसे जल उठे। उन्होंने तलवार निकालकर उसके कान, नाक और स्तन काट डाले॥ १७॥

कर्णनासे निकृत्ते तु विस्वरं विननाद सा।
यथागतं प्रदुद्राव राक्षसी घोरदर्शना॥ १८॥

नाक और कानके कट जानेपर वह भयंकर राक्षसी जोर-जोरसे चिल्लाने लगी और जहाँसे आयी थी, उधर ही भाग गयी॥ १८॥

तस्यां गतायां गहनं व्रजन्तौ वनमोजसा।
आसेदतुरमित्रघ्नौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ॥ १९॥

उसके चले जानेपर वे दोनों भाई शक्तिशाली श्रीराम और

लक्ष्मण बड़े वेगसे चलकर एक गहन वनमें जा पहुँचे ॥ १९ ॥

लक्ष्मणस्तु महातेजाः सत्त्ववाञ्छीलवाञ्छुचिः ।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं भ्रातरं दीप्ततेजसम् ॥ २० ॥

उस समय महातेजस्वी, धैर्यवान्, सुशील एवं पवित्र आचार-विचारवाले लक्ष्मणने हाथ जोड़कर अपने तेजस्वी भ्राता श्रीरामचन्द्रजीसे कहा— ॥ २० ॥

स्पन्दते मे दृढं बाहुरुद्विग्नमिव मे मनः ।
प्रायशश्चाप्यनिष्टानि निमित्तान्युपलक्षये ॥ २१ ॥
तस्मात् सज्जीभवार्य त्वं कुरुष्व वचनं मम ।
ममैव हि निमित्तानि सद्यः शंसन्ति सम्भ्रमम् ॥ २२ ॥

'आर्य ! मेरी बायीं बाँह जोर-जोरसे फड़क रही है और मन उद्विग्न-सा हो रहा है। मुझे बार-बार बुरे शकुन दिखायी देते हैं, इसलिये आप भयका सामना करनेके लिये तैयार हो जाइये। मेरी बात मानिये। ये जो बुरे शकुन हैं, वे केवल मुझे ही तत्काल प्राप्त होनेवाले भयकी सूचना देते हैं ॥ २१-२२ ॥

एष वञ्चुलको नाम पक्षी परमदारुणः ।
आवयोर्विजयं युद्धे शंसन्निव विनर्दति ॥ २३ ॥

'(इसके साथ एक शुभ शकुन भी हो रहा है) यह जो वञ्जुल नामक अत्यन्त दारुण पक्षी है, यह युद्धमें हम दोनोंकी विजय सूचित करता हुआ-सा जोर-जोरसे बोल रहा है' ॥

तयोरन्वेषतोरेवं सर्वं तद् वनमोजसा ।
संजज्ञे विपुलः शब्दः प्रभञ्जन्निव तद् वनम् ॥ २४ ॥

इस प्रकार बलपूर्वक उस सारे वनमें वे दोनों भाई जब सीताकी खोज कर रहे थे, उसी समय वहाँ बड़े जोरका शब्द हुआ, जो उस वनका विध्वंस करता हुआ-सा प्रतीत होता था ॥

संवेष्टितमिवात्यर्थं गहनं मातरिश्वना ।
वनस्य तस्य शब्दोऽभूद् वनमापूरयन्निव ॥ २५ ॥

उस वनमें जोर-जोरसे आँधी चलने लगी। वह सारा वन उसकी लपेटमें आ गया। वनमें उस शब्दकी जो प्रतिध्वनि उठी, उससे वह सारा वनप्रान्त गूँज उठा ॥ २५ ॥

तं शब्दं काङ्क्षमाणस्तु रामः खड्गी सहानुजः ।
ददर्श सुमहाकायं राक्षसं विपुलोरसम् ॥ २६ ॥

भाईके साथ तलवार हाथमें लिये भगवान् श्रीराम उस शब्दका पता लगाना ही चाहते थे कि एक चौड़ी छातीवाले विशालकाय राक्षसपर उनकी दृष्टि पड़ी ॥ २६ ॥

आसेदतुश्च तद्रक्षस्तावुभौ प्रमुखे स्थितम् ।
विवृद्धमशिरोग्रीवं कबन्धमुदरेमुखम् ॥ २७ ॥

उन दोनों भाइयोंने उस राक्षसको अपने सामने खड़ा पाया। वह देखनेमें बहुत बड़ा था; किंतु उसके न मस्तक था न गला। कबन्ध (धड़मात्र) ही उसका स्वरूप था और उसके पेटमें ही मुँह बना हुआ था ॥ २७ ॥

रोमभिर्निशितैस्तीक्ष्णैर्महागिरिमिवोच्छ्रितम् ।
नीलमेघनिभं रौद्रं मेघस्तनितनिःस्वनम् ॥ २८ ॥

उसके सारे शरीरमें पैने और तीखे रोयें थे। वह महान् पर्वतके समान ऊँचा था। उसकी आकृति बड़ी भयंकर थी। वह नील मेघके समान काला था और मेघके समान ही गम्भीर स्वरमें गर्जना करता था ॥ २८ ॥

अग्निज्वालानिकाशेन ललाटस्थेन दीप्यता ।
महापक्ष्मेण पिङ्गेन विपुलेनायतेन च ॥ २९ ॥
एकेनोरसि घोरेण नयनेन सुदर्शिना ।
महादंष्ट्रोपपन्नं तं लेलिहानं महामुखम् ॥ ३० ॥

उसकी छातीमें ही ललाट था और ललाटमें एक ही लंबी-चौड़ी तथा आगकी ज्वालाके समान दहकती हुई भयंकर आँख थी, जो अच्छी तरह देख सकती थी। उसकी पलक बहुत बड़ी थी और वह आँख भूरे रंगकी थी। उस राक्षसकी दाढ़ें बहुत बड़ी थीं तथा वह अपनी लपलपाती हुई जीभसे अपने विशाल मुखको बारंबार चाट रहा था ॥

भक्षयन्तं महाघोरानृक्षसिंहमृगद्विजान् ।
घोरौ भुजौ विकुर्वाणमुभौ योजनमायतौ ॥ ३१ ॥
कराभ्यां विविधान् गृह्य ऋक्षान् पक्षिगणान् मृगान्।
आकर्षन्तं विकर्षन्तमनेकान् मृगयूथपान् ॥ ३२ ॥

अत्यन्त भयंकर रीछ, सिंह, हिंसक पशु और पक्षी—ये ही उसके भोजन थे। वह अपनी एक-एक योजन लंबी दोनों भयानक भुजाओंको दूरतक फैला देता और उन दोनों हाथोंसे नाना प्रकारके अनेकों भालू, पक्षी, पशु तथा मृगोंके यूथपतियोंको पकड़कर खींच लेता था। उनमेंसे जो उसे भोजनके लिये अभीष्ट नहीं होते, उन जन्तुओंको वह उन्हीं हाथोंसे पीछे ढकेल देता था ॥ ३१-३२ ॥

स्थितमावृत्य पन्थानं तयोर्भ्रात्रोः प्रपन्नयोः ।
अथ तं समतिक्रम्य क्रोशमात्रं ददर्शतुः ॥ ३३ ॥
महान्तं दारुणं भीमं कबन्धं भुजसंवृतम् ।
कबन्धमिव संस्थानादतिघोरप्रदर्शनम् ॥ ३४ ॥

दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण जब उसके निकट पहुँचे, तब वह उनका रास्ता रोककर खड़ा हो गया। तब वे दोनों भाई उससे दूर हट गये और बड़े गौरसे उसे देखने लगे। उस समय वह एक कोस लंबा जान पड़ा। उस राक्षसकी आकृति केवल कबन्ध (धड़) के ही रूपमें थी, इसलिये वह कबन्ध कहलाता था। वह विशाल, हिंसापरायण, भयंकर तथा दो बड़ी-बड़ी भुजाओंसे युक्त था और देखनेमें अत्यन्त घोर प्रतीत होता था ॥

स महाबाहुरत्यर्थं प्रसार्य विपुलौ भुजौ ।
जग्राह सहितावेव राघवौ पीडयन् बलात् ॥ ३५ ॥

उस महाबाहु राक्षसने अपनी दोनों विशाल भुजाओंको फैलाकर उन दोनों रघुवंशी राजकुमारोंको बलपूर्वक पीड़ा देते हुए एक साथ ही पकड़ लिया ॥ ३५ ॥

खड्गिनौ दृढधन्वानौ तिग्मतेजौ महाभुजौ ।
भ्रातरौ विवशौ प्राप्तौ कृष्यमाणौ महाबलौ ॥ ३६ ॥

दोनोंके हाथोंमें तलवारें थीं, दोनोंके पास मजबूत धनुष थे और वे दोनों भाई प्रचण्ड तेजस्वी, विशाल भुजाओंसे युक्त तथा महान् बलवान् थे तो भी उस राक्षसके द्वारा खींचे जानेपर विवशताका अनुभव करने लगे॥ ३६॥

तत्र धैर्याच्च शूरस्तु राघवो नैव विव्यथे।
बाल्यादनाश्रयाच्चैव लक्ष्मणस्त्वभिविव्यथे॥ ३७॥

उस समय वहाँ शूरवीर रघुनन्दन श्रीराम तो धैर्यके कारण व्यथित नहीं हुए, परंतु बालबुद्धि होने तथा धैर्यका आश्रय न लेनेके कारण लक्ष्मणके मनमें बड़ी व्यथा हुई॥ ३७॥

उवाच च विषण्णः सन् राघवं राघवानुजः।
पश्य मां विवशं वीर राक्षसस्य वशंगतम्॥ ३८॥

तब श्रीरामके छोटे भाई लक्ष्मण विषादग्रस्त हो श्रीरघुनाथजीसे बोले—'वीरवर! देखिये, मैं राक्षसके वशमें पड़कर विवश हो गया हूँ॥ ३८॥

मयैकेन तु निर्युक्तः परिमुच्यस्व राघव।
मां हि भूतबलिं दत्त्वा पलायस्व यथासुखम्॥ ३९॥

'रघुनन्दन! एकमात्र मुझे ही इस राक्षसको भेंट देकर आप स्वयं इसके बाहुबन्धनसे मुक्त हो जाइये। इस भूतको मेरी ही बलि देकर आप सुखपूर्वक यहाँसे निकल भागिये॥

अधिगन्तासि वैदेहीमचिरेणेति मे मतिः।
प्रतिलभ्य च काकुत्स्थ पितृपैतामहीं महीम्॥ ४०॥
तत्र मां राम राज्यस्थः स्मर्तुमर्हसि सर्वदा।

'मेरा विश्वास है कि आप शीघ्र ही विदेहराजकुमारीको प्राप्त कर लेंगे। ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम! वनवाससे लौटनेपर पिता-पितामहोंकी भूमिको अपने अधिकारमें लेकर जब आप राज-सिंहासनपर विराजमान होइयेगा, तब वहाँ सदा मेरा भी स्मरण करते रहियेगा'॥ ४०½॥

लक्ष्मणेनैवमुक्तस्तु रामः सौमित्रिमब्रवीत्॥ ४१॥
मा स्म त्रासं वृथा वीर नहि त्वादृग् विषीदति।

लक्ष्मणके ऐसा कहनेपर श्रीरामने उन सुमित्राकुमारसे कहा—'वीर! तुम भयभीत न होओ। तुम्हारे-जैसे शूरवीर इस तरह विषाद नहीं करते हैं'॥ ४१½॥

एतस्मिन्नन्तरे क्रूरो भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ॥ ४२॥
तावुवाच महाबाहुः कबन्धो दानवोत्तमः।

इसी बीचमें क्रूर हृदयवाले दानवशिरोमणि महाबाहु कबन्धने उन दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणसे कहा—॥

कौ युवां वृषभस्कन्धौ महाखड्गधनुर्धरौ॥ ४३॥
घोरं देशमिमं प्राप्तौ दैवेन मम चाक्षुषौ।
वदतं कार्यमिह वां किमर्थं चागतौ युवाम्॥ ४४॥

'तुम दोनों कौन हो? तुम्हारे कंधे बैलके समान ऊँचे हैं। तुमने बड़ी-बड़ी तलवारें और धनुष धारण कर रखे हैं। इस भयंकर देशमें तुम दोनों किसलिये आये हो? यहाँ तुम्हारा क्या कार्य है? बताओ। भाग्यसे ही तुम दोनों मेरी आँखोंके सामने पड़ गये॥

इमं देशमनुप्राप्तौ क्षुधार्तस्येह तिष्ठतः।
सबाणचापखड्गौ च तीक्ष्णशृङ्गाविवर्षभौ॥ ४५॥
मां तूर्णमनुसम्प्राप्तौ दुर्लभं जीवितं हि वाम्।

'मैं यहाँ भूखसे पीड़ित होकर खड़ा था और तुम स्वयं धनुष-बाण और खड्ग लिये तीखे सींगवाले दो बैलोंके समान तुरंत ही इस स्थानपर मेरे निकट आ पहुँचे। अतः अब तुम दोनोंका जीवित रहना कठिन है'॥ ४५½॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा कबन्धस्य दुरात्मनः॥ ४६॥
उवाच लक्ष्मणं रामो मुखेन परिशुष्यता।
कृच्छ्रात् कृच्छ्रतरं प्राप्य दारुणं सत्यविक्रम॥ ४७॥
व्यसनं जीवितान्ताय प्राप्तमप्राप्य तां प्रियाम्।

दुरात्मा कबन्धकी ये बातें सुनकर श्रीरामने सूखे मुखवाले लक्ष्मणसे कहा—'सत्यपराक्रमी वीर! कठिन-से-कठिन असह्य दुःखको पाकर हम दुःखी थे ही, तबतक पुनः प्रियतमा सीताके प्राप्त होनेसे पहले ही हम दोनोंपर यह महान् संकट आ गया, जो जीवनका अन्त कर देनेवाला है॥

कालस्य सुमहद् वीर्यं सर्वभूतेषु लक्ष्मण॥ ४८॥
त्वां च मां च नरव्याघ्र व्यसनैः पश्य मोहितौ।
नहि भारोऽस्ति दैवस्य सर्वभूतेषु लक्ष्मण॥ ४९॥

'नरश्रेष्ठ लक्ष्मण! कालका महान् बल सभी प्राणियोंपर अपना प्रभाव डालता है। देखो न, तुम और मैं दोनों ही कालके दिये हुए अनेकानेक संकटोंसे मोहित हो रहे हैं। सुमित्रानन्दन! दैव अथवा कालके लिये सम्पूर्ण प्राणियोंपर शासन करना भाररूप (कठिन) नहीं है॥ ४८-४९॥

शूराश्च बलवन्तश्च कृतास्त्राश्च रणाजिरे।
कालाभिपन्नाः सीदन्ति यथा वालुकसेतवः॥ ५०॥

'जैसे बालूके बने हुए पुल पानीके आघातसे ढह जाते हैं, उसी प्रकार बड़े-बड़े शूरवीर, बलवान् और अस्त्रवेत्ता पुरुष भी समराङ्गणमें कालके वशीभूत हो कष्टमें पड़ जाते हैं'॥

इति ब्रुवाणो दृढसत्यविक्रमो
महायशा दाशरथिः प्रतापवान्।
अवेक्ष्य सौमित्रिमुदग्रविक्रमः
स्थिरां तदा स्वां मतिमात्मनाकरोत्॥ ५१॥

ऐसा कहकर सुदृढ़ एवं सत्यपराक्रमवाले महान् बल-विक्रमसे सम्पन्न महायशस्वी प्रतापशाली दशरथनन्दन श्रीरामने सुमित्राकुमारकी ओर देखकर उस समय स्वयं ही अपनी बुद्धिको सुस्थिर कर लिया॥ ५१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकोनसप्ततितमः सर्गः॥ ६९॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें उनहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ६९॥

सप्ततितमः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणका परस्पर विचार करके कबन्धकी दोनों भुजाओंको काट डालना तथा कबन्धके द्वारा उनका स्वागत

तौ तु तत्र स्थितौ दृष्ट्वा भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
बाहुपाशपरिक्षिप्तौ कबन्धो वाक्यमब्रवीत्॥ १॥

अपने बाहुपाशसे घिरकर वहाँ खड़े हुए उन दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणकी ओर देखकर कबन्धने कहा—॥

तिष्ठतः किं नु मां दृष्ट्वा क्षुधार्तं क्षत्रियर्षभौ।
आहारार्थं तु संदिष्टौ दैवेन हतचेतनौ॥ २॥

'क्षत्रियशिरोमणि राजकुमारो! मुझे भूखसे पीड़ित देखकर भी खड़े क्यों हो? (मेरे मुँहमें चले आओ) क्योंकि दैवने मेरे भोजनके लिये ही तुम्हें यहाँ भेजा है। इसीलिये तुम दोनोंकी बुद्धि मारी गयी है'॥ २॥

तच्छ्रुत्वा लक्ष्मणो वाक्यं प्राप्तकालं हितं तदा।
उवाचार्तिसमापन्नो विक्रमे कृतनिश्चयः॥ ३॥

यह सुनकर पीड़ित हुए लक्ष्मणने उस समय पराक्रमका ही निश्चय करके यह समयोचित एवं हितकर बात कही—॥

त्वां च मां च पुरा तूर्णमादत्ते राक्षसाधमः।
तस्मादसिभ्यामस्याशु बाहू छिन्दावहे गुरू॥ ४॥

'भैया! यह नीच राक्षस मुझको और आपको तुरंत मुँहमें ले ले, इसके पहले ही हमलोग अपनी तलवारोंसे इसकी बड़ी-बड़ी बाँहें शीघ्र ही काट डालें॥ ४॥

भीषणोऽयं महाकायो राक्षसो भुजविक्रमः।
लोकं ह्यतिजितं कृत्वा ह्यावां हन्तुमिहेच्छति॥ ५॥

'यह महाकाय राक्षस बड़ा भीषण है। इसकी भुजाओंमें ही इसका सारा बल और पराक्रम निहित है। यह समस्त संसारको सर्वथा पराजित-सा करके अब हमलोगोंको भी यहाँ मार डालना चाहता है॥ ५॥

निश्चेष्टानां वधो राजन् कुत्सितो जगतीपतेः।
क्रतुमध्योपनीतानां पशूनामिव राघव॥ ६॥

'राजन्! रघुनन्दन! यज्ञमें लाये गये पशुओंके समान निश्चेष्ट प्राणियोंका वध राजाके लिये निन्दित बताया गया है (इसलिये हमें इसके प्राण नहीं लेने चाहिये, केवल भुजाओंका ही उच्छेद कर देना चाहिये)'॥ ६॥

एतत् संजल्पितं श्रुत्वा तयोः क्रुद्धस्तु राक्षसः।
विदार्यास्यं ततो रौद्रं तौ भक्षयितुमारभत्॥ ७॥

उन दोनोंकी यह बातचीत सुनकर उस राक्षसको बड़ा क्रोध हुआ और वह अपना भयंकर मुख फैलाकर उन्हें खा जानेको उद्यत हो गया॥ ७॥

ततस्तौ देशकालज्ञौ खड्गाभ्यामेव राघवौ।
अच्छिन्दतां सुसंहृष्टौ बाहू तस्यांसदेशतः॥ ८॥

इतनेमें ही देश-काल (अवसर) का ज्ञान रखनेवाले उन दोनों रघुवंशी राजकुमारोंने अत्यन्त हर्षमें भरकर तलवारोंसे ही उसकी दोनों भुजाएँ कंधोंसे काट गिरायीं॥ ८॥

दक्षिणो दक्षिणं बाहुमसक्तमसिना ततः।
चिच्छेद रामो वेगेन सव्यं वीरस्तु लक्ष्मणः॥ ९॥

भगवान् श्रीराम उसके दाहिने भागमें खड़े थे। उन्होंने अपनी तलवारसे उसकी दाहिनी बाँह बिना किसी रुकावटके वेगपूर्वक काट डाली तथा वाम भागमें खड़े वीर लक्ष्मणने उसकी बायीं भुजाको तलवारसे उड़ा दिया॥ ९॥

स पपात महाबाहुश्छिन्नबाहुर्महास्वनः।
खं च गां च दिशश्चैव नादयञ्जलदो यथा॥ १०॥

भुजाएँ कट जानेपर वह महाबाहु राक्षस मेघके समान गम्भीर गर्जना करके पृथ्वी, आकाश तथा दिशाओंको गुँजाता हुआ धरतीपर गिर पड़ा॥ १०॥

स निकृत्तौ भुजौ दृष्ट्वा शोणितौघपरिप्लुतः।
दीनः पप्रच्छ तौ वीरौ कौ युवामिति दानवः॥ ११॥

अपनी भुजाओंको कटी हुई देख खूनसे लथपथ हुए उस दानवने दीन वाणीमें पूछा—'वीरो! तुम दोनों कौन हो?'॥

इति तस्य ब्रुवाणस्य लक्ष्मणः शुभलक्षणः।
शशंस तस्य काकुत्स्थं कबन्धस्य महाबलः॥ १२॥

कबन्धके इस प्रकार पूछनेपर शुभ लक्षणोंवाले महाबली लक्ष्मणने उसे श्रीरामचन्द्रजीका परिचय देना आरम्भ किया—॥ १२॥

अयमिक्ष्वाकुदायादो रामो नाम जनैः श्रुतः।
तस्यैवावरजं विद्धि भ्रातरं मां च लक्ष्मणम्॥ १३॥

'ये इक्ष्वाकुवंशी महाराज दशरथके पुत्र हैं और लोगोंमें श्रीराम नामसे विख्यात हैं। मुझे इन्हींका छोटा भाई समझो। मेरा नाम लक्ष्मण है॥ १३॥

मात्रा प्रतिहते राज्ये रामः प्रव्राजितो वनम्।
मया सह चरत्येष भार्यया च महद् वनम्॥ १४॥
अस्य देवप्रभावस्य वसतो विजने वने।
रक्षसापहृता भार्या यामिच्छन्ताविहागतौ॥ १५॥

'माता कैकेयीके द्वारा जब इनका राज्याभिषेक रोक दिया गया, तब ये पिताकी आज्ञासे वनमें चले आये और मेरे तथा अपनी पत्नीके साथ इस विशाल वनमें विचरण करने लगे। इस निर्जन वनमें रहते हुए इन देवतुल्य प्रभावशाली श्रीरघुनाथजीकी पत्नीको किसी राक्षसने हर लिया है। उन्हींका पता लगानेकी इच्छासे हमलोग यहाँ आये हैं॥ १४-१५॥

त्वं तु को वा किमर्थं वा कबन्धसदृशो वने।
आस्येनोरसि दीप्तेन भग्नजङ्घो विचेष्टसे॥ १६॥

'तुम कौन हो? और कबन्धके समान रूप धारण करके क्यों इस वनमें पड़े हो? छातीके नीचे चमकता हुआ मुँह और टूटी हुई जंघा (पिण्डली) लिये तुम किस कारण इधर-उधर लुढ़कते फिरते हो?' ॥ १६ ॥

एवमुक्तः कबन्धस्तु लक्ष्मणेनोत्तरं वचः ।
उवाच वचनं प्रीतस्तदिन्द्रवचनं स्मरन् ॥ १७ ॥

लक्ष्मणके ऐसा कहनेपर कबन्धको इन्द्रकी कही हुई बातका स्मरण हो आया। अतः उसने बड़ी प्रसन्नताके साथ लक्ष्मणको उनकी बातका उत्तर दिया— ॥ १७ ॥

स्वागतं वां नरव्याघ्रौ दिष्ट्या पश्यामि वामहम् ।
दिष्ट्या चेमौ निकृत्तौ मे युवाभ्यां बाहुबन्धनौ ॥ १८ ॥

'पुरुषसिंह वीरो! आप दोनोंका स्वागत है। बड़े भाग्यसे मुझे आपलोगोंका दर्शन मिला है। ये मेरी दोनों भुजाएँ मेरे लिये भारी बन्धन थीं। सौभाग्यकी बात है कि आपलोगोंने इन्हें काट डाला ॥ १८ ॥

विरूपं यच्च मे रूपं प्राप्तं ह्यविनयाद् यथा ।
तन्मे शृणु नरव्याघ्र तत्त्वतः शंसतस्तव ॥ १९ ॥

'नरश्रेष्ठ श्रीराम! मुझे जो ऐसा कुरूप रूप प्राप्त हुआ है, यह मेरी ही उद्दण्डताका फल है। यह सब कैसे हुआ, वह प्रसङ्ग आपको मैं ठीक-ठीक बता रहा हूँ। आप मुझसे सुनें' ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे सप्ततितमः सर्गः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें सत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमः सर्गः

कबन्धकी आत्मकथा, अपने शरीरका दाह हो जानेपर उसका श्रीरामको सीताके अन्वेषणमें सहायता देनेका आश्वासन

पुरा राम महाबाहो महाबलपराक्रमम् ।
रूपमासीन्ममाचिन्त्यं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥ १ ॥

'महाबाहु श्रीराम! पूर्वकालमें मेरा रूप महान् बलपराक्रमसे सम्पन्न, अचिन्त्य तथा तीनों लोकोंमें विख्यात था ॥ १ ॥

यथा सूर्यस्य सोमस्य शक्रस्य च यथा वपुः ।
सोऽहं रूपमिदं कृत्वा लोकवित्रासनं महत् ॥ २ ॥
ऋषीन् वनगतान् राम त्रासयामि ततस्ततः ।

'सूर्य, चन्द्रमा और इन्द्रका शरीर जैसा तेजस्वी है, वैसा ही मेरा भी था। ऐसा होनेपर भी मैं लोगोंको भयभीत करनेवाले इस अत्यन्त भयंकर राक्षस रूपको धारण करके इधर-उधर घूमता और वनमें रहनेवाले ऋषियोंको डराया करता था ॥ २½ ॥

ततः स्थूलशिरा नाम महर्षिः कोपितो मया ॥ ३ ॥
स चिन्वन् विविधं वन्यं रूपेणानेन धर्षितः ।
तेनाहमुक्तः प्रेक्ष्यैवं घोरं शापाभिधायिना ॥ ४ ॥

अपने इस बर्तावसे एक दिन मैंने स्थूलशिरा नामक महर्षिको कुपित कर दिया। वे नाना प्रकारके जंगली फल-मूल आदिका संचय कर रहे थे, उसी समय मैंने उन्हें इस राक्षसरूपसे डरा दिया। मुझे ऐसे विकट रूपमें देखकर उन्होंने घोर शाप देते हुए कहा— ॥ ३-४ ॥

एतदेवं नृशंसं ते रूपमस्तु विगर्हितम् ।
स मया याचितः क्रुद्धः शापस्यान्तो भवेदिति ॥ ५ ॥
अभिशापकृतस्येति तेनेदं भाषितं वचः ।

'दुरात्मन्! आजसे सदाके लिये तुम्हारा यही क्रूर और निन्दित रूप रह जाय।' यह सुनकर मैंने उन कुपित महर्षिसे प्रार्थना की—'भगवन्! इस अभिशाप (तिरस्कार) जनित शापका अन्त होना चाहिये।' तब उन्होंने इस प्रकार कहा— ॥ ५½ ॥

यदा छित्त्वा भुजौ रामस्त्वां दहेद् विजने वने ॥ ६ ॥
तदा त्वं प्राप्स्यसे रूपं स्वमेव विपुलं शुभम् ।
श्रिया विराजितं पुत्रं दनोस्त्वं विद्धि लक्ष्मण ॥ ७ ॥

'जब श्रीराम (और लक्ष्मण) तुम्हारी दोनों भुजाएँ काटकर तुम्हें निर्जन वनमें जलायेंगे, तब तुम पुनः अपने उसी परम उत्तम, सुन्दर और शोभासम्पन्न रूपको प्राप्त कर लोगे।' लक्ष्मण! इस प्रकार तुम मुझे एक दुराचारी दानव समझो ॥ ६-७ ॥

इन्द्रकोपादिदं रूपं प्राप्तमेवं रणाजिरे ।
अहं हि तपसोग्रेण पितामहमतोषयम् ॥ ८ ॥
दीर्घमायुः स मे प्रादात् ततो मां विभ्रमोऽस्पृशत् ।
दीर्घमायुर्मया प्राप्तं किं मां शक्रः करिष्यति ॥ ९ ॥

'मेरा जो यह ऐसा रूप है, यह समराङ्गणमें इन्द्रके क्रोधसे प्राप्त हुआ है। मैंने पूर्वकालमें राक्षस होनेके पश्चात् घोर तपस्या करके पितामह ब्रह्माजीको संतुष्ट किया और उन्होंने मुझे दीर्घजीवी होनेका वर दिया। इससे मेरी बुद्धिमें यह भ्रम या अहंकार उत्पन्न हो गया कि मुझे तो दीर्घकालतक बनी रहनेवाली आयु प्राप्त हुई है; फिर इन्द्र मेरा क्या कर लेंगे? ॥ ८-९ ॥

इत्येवं बुद्धिमास्थाय रणे शक्रमधर्षयम् ।
तस्य बाहुप्रमुक्तेन वज्रेण शतपर्वणा ॥ १० ॥
सक्थिनी च शिरश्चैव शरीरे सम्प्रवेशितम् ।

'ऐसे विचारका आश्रय लेकर एक दिन मैंने युद्धमें देवराजपर आक्रमण किया। उस समय इन्द्रने मुझपर सौ धारोंवाले वज्रका प्रहार किया। उनके छोड़े हुए उस वज्रसे

मेरी जाँघें और मस्तक मेरे ही शरीरमें घुस गये ॥ १०½ ॥

स मया याच्यमानः सन् नानयद् यमसादनम् ॥ ११ ॥
पितामहवचः सत्यं तदस्त्विति ममाब्रवीत्।

'मैंने बहुत प्रार्थना की, इसलिये उन्होंने मुझे यमलोक नहीं पठाया और कहा—'पितामह ब्रह्माजीने जो तुम्हें दीर्घजीवी होनेके लिये वरदान दिया है, वह सत्य हो' ॥

अनाहारः कथं शक्तो भग्नसक्थिशिरोमुखः ॥ १२ ॥
वज्रेणाभिहतः कालं सुदीर्घमपि जीवितुम्।

'तब मैंने कहा—देवराज! आपने अपने वज्रकी मारसे मेरी जाँघ, मस्तक और मुँह सभी तोड़ डाले। अब मैं कैसे आहार ग्रहण करूँगा और निराहार रहकर किस प्रकार सुदीर्घकालतक जीवित रह सकूँगा?' ॥ १२½ ॥

स एवमुक्तः शक्रो मे बाहू योजनमायतौ ॥ १३ ॥
तदा चास्यं च मे कुक्षौ तीक्ष्णदंष्ट्रमकल्पयत्।

'मेरे ऐसा कहनेपर इन्द्रने मेरी भुजाएँ एक-एक योजन लंबी कर दीं एवं तत्काल ही मेरे पेटमें तीखे दाढ़ोंवाला एक मुख बना दिया ॥ १३½ ॥

सोऽहं भुजाभ्यां दीर्घाभ्यां संक्षिप्यास्मिन् वनेचरान् ॥ १४ ॥
सिंहद्वीपिमृगव्याघ्रान् भक्षयामि समन्ततः।

'इस प्रकार मैं विशाल भुजाओंद्वारा वनमें रहनेवाले सिंह, चीते, हरिन और बाघ आदि जन्तुओंको सब ओरसे समेटकर खाया करता था ॥ १४½ ॥

स तु मामब्रवीदिन्द्रो यदा रामः सलक्ष्मणः ॥ १५ ॥
छेत्स्यते समरे बाहू तदा स्वर्गं गमिष्यसि।

'इन्द्रने मुझे यह भी बतला दिया था कि जब लक्ष्मण-सहित श्रीराम तुम्हारी भुजाएँ काट देंगे, उस समय तुम स्वर्गमें जाओगे ॥ १५½ ॥

अनेन वपुषा तात वनेऽस्मिन् राजसत्तम ॥ १६ ॥
यद् यत् पश्यामि सर्वस्य ग्रहणं साधु रोचये।

'तात! राजशिरोमणे! इस शरीरसे इस वनके भीतर मैं जो-जो वस्तु देखता हूँ, वह सब ग्रहण कर लेना मुझे ठीक लगता है ॥ १६½ ॥

अवश्यं ग्रहणं रामो मन्येऽहं समुपैष्यति ॥ १७ ॥
इमां बुद्धिं पुरस्कृत्य देहन्यासकृतश्रमः।

'इन्द्र तथा मुनिके कथनानुसार मुझे यह विश्वास था कि एक दिन श्रीराम अवश्य मेरी पकड़में आ जायँगे। इसी विचारको सामने रखकर मैं इस शरीरको त्याग देनेके लिये प्रयत्नशील था ॥ १७½ ॥

स त्वं रामोऽसि भद्रं ते नाहमन्येन राघव ॥ १८ ॥
शक्यो हन्तुं यथा तत्त्वमेवमुक्तं महर्षिणा।

'रघुनन्दन! अवश्य ही आप श्रीराम हैं। आपका कल्याण हो। मैं आपके सिवा दूसरे किसीसे नहीं मारा जा सकता था। यह बात महर्षिने ठीक ही कही थी ॥ १८½ ॥

अहं हि मतिसाचिव्यं करिष्यामि नरर्षभ ॥ १९ ॥
मित्रं चैवोपदेक्ष्यामि युवाभ्यां संस्कृतोऽग्निना।

'नरश्रेष्ठ! आप दोनों जब अग्निके द्वारा मेरा दाह-संस्कार कर देंगे, उस समय मैं आपकी बौद्धिक सहायता करूँगा। आप दोनोंके लिये एक अच्छे मित्रका पता बताऊँगा' ॥

एवमुक्तस्तु धर्मात्मा दनुना तेन राघवः ॥ २० ॥
इदं जगाद वचनं लक्ष्मणस्य च पश्यतः।

उस दानवके ऐसा कहनेपर धर्मात्मा श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणके सामने उससे यह बात कही— ॥ २०½ ॥

रावणेन हृता भार्या सीता मम यशस्विनी ॥ २१ ॥
निष्क्रान्तस्य जनस्थानात् सह भ्रात्रा यथासुखम्।
नाममात्रं तु जानामि न रूपं तस्य रक्षसः ॥ २२ ॥

'कबन्ध! मेरी यशस्विनी भार्या सीताको रावण हर ले गया है। उस समय मैं अपने भाई लक्ष्मणके साथ सुखपूर्वक जनस्थानके बाहर चला गया था। मैं उस राक्षसका नाममात्र जानता हूँ। उसकी शकल-सूरतसे परिचित नहीं हूँ ॥

निवासं वा प्रभावं वा वयं तस्य न विद्महे।
शोकार्तानामनाथानामेवं विपरिधावताम् ॥ २३ ॥
कारुण्यं सदृशं कर्तुमुपकारेण वर्तताम्।

'वह कहाँ रहता है और कैसा उसका प्रभाव है, इस बातसे हमलोग सर्वथा अनभिज्ञ हैं। इस समय सीताका शोक हमें बड़ी पीड़ा दे रहा है। हम असहाय होकर इसी तरह सब ओर दौड़ रहे हैं। तुम हमारे ऊपर समुचित करुणा करनेके लिये इस विषयमें हमारा कुछ उपकार करो ॥

काष्ठान्यानीय भग्नानि काले शुष्काणि कुञ्जरैः ॥ २४ ॥
धक्ष्यामस्त्वां वयं वीर श्वभ्रे महति कल्पिते।

'वीर! फिर हमलोग हाथियोंद्वारा तोड़े गये सूखे काठ लाकर स्वयं खोदे हुए एक बहुत बड़े गड्ढेमें तुम्हारे शरीरको रखकर जला देंगे ॥ २४½ ॥

स त्वं सीतां समाचक्ष्व येन वा यत्र वा हृता ॥ २५ ॥
कुरु कल्याणमत्यर्थं यदि जानासि तत्त्वतः।

'अतः अब तुम हमें सीताका पता बताओ। इस समय वह कहाँ है? तथा उसे कौन कहाँ ले गया है? यदि ठीक-ठीक जानते हो तो सीताका समाचार बताकर हमारा अत्यन्त कल्याण करो' ॥ २५½ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण वाक्यं दनुरनुत्तमम् ॥ २६ ॥
प्रोवाच कुशलो वक्ता वक्तारमपि राघवम्।

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर बातचीतमें कुशल उस दानवने उन प्रवचनपटु रघुनाथजीसे यह परम उत्तम बात कही— ॥ २६½ ॥

दिव्यमस्ति न मे ज्ञानं नाभिजानामि मैथिलीम् ॥ २७ ॥
यस्तां वक्ष्यति तं वक्ष्ये दग्धः स्वं रूपमास्थितः।
योऽभिजानाति तद्रक्षस्तद् वक्ष्ये राम तत्परम् ॥ २८ ॥

'श्रीराम ! इस समय मुझे दिव्य ज्ञान नहीं है, इसलिये मैं मिथिलेशकुमारीके विषयमें कुछ भी नहीं जानता। जब मेरे इस शरीरका दाह हो जायगा, तब मैं अपने पूर्व स्वरूपको प्राप्त होकर किसी ऐसे व्यक्तिका पता बता सकूँगा, जो सीताके विषयमें आपको कुछ बतायेगा तथा जो उस उत्कृष्ट राक्षसको भी जानता होगा, ऐसे पुरुषका आपको परिचय दूँगा ॥ २७-२८ ॥

अदग्धस्य हि विज्ञातुं शक्तिरस्ति न मे प्रभो।
राक्षसं तु महावीर्यं सीता येन हृता तव ॥ २९ ॥

'प्रभो ! जबतक मेरे इस शरीरका दाह नहीं होगा तबतक मुझमें यह जाननेकी शक्ति नहीं आ सकती कि वह महा-पराक्रमी राक्षस कौन है, जिसने आपकी सीताका अपहरण किया है ॥ २९ ॥

विज्ञानं हि महद् भ्रष्टं शापदोषेण राघव।
स्वकृतेन मया प्राप्तं रूपं लोकविगर्हितम् ॥ ३० ॥

'रघुनन्दन ! शाप-दोषके कारण मेरा महान् विज्ञान नष्ट हो गया है। अपनी ही करतूतसे मुझे यह लोकनिन्दित रूप प्राप्त हुआ है ॥ ३० ॥

किं तु यावन्न यात्यस्तं सविता श्रान्तवाहनः।
तावन्मामवटे क्षिप्त्वा दह राम यथाविधि ॥ ३१ ॥

'किंतु श्रीराम ! जबतक सूर्यदेव अपने वाहनोंके थक जानेपर अस्त नहीं हो जाते, तभीतक मुझे गड्ढेमें डालकर शास्त्रीय विधिके अनुसार मेरा दाह-संस्कार कर दीजिये ॥ ३१ ॥

दग्धस्त्वयाहमवटे न्यायेन रघुनन्दन।
वक्ष्यामि तं महावीर यस्तं वेत्स्यति राक्षसम् ॥ ३२ ॥

'महावीर रघुनन्दन ! आपके द्वारा विधिपूर्वक गड्ढेमें मेरे शरीरका दाह हो जानेपर मैं ऐसे महापुरुषका परिचय दूँगा, जो उस राक्षसको जानते होंगे ॥ ३२ ॥

तेन सख्यं च कर्तव्यं न्याय्यवृत्तेन राघव।
कल्पयिष्यति ते वीर साहाय्यं लघुविक्रम ॥ ३३ ॥

'शीघ्र पराक्रम प्रकट करनेवाले वीर रघुनाथजी ! न्यायोचित आचारवाले उन महापुरुषके साथ आपको मित्रता कर लेनी चाहिये। वे आपकी सहायता करेंगे ॥ ३३ ॥

नहि तस्यास्त्यविज्ञातं त्रिषु लोकेषु राघव।
सर्वान् परिवृतो लोकान् पुरा वै कारणान्तरे ॥ ३४ ॥

'रघुनन्दन ! उनके लिये तीनों लोकोंमें कुछ भी अज्ञात नहीं है; क्योंकि किसी कारणवश वे पहले समस्त लोकोंमें चक्कर लगा चुके हैं ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकसप्ततितमः सर्गः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें एकहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

द्विसप्ततितमः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणके द्वारा चिताकी आगमें कबन्धका दाह तथा उसका दिव्य रूपमें प्रकट होकर उन्हें सुग्रीवसे मित्रता करनेके लिये कहना

एवमुक्तौ तु तौ वीरौ कबन्धेन नरेश्वरौ।
गिरिप्रदरमासाद्य पावकं विससर्जतुः ॥ १ ॥

कबन्धके ऐसा कहनेपर उन दोनों वीर नरेश्वर श्रीराम और लक्ष्मणने उसके शरीरको एक पर्वतके गड्ढेमें डालकर उसमें आग लगा दी ॥ १ ॥

लक्ष्मणस्तु महोल्काभिर्ज्वलिताभिः समन्ततः।
चितामादीपयामास सा प्रजज्वाल सर्वतः ॥ २ ॥

लक्ष्मणने जलती हुई बड़ी-बड़ी लुकारियोंके द्वारा चारों ओरसे उसकी चितामें आग लगायी; फिर तो वह सब ओरसे प्रज्वलित हो उठी ॥ २ ॥

तच्छरीरं कबन्धस्य घृतपिण्डोपमं महत्।
मेदसा पच्यमानस्य मन्दं दहत पावकः ॥ ३ ॥

चितामें जलते हुए कबन्धका विशाल शरीर चर्बियोंसे भरा होनेके कारण घीके लोंदेके समान प्रतीत होता था। चिताकी आग उसे धीरे-धीरे जलाने लगी ॥ ३ ॥

स विधूय चितामाशु विधूमोऽग्निरिवोत्थितः।
अरजे वाससी बिभ्रन्माल्यं दिव्यं महाबलः ॥ ४ ॥

तदनन्तर वह महाबली कबन्ध तुरंत ही चिताको हिलाकर दो निर्मल वस्त्र और दिव्य पुष्पोंका हार धारण किये धूमरहित अग्निके समान उठ खड़ा हुआ ॥ ४ ॥

ततश्चिताया वेगेन भास्वरो विरजाम्बरः।
उत्पपाताशु संहृष्टः सर्वप्रत्यङ्गभूषणः ॥ ५ ॥
विमाने भास्वरे तिष्ठन् हंसयुक्ते यशस्करे।
प्रभया च महातेजा दिशो दश विराजयन् ॥ ६ ॥
सोऽन्तरिक्षगतो वाक्यं कबन्धो राममब्रवीत्।

फिर वेगपूर्वक चितासे ऊपरको उठा और शीघ्र ही एक तेजस्वी विमानपर जा बैठा। निर्मल वस्त्रोंसे विभूषित हो वह बड़ा तेजस्वी दिखायी देता था। उसके मनमें हर्ष भरा हुआ था तथा समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्गमें दिव्य आभूषण शोभा दे रहे थे। हंसोंसे जुते हुए उस यशस्वी विमानपर बैठा हुआ महान् तेजस्वी कबन्ध अपनी प्रभासे दसों दिशाओंको प्रकाशित करने लगा और अन्तरिक्षमें स्थित हो श्रीरामसे इस प्रकार बोला— ॥ ५-६½ ॥

शृणु राघव तत्त्वेन यथा सीतामवाप्स्यसि ॥ ७ ॥

राम षड् युक्तयो लोके याभिः सर्वं विमृश्यते।
परिमृष्टो दशान्तेन दशाभागेन सेव्यते॥ ८॥

'रघुनन्दन! आप जिस प्रकार सीताको पा सकेंगे, वह ठीक-ठीक बता रहा हूँ, सुनिये। श्रीराम! लोकमें छः युक्तियाँ हैं, जिनसे राजाओंद्वारा सब कुछ प्राप्त किया जाता है (उन युक्तियों तथा उपायोंके नाम हैं—संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय[1])। जो मनुष्य दुर्दशासे ग्रस्त होता है, वह दूसरे किसी दुर्दशाग्रस्त पुरुषसे ही सेवा या सहायता प्राप्त करता है (यह नीति है)॥ ७-८॥

दशाभागगतो हीनस्त्वं हि राम सलक्ष्मणः।
यत्कृते व्यसनं प्राप्तं त्वया दारप्रधर्षणम्॥ ९॥

'श्रीराम! लक्ष्मणसहित आप बुरी दशाके शिकार हो रहे हैं; इसीलिये आपलोग राज्यसे वञ्चित हैं तथा उस बुरी दशाके कारण ही आपको अपनी भार्याके अपहरणका महान् दुःख प्राप्त हुआ है॥ ९॥

तदवश्यं त्वया कार्यः स सुहृत् सुहृदां वर।
अकृत्वा नहि ते सिद्धिमहं पश्यामि चिन्तयन्॥ १०॥

'अतः सुहृदोंमें श्रेष्ठ रघुनन्दन! आप अवश्य ही उस पुरुषको अपना सुहृद् बनाइये, जो आपकी ही भाँति दुर्दशामें पड़ा हुआ हो (इस प्रकार आप सुहृद्का आश्रय लेकर समाश्रय नीतिको अपनाइये)। मैं बहुत सोचनेपर भी ऐसा किये बिना आपकी सफलता नहीं देखता हूँ॥ १०॥

श्रूयतां राम वक्ष्यामि सुग्रीवो नाम वानरः।
भ्रात्रा निरस्तः क्रुद्धेन वालिना शक्रसूनुना॥ ११॥

'श्रीराम! सुनिये, मैं ऐसे पुरुषका परिचय दे रहा हूँ, उनका नाम है सुग्रीव। वे जातिके वानर हैं। उन्हें उनके भाई इन्द्रकुमार वालीने कुपित होकर घरसे निकाल दिया है॥

ऋष्यमूके गिरिवरे पम्पापर्यन्तशोभिते।
निवसत्यात्मवान् वीरश्चतुर्भिः सह वानरैः॥ १२॥

'वे मनस्वी वीर सुग्रीव इस समय चार वानरोंके साथ उस गिरिवर ऋष्यमूकपर निवास करते हैं, जो पम्पासरोवरतक फैला हुआ है॥ १२॥

वानरेन्द्रो महावीर्यस्तेजोवानमितप्रभः।
सत्यसंधो विनीतश्च धृतिमान् मतिमान् महान्॥ १३॥
दक्षः प्रगल्भो द्युतिमान् महाबलपराक्रमः।

'वे वानरोंके राजा महापराक्रमी सुग्रीव तेजस्वी, अत्यन्त कान्तिमान्, सत्यप्रतिज्ञ, विनयशील, धैर्यवान्, बुद्धिमान्, महापुरुष, कार्यदक्ष, निर्भीक, दीप्तिमान् तथा महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न हैं॥ १३½॥

भ्रात्रा विवासितो वीर राज्यहेतोर्महात्मना॥ १४॥
स ते सहायो मित्रं च सीतायाः परिमार्गणे।
भविष्यति हि ते राम मा च शोके मनः कृथाः॥ १५॥

'वीर श्रीराम! उनके महामना भाई वालीने सारे राज्यको अपने अधिकारमें कर लेनेके लिये उन्हें राज्यसे बाहर निकाल दिया है; अतः वे सीताकी खोजके लिये आपके सहायक और मित्र होंगे। इसलिये आप अपने मनको शोकमें न डालिये॥ १४-१५॥

भवितव्यं हि तच्चापि न तच्छक्यमिहान्यथा।
कर्तुमिक्ष्वाकुशार्दूल कालो हि दुरतिक्रमः॥ १६॥

'इक्ष्वाकुवंशी वीरोंमें श्रेष्ठ श्रीराम! जो होनहार है, उसे कोई भी पलट नहीं सकता। कालका विधान सभीके लिये दुर्लङ्घ्य होता है (अतः आपपर जो कुछ भी बीत रहा है, इसे काल या प्रारब्धका विधान समझकर आपको धैर्य धारण करना चाहिये)॥ १६॥

गच्छ शीघ्रमितो वीर सुग्रीवं तं महाबलम्।
वयस्यं तं कुरु क्षिप्रमितो गत्वाद्य राघव॥ १७॥

'वीर रघुनाथजी! आप यहाँसे शीघ्र ही महाबली सुग्रीवके पास जाइये और जाकर तुरंत उन्हें अपना मित्र बना लीजिये॥ १७॥

अद्रोहाय समागम्य दीप्यमाने विभावसौ।
न च ते सोऽवमन्तव्यः सुग्रीवो वानराधिपः॥ १८॥

'प्रज्वलित अग्निको साक्षी बनाकर परस्पर द्रोह न करनेके लिये मैत्री स्थापित कीजिये और ऐसा करनेके बाद आपको कभी उन वानरराज सुग्रीवका अपमान नहीं करना चाहिये॥

कृतज्ञः कामरूपी च सहायार्थी च वीर्यवान्।
शक्तौ ह्यद्य युवां कर्तुं कार्यं तस्य चिकीर्षितम्॥ १९॥

'वे इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले, पराक्रमी और कृतज्ञ हैं तथा इस समय स्वयं ही अपने लिये एक सहायक ढूँढ़ रहे हैं। उनका जो अभीष्ट कार्य है उसे सिद्ध करनेमें आप दोनों भाई समर्थ हैं॥ १९॥

कृतार्थो वाकृतार्थो वा तव कृत्यं करिष्यति।
स ऋक्षरजसः पुत्रः पम्पामटति शङ्कितः॥ २०॥

'सुग्रीवका मनोरथ पूर्ण हो या न हो, वे आपका कार्य अवश्य सिद्ध करेंगे। वे ऋक्षरजाके क्षेत्रज पुत्र हैं और वालीसे शङ्कित रहकर पम्पासरोवरके तटपर भ्रमण करते हैं॥

भास्करस्यौरसः पुत्रो वालिना कृतकिल्बिषः।
संनिधायायुधं क्षिप्रमृष्यमूकालयं कपिम्॥ २१॥
कुरु राघव सत्येन वयस्यं वनचारिणम्।

'उन्हें सूर्यदेवका औरस पुत्र कहा गया है। उन्होंने वालीका अपराध किया है (इसीलिये वे उससे डरते हैं)।

---

1. संधि आदिका विवेचन पृष्ठ ४६४ की टिप्पणीमें देखना चाहिये।

रघुनन्दन! अग्निके समीप हथियार रखकर शीघ्र ही सत्यकी शपथ खाकर ऋष्यमूकनिवासी वनचारी वानर सुग्रीवको आप अपना मित्र बना लीजिये॥ २१½॥

स हि स्थानानि कार्त्स्न्येन सर्वाणि कपिकुञ्जरः॥ २२॥
नरमांसाशिनां लोके नैपुण्यादधिगच्छति।

'कपिश्रेष्ठ सुग्रीव संसारमें नरमांसभक्षी राक्षसोंके जितने स्थान हैं, उन सबको पूर्णरूपसे निपुणतापूर्वक जानते हैं॥

न तस्याविदितं लोके किंचिदस्ति हि राघव॥ २३॥
यावत् सूर्यः प्रतपति सहस्रांशुः परंतप।

'रघुनन्दन! शत्रुदमन! सहस्रों किरणोंवाले सूर्यदेव जहाँतक तपते हैं, वहाँतक संसारमें कोई ऐसा स्थान या वस्तु नहीं है, जो सुग्रीवके लिये अज्ञात हो॥ २३½॥

स नदीर्विपुलाञ्छैलान् गिरिदुर्गाणि कन्दरान्॥ २४॥
अन्विष्य वानरैः सार्धं पत्नीं तेऽधिगमिष्यति।

'वे वानरोंके साथ रहकर समस्त नदियों, बड़े-बड़े पर्वतों, पहाड़ी दुर्गम स्थानों और कन्दराओंमें भी खोज कराकर आपकी पत्नीका पता लगा लेंगे॥ २४½॥

वानरांश्च महाकायान् प्रेषयिष्यति राघव॥ २५॥
दिशो विचेतुं तां सीतां त्वद्वियोगेन शोचतीम्।
अन्वेष्यति वरारोहां मैथिलीं रावणालये॥ २६॥

'राघव! वे आपके वियोगमें शोक करती हुई सीताकी खोजके लिये सम्पूर्ण दिशाओंमें विशालकाय वानरोंको भेजेंगे, तथा रावणके घरसे भी सुन्दर अङ्गोंवाली मिथिलेशकुमारीको ढूँढ़ निकालेंगे॥ २५-२६॥

स मेरुशृङ्गाग्रगतामनिन्दितां
प्रविश्य पातालतलेऽपि वाश्रिताम्।
प्लवङ्गमानामृषभस्तव प्रियां
निहत्य रक्षांसि पुनः प्रदास्यति॥ २७॥

'आपकी प्रिया सती-साध्वी सीता मेरुशिखरके अग्रभागपर पहुँचायी गयी हो या पातालमें प्रवेश करके रखी गयी हो, वानरशिरोमणि सुग्रीव समस्त राक्षसोंका वध करके उन्हें पुनः आपके पास ला देंगे'॥ २७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे द्विसप्ततितमः सर्गः॥ ७२॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें बहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ७२॥

त्रिसप्ततितमः सर्गः

दिव्य रूपधारी कबन्धका श्रीराम और लक्ष्मणको ऋष्यमूक और पम्पासरोवरका मार्ग बताना तथा मतङ्गमुनिके वन एवं आश्रमका परिचय देकर प्रस्थान करना

दर्शयित्वा तु रामाय सीतायाः परिमार्गणे।
वाक्यमन्वर्थमर्थज्ञः कबन्धः पुनरब्रवीत्॥ १॥

श्रीरामको सीताकी खोजका उपाय दिखाकर अर्थवेत्ता कबन्धने उनसे पुनः यह प्रयोजनयुक्त बात कही—॥ १॥

एष राम शिवः पन्था यत्रैते पुष्पिता द्रुमाः।
प्रतीचीं दिशमाश्रित्य प्रकाशन्ते मनोरमाः॥ २॥

'श्रीराम! यहाँसे पश्चिम दिशाका आश्रय लेकर जहाँ ये फूलोंसे भरे हुए मनोरम वृक्ष शोभा पा रहे हैं, यही आपके जाने लायक सुखद मार्ग है॥ २॥

जम्बूप्रियालपनसा न्यग्रोधप्लक्षतिन्दुकाः।
अश्वत्थाः कर्णिकाराश्च चूताश्चान्ये च पादपाः॥ ३॥
धन्वना नागवृक्षाश्च तिलका नक्तमालकाः।
नीलाशोकाः कदम्बाश्च करवीराश्च पुष्पिताः॥ ४॥
अग्निमुख्या अशोकाश्च सुरक्ताः पारिभद्रकाः।
तानारुह्याथवा भूमौ पातयित्वा च तान् बलात्॥ ५॥
फलान्यमृतकल्पानि भक्षयित्वा गमिष्यथः।

'जामुन, प्रियाल (चिरौंजी), कटहल, बड़, पाकड़, तेंदू, पीपल, कनेर, आम तथा अन्य वृक्ष, धव, नागकेसर, तिलक, नक्तमाल, नील, अशोक, कदम्ब, खिले हुए करवीर, भिलावा, अशोक, लाल चन्दन तथा मन्दार—ये वृक्ष मार्गमें पड़ेंगे। आप दोनों भाई इनकी डालियोंको बलपूर्वक भूमिपर झुकाकर अथवा इन वृक्षोंपर चढ़कर इनके अमृततुल्य मधुर फलोंका आहार करते हुए यात्रा कीजियेगा॥

तदतिक्रम्य काकुत्स्थ वनं पुष्पितपादपम्॥ ६॥
नन्दनप्रतिमं त्वान्यत् कुरवस्तूत्तरा इव।
सर्वकालफला यत्र पादपा मधुरस्रवाः॥ ७॥

'काकुत्स्थ! खिले हुए वृक्षोंसे सुशोभित उस वनको लाँघकर आपलोग एक दूसरे वनमें प्रवेश कीजियेगा, जो नन्दनवनके समान मनोहर है। उस वनके वृक्ष उत्तर कुरुवर्षके वृक्षोंकी भाँति मधुकी धारा बहानेवाले हैं तथा उनमें सभी ऋतुओंमें सदा फल लगे रहते हैं॥ ६-७॥

सर्वे च ऋतवस्तत्र वने चैत्ररथे यथा।
फलभारनतास्तत्र महाविटपधारिणः॥ ८॥

'चैत्ररथ वनकी भाँति उस मनोहर काननमें सभी ऋतुएँ निवास करती हैं। वहाँके वृक्ष बड़ी-बड़ी शाखा धारण करनेवाले तथा फलोंके भारसे झुके हुए हैं॥ ८॥

शोभन्ते सर्वतस्तत्र मेघपर्वतसंनिभाः।
तानारुह्याथवा भूमौ पातयित्वाथवा सुखम्॥ ९॥
फलान्यमृतकल्पानि लक्ष्मणस्ते प्रदास्यति।

'वे वहाँ सब ओर मेघों और पर्वतोंके समान शोभा पाते

है। लक्ष्मण उन वृक्षोंपर चढ़कर अथवा सुखपूर्वक उन्हें पृथ्वीपर झुकाकर उनके अमृततुल्य मधुर फल आपको देंगे ॥ ९½ ॥

चङ्क्रमन्तौ वराञ्शैलाञ्शैलाच्छैलं वनाद् वनम् ॥ १० ॥
ततः पुष्करिणीं वीरौ पम्पां नाम गमिष्यथः ।

'इस प्रकार सुन्दर पर्वतोंपर भ्रमण करते हुए आप दोनों भाई एक पहाड़से दूसरे पहाड़पर तथा एक वनसे दूसरे वनमें पहुँचेंगे और इस तरह अनेक पर्वतों तथा वनोंको लाँघते हुए आप दोनों वीर पम्पा नामक पुष्करिणीके तटपर पहुँच जायँगे ॥ १०½ ॥

अशर्करामविभ्रंशां समतीर्थामशैवलाम् ॥ ११ ॥
राम संजातवालूकां कमलोत्पलशोभिताम् ।

'श्रीराम ! वहाँ कंकड़का नाम नहीं है। उसके तटपर पैर फिसलने लायक कीचड़ आदि नहीं है। उसके घाटकी भूमि सब ओरसे बराबर है—ऊँची-नीची या ऊबड़-खाबड़ नहीं है। उस पुष्करिणीमें सेवारका सर्वथा अभाव है। उसके भीतरकी भूमि बालुकापूर्ण है। कमल और उत्पल उस सरोवरकी शोभा बढ़ाते हैं ॥ ११½ ॥

तत्र हंसाः प्लवाः क्रौञ्चाः कुरराश्चैव राघव ॥ १२ ॥
वल्गुस्वरा निकूजन्ति पम्पासलिलगोचराः ।
नोद्विजन्ते नरान् दृष्ट्वा वधस्याकोविदाः शुभाः ॥ १३ ॥

'रघुनन्दन ! वहाँ पम्पाके जलमें विचरनेवाले हंस, कारण्डव, क्रौञ्च और कुरर सदा मधुर स्वरमें कूजते रहते हैं। वे मनुष्योंको देखकर उद्विग्न नहीं होते हैं। क्योंकि किसी मनुष्यके द्वारा किसी पक्षीका वध भी हो सकता है, ऐसे भयका उन्हें अनुभव नहीं है। ये सभी पक्षी बड़े सुन्दर हैं ॥ १२-१३ ॥

घृतपिण्डोपमान् स्थूलांस्तान् द्विजान् भक्षयिष्यथः ।
रोहितान् वक्रतुण्डांश्च नलमीनांश्च राघव ॥ १४ ॥
पम्पायामिषुभिर्मत्स्यांस्तत्र राम वरान् हतान् ।
निस्त्वक्पक्षानयस्तप्तानकृशानेककण्टकान् ॥ १५ ॥
तव भक्त्या समायुक्तो लक्ष्मणः सम्प्रदास्यति ।

'बाणोंके अग्रभागसे जिनके छिलके छुड़ा दिये गये हैं, अतएव जिनमें एक भी काँटा नहीं रह गया है, जो घीके लोंदेके समान चिकने तथा आर्द्र हैं—सूखे नहीं हैं, जिन्हें लोहमय बाणोंके अग्रभागमें गूँथकर आगमें सेका और पकाया गया है, ऐसे फल-मूलके ढेर वहाँ भक्ष्य पदार्थके रूपमें उपलब्ध होंगे। आपके प्रति भक्तिभावसे सम्पन्न लक्ष्मण आपको वे भक्ष्य पदार्थ अर्पित करेंगे। आप दोनों भाई उन पदार्थोंको लेकर उस सरोवरके मोटे-मोटे सुप्रसिद्ध जलचर पक्षियों तथा श्रेष्ठ रोहित (रोहू), वक्रतुण्ड और नलमीन आदि मत्स्योंको थोड़ा-थोड़ा करके खिलाइयेगा (इससे आपका मनोरञ्जन होगा) ॥ १४-१५½ ॥

भृशं तान् खादतो मत्स्यान् पम्पायाः पुष्पसंचये ॥ १६ ॥
पद्मगन्धि शिवं वारि सुखशीतमनामयम् ।
उद्धृत्य स तदाक्लिष्टं रूप्यस्फटिकसंनिभम् ॥ १७ ॥
अथ पुष्करपर्णेन लक्ष्मणः पाययिष्यति ।

'जिस समय आप पम्पासरोवरकी पुष्पराशिके समीप मछलियोंको भोजन करानेकी क्रीड़ामें अत्यन्त संलग्न होंगे, उस समय लक्ष्मण उस सरोवरका कमलकी गन्धसे सुवासित, कल्याणकारी, सुखद, शीतल, रोगनाशक, क्लेशहारी तथा चाँदी और स्फटिकमणिके समान स्वच्छ जल कमलके पत्तेमें निकालकर लायेंगे और आपको पिलायेंगे ॥

स्थूलान् गिरिगुहाशय्यान् वानरान् वनचारिणः ॥ १८ ॥
सायाह्ने विचरन् राम दर्शयिष्यति लक्ष्मणः ।

'श्रीराम ! सायंकालमें आपके साथ विचरते हुए लक्ष्मण आपको उन मोटे-मोटे वनचारी वानरोंका दर्शन करायेंगे, जो पर्वतोंकी गुफाओंमें सोते और रहते हैं ॥ १८½ ॥

अपां लोभादुपावृत्तान् वृषभानिव नर्दतः ॥ १९ ॥
स्थूलान् पीतांश्च पम्पायां द्रक्ष्यसि त्वं नरोत्तम ।

'नरश्रेष्ठ ! वे वानर पानी पीनेके लोभसे पम्पाके तटपर आकर साँड़ोंके समान गर्जते हैं। उनके शरीर मोटे और रंग पीले होते हैं। आप उन सबको वहाँ देखेंगे ॥ १९½ ॥

सायाह्ने विचरन् राम विटपी माल्यधारिणः ॥ २० ॥
शिवोदकं च पम्पायां दृष्ट्वा शोकं विहास्यसि ।

'श्रीराम ! सायंकालमें चलते समय आप बड़ी-बड़ी शाखावाले, पुष्पधारी वृक्षों तथा पम्पाके शीतल जलका दर्शन करके अपना शोक त्याग देंगे ॥ २०½ ॥

सुमनोभिश्चितास्तत्र तिलका नक्तमालकाः ॥ २१ ॥
उत्पलानि च फुल्लानि पङ्कजानि च राघव ।

'रघुनन्दन ! वहाँ फूलोंसे भरे हुए तिलक और नक्तमालके वृक्ष शोभा पाते हैं तथा जलके भीतर उत्पल और कमल फूले दिखायी देते हैं ॥ २१½ ॥

न तानि कश्चिन्माल्यानि तत्रारोपयिता नरः ॥ २२ ॥
न च वै म्लानतां यान्ति न च शीर्यन्ति राघव ।

'रघुनन्दन ! कोई भी मनुष्य वहाँ उन फूलोंको उतारकर धारण नहीं करता है। (क्योंकि वहाँतक किसीकी पहुँच ही नहीं हो पाती है) पम्पासरोवरके फूल न तो मुरझाते हैं और न झरते ही हैं ॥ २२½ ॥

मतङ्गशिष्यास्तत्रासन्नृषयः सुसमाहिताः ॥ २३ ॥
तेषां भाराभितप्तानां वन्यमाहरतां गुरोः ।
ये प्रपेतुर्महीं तूर्णं शरीरात् स्वेदबिन्दवः ॥ २४ ॥
तानि माल्यानि जातानि मुनीनां तपसा तदा ।
स्वेदबिन्दुसमुत्थानि न विनश्यन्ति राघव ॥ २५ ॥

'कहते हैं, वहाँ पहले मतंग मुनिके शिष्य ऋषिगण निवास करते थे, जिनका चित्त सदा एकाग्र एवं शान्त रहता

था। वे अपने गुरु मतंग मुनिके लिये जब जंगली फल-मूल ले आते और उनके भारसे थक जाते, तब उनके शरीरसे पृथ्वीपर पसीनोंकी जो बूँदें गिरती थीं, वे ही उन मुनियोंकी तपस्याके प्रभावसे तत्काल फूलके रूपमें परिणत हो जाती थीं। राघव! पसीनोंकी बूँदोंसे उत्पन्न होनेके कारण वे फूल नष्ट नहीं होते हैं॥ २३—२५॥

तेषां गतानामद्यापि दृश्यते परिचारिणी।
श्रमणी शबरी नाम काकुत्स्थ चिरजीविनी॥ २६॥
त्वां तु धर्मे स्थिता नित्यं सर्वभूतनमस्कृतम्।
दृष्ट्वा देवोपमं राम स्वर्गलोकं गमिष्यति॥ २७॥

'वे सब-के-सब ऋषि तो अब चले गये; किंतु उनकी सेवामें रहनेवाली तपस्विनी शबरी आज भी वहाँ दिखायी देती है। काकुत्स्थ! शबरी चिरजीवनी होकर सदा धर्मके अनुष्ठानमें लगी रहती है। श्रीराम! आप समस्त प्राणियोंके लिये नित्य वन्दनीय और देवताके तुल्य हैं। आपका दर्शन करके शबरी स्वर्गलोक (साकेतधाम) को चली जायगी॥ २६-२७॥

ततस्तद्राम पम्पायास्तीरमाश्रित्य पश्चिमम्।
आश्रमस्थानमतुलं गुह्यं काकुत्स्थ पश्यसि॥ २८॥

'ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम! तदनन्तर आप पम्पाके पश्चिम तटपर जाकर एक अनुपम आश्रम देखेंगे, जो (सर्वसाधारणकी पहुँचके बाहर होनेके कारण) गुप्त है॥

न तत्राक्रमितुं नागाः शक्नुवन्ति तदाश्रमे।
ऋषेस्तस्य मतङ्गस्य विधानात् तच्च काननम्॥ २९॥

'उस आश्रमपर, तथा उस वनमें मतंग मुनिके प्रभावसे हाथी कभी आक्रमण नहीं कर सकते॥ २९॥

मतङ्गवनमित्येव विश्रुतं रघुनन्दन।
तस्मिन् नन्दनसंकाशे देवारण्योपमे वने॥ ३०॥
नानाविहगसंकीर्णे रंस्यसे राम निर्वृतः।

'रघुनन्दन! वहाँका जंगल मतंगवनके नामसे प्रसिद्ध है। उस नन्दनतुल्य मनोहर और देववनके समान सुन्दर वनमें नाना प्रकारके पक्षी भरे रहते हैं। श्रीराम! आप वहाँ बड़ी प्रसन्नताके साथ सानन्द विचरण करेंगे॥ ३०½॥

ऋष्यमूकस्तु पम्पायाः पुरस्तात् पुष्पितद्रुमः॥ ३१॥
सुदुःखारोहणश्चैव शिशुनागाभिरक्षितः।
उदारो ब्रह्मणा चैव पूर्वकालेऽभिनिर्मितः॥ ३२॥

'पम्पासरोवरके पूर्वभागमें ऋष्यमूक पर्वत है, जहाँके वृक्ष फूलोंसे सुशोभित दिखायी देते हैं। उसके ऊपर चढ़नेमें बड़ी कठिनाई होती है, क्योंकि वह छोटे-छोटे सर्पों अथवा हाथियोंके बच्चोंद्वारा सब ओरसे सुरक्षित है। ऋष्यमूक पर्वत उदार (अभीष्ट फलको देनेवाला) है। पूर्वकालमें साक्षात् ब्रह्माजीने उसका निर्माण किया और उसे औदार्य आदि गुणोंसे सम्पन्न बनाया॥ ३१-३२॥

शयानः पुरुषो राम तस्य शैलस्य मूर्धनि।
यत् स्वप्नं लभते वित्तं तत् प्रबुद्धोऽधिगच्छति॥ ३३॥
यस्त्वेनं विषमाचारः पापकर्माधिरोहति।
तत्रैव प्रहरन्त्येनं सुप्तमादाय राक्षसाः॥ ३४॥

'श्रीराम! उस पर्वतके शिखरपर सोया हुआ पुरुष सपनेमें जिस सम्पत्तिको पाता है उसे जागनेपर भी प्राप्त कर लेता है। जो पापकर्मी तथा विषम बर्ताव करनेवाला पुरुष उस पर्वतपर चढ़ता है, उसे इस पर्वतशिखरपर ही सो जानेपर राक्षस लोग उठाकर उसके ऊपर प्रहार करते हैं॥ ३३-३४॥

तत्रापि शिशुनागानामाक्रन्दः श्रूयते महान्।
क्रीडतां राम पम्पायां मतङ्गाश्रमवासिनाम्॥ ३५॥

'श्रीराम! मतंग मुनिके आश्रमके आस-पासके वनमें रहने और पम्पासरोवरमें क्रीडा करनेवाले छोटे-छोटे हाथियोंके चिग्घाड़नेका महान् शब्द उस पर्वतपर भी सुनायी देता है॥ ३५॥

सक्ता रुधिरधाराभिः संहत्य परमद्विपाः।
प्रचरन्ति पृथक्कीर्णा मेघवर्णास्तरस्विनः॥ ३६॥
ते तत्र पीत्वा पानीयं विमलं चारु शोभनम्।
अत्यन्तसुखसंस्पर्शं सर्वगन्धसमन्वितम्॥ ३७॥
निर्वृत्ताः संविगाहन्ते वनानि वनगोचराः।

'जिनके गण्डस्थलोंपर कुछ लाल रंगकी मदकी धाराएँ बहती हैं, वे वेगशाली और मेघके समान काले बड़े-बड़े गजराज झुंड-के-झुंड एक साथ होकर दूसरी जातिवाले हाथियोंसे पृथक् हो वहाँ विचरते रहते हैं। वनमें विचरनेवाले वे हाथी जब पम्पासरोवरका निर्मल, मनोहर, सुन्दर, छूनेमें अत्यन्त सुखद तथा सब प्रकारकी सुगन्धसे सुवासित जल पीकर लौटते हैं, तब उन वनोंमें प्रवेश करते हैं॥ ३६-३७½॥

ऋक्षांश्च द्वीपिनश्चैव नीलकोमलकप्रभान्॥ ३८॥
रुरूनपेतानजयान् दृष्ट्वा शोकं प्रहास्यसि।

'रघुनन्दन! वहाँ रीछों, बाघों और नील कोमल कान्तिवाले मनुष्योंको देखकर भागनेवाले तथा दौड़ लगानेमें किसीसे पराजित न होनेवाले मृगोंको देखकर आप अपना सारा शोक भूल जायँगे॥ ३८½॥

राम तस्य तु शैलस्य महती शोभते गुहा॥ ३९॥
शिलापिधाना काकुत्स्थ दुःखं चास्याः प्रवेशनम्।

'श्रीराम! उस पर्वतके ऊपर एक बहुत बड़ी गुफा शोभा पाती है, जिसका द्वार पत्थरसे ढका है। उसके भीतर प्रवेश करनेमें बड़ा कष्ट होता है॥ ३९½॥

तस्या गुहायाः प्राग्द्वारे महाञ्शीतोदको ह्रदः॥ ४०॥
बहुमूलफलो रम्यो नानानगसमाकुलः।

'उस गुफाके पूर्वद्वारपर शीतल जलसे भरा हुआ एक बहुत बड़ा कुण्ड है। उसके आस-पास बहुत-से फल और मूल सुलभ हैं तथा वह रमणीय ह्रद नाना प्रकारके वृक्षोंसे

व्याप्त है॥ ४०½॥

तस्यां वसति धर्मात्मा सुग्रीव: सह वानरै:॥ ४१॥
कदाचिच्छिखरे तस्य पर्वतस्यापि तिष्ठति।

'धर्मात्मा सुग्रीव वानरोंके साथ उसी गुफामें निवास करते हैं। वे कभी-कभी उस पर्वतके शिखरपर भी रहते हैं'॥

कबन्धस्त्वनुशास्यैवं तावुभौ रामलक्ष्मणौ॥ ४२॥
स्रग्वी भास्करवर्णाभ: खे व्यरोचत वीर्यवान्।

इस प्रकार श्रीराम और लक्ष्मण दोनों भाइयोंको सब बातें बताकर सूर्यके समान तेजस्वी और पराक्रमी कबन्ध दिव्य पुष्पोंकी माला धारण किये आकाशमें प्रकाशित होने लगा॥

तं तु खस्थं महाभागं तावुभौ रामलक्ष्मणौ॥ ४३॥
प्रस्थितौ त्वं व्रजस्वेति वाक्यमूचतुरन्तिके।

उस समय वे दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण वहाँसे प्रस्थान करनेके लिये उद्यत हो आकाशमें खड़े हुए महाभाग कबन्धसे उसके निकट खड़े होकर बोले—'अब तुम परम धामको जाओ'॥

गम्यतां कार्यसिद्ध्यर्थमिति तावब्रवीत् स च॥ ४४॥
सुप्रीतौ तावनुज्ञाप्य कबन्ध: प्रस्थितस्तदा॥ ४५॥

कबन्धने भी उन दोनों भाइयोंसे कहा—'आपलोग भी अपने कार्यकी सिद्धिके लिये यात्रा करें।' ऐसा कहकर परम प्रसन्न हुए उन दोनों बन्धुओंसे आज्ञा ले कबन्धने तत्काल प्रस्थान किया॥ ४४-४५॥

स तत् कबन्ध: प्रतिपद्य रूपं
वृत: श्रिया भास्वरसर्वदेह:।
निदर्शयन् राममवेक्ष्य खस्थ:
सख्यं कुरुष्वेति तदाभ्युवाच॥ ४६॥

कबन्ध अपने पहले रूपको पाकर अद्भुत शोभासे सम्पन्न हो गया। उसका सारा शरीर सूर्य-तुल्य प्रभासे प्रकाशित हो उठा। वह रामकी ओर देखकर उन्हें पम्पासरोवरका मार्ग दिखाता हुआ आकाशमें ही स्थित होकर बोला—'आप सुग्रीवके साथ मित्रता अवश्य करें'॥६२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे त्रिसप्ततितम: सर्ग:॥ ७३॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें तिहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ७३॥

★

चतु:सप्ततितम: सर्ग:

श्रीराम और लक्ष्मणका पम्पासरोवरके तटपर मतङ्गवनमें शबरीके आश्रमपर जाना, उसका सत्कार ग्रहण करना और उसके साथ मतङ्गवनको देखना, शबरीका अपने शरीरकी आहुति दे दिव्यधामको प्रस्थान करना

तौ कबन्धेन तं मार्गं पम्पाया दर्शितं वने।
आतस्थतुर्दिशं गृह्य प्रतीचीं नृवरात्मजौ॥ १॥

तदनन्तर राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण कबन्धके बताये हुए पम्पासरोवरके मार्गका आश्रय ले पश्चिम दिशाकी ओर चल दिये॥ १॥

तौ शैलेष्वाचितानेकान् क्षौद्रपुष्पफलद्रुमान्।
वीक्षन्तौ जग्मतुर्द्रष्टुं सुग्रीवं रामलक्ष्मणौ॥ २॥

दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण पर्वतोंपर फैले हुए बहुत-से वृक्षोंको, जो फूल, फल और मधुसे सम्पन्न थे, देखते हुए सुग्रीवसे मिलनेके लिये आगे बढ़े॥ २॥

कृत्वा तु शैलपृष्ठे तु तौ वासं रघुनन्दनौ।
पम्पाया: पश्चिमं तीरं राघवावुपतस्थतु:॥ ३॥

रातमें एक पर्वत-शिखरपर निवास करके रघुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले वे दोनों रघुवंशी बन्धु पम्पासरोवरके पश्चिम तटपर जा पहुँचे॥ ३॥

तौ पुष्करिण्या: पम्पायास्तीरमासाद्य पश्चिमम्।
अपश्यतां ततस्तत्र शबर्या रम्यमाश्रमम्॥ ४॥

पम्पानामक पुष्करिणीके-पश्चिम तटपर पहुँचकर उन दोनों भाइयोंने वहाँ शबरीका रमणीय आश्रम देखा॥ ४॥

तौ तमाश्रममासाद्य द्रुमैर्बहुभिरावृतम्।
सुरम्यमभिवीक्षन्तौ शबरीमभ्युपेयतु:॥ ५॥

उसकी शोभा निहारते हुए वे दोनों भाई बहुसंख्यक वृक्षोंसे घिरे हुए उस सुरम्य आश्रमपर जाकर शबरीसे मिले॥ ५॥

तौ दृष्ट्वा तु तदा सिद्धा समुत्थाय कृताञ्जलि:।
पादौ जग्राह रामस्य लक्ष्मणस्य च धीमत:॥ ६॥

शबरी सिद्ध तपस्विनी थी। उन दोनों भाइयोंको आश्रमपर आया देख वह हाथ जोड़कर खड़ी हो गयी तथा उसने बुद्धिमान् श्रीराम और लक्ष्मणके चरणोंमें प्रणाम किया॥ ६॥

पाद्यमाचमनीयं च सर्वं प्रादाद् यथाविधि।
तामुवाच ततो राम: श्रमणीं धर्मसंस्थिताम्॥ ७॥

फिर पाद्य, अर्घ्य और आचमनीय आदि सब सामग्री समर्पित की और विधिवत् उनका सत्कार किया। तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजी उस धर्मपरायणा तपस्विनीसे बोले—॥ ७॥

कच्चित्ते निर्जिता विघ्ना: कच्चित्ते वर्धते तप:।
कच्चित्ते नियत: कोप आहारश्च तपोधने॥ ८॥

'तपोधने! क्या तुमने सारे विघ्नोंपर विजय पा ली? क्या तुम्हारी तपस्या बढ़ रही है? क्या तुमने क्रोध और आहारको काबूमें कर लिया है?॥ ८॥

कच्चित्ते नियमाः प्राप्ताः कच्चित्ते मनसः सुखम्।
कच्चित्ते गुरुशुश्रूषा सफला चारुभाषिणि ॥ ९ ॥

'तुमने जिन नियमोंको स्वीकार किया है, वे निभ तो जाते हैं न? तुम्हारे मनमें सुख और शान्ति है न? चारुभाषिणि! तुमने जो गुरुजनोंकी सेवा की है, वह पूर्णरूपसे सफल हो गयी है न?' ॥ ९ ॥

रामेण तापसी पृष्टा सा सिद्धा सिद्धसम्मता।
शशंस शबरी वृद्धा रामाय प्रत्यवस्थिता ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्रजीके इस प्रकार पूछनेपर वह सिद्ध तपस्विनी बूढ़ी शबरी, जो सिद्धोंके द्वारा सम्मानित थी, उनके सामने खड़ी होकर बोली— ॥ १० ॥

अद्य प्राप्ता तपःसिद्धिस्तव संदर्शनान्मया।
अद्य मे सफलं जन्म गुरवश्च सुपूजिताः ॥ ११ ॥

'रघुनन्दन! आज आपका दर्शन मिलनेसे ही मुझे अपनी तपस्यामें सिद्धि प्राप्त हुई है। आज मेरा जन्म सफल हुआ और गुरुजनोंकी उत्तम पूजा भी सार्थक हो गयी ॥ ११ ॥

अद्य मे सफलं तप्तं स्वर्गश्चैव भविष्यति।
त्वयि देववरे राम पूजिते पुरुषर्षभ ॥ १२ ॥

'पुरुषप्रवर श्रीराम! आप देवेश्वरका यहाँ सत्कार हुआ; इससे मेरी तपस्या सफल हो गयी और अब मुझे आपके दिव्य धामकी प्राप्ति भी होगी ही ॥ १२ ॥

तवाहं चक्षुषा सौम्य पूता सौम्येन मानद।
गमिष्याम्यक्षयाँल्लोकांस्त्वत्प्रसादादरिंदम ॥ १३ ॥

'सौम्य! मानद! आपकी सौम्य दृष्टि पड़नेसे मैं परम पवित्र हो गयी। शत्रुदमन! आपके प्रसादसे ही अब मैं अक्षय लोकोंमें जाऊँगी ॥ १३ ॥

चित्रकूटं त्वयि प्राप्ते विमानैरतुलप्रभैः।
इतस्ते दिवमारूढा यानहं पर्यचारिषम् ॥ १४ ॥

'जब आप चित्रकूट पर्वतपर पधारे थे, उसी समय मेरे गुरुजन, जिनकी मैं सदा सेवा किया करती थी, अतुल कान्तिमान् विमानपर बैठकर यहाँसे दिव्यलोकको चले गये ॥

तैश्चाहमुक्ता धर्मज्ञैर्महाभागैर्महर्षिभिः।
आगमिष्यति ते रामः सुपुण्यमिममाश्रमम् ॥ १५ ॥
स ते प्रतिग्रहीतव्यः सौमित्रिसहितोऽतिथिः।
तं च दृष्ट्वा वराँल्लोकानक्षयांस्त्वं गमिष्यसि ॥ १६ ॥

'उन धर्मज्ञ महाभाग महर्षियोंने जाते समय मुझसे कहा था कि तेरे इस परम पवित्र आश्रमपर श्रीरामचन्द्रजी पधारेंगे और लक्ष्मणके साथ तेरे अतिथि होंगे। तुम उनका यथावत् सत्कार करना। उनका दर्शन करके तू श्रेष्ठ एवं अक्षय लोकोंमें जायगी ॥ १५-१६ ॥

एवमुक्ता महाभागैस्तदाहं पुरुषर्षभ।
मया तु संचितं वन्यं विविधं पुरुषर्षभ ॥ १७ ॥
तवार्थे पुरुषव्याघ्र पम्पायास्तीरसम्भवम्।

'पुरुषप्रवर! उन महाभाग महात्माओंने मुझसे उस समय ऐसी बात कही थी। अतः पुरुषसिंह! मैंने आपके लिये पम्पातटपर उत्पन्न होनेवाले नाना प्रकारके जंगली फल-मूलोंका संचय किया है' ॥ १७½ ॥

एवमुक्तः स धर्मात्मा शबर्या शबरीमिदम् ॥ १८ ॥
राघवः प्राह विज्ञाने तां नित्यमबहिष्कृताम्।

शबरी (जातिसे वर्णबाह्य होनेपर भी) विज्ञानमें बहिष्कृत नहीं थी—उसे परमात्माके तत्त्वका नित्य ज्ञान प्राप्त था। उसकी पूर्वोक्त बातें सुनकर धर्मात्मा श्रीरामने उससे कहा— ॥ १८½ ॥

दनोः सकाशात् तत्त्वेन प्रभावं ते महात्मनाम् ॥ १९ ॥
श्रुतं प्रत्यक्षमिच्छामि संद्रष्टुं यदि मन्यसे।

'तपोधने! मैंने कबन्धके मुखसे तुम्हारे महात्मा गुरुजनोंका यथार्थ प्रभाव सुना है। यदि तुम स्वीकार करो तो मैं उनके उस प्रभावको प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ' ॥ १९ ॥

एतत्तु वचनं श्रुत्वा रामवक्त्रविनिःसृतम् ॥ २० ॥
शबरी दर्शयामास तावुभौ तद्वनं महत्।

श्रीरामके मुखसे निकले हुए इस वचनको सुनकर शबरीने उन दोनों भाइयोंको उस महान् वनका दर्शन कराते हुए कहा— ॥ २०½ ॥

पश्य मेघघनप्रख्यं मृगपक्षिसमाकुलम् ॥ २१ ॥
मतङ्गवनमित्येव विश्रुतं रघुनन्दन।

'रघुनन्दन! मेघोंकी घटाके समान श्याम और नाना प्रकारके पशु-पक्षियोंसे भरे हुए इस वनकी ओर दृष्टिपात कीजिये। यह मतंगवनके नामसे ही विख्यात है ॥ २१½ ॥

इह ते भावितात्मानो गुरवो मे महाद्युते।
जुहवांचक्रिरे नीडं मन्त्रवन्मन्त्रपूजितम् ॥ २२ ॥

'महातेजस्वी श्रीराम! यहाँ वे मेरे भावितात्मा (शुद्ध अन्तःकरणवाले एवं परमात्मचिन्तनपरायण) गुरुजन निवास करते थे। इसी स्थानपर उन्होंने गायत्रीमन्त्रके जपसे विशुद्ध हुए अपने देहरूपी पञ्जरको मन्त्रोच्चारणपूर्वक अग्निमें होम दिया था ॥ २२ ॥

इयं प्रत्यक्स्थली वेदी यत्र ते मे सुसत्कृताः।
पुष्पोपहारं कुर्वन्ति श्रमादुद्वेपिभिः करैः ॥ २३ ॥

'यह प्रत्यक्स्थली नामवाली वेदी है, जहाँ मेरे द्वारा भलीभाँति पूजित हुए वे महर्षि वृद्धावस्थाके कारण श्रमसे काँपते हुए हाथोंद्वारा देवताओंको फूलोंकी बलि चढ़ाया करते थे ॥ २३ ॥

तेषां तपःप्रभावेण पश्याद्यापि रघूत्तम।
द्योतयन्ती दिशः सर्वाः श्रिया वेद्यतुलप्रभा ॥ २४ ॥

'रघुवंशशिरोमणे! देखिये, उनकी तपस्याके प्रभावसे आज भी यह वेदी अपने तेजके द्वारा सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित कर रही है। इस समय भी इसकी प्रभा अतुलनीय है ॥ २४ ॥

अशक्नुवद्भिस्तैर्गन्तुमुपवासश्रमालसैः ।
चिन्तितेनागतान् पश्य समेतान् सप्त सागरान् ॥ २५ ॥

'उपवास करनेसे दुर्बल होनेके कारण जब वे चलने-फिरनेमें असमर्थ हो गये, तब उनके चिन्तनमात्रसे वहाँ सात समुद्रोंका जल प्रकट हो गया। वह सप्तसागर तीर्थ आज भी मौजूद है। उसमें सातों समुद्रोंके जल मिले हुए हैं, उसे चलकर देखिये ॥ २५ ॥

कृताभिषेकैस्तैर्न्यस्ता वल्कलाः पादपेष्विह ।
अद्यापि न विशुष्यन्ति प्रदेशे रघुनन्दन ॥ २६ ॥

'रघुनन्दन! उसमें स्नान करके उन्होंने वृक्षोंपर जो वल्कल वस्त्र फैला दिये थे, वे इस प्रदेशमें अबतक सूखे नहीं हैं ॥ २६ ॥

देवकार्याणि कुर्वद्भिर्यानीमानि कृतानि वै ।
पुष्पैः कुवलयैः सार्धं म्लानत्वं न तु यान्ति वै ॥ २७ ॥

'देवताओंकी पूजा करते हुए मेरे गुरुजनोंने कमलोंके साथ अन्य फूलोंकी जो मालाएँ बनायी थीं, वे आज भी मुरझायी नहीं हैं ॥ २७ ॥

कृत्स्नं वनमिदं दृष्टं श्रोतव्यं च श्रुतं त्वया ।
तदिच्छाम्यभ्यनुज्ञाता त्यक्ष्याम्येतत् कलेवरम् ॥ २८ ॥

'भगवन्! आपने सारा वन देख लिया और यहाँके सम्बन्धमें जो बातें सुननेयोग्य थीं, वे भी सुन लीं। अब मैं आपकी आज्ञा लेकर इस देहका परित्याग करना चाहती हूँ ॥ २८ ॥

तेषामिच्छाम्यहं गन्तुं समीपं भावितात्मनाम् ।
मुनीनामाश्रमो येषामहं च परिचारिणी ॥ २९ ॥

'जिनका यह आश्रम है और जिनके चरणोंकी मैं दासी रही हूँ, उन्हीं पवित्रात्मा महर्षियोंके समीप अब मैं जाना चाहती हूँ' ॥ २९ ॥

धर्मिष्ठं तु वचः श्रुत्वा राघवः सहलक्ष्मणः ।
प्रहर्षमतुलं लेभे आश्चर्यमिति चाब्रवीत् ॥ ३० ॥

शबरीके धर्मयुक्त वचन सुनकर लक्ष्मणसहित श्रीरामको अनुपम प्रसन्नता प्राप्त हुई। उनके मुँहसे निकल पड़ा, 'आश्चर्य है!' ॥ ३० ॥

तामुवाच ततो रामः शबरीं संशितव्रताम् ।
अर्चितोऽहं त्वया भद्रे गच्छ कामं यथासुखम् ॥ ३१ ॥

तदनन्तर श्रीरामने कठोर व्रतका पालन करनेवाली शबरीसे कहा—'भद्रे! तुमने मेरा बड़ा सत्कार किया। अब तुम अपनी इच्छाके अनुसार आनन्दपूर्वक अभीष्ट लोककी यात्रा करो' ॥

इत्येवमुक्ता जटिला चीरकृष्णाजिनाम्बरा ।
अनुज्ञाता तु रामेण हुत्वाऽऽत्मानं हुताशने ॥ ३२ ॥
ज्वलत्पावकसंकाशा स्वर्गमेव जगाम ह ।
दिव्याभरणसंयुक्ता दिव्यमाल्यानुलेपना ॥ ३३ ॥
दिव्याम्बरधरा तत्र बभूव प्रियदर्शना ।
विराजयन्ती तं देशं विद्युत्सौदामनी यथा ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके इस प्रकार आज्ञा देनेपर मस्तकपर जटा और शरीरपर चीर एवं काला मृगचर्म धारण करनेवाली शबरीने अपनेको आगमें होमकर प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी शरीर प्राप्त किया। वह दिव्य वस्त्र, दिव्य आभूषण, दिव्य फूलोंकी माला और दिव्य अनुलेपन धारण किये बड़ी मनोहर दिखायी देने लगी तथा सुदाम पर्वतपर प्रकट होने-वाली बिजलीके समान उस प्रदेशको प्रकाशित करती हुई स्वर्ग (साकेत) लोकको ही चली गयी ॥ ३२—३४ ॥

यत्र ते सुकृतात्मानो विहरन्ति महर्षयः ।
तत् पुण्यं शबरी स्थानं जगामात्मसमाधिना ॥ ३५ ॥

उसने अपने चित्तको एकाग्र करके उस पुण्यधामकी यात्रा की, जहाँ उसके वे गुरुजन पुण्यात्मा महर्षि विहार करते थे ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें चौहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७४ ॥

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणकी बातचीत तथा उन दोनों भाइयोंका पम्पासरोवरके तटपर जाना

दिवं तु तस्यां यातायां शबर्यां स्वेन तेजसा ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा चिन्तयामास राघवः ॥ १ ॥
चिन्तयित्वा तु धर्मात्मा प्रभावं तं महात्मनाम् ।
हितकारिणमेकाग्रं लक्ष्मणं राघवोऽब्रवीत् ॥ २ ॥

अपने तेजसे प्रकाशित होनेवाली शबरीके दिव्यलोकमें चले जानेपर भाई लक्ष्मणसहित धर्मात्मा श्रीरघुनाथजीने उन महात्मा महर्षियोंके प्रभावका चिन्तन किया। चिन्तन करके अपने हितमें संलग्न रहनेवाले एकाग्रचित्त लक्ष्मणसे श्रीरामने इस प्रकार कहा— ॥ १-२ ॥

दृष्टो मयाऽऽश्रमः सौम्य बह्वाश्चर्यः कृतात्मनाम् ।
विश्वस्तमृगशार्दूलो नानाविहगसेवितः ॥ ३ ॥

'सौम्य! मैंने उन पुण्यात्मा महर्षियोंका यह पवित्र आश्रम देखा। यहाँ बहुत-सी आश्चर्यजनक बातें हैं। हरिण और बाघ एक-दूसरेपर विश्वास करते हैं। नाना प्रकारके पक्षी इस आश्रमका सेवन करते हैं ॥ ३ ॥

सप्तानां च समुद्राणां तेषां तीर्थेषु लक्ष्मण ।
उपस्पृष्टं च विधिवत् पितरश्चापि तर्पिताः ॥ ४ ॥

प्रणष्टमशुभं यत्नः कल्याणं समुपस्थितम्।
तेन त्वेतत् प्रहृष्टं मे मनो लक्ष्मण सम्प्रति॥ ५॥

'लक्ष्मण! यहाँ जो सातों समुद्रोंके जलसे भरे हुए तीर्थ हैं, उनमें हमने विधिपूर्वक स्नान तथा पितरोंका तर्पण किये हैं। इससे हमारा सारा अशुभ नष्ट हो गया और अब हमारे कल्याणका समय उपस्थित हुआ है। सुमित्राकुमार! इससे इस समय मेरे मनमें अधिक प्रसन्नता हो रही है॥ ४-५॥

हृदये मे नरव्याघ्र शुभमाविर्भविष्यति।
तदागच्छ गमिष्यावः पम्पां तां प्रियदर्शनाम्॥ ६॥

'नरश्रेष्ठ! अब मेरे हृदयमें कोई शुभ संकल्प उठनेवाला है। इसलिये आओ, अब हम दोनों परम सुन्दर पम्पा-सरोवरके तटपर चलें॥ ६॥

ऋष्यमूको गिरिर्यत्र नातिदूरे प्रकाशते।
यस्मिन् वसति धर्मात्मा सुग्रीवोंऽशुमतः सुतः॥ ७॥

'यहाँसे थोड़ी ही दूरपर वह ऋष्यमूक पर्वत शोभा पाता है, जिसपर सूर्यपुत्र धर्मात्मा सुग्रीव निवास करते हैं॥ ७॥

नित्यं वालिभयात् त्रस्तश्चतुर्भिः सह वानरैः।
अहं त्वरे च तं द्रष्टुं सुग्रीवं वानरर्षभम्॥ ८॥
तदधीनं हि मे कार्यं सीतायाः परिमार्गणम्।

'वालीके भयसे सदा डरे रहनेके कारण वे चार वानरोंके साथ उस पर्वतपर रहते हैं। मैं वानरश्रेष्ठ सुग्रीवसे मिलनेके लिये उतावला हो रहा हूँ; क्योंकि सीताके अन्वेषणका कार्य उन्हींके अधीन है'॥ ८½॥

इति ब्रुवाणं तं वीरं सौमित्रिरिदमब्रवीत्॥ ९॥
गच्छावस्त्वरितं तत्र ममापि त्वरते मनः।

इस प्रकारकी बात कहते हुए वीर श्रीरामसे सुमित्राकुमार लक्ष्मणने यों कहा—'भैया! हम दोनोंको शीघ्र ही वहाँ चलना चाहिये। मेरा मन भी चलनेके लिये उतावला हो रहा है'॥ ९½॥

आश्रमात्तु ततस्तस्मान्निष्क्रम्य स विशाम्पतिः॥ १०॥
आजगाम ततः पम्पां लक्ष्मणेन सह प्रभुः।
समीक्षमाणः पुष्पाढ्यं सर्वतो विपुलद्रुमम्॥ ११॥

तदनन्तर प्रजापालक भगवान् श्रीराम लक्ष्मणके साथ उस आश्रमसे निकलकर सब ओर फूलोंसे लदे हुए नाना प्रकारके वृक्षोंकी शोभा निहारते हुए पम्पासरोवरके तटपर आये॥

कोयष्टिभिश्चार्जुनकैः शतपत्रैश्च कीरकैः।
एतैश्चान्यैश्च बहुभिर्नादितं तद् वनं महत्॥ १२॥

वह विशाल वन टिट्टिभों, मोरों, कठफोड़वों, तोतों तथा अन्य बहुत-से पक्षियोंके कलरवोंसे गूँज रहा था॥ १२॥

स रामो विविधान् वृक्षान् सरांसि विविधानि च।
पश्यन् कामाभिसंतप्तो जगाम परमं ह्रदम्॥ १३॥

श्रीरामके मनमें सीताजीसे मिलनेकी तीव्र लालसा जाग उठी थी, इससे संतप्त हो वे नाना प्रकारके वृक्षों और भाँति-भाँतिके सरोवरोंकी शोभा देखते हुए उस उत्तम जलाशयके पास गये॥ १३॥

स तामासाद्य वै रामो दूरात् पानीयवाहिनीम्।
मतङ्गसरसं नाम ह्रदं समवगाहत॥ १४॥

पम्पानामसे प्रसिद्ध वह सरोवर पीनेयोग्य स्वच्छ जल बहानेवाला था। श्रीराम दूर देशसे चलकर उसके तटपर आये। आकर उन्होंने मतंगसरस नामक कुण्डमें स्नान किया॥ १४॥

तत्र जग्मतुरव्यग्रौ राघवौ हि समाहितौ।
स तु शोकसमाविष्टो रामो दशरथात्मजः॥ १५॥
विवेश नलिनीं रम्यां पङ्कजैश्च समावृताम्।

वे दोनों रघुवंशी वीर वहाँ शान्त और एकाग्रचित्त होकर पहुँचे थे। सीताके शोकसे व्याकुल हुए दशरथनन्दन श्रीरामने उस रमणीय पुष्करिणी पम्पामें प्रवेश किया, जो कमलोंसे व्याप्त थी॥ १५½॥

तिलकाशोकपुंनागबकुलोद्दालकाशिनीम्॥ १६॥
रम्योपवनसम्बाधां पद्मसम्पीडितोदकाम्।
स्फटिकोपमतोयां तां श्लक्ष्णवालुकसंतताम्॥ १७॥
मत्स्यकच्छपसम्बाधां तीरस्थद्रुमशोभिताम्।
सखीभिरिव संयुक्तां लताभिरनुवेष्टिताम्॥ १८॥
किंनरोरगगन्धर्वयक्षराक्षससेविताम्।
नानाद्रुमलताकीर्णां शीतवारिनिधिं शुभाम्॥ १९॥

उसके तटपर तिलक, अशोक, नागकेसर, वकुल तथा लिसोड़ेके वृक्ष उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। भाँति-भाँतिके रमणीय उपवनोंसे वह घिरी हुई थी। उसका जल कमल-पुष्पोंसे आच्छादित था और स्फटिक मणिके समान स्वच्छ दिखायी देता था। जलके नीचे स्वच्छ बालुका फैली हुई थी। मत्स्य और कच्छप उसमें भरे हुए थे। तटवर्ती वृक्ष उसकी शोभा बढ़ाते थे। सब ओर लताओंद्वारा आवेष्टित होनेके कारण वह सखियोंसे संयुक्त-सी प्रतीत होती थी। किन्नर, नाग, गन्धर्व, यक्ष और राक्षस उसका सेवन करते थे। भाँति-भाँतिके वृक्ष और लताओंसे व्याप्त हुई पम्पा शीतल जलकी सुन्दर निधि प्रतीत होती थी॥ १६—१९॥

पद्मसौगन्धिकैस्ताम्रां शुक्लां कुमुदमण्डलैः।
नीलां कुवलयोद्घाटैर्बहुवर्णां कुथामिव॥ २०॥

अरुण कमलोंसे वह ताम्रवर्णकी, कुमुद-कुसुमोंके समूहसे शुक्लवर्णकी तथा नील कमलोंके समुदायसे नीलवर्णकी दिखायी देनेके कारण बहुरंगे कालीनके समान शोभा पाती थी॥ २०॥

अरविन्दोत्पलवतीं पद्मसौगन्धिकायुताम्।
पुष्पिताम्रवणोपेतां बर्हिणोद्घुष्टनादिताम्॥ २१॥

उस पुष्करिणीमें अरविन्द और उत्पल खिले थे। पद्म और सौगन्धिक जातिके पुष्प शोभा पाते थे। मौर लगी हुई

अमराइयोंसे वह घिरी हुई थी तथा मयूरोंके केकानाद वहाँ गूँज रहे थे ॥ २१ ॥

स तां दृष्ट्वा ततः पम्पां रामः सौमित्रिणा सह।
विललाप च तेजस्वी रामो दशरथात्मजः ॥ २२ ॥

सुमित्राकुमार लक्ष्मणसहित श्रीरामने जब उस मनोहर पम्पाको देखा, तब उनके हृदयमें सीताकी वियोग-व्यथा उद्दीप्त हो उठी; अतः वे तेजस्वी दशरथनन्दन श्रीराम वहाँ विलाप करने लगे ॥ २२ ॥

तिलकैर्बीजपूरैश्च वटैः शुक्लद्रुमैस्तथा।
पुष्पितैः करवीरैश्च पुंनागैश्च सुपुष्पितैः ॥ २३ ॥
मालतीकुन्दगुल्मैश्च भण्डीरैर्निचुलैस्तथा।
अशोकैः सप्तपर्णैश्च केतकैरतिमुक्तकैः ॥ २४ ॥
अन्यैश्च विविधैर्वृक्षैः प्रमदामिव शोभिताम्।
अस्यास्तीरे तु पूर्वोक्तः पर्वतो धातुमण्डितः ॥ २५ ॥
ऋष्यमूक इति ख्यातश्चित्रपुष्पितपादपः।

तिलक, बिजौरा, वट, लोध, खिले हुए करवीर, पुष्पित नागकेसर, मालती, कुन्द, झाड़ी, भंडीर (बरगद), वञ्जुल, अशोक, छितवन, कतक, माधवी लता तथा अन्य नाना प्रकारके वृक्षोंसे सुशोभित हुई पम्पा भाँति-भाँतिकी वस्त्रभूषाओंसे सजी हुई युवतीके समान जान पड़ती थी। उसीके तटपर विविध धातुओंसे मण्डित पूर्वोक्त ऋष्यमूक नामसे विख्यात पर्वत सुशोभित था। उसके ऊपर फूलोंसे भरे हुए विचित्र वृक्ष शोभा दे रहे थे ॥ २३—२५½ ॥

हरिर्ऋक्षरजोनाम्नः पुत्रस्तस्य महात्मनः ॥ २६ ॥
अध्यास्ते तु महावीर्यः सुग्रीव इति विश्रुतः।

ऋक्षरजा नामक महात्मा वानरके पुत्र कपिश्रेष्ठ महापराक्रमी सुग्रीव वहाँ निवास करते थे ॥ २६½ ॥

सुग्रीवमभिगच्छ त्वं वानरेन्द्रं नरर्षभ ॥ २७ ॥
इत्युवाच पुनर्वाक्यं लक्ष्मणं सत्यविक्रमः।
कथं मया विना सीतां शक्यं लक्ष्मण जीवितुम् ॥ २८ ॥

उस समय सत्यपराक्रमी श्रीरामने पुनः लक्ष्मणसे कहा—'नरश्रेष्ठ लक्ष्मण! तुम वानरराज सुग्रीवके पास चलो, मैं सीताके बिना कैसे जीवित रह सकता हूँ' ॥ २७-२८ ॥

इत्येवमुक्त्वा मदनाभिपीडितः
स लक्ष्मणं वाक्यमनन्यचेतनः।
विवेश पम्पां नलिनीमनोरमां
तमुत्तमं शोकमुदीरयाणः ॥ २९ ॥

ऐसा कहकर सीताके दर्शनकी कामनासे पीड़ित तथा उनके प्रति अनन्य अनुराग रखनेवाले श्रीराम उस महान् शोकको प्रकट करते हुए उस मनोरम पुष्करिणी पम्पामें उतरे ॥ २९ ॥

क्रमेण गत्वा प्रविलोकयन् वनं
ददर्श पम्पां शुभदर्शकाननाम्।
अनेकनानाविधपक्षिसंकुलां
विवेश रामः सह लक्ष्मणेन ॥ ३० ॥

वनकी शोभा देखते हुए क्रमशः वहाँ जाकर लक्ष्मण-सहित श्रीरामने पम्पाको देखा। उसके समीपवर्ती कानन बड़े सुन्दर और दर्शनीय थे। अनेक प्रकारके झुंड-के-झुंड पक्षी वहाँ सब ओर भरे हुए थे। भाईसहित श्रीरघुनाथजीने पम्पाके जलमें प्रवेश किया ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे पञ्चसप्ततितमः सर्गः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पचहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७५ ॥

—★—

अरण्यकाण्डं सम्पूर्णम्

—★—

भगवान् रामकी सुग्रीवसे मैत्री

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणम्

किष्किन्धाकाण्डम्

प्रथमः सर्गः

पम्पासरोवरके दर्शनसे श्रीरामकी व्याकुलता, श्रीरामका लक्ष्मणसे पम्पाकी शोभा तथा वहाँकी उद्दीपनसामग्रीका वर्णन करना, लक्ष्मणका श्रीरामको समझाना तथा दोनों भाइयोंको ऋष्यमूककी ओर आते देख सुग्रीव तथा अन्य वानरोंका भयभीत होना

स तां पुष्करिणीं गत्वा पद्मोत्पलझषाकुलाम्।
रामः सौमित्रिसहितो विललापाकुलेन्द्रियः ॥ १ ॥

कमल, उत्पल तथा मत्स्योंसे भरी हुई उस पम्पा नामक पुष्करिणीके पास पहुँचकर सीताकी सुधि आ जानेके कारण श्रीरामकी इन्द्रियाँ शोकसे व्याकुल हो उठीं। वे विलाप करने लगे। उस समय सुमित्राकुमार लक्ष्मण उनके साथ थे ॥ १ ॥

तत्र दृष्ट्वैव तां हर्षादिन्द्रियाणि चकम्पिरे।
स कामवशमापन्नः सौमित्रिमिदमब्रवीत् ॥ २ ॥

वहाँ पम्पापर दृष्टि पड़ते ही (कमल-पुष्पोंमें सीताके नेत्रमुख आदिका किञ्चित् सादृश्य पाकर) हर्षोल्लाससे श्रीरामकी सारी इन्द्रियाँ चञ्चल हो उठीं। उनके मनमें सीताके दर्शनकी प्रबल इच्छा जाग उठी। उस इच्छाके अधीन-से होकर वे सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे इस प्रकार बोले— ॥ २ ॥

सौमित्रे शोभते पम्पा वैदूर्यविमलोदका।
फुल्लपद्मोत्पलवती शोभिता विविधैर्द्रुमैः ॥ ३ ॥

'सुमित्रानन्दन! यह पम्पा कैसी शोभा पा रही है? इसका जल वैदूर्यमणिके समान स्वच्छ एवं श्याम है। इसमें बहुत-से पद्म और उत्पल खिले हुए हैं। तटपर उत्पन्न हुए नाना प्रकारके वृक्षोंसे इसकी शोभा और भी बढ़ गयी है ॥

सौमित्रे पश्य पम्पायाः काननं शुभदर्शनम्।
यत्र राजन्ति शैला वा द्रुमाः सशिखरा इव ॥ ४ ॥

'सुमित्राकुमार! देखो तो सही, पम्पाके किनारेका वन कितना सुन्दर दिखायी दे रहा है। यहाँके ऊँचे-ऊँचे वृक्ष अपनी फैली हुई शाखाओंके कारण अनेक शिखरोंसे युक्त पर्वतोंके समान सुशोभित होते हैं ॥ ४ ॥

मां तु शोकाभिसंतप्तमाधयः पीडयन्ति वै।
भरतस्य च दुःखेन वैदेह्या हरणेन च ॥ ५ ॥

'परंतु मैं इस समय भरतके दुःख और सीताहरणकी चिन्ताके शोकसे संतप्त हो रहा हूँ। मानसिक वेदनाएँ मुझे बहुत कष्ट पहुँचा रही हैं ॥ ५ ॥

शोकार्तस्यापि मे पम्पा शोभते चित्रकानना।
व्यवकीर्णा बहुविधैः पुष्पैः शीतोदका शिवा ॥ ६ ॥

'यद्यपि मैं शोकसे पीड़ित हूँ तो भी मुझे यह पम्पा बड़ी सुहावनी लग रही है। इसके निकटवर्ती वन बड़े विचित्र दिखायी देते हैं। यह नाना प्रकारके फूलोंसे व्याप्त है। इसका जल बहुत शीतल है और यह बहुत सुखदायिनी प्रतीत होती है ॥ ६ ॥

नलिनैरपि संछन्ना ह्यत्यर्थशुभदर्शना।
सर्पव्यालानुचरिता मृगद्विजसमाकुला ॥ ७ ॥

'कमलोंसे यह सारी पुष्करिणी ढकी हुई है। इसलिये बड़ी सुन्दर दिखायी देती है। इसके आस-पास सर्प तथा हिंसक जन्तु विचर रहे हैं। मृग आदि पशु और पक्षी भी सब ओर छा रहे हैं ॥ ७ ॥

अधिकं प्रविभात्येतन्नीलपीतं तु शाद्वलम्।
द्रुमाणां विविधैः पुष्पैः परिस्तोमैरिवार्पितम् ॥ ८ ॥

'नयी-नयी घासोंसे ढका हुआ यह स्थान अपनी नीली-पीली आभाके कारण अधिक शोभा पा रहा है। यहाँ वृक्षोंके नाना प्रकारके पुष्प सब ओर बिखरे हुए हैं। इससे ऐसा जान पड़ता है मानो यहाँ बहुत-से गलीचे बिछा दिये गये हों ॥

पुष्पभारसमृद्धानि शिखराणि समन्ततः।
लताभिः पुष्पिताग्राभिरुपगूढानि सर्वतः ॥ ९ ॥

'चारों ओर वृक्षोंके अग्रभाग फूलोंके भारसे लदे होनेके कारण समृद्धिशाली प्रतीत होते हैं। ऊपरसे खिली हुई लताएँ उनमें सब ओरसे लिपटी हुई हैं ॥ ९ ॥

सुखानिलोऽयं सौमित्रे कालः प्रचुरमन्मथः।
गन्धवान् सुरभिर्मासो जातपुष्पफलद्रुमः ॥ १० ॥

'सुमित्रानन्दन! इस समय मन्द-मन्द सुखदायिनी हवा चल रही है, जिससे कामनाका उद्दीपन हो रहा है (सीताको देखनेकी इच्छा प्रबल हो उठी है)। यह चैत्रका महीना है। वृक्षोंमें फूल और फल लग गये हैं और सब ओर मनोहर सुगन्ध छा रही है ॥ १० ॥

पश्य रूपाणि सौमित्रे वनानां पुष्पशालिनाम्।
सृजतां पुष्पवर्षाणि वर्षं तोयमुचामिव ॥ ११ ॥

'लक्ष्मण! फूलोंसे सुशोभित होनेवाले इन वनोंके रूप तो देखो। ये उसी तरह फूलोंकी वर्षा कर रहे हैं जैसे मेघ जलकी वृष्टि करते हैं ॥ ११ ॥

प्रस्तरेषु च रम्येषु विविधाः काननद्रुमाः।
वायुवेगप्रचलिताः पुष्पैरवकिरन्ति गाम् ॥ १२ ॥

'वनके ये विविध वृक्ष वायुके वेगसे झूम-झूमकर रमणीय शिलाओंपर फूल बरसा रहे हैं और यहाँकी भूमिको ढक देते हैं ॥ १२ ॥

पतितैः पतमानैश्च पादपस्थैश्च मारुतः।
कुसुमैः पश्य सौमित्रे क्रीडतीव समन्ततः ॥ १३ ॥

'सुमित्राकुमार! उधर तो देखो, जो वृक्षोंसे झड़ गये हैं, झड़ रहे हैं तथा जो अभी डालियोंमें ही लगे हुए हैं, उन सभी फूलोंके साथ सब ओर वायु खेल-सा कर रही है ॥ १३ ॥

विक्षिपन् विविधाः शाखा नगानां कुसुमोत्कटाः।
मारुतश्चलितस्थानैः षट्पदैरनुगीयते ॥ १४ ॥

'फूलोंसे भरी हुई वृक्षोंकी विभिन्न शाखाओंको झकझोरती हुई वायु जब आगेको बढ़ती है, तब अपने-अपने स्थानसे विचलित हुए भ्रमर मानो उसका यशोगान करते हुए उसके पीछे-पीछे चलने लगते हैं ॥ १४ ॥

मत्तकोकिलसंनादैर्नर्तयन्निव पादपान्।
शैलकंदर निष्क्रान्तः प्रगीत इव चानिलः ॥ १५ ॥

'पर्वतकी कन्दरासे विशेष ध्वनिके साथ निकली हुई वायु मानो उच्च स्वरसे गीत गा रही है। मतवाले कोकिलोंके कलनाद वाद्यका काम देते हैं और उन वाद्योंकी ध्वनिके साथ वह वायु इन झूमते हुए वृक्षोंको मानो नृत्यकी शिक्षा-सी दे रही है ॥ १५ ॥

तेन विक्षिपतात्यर्थं पवनेन समन्ततः।
अमी संसक्तशाखाग्रा ग्रथिता इव पादपाः ॥ १६ ॥

'वायुके वेगपूर्वक हिलानेसे जिनकी शाखाओंके अग्रभाग सब ओरसे परस्पर सट गये हैं, वे वृक्ष एक-दूसरेसे गुँथे हुएकी भाँति जान पड़ते हैं ॥ १६ ॥

स एव सुखसंस्पर्शो वाति चन्दनशीतलः।
गन्धमभ्यवहन् पुण्यं श्रमापनयनोऽनिलः ॥ १७ ॥

'मलयचन्दनका स्पर्श करके बहनेवाली यह शीतलवायु शरीरसे छू जानेपर कितनी सुखद जान पड़ती है। यह थकावट दूर करती हुई बह रही है और सर्वत्र पवित्र सुगन्ध फैला रही है ॥ १७ ॥

अमी पवनविक्षिप्ता विनदन्तीव पादपाः।
षट्पदैरनुकूजद्भिर्वनेषु मधुगन्धिषु ॥ १८ ॥

'मधुर मकरन्द और सुगन्धसे भरे हुए इन वनोंमें गुनगुनाते हुए भ्रमरोंके व्याजसे ये वायुद्वारा हिलाये गये वृक्ष मानो नृत्यके साथ गान कर रहे हैं ॥ १८ ॥

गिरिप्रस्थेषु रम्येषु पुष्पवद्भिर्मनोरमैः।
संसक्तशिखराः शैला विराजन्ति महाद्रुमैः ॥ १९ ॥

'अपने रमणीय पृष्ठभागोंपर उत्पन्न फूलोंसे सम्पन्न तथा मनको लुभानेवाले विशाल वृक्षोंसे सटे हुए शिखरवाले पर्वत अद्भुत शोभा पा रहे हैं ॥ १९ ॥

पुष्पसंछन्नशिखरा मारुतोत्क्षेपचञ्चलाः।
अमी मधुकरोत्तंसाः प्रगीता इव पादपाः ॥ २० ॥

'जिनकी शाखाओंके अग्रभाग फूलोंसे ढके हैं, जो वायुके झोंकेसे हिल रहे हैं तथा भ्रमरोंको पगड़ीके रूपमें सिरपर धारण किये हुए हैं, वे वृक्ष ऐसे जान पड़ते हैं मानो इन्होंने नाचना-गाना आरम्भ कर दिया है ॥ २० ॥

सुपुष्पितांस्तु पश्यैतान् कर्णिकारान् समन्ततः।
हाटकप्रतिसंछन्नान् नरान् पीताम्बरानिव ॥ २१ ॥

'देखो, सब ओर सुन्दर फूलोंसे भरे हुए ये कनेर सोनेके आभूषणोंसे विभूषित पीताम्बरधारी मनुष्योंके समान शोभा पा रहे हैं ॥ २१ ॥

अयं वसन्तः सौमित्रे नानाविहगनादितः।
सीतया विप्रहीणस्य शोकसंदीपनो मम ॥ २२ ॥

'सुमित्रानन्दन! नाना प्रकारके विहङ्गमोंके कलरवोंसे गूँजता हुआ यह वसन्तका समय सीतासे बिछुड़े हुए मेरे लिये शोकको बढ़ानेवाला हो गया है ॥ २२ ॥

मां हि शोकसमाक्रान्तं संतापयति मन्मथः।
हृष्टं प्रवदमानश्च समाह्वयति कोकिलः ॥ २३ ॥

'वियोगके शोकसे तो मैं पीड़ित हूँ ही, यह कामदेव (सीता-विषयक अनुराग) मुझे और भी संताप दे रहा है। कोकिल बड़े हर्षके साथ कलनाद करता हुआ मानो मुझे ललकार रहा है ॥ २३ ॥

एष दात्यूहको हृष्टो रम्ये मां वननिर्झरे।
प्रणदन्मन्मथाविष्टं शोचयिष्यति लक्ष्मण ॥ २४ ॥

'लक्ष्मण! वनके रमणीय झरनेके निकट बड़े हर्षके साथ बोलता हुआ यह जलकुक्कुट सीतासे मिलनेकी इच्छावाले मुझ रामको शोकमग्न किये देता है ॥ २४ ॥

श्रुत्वैतस्य पुरा शब्दमाश्रमस्था मम प्रिया।
मामाहूय प्रमुदिताः परमं प्रत्यनन्दत ॥ २५ ॥

'पहले मेरी प्रिया जब आश्रममें रहती थी, उन दिनों इसका शब्द सुनकर आनन्दमग्न हो जाती थी और मुझे भी निकट बुलाकर अत्यन्त आनन्दित कर देती थी ॥ २५ ॥

एवं विचित्राः पतगा नानारावविराविणः।
वृक्षगुल्मलताः पश्य सम्पतन्ति समन्ततः ॥ २६ ॥

'देखो, इस प्रकार भाँति-भाँतिकी बोली बोलनेवाले विचित्र पक्षी चारों ओर वृक्षों, झाड़ियों और लताओंकी ओर उड़ रहे हैं ॥ २६ ॥

विमिश्रा विहगाः पुंभिरात्मव्यूहाभिनन्दिताः ।
भृङ्गराजप्रमुदिताः सौमित्रे मधुरस्वराः ॥ २७ ॥

'सुमित्रानन्दन ! देखो, ये पक्षिणियाँ नर पक्षियोंसे संयुक्त हो अपने झुंडमें आनन्दका अनुभव कर रही हैं, भौंरोंका गुञ्जारव सुनकर प्रसन्न हो रही हैं और स्वयं भी मीठी बोली बोल रही हैं ॥ २७ ॥

अस्याः कूले प्रमुदिताः सङ्घशः शकुनास्त्विह ।
दात्यूहरतिविक्रन्दैः पुंस्कोकिलरुतैरपि ॥ २८ ॥
स्वनन्ति पादपाश्चेमे ममानङ्गप्रदीपकाः ।

'इस पम्पाके तटपर यहाँ झुंड-के-झुंड पक्षी आनन्दमग्न होकर चहक रहे हैं। जलकुक्कुटोंके रतिसम्बन्धी कूजन तथा नर कोकिलोंके कलनादके व्याजसे मानो ये वृक्ष ही मधुर बोली बोलते हैं और मेरी अनङ्ग वेदनाको उद्दीप्त कर रहे हैं ॥

अशोकस्तबकाङ्गारः षट्पदस्वननिःस्वनः ॥ २९ ॥
मां हि पल्लवताम्रार्चिर्वसन्ताग्निः प्रधक्ष्यति ।

'जान पड़ता है, यह वसन्तरूपी आग मुझे जलाकर भस्म कर देगी। अशोक पुष्पके लाल-लाल गुच्छे ही इस अग्निके अङ्गार हैं, नूतन पल्लव ही इसकी लाल-लाल लपटें हैं तथा भ्रमरोंका गुञ्जारव ही इस जलती आगका 'चट-चट' शब्द है ॥ २९½ ॥

नहि तां सूक्ष्मपक्ष्माक्षीं सुकेशीं मृदुभाषिणीम् ॥ ३० ॥
अपश्यतो मे सौमित्रे जीवितेऽस्ति प्रयोजनम् ।

'सुमित्रानन्दन ! यदि मैं सूक्ष्म बरौनियों और सुन्दर केशोंवाली मधुरभाषिणी सीताको न देख सका तो मुझे इस जीवनसे कोई प्रयोजन नहीं है ॥ ३०½ ॥

अयं हि रुचिरस्तस्याः कालो रुचिरकाननः ॥ ३१ ॥
कोकिलाकुलसीमान्तो दयिताया ममानघ ।

'निष्पाप लक्ष्मण ! वसन्त ऋतुमें वनकी शोभा बड़ी मनोहर हो जाती है, इसकी सीमामें सब ओर कोयलकी मधुर कूक सुनायी पड़ती है। मेरी प्रिया सीताको यह समय बड़ा ही प्रिय लगता था ॥ ३१½ ॥

मन्मथायाससम्भूतो वसन्तगुणवर्धितः ॥ ३२ ॥
अयं मां धक्ष्यति क्षिप्रं शोकाग्निर्नचिरादिव ।

'अनङ्गवेदनासे उत्पन्न हुई शोकाग्नि वसन्तऋतुके गुणोंका[1] ईंधन पाकर बढ़ गयी है; जान पड़ता है, यह मुझे शीघ्र ही अविलम्ब जला देगी ॥ ३२½ ॥

अपश्यतस्तां वनितां पश्यतो रुचिरान् द्रुमान् ॥ ३३ ॥
ममायमात्मप्रभवो भूयस्त्वमुपयास्यति ।

'अपनी उस प्रियतमा पत्नीको मैं नहीं देख पाता हूँ और इन मनोहर वृक्षोंको देख रहा हूँ, इसलिये मेरा यह अनङ्गज्वर अब और बढ़ जायगा ॥ ३३½ ॥

अदृश्यमाना वैदेही शोकं वर्धयतीह मे ॥ ३४ ॥
दृश्यमानो वसन्तश्च स्वेदसंसर्गदूषकः ।

'विदेहनन्दिनी सीता यहाँ मुझे नहीं दिखायी दे रही है, इसलिये मेरा शोक बढ़ाती है तथा मन्द मलयानिलके द्वारा स्वेदसंसर्गका निवारण करनेवाला यह वसन्त भी मेरे शोककी वृद्धि कर रहा है ॥ ३४½ ॥

मां हि सा मृगशावाक्षी चिन्ताशोकबलात्कृतम् ॥ ३५ ॥
संतापयति सौमित्रे क्रूरश्चैत्रवनानिलः ।

'सुमित्राकुमार ! मृगनयनी सीता चिन्ता और शोकसे बलपूर्वक पीडित किये गये मुझ रामको और भी संताप दे रही है। साथ ही यह वनमें बहनेवाली चैत्रमासकी वायु भी मुझे पीड़ा दे रही है ॥ ३५½ ॥

अमी मयूराः शोभन्ते प्रनृत्यन्तस्ततस्ततः ॥ ३६ ॥
स्वैः पक्षैः पवनोद्धूतैर्गवाक्षैः स्फाटिकैरिव ।

'ये मोर स्फटिकमणिके बने हुए गवाक्षों (झरोखों) के समान प्रतीत होनेवाले अपने फैले हुए पंखोंसे, जो वायुसे कम्पित हो रहे हैं, इधर उधर नाचते हुए कैसी शोभा पा रहे हैं ? ॥ ३६½ ॥

शिखिनीभिः परिवृतास्त एते मदमूर्च्छिताः ॥ ३७ ॥
मन्मथाभिपरीतस्य मम मन्मथवर्धनाः ।

'मयूरियोंसे घिरे हुए ये मदमत्त मयूर अनङ्गवेदनासे संतप्त हुए मेरी इस कामपीड़ाको और भी बढ़ा रहे हैं ॥ ३७½ ॥

पश्य लक्ष्मण नृत्यन्तं मयूरमुपनृत्यति ॥ ३८ ॥
शिखिनी मन्मथार्तैषा भर्तारं गिरिसानुनि ।

'लक्ष्मण ! वह देखो, पर्वतशिखरपर नाचते हुए अपने स्वामी मयूरके साथ-साथ वह मोरनी भी कामपीड़ित होकर नाच रही है ॥ ३८½ ॥

तामेव मनसा रामां मयूरोऽप्यनुधावति ॥ ३९ ॥
वितत्य रुचिरौ पक्षौ रुतैरुपहसन्निव ।

'मयूर भी अपने दोनों सुन्दर पंखोंको फैलाकर मन-ही-मन अपनी उसी रामा (प्रिया) का अनुसरण कर रहा है तथा अपने मधुर स्वरोंसे मेरा उपहास करता-सा जान पड़ता है ॥ ३९½ ॥

मयूरस्य वने नूनं रक्षसा न हृता प्रिया ॥ ४० ॥
तस्मान्नृत्यति रम्येषु वनेषु सह कान्तया ।

'निश्चय ही वनमें किसी राक्षसने मोरकी प्रियाका अपहरण

---

1. मन्द-मन्द मलयानिलका चलना, वनके वृक्षोंका नूतन पल्लवों और फूलोंसे सज जाना, कोकिलोंका कूकना, कमलोंका खिल जाना तथा सब ओर मधुर सुगन्धका छा जाना आदि वसन्तके गुण हैं, जो विरहीकी शोकाग्निकी उद्दीप्त करते हैं।

नहीं किया है, इसीलिये यह रमणीय वनोंमें अपनी वल्लभाके साथ नृत्य कर रहा है[1] ॥ ४०½ ॥

मम त्वयं विना वासः पुष्पमासे सुदुःसहः ॥ ४१ ॥
पश्य लक्ष्मण संरागस्तिर्यग्योनिगतेष्वपि ।
यदेषा शिखिनी कामाद् भर्तारमभिवर्तते ॥ ४२ ॥

'फूलोंसे भरे हुए इस चैत्रमासमें सीताके बिना यहाँ निवास करना मेरे लिये अत्यन्त दुःसह है। लक्ष्मण ! देखो तो सही, तिर्यग्योनिमें पड़े हुए प्राणियोंमें भी परस्पर कितना अधिक अनुराग है। इस समय यह मोरनी कामभावसे अपने स्वामीके सामने उपस्थित हुई है ॥ ४१-४२ ॥

मामप्येवं विशालाक्षी जानकी जातसम्भ्रमा ।
मदनेनाभिवर्तेत यदि नापहृता भवेत् ॥ ४३ ॥

'यदि विशाल नेत्रोंवाली सीताका अपहरण न हुआ होता तो वह भी इसी प्रकार बड़े प्रेमसे वेगपूर्वक मेरे पास आती ॥

पश्य लक्ष्मण पुष्पाणि निष्फलानि भवन्ति मे ।
पुष्पभारसमृद्धानां वनानां शिशिरात्यये ॥ ४४ ॥

'लक्ष्मण ! इस वसन्त ऋतुमें फूलोंके भारसे सम्पन्न हुए इन वनोंके ये सारे फूल मेरे लिये निष्फल हो रहे हैं। प्रिया सीताके यहाँ न होनेसे इनका मेरे लिये कोई प्रयोजन नहीं रह गया है ॥

रुचिराण्यपि पुष्पाणि पादपानामतिश्रिया ।
निष्फलानि महीं यान्ति समं मधुकरोत्करैः ॥ ४५ ॥

'अत्यन्त शोभासे मनोहर प्रतीत होनेवाले ये वृक्षोंके फूल भी निष्फल होकर भ्रमरसमूहोंके साथ ही पृथ्वीपर गिर जाते हैं ॥

नदन्ति कामं शकुना मुदिताः सङ्घशः कलम् ।
आह्वयन्त इवान्योन्यं कामोन्मादकरा मम ॥ ४६ ॥

'हर्षमें भरे हुए ये झुंड-के-झुंड पक्षी एक-दूसरेको बुलाते हुए-से इच्छानुसार कलरव कर रहे हैं और मेरे मनमें प्रेमोन्माद उत्पन्न किये देते हैं ॥ ४६ ॥

वसन्तो यदि तत्रापि यत्र मे वसति प्रिया ।
नूनं परवशा सीता सापि शोचत्यहं यथा ॥ ४७ ॥

'जहाँ मेरी प्रिया सीता निवास करती है, वहाँ भी यदि इसी तरह वसन्त छा रहा हो तो उसकी क्या दशा होगी ? निश्चय ही वहाँ पराधीन हुई सीता मेरी ही तरह शोक कर रही होगी ॥ ४७ ॥

नूनं न तु वसन्तस्तं देशं स्पृशति यत्र सा ।
कथं ह्यसितपद्माक्षी वर्तयेत् सा मया विना ॥ ४८ ॥

'अवश्य ही जहाँ सीता है, उस एकान्त स्थानमें वसन्तका प्रवेश नहीं है तो भी मेरे बिना वह कजरारे नेत्रोंवाली कमलनयनी सीता कैसे जीवित रह सकेगी ॥ ४८ ॥

अथवा वर्तते तत्र वसन्तो यत्र मे प्रिया ।
किं करिष्यति सुश्रोणी सा तु निर्भर्त्सिता परैः ॥ ४९ ॥

'अथवा सम्भव है जहाँ मेरी प्रिया है वहाँ भी इसी तरह वसन्त छा रहा हो, परंतु उसे तो शत्रुओंकी डाँट-फटकार सुननी पड़ती होगी; अतः वह बेचारी सुन्दरी सीता क्या कर सकेगी ॥ ४९ ॥

श्यामा पद्मपलाशाक्षी मृदुभाषा च मे प्रिया ।
नूनं वसन्तमासाद्य परित्यक्ष्यति जीवितम् ॥ ५० ॥

'जिसकी अभी नयी-नयी अवस्था है और प्रफुल्ल कमलदलके समान मनोहर नेत्र हैं, वह मीठी बोली बोलनेवाली मेरी प्राणवल्लभा जानकी निश्चय ही इस वसन्त ऋतुको पाकर अपने प्राण त्याग देगी ॥ ५० ॥

दृढं हि हृदये बुद्धिर्मम सम्परिवर्तते ।
नालं वर्तयितुं सीता साध्वी मद्विरहं गता ॥ ५१ ॥

'मेरे हृदयमें यह विचार दृढ़ होता जा रहा है कि साध्वी सीता मुझसे अलग होकर अधिक कालतक जीवित नहीं रह सकती ॥ ५१ ॥

मयि भावो हि वैदेह्यास्तत्त्वतो विनिवेशितः ।
ममापि भावः सीतायां सर्वथा विनिवेशितः ॥ ५२ ॥

'वास्तवमें विदेहकुमारीका हार्दिक अनुराग मुझमें और मेरा सम्पूर्ण प्रेम सर्वथा विदेहनन्दिनी सीतामें ही प्रतिष्ठित है ॥ ५२ ॥

एष पुष्पवहो वायुः सुखस्पर्शो हिमावहः ।
तां विचिन्तयतः कान्तां पावकप्रतिमो मम ॥ ५३ ॥

'फूलोंकी सुगन्ध लेकर बहनेवाली यह शीतल वायु, जिसका स्पर्श बहुत ही सुखद है, प्राणवल्लभा सीताकी याद आनेपर मुझे आगकी भाँति तपाने लगती है ॥ ५३ ॥

सदा सुखमहं मन्ये यं पुरा सह सीतया ।
मारुतः स विना सीतां शोकसंजननो मम ॥ ५४ ॥

'पहले जानकीके साथ रहनेपर जो मुझे सदा सुखद जान पड़ती थी, वही वायु आज सीताके विरहमें मेरे लिये शोकजनक हो गयी है ॥ ५४ ॥

तां विनाथ विहङ्गोऽसौ पक्षी प्रणदितस्तदा ।
वायसः पादपगतः प्रहृष्टमभिकूजति ॥ ५५ ॥

'जब सीता मेरे साथ थी उन दिनों जो पक्षी कौआ आकाशमें जाकर काँव-काँव करता था, वह उसके भावी वियोगको सूचित करनेवाला था। अब सीताके वियोगकालमें वह कौआ वृक्षपर बैठकर बड़े हर्षके साथ अपनी बोली बोल रहा है (इससे सूचित हो रहा है कि सीताका संयोग शीघ्र ही सुलभ होगा) ॥ ५५ ॥

---

१. रामायणशिरोमणिकार इस श्लोकके पूर्वार्धका अर्थ यों लिखते हैं—निश्चय ही इस मोरके निवासभूत वनमें उस राक्षसने मेरी प्रिया सीताका अपहरण नहीं किया; नहीं तो यह भी उसीके शोकमें डूबा रहता।

एष वै तत्र वैदेह्या विहगः प्रतिहारकः।
पक्षी मां तु विशालाक्ष्याः समीपमुपनेष्यति ॥ ५६ ॥

'यही वह पक्षी है, जो आकाशमें स्थित होकर बोलनेपर वैदेहीके अपहरणका सूचक हुआ; किंतु आज यह जैसी बोली बोल रहा है, उससे जान पड़ता है कि यह मुझे विशाललोचना सीताके समीप ले जायगा ॥ ५६ ॥

पश्य लक्ष्मण संनादं वने मदविवर्धनम्।
पुष्पिताग्रेषु वृक्षेषु द्विजानामवकूजताम् ॥ ५७ ॥

'लक्ष्मण! देखो, जिनकी ऊपरी डालियाँ फूलोंसे लदी हैं, वनमें उन वृक्षोंपर कलरव करनेवाले पक्षियोंका यह मधुर शब्द विरहीजनोंके मदनोन्मादको बढ़ानेवाला है ॥ ५७ ॥

विक्षिप्तां पवनेनैतामसौ तिलकमञ्जरीम्।
षट्पदः सहसाभ्येति मदोद्धूतामिव प्रियाम् ॥ ५८ ॥

'वायुके द्वारा हिलायी जाती हुई उस तिलक वृक्षकी मंजरीपर भ्रमर सहसा जा बैठा है। मानो कोई प्रेमी काममदसे कम्पित हुई प्रेयसीसे मिल रहा हो ॥ ५८ ॥

कामिनामयमत्यन्तमशोकः शोकवर्धनः।
स्तबकैः पवनोत्क्षिप्तैस्तर्जयन्निव मां स्थितः ॥ ५९ ॥

'यह अशोक प्रियाविरही कामी पुरुषोंके लिये अत्यन्त शोक बढ़ानेवाला है। यह वायुके झोंकेसे कम्पित हुए पुष्पगुच्छोंद्वारा मुझे डाँट बताता हुआ-सा खड़ा है ॥ ५९ ॥

अमी लक्ष्मण दृश्यन्ते चूताः कुसुमशालिनः।
विभ्रमोत्सिक्तमनसः साङ्गरागा नरा इव ॥ ६० ॥

'लक्ष्मण! ये मञ्जरियोंसे सुशोभित होनेवाले आमके वृक्ष शृङ्गार-विलाससे मदमत्तहृदय होकर चन्दन आदि अङ्गराग धारण करनेवाले मनुष्योंके समान दिखायी देते हैं ॥

सौमित्रे पश्य पम्पायाश्चित्रासु वनराजिषु।
किंनरा नरशार्दूल विचरन्ति ततस्ततः ॥ ६१ ॥

'नरश्रेष्ठ सुमित्राकुमार! देखो, पम्पाकी विचित्र वनश्रेणियोंमें इधर-उधर किंनर विचर रहे हैं ॥ ६१ ॥

इमानि शुभगन्धीनि पश्य लक्ष्मण सर्वशः।
नलिनानि प्रकाशन्ते जले तरुणसूर्यवत् ॥ ६२ ॥

'लक्ष्मण! देखो, पम्पाके जलमें सब ओर खिले हुए ये सुगन्धित कमल प्रातःकालके सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहे हैं ॥ ६२ ॥

एषा प्रसन्नसलिला पद्मनीलोत्पलायुता।
हंसकारण्डवाकीर्णा पम्पा सौगन्धिकायुता ॥ ६३ ॥

'पम्पाका जल बड़ा ही स्वच्छ है। इसमें लाल कमल और नील कमल खिले हुए हैं। हंस और कारण्डव आदि पक्षी सब ओर फैले हुए हैं तथा सौगन्धिक कमल इसकी शोभा बढ़ा रहे हैं ॥ ६३ ॥

जले तरुणसूर्याभैः षट्पदाहतकेसरैः।
पङ्कजैः शोभते पम्पा समन्तादभिसंवृता ॥ ६४ ॥

'जलमें प्रातःकालके सूर्यकी भाँति प्रकाशित होनेवाले कमलोंके द्वारा सब ओरसे घिरी हुई पम्पा बड़ी शोभा पा रही है। उन कमलोंके केसरोंको भ्रमरोंने चूस लिया है ॥ ६४ ॥

चक्रवाकयुता नित्यं चित्रप्रस्थवनान्तरा।
मातङ्गमृगयूथैश्च शोभते सलिलार्थिभिः ॥ ६५ ॥

'इसमें चक्रवाक सदा निवास करते हैं। यहाँके वनोंमें विचित्र-विचित्र स्थान हैं तथा पानी पीनेके लिये आये हुए हाथियों और मृगोंके समूहोंसे इस पम्पाकी शोभा और भी बढ़ जाती है ॥ ६५ ॥

पवनाहतवेगाभिरूर्मिभिर्विमलेऽम्भसि।
पङ्कजानि विराजन्ते ताड्यमानानि लक्ष्मण ॥ ६६ ॥

'लक्ष्मण! वायुके थपेड़ेसे जिनमें वेग पैदा होता है, उन लहरोंसे ताड़ित होनेवाले कमल पम्पाके निर्मल जलमें बड़ी शोभा पाते हैं ॥ ६६ ॥

पद्मपत्रविशालाक्षीं सततं प्रियपङ्कजाम्।
अपश्यतो मे वैदेहीं जीवितं नाभिरोचते ॥ ६७ ॥

'प्रफुल्ल कमलदलके समान विशाल नेत्रोंवाली विदेहराजकुमारी सीताको कमल सदा ही प्रिय रहे हैं। उसे न देखनेके कारण मुझे जीवित रहना अच्छा नहीं लगता है ॥

अहो कामस्य वामत्वं यो गतामपि दुर्लभाम्।
स्मारयिष्यति कल्याणीं कल्याणतरवादिनीम् ॥ ६८ ॥

'अहो! काम कितना कुटिल है, जो अन्यत्र गयी हुई एवं परम दुर्लभ होनेपर भी कल्याणमय वचन बोलनेवाली उस कल्याणस्वरूपा सीताका बारंबार स्मरण दिला रहा है ॥

शक्यो धारयितुं कामो भवेदभ्यागतो मया।
यदि भूयो वसन्तो मां न हन्यात् पुष्पितद्रुमः ॥ ६९ ॥

'यदि खिले हुए वृक्षोंवाला यह वसन्त मुझपर पुनः प्रहार न करे तो प्राप्त हुई कामवेदनाको मैं किसी तरह मनमें ही रोके रह सकता हूँ ॥ ६९ ॥

यानि स्म रमणीयानि तया सह भवन्ति मे।
तान्येवारमणीयानि जायन्ते मे तया विना ॥ ७० ॥

'सीताके साथ रहनेपर जो-जो वस्तुएँ मुझे रमणीय प्रतीत होती थीं, वे ही आज उसके बिना असुन्दर जान पड़ती हैं ॥ ७० ॥

पद्मकोशपलाशानि द्रष्टुं दृष्टिर्हि मन्यते।
सीताया नेत्रकोशाभ्यां सदृशानीति लक्ष्मण ॥ ७१ ॥

'लक्ष्मण! ये कमलकोशोंके दल सीताके नेत्रकोशोंके समान हैं। इसलिये मेरी आँखें इन्हें ही देखना चाहती हैं ॥

पद्मकेसरसंसृष्टो वृक्षान्तरविनिःसृतः।
निःश्वास इव सीताया वाति वायुर्मनोहरः ॥ ७२ ॥

'कमलकेसरोंका स्पर्श करके दूसरे वृक्षोंके बीचसे निकली हुई यह सौरभयुक्त मनोहर वायु सीताके निःश्वासकी भाँति चल रही है ॥ ७२ ॥

सौमित्रे पश्य पम्पाया दक्षिणे गिरिसानुषु ।
पुष्पितां कर्णिकारस्य यष्टिं परमशोभिताम् ॥ ७३ ॥

'सुमित्रानन्दन ! वह देखो, पम्पाके दक्षिण भागमें पर्वत-शिखरोंपर खिली हुई कनेरकी डाल कितनी अधिक शोभा पा रही है ॥ ७३ ॥

अधिकं शैलराजोऽयं धातुभिस्तु विभूषितः ।
विचित्रं सृजते रेणुं वायुवेगविघट्टितम् ॥ ७४ ॥

'विभिन्न धातुओंसे विभूषित हुआ यह पर्वतराज ऋष्यमूक वायुके वेगसे लायी हुई विचित्र धूलिकी सृष्टि कर रहा है ॥ ७४ ॥

गिरिप्रस्थास्तु सौमित्रे सर्वतः सम्प्रपुष्पितैः ।
निष्पत्रैः सर्वतो रम्यैः प्रदीप्ता इव किंशुकैः ॥ ७५ ॥

'सुमित्राकुमार ! चारों ओर खिले हुए और सब ओरसे रमणीय प्रतीत होनेवाले पत्रहीन पलाश वृक्षोंसे उपलक्षित इस पर्वतके पृष्ठभाग आगमें जलते हुए-से जान पड़ते हैं ॥ ७५ ॥

पम्पातीररुहाश्चेमे संसिक्ता मधुगन्धिनः ।
मालतीमल्लिकापद्मकरवीराश्च पुष्पिताः ॥ ७६ ॥

'पम्पाके तटपर उत्पन्न हुए ये वृक्ष इसीके जलसे अभिषिक्त हो बढ़े हैं और मधुर मकरन्द एवं गन्धसे सम्पन्न हुए हैं । इनके नाम इस प्रकार हैं—मालती, मल्लिका, पद्म और करवीर । ये सब-के-सब फूलोंसे सुशोभित हैं ॥ ७६ ॥

केतक्यः सिन्दुवाराश्च वासन्त्यश्च सुपुष्पिताः ।
माधव्यो गन्धपूर्णाश्च कुन्दगुल्माश्च सर्वशः ॥ ७७ ॥

'केतकी (केवड़े), सिन्दुवार तथा वासन्ती लताएँ भी सुन्दर फूलोंसे भरी हुई हैं । गन्धभरी माधवी लता तथा कुन्द-कुसुमोंकी झाड़ियाँ सब ओर शोभा पा रही हैं ॥ ७७ ॥

चिरिबिल्वा मधूकाश्च वञ्जुला बकुलास्तथा ।
चम्पकास्तिलकाश्चैव नागवृक्षाश्च पुष्पिताः ॥ ७८ ॥

'चिरिबिल्व (चिलबिल), महुआ, बेंत, मौलसिरी, चम्पा, तिलक और नागकेसर भी खिले दिखायी देते हैं ॥

पद्मकाश्चैव शोभन्ते नीलाशोकाश्च पुष्पिताः ।
लोध्राश्च गिरिपृष्ठेषु सिंहकेसरपिञ्जराः ॥ ७९ ॥

'पर्वतके पृष्ठभागोंपर पद्मक और खिले हुए नील अशोक भी शोभा पाते हैं । वहीं सिंहके अयालकी भाँति पिङ्गल वर्णवाले लोध्र भी सुशोभित हो रहे हैं ॥ ७९ ॥

अङ्कोलाश्च कुरण्टाश्च चूर्णकाः पारिभद्रकाः ।
चूताः पाटलयश्चापि कोविदाराश्च पुष्पिताः ॥ ८० ॥
मुचुकुन्दार्जुनाश्चैव दृश्यन्ते गिरिसानुषु ।

'अङ्कोल, कुरंट, चूर्णक (सेमल), पारिभद्रक (नीम या मदार), आम, पाटलि, कोविदार, मुचुकुन्द (नारङ्ग) और अर्जुन नामक वृक्ष भी पर्वत-शिखरोंपर फूलोंसे लदे दिखायी देते हैं ॥ ८०½ ॥

केतकोद्दालकाश्चैव शिरीषाः शिंशपा धवाः ॥ ८१ ॥
शाल्मल्यः किंशुकाश्चैव रक्ताः कुरवकास्तथा ।
तिनिशा नक्तमालाश्च चन्दनाः स्यन्दनास्तथा ॥ ८२ ॥
हिन्तालास्तिलकाश्चैव नागवृक्षाश्च पुष्पिताः ।

'केतक, उद्दालक (लसोड़ा), शिरीष, शीशम, धव, सेमल, पलाश, लाल कुरबक, तिनिश, नक्तमाल, चन्दन, स्यन्दन, हिन्ताल, तिलक तथा नागकेसरके पेड़ भी फूलोंसे भरे दिखायी देते हैं ॥ ८१-८२½ ॥

पुष्पितान् पुष्पिताग्राभिर्लताभिः परिवेष्टितान् ॥ ८३ ॥
द्रुमान् पश्येह सौमित्रे पम्पाया रुचिरान् बहून् ।

सुमित्रानन्दन ! जिनके अग्रभाग फूलोंसे भरे हुए हैं, उन लता-वल्लरियोंसे लिपटे हुए पम्पाके इन मनोहर और बहुसंख्यक वृक्षोंको तो देखो । वे सब-के-सब यहाँ फूलोंके भारसे लदे हुए हैं ॥ ८३½ ॥

वातविक्षिप्तविटपान् यथासन्नान् द्रुमानिमान् ॥ ८४ ॥
लताः समनुवर्तन्ते मत्ता इव वरस्त्रियः ।

'हवाके झोंके खाकर जिनकी डालें हिल रही हैं, वे ये वृक्ष झुककर इतने निकट आ जाते हैं कि हाथसे इनकी डालियोंका स्पर्श किया जा सके । सलोनी लताएँ मदमत्त सुन्दरियोंकी भाँति इनका अनुसरण करती हैं ॥ ८४½ ॥

पादपात् पादपं गच्छञ्शैलाच्छैलं वनाद् वनम् ॥ ८५ ॥
वाति नैकरसास्वादसम्मोदित इवानिलः ।

'एक वृक्षसे दूसरे वृक्षपर, एक पर्वतसे दूसरे पर्वतपर तथा एक वनसे दूसरे वनमें जाती हुई वायु अनेक रसोंके आस्वादनसे आनन्दित-सी होकर बह रही है ॥ ८५½ ॥

केचित् पर्याप्तकुसुमाः पादपा मधुगन्धिनः ॥ ८६ ॥
केचिन्मुकुलसंवीताः श्यामवर्णा इवाबभुः ।

'कुछ वृक्ष प्रचुर पुष्पोंसे भरे हुए हैं और मधु एवं सुगन्धसे सम्पन्न हैं । कुछ मुकुलोंसे आवेष्टित हो श्यामवर्ण-से प्रतीत हो रहे हैं ॥ ८६½ ॥

इदं मृष्टमिदं स्वादु प्रफुल्लमिदमित्यपि ॥ ८७ ॥
रागरक्तो मधुकरः कुसुमेष्वेव लीयते ।

'यह भ्रमर रागसे रँगा हुआ है और 'यह मधुर है, यह स्वादिष्ट है तथा यह अधिक खिला हुआ है' इत्यादि बातें सोचता हुआ फूलोंमें ही लीन हो रहा है ॥ ८७½ ॥

निलीय पुनरुत्पत्य सहसान्यत्र गच्छति ।
मधुलुब्धो मधुकरः पम्पातीरद्रुमेष्वसौ ॥ ८८ ॥

'पुष्पोंमें छिपकर फिर ऊपरको उड़ जाता है और सहसा अन्यत्र चल देता है । इस प्रकार मधुका लोभी भ्रमर पम्पातीरवर्ती वृक्षोंपर विचर रहा है ॥ ८८ ॥

इयं कुसुमसंघातैरुपस्तीर्णा सुखाकृता ।
स्वयं निपतितैर्भूमिः शयनप्रस्तरैरिव ॥ ८९ ॥

'स्वयं झड़कर गिरे हुए पुष्पसमूहोंसे आच्छादित हुई यह

भूमि ऐसी सुखदायिनी हो गयी है, मानो इसपर शयन करनेके लिये मुलायम बिछौने बिछा दिये गये हों ॥ ८९ ॥

विविधा विविधैः पुष्पैस्तैरेव नगसानुषु ।
विस्तीर्णाः पीतरक्ताभाः सौमित्रे प्रस्तराः कृताः ॥ ९० ॥

'सुमित्रानन्दन! पर्वतके शिखरोंपर जो नाना प्रकारकी विशाल शिलाएँ हैं, उनपर झड़े हुए भाँति-भाँतिके फूलोंने उन्हें लाल-पीले रंगकी शय्याओंके समान बना दिया है ॥ ९० ॥

हिमान्ते पश्य सौमित्रे वृक्षाणां पुष्पसम्भवम् ।
पुष्पमासे हि तरवः संघर्षादिव पुष्पिताः ॥ ९१ ॥

'सुमित्राकुमार! वसन्त ऋतुमें वृक्षोंके फूलोंका यह वैभव तो देखो। इस चैत्र मासमें ये वृक्ष मानो परस्पर होड़ लगाकर फूले हुए हैं ॥ ९१ ॥

आह्वयन्त इवान्योन्यं नगाः षट्पदनादिताः ।
कुसुमोत्तंसविटपाः शोभन्ते बहु लक्ष्मण ॥ ९२ ॥

'लक्ष्मण! वृक्ष अपनी ऊपरी डालियोंपर फूलोंका मुकुट धारण करके बड़ी शोभा पा रहे हैं तथा वे भ्रमरोंके गुञ्जारवसे इस तरह कोलाहलपूर्ण हो रहे हैं, मानो एक-दूसरेका आह्वान कर रहे हों ॥ ९२ ॥

एष कारण्डवः पक्षी विगाह्य सलिलं शुभम् ।
रमते कान्तया सार्धं काममुद्दीपयन्निव ॥ ९३ ॥

'यह कारण्डव पक्षी पम्पाके स्वच्छ जलमें प्रवेश करके अपनी प्रियतमाके साथ रमण करता हुआ कामका उद्दीपन-सा कर रहा है ॥ ९३ ॥

मन्दाकिन्यास्तु यदिदं रूपमेतन्मनोरमम् ।
स्थाने जगति विख्याता गुणास्तस्या मनोरमाः ॥ ९४ ॥

'मन्दाकिनीके समान प्रतीत होनेवाली इस पम्पाका जब ऐसा मनोरम रूप है, तब संसारमें उसके जो मनोरम गुण विख्यात हैं, वे उचित ही हैं ॥ ९४ ॥

यदि दृश्येत सा साध्वी यदि चेह वसेमहि ।
स्पृहयेयं न शक्राय नायोध्यायै रघूत्तम ॥ ९५ ॥

'रघुश्रेष्ठ लक्ष्मण! यदि साध्वी सीता दीख जाय और यदि उसके साथ हम यहाँ निवास करने लगें तो हमें न इन्द्रलोकमें जानेकी इच्छा होगी और न अयोध्यामें लौटनेकी ही ॥ ९५ ॥

न ह्येवं रमणीयेषु शाद्वलेषु तया सह ।
रमतो मे भवेच्चिन्ता न स्पृहान्येषु वा भवेत् ॥ ९६ ॥

'हरी-हरी घासोंसे सुशोभित ऐसे रमणीय प्रदेशोंमें सीताके साथ सानन्द विचरनेका अवसर मिले तो मुझे (अयोध्याका राज्य न मिलनेके कारण) कोई चिन्ता नहीं होगी और न दूसरे ही दिव्य भोगोंकी अभिलाषा हो सकेगी ॥ ९६ ॥

अमी हि विविधैः पुष्पैस्तरवो विविधच्छदाः ।
काननेऽस्मिन् विना कान्तां चित्तमुत्पादयन्ति मे ॥ ९७ ॥

'इस वनमें भाँति-भाँतिके पल्लवोंसे सुशोभित और नाना प्रकारके फूलोंसे उपलक्षित ये वृक्ष प्राणवल्लभा सीताके बिना मेरे मनमें चिन्ता उत्पन्न कर देते हैं ॥ ९७ ॥

पश्य शीतजलां चेमां सौमित्रे पुष्करायुताम् ।
चक्रवाकानुचरितां कारण्डवनिषेविताम् ॥ ९८ ॥
प्लवैः क्रौञ्चैश्च सम्पूर्णां महामृगनिषेविताम् ।

'सुमित्राकुमार! देखो, इस पम्पाका जल कितना शीतल है। इसमें असंख्य कमल खिले हुए हैं। चकवे विचरते हैं और कारण्डव निवास करते हैं। इतना ही नहीं, जलकुक्कुट तथा क्रौञ्च भरे हुए हैं एवं बड़े-बड़े मृग इसका सेवन करते हैं ॥ ९८½ ॥

अधिकं शोभते पम्पा विकूजद्भिर्विहंगमैः ॥ ९९ ॥
दीपयन्तीव मे कामं विविधा मुदिता द्विजाः ।
श्यामां चन्द्रमुखीं स्मृत्वा प्रियां पद्मनिभेक्षणाम् ॥ १०० ॥

'चहकते हुए पक्षियोंसे इस पम्पाकी बड़ी शोभा हो रही है। आनन्दमें निमग्न हुए ये नाना प्रकारके पक्षी मेरे सीताविषयक अनुरागको उद्दीप्त कर देते हैं; क्योंकि इनकी बोली सुनकर मुझे नूतन अवस्थावाली कमलनयनी चन्द्रमुखी प्रियतमा सीताका स्मरण हो आता है ॥ ९९-१०० ॥

पश्य सानुषु चित्रेषु मृगीभिः सहितान् मृगान् ।
मां पुनर्मृगशावाक्ष्या वैदेह्या विरहीकृतम् ।
व्यथयन्तीव मे चित्तं संचरन्तस्ततस्ततः ॥ १०१ ॥

'लक्ष्मण! देखो, पर्वतके विचित्र शिखरोंपर ये हरिण अपनी हरिणियोंके साथ विचर रहे हैं और मैं मृगनयनी सीतासे बिछुड़ गया हूँ। इधर-उधर विचरते हुए ये मृग मेरे चित्तको व्यथित किये देते हैं ॥ १०१ ॥

अस्मिन् सानुनि रम्ये हि मत्तद्विजगणाकुले ।
पश्येयं यदि तां कान्तां ततः स्वस्ति भवेन्मम ॥ १०२ ॥

'मतवाले पक्षियोंसे भरे हुए इस पर्वतके रमणीय शिखरपर यदि प्राणवल्लभा सीताका दर्शन पा सकूँ तभी मेरा कल्याण होगा ॥ १०२ ॥

जीवेयं खलु सौमित्रे मया सह सुमध्यमा ।
सेवेत यदि वैदेही पम्पायाः पवनं शुभम् ॥ १०३ ॥

'सुमित्रानन्दन! यदि सुमध्यमा सीता मेरे साथ रहकर इस पम्पासरोवरके तटपर सुखद समीरका सेवन कर सके तो मैं निश्चय ही जीवित रह सकता हूँ ॥ १०३ ॥

पद्मसौगन्धिकवहं शिवं शोकविनाशनम् ।
धन्या लक्ष्मण सेवन्ते पम्पाया वनमारुतम् ॥ १०४ ॥

'लक्ष्मण! जो लोग अपनी प्रियतमाके साथ रहकर पद्म और सौगन्धिक कमलोंकी सुगन्ध लेकर बहनेवाली शीतल, मन्द एवं शोकमग्न पम्पा-वनकी वायुका सेवन करते हैं, वे धन्य हैं ॥ १०४ ॥

श्यामा पद्मपलाशाक्षी प्रिया विरहिता मया ।
कथं धारयति प्राणान् विवशा जनकात्मजा ॥ १०५ ॥

'हाय! वह नयी अवस्थावाली कमललोचना जनकनन्दिनी

प्रिया सीता मुझसे बिछुड़कर बेबसीकी दशामें अपने प्राणोंको कैसे धारण करती होगी ॥ १०५ ॥

किं नु वक्ष्यामि धर्मज्ञं राजानं सत्यवादिनम्।
जनकं पृष्टसीतं तं कुशलं जनसंसदि ॥ १०६ ॥

'लक्ष्मण! धर्मके जाननेवाले सत्यवादी राजा जनक जब जन-समुदायमें बैठकर मुझसे सीताका कुशल-समाचार पूछेंगे, उस समय मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा ॥ १०६ ॥

या मामनुगता मन्दं पित्रा प्रस्थापितं वनम्।
सीता धर्मं समास्थाय क्व नु सा वर्तते प्रिया ॥ १०७ ॥

'हाय! पिताके द्वारा वनमें भेजे जानेपर जो धर्मका आश्रय ले मेरे पीछे-पीछे यहाँ चली आयी, वह मेरी प्रिया इस समय कहाँ है? ॥ १०७ ॥

तया विहीनः कृपणः कथं लक्ष्मण धारये।
या मामनुगता राज्याद् भ्रष्टं विहतचेतसम् ॥ १०८ ॥

'लक्ष्मण! जिसने राज्यसे वञ्चित और हताश हो जानेपर भी मेरा साथ नहीं छोड़ा—मेरा ही अनुसरण किया, उसके बिना अत्यन्त दीन होकर मैं कैसे जीवन धारण करूँगा ॥

तच्चार्वञ्चितपद्माक्षं सुगन्धि शुभमव्रणम्।
अपश्यतो मुखं तस्याः सीदतीव मतिर्मम ॥ १०९ ॥

'जो कमलदलके समान सुन्दर, मनोहर एवं प्रशंसनीय नेत्रोंसे सुशोभित है, जिससे मीठी-मीठी सुगन्ध निकलती रहती है, जो निर्मल तथा चेचक आदिके चिह्नसे रहित है, जनककिशोरीके उस दर्शनीय मुखको देखे बिना मेरी सुध-बुध खोयी जा रही है ॥ १०९ ॥

स्मितहास्यान्तरयुतं गुणवन्मधुरं हितम्।
वैदेह्या वाक्यमतुलं कदा श्रोष्यामि लक्ष्मण ॥ ११० ॥

'लक्ष्मण! वैदेहीके द्वारा कभी हँसकर और कभी मुसकराकर कही हुई वे मधुर, हितकर एवं लाभदायक बातें जिनकी कहीं तुलना नहीं है, मुझे अब कब सुननेको मिलेंगी? ॥ ११० ॥

प्राप्य दुःखं वने श्यामा मां मन्मथविकर्शितम्।
नष्टदुःखेव हृष्टेव साध्वी साध्वभ्यभाषत ॥ १११ ॥

'सोलह वर्षकी-सी अवस्थावाली साध्वी सीता यद्यपि वनमें आकर कष्ट उठा रही थी, तथापि जब मुझे अनङ्गवेदना या मानसिक कष्टसे पीड़ित देखती, तब मानो उसका अपना सारा दुःख नष्ट हो गया हो, इस प्रकार प्रसन्न-सी होकर मेरी पीड़ा दूर करनेके लिये अच्छी-अच्छी बातें करने लगती थी ॥ १११ ॥

किं नु वक्ष्याम्ययोध्यायां कौसल्यां हि नृपात्मज।
क्व सा स्नुषेति पृच्छन्तीं कथं चापि मनस्विनीम् ॥

'राजकुमार! अयोध्यामें चलनेपर जब मनस्विनी माता कौसल्या पूछेंगी कि 'मेरी बहूरानी कहाँ है?' तो मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा? ॥ ११२ ॥

गच्छ लक्ष्मण पश्य त्वं भरतं भ्रातृवत्सलम्।
नह्यहं जीवितुं शक्तस्तामृते जनकात्मजाम् ॥ ११३ ॥
इति रामं महात्मानं विलपन्तमनाथवत्।
उवाच लक्ष्मणो भ्राता वचनं युक्तमव्ययम् ॥ ११४ ॥

'लक्ष्मण! तुम जाओ, भ्रातृवत्सल भरतसे मिलो। मैं तो जनकनन्दिनी सीताके बिना जीवित नहीं रह सकता।' इस प्रकार महात्मा श्रीरामको अनाथकी भाँति विलाप करते देख भाई लक्ष्मणने युक्तियुक्त एवं निर्दोष वाणीमें कहा— ॥

संस्तम्भ राम भद्रं ते मा शुचः पुरुषोत्तम।
नेदृशानां मतिर्मन्दा भवत्यकलुषात्मनाम् ॥ ११५ ॥

'पुरुषोत्तम श्रीराम! आपका भला हो। आप अपनेको सँभालिये। शोक न कीजिये। आप-जैसे पुण्यात्मा पुरुषोंकी बुद्धि उत्साहशून्य नहीं होती ॥ ११५ ॥

स्मृत्वा वियोगजं दुःखं त्यज स्नेहं प्रिये जने।
अतिस्नेहपरिष्वङ्गाद् वर्तिरार्द्रापि दह्यते ॥ ११६ ॥

'स्वजनोंके अवश्यम्भावी वियोगका दुःख सभीको सहना पड़ता है, इस बातको स्मरण करके अपने प्रिय जनोंके प्रति अधिक स्नेह (आसक्ति) को त्याग दीजिये; क्योंकि जल आदिसे भीगी हुई बत्ती भी अधिक स्नेह (तेल) में डुबो दी जानेपर जलने लगती है ॥ ११६ ॥

यदि गच्छति पातालं ततोऽभ्यधिकमेव वा।
सर्वथा रावणस्तात न भविष्यति राघव ॥ ११७ ॥

'तात रघुनन्दन! यदि रावण पातालमें या उससे भी अधिक दूर चला जाय तो भी वह अब किसी तरह जीवित नहीं रह सकता ॥ ११७ ॥

प्रवृत्तिर्लभ्यतां तावत् तस्य पापस्य रक्षसः।
ततो हास्यति वा सीतां निधनं वा गमिष्यति ॥ ११८ ॥

'पहले उस पापी राक्षसका पता लगाइये। फिर या तो वह सीताको वापस करेगा या अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठेगा ॥

यदि याति दितेर्गर्भं रावणः सह सीतया।
तत्राप्येनं हनिष्यामि न चेद् दास्यति मैथिलीम् ॥ ११९ ॥

'रावण यदि सीताको साथ लेकर दितिके गर्भमें जाकर छिप जाय तो भी यदि मिथिलेशकुमारीको लौटा न देगा तो मैं वहाँ भी उसे मार डालूँगा ॥ ११९ ॥

स्वास्थ्यं भद्रं भजस्वार्य त्यज्यतां कृपणा मतिः।
अर्थो हि नष्टकार्यार्थैरयत्नेनाधिगम्यते ॥ १२० ॥

'अतः आर्य! आप कल्याणकारी धैर्यको अपनाइये। वह दीनतापूर्ण विचार त्याग दीजिये। जिनका प्रयत्न और धन नष्ट हो गया है, वे पुरुष यदि उत्साहपूर्वक उद्योग न करें तो उन्हें उस अभीष्ट अर्थकी प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ १२० ॥

उत्साहो बलवानार्य नास्त्युत्साहात् परं बलम्।
सोत्साहस्य हि लोकेषु न किंचिदपि दुर्लभम् ॥ १२१ ॥

'भैया! उत्साह ही बलवान् होता है। उत्साहसे बढ़कर

दूसरा कोई बल नहीं है। उत्साही पुरुषके लिये संसारमें कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है॥ १२१॥

उत्साहवन्तः पुरुषा नावसीदन्ति कर्मसु।
उत्साहमात्रमाश्रित्य प्रतिलप्स्याम जानकीम्॥ १२२॥

'जिनके हृदयमें उत्साह होता है वे पुरुष कठिन-से-कठिन कार्य आ पड़नेपर हिम्मत नहीं हारते। हमलोग केवल उत्साहका आश्रय लेकर ही जनकनन्दिनीको प्राप्त कर सकते हैं॥ १२२॥

त्यजतां कामवृत्तत्वं शोकं संन्यस्य पृष्ठतः।
महात्मानं कृतात्मानमात्मानं नावबुध्यसे॥ १२३॥

'शोकको पीछे छोड़कर कामीके-से व्यवहारका त्याग कीजिये। आप महात्मा एवं कृतात्मा (पवित्र अन्तःकरणवाले) हैं, किंतु इस समय अपने-आपको भूल गये हैं—अपने स्वरूपका स्मरण नहीं कर रहे हैं'॥ १२३॥

एवं सम्बोधितस्तेन शोकोपहतचेतनः।
त्यज्य शोकं च मोहं च रामो धैर्यमुपागमत्॥ १२४॥

लक्ष्मणके इस प्रकार समझानेपर शोकसे संतप्तचित्त हुए श्रीरामने शोक और मोहका परित्याग करके धैर्य धारण किया॥ १२४॥

सोऽभ्यतिक्रामदव्यग्रस्तामचिन्त्यपराक्रमः।
रामः पम्पां सुरुचिरां रम्यां पारिप्लवद्रुमाम्॥ १२५॥

तदनन्तर व्यग्रतारहित (शान्तस्वरूप) अचिन्त्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्रजी जिसके तटवर्ती वृक्ष वायुके झोंके खाकर झूम रहे थे, उस परम सुन्दर रमणीय पम्पासरोवरको लाँघकर आगे बढ़े॥ १२५॥

निरीक्षमाणः सहसा महात्मा
सर्वं वनं निर्झरकन्दरं च।
उद्विग्नचेताः सह लक्ष्मणेन
विचार्य दुःखोपहतः प्रतस्थे॥ १२६॥

सीताके स्मरणसे जिनका चित्त उद्विग्न हो गया था, अतएव जो दुःखमें डूबे हुए थे, वे महात्मा श्रीराम लक्ष्मणकी कही हुई बातोंपर विचार करके सहसा सावधान हो गये और झरनों तथा कन्दराओंसहित उस सम्पूर्ण वनका निरीक्षण करते हुए वहाँसे आगेको प्रस्थित हुए॥ १२६॥

तं मत्तमातङ्गविलासगामी
गच्छन्तमव्यग्रमना महात्मा।
स लक्ष्मणो राघवमिष्टचेष्टो
ररक्ष धर्मेण बलेन चैव॥ १२७॥

मतवाले हाथीके समान विलासपूर्ण गतिसे चलनेवाले शान्तचित्त महात्मा लक्ष्मण आगे-आगे चलते हुए श्रीरघुनाथजीकी उनके अनुकूल चेष्टा करते धर्म और बलके द्वारा रक्षा करने लगे॥ १२७॥

तावृष्यमूकस्य समीपचारी
चरन् ददर्शाद्भुतदर्शनीयौ।
शाखामृगाणामधिपस्तरस्वी
वितत्रसे नैव विचेष्ट चेष्टाम्॥ १२८॥

ऋष्यमूक पर्वतके समीप विचरनेवाले बलवान् वानरराज सुग्रीव पम्पाके निकट घूम रहे थे। उसी समय उन्होंने उन अद्भुत दर्शनीय वीर श्रीराम और लक्ष्मणको देखा। देखते ही उनके मनमें यह भय हो गया कि हो न हो इन्हें मेरे शत्रु वालीने ही भेजा होगा, फिर तो वे इतने डर गये कि खाने-पीने आदिकी भी चेष्टा न कर सके॥ १२८॥

स तौ महात्मा गजमन्दगामी
शाखामृगस्तत्र चरंश्चरन्तौ।
दृष्ट्वा विषादं परमं जगाम
चिन्तापरीतो भयभारभग्नः॥ १२९॥

हाथीके समान मन्दगतिसे चलनेवाले महामना वानरराज सुग्रीव जो वहाँ विचर रहे थे, उस समय एक साथ आगे बढ़ते हुए उन दोनों भाइयोंको देखकर चिन्तित हो उठे। भयके भारी भारसे उनका उत्साह नष्ट हो गया। वे महान् दुःखमें पड़ गये॥ १२९॥

तमाश्रमं पुण्यसुखं शरण्यं
सदैव शाखामृगसेवितान्तम्।
त्रस्ताश्च दृष्ट्वा हरयोऽभिजग्मु-
र्महौजसौ राघवलक्ष्मणौ तौ॥ १३०॥

मतङ्ग मुनिका वह आश्रम परम पवित्र एवं सुखदायक था। मुनिके शापसे उसमें वालीका प्रवेश होना कठिन था, इसलिये वह दूसरे वानरोंका आश्रय बना हुआ था। उस आश्रम या वनके भीतर सदा ही अनेकानेक शाखामृग निवास करते थे। उस दिन उन महातेजस्वी श्रीराम और लक्ष्मणको देखकर दूसरे-दूसरे वानर भी भयभीत हो आश्रमके भीतर चले गये॥ १३०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे प्रथमः सर्गः॥ १॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें पहला सर्ग पूरा हुआ॥ १॥

द्वितीयः सर्गः

सुग्रीव तथा वानरोंकी आशङ्का, हनुमान्‌जीद्वारा उसका निवारण तथा सुग्रीवका हनुमान्‌जीको श्रीराम-लक्ष्मणके पास उनका भेद लेनेके लिये भेजना

तौ तु दृष्ट्वा महात्मानौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
वरायुधधरौ वीरौ सुग्रीवः शङ्कितोऽभवत्॥ १॥

महात्मा श्रीराम और लक्ष्मण दोनों भाइयोंको श्रेष्ठ आयुध धारण किये वीर वेशमें आते देख (ऋष्यमूक पर्वतपर बैठे हुए) सुग्रीवके मनमें बड़ी शङ्का हुई॥ १॥

उद्विग्नहृदयः सर्वा दिशः समवलोकयन्।
न व्यतिष्ठत कस्मिंश्चिद् देशे वानरपुंगवः॥ २॥

वे उद्विग्नचित्त होकर चारों दिशाओंकी ओर देखने लगे। उस समय वानरशिरोमणि सुग्रीव किसी एक स्थानपर स्थिर न रह सके॥ २॥

नैव चक्रे मनः स्थातुं वीक्षमाणौ महाबलौ।
कपेः परमभीतस्य चित्तं व्यवससाद ह॥ ३॥

महाबली श्रीराम और लक्ष्मणको देखते हुए सुग्रीव अपने मनको स्थिर न रख सके। उस समय अत्यन्त भयभीत हुए उन वानरराजका चित्त बहुत दुःखी हो गया॥ ३॥

चिन्तयित्वा स धर्मात्मा विमृश्य गुरुलाघवम्।
सुग्रीवः परमोद्विग्नः सर्वैस्तैर्वानरैः सह॥ ४॥

सुग्रीव धर्मात्मा थे—उन्हें राजधर्मका ज्ञान था। उन्होंने मन्त्रियोंके साथ विचारकर अपनी दुर्बलता और शत्रुपक्षकी प्रबलताका निश्चय किया। तत्पश्चात् वे समस्त वानरोंके साथ अत्यन्त उद्विग्न हो उठे॥ ४॥

ततः स सचिवेभ्यस्तु सुग्रीवः प्लवगाधिपः।
शशंस परमोद्विग्नः पश्यंस्तौ रामलक्ष्मणौ॥ ५॥

वानरराज सुग्रीवके हृदयमें बड़ा उद्वेग हो गया था। वे श्रीराम और लक्ष्मणकी ओर देखते हुए अपने मन्त्रियोंसे इस प्रकार बोले—॥ ५॥

एतौ वनमिदं दुर्गं वालिप्रणिहितौ ध्रुवम्।
छद्मना चीरवसनौ प्रचरन्ताविहागतौ॥ ६॥

'निश्चय ही ये दोनों वीर वालीके भेजे हुए ही इस दुर्गम वनमें विचरते हुए यहाँ आये हैं। इन्होंने छलसे चीर वस्त्र धारण कर लिये हैं, जिससे हम इन्हें पहचान न सकें'॥ ६॥

ततः सुग्रीवसचिवा दृष्ट्वा परमधन्विनौ।
जग्मुर्गिरितटात् तस्मादन्यच्छिखरमुत्तमम्॥ ७॥

उधर सुग्रीवके सहायक दूसरे-दूसरे वानरोंने जब उन महाधनुर्धर श्रीराम और लक्ष्मणको देखा, तब वे उस पर्वततटसे भागकर दूसरे उत्तम शिखरपर जा पहुँचे॥ ७॥

ते क्षिप्रमभिगम्याथ यूथपा यूथपर्षभम्।
हरयो वानरश्रेष्ठं परिवार्योपतस्थिरे॥ ८॥

वे यूथपति वानर शीघ्रतापूर्वक जाकर यूथपतियोंके सरदार वानरशिरोमणि सुग्रीवको चारों ओरसे घेरकर उनके पास खड़े हो गये॥ ८॥

एवमेकायनगताः प्लवमाना गिरेर्गिरिम्।
प्रकम्पयन्तो वेगेन गिरीणां शिखराणि च॥ ९॥
ततः शाखामृगाः सर्वे प्लवमाना महाबलाः।
बभञ्जुश्च नगांस्तत्र पुष्पितान् दुर्गमाश्रितान्॥ १०॥

इस तरह एक पर्वतसे दूसरे पर्वतपर उछलते-कूदते और अपने वेगसे उन पर्वत-शिखरोंको प्रकम्पित करते हुए वे समस्त महाबली वानर एक मार्गपर आ गये। उन सबने उछल-कूदकर उस समय वहाँ दुर्गम स्थानोंमें स्थित हुए पुष्पशोभित बहुसंख्यक वृक्षोंको तोड़ डाला था॥ ९-१०॥

आप्लवन्तो हरिवराः सर्वतस्तं महागिरिम्।
मृगमार्जारशार्दूलांस्त्रासयन्तो ययुस्तदा॥ ११॥

उस बेलामें चारों ओरसे उस महान् पर्वतपर उछलकर आते हुए वे श्रेष्ठ वानर वहाँ रहनेवाले मृगों, बिलावों तथा व्याघ्रोंको भयभीत करते हुए जा रहे थे॥ ११॥

ततः सुग्रीवसचिवाः पर्वतेन्द्रे समाहिताः।
संगम्य कपिमुख्येन सर्वे प्राञ्जलयः स्थिताः॥ १२॥

इस प्रकार सुग्रीवके सभी सचिव पर्वतराज ऋष्यमूकपर आ पहुँचे और एकाग्रचित्त हो उन वानरराजसे मिलकर उनके सामने हाथ जोड़कर खड़े हो गये॥ १२॥

ततस्तु भयसंत्रस्तं वालिकिल्बिषशङ्कितम्।
उवाच हनुमान् वाक्यं सुग्रीवं वाक्यकोविदः॥ १३॥

तदनन्तर वालीसे बुराईकी आशङ्का करके सुग्रीवको भयभीत देख बातचीत करनेमें कुशल हनुमान्‌जी बोले—॥

सम्भ्रमस्त्यज्यतामेष सर्वैर्वालिकृते महान्।
मलयोऽयं गिरिवरो भयं नेहास्ति वालिनः॥ १४॥

'आप सब लोग वालीके कारण होनेवाली इस भारी घबराहटको छोड़ दीजिये। यह मलयनामक श्रेष्ठ पर्वत है। यहाँ वालीसे कोई भय नहीं है॥ १४॥

यस्मादुद्विग्नचेतास्त्वं विद्रुतो हरिपुङ्गव।
तं क्रूरदर्शनं क्रूरं नेह पश्यामि वालिनम्॥ १५॥

'वानरशिरोमणे! जिससे उद्विग्नचित्त होकर आप भागे हैं, उस क्रूर दिखायी देनेवाले निर्दय वालीको मैं यहाँ नहीं देखता हूँ॥ १५॥

यस्मात् तव भयं सौम्य पूर्वजात् पापकर्मणः ।
स नेह वाली दुष्टात्मा न ते पश्याम्यहं भयम् ॥ १६ ॥

'सौम्य ! आपको अपने जिस पापाचारी बड़े भाईसे भय प्राप्त हुआ है, वह दुष्टात्मा वाली यहाँ नहीं आ सकता; अतः मुझे आपके भयका कोई कारण नहीं दिखायी देता ॥ १६ ॥

अहो शाखामृगत्वं ते व्यक्तमेव प्लवङ्गम ।
लघुचित्ततयाऽऽत्मानं न स्थापयसि यो मतौ ॥ १७ ॥

'आश्चर्य है कि इस समय आपने अपनी वानरोचित चपलताको ही प्रकट किया है। वानरप्रवर ! आपका चित्त चञ्चल है। इसलिये आप अपनेको विचार-मार्गपर स्थिर नहीं रख पाते हैं ॥ १७ ॥

बुद्धिविज्ञानसम्पन्न इङ्गितैः सर्वमाचर ।
न ह्यबुद्धिं गतो राजा सर्वभूतानि शास्ति हि ॥ १८ ॥

'बुद्धि और विज्ञानसे सम्पन्न होकर आप दूसरोंकी चेष्टाओंके द्वारा उनका मनोभाव समझें और उसीके अनुसार सभी आवश्यक कार्य करें; क्योंकि जो राजा बुद्धि-बलका आश्रय नहीं लेता, वह सम्पूर्ण प्रजापर शासन नहीं कर सकता' ॥ १८ ॥

सुग्रीवस्तु शुभं वाक्यं श्रुत्वा सर्वं हनूमतः ।
ततः शुभतरं वाक्यं हनूमन्तमुवाच ह ॥ १९ ॥

हनुमान्‌जीके मुखसे निकले हुए इन सभी श्रेष्ठ वचनोंको सुनकर सुग्रीवने उनसे बहुत ही उत्तम बात कही— ॥ १९ ॥

दीर्घबाहू विशालाक्षौ शरचापासिधारिणौ ।
कस्य न स्याद् भयं दृष्ट्वा ह्येतौ सुरसुतोपमौ ॥ २० ॥

'इन दोनों वीरोंकी भुजाएँ लंबी और नेत्र बड़े-बड़े हैं। ये धनुष, बाण और तलवार धारण किये देवकुमारोंके समान शोभा पा रहे हैं। इन दोनोंको देखकर किसके मनमें भयका संचार न होगा ॥ २० ॥

वालिप्रणिहितावेव शङ्केऽहं पुरुषोत्तमौ ।
राजानो बहुमित्राश्च विश्वासो नात्र हि क्षमः ॥ २१ ॥

'मेरे मनमें संदेह है कि ये दोनों श्रेष्ठ पुरुष वालीके ही भेजे हुए हैं; क्योंकि राजाओंके बहुत-से मित्र होते हैं। अतः उनपर विश्वास करना उचित नहीं है ॥ २१ ॥

अरयश्च मनुष्येण विज्ञेयाश्छद्मचारिणः ।
विश्वस्तानामविश्वस्ताश्छिद्रेषु प्रहरन्त्यपि ॥ २२ ॥

'प्राणिमात्रको छद्मवेषमें विचरनेवाले शत्रुओंको विशेषरूपसे पहचाननेकी चेष्टा करनी चाहिये; क्योंकि वे दूसरोंपर अपना विश्वास जमा लेते हैं, परंतु स्वयं किसीका विश्वास नहीं करते और अवसर पाते ही उन विश्वासी पुरुषोंपर ही प्रहार कर बैठते हैं ॥ २२ ॥

कृत्येषु वाली मेधावी राजानो बहुदर्शिनः ।
भवन्ति परहन्तारस्ते ज्ञेयाः प्राकृतैर्नरैः ॥ २३ ॥

'वाली इन सब कार्योंमें बड़ा कुशल है। राजालोग बहुदर्शी होते हैं—वञ्चनाके अनेक उपाय जानते हैं, इसीलिये शत्रुओंका विध्वंस कर डालते हैं। ऐसे शत्रुभूत राजाओंको प्राकृत वेशभूषावाले मनुष्यों (गुप्तचरों) द्वारा जाननेका प्रयत्न करना चाहिये ॥ २३ ॥

तौ त्वया प्राकृतेनैव गत्वा ज्ञेयौ प्लवंगम ।
इङ्गितानां प्रकारैश्च रूपव्याभाषणेन च ॥ २४ ॥

'अतः कपिश्रेष्ठ ! तुम भी एक साधारण पुरुषकी भाँति यहाँसे जाओ और उनकी चेष्टाओंसे, रूपसे तथा बातचीतके तौर-तरीकोंसे उन दोनोंका यथार्थ परिचय प्राप्त करो ॥ २४ ॥

लक्षयस्व तयोर्भावं प्रहृष्टमनसौ यदि ।
विश्वासयन् प्रशंसाभिरिङ्गितैश्च पुनः पुनः ॥ २५ ॥

'उनके मनोभावोंको समझो। यदि वे प्रसन्नचित्त जान पड़ें तो बारंबार मेरी प्रशंसा करके तथा मेरे अभिप्रायको सूचित करनेवाली चेष्टाओंद्वारा मेरे प्रति उनका विश्वास उत्पन्न करो ॥

ममैवाभिमुखं स्थित्वा पृच्छ त्वं हरिपुङ्गव ।
प्रयोजनं प्रवेशस्य वनस्यास्य धनुर्धरौ ॥ २६ ॥

'वानरशिरोमणे ! तुम मेरी ही ओर मुँह करके खड़ा होना और उन धनुर्धर वीरोंसे इस वनमें प्रवेश करनेका कारण पूछना ॥ २६ ॥

शुद्धात्मानौ यदि त्वेतौ जानीहि त्वं प्लवङ्गम ।
व्याभाषितैर्वा रूपैर्वा विज्ञेया दुष्टतानयोः ॥ २७ ॥

'यदि उनका हृदय शुद्ध जान पड़े तो भी तरह-तरहकी बातों और आकृतिके द्वारा यह जाननेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये कि वे दोनों कोई दुर्भावना लेकर तो नहीं आये हैं' ॥

इत्येवं कपिराजेन संदिष्टो मारुतात्मजः ।
चकार गमने बुद्धिं यत्र तौ रामलक्ष्मणौ ॥ २८ ॥

वानरराज सुग्रीवके इस प्रकार आदेश देनेपर पवनकुमार हनुमान्‌जीने उस स्थानपर जानेका विचार किया, जहाँ श्रीराम और लक्ष्मण विद्यमान थे ॥ २८ ॥

तथेति सम्पूज्य वचस्तु तस्य
कपेः सुभीतस्य दुरासदस्य ।
महानुभावो हनुमान् ययौ तदा
स यत्र रामोऽतिबली सलक्ष्मणः ॥ २९ ॥

अत्यन्त डरे हुए दुर्जय वानर सुग्रीवके उस वचनका आदर करके 'बहुत अच्छा कहकर' महानुभाव हनुमान्‌जी जहाँ अत्यन्त बलशाली श्रीराम और लक्ष्मण थे, उस स्थानके लिये तत्काल चल दिये ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें दूसरा सर्ग पूरा हुआ ॥ २ ॥

—★—

तृतीयः सर्गः

हनुमान्‌जीका श्रीराम और लक्ष्मणसे वनमें आनेका कारण पूछना और अपना तथा सुग्रीवका परिचय देना, श्रीरामका उनके वचनोंकी प्रशंसा करके लक्ष्मणको अपनी ओरसे बात करनेकी आज्ञा देना तथा लक्ष्मणद्वारा अपनी प्रार्थना स्वीकृत होनेसे हनुमान्‌जीका प्रसन्न होना

वचो विज्ञाय हनुमान् सुग्रीवस्य महात्मनः।
पर्वतादृष्यमूकात् तु पुप्लुवे यत्र राघवौ॥ १॥

महात्मा सुग्रीवके कथनका तात्पर्य समझकर हनुमान्‌जी ऋष्यमूक पर्वतसे उस स्थानकी ओर उछलते हुए चले, जहाँ वे दोनों रघुवंशी बन्धु विराजमान थे॥ १॥

कपिरूपं परित्यज्य हनुमान् मारुतात्मजः।
भिक्षुरूपं ततो भेजे शठबुद्धितया कपिः॥ २॥

पवनकुमार वानरवीर हनुमान्‌ने यह सोचकर कि मेरे इस कपिरूपपर किसीका विश्वास नहीं जम सकता, अपने उस रूपका परित्याग करके भिक्षु (सामान्य तपस्वी) का रूप धारण कर लिया॥ २॥

ततश्च हनुमान् वाचा श्लक्ष्णया सुमनोज्ञया।
विनीतवदुपागम्य राघवौ प्रणिपत्य च॥ ३॥
आबभाषे च तौ वीरौ यथावत् प्रशशंस च।
सम्पूज्य विधिवद् वीरौ हनुमान् वानरोत्तमः॥ ४॥
उवाच कामतो वाक्यं मृदु सत्यपराक्रमौ।
राजर्षिदेवप्रतिमौ तापसौ संशितव्रतौ॥ ५॥

तदनन्तर हनुमान्‌ने विनीतभावसे उन दोनों रघुवंशी वीरोंके पास जाकर उन्हें प्रणाम करके मनको अत्यन्त प्रिय लगनेवाली मधुर वाणीमें उनके साथ वार्तालाप आरम्भ किया। वानर-शिरोमणि हनुमान्‌ने पहले तो उन दोनों वीरोंकी यथोचित प्रशंसा की। फिर विधिवत् उनका पूजन (आदर) करके स्वच्छन्द-रूपसे मधुर वाणीमें कहा—'वीरो! आप दोनों सत्यपराक्रमी, राजर्षियों और देवताओंके समान प्रभावशाली, तपस्वी तथा कठोर व्रतका पालन करनेवाले जान पड़ते हैं॥ ३—५॥

देशं कथमिमं प्राप्तौ भवन्तौ वरवर्णिनौ।
त्रासयन्तौ मृगगणानन्यांश्च वनचारिणः॥ ६॥
पम्पातीररुहान् वृक्षान् वीक्षमाणौ समन्ततः।
इमां नदीं शुभजलां शोभयन्तौ तरस्विनौ॥ ७॥
धैर्यवन्तौ सुवर्णाभौ कौ युवां चीरवाससौ।
निःश्वसन्तौ वरभुजौ पीडयन्ताविमाः प्रजाः॥ ८॥

'आपके शरीरकी कान्ति बड़ी सुन्दर है। आप दोनों इस वन्य प्रदेशमें किसलिये आये हैं। वनमें विचरनेवाले मृगसमूहों तथा अन्य जीवोंको भी त्रास देते पम्पासरोवरके तटवर्ती वृक्षोंको सब ओरसे देखते और इस सुन्दर जलवाली नदी-सरीखी पम्पाको सुशोभित करते हुए आप दोनों वेगशाली वीर कौन हैं? आपके अङ्गोंकी कान्ति सुवर्णके समान प्रकाशित होती है। आप दोनों बड़े धैर्यशाली दिखायी देते हैं। आप दोनोंके अङ्गोंपर चीर वस्त्र शोभा पाता है। आप दोनों लंबी साँस खींच रहे हैं। आपकी भुजाएँ विशाल हैं। आप अपने प्रभावसे इस वनके प्राणियोंको पीड़ा दे रहे हैं। बताइये, आपका क्या परिचय है? ॥ ६—८॥

सिंहविप्रेक्षितौ वीरौ महाबलपराक्रमौ।
शक्रचापनिभे चापे गृहीत्वा शत्रुनाशनौ॥ ९॥

'आप दोनों वीरोंकी दृष्टि सिंहके समान है। आपके बल और पराक्रम महान् हैं। इन्द्र-धनुषके समान महान् शरासन धारण करके आप शत्रुओंको नष्ट करनेकी शक्ति रखते हैं॥

श्रीमन्तौ रूपसम्पन्नौ वृषभश्रेष्ठविक्रमौ।
हस्तिहस्तोपमभुजौ द्युतिमन्तौ नरर्षभौ॥ १०॥

'आप कान्तिमान् तथा रूपवान् हैं। आप विशालकाय साँड़के समान मन्दगतिसे चलते हैं। आप दोनोंकी भुजाएँ हाथीकी सूँड़के समान जान पड़ती हैं। आप मनुष्योंमें श्रेष्ठ और परम तेजस्वी हैं॥ १०॥

प्रभया पर्वतेन्द्रोऽसौ युवयोरवभासितः।
राज्यार्हावमरप्रख्यौ कथं देशमिहागतौ॥ ११॥

'आप दोनोंकी प्रभासे गिरिराज ऋष्यमूक जगमगा रहा है। आपलोग देवताओंके समान पराक्रमी और राज्य भोगनेके योग्य हैं। भला, इस दुर्गम वनप्रदेशमें आपका आगमन कैसे सम्भव हुआ॥ ११॥

पद्मपत्रेक्षणौ वीरौ जटामण्डलधारिणौ।
अन्योन्यसदृशौ वीरौ देवलोकादिहागतौ॥ १२॥

'आपके नेत्र प्रफुल्ल कमल-दलके समान शोभा पाते हैं। आपमें वीरता भरी है। आप दोनों अपने मस्तकपर जटामण्डल धारण करते हैं और दोनों ही एक-दूसरेके समान हैं। वीरो! क्या आप देवलोकसे यहाँ पधारे हैं? ॥ १२॥

यदृच्छयेव सम्प्राप्तौ चन्द्रसूर्यौ वसुंधराम्।
विशालवक्षसौ वीरौ मानुषौ देवरूपिणौ॥ १३॥

'आप दोनोंको देखकर ऐसा जान पड़ता है, मानो चन्द्रमा और सूर्य स्वेच्छासे ही इस भूतलपर उतर आये हैं। आपके वक्षःस्थल विशाल हैं। मनुष्य होकर भी आपके रूप देवताओंके तुल्य हैं॥ १३॥

सिंहस्कन्धौ महोत्साहौ समदाविव गोवृषौ।
आयताश्च सुवृत्ताश्च बाहवः परिघोपमाः॥ १४॥
सर्वभूषणभूषार्हाः किमर्थं न विभूषिताः।
उभौ योग्यावहं मन्ये रक्षितुं पृथिवीमिमाम्॥ १५॥
ससागरवनां कृत्स्नां विन्ध्यमेरुविभूषिताम्।

'आपके कंधे सिंहके समान हैं। आपमें महान् उत्साह भरा हुआ है। आप दोनों मदमत्त साँड़ोंके समान प्रतीत होते हैं। आपकी भुजाएँ विशाल, सुन्दर, गोल-गोल और परिघके समान सुदृढ़ हैं। ये समस्त आभूषणोंको धारण करनेके योग्य हैं तो भी आपने इन्हें विभूषित क्यों नहीं किया है? मैं तो समझता हूँ कि आप दोनों समुद्रों और वनोंसे युक्त तथा विन्ध्य और मेरु आदि पर्वतोंसे विभूषित इस सारी पृथ्वीकी रक्षा करनेके योग्य हैं॥ १४-१५½॥

इमे च धनुषी चित्रे श्लक्ष्णे चित्रानुलेपने॥ १६॥
प्रकाशेते यथेन्द्रस्य वज्रे हेमविभूषिते।

'आपके ये दोनों धनुष विचित्र, चिकने तथा अद्भुत अनुलेपनसे चित्रित हैं। इन्हें सुवर्णसे विभूषित किया गया है; अतः ये इन्द्रके वज्रके समान प्रकाशित हो रहे हैं॥ १६½॥

सम्पूर्णाश्च शितैर्बाणैस्तूणाश्च शुभदर्शनाः॥ १७॥
जीवितान्तकरैर्घोरैर्ज्वलद्भिरिव पन्नगैः।

'प्राणोंका अन्त कर देनेवाले सर्पोंके समान भयंकर तथा प्रकाशमान तीखे बाणोंसे भरे हुए आप दोनोंके तूणीर बड़े सुन्दर दिखायी देते हैं॥ १७½॥

महाप्रमाणौ विपुलौ तप्तहाटकभूषणौ॥ १८॥
खड्गावेतौ विराजेते निर्मुक्तभुजगाविव।

'आपके ये दोनों खड्ग बहुत बड़े और विस्तृत हैं। इन्हें पक्के सोनेसे विभूषित किया गया है। ये दोनों केंचुल छोड़कर निकले हुए सर्पोंके समान शोभा पाते हैं॥ १८½॥

एवं मां परिभाषन्तं कस्माद् वै नाभिभाषथः॥ १९॥
सुग्रीवो नाम धर्मात्मा कश्चिद् वानरपुङ्गवः।
वीरो विनिकृतो भ्रात्रा जगद्भ्रमति दुःखितः॥ २०॥

'वीरो! इस तरह मैं बारम्बार आपका परिचय पूछ रहा हूँ, आपलोग मुझे उत्तर क्यों नहीं दे रहे हैं? यहाँ सुग्रीव नामक एक श्रेष्ठ वानर रहते हैं, जो बड़े धर्मात्मा और वीर हैं। उनके भाई वालीने उन्हें घरसे निकाल दिया है; इसलिये वे अत्यन्त दुःखी होकर सारे जगत्में मारे-मारे फिरते हैं॥

प्राप्तोऽहं प्रेषितस्तेन सुग्रीवेण महात्मना।
राज्ञा वानरमुख्यानां हनुमान् नाम वानरः॥ २१॥

'उन्हीं वानरशिरोमणियोंके राजा महात्मा सुग्रीवके भेजनेसे मैं यहाँ आया हूँ। मेरा नाम हनुमान् है। मैं भी वानरजातिका हूँ॥ २१॥

युवाभ्यां स हि धर्मात्मा सुग्रीवः सख्यमिच्छति।
तस्य मां सचिवं वित्तं वानरं पवनात्मजम्॥ २२॥
भिक्षुरूपप्रतिच्छन्नं सुग्रीवप्रियकारणात्।
ऋश्यमूकादिह प्राप्तं कामगं कामचारिणम्॥ २३॥

'धर्मात्मा सुग्रीव आप दोनोंसे मित्रता करना चाहते हैं। मुझे आपलोग उन्हींका मन्त्री समझें। मैं वायुदेवताका वानरजातीय पुत्र हूँ। मेरी जहाँ इच्छा हो, जा सकता हूँ और जैसा चाहूँ, रूप धारण कर सकता हूँ। इस समय सुग्रीवका प्रिय करनेके लिये भिक्षुके रूपमें अपनेको छिपाकर मैं ऋष्यमूक पर्वतसे यहाँपर आया हूँ॥ २२-२३॥

एवमुक्त्वा तु हनुमांस्तौ वीरौ रामलक्ष्मणौ।
वाक्यज्ञो वाक्यकुशलः पुनर्नोवाच किंचन॥ २४॥

उन दोनों भाई वीरवर श्रीराम और लक्ष्मणसे ऐसा कहकर बातचीत करनेमें कुशल तथा बातका मर्म समझनेमें निपुण हनुमान् चुप हो गये; फिर कुछ न बोले॥ २४॥

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य रामो लक्ष्मणमब्रवीत्।
प्रहृष्टवदनः श्रीमान् भ्रातरं पार्श्वतः स्थितम्॥ २५॥

उनकी यह बात सुनकर श्रीरामचन्द्रजीका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा। वे अपने बगलमें खड़े हुए छोटे भाई लक्ष्मणसे इस प्रकार कहने लगे—॥ २५॥

सचिवोऽयं कपीन्द्रस्य सुग्रीवस्य महात्मनः।
तमेव काङ्क्षमाणस्य ममान्तिकमिहागतः॥ २६॥

'सुमित्रानन्दन! ये महामनस्वी वानरराज सुग्रीवके सचिव हैं और उन्हींके हितकी इच्छासे यहाँ मेरे पास आये हैं॥

तमभ्यभाष सौमित्रे सुग्रीवसचिवं कपिम्।
वाक्यज्ञं मधुरैर्वाक्यैः स्नेहयुक्तमरिंदमम्॥ २७॥

'लक्ष्मण! इन शत्रुदमन सुग्रीवसचिव कपिवर हनुमान्‌से, जो बातके मर्मको समझनेवाले हैं, तुम स्नेहपूर्वक मीठी वाणीमें बातचीत करो॥ २७॥

नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम्॥ २८॥

'जिसे ऋग्वेदकी शिक्षा नहीं मिली, जिसने यजुर्वेदका अभ्यास नहीं किया तथा जो सामवेदका विद्वान् नहीं है, वह इस प्रकार सुन्दर भाषामें वार्तालाप नहीं कर सकता॥ २८॥

नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहु व्याहरतानेन न किंचिदपशब्दितम्॥ २९॥

'निश्चय ही इन्होंने समूचे व्याकरणका कई बार स्वाध्याय किया है; क्योंकि बहुत-सी बातें बोल जानेपर भी इनके मुँहसे कोई अशुद्धि नहीं निकली॥ २९॥

न मुखे नेत्रयोश्चापि ललाटे च भ्रुवोस्तथा।
अन्येष्वपि च सर्वेषु दोषः संविदितः क्वचित्॥ ३०॥

'सम्भाषणके समय इनके मुख, नेत्र, ललाट, भौंह तथा अन्य सब अङ्गोंसे भी कोई दोष प्रकट हुआ हो, ऐसा कहीं ज्ञात नहीं हुआ॥ ३०॥

अविस्तरमसंदिग्धमविलम्बितमव्यथम्।
उरःस्थं कण्ठगं वाक्यं वर्तते मध्यमस्वरम्॥ ३१॥

'इन्होंने थोड़ेमें ही बड़ी स्पष्टताके साथ अपना अभिप्राय निवेदन किया है। उसे समझनेमें कहीं कोई संदेह नहीं हुआ है। रुक-रुककर अथवा शब्दों या अक्षरोंको तोड़-मरोड़कर किसी ऐसे वाक्यका उच्चारण नहीं किया है, जो सुननेमें

कर्णकटु हो। इनकी वाणी हृदयमें मध्यमारूपसे स्थित है और कण्ठसे वैखरीरूपमें प्रकट होती है, अतः बोलते समय इनकी आवाज न बहुत धीमी रही है न बहुत ऊँची। मध्यम स्वरमें ही इन्होंने सब बातें कही हैं॥ ३१॥

संस्कारक्रमसम्पन्नामद्भुतामविलम्बिताम्।
उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदयहर्षिणीम्॥ ३२॥

'ये संस्कार[1] और क्रमसे[2] सम्पन्न, अद्भुत, अविलम्बित[3] तथा हृदयको आनन्द प्रदान करनेवाली कल्याणमयी वाणीका उच्चारण करते हैं॥ ३२॥

अनया चित्रया वाचा त्रिस्थानव्यञ्जनस्थया।
कस्य नाराध्यते चित्तमुद्यतासेररेरपि॥ ३३॥

'हृदय, कण्ठ और मूर्धा—इन तीनों स्थानोंद्वारा स्पष्टरूपसे अभिव्यक्त होनेवाली इनकी इस विचित्र वाणीको सुनकर किसका चित्त प्रसन्न न होगा। वध करनेके लिये तलवार उठाये हुए शत्रुका हृदय भी इस अद्भुत वाणीसे बदल सकता है॥ ३३॥

एवंविधो यस्य दूतो न भवेत् पार्थिवस्य तु।
सिद्ध्यन्ति हि कथं तस्य कार्याणां गतयोऽनघ॥ ३४॥

'निष्पाप लक्ष्मण! जिस राजाके पास इनके समान दूत न हो, उसके कार्योंकी सिद्धि कैसे हो सकती है॥ ३४॥

एवंगुणगणैर्युक्ता यस्य स्युः कार्यसाधकाः।
तस्य सिद्ध्यन्ति सर्वेऽर्था दूतवाक्यप्रचोदिताः॥ ३५॥

'जिसके कार्यसाधक दूत ऐसे उत्तम गुणोंसे युक्त हों, उस राजाके सभी मनोरथ दूतोंकी बातचीतसे ही सिद्ध हो जाते हैं'॥ ३५॥

एवमुक्तस्तु सौमित्रिः सुग्रीवसचिवं कपिम्।
अभ्यभाषत वाक्यज्ञो वाक्यज्ञं पवनात्मजम्॥ ३६॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर बातचीतकी कला जाननेवाले सुमित्रानन्दन लक्ष्मण बातका मर्म समझनेवाले पवनकुमार सुग्रीवसचिव कपिवर हनुमान्‌से इस प्रकार बोले—॥ ३६॥

विदिता नौ गुणा विद्वन् सुग्रीवस्य महात्मनः।
तमेव चावां मार्गावः सुग्रीवं प्लवगेश्वरम्॥ ३७॥

'विद्वन्! महामना सुग्रीवके गुण हमें ज्ञात हो चुके हैं। हम दोनों भाई वानरराज सुग्रीवकी ही खोजमें यहाँ आये हैं॥ ३७॥

यथा ब्रवीषि हनुमन् सुग्रीववचनादिह।
तत् तथा हि करिष्यावो वचनात् तव सत्तम॥ ३८॥

'साधुशिरोमणि हनुमान्‌जी! आप सुग्रीवके कथनानुसार यहाँ आकर जो मैत्रीकी बात चला रहे हैं, वह हमें स्वीकार है। हम आपके कहनेसे ऐसा कर सकते हैं'॥ ३८॥

तत् तस्य वाक्यं निपुणं निशम्य
प्रहृष्टरूपः पवनात्मजः कपिः।
मनः समाधाय जयोपपत्तौ
सख्यं तदा कर्तुमियेष ताभ्याम्॥ ३९॥

लक्ष्मणके यह स्वीकृतिसूचक निपुणतायुक्त वचन सुनकर पवनकुमार कपिवर हनुमान् बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने सुग्रीवकी विजयसिद्धिमें मन लगाकर उस समय उन दोनों भाइयोंके साथ उनकी मित्रता करनेकी इच्छा की॥ ३९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे तृतीयः सर्गः॥ ३॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें तीसरा सर्ग पूरा हुआ॥ ३॥

चतुर्थः सर्गः

लक्ष्मणका हनुमान्‌जीसे श्रीरामके वनमें आने और सीताजीके हरे जानेका वृत्तान्त बताना तथा इस कार्यमें सुग्रीवके सहयोगकी इच्छा प्रकट करना, हनुमान्‌जीका उन्हें आश्वासन देकर उन दोनों भाइयोंको अपने साथ ले जाना

ततः प्रहृष्टो हनुमान् कृत्यवानिति तद्वचः।
श्रुत्वा मधुरभावं च सुग्रीवं मनसा गतः॥ १॥

श्रीरामजीकी बात सुनकर तथा सुग्रीवके विषयमें उनका सौम्यभाव जानकर और साथ ही यह समझकर कि इन्हें भी सुग्रीवसे कोई आवश्यक काम है, हनुमान्‌जीको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने मन-ही-मन सुग्रीवका स्मरण किया॥

भाव्यो राज्यागमस्तस्य सुग्रीवस्य महात्मनः।
यदयं कृत्यवान् प्राप्तः कृत्यं चैतदुपागतम्॥ २॥

'अब अवश्य ही महामना सुग्रीवको राज्यकी प्राप्ति होनेवाली है; क्योंकि ये महानुभाव किसी कार्य या प्रयोजनसे यहाँ आये हैं और यह कार्य सुग्रीवके ही द्वारा सिद्ध होनेवाला है॥ २॥

---

१. व्याकरणके नियमानुकूल शुद्ध वाणीको संस्कारसम्पन्न (संस्कृत) कहते हैं।
२. शब्दोच्चारणकी शास्त्रीय परिपाटीका नाम क्रम है।
३. बिना रुके धाराप्रवाहरूपसे बोलना अविलम्बित कहलाता है।

ततः परमसंहृष्टो हनूमान् प्लवगोत्तमः।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं रामं वाक्यविशारदः॥ ३॥

तत्पश्चात् बातचीतमें कुशल वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌जी अत्यन्त हर्षमें भरकर श्रीरामचन्द्रजीसे बोले—॥ ३॥

किमर्थं त्वं वनं घोरं पम्पाकाननमण्डितम्।
आगतः सानुजो दुर्गं नानाव्यालमृगायुतम्॥ ४॥

'पम्पा-तटवर्ती काननसे सुशोभित यह वन भयंकर और दुर्गम है। इसमें नाना प्रकारके हिंसक जन्तु निवास करते हैं। आप अपने छोटे भाईके साथ यहाँ किसलिये आये हैं?'॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणो रामचोदितः।
आचचक्षे महात्मानं रामं दशरथात्मजम्॥ ५॥

हनुमान्‌जीका यह वचन सुनकर श्रीरामकी आज्ञासे लक्ष्मणने दशरथनन्दन महात्मा श्रीरामका इस प्रकार परिचय देना आरम्भ किया—॥ ५॥

राजा दशरथो नाम द्युतिमान् धर्मवत्सलः।
चातुर्वर्ण्यं स्वधर्मेण नित्यमेवाभिपालयन्॥ ६॥

'विद्वन्! इस पृथ्वीपर दशरथ नामसे प्रसिद्ध जो धर्मानुरागी तेजस्वी राजा थे, वे सदा ही अपने धर्मके अनुसार चारों वर्णोंकी प्रजाका पालन करते थे॥ ६॥

न द्वेष्टा विद्यते तस्य स तु द्वेष्टि न कंचन।
स तु सर्वेषु भूतेषु पितामह इवापरः॥ ७॥

'इस भूतलपर उनसे द्वेष रखनेवाला कोई नहीं था और वे भी किसीसे द्वेष नहीं रखते थे। वे समस्त प्राणियोंपर दूसरे ब्रह्माजीके समान स्नेह रखते थे॥ ७॥

अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैरिष्टवानाप्तदक्षिणैः।
तस्यायं पूर्वजः पुत्रो रामो नाम जनैः श्रुतः॥ ८॥

'उन्होंने पर्याप्त दक्षिणावाले अग्निष्टोम आदि यज्ञोंका अनुष्ठान किया था। ये उन्हीं महाराजके ज्येष्ठ पुत्र हैं। लोग इन्हें श्रीराम कहते हैं॥ ८॥

शरण्यः सर्वभूतानां पितुर्निर्देशपारगः।
ज्येष्ठो दशरथस्यायं पुत्राणां गुणवत्तरः॥ ९॥

'ये सब प्राणियोंको शरण देनेवाले और पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाले हैं। महाराज दशरथके चारों पुत्रोंमें ये सबसे अधिक गुणवान् हैं॥ ९॥

राजलक्षणसंयुक्तः संयुक्तो राज्यसम्पदा।
राज्याद् भ्रष्टो मया वस्तुं वने सार्धमिहागतः॥ १०॥

'ये राजाके उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न हैं। जब इन्हें राज्य-सम्पत्तिसे संयुक्त किया जा रहा था, उस समय कुछ ऐसा कारण आ पड़ा, जिससे ये राज्यसे वञ्चित हो गये और वनमें निवास करनेके लिये मेरे साथ यहाँ आ गये॥ १०॥

भार्यया च महाभाग सीतयानुगतो वशी।
दिनक्षये महातेजाः प्रभयेव दिवाकरः॥ ११॥

'महाभाग! जैसे दिनका क्षय होनेपर सायंकाल महातेजस्वी सूर्य अपने प्रभाके साथ अस्ताचलको जाते हैं, उसी प्रकार ये जितेन्द्रिय श्रीरघुनाथजी अपनी पत्नी सीताके साथ वनमें आये थे॥ ११॥

अहमस्यावरो भ्राता गुणैर्दास्यमुपागतः।
कृतज्ञस्य बहुज्ञस्य लक्ष्मणो नाम नामतः॥ १२॥

'मैं इनका छोटा भाई हूँ। मेरा नाम लक्ष्मण है। मैं अपने कृतज्ञ और बहुज्ञ भाईके गुणोंसे आकृष्ट होकर इनका दास हो गया हूँ॥ १२॥

सुखार्हस्य महार्हस्य सर्वभूतहितात्मनः।
ऐश्वर्येण विहीनस्य वनवासे रतस्य च॥ १३॥
रक्षसापहृता भार्या रहिते कामरूपिणा।
तच्च न ज्ञायते रक्षः पत्नी येनास्य वा हृता॥ १४॥

'सम्पूर्ण भूतोंके हितमें मन लगानेवाले, सुख भोगनेके योग्य, महापुरुषोंद्वारा पूजनीय, ऐश्वर्यसे हीन तथा वनवासमें तत्पर मेरे भाईकी पत्नीको इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले एक राक्षसने सूने आश्रमसे हर लिया। जिसने इनकी पत्नीका हरण किया है, वह राक्षस कौन है और कहाँ रहता है? इत्यादि बातोंका ठीक-ठीक पता नहीं लग रहा है॥ १३-१४॥

दनुर्नाम दितेः पुत्रः शापाद् राक्षसतां गतः।
आख्यातस्तेन सुग्रीवः समर्थो वानराधिपः॥ १५॥
स ज्ञास्यति महावीर्यस्तव भार्यापहारिणम्।
एवमुक्त्वा दनुः स्वर्गं भ्राजमानो दिवं गतः॥ १६॥

'दनु नामक एक दैत्य था, जो शापसे राक्षसभावको प्राप्त हुआ था। उसने सुग्रीवका नाम बताया और कहा—'वानरराज सुग्रीव सामर्थ्यशाली और महान् पराक्रमी हैं। वे आपकी पत्नीका अपहरण करनेवाले राक्षसका पता लगा देंगे।' ऐसा कहकर तेजसे प्रकाशित होता हुआ दनु स्वर्गलोकमें पहुँचनेके लिये आकाशमें उड़ गया॥ १५-१६॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं याथातथ्येन पृच्छतः।
अहं चैव च रामश्च सुग्रीवं शरणं गतौ॥ १७॥

'आपके प्रश्नके अनुसार मैंने सब बातें ठीक-ठीक बता दीं। मैं और श्रीराम दोनों ही सुग्रीवकी शरणमें आये हैं॥

एष दत्त्वा च वित्तानि प्राप्य चानुत्तमं यशः।
लोकनाथः पुरा भूत्वा सुग्रीवं नाथमिच्छति॥ १८॥

'ये पहले बहुत-से धन-वैभवका दान करके परम उत्तम यश प्राप्त कर चुके हैं। जो पूर्वकालमें सम्पूर्ण जगत्के नाथ (संरक्षक) थे, वे आज सुग्रीवको अपना रक्षक बनाना चाहते हैं॥ १८॥

सीता यस्य स्नुषा चासीच्छरण्यो धर्मवत्सलः।
तस्य पुत्रः शरण्यश्च सुग्रीवं शरणं गतः॥ १९॥

'सीता जिनकी पुत्रवधू हैं, जो शरणागतपालक और धर्मवत्सल रहे हैं, उन्हीं महाराज दशरथके पुत्र शरणदाता श्रीराम आज सुग्रीवकी शरणमें आये हैं॥ १९॥

सर्वलोकस्य धर्मात्मा शरण्यः शरणं पुरा।
गुरुर्मे राघवः सोऽयं सुग्रीवं शरणं गतः॥ २०॥

'जो मेरे धर्मात्मा बड़े भाई श्रीरघुनाथजी पहले सम्पूर्ण जगत्‌को शरण देनेवाले तथा शरणागतवत्सल रहे हैं, वे इस समय सुग्रीवकी शरणमें आये हैं॥ २०॥

यस्य प्रसादे सततं प्रसीदेयुरिमाः प्रजाः।
स रामो वानरेन्द्रस्य प्रसादमभिकाङ्क्षते॥ २१॥

'जिनके प्रसन्न होनेपर सदा यह सारी प्रजा प्रसन्नतासे खिल उठती थी, वे ही श्रीराम आज वानरराज सुग्रीवकी प्रसन्नता चाहते हैं॥ २१॥

येन सर्वगुणोपेताः पृथिव्यां सर्वपार्थिवाः।
मानिताः सततं राज्ञा सदा दशरथेन वै॥ २२॥
तस्यायं पूर्वजः पुत्रस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः।
सुग्रीवं वानरेन्द्रं तु रामः शरणमागतः॥ २३॥

'जिन राजा दशरथने सदा अपने यहाँ आये हुए भूमण्डलके सर्वसद्‌गुणसम्पन्न समस्त राजाओंका निरन्तर सम्मान किया, उन्हींके ये त्रिभुवनविख्यात ज्येष्ठ पुत्र श्रीराम आज वानरराज सुग्रीवकी शरणमें आये हैं॥ २२-२३॥

शोकाभिभूते रामे तु शोकार्ते शरणं गते।
कर्तुमर्हति सुग्रीवः प्रसादं सह यूथपैः॥ २४॥

'श्रीराम शोकसे अभिभूत और आर्त होकर शरणमें आये हैं। यूथपतियोंसहित सुग्रीवको इनपर कृपा करनी चाहिये॥'

एवं ब्रुवाणं सौमित्रिं करुणं साश्रुपातनम्।
हनूमान् प्रत्युवाचेदं वाक्यं वाक्यविशारदः॥ २५॥

नेत्रोंसे आँसू बहाकर करुणाजनक स्वरमें ऐसी बातें कहते हुए सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे कुशल वक्ता हनुमान्‌जीने इस प्रकार कहा—॥ २५॥

ईदृशा बुद्धिसम्पन्ना जितक्रोधा जितेन्द्रियाः।
द्रष्टव्या वानरेन्द्रेण दिष्ट्या दर्शनमागताः॥ २६॥

'राजकुमारो! वानरराज सुग्रीवको आप-जैसे बुद्धिमान्, क्रोधविजयी और जितेन्द्रिय पुरुषोंसे मिलनेकी आवश्यकता थी। सौभाग्यकी बात है कि आपने स्वयं ही दर्शन दे दिया॥

स हि राज्याच्च विभ्रष्टः कृतवैरश्च वालिना।
हृतदारो वने त्रस्तो भ्रात्रा विनिकृतो भृशम्॥ २७॥

'वे भी राज्यसे भ्रष्ट हैं। वालीके साथ उनकी शत्रुता हो गयी है। उनकी स्त्रीका भी वालीने ही अपहरण कर लिया है तथा उस दुष्ट भाईने उन्हें घरसे निकाल दिया है, इसलिये वे अत्यन्त भयभीत होकर वनमें निवास करते हैं॥ २७॥

करिष्यति स साहाय्यं युवयोर्भास्करात्मजः।
सुग्रीवः सह चास्माभिः सीतायाः परिमार्गणे॥ २८॥

'सूर्यनन्दन सुग्रीव सीताका पता लगानेमें हमारे साथ स्वयं रहकर आप दोनोंकी पूर्ण सहायता करेंगे'॥ २८॥

इत्येवमुक्त्वा हनुमाञ्छ्लक्ष्णं मधुरया गिरा।
बभाषे साधु गच्छामः सुग्रीवमिति राघवम्॥ २९॥

ऐसा कहकर हनुमान्‌जीने श्रीरघुनाथजीसे स्निग्ध मधुर वाणीमें कहा—'अच्छा, अब हमलोग सुग्रीवके पास चलें'॥

एवं ब्रुवन्तं धर्मात्मा हनुमन्तं स लक्ष्मणः।
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं प्रोवाच राघवम्॥ ३०॥

उस समय धर्मात्मा लक्ष्मणने उपर्युक्त बात कहनेवाले हनुमान्‌जीका यथोचित सम्मान किया और श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—॥ ३०॥

कपिः कथयते हृष्टो यथायं मारुतात्मजः।
कृत्यवान् सोऽपि सम्प्राप्तः कृतकृत्योऽसि राघव॥ ३१॥

'भैया रघुनन्दन! ये वानरश्रेष्ठ पवनकुमार हनुमान् अत्यन्त हर्षसे भरकर जैसी बात कह रहे हैं, उससे जान पड़ता है कि सुग्रीवको भी आपसे कुछ काम है। ऐसी दशामें आप अपना कार्य सिद्ध हुआ ही समझें॥ ३१॥

प्रसन्नमुखवर्णश्च व्यक्तं हृष्टश्च भाषते।
नानृतं वक्ष्यते वीरो हनूमान् मारुतात्मजः॥ ३२॥

'इनके मुखकी कान्ति स्पष्टतः प्रसन्न दिखायी देती है और ये हर्षसे उत्फुल्ल होकर बातचीत करते हैं। अतः मेरा विश्वास है कि पवनपुत्र वीर हनुमान्‌जी झूठ नहीं बोलेंगे'॥ ३२॥

ततः स सुमहाप्राज्ञो हनूमान् मारुतात्मजः।
जगामादाय तौ वीरौ हरिराजाय राघवौ॥ ३३॥

तदनन्तर परम बुद्धिमान् पवनपुत्र हनुमान्‌जी उन दोनों रघुवंशी वीरोंको साथ ले सुग्रीवसे मिलनेके लिये चले॥

भिक्षुरूपं परित्यज्य वानरं रूपमास्थितः।
पृष्ठमारोप्य तौ वीरौ जगाम कपिकुञ्जरः॥ ३४॥

कपिवर हनुमान्‌ने भिक्षुरूपको त्यागकर वानररूप धारण कर लिया। वे उन दोनों वीरोंको पीठपर बिठाकर वहाँसे चल दिये॥ ३४॥

स तु विपुलयशाः कपिप्रवीरः
पवनसुतः कृतकृत्यवत् प्रहृष्टः।
गिरिवरमुरुविक्रमः प्रयातः
स शुभमतिः सह रामलक्ष्मणाभ्याम्॥ ३५॥

महान् यशस्वी तथा शुभ विचारवाले महापराक्रमी वे कपिवीर पवनकुमार कृतकृत्य-से होकर अत्यन्त हर्षमें भर गये और श्रीराम-लक्ष्मणके साथ गिरिवर ऋष्यमूकपर जा पहुँचे॥ ३५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे चतुर्थः सर्गः॥ ४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें चौथा सर्ग पूरा हुआ॥ ४॥

—★—

पञ्चमः सर्गः

श्रीराम और सुग्रीवकी मैत्री तथा श्रीरामद्वारा वालिवधकी प्रतिज्ञा

ऋष्यमूकात् तु हनुमान् गत्वा तं मलयं गिरिम्।
आचचक्षे तदा वीरौ कपिराजाय राघवौ॥ १॥

श्रीराम और लक्ष्मणको ऋष्यमूक पर्वतपर सुग्रीवके वास-स्थानमें बिठाकर हनुमान्‌जी वहाँसे मलयपर्वतपर गये (जो ऋष्यमूकका ही एक शिखर है) और वहाँ वानरराज सुग्रीवको उन दोनों रघुवंशी वीरोंका परिचय देते हुए इस प्रकार बोले— ॥ १॥

अयं रामो महाप्राज्ञ सम्प्राप्तो दृढविक्रमः।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा रामोऽयं सत्यविक्रमः॥ २॥

'महाप्राज्ञ! जिनका पराक्रम अत्यन्त दृढ़ और अमोघ है, वे श्रीरामचन्द्रजी अपने भाई लक्ष्मणके साथ पधारे हैं॥ २॥

इक्ष्वाकूणां कुले जातो रामो दशरथात्मजः।
धर्मे निगदितश्चैव पितुर्निर्देशकारकः॥ ३॥

'इन श्रीरामका आविर्भाव इक्ष्वाकुकुलमें हुआ है। ये महाराज दशरथके पुत्र हैं और स्वधर्मपालनके लिये संसारमें विख्यात हैं। अपने पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये इस वनमें इनका आगमन हुआ है॥ ३॥

राजसूयाश्वमेधैश्च वह्निर्येनाभितर्पितः।
दक्षिणाश्च तथोत्सृष्टा गावः शतसहस्रशः॥ ४॥
तपसा सत्यवाक्येन वसुधा येन पालिता।
स्त्रीहेतोस्तस्य पुत्रोऽयं रामोऽरण्यं समागतः॥ ५॥

'जिन्होंने राजसूय और अश्वमेध-यज्ञोंका अनुष्ठान करके अग्निदेवको तृप्त किया था, ब्राह्मणोंको बहुत-सी दक्षिणाएँ बाँटी थीं और लाखों गौएँ दानमें दी थीं। जिन्होंने सत्य-भाषणपूर्वक तपके द्वारा वसुधाका पालन किया था, उन्हीं महाराज दशरथके पुत्र ये श्रीराम पिताद्वारा अपनी पत्नी कैकेयीके लिये दिये हुए वरका पालन करनेके निमित्त इस वनमें आये हैं॥ ४-५॥

तस्यास्य वसतोऽरण्ये नियतस्य महात्मनः।
रावणेन हृता भार्या स त्वां शरणमागतः॥ ६॥

'महात्मा श्रीराम मुनियोंकी भाँति नियमका पालन करते हुए दण्डकारण्यमें निवास करते थे। एक दिन रावणने आकर सूने आश्रमसे इनकी पत्नी सीताका अपहरण कर लिया। उन्हींकी खोजमें आपसे सहायता लेनेके लिये ये आपकी शरणमें आये हैं॥ ६॥

भवता सख्यकामौ तौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
प्रगृह्य चार्चयस्वैतौ पूजनीयतमावुभौ॥ ७॥

'ये दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण आपसे मित्रता करना चाहते हैं। आप चलकर इन्हें अपनावें और इनका यथोचित सत्कार करें; क्योंकि ये दोनों ही वीर हमलोगोंके लिये परम पूजनीय हैं'॥ ७॥

श्रुत्वा हनूमतो वाक्यं सुग्रीवो वानराधिपः।
दर्शनीयतमो भूत्वा प्रीत्योवाच च राघवम्॥ ८॥

हनुमान्‌जीका यह वचन सुनकर वानरराज सुग्रीव स्वेच्छासे अत्यन्त दर्शनीय रूप धारण करके श्रीरघुनाथजीके पास आये और बड़े प्रेमसे बोले— ॥ ८॥

भवान् धर्मविनीतश्च सुतपाः सर्ववत्सलः।
आख्याता वायुपुत्रेण तत्त्वतो मे भवद्गुणाः॥ ९॥

'प्रभो! आप धर्मके विषयमें भलीभाँति सुशिक्षित, परम तपस्वी और सबपर दया करनेवाले हैं। पवनकुमार हनुमान्‌जीने मुझसे आपके यथार्थ गुणोंका वर्णन किया है॥ ९॥

तन्ममैवैष सत्कारो लाभश्चैवोत्तमः प्रभो।
यत्त्वमिच्छसि सौहार्दं वानरेण मया सह॥ १०॥

'भगवन्! मैं वानर हूँ और आप नर। मेरे साथ जो आप मैत्री करना चाहते हैं, इसमें मेरा ही सत्कार है और मुझे ही उत्तम लाभ प्राप्त हो रहा है॥ १०॥

रोचते यदि मे सख्यं बाहुरेष प्रसारितः।
गृह्यतां पाणिना पाणिर्मर्यादा बध्यतां ध्रुवा॥ ११॥

'यदि मेरी मैत्री आपको पसंद हो तो मेरा यह हाथ फैला हुआ है। आप इसे अपने हाथमें ले लें और परस्पर मैत्रीका अटूट सम्बन्ध बना रहे— इसके लिये स्थिर मर्यादा बाँध दें'॥ ११॥

एतत् तु वचनं श्रुत्वा सुग्रीवस्य सुभाषितम्।
सम्प्रहृष्टमना हस्तं पीडयामास पाणिना॥ १२॥
हृष्टः सौहृदमालम्ब्य पर्यष्वजत पीडितम्।

सुग्रीवका यह सुन्दर वचन सुनकर भगवान् श्रीरामका चित्त प्रसन्न हो गया। उन्होंने अपने हाथसे उनका हाथ पकड़कर दबाया और सौहार्दका आश्रय ले बड़े हर्षके साथ शोकपीड़ित सुग्रीवको छातीसे लगा लिया॥ १२½॥

ततो हनूमान् संत्यज्य भिक्षुरूपमरिंदमः॥ १३॥
काष्ठयोः स्वेन रूपेण जनयामास पावकम्।

(सुग्रीवके पास जानेसे पूर्व हनुमान्‌जीने पुनः भिक्षुरूप धारण कर लिया था) श्रीराम सुग्रीवकी मैत्रीके समय शत्रुदमन हनुमान्‌जीने भिक्षुरूपको त्यागकर अपना स्वाभाविक रूप धारण कर लिया और दो लकड़ियोंको रगड़कर आग पैदा की॥ १३½॥

दीप्यमानं ततो वह्निं पुष्पैरभ्यर्च्य सत्कृतम्॥ १४॥
तयोर्मध्ये तु सुप्रीतो निदधौ सुसमाहितः।

तत्पश्चात् उस अग्निको प्रज्वलित करके उन्होंने फूलोंद्वारा अग्निदेवका सादर पूजन किया; फिर एकाग्रचित्त हो श्रीराम और सुग्रीवके बीचमें साक्षीके रूपमें उस अग्निको प्रसन्नतापूर्वक स्थापित कर दिया॥ १४½॥

ततोऽग्निं दीप्यमानं तौ चक्रतुश्च प्रदक्षिणम् ॥ १५ ॥
सुग्रीवो राघवश्चैव वयस्यत्वमुपागतौ ।

इसके बाद सुग्रीव और श्रीरामचन्द्रजीने उस प्रज्वलित अग्निकी प्रदक्षिणा की और दोनों एक-दूसरेके मित्र बन गये ॥ १५½ ॥

ततः सुप्रीतमनसौ तावुभौ हरिराघवौ ॥ १६ ॥
अन्योन्यमभिवीक्षन्तौ न तृप्तिमभिजग्मतुः ।

इससे उन वानरराज तथा श्रीरघुनाथजी दोनोंके हृदयमें बड़ी प्रसन्नता हुई। वे एक-दूसरेको ओर देखते हुए तृप्त नहीं होते थे ॥ १६½ ॥

त्वं वयस्योऽसि हृद्यो मे ह्येकं दुःखं सुखं च नौ ॥ १७ ॥
सुग्रीवो राघवं वाक्यमित्युवाच प्रहृष्टवत् ।

उस समय सुग्रीवने श्रीरामचन्द्रजीसे प्रसन्नतापूर्वक कहा—'आप मेरे प्रिय मित्र हैं। आजसे हम दोनोंका दुःख और सुख एक है' ॥ १७½ ॥

ततः सुपर्णबहुलां भङ्क्त्वा शाखां सुपुष्पिताम् ॥ १८ ॥
सालस्यास्तीर्य सुग्रीवो निषसाद सराघवः ।

यह कहकर सुग्रीवने अधिक पत्ते और फूलोंवाली शाल वृक्षकी एक शाखा तोड़ी और उसे बिछाकर वे श्रीरामचन्द्रजीके साथ उसपर बैठे ॥ १८½ ॥

लक्ष्मणायाथ संहृष्टो हनुमान् मारुतात्मजः ॥ १९ ॥
शाखां चन्दनवृक्षस्य ददौ परमपुष्पिताम् ।

तदनन्तर पवनपुत्र हनुमान्‌ने अत्यन्त प्रसन्न हो चन्दन-वृक्षकी एक डाली, जिसमें बहुत-से फूल लगे हुए थे, तोड़कर लक्ष्मणको बैठनेके लिये दी ॥ १९½ ॥

ततः प्रहृष्टः सुग्रीवः श्लक्ष्णं मधुरया गिरा ॥ २० ॥
प्रत्युवाच तदा रामं हर्षव्याकुललोचनः ।

इसके बाद हर्षसे भरे हुए सुग्रीवने जिनके नेत्र हर्षसे खिल उठे थे, उस समय भगवान् श्रीरामसे स्निग्ध मधुर वाणीमें कहा— ॥ २०½ ॥

अहं विनिकृतो राम चरामीह भयार्दितः ॥ २१ ॥
हृतभार्यो वने त्रस्तो दुर्गमेतदुपाश्रितः ।

'श्रीराम! मैं घरसे निकाल दिया गया हूँ और भयसे पीड़ित होकर यहाँ विचरता हूँ। मेरी पत्नी भी मुझसे छीन ली गयी। मैंने आतङ्कित होकर वनमें इस दुर्गम पर्वतका आश्रय लिया है ॥ २१½ ॥

सोऽहं त्रस्तो वने भीतो वसाम्युद्भ्रान्तचेतनः ॥ २२ ॥
वालिना निकृतो भ्रात्रा कृतवैरश्च राघव ।

'रघुनन्दन! मेरे बड़े भाई वालीने मुझे घरसे निकालकर मेरे साथ वैर बाँध लिया है। उसीके त्रास और भयसे उद्भ्रान्तचित्त होकर मैं इस वनमें निवास करता हूँ ॥ २२½ ॥

वालिनो मे महाभाग भयार्तस्याभयं कुरु ॥ २३ ॥
कर्तुमर्हसि काकुत्स्थ भयं मे न भवेद् यथा ।

'महाभाग! वालीके भयसे पीड़ित हुए मुझ सेवकको आप अभय-दान दीजिये। काकुत्स्थ! आपको ऐसा करना चाहिये, जिससे मेरे लिये किसी प्रकारका भय न रह जाय' ॥ २३½ ॥

एवमुक्तस्तु तेजस्वी धर्मज्ञो धर्मवत्सलः ॥ २४ ॥
प्रत्यभाषत काकुत्स्थः सुग्रीवं प्रहसन्निव ।

सुग्रीवके ऐसा कहनेपर धर्मके ज्ञाता, धर्मवत्सल, ककुत्स्थकुलभूषण तेजस्वी श्रीरामने हँसते हुए-से वहाँ सुग्रीवको इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ २४½ ॥

उपकारफलं मित्रं विदितं मे महाकपे ॥ २५ ॥
वालिनं तं वधिष्यामि तव भार्यापहारिणम् ।

'महाकपे! मुझे मालूम है कि मित्र उपकाररूपी फल देनेवाला होता है। मैं तुम्हारी पत्नीका अपहरण करनेवाले वालीका वध कर दूँगा ॥ २५½ ॥

अमोघाः सूर्यसंकाशा ममेमे निशिताः शराः ॥ २६ ॥
तस्मिन् वालिनि दुर्वृत्ते निपतिष्यन्ति वेगिताः ।
कङ्कपत्रप्रतिच्छन्ना महेन्द्राशनिसंनिभाः ॥ २७ ॥
तीक्ष्णाग्रा ऋजुपर्वाणः सरोषा भुजगा इव ।

'मेरे तूणीरमें संगृहीत हुए ये सूर्यतुल्य तेजस्वी बाण अमोघ हैं—इनका वार खाली नहीं जाता। ये बड़े वेगशाली हैं। इनमें कंक पक्षीके परोंके पंख लगे हुए हैं, जिनसे ये आच्छादित हैं। इनके अग्रभाग बड़े तीखे हैं और गाँठें भी सीधी हैं। ये रोषमें भरे हुए सर्पोंके समान छूटते हैं और इन्द्रके वज्रकी भाँति भयंकर चोट करते हैं। उस दुराचारी वालीपर मेरे ये बाण अवश्य गिरेंगे ॥ २६-२७½ ॥

तमद्य वालिनं पश्य तीक्ष्णैराशीविषोपमैः ॥ २८ ॥
शरैर्विनिहतं भूमौ प्रकीर्णमिव पर्वतम् ।

'आज देखना, मैं अपने विषधर सर्पोंके समान तीखे बाणोंसे मारकर वालीको पृथ्वीपर गिरा दूँगा। वह इन्द्रके वज्रसे टूट-फूटकर गिरे हुए पर्वतके समान दिखायी देगा' ॥

स तु तद् वचनं श्रुत्वा राघवस्यात्मनो हितम् ।
सुग्रीवः परमप्रीतः परमं वाक्यमब्रवीत् ॥ २९ ॥

अपने लिये परम हितकर वह श्रीरघुनाथजीका वचन सुनकर सुग्रीवको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे उत्तम वाणीमें बोले— ॥ २९ ॥

तव प्रसादेन नृसिंह वीर
प्रियां च राज्यं च समाप्नुयामहम् ।
तथा कुरु त्वं नरदेव वैरिणं
यथा न हिंस्यात् स पुनर्ममाग्रजम् ॥ ३० ॥

'वीर! पुरुषसिंह! मैं आपकी कृपासे अपनी प्यारी पत्नी तथा राज्यको प्राप्त कर सकूँ, ऐसा यत्न कीजिये। नरदेव! मेरा बड़ा भाई वैरी हो गया है। आप उसकी ऐसी अवस्था कर दें जिससे वह फिर मुझे मार न सके' ॥ ३० ॥

सीताकपीन्द्रक्षणदाचराणां
राजीवहेमज्वलनोपमानि ।
सुग्रीवरामप्रणयप्रसङ्गे
वामानि नेत्राणि समं स्फुरन्ति ॥ ३१ ॥

सुग्रीव और श्रीरामकी इस प्रेमपूर्ण मैत्रीके प्रसङ्गमें सीताके प्रफुल्ल कमल-जैसे, कपिराज वालीके सुवर्ण-जैसे तथा निशाचरोंके प्रज्वलित अग्नि-जैसे बायें नेत्र एक साथ ही फड़कने लगे ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें पाँचवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठः सर्गः

सुग्रीवका श्रीरामको सीताजीके आभूषण दिखाना तथा श्रीरामका शोक एवं रोषपूर्ण वचन

पुनरेवाब्रवीत् प्रीतो राघवं रघुनन्दनम्।
अयमाख्याति ते राम सचिवो मन्त्रिसत्तमः ॥ १ ॥
हनुमान् यन्निमित्तं त्वं निर्जनं वनमागतः।

सुग्रीवने पुनः प्रसन्नतापूर्वक रघुकुलनन्दन श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—'श्रीराम! मेरे मन्त्रियोंमें श्रेष्ठ सचिव ये हनुमान्‌जी आपके विषयमें वह सारा वृत्तान्त बता चुके हैं, जिसके कारण आपको इस निर्जन वनमें आना पड़ा है ॥ १½ ॥

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा वसतश्च वने तव ॥ २ ॥
रक्षसापहृता भार्या मैथिली जनकात्मजा।
त्वया वियुक्ता रुदती लक्ष्मणेन च धीमता ॥ ३ ॥
अन्तरं प्रेप्सुना तेन हत्वा गृध्रं जटायुषम्।
भार्यावियोगजं दुःखं प्रापितस्तेन रक्षसा ॥ ४ ॥

'अपने भाई लक्ष्मणके साथ जब आप वनमें निवास करते थे, उस समय राक्षस रावणने आपकी पत्नी मिथिलेशकुमारी जनकनन्दिनी सीताको हर लिया। उस वेलामें आप उनसे अलग थे और बुद्धिमान् लक्ष्मण भी उन्हें अकेली छोड़कर चले गये थे। राक्षस इसी अवसरकी प्रतीक्षामें था। उसने गीध जटायुका वध करके रोती हुई सीताका अपहरण किया है। इस प्रकार उस राक्षसने आपको पत्नी-वियोगके कष्टमें डाल दिया है ॥ २—४ ॥

भार्यावियोगजं दुःखं नचिरात् त्वं विमोक्ष्यसे।
अहं तामानयिष्यामि नष्टां वेदश्रुतीमिव ॥ ५ ॥

'परंतु इस पत्नी-वियोगके दुःखसे आप शीघ्र ही मुक्त हो जायँगे। मैं राक्षसद्वारा हरी गयी वेदवाणीके समान आपकी पत्नीको वापस ला दूँगा ॥ ५ ॥

रसातले वा वर्तन्तीं वर्तन्तीं वा नभस्तले।
अहमानीय दास्यामि तव भार्यामरिंदम ॥ ६ ॥

'शत्रुदमन श्रीराम! आपकी भार्या सीता पातालमें हों या आकाशमें, मैं उन्हें ढूँढ़ लाकर आपकी सेवामें समर्पित कर दूँगा ॥

इदं तथ्यं मम वचस्त्वमवेहि च राघव।
न शक्या सा जरयितुमपि सेन्द्रैः सुरासुरैः ॥ ७ ॥
तव भार्या महाबाहो भक्ष्यं विषकृतं यथा।
त्यज शोकं महाबाहो तां कान्तामानयामि ते ॥ ८ ॥

'रघुनन्दन! आप मेरी इस बातको सत्य मानें। महाबाहो! आपकी पत्नी जहर मिलाये हुए भोजनकी भाँति दूसरोंके लिये अग्राह्य है। इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता और असुर भी उन्हें पचा नहीं सकते। आप शोक त्याग दीजिये। मैं आपकी प्राणवल्लभाको अवश्य ला दूँगा ॥ ७-८ ॥

अनुमानात् तु जानामि मैथिली सा न संशयः।
ह्रियमाणा मया दृष्टा रक्षसा रौद्रकर्मणा ॥ ९ ॥
क्रोशन्ती रामरामेति लक्ष्मणेति च विस्वरम्।
स्फुरन्ती रावणस्याङ्के पन्नगेन्द्रवधूर्यथा ॥ १० ॥

'एक दिन मैंने देखा, भयंकर कर्म करनेवाला कोई राक्षस किसी स्त्रीको लिये जा रहा है। मैं अनुमानसे समझता हूँ, वे मिथिलेशकुमारी सीता ही रही होंगी, इसमें संशय नहीं है; क्योंकि वे टूटे हुए स्वरमें 'हा राम! हा राम! हा लक्ष्मण!' पुकारती हुई रो रही थीं तथा रावणकी गोदमें नागराजकी वधू (नागिन) की भाँति छटपटाती हुई प्रकाशित हो रही थीं ॥

आत्मना पञ्चमं मां हि दृष्ट्वा शैलतले स्थितम्।
उत्तरीयं तया त्यक्तं शुभान्याभरणानि च ॥ ११ ॥

'चार मन्त्रियोंसहित पाँचवाँ मैं इस शैल-शिखरपर बैठा हुआ था। मुझे देखकर देवी सीताने अपनी चादर और कई सुन्दर आभूषण ऊपरसे गिराये ॥ ११ ॥

तान्यस्माभिर्गृहीतानि निहितानि च राघव।
आनयिष्याम्यहं तानि प्रत्यभिज्ञातुमर्हसि ॥ १२ ॥

'रघुनन्दन! वे सब वस्तुएँ हमलोगोंने लेकर रख ली हैं। मैं अभी उन्हें लाता हूँ, आप उन्हें पहचान सकते हैं'।

तमब्रवीत् ततो रामः सुग्रीवं प्रियवादिनम्।
आनयस्व सखे शीघ्रं किमर्थं प्रविलम्बसे ॥ १३ ॥

तब श्रीरामने यह प्रिय संवाद सुनानेवाले सुग्रीवसे कहा—'सखे! शीघ्र ले आओ, क्यों विलम्ब करते हो?' ॥ १३ ॥

एवमुक्तस्तु सुग्रीवः शैलस्य गहनां गुहाम्।
प्रविवेश ततः शीघ्रं राघवप्रियकाम्यया ॥ १४ ॥
उत्तरीयं गृहीत्वा तु स तान्याभरणानि च।
इदं पश्येति रामाय दर्शयामास वानरः ॥ १५ ॥

उनके ऐसा कहनेपर सुग्रीव शीघ्र ही श्रीरामचन्द्रजीका प्रिय करनेकी इच्छासे पर्वतकी एक गहन गुफामें गये और

चादर तथा वे आभूषण लेकर निकल आये। बाहर आकर वानरराजने 'लीजिये, यह देखिये' ऐसा कहकर श्रीरामको वे सारे आभूषण दिखाये॥ १४-१५॥

ततो गृहीत्वा वासस्तु शुभान्याभरणानि च।
अभवद् बाष्पसंरुद्धो नीहारेणेव चन्द्रमाः॥ १६॥

उन वस्त्र और सुन्दर आभूषणोंको लेकर श्रीरामचन्द्रजी कुहासेसे ढके हुए चन्द्रमाकी भाँति आँसुओंसे अवरुद्ध हो गये॥ १६॥

सीतास्नेहप्रवृत्तेन स तु बाष्पेण दूषितः।
हा प्रियेति रुदन् धैर्यमुत्सृज्य न्यपतत् क्षितौ॥ १७॥

सीताके स्नेहवश बहते हुए आँसुओंसे उनका मुख और वक्षःस्थल भीगने लगे। वे 'हा प्रिये!' ऐसा कहकर रोने लगे और धैर्य छोड़कर पृथ्वीपर गिर पड़े॥ १७॥

हृदि कृत्वा स बहुशस्तमलंकारमुत्तमम्।
निशश्वास भृशं सर्पो बिलस्थ इव रोषितः॥ १८॥

उन उत्तम आभूषणोंको बारम्बार हृदयसे लगाकर वे बिलमें बैठे हुए रोषमें भरे सर्पकी भाँति जोर-जोरसे साँस लेने लगे॥ १८॥

अविच्छिन्नाश्रुवेगस्तु सौमित्रिं प्रेक्ष्य पार्श्वतः।
परिदेवयितुं दीनं रामः समुपचक्रमे॥ १९॥

उनके आँसुओंका वेग रुकता ही नहीं था। अपने पास खड़े हुए सुमित्राकुमार लक्ष्मणकी ओर देखकर श्रीराम दीनभावसे विलाप करते हुए बोले—॥ १९॥

पश्य लक्ष्मण वैदेह्या संत्यक्तं ह्रियमाणया।
उत्तरीयमिदं भूमौ शरीराद् भूषणानि च॥ २०॥

'लक्ष्मण! देखो, राक्षसके द्वारा हरी जाती हुई विदेहनन्दिनी सीताने यह चादर और ये गहने अपने शरीरसे उतारकर पृथ्वीपर डाल दिये थे॥ २०॥

शाद्वलिन्यां ध्रुवं भूम्यां सीतया ह्रियमाणया।
उत्सृष्टं भूषणमिदं तथा रूपं हि दृश्यते॥ २१॥

'निशाचरके द्वारा अपहृत होती हुई सीताके द्वारा त्यागे गये ये आभूषण निश्चय ही घासवाली भूमिपर गिरे होंगे; क्योंकि इनका रूप ज्यों-का-त्यों दिखायी देता है—ये टूटे-फूटे नहीं हैं'॥ २१॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत्।
नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले॥ २२॥
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्।

श्रीरामके ऐसा कहनेपर लक्ष्मण बोले—'भैया! मैं इन बाजूबंदोंको तो नहीं जानता और न इन कुण्डलोंको ही समझ पाता हूँ कि किसके हैं; परंतु प्रतिदिन भाभीके चरणोंमें प्रणाम करनेके कारण मैं इन दोनों नूपुरोंको अवश्य पहचानता हूँ'॥

ततस्तु राघवो वाक्यं सुग्रीवमिदमब्रवीत्॥ २३॥
ब्रूहि सुग्रीव कं देशं ह्रियन्ती लक्षिता त्वया।
रक्षसा रौद्ररूपेण मम प्राणप्रिया हृता॥ २४॥

तब श्रीरघुनाथजी सुग्रीवसे इस प्रकार बोले—'सुग्रीव! तुमने तो देखा है, वह भयंकर रूपधारी राक्षस मेरी प्राणप्यारी सीताको किस दिशाकी ओर ले गया है, यह बताओ॥ २४॥

क्व वा वसति तद् रक्षो महद् व्यसनदं मम।
यन्निमित्तमहं सर्वान् नाशयिष्यामि राक्षसान्॥ २५॥

'मुझे महान् संकट देनेवाला वह राक्षस कहाँ रहता है? मैं केवल उसीके अपराधके कारण समस्त राक्षसोंका विनाश कर डालूँगा॥ २५॥

हरता मैथिलीं येन मां च रोषयता ध्रुवम्।
आत्मनो जीवितान्ताय मृत्युद्वारमपावृतम्॥ २६॥

'उस राक्षसने मैथिलीका अपहरण करके मेरा रोष बढ़ाकर निश्चय ही अपने जीवनका अन्त करनेके लिये मौतका दरवाजा खोल दिया है॥ २६॥

मम दयिततमा हृता वनाद्
रजनिचरेण विमथ्य येन सा।
कथय मम रिपुं तमद्य वै
प्लवगपते यमसंनिधिं नयामि॥ २७॥

'वानरराज! जिस निशाचरने मुझे धोखेमें डालकर मेरा अपमान करके मेरी प्रियतमाका वनसे अपहरण किया है, वह मेरा घोर शत्रु है। तुम उसका पता बताओ। मैं अभी उसे यमराजके पास पहुँचाता हूँ'॥ २७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे षष्ठः सर्गः॥ ६॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें छठा सर्ग पूरा हुआ॥ ६॥

—★—

सप्तमः सर्गः

सुग्रीवका श्रीरामको समझाना तथा श्रीरामका सुग्रीवको उनकी कार्यसिद्धिका विश्वास दिलाना

एवमुक्तस्तु सुग्रीवो रामेणार्तेन वानरः।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं सबाष्पं बाष्पगद्गदः॥ १॥

श्रीरामके शोकसे पीड़ित होकर जब ऐसी बातें कहीं, तब वानरराज सुग्रीवकी आँखोंमें आँसू भर आये और वे हाथ जोड़कर अश्रुगद्गद कण्ठसे इस प्रकार बोले—॥ १॥

न जाने निलयं तस्य सर्वथा पापरक्षसः।
सामर्थ्यं विक्रमं वापि दौष्कुलेयस्य वा कुलम्॥ २॥

'प्रभो! नीच कुलमें उत्पन्न हुए उस पापात्मा राक्षसका

गुप्त निवासस्थान कहाँ है, उसमें कितनी शक्ति है, उसका पराक्रम कैसा है अथवा वह किस वंशका है—इन सब बातोंको मैं सर्वथा नहीं जानता ॥ २ ॥

सत्यं तु प्रतिजानामि त्यज शोकमरिंदम।
करिष्यामि तथा यत्नं यथा प्राप्स्यसि मैथिलीम्॥ ३ ॥

'परंतु आपके सामने सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि मैं ऐसा यत्न करूँगा कि जिससे मिथिलेशकुमारी सीता आपको मिल जायँ, इसलिये शत्रुदमन वीर! आप शोकका त्याग करें ॥ ३ ॥

रावणं सगणं हत्वा परितोष्यात्मपौरुषम्।
तथास्मि कर्ता नचिराद् यथा प्रीतो भविष्यसि॥ ४ ॥

'मैं आपके संतोषके लिये सैनिकोंसहित रावणका वध करके अपना ऐसा पुरुषार्थ प्रकट करूँगा, जिससे आप शीघ्र ही प्रसन्न हो जायँगे ॥ ४ ॥

अलं वैक्लव्यमालम्ब्य धैर्यमात्मगतं स्मर।
त्वद्विधानां न सदृशमीदृशं बुद्धिलाघवम्॥ ५ ॥

'इस तरह मनमें व्याकुलता लाना व्यर्थ है। आपके हृदयमें स्वाभाविकरूपसे जो धैर्य है, उसका स्मरण कीजिये। इस तरह बुद्धि और विचारको हलका बना देना—उसकी सहज गम्भीरताको खो देना आप-जैसे महापुरुषोंके लिये उचित नहीं है ॥ ५ ॥

मयापि व्यसनं प्राप्तं भार्याविरहजं महत्।
नाहमेवं हि शोचामि धैर्यं न च परित्यजे॥ ६ ॥

'मुझे भी पत्नीके विरहका महान् कष्ट प्राप्त हुआ है, परंतु मैं इस तरह शोक नहीं करता और न धैर्यको ही छोड़ता हूँ ॥ ६ ॥

नाहं तामनुशोचामि प्राकृतो वानरोऽपि सन्।
महात्मा च विनीतश्च किं पुनर्धृतिमान् महान्॥ ७ ॥

'यद्यपि मैं एक साधारण वानर हूँ तथापि अपनी पत्नीके लिये निरन्तर शोक नहीं करता हूँ। फिर आप-जैसे महात्मा, सुशिक्षित और धैर्यवान् महापुरुष शोक न करें—इसके लिये तो कहना ही क्या है ॥ ७ ॥

बाष्पमापतितं धैर्यान्निग्रहीतुं त्वमर्हसि।
मर्यादां सत्त्वयुक्तानां धृतिं नोत्स्रष्टुमर्हसि॥ ८ ॥

'आपको चाहिये कि धैर्य धारण करके इन गिरते हुए आँसुओंको रोकें। सात्त्विक पुरुषोंकी मर्यादा और धैर्यका परित्याग न करें ॥ ८ ॥

व्यसने वार्थकृच्छ्रे वा भये वा जीवितान्तगे।
विमृशंश्च स्वया बुद्ध्या धृतिमान् नावसीदति॥ ९ ॥

'(आत्मीयजनोंके वियोग आदिसे होनेवाले) शोकमें, आर्थिक संकटमें अथवा प्राणान्तकारी भय उपस्थित होनेपर जो अपनी बुद्धिसे दुःख निवारणके उपायका विचार करते हुए धैर्य धारण करता है, वह कष्ट नहीं भोगता है ॥ ९ ॥

बालिशस्तु नरो नित्यं वैक्लव्यं योऽनुवर्तते।
स मज्जत्यवशः शोके भाराक्रान्तेव नौर्जले॥ १० ॥

'जो मूढ़ मानव सदा घबराहटमें ही पड़ा रहता है, वह पानीमें भारसे दबी हुई नौकाके समान शोकमें विवश होकर डूब जाता है ॥ १० ॥

एषोऽञ्जलिर्मया बद्धः प्रणयात् त्वां प्रसादये।
पौरुषं श्रय शोकस्य नान्तरं दातुमर्हसि॥ ११ ॥

'मैं हाथ जोड़ता हूँ। प्रेमपूर्वक अनुरोध करता हूँ कि आप प्रसन्न हों और पुरुषार्थका आश्रय लें। शोकको अपने ऊपर प्रभाव डालनेका अवसर न दें ॥ ११ ॥

ये शोकमनुवर्तन्ते न तेषां विद्यते सुखम्।
तेजश्च क्षीयते तेषां न त्वं शोचितुमर्हसि॥ १२ ॥

'जो शोकका अनुसरण करते हैं, उन्हें सुख नहीं मिलता है और उनका तेज भी क्षीण हो जाता है; अतः आप शोक न करें ॥ १२ ॥

शोकेनाभिप्रपन्नस्य जीविते चापि संशयः।
स शोकं त्यज राजेन्द्र धैर्यमाश्रय केवलम्॥ १३ ॥

'राजेन्द्र! शोकसे आक्रान्त हुए मनुष्यके जीवनमें (उसके प्राणोंकी रक्षामें) भी संशय उपस्थित हो जाता है। इसलिये आप शोकको त्याग दें और केवल धैर्यका आश्रय लें ॥ १३ ॥

हितं वयस्यभावेन ब्रूहि नोपदिशामि ते।
वयस्यतां पूजयन्मे न त्वं शोचितुमर्हसि॥ १४ ॥

'मैं मित्रताके नाते हितकी सलाह देता हूँ। आपको उपदेश नहीं दे रहा हूँ। आप मेरी मैत्रीका आदर करते हुए कदापि शोक न करें' ॥ १४ ॥

मधुरं सान्त्वितस्तेन सुग्रीवेण स राघवः।
मुखमश्रुपरिक्लिन्नं वस्त्रान्तेन प्रमार्जयत्॥ १५ ॥

सुग्रीवने जब मधुर वाणीमें इस प्रकार सान्त्वना दी, तब श्रीरघुनाथजीने आँसुओंसे भीगे हुए अपने मुखको वस्त्रके छोरसे पोंछ लिया ॥ १५ ॥

प्रकृतिस्थस्तु काकुत्स्थः सुग्रीववचनात् प्रभुः।
सम्परिष्वज्य सुग्रीवमिदं वचनमब्रवीत्॥ १६ ॥

सुग्रीवके वचनसे शोकका परित्याग करके स्वस्थचित्त हो ककुत्स्थकुलभूषण भगवान् श्रीरामने मित्रवर सुग्रीवको हृदयसे लगा लिया और इस प्रकार कहा— ॥ १६ ॥

कर्तव्यं यद् वयस्येन स्निग्धेन च हितेन च।
अनुरूपं च युक्तं च कृतं सुग्रीव तत् त्वया॥ १७ ॥

'सुग्रीव! एक स्नेही और हितैषी मित्रको जो कुछ करना चाहिये, वही तुमने किया है। तुम्हारा कार्य सर्वथा उचित और तुम्हारे योग्य है ॥ १७ ॥

एष च प्रकृतिस्थोऽहमनुनीतस्त्वया सखे।
दुर्लभो हीदृशो बन्धुरस्मिन् काले विशेषतः॥ १८ ॥

'सखे! तुम्हारे आश्वासनसे मेरी सारी चिन्ता जाती रही।

अब मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ। तुम्हारे-जैसे बन्धुका विशेषतः ऐसे संकटके समय मिलना कठिन होता है॥ १८॥

किं तु यत्नस्त्वया कार्यो मैथिल्याः परिमार्गणे।
राक्षसस्य च रौद्रस्य रावणस्य दुरात्मनः॥ १९॥

'परंतु तुम्हें मिथिलेशकुमारी सीता तथा रौद्ररूपधारी दुरात्मा राक्षस रावणका पता लगानेके लिये प्रयत्न करना चाहिये॥ १९॥

मया च यदनुष्ठेयं विस्रब्धेन तदुच्यताम्।
वर्षास्विव च सुक्षेत्रे सर्वं सम्पद्यते तव॥ २०॥

'साथ ही मुझे भी इस समय तुम्हारे लिये जो कुछ करना आवश्यक हो, उसे बिना किसी सङ्कोचके बताओ। जैसे वर्षाकालमें अच्छे खेतमें बोया हुआ बीज अवश्य फल देता है, उसी प्रकार तुम्हारा सारा मनोरथ सफल होगा॥ २०॥

मया च यदिदं वाक्यमभिमानात् समीरितम्।
तत्त्वया हरिशार्दूल तत्त्वमित्युपधार्यताम्॥ २१॥

'वानरश्रेष्ठ! मैंने जो अभिमानपूर्वक यह वालीके वध आदि करनेकी बात कही है, इसे तुम ठीक ही समझो॥

अनृतं नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन।
एतत्ते प्रतिजानामि सत्येनैव शपाम्यहम्॥ २२॥

'मैंने पहले भी कभी झूठी बात नहीं कही है और भविष्यमें भी कभी असत्य नहीं बोलूँगा। इस समय जो कुछ कहा है, उसे पूर्ण करनेके लिये प्रतिज्ञा करता हूँ और तुम्हें विश्वास दिलानेके लिये सत्यकी ही शपथ खाता हूँ'॥ २२॥

ततः प्रहृष्टः सुग्रीवो वानरैः सचिवैः सह।
राघवस्य वचः श्रुत्वा प्रतिज्ञातं विशेषतः॥ २३॥

श्रीरघुनाथजीकी बात, विशेषतः उनकी प्रतिज्ञा सुनकर अपने वानर-मन्त्रियोंसहित सुग्रीवको बड़ी प्रसन्नता हुई॥

एवमेकान्तसम्पृक्तौ ततस्तौ नरवानरौ।
उभावन्योन्यसदृशं सुखं दुःखमभाषताम्॥ २४॥

इस प्रकार एकान्तमें एक-दूसरेके निकट बैठे हुए वे दोनों नर और वानर (श्रीराम और सुग्रीव) ने परस्पर सुख और दुःखकी बातें कहीं, जो एक-दूसरेके लिये अनुरूप थीं॥

महानुभावस्य वचो निशम्य
हरिर्नृपाणामधिपस्य तस्य।
कृतं स मेने हरिवीरमुख्य-
स्तदा च कार्यं हृदयेन विद्वान्॥ २५॥

राजाधिराज महाराज श्रीरघुनाथजीकी बात सुनकर वानर वीरोंके प्रधान विद्वान् सुग्रीवने उस समय मन-ही-मन अपने कार्यको सिद्ध हुआ ही माना॥ २५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे सप्तमः सर्गः॥ ७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें सातवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ७॥

अष्टमः सर्गः

सुग्रीवका श्रीरामसे अपना दुःख निवेदन करना और श्रीरामका उन्हें आश्वासन देते हुए दोनों भाइयोंमें वैर होनेका कारण पूछना

परितुष्टस्तु सुग्रीवस्तेन वाक्येन हर्षितः।
लक्ष्मणस्याग्रजं शूरमिदं वचनमब्रवीत्॥ १॥

श्रीरामचन्द्रजीकी उस बातसे सुग्रीवको बड़ा संतोष हुआ। वे हर्षसे भरकर लक्ष्मणके बड़े भाई शूरवीर श्रीरामचन्द्रजीसे इस प्रकार बोले—॥ १॥

सर्वथाहमनुग्राह्यो देवतानां न संशयः।
उपपन्नो गुणोपेतः सखा यस्य भवान् मम॥ २॥

'भगवन्! इसमें संदेह नहीं कि देवताओंकी मेरे ऊपर बड़ी कृपा है—मैं सर्वथा उनके अनुग्रहका पात्र हूँ; क्योंकि आप-जैसे गुणवान् महापुरुष मेरे सखा हो गये॥ २॥

शक्यं खलु भवेद् राम सहायेन त्वयानघ।
सुरराज्यमपि प्राप्तुं स्वराज्यं किमुत प्रभो॥ ३॥

'प्रभो! निष्पाप श्रीराम! आप-जैसे सहायकके सहयोगसे तो देवताओंका राज्य भी अवश्य ही प्राप्त किया जा सकता है; फिर अपने खोये हुए राज्यको पाना कौन बड़ी बात है॥ ३॥

सोऽहं सभाज्यो बन्धूनां सुहृदां चैव राघव।
यस्याग्निसाक्षिकं मित्रं लब्धं राघववंशजम्॥ ४॥

'रघुनन्दन! अब मैं अपने बन्धुओं और सुहृदोंके विशेष सम्मानका पात्र हो गया; क्योंकि आज रघुवंशके राजकुमार आप अग्निको साक्षी बनाकर मुझे मित्रके रूपमें प्राप्त हुए हैं॥ ४॥

अहमप्यनुरूपस्ते वयस्यो ज्ञास्यसे शनैः।
न तु वक्तुं समर्थोऽहं त्वयि आत्मगतान् गुणान्॥ ५॥

'मैं भी आपके योग्य मित्र हूँ। इसका ज्ञान आपको धीरे-धीरे हो जायगा। इस समय आपके सामने मैं अपने गुणोंका वर्णन करनेमें असमर्थ हूँ॥ ५॥

महात्मनां तु भूयिष्ठं त्वद्विधानां कृतात्मनाम्।
निश्चला भवति प्रीतिर्धैर्यमात्मवतां वर॥ ६॥

'आत्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ श्रीराम! आप-जैसे पुण्यात्मा महात्माओंका प्रेम और धैर्य अधिकाधिक बढ़ता और अविचल होता है॥ ६॥

रजतं वा सुवर्णं वा शुभान्याभरणानि च।
अविभक्तानि साधूनामवगच्छन्ति साधवः॥ ७॥

'अच्छे स्वभाववाले मित्र अपने घरके सोने-चाँदी अथवा

उत्तम आभूषणोंको अपने अच्छे मित्रोंके लिये अविभक्त ही मानते हैं—उन मित्रोंका अपने धनपर अपने ही समान अधिकार समझते हैं ॥ ७ ॥

आढ्यो वापि दरिद्रो वा दुःखितः सुखितोऽपि वा।
निर्दोषश्च सदोषश्च वयस्यः परमा गतिः ॥ ८ ॥

'अतएव मित्र धनी हो या दरिद्र, सुखी हो या दुःखी अथवा निर्दोष हो या सदोष, वह मित्रके लिये सबसे बड़ा सहायक होता है ॥

धनत्यागः सुखत्यागो देशत्यागोऽपि वानघ।
वयस्यार्थे प्रवर्तन्ते स्नेहं दृष्ट्वा तथाविधम् ॥ ९ ॥

'अनघ! साधुपुरुष अपने मित्रका अत्यन्त उत्कृष्ट प्रेम देख आवश्यकता पड़नेपर उसके लिये धन, सुख और देशका भी परित्याग कर देते हैं' ॥ ९ ॥

तत् तथेत्यब्रवीद् रामः सुग्रीवं प्रियवादिनम्।
लक्ष्मणस्याग्रतो लक्ष्म्या वासवस्येव धीमतः ॥ १० ॥

यह सुनकर लक्ष्मी (दिव्य कान्ति) से उपलक्षित श्रीरामचन्द्रजीने इन्द्रतुल्य तेजस्वी बुद्धिमान् लक्ष्मणके सामने ही प्रिय वचन बोलनेवाले सुग्रीवसे कहा—'सखे! तुम्हारी बात बिलकुल ठीक है' ॥ १० ॥

ततो रामं स्थितं दृष्ट्वा लक्ष्मणं च महाबलम्।
सुग्रीवः सर्वतश्चक्षुर्वने लोलमपातयत् ॥ ११ ॥

तदनन्तर (दूसरे दिन) महाबली श्रीराम और लक्ष्मणको खड़ा देख सुग्रीवने वनमें चारों ओर अपनी चञ्चल दृष्टि दौड़ायी ॥ ११ ॥

स ददर्श ततः सालमविदूरे हरीश्वरः।
सुपुष्पमीषत्पत्राढ्यं भ्रमरैरुपशोभितम् ॥ १२ ॥

उस समय वानरराजने पास ही एक सालका वृक्ष देखा, जिसमें थोड़ेसे ही सुन्दर पुष्प लगे हुए थे; परंतु उसमें पत्तोंकी बहुलता थी। उस वृक्षपर मँडराते हुए भौंरे उसकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ १२ ॥

तस्यैकां पर्णबहुलां शाखां भङ्क्त्वा सुशोभिताम्।
रामस्यास्तीर्य सुग्रीवो निषसाद सराघवः ॥ १३ ॥

उसकी एक डालीको जिसमें अधिक पत्ते थे और जो पुष्पोंसे सुशोभित थी, सुग्रीवने तोड़ डाला और उसे श्रीरामके लिये बिछाकर वे स्वयं भी उनके साथ ही उसपर बैठ गये ॥

तावासीनौ ततो दृष्ट्वा हनूमानपि लक्ष्मणम्।
शालशाखां समुत्पाट्य विनीतमुपवेशयत् ॥ १४ ॥

उन दोनोंको आसनपर विराजमान देख हनुमान्‌जीने भी सालकी एक डाल तोड़ डाली और उसपर विनयशील लक्ष्मणको बैठाया ॥ १४ ॥

सुखोपविष्टं रामं तु प्रसन्नमुदधिं यथा।
सालपुष्पावसंकीर्णे तस्मिन् गिरिवरोत्तमे ॥ १५ ॥
ततः प्रहृष्टः सुग्रीवः श्लक्ष्णया शुभया गिरा।
उवाच प्रणयाद् रामं हर्षव्याकुलिताक्षरम् ॥ १६ ॥

उस श्रेष्ठ पर्वतपर, जहाँ सब ओर सालके पुष्प बिखरे हुए थे, सुखपूर्वक बैठे हुए श्रीराम शान्त समुद्रके समान प्रसन्न दिखायी देते थे। उन्हें देखकर अत्यन्त हर्षसे भरे हुए सुग्रीवने श्रीरामसे स्निग्ध एवं सुन्दर वाणीमें वार्तालाप आरम्भ किया। उस समय आनन्दातिरेकसे उनकी वाणी लड़खड़ा जाती थी—अक्षरोंका स्पष्ट उच्चारण नहीं हो पाता था ॥ १५-१६ ॥

अहं विनिकृतो भ्रात्रा चराम्येष भयार्दितः।
ऋष्यमूकं गिरिवरं हृतभार्यः सुदुःखितः ॥ १७ ॥

'प्रभो! मेरे भाईने मुझे घरसे निकालकर मेरी स्त्रीको भी छीन लिया है। मैं उसीके भयसे अत्यन्त पीड़ित एवं दुःखी होकर इस पर्वतश्रेष्ठ ऋष्यमूकपर विचरता रहता हूँ ॥ १७ ॥

सोऽहं त्रस्तो भये मग्नो वने सम्भ्रान्तचेतनः।
वालिना निकृतो भ्रात्रा कृतवैरश्च राघव ॥ १८ ॥

'मुझे बराबर उसका त्रास बना रहता है। मैं भयमें डूबा रहकर भ्रान्तचित्त हो इस वनमें भटकता फिरता हूँ। रघुनन्दन! मेरे भाई वालीने मुझे घरसे निकालनेके बाद भी मेरे साथ वैर बाँध रखा है ॥ १८ ॥

वालिनो मे भयार्तस्य सर्वलोकाभयंकर।
ममापि त्वमनाथस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ १९ ॥

'प्रभो! आप समस्त लोकोंको अभय देनेवाले हैं। मैं वालीके भयसे दुःखी और अनाथ हूँ, अतः आपको मुझपर भी कृपा करनी चाहिये' ॥ १९ ॥

एवमुक्तस्तु तेजस्वी धर्मज्ञो धर्मवत्सलः।
प्रत्युवाच स काकुत्स्थः सुग्रीवं प्रहसन्निव ॥ २० ॥

सुग्रीवके ऐसा कहनेपर तेजस्वी, धर्मज्ञ एवं धर्मवत्सल भगवान् श्रीरामने उन्हें हँसते हुए-से इस प्रकार उत्तर दिया— ॥

उपकारफलं मित्रमपकारोऽरिलक्षणम्।
अद्यैव तं वधिष्यामि तव भार्यापहारिणम् ॥ २१ ॥

'सखे! उपकार ही मित्रताका फल है और अपकार शत्रुताका लक्षण है; अतः मैं आज ही तुम्हारी स्त्रीका अपहरण करनेवाले उस वालीका वध करूँगा ॥ २१ ॥

इमे हि मे महाभाग पत्रिणस्तिग्मतेजसः।
कार्तिकेयवनोद्भूताः शरा हेमविभूषिताः ॥ २२ ॥

'महाभाग! मेरे इन बाणोंका तेज प्रचण्ड है। सुवर्णभूषित ये शर कार्तिकेयकी उत्पत्तिके स्थानभूत शरोंके वनमें उत्पन्न हुए हैं। (इसलिये अभेद्य हैं) ॥ २२ ॥

कङ्कपत्रपरिच्छन्ना महेन्द्राशनिसंनिभाः।
सुपर्वाणः सुतीक्ष्णाग्राः सरोषा भुजगा इव ॥ २३ ॥

'ये कंकपक्षीके परोंसे युक्त हैं और इन्द्रके वज्रकी भाँति अमोघ हैं। इनकी गाँठें सुन्दर और अग्रभाग तीखे हैं। ये रोषमें भरे भुजङ्गोंकी भाँति भयंकर हैं ॥ २३ ॥

वालिसंज्ञममित्रं ते भ्रातरं कृतकिल्बिषम्।
शरैर्विनिहतं पश्य विकीर्णमिव पर्वतम् ॥ २४ ॥

'इन बाणोंसे तुम अपने वाली नामक शत्रुको, जो भाई होकर भी तुम्हारी बुराई कर रहा है, विदीर्ण हुए पर्वतकी भाँति मरकर पृथ्वीपर पड़ा देखोगे' ॥ २४ ॥

राघवस्य वचः श्रुत्वा सुग्रीवो वाहिनीपतिः ।
प्रहर्षमतुलं लेभे साधु साध्विति चाब्रवीत् ॥ २५ ॥

श्रीरघुनाथजीकी यह बात सुनकर वानरसेनापति सुग्रीवको अनुपम प्रसन्नता प्राप्त हुई और वे उन्हें बारंबार साधुवाद देते हुए बोले— ॥ २५ ॥

राम शोकाभिभूतोऽहं शोकार्तानां भवान् गतिः ।
वयस्य इति कृत्वा हि त्वय्यहं परिदेवये ॥ २६ ॥

'श्रीराम ! मैं शोकसे पीड़ित हूँ और आप शोकाकुल प्राणियोंकी परमगति हैं। मित्र समझकर मैं आपसे अपना दुःख निवेदन करता हूँ ॥ २६ ॥

त्वं हि पाणि प्रदानेन वयस्यो मेऽग्निसाक्षिकम् ।
कृतः प्राणैर्बहुमतः सत्येन च शपाम्यहम् ॥ २७ ॥

'मैंने आपके हाथमें हाथ देकर अग्निदेवके सामने आपको अपना मित्र बनाया है। इसलिये आप मुझे अपने प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय हैं। यह बात मैं सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ ॥ २७ ॥

वयस्य इति कृत्वा च विस्रब्धः प्रवदाम्यहम् ।
दुःखमन्तर्गतं तन्मे मनो हरति नित्यशः ॥ २८ ॥

'आप मेरे मित्र हैं, इसलिये आपपर पूर्ण विश्वास करके मैं अपने भीतरका दुःख, जो सदा मेरे मनको व्याकुल किये रहता है, आपको बता रहा हूँ' ॥ २८ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं बाष्पदूषितलोचनः ।
बाष्पदूषितया वाचा नोच्चैः शक्नोति भाषितुम् ॥ २९ ॥

इतनी बात कहते-कहते सुग्रीवके नेत्रोंमें आँसू भर आये। उनकी वाणी अश्रुगद्गद हो गयी। इसलिये वे उच्च स्वरसे बोलनेमें समर्थ न हो सके ॥ २९ ॥

बाष्पवेगं तु सहसा नदीवेगमिवागतम् ।
धारयामास धैर्येण सुग्रीवो रामसंनिधौ ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् सुग्रीवने सहसा बढ़े हुए नदीके वेगके समान उमड़े हुए आँसुओंके वेगको श्रीरामके समीप धैर्यपूर्वक रोका ॥ ३० ॥

स निगृह्य तु तं बाष्पं प्रमृज्य नयने शुभे ।
विनिःश्वस्य च तेजस्वी राघवं पुनरूचिवान् ॥ ३१ ॥

आँसुओंको रोककर अपने दोनों सुन्दर नेत्रोंको पोंछनेके पश्चात् तेजस्वी सुग्रीव पुनः लंबी साँस खींचकर श्रीरघुनाथजीसे बोले— ॥ ३१ ॥

पुराहं वालिना राम राज्यात् स्वादवरोपितः ।
परुषाणि च संश्राव्य निर्धूतोऽस्मि बलीयसा ॥ ३२ ॥

'श्रीराम ! पहलेकी बात है, बलिष्ठ वालीने कटुवचन सुनाकर बलपूर्वक मेरा तिरस्कार किया और अपने राज्य (युवराजपद) से नीचे उतार दिया ॥ ३२ ॥

हृता भार्या च मे तेन प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ।
सुहृदश्च मदीया ये संयता बन्धनेषु ते ॥ ३३ ॥

'इतना ही नहीं, मेरी स्त्रीको भी, जो मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय है; उसने छीन लिया और जितने मेरे सुहृद् थे, उन सबको कैदमें डाल दिया ॥ ३३ ॥

यत्नवांश्च स दुष्टात्मा मद्विनाशाय राघव ।
बहुशस्तत्प्रयुक्ताश्च वानरा निहता मया ॥ ३४ ॥

'रघुनन्दन ! इसके बाद भी वह दुरात्मा वाली मेरे विनाशके लिये यत्न करता रहता है। उसके भेजे हुए बहुत-से वानरोंका मैं वध कर चुका हूँ ॥ ३४ ॥

शङ्कया त्वेतयाहं च दृष्ट्वा त्वामपि राघव ।
नोपसर्पाम्यहं भीतो भये सर्वे हि बिभ्यति ॥ ३५ ॥

'रघुनाथजी ! आपको भी देखकर मेरे मनमें ऐसा ही संदेह हुआ था, इसीलिये डर जानेके कारण मैं पहले आपके पास न आ सका; क्योंकि भयका अवसर आनेपर प्रायः सभी डर जाते हैं ॥ ३५ ॥

केवलं हि सहाया मे हनुमत्प्रमुखास्त्विमे ।
अतोऽहं धारयाम्यद्य प्राणान् कृच्छ्रगतोऽपि सन् ॥ ३६ ॥

'केवल ये हनुमान् आदि वानर ही मेरे सहायक हैं; अतएव महान् संकटमें पड़कर भी मैं अबतक प्राण धारण करता हूँ ॥ ३६ ॥

एते हि कपयः स्निग्धा मां रक्षन्ति समन्ततः ।
सह गच्छन्ति गन्तव्ये नित्यं तिष्ठन्ति चास्थिते ॥ ३७ ॥

'इन लोगोंका मुझपर स्नेह है, अतः ये सभी वानर सब ओरसे सदा मेरी रक्षा करते रहते हैं। जहाँ जाना होता है वहाँ साथ-साथ जाते हैं और जब कहीं मैं ठहर जाता हूँ वहाँ ये नित्य मेरे साथ रहते हैं ॥ ३७ ॥

संक्षेपस्त्वेष मे राम किमुक्त्वा विस्तरं हि ते ।
स मे ज्येष्ठो रिपुर्भ्राता वाली विश्रुतपौरुषः ॥ ३८ ॥

'रघुनन्दन ! यह मैंने संक्षेपसे अपनी हालत बतलायी है। आपके सामने विस्तारपूर्वक कहनेसे क्या लाभ ? वाली मेरा ज्येष्ठ भाई है, फिर भी इस समय मेरा शत्रु हो गया है। उसका पराक्रम सर्वत्र विख्यात है ॥ ३८ ॥

तद्विनाशेऽपि मे दुःखं प्रमृष्टं स्यादनन्तरम् ।
सुखं मे जीवितं चैव तद्विनाशनिबन्धनम् ॥ ३९ ॥

'(यद्यपि भाईका नाश भी दुःखका ही कारण है, तथापि) इस समय जो मेरा दुःख है, वह उसका नाश होनेपर ही मिट सकता है। मेरा सुख और जीवन उसके विनाशपर ही निर्भर है ॥ ३९ ॥

एष मे राम शोकान्तः शोकार्तेन निवेदितः ।
दुःखितः सुखितो वापि सख्युर्नित्यं सखा गतिः ॥ ४० ॥

'श्रीराम ! यही मेरे शोकके नाशका उपाय है। मैंने

शोकसे पीड़ित होनेके कारण आपसे यह बात निवेदन की है; क्योंकि मित्र दुःखमें हो या सुखमें, वह अपने मित्रकी सदा ही सहायता करता है' ॥ ४० ॥

श्रुत्वैतच्च वचो रामः सुग्रीवमिदमब्रवीत्।
किं निमित्तमभूद् वैरं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ ४१ ॥

यह सुनकर श्रीरामने सुग्रीवसे कहा— 'तुम दोनों भाइयोंमें वैर पड़नेका क्या कारण है, यह मैं ठीक-ठीक सुनना चाहता हूँ ॥ ४१ ॥

सुखं हि कारणं श्रुत्वा वैरस्य तव वानर।
आनन्तर्याद् विधास्यामि सम्प्रधार्य बलाबलम् ॥ ४२ ॥

'वानरराज ! तुमलोगोंकी शत्रुताका कारण सुनकर तुम दोनोंकी प्रबलता और निर्बलताका निश्चय करके फिर तत्काल ही तुम्हें सुखी बनानेवाला उपाय करूँगा ॥ ४२ ॥

बलवान् हि ममामर्षः श्रुत्वा त्वामवमानितम्।
वर्धते हृदयोत्कम्पी प्रावृड्वेग इवाम्भसः ॥ ४३ ॥

'जैसे वर्षाकालमें नदी आदिका वेग बहुत बढ़ जाता है, उसी प्रकार तुम्हारे अपमानित होनेकी बात सुनकर मेरा प्रबल रोष बढ़ता जा रहा है और मेरे हृदयको कम्पित किये देता है ॥ ४३ ॥

हृष्टः कथय विस्रब्धो यावदारोप्यते धनुः।
सृष्टश्च हि मया बाणो निरस्तश्च रिपुस्तव ॥ ४४ ॥

'मेरे धनुष चढ़ानेके पहले ही तुम अपनी सब बातें प्रसन्नतापूर्वक कह डालो; क्योंकि ज्यों ही मैंने बाण छोड़ा, तुम्हारा शत्रु तत्काल कालके गालमें चला जायगा' ॥ ४४ ॥

एवमुक्तस्तु सुग्रीवः काकुत्स्थेन महात्मना।
प्रहर्षमतुलं लेभे चतुर्भिः सह वानरैः ॥ ४५ ॥

महात्मा श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर सुग्रीवको अपने चारों वानरोंके साथ अपार हर्ष हुआ ॥ ४५ ॥

ततः प्रहृष्टवदनः सुग्रीवो लक्ष्मणाग्रजे।
वैरस्य कारणं तत्त्वमाख्यातुमुपचक्रमे ॥ ४६ ॥

तदनन्तर सुग्रीवके मुखपर प्रसन्नता छा गयी और उन्होंने श्रीरामको वालीके साथ वैर होनेका यथार्थ कारण बताना आरम्भ किया ॥ ४६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डेऽष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें आठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमः सर्गः

सुग्रीवका श्रीरामचन्द्रजीको वालीके साथ अपने वैर होनेका कारण बताना

वाली नाम मम भ्राता ज्येष्ठः शत्रुनिषूदनः।
पितुर्बहुमतो नित्यं मम चापि तथा पुरा ॥ १ ॥

'रघुनन्दन ! वाली मेरे बड़े भाई हैं। उनमें शत्रुओंका संहार करनेकी शक्ति है। मेरे पिता ऋक्षरजा उनको बहुत मानते थे। वैसे पहले मेरे मनमें भी उनके प्रति आदरका भाव था ॥ १ ॥

पितर्युपरते तस्मिञ्ज्येष्ठोऽयमिति मन्त्रिभिः।
कपीनामीश्वरो राज्ये कृतः परमसम्मतः ॥ २ ॥

'पिताकी मृत्युके पश्चात् मन्त्रियोंने उन्हें ज्येष्ठ समझकर वानरोंका राजा बनाया। वे सबको बड़े प्रिय थे, इसीलिये किष्किन्धाके राज्यपर प्रतिष्ठित किये गये थे ॥ २ ॥

राज्यं प्रशासतस्तस्य पितृपैतामहं महत्।
अहं सर्वेषु कालेषु प्रणतः प्रेष्यवत् स्थितः ॥ ३ ॥

'वे पिता-पितामहोंके विशाल राज्यका शासन करने लगे और मैं हर समय विनीतभावसे दासकी भाँति उनकी सेवामें रहने लगा ॥ ३ ॥

मायावी नाम तेजस्वी पूर्वजो दुन्दुभेः सुतः।
तेन तस्य महद्वैरं वालिनः स्त्रीकृतं पुरा ॥ ४ ॥

'उन दिनों मायावी नामक एक तेजस्वी दानव रहता था, जो मय दानवका पुत्र और दुन्दुभिका बड़ा भाई था। उसके साथ वालीका स्त्रीके कारण बहुत बड़ा वैर हो गया था ॥

स तु सुप्ते जने रात्रौ किष्किन्धाद्वारमागतः।
नर्दति स्म सुसंरब्धो वालिनं चाह्वयद् रणे ॥ ५ ॥

'एक दिन आधी रातके समय जब सब लोग सो गये, मायावी किष्किन्धापुरीके दरवाजेपर आया और क्रोधसे भरकर गर्जने तथा वालीको युद्धके लिये ललकारने लगा ॥

प्रसुप्तस्तु मम भ्राता नर्दतो भैरवस्वनम्।
श्रुत्वा न ममृषे वाली निष्पपात जवात् तदा ॥ ६ ॥

'उस समय मेरे भाई सो रहे थे। उसका भैरवनाद सुनकर उनकी नींद खुल गयी। उनसे उस राक्षसकी ललकार सही नहीं गयी; अतः वे तत्काल वेगपूर्वक घरसे निकले ॥ ६ ॥

स तु वै निःसृतः क्रोधात् तं हन्तुमसुरोत्तमम्।
वार्यमाणस्ततः स्त्रीभिर्मया च प्रणतात्मना ॥ ७ ॥

'जब वे क्रोध करके उस श्रेष्ठ असुरको मारनेके लिये निकले, उस समय मैंने तथा अन्तःपुरकी स्त्रियोंने पैरों पड़कर उन्हें जानेसे रोका ॥ ७ ॥

स तु निर्धूय सर्वान् नो निर्जगाम महाबलः।
ततोऽहमपि सौहार्दान्निःसृतो वालिना सह ॥ ८ ॥

'परंतु महाबली वाली हम सबको हटाकर निकल पड़े, तब मैं भी स्नेहवश वालीके साथ ही बाहर निकला ॥ ८ ॥

स तु मे भ्रातरं दृष्ट्वा मां च दूरादवस्थितम्।
असुरो जातसंत्रासः प्रदुद्राव तदा भृशम् ॥ ९ ॥

'उस असुरने मेरे भाईको देखा तथा कुछ दूरपर खड़े हुए मेरे ऊपर भी उसकी दृष्टि पड़ी; फिर तो वह भयसे थर्रा उठा और बड़े जोरसे भागा ॥ ९ ॥

तस्मिन् द्रवति संत्रस्ते ह्यावां द्रुततरं गतौ।
प्रकाशोऽपि कृतो मार्गश्चन्द्रेणोद्गच्छता तदा ॥ १० ॥

'उसके भयभीत होकर भागनेपर हम दोनों भाइयोंने बड़ी तेजीके साथ उसका पीछा किया। उस समय उदित हुए चन्द्रमाने हमारे मार्गको भी प्रकाशित कर दिया था ॥ १० ॥

स तृणैरावृतं दुर्गं धरण्या विवरं महत्।
प्रविवेशासुरो वेगादावामासाद्य विष्ठितौ ॥ ११ ॥

'आगे जानेपर धरतीमें एक बहुत बड़ा बिल था, जो घास-फूससे ढका हुआ था। उसमें प्रवेश करना अत्यन्त कठिन था। वह असुर बड़े वेगसे उस बिलमें जा घुसा। वहाँ पहुँचकर हम दोनों ठहर गये ॥ ११ ॥

तं प्रविष्टं रिपुं दृष्ट्वा बिलं रोषवशं गतः।
मामुवाच ततो वाली वचनं क्षुभितेन्द्रियः ॥ १२ ॥

'शत्रुको बिलके अंदर घुसा देख वालीके क्रोधकी सीमा न रही। उनकी सारी इन्द्रियाँ क्षुब्ध हो उठीं और वे मुझसे इस प्रकार बोले— ॥ १२ ॥

इह तिष्ठाद्य सुग्रीव बिलद्वारि समाहितः।
यावदत्र प्रविश्याहं निहन्मि समरे रिपुम् ॥ १३ ॥

'सुग्रीव! जबतक मैं इस बिलके भीतर प्रवेश करके युद्धमें शत्रुको मारता हूँ, तबतक तुम आज इसके दरवाजेपर सावधानीसे खड़े रहो' ॥ १३ ॥

मया त्वेतद् वचः श्रुत्वा याचितः स परंतपः।
शापयित्वा च मां पद्भ्यां प्रविवेश बिलं ततः ॥ १४ ॥

'यह बात सुनकर मैंने शत्रुओंको संताप देनेवाले वालीसे स्वयं भी साथ चलनेके लिये प्रार्थना की, किंतु वे अपने चरणोंकी सौगन्ध दिलाकर अकेले ही बिलमें घुसे ॥ १४ ॥

तस्य प्रविष्टस्य बिलं साग्रः संवत्सरो गतः।
स्थितस्य च बिलद्वारि स कालो व्यत्यवर्तत ॥ १५ ॥

'बिलके भीतर गये हुए उन्हें एक सालसे अधिक समय बीत गया और बिलके दरवाजेपर खड़े-खड़े मेरा भी उतना ही समय निकल गया ॥ १५ ॥

अहं तु नष्टं तं ज्ञात्वा स्नेहादागतसम्भ्रमः।
भ्रातरं न प्रपश्यामि पापशङ्कि च मे मनः ॥ १६ ॥

'जब इतने दिनोंतक मुझे भाईका दर्शन नहीं हुआ, तब मैंने समझा कि मेरे भाई इस गुफामें ही कहीं खो गये। उस समय भ्रातृस्नेहके कारण मेरा हृदय व्याकुल हो उठा। मेरे मनमें उनके मारे जानेकी शङ्का होने लगी ॥ १६ ॥

अथ दीर्घस्य कालस्य बिलात् तस्माद् विनिःसृतम्।
सफेनं रुधिरं दृष्ट्वा ततोऽहं भृशदुःखितः ॥ १७ ॥

'तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् उस बिलसे सहसा फेन-सहित खूनकी धारा निकली। उसे देखकर मैं बहुत दुःखी हो गया ॥ १७ ॥

नर्दतामसुराणां च ध्वनिर्मे श्रोत्रमागतः।
न रतस्य च संग्रामे क्रोशतोऽपि स्वनो गुरोः ॥ १८ ॥

'इतनेहीमें गरजते हुए असुरोंकी आवाज भी मेरे कानोंमें पड़ी। युद्धमें लगे हुए मेरे बड़े भाई भी गरजना कर रहे थे, किंतु उनकी आवाज मैं नहीं सुन सका ॥ १८ ॥

अहं त्ववगतो बुद्ध्या चिह्नैस्तैर्भ्रातरं हतम्।
पिधाय च बिलद्वारं शिलया गिरिमात्रया ॥ १९ ॥
शोकार्तश्चोदकं कृत्वा किष्किन्धामागतः सखे।
गूहमानस्य मे तत् त्वं यत्नतो मन्त्रिभिः श्रुतम् ॥ २० ॥

'इन सब चिह्नोंको देखकर बुद्धिद्वारा विचार करनेपर मैं इस निश्चयपर पहुँचा कि मेरे बड़े भाई मारे गये। फिर तो उस गुफाके दरवाजेपर मैंने पर्वतके समान एक पत्थरकी चट्टान रख दी और उसे बंद करके भाईको जलाञ्जलि दे शोकसे व्याकुल हुआ मैं किष्किन्धापुरीमें लौट आया। सखे! यद्यपि मैं इस यथार्थ बातको छिपा रहा था, तथापि मन्त्रियोंने यत्न करके सुन लिया ॥ १९-२० ॥

ततोऽहं तैः समागम्य समेतैरभिषेचितः।
राज्यं प्रशासतस्तस्य न्यायतो मम राघव ॥ २१ ॥
आजगाम रिपुं हत्वा दानवं स तु वानरः।
अभिषिक्तं तु मां दृष्ट्वा क्रोधात् संरक्तलोचनः ॥ २२ ॥

'तब उन सबने मिलकर मुझे राज्यपर अभिषिक्त कर दिया। रघुनन्दन! मैं न्यायपूर्वक राज्यका संचालन करने लगा। इसी समय अपने शत्रुभूत उस दानवको मारकर वानरराज वाली घर लौटे। लौटनेपर मुझे राज्यपर अभिषिक्त हुआ देख उनकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं ॥ २१-२२ ॥

मदीयान् मन्त्रिणो बद्ध्वा परुषं वाक्यमब्रवीत्।
निग्रहे च समर्थस्य तं पापं प्रति राघव ॥ २३ ॥
न प्रावर्तत मे बुद्धिर्भ्रातृगौरवयन्त्रिता।

'मेरे मन्त्रियोंने उन्होंने कैद कर लिया और उन्हें कठोर बातें सुनायीं। रघुवीर! यद्यपि मैं स्वयं भी उस पापीको कैद करनेमें समर्थ था तो भी भाईके प्रति गुरुभाव होनेके कारण मेरी बुद्धिमें ऐसा विचार नहीं हुआ ॥ २३½ ॥

हत्वा शत्रुं स मे भ्राता प्रविवेश पुरं तदा ॥ २४ ॥
मानयंस्तं महात्मानं यथावच्चाभिवादयम्।
उक्ताश्च नाशिषस्तेन प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ २५ ॥

'इस प्रकार शत्रुका वध करके मेरे भाईने उस समय नगरमें प्रवेश किया। उन महात्माका सम्मान करते हुए मैंने यथोचितरूपसे उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया तो भी उन्होंने

प्रसन्नचित्तसे मुझे आशीर्वाद नहीं दिया ॥ २४-२५ ॥

नत्वा पादावहं तस्य मुकुटेनास्पृशं प्रभो।
अपि वाली मम क्रोधान्न प्रसादं चकार सः ॥ २६ ॥

'प्रभो! मैंने भाईके सामने झुककर अपने मस्तकके मुकुटसे उनके दोनों चरणोंका स्पर्श किया तो भी क्रोधके कारण वाली मुझपर प्रसन्न नहीं हुए' ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें नवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दशमः सर्गः

भाईके साथ वैरका कारण बतानेके प्रसङ्गमें सुग्रीवका वालीको मनाने और वालीद्वारा अपने निष्कासित होनेका वृत्तान्त सुनाना

ततः क्रोधसमाविष्टं संरब्धं तमुपागतम्।
अहं प्रसादयांचक्रे भ्रातरं हितकाम्यया ॥ १ ॥

(सुग्रीव कहते हैं—) 'तदनन्तर क्रोधसे आविष्ट तथा विक्षुब्ध होकर आये हुए अपने बड़े भाईको उनके हितकी कामनासे मैं पुनः प्रसन्न करनेकी चेष्टा करने लगा ॥ १ ॥

दिष्ट्यासि कुशली प्राप्तो निहतश्च त्वया रिपुः।
अनाथस्य हि मे नाथस्त्वमेकोऽनाथनन्दन ॥ २ ॥

'मैंने कहा—'अनाथनन्दन! सौभाग्यकी बात है कि आप सकुशल लौट आये और वह शत्रु आपके हाथसे मारा गया। मैं आपके बिना अनाथ हो रहा था। अब एकमात्र आप ही मेरे नाथ हैं ॥ २ ॥

इदं बहुशलाकं ते पूर्णचन्द्रमिवोदितम्।
छत्रं सवालव्यजनं प्रतीच्छस्व मया धृतम् ॥ ३ ॥

''यह बहुत-सी तीलियोंसे युक्त तथा उदित हुए पूर्ण चन्द्रमाके समान श्वेत छत्र मैं आपके मस्तकपर लगाता और चँवर डुलाता हूँ। आप इन्हें स्वीकार करें ॥ ३ ॥

आर्तस्तत्र बिलद्वारि स्थितः संवत्सरं नृप।
दृष्ट्वा च शोणितं द्वारि बिलाच्चापि समुत्थितम् ॥ ४ ॥
शोकसंविग्नहृदयो भृशं व्याकुलितेन्द्रियः।

''वानरराज! मैं बहुत दुःखी होकर एक वर्षतक उस बिलके दरवाजेपर खड़ा रहा। उसके बाद बिलके भीतरसे खूनकी धारा निकली। द्वारपर वह रक्त देखकर मेरा हृदय शोकसे उद्विग्न हो उठा और मेरी सारी इन्द्रियाँ अत्यन्त व्याकुल हो गयीं ॥ ४½ ॥

अपिधाय बिलद्वारं शैलशृङ्गेण तत् तदा ॥ ५ ॥
तस्माद् देशादपाक्रम्य किष्किन्धां प्राविशं पुनः।

''तब उस बिलके द्वारको एक पर्वत शिखरसे ढककर मैं उस स्थानसे हट गया और पुनः किष्किन्धापुरीमें चला आया ॥

विषादात्त्विह मां दृष्ट्वा पौरैर्मन्त्रिभिरेव च ॥ ६ ॥
अभिषिक्तो न कामेन तन्मे क्षन्तुं त्वमर्हसि।

''यहाँ विषादपूर्वक मुझे अकेला लौटा देख पुरवासियों और मन्त्रियोंने ही इस राज्यपर मेरा अभिषेक कर दिया। मैंने स्वेच्छासे इस राज्यको नहीं ग्रहण किया है। अतः अज्ञानवश होनेवाले मेरे इस अपराधको आप क्षमा करें ॥ ६½ ॥

त्वमेव राजा मानार्हः सदा चाहं यथा पुरा ॥ ७ ॥
राजभावे नियोगोऽयं मम त्वद्विरहात् कृतः।

''आप ही यहाँके सम्माननीय राजा हैं और मैं सदा आपका पूर्ववत् सेवक हूँ। आपके वियोगसे ही राजाके पदपर मेरी यह नियुक्ति की गयी ॥ ७½ ॥

सामात्यपौरनगरं स्थितं निहतकण्टकम् ॥ ८ ॥
न्यासभूतमिदं राज्यं तव निर्यातयाम्यहम्।

''मन्त्रियों, पुरवासियों तथा नगरसहित आपका यह सारा अकंटक राज्य मेरे पास धरोहरके रूपमें रखा था। अब इसे मैं आपकी सेवामें लौटा रहा हूँ ॥ ८½ ॥

मा च रोषं कृथाः सौम्य मम शत्रुनिषूदन ॥ ९ ॥
याचे त्वां शिरसा राजन् मया बद्धोऽयमञ्जलिः।

''सौम्य! शत्रुसूदन! आप मुझपर क्रोध न करें। 'राजन्! मैं इसके लिये मस्तक झुकाकर प्रार्थना करता हूँ और हाथ जोड़ता हूँ ॥ ९½ ॥

बलादस्मिन् समागम्य मन्त्रिभिः पुरवासिभिः ॥ १० ॥
राजभावे नियुक्तोऽहं शून्यदेशजिगीषया।

''मन्त्रियों तथा पुरवासियोंने मिलकर जबर्दस्ती मुझे इस राज्यपर बिठाया है। वह भी इसलिये कि राजासे रहित राज्य देखकर कोई शत्रु इसे जीतनेकी इच्छासे आक्रमण न कर बैठे'' ॥ १०½ ॥

स्निग्धमेवं ब्रुवाणं मां स विनिर्भर्त्स्य वानरः ॥ ११ ॥
धिक्त्वामिति च मामुक्त्वा बहु तत्तदुवाच ह।

'मैंने ये सारी बातें बड़े प्रेमसे कही थीं, किंतु उस वानरने मुझे डाँटकर कहा— 'तुझे धिक्कार है'। यों कहकर उसने मुझे और भी बहुत-सी कठोर बातें सुनायीं ॥ ११½ ॥

प्रकृतीश्च समानीय मन्त्रिणश्चैव सम्मतान् ॥ १२ ॥
मामाह सुहृदां मध्ये वाक्यं परमगर्हितम्।

'तत्पश्चात् उसने प्रजाजनों और सम्मान्य मन्त्रियोंको बुलाया तथा सुहृदोंके बीचमें मेरे प्रति अत्यन्त निन्दित वचन कहा ॥

विदितं वो मया रात्रौ मायावी स महासुरः ॥ १३ ॥
मां समाह्वयत क्रुद्धो युद्धाकाङ्क्षी तदा पुरा।

'वह बोला—'आपलोगोंको मालूम होगा कि एक दिन रातमें मेरे साथ युद्ध करनेकी इच्छासे मायावी नामक महान् असुर यहाँ आया था। उसने क्रोधमें भरकर पहले मुझे युद्धके लिये ललकारा ॥ १३½ ॥

तस्य तद् भाषितं श्रुत्वा निःसृतोऽहं नृपालयात् ॥ १४ ॥
अनुयातश्च मां तूर्णमयं भ्राता सुदारुणः ।

"उसकी वह ललकार सुनकर मैं राजभवनसे निकल पड़ा। उस समय यह क्रूर स्वभाववाला मेरा भाई भी तुरंत ही मेरे पीछे-पीछे आया ॥ १४½ ॥

स तु दृष्ट्वैव मां रात्रौ सद्वितीयं महाबलः ॥ १५ ॥
प्राद्रवद् भयसंत्रस्तो वीक्ष्यावां समुपागतौ ।
अभिद्रुतस्तु वेगेन विवेश स महाबिलम् ॥ १६ ॥

"यद्यपि वह असुर बड़ा बलवान् था तथापि मुझे एक दूसरे सहायकके साथ देखते ही भयभीत हो उस रातमें भाग चला। हम दोनों भाइयोंको आते देख वह बड़े वेगसे दौड़ा और एक विशाल गुफामें घुस गया ॥ १५-१६ ॥

तं प्रविष्टं विदित्वा तु सुघोरं सुमहद्बिलम् ।
अयमुक्तोऽथ मे भ्राता मया तु क्रूरदर्शनः ॥ १७ ॥

"उस अत्यन्त भयंकर विशाल गुफामें उस असुरको घुसा हुआ जानकर मैंने अपने इस क्रूरदर्शी भाईसे कहा— ॥

अहत्वा नास्ति मे शक्तिः प्रतिगन्तुमितः पुरीम् ।
बिलद्वारि प्रतीक्ष त्वं यावदेनं निहन्म्यहम् ॥ १८ ॥

"सुग्रीव! इस शत्रुको मारे बिना मैं यहाँसे किष्किन्धापुरीको लौट चलनेमें असमर्थ हूँ; अतः जबतक मैं इस असुरको मारकर लौटता हूँ, तबतक तुम इस गुफाके दरवाजेपर रहकर मेरी प्रतीक्षा करो' ॥ १८ ॥

स्थितोऽयमिति मत्वाहं प्रविष्टस्तु दुरासदम् ।
तं मे मार्गयतस्तत्र गतः संवत्सरस्तदा ॥ १९ ॥

"ऐसा कहकर और 'यह तो यहाँ खड़ा है ही' ऐसा विश्वास करके मैं उस अत्यन्त दुर्गम गुफाके भीतर प्रविष्ट हुआ। भीतर जाकर मैं उस दानवकी खोज करने लगा। और इसीमें मेरा वहाँ एक वर्षका समय व्यतीत हो गया ॥ १९ ॥

स तु दृष्टो मया शत्रुरनिर्वेदाद् भयावहः ।
निहतश्च मया सद्यः स सर्वैः सह बन्धुभिः ॥ २० ॥

"इसके बाद मैंने उस भयंकर शत्रुको देखा। इतने दिनोंतक उसके न मिलनेसे मेरे मनमें कोई क्लेश या उदासीनता नहीं हुई थी। मैंने उसे उसके समस्त बन्धु-बान्धवोंसहित तत्काल कालके गालमें डाल दिया ॥ २० ॥

तस्यास्यात्तु प्रवृत्तेन रुधिरौघेण तद्बिलम् ।
पूर्णमासीद् दुराक्रामं स्तनतस्तस्य भूतले ॥ २१ ॥

"उसके मुखसे और छातीसे भी भूतलपर रक्तका ऐसा प्रवाह जारी हुआ, जिससे वह सारी दुर्गम गुफा भर गयी ॥

सूदयित्वा तु तं शत्रुं विक्रान्तं तमहं सुखम् ।
निष्क्रामं नैव पश्यामि बिलस्य पिहितं मुखम् ॥ २२ ॥

"इस तरह उस पराक्रमी शत्रुका सुखपूर्वक वध करके जब मैं लौटा, तब मुझे निकलनेका कोई मार्ग ही नहीं दिखायी देता था; क्योंकि बिलका दरवाजा बंद कर दिया गया था ॥ २२ ॥

विक्रोशमानस्य तु मे सुग्रीवेति पुनः पुनः ।
यतः प्रतिवचो नास्ति ततोऽहं भृशदुःखितः ॥ २३ ॥

"मैंने 'सुग्रीव! सुग्रीव!' कहकर बारंबार पुकारा, किंतु कोई उत्तर नहीं मिला। इससे मुझे बड़ा दुःख हुआ ॥ २३ ॥

पादप्रहारैस्तु मया बहुभिः परिपातितम् ।
ततोऽहं तेन निष्क्रम्य पथा पुरमुपागतः ॥ २४ ॥

"मैंने बारंबार लात मारकर किसी तरह उस पत्थरको पीछेकी ओर ढकेला। इसके बाद गुफाद्वारसे निकलकर यहाँकी राह पकड़े मैं इस नगरमें लौटा हूँ ॥ २४ ॥

तत्रानेनास्मि संरुद्धो राज्यं मृगयताऽऽत्मनः ।
सुग्रीवेण नृशंसेन विस्मृत्य भ्रातृसौहृदम् ॥ २५ ॥

"यह सुग्रीव ऐसा क्रूर और निर्दयी है कि इसने भ्रातृ-प्रेमको भुला दिया और सारा राज्य अपने हाथमें कर लेनेके लिये मुझे उस गुफाके अंदर बंद कर दिया था' ॥ २५ ॥

एवमुक्त्वा तु मां तत्र वस्त्रेणैकेन वानरः ।
तदा निर्वासयामास वाली विगतसाध्वसः ॥ २६ ॥

'ऐसा कहकर वानरराज वालीने निर्भयतापूर्वक मुझे घरसे निकाल दिया। उस समय मेरे शरीरपर एक ही वस्त्र रह गया था ॥ २६ ॥

तेनाहमपविद्धश्च हृतदारश्च राघव ।
तद्भयाच्च महीं सर्वां क्रान्तवान् सवनार्णवाम् ॥ २७ ॥
ऋष्यमूकं गिरिवरं भार्याहरणदुःखितः ।
प्रविष्टोऽस्मि दुराधर्षं वालिनः कारणान्तरे ॥ २८ ॥

'रघुनन्दन! उसने मुझे घरसे तो निकाल ही दिया, मेरी स्त्रीको भी छीन लिया। उसके भयसे मैं वनों और समुद्रों सहित सारी पृथ्वीपर मारा-मारा फिरता रहा। अन्ततोगत्वा मैं भार्याहरणके दुःखसे दुःखी हो इस श्रेष्ठ पर्वत ऋष्यमूकपर चला आया; क्योंकि एक विशेष कारणवश वालीके लिये इस स्थानपर आक्रमण करना बहुत कठिन है ॥ २७-२८ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं वैरानुकथनं महत् ।
अनागसा मया प्राप्तं व्यसनं पश्य राघव ॥ २९ ॥

'रघुनाथजी! यही वालीके साथ मेरे वैर पड़नेकी विस्तृत कथा है। यह सब मैंने आपको सुना दी। देखिये, बिना अपराधके ही मुझे यह सब संकट भोगना पड़ता है ॥ २९ ॥

वालिनश्च भयात् तस्य सर्वलोकभयापह ।
कर्तुमर्हसि मे वीर प्रसादं तस्य निग्रहात् ॥ ३० ॥

'वीरवर! आप सम्पूर्ण जगत्‌का भय दूर करनेवाले हैं। मुझपर कृपा कीजिये और वालीका दमन करके मुझे उसके भयसे बचाइये'॥ ३०॥

एवमुक्तः स तेजस्वी धर्मज्ञो धर्मसंहितम्।
वचनं वक्तुमारेभे सुग्रीवं प्रहसन्निव॥ ३१॥

सुग्रीवके ऐसा कहनेपर धर्मके ज्ञाता परम तेजस्वी श्रीरामचन्द्रजीने उनसे हँसते हुए-से यह धर्मयुक्त वचन कहना आरम्भ किया—॥ ३१॥

अमोघाः सूर्यसंकाशा निशिता मे शरा इमे।
तस्मिन् वालिनि दुर्वृत्ते पतिष्यन्ति रुषान्विताः॥ ३२॥

'मित्र! ये मेरे सूर्यके समान तेजस्वी तीखे बाण अमोघ हैं, जो दुराचारी वालीपर रोषपूर्वक पड़ेंगे॥ ३२॥

यावत् तं नहि पश्येयं तव भार्यापहारिणम्।
तावत् स जीवेत् पापात्मा वाली चारित्रदूषकः॥ ३३॥

'जबतक तुम्हारी भार्याका अपहरण करनेवाले उस वानरको मैं अपने सामने नहीं देखता हूँ तबतक सदाचारको कलंकित करनेवाला वह पापात्मा वाली जीवन धारण कर ले॥ ३३॥

आत्मानुमानात् पश्यामि मग्नस्त्वं शोकसागरे।
त्वामहं तारयिष्यामि बाढं प्राप्स्यसि पुष्कलम्॥ ३४॥

'मैं अपने ही अनुमानसे समझता हूँ कि तुम शोकके समुद्रमें डूबे हुए हो। मैं तुम्हारा उद्धार करूँगा। तुम अपनी पत्नी तथा विशाल राज्यको भी अवश्य प्राप्त कर लोगे'॥ ३४॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा हर्षपौरुषवर्धनम्।
सुग्रीवः परमप्रीतः सुमहद्वाक्यमब्रवीत्॥ ३५॥

श्रीरामका यह वचन हर्ष और पुरुषार्थको बढ़ानेवाला था। उसे सुनकर सुग्रीवको बड़ी प्रसन्नता हुई। फिर वे बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात कहने लगे॥ ३५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे दशमः सर्गः॥ १०॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें दसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १०॥

एकादशः सर्गः

सुग्रीवके द्वारा वालीके पराक्रमका वर्णन— वालीका दुन्दुभि दैत्यको मारकर उसकी लाशको मतङ्गवनमें फेंकना, मतङ्गमुनिका वालीको शाप देना, श्रीरामका दुन्दुभिके अस्थिसमूहको दूर फेंकना और सुग्रीवका उनसे साल-भेदनके लिये आग्रह करना

रामस्य वचनं श्रुत्वा हर्षपौरुषवर्धनम्।
सुग्रीवः पूजयांचक्रे राघवं प्रशशंस च॥ १॥

श्रीरामचन्द्रजीका वचन हर्ष और पुरुषार्थको बढ़ानेवाला था, उसे सुनकर सुग्रीवने उसके प्रति अपना आदर प्रकट किया और श्रीरघुनाथजीकी इस प्रकार प्रशंसा की—॥ १॥

असंशयं प्रज्वलितैस्तीक्ष्णैर्मर्मातिगैः शरैः।
त्वं दहेः कुपितो लोकान् युगान्त इव भास्करः॥ २॥

'प्रभो! आपके बाण प्रज्वलित, तीक्ष्ण एवं मर्मभेदी हैं। यदि आप कुपित हो जायँ तो इनके द्वारा प्रलयकालके सूर्यकी भाँति समस्त लोकोंको भस्म कर सकते हैं। इसमें संशयकी बात नहीं है॥ २॥

वालिनः पौरुषं यत्तद् यच्च वीर्यं धृतिश्च या।
तन्ममैकमनाः श्रुत्वा विधत्स्व यदनन्तरम्॥ ३॥

'परंतु वालीका जैसा पुरुषार्थ है, जो बल है और जैसा धैर्य है, वह सब एकचित्त होकर सुन लीजिये। उसके बाद जैसा उचित हो, कीजियेगा॥ ३॥

समुद्रात् पश्चिमात् पूर्वं दक्षिणादपि चोत्तरम्।
क्रामत्यनुदिते सूर्ये वाली व्यपगतक्लमः॥ ४॥

'वाली सूर्योदयके पहले ही पश्चिम समुद्रसे पूर्व समुद्रतक और दक्षिण सागरसे उत्तरतक घूम आता है; फिर भी वह थकता नहीं है॥ ४॥

अग्राण्यारुह्य शैलानां शिखराणि महान्त्यपि।
ऊर्ध्वमुत्पात्य तरसा प्रतिगृह्णाति वीर्यवान्॥ ५॥

'पराक्रमी वाली पर्वतोंकी चोटियोंपर चढ़कर बड़े-बड़े शिखरोंको बलपूर्वक उठा लेता और ऊपरको उछालकर फिर उन्हें हाथोंसे थाम लेता है॥ ५॥

बहवः सारवन्तश्च वनेषु विविधा द्रुमाः।
वालिना तरसा भग्ना बलं प्रथयताऽऽत्मनः॥ ६॥

'वनोंमें नाना प्रकारके जो बहुत-से सुदृढ़ वृक्ष थे, उन्हें अपने बलको प्रकट करते हुए वालीने वेगपूर्वक तोड़ डाला है॥ ६॥

महिषो दुन्दुभिर्नाम कैलासशिखरप्रभः।
बलं नागसहस्रस्य धारयामास वीर्यवान्॥ ७॥

'पहलेकी बात है यहाँ एक दुन्दुभि नामका असुर रहता था, जो भैंसेके रूपमें दिखायी देता था। वह ऊँचाईमें कैलास पर्वतके समान जान पड़ता था। पराक्रमी दुन्दुभि अपने शरीरमें एक हजार हाथियोंका बल रखता था।॥ ७॥

स वीर्योत्सेकदुष्टात्मा वरदानेन मोहितः।
जगाम स महाकायः समुद्रं सरितां पतिम्॥ ८॥

'बलके घमंडमें भरा हुआ वह विशालकाय दुष्टात्मा दानव अपनेको मिले हुए वरदानसे मोहित हो सरिताओंके स्वामी समुद्रके पास गया॥ ८॥

ऊर्मिमन्तमतिक्रम्य सागरं रत्नसंचयम्।
मम युद्धं प्रयच्छेति तमुवाच महार्णवम्॥ ९॥

'जिसमें उत्ताल तरङ्गें उठ रही थीं तथा जो रत्नोंकी निधि है, उस महान् जलराशिसे परिपूर्ण समुद्रको लाँघकर—उसे कुछ भी न समझकर दुन्दुभिने उसके अधिष्ठाता देवतासे कहा—'मुझे अपने साथ युद्धका अवसर दो'॥ ९॥

ततः समुद्रो धर्मात्मा समुत्थाय महाबलः।
अब्रवीद् वचनं राजन्नसुरं कालचोदितम्॥ १०॥

'राजन्! उस समय महान् बलशाली धर्मात्मा समुद्र उस कालप्रेरित असुरसे इस प्रकार बोला—॥ १०॥

समर्थो नास्मि ते दातुं युद्धं युद्धविशारद।
श्रूयतां त्वभिधास्यामि यस्ते युद्धं प्रदास्यति॥ ११॥

''युद्धविशारद वीर! मैं तुम्हें युद्धका अवसर देने—तुम्हारे साथ युद्ध करनेमें असमर्थ हूँ। जो तुम्हें युद्ध प्रदान करेगा, उसका नाम बतलाता हूँ, सुनो॥ ११॥

शैलराजो महारण्ये तपस्विशरणं परम्।
शंकरश्वशुरो नाम्ना हिमवानिति विश्रुतः॥ १२॥
महाप्रस्रवणोपेतो बहुकन्दरनिर्झरः।
स समर्थस्तव प्रीतिमतुलां कर्तुमर्हति॥ १३॥

'विशाल वनमें जो पर्वतोंका राजा और भगवान् शंकरका श्वशुर है, तपस्वी जनोंका सबसे बड़ा आश्रय और संसारमें हिमवान् नामसे विख्यात है, जहाँसे जलके बड़े-बड़े स्रोत प्रकट हुए हैं। तथा जहाँ बहुत-सी कन्दराएँ और झरने हैं, वह गिरिराज हिमालय ही तुम्हारे साथ युद्ध करनेमें समर्थ है। वह तुम्हें अनुपम प्रीति प्रदान कर सकता है॥ १२-१३॥

तं भीतमिति विज्ञाय समुद्रमसुरोत्तमः।
हिमवद्वनमागम्य शरश्चापादिव च्युतः॥ १४॥
ततस्तस्य गिरेः श्वेता गजेन्द्रप्रतिमाः शिलाः।
चिक्षेप बहुधा भूमौ दुन्दुभिर्विननाद च॥ १५॥

'यह सुनकर असुरशिरोमणि दुन्दुभि समुद्रको डरा हुआ जान धनुषसे छूटे हुए बाणकी भाँति तुरंत हिमालयके वनमें जा पहुँचा और उस पर्वतकी गजराजोंके समान विशाल श्वेत शिलाओंको बारंबार भूमिपर फेंकने और गर्जना करने लगा॥ १४-१५॥

ततः श्वेताम्बुदाकारः सौम्यः प्रीतिकराकृतिः।
हिमवानब्रवीद् वाक्यं स्व एव शिखरे स्थितः॥ १६॥

'तब श्वेत बादलके समान आकार धारण किये सौम्य स्वभाववाले हिमवान् वहाँ प्रकट हुए। उनकी आकृति प्रसन्नताको बढ़ानेवाली थी। वे अपने ही शिखरपर खड़े होकर बोले—॥ १६॥

क्लेष्टुमर्हसि मां न त्वं दुन्दुभे धर्मवत्सल।
रणकर्मस्वकुशलस्तपस्विशरणो ह्यहम्॥ १७॥

''धर्मवत्सल दुन्दुभे! तुम मुझे क्लेश न दो। मैं युद्ध-कर्ममें कुशल नहीं हूँ। मैं तो केवल तपस्वी जनोंका निवासस्थान हूँ॥ १७॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा गिरिराजस्य धीमतः।
उवाच दुन्दुभिर्वाक्यं क्रोधात् संरक्तलोचनः॥ १८॥

'बुद्धिमान् गिरिराज हिमालयकी यह बात सुनकर दुन्दुभिके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये और वह इस प्रकार बोला—॥ १८॥

यदि युद्धेऽसमर्थस्त्वं मद्भयाद् वा निरुद्यमः।
तमाचक्ष्व प्रदद्यान्मे यो हि युद्धं युयुत्सतः॥ १९॥

'यदि तुम युद्ध करनेमें असमर्थ हो अथवा मेरे भयसे ही युद्धकी चेष्टासे विरत हो गये हो तो मुझे उस वीरका नाम बताओ, जो युद्धकी इच्छा रखनेवाले मुझको अपने साथ युद्ध करनेका अवसर दे'॥ १९॥

हिमवानब्रवीद वाक्यं श्रुत्वा वाक्यविशारदः।
अनुक्तपूर्वं धर्मात्मा क्रोधात् तमसुरोत्तमम्॥ २०॥

'उसकी यह बात सुनकर बातचीतमें कुशल धर्मात्मा हिमवान्ने श्रेष्ठ असुरसे, जिसके लिये पहले किसीने किसी प्रतिद्वन्द्वी योद्धाका नाम नहीं बताया था, क्रोध-पूर्वक कहा—॥ २०॥

वाली नाम महाप्राज्ञ शक्रपुत्रः प्रतापवान्।
अध्यास्ते वानरः श्रीमान् किष्किन्धामतुलप्रभाम्॥ २१॥

''महाप्राज्ञ दानवराज! वाली नामसे प्रसिद्ध एक परम तेजस्वी और प्रतापी वानर हैं, जो देवराज इन्द्रके पुत्र हैं और अनुपम शोभासे पूर्ण किष्किन्धा नामक पुरीमें निवास करते हैं॥ २१॥

स समर्थो महाप्राज्ञस्तव युद्धविशारदः।
द्वन्द्वयुद्धं स दातुं ते नमुचेरिव वासवः॥ २२॥

''वे बड़े बुद्धिमान् और युद्धकी कलामें निपुण हैं। वे ही तुमसे जूझनेमें समर्थ हैं। जैसे इन्द्रने नमुचिको युद्धका अवसर दिया था, उसी प्रकार वाली तुम्हें द्वन्द्वयुद्ध प्रदान कर सकते हैं॥ २२॥

तं शीघ्रमभिगच्छ त्वं यदि युद्धमिहेच्छसि।
स हि दुर्धर्षणो नित्यं शूरः समरकर्मणि॥ २३॥

''यदि तुम यहाँ युद्ध चाहते हो तो शीघ्र चले जाओ; क्योंकि वालीके लिये किसी शत्रुकी ललकारको सह सकना बहुत कठिन है। वे युद्धकर्ममें सदा शूरता प्रकट करनेवाले हैं'॥ २३॥

श्रुत्वा हिमवतो वाक्यं कोपाविष्टः स दुन्दुभिः।
जगाम तां पुरीं तस्य किष्किन्धां वालिनस्तदा॥ २४॥

'हिमवान्की बात सुनकर क्रोधसे भरा हुआ दुन्दुभि तत्काल वालीकी किष्किन्धापुरीमें जा पहुँचा॥ २४॥

धारयन् माहिषं रूपं तीक्ष्णशृङ्गो भयावहः।
प्रावृषीव महामेघस्तोयपूर्णो नभस्तले॥ २५॥

'उसने भैंसेका-सा रूप धारण कर रखा था। उसके सींग बड़े तीखे थे। वह बड़ा भयंकर था और वर्षाकालके

आकाशमें छाये हुए जलसे भरे महान् मेघके समान जान पड़ता था ॥ २५ ॥

ततस्तु द्वारमागम्य किष्किन्धाया महाबलः ।
ननर्द कम्पयन् भूमिं दुन्दुभिर्दुन्दुभिर्यथा ॥ २६ ॥

'वह महाबली दुन्दुभि किष्किन्धापुरीके द्वारपर आकर भूमिको कँपाता हुआ जोर-जोरसे गर्जना करने लगा, मानो दुन्दुभिका गम्भीर नाद हो रहा हो ॥ २६ ॥

समीपजान् द्रुमान् भञ्जन् वसुधां दारयन् खुरैः ।
विषाणेनोल्लिखन् दर्पात् तद्द्वारं द्विरदो यथा ॥ २७ ॥

'वह आसपासके वृक्षोंको तोड़ता, धरतीको खुरोंसे खोदता और घमंडमें आकर पुरीके दरवाजेको सींगोंसे खरोंचता हुआ युद्धके लिये डट गया ॥ २७ ॥

अन्तःपुरगतो वाली श्रुत्वा शब्दममर्षणः ।
निष्पपात सह स्त्रीभिस्ताराभिरिव चन्द्रमा ॥ २८ ॥

'वाली उस समय अन्तःपुरमें था। उस दानवकी गर्जना सुनकर वह अमर्षसे भर गया और तारोंसे घिरे हुए चन्द्रमाकी भाँति स्त्रियोंसे घिरा हुआ नगरके बाहर निकल आया ॥

मितं व्यक्ताक्षरपदं तमुवाच स दुन्दुभिम् ।
हरीणामीश्वरो वाली सर्वेषां वनचारिणाम् ॥ २९ ॥

'समस्त वनचारी वानरोंके राजा वालीने वहाँ सुस्पष्ट अक्षरों तथा पदोंसे युक्त परिमित वाणीमें उस दुन्दुभिसे कहा— ॥ २९ ॥

किमर्थं नगरद्वारमिदं रुद्ध्वा विनर्दसे ।
दुन्दुभे विदितो मेऽसि रक्ष प्राणान् महाबल ॥ ३० ॥

''महाबली दुन्दुभे! मैं तुम्हें अच्छी तरह जानता हूँ। तुम इस नगरद्वारको रोककर क्यों गरज रहे हो? अपने प्राणोंकी रक्षा करो' ॥ ३० ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा वानरेन्द्रस्य धीमतः ।
उवाच दुन्दुभिर्वाक्यं क्रोधात् संरक्तलोचनः ॥ ३१ ॥

'बुद्धिमान् वानरराज वालीका यह वचन सुनकर दुन्दुभिकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं। वह उससे इस प्रकार बोला— ॥

न त्वं स्त्रीसंनिधौ वीर वचनं वक्तुमर्हसि ।
मम युद्धं प्रयच्छाद्य ततो ज्ञास्यामि ते बलम् ॥ ३२ ॥

''वीर! तुम्हें स्त्रियोंके समीप ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये। मुझे युद्धका अवसर दो, तब मैं तुम्हारा बल समझूँगा ॥ ३२ ॥

अथवा धारयिष्यामि क्रोधमद्य निशामिमाम् ।
गृह्यतामुदयः स्वैरं कामभोगेषु वानर ॥ ३३ ॥

''अथवा वानर! मैं आजकी रातमें अपने क्रोधको रोके रहूँगा। तुम स्वेच्छानुसार कामभोगके लिये सूर्योदयतक समय मुझसे ले लो ॥ ३३ ॥

दीयतां सम्प्रदानं च परिष्वज्य च वानरान् ।
सर्वशाखामृगेन्द्रस्त्वं संसादय सुहृज्जनम् ॥ ३४ ॥

''वानरोंको हृदयसे लगाकर जिसे जो कुछ देना हो दे दो; तुम समस्त कपियोंके राजा हो न! अपने सुहृदोंसे मिल लो, सलाह कर लो ॥ ३४ ॥

सुदृष्टां कुरु किष्किन्धां कुरुष्वात्मसमं पुरे ।
क्रीडस्व च समं स्त्रीभिरहं ते दर्पशासनः ॥ ३५ ॥

''किष्किन्धापुरीको अच्छी तरह देख लो। अपने समान पुत्र आदिको इस नगरीके राज्यपर अभिषिक्त कर दो और स्त्रियोंके साथ आज जीभरकर क्रीडा कर लो। इसके बाद मैं तुम्हारा घमंड चूर कर दूँगा ॥ ३५ ॥

यो हि मत्तं प्रमत्तं वा भग्नं वा रहितं कृशम् ।
हन्यात् स भ्रूणहा लोके त्वद्विधं मदमोहितम् ॥ ३६ ॥

''जो मधुपानसे मत्त, प्रमत्त (असावधान), युद्धसे भगे हुए, अस्त्ररहित-दुर्बल, तुम्हारे-जैसे स्त्रियोंसे घिरे हुए तथा मदमोहित पुरुषका वध करता है, वह जगत्‌में गर्भ-हत्यारा कहा जाता है' ॥ ३६ ॥

स प्रहस्याब्रवीन्मन्दं क्रोधात् तमसुरेश्वरम् ।
विसृज्य ताः स्त्रियः सर्वास्ताराप्रभृतिकास्तदा ॥ ३७ ॥

'यह सुनकर वाली मन्द-मन्द मुसकराकर उन तारा आदि सब स्त्रियोंको दूर हटा उस असुरराजसे क्रोधपूर्वक बोला—

मत्तोऽयमिति मा मंस्था यद्यभीतोऽसि संयुगे ।
मदोऽयं सम्प्रहारेऽस्मिन् वीरपानं समर्थ्यताम् ॥ ३८ ॥

''यदि तुम युद्धके लिये निर्भय होकर खड़े हो तो यह न समझो कि यह वाली मधु पीकर मतवाला हो गया है। मेरे इस मदको तुम युद्धस्थलमें उत्साहवृद्धिके लिये वीरोंद्वारा किया जानेवाला औषधविशेषका पान समझो' ॥ ३८ ॥

तमेवमुक्त्वा संक्रुद्धो मालामुत्क्षिप्य काञ्चनीम् ।
पित्रा दत्तां महेन्द्रेण युद्धाय व्यवतिष्ठत ॥ ३९ ॥

'उससे ऐसा कहकर पिता इन्द्रकी दी हुई विजयदायिनी सुवर्णमालाको गलेमें डालकर वाली कुपित हो युद्धके लिये खड़ा हो गया ॥ ३९ ॥

विषाणयोर्गृहीत्वा तं दुन्दुभिं गिरिसंनिभम् ।
आविध्यत तथा वाली विनदन् कपिकुञ्जरः ॥ ४० ॥

'कपिश्रेष्ठ वालीने पर्वताकार दुन्दुभिके दोनों सींग पकड़कर उस समय गर्जना करते हुए उसे बारंबार घुमाया ॥

बलाद् व्यापादयांचक्रे ननर्द च महास्वनम् ।
श्रोत्राभ्यामथ रक्तं तु तस्य सुस्राव पात्यतः ॥ ४१ ॥

'फिर बलपूर्वक उसे धरतीपर दे मारा और बड़े जोरसे सिंहनाद किया। पृथ्वीपर गिराये जाते समय उसके दोनों कानोंसे खूनकी धाराएँ बहने लगीं ॥ ४१ ॥

तयोस्तु क्रोधसंरम्भात् परस्परजयैषिणोः ।
युद्धं समभवद् घोरं दुन्दुभेर्वालिनस्तथा ॥ ४२ ॥

'क्रोधके आवेशसे युक्त हो एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छावाले उन दोनों दुन्दुभि और वालीमें घोर युद्ध होने लगा ॥

अयुध्यत तदा वाली शक्रतुल्यपराक्रमः ।
मुष्टिभिर्जानुभिः पद्भिः शिलाभिः पादपैस्तथा ॥ ४३ ॥

'उस समय इन्द्रके तुल्य पराक्रमी वाली दुन्दुभिपर मुक्कों, लातों, घुटनों, शिलाओं तथा वृक्षोंसे प्रहार करने लगा॥

परस्परं घ्नतोस्तत्र वानरासुरयोस्तदा।
आसीद्धीनोऽसुरो युद्धे शक्रसूनुर्व्यवर्धत॥ ४४॥

'उस युद्धस्थलमें परस्पर प्रहार करते हुए वानर और असुर दोनों योद्धाओंमेंसे असुरकी शक्ति तो घटने लगी और इन्द्रकुमार वालीका बल बढ़ने लगा॥ ४४॥

तं तु दुन्दुभिमुद्यम्य धरण्यामभ्यपातयत्।
युद्धे प्राणहरे तस्मिन्निष्पिष्टो दुन्दुभिस्तदा॥ ४५॥

'उन दोनोंमें वहाँ प्राणान्तकारी युद्ध छिड़ गया। उस समय वालीने दुन्दुभिको उठाकर पृथ्वीपर दे मारा, साथ ही अपने शरीरसे उसको दबा दिया, जिससे दुन्दुभि पिस गया॥

स्रोतोभ्यो बहु रक्तं तु तस्य सुस्राव पात्यतः।
पपात च महाबाहुः क्षितौ पञ्चत्वमागतः॥ ४६॥

'गिरते समय उसके शरीरके समस्त छिद्रोंसे बहुत-सा रक्त बहने लगा। वह महाबाहु असुर पृथ्वीपर गिरा और मर गया॥ ४६॥

तं तोलयित्वा बाहुभ्यां गतसत्त्वमचेतनम्।
चिक्षेप वेगवान् वाली वेगेनैकेन योजनम्॥ ४७॥

'जब उसके प्राण निकल गये और चेतना लुप्त हो गयी, तब वेगवान् वालीने उसे दोनों हाथोंसे उठाकर एक साधारण वेगसे एक योजन दूर फेंक दिया॥ ४७॥

तस्य वेगप्रविद्धस्य वक्त्रात् क्षतजबिन्दवः।
प्रपेतुर्मारुतोत्क्षिप्ता मतङ्गस्याश्रमं प्रति॥ ४८॥

'वेगपूर्वक फेंके गये उस असुरके मुखसे निकली हुई रक्तकी बहुत-सी बूँदें हवाके साथ उड़कर मतंगमुनिके आश्रममें पड़ गयीं॥ ४८॥

तान् दृष्ट्वा पतितांस्तत्र मुनिः शोणितविप्रुषः।
क्रुद्धस्तस्य महाभाग चिन्तयामास को न्वयम्॥ ४९॥

'महाभाग! वहाँ पड़े हुए उन रक्त-बिन्दुओंको देखकर मतंगमुनि कुपित हो उठे और इस विचारमें पड़ गये कि 'यह कौन है, जो यहाँ रक्तके छींटे डाल गया है?॥ ४९॥

येनाहं सहसा स्पृष्टः शोणितेन दुरात्मना।
कोऽयं दुरात्मा दुर्बुद्धिरकृतात्मा च बालिशः॥ ५०॥

''जिस दुष्टने सहसा मेरे शरीरसे रक्तका स्पर्श करा दिया, यह दुरात्मा दुर्बुद्धि, अजितात्मा और मूर्ख कौन है?'॥ ५०॥

इत्युक्त्वा स विनिष्क्रम्य ददृशे मुनिसत्तमः।
महिषं पर्वताकारं गतासुं पतितं भुवि॥ ५१॥

'ऐसा कहकर मुनिवर मतंगने बाहर निकलकर देखा तो उन्हें एक पर्वताकार भैंसा पृथ्वीपर प्राणहीन होकर पड़ा दिखायी दिया॥ ५१॥

स तु विज्ञाय तपसा वानरेण कृतं हि तत्।
उत्ससर्ज महाशापं क्षेप्तारं वानरं प्रति॥ ५२॥

'उन्होंने अपने तपोबलसे यह जान लिया कि यह एक वानरकी करतूत है। अतः उस लाशको फेंकनेवाले वानरके प्रति उन्होंने बड़ा भारी शाप दिया—॥ ५२॥

इह तेनाप्रवेष्टव्यं प्रविष्टस्य वधो भवेत्।
वनं मत्संश्रयं येन दूषितं रुधिरस्रवैः॥ ५३॥

''जिसने खूनके छींटे डालकर मेरे निवासस्थान इस वनको अपवित्र कर दिया है, वह आजसे इस वनमें प्रवेश न करे। यदि इसमें प्रवेश करेगा तो उसका वध हो जायगा॥ ५३॥

क्षिपता पादपाश्चेमे सम्भग्नाश्चासुरीं तनुम्।
समन्तादाश्रमं पूर्णं योजनं मामकं यदि॥ ५४॥
आगमिष्यति दुर्बुद्धिर्व्यक्तं स न भविष्यति।

''इस असुरके शरीरको इधर फेंककर जिसने इन वृक्षोंको तोड़ डाला है, वह दुर्बुद्धि यदि मेरे आश्रमके चारों ओर पूरे एक योजनतककी भूमिमें पैर रखेगा तो अवश्य ही अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठेगा॥ ५४½॥

ये चास्य सचिवाः केचित् संश्रिता मामकं वनम्॥ ५५॥
न च तैरिह वस्तव्यं श्रुत्वा यान्तु यथासुखम्।
तेऽपि वा यदि तिष्ठन्ति शपिष्ये तानपि ध्रुवम्॥ ५६॥

''उस वालीके जो कोई सचिव भी मेरे इस वनमें रहते हों, उन्हें अब यहाँका निवास त्याग देना चाहिये। वे मेरी आज्ञा सुनकर सुखपूर्वक यहाँसे चले जायँ। यदि वे रहेंगे तो उन्हें भी निश्चय ही शाप दे दूँगा॥ ५५-५६॥

वनेऽस्मिन् मामके नित्यं पुत्रवत् परिरक्षिते।
पत्राङ्कुरविनाशाय फलमूलाभवाय च॥ ५७॥

''मैंने अपने इस वनकी सदा पुत्रकी भाँति रक्षा की है। जो इसके पत्र और अङ्कुरका विनाश तथा फल-मूलका अभाव करनेके लिये यहाँ रहेंगे, वे अवश्य शापके भागी होंगे॥ ५७॥

दिवसश्चाद्य मर्यादा यं द्रष्टा श्वोऽस्मि वानरम्।
बहुवर्षसहस्राणि स वै शैलो भविष्यति॥ ५८॥

''आजका दिन उन सबके आने-जाने या रहनेकी अन्तिम अवधि है—आजभरके लिये मैं उन सबको छुट्टी देता हूँ। कलसे जो कोई वानर यहाँ मेरी दृष्टिमें पड़ जायगा, वह कई हजार वर्षोंके लिये पत्थर हो जायगा'॥ ५८॥

ततस्ते वानराः श्रुत्वा गिरं मुनिसमीरिताम्।
निश्चक्रमुर्वनात् तस्मात् तान् दृष्ट्वा वालिरब्रवीत्॥ ५९॥

'मुनिके इस वचनको सुनकर वे सभी वानर मतंगवनसे निकल गये। उन्हें देखकर वालीने पूछा—॥ ५९॥

किं भवन्तः समस्ताश्च मतङ्गवनवासिनः।
मत्समीपमनुप्राप्ता अपि स्वस्ति वनौकसाम्॥ ६०॥

''मतंगवनमें निवास करनेवाले आप सभी वानर मेरे पास क्यों चले आये? वनवासियोंकी कुशल तो है न?''॥ ६०॥

ततस्ते कारणं सर्वं तथा शापं च वालिनः।
शशंसुर्वानराः सर्वे वालिने हेममालिने॥ ६१॥

'तब उन सभी वानरोंने सुवर्णमालाधारी वालीसे अपने आनेका सब कारण बताया तथा जो वालीको शाप हुआ था, उसे भी कह सुनाया ॥ ६१ ॥

एतच्छ्रुत्वा तदा वाली वचनं वानरेरितम्।
स महर्षिं समासाद्य याचते स्म कृताञ्जलिः ॥ ६२ ॥

'वानरोंकी कही हुई यह बात सुनकर वाली महर्षि मतंगके पास गया और हाथ जोड़कर क्षमा-याचना करने लगा ॥ ६२ ॥

महर्षिस्तमनादृत्य प्रविवेशाश्रमं प्रति।
शापधारणभीतस्तु वाली विह्वलतां गतः ॥ ६३ ॥

'किंतु महर्षिने उसका आदर नहीं किया। वे चुपचाप अपने आश्रममें चले गये। इधर वाली शाप प्राप्त होनेसे भयभीत हो बहुत ही व्याकुल हो गया ॥ ६३ ॥

ततः शापभयाद् भीतो ऋष्यमूकं महागिरिम्।
प्रवेष्टुं नेच्छति हरिर्द्रष्टुं वापि नरेश्वर ॥ ६४ ॥

'नरेश्वर! तबसे उस शापके भयसे डरा हुआ वाली इस महान् पर्वत ऋष्यमूकके स्थानोंमें न तो कभी प्रवेश करना चाहता है और न इस पर्वतको देखना ही चाहता है ॥ ६४ ॥

तस्याप्रवेशं ज्ञात्वाहमिदं राम महावनम्।
विचरामि सहामात्यो विषादेन विवर्जितः ॥ ६५ ॥

'श्रीराम! यहाँ उसका प्रवेश होना असम्भव है, यह जानकर मैं अपने मन्त्रियोंके साथ इस महान् वनमें विषाद-शून्य होकर विचरता हूँ ॥ ६५ ॥

एषोऽस्थिनिचयस्तस्य दुन्दुभेः सम्प्रकाशते।
वीर्योत्सेकान्निरस्तस्य गिरिकूटनिभो महान् ॥ ६६ ॥

'यह रहा दुन्दुभिकी हड्डियोंका ढेर, जो एक महान् पर्वतशिखरके समान जान पड़ता है। वालीने अपने बलके घमंडमें आकर दुन्दुभिके शरीरको इतनी दूर फेंका था ॥ ६६ ॥

इमे च विपुलाः सालाः सप्त शाखावलम्बिनः।
यत्रैकं घटते वाली निष्पत्रयितुमोजसा ॥ ६७ ॥

'ये सात सालके विशाल एवं मोटे वृक्ष हैं, जो अनेक उत्तम शाखाओंसे सुशोभित होते हैं। वाली इनमेंसे एक-एकको बलपूर्वक हिलाकर पत्रहीन कर सकता है ॥ ६७ ॥

एतदस्यासमं वीर्यं मया राम प्रकाशितम्।
कथं तं वालिनं हन्तुं समरे शक्ष्यसे नृप ॥ ६८ ॥

'श्रीराम! यह मैंने वालीके अनुपम पराक्रमको प्रकाशित किया है। नरेश्वर! आप उस वालीको समराङ्गणमें कैसे मार सकेंगे' ॥ ६८ ॥

तथा ब्रुवाणं सुग्रीवं प्रहसँल्लक्ष्मणोऽब्रवीत्।
कस्मिन् कर्मणि निर्वृत्ते श्रद्दध्या वालिनो वधम् ॥ ६९ ॥

सुग्रीवके ऐसा कहनेपर लक्ष्मणको बड़ी हँसी आयी। वे हँसते हुए ही बोले—'कौन-सा काम कर देनेपर तुम्हें विश्वास होगा कि श्रीरामचन्द्रजी वालीका वध कर सकेंगे' ॥ ६९ ॥

तमुवाचाथ सुग्रीवः सप्त सालानिमान् पुरा।
एवमेकैकशो वाली विव्याधाथ स चासकृत् ॥ ७० ॥
रामो निर्दारयेदेषां बाणेनैकेन च द्रुमम्।
वालिनं निहतं मन्ये दृष्ट्वा रामस्य विक्रमम् ॥ ७१ ॥

तब सुग्रीवने उनसे कहा— 'पूर्वकालमें वालीने सालके इन सातों वृक्षोंको एक-एक करके कई बार बींध डाला है। अतः श्रीरामचन्द्रजी भी यदि इनमेंसे किसी एक वृक्षको एक ही बाणसे छेद डालेंगे तो इनका पराक्रम देखकर मुझे वालीके मारे जानेका विश्वास हो जायगा ॥ ७०-७१ ॥

हतस्य महिषस्यास्थि पादेनैकेन लक्ष्मण।
उद्यम्य प्रक्षिपेच्चापि तरसा द्वे धनुःशते ॥ ७२ ॥

'लक्ष्मण! यदि इस महिषरूपधारी दुन्दुभिकी हड्डीको एक ही पैरसे उठाकर बलपूर्वक दो सौ धनुषकी दूरीपर फेंक सकें तो भी मैं यह मान लूँगा कि इनके हाथसे वालीका वध हो सकता है' ॥ ७२ ॥

एवमुक्त्वा तु सुग्रीवो रामं रक्तान्तलोचनम्।
ध्यात्वा मुहूर्तं काकुत्स्थं पुनरेव वचोऽब्रवीत् ॥ ७३ ॥

जिनके नेत्रप्रान्त कुछ-कुछ लाल थे, उन श्रीरामसे ऐसा कहकर सुग्रीव दो घड़ीतक कुछ सोच-विचारमें पड़े रहे। इसके बाद वे ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामसे फिर बोले— ॥ ७३ ॥

शूरश्च शूरमानी च प्रख्यातबलपौरुषः।
बलवान् वानरो वाली संयुगेष्वपराजितः ॥ ७४ ॥

'वाली शूर है और स्वयं भी उसे अपने शौर्यपर अभिमान है। उसके बल और पुरुषार्थ विख्यात हैं। वह बलवान् वानर अबतकके युद्धोंमें कभी पराजित नहीं हुआ है ॥ ७४ ॥

दृश्यन्ते चास्य कर्माणि दुष्कराणि सुरैरपि।
यानि संचिन्त्य भीतोऽहमृष्यमूकमुपाश्रितः ॥ ७५ ॥

'इसके ऐसे-ऐसे कर्म देखे जाते हैं, जो देवताओंके लिये दुष्कर हैं और जिनका चिन्तन करके भयभीत हो मैंने इस ऋष्यमूक पर्वतकी शरण ली है ॥ ७५ ॥

तमजय्यमधृष्यं च वानरेन्द्रममर्षणम्।
विचिन्तयन्न मुञ्चामि ऋष्यमूकममुं त्वहम् ॥ ७६ ॥

'वानरराज वालीको जीतना दूसरोंके लिये असम्भव है। उसपर आक्रमण अथवा उसका तिरस्कार भी नहीं किया जा सकता। वह शत्रुकी ललकारको नहीं सह सकता। जब मैं उसके प्रभावका चिन्तन करता हूँ, तब इस ऋष्यमूक पर्वतको एक क्षणके लिये भी छोड़ नहीं पाता हूँ ॥ ७६ ॥

उद्विग्नः शङ्कितश्चाहं विचरामि महावने।
अनुरक्तैः सहामात्यैर्हनुमत्प्रमुखैर्वरैः ॥ ७७ ॥

'ये हनुमान् आदि मेरे श्रेष्ठ सचिव मुझमें अनुराग रखनेवाले हैं। इनके साथ रहकर भी मैं इस विशाल वनमें वालीसे उद्विग्न और शङ्कित होकर ही विचरता हूँ ॥ ७७ ॥

उपलब्धं च मे श्लाघ्यं सन्मित्रं मित्रवत्सल।
त्वामहं पुरुषव्याघ्र हिमवन्तमिवाश्रितः ॥ ७८ ॥

'मित्रवत्सल आप मुझे परम स्पृहणीय श्रेष्ठ मित्र मिल गये हैं। पुरुषसिंह! आप मेरे लिये हिमालयके समान हैं और मैं आपका आश्रय ले चुका हूँ। (इसलिये अब मुझे निर्भय हो जाना चाहिये) ॥ ७८ ॥

किं तु तस्य बलज्ञोऽहं दुर्भ्रातुर्बलशालिनः।
अप्रत्यक्षं तु मे वीर्यं समरे तव राघव ॥ ७९ ॥

'किंतु रघुनन्दन! मैं उस बलशाली दुष्ट भ्राताके बल-पराक्रमको जानता हूँ और समरभूमिमें आपका पराक्रम मैंने प्रत्यक्ष नहीं देखा है ॥ ७९ ॥

न खल्वहं त्वां तुलये नावमन्ये न भीषये।
कर्मभिस्तस्य भीमैश्च कातर्यं जनितं मम ॥ ८० ॥

'प्रभो! अवश्य ही मैं वालीसे आपकी तुलना नहीं करता हूँ। न तो आपको डराता हूँ और न आपका अपमान ही करता हूँ। वालीके भयानक कर्मोंने ही मेरे हृदयमें कातरता उत्पन्न कर दी है ॥ ८० ॥

कामं राघव ते वाणी प्रमाणं धैर्यमाकृतिः।
सूचयन्ति परं तेजो भस्मच्छन्नमिवानलम् ॥ ८१ ॥

'रघुनन्दन! निश्चय ही आपकी वाणी मेरे लिये प्रमाण-भूत है—विश्वसनीय है; क्योंकि आपका धैर्य और आपकी यह दिव्य आकृति आदि गुण राखसे ढकी हुई आगके समान आपके उत्कृष्ट तेजको सूचित कर रहे हैं' ॥ ८१ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सुग्रीवस्य महात्मनः।
स्मितपूर्वमथो रामः प्रत्युवाच हरिं प्रति ॥ ८२ ॥

महात्मा सुग्रीवकी यह बात सुनकर भगवान् श्रीराम पहले तो मुसकराये। फिर उस वानरकी बातका उत्तर देते हुए उससे बोले— ॥ ८२ ॥

यदि न प्रत्ययोऽस्मासु विक्रमे तव वानर।
प्रत्ययं समरे श्लाघ्यमहमुत्पादयामि ते ॥ ८३ ॥

'वानर! यदि तुम्हें इस समय पराक्रमके विषयमें हम लोगोंपर विश्वास नहीं होता तो युद्धके समय हम तुम्हें उसका उत्तम विश्वास करा देंगे' ॥ ८३ ॥

एवमुक्त्वा तु सुग्रीवं सान्त्वयँल्लक्ष्मणाग्रजः।
राघवो दुन्दुभेः कायं पादाङ्गुष्ठेन लीलया ॥ ८४ ॥
तोलयित्वा महाबाहुश्चिक्षेप दशयोजनम्।
असुरस्य तनुं शुष्कां पादाङ्गुष्ठेन वीर्यवान् ॥ ८५ ॥

ऐसा कहकर सुग्रीवको सान्त्वना देते हुए लक्ष्मणके बड़े भाई महाबाहु बलवान् श्रीरघुनाथजीने खिलवाड़में ही दुन्दुभिके शरीरको अपने पैरके अँगूठेसे टाँग लिया और उस असुरके उस सूखे हुए कङ्कालको पैरके अँगूठेसे ही दस योजन दूर फेंक दिया ॥ ८४-८५ ॥

क्षिप्तं दृष्ट्वा ततः कायं सुग्रीवः पुनरब्रवीत्।
लक्ष्मणस्याग्रतो रामं तपन्तमिव भास्करम्।
हरीणामग्रतो वीरमिदं वचनमर्थवत् ॥ ८६ ॥

उसके शरीरको फेंका गया देख सुग्रीवने लक्ष्मण और वानरोंके सामने ही तपते हुए सूर्यके समान तेजस्वी वीर श्रीरामचन्द्रजीसे पुनः यह अर्थभरी बात कही— ॥ ८६ ॥

आर्द्रः समांसः प्रत्यग्रः क्षिप्तः कायः पुरा सखे।
परिश्रान्तेन मत्तेन भ्रात्रा मे वालिना तदा ॥ ८७ ॥

'सखे! मेरा भाई वाली उस समय मदमत्त और युद्धसे थका हुआ था और दुन्दुभिका यह शरीर खूनसे भीगा हुआ, मांसयुक्त तथा नया था। इस दशामें उसने इस शरीरको पूर्वकालमें दूर फेंका था ॥ ८७ ॥

लघुः सम्प्रति निर्मांसस्तृणभूतश्च राघव।
क्षिप्त एवं प्रहर्षेण भवता रघुनन्दन ॥ ८८ ॥

'परंतु रघुनन्दन! इस समय यह मांसहीन होनेके कारण तिनकेके समान हलका हो गया है और आपने हर्ष एवं उत्साहसे युक्त होकर इसे फेंका है ॥ ८८ ॥

नात्र शक्यं बलं ज्ञातुं तव वा तस्य वाधिकम्।
आर्द्रं शुष्कमिति ह्येतत् सुमहद् राघवान्तरम् ॥ ८९ ॥

'अतः श्रीराम! इस लाशको फेंकनेपर भी यह नहीं जाना जा सकता कि आपका बल अधिक है या उसका; क्योंकि वह गीला था और यह सूखा। यह इन दोनों अवस्थाओंमें महान् अन्तर है ॥ ८९ ॥

स एव संशयस्तात तव तस्य च यद्बलम्।
सालमेकं विनिर्भिद्य भवेद् व्यक्तिर्बलाबले ॥ ९० ॥

''तात! आपके और उसके बलमें वही संशय अबतक बना रह गया। अब इस एक सालवृक्षको विदीर्ण कर देने-पर दोनोंके बलाबलका स्पष्टीकरण हो जायगा ॥ ९० ॥

कृत्वैतत् कार्मुकं सज्यं हस्तिहस्तमिवाततम्।
आकर्णपूर्णमायम्य विसृजस्व महाशरम् ॥ ९१ ॥

'आपका यह धनुष हाथीकी फैली हुई सूँड़के समान विशाल है। आप इसपर प्रत्यञ्चा चढ़ाइये और इसे कानतक खींचकर सालवृक्षको लक्ष्य करके एक विशाल बाण छोड़िये ॥ ९१ ॥

इमं हि सालं प्रहितस्त्वया शरो
न संशयोऽत्रास्ति विदारयिष्यति।
अलं विमर्शेन मम प्रियं ध्रुवं
कुरुष्व राजन् प्रतिशापितो मया ॥ ९२ ॥

'इसमें संदेह नहीं कि आपका छोड़ा हुआ बाण इस सालवृक्षको विदीर्ण कर देगा। राजन्! अब विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। मैं अपनी शपथ दिलाकर कहता हूँ, आप मेरा यह प्रिय कार्य अवश्य कीजिये ॥ ९२ ॥

यथा हि तेजःसु वरः सदारवि-
र्यथा हि शैलो हिमवान् महाद्रिषु।
यथा चतुष्पात्सु च केसरी वर-
स्तथा नराणामसि विक्रमे वरः ॥ १३ ॥

'जैसे सम्पूर्ण तेजोंमें सदा सूर्यदेव ही श्रेष्ठ हैं, जैसे बड़े-बड़े पर्वतोंमें गिरिराज हिमवान् श्रेष्ठ हैं और जैसे चौपायोंमें सिंह श्रेष्ठ है, उसी प्रकार पराक्रमके विषयमें सब मनुष्योंमें आप ही श्रेष्ठ हैं' ॥ १३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें ग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशः सर्गः

श्रीरामके द्वारा सात साल-वृक्षोंका भेदन, श्रीरामकी आज्ञासे सुग्रीवका किष्किन्धामें आकर वालीको ललकारना और युद्धमें उससे पराजित होकर मतंगवनमें भाग जाना, वहाँ श्रीरामका उन्हें आश्वासन देना और गलेमें पहचानके लिये गजपुष्पीलता डालकर उन्हें पुनः युद्धके लिये भेजना

एतच्च वचनं श्रुत्वा सुग्रीवस्य सुभाषितम्।
प्रत्ययार्थं महातेजा रामो जग्राह कार्मुकम् ॥ १ ॥

सुग्रीवके सुन्दर ढंगसे कहे हुए इस वचनको सुनकर महातेजस्वी श्रीरामने उन्हें विश्वास दिलानेके लिये धनुष हाथमें लिया ॥ १ ॥

स गृहीत्वा धनुर्घोरं शरमेकं च मानदः।
सालमुद्दिश्य चिक्षेप पूरयन् स रवैर्दिशः ॥ २ ॥

दूसरोंको मान देनेवाले श्रीरघुनाथजीने वह भयंकर धनुष और एक बाण लेकर धनुषकी टंकारसे सम्पूर्ण दिशाओंको गुँजाते हुए उस बाणको सालवृक्षकी ओर छोड़ दिया ॥ २ ॥

स विसृष्टो बलवता बाणः स्वर्णपरिष्कृतः।
भित्त्वा सालान् गिरिप्रस्थं सप्तभूमिं विवेश ह ॥ ३ ॥

उन बलवान् वीरशिरोमणिके द्वारा छोड़ा गया वह सुवर्णभूषित बाण उन सातों सालवृक्षोंको एक ही साथ बींधकर पर्वत तथा पृथ्वीके सातों तलोंको छेदता हुआ पातालमें चला गया ॥ ३ ॥

सायकस्तु मुहूर्तेन सालान् भित्त्वा महाजवः।
निष्पत्य च पुनस्तूर्णं तमेव प्रविवेश ह ॥ ४ ॥

इस प्रकार एक ही मुहूर्तमें उन सबका भेदन करके वह महान् वेगशाली बाण पुनः वहाँसे निकलकर उनके तरकसमें ही प्रविष्ट हो गया ॥ ४ ॥

तान् दृष्ट्वा सप्त निर्भिन्नान् सालान् वानरपुङ्गवः।
रामस्य शरवेगेन विस्मयं परमं गतः ॥ ५ ॥

श्रीरामके बाणके वेगसे उन सातों सालवृक्षोंको विदीर्ण हुआ देख वानरशिरोमणि सुग्रीवको बड़ा विस्मय हुआ ॥ ५ ॥

स मूर्ध्ना न्यपतद् भूमौ प्रलम्बीकृतभूषणः।
सुग्रीवः परमप्रीतो राघवाय कृताञ्जलिः ॥ ६ ॥

साथ ही उन्हें मन-ही-मन बड़ी प्रसन्नता हुई। सुग्रीवने हाथ जोड़कर धरतीपर माथा टेक दिया और श्रीरघुनाथजीको साष्टाङ्ग प्रणाम किया। प्रणामके लिये झुकते समय उनके कण्ठहारादि भूषण लटकते हुए दिखायी देते थे ॥ ६ ॥

इदं चोवाच धर्मज्ञं कर्मणा तेन हर्षितः।
रामं सर्वास्त्रविदुषां श्रेष्ठं शूरमवस्थितम् ॥ ७ ॥

श्रीरामके उस महान् कर्मसे अत्यन्त प्रसन्न हो उन्होंने सामने खड़े हुए सम्पूर्ण अस्त्र-वेत्ताओंमें श्रेष्ठ धर्मज्ञ, शूरवीर श्रीरामचन्द्रजीसे इस प्रकार कहा— ॥ ७ ॥

सेन्द्रानपि सुरान् सर्वांस्त्वं बाणैः पुरुषर्षभ।
समर्थः समरे हन्तुं किं पुनर्वालिनं प्रभो ॥ ८ ॥

'पुरुषप्रवर ! भगवन् ! आप तो अपने बाणोंसे समराङ्गणमें इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंका वध भी करनेमें समर्थ हैं। फिर वालीको मारना आपके लिये कौन बड़ी बात है ? ॥ ८ ॥

येन सप्त महासाला गिरिर्भूमिश्च दारिताः।
बाणेनैकेन काकुत्स्थ स्थाता ते को रणाग्रतः ॥ ९ ॥

'काकुत्स्थ ! जिन्होंने सात बड़े-बड़े सालवृक्ष, पर्वत और पृथ्वीको भी एक ही बाणसे विदीर्ण कर डाला, उन्हीं आपके समक्ष युद्धके मुहानेपर कौन ठहर सकता है ॥ ९ ॥

अद्य मे विगतः शोकः प्रीतिरद्य परा मम।
सुहृदं त्वां समासाद्य महेन्द्रवरुणोपमम् ॥ १० ॥

'महेन्द्र और वरुणके समान पराक्रमी आपको सुहृद्के रूपमें पाकर आज मेरा सारा शोक दूर हो गया। आज मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है ॥ १० ॥

तमद्यैव प्रियार्थं मे वैरिणं भ्रातृरूपिणम्।
वालिनं जहि काकुत्स्थ मया बद्धोऽयमञ्जलिः ॥ ११ ॥

'ककुत्स्थकुलभूषण ! मैं हाथ जोड़ता हूँ। आप आज ही मेरा प्रिय करनेके लिये उस वालीका, जो भाईके रूपमें मेरा शत्रु है, वध कर डालिये' ॥ ११ ॥

ततो रामः परिष्वज्य सुग्रीवं प्रियदर्शनम्।
प्रत्युवाच महाप्राज्ञो लक्ष्मणानुगतं वचः ॥ १२ ॥

सुग्रीव श्रीरामचन्द्रजीको लक्ष्मणके समान प्रिय हो गये थे। उनकी बात सुनकर महाप्राज्ञ श्रीरामने अपने उस प्रिय

सुहृद्को हृदयसे लगा लिया और इस प्रकार उत्तर दिया— ॥

अस्माद्गच्छाम किष्किन्धां क्षिप्रं गच्छ त्वमग्रतः ।
गत्वा चाह्वय सुग्रीव वालिनं भ्रातृगन्धिनम् ॥ १३ ॥

'सुग्रीव ! हमलोग शीघ्र ही इस स्थानसे किष्किन्धाको चलते हैं। तुम आगे जाओ और जाकर व्यर्थ ही भाई कहलानेवाले वालीको युद्धके लिये ललकारो' ॥ १३ ॥

सर्वे ते त्वरितं गत्वा किष्किन्धां वालिनः पुरीम् ।
वृक्षैरात्मानमावृत्य ह्यतिष्ठन् गहने वने ॥ १४ ॥

तदनन्तर वे सब लोग वालीकी राजधानी किष्किन्धापुरीमें गये और वहाँ गहन वनके भीतर वृक्षोंकी आड़में अपनेको छिपाकर खड़े हो गये ॥ १४ ॥

सुग्रीवोऽप्यनदद् घोरं वालिनो ह्वानकारणात् ।
गाढं परिहितो वेगान्नादैर्भिन्दन्निवाम्बरम् ॥ १५ ॥

सुग्रीवने लँगोटसे अपनी कमर खूब कस ली और वालीको बुलानेके लिये भयंकर गर्जना की। वेगपूर्वक किये हुए उस सिंहनादसे मानो वे आकाशको फाड़े डालते थे ॥

तं श्रुत्वा निनदं भ्रातुः क्रुद्धो वाली महाबलः ।
निष्पपात सुसंरब्धो भास्करोऽस्ततटादिव ॥ १६ ॥

भाईका सिंहनाद सुनकर महाबली वालीको बड़ा क्रोध हुआ। वह अमर्षमें भरकर अस्ताचलसे नीचे जानेवाले सूर्यके समान बड़े वेगसे घरसे निकला ॥ १६ ॥

ततः सुतुमुलं युद्धं वालिसुग्रीवयोरभूत् ।
गगने ग्रहयोर्घोरं बुधाङ्गारकयोरिव ॥ १७ ॥

फिर तो वाली और सुग्रीवमें बड़ा भयंकर युद्ध छिड़ गया, मानो आकाशमें बुध और मंगल इन दोनों ग्रहोंमें घोर संग्राम हो रहा हो ॥ १७ ॥

तलैरशनिकल्पैश्च वज्रकल्पैश्च मुष्टिभिः ।
जघ्नतुः समरेऽन्योन्यं भ्रातरौ क्रोधमूर्च्छितौ ॥ १८ ॥

वे दोनों भाई क्रोधसे मूर्च्छित हो एक-दूसरेपर वज्र और अशनिके समान तमाचों और घूँसोंका प्रहार करने लगे ॥

ततो रामो धनुष्पाणिस्तावुभौ समुदैक्षत ।
अन्योन्यसदृशौ वीरावुभौ देवाविवाश्विनौ ॥ १९ ॥

उसी समय श्रीरामचन्द्रजीने धनुष हाथमें लिया और उन दोनोंकी ओर देखा। वे दोनों वीर अश्विनीकुमारोंकी भाँति परस्पर मिलते-जुलते दिखायी दिये ॥ १९ ॥

यन्नावगच्छत् सुग्रीवं वालिनं वापि राघवः ।
ततो न कृतवान् बुद्धिं मोक्तुमन्तकरं शरम् ॥ २० ॥

श्रीरामचन्द्रजीको यह पता न चला कि इनमें कौन सुग्रीव है और कौन वाली; इसलिये उन्होंने अपना वह प्राणान्तकारी बाण छोड़नेका विचार स्थगित कर दिया ॥ २० ॥

एतस्मिन्नन्तरे भग्नः सुग्रीवस्तेन वालिना ।
अपश्यन् राघवं नाथमृष्यमूकं प्रदुद्रुवे ॥ २१ ॥

इसी बीचमें वालीने सुग्रीवके पाँव उखाड़ दिये। वे अपने रक्षक श्रीरघुनाथजीको न देखकर ऋष्यमूक पर्वतकी ओर भागे ॥ २१ ॥

क्लान्तो रुधिरसिक्ताङ्गः प्रहारैर्जर्जरीकृतः ।
वालिनाभिद्रुतः क्रोधात् प्रविवेश महावनम् ॥ २२ ॥

वे बहुत थक गये थे। उनका सारा शरीर लहूलुहान और प्रहारोंसे जर्जर हो रहा था। इतनेपर भी वालीने क्रोधपूर्वक उनका पीछा किया। किंतु वे मतंगमुनिके महान् वनमें घुस गये ॥ २२ ॥

तं प्रविष्टं वनं दृष्ट्वा वाली शापभयात् ततः ।
मुक्तो ह्यसि त्वमित्युक्त्वा स निवृत्तो महाबलः ॥ २३ ॥

सुग्रीवको उस वनमें प्रविष्ट हुआ देख महाबली वाली शापके भयसे वहाँ नहीं गया और 'जाओ तुम बच गये' ऐसा कहकर वहाँसे लौट आया ॥ २३ ॥

राघवोऽपि सह भ्रात्रा सह चैव हनूमता ।
तदेव वनमागच्छत् सुग्रीवो यत्र वानरः ॥ २४ ॥

इधर श्रीरघुनाथजी भी अपने भाई लक्ष्मण तथा श्रीहनुमान्‌जीके साथ उसी समय वनमें आ गये, जहाँ वानर सुग्रीव विद्यमान थे ॥ २४ ॥

तं समीक्ष्यागतं रामं सुग्रीवः सहलक्ष्मणम् ।
ह्रीमान् दीनमुवाचेदं वसुधामवलोकयन् ॥ २५ ॥

लक्ष्मणसहित श्रीरामको आया देख सुग्रीवको बड़ी लज्जा हुई और वे पृथ्वीकी ओर देखते हुए दीन वाणीमें उनसे बोले— ॥ २५ ॥

आह्वयस्वेति मामुक्त्वा दर्शयित्वा च विक्रमम् ।
वैरिणा घातयित्वा च किमिदानीं त्वया कृतम् ॥ २६ ॥
तामेव वेलां वक्तव्यं त्वया राघव तत्त्वतः ।
वालिनं न निहन्मीति ततो नाहमितो व्रजे ॥ २७ ॥

'रघुनन्दन ! आपने अपना पराक्रम दिखाया और मुझे यह कहकर भेज दिया कि जाओ, वालीको युद्धके लिये ललकारो, यह सब हो जानेपर आपने शत्रुसे पिटवाया और स्वयं छिप गये। बताइये, इस समय आपने ऐसा क्यों किया ? आपको उसी समय सच-सच बता देना चाहिये था कि मैं वालीको नहीं मारूँगा। ऐसी दशामें मैं यहाँसे उसके पास जाता ही नहीं' ॥ २६-२७ ॥

तस्य चैवं ब्रुवाणस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ।
करुणं दीनया वाचा राघवः पुनरब्रवीत् ॥ २८ ॥

महामना सुग्रीव जब दीन वाणीद्वारा इस प्रकार करुणा जनक बात कहने लगे, तब श्रीराम फिर उनसे बोले— ॥ २८ ॥

सुग्रीव श्रूयतां तात क्रोधश्च व्यपनीयताम् ।
कारणं येन बाणोऽयं स मया न विसर्जितः ॥ २९ ॥

'तात सुग्रीव ! मेरी बात सुनो, क्रोधको अपने मनसे निकाल दो। मैंने क्यों नहीं बाण चलाया, इसका कारण बतलाता हूँ ॥ २९ ॥

अलंकारेण वेषेण प्रमाणेन गतेन च।
त्वं च सुग्रीव वाली च सदृशौ स्थः परस्परम्॥ ३०॥

'सुग्रीव! वेशभूषा, कद और चाल-ढालमें तुम और वाली दोनों एक-दूसरेसे मिलते-जुलते हो॥ ३०॥

स्वरेण वर्चसा चैव प्रेक्षितेन च वानर।
विक्रमेण च वाक्यैश्च व्यक्तिं वो नोपलक्षये॥ ३१॥

'स्वर, कान्ति, दृष्टि, पराक्रम और बोलचालके द्वारा भी मुझे तुम दोनोंमें कोई अन्तर नहीं दिखायी देता॥ ३१॥

ततोऽहं रूपसादृश्यान्मोहितो वानरोत्तम।
नोत्सृजामि महावेगं शरं शत्रुनिबर्हणम्॥ ३२॥

'वानरश्रेष्ठ! तुम दोनोंके रूपकी इतनी समानता देखकर मैं मोहमें पड़ गया—तुम्हें पहचान न सका; इसीलिये मैंने अपना महान् वेगशाली शत्रुसंहारक बाण नहीं छोड़ा॥ ३२॥

जीवितान्तकरं घोरं सादृश्यात् तु विशङ्कितः।
मूलघातो न नौ स्याद्धि द्वयोरिति कृतो मया॥ ३३॥

'मेरा वह भयंकर बाण शत्रुके प्राण लेनेवाला था, इसलिये तुम दोनोंकी समानतासे संदेहमें पड़कर मैंने उस बाणको नहीं छोड़ा। सोचा, कहीं ऐसा न हो कि हम दोनोंके मूल उद्देश्यका ही विनाश हो जाय॥ ३३॥

त्वयि वीर विपन्ने हि अज्ञानाल्लाघवान्मया।
मौढ्यं च मम बाल्यं च ख्यापितं स्यात् कपीश्वर॥ ३४॥

'वीर! वानरराज! यदि अनजानमें या जल्दबाजीके कारण मेरे बाणसे तुम्हीं मारे जाते तो मेरी बालोचित चपलता और मूढ़ता ही सिद्ध होती॥ ३४॥

दत्ताभयवधो नाम पातकं महदद्भुतम्।
अहं च लक्ष्मणश्चैव सीता च वरवर्णिनी॥ ३५॥
त्वदधीना वयं सर्वे वनेऽस्मिञ्शरणं भवान्।
तस्माद् युध्यस्व भूयस्त्वं मा माशङ्कीश्च वानर॥ ३६॥

'जिसको अभय दान दे दिया गया हो, उसका वध करनेसे बड़ा भारी पाप होता है; यह एक अद्भुत पातक है। इस समय मैं, लक्ष्मण और सुन्दरी सीता सब तुम्हारे अधीन हैं। इस वनमें तुम्हीं हमलोगोंके आश्रय हो; इसलिये वानरराज शङ्का न करो; पुनः चलकर युद्ध प्रारम्भ करो॥

एतन्मुहूर्ते तु मया पश्य वालिनमाहवे।
निरस्तमिषुणैकेन चेष्टमानं महीतले॥ ३७॥

'तुम इसी मुहूर्तमें वालीको मेरे एक ही बाणका निशाना बनकर धरतीपर लोटता देखोगे॥ ३७॥

अभिज्ञानं कुरुष्व त्वमात्मनो वानरेश्वर।
येन त्वामभिजानीयां द्वन्द्वयुद्धमुपागतम्॥ ३८॥

'वानरेश्वर! अपनी पहचानके लिये तुम कोई चिह्न धारण कर लो, जिससे द्वन्द्वयुद्धमें प्रवृत्त होनेपर मैं तुम्हें पहचान सकूँ'॥

गजपुष्पीमिमां फुल्लामुत्पाट्य शुभलक्षणाम्।
कुरु लक्ष्मण कण्ठेऽस्य सुग्रीवस्य महात्मनः॥ ३९॥

(सुग्रीवसे ऐसा कहकर श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणसे बोले) 'लक्ष्मण! यह उत्तम लक्षणोंसे युक्त गजपुष्पी लता फूल रही है। इसे उखाड़कर तुम महामना सुग्रीवके गलेमें पहना दो'॥

ततो गिरितटे जातामुत्पाट्य कुसुमायुताम्।
लक्ष्मणो गजपुष्पीं तां तस्य कण्ठे व्यसर्जयत्॥ ४०॥

यह आज्ञा पाकर लक्ष्मणने पर्वतके किनारे उत्पन्न हुई फूलोंसे भरी वह गजपुष्पी लता उखाड़कर सुग्रीवके गलेमें डाल दिया॥ ४०॥

स तया शुशुभे श्रीमाँल्लतया कण्ठसक्तया।
मालयेव बलाकानां ससंध्य इव तोयदः॥ ४१॥

गलेमें पड़ी हुई उस लतासे श्रीमान् सुग्रीव बकपंक्तिसे अलंकृत संध्याकालके मेघकी भाँति शोभा पाने लगे॥ ४१॥

विभ्राजमानो वपुषा रामवाक्यसमाहितः।
जगाम सह रामेण किष्किन्धां पुनराप सः॥ ४२॥

श्रीरामके वचनसे आश्वासन पाकर अपने सुन्दर शरीरसे शोभा पानेवाले सुग्रीव श्रीरघुनाथजीके साथ फिर किष्किन्धापुरीमें जा पहुँचे॥ ४२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे द्वादशः सर्गः॥ १२॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें बारहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १२॥

—★—

त्रयोदशः सर्गः

श्रीराम आदिका मार्गमें वृक्षों, विविध जन्तुओं, जलाशयों तथा सप्तजन आश्रमका दूरसे दर्शन करते हुए पुनः किष्किन्धापुरीमें पहुँचना

ऋष्यमूकात् स धर्मात्मा किष्किन्धां लक्ष्मणाग्रजः।
जगाम सह सुग्रीवो वालिविक्रमपालिताम्॥ १॥

लक्ष्मणके बड़े भाई धर्मात्मा श्रीराम सुग्रीवको साथ लेकर पुनः ऋष्यमूकसे उस किष्किन्धापुरीकी ओर चले, जो वालीके पराक्रमसे सुरक्षित थी॥ १॥

समुद्यम्य महच्चापं रामः काञ्चनभूषितम्।
शरांश्चादित्यसंकाशान् गृहीत्वा रणसाधकान्॥ २॥

अपने सुवर्णभूषित विशाल धनुषको उठाकर और युद्धमें सफलता दिखानेवाले सूर्यतुल्य तेजस्वी बाणोंको लेकर श्रीराम वहाँसे प्रस्थित हुए॥ २॥

अग्रतस्तु ययौ तस्य राघवस्य महात्मनः ।
सुग्रीवः संहतग्रीवो लक्ष्मणश्च महाबलः ॥ ३ ॥

महात्मा रघुनाथजीके आगे-आगे सुगठित ग्रीवावाले सुग्रीव और महाबली लक्ष्मण चल रहे थे ॥ ३ ॥

पृष्ठतो हनुमान् वीरो नलो नीलश्च वीर्यवान् ।
तारश्चैव महातेजा हरियूथपयूथपः ॥ ४ ॥

और उनके पीछे वीर हनुमान्, नल, पराक्रमी नील तथा वानर-यूथपोंके भी यूथपति महातेजस्वी तार चल रहे थे ॥

ते वीक्षमाणा वृक्षांश्च पुष्पभारावलम्बिनः ।
प्रसन्नाम्बुवहाश्चैव सरितः सागरंगमाः ॥ ५ ॥
कन्दराणि च शैलांश्च निर्दराणि गुहास्तथा ।
शिखराणि च मुख्यानि दरीश्च प्रियदर्शनाः ॥ ६ ॥

वे सब लोग फूलोंके भारसे झुके हुए वृक्षों, स्वच्छ जल-वाली समुद्रगामिनी नदियों, कन्दराओं, पर्वतों, शिला-विवरों, गुफाओं, मुख्य-मुख्य शिखरों और सुन्दर दिखायी देनेवाली गहन गुफाओंको देखते हुए आगे बढ़ने लगे ॥ ५-६ ॥

वैदूर्यविमलैस्तोयैः पद्मैश्चाकोशकुड्मलैः ।
शोभितान् सजलान् मार्गे तटाकांश्चावलोकयन् ॥ ७ ॥

उन्होंने मार्गमें ऐसे सजल सरोवरोंको भी देखा, जो वैदूर्यमणिके समान रंगवाले, निर्मल जल तथा कम खिले हुए मुकुलयुक्त कमलोंसे सुशोभित थे ॥ ७ ॥

कारण्डैः सारसैर्हंसैर्वञ्जुलैर्जलकुक्कुटैः ।
चक्रवाकैस्तथा चान्यैः शकुनैः प्रतिनादितान् ॥ ८ ॥

कारण्डव, सारस, हंस, वञ्जुल, जलमुर्ग, चकवाक तथा अन्य पक्षी उन सरोवरोंमें चहचहा रहे थे। उन सबकी प्रति-ध्वनि वहाँ गूँज रही थी ॥ ८ ॥

मृदुशष्पाङ्कुराहारान्निर्भयान् वनगोचरान् ।
चरतः सर्वतः पश्यन् स्थलीषु हरिणान् स्थितान् ॥ ९ ॥

स्थलोंमें सब ओर हरी-हरी कोमल घासके अङ्कुरोंका आहार करनेवाले वनचारी हरिण कहीं निर्भय होकर चरते थे और कहीं खड़े दिखायी देते थे (इन सबको देखते हुए श्रीराम आदि किष्किन्धाकी ओर जा रहे थे) ॥ ९ ॥

तटाकवैरिणश्चापि शुक्लदन्तविभूषितान् ।
घोरानेकचरान् वन्यान् द्विरदान् कूलघातिनः ॥ १० ॥
मत्तान् गिरितटोत्कृष्टान् पर्वतानिव जङ्गमान् ।
वानरान् द्विरदप्रख्यान् महीरेणुसमुक्षितान् ॥ ११ ॥
वने वनचरांश्चान्यान् खेचरांश्च विहंगमान् ।
पश्यन्तस्त्वरिता जग्मुः सुग्रीववशवर्तिनः ॥ १२ ॥

जो सफेद दाँतोंसे सुशोभित थे, देखनेमें भयंकर थे, अकेले विचरते थे और किनारोंको खोदकर नष्ट कर देनेके कारण सरोवरोंके शत्रु समझे जाते थे, ऐसे दो दाँतोंवाले मदमत्त जङ्गली हाथी चलते-फिरते पर्वतोंके समान जाते दिखायी देते थे। उन्होंने अपने दाँतोंसे पर्वतके तटप्रान्तको विदीर्ण कर दिया था। कहीं हाथी-जैसे विशालकाय वानर दृष्टिगोचर होते थे, जो धरतीकी धूलसे नहा उठे थे। इनके सिवा उस वनमें और भी बहुत-से जंगली जीव-जन्तु तथा आकाशचारी पक्षी विचरते देखे जाते थे। इन सबको देखते हुए श्रीराम आदि सब लोग सुग्रीवके वशवर्ती हो तीव्र गतिसे आगे बढ़ने लगे ॥ १०—१२ ॥

तेषां तु गच्छतां तत्र त्वरितं रघुनन्दनः ।
द्रुमषण्डवनं दृष्ट्वा रामः सुग्रीवमब्रवीत् ॥ १३ ॥

उन यात्रा करनेवाले लोगोंमें वहाँ रघुकुलनन्दन श्रीरामने वृक्षसमूहोंसे सघन वनको देखकर सुग्रीवसे पूछा— ॥ १३ ॥

एष मेघ इवाकाशे वृक्षषण्डः प्रकाशते ।
मेघसंघातविपुलः पर्यन्तकदलीवृतः ॥ १४ ॥

'वानरराज! आकाशमें मेघकी भाँति जो यह वृक्षोंका समूह प्रकाशित हो रहा है, क्या है? यह इतना विस्तृत है कि मेघोंकी घटाके समान छा रहा है। इसके किनारे-किनारे केलेके वृक्ष लगे हुए हैं, जिनसे वह सारा वृक्ष-समूह घिर गया है ॥ १४ ॥

किमेतज्ज्ञातुमिच्छामि सखे कौतूहलं मम ।
कौतूहलापनयनं कर्तुमिच्छाम्यहं त्वया ॥ १५ ॥

'सखे यह कौन-सा वन है, यह मैं जानना चाहता हूँ। इसके लिये मेरे मनमें बड़ा कौतूहल है। मैं चाहता हूँ कि तुम्हारे द्वारा मेरे इस कौतूहलका निवारण हो' ॥ १५ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राघवस्य महात्मनः ।
गच्छन्नेवाचचक्षेऽथ सुग्रीवस्तन्महद् वनम् ॥ १६ ॥

महात्मा रघुनाथजीकी यह बात सुनकर सुग्रीवने चलते-चलते ही उस विशाल वनके विषयमें बताना आरम्भ किया ॥

एतद् राघव विस्तीर्णमाश्रमं श्रमनाशनम् ।
उद्यानवनसम्पन्नं स्वादुमूलफलोदकम् ॥ १७ ॥

'रघुनन्दन! यह एक विस्तृत आश्रम है, जो सबके श्रमका निवारण करनेवाला है। यह उद्यानों और उपवनोंसे युक्त है। यहाँ स्वादिष्ट फल-मूल और जल सुलभ होते हैं ॥

अत्र सप्तजना नाम मुनयः संशितव्रताः ।
सप्तैवासन्नधःशीर्षा नियतं जलशायिनः ॥ १८ ॥

'इस आश्रममें सप्तजन नामसे प्रसिद्ध सात ही मुनि रहते थे, जो कठोर व्रतके पालनमें तत्पर थे। वे नीचे सिर करके तपस्या करते थे। नियमपूर्वक रहकर जलमें शयन करनेवाले थे ॥ १८ ॥

सप्तरात्रे कृताहारा वायुनाचलवासिनः ।
दिवं वर्षशतैर्याताः सप्तभिः सकलेवराः ॥ १९ ॥

'सात दिन और सात रात व्यतीत करके वे केवल वायुका आहार करते थे तथा एक स्थानपर निश्चल भावसे रहते थे। इस प्रकार सात सौ वर्षोंतक तपस्या करके वे सशरीर स्वर्ग-लोकको चले गये ॥ १९ ॥

तेषामेतत्प्रभावेण द्रुमप्राकारसंवृतम्।
आश्रमं सुदुराधर्षमपि सेन्द्रैः सुरासुरैः॥ २०॥

'उन्हींके प्रभावसे सघन वृक्षोंकी चहारदीवारीसे घिरा हुआ यह आश्रम इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओं और असुरोंके लिये भी अत्यन्त दुर्धर्ष बना हुआ है॥ २०॥

पक्षिणो वर्जयन्त्येतत् तथान्ये वनचारिणः।
विशन्ति मोहाद् येऽप्यत्र न निवर्तन्ति ते पुनः॥ २१॥

'पक्षी तथा दूसरे वनचर जीव इसे दूरसे ही त्याग देते हैं। जो मोहवश इसके भीतर प्रवेश करते हैं, वे फिर कभी नहीं लौटते हैं॥ २१॥

विभूषणरवाश्चात्र श्रूयन्ते सकलाक्षराः।
तूर्यगीतस्वनश्चापि गन्धो दिव्यश्च राघव॥ २२॥

'रघुनन्दन! यहाँ मधुर अक्षरवाली वाणीके साथ-साथ आभूषणोंकी झनकारें भी सुनी जाती हैं। वाद्य और गीतकी मधुर ध्वनि भी कानोंमें पड़ती है और दिव्य सुगन्धका भी अनुभव होता है॥ २२॥

त्रेताग्नयोऽपि दीप्यन्ते धूमो ह्येष प्रदृश्यते।
वेष्टयन्निव वृक्षाग्रान् कपोताङ्गारुणो घनः॥ २३॥

'यहाँ आहवनीय आदि त्रिविध अग्नियाँ भी प्रज्वलित होती हैं। यह कबूतरके अंगोंकी भाँति धूसर रंगवाला घना धूम उठता दिखायी देता है, जो वृक्षोंकी शिखाओंको आवेष्टित-सा कर रहा है॥ २३॥

एते वृक्षाः प्रकाशन्ते धूमसंसक्तमस्तकाः।
मेघजालप्रतिच्छन्ना वैडूर्यगिरयो यथा॥ २४॥

'जिनके शिखाओंपर होम-धूम छा रहे हैं, वे ये वृक्ष मेघसमूहोंसे आच्छादित हुए नीलमके पर्वतोंकी भाँति प्रकाशित हो रहे हैं॥ २४॥

कुरु प्रणामं धर्मात्मंस्तेषामुद्दिश्य राघव।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा प्रयतः संहताञ्जलिः॥ २५॥

'धर्मात्मा रघुनन्दन! आप मनको एकाग्र करके दोनों हाथ जोड़कर भाई लक्ष्मणके साथ उन मुनियोंके उद्देश्यसे प्रणाम कीजिये॥ २५॥

प्रणमन्ति हि ये तेषामृषीणां भावितात्मनाम्।
न तेषामशुभं किंचिच्छरीरे राम विद्यते॥ २६॥

'श्रीराम! जो उन पवित्र अन्तःकरणवाले ऋषियोंको प्रणाम करते हैं, उनके शरीरमें किंचिन्मात्र भी अशुभ नहीं रह जाता है'॥ २६॥

ततो रामः सह भ्रात्रा लक्ष्मणेन कृताञ्जलिः।
समुद्दिश्य महात्मानस्तानृषीनभ्यवादयत्॥ २७॥

तब भाई लक्ष्मणसहित श्रीरामने हाथ जोड़कर उन महात्मा ऋषियोंके उद्देश्यसे प्रणाम किया॥ २७॥

अभिवाद्य च धर्मात्मा रामो भ्राता च लक्ष्मणः।
सुग्रीवो वानराश्चैव जग्मुः संहृष्टमानसाः॥ २८॥

धर्मात्मा श्रीराम, उनके छोटे भाई लक्ष्मण, सुग्रीव तथा अन्य सभी वानर उन ऋषियोंको प्रणाम करके प्रसन्नचित्त हो आगे बढ़े॥ २८॥

ते गत्वा दूरमध्वानं तस्मात् सप्तजनाश्रमात्।
ददृशुस्तां दुराधर्षां किष्किन्धां वालिपालिताम्॥ २९॥

उस सप्तजनाश्रमसे दूरतकका मार्ग तय कर लेनेके पश्चात् उन सबने वालीद्वारा सुरक्षित किष्किन्धापुरीको देखा॥ २९॥

ततस्तु रामानुजरामवानराः
प्रगृह्य शस्त्राण्युदितोग्रतेजसः।
पुरीं सुरेशात्मजवीर्यपालितां
वधाय शत्रोः पुनरागतास्त्विह॥ ३०॥

तदनन्तर श्रीरामके छोटे भाई लक्ष्मण, श्रीराम तथा वानर, जिनका उग्रतेज उदित हुआ था, हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लेकर इन्द्रकुमार वालीके पराक्रमसे पालित किष्किन्धापुरीमें शत्रुवधके निमित्त पुनः आ पहुँचे॥ ३०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे त्रयोदशः सर्गः॥ १३॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें तेरहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १३॥

चतुर्दशः सर्गः

वाली-वधके लिये श्रीरामका आश्वासन पाकर सुग्रीवकी विकट गर्जना

सर्वे ते त्वरितं गत्वा किष्किन्धां वालिनः पुरीम्।
वृक्षैरात्मानमावृत्य व्यतिष्ठन् गहने वने॥ १॥

वे सब लोग शीघ्रतापूर्वक वालीकी किष्किन्धापुरीमें पहुँचकर एक गहनवनमें वृक्षोंकी ओटमें अपने-आपको छिपाकर खड़े हो गये॥ १॥

विसार्य सर्वतो दृष्टिं कानने काननप्रियः।
सुग्रीवो विपुलग्रीवः क्रोधमाहारयद् भृशम्॥ २॥

वनके प्रेमी विशाल ग्रीवावाले सुग्रीवने उस वनमें चारों ओर दृष्टि दौड़ायी और अपने मनमें अत्यन्त क्रोधका संचय किया॥

ततस्तु निनदं घोरं कृत्वा युद्धाय चाह्वयत्।
परिवारैः परिवृतो नादैर्भिन्दन्निवाम्बरम्॥ ३॥

तदनन्तर अपने सहायकोंसे घिरे हुए उन्होंने अपने सिंहनादसे आकाशको फाड़ते हुए-से घोर गर्जना की और वालीको युद्धके लिये ललकारा॥ ३॥

गर्जन्निव महामेघो वायुवेगपुरःसरः।
अथ बालार्कसदृशो दृप्तसिंहगतिस्ततः॥ ४॥

उस समय सुग्रीव वायुके वेगके साथ गर्जते हुए महामेघके समान जान पड़ते थे। अपनी अङ्गकान्ति और प्रतापके द्वारा प्रातःकालके सूर्यकी भाँति प्रकाशित होते थे। उनकी चाल दर्पभरे सिंहके समान प्रतीत होती थी॥ ४॥

दृष्ट्वा रामं क्रियादक्षं सुग्रीवो वाक्यमब्रवीत्।
हरिवागुरया व्याप्तां तप्तकाञ्चनतोरणाम्॥ ५॥
प्राप्ताः स्म ध्वजयन्त्राढ्यां किष्किन्धां वालिनः पुरीम्।
प्रतिज्ञा या कृता वीर त्वया वालिवधे पुरा॥ ६॥
सफलां कुरु तां क्षिप्रं लतां काल इवागतः।

कार्यकुशल श्रीरामचन्द्रजीकी ओर देखकर सुग्रीवने कहा—'भगवन्! वालीकी यह किष्किन्धापुरी तपाये हुए सुवर्णके द्वारा निर्मित नगरद्वारसे सुशोभित है। इसमें सब ओर वानरोंका जाल-सा बिछा हुआ है तथा यह ध्वजों और यन्त्रोंसे सम्पन्न है। हम सब लोग इस पुरीमें आ पहुँचे हैं। वीर! आपने पहले वाली-वधके लिये जो प्रतिज्ञा की थी, उसे अब शीघ्र सफल कीजिये। ठीक उसी तरह जैसे आया हुआ अनुकूल समय लताको फल-फूलसे सम्पन्न कर देता है'॥ ५-६½॥

एवमुक्तस्तु धर्मात्मा सुग्रीवेण स राघवः॥ ७॥
तमेवोवाच वचनं सुग्रीवं शत्रुसूदनः।

सुग्रीवके ऐसा कहनेपर शत्रुसूदन धर्मात्मा श्रीरघुनाथजीने फिर अपनी पूर्वोक्त बातको दुहराते हुए ही सुग्रीवसे कहा—॥

कृताभिज्ञानचिह्नस्त्वमनया गजसाह्वया॥ ८॥
लक्ष्मणेन समुत्पाट्य एषा कण्ठे कृता तव।
शोभसेऽप्यधिकं वीर लतया कण्ठसक्तया॥ ९॥
विपरीत इवाकाशे सूर्यो नक्षत्रमालया।

'वीर! अब तो इस गजपुष्पी लताके द्वारा तुमने अपनी पहचानके लिये चिह्न धारण कर ही लिया है। लक्ष्मणने इसे उखाड़कर तुम्हारे कण्ठमें पहना ही दिया है। तुम कण्ठमें धारण की हुई इस लताके द्वारा बड़ी शोभा पा रहे हो। यदि आकाशमें यह विपरीत घटना हो कि सूर्यमण्डल नक्षत्र-मालासे घिर जाय, तभी इस कण्ठ-लम्बिनी लतासे सुशोभित होनेवाले तुम्हारी उस सूर्यसे तुलना हो सकती है॥ ८-९½॥

अद्य वालिसमुत्थं ते भयं वैरं च वानर॥ १०॥
एकेनाहं प्रमोक्ष्यामि बाणमोक्षेण संयुगे।

'वानरराज! आज मैं वालीसे उत्पन्न हुए तुम्हारे भय और वैर दोनोंको युद्धस्थलमें एक ही बार बाण छोड़कर मिटा दूँगा॥

मम दर्शय सुग्रीव वैरिणं भ्रातृरूपिणम्॥ ११॥
वाली विनिहतो यावद्वने पांसुषु चेष्टते।

'सुग्रीव! तुम मुझे अपने उस भ्रातारूपी शत्रुको दिखा तो दो। फिर वाली मारा जाकर वनके भीतर धूलमें लोटता दिखायी देगा॥ ११½॥

यदि दृष्टिपथं प्राप्तो जीवन् स विनिवर्तते॥ १२॥
ततो दोषेण मागच्छेत् सद्यो गर्हेच मां भवान्।

'यदि मेरी दृष्टिमें पड़ जानेपर भी वह जीवित लौट जाय तो तुम मुझे दोषी समझना और तत्काल जी भरकर मेरी निन्दा करना॥ १२½॥

प्रत्यक्षं सप्त ते साला मया बाणेन दारिताः।
तेनावेहि बलेनाद्य वालिनं निहतं रणे।

'तुम्हारी आँखोंके सामने मैंने अपने एक ही बाणसे सात सालके वृक्ष विदीर्ण किये थे, मेरे उसी बलसे आज समराङ्गणमें (एक बाणसे ही) तुम वालीको मारा गया समझो॥ १३½॥

अनृतं नोक्तपूर्वं मे चिरं कृच्छ्रेऽपि तिष्ठता॥ १४॥
धर्मलोभपरीतेन न च वक्ष्ये कथंचन।
सफलां च करिष्यामि प्रतिज्ञां जहि संभ्रमम्॥ १५॥

'बहुत समयसे संकट झेलते रहनेपर भी मैं कभी झूठ नहीं बोला हूँ। मेरे मनमें धर्मका लोभ है। इसलिये किसी तरह मैं झूठ तो बोलूँगा ही नहीं। साथ ही अपनी प्रतिज्ञाको भी अवश्य सफल करूँगा। अतः तुम भय और घबराहटको अपने हृदयसे निकाल दो॥ १४-१५॥

प्रसूतं कलमक्षेत्रं वर्षेणेव शतक्रतुः।
तदाह्वाननिमित्तं च वालिनो हेममालिनः॥ १६॥
सुग्रीव कुरु तं शब्दं निष्पतेद् येन वानरः।

'जैसे इन्द्र वर्षा करके उगे हुए धानके खेतको फलसे सम्पन्न करते हैं, उसी तरह मैं भी बाणका प्रयोग करके वालीके वधद्वारा तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करूँगा। इसलिये सुग्रीव! तुम सुवर्णमालाधारी वालीको बुलानेके लिये इस समय ऐसी गर्जना करो, जिससे तुम्हारा सामना करनेके लिये वह वानर नगरसे बाहर निकल आवे॥ १६½॥

जितकाशी जयश्लाघी त्वया चाधर्षितः पुरात्॥ १७॥
निष्पतिष्यत्यसङ्गेन वाली स प्रियसंयुगः।

'वह अनेक युद्धोंमें विजय पाकर विजयश्रीसे सुशोभित हुआ है। सबपर विजय पानेकी इच्छा रखता है और उसने कभी तुमसे हार नहीं खायी है। इसके अलावे युद्धसे उसका बड़ा प्रेम है, अतः वाली कहीं भी आसक्त न होकर नगरके बाहर अवश्य निकलेगा॥ १७½॥

रिपूणां धर्षितं श्रुत्वा मर्षयन्ति न संयुगे॥ १८॥
जानन्तस्तु स्वकं वीर्यं स्त्रीसमक्षं विशेषतः।

'क्योंकि अपने पराक्रमको जाननेवाले वीर पुरुष, विशेषतः स्त्रियोंके सामने, युद्धके लिये शत्रुओंके तिरस्कारपूर्ण शब्द सुनकर कदापि सहन नहीं करते हैं॥ १८½॥

स तु रामवचः श्रुत्वा सुग्रीवो हेमपिङ्गलः॥ १९॥
ननर्द क्रूरनादेन विनिर्भिन्दन्निवाम्बरम्।

श्रीरामचन्द्रजीकी यह बात सुनकर सुवर्णके समान पिङ्गलवर्णवाले सुग्रीवने आकाशको विदीर्ण-सा करते हुए कठोर स्वरमें बड़ी भयंकर गर्जना की॥ १९½॥

तत्र शब्देन वित्रस्ता गावो यान्ति हतप्रभाः ॥ २० ॥
राजदोषपरामृष्टाः कुलस्त्रिय इवाकुलाः ।

उस सिंहनादसे भयभीत हो बड़े-बड़े बैल शक्तिहीन हो राजाके दोषसे परपुरुषोंद्वारा पकड़ी जानेवाली कुलाङ्गनाओंके समान व्याकुलचित्त हो सब ओर भाग चले ॥ २०½ ॥

द्रवन्ति च मृगाः शीघ्रं भग्ना इव रणे हयाः ।
पतन्ति च खगा भूमौ क्षीणपुण्या इव ग्रहाः ॥ २१ ॥

मृग युद्धस्थलमें अस्त्र-शस्त्रोंकी चोट खाकर भागे हुए घोड़ोंके समान तीव्र गतिसे भागने लगे और पक्षी जिनके पुण्य नष्ट हो गये हैं, ऐसे ग्रहोंके समान आकाशसे पृथ्वीपर गिरने लगे ॥

ततः स जीमूतकृतप्रणादो
नादं ह्यमुञ्चत् त्वरया प्रतीतः ।
सूर्यात्मजः शौर्यविवृद्धतेजाः
सरित्पतिर्वानिलचञ्चलोर्मिः ॥ २२ ॥

तदनन्तर जिनका सिंहनाद मेघकी गर्जनाके समान गम्भीर था और शौर्यके द्वारा जिनका तेज बढ़ा हुआ था, वे सुविख्यात सूर्यकुमार सुग्रीव बड़ी उतावलीके साथ बारंबार गर्जना करने लगे, मानो वायुके वेगसे चञ्चल हुई उत्ताल तरङ्ग-मालाओंसे सुशोभित सरिताओंका स्वामी समुद्र कोलाहल कर रहा हो ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें चौदहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशः सर्गः

सुग्रीवकी गर्जना सुनकर वालीका युद्धके लिये निकलना और ताराका उसे रोककर सुग्रीव और श्रीरामके साथ मैत्री कर लेनेके लिये समझाना

अथ तस्य निनादं तं सुग्रीवस्य महात्मनः ।
शुश्रावान्तःपुरगतो वाली भ्रातुरमर्षणः ॥ १ ॥

उस समय अमर्षशील वाली अपने अन्तःपुरमें था। उसने अपने भाई महामना सुग्रीवका वह सिंहनाद वहींसे सुना ॥

श्रुत्वा तु तस्य निनदं सर्वभूतप्रकम्पनम् ।
मदश्चैकपदे नष्टः क्रोधश्चापादितो महान् ॥ २ ॥

समस्त प्राणियोंको कम्पित कर देनेवाली उनकी वह गर्जना सुनकर उसका सारा मद सहसा उतर गया और उसे महान् क्रोध उत्पन्न हुआ ॥ २ ॥

ततो रोषपरीताङ्गो वाली स कनकप्रभः ।
उपरक्त इवादित्यः सद्यो निष्प्रभतां गतः ॥ ३ ॥

फिर तो सुवर्णके समान पीले रंगवाले वालीका सारा शरीर क्रोधसे तमतमा उठा। वह राहुग्रस्त सूर्यके समान तत्काल श्रीहीन दिखायी देने लगा ॥ ३ ॥

वाली दंष्ट्राकरालस्तु क्रोधाद् दीप्ताग्निलोचनः ।
भात्युत्पतितपद्माभः समृणाल इव ह्रदः ॥ ४ ॥

वालीकी दाढ़ें विकराल थीं, नेत्र क्रोधके कारण प्रज्वलित अग्निके समान उद्दीप्त हो रहे थे। वह उस तालाबके समान श्रीहीन दिखायी देता था, जिसमें कमलपुष्पोंकी शोभा तो नष्ट हो गयी हो और केवल मृणाल रह गये हों ॥ ४ ॥

शब्दं दुर्मर्षणं श्रुत्वा निष्पपात ततो हरिः ।
वेगेन च पदन्यासैर्दारयन्निव मेदिनीम् ॥ ५ ॥

वह दुःसह शब्द सुनकर वाली अपने पैरोंकी धमकसे पृथ्वीको विदीर्ण-सी करता हुआ बड़े वेगसे निकला ॥ ५ ॥

तं तु तारा परिष्वज्य स्नेहाद् दर्शितसौहृदा ।
उवाच त्रस्तसम्भ्रान्ता हितोदर्कमिदं वचः ॥ ६ ॥

उस समय वालीकी पत्नी तारा भयभीत हो घबरा उठी। उसने वालीको अपनी दोनों भुजाओंमें भर लिया और स्नेहसे सौहार्दका परिचय देते हुए परिणाममें हित करनेवाली यह बात कही ॥ ६ ॥

साधु क्रोधमिमं वीर नदीवेगमिवागतम् ।
शयनादुत्थितः काल्यं त्यज भुक्तामिव स्रजम् ॥ ७ ॥

'वीर! मेरी अच्छी बात सुनिये और सहसा आये हुए नदीके वेगकी भाँति इस बढ़े हुए क्रोधको त्याग दीजिये। जैसे प्रातःकाल शय्यासे उठा हुआ पुरुष रातको उपभोगमें लायी गयी पुष्पमालाका त्याग कर देता है; उसी प्रकार इस क्रोधका परित्याग कीजिये ॥ ७ ॥

काल्यमेतेन संग्रामं करिष्यसि च वानर ।
वीर ते शत्रुबाहुल्यं फल्गुता वा न विद्यते ॥ ८ ॥
सहसा तव निष्क्रामो मम तावन्न रोचते ।
श्रूयतामभिधास्यामि यन्निमित्तं निवार्यते ॥ ९ ॥

'वानरवीर! कल प्रातःकाल सुग्रीवके साथ युद्ध कीजियेगा (इस समय रुक जाइये) यद्यपि युद्धमें कोई शत्रु आपसे बढ़कर नहीं है और आप किसीसे छोटे नहीं हैं। तथापि इस समय सहसा आपका घरसे बाहर निकलना मुझे अच्छा नहीं लगता है, आपको रोकनेका एक विशेष कारण भी है। उसे बताती हूँ, सुनिये ॥ ८-९ ॥

पूर्वमापतितः क्रोधात् स त्वामाह्वयते युधि ।
निष्पत्य च निरस्तस्ते हन्यमानो दिशो गतः ॥ १० ॥

'सुग्रीव पहले भी यहाँ आये थे और क्रोधपूर्वक उन्होंने आपको युद्धके लिये ललकारा था। उस समय आपने नगरसे निकलकर उन्हें परास्त किया और वे आपकी

मार खाकर सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर भागते हुए मतङ्ग वनमें चले गये थे ॥ १० ॥

त्वया तस्य निरस्तस्य पीडितस्य विशेषतः ।
इहैत्य पुनराह्वानं शङ्कां जनयतीव मे ॥ ११ ॥

'इस प्रकार आपके द्वारा पराजित और विशेष पीड़ित होनेपर भी वे पुनः यहाँ आकर आपको युद्धके लिये ललकार रहे हैं। उनका यह पुनरागमन मेरे मनमें शङ्का-सी उत्पन्न कर रहा है ॥

दर्पश्च व्यवसायश्च यादृशस्तस्य नर्दतः ।
निनादस्य च संरम्भो नैतदल्पं हि कारणम् ॥ १२ ॥

'इस समय गर्जते हुए सुग्रीवका दर्प और उद्योग जैसा दिखायी देता है तथा उनकी गर्जनामें जो उत्तेजना जान पड़ती है, इसका कोई छोटा-मोटा कारण नहीं होना चाहिये ॥ १२ ॥

नासहायमहं मन्ये सुग्रीवं तमिहागतम् ।
अवष्टब्धसहायश्च यमाश्रित्यैष गर्जति ॥ १३ ॥

'मैं समझती हूँ सुग्रीव किसी प्रबल सहायकके बिना अबकी बार यहाँ नहीं आये हैं। किसी सबल सहायकको साथ लेकर ही आये हैं, जिसके बलपर ये इस तरह गरज रहे हैं ॥

प्रकृत्या निपुणश्चैव बुद्धिमांश्चैव वानरः ।
नापरीक्षितवीर्येण सुग्रीवः सख्यमेष्यति ॥ १४ ॥

'वानर सुग्रीव स्वभावसे ही कार्यकुशल और बुद्धिमान् हैं। वे किसी ऐसे पुरुषके साथ मैत्री नहीं करेंगे, जिसके बल और पराक्रमको अच्छी तरह परख न लिया हो ॥ १४ ॥

पूर्वमेव मया वीर श्रुतं कथयतो वचः ।
अङ्गदस्य कुमारस्य वक्ष्याम्यद्य हितं वचः ॥ १५ ॥

'वीर ! मैंने पहले ही कुमार अङ्गदके मुँहसे यह बात सुन ली है। इसलिये आज मैं आपके हितकी बात बताती हूँ ॥

अङ्गदस्तु कुमारोऽयं वनान्तमुपनिर्गतः ।
प्रवृत्तिस्तेन कथिता चारैरासीन्निवेदिता ॥ १६ ॥

'एक दिन कुमार अङ्गद वनमें गये थे। वहाँ गुप्तचरोंने उन्हें एक समाचार बताया, जो उन्होंने यहाँ आकर मुझसे भी कहा था ॥ १६ ॥

अयोध्याधिपतेः पुत्रौ शूरौ समरदुर्जयौ ।
इक्ष्वाकूणां कुले जातौ प्रथितौ रामलक्ष्मणौ ॥ १७ ॥

'वह समाचार इस प्रकार है—अयोध्यानरेशके दो शूरवीर पुत्र, जिन्हें युद्धमें जीतना अत्यन्त कठिन है, जिनका जन्म इक्ष्वाकुकुलमें हुआ है तथा जो श्रीराम और लक्ष्मणके नामसे प्रसिद्ध हैं, यहाँ वनमें आये हुए हैं ॥ १७ ॥

सुग्रीवप्रियकामार्थं प्राप्तौ तत्र दुरासदौ ।
स ते भ्रातुर्हि विख्यातः सहायो रणकर्मणि ॥ १८ ॥
रामः परबलामर्दी युगान्ताग्निरिवोत्थितः ।
निवासवृक्षः साधूनामापन्नानां परा गतिः ॥ १९ ॥

'वे दोनों दुर्जय वीर सुग्रीवका प्रिय करनेके लिये उनके पास पहुँच गये हैं। उन दोनोंमेंसे जो आपके भाईके युद्ध कर्ममें सहायक बताये गये हैं, वे श्रीराम शत्रुसेनाका संहार करनेवाले तथा प्रलयकालमें प्रज्वलित हुई अग्निके समान तेजस्वी हैं। वे साधु पुरुषोंके आश्रयदाता कल्पवृक्ष हैं और संकटमें पड़े हुए प्राणियोंके लिये सबसे बड़ा सहारा हैं ॥

आर्तानां संश्रयश्चैव यशसश्चैकभाजनम् ।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो निदेशे निरतः पितुः ॥ २० ॥

'आर्त पुरुषोंके आश्रय, यशके एकमात्र भाजन, ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न तथा पिताकी आज्ञामें स्थित रहनेवाले हैं ॥

धातूनामिव शैलेन्द्रो गुणानामाकरो महान् ।
तत् क्षमो न विरोधस्ते सह तेन महात्मना ॥ २१ ॥
दुर्जयेनाप्रमेयेण रामेण रणकर्मसु ।

'जैसे गिरिराज हिमालय नाना धातुओंकी खान है, उसी प्रकार श्रीराम उत्तम गुणोंके बहुत बड़े भंडार हैं। अतः उन महात्मा रामके साथ आपका विरोध करना कदापि उचित नहीं है। क्योंकि वे युद्धकी कलामें अपना सानी नहीं रखते हैं। उनपर विजय पाना अत्यन्त कठिन है ॥ २१½ ॥

शूर वक्ष्यामि ते किंचिन्न चेच्छाम्यभ्यसूयितुम् ॥ २२ ॥
श्रूयतां क्रियतां चैव तव वक्ष्यामि यद्धितम् ।

'शूरवीर ! मैं आपके गुणोंमें दोष देखना नहीं चाहती। अतः आपसे कुछ कहती हूँ। आपके लिये जो हितकर है, वही बता रही हूँ। आप उसे सुनिये और वैसा ही कीजिये ॥

यौवराज्येन सुग्रीवं तूर्णं साध्वभिषेचय ॥ २३ ॥
विग्रहं मा कृथा वीर भ्रात्रा राजन् यवीयसा ।

'अच्छा यही होगा कि आप सुग्रीवका शीघ्र ही युवराजके पदपर अभिषेक कर दीजिये। वीर वानरराज ! सुग्रीव आपके छोटे भाई हैं, उनके साथ युद्ध न कीजिये ॥ २३½ ॥

अहं हि ते क्षमं मन्ये तेन रामेण सौहृदम् ॥ २४ ॥
सुग्रीवेण च सम्प्रीतिं वैरमुत्सृज्य दूरतः ।

'मैं आपके लिये यही उचित समझती हूँ कि आप वैरभावको दूर हटाकर श्रीरामके साथ सौहार्द और सुग्रीवके साथ प्रेमका सम्बन्ध स्थापित कीजिये ॥ २४½ ॥

लालनीयो हि ते भ्राता यवीयानेष वानरः ॥ २५ ॥
तत्र वा सन्निहस्थो वा सर्वथा बन्धुरेव ते ।
नहि तेन समं बन्धुं भुवि पश्यामि कंचन ॥ २६ ॥

'वानर सुग्रीव आपके छोटे भाई हैं। अतः आपका लाड़-प्यार पानेके योग्य हैं। वे ऋष्यमूकपर रहें या किष्किन्धामें—सर्वथा आपके बन्धु ही हैं। मैं इस भूतलपर उनके समान बन्धु और किसीको नहीं देखती हूँ ॥ २५-२६ ॥

दानमानादिसत्कारैः कुरुष्व प्रत्यनन्तरम् ।
वैरमेतत् समुत्सृज्य तव पार्श्वे स तिष्ठतु ॥ २७ ॥

'आप दान-मान आदि सत्कारोंके द्वारा उन्हें अपना अत्यन्त अन्तरङ्ग बना लीजिये, जिससे वे इस वैरभावको छोड़कर आपके पास रह सकें ॥ २७ ॥

सुग्रीवो विपुलग्रीवो महाबन्धुर्मतस्तव ।
भ्रातृसौहृदमालम्ब्य नान्या गतिरिहास्ति ते ॥ २८ ॥

'पुष्ट ग्रीवावाले सुग्रीव आपके अत्यन्त प्रेमी बन्धु हैं, ऐसा मेरा मत है। इस समय भ्रातृप्रेमका सहारा लेनेके सिवा आपके लिये यहाँ दूसरी कोई गति नहीं है ॥ २८ ॥

यदि ते मत्प्रियं कार्यं यदि चावैषि मां हिताम् ।
याच्यमानः प्रियत्वेन साधु वाक्यं कुरुष्व मे ॥ २९ ॥

'यदि आपको मेरा प्रिय करना हो तथा आप मुझे अपनी हितकारिणी समझते हों तो मैं प्रेमपूर्वक याचना करती हूँ, आप मेरी यह नेक सलाह मान लीजिये ॥ २९ ॥

प्रसीद पथ्यं शृणु जल्पितं हि मे
न रोषमेवानुविधातुमर्हसि ।
क्षमो हि ते कोशलराजसूनुना
न विग्रहः शक्रसमानतेजसा ॥ ३० ॥

'स्वामिन्! आप प्रसन्न होइये। मैं आपके हितकी बात कहती हूँ। आप इसे ध्यान देकर सुनिये। केवल रोषका ही अनुसरण न कीजिये। कोसलराजकुमार श्रीराम इन्द्रके समान तेजस्वी हैं। उनके साथ वैर बाँधना या युद्ध छेड़ना आपके लिये कदापि उचित नहीं है' ॥ ३० ॥

तदा हि तारा हितमेव वाक्यं
तं वालिनं पथ्यमिदं बभाषे ।
न रोचते तद् वचनं हि तस्य
कालाभिपन्नस्य विनाशकाले ॥ ३१ ॥

उस समय ताराने वालीसे उसके हितकी ही बात कही थी और वह लाभदायक भी थी। किंतु उसकी बात उसे नहीं रुची। क्योंकि उसके विनाशका समय निकट था और वह कालके पाशमें बँध चुका था ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें पंद्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १५ ॥

षोडशः सर्गः

वालीका ताराको डाँटकर लौटाना और सुग्रीवसे जूझना तथा श्रीरामके बाणसे घायल होकर पृथ्वीपर गिरना

तामेवं ब्रुवतीं तारां ताराधिपनिभाननाम् ।
वाली निर्भर्त्सयामास वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥

तारापति चन्द्रमाके समान मुखवाली ताराको ऐसी बातें करती देख वालीने उसे फटकारा और इस प्रकार कहा— ॥

गर्जतोऽस्य सुसंरब्धं भ्रातुः शत्रोर्विशेषतः ।
मर्षयिष्यामि केनापि कारणेन वरानने ॥ २ ॥

'वरानने! इस गर्जते हुए भाईकी, जो विशेषतः मेरा शत्रु है, यह उत्तेजनापूर्ण चेष्टा मैं किस कारणसे सहन करूँगा ॥

अधर्षितानां शूराणां समरेष्वनिवर्तिनाम् ।
धर्षणामर्षणं भीरु मरणादतिरिच्यते ॥ ३ ॥

'भीरु! जो कभी परास्त नहीं हुए और जिन्होंने युद्धके अवसरोंपर कभी पीठ नहीं दिखायी, उन शूरवीरोंके लिये शत्रुकी ललकार सह लेना मृत्युसे भी बढ़कर दुःखदायी होता है ॥ ३ ॥

सोढुं न च समर्थोऽहं युद्धकामस्य संयुगे ।
सुग्रीवस्य च संरम्भं हीनग्रीवस्य गर्जितम् ॥ ४ ॥

'यह हीन ग्रीवावाला सुग्रीव संग्रामभूमिमें मेरे साथ युद्धकी इच्छा रखता है। मैं इसके रोषावेश और गर्जन-तर्जनको सहन करनेमें असमर्थ हूँ ॥ ४ ॥

न च कार्यो विषादस्ते राघवं प्रति मत्कृते ।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च कथं पापं करिष्यति ॥ ५ ॥

'श्रीरामचन्द्रजीकी बात सोचकर भी तुम्हें मेरे लिये विषाद नहीं करना चाहिये। क्योंकि वे धर्मके ज्ञाता तथा कर्तव्याकर्तव्यको समझनेवाले हैं। अतः पाप कैसे करेंगे ॥

निवर्तस्व सह स्त्रीभिः कथं भूयोऽनुगच्छसि ।
सौहृदं दर्शितं तावन्मयि भक्तिस्त्वया कृता ॥ ६ ॥
प्रतियोत्स्याम्यहं गत्वा सुग्रीवं जहि सम्भ्रमम् ।
दर्पं चास्य विनेष्यामि न च प्राणैर्वियोक्ष्यते ॥ ७ ॥

'तुम इन स्त्रियोंके साथ लौट जाओ। क्यों मेरे पीछे बार-बार आ रही हो। तुमने मेरे प्रति अपना स्नेह दिखाया। भक्तिका भी परिचय दे दिया। अब जाओ, घबराहट छोड़ो। मैं आगे बढ़कर सुग्रीवका सामना करूँगा। उसके घमण्डको चूर-चूर कर डालूँगा। किंतु प्राण नहीं लूँगा ॥ ६-७ ॥

अहं ह्याजिस्थितस्यास्य करिष्यामि यदीप्सितम् ।
वृक्षैर्मुष्टिप्रहारैश्च पीडितः प्रतियास्यति ॥ ८ ॥

'युद्धके मैदानमें खड़े हुए सुग्रीवकी जो-जो इच्छा है, उसे मैं पूर्ण करूँगा। वृक्षों और मुक्कोंकी मारसे पीड़ित होकर वह स्वयं ही भाग जायगा ॥ ८ ॥

न मे गर्वितमायस्तं सहिष्यति दुरात्मवान् ।
कृतं तारे सहायत्वं दर्शितं सौहृदं मयि ॥ ९ ॥

'तारे! दुरात्मा सुग्रीव मेरे युद्धविषयक दर्प और आयास (उद्योग) को नहीं सह सकेगा। तुमने मेरी बौद्धिक सहायता अच्छी तरह कर दी और मेरे प्रति अपना सौहार्द भी दिखा दिया ॥

शापितासि मम प्राणैर्निवर्तस्व जनेन च ।
अलं जित्वा निवर्तिष्ये तमहं भ्रातरं रणे ॥ १० ॥

'अब मैं प्राणोंकी सौगन्ध दिलाकर कहता हूँ कि अब तुम इन स्त्रियोंके साथ लौट जाओ अब अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है, मैं युद्धमें अपने उस भाईको जीतकर लौट आऊँगा' ॥ १० ॥

तं तु तारा परिष्वज्य वालिनं प्रियवादिनी।
चकार रुदती मन्दं दक्षिणा सा प्रदक्षिणम्॥ ११॥

यह सुनकर अत्यन्त उदार स्वभाववाली ताराने वालीका आलिङ्गन करके मन्द स्वरमें रोते-रोते उसकी परिक्रमा की॥

ततः स्वस्त्ययनं कृत्वा मन्त्रविद् विजयैषिणी।
अन्तःपुरं सह स्त्रीभिः प्रविष्टा शोकमोहिता॥ १२॥

वह पतिकी विजय चाहती थी और उसे मन्त्रका भी ज्ञान था। इसलिये उसने वालीकी मङ्गल कामनासे स्वस्तिवाचन किया और शोकसे मोहित हो वह अन्य स्त्रियोंके साथ अन्तःपुरको चली गयी॥ १२॥

प्रविष्टायां तु तारायां सह स्त्रीभिः स्वमालयम्।
नगर्या निर्ययौ क्रुद्धो महासर्प इव श्वसन्॥ १३॥

स्त्रियोंसहित ताराके अपने महलमें चले जानेपर वाली क्रोधसे भरे हुए महान् सर्पकी भाँति लम्बी साँस खींचता हुआ नगरसे बाहर निकला॥ १३॥

स निःश्वस्य महारोषो वाली परमवेगवान्।
सर्वतश्चारयन् दृष्टिं शत्रुदर्शनकाङ्क्षया॥ १४॥

महान् रोषसे युक्त और अत्यन्त वेगशाली वाली लम्बी साँस छोड़कर शत्रुको देखनेकी इच्छासे चारों ओर अपनी दृष्टि दौड़ाने लगा॥ १४॥

स ददर्श ततः श्रीमान् सुग्रीवं हेमपिङ्गलम्।
सुसंवीतमवष्टब्धं दीप्यमानमिवानलम्॥ १५॥

इतनेहीमें श्रीमान् वालीने सुवर्णके समान पिङ्गल वर्णवाले सुग्रीवको देखा, जो लँगोट बाँधकर युद्धके लिये डटकर खड़े थे और प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे॥

तं स दृष्ट्वा महाबाहुः सुग्रीवं पर्यवस्थितम्।
गाढं परिदधे वासो वाली परमकोपनः॥ १६॥

सुग्रीवको खड़ा देख महाबाहु वाली अत्यन्त कुपित हो उठा। उसने अपना लँगोट भी दृढ़ताके साथ बाँध लिया॥

स वाली गाढसंवीतो मुष्टिमुद्यम्य वीर्यवान्।
सुग्रीवमेवाभिमुखो ययौ योद्धुं कृतक्षणः॥ १७॥

लँगोटको मजबूतीके साथ कसकर पराक्रमी वाली प्रहारका अवसर देखता हुआ मुक्का तानकर सुग्रीवकी ओर चला॥

श्लिष्टं मुष्टिं समुद्यम्य संरब्धतरमागतः।
सुग्रीवोऽपि समुद्दिश्य वालिनं हेममालिनम्॥ १८॥

सुग्रीव भी सुवर्णमालाधारी वालीके उद्देश्यसे बँधा हुआ मुक्का ताने बड़े आवेशके साथ उसकी ओर बढ़े॥ १८॥

तं वाली क्रोधताम्राक्षः सुग्रीवं रणकोविदम्।
आपतन्तं महावेगमिदं वचनमब्रवीत्॥ १९॥

युद्धकलाके पण्डित महावेगशाली सुग्रीवको अपनी ओर आते देख वालीकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं और वह इस प्रकार बोला— ॥ १९॥

एष मुष्टिर्महान् बद्धो गाढः सुनियताङ्गुलिः।
मया वेगविमुक्तस्ते प्राणानादाय यास्यति॥ २०॥

'सुग्रीव! देख ले। यह बड़ा भारी मुक्का खूब कसकर बँधा हुआ है। इसमें सारी अङ्गुलियाँ सुनियन्त्रितरूपसे परस्पर सटी हुई हैं। मेरे द्वारा वेगपूर्वक चलाया हुआ यह मुक्का तेरे प्राण लेकर ही जायगा'॥ २०॥

एवमुक्तस्तु सुग्रीवः क्रुद्धो वालिनमब्रवीत्।
तव चैष हरन् प्राणान् मुष्टिः पततु मूर्धनि॥ २१॥

वालीके ऐसा कहनेपर सुग्रीव क्रोधपूर्वक उससे बोले— 'मेरा यह मुक्का भी तेरे प्राण लेनेके लिये तेरे मस्तकपर गिरे'॥

ताडितस्तेन तं क्रुद्धः समभिक्रम्य वेगतः।
अभवच्छोणितोद्गारी सापीड इव पर्वतः॥ २२॥

इतनेहीमें वालीने वेगपूर्वक आक्रमण करके सुग्रीवपर मुक्केका प्रहार किया। उस चोटसे घायल एवं कुपित हुए सुग्रीव झरनोंसे युक्त पर्वतकी भाँति मुँहसे रक्त वमन करने लगे॥

सुग्रीवेण तु निःशङ्कं सालमुत्पाट्य तेजसा।
गात्रेष्वभिहतो वाली वज्रेणेव महागिरिः॥ २३॥

तत्पश्चात् सुग्रीवने भी निःशङ्क होकर बलपूर्वक एक सालवृक्षको उखाड़ लिया और उसे वालीके शरीरपर दे मारा, मानो इन्द्रने किसी विशाल पर्वतपर वज्रका प्रहार किया हो॥ २३॥

स तु वृक्षेण निर्भग्नः सालताडनविह्वलः।
गुरुभारभराक्रान्ता नौः ससार्थेव सागरे॥ २४॥

उस वृक्षकी चोटसे वालीके शरीरमें घाव हो गया। उस आघातसे विह्वल हुआ वाली व्यापारियोंके समूहके चढ़नेसे भारी भारके द्वारा दबकर समुद्रमें डगमगाती हुई नौकाके समान काँपने लगा॥ २४॥

तौ भीमबलविक्रान्तौ सुपर्णसमवेगितौ।
प्रवृद्धौ घोरवपुषौ चन्द्रसूर्याविवाम्बरे॥ २५॥

उन दोनों भाइयोंका बल और पराक्रम भयंकर था। दोनोंके ही वेग गरुड़के समान थे। वे दोनों भयंकर रूप धारण करके बड़े जोरसे जूझ रहे थे और पूर्णिमाके आकाशमें चन्द्रमा और सूर्यके समान दिखायी देते थे॥ २५॥

परस्परममित्रघ्नौ छिद्रान्वेषणतत्परौ।
ततोऽवर्धत वाली तु बलवीर्यसमन्वितः॥ २६॥
सूर्यपुत्रो महावीर्यः सुग्रीवः परिहीयत।

वे शत्रुसूदन वीर अपने विपक्षीको मार डालनेकी इच्छासे एक-दूसरेकी दुर्बलता ढूँढ़ रहे थे; परंतु उस युद्धमें बल-विक्रमसम्पन्न वाली बढ़ने लगा और महापराक्रमी सूर्यपुत्र सुग्रीवकी शक्ति क्षीण होने लगी॥ २६½॥

वालिना भग्नदर्पस्तु सुग्रीवो मन्दविक्रमः ॥ २७ ॥
वालिनं प्रति सामर्षो दर्शयामास राघवम् ।

वालीने सुग्रीवका घमण्ड चूर्ण कर दिया। उनका पराक्रम मन्द पड़ने लगा। तब वालीके प्रति अमर्षमें भरे हुए सुग्रीवने श्रीरामचन्द्रजीको अपनी अवस्थाका लक्ष्य कराया ॥ २७½ ॥

वृक्षैः सशाखैः शिखरैर्वज्रकोटिनिभैर्नखैः ॥ २८ ॥
मुष्टिभिर्जानुभिः पद्भिर्बाहुभिश्च पुनः पुनः ।
तयोर्युद्धमभूद्घोरं वृत्रवासवयोरिव ॥ २९ ॥

इसके बाद डालियोंसहित वृक्षों, पर्वतके शिखरों, वज्रके समान भयंकर नखों, मुक्कों, घुटनों, लातों और हाथोंकी मारसे उन दोनोंमें इन्द्र और वृत्रासुरकी भाँति भयंकर संग्राम होने लगा ॥

तौ शोणिताक्तौ युध्येतां वानरौ वनचारिणौ ।
मेघाविव महाशब्दैस्तर्जमानौ परस्परम् ॥ ३० ॥

वे दोनों वनचारी वानर लहूलुहान होकर लड़ रहे थे और दो बादलोंकी तरह अत्यन्त भयंकर गर्जना करते हुए एक-दूसरेको डाँट रहे थे ॥ ३० ॥

हीयमानमथापश्यत् सुग्रीवं वानरेश्वरम् ।
प्रेक्षमाणं दिशश्चैव राघवः स मुहुर्मुहुः ॥ ३१ ॥

श्रीरघुनाथजीने देखा, वानरराज सुग्रीव कमजोर पड़ रहे हैं और बारंबार इधर-उधर दृष्टि दौड़ा रहे हैं ॥ ३१ ॥

ततो रामो महातेजा आर्तं दृष्ट्वा हरीश्वरम् ।
स शरं वीक्षते वीरो वालिनो वधकाङ्क्षया ॥ ३२ ॥

वानरराजको पीड़ित देख महातेजस्वी श्रीरामने वालीके वधकी इच्छासे अपने बाणपर दृष्टिपात किया ॥ ३२ ॥

ततो धनुषि संधाय शरमाशीविषोपमम् ।
पूरयामास तच्चापं कालचक्रमिवान्तकः ॥ ३३ ॥

उन्होंने अपने धनुषपर विषधर सर्पके समान भयंकर बाण रखा और उसे जोरसे खींचा, मानो यमराजने कालचक्र उठा लिया हो ॥ ३३ ॥

तस्य ज्यातलघोषेण त्रस्ताः पत्ररथेश्वराः ।
प्रदुद्रुवुर्मृगाश्चैव युगान्त इव मोहिताः ॥ ३४ ॥

उसकी प्रत्यञ्चाकी टङ्कारध्वनिसे भयभीत हो बड़े-बड़े पक्षी और मृग भाग खड़े हुए। वे प्रलयकालके समय मोहित हुए जीवोंके समान किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये ॥ ३४ ॥

मुक्तस्तु वज्रनिर्घोषः प्रदीप्ताशनिसंनिभः ।
राघवेण महाबाणो वालिवक्षसि पातितः ॥ ३५ ॥

श्रीरघुनाथजीने वज्रकी भाँति गड़गड़ाहट और प्रज्वलित अशनिकी भाँति प्रकाश पैदा करनेवाला वह महान् बाण छोड़ दिया तथा उसके द्वारा वालीके वक्षःस्थलपर चोट पहुँचायी ॥

ततस्तेन महातेजा वीर्ययुक्तः कपीश्वरः ।
वेगेनाभिहतो वाली निपपात महीतले ॥ ३६ ॥

उस बाणसे वेगपूर्वक आहत हो महातेजस्वी पराक्रमी वानरराज वाली तत्काल पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ३६ ॥

इन्द्रध्वज इवोद्धूतः पौर्णमास्यां महीतले ।
आश्वयुक्समये मासि गतश्रीको विचेतनः ।
बाष्पसंरुद्धकण्ठस्तु वाली चार्तस्वरः शनैः ॥ ३७ ॥

आश्विनकी पूर्णिमाके दिन इन्द्रध्वजोत्सवके अन्तमें ऊपर फेंका गया इन्द्रध्वज जैसे पृथ्वीपर गिर पड़ता है, उसी प्रकार वाली ग्रीष्मऋतुके अन्तमें श्रीहीन, अचेत और आँसुओंसे गद्गदकण्ठ हो धराशायी हो गया और धीरे-धीरे आर्तनाद करने लगा ॥

नरोत्तमः कालयुगान्तकोपमं
शरोत्तमं काञ्चनरूप्यभूषितम् ।
ससर्ज दीप्तं तममित्रमर्दनं
सधूममग्निं मुखतो यथा हरः ॥ ३८ ॥

श्रीरामका वह उत्तम बाण युगान्तकालके समान भयंकर तथा सोने-चाँदीसे विभूषित था। पूर्वकालमें महादेवजीने जैसे अपने मुखसे (मुख-मण्डलके अन्तर्गत ललाटवर्ती नेत्रसे) शत्रुभूत कामदेवका नाश करनेके लिये धूमयुक्त अग्निकी सृष्टि की थी, उसी प्रकार पुरुषोत्तम श्रीरामने सुग्रीवशत्रु वालीका मर्दन करनेके लिये उस प्रज्वलित बाणको छोड़ा था ॥ ३८ ॥

अथोक्षितः शोणिततोयविस्रवैः
सुपुष्पिताशोक इवानिलोद्धतः ।
विचेतनो वासवसूनुराहवे
प्रभ्रंशितेन्द्रध्वजवत् क्षितिं गतः ॥ ३९ ॥

इन्द्रकुमार वालीके शरीरसे पानीके समान रक्तकी धारा बहने लगी। वह उसमें नहा गया और अचेत हो वायुके उखाड़े हुए पुष्पित अशोकवृक्ष एवं आकाशसे नीचे गिरे हुए इन्द्रध्वजके समान समराङ्गणमें पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ३९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें सोलहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १६ ॥

सप्तदशः सर्गः

वालीका श्रीरामचन्द्रजीको फटकारना

ततः शरेणाभिहतो रामेण रणकर्कशः ।
पपात सहसा वाली निकृत्त इव पादपः ॥ १ ॥

युद्धमें कठोरता दिखानेवाला वाली श्रीरामके बाणसे घायल हो कटे वृक्षकी भाँति सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १ ॥

स भूमौ न्यस्तसर्वाङ्गस्तप्तकाञ्चनभूषणः ।
अपतद् देवराजस्य मुक्तरश्मिरिव ध्वजः ॥ २ ॥

उसका सारा शरीर पृथ्वीपर पड़ा हुआ था। तपाये हुए सुवर्णके आभूषण अब भी उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। वह देवराज इन्द्रके बन्धनरहित ध्वजकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा था ॥ २ ॥

अस्मिन् निपतिते भूमौ हर्यृक्षाणां गणेश्वरे।
नष्टचन्द्रमिव व्योम न व्यराजत मेदिनी ॥ ३ ॥

वानरों और भालुओंके यूथपति वालीके धराशायी हो जानेपर यह पृथ्वी चन्द्ररहित आकाशकी भाँति शोभाहीन हो गयी ॥ ३ ॥

भूमौ निपतितस्यापि तस्य देहं महात्मनः।
न श्रीर्जहाति न प्राणा न तेजो न पराक्रमः ॥ ४ ॥

पृथ्वीपर पड़े होनेपर भी महामना वालीके शरीरको शोभा, प्राण, तेज और पराक्रम नहीं छोड़ सके थे ॥ ४ ॥

शक्रदत्ता वरा माला काञ्चनी रत्नभूषिता।
दधार हरिमुख्यस्य प्राणांस्तेजः श्रियं च सा ॥ ५ ॥

इन्द्रकी दी हुई रत्नजटित श्रेष्ठ सुवर्णमाला उस वानरराजके प्राण, तेज और शोभाको धारण किये हुए थी ॥ ५ ॥

स तया मालया वीरो हैमया हरियूथपः।
संध्यानुगतपर्यन्तः पयोधर इवाभवत् ॥ ६ ॥

उस सुवर्णमालासे विभूषित हुआ वानरयूथपति वीर वाली संध्याकी लालीसे रँगे हुए प्रान्त भागवाले मेघखण्डके समान शोभा पा रहा था ॥ ६ ॥

तस्य माला च देहश्च मर्मघाती च यः शरः।
त्रिधेव रचिता लक्ष्मीः पतितस्यापि शोभते ॥ ७ ॥

पृथ्वीपर गिरे होनेपर भी वालीकी वह सुवर्णमाला, उसका शरीर तथा मर्मस्थलको विदीर्ण करनेवाला वह बाण—ये तीनों पृथक्-पृथक् तीन भागोंमें विभक्त की हुई अङ्गलक्ष्मीके समान शोभा पा रहे थे ॥ ७ ॥

तदस्त्रं तस्य वीरस्य स्वर्गमार्गप्रभावनम्।
रामबाणासनक्षिप्तमावहत् परमां गतिम् ॥ ८ ॥

वीरवर श्रीरामके धनुषसे चलाये गये उस अस्त्रने वालीके लिये स्वर्गका मार्ग प्रकाशित कर दिया और उसे परमपदको पहुँचा दिया ॥ ८ ॥

तं तथा पतितं संख्ये गतार्चिषमिवानलम्।
ययातिमिव पुण्यान्ते देवलोकादिह च्युतम् ॥ ९ ॥
आदित्यमिव कालेन युगान्ते भुवि पातितम्।
महेन्द्रमिव दुर्धर्षमुपेन्द्रमिव दुःसहम् ॥ १० ॥
महेन्द्रपुत्रं पतितं वालिनं हेममालिनम्।
व्यूढोरस्कं महाबाहुं दीप्तास्यं हरिलोचनम् ॥ ११ ॥

इस प्रकार युद्धस्थलमें गिरा हुआ इन्द्रपुत्र वाली ज्वालारहित अग्निके समान, पुण्योंका क्षय होनेपर पुण्यलोकसे इस पृथ्वीपर गिरे हुए राजा ययातिके समान तथा महाप्रलयके समय कालद्वारा पृथ्वीपर गिराये गये सूर्यके समान जान पड़ता था। उसके गलेमें सोनेकी माला शोभा दे रही थी। वह महेन्द्रके समान दुर्जय और भगवान् विष्णुके समान दुस्सह था। उसकी छाती चौड़ी, भुजाएँ बड़ी-बड़ी मुख दीप्तिमान् और नेत्र कपिलवर्णके थे ॥ ९—११ ॥

लक्ष्मणानुचरो रामो ददर्शोपससर्प च।
तं तथा पतितं वीरं गतार्चिषमिवानलम् ॥ १२ ॥
बहुमान्य च तं वीरं वीक्षमाणं शनैरिव।
उपयातौ महावीर्यौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ १३ ॥

लक्ष्मणको साथ लिये श्रीरामने वालीको इस अवस्थामें देखा और वे उसके समीप गये। इस प्रकार ज्वालारहित अग्नि की भाँति वहाँ गिरा हुआ वह वीर धीरे-धीरे देख रहा था। महापराक्रमी दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण उस वीरका विशेष सम्मान करते हुए उसके पास गये ॥ १२-१३ ॥

तं दृष्ट्वा राघवं वाली लक्ष्मणं च महाबलम्।
अब्रवीत् परुषं वाक्यं प्रश्रितं धर्मसंहितम् ॥ १४ ॥

उन श्रीराम तथा महाबली लक्ष्मणको देखकर वाली धर्म और विनयसे युक्त कठोर वाणीमें बोला— ॥ १४ ॥

स भूमावल्पतेजोऽसुर्निहतो नष्टचेतनः।
अर्थसंहितया वाचा गर्वितं रणगर्वितम् ॥ १५ ॥

अब उसमें तेज और प्राण स्वल्पमात्रामें ही रह गये थे। वह बाणसे घायल होकर पृथ्वीपर पड़ा था और उसकी चेष्टा धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही थी। उसने युद्धमें गर्वयुक्त पराक्रम प्रकट करनेवाले गर्वीले श्रीरामसे कठोर वाणीमें इस प्रकार कहना आरम्भ किया— ॥ १५ ॥

त्वं नराधिपतेः पुत्रः प्रथितः प्रियदर्शनः।
पराङ्मुखवधं कृत्वा कोऽत्र प्राप्तस्त्वया गुणः।
यदहं युद्धसंरब्धस्त्वत्कृते निधनं गतः ॥ १६ ॥

रघुनन्दन! आप राजा दशरथके सुविख्यात पुत्र हैं। आपका दर्शन सबको प्रिय है। मैं आपसे युद्ध करने नहीं आया था। मैं तो दूसरेके साथ युद्धमें उलझा हुआ था। उस दशामें आपने मेरा वध करके यहाँ कौन-सा गुण प्राप्त किया है—किस महान् यशका उपार्जन किया है? क्योंकि मैं युद्धके लिये दूसरेपर रोष प्रकट कर रहा था, किंतु आपके कारण बीचमें ही मृत्युको प्राप्त हुआ ॥ १६ ॥

कुलीनः सत्त्वसम्पन्नस्तेजस्वी चरितव्रतः।
रामः करुणवेदी च प्रजानां च हिते रतः ॥ १७ ॥
सानुक्रोशो महोत्साहः समयज्ञो दृढव्रतः।
इत्येतत् सर्वभूतानि कथयन्ति यशो भुवि ॥ १८ ॥

इस भूतलपर सब प्राणी आपके यशका वर्णन करते हुए कहते हैं— श्रीरामचन्द्रजी कुलीन, सत्त्वगुणसम्पन्न, तेजस्वी, उत्तम व्रतका आचरण करनेवाले, करुणाका अनुभव करनेवाले, प्रजाके हितैषी, दयालु, महान् उत्साही, समयोचित कार्य एवं सदाचारके ज्ञाता और दृढ़प्रतिज्ञ हैं ॥ १७-१८ ॥

दमः शमः क्षमा धर्मो धृतिः सत्यं पराक्रमः ।
पार्थिवानां गुणा राजन् दण्डश्चाप्यपकारिषु ॥ १९ ॥

'राजन् इन्द्रियनिग्रह, मनका संयम, क्षमा, धर्म, धैर्य, सत्य, पराक्रम तथा अपराधियोंको दण्ड देना—ये राजाके गुण हैं ॥

तान् गुणान् सम्प्रधार्याहमग्र्यं चाभिजनं तव ।
तारया प्रतिषिद्धः सन् सुग्रीवेण समागतः ॥ २० ॥

'मैं आपमें इन सभी सद्गुणोंका विश्वास करके आपके उत्तम कुलको यादकर ताराके मना करनेपर भी सुग्रीवके साथ लड़ने आ गया ॥ २० ॥

न मामन्येन संरब्धं प्रमत्तं वेद्धुमर्हसि ।
इति मे बुद्धिरुत्पन्ना बभूवादर्शने तव ॥ २१ ॥

जबतक मैंने आपको नहीं देखा था, तबतक मेरे मनमें यही विचार उठता था कि दूसरेके साथ रोषपूर्वक जूझते हुए मुझको आप असावधान अवस्थामें अपने बाणसे बेधना उचित नहीं समझेंगे ॥ २१ ॥

स त्वां विनिहतात्मानं धर्मध्वजमधार्मिकम् ।
जाने पापसमाचारं तृणैः कूपमिवावृतम् ॥ २२ ॥

'परंतु आज मुझे मालूम हुआ कि आपकी बुद्धि मारी गयी है। आप धर्मध्वजी हैं। दिखावेके लिये धर्मका चोला पहने हुए हैं। वास्तवमें अधर्मी हैं। आपका आचार-व्यवहार पापपूर्ण है। आप घास-फूससे ढके हुए कूपके समान धोखा देनेवाले हैं ॥ २२ ॥

सतां वेषधरं पापं प्रच्छन्नमिव पावकम् ।
नाहं त्वामभिजानामि धर्मच्छद्माभिसंवृतम् ॥ २३ ॥

'आपने साधु पुरुषोंका-सा वेश धारण कर रखा है; परंतु हैं पापी। राखसे ढकी हुई आगके समान आपका असली रूप साधु-वेषमें छिप गया है। मैं नहीं जानता था कि आपने लोगोंको छलनेके लिये ही धर्मकी आड़ ली है ॥ २३ ॥

विषये वा पुरे वा ते यदा पापं करोम्यहम् ।
न च त्वामवजानेऽहं कस्मात् तं हंस्यकिल्बिषम् ॥ २४ ॥

'जब मैं आपके राज्य या नगरमें कोई उपद्रव नहीं कर रहा था तथा आपका भी तिरस्कार नहीं करता था, तब आपने मुझ निरपराधको क्यों मारा? ॥ २४ ॥

फलमूलाशनं नित्यं वानरं वनगोचरम् ।
मामिहाप्रतियुध्यन्तमन्येन च समागतम् ॥ २५ ॥

'मैं सदा फल-मूलका भोजन करनेवाला और वनमें ही विचरनेवाला वानर हूँ। मैं यहाँ आपसे युद्ध नहीं करता था, दूसरेके साथ मेरी लड़ाई हो रही थी। फिर बिना अपराधके आपने मुझे क्यों मारा? ॥ २५ ॥

त्वं नराधिपतेः पुत्रः प्रतीतः प्रियदर्शनः ।
लिङ्गमप्यस्ति ते राजन् दृश्यते धर्मसंहितम् ॥ २६ ॥

'राजन्! आप एक सम्माननीय नरेशके पुत्र हैं। विश्वासके योग्य हैं और देखनेमें भी प्रिय हैं। आपमें धर्मका साधनभूत चिह्न (जटा) वल्कल धारण आदि भी प्रत्यक्ष दिखायी देता है ॥ २६ ॥

कः क्षत्रियकुले जातः श्रुतवान् नष्टसंशयः ।
धर्मलिङ्गप्रतिच्छन्नः क्रूरं कर्म समाचरेत् ॥ २७ ॥

'क्षत्रियकुलमें उत्पन्न शास्त्रका ज्ञाता, संशयरहित तथा धार्मिक वेश-भूषासे आच्छन्न होकर भी कौन मनुष्य ऐसा क्रूरतापूर्ण कर्म कर सकता है ॥ २७ ॥

त्वं राघवकुले जातो धर्मवानिति विश्रुतः ।
अभव्यो भव्यरूपेण किमर्थं परिधावसे ॥ २८ ॥

'महाराज! रघुके कुलमें आपका प्रादुर्भाव हुआ है। आप धर्मात्माके रूपमें प्रसिद्ध हैं तो भी इतने अभव्य (क्रूर) निकले! यदि यही आपका असली रूप है तो फिर किस लिये ऊपरसे भव्य (विनीत एवं दयालु) साधु पुरुषका-सा रूप धारण करके चारों ओर दौड़ते-फिरते हैं? ॥ २८ ॥

साम दानं क्षमा धर्मः सत्यं धृतिपराक्रमौ ।
पार्थिवानां गुणा राजन् दण्डश्चाप्यपकारिषु ॥ २९ ॥

'राजन्! साम, दान, क्षमा, धर्म, सत्य, धृति, पराक्रम और अपराधियोंको दण्ड देना—ये भूपालोंके गुण हैं ॥

वयं वनचरा राम मृगा मूलफलाशिनः ।
एषा प्रकृतिरस्माकं पुरुषस्त्वं नरेश्वर ॥ ३० ॥

'नरेश्वर राम! हम फल-मूल खानेवाले वनचारी मृग हैं। यही हमारी प्रकृति है; किंतु आप तो पुरुष (मनुष्य) हैं (अतः हमारे और आपमें वैरका कोई कारण नहीं है) ॥

भूमिर्हिरण्यं रूप्यं च विग्रहे कारणानि च ।
तत्र कस्ते वने लोभो मदीयेषु फलेषु वा ॥ ३१ ॥

'पृथ्वी सोना और चाँदी—इन्हीं वस्तुओंके लिये राजाओंमें परस्पर युद्ध होते हैं। ये ही तीन कलहके मूल कारण हैं। परंतु यहाँ वे भी नहीं हैं। इस दिशामें इस वनमें या हमारे फलोंमें आपका क्या लोभ हो सकता है ॥ ३१ ॥

नयश्च विनयश्चोभौ निग्रहानुग्रहावपि ।
राजवृत्तिरसंकीर्णा न नृपाः कामवृत्तयः ॥ ३२ ॥

'नीति और विनय, दण्ड और अनुग्रह—ये राजधर्म हैं, किंतु इनके उपयोगके भिन्न-भिन्न अवसर हैं (इनका अविवेकपूर्वक उपयोग करना उचित नहीं है)। राजाओंको स्वेच्छाचारी नहीं होना चाहिये ॥ ३२ ॥

त्वं तु कामप्रधानश्च कोपनश्चानवस्थितः ।
राजवृत्तेषु संकीर्णः शरासनपरायणः ॥ ३३ ॥

'परंतु आप तो कामके गुलाम, क्रोधी और मर्यादामें स्थित न रहनेवाले—चञ्चल हैं। नय-विनय आदि जो राजाओंके धर्म हैं, उनके अवसरका विचार किये बिना ही किसीका कहीं भी प्रयोग कर देते हैं। जहाँ कहीं भी बाण चलाते-फिरते हैं ॥ ३३ ॥

न तेऽस्त्यपचितिर्धर्मे नार्थे बुद्धिरवस्थिता ।
इन्द्रियैः कामवृत्तः सन् कृष्यसे मनुजेश्वर ॥ ३४ ॥

'आपका धर्मके विषयमें आदर नहीं है और न अर्थसाधनमें ही आपकी बुद्धि स्थिर है। नरेश्वर! आप स्वेच्छाचारी हैं। इसलिये आपकी इन्द्रियाँ आपको कहीं भी खींच ले जाती हैं॥ ३४॥

हत्वा बाणेन काकुत्स्थ मामिहानपराधिनम्।
किं वक्ष्यसि सतां मध्ये कर्म कृत्वा जुगुप्सितम्॥ ३५॥

'काकुत्स्थ! मैं सर्वथा निरपराध था तो भी यहाँ मुझे बाणसे मारनेका घृणित कर्म करके सत्पुरुषोंके बीचमें आप क्या कहेंगे॥ ३५॥

राजहा ब्रह्महा गोघ्नश्चोरः प्राणिवधे रतः।
नास्तिकः परिवेत्ता च सर्वे निरयगामिनः॥ ३६॥

'राजाका वध करनेवाला, ब्रह्म-हत्यारा, गोघाती, चोर, प्राणियोंकी हिंसामें तत्पर रहनेवाला, नास्तिक और परिवेत्ता (बड़े भाईके अविवाहित रहते अपना विवाह करनेवाला छोटा भाई) ये सब-के-सब नरकगामी होते हैं॥ ३६॥

सूचकश्च कदर्यश्च मित्रघ्नो गुरुतल्पगः।
लोकं पापात्मनामेते गच्छन्ते नात्र संशयः॥ ३७॥

'चुगली खानेवाला, लोभी, मित्र-हत्यारा तथा गुरुपत्नी-गामी—ये पापात्माओंके लोकमें जाते हैं— इसमें संशय नहीं है॥ ३७॥

अधार्यं चर्म मे सद्भी रोमाण्यस्थि च वर्जितम्।
अभक्ष्याणि च मांसानि त्वद्विधैर्धर्मचारिभिः॥ ३८॥

'हम वानरोंका चमड़ा भी तो सत्पुरुषोंके धारण करने-योग्य नहीं होता। हमारे रोम और हड्डियाँ भी वर्जित हैं (छूने-योग्य नहीं हैं। आप-जैसे धर्माचारी पुरुषोंके लिये मांस तो सदा ही अभक्ष्य है; फिर किस लोभसे आपने मुझ वानरको अपने बाणोंका शिकार बनाया है?)॥ ३८॥

पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रेण राघव।
शल्यकः श्वाविधो गोधा शशः कूर्मश्च पञ्चमः॥ ३९॥

'रघुनन्दन! त्रैवर्णिकोंमें जिनकी किसी कारणसे मांसाहार (जैसे निन्दनीय कर्म) में प्रवृत्ति हो गयी है, उनके लिये भी पाँच नखवाले जीवोंमेंसे पाँच ही भक्षणके योग्य बताये गये हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—गेंडा, साही, गोह, खरहा और पाँचवाँ कछुआ॥ ३९॥

चर्म चास्थि च मे राम न स्पृशन्ति मनीषिणः।
अभक्ष्याणि च मांसानि सोऽहं पञ्चनखो हतः॥ ४०॥

'श्रीराम! मनीषी पुरुष मेरे (वानरके) चमड़े और हड्डीका स्पर्श नहीं करते हैं। वानरके मांस भी सभीके लिये अभक्ष्य होते हैं। इस तरह जिसका सब कुछ निषिद्ध है, ऐसा पाँच नखवाला मैं आज आपके हाथसे मारा गया हूँ॥

तारया वाक्यमुक्तोऽहं सत्यं सर्वज्ञया हितम्।
तदतिक्रम्य मोहेन कालस्य वशमागतः॥ ४१॥

'मेरी स्त्री तारा सर्वज्ञ है। उसने मुझे सत्य और हितकी बात बतायी थी। किंतु मोहवश उसका उल्लङ्घन करके मैं कालके अधीन हो गया॥ ४१॥

त्वया नाथेन काकुत्स्थ न सनाथा वसुंधरा।
प्रमदा शीलसम्पूर्णा पत्येव च विधर्मणा॥ ४२॥

'काकुत्स्थ! जैसे सुशीला युवती पापात्मा पतिसे सुरक्षित नहीं हो पाती, उसी प्रकार आप-जैसे स्वामीको पाकर यह वसुधा सनाथ नहीं हो सकती॥ ४२॥

शठो नैकृतिकः क्षुद्रो मिथ्याप्रश्रितमानसः।
कथं दशरथेन त्वं जातः पापो महात्मना॥ ४३॥

'आप शठ (छिपे रहकर दूसरोंका अप्रिय करनेवाले), अपकारी, क्षुद्र और झूठे ही शान्तचित्त बने रहनेवाले हैं। महात्मा राजा दशरथने आप-जैसे पापीको कैसे उत्पन्न किया॥

छिन्नचारित्र्यकक्ष्येण सतां धर्मातिवर्तिना।
त्यक्तधर्माङ्कुशेनाहं निहतो रामहस्तिना॥ ४४॥

'हाय! जिसने सदाचारका रस्सा तोड़ डाला है, सत्पुरुषोंके धर्म एवं मार्यादाका उल्लङ्घन किया है तथा जिसने धर्मरूपी अङ्कुशकी भी अवहेलना कर दी है, उस रामरूपी हाथीके द्वारा आज मैं मारा गया॥ ४४॥

अशुभं चाप्ययुक्तं च सतां चैव विगर्हितम्।
वक्ष्यसे चेदृशं कृत्वा सद्भिः सह समागतः॥ ४५॥

'ऐसा अशुभ, अनुचित और सत्पुरुषोंद्वारा निन्दित कर्म करके आप श्रेष्ठ पुरुषोंसे मिलनेपर उनके सामने क्या कहेंगे॥

उदासीनेषु योऽस्मासु विक्रमोऽयं प्रकाशितः।
अपकारिषु ते राम नैवं पश्यामि विक्रमम्॥ ४६॥

'श्रीराम! हम उदासीन प्राणियोंपर आपने जो यह पराक्रम प्रकट किया है, ऐसा बल-पराक्रम आप अपना अपकार करनेवालोंपर प्रकट कर रहे हों, ऐसा मुझे नहीं दिखायी देता॥ ४६॥

दृश्यमानस्तु युध्येथा मया युधि नृपात्मज।
अद्य वैवस्वतं देवं पश्येस्त्वं निहतो मया॥ ४७॥

'राजकुमार! यदि आप युद्धस्थलमें मेरी दृष्टिके सामने आकर मेरे साथ युद्ध करते तो आज मेरे द्वारा मारे जाकर सूर्यपुत्र यम देवताका दर्शन करते होते॥ ४७॥

त्वयादृश्येन तु रणे निहतोऽहं दुरासदः।
प्रसुप्तः पन्नगेनेव नरः पापवशं गतः॥ ४८॥

'जैसे किसी सोये हुए पुरुषको साँप आकर डँस ले और वह मर जाय उसी प्रकार रणभूमिमें मुझ दुर्जय वीरको आपने छिपे रहकर मारा है तथा ऐसा करके आप पापके भागी हुए हैं॥

सुग्रीवप्रियकामेन यदहं निहतस्त्वया।
मामेव यदि पूर्वं त्वमेतदर्थमचोदयः।
मैथिलीमहमेकाह्ना तव चानीतवान् भवेः॥ ४९॥

'जिस उद्देश्यको लेकर सुग्रीवका प्रिय करनेकी कामनासे आपने मेरा वध किया है, उसी उद्देश्यकी सिद्धिके लिये यदि

आपने पहले मुझसे ही कहा होता तो मैं मिथिलेशकुमारी जानकीको एक ही दिनमें ढूँढ़कर आपके पास ला देता।

राक्षसं च दुरात्मानं तव भार्यापहारिणम्।
कण्ठे बद्ध्वा प्रदद्यां तेऽनिहतं रावणं रणे॥ ५०॥

'आपकी पत्नीका अपहरण करनेवाले दुरात्मा राक्षस रावणको मैं युद्धमें मारे बिना ही उसके गलेमें रस्सी बाँधकर पकड़ लाता और उसे आपके हवाले कर देता॥ ५०॥

न्यस्तां सागरतोये वा पाताले वापि मैथिलीम्।
आनयेयं तवादेशाच्छ्वेतामश्वतरीमिव॥ ५१॥

'जैसे मधुकैटभद्वारा अपहृत हुई श्वेताश्वतरी श्रुतिका भगवान् हयग्रीवने उद्धार किया था, उसी प्रकार मैं आपके आदेशसे मिथिलेशकुमारी सीताको यदि वे समुद्रके जलमें या पातालमें रखी गयी होतीं तो भी वहाँसे ला देता॥ ५१॥

युक्तं यत्प्राप्नुयाद् राज्यं सुग्रीवः स्वर्गते मयि।
अयुक्तं यदधर्मेण त्वयाहं निहतो रणे॥ ५२॥

'मेरे स्वर्गवासी हो जानेपर सुग्रीव जो यह राज्य प्राप्त करेंगे, वह तो उचित ही है। अनुचित इतना ही हुआ है कि आपने मुझे रणभूमिमें अधर्मपूर्वक मारा है॥ ५२॥

काममेवंविधो लोकः कालेन विनियुज्यते।
क्षमं चेद्भवता प्राप्तमुत्तरं साधु चिन्त्यताम्॥ ५३॥

'यह जगत् कभी-न-कभी कालके अधीन होता ही है। इसका ऐसा स्वभाव ही है। अतः भले ही मेरी मृत्यु हो जाय। इसके लिये मुझे खेद नहीं है। परंतु मेरे इस तरह मारे जानेका यदि आपने उचित उत्तर ढूँढ़ निकाला हो तो उसे अच्छी तरह सोच-विचारकर कहिये'॥ ५३॥

इत्येवमुक्त्वा परिशुष्कवक्त्रः
शराभिघाताद् व्यथितो महात्मा।
समीक्ष्य रामं रविसंनिकाशं
तूष्णीं बभौ वानरराजसूनुः॥ ५४॥

ऐसा कहकर महामनस्वी वानरराजकुमार वाली सूर्यके समान तेजस्वी श्रीरामचन्द्रजीकी ओर देखकर चुप हो गया। उसका मुँह सूख गया था और बाणके आघातसे उसको बड़ी पीड़ा हो रही थी॥ ५४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे सप्तदशः सर्गः॥ १७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें सत्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १७॥

अष्टादशः सर्गः

श्रीरामका वालीकी बातका उत्तर देते हुए उसे दिये गये दण्डका औचित्य बताना, वालीका निरुत्तर होकर भगवान्‌से अपने अपराधके लिये क्षमा माँगते हुए अङ्गदकी रक्षाके लिये प्रार्थना करना और श्रीरामका उसे आश्वासन देना

इत्युक्तः प्रश्रितं वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम्।
परुषं वालिना रामो निहतेन विचेतसा॥ १॥
तं निष्प्रभमिवादित्यं मुक्ततोयमिवाम्बुदम्।
उक्तवाक्यं हरिश्रेष्ठमुपशान्तमिवानलम्॥ २॥
धर्मार्थगुणसम्पन्नं हरीश्वरमनुत्तमम्।
अधिक्षिप्तस्तदा रामः पश्चाद् वालिनमब्रवीत्॥ ३॥

वहाँ मारे जाकर अचेत हुए वालीने जब इस प्रकार विनयाभास, धर्माभास, अर्थाभास और हिताभाससे युक्त कठोर बातें कहीं, आक्षेप किया, तब उन बातोंको कहकर मौन हुए वानरश्रेष्ठ वालीसे श्रीरामचन्द्रजीने धर्म, अर्थ और श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त परम उत्तम बात कही। उस समय वाली प्रभावहीन सूर्य, जलहीन बादल और बुझी हुई आगके समान श्रीहीन प्रतीत होता था॥ १—३॥

धर्ममर्थं च कामं च समयं चापि लौकिकम्।
अविज्ञाय कथं बाल्यान्मामिहाद्य विगर्हसे॥ ४॥

(श्रीराम बोले—) 'वानर! धर्म, अर्थ, काम और लौकिक सदाचारको तो तुम स्वयं ही नहीं जानते हो। फिर बालोचित अविवेकके कारण आज यहाँ मेरी निन्दा क्यों करते हो?॥ ४॥

अपृष्ट्वा बुद्धिसम्पन्नान् वृद्धानाचार्यसम्मतान्।
सौम्य वानरचापल्यात् त्वं मां वक्तुमिहेच्छसि॥ ५॥

'सौम्य! तुम आचार्योंद्वारा सम्मानित बुद्धिमान् वृद्ध पुरुषोंसे पूछे बिना ही—उनसे धर्मके स्वरूपको ठीक-ठीक समझे बिना ही वानरोचित चपलतावश मुझे यहाँ उपदेश देना चाहते हो? अथवा मुझपर आक्षेप करनेकी इच्छा रखते हो॥ ५॥

इक्ष्वाकूणामियं भूमिः सशैलवनकानना।
मृगपक्षिमनुष्याणां निग्रहानुग्रहेष्वपि॥ ६॥

'पर्वत, वन और काननोंसे युक्त यह सारी पृथ्वी इक्ष्वाकुवंशी राजाओंकी है; अतः वे यहाँके पशु-पक्षी और मनुष्योंपर दया करने और उन्हें दण्ड देनेके भी अधिकारी हैं॥ ६॥

तां पालयति धर्मात्मा भरतः सत्यवानृजुः।
धर्मकामार्थतत्त्वज्ञो निग्रहानुग्रहे रतः॥ ७॥

'धर्मात्मा राजा भरत इस पृथ्वीका पालन करते हैं। वे सत्यवादी, सरल तथा धर्म, अर्थ और कामके तत्त्वको जाननेवाले हैं; अतः दुष्टोंके निग्रह तथा साधु पुरुषोंके प्रति अनुग्रह करनेमें तत्पर रहते हैं॥ ७॥

नयश्च विनयश्चोभौ यस्मिन् सत्यं च सुस्थितम्।
विक्रमश्च यथा दृष्टः स राजा देशकालवित्॥ ८॥

'जिसमें नीति, विनय, सत्य और पराक्रम आदि सभी राजोचित गुण यथावत्-रूपसे स्थित देखे जायँ, वही देश-काल-तत्त्वको जाननेवाला राजा होता है (भरतमें ये सभी गुण विद्यमान हैं)॥ ८॥

तस्य धर्मकृतादेशा वयमन्ये च पार्थिवाः।
चरामो वसुधां कृत्स्नां धर्मसंतानमिच्छवः॥ ९॥

'भरतकी ओरसे हमें तथा दूसरे राजाओंको यह आदेश प्राप्त है कि जगत्में धर्मके पालन और प्रसारके लिये यत्न किया जाय। इसलिये हमलोग धर्मका प्रचार करनेकी इच्छासे सारी पृथ्वीपर विचरते रहते हैं॥ ९॥

तस्मिन् नृपतिशार्दूले भरते धर्मवत्सले।
पालयत्यखिलां पृथ्वीं कश्चरेद् धर्मविप्रियम्॥ १०॥

'राजाओंमें श्रेष्ठ भरत धर्मपर अनुराग रखनेवाले हैं। वे समूची पृथ्वीका पालन कर रहे हैं। उनके रहते हुए इस पृथ्वीपर कौन प्राणी धर्मके विरुद्ध आचरण कर सकता है?॥ १०॥

ते वयं मार्गविभ्रष्टं स्वधर्मे परमे स्थिताः।
भरताज्ञां पुरस्कृत्य निगृह्णीमो यथाविधि॥ ११॥

'हम सब लोग अपने श्रेष्ठ धर्ममें दृढ़तापूर्वक स्थित रहकर भरतकी आज्ञाको सामने रखते हुए धर्ममार्गसे भ्रष्ट पुरुषको विधिपूर्वक दण्ड देते हैं॥ ११॥

त्वं तु संक्लिष्टधर्मा च कर्मणा च विगर्हितः।
कामतन्त्रप्रधानश्च न स्थितो राजवर्त्मनि॥ १२॥

'तुमने अपने जीवनमें कामको ही प्रधानता दे रखी थी। राजोचित मार्गपर तुम कभी स्थिर नहीं रहे। तुमने सदा ही धर्मको बाधा पहुँचायी और बुरे कर्मोंके कारण सत्पुरुषोंद्वारा सदा तुम्हारी निन्दा की गयी॥ १२॥

ज्येष्ठो भ्राता पिता वापि यश्च विद्यां प्रयच्छति।
त्रयस्ते पितरो ज्ञेया धर्मे च पथि वर्तिनः॥ १३॥

'बड़ा भाई, पिता तथा जो विद्या देता है, वह गुरु—ये तीनों धर्ममार्गपर स्थित रहनेवाले पुरुषोंके लिये पिताके तुल्य माननीय हैं, ऐसा समझना चाहिये॥ १३॥

यवीयानात्मनः पुत्रः शिष्यश्चापि गुणोदितः।
पुत्रवत्ते त्रयश्चिन्त्या धर्मश्चैवात्र कारणम्॥ १४॥

'इसी प्रकार छोटा भाई, पुत्र और गुणवान् शिष्य—ये तीन पुत्रके तुल्य समझे जाने योग्य हैं। उनके प्रति ऐसा भाव रखनेमें धर्म ही कारण है॥ १४॥

सूक्ष्मः परमदुर्ज्ञेयः सतां धर्मः प्लवङ्गम।
हृदिस्थः सर्वभूतानामात्मा वेद शुभाशुभम्॥ १५॥

'वानर! सज्जनोंका धर्म सूक्ष्म होता है, वह परम दुर्ज्ञेय है—उसे समझना अत्यन्त कठिन है। समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें विराजमान जो परमात्मा हैं, वे ही सबके शुभ और अशुभको जानते हैं॥ १५॥

चपलश्चपलैः सार्धं वानरैरकृतात्मभिः।
जात्यन्ध इव जात्यन्धैर्मन्त्रयन् प्रेक्षसे नु किम्॥ १६॥

'तुम स्वयं भी चपल हो और चञ्चल चित्तवाले अजितात्मा वानरोंके साथ रहते हो; अतः जैसे कोई जन्मान्ध पुरुष जन्मान्धोंसे ही रास्ता पूछे, उसी प्रकार तुम उन चपल वानरोंके साथ परामर्श करते हो, फिर तुम धर्मका विचार क्या कर सकते हो?—उसके स्वरूपको कैसे समझ सकते हो?॥ १६॥

अहं तु व्यक्ततामस्य वचनस्य ब्रवीमि ते।
नहि मां केवलं रोषात् त्वं विगर्हितुमर्हसि॥ १७॥

'मैंने यहाँ जो कुछ कहा है, उसका अभिप्राय तुम्हें स्पष्ट करके बताता हूँ। तुम्हें केवल रोषवश मेरी निन्दा नहीं करनी चाहिये॥ १७॥

तदेतत् कारणं पश्य यदर्थं त्वं मया हतः।
भ्रातुर्वर्तसि भार्यायां त्यक्त्वा धर्मं सनातनम्॥ १८॥

'मैंने तुम्हें क्यों मारा है? उसका कारण सुनो और समझो। तुम सनातन धर्मका त्याग करके अपने छोटे भाईकी स्त्रीसे सहवास करते हो॥ १८॥

अस्य त्वं धरमाणस्य सुग्रीवस्य महात्मनः।
रुमायां वर्तसे कामात् स्नुषायां पापकर्मकृत्॥ १९॥

'इस महामना सुग्रीवके जीते-जी इसकी पत्नी रुमाका, जो तुम्हारी पुत्रवधूके समान है, कामवश उपभोग करते हो। अतः पापाचारी हो॥ १९॥

तद् व्यतीतस्य ते धर्मात् कामवृत्तस्य वानर।
भ्रातृभार्याभिमर्शेऽस्मिन् दण्डोऽयं प्रतिपादितः॥ २०॥

'वानर! इस तरह तुम धर्मसे भ्रष्ट हो स्वेच्छाचारी हो गये हो और अपने भाईकी स्त्रीको गले लगाते हो। तुम्हारे इसी अपराधके कारण तुम्हें यह दण्ड दिया गया है॥ २०॥

नहि लोकविरुद्धस्य लोकवृत्तादपेयुषः।
दण्डादन्यत्र पश्यामि निग्रहं हरियूथप॥ २१॥

'वानरराज! जो लोकाचारसे भ्रष्ट होकर लोकविरुद्ध आचरण करता है, उसे रोकने या राहपर लानेके लिये मैं दण्डके सिवा और कोई उपाय नहीं देखता॥ २१॥

न च ते मर्षये पापं क्षत्रियोऽहं कुलोद्गतः।
औरसीं भगिनीं वापि भार्यां वाप्यनुजस्य यः॥ २२॥
प्रचरेत नरः कामात् तस्य दण्डो वधः स्मृतः।

'मैं उत्तम कुलमें उत्पन्न क्षत्रिय हूँ; अतः मैं तुम्हारे पापको क्षमा नहीं कर सकता। जो पुरुष अपनी कन्या, बहिन अथवा छोटे भाईकी स्त्रीके पास काम-बुद्धिसे जाता है, उसका वध करना ही उसके लिये उपयुक्त दण्ड माना गया है॥ २२½॥

भरतस्तु महीपालो वयं त्वादेशवर्तिनः॥ २३॥
त्वं च धर्मादतिक्रान्तः कथं शक्यमुपेक्षितुम्।

'हमारे राजा भरत हैं। हमलोग तो केवल उनके

आदेशका पालन करनेवाले हैं। तुम धर्मसे गिर गये हो; अतः तुम्हारी उपेक्षा कैसे की जा सकती थी ॥ २३½ ॥

गुरुधर्मव्यतिक्रान्तं प्राज्ञो धर्मेण पालयन् ॥ २४ ॥
भरतः कामयुक्तानां निग्रहे पर्यवस्थितः ।

'विद्वान् राजा भरत महान् धर्मसे भ्रष्ट हुए पुरुषको दण्ड देते और धर्मात्मा पुरुषका धर्मपूर्वक पालन करते हुए कामासक्त स्वेच्छाचारी पुरुषोंके निग्रहमें तत्पर रहते हैं ॥ २४½ ॥

वयं तु भरतादेशावधिं कृत्वा हरीश्वर ।
त्वद्विधान् भिन्नमर्यादान् निग्रहीतुं व्यवस्थिताः ॥ २५ ॥

'हरीश्वर ! हमलोग तो भरतकी आज्ञाको ही प्रमाण मानकर धर्ममर्यादाका उल्लङ्घन करनेवाले तुम्हारे-जैसे लोगोंको दण्ड देनेके लिये सदा उद्यत रहते हैं ॥ २५ ॥

सुग्रीवेण च मे सख्यं लक्ष्मणेन यथा तथा ।
दारराज्यनिमित्तं च निःश्रेयस्करः स मे ॥ २६ ॥
प्रतिज्ञा च मया दत्ता तदा वानरसंनिधौ ।
प्रतिज्ञा च कथं शक्या मद्विधेनानवेक्षितुम् ॥ २७ ॥

सुग्रीवके साथ मेरी मित्रता हो चुकी है। उनके प्रति मेरा वही भाव है, जो लक्ष्मणके प्रति है। वे अपनी स्त्री और राज्यकी प्राप्तिके लिये मेरी भलाई करनेके लिये भी कटिबद्ध हैं। मैंने वानरोंके समीप इन्हें स्त्री और राज्य दिलानेके लिये प्रतिज्ञा भी कर ली है। ऐसी दशामें मेरे-जैसा मनुष्य अपनी प्रतिज्ञाकी ओरसे कैसे दृष्टि हटा सकता है ॥ २६-२७ ॥

तदेभिः कारणैः सर्वैर्महद्भिर्धर्मसंश्रितैः ।
शासनं तव यद् युक्तं तद् भवाननुमन्यताम् ॥ २८ ॥

ये सभी धर्मानुकूल महान् कारण एक साथ उपस्थित हो गये, जिनसे विवश होकर तुम्हें उचित दण्ड देना पड़ा है। तुम भी इसका अनुमोदन करो ॥ २८ ॥

सर्वथा धर्म इत्येव द्रष्टव्यस्तव निग्रहः ।
वयस्यस्योपकर्तव्यं धर्ममेवानुपश्यता ॥ २९ ॥

'धर्मपर दृष्टि रखनेवाले मनुष्यके लिये मित्रका उपकार करना धर्म ही माना गया है; अतः तुम्हें जो यह दण्ड दिया गया है, वह धर्मके अनुकूल है। ऐसा ही तुम्हें समझना चाहिये ॥

शक्यं त्वयापि तत्कार्यं धर्ममेवानुवर्तता ।
श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ चारित्रवत्सलौ ।
गृहीतौ धर्मकुशलैस्तथा तच्चरितं मया ॥ ३० ॥

'यदि राजा होकर तुम धर्मका अनुसरण करते तो तुम्हें भी वही काम करना पड़ता, जो मैंने किया है। मनुने राजोचित सदाचारका प्रतिपादन करनेवाले दो श्लोक कहे हैं, जो स्मृतियोंमें सुने जाते हैं और जिन्हें धर्मपालनमें कुशल पुरुषोंने सादर स्वीकार किया। उन्हींके अनुसार इस समय यह मेरा बर्ताव हुआ है (वे श्लोक इस प्रकार हैं—) ॥ ३० ॥

राजभिर्धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः ।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥ ३१ ॥
शासनाद् वापि मोक्षाद् वा स्तेनः पापात् प्रमुच्यते ।
राजा त्वशासन् पापस्य तदवाप्नोति किल्बिषम् ॥ ३२ ॥

'मनुष्य पाप करके यदि राजाके दिये हुए दण्डको भोग लेते हैं तो वे शुद्ध होकर पुण्यात्मा साधु पुरुषोंकी भाँति स्वर्गलोकमें जाते हैं। (चोर आदि पापी जब राजाके सामने उपस्थित हों उस समय उन्हें) राजा दण्ड दे अथवा दया करके छोड़ दे। चोर आदि पापी पुरुष अपने पापसे मुक्त हो जाता है; किंतु यदि राजा पापीको उचित दण्ड नहीं देता तो उसे स्वयं उसके पापका फल भोगना पड़ता है * ॥ ३१-३२ ॥

आर्येण मम मान्धात्रा व्यसनं घोरमीप्सितम् ।
श्रमणेन कृते पापे यथा पापं कृतं त्वया ॥ ३३ ॥

'तुमने जैसा पाप किया है, वैसा ही पाप प्राचीन कालमें एक श्रमणने किया था। उसे मेरे पूर्वज महाराज मान्धाताने बड़ा कठोर दण्ड दिया था, जो शास्त्रके अनुसार अभीष्ट था ॥ ३३ ॥

अन्यैरपि कृतं पापं प्रमत्तैर्वसुधाधिपैः ।
प्रायश्चित्तं च कुर्वन्ति तेन तच्छाम्यते रजः ॥ ३४ ॥

'यदि राजा दण्ड देनेमें प्रमाद कर जायँ तो उन्हें दूसरोंके किये हुए पाप भी भोगने पड़ते हैं तथा उसके लिये जब वे प्रायश्चित्त करते हैं तभी उनका दोष शान्त होता है।

तदलं परितापेन धर्मतः परिकल्पितः ।
वधो वानरशार्दूल न वयं स्ववशे स्थिताः ॥ ३५ ॥

'अतः वानरश्रेष्ठ ! पश्चात्ताप करनेसे कोई लाभ नहीं है। सर्वथा धर्मके अनुसार ही तुम्हारा वध किया गया है; क्योंकि हमलोग अपने वशमें नहीं हैं (शास्त्रके ही अधीन हैं) ॥

शृणु चाप्यपरं भूयः कारणं हरिपुंगव ।
तच्छ्रुत्वा हि महद् वीर न मन्युं कर्तुमर्हसि ॥ ३६ ॥

'वानरशिरोमणे ! तुम्हारे वधका जो दूसरा कारण है, उसे भी सुन लो। वीर ! उस महान् कारणको सुनकर तुम्हें मेरे प्रति क्रोध नहीं करना चाहिये ॥ ३६ ॥

---

* मनुस्मृतिमें ये दोनों श्लोक किंचित् पाठान्तरके साथ इस प्रकार मिलते हैं—

राजभिः कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः ।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥
शासनाद् वा विमोक्षाद् वा स्तेनः स्तेयाद् विमुच्यते ।
अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्बिषम् ॥

(८ । ३१८, ३१६)

न मे तत्र मनस्तापो न मन्युर्हरिपुंगव।
वागुराभिश्च पाशैश्च कूटैश्च विविधैर्नराः॥ ३७॥
प्रतिच्छन्नाश्च दृश्याश्च गृह्णन्ति सुबहून् मृगान्।
प्रधावितान् वा वित्रस्तान् विस्रब्धानतिविष्ठितान्॥ ३८॥

'वानरश्रेष्ठ! इस कार्यके लिये मेरे मनमें न तो संताप होता है और न खेद ही। मनुष्य (राजा आदि) बड़े-बड़े जाल बिछाकर फंदे फैलाकर और नाना प्रकारके कूट उपाय (गुप्त गड्ढोंके निर्माण आदि) करके छिपे रहकर सामने आकर बहुत-से मृगोंको पकड़ लेते हैं; भले ही वे भयभीत होकर भागते हों या विश्वस्त होकर अत्यन्त निकट बैठे हों।

प्रमत्तानप्रमत्तान् वा नरा मांसाशिनो भृशम्।
विध्यन्ति विमुखांश्चापि न च दोषोऽत्र विद्यते॥ ३९॥

'मांसाहारी मनुष्य (क्षत्रिय) सावधान, असावधान अथवा विमुख होकर भागनेवाले पशुओंको भी अत्यन्त घायल कर देते हैं; किंतु उनके लिये इस मृगयामें दोष नहीं होता॥

यान्ति राजर्षयश्चात्र मृगयां धर्मकोविदाः।
तस्मात् त्वं निहतो युद्धे मया बाणेन वानर।
अयुध्यन् प्रतियुध्यन् वा यस्माच्छाखामृगो ह्यसि॥ ४०॥

'वानर! धर्मज्ञ राजर्षि भी इस जगत्में मृगयाके लिये जाते हैं और विविध जन्तुओंका वध करते हैं। इसलिये मैंने तुम्हें युद्धमें अपने बाणका निशाना बनाया है। तुम मुझसे युद्ध करते थे या नहीं करते थे, तुम्हारी वध्यतामें कोई अन्तर नहीं आता; क्योंकि तुम शाखामृग हो (और मृगया करनेका क्षत्रियको अधिकार है)॥ ४०॥

दुर्लभस्य च धर्मस्य जीवितस्य शुभस्य च।
राजानो वानरश्रेष्ठ प्रदातारो न संशयः॥ ४१॥

'वानरश्रेष्ठ! राजालोग दुर्लभ धर्म, जीवन और लौकिक अभ्युदयके देनेवाले होते हैं; इसमें संशय नहीं है॥ ४१॥

तान् न हिंस्यान्न चाक्रोशेन्नाक्षिपेन्नाप्रियं वदेत्।
देवा मानुषरूपेण चरन्त्येते महीतले॥ ४२॥

'अतः उनकी हिंसा न करे, उनकी निन्दा न करे, उनके प्रति आक्षेप भी न करे और न उनसे अप्रिय वचन ही बोले; क्योंकि वे वास्तवमें देवता हैं, जो मनुष्यरूपसे इस पृथ्वीपर विचरते रहते हैं॥ ४२॥

त्वं तु धर्ममविज्ञाय केवलं रोषमास्थितः।
विदूषयसि मां धर्मे पितृपैतामहे स्थितम्॥ ४३॥

'तुम तो धर्मके स्वरूपको न समझकर केवल रोषके वशीभूत हो गये हो, इसलिये पिता-पितामहोंके धर्मपर स्थित रहनेवाले मेरी निन्दा कर रहे हो'॥ ४३॥

एवमुक्तस्तु रामेण वाली प्रव्यथितो भृशम्।
न दोषं राघवे दध्यौ धर्मेऽधिगतनिश्चयः॥ ४४॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर वालीके मनमें बड़ी व्यथा हुई। इसे धर्मके तत्त्वका निश्चय हो गया। उसने श्रीरामचन्द्रजीके दोषका चिन्तन त्याग दिया॥ ४४॥

प्रत्युवाच ततो रामं प्राञ्जलिर्वानरेश्वरः।
यत् त्वमात्थ नरश्रेष्ठ तत् तथैव न संशयः॥ ४५॥

इसके बाद वानरराज वालीने श्रीरामचन्द्रजीसे हाथ जोड़कर कहा—'नरश्रेष्ठ! आप जो कुछ कहते हैं, बिलकुल ठीक है; इसमें संशय नहीं है॥ ४५॥

प्रतिवक्तुं प्रकृष्टे हि नापकृष्टस्तु शक्नुयात्।
यदयुक्तं मया पूर्वं प्रमादाद् वाक्यमप्रियम्॥ ४६॥
तत्रापि खलु मां दोषं कर्तुं नार्हसि राघव।
त्वं हि दृष्टार्थतत्त्वज्ञः प्रजानां च हिते रतः।
कार्यकारणसिद्धौ च प्रसन्ना बुद्धिरव्यया॥ ४७॥

'आप-जैसे श्रेष्ठ पुरुषको मुझ-जैसा निम्न श्रेणीका प्राणी उचित उत्तर नहीं दे सकता; अतः मैंने प्रमादवश पहले जो अनुचित बात कह डाली है, उसमें भी आपको मेरा अपराध नहीं मानना चाहिये। रघुनन्दन! आप परमार्थ-तत्त्वके यथार्थ ज्ञाता और प्रजाजनोंके हितमें तत्पर रहनेवाले हैं। आपकी बुद्धि कार्य-कारणके निश्चयमें निर्भ्रान्त एवं निर्मल है॥

मामप्यवगतं धर्माद् व्यतिक्रान्तपुरस्कृतम्।
धर्मसंहितया वाचा धर्मज्ञ परिपालय॥ ४८॥

'धर्मज्ञ! मैं धर्मभ्रष्ट प्राणियोंमें अग्रगण्य हूँ और इसी रूपमें मेरी सर्वत्र प्रसिद्धि है तो भी आज आपकी शरणमें आया हूँ। अपनी धर्मतत्त्वकी वाणीसे आज मेरी भी रक्षा कीजिये'॥

बाष्पसंरुद्धकण्ठस्तु वाली सार्तरवः शनैः।
उवाच रामं सम्प्रेक्ष्य पङ्कलग्न इव द्विपः॥ ४९॥

इतना कहते-कहते आँसुओंसे वालीका गला भर आया और वह कीचड़में फँसे हुए हाथीकी तरह आर्तनाद करके श्रीरामकी ओर देखता हुआ धीरे-धीरे बोला॥ ४९॥

न चात्मानमहं शोचे न तारां नापि बान्धवान्।
यथा पुत्रं गुणज्येष्ठमङ्गदं कनकाङ्गदम्॥ ५०॥

'भगवन्! मुझे अपने लिये, ताराके लिये तथा बन्धु-बान्धवोंके लिये भी उतना शोक नहीं होता है, जितना सुवर्णका अङ्गद धारण करनेवाले श्रेष्ठ गुणसम्पन्न पुत्र अङ्गदके लिये हो रहा है॥ ५०॥

स ममादर्शनाद् दीनो बाल्यात् प्रभृति लालितः।
तटाक इव पीताम्बुरुपशोषं गमिष्यति॥ ५१॥

'मैंने बचपनसे ही उसका बड़ा दुलार किया है; अब मुझे न देखकर वह बहुत दुःखी होगा और जिसका जल पी लिया गया हो, उस तालाबकी तरह सूख जायगा॥ ५१॥

बालश्चाकृतबुद्धिश्च एकपुत्रश्च मे प्रियः।
तारेयो राम भवता रक्षणीयो महाबलः॥ ५२॥

'श्रीराम! वह अभी बालक है। उसकी बुद्धि परिपक्व नहीं हुई है। मेरा इकलौता बेटा होनेके कारण ताराकुमार अङ्गद मुझे बड़ा प्रिय है। आप मेरे उस महाबली पुत्रकी रक्षा कीजियेगा॥

सुग्रीवे चाङ्गदे चैव विधत्स्व मतिमुत्तमाम्।
त्वं हि गोप्ता च शास्ता च कार्याकार्यविधौ स्थितः ॥ ५३ ॥

'सुग्रीव और अङ्गद दोनोंके प्रति आप सद्भाव रखें। अब आप ही इन लोगोंके रक्षक तथा इन्हें कर्तव्य-अकर्तव्यकी शिक्षा देनेवाले हैं ॥ ५३ ॥

या ते नरपते वृत्तिर्भरते लक्ष्मणे च या।
सुग्रीवे चाङ्गदे राजंस्तां चिन्तयितुमर्हसि ॥ ५४ ॥

'राजन्! नरेश्वर! भरत और लक्ष्मणके प्रति आपका जैसा बर्ताव है, वही सुग्रीव तथा अङ्गदके प्रति भी होना चाहिये। आप उसी भावसे इन दोनोंका स्मरण करें ॥ ५४ ॥

मद्दोषकृतदोषां तां यथा तारां तपस्विनीम्।
सुग्रीवो नावमन्येत तथावस्थातुमर्हसि ॥ ५५ ॥

'बेचारी ताराकी बड़ी शोचनीय अवस्था हो गयी है। मेरे ही अपराधसे उसे भी अपराधिनी समझकर सुग्रीव उसका तिरस्कार न करे, इस बातकी भी व्यवस्था कीजियेगा ॥ ५५ ॥

त्वया ह्यनुगृहीतेन शक्यं राज्यमुपासितुम्।
त्वद्वशे वर्तमानेन तव चित्तानुवर्तिना ॥ ५६ ॥
शक्यं दिवं चार्जयितुं वसुधां चापि शासितुम्।

'सुग्रीव आपका कृपापात्र होकर ही इस राज्यका यथार्थ रूपसे पालन कर सकता है। आपके अधीन होकर आपके चित्तका अनुसरण करनेवाला पुरुष स्वर्ग और पृथ्वीका भी राज्य पा सकता और उसका अच्छी तरह पालन कर सकता है ॥ ५६½ ॥

त्वत्तोऽहं वधमाकाङ्क्षन् वार्यमाणोऽपि तारया ॥ ५७ ॥
सुग्रीवेण सह भ्रात्रा द्वन्द्वयुद्धमुपागतः।

'मैं चाहता था कि आपके हाथसे मेरा वध हो; इसीलिये ताराके मना करनेपर भी मैं अपने भाई सुग्रीवके साथ द्वन्द्वयुद्ध करनेके लिये चला आया' ॥ ५७½ ॥

इत्युक्त्वा वानरो रामं विरराम हरीश्वरः ॥ ५८ ॥
स तमाश्वासयद् रामो वालिनं व्यक्तदर्शनम्।
साधुसम्मतया वाचा धर्मतत्त्वार्थयुक्तया ॥ ५९ ॥
न संतापस्त्वया कार्य एतदर्थं प्लवङ्गम।
न वयं भवता चिन्त्या नाप्यात्मा हरिसत्तम।
वयं भवद्विशेषेण धर्मतः कृतनिश्चयाः ॥ ६० ॥

श्रीरामचन्द्रजीसे ऐसा कहकर वानरराज वाली चुप हो गया। उस समय उसको ज्ञानशक्तिका विकास हो गया था। श्रीरामचन्द्रजीने धर्मके यथार्थ स्वरूपको प्रकट करनेवाली साधु पुरुषोंद्वारा प्रशंसित वाणीमें उससे कहा—'वानरश्रेष्ठ! तुम्हें इसके लिये संताप नहीं करना चाहिये। कपिप्रवर! तुम्हें हमारे और अपने लिये भी चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि हमलोग तुम्हारी अपेक्षा विशेषज्ञ हैं, इसलिये हमने धर्मानुकूल कार्य करनेका ही निश्चय कर रखा है ॥

दण्ड्ये यः पातयेद् दण्डं दण्ड्यो यश्चापि दण्ड्यते।
कार्यकारणसिद्धार्थावुभौ तौ नावसीदतः ॥ ६१ ॥

'जो दण्डनीय पुरुषको दण्ड देता है तथा जो दण्डका अधिकारी होकर दण्ड भोगता है, उनमेंसे दण्डनीय व्यक्ति अपने अपराधके फलरूपमें शासकका दिया हुआ दण्ड भोगकर तथा दण्ड देनेवाला शासक उसके उस फलभोगमें कारण—निमित्त बनकर कृतार्थ हो जाते हैं—अपना-अपना कर्तव्य पूरा कर लेनेके कारण कर्मरूप ऋणसे मुक्त हो जाते हैं। अतः वे दुःखी नहीं होते ॥

तद् भवान् दण्डसंयोगादस्माद् विगतकल्मषः।
गतः स्वां प्रकृतिं धर्म्यां दण्डदिष्टेन वर्त्मना ॥ ६२ ॥

'तुम इस दण्डको पाकर पापरहित हुए और इस दण्डका विधान करनेवाले शास्त्रद्वारा कथित दण्डग्रहणरूप मार्गसे ही चलकर तुम्हें धर्मानुकूल शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति हो गयी ॥

त्यज शोकं च मोहं च भयं च हृदये स्थितम्।
त्वया विधानं हर्यग्र्य न शक्यमतिवर्तितुम् ॥ ६३ ॥

'अब तुम अपने हृदयमें स्थित शोक, मोह और भयका त्याग कर दो। वानरश्रेष्ठ! तुम दैवके विधानको नहीं लाँघ सकते ॥

यथा त्वय्यङ्गदो नित्यं वर्तते वानरेश्वर।
तथा वर्तेत सुग्रीवे मयि चापि न संशयः ॥ ६४ ॥

'वानरेश्वर! कुमार अङ्गद तुम्हारे जीवित रहनेपर जैसा था, उसी प्रकार सुग्रीवके और मेरे पास भी सुखसे रहेगा, इसमें संशय नहीं है' ॥ ६४ ॥

स तस्य वाक्यं मधुरं महात्मनः
समाहितं धर्मपथानुवर्तितम्।
निशम्य रामस्य रणावमर्दिनो
वचः सुयुक्तं निजगाद वानरः ॥ ६५ ॥

युद्धमें शत्रुका मानमर्दन करनेवाले महात्मा श्रीरामचन्द्रजीका धर्ममार्गके अनुकूल और मानसिक शङ्काओंका समाधान करनेवाला मधुर वचन सुनकर वानर वालीने यह सुन्दर युक्तियुक्त वचन कहा— ॥ ६५ ॥

शराभितप्तेन विचेतसा मया
प्रभाषितस्त्वं यदजानता विभो।
इदं महेन्द्रोपमभीमविक्रम
प्रसादितस्त्वं क्षम मे नरेश्वर ॥ ६६ ॥

'प्रभो! देवराज इन्द्रके समान भयंकर पराक्रम प्रकट करनेवाले नरेश्वर! मैं आपके बाणसे पीड़ित होनेके कारण अचेत हो गया था। इसलिये अनजानमें मैंने जो आपके प्रति कठोर बात कह डाली है, उसे आप क्षमा कीजियेगा इसके लिये मैं प्रार्थनापूर्वक आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ' ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डेऽष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें अठारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशः सर्गः

अङ्गदसहित ताराका भागे हुए वानरोंसे बात करके वालीके समीप आना और उसकी दुर्दशा देखकर रोना

स वानरमहाराजः शयानः शरपीडितः।
प्रत्युक्तो हेतुमद्वाक्यैर्नोत्तरं प्रत्यपद्यत ॥ १ ॥

वानरोंका महाराज वाली बाणसे पीड़ित होकर भूमिपर पड़ा था। श्रीरामचन्द्रजीके युक्तियुक्त वचनोंद्वारा अपनी बातका उत्तर पाकर उसे फिर कोई जवाब न सूझा ॥ १ ॥

अश्मभिः परिभिन्नाङ्गः पादपैराहतो भृशम्।
रामबाणेन चाक्रान्तो जीवितान्ते मुमोह सः ॥ २ ॥

पत्थरोंकी मार पड़नेसे उसके अङ्ग टूट-फूट गये थे। वृक्षोंके आघातसे भी वह बहुत घायल हो गया था और श्रीरामके बाणसे आक्रान्त होकर तो वह जीवनके अन्तकालमें ही पहुँच गया था। उस समय वह मूर्च्छित हो गया ॥ २ ॥

तं भार्या बाणमोक्षेण रामदत्तेन संयुगे।
हतं प्लवगशार्दूलं तारा शुश्राव वालिनम् ॥ ३ ॥

उसकी पत्नी ताराने सुना कि युद्धस्थलमें वानरश्रेष्ठ वाली श्रीरामके चलाये हुए बाणसे मारे गये ॥ ३ ॥

सा सपुत्राप्रियं श्रुत्वा वधं भर्तुः सुदारुणम्।
निष्पपात भृशं तस्मादुद्विग्ना गिरिकन्दरात् ॥ ४ ॥

अपने स्वामीके वधका अत्यन्त भयंकर एवं अप्रिय समाचार सुनकर वह बहुत उद्विग्न हो उठी और अपने पुत्र अङ्गदको साथ ले उस पर्वतकी कन्दरासे बाहर निकली ॥

ये त्वङ्गदपरीवारा वानरा हि महाबलाः।
ते सकार्मुकमालोक्य रामं त्रस्ताः प्रदुद्रुवुः ॥ ५ ॥

अङ्गदको चारों ओरसे घेरकर उनकी रक्षा करनेवाले जो महाबली वानर थे, वे श्रीरामचन्द्रजीको धनुष लिये देख भयभीत होकर भाग चले ॥ ५ ॥

सा ददर्श ततस्त्रस्तान् हरीनापततो द्रुतम्।
यूथादिव परिभ्रष्टान् मृगान् निहतयूथपान् ॥ ६ ॥

ताराने वेगसे भागकर आते हुए उन भयभीत वानरोंको देखा। वे जिनके यूथपति मारे गये हों, उन यूथभ्रष्ट मृगोंके समान जान पड़ते थे ॥ ६ ॥

तानुवाच समासाद्य दुःखितान् दुःखिता सती।
रामवित्रासितान् सर्वाननुबद्धानिवेषुभिः ॥ ७ ॥

वे सब वानर श्रीरामसे इस प्रकार डरे हुए थे, मानो उनके बाण इनके पीछे आ रहे हों। उन दुःखी वानरोंके पास पहुँचकर सती-साध्वी तारा और भी दुःखी हो गयी तथा उनसे इस प्रकार बोली— ॥ ७ ॥

वानरा राजसिंहस्य यस्य यूयं पुरःसराः।
तं विहाय सुवित्रस्ताः कस्माद् द्रवत दुर्गताः ॥ ८ ॥

'वानरो! तुम तो उन राजसिंह वालीके आगे-आगे चलनेवाले थे। अब उन्हें छोड़कर अत्यन्त भयभीत हो दुर्गतिमें पड़कर क्यों भागे जा रहे हो? ॥ ८ ॥

राज्यहेतोः स चेद् भ्राता भ्रात्रा क्रूरेण पातितः।
रामेण प्रहितैर्दूरान्मार्गणैर्दूरपातिभिः ॥ ९ ॥

'यदि राज्यके लोभसे उस क्रूर भाई सुग्रीवने श्रीरामको प्रेरित करके उनके द्वारा दूरसे चलाये हुए और दूरतक जानेवाले बाणोंद्वारा अपने भाईको मरवा दिया है तो तुमलोग क्यों भागे जा रहे हो?' ॥ ९ ॥

कपिपत्न्या वचः श्रुत्वा कपयः कामरूपिणः।
प्राप्तकालमविश्लिष्टमूचुर्वचनमङ्गनाम् ॥ १० ॥

वालीकी पत्नीका वह वचन सुनकर इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले उन वानरोंने कल्याणमयी तारा देवीको सम्बोधित करके सर्वसम्मतिसे स्पष्ट शब्दोंमें यह समयोचित बात कही— ॥

जीवपुत्रे निवर्तस्व पुत्रं रक्षस्व चाङ्गदम्।
अन्तको रामरूपेण हत्वा नयति वालिनम् ॥ ११ ॥

'देवि! अभी तुम्हारा पुत्र जीवित है। तुम लौट चलो और अपने पुत्र अङ्गदकी रक्षा करो। श्रीरामका रूप धारण करके स्वयं यमराज आ पहुँचा है, जो वालीको मारकर अपने साथ ले जा रहा है ॥ ११ ॥

क्षिप्तान् वृक्षान् समाविध्य विपुलाश्च तथा शिलाः।
वाली वज्रसमैर्बाणैर्वज्रेणेव निपातितः ॥ १२ ॥

'वालीके चलाये हुए वृक्षों और बड़ी-बड़ी शिलाओंको अपने वज्रतुल्य बाणोंसे विदीर्ण करके श्रीरामने वालीको मार गिराया है। मानो वज्रधारी इन्द्रने अपने वज्रके द्वारा किसी महान् पर्वतको धराशायी कर दिया हो ॥ १२ ॥

अभिभूतमिदं सर्वं विद्रुतं वानरं बलम्।
अस्मिन् प्लवगशार्दूले हते शक्रसमप्रभे ॥ १३ ॥

'इन्द्रके समान तेजस्वी इन वानरश्रेष्ठ वालीके मारे जानेपर यह सारी वानर-सेना श्रीरामसे पराजित-सी होकर भाग खड़ी हुई है ॥ १३ ॥

रक्ष्यतां नगरी शूरैरङ्गदश्चाभिषिच्यताम्।
पदस्थं वालिनः पुत्रं भजिष्यन्ति प्लवंगमाः ॥ १४ ॥

'तुम शूरवीरोंद्वारा इस नगरीकी रक्षा करो। कुमार अङ्गदका किष्किन्धाके राज्यपर अभिषेक कर दो। राजसिंहासनपर बैठे हुए वालिकुमार अङ्गदकी सभी वानर सेवा करेंगे ॥ १४ ॥

अथवारुचितं स्थानमिह ते रुचिरानने।
आविशन्ति च दुर्गाणि क्षिप्रमद्यैव वानराः ॥ १५ ॥
अभार्याः सहभार्याश्च सन्त्यत्र वनचारिणः।
लुब्धेभ्यो विप्रलब्धेभ्यस्तेभ्यो नः सुमहद्भयम् ॥ १६ ॥

'अथवा सुमुखि! अब इस नगरमें तुम्हारा रहना हमें अच्छा नहीं जान पड़ता; क्योंकि किष्किन्धाके दुर्गम स्थानोंमें अभी सुग्रीवपक्षीय वानर शीघ्र प्रवेश करेंगे। वहाँ बहुत-से ऐसे वनचारी वानर हैं, जिनमेंसे कुछ तो अपनी स्त्रियोंके साथ हैं और कुछ स्त्रियोंसे बिछुड़े हुए हैं। उनमें राज्यविषयक लोभ पैदा हो गया है और पहले हमलोगोंके द्वारा राज्य-सुखसे वञ्चित किये गये हैं। अतः इस समय उन सबसे हमलोगोंको महान् भय प्राप्त हो सकता है' ॥ १५-१६ ॥

अल्पान्तरगतानां तु श्रुत्वा वचनमङ्गना।
आत्मनः प्रतिरूपं सा बभाषे चारुहासिनी ॥ १७ ॥

अभी थोड़ी ही दूरतक आये हुए उन वानरोंकी यह बात सुनकर मनोहर हासवाली कल्याणी ताराने उन्हें अपने अनुरूप उत्तर दिया— ॥ १७ ॥

पुत्रेण मम किं कार्यं राज्येनापि किमात्मना।
कपिसिंहे महाभागे तस्मिन् भर्तरि नश्यति ॥ १८ ॥

'वानरो! जब मेरे महाभाग पतिदेव कपिसिंह वाली ही नष्ट हो रहे हैं, तब मुझे पुत्रसे, राज्यसे तथा अपने इस जीवनसे भी क्या प्रयोजन है? ॥ १८ ॥

पादमूलं गमिष्यामि तस्यैवाहं महात्मनः।
योऽसौ रामप्रयुक्तेन शरेण विनिपातितः ॥ १९ ॥

'मैं तो, जिन्हें श्रीरामके चलाये हुए बाणने मार गिराया है, उन महात्मा वालीके चरणोंके समीप ही जाऊँगी' ॥ १९ ॥

एवमुक्त्वा प्रदुद्राव रुदती शोकमूर्च्छिता।
शिरश्चोरश्च बाहुभ्यां दुःखेन समभिघ्नती ॥ २० ॥

ऐसा कहकर शोकसे व्याकुल हुई तारा रोती और अपने दोनों हाथोंसे दुःखपूर्वक सिर एवं छाती पीटती हुई बड़े जोरसे दौड़ी ॥ २० ॥

सा व्रजन्ती ददर्शाथ पतिं निपतितं भुवि।
हन्तारं दानवेन्द्राणां समरेष्वनिवर्तिनाम् ॥ २१ ॥

आगे बढ़ती हुई ताराने देखा, जो युद्धमें कभी पीठ न दिखानेवाले दानवराजोंका भी वध करनेमें समर्थ थे, वे मेरे पति वानरराज वाली पृथ्वीपर पड़े हुए हैं ॥ २१ ॥

क्षेप्तारं पर्वतेन्द्राणां वज्राणामिव वासवम्।
महावातसमाविष्टं महामेघौघनिःस्वनम् ॥ २२ ॥
शक्रतुल्यपराक्रान्तं वृष्ट्वेवोपरतं घनम्।
नर्दन्तं नर्दतां भीमं शूरं शूरेण पातितम्।
शार्दूलेनामिषस्यार्थे मृगराजमिवाहतम् ॥ २३ ॥

वज्र चलानेवाले इन्द्रके समान जो रणभूमिमें बड़े-बड़े पर्वतोंको उठाकर फेंकते थे, जिनके वेगमें प्रचण्ड आँधीका समावेश था, जिनका सिंहनाद महान् मेघोंकी गम्भीर गर्जनाको भी तिरस्कृत कर देता था तथा जो इन्द्रके तुल्य पराक्रमी थे, वे ही इस समय वर्षा करके शान्त हुए बादलके समान चेष्टासे विरत हो गये हैं। जो स्वयं गर्जना करके गर्जनेवाले वीरोंके मनमें भय उत्पन्न कर देते थे, वे शूरवीर वाली एक दूसरे शूरवीरके द्वारा मार गिराये गये हैं। जैसे मांसके लिये एक सिंहने दूसरे सिंहको मार डाला हो, उसी प्रकार राज्यके लिये अपने भाईके द्वारा ही इनका वध किया गया है ॥ २२-२३ ॥

अर्चितं सर्वलोकस्य सपताकं सवेदिकम्।
नागहेतोः सुपर्णेन चैत्यमुन्मथितं यथा ॥ २४ ॥

जो सब लोगोंके द्वारा पूजित हो, जहाँ पताका फहरायी गयी हो तथा जिसके पास देवताकी वेदी शोभा पाती हो, उस चैत्य वृक्ष या देवालयको वहाँ छिपे हुए किसी नागको पकड़नेके लिये यदि गरुड़ने मथ डाला हो—नष्ट-भ्रष्ट कर दिया हो तो उसकी जैसी दुरवस्था देखी जाती है, वैसी ही दशा आज वालीकी हो रही है (यह सब ताराने देखा) ॥ २४ ॥

अवष्टभ्यावतिष्ठन्तं ददर्श धनुरूर्जितम्।
रामं रामानुजं चैव भर्तुश्चैव तथानुजम् ॥ २५ ॥

आगे जानेपर उसने देखा, अपने तेजस्वी धनुषको धरतीपर टेककर उसके सहारे श्रीरामचन्द्रजी खड़े हैं। साथ ही उनके छोटे भाई लक्ष्मण हैं और वहीं पतिके छोटे भाई सुग्रीव भी मौजूद हैं ॥ २५ ॥

तानतीत्य समासाद्य भर्तारं निहतं रणे।
समीक्ष्य व्यथिता भूमौ सम्भ्रान्ता निपपात ह ॥ २६ ॥

उन सबको पार करके वह रणभूमिमें घायल पड़े हुए अपने पतिके पास पहुँची। उन्हें देखकर उसके मनमें बड़ी व्यथा हुई और वह अत्यन्त व्याकुल होकर पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ २६ ॥

सुप्तेव पुनरुत्थाय आर्यपुत्रेति वादिनी।
रुरोद सा पतिं दृष्ट्वा संवीतं मृत्युदामभिः ॥ २७ ॥

फिर मानो वह सोकर उठी हो, इस प्रकार 'हा आर्यपुत्र!' कहकर मृत्युपाशसे बँधे हुए पतिकी ओर देखती हुई रोने लगी ॥ २७ ॥

तामवेक्ष्य तु सुग्रीवः क्रोशन्तीं कुररीमिव।
विषादमगमत् कष्टं दृष्ट्वा चाङ्गदमागतम् ॥ २८ ॥

उस समय कुररीके समान करुण क्रन्दन करती हुई तारा तथा उसके साथ आये हुए अङ्गदको देखकर सुग्रीवको बड़ा कष्ट हुआ। वे विषादमें डूब गये ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकोनविंशः सर्गः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

—★—

विंशः सर्गः

ताराका विलाप

रामचापविसृष्टेन शरेणान्तकरेण तम्।
दृष्ट्वा विनिहतं भूमौ तारा ताराधिपानना ॥ १ ॥
सा समासाद्य भर्तारं पर्यष्वजत भामिनी।
इषुणाभिहतं दृष्ट्वा वालिनं कुञ्जरोपमम् ॥ २ ॥
वानरं पर्वतेन्द्राभं शोकसंतप्तमानसा।
तारा तरुमिवोन्मूलं पर्यदेवयतातुरा ॥ ३ ॥

चन्द्रमुखी ताराने देखा, मेरे स्वामी वानरराज वाली श्रीरामचन्द्रजीके धनुषसे छूटे हुए प्राणान्तकारी बाणसे घायल होकर धरतीपर पड़े हैं, उस अवस्थामें उनके पास पहुँचकर वह भामिनी उनके शरीरसे लिपट गयी। जो अपने शरीरसे गजराज और गिरिराजको भी मात करते थे, उन्हीं वानरराजको बाणसे आहत होकर जड़से उखड़े हुए वृक्षकी भाँति धराशायी हुआ देख ताराका हृदय शोकसे संतप्त हो उठा और वह आतुर होकर विलाप करने लगी— ॥ १—३ ॥

रणे दारुणविक्रान्त प्रवीर प्लवतां वर।
किमिदानीं पुरोभागामद्य त्वं नाभिभाषसे ॥ ४ ॥

'रणमें भयानक पराक्रम प्रकट करनेवाले महान् वीर वानरराज! आज इस समय मुझे अपने सामने पाकर भी आप बोलते क्यों नहीं हैं? ॥ ४ ॥

उत्तिष्ठ हरिशार्दूल भजस्व शयनोत्तमम्।
नैवंविधाः शेरते हि भूमौ नृपतिसत्तमाः ॥ ५ ॥

कपिश्रेष्ठ! उठिये और उत्तम शय्याका आश्रय लीजिये। आप-जैसे श्रेष्ठ भूपाल पृथ्वीपर नहीं सोते हैं ॥ ५ ॥

अतीव खलु ते कान्ता वसुधा वसुधाधिप।
गतासुरपि तां गात्रैर्मां विहाय निषेवसे ॥ ६ ॥

'पृथ्वीनाथ! निश्चय ही यह पृथ्वी आपको अत्यन्त प्यारी है, तभी तो निष्प्राण होनेपर भी आप आज मुझे छोड़कर अपने अङ्गोंसे इस वसुधाका ही आलिङ्गन किये सो रहे हैं ॥

व्यक्तमद्य त्वया वीर धर्मतः सम्प्रवर्तता।
किष्किन्धेव पुरी रम्या स्वर्गमार्गे विनिर्मिता ॥ ७ ॥

'वीरवर! आपने धर्मयुक्त युद्ध करके स्वर्गके मार्गमें भी अवश्य ही किष्किन्धाकी भाँति कोई रमणीय पुरी बना ली है, यह बात आज स्पष्ट हो गयी (अन्यथा आप किष्किन्धाको छोड़कर यहाँ क्यों सोते) ॥ ७ ॥

यान्यस्माभिस्त्वया सार्धं वनेषु मधुगन्धिषु।
विहृतानि त्वया काले तेषामुपरमः कृतः ॥ ८ ॥

'आपके साथ मधुर सुगन्धयुक्त वनोंमें हमने जो-जो विहार किये हैं, उन सबको इस समय आपने सदाके लिये समाप्त कर दिया ॥ ८ ॥

निरानन्दा निराशाहं निमग्ना शोकसागरे।
त्वयि पञ्चत्वमापन्ने महायूथपयूथपे ॥ ९ ॥

'नाथ! आप बड़े-बड़े यूथपतियोंके भी स्वामी थे। आज आपके मारे जानेसे मेरा सारा आनन्द लुट गया। मैं सब प्रकारसे निराश होकर शोकके समुद्रमें डूब गयी हूँ ॥ ९ ॥

हृदयं सुस्थिरं मह्यं दृष्ट्वा निपतितं भुवि।
यन्न शोकाभिसंतप्तं स्फुटतेऽद्य सहस्रधा ॥ १० ॥

'निश्चय ही मेरा हृदय बड़ा कठोर है, जो आज आपको पृथ्वीपर पड़ा देखकर भी शोकसे संतप्त हो फट नहीं जाता—इसके हजारों टुकड़े नहीं हो जाते ॥ १० ॥

सुग्रीवस्य त्वया भार्या हृता स च विवासितः।
यत् तत् तस्य त्वया व्युष्टिः प्राप्तेयं प्लवगाधिप ॥ ११ ॥

'वानरराज! आपने जो सुग्रीवकी स्त्री छीन ली और उन्हें घरसे बाहर निकाल दिया, उसीका यह फल आपको प्राप्त हुआ है ॥ ११ ॥

निःश्रेयसपरा मोहात् त्वया चाहं विगर्हिता।
यैषाब्रुवं हितं वाक्यं वानरेन्द्र हितैषिणी ॥ १२ ॥

'वानरेन्द्र! मैं आपका हित चाहती थी और आपके कल्याण-साधनमें ही लगी रहती थी तो भी मैंने आपसे जो हितकर बात कही थी, उसे मोहवश आपने नहीं माना और उलटे मेरी ही निन्दा की ॥ १२ ॥

रूपयौवनदृप्तानां दक्षिणानां च मानद।
नूनमप्सरसामार्य चित्तानि प्रमथिष्यसि ॥ १३ ॥

'दूसरोंको मान देनेवाले आर्यपुत्र! निश्चय ही आप स्वर्गमें जाकर रूप और यौवनके अभिमानसे मत्त रहनेवाली केलिकलामें निपुण अप्सराओंके मनको अपने दिव्य सौन्दर्यसे मथ डालेंगे ॥ १३ ॥

कालो निःसंशयो नूनं जीवितान्तकरस्तव।
बलाद् येनावपन्नोऽसि सुग्रीवस्यावशो वशम् ॥ १४ ॥

'निश्चय ही आज आपके जीवनका अन्त कर देनेवाला संशयरहित काल यहाँ आ पहुँचा था, जिसने किसीके भी वशमें न आनेवाले आपको बलपूर्वक सुग्रीवके वशमें डाल दिया' ॥ १४ ॥

अस्थाने वालिनं हत्वा युध्यमानं परेण च।
न संतप्यति काकुत्स्थः कृत्वा कर्मसुगर्हितम् ॥ १५ ॥

(अब श्रीरामको सुनाकर बोली)—'ककुत्स्थ-कुलमें अवतीर्ण हुए श्रीरामचन्द्रजीने दूसरेके साथ युद्ध करते हुए वालीको मारकर अत्यन्त निन्दित कर्म किया है। इस कुत्सित कर्मको करके भी जो ये संतप्त नहीं हो रहे हैं, यह सर्वथा अनुचित है' ॥ १५ ॥

वैधव्यं शोकसंतापं कृपणाकृपणा सती।
अदुःखोपचिता पूर्वं वर्तयिष्याम्यनाथवत् ॥ १६ ॥

(फिर वालीसे बोली—) 'मैंने कभी दीनतापूर्ण जीवन

आकाशमें चढ़कर गिरिमल्लिका और अर्जुनपुष्पकी मालाओंसे सूर्यदेवको अलंकृत करना सरल-सा हो गया है॥ ४॥

संध्यारागोत्थितैस्ताम्रैरन्तेष्वपि च पाण्डुभिः।
स्निग्धैरभ्रपटच्छेदैर्बद्धव्रणमिवाम्बरम्॥ ५॥

'संध्याकालकी लाली प्रकट होनेसे बीचमें लाल तथा किनारेके भागोंमें श्वेत एवं स्निग्ध प्रतीत होनेवाले मेघखण्डोंसे आच्छादित हुआ आकाश ऐसा जान पड़ता है, मानो उसने अपने घावमें रक्तरञ्जित सफेद कपड़ोंकी पट्टी बाँध रखी हो॥ ५॥

मन्दमारुतनिःश्वासं संध्याचन्दनरञ्जितम्।
आपाण्डुजलदं भाति कामातुरमिवाम्बरम्॥ ६॥

'मन्द-मन्द हवा निःश्वास-सी प्रतीत होती है, संध्याकालकी लाली लाल चन्दन बनकर ललाट आदि अङ्गोंको अनुरञ्जित कर रही है तथा मेघरूपी कपोल कुछ-कुछ पाण्डुवर्णका प्रतीत होता है। इस तरह यह आकाश कामातुर पुरुषके समान जान पड़ता है॥ ६॥

एषा घर्मपरिक्लिष्टा नववारिपरिप्लुता।
सीतेव शोकसंतप्ता मही बाष्पं विमुञ्चति॥ ७॥

'जो ग्रीष्म-ऋतुमें घामसे तप गयी थी, वह पृथ्वी वर्षाकालमें नूतन जलसे भीगकर (सूर्य-किरणोंसे तपी और आँसुओंसे भीगी हुई) शोकसंतप्त सीताकी भाँति बाष्प विमोचन (उष्णताका त्याग अथवा अश्रुपात) कर रही है॥ ७॥

मेघोदरविनिर्मुक्ताः कर्पूरदलशीतलाः।
शक्यमञ्जलिभिः[1] पातुं वाताः केतकगन्धिनः॥ ८॥

'मेघके उदरसे निकली, कपूरकी डलीके समान ठंडी तथा केवड़ेकी सुगन्धसे भरी हुई इस बरसाती वायुको मानो अञ्जलियोंमें भरकर पीया जा सकता है॥ ८॥

एष फुल्लार्जुनः शैलः केतकैरभिवासितः।
सुग्रीव इव शान्तारिर्धाराभिरभिषिच्यते॥ ९॥

'यह पर्वत, जिसपर अर्जुनके वृक्ष खिले हुए हैं तथा जो केवड़ोंसे सुवासित हो रहा है, शान्त हुए शत्रुवाले सुग्रीवकी भाँति जलकी धाराओंसे अभिषिक्त हो रहा है॥ ९॥

मेघकृष्णाजिनधरा धारायज्ञोपवीतिनः।
मारुतापूरितगुहाः प्राधीता इव पर्वताः॥ १०॥

मेघरूपी काले मृगचर्म तथा वर्षाकी धारारूप यज्ञोपवीत धारण किये वायुसे पूरित गुफा (या हृदय) वाले ये पर्वत ब्रह्मचारियोंकी भाँति मानो वेदाध्ययन आरम्भ कर रहे हैं॥

कशाभिरिव हैमीभिर्विद्युद्भिरभिताडितम्।
अन्तःस्तनितनिर्घोषं सवेदनमिवाम्बरम्॥ ११॥

'ये बिजलियाँ सोनेके बने हुए कोड़ोंके समान जान पड़ती हैं। इनकी मार खाकर मानो व्यथित हुआ आकाश अपने भीतर व्यक्त हुई मेघोंकी गम्भीर गर्जनाके रूपमें आर्तनाद-सा कर रहा है॥ ११॥

नीलमेघाश्रिता विद्युत् स्फुरन्ती प्रतिभाति मे।
स्फुरन्ती रावणस्याङ्के वैदेहीव तपस्विनी॥ १२॥

'नील मेघका आश्रय लेकर प्रकाशित होती हुई यह विद्युत् मुझे रावणके अङ्कमें छटपटाती हुई तपस्विनी सीताके समान प्रतीत होती है॥ १२॥

इमास्ता मन्मथवतां हिताः प्रतिहता दिशः।
अनुलिप्ता इव घनैर्नष्टग्रहनिशाकराः॥ १३॥

'बादलोंका लेप लग जानेसे जिनमें ग्रह, नक्षत्र और चन्द्रमा अदृश्य हो गये हैं, अतएव जो नष्ट-सी हो गयी हैं—जिनके पूर्व, पश्चिम आदि भेदोंका विवेक लुप्त-सा हो गया है, वे दिशाएँ, उन कामियोंको, जिन्हें प्रेयसीका संयोगसुख सुलभ है, हितकर प्रतीत होती हैं॥ १३॥

क्वचिद् बाष्पाभिसंरुद्धान् वर्षागमसमुत्सुकान्।
कुटजान् पश्य सौमित्रे पुष्पितान् गिरिसानुषु।
मम शोकाभिभूतस्य कामसंदीपनान् स्थितान्॥ १४॥

'सुमित्रानन्दन! देखो, इस पर्वतके शिखरोंपर खिले हुए कुटज कैसी शोभा पाते हैं? कहीं तो पहली बार वर्षा होनेपर भूमिसे निकले हुए भापसे ये व्याप्त हो रहे हैं और कहीं वर्षाके आगमनसे अत्यन्त उत्सुक (हर्षोत्फुल्ल) दिखायी देते हैं। मैं तो प्रिया-विरहके शोकसे पीड़ित हूँ और ये कुटज पुष्प मेरी प्रेमाग्निको उद्दीप्त कर रहे हैं॥ १४॥

रजः प्रशान्तं सहिमोऽद्य वायु-
र्निदाघदोषप्रसराः प्रशान्ताः।
स्थिता हि यात्रा वसुधाधिपानां
प्रवासिनो यान्ति नराः स्वदेशान्॥ १५॥

'धरतीकी धूल शान्त हो गयी। अब वायुमें शीतलता आ गयी। गर्मीके दोषोंका प्रसार बंद हो गया। भूपालोंकी युद्धयात्रा रुक गयी और परदेशी मनुष्य अपने-अपने देशको लौट रहे हैं॥

सम्प्रस्थिता मानसवासलुब्धाः
प्रियान्विताः सम्प्रति चक्रवाकाः।
अभीक्ष्णवर्षोदकविक्षतेषु
यानानि मार्गेषु न सम्पतन्ति॥ १६॥

'मानसरोवरमें निवासके लोभी हंस वहाँके लिये प्रस्थित हो गये। इस समय चकवे अपनी प्रियाओंसे मिल रहे हैं। निरन्तर होनेवाली वर्षाके जलसे मार्ग टूट-फूट गये हैं, इसलिये उनपर रथ आदि नहीं चल रहे हैं॥ १६॥

क्वचित् प्रकाशं क्वचिदप्रकाशं
नभः प्रकीर्णाम्बुधरं विभाति।
क्वचित्क्वचित् पर्वतसंनिरुद्धं
रूपं यथा शान्तमहार्णवस्य॥ १७॥

१. 'शक्या अञ्जलिभिः' इति स्वच्छः पाठः।

रहकर अपने शुभ और अशुभ—सभी कर्मोंका फल भोगता है॥

शोच्या शोचसि कं शोच्यं दीनं दीनानुकम्पसे।
कश्च कस्यानुशोच्योऽस्ति देहेऽस्मिन् बुद्बुदोपमे॥ ३॥

'तुम स्वयं शोचनीया हो; फिर दूसरे किसको शोचनीय समझकर शोक कर रही हो? स्वयं दीन होकर दूसरे किस दीन-पर दया करती हो? पानीके बुलबुलेके समान इस शरीरमें रहकर कौन जीव किस जीवके लिये शोचनीय है?॥ ३॥

अङ्गदस्तु कुमारोऽयं द्रष्टव्यो जीवपुत्रया।
आयत्यां च विधेयानि समर्थान्यस्य चिन्तय॥ ४॥

'तुम्हारे पुत्र कुमार अङ्गद जीवित हैं। अब तुम्हें इन्हींकी ओर देखना चाहिये और इनके लिये भविष्यमें जो उन्नतिके साधक श्रेष्ठ कार्य हों, उनका विचार करना चाहिये॥ ४॥

जानास्यनियतामेवं भूतानामागतिं गतिम्।
तस्माच्छुभं हि कर्तव्यं पण्डिते नेह लौकिकम्॥ ५॥

देवि! तुम विदुषी हो, अतः जानती ही हो कि प्राणियोंके जन्म और मृत्युका कोई निश्चित समय नहीं है। इसलिये शुभ (परलोकके लिये सुखद) कर्म ही करना चाहिये। अधिक रोना-धोना आदि जो लौकिक कर्म (व्यवहार) है, उसे नहीं करना चाहिये॥ ५॥

यस्मिन् हरिसहस्राणि शतानि नियुतानि च।
वर्तयन्ति कृताशानि सोऽयं दिष्टान्तमागतः॥ ६॥

'सैकड़ों, हजारों और लाखों वानर जिनपर आशा लगाये जीवन निर्वाह करते थे, वे ही ये वानरराज आज अपनी प्रारब्धनिर्मित आयुकी अवधि पूरी कर चुके॥ ६॥

यदयं न्यायदृष्टार्थः सामदानक्षमापरः।
गतो धर्मजितां भूमिं नैनं शोचितुमर्हसि॥ ७॥

'इन्होंने नीतिशास्त्रके अनुसार अर्थका साधन—राज्य-कार्यका संचालन किया है। ये उपयुक्त समयपर साम, दान और क्षमाका व्यवहार करते आये हैं। अतः धर्मानुसार प्राप्त होनेवाले लोकमें गये हैं। इनके लिये तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये॥ ७॥

सर्वे च हरिशार्दूलाः पुत्रश्चायं तवाङ्गदः।
हर्यृक्षपतिराज्यं च त्वत्सनाथमनिन्दिते॥ ८॥

'सती साध्वी देवि! ये सभी श्रेष्ठ वानर, ये तुम्हारे पुत्र अङ्गद तथा वानर और भालुओंका यह राज्य सब तुमसे ही सनाथ है—तुम्हीं इन सबकी स्वामिनी हो॥ ८॥

ताविमौ शोकसंतप्तौ शनैः प्रेरय भामिनि।
त्वया परिगृहीतोऽयमङ्गदः शास्तु मेदिनीम्॥ ९॥

भामिनि! ये अङ्गद और सुग्रीव दोनों ही शोकसे संतप्त हो रहे हैं। तुम इन्हें भावी कार्यके लिये प्रेरित करो। तुम्हारे अधीन रहकर अङ्गद इस पृथ्वीका शासन करें॥ ९॥

संततिश्च यथा दृष्टा कृत्यं यच्चापि साम्प्रतम्।
राज्ञस्तत् क्रियतां सर्वमेष कालस्य निश्चयः॥ १०॥

'शास्त्रमें संतान होनेका जो प्रयोजन बतलाया गया है तथा इस समय राजा वालीके पारलौकिक कल्याणके लिये जो कुछ कर्तव्य है, वही करो—यही समयकी निश्चित प्रेरणा है॥ १०॥

संस्कार्यो हरिराजस्तु अङ्गदश्चाभिषिच्यताम्।
सिंहासनगतं पुत्रं पश्यन्ती शान्तिमेष्यसि॥ ११॥

'वानरराजका अन्त्येष्टि-संस्कार और कुमार अङ्गदका राज्याभिषेक किया जाय। बेटेको राजसिंहासनपर बैठा देखकर तुम्हें शान्ति मिलेगी'॥ ११॥

सा तस्य वचनं श्रुत्वा भर्तृव्यसनपीडिता।
अब्रवीदुत्तरं तारा हनूमन्तमवस्थितम्॥ १२॥

तारा अपने स्वामीके विरह-शोकसे पीड़ित थी। वह उपर्युक्त वचन सुनकर सामने खड़े हुए हनुमान्‌जीसे बोली—॥

अङ्गदप्रतिरूपाणां पुत्राणामेकतः शतम्।
हतस्याप्यस्य वीरस्य गात्रसंश्लेषणं वरम्॥ १३॥

'अङ्गदके समान सौ पुत्र एक ओर और मरे होनेपर भी इस वीरवर स्वामीका आलिङ्गन करके सती होना दूसरी ओर—इन दोनोंमेंसे अपने वीर पतिके शरीरका आलिङ्गन ही मुझे श्रेष्ठ जान पड़ता है॥ १३॥

न चाहं हरिराज्यस्य प्रभवाम्यङ्गदस्य वा।
पितृव्यस्तस्य सुग्रीवः सर्वकार्येष्वनन्तरः॥ १४॥

'मैं न तो वानरोंके राज्यकी स्वामिनी हूँ और न मुझे अङ्गदके लिये ही कुछ करनेका अधिकार है। इसके चाचा सुग्रीव ही समस्त कार्योंके लिये समर्थ हैं और वे ही मेरी अपेक्षा इसके निकटवर्ती भी हैं॥ १४॥

न ह्येषा बुद्धिरास्थेया हनूमन्नङ्गदं प्रति।
पिता हि बन्धुः पुत्रस्य न माता हरिसत्तम॥ १५॥

'कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌जी! अङ्गदके विषयमें आपकी यह सलाह मेरे लिये काममें लाने योग्य नहीं है। आपको यह समझना चाहिये कि पुत्रके वास्तविक बन्धु (सहायक) पिता और चाचा ही हैं। माता नहीं॥ १५॥

नहि मम हरिराजसंश्रयात्
क्षमतरमस्ति परत्र चेह वा।
अभिमुखहतवीरसेवितं
शयनमिदं मम सेवितुं क्षमम्॥ १६॥

मेरे लिये वानरराज वालीका अनुगमन करनेसे बढ़कर इस लोक या परलोकमें कोई भी कार्य उचित नहीं है। युद्धमें शत्रुसे जूझकर मरे हुए अपने वीर स्वामीके द्वारा सेवित चिता आदिकी शय्यापर शयन करना ही मेरे लिये सर्वथा योग्य है'॥ १६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकविंशः सर्गः॥ २१॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें इक्कीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २१॥

द्वाविंशः सर्गः

वालीका सुग्रीव और अङ्गदसे अपने मनकी बात कहकर प्राणोंको त्याग देना

वीक्षमाणस्तु मन्दासुः सर्वतो मन्दमुच्छ्वसन्।
आदावेव तु सुग्रीवं ददर्शानुजमग्रतः॥ १॥

वालीके प्राणोंकी गति शिथिल पड़ गयी थी। वह धीरे-धीरे ऊर्ध्व साँस लेता हुआ सब ओर देखने लगा। सबसे पहले उसने अपने सामने खड़े हुए छोटे भाई सुग्रीवको देखा॥ १॥

तं प्राप्तविजयं वाली सुग्रीवं प्लवगेश्वरम्।
आभाष्य व्यक्तया वाचा सस्नेहमिदमब्रवीत्॥ २॥

युद्धमें जिन्हें विजय प्राप्त हुई थी, उन वानरराज सुग्रीवको सम्बोधित करके वालीने बड़े स्नेहके साथ स्पष्ट वाणीमें कहा—॥ २॥

सुग्रीव दोषेण न मां गन्तुमर्हसि किल्बिषात्।
कृष्यमाणं भविष्येण बुद्धिमोहेन मां बलात्॥ ३॥

'सुग्रीव! पूर्वजन्मके किसी पापसे अवश्यम्भावी बुद्धिमोहने मुझे बलपूर्वक आकृष्ट कर लिया था, इसीलिये मैं तुम्हें शत्रु समझने लगा था और इस कारण मेरे द्वारा जो तुम्हारे प्रति अपराध हुए, उसके लिये तुम्हें मेरे प्रति दोष-दृष्टि नहीं करनी चाहिये॥

युगपद् विहितं तात न मन्ये सुखमावयोः।
सौहार्दं भ्रातृयुक्तं हि तदिदं जातमन्यथा॥ ४॥

'तात! मैं समझता हूँ हम दोनोंके लिये एक साथ रहकर सुख भोगना नहीं बदा था, इसीलिये दो भाइयोंमें जो प्रेम होना चाहिये, वह न होकर हमलोगोंमें उसके विपरीत वैरभाव उत्पन्न हो गया॥ ४॥

प्रतिपद्य त्वमद्यैव राज्यमेषां वनौकसाम्।
मामप्यद्यैव गच्छन्तं विद्धि वैवस्वतक्षयम्॥ ५॥

'भाई तुम आज ही यह वानरोंका राज्य स्वीकार करो तथा मुझे अभी यमराजके घर जानेको तैयार समझो॥ ५॥

जीवितं च हि राज्यं च श्रियं च विपुलां तथा।
प्रजहाम्येष वै तूर्णमहं चागर्हितं यशः॥ ६॥

'मैं अपने जीवन, राज्य, विपुल सम्पत्ति और प्रशंसित यशको भी तुरंत ही त्याग कर रहा हूँ॥ ६॥

अस्यां त्वहमवस्थायां वीर वक्ष्यामि यद् वचः।
यद्यप्यसुकरं राजन् कर्तुमेव त्वमर्हसि॥ ७॥

'वीर! राजन्! इस अवस्थामें मैं जो कुछ कहूँगा, वह यद्यपि करनेमें कठिन है, तथापि तुम उसे अवश्य करना

सुखार्हं सुखसंवृद्धं बालमेनमबालिशम्।
बाष्पपूर्णमुखं पश्य भूमौ पतितमङ्गदम्॥ ८॥

'देखो, मेरा बेटा अङ्गद धरतीपर पड़ा है। इसका मुँह आँसुओंसे भीगा है। यह सुखमें पला है और सुख भोगनेके ही योग्य है। बालक होनेपर भी यह मूढ़ नहीं है॥ ८॥

मम प्राणैः प्रियतरं पुत्रं पुत्रमिवौरसम्।
मया हीनमहीनार्थं सर्वतः परिपालय॥ ९॥

'यह मुझे प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय है। मेरे न रहनेपर तुम इसे सगे पुत्रकी भाँति मानना। इसके लिये किसी भी सुख-सुविधाकी कमी न होने देना और सदा सब जगह इसकी रक्षा करते रहना॥ ९॥

त्वमप्यस्य पिता दाता परित्राता च सर्वशः।
भयेष्वभयदश्चैव यथाहं प्लवगेश्वर॥ १०॥

'वानरराज! मेरे ही समान तुम भी इसके पिता, दाता, सब प्रकारसे रक्षक और भयके अवसरोंपर अभय देनेवाले हो॥

एष तारात्मजः श्रीमांस्त्वया तुल्यपराक्रमः।
रक्षसां च वधे तेषामग्रतस्ते भविष्यति॥ ११॥

'ताराका यह तेजस्वी पुत्र तुम्हारे समान ही पराक्रमी है। उन राक्षसोंके वधके समय यह सदा तुम्हारे आगे रहेगा॥

अनुरूपाणि कर्माणि विक्रम्य बलवान् रणे।
करिष्यत्येष तारेयस्तेजस्वी तरुणोऽङ्गदः॥ १२॥

'यह बलवान् तेजस्वी तरुण ताराकुमार अङ्गद रणभूमिमें पराक्रम प्रकट करते हुए अपने योग्य कर्म करेगा॥ १२॥

सुषेणदुहिता चेयमर्थसूक्ष्मविनिश्चये।
औत्पातिके च विविधे सर्वतः परिनिष्ठिता॥ १३॥

'सुषेणकी पुत्री यह तारा सूक्ष्म विषयोंके निर्णय करने तथा नाना प्रकारके उत्पातोंके चिह्नोंको समझनेमें सर्वथा निपुण है॥

यदेषा साध्विति ब्रूयात् कार्यं तन्मुक्तसंशयम्।
नहि तारामतं किंचिदन्यथा परिवर्तते॥ १४॥

'जिस कार्यको अच्छा बताये, उसे संदेहरहित होकर करना। ताराकी किसी भी सम्मतिका परिणाम उलटा नहीं होता॥ १४॥

राघवस्य च ते कार्यं कर्तव्यमविशङ्कया।
स्यादधर्मो ह्यकरणे त्वां च हिंस्यादमानितः॥ १५॥

'श्रीरामचन्द्रजीका काम तुम्हें निःशङ्क होकर करना चाहिये। उसको न करनेसे तुम्हें पाप लगेगा और अपमानित होनेपर श्रीरामचन्द्रजी तुझे मार डालेंगे॥ १५॥

इमां च मालामाधत्स्व दिव्यां सुग्रीव काञ्चनीम्।
उदारा श्रीः स्थिता ह्यस्यां सम्प्रजह्यान्मृते मयि॥ १६॥

'सुग्रीव! मेरी यह सोनेकी दिव्यमाला तुम धारण कर लो। इसमें उदार लक्ष्मीका वास है। मेरे मर जानेपर इसकी श्री नष्ट हो जायगी। अतः अभीसे पहन लो'॥ १६॥

इत्येवमुक्तः सुग्रीवो वालिना भ्रातृसौहृदात्।
हर्षं त्यक्त्वा पुनर्दीनो ग्रहग्रस्त इवोडुराट्॥ १७॥

वालीने भ्रातृस्नेहके कारण जब ऐसी बातें कहीं, तब उसके वधके कारण जो हर्ष हुआ था, उसे त्यागकर सुग्रीव फिर दुःखी हो गये, मानो चन्द्रमापर ग्रहण लग गया हो॥

तद्वालिवचनाच्छान्तः कुर्वन् युक्तमतन्द्रितः।
जग्राह सोऽभ्यनुज्ञातो मालां तां चैव काञ्चनीम्॥ १८॥

वालीके उस वचनसे सुग्रीवका वैरभाव शान्त हो गया।

वे सावधान होकर उचित बर्ताव करने लगे। उन्होंने भाईकी आज्ञासे वह सोनेकी माला ग्रहण कर ली॥ १८॥

तां मालां काञ्चनीं दत्त्वा दृष्ट्वा चैवात्मजं स्थितम्।
संसिद्धः प्रेत्यभावाय स्नेहादङ्गदमब्रवीत्॥ १९॥

सुग्रीवको वह सुवर्णमयी माला देनेके पश्चात् वालीने मरनेका निश्चय कर लिया। फिर अपने सामने खड़े हुए पुत्र अङ्गदकी ओर देखकर स्नेहके साथ कहा—॥ १९॥

देशकालौ भजस्वाद्य क्षममाणः प्रियाप्रिये।
सुखदुःखसहः काले सुग्रीववशगो भव॥ २०॥

'बेटा! अब देश कालको समझो—कब और कहाँ कैसा बर्ताव करना चाहिये, इसका निश्चय करके वैसा ही आचरण करो। समयानुसार प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख—जो कुछ आ पड़े उसको सहो। अपने हृदयमें क्षमाभाव रखो और सदा सुग्रीवकी आज्ञाके अधीन रहो॥ २०॥

यथा हि त्वं महाबाहो लालितः सततं मया।
न तथा वर्तमानं त्वां सुग्रीवो बहु मन्यते॥ २१॥

'महाबाहो! सदा मेरा दुलार पाकर जिस प्रकार तुम रहते आये हो, यदि वैसा ही बर्ताव अब भी करोगे तो सुग्रीव तुम्हारा विशेष आदर नहीं करेंगे॥ २१॥

नास्यामित्रैर्गतिं गच्छेर्मा शत्रुभिररिंदम।
भर्तुरर्थपरो दान्तः सुग्रीववशगो भव॥ २२॥

'शत्रुदमन अङ्गद! तुम इनके शत्रुओंका साथ मत दो। जो इनके मित्र न हों, उनसे भी न मिलो और अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखकर सदा अपने स्वामी सुग्रीवके कार्य-साधनमें संलग्न रहते हुए उन्हींके अधीन रहो॥ २२॥

न चातिप्रणयः कार्यः कर्तव्योऽप्रणयश्च ते।
उभयं हि महादोषं तस्मादन्तरदृग् भव॥ २३॥

'किसीके साथ अत्यन्त प्रेम न करो और प्रेमका सर्वथा अभाव भी न होने दो; क्योंकि ये दोनों ही महान् दोष हैं। अतः मध्यम स्थितिपर ही दृष्टि रखो'॥ २३॥

इत्युक्त्वाथ विवृत्ताक्षः शरसम्पीडितो भृशम्।
विवृतैर्दशनैर्भीमैर्बभूवोत्क्रान्तजीवितः॥ २४॥

ऐसा कहकर बाणके आघातसे अत्यन्त घायल हुए वालीकी आँखें घूमने लगीं। उसके भयंकर दाँत खुल गये और प्राण-पखेरू उड़ गये॥ २४॥

ततो विचुक्रुशुस्तत्र वानरा हतयूथपाः।
परिदेवयमानास्ते सर्वे प्लवगसत्तमाः॥ २५॥

उस समय अपने यूथपतिकी मृत्यु हो जानेसे सभी श्रेष्ठ वानर जोर-जोरसे रोने और विलाप करने लगे—॥ २५॥

किष्किन्धा ह्यद्य शून्या च स्वर्गते वानरेश्वरे।
उद्यानानि च शून्यानि पर्वताः काननानि च॥ २६॥

'हाय! आज वानरराज वालीके स्वर्गलोक चले जानेसे सारी किष्किन्धापुरी सूनी हो गयी। उद्यान, पर्वत और वन भी सूने हो गये॥ २६॥

हते प्लवगशार्दूले निष्प्रभा वानराः कृताः।
यस्य वेगेन महता काननानि वनानि च॥ २७॥
पुष्पौघेणानुबद्ध्यन्ते करिष्यति तदद्य कः।

'वानरश्रेष्ठ वालीके मारे जानेसे सारे वानर श्रीहीन हो गये। जिनके महान् वेग (प्रताप) से समस्त कानन और वन पुष्पसमूहोंसे सदा संयुक्त बने रहते थे, आज उनके न रहनेसे कौन ऐसा चमत्कारपूर्ण कार्य करेगा?॥ २७½॥

येन दत्तं महद् युद्धं गन्धर्वस्य महात्मनः॥ २८॥
गोलभस्य महाबाहोर्दश वर्षाणि पञ्च च।
नैव रात्रौ न दिवसे तद् युद्धमुपशाम्यति॥ २९॥

'उन्होंने महामना महाबाहु गोलभ नामक गन्धर्वको महान् युद्धका अवसर दिया था। वह युद्ध पंद्रह वर्षोंतक लगातार चलता रहा। न दिनमें बंद होता था, न रातमें॥ २९॥

ततः षोडशमे वर्षे गोलभो विनिपातितः।
तं हत्वा दुर्विनीतं तु वाली दंष्ट्राकरालवान्।
सर्वाभयंकरोऽस्माकं कथमेष निपातितः॥ ३०॥

'तदनन्तर सोलहवाँ वर्ष आरम्भ होनेपर गोलभ वालीके हाथसे मारा गया। उस दुष्ट गन्धर्वका वध करके जिन विकराल दाढ़ोंवाले वालीने हम सबको अभय दान दिया था, वे ही ये हमारे स्वामी वानरराज स्वयं कैसे मार गिराये गये?'॥ ३०॥

हते तु वीरे प्लवगाधिपे तदा
प्लवङ्गमास्तत्र न शर्म लेभिरे।
वनेचराः सिंहयुते महावने
यथा हि गावो निहते गवां पतौ॥ ३१॥

उस समय वीर वानरराज वालीके मारे जानेपर वनोंमें विचरनेवाले वानर वहाँ चैन न पा सके। जैसे सिंहसे युक्त विशाल वनमें साँड़के मारे जानेपर गौएँ दुःखी हो जाती हैं, वही दशा उन वानरोंकी हुई॥ ३१॥

ततस्तु तारा व्यसनार्णवप्लुता
मृतस्य भर्तुर्वदनं समीक्ष्य सा।
जगाम भूमिं परिरभ्य वालिनं
महाद्रुमं छिन्नमिवाश्रिता लता॥ ३२॥

तदनन्तर शोकके समुद्रमें डूबी हुई ताराने जब अपने मरे हुए स्वामीकी ओर दृष्टिपात किया, तब वह वालीका आलिङ्गन करके कटे हुए महान् वृक्षसे लिपटी हुई लताकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ी॥ ३२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे द्वाविंशः सर्गः॥ २२॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें बाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २२॥

★

त्रयोविंशः सर्गः

ताराका विलाप

ततः समुपजिघ्रन्ती कपिराजस्य तन्मुखम्।
पतिं लोकश्रुता तारा मृतं वचनमब्रवीत्॥ १॥

उस समय वानरराजका मुख सूँघती हुई लोकविख्यात ताराने रोकर अपने मृत पतिसे इस प्रकार कहा—॥ १॥

शेषे त्वं विषमे दुःखमकृत्वा वचनं मम।
उपलोपचिते वीर सुदुःखे वसुधातले॥ २॥

'वीर! दुःखकी बात है कि आपने मेरी बात नहीं मानी और अब आप प्रस्तरसे पूर्ण अत्यन्त दुःखदायक और ऊँचे-नीचे भूतलपर शयन कर रहे हैं॥ २॥

मत्तः प्रियतरा नूनं वानरेन्द्र मही तव।
शेषे हि तां परिष्वज्य मां च न प्रतिभाषसे॥ ३॥

'वानरराज! निश्चय ही यह पृथ्वी आपको मुझसे भी बढ़कर प्रिय है, तभी तो आप इसका आलिङ्गन करके सो रहे हैं और मुझसे बाततक नहीं करते॥ ३॥

सुग्रीवस्य वशं प्राप्तो विधिरेष भवत्यहो।
सुग्रीव एव विक्रान्तो वीर साहसिकप्रिय॥ ४॥

'वीर! साहसपूर्ण कार्योंसे प्रेम रखनेवाले वानरराज! यह श्रीरामरूपी विधाता सुग्रीवके वशमें हो गया है (—आपके नहीं) यह बड़े आश्चर्यकी बात है, अतः अब इस राज्यपर सुग्रीव ही पराक्रमी राजाके रूपमें आसीन होंगे॥ ४॥

ऋक्षवानरमुख्यास्त्वां बलिनं पर्युपासते।
तेषां विलपितं कृच्छ्रमङ्गदस्य च शोचतः॥ ५॥
मम चेमा गिरः श्रुत्वा किं त्वं न प्रतिबुध्यसे।

'प्राणनाथ! प्रधान-प्रधान भालु और वानर जो आप महावीरकी सेवामें रहा करते थे, इस समय बड़े दुःखसे विलाप कर रहे हैं। बेटा अङ्गद भी शोकमें पड़ा है। उन वानरोंका दुःखमय विलाप, अङ्गदका शोकोद्गार तथा मेरी यह अनुनय-विनयभरी वाणी सुनकर भी आप जागते क्यों नहीं हैं? ॥ ५½॥

इदं तद् वीरशयनं तत्र शेषे हतो युधि॥ ६॥
शायिता निहता यत्र त्वयैव रिपवः पुरा।

'यही वह वीर-शय्या है, जिसपर पूर्वकालमें आपने ही बहुत-से शत्रुओंको मारकर सुलाया था, किंतु आज स्वयं ही युद्धमें मारे जाकर आप इसपर शयन कर रहे हैं॥ ६½॥

विशुद्धसत्त्वाभिजन प्रिययुद्ध मम प्रिय॥ ७॥
मामनाथां विहायैकां गतस्त्वमसि मानद।

'विशुद्ध बलशाली कुलमें उत्पन्न युद्धप्रेमी तथा दूसरोंको मान देनेवाले मेरे प्रियतम! तुम मुझ अनाथाको अकेली छोड़कर कहाँ चले गये? ॥ ७½॥

शूराय न प्रदातव्या कन्या खलु विपश्चिता॥ ८॥
शूरभार्यां हतां पश्य सद्यो मां विधवां कृताम्।

'निश्चय ही बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह अपनी कन्या किसी शूरवीरके हाथमें न दे। देखो, मैं शूरवीरकी पत्नी होनेके कारण तत्काल विधवा बना दी गयी और इस प्रकार सर्वथा मारी गयी॥ ८½॥

अवभग्नश्च मे मानो भग्ना मे शाश्वती गतिः॥ ९॥
अगाधे च निमग्नास्मि विपुले शोकसागरे।

'राजरानी होनेका जो मेरा अभिमान था, वह भङ्ग हो गया। नित्य-निरन्तर सुख पानेकी मेरी आशा नष्ट हो गयी तथा मैं अगाध एवं विशाल शोकसमुद्रमें डूब गयी हूँ॥

अश्मसारमयं नूनमिदं मे हृदयं दृढम्॥ १०॥
भर्तारं निहतं दृष्ट्वा यन्नाद्य शतधा कृतम्।

'निश्चय ही यह मेरा कठोर हृदय लोहेका बना हुआ है। तभी तो अपने स्वामीको मारा गया देखकर इसके सैकड़ों टुकड़े नहीं हो जाते॥ १०½॥

सुहृच्चैव च भर्ता च प्रकृत्या च मम प्रियः॥ ११॥
प्रहारे च पराक्रान्तः शूरः पञ्चत्वमागतः।

'हाय! जो मेरे सुहृद्, स्वामी और स्वभावसे ही प्रिय थे तथा संग्राममें महान् पराक्रम प्रकट करनेवाले शूरवीर थे, वे संसारसे चल बसे॥ ११½॥

पतिहीना तु या नारी कामं भवतु पुत्रिणी॥ १२॥
धनधान्यसमृद्धापि विधवेत्युच्यते जनैः।

'पतिहीन नारी भले ही पुत्रवती एवं धन-धान्यसे समृद्ध भी हो, किन्तु लोग उसे विधवा ही कहते हैं॥ १२½॥

स्वगात्रप्रभवे वीर शेषे रुधिरमण्डले॥ १३॥
कृमिरागपरिस्तोमे स्वकीये शयने यथा।

'वीर! अपने ही शरीरसे प्रकट हुई रक्तराशिमें आप उसी तरह शयन करते हैं, जैसे पहले इन्द्रगोप नामक कीड़ेके-से रंगवाले बिछौनेसे युक्त अपने पलंगपर सोया करते थे॥

रेणुशोणितसंवीतं गात्रं तव समन्ततः॥ १४॥
परिरब्धुं न शक्नोमि भुजाभ्यां प्लवगर्षभ।

'वानरश्रेष्ठ! आपका सारा शरीर धूल और रक्तसे लथपथ हो रहा है; इसलिये मैं अपनी दोनों भुजाओंसे आपका आलिङ्गन नहीं कर पाती॥ १४½॥

कृतकृत्योऽद्य सुग्रीवो वैरेऽस्मिन्नतिदारुणे॥ १५॥
यस्य रामविमुक्तेन हृतमेकेषुणा भयम्।

'इस अत्यन्त भयंकर वैरमें आज सुग्रीव कृतकृत्य हो गये। श्रीरामके छोड़े हुए एक ही बाणने उनका सारा भय हर लिया॥ १५½॥

शरेण हृदि लग्नेन गात्रसंस्पर्शने तव॥ १६॥
वार्यामि त्वां निरीक्षन्ती त्वयि पञ्चत्वमागते।

'आपकी छातीमें जो बाण धँसा हुआ है; वह मुझे आपके शरीरका आलिङ्गन करनेसे रोक रहा है, इस कारण

आपकी मृत्यु हो जानेपर भी मैं चुपचाप देख रही हूँ (आपको हृदयसे लगा नहीं पाती)' ॥ १६½ ॥

उद्बबर्ह शरं नीलस्तस्य गात्रगतं तदा ॥ १७ ॥
गिरिगह्वरसंलीनं दीप्तमाशीविषं यथा ।

उस समय नीलने वालीके शरीरमें धँसे हुए उस बाणको निकाला, मानो पर्वतकी कन्दरामें छिपे हुए प्रज्वलित मुखवाले विषधर सर्पको वहाँसे निकाला गया हो ॥ १७½ ॥

तस्य निष्कृष्यमाणस्य बाणस्यापि बभौ द्युतिः ॥ १८ ॥
अस्तमस्तकसंरुद्धरश्मेर्दिनकरादिव ।

वालीके शरीरसे निकाले जाते हुए उस बाणकी कान्ति अस्ताचलके शिखरपर अवरुद्ध किरणोंवाले सूर्यकी प्रभाके समान जान पड़ती थी ॥ १८½ ॥

पेतुः क्षतजधारास्तु व्रणेभ्यस्तस्य सर्वशः ॥ १९ ॥
ताम्रगैरिकसम्पृक्ता धारा इव धराधरात् ।

बाणके निकाल लिये जानेपर वालीके शरीरके सभी घावोंसे खूनकी धाराएँ गिरने लगीं, मानो किसी पर्वतसे लाल गेरूमिश्रित जलकी धाराएँ बह रही हों ॥ १९½ ॥

अवकीर्णं विमार्जन्ती भर्तारं रणरेणुना ॥ २० ॥
अस्रैर्नयनजैः शूरं सिषेचास्त्रसमाहतम् ॥ २१ ॥

वालीका शरीर रणभूमिकी धूलसे भर गया था। उस समय तारा बाणसे आहत हुए अपने शूरवीर स्वामीके उस शरीरको पोंछती हुई उन्हें नेत्रोंके अश्रुजलसे सींचने लगी ॥

रुधिरोक्षितसर्वाङ्गं दृष्ट्वा विनिहतं पतिम् ॥ २१ ॥
उवाच तारा पिङ्गाक्षं पुत्रमङ्गदमङ्गना ।

अपने मारे गये पतिके सारे अङ्गोंको रक्तसे भीगा हुआ देख वालि-पत्नी ताराने अपने भूरे नेत्रोंवाले पुत्र अङ्गदसे कहा— ॥ २१½ ॥

अवस्थां पश्चिमां पश्य पितुः पुत्र सुदारुणाम् ॥ २२ ॥
सम्प्रसक्तस्य वैरस्य गतोऽन्तः पापकर्मणा ।

'बेटा! देखो, तुम्हारे पिताकी अन्तिम अवस्था कितनी भयंकर है। ये इस समय पूर्व पापके कारण प्राप्त हुए वैरसे पार हो चुके हैं ॥ २२½ ॥

बालसूर्योज्ज्वलतनुं प्रयातं यमसादनम् ॥ २३ ॥
अभिवादय राजानं पितरं पुत्र मानदम् ।

'वत्स! प्रातःकालके सूर्यकी भाँति अरुण गौर शरीर-वाले तुम्हारे पिता राजा वाली अब यमलोकको जा पहुँचे। ये तुम्हें बड़ा आदर देते थे। तुम इनके चरणोंमें प्रणाम करो' ॥ २३½ ॥

एवमुक्तः समुत्थाय जग्राह चरणौ पितुः ॥ २४ ॥
भुजाभ्यां पीनवृत्ताभ्यामङ्गदोऽहमिति ब्रुवन् ।

माताके ऐसा कहनेपर अङ्गदने उठकर अपनी मोटी और गोलाकार भुजाओंद्वारा पिताके दोनों पैर पकड़ लिये और प्रणाम करते हुए कहा—'पिताजी! मैं अङ्गद हूँ' ॥

अभिवादयमानं त्वामङ्गदं त्वं यथा पुरा ॥ २५ ॥
दीर्घायुर्भव पुत्रेति किमर्थं नाभिभाषसे ।

तब तारा फिर कहने लगी— 'प्राणनाथ! कुमार अङ्गद पहलेकी ही भाँति आज भी आपके चरणोंमें प्रणाम करता है, किंतु आप इसे 'चिरंजीवी रहो बेटा' ऐसा कहकर आशीर्वाद क्यों नहीं देते हैं? ॥ २५½ ॥

अहं पुत्रसहाया त्वामुपासे गतचेतनम् ।
सिंहेन पातितं सद्यो गौः सवत्सेव गोवृषम् ॥ २६ ॥

'जैसे कोई बछड़ेसहित गाय सिंहके द्वारा तत्काल मार गिराये हुए साँड़के पास खड़ी हो, उसी प्रकार पुत्रसहित मैं प्राणहीन हुए आपकी सेवामें बैठी हूँ ॥ २६ ॥

इष्ट्वा संग्रामयज्ञेन रामप्रहरणाम्भसा ।
तस्मिन्नवभृथे स्नातः कथं पत्न्या मया विना ॥ २७ ॥

'आपने युद्धरूपी यज्ञका अनुष्ठान करके श्रीरामके बाणरूपी जलसे मुझ पत्नीके बिना अकेले ही अवभृथस्नान कैसे कर लिया? ॥ २७ ॥

या दत्ता देवराजेन तव तुष्टेन संयुगे ।
शातकौम्भीं प्रियां मालां तां ते पश्यामि नेह किम् ॥ २८ ॥

'युद्धमें आपसे संतुष्ट हुए देवराज इन्द्रने आपको जो सोनेकी प्रिय माला दे रखी थी, उसे मैं इस समय आपके गलेमें क्यों नहीं देखती हूँ? ॥ २८ ॥

राज्यश्रीर्न जहाति त्वां गतासुमपि मानद ।
सूर्यस्यावर्तमानस्य शैलराजमिव प्रभा ॥ २९ ॥

'दूसरोंको मान देनेवाले वानरराज! प्राणहीन हो जानेपर भी आपको राज्यलक्ष्मी उसी प्रकार नहीं छोड़ रही है, जैसे चारों ओर चक्कर लगानेवाले सूर्यदेवकी प्रभा गिरिराज मेरुको कभी नहीं छोड़ती है ॥ २९ ॥

न मे वचः पथ्यमिदं त्वया कृतं
न चास्मि शक्ता हि निवारणे तव ।
हता सपुत्रास्मि हतेन संयुगे
सह त्वया श्रीर्विजहाति मामपि ॥ ३० ॥

'मैंने आपके हितकी बात कही थी; परंतु आपने उसे नहीं स्वीकार किया। मैं भी आपको रोक रखनेमें समर्थ न हो सकी। इसका फल यह हुआ कि आप युद्धमें मारे गये। आपके मारे जानेसे मैं भी अपने पुत्रसहित मारी गयी। अब लक्ष्मी आपके साथ ही मुझे और मेरे पुत्रको भी छोड़ रही है' ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे त्रयोविंशः सर्गः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें तेईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २३ ॥

★

चतुर्विंशः सर्गः

सुग्रीवका शोकमग्न होकर श्रीरामसे प्राणत्यागके लिये आज्ञा माँगना, ताराका श्रीरामसे अपने वधके लिये प्रार्थना करना और श्रीरामका उसे समझाना

तामाशु वेगेन दुरासदेन
त्वभिप्लुतां शोकमहार्णवेन ।
पश्यंस्तदा वाल्यनुजस्तरस्वी
भ्रातुर्वधेनाप्रतिमेन तेपे ॥ १ ॥

अत्यन्त वेगशाली और दुःसह शोकसमुद्रमें डूबी हुई ताराकी ओर दृष्टिपात करके वालीके छोटे भाई वेगवान् सुग्रीवको उस समय अपने भाईके वधसे बड़ा संताप हुआ ॥ १ ॥

स बाष्पपूर्णेन मुखेन पश्यन्
क्षणेन निर्विण्णमना मनस्वी ।
जगाम रामस्य शनैः समीपं
भृत्यैर्वृतः सम्परिदूयमानः ॥ २ ॥

उनके मुखपर आँसुओंकी धारा बह चली। उनका मन खिन्न हो गया और वे भीतर-ही-भीतर कष्टका अनुभव करते हुए अपने भृत्योंके साथ धीरे-धीरे श्रीरामचन्द्रजीके पास गये ॥ २ ॥

स तं समासाद्य गृहीतचाप-
मुदात्तमाशीविषतुल्यबाणम् ।
यशस्विनं लक्षणलक्षिताङ्ग-
मवस्थितं राघवमित्युवाच ॥ ३ ॥

जिन्होंने धनुष ले रखा था, जिनमें धीरोदात्त नायकका स्वभाव विद्यमान था, जिनके बाण विषधर सर्पके समान भयंकर थे, जिनका प्रत्येक अङ्ग सामुद्रिक शास्त्रके अनुसार उत्तम लक्षणोंसे लक्षित था तथा जो परम यशस्वी थे, वहाँ खड़े हुए उन श्रीरघुनाथजीके पास जाकर सुग्रीव इस प्रकार बोले— ॥ ३ ॥

यथा प्रतिज्ञातमिदं नरेन्द्र
कृतं त्वया दृष्टफलं च कर्म ।
ममाद्य भोगेषु नरेन्द्रसूनो
मनो निवृत्तं हतजीवितेन ॥ ४ ॥

'नरेन्द्र! आपने जैसी प्रतिज्ञा की थी, उसके अनुसार यह काम कर दिखाया। इस कर्मका राज्य-लाभरूप फल भी प्रत्यक्ष ही है। किंतु राजकुमार! इससे मेरा जीवन निन्दनीय हो गया है। अतः अब मेरा मन सभी भोगोंसे निवृत्त हो गया ॥ ४ ॥

अस्यां महिष्यां तु भृशं रुदत्यां
पुरेऽतिविक्रोशति दुःखतप्ते ।
हते नृपे संशयितेऽङ्गदे च
न राम राज्ये रमते मनो मे ॥ ५ ॥

'श्रीराम! राजा वालीके मारे जानेसे ये महारानी तारा अत्यन्त विलाप कर रही हैं। सारा नगर दुःखसे संतप्त होकर चीख रहा है तथा कुमार अङ्गदका जीवन भी संशयमें पड़ गया है। इन सब कारणोंसे अब राज्यमें मेरा मन नहीं लगता है ॥ ५ ॥

क्रोधादमर्षादतिविप्रधर्षाद्
भ्रातुर्वधो मेऽनुमतः पुरस्तात् ।
हते त्विदानीं हरियूथपेऽस्मिन्
सुतीक्ष्णमिक्ष्वाकुवर प्रतप्स्ये ॥ ६ ॥

'इक्ष्वाकुकुलके गौरव श्रीरघुनाथजी! भाईने मेरा बहुत अधिक तिरस्कार किया था, इसलिये क्रोध और अमर्षके कारण पहले मैंने उसके वधके लिये अनुमति दे दी थी; परंतु अब वानर-यूथपति वालीके मारे जानेपर मुझे बड़ा संताप हो रहा है। सम्भवतः जीवनभर यह संताप बना ही रहेगा ॥ ६ ॥

श्रेयोऽद्य मन्ये मम शैलमुख्ये
तस्मिन् हि वासश्चिरमृष्यमूके ।
यथा तथा वर्तयतः स्ववृत्त्या
नेमं निहत्य त्रिदिवस्य लाभः ॥ ७ ॥

'अपनी जातीय वृत्तिके अनुसार जैसे-तैसे जीवन-निर्वाह करते हुए उस श्रेष्ठ पर्वत ऋष्यमूकपर चिरकालतक रहना ही आज मैं अपने लिये कल्याणकारी समझता हूँ; किंतु अपने इस भाईका वध कराकर अब मुझे स्वर्गका भी राज्य मिल जाय तो मैं उसे अपने लिये श्रेयस्कर नहीं मानता हूँ ॥ ७ ॥

न त्वा जिघांसामि चरेति यन्मा-
मयं महात्मा मतिमानुवाच ।
तस्यैव तद् राम वचोऽनुरूप-
मिदं वचः कर्म च मेऽनुरूपम् ॥ ८ ॥

'बुद्धिमान् महात्मा वालीने युद्धके समय मुझसे कहा था कि 'तुम चले जाओ, मैं तुम्हारे प्राण लेना नहीं चाहता'। श्रीराम! उनकी यह बात उन्हींके योग्य थी और मैंने जो आपसे कहकर उनका वध कराया, मेरा वह क्रूरतापूर्ण वचन और कर्म मेरे ही अनुरूप है ॥ ८ ॥

भ्राता कथं नाम महागुणस्य
भ्रातुर्वधं राम विरोचयेत ।
राज्यस्य दुःखस्य च वीर सारं
विचिन्तयन् कामपुरस्कृतोऽपि ॥ ९ ॥

'वीर रघुनन्दन! कोई कितना ही स्वार्थी क्यों न हो? यदि राज्यके सुख तथा भ्रातृ-वधसे होनेवाले दुःखकी प्रबलतापर विचार करेगा तो वह भाई होकर अपने महान् गुणवान् भाईका वध कैसे अच्छा समझेगा? ॥ ९ ॥

वधो हि मे मतो नासीत् स्वमाहात्म्यव्यतिक्रमात् ।
ममासीद् बुद्धिदौरात्म्यात् प्राणहारी व्यतिक्रमः ॥ १० ॥

'वालीके मनमें मेरे वधका विचार नहीं था; क्योंकि इससे उन्हें अपनी मान-प्रतिष्ठामें बट्टा लगनेका डर था। मेरी ही

बुद्धिमें दुष्टता भरी थी, जिसके कारण मैंने अपने भाईके प्रति ऐसा अपराध कर डाला, जो उनके लिये घातक सिद्ध हुआ ॥

द्रुमशाखावभग्नोऽहं मुहूर्तं परिनिष्टनन्।
सान्त्वयित्वा त्वनेनोक्तो न पुनः कर्तुमर्हसि ॥ ११ ॥

'जब वालीने मुझे एक वृक्षकी शाखासे घायल कर दिया और मैं दो घड़ीतक कराहता रहा, तब उन्होंने मुझे सान्त्वना देकर कहा—'जाओ, फिर मेरे साथ युद्ध करनेकी इच्छा न करना' ॥ ११ ॥

भ्रातृत्वमार्यभावश्च धर्मश्चानेन रक्षितः।
मया क्रोधश्च कामश्च कपित्वं च प्रदर्शितम् ॥ १२ ॥

'उन्होंने भ्रातृभाव, आर्यभाव और धर्मकी भी रक्षा की है; परंतु मैंने केवल काम, क्रोध और वानरोचित चपलताका ही परिचय दिया है ॥ १२ ॥

अचिन्तनीयं परिवर्जनीय-
मनीप्सनीयं स्वनवेक्षणीयम्।
प्राप्तोऽस्मि पाप्मानमिदं वयस्य
भ्रातुर्वधात् त्वाष्ट्रवधादिवेन्द्रः ॥ १३ ॥

'मित्र ! जैसे वृत्रासुरका वध करनेसे इन्द्र पापके भागी हुए थे, उसी प्रकार मैं भाईका वध कराकर ऐसे पापका भागी हुआ हूँ, जिसको करना तो दूर रहा, सोचना भी अनुचित है। श्रेष्ठ पुरुषोंके लिये जो सर्वथा त्याज्य, अवाञ्छनीय तथा देखनेके भी अयोग्य है ॥ १३ ॥

पाप्मानमिन्द्रस्य मही जलं च
वृक्षाश्च कामं जगृहुः स्त्रियश्च।
को नाम पाप्मानमिमं सहेत
शाखामृगस्य प्रतिपत्तुमिच्छेत् ॥ १४ ॥

'इन्द्रके पापको तो पृथ्वी, जल, वृक्ष और स्त्रियोंने स्वेच्छासे ग्रहण कर लिया था; परंतु मुझ-जैसे वानरके इस पापको कौन लेना चाहेगा ? अथवा कौन ले सकेगा ? ॥

नार्हामि सम्मानमिमं प्रजानां
न यौवराज्यं कुत एव राज्यम्।
अधर्मयुक्तं कुलनाशयुक्त-
मेवंविधं राघव कर्म कृत्वा ॥ १५ ॥

'रघुनाथजी ! अपने कुलका नाश करनेवाला ऐसा पापपूर्ण कर्म करके मैं प्रजाके सम्मानका पात्र नहीं रहा। राज्य पाना तो दूरकी बात है, मुझमें युवराज होनेकी भी योग्यता नहीं है ॥ १५ ॥

पापस्य कर्तास्मि विगर्हितस्य
क्षुद्रस्य लोकापकृतस्य लोके।
शोको महान् मामभिवर्ततेऽयं
वृष्टेर्यथा निम्नमिवाम्बुवेगः ॥ १६ ॥

'मैंने वह लोकनिन्दित पापकर्म किया है, जो नीच पुरुषोंके योग्य तथा सम्पूर्ण जगत्‌को हानि पहुँचानेवाला है। जैसे वर्षाके जलका वेग नीची भूमिकी ओर जाता है, उसी प्रकार यह भ्रातृ-वधजनित महान् शोक सब ओरसे मुझपर ही आक्रमण कर रहा है ॥ १६ ॥

सोदर्यघातापरगात्रवालः
संतापहस्ताक्षिशिरोविषाणः।
एनोमयो मामभिहन्ति हस्ती
दृप्तो नदीकूलमिव प्रवृद्धः ॥ १७ ॥

'भाईका वध ही जिसके शरीरका पिछला भाग और पुच्छ है तथा उससे होनेवाला संताप ही जिसकी सूँड, नेत्र, मस्तक और दाँत है, वह पापरूपी महान् मदमत्त गजराज नदीतटकी भाँति मुझपर ही आघात कर रहा है ॥ १७ ॥

अंहो बतेदं नृवराविषह्यं
निवर्तते मे हृदि साधुवृत्तम्।
अग्नौ विवर्णं परितप्यमानं
किट्टं यथा राघव जातरूपम् ॥ १८ ॥

'नरेश्वर ! रघुनन्दन ! मैंने जो दुःसह पाप किया है, वह मेरे हृदयस्थित सदाचारको भी नष्ट कर रहा है। ठीक उसी तरह, जैसे आगमें तपाया जानेवाला मलिन सुवर्ण अपने भीतरके मलको नष्ट कर देता है ॥ १८ ॥

महाबलानां हरियूथपाना-
मिदं कुलं राघव मन्निमित्तम्।
अस्याङ्गदस्यापि च शोकतापा-
दर्धस्थितप्राणमितीव मन्ये ॥ १९ ॥

'रघुनाथजी ! मेरे ही कारण वालीका वध हुआ, जिससे इस अङ्गदका भी शोक-संताप बढ़ गया और इसीलिये इन महाबली वानर-यूथपतियोंका समुदाय अधमरा-सा जान पड़ता है ॥ १९ ॥

सुतः सुलभ्यः सुजनः सुवश्यः
कुतस्तु पुत्रः सदृशोऽङ्गदेन।
न चापि विद्येत स वीर देशो
यस्मिन् भवेत् सोदरसंनिकर्षः ॥ २० ॥

'वीरवर ! सुजन और वशमें रहनेवाला पुत्र तो मिल सकता है, परंतु अङ्गदके समान बेटा कहाँ मिलेगा ? तथा ऐसा कोई देश नहीं है, जहाँ मुझे अपने भाईका सामीप्य मिल सके ॥

अद्याङ्गदो वीरवरो न जीवे-
ज्जीवेत माता परिपालनार्थम्।
विना तु पुत्रं परितापदीना
सा नैव जीवेदिति निश्चितं मे ॥ २१ ॥

'अब वीरवर अङ्गद भी जीवित नहीं रह सकता। यदि जी सकता तो उसकी रक्षाके लिये उसकी माता भी जीवन धारण करती। वह बेचारी तो यों ही संतापसे दीन हो रही है, यदि पुत्र भी न रहा तो उसके जीवनका अन्त हो जायगा—यह बिलकुल निश्चित बात है ॥ २१ ॥

सोऽहं प्रवेक्ष्याम्यतिदीप्तमग्निं
भ्रात्रा च पुत्रेण च सख्यमिच्छन्।
इमे विचेष्यन्ति हरिप्रवीराः
सीतां निदेशे परिवर्तमानाः॥ २२॥

'अतः मैं अपने भाई और पुत्रका साथ देनेकी इच्छासे प्रज्वलित अग्निमें प्रवेश करूँगा। ये वानर वीर आपकी आज्ञामें रहकर सीताकी खोज करेंगे॥ २२॥

कृत्स्नं तु ते सेत्स्यति कार्यमेत-
न्मय्यप्यतीते मनुजेन्द्रपुत्र।
कुलस्य हन्तारमजीवनार्हं
रामानुजानीहि कृतागसं माम्॥ २३॥

'राजकुमार! मेरी मृत्यु हो जानेपर भी आपका सारा कार्य सिद्ध हो जायगा। मैं कुलकी हत्या करनेवाला और अपराधी हूँ। अतः संसारमें जीवन धारण करनेके योग्य नहीं हूँ। इसलिये श्रीराम! मुझे प्राणत्याग करनेकी आज्ञा दीजिये'॥

इत्येवमार्तस्य रघुप्रवीरः
श्रुत्वा वचो वालिजघन्यजस्य।
संजातबाष्पः परवीरहन्ता
रामो मुहूर्तं विमना बभूव॥ २४॥

दुःखसे आतुर हुए सुग्रीवके, जो वालीके छोटे भाई थे, ऐसे वचन सुनकर शत्रुवीरोंका संहार करनेमें समर्थ, रघुकुलके वीर भगवान् श्रीरामके नेत्रोंसे आँसू बहने लगे। वे दो घड़ीतक मन-ही-मन दुःखका अनुभव करते रहे॥ २४॥

तस्मिन् क्षणेऽभीक्ष्णमवेक्षमाणः
क्षितिक्षमावान् भुवनस्य गोप्ता।
रामो रुदन्तीं व्यसने निमग्नां
समुत्सुकः सोऽथ ददर्श ताराम्॥ २५॥

श्रीरघुनाथजी पृथ्वीके समान क्षमाशील और सम्पूर्ण जगत्‌की रक्षा करनेवाले हैं। उन्होंने उस समय अधिक उत्सुक होकर जब इधर-उधर बारंबार दृष्टि दौड़ायी, तब शोकमग्ना तारा उन्हें दिखायी दी, जो अपने स्वामीके लिये रो रही थी॥ २५॥

तां चारुनेत्रां कपिसिंहनाथां
पतिं समाश्लिष्य तदा शयानाम्।
उत्थापयामासुरदीनसत्त्वां
मन्त्रिप्रधानाः कपिराजपत्नीम्॥ २६॥

कपियोंमें सिंहके समान वीर वाली जिसके स्वामी एवं संरक्षक थे, जो वानरराज वालीकी रानी थी, जिसका हृदय उदार और नेत्र मनोहर थे, वह तारा उस समय अपने मृत पतिका आलिङ्गन करके पड़ी थी। श्रीरामको आते देख प्रधान-प्रधान मन्त्रियोंने ताराको वहाँसे उठाया॥ २६॥

सा विस्फुरन्ती परिरभ्यमाणा
भर्तुः समीपादपनीयमाना।
ददर्श रामं शरचापपाणिं
स्वतेजसा सूर्यमिव ज्वलन्तम्॥ २७॥

तारा जब पतिके समीपसे हटायी जाने लगी, तब बारंबार उसका आलिङ्गन करती हुई वह अपनेको छुड़ाने और छटपटाने लगी। इतनेहीमें उसने अपने सामने धनुष-बाण धारण किये श्रीरामको खड़ा देखा, जो अपने तेजसे सूर्यदेवके समान प्रकाशित हो रहे थे॥ २७॥

सुसंवृतं पार्थिवलक्षणैश्च
तं चारुनेत्रं मृगशावनेत्रा।
अदृष्टपूर्वं पुरुषप्रधान-
मयं स काकुत्स्थ इति प्रजज्ञे॥ २८॥

वे राजोचित शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न थे। उनके नेत्र बड़े मनोहर थे। उन पुरुषप्रवर श्रीरामको, जो पहले कभी देखनेमें नहीं आये थे, देखकर मृगशावकनयनी तारा समझ गयी कि ये ही ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम हैं॥ २८॥

तस्येन्द्रकल्पस्य दुरासदस्य
महानुभावस्य समीपमार्या।
आर्तातितूर्णं व्यसनं प्रपन्ना
जगाम तारा परिविह्वलन्ती॥ २९॥

उस समय घोर संकटमें पड़ी हुई शोकपीड़ित आर्या तारा अत्यन्त विह्वल हो गिरती-पड़ती तीव्र गतिसे महेन्द्रतुल्य दुर्जय वीर महानुभाव भगवान् श्रीरामके समीप गयी॥ २९॥

तं सा समासाद्य विशुद्धसत्त्वं
शोकेन सम्भ्रान्तशरीरभावा।
मनस्विनी वाक्यमुवाच तारा
रामं रणोत्कर्षणलब्धलक्ष्यम्॥ ३०॥

शोकके कारण वह अपने शरीरकी भी सुध-बुध खो बैठी थी। भगवान् श्रीराम विशुद्ध अन्तःकरणवाले तथा युद्धस्थलमें सबसे अधिक निपुणताके कारण लक्ष्य वेधनेमें अचूक थे, उनके पास पहुँचकर वह मनस्विनी तारा इस प्रकार बोली—॥ ३०॥

त्वमप्रमेयश्च दुरासदश्च
जितेन्द्रियश्चोत्तमधर्मकश्च।
अक्षीणकीर्तिश्च विचक्षणश्च
क्षितिक्षमावान् क्षतजोपमाक्षः॥ ३१॥

'रघुनन्दन! आप अप्रमेय (देश, काल और वस्तुकी सीमासे रहित) हैं। आपको पाना बहुत कठिन है। आप जितेन्द्रिय तथा उत्तम धर्मका पालन करनेवाले हैं। आपकी कीर्ति कभी नष्ट नहीं होती। आप दूरदर्शी एवं पृथ्वीके समान क्षमाशील हैं। आपकी आँखें कुछ-कुछ लाल हैं॥ ३१॥

त्वमात्तबाणासनबाणपाणि-
र्महाबलः संहननोपपन्नः।
मनुष्यदेहाभ्युदयं विहाय
दिव्येन देहाभ्युदयेन युक्तः॥ ३२॥

'आपके हाथमें धनुष और बाण शोभा पा रहे हैं। आपका बल महान् है। आप सुदृढ़ शरीरसे सम्पन्न हैं और मनुष्य-शरीरसे प्राप्त होनेवाले लौकिक सुखका परित्याग करके भी दिव्य शरीरके ऐश्वर्यसे युक्त हैं॥ ३२॥

येनैव बाणेन हतः प्रियो मे
तेनैव बाणेन हि मां जहीहि।
हता गमिष्यामि समीपमस्य
न मां विना वीर रमेत वाली॥ ३३॥

('अतः मैं प्रार्थना करती हूँ कि) आपने जिस बाणसे मेरे प्रियतम पतिका वध किया है, उसी बाणसे आप मुझे भी मार डालिये। मैं मरकर उनके समीप चली जाऊँगी। वीर! मेरे बिना वाली कहीं भी सुखी नहीं रह सकेंगे॥ ३३॥

स्वर्गेऽपि पद्मामलपत्रनेत्र
समेत्य सम्प्रेक्ष्य च मामपश्यन्।
न ह्येष उच्चावचताम्रचूडा
विचित्रवेषाप्सरसोऽभजिष्यत्॥ ३४॥

'अमलकमलदललोचन राम! स्वर्गमें जाकर भी जब वाली सब ओर दृष्टि डालनेपर मुझे नहीं देखेंगे, तब उनका मन वहाँ कदापि नहीं लगेगा; नाना प्रकारके लाल फूलोंसे विभूषित चोटी धारण करनेवाली तथा विचित्र वेशभूषासे मनोहर प्रतीत होनेवाली स्वर्गकी अप्सराओंको वे कभी स्वीकार नहीं करेंगे॥ ३४॥

स्वर्गेऽपि शोकं च विवर्णतां च
मया विना प्राप्स्यति वीर वाली।
रम्ये नगेन्द्रस्य तटावकाशे
विदेहकन्यारहितो यथा त्वम्॥ ३५॥

'वीरवर! स्वर्गमें भी वाली मेरे बिना शोकका अनुभव करेंगे और उनके शरीरकी कान्ति फीकी पड़ जायगी। वे उसी तरह दुःखी रहेंगे जैसे गिरिराज ऋष्यमूकके सुरम्य तट-प्रान्तमें विदेहनन्दिनी सीताके बिना आप कष्टका अनुभव करते हैं॥ ३५॥

त्वं वेत्थ तावद् वनिताविहीनः
प्राप्नोति दुःखं पुरुषः कुमारः।
तत् त्वं प्रजानञ्जहि मां न वाली
दुःखं ममादर्शनजं भजेत॥ ३६॥

'स्त्रीके बिना युवा पुरुषको जो दुःख उठाना पड़ता है, उसे आप अच्छी तरह जानते हैं। इस तत्त्वको समझकर आप मेरा वध करिये, जिससे वालीको मेरे विरहका दुःख न भोगना पड़े॥ ३६॥

यच्चापि मन्येत भवान् महात्मा
स्त्रीघाततदोषस्तु भवेन्न मह्यम्।
आत्मेयमस्येति हि मां जहि त्वं
न स्त्रीवधः स्यान्मनुजेन्द्रपुत्र॥ ३७॥

'महाराजकुमार! आप महात्मा हैं, इसलिये यदि ऐसा चाहते हों कि मुझे स्त्री-हत्याका पाप न लगे तो 'यह वालीकी आत्मा है' ऐसा समझकर मेरा वध कीजिये। इससे आपको स्त्री-हत्याका पाप नहीं लगेगा॥ ३७॥

शास्त्रप्रयोगाद् विविधाश्च वेदा-
दनन्यरूपाः पुरुषस्य दाराः।
दारप्रदानाद्धि न दानमन्यत्
प्रदृश्यते ज्ञानवतां हि लोके॥ ३८॥

'शास्त्रोक्त यज्ञ-यागादि कर्मोंमें पति और पत्नी दोनोंका संयुक्त अधिकार होता है—पत्नीको साथ लिये बिना पुरुष यज्ञकर्मका अनुष्ठान नहीं कर सकता। इसके सिवा नाना प्रकारकी वैदिक श्रुतियाँ भी पत्नीको पतिका आधा शरीर बतलाती हैं। दूसरे स्त्रियोंका अपने पतिसे अभिन्न होना सिद्ध होता है। (अतः मुझे मारनेसे आपको स्त्रीवधका दोष नहीं लग सकता और वालीको स्त्रीकी प्राप्ति हो जायगी; क्योंकि) संसारमें ज्ञानी पुरुषोंकी दृष्टिमें स्त्रीदानसे बढ़कर दूसरा कोई दान नहीं है॥ ३८॥

त्वं चापि मां तस्य मम प्रियस्य
प्रदास्यसे धर्ममवेक्ष्य वीर।
अनेन दानेन न लप्स्यसे त्व-
मधर्मयोगं मम वीर घातात्॥ ३९॥

'वीरशिरोमणे! यदि धर्मकी ओर दृष्टि रखते हुए आप भी मुझे मेरे प्रियतम वालीको समर्पित कर देंगे तो इस दानके प्रभावसे मेरी हत्या करनेपर भी आपको पाप नहीं लगेगा॥

आर्तामनाथामपनीयमाना-
मेवंगतां नार्हसि मामहन्तुम्।
अहं हि मातङ्गविलासगामिना
प्लवंगमानामृषभेण धीमता।
विना वरार्होत्तमहेममालिना
चिरं न शक्ष्यामि नरेन्द्र जीवितुम्॥ ४०॥

'मैं दुःखिनी और अनाथा हूँ। पतिसे दूर कर दी गयी हूँ। ऐसी दशामें मुझे जीवित छोड़ना आपके लिये उचित नहीं है। नरेन्द्र! मैं सुन्दर एवं बहुमूल्य श्रेष्ठ सुवर्णमालासे अलंकृत तथा गजराजके समान विलासयुक्त गतिसे चलनेवाले बुद्धिमान् वानरश्रेष्ठ वालीके बिना अधिक कालतक जीवित नहीं रह सकूँगी॥ ४०॥

इत्येवमुक्तस्तु विभुर्महात्मा
तारां समाश्वास्य हितं बभाषे।
मा वीरभार्ये विमतिं कुरुष्व
लोको हि सर्वो विहितो विधात्रा॥ ४१॥

ताराके ऐसा कहनेपर महात्मा भगवान् श्रीरामने उसे आश्वासन देकर हितकी बात कही—'वीरपत्नी तुम मृत्यु-विषयक विपरीत विचारका त्याग करो; क्योंकि विधाताने

इस सम्पूर्ण जगत्‌की सृष्टि की है ॥ ४१ ॥

तं चैव सर्वं सुखदुःखयोगं
लोकोऽब्रवीत् तेन कृतं विधात्रा ।
त्रयोऽपि लोका विहितं विधानं
नातिक्रमन्ते वशगा हि तस्य ॥ ४२ ॥

'विधाताने ही इस सारे जगत्‌को सुख-दुःखसे संयुक्त किया है। यह बात साधारणलोग भी कहते और जानते हैं। तीनों लोकोंके प्राणी विधाताके विधानका उल्लङ्घन नहीं कर सकते; क्योंकि सभी उसके अधीन हैं ॥ ४२ ॥

प्रीतिं परां प्राप्स्यसि तां तथैव
पुत्रश्च ते प्राप्स्यति यौवराज्यम् ।
धात्रा विधानं विहितं तथैव
न शूरपत्न्यः परिदेवयन्ति ॥ ४३ ॥

'तुम्हें पहलेकी ही भाँति अत्यन्त सुख एवं आनन्दकी प्राप्ति होगी तथा तुम्हारा पुत्र युवराजपद प्राप्त करेगा। विधाताका ऐसा ही विधान है। शूरवीरोंकी स्त्रियाँ इस प्रकार विलाप नहीं करती हैं। (अतः तुम भी शोक छोड़कर शान्त हो जाओ)' ॥ ४३ ॥

आश्वासिता तेन महात्मना तु
प्रभावयुक्तेन परंतपेन ।
सा वीरपत्नी ध्वनता मुखेन
सुवेषरूपा विरराम तारा ॥ ४४ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले परम प्रभावशाली महात्मा श्रीरामके इस प्रकार सान्त्वना देनेपर सुन्दर वेश और रूपवाली वीरपत्नी तारा, जिसके मुखसे विलापकी ध्वनि निकलती रहती थी, चुप हो गयी—उसने रोना-धोना छोड़ दिया ॥ ४४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे चतुर्विंशः सर्गः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें चौबीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशः सर्गः

लक्ष्मणसहित श्रीरामका सुग्रीव, तारा और अङ्गदको समझाना तथा वालीके दाह-संस्कारके लिये आज्ञा प्रदान करना, फिर तारा आदिसहित सब वानरोंका वालीके शवको श्मशानभूमिमें ले जाकर अङ्गदके द्वारा उसका दाह-संस्कार कराना और उसे जलाञ्जलि देना

स सुग्रीवं च तारां च साङ्गदां सहलक्ष्मणः ।
समानशोकः काकुत्स्थः सान्त्वयन्निदमब्रवीत् ॥ १ ॥

लक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्रजी सुग्रीव आदिके शोकसे उनके समान ही दुःखी थे। उन्होंने सुग्रीव, अङ्गद और ताराको सान्त्वना देते हुए इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

न शोकपरितापेन श्रेयसा युज्यते मृतः ।
यदत्रानन्तरं कार्यं तत् समाधातुमर्हथ ॥ २ ॥

'शोक-संताप करनेसे मरे हुए जीवकी कोई भलाई नहीं होती। अतः अब आगे जो कुछ कर्तव्य है, उसको तुम्हें विधिपूर्वक सम्पन्न करना चाहिये ॥ २ ॥

लोकवृत्तमनुष्ठेयं कृतं वो बाष्पमोक्षणम् ।
न कालादुत्तरं किंचित् कर्म शक्यमुपासितुम् ॥ ३ ॥

'तुम सब लोग बहुत आँसू बहा चुके। अब उसकी आवश्यकता नहीं है। लोकाचारका भी पालन होना चाहिये। समय बिताकर कोई भी विहित कर्म नहीं किया जा सकता (क्योंकि उचित समयपर न किया जाय तो उस कर्मका कोई फल नहीं होता) ॥ ३ ॥

नियतिः कारणं लोके नियतिः कर्मसाधनम् ।
नियतिः सर्वभूतानां नियोगेष्विह कारणम् ॥ ४ ॥

'जगत्‌में नियति (काल) ही सबका कारण है। वही समस्त कर्मोंका साधन है और काल ही समस्त प्राणियोंको विभिन्न कर्मोंमें नियुक्त करनेका कारण है (क्योंकि वही सबका प्रवर्तक है) ॥ ४ ॥

न कर्ता कस्यचित् कश्चिन्नियोगे नापि चेश्वरः ।
स्वभावे वर्तते लोकस्तस्य कालः परायणम् ॥ ५ ॥

'कोई भी पुरुष न तो स्वतन्त्रतापूर्वक किसी कामको कर सकता है और न किसी दूसरेको ही उसमें लगानेकी शक्ति रखता है। सारा जगत् स्वभावके अधीन है और स्वभावका आधार काल है ॥ ५ ॥

न कालः कालमत्येति न कालः परिहीयते ।
स्वभावं च समासाद्य न कश्चिदतिवर्तते ॥ ६ ॥

'काल भी कालका (अपनी की हुई व्यवस्थाका) उल्लंघन नहीं कर सकता। वह काल कभी क्षीण नहीं होता। स्वभाव (प्रारब्धकर्म) को पाकर कोई भी उसका उल्लङ्घन नहीं करता ॥ ६ ॥

न कालस्यास्ति बन्धुत्वं न हेतुर्न पराक्रमः ।
न मित्रज्ञातिसम्बन्धः कारणं नात्मनो वशः ॥ ७ ॥

'कालका किसीके साथ भाई-चारेका, मित्रताका अथवा जाति-बिरादरीका सम्बन्ध नहीं है। उसको वशमें करनेका कोई उपाय नहीं है तथा उसपर किसीका पराक्रम नहीं चल सकता। कारणस्वरूप भगवान् काल जीवके भी वशमें नहीं है ॥ ७ ॥

किं तु कालपरीमाणो द्रष्टव्यः साधु पश्यता ।
धर्मश्चार्थश्च कामश्च कालक्रमसमाहिताः ॥ ८ ॥

'अतः साधुदर्शी विवेकी पुरुषको सब कुछ कालका ही परिणाम समझना चाहिये। धर्म, अर्थ और काम भी कालक्रमसे ही प्राप्त होते हैं ॥ ८ ॥

इतः स्वां प्रकृतिं वाली गतः प्राप्तः क्रियाफलम्।
सामदानार्थसंयोगैः पवित्रं प्लवगेश्वरः ॥ ९ ॥

'(मेरे द्वारा मारे जानेके कारण) वानरराज वाली शरीरसे मुक्त हो अपने शुद्ध स्वरूपको प्राप्त हुए हैं। नीतिशास्त्रके अनुकूल साम, दान और अर्थके समुचित प्रयोगसे मिलनेवाले जो पवित्र कर्म हैं, वे सभी उन्हें प्राप्त हो गये ॥ ९ ॥

स्वधर्मस्य च संयोगाज्जितस्तेन महात्मना।
स्वर्गः परिगृहीतश्च प्राणानपरिरक्षता ॥ १० ॥

'महात्मा वालीने पहले अपने धर्मके संयोगसे जिसपर विजय पायी थी, उसी स्वर्गको इस समय युद्धमें प्राणोंकी रक्षा न करके उन्होंने अपने हाथमें कर लिया है ॥ १० ॥

एषा वै नियतिः श्रेष्ठा यां गतो हरियूथपः।
तदलं परितापेन प्राप्तकालमुपास्यताम् ॥ ११ ॥

'यही सर्वश्रेष्ठ गति है, जिसे वानरोंके सरदार वालीने प्राप्त किया है। अतः अब उनके लिये शोक करना व्यर्थ है। इस समय तुम्हारे सामने जो कर्तव्य उपस्थित है, उसे पूरा करो' ॥ ११ ॥

वचनान्ते तु रामस्य लक्ष्मणः परवीरहा।
अवदत् प्रश्रितं वाक्यं सुग्रीवं गतचेतसम् ॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी बात समाप्त होनेपर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले लक्ष्मणने, जिनकी विवेकशक्ति नष्ट हो गयी थी, उन सुग्रीवसे नम्रतापूर्वक इस प्रकार कहा— ॥ १२ ॥

कुरु त्वमस्य सुग्रीव प्रेतकार्यमनन्तरम्।
ताराङ्गदाभ्यां सहितो वालिनो दहनं प्रति ॥ १३ ॥

'सुग्रीव! अब तुम अङ्गद और ताराके साथ रहकर वालीके दाह-संस्कार-सम्बन्धी प्रेतकार्य करो ॥ १३ ॥

समाज्ञापय काष्ठानि शुष्काणि च बहूनि च।
चन्दनानि च दिव्यानि वालिसंस्कारकारणात् ॥ १४ ॥

'सेवकोंको आज्ञा दो—वे वालीके दाह-संस्कारके निमित्त प्रचुर मात्रामें सूखी लकड़ियाँ और दिव्य चन्दन ले आवें ॥

समाश्वासय दीनं त्वमङ्गदं दीनचेतसम्।
मा भूर्बालिशबुद्धिस्त्वं त्वदधीनमिदं पुरम् ॥ १५ ॥

'अङ्गदका चित्त बहुत दुःखी हो गया है। इन्हें धैर्य बँधाओ। तुम अपने मनमें मूढ़ता न लाओ—किंकर्तव्यविमूढ़ न बनो; क्योंकि यह सारा नगर तुम्हारे ही अधीन है ॥ १५ ॥

अङ्गदस्त्वानयेन्माल्यं वस्त्राणि विविधानि च।
घृतं तैलमथो गन्धान् यच्चात्र समनन्तरम् ॥ १६ ॥

'अङ्गद पुष्पमाला, नाना प्रकारके वस्त्र, घी, तेल, सुगन्धित पदार्थ तथा अन्य सामान, जिनकी अभी आवश्यकता है, स्वयं ले आवें ॥ १६ ॥

त्वं तार शिबिकां शीघ्रमादायागच्छसम्भ्रमात्।
त्वरा गुणवती युक्ता ह्यस्मिन् काले विशेषतः ॥ १७ ॥

'तार! तुम शीघ्र जाकर वेगपूर्वक एक पालकी ले आओ; क्योंकि इस समय अधिक फुर्ती दिखानी चाहिये। ऐसे अवसरपर वही लाभदायक होती है ॥ १७ ॥

सज्जीभवन्तु प्लवगाः शिबिकावाहनोचिताः।
समर्था बलिनश्चैव निर्हरिष्यन्ति वालिनम् ॥ १८ ॥

'पालकीको उठाकर ले चलनेके लिये योग्य जो बलवान् एवं समर्थ वानर हों, वे तैयार हो जायँ। वे ही वालीको यहाँसे श्मशानभूमिमें ले चलेंगे' ॥ १८ ॥

एवमुक्त्वा तु सुग्रीवं सुमित्रानन्दवर्धनः।
तस्थौ भ्रातृसमीपस्थो लक्ष्मणः परवीरहा ॥ १९ ॥

सुग्रीवसे ऐसा कहकर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले सुमित्रानन्दन लक्ष्मण अपने भाईके पास जाकर खड़े हो गये ॥

लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा तारः सम्भ्रान्तमानसः।
प्रविवेश गुहां शीघ्रं शिबिकासक्तमानसः ॥ २० ॥

लक्ष्मणकी बात सुनकर तारके मनमें हड़बड़ी मच गयी। वह शिबिका ले आनेके लिये शीघ्रतापूर्वक किष्किन्धा नामक गुफामें गया ॥ २० ॥

आदाय शिबिकां तारः स तु पर्यापतत् पुनः।
वानरैरुह्यमानां तां शूरैरुद्वहनोचितैः ॥ २१ ॥

वहाँसे शिबिका ढोनेके योग्य शूरवीर वानरोंद्वारा कंधोंपर उठायी हुई उस शिबिकाको साथ लेकर तार फिर तुरंत ही लौट आया ॥ २१ ॥

दिव्यां भद्रासनयुतां शिबिकां स्यन्दनोपमाम्।
पक्षिकर्मभिराचित्रां द्रुमकर्मविभूषिताम् ॥ २२ ॥

वह दिव्य पालकी रथके समान बनी हुई थी। उसके बीचमें राजाके बैठने योग्य उत्तम आसन था। उसमें शिल्पियोंद्वारा कृत्रिम पक्षी और वृक्ष बनाये गये थे, जो उस पालकीको विचित्र शोभासे सम्पन्न बना रहे थे ॥ २२ ॥

आचितां चित्रपत्तीभिः सुनिविष्टां समन्ततः।
विमानमिव सिद्धानां जालवातायनायुताम् ॥ २३ ॥

वह शिबिका चित्रके रूपमें बने हुए पैदल सिपाहियोंसे भरी प्रतीत होती थी। उसकी निर्माणकला सब ओरसे बड़ी सुन्दर दिखायी देती थी। देखनेमें वह सिद्धोंके विमान-सी प्रतीत होती थी। उसमें कई खिड़कियाँ बनी थीं, जिनमें जालियाँ लगी हुई थीं ॥ २३ ॥

सुनियुक्तां विशालां च सुकृतां शिल्पिभिः कृताम्।
दारुपर्वतकोपेतां चारुकर्मपरिष्कृताम् ॥ २४ ॥

कारीगरोंने उस पालकीको बहुत सुन्दर बनानेका प्रयत्न किया था। उसका एक-एक भाग बड़ा सुघड़ बनाया गया था। आकारमें वह बहुत बड़ी थी। उसमें लकड़ियोंके क्रीडा-पर्वत बने हुए थे। वह मनोहर शिल्प-कर्मसे सुशोभित थी ॥ २४ ॥

वाराभरणहारैश्च चित्रमाल्योपशोभिताम्।
गुहागहनसंछन्नां रक्तचन्दनभूषिताम्॥ २५॥

सुन्दर आभूषण और हारोंसे उसको सजाया गया था। विचित्र फूलोंसे उसकी शोभा बढ़ायी गयी थी। शिल्पियोंद्वारा निर्मित गुफा और वनसे वह संयुक्त थी तथा लाल चन्दनद्वारा उसे विभूषित किया गया था॥ २५॥

पुष्पौघैः समभिच्छन्नां पद्ममालाभिरेव च।
तरुणादित्यवर्णाभिर्भ्राजमानाभिरावृताम्॥ २६॥

नाना प्रकारके पुष्पसमूहोंद्वारा वह सब ओरसे आच्छादित थी तथा प्रातःकालके सूर्यकी भाँति अरुण कान्तिवाली दीप्तिमती पद्ममालाओंसे अलंकृत थी॥ २६॥

ईदृशीं शिबिकां दृष्ट्वा रामो लक्ष्मणमब्रवीत्।
क्षिप्रं विनीयतां वाली प्रेतकार्यं विधीयताम्॥ २७॥

ऐसी पालकीका अवलोकन करके श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणकी ओर देखते हुए कहा—'अब वालीको शीघ्र ही यहाँसे श्मशानभूमिमें ले जाया जाय और उनका प्रेत-कार्य किया जाय'॥ २७॥

ततो वालिनमुद्यम्य सुग्रीवः शिबिकां तदा।
आरोपयत विक्रोशन्नङ्गदेन सहैव तु॥ २८॥

तब अङ्गदके साथ करुण-क्रन्दन करते हुए सुग्रीवने वालीके शवको उठाकर उस शिबिकामें रखा॥ २८॥

आरोप्य शिबिकां चैव वालिनं गतजीवितम्।
अलंकारैश्च विविधैर्माल्यैर्वस्त्रैश्च भूषितम्॥ २९॥

मृत वालीको शिबिकामें चढ़ाकर उन्हें नाना प्रकारके अलंकारों, फूलोंके गजरों और भाँति-भाँतिके वस्त्रोंसे विभूषित किया॥ २९॥

आज्ञापयत् तदा राजा सुग्रीवः प्लवगेश्वरः।
और्ध्वदैहिकमार्यस्य क्रियतामनुकूलतः॥ ३०॥

तदनन्तर वानरोंके स्वामी राजा सुग्रीवने आज्ञा दी कि 'मेरे बड़े भाईका और्ध्वदैहिक संस्कार शास्त्रानुकूल विधिसे सम्पन्न किया जाय॥ ३०॥

विश्राणयन्तो रत्नानि विविधानि बहूनि च।
अग्रतः प्लवगा यान्तु शिबिका तदनन्तरम्॥ ३१॥

'आगे आगे बहुत-से वानर नाना प्रकारके बहुसंख्यक रत्न लुटाते हुए चलें। उनके पीछे शिबिका चले॥ ३१॥

राज्ञामृद्धिविशेषा हि दृश्यन्ते भुवि यादृशाः।
तादृशैरिह कुर्वन्तु वानरा भर्तृसत्क्रियाम्॥ ३२॥

'इस भूतलपर राजाओंके और्ध्वदैहिक संस्कार उनकी बढ़ी हुई समृद्धिके अनुसार जैसे धूमधामसे होते देखे जाते हैं, उसी प्रकार अधिक धन लगाकर सब वानर अपने स्वामी महाराज वालीका अन्त्येष्टि-संस्कार करें'॥ ३२॥

तादृशं वालिनः क्षिप्रं प्राकुर्वन्नौर्ध्वदेहिकम्।
अङ्गदं परिरभ्याशु तारप्रभृतयस्तथा॥ ३३॥
क्रोशन्तः प्रययुः सर्वे वानरा हतबान्धवाः।

तब तार आदि वानरोंने वालीके और्ध्वदैहिक संस्कारका शीघ्र वैसा ही आयोजन किया। जिनके बान्धव वाली मारे गये थे, वे सब-के-सब वानर अङ्गदको हृदयसे लगाकर शीघ्रतापूर्वक वहाँसे रोते हुए शवके साथ चले॥ ३३½॥

ततः प्रणिहिताः सर्वा वानर्योऽस्य वशानुगाः॥ ३४॥
चुक्रुशुर्वीरवीरेति भूयः क्रोशन्ति ताः प्रियम्।

उनके पीछे वालीके अधीन रहनेवाली सभी वानर-पत्नियाँ समीप आकर 'हा वीर, हा वीर' कहती हुई अपने प्रियतमको पुकार-पुकारकर बारंबार रोने-चिल्लाने लगीं॥ ३४½॥

ताराप्रभृतयः सर्वा वानर्यो हतबान्धवाः॥ ३५॥
अनुजग्मुश्च भर्तारं क्रोशन्त्यः करुणस्वनाः।

जिनके जीवनधनका वध किया गया था, वे तारा आदि सब वानरियाँ करुणस्वरसे विलाप करती हुई अपने स्वामीके पीछे-पीछे चलने लगीं॥ ३५½॥

तासां रुदितशब्देन वानरीणां वनान्तरे॥ ३६॥
वनानि गिरयश्चैव विक्रोशन्तीव सर्वतः।

वनके भीतर रोती हुई उन वानर वधुओंके रोदन-शब्दसे गूँजते हुए वन और पर्वत भी सब ओर रोते हुए-से प्रतीत होते थे॥ ३६½॥

पुलिने गिरिनद्यास्तु विविक्ते जलसंवृते॥ ३७॥
चितां चक्रुः सुबहवो वानरा वनचारिणः।

पहाड़ी[1] नदी तुङ्गभद्राके एकान्त तटपर जो जलसे घिरा था, पहुँचकर बहुत-से वनचारी वानरोंने एक चिता तैयार की॥ ३७½॥

अवरोप्य ततः स्कन्धाच्छिबिकां वानरोत्तमाः॥ ३८॥
तस्थुरेकान्तमाश्रित्य सर्वे शोकपरायणाः।

तदनन्तर पालकी ढोनेवाले श्रेष्ठ वानरोंने उसे अपने कंधेसे उतारा और वे सब शोकमग्न हो एकान्त स्थानमें जा बैठे॥ ३८½॥

ततस्तारा पतिं दृष्ट्वा शिबिकातलशायिनम्॥ ३९॥
आरोप्याङ्के शिरस्तस्य विललाप सुदुःखिता।

तत्पश्चात् ताराने शिबिकामें सुलाये हुए अपने पतिके शवको देखकर उनके मस्तकको अपनी गोदमें ले लिया और अत्यन्त दुःखी होकर वह विलाप करने लगी॥ ३९½॥

हा वानरमहाराज हा नाथ मम वत्सल॥ ४०॥
हा महार्ह महाबाहो हा मम प्रिय पश्य माम्।
जनं न पश्यसीमं त्वं कस्माच्छोकाभिपीडितम्॥ ४१॥

---

१. यह नदी सह्यपर्वतसे निकलकर किष्किन्धाकी पर्वत-मालाओंके बीचसे बहती हुई कृष्णा नदीमें जा मिली है।

'हा वानरोंके महाराज! हा मेरे दयालु प्राणनाथ! हा परम पूजनीय महाबाहु वीर! हा मेरे प्रियतम! एक बार मेरी ओर देखो तो सही। इस शोकपीड़ित दासीकी ओर तुम दृष्टिपात क्यों नहीं करते हो॥ ४०-४१॥

प्रहृष्टमिह ते वक्त्रं गतासोरपि मानद।
अस्तार्कसमवर्णं च दृश्यते जीवतो यथा॥ ४२॥

'दूसरोंको मान देनेवाले प्राणवल्लभ! प्राणोंके निकल जानेपर भी तुम्हारा मुख जीवित अवस्थाकी भाँति अस्ताचलवर्ती सूर्यके समान अरुण प्रभासे युक्त एवं प्रसन्न ही दिखायी देता है॥ ४२॥

एष त्वां रामरूपेण कालः कर्षति वानर।
येन स्म विधवाः सर्वाः कृता एकेषुणा रणे॥ ४३॥

'वानरराज! श्रीरामके रूपमें यह काल ही तुम्हें खींचकर लिये जा रहा है, जिसने युद्धके मैदानमें एक ही बाण मारकर हम सबको विधवा बना दिया॥ ४३॥

इमास्तास्तव राजेन्द्र वानर्योऽप्लवगास्तव।
पादैर्विकृष्टमध्वानमागताः किं न बुध्यसे॥ ४४॥

'महाराज! ये तुम्हारी प्यारी वानरियाँ, जो वानरोंकी भाँति उछलकर चलना नहीं जानती हैं, तुम्हारे पीछे-पीछे बहुत दूरके मार्गपर पैदल ही चली आयी हैं। इस बातको क्या तुम नहीं जानते?॥ ४४॥

तवेष्टा ननु चैवेमा भार्याश्चन्द्रनिभाननाः।
इदानीं नेक्षसे कस्मात् सुग्रीवं प्लवगेश्वर॥ ४५॥

'वानरराज! जो तुम्हें परम प्रिय थीं वे तुम्हारी सभी चन्द्रमुखी भार्याएँ यहाँ उपस्थित हैं। तुम इन सबको तथा अपने भाई सुग्रीवको भी इस समय क्यों नहीं देख रहे हो?॥ ४५॥

एते हि सचिवा राजंस्तारप्रभृतयस्तव।
पुरवासिजनश्चायं परिवार्य विषीदति॥ ४६॥

'राजन्! ये तार आदि तुम्हारे सचिव तथा ये पुरवासीजन तुम्हें चारों ओरसे घेरकर दुःखी हो रहे हैं॥ ४६॥

विसर्जयैनान् सचिवान् यथापुरमरिंदम।
ततः क्रीडामहे सर्वा वनेषु मदनोत्कटाः॥ ४७॥

'शत्रुदमन! आप पहलेकी भाँति इन मन्त्रियोंको विदा कर दीजिये। फिर हम सब प्रेमोन्मत्त होकर इन वनोंमें आपके साथ क्रीडा करेंगी'॥ ४७॥

एवं विलपतीं तारां पतिशोकपरीवृताम्।
उत्थापयन्ति स्म तदा वानर्यः शोककर्शिताः॥ ४८॥

पतिके शोकमें डूबी हुई ताराको इस प्रकार विलाप करती देख उस समय शोकसे दुर्बल हुई अन्य वानरियोंने उसे उठाया॥

सुग्रीवेण ततः सार्धं सोऽङ्गदः पितरं रुदन्।
चितामारोपयामास शोकेनाभिप्लुतेन्द्रियः॥ ४९॥

इसके बाद संतापपीड़ित इन्द्रियोंवाले अङ्गदने रोते-रोते सुग्रीवकी सहायतासे पिताको चितापर रखा॥ ४९॥

ततोऽग्निं विधिवद् दत्त्वा सोऽपसव्यं चकार ह।
पितरं दीर्घमध्वानं प्रस्थितं व्याकुलेन्द्रियः॥ ५०॥

फिर शास्त्रीय विधिके अनुसार उसमें आग लगाकर उन्होंने उसकी प्रदक्षिणा की। इसके बाद यह सोचकर कि 'मेरे पिता लंबी यात्राके लिये प्रस्थित हुए हैं' अङ्गदकी सारी इन्द्रियाँ शोकसे व्याकुल हो उठीं॥ ५०॥

संस्कृत्य वालिनं तं तु विधिवत् प्लवगर्षभाः।
आजग्मुरुदकं कर्तुं नदीं शुभजलां शिवाम्॥ ५१॥

इस प्रकार विधिवत् वालीका दाह-संस्कार करके सभी वानर जलाञ्जलि देनेके लिये पवित्र जलसे भरी हुई कल्याणमयी तुङ्गभद्रा नदीके तटपर आये॥ ५१॥

ततस्ते सहितास्तत्र ह्यङ्गदं स्थाप्य चाग्रतः।
सुग्रीवतारासहिताः सिषिचुर्वानरा जलम्॥ ५२॥

वहाँ अङ्गदको आगे रखकर सुग्रीव और तारासहित सभी वानरोंने वालीके लिये एक साथ जलाञ्जलि दी॥ ५२॥

सुग्रीवेणेव दीनेन दीनो भूत्वा महाबलः।
समानशोकः काकुत्स्थः प्रेतकार्याण्यकारयत्॥ ५३॥

दुःखी हुए सुग्रीवके साथ ही उन्हींके समान शोकग्रस्त एवं दुःखी हो महाबली श्रीरामने वालीके समस्त प्रेतकार्य करवाये॥ ५३॥

ततोऽथ तं वालिनमग्र्यपौरुषं
प्रकाशमिक्ष्वाकुवरेषुणा हतम्।
प्रदीप्य दीप्ताग्निसमौजसं तदा
सलक्ष्मणं राममुपेयिवान् हरिः॥ ५४॥

इस प्रकार इक्ष्वाकुवंशशिरोमणि श्रीरामके बाणसे मारे गये श्रेष्ठ पराक्रमी और प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी सुविख्यात वालीका दाह-संस्कार करके सुग्रीव उस समय लक्ष्मणसहित श्रीरामके पास आये॥ ५४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे पञ्चविंशः सर्गः॥ २५॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें पचीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २५॥

—★—

षड्विंशः सर्गः

हनुमान्‌जीका सुग्रीवके अभिषेकके लिये श्रीरामचन्द्रजीसे किष्किन्धामें पधारनेकी प्रार्थना, श्रीरामका पुरीमें न जाकर केवल अनुमति देना, तत्पश्चात् सुग्रीव और अङ्गदका अभिषेक

ततः शोकाभिसंतप्तं सुग्रीवं क्लिन्नवाससम्।
शाखामृगमहामात्राः परिवार्योपतस्थिरे ॥ १ ॥
अभिगम्य महाबाहुं राममक्लिष्टकारिणम्।
स्थिताः प्राञ्जलयः सर्वे पितामहमिवर्षयः ॥ २ ॥

तदनन्तर वानरसेनाके प्रधान-प्रधान वीर (हनुमान् आदि) भीगे वस्त्रवाले शोक-संतप्त सुग्रीवको चारों ओरसे घेरकर उन्हें साथ लिये अनायास ही महान् कर्म करनेवाले महाबाहु श्रीरामकी सेवामें उपस्थित हुए। श्रीरामके पास आकर वे सभी वानर उनके सामने हाथ जोड़कर खड़े हो गये, जैसे ब्रह्माजीके सम्मुख महर्षिगण खड़े रहते हैं॥ १-२॥

ततः काञ्चनशैलाभस्तरुणार्कनिभाननः।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं हनुमान् मारुतात्मजः ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् सुवर्णमय मेरु पर्वतके समान सुन्दर एवं विशाल शरीरवाले वायुपुत्र हनुमान्‌जी, जिनका मुख प्रातःकालके सूर्यकी भाँति अरुण प्रभासे प्रकाशित हो रहा था, दोनों हाथ जोड़कर बोले—॥ ३॥

भवत्प्रसादात् काकुत्स्थ पितृपैतामहं महत्।
वानराणां सुदंष्ट्राणां सम्पन्नबलशालिनाम् ॥ ४ ॥
महात्मनां सुदुष्प्रापं प्राप्तं राज्यमिदं प्रभो।
भवता समनुज्ञातः प्रविश्य नगरं शुभम् ॥ ५ ॥
संविधास्यति कार्याणि सर्वाणि ससुहृद्गणः।

'ककुत्स्थकुलनन्दन! आपकी कृपासे सुग्रीवको सुन्दर दाढ़वाले पूर्णबलशाली और महामनस्वी वानरोंका यह विशाल साम्राज्य प्राप्त हुआ, जो इनके बाप-दादोंके समयसे चला आ रहा है। प्रभो! यद्यपि इसका मिलना बहुत ही कठिन था तो भी आपके प्रसादसे यह इन्हें सुलभ हो गया। अब यदि आप आज्ञा दें तो ये अपने सुन्दर नगरमें प्रवेश करके सुहृदोंके साथ अपना सब राजकार्य सँभालें॥ ४-५½॥

स्नातोऽयं विविधैर्गन्धैरौषधैश्च यथाविधि ॥ ६ ॥
अर्चयिष्यति माल्यैश्च रत्नैश्च त्वां विशेषतः।
इमां गिरिगुहां रम्यामभिगन्तुं त्वमर्हसि ॥ ७ ॥
कुरुष्व स्वामिसम्बन्धं वानरान् सम्प्रहर्षय।

'ये शास्त्रविधिके अनुसार नाना प्रकारके सुगन्धित पदार्थों और ओषधियोंसहित जलसे राज्यपर अभिषिक्ति होकर मालाओं तथा रत्नोंद्वारा आपकी विशेष पूजा करेंगे। अतः आप इस रमणीय पर्वत-गुफा किष्किन्धामें पधारनेकी कृपा करें और इन्हें इस राज्यका स्वामी बनाकर वानरोंका हर्ष बढ़ावें'॥

एवमुक्तो हनुमता राघवः परवीरहा ॥ ८ ॥
प्रत्युवाच हनूमन्तं बुद्धिमान् वाक्यकोविदः।

हनुमान्‌जीके ऐसा कहनेपर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले तथा बातचीतमें कुशल बुद्धिमान् श्रीरघुनाथजीने उन्हें यों उत्तर दिया—॥ ८½॥

चतुर्दश समाः सौम्य ग्रामं वा यदि वा पुरम् ॥ ९ ॥
न प्रवेक्ष्यामि हनुमन् पितुर्निर्देशपालकः।

'हनुमन्! सौम्य! मैं पिताकी आज्ञाका पालन कर रहा हूँ, अतः चौदह वर्षोंके पूर्ण होनेतक किसी ग्राम या नगरमें प्रवेश नहीं करूँगा॥ ९½॥

सुसमृद्धां गुहां दिव्यां सुग्रीवो वानरर्षभः ॥ १० ॥
प्रविष्टो विधिवद् वीरः क्षिप्रं राज्येऽभिषिच्यताम्।

'वानरश्रेष्ठ वीर सुग्रीव इस समृद्धिशालिनी दिव्य गुफामें प्रवेश करें और वहाँ शीघ्र ही इनका विधिपूर्वक राज्याभिषेक कर दिया जाय'॥ १०½॥

एवमुक्त्वा हनूमन्तं रामः सुग्रीवमब्रवीत् ॥ ११ ॥
वृत्तज्ञो वृत्तसम्पन्नमुदारबलविक्रमम्।
इममप्यङ्गदं वीरं यौवराज्येऽभिषेचय ॥ १२ ॥

हनुमान्‌से ऐसा कहकर श्रीरामचन्द्रजी सुग्रीवसे बोले—'मित्र! तुम लौकिक और शास्त्रीय सभी व्यवहार जानते हो। कुमार अङ्गद सदाचारसम्पन्न तथा महान् बल-पराक्रमसे परिपूर्ण हैं। इनमें वीरता कूट-कूटकर भरी है, अतः तुम इनको भी युवराजके पदपर अभिषिक्त करो॥ ११-१२॥

ज्येष्ठस्य हि सुतो ज्येष्ठः सदृशो विक्रमेण च।
अङ्गदोऽयमदीनात्मा यौवराज्यस्य भाजनम् ॥ १३ ॥

'ये तुम्हारे बड़े भाईके ज्येष्ठ पुत्र हैं। पराक्रममें भी उन्हींके समान हैं तथा इनका हृदय उदार है। अतः अङ्गद युवराज-पदके सर्वथा अधिकारी हैं॥ १३॥

पूर्वोऽयं वार्षिको मासः श्रावणः सलिलागमः।
प्रवृत्ताः सौम्य चत्वारो मासा वार्षिक संज्ञिताः ॥ १४ ॥

'सौम्य! वर्षा कहलानेवाले चार मास या चौमासे आ गये। इनमें पहला मास यह श्रावण, जो जलकी प्राप्ति करानेवाला है, आरम्भ हो गया॥ १४॥

नायमुद्योगसमयः प्रविश त्वं पुरीं शुभाम्।
अस्मिन् वत्स्याम्यहं सौम्य पर्वते सहलक्ष्मणः ॥ १५ ॥

'सौम्य! यह किसीपर चढ़ाई करनेका समय नहीं है। इसलिये तुम अपनी सुन्दर नगरीमें जाओ। मैं लक्ष्मणके साथ इस पर्वतपर निवास करूँगा॥ १५॥

इयं गिरिगुहा रम्या विशाला युक्तमारुता।
प्रभूतसलिला सौम्य प्रभूतकमलोत्पला ॥ १६ ॥

'सौम्य सुग्रीव! यह पर्वतीय गुफा बड़ी रमणीय और

विशाल है। इसमें आवश्यकताके अनुरूप हवा भी मिल जाती है। यहाँ पर्याप्त जल भी सुलभ है और कमल तथा उत्पल भी बहुत है॥ १६॥

कार्तिके समनुप्राप्ते त्वं रावणवधे यत।
एष नः समयः सौम्य प्रविश त्वं स्वमालयम्॥ १७॥
अभिषिञ्चस्व राज्ये च सुहृदः सम्प्रहर्षय।

'सखे! कार्तिक आनेपर तुम रावणके वधके लिये प्रयत्न करना। यही हमलोगोंका निश्चय रहा। अब तुम अपने महलमें प्रवेश करो और राज्यपर अभिषिक्त होकर सुहृदोंको आनन्दित करो'॥ १७½॥

इति रामाभ्यनुज्ञातः सुग्रीवो वानरर्षभः॥ १८॥
प्रविवेश पुरीं रम्यां किष्किन्धां वालिपालिताम्।

श्रीरामचन्द्रजीकी यह आज्ञा पाकर वानरश्रेष्ठ सुग्रीव उस रमणीय किष्किन्धापुरीमें गये, जिसकी रक्षा वालीने की थी॥

तं वानरसहस्राणि प्रविष्टं वानरेश्वरम्॥ १९॥
अभिवार्य प्रविष्टानि सर्वतः प्लवगेश्वरम्।

उस समय गुफामें प्रविष्ट हुए उन वानरराजको चारों ओरसे घेरकर हजारों वानर उनके साथ ही गुहामें घुसे॥

ततः प्रकृतयः सर्वा दृष्ट्वा हरिगणेश्वरम्॥ २०॥
प्रणम्य मूर्ध्ना पतिता वसुधायां समाहिताः।

वानरराजको देखकर प्रजा आदि समस्त प्रकृतियोंने एकाग्रचित्त हो पृथ्वीपर माथा टेककर उन्हें प्रणाम किया॥

सुग्रीवः प्रकृतीः सर्वाः सम्भाष्योत्थाप्य वीर्यवान्॥ २१॥
भ्रातुरन्तःपुरं सौम्यं प्रविवेश महाबलः।

महाबली पराक्रमी सुग्रीवने उन सबको उठनेकी आज्ञा दी और उन सबसे बातचीत करके वे भाईके सौम्य अन्तःपुरमें प्रविष्ट हुए॥ २१½॥

प्रविष्टं भीमविक्रान्तं सुग्रीवं वानरर्षभम्॥ २२॥
अभ्यषिञ्चन्त सुहृदः सहस्राक्षमिवामराः।

भयंकर पराक्रम प्रकट करनेवाले वानरश्रेष्ठ सुग्रीवको अन्तःपुरमें आया देख उनके सुहृदोंने उनका उसी प्रकार अभिषेक किया, जैसे देवताओंने सहस्र नेत्रधारी इन्द्रका किया था॥

तस्य पाण्डुरमाजह्रुश्छत्रं हेमपरिष्कृतम्॥ २३॥
शुक्ले च वालव्यजने हेमदण्डे यशस्करे।
तथा रत्नानि सर्वाणि सर्वबीजौषधानि च॥ २४॥
सक्षीराणां च वृक्षाणां प्ररोहान् कुसुमानि च।
शुक्लानि चैव वस्त्राणि श्वेतं चैवानुलेपनम्॥ २५॥
सुगन्धीनि च माल्यानि स्थलजान्यम्बुजानि च।
चन्दनानि च दिव्यानि गन्धांश्च विविधान् बहून्॥ २६॥
अक्षतं जातरूपं च प्रियङ्गुं मधुसर्पिषी।
दधि चर्म च वैयाघ्रं परार्ध्ये चाप्युपानहौ॥ २७॥
समालम्भनमादाय गोरोचनं मनःशिलाम्।
आजग्मुस्तत्र मुदिता वराः कन्याश्च षोडश॥ २८॥

पहले तो वे सब लोग उनके लिये सुवर्णभूषित श्वेत छत्र, सोनेकी डाँडीवाले दो सफेद चँवर, सब प्रकारके रत्न, बीज और ओषधियाँ, दूधवाले वृक्षोंकी नीचे लटकनेवाली जटाएँ, श्वेत पुष्प, श्वेत वस्त्र, श्वेत अनुलेपन, जल और थलमें होनेवाले सुगन्धित फूलोंकी मालाएँ, दिव्य चन्दन, नाना प्रकारके बहुत-से सुगन्धित पदार्थ, अक्षत, सोना, प्रियङ्गु (कगनी) मधु, घी, दही, व्याघ्रचर्म, सुन्दर एवं बहुमूल्य जूते, अङ्ग-राग, गोरोचन और मैनसिल आदि सामग्री लेकर वहाँ उपस्थित हुए, साथ ही हर्षसे भरी हुई सोलह सुन्दरी कन्याएँ भी सुग्रीवके पास आयीं॥ २३—२८॥

ततस्ते वानरश्रेष्ठमभिषेक्तुं यथाविधि।
रत्नैर्वस्त्रैश्च भक्ष्यैश्च तोषयित्वा द्विजर्षभान्॥ २९॥

तदनन्तर उन सबने श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको नाना प्रकारके रत्न, वस्त्र और भक्ष्य पदार्थोंसे संतुष्ट करके वानरश्रेष्ठ सुग्रीवका विधिपूर्वक अभिषेक-कार्य आरम्भ किया॥ २९॥

ततः कुशपरिस्तीर्णं समिद्धं जातवेदसम्।
मन्त्रपूतेन हविषा हुत्वा मन्त्रविदो जनाः॥ ३०॥

मन्त्रवेत्ता पुरुषोंने वेदीपर अग्निकी स्थापना करके उसे प्रज्वलित किया और अग्निवेदीके चारों ओर कुश बिछाये। फिर अग्निका संस्कार करके मन्त्रपूत हविष्यके द्वारा प्रज्वलित अग्निमें आहुति दी॥ ३०॥

ततो हेमप्रतिष्ठाने वरास्तरणसंवृते।
प्रासादशिखरे रम्ये चित्रमाल्योपशोभिते॥ ३१॥
प्राङ्मुखं विधिवन्मन्त्रैः स्थापयित्वा वरासने।

तत्पश्चात् रंग-बिरंगी पुष्पमालाओंसे सुशोभित रमणीय अट्टालिकापर एक सोनेका सिंहासन रखा गया और उसपर सुन्दर बिछौना बिछाकर उसके ऊपर सुग्रीवको पूर्वाभिमुख करके विधिवत् मन्त्रोच्चारण करते हुए बिठाया गया॥

नदीनदेभ्यः संहृत्य तीर्थेभ्यश्च समन्ततः॥ ३२॥
आहृत्य च समुद्रेभ्यः सर्वेभ्यो वानरर्षभाः।
अपः कनककुम्भेषु निधाय विमलं जलम्॥ ३३॥
शुभैर्वृषभशृङ्गैश्च कलशैश्चैव काञ्चनैः।
शास्त्रदृष्टेन विधिना महर्षिविहितेन च॥ ३४॥
गजो गवाक्षो गवयः शरभो गन्धमादनः।
मैन्दश्च द्विविदश्चैव हनूमाञ्जाम्बवांस्तथा॥ ३५॥
अभ्यषिञ्चत सुग्रीवं प्रसन्नेन सुगन्धिना।
सलिलेन सहस्राक्षं वसवो वासवं यथा॥ ३६॥

इसके बाद श्रेष्ठ वानरोंने नदियों, नदों, सम्पूर्ण दिशाओंके तीर्थों और समस्त समुद्रोंसे लाये हुए निर्मल जलको एकत्र करके उसे सोनेके कलशोंमें रखा। फिर गज, गवाक्ष, गवय, शरभ, गन्धमादन, मैन्द, द्विविद, हनुमान् और जाम्बवान्ने महर्षियोंकी बतायी हुई शास्त्रोक्त विधिके अनुसार सुवर्णमय कलशोंमें रखे हुए स्वच्छ और सुगन्धित जलसे साँड़के

सींगोंद्वारा सुग्रीवका उसी प्रकार अभिषेक किया, जैसे वसुओंने इन्द्रका अभिषेक किया था ॥ ३२—३६ ॥

अभिषिक्ते तु सुग्रीवे सर्वे वानरपुङ्गवाः।
प्रचुक्रुशुर्महात्मानो हृष्टाः शतसहस्रशः ॥ ३७ ॥

सुग्रीवका अभिषेक हो जानेपर वहाँ लाखोंकी संख्यामें एकत्र हुए समस्त महामनस्वी श्रेष्ठ वानर हर्षसे भरकर जयघोष करने लगे ॥ ३७ ॥

रामस्य तु वचः कुर्वन् सुग्रीवो वानरेश्वरः।
अङ्गदं सम्परिष्वज्य यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ॥ ३८ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञाका पालन करते हुए वानरराज सुग्रीवने अङ्गदको हृदयसे लगाकर उन्हें भी युवराजके पदपर अभिषिक्त कर दिया ॥ ३८ ॥

अङ्गदे चाभिषिक्ते तु सानुक्रोशाः प्लवंगमाः।
साधु साध्विति सुग्रीवं महात्मानो ह्यपूजयन् ॥ ३९ ॥

अङ्गदका अभिषेक हो जानेपर महामनस्वी दयालु वानर 'साधु-साधु' कहकर सुग्रीवकी सराहना करने लगे ॥ ३९ ॥

रामं चैव महात्मानं लक्ष्मणं च पुनः पुनः।
प्रीताश्च तुष्टुवुः सर्वे तादृशे तत्र वर्तिनि ॥ ४० ॥

इस प्रकार अभिषेक होकर किष्किन्धामें सुग्रीव और अङ्गदके विराजमान होनेपर समस्त वानर परम प्रसन्न हो महात्मा श्रीराम और लक्ष्मणकी बारंबार स्तुति करने लगे ॥ ४० ॥

हृष्टपुष्टजनाकीर्णा पताकाध्वजशोभिता।
बभूव नगरी रम्या किष्किन्धा गिरिगह्वरे ॥ ४१ ॥

उस समय पर्वतकी गुफामें बसी हुई किष्किन्धापुरी हृष्ट-पुष्ट पुरवासियोंसे व्याप्त तथा ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित होनेके कारण बड़ी रमणीय प्रतीत होती थी ॥

निवेद्य रामाय तदा महात्मने
महाभिषेकं कपिवाहिनीपतिः।
रुमां च भार्यामुपलभ्य वीर्यवा-
नवाप राज्यं त्रिदशाधिपो यथा ॥ ४२ ॥

वानरसेनाके स्वामी पराक्रमी सुग्रीवने महात्मा श्रीरामचन्द्रजीके पास जाकर अपने महाभिषेकका समाचार निवेदन किया और अपनी पत्नी रुमाको पाकर उन्होंने उसी प्रकार वानरोंका साम्राज्य प्राप्त किया, जैसे देवराज इन्द्रने त्रिलोकीका ॥ ४२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे षड्विंशः सर्गः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें छब्बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २६ ॥

—★—

सप्तविंशः सर्गः

प्रस्रवणगिरिपर श्रीराम और लक्ष्मणकी परस्पर बातचीत

अभिषिक्ते तु सुग्रीवे प्रविष्टे वानरे गुहाम्।
आजगाम सह भ्रात्रा रामः प्रस्रवणं गिरिम् ॥ १ ॥

जब वानर सुग्रीवका राज्याभिषेक हो गया और वे किष्किन्धामें जाकर रहने लगे, उस समय अपने भाई लक्ष्मणके साथ श्रीरामजी प्रस्रवणगिरिपर चले गये ॥ १ ॥

शार्दूलमृगसंघुष्टं सिंहैर्भीमरवैर्वृतम्।
नानागुल्मलतागूढं बहुपादपसंकुलम् ॥ २ ॥

वहाँ चीतों और मृगोंकी आवाज गूँजती रहती थी। भयंकर गर्जना करनेवाले सिंहोंसे वह स्थान भरा था। नाना प्रकारकी झाड़ियाँ और लताएँ उस पर्वतको आच्छादित किये हुए थीं और घने वृक्षोंके द्वारा वह सब ओरसे व्याप्त था ॥

ऋक्षवानरगोपुच्छैर्मार्जारैश्च निषेवितम्।
मेघराशिनिभं शैलं नित्यं शुचिकरं शिवम् ॥ ३ ॥

रीछ, वानर, लंगूर और बिलाव आदि जन्तु वहाँ निवास करते थे। वह पर्वत मेघोंके समूह-सा जान पड़ता था। दर्शन करनेवाले लोगोंके लिये वह सदा ही मङ्गलमय और पवित्र-कारक था ॥ ३ ॥

तस्य शैलस्य शिखरे महतीमायतां गुहाम्।
प्रत्यगृह्णीत वासार्थं रामः सौमित्रिणा सह ॥ ४ ॥

उस पर्वतके शिखरपर एक बहुत बड़ी और विस्तृत गुफा थी। लक्ष्मणसहित श्रीरामने उसीका अपने रहनेके लिये आश्रय लिया ॥ ४ ॥

कृत्वा च समयं रामः सुग्रीवेण सहानघः।
कालयुक्तं महद्वाक्यमुवाच रघुनन्दनः ॥ ५ ॥
विनीतं भ्रातरं भ्राता लक्ष्मणं लक्ष्मिवर्धनम्।

रघुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी वर्षाका अन्त होनेपर सुग्रीवके साथ रावणपर चढ़ाई करनेका निश्चय करके वहाँ आये थे। उन्होंने लक्ष्मीकी वृद्धि करनेवाले अपने विनययुक्त भ्राता लक्ष्मणसे यह समयोचित बात कही ॥ ५½ ॥

इयं गिरिगुहा रम्या विशाला युक्तमारुता ॥ ६ ॥
अस्यां वत्स्याम सौमित्रे वर्षरात्रमरिंदम।

'शत्रुदमन सुमित्राकुमार! यह पर्वतकी गुफा बड़ी ही सुन्दर और विशाल है। यहाँ हवाके आने-जानेका भी मार्ग है। हमलोग वर्षाकी रातमें इसी गुफाके भीतर निवास करेंगे ॥ ६½ ॥

गिरिशृङ्गमिदं रम्यमुत्तमं पार्थिवात्मज ॥ ७ ॥
श्वेताभिः कृष्णताम्राभिः शिलाभिरुपशोभितम्।

'राजकुमार! पर्वतका यह शिखर बहुत ही उत्तम और रमणीय है। सफेद काले और लाल हर तरहके प्रस्तर-खण्ड इसकी शोभा बढ़ा रहे हैं॥ ७½॥

नानाधातुसमाकीर्णं नदीदर्दुरसंयुतम्॥ ८॥
विविधैर्वृक्षषण्डैश्च चारुचित्रलतायुतम्।
नानाविहगसंघुष्टं मयूरवरनादितम्॥ ९॥

'यहाँ नाना प्रकारके धातुओंकी खानें हैं। पास ही नदी बहती है। उसमें रहनेवाले मेढक यहाँ भी उछलते-कूदते चले आते हैं। नाना प्रकारके वृक्ष-समूह इसकी शोभा बढ़ाते हैं। सुन्दर और विचित्र लताओंसे यह शैल-शिखर हरा-भरा दिखायी देता है। भाँति-भाँतिके पक्षी यहाँ चहक रहे हैं तथा सुन्दर मोरोंकी मीठी बोली गूँज रही है॥ ८-९॥

मालतीकुन्दगुल्मैश्च सिन्दुवारैः शिरीषकैः।
कदम्बार्जुनसर्जैश्च पुष्पितैरुपशोभितम्॥ १०॥

'मालती और कुन्दकी झाड़ियाँ, सिन्दुवार, शिरीष, कदम्ब, अर्जुन और सर्जके फूले हुए वृक्ष इस स्थानकी शोभा बढ़ा रहे हैं॥ १०॥

इयं च नलिनी रम्या फुल्लपङ्कजमण्डिता।
नातिदूरे गुहाया नौ भविष्यति नृपात्मज॥ ११॥

'राजकुमार! यह पुष्करिणी खिले हुए कमलोंसे अलङ्कृत हो बड़ी रमणीय दिखायी देती है। यह हमलोगोंकी गुफासे अधिक दूर नहीं होगी॥ ११॥

प्रागुदक्प्रवणे देशे गुहा साधु भविष्यति।
पश्चाच्चैवोन्नता सौम्य निवातेयं भविष्यति॥ १२॥

'सौम्य! यहाँका स्थान ईशानकोणकी ओरसे नीचा है, अतः यहाँ यह गुफा हमारे निवासके लिये बहुत अच्छी रहेगी। पश्चिम-दक्षिणके कोणकी ओरसे ऊँची यह गुफा हवा और वर्षासे बचानेके लिये अच्छी होगी* ॥ १२॥

गुहाद्वारे च सौमित्रे शिला समतला शिवा।
कृष्णा चैवायता चैव भिन्नाञ्जनचयोपमा॥ १३॥

'सुमित्रानन्दन! इस गुफाके द्वारपर समतल शिला है, जो बाहर बैठनेके लिये सुविधाजनक होनेके कारण सुखदायिनी है। यह लंबी-चौड़ी होनेके साथ ही खानसे काटकर निकाले हुए कोयलोंकी राशिके समान काली है॥ १३॥

गिरिशृङ्गमिदं तात पश्य चोत्तरतः शुभम्।
भिन्नाञ्जनचयाकारमम्भोधरमिवोदितम्॥ १४॥

'तात! देखो, यह सुन्दर पर्वत-शिखर उत्तरकी ओरसे कटे हुए कोयलोंकी राशि तथा घुमड़े हुए मेघोंकी घटाके समान काला दिखायी देता है॥ १४॥

दक्षिणस्यामपि दिशि स्थितं श्वेतमिवाम्बरम्।
कैलासशिखरप्रख्यं नानाधातुविराजितम्॥ १५॥

'इसी तरह दक्षिण दिशामें भी इसका जो शिखर है, वह श्वेत वस्त्र और कैलास-शृङ्गके समान श्वेत दिखायी देता है। नाना प्रकारकी धातुएँ उसकी शोभा बढ़ाती हैं॥ १५॥

प्राचीनवाहिनीं चैव नदीं भृशमकर्दमाम्।
गुहायाः परतः पश्य त्रिकूटे जाह्नवीमिव॥ १६॥

'वह देखो, इस गुफाके दूसरी ओर त्रिकूट पर्वतके समीप बहनेवाली मन्दाकिनीके समान तुङ्गभद्रा नदी बह रही है। उसकी धारा पश्चिमसे पूर्वकी ओर जा रही है। उसमें कीचड़का नाम भी नहीं है॥ १६॥

चन्दनैस्तिलकैः सालैस्तमालैरतिमुक्तकैः।
पद्मकैः सरलैश्चैव अशोकैश्चैव शोभिताम्॥ १७॥

'चन्दन, तिलक, साल, तमाल, अतिमुक्तक, पद्मक, सरल और शोक आदि नाना प्रकारके वृक्षोंसे उस नदीकी कैसी शोभा हो रही है?॥ १७॥

वानीरैस्तिमिदैश्चैव बकुलैः केतकैरपि।
हिन्तालैस्तिनिशैर्नीपैर्वेतसैः कृतमालकैः॥ १८॥
तीरजैः शोभिता भाति नानारूपैस्ततस्ततः।
वसनाभरणोपेता प्रमदेवाभ्यलंकृता॥ १९॥

'जलवेंत, तिमिद, बकुल, केतक, हिन्ताल, तिनिश, नीप, स्थलवेंत, कृतमाल (अमिलतास) आदि भाँति-भाँतिके तटवर्ती वृक्षोंसे जहाँ-तहाँ सुशोभित हुई यह नदी वस्त्राभूषणोंसे विभूषित शृङ्गारसज्जित युवती स्त्रीके समान जान पड़ती है॥ १८-१९॥

शतशः पक्षिसङ्घैश्च नानानादविनादिता।
एकैकमनुरक्तैश्च चक्रवाकैरलंकृता॥ २०॥

'सैकड़ों पक्षिसमूहोंसे संयुक्त हुई यह नदी उनके नाना प्रकारके कलरवोंसे गूँजती रहती है। परस्पर अनुरक्त हुए चक्रवाक इस सरिताकी शोभा बढ़ाते हैं॥ २०॥

पुलिनैरतिरम्यैश्च हंससारससेविता।
प्रहसन्त्येव भात्येषा नानारत्नसमन्विता॥ २१॥

'अत्यन्त रमणीय तटोंसे अलंकृत, नाना प्रकारके रत्नोंसे सम्पन्न तथा हंस और सारसोंसे सेवित यह नदी अपनी हास्यच्छटा बिखेरती हुई-सी जान पड़ती है॥ २१॥

क्वचिन्नीलोत्पलैश्छन्ना भातिरक्तोत्पलैः क्वचित्।
क्वचिदाभाति शुक्लैश्च दिव्यैः कुमुदकुड्मलैः॥ २२॥

'कहीं तो यह नील कमलोंसे ढकी हुई है, कहीं लाल कमलोंसे सुशोभित होती है और कहीं श्वेत एवं दिव्य

---

* ईशानकोणकी ओर नीची तथा नैर्ऋत्यकोणकी ओरसे ऊँची होनेसे उसका द्वार नैर्ऋत्यकोणकी ओर था—यह प्रतीत होता है, इससे उसमें पूर्वी हवा और उधरसे आनेवाली वर्षाका प्रवेश नहीं था।

कुमुद-कलिकाओंसे शोभा पाती है ॥ २२ ॥

पारिप्लवशतैर्जुष्टा बर्हिक्रौञ्चविनादिता ।
रमणीया नदी सौम्य मुनिसङ्घनिषेविता ॥ २३ ॥

'सैकड़ों जल-पक्षियोंसे सेवित तथा मोर एवं क्रौञ्चके कलरवोंसे मुखरित हुई यह सौम्य नदी बड़ी रमणीय प्रतीत होती है। मुनियोंके समुदाय इसके जलका सेवन करते हैं ॥

पश्य चन्दनवृक्षाणां पङ्क्तीः सुरुचिरा इव ।
ककुभानां च दृश्यन्ते मनसैवोदिताः समम् ॥ २४ ॥

'वह देखो, अर्जुन और चन्दन वृक्षोंकी पंक्तियाँ कितनी सुन्दर दिखायी देती हैं। मालूम होता है ये मनके संकल्पके साथ ही प्रकट हो गयी हैं ॥ २४ ॥

अहो सुरमणीयोऽयं देशः शत्रुनिषूदन ।
दृढं रंस्याव सौमित्रे साध्वत्र निवसावहे ॥ २५ ॥

'शत्रुसूदन सुमित्राकुमार! यह स्थान अत्यन्त रमणीय और अद्भुत है। यहाँ हमलोगोंका मन खूब लगेगा। अतः यहीं रहना ठीक होगा ॥ २५ ॥

इतश्च नातिदूरे सा किष्किन्धा चित्रकानना ।
सुग्रीवस्य पुरी रम्या भविष्यति नृपात्मज ॥ २६ ॥

'राजकुमार! विचित्र काननोंसे सुशोभित सुग्रीवकी रमणीय किष्किन्धापुरी भी यहाँसे अधिक दूर नहीं होगी ॥

गीतवादित्रनिर्घोषः श्रूयते जयतां वर ।
नदतां वानराणां च मृदङ्गाडम्बरैः सह ॥ २७ ॥

'विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ लक्ष्मण! मृदङ्गकी मधुर ध्वनिके साथ गर्जते हुए वानरोंके गीत और वाद्यका गम्भीर घोष यहाँसे सुनायी देता है ॥ २७ ॥

लब्ध्वा भार्यां कपिवरः प्राप्य राज्यं सुहृद्वृतः ।
ध्रुवं नन्दति सुग्रीवः सम्प्राप्य महतीं श्रियम् ॥ २८ ॥

'निश्चय ही कपिश्रेष्ठ सुग्रीव अपनी पत्नीको पाकर, राज्यको हस्तगत करके और बड़ी भारी लक्ष्मीपर अधिकार प्राप्त करके सुहृदोंके साथ आनन्दोत्सव मना रहे हैं' ॥ २८ ॥

इत्युक्त्वा न्यवसत् तत्र राघवः सहलक्ष्मणः ।
बहुदृश्यदरीकुञ्जे तस्मिन् प्रस्रवणे गिरौ ॥ २९ ॥

ऐसा कहकर श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणके साथ उस प्रस्रवण पर्वतपर जहाँ बहुत-सी कन्दराओं और कुञ्जोंके दर्शन होते थे, निवास करने लगे ॥ २९ ॥

सुसुखे हि बहुद्रव्ये तस्मिन् हि धरणीधरे ।
वसतस्तस्य रामस्य रतिरल्पापि नाभवत् ॥ ३० ॥
हृतां हि भार्यां स्मरतः प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम् ।

यद्यपि उस पर्वतपर परम सुख प्रदान करनेवाले बहुत-से फल-फूल आदि आवश्यक पदार्थ थे, तथापि राक्षसद्वारा हरी गयी प्राणोंसे भी बढ़कर आदरणीय सीताका स्मरण करते हुए भगवान् श्रीरामको वहाँ तनिक भी सुख नहीं मिलता था ॥ ३०½ ॥

उदयाभ्युदितं दृष्ट्वा शशाङ्कं च विशेषतः ॥ ३१ ॥
आविवेश न तं निद्रा निशासु शयनं गतम् ।

विशेषतः उदयाचलपर उदित हुए चन्द्रदेवका दर्शन करके रातमें शय्यापर लेट जानेपर भी उन्हें नींद नहीं आती थी ॥

तत्समुत्थेन शोकेन बाष्पोपहतचेतनम् ॥ ३२ ॥
तं शोचमानं काकुत्स्थं नित्यं शोकपरायणम् ।
तुल्यदुःखोऽब्रवीद्भ्राता लक्ष्मणोऽनुनयं वचः ॥ ३३ ॥

सीताके वियोगजनित शोकसे आँसू बहाते हुए वे अचेत हो जाते थे। श्रीरामको निरन्तर शोकमग्न रहकर चिन्ता करते देख उनके दुःखमें समानरूपसे भाग लेनेवाले भाई लक्ष्मणने उनसे विनयपूर्वक कहा— ॥ ३२-३३ ॥

अलं वीर व्यथां गत्वा न त्वं शोचितुमर्हसि ।
शोचतो ह्यवसीदन्ति सर्वार्था विदितं हि ते ॥ ३४ ॥

'वीर! इस प्रकार व्यथित होनेसे कोई लाभ नहीं है। अतः आपको शोक नहीं करना चाहिये; क्योंकि शोक करनेवाले पुरुषके सभी मनोरथ नष्ट हो जाते हैं, यह बात आपसे छिपी नहीं है ॥ ३४ ॥

भवान् क्रियापरो लोके भवान् देवपरायणः ।
आस्तिको धर्मशीलश्च व्यवसायी च राघव ॥ ३५ ॥

'रघुनन्दन! आप जगत्‌में कर्मठ-वीर तथा देवताओंका समादर करनेवाले हैं। आस्तिक, धर्मात्मा और उद्योगी हैं।

न ह्यव्यवसितः शत्रुं राक्षसं तं विशेषतः ।
समर्थस्त्वं रणे हन्तुं विक्रमे जिह्मकारिणम् ॥ ३६ ॥

'यदि आप शोकवश उद्यम छोड़ बैठते हैं तो पराक्रमके स्थानस्वरूप समराङ्गणमें कुटिल कर्म करनेवाले उस शत्रुका, जो विशेषतः राक्षस है, वध करनेमें समर्थ न हो सकेंगे ॥

समुन्मूलय शोकं त्वं व्यवसायं स्थिरीकुरु ।
ततः सपरिवारं तं राक्षसं हन्तुमर्हसि ॥ ३७ ॥

'अतः आप अपने शोकको जड़से उखाड़ फेंकिये और उद्योगके विचारको सुस्थिर कीजिये। तभी आप परिवार-सहित उस राक्षसका विनाश कर सकते हैं ॥ ३७ ॥

पृथिवीमपि काकुत्स्थ ससागरवनाचलाम् ।
परिवर्तयितुं शक्तः किं पुनस्तं हि रावणम् ॥ ३८ ॥

'काकुत्स्थ! आप तो समुद्र, वन और पर्वतोंसहित समूची पृथ्वीको भी उलट सकते हैं; फिर उस रावणका संहार करना आपके लिये कौन बड़ी बात है? ॥ ३८ ॥

शरत्कालं प्रतीक्षस्व प्रावृट्कालोऽयमागतः ।
ततः सराष्ट्रं सगणं रावणं तं वधिष्यसि ॥ ३९ ॥

'यह वर्षाकाल आ गया है। अब शरद्-ऋतुकी प्रतीक्षा कीजिये। फिर राज्य और सेनासहित रावणका वध कीजियेगा ॥

अहं तु खलु ते वीर्यं प्रसुप्तं प्रतिबोधये ।
दीप्तैराहुतिभिः काले भस्मच्छन्नमिवानलम् ॥ ४० ॥

'जैसे राखमें छिपी हुई आगको हवनकालमें आहुतियों-

द्वारा प्रज्वलित किया जाता है, उसी प्रकार मैं आपके सोये हुए पराक्रमको जगा रहा हूँ—भूले हुए बल-विक्रमको याद दिला रहा हूँ ॥ ४० ॥

लक्ष्मणस्य हि तद् वाक्यं प्रतिपूज्य हितं शुभम्।
राघवः सुहृदं स्निग्धमिदं वचनमब्रवीत्॥ ४१॥

लक्ष्मणके इस शुभ एवं हितकर वचनकी सराहना करके श्रीरघुनाथजीने अपने स्नेही सुहृत् सुमित्राकुमारसे इस प्रकार कहा— ॥ ४१ ॥

वाच्यं यदनुरक्तेन स्निग्धेन च हितेन च।
सत्यविक्रमयुक्तेन तदुक्तं लक्ष्मण त्वया॥ ४२॥

'लक्ष्मण! अनुरागी, स्नेही, हितैषी और सत्यपराक्रमी वीरको जैसी बात कहनी चाहिये वैसी ही तुमने कही है॥

एष शोकः परित्यक्तः सर्वकार्यावसादकः।
विक्रमेष्वप्रतिहतं तेजः प्रोत्साहयाम्यहम्॥ ४३॥

'लो, सब तरहके काम बिगाड़नेवाले शोकको मैंने त्याग दिया। अब मैं पराक्रमविषयक दुर्धर्ष तेजको प्रोत्साहित करता हूँ (बढ़ाता हूँ) ॥ ४३ ॥

शरत्कालं प्रतीक्षिष्ये स्थितोऽस्मि वचने तव।
सुग्रीवस्य नदीनां च प्रसादमनुपालयन्॥ ४४॥

'तुम्हारी बात मान लेता हूँ। सुग्रीवके प्रसन्न होकर सहायता करने और नदियोंके जलके स्वच्छ होनेकी बाट देखता हुआ मैं शरत्-कालकी प्रतीक्षा करूँगा ॥ ४४ ॥

उपकारेण वीरस्तु प्रतिकारेण युज्यते।
अकृतज्ञोऽप्रतिकृतो हन्ति सत्त्ववतां मनः॥ ४५॥

'जो वीर पुरुष किसीके उपकारसे उपकृत होता है, वह प्रत्युपकार करके उसका बदला अवश्य चुकाता है, किंतु यदि कोई उपकारको न मानकर या भुलाकर प्रत्युपकारसे मुँह मोड़ लेता है, वह शक्तिशाली श्रेष्ठ पुरुषोंके मनको ठेस पहुँचाता है ॥ ४५ ॥

तदेव युक्तं प्रणिधाय लक्ष्मणः
कृताञ्जलिस्तत् प्रतिपूज्य भाषितम्।
उवाच रामं स्वभिरामदर्शनं
प्रदर्शयन् दर्शनमात्मनः शुभम्॥ ४६॥

'श्रीरामजीके उस कथनको ही युक्तियुक्त मानकर लक्ष्मणने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और दोनों हाथ जोड़कर अपनी शुभ दृष्टिका परिचय देते हुए वे नयनाभिराम श्रीरामसे इस प्रकार बोले— ॥ ४६ ॥

यथोक्तमेतत् तव सर्वमीप्सितं
नरेन्द्र कर्ता नचिरात् तु वानरः।
शरत्प्रतीक्षः क्षमतामिमं भवान्
जलप्रपातं रिपुनिग्रहे धृतः॥ ४७॥

'नरेश्वर! जैसा कि आपने कहा है, वानरराज सुग्रीव शीघ्र ही आपका यह सारा मनोरथ सिद्ध करेंगे। अतः आप शत्रुके संहार करनेका दृढ़ निश्चय लिये शरत्कालकी प्रतीक्षा कीजिये और इस वर्षाकालके विलम्बको सहन कीजिये ॥ ४७ ॥

नियम्य कोपं परिपाल्यतां शरत्
क्षमस्व मासांश्चतुरो मया सह।
वसाचलेऽस्मिन् मृगराजसेविते
संवर्तयञ्छत्रुवधे समर्थः॥ ४८॥

'क्रोधको काबूमें रखकर शरत्कालकी राह देखिये। बरसातके चार महीनोंतक जो भी कष्ट हो, उसे सहन कीजिये तथा शत्रुवधमें समर्थ होनेपर भी इस वर्षाकालको व्यतीत करते हुए मेरे साथ इस सिंहसेवित पर्वतपर निवास कीजिये' ॥ ४८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे सप्तविंशः सर्गः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें सत्ताईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २७ ॥

—★—

अष्टाविंशः सर्गः

श्रीरामके द्वारा वर्षा-ऋतुका वर्णन

स तदा वालिनं हत्वा सुग्रीवमभिषिच्य च।
वसन् माल्यवतः पृष्ठे रामो लक्ष्मणमब्रवीत्॥ १॥

इस प्रकार वालीका वध और सुग्रीवका राज्याभिषेक करनेके अनन्तर माल्यवान् पर्वतके पृष्ठभागमें निवास करते हुए श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणसे कहने लगे— ॥ १ ॥

अयं स कालः सम्प्राप्तः समयोऽद्य जलागमः।
सम्पश्य त्वं नभो मेघैः संवृतं गिरिसंनिभैः॥ २॥

'सुमित्रानन्दन! अब यह जलकी प्राप्ति करानेवाला वह प्रसिद्ध वर्षाकाल आ गया। देखो, पर्वतके समान प्रतीत होनेवाले मेघोंसे आकाशमण्डल आच्छन्न हो गया है ॥ २ ॥

नवमासधृतं गर्भं भास्करस्य गभस्तिभिः।
पीत्वा रसं समुद्राणां द्यौः प्रसूते रसायनम्॥ ३॥

'यह आकाशस्वरूपा तरुणी सूर्यकी किरणोंद्वारा समुद्रोंका रस पीकर कार्तिक आदि नौ मासोंतक धारण किये हुए गर्भके रूपमें जलरूपी रसायनको जन्म दे रही है ॥ ३ ॥

शक्यमम्बरमारुह्य मेघसोपानपङ्क्तिभिः।
कुटजार्जुनमालाभिरलंकर्तुं दिवाकरः॥ ४॥

'इस समय मेघरूपी सोपानपंक्तियों (सीढ़ियों) द्वारा

आकाशमें चढ़कर गिरिमल्लिका और अर्जुनपुष्पकी मालाओंसे सूर्यदेवको अलंकृत करना सरल-सा हो गया है॥ ४॥

संध्यारागोत्थितैस्ताम्रैरन्तेष्वपि च पाण्डुभिः।
स्निग्धैरभ्रपटच्छेदैर्बद्धव्रणमिवाम्बरम्॥ ५॥

'संध्याकालकी लाली प्रकट होनेसे बीचमें लाल तथा किनारेके भागोंमें श्वेत एवं स्निग्ध प्रतीत होनेवाले मेघखण्डोंसे आच्छादित हुआ आकाश ऐसा जान पड़ता है, मानो उसने अपने घावमें रक्तरञ्जित सफेद कपड़ोंकी पट्टी बाँध रखी हो॥ ५॥

मन्दमारुतनिःश्वासं संध्याचन्दनरञ्जितम्।
आपाण्डुजलदं भाति कामातुरमिवाम्बरम्॥ ६॥

'मन्द-मन्द हवा निःश्वास-सी प्रतीत होती है, संध्याकालकी लाली लाल चन्दन बनकर ललाट आदि अङ्गोंको अनुरञ्जित कर रही है तथा मेघरूपी कपोल कुछ-कुछ पाण्डुवर्णका प्रतीत होता है। इस तरह यह आकाश कामातुर पुरुषके समान जान पड़ता है॥ ६॥

एषा घर्मपरिक्लिष्टा नववारिपरिप्लुता।
सीतेव शोकसंतप्ता मही बाष्पं विमुञ्चति॥ ७॥

'जो ग्रीष्म-ऋतुमें घामसे तप गयी थी, वह पृथ्वी वर्षाकालमें नूतन जलसे भीगकर (सूर्य-किरणोंसे तपी और आँसुओंसे भीगी हुई) शोकसंतप्त सीताकी भाँति बाष्प विमोचन (उष्णताका त्याग अथवा अश्रुपात) कर रही है॥ ७॥

मेघोदरविनिर्मुक्ताः कर्पूरदलशीतलाः।
शक्यमञ्जलिभिः[1] पातुं वाताः केतकगन्धिनः॥ ८॥

'मेघके उदरसे निकली, कपूरकी डलीके समान ठंडी तथा केवड़ेकी सुगन्धसे भरी हुई इस बरसाती वायुको मानो अञ्जलियोंमें भरकर पीया जा सकता है॥ ८॥

एष फुल्लार्जुनः शैलः केतकैरभिवासितः।
सुग्रीव इव शान्तारिर्धाराभिरभिषिच्यते॥ ९॥

'यह पर्वत, जिसपर अर्जुनके वृक्ष खिले हुए हैं तथा जो केवड़ोंसे सुवासित हो रहा है, शान्त हुए शत्रुवाले सुग्रीवकी भाँति जलकी धाराओंसे अभिषिक्त हो रहा है॥ ९॥

मेघकृष्णाजिनधरा धारायज्ञोपवीतिनः।
मारुतापूरितगुहाः प्राधीता इव पर्वताः॥ १०॥

मेघरूपी काले मृगचर्म तथा वर्षाकी धारारूप यज्ञोपवीत धारण किये वायुसे पूरित गुफा (या हृदय) वाले ये पर्वत ब्रह्मचारियोंकी भाँति मानो वेदाध्ययन आरम्भ कर रहे हैं॥

कशाभिरिव हैमीभिर्विद्युद्भिरभिताडितम्।
अन्तःस्तनितनिर्घोषं सवेदनमिवाम्बरम्॥ ११॥

'ये बिजलियाँ सोनेके बने हुए कोड़ोंके समान जान पड़ती हैं। इनकी मार खाकर मानो व्यथित हुआ आकाश अपने भीतर व्यक्त हुई मेघोंकी गम्भीर गर्जनाके रूपमें आर्तनाद-सा कर रहा है॥ ११॥

नीलमेघाश्रिता विद्युत् स्फुरन्ती प्रतिभाति मे।
स्फुरन्ती रावणस्याङ्के वैदेहीव तपस्विनी॥ १२॥

'नील मेघका आश्रय लेकर प्रकाशित होती हुई यह विद्युत् मुझे रावणके अङ्कमें छटपटाती हुई तपस्विनी सीताके समान प्रतीत होती है॥ १२॥

इमास्ता मन्मथवतां हिताः प्रतिहता दिशः।
अनुलिप्ता इव घनैर्नष्टग्रहनिशाकराः॥ १३॥

'बादलोंका लेप लग जानेसे जिनमें ग्रह, नक्षत्र और चन्द्रमा अदृश्य हो गये हैं, अतएव जो नष्ट-सी हो गयी हैं—जिनके पूर्व, पश्चिम आदि भेदोंका विवेक लुप्त-सा हो गया है, वे दिशाएँ, उन कामियोंको, जिन्हें प्रेयसीका संयोगसुख सुलभ है, हितकर प्रतीत होती हैं॥ १३॥

क्वचिद् बाष्पाभिसंरुद्धान् वर्षागमसमुत्सुकान्।
कुटजान् पश्य सौमित्रे पुष्पितान् गिरिसानुषु।
मम शोकाभिभूतस्य कामसंदीपनान् स्थितान्॥ १४॥

'सुमित्रानन्दन! देखो, इस पर्वतके शिखरोंपर खिले हुए कुटज कैसी शोभा पाते हैं? कहीं तो पहली बार वर्षा होनेपर भूमिसे निकले हुए भापसे ये व्याप्त हो रहे हैं और कहीं वर्षाके आगमनसे अत्यन्त उत्सुक (हर्षोत्फुल्ल) दिखायी देते हैं। मैं तो प्रिया-विरहके शोकसे पीड़ित हूँ और ये कुटज पुष्प मेरी प्रेमाग्निको उद्दीप्त कर रहे हैं॥ १४॥

रजः प्रशान्तं सहिमोऽद्य वायु-
र्निदाघदोषप्रसराः प्रशान्ताः।
स्थिता हि यात्रा वसुधाधिपानां
प्रवासिनो यान्ति नराः स्वदेशान्॥ १५॥

'धरतीकी धूल शान्त हो गयी। अब वायुमें शीतलता आ गयी। गर्मीके दोषोंका प्रसार बंद हो गया। भूपालोंकी युद्धयात्रा रुक गयी और परदेशी मनुष्य अपने-अपने देशको लौट रहे हैं॥

सम्प्रस्थिता मानसवासलुब्धाः
प्रियान्विताः सम्प्रति चक्रवाकाः।
अभीक्ष्णवर्षोदकविक्षतेषु
यानानि मार्गेषु न सम्पतन्ति॥ १६॥

'मानसरोवरमें निवासके लोभी हंस वहाँके लिये प्रस्थित हो गये। इस समय चकवे अपनी प्रियाओंसे मिल रहे हैं। निरन्तर होनेवाली वर्षाके जलसे मार्ग टूट-फूट गये हैं, इसलिये उनपर रथ आदि नहीं चल रहे हैं॥ १६॥

क्वचित् प्रकाशं क्वचिदप्रकाशं
नभः प्रकीर्णाम्बुधरं विभाति।
क्वचित्क्वचित् पर्वतसंनिरुद्धं
रूपं यथा शान्तमहार्णवस्य॥ १७॥

---

1. 'शक्या अञ्जलिभिः' इति स्वच्छः पाठः।

'आकाशमें सब ओर बादल छिटके हुए हैं। कहीं तो उन बादलोंसे ढक जानेके कारण आकाश दिखायी नहीं देता है और कहीं उनके फट जानेपर वह स्पष्ट दिखायी देने लगता है। ठीक उसी तरह जैसे जिसकी तरङ्गमालाएँ शान्त हो गयी हों, उस महासागरका रूप कहीं तो पर्वतमालाओंसे छिप जानेके कारण नहीं दिखायी देता है और कहीं पर्वतोंका आवरण न होनेसे दिखायी देता है ॥ १७ ॥

व्यामिश्रितं सर्जकदम्बपुष्पै-
र्नवं जलं पर्वतधातुताम्रम्।
मयूरकेकाभिरनुप्रयातं
शैलापगाः शीघ्रतरं वहन्ति ॥ १८ ॥

'इस समय पहाड़ी नदियाँ वर्षाके नूतन जलको बड़े वेगसे बहा रही हैं। वह जल सर्ज और कदम्बके फूलोंसे मिश्रित है, पर्वतके गेरू आदि धातुओंसे लाल रंगका हो गया है तथा मयूरोंकी केकाध्वनि उस जलके कलकलनादका अनुसरण कर रही है ॥ १८ ॥

रसाकुलं षट्पदसंनिकाशं
प्रभुज्यते जम्बुफलं प्रकामम्।
अनेकवर्णं पवनावधूतं
भूमौ पतत्याम्रफलं विपक्वम् ॥ १९ ॥

'काले-काले भौंरोंके समान प्रतीत होनेवाले जामुनके सरस फल आजकल लोग जी भरकर खाते हैं और हवाके वेगसे हिले हुए आमके पके हुए बहुरंगी फल पृथ्वीपर गिरते रहते हैं ॥ १९ ॥

विद्युत्पताकाः सबलाकमालाः
शैलेन्द्रकूटाकृतिसंनिकाशाः।
गर्जन्ति मेघाः समुदीर्णनादा
मत्ता गजेन्द्रा इव संयुगस्थाः ॥ २० ॥

'जैसे युद्धस्थलमें खड़े हुए मतवाले गजराज उच्चस्वरसे चिग्घाड़ते हैं, उसी प्रकार गिरिराजके शिखरोंकी-सी आकृतिवाले मेघ जोर-जोरसे गर्जना कर रहे हैं। चमकती हुई बिजलियाँ इन मेघरूपी गजराजोंपर पताकाओंके समान फहरा रही हैं और बगुलोंकी पंक्तियाँ मालाके समान शोभा देती हैं ॥ २० ॥

वर्षोदकाप्यायितशाद्वलानि
प्रवृत्तनृत्तोत्सवबर्हिणानि।
वनानि निर्वृष्टबलाहकानि
पश्यापराह्णेष्वधिकं विभान्ति ॥ २१ ॥

'देखो, अपराह्णकालमें इन वनोंकी शोभा अधिक बढ़ जाती है। वर्षाके जलसे इनमें हरी-हरी घासें बढ़ गयी हैं। झुंड-के-झुंड मोरोंने अपना नृत्योत्सव आरम्भ कर दिया है और मेघोंने इनमें निरन्तर जल बरसाया है ॥ २१ ॥

समुद्वहन्तः सलिलातिभारं
बलाकिनो वारिधरा नदन्तः।
महत्सु शृङ्गेषु महीधराणां
विश्रम्य विश्रम्य पुनः प्रयान्ति ॥ २२ ॥

'बक-पंक्तियोंसे सुशोभित ये जलधर मेघ जलका अधिक भार ढोते और गर्जते हुए बड़े-बड़े पर्वतशिखरोंपर मानो विश्राम ले-लेकर आगे बढ़ते हैं ॥ २२ ॥

मेघाभिकामा परिसम्पतन्ती
सम्मोदिता भाति बलाकपंक्तिः।
वातावधूता वरपौण्डरीकी
लम्बेव माला रुचिराम्बरस्य ॥ २३ ॥

'गर्भ धारणके लिये मेघोंकी कामना रखकर आकाशमें उड़ती हुई आनन्दमग्न बलाकाओंकी पंक्ति ऐसी जान पड़ती है, मानो आकाशके गलेमें हवासे हिलती हुई श्वेत कमलोंकी सुन्दर माला लटक रही हो ॥ २३ ॥

बालेन्द्रगोपान्तरचित्रितेन
विभाति भूमिर्नवशाद्वलेन।
गात्रानुपृक्तेन शुकप्रभेण
नारीव लाक्षोक्षितकम्बलेन ॥ २४ ॥

'छोटे-छोटे इन्द्रगोप (वीरबहूटी) नामक कीड़ोंसे बीच-बीचमें चित्रित हुई नूतन घाससे आच्छादित भूमि उस नारीके समान शोभा पाती है, जिसने अपने अङ्गोंपर तोतेके समान रंगवाला एक ऐसा कम्बल ओढ़ रखा हो, जिसको बीच-बीचमें महावरके रंगसे रँगकर विचित्र शोभासे सम्पन्न कर दिया गया हो ॥ २४ ॥

निद्रा शनैः केशवमभ्युपैति
द्रुतं नदी सागरमभ्युपैति।
हृष्टा बलाका घनमभ्युपैति
कान्ता सकामा प्रियमभ्युपैति ॥ २५ ॥

'चौमासेके इस आरम्भकालमें निद्रा धीरे-धीरे भगवान् केशवके समीप जा रही है। नदी तीव्र वेगसे समुद्रके निकट पहुँच रही है। हर्षभरी बलाका उड़कर मेघकी ओर जा रही है और प्रियतमा सकामभावसे अपने प्रियतमकी सेवामें उपस्थित हो रही है ॥ २५ ॥

जाता वनान्ताः शिखिसुप्रनृत्ता
जाताः कदम्बाः सकदम्बशाखाः।
जाता वृषा गोषु समानकामा
जाता मही सस्यवनाभिरामा ॥ २६ ॥

'वनप्रान्त मोरोंके सुन्दर नृत्यसे सुशोभित हो गये हैं। कदम्बवृक्ष फूलों और शाखाओंसे सम्पन्न हो गये हैं। साँड़ गौओंके प्रति उन्हींके समान कामभावसे आसक्त हैं और पृथ्वी हरी-हरी खेती तथा हरे-भरे वनोंसे अत्यन्त रमणीय प्रतीत होने लगी है ॥ २६ ॥

वहन्ति वर्षन्ति नदन्ति भान्ति
ध्यायन्ति नृत्यन्ति समाश्वसन्ति।
नद्यो घना मत्तगजा वनान्ताः
प्रियाविहीनाः शिखिनः प्लवंगमाः॥ २७॥

'नदियाँ बह रही हैं, बादल पानी बरसा रहे हैं, मतवाले हाथी चिग्घाड़ रहे हैं, वनप्रान्त शोभा पा रहे हैं, प्रियतमाके संयोगसे वञ्चित हुए वियोगी प्राणी चिन्तामग्न हो रहे हैं, मोर नाच रहे हैं और वानर निश्चिन्त एवं सुखी हो रहे हैं॥ २७॥

प्रहर्षिताः केतकिपुष्पगन्ध-
माघ्राय मत्ता वननिर्झरेषु।
प्रपातशब्दाकुलिता गजेन्द्राः
सार्धं मयूरैः समदा नदन्ति॥ २८॥

'वनके झरनोंके समीप क्रीडासे उल्लसित हुए मदवर्षी गजराज केवड़ेके फूलकी सुगन्धको सूँघकर मतवाले हो उठे हैं और झरनेके जलके गिरनेसे जो शब्द होता है, उससे आकुल हो वे मोरोंके बोलनेके साथ-साथ स्वयं भी गर्जना करते हैं॥ २८॥

धारानिपातैरभिहन्यमानाः
कदम्बशाखासु विलम्बमानाः।
क्षणार्जितं पुष्परसावगाढं
शनैर्मदं षट्चरणास्त्यजन्ति॥ २९॥

'जलकी धारा गिरनेसे आहत होते और कदम्बकी डालियोंपर लटकते हुए भ्रमर तत्काल ग्रहण किये पुष्परससे उत्पन्न गाढ़ मदको धीरे-धीरे त्याग रहे हैं॥ २९॥

अङ्गारचूर्णोत्करसंनिकाशैः
फलैः सुपर्याप्तरसैः समृद्धैः।
जम्बूद्रुमाणां प्रविभान्ति शाखा
निपीयमाना इव षट्पदौघैः॥ ३०॥

'कोयलोंकी चूर्णराशिके समान काले और प्रचुर रससे भरे हुए बड़े-बड़े फलोंसे लदी हुई जामुन-वृक्षकी शाखाएँ ऐसी जान पड़ती हैं, मानो भ्रमरोंके समुदाय उनमें सटकर उनके रस पी रहे हैं॥ ३०॥

तडित्पताकाभिरलंकृताना-
मुदीर्णगम्भीरमहारवाणाम्।
विभान्ति रूपाणि बलाहकानां
रणोत्सुकानामिव वारणानाम्॥ ३१॥

'विद्युत्-रूपी पताकाओंसे अलंकृत एवं जोर-जोरसे गम्भीर गर्जना करनेवाले इन बादलोंके रूप युद्धके लिये उत्सुक हुए गजराजोंके समान प्रतीत होते हैं॥ ३१॥

मार्गानुगः शैलवनानुसारी
सम्प्रस्थितो मेघरवं निशम्य।
युद्धाभिकामः प्रतिनादशङ्की
मत्तो गजेन्द्रः प्रतिसंनिवृत्तः॥ ३२॥

'पर्वतीय वनोंमें विचरण करनेवाला तथा अपने प्रतिद्वन्द्वीके साथ युद्धकी इच्छा रखनेवाला मदमत्त गजराज, जो अपने मार्गका अनुसरण करके आगे बढ़ा जा रहा था, पीछेसे मेघकी गर्जना सुनकर प्रतिपक्षी हाथीके गर्जनकी आशङ्का करके सहसा पीछेको लौट पड़ा॥ ३२॥

क्वचित् प्रगीता इव षट्पदौघैः
क्वचित् प्रनृत्ता इव नीलकण्ठैः।
क्वचित् प्रमत्ता इव वारणेन्द्रै-
र्विभान्त्यनेकाश्रयिणो वनान्ताः॥ ३३॥

'कहीं भ्रमरोंके समूह गीत गा रहे हैं, कहीं मोर नाच रहे हैं और कहीं गजराज मदमत्त होकर विचर रहे हैं। इस प्रकार ये वनप्रान्त अनेक भावोंके आश्रय बनकर शोभा पा रहे हैं॥ ३३॥

कदम्बसर्जार्जुनकन्दलाढ्या
वनान्तभूमिर्मधुवारिपूर्णा।
मयूरमत्ताभिरुतप्रनृत्तै-
रापानभूमिप्रतिमा विभाति॥ ३४॥

'कदम्ब, सर्ज, अर्जुन और स्थल-कमलसे सम्पन्न वनके भीतरकी भूमि मधु-जलसे परिपूर्ण हो मोरोंके मदयुक्त कलरवों और नृत्योंसे उपलक्षित होकर आपानभूमि (मधुशाला) के समान प्रतीत होती है॥ ३४॥

मुक्तासमाभं सलिलं पतद् वै
सुनिर्मलं पत्रपुटेषु लग्नम्।
हृष्टा विवर्णच्छदना विहंगाः
सुरेन्द्रदत्तं तृषिताः पिबन्ति॥ ३५॥

'आकाशसे गिरता हुआ मोतीके समान स्वच्छ एवं निर्मल जल पत्तोंके दोनोंमें संचित हुआ देख प्यासे पक्षी पपीहे हर्षसे भरकर देवराज इन्द्रके दिये हुए उस जलको पीते हैं। वर्षासे भीग जानेके कारण उनकी पाँखें विविध रंगकी दिखायी देती हैं॥ ३५॥

षट्पादतन्त्रीमधुराभिधानं
प्लवंगमोदीरितकण्ठतालम्।
आविष्कृतं मेघमृदङ्गनादै-
र्वनेषु संगीतमिव प्रवृत्तम्॥ ३६॥

'भ्रमररूप वीणाकी मधुर झंकार हो रही है। मेढकोंकी आवाज कण्ठताल-सी जान पड़ती है। मेघोंकी गर्जनाके रूपमें मृदङ्ग बज रहे हैं। इस प्रकार वनोंमें संगीतोत्सवका आरम्भ-सा हो रहा है॥ ३६॥

क्वचित् प्रनृत्तैः क्वचिदुन्नदद्भिः
क्वचिच्च वृक्षाग्रनिषण्णकायैः।
व्यालम्बबर्हाभरणैर्मयूरै-
र्वनेषु संगीतमिव प्रवृत्तम्॥ ३७॥

'विशाल पंखरूपी आभूषणोंसे विभूषित मोर वनोंमें कहीं

'आकाशमें सब ओर बादल छिटके हुए हैं। कहीं तो उन बादलोंसे ढक जानेके कारण आकाश दिखायी नहीं देता है और कहीं उनके फट जानेपर वह स्पष्ट दिखायी देने लगता है। ठीक उसी तरह जैसे जिसकी तरङ्गमालाएँ शान्त हो गयी हों, उस महासागरका रूप कहीं तो पर्वतमालाओंसे छिप जानेके कारण नहीं दिखायी देता है और कहीं पर्वतोंका आवरण न होनेसे दिखायी देता है॥ १७॥

व्यामिश्रितं सर्जकदम्बपुष्पै-
र्नवं जलं पर्वतधातुताम्रम्।
मयूरकेकाभिरनुप्रयातं
शैलापगाः शीघ्रतरं वहन्ति॥ १८॥

'इस समय पहाड़ी नदियाँ वर्षाके नूतन जलको बड़े वेगसे बहा रही हैं। वह जल सर्ज और कदम्बके फूलोंसे मिश्रित है, पर्वतके गेरु आदि धातुओंसे लाल रंगका हो गया है तथा मयूरोंकी केकाध्वनि उस जलके कलकलनादका अनुसरण कर रही है॥ १८॥

रसाकुलं षट्पदसंनिकाशं
प्रभुज्यते जम्बुफलं प्रकामम्।
अनेकवर्णं पवनावधूतं
भूमौ पतत्याम्रफलं विपक्वम्॥ १९॥

'काले-काले भौंरोंके समान प्रतीत होनेवाले जामुनके सरस फल आजकल लोग जी भरकर खाते हैं और हवाके वेगसे हिले हुए आमके पके हुए बहुरंगी फल पृथ्वीपर गिरते रहते हैं॥ १९॥

विद्युत्पताकाः सबलाकमालाः
शैलेन्द्रकूटाकृतिसंनिकाशाः।
गर्जन्ति मेघाः समुदीर्णनादा
मत्ता गजेन्द्रा इव संयुगस्थाः॥ २०॥

'जैसे युद्धस्थलमें खड़े हुए मतवाले गजराज उच्चस्वरसे चिग्घाड़ते हैं, उसी प्रकार गिरिराजके शिखरोंकी-सी आकृतिवाले मेघ जोर-जोरसे गर्जना कर रहे हैं। चमकती हुई बिजलियाँ इन मेघरूपी गजराजोंपर पताकाओंके समान फहरा रही हैं और बगुलोंकी पंक्तियाँ मालाके समान शोभा देती हैं॥ २०॥

वर्षोदकाप्यायितशाद्वलानि
प्रवृत्तनृत्तोत्सवबर्हिणानि।
वनानि निर्वृष्टबलाहकानि
पश्यापराह्णेष्वधिकं विभान्ति॥ २१॥

'देखो, अपराह्णकालमें इन वनोंकी शोभा अधिक बढ़ जाती है। वर्षाके जलसे इनमें हरी-हरी घासें बढ़ गयी हैं। झुंड-के-झुंड मोरोंने अपना नृत्योत्सव आरम्भ कर दिया है और मेघोंने इनमें निरन्तर जल बरसाया है॥ २१॥

समुद्वहन्तः सलिलातिभारं
बलाकिनो वारिधरा नदन्तः।
महत्सु शृङ्गेषु महीधराणां
विश्रम्य विश्रम्य पुनः प्रयान्ति॥ २२॥

'बक-पंक्तियोंसे सुशोभित ये जलधर मेघ जलका अधिक भार ढोते और गर्जते हुए बड़े-बड़े पर्वतशिखरोंपर मानो विश्राम ले-लेकर आगे बढ़ते हैं॥ २२॥

मेघाभिकामा परिसम्पतन्ती
सम्मोदिता भाति बलाकपंक्तिः।
वातावधूता वरपौण्डरीकी
लम्बेव माला रुचिराम्बरस्य॥ २३॥

'गर्भ धारणके लिये मेघोंकी कामना रखकर आकाशमें उड़ती हुई आनन्दमग्न बलाकाओंकी पंक्ति ऐसी जान पड़ती है, मानो आकाशके गलेमें हवासे हिलती हुई श्वेत कमलोंकी सुन्दर माला लटक रही हो॥ २३॥

बालेन्द्रगोपान्तरचित्रितेन
विभाति भूमिर्नवशाद्वलेन।
गात्रानुपृक्तेन शुकप्रभेण
नारीव लाक्षोक्षितकम्बलेन॥ २४॥

'छोटे-छोटे इन्द्रगोप (वीरबहूटी) नामक कीड़ोंसे बीच-बीचमें चित्रित हुई नूतन घाससे आच्छादित भूमि उस नारीके समान शोभा पाती है, जिसने अपने अङ्गोंपर तोतेके समान रंगवाला एक ऐसा कम्बल ओढ़ रखा हो, जिसको बीच-बीचमें महावरके रंगसे रँगकर विचित्र शोभासे सम्पन्न कर दिया गया हो॥ २४॥

निद्रा शनैः केशवमभ्युपैति
द्रुतं नदी सागरमभ्युपैति।
हृष्टा बलाका घनमभ्युपैति
कान्ता सकामा प्रियमभ्युपैति॥ २५॥

'चौमासेके इस आरम्भकालमें निद्रा धीरे-धीरे भगवान् केशवके समीप जा रही है। नदी तीव्र वेगसे समुद्रके निकट पहुँच रही है। हर्षभरी बलाका उड़कर मेघकी ओर जा रही है और प्रियतमा सकामभावसे अपने प्रियतमकी सेवामें उपस्थित हो रही है॥ २५॥

जाता वनान्ताः शिखिसुप्रनृत्ता
जाताः कदम्बाः सकदम्बशाखाः।
जाता वृषा गोषु समानकामा
जाता मही सस्यवनाभिरामा॥ २६॥

'वनप्रान्त मोरोंके सुन्दर नृत्यसे सुशोभित हो गये हैं। कदम्बवृक्ष फूलों और शाखाओंसे सम्पन्न हो गये हैं। साँड़ गौओंके प्रति उन्हींके समान कामभावसे आसक्त हैं और पृथ्वी हरी-हरी खेती तथा हरे-भरे वनोंसे अत्यन्त रमणीय प्रतीत होने लगी है॥ २६॥

वहन्ति वर्षन्ति नदन्ति भान्ति
ध्यायन्ति नृत्यन्ति समाश्वसन्ति।
नद्यो घना मत्तगजा वनान्ताः
प्रियाविहीनाः शिखिनः प्लवंगमाः॥ २७॥

'नदियाँ बह रही हैं, बादल पानी बरसा रहे हैं, मतवाले हाथी चिग्घाड़ रहे हैं, वनप्रान्त शोभा पा रहे हैं, प्रियतमाके संयोगसे वञ्चित हुए वियोगी प्राणी चिन्तामग्न हो रहे हैं, मोर नाच रहे हैं और वानर निश्चिन्त एवं सुखी हो रहे हैं॥ २७॥

प्रहर्षिताः केतकिपुष्पगन्ध-
माघ्राय मत्ता वननिर्झरेषु।
प्रपातशब्दाकुलिता गजेन्द्राः
सार्धं मयूरैः समदा नदन्ति॥ २८॥

'वनके झरनोंके समीप क्रीडासे उल्लसित हुए मदवर्षी गजराज केवड़ेके फूलकी सुगन्धको सूँघकर मतवाले हो उठे हैं और झरनेके जलके गिरनेसे जो शब्द होता है, उससे आकुल हो ये मोरोंके बोलनेके साथ-साथ स्वयं भी गर्जना करते हैं॥ २८॥

धारानिपातैरभिहन्यमानाः
कदम्बशाखासु विलम्बमानाः।
क्षणार्जितं पुष्परसावगाढं
शनैर्मदं षट्चरणास्त्यजन्ति॥ २९॥

'जलकी धारा गिरनेसे आहत होते और कदम्बकी डालियोंपर लटकते हुए भ्रमर तत्काल ग्रहण किये पुष्परससे उत्पन्न गाढ़ मदको धीरे-धीरे त्याग रहे हैं॥ २९॥

अङ्गारचूर्णोत्करसंनिकाशैः
फलैः सुपर्याप्तरसैः समृद्धैः।
जम्बूद्रुमाणां प्रविभान्ति शाखा
निपीयमाना इव षट्पदौघैः॥ ३०॥

'कोयलोंकी चूर्णराशिके समान काले और प्रचुर रससे भरे हुए बड़े-बड़े फलोंसे लदी हुई जामुन-वृक्षकी शाखाएँ ऐसी जान पड़ती हैं, मानो भ्रमरोंके समुदाय उनमें सटकर उनके रस पी रहे हैं॥ ३०॥

तडित्पताकाभिरलंकृताना-
मुदीर्णगम्भीरमहारवाणाम्।
विभान्ति रूपाणि बलाहकानां
रणोत्सुकानामिव वारणानाम्॥ ३१॥

'विद्युत्-रूपी पताकाओंसे अलंकृत एवं जोर-जोरसे गम्भीर गर्जना करनेवाले इन बादलोंके रूप युद्धके लिये उत्सुक हुए गजराजोंके समान प्रतीत होते हैं॥ ३१॥

मार्गानुगः शैलवनानुसारी
सम्प्रस्थितो मेघरवं निशम्य।
युद्धाभिकामः प्रतिनादशङ्की
मत्तो गजेन्द्रः प्रतिसंनिवृत्तः॥ ३२॥

'पर्वतीय वनोंमें विचरण करनेवाला तथा अपने प्रतिद्वन्द्वीके साथ युद्धकी इच्छा रखनेवाला मदमत्त गजराज, जो अपने मार्गका अनुसरण करके आगे बढ़ा जा रहा था, पीछेसे मेघकी गर्जना सुनकर प्रतिपक्षी हाथीके गर्जनेकी आशङ्का करके सहसा पीछेको लौट पड़ा॥ ३२॥

क्वचित् प्रगीता इव षट्पदौघैः
क्वचित् प्रनृत्ता इव नीलकण्ठैः।
क्वचित् प्रमत्ता इव वारणेन्द्रै-
र्विभान्त्यनेकाश्रयिणो वनान्ताः॥ ३३॥

'कहीं भ्रमरोंके समूह गीत गा रहे हैं, कहीं मोर नाच रहे हैं और कहीं गजराज मदमत्त होकर विचर रहे हैं। इस प्रकार ये वनप्रान्त अनेक भावोंके आश्रय बनकर शोभा पा रहे हैं॥ ३३॥

कदम्बसर्जार्जुनकन्दलाढ्या
वनान्तभूमिर्मधुवारिपूर्णा।
मयूरमत्ताभिरुतप्रनृत्तै-
रापानभूमिप्रतिमा विभाति॥ ३४॥

'कदम्ब, सर्ज, अर्जुन और स्थल-कमलसे सम्पन्न वनके भीतरकी भूमि मधु-जलसे परिपूर्ण हो मोरोंके मदयुक्त कलरवों और नृत्योंसे उपलक्षित होकर आपानभूमि (मधुशाला) के समान प्रतीत होती है॥ ३४॥

मुक्तासमाभं सलिलं पतद् वै
सुनिर्मलं पत्रपुटेषु लग्नम्।
हृष्टा विवर्णच्छदना विहंगाः
सुरेन्द्रदत्तं तृषिताः पिबन्ति॥ ३५॥

'आकाशसे गिरता हुआ मोतीके समान स्वच्छ एवं निर्मल जल पत्तोंके दोनोंमें संचित हुआ देख प्यासे पक्षी पपीहे हर्षसे भरकर देवराज इन्द्रके दिये हुए उस जलको पीते हैं। वर्षासे भीग जानेके कारण उनकी पाँखें विविध रंगकी दिखायी देती हैं॥ ३५॥

षट्पादतन्त्रीमधुराभिधानं
प्लवंगमोदीरितकण्ठतालम्।
आविष्कृतं मेघमृदङ्गनादै-
र्वनेषु संगीतमिव प्रवृत्तम्॥ ३६॥

'भ्रमररूप वीणाकी मधुर झंकार हो रही है। मेढकोंकी आवाज कण्ठताल-सी जान पड़ती है। मेघोंकी गर्जनाके रूपमें मृदङ्ग बज रहे हैं। इस प्रकार वनोंमें संगीतोत्सवका आरम्भ-सा हो रहा है॥ ३६॥

क्वचित् प्रनृत्तैः क्वचिदुन्नदद्भिः
क्वचिच्च वृक्षाग्रनिषण्णकायैः।
व्यालम्बबर्हाभरणैर्मयूरै-
र्वनेषु संगीतमिव प्रवृत्तम्॥ ३७॥

'विशाल पंखरूपी आभूषणोंसे विभूषित मोर वनोंमें कहीं

नाच रहे हैं, कहीं जोर-जोरसे मीठी बोली बोल रहे हैं और कहीं वृक्षोंकी शाखाओंपर अपने सारे शरीरका बोझ डालकर बैठे हुए हैं। इस प्रकार उन्होंने संगीत (नाच-गान) का आयोजन-सा कर रखा है ॥ ३७ ॥

स्वनैर्घनानां प्लवगाः प्रबुद्धा
विहाय निद्रां चिरसंनिरुद्धाम्।
अनेकरूपाकृतिवर्णनादा
नवाम्बुधाराभिहता नदन्ति ॥ ३८ ॥

'मेघोंकी गर्जना सुनकर चिरकालसे रोकी हुई निद्राको त्यागकर जागे हुए अनेक प्रकारके रूप, आकार, वर्ण और बोलीवाले मेढक नूतन जलकी धारासे अभिहत होकर जोर-जोरसे बोल रहे हैं ॥ ३८ ॥

नद्यः समुद्वाहितचक्रवाका-
स्तटानि शीर्णान्यपवाहयित्वा।
दृप्ता नवप्रावृतपूर्णभोगा-
द्रुतं स्वभर्तारमुपोपयान्ति ॥ ३९ ॥

(कामातुर युवतियोंकी भाँति) दर्पभरी नदियाँ अपने वक्षपर (उरोजोंके स्थानमें) चक्रवाकोंको वहन करती हैं और मर्यादामें रखनेवाले जीर्ण-शीर्ण कूलकगारोंको तोड़-फोड़ एवं दूर बहाकर नूतन पुष्प आदिके उपहारसे पूर्ण भोगके लिये सादर स्वीकृत अपने स्वामी समुद्रके समीप वेगपूर्वक चली जा रही हैं ॥ ३९ ॥

नीलेषु नीला नववारिपूर्णा
मेघेषु मेघाः प्रतिभान्ति सक्ताः।
दवाग्निदग्धेषु दवाग्निदग्धाः
शैलेषु शैला इव बद्धमूलाः ॥ ४० ॥

'नीले मेघोंमें सटे हुए नूतन जलसे परिपूर्ण नील मेघ ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो दावानलसे जले हुए पर्वतोंमें दावानलसे दग्ध हुए दूसरे पर्वत बद्धमूल होकर सट गये हों ॥ ४० ॥

प्रमत्तसंनादितबर्हिणानि
सशक्रगोपाकुलशाद्वलानि।
चरन्ति नीपार्जुनवासितानि
गजाः सुरम्याणि वनान्तराणि ॥ ४१ ॥

'जहाँ मतवाले मोर कलनाद कर रहे हैं, जहाँकी हरी-हरी घासें वीरबहूटियोंके समुदायसे व्याप्त हो रही हैं तथा जो नीप और अर्जुन-वृक्षोंके फूलोंकी सुगन्धसे सुवासित हैं, उन परम रमणीय वनप्रान्तोंमें बहुत-से हाथी विचरा करते हैं ॥ ४१ ॥

नवाम्बुधाराहतकेसराणि
द्रुतं परित्यज्य सरोरुहाणि।
कदम्बपुष्पाणि सकेसराणि
नवानि हृष्टा भ्रमराः पिबन्ति ॥ ४२ ॥

'भ्रमरोंके समुदाय नूतन जलकी धारासे नष्ट हुए केसरवाले कमल-पुष्पोंको तुरंत त्यागकर केसरशोभित नवीन कदम्ब-पुष्पोंका रस बड़े हर्षके साथ पी रहे हैं ॥ ४२ ॥

मत्ता गजेन्द्रा मुदिता गवेन्द्रा
वनेषु विक्रान्ततरा मृगेन्द्राः।
रम्या नगेन्द्राः निभृता नरेन्द्राः
प्रक्रीडितो वारिधरैः सुरेन्द्रः ॥ ४३ ॥

'गजेन्द्र (हाथी) मतवाले हो रहे हैं। गवेन्द्र (वृषभ) आनन्दमें मग्न हैं, मृगेन्द्र (सिंह) वनोंमें अत्यन्त पराक्रम प्रकट करते हैं, नगेन्द्र (बड़े-बड़े पर्वत) रमणीय दिखायी देते हैं, नरेन्द्र (राजालोग) मौन हैं— युद्धविषयक उत्साह छोड़ बैठे हैं और सुरेन्द्र (इन्द्रदेव) जलधरोंके साथ क्रीडा कर रहे हैं ॥ ४३ ॥

मेघाः समुद्भूतसमुद्रनादा
महाजलौघैर्गगनावलम्बाः।
नदीस्तटाकानि सरांसि वापी-
र्महीं च कृत्स्नामपवाहयन्ति ॥ ४४ ॥

'आकाशमें लटके हुए ये मेघ अपनी गर्जनासे समुद्रके कोलाहलको तिरस्कृत करके अपने जलके महान् प्रवाहसे नदी, तालाब, सरोवर, बावली तथा समूची पृथ्वीको आप्लावित कर रहे हैं ॥ ४४ ॥

वर्षप्रवेगा विपुलाः पतन्ति
प्रवान्ति वाताः समुदीर्णवेगाः।
प्रणष्टकूलाः प्रवहन्ति शीघ्रं
नद्यो जलं विप्रतिपन्नमार्गाः ॥ ४५ ॥

'बड़े वेगसे वर्षा हो रही है, जोरोंकी हवा चल रही है और नदियाँ अपने कगारोंको काटकर अत्यन्त तीव्र गतिसे जल बहा रही हैं। उन्होंने मार्ग रोक दिये हैं ॥ ४५ ॥

नरैर्नरेन्द्रा इव पर्वतेन्द्राः
सुरेन्द्रदत्तैः पवनोपनीतैः।
घनाम्बुकुम्भैरभिषिच्यमाना
रूपं श्रियं स्वामिव दर्शयन्ति ॥ ४६ ॥

'जैसे मनुष्य जलके कलशोंसे नरेशोंका अभिषेक करते हैं, उसी प्रकार इन्द्रके दिये और वायुदेवके द्वारा लाये गये मेघरूपी जल-कलशोंसे जिनका अभिषेक हो रहा है, वे पर्वतराज अपने निर्मल रूप तथा शोभा सम्पत्तिका दर्शन-सा करा रहे हैं ॥ ४६ ॥

घनोपगूढं गगनं न तारा
न भास्करो दर्शनमभ्युपैति।
नवैर्जलौघैर्धरणी वितृप्ता
तमोविलिप्ता न दिशः प्रकाशाः ॥ ४७ ॥

'मेघोंकी घटासे समस्त आकाश आच्छादित हो गया है। न रातमें तारे दिखायी देते हैं, न दिनमें सूर्य। नूतन जलराशि पाकर पृथ्वी पूर्ण तृप्त हो गयी है। दिशाएँ अन्धकारसे आच्छन्न हो रही हैं, अतएव प्रकाशित नहीं होती हैं—उनका स्पष्ट ज्ञान नहीं हो पाता है ॥ ४७ ॥

महान्ति कूटानि महीधराणां
धाराविधौतान्यधिकं विभान्ति।
महाप्रमाणैर्विपुलैः प्रपातै-
र्मुक्ताकलापैरिव लम्बमानैः॥ ४८॥

'जलकी धाराओंसे धुले हुए पर्वतोंके विशाल शिखर मोतियोंके लटकते हुए हारोंकी भाँति एवं बहुसंख्यक झरनोंके कारण अधिक शोभा पाते हैं॥ ४८॥

शैलोपलप्रस्खलमानवेगाः
शैलोत्तमानां विपुलाः प्रपाताः।
गुहासु संनादितबर्हिणासु
हारा विकीर्यन्त इवावभान्ति॥ ४९॥

'पर्वतीय प्रस्तरखण्डोंपर गिरनेसे जिनका वेग टूट गया है, वे श्रेष्ठ पर्वतोंके बहुतेरे झरने मयूरोंकी बोलीसे गूँजती हुई गुफाओंमें टूटकर बिखरते हुए मोतियोंके हारोंके समान प्रतीत होते हैं॥ ४९॥

शीघ्रप्रवेगा विपुलाः प्रपाता
निर्धौतशृङ्गोपतला गिरीणाम्।
मुक्ताकलापप्रतिमाः पतन्तो
महागुहोत्सङ्गतलैर्ध्रियन्ते॥ ५०॥

'जिनके वेग शीघ्रगामी हैं, जिनकी संख्या अधिक है, जिन्होंने पर्वतीय शिखरोंके निम्न प्रदेशोंको धोकर स्वच्छ बना दिया है तथा जो देखनेमें मुक्तामालाओंके समान प्रतीत होते हैं, पर्वतोंके उन झरते हुए झरनोंको बड़ी-बड़ी गुफाएँ अपनी गोदमें धारण कर लेती हैं॥ ५०॥

सुरतामर्दविच्छिन्नाः स्वर्गस्त्रीहारमौक्तिकाः।
पतन्ति चातुला दिक्षु तोयधाराः समन्ततः॥ ५१॥

'सुरत-क्रीडाके समय होनेवाले अङ्गोंके आमर्दनसे टूटे हुए देवाङ्गनाओंके मौक्तिक हारोंके समान प्रतीत होनेवाली जलकी अनुपम धाराएँ सम्पूर्ण दिशाओंमें सब ओर गिर रही हैं॥ ५१॥

विलीयमानैर्विहगैर्निमीलद्भिश्च पङ्कजैः।
विकसन्त्या च मालत्या गतोऽस्तं ज्ञायते रविः॥ ५२॥

'पक्षी अपने घोसलोंमें छिप रहे हैं, कमल संकुचित हो रहे हैं और मालती खिलने लगी है; इससे जान पड़ता है कि सूर्यदेव अस्त हो गये॥ ५२॥

वृत्ता यात्रा नरेन्द्राणां सेना पथ्येव वर्तते।
वैराणि चैव मार्गाश्च सलिलेन समीकृताः॥ ५३॥

'राजाओंकी युद्ध-यात्रा रुक गयी। प्रस्थित हुई सेना भी रास्तेमें ही पड़ाव डाले पड़ी है। वर्षाके जलने राजाओंके वैर शान्त कर दिये हैं और मार्ग भी रोक दिये हैं। इस प्रकार वैर और मार्ग दोनोंकी एक-सी अवस्था कर दी है॥ ५३॥

मासि प्रौष्ठपदे ब्रह्म ब्राह्मणानां विवक्षताम्।
अयमध्यायसमयः सामगानामुपस्थितः॥ ५४॥

'भादोंका महीना आ गया। यह वेदोंके स्वाध्यायकी इच्छा रखनेवाले ब्राह्मणोंके लिये उपाक्रमका समय उपस्थित हुआ है। सामगान करनेवाले विद्वानोंके स्वाध्यायका भी यही समय है॥ ५४॥

विवृत्तकर्मायतनो नूनं संचितसंचयः।
आषाढीमभ्युपगतो भरतः कोसलाधिपः॥ ५५॥

'कोसलदेशके राजा भरतने चार महीनेके लिये आवश्यक वस्तुओंका संग्रह करके गत आषाढ़की पूर्णिमाको निश्चय ही किसी उत्तम व्रतकी दीक्षा ली होगी॥ ५५॥

नूनमापूर्यमाणायाः सरय्वा वर्धते रयः।
मां समीक्ष्य समायान्तमयोध्याया इव स्वनः॥ ५६॥

'मुझे वनकी ओर आते देख जिस प्रकार अयोध्यापुरीके लोगोंका आर्तनाद बढ़ गया था, उसी प्रकार इस समय वर्षाके जलसे परिपूर्ण होती हुई सरयू नदीका वेग अवश्य ही बढ़ रहा होगा॥ ५६॥

इमाः स्फीतगुणा वर्षाः सुग्रीवः सुखमश्नुते।
विजितारिः सदारश्च राज्ये महति च स्थितः॥ ५७॥

'यह वर्षा अनेक गुणोंसे सम्पन्न है। इस समय सुग्रीव अपने शत्रुको परास्त करके विशाल वानर-राज्यपर प्रतिष्ठित हैं और अपनी स्त्रीके साथ रहकर सुख भोग रहे हैं॥ ५७॥

अहं तु हृतदारश्च राज्याच्च महतश्च्युतः।
नदीकूलमिव क्लिन्नमवसीदामि लक्ष्मण॥ ५८॥

'किंतु लक्ष्मण! मैं अपने महान् राज्यसे तो भ्रष्ट हो ही गया हूँ, मेरी स्त्री भी हर ली गयी है; इसलिये पानीसे गले हुए नदीके तटकी भाँति कष्ट पा रहा हूँ॥ ५८॥

शोकश्च मम विस्तीर्णो वर्षाश्च भृशदुर्गमाः।
रावणश्च महाञ्छत्रुरपारः प्रतिभाति मे॥ ५९॥

'मेरा शोक बढ़ गया है। मेरे लिये वर्षाके दिनोंको बिताना अत्यन्त कठिन हो गया है और मेरा महान् शत्रु रावण भी मुझे अजेय-सा प्रतीत होता है॥ ५९॥

अयात्रां चैव दृष्ट्वेमां मार्गांश्च भृशदुर्गमान्।
प्रणते चैव सुग्रीवे न मया किंचिदीरितम्॥ ६०॥

'एक तो यह यात्राका समय नहीं है, दूसरे मार्ग भी अत्यन्त दुर्गम है। इसलिये सुग्रीवके नतमस्तक होनेपर भी मैंने उनसे कुछ कहा नहीं है॥ ६०॥

अपि चापि परिक्लिष्टं चिराद् दारैः समागतम्।
आत्मकार्यगरीयस्त्वाद् वक्तुं नेच्छामि वानरम्॥ ६१॥

'वानर सुग्रीव बहुत दिनोंसे कष्ट भोगते थे और दीर्घकालके पश्चात् अब अपनी पत्नीसे मिले हैं। इधर मेरा कार्य बड़ा भारी है (थोड़े दिनोंमें सिद्ध होनेवाला नहीं है); इसलिये मैं इस समय उससे कुछ कहना नहीं चाहता हूँ।

स्वयमेव हि विश्रम्य ज्ञात्वा कालमुपागतम्।
उपकारं च सुग्रीवो वेत्स्यते नात्र संशयः॥ ६२॥

'कुछ दिनोंतक विश्राम करके उपयुक्त समय आया हुआ

जान वे स्वयं ही मेरे उपकारको समझेंगे; इसमें संशय नहीं है ॥

तस्मात् कालप्रतीक्षोऽहं स्थितोऽस्मि शुभलक्षण ।
सुग्रीवस्य नदीनां च प्रसादमभिकाङ्क्षयन् ॥ ६३ ॥

'अतः शुभलक्षण लक्ष्मण ! मैं सुग्रीवकी प्रसन्नता और नदियोंके जलकी स्वच्छता चाहता हुआ शरत्कालकी प्रतीक्षामें चुपचाप बैठा हुआ हूँ ॥ ६३ ॥

उपकारेण वीरो हि प्रतीकारेण युज्यते ।
अकृतज्ञोऽप्रतिकृतो हन्ति सत्त्ववतां मनः ॥ ६४ ॥

'जो वीर पुरुष किसीके उपकारसे उपकृत होता है, वह प्रत्युपकार करके उसका बदला अवश्य चुकाता है; किंतु यदि कोई उपकारको न मानकर या भुलाकर प्रत्युपकारसे मुँह मोड़ लेता है, वह शक्तिशाली श्रेष्ठ पुरुषोंके मनको ठेस पहुँचाता है' ॥

अथैवमुक्तः प्रणिधाय लक्ष्मणः
कृताञ्जलिस्तत् प्रतिपूज्य भाषितम् ।
उवाच रामं स्वभिरामदर्शनं
प्रदर्शयन् दर्शनमात्मनः शुभम् ॥ ६५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर लक्ष्मणने सोच-विचारकर उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और दोनों हाथ जोड़कर अपनी शुभ दृष्टिका परिचय देते हुए वे नयनाभिराम श्रीरामसे इस प्रकार बोले ॥ ६५ ॥

यदुक्तमेतत् तव सर्वमीप्सितं
नरेन्द्र कर्ता नचिराद्धरीश्वरः ।
शरत्प्रतीक्षः क्षमतामिदं भवाञ्
जलप्रपातं रिपुनिग्रहे धृतः ॥ ६६ ॥

'नरेश्वर ! जैसा कि आपने कहा है, वानरराज सुग्रीव शीघ्र ही आपका यह सारा मनोरथ सिद्ध करेंगे । अतः आप शत्रुके संहार करनेका दृढ़ निश्चय लिये शरत्कालकी प्रतीक्षा कीजिये और इस वर्षाकालके विलम्बको सहन कीजिये' ॥ ६६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डेऽष्टाविंशः सर्गः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें अट्ठाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशः सर्गः

हनुमान्‌जीके समझानेसे सुग्रीवका नीलको वानर-सैनिकोंको एकत्र करनेका आदेश देना

समीक्ष्य विमलं व्योम गतविद्युद्बलाहकम् ।
सारसाकुलसंघुष्टं रम्यज्योत्स्नानुलेपनम् ॥ १ ॥
समृद्धार्थं च सुग्रीवं मन्दधर्मार्थसंग्रहम् ।
अत्यर्थं चासतां मार्गमेकान्तगतमानसम् ॥ २ ॥
निवृत्तकार्यं सिद्धार्थं प्रमदाभिरतं सदा ।
प्राप्तवन्तमभिप्रेतान् सर्वानेव मनोरथान् ॥ ३ ॥
स्वां च पत्नीमभिप्रेतां तारां चापि समीप्सिताम् ।
विहरन्तमहोरात्रं कृतार्थं विगतज्वरम् ॥ ४ ॥
क्रीडन्तमिव देवेशं गन्धर्वाप्सरसां गणैः ।
मन्त्रिषु न्यस्तकार्यं च मन्त्रिणामनवेक्षकम् ॥ ५ ॥
उच्छिन्नराज्यसंदेहं कामवृत्तमिव स्थितम् ।
निश्चितार्थोऽर्थतत्त्वज्ञः कालधर्मविशेषवित् ॥ ६ ॥
प्रसाद्य वाक्यैर्विविधैर्हेतुमद्भिर्मनोरमैः ।
वाक्यविद् वाक्यतत्त्वज्ञं हरीशं मारुतात्मजः ॥ ७ ॥
हितं तथ्यं च पथ्यं च सामधर्मार्थनीतिमत् ।
प्रणयप्रीतिसंयुक्तं विश्वासकृतनिश्चयम् ॥ ८ ॥
हरीश्वरमुपागम्य हनुमान् वाक्यमब्रवीत् ।

पवनकुमार हनुमान् शास्त्रके निश्चित सिद्धान्तको जाननेवाले थे । क्या करना चाहिये और क्या नहीं—इन सभी बातोंका उन्हें यथार्थ ज्ञान था । किस समय किस विशेष धर्मका पालन करना चाहिये—इसको भी वे ठीक-ठीक समझते थे । उन्हें बातचीत करनेकी कलाका भी अच्छा ज्ञान था । उन्होंने देखा, आकाश निर्मल हो गया है । अब उसमें न तो बिजली चमकती है और न बादल ही दिखायी देते हैं । अन्तरिक्षमें सब ओर सारस उड़ रहे हैं और उनकी बोली सुनायी देती है । (चन्द्रोदय होनेपर) आकाश ऐसा जान पड़ता है, मानो उसपर श्वेत चन्दनसदृश रमणीय चाँदनीका लेप चढ़ा दिया गया हो । सुग्रीवका प्रयोजन सिद्ध हो जानेके कारण अब वे धर्म और अर्थके संग्रहमें शिथिलता दिखाने लगे हैं । असाधु पुरुषोंके मार्ग (कामसेवन) का ही अधिक आश्रय ले रहे हैं । एकान्तमें ही (जहाँ स्त्रियोंके सङ्गमें कोई बाधा न पड़े) उनका मन लगता है । उनका काम पूरा हो गया है । उनके अभीष्ट प्रयोजनकी सिद्धि हो चुकी है । अब वे सदा युवती स्त्रियोंके साथ क्रीडा-विलासमें ही लगे रहते हैं । उन्होंने अपने सारे अभिलषित मनोरथोंको प्राप्त कर लिया है । अपनी मनोवाञ्छित पत्नी रुमा तथा अभीष्ट सुन्दरी ताराको भी प्राप्त करके अब वे कृतकृत्य एवं निश्चिन्त होकर दिन-रात भोग-विलासमें लगे रहते हैं । जैसे देवराज इन्द्र गन्धर्वों और अप्सराओंके समुदायके साथ क्रीडामें तत्पर रहते हैं, उसी प्रकार सुग्रीव भी अपने मन्त्रियोंपर राजकार्यका भार रखकर क्रीडा-विहारमें तत्पर हैं । मन्त्रियोंके कार्योंकी देखभाल वे कभी नहीं करते हैं । मन्त्रियोंकी सज्जनताके कारण यद्यपि राज्यको किसी प्रकारकी हानि पहुँचनेका संदेह नहीं है, तथापि स्वयं सुग्रीव ही स्वेच्छाचारी-से हो रहे हैं । यह सब सोचकर हनुमान्‌जी वानरराज सुग्रीवके पास गये और उन्हें युक्तियुक्त विविध एवं मनोरम वचनोंके द्वारा प्रसन्न करके

बातचीतका मर्म समझनेवाले उन सुग्रीवसे हितकर, सत्य, लाभदायक, साम, धर्म और अर्थ-नीतिसे युक्त, शास्त्रविश्वासी पुरुषोंके सुदृढ़ निश्चयसे सम्पन्न तथा प्रेम और प्रसन्नतासे भरे वचन बोले॥ १—८½॥

राज्यं प्राप्तं यशश्चैव कौली श्रीरभिवर्धिता॥ ९॥
मित्राणां संग्रहः शेषस्तद् भवान् कर्तुमर्हति।

'राजन्! आपने राज्य और यश प्राप्त कर लिया तथा कुलपरम्परासे आयी हुई लक्ष्मीको भी बढ़ाया; किंतु अभी मित्रोंको अपनानेका कार्य शेष रह गया है, उसे आपको इस समय पूर्ण करना चाहिये॥ ९½॥

यो हि मित्रेषु कालज्ञः सततं साधु वर्तते॥ १०॥
तस्य राज्यं च कीर्तिश्च प्रतापश्चापि वर्धते।

'जो राजा 'कब प्रत्युपकार करना चाहिये' इस बातको जानकर मित्रोंके प्रति सदा साधुतापूर्ण बर्ताव करता है, उसके राज्य, यश और प्रतापकी वृद्धि होती है॥ १०½॥

यस्य कोशश्च दण्डश्च मित्राण्यात्मा च भूमिप।
समान्येतानि सर्वाणि स राज्यं महदश्नुते॥ ११॥

'पृथ्वीनाथ! जिस राजाका कोश, दण्ड (सेना), मित्र और अपना शरीर—ये सब-के-सब समान रूपसे उसके वशमें रहते हैं, वह विशाल राज्यका पालन एवं उपभोग करता है॥ ११॥

तद् भवान् वृत्तसम्पन्नः स्थितः पथि निरत्यये।
मित्रार्थमभिनीतार्थं यथावत् कर्तुमर्हति॥ १२॥

'आप सदाचारसे सम्पन्न और नित्य सनातन धर्मके मार्गपर स्थित हैं; अतः मित्रके कार्यको सफल बनानेके लिये जो प्रतिज्ञा की है, उसे यथोचितरूपसे पूर्ण कीजिये॥ १२॥

संत्यज्य सर्वकर्माणि मित्रार्थे यो न वर्तते।
सम्भ्रमाद् विकृतोत्साहः सोऽनर्थेनावरुध्यते॥ १३॥

'जो अपने सब कार्योंको छोड़कर मित्रका कार्य सिद्ध करनेके लिये विशेष उत्साहपूर्वक शीघ्रताके साथ नहीं लग जाता है, उसे अनर्थका भागी होना पड़ता है॥ १३॥

यो हि कालव्यतीतेषु मित्रकार्येषु वर्तते।
स कृत्वा महतोऽप्यर्थान्न मित्रार्थेन युज्यते॥ १४॥

'कार्यसाधनका उपयुक्त अवसर बीत जानेके बाद जो मित्रके कार्योंमें लगता है, वह बड़े-से-बड़े कार्योंको सिद्ध करके भी मित्रके प्रयोजनको सिद्ध करनेवाला नहीं माना जाता है॥ १४॥

तदिदं मित्रकार्यं नः कालातीतमरिंदम।
क्रियतां राघवस्यैतद् वैदेह्याः परिमार्गणम्॥ १५॥

'शत्रुदमन! भगवान् श्रीराम हमारे परम सुहृद् हैं। उनके इस कार्यका समय बीता जा रहा है; अतः विदेहकुमारी सीताकी खोज आरम्भ कर देनी चाहिये॥ १५॥

न च कालमतीतं ते निवेदयति कालवित्।
त्वरमाणोऽपि स प्राज्ञस्तव राजन् वशानुगः॥ १६॥

'राजन्! परम बुद्धिमान् श्रीराम समयका ज्ञान रखते हैं और उन्हें अपने कार्यकी सिद्धिके लिये जल्दी लगी हुई है, तो भी वे आपके अधीन बने हुए हैं। संकोचवश आपसे नहीं कहते कि मेरे कार्यका समय बीत रहा है॥ १६॥

कुलस्य हेतुः स्फीतस्य दीर्घबन्धुश्च राघवः।
अप्रमेयप्रभावश्च स्वयं चाप्रतिमो गुणैः॥ १७॥
तस्य त्वं कुरु वै कार्यं पूर्वं तेन कृतं तव।
हरीश्वर कपिश्रेष्ठानाज्ञापयितुमर्हसि॥ १८॥

'वानरराज! भगवान् श्रीराम चिरकालतक मित्रता निभानेवाले हैं। वे आपके समृद्धिशाली कुलके अभ्युदयके हेतु हैं। उनका प्रभाव अतुलनीय है। वे गुणोंमें अपना शानी नहीं रखते हैं। अब आप उनका कार्य सिद्ध कीजिये; क्योंकि उन्होंने आपका काम पहले ही सिद्ध कर दिया है। आप प्रधान-प्रधान वानरोंको इस कार्यके लिये आज्ञा दीजिये॥

नहि तावद् भवेत् कालो व्यतीतश्चोदनादृते।
चोदितस्य हि कार्यस्य भवेत् कालव्यतिक्रमः॥ १९॥

'श्रीरामचन्द्रजीके कहनेके पहले ही यदि हमलोग कार्य प्रारम्भ कर दें तो समय बीता हुआ नहीं माना जायगा; किंतु यदि उन्हें इसके लिये प्रेरणा करनी पड़ी तो यही समझा जायगा कि हमने समय बिता दिया है— उनके कार्यमें बहुत विलम्ब कर दिया है॥ १९॥

अकर्तुरपि कार्यस्य भवान् कर्ता हरीश्वर।
किं पुनः प्रतिकर्तुस्ते राज्येन च वधेन च॥ २०॥

'वानरराज! जिसने आपका कोई उपकार नहीं किया हो, उसका कार्य भी आप सिद्ध करनेवाले हैं। फिर जिन्होंने वालीका वध तथा राज्य प्रदान करके आपका उपकार किया है, उनका कार्य आप शीघ्र सिद्ध करें, इसके लिये तो कहना ही क्या है॥ २०॥

शक्तिमानतिविक्रान्तो वानरर्क्षगणेश्वर।
कर्तुं दाशरथेः प्रीतिमाज्ञायां किं नु सज्जसे॥ २१॥

'वानर और भालू-समुदायके स्वामी सुग्रीव! आप शक्तिमान् और अत्यन्त पराक्रमी हैं; फिर भी दशरथनन्दन श्रीरामका प्रिय कार्य करनेके लिये वानरोंको आज्ञा देनेमें क्यों विलम्ब करते हैं?॥ २१॥

कामं खलु शरैः शक्तः सुरासुरमहोरगान्।
वशे दाशरथिः कर्तुं त्वत्प्रतिज्ञामवेक्षते॥ २२॥

'इसमें संदेह नहीं कि दशरथकुमार भगवान् श्रीराम अपने बाणोंसे समस्त देवताओं, असुरों और बड़े-बड़े नागोंको भी अपने वशमें कर सकते हैं, तथापि आपने जो उनके कार्यको सिद्ध करनेकी प्रतिज्ञा की है, उसीकी वे राह देख रहे हैं॥

प्राणत्यागाविशङ्केन कृतं तेन महत् प्रियम्।
तस्य मार्गाम वैदेहीं पृथिव्यामपि चाम्बरे॥ २३॥

'उन्हें आपके लिये वालीके प्राणतक लेनेमें हिचक नहीं

हुई। वे आपका बहुत बड़ा प्रिय कार्य कर चुके हैं; अतः अब हमलोग उनकी पत्नी विदेहकुमारी सीताका इस भूतलपर और आकाशमें भी पता लगावें॥ २३॥

देवदानवगन्धर्वा असुराः समरुद्गणाः।
न च यक्षा भयं तस्य कुर्युः किमिव राक्षसाः॥ २४॥

'देवता, दानव, गन्धर्व, असुर, मरुद्गण तथा यक्ष भी श्रीरामको भय नहीं पहुँचा सकते; फिर राक्षसोंकी तो बिसात ही क्या है॥ २४॥

तदेवं शक्तियुक्तस्य पूर्वं प्रतिकृतस्तथा।
रामस्यार्हसि पिङ्गेश कर्तुं सर्वात्मना प्रियम्॥ २५॥

'वानरराज! ऐसे शक्तिशाली तथा पहले ही उपकार करनेवाले भगवान् श्रीरामका प्रिय कार्य आपको अपनी सारी शक्ति लगाकर करना चाहिये॥ २५॥

नाधस्तादवनौ नाप्सु गतिर्नोपरि चाम्बरे।
कस्यचित् सज्जतेऽस्माकं कपीश्वर तवाज्ञया॥ २६॥

'कपीश्वर! आपकी आज्ञा हो जाय तो जलमें, थलमें, नीचे (पातालमें) तथा ऊपर आकाशमें—कहीं भी हम लोगोंकी गति रुक नहीं सकती॥ २६॥

तदाज्ञापय कः किं ते कुतो वापि व्यवस्यतु।
हरयो ह्यप्रधृष्यास्ते सन्ति कोट्यग्रतोऽनघ॥ २७॥

'निष्पाप कपिराज! अतः आप आज्ञा दीजिये कि कौन कहाँसे आपकी किस आज्ञाका पालन करनेके लिये उद्योग करे। आपके अधीन करोड़ोंसे भी अधिक ऐसे वानर मौजूद हैं, जिन्हें कोई परास्त नहीं कर सकता'॥ २७॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा काले साधु निरूपितम्।
सुग्रीवः सत्त्वसम्पन्नश्चकार मतिमुत्तमाम्॥ २८॥

सुग्रीव सत्त्वगुणसे सम्पन्न थे। उन्होंने हनुमान्‌जीके द्वारा ठीक समयपर अच्छे ढंगसे कही हुई उपर्युक्त बातें सुनकर भगवान् श्रीरामका कार्य सिद्ध करनेके लिये अत्यन्त उत्तम निश्चय किया॥ २८॥

संदिदेशातिमतिमान् नीलं नित्यकृतोद्यमम्।
दिक्षु सर्वासु सर्वेषां सैन्यानामुपसंग्रहे॥ २[illegible]
यथा सेना समग्रा मे यूथपालाश्च सर्वशः।
समागच्छन्त्यसङ्गेन सेनाग्र्येण तथा कुरु॥ ३[illegible]

वे परम बुद्धिमान् थे। अतः नित्य उद्यमशील नील [illegible] वानरको उन्होंने समस्त दिशाओंसे सम्पूर्ण वानर-सेना[illegible] एकत्र करनेके लिये आज्ञा दी और कहा—'तुम ऐसा [illegible] करो, जिससे मेरी सारी सेना यहाँ इकट्ठी हो जाय और [illegible] यूथपति अपनी सेना एवं सेनापतियोंके साथ अवि[illegible] उपस्थित हो जायँ॥ २९-३०॥

ये त्वन्तपालाः प्लवगाः शीघ्रगा व्यवसायिनः।
समानयन्तु ते शीघ्रं त्वरिताः शासनान्मम।
स्वयं चानन्तरं कार्यं भवानेवानुपश्यतु॥ ३[illegible]

'राज्य-सीमाकी रक्षा करनेवाले जो-जो उद्योगी [illegible] शीघ्रगामी वानर हैं, वे सब मेरी आज्ञासे शीघ्र यहाँ [illegible] जायँ। उसके बाद जो कुछ कर्तव्य हो, उसपर तुम स्व[illegible] ध्यान दो॥ ३१॥

त्रिपञ्चरात्रादूर्ध्वं यः प्राप्नुयादिह वानरः।
तस्य प्राणान्तिको दण्डो नात्र कार्या विचारणा॥ ३[illegible]

'जो वानर पंद्रह दिनोंके बाद यहाँ पहुँचेगा, [illegible] प्राणान्त दण्ड दिया जायगा। इसमें कोई अन्यथा वि[illegible] नहीं करना चाहिये॥ ३२॥

हरींश्च वृद्धानुपयातु साङ्गदो
भवान् ममाज्ञामधिकृत्य निश्चितम्।
इति व्यवस्थां हरिपुंगवेश्वरो
विधाय वेश्म प्रविवेश वीर्यवान्॥ ३[illegible]

'यह मेरी निश्चित आज्ञा है। इसके अनुसार [illegible] व्यवस्थाका अधिकार लेकर अङ्गदके साथ तुम स्वयं [illegible] बूढ़े वानरोंके पास जाओ।' ऐसा प्रबन्ध करके महा[illegible] वानरराज सुग्रीव अपने महलमें चले गये॥ ३३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकोनत्रिंशः सर्गः॥ २९॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें उन्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २९॥

त्रिंशः सर्गः

शरद्-ऋतुका वर्णन तथा श्रीरामका लक्ष्मणको सुग्रीवके पास जानेका आदेश देना

गृहं प्रविष्टे सुग्रीवे विमुक्ते गगने घनैः।
वर्षरात्रे स्थितो रामः कामशोकाभिपीडितः॥ १॥

पूर्वोक्त आदेश देकर सुग्रीव तो अपने महलमें चले गये और उधर श्रीरामचन्द्रजी, जो वर्षाकी रातोंमें प्रस्रवणगिरिपर निवास करते थे, आकाशके मेघोंसे मुक्त एवं निर्मल हो जानेपर सीतासे मिलनेकी उत्कण्ठा लिये उनके विरहजन्य शोकसे अत्यन्त पीडाका अनुभव करने लगे॥ १॥

पाण्डुरं गगनं दृष्ट्वा विमलं चन्द्रमण्डलम्।
शारदीं रजनीं चैवं दृष्ट्वा ज्योत्स्नानुलेपनाम्॥ [illegible]

उन्होंने देखा, आकाश श्वेत वर्णका हो रहा [illegible] चन्द्रमण्डल स्वच्छ दिखायी देता है तथा शरद्-ऋ[illegible] रजनीके अङ्गोंपर चाँदनीका अङ्गराग लगा हुआ [illegible] यह सब देखकर वे सीतासे मिलनेके लिये व्या[illegible] हो उठे॥ २॥

कामवृत्तं च सुग्रीवं नष्टां च जनकात्मजाम्।
दृष्ट्वा कालमतीतं च मुमोह परमातुरः॥ ३॥

उन्होंने सोचा 'सुग्रीव काममें आसक्त हो रहा है, जनककुमारी सीताका अबतक कुछ पता नहीं लगा है और रावणपर चढ़ाई करनेका समय भी बीता जा रहा है।' यह सब देखकर अत्यन्त आतुर हुए श्रीरामका हृदय व्याकुल हो उठा॥ ३॥

स तु संज्ञामुपागम्य मुहूर्तान्मतिमान् नृपः।
मनःस्थामपि वैदेहीं चिन्तयामास राघवः॥ ४॥

दो घड़ीके बाद जब उनका मन कुछ स्वस्थ हुआ, तब वे बुद्धिमान् नरेश श्रीरघुनाथजी अपने मनमें बसी हुई विदेहनन्दिनी सीताका चिन्तन करने लगे॥ ४॥

दृष्ट्वा च विमलं व्योम गतविद्युद्बलाहकम्।
सारसारावसंघुष्टं विललापार्तया गिरा॥ ५॥

उन्होंने देखा, आकाश निर्मल है। न कहीं बिजलीकी गड़गड़ाहट है न मेघोंकी घटा। वहाँ सब ओर सारसोंकी बोली सुनायी देती है। यह सब देखकर वे आर्तवाणीमें विलाप करने लगे॥ ५॥

आसीनः पर्वतस्याग्रे हेमधातुविभूषिते।
शारदं गगनं दृष्ट्वा जगाम मनसा प्रियाम्॥ ६॥

सुनहरे रंगकी धातुओंसे विभूषित पर्वतशिखरपर बैठे हुए श्रीरामचन्द्रजी शरत्कालके स्वच्छ आकाशकी ओर दृष्टिपात करके मन-ही-मन अपनी प्यारी पत्नी सीताका ध्यान करने लगे॥ ६॥

सारसारावसंनादैः सारसारावनादिनी।
याऽऽश्रमे रमते बाला साद्य मे रमते कथम्॥ ७॥

वे बोले—'जिसकी बोली सारसोंकी आवाजके समान मीठी थी तथा जो मेरे आश्रमपर सारसोंद्वारा परस्पर एक-दूसरेको बुलानेके लिये किये गये मधुर शब्दोंसे मन बहलाती थी, वह मेरी भोलीभाली स्त्री सीता आज किस तरह मनोरञ्जन करती होगी?॥ ७॥

पुष्पितांश्चासनान् दृष्ट्वा काञ्चनानिव निर्मलान्।
कथं सा रमते बाला पश्यन्ती मामपश्यती॥ ८॥

'सुवर्णमय वृक्षोंके समान निर्मल और खिले हुए असन नामक वृक्षोंको देखकर बार-बार उन्हें निहारती हुई भोली-भाली सीता जब मुझे अपने पास नहीं देखती होगी, तब कैसे उसका मन लगता होगा?॥ ८॥

या पुरा कलहंसानां कलेन कलभाषिणी।
बुध्यते चारुसर्वाङ्गी साद्य मे रमते कथम्॥ ९॥

'जिसके सभी अङ्ग मनोहर हैं तथा जो स्वभावसे ही मधुर भाषण करनेवाली है, वह सीता पहले कलहंसोंके मधुर शब्दसे जागा करती थी; किंतु आज वह मेरी प्रिया वहाँ कैसे प्रसन्न रहती होगी?॥ ९॥

निःस्वनं चक्रवाकानां निशम्य सहचारिणाम्।
पुण्डरीकविशालाक्षी कथमेषा भविष्यति॥ १०॥

'जिसके विशाल नेत्र प्रफुल्ल कमलदलके समान शोभा पाते हैं, वह मेरी प्रिया जब साथ विचरनेवाले चकवोंकी बोली सुनती होगी, तब उसकी कैसी दशा हो जाती होगी?॥ १०॥

सरांसि सरितो वापीः काननानि वनानि च।
तां विना मृगशावाक्षीं चरन्नाद्य सुखं लभे॥ ११॥

'हाय! मैं नदी, तालाब, बावली, कानन और वन सब जगह घूमता हूँ; परंतु कहीं भी उस मृगशावकनयनी सीताके बिना अब मुझे सुख नहीं मिलता है॥ ११॥

अपि तां मद्वियोगाच्च सौकुमार्याच्च भामिनीम्।
सुदूरं पीडयेत् कामः शरद्गुणनिरन्तरः॥ १२॥

'कहीं ऐसा तो नहीं होगा कि शरद्-ऋतुके गुणोंसे निरन्तर वृद्धिको प्राप्त होनेवाला काम भामिनी सीताको अत्यन्त पीड़ित कर दे; क्योंकि ऐसी सम्भावनाके दो कारण हैं—एक तो उसे मेरे वियोगका कष्ट है, दूसरे वह अत्यन्त सुकुमारी होनेके कारण इस कष्टको सहन नहीं कर पाती होगी'॥ १२॥

एवमादि नरश्रेष्ठो विललाप नृपात्मजः।
विहंग इव सारङ्गः सलिलं त्रिदशेश्वरात्॥ १३॥

इन्द्रसे पानीकी याचना करनेवाले प्यासे पपीहेकी भाँति नरश्रेष्ठ नरेन्द्रकुमार श्रीरामने इस तरहकी बहुत-सी बातें कहकर विलाप किया॥ १३॥

ततश्चञ्चूर्य रम्येषु फलार्थी गिरिसानुषु।
ददर्श पर्युपावृत्तो लक्ष्मीवाँल्लक्ष्मणोऽग्रजम्॥ १४॥

उस समय शोभाशाली लक्ष्मण फल लेनेके लिये गये थे। वे पर्वतके रमणीय शिखरोंपर घूम-फिरकर जब लौटे तब उन्होंने अपने बड़े भाईकी अवस्थापर दृष्टिपात किया॥ १४॥

स चिन्तया दुस्सहया परीतं
विसंज्ञमेकं विजने मनस्वी।
भ्रातुर्विषादात् त्वरितोऽतिदीनः
समीक्ष्य सौमित्रिरुवाच दीनम्॥ १५॥

वे दुस्सह चिन्तामें मग्न होकर अचेत-से हो गये थे और एकान्तमें अकेले ही दुःखी होकर बैठे थे। उस समय मनस्वी सुमित्राकुमार लक्ष्मणने जब उन्हें देखा तब वे तुरंत ही भाईके विषादसे अत्यन्त दुःखी हो गये और उनसे इस प्रकार बोले—॥ १५॥

किमार्य कामस्य वशंगतेन
किमात्मपौरुष्यपराभवेन।
अयं ह्रिया संह्रियते समाधिः
किमत्र योगेन निवर्तते न॥ १६॥

'आर्य! इस प्रकार कामके अधीन होकर अपने पौरुषका तिरस्कार करनेसे—पराक्रमको भूल जानेसे क्या लाभ होगा? इस लज्जाजनक शोकके कारण आपके चित्तकी

एकाग्रता नष्ट हो रही है। क्या इस समय योगका सहारा लेनेसे—मनको एकाग्र करनेसे यह सारी चिन्ता दूर नहीं हो सकती ?॥

क्रियाभियोगं मनसः प्रसादं
समाधियोगानुगतं च कालम्।
सहायसामर्थ्यमदीनसत्त्वः
स्वकर्महेतुं च कुरुष्व तात॥ १७॥

'तात! आप आवश्यक कर्मोंके अनुष्ठानमें पूर्णरूपसे लग जाइये, मनको प्रसन्न कीजिये और हर समय चित्तकी एकाग्रता बनाये रखिये। साथ ही, अन्तःकरणमें दीनताको स्थान न देते हुए अपने पराक्रमकी वृद्धिके लिये सहायता और शक्तिको बढ़ानेका प्रयत्न कीजिये॥ १७॥

न जानकी मानववंशनाथ
त्वया सनाथा सुलभा परेण।
न चाग्निचूडां ज्वलितामुपेत्य
न दह्यते वीर वरार्ह कश्चित्॥ १८॥

'मानववंशके नाथ तथा श्रेष्ठ पुरुषोंके भी पूजनीय वीर रघुनन्दन! जिनके स्वामी आप हैं, वे जनकनन्दिनी सीता किसी भी दूसरे पुरुषके लिये सुलभ नहीं हैं; क्योंकि जलती हुई आगकी लपटके पास जाकर कोई भी दग्ध हुए बिना नहीं रह सकता'॥ १८॥

सलक्षणं लक्ष्मणमप्रधृष्यं
स्वभावजं वाक्यमुवाच रामः।
हितं च पथ्यं च नयप्रसक्तं
ससामधर्मार्थसमाहितं च॥ १९॥
निस्संशयं कार्यमवेक्षितव्यं
क्रियाविशेषोऽप्यनुवर्तितव्यः।
न तु प्रवृद्धस्य दुरासदस्य
कुमार वीर्यस्य फलं च चिन्त्यम्॥ २०॥

लक्ष्मण उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न थे। उन्हें कोई परास्त नहीं कर सकता था। भगवान् श्रीरामने उनसे यह स्वाभाविक बात कही—'कुमार! तुमने जो बात कही है, वह वर्तमान समयमें हितकर, भविष्यमें भी सुख पहुँचानेवाली, राजनीतिके सर्वथा अनुकूल तथा सामके साथ-साथ धर्म और अर्थसे भी संयुक्त है। निश्चय ही सीताके अनुसंधान कार्यपर ध्यान देना चाहिये तथा उसके लिये विशेष कार्य या उपायका भी अनुसरण करना चाहिये; किंतु प्रवल छोड़कर पूर्णरूपसे बढ़े हुए दुर्लभ एवं बलवान् कर्मके फलपर ही दृष्टि रखना उचित नहीं है'॥ १९-२०॥

अथ पद्मपलाशाक्षीं मैथिलीमनुचिन्तयन्।
उवाच लक्ष्मणं रामो मुखेन परिशुष्यता॥ २१॥

तदनन्तर प्रफुल्ल कमलदलके समान नेत्रवाली मिथिलेशकुमारी सीताका बार-बार चिन्तन करते हुए श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणको सम्बोधित करके सूखे हुए (उदास) मुँहसे बोले—॥ २१॥

तर्पयित्वा सहस्राक्षः सलिलेन वसुंधराम्।
निर्वर्तयित्वा सस्यानि कृतकर्मा व्यवस्थितः॥ २२॥

'सुमित्रानन्दन! सहस्रनेत्रधारी इन्द्र इस पृथ्वीको जलसे तृप्त करके यहाँके अनाजोंको पकाकर अब कृत-कृत्य हो गये हैं॥ २२॥

दीर्घगम्भीरनिर्घोषाः शैलद्रुमपुरोगमाः।
विसृज्य सलिलं मेघाः परिशान्ता नृपात्मज॥ २३॥

'राजकुमार! देखो, जो अत्यन्त गम्भीर स्वरसे गर्जना किया करते और पर्वतों, नगरों तथा वृक्षोंके ऊपरसे होकर निकलते थे, वे मेघ अपना सारा जल बरसाकर शान्त हो गये हैं॥ २३॥

नीलोत्पलदलश्यामाः श्यामीकृत्वा दिशो दश।
विमदा इव मातङ्गाः शान्तवेगाः पयोधराः॥ २४॥

'नील कमलदलके समान श्यामवर्णवाले मेघ दसों दिशाओंको श्याम बनाकर मदरहित गजराजोंके समान वेगशून्य हो गये हैं; उनका वेग शान्त हो गया है॥ २४॥

जलगर्भा महावेगाः कुटजार्जुनगन्धिनः।
चरित्वा विरताः सौम्य वृष्टिवाताः समुद्यताः॥ २५॥

'सौम्य! जिनके भीतर जल विद्यमान था तथा जिनमें कुटज और अर्जुनके फूलोंकी सुगन्ध भरी हुई थी, वे अत्यन्त वेगशाली झंझावात उमड़-घुमड़कर सम्पूर्ण दिशाओंमें विचरण करके अब शान्त हो गये हैं॥ २५॥

घनानां वारणानां च मयूराणां च लक्ष्मण।
नादः प्रस्रवणानां च प्रशान्तः सहसानघ॥ २६॥

'निष्पाप लक्ष्मण! बादलों, हाथियों, मोरों और झरनोंके शब्द इस समय सहसा शान्त हो गये हैं॥ २६॥

अभिवृष्टा महामेघैर्निर्मलाश्चित्रसानवः।
अनुलिप्ता इवाभान्ति गिरयश्चन्द्ररश्मिभिः॥ २७॥

'महान् मेघोंद्वारा बरसाये हुए जलसे धुल जानेके कारण ये विचित्र शिखरोंवाले पर्वत अत्यन्त निर्मल हो गये हैं। इन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता है, मानो चन्द्रमाकी किरणोंद्वारा इनके ऊपर सफेदी कर दी गयी है॥ २७॥

शाखासु सप्तच्छदपादपानां
प्रभासु तारार्कनिशाकराणाम्।
लीलासु चैवोत्तमवारणानां
श्रियं विभज्याद्य शरत्प्रवृत्ता॥ २८॥

'आज शरद्-ऋतु सप्तच्छद (छितवन) की डालियोंमें, सूर्य, चन्द्रमा और तारोंकी प्रभामें तथा श्रेष्ठ गजराजोंकी लीलाओंमें अपनी शोभा बाँटकर आयी है॥ २८॥

सम्प्रत्यनेकाश्रयचित्रशोभा
लक्ष्मीः शरत्कालगुणोपपन्ना।
सूर्याग्रहस्तप्रतिबोधितेषु
पद्माकरेष्वभ्यधिकं विभाति॥ २९॥

'इस समय शरत्कालके गुणोंसे सम्पन्न हुई लक्ष्मी यद्यपि अनेक आश्रयोंमें विभक्त होकर विचित्र शोभा धारण करती है, तथापि सूर्यकी प्रथम किरणोंसे विकसित हुए कमल-वनोंमें वे सबसे अधिक सुशोभित होती हैं॥ २९॥

सप्तच्छदानां कुसुमोपगन्धी
षट्पादवृन्दैरनुगीयमानः ।
मत्तद्विपानां पवनानुसारी
दर्पं विनेष्यन्नधिकं विभाति ॥ ३० ॥

'छितवनके फूलोंकी सुगन्ध धारण करनेवाला शरत्काल स्वभावतः वायुका अनुसरण कर रहा है। भ्रमरोंके समूह उसके गुणगान कर रहे हैं। वह मार्गके जलको सोखता और मतवाले हाथियोंके दर्पको बढ़ाता हुआ अधिक शोभा पा रहा है॥ ३०॥

अभ्यागतैश्चारुविशालपक्षैः
स्मरप्रियैः पद्मरजोऽवकीर्णैः ।
महानदीनां पुलिनोपयातैः
क्रीडन्ति हंसाः सह चक्रवाकैः ॥ ३१ ॥

जिनके पंख सुन्दर और विशाल हैं, जिन्हें कामक्रीडा अधिक प्रिय है, जिनके ऊपर कमलोंके पराग बिखरे हुए हैं, जो बड़ी-बड़ी नदियोंके तटोंपर उतरे हैं और मानसरोवरसे साथ ही आये हैं, उन चक्रवाकोंके साथ हंस क्रीडा कर रहे हैं॥ ३१॥

मदप्रगल्भेषु च वारणेषु
गवां समूहेषु च दर्पितेषु ।
प्रसन्नतोयासु च निम्नगासु
विभाति लक्ष्मीर्बहुधा विभक्ता ॥ ३२ ॥

'मदमत्त गजराजोंमें, दर्प-भरे वृषभोंके समूहोंमें तथा स्वच्छ जलवाली सरिताओंमें नाना रूपोंमें विभक्त हुई लक्ष्मी विशेष शोभा पा रही है॥ ३२॥

नभः समीक्ष्याम्बुधरैर्विमुक्तं
विमुक्तबर्हाभरणा वनेषु ।
प्रियास्वरक्ता विनिवृत्तशोभा
गतोत्सवा ध्यानपरा मयूराः ॥ ३३ ॥

'आकाशको बादलोंसे शून्य हुआ देख वनोंमें पंखरूपी आभूषणोंका परित्याग करनेवाले मोर अपनी प्रियतमाओंसे विरक्त हो गये हैं। उनकी शोभा नष्ट हो गयी है और वे आनन्दशून्य हो ध्यानमग्न होकर बैठे हैं॥ ३३॥

मनोज्ञगन्धैः प्रियकैरनल्पैः
पुष्पातिभारावनताग्रशाखैः ।
सुवर्णगौरैर्नयनाभिरामै-
रुद्योतितानीव वनान्तराणि ॥ ३४ ॥

'वनके भीतर बहुत-से असन नामक वृक्ष खड़े हैं, जिनकी डालियोंके अग्रभाग फूलोंके अधिक भारसे झुक गये हैं। उनपर मनोहर सुगन्ध छा रही है। वे सभी वृक्ष सुवर्णके समान गौर तथा नेत्रोंको आनन्द प्रदान करनेवाले हैं। उनके द्वारा वनप्रान्त प्रकाशित-से हो रहे हैं॥ ३४॥

प्रियान्वितानां नलिनीप्रियाणां
वने प्रियाणां कुसुमोद्गतानाम् ।
मदोत्कटानां मदलालसानां
गजोत्तमानां गतयोऽद्य मन्दाः ॥ ३५ ॥

'जो अपनी प्रियतमाओंके साथ विचरते हैं, जिन्हें कमलके पुष्प तथा वन अधिक प्रिय हैं, जो छितवनके फूलोंको सूँघकर उन्मत्त हो उठे हैं, जिनमें अधिक मद है तथा जिन्हें मदजनित कामभोगकी लालसा बनी हुई है, उन गजराजोंकी गति आज मन्द हो गयी है॥ ३५॥

व्यक्तं नभः शस्त्रविधौतवर्णं
कृशप्रवाहानि नदीजलानि ।
कह्लारशीताः पवनाः प्रवान्ति
तमो विमुक्ताश्च दिशः प्रकाशाः ॥ ३६ ॥

'इस समय आकाशका रंग शानपर चढ़े हुए शस्त्रकी धारके समान स्वच्छ दिखायी देता है, नदियोंके जल मन्द-गतिसे प्रवाहित हो रहे हैं, श्वेत कमलकी सुगन्ध लेकर शीतल मन्द वायु चल रही है, दिशाओंका अन्धकार दूर हो हो गया है और अब उनमें पूर्ण प्रकाश छा रहा है॥ ३६॥

सूर्यातपक्रामणनष्टपङ्का
भूमिश्चिरोद्घाटितसान्द्ररेणुः ।
अन्योन्यवैरेण समायुताना-
मुद्योगकालोऽद्य नराधिपानाम् ॥ ३७ ॥

'घाम लगनेसे धरतीका कीचड़ सूख गया है। अब उसपर बहुत दिनोंके बाद घनी धूल प्रकट हुई है। परस्पर वैर रखनेवाले राजाओंके लिये युद्धके निमित्त उद्योग करनेका समय अब आ गया है॥ ३७॥

शरद्गुणाप्यायितरूपशोभाः
प्रहर्षिताः पांसुसमुत्थिताङ्गाः ।
मदोत्कटाः सम्प्रति युद्धलुब्धा
वृषा गवां मध्यगता नदन्ति ॥ ३८ ॥

'शरद्-ऋतुके गुणोंने जिनके रूप और शोभाको बढ़ा दिया है, जिनके सारे अङ्गोंपर धूल छा रही है, जिनके मद-की अधिक वृद्धि हुई है तथा जो युद्धके लिये लुभाये हुए हैं, वे साँड़ इस समय गौओंके बीचमें खड़े होकर अत्यन्त हर्षपूर्वक हँकड़ रहे हैं॥ ३८॥

समन्मथा तीव्रतरानुरागा
कुलान्विता मन्दगतिः करेणुः ।
मदान्वितं सम्परिवार्य यान्तं
वनेषु भर्तारमनुप्रयाति ॥ ३९ ॥

'जिसमें कामभावका उदय हुआ है, इसीलिये जो अत्यन्त

तीव्र अनुरागसे युक्त है और अच्छे कुलमें उत्पन्न हुई है, वह मन्दगतिसे चलनेवाली हथिनी वनोंमें जाते हुए अपने मदमत्त स्वामीको घेरकर उसका अनुगमन करती है॥ ३९॥

त्यक्त्वा वराण्यात्मविभूषितानि
बर्हाणि तीरोपगता नदीनाम्।
निर्भर्त्स्यमाना इव सारसौघैः
प्रयान्ति दीना विमना मयूराः॥ ४०॥

'अपने आभूषणरूप श्रेष्ठ पंखोंको त्यागकर नदियोंके तटोंपर आये हुए मोर मानो सारस-समूहोंकी फटकार सुनकर दुःखी और खिन्नचित्त हो पीछे लौट जाते हैं॥ ४०॥

वित्रास्य कारण्डवचक्रवाकान्
महारवैर्भिन्नकटा गजेन्द्राः।
सरस्सुबद्धाम्बुजभूषणेषु
विक्षोभ्य विक्षोभ्य जलं पिबन्ति॥ ४१॥

'जिनके गण्डस्थलसे मदकी धारा बह रही है, वे गजराज अपनी महती गर्जनासे कारण्डवों तथा चक्रवाकोंको भयभीत करके विकसित कमलोंसे विभूषित सरोवरोंमें जलको हिलोर-हिलोरकर पी रहे हैं॥ ४१॥

व्यपेतपङ्कासु सवालुकासु
प्रसन्नतोयासु सगोकुलासु।
ससारसाराविनादितासु
नदीषु हंसा निपतन्ति हृष्टाः॥ ४२॥

'जिनके कीचड़ दूर हो गये हैं। जो बालुकाओंसे सुशोभित हैं, जिनका जल बहुत ही स्वच्छ है तथा गौओंके समुदाय जिनके जलका सेवन करते हैं, सारसोंके कलरवोंसे गूँजती हुई उन सरिताओंमें हंस बड़े हर्षके साथ उतर रहे हैं॥ ४२॥

नदीघनप्रस्रवणोदकाना-
मतिप्रवृद्धानिलबर्हिणानाम्।
प्लवंगमानां च गतोत्सवानां
ध्रुवं रवाः सम्प्रति सम्प्रणष्टाः॥ ४३॥

'नदी, मेघ, झरनोंके जल, प्रचण्ड वायु, मोर और हर्ष-रहित मेढकोंके शब्द निश्चय ही इस समय शान्त हो गये हैं॥

अनेकवर्णाः सुविनष्टकाया
नवोदितेष्वम्बुधरेषु नष्टाः।
क्षुधार्दिता घोरविषा बिलेभ्य-
श्चिरोषिता विप्रसरन्ति सर्पाः॥ ४४॥

'नूतन मेघोंके उदित होनेपर जो चिरकालसे बिलोंमें छिपे बैठे थे, जिनकी शरीरयात्रा नष्टप्राय हो गयी थी और इस प्रकार जो मृतवत् हो रहे थे, वे भयंकर विषवाले बहुरंगे सर्प भूखसे पीड़ित होकर अब बिलोंसे बाहर निकल रहे हैं॥

चञ्चच्चन्द्रकरस्पर्शहर्षोन्मीलिततारका।
अहो रागवती संध्या जहाति स्वयमम्बरम्॥ ४५॥

'शोभाशाली चन्द्रमाकी किरणोंके स्पर्शसे होनेवाले हर्षके कारण जिसके तारे किंचित् प्रकाशित हो रहे हैं (अथवा प्रियतमके करस्पर्शजनित हर्षसे जिसके नेत्रोंकी पुतली किंचित् खिल उठी है) वह रागयुक्त संध्या (अथवा अनुरागभरी नायिका) स्वयं ही अम्बर (आकाश अथवा वस्त्र) का त्याग कर रही है, यह कैसे आश्चर्यकी बात है!* ॥ ४५॥

रात्रिः शशाङ्कोदितसौम्यवक्त्रा
तारागणोन्मीलितचारुनेत्रा।
ज्योत्स्नांशुकप्रावरणा विभाति
नारीव शुक्लांशुकसंवृताङ्गी॥ ४६॥

'चाँदनीकी चादर ओढ़े हुए शरत्कालकी यह रात्रि श्वेत साड़ीसे ढके हुए अङ्गवाली एक सुन्दरी नारीके समान शोभा पाती है। उदित हुआ चन्द्रमा ही उसका सौम्य मुख है और तारे ही उसकी खुली हुई मनोहर आँखें हैं॥ ४६॥

विपक्वशालिप्रसवानि भुक्त्वा
प्रहर्षिता सारसचारुपङ्क्तिः।
नभः समाक्रामति शीघ्रवेगा
वातावधूता ग्रथितेव माला॥ ४७॥

'पके हुए धानकी बालोंको खाकर हर्षसे भरी हुई और तीव्र वेगसे चलनेवाली सारसोंकी वह सुन्दर पंक्ति वायुकम्पित गुँथी हुई पुष्पमालाकी भाँति आकाशमें उड़ रही है॥ ४७॥

सुप्तैकहंसं कुमुदैरुपेतं
महाह्रदस्थं सलिलं विभाति।
घनैर्विमुक्तं निशि पूर्णचन्द्रं
तारागणाकीर्णमिवान्तरिक्षम्॥ ४८॥

'कुमुदके फूलोंसे भरा हुआ उस महान् तालाबका जल जिसमें एक हंस सोया हुआ है, ऐसा जान पड़ता है मानो रातके समय बादलोंके आवरणसे रहित आकाश सब ओर छिटके हुए तारोंसे व्याप्त होकर पूर्ण चन्द्रमाके साथ शोभा पा रहा हो॥ ४८॥

प्रकीर्णहंसाकुलमेखलानां
प्रबुद्धपद्मोत्पलमालिनीनाम्।
वाप्युत्तमानामधिकाद्य लक्ष्मी-
र्वराङ्गनानामिव भूषितानाम्॥ ४९॥

'सब ओर बिखरे हुए हंस ही जिनकी फैली हुई मेखला (करधनी) हैं, जो खिले हुए कमलों और उत्पलोंकी मालाएँ धारण करती हैं। उन उत्तम बावड़ियोंकी शोभा आज वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हुई सुन्दरी वनिताओंके समान हो रही है॥ ४९॥

* यहाँ संध्यामें कामुकी नायिकाके व्यवहारका आरोप होनेसे समासोक्ति अलंकार समझना चाहिये।

वेणुस्वरव्यञ्जिततूर्यमिश्रः
प्रत्यूषकालेऽनिलसम्प्रवृत्तः ।
सम्मूर्छितो गर्गरगोवृषाणा-
मन्योन्यमापूरयतीव शब्दः ॥ ५० ॥

'वेणुके स्वरके रूपमें व्यक्त हुए वाद्यघोषसे मिश्रित और प्रातःकालकी वायुसे वृद्धिको प्राप्त होकर सब ओर फैला हुआ दही मथनेके बड़े-बड़े भाण्डों और साँड़ोंका शब्द, मानो एक-दूसरेका पूरक हो रहा है ॥ ५० ॥

नवैर्नदीनां कुसुमप्रहासै-
र्व्याधूयमानैर्मृदुमारुतेन ।
धौतामलक्षौमपटप्रकाशैः
कूलानि काशैरुपशोभितानि ॥ ५१ ॥

'नदियोंके तट मन्द-मन्द वायुसे कम्पित, पुष्परूपी हाससे सुशोभित और धुले हुए निर्मल रेशमी वस्त्रोंके समान प्रकाशित होनेवाले नूतन कासोंसे बड़ी शोभा पा रहे हैं ॥ ५१ ॥

वनप्रचण्डा मधुपानशौण्डाः
प्रियान्विताः षट्चरणाः प्रहृष्टाः ।
वनेषु मत्ताः पवनानुयात्रां
कुर्वन्ति पद्मासनरेणुगौराः ॥ ५२ ॥

'वनमें ढिठाईके साथ घूमनेवाले तथा कमल और असनके परागोंसे गौरवर्णको प्राप्त हुए मतवाले भ्रमर, जो पुष्पोंके मकरन्दका पान करनेमें बड़े चतुर हैं, अपनी प्रियाओंके साथ हर्षमें भरकर वनोंमें (गन्धके लोभसे) वायुके पीछे-पीछे जा रहे हैं ॥ ५२ ॥

जलं प्रसन्नं कुसुमप्रहासं
क्रौञ्चस्वनं शालिवनं विपक्वम् ।
मृदुश्च वायुर्विमलश्च चन्द्रः
शंसन्ति वर्षव्यपनीतकालम् ॥ ५३ ॥

'जल स्वच्छ हो गया है, धानकी खेती पक गयी है, वायु मन्दगतिसे चलने लगी है और चन्द्रमा अत्यन्त निर्मल दिखायी देता है—ये सब लक्षण उस शरत्कालके आगमन की सूचना देते हैं। जिसमें वर्षाकी समाप्ति हो जाती है, क्रौञ्च पक्षी बोलने लगते हैं और फूल उस ऋतुके हासकी भाँति खिल उठते हैं ॥ ५३ ॥

मीनोपसंदर्शितमेखलानां
नदीवधूनां गतयोऽद्यमन्दाः ।
कान्तोपभुक्तालसगामिनीनां
प्रभातकालेष्विव कामिनीनाम् ॥ ५४ ॥

'रातको प्रियतमके उपभोगमें आकर प्रातःकाल अलसायी गतिसे चलनेवाली कामिनियोंकी भाँति उन नदीस्वरूपा वधुओंकी गति भी आज मन्द हो गयी है, जो मछलियोंकी मेखला-सी धारण किये हुए हैं ॥ ५४ ॥

सचक्रवाकानि सशैवलानि
काशैर्दुकूलैरिव संवृतानि ।
सपत्ररेखाणि सरोचनानि
वधूमुखानीव नदीमुखानि ॥ ५५ ॥

'नदियोंके मुख नव वधुओंके मुँहके समान शोभा पाते हैं। उनमें जो चक्रवाक हैं, वे गोरोचनद्वारा निर्मित तिलकके समान प्रतीत होते हैं, जो सेवार हैं, वे वधूके मुखपर बनी हुई पत्रभङ्गीके समान जान पड़ते हैं तथा जो काश हैं, वे ही मानो श्वेत दुकूल बनकर नदीरूपिणी वधूके मुँहको ढके हुए हैं ॥

प्रफुल्लबाणासनचित्रितेषु
प्रहृष्टषट्पादनिकूजितेषु ।
गृहीतचापोद्यतदण्डचण्डः
प्रचण्डचापोऽद्य वनेषु कामः ॥ ५६ ॥

'फूले हुए सरकण्डों और असनके वृक्षोंसे जिनकी विचित्र शोभा हो रही है तथा जिनमें हर्षभरे भ्रमरोंकी आवाज गूँजती रहती है, उन वनोंमें आज प्रचण्ड धनुर्धर कामदेव प्रकट हुआ है, जो धनुष हाथमें लेकर विरही जनोंको दण्ड देनेके लिये उद्यत हो अत्यन्त कोपका परिचय दे रहा है ॥ ५६ ॥

लोकं सुवृष्ट्या परितोषयित्वा
नदीस्तटाकानि च पूरयित्वा ।
निष्पन्नसस्यां वसुधां च कृत्वा
त्यक्त्वा नभस्तोयधराः प्रणष्टाः ॥ ५७ ॥

'अच्छी वर्षासे लोगोंको संतुष्ट करके नदियों और तालाबोंको पानीसे भरकर तथा भूतलको परिपक्व धानकी खेतीसे सम्पन्न करके बादल आकाश छोड़कर अदृश्य हो गये ॥ ५७ ॥

दर्शयन्ति शरन्नद्यः पुलिनानि शनैः शनैः ।
नवसंगमसव्रीडा जघनानीव योषितः ॥ ५८ ॥

'शरद्-ऋतुकी नदियाँ धीरे-धीरे जलके हटनेसे अपने नग्न तटोंको दिखा रही हैं। ठीक उसी तरह जैसे प्रथम समागमके समय लजीली युवतियाँ शनैः-शनैः अपने जघन-स्थलको दिखानेके लिये विवश होती हैं ॥ ५८ ॥

प्रसन्नसलिलाः सौम्य कुरराभिविनादिताः ।
चक्रवाकगणाकीर्णा विभान्ति सलिलाशयाः ॥ ५९ ॥

'सौम्य! सभी जलाशयोंके जल स्वच्छ हो गये हैं। वहाँ कुरर पक्षियोंके कलनाद गूँज रहे हैं और चक्रवाकोंके समुदाय चारों ओर बिखरे हुए हैं। इस प्रकार उन जलाशयोंकी बड़ी शोभा हो रही है ॥ ५९ ॥

अन्योन्यबद्धवैराणां जिगीषूणां नृपात्मज ।
उद्योगसमयः सौम्य पार्थिवानामुपस्थितः ॥ ६० ॥

'सौम्य! राजकुमार! जिनमें परस्पर वैर बँधा हुआ है और जो एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छा रखते हैं, उन भूमि-पालोंके लिये यह युद्धके निमित्त उद्योग करनेका समय उपस्थित हुआ है ॥ ६० ॥

इयं सा प्रथमा यात्रा पार्थिवानां नृपात्मज।
न च पश्यामि सुग्रीवमुद्योगं च तथाविधम्॥ ६१॥

'नरेशनन्दन! राजाओंकी विजय-यात्राका यह प्रथम अवसर है, किंतु न तो मैं सुग्रीवको यहाँ उपस्थित देखता हूँ और न उनका कोई वैसा उद्योग ही दृष्टिगोचर होता है॥

असनाः सप्तपर्णाश्च कोविदाराश्च पुष्पिताः।
दृश्यन्ते बन्धुजीवाश्च श्यामाश्च गिरिसानुषु॥ ६२॥

'पर्वतके शिखरोंपर असन, छितवन, कोविदार, बन्धु-जीव तथा श्याम तमाल खिले दिखायी देते हैं॥ ६२॥

हंससारसचक्राह्वैः कुररैश्च समन्ततः।
पुलिनान्यवकीर्णानि नदीनां पश्य लक्ष्मण॥ ६३॥

'लक्ष्मण! देखो तो सही, नदियोंके तटोंपर सब ओर हंस, सारस, चक्रवाक और कुरर नामक पक्षी फैले हुए हैं॥

चत्वारो वार्षिका मासा गता वर्षशतोपमाः।
मम शोकाभितप्तस्य तथा सीतामपश्यतः॥ ६४॥

'मैं सीताको न देखनेके कारण शोकसे संतप्त हो रहा हूँ; अतः ये वर्षाके चार महीने मेरे लिये सौ वर्षोंके समान बीते हैं॥ ६४॥

चक्रवाकीव भर्तारं पृष्ठतोऽनुगता वनम्।
विषमं दण्डकारण्यमुद्यानमिव चाङ्गना॥ ६५॥

'जैसे चकवी अपने स्वामीका अनुसरण करती है, उसी प्रकार कल्याणी सीता इस भयंकर एवं दुर्गम दण्डकारण्यको उद्यान-सा समझकर मेरे पीछे यहाँतक चली आयी थी॥

प्रियाविहीने दुःखार्ते हृतराज्ये विवासिते।
कृपां न कुरुते राजा सुग्रीवो मयि लक्ष्मण॥ ६६॥

'लक्ष्मण! मैं अपनी प्रियतमासे बिछुड़ा हुआ हूँ। मेरा राज्य छीन लिया गया है और मैं देशसे निकाल दिया गया हूँ। इस अवस्थामें भी राजा सुग्रीव मुझपर कृपा नहीं कर रहा है॥ ६६॥

अनाथो हृतराज्योऽहं रावणेन च धर्षितः।
दीनो दूरगृहः कामी मां चैव शरणं गतः॥ ६७॥
इत्येतैः कारणैः सौम्य सुग्रीवस्य दुरात्मनः।
अहं वानरराजस्य परिभूतः परंतप॥ ६८॥

'सौम्यलक्ष्मण! मैं अनाथ हूँ। राज्यसे भ्रष्ट हो गया हूँ। रावणने मेरा तिरस्कार किया है। मैं दीन हूँ। मेरा घर यहाँसे बहुत दूर है। मैं कामना लेकर यहाँ आया हूँ तथा सुग्रीव यह भी समझता है कि राम मेरी शरणमें आये हैं। इन्हीं सब कारणोंसे वानरोंका राजा दुरात्मा सुग्रीव मेरा तिरस्कार कर रहा है; किंतु उसे पता नहीं है कि मैं सदा शत्रुओंको संताप देनेमें समर्थ हूँ॥ ६७-६८॥

स कालं परिसंख्याय सीतायाः परिमार्गणे।
कृतार्थः समयं कृत्वा दुर्मतिर्नावबुध्यते॥ ६९॥

'उसने सीताकी खोजके लिये समय निश्चित कर दिया था; किंतु उसका तो अब काम निकल गया है, इसीलिये वह दुर्बुद्धि वानर प्रतिज्ञा करके भी उसका कुछ ख्याल नहीं कर रहा है॥ ६९॥

स किष्किन्धां प्रविश्य त्वं ब्रूहि वानरपुङ्गवम्।
मूर्खं ग्राम्यसुखे सक्तं सुग्रीवं वचनान्मम॥ ७०॥

'अतः लक्ष्मण! तुम मेरी आज्ञासे किष्किन्धापुरीमें जाओ और विषयभोगमें फँसे हुए मूर्ख वानरराज सुग्रीवसे इस प्रकार कहो— ॥ ७०॥

अर्थिनामुपपन्नानां पूर्वं चाप्युपकारिणाम्।
आशां संश्रुत्य यो हन्ति स लोके पुरुषाधमः॥ ७१॥

'जो बल-पराक्रमसे सम्पन्न तथा पहले ही उपकार करनेवाले कार्यार्थी पुरुषोंको प्रतिज्ञापूर्वक आशा देकर पीछे उसे तोड़ देता है, वह संसारके सभी पुरुषोंमें नीच है॥ ७१॥

शुभं वा यदि वा पापं यो हि वाक्यमुदीरितम्।
सत्येन परिगृह्णाति स वीरः पुरुषोत्तमः॥ ७२॥

'जो अपने मुखसे प्रतिज्ञाके रूपमें निकले हुए भले या बुरे सभी तरहके वचनोंको अवश्य पालनीय समझकर सत्यकी रक्षाके उद्देश्यसे उनका पालन करता है, वह वीर समस्त पुरुषोंमें श्रेष्ठ माना जाता है॥ ७२॥

कृतार्था ह्यकृतार्थानां मित्राणां न भवन्ति ये।
तान् मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान् नोपभुञ्जते॥ ७३॥

'जो अपना स्वार्थ सिद्ध हो जानेपर, जिनके कार्य नहीं पूरे हुए हैं। उन मित्रोंके सहायक नहीं होते—उनके कार्यको सिद्ध करनेकी चेष्टा नहीं करते, उन कृतघ्न पुरुषोंके मरनेपर मांसाहारी जन्तु भी उनका मांस नहीं खाते हैं॥ ७३॥

नूनं काञ्चनपृष्ठस्य विकृष्टस्य मया रणे।
द्रष्टुमिच्छसि चापस्य रूपं विद्युद्गणोपमम्॥ ७४॥

'सुग्रीव! निश्चय ही तुम युद्धमें मेरेद्वारा खींचे गये सोनेकी पीठवाले धनुषका कौंधती हुई बिजलीके सामन रूप देखना चाहते हो॥ ७४॥

घोरं ज्यातलनिर्घोषं क्रुद्धस्य मम संयुगे।
निर्घोषमिव वज्रस्य पुनः संश्रोतुमिच्छसि॥ ७५॥

'संग्राममें कुपित होकर मेरे द्वारा खींची गयी प्रत्यञ्चाकी भयंकर टङ्कारको, जो वज्रकी गड़गड़ाहटको भी मात करनेवाली है, अब फिर तुम्हें सुननेकी इच्छा हो रही है॥ ७५॥

काममेवंगतेऽप्यस्य परिज्ञाते पराक्रमे।
त्वत्सहायस्य मे वीर न चिन्ता स्यान्नृपात्मज॥ ७६॥

'वीर राजकुमार! सुग्रीवको तुम-जैसे सहायकके साथ रहनेवाले मेरे पराक्रमका ज्ञान हो चुका है, ऐसी दशामें भी यदि उसे यह चिन्ता न हो कि ये वालीकी भाँति मुझे मार सकते हैं तो यह आश्चर्यकी ही बात है!॥ ७६॥

यदर्थमयमारम्भः कृतः परपुरंजय।
समयं नाभिजानाति कृतार्थः प्लवगेश्वरः॥ ७७॥

'शत्रु-नगरीपर विजय पानेवाले लक्ष्मण ! जिसके लिये यह मित्रता आदिका सारा आयोजन किया गया, सीताकी खोजविषयक उस प्रतिज्ञाको इस समय वानरराज सुग्रीव भूल गया है—उसे याद नहीं कर रहा है; क्योंकि उसका अपना काम सिद्ध हो चुका ॥ ७७ ॥

वर्षाः समयकालं तु प्रतिज्ञाय हरीश्वरः ।
व्यतीतांश्चतुरो मासान् विहरन् नावबुध्यते ॥ ७८ ॥

'सुग्रीवने यह प्रतिज्ञा की थी कि वर्षाका अन्त होते ही सीताकी खोज आरम्भ कर दी जायगी, किंतु वह क्रीड़ा-विहारमें इतना तन्मय हो गया है कि इन बीते हुए चार महीनोंका उसे कुछ पता ही नहीं है ॥ ७८ ॥

सामात्यपरिषत्क्रीडन् पानमेवोपसेवते ।
शोकदीनेषु नास्मासु सुग्रीवः कुरुते दयाम् ॥ ७९ ॥

'सुग्रीव मन्त्रियों तथा परिजनोंसहित क्रीडाजनित आमोद-प्रमोदमें फँसकर विविध पेय पदार्थोंका ही सेवन कर रहा है। हमलोग शोकसे व्याकुल हो रहे हैं। तो भी वह हमपर दया नहीं करता है ॥ ७९ ॥

उच्यतां गच्छ सुग्रीवस्त्वया वीर महाबल ।
मम रोषस्य यद्रूपं ब्रूयाश्चैनमिदं वचः ॥ ८० ॥

'महाबली वीर लक्ष्मण ! तुम जाओ। सुग्रीवसे बात करो। मेरे रोषका जो स्वरूप है, वह उसे बताओ और मेरा यह संदेश भी कह सुनाओ ॥ ८० ॥

न स संकुचितः पन्था येन वाली हतो गतः ।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा वालिपथमन्वगाः ॥ ८१ ॥

सुग्रीव ! वाली मारा जाकर जिस रास्तेसे गया है, वह आज भी बंद नहीं हुआ है। इसलिये तुम अपनी प्रतिज्ञापर डटे रहो। वालीके मार्गका अनुसरण न करो ॥ ८१ ॥

एक एव रणे वाली शरेण निहतो मया ।
त्वां तु सत्यादतिक्रान्तं हनिष्यामि सबान्धवम् ॥ ८२ ॥

'वाली तो रणक्षेत्रमें अकेला ही मेरे बाणसे मारा गया था, परंतु यदि तुम सत्यसे विचलित हुए तो मैं तुम्हें बन्धु-बान्धवोंसहित कालके गालमें डाल दूँगा ॥ ८२ ॥

यदेवं विहिते कार्ये यद्धितं पुरुषर्षभ ।
तत् तद् ब्रूहि नरश्रेष्ठ त्वर कालव्यतिक्रमः ॥ ८३ ॥

'पुरुषप्रवर ! नरश्रेष्ठ लक्ष्मण ! जब इस तरह कार्य बिगड़ने लगे, ऐसे अवसरपर और भी जो-जो बातें कहनी उचित हों—जिनके कहनेसे अपना हित होता हो, वे सब बातें कहना। जल्दी करो; क्योंकि कार्य आरम्भ करनेका समय बीता जा रहा है ॥

कुरुष्व सत्यं मम वानरेश्वर
प्रतिश्रुतं धर्ममवेक्ष्य शाश्वतम् ।
मा वालिनं प्रेतगतो यमक्षये
त्वमद्य पश्येर्मम चोदितः शरैः ॥ ८४ ॥

'सुग्रीवसे कहो—'वानरराज ! तुम सनातन धर्मपर दृष्टि रखकर अपनी की हुई प्रतिज्ञाको सत्य कर दिखाओ, अन्यथा ऐसा न हो कि तुम्हें आज ही मेरे बाणोंसे प्रेरित हो प्रेतभावको प्राप्त होकर यमलोकमें वालीका दर्शन करना पड़े' ॥ ८४ ॥

स पूर्वजं तीव्रविवृद्धकोपं
लालप्यमानं प्रसमीक्ष्य दीनम् ।
चकार तीव्रां मतिमुग्रतेजा
हरीश्वरे मानववंशवर्धनः ॥ ८५ ॥

मानव-वंशकी वृद्धि करनेवाले उग्र तेजस्वी लक्ष्मणने जब अपने बड़े भाईको दुःखी, बढ़े हुए तीव्र रोषसे युक्त तथा अधिक बोलते देखा, तब वानरराज सुग्रीवके प्रति कठोर भाव धारण कर लिया ॥ ८५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे त्रिंशः सर्गः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३० ॥

—★—

एकत्रिंशः सर्गः

सुग्रीवपर लक्ष्मणका रोष, श्रीरामका उन्हें समझाना, लक्ष्मणका किष्किन्धाके द्वारपर जाकर अङ्गदको सुग्रीवके पास भेजना, वानरोंका भय तथा प्लक्ष और प्रभावका सुग्रीवको कर्तव्यका उपदेश देना

स कामिनं दीनमदीनसत्त्वं
शोकाभिपन्नं समुदीर्णकोपम् ।
नरेन्द्रसूनुर्नरदेवपुत्रं
रामानुजः पूर्वजमित्युवाच ॥ १ ॥

श्रीरामके छोटे भाई नरेन्द्रकुमार लक्ष्मणने उस समय सीताकी कामनासे युक्त, दुःखी, उदारहृदय, शोकग्रस्त तथा बढ़े हुए रोषवाले ज्येष्ठ भ्राता महाराजपुत्र श्रीरामसे इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

न वानरः स्थास्यति साधुवृत्ते
न मन्यते कर्मफलानुषङ्गान् ।
न भोक्ष्यते वानरराज्यलक्ष्मीं
तथा हि नातिक्रमतेऽस्य बुद्धिः ॥ २ ॥

'आर्य ! सुग्रीव वानर है, वह श्रेष्ठ पुरुषोंके लिये उचित सदाचारपर स्थिर नहीं रह सकेगा। सुग्रीव इस बातको भी नहीं मानता है कि अग्निको साक्षी देकर श्रीरघुनाथजीके साथ मित्रता-स्थापनरूप जो सत्-कर्म किया गया है, उसीके

फलसे मुझे निष्कण्टक राज्यभोग प्राप्त हुए हैं। अतः वह वानरोंकी राज्य-लक्ष्मीका पालन एवं उपभोग नहीं कर सकेगा; क्योंकि उसकी बुद्धि मित्रधर्मके पालनके लिये अधिक आगे नहीं बढ़ रही है॥ २॥

मतिक्षयाद् ग्राम्यसुखेषु सक्त-
स्तव प्रसादात् प्रतिकारबुद्धिः।
हतोऽग्रजं पश्यतु वीरवालिनं
न राज्यमेवं विगुणस्य देयम्॥ ३॥

'सुग्रीवकी बुद्धि मारी गयी है, इसलिये वह विषयभोगोंमें आसक्त हो गया है। आपकी कृपासे जो उसे राज्य आदिका लाभ हुआ है, उस उपकारका बदला चुकानेकी उसकी नीयत नहीं है। अतः अब वह भी मारा जाकर अपने बड़े भाई वीरवर वालीका दर्शन करे। ऐसे गुणहीन पुरुषको राज्य नहीं देना चाहिये॥ ३॥

न धारये कोपमुदीर्णवेगं
निहन्मि सुग्रीवमसत्यमद्य।
हरिप्रवीरैः सह वालिपुत्रो
नरेन्द्रपुत्र्या विचयं करोतु॥ ४॥

'मेरे क्रोधका वेग बढ़ा हुआ है। मैं इसे रोक नहीं सकता। असत्यवादी सुग्रीवको आज ही मारे डालता हूँ। अब वालिकुमार अङ्गद ही राजा होकर प्रधान वानर वीरोंके साथ राजकुमारी सीताकी खोज करें'॥ ४॥

तमात्तबाणासनमुत्पतन्तं
निवेदितार्थं रणचण्डकोपम्।
उवाच रामः परवीरहन्ता
स्ववीक्षितं सानुनयं च वाक्यम्॥ ५॥

यों कहकर लक्ष्मण धनुष-बाण हाथमें ले बड़े वेगसे चल पड़े। उन्होंने अपने जानेका प्रयोजन स्पष्ट शब्दोंमें निवेदन कर दिया था। युद्धके लिये उनका प्रचण्ड कोप बढ़ा हुआ था तथा वे क्या करने जा रहे हैं, इसपर उन्होंने अच्छी तरह विचार नहीं किया था। उस समय विपक्षी वीरोंका संहार करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीने उन्हें शान्त करनेके लिये यह अनुनययुक्त बात कही—॥ ५॥

नहि वै त्वद्विधो लोके पापमेवं समाचरेत्।
कोपमार्येण यो हन्ति स वीरः पुरुषोत्तमः॥ ६॥

'सुमित्रानन्दन! तुम-जैसे श्रेष्ठ पुरुषको संसारमें ऐसा (मित्रवधरूप) निषिद्ध आचरण नहीं करना चाहिये। जो उत्तम विवेकके द्वारा अपने क्रोधको मार देता है, वह वीर समस्त पुरुषोंमें श्रेष्ठ है॥ ६॥

नेदमत्र त्वया ग्राह्यं साधुवृत्तेन लक्ष्मण।
तां प्रीतिमनुवर्तस्व पूर्ववृत्तं च संगतम्॥ ७॥

'लक्ष्मण! तुम सदाचारी हो। तुम्हें इस प्रकार सुग्रीवके मारनेका निश्चय नहीं करना चाहिये। उसके प्रति जो तुम्हारा प्रेम था, उसीका अनुसरण करो और उसके साथ पहले जो मित्रता की गयी है, उसे निबाहो॥ ७॥

सामोपहितया वाचा रूक्षाणि परिवर्जयन्।
वक्तुमर्हसि सुग्रीवं व्यतीतं कालपर्यये॥ ८॥

'तुम्हें सान्त्वनापूर्ण वाणीद्वारा कटु वचनोंका परित्याग करते हुए सुग्रीवसे इतना ही कहना चाहिये कि तुमने सीताकी खोजके लिये जो समय नियत किया था, वह बीत गया (फिर भी चुप क्यों बैठे हो)'॥ ८॥

सोऽग्रजेनानुशिष्टार्थो यथावत् पुरुषर्षभः।
प्रविवेश पुरीं वीरो लक्ष्मणः परवीरहा॥ ९॥

अपने बड़े भाईके इस प्रकार यथोचित रूपसे समझानेपर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले पुरुषप्रवर वीर लक्ष्मणने किष्किन्धापुरीमें प्रवेश (करनेका विचार) किया॥ ९॥

ततः शुभमतिः प्राज्ञो भ्रातुः प्रियहिते रतः।
लक्ष्मणः प्रतिसंरब्धो जगाम भवनं कपेः॥ १०॥

भाईके प्रिय और हितमें तत्पर रहनेवाले शुभ बुद्धिसे युक्त बुद्धिमान् लक्ष्मण रोषमें भरे हुए ही वानरराज सुग्रीवके भवनकी ओर चले॥ १०॥

शक्रबाणासनप्रख्यं धनुः कालान्तकोपमम्।
प्रगृह्य गिरिशृङ्गाभं मन्दरः सानुमानिव॥ ११॥

उस समय वे इन्द्रधनुषके समान तेजस्वी, काल और अन्तकके समान भयंकर तथा पर्वत-शिखरके समान विशाल धनुषको हाथमें लेकर शृङ्गसहित मन्दराचलके समान जान पड़ते थे॥ ११॥

यथोक्तकारी वचनमुत्तरं चैव सोत्तरम्।
बृहस्पतिसमो बुद्ध्या मत्वा रामानुजस्तदा॥ १२॥

श्रीरामके अनुज लक्ष्मण अपने बड़े भाईकी आज्ञाका यथोक्तरूपसे पालन करनेवाले तथा बृहस्पतिके समान बुद्धिमान् थे। वे सुग्रीवसे जो बात कहते, सुग्रीव उसका जो कुछ उत्तर देते और उस उत्तरका भी वे जो कुछ उत्तर देते, उन सबको अच्छी तरह समझ-बूझकर वहाँसे प्रस्थित हुए थे॥ १२॥

कामक्रोधसमुत्थेन भ्रातुः क्रोधाग्निना वृतः।
प्रभञ्जन इवाप्रीतः प्रययौ लक्ष्मणस्ततः॥ १३॥

सीताकी खोजविषयक जो श्रीरामकी कामना थी और सुग्रीवकी असावधानीके कारण उसमें बाधा पड़नेसे जो उन्हें क्रोध हुआ था, उन दोनोंके कारण लक्ष्मणकी भी क्रोधाग्नि भड़क उठी थी। उस क्रोधाग्निसे घिरे हुए लक्ष्मण सुग्रीवके प्रति प्रसन्न नहीं थे। वे उसी अवस्थामें वायुके समान वेगसे चले॥

सालतालाश्वकर्णांश्च तरसा पातयन् बलात्।
पर्यस्यन् गिरिकूटानि द्रुमानन्यांश्च वेगितः॥ १४॥

उनका वेग ऐसा बढ़ा हुआ था कि वे मार्गमें मिलनेवाले साल, ताल और अश्वकर्ण नामक वृक्षोंको उसी वेगसे बलपूर्वक गिराते तथा पर्वतशिखरों एवं अन्य वृक्षोंको

उठा-उठाकर दूर फेंकते जाते थे ॥ १४ ॥

शिलाश्च शकलीकुर्वन् पद्भ्यां गज इवाशुगः ।
दूरमेकपदं त्यक्त्वा ययौ कार्यवशाद् द्रुतम् ॥ १५ ॥

शीघ्रगामी हाथीके समान अपने पैरोंकी ठोकरसे शिलाओंको चूर-चूर करते और लंबी-लंबी डगें भरते हुए वे कार्यवश बड़ी तेजीके साथ चले ॥ १५ ॥

तामपश्यद् बलाकीर्णां हरिराजमहापुरीम् ।
दुर्गामिक्ष्वाकुशार्दूलः किष्किन्धां गिरिसंकटे ॥ १६ ॥

इक्ष्वाकुकुलके सिंह लक्ष्मणने निकट जाकर वानरराज सुग्रीवकी विशाल पुरी किष्किन्धा देखी, जो पहाड़ोंके बीचमें बसी हुई थी। वानरसेनासे व्याप्त होनेके कारण वह पुरी दूसरोंके लिये दुर्गम थी ॥ १६ ॥

रोषात् प्रस्फुरमाणोष्ठः सुग्रीवं प्रति लक्ष्मणः ।
ददर्श वानरान् भीमान् किष्किन्धायां बहिश्चरान् ॥ १७ ॥

उस समय लक्ष्मणके ओष्ठ सुग्रीवके प्रति रोषसे फड़क रहे थे। उन्होंने किष्किन्धाके पास बहुतेरे भयंकर वानरोंको देखा जो नगरके बाहर विचर रहे थे ॥ १७ ॥

तं दृष्ट्वा वानराः सर्वे लक्ष्मणं पुरुषर्षभम् ।
शैलशृङ्गाणि शतशः प्रवृद्धांश्च महीरुहान् ।
जगृहुः कुञ्जरप्रख्या वानराः पर्वतान्तरे ॥ १८ ॥

उन वानरोंके शरीर हाथियोंके समान विशाल थे। उन समस्त वानरोंने पुरुषप्रवर लक्ष्मणको देखते ही पर्वतके अंदर विद्यमान सैकड़ों शैल-शिखर और बड़े-बड़े वृक्ष उठा लिये ॥

तान् गृहीतप्रहरणान् सर्वान् दृष्ट्वा तु लक्ष्मणः ।
बभूव द्विगुणं क्रुद्धो बह्विन्धन इवानलः ॥ १९ ॥

उन सबको हथियार उठाते देख लक्ष्मण दूने क्रोधसे जल उठे,मानो जलती आगमें बहुत-सी सूखी लकड़ियाँ डाल दी गयी हों ॥ १९ ॥

तं ते भयपरीताङ्गा क्षुब्धं दृष्ट्वा प्लवंगमाः ।
कालमृत्युयुगान्ताभं शतशो विद्रुता दिशः ॥ २० ॥

क्षुब्ध हुए लक्ष्मण काल, मृत्यु तथा प्रलयकालीन अग्निके समान भयंकर दिखायी देने लगे। उन्हें देखकर उन वानरोंके शरीर भयसे काँपने लगे और वे सैकड़ोंकी संख्यामें चारों दिशाओंमें भाग गये ॥ २० ॥

ततः सुग्रीवभवनं प्रविश्य हरिपुंगवाः ।
क्रोधमागमनं चैव लक्ष्मणस्य न्यवेदयन् ॥ २१ ॥

तदनन्तर कई श्रेष्ठ वानरोंने सुग्रीवके महलमें जाकर लक्ष्मणके आगमन और क्रोधका समाचार निवेदन किया ॥

तारया सहितः कामी सक्तः कपिवृषस्तदा ।
न तेषां कपिसिंहानां शुश्राव वचनं तदा ॥ २२ ॥

उस समय कामके अधीन हुए वानरराज सुग्रीव भोगासक्त हो ताराके साथ थे। इसलिये उन्होंने उन श्रेष्ठ वानरोंकी बातें नहीं सुनीं ॥ २२ ॥

ततः सचिवसंदिष्टा हरयो रोमहर्षणाः ।
गिरिकुञ्जरमेघाभा नगरान्निर्ययुस्तदा ॥ २३ ॥

तब सचिवकी आज्ञासे पर्वत, हाथी और मेघके समान विशालकाय वानर जो रोंगटे खड़े कर देनेवाले थे, नगरसे बाहर निकले ॥ २३ ॥

नखदंष्ट्रायुधाः सर्वे वीरा विकृतदर्शनाः ।
सर्वे शार्दूलदंष्ट्राश्च सर्वे विवृतदर्शनाः ॥ २४ ॥

वे सब-के-सब वीर थे। नख और दाँत ही उनके आयुध थे। वे बड़े विकराल दिखायी देते थे। उन सबकी दाढ़ें व्याघ्रोंकी दाढ़ोंके समान थीं और सबके नेत्र खुले हुए थे (अथवा उन सबका वहाँ स्पष्ट दर्शन होता था—कोई छिपे नहीं थे) ॥ २४ ॥

दशनागबलाः केचित् केचिद् दशगुणोत्तराः ।
केचिन्नागसहस्रस्य बभूवुस्तुल्यवर्चसः ॥ २५ ॥

किन्हींमें दस हाथियोंके बराबर बल था तो कोई सौ हाथियोंके समान बलशाली थे तथा किन्हीं-किन्हींका तेज (बल और पराक्रम) एक हजार हाथियोंके तुल्य था ॥ २५ ॥

ततस्तैः कपिभिर्व्याप्तां द्रुमहस्तैर्महाबलैः ।
अपश्यल्लक्ष्मणः क्रुद्धः किष्किन्धां तां दुरासदाम् ॥ २६ ॥

हाथमें वृक्ष लिये उन महाबली वानरोंसे व्याप्त हुई किष्किन्धापुरी अत्यन्त दुर्जय दिखायी देती थी। लक्ष्मणने कुपित होकर उस पुरीकी ओर देखा ॥ २६ ॥

ततस्ते हरयः सर्वे प्राकारपरिखान्तरात् ।
निष्क्रम्योदग्रसत्त्वास्तु तस्थुराविष्कृतं तदा ॥ २७ ॥

तदनन्तर वे सभी महाबली वानर पुरीकी चहारदिवारी और खाईके भीतरसे निकलकर प्रकटरूपसे सामने आकर खड़े हो गये ॥ २७ ॥

सुग्रीवस्य प्रमादं च पूर्वजस्यार्थमात्मवान् ।
दृष्ट्वा क्रोधवशं वीरः पुनरेव जगाम सः ॥ २८ ॥

आत्मसंयमी वीर लक्ष्मण सुग्रीवके प्रमाद तथा अपने बड़े भाईके महत्त्वपूर्ण कार्यपर दृष्टिपात करके पुनः वानरराजके प्रति क्रोधके वशीभूत हो गये ॥ २८ ॥

स दीर्घोष्णमहोच्छ्‌वासः कोपसंरक्तलोचनः ।
बभूव नरशार्दूलः सधूम इव पावकः ॥ २९ ॥

वे अधिक गरम और लंबी साँस खींचने लगे। उनके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये। उस समय पुरुषसिंह लक्ष्मण धूमयुक्त अग्निके समान प्रतीत हो रहे थे ॥ २९ ॥

बाणशल्यस्फुरज्जिह्वः सायकासनभोगवान् ।
स्वतेजोविषसम्भूतः पञ्चास्य इव पन्नगः ॥ ३० ॥

इतना ही नहीं, वे पाँच मुखवाले सर्पके समान दिखायी देने लगे। बाणका फल ही उस सर्पकी लपलपाती हुई जिह्वा जान पड़ता था, धनुष ही उसका विशाल शरीर था तथा वे सर्परूपी लक्ष्मण अपने तेजोमय विषसे व्याप्त हो रहे थे ॥

तं दीप्तमिव कालाग्निं नागेन्द्रमिव कोपितम्।
समासाद्याङ्गदस्त्रासाद् विषादमगमत् परम्॥ ३१॥

उस अवसरपर कुमार अङ्गद प्रज्वलित प्रलयाग्नि तथा क्रोधमें भरे हुए नागराज शेषकी भाँति दृष्टिगोचर होनेवाले लक्ष्मणके पास डरते-डरते गये। वे अत्यन्त विषादमें पड़ गये थे॥ ३१॥

सोऽङ्गदं रोषताम्राक्षः संदिदेश महायशाः।
सुग्रीवः कथ्यतां वत्स ममागमनमित्युत॥ ३२॥
एष रामानुजः प्राप्तस्त्वत्सकाशमरिंदम।
भ्रातुर्व्यसनसंतप्तो द्वारि तिष्ठति लक्ष्मणः॥ ३३॥
तस्य वाक्यं यदि रुचिः क्रियतां साधु वानरः।
इत्युक्त्वा शीघ्रमागच्छ वत्स वाक्यमरिंदम॥ ३४॥

महायशस्वी लक्ष्मणने क्रोधसे लाल आँखें करके अङ्गदको आदेश दिया—'बेटा! सुग्रीवको मेरे आनेकी सूचना दो। उनसे कहना— शत्रुदमन वीर! श्रीरामचन्द्रजीके छोटे भाई लक्ष्मण अपने भ्राताके दुःखसे दुःखी होकर आपके पास आये हैं और नगर-द्वारपर खड़े हैं। वानरराज यदि आपकी इच्छा हो तो उनकी आज्ञाका अच्छी तरह पालन कीजिये। शत्रुदमन वत्स अङ्गद! बस, इतना ही कहकर तुम शीघ्र मेरे पास लौट आओ'॥ ३२—३४॥

लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा शोकाविष्टोऽङ्गदोऽब्रवीत्।
पितुः समीपमागम्य सौमित्रिरयमागतः॥ ३५॥

लक्ष्मणकी बात सुनकर शोकाकुल अङ्गदने पिता सुग्रीवके समीप आकर कहा—'तात! ये सुमित्रानन्दन लक्ष्मण यहाँ पधारे हैं॥ ३५॥

अथाङ्गदस्तस्य सुतीव्रवाचा
सम्भ्रान्तभावः परिदीनवक्त्रः।
निर्गत्य पूर्वं नृपतेस्तरस्वी
ततो रुमायाश्चरणौ ववन्दे॥ ३६॥

(अब इसी बातको कुछ विस्तारके साथ कहते हैं—) लक्ष्मणकी कठोर वाणीसे अङ्गदके मनमें बड़ी घबराहट हुई। उनके मुखपर अत्यन्त दीनता छा गयी। उन वेगशाली कुमारने वहाँसे निकलकर पहले वानरराज सुग्रीवके, फिर तारा तथा रुमाके चरणोंमें प्रणाम किया॥ ३६॥

संगृह्य पादौ पितुरुग्रतेजा
जग्राह मातुः पुनरेव पादौ।
पादौ रुमायाश्च निपीडयित्वा
निवेदयामास ततस्तदर्थम्॥ ३७॥

उग्र तेजवाले अङ्गदने पहले तो पिताके दोनों पैर पकड़े फिर अपनी माता ताराके दोनों चरणोंका स्पर्श किया। तदनन्तर रुमाके दोनों पैर दबाये। इसके बाद पूर्वोक्त बात कही॥ ३७॥

स निद्राक्लान्तसंवीतो वानरो न विबुद्धवान्।
बभूव मदमत्तश्च मदनेन च मोहितः॥ ३८॥

किंतु सुग्रीव मदमत्त एवं कामसे मोहित होकर पड़े थे। निद्राने उनके ऊपर पूरा अधिकार जमा लिया था। इसलिये वे जाग न सके॥ ३८॥

ततः किलकिलां चक्रुर्लक्ष्मणं प्रेक्ष्य वानराः।
प्रसादयन्तस्तं क्रुद्धं भयमोहितचेतसः॥ ३९॥

इतनेमें बाहर क्रोधमें भरे हुए लक्ष्मणको देखकर भयसे मोहितचित्त हुए वानर उन्हें प्रसन्न करनेके लिये दीनतासूचक वाणीमें किलकिलाने लगे॥ ३९॥

ते महौघनिभं दृष्ट्वा वज्राशनिसमस्वनम्।
सिंहनादं समं चक्रुर्लक्ष्मणस्य समीपतः॥ ४०॥

लक्ष्मणपर दृष्टि पड़ते ही उन वानरोंने सुग्रीवके निकटवर्ती स्थानमें एक साथ ही महान् जलप्रवाह तथा वज्रकी गड़गड़ाहटके समान जोर-जोरसे सिंहनाद किया (जिससे सुग्रीव जाग उठें)॥ ४०॥

तेन शब्देन महता प्रत्यबुध्यत वानरः।
मदविह्वलताम्राक्षो व्याकुलः स्त्रग्विभूषणः॥ ४१॥

वानरोंकी उस भयंकर गर्जनासे कपिराज सुग्रीवकी नींद खुल गयी। उस समय उनके नेत्र मदसे चञ्चल और लाल हो रहे थे। मन भी स्वस्थ नहीं था। उनके गलेमें सुन्दर पुष्पमाला शोभा दे रही थी॥ ४१॥

अथाङ्गदवचः श्रुत्वा तेनैव च समागतौ।
मन्त्रिणौ वानरेन्द्रस्य सम्मतोदारदर्शनौ॥ ४२॥
प्लक्षश्चैव प्रभावश्च मन्त्रिणावर्थधर्मयोः।
वक्तुमुच्चावचं प्राप्तं लक्ष्मणं तौ शशंसतुः॥ ४३॥

अङ्गदकी पूर्वोक्त बात सुनकर उन्हींके साथ आये हुए दो मन्त्री प्लक्ष और प्रभावने भी, जो वानरराजके सम्मानपात्र और उदार दृष्टिवाले थे तथा राजाको अर्थ और धर्मके विषयमें ऊँच-नीच समझानेके लिये नियुक्त थे, लक्ष्मणके आगमनकी सूचना दी॥ ४२-४३॥

प्रसादयित्वा सुग्रीवं वचनैः सार्थनिश्चितैः।
आसीनं पर्युपासीनौ यथा शक्रं मरुत्पतिम्॥ ४४॥
सत्यसंधौ महाभागौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
मनुष्यभावं सम्प्राप्तौ राज्यार्हौ राज्यदायिनौ॥ ४५॥

राजाके निकट खड़े हुए उन दोनों मन्त्रियोंने देवराज इन्द्रके समान बैठे हुए सुग्रीवको खूब सोच-विचार कर निश्चित किये हुए सार्थक वचनोंद्वारा प्रसन्न किया और इस प्रकार कहा—'राजन्! महाभाग श्रीराम और लक्ष्मण—दोनों भाई सत्यप्रतिज्ञ हैं। (वे वास्तवमें भगवत्स्वरूप हैं) उन्होंने स्वेच्छासे मनुष्य-शरीर धारण किया है। वे दोनों समस्त त्रिलोकीका राज्य चलानेके योग्य हैं। वे ही आपके राज्यदाता हैं॥ ४४-४५॥

तयोरेको धनुष्पाणिर्द्वारि तिष्ठति लक्ष्मणः।
यस्य भीताः प्रवेपन्तो नादान् मुञ्चन्ति वानराः॥ ४६॥

'उनमेंसे एक वीर लक्ष्मण हाथमें धनुष लिये किष्किन्धाके दरवाजेपर खड़े हैं, जिनके भयसे काँपते हुए वानर जोर-जोरसे चीख रहे हैं॥ ४६ ॥

स एष राघवभ्राता लक्ष्मणो वाक्यसारथिः ।
व्यवसायरथः प्राप्तस्तस्य रामस्य शासनात् ॥ ४७ ॥

'श्रीरामका आदेशवाक्य ही जिनका सारथि और कर्तव्यका निश्चय ही जिनका रथ है, वे लक्ष्मण श्रीरामकी आज्ञासे यहाँ पधारे हैं॥ ४७ ॥

अयं च तनयो राजंस्ताराया दयितोऽङ्गदः ।
लक्ष्मणेन सकाशं ते प्रेषितस्त्वरयानघ ॥ ४८ ॥

'राजन्! निष्पाप वानरराज! लक्ष्मणने तारादेवीके इन प्रिय पुत्र अङ्गदको आपके निकट बड़ी उतावलीके साथ भेजा है॥

सोऽयं रोषपरीताक्षो द्वारि तिष्ठति वीर्यवान् ।
वानरान् वानरपते चक्षुषा निर्दहन्निव ॥ ४९ ॥

'वानरपते! पराक्रमी लक्ष्मण क्रोधसे लाल आँखें किये नगरद्वारपर उपस्थित हैं और वानरोंकी ओर इस तरह देख रहे हैं, मानो वे अपनी नेत्राग्निसे उन्हें दग्ध कर डालेंगे॥ ४९ ॥

तस्य मूर्ध्ना प्रणामं त्वं सपुत्रः सहबान्धवः ।
गच्छ शीघ्रं महाराज रोषो ह्यद्योपशाम्यताम् ॥ ५० ॥

'महाराज! आप शीघ्र चलें तथा पुत्र और बन्धु-बान्धवोंके साथ उनके चरणोंमें मस्तक नवावें और इस प्रकार आज उनका रोष शान्त करें॥ ५० ॥

यथा हि रामो धर्मात्मा तत्कुरुष्व समाहितः ।
राजंस्तिष्ठ स्वसमये भव सत्यप्रतिश्रवः ॥ ५१ ॥

'राजन्! धर्मात्मा श्रीराम जैसा कहते हैं, सावधानीके साथ उसका पालन कीजिये। आप अपनी दी हुई बातपर अटल रहिये और सत्यप्रतिज्ञ बनिये'॥ ५१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकत्रिंशः सर्गः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें इकतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशः सर्गः

हनुमान्‌जीका चिन्तित हुए सुग्रीवको समझाना

अङ्गदस्य वचः श्रुत्वा सुग्रीवः सचिवैः सह ।
लक्ष्मणं कुपितं श्रुत्वा मुमोचासनमात्मवान् ॥ १ ॥

मन्त्रियोंसहित अङ्गदका वचन सुनकर और लक्ष्मणके कुपित होनेका समाचार पाकर मनको वशमें रखनेवाले सुग्रीव आसन छोड़कर खड़े हो गये॥ १ ॥

स च तानब्रवीद् वाक्यं निश्चित्य गुरुलाघवम् ।
मन्त्रज्ञान् मन्त्रकुशलो मन्त्रेषु परिनिष्ठितः ॥ २ ॥

वे मन्त्रणा (कर्तव्यविषयक विचार) के परिनिष्ठित विद्वान् होनेके कारण मन्त्रप्रयोगमें अत्यन्त कुशल थे। उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीकी महत्ता और अपनी लघुताका विचार करके मन्त्रज्ञ मन्त्रियोंसे कहा॥ २ ॥

न मे दुर्व्याहृतं किंचिन्नापि मे दुरनुष्ठितम् ।
लक्ष्मणो राघवभ्राता क्रुद्धः किमिति चिन्तये ॥ ३ ॥

'मैंने न तो कोई अनुचित बात मुँहसे निकाली है और न कोई बुरा काम ही किया है। फिर श्रीरघुनाथजीके भ्राता लक्ष्मण मुझपर कुपित क्यों हुए हैं? इस बातपर मैं बारंबार विचार करता हूँ॥ ३ ॥

असुहृद्भिर्ममामित्रैर्नित्यमन्तरदर्शिभिः ।
मम दोषानसम्भूतान्श्रावितो राघवानुजः ॥ ४ ॥

'जो सदा मेरे छिद्र देखनेवाले हैं तथा जिनका हृदय मेरे प्रति शुद्ध नहीं है, उन शत्रुओंने निश्चय ही श्रीरामचन्द्रजीके छोटे भाई लक्ष्मणसे मेरे ऐसे दोष सुनाये हैं जो मेरे भीतर कभी प्रकट नहीं हुए थे॥ ४ ॥

अत्र तावद् यथाबुद्धिः सर्वैरेव यथाविधि ।
भावस्य निश्चयस्तावद् विज्ञेयो निपुणं शनैः ॥ ५ ॥

'लक्ष्मणके कोपके विषयमें पहले तुम सब लोगोंको धीरे-धीरे कुशलतापूर्वक उनके मनोभावका विधिवत् निश्चय कर लेना चाहिये, जिससे उनके कोपके कारणका यथार्थ रूपसे ज्ञान हो जाय॥ ५ ॥

न खल्वस्ति मम त्रासोलक्ष्मणान्नापि राघवात् ।
मित्रं स्वस्थानकुपितं जनयत्येव सम्भ्रमम् ॥ ६ ॥

'अवश्य ही मुझे लक्ष्मणसे तथा श्रीरघुनाथजीसे कोई भय नहीं है, तथापि बिना अपराधके कुपित हुआ मित्र हृदयमें घबराहट उत्पन्न कर ही देता है॥ ६ ॥

सर्वथा सुकरं मित्रं दुष्करं प्रतिपालनम् ।
अनित्यत्वात् तु चित्तानां प्रीतिरल्पेऽभिद्यते ॥ ७ ॥

किसीको मित्र बना लेना सर्वथा सुकर है, परंतु उस मैत्रीको पालना या निभाना बहुत ही कठिन है; क्योंकि मनका भाव सदा एक-सा नहीं रहता। किसीके द्वारा थोड़ी-सी भी चुगली कर दी जानेपर प्रेममें अन्तर आ जाता है॥ ७ ॥

अतोनिमित्तं त्रस्तोऽहं रामेण तु महात्मना ।
यन्ममोपकृतं शक्यं प्रतिकर्तुं न तन्मया ॥ ८ ॥

'इसी कारण मैं और भी डर गया हूँ; क्योंकि महात्मा श्रीरामने मेरा जो उपकार किया है, उसका बदला चुकानेकी मुझमें शक्ति नहीं है'॥ ८ ॥

सुग्रीवेणैवमुक्ते तु हनूमान् हरिपुंगवः ।
उवाच स्वेन तर्केण मध्ये वानरमन्त्रिणाम् ॥ ९ ॥

सुग्रीवके ऐसा कहनेपर वानरोंमें श्रेष्ठ हनुमान्‌जी अपनी युक्तिका सहारा लेकर वानरमन्त्रियोंके बीचमें बोले— ॥ ९ ॥

सर्वथा नैतदाश्चर्यं यत् त्वं हरिगणेश्वर ।
न विस्मरसि सुस्निग्धमुपकारं कृतं शुभम् ॥ १० ॥

'कपिराज ! मित्रके द्वारा अत्यन्त स्नेहपूर्वक किये गये उत्तम उपकारको जो आप भूल नहीं रहे हैं, इसमें सर्वथा कोई आश्चर्यकी बात नहीं है (क्योंकि अच्छे पुरुषोंका ऐसा स्वभाव ही होता है) ॥ १० ॥

राघवेण तु वीरेण भयमुत्सृज्य दूरतः ।
त्वत्प्रियार्थं हतो वाली शक्रतुल्यपराक्रमः ॥ ११ ॥
सर्वथा प्रणयात् क्रुद्धो राघवो नात्र संशयः ।
भ्रातरं सम्प्रहितवाँल्लक्ष्मणं लक्ष्मिवर्धनम् ॥ १२ ॥

'वीरवर श्रीरघुनाथजीने तो लोकापवादके भयको दूर हटाकर आपका प्रिय करनेके लिये इन्द्रतुल्य पराक्रमी वालीका वध किया है; अतः वे निःसंदेह आपपर कुपित नहीं हैं। श्रीरामचन्द्रजीने शोभा-सम्पत्तिकी वृद्धि करनेवाले अपने भाई लक्ष्मणको जो आपके पास भेजा है, इसमें सर्वथा आपके प्रति उनका प्रेम ही कारण है ॥ ११-१२ ॥

त्वं प्रमत्तो न जानीषे कालं कालविदां वर ।
फुल्लसप्तच्छदश्यामा प्रवृत्ता तु शरच्छुभा ॥ १३ ॥

'समयका ज्ञान रखनेवालोंमें श्रेष्ठ कपिराज ! आपने सीताकी खोज करनेके लिये जो समय निश्चित किया था, उसे आप इन दिनों प्रमादमें पड़ जानेके कारण भूल गये हैं। देखिये न, यह सुन्दर शरद्-ऋतु आरम्भ हो गयी है, जो खिले हुए छितवनके फूलोंसे श्यामवर्णकी प्रतीत होती है ॥

निर्मलग्रहनक्षत्रा द्यौः प्रणष्टबलाहका ।
प्रसन्नाश्च दिशः सर्वाः सरितश्च सरांसि च ॥ १४ ॥

'आकाशमें अब बादल नहीं रहे। ग्रह, नक्षत्र निर्मल दिखायी देते हैं। सम्पूर्ण दिशाओंमें प्रकाश छा गया है तथा नदियों और सरोवरोंके जल पूर्णतः स्वच्छ हो गये हैं ॥ १४ ॥

प्राप्तमुद्योगकालं तु नावैषि हरिपुंगव ।
त्वं प्रमत्त इति व्यक्तं लक्ष्मणोऽयमिहागतः ॥ १५ ॥

'वानरराज ! राजाओंके लिये विजय-यात्राकी तैयारी करनेका समय आ गया है; किंतु आपको कुछ पता ही नहीं है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि आप प्रमादमें पड़ गये हैं। इसीलिये लक्ष्मण यहाँ आये हैं ॥ १५ ॥

आर्तस्य हृतदारस्य परुषं पुरुषान्तरात् ।
वचनं मर्षणीयं ते राघवस्य महात्मनः ॥ १६ ॥

'महात्मा श्रीरामचन्द्रजीकी पत्नीका अपहरण हुआ है, इसलिये वे बहुत दुःखी हैं। अतः यदि लक्ष्मणके मुखसे उनका कठोर वचन भी सुनना पड़े तो आपको चुपचाप सह लेना चाहिये ॥ १६ ॥

कृतापराधस्य हि ते नान्यत् पश्याम्यहं क्षमम् ।
अन्तरेणाञ्जलिं बद्ध्वा लक्ष्मणस्य प्रसादनात् ॥ १७ ॥

'आपकी ओरसे अपराध हुआ है। अतः हाथ जोड़कर लक्ष्मणको प्रसन्न करनेके सिवा आपके लिये और कोई उचित कर्तव्य मैं नहीं देखता ॥ १७ ॥

नियुक्तैर्मन्त्रिभिर्वाच्यो ह्यवश्यं पार्थिवो हितम् ।
इत एव भयं त्यक्त्वा ब्रवीम्यवधृतं वचः ॥ १८ ॥

'राज्यकी भलाईके कामपर नियुक्त हुए मन्त्रियोंका यह कर्तव्य है कि राजाको उसके हितकी बात अवश्य बतावें। अतएव मैं भय छोड़कर अपना निश्चित विचार बता रहा हूँ ॥ १८ ॥

अभिक्रुद्धः समर्थो हि चापमुद्यम्य राघवः ।
सदेवासुरगन्धर्वं वशे स्थापयितुं जगत् ॥ १९ ॥

'भगवान् श्रीराम यदि क्रोध करके धनुष हाथमें ले लें तो देवता-असुर गन्धर्वोंसहित सम्पूर्ण जगत्‌को अपने वशमें कर सकते हैं ॥ १९ ॥

न स क्षमः कोपयितुं यः प्रसाद्यः पुनर्भवेत् ।
पूर्वोपकारं स्मरता कृतज्ञेन विशेषतः ॥ २० ॥

'जिसे पीछे हाथ जोड़कर मनाना पड़े, ऐसे पुरुषको क्रोध दिलाना कदापि उचित नहीं है। विशेषतः वह पुरुष जो मित्रके किये हुए पहले उपकारको याद रखता हो और कृतज्ञ हो, इस बातका अधिक ध्यान रखे ॥ २० ॥

तस्य मूर्ध्ना प्रणम्य त्वं सपुत्रः ससुहृज्जनः ।
राजंस्तिष्ठ स्वसमये भर्तुर्भार्येव तद्वशे ॥ २१ ॥

'राजन् इसलिये आप पुत्र और मित्रोंके साथ मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम कीजिये और अपनी प्रतिज्ञापर अटल रहिये। जैसे पत्नी अपने पतिके वशमें रहती है, उसी प्रकार आप सदा श्रीरामचन्द्रजीके अधीन रहिये ॥ २१ ॥

न रामरामानुजशासनं त्वया
कपीन्द्रयुक्तं मनसाप्यपोहितुम् ।
मनो हि ते ज्ञास्यति मानुषं बलं
सराघवस्यास्य सुरेन्द्रवर्चसः ॥ २२ ॥

'वानरराज ! श्रीराम और लक्ष्मणके आदेशकी आपको मनसे भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी लक्ष्मणसहित श्रीरघुनाथजीके अलौकिक बलका ज्ञान तो आपके मनको है ही' ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें बत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

★

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

लक्ष्मणका किष्किन्धापुरीकी शोभा देखते हुए सुग्रीवके महलमें प्रवेश करके क्रोधपूर्वक धनुषको टंकारना, भयभीत सुग्रीवका ताराको उन्हें शान्त करनेके लिये भेजना तथा ताराका समझा-बुझाकर उन्हें अन्तःपुरमें ले आना

अथ प्रतिसमादिष्टो लक्ष्मणः परवीरहा।
प्रविवेश गुहां रम्यां किष्किन्धां रामशासनात्॥ १॥

इधर गुफामें प्रवेश करनेके लिये अङ्गदके प्रार्थना करनेपर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले लक्ष्मणने श्रीरामकी आज्ञाके अनुसार किष्किन्धानामक रमणीय गुफामें प्रवेश किया॥ १॥

द्वारस्था हरयस्तत्र महाकाया महाबलाः।
बभूवुर्लक्ष्मणं दृष्ट्वा सर्वे प्राञ्जलयः स्थिताः॥ २॥

किष्किन्धाके द्वारपर जो विशाल शरीरवाले महाबली वानर थे, वे सब लक्ष्मणको देख हाथ जोड़कर खड़े हो गये॥ २॥

निःश्वसन्तं तु तं दृष्ट्वा क्रुद्धं दशरथात्मजम्।
बभूवुर्हरयस्त्रस्ता न चैनं पर्यवारयन्॥ ३॥

दशरथनन्दन लक्ष्मणको क्रोधपूर्वक लंबी साँस खींचते देख वे सब वानर अत्यन्त भयभीत हो गये थे। इसलिये वे उन्हें चारों ओरसे घेरकर उनके साथ-साथ नहीं चल सके॥

स तां रत्नमयीं दिव्यां श्रीमान् पुष्पितकाननाम्।
रम्यां रत्नसमाकीर्णां ददर्श महतीं गुहाम्॥ ४॥

श्रीमान् लक्ष्मणने द्वारके भीतर प्रवेश करके देखा, किष्किन्धापुरी एक बहुत बड़ी रमणीय गुफाके रूपमें बसी हुई है। वह रत्नमयी पुरी नाना प्रकारके रत्नोंसे भरी-पूरी होनेके कारण दिव्य शोभासे सम्पन्न है। वहाँके वन-उपवन फूलोंसे सुशोभित दिखायी दिये॥ ४॥

हर्म्यप्रासादसम्बाधां नानारत्नोपशोभिताम्।
सर्वकामफलैर्वृक्षैः पुष्पितैरुपशोभिताम्॥ ५॥

हर्म्यों (धनियोंकी अट्टालिकाओं) तथा प्रासादों (देवमन्दिरों और राजभवनों) से वह पुरी अत्यन्त घनी दिखायी देती थी। नाना प्रकारके रत्न उसकी शोभा बढ़ाते थे। सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करनेवाले फलोंसे युक्त खिले हुए वृक्षोंसे वह पुरी सुशोभित थी॥ ५॥

देवगन्धर्वपुत्रैश्च वानरैः कामरूपिभिः।
दिव्यमाल्याम्बरधरैः शोभितां प्रियदर्शनैः॥ ६॥

वहाँ दिव्य माला और दिव्य वस्त्र धारण करनेवाले परम सुन्दर वानर, जो देवताओं और गन्धर्वोंके पुत्र तथा इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले थे, निवास करते हुए उस नगरीकी शोभा बढ़ाते थे॥ ६॥

चन्दनागुरुपद्मानां गन्धैः सुरभिगन्धिताम्।
मैरेयाणां मधूनां च सम्मोदितमहापथाम्॥ ७॥

वहाँ चन्दन, अगर और कमलोंकी मनोहर सुगन्ध छा रही थी। उस पुरीकी लंबी-चौड़ी सड़कें भी मैरेय तथा मधुके आमोदसे महक रही थीं॥ ७॥

विन्ध्यमेरुगिरिप्रख्यैः प्रासादैर्नैकभूमिभिः।
ददर्श गिरिनद्यश्च विमलास्तत्र राघवः॥ ८॥

उस पुरीमें विन्ध्याचल तथा मेरुके समान ऊँचे-ऊँचे महल बने थे, जो कई मंजिलके थे। लक्ष्मणने उस गुफाके निकट ही निर्मल जलसे भरी हुई पहाड़ी नदियाँ देखीं॥ ८॥

अङ्गदस्य गृहं रम्यं मैन्दस्य द्विविदस्य च।
गवयस्य गवाक्षस्य गजस्य शरभस्य च॥ ९॥
विद्युन्मालेश्च सम्पातेः सूर्याक्षस्य हनूमतः।
वीरबाहोः सुबाहोश्च नलस्य च महात्मनः॥ १०॥
कुमुदस्य सुषेणस्य तारजाम्बवतोस्तथा।
दधिवक्त्रस्य नीलस्य सुपाटलसुनेत्रयोः॥ ११॥
एतेषां कपिमुख्यानां राजमार्गे महात्मनाम्।
ददर्श गृहमुख्यानि महासाराणि लक्ष्मणः॥ १२॥

उन्होंने राजमार्गपर अङ्गदका रमणीय भवन देखा। साथ ही वहाँ मैन्द, द्विविद, गवय, गवाक्ष, गज, शरभ, विद्युन्माली, सम्पाति, सूर्याक्ष, हनुमान्, वीरबाहु, सुबाहु, महात्मा नल, कुमुद, सुषेण, तार, जाम्बवान्, दधिमुख, नील, सुपाटल और सुनेत्र—इन महामनस्वी वानरशिरोमणियोंके भी अत्यन्त सुदृढ़ श्रेष्ठ भवन लक्ष्मणको दृष्टिगोचर हुए। वे सब-के-सब राजमार्गपर ही बने हुए थे॥ ९—१२॥

पाण्डुराभ्रप्रकाशानि गन्धमाल्ययुतानि च।
प्रभूतधनधान्यानि स्त्रीरत्नैः शोभितानि च॥ १३॥

वे सभी भवन श्वेत बादलोंके समान प्रकाशित हो रहे थे। उन्हें सुगन्धित पुष्पमालाओंसे सजाया गया था। वे प्रचुर धन-धान्यसे सम्पन्न तथा रत्नस्वरूपा रमणियोंसे सुशोभित थे॥

पाण्डुरेण तु शैलेन परिक्षिप्तं दुरासदम्।
वानरेन्द्रगृहं रम्यं महेन्द्रसदनोपमम्॥ १४॥

वानरराज सुग्रीवका सुन्दर भवन इन्द्रसदनके समान रमणीय दिखायी देता था। उसमें प्रवेश करना किसीके लिये भी अत्यन्त कठिन था। वह श्वेत पर्वतकी चहारदीवारीसे घिरा हुआ था॥

शुक्लैः प्रासादशिखरैः कैलासशिखरोपमैः।
सर्वकामफलैर्वृक्षैः पुष्पितैरुपशोभितम्॥ १५॥

कैलास-शिखरके समान श्वेत प्रासाद-शिखर तथा समस्त मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले फलोंसे युक्त पुष्पित दिव्य वृक्ष उस राजभवनकी शोभा बढ़ाते थे॥ १५॥

महेन्द्रदत्तैः श्रीमद्भिर्नीलजीमूतसंनिभैः।
दिव्यपुष्पफलैर्वृक्षैः शीतच्छायैर्मनोरमैः॥ १६॥

वहाँ इन्द्रके दिये हुए दिव्य फल-फूलोंसे सम्पन्न मनोरम वृक्ष लगाये गये थे, जो परम सुन्दर, नीले मेघके समान श्याम तथा शीतल छायासे युक्त थे ॥ १६ ॥

हरिभिः संवृतद्वारं बलिभिः शस्त्रपाणिभिः ।
दिव्यमाल्यावृतं शुभ्रं तप्तकाञ्चनतोरणम् ॥ १७ ॥

अनेक बलवान् वानर हाथोंमें हथियार लिये उसकी ड्योढ़ीपर पहरा दे रहे थे। वह सुन्दर महल दिव्य मालाओंसे अलंकृत था और उसका बाहरी फाटक पक्के सोनेका बना हुआ था ॥ १७ ॥

सुग्रीवस्य गृहं रम्यं प्रविवेश महाबलः ।
अवार्यमाणः सौमित्रिर्महाभ्रमिव भास्करः ॥ १८ ॥

महाबली सुमित्राकुमार लक्ष्मणने सुग्रीवके उस रमणीय भवनमें प्रवेश किया। मानो सूर्यदेव महान् मेघके भीतर प्रविष्ट हुए हों। उस समय किसीने रोक-टोक नहीं की ॥ १८ ॥

स सप्त कक्ष्या धर्मात्मा यानासनसमावृताः ।
ददर्श सुमहद्गुप्तं ददर्शान्तःपुरं महत् ॥ १९ ॥

धर्मात्मा लक्ष्मणने सवारियों तथा विविध आसनोंसे सुशोभित उस भवनकी सात ड्योढ़ीयोंको पार करके बहुत ही गुप्त और विशाल अन्तःपुरको देखा ॥ १९ ॥

हैमराजतपर्यङ्कैर्बहुभिश्च वरासनैः ।
महार्हास्तरणोपेतैस्तत्र तत्र समावृतम् ॥ २० ॥

उसमें जहाँ-तहाँ चाँदी और सोनेके बहुत-से पलंग तथा अनेकानेक श्रेष्ठ आसन रखे हुए थे और उन सबपर बहुमूल्य बिछौने बिछे थे। उन सबसे वह अन्तःपुर सुसज्जित दिखायी देता था ॥ २० ॥

प्रविशन्नेव सततं शुश्राव मधुरस्वनम् ।
तन्त्रीगीतसमाकीर्णं समतालपदाक्षरम् ॥ २१ ॥

उसमें प्रवेश करते ही लक्ष्मणके कानोंमें संगीतकी मीठी तान सुनायी पड़ी, जो वहाँ निरन्तर गूँज रही थी। वीणाके लयपर कोई कोमल कण्ठसे गा रहा था। प्रत्येक पद और अक्षरका उच्चारण सम[1] तालका प्रदर्शन करते हुए हो रहा था ॥ २१ ॥

बह्वीश्च विविधाकारा रूपयौवनगर्विताः ।
स्त्रियः सुग्रीवभवने ददर्श स महाबलः ॥ २२ ॥

महाबली लक्ष्मणने सुग्रीवके उस अन्तःपुरमें अनेक रूपरंगकी बहुत-सी सुन्दरी स्त्रियाँ देखीं, जो रूप और यौवनके गर्वसे भरी हुई थीं ॥ २२ ॥

दृष्ट्वाभिजनसम्पन्नास्तत्र माल्यकृतस्रजः ।
वरमाल्यकृतव्यग्रा भूषणोत्तमभूषिताः ॥ २३ ॥
नातृप्तान् नाति चाव्यग्रान् नानुदात्तपरिच्छदान् ।
सुग्रीवानुचरांश्चापि लक्षयामास लक्ष्मणः ॥ २४ ॥

वे सब-की-सब उत्तम कुलमें उत्पन्न हुई थीं, फूलोंके गजरोंसे अलंकृत थीं, उत्तम पुष्पहारोंके निर्माणमें लगी हुई थीं और सुन्दर आभूषणोंसे विभूषित थीं। उन सबको देखकर लक्ष्मणने सुग्रीवके सेवकोंपर भी दृष्टिपात किया, जो अतृप्त या असंतुष्ट नहीं थे। स्वामीके कार्य सिद्ध करनेके लिये अत्यन्त फुर्तीकी भी उनमें कमी नहीं थी तथा उनके वस्त्र और आभूषण भी निम्न श्रेणीके नहीं थे ॥ २३-२४ ॥

कूजितं नूपुराणां च काञ्चीनां निःस्वनं तथा ।
स निशम्य ततः श्रीमान् सौमित्रिर्लज्जितोऽभवत् ॥ २५ ॥

नूपुरोंकी झनकार और करधनीकी खनखनाहट सुनकर श्रीमान् सुमित्राकुमार लज्जित हो गये (परायी स्त्रियोंपर दृष्टि पड़नेके कारण उन्हें स्वभावतः संकोच हुआ) ॥ २५ ॥

रोषवेगप्रकुपितः श्रुत्वा चाभरणस्वनम् ।
चकार ज्यास्वनं वीरो दिशः शब्देन पूरयन् ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् पुनः आभूषणोंकी झनकार सुनकर वीर लक्ष्मण रोषके आवेगसे और भी कुपित हो उठे और उन्होंने अपने धनुषपर टंकार दी, जिसकी ध्वनिसे समस्त दिशाएँ गूँज उठीं ॥

चारित्रेण महाबाहुरपकृष्टः स लक्ष्मणः ।
तस्थावेकान्तमाश्रित्य रामकोपसमन्वितः ॥ २७ ॥

रघुकुलोचित सदाचारका खयाल करके महाबाहु लक्ष्मण कुछ पीछे हट गये और एकान्तमें जाकर खड़े हो गये। श्रीरामचन्द्रजीके कार्यकी सिद्धिके लिये वहाँ कोई प्रयत्न होता न देख वे मन-ही-मन कुपित हो रहे थे ॥ २७ ॥

तेन चापस्वनेनाथ सुग्रीवः प्लवगाधिपः ।
विज्ञायागमनं त्रस्तः स चचाल वरासनात् ॥ २८ ॥

धनुषकी टंकार सुनकर वानरराज सुग्रीव समझ गये कि लक्ष्मण यहाँतक आ पहुँचे हैं। फिर तो वे भयसे संत्रस्त होकर अपना सिंहासन छोड़कर खड़े हो गये ॥ २८ ॥

अङ्गदेन यथा मह्यं पुरस्तात् प्रतिवेदितम् ।
सुव्यक्तमेष सम्प्राप्तः सौमित्रिर्भ्रातृवत्सलः ॥ २९ ॥

वे मन-ही-मन सोचने लगे कि अङ्गदने पहले मुझे जैसा बताया था, उसके अनुसार ये भ्रातृवत्सल सुमित्राकुमार लक्ष्मण अवश्य ही यहाँ आ गये ॥ २९ ॥

अङ्गदेन समाख्यातो ज्यास्वनेन च वानरः ।
बुबुधे लक्ष्मणं प्राप्तं मुखं चास्य व्यशुष्यत ॥ ३० ॥

अङ्गदके द्वारा उनके आगमनका समाचार तो उन्हें पहले

---

१. संगीतमें वह स्थान जहाँ गाने-बजानेवालोंका सिर या हाथ आप-से-आप हिल जाता है। यह स्थान तालके अनुसार निश्चित होता है। जैसे तितालेमें दूसरे तालपर और चौतालमें पहले तालपर सम होता है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न तालोंमें भिन्न-भिन्न स्थानोंपर सम होता है। वाद्योंका आरम्भ और गीतों तथा वाद्योंका अन्त इसी समपर होता है। परंतु गाने-बजानेके बीच-बीचमें भी सम बराबर आता रहता है।

ही मिल गया था। अब धनुषकी टंकारसे वानर सुग्रीवको इस बातका प्रत्यक्ष अनुभव हो गया कि लक्ष्मणने अवश्य यहाँ पदार्पण किया है। फिर तो उनका मुख सूख गया॥ ३०॥

ततस्तारां हरिश्रेष्ठः सुग्रीवः प्रियदर्शनाम्।
उवाच हितमव्यग्रस्त्राससम्भ्रान्तमानसः॥ ३१॥

भयके कारण वे मन-ही-मन घबरा उठे। (लक्ष्मणके सामने जानेका उन्हें साहस न हुआ।) तथापि किसी तरह धैर्य धारण करके वानरश्रेष्ठ सुग्रीव परम सुन्दरी तारासे हितकी बात बोले—॥ ३१॥

किं नु रुट्कारणं सुभ्रु प्रकृत्या मृदुमानसः।
सरोष इव सम्प्राप्तो येनायं राघवानुजः॥ ३२॥

'सुन्दरी! इनके रोषका क्या कारण हो सकता है? जिससे स्वभावतः कोमल चित्त होनेपर भी ये श्रीरघुनाथजीके छोटे भाई रुष्ट-से होकर यहाँ पधारे हैं॥ ३२॥

किं पश्यसि कुमारस्य रोषस्थानमनिन्दिते।
न खल्वकारणे कोपमाहरेन्नरपुंगवः॥ ३३॥

'अनिन्दिते! तुम्हारे देखनेमें कुमार लक्ष्मणके रोषका आधार क्या है? ये मनुष्योंमें श्रेष्ठ हैं। अतः बिना किसी कारणके निश्चय ही क्रोध नहीं कर सकते॥ ३३॥

यद्यस्य कृतमस्माभिर्बुध्यसे किंचिदप्रियम्।
तद्‌बुद्‌ध्या सम्प्रधार्याशु क्षिप्रमेवाभिधीयताम्॥ ३४॥

'यदि हमलोगोंने इनका कोई अपराध किया हो और तुम्हें उसका पता हो तो अपनी बुद्धिसे विचारकर शीघ्र ही बताओ॥ ३४॥

अथवा स्वयमेवैनं द्रष्टुमर्हसि भामिनि।
वचनैः सान्त्वयुक्तैश्च प्रसादयितुमर्हसि॥ ३५॥

'अथवा भामिनि! तुम स्वयं ही जाकर लक्ष्मणको देखो और सान्त्वनायुक्त बातें कहकर उन्हें प्रसन्न करनेका प्रयत्न करो॥

त्वद्दर्शने विशुद्धात्मा न स्म कोपं करिष्यति।
नहि स्त्रीषु महात्मानः क्वचित् कुर्वन्ति दारुणम्॥ ३६॥

'उनका हृदय शुद्ध है। तुम्हारे सामने वे क्रोध नहीं करेंगे;क्योंकि महात्मा पुरुष स्त्रियोंके प्रति कभी कठोर बर्ताव नहीं करते हैं॥ ३६॥

त्वया सान्त्वैरुपक्रान्तं प्रसन्नेन्द्रियमानसम्।
ततः कमलपत्राक्षं द्रक्ष्याम्यहमरिंदमम्॥ ३७॥

'जब तुम उनके पास जाकर मीठे वचनोंसे उन्हें शान्त कर दोगी और जब उनका मन स्वस्थ एवं इन्द्रियाँ प्रसन्न हो जायँगी, उस समय मैं उन शत्रुदमन कमलनयन लक्ष्मणका दर्शन करूँगा'॥ ३७॥

सा प्रस्खलन्ती मदविह्वलाक्षी
प्रलम्बकाञ्चीगुणहेमसूत्रा।
सलक्षणा लक्ष्मण संनिधानं
जगाम तारा नमिताङ्गयष्टिः॥ ३८॥

सुग्रीवके ऐसा कहनेपर शुभलक्षणा तारा लक्ष्मणके पास गयी। उसका पतला शरीर स्वाभाविक संकोच एवं विनयसे झुका हुआ था। उसके नेत्र मदसे चञ्चल हो रहे थे, पैर लड़खड़ा रहे थे और उसकी करधनीके सुवर्णमय सूत्र लटक रहे थे॥ ३८॥

स तां समीक्ष्यैव हरीशपत्नीं
तस्थावुदासीनतया महात्मा।
अवाङ्‌मुखोऽभून्मनुजेन्द्रपुत्रः
स्त्रीसंनिकर्षाद् विनिवृत्तकोपः॥ ३९॥

वानरराजकी पत्नी तारापर दृष्टि पड़ते ही राजकुमार महात्मा लक्ष्मण अपना मुँह नीचा करके उदासीन भावसे खड़े हो गये। स्त्रीके समीप होनेसे उनका क्रोध दूर हो गया॥

सा पानयोगाच्च निवृत्तलज्जा
दृष्टिप्रसादाच्च नरेन्द्रसूनोः।
उवाच तारा प्रणयप्रगल्भं
वाक्यं महार्थं परिसान्त्वरूपम्॥ ४०॥

मधुपानके कारण ताराकी नारीसुलभ लज्जा निवृत्त हो गयी थी। उसे राजकुमार लक्ष्मणकी दृष्टिमें कुछ प्रसन्नताका आभास मिला। इसलिये उसने स्नेहजनित निर्भीकताके साथ महान् अर्थसे युक्त यह सान्त्वनापूर्ण बात कही—॥ ४०॥

किं कोपमूलं मनुजेन्द्रपुत्र
कस्ते न संतिष्ठति वाङ्‌निदेशे।
कः शुष्कवृक्षं वनमापतन्तं
दावाग्निमासीदति निर्विशङ्कः॥ ४१॥

'राजकुमार! आपके क्रोधका क्या कारण है? कौन आपकी आज्ञाके अधीन नहीं है? कौन निडर होकर सूखे वृक्षोंसे भरे हुए वनके भीतर चारों ओर फैलते हुए दावानलमें प्रवेश कर रहा है?'॥ ४१॥

स तस्या वचनं श्रुत्वा सान्त्वपूर्वमशङ्कितः।
भूयः प्रणयदृष्टार्थं लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत्॥ ४२॥

ताराके इस वचनमें सान्त्वना भरी थी। उसमें अधिक प्रेमपूर्वक हृदयका भाव प्रकट किया गया था। उसे सुनकर लक्ष्मणके हृदयकी आशङ्का जाती रही। वे कहने लगे—॥

किमयं कामवृत्तस्ते लुप्तधर्मार्थसंग्रहः।
भर्ता भर्तृहिते युक्ते न चैनमवबुध्यसे॥ ४३॥

'अपने स्वामीके हितमें संलग्न रहनेवाली तारा! तुम्हारा यह पति विषय-भोगमें आसक्त होकर धर्म और अर्थके संग्रहका लोप कर रहा है। क्या तुम्हें इसकी इस अवस्थाका पता नहीं है? तुम इसे समझाती क्यों नहीं?॥ ४३॥

न चिन्तयति राज्यार्थं सोऽस्माञ्छोकपरायणान्।
सामात्यपरिषत् तारे काममेवोपसेवते॥ ४४॥

'तारे! सुग्रीव अपने राज्यकी स्थिरताके लिये ही प्रयास करता है। हमलोग शोकमें डूबे हुए हैं, परंतु हमारी इसे

तनिक भी चिन्ता नहीं होती है। यह अपने मन्त्रियों तथा राज-सभाके सदस्योंसहित केवल विषय-भोगोंका ही सेवन कर रहा है॥ ४४॥

स मासांश्चतुरः कृत्वा प्रमाणं प्लवगेश्वरः।
व्यतीतांस्तान् मदोदग्रो विहरन् नावबुध्यते॥ ४५॥

'वानरराज सुग्रीवने चार महीनोंकी अवधि निश्चित की थी। वे कभी बीत गये, परंतु वह मधुपानके मदसे अत्यन्त उन्मत्त होकर स्त्रियोंके साथ क्रीडा-विहार कर रहा है। उसे बीते हुए समयका पता ही नहीं है॥ ४५॥

नहि धर्मार्थसिद्ध्यर्थं पानमेवं प्रशस्यते।
पानादर्थश्च कामश्च धर्मश्च परिहीयते॥ ४६॥

'धर्म और अर्थकी सिद्धिके निमित्त प्रयत्न करनेवाले पुरुषके लिये इस तरह मद्यपान अच्छा नहीं माना जाता है; क्योंकि मद्यपानसे अर्थ, धर्म और काम तीनोंका नाश होता है॥ ४६॥

धर्मलोपो महांस्तावत् कृते ह्यप्रतिकुर्वतः।
अर्थलोपश्च मित्रस्य नाशे गुणवतो महान्॥ ४७॥

'मित्रके किये हुए उपकारका यदि अवसर आनेपर भी बदला न चुकाया जाय तो धर्मकी हानि तो होती ही है। गुणवान् मित्रके साथ मित्रताका नाता टूट जानेपर अपने अर्थको भी बहुत बड़ी हानि उठानी पड़ती है॥ ४७॥

मित्रं ह्यर्थगुणश्रेष्ठं सत्यधर्मपरायणम्।
तद्द्वयं तु परित्यक्तं न तु धर्मे व्यवस्थितम्॥ ४८॥

'मित्र दो प्रकारके होते हैं—एक तो अपने मित्रके अर्थसाधनमें तत्पर होता है और दूसरा सत्य एवं धर्मके ही आश्रित रहता है। तुम्हारे स्वामीने मित्रके दोनों ही गुणोंका परित्याग कर दिया है। वह न तो मित्रका कार्य सिद्ध करता है और न स्वयं ही धर्ममें स्थित है॥ ४८॥

तदेवं प्रस्तुते कार्ये कार्यमस्माभिरुत्तरम्।
तत् कार्यं कार्यतत्त्वज्ञे त्वमुदाहर्तुमर्हसि॥ ४९॥

'ऐसी स्थितिमें प्रस्तुत कार्यकी सिद्धिके लिये हमलोगोंको भविष्यमें क्या करना चाहिये? हमारे लिये जो समुचित कर्तव्य हो, उसे तुम्हीं बताओ; क्योंकि तुम कार्यके तत्त्वको जानती हो'॥

सा तस्य धर्मार्थसमाधियुक्तं
निशम्य वाक्यं मधुरस्वभावम्।
तारा गतार्थे मनुजेन्द्रकार्ये
विश्वासयुक्तं तमुवाच भूयः॥ ५०॥

लक्ष्मणका वचन धर्म और अर्थके निश्चयसे संयुक्त था। उससे उनके मधुर स्वभावका परिचय मिल रहा था। उसे सुनकर तारा भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके कार्यके विषयमें, जिसका प्रयोजन उसे ज्ञात हो चुका था, पुनः लक्ष्मणसे विश्वासके योग्य बात बोली—॥ ५०॥

न कोपकालः क्षितिपालपुत्र
न चापि कोपः स्वजने विधेयः।
त्वदर्थकामस्य जनस्य तस्य
प्रमादमप्यर्हसि वीर सोढुम्॥ ५१॥

'वीर राजकुमार! यह क्रोध करनेका समय नहीं है। आत्मीय जनोंपर क्रोध करना भी नहीं चाहिये। सुग्रीवके मनमें सदा आपका कार्य सिद्ध करनेकी इच्छा बनी रहती है। अतः यदि उनसे कोई भूल भी हो जाय तो उसे आपको क्षमा करना चाहिये॥

कोपं कथं नाम गुणप्रकृष्टः
कुमार कुर्यादपकृष्टसत्त्वे।
कस्त्वद्विधः कोपवशं हि गच्छेत्
सत्त्वावरुद्धस्तपसः प्रसूतिः॥ ५२॥

'कुमार! गुणोंमें श्रेष्ठ पुरुष किसी हीन गुणवाले प्राणीपर क्रोध कैसे कर सकता है? जो सत्त्वगुणसे अवरुद्ध होनेके कारण शास्त्र-विपरीत व्यापारमें लग नहीं सकता, अतएव जो सद्विचारको जन्म देनेवाला है, वह आप-जैसा कौन पुरुष क्रोधके वशीभूत हो सकता है?॥ ५२॥

जानामि कोपं हरिवीरबन्धो-
र्जानामि कार्यस्य च कालसङ्गम्।
जानामि कार्यं त्वयि यत्कृतं न-
स्तच्चापि जानामि यदत्र कार्यम्॥ ५३॥

'वानरवीर सुग्रीवके मित्र भगवान् श्रीरामके क्रोधका कारण मैं जानती हूँ। उनके कार्यमें जो विलम्ब हुआ है, उससे भी मैं अपरिचित नहीं हूँ। सुग्रीवका जो कार्य आपके अधीन था और जिसे आपलोगोंने पूरा किया है, उसका भी मुझे पता है तथा इस समय जो आपका कार्य प्रस्तुत है, उसके विषयमें हमलोगोंका क्या कर्तव्य है, इसका भी मुझे अच्छी तरह ज्ञान है॥ ५३॥

तच्चापि जानामि तथाविषह्यं
बलं नरश्रेष्ठ शरीरजस्य।
जानामि यस्मिंश्च जनेऽवबद्धं
कामेन सुग्रीवमसक्तमद्य॥ ५४॥

'नरश्रेष्ठ! इस शरीरमें उत्पन्न हुए कामका जो असह्य बल है, उसको भी मैं जानती हूँ तथा उस कामद्वारा आबद्ध होकर सुग्रीव जहाँ आसक्त हो रहे हैं, वह भी मुझे मालूम है। साथ ही इस बातसे भी मैं परिचित हूँ कि कामासक्तिके कारण ही इन दिनों सुग्रीवका मन दूसरे किसी काममें नहीं लगता॥

न कामतन्त्रे तव बुद्धिरस्ति
त्वं वै यथा मन्युवशं प्रपन्नः।
न देशकालौ हि यथार्थधर्मा-
ववेक्षते कामरतिर्मनुष्यः॥ ५५॥

'आप जो क्रोधके वशीभूत हो गये हैं, इससे जान पड़ता है कि कामके अधीन हुए पुरुषकी स्थितिका आपको बिलकुल ज्ञान नहीं है, 'वानरकी तो बात ही क्या है? कामासक्त मनुष्यको भी देश, काल, अर्थ और धर्मका ज्ञान नहीं रह जाता—उनकी

और उसकी दृष्टि नहीं जाती है ॥ ५५ ॥

तं कामवृत्तं मम संनिकृष्टं
कामाभियोगाच्च विमुक्तलज्जम्।
क्षमस्व तावत् परवीरहन्त-
स्त्वद्भ्रातरं वानरवंशनाथम् ॥ ५६ ॥

'विपक्षी वीरोंका विनाश करनेवाले राजकुमार! वानरराज सुग्रीव विषय-भोगमें आसक्त होकर इस समय मेरे ही पास थे। कामके आवेशमें उन्होंने अपनी लज्जाका परित्याग कर दिया है, तो भी उन्हें अपना भाई समझकर क्षमा कीजिये ॥ ५६ ॥

महर्षयो धर्मतपोऽभिरामाः
कामानुकामाः प्रतिबद्धमोहाः।
अयं प्रकृत्या चपलः कपिस्तु
कथं न सज्जेत सुखेषु राजा ॥ ५७ ॥

'जो निरन्तर धर्म और तपस्यामें ही संलग्न रहते हैं, जिन्होंने मोहको अवरुद्ध कर दिया है—अविवेकको दूर भगा दिया है, वे महर्षि भी कभी-कभी विषयाभिलाषी हो जाते हैं; फिर जो स्वभावसे ही चञ्चल वानर हैं, वह राजा सुग्रीव सुख-भोगमें क्यों न आसक्त हों?' ॥ ५७ ॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं महार्थं
सा वानरी लक्ष्मणमप्रमेयम्।
पुनः सखेदं मदविह्वलाक्षी
भर्तुर्हितं वाक्यमिदं बभाषे ॥ ५८ ॥

अप्रमेय शक्तिशाली लक्ष्मणसे इस प्रकार महान् अर्थसे युक्त बात कहकर मदसे चञ्चल नेत्रवाली वानर-पत्नी ताराने पुनः खेदपूर्वक स्वामीके लिये यह हितकर वचन कहा— ॥ ५८ ॥

उद्योगस्तु चिराज्ञप्तः सुग्रीवेण नरोत्तम।
कामस्यापि विधेयेन तवार्थप्रतिसाधने ॥ ५९ ॥

'नरश्रेष्ठ! यद्यपि सुग्रीव इस समय कामके गुलाम हो रहे हैं, तथापि इन्होंने आपका कार्य सिद्ध करनेके लिये बहुत पहलेसे ही उद्योग आरम्भ करनेकी आज्ञा दे रखी है ॥ ५९ ॥

आगता हि महावीर्या हरयः कामरूपिणः।
कोटीः शतसहस्राणि नानानगनिवासिनः ॥ ६० ॥

'इसके फलस्वरूप इस समय विभिन्न पर्वतोंपर निवास करनेवाले लाखों और करोड़ों वानर, जो इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ एवं महान् पराक्रमी हैं, यहाँ उपस्थित हुए हैं ॥ ६० ॥

तदागच्छ महाबाहो चारित्रं रक्षितं त्वया।
अच्छलं मित्रभावेन सतां दारावलोकनम् ॥ ६१ ॥

'महाबाहो! (दूसरेकी स्त्रियोंको देखना अनुचित समझ कर जो आप भीतर नहीं आये, बाहर ही खड़े रह गये—इसके द्वारा) आपने सदाचारकी रक्षा की है; अतः अब भीतर आइये। मित्रभावसे स्त्रियोंकी ओर देखना (उनके प्रति माता-बहन आदिका भाव रखकर दृष्टि डालना) सत्पुरुषोंके लिये अधर्म नहीं है' ॥ ६१ ॥

तारया चाभ्यनुज्ञातस्त्वरया वापि चोदितः।
प्रविवेश महाबाहुरभ्यन्तरमरिंदमः ॥ ६२ ॥

ताराके आग्रह और कार्यकी जल्दीसे प्रेरित होकर शत्रुदमन महाबाहु लक्ष्मण सुग्रीवके महलके भीतर गये ॥

ततः सुग्रीवमासीनं काञ्चने परमासने।
महार्हास्तरणोपेते ददर्शादित्यसंनिभम् ॥ ६३ ॥

वहाँ जाकर उन्होंने देखा, एक सोनेके सिंहासनपर बहुमूल्य बिछौना बिछा है और वानरराज सुग्रीव सूर्यतुल्य तेजस्वी रूप धारण किये उसके ऊपर विराजमान हैं ॥ ६३ ॥

दिव्याभरणचित्राङ्गं दिव्यरूपं यशस्विनम्।
दिव्यमाल्याम्बरधरं महेन्द्रमिव दुर्जयम् ॥ ६४ ॥

उस समय दिव्य आभूषणोंके कारण उनके शरीरकी विचित्र शोभा हो रही थी। दिव्यरूपधारी यशस्वी सुग्रीव दिव्य मालाएँ और दिव्य वस्त्र धारण करके दुर्जय वीर देवराज इन्द्रके समान दिखायी दे रहे थे ॥ ६४ ॥

दिव्याभरणमाल्याभिः प्रमदाभिः समावृतम्।
संरब्धतररक्ताक्षो बभूवान्तकसंनिभः ॥ ६५ ॥

दिव्य आभूषणों और मालाओंसे अलंकृत युवती स्त्रियाँ उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़ी थीं। उन्हें इस अवस्थामें देख लक्ष्मणके नेत्र रोषावेशके कारण लाल हो गये। वे उस समय यमराजके समान भयंकर प्रतीत होने लगे ॥ ६५ ॥

रुमां तु वीरः परिरभ्य गाढं
वरासनस्थो वरहेमवर्णः।
ददर्श सौमित्रिमदीनसत्त्वं
विशालनेत्रः स विशालनेत्रम् ॥ ६६ ॥

सुन्दर सुवर्णके समान कान्ति और विशाल नेत्रवाले वीर सुग्रीव अपनी पत्नी रुमाको गाढ आलिङ्गन-पाशमें बाँधे हुए एक श्रेष्ठ आसनपर विराजमान थे। उसी अवस्थामें उन्होंने उदार हृदय और विशाल नेत्रवाले सुमित्राकुमार लक्ष्मणको देखा ॥ ६६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें तैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

—★—

चतुस्त्रिंशः सर्गः

सुग्रीवका लक्ष्मणके पास जाना और लक्ष्मणका उन्हें फटकारना

तमप्रतिहतं क्रुद्धं प्रविष्टं पुरुषर्षभम्।
सुग्रीवो लक्ष्मणं दृष्ट्वा बभूव व्यथितेन्द्रियः॥ १॥

लक्ष्मण बेरोक-टोक भीतर घुस आये थे। उन पुरुष-शिरोमणिको क्रोधसे भरा देख सुग्रीवकी सारी इन्द्रियाँ व्यथित हो उठीं॥ १॥

क्रुद्धं निःश्वसमानं तं प्रदीप्तमिव तेजसा।
भ्रातुर्व्यसनसंतप्तं दृष्ट्वा दशरथात्मजम्॥ २॥
उत्पपात हरिश्रेष्ठो हित्वा सौवर्णमासनम्।
महान् महेन्द्रस्य यथा स्वलंकृत इव ध्वजः॥ ३॥

दशरथपुत्र लक्ष्मण रोषपूर्वक लंबी साँस खींच रहे थे और तेजसे प्रज्वलित-से जान पड़ते थे। अपने भाईके कष्टसे उनके मनमें बड़ा संताप था। उन्हें सामने आया देख वानरश्रेष्ठ सुग्रीव सुवर्णका सिंहासन छोड़कर कूद पड़े, मानो देवराज इन्द्रका भलीभाँति सजाया हुआ महान् ध्वज आकाशसे पृथ्वीपर उतर आया हो॥ २-३॥

उत्पतन्तमनूत्पेतू रुमाप्रभृतयः स्त्रियः।
सुग्रीवं गगने पूर्णं चन्द्रं तारागणा इव॥ ४॥

सुग्रीवके उतरते ही रुमा आदि स्त्रियाँ भी उनके पीछे उस सिंहासनसे उतरकर खड़ी हो गयीं। जैसे आकाशमें पूर्ण चन्द्रमाका उदय होनेपर तारोंके समुदाय भी उदित हो गये हों॥

संरक्तनयनः श्रीमान् संचचार कृताञ्जलिः।
बभूवावस्थितस्तत्र कल्पवृक्षो महानिव॥ ५॥

श्रीमान् सुग्रीवके नेत्र मदसे लाल हो रहे थे। वे टहलते हुए लक्ष्मणके पास आये और हाथ जोड़कर खड़े हो गये। लक्ष्मण वहाँ महान् कल्पवृक्षके समान स्थित थे॥ ५॥

रुमाद्वितीयं सुग्रीवं नारीमध्यगतं स्थितम्।
अब्रवील्लक्ष्मणः क्रुद्धः सतारं शशिनं यथा॥ ६॥

सुग्रीवके साथ उनकी पत्नी रुमा भी थी। वे स्त्रियोंके बीचमें खड़े होकर तारिकाओंसे घिरे हुए चन्द्रमाकी भाँति शोभा पाते थे। उन्हें देखकर लक्ष्मणने क्रोधपूर्वक कहा— ॥ ६॥

सत्त्वाभिजनसम्पन्नः सानुक्रोशो जितेन्द्रियः।
कृतज्ञः सत्यवादी च राजा लोके महीयते॥ ७॥

'वानरराज! धैर्यवान्, कुलीन, दयालु, जितेन्द्रिय और सत्यवादी राजाका ही संसारमें आदर होता है॥ ७॥

यस्तु राजा स्थितोऽधर्मे मित्राणामुपकारिणाम्।
मिथ्या प्रतिज्ञां कुरुते को नृशंसतरस्ततः॥ ८॥

'जो राजा अधर्ममें स्थित होकर उपकारी मित्रोंके सामने की हुई अपनी प्रतिज्ञाको झूठी कर देता है, उससे बढ़कर अत्यन्त क्रूर कौन होगा?॥ ८॥

शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं तु गवानृते।
आत्मानं स्वजनं हन्ति पुरुषः पुरुषानृते॥ ९॥

'अश्वदानकी प्रतिज्ञा करके उसकी पूर्ति न करनेपर 'अश्वानृत' (अश्वविषयक असत्य) नामक पाप होता है। यह पाप बन जानेपर मनुष्य सौ अश्वोंकी हत्याके पापका भागी होता है। इसी प्रकार गोदानविषयक प्रतिज्ञाको मिथ्या कर देनेपर सहस्र गौओंके वधका पाप लगता है तथा किसी पुरुषके समक्ष उसका कार्य पूर्ण कर देनेकी प्रतिज्ञा करके जो उसकी पूर्ति नहीं करता है, वह पुरुष आत्मघात और स्वजन-वधके पापका भागी होता है (फिर जो परम पुरुष श्रीरामके समक्ष की हुई प्रतिज्ञाको मिथ्या करता है, उसके पापकी कोई इयत्ता नहीं हो सकती)॥ ९॥

पूर्वं कृतार्थो मित्राणां न तत्प्रतिकरोति यः।
कृतघ्नः सर्वभूतानां स वध्यः प्लवगेश्वर॥ १०॥

'वानरराज! जो पहले मित्रोंके द्वारा अपना कार्य सिद्ध करके बदलेमें उन मित्रोंका कोई उपकार नहीं करता है, वह कृतघ्न एवं सब प्राणियोंके लिये वध्य है॥ १०॥

गीतोऽयं ब्रह्मणा श्लोकः सर्वलोकनमस्कृतः।
दृष्ट्वा कृतघ्नं क्रुद्धेन तन्निबोध प्लवंगम॥ ११॥

'कपिराज! किसी कृतघ्नको देखकर कुपित हुए ब्रह्माजीने सब लोगोंके लिये आदरणीय यह एक श्लोक कहा है, इसे सुनो॥ ११॥

गोघ्ने चैव सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः॥ १२॥

'गोहत्यारे, शराबी, चोर और व्रत-भंग करनेवाले पुरुषके लिये सत्पुरुषोंने प्रायश्चित्तका विधान किया है; किंतु कृतघ्नके उद्धारका कोई उपाय नहीं है॥ १२॥

अनार्यस्त्वं कृतघ्नश्च मिथ्यावादी च वानर।
पूर्वं कृतार्थो रामस्य न तत्प्रतिकरोषि यत्॥ १३॥

'वानर! तुम अनार्य, कृतघ्न और मिथ्यावादी हो; क्योंकि श्रीरामचन्द्रजीकी सहायतासे तुमने पहले अपना काम तो बना लिया, किंतु जब उनके लिये सहायता करनेका अवसर आया, तब तुम कुछ नहीं करते॥ १३॥

ननु नाम कृतार्थेन त्वया रामस्य वानर।
सीताया मार्गणे यत्नः कर्तव्यः कृतमिच्छता॥ १४॥

'वानर! तुम्हारा मनोरथ सिद्ध हो चुका है; अतः अब तुम्हें प्रत्युपकारकी इच्छासे श्रीरामकी पत्नी सीताकी खोजके लिये प्रयत्न करना चाहिये॥ १४॥

स त्वं ग्राम्येषु भोगेषु सक्तो मिथ्याप्रतिश्रवः।
न त्वां रामो विजानीते सर्पं मण्डूकराविणम्॥ १५॥

'परंतु तुम्हारी दशा यह है कि अपनी प्रतिज्ञाको झूठी करके ग्राम्यभोगोंमें आसक्त हो रहे हो। श्रीरामचन्द्रजी यह नहीं जानते हैं कि तुम मेढककी-सी बोली बोलनेवाले सर्प

हो (जैसे साँप अपने मुँहमें किसी मेढकको जब दबा लेता है, तब केवल मेढक ही बोलता है, दूरके लोग उसे मेढक ही समझते हैं; परंतु वह वास्तवमें सर्प होता है। वही दशा तुम्हारी है। तुम्हारी बातें कुछ और हैं और स्वरूप कुछ और) ॥ १५ ॥

महाभागेन रामेण पापः करुणवेदिना।
हरीणां प्रापितो राज्यं त्वं दुरात्मा महात्मना ॥ १६ ॥

'महाभाग श्रीरामचन्द्रजी परम महात्मा तथा दयासे द्रवित हो जानेवाले हैं; अतएव उन्होंने तुम-जैसे पापी और दुरात्माको भी वानरोंके राज्यपर बिठा दिया ॥ १६ ॥

कृतं चेन्नातिजानीषे राघवस्य महात्मनः।
सद्यस्त्वं निशितैर्बाणैर्हतो द्रक्ष्यसि वालिनम् ॥ १७ ॥

'यदि तुम महात्मा रघुनाथजीके किये हुए उपकारको नहीं समझोगे तो शीघ्र ही उनके तीखे बाणोंसे मारे जाकर वालीका दर्शन करोगे ॥ १७ ॥

न स संकुचितः पन्था येन वाली हतो गतः।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा वालिपथमन्वगाः ॥ १८ ॥

'सुग्रीव! वाली मारा जाकर जिस रास्तेसे गया है, वह आज भी बंद नहीं हुआ है। इसलिये तुम अपनी प्रतिज्ञापर डटे रहो। वालीके मार्गका अनुसरण न करो ॥ १८ ॥

न नूनमिक्ष्वाकुवरस्य कार्मुका-
च्छरांश्च तान् पश्यसि वज्रसंनिभान्।
ततः सुखं नाम विषेवसे सुखी
न रामकार्यं मनसाप्यवेक्षसे ॥ १९ ॥

'इक्ष्वाकुवंशशिरोमणि श्रीरामचन्द्रजीके धनुषसे छूटे हुए उन वज्रतुल्य बाणोंकी ओर निश्चय ही तुम्हारी दृष्टि नहीं जा रही है। इसीलिये तुम ग्राम्य सुखका सेवन कर रहे हो और उसीमें सुख मानकर श्रीरामचन्द्रजीके कार्यका मनसे भी विचार नहीं करते हो' ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें चौंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशः सर्गः

ताराका लक्ष्मणको युक्तियुक्त वचनोंद्वारा शान्त करना

तथा ब्रुवाणं सौमित्रिं प्रदीप्तमिव तेजसा।
अब्रवील्लक्ष्मणं तारा ताराधिपनिभानना ॥ १ ॥

सुमित्राकुमार लक्ष्मण अपने तेजके कारण प्रज्वलित-से हो रहे थे। वे जब उपर्युक्त बात कह चुके, तब चन्द्रमुखी तारा उनसे बोली— ॥ १ ॥

नैवं लक्ष्मण वक्तव्यो नायं परुषमर्हति।
हरीणामीश्वरः श्रोतुं तव वक्त्राद् विशेषतः ॥ २ ॥

'कुमार लक्ष्मण! आपको सुग्रीवसे ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये। ये वानरोंके राजा हैं; अतः इनके प्रति कठोर वचन बोलना उचित नहीं है। विशेषतः आप-जैसे सुहृद्के मुखसे तो ये कदापि कटु वचन सुननेके अधिकारी नहीं हैं ॥

नैवाकृतज्ञः सुग्रीवो न शठो नापि दारुणः।
नैवानृतकथो वीर न जिह्मश्च कपीश्वरः ॥ ३ ॥

'वीर! कपिराज सुग्रीव न कृतघ्न हैं, न शठ हैं, न क्रूर हैं, न असत्यवादी हैं और न कुटिल ही हैं ॥ ३ ॥

उपकारं कृतं वीरो नाप्ययं विस्मृतः कपिः।
रामेण वीर सुग्रीवो यदन्यैर्दुष्करं रणे ॥ ४ ॥

'वीर लक्ष्मण! श्रीरामचन्द्रजीने इनका जो उपकार किया है, वह युद्धमें दूसरोंके लिये दुष्कर है। उसे इन वीर कपिराजने कभी भुलाया नहीं है ॥ ४ ॥

रामप्रसादात् कीर्तिं च कपिराज्यं च शाश्वतम्।
प्राप्तवानिह सुग्रीवो रुमां मां च परंतप ॥ ५ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले सुमित्रानन्दन! श्रीरामचन्द्रजीके कृपा-प्रसादसे ही सुग्रीवने वानरोंके अक्षय राज्यको, यशको, रुमाको तथा मुझको भी प्राप्त किया है ॥ ५ ॥

सुदुःखशयितः पूर्वं प्राप्येदं सुखमुत्तमम्।
प्राप्तकालं न जानीते विश्वामित्रो यथा मुनिः ॥ ६ ॥

'पहले इन्होंने बड़ा दुःख उठाया है। अब इस उत्तम सुखको पाकर ये इसमें ऐसे रम गये कि इन्हें प्राप्त हुए समयका ज्ञान ही नहीं रहा। ठीक उसी तरह, जैसे विश्वामित्र मुनिको मेनकामें आसक्त हो जानेके कारण समयकी सुध-बुध नहीं रह गयी थी* ॥ ६ ॥

घृताच्यां किल संसक्तो दश वर्षाणि लक्ष्मण।
अहोऽमन्यत धर्मात्मा विश्वामित्रो महामुनिः ॥ ७ ॥

'लक्ष्मण! कहते हैं, धर्मात्मा महामुनि विश्वामित्रने घृताची (मेनका) नामक अप्सरामें आसक्त होनेके कारण दस वर्षके समयको एक दिन ही माना था ॥ ७ ॥

स हि प्राप्तं न जानीते कालं कालविदां वरः।
विश्वामित्रो महातेजाः किं पुनर्यः पृथग्जनः ॥ ८ ॥

'कालका ज्ञान रखनेवालोंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी विश्वामित्रको

* यह प्रसंग बालकाण्डके तिरसठवें सर्गमें आया है।

भी जब भोगासक्त होनेपर कालका ज्ञान नहीं रह गया, तब फिर दूसरे साधारण प्राणीको कैसे रह सकता है ? ॥ ८ ॥

देहधर्मगतस्यास्य परिश्रान्तस्य लक्ष्मण।
अवितृप्तस्य कामेषु रामः क्षन्तुमिहार्हति॥ ९॥

'कुमार लक्ष्मण! आहार, निद्रा और मैथुन आदि जो देहके धर्म हैं, (जो पशुओंमें भी समानरूपसे पाये जाते हैं) उनमें स्थित हुए ये सुग्रीव पहले तो चिरकालतक दुःख भोगनेके कारण थके-माँदे एवं खिन्न थे। अब भगवान् श्रीरामकी कृपासे इन्हें जो काम-भोग प्राप्त हुए हैं, उनसे अभीतक इनकी तृप्ति नहीं हुई (इसीलिये इनसे कुछ असावधानी हो गयी); अतः परम कृपालु श्रीरघुनाथजीको यहाँ इनका अपराध क्षमा करना चाहिये॥ ९॥

न च रोषवशं तात गन्तुमर्हसि लक्ष्मण।
निश्चयार्थमविज्ञाय सहसा प्राकृतो यथा॥ १०॥

'तात लक्ष्मण! आपको यथार्थ बात जाने बिना साधारण मनुष्यकी भाँति सहसा क्रोधके अधीन नहीं होना चाहिये॥ १०॥

सत्त्वयुक्ता हि पुरुषास्त्वद्विधाः पुरुषर्षभ।
अविमृश्य न रोषस्य सहसा यान्ति वश्यताम्॥ ११॥

'पुरुषप्रवर! आप-जैसे सत्त्वगुणसम्पन्न पुरुष विचार किये बिना ही सहसा रोषके वशीभूत नहीं होते हैं॥ ११॥

प्रसादये त्वां धर्मज्ञ सुग्रीवार्थे समाहिता।
महान् रोषसमुत्पन्नः संरम्भस्त्यज्यतामयम्॥ १२॥

'धर्मज्ञ! मैं एकाग्र हृदयसे सुग्रीवके लिये आपसे कृपाकी याचना करती हूँ। आप क्रोधसे उत्पन्न हुए इस महान् क्षोभका परित्याग कीजिये॥ १२॥

रुमां मां चाङ्गदं राज्यं धनधान्यपशूनि च।
रामप्रियार्थं सुग्रीवस्त्यजेदिति मतिर्मम॥ १३॥

'मेरा तो ऐसा विश्वास है कि सुग्रीव श्रीरामचन्द्रजीका प्रिय करनेके लिये रुमाका, मेरा, कुमार अङ्गदका तथा धन-धान्य और पशुओंसहित सम्पूर्ण राज्यका भी परित्याग कर सकते हैं॥ १३॥

समानेष्यति सुग्रीवः सीतया सह राघवम्।
शशाङ्कमिव रोहिण्या हत्वा तं राक्षसाधमम्॥ १४॥

'सुग्रीव उस अधम राक्षसका वध करके श्रीरामको सीतासे उसी तरह मिलायेंगे, जैसे चन्द्रमाका रोहिणीके साथ संयोग हुआ हो॥ १४॥

शतकोटिसहस्राणि लङ्कायां किल रक्षसाम्।
अयुतानि च षट्त्रिंशत्सहस्राणि शतानि च॥ १५॥

'कहते हैं कि लङ्कामें सौ हजार करोड़, छत्तीस अयुत, छत्तीस हजार और छत्तीस सौ राक्षस रहते हैं *॥ १५॥

अहत्वा तांश्च दुर्धर्षान् राक्षसान् कामरूपिणः।
न शक्यो रावणो हन्तुं येन सा मैथिली हृता॥ १६॥

'वे सब-के-सब राक्षस इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले तथा दुर्जय हैं। उन सबका संहार किये बिना रावणका, जिसने मिथिलेशकुमारी सीताका अपहरण किया है, वध नहीं हो सकता॥ १६॥

ते न शक्या रणे हन्तुमसहायेन लक्ष्मण।
रावणः क्रूरकर्मा च सुग्रीवेण विशेषतः॥ १७॥

'लक्ष्मण! किसीकी सहायता लिये बिना अकेले किसी वीरके द्वारा न तो उन राक्षसोंका संग्राममें वध किया जा सकता है और न क्रूरकर्मा रावणका ही। इसलिये सुग्रीवसे सहायता लेनेकी विशेष आवश्यकता है॥ १७॥

एवमाख्यातवान् वाली स ह्यभिज्ञो हरीश्वरः।
आगमस्तु न मे व्यक्तः श्रवात् तस्य ब्रवीम्यहम्॥ १८॥

'वानरराज वाली लङ्काके राक्षसोंकी इस संख्यासे परिचित थे, उन्होंने मुझे उनकी इस तरह गणना बतायी थी। रावणने इतनी सेनाका संग्रह कैसे किया ? यह तो मुझे नहीं मालूम है। किंतु इस संख्याको मैंने उनके मुँहसे सुना था। वह इस समय मैं आपको बता रही हूँ॥ १८॥

त्वत्सहायनिमित्तं हि प्रेषिता हरिपुङ्गवाः।
आनेतुं वानरान् युद्धे सुबहून् हरिपुङ्गवान्॥ १९॥

'आपकी सहायताके लिये सुग्रीवने बहुतेरे श्रेष्ठ वानरोंको युद्धके निमित्त असंख्य वानर वीरोंकी सेना एकत्र करनेके लिये भेज रखा है॥ १९॥

तांश्च प्रतीक्षमाणोऽयं विक्रान्तान् सुमहाबलान्।
राघवस्यार्थसिद्ध्यर्थं न निर्याति हरीश्वरः॥ २०॥

'वानरराज सुग्रीव उन महाबली और पराक्रमी वीरोंके आनेकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। अतएव भगवान् श्रीरामका कार्य सिद्ध करनेके लिये अभी नगरसे बाहर नहीं निकल सके हैं॥ २०॥

कृता सुसंस्था सौमित्रे सुग्रीवेण पुरा यथा।
अद्य तैर्वानरैः सर्वैरागन्तव्यं महाबलैः॥ २१॥

'सुमित्रानन्दन! सुग्रीवने उन सबके एकत्र होनेके लिये पहलेसे ही जो अवधि निश्चित कर रखी है, उसके अनुसार उन समस्त महाबली वानरोंको आज ही यहाँ उपस्थित हो जाना चाहिये॥ २१॥

ऋक्षकोटिसहस्राणि गोलाङ्गूलशतानि च।
अद्य त्वामुपयास्यन्ति जहि कोपमरिंदम।
कोट्योऽनेकास्तु काकुत्स्थ कपीनां दीप्ततेजसाम्॥ २२॥

'शत्रुदमन लक्ष्मण! आज आपकी सेवामें कोटि सहस्र (दस अरब) रीछ, सौ करोड़ (एक अरब) लंगूर तथा और भी बढ़े हुए तेजवाले कई करोड़ वानर उपस्थित होंगे। इसलिये आप क्रोधको त्याग दीजिये॥ २२॥

तव हि मुखमिदं निरीक्ष्य कोपात्
क्षतजसमे नयने निरीक्षमाणाः ।
हरिवरवनिता न यान्ति शान्तिं
प्रथमभयस्य हि शङ्किताः स्म सर्वाः ॥ २३ ॥

'आपका मुख क्रोधसे तमतमा उठा है और आँखें रोषसे लाल हो गयी हैं। यह सब देखकर हम वानरराजकी स्त्रियोंको शान्ति नहीं मिल रही है। हम सबको प्रथम भय (वालिवध) के समान ही किसी अनिष्टकी आशङ्का हो रही है' ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें पैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशः सर्गः

सुग्रीवका अपनी लघुता तथा श्रीरामकी महत्ता बताते हुए लक्ष्मणसे क्षमा माँगना और लक्ष्मणका उनकी प्रशंसा करके उन्हें अपने साथ चलनेके लिये कहना

इत्युक्तस्तारया वाक्यं प्रश्रितं धर्मसंहितम् ।
मृदुस्वभावः सौमित्रिः प्रतिजग्राह तद्वचः ॥ १ ॥

ताराने जब इस प्रकार धर्मके अनुकूल विनययुक्त बात कही, तब कोमल स्वभाववाले सुमित्राकुमार लक्ष्मणने उसे मान लिया (क्रोधको त्याग दिया) ॥ १ ॥

तस्मिन् प्रतिगृहीते तु वाक्ये हरिगणेश्वरः ।
लक्ष्मणात् सुमहत्त्रासं वस्त्रं क्लिन्नमिवात्यजत् ॥ २ ॥

उनके द्वारा ताराकी बात मान ली जानेपर वानरयूथपति सुग्रीवने लक्ष्मणसे प्राप्त होनेवाले महान् भयको भीगे हुए वस्त्रकी भाँति त्याग दिया ॥ २ ॥

ततः कण्ठगतं माल्यं चित्रं बहुगुणं महत् ।
चिच्छेद विमदश्चासीत् सुग्रीवो वानरेश्वरः ॥ ३ ॥

तदनन्तर वानरराज सुग्रीवने अपने कण्ठमें पड़ी हुई फूलोंकी विचित्र, विशाल एवं बहुगुणसम्पन्न माला तोड़ डाली और वे मदसे रहित हो गये ॥ ३ ॥

स लक्ष्मणं भीमबलं सर्ववानरसत्तमः ।
अब्रवीत् प्रश्रितं वाक्यं सुग्रीवः सम्प्रहर्षयन् ॥ ४ ॥

फिर समस्त वानरोंमें शिरोमणि सुग्रीवने भयंकर बलशाली लक्ष्मणका हर्ष बढ़ाते हुए उनसे यह विनययुक्त बात कही— ॥ ४ ॥

प्रणष्टा श्रीश्च कीर्तिश्च कपिराज्यं च शाश्वतम् ।
रामप्रसादात् सौमित्रे पुनश्चाप्तमिदं मया ॥ ५ ॥

'सुमित्राकुमार ! मेरी श्री, कीर्ति तथा सदासे चला आता हुआ वानरोंका राज्य—ये सब नष्ट हो चुके थे। भगवान् श्रीरामकी कृपासे ही मुझे पुनः इन सबकी प्राप्ति हुई है ॥ ५ ॥

कः शक्तस्तस्य देवस्य ख्यातस्य स्वेन कर्मणा ।
तादृशं प्रतिकुर्वीत अंशेनापि नृपात्मज ॥ ६ ॥

'राजकुमार ! वे भगवान् श्रीराम अपने कर्मोंसे ही सर्वत्र विख्यात हैं। उनके उपकारका वैसा ही बदला अंशमात्रसे भी कौन चुका सकता है ? ॥ ६ ॥

सीतां प्राप्स्यति धर्मात्मा वधिष्यति च रावणम् ।
सहायमात्रेण मया राघवः स्वेन तेजसा ॥ ७ ॥

'धर्मात्मा श्रीराम अपने ही तेजसे रावणका वध करेंगे और सीताको प्राप्त कर लेंगे। मैं तो उनका एक तुच्छ सहायकमात्र रहूँगा ॥ ७ ॥

सहायकृत्यं किं तस्य येन सप्त महाद्रुमाः ।
गिरिश्च वसुधा चैव बाणेनैकेन दारिताः ॥ ८ ॥

'जिन्होंने एक ही बाणसे सात बड़े-बड़े ताल वृक्ष, पर्वत, पृथ्वी, पाताल और वहाँ रहनेवाले दैत्योंको भी विदीर्ण कर दिया था, उनको दूसरे किसी सहायककी आवश्यकता भी क्या है ? ॥ ८ ॥

धनुर्विस्फारमाणस्य यस्य शब्देन लक्ष्मण ।
सशैला कम्पिता भूमिः सहायैः किं नु तस्य वै ॥ ९ ॥

'लक्ष्मण ! जिनके धनुष खींचते समय उसकी टंकारसे पर्वतोंसहित पृथ्वी काँप उठी थी, उन्हें सहायकोंसे क्या लेना है ? ॥ ९ ॥

अनुयात्रां नरेन्द्रस्य करिष्येऽहं नरर्षभ ।
गच्छतो रावणं हन्तुं वैरिणं सपुरस्सरम् ॥ १० ॥

'नरश्रेष्ठ ! मैं तो वैरी रावणका वध करनेके लिये अग्रगामी सैनिकोंसहित यात्रा करनेवाले महाराज श्रीरामके पीछे-पीछे चलूँगा ॥ १० ॥

यदि किंचिदतिक्रान्तं विश्वासात् प्रणयेन वा ।
प्रेष्यस्य क्षमितव्यं मे न कश्चिन्नापराध्यति ॥ ११ ॥

'विश्वास अथवा प्रेमके कारण यदि कोई अपराध बन गया हो तो मुझ दासके उस अपराधको क्षमा कर देना चाहिये; क्योंकि ऐसा कोई सेवक नहीं है, जिससे कभी कोई अपराध होता ही न हो' ॥ ११ ॥

इति तस्य ब्रुवाणस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ।
अभवल्लक्ष्मणः प्रीतः प्रेम्णा चेदमुवाच ह ॥ १२ ॥

महात्मा सुग्रीवके ऐसा कहनेपर लक्ष्मण प्रसन्न हो गये और बड़े प्रेमसे इस प्रकार बोले— ॥ १२ ॥

सर्वथा हि मम भ्राता सनाथो वानरेश्वर ।
त्वया नाथेन सुग्रीव प्रश्रितेन विशेषतः ॥ १३ ॥

'वानरराज सुग्रीव ! विशेषतः तुम-जैसे विनयशील

सहायकको पाकर मेरे भाई श्रीराम सर्वथा सनाथ हैं ॥ १३ ॥

यस्ते प्रभावः सुग्रीव यच्च ते शौचमीदृशम्।
अर्हस्त्वं कपिराज्यस्य श्रियं भोक्तुमनुत्तमाम्॥ १४ ॥

'सुग्रीव! तुम्हारा जो प्रभाव है और तुम्हारे हृदयमें जो इतना शुद्ध भाव है, इससे तुम वानरराज्यकी परम उत्तम लक्ष्मीका सदा ही उपभोग करनेके अधिकारी हो॥ १४॥

सहायेन च सुग्रीव त्वया रामः प्रतापवान्।
वधिष्यति रणे शत्रूनचिरान्नात्र संशयः॥ १५॥

'सुग्रीव! तुम्हें सहायकके रूपमें पाकर प्रतापी श्रीराम रणभूमिमें अपने शत्रुओंका शीघ्र ही वध कर डालेंगे, इसमें संशय नहीं है॥ १५॥

धर्मज्ञस्य कृतज्ञस्य संग्रामेष्वनिवर्तिनः।
उपपन्नं च युक्तं च सुग्रीव तव भाषितम्॥ १६॥

'सुग्रीव! तुम धर्मज्ञ, कृतज्ञ तथा युद्धमें कभी पीठ न दिखानेवाले हो। तुम्हारा यह भाषण सर्वथा युक्तिसंगत और उचित है॥ १६॥

दोषज्ञः सति सामर्थ्ये कोऽन्यो भाषितुमर्हति।
वर्जयित्वा मम ज्येष्ठं त्वां च वानरसत्तम॥ १७॥

'वानरशिरोमणे! तुमको और मेरे बड़े भाईको छोड़कर दूसरा कौन ऐसा विद्वान् है, जो अपनेमें सामर्थ्य होते हुए भी ऐसा नम्रतापूर्ण वचन कह सके॥ १७॥

सदृशश्चासि रामेण विक्रमेण बलेन च।
सहायो दैवतैर्दत्तश्चिराय हरिपुंगव॥ १८॥

'कपिराज! तुम बल और पराक्रममें भगवान् श्रीरामके बराबर हो। देवताओंने ही हमें दीर्घकालके लिये तुम-जैसा सहायक प्रदान किया है॥ १८॥

किं तु शीघ्रमितो वीर निष्क्रम त्वं मया सह।
सान्त्वयस्व वयस्यं च भार्याहरणदुःखितम्॥ १९॥

'किंतु वीर! अब तुम शीघ्र ही मेरे साथ इस पुरीसे बाहर निकलो। तुम्हारे मित्र अपनी पत्नीके अपहरणसे बहुत दुःखी हैं। उन्हें चलकर सान्त्वना दो॥ १९॥

यच्च शोकाभिभूतस्य श्रुत्वा रामस्य भाषितम्।
मया त्वं परुषाण्युक्तस्तत् क्षमस्व सखे मम॥ २०॥

'सखे! शोकमग्न श्रीरामके वचनोंको सुनकर जो मैंने तुम्हारे प्रति कठोर बातें कह दी हैं, उनके लिये मुझे क्षमा करो'॥ २०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे षट्त्रिंशः सर्गः॥ ३६॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें छत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३६॥

सप्तत्रिंशः सर्गः

सुग्रीवका हनुमान्‌जीको वानरसेनाके संग्रहके लिये दोबारा दूत भेजनेकी आज्ञा देना, उन दूतोंसे राजाकी आज्ञा सुनकर समस्त वानरोंका किष्किन्धाके लिये प्रस्थान और दूतोंका लौटकर सुग्रीवको भेंट देनेके साथ ही वानरोंके आगमनका समाचार सुनाना

एवमुक्तस्तु सुग्रीवो लक्ष्मणेन महात्मना।
हनूमन्तं स्थितं पार्श्वे वचनं चेदमब्रवीत्॥ १॥

महात्मा लक्ष्मणने जब ऐसा कहा, तब सुग्रीव अपने पास ही खड़े हुए हनुमान्‌जीसे यों बोले—॥ १॥

महेन्द्रहिमवद्विन्ध्यकैलासशिखरेषु च।
मन्दरे पाण्डुशिखरे पञ्चशैलेषु ये स्थिताः॥ २॥
तरुणादित्यवर्णेषु भ्राजमानेषु नित्यशः।
पर्वतेषु समुद्रान्ते पश्चिमस्यां तु ये दिशि॥ ३॥
आदित्यभवने चैव गिरौ संध्याभ्रसंनिभे।
पद्माचलवनं भीमाः संश्रिता हरिपुंगवाः॥ ४॥
अञ्जनाम्बुदसंकाशाः कुञ्जरेन्द्रमहौजसः।
अञ्जने पर्वते चैव ये वसन्ति प्लवंगमाः॥ ५॥
महाशैलगुहावासा वानराः कनकप्रभाः।
मेरुपार्श्वगताश्चैव ये च धूम्रगिरिं श्रिताः॥ ६॥
तरुणादित्यवर्णाश्च पर्वते ये महारुणे।
पिबन्तो मधु मैरेयं भीमवेगाः प्लवंगमाः॥ ७॥
वनेषु च सुरम्येषु सुगन्धिषु महत्सु च।
तापसाश्रमरम्येषु वनान्तेषु समन्ततः॥ ८॥
तांस्तांस्त्वमानय क्षिप्रं पृथिव्यां सर्ववानरान्।
सामदानादिभिः कल्पैर्वानरैर्वेगवत्तरैः॥ ९॥

'महेन्द्र, हिमवान्, विन्ध्य, कैलास तथा श्वेत शिखरवाले मन्दराचल—इन पाँच पर्वतोंके शिखरोंपर जो श्रेष्ठ वानर रहते हैं, पश्चिम दिशामें समुद्रके परवर्ती तटपर प्रातःकालिक सूर्यके समान कान्तिमान् और नित्य प्रकाशमान पर्वतोंपर जिन वानरोंका निवास है, भगवान् सूर्यके निवासस्थान तथा संध्याकालिक मेघसमूहके समान अरुण वर्णवाले उदयाचल एवं अस्ताचलपर जो वानर वास करते हैं, पद्माचलवर्ती वनका आश्रय लेकर जो भयानक पराक्रमी वानर-शिरोमणि निवास करते हैं, अञ्जनपर्वतपर जो काजल और मेघके समान काले तथा गजराजके समान महाबली वानर रहते हैं, बड़े-बड़े पर्वतोंकी गुफाओंमें निवास करनेवाले तथा मेरुपर्वतके आसपास रहनेवाले जो सुवर्णकी-सी कान्तिवाले

वानर हैं, जो धूम्रगिरिका आश्रय लेकर रहते हैं, मैरेय मधुका पान करते हुए जो महारुण पर्वतपर प्रातःकालके सूर्यकी भाँति लाल रंगके भयानक वेगशाली वानर निवास करते हैं तथा सुगन्धसे परिपूर्ण एवं तपस्वियोंके आश्रमोंसे सुशोभित बड़े-बड़े रमणीय वनों और वनान्तोंमें चारों ओर जो वानर रहते हैं, भूमण्डलके उन सभी वानरोंको तुम शीघ्र यहाँ ले आओ। शक्तिशाली तथा अत्यन्त वेगवान् वानरोंको भेजकर उनके द्वारा साम, दान आदि उपायोंका प्रयोग करके उन सबको यहाँ बुलवाओ॥ २—९॥

प्रेषिताः प्रथमं ये च मयाऽऽज्ञाता महाजवाः।
त्वरणार्थं तु भूयस्त्वं सम्प्रेषय हरीश्वरान्॥ १०॥

'मेरी आज्ञासे पहले जो महान् वेगशाली वानर भेजे गये हैं, उनको जल्दी करनेके लिये प्रेरणा देनेके निमित्त तुम पुनः दूसरे श्रेष्ठ वानरोंको भेजो॥ १०॥

ये प्रसक्ताश्च कामेषु दीर्घसूत्राश्च वानराः।
इहानयस्व ताञ्शीघ्रं सर्वानेव कपीश्वरान्॥ ११॥

'जो वानर कामभोगमें फँसे हुए हों तथा जो दीर्घसूत्री (प्रत्येक कार्यको विलम्बसे करनेवाले) हों, उन सभी कपीश्वरोंको शीघ्र यहाँ ले आओ॥ ११॥

अहोभिर्दशभिर्ये च नागच्छन्ति ममाज्ञया।
हन्तव्यास्ते दुरात्मानो राजशासनदूषकाः॥ १२॥

'जो मेरी आज्ञासे दस दिनके भीतर यहाँ न आ जायँ, राजाज्ञाको कलङ्कित करनेवाले उन दुरात्मा वानरोंको मार डालना चाहिये॥ १२॥

शतान्यथ सहस्राणि कोट्यश्च मम शासनात्।
प्रयान्तु कपिसिंहानां निदेशे मम ये स्थिताः॥ १३॥

'जो मेरी आज्ञाके अधीन रहते हों, ऐसे सैकड़ों, हजारों तथा करोड़ों वानरसिंह मेरे आदेशसे जायँ॥ १३॥

मेघपर्वतसंकाशाश्छादयन्त इवाम्बरम्।
घोररूपाः कपिश्रेष्ठा यान्तु मच्छासनादितः॥ १४॥

'जो मेघ और पर्वतके समान अपने विशाल शरीरसे आकाशको आच्छादित-सा कर लेते हैं, वे घोर रूपधारी श्रेष्ठ वानर मेरा आदेश मानकर यहाँसे यात्रा करें॥ १४॥

ते गतिज्ञा गतिं गत्वा पृथिव्यां सर्ववानराः।
आनयन्तु हरीन् सर्वांस्त्वरिताः शासनान्मम॥ १५॥

'वानरोंके निवासस्थानोंको जाननेवाले सभी वानर तीव्र गतिसे भूमण्डलमें चारों ओर जाकर मेरे आदेशसे उन-उन स्थानोंके सम्पूर्ण वानरगणोंको तुरंत यहाँ ले आवें'॥ १५॥

तस्य वानरराजस्य श्रुत्वा वायुसुतो वचः।
दिक्षु सर्वासु विक्रान्तान् प्रेषयामास वानरान्॥ १६॥

वानरराज सुग्रीवकी बात सुनकर वायुपुत्र हनुमान्‌जीने सम्पूर्ण दिशाओंमें बहुत-से पराक्रमी वानरोंको भेजा॥ १६॥

ते पदं विष्णुविक्रान्तं पतत्रिज्योतिरध्वगाः।
प्रयाताः प्रहिता राज्ञा हरयस्तु क्षणेन वै॥ १७॥

राजाकी आज्ञा पाकर वे सब वानर तत्काल आकाशमें पक्षियों और नक्षत्रोंके मार्गसे चल दिये॥ १७॥

ते समुद्रेषु गिरिषु वनेषु च सरस्सु च।
वानरा वानरान् सर्वान् रामहेतोरचोदयन्॥ १८॥

उन वानरोंने समुद्रोंके किनारे, पर्वतोंपर, वनोंमें और सरोवरोंके तटोंपर रहनेवाले समस्त वानरोंको श्रीरामचन्द्रजीका कार्य करनेके लिये चलनेको कहा॥ १८॥

मृत्युकालोपमस्याज्ञां राजराजस्य वानराः।
सुग्रीवस्याययुः श्रुत्वा सुग्रीवभयशङ्किताः॥ १९॥

अपने सम्राट् सुग्रीवका, जो मृत्यु एवं कालके समान भयानक दण्ड देनेवाले थे, आदेश सुनकर वे सभी वानर उनके भयसे थर्रा उठे और तुरंत ही किष्किन्धाकी ओर प्रस्थित हुए॥ १९॥

ततस्तेऽञ्जनसंकाशा गिरेस्तस्मान्महाबलाः।
तिस्रः कोट्यः प्लवंगानां निर्ययुर्यत्र राघवः॥ २०॥

तदनन्तर कज्जल गिरिसे काजलके ही समान काले और महान् बलवान् तीन करोड़ वानर उस स्थानपर आनेके लिये निकले, जहाँ श्रीरघुनाथजी विराजमान थे॥ २०॥

अस्तं गच्छति यत्रार्कस्तस्मिन् गिरिवरे रताः।
संतप्तहेमवर्णाभास्तस्मात् कोट्यो दश च्युताः॥ २१॥

जहाँ सूर्यदेव अस्त होते हैं, उस श्रेष्ठ पर्वतपर रहनेवाले दस करोड़ वानर, जिनकी कान्ति तपाये हुए सुवर्णके समान थी, वहाँसे किष्किन्धाके लिये चले॥ २१॥

कैलासशिखरेभ्यश्च सिंहकेसरवर्चसाम्।
ततः कोटिसहस्राणि वानराणां समागमन्॥ २२॥

कैलासके शिखरोंसे सिंहके अयालकी-सी श्वेत कान्तिवाले दस अरब वानर आये॥ २२॥

फलमूलेन जीवन्तो हिमवन्तमुपाश्रिताः।
तेषां कोटिसहस्राणां सहस्रं समवर्तत॥ २३॥

जो हिमालयपर रहकर फल-मूलसे जीवन-निर्वाह करते थे, वे वानर एक नीलकी संख्यामें वहाँ आये॥ २३॥

अङ्गारकसमानानां भीमानां भीमकर्मणाम्।
विन्ध्याद् वानर कोटीनां सहस्राण्यपतन् द्रुतम्॥ २४॥

विन्ध्याचल पर्वतसे मङ्गलके समान लाल रंगवाले भयानक पराक्रमी भयंकर-रूपधारी वानरोंकी दस अरब सेना बड़े वेगसे किष्किन्धामें आयी॥ २४॥

क्षीरोदवेलानिलयास्तमालवनवासिनः।
नारिकेलाशनाश्चैव तेषां संख्या न विद्यते॥ २५॥

क्षीरसमुद्रके किनारे और तमालवनमें नारियल खाकर रहनेवाले वानर इतनी अधिक संख्यामें आये कि उनकी गणना नहीं हो सकती थी॥ २५॥

वनेभ्यो गह्वरेभ्यश्च सरिद्भ्यश्च महाबलाः।
आगच्छद् वानरी सेना पिबन्तीव दिवाकरम्॥ २६॥

वनोंसे, गुफाओंसे और नदियोंके किनारोंसे असंख्य महाबली वानर एकत्र हुए। वानरोंकी वह सारी सेना सूर्य-देवको पीती (आच्छादित करती) हुई-सी आयी॥ २६॥

ये तु त्वरयितुं याता वानराः सर्ववानरान्।
ते वीरा हिमवच्छैले ददृशुस्तं महाद्रुमम्॥ २७॥

जो वानर समस्त वानरोंको शीघ्र आनेके लिये प्रेरित करनेके निमित्त किष्किन्धासे दुबारा भेजे गये थे, उन वीरोंने हिमालय पर्वतपर उस प्रसिद्ध विशाल वृक्षको देखा (जो भगवान् शंकरकी यज्ञशालामें स्थित था)॥ २७॥

तस्मिन् गिरिवरे पुण्ये यज्ञो माहेश्वरः पुरा।
सर्वदेवमनस्तोषो बभूव सुमनोरमः॥ २८॥

उस पवित्र एवं श्रेष्ठ पर्वतपर पूर्वकालमें भगवान् शंकरका यज्ञ हुआ था, जो सम्पूर्ण देवताओंके मनको संतोष देनेवाला और अत्यन्त मनोरम था॥ २८॥

अन्ननिस्यन्दजातानि मूलानि च फलानि च।
अमृतस्वादुकल्पानि ददृशुस्तत्र वानराः॥ २९॥

उस पर्वतपर खीर आदि अन्न (होमद्रव्य) से घृत आदिका स्राव हुआ था, उससे वहाँ अमृतके समान स्वादिष्ट फल और मूल उत्पन्न हुए थे। उन फलोंको उन वानरोंने देखा॥ २९॥

तदन्नसम्भवं दिव्यं फलमूलं मनोहरम्।
यः कश्चित् सकृदश्नाति मासं भवति तर्पितः॥ ३०॥

उक्त अन्नसे उत्पन्न हुए उस दिव्य एवं मनोहर फल-मूलको जो कोई एक बार खा लेता था, वह एक मासतक उससे तृप्त बना रहता था॥ ३०॥

तानि मूलानि दिव्यानि फलानि च फलाशनाः।
औषधानि च दिव्यानि जगृहुर्हरिपुंगवाः॥ ३१॥

फलाहार करनेवाले उन वानरशिरोमणियोंने उन दिव्य मूल-फलों और दिव्य औषधोंको अपने साथ ले लिया॥

तस्माच्च यज्ञायतनात् पुष्पाणि सुरभीणि च।
आनिन्युर्वानरा गत्वा सुग्रीवप्रियकारणात्॥ ३२॥

वहाँ जाकर उस यज्ञ-मण्डपसे वे सब वानर सुग्रीवका प्रिय करनेके लिये सुगन्धित पुष्प भी लेते आये॥ ३२॥

ते तु सर्वे हरिवराः पृथिव्यां सर्ववानरान्।
संचोदयित्वा त्वरितं यूथानां जग्मुरग्रतः॥ ३३॥

वे समस्त श्रेष्ठ वानर भूमण्डलके सम्पूर्ण वानरोंको तुरंत चलनेका आदेश देकर उनके यूथोंके पहुँचनेके पहले ही सुग्रीवके पास आ गये॥ ३३॥

ते तु तेन मुहूर्तेन कपयः शीघ्रचारिणः।
किष्किन्धां त्वरया प्राप्ताः सुग्रीवो यत्र वानरः॥ ३४॥

वे शीघ्रगामी वानर उसी मुहूर्तमें चलकर बड़ी उतावलीके साथ किष्किन्धापुरीमें जहाँ वानरराज सुग्रीव थे, जा पहुँचे॥ ३४॥

ते गृहीत्वौषधीः सर्वाः फलमूलं च वानराः।
तं प्रतिग्राहयामासुर्वचनं चेदमब्रुवन्॥ ३५॥

उस सम्पूर्ण ओषधियों और फल-मूलोंको लेकर उन वानरोंने सुग्रीवकी सेवामें अर्पित कर दिया और इस प्रकार कहा—॥ ३५॥

सर्वे परिसृताः शैलाः सरितश्च वनानि च।
पृथिव्यां वानराः सर्वे शासनादुपयान्ति ते॥ ३६॥

'महाराज! हमलोग सभी पर्वतों, नदियों और वनोंमें घूम आये। भूमण्डलके समस्त वानर आपकी आज्ञासे यहाँ आ रहे हैं'॥ ३६॥

एवं श्रुत्वा ततो हृष्टः सुग्रीवः प्लवगाधिपः।
प्रतिजग्राह च प्रीतस्तेषां सर्वमुपायनम्॥ ३७॥

यह सुनकर वानरराज सुग्रीवको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने उनकी दी हुई सारी भेंट-सामग्री सानन्द ग्रहण की॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे सप्तत्रिंशः सर्गः॥ ३७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें सैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३७॥

—★—

अष्टात्रिंशः सर्गः

लक्ष्मणसहित सुग्रीवका भगवान् श्रीरामके पास आकर उनके चरणोंमें प्रणाम करना, श्रीरामका उन्हें समझाना, सुग्रीवका अपने किये हुए सैन्यसंग्रहविषयक उद्योगको बताना और उसे सुनकर श्रीरामका प्रसन्न होना

प्रतिगृह्य च तत् सर्वमुपायनमुपाहृतम्।
वानरान् सान्त्वयित्वा च सर्वानेव व्यसर्जयत्॥ १॥

उनके लाये हुए उन समस्त उपहारोंको ग्रहण करके सुग्रीवने सम्पूर्ण वानरोंको मधुर वचनोंद्वारा सान्त्वना दी। फिर सबको विदा कर दिया॥ १॥

विसर्जयित्वा स हरीन् सहस्रान् कृतकर्मणः।
मेने कृतार्थमात्मानं राघवं च महाबलम्॥ २॥

कार्य पूरा करके लौटे हुए उन सहस्रों वानरोंको विदा करके सुग्रीवने अपने-आपको कृतार्थ माना और महाबली श्रीरघुनाथजीका भी कार्य सिद्ध हुआ ही समझा॥ २॥

स लक्ष्मणो भीमबलं सर्ववानरसत्तमम्।
अब्रवीत् प्रश्रितं वाक्यं सुग्रीवं सम्प्रहर्षयन्॥ ३॥

तत्पश्चात् लक्ष्मण समस्त वानरोंमें श्रेष्ठ भयंकर बलशाली सुग्रीवका हर्ष बढ़ाते हुए उनसे यह विनीत वचन बोले—॥

किष्किन्धाया विनिष्काम यदि ते सौम्य रोचते।
तस्य तद् वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणस्य सुभाषितम्॥ ४॥
सुग्रीवः परमप्रीतो वाक्यमेतदुवाच ह।

'सौम्य! यदि तुम्हारी रुचि हो तो अब किष्किन्धासे बाहर निकलो।' लक्ष्मणकी यह सुन्दर बात सुनकर सुग्रीव अत्यन्त प्रसन्न हुए और इस प्रकार बोले—॥ ४½॥

एवं भवतु गच्छाम स्थेयं त्वच्छासने मया॥ ५॥
तमेवमुक्त्वा सुग्रीवो लक्ष्मणं शुभलक्षणम्।
विसर्जयामास तदा ताराद्याश्चैव योषितः॥ ६॥

'अच्छा, ऐसा ही हो। चलिये, चलें। मुझे तो आपकी आज्ञाका पालन करना है।' शुभ लक्षणोंसे युक्त लक्ष्मणसे ऐसा कहकर सुग्रीवने तारा आदि सब स्त्रियोंको तत्काल विदा कर दिया॥ ५-६॥

एहीत्युच्चैर्हरिवरान् सुग्रीवः समुदाहरत्।
तस्य तद् वचनं श्रुत्वा हरयः शीघ्रमाययुः॥ ७॥
बद्धाञ्जलिपुटाः सर्वे ये स्युः स्त्रीदर्शनक्षमाः।

इसके बाद सुग्रीवने श्रेष्ठ वानरोंको 'आओ, आओ' कहकर उच्चस्वरसे पुकारा। उनकी वह पुकार सुनकर सब वानर, जो अन्तःपुरकी स्त्रियोंको देखनेके अधिकारी थे, दोनों हाथ जोड़े शीघ्रतापूर्वक उनके पास आये॥ ७½॥

तानुवाच ततः प्राप्तान् राजार्कसदृशप्रभः॥ ८॥
उपस्थापयत क्षिप्रं शिबिकां मम वानराः।

पास आये हुए उन वानरोंसे सूर्यतुल्य तेजस्वी राजा सुग्रीवने कहा—'वानरो! तुमलोग शीघ्र मेरी शिबिकाको यहाँ ले आओ'॥ ८½॥

श्रुत्वा तु वचनं तस्य हरयः शीघ्रविक्रमाः॥ ९॥
समुपस्थापयामासुः शिबिकां प्रियदर्शनाम्।

उनकी बात सुनकर शीघ्रगामी वानरोंने एक सुन्दर शिबिका (पालकी) वहाँ उपस्थित कर दी॥ ९½॥

तामुपस्थापितां दृष्ट्वा शिबिकां वानराधिपः॥ १०॥
लक्ष्मणारुह्यतां शीघ्रमिति सौमित्रिमब्रवीत्।

पालकीको वहाँ उपस्थित देख वानरराज सुग्रीवने सुमित्राकुमारसे कहा—'कुमार लक्ष्मण! आप शीघ्र इसपर आरूढ़ हो जायँ'॥ १०½॥

इत्युक्त्वा काञ्चनं यानं सुग्रीवः सूर्यसंनिभम्॥ ११॥
बहुभिर्हरिभिर्युक्तमारुरोह सलक्ष्मणः।

ऐसा कहकर लक्ष्मणसहित सुग्रीव उस सूर्यकी-सी प्रभावाली सुवर्णमयी पालकीपर, जिसे ढोनेके लिये बहुत-से वानर लगे थे, आरूढ़ हुए॥ ११½॥

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि॥ १२॥
शुक्लैश्च वालव्यजनैर्धूयमानैः समन्ततः।
शङ्खभेरीनिनादैश्च बन्दिभिश्चाभिनन्दितः॥ १३॥
निर्ययौ प्राप्य सुग्रीवो राज्यश्रियमनुत्तमाम्।

उस समय सुग्रीवके ऊपर श्वेत छत्र लगाया गया और सब ओरसे सफेद चँवर डुलाये जाने लगे। शङ्ख और भेरीकी ध्वनिके साथ वन्दीजनोंका अभिनन्दन सुनते हुए राजा सुग्रीव परम उत्तम राजलक्ष्मीको पाकर किष्किन्धापुरीसे बाहर निकले॥ १२-१३½॥

स वानरशतैस्तीक्ष्णैर्बहुभिः शस्त्रपाणिभिः॥ १४॥
परिकीर्णो ययौ तत्र यत्र रामो व्यवस्थितः।

हाथमें शस्त्र लिये तीक्ष्ण स्वभाववाले कई सौ वानरोंसे घिरे हुए राजा सुग्रीव उस स्थानपर गये, जहाँ भगवान् श्रीराम निवास करते थे॥ १४½॥

स तं देशमनुप्राप्य श्रेष्ठं रामनिषेवितम्॥ १५॥
अवातरन्महातेजाः शिबिकायाः सलक्ष्मणः।
आसाद्य च ततो रामं कृताञ्जलिपुटोऽभवत्॥ १६॥

श्रीरामचन्द्रजीसे सेवित उस श्रेष्ठ स्थानमें पहुँचकर लक्ष्मणसहित महातेजस्वी सुग्रीव पालकीसे उतरे और श्रीरामके पास जा हाथ जोड़कर खड़े हो गये॥ १५-१६॥

कृताञ्जलौ स्थिते तस्मिन् वानराश्चाभवंस्तथा।
तटाकमिव तं दृष्ट्वा रामः कुड्मलपङ्कजम्॥ १७॥
वानराणां महत् सैन्यं सुग्रीवे प्रीतिमानभूत्।

वानरराजके हाथ जोड़कर खड़े होनेपर उनके अनुयायी वानर भी उन्हींकी भाँति अञ्जलि बाँधे खड़े हो गये। मुकुलित कमलोंसे भरे हुए विशाल सरोवरकी भाँति वानरोंकी उस बड़ी भारी सेनाको देखकर श्रीरामचन्द्रजी सुग्रीवपर बहुत प्रसन्न हुए॥ १७½॥

पादयोः पतितं मूर्ध्ना तमुत्थाप्य हरीश्वरम्॥ १८॥
प्रेम्णा च बहुमानाच्च राघवः परिषस्वजे।

वानरराजको चरणोंमें मस्तक रखकर पड़ा हुआ देख श्रीरघुनाथजीने हाथसे पकड़कर उठाया और बड़े आदर तथा प्रेमके साथ उन्हें हृदयसे लगाया॥ १८½॥

परिष्वज्य च धर्मात्मा निषीदेति ततोऽब्रवीत्॥ १९॥
निषण्णं तं ततो दृष्ट्वा क्षितौ रामोऽब्रवीत् ततः।

हृदयसे लगाकर धर्मात्मा श्रीरामने उनसे कहा—'बैठो'। उन्हें पृथ्वीपर बैठा देख श्रीराम बोले—॥ १९½॥

धर्ममर्थं च कामं च काले यस्तु निषेवते॥ २०॥
विभज्य सततं वीर स राजा हरिसत्तम।
हित्वा धर्मं तथार्थं च कामं यस्तु निषेवते॥ २१॥
स वृक्षाग्रे यथा सुप्तः पतितः प्रतिबुध्यते।

'वीर! वानरशिरोमणे! जो धर्म, अर्थ और कामके लिये समयका विभाग करके सदा उचित समयपर उनका (न्याययुक्त) सेवन करता है, वही श्रेष्ठ राजा है। किंतु जो धर्म-अर्थका त्याग करके केवल कामका ही सेवन करता है, वह वृक्षकी अगली शाखापर सोये हुए मनुष्यके समान है। गिरनेपर ही उसकी आँख खुलती है॥ २०-२१½॥

अमित्राणां वधे युक्तो मित्राणां संग्रहे रतः ॥ २२ ॥
त्रिवर्गफलभोक्ता च राजा धर्मेण युज्यते ।

'जो राजा शत्रुओंके वध और मित्रोंके संग्रहमें संलग्न रहकर योग्य समयपर धर्म, अर्थ और कामका (न्याययुक्त) सेवन करता है, वह धर्मके फलका भागी होता है ॥ २२½ ॥

उद्योगसमयस्त्वेष प्राप्तः शत्रुनिषूदन ॥ २३ ॥
संचिन्त्यतां हि पिङ्गेश हरिभिः सह मन्त्रिभिः ।

'शत्रुसूदन ! यह हमलोगोंके लिये उद्योगका समय आया है। वानरराज ! तुम इस विषयमें इन वानरों और मन्त्रियोंके साथ विचार करो' ॥ २३½ ॥

एवमुक्तस्तु सुग्रीवो रामं वचनमब्रवीत् ॥ २४ ॥
प्रणष्टा श्रीश्च कीर्तिश्च कपिराज्यं च शाश्वतम् ।
त्वत्प्रसादान्महाबाहो पुनः प्राप्तमिदं मया ॥ २५ ॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर सुग्रीवने उनसे कहा— 'महाबाहो ! मेरी श्री, कीर्ति तथा सदासे चला आनेवाला वानरोंका राज्य—ये सब नष्ट हो चुके थे। आपकी कृपासे ही मुझे पुनः इन सबकी प्राप्ति हुई है ॥ २४-२५ ॥

तव देव प्रसादाच्च भ्रातुश्च जयतां वर ।
कृतं न प्रतिकुर्याद् यः पुरुषाणां हि दूषकः ॥ २६ ॥

'विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ देव ! आप और आपके भाईकी कृपासे ही मैं वानर-राज्यपर पुनः प्रतिष्ठित हुआ हूँ। जो किये हुए उपकारका बदला नहीं चुकाता है, वह पुरुषोंमें धर्मको कलङ्कित करनेवाला माना गया है ॥ २६ ॥

एते वानरमुख्याश्च शतशः शत्रुसूदन ।
प्राप्ताश्चादाय बलिनः पृथिव्यां सर्ववानरान् ॥ २७ ॥

'शत्रुसूदन ! ये सैकड़ों बलवान् और मुख्य वानर भूमण्डलके सभी बलशाली वानरोंको साथ लेकर यहाँ आये हैं ॥

ऋक्षाश्च वानराः शूरा गोलाङ्गूलाश्च राघव ।
कान्तारवनदुर्गाणामभिज्ञा घोरदर्शनाः ॥ २८ ॥

'रघुनन्दन ! इनमें रीछ हैं, वानर हैं और शौर्यसम्पन्न गोलाङ्गूल (लङ्गूर) हैं। ये सब-के-सब देखनेमें बड़े भयंकर हैं और बीहड़ वनों तथा दुर्गम स्थानोंके जानकार हैं ॥ २८ ॥

देवगन्धर्वपुत्राश्च वानराः कामरूपिणः ।
स्वैः स्वैः परिवृताः सैन्यैर्वर्तन्ते पथि राघव ॥ २९ ॥

'रघुनाथजी ! जो देवताओं और गन्धर्वोंके पुत्र हैं और इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ हैं, वे श्रेष्ठ वानर अपनी-अपनी सेनाओंके साथ चल पड़े हैं और इस समय मार्गमें हैं ॥

शतैः शतसहस्रैश्च वर्तन्ते कोटिभिस्तथा ।
अयुतैश्चावृता वीर शङ्कुभिश्च परंतप ॥ ३० ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले वीर ! इनमेंसे किसीके साथ सौ, किसीके साथ लाख, किसीके साथ करोड़, किसीके साथ अयुत (दस हजार) और किसीके साथ एक शङ्कु वानर हैं ॥ ३० ॥

अर्बुदैरर्बुदशतैर्मध्यैश्चान्त्यैश्च वानराः ।
समुद्राश्च परार्धाश्च हरयो हरियूथपाः ॥ ३१ ॥

'कितने ही वानर अर्बुद (दस करोड़), सौ अर्बुद (दस अरब), मध्य (दस पद्म) तथा अन्त्य (एक पद्म) वानर-सैनिकोंके साथ आ रहे हैं। कितने ही वानरों तथा वानर-यूथपतियोंकी संख्या समुद्र (दस नील) तथा परार्ध (शंख) तक पहुँच गयी है * ॥ ३१ ॥

आगमिष्यन्ति ते राजन् महेन्द्रसमविक्रमाः ।
मेघपर्वतसंकाशा मेरुविन्ध्यकृतालयाः ॥ ३२ ॥

'राजन् ! वे देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी तथा मेघों और पर्वतोंके समान विशालकाय वानर, जो मेरु और विन्ध्याचलमें निवास करते हैं, यहाँ शीघ्र ही उपस्थित होंगे ॥ ३२ ॥

ते त्वामभिगमिष्यन्ति राक्षसं योद्धुमाहवे ।
निहत्य रावणं युद्धे ह्यानयिष्यन्ति मैथिलीम् ॥ ३३ ॥

'जो युद्धमें रावणका वध करके मिथिलेशकुमारी सीताको लङ्कासे ला देंगे, वे महान् शक्तिशाली वानर संग्राममें उस राक्षससे युद्ध करनेके लिये अवश्य आपके पास आयेंगे' ॥

ततः समुद्योगमवेक्ष्य वीर्यवान्
हरिप्रवीरस्य निदेशवर्तिनः ।
बभूव हर्षाद् वसुधाधिपात्मजः
प्रबुद्धनीलोत्पलतुल्यदर्शनः ॥ ३४ ॥

यह सुनकर परम पराक्रमी राजकुमार श्रीराम अपनी आज्ञाके अनुसार चलनेवाले वानरोंके प्रमुख वीर सुग्रीवका यह सैन्य-विषयक उद्योग देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उनके नेत्र हर्षसे खिल उठे और प्रफुल्ल नील कमलके समान दिखायी देने लगे ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डेऽष्टात्रिंशः सर्गः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें अड़तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

—★—

* यहाँ अर्बुद, शङ्कु, अन्त्य और मध्य आदि संख्या वाचक शब्दोंका आधुनिक गणितके अनुसार मान समझनेके लिये प्राचीन संज्ञाओंका पूर्ण रूपसे उल्लेख किया जाता है और कोष्ठमें उसका आधुनिक मान दिया जा रहा है—एक (इकाई), दश (दहाई), शत (सैकड़ा), सहस्र (हजार), अयुत (दस हजार), लक्ष (लाख), प्रयुत (दस लाख), कोटि (करोड़), अर्बुद (दस करोड़), अब्ज (अरब), खर्व (दस अरब), निखर्व (खर्व), महापद्म (दस खर्व), शङ्कु (नील), जलधि (दस नील), अन्त्य (पद्म), मध्य (दस पद्म), परार्ध (शंख)—ये संख्याबोधक संज्ञाएँ उत्तरोत्तर दसगुनी मानी गयी हैं। (नारदपुराणसे)

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

श्रीरामचन्द्रजीका सुग्रीवके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना तथा विभिन्न वानर-यूथपतियोंका अपनी सेनाओंके साथ आगमन

इति ब्रुवाणं सुग्रीवं रामो धर्मभृतां वरः।
बाहुभ्यां सम्परिष्वज्य प्रत्युवाच कृताञ्जलिम्॥ १॥

सुग्रीवके ऐसा कहनेपर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ श्रीरामने अपनी दोनों भुजाओंसे उनका आलिङ्गन किया और हाथ जोड़कर खड़े हुए उनसे इस प्रकार कहा— ॥ १॥

यदिन्द्रो वर्षते वर्षं न तच्चित्रं भविष्यति।
आदित्योऽसौ सहस्रांशुः कुर्याद् वितिमिरं नभः॥ २॥
चन्द्रमा रजनीं कुर्यात् प्रभया सौम्य निर्मलाम्।
त्वद्विधो वापि मित्राणां प्रीतिं कुर्यात् परंतप॥ ३॥

'सखे! इन्द्र जो जलकी वर्षा करते हैं, सहस्रों किरणोंसे शोभा पानेवाले सूर्यदेव जो आकाशका अन्धकार दूर कर देते हैं तथा सौम्य! चन्द्रमा अपनी प्रभासे जो अँधेरी रातको भी उज्ज्वल कर देते हैं, इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि यह उनका स्वाभाविक गुण है। शत्रुओंको संताप देनेवाले सुग्रीव! इसी तरह तुम्हारे समान पुरुष भी यदि अपने मित्रोंका उपकार करके उन्हें प्रसन्न कर दें तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं मानना चाहिये॥ २-३॥

एवं त्वयि न तच्चित्रं भवेद् यत् सौम्य शोभनम्।
जानाम्यहं त्वां सुग्रीव सततं प्रियवादिनम्॥ ४॥

'सौम्य सुग्रीव! इसी प्रकार तुममें जो मित्रोंका हितसाधनरूप कल्याणकारी गुण है, वह आश्चर्यका विषय नहीं है; क्योंकि मैं जानता हूँ कि तुम सदा प्रिय बोलनेवाले हो—यह तुम्हारा स्वाभाविक गुण है॥ ४॥

त्वत्सनाथः सखे संख्ये जेतास्मि सकलानरीन्।
त्वमेव मे सुहृन्मित्रं साहाय्यं कर्तुमर्हसि॥ ५॥

'सखे! तुम्हारी सहायतासे सनाथ होकर मैं युद्धमें समस्त शत्रुओंको जीत लूँगा। तुम्हीं मेरे हितैषी मित्र हो और मेरी सहायता कर सकते हो॥ ५॥

जहारात्मविनाशाय मैथिलीं राक्षसाधमः।
वञ्चयित्वा तु पौलोमीमनुह्लादो यथा शचीम्॥ ६॥

'राक्षसाधम रावणने अपना नाश करनेके लिये ही मिथिलेशकुमारीको धोखा देकर उसका अपहरण किया है। ठीक उसी तरह, जैसे अनुह्लादने अपने विनाशके लिये ही पुलोमपुत्री शचीको छलपूर्वक हर लिया था* ॥ ६॥

नचिरात् तं वधिष्यामि रावणं निशितैः शरैः।
पौलोम्याः पितरं दृप्तं शतक्रतुरिवारिहा॥ ७॥

'जैसे शत्रुहन्ता इन्द्रने शचीके घमंडी पिताको मार डाला था, उसी प्रकार मैं भी शीघ्र ही अपने तीखे बाणोंसे रावणका वध कर डालूँगा'॥ ७॥

एतस्मिन्नन्तरे चैव रजः समभिवर्तत।
उष्णतीव्रां सहस्रांशोश्छादयद् गगने प्रभाम्॥ ८॥

श्रीराम और सुग्रीवमें जब इस प्रकार बातें हो रही थीं, उसी समय बड़े जोरकी धूलि उठी, जिसने आकाशमें फैलकर सूर्यकी प्रचण्ड प्रभाको ढक दिया॥ ८॥

दिशः पर्याकुलाश्चासंस्तमसा तेन दूषिताः।
चचाल च मही सर्वा सशैलवनकानना॥ ९॥

फिर तो उस धूलजनित अन्धकारसे सम्पूर्ण दिशाएँ दूषित एवं व्याप्त हो गयीं तथा पर्वत, वन और काननोंके साथ समूची पृथ्वी डगमग होने लगी॥ ९॥

ततो नगेन्द्रसंकाशैस्तीक्ष्णदंष्ट्रैर्महाबलैः।
कृत्स्ना संछादिता भूमिरसंख्येयैः प्लवंगमैः॥ १०॥

तदनन्तर पर्वतराजके समान शरीर और तीखी दाढ़वाले असंख्य महाबली वानरोंसे वहाँकी सारी भूमि आच्छादित हो गयी॥ १०॥

निमेषान्तरमात्रेण ततस्तैर्हरियूथपैः।
कोटीशतपरीवारैर्वानरैर्हरियूथपैः॥ ११॥

पलक मारते-मारते अरबों वानरोंसे घिरे हुए अनेकानेक यूथपतियोंने वहाँ आकर सारी भूमिको ढक लिया॥ ११॥

नादेयैः पार्वतेयैश्च सामुद्रैश्च महाबलैः।
हरिभिर्मेघनिर्ह्रादैरन्यैश्च वनवासिभिः॥ १२॥

नदी, पर्वत, वन और समुद्र सभी स्थानोंके निवासी महाबली वानर जुट गये, जो मेघोंकी गर्जनाके समान उच्च स्वरसे सिंहनाद करते थे॥ १२॥

तरुणादित्यवर्णैश्च शशिगौरैश्च वानरैः।
पद्मकेसरवर्णैश्च श्वेतैर्हेमकृतालयैः॥ १३॥

कोई बालसूर्यके समान लाल रंगके थे तो कोई चन्द्रमाके समान गौर वर्णके। कितने ही वानर कमलके केसरोंके समान पीले रंगके थे और कितने ही हिमाचलवासी वानर सफेद दिखायी देते थे॥ १३॥

कोटीसहस्रैर्दशभिः श्रीमान् परिवृतस्तदा।
वीरः शतबलिर्नाम वानरः प्रत्यदृश्यत॥ १४॥

उस समय परम कान्तिमान् शतबलिनामक वीर वानर

---

* पुलोम दानवकी कन्या शची इन्द्रदेवके प्रति अनुरक्त थीं, परंतु अनुह्लादने उनके पिताको फुसलाकर अपने पक्षमें कर लिया और उसकी अनुमतिसे शचीको हर लिया। जब इन्द्रको इसका पता लगा, तब वे अनुमति देनेवाले पुलोमको और अपहरण करनेवाले अनुह्लादको भी मारकर शचीको अपने घर ले आये। यह पुराणप्रसिद्ध कथा है। (रामायणतिलकसे)

दस अरब वानरोंके साथ दृष्टिगोचर हुआ॥ १४॥

ततः काञ्चनशैलाभस्ताराया वीर्यवान् पिता।
अनेकैर्बहुसाहस्रैः कोटिभिः प्रत्यदृश्यत॥ १५॥

तत्पश्चात् सुवर्णशैलके समान सुन्दर एवं विशाल शरीरवाले ताराके महाबली पिता कई सहस्र कोटि वानरोंके साथ वहाँ उपस्थित देखे गये॥ १५॥

तथापरेण कोटीनां सहस्रेण समन्वितः।
पिता रुमायाः सम्प्राप्तः सुग्रीवश्वशुरो विभुः॥ १६॥

इसी प्रकार रुमाके पिता और सुग्रीवके श्वशुर, जो बड़े वैभवशाली थे, वहाँ उपस्थित हुए। उनके साथ भी दस अरब वानर थे॥ १६॥

पद्मकेसरसंकाशस्तरुणार्कनिभाननः।
बुद्धिमान् वानरश्रेष्ठः सर्ववानरसत्तमः॥ १७॥
अनेकैर्बहुसाहस्रैर्वानराणां समन्वितः।
पिता हनुमतः श्रीमान् केसरी प्रत्यदृश्यत॥ १८॥

तदनन्तर हनुमान्‌जीके पिता कपिश्रेष्ठ श्रीमान् केसरी दिखायी दिये। उनके शरीरका रंग कमलके केसरोंकी भाँति पीला और मुख प्रातःकालके सूर्यके समान लाल था। वे बड़े बुद्धिमान् और समस्त वानरोंमें श्रेष्ठ थे। वे कई सहस्रों वानरोंसे घिरे हुए थे॥ १७-१८॥

गोलाङ्गूलमहाराजो गवाक्षो भीमविक्रमः।
वृतः कोटिसहस्रेण वानाराणामदृश्यत॥ १९॥

फिर लंगूर-जातिवाले वानरोंके महाराज भयंकर पराक्रमी गवाक्षका दर्शन हुआ। उनके साथ दस अरब वानरोंकी सेना थी॥ १९॥

ऋक्षाणां भीमवेगानां धूम्रः शत्रुनिबर्हणः।
वृतः कोटिसहस्राभ्यां द्वाभ्यां समभिवर्तत॥ २०॥

शत्रुओंका संहार करनेवाले धूम्र भयंकर वेगशाली बीस अरब रीछोंकी सेना लेकर आये॥ २०॥

महाचलनिभैर्घोरैः पनसो नाम यूथपः।
आजगाम महावीर्यैस्तिसृभिः कोटिभिर्वृतः॥ २१॥

महापराक्रमी यूथपति पनस तीन करोड़ वानरोंके साथ उपस्थित हुए। वे सब-के-सब बड़े भयंकर तथा महान् पर्वताकार दिखायी देते थे॥ २१॥

नीलाञ्जनचयाकारो नीलो नामैष यूथपः।
अदृश्यत महाकायः कोटिभिर्दशभिर्वृतः॥ २२॥

यूथपति नीलका शरीर भी बड़ा विशाल था। वे नीले कज्जल गिरिके समान नीलवर्णके थे और दस करोड़ कपियोंसे घिरे हुए थे॥ २२॥

ततः काञ्चनशैलाभो गवयो नाम यूथपः।
आजगाम महावीर्यः कोटिभिः पञ्चभिर्वृतः॥ २३॥

तदनन्तर यूथपति गवय, जो सुवर्णमय पर्वत मेरुके समान कान्तिमान् और महापराक्रमी थे, पाँच करोड़ वानरोंके साथ उपस्थित हुए॥ २३॥

दरीमुखश्च बलवान् यूथपोऽभ्याययौ तदा।
वृतः कोटिसहस्रेण सुग्रीवं समवस्थितः॥ २४॥

उसी समय वानरोंके बलवान् सरदार दरीमुख भी आ पहुँचे। वे दस अरब वानरोंके साथ सुग्रीवकी सेवामें उपस्थित हुए थे॥ २४॥

मैन्दश्च द्विविदश्चोभावश्विपुत्रौ महाबलौ।
कोटिकोटिसहस्रेण वानराणामदृश्यताम्॥ २५॥

अश्विनीकुमारोंके महाबली पुत्र मैन्द और द्विविद ये दोनों भाई भी दस-दस अरब वानरोंकी सेनाके साथ वहाँ दिखायी दिये॥ २५॥

गजश्च बलवान् वीरस्तिसृभिः कोटिभिर्वृतः।
आजगाम महातेजाः सुग्रीवस्य समीपतः॥ २६॥

तदनन्तर महातेजस्वी बलवान् वीर गज तीन करोड़ वानरोंके साथ सुग्रीवके पास आया॥ २६॥

ऋक्षराजो महातेजा जाम्बवान्नाम नामतः।
कोटिभिर्दशभिर्व्याप्तः सुग्रीवस्य वशे स्थितः॥ २७॥

रीछोंके राजा जाम्बवान् बड़े तेजस्वी थे। वे दस करोड़ रीछोंसे घिरे हुए आये और सुग्रीवके अधीन होकर खड़े हुए॥ २७॥

रुमणो नाम तेजस्वी विक्रान्तैर्वानरैर्वृतः।
आगतो बलवांस्तूर्णं कोटीशतसमावृतः॥ २८॥

रुमण (रुमण्वान्) नामक तेजस्वी और बलवान् वानर एक अरब पराक्रमी वानरोंको साथ लिये बड़ी तीव्र गतिसे वहाँ आया॥ २८॥

ततः कोटिसहस्राणां सहस्रेण शतेन च।
पृष्ठतोऽनुगतः प्राप्तो हरिभिर्गन्धमादनः॥ २९॥

इसके बाद यूथपति गन्धमादन उपस्थित हुए। उनके पीछे एक पद्म वानरोंकी सेना आयी थी॥ २९॥

ततः पद्मसहस्रेण वृतः शङ्कुशतेन च।
युवराजोऽङ्गदः प्राप्तः पितुस्तुल्यपराक्रमः॥ ३०॥

तत्पश्चात् युवराज अङ्गद आये। ये अपने पिताके समान ही पराक्रमी थे। इनके साथ एक सहस्र पद्म और सौ शंकु (एक पद्म) वानरोंकी सेना थी (इनके सैनिकोंकी कुल संख्या दस शंख एक पद्म थी)॥ ३०॥

ततस्ताराद्युतिस्तारो हरिभिर्भीमविक्रमैः।
पञ्चभिर्हरिकोटीभिर्दूरतः पर्यदृश्यत॥ ३१॥

तदनन्तर तारोंके समान कान्तिमान् तार नामक वानर पाँच करोड़ भयंकर पराक्रमी वानर वीरोंके साथ दूरसे आता दिखायी दिया॥ ३१॥

इन्द्रजानुः कपिर्वीरो यूथपः प्रत्यदृश्यत।
एकादशानां कोटीनामीश्वरस्तैश्च संवृतः॥ ३२॥

इन्द्रजानु (इन्द्रभानु) नामक वीर यूथपति, जो बड़ा ही

विद्वान् एवं बुद्धिमान् था, ग्यारह करोड़ वानरोंके साथ उपस्थित देखा गया। वह उन सबका स्वामी था॥ ३२॥

ततो रम्भस्त्वनुप्राप्तस्तरुणादित्यसंनिभः।
अयुतेन वृतश्चैव सहस्रेण शतेन च॥ ३३॥

इसके बाद रम्भनामक वानर उपस्थित हुआ, जो प्रातःकालके सूर्यकी भाँति लाल रंगका था। उसके साथ ग्यारह हजार एक सौ वानरोंकी सेना थी॥ ३३॥

ततो यूथपतिर्वीरो दुर्मुखो नाम वानरः।
प्रत्यदृश्यत कोटीभ्यां द्वाभ्यां परिवृतो बली॥ ३४॥

तत्पश्चात् वीर यूथपति दुर्मुख नामक बलवान् वानर उपस्थित देखा गया, जो दो करोड़ वानर सैनिकोंसे घिरा हुआ था॥ ३४॥

कैलासशिखराकारैर्वानरैर्भीमविक्रमैः।
वृतः कोटिसहस्रेण हनुमान् प्रत्यदृश्यत॥ ३५॥

इसके बाद हनुमान्‌जीने दर्शन दिया। उनके साथ कैलासशिखरके समान श्वेत शरीरवाले भयंकर पराक्रमी वानर दस अरबकी संख्यामें मौजूद थे॥ ३५॥

नलश्चापि महावीर्यः संवृतो द्रुमवासिभिः।
कोटीशतेन सम्प्राप्तः सहस्रेण शतेन च॥ ३६॥

फिर महापराक्रमी नल उपस्थित हुए, जो एक अरब एक हजार एक सौ द्रुमवासी वानरोंसे घिरे हुए थे॥ ३६॥

ततो दधिमुखः श्रीमान् कोटिभिर्दशभिर्वृतः।
सम्प्राप्तोऽभिनदंस्तस्य सुग्रीवस्य महात्मनः॥ ३७॥

तदनन्तर श्रीमान् दधिमुख दस करोड़ वानरोंके साथ गर्जना करते हुए किष्किन्धामें महात्मा सुग्रीवके पास आये॥ ३७॥

शरभः कुमुदो वह्निर्वानरो रंह एव च।
एते चान्ये च बहवो वानराः कामरूपिणः॥ ३८॥
आवृत्य पृथिवीं सर्वां पर्वतांश्च वनानि च।
यूथपाः समनुप्राप्ता येषां संख्या न विद्यते॥ ३९॥

इनके सिवा शरभ, कुमुद, वह्नि तथा रंह—ये और दूसरे भी बहुत-से इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले वानरयूथपति सारी पृथ्वी, पर्वत और वनोंको आवृत करके वहाँ उपस्थित हुए, जिनकी कोई गणना नहीं की जा सकती॥ ३८-३९॥

आगताश्च निविष्टाश्च पृथिव्यां सर्ववानराः।
आप्लवन्तः प्लवन्तश्च गर्जन्तश्च प्लवंगमाः।
अभ्यवर्तन्त सुग्रीवं सूर्यमभ्रगणा इव॥ ४०॥

वहाँ आये हुए सभी वानर पृथ्वीपर बैठे। वे सब-के-सब उछलते, कूदते और गर्जते हुए वहाँ सुग्रीवके चारों ओर जमा हो गये। जैसे सूर्यको सब ओरसे घेरकर बादलोंके समूह छा रहे हों॥ ४०॥

कुर्वाणा बहुशब्दांश्च प्रकृष्टा बाहुशालिनः।
शिरोभिर्वानरेन्द्राय सुग्रीवाय न्यवेदयन्॥ ४१॥

अपनी भुजाओंसे सुशोभित होनेवाले बहुतेरे श्रेष्ठ वानरोंने (जो भीड़के कारण सुग्रीवके पासतक न पहुँच सके थे) अनेक प्रकारकी बोली बोलकर तथा मस्तक झुकाकर वानरराज सुग्रीवको अपने आगमनकी सूचना दी॥ ४१॥

अपरे वानरश्रेष्ठाः संगम्य च यथोचितम्।
सुग्रीवेण समागम्य स्थिताः प्राञ्जलयस्तदा॥ ४२॥

बहुत-से श्रेष्ठ वानर उनके पास गये और यथोचितरूपसे मिलकर लौटे तथा कितने ही वानर सुग्रीवसे मिलनेके बाद उनके पास ही हाथ जोड़कर खड़े हो गये॥ ४२॥

सुग्रीवस्त्वरितो रामे सर्वांस्तान् वानरर्षभान्।
निवेदयित्वा धर्मज्ञः स्थितः प्राञ्जलिरब्रवीत्॥ ४३॥

धर्मके ज्ञाता वानरराज सुग्रीवने वहाँ आये हुए उन सब वानरशिरोमणियोंका समाचार निवेदन करके श्रीरामचन्द्रजीको शीघ्रतापूर्वक उनका परिचय दिया, फिर हाथ जोड़कर वे उनके सामने खड़े हो गये॥ ४३॥

यथासुखं पर्वतनिर्झरेषु
वनेषु सर्वेषु च वानरेन्द्राः।
निवेशयित्वा विधिवद् बलानि
बलं बलज्ञः प्रतिपत्तुमीष्टे॥ ४४॥

उन वानर-यूथपतियोंने वहाँके पर्वतीय झरनोंके आस-पास तथा समस्त वनोंमें अपनी सेनाओंको यथोचितरूपसे सुखपूर्वक ठहरा दिया। तत्पश्चात् सब सेनाओंके ज्ञाता सुग्रीव उनका पूर्णतः ज्ञान प्राप्त करनेमें समर्थ हो सके॥ ४४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकोनचत्वारिंशः सर्गः॥ ३९॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें उनतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३९॥

★

चत्वारिंशः सर्गः

श्रीरामकी आज्ञासे सुग्रीवका सीताकी खोजके लिये पूर्व दिशामें वानरोंको भेजना और वहाँके स्थानोंका वर्णन करना

अथ राजा समृद्धार्थः सुग्रीवः प्लवगेश्वरः।
उवाच नरशार्दूलं रामं परबलार्दनम्॥ १॥

तदनन्तर बल-वैभवसे सम्पन्न वानरराज राजा सुग्रीव शत्रुसेनाका संहार करनेवाले पुरुषसिंह श्रीरामसे बोले—॥

आगता विनिविष्टाश्च बलिनः कामरूपिणः।
वानरेन्द्रा महेन्द्राभा ये मद्विषयवासिनः॥ २॥

'भगवन्! जो मेरे राज्यमें निवास करते हैं, वे महेन्द्रके समान तेजस्वी, इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले और बलवान्

वानर-यूथपति यहाँ आकर पड़ाव डाले बैठे हैं॥ २॥

त इमे बहुविक्रान्तैर्बलिभिर्भीमविक्रमैः।
आगता वानरा घोरा दैत्यदानवसंनिभाः॥ ३॥

'ये अपने साथ ऐसे बलवान् वानर योद्धाओंको ले आये हैं, जो बहुत-से युद्धस्थलोंमें अपना पराक्रम प्रकट कर चुके हैं और भयंकर पुरुषार्थ कर दिखानेवाले हैं। यहाँ ऐसे-ऐसे वानर उपस्थित हुए हैं, जो दैत्यों और दानवोंके समान भयानक हैं॥ ३॥

ख्यातकर्मापदानाश्च बलवन्तो जितक्लमाः।
पराक्रमेषु विख्याता व्यवसायेषु चोत्तमाः॥ ४॥

'अनेक युद्धोंमें इन वानर वीरोंकी शूर-वीरताका परिचय मिल चुका है। ये बलके भण्डार हैं, युद्धसे थकते नहीं हैं—इन्होंने थकावटको जीत लिया है। ये अपने पराक्रमके लिये प्रसिद्ध और उद्योग करनेमें श्रेष्ठ हैं॥ ४॥

पृथिव्यम्बुचरा राम नानानगनिवासिनः।
कोट्योघाश्च इमे प्राप्ता वानरास्तव किंकराः॥ ५॥

'श्रीराम! यहाँ आये हुए ये वानरोंके करोड़ों यूथ विभिन्न पर्वतोंपर निवास करनेवाले हैं। जल और थल—दोनोंमें समानरूपसे चलनेकी शक्ति रखते हैं। ये सब-के-सब आपके किंकर (आज्ञापालक) हैं॥ ५॥

निदेशवर्तिनः सर्वे सर्वे गुरुहिते स्थिताः।
अभिप्रेतमनुष्ठातुं तव शक्ष्यन्त्यरिंदम॥ ६॥

'शत्रुदमन! ये सभी आपकी आज्ञाके अनुसार चलनेवाले हैं। आप इनके गुरु—स्वामी हैं। ये आपके हितसाधनमें तत्पर रहकर आपके अभीष्ट मनोरथको सिद्ध कर सकेंगे॥ ६॥

त इमे बहुसाहस्रैरनीकैर्भीमविक्रमैः।
आगता वानरा घोरा दैत्यदानवसंनिभाः॥ ७॥

'दैत्यों और दानवोंके समान घोर रूपधारी ये सभी वानर-यूथपति अपने साथ भयंकर पराक्रम करनेवाली कई सहस्र सेनाएँ लेकर आये हैं॥ ७॥

यन्मन्यसे नरव्याघ्र प्राप्तकालं तदुच्यताम्।
त्वत्सैन्यं त्वद्वशे युक्तमाज्ञापयितुमर्हसि॥ ८॥

'पुरुषसिंह! अब इस समय आप जो कर्तव्य उचित समझते हैं, उसे बताइये। आपकी यह सेना आपके वशमें है। आप इसे यथोचित कार्यके लिये आज्ञा प्रदान करें॥ ८॥

काममेषामिदं कार्यं विदितं मम तत्त्वतः।
तथापि तु यथायुक्तमाज्ञापयितुमर्हसि॥ ९॥

'यद्यपि सीताजीके अन्वेषणका यह कार्य इन सबको तथा मुझे भी अच्छी तरह ज्ञात है, तथापि आप जैसा उचित हो, वैसे कार्यके लिये हमें आज्ञा दें'॥ ९॥

तथा ब्रुवाणं सुग्रीवं रामो दशरथात्मजः।
बाहुभ्यां सम्परिष्वज्य इदं वचनमब्रवीत्॥ १०॥

जब सुग्रीवने ऐसी बात कही, तब दशरथनन्दन श्रीरामने दोनों भुजाओंसे पकड़कर उन्हें हृदयसे लगा लिया और इस प्रकार कहा—॥ १०॥

ज्ञायतां सौम्य वैदेही यदि जीवति वा न वा।
स च देशो महाप्राज्ञ यस्मिन् वसति रावणः॥ ११॥

'सौम्य! महाप्राज्ञ! पहले यह तो पता लगाओ कि विदेहकुमारी सीता जीवित है या नहीं तथा वह देश, जिसमें रावण निवास करता है, कहाँ है?॥ ११॥

अधिगम्य तु वैदेहीं निलयं रावणस्य च।
प्राप्तकालं विधास्यामि तस्मिन् काले सह त्वया॥ १२॥

'जब सीताके जीवित होनेका और रावणके निवास-स्थानका निश्चित पता मिल जायगा, तब जो समयोचित कर्तव्य होगा, उसका मैं तुम्हारे साथ मिलकर निश्चय करूँगा॥ १२॥

नाहमस्मिन् प्रभुः कार्ये वानरेन्द्र न लक्ष्मणः।
त्वमस्य हेतुः कार्यस्य प्रभुश्च प्लवगेश्वर॥ १३॥

'वानरराज! इस कार्यको सिद्ध करनेमें न तो मैं समर्थ हूँ और न लक्ष्मण ही। कपीश्वर! इस कार्यकी सिद्धि तुम्हारे ही हाथ है। तुम्हीं इसे पूर्ण करनेमें समर्थ हो॥ १३॥

त्वमेवाज्ञापय विभो मम कार्यविनिश्चयम्।
त्वं हि जानासि मे कार्यं मम वीर न संशयः॥ १४॥

'प्रभो! मेरे कार्यका भलीभाँति निश्चय करके तुम्हीं वानरोंको उचित आज्ञा दो। वीर! मेरा कार्य क्या है? इसे तुम्हीं ठीक-ठीक जानते हो, इसमें संशय नहीं है॥ १४॥

सुहृद्द्वितीयो विक्रान्तः प्राज्ञः कालविशेषवित्।
भवानस्मद्धिते युक्तः सुहृदाप्तोऽर्थवित्तमः॥ १५॥

'लक्ष्मणके बाद तुम्हीं मेरे दूसरे सुहृद् हो। तुम पराक्रमी, बुद्धिमान्, समयोचित कर्तव्यके ज्ञाता, हितमें संलग्न रहनेवाले, हितैषी बन्धु, विश्वासपात्र तथा मेरे प्रयोजनको अच्छी तरह समझनेवाले हो'॥ १५॥

एवमुक्तस्तु सुग्रीवो विनतं नाम यूथपम्।
अब्रवीद् रामसांनिध्ये लक्ष्मणस्य च धीमतः॥ १६॥
शैलाभं मेघनिर्घोषमूर्जितं प्लवगेश्वरम्।
सोमसूर्यनिभैः सार्धं वानरैर्वानरोत्तम॥ १७॥
देशकालनयैर्युक्तो विज्ञः कार्यविनिश्चये।
वृतः शतसहस्रेण वानराणां तरस्विनाम्॥ १८॥
अधिगच्छ दिशं पूर्वां सशैलवनकाननाम्।
तत्र सीतां च वैदेहीं निलयं रावणस्य च॥ १९॥
मार्गध्वं गिरिदुर्गेषु वनेषु च नदीषु च।

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर सुग्रीवने उनके और बुद्धिमान् लक्ष्मणके समीप ही विनत नामक यूथपतिसे, जो पर्वतके समान विशालकाय, मेघके समान गम्भीर गर्जना करनेवाले, बलवान् तथा वानरोंके शासक थे और चन्द्रमा एवं सूर्यके समान कान्तिवाले वानरोंके साथ उपस्थित हुए थे,

कहा—'वानरशिरोमणे! तुम देश और कालके अनुसार नीतिका प्रयोग करनेवाले तथा कार्यका निश्चय करनेमें चतुर हो। तुम एक लाख वेगवान् वानरोंके साथ पर्वत, वन और काननोंसहित पूर्व दिशाकी ओर जाओ और वहाँ पहाड़ोंके दुर्गम प्रदेशों, वनों तथा सरिताओंमें विदेहकुमारी सीता एवं रावणके निवास-स्थानकी खोज करो॥ १६—१९½॥

नदीं भागीरथीं रम्यां सरयूं कौशिकीं तथा॥ २०॥
कालिन्दीं यमुनां रम्यां यामुनं च महागिरिम्।
सरस्वतीं च सिन्धुं च शोणं मणिनिभोदकम्॥ २१॥
महीं कालमहीं चापि शैलकाननशोभिताम्।

'भागीरथी गङ्गा, रमणीय सरयू, कौशिकी, सुरम्य कलिन्द-नन्दिनी यमुना, महापर्वत यामुन, सरस्वती नदी, सिंधु, मणिके समान निर्मल जलवाले शोणभद्र, मही तथा पर्वतों और वनोंसे सुशोभित कालमही आदि नदियोंके किनारे ढूँढ़ो॥ २०-२१½॥

ब्रह्ममालान् विदेहांश्च मालवान् काशिकोसलान्॥ २२॥
मागधांश्च महाग्रामान् पुण्ड्रांस्त्वङ्गांस्तथैव च।

'ब्रह्ममाल, विदेह, मालव, काशी, कोसल, मगध देशके बड़े-बड़े ग्राम, पुण्ड्रदेश तथा अङ्ग आदि जनपदोंमें छानबीन करो॥ २२½॥

भूमिं च कोशकाराणां भूमिं च रजताकराम्॥ २३॥
सर्वं च तद् विचेतव्यं मार्गयद्भिस्ततस्ततः।
रामस्य दयितां भार्यां सीतां दशरथस्नुषाम्॥ २४॥

'रेशमके कीड़ोंकी उत्पत्तिके स्थानों और चाँदीके खानोंमें भी खोज करनी चाहिये। इधर-उधर ढूँढ़ते हुए तुम सब लोगोंको इन सभी स्थानोंमें राजा दशरथकी पुत्रवधू तथा श्रीरामचन्द्रजीकी प्यारी पत्नी सीताका अन्वेषण करना चाहिये॥ २३-२४॥

समुद्रमवगाढांश्च पर्वतान् पत्तनानि च।
मन्दरस्य च ये कोटिं संश्रिताः केचिदालयाः॥ २५॥

'समुद्रके भीतर प्रविष्ट हुए पर्वतोंपर, उसके अन्तर्वर्ती द्वीपोंके विभिन्न नगरोंमें तथा मन्दराचलकी चोटीपर जो कोई गाँव बसे हैं, उन सबमें सीताका अनुसंधान करो॥ २५॥

कर्णप्रावरणाश्चैव तथा चाप्योष्ठकर्णकाः।
घोरलोहमुखाश्चैव जवनाश्चैकपादकाः॥ २६॥
अक्षया बलवन्तश्च तथैव पुरुषादकाः।
किरातास्तीक्ष्णचूडाश्च हेमाभाः प्रियदर्शनाः॥ २७॥
आममीनाशनाश्चापि किराता द्वीपवासिनः।
अन्तर्जलचरा घोरा नरव्याघ्रा इति स्मृताः॥ २८॥
एतेषामाश्रयाः सर्वे विचेयाः काननौकसः।

'जो कर्णप्रावरण (वस्त्रकी भाँति पैरतक लटके हुए कानवाले), ओष्ठकर्णक (ओठतक फैले हुए कानवाले) तथा घोरलोहमुख (लोहेके समान काले एवं भयंकर मुखवाले) हैं, जो एक ही पैरके होते हुए भी वेगपूर्वक चलनेवाले हैं, जिनकी संतानपरम्परा कभी क्षीण नहीं होती, वे पुरुष तथा जो बलवान् नरभक्षी राक्षस हैं, जो सूचीके अग्रभागकी भाँति तीखी चोटीवाले, सुवर्णके समान कान्तिमान्, प्रियदर्शन (सुन्दर), कच्ची मछली खानेवाले, द्वीपवासी तथा जलके भीतर विचरनेवाले किरात हैं, जिनके नीचेका आकार मनुष्य-जैसा और ऊपरकी आकृति व्याघ्रके समान है, ऐसे जो भयंकर प्राणी बताये गये हैं; वानरो! इन सबके निवासस्थानोंमें जाकर तुम्हें सीता तथा रावणकी खोज करनी चाहिये॥ २६—२८½॥

गिरिभिर्ये च गम्यन्ते प्लवनेन प्लवेन च॥ २९॥

'जिन द्वीपोंमें पर्वतोंपर होकर जाना पड़ता है, जहाँ समुद्रको तैरकर या नाव आदिके द्वारा पहुँचा जाता है, उन सब स्थानोंमें सीताको ढूँढ़ना चाहिये॥ २९॥

यत्नवन्तो यवद्वीपं सप्तराजोपशोभितम्।
सुवर्णरूप्यकद्वीपं सुवर्णाकरमण्डितम्॥ ३०॥

'इसके सिवा तुमलोग यत्नशील होकर सात राज्योंसे सुशोभित यवद्वीप (जावा), सुवर्णद्वीप (सुमात्रा) तथा रूप्यकद्वीपमें भी जो सुवर्णकी खानोंसे सुशोभित हैं, ढूँढ़नेका प्रयत्न करो॥ ३०॥

यवद्वीपमतिक्रम्य शिशिरो नाम पर्वतः।
दिवं स्पृशति शृङ्गेण देवदानवसेवितः॥ ३१॥

'यवद्वीपको लाँघकर आगे जानेपर एक शिशिरनामक पर्वत मिलता है, जिसके ऊपर देवता और दानव निवास करते हैं। वह पर्वत अपने उच्च शिखरसे स्वर्गलोकका स्पर्श करता-सा जान पड़ता है॥ ३१॥

एतेषां गिरिदुर्गेषु प्रपातेषु वनेषु च।
मार्गध्वं सहिताः सर्वे रामपत्नीं यशस्विनीम्॥ ३२॥

'इन सब द्वीपोंके पर्वतों तथा शिशिर पर्वतके दुर्गम प्रदेशोंमें, झरनोंके आसपास और जंगलोंमें तुम सब लोग एक साथ होकर श्रीरामचन्द्रजीकी यशस्विनी पत्नी सीताका अन्वेषण करो॥ ३२॥

ततो रक्तजलं प्राप्य शोणाख्यं शीघ्रवाहिनम्।
गत्वा पारं समुद्रस्य सिद्धचारणसेवितम्॥ ३३॥
तस्य तीर्थेषु रम्येषु विचित्रेषु वनेषु च।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः॥ ३४॥

'तदनन्तर समुद्रके उस पार जहाँ सिद्ध और चारण निवास करते हैं, जाकर लाल जलसे भरे हुए शीघ्र प्रवाहित होनेवाले शोण नामक नदके तटपर पहुँच जाओगे। उसके तटवर्ती रमणीय तीर्थों और विचित्र वनोंमें जहाँ-तहाँ विदेहकुमारी सीताके साथ रावणकी खोज करना॥ ३३-३४॥

पर्वतप्रभवा नद्यः सुभीमबहुनिष्कुटाः।
मार्गितव्या दरीमन्तः पर्वताश्च वनानि च॥ ३५॥

'पर्वतोंसे निकली हुई बहुत-सी ऐसी नदियाँ मिलेंगी, जिनके तटोंपर बड़े भयंकर अनेकानेक उपवन प्राप्त होंगे।

साथ ही वहाँ बहुत-सी गुफाओंवाले पर्वत उपलब्ध होंगे और अनेक वन भी दृष्टिगोचर होंगे। उन सबमें सीताका पता लगाना चाहिये ॥ ३५ ॥

ततः समुद्रद्वीपांश्च सुभीमान् द्रष्टुमर्हथ।
ऊर्मिमन्तं महारौद्रं क्रोशन्तमनिलोद्धतम् ॥ ३६ ॥

'तत्पश्चात् पूर्वोक्त देशोंसे परे जाकर तुम इक्षुरससे परिपूर्ण समुद्र तथा उसके द्वीपोंको देखोगे, जो बड़े ही भयंकर प्रतीत होते हैं। इक्षुरसका वह समुद्र महाभयंकर है। उसमें हवाके वेगसे उत्ताल तरंगें उठती रहती है तथा वह गर्जना करता हुआ-सा जान पड़ता है ॥ ३६ ॥

तत्रासुरा महाकायाश्छायां गृह्णन्ति नित्यशः।
ब्रह्मणा समनुज्ञाता दीर्घकालं बुभुक्षिताः ॥ ३७ ॥

'उस समुद्रमें बहुत-से विशालकाय असुर निवास करते हैं। वे बहुत दिनोंके भूखे होते हैं और छाया पकड़कर ही प्राणियोंको अपने पास खींच लेते हैं। यही उनका नित्यका आहार है। इसके लिये उन्हें ब्रह्माजीसे अनुमति मिल चुकी है ॥ ३७ ॥

तं कालमेघप्रतिमं महोरगनिषेवितम्।
अभिगम्य महानादं तीर्थेनैव महोदधिम् ॥ ३८ ॥
ततो रक्तजलं भीमं लोहितं नाम सागरम्।
गत्वा प्रेक्ष्यथ तां चैव बृहतीं कूटशाल्मलीम् ॥ ३९ ॥

'इक्षुरसका वह समुद्र काले मेघके समान श्याम दिखायी देता है। बड़े-बड़े नाग उसके भीतर निवास करते हैं। उससे बड़ी भारी गर्जना होती रहती है। विशेष उपायोंसे उस महासागरके पार जाकर तुम लाल रंगके जलसे भरे हुए लोहित नामक भयंकर समुद्रके तटपर पहुँच जाओगे और वहाँ शाल्मलीद्वीपके चिह्नभूत कूटशाल्मली नामक विशाल वृक्षका दर्शन करोगे ॥ ३८-३९ ॥

गृहं च वैनतेयस्य नानारत्नविभूषितम्।
तत्र कैलाससंकाशं विहितं विश्वकर्मणा ॥ ४० ॥

'उसके पास ही विश्वकर्माका बनाया हुआ विनतानन्दन गरुड़का एक सुन्दर भवन है, जो नाना प्रकारके रत्नोंसे विभूषित तथा कैलास पर्वतके समान उज्ज्वल एवं विशाल है ॥ ४० ॥

तत्र शैलनिभा भीमा मन्देहा नाम राक्षसाः।
शैलशृङ्गेषु लम्बन्ते नानारूपा भयावहाः ॥ ४१ ॥

'उस द्वीपमें पर्वतके समान शरीरवाले भयंकर मंदेह नामक राक्षस निवास करते हैं, जो सुरा समुद्रके मध्यवर्ती शैल-शिखरोंपर लटकते रहते हैं। वे अनेक प्रकारके रूप धारण करनेवाले तथा भयदायक हैं ॥ ४१ ॥

ते पतन्ति जले नित्यं सूर्यस्योदयनं प्रति।
अभितप्ताः स्म सूर्येण लम्बन्ते स्म पुनः पुनः ॥ ४२ ॥
निहता ब्रह्मतेजोभिरहन्यहनि राक्षसाः।

'प्रतिदिन सूर्योदयके समय वे राक्षस ऊर्ध्वमुख होकर सूर्यसे जूझने लगते हैं, परंतु सूर्यमण्डलके तापसे संतप्त तथा ब्रह्मतेजसे निहत हो सुरा-समुद्रके जलमें गिर पड़ते हैं। वहाँसे फिर जीवित हो उन्हीं शैल-शिखरोंपर लटक जाते हैं। उनका बारंबार ऐसा ही क्रम चला करता है ॥ ४२½ ॥

ततः पाण्डुरमेघाभं क्षीरोदं नाम सागरम् ॥ ४३ ॥

'शाल्मलिद्वीप एवं सुरा-समुद्रसे आगे बढ़नेपर (क्रमशः घृत और दधिके समुद्र प्राप्त होंगे। वहाँ सीताकी खोज करनेके पश्चात् जब आगे बढ़ोगे, तब) सफेद बादलोंकी-सी आभावाले क्षीरसमुद्रका दर्शन करोगे ॥ ४३ ॥

गत्वा द्रक्ष्यथ दुर्धर्षा मुक्ताहारमिवोर्मिभिः।
तस्य मध्ये महाञ्श्वेतो ऋषभो नाम पर्वतः ॥ ४४ ॥

'दुर्धर्ष वानरो! वहाँ पहुँचकर उठती हुई लहरोंसे युक्त क्षीरसागरको इस प्रकार देखोगे, मानो उसने मोतियोंके हार पहन रखे हों। उस सागरके बीचमें ऋषभ नामसे प्रसिद्ध एक बहुत ऊँचा पर्वत है, जो श्वेत वर्णका है ॥ ४४ ॥

दिव्यगन्धैः कुसुमितैराचितैश्च नगैर्वृतः।
सरश्च राजतैः पद्मैर्ज्वलितैर्हेमकेसरैः ॥ ४५ ॥
नाम्ना सुदर्शनं नाम राजहंसैः समाकुलम्।

'उस पर्वतपर सब ओर बहुत-से वृक्ष भरे हुए हैं, जो फूलोंसे सुशोभित तथा दिव्य गन्धसे सुवासित हैं। उसके ऊपर सुदर्शन नामका एक सरोवर है, जिसमें चाँदीके समान श्वेत रंगवाले कमल खिले हुए हैं। उन कमलोंके केसर सुवर्णमय होते हैं और सदा दिव्य दीप्तिसे दमकते रहते हैं। वह सरोवर राजहंसोंसे भरा रहता है ॥ ४५½ ॥

विबुधाश्चारणा यक्षाः किंनराश्चाप्सरोगणाः ॥ ४६ ॥
हृष्टाः समधिगच्छन्ति नलिनीं तां रिरंसवः।

'देवता, चारण, यक्ष, किन्नर और अप्सराएँ बड़ी प्रसन्नताके साथ जल-विहार करनेके लिये वहाँ आया करती हैं ॥ ४६½ ॥

क्षीरोदं समतिक्रम्य तदा द्रक्ष्यथ वानराः ॥ ४७ ॥
जलोदं सागरं शीघ्रं सर्वभूतभयावहम्।
तत्र तत्कोपजं तेजः कृतं हयमुखं महत् ॥ ४८ ॥

'वानरो! क्षीरसागर लाँघकर जब तुमलोग आगे बढ़ोगे, तब शीघ्र ही सुस्वादु जलसे भरे हुए समुद्रको देखोगे। वह महासागर समस्त प्राणियोंको भय देनेवाला है। उसमें ब्रह्मर्षि और्वके कोपसे प्रकट हुआ वडवामुख नामक महान् तेज विद्यमान है ॥ ४७-४८ ॥

अस्याहुस्तन्महावेगमोदनं सचराचरम्।
तत्र विक्रोशतां नादो भूतानां सागरौकसाम्।
श्रूयते चासमर्थानां दृष्ट्वाभूद् वडवामुखम् ॥ ४९ ॥

'उस समुद्रमें जो चराचर प्राणियोंसहित महान् वेगशाली जल है, वही उस वडवामुख नामक अग्निका आहार बताया जाता है। वहाँ जो वडवानल प्रकट हुआ है, उसे देखकर उसमें पतनके भयसे चीखते-चिल्लाते हुए समुद्रनिवासी

असमर्थ प्राणियोंका आर्तनाद निरन्तर सुनायी देता है ॥ ४९ ॥

स्वादूदस्योत्तरे तीरे योजनानि त्रयोदश।
जातरूपशिलो नाम सुमहान् कनकप्रभः ॥ ५० ॥

'स्वादिष्ट जलसे भरे हुए उस समुद्रके उत्तर तेरह योजनकी दूरीपर सुवर्णमयी शिलाओंसे सुशोभित, कनककी कमनीय कान्ति धारण करनेवाला एक बहुत ऊँचा पर्वत है ॥ ५० ॥

तत्र चन्द्रप्रतीकाशं पन्नगं धरणीधरम्।
पद्मपत्रविशालाक्षं ततो द्रक्ष्यथ वानराः ॥ ५१ ॥
आसीनं पर्वतस्याग्रे सर्वदेवनमस्कृतम्।
सहस्रशिरसं देवमनन्तं नीलवाससम् ॥ ५२ ॥

'वानरो! उसके शिखरपर इस पृथ्वीको धारण करनेवाले भगवान् अनन्त बैठे दिखायी देंगे। उनका श्रीविग्रह चन्द्रमाके समान गौरवर्णका है। वे सर्प जातिके हैं; परंतु उनका स्वरूप देवताओंके तुल्य है। उनके नेत्र प्रफुल्ल कमलदलके समान हैं और शरीर नील वस्त्रसे आच्छादित है। उन अनन्तदेवके सहस्र मस्तक हैं ॥ ५१-५२ ॥

त्रिशिराः काञ्चनः केतुस्तालस्तस्य महात्मनः।
स्थापितः पर्वतस्याग्रे विराजति सवेदिकः ॥ ५३ ॥

'पर्वतके ऊपर उन महात्माकी ताड़के चिह्नसे युक्त सुवर्णमयी ध्वजा फहराती रहती है। उस ध्वजाकी तीन शिखाएँ हैं और उसके नीचे आधारभूमिपर वेदी बनी हुई है। इस तरह उस ध्वजकी बड़ी शोभा होती है ॥ ५३ ॥

पूर्वस्यां दिशि निर्माणं कृतं तत् त्रिदशेश्वरैः।
ततः परं हेममयः श्रीमानुदयपर्वतः ॥ ५४ ॥

'यही तालध्वज पूर्व दिशाकी सीमाके सूचक-चिह्नके रूपमें देवताओंद्वारा स्थापित किया गया है। उसके बाद सुवर्णमय उदयपर्वत है, जो दिव्य शोभासे सम्पन्न है ॥ ५४ ॥

तस्य कोटिर्दिवं स्पृष्ट्वा शतयोजनमायता।
जातरूपमयी दिव्या विराजति सवेदिका ॥ ५५ ॥

'उसका गगनचुम्बी शिखर सौ योजन लंबा है। उसका आधारभूत पर्वत भी वैसा ही है। उसके साथ वह दिव्य सुवर्णशिखर अद्भुत शोभा पाता है ॥ ५५ ॥

सालैस्तालैस्तमालैश्च कर्णिकारैश्च पुष्पितैः।
जातरूपमयैर्दिव्यैः शोभते सूर्यसंनिभैः ॥ ५६ ॥

'वहाँके साल, ताल, तमाल और फूलोंसे लदे कनेर आदि वृक्ष भी सुवर्णमय ही हैं। उन सूर्यतुल्य तेजस्वी दिव्य वृक्षोंसे उदयगिरिकी बड़ी शोभा होती है ॥ ५६ ॥

तत्र योजनविस्तारमुच्छ्रितं दशयोजनम्।
शृङ्गं सौमनसं नाम जातरूपमयं ध्रुवम् ॥ ५७ ॥

'उस सौ योजन लंबे उदयगिरिके शिखरपर एक सौमनस नामक सुवर्णमय शिखर है, जिसकी चौड़ाई एक योजन और ऊँचाई दस योजन है ॥ ५७ ॥

तत्र पूर्वं पदं कृत्वा पुरा विष्णुस्त्रिविक्रमे।
द्वितीयं शिखरे मेरोश्चकार पुरुषोत्तमः ॥ ५८ ॥

'पूर्वकालमें वामन अवतारके समय पुरुषोत्तम भगवान् विष्णुने अपना पहला पैर उस सौमनस नामक शिखरपर रखकर दूसरा पैर मेरु पर्वतके शिखरपर रखा था ॥ ५८ ॥

उत्तरेण परिक्रम्य जम्बूद्वीपं दिवाकरः।
दृश्यो भवति भूयिष्ठं शिखरं तन्महोच्छ्रयम् ॥ ५९ ॥

'सूर्यदेव उत्तरसे घूमकर जम्बूद्वीपकी परिक्रमा करते हुए जब अत्यन्त ऊँचे 'सौमनस' नामक शिखरपर आकर स्थित होते हैं, तब जम्बूद्वीपनिवासियोंको उनका अधिक स्पष्टताके साथ दर्शन होता है ॥ ५९ ॥

तत्र वैखानसा नाम वालखिल्या महर्षयः।
प्रकाशमाना दृश्यन्ते सूर्यवर्णास्तपस्विनः ॥ ६० ॥

'उस सौमनस नामक शिखरपर वैखानस महात्मा महर्षि बालखिल्यगण प्रकाशित होते देखे जाते हैं, जो सूर्यके समान कान्तिमान् और तपस्वी हैं ॥ ६० ॥

अयं सुदर्शनो द्वीपः पुरो यस्य प्रकाशते।
तस्मिंस्तेजश्च चक्षुश्च सर्वप्राणभृतामपि ॥ ६१ ॥

'यह उदयगिरिके सौमनस शिखरके सामनेका द्वीप सुदर्शन नामसे प्रसिद्ध है; क्योंकि उक्त शिखरपर जब भगवान् सूर्य उदित होते हैं, तभी इस द्वीपके समस्त प्राणियोंका तेजसे सम्बन्ध होता है और सबके नेत्रोंको प्रकाश प्राप्त होता है (यही इस द्वीपके 'सुदर्शन' नाम होनेका कारण है) ॥ ६१ ॥

शैलस्य तस्य पृष्ठेषु कन्दरेषु वनेषु च।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ ६२ ॥

'उदयाचलके पृष्ठभागोंमें, कन्दराओंमें तथा वनोंमें भी तुम्हें जहाँ-तहाँ विदेहकुमारी सीतासहित रावणका पता लगाना चाहिये ॥ ६२ ॥

काञ्चनस्य च शैलस्य सूर्यस्य च महात्मनः।
आविष्टा तेजसा संध्या पूर्वा रक्ता प्रकाशते ॥ ६३ ॥

'उस सुवर्णमय उदयाचल तथा महात्मा सूर्यदेवके तेजसे व्याप्त हुई उदयकालिक पूर्व संध्या रक्तवर्णकी प्रभासे प्रकाशित होती है ॥ ६३ ॥

पूर्वमेतत् कृतं द्वारं पृथिव्या भुवनस्य च।
सूर्यस्योदयनं चैव पूर्वा ह्येषा दिगुच्यते ॥ ६४ ॥

'सूर्यके उदयका यह स्थान सबसे पहले ब्रह्माजीने बनाया है; अतः यही पृथ्वी एवं ब्रह्मलोकका द्वार है (ऊपरके लोकोंमें रहनेवाले प्राणी इसी द्वारसे भूलोकमें प्रवेश करते हैं तथा भूलोकके प्राणी इसी द्वारसे ब्रह्मलोकमें जाते हैं)। पहले इसी दिशामें इस द्वारका निर्माण हुआ, इसलिये इसे पूर्व दिशा कहते हैं ॥ ६४ ॥

तस्य शैलस्य पृष्ठेषु निर्झरेषु गुहासु च।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ ६५ ॥

'उदयाचलकी घाटियों, झरनों और गुफाओंमें यत्र-तत्र घूमकर तुम्हें विदेहकुमारी सीतासहित रावणका अन्वेषण करना चाहिये ॥ ६५ ॥

ततः परमगम्या स्याद् दिक्पूर्वा त्रिदशावृता ।
रहिता चन्द्रसूर्याभ्यामदृश्या तमसावृता ॥ ६६ ॥

'इससे आगे पूर्व दिशा अगम्य है। उधर देवता रहते हैं। उस ओर चन्द्रमा और सूर्यका प्रकाश न होनेसे वहाँकी भूमि अन्धकारसे आच्छन्न एवं अदृश्य है ॥ ६६ ॥

शैलेषु तेषु सर्वेषु कन्दरेषु नदीषु च ।
ये च नोक्ता मयोद्देशा विचेया तेषु जानकी ॥ ६७ ॥

'उदयाचलके आस-पासके जो समस्त पर्वत, कन्दराएँ तथा नदियाँ हैं, उनमें तथा जिन स्थानोंका मैंने निर्देश नहीं किया है, उनमें भी तुम्हें जानकीकी खोज करनी चाहिये ॥

एतावद् वानरैः शक्यं गन्तुं वानरपुङ्गवाः ।
अभास्करममर्यादं न जानीमस्ततः परम् ॥ ६८ ॥

'वानरशिरोमणियो ! केवल उदयगिरितक ही वानरोंकी पहुँच हो सकती है। इससे आगे न तो सूर्यका प्रकाश है और न देश आदिकी कोई सीमा ही है। अतः आगेकी भूमिके बारेमें मुझे कुछ भी मालूम नहीं है ॥ ६८ ॥

अभिगम्य तु वैदेहीं निलयं रावणस्य च ।
मासे पूर्णे निवर्तध्वमुदयं प्राप्य पर्वतम् ॥ ६९ ॥

'तुमलोग उदयाचलतक जाकर सीता और रावणके स्थानका पता लगाना और एक मास पूरा होते-होतेतक लौट आना ॥

ऊर्ध्वं मासान्न वस्तव्यं वसन् वध्यो भवेन्मम ।
सिद्धार्थाः संनिवर्तध्वमधिगम्य च मैथिलीम् ॥ ७० ॥

'एक महीनेसे अधिक न ठहरना। जो अधिक कालतक वहाँ रह जायगा, वह मेरे द्वारा मारा जायगा। मिथिलेश-कुमारीका पता लगाकर अन्वेषणका प्रयोजन सिद्ध हो जानेपर अवश्य लौट आना ॥ ७० ॥

महेन्द्रकान्तां वनषण्डमण्डितां
दिशं चरित्वा निपुणेन वानराः ।
अवाप्य सीतां रघुवंशजप्रियां
ततो निवृत्ताः सुखिनो भविष्यथ ॥ ७१ ॥

'वानरो ! वनसमूहसे अलंकृत पूर्वदिशामें अच्छी तरह भ्रमण करके श्रीरामचन्द्रजीकी प्यारी पत्नी सीताका समाचार जानकर तुम वहाँसे लौट आओ। इससे तुम सुखी होओगे' ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें चालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४० ॥

★

एकचत्वारिंशः सर्गः

सुग्रीवका दक्षिण दिशाके स्थानोंका परिचय देते हुए वहाँ प्रमुख वानर वीरोंको भेजना

ततः प्रस्थाप्य सुग्रीवस्तन्महद्वानरं बलम् ।
दक्षिणां प्रेषयामास वानरानभिलक्षितान् ॥ १ ॥

इस प्रकार वानरोंकी बहुत बड़ी सेनाको पूर्व दिशामें प्रस्थापित करके सुग्रीवने दक्षिण दिशाकी ओर चुने हुए वानरोंको, जो भलीभाँति परख लिये गये थे, भेजा ॥ १ ॥

नीलमग्निसुतं चैव हनूमन्तं च वानरम् ।
पितामहसुतं चैव जाम्बवन्तं महौजसम् ॥ २ ॥
सुहोत्रं च शरारिं च शरगुल्मं तथैव च ।
गजं गवाक्षं गवयं सुषेणं वृषभं तथा ॥ ३ ॥
मैन्दं च द्विविदं चैव सुषेणं गन्धमादनम् ।
उल्कामुखमनङ्गं च हुताशनसुतावुभौ ॥ ४ ॥
अङ्गदप्रमुखान् वीरान् वीरः कपिगणेश्वरः ।
वेगविक्रमसम्पन्नान् संदिदेश विशेषवित् ॥ ५ ॥

अग्निपुत्र नील, कपिवर हनुमान्‌जी, ब्रह्माजीके महाबली पुत्र जाम्बवान्, सुहोत्र, शरारि, शरगुल्म, गज, गवाक्ष, गवय, सुषेण[1] (प्रथम), वृषभ, मैन्द, द्विविद, सुषेण (द्वितीय), गन्धमादन, हुताशनके दो पुत्र उल्कामुख और अनङ्ग (असङ्ग) तथा अङ्गद आदि प्रधान-प्रधान वीरोंको, जो महान् वेग और पराक्रमसे सम्पन्न थे, विशेषज्ञ वानरराज सुग्रीवने दक्षिणकी ओर जानेकी आज्ञा दी ॥ २—५ ॥

तेषामग्रेसरं चैव बृहद्बलमथाङ्गदम् ।
विधाय हरिवीराणामादिशद् दक्षिणां दिशम् ॥ ६ ॥

महान् बलशाली अङ्गदको उन समस्त वानर वीरोंका अगुआ बनाकर उन्हें दक्षिण दिशामें सीताकी खोजका भार सौंपा ॥

ये केचन समुद्देशास्तस्यां दिशि सुदुर्गमाः ।
कपीशः कपिमुख्यानां स तेषां समुदाहरत् ॥ ७ ॥

उस दिशामें जो कोई भी स्थान अत्यन्त दुर्गम थे, उनका भी कपिराज सुग्रीवने उन श्रेष्ठ वानरोंको परिचय दिया[2] ॥ ७ ॥

सहस्रशिरसं विन्ध्यं नानाद्रुमलतायुतम् ।
नर्मदां च नदीं रम्यां महोरगनिषेविताम् ॥ ८ ॥

---

१. सुषेण दो थे—एक ताराके पिता और दूसरा उनसे भिन्न वानरयूथपति था।

२. यहाँ दक्षिण दिशाका विभाग किष्किन्धासे न करके आर्यावर्तसे किया गया है। पूर्व समुद्रसे पश्चिम समुद्र और हिमालयसे विन्ध्यके भागको आर्यावर्त कहते हैं। सुग्रीवने दक्षिण दिशाके जिन स्थानोंका परिचय दिया है, उनकी सङ्गति आर्यावर्तसे ही दिशाका विभाजन करनेपर लगती है।

ततो गोदावरीं रम्यां कृष्णवेणीं महानदीम्।
वरदां च महाभागां महोरगनिषेविताम्।
मेखलानुत्कलांश्चैव दशार्णनगराण्यपि॥ ९॥
आब्रवन्तीमवन्तीं च सर्वमेवानुपश्यत।

वे बोले—'वानरो! तुमलोग भाँति-भाँतिके वृक्षों और लताओंसे सुशोभित सहस्रों शिखरोंवाले विन्ध्यपर्वत, बड़े-बड़े नागोंसे सेवित रमणीय नर्मदा नदी, सुरम्य गोदावरी, महानदी, कृष्णवेणी तथा बड़े-बड़े नागोंसे सेवित महाभागा वरदा आदि नदियोंके तटोंपर और मेखल (मेकल), उत्कल एवं दशार्ण देशके नगरोंमें तथा आब्रवन्ती और अवन्तीपुरीमें भी सब जगह सीताकी खोज करो॥ ८-९½॥

विदर्भानृष्टिकांश्चैव रम्यान् माहिषकानपि॥ १०॥
तथा वङ्गान् कलिङ्गांश्च कौशिकांश्च समन्ततः।
अन्वीक्ष्य दण्डकारण्यं सपर्वतनदीगुहम्॥ ११॥
नदीं गोदावरीं चैव सर्वमेवानुपश्यत।
तथैवान्ध्रांश्च पुण्ड्रांश्च चोलान् पाण्ड्यांश्च केरलान्॥

'इसी प्रकार विदर्भ, ऋष्टिक, रम्य माहिषक देश, वङ्ग[1], कलिङ्ग तथा कौशिक आदि देशोंमें सब ओर देखभाल करके पर्वत, नदी और गुफाओंसहित समूचे दण्डकारण्यमें छानबीन करना। वहाँ जो गोदावरी नदी है, उसमें सब ओर बारंबार देखना। इसी प्रकार आन्ध्र, पुण्ड्र, चोल, पाण्ड्य तथा केरल आदि देशोंमें भी ढूँढ़ना॥ १०—१२॥

अयोमुखश्च गन्तव्यः पर्वतो धातुमण्डितः।
विचित्रशिखरः श्रीमांश्चित्रपुष्पितकाननः॥ १३॥
सुचन्दनवनोद्देशो मार्गितव्यो महागिरिः।

'तदनन्तर अनेक धातुओंसे अलंकृत अयोमुख[2] (मलय) पर्वतपर भी जाना, उसके शिखर बड़े विचित्र हैं। वह शोभाशाली पर्वत फूले हुए विचित्र काननोंसे युक्त है। उसके सभी स्थानोंमें सुन्दर चन्दनके वन हैं। उस महापर्वत मलयपर सीताकी अच्छी तरह खोज करना॥ १३½॥

ततस्तामापगां दिव्यां प्रसन्नसलिलाशयाम्॥ १४॥
तत्र द्रक्ष्यथ कावेरीं विहृतामप्सरोगणैः।

'तत्पश्चात् स्वच्छ जलवाली दिव्य नदी कावेरीको देखना, जहाँ अप्सराएँ विहार करती हैं॥ १४½॥

तस्यासीनं नगस्याग्रे मलयस्य महौजसम्॥ १५॥
द्रक्ष्यथादित्यसंकाशमगस्त्यमृषिसत्तमम्।

'उस प्रसिद्ध मलयपर्वतके शिखरपर बैठे हुए सूर्यके समान महान् तेजसे सम्पन्न मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यका[3] दर्शन करना॥

ततस्तेनाभ्यनुज्ञाताः प्रसन्नेन महात्मना॥ १६॥
ताम्रपर्णीं ग्राहजुष्टां तरिष्यथ महानदीम्।

'इसके बाद उन प्रसन्नचित्त महात्मासे आज्ञा लेकर ग्राहोंसे सेवित महानदी ताम्रपर्णीको पार करना॥ १६½॥

सा चन्दनवनैश्चित्रैः प्रच्छन्नद्वीपवारिणी॥ १७॥
कान्तेव युवती कान्तं समुद्रमवगाहते।

'उसके द्वीप और जल विचित्र चन्दनवनोंसे आच्छादित हैं; अतः वह सुन्दर साड़ीसे विभूषित युवती प्रेयसीकी भाँति अपने प्रियतम समुद्रसे मिलती है॥ १७½॥

ततो हेममयं दिव्यं मुक्तामणिविभूषितम्॥ १८॥
युक्तं कवाटं पाण्ड्यानां गता द्रक्ष्यथ वानराः।

'वानरो! वहाँसे आगे बढ़नेपर तुमलोग पाण्ड्यवंशी राजाओंके नगरद्वारपर[4] लगे हुए सुवर्णमय कपाटका दर्शन करोगे, जो मुक्तामणियोंसे विभूषित एवं दिव्य है॥ १८½॥

ततः समुद्रमासाद्य सम्प्रधार्यार्थनिश्चयम्॥ १९॥
अगस्त्येनान्तरे तत्र सागरे विनिवेशितः।
चित्रसानुनगः श्रीमान् महेन्द्रः पर्वतोत्तमः॥ २०॥
जातरूपमयः श्रीमानवगाढो महार्णवम्।

'तत्पश्चात् समुद्रके तटपर जाकर उसे पार करनेके सम्बन्धमें अपने कर्तव्यका भलीभाँति निश्चय करके उसका पालन करना। महर्षि अगस्त्यने समुद्रके भीतर एक सुन्दर सुवर्णमय पर्वतको स्थापित किया है, जो महेन्द्रगिरिके नामसे विख्यात है। उसके शिखर तथा वहाँके वृक्ष विचित्र शोभासे सम्पन्न हैं। वह शोभाशाली पर्वत श्रेष्ठ समुद्रके भीतर गहराईतक घुसा हुआ है॥ १९-२०½॥

नानाविधैर्नगैः फुल्लैर्लताभिश्चोपशोभितम्॥ २१॥
देवर्षियक्षप्रवरैरप्सरोभिश्च शोभितम्।
सिद्धचारणसङ्घैश्च प्रकीर्णं सुमनोरमम्॥ २२॥
तमुपैति सहस्राक्षः सदा पर्वसु पर्वसु।

'नाना प्रकारके खिले हुए वृक्ष और लताएँ उस पर्वतकी शोभा बढ़ाती हैं। देवता, ऋषि, श्रेष्ठ यक्ष और अप्सराओंकी उपस्थितिसे उसकी शोभा और भी बढ़ जाती है। सिद्धों और चारणोंके समुदाय वहाँ सब ओर फैले रहते हैं। इन सबके कारण महेन्द्रपर्वत अत्यन्त मनोरम जान पड़ता है। सहस्र नेत्रधारी इन्द्र

---

१. अन्य पाठके अनुसार यहाँ मत्स्य देश समझना चाहिये।

२. रामायणतिलकके लेखक अयोमुखको मलय-पर्वतका नामान्तर मानते हैं। गोविन्दराज इसे सह्यपर्वतका पर्याय समझते हैं तथा रामायणशिरोमणिकार अयोमुखको इन दोनोंसे भिन्न स्वतन्त्र पर्वत मानते हैं। यहाँ तिलककारके मतका अनुसरण किया गया है।

३. यद्यपि पहले पञ्चवटीसे उत्तर भागमें अगस्त्यके आश्रमका वर्णन आया है तथापि यहाँ मलयपर्वतपर भी उनका आश्रम था, ऐसा मानना चाहिये। जैसे वाल्मीकि मुनिका आश्रम अनेक स्थानोंमें था, उसी तरह इनका भी था अथवा ये उसी नामके कोई दूसरे ऋषि थे।

४. आधुनिक तंजौर ही प्राचीन पाण्ड्यवंशी नरेशोंका नगर है। इस नगरमें भी छानबीन करनेके लिये सुग्रीव वानरोंको आदेश दे रहे हैं।

प्रत्येक पर्वके दिन उस पर्वतपर पदार्पण करते हैं ॥ २१-२२½ ॥

द्वीपस्तस्यापरे पारे शतयोजनविस्तृतः ॥ २३ ॥
अगम्यो मानुषैर्दीप्तस्तं मार्गध्वं समन्ततः ।
तत्र सर्वात्मना सीता मार्गितव्या विशेषतः ॥ २४ ॥

'उस समुद्रके उस पार एक द्वीप है, जिसका विस्तार सौ योजन है। वहाँ मनुष्योंकी पहुँच नहीं है। वह जो दीप्तिशाली द्वीप है, उसमें चारों ओर पूरा प्रयत्न करके तुम्हें सीताकी विशेषरूपसे खोज करनी चाहिये ॥ २३-२४ ॥

स हि देशस्तु वध्यस्य रावणस्य दुरात्मनः ।
राक्षसाधिपतेर्वासः सहस्राक्षसमद्युतेः ॥ २५ ॥

'वही देश इन्द्रके समान तेजस्वी दुरात्मा राक्षसराज रावणका, जो हमारा वध्य है, निवासस्थान है ॥ २५ ॥

दक्षिणस्य समुद्रस्य मध्ये तस्य तु राक्षसी ।
अङ्गारकेति विख्याता छायामाक्षिप्य भोजिनी ॥ २६ ॥

'उस दक्षिण समुद्रके बीचमें अङ्गारका नामसे प्रसिद्ध एक राक्षसी रहती है, जो छाया पकड़कर ही प्राणियोंको खींच लेती और उन्हें खा जाती है ॥ २६ ॥

एवं निःसंशयान् कृत्वा संशयान्नष्टसंशयाः ।
मृगयध्वं नरेन्द्रस्य पत्नीममिततेजसः ॥ २७ ॥

'उस लङ्काद्वीपमें जो संदिग्ध स्थान हैं, उन सबमें इस तरह खोज करके जब तुम उन्हें संदेहरहित समझ लो और तुम्हारे मनका संशय निकल जाय, तब तुम लङ्काद्वीपको भी लाँघकर आगे बढ़ जाना और अमिततेजस्वी महाराज श्रीरामकी पत्नीका अन्वेषण करना ॥ २७ ॥

तमतिक्रम्य लक्ष्मीवान् समुद्रे शतयोजने ।
गिरिः पुष्पितको नाम सिद्धचारणसेवितः ॥ २८ ॥

'लङ्काको लाँघकर आगे बढ़नेपर सौ योजन विस्तृत समुद्रमें एक पुष्पितक नामका पर्वत है, जो परम शोभासे सम्पन्न तथा सिद्धों और चारणोंसे सेवित है ॥ २८ ॥

चन्द्रसूर्यांशुसंकाशः सागराम्बुसमाश्रयः ।
भ्राजते विपुलैः शृङ्गैरम्बरं विलिखन्निव ॥ २९ ॥

'वह चन्द्रमा और सूर्यके समान प्रकाशमान है तथा समुद्रके जलमें गहराईतक घुसा हुआ है। वह अपने विस्तृत शिखरोंसे आकाशमें रेखा खींचता हुआ-सा सुशोभित होता है ॥ २९ ॥

तस्यैकं काञ्चनं शृङ्गं सेवते यं दिवाकरः ।
श्वेतं राजतमेकं च सेवते यन्निशाकरः ।
न तं कृतघ्नाः पश्यन्ति न नृशंसा न नास्तिकाः ॥ ३० ॥

'उस पर्वतका एक सुवर्णमय शिखर है, जिसका प्रतिदिन सूर्यदेव सेवन करते हैं। उसी प्रकार इसका एक रजतमय श्वेत-शिखर है, जिसका चन्द्रमा सेवन करते हैं। कृतघ्न, नृशंस और नास्तिक पुरुष उस पर्वत-शिखरको नहीं देख पाते हैं ॥ ३० ॥

प्रणम्य शिरसा शैलं तं विमार्गथ वानराः ।
तमतिक्रम्य दुर्धर्षं सूर्यवान्नाम पर्वतः ॥ ३१ ॥

'वानरो! तुमलोग मस्तक झुकाकर उस पर्वतको प्रणाम करना और वहाँ सब ओर सीताको ढूँढ़ना। उस दुर्धर्ष पर्वतको लाँघकर आगे बढ़नेपर सूर्यवान् नामक पर्वत मिलेगा ॥ ३१ ॥

अध्वना दुर्विगाहेन योजनानि चतुर्दश ।
ततस्तमप्यतिक्रम्य वैद्युतो नाम पर्वतः ॥ ३२ ॥

'वहाँ जानेका मार्ग बड़ा दुर्गम है और वह पुष्पितकसे चौदह योजन दूर है। सूर्यवान्‌को लाँघकर जब तुमलोग आगे जाओगे, तब तुम्हें 'वैद्युत' नामक पर्वत मिलेगा ॥ ३२ ॥

सर्वकामफलैर्वृक्षैः सर्वकालमनोहरैः ।
तत्र भुक्त्वा वरार्हाणि मूलानि च फलानि च ॥ ३३ ॥
मधूनि पीत्वा जुष्टानि परं गच्छत वानराः ।

'वहाँके वृक्ष सम्पूर्ण मनोवाञ्छित फलोंसे युक्त और सभी ऋतुओंमें मनोहर शोभासे सम्पन्न हैं। वानरो! उनसे सुशोभित वैद्युत पर्वतपर उत्तम फल-मूल खाकर और सेवन करने योग्य मधु पीकर तुमलोग आगे जाना ॥ ३३½ ॥

तत्र नेत्रमनःकान्तः कुञ्जरो नाम पर्वतः ॥ ३४ ॥
अगस्त्यभवनं यत्र निर्मितं विश्वकर्मणा ।

'फिर कुञ्जर नामक पर्वत दिखायी देगा, जो नेत्रों और मनको भी अत्यन्त प्रिय लगनेवाला है। उसके ऊपर विश्वकर्माका बनाया हुआ महर्षि अगस्त्यका[1] एक सुन्दर भवन है ॥ ३४½ ॥

तत्र योजनविस्तारमुच्छ्रितं दशयोजनम् ॥ ३५ ॥
शरणं काञ्चनं दिव्यं नानारत्नविभूषितम् ।

'कुञ्जर पर्वतपर बना हुआ अगस्त्यका वह दिव्य भवन सुवर्णमय तथा नाना प्रकारके रत्नोंसे विभूषित है। उसका विस्तार एक योजनका और ऊँचाई दस योजनकी है ॥

तत्र भोगवती नाम सर्पाणामालयः पुरी ॥ ३६ ॥
विशालरथ्या दुर्धर्षा सर्वतः परिरक्षिता ।
रक्षिता पन्नगैर्घोरैस्तीक्ष्णदंष्ट्रैर्महाविषैः ॥ ३७ ॥

'उसी पर्वतपर सर्पोंकी निवासभूता एक नगरी है, जिसका नाम भोगवती है (यह पातालकी भोगवती पुरीसे भिन्न है)। यह पुरी दुर्जय है। उसकी सड़कें बहुत बड़ी और विस्तृत हैं। वह सब ओरसे सुरक्षित है। तीखी दाढ़वाले महाविषैले भयंकर सर्प उसकी रक्षा करते हैं ॥ ३६-३७ ॥

सर्पराजो महाघोरो यस्यां वसति वासुकिः ।
निर्याय मार्गितव्या च सा च भोगवती पुरी ॥ ३८ ॥

'उस भोगवतीपुरीमें महाभयंकर सर्पराज वासुकि निवास करते हैं (वे योगशक्तिसे अनेक रूप धारण करके दोनों

---

1. यह महर्षि अगस्त्यका तीसरा स्थान है।

भोगवती पुरियोंमें एक साथ रह सकते हैं) । तुम्हें विशेषरूपसे उस भोगवतीपुरीमें प्रवेश करके वहाँ सीताकी खोज करनी चाहिये ॥

तत्र चानन्तरोद्देशा ये केचन समावृताः ।
तं च देशमतिक्रम्य महानृषभसंस्थितिः ॥ ३९ ॥

'उस पुरीमें जो गुप्त एवं व्यवधानरहित स्थान हों, उन सबमें सीताका अन्वेषण करना चाहिये । उस प्रदेशको लाँघकर आगे बढ़नेपर तुम्हें ऋषभ नामक महान् पर्वत मिलेगा ॥ ३९ ॥

सर्वरत्नमयः श्रीमानृषभो नाम पर्वतः ।
गोशीर्षकं पद्मकं च हरिश्यामं च चन्दनम् ॥ ४० ॥
दिव्यमुत्पद्यते यत्र तच्चैवाग्निसमप्रभम् ।
न तु तच्चन्दनं दृष्ट्वा स्प्रष्टव्यं तु कदाचन ॥ ४१ ॥

'वह शोभाशाली ऋषभ पर्वत सम्पूर्ण रत्नोंसे भरा हुआ है । वहाँ गोशीर्षक, पद्मक, हरिश्याम आदि नामोंवाला दिव्य चन्दन उत्पन्न होता है । वह चन्दनवृक्ष अग्निके समान प्रज्वलित होता रहता है । उस चन्दनको देखकर कदापि तुम्हें उसका स्पर्श नहीं करना चाहिये ॥ ४०-४१ ॥

रोहिता नाम गन्धर्वा घोरं रक्षन्ति तद्वनम् ।
तत्र गन्धर्वपतयः पञ्च सूर्यसमप्रभाः ॥ ४२ ॥

'क्योंकि 'रोहित' नामवाले गन्धर्व उस घोर वनकी रक्षा करते हैं । वहाँ सूर्यके समान कान्तिमान् पाँच गन्धर्वराज रहते हैं ॥

शैलूषो ग्रामणीः शिक्षः शुको बभ्रुस्तथैव च ।
रविसोमाग्निवपुषां निवासः पुण्यकर्मणाम् ॥ ४३ ॥
अन्ते पृथिव्या दुर्धर्षास्ततः स्वर्गजितः स्थिताः ।

'उनके नाम ये हैं—शैलूष, ग्रामणी, शिक्ष (शिग्रु), शुक और बभ्रु । उस ऋषभसे आगे पृथिवीकी अन्तिम सीमापर सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्निके तुल्य तेजस्वी पुण्यकर्मा पुरुषोंका निवास-स्थान है । अतः वहाँ दुर्धर्ष स्वर्गविजयी (स्वर्गके अधिकारी) पुरुष ही वास करते हैं ॥ ४३½ ॥

ततः परं न वः सेव्यः पितृलोकः सुदारुणः ॥ ४४ ॥
राजधानी यमस्यैषा कष्टेन तमसाऽऽवृता ।

'उससे आगे अत्यन्त भयानक पितृलोक है; वहाँ तुम लोगोंको नहीं जाना चाहिये । यह भूमि यमराजकी राजधानी है, जो कष्टप्रद अन्धकारसे आच्छादित है ॥ ४४½ ॥

एतावदेव युष्माभिर्वीरा वानरपुंगवाः ।
शक्यं विचेतुं गन्तुं वा नातो गतिमतां गतिः ॥ ४५ ॥

'वीर वानरपुङ्गवो ! बस, दक्षिण दिशामें इतनी ही दूरतक तुम्हें जाना और खोजना है । उससे आगे पहुँचना असम्भव है; क्योंकि उधर जंगम प्राणियोंकी गति नहीं है ॥ ४५ ॥

सर्वमेतत् समालोक्य यच्चान्यदपि दृश्यते ।
गतिं विदित्वा वैदेह्याः संनिवर्तितुमर्हथ ॥ ४६ ॥

'इन सब स्थानोंमें अच्छी तरह देख-भाल करके और भी जो स्थान अन्वेषणके योग्य दिखायी दें, वहाँ भी विदेहकुमारीका पता लगाना; तदनन्तर तुम सबको लौट आना चाहिये ॥ ४६ ॥

यश्च मासान्निवृत्तोऽग्रे दृष्टा सीतेति वक्ष्यति ।
मत्तुल्यविभवो भोगैः सुखं स विहरिष्यति ॥ ४७ ॥

'जो एक मास पूर्ण होनेपर सबसे पहले यहाँ आकर यह कहेगा कि 'मैंने सीताजीका दर्शन किया है' वह मेरे समान वैभवसे सम्पन्न हो भोग्य-पदार्थोंका अनुभव करता हुआ सुखपूर्वक विहार करेगा ॥ ४७ ॥

ततः प्रियतरो नास्ति मम प्राणाद् विशेषतः ।
कृतापराधो बहुशो मम बन्धुर्भविष्यति ॥ ४८ ॥

'उससे बढ़कर प्रिय मेरे लिये दूसरा कोई नहीं होगा । वह मेरे लिये प्राणोंसे भी बढ़कर प्यारा होगा तथा अनेक बार अपराध किया हो तो भी वह मेरा बन्धु होकर रहेगा ॥ ४८ ॥

अमितबलपराक्रमा भवन्तो
विपुलगुणेषु कुलेषु च प्रसूताः ।
मनुजपतिसुतां यथा लभध्वं
तदधिगुणं पुरुषार्थमारभध्वम् ॥ ४९ ॥

'तुम सबके बल और पराक्रम असीम हैं । तुम विशेष गुणशाली उत्तम कुलोंमें उत्पन्न हुए हो । राजकुमारी सीताका जिस प्रकार भी पता मिल सके, उसके अनुरूप उच्च कोटिका पुरुषार्थ आरम्भ करो' ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें इकतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

—★—

द्विचत्वारिंशः सर्गः

सुग्रीवका पश्चिम दिशाके स्थानोंका परिचय देते हुए सुषेण आदि वानरोंको वहाँ भेजना

अथ प्रस्थाप्य स हरीन् सुग्रीवो दक्षिणां दिशम् ।
अब्रवीन्मेघसंकाशं सुषेणं नाम वानरम् ॥ १ ॥
तारायाः पितरं राजा श्वशुरं भीमविक्रमम् ।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यमभिगम्य प्रणम्य च ॥ २ ॥
महर्षिपुत्रं मारीचमर्चिष्मन्तं महाकपिम् ।
वृतं कपिवरैः शूरैर्महेन्द्रसदृशद्युतिम् ॥ ३ ॥
बुद्धिविक्रमसम्पन्नं वैनतेयसमद्युतिम् ।
मरीचिपुत्रान् मारीचानर्चिर्माल्यान् महाबलान् ॥ ४ ॥
ऋषिपुत्रांश्च तान् सर्वान् प्रतीचीमादिशद् दिशम् ।
द्वाभ्यां शतसहस्राभ्यां कपीनां कपिसत्तमाः ॥ ५ ॥
सुषेणप्रमुखा यूयं वैदेहीं परिमार्गथ ।

दक्षिण दिशाकी ओर वानरोंको भेजनेके पश्चात् राजा

सुग्रीवने ताराके पिता और अपने श्वशुर 'सुषेण' नामक वानरके पास जाकर उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम किया और कुछ कहना आरम्भ किया। सुषेण मेघके समान काले और भयंकर पराक्रमी थे। उनके सिवा, महर्षि मरीचिके पुत्र महाकपि अर्चिष्मान् भी वहाँ उपस्थित थे, जो देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी तथा शूरवीर श्रेष्ठ वानरोंसे घिरे हुए थे। उनकी कान्ति विनतानन्दन गरुड़के समान थी। वे बुद्धि और पराक्रमसे सम्पन्न थे। उनके अतिरिक्त मरीचिके पुत्र मारीच नामवाले वानर भी थे, जो महाबली और 'अर्चिर्माल्य' नामसे प्रसिद्ध थे। इनके सिवा और भी बहुत-से ऋषिकुमार थे, जो वानररूपमें वहाँ विराजमान थे। सुषेणके साथ उन सबको सुग्रीवने पश्चिम दिशाकी ओर जानेकी आज्ञा दी और कहा—'कपिवरो! आप सब लोग दो लाख वानरोंको साथ ले सुषेणजीकी प्रधानतामें पश्चिमको जाइये और विदेहनन्दिनी सीताकी खोज कीजिये ॥ १—५½ ॥

सौराष्ट्रान् सहबाह्लीकांश्चन्द्रचित्रांस्तथैव च ॥ ६ ॥
स्फीताञ्जनपदान् रम्यान् विपुलानि पुराणि च।
पुंनागगहनं कुक्षिं बकुलोद्दालकाकुलम् ॥ ७ ॥
तथा केतकखण्डांश्च मार्गध्वं हरिपुंगवाः।

'श्रेष्ठ वानरो! सौराष्ट्र, बाह्लीक और चन्द्रचित्र आदि देशों, अन्यान्य समृद्धिशाली एवं रमणीय जनपदों, बड़े-बड़े नगरों तथा पुन्नाग, बकुल और उद्दालक आदि वृक्षोंसे भरे हुए कुक्षिदेशमें एवं केवड़ेके वनोंमें सीताकी खोज करो ॥ ६-७½ ॥

प्रत्यक्स्रोतोवहाश्चैव नद्यः शीतजलाः शिवाः ॥ ८ ॥
तापसानामरण्यानि कान्तारगिरयश्च ये।

'पश्चिमकी ओर बहनेवाली शीतल जलसे सुशोभित कल्याणमयी नदियों, तपस्वी जनोंके वनों तथा दुर्गम पर्वतोंमें भी विदेहकुमारीका पता लगाओ ॥ ८½ ॥

तत्र स्थलीर्मरुप्राया अत्युच्चशिशिराः शिलाः ॥ ९ ॥
गिरिजालावृतां दुर्गां मार्गित्वा पश्चिमां दिशम्।
ततः पश्चिममागम्य समुद्रं द्रष्टुमर्हथ ॥ १० ॥
तिमिनक्राकुलजलं गत्वा द्रक्ष्यथ वानराः।

'पश्चिम दिशामें प्रायः मरुभूमि है। अत्यन्त ऊँची और ठंढी शिलाएँ हैं तथा पर्वतमालाओंसे घिरे हुए बहुत-से दुर्गम प्रदेश हैं। उन सभी स्थानोंमें सीताकी खोज करते हुए क्रमशः आगे बढ़कर पश्चिम समुद्रतक जाना और वहाँके प्रत्येक स्थानका निरीक्षण करना। वानरो! समुद्रका जल तिमि नामक मत्स्यों तथा बड़े-बड़े ग्राहोंसे भरा हुआ है। वहाँ सब ओर देख-भाल करना ॥ ९-१०½ ॥

ततः केतकखण्डेषु तमालगहनेषु च ॥ ११ ॥
कपयो विहरिष्यन्ति नारिकेलवनेषु च।
तत्र सीतां च मार्गध्वं निलयं रावणस्य च ॥ १२ ॥

'समुद्रके तटपर केवड़ोंके कुञ्जोंमें, तमालके काननोंमें तथा नारियलके वनोंमें तुम्हारे सैनिक वानर भलीभाँति विचरण करेंगे। वहाँ तुमलोग सीताकी खोजना और रावणके निवास-स्थानका पता लगाना ॥ ११-१२ ॥

वेलातलनिविष्टेषु पर्वतेषु वनेषु च।
मुरवीपत्तनं चैव रम्यं चैव जटापुरम् ॥ १३ ॥
अवन्तीमङ्गलेपां च तथा चालक्षितं वनम्।
राष्ट्राणि च विशालानि पत्तनानि ततस्ततः ॥ १४ ॥

समुद्रतटवर्ती पर्वतों और वनोंमें भी उन्हें ढूँढ़ना चाहिये। मुरवीपत्तन (मोरवी) तथा रमणीय जटापुरमें, अवन्ती[१] तथा अङ्गलेपापुरीमें, अलक्षित वनमें और बड़े-बड़े राष्ट्रों एवं नगरोंमें जहाँ-तहाँ घूमकर पता लगाना ॥ १३-१४ ॥

सिन्धुसागरयोश्चैव संगमे तत्र पर्वतः।
महान् सोमगिरिर्नाम शतशृङ्गो महाद्रुमः ॥ १५ ॥
तत्र प्रस्थेषु रम्येषु सिंहाः पक्षगमाः स्थिताः।
तिमिमत्स्यगजांश्चैव नीडान्यारोपयन्ति ते ॥ १६ ॥

'सिंधु-नद और समुद्रके संगमपर सोमगिरिनामक एक महान् पर्वत है, जिसके सौ शिखर हैं। वह पर्वत ऊँचे-ऊँचे वृक्षोंसे भरा है। उसकी रमणीय चोटियोंपर सिंह नामक पक्षी रहते हैं। जो तिमि नामवाले विशालकाय मत्स्यों और हाथियोंको भी अपने घोंसलोंमें उठा लाते हैं ॥ १५-१६ ॥

तानि नीडानि सिंहानां गिरिशृङ्गगताश्च ये।
दृप्तास्तृप्ताश्च मातङ्गास्तोयदस्वननिःस्वनाः ॥ १७ ॥
विचरन्ति विशालेऽस्मिंस्तोयपूर्णे समन्ततः।

'सिंह नामक पक्षियोंके उन घोंसलोंमें पहुँचकर उस पर्वत-शिखरपर उपस्थित हुए जो हाथी हैं, वे उस पंखधारी सिंहसे सम्मानित होनेके कारण गर्वका अनुभव करते और मन-ही-मन संतुष्ट होते हैं। इसीलिये मेघोंकी गर्जनाके समान शब्द करते हुए उस पर्वतके जलपूर्ण विशाल शिखरपर चारों ओर विचरते रहते हैं ॥ १७½ ॥

तस्य शृङ्गं दिवस्पर्शं काञ्चनं चित्रपादपम् ॥ १८ ॥
सर्वमाशु विचेतव्यं कपिभिः कामरूपिभिः।

'सोमगिरिका गगनचुम्बी शिखर सुवर्णमय है। उसके ऊपर विचित्र वृक्ष शोभा पाते हैं। इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले वानरोंको चाहिये कि वहाँके सब स्थानोंको शीघ्रतापूर्वक अच्छी तरह देख लें ॥ १८½ ॥

कोटिं तत्र समुद्रस्य काञ्चनीं शतयोजनाम्॥ १९॥
दुर्दर्शां पारियात्रस्य गत्वा द्रक्ष्यथ वानराः।

'वहाँसे आगे समुद्रके बीचमें पारियात्र पर्वतका सुवर्णमय शिखर दिखायी देगा, जो सौ योजन विस्तृत है। वानरो! उसका दर्शन दूसरोंके लिये अत्यन्त कठिन है। वहाँ जाकर तुम्हें सीताकी खोज करनी चाहिये॥ १९½॥

कोट्यस्तत्र चतुर्विंशद् गन्धर्वाणां तरस्विनाम्॥ २०॥
वसन्त्यग्निनिकाशानां घोराणां कामरूपिणाम्।
पावकार्चिःप्रतीकाशाः समवेताः समन्ततः॥ २१॥

'पारियात्र पर्वतके शिखरपर इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले, भयंकर, अग्नितुल्य तेजस्वी तथा वेगशाली चौबीस करोड़ गन्धर्व निवास करते हैं। वे सब-के-सब अग्निकी ज्वालाके समान प्रकाशमान हैं और सब ओरसे आकर उस पर्वतपर एकत्र हुए हैं॥ २०-२१॥

नात्यासादयितव्यास्ते वानरैर्भीमविक्रमैः।
नादेयं च फलं तस्माद् देशात् किंचित् प्लवङ्गमैः॥ २२॥

'भयंकर पराक्रमी वानरोंको चाहिये कि वे उन गन्धर्वोंके अधिक निकट न जायँ—उनका कोई अपराध न करें और उस पर्वतशिखरसे कोई फल न लें॥ २२॥

दुरासदा हि ते वीराः सत्त्ववन्तो महाबलाः।
फलमूलानि ते तत्र रक्षन्ते भीमविक्रमाः॥ २३॥

'क्योंकि वे भयंकर बल-विक्रमसे सम्पन्न धैर्यवान् महाबली वीर गन्धर्व वहाँके फल-मूलोंकी रक्षा करते हैं। उनपर विजय पाना बहुत ही कठिन है॥ २३॥

तत्र यत्नश्च कर्तव्यो मार्गितव्या च जानकी।
नहि तेभ्यो भयं किंचित् कपित्वमनुवर्तताम्॥ २४॥

'वहाँ भी जानकीकी खोज करनी चाहिये और उनका पता लगानेके लिये पूरा प्रयत्न करना चाहिये। प्राकृत वानरके स्वभावका अनुसरण करनेवाले तुम्हारी सेनाके वीरोंको उन गन्धर्वोंसे कोई भय नहीं है॥ २४॥

तत्र वैदूर्यवर्णाभो वज्रसंस्थानसंस्थितः।
नानाद्रुमलताकीर्णो वज्रो नाम महागिरिः॥ २५॥

'पारियात्र पर्वतके पास ही समुद्रमें वज्रनामसे प्रसिद्ध एक बहुत ऊँचा पर्वत है, जो नाना प्रकारके वृक्षों और लताओंसे व्याप्त दिखायी देता है। वह वज्रगिरि वैदूर्यमणिके समान नील वर्णका है। वह कठोरतामें वज्रमणि (हीरे) के समान है॥ २५॥

श्रीमान् समुदितस्तत्र योजनानां शतं समम्।
गुहास्तत्र विचेतव्याः प्रयत्नेन प्लवङ्गमाः॥ २६॥

'वह सुन्दर पर्वत वहाँ सौ योजनके घेरेमें प्रतिष्ठित है। उसकी लंबाई और चौड़ाई दोनों बराबर हैं। वानरो! उस पर्वतपर बहुत-सी गुफाएँ हैं। उन सबमें प्रयत्नपूर्वक सीताका अनुसंधान करना चाहिये॥ २६॥

चतुर्भागे समुद्रस्य चक्रवान् नाम पर्वतः।
तत्र चक्रं सहस्रारं निर्मितं विश्वकर्मणा॥ २७॥

'समुद्रके चतुर्थ भागमें चक्रवान् नामक पर्वत है। वहीं विश्वकर्माने सहस्रार[1] चक्रका निर्माण किया था॥ २७॥

तत्र पञ्चजनं हत्वा हयग्रीवं च दानवम्।
आजहार ततश्चक्रं शङ्खं च पुरुषोत्तमः॥ २८॥

'वहींसे पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु पञ्चजन और हयग्रीव नामक दानवोंका वध करके पाञ्चजन्य शङ्ख तथा वह सहस्रार सुदर्शन चक्र लाये थे॥ २८॥

तस्य सानुषु रम्येषु विशालासु गुहासु च।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः॥ २९॥

'चक्रवान् पर्वतके रमणीय शिखरों और विशाल गुफाओंमें भी इधर-उधर वैदेहीसहित रावणका पता लगाना चाहिये॥

योजनानि चतुःषष्टिर्वराहो नाम पर्वतः।
सुवर्णशृङ्गः सुमहानगाधे वरुणालये॥ ३०॥

'उससे आगे समुद्रकी अगाध जलराशिमें सुवर्णमय शिखरोंवाला वराह नामक पर्वत है, जिसका विस्तार चौंसठ योजनकी दूरीमें है॥ ३०॥

तत्र प्राग्ज्योतिषं नाम जातरूपमयं पुरम्।
यस्मिन् वसति दुष्टात्मा नरको नाम दानवः॥ ३१॥

'वहीं प्राग्ज्योतिषनामक सुवर्णमय नगर है, जिसमें दुष्टात्मा नरक नामक दानव निवास करता है॥ ३१॥

तत्र सानुषु रम्येषु विशालासु गुहासु च।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः॥ ३२॥

'उस पर्वतके रमणीय शिखरोंपर तथा वहाँकी विशाल गुफाओंमें सीतासहित रावणकी तलाश करनी चाहिये॥

तमतिक्रम्य शैलेन्द्रं काञ्चनान्तरदर्शनम्।
पर्वतः सर्वसौवर्णो धाराप्रस्रवणायुतः॥ ३३॥

'जिसका भीतरी भाग सुवर्णमय दिखायी देता है, उस पर्वतराज वराहको लाँघकर आगे बढ़नेपर एक ऐसा पर्वत मिलेगा, जिसका सब कुछ सुवर्णमय है तथा जिसमें लगभग दस सहस्र झरने हैं॥ ३३॥

तं गजाश्च वराहाश्च सिंहा व्याघ्राश्च सर्वतः।
अभिगर्जन्ति सततं तेन शब्देन दर्पिताः॥ ३४॥

'उसके चारों ओर हाथी, सूअर, सिंह और व्याघ्र सदा गर्जना करते हैं और अपनी ही गर्जनाकी प्रतिध्वनिके शब्दसे दर्पमें भरकर पुनः दहाड़ने लगते हैं॥ ३४॥

---

१. जिसमें एक हजार अरे हों, उसे सहस्रार चक्र कहते हैं।

यस्मिन् हरिहयः श्रीमान् महेन्द्रः पाकशासनः।
अभिषिक्तः सुरै राजा मेघो नाम स पर्वतः॥ ३५॥

'उस पर्वतका नाम है मेघगिरि। जिसपर देवताओंने हरित रंगके अश्ववाले श्रीमान् पाकशासन इन्द्रको राजाके पदपर अभिषिक्त किया था॥ ३५॥

तमतिक्रम्य शैलेन्द्रं महेन्द्रपरिपालितम्।
षष्टिं गिरि सहस्राणि काञ्चनानि गमिष्यथ॥ ३६॥
तरुणादित्यवर्णानि भ्राजमानानि सर्वतः।
जातरूपमयैर्वृक्षैः शोभितानि सुपुष्पितैः॥ ३७॥

'देवराज इन्द्रद्वारा सुरक्षित गिरिराज मेघको लाँघकर जब तुम आगे बढ़ोगे, तब तुम्हें सोनेके साठ हजार पर्वत मिलेंगे, जो सब ओरसे सूर्यके समान कान्तिसे देदीप्यमान हो रहे हैं और सुन्दर फूलोंसे भरे हुए सुवर्णमय वृक्षोंसे सुशोभित हैं॥

तेषां मध्ये स्थितो राजा मेरुरुत्तमपर्वतः।
आदित्येन प्रसन्नेन शैलो दत्तवरः पुरा॥ ३८॥
तेनैवमुक्तः शैलेन्द्रः सर्व एव त्वदाश्रयाः।
मत्प्रसादाद् भविष्यन्ति दिवा रात्रौ च काञ्चनाः॥ ३९॥
त्वयि ये चापि वत्स्यन्ति देवगन्धर्वदानवाः।
ते भविष्यन्ति भक्ताश्च प्रभया काञ्चनप्रभाः॥ ४०॥

'उनके मध्यभागमें पर्वतोंका राजा गिरिश्रेष्ठ मेरु विराजमान है, जिसे पूर्वकालमें सूर्यदेवने प्रसन्न होकर वर दिया था। उन्होंने उस शैलराजसे कहा था कि 'जो दिन-रात तुम्हारे आश्रयमें रहेंगे, वे मेरी कृपासे सुवर्णमय हो जायँगे तथा देवता, दानव, गन्धर्व जो भी तुम्हारे ऊपर निवास करेंगे, वे सुवर्णके समान कान्तिमान् और मेरे भक्त हो जायँगे'॥ ३८—४०॥

विश्वेदेवाश्च वसवो मरुतश्च दिवौकसः।
आगत्य पश्चिमां संध्यां मेरुमुत्तमपर्वतम्॥ ४१॥
आदित्यमुपतिष्ठन्ति तैश्च सूर्योऽभिपूजितः।
अदृश्यः सर्वभूतानामस्तं गच्छति पर्वतम्॥ ४२॥

विश्वेदेव, वसु, मरुद्गण तथा अन्य देवता सायंकालमें उत्तम पर्वत मेरुपर आकर सूर्यदेवका उपस्थान करते हैं। उनके द्वारा भलीभाँति पूजित होकर भगवान् सूर्य सब प्राणियोंकी आँखोंसे ओझल होकर अस्ताचलको चले जाते हैं॥

योजनानां सहस्राणि दश तानि दिवाकरः।
मुहूर्तार्धेन तं शीघ्रमभियाति शिलोच्चयम्॥ ४३॥

'मेरुसे अस्ताचल दस हजार योजनकी दूरीपर है, किंतु सूर्यदेव आधे मुहूर्तमें ही वहाँ पहुँच जाते हैं॥ ४३॥

शृङ्गे तस्य महद्दिव्यं भवनं सूर्यसंनिभम्।
प्रासादगणसम्बाधं विहितं विश्वकर्मणा॥ ४४॥

'उसके शिखरपर विश्वकर्माका बनाया हुआ एक बहुत बड़ा दिव्य भवन है, जो सूर्यके समान दीप्तिमान् दिखायी देता है। वह अनेक प्रासादोंसे भरा हुआ है॥ ४४॥

शोभितं तरुभिश्चित्रैर्नानापक्षिसमाकुलैः।
निकेतं पाशहस्तस्य वरुणस्य महात्मनः॥ ४५॥

'नाना प्रकारके पक्षियोंसे व्याप्त विचित्र-विचित्र वृक्ष उसकी शोभा बढ़ाते हैं। वह पाशधारी महात्मा वरुणका निवास-स्थान है॥ ४५॥

अन्तरा मेरुमस्तं च तालो दशशिरा महान्।
जातरूपमयः श्रीमान् भ्राजते चित्रवेदिकः॥ ४६॥

'मेरु और अस्ताचलके बीच एक स्वर्णमय ताड़का वृक्ष है, जो बड़ा ही सुन्दर और बहुत ही ऊँचा है। उसके दस स्कन्ध (बड़ी शाखाएँ) हैं। उसके नीचेकी वेदी बड़ी विचित्र है। इस तरह वह वृक्ष बड़ी शोभा पाता है॥ ४६॥

तेषु सर्वेषु दुर्गेषु सरस्सु च सरित्सु च।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः॥ ४७॥

'वहाँके उन सभी दुर्गम स्थानों, सरोवरों और सरिताओंमें इधर-उधर सीतासहित रावणका अनुसंधान करना चाहिये॥

यत्र तिष्ठति धर्मज्ञस्तपसा स्वेन भावितः।
मेरुसावर्णिरित्येष ख्यातो वै ब्रह्मणा समः॥ ४८॥

'मेरुगिरिपर धर्मके ज्ञाता महर्षि मेरुसावर्णि रहते हैं, जो अपनी तपस्यासे ऊँची स्थितिको प्राप्त हुए हैं। वे प्रजापतिके समान शक्तिशाली एवं विख्यात ऋषि हैं॥ ४८॥

प्रष्टव्यो मेरुसावर्णिर्महर्षिः सूर्यसंनिभः।
प्रणम्य शिरसा भूमौ प्रवृत्तिं मैथिलीं प्रति॥ ४९॥

'सूर्यतुल्य तेजस्वी महर्षि मेरुसावर्णिके चरणोंमें पृथ्वीपर मस्तक टेककर प्रणाम करनेके अनन्तर तुमलोग उनसे मिथिलेशकुमारीका समाचार पूछना॥ ४९॥

एतावज्जीवलोकस्य भास्करो रजनीक्षये।
कृत्वा वितिमिरं सर्वमस्तं गच्छति पर्वतम्॥ ५०॥

'रात्रिके अन्तमें (प्रातःकाल) उदित हुए भगवान् सूर्य जीव-जगत्‌के इन सभी स्थानोंको अन्धकाररहित (एवं प्रकाशपूर्ण) करके अन्तमें अस्ताचलको चले जाते हैं॥

एतावद् वानरैः शक्यं गन्तुं वानरपुङ्गवाः।
अभास्करममर्यादं न जानीमस्ततः परम्॥ ५१॥

'वानरशिरोमणियो! पश्चिम दिशामें इतनी ही दूरतक वानर जा सकते हैं। उसके आगे न तो सूर्यका प्रकाश है और न किसी देश आदिकी सीमा ही। अतः वहाँसे आगेकी भूमिके विषयमें मुझे कोई जानकारी नहीं है॥ ५१॥

अवगम्य तु वैदेहीं निलयं रावणस्य च।
अस्तं पर्वतमासाद्य पूर्णे मासे निवर्तत॥ ५२॥

'अस्ताचलतक जाकर रावणके स्थान और सीताका पता लगाओ तथा एक मास पूर्ण होते ही यहाँ लौट आओ॥

ऊर्ध्वं मासान्न वस्तव्यं वसन् वध्यो भवेन्मम।
सहैव शूरो युष्माभिः श्वशुरो मे गमिष्यति॥ ५३॥

'एक महीनेसे अधिक न ठहरना। जो ठहरेगा, उसे

मेरे हाथसे प्राणदण्ड मिलेगा। तुमलोगोंके साथ मेरे पूजनीय श्वशुरजी भी जायँगे॥ ५३॥

श्रोतव्यं सर्वमेतस्य भवद्भिर्दिष्टकारिभिः।
गुरुरेष महाबाहुः श्वशुरो मे महाबलः॥ ५४॥

'तुम सब लोग इनकी आज्ञाके अधीन रहकर इनकी सभी बातें ध्यानसे सुनना; क्योंकि ये महाबाहु महाबली सुषेणजी मेरे श्वशुर एवं गुरुजन हैं (अतः तुम्हारे लिये भी गुरुकी भाँति ही आदरणीय हैं)॥ ५४॥

भवन्तश्चापि विक्रान्ताः प्रमाणं सर्व एव हि।
प्रमाणमेनं संस्थाप्य पश्यध्वं पश्चिमां दिशम्॥ ५५॥

'तुम सब लोग भी बड़े पराक्रमी तथा कर्तव्याकर्तव्यके निर्णयमें प्रमाणभूत (विश्वसनीय) हो, तथापि इन्हें अपना प्रधान बनाकर तुम पश्चिम दिशाकी देखभाल आरम्भ करो॥

दृष्टायां तु नरेन्द्रस्य पत्न्याममिततेजसः।
कृतकृत्या भविष्यामः कृतस्य प्रतिकर्मणा॥ ५६॥

'अमित तेजस्वी महाराज श्रीरामकी पत्नीका पता लग जानेपर हम कृतकृत्य हो जायँगे; क्योंकि उन्होंने जो उपकार किया है, उसका बदला इसी तरह चुक सकेगा॥ ५६॥

अतोऽन्यदपि यत्कार्यं कार्यस्यास्य प्रियं भवेत्।
सम्प्रधार्य भवद्भिश्च देशकालार्थसंहितम्॥ ५७॥

'अतः इस कार्यके अनुकूल और भी जो कर्तव्य देश, काल और प्रयोजनसे सम्बन्ध रखता हो, उसका विचार करके आपलोग उसे भी करें'॥ ५७॥

ततः सुषेणप्रमुखाः प्लवङ्गाः
सुग्रीववाक्यं निपुणं निशम्य।
आमन्त्र्य सर्वे प्लवगाधिपं ते
जग्मुर्दिशं तां वरुणाभिगुप्ताम्॥ ५८॥

सुग्रीवकी बातें अच्छी तरह सुनकर सुषेण आदि सब वानर उन वानरराजकी अनुमति ले वरुणद्वारा सुरक्षित पश्चिम दिशाकी ओर चल दिये॥ ५८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे द्विचत्वारिंशः सर्गः॥ ४२॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें बयालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ४२॥

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

सुग्रीवका उत्तर दिशाके स्थानोंका परिचय देते हुए शतबलि आदि वानरोंको वहाँ भेजना

ततः संदिश्य सुग्रीवः श्वशुरं पश्चिमां दिशम्।
वीरं शतबलिं नाम वानरं वानरेश्वरः॥ १॥
उवाच राजा सर्वज्ञः सर्ववानरसत्तमः।
वाक्यमात्महितं चैव रामस्य च हितं तदा॥ २॥

इस प्रकार अपने श्वशुरको पश्चिम दिशाकी ओर जानेका संदेश दे सर्वज्ञ, सर्व-वानर-शिरोमणि वानरेश्वर राजा सुग्रीव अपने हितैषी शतबलि नामक वीर वानरसे श्रीरामचन्द्रजीके हितकी बात बोले—॥ १-२॥

वृतः शतसहस्रेण त्वद्विधानां वनौकसाम्।
वैवस्वतसुतैः सार्धं प्रविष्टः सर्वमन्त्रिभिः॥ ३॥
दिशं ह्युदीचीं विक्रान्त हिमशैलावतंसिकाम्।
सर्वतः परिमार्गध्वं रामपत्नीं यशस्विनीम्॥ ४॥

'पराक्रमी वीर! तुम अपने ही समान एक लाख वनवासी वानरोंको जो यमराजके बेटे हैं, साथ लेकर अपने समस्त मन्त्रियोंसहित उस उत्तर दिशामें प्रवेश करो, जो हिमालयरूपी आभूषणोंसे विभूषित है और वहाँ सब ओर यशस्विनी श्रीरामपत्नी सीताका अन्वेषण करो॥ ३-४॥

अस्मिन् कार्ये विनिर्वृत्ते कृते दाशरथेः प्रिये।
ऋणान्मुक्ता भविष्यामः कृतार्थार्थविदां वराः॥ ५॥

'अपने मुख्य प्रयोजनको समझनेवाले वीरोंमें श्रेष्ठ वानरो! यदि हमलोगोंके द्वारा दशरथनन्दन भगवान् श्रीरामका यह प्रिय कार्य सम्पन्न हो जाय तो हम उनके उपकारके ऋणसे मुक्त और कृतार्थ हो जायँगे॥ ५॥

कृतं हि प्रियमस्माकं राघवेण महात्मना।
तस्य चेत्प्रतिकारोऽस्ति सफलं जीवितं भवेत्॥ ६॥

'महात्मा श्रीरघुनाथजीने हमलोगोंका प्रिय कार्य किया है। उसका यदि कुछ बदला दिया जा सके तो हमारा जीवन सफल हो जाय॥ ६॥

अर्थिनः कार्यनिर्वृत्तिमकर्तुरपि यश्चरेत्।
तस्य स्यात् सफलं जन्म किं पुनः पूर्वकारिणः॥ ७॥

'जिसने कोई उपकार न किया हो, वह भी यदि किसी कार्यके लिये प्रार्थी होकर आया हो तो जो पुरुष उसके कार्यको सिद्ध कर देता है, उसका जन्म भी सफल हो जाता है। फिर जिसने पहलेके उपकारीके कार्यको सिद्ध किया हो, उसके जीवनकी सफलताके विषयमें तो कहना ही क्या है॥ ७॥

एतां बुद्धिं समास्थाय दृश्यते जानकी यथा।
तथा भवद्भिः कर्तव्यमस्मत्प्रियहितैषिभिः॥ ८॥

'इसी विचारका आश्रय लेकर मेरा प्रिय और हित चाहनेवाले तुम सब वानरोंको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये, जिससे जनकनन्दिनी सीताका पता लग जाय॥ ८॥

अयं हि सर्वभूतानां मान्यस्तु नरसत्तमः।
अस्मासु च गतः प्रीतिं रामः परपुरंजयः॥ ९॥

'शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेवाले ये नरश्रेष्ठ श्रीराम समस्त प्राणियोंके लिये माननीय हैं। हमलोगोंपर भी

इनका बहुत प्रेम है ॥ ९ ॥

इमानि बहुदुर्गाणि नद्यः शैलान्तराणि च।
भवन्तः परिमार्गन्तु बुद्धिविक्रमसम्पदा ॥ १० ॥

'तुम सब लोग बुद्धि और पराक्रमके द्वारा इन अत्यन्त दुर्गम प्रदेशों, पर्वतों और नदियोंके तटोंपर जा-जाकर सीताकी खोज करो ॥ १० ॥

तत्र म्लेच्छान् पुलिन्दांश्च शूरसेनांस्तथैव च।
प्रस्थलान् भरतांश्चैव कुरूंश्च सह मद्रकैः ॥ ११ ॥
काम्बोजयवनांश्चैव शकानां पत्तनानि च।
अन्वीक्ष्य दरदांश्चैव हिमवन्तं विचिन्वथ ॥ १२ ॥

'उत्तरमें म्लेच्छ, पुलिन्द, शूरसेन, प्रस्थल, भरत (इन्द्रप्रस्थ और हस्तिनापुरके आस-पासके प्रान्त), कुरु (दक्षिण कुरु—कुरुक्षेत्रके आस-पासकी भूमि), मद्र, काम्बोज, यवन, शकोंके देशों एवं नगरोंमें भलीभाँति अनुसंधान करके दरद देशमें और हिमालय पर्वतपर ढूँढ़ो ॥

लोध्रपद्मकखण्डेषु देवदारुवनेषु च।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ १३ ॥

'वहाँ लोध्र और पद्मककी झाड़ियोंमें तथा देवदारुके जंगलोंमें वैदेहीसहित रावणकी खोज करनी चाहिये ॥ १३ ॥

ततः सोमाश्रमं गत्वा देवगन्धर्वसेवितम्।
कालं नाम महासानुं पर्वतं तं गमिष्यथ ॥ १४ ॥

'फिर देवताओं और गन्धर्वोंसे सेवित सोमाश्रममें होते हुए ऊँचे शिखरवाले काल नामक पर्वतपर जाओ ॥ १४ ॥

महत्सु तस्य शैलेषु पर्वतेषु गुहासु च।
विचिन्वत महाभागां रामपत्नीमनिन्दिताम् ॥ १५ ॥

'उस पर्वतकी शाखाभूत अन्य छोटे-बड़े पर्वतों और उन सबकी गुफाओंमें सती-साध्वी श्रीरामपत्नी महाभागा सीताका अन्वेषण करो ॥ १५ ॥

तमतिक्रम्य शैलेन्द्रं हेमगर्भं महागिरिम्।
ततः सुदर्शनं नाम पर्वतं गन्तुमर्हथ ॥ १६ ॥

'जिसके भीतर सुवर्णकी खान है, उस गिरिराज कालको लाँघकर तुम्हें सुदर्शन नामक महान् पर्वतपर जाना चाहिये ॥

ततो देवसखो नाम पर्वतः पतगालयः।
नानापक्षिसमाकीर्णो विविधद्रुमभूषितः ॥ १७ ॥

'उससे आगे बढ़नेपर देवसख नामवाला पहाड़ मिलेगा, जो पक्षियोंका निवासस्थान है। वह भाँति-भाँतिके विहंगमोंसे व्याप्त तथा नाना प्रकारके वृक्षोंसे विभूषित है ॥ १७ ॥

तस्य काननखण्डेषु निर्झरेषु गुहासु च।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ १८ ॥

'उसके वनसमूहों, निर्झरों और गुफाओंमें तुम्हें विदेहकुमारी सीतासहित रावणकी खोज करनी चाहिये ॥

तमतिक्रम्य चाकाशं सर्वतः शतयोजनम्।
अपर्वतनदीवृक्षं सर्वसत्त्वविवर्जितम् ॥ १९ ॥

'वहाँसे आगे बढ़नेपर एक सुनसान मैदान मिलेगा, जो सब ओरसे सौ योजन विस्तृत है। वहाँ नदी, पर्वत, वृक्ष और सब प्रकारके जीव-जन्तुओंका अभाव है ॥ १९ ॥

तत्तु शीघ्रमतिक्रम्य कान्तारं रोमहर्षणम्।
कैलासं पाण्डुरं प्राप्य हृष्टा यूयं भविष्यथ ॥ २० ॥

'रोंगटे खड़े कर देनेवाले उस दुर्गम प्रान्तको शीघ्रतापूर्वक लाँघ जानेपर तुम्हें श्वेतवर्णका कैलास पर्वत मिलेगा। वहाँ पहुँचनेपर तुम सब लोग हर्षसे खिल उठोगे ॥ २० ॥

तत्र पाण्डुरमेघाभं जाम्बूनदपरिष्कृतम्।
कुबेरभवनं रम्यं निर्मितं विश्वकर्मणा ॥ २१ ॥

'वहाँ विश्वकर्माका बनाया हुआ कुबेरका रमणीय भवन है, जो श्वेत बादलोंके समान प्रतीत होता है। उस भवनको जाम्बूनद नामक सुवर्णसे विभूषित किया गया है ॥ २१ ॥

विशाला नलिनी यत्र प्रभूतकमलोत्पला।
हंसकारण्डवाकीर्णा अप्सरोगणसेविता ॥ २२ ॥

'उसके पास ही एक बहुत बड़ा सरोवर है, जिसमें कमल और उत्पल प्रचुर मात्रामें पाये जाते हैं। उसमें हंस और कारण्डव आदि जलपक्षी भरे रहते हैं तथा अप्सराएँ उसमें जल-क्रीड़ा करती हैं ॥ २२ ॥

तत्र वैश्रवणो राजा सर्वलोकनमस्कृतः।
धनदो रमते श्रीमान् गुह्यकैः सह यक्षराट् ॥ २३ ॥

'वहाँ यक्षोंके स्वामी विश्रवाकुमार श्रीमान् राजा कुबेर जो समस्त विश्वके लिये वन्दनीय और धन देनेवाले हैं, गुह्यकोंके साथ विहार करते हैं ॥ २३ ॥

तस्य चन्द्रनिकाशेषु पर्वतेषु गुहासु च।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ २४ ॥

'उस कैलासके चन्द्रमाकी भाँति उज्ज्वल शाखापर्वतोंपर तथा उनकी गुफाओंमें सब ओर घूम-फिरकर तुम्हें सीतासहित रावणका अनुसंधान करना चाहिये ॥ २४ ॥

क्रौञ्चं तु गिरिमासाद्य बिलं तस्य सुदुर्गमम्।
अप्रमत्तैः प्रवेष्टव्यं दुष्प्रवेशं हि तत् स्मृतम् ॥ २५ ॥

'इसके बाद क्रौञ्चगिरिपर जाकर वहाँकी अत्यन्त दुर्गम विवररूप गुफामें (जो स्कन्दकी शक्तिसे पर्वतके विदीर्ण होनेके कारण बन गयी है) तुम्हें सावधानीके साथ प्रवेश करना चाहिये; क्योंकि उसके भीतर प्रवेश करना अत्यन्त कठिन माना गया है ॥ २५ ॥

वसन्ति हि महात्मानस्तत्र सूर्यसमप्रभाः।
देवैरभ्यर्थिताः सम्यग् देवरूपा महर्षयः ॥ २६ ॥

'उस गुफामें सूर्यके समान तेजस्वी महात्मा निवास करते हैं। उन देवस्वरूप महर्षियोंकी देवतालोग भी अभ्यर्थना करते हैं ॥ २६ ॥

क्रौञ्चस्य तु गुहाश्चान्याः सानूनि शिखराणि च।
निर्दराश्च नितम्बाश्च विचेतव्यास्ततस्ततः ॥ २७ ॥

क्रौञ्च पर्वतकी और भी बहुत-सी गुफाएँ, अनेकानेक चोटियाँ, शिखर, कन्दराएँ तथा नितम्ब (ढालू प्रदेश) हैं; उन सबमें सब ओर घूम-फिरकर तुम्हें सीता और रावणका पता लगाना चाहिये ॥ २७ ॥

अवृक्षं कामशैलं च मानसं विहगालयम्।
न गतिस्तत्र भूतानां देवानां न च रक्षसाम्॥ २८॥

'वहाँसे आगे वृक्षोंसे रहित मानस नामक शिखर है, जहाँ शून्य होनेके कारण कभी पक्षीतक नहीं जाते हैं। कामदेवकी तपस्याका स्थान होनेके कारण वह क्रौञ्चशिखर कामशैलके नामसे विख्यात है। वहाँ भूतों, देवताओं तथा राक्षसोंका भी कभी जाना नहीं होता है ॥ २८ ॥

स च सर्वैर्विचेतव्यः ससानुप्रस्थभूधरः।
क्रौञ्चं गिरिमतिक्रम्य मैनाको नाम पर्वतः॥ २९॥

'शिखरों, घाटियों और शाखापर्वतोंसहित समूचे क्रौञ्चपर्वतकी तुमलोग छानबीन करना। क्रौञ्चगिरिको लाँघकर आगे बढ़नेपर मैनाक पर्वत मिलेगा ॥ २९ ॥

मयस्य भवनं तत्र दानवस्य स्वयंकृतम्।
मैनाकस्तु विचेतव्यः ससानुप्रस्थकन्दरः॥ ३०॥

'वहाँ मयदानवका घर है, जिसे उसने स्वयं ही अपने लिये बनाया है। तुमलोगोंको शिखरों, चौरस मैदानों और कन्दराओंसहित मैनाक पर्वतपर भलीभाँति सीताजीकी खोज करनी चाहिये ॥ ३० ॥

स्त्रीणामश्वमुखीनां तु निकेतस्तत्र तत्र तु।
तं देशं समतिक्रम्य आश्रमं सिद्धसेवितम्॥ ३१॥

'वहाँ यत्र-तत्र घोड़ेके-से मुँहवाली किन्नरियोंके निवास-स्थान हैं। उस प्रदेशको लाँघ जानेपर सिद्धसेवित आश्रम मिलेगा ॥ ३१ ॥

सिद्धा वैखानसा यत्र वालखिल्याश्च तापसाः।
वन्दितव्यास्ततः सिद्धास्तपसा वीतकल्मषाः॥ ३२॥
प्रष्टव्या चापि सीतायाः प्रवृत्तिर्विनयान्वितैः।

'उसमें सिद्ध, वैखानस तथा वालखिल्य नामक तपस्वी निवास करते हैं। तपस्यासे उनके पाप धुल गये हैं। उन सिद्धोंको तुमलोग प्रणाम करना और विनीतभावसे सीताका समाचार पूछना ॥ ३२½ ॥

हेमपुष्करसंछन्नं तत्र वैखानसं सरः॥ ३३॥
तरुणादित्यसंकाशैर्हंसैर्विचरितं शुभैः।

'उस आश्रमके पास 'वैखानस सर' के नामसे प्रसिद्ध एक सरोवर है, जिसका जल सुवर्णमय कमलोंसे आच्छादित रहता है। उसमें प्रातःकालिक सूर्यके समान सुनहरे एवं अरुणवर्णवाले सुन्दर हंस विचरते रहते हैं ॥ ३३½ ॥

औपवाह्यः कुबेरस्य सार्वभौम इति स्मृतः॥ ३४॥
गजः पर्येति तं देशं सदा सह करेणुभिः।

'कुबेरकी सवारीमें काम आनेवाला सार्वभौमनामक गजराज अपनी हथिनियोंके साथ उस देशमें सदा घूमता रहता है ॥

तत् सरः समतिक्रम्य नष्टचन्द्रदिवाकरम्।
अनक्षत्रगणं व्योम निष्पयोदमनादितम्॥ ३५॥

'उस सरोवरको लाँघकर आगे जानेपर सूना आकाश दिखायी देगा। उसमें सूर्य, चन्द्रमा तथा तारोंके दर्शन नहीं होंगे। वहाँ न तो मेघोंकी घटा दिखायी देगी और न उनकी गर्जना ही सुनायी पड़ेगी ॥ ३५ ॥

गभस्तिभिरिवार्कस्य स तु देशः प्रकाश्यते।
विश्राम्यद्भिस्तपः सिद्धैर्देवकल्पैः स्वयंप्रभैः॥ ३६॥

'तथापि उस देशमें ऐसा प्रकाश छाया होगा, मानो सूर्यकी किरणोंसे ही वह प्रकाशित हो रहा है। वहाँ अपनी ही प्रभासे प्रकाशित तपःसिद्ध देवोपम महर्षि विश्राम करते हैं। उन्हींकी अङ्गप्रभासे उस देशमें उजाला छाया रहता है ॥ ३६ ॥

तं तु देशमतिक्रम्य शैलोदा नाम निम्नगा।
उभयोस्तीरयोस्तस्याः कीचका नाम वेणवः॥ ३७॥

'उस प्रदेशको लाँघकर आगे बढ़नेपर 'शैलोदा' नामवाली नदीका दर्शन होगा। उसके दोनों तटोंपर कीचक (वंशीकी-सी ध्वनि करनेवाले) बाँस हैं; यह बात प्रसिद्ध है ॥ ३७ ॥

ते नयन्ति परं तीरं सिद्धान् प्रत्यानयन्ति च।
उत्तराः कुरवस्तत्र कृतपुण्यप्रतिश्रयाः॥ ३८॥

'वे बाँस ही (साधन बनकर) सिद्ध पुरुषोंको शैलोदाके उस पार ले जाते और वहाँसे इस पार ले आते हैं। जहाँ केवल पुण्यात्मा पुरुषोंका वास है, वह उत्तर कुरुदेश शैलोदाके तटपर ही है ॥ ३८ ॥

ततः काञ्चनपद्माभिः पद्मिनीभिः कृतोदकाः।
नीलवैदूर्यपत्राढ्या नद्यस्तत्र सहस्रशः॥ ३९॥

'उत्तर कुरुदेशमें नील वैदूर्यमणिके समान हरे-हरे कमलोंके पत्तोंसे सुशोभित सहस्रों नदियाँ बहती हैं, जिनके जल सुवर्णमय पद्मोंसे अलंकृत अनेकानेक पुष्करिणियोंसे मिले हुए हैं ॥ ३९ ॥

रक्तोत्पलवनैश्चात्र मण्डिताश्च हिरण्मयैः।
तरुणादित्यसंकाशा भान्ति तत्र जलाशयाः॥ ४०॥

'वहाँके जलाशय लाल और सुनहरे कमलसमूहोंसे मण्डित होकर प्रातःकाल उदित हुए सूर्यके समान शोभा पाते हैं ॥ ४० ॥

महार्हमणिपत्रैश्च काञ्चनप्रभकेसरैः।
नीलोत्पलवनैश्चित्रैः स देशः सर्वतो वृतः॥ ४१॥

'बहुमूल्य मणियोंके समान पत्तों और सुवर्णके समान कान्तिमान् केसरोंवाले विचित्र-विचित्र नील कमलोंके द्वारा वहाँका प्रदेश सब ओरसे सुशोभित होता है ॥ ४१ ॥

निस्तुलाभिश्च मुक्ताभिर्मणिभिश्च महाधनैः।
उद्धूतपुलिनास्तत्र जातरूपैश्च निम्नगाः॥ ४२॥
सर्वरत्नमयैश्चित्रैरवगाढा नगोत्तमैः।
जातरूपमयैश्चापि हुताशनसमप्रभैः॥ ४३॥

'वहाँकी नदियोंके तट गोल-गोल मोतियों, बहुमूल्य मणियों और सुवर्णोंसे सम्पन्न हैं। इतना ही नहीं, उन नदियोंके किनारे सम्पूर्ण रत्नोंसे युक्त विचित्र-विचित्र पर्वत भी विद्यमान हैं, जो उनके जलके भीतरतक घुसे हुए हैं। उन पर्वतोंमेंसे कितने ही सुवर्णमय हैं, जिनसे अग्निके समान प्रकाश फैलता रहता है ॥ ४२-४३ ॥

नित्यपुष्पफलास्तत्र नगाः पत्ररथाकुलाः ।
दिव्यगन्धरसस्पर्शाः सर्वकामान् स्रवन्ति च ॥ ४४ ॥

'वहाँके वृक्षोंमें सदा ही फल-फूल लगे रहते हैं और उनपर पक्षी चहकते रहते हैं। वे वृक्ष दिव्य गन्ध, दिव्य रस और दिव्य स्पर्श प्रदान करते हैं तथा प्राणियोंकी सारी मनचाही वस्तुओंकी वर्षा करते रहते हैं ॥ ४४ ॥

नानाकाराणि वासांसि फलन्त्यन्ये नगोत्तमाः ।
मुक्तावैदूर्यचित्राणि भूषणानि तथैव च ।
स्त्रीणां यान्यनुरूपाणि पुरुषाणां तथैव च ॥ ४५ ॥

'इनके सिवा दूसरे-दूसरे श्रेष्ठ वृक्ष फलोंके रूपमें नाना प्रकारके वस्त्र, मोती और वैदूर्यमणिसे जटित आभूषण देते हैं, जो स्त्रियों तथा पुरुषोंके भी उपयोगमें आने योग्य होते हैं ॥

सर्वर्तुसुखसेव्यानि फलन्त्यन्ये नगोत्तमाः ।
महार्हमणिचित्राणि फलन्त्यन्ये नगोत्तमाः ॥ ४६ ॥

'दूसरे उत्तम वृक्ष सभी ऋतुओंमें सुखपूर्वक सेवन करने योग्य अच्छे-अच्छे फल देते हैं। अन्यान्य सुन्दर वृक्ष बहुमूल्य मणियोंके समान विचित्र फल उत्पन्न करते हैं ॥

शयनानि प्रसूयन्ते चित्रास्तरणवन्ति च ।
मनःकान्तानि माल्यानि फलन्त्यत्रापरे द्रुमाः ॥ ४७ ॥
पानानि च महार्हाणि भक्ष्याणि विविधानि च ।
स्त्रियश्च गुणसम्पन्ना रूपयौवनलक्षिताः ॥ ४८ ॥

'कितने ही अन्य वृक्ष विचित्र बिछौनोंसे युक्त शय्याओंको ही फलोंके रूपमें प्रकट करते हैं, मनको प्रिय लगनेवाली सुन्दर मालाएँ भी प्रस्तुत करते हैं, बहुमूल्य पेय पदार्थ और भाँति-भाँतिके भोजन भी देते हैं तथा रूप और यौवनसे प्रकाशित होनेवाली सद्गुणवती युवतियोंको भी जन्म देते हैं ॥ ४७-४८ ॥

गन्धर्वाः किन्नराः सिद्धा नागा विद्याधरास्तथा ।
रमन्ते सततं तत्र नारीभिर्भास्वरप्रभाः ॥ ४९ ॥

'वहाँ सूर्यके समान कान्तिमान् गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध, नाग और विद्याधर सदा नारियोंके साथ क्रीडा-विहार करते हैं ॥

सर्वे सुकृतकर्माणः सर्वे रतिपरायणाः ।
सर्वे कामार्थसहिता वसन्ति सह योषितः ॥ ५० ॥

'वहाँके सब लोग पुण्यकर्मा हैं, सभी अर्थ और कामसे सम्पन्न हैं तथा सब लोग काम-क्रीडापरायण होकर युवती स्त्रियोंके साथ निवास करते हैं ॥ ५० ॥

गीतवादित्रनिर्घोषः सोत्कृष्टहसितस्वनः ।
श्रूयते सततं तत्र सर्वभूतमनोरमः ॥ ५१ ॥

'वहाँ निरन्तर उत्कृष्ट हास-परिहासकी ध्वनिसे युक्त गीतवाद्यका मधुर घोष सुनायी देता है, जो समस्त प्राणियोंके मनको आनन्द प्रदान करनेवाला है ॥ ५१ ॥

तत्र नामुदितः कश्चिन्नात्र कश्चिदसत्प्रियः ।
अहन्यहनि वर्धन्ते गुणास्तत्र मनोरमाः ॥ ५२ ॥

'वहाँ कोई भी अप्रसन्न नहीं रहता। किसीकी भी बुरे कामोंमें प्रीति नहीं होती। वहाँ रहनेसे प्रतिदिन मनोरम गुणोंकी वृद्धि होती है ॥ ५२ ॥

समतिक्रम्य तं देशमुत्तरः पयसां निधिः ।
तत्र सोमगिरिर्नाम मध्ये हेममयो महान् ॥ ५३ ॥

'उस देशको लाँघकर आगे जानेपर उत्तरदिग्वर्ती समुद्र उपलब्ध होगा। उस समुद्रके मध्यभागमें सोमगिरि नामक एक बहुत ऊँचा सुवर्णमय पर्वत है ॥ ५३ ॥

इन्द्रलोकगता ये च ब्रह्मलोकगताश्च ये ।
देवास्तं समवेक्षन्ते गिरिराजं दिवं गताः ॥ ५४ ॥

'जो लोग स्वर्गलोकमें गये हैं, वे तथा इन्द्रलोक और ब्रह्मलोकमें रहनेवाले देवता उस गिरिराज सोमगिरिका दर्शन करते हैं ॥ ५४ ॥

स तु देशो विसूर्योऽपि तस्य भासा प्रकाशते ।
सूर्यलक्ष्म्याभिविज्ञेयस्तपतेव विवस्वता ॥ ५५ ॥

'वह देश सूर्यसे रहित है तो भी सोमगिरिकी प्रभासे सदा प्रकाशित होता रहता है। तपते हुए सूर्यकी प्रभासे जो देश प्रकाशित होते हैं, उन्हींकी भाँति उसे सूर्यदेवकी शोभासे सम्पन्न-सा जानना चाहिये ॥ ५५ ॥

भगवांस्तत्र विश्वात्मा शम्भुरेकादशात्मकः ।
ब्रह्मा वसति देवेशो ब्रह्मर्षिपरिवारितः ॥ ५६ ॥

वहाँ विश्वात्मा भगवान् विष्णु, एकादश रुद्रोंके रूपमें प्रकट होनेवाले भगवान् शंकर तथा ब्रह्मर्षियोंसे घिरे हुए देवेश्वर ब्रह्माजी निवास करते हैं ॥ ५६ ॥

न कथंचन गन्तव्यं कुरूणामुत्तरेण वः ।
अन्येषामपि भूतानां नानुक्रामति वै गतिः ॥ ५७ ॥

'तुमलोग उत्तर कुरुके मार्गसे सोमगिरितक जाकर उसकी सीमासे आगे किसी तरह बढ़ना। तुम्हारी तरह दूसरे प्राणियोंकी भी वहाँ गति नहीं है ॥ ५७ ॥

स हि सोमगिरिर्नाम देवानामपि दुर्गमः ।
तमालोक्य ततः क्षिप्रमुपावर्तितुमर्हथ ॥ ५८ ॥

'वह सोमगिरि देवताओंके लिये भी दुर्गम है। अतः उसका दर्शनमात्र करके तुमलोग शीघ्र लौट आना ॥ ५८ ॥

एतावद् वानरैः शक्यं गन्तुं वानरपुंगवाः ।
अभास्करममर्यादं न जानीमस्ततः परम् ॥ ५९ ॥

'श्रेष्ठ वानरो! बस, उत्तर दिशामें इतनी ही दूरतक तुम सब वानर जा सकते हो। उसके आगे न तो सूर्यका प्रकाश है और न किसी देश आदिकी सीमा ही। अतः आगेकी

भूमिके सम्बन्धमें मैं कुछ नहीं जानता ॥ ५९ ॥

सर्वमेतद् विचेतव्यं यन्मया परिकीर्तितम्।
यदन्यदपि नोक्तं च तत्रापि क्रियतां मतिः ॥ ६० ॥

'मैंने जो-जो स्थान बताये हैं, उन सबमें सीताकी खोज करना और जिन स्थानोंका नाम नहीं लिया है, वहाँ भी ढूँढ़नेका ही निश्चित विचार रखना ॥ ६० ॥

ततः कृतं दाशरथेर्महत्प्रियं
महत्प्रियं चापि ततो मम प्रियम्।
कृतं भविष्यत्यनिलानलोपमा
विदेहजादर्शनजेन कर्मणा ॥ ६१ ॥

'अग्नि और वायुके समान तेजस्वी तथा बलशाली वानरो! विदेहनन्दिनी सीताके दर्शनके लिये तुम जो-जो कार्य या प्रयास करोगे, उन सबके द्वारा दशरथनन्दन भगवान् श्रीरामका महान् प्रिय कार्य सम्पन्न होगा तथा उसीसे मेरा भी प्रिय कार्य पूर्ण हो जायगा ॥ ६१ ॥

ततः कृतार्थाः सहिताः सबान्धवा
मयार्चिताः सर्वगुणैर्मनोरमैः।
चरिष्यथोर्वीं प्रति शान्तशत्रवः
सहप्रिया भूतधराः प्लवंगमाः ॥ ६२ ॥

'वानरो! श्रीरामचन्द्रजीका प्रिय कार्य करके जब तुम लौटोगे, तब मैं सर्वगुणसम्पन्न एवं मनोऽनुकूल पदार्थोंके द्वारा तुम सब लोगोंका सत्कार करूँगा। तत्पश्चात् तुमलोग शत्रुहीन होकर अपने हितैषियों और बन्धु-बान्धवोंसहित कृतार्थ एवं समस्त प्राणियोंके आश्रयदाता होकर अपनी प्रियतमाओंके साथ सारी पृथ्वीपर सानन्द विचरण करोगे' ॥ ६२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें तैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

श्रीरामका हनुमान्‌जीको अँगूठी देकर भेजना

विशेषेण तु सुग्रीवो हनूमत्यर्थमुक्तवान्।
स हि तस्मिन् हरिश्रेष्ठे निश्चितार्थोऽर्थसाधने ॥ १ ॥

सुग्रीवने हनुमान्‌जीके समक्ष विशेषरूपसे सीताके अन्वेषणरूप प्रयोजनको उपस्थित किया; क्योंकि उन्हें यह दृढ़ विश्वास था कि वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌जी इस कार्यको सिद्ध कर सकेंगे ॥ १ ॥

अब्रवीच्च हनूमन्तं विक्रान्तमनिलात्मजम्।
सुग्रीवः परमप्रीतः प्रभुः सर्ववनौकसाम् ॥ २ ॥

समस्त वानरोंके स्वामी सुग्रीवने अत्यन्त प्रसन्न होकर परम पराक्रमी वायुपुत्र हनुमान्‌से इस प्रकार कहा— ॥ २ ॥

न भूमौ नान्तरिक्षे वा नाम्बरे नामरालये।
नाप्सु वा गतिसङ्गं ते पश्यामि हरिपुंगव ॥ ३ ॥

'कपिश्रेष्ठ! पृथ्वी, अन्तरिक्ष, आकाश, देवलोक अथवा जलमें भी तुम्हारी गतिका अवरोध मैं कभी नहीं देखता हूँ ॥ ३ ॥

सासुराः सहगन्धर्वाः सनागनरदेवताः।
विदिताः सर्वलोकास्ते ससागरधराधराः ॥ ४ ॥

'असुर, गन्धर्व, नाग, मनुष्य, देवता, समुद्र तथा पर्वतोंसहित सम्पूर्ण लोकोंका तुम्हें ज्ञान है ॥ ४ ॥

गतिर्वेगश्च तेजश्च लाघवं च महाकपे।
पितुस्ते सदृशं वीर मारुतस्य महौजसः ॥ ५ ॥

'वीर! महाकपे! सर्वत्र अबाधित गति, वेग, तेज और फुर्ती—ये सभी सद्गुण तुममें अपने महापराक्रमी पिता वायुके ही समान हैं ॥ ५ ॥

तेजसा वापि ते भूतं न समं भुवि विद्यते।
तद् यथा लभ्यते सीता तत्त्वमेवानुचिन्तय ॥ ६ ॥

'इस भूमण्डलमें कोई भी प्राणी तुम्हारे तेजकी समानता करनेवाला नहीं है; अतः जिस प्रकार सीताकी उपलब्धि हो सके, वह उपाय तुम्हीं सोचो ॥ ६ ॥

त्वय्येव हनुमन्नस्ति बलं बुद्धिः पराक्रमः।
देशकालानुवृत्तिश्च नयश्च नयपण्डित ॥ ७ ॥

'हनुमन्! तुम नीतिशास्त्रके पण्डित हो। एकमात्र तुम्हींमें बल, बुद्धि, पराक्रम, देश-कालका अनुसरण तथा नीतिपूर्ण बर्ताव एक साथ देखे जाते हैं' ॥ ७ ॥

ततः कार्यसमासङ्गमवगम्य हनूमति।
विदित्वा हनुमन्तं च चिन्तयामास राघवः ॥ ८ ॥

सुग्रीवकी बात सुनकर श्रीरामचन्द्रजीको यह ज्ञात हुआ कि इस कार्यकी सिद्धिका सम्बन्ध—इसे पूर्ण करनेका सारा भार हनुमान्‌पर ही है। उन्होंने स्वयं भी यह अनुभव किया कि हनुमान् इस कार्यको सफल करनेमें समर्थ हैं। फिर वे इस प्रकार मन-ही-मन विचार करने लगे— ॥ ८ ॥

सर्वथा निश्चितार्थोऽयं हनूमति हरीश्वरः।
निश्चितार्थतरश्चापि हनुमान् कार्यसाधने ॥ ९ ॥

'वानरराज सुग्रीव सर्वथा हनुमान्‌पर ही यह भरोसा किये बैठे हैं कि ये ही निश्चितरूपसे हमारे इस प्रयोजनको सिद्ध कर सकते हैं। स्वयं हनुमान् भी अत्यन्त निश्चितरूपसे इस कार्यको सिद्ध करनेका विश्वास रखते हैं ॥ ९ ॥

तदेवं प्रस्थितस्यास्य परिज्ञातस्य कर्मभिः ।
भर्त्रा परिगृहीतस्य ध्रुवः कार्यफलोदयः ॥ १० ॥

'इस प्रकार कार्योंद्वारा जिनकी परीक्षा कर ली गयी है तथा जो सबसे श्रेष्ठ समझे गये हैं, वे हनुमान् अपने स्वामी सुग्रीवके द्वारा सीताकी खोजके लिये भेजे जा रहे हैं। इनके द्वारा इस कार्यके फलका उदय (सीताका दर्शन) होना निश्चित है' ॥ १० ॥

तं समीक्ष्य महातेजा व्यवसायोत्तरं हरिम् ।
कृतार्थ इव संहृष्टः प्रहृष्टेन्द्रियमानसः ॥ ११ ॥

ऐसा विचारकर महातेजस्वी श्रीरामचन्द्रजी कार्यसाधनके उद्योगमें सर्वश्रेष्ठ हनुमान्‌जीकी ओर दृष्टिपात करके अपनेको कृतार्थ-सा मानते हुए प्रसन्न हो गये। उनकी सारी इन्द्रियाँ और मन हर्षसे खिल उठे ॥ ११ ॥

ददौ तस्य ततः प्रीतः स्वनामाङ्कोपशोभितम् ।
अङ्गुलीयमभिज्ञानं राजपुत्र्याः परंतपः ॥ १२ ॥

तदनन्तर शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीरामने प्रसन्नतापूर्वक अपने नामके अक्षरोंसे सुशोभित एक अँगूठी हनुमान्‌जीके हाथमें दी, जो राजकुमारी सीताको पहचानके रूपमें अर्पण करनेके लिये थी ॥ १२ ॥

अनेन त्वां हरिश्रेष्ठ चिह्नेन जनकात्मजा ।
मत्सकाशादनुप्राप्तमनुद्विग्नानुपश्यति ॥ १३ ॥

अँगूठी देकर वे बोले—'कपिश्रेष्ठ ! इस चिह्नके द्वारा जनककिशोरी सीताको यह विश्वास हो जायगा कि तुम मेरे पाससे ही गये हो। इससे वह भय त्यागकर तुम्हारी ओर देख सकेगी ॥ १३ ॥

व्यवसायश्च ते वीर सत्त्वयुक्तश्च विक्रमः ।
सुग्रीवस्य च संदेशः सिद्धिं कथयतीव मे ॥ १४ ॥

'वीरवर ! तुम्हारा उद्योग, धैर्य, पराक्रम और सुग्रीवका संदेश—ये सब मुझे इस बातकी सूचना-सी दे रहे हैं कि तुम्हारे द्वारा कार्यकी सिद्धि अवश्य होगी' ॥ १४ ॥

स तद् गृह्य हरिश्रेष्ठः कृत्वा मूर्ध्नि कृताञ्जलिः ।
वन्दित्वा चरणौ चैव प्रस्थितः प्लवगर्षभः ॥ १५ ॥

वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌ने वह अँगूठी लेकर उसे मस्तकपर रखा और फिर हाथ जोड़कर श्रीरामके चरणोंमें प्रणाम करके वे वानरशिरोमणि वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ १५ ॥

स तत् प्रकर्षन् हरिणां महद् बलं
बभूव वीरः पवनात्मजः कपिः ।
गताम्बुदे व्योम्नि विशुद्धमण्डलः
शशीव नक्षत्रगणोपशोभितः ॥ १६ ॥

उस समय वीर-वानर पवनकुमार हनुमान् अपने साथ वानरोंकी उस विशाल सेनाको ले जाते हुए उसी तरह शोभा पाने लगे, जैसे मेघरहित आकाशमें विशुद्ध (निर्मल) मण्डलसे उपलक्षित चन्द्रमा नक्षत्र-समूहोंके साथ सुशोभित होता है ॥ १६ ॥

अतिबल बलमाश्रितस्तवाहं
हरिवर विक्रम विक्रमैरनल्पैः ।
पवनसुत यथाधिगम्यते सा
जनकसुता हनुमंस्तथा कुरुष्व ॥ १७ ॥

जाते हुए हनुमान्‌को सम्बोधित करके श्रीरामचन्द्रजीने फिर कहा—'अत्यन्त बलशाली कपिश्रेष्ठ ! मैंने तुम्हारे बलका आश्रय लिया है। पवनकुमार हनुमान् ! जिस प्रकार भी जनकनन्दिनी सीता प्राप्त हो सके, तुम अपने महान् बलविक्रमसे वैसा ही प्रयत्न करो। अच्छा, अब जाओ' ॥ १७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें चौवालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

—★—

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

विभिन्न दिशाओंमें जाते हुए वानरोंका सुग्रीवके समक्ष अपने उत्साहसूचक वचन सुनाना

सर्वांश्चाहूय सुग्रीवः प्लवगान् प्लवगर्षभः ।
समस्तांश्चाब्रवीद् राजा रामकार्यार्थसिद्धये ॥ १ ॥

तदनन्तर वानरशिरोमणि राजा सुग्रीव अन्य समस्त वानरोंको बुलाकर श्रीरामचन्द्रजीके कार्यकी सिद्धिके लिये उन सबसे बोले— ॥ १ ॥

एवमेतद् विचेतव्यं भवद्भिर्वानरोत्तमैः ।
तदुग्रशासनं भर्तुर्विज्ञाय हरिपुंगवाः ॥ २ ॥
शलभा इव संछाद्य मेदिनीं सम्प्रतस्थिरे ।

'कपिवरो ! जैसा मैंने बताया है, उसके अनुसार तुम सभी श्रेष्ठ वानरोंको इस जगत्‌में सीताकी खोज करनी चाहिये।' स्वामीकी उस कठोर आज्ञाको भलीभाँति समझकर वे सम्पूर्ण श्रेष्ठ वानर टिड्डियोंके दलकी भाँति पृथ्वीको आच्छादित करके वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ २½ ॥

रामः प्रस्रवणे तस्मिन् न्यवसत् सहलक्ष्मणः ॥ ३ ॥
प्रतीक्षमाणस्तं मासं सीताधिगमने कृतः ।

श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणके साथ उस प्रस्रवणगिरिपर ही ठहरे रहे और सीताका समाचार लानेके लिये जो एक मासकी अवधि निश्चित की गयी थी, उसकी प्रतीक्षा करने लगे ॥ ३½ ॥

उत्तरां तु दिशं रम्यां गिरिराजसमावृताम् ॥ ४ ॥
प्रतस्थे सहसा वीरो हरिः शतबलिस्तदा ।

उस समय वीर वानर शतबलिने गिरिराज हिमालयसे घिरी हुई रमणीय उत्तर दिशाकी ओर शीघ्रतापूर्वक प्रस्थान किया ॥ ४½ ॥

पूर्वां दिशं प्रतिययौ विनतो हरियूथपः ॥ ५ ॥
ताराङ्गदादिसहितः प्लवगः पवनात्मजः ।
अगस्त्याचरितामाशां दक्षिणां हरियूथपः ॥ ६ ॥
पश्चिमां च दिशं घोरां सुषेणः प्लवगेश्वरः ।
प्रतस्थे हरिशार्दूलो दिशं वरुणपालिताम् ॥ ७ ॥

वानर-यूथपति विनत पूर्व दिशाकी ओर गये। कपिगणोंके अधिपति पवनकुमार वानर हनुमान्‌जी तार और अङ्गद आदिके साथ अगस्त्यसेवित दक्षिण दिशाकी ओर प्रस्थित हुए तथा वानरेश्वर कपिश्रेष्ठ सुषेणने वरुणद्वारा सुरक्षित घोर पश्चिम दिशाकी यात्रा की ॥ ५—७ ॥

ततः सर्वा दिशो राजा चोदयित्वा यथातथम् ।
कपिसेनापतिर्वीरो मुमोद सुखितः सुखम् ॥ ८ ॥

वानर-सेनाके स्वामी वीर राजा सुग्रीव सम्पूर्ण दिशाओंमें यथायोग्य वानरोंको भेजकर बहुत सुखी हुए और मन-ही-मन हर्षका अनुभव करने लगे ॥ ८ ॥

एवं संचोदिताः सर्वे राज्ञा वानरयूथपाः ।
स्वां स्वां दिशमभिप्रेत्य त्वरिताः सम्प्रतस्थिरे ॥ ९ ॥

इस तरह राजाकी आज्ञा पाकर समस्त वानर-यूथपति बड़ी उतावलीके साथ अपनी-अपनी दिशाकी ओर प्रस्थित हुए ॥ ९ ॥

नदन्तश्चोन्नदन्तश्च गर्जन्तश्च प्लवंगमाः ।
क्ष्वेडन्तो धावमानाश्च विनदन्तो महाबलाः ॥ १० ॥
एवं संचोदिताः सर्वे राज्ञा वानरयूथपाः ।
आनयिष्यामहे सीतां हनिष्यामश्च रावणम् ॥ ११ ॥
अहमेको वधिष्यामि प्राप्तं रावणमाहवे ।
ततश्चोन्मथ्य सहसा हरिष्ये जनकात्मजाम् ॥ १२ ॥
वेपमानां श्रमेणाद्य भवद्भिः स्थीयतामिति ।
एक एवाहरिष्यामि पातालादपि जानकीम् ॥ १३ ॥
विधमिष्याम्यहं वृक्षान् दारयिष्याम्यहं गिरीन् ।
धरणीं दारयिष्यामि क्षोभयिष्यामि सागरान् ॥ १४ ॥
अहं योजनसंख्यायाः प्लवेयं नात्र संशयः ।
शतयोजनसंख्यायाः शतं समधिकं ह्यहम् ॥ १५ ॥
भूतले सागरे वापि शैलेषु च वनेषु च ।
पातालस्यापि वा मध्ये न ममाच्छिद्यते गतिः ॥ १६ ॥

वे समस्त महाबली वानर और उनके यूथपति अपने राजाके द्वारा इस प्रकार प्रेरित हो भाँति-भाँतिके शब्द करते, उच्च स्वरसे गर्जते, दहाड़ते, किलकारियाँ मारते, दौड़ते और कोलाहल करते हुए कहने लगे—'राजन्! हम सीताको साथ लायेंगे और रावणका वध कर डालेंगे। युद्धमें यदि रावण मेरे सामने आ जाय तो मैं अकेला ही उसे मार गिराऊँगा। तत्पश्चात् उसकी सारी सेनाको मथकर कष्ट एवं भयसे काँपती हुई जानकीजीको सहसा यहाँ उठा लाऊँगा। आपलोग यहीं ठहरें। मैं अकेला ही पातालसे भी जनककिशोरीको निकाल लाऊँगा, वृक्षोंको उखाड़ फेकूँगा, पर्वतोंके टुकड़े-टुकड़े कर डालूँगा, पृथ्वीको विदीर्ण कर दूँगा और समुद्रोंको भी विक्षुब्ध कर डालूँगा। मैं सौ योजनतक कूद सकता हूँ, इसमें संशय नहीं है। मैं सौ योजनसे भी अधिक दूरतक जा सकता हूँ। पृथ्वी, समुद्र, पर्वत, वन और पातालमें भी मेरी गति नहीं रुकती' ॥ १०—१६ ॥

इत्येकैकस्तदा तत्र वानरा बलदर्पिताः ।
ऊचुश्च वचनं तस्य हरिराजस्य संनिधौ ॥ १७ ॥

इस तरह वहाँ वानरराज सुग्रीवके समीप बलके घमंडमें भरे हुए वानर उस समय एक-एक करके आते और उनके सामने उपर्युक्त बातें कहते थे ॥ १७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें पैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

—★—

षट्चत्वारिंशः सर्गः

सुग्रीवका श्रीरामचन्द्रजीको अपने भूमण्डल-भ्रमणका वृत्तान्त बताना

गतेषु वानरेन्द्रेषु रामः सुग्रीवमब्रवीत् ।
कथं भवान् विजानीते सर्वं वै मण्डलं भुवः ॥ १ ॥

उन समस्त वानरयूथपतियोंके चले जानेपर श्रीरामचन्द्रजीने सुग्रीवसे पूछा—'सखे! तुम समस्त भूमण्डलके स्थानोंका परिचय कैसे जानते हो?' ॥ १ ॥

सुग्रीवश्च ततो राममुवाच प्रणतात्मवान् ।
श्रूयतां सर्वमाख्यास्ये विस्तरेण वचो मम ॥ २ ॥

तब सुग्रीवने विनीत होकर श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—'भगवन्! मैं सब कुछ विस्तारके साथ बता रहा हूँ। मेरी बातें सुनिये ॥ २ ॥

यदा तु दुन्दुभिं नाम दानवं महिषाकृतिम् ।
प्रतिकालयते वाली मलयं प्रति पर्वतम् ॥ ३ ॥
तदा विवेश महिषो मलयस्य गुहां प्रति ।
विवेश वाली तत्रापि मलयं तज्जिघांसया ॥ ४ ॥

'जब वाली महिषरूपधारी दानव दुन्दुभि* (उसके पुत्र मायावी) का पीछा कर रहे थे, उस समय वह महिष मलयपर्वतकी ओर भागा और उस पर्वतकी कन्दरामें घुस गया। यह देख वालीने उसके वधकी इच्छासे उस गुफाके भीतर भी प्रवेश किया ॥ ३-४ ॥

ततोऽहं तत्र निक्षिप्तो गुहाद्वारि विनीतवत्।
न च निष्क्रामते वाली तदा संवत्सरे गते ॥ ५ ॥

'उस समय मैं विनीतभावसे उस गुफाके द्वारपर खड़ा रहा; क्योंकि वालीने मुझे वहीं रख छोड़ा था। परंतु एक वर्ष व्यतीत हो जानेपर भी वाली उसके भीतरसे नहीं निकले ॥ ५ ॥

ततः क्षतजवेगेन आपुपूरे तदा बिलम्।
तदहं विस्मितो दृष्ट्वा भ्रातुः शोकविषार्दितः ॥ ६ ॥

'तदनन्तर वेगपूर्वक बहे हुए रक्तकी धारासे उस समय वह सारी गुफा भर गयी। यह देखकर मुझे बड़ा विस्मय हुआ तथा मैं भाईके शोकसे व्यथित हो उठा ॥ ६ ॥

अथाहं गतबुद्धिस्तु सुव्यक्तं निहतो गुरुः।
शिला पर्वतसंकाशा बिलद्वारि मया कृता ॥ ७ ॥

'फिर मेरी बुद्धिमें यह बात आयी कि अब मेरे बड़े भाई निश्चय ही मारे गये। यह विचार पैदा होते ही मैंने उस गुफाके द्वारपर एक पहाड़-जैसी चट्टान रख दी ॥ ७ ॥

अशक्नुवन्निष्क्रमितुं महिषो विनशिष्यति।
ततोऽहमागां किष्किन्धां निराशस्तस्य जीविते ॥ ८ ॥

'सोचा—इस शिलासे द्वार बंद हो जानेपर मायावी निकल नहीं सकेगा, भीतर ही घुट-घुटकर मर जायगा। इसके बाद भाईके जीवनसे निराश होकर मैं किष्किन्धापुरीमें लौट आया ॥ ८ ॥

राज्यं च सुमहत् प्राप्य तारां च रुमया सह।
मित्रैश्च सहितस्तत्र वसामि विगतज्वरः ॥ ९ ॥

'यहाँ विशाल राज्य तथा रुमासहित ताराको पाकर मित्रोंके साथ मैं निश्चिन्ततापूर्वक रहने लगा ॥ ९ ॥

आजगाम ततो वाली हत्वा तं वानरर्षभः।
ततोऽहमददां राज्यं गौरवाद् भययन्त्रितः ॥ १० ॥

'तत्पश्चात् वानरश्रेष्ठ वाली उस दानवका वध करके आ पहुँचे। उनके आते ही मैंने भाईके गौरवसे भयभीत हो वह राज्य उन्हें वापस कर दिया ॥ १० ॥

स मां जिघांसुर्दुष्टात्मा वाली प्रव्यथितेन्द्रियः।
परिकालयते वाली धावन्तं सचिवैः सह ॥ ११ ॥

'परंतु दुष्टात्मा वाली मुझे मार डालना चाहता था, उसकी सारी इन्द्रियाँ यह सोचकर व्यथित हो उठी थीं कि 'यह मुझे मारनेके लिये ही गुफाका द्वार बंद करके भाग आया था।' मैं अपनी प्राण-रक्षाके लिये मन्त्रियोंके साथ भागा और वाली मेरा पीछा करने लगा ॥ ११ ॥

ततोऽहं वालिना तेन सोऽनुबद्धः प्रधावितः।
नदीश्च विविधाः पश्यन् वनानि नगराणि च ॥ १२ ॥
आदर्शतलसंकाशा ततो वै पृथिवी मया।
अलातचक्रप्रतिमा दृष्टा गोष्पदवत् कृता ॥ १३ ॥

'वाली मेरे पीछे लगा रहा और मैं जोर-जोरको भागता गया। उसी समय मैंने विभिन्न नदियों, वनों और नगरोंको देखते हुए सारी पृथ्वीको गायकी खुरीकी भाँति मानकर उसकी परिक्रमा कर डाली। भागते समय मुझे यह पृथ्वी दर्पण और अलातचक्रके समान दिखायी दी ॥ १२-१३ ॥

पूर्वां दिशं ततो गत्वा पश्यामि विविधान् द्रुमान्।
पर्वतान् सदरीन् रम्यान् सरांसि विविधानि च ॥ १४ ॥

'तदनन्तर पूर्व दिशामें जाकर मैंने नाना प्रकारके वृक्ष, कन्दराओंसहित रमणीय पर्वत और भाँति-भाँतिके सरोवर देखे ॥

उदयं तत्र पश्यामि पर्वतं धातुमण्डितम्।
क्षीरोदं सागरं चैव नित्यमप्सरसालयम् ॥ १५ ॥

'वहाँ नाना प्रकारके धातुओंसे मण्डित उदयाचल तथा अप्सराओंके नित्य-निवासस्थान क्षीरोद सागरका भी मैंने दर्शन किया ॥ १५ ॥

परिकाल्यमानस्तदा वालिनाभिद्रुतो ह्यहम्।
पुनरावृत्य सहसा प्रस्थितोऽहं तदा विभो ॥ १६ ॥

'उस समय वाली पीछा करते रहे और मैं भागता रहा। प्रभो! जब मैं यहाँ फिर लौटकर आया, तब वालीके डरसे पुनः सहसा मुझे भागना पड़ा ॥ १६ ॥

दिशस्तस्यास्ततो भूयः प्रस्थितो दक्षिणां दिशम्।
विन्ध्यपादपसंकीर्णां चन्दनद्रुमशोभिताम् ॥ १७ ॥

'उस दिशाको छोड़कर मैं फिर दक्षिण दिशाकी ओर प्रस्थित हुआ, जहाँ विन्ध्यपर्वत और नाना प्रकारके वृक्ष भरे हुए हैं तथा चन्दनके वृक्ष जिसकी शोभा बढ़ाते हैं ॥ १७ ॥

द्रुमशैलान्तरे पश्यन् भूयो दक्षिणतोऽपराम्।
अपरां च दिशं प्राप्तो वालिना समभिद्रुतः ॥ १८ ॥

'वृक्षों और पर्वतोंकी ओटमें बारंबार वालीको देखकर मैंने दक्षिण दिशाको छोड़ दिया तथा वालीके खदेड़नेपर पश्चिम दिशाकी शरण ली ॥ १८ ॥

---

* यहाँ दुन्दुभि और महिष शब्दसे उसके पुत्र मायावी नामक दानवका ही वर्णन हुआ है—ऐसा मानना चाहिये; क्योंकि आगे कही जानेवाली सारी बातें उसीके वृत्तान्तसे सम्बन्ध रखती हैं। पिता भैंसेका रूप धारण करता था, यही गुण उसके पुत्र मायावीमें भी था। इसलिये उसको भी महिष या महिषाकृति कहना असङ्गत नहीं है।

स पश्यन् विविधान् देशानस्तं च गिरिसत्तमम्।
प्राप्य चास्तं गिरिश्रेष्ठमुत्तरं सम्प्रधावितः॥ १९॥

'वहाँ नाना प्रकारके देशोंको देखता हुआ मैं गिरिश्रेष्ठ अस्ताचलतक जा पहुँचा। वहाँ पहुँचकर मैं पुनः उत्तर दिशाकी ओर भागा॥ १९॥

हिमवन्तं च मेरुं च समुद्रं च तथोत्तरम्।
यदा न विन्दे शरणं वालिना समभिद्रुतः॥ २०॥
ततो मां बुद्धिसम्पन्नो हनुमान् वाक्यमब्रवीत्।

'हिमालय, मेरु और उत्तर समुद्रतक पहुँचकर भी जब वालीके पीछा करनेके कारण मुझे कहीं शरण नहीं मिली, तब परम बुद्धिमान् हनुमान्‌जीने मुझसे यह बात कही—॥ २० १/२॥

इदानीं मे स्मृतं राजन् यथा वाली हरीश्वरः॥ २१॥
मतङ्गेन तदा शप्तो ह्यस्मिन्नाश्रममण्डले।
प्रविशेद् यदि वै वाली मूर्धास्य शतधा भवेत्॥ २२॥

''राजन्! इस समय मुझे उस घटनाका स्मरण हो आया है, जैसा कि मतङ्गमुनिने उन दिनों वानरराज वालीको शाप दिया था कि 'यदि वाली इस आश्रममण्डलमें प्रवेश करेगा तो उसके मस्तकके सैकड़ों टुकड़े हो जायँगे'॥ २१-२२॥

तत्र वासः सुखोऽस्माकं निरुद्विग्नो भविष्यति।
ततः पर्वतमासाद्य ऋष्यमूकं नृपात्मज॥ २३॥
न विवेश तदा वाली मतङ्गस्य भयात् तदा।

''अतः वहाँ निवास करना हमलोगोंके लिये सुखद और निर्भय होगा'। राजकुमार! इस निश्चयके अनुसार हमलोग ऋष्यमूक पर्वतपर आकर रहने लगे। उस समय मतङ्ग ऋषिके भयसे वालीने वहाँ प्रवेश नहीं किया॥ २३ १/२॥

एवं मया तदा राजन् प्रत्यक्षमुपलक्षितम्।
पृथिवीमण्डलं सर्वं गुहामस्यागतस्ततः॥ २४॥

'राजन्! इस प्रकार मैंने उन दिनों समस्त भूमण्डलको प्रत्यक्ष देखा था। उसके बाद ऋष्यमूककी गुफामें आया था'॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे षट्चत्वारिंशः सर्गः॥ ४६॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें छियालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ४६॥

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

पूर्व आदि तीन दिशाओंमें गये हुए वानरोंका निराश होकर लौट आना

दर्शनार्थं तु वैदेह्याः सर्वतः कपिकुञ्जराः।
व्यादिष्टाः कपिराजेन यथोक्तं जग्मुरञ्जसा॥ १॥

वानरराजके द्वारा समस्त दिशाओंकी ओर जानेकी आज्ञा पाकर वे सभी श्रेष्ठ वानर, जिनके लिये जिस ओर जानेका आदेश मिला था उसी ओर, विदेहकुमारी सीताका पता लगानेके लिये उत्साहपूर्वक चल दिये॥ १॥

ते सरांसि सरित्कक्षानाकाशं नगराणि च।
नदीदुर्गांस्तथा देशान् विचिन्वन्ति समन्ततः॥ २॥

वे सरोवरों, सरिताओं, लतामण्डपों, खुले स्थानों और नगरोंमें तथा नदियोंके कारण दुर्गम प्रदेशोंमें सब ओर घूम-फिरकर सीताकी खोज करने लगे॥ २॥

सुग्रीवेण समाख्याताः सर्वे वानरयूथपाः।
तत्र देशान् विचिन्वन्ति सशैलवनकाननान्॥ ३॥

सुग्रीवने जिन्हें आज्ञा दी थी, वे सभी वानर-यूथपति अपनी-अपनी दिशाओंके पर्वत, वन और काननोंसहित सम्पूर्ण देशोंकी छानबीन करने लगे॥ ३॥

विचित्य दिवसं सर्वे सीताधिगमने धृताः।
समायान्ति स्म मेदिन्यां निशाकालेषु वानराः॥ ४॥

सीताजीका पता लगानेकी निश्चित इच्छा मनमें लिये वे सब वानर दिनभर इधर-उधर अन्वेषण करते और रातके समय किसी नियत स्थानपर एकत्र हो जाते थे॥ ४॥

सर्वर्तुकांश्च देशेषु वानराः सफलद्रुमान्।
आसाद्य रजनीं शय्यां चक्रुः सर्वेष्वहःसु ते॥ ५॥

सारे दिन भिन्न-भिन्न देशोंमें घूम-फिरकर वे वानर सभी ऋतुओंमें फल देनेवाले वृक्षोंके पास जाकर रातको वहीं सोया अथवा विश्राम किया करते थे॥ ५॥

तदहः प्रथमं कृत्वा मासे प्रस्रवणं गताः।
कपिराजेन संगम्य निराशाः कपिकुञ्जराः॥ ६॥

जानेके दिनको पहला दिन मानकर एक मास पूर्ण होनेतक वे श्रेष्ठ वानर निराश हो लौट आये और कपिराज सुग्रीवसे मिलकर प्रस्रवणगिरिपर ठहर गये॥ ६॥

विचित्य तु दिशं पूर्वां यथोक्तां सचिवैः सह।
अदृष्ट्वा विनतः सीतामाजगाम महाबलः॥ ७॥

महाबली विनत अपने मन्त्रियोंके साथ पहले बताये अनुसार पूर्व दिशामें खोज करके वहाँ सीताको न पाकर किष्किन्धा लौट आये॥ ७॥

दिशमप्युत्तरां सर्वां विविच्य स महाकपिः।
आगतः सह सैन्येन भीतः शतबलिस्तदा॥ ८॥

महाकपि शतबलि सारी उत्तर दिशाकी छानबीन करके भयभीत हो तत्काल सेनासहित किष्किन्धा आ गये॥ ८॥

सुषेणः पश्चिमामाशां विविच्य सह वानरैः।
समेत्य मासे पूर्णे तु सुग्रीवमुपचक्रमे॥ ९॥

वानरोंसहित सुषेण भी पश्चिम दिशाका अनुसंधान करके वहाँ सीताको न पाकर एक मास पूर्ण होनेपर

सुग्रीवके पास चले आये ॥ ९ ॥

तं प्रस्रवणपृष्ठस्थं समासाद्याभिवाद्य च।
आसीनं सह रामेण सुग्रीवमिदमब्रुवन्॥ १०॥

प्रस्रवणगिरिपर श्रीरामचन्द्रजीके साथ बैठे हुए सुग्रीवके पास आकर सब वानरोंने उन्हें प्रणाम किया और इस प्रकार कहा— ॥ १० ॥

विचिताः पर्वताः सर्वे वनानि गहनानि च।
निम्नगाः सागरान्ताश्च सर्वे जनपदाश्च ये॥ ११॥
गुहाश्च विचिताः सर्वा याश्च ते परिकीर्तिताः।
विचिताश्च महागुल्मा लतावितत संतताः॥ १२॥

'राजन्! हमने समस्त पर्वत, घने जंगल, समुद्रपर्यन्त नदियाँ, सम्पूर्ण देश, आपकी बतायी हुई सारी गुफाएँ तथा लतावितानसे व्याप्त हुई झाड़ियाँ भी खोज डालीं॥

गहनेषु च देशेषु दुर्गेषु विषमेषु च।
सत्त्वान्यतिप्रमाणानि विचितानि हतानि च।
ये चैव गहना देशा विचितास्ते पुनः पुनः॥ १३॥

'घने वनों, विभिन्न देशों, दुर्गम स्थानों और ऊँची-ऊँची भूमियोंमें भी ढूँढ़ा है। बड़े-बड़े प्राणियोंकी भी तलाशी ली और उन्हें मार डाला। जो-जो प्रदेश घने और दुर्गम जान पड़े, वहाँ बारंबार खोज की (किंतु कहीं भी सीताजीका पता न लगा)॥ १३॥

उदारसत्त्वाभिजनो हनूमान्
स मैथिलीं ज्ञास्यति वानरेन्द्र।
दिशं तु यामेव गता तु सीता
तामास्थितो वायुसुतो हनूमान्॥ १४॥

'वानरराज! वायुपुत्र हनुमान् परम शक्तिमान् और कुलीन हैं। वे ही मिथिलेशकुमारीका पता लगा सकेंगे; क्योंकि वे उसी दिशामें गये हैं, जिधर सीता गयी हैं'॥ १४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे सप्तचत्वारिंशः सर्गः॥ ४७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें सैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ४७॥

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

दक्षिण दिशामें गये हुए वानरोंका सीताकी खोज आरम्भ करना

सह ताराङ्गदाभ्यां तु सहसा हनुमान् कपिः।
सुग्रीवेण यथोद्दिष्टं गन्तुं देशं प्रचक्रमे॥ १॥

उधर तार और अङ्गदके साथ हनुमान्‌जी सहसा सुग्रीवके बताये हुए दक्षिण दिशाके देशोंकी ओर चले॥ १॥

स तु दूरमुपागम्य सर्वैस्तैः कपिसत्तमैः।
ततो विचित्य विन्ध्यस्य गुहाश्च गहनानि च॥ २॥
पर्वताग्रनदीदुर्गान् सरांसि विपुलद्रुमान्।
वृक्षखण्डांश्च विविधान् पर्वतान् वनपादपान्॥ ३॥
अन्वेषमाणास्ते सर्वे वानराः सर्वतोदिशम्।
न सीतां ददृशुर्वीरा मैथिलीं जनकात्मजाम्॥ ४॥

उन सभी श्रेष्ठ वानरोंके साथ बहुत दूरका रास्ता तै करके वे विन्ध्याचलपर गये और वहाँकी गुफाओं, जंगलों, पर्वत-शिखरों, नदियों, दुर्गम स्थानों, सरोवरों, बड़े-बड़े वृक्षों, झाड़ियों और भाँति-भाँतिके पर्वतों एवं वन्य वृक्षोंमें सब ओर ढूँढ़ते फिरे; परंतु वहाँ उन समस्त वीर वानरोंने मिथिलेशकुमारी जनकनन्दिनी सीताको कहीं नहीं देखा॥ २—४॥

ते भक्षयन्तो मूलानि फलानि विविधान्यपि।
अन्वेषमाणा दुर्धर्षा न्यवसंस्तत्र तत्र ह॥ ५॥

वे सभी दुर्धर्ष वीर नाना प्रकारके फल-मूलका भोजन करते हुए सीताको खोजते और जहाँ-तहाँ ठहर जाया करते थे॥

स तु देशो दुरन्वेषो गुहागहनवान् महान्।
निर्जलं निर्जनं शून्यं गहनं घोरदर्शनम्॥ ६॥

विन्ध्यपर्वतके आसपासका महान् देश बहुत-सी गुफाओं तथा घने जंगलोंसे भरा था। इससे वहाँ जानकीको ढूँढ़नेमें बड़ी कठिनाई होती थी। भयंकर दिखायी देनेवाले वहाँके सुनसान जंगलमें न तो पानी मिलता था और न कोई मनुष्य ही दिखायी देता था॥ ६॥

तादृशान्यप्यरण्यानि विचित्य भृशपीडिताः।
स देशश्च दुरन्वेष्यो गुहागहनवान् महान्॥ ७॥

वैसे जंगलोंमें भी खोज करते समय उन वानरोंको अत्यन्त कष्ट सहन करना पड़ा। वह विशाल प्रदेश अनेक गुहाओं और सघन वनोंसे व्याप्त था। अतः वहाँ अन्वेषणका कार्य बहुत कठिन प्रतीत होता था॥ ७॥

त्यक्त्वा तु तं ततो देशं सर्वे वै हरियूथपाः।
देशमन्यं दुराधर्षं विविशुश्चाकुतोभयाः॥ ८॥

तदनन्तर वे समस्त वानर-यूथपति उस देशको छोड़कर दूसरे प्रदेशमें घुसे, जहाँ जाना और भी कठिन था तो भी उन्हें कहीं किसीसे भय नहीं होता था॥ ८॥

यत्र वन्ध्यफला वृक्षा विपुष्पाः पर्णवर्जिताः।
निस्तोयाः सरितो यत्र मूलं यत्र सुदुर्लभम्॥ ९॥

वहाँके वृक्ष कभी फल नहीं देते थे। उनमें फूल भी नहीं लगते थे और उनकी डालियोंमें पत्ते भी नहीं थे। वहाँकी नदियोंमें पानीका नाम नहीं था। कन्द-मूल आदि तो वहाँ सर्वथा दुर्लभ थे॥ ९॥

न सन्ति महिषा यत्र न मृगा न च हस्तिनः।
शार्दूलाः पक्षिणो वापि ये चान्ये वनगोचराः॥ १०॥

उस प्रदेशमें न भैंसे थे न हिरन और हाथी; न बाघ थे न पक्षी तथा वनमें विचरनेवाले अन्य प्राणियोंका भी वहाँ अभाव था॥ १०॥

न चात्र वृक्षा नौषध्यो न वल्ल्यो नापि वीरुधः।
स्निग्धपत्राः स्थले यत्र पद्मिन्यः फुल्लपङ्कजाः॥ ११॥
प्रेक्षणीयाः सुगन्धाश्च भ्रमरैश्च विवर्जिताः।

वहाँ न पेड़ थे न पौधे, न ओषधियाँ थीं न लता-बेलें। उस देशकी पोखरियोंमें चिकने पत्तों और खिले हुए फूलोंसे युक्त कमल भी नहीं थे। इसीलिये न तो वे देखने योग्य थीं, न उनमें सुगन्ध छा रही थी और न वहाँ भौंरे ही गुंजार करते थे॥ ११½॥

कण्डुर्नाम महाभागः सत्यवादी तपोधनः॥ १२॥
महर्षिः परमामर्षी नियमैर्दुष्प्रधर्षणः।

पहले वहाँ कण्डु नामसे प्रसिद्ध एक महाभाग सत्यवादी और तपस्याके धनी महर्षि रहते थे, जो बड़े अमर्षशील थे—अपने प्रति किये गये अपराधको सहन नहीं करते थे। शौच-संतोष आदि नियमोंका पालन करनेके कारण उन महर्षिको कोई तिरस्कृत या पराजित नहीं कर सकता था॥

तस्य तस्मिन् वने पुत्रो बालको दशवार्षिकः॥ १३॥
प्रणष्टो जीवितान्ताय क्रुद्धस्तेन महामुनिः।

उस वनमें उनका एक बालक पुत्र, जिसकी अवस्था दस वर्षकी थी, किसी कारणसे मर गया। इससे कुपित होकर वे महामुनि उस वनके जीवनका अन्त करनेके लिये उद्यत हो गये॥ १३½॥

तेन धर्मात्मना शप्तं कृत्स्नं तत्र महद्वनम्॥ १४॥
अशरण्यं दुराधर्षं मृगपक्षिविवर्जितम्।

उन धर्मात्मा महर्षिने उस समूचे विशाल वनको वहाँ शाप दे दिया, जिससे वह आश्रयहीन, दुर्गम तथा पशुपक्षियोंसे शून्य हो गया॥ १४½॥

तस्य ते काननान्तांस्तु गिरीणां कन्दराणि च॥ १५॥
प्रभवाणि नदीनां च विचिन्वन्ति समाहिताः।
तत्र चापि महात्मानो नापश्यञ्जनकात्मजाम्॥ १६॥
हर्तारं रावणं वापि सुग्रीवप्रियकारिणः।

वहाँ सुग्रीवका प्रिय करनेवाले उन महामनस्वी वानरोंने उस वनके सभी प्रदेशों, पर्वतोंकी कन्दराओं तथा नदियोंके उद्गमस्थानोंमें एकाग्रचित्त होकर अनुसंधान किया; परंतु वहाँ भी उन्हें जनकनन्दिनी सीता अथवा उनका अपहरण करनेवाले रावणका कुछ पता नहीं चला॥ १५-१६½॥

ते प्रविश्य तु तं भीमं लतागुल्मसमावृतम्॥ १७॥
ददृशुर्भीमकर्माणमसुरं सुरनिर्भयम्।

तत्पश्चात् लताओं और झाड़ियोंसे व्याप्त हुए दूसरे किसी भयंकर वनमें प्रवेश करके उन हनुमान् आदि वानरोंने भयानक कर्म करनेवाले एक असुरको देखा, जिसे देवताओंसे कोई भय नहीं था॥ १७½॥

तं दृष्ट्वा वानरा घोरं स्थितं शैलमिवासुरम्॥ १८॥
गाढं परिहिताः सर्वे दृष्ट्वा तं पर्वतोपमम्।

उस घोर निशाचरको पहाड़के समान सामने खड़ा देख सभी वानरोंने अपने ढीले-ढाले वस्त्रोंको अच्छी तरह कस लिया और सब-के-सब उस पर्वताकार असुरसे भिड़नेको तैयार हो गये॥ १८½॥

सोऽपि तान् वानरान् सर्वान् नष्टाः स्थेत्यब्रवीद् बली॥ १९॥
अभ्यधावत संक्रुद्धो मुष्टिमुद्यम्य संगतम्।

उधर वह बलवान् असुर भी उन सब वानरोंको देखकर बोला—'अरे, आज तुम सभी मारे गये।' इतना कहकर वह अत्यन्त कुपित हो बँधा हुआ मुक्का तानकर उनकी ओर दौड़ा॥ १९½॥

तमापतन्तं सहसा वालिपुत्रोऽङ्गदस्तदा॥ २०॥
रावणोऽयमिति ज्ञात्वा तलेनाभिजघान ह।

उसे सहसा आक्रमण करते देख वालिपुत्र अङ्गदने समझा कि यही रावण है; अतः उन्होंने आगे बढ़कर उसे एक तमाचा जड़ दिया॥२०½॥

स वालिपुत्राभिहतो वक्त्राच्छोणितमुद्वमन्॥ २१॥
असुरो न्यपतद् भूमौ पर्यस्त इव पर्वतः।
ते तु तस्मिन् निरुच्छ्वासे वानरा जितकाशिनः॥ २२॥
व्यचिन्वन् प्रायशस्तत्र सर्वं ते गिरिगह्वरम्।

वालिपुत्रके मारनेपर वह असुर मुँहसे रक्त वमन करता हुआ फटकर गिरे हुए पहाड़की भाँति पृथ्वीपर जा पड़ा और उसके प्राणपखेरू उड़ गये। तत्पश्चात् विजयोल्लाससे सुशोभित होनेवाले वानर प्रायः वहाँकी सारी पर्वतीय गुफाओंमें अनुसंधान करने लगे॥ २१-२२½॥

विचितं तु ततः सर्वं सर्वे ते काननौकसः॥ २३॥
अन्यदेवापरं घोरं विविशुर्गिरिगह्वरम्।

जब वहाँके सारे प्रदेशमें खोज कर ली गयी, तब उन समस्त वनवासी वानरोंने किसी दूसरी पर्वतीय कन्दरामें प्रवेश किया, जो पहलेकी अपेक्षा भी भयानक थी॥ २३½॥

ते विचित्य पुनः खिन्ना विनिष्पत्य समागताः।
एकान्ते वृक्षमूले तु निषेदुर्दीनमानसाः॥ २४॥

उसमें भी ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वे थक गये और निराश होकर निकल आये। फिर सब-के-सब एकान्त स्थानमें एक वृक्षके नीचे खिन्नचित्त होकर बैठ गये॥ २४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डेऽष्टचत्वारिंशः सर्गः॥ ४८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें अड़तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ४८॥

★

एकोनपञ्चाशः सर्गः

अङ्गद और गन्धमादनके आश्वासन देनेपर वानरोंका पुनः उत्साहपूर्वक अन्वेषण-कार्यमें प्रवृत्त होना

अथाङ्गदस्तदा सर्वान् वानरानिदमब्रवीत्।
परिश्रान्तो महाप्राज्ञः समाश्वास्य शनैर्वचः॥ १॥

तदनन्तर परिश्रमसे थके हुए महाबुद्धिमान् अङ्गद सम्पूर्ण वानरोंको आश्वासन देकर धीरे-धीरे इस प्रकार कहने लगे— ॥ १॥

वनानि गिरयो नद्यो दुर्गाणि गहनानि च।
दरी गिरिगुहाश्चैव विचिताः सर्वमन्ततः॥ २॥
तत्र तत्र सहास्माभिर्जानकी न च दृश्यते।
तथा रक्षोऽपहर्ता च सीतायाश्चैव दुष्कृती॥ ३॥

'हमलोगोंने वन, पर्वत, नदियाँ, दुर्गम स्थान, घने जंगल, कन्दरा और गुफाएँ भीतर प्रवेश करके अच्छी तरह देख डालीं; परंतु उन स्थानोंमें हमें न तो जानकीके दर्शन हुए और न उनका अपहरण करनेवाला वह पापी राक्षस ही मिला॥

कालश्च नो महान् यातः सुग्रीवश्चोग्रशासनः।
तस्माद् भवन्तः सहिता विचिन्वन्तु समन्ततः॥ ४॥

'हमारा समय भी बहुत बीत गया। राजा सुग्रीवका शासन बड़ा भयंकर है। अतः आपलोग मिलकर पुनः सब ओर सीताकी खोज आरम्भ करें॥ ४॥

विहाय तन्द्रीं शोकं च निद्रां चैव समुत्थिताम्।
विचिनुध्वं तथा सीतां पश्यामो जनकात्मजाम्॥ ५॥

'आलस्य, शोक और आयी हुई निद्राका परित्याग करके इस प्रकार ढूँढ़ें, जिससे हमें जनककुमारी सीताका दर्शन हो सके॥ ५॥

अनिर्वेदं च दाक्ष्यं च मनसश्चापराजयम्।
कार्यसिद्धिकराण्याहुस्तस्मादेतद् ब्रवीम्यहम्॥ ६॥

'उत्साह, सामर्थ्य और मनमें हिम्मत न हारना—ये कार्यकी सिद्धि करानेवाले सद्गुण कहे गये हैं; इसीलिये मैं आपलोगोंसे यह बात कह रहा हूँ॥ ६॥

अद्यापीदं वनं दुर्गं विचिन्वन्तु वनौकसः।
खेदं त्यक्त्वा पुनः सर्वं वनमेव विचिन्वताम्॥ ७॥

'आज भी सारे वानर खेद छोड़कर इस दुर्गम वनमें खोज आरम्भ करें और सारे वनको ही छान डालें॥ ७॥

अवश्यं कुर्वतां तस्य दृश्यते कर्मणः फलम्।
परं निर्वेदमागम्य नहि नोन्मीलनं क्षमम्॥ ८॥

'कर्ममें लगे रहनेवाले लोगोंको उस कर्मका फल अवश्य होता दिखायी देता है; अतः अत्यन्त खिन्न होकर उद्योगको छोड़ बैठना कदापि उचित नहीं है॥ ८॥

सुग्रीवः क्रोधनो राजा तीक्ष्णदण्डश्च वानराः।
भेतव्यं तस्य सततं रामस्य च महात्मनः॥ ९॥

'सुग्रीव क्रोधी राजा हैं। उनका दण्ड भी बड़ा कठोर होता है। वानरो! उनसे तथा महात्मा श्रीरामसे आपलोगोंको सदा डरते रहना चाहिये॥ ९॥

हितार्थमेतदुक्तं वः क्रियतां यदि रोचते।
उच्यतां हि क्षमं यत् तत् सर्वेषामेव वानराः॥ १०॥

'आपलोगोंकी भलाईके लिये ही मैंने ये बातें कही हैं। यदि अच्छी लगें तो आप इन्हें स्वीकार करें। अथवा वानरो! जो सबके लिये उचित हो, वह कार्य आप ही लोग बतावें'॥

अङ्गदस्य वचः श्रुत्वा वचनं गन्धमादनः।
उवाच व्यक्तया वाचा पिपासाश्रमखिन्नया॥ ११॥

अङ्गदकी यह बात सुनकर गन्धमादनने प्यास और थकावटसे शिथिल हुई स्पष्ट वाणीमें कहा— ॥ ११॥

सदृशं खलु वो वाक्यमङ्गदो यदुवाच ह।
हितं चैवानुकूलं च क्रियतामस्य भाषितम्॥ १२॥

'वानरो! युवराज अङ्गदने जो बात कही है, वह आपलोगोंके योग्य, हितकर और अनुकूल है; अतः सब लोग इनके कथनानुसार कार्य करें॥ १२॥

पुनर्मार्गामहे शैलान् कन्दरांश्च शिलांस्तथा।
काननानि च शून्यानि गिरिप्रस्रवणानि च॥ १३॥

'हमलोग पुनः पर्वतों, कन्दराओं, शिलाओं, निर्जन वनों और पर्वतीय झरनोंकी खोज करें॥ १३॥

यथोद्दिष्टानि सर्वाणि सुग्रीवेण महात्मना।
विचिन्वन्तु वनं सर्वे गिरिदुर्गाणि संगताः॥ १४॥

'महात्मा सुग्रीवने जिन स्थानोंकी चर्चा की थी, उन सबमें वन और पर्वतीय दुर्गम प्रदेशोंमें सब वानर एक साथ होकर खोज आरम्भ करें'॥ १४॥

ततः समुत्थाय पुनर्वानरास्ते महाबलाः।
विन्ध्यकाननसंकीर्णां विचेरुर्दक्षिणां दिशम्॥ १५॥

यह सुनकर वे महाबली वानर उठकर खड़े हो गये और विन्ध्य पर्वतके काननोंसे व्याप्त दक्षिण दिशामें विचरने लगे॥

ते शारदाभ्रप्रतिमं श्रीमद्रजतपर्वतम्।
शृङ्गवन्तं दरीवन्तमधिरुह्य च वानराः॥ १६॥

सामने शरद्-ऋतुके बादलोंके समान शोभाशाली रजत पर्वत दिखायी दिया, जिसमें अनेक शिखर और कन्दराएँ थीं। वे सब वानर उसपर चढ़कर खोजने लगे॥ १६॥

तत्र लोध्रवनं रम्यं सप्तपर्णवनानि च।
विचिन्वन्तो हरिवराः सीतादर्शनकाङ्क्षिणः॥ १७॥

सीताके दर्शनकी इच्छा रखनेवाले वे सभी श्रेष्ठ वानर वहाँके रमणीय लोध्रवनमें और सप्तपर्ण (छितवन) के

जंगलोंमें उनकी खोज करने लगे ॥ १७ ॥

तस्याग्रमधिरूढास्ते श्रान्ता विपुलविक्रमाः ।
न पश्यन्ति स्म वैदेहीं रामस्य महिषीं प्रियाम् ॥ १८ ॥

उस पर्वतके शिखरपर चढ़े हुए वे महापराक्रमी वानर ढूँढ़ते-ढूँढ़ते थक गये, परंतु श्रीरामचन्द्रजीकी प्यारी रानी सीताका दर्शन न पा सके ॥ १८ ॥

ते तु दृष्टिगतं दृष्ट्वा तं शैलं बहुकन्दरम् ।
अध्यारोहन्त हरयो वीक्षमाणाः समन्ततः ॥ १९ ॥

अनेक कन्दराओंवाले उस पर्वतका अच्छी तरह निरीक्षण करके सब ओर दृष्टिपात करनेवाले वे वानर उससे नीचे उतर गये ॥ १९ ॥

अवरुह्य ततो भूमिं श्रान्ता विगतचेतसः ।
स्थिता मुहूर्तं तत्राथ वृक्षमूलमुपाश्रिताः ॥ २० ॥

पृथ्वीपर उतरकर अधिक थक जानेके कारण अचेत हुए वे सभी वानर वहाँ एक वृक्षके नीचे गये और दो घड़ीतक वहाँ बैठे रहे ॥ २० ॥

ते मुहूर्तं समाश्वस्ताः किंचिद्भग्नपरिश्रमाः ।
पुनरेवोद्यताः कृत्स्नां मार्गितुं दक्षिणां दिशम् ॥ २१ ॥

एक मुहूर्ततक सुस्ता लेनेपर जब उनकी थकावट कुछ कम हो गयी, तब वे पुनः सम्पूर्ण दक्षिण दिशामें खोजके लिये उद्यत हो गये ॥ २१ ॥

हनुमत्प्रमुखास्तावत् प्रस्थिताः प्लवगर्षभाः ।
विन्ध्यमेवादितः कृत्वा विचेरुश्च समन्ततः ॥ २२ ॥

हनुमान् आदि सभी श्रेष्ठ वानर सीताके अन्वेषणके लिये प्रस्थित हो पहले विन्ध्य पर्वतके ही चारों ओर विचरने लगे ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें उनचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

पञ्चाशः सर्गः

भूखे-प्यासे वानरोंका एक गुफामें घुसकर वहाँ दिव्य वृक्ष, दिव्य सरोवर, दिव्य भवन तथा एक वृद्धा तपस्विनीको देखना और हनुमान्‌जीका उससे उसका परिचय पूछना

सह ताराङ्गदाभ्यां तु संगम्य हनुमान् कपिः ।
विचिनोति च विन्ध्यस्य गुहाश्च गहनानि च ॥ १ ॥

हनुमान्‌जी तार और अङ्गदके साथ मिलकर विन्ध्यगिरिकी गुफाओं और घने जंगलोंमें सीताजीको ढूँढ़ने लगे ॥ १ ॥

सिंहशार्दूलजुष्टाश्च गुहाश्च परितस्तदा ।
विषमेषु नगेन्द्रस्य महाप्रस्रवणेषु च ॥ २ ॥

उन्होंने सिंह और बाघोंसे भरी हुई कन्दराओं तथा उसके आस-पासकी भूमिको भी छान डाला । गिरिराज विन्ध्यपर जो बड़े-बड़े झरने और दुर्गम स्थान थे, वहाँ भी अन्वेषण किया ॥

आसेदुस्तस्य शैलस्य कोटिं दक्षिणपश्चिमाम् ।
तेषां तत्रैव वसतां स कालो व्यत्यवर्तत ॥ ३ ॥

घूमते-फिरते वे तीनों वानर उस पर्वतके नैर्ऋत्यकोणवाले शिखरपर जा पहुँचे । वहीं रहते हुए उनका वह समय, जो सुग्रीवने निश्चित किया था, बीत गया ॥ ३ ॥

स हि देशो दुरन्वेष्यो गुहागहनवान् महान् ।
तत्र वायुसुतः सर्वं विचिनोति स्म पर्वतम् ॥ ४ ॥

गुफाओं और जंगलोंसे भरे हुए उस महान् प्रदेशमें सीताको ढूँढ़नेका काम बहुत ही कठिन था तो भी वहाँ वायुपुत्र हनुमान्‌जी सारे पर्वतकी छानबीन करने लगे ॥ ४ ॥

परस्परेण रहिता अन्योन्यस्याविदूरतः ।
गजो गवाक्षो गवयः शरभो गन्धमादनः ॥ ५ ॥
मैन्दश्च द्विविदश्चैव हनूमान् जाम्बवानपि ।
अङ्गदो युवराजश्च तारश्च वनगोचरः ॥ ६ ॥
गिरिजालावृतान् देशान् मार्गित्वा दक्षिणां दिशम् ।
विचिन्वन्तस्ततस्तत्र ददृशुर्विवृतं बिलम् ॥ ७ ॥

फिर अलग-अलग एक-दूसरेसे थोड़ी ही दूरपर रहकर गज, गवाक्ष, गवय, शरभ, गन्धमादन, मैन्द, द्विविद, हनुमान्, जाम्बवान्, युवराज अङ्गद तथा वनवासी वानर तार—ये दक्षिण दिशाके देशोंमें जो पर्वत-मालाओंसे घिरे हुए थे, सीताकी खोज करने लगे । खोजते-खोजते उन्हें वहाँ एक गुफा दिखायी दी, जिसका द्वार बंद नहीं था ॥ ५—७ ॥

दुर्गमृक्षबिलं नाम दानवेनाभिरक्षितम् ।
क्षुत्पिपासापरीतास्तु श्रान्तास्तु सलिलार्थिनः ॥ ८ ॥

उसमें प्रवेश करना बहुत कठिन था । वह गुफा ऋक्षबिल नामसे विख्यात थी और एक दानव उसकी रक्षामें रहता था । वानरोंको भूख-प्यास सता रही थी । वे बहुत थक गये थे और पानी पीना चाहते थे ॥ ८ ॥

अवकीर्णं लतावृक्षैर्ददृशुस्ते महाबिलम् ।
तत्र क्रौञ्चाश्च हंसाश्च सारसाश्चापि निष्क्रमन् ॥ ९ ॥
जलार्द्राश्चक्रवाकाश्च रक्ताङ्गाः पद्मरेणुभिः ।

अतः लता और वृक्षोंसे आच्छादित विशाल गुफाकी ओर वे देखने लगे । इतनेमें उसके भीतरसे क्रौञ्च, हंस, सारस तथा जलसे भीगे हुए चक्रवाक पक्षी, जिनके अङ्ग कमलोंके परागसे रक्तवर्णके हो रहे थे, बाहर निकले ॥ ९½ ॥

ततस्तद् बिलमासाद्य सुगन्धि दुरतिक्रमम्॥ १०॥
विस्मयव्यग्रमनसो बभूवुर्वानरर्षभाः।
संजातपरिशङ्कास्ते तद् बिलं प्लवगोत्तमाः॥ ११॥

तब उस सुगन्धित एवं दुर्लङ्घ्य गुफाके पास जाकर उन सभी श्रेष्ठ वानरोंका मन आश्चर्यसे चकित हो उठा। उस बिलके अंदर उन्हें जल होनेका संदेह हुआ॥ १०-११॥

अभ्यपद्यन्त संहृष्टास्तेजोवन्तो महाबलाः।
नानासत्त्वसमाकीर्णं दैत्येन्द्रनिलयोपमम्॥ १२॥
दुर्दर्शमिव घोरं च दुर्विगाह्यं च सर्वशः।

वे महाबली और तेजस्वी वानर बड़े हर्षमें भरकर उस गुफाके पास आये, जो नाना प्रकारके जन्तुओंसे भरी हुई तथा दैत्यराजोंके निवासस्थान पातालके समान भयंकर प्रतीत होती थी। वह इतनी भयानक थी कि उसकी ओर देखना कठिन जान पड़ता था। उसके भीतर घुसना सर्वथा कष्टसाध्य था॥

ततः पर्वतकूटाभो हनूमान् मारुतात्मजः॥ १३॥
अब्रवीद् वानरान् घोरान् कान्तारवनकोविदः।

उस समय पर्वत-शिखरके समान प्रतीत होनेवाले पवनपुत्र हनुमान्‌जी, जो दुर्गम वनके ज्ञाता थे, उन घोर वानरोंसे बोले—॥ १३½॥

गिरिजालावृतान् देशान् मार्गित्वा दक्षिणां दिशम्॥ १४॥
वयं सर्वे परिश्रान्ता न च पश्याम मैथिलीम्।

'बन्धुओ! दक्षिण दिशाके देश प्रायः पर्वतमालाओंसे घिरे हुए हैं। इनमें मिथिलेशकुमारी सीताको खोजते-खोजते हम सब लोग बहुत थक गये; किंतु कहीं भी हमें उनके दर्शन नहीं हुए॥ १४½॥

अस्माच्चापि बिलाद्धंसाः क्रौञ्चाश्च सह सारसैः॥ १५॥
जलार्द्राश्चक्रवाकाश्च निष्पतन्ति स्म सर्वशः।
नूनं सलिलवानत्र कूपो वा यदि वा ह्रदः॥ १६॥
तथा चेमे बिलद्वारे स्निग्धास्तिष्ठन्ति पादपाः।

'सामनेकी इस गुफासे हंस, क्रौञ्च, सारस और जलसे भीगे हुए चकवे सब ओर निकल रहे हैं। अतः निश्चय ही इसमें पानीका कुआँ अथवा और कोई जलाशय होना चाहिये। तभी इस गुफाके द्वारवर्ती वृक्ष हरे-भरे हैं'॥ १५-१६½॥

इत्युक्तास्तद् बिलं सर्वे विविशुस्तिमिरावृतम्॥ १७॥
अचन्द्रसूर्यं हरयो ददृशू रोमहर्षणम्।

हनुमान्‌जीके ऐसा कहनेपर वे सभी वानर अन्धकारसे भरी हुई गुफामें, जहाँ चन्द्रमा और सूर्यकी किरणें भी नहीं पहुँच पाती थीं, घुस गये। भीतर जाकर उन्होंने देखा, वह गुफा रोंगटे खड़े कर देनेवाली थी॥ १७½॥

निशाम्य तस्मात् सिंहांश्च तांस्तांश्च मृगपक्षिणः॥ १८॥
प्रविष्टा हरिशार्दूला बिलं तिमिरसंवृतम्।

उस बिलसे निकलते हुए उन-उन सिंहों, मृगों और पक्षियोंको देखकर वे श्रेष्ठ वानर अन्धकारसे आच्छादित हुई उस गुफामें प्रवेश करने लगे॥ १८½॥

न तेषां सज्जते दृष्टिर्न तेजो न पराक्रमः॥ १९॥
वायोरिव गतिस्तेषां दृष्टिस्तमसि वर्तते।

उनकी दृष्टि कहीं अटकती नहीं थी। उनका तेज और पराक्रम भी अवरुद्ध नहीं होता था। उनकी गति वायुके समान थी। अन्धकारमें भी उनकी दृष्टि काम कर रही थी॥

ते प्रविष्टास्तु वेगेन तद् बिलं कपिकुञ्जराः॥ २०॥
प्रकाशं चाभिरामं च ददृशुर्देशमुत्तमम्।

वे श्रेष्ठ वानर उस बिलमें वेगपूर्वक घुस गये। भीतर जाकर उन्होंने देखा, वह स्थान बहुत ही उत्तम, प्रकाशमान और मनोहर था॥ २०½॥

ततस्तस्मिन् बिले भीमे नानापादपसंकुले॥ २१॥
अन्योन्यं सम्परिष्वज्य जग्मुर्योजनमन्तरम्।

नाना प्रकारके वृक्षोंसे भरी हुई उस भयंकर गुफामें वे एक योजनतक एक-दूसरेको पकड़े हुए गये॥ २१½॥

ते नष्टसंज्ञास्तृषिताः सम्भ्रान्ताः सलिलार्थिनः॥ २२॥
परिपेतुर्बिले तस्मिन् कंचित् कालमतन्द्रिताः।

प्यासके मारे उनकी चेतना लुप्त-सी हो रही थी। वे जल पीनेके लिये उत्सुक होकर घबरा गये थे और कुछ कालतक आलस्यरहित हो उस बिलमें लगातार आगे बढ़ते गये॥

ते कृशा दीनवदनाः परिश्रान्ताः प्लवङ्गमाः॥ २३॥
आलोकं ददृशुर्वीरा निराशा जीविते यदा।

वे वानरवीर जब दुर्बल, खिन्नवदन और श्रान्त होकर जीवनसे निराश हो गये, तब उन्हें वहाँ प्रकाश दिखायी दिया॥

ततस्तं देशमागम्य सौम्या वितिमिरं वनम्॥ २४॥
ददृशुः काञ्चनान् वृक्षान् दीप्तवैश्वानरप्रभान्।

तदनन्तर उस अन्धकारसे प्रकाशपूर्ण देशमें आकर उन सौम्य वानरोंने वहाँ अन्धकाररहित वन देखा, जहाँके सभी वृक्ष सुवर्णमय थे और उनसे अग्निके समान प्रभा निकल रही थी॥

सालांस्तालांस्तमालांश्च पुंनागान् वञ्जुलान् धवान्॥ २५॥
चम्पकान् नागवृक्षांश्च कर्णिकारांश्च पुष्पितान्।

साल, ताल, तमाल, नागकेसर, अशोक, धव, चम्पा, नागवृक्ष और कनेर—ये सभी वृक्ष फूलोंसे भरे हुए थे॥

स्तबकैः काञ्चनैश्चित्रैः रक्तैः किसलयैस्तथा॥ २६॥
आपीडैश्च लताभिश्च हेमाभरणभूषितान्।

विचित्र सुवर्णमय गुच्छे और लाल-लाल पल्लव मानो उन वृक्षोंके मुकुट थे। उनमें लताएँ लिपटी हुई थीं तथा वे अपने फलस्वरूप सुवर्णमय आभूषणोंसे विभूषित थे॥ २६½॥

तरुणादित्यसंकाशान् वैदूर्यमयवेदिकान्॥ २७॥
बिभ्राजमानान् वपुषा पादपांश्च हिरण्मयान्।

वे देखनेमें प्रातःकालिक सूर्यके समान जान पड़ते थे। उनके नीचे वैदूर्यमणिकी वेदी बनी थी। वे सुवर्णमय वृक्ष अपने दीप्तिमान् स्वरूपसे ही प्रकाशित हो रहे थे॥ २७½॥

नीलवैदूर्यवर्णाश्च पद्मिनीः पतगैर्वृताः ॥ २८ ॥
महद्भिः काञ्चनैर्वृक्षैर्वृता बालार्कसंनिभैः ।
जातरूपमयैर्मत्स्यैर्महद्भिश्चाथ पङ्कजैः ॥ २९ ॥
नलिनीस्तत्र ददृशुः प्रसन्नसलिलायुताः ।

वहाँ नील वैदूर्यमणिकी-सी कान्तिवाली पद्मलताएँ दिखायी देती थीं, जो पक्षियोंसे आवृत थीं। कई ऐसे सरोवर भी देखनेमें आये, जो बाल सूर्यकी-सी आभावाले विशाल काञ्चनवृक्षोंसे घिरे हुए थे। उनके भीतर सुनहरे रंगके बड़े-बड़े मत्स्य शोभा पाते थे। वे सरोवर सुवर्णमय कमलोंसे सुशोभित तथा स्वच्छ जलसे भरे हुए थे॥ २८-२९½ ॥

काञ्चनानि विमानानि राजतानि तथैव च ॥ ३० ॥
तपनीयगवाक्षाणि मुक्ताजालावृतानि च ।
हैमराजतभौमानि वैदूर्यमणिमन्ति च ॥ ३१ ॥
ददृशुस्तत्र हरयो गृहमुख्यानि सर्वशः ।

वानरोंने वहाँ सब ओर सोने-चाँदीके बने हुए बहुत-से श्रेष्ठ भवन देखे, जिनकी खिड़कियाँ मोतीकी जालियोंसे ढकी थीं। उन भवनोंमें सोनेके जँगले लगे हुए थे। सोने-चाँदीके ही विमान भी थे। कोई घर सोनेके बने थे तो कोई चाँदीके। कितने ही गृह पार्थिव वस्तुओं-(ईंट, पत्थर, लकड़ी आदि-) से निर्मित हुए थे। उनमें वैदूर्यमणियाँ भी जड़ी गयी थीं॥

पुष्पितान् फलिनो वृक्षान् प्रवालमणिसंनिभान् ॥ ३२ ॥
काञ्चनभ्रमरांश्चैव मधूनि च समन्ततः ।
मणिकाञ्चनचित्राणि शयनान्यासनानि च ॥ ३३ ॥
विविधानि विशालानि ददृशुस्ते समन्ततः ।
हैमराजतकांस्यानां भाजनानां च राशयः ॥ ३४ ॥
अगुरूणां च दिव्यानां चन्दनानां च संचयान् ।
शुचीन्यभ्यवहाराणि मूलानि च फलानि च ॥ ३५ ॥
महार्हाणि च यानानि मधूनि रसवन्ति च ।
दिव्यानामम्बराणां च महार्हाणां च संचयान् ॥ ३६ ॥
कम्बलानां च चित्राणामजिनानां च संचयान् ।
तत्र तत्र च विन्यस्तान् दीप्तान् वैश्वानरप्रभान् ॥ ३७ ॥
ददृशुर्वानराः शुभ्राञ्जातरूपस्य संचयान् ।

वहाँके वृक्षोंमें फूल और फल लगे थे। वे वृक्ष मूँगे और मणियोंके समान चमकीले थे। उनपर सुनहरे रंगके भौंरे मड़रा रहे थे। वहाँके घरोंमें सब ओर मधु संचित थे। मणि और सुवर्णसे जटित विचित्र पलंग तथा आसन सब ओर सजाकर रखे गये थे, जो अनेक प्रकारके और विशाल थे। वानरोंने उन्हें भी देखा। वहाँ ढेर-के-ढेर सोने, चाँदी और कांस-(फूल-) के पात्र रखे गये थे। अगुरु तथा दिव्य चन्दनकी राशियाँ सुरक्षित थीं। पवित्र भोजनके सामान तथा फल-मूल भी विद्यमान थे। बहुमूल्य सवारियाँ, सरस मधु, महामूल्यवान् दिव्य वस्त्रोंके ढेर, विचित्र कम्बल एवं कालीनोंकी राशियाँ तथा मृगचर्मोंके समूह जहाँ-तहाँ रखे हुए थे। वे सब अग्निके समान प्रभासे उद्दीप्त हो रहे थे। वानरोंने वहाँ चमकीले सुवर्णके ढेर भी देखे॥ ३२—३७½ ॥

तत्र तत्र विचिन्वन्तो बिले तत्र महाप्रभाः ॥ ३८ ॥
ददृशुर्वानराः शूराः स्त्रियं कांचिददूरतः ।
तां च ते ददृशुस्तत्र चीरकृष्णाजिनाम्बराम् ॥ ३९ ॥
तापसीं नियताहारां ज्वलन्तीमिव तेजसा ।
विस्मिता हरयस्तत्र व्यवतिष्ठन्त सर्वशः ।
पप्रच्छ हनुमांस्तत्र कासि त्वं कस्य वा बिलम् ॥ ४० ॥

उस गुफामें जहाँ-तहाँ खोज करते हुए उन महातेजस्वी शूरवीर वानरोंने थोड़ी ही दूरपर किसी स्त्रीको भी देखा, जो वल्कल और काला मृगचर्म पहनकर नियमित आहार करती तपस्यामें संलग्न थी और अपने तेजसे दिप रही थी। वानरोंने वहाँ उसे बड़े ध्यानसे देखा और आश्चर्यचकित होकर सब ओर खड़े रहे। उस समय हनुमान्‌जीने उससे पूछा—'देवि! तुम कौन हो और यह किसकी गुफा है?' ॥ ३८—४० ॥

ततो हनूमान् गिरिसंनिकाशः
कृताञ्जलिस्तामभिवाद्य वृद्धाम् ।
पप्रच्छ का त्वं भवनं बिलं च
रत्नानि चेमानि वदस्व कस्य ॥ ४१ ॥

पर्वतके समान विशालकाय हनुमान्‌जीने हाथ जोड़कर उस वृद्धा तपस्विनीको प्रणाम किया और पूछा—'देवि! तुम कौन हो? यह गुफा, ये भवन तथा ये रत्न किसके हैं? यह हमें बताओ' ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे पञ्चाशः सर्गः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें पचासवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशः सर्गः

हनुमान्‌जीके पूछनेपर वृद्धा तापसीका अपना तथा उस दिव्य स्थानका परिचय देकर सब वानरोंको भोजनके लिये कहना

इत्युक्त्वा हनुमांस्तत्र चीरकृष्णाजिनाम्बराम् ।
अब्रवीत् तां महाभागां तापसीं धर्मचारिणीम् ॥ १ ॥

इस तरह पूछकर हनुमान्‌जी चीर एवं कृष्ण मृगचर्म धारण करनेवाली उस धर्मपरायणा महाभागा तपस्विनीसे वहाँ फिर बोले॥

इदं प्रविष्टाः सहसा बिलं तिमिरसंवृतम् ।
क्षुत्पिपासापरिश्रान्ताः परिखिन्नाश्च सर्वशः ॥ २ ॥

महद् धरण्या विवरं प्रविष्टाः स्म पिपासिताः ।
इमांस्त्वेवंविधान् भावान् विविधानद्भुतोपमान् ॥ ३ ॥
दृष्ट्वा वयं प्रव्यथिताः सम्भ्रान्ता नष्टचेतसः ।
कस्यैते काञ्चना वृक्षास्तरुणादित्यसंनिभाः ॥ ४ ॥

'देवि ! हम सब लोग भूख-प्यास और थकावटसे कष्ट पा रहे थे । इसलिये सहसा इस अन्धकारपूर्ण गुफामें घुस आये । भूतलका यह विवर बहुत बड़ा है । हम प्याससे पीड़ित होनेके कारण यहाँ आये हैं, किंतु यहाँके इन ऐसे अद्भुत विविध पदार्थोंको देखकर हमारे मनमें बड़ी व्यथा हुई है—हम यह सोचकर चिन्तित हो उठे हैं कि यह असुरोंकी माया तो नहीं है, इसीलिये हमारे मनमें घबराहट हो रही है । हमारी विवेकशक्ति लुप्त-सी हो गयी है । हम जानना चाहते हैं कि ये बालसूर्यके समान कान्तिमान् सुवर्णमय वृक्ष किसके हैं ? ॥ २—४ ॥

शुचीन्यभ्यवहाराणि मूलानि च फलानि च ।
काञ्चनानि विमानानि राजतानि गृहाणि च ॥ ५ ॥
तपनीयगवाक्षाणि मणिजालावृतानि च ।
पुष्पिताः फलवन्तश्च पुण्याः सुरभिगन्धयः ॥ ६ ॥
इमे जाम्बूनदमयाः पादपाः कस्य तेजसा ।

'ये भोजनकी पवित्र वस्तुएँ, फल-मूल, सोनेके विमान, चाँदीके घर, मणियोंकी जालीसे ढकी हुई सोनेकी खिड़कियाँ तथा पवित्र सुगन्धसे युक्त एवं फल-फूलोंसे लदे हुए ये सुवर्णमय पावन वृक्ष किसके तेजसे प्रकट हुए हैं ? ॥

काञ्चनानि च पद्मानि जातानि विमले जले ॥ ७ ॥
कथं मत्स्याश्च सौवर्णा दृश्यन्ते सह कच्छपैः ।
आत्मनस्त्वनुभावाद् वा कस्य वैतत्तपोबलम् ॥ ८ ॥
अजानतां नः सर्वेषां सर्वमाख्यातुमर्हसि ।

'यहाँके निर्मल जलमें सोनेके कमल कैसे उत्पन्न हुए ? इन सरोवरोंके मत्स्य और कछुए सुवर्णमय कैसे दिखायी देते हैं ? यह सब तुम्हारे अपने प्रभावसे हुआ है या और किसीके ? यह किसके तपोबलका प्रभाव है ? हम सब अनजान हैं; इसलिये पूछते हैं । तुम हमें सारी बातें बतानेकी कृपा करो' ॥

एवमुक्ता हनुमता तापसी धर्मचारिणी ॥ ९ ॥
प्रत्युवाच हनूमन्तं सर्वभूतहिते रता ।

हनुमान्‌जीके इस प्रकार पूछनेपर समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाली उस धर्मपरायणा तापसीने उत्तर दिया— ॥

मयो नाम महातेजा मायावी वानरर्षभ ॥ १० ॥
तेनेदं निर्मितं सर्वं मायया काञ्चनं वनम् ।

'वानरश्रेष्ठ ! मायाविशारद महातेजस्वी मयका नाम तुमने सुना होगा । उसीने अपनी मायाके प्रभावसे इस समूचे स्वर्णमय वनका निर्माण किया था ॥ १०$\frac{1}{2}$ ॥

पुरा दानवमुख्यानां विश्वकर्मा बभूव ह ॥ ११ ॥
येनेदं काञ्चनं दिव्यं निर्मितं भवनोत्तमम् ।

'मयासुर पहले दानव-शिरोमणियोंका विश्वकर्मा था, जिसने इस दिव्य सुवर्णमय उत्तम भवनको बनाया है ॥

स तु वर्षसहस्राणि तपस्तप्त्वा महद्वने ॥ १२ ॥
पितामहाद् वरं लेभे सर्वमौशनसं धनम् ।

'उसने एक सहस्र वर्षोंतक वनमें घोर तपस्या करके ब्रह्माजीसे वरदानके रूपमें शुक्राचार्यका सारा शिल्प-वैभव प्राप्त किया था ॥

विधाय सर्वं बलवान् सर्वकामेश्वरस्तदा ॥ १३ ॥
उवास सुखितः कालं कंचिदस्मिन् महावने ।

'सम्पूर्ण कामनाओंके स्वामी बलवान् मयासुरने यहाँकी सारी वस्तुओंका निर्माण करके इस महान् वनमें कुछ कालतक सुखपूर्वक निवास किया था ॥ १३$\frac{1}{2}$ ॥

तमप्सरसि हेमायां सक्तं दानवपुङ्गवम् ॥ १४ ॥
विक्रम्यैवाशनिं गृह्य जघानेशः पुरंदरः ।

'आगे चलकर उस दानवराजका हेमा नामकी अप्सराके साथ सम्पर्क हो गया । यह जानकर देवेश्वर इन्द्रने हाथमें वज्र ले उसके साथ युद्ध करके उसे मार भगाया ॥ १४$\frac{1}{2}$ ॥

इदं च ब्रह्मणा दत्तं हेमायै वनमुत्तमम् ॥ १५ ॥
शाश्वतः कामभोगश्च गृहं चेदं हिरण्मयम् ।

'तत्पश्चात् ब्रह्माजीने यह उत्तम वन, यहाँका अक्षय काम-भोग तथा यह सोनेका भवन हेमाको दे दिया ॥

दुहिता मेरुसावर्णेरहं तस्याः स्वयंप्रभा ॥ १६ ॥
इदं रक्षामि भवनं हेमाया वानरोत्तम ।

'मैं मेरुसावर्णिकी कन्या हूँ । मेरा नाम स्वयंप्रभा है । वानरश्रेष्ठ ! मैं उस हेमाके इस भवनकी रक्षा करती हूँ ॥

मम प्रियसखी हेमा नृत्तगीतविशारदा ॥ १७ ॥
तयादत्तवरा चास्मि रक्षामि भवनं महत् ।

'नृत्य और गीतकी कलामें चतुर हेमा मेरी प्यारी सखी है । उसने मुझसे अपने भवनकी रक्षाके लिये प्रार्थना की थी, इसलिये मैं इस विशाल भवनका संरक्षण करती हूँ ॥

किं कार्यं कस्य वा हेतोः कान्ताराणि प्रपद्यथ ॥ १८ ॥
कथं चेदं वनं दुर्गं युष्माभिरुपलक्षितम् ।

'तुमलोगोंका यहाँ क्या काम है ? किस उद्देश्यसे तुम इन दुर्गम स्थानोंमें विचरते हो ? इस वनमें आना तो बहुत कठिन है । तुमने कैसे इसे देख लिया ? ॥ १८$\frac{1}{2}$ ॥

शुचीन्यभ्यवहाराणि मूलानि च फलानि च ।
भुक्त्वा पीत्वा च पानीयं सर्वं मे वक्तुमर्हसि ॥ १९ ॥

'अच्छा, ये शुद्ध भोजन और फल-मूल प्रस्तुत हैं । इन्हें खाकर पानी पी लो । फिर मुझसे अपना सारा वृत्तान्त कहो' ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकपञ्चाशः सर्गः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें इक्यावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशः सर्गः

तापसी स्वयंप्रभाके पूछनेपर वानरोंका उसे अपना वृत्तान्त बताना और उसके प्रभावसे गुफाके बाहर निकलकर समुद्रतटपर पहुँचना

अथ तानब्रवीत् सर्वान् विश्रान्तान् हरियूथपान्।
इदं वचनमेकाग्रा तापसी धर्मचारिणी॥ १॥

तत्पश्चात् जब सब वानर-यूथपति खा-पीकर विश्राम कर चुके, तब धर्मका आचरण करनेवाली वह एकाग्रहृदया तपस्विनी उन सबसे इस प्रकार बोली—॥ १॥

वानरा यदि वः खेदः प्रणष्टः फलभक्षणात्।
यदि चैतन्मया श्राव्यं श्रोतुमिच्छामि तां कथाम्॥ २॥

'वानरो! यदि फल खानेसे तुम्हारी थकावट दूर हो गयी हो और यदि तुम्हारा वृत्तान्त मेरे सुनने योग्य हो तो मैं उसे सुनना चाहती हूँ'॥ २॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा हनूमान् मारुतात्मजः।
आर्जवेन यथातत्त्वमाख्यातुमुपचक्रमे॥ ३॥

उसकी यह बात सुनकर पवनकुमार हनुमान्‌जी बड़ी सरलताके साथ यथार्थ बात कहने लगे—॥ ३॥

राजा सर्वस्य लोकस्य महेन्द्रवरुणोपमः।
रामो दाशरथिः श्रीमान् प्रविष्टो दण्डकावनम्॥ ४॥

'देवि! सम्पूर्ण जगत्‌के राजा दशरथनन्दन श्रीमान् भगवान् राम, जो देवराज इन्द्र और वरुणके समान तेजस्वी हैं, दण्डकारण्यमें पधारे थे॥ ४॥

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा वैदेह्या सह भार्यया।
तस्य भार्या जनस्थानाद् रावणेन हृता बलात्॥ ५॥

'उनके साथ उनके छोटे भाई लक्ष्मण तथा उनकी धर्मपत्नी विदेहनन्दिनी सीता भी थीं। जनस्थानमें आकर रावणने उनकी स्त्रीका बलपूर्वक अपहरण कर लिया॥ ५॥

वीरस्तस्य सखा राज्ञः सुग्रीवो नाम वानरः।
राजा वानरमुख्यानां येन प्रस्थापिता वयम्॥ ६॥
अगस्त्यचरितामाशां दक्षिणां यमरक्षिताम्।
सहैभिर्वानरैर्मुख्यैरङ्गदप्रमुखैर्वयम्॥ ७॥

'श्रेष्ठ वानरोंके राजा वानरजातीय वीरवर सुग्रीव महाराज श्रीरामचन्द्रजीके मित्र हैं, जिन्होंने इन अङ्गद आदि प्रधान वीरोंके साथ हमलोगोंको सीताकी खोज करनेके लिये अगस्त्यसेवित और यमराजद्वारा सुरक्षित दक्षिण दिशामें भेजा है॥ ६-७॥

रावणं सहिताः सर्वे राक्षसं कामरूपिणम्।
सीतया सह वैदेह्या मार्गध्वमिति चोदिताः॥ ८॥

'उन्होंने आज्ञा दी थी कि तुम सब लोग एक साथ रहकर विदेहकुमारी सीतासहित उस इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले राक्षसराज रावणका पता लगाना॥ ८॥

विचित्य तु वनं सर्वं समुद्रं दक्षिणां दिशम्।
वयं बुभुक्षिताः सर्वे वृक्षमूलमुपाश्रिताः॥ ९॥

'हमने यहाँका सारा जंगल छान डाला। अब दक्षिण दिशामें समुद्रके भीतर उनका अन्वेषण करना है। अबतक सीताका कुछ पता नहीं लगा और हमलोग भूख-प्याससे पीड़ित हो गये। अन्तमें हम सब-के-सब एक वृक्षके नीचे थककर बैठ गये॥ ९॥

विवर्णवदनाः सर्वे सर्वे ध्यानपरायणाः।
नाधिगच्छामहे पारं मग्नाश्चिन्तामहार्णवे॥ १०॥

'हमारे मुखकी कान्ति फीकी पड़ गयी। हम सभी चिन्तामें मग्न हो गये। चिन्ताके महासागरमें डूबकर हम उसका पार नहीं पा रहे थे॥ १०॥

चारयन्तस्ततश्चक्षुर्दृष्टवन्तो महद् बिलम्।
लतापादपसंछन्नं तिमिरेण समावृतम्॥ ११॥

'इसी समय चारों ओर दृष्टि दौड़ानेपर हमको यह विशाल गुफा दिखायी पड़ी, जो लता और वृक्षोंसे ढकी हुई तथा अन्धकारसे आच्छन्न थी॥ ११॥

अस्माद्धंसा जलक्लिन्नाः पक्षैः सलिलरेणुभिः।
कुरराः सारसाश्चैव निष्पतन्ति पतत्त्रिणः॥ १२॥

'थोड़ी ही देरमें इस गुफासे हंस, कुरर और सारस आदि पक्षी निकले, जिनके पंख जलसे भीगे थे और उनमें कीचड़ लगी हुई थी॥ १२॥

साध्वत्र प्रविशामेति मया तूक्ताः प्लवङ्गमाः।
तेषामपि हि सर्वेषामनुमानमुपागतम्॥ १३॥

'तब मैंने वानरोंसे कहा, 'अच्छा होगा कि हमलोग इसके भीतर प्रवेश करें'। इन सब वानरोंको भी यह अनुमान हो गया कि गुफाके भीतर पानी है॥ १३॥

अस्मिन् निपतिताः सर्वेऽप्यथ कार्यत्वरान्विताः।
ततो गाढं निपतिता गृह्य हस्तैः परस्परम्॥ १४॥

'हम सब लोग अपने कार्यकी सिद्धिके लिये उतावले थे ही, अतः इस गुफामें कूद पड़े। अपने हाथोंसे एक-दूसरेको दृढ़तापूर्वक पकड़कर हम गुफामें आगे बढ़ने लगे॥ १४॥

इदं प्रविष्टाः सहसा बिलं तिमिरसंवृतम्।
एतन्नः कार्यमेतेन कृत्येन वयमागताः॥ १५॥

'इस तरह सहसा हमलोगोंने इस अँधेरी गुफामें प्रवेश किया। यही हमारा कार्य है और इसी कार्यसे हम इधर आये हैं॥

त्वां चैवोपगताः सर्वे परिद्यूना बुभुक्षिताः।
आतिथ्यधर्मदत्तानि मूलानि च फलानि च॥ १६॥
अस्माभिरुपयुक्तानि बुभुक्षापरिपीडितैः।

'भूखसे व्याकुल एवं दुर्बल होनेके कारण हम सबने तुम्हारी शरण ली। तुमने आतिथ्य-धर्मके अनुसार हमें

फल और मूल अर्पित किये और हमने भी भूखसे पीड़ित होनेके कारण उन्हें भरपेट खाया ॥ १६½ ॥

यत् त्वया रक्षिताः सर्वे म्रियमाणा बुभुक्षया ॥ १७ ॥
ब्रूहि प्रत्युपकारार्थं किं ते कुर्वन्तु वानराः ।

'देवि! हम भूखसे मर रहे थे। तुमने हम सब लोगोंके प्राण बचा लिये। अतः बताओ ये वानर तुम्हारे उपकारका बदला चुकानेके लिये क्या सेवा करें' ॥ १७½ ॥

एवमुक्ता तु सर्वज्ञा वानरैस्तैः स्वयंप्रभा ॥ १८ ॥
प्रत्युवाच ततः सर्वानिदं वानरयूथपान् ।

स्वयंप्रभा सर्वज्ञ थी। उन वानरोंके ऐसा कहनेपर उसने उन सभी यूथपतियोंको इस प्रकार उत्तर दिया'— ॥ १८½ ॥

सर्वेषां परितुष्टास्मि वानराणां तरस्विनाम् ॥ १९ ॥
चरन्त्या मम धर्मेण न कार्यमिह केनचित् ।

'मैं तुम सभी वेगशाली वानरोंपर यों ही बहुत संतुष्ट हूँ। धर्मानुष्ठानमें लगी रहनेके कारण मुझे किसीसे कोई प्रयोजन नहीं रह गया है' ॥ १९½ ॥

एवमुक्तः शुभं वाक्यं तापस्या धर्मसंहितम् ॥ २० ॥
उवाच हनुमान् वाक्यं तामनिन्दितलोचनाम् ।

उस तपस्विनीने जब इस प्रकार धर्मयुक्त उत्तम बात कही, तब हनुमान्‌जीने निर्दोष दृष्टिवाली उस देवीसे यों कहा— ॥ २०½ ॥

शरणं त्वां प्रपन्नाः स्मः सर्वे वै धर्मचारिणीम् ॥ २१ ॥
यः कृतः समयोऽस्मासु सुग्रीवेण महात्मना ।
स तु कालो व्यतिक्रान्तो बिले च परिवर्तताम् ॥ २२ ॥

'देवि! तुम धर्माचरणमें लगी हुई हो। अतः हम सब लोग तुम्हारी शरणमें आये हैं। महात्मा सुग्रीवने हमलोगोंके लौटनेके लिये जो समय निश्चित किया था, वह इस गुफाके भीतर घूमनेमें ही बीत गया ॥ २१-२२ ॥

सा त्वमस्माद् बिलादस्मानुत्तारयितुमर्हसि ।
तस्मात् सुग्रीववचनादतिक्रान्तान् गतायुषः ॥ २३ ॥
त्रातुमर्हसि नः सर्वान् सुग्रीवभयशङ्कितान् ।

'अब तुम कृपा करके हमें इस बिलसे बाहर निकाल दो। सुग्रीवके बताये हुए समयको हम लाँघ चुके हैं, इसलिये अब हमारी आयु पूरी हो चुकी है। हम सब-के-सब सुग्रीवके भयसे डरे हुए हैं। अतः तुम हमारा उद्धार करो ॥ २३½ ॥

महच्च कार्यमस्माभिः कर्तव्यं धर्मचारिणि ॥ २४ ॥
तच्चापि न कृतं कार्यमस्माभिरिह वासिभिः ।

'धर्मचारिणि! हमें जो महान् कार्य करना है, उसे भी हम इस गुफामें रहनेके कारण नहीं कर सके हैं' ॥ २४½ ॥

एवमुक्ता हनुमता तापसी वाक्यमब्रवीत् ॥ २५ ॥
जीवता दुष्करं मन्ये प्रविष्टेन निवर्तितुम् ।
तपसः सुप्रभावेण नियमोपार्जितेन च ॥ २६ ॥
सर्वानेव बिलादस्मात् तारयिष्यामि वानरान् ।

हनुमान्‌जीके ऐसा कहनेपर तापसी बोली—'मैं समझती हूँ जो एक बार इस गुफामें चला आता है, उसका जीते-जी यहाँसे लौटना बहुत कठिन हो जाता है। तथापि नियमोंके पालन और तपस्याके उत्तम प्रभावसे मैं तुम सभी वानरोंको इस गुफासे बाहर निकाल दूँगी ॥ २५-२६½ ॥

निमीलयत चक्षूंषि सर्वे वानरपुङ्गवाः ॥ २७ ॥
नहि निष्क्रमितुं शक्यमनिमीलितलोचनैः ।

'श्रेष्ठ वानरो! तुम सब लोग अपनी-अपनी आँखें बंद कर लो। आँखें बंद किये बिना यहाँसे निकलना असम्भव है' ॥ २७½ ॥

ततो निमीलिताः सर्वे सुकुमाराङ्गुलैः करैः ॥ २८ ॥
सहसा पिदधुर्दृष्टिं हृष्टा गमनकाङ्क्षया ।

यह सुनकर सबने सुकुमार अङ्गुलिवाले हाथोंसे आँखें मूँद लीं। गुफासे बाहर निकलनेकी इच्छासे प्रसन्न होकर उन सबने सहसा नेत्र बंद कर लिये ॥ २८½ ॥

वानरास्तु महात्मानो हस्तरुद्धमुखास्तदा ॥ २९ ॥
निमेषान्तरमात्रेण बिलादुत्तारितास्तया ।

इस प्रकार उस समय हाथोंसे मुँह ढक लेनेके कारण उन महात्मा वानरोंको स्वयंप्रभाने पलक मारते-मारते बिलसे बाहर निकाल दिया ॥ २९½ ॥

उवाच सर्वांस्तांस्तत्र तापसी धर्मचारिणी ॥ ३० ॥
निःसृतान् विषमात् तस्मात् समाश्वास्येदमब्रवीत् ।

तत्पश्चात् वहाँ उस धर्मपरायणा तापसीने उस विषम गुफासे बाहर निकले हुए समस्त वानरोंको आश्वासन देकर इस प्रकार कहा— ॥ ३०½ ॥

एष विन्ध्यो गिरिः श्रीमान् नानाद्रुमलतायुतः ॥ ३१ ॥
एष प्रस्रवणः शैलः सागरोऽयं महोदधिः ।
स्वस्ति वोऽस्तु गमिष्यामि भवनं वानरर्षभाः ।
इत्युक्त्वा तद् बिलं श्रीमत् प्रविवेश स्वयंप्रभा ॥ ३२ ॥

'श्रेष्ठ वानरो! यह रहा नाना प्रकारके वृक्षों और लताओंसे व्याप्त शोभाशाली विन्ध्यगिरि। इधर यह प्रस्रवणगिरि है और सामने यह महासागर लहरा रहा है। तुम्हारा कल्याण हो। अब मैं अपने स्थानपर जाती हूँ।' ऐसा कहकर स्वयंप्रभा उस सुन्दर गुफामें चली गयी ॥ ३१-३२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे द्विपञ्चाशः सर्गः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें बावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

—★—

त्रिपञ्चाशः सर्गः

लौटनेकी अवधि बीत जानेपर भी कार्य सिद्ध न होनेके कारण सुग्रीवके कठोर दण्डसे डरनेवाले अङ्गद आदि वानरोंका उपवास करके प्राण त्याग देनेका निश्चय

ततस्ते ददृशुर्घोरं सागरं वरुणालयम्।
अपारमभिगर्जन्तं घोरैरूर्मिभिराकुलम्॥ १॥

तदनन्तर उन श्रेष्ठ वानरोंने वरुणकी निवासभूमि भयंकर महासागरको देखा, जिसका कहीं पार नहीं था और जो भयानक लहरोंसे व्याप्त होकर निरन्तर गर्जना कर रहा था॥ १॥

मयस्य मायाविहितं गिरिदुर्गं विचिन्वताम्।
तेषां मासो व्यतिक्रान्तो यो राज्ञा समयः कृतः॥ २॥

मयासुरके अपनी मायाद्वारा बनाये हुए पर्वतकी दुर्गम गुफामें सीताकी खोज करते हुए उन वानरोंका वह एक मास बीत गया, जिसे राजा सुग्रीवने लौटनेका समय निश्चित किया था॥ २॥

विन्ध्यस्य तु गिरेः पादे सम्प्रपुष्पितपादपे।
उपविश्य महात्मानश्चिन्तामापेदिरे तदा॥ ३॥

विन्ध्यगिरिके पार्श्ववर्ती पर्वतपर, जहाँके वृक्ष फूलोंसे लदे थे, बैठकर वे सभी महात्मा वानर चिन्ता करने लगे॥ ३॥

ततः पुष्पातिभाराग्रॉल्लताशतसमावृतान्।
द्रुमान् वासन्तिकान् दृष्ट्वा बभूवुर्भयशङ्किताः॥ ४॥

जो वसन्त ऋतुमें फलते हैं, उन आम आदि वृक्षोंको डालियोंकी मञ्जरी एवं फूलोंके अधिक भारसे झुकी हुई तथा सैकड़ों लता-बेलोंसे व्याप्त देख वे सभी सुग्रीवके भयसे थर्रा उठे (वे शरद्-ऋतुमें चले थे और शिशिर-ऋतु आ गयी थी। इसीलिये उनका भय बढ़ गया था)॥ ४॥

ते वसन्तमनुप्राप्तं प्रतिवेद्य परस्परम्।
नष्टसंदेशकालार्था निपेतुर्धरणीतले॥ ५॥

वे एक-दूसरेको यह बताकर कि अब वसन्तका समय आना चाहता है, राजाके आदेशके अनुसार एक मासके भीतर जो काम कर लेना चाहिये था, वह न कर सकने या उसे नष्ट कर देनेके कारण भयके मारे पृथ्वीपर गिर पड़े॥ ५॥

ततस्तान् कपिवृद्धांश्च शिष्टांश्चैव वनौकसः।
वाचा मधुरयाऽऽभाष्य यथावदनुमान्य च॥ ६॥
स तु सिंहवृषस्कन्धः पीनायतभुजः कपिः।
युवराजो महाप्राज्ञ अङ्गदो वाक्यमब्रवीत्॥ ७॥

तब जिनके कंधे सिंह और बैलके समान मांसल थे, भुजाएँ बड़ी-बड़ी और मोटी थीं तथा जो बड़े बुद्धिमान् थे, वे युवराज अङ्गद उन श्रेष्ठ वानरों तथा अन्य वनवासी कपियोंको यथावत् सम्मान देते हुए मधुर वाणीसे सम्बोधित करके बोले—॥ ६-७॥

शासनात् कपिराजस्य वयं सर्वे विनिर्गताः।
मासः पूर्णो बिलस्थानां हरयः किं न बुध्यत॥ ८॥
वयमाश्वयुजे मासि कालसंख्याव्यवस्थिताः।
प्रस्थिताः सोऽपि चातीतः किमतः कार्यमुत्तरम्॥ ९॥

'वानरो! हम सब लोग वानरराजकी आज्ञासे आश्विन मास बीतते-बीतते एक मासकी निश्चित अवधि स्वीकार करके सीताकी खोजके लिये निकले थे, किंतु हमारा वह एक मास उस गुफामें ही पूरा हो गया, क्या आपलोग इस बातको नहीं जानते? हम जब चले थे, तबसे लौटनेके लिये जो मास निर्धारित हुआ था, वह भी बीत गया; अतः अब आगे क्या करना चाहिये?॥ ८-९॥

भवन्तः प्रत्ययं प्राप्ता नीतिमार्गविशारदाः।
हितेष्वभिरता भर्तुर्निसृष्टाः सर्वकर्मसु॥ १०॥

'आपलोगोंको राजाका विश्वास प्राप्त है। आप नीति-मार्गमें निपुण हैं और स्वामीके हितमें तत्पर रहते हैं। इसीलिये आपलोग यथासमय सब कार्योंमें नियुक्त किये जाते हैं॥ १०॥

कर्मस्वप्रतिमाः सर्वे दिक्षु विश्रुतपौरुषाः।
मां पुरस्कृत्य निर्याताः पिङ्गाक्षप्रतिचोदिताः॥ ११॥
इदानीमकृतार्थानां मर्तव्यं नात्र संशयः।
हरिराजस्य संदेशमकृत्वा कः सुखी भवेत्॥ १२॥

कार्य सिद्ध करनेमें आपलोगोंकी समानता करनेवाला कोई नहीं है। आप सभी अपने पुरुषार्थके लिये सभी दिशाओंमें विख्यात हैं। इस समय वानरराज सुग्रीवकी आज्ञासे मुझे आगे करके आपलोग जिस कार्यके लिये निकले थे, उसमें आप और हम सफल न हो सके। ऐसी दशामें हमलोगोंको अपने प्राणोंसे हाथ धोना पड़ेगा, इसमें संशय नहीं है। भला वानरराजके आदेशका पालन न करके कौन सुखी रह सकता है?॥ ११-१२॥

अस्मिन्नतीते काले तु सुग्रीवेण कृते स्वयम्।
प्रायोपवेशनं युक्तं सर्वेषां च वनौकसाम्॥ १३॥

'स्वयं सुग्रीवने जो समय निश्चित किया था, उसके बीत जानेपर हम सब वानरोंके लिये उपवास करके प्राण त्याग देना ही ठीक जान पड़ता है॥ १३॥

तीक्ष्णः प्रकृत्या सुग्रीवः स्वामिभावे व्यवस्थितः।
न क्षमिष्यति नः सर्वानपराधकृतो गतान्॥ १४॥

'सुग्रीव स्वभावसे ही कठोर हैं। फिर इस समय तो वे हमारे राजाके पदपर स्थित हैं। जब हम अपराध करके उनके पास जायँगे, तब वे कभी हमें क्षमा नहीं करेंगे॥ १४॥

अप्रवृत्तौ च सीतायाः पापमेव करिष्यति ।
तस्मात् क्षममिहाद्यैव गन्तुं प्रायोपवेशनम् ॥ १५ ॥
त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च धनानि च गृहाणि च ।

'उलटे सीताका समाचार न पानेपर हमारा वध ही कर डालेंगे, अतः हमें आज ही यहाँ स्त्री, पुत्र, धन-सम्पत्ति और घर-द्वारका मोह छोड़कर मरणान्त उपवास आरम्भ कर देना चाहिये ॥ १५½ ॥

ध्रुवं नो हिंसते राजा सर्वान् प्रतिगतानितः ॥ १६ ॥
वधेनाप्रतिरूपेण श्रेयान् मृत्युरिहैव नः ।

'यहाँसे लौटनेपर राजा सुग्रीव निश्चय ही हम सबका वध कर डालेंगे। अनुचित वधकी अपेक्षा यहीं मर जाना हमलोगोंके लिये श्रेयस्कर है ॥ १६½ ॥

न चाहं यौवराज्येन सुग्रीवेणाभिषेचितः ॥ १७ ॥
नरेन्द्रेणाभिषिक्तोऽस्मि रामेणाक्लिष्टकर्मणा ।

'सुग्रीवने युवराजपदपर मेरा अभिषेक नहीं किया है। अनायास ही महान् कर्म करनेवाले महाराज श्रीरामने ही उस पदपर मेरा अभिषेक किया है ॥ १७½ ॥

स पूर्वं बद्धवैरो मां राजा दृष्ट्वा व्यतिक्रमम् ॥ १८ ॥
घातयिष्यति दण्डेन तीक्ष्णेन कृतनिश्चयः ।

'राजा सुग्रीवने तो पहलेसे ही मेरे प्रति वैर बाँध रखा है। इस समय आज्ञा-लङ्घनरूप मेरे अपराधको देखकर पूर्वोक्त निश्चयके अनुसार तीखे दण्डद्वारा मुझे मरवा डालेंगे ॥ १८½ ॥

किं मे सुहृद्भिर्व्यसनं पश्यद्भिर्जीवितान्तरे ।
इहैव प्रायमासिष्ये पुण्ये सागररोधसि ॥ १९ ॥

'जीवन-कालमें मेरा व्यसन (राजाके हाथसे मेरा मरण) देखनेवाले सुहृदोंसे मुझे क्या काम है ? यहीं समुद्रके पावन तटपर मैं मरणान्त उपवास करूँगा' ॥ १९ ॥

एतच्छ्रुत्वा कुमारेण युवराजेन भाषितम् ।
सर्वे ते वानरश्रेष्ठाः करुणं वाक्यमब्रुवन् ॥ २० ॥

युवराज वालिकुमार अङ्गदकी यह बात सुनकर वे सभी श्रेष्ठ वानर करुणस्वरमें बोले— ॥ २० ॥

तीक्ष्णः प्रकृत्या सुग्रीवः प्रियारक्तश्च राघवः ।
समीक्ष्याकृतकार्यांस्तु तस्मिंश्च समये गते ॥ २१ ॥
अदृष्टायां च वैदेह्यां दृष्ट्वा चैव समागतान् ।
राघवप्रियकामाय घातयिष्यत्यसंशयम् ॥ २२ ॥

'सचमुच सुग्रीवका स्वभाव बड़ा कठोर है। उधर श्रीरामचन्द्रजी अपनी प्रिय पत्नी सीताके प्रति अनुरक्त हैं। सीताको खोजकर लौटनेके लिये जो अवधि निश्चित की गयी थी, वह समय व्यतीत हो जानेपर भी यदि हम कार्य किये बिना ही वहाँ उपस्थित होंगे तो उस अवस्थामें हमें देखकर और विदेहकुमारीका दर्शन किये बिना ही हमें लौटा हुआ जानकर श्रीरामचन्द्रजीका प्रिय करनेकी इच्छासे सुग्रीव हमें मरवा डालेंगे, इसमें संशय नहीं है ॥ २१-२२ ॥

न क्षमं चापराद्धानां गमनं स्वामिपार्श्वतः ।
प्रधानभूताश्च वयं सुग्रीवस्य समागताः ॥ २३ ॥

'अतः अपराधी पुरुषोंका स्वामीके पास लौटकर जाना कदापि उचित नहीं है। हम सुग्रीवके प्रधान सहयोगी या सेवक होनेके कारण इधर उनके भेजनेसे आये थे ॥ २३ ॥

इहैव सीतामन्वीक्ष्य प्रवृत्तिमुपलभ्य वा ।
नो चेद् गच्छाम तं वीरं गमिष्यामो यमक्षयम् ॥ २४ ॥

'यदि यहीं सीताका दर्शन करके अथवा उनका समाचार जानकर वीर सुग्रीवके पास नहीं जायँगे तो अवश्य ही हमें यमलोकमें जाना पड़ेगा' ॥ २४ ॥

प्लवङ्गमानां तु भयार्दितानां
श्रुत्वा वचस्तार इदं बभाषे ।
अलं विषादेन बिलं प्रविश्य
वसाम सर्वे यदि रोचते वः ॥ २५ ॥

भयसे पीड़ित हुए उन वानरोंका यह वचन सुनकर तारने कहा—'यहाँ बैठकर विषाद करनेसे कोई लाभ नहीं है। यदि आपलोगोंको ठीक जँचे तो हम सब लोग स्वयंप्रभाकी उस गुफामें ही प्रवेश करके निवास करें ॥ २५ ॥

इदं हि मायाविहितं सुदुर्गमं
प्रभूतपुष्पोदकभोज्यपेयम् ।
इहास्ति नो नैव भयं पुरंदरा-
न्न राघवाद् वानरराजतोऽपि वा ॥ २६ ॥

'यह गुफा मायासे निर्मित होनेके कारण अत्यन्त दुर्गम है। यहाँ फल-फूल, जल और खाने-पीनेकी दूसरी वस्तुएँ भी प्रचुर मात्रामें उपलब्ध हैं। अतः उसमें हमें न तो देवराज इन्द्रसे, न श्रीरामचन्द्रजीसे और न वानरराज सुग्रीवसे ही भय है' ॥ २६ ॥

श्रुत्वाङ्गदस्यापि वचोऽनुकूल-
मूचुश्च सर्वे हरयः प्रतीताः ।
यथा न हन्येम तथा विधान-
मसक्तमद्यैव विधीयतां नः ॥ २७ ॥

तारकी कही हुई पूर्वोक्त बात, जो अङ्गदके भी अनुकूल थी, सुनकर सभी वानरोंको उसपर विश्वास हो गया। वे सब-के-सब बोल उठे—'बन्धुओ ! हमें वैसा कार्य आज ही अविलम्ब करना चाहिये, जिससे हम मारे न जायँ' ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें तिरपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

—★—

चतुःपञ्चाशः सर्गः

हनुमान्‌जीका भेदनीतिके द्वारा वानरोंको अपने पक्षमें करके अङ्गदको अपने साथ चलनेके लिये समझाना

तथा ब्रुवति तारे तु ताराधिपतिवर्चसि।
अथ मेने हृतं राज्यं हनूमानङ्गदेन तत्॥ १॥

तारापति चन्द्रमाके समान तेजस्वी तारके ऐसा कहनेपर हनुमान्‌जीने यह माना कि अब अङ्गदने वह राज्य (जो अबतक सुग्रीवके अधिकारमें था) हर लिया (इस तरह वानरोंमें फूट पड़नेसे बहुत-से वानर अङ्गदका साथ देंगे और बलवान् अङ्गद सुग्रीवको राज्यसे वञ्चित कर देंगे—ऐसी सम्भावनाका हनुमान्‌जीके मनमें उदय हो गया)॥ १॥

बुद्ध्या ह्यष्टाङ्गया युक्तं चतुर्बलसमन्वितम्।
चतुर्दशगुणं मेने हनूमान् वालिनः सुतम्॥ २॥

हनुमान्‌जी यह अच्छी तरह जानते थे कि वालिकुमार अङ्गद आठ[1] गुणवाली बुद्धिसे, चार[2] प्रकारके बलसे और चौदह[3] गुणोंसे सम्पन्न हैं॥ २॥

आपूर्यमाणं शश्वच्च तेजोबलपराक्रमैः।
शशिनं शुक्लपक्षादौ वर्धमानमिव श्रिया॥ ३॥

वे तेज, बल और पराक्रमसे सदा परिपूर्ण हो रहे हैं। शुक्ल पक्षके आरम्भमें चन्द्रमाके समान राजकुमार अङ्गदकी श्री दिनोंदिन बढ़ रही है॥ ३॥

बृहस्पतिसमं बुद्ध्या विक्रमे सदृशं पितुः।
शुश्रूषमाणं तारस्य शुक्रस्येव पुरंदरम्॥ ४॥

ये बुद्धिमें बृहस्पतिके समान और पराक्रममें अपने पिता वालीके तुल्य हैं। जैसे देवराज इन्द्र बृहस्पतिके मुखसे नीतिकी बातें सुनते हैं, उसी प्रकार ये अङ्गद तारकी बातें सुनते हैं॥ ४॥

भर्तुरर्थे परिश्रान्तं सर्वशास्त्रविशारदः।
अभिसंधातुमारेभे हनूमानङ्गदं ततः॥ ५॥

अपने स्वामी सुग्रीवका कार्य सिद्ध करनेमें ये परिश्रम (थकावट या शिथिलता) का अनुभव करते हैं। ऐसा विचारकर सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें निपुण हनुमान्‌जीने अङ्गदको तार आदि वानरोंकी ओरसे फोड़नेका प्रयत्न आरम्भ किया॥ ५॥

स चतुर्णामुपायानां तृतीयमुपवर्णयन्।
भेदयामास तान् सर्वान् वानरान् वाक्यसम्पदा॥ ६॥

वे साम, दान, भेद और दण्ड—इन चार उपायोंमेंसे तीसरेका वर्णन करते हुए अपने युक्तियुक्त वाक्य-वैभवके द्वारा उन सभी वानरोंको फोड़ने लगे॥ ६॥

तेषु सर्वेषु भिन्नेषु ततोऽभीषयदङ्गदम्।
भीषणैर्विविधैर्वाक्यैः कोपोपायसमन्वितैः॥ ७॥

जब वे सब वानर फूट गये, तब उन्होंने दण्डरूप चौथे उपायसे युक्त नाना प्रकारके भयदायक वचनोंद्वारा अङ्गदको डराना आरम्भ किया—॥ ७॥

त्वं समर्थतरः पित्रा युद्धे तारेय वै ध्रुवम्।
दृढं धारयितुं शक्तः कपिराज्यं यथा पिता॥ ८॥

'तारानन्दन! तुम युद्धमें अपने पिताके समान ही अत्यन्त शक्तिशाली हो—यह निश्चितरूपसे सबको विदित है। जैसे तुम्हारे पिता वानरोंका राज्य सँभालते थे, उसी प्रकार तुम भी उसे दृढ़तापूर्वक धारण करनेमें समर्थ हो॥ ८॥

नित्यमस्थिरचित्ता हि कपयो हरिपुंगव।
नाज्ञाप्यं विषहिष्यन्ति पुत्रदारं विना त्वया॥ ९॥

'किंतु वानरशिरोमणे! ये कपिलोग सदा ही चञ्चलचित्त होते हैं। अपने स्त्री-पुत्रोंसे अलग रहकर तुम्हारी आज्ञाका पालन करना इनके लिये सह्य नहीं होगा॥ ९॥

त्वां नैते ह्यनुरञ्जेयुः प्रत्यक्षं प्रवदामि ते।
यथायं जाम्बवान् नीलः सुहोत्रश्च महाकपिः॥ १०॥
न ह्यहं ते इमे सर्वे सामदानादिभिर्गुणैः।
दण्डेन न त्वया शक्याः सुग्रीवादपकर्षितुम्॥ ११॥

'मैं तुम्हारे सामने कहता हूँ, ये कोई भी वानर सुग्रीवसे विरोध करके तुम्हारे प्रति अनुरक्त नहीं हो सकते। जैसे ये जाम्बवान्, नील और महाकपि सुहोत्र हैं, उसी प्रकार मैं भी हूँ। मैं तथा ये सब लोग साम, दान आदि उपायोंद्वारा सुग्रीवसे अलग नहीं किये जा सकते। तुम दण्डके द्वारा भी हम सबको वानरराजसे दूर कर सको, यह भी सम्भव नहीं है (अतः सुग्रीव तुम्हारी अपेक्षा प्रबल हैं)॥ १०-११॥

विगृह्यासनमप्याहुर्दुर्बलेन बलीयसा।
आत्मरक्षाकरस्तस्मान्न विगृह्णीत दुर्बलः॥ १२॥

---

१. बुद्धिके आठ गुण ये हैं—सुननेकी इच्छा, सुनना, सुनकर ग्रहण करना, ग्रहण करके धारण करना, ऊहापोह करना, अर्थ या तात्पर्यको भलीभाँति समझना तथा तत्त्वज्ञानसे सम्पन्न होना।

२. साम, दान, भेद और दण्ड—ये जो शत्रुको वशमें करनेके चार उपाय नीति-शास्त्रमें बताये गये हैं, उन्हींको यहाँ चार प्रकारका बल कहा गया है। किन्हीं-किन्हींके मतमें बाहुबल, मनोबल, उपायबल और बन्धुबल—ये चार बल हैं।

३. चौदह गुण यों बताये गये हैं—देश-कालका ज्ञान, दृढ़ता, सब प्रकारके क्लेशोंको सहन करनेकी क्षमता, सभी विषयोंका ज्ञान प्राप्त करना, चतुरता, उत्साह या बल, मन्त्रणाको गुप्त रखना, परस्पर विरोधी बात न कहना, शूरता, अपनी और शत्रुकी शक्तिका ज्ञान, कृतज्ञता, शरणागतवत्सलता, अमर्षशीलता तथा अचञ्चलता (स्थिरता या गम्भीरता)।

'दुर्बलके साथ विरोध करके बलवान् पुरुष चुपचाप बैठा रहे, यह तो सम्भव है। परंतु किसी बलवान्से वैर बाँधकर कोई दुर्बल पुरुष कहीं भी सुखसे नहीं रह सकता; अतः अपनी रक्षा चाहनेवाले दुर्बल पुरुषको बलवान्के साथ विग्रह नहीं करना चाहिये—यह नीतिज्ञ पुरुषोंका कथन है ॥ १२ ॥

यां चेमां मन्यसे धात्रीमेतद् बिलमिति श्रुतम्।
एतल्लक्ष्मणबाणानामीषत् कार्यं विदारणम् ॥ १३ ॥

'तुम जो ऐसा मानने लगे हो कि यह गुफा हमें माताके समान अपनी गोदमें छिपा लेगी, इसलिये हमारी रक्षा हो जायगी तथा इस बिलकी अभेद्यताके विषयमें जो तुमने तारके मुँहसे कुछ सुना है, यह सब व्यर्थ है; क्योंकि इस गुफाको विदीर्ण कर देना लक्ष्मणके बाणोंके लिये बायें हाथका खेल है (अत्यन्त तुच्छ कार्य है) ॥ १३ ॥

स्वल्पं हि कृतमिन्द्रेण क्षिपता ह्यशनिं पुरा।
लक्ष्मणो निशितैर्बाणैर्भिन्द्यात् पत्रपुटं यथा ॥ १४ ॥

'पूर्वकालमें यहाँ वज्रका प्रहार करके इन्द्रने तो इस गुफाको बहुत थोड़ी हानि पहुँचायी थी; परंतु लक्ष्मण अपने पैने बाणोंद्वारा इसे पत्तेके दोनेकी भाँति विदीर्ण कर डालेंगे ॥ १४ ॥

लक्ष्मणस्य च नाराचा बहवः सन्ति तद्विधाः।
वज्राशनिसमस्पर्शा गिरीणामपि दारकाः ॥ १५ ॥

'लक्ष्मणके पास ऐसे बहुत-से नाराच हैं, जिनका हलका-सा स्पर्श भी वज्र और अशनिके समान चोट पहुँचानेवाला है। वे नाराच पर्वतोंको भी विदीर्ण कर सकते हैं ॥ १५ ॥

अवस्थानं यदैव त्वमासिष्यसि परंतप।
तदैव हरयः सर्वे त्यक्ष्यन्ति कृतनिश्चयाः ॥ १६ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले वीर! ज्यों ही तुम इस गुफामें रहना आरम्भ करोगे, त्यों ही ये सब वानर तुम्हें त्याग देंगे; क्योंकि इन्होंने ऐसा करनेका निश्चय कर लिया है ॥ १६ ॥

स्मरन्तः पुत्रदाराणां नित्योद्विग्ना बुभुक्षिताः।
खेदिता दुःखशय्याभिस्त्वां करिष्यन्ति पृष्ठतः ॥ १७ ॥

'ये अपने बाल-बच्चोंको याद करके सदा उद्विग्न रहेंगे। जब यहाँ इन्हें भूखका कष्ट सहना पड़ेगा और दुःखद शय्यापर सोने या दुरवस्थामें रहनेके कारण इनके मनमें खेद होगा, तब ये तुम्हें पीछे छोड़कर चल देंगे ॥ १७ ॥

स त्वं हीनः सुहृद्भिश्च हितकामैश्च बन्धुभिः।
तृणादपि भृशोद्विग्नः स्पन्दमानाद् भविष्यसि ॥ १८ ॥

'ऐसी दशामें तुम हितैषी बन्धुओं और सुहृदोंके सहयोगसे वञ्चित हो उड़ते हुए तिनकेसे भी तुच्छ हो जाओगे और सदा अधिक डरते रहोगे (अथवा हिलते हुए तिनके-से अत्यन्त भयभीत होते रहोगे) ॥ १८ ॥

न च जातु न हिंसेयुस्त्वां घोरा लक्ष्मणसायकाः।
अपवृत्तं जिघांसन्तो महावेगा दुरासदाः ॥ १९ ॥

'लक्ष्मणके बाण घोर, महान्, वेगशाली और दुर्जय हैं। श्रीरामके कार्यसे विमुख होनेपर तुम्हें कदापि मारे बिना नहीं रहेंगे ॥

अस्माभिस्तु गतं सार्धं विनीतवदुपस्थितम्।
आनुपूर्व्यात्तु सुग्रीवो राज्ये त्वां स्थापयिष्यति ॥ २० ॥

'हमारे साथ चलकर जब तुम विनीत पुरुषकी भाँति उनकी सेवामें उपस्थित होगे, तब सुग्रीव क्रमशः अपने बाद तुम्हींको राज्यपर बिठायेंगे ॥ २० ॥

धर्मराजः पितृव्यस्ते प्रीतिकामो दृढव्रतः।
शुचिः सत्यप्रतिज्ञश्च स त्वां जातु न नाशयेत् ॥ २१ ॥

'तुम्हारे चाचा सुग्रीव धर्मके मार्गपर चलनेवाले राजा हैं। वे सदा तुम्हारी प्रसन्नता चाहनेवाले, दृढ़व्रत, पवित्र और सत्यप्रतिज्ञ हैं। अतः कदापि तुम्हारा नाश नहीं कर सकते ॥

प्रियकामश्च ते मातुस्तदर्थं चास्य जीवितम्।
तस्यापत्यं च नास्त्यन्यत् तस्मादङ्गद गम्यताम् ॥ २२ ॥

'अङ्गद! उनके मनमें सदा तुम्हारी माताका प्रिय करनेकी इच्छा रहती है। उनकी प्रसन्नताके लिये ही वे जीवन धारण करते हैं। सुग्रीवके तुम्हारे सिवा कोई दूसरा पुत्र भी नहीं है, इसलिये तुम्हें उनके पास चलना चाहिये' ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें चौवनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

अङ्गदसहित वानरोंका प्रायोपवेशन

श्रुत्वा हनुमतो वाक्यं प्रश्रितं धर्मसंहितम्।
स्वामिसत्कारसंयुक्तमङ्गदो वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

हनुमान्‌जीका वचन विनययुक्त, धर्मानुकूल और स्वामीके प्रति सम्मानसे युक्त था। उसे सुनकर अङ्गदने कहा— ॥

स्थैर्यमात्ममनःशौचमानृशंस्यमथार्जवम्।
विक्रमश्चैव धैर्यं च सुग्रीवे नोपपद्यते ॥ २ ॥

'कपिश्रेष्ठ! राजा सुग्रीवमें स्थिरता, शरीर और मनकी पवित्रता, क्रूरताका अभाव, सरलता, पराक्रम और धैर्य है—यह मान्यता ठीक नहीं जान पड़ती ॥ २ ॥

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य यो भार्यां जीवतो महिषीं प्रियाम्।
धर्मेण मातरं यस्तु स्वीकरोति जुगुप्सितः ॥ ३ ॥
कथं स धर्मं जानीते येन भ्रात्रा दुरात्मना।
युद्धायाभिनियुक्तेन बिलस्य पिहितं मुखम् ॥ ४ ॥

'जिसने अपने बड़े भाईके जीते-जी उनकी प्यारी

महारानीको, जो धर्मतः उसकी माताके समान थी, कुत्सित भावनासे ग्रहण कर लिया था, वह धर्मको जानता है, यह कैसे कहा जा सकता है? जिस दुरात्माने युद्धके लिये जाते हुए भाईके द्वारा बिलकी रक्षाके कार्यमें नियुक्त होनेपर भी पत्थरसे उसका मुँह बंद कर दिया, वह कैसे धर्मज्ञ माना जा सकता है? ॥ ३-४ ॥

सत्यात् पाणिगृहीतश्च कृतकर्मा महायशाः ।
विस्मृतो राघवो येन स कस्य सुकृतं स्मरेत् ॥ ५ ॥

'जिन्होंने सत्यको साक्षी देकर उसका हाथ पकड़ा और पहले ही उसका कार्य सिद्ध कर दिया, उन महायशस्वी भगवान् श्रीरामको ही जब उसने भुला दिया, तब दूसरे किसके उपकारको वह याद रख सकता है? ॥ ५ ॥

लक्ष्मणस्य भयेनेह नाधर्मभयभीरुणा ।
आदिष्टा मार्गितुं सीता धर्मस्तस्मिन् कथं भवेत् ॥ ६ ॥

'जिसने अधर्मके भयसे डरकर नहीं, लक्ष्मणके ही भयसे भीत हो हमलोगोंको सीताकी खोजके लिये भेजा है, उसमें धर्मकी सम्भावना कैसे हो सकती है? ॥ ६ ॥

तस्मिन् पापे कृतघ्ने तु स्मृतिभिन्ने चलात्मनि ।
आर्यः को विश्वसेज्जातु तत्कुलीनो विशेषतः ॥ ७ ॥

'उस पापी, कृतघ्न, स्मरण-शक्तिसे हीन और चञ्चलचित्त सुग्रीवपर कोई श्रेष्ठ पुरुष, विशेषतः जो उत्तम कुलमें उत्पन्न हुआ हो, कभी भी किस तरह विश्वास कर सकता है? ॥ ७ ॥

राज्ये पुत्रः प्रतिष्ठाप्यः सगुणो निर्गुणोऽपि वा ।
कथं शत्रुकुलीनं मां सुग्रीवो जीवयिष्यति ॥ ८ ॥

'अपना पुत्र गुणवान् हो या गुणहीन, उसीको राज्यपर बिठाना चाहिये, ऐसी धारणा रखनेवाला सुग्रीव मुझ शत्रुकुलमें उत्पन्न हुए बालकको कैसे जीवित रहने देगा? ॥ ८ ॥

भिन्नमन्त्रोऽपराद्धश्च भिन्नशक्तिः कथं ह्यहम् ।
किष्किन्धां प्राप्य जीवेयमनाथ इव दुर्बलः ॥ ९ ॥

'सुग्रीवसे अलग रहनेका जो मेरा गूढ़ विचार था, वह आज प्रकट हो गया। साथ ही, उसकी आज्ञाका पालन न करनेके कारण मैं अपराधी भी हूँ। इतना ही नहीं, मेरी शक्ति क्षीण हो गयी है। मैं अनाथके समान दुर्बल हूँ। ऐसी दशामें किष्किन्धामें जाकर कैसे जीवित रह सकूँगा? ॥ ९ ॥

उपांशुदण्डेन हि मां बन्धनेनोपपादयेत् ।
शठः क्रूरो नृशंसश्च सुग्रीवो राज्यकारणात् ॥ १० ॥

'सुग्रीव शठ, क्रूर और निर्दयी है। वह राज्यके लिये मुझे गुप्तरूपसे दण्ड देगा अथवा सदाके लिये मुझे बन्धनमें डाल देगा ॥ १० ॥

बन्धनाच्चावसादान्मे श्रेयः प्रायोपवेशनम् ।
अनुजानन्तु मां सर्वे गृहं गच्छन्तु वानराः ॥ ११ ॥

'इस प्रकार बन्धनजनित कष्ट भोगनेकी अपेक्षा उपवास करके प्राण दे देना ही मेरे लिये श्रेयस्कर है। अतः सब वानर मुझे यहीं रहनेकी आज्ञा दें और अपने-अपने घरको चले जायँ ॥ ११ ॥

अहं वः प्रतिजानामि न गमिष्याम्यहं पुरीम् ।
इहैव प्रायमासिष्ये श्रेयो मरणमेव मे ॥ १२ ॥

'मैं आपलोगोंसे प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि मैं किष्किन्धापुरीको नहीं जाऊँगा। यहीं मरणान्त उपवास करूँगा। मेरा मर जाना ही अच्छा है ॥ १२ ॥

अभिवादनपूर्वं तु राजा कुशलमेव च ।
अभिवादनपूर्वं तु राघवौ बलशालिनौ ॥ १३ ॥

'आपलोग राजा सुग्रीवको प्रणाम करके उनसे मेरा कुशल-समाचार कहियेगा। अपने बलके कारण शोभा पानेवाले दोनों रघुवंशी बन्धुओंसे भी मेरा सादर प्रणाम निवेदन करते हुए कुशल-समाचार कह दीजियेगा ॥ १३ ॥

वाच्यस्तातो यवीयान् मे सुग्रीवो वानरेश्वरः ।
आरोग्यपूर्वं कुशलं वाच्या माता रुमा च मे ॥ १४ ॥

'मेरे छोटे पिता वानरराज सुग्रीव और माता रुमासे भी मेरा आरोग्यपूर्वक कुशल-समाचार बताइयेगा ॥ १४ ॥

मातरं चैव मे तारामाश्वासयितुमर्हथ ।
प्रकृत्या प्रियपुत्रा सा सानुक्रोशा तपस्विनी ॥ १५ ॥

'मेरी माता ताराको भी धैर्य बँधाइयेगा। वह बेचारी स्वभावसे ही दयालु और पुत्रपर प्रेम रखनेवाली है ॥ १५ ॥

विनष्टमिह मां श्रुत्वा व्यक्तं हास्यति जीवितम् ।
एतावदुक्त्वा वचनं वृद्धांस्तानभिवाद्य च ॥ १६ ॥
विवेश चाङ्गदो भूमौ रुदन् दर्भेषु दुर्मनाः ।

'यहाँ मेरे नष्ट होनेका समाचार सुनकर वह निश्चय ही अपने प्राण त्याग देगी।' इतना कहकर अङ्गदने उन सभी बड़े-बूढ़े वानरोंको प्रणाम किया और धरतीपर कुश बिछाकर उदास मुँहसे रोते-रोते वे मरणान्त उपवासके लिये बैठ गये ॥ १६½ ॥

तस्य संविशतस्तत्र रुदन्तो वानरर्षभाः ॥ १७ ॥
नयनेभ्यः प्रमुमुचुरुष्णं वै वारि दुःखिताः ।
सुग्रीवं चैव निन्दन्तः प्रशंसन्तश्च वालिनम् ॥ १८ ॥
परिवार्याङ्गदं सर्वे व्यवसन् प्रायमासितुम् ।

उनके इस प्रकार बैठनेपर सभी श्रेष्ठ वानर रोने लगे और दुःखी हो नेत्रोंसे गरम-गरम आँसू बहाने लगे। सुग्रीवकी निन्दा और वालीकी प्रशंसा करते हुए उन सबने अङ्गदको सब ओरसे घेरकर आमरण उपवास करनेका निश्चय किया ॥

तद् वाक्यं वालिपुत्रस्य विज्ञाय प्लवगर्षभाः ॥ १९ ॥
उपस्पृश्योदकं सर्वे प्राङ्मुखाः समुपाविशन् ।
दक्षिणाग्रेषु दर्भेषु उदक्तीरं समाश्रिताः ॥ २० ॥
मुमूर्षवो हरिश्रेष्ठा एतत् क्षममिति स्म ह ।

वालिकुमारके वचनोंपर विचार करके उन वानर-शिरोमणियोंने मरना ही उचित समझा और मृत्युकी इच्छासे

आचमन करके समुद्रके उत्तर तटपर दक्षिणाग्र कुश बिछाकर वे सब-के-सब पूर्वाभिमुख हो बैठ गये ॥ १९-२०½ ॥

रामस्य वनवासं च क्षयं दशरथस्य च ॥ २१ ॥
जनस्थानवधं चैव वधं चैव जटायुषः ।
हरणं चैव वैदेह्या वालिनश्च वधं तथा ।
रामकोपं च वदतां हरीणां भयमागतम् ॥ २२ ॥

श्रीरामके वनवास, राजा दशरथकी मृत्यु, जनस्थानवासी राक्षसोंके संहार, विदेहकुमारी सीताके अपहरण, जटायुके मरण, वालीके वध और श्रीरामके क्रोधकी चर्चा करते हुए उन वानरोंपर एक दूसरा ही भय आ पहुँचा ॥ २१-२२ ॥

स संविशद्भिर्बहुभिर्महीधरो
महाद्रिकूटप्रतिमैः प्लवंगमैः ।
बभूव संनादितनिर्दरान्तरो
भृशं नदद्भिर्जलदैरिवाम्बरम् ॥ २३ ॥

महान् पर्वत-शिखरोंके समान शरीरवाले वहाँ बैठे हुए बहुसंख्यक वानर भयके मारे जोर-जोरसे शब्द करने लगे, जिससे उस पर्वतकी कन्दराओंका भीतरी भाग प्रतिध्वनित हो उठा और गर्जते हुए मेघोंसे युक्त आकाशके समान प्रतीत होने लगा ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें पचपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशः सर्गः

सम्पातिसे वानरोंको भय, उनके मुखसे जटायुके वधकी बात सुनकर सम्पातिका दुःखी होना और अपनेको नीचे उतारनेके लिये वानरोंसे अनुरोध करना

उपविष्टास्तु ते सर्वे यस्मिन् प्रायं गिरिस्थले ।
हरयो गृध्रराजश्च तं देशमुपचक्रमे ॥ १ ॥
सम्पातिर्नाम नाम्ना तु चिरजीवी विहंगमः ।
भ्राता जटायुषः श्रीमान् विख्यातबलपौरुषः ॥ २ ॥

पर्वतके जिस स्थानपर वे सब वानर आमरण उपवासके लिये बैठे थे, उस प्रदेशमें चिरंजीवी पक्षी श्रीमान् गृध्रराज सम्पाति आये। वे जटायुके भाई थे और अपने बल तथा पुरुषार्थके लिये सर्वत्र प्रसिद्ध थे ॥ १-२ ॥

कन्दरादभिनिष्क्रम्य स विन्ध्यस्य महागिरेः ।
उपविष्टान् हरीन् दृष्ट्वा हृष्टात्मा गिरमब्रवीत् ॥ ३ ॥

महागिरि विन्ध्यकी कन्दरासे निकलकर सम्पातिने जब वहाँ बैठे हुए वानरोंको देखा, तब उनका हृदय हर्षसे खिल उठा और वे इस प्रकार बोले— ॥ ३ ॥

विधिः किल नरं लोके विधानेनानुवर्तते ।
यथायं विहितो भक्ष्यश्चिरान्मह्यमुपागतः ॥ ४ ॥
परम्पराणां भक्षिष्ये वानराणां मृतं मृतम् ।
उवाचैतद् वचः पक्षी तान् निरीक्ष्य प्लवंगमान् ॥ ५ ॥

'जैसे लोकमें पूर्वजन्मके कर्मानुसार मनुष्यको उसके कियेका फल स्वतः प्राप्त होता है, उसी प्रकार आज दीर्घकालके पश्चात् यह भोजन स्वतः मेरे लिये प्राप्त हो गया। अवश्य ही यह मेरे किसी कर्मका फल है। इन वानरोंमेंसे जो-जो मरता जायगा, उसको मैं क्रमशः भक्षण करता जाऊँगा' यह बात उस पक्षीने उन सब वानरोंको देखकर कहा ॥ ४-५ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा भक्ष्यलुब्धस्य पक्षिणः ।
अङ्गदः परमायस्तो हनूमन्तमथाब्रवीत् ॥ ६ ॥

भोजनपर लुभाये हुए उस पक्षीका यह वचन सुनकर अङ्गदको बड़ा दुःख हुआ और वे हनुमान्‌जीसे बोले— ॥

पश्य सीतापदेशेन साक्षाद् वैवस्वतो यमः ।
इमं देशमनुप्राप्तो वानराणां विपत्तये ॥ ७ ॥

'देखिये, सीताके निमित्तसे वानरोंको विपत्तिमें डालनेके लिये साक्षात् सूर्यपुत्र यम इस देशमें आ पहुँचे ॥ ७ ॥

रामस्य न कृतं कार्यं न कृतं राजशासनम् ।
हरीणामियमज्ञाता विपत्तिः सहसाऽऽगता ॥ ८ ॥

'हमलोगोंने न तो श्रीरामचन्द्रजीका कार्य किया और न राजाकी आज्ञाका पालन ही। इसी बीच वानरोंपर यह सहसा अज्ञात विपत्ति आ पड़ी ॥ ८ ॥

वैदेह्याः प्रियकामेन कृतं कर्म जटायुषा ।
गृध्रराजेन यत् तत्र श्रुतं वस्तदशेषतः ॥ ९ ॥

'विदेहकुमारी सीताका प्रिय करनेकी इच्छासे गृध्रराज जटायुने जो साहसपूर्ण कार्य किया था, वह सब आपलोगोंने सुना ही होगा ॥ ९ ॥

तथा सर्वाणि भूतानि तिर्यग्योनिगतान्यपि ।
प्रियं कुर्वन्ति रामस्य त्यक्त्वा प्राणान् यथा वयम् ॥ १० ॥

'समस्त प्राणी, वे पशु-पक्षियोंकी योनिमें ही क्यों न उत्पन्न हुए हों, हमारी तरह प्राण देकर भी श्रीरामचन्द्रजीका प्रिय कार्य करते हैं ॥ १० ॥

अन्योन्यमुपकुर्वन्ति स्नेहकारुण्ययन्त्रिताः ।
ततस्तस्योपकारार्थं त्यजतात्मानमात्मना ॥ ११ ॥

'शिष्ट पुरुष स्नेह और करुणाके वशीभूत हो एक-दूसरेका उपकार करते हैं, अतः आपलोग भी श्रीरामके उपकारके लिये स्वयं ही अपने शरीरका परित्याग करें ॥ ११ ॥

प्रियं कृतं हि रामस्य धर्मज्ञेन जटायुषा ।
राघवार्थे परिश्रान्ता वयं संत्यक्तजीविताः ॥ १२ ॥
कान्ताराणि प्रपन्नाः स्म न च पश्याम मैथिलीम् ।

'धर्मज्ञ जटायुने ही श्रीरामका प्रिय किया है। हमलोग श्रीरघुनाथजीके लिये अपने जीवनका मोह छोड़कर परिश्रम करते हुए इस दुर्गम वनमें आये, किंतु मिथिलेशकुमारीका दर्शन न कर सके॥ १२½॥

स सुखी गृध्रराजस्तु रावणेन हतो रणे।
मुक्तश्च सुग्रीवभयाद् गतश्च परमां गतिम्॥ १३॥

'गृध्रराज जटायु ही सुखी हैं, जो युद्धमें रावणके हाथसे मारे गये और परमगतिको प्राप्त हुए। वे सुग्रीवके भयसे मुक्त हैं॥

जटायुषो विनाशेन राज्ञो दशरथस्य च।
हरणेन च वैदेह्याः संशयं हरयो गताः॥ १४॥

'राजा दशरथकी मृत्यु, जटायुका विनाश और विदेहकुमारी सीताका अपहरण—इन घटनाओंसे इस समय वानरोंका जीवन संशयमें पड़ गया है॥ १४॥

रामलक्ष्मणयोर्वासमरण्ये सह सीतया।
राघवस्य च बाणेन बालिनश्च तथा वधः॥ १५॥
रामकोपादशेषाणां रक्षसां च तथा वधम्।
कैकेय्या वरदानेन इदं च विकृतं कृतम्॥ १६॥

'श्रीराम और लक्ष्मणको सीताके साथ वनमें निवास करना पड़ा, श्रीरघुनाथजीके बाणसे वालीका वध हुआ और अब श्रीरामके कोपसे समस्त राक्षसोंका संहार होगा—ये सारी बुराइयाँ कैकेयीको दिये गये वरदानसे ही पैदा हुई हैं'॥

तदसुखमनुकीर्तितं वचो
भुवि पतितांश्च निरीक्ष्य वानरान्।
भृशचकितमतिर्महामतिः
कृपणमुदाहृतवान् स गृध्रराजः॥ १७॥

वानरोंके द्वारा बारम्बार कहे गये इन दुःखमय वचनोंको सुनकर और उन सबको पृथ्वीपर पड़ा हुआ देखकर परम बुद्धिमान् सम्पातिका हृदय अत्यन्त क्षुब्ध हो उठा और वे दीन वाणीमें बोलनेको उद्यत हुए॥ १७॥

तत् तु श्रुत्वा तथा वाक्यमङ्गदस्य मुखोद्गतम्।
अब्रवीद् वचनं गृध्रस्तीक्ष्णतुण्डो महास्वनः॥ १८॥

अङ्गदके मुखसे निकले हुए उस वचनको सुनकर तीखी चोंचवाले उस गीधने उच्चस्वरसे इस प्रकार पूछा—॥ १८॥

कोऽयं गिरा घोषयति प्राणैः प्रियतरस्य मे।
जटायुषो वधं भ्रातुः कम्पयन्निव मे मनः॥ १९॥

'यह कौन है, जो मेरे प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय भाई जटायुके वधकी बात कह रहा है। इसे सुनकर मेरा हृदय कम्पित-सा होने लगा है॥ १९॥

कथमासीज्जनस्थाने युद्धं राक्षसगृध्रयोः।
नामधेयमिदं भ्रातुश्चिरस्याद्य मया श्रुतम्॥ २०॥

'जनस्थानमें राक्षसका गृध्रके साथ किस प्रकार युद्ध हुआ था? अपने भाईका प्यारा नाम आज बहुत दिनोंके बाद मेरे कानमें पड़ा है॥ २०॥

इच्छेयं गिरिदुर्गाच्च भवद्भिरवतारितुम्।
यवीयसो गुणज्ञस्य श्लाघनीयस्य विक्रमैः॥ २१॥
अतिदीर्घस्य कालस्य परितुष्टोऽस्मि कीर्तनात्।
तदिच्छेयमहं श्रोतुं विनाशं वानरर्षभाः॥ २२॥

'जटायु मुझसे छोटा, गुणज्ञ और पराक्रमके कारण अत्यन्त प्रशंसाके योग्य था। दीर्घकालके पश्चात् आज उसका नाम सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। मैं चाहता हूँ कि पर्वतके इस दुर्गम स्थानसे आपलोग मुझे नीचे उतार दें। श्रेष्ठ वानरो! मुझे अपने भाईके विनाशका वृत्तान्त सुननेकी इच्छा है॥ २१-२२॥

भ्रातुर्जटायुषस्तस्य जनस्थाननिवासिनः।
तस्यैव च मम भ्रातुः सखा दशरथः कथम्॥ २३॥
यस्य रामः प्रियः पुत्रो ज्येष्ठो गुरुजनप्रियः।

'मेरा भाई जटायु तो जनस्थानमें रहता था। गुरुजनोंके प्रेमी श्रीरामचन्द्रजी जिनके ज्येष्ठ एवं प्रिय पुत्र हैं, वे महाराज दशरथ मेरे भाईके मित्र कैसे हुए?॥ २३½॥

सूर्यांशुदग्धपक्षत्वान्न शक्नोमि विसर्पितुम्।
इच्छेयं पर्वतादस्मादवतर्तुमरिंदमाः॥ २४॥

'शत्रुदमन वीरो! मेरे पंख सूर्यकी किरणोंसे जल गये हैं, इसलिये मैं उड़ नहीं सकता; किंतु इस पर्वतसे नीचे उतरना चाहता हूँ'॥ २४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे षट्पञ्चाशः सर्गः॥ ५६॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें छप्पनवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ५६॥

सप्तपञ्चाशः सर्गः

अङ्गदका सम्पातिको पर्वत-शिखरसे नीचे उतारकर उन्हें जटायुके मारे जानेका वृत्तान्त बताना तथा राम-सुग्रीवकी मित्रता एवं वालिवधका प्रसंग सुनाकर अपने आमरण उपवासका कारण निवेदन करना

शोकाद् भ्रष्टस्वरमपि श्रुत्वा वानरयूथपाः।
श्रद्दधुर्नैव तद्वाक्यं कर्मणा तस्य शङ्किताः॥ १॥

शोकके कारण सम्पातिका स्वर विकृत हो गया था। उनकी कही हुई बात सुनकर भी वानर-यूथपतियोंने उसपर विश्वास नहीं किया; क्योंकि वे उनके कर्मसे शङ्कित थे॥ १॥

ते प्रायमुपविष्टास्तु दृष्ट्वा गृध्रं प्लवंगमाः।
चक्रुर्बुद्धिं तदा रौद्रां सर्वान् नो भक्षयिष्यति॥ २॥

आमरण उपवासके लिये बैठे हुए उन वानरोंने उस समय गीधको देखकर यह भयंकर बात सोची, 'यह हम सबको खा तो नहीं जायगा॥ २॥

सर्वथा प्रायमासीनान् यदि नो भक्षयिष्यति।
कृतकृत्या भविष्यामः क्षिप्रं सिद्धिमितो गताः॥ ३॥

'अच्छा, हम तो सब प्रकारसे मरणान्त उपवासका व्रत लेकर बैठे ही थे। यदि यह पक्षी हमें खा लेगा तो हमारा काम ही बन जायगा। हमें शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त हो जायगी'॥ ३॥

एतां बुद्धिं ततश्चक्रुः सर्वे ते हरियूथपाः।
अवतार्य गिरेः शृङ्गाद् गृध्रमाहाङ्गदस्तदा॥ ४॥

फिर तो उन समस्त वानर-यूथपतियोंने यही निश्चय किया। उस समय गीधको उस पर्वत-शिखरसे उतारकर अङ्गदने कहा—॥ ४॥

बभूवर्क्षरजो नाम वानरेन्द्रः प्रतापवान्।
ममार्यः पार्थिवः पक्षिन् धार्मिकौ तस्य चात्मजौ॥ ५॥
सुग्रीवश्चैव वाली च पुत्रौ घनबलावुभौ।
लोके विश्रुतकर्माभूद् राजा वाली पिता मम॥ ६॥

'पक्षिराज! पहले एक प्रतापी वानरराज हो गये हैं, जिनका नाम था ऋक्षरजा। राजा ऋक्षरजा मेरे पितामह लगते थे। उनके दो धर्मात्मा पुत्र हुए—सुग्रीव और वाली। दोनों ही बड़े बलवान् हुए। उनमेंसे राजा वाली मेरे पिता थे। संसारमें अपने पराक्रमके कारण उनकी बड़ी ख्याति थी॥ ५-६॥

राजा कृत्स्नस्य जगत इक्ष्वाकूणां महारथः।
रामो दाशरथिः श्रीमान् प्रविष्टो दण्डकावनम्॥ ७॥
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा वैदेह्या सह भार्यया।
पितुर्निदेशनिरतो धर्म्यं पन्थानमाश्रितः॥ ८॥

'आजसे कुछ वर्ष पहले इक्ष्वाकुवंशके महारथी वीर दशरथकुमार श्रीमान् रामचन्द्रजी, जो सम्पूर्ण जगत्‌के राजा हैं, पिताकी आज्ञाके पालनमें तत्पर हो धर्म-मार्गका आश्रय ले दण्डकारण्यमें आये थे। उनके साथ उनके छोटे भाई लक्ष्मण तथा उनकी धर्मपत्नी विदेहकुमारी सीता भी थीं॥ ७-८॥

तस्य भार्या जनस्थानाद् रावणेन हृता बलात्।
रामस्य तु पितुर्मित्रं जटायुर्नाम गृध्रराट्॥ ९॥
ददर्श सीतां वैदेहीं ह्रियमाणां विहायसा।
रावणं विरथं कृत्वा स्थापयित्वा च मैथिलीम्।
परिश्रान्तश्च वृद्धश्च रावणेन हतो रणे॥ १०॥

'जनस्थानमें आनेपर उनकी पत्नी सीताको रावणने बलपूर्वक हर लिया। उस समय गृध्रराज जटायुने, जो उनके पिताके मित्र थे, देखा—रावण आकाशमार्गसे विदेहकुमारीको लिये जा रहा है। देखते ही वे रावणपर टूट पड़े और उसके रथको नष्ट-भ्रष्ट करके उन्होंने मिथिलेशकुमारीको सुरक्षितरूपसे भूमिपर खड़ा कर दिया। किंतु वे वृद्ध तो थे ही। युद्ध करते-करते थक गये और अन्ततोगत्वा रणक्षेत्रमें रावणके हाथसे मारे गये॥ ९-१०॥

एवं गृध्रो हतस्तेन रावणेन बलीयसा।
संस्कृतश्चापि रामेण जगाम गतिमुत्तमाम्॥ ११॥

'इस प्रकार महाबली रावणके द्वारा जटायुका वध हुआ। स्वयं श्रीरामचन्द्रजीने उनका दाह-संस्कार किया और वे उत्तम गति (साकेतधामको) प्राप्त हुए॥ ११॥

ततो मम पितृव्येण सुग्रीवेण महात्मना।
चकार राघवः सख्यं सोऽवधीत् पितरं मम॥ १२॥

'तदनन्तर श्रीरघुनाथजीने मेरे चाचा महात्मा सुग्रीवसे मित्रता की और उनके कहनेसे उन्होंने मेरे पिताका वध कर दिया॥ १२॥

मम पित्रा निरुद्धो हि सुग्रीवः सचिवैः सह।
निहत्य वालिनं रामस्ततस्तमभिषेचयत्॥ १३॥

'मेरे पिताने मन्त्रियोंसहित सुग्रीवको राज्य-सुखसे वञ्चित कर दिया था। इसलिये श्रीरामचन्द्रजीने मेरे पिता वालीको मारकर सुग्रीवका अभिषेक करवाया॥ १३॥

स राज्ये स्थापितस्तेन सुग्रीवो वानरेश्वरः।
राजा वानरमुख्यानां तेन प्रस्थापिता वयम्॥ १४॥

'उन्होंने ही सुग्रीवको वालीके राज्यपर स्थापित किया। अब सुग्रीव वानरोंके स्वामी हैं। मुख्य-मुख्य वानरोंके भी राजा हैं। उन्होंने हमें सीताकी खोजके लिये भेजा है॥ १४॥

एवं रामप्रयुक्तास्तु मार्गमाणास्ततस्ततः।
वैदेहीं नाधिगच्छामो रात्रौ सूर्यप्रभामिव॥ १५॥

'इस तरह श्रीरामसे प्रेरित होकर हमलोग इधर-उधर विदेहकुमारी सीताको खोजते-फिरते हैं, किंतु अबतक उनका पता नहीं लगा। जैसे रातमें सूर्यकी प्रभाका दर्शन नहीं होता, उसी प्रकार हमें इस वनमें जानकीका दर्शन नहीं हुआ॥ १५॥

ते वयं दण्डकारण्यं विचित्य सुसमाहिताः।
अज्ञानात् तु प्रविष्टाः स्म धरण्या विवृतं बिलम्॥ १६॥

'हमलोग अपने मनको एकाग्र करके दण्डकारण्यमें भलीभाँति खोज करते हुए अज्ञानवश पृथ्वीके एक खुले हुए विवरमें घुस गये॥ १६॥

मयस्य मायाविहितं तद् बिलं च विचिन्वताम्।
व्यतीतस्तत्र नो मासो यो राज्ञा समयः कृतः॥ १७॥

'वह विवर मयासुरकी मायासे निर्मित हुआ है। उसमें खोजते-खोजते हमारा एक मास बीत गया, जिसे राजा सुग्रीवने हमारे लौटनेके लिये अवधि निश्चित किया था॥ १७॥

ते वयं कपिराजस्य सर्वे वचनकारिणः।
कृतां संस्थामतिक्रान्ता भयात् प्रायमुपासिताः ॥ १८ ॥

'हम सब लोग कपिराज सुग्रीवके आज्ञाकारी हैं, किंतु उनके द्वारा नियत की हुई अवधिको लाँघ गये हैं। अतः उन्हींके भयसे हम यहाँ आमरण उपवास कर रहे हैं ॥ १८ ॥

क्रुद्धे तस्मिंस्तु काकुत्स्थे सुग्रीवे च सलक्ष्मणे।
गतानामपि सर्वेषां तत्र नो नास्ति जीवितम् ॥ १९ ॥

'ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम, लक्ष्मण और सुग्रीव तीनों हमपर कुपित होंगे। उस दशामें वहाँ लौट जानेके बाद भी हम सबके प्राण नहीं बच सकते' ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें सत्तावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशः सर्गः

सम्पातिका अपने पंख जलनेकी कथा सुनाना, सीता और रावणका पता बताना तथा वानरोंकी सहायतासे समुद्र-तटपर जाकर भाईको जलाञ्जलि देना

इत्युक्तः करुणं वाक्यं वानरैस्त्यक्तजीवितैः।
सबाष्पो वानरान् गृध्रः प्रत्युवाच महास्वनः ॥ १ ॥

जीवनकी आशा त्यागकर बैठे हुए वानरोंके मुखसे यह करुणाजनक बात सुनकर सम्पातिके नेत्रोंमें आँसू आ गये। उन्होंने उच्चस्वरसे उत्तर दिया— ॥ १ ॥

यवीयान् स मम भ्राता जटायुर्नाम वानराः।
यमाख्यात हतं युद्धे रावणेन बलीयसा ॥ २ ॥

'वानरो! तुम जिसे महाबली रावणके द्वारा युद्धमें मारा गया बता रहे हो, वह जटायु मेरा छोटा भाई था ॥ २ ॥

वृद्धभावादपक्षत्वाच्छृण्वंस्तदपि मर्षये।
नहि मे शक्तिरस्त्यद्य भ्रातुर्वैरविमोक्षणे ॥ ३ ॥

'मैं बूढ़ा हुआ। मेरे पंख जल गये। इसलिये अब मुझमें अपने भाईके वैरका बदला लेनेकी शक्ति नहीं रह गयी है। यही कारण है कि यह अप्रिय बात सुनकर भी मैं चुपचाप सहे लेता हूँ ॥ ३ ॥

पुरा वृत्रवधे वृत्ते स चाहं च जयैषिणौ।
आदित्यमुपयातौ स्वो ज्वलन्तं रश्मिमालिनम् ॥ ४ ॥
आवृत्याकाशमार्गेण जवेन स्वर्गतौ भृशम्।
मध्यं प्राप्ते तु सूर्ये तु जटायुरवसीदति ॥ ५ ॥

'पहलेकी बात है जब इन्द्रके द्वारा वृत्रासुरका वध हो गया, तब इन्द्रको प्रबल जानकर हम दोनों भाई उन्हें जीतनेकी इच्छासे पहले आकाशमार्गके द्वारा बड़े वेगसे स्वर्गलोकमें गये। इन्द्रको जीतकर लौटते समय हम दोनों ही स्वर्गको प्रकाशित करनेवाले अंशुमाली सूर्यके पास आये। हममेंसे जटायु सूर्यके मध्याह्नकालमें उनके तेजसे शिथिल होने लगा ॥ ४-५ ॥

तमहं भ्रातरं दृष्ट्वा सूर्यरश्मिभिरर्दितम्।
पक्षाभ्यां छादयामास स्नेहात् परमविह्वलम् ॥ ६ ॥

'भाईको सूर्यकी किरणोंसे पीड़ित और अत्यन्त व्याकुल देख मैंने स्नेहवश अपनी दोनों पंखोंसे उसे ढक लिया ॥ ६ ॥

निर्दग्धपत्रः पतितो विन्ध्येऽहं वानरर्षभाः।
अहमस्मिन् वसन् भ्रातुः प्रवृत्तिं नोपलक्षये ॥ ७ ॥

'वानरशिरोमणियो! उस समय मेरे दोनों पंख जल गये और मैं इस विन्ध्य पर्वतपर गिर पड़ा। यहाँ रहकर मैं कभी अपने भाईका समाचार न पा सका (आज पहले-पहल तुम-लोगोंके मुखसे उसके मारे जानेकी बात मालूम हुई है)' ॥

जटायुषस्त्वेवमुक्तो भ्रात्रा सम्पातिना तदा।
युवराजो महाप्रज्ञः प्रत्युवाचाङ्गदस्तदा ॥ ८ ॥

जटायुके भाई सम्पातिके उस समय ऐसा कहनेपर परम बुद्धिमान् युवराज अङ्गदने उनसे इस प्रकार कहा— ॥ ८ ॥

जटायुषो यदि भ्राता श्रुतं ते गदितं मया।
आख्याहि यदि जानासि निलयं तस्य रक्षसः ॥ ९ ॥

'गृध्रराज! यदि आप जटायुके भाई हैं, यदि आपने मेरी कही हुई बातें सुनी हैं और यदि आप उस राक्षसका निवासस्थान जानते हैं तो हमें बताइये ॥ ९ ॥

अदीर्घदर्शिनं तं वै रावणं राक्षसाधमम्।
अन्तिके यदि वा दूरे यदि जानासि शंस नः ॥ १० ॥

'वह अदूरदर्शी नीच राक्षस रावण यहाँसे निकट हो या दूर, यदि आप जानते हैं तो हमें उसका पता बता दें' ॥ १० ॥

ततोऽब्रवीन्महातेजा भ्राता ज्येष्ठो जटायुषः।
आत्मानुरूपं वचनं वानरान् सम्प्रहर्षयन् ॥ ११ ॥

तब जटायुके बड़े भाई महातेजस्वी सम्पातिने वानरोंका हर्ष बढ़ाते हुए अपने अनुरूप बात कही— ॥ ११ ॥

निर्दग्धपक्षो गृध्रोऽहं गतवीर्यः प्लवङ्गमाः।
वाङ्मात्रेण तु रामस्य करिष्ये साह्यमुत्तमम् ॥ १२ ॥

'वानरो! मेरे पंख जल गये। अब मैं बेपरका गीध हूँ। मेरी शक्ति जाती रही (अतः मैं शरीरसे तुम्हारी कोई सहायता नहीं कर सकता, तथापि) वचनमात्रसे भगवान् श्रीरामकी उत्तम सहायता अवश्य करूँगा ॥ १२ ॥

जानामि वारुणाँल्लोकान् विष्णोस्त्रैविक्रमानपि।
देवासुरविमर्दांश्च ह्यमृतस्य विमन्थनम् ॥ १३ ॥

'मैं वरुणके लोकोंको जानता हूँ। वामनावतारके समय भगवान् विष्णुने जहाँ-जहाँ अपने तीन पग रखे थे, उन स्थानोंका भी मुझे ज्ञान है। अमृत-मन्थन तथा देवासुरसंग्राम भी मेरी देखी और जानी हुई घटनाएँ हैं॥ १३॥

रामस्य यदिदं कार्यं कर्तव्यं प्रथमं मया।
जरया च हृतं तेजः प्राणाश्च शिथिला मम॥ १४॥

'यद्यपि वृद्धावस्थाने मेरा तेज हर लिया है और मेरी प्राणशक्ति शिथिल हो गयी है तथापि श्रीरामचन्द्रजीका यह कार्य मुझे सबसे पहले करना है॥ १४॥

तरुणी रूपसम्पन्ना सर्वाभरणभूषिता।
ह्रियमाणा मया दृष्टा रावणेन दुरात्मना॥ १५॥

'एक दिन मैंने भी देखा, दुरात्मा रावण सब प्रकारके गहनोंसे सजी हुई एक रूपवती युवतीको हरकर लिये जा रहा था॥ १५॥

क्रोशन्ती रामरामेति लक्ष्मणेति च भामिनी।
भूषणान्यपविध्यन्ती गात्राणि च विधुन्वती॥ १६॥

'वह मानिनी देवी 'हा राम! हा राम! हा लक्ष्मण' की रट लगाती हुई अपने गहने फेंकती और अपने शरीरके अवयवोंको कम्पित करती हुई छटपटा रही थी॥ १६॥

सूर्यप्रभेव शैलाग्रे तस्याः कौशेयमुत्तमम्।
असिते राक्षसे भाति यथा वा तडिदम्बुदे॥ १७॥

'उसका सुन्दर रेशमी पीताम्बर उदयाचलके शिखरपर फैली हुई सूर्यकी प्रभाके समान सुशोभित होता था। वह उस काले राक्षसके समीप बादलोंमें चमकती हुई बिजलीके समान प्रकाशित हो रही थी॥ १७॥

तां तु सीतामहं मन्ये रामस्य परिकीर्तनात्।
श्रूयतां मे कथयतो निलयं तस्य रक्षसः॥ १८॥

'श्रीरामका नाम लेनेसे मैं समझता हूँ, वह सीता ही थी। अब मैं उस राक्षसके घरका पता बताता हूँ, सुनो॥ १८॥

पुत्रो विश्रवसः साक्षाद् भ्राता वैश्रवणस्य च।
अध्यास्ते नगरीं लङ्कां रावणो नाम राक्षसः॥ १९॥

'रावण नामक राक्षस महर्षि विश्रवाका पुत्र और साक्षात् कुबेरका भाई है। वह लङ्का नामवाली नगरीमें निवास करता है॥

इतो द्वीपे समुद्रस्य सम्पूर्णे शतयोजने।
तस्मिँल्लङ्का पुरी रम्या निर्मिता विश्वकर्मणा॥ २०॥

'यहाँसे पूरे चार सौ कोसके अन्तरपर समुद्रमें एक द्वीप है, जहाँ विश्वकर्माने अत्यन्त रमणीय लङ्कापुरीका निर्माण किया है॥ २०॥

जाम्बूनदमयैर्द्वारैश्चित्रैः काञ्चनवेदिकैः।
प्रासादैर्हेमवर्णैश्च महद्भिः सुसमाकृता॥ २१॥

'उसके विचित्र दरवाजे और बड़े-बड़े महल सुवर्णके बने हुए हैं। उनके भीतर सोनेके चबूतरे या वेदियाँ हैं॥ २१॥

प्राकारेणार्कवर्णेन महता च समन्विता।
तस्यां वसति वैदेही दीना कौशेयवासिनी॥ २२॥

'उस नगरीकी चहारदीवारी बहुत बड़ी है और सूर्यकी भाँति चमकती रहती है। उसीके भीतर पीले रंगकी रेशमी साड़ी पहने विदेहकुमारी सीता बड़े दुःखसे निवास करती हैं॥ २२॥

रावणान्तःपुरे रुद्धा राक्षसीभिः सुरक्षिता।
जनकस्यात्मजां राज्ञस्तस्यां द्रक्ष्यथ मैथिलीम्॥ २३॥

'रावणके अन्तःपुरमें नजरबंद हैं। बहुत-सी राक्षसियाँ उनके पहरेपर तैनात हैं। वहाँ पहुँचनेपर तुमलोग राजा जनककी कन्या मैथिली सीताको देख सकोगे॥ २३॥

लङ्कायामथ गुप्तायां सागरेण समन्ततः।
सम्प्राप्य सागरस्यान्तं सम्पूर्णं शतयोजनम्॥ २४॥
आसाद्य दक्षिणं तीरं ततो द्रक्ष्यथ रावणम्।
तत्रैव त्वरिताः क्षिप्रं विक्रमध्वं प्लवङ्गमाः॥ २५॥

'लङ्का चारों ओरसे समुद्रके द्वारा सुरक्षित है। पूरे सौ योजन समुद्रको पार करके उसके दक्षिण तटपर पहुँचनेपर तुमलोग रावणको देख सकोगे। अतः वानरो! समुद्रको पार करनेमें ही तुरंत शीघ्रतापूर्वक अपने पराक्रमका परिचय दो॥

ज्ञानेन खलु पश्यामि दृष्ट्वा प्रत्यागमिष्यथ।
आद्यः पन्थाः कुलिङ्गानां ये चान्ये धान्यजीविनः॥ २६॥

'निश्चय ही मैं ज्ञानदृष्टिसे देखता हूँ। तुमलोग सीताका दर्शन करके लौट आओगे। आकाशका पहला मार्ग गौरैयों तथा अन्न खानेवाले कबूतर आदि पक्षियोंका है॥ २६॥

द्वितीयो बलिभोजानां ये च वृक्षफलाशनाः।
भासास्तृतीयं गच्छन्ति क्रौञ्चाश्च कुररैः सह॥ २७॥

'उससे ऊपरका दूसरा मार्ग कौओं तथा वृक्षोंके फल खाकर रहनेवाले दूसरे-दूसरे पक्षियोंका है। उससे भी ऊँचा जो आकाशका तीसरा मार्ग है, उससे चील, क्रौञ्च और कुरर आदि पक्षी जाते हैं॥ २७॥

श्येनाश्चतुर्थं गच्छन्ति गृध्रा गच्छन्ति पञ्चमम्।
बलवीर्योपपन्नानां रूपयौवनशालिनाम्॥ २८॥
षष्ठस्तु पन्था हंसानां वैनतेयगतिः परा।
वैनतेयाच्च नो जन्म सर्वेषां वानरर्षभाः॥ २९॥

'बाज चौथे और गीध पाँचवें मार्गसे उड़ते हैं। रूप, बल और पराक्रमसे सम्पन्न तथा यौवनसे सुशोभित होनेवाले हंसोंका छठा मार्ग है। उनसे भी ऊँची उड़ान गरुड़की है। वानरशिरोमणियो! हम सबका जन्म गरुड़से ही हुआ है॥

गर्हितं तु कृतं कर्म येन स्म पिशिताशिनः।
प्रतिकार्यं च मे तस्य वैरं भ्रातृकृतं भवेत्॥ ३०॥

'परंतु पूर्वजन्ममें हमसे कोई निन्दित कर्म बन गया था, जिससे इस समय हमें मांसाहारी होना पड़ा है। तुमलोगोंकी सहायता करके मुझे रावणसे अपने भाईके वैरका बदला लेना है॥ ३०॥

इहस्थोऽहं प्रपश्यामि रावणं जानकीं तथा।
अस्माकमपि सौपर्णं दिव्यं चक्षुर्बलं तथा॥ ३१॥

'मैं यहाँसे रावण और जानकीको देखता हूँ। हमलोगोंमें भी गरुड़की भाँति दूरतक देखनेकी दिव्य शक्ति है॥ ३१॥

तस्मादाहारवीर्येण निसर्गेण च वानराः।
आयोजनशतात् साग्राद् वयं पश्याम नित्यशः॥ ३२॥

'इसलिये वानरो! हम भोजनजनित बलसे तथा स्वाभाविक शक्तिसे भी सदा सौ योजन और उससे आगेतक भी देख सकते हैं॥ ३२॥

अस्माकं विहिता वृत्तिर्निसर्गेण च दूरतः।
विहिता वृक्षमूले तु वृत्तिश्चरणयोधिनाम्॥ ३३॥

'जातीय स्वभावके अनुसार हमलोगोंकी जीविका-वृत्ति दूरसे देखे गये दूरस्थ भक्ष्यविशेषके द्वारा नियत की गयी है तथा जो कुक्कुट आदि पक्षी हैं, उनकी जीवन-वृत्ति वृक्षकी जड़तक ही सीमित है—वे वहींतक उपलब्ध होनेवाली वस्तुसे जीवन-निर्वाह करते हैं॥ ३३॥

उपायो दृश्यतां कश्चिल्लङ्घने लवणाम्भसः।
अभिगम्य तु वैदेहीं समृद्धार्था गमिष्यथ॥ ३४॥

'अब तुम इस खारे पानीके समुद्रको लाँघनेका कोई उपाय सोचो। विदेहकुमारी सीताके पास जा सफलमनोरथ होकर किष्किन्धापुरीको लौटोगे॥ ३४॥

समुद्रं नेतुमिच्छामि भवद्भिर्वरुणालयम्।
प्रदास्याम्युदकं भ्रातुः स्वर्गतस्य महात्मनः॥ ३५॥

'अब मैं तुम्हारी सहायतासे समुद्रके किनारे चलना चाहता हूँ। वहाँ अपने स्वर्गवासी भाई महात्मा जटायुको जलाञ्जलि प्रदान करूँगा'॥ ३५॥

ततो नीत्वा तु तं देशं तीरे नदनदीपतेः।
निर्दग्धपक्षं सम्पातिं वानराः सुमहौजसः॥ ३६॥
तं पुनः प्रापयित्वा च तं देशं पतगेश्वरम्।
बभूवुर्वानरा हृष्टाः प्रवृत्तिमुपलभ्य ते॥ ३७॥

यह सुनकर महापराक्रमी वानरोंने जले पंखवाले पक्षिराज सम्पातिको उठाकर समुद्रके किनारे पहुँचा दिया और जलाञ्जलि देनेके पश्चात् वे पुनः उनको वहाँसे उठाकर उनके रहनेके स्थानपर ले आये। उनके मुखसे सीताका समाचार जानकर उन सभी वानरोंको बड़ी प्रसन्नता हुई॥ ३६-३७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे अष्टपञ्चाशः सर्गः॥ ५८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें अट्ठावनवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ५८॥

एकोनषष्टितमः सर्गः

सम्पातिका अपने पुत्र सुपार्श्वके मुखसे सुनी हुई सीता और रावणको देखनेकी घटनाका वृत्तान्त बताना

ततस्तदमृतास्वादं गृध्रराजेन भाषितम्।
निशम्य वदता हृष्टास्ते वचः प्लवगर्षभाः॥ १॥

उस समय वार्तालाप करते हुए गृध्रराजके द्वारा कहे गये उस अमृतके समान स्वादिष्ट मधुर वचनको सुनकर सब वानरश्रेष्ठ हर्षसे खिल उठे॥ १॥

जाम्बवान् वानरश्रेष्ठः सह सर्वैः प्लवङ्गमैः।
भूतलात् सहसोत्थाय गृध्रराजानमब्रवीत्॥ २॥

वानरों और भालुओंमें श्रेष्ठ जाम्बवान् सब वानरोंके साथ सहसा भूतलसे उठकर खड़े हो गये और गृध्रराजसे इस प्रकार पूछने लगे—॥ २॥

क्व सीता केन वा दृष्टा को वा हरति मैथिलीम्।
तदाख्यातु भवान् सर्वं गतिर्भव वनौकसाम्॥ ३॥

'पक्षिराज! सीता कहाँ हैं? किसने उन्हें देखा है? और कौन उन मिथिलेशकुमारीको हरकर ले गया है? ये सब बातें बताइये और हम सब वनवासी वानरोंके आश्रयदाता होइये॥

को दाशरथिबाणानां वज्रवेगनिपातिनाम्।
स्वयं लक्ष्मणमुक्तानां न चिन्तयति विक्रमम्॥ ४॥

'कौन ऐसा धृष्ट है, जो वज्रके समान वेगपूर्वक चोट करनेवाले दशरथनन्दन श्रीरामके बाणों तथा स्वयं लक्ष्मणके चलाये हुए सायकोंके पराक्रमको कुछ नहीं समझता है?'॥

स हरीन् प्रतिसम्मुक्तान् सीताश्रुतिसमाहितान्।
पुनराश्वासयन् प्रीत इदं वचनमब्रवीत्॥ ५॥

उस समय उपवास छोड़कर बैठे और सीताजीका वृत्तान्त सुननेके लिये एकाग्र हुए वानरोंको प्रसन्नतापूर्वक पुनः आश्वासन देते हुए सम्पातिने उनसे यह बात कही—॥ ५॥

श्रूयतामिह वैदेह्या यथा मे हरणं श्रुतम्।
येन चापि ममाख्यातं यत्र चायतलोचना॥ ६॥

'वानरो! विदेहकुमारी सीताका जिस प्रकार अपहरण हुआ है, विशाललोचना सीता इस समय जहाँ है और जिसने मुझसे यह सब वृत्तान्त कहा है एवं जिस तरह मैंने सुना है, वह सब बताता हूँ, सुनो—॥ ६॥

अहमस्मिन् गिरौ दुर्गे बहुयोजनमायते।
चिरान्निपतितो वृद्धः क्षीणप्राणपराक्रमः॥ ७॥

'यह दुर्गम पर्वत कई योजनोंतक फैला है। दीर्घकाल हुआ, जब मैं इस पर्वतपर गिरा था। मेरी प्राणशक्ति क्षीण हो गयी थी और मैं वृद्ध था॥ ७॥

तं मामेवंगतं पुत्रः सुपार्श्वो नाम नामतः।
आहारेण यथाकालं बिभर्ति पततां वरः॥ ८॥

'इस अवस्थामें मेरा पुत्र पक्षिप्रवर सुपार्श्व ही यथासमय आहार देकर प्रतिदिन मेरा भरण-पोषण करता है ॥ ८ ॥

तीक्ष्णकामास्तु गन्धर्वास्तीक्ष्णकोपा भुजङ्गमाः ।
मृगाणां तु भयं तीक्ष्णं ततस्तीक्ष्णक्षुधा वयम् ॥ ९ ॥

'जैसे गन्धर्वोंका कामभाव तीव्र होता है, सर्पोंका क्रोध तेज होता है और मृगोंको भय अधिक होता है, उसी प्रकार हमारी जातिके लोगोंकी भूख बड़ी तीव्र होती है ॥ ९ ॥

स कदाचित् क्षुधार्तस्य ममाहाराभिकाङ्क्षिणः ।
गतसूर्येऽहनि प्राप्तो मम पुत्रो ह्यनामिषः ॥ १० ॥

'एक दिनकी बात है मैं भूखसे पीड़ित होकर आहार प्राप्त करना चाहता था। मेरा पुत्र मेरे लिये भोजनकी तलाशमें निकला था, किंतु सूर्यास्त होनेके बाद वह खाली हाथ लौट आया, उसे कहीं मांस नहीं मिला ॥ १० ॥

स मयाऽऽहारसंरोधात् पीडितः प्रीतिवर्धनः ।
अनुमान्य यथातत्त्वमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ११ ॥

'भोजन न मिलनेसे मैंने कठोर बातें सुनाकर अपनी प्रीति बढ़ानेवाले उस पुत्रको बहुत पीड़ा दी, किंतु उसने नम्रतापूर्वक मुझे आदर देते हुए यह यथार्थ बात कही— ॥ ११ ॥

अहं तात यथाकालमामिषार्थी खमाप्लुतः ।
महेन्द्रस्य गिरेर्द्वारमावृत्य सुसमाश्रितः ॥ १२ ॥

'तात! मैं यथासमय मांस प्राप्त करनेकी इच्छासे आकाशमें उड़ा और महेन्द्र पर्वतके द्वारको रोककर खड़ा हो गया ॥ १२ ॥

तत्र सत्त्वसहस्राणां सागरान्तरचारिणाम् ।
पन्थानमेकोऽध्यवसं संनिरोद्धुमवाङ्मुखः ॥ १३ ॥

'वहाँ अपनी चोंच नीची करके मैं समुद्रके भीतर विचरनेवाले सहस्रों जन्तुओंके मार्गको रोकनेके लिये अकेला ठहर गया ॥ १३ ॥

तत्र कश्चिन्मया दृष्टः सूर्योदयसमप्रभाम् ।
स्त्रियमादाय गच्छन् वै भिन्नाञ्जनचयोपमः ॥ १४ ॥

'उस समय मैंने देखा खानसे काटकर निकाले हुए कोयलेकी राशिके समान काला कोई पुरुष एक स्त्रीको लेकर जा रहा है। उस स्त्रीकी कान्ति सूर्योदयकालकी प्रभाके समान प्रकाशित हो रही थी ॥ १४ ॥

सोऽहमभ्यवहारार्थी तौ दृष्ट्वा कृतनिश्चयः ।
तेन साम्ना विनीतेन पन्थानमनुयाचितः ॥ १५ ॥

'उस स्त्री और उस पुरुषको देखकर मैंने उन्हें आपके आहारके लिये लानेका निश्चय किया, किंतु उस पुरुषने नम्रतापूर्वक मधुर वाणीमें मुझसे मार्गकी याचना की ॥ १५ ॥

नहि सामोपपन्नानां प्रहर्ता विद्यते भुवि ।
नीचेष्वपि जनः कश्चित् किमङ्ग बत मद्विधः ॥ १६ ॥

'पिताजी! भूतलपर नीच पुरुषोंमें भी कोई ऐसा नहीं है, जो विनयपूर्वक मीठे वचन बोलनेवालोंपर प्रहार करे। फिर मुझ-जैसा कुलीन पुरुष कैसे कर सकता है? ॥ १६ ॥

स यातस्तेजसा व्योम संक्षिपन्निव वेगितः ।
अथाहं खेचरैर्भूतैरभिगम्य सभाजितः ॥ १७ ॥

'फिर तो वह तेजसे आकाशको व्याप्त करता हुआ-सा वेगपूर्वक चला गया। उसके चले जानेपर आकाशचारी प्राणी सिद्ध-चारण आदिने आकर मेरा बड़ा सम्मान किया ॥ १७ ॥

दिष्ट्या जीवति सीतेति ह्यब्रुवन् मां महर्षयः ।
कथंचित् सकलत्रोऽसौ गतस्ते स्वस्त्यसंशयम् ॥ १८ ॥

'वे महर्षि मुझसे बोले—'सौभाग्यकी बात है कि सीता जीवित हैं। तुम्हारी दृष्टि पड़नेपर भी स्त्रीके साथ आया हुआ वह पुरुष किसी तरह सकुशल बच गया; अतः अवश्य तुम्हारा कल्याण हो' ॥ १८ ॥

एवमुक्तस्ततोऽहं तैः सिद्धैः परमशोभनैः ।
स च मे रावणो राजा रक्षसां प्रतिवेदितः ॥ १९ ॥

'उन परम शोभायमान सिद्ध पुरुषोंने मुझसे ऐसा कहा, तत्पश्चात् उन्होंने यह भी बताया कि 'वह काला पुरुष राक्षसोंका राजा रावण था' ॥ १९ ॥

पश्यन् दाशरथेर्भार्यां रामस्य जनकात्मजाम् ।
भ्रष्टाभरणकौशेयां शोकवेगपराजिताम् ॥ २० ॥
रामलक्ष्मणयोर्नाम क्रोशन्तीं मुक्तमूर्धजाम् ।
एष कालात्ययस्तात इति वाक्यविदां वरः ॥ २१ ॥
एतदर्थं समग्रं मे सुपार्श्वः प्रत्यवेदयत् ।
तच्छ्रुत्वापि हि मे बुद्धिर्नासीत् काचित् पराक्रमे ॥ २२ ॥

'तात! दशरथनन्दन श्रीरामकी पत्नी जनककिशोरी सीता शोकके वेगसे पराजित हो गयी थीं। उनके आभूषण गिर रहे थे और रेशमी वस्त्र भी सिरसे खिसक गया था। उनके केश खुले हुए थे और वे श्रीराम तथा लक्ष्मणका नाम ले-लेकर उन्हें पुकार रही थीं। मैं उनकी इस दयनीय दशाको देखता रह गया। यही मेरे विलम्बसे आनेका कारण है।' इस प्रकार बातचीतकी कला जाननेवालोंमें श्रेष्ठ सुपार्श्वने मेरे सामने इन सारी बातोंका वर्णन किया। यह सब सुनकर भी मेरे हृदयमें पराक्रम कर दिखानेका कोई विचार नहीं उठा ॥ २०—२२ ॥

अपक्षो हि कथं पक्षी कर्म किंचित् समारभेत् ।
यत् तु शक्यं मया कर्तुं वाग्बुद्धिगुणवर्तिना ॥ २३ ॥
श्रूयतां तत्र वक्ष्यामि भवतां पौरुषाश्रयम् ।

'बिना पंखका पक्षी कैसे कोई पराक्रम कर सकता है? अपनी वाणी और बुद्धिके द्वारा साध्य जो उपकाररूप गुण है, उसे करना मेरा स्वभाव बन गया है। ऐसे स्वभावसे मैं जो कुछ कर सकता हूँ, वह कार्य तुम्हें बता रहा हूँ, सुनो। वह कार्य तुमलोगोंके पुरुषार्थसे ही सिद्ध होनेवाला है ॥ २३½ ॥

वाङ्मतिभ्यां हि सर्वेषां करिष्यामि प्रियं हि वः ॥ २४ ॥
यद्धि दाशरथेः कार्यं मम तन्नात्र संशयः ।

'मैं वाणी और बुद्धिके द्वारा तुम सब लोगोंका प्रिय कार्य अवश्य करूँगा; क्योंकि दशरथनन्दन श्रीरामका जो कार्य है,

वह मेरा ही है—इसमें संशय नहीं है ॥ २४½ ॥

तद् भवन्तो मतिश्रेष्ठा बलवन्तो मनस्विनः ॥ २५ ॥
प्रहिताः कपिराजेन देवैरपि दुरासदाः ।

'तुमलोग भी उत्तम बुद्धिसे युक्त, बलवान्, मनस्वी तथा देवताओंके लिये भी दुर्जय हो। इसीलिये वानरराज सुग्रीवने तुम्हें इस कार्यके लिये भेजा है ॥ २५½ ॥

रामलक्ष्मणबाणाश्च विहिताः कङ्कपत्रिणः ॥ २६ ॥
त्रयाणामपि लोकानां पर्याप्तास्त्राणनिग्रहे ।

'श्रीराम और लक्ष्मणके कङ्कपत्रसे युक्त जो बाण हैं, वे साक्षात् विधाताके बनाये हुए हैं। वे तीनों लोकोंका संरक्षण और दमन करनेके लिये पर्याप्त शक्ति रखते हैं ॥ २६½ ॥

कामं खलु दशग्रीवस्तेजोबलसमन्वितः ।
भवतां तु समर्थानां न किंचिदपि दुष्करम् ॥ २७ ॥

'तुम्हारा विपक्षी दशग्रीव रावण भले ही तेजस्वी और बलवान् है, किंतु तुम-जैसे सामर्थ्यशाली वीरोंके लिये उसे परास्त करना आदि कोई भी कार्य दुष्कर नहीं है ॥ २७ ॥

तदलं कालसङ्गेन क्रियतां बुद्धिनिश्चयः ।
नहि कर्मसु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ॥ २८ ॥

'अतः अब अधिक समय बितानेकी आवश्यकता नहीं है। अपनी बुद्धिके द्वारा दृढ़ निश्चय करके सीताके दर्शनके लिये उद्योग करो; क्योंकि तुम-जैसे बुद्धिमान् लोग कार्योंकी सिद्धिमें विलम्ब नहीं करते हैं' ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकोनषष्टितमः सर्गः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें उनसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

षष्टितमः सर्गः

सम्पातिकी आत्मकथा

ततः कृतोदकं स्नातं तं गृध्रं हरियूथपाः ।
उपविष्टा गिरौ रम्ये परिवार्य समन्ततः ॥ १ ॥

गृध्रराज सम्पाति अपने भाईको जलाञ्जलि देकर जब स्नान कर चुके, तब उस रमणीय पर्वतपर वे समस्त वानर-यूथपति उन्हें चारों ओरसे घेरकर बैठ गये ॥ १ ॥

तमङ्गदमुपासीनं तैः सर्वैर्हरिभिर्वृतम् ।
जनितप्रत्ययो हर्षात् सम्पातिः पुनरब्रवीत् ॥ २ ॥

उन समस्त वानरोंसे घिरे हुए अङ्गद उनके पास बैठे थे। सम्पातिने सबके हृदयमें अपनी ओरसे विश्वास पैदा कर दिया था। वे हर्षोत्फुल्ल होकर फिर इस प्रकार कहने लगे— ॥

कृत्वा निःशब्दमेकाग्राः शृण्वन्तु हरयो मम ।
तथ्यं संकीर्तयिष्यामि यथा जानामि मैथिलीम् ॥ ३ ॥

'सब वानर एकाग्रचित्त एवं मौन होकर मेरी बात सुनो। मैं मिथिलेशकुमारीको जिस प्रकार जानता हूँ, वह सारा प्रसङ्ग ठीक-ठीक बता रहा हूँ ॥ ३ ॥

अस्य विन्ध्यस्य शिखरे पतितोऽस्मि पुरानघ ।
सूर्यतापपरीताङ्गो निर्दग्धः सूर्यरश्मिभिः ॥ ४ ॥

'निष्पाप अङ्गद! प्राचीन कालमें मैं सूर्यकी किरणोंसे झुलसकर इस विन्ध्यपर्वतके शिखरपर गिरा था। उस समय मेरे सारे अङ्ग सूर्यके प्रचण्ड तापसे संतप्त हो रहे थे ॥ ४ ॥

लब्धसंज्ञस्तु षड्रात्राद् विवशो विह्वलन्निव ।
वीक्षमाणो दिशः सर्वा नाभिजानामि किंचन ॥ ५ ॥

'छः रातें बीतनेपर जब मुझे होश हुआ और मैं विवश एवं विह्वल-सा होकर सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर देखने लगा, तब सहसा किसी भी वस्तुको मैं पहचान न सका ॥ ५ ॥

ततस्तु सागराञ्शैलान् नदीः सर्वाः सरांसि च ।
वनानि च प्रदेशांश्च निरीक्ष्य मतिरागता ॥ ६ ॥

'तदनन्तर धीरे-धीरे समुद्र, पर्वत, समस्त नदी, सरोवर, वन और यहाँके विभिन्न प्रदेशोंपर दृष्टि डाली, तब मेरी स्मरण-शक्ति लौटी ॥ ६ ॥

हृष्टपक्षिगणाकीर्णः कन्दरोदरकूटवान् ।
दक्षिणस्योदधेस्तीरे विन्ध्योऽयमिति निश्चितः ॥ ७ ॥

'फिर मैंने निश्चय किया कि यह दक्षिण समुद्रके तटपर स्थित विन्ध्यपर्वत है, जो हर्षोत्फुल्ल विहंगमोंके समुदायसे व्याप्त है। यहाँ बहुत-सी कन्दराएँ, गुफाएँ और शिखर हैं ॥ ७ ॥

आसीच्चात्राश्रमं पुण्यं सुरैरपि सुपूजितम् ।
ऋषिर्निशाकरो नाम यस्मिन्नुग्रतपाऽभवत् ॥ ८ ॥

'पूर्वकालमें यहाँ एक पवित्र आश्रम था, जिसका देवता भी बड़ा सम्मान करते थे। उस आश्रममें निशाकर (चन्द्रमा) नामधारी एक ऋषि रहते थे, जो बड़े ही उग्र तपस्वी थे ॥ ८ ॥

अष्टौ वर्षसहस्राणि तेनास्मिन्नृषिणा गिरौ ।
वसतो मम धर्मज्ञे स्वर्गते तु निशाकरे ॥ ९ ॥

'वे धर्मज्ञ निशाकर मुनि अब स्वर्गवासी हो चुके हैं। उन महर्षिके बिना इस पर्वतपर रहते हुए मेरे आठ हजार वर्ष बीत गये ॥ ९ ॥

अवतीर्य च विन्ध्याग्रात् कृच्छ्रेण विषमाच्छनैः ।
तीक्ष्णदर्भां वसुमतीं दुःखेन पुनरागतः ॥ १० ॥

'होशमें आनेके बाद मैं इस पर्वतके नीचे-ऊँचे शिखरसे धीरे-धीरे बड़े कष्टके साथ भूमिपर उतरा, उस समय ऐसे स्थानपर आ पहुँचा, जहाँ तीखे कुश उगे हुए थे। फिर वहाँसे भी कष्ट सहन करता हुआ आगे बढ़ा ॥ १० ॥

तमृषिं द्रष्टुकामोऽस्मि दुःखेनाभ्यागतो भृशम्।
जटायुषा मया चैव बहुशोऽधिगतो हि सः॥ ११॥

'मैं उन महर्षिका दर्शन करना चाहता था, इसीलिये अत्यन्त कष्ट उठाकर वहाँ गया था। इसके पहले मैं और जटायु दोनों कई बार उनसे मिल चुके थे॥ ११॥

तस्याश्रमपदाभ्याशे ववुर्वाताः सुगन्धिनः।
वृक्षो नापुष्पितः कश्चिदफलो वा न दृश्यते॥ १२॥

'उनके आश्रमके समीप सदा सुगन्धित वायु चलती थी। वहाँका कोई भी वृक्ष फल अथवा फूलसे रहित नहीं देखा जाता था॥ १२॥

उपेत्य चाश्रमं पुण्यं वृक्षमूलमुपाश्रितः।
द्रष्टुकामः प्रतीक्षे च भगवन्तं निशाकरम्॥ १३॥

'उस पवित्र आश्रमपर पहुँचकर मैं एक वृक्षके नीचे ठहर गया और भगवान् निशाकरके दर्शनकी इच्छासे उनके आनेकी प्रतीक्षा करने लगा॥ १३॥

अथ पश्यामि दूरस्थमृषिं ज्वलिततेजसम्।
कृताभिषेकं दुर्धर्षमुपावृत्तमुदङ्मुखम्॥ १४॥

'थोड़ी ही देरमें महर्षि मुझे दूरसे आते दिखायी दिये। वे अपने तेजसे दिप रहे थे और स्नान करके उत्तरकी ओर लौटे आ रहे थे। उनका तिरस्कार करना किसीके लिये भी कठिन था॥

तमृक्षाः सृमरा व्याघ्राः सिंहा नानासरीसृपाः।
परिवार्योपगच्छन्ति दातारं प्राणिनो यथा॥ १५॥

'अनेकानेक रीछ, हरिन, सिंह, बाघ और नाना प्रकारके सर्प उन्हें इस प्रकार घेरे आ रहे थे, जैसे याचना करनेवाले प्राणी दाताको घेरकर चलते हैं॥ १५॥

ततः प्राप्तमृषिं ज्ञात्वा तानि सत्त्वानि वै ययुः।
प्रविष्टे राजनि यथा सर्वं सामात्यकं बलम्॥ १६॥

'ऋषिको आश्रमपर आया जान वे सभी प्राणी लौट गये। ठीक उसी तरह, जैसे राजाके अपने महलमें चले जानेपर मन्त्रीसहित सारी सेना अपने-अपने विश्रामस्थानको लौट जाती है॥ १६॥

ऋषिस्तु दृष्ट्वा मां तुष्टः प्रविष्टश्चाश्रमं पुनः।
मुहूर्तमात्रान्निर्गम्य ततः कार्यमपृच्छत॥ १७॥

'ऋषि मुझे देखकर बड़े प्रसन्न हुए और अपने आश्रममें प्रवेश करके पुनः दो ही घड़ीमें बाहर निकल आये। फिर पास आकर उन्होंने मेरे आनेका प्रयोजन पूछा—॥ १७॥

सौम्य वैकल्यतां दृष्ट्वा रोम्णां ते नावगम्यते।
अग्निदग्धाविमौ पक्षौ प्राणाश्चापि शरीरके॥ १८॥

'वे बोले—'सौम्य! तुम्हारे रोएँ गिर गये और दोनों पंख जल गये हैं। इसका कारण नहीं जान पड़ता। इतनेपर भी तुम्हारे शरीरमें प्राण टिके हुए हैं॥ १८॥

गृध्रौ द्वौ दृष्टपूर्वौ मे मातरिश्वसमौ जवे।
गृध्राणां चैव राजानौ भ्रातरौ कामरूपिणौ॥ १९॥

'मैंने पहले वायुके समान वेगशाली दो गीधोंको देखा है। वे दोनों परस्पर भाई और इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले थे। साथ ही वे गीधोंके राजा भी थे॥ १९॥

ज्येष्ठोऽवितस्त्वं सम्पाते जटायुरनुजस्तव।
मानुषं रूपमास्थाय गृह्णीतां चरणौ मम॥ २०॥

'सम्पाते! मैं तुम्हें पहचान गया। तुम उन दो भाइयोंमेंसे बड़े हो। जटायु तुम्हारा छोटा भाई था। तुम दोनों मनुष्यरूप धारण करके मेरा चरण-स्पर्श किया करते थे॥ २०॥

किं ते व्याधिसमुत्थानं पक्षयोः पतनं कथम्।
दण्डो वायं धृतः केन सर्वमाख्याहि पृच्छतः॥ २१॥

'यह तुम्हें कौन-सा रोग लग गया है। तुम्हारे दोनों पंख कैसे गिर गये? किसीने दण्ड तो नहीं दिया है? मैं जो कुछ पूछता हूँ, वह सब तुम स्पष्टरूपसे कहो'॥ २१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे षष्टितमः सर्गः॥ ६०॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें साठवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ६०॥

एकषष्टितमः सर्गः

सम्पातिका निशाकर मुनिको अपने पंखके जलनेका कारण बताना

ततस्तद् दारुणं कर्म दुष्करं सहसा कृतम्।
आचचक्षे मुनेः सर्वं सूर्यानुगमनं तथा॥ १॥

'उनके इस प्रकार पूछनेपर मैंने बिना सोचे-समझे सूर्यका अनुगमनरूप जो दुष्कर एवं दारुण कार्य किया था, वह सब उन्हें बताया॥ १॥

भगवन् व्रणयुक्तत्वाल्लज्जया चाकुलेन्द्रियः।
परिश्रान्तो न शक्नोमि वचनं परिभाषितुम्॥ २॥

'मैंने कहा—'भगवन्! मेरे शरीरमें घाव हो गया है तथा मेरी इन्द्रियाँ लज्जासे व्याकुल हैं, इसलिये अधिक कष्ट पानेके कारण मैं अच्छी तरह बात भी नहीं कर सकता॥ २॥

अहं चैव जटायुश्च संघर्षाद् गर्वमोहितौ।
आकाशं पतितौ दूराज्जिज्ञासन्तौ पराक्रमम्॥ ३॥

'मैं और जटायु दोनों ही गर्वसे मोहित हो रहे थे; अतः अपने पराक्रमकी थाह लगानेके लिये हम दोनों दूरतक पहुँचनेके उद्देश्यसे उड़ने लगे॥ ३॥

कैलासशिखरे बद्ध्वा मुनीनामग्रतः पणम्।
रविः स्यादनुयातव्यो यावदस्तं महागिरिम्॥ ४॥

'कैलास पर्वतके शिखरपर मुनियोंके सामने हम दोनोंने

यह शर्त बदी थी कि सूर्य जबतक अस्ताचलपर जायँ, उसके पहले ही हम दोनोंको उनके पास पहुँच जाना चाहिये ॥ ४ ॥

अप्यावां युगपत् प्राप्तावपश्याव महीतले।
रथचक्रप्रमाणानि नगराणि पृथक् पृथक् ॥ ५ ॥

'यह निश्चय करके हम साथ ही आकाशमें जा पहुँचे। वहाँसे पृथ्वीके भिन्न-भिन्न नगरमें हम रथके पहियेके बराबर दिखायी देते थे ॥ ५ ॥

क्वचिद् वादित्रघोषश्च क्वचिद् भूषणनिःस्वनः।
गायन्तीः स्माङ्गना बह्वीः पश्यावो रक्तवाससः ॥ ६ ॥

'ऊपरके लोकोंमें कहीं वाद्योंका मधुर घोष हो रहा था, कहीं आभूषणोंकी झनकारें सुनायी पड़ती थीं और कहीं लाल रंगकी साड़ी पहने बहुत-सी सुन्दरियाँ गीत गा रही थीं, जिन्हें हम दोनोंने अपनी आँखों देखा था ॥ ६ ॥

तूर्णमुत्पत्य चाकाशमादित्यपदमास्थितौ।
आवामालोकयावस्तद् वनं शाद्वलसंस्थितम् ॥ ७ ॥

'उससे भी ऊँचे उड़कर हम तुरंत सूर्यके मार्गपर आ पहुँचे। वहाँसे नीचे दृष्टि डालकर जब दोनोंने देखा, तब वहाँके जंगल हरी-हरी घासकी तरह दिखायी देते थे ॥ ७ ॥

उपलैरिव संछन्ना दृश्यते भूः शिलोच्चयैः।
आपगाभिश्च संवीता सूत्रैरिव वसुंधरा ॥ ८ ॥

'पर्वतोंके कारण यह भूमि ऐसी जान पड़ती थी, मानो इसपर पत्थर बिछाये गये हों और नदियोंसे ढकी हुई भूमि ऐसी लगती थी, मानो उसमें सूतके धागे लपेटे गये हों ॥

हिमवांश्चैव विन्ध्यश्च मेरुश्च सुमहागिरिः।
भूतले सम्प्रकाशन्ते नागा इव जलाशये ॥ ९ ॥
तीव्रः स्वेदश्च खेदश्च भयं चासीत् तदावयोः।
समाविशत मोहश्च ततो मूर्च्छा च दारुणा ॥ १० ॥

'भूतलपर हिमालय, मेरु और विन्ध्य आदि बड़े-बड़े पर्वत तालाबमें खड़े हुए हाथियोंके समान प्रतीत होते थे। उस समय हम दोनों भाइयोंके शरीरसे बहुत पसीना निकलने लगा। हमें बड़ी थकावट मालूम हुई। फिर तो हमारे ऊपर भय, मोह और भयानक मूर्च्छाने अधिकार जमा लिया ॥

न च दिग् ज्ञायते याम्या न चाग्नेयी न वारुणी।
युगान्ते नियतो लोको हतो दग्ध इवाग्निना ॥ ११ ॥

'उस समय न दक्षिण दिशाका ज्ञान होता था, न अग्निकोण अथवा पश्चिम आदि दिशाका ही। यद्यपि यह जगत् नियमितरूपसे स्थित था, तथापि उस समय मानो युगान्तकालमें अग्निसे दग्ध हो गया हो, इस प्रकार नष्टप्राय दिखायी देता था ॥ ११ ॥

मनश्च मे हतं भूयश्चक्षुः प्राप्य तु संश्रयम्।
यत्नेन महता ह्यस्मिन् मनः संधाय चक्षुषी ॥ १२ ॥
यत्नेन महता भूयो भास्करः प्रतिलोकितः।
तुल्यपृथ्वीप्रमाणेन भास्करः प्रतिभाति नौ ॥ १३ ॥

'मेरा मन नेत्ररूपी आश्रयको पाकर उसके साथ ही हतप्राय हो गया—सूर्यके तेजसे उसकी दर्शन-शक्ति लुप्त हो गयी। तदनन्तर महान् प्रयास करके मैंने पुनः मन और नेत्रोंको सूर्यदेवमें लगाया। इस प्रकार विशेष प्रयत्न करनेपर फिर सूर्य-देवका दर्शन हुआ। वे हमें पृथ्वीके बराबर ही जान पड़ते थे ॥

जटायुर्मामनापृच्छ्य निपपात महीं ततः।
तं दृष्ट्वा तूर्णमाकाशादात्मानं मुक्तवानहम् ॥ १४ ॥

'जटायु मुझसे पूछे बिना ही पृथ्वीपर उतर पड़ा। उसे नीचे जाते देख मैंने भी तुरंत अपने-आपको आकाशसे नीचेकी ओर छोड़ दिया ॥ १४ ॥

पक्षाभ्यां च मया गुप्तो जटायुर्न प्रदह्यत।
प्रमादात् तत्र निर्दग्धः पतन् वायुपथादहम् ॥ १५ ॥
आशङ्के तं निपतितं जनस्थाने जटायुषम्।
अहं तु पतितो विन्ध्ये दग्धपक्षो जडीकृतः ॥ १६ ॥

'मैंने अपने दोनों पंखोंसे जटायुको ढक लिया था, इसलिये वह जल न सका। मैं ही असावधानीके कारण वहाँ जल गया। वायुके पथसे नीचे गिरते समय मुझे ऐसा संदेह हुआ कि जटायु जनस्थानमें गिरा है; परंतु मैं इस विन्ध्यपर्वतपर गिरा था। मेरे दोनों पंख जल गये थे, इसलिये यहाँ जडवत् हो गया ॥ १५-१६ ॥

राज्याच्च हीनो भ्रात्रा च पक्षाभ्यां विक्रमेण च।
सर्वथा मर्तुमेवेच्छन् पतिष्ये शिखराद् गिरेः ॥ १७ ॥

'राज्यसे भ्रष्ट हुआ, भाईसे बिछुड़ गया और पंख तथा पराक्रमसे भी हाथ धो बैठा। अब मैं सर्वथा मरनेकी ही इच्छासे इस पर्वतशिखरसे नीचे गिरूँगा' ॥ १७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकषष्टितमः सर्गः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें इकसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमः सर्गः

निशाकर मुनिका सम्पातिको सान्त्वना देते हुए उन्हें भावी श्रीरामचन्द्रजीके कार्यमें सहायता देनेके लिये जीवित रहनेका आदेश देना

एवमुक्त्वा मुनिश्रेष्ठमरुदं भृशदुःखितः।
अथ ध्यात्वा मुहूर्तं च भगवानिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

'वानरो! उन मुनिश्रेष्ठसे ऐसा कहकर मैं बहुत दुःखी हो विलाप करने लगा। मेरी बात सुनकर थोड़ी देरतक ध्यान

करनेके बाद महर्षि भगवान् निशाकर बोले— ॥ १ ॥

पक्षौ च ते प्रपक्षौ च पुनरन्यौ भविष्यतः।
चक्षुषी चैव प्राणाश्च विक्रमश्च बलं च ते ॥ २ ॥

'सम्पाते! चिन्ता न करो। तुम्हारे छोटे और बड़े दोनों तरहके पंख फिर नये निकल आयेंगे। आँखें भी ठीक हो जायँगी तथा खोयी हुई प्राणशक्ति, बल और पराक्रम—सब लौट आयेंगे ॥ २ ॥

पुराणे सुमहत्कार्यं भविष्यं हि मया श्रुतम्।
दृष्टं मे तपसा चैव श्रुत्वा च विदितं मम ॥ ३ ॥

'मैंने पुराणमें आगे होनेवाले अनेक बड़े-बड़े कार्योंकी बात सुनी है। सुनकर तपस्याके द्वारा भी मैंने उन सब बातोंको प्रत्यक्ष किया और जाना है ॥ ३ ॥

राजा दशरथो नाम कश्चिदिक्ष्वाकुवर्धनः।
तस्य पुत्रो महातेजा रामो नाम भविष्यति ॥ ४ ॥

'इक्ष्वाकुवंशकी कीर्ति बढ़ानेवाले कोई दशरथ नामसे प्रसिद्ध राजा होंगे। उनके एक महातेजस्वी पुत्र होंगे, जिनकी श्रीरामके नामसे प्रसिद्धि होगी ॥ ४ ॥

अरण्यं च सह भ्रात्रा लक्ष्मणेन गमिष्यति।
तस्मिन्नर्थे नियुक्तः सन् पित्रा सत्यपराक्रमः ॥ ५ ॥

'सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्रजी अपनी पत्नी सीता और भाई लक्ष्मणके साथ वनमें जायँगे; इसके लिये उन्हें पिताकी ओरसे आज्ञा प्राप्त होगी ॥ ५ ॥

नैर्ऋतो रावणो नाम तस्य भार्यां हरिष्यति।
राक्षसेन्द्रो जनस्थाने अवध्यः सुरदानवैः ॥ ६ ॥

'वनवास-कालमें जनस्थानमें रहते समय उनकी पत्नी सीताको राक्षसोंका राजा रावण नामक असुर हर ले जायगा। वह देवताओं और दानवोंके लिये भी अवध्य होगा ॥ ६ ॥

सा च कामैः प्रलोभ्यन्ती भक्ष्यैर्भोज्यैश्च मैथिली।
न भोक्ष्यति महाभागा दुःखमग्ना यशस्विनी ॥ ७ ॥

'मिथिलेशकुमारी सीता बड़ी ही यशस्विनी और सौभाग्यवती होंगी। यद्यपि राक्षसराजकी ओरसे उसको तरह-तरहके भोगों और भक्ष्य-भोज्य आदि पदार्थोंका प्रलोभन दिया जायगा, तथापि वह उन्हें स्वीकार नहीं करेगी और निरन्तर अपने पतिके लिये चिन्तित होकर दुःखमें डूबी रहेगी ॥ ७ ॥

परमान्नं च वैदेह्या ज्ञात्वा दास्यति वासवः।
यदन्नममृतप्रख्यं सुराणामपि दुर्लभम् ॥ ८ ॥

'सीता राक्षसका अन्न नहीं ग्रहण करती—यह मालूम होनेपर देवराज इन्द्र उसके लिये अमृतके समान खीर, जो देवताओंको दुर्लभ है, निवेदन करेंगे ॥ ८ ॥

तदन्नं मैथिली प्राप्य विज्ञायेन्द्रादिदं त्विति।
अग्रमुद्धृत्य रामाय भूतले निर्वपिष्यति ॥ ९ ॥

'उस अन्नको इन्द्रका दिया हुआ जानकर जानकी उसे स्वीकार कर लेंगी और सबसे पहले उसमेंसे अग्रभाग निकालकर श्रीरामचन्द्रजीके उद्देश्यसे पृथ्वीपर रखकर अर्पण करेंगी ॥ ९ ॥

यदि जीवति मे भर्ता लक्ष्मणो वापि देवरः।
देवत्वं गच्छतोर्वापि तयोरन्नमिदं त्विति ॥ १० ॥

'उस समय वह इस प्रकार कहेगी—'मेरे पति भगवान् श्रीराम तथा देवर लक्ष्मण यदि जीवित हों अथवा देवभावको प्राप्त हो गये हों, यह अन्न उनके लिये समर्पित है' ॥ १० ॥

एष्यन्ति प्रेषितास्तत्र रामदूताः प्लवङ्गमाः।
आख्येया राममहिषी त्वया तेभ्यो विहङ्गम ॥ ११ ॥

'सम्पाते! रघुनाथजीके भेजे हुए उनके दूत वानर यहाँ सीताका पता लगाते हुए आयेंगे। उन्हें तुम श्रीरामकी महारानी सीताका पता बताना ॥ ११ ॥

सर्वथा तु न गन्तव्यमीदृशः क्व गमिष्यसि।
देशकालौ प्रतीक्षस्व पक्षौ त्वं प्रतिपत्स्यसे ॥ १२ ॥

'यहाँसे किसी तरह कभी दूसरी जगह न जाना। ऐसी दशामें तुम जाओगे भी कहाँ। देश और कालकी प्रतीक्षा करो। तुम्हें फिर नये पंख प्राप्त हो जायँगे ॥ १२ ॥

उत्सहेयमहं कर्तुमद्यैव त्वां सपक्षकम्।
इहस्थस्त्वं हि लोकानां हितं कार्यं करिष्यसि ॥ १३ ॥

'यद्यपि मैं आज ही तुम्हें पंखयुक्त कर सकता हूँ; फिर भी इसलिये ऐसा नहीं करता कि यहाँ रहनेपर तुम संसारके लिये हितकर कार्य कर सकोगे ॥ १३ ॥

त्वयापि खलु तत् कार्यं तयोश्च नृपपुत्रयोः।
ब्राह्मणानां गुरूणां च मुनीनां वासवस्य च ॥ १४ ॥

'तुम भी उन दोनों राजकुमारोंके कार्यमें सहायता करना। वह कार्य केवल उन्हींका नहीं, समस्त ब्राह्मणों, गुरुजनों, मुनियों और देवराज इन्द्रका भी है ॥ १४ ॥

इच्छाम्यहमपि द्रष्टुं भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
नेच्छे चिरं धारयितुं प्राणांस्त्यक्ष्ये कलेवरम्।
महर्षिस्त्वब्रवीदेवं दृष्टतत्त्वार्थदर्शनः ॥ १५ ॥

'यद्यपि मैं भी उन दोनों भाइयोंका दर्शन करना चाहता हूँ; परंतु अधिक कालतक इन प्राणोंको धारण करनेकी इच्छा नहीं है। अतः वह समय आनेसे पहले ही मैं प्राणोंको त्याग दूँगा' ऐसा उन तत्त्वदर्शी महर्षिने मुझे कहा था' ॥ १५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे द्विषष्टितमः सर्गः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें बासठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

—★—

त्रिषष्टितमः सर्गः

सम्पातिका पंखयुक्त होकर वानरोंको उत्साहित करके उड़ जाना और वानरोंका वहाँसे दक्षिण दिशाकी ओर प्रस्थान करना

एतैरन्यैश्च बहुभिर्वाक्यैर्वाक्यविशारदः।
मां प्रशस्याभ्यनुज्ञाप्य प्रविष्टः स स्वमालयम्॥ १॥

'बातचीतकी कलामें चतुर महर्षि निशाकरने ये तथा और भी बहुत-सी बातें कहकर मुझे समझाया और श्रीरामकार्यमें सहायक बननेके कारण मेरे सौभाग्यकी सराहना की। तत्पश्चात् मेरी अनुमति लेकर वे अपने आश्रमके भीतर चले गये॥ १॥

कन्दरात् तु विसर्पित्वा पर्वतस्य शनैः शनैः।
अहं विन्ध्यं समारुह्य भवतः प्रतिपालये॥ २॥

'तदनन्तर कन्दरासे धीरे-धीरे निकलकर मैं विन्ध्य पर्वतके शिखरपर चढ़ आया और तबसे तुम लोगोंके आनेकी बाट देख रहा हूँ॥ २॥

अद्य त्वेतस्य कालस्य वर्षं साग्रशतं गतम्।
देशकालप्रतीक्षोऽस्मि हृदि कृत्वा मुनेर्वचः॥ ३॥

'मुनिसे बातचीतके बाद आजतक जो समय बीता है, इसमें आठ[1] हजारसे अधिक वर्ष निकल गये। मुनिके कथनको हृदयमें धारण करके मैं देश-कालकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ॥

महाप्रस्थानमासाद्य स्वर्गते तु निशाकरे।
मां निर्दहति संतापो वितर्कैर्बहुभिर्वृतम्॥ ४॥

'निशाकर मुनि महाप्रस्थान करके जब स्वर्गलोकको चले गये, तभीसे मैं अनेक प्रकारके तर्क-वितर्कोंसे घिर गया। संतापकी आग मुझे रात-दिन जलाती रहती है॥ ४॥

उदितां मरणे बुद्धिं मुनिवाक्यैर्निवर्तये।
बुद्धिर्या तेन मे दत्ता प्राणानां रक्षणे मम॥ ५॥
सा मेऽपनयते दुःखं दीप्तेवाग्निशिखा तमः।

'मेरे मनमें कई बार प्राण त्यागनेकी इच्छा हुई, किंतु मुनिके वचनोंको याद करके मैं उस संकल्पको टालता आया हूँ। उन्होंने मुझे प्राणोंको रखनेके लिये जो बुद्धि (सम्मति) दी थी, वह मेरे दुःखको उसी प्रकार दूर कर देती है, जैसे जलती हुई अग्निशिखा अन्धकारको॥ ५½॥

बुध्यता च मया वीर्यं रावणस्य दुरात्मनः॥ ६॥
पुत्रः संतर्जितो वाग्भिर्न त्राता मैथिली कथम्।

'दुरात्मा रावणमें कितना बल है, इसे मैं जानता हूँ। इसलिये मैंने कठोर वचनोंद्वारा अपने पुत्रको डाँटा था कि तूने मिथिलेशकुमारी सीताकी रक्षा क्यों नहीं की॥ ६½॥

तस्या विलपितं श्रुत्वा तौ च सीतावियोजितौ॥ ७॥
न मे दशरथस्नेहात् पुत्रेणोत्पादितं प्रियम्।

'सीताका विलाप सुनकर और उनसे बिछुड़े हुए श्रीराम तथा लक्ष्मणका परिचय पाकर तथा राजा दशरथके प्रति मेरे स्नेहका स्मरण करके भी मेरे पुत्रने जो सीताकी रक्षा नहीं की, अपने इस बर्तावसे उसने मुझे प्रसन्न नहीं किया—मेरा प्रिय कार्य नहीं होने दिया'॥

तस्य त्वेवं ब्रुवाणस्य संहतैर्वानरैः सह॥ ८॥
उत्पेततुस्तदा पक्षौ समक्षं वनचारिणाम्।

वहाँ एकत्र होकर बैठे हुए वानरोंके साथ सम्पाति इस प्रकार बातें कर ही रहे थे कि उन वनचारी वानरोंके समक्ष उसी समय उनके दो नये पंख निकल आये॥ ८½॥

स दृष्ट्वा स्वां तनुं पक्षैरुद्गतैररुणच्छदैः॥ ९॥
प्रहर्षमतुलं लेभे वानरांश्चेदमब्रवीत्।

अपने शरीरको नये निकले हुए लाल रंगके पंखोंसे संयुक्त हुआ देख सम्पातिको अनुपम हर्ष प्राप्त हुआ। वे वानरोंसे इस प्रकार बोले—॥ ९½॥

निशाकरस्य राजर्षेः प्रसादादमितौजसः॥ १०॥
आदित्यरश्मिनिर्दग्धौ पक्षौ पुनरुपस्थितौ।

'कपिवरो! अमिततेजस्वी राजर्षि निशाकरके प्रसादसे सूर्यकिरणोंद्वारा दग्ध हुए मेरे दोनों पंख फिर उत्पन्न हो गये॥

यौवने वर्तमानस्य ममासीद् यः पराक्रमः॥ ११॥
तमेवाद्यावगच्छामि बलं पौरुषमेव च।

'युवावस्थामें मेरा जैसा पराक्रम और बल था, वैसे ही बल और पुरुषार्थका इस समय मैं अनुभव कर रहा हूँ॥ ११½॥

सर्वथा क्रियतां यत्नः सीतामधिगमिष्यथ॥ १२॥
पक्षलाभो ममायं वः सिद्धिप्रत्ययकारकः।

'वानरो! तुम सब प्रकारसे यत्न करो। निश्चय ही तुम्हें सीताका दर्शन प्राप्त होगा। मुझे पंखोंका प्राप्त होना तुमलोगोंकी कार्य-सिद्धिका विश्वास दिलानेवाला है'॥

इत्युक्त्वा तान् हरीन् सर्वान् सम्पातिः पतगोत्तमः॥ १३॥
उत्पपात गिरेः शृङ्गाज्जिज्ञासुः खगमो गतिम्।

उन समस्त वानरोंसे ऐसा कहकर पक्षियोंमें श्रेष्ठ सम्पाति अपने आकाश-गमनकी शक्तिका परिचय पानेके लिये उस पर्वतशिखरसे उड़ गये॥ १३½॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा प्रतिसंहृष्टमानसाः।
बभूवुर्हरिशार्दूला विक्रमाभ्युदयोन्मुखाः॥ १४॥

उनकी वह बात सुनकर उन श्रेष्ठ वानरोंका हृदय प्रसन्नतासे खिल उठा। वे पराक्रमसाध्य अभ्युदयके लिये उद्यत हो गये॥

---

१. यहाँ मूलमें साग्रशतम् (सौ वर्षसे अधिक) समय बीतनेकी बात कही गयी है; परंतु साठवें सर्गके नवें श्लोकमें आठ सहस्र वर्ष बीतनेकी चर्चा आयी है। अतः दोनोंकी एक वाक्यताके लिये यहाँ शत शब्दोंको आठ सहस्र वर्षका उपलक्षण मानना चाहिये।

अथ पवनसमानविक्रमाः
प्लवगवराः प्रतिलब्धपौरुषाः।
अभिजिदभिमुखां दिशं ययु-
र्जनकसुतापरिमार्गणोन्मुखाः ॥ १५ ॥

तदनन्तर वायुके समान पराक्रमी वे श्रेष्ठ वानर अपने भूले हुए पुरुषार्थको फिरसे पा गये और जनकनन्दिनी सीताकी खोजके लिये उत्सुक हो अभिजित् नक्षत्रसे युक्त दक्षिण दिशाकी ओर चल दिये ॥ १५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे त्रिषष्टितमः सर्गः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें तिरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

चतुःषष्टितमः सर्गः

समुद्रकी विशालता देखकर विषादमें पड़े हुए वानरोंको आश्वासन दे अङ्गदका उनसे पृथक्-पृथक् समुद्र-लङ्घनके लिये उनकी शक्ति पूछना

**आख्याता गृध्रराजेन समुत्प्लुत्य प्लवङ्गमाः।
संगताः प्रीतिसंयुक्ता विनेदुः सिंहविक्रमाः ॥ १ ॥**

गृध्रराज सम्पातिके इस प्रकार कहनेपर सिंहके समान पराक्रमी सभी वानर बड़े प्रसन्न हुए और परस्पर मिलकर उछल-उछलकर गर्जने लगे ॥ १ ॥

**सम्पातेर्वचनं श्रुत्वा हरयो रावणक्षयम्।
हृष्टाः सागरमाजग्मुः सीतादर्शनकाङ्क्षिणः ॥ २ ॥**

सम्पातिकी बातोंसे रावणके निवासस्थान तथा उसके भावी विनाशकी सूचना मिली थी। उन्हें सुनकर हर्षसे भरे हुए वे सभी वानर सीताजीके दर्शनकी इच्छा मनमें लिये समुद्रके तटपर आये ॥ २ ॥

**अभिगम्य तु तं देशं ददृशुर्भीमविक्रमाः।
कृत्स्नं लोकस्य महतः प्रतिबिम्बमवस्थितम् ॥ ३ ॥**

उन भयंकर पराक्रमी वानरोंने उस देशमें पहुँचकर समुद्रको देखा, जो इस विराट् विश्वके सम्पूर्ण प्रतिबिम्बकी भाँति स्थित था ॥ ३ ॥

**दक्षिणस्य समुद्रस्य समासाद्योत्तरां दिशम्।
संनिवेशं ततश्चक्रुर्हरिवीरा महाबलाः ॥ ४ ॥**

दक्षिण समुद्रके उत्तर तटपर जाकर उन महाबली वानर वीरोंने डेरा डाला ॥ ४ ॥

**प्रसुप्तमिव चान्यत्र क्रीडन्तमिव चान्यतः।
क्वचित् पर्वतमात्रैश्च जलराशिभिरावृतम् ॥ ५ ॥**

वह समुद्र कहीं तो तरङ्गहीन एवं शान्त होनेके कारण सोया हुआ-सा जान पड़ता था। अन्यत्र जहाँ थोड़ी-थोड़ी लहरें उठ रही थीं, वहाँ वह क्रीडा करता-सा प्रतीत होता था और दूसरे स्थलोंमें जहाँ उत्ताल तरङ्गें उठती थीं, वहाँ पर्वतके बराबर जलराशियोंसे आवृत दिखायी देता था ॥ ५ ॥

**संकुलं दानवेन्द्रैश्च पातालतलवासिभिः।
रोमहर्षकरं दृष्ट्वा विषेदुः कपिकुञ्जराः ॥ ६ ॥**

वह सारा समुद्र पातालनिवासी दानवराजोंसे व्याप्त था। उस रोमाञ्चकारी महासागरको देखकर वे समस्त श्रेष्ठ वानर बड़े विषादमें पड़ गये ॥ ६ ॥

**आकाशमिव दुष्पारं सागरं प्रेक्ष्य वानराः।
विषेदुः सहिताः सर्वे कथं कार्यमिति ब्रुवन् ॥ ७ ॥**

आकाशके समान दुर्लङ्घ्य समुद्रपर दृष्टिपात करके वे सब वानर 'अब कैसे करना चाहिये' ऐसा कहते हुए एक साथ बैठकर चिन्ता करने लगे ॥ ७ ॥

**विषण्णां वाहिनीं दृष्ट्वा सागरस्य निरीक्षणात्।
आश्वासयामास हरीन् भयार्तान् हरिसत्तमः ॥ ८ ॥**

उस महासागरका दर्शन करके सारी वानर-सेनाको विषादमें डूबी हुई देख कपिश्रेष्ठ अङ्गद उन भयातुर वानरोंको आश्वासन देते हुए बोले— ॥ ८ ॥

**न विषादे मनः कार्यं विषादो दोषवत्तरः।
विषादो हन्ति पुरुषं बालं क्रुद्ध इवोरगः ॥ ९ ॥**

'वीरो! तुम्हें अपने मनको विषादमें नहीं डालना चाहिये; क्योंकि विषादमें बहुत बड़ा दोष है। जैसे क्रोधमें भरा हुआ साँप अपने पास आये हुए बालकको काट खाता है, उसी प्रकार विषाद पुरुषका नाश कर डालता है ॥ ९ ॥

**यो विषादं प्रसहते विक्रमे समुपस्थिते।
तेजसा तस्य हीनस्य पुरुषार्थो न सिद्ध्यति ॥ १० ॥**

'जो पराक्रमका अवसर आनेपर विषादग्रस्त हो जाता है, उसके तेजका नाश होता है। उस तेजोहीन पुरुषका पुरुषार्थ नहीं सिद्ध होता है' ॥ १० ॥

**तस्यां रात्र्यां व्यतीतायामङ्गदो वानरैः सह।
हरिवृद्धैः समागम्य पुनर्मन्त्रममन्त्रयत् ॥ ११ ॥**

उस रात्रिके बीत जानेपर बड़े-बड़े वानरोंके साथ मिलकर अङ्गदने पुनः विचार आरम्भ किया ॥ ११ ॥

**सा वानराणां ध्वजिनी परिवार्याङ्गदं बभौ।
वासवं परिवार्येव मरुतां वाहिनी स्थिता ॥ १२ ॥**

उस समय अङ्गदको घेरकर बैठी हुई वानरोंकी वह सेना इन्द्रको घेरकर स्थित हुई देवताओंकी विशाल वाहिनीके समान शोभा पाती थी ॥ १२ ॥

**कोऽन्यस्तां वानरीं सेनां शक्तः स्तम्भयितुं भवेत्।
अन्यत्र वालितनयादन्यत्र च हनूमतः ॥ १३ ॥**

वालिपुत्र अङ्गद तथा पवनकुमार हनुमान्‌जीको छोड़कर दूसरा कौन वीर उस वानरसेनाको सुस्थिर रख सकता था ॥

ततस्तान् हरिवृद्धांश्च तच्च सैन्यमरिंदमः ।
अनुमान्याङ्गदः श्रीमान् वाक्यमर्थवदब्रवीत् ॥ १४ ॥

शत्रुवीरोंका दमन करनेवाले श्रीमान् अङ्गदने उन बड़े-बूढ़े वानरोंका सम्मान करके उनसे यह अर्थयुक्त बात कही— ॥

क इदानीं महातेजा लङ्घयिष्यति सागरम् ।
कः करिष्यति सुग्रीवं सत्यसंधमरिंदमम् ॥ १५ ॥

'सज्जनो ! तुमलोगोंमें कौन ऐसा महातेजस्वी वीर है जो इस समय समुद्रको लाँघ जायगा और शत्रुदमन सुग्रीवको सत्यप्रतिज्ञ बनायेगा ॥ १५ ॥

को वीरो योजनशतं लङ्घयेत प्लवङ्गमः ।
इमांश्च यूथपान् सर्वान् मोचयेत् को महाभयात् ॥ १६ ॥

'कौन वीर वानर सौ योजन समुद्रको लाँघ सकेगा ? और कौन इन समस्त यूथपतियोंको महान् भयसे मुक्त कर देगा ? ॥ १६ ॥

कस्य प्रसादाद् दारांश्च पुत्रांश्चैव गृहाणि च ।
इतो निवृत्ताः पश्येम सिद्धार्थाः सुखिनो वयम् ॥ १७ ॥

'किसके प्रसादसे हमलोग सफलमनोरथ एवं सुखी होकर यहाँसे लौटेंगे और घर-द्वार तथा स्त्री-पुत्रोंका मुँह देख सकेंगे ॥ १७ ॥

कस्य प्रसादाद् रामं च लक्ष्मणं च महाबलम् ।
अभिगच्छेम संहृष्टाः सुग्रीवं च वनौकसम् ॥ १८ ॥

'किसके प्रसादसे हमलोग हर्षोत्फुल्ल होकर श्रीराम, महाबली लक्ष्मण तथा वानरवीर सुग्रीवके पास चल सकेंगे ॥

यदि कश्चित् समर्थो वः सागरप्लवने हरिः ।
स ददात्विह नः शीघ्रं पुण्यामभयदक्षिणाम् ॥ १९ ॥

'यदि तुमलोगोंमेंसे कोई वानरवीर समुद्रको लाँघ जानेमें समर्थ हो तो वह शीघ्र ही हमें यहाँ परम पवित्र अभय-दान दे' ॥

अङ्गदस्य वचः श्रुत्वा न कश्चित् किंचिदब्रवीत् ।
स्तिमितेवाभवत् सर्वा सा तत्र हरिवाहिनी ॥ २० ॥

अङ्गदकी यह बात सुनकर कोई कुछ नहीं बोला। वह सारी वानर-सेना वहाँ जड़वत् स्थिर रही ॥ २० ॥

पुनरेवाङ्गदः प्राह तान् हरीन् हरिसत्तमः ।
सर्वे बलवतां श्रेष्ठा भवन्तो दृढविक्रमाः ।
व्यपदेशकुले जाताः पूजिताश्चाप्यभीक्ष्णशः ॥ २१ ॥

तब वानरश्रेष्ठ अङ्गदने पुनः उन सबसे कहा— 'बलवानोंमें श्रेष्ठ वानरो ! तुम सब लोग दृढ़तापूर्वक पराक्रम प्रकट करनेवाले हो। तुम्हारा जन्म कलङ्करहित उत्तम कुलमें हुआ है। इसके लिये तुम्हारी बारम्बार प्रशंसा हो चुकी है ॥ २१ ॥

नहि वो गमने सङ्गः कदाचित् कस्यचिद् भवेत् ।
ब्रुवध्वं यस्य या शक्तिः प्लवने प्लवगर्षभाः ॥ २२ ॥

'श्रेष्ठ वानरो ! तुमलोगोंमें कभी किसीकी भी गति कहीं नहीं रुकती। इसलिये समुद्रको लाँघनेमें जिसकी जितनी शक्ति हो, वह उसे बतावे' ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे चतुःषष्टितमः सर्गः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें चौसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

—★—

पञ्चषष्टितमः सर्गः

बारी-बारीसे वानर-वीरोंके द्वारा अपनी-अपनी गमनशक्तिका वर्णन, जाम्बवान् और अङ्गदकी बातचीत तथा जाम्बवान्‌का हनुमान्‌जीको प्रेरित करनेके लिये उनके पास जाना

अथाङ्गदवचः श्रुत्वा ते सर्वे वानरर्षभाः ।
स्वं स्वं गतौ समुत्साहमूचुस्तत्र यथाक्रमम् ॥ १ ॥

अङ्गदकी यह बात सुनकर वे सभी श्रेष्ठ वानर लम्बी छलाँग मारनेके सम्बन्धमें अपने-अपने उत्साहका—शक्तिका क्रमशः परिचय देने लगे ॥ १ ॥

गजो गवाक्षो गवयः शरभो गन्धमादनः ।
मैन्दश्च द्विविदश्चैव सुषेणो जाम्बवांस्तथा ॥ २ ॥

गज, गवाक्ष, गवय, शरभ, गन्धमादन, मैन्द, द्विविद, सुषेण और जाम्बवान्—इन सबने अपनी-अपनी शक्तिका वर्णन किया ॥ २ ॥

आबभाषे गजस्तत्र प्लवेयं दशयोजनम् ।
गवाक्षो योजनान्याह गमिष्यामीति विंशतिम् ॥ ३ ॥

इनमेंसे गजने कहा—'मैं दस योजनकी छलाँग मार सकता हूँ।' गवाक्ष बोले—'मैं बीस योजनतक चला जाऊँगा' ॥ ३ ॥

शरभो वानरस्तत्र वानरांस्तानुवाच ह ।
त्रिंशतं तु गमिष्यामि योजनानां प्लवङ्गमाः ॥ ४ ॥

इसके बाद वहाँ शरभ नामक वानरने उन कपिवरोंसे कहा—'वानरो ! मैं तीस योजनतक एक छलाँगमें चला जाऊँगा' ॥ ४ ॥

ऋषभो वानरस्तत्र वानरांस्तानुवाच ह ।
चत्वारिंशद् गमिष्यामि योजनानां न संशयः ॥ ५ ॥

तदनन्तर कपिवर ऋषभने उन वानरोंसे कहा—'मैं चालीस योजनतक चला जाऊँगा, इसमें संशय नहीं है' ॥

वानरांस्तु महातेजा अब्रवीद् गन्धमादनः ।
योजनानां गमिष्यामि पञ्चाशत्तु न संशयः ॥ ६ ॥

तत्पश्चात् महातेजस्वी गन्धमादनने उन वानरोंसे कहा—

'इसमें संदेह नहीं कि मैं पचास योजनतक एक छलाँगमें चला जाऊँगा' ॥ ६ ॥

मैन्दस्तु वानरस्तत्र वानरांस्तानुवाच ह ।
योजनानां परं षष्टिमहं प्लवितुमुत्सहे ॥ ७ ॥

इसके बाद वहाँ वानर-वीर मैन्द उन वानरोंसे बोले—'मैं साठ योजनतक एक छलाँगमें कूद जानेका उत्साह रखता हूँ' ॥ ७ ॥

ततस्तत्र महातेजा द्विविदः प्रत्यभाषत ।
गमिष्यामि न संदेहः सप्ततिं योजनान्यहम् ॥ ८ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी द्विविद बोले—'मैं सत्तर योजनतक चला जाऊँगा, इसमें संदेह नहीं है' ॥ ८ ॥

सुषेणस्तु महातेजाः सत्त्ववान् कपिसत्तमः ।
अशीतिं प्रतिजानेऽहं योजनानां पराक्रमे ॥ ९ ॥

इसके बाद धैर्यशाली कपिश्रेष्ठ महातेजस्वी सुषेण बोले—'मैं एक छलाँगमें अस्सी योजनतक जानेकी प्रतिज्ञा करता हूँ' ॥

तेषां कथयतां तत्र सर्वांस्ताननुमान्य च ।
ततो वृद्धतमस्तेषां जाम्बवान् प्रत्यभाषत ॥ १० ॥

इस प्रकार कहनेवाले सब वानरोंका सम्मान करके ऋक्षराज जाम्बवान्, जो सबसे बूढ़े थे, बोले— ॥ १० ॥

पूर्वमस्माकमप्यासीत् कश्चिद् गतिपराक्रमः ।
ते वयं वयसः पारमनुप्राप्ताः स्म साम्प्रतम् ॥ ११ ॥
किं तु नैवं गते शक्यमिदं कार्यमुपेक्षितुम् ।
यदर्थं कपिराजश्च रामश्च कृतनिश्चयौ ॥ १२ ॥
साम्प्रतं कालमस्माकं या गतिस्तां निबोधत ।
नवतिं योजनानां तु गमिष्यामि न संशयः ॥ १३ ॥

'पहले युवावस्थामें मेरे अंदर भी दूरतक छलाँग मारनेकी कुछ शक्ति थी। यद्यपि अब मैं उस अवस्थाको पार कर चुका हूँ तो भी जिस कार्यके लिये वानरराज सुग्रीव तथा भगवान् श्रीराम दृढ़ निश्चय कर चुके हैं, उसकी मेरे द्वारा उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस समय मेरी जो गति है, उसे आपलोग सुनें। मैं एक छलाँगमें नब्बे योजनतक चला जाऊँगा, इसमें संशय नहीं है' ॥ ११—१३ ॥

तांश्च सर्वान् हरिश्रेष्ठाञ्जाम्बवानिदमब्रवीत् ।
न खल्वेतावदेवासीद् गमने मे पराक्रमः ॥ १४ ॥
मया वैरोचने यज्ञे प्रभविष्णुः सनातनः ।
प्रदक्षिणीकृतः पूर्वं क्रममाणस्त्रिविक्रमम् ॥ १५ ॥

ऐसा कहकर जाम्बवान् उन समस्त श्रेष्ठ वानरोंसे पुनः इस प्रकार बोले—'पूर्वकालमें मेरे अंदर इतनी ही दूरतक चलनेकी शक्ति नहीं थी। पहले राजा बलिके यज्ञमें सर्वव्यापी एवं सबके कारणभूत सनातन भगवान् विष्णु जब तीन पग भूमि नापनेके लिये अपने पैर बढ़ा रहे थे, उस समय मैंने उनके उस विराट् स्वरूपकी थोड़े ही समयमें परिक्रमा कर ली थी ॥ १४-१५ ॥

स इदानीमहं वृद्धः प्लवने मन्दविक्रमः ।
यौवने च तदासीन्मे बलमप्रतिमं परम् ॥ १६ ॥

'इस समय तो मैं बूढ़ा हो गया, अतः छलाँग मारनेकी मेरी शक्ति बहुत कम हो गयी है; किंतु युवावस्थामें मेरे भीतर वह महान् बल था, जिसकी कहीं तुलना नहीं है ॥ १६ ॥

सम्प्रत्येतावदेवाद्य शक्यं मे गमने स्वतः ।
नैतावता च संसिद्धिः कार्यस्यास्य भविष्यति ॥ १७ ॥

'आजकल तो मुझमें स्वतः चलनेकी इतनी ही शक्ति है, परंतु इतनी ही गतिसे समुद्रलङ्घनरूप इस वर्तमान कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती' ॥ १७ ॥

अथोत्तरमुदारार्थमब्रवीदङ्गदस्तदा ।
अनुमान्य तदा प्राज्ञो जाम्बवन्तं महाकपिः ॥ १८ ॥

तदनन्तर बुद्धिमान् महाकपि अङ्गदने उस समय जाम्बवान्‌का विशेष आदर करके यह उदारतापूर्ण बात कही— ॥ १८ ॥

अहमेतद् गमिष्यामि योजनानां शतं महत् ।
निवर्तने तु मे शक्तिः स्यान्न वेति न निश्चितम् ॥ १९ ॥

'मैं इस महासागरके सौ योजनकी विशाल दूरीको लाँघ जाऊँगा, किंतु उधरसे लौटनेमें मेरी ऐसी ही शक्ति रहेगी या नहीं, यह निश्चितरूपसे नहीं कहा जा सकता' ॥ १९ ॥

तमुवाच हरिश्रेष्ठं जाम्बवान् वाक्यकोविदः ।
ज्ञायते गमने शक्तिस्तव हर्यृक्षसत्तम ॥ २० ॥

तब बातचीतकी कलामें चतुर जाम्बवान्‌ने कपिश्रेष्ठ अङ्गदसे कहा—'रीछों और वानरोंमें श्रेष्ठ युवराज! तुम्हारी गमनशक्तिसे हमलोग भलीभाँति परिचित हैं ॥ २० ॥

कामं शतसहस्रं वा नह्येष विधिरुच्यते ।
योजनानां भवाञ्शक्तो गन्तुं प्रतिनिवर्तितुम् ॥ २१ ॥

'भले ही, तुम एक लाख योजनतक चले जाओ, तथापि तुम सबके स्वामी हो, अतः तुम्हें भेजना हमारे लिये उचित नहीं है। तुम लाखों योजन जाने और वहाँसे लौटनेमें समर्थ हो ॥

नहि प्रेषयिता तात स्वामी प्रेष्यः कथंचन ।
भवतायं जनः सर्वः प्रेष्यः प्लवगसत्तम ॥ २२ ॥

'किंतु तात! वानरशिरोमणे! जो सबको भेजनेवाला स्वामी है, वह किसी तरह प्रेष्य (आज्ञापालक) नहीं हो सकता। ये सब लोग तुम्हारे सेवक हैं, तुम इन्हींमेंसे किसीको भेजो ॥

भवान् कलत्रमस्माकं स्वामिभावे व्यवस्थितः ।
स्वामी कलत्रं सैन्यस्य गतिरेषा परंतप ॥ २३ ॥

'तुम कलत्र (स्त्रीकी भाँति रक्षणीय) हो, (जैसे नारी पतिके हृदयकी स्वामिनी होती है, उसी प्रकार) तुम हमारे स्वामीके पदपर प्रतिष्ठित हो। परंतप! स्वामी सेनाके लिये कलत्र (स्त्री) के समान संरक्षणीय होता है। यही लोककी मान्यता है ॥ २३ ॥

अपि वै तस्य कार्यस्य भवान् मूलमरिंदम ।
तस्मात् कलत्रवत् तात प्रतिपाल्यः सदा भवान् ॥ २४ ॥

'शत्रुदमन! तात! तुम्हीं उस कार्यके मूल हो, अतः सदा

कलत्रकी भाँति तुम्हारा पालन करना उचित है ॥ २४ ॥

मूलमर्थस्य संरक्ष्यमेष कार्यविदां नयः ।
मूले हि सति सिध्यन्ति गुणाः सर्वे फलोदयाः ॥ २५ ॥

'कार्यके मूलकी रक्षा करनी चाहिये। यही कार्यके तत्त्वको जाननेवाले विद्वानोंकी नीति है; क्योंकि मूलके रहनेपर ही सभी गुण सफल सिद्ध होते हैं ॥ २५ ॥

तद् भवानस्य कार्यस्य साधनं सत्यविक्रम ।
बुद्धिविक्रमसम्पन्नो हेतुरत्र परंतप ॥ २६ ॥

'अतः सत्यपराक्रमी शत्रुदमन वीर ! तुम्हीं इस कार्यके साधन तथा बुद्धि और पराक्रमसे सम्पन्न हेतु हो ॥ २६ ॥

गुरुश्च गुरुपुत्रश्च त्वं हि नः कपिसत्तम ।
भवन्तमाश्रित्य वयं समर्था ह्यर्थसाधने ॥ २७ ॥

'कपिश्रेष्ठ ! तुम्हीं हमारे गुरु और गुरुपुत्र हो। तुम्हारा आश्रय लेकर ही हम सब लोग कार्यसाधनमें समर्थ हो सकते हैं' ॥ २७ ॥

उक्तवाक्यं महाप्राज्ञं जाम्बवन्तं महाकपिः ।
प्रत्युवाचोत्तरं वाक्यं वालिसूनुरथाङ्गदः ॥ २८ ॥

जब परम बुद्धिमान् जाम्बवान् पूर्वोक्त बात कह चुके, तब महाकपि वालिकुमार अङ्गदने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया— ॥

यदि नाहं गमिष्यामि नान्यो वानरपुङ्गवः ।
पुनः खल्विदमस्माभिः कार्यं प्रायोपवेशनम् ॥ २९ ॥

'यदि मैं नहीं जाऊँगा और दूसरा कोई भी श्रेष्ठ वानर जानेको तैयार न होगा, तब फिर हमलोगोंको निश्चितरूपसे मरणान्त उपवास ही करना चाहिये ॥ २९ ॥

नह्यकृत्वा हरिपतेः संदेशं तस्य धीमतः ।
तत्रापि गत्वा प्राणानां न पश्ये परिरक्षणम् ॥ ३० ॥

'बुद्धिमान् वानरराज सुग्रीवके आदेशका पालन किये बिना यदि हमलोग किष्किन्धाको लौट चलें तो वहाँ जाकर भी हमें अपने प्राणोंकी रक्षाका कोई उपाय नहीं दिखायी देता ॥ ३० ॥

स हि प्रसादे चात्यर्थं कोपे च हरिरीश्वरः ।
अतीत्य तस्य संदेशं विनाशो गमने भवेत् ॥ ३१ ॥

'वे हमपर कृपा करने और अत्यन्त कुपित होकर हमें दण्ड देनेमें भी समर्थ हैं। उनकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके जानेपर हमारा विनाश अवश्यम्भावी है ॥ ३१ ॥

तत्तथा ह्यस्य कार्यस्य न भवत्यन्यथा गतिः ।
तद् भवानेव दृष्टार्थः संचिन्तयितुमर्हति ॥ ३२ ॥

'अतः जिस उपायसे इस सीता दर्शनरूपी कार्यकी सिद्धिमें कोई रुकावट न पड़े, उसका आप ही विचार करें; क्योंकि आपको सब बातोंका अनुभव है' ॥ ३२ ॥

सोऽङ्गदेन तदा वीरः प्रत्युक्तः प्लवगर्षभः ।
जाम्बवानुत्तमं वाक्यं प्रोवाचेदं ततोऽङ्गदम् ॥ ३३ ॥

उस समय अङ्गदके ऐसा कहनेपर वीर वानरशिरोमणि जाम्बवान्ने उनसे यह उत्तम बात कही— ॥ ३३ ॥

तस्य ते वीर कार्यस्य न किंचित् परिहास्यते ।
एष संचोदयाम्येनं यः कार्यं साधयिष्यति ॥ ३४ ॥

'वीर ! तुम्हारे इस कार्यमें कोई किंचित् भी त्रुटि नहीं आने पायेगी। अब मैं ऐसे वीरको प्रेरित कर रहा हूँ, जो इस कार्यको सिद्ध कर सकेगा' ॥ ३४ ॥

ततः प्रतीतं प्लवतां वरिष्ठ-
मेकान्तमाश्रित्य सुखोपविष्टम् ।
संचोदयामास हरिप्रवीरो
हरिप्रवीरं हनुमन्तमेव ॥ ३५ ॥

ऐसा कहकर वानरों और भालुओंके वीर यूथपति जाम्बवान्ने वानरसेनाके श्रेष्ठ वीर हनुमान्जीको ही प्रेरित किया, जो एकान्तमें जाकर मौजसे बैठे हुए थे। उन्हें किसी बातकी चिन्ता नहीं थी और वे दूरतकको छलाँग मारनेवालोंमें सबसे श्रेष्ठ थे ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें पैंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

—★—

षट्षष्टितमः सर्गः

जाम्बवान्का हनुमान्जीको उनकी उत्पत्तिकथा सुनाकर समुद्रलङ्घनके लिये उत्साहित करना

अनेकशतसाहस्रीं विषण्णां हरिवाहिनीम् ।
जाम्बवान् समुदीक्ष्यैवं हनुमन्तमथाब्रवीत् ॥ १ ॥

लाखों वानरोंकी सेनाको इस तरह विषादमें पड़ी देख जाम्बवान्ने हनुमान्जीसे कहा— ॥ १ ॥

वीर वानरलोकस्य सर्वशास्त्रविदां वर ।
तूष्णीमेकान्तमाश्रित्य हनुमन् किं न जल्पसि ॥ २ ॥

'वानरजगत्के वीर ! तथा सम्पूर्ण शास्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ हनुमान् ! तुम एकान्तमें आकर चुपचाप क्यों बैठे हो ? कुछ बोलते क्यों नहीं ? ॥ २ ॥

हनुमन्हरिराजस्य सुग्रीवस्य समो ह्यसि ।
रामलक्ष्मणयोश्चापि तेजसा च बलेन च ॥ ३ ॥

'हनुमन् ! तुम तो वानरराज सुग्रीवके समान पराक्रमी हो तथा तेज और बलमें श्रीराम और लक्ष्मणके तुल्य हो ॥ ३ ॥

अरिष्टनेमिनः पुत्रो वैनतेयो महाबलः ।
गरुत्मानिव विख्यात उत्तमः सर्वपक्षिणाम् ॥ ४ ॥

'कश्यपजीके महाबली पुत्र और समस्त पक्षियोंमें श्रेष्ठ जो विनतानन्दन गरुड़ हैं, उन्हींके समान तुम भी विख्यात शक्तिशाली एवं तीव्रगामी हो ॥ ४ ॥

बहुशो हि मया दृष्टः सागरे स महाबलः।
भुजङ्गानुद्धरन् पक्षी महाबाहुर्महाबलः॥ ५॥

'महाबली महाबाहु पक्षिराज गरुड़को मैंने समुद्रमें कई बार देखा है, जो बड़े-बड़े सर्पोंको वहाँसे निकाल लाते हैं॥

पक्षयोर्यद् बलं तस्य भुजवीर्यबलं तव।
विक्रमश्चापि वेगश्च न ते तेनापहीयते॥ ६॥

'उनके दोनों पंखोंमें जो बल है, वही बल, वही पराक्रम तुम्हारी इन दोनों भुजाओंमें भी है। इसीलिये तुम्हारा वेग और विक्रम भी उनसे कम नहीं है॥ ६॥

बलं बुद्धिश्च तेजश्च सत्त्वं च हरिपुङ्गव।
विशिष्टं सर्वभूतेषु किमात्मानं न सज्जसे॥ ७॥

'वानरशिरोमणे! तुम्हारा बल, बुद्धि, तेज और धैर्य भी समस्त प्राणियोंमें सबसे बढ़कर है। फिर तुम अपने-आपको ही समुद्र लाँघनेके लिये क्यों नहीं तैयार करते?॥ ७॥

अप्सराऽप्सरसां श्रेष्ठा विख्याता पुञ्जिकस्थला।
अञ्जनेति परिख्याता पत्नी केसरिणो हरेः॥ ८॥
विख्याता त्रिषु लोकेषु रूपेणाप्रतिमा भुवि।
अभिशापादभूत् तात कपित्वे कामरूपिणी॥ ९॥
दुहिता वानरेन्द्रस्य कुञ्जरस्य महात्मनः।

'(वीरवर! तुम्हारे प्रादुर्भावकी कथा इस प्रकार है—) पुञ्जिकस्थला नामसे विख्यात जो अप्सरा है, वह समस्त अप्सराओंमें अग्रगण्य है। तात! एक समय शापवश वह कपियोनिमें अवतीर्ण हुई। उस समय वह वानरराज महामनस्वी कुञ्जरकी पुत्री इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली थी। इस भूतलपर उसके रूपकी समानता करनेवाली दूसरी कोई स्त्री नहीं थी। वह तीनों लोकोंमें विख्यात थी। उसका नाम अञ्जना था। वह वानरराज केसरीकी पत्नी हुई॥

मानुषं विग्रहं कृत्वा रूपयौवनशालिनी॥ १०॥
विचित्रमाल्याभरणा कदाचित् क्षौमधारिणी।
अचरत् पर्वतस्याग्रे प्रावृडम्बुदसंनिभे॥ ११॥

'एक दिनकी बात है, रूप और यौवनसे सुशोभित होनेवाली अञ्जना मानवी स्त्रीका शरीर धारण करके वर्षा-कालके मेघकी भाँति श्याम कान्तिवाले एक पर्वत-शिखरपर विचर रही थी। उसके अङ्गोंपर रेशमी साड़ी शोभा पाती थी। वह फूलोंके विचित्र आभूषणोंसे विभूषित थी॥ १०-११॥

तस्या वस्त्रं विशालाक्ष्याः पीतं रक्तदशं शुभम्।
स्थितायाः पर्वतस्याग्रे मारुतोऽपाहरच्छनैः॥ १२॥

'उस विशाललोचना बालाका सुन्दर वस्त्र तो पीले रंगका था, किंतु उसके किनारेका रंग लाल था। वह पर्वतके शिखरपर खड़ी थी। उसी समय वायुदेवताने उसके उस वस्त्रको धीरेसे हर लिया॥ १२॥

स ददर्श ततस्तस्या वृत्तावूरू सुसंहतौ।
स्तनौ च पीनौ सहितौ सुजातं चारु चाननम्॥ १३॥

'तत्पश्चात् उन्होंने उसकी परस्पर सटी हुई गोल-गोल जाँघों, एक-दूसरेसे लगे हुए पीन उरोजों तथा मनोहर मुखको भी देखा॥ १३॥

तां बलादायतश्रोणीं तनुमध्यां यशस्विनीम्।
दृष्ट्वैव शुभसर्वाङ्गीं पवनः काममोहितः॥ १४॥

'उसके नितम्ब ऊँचे और विस्तृत थे। कटिभाग बहुत ही पतला था। उसके सारे अङ्ग परम सुन्दर थे। इस प्रकार बलपूर्वक यशस्विनी अञ्जनाके अङ्गोंका अवलोकन करके पवन देवता कामसे मोहित हो गये॥ १४॥

स तां भुजाभ्यां दीर्घाभ्यां पर्यष्वजत मारुतः।
मन्मथाविष्टसर्वाङ्गो गतात्मा तामनिन्दिताम्॥ १५॥

'उनके सम्पूर्ण अङ्गोंमें कामभावका आवेश हो गया। मन अञ्जनामें ही लग गया। उन्होंने उस अनिन्द्य सुन्दरीको अपनी दोनों विशाल भुजाओंमें भरकर हृदयसे लगा लिया॥ १५॥

सा तु तत्रैव सम्भ्रान्ता सुव्रता वाक्यमब्रवीत्।
एकपत्नीव्रतमिदं को नाशयितुमिच्छति॥ १६॥

'अञ्जना उत्तम व्रतका पालन करनेवाली सती नारी थी। अतः उस अवस्थामें पड़कर वह वहीं घबरा उठी और बोली—'कौन मेरे इस पातिव्रत्यका नाश करना चाहता है'?॥ १६॥

अञ्जनाया वचः श्रुत्वा मारुतः प्रत्यभाषत।
न त्वां हिंसामि सुश्रोणि मा भूत् ते मनसो भयम्॥ १७॥

अञ्जनाकी बात सुनकर पवनदेवने उत्तर दिया—'सुश्रोणि! मैं तुम्हारे एकपत्नी-व्रतका नाश नहीं कर रहा हूँ। अतः तुम्हारे मनसे यह भय दूर हो जाना चाहिये॥ १७॥

मनसास्मि गतो यत् त्वां परिष्वज्य यशस्विनि।
वीर्यवान् बुद्धिसम्पन्नस्तव पुत्रो भविष्यति॥ १८॥

'यशस्विनि! मैंने अव्यक्तरूपसे तुम्हारा आलिङ्गन करके मानसिक संकल्पके द्वारा तुम्हारे साथ समागम किया है। इससे तुम्हें बल-पराक्रमसे सम्पन्न एवं बुद्धिमान् पुत्र प्राप्त होगा॥ १८॥

महासत्त्वो महातेजा महाबलपराक्रमः।
लङ्घने प्लवने चैव भविष्यति मया समः॥ १९॥

'वह महान् धैर्यवान्, महातेजस्वी, महाबली, महापराक्रमी तथा लाँघने और छलाँग मारनेमें मेरे समान होगा'॥ १९॥

एवमुक्ता ततस्तुष्टा जननी ते महाकपे।
गुहायां त्वां महाबाहो प्रजज्ञे प्लवगर्षभ॥ २०॥

'महाकपे ! वायुदेवके ऐसा कहनेपर तुम्हारी माता प्रसन्न हो गयीं। महाबाहो ! वानरश्रेष्ठ ! फिर उन्होंने तुम्हें एक गुफामें जन्म दिया॥ २०॥

अभ्युत्थितं ततः सूर्यं बालो दृष्ट्वा महावने।
फलं चेति जिघृक्षुस्त्वमुत्प्लुत्याभ्युत्पतो दिवम्॥ २१॥

'बाल्यावस्थामें एक विशाल वनके भीतर एक दिन उदित हुए सूर्यको देखकर तुमने समझा कि यह भी कोई फल है; अतः उसे लेनेके लिये तुम सहसा आकाशमें उछल पड़े॥ २१॥

शतानि त्रीणि गत्वाथ योजनानां महाकपे।
तेजसा तस्य निर्धूतो न विषादं गतस्ततः॥ २२॥

'महाकपे ! तीन सौ योजन ऊँचे जानेके बाद सूर्यके तेजसे आक्रान्त होनेपर भी तुम्हारे मनमें खेद या चिन्ता नहीं हुई॥ २२॥

त्वामप्युपगतं तूर्णमन्तरिक्षं महाकपे।
क्षिप्तमिन्द्रेण ते वज्रं कोपाविष्टेन तेजसा॥ २३॥

'कपिप्रवर ! अन्तरिक्षमें जाकर जब तुरंत ही तुम सूर्यके पास पहुँच गये, तब इन्द्रने कुपित होकर तुम्हारे ऊपर तेजसे प्रकाशित वज्रका प्रहार किया॥ २३॥

तदा शैलाग्रशिखरे वामो हनुरभज्यत।
ततो हि नामधेयं ते हनुमानिति कीर्तितम्॥ २४॥

'उस समय उदयगिरिके शिखरपर तुम्हारे हनु (ठोढ़ी) का बायाँ भाग वज्रकी चोटसे खण्डित हो गया। तभीसे तुम्हारा नाम हनुमान् पड़ गया॥ २४॥

ततस्त्वां निहतं दृष्ट्वा वायुर्गन्धवहः स्वयम्।
त्रैलोक्यं भृशसंक्रुद्धो न ववौ वै प्रभञ्जनः॥ २५॥

'तुमपर प्रहार किया गया है, यह देखकर गन्धवाहक वायुदेवताको बड़ा क्रोध हुआ। उन प्रभञ्जनदेवने तीनों लोकोंमें प्रवाहित होना छोड़ दिया॥ २५॥

सम्भ्रान्ताश्च सुराः सर्वे त्रैलोक्ये क्षुभिते सति।
प्रसादयन्ति संक्रुद्धं मारुतं भुवनेश्वराः॥ २६॥

'इससे सम्पूर्ण देवता घबरा गये; क्योंकि वायुके अवरुद्ध हो जानेसे तीनों लोकोंमें खलबली मच गयी थी। उस समय समस्त लोकपाल कुपित हुए वायुदेवको मनाने लगे॥ २६॥

प्रसादिते च पवने ब्रह्मा तुभ्यं वरं ददौ।
अशस्त्रवध्यतां तात समरे सत्यविक्रम॥ २७॥

'सत्यपराक्रमी तात ! पवनदेवके प्रसन्न होनेपर ब्रह्माजीने तुम्हारे लिये यह वर दिया कि तुम समराङ्गणमें किसी भी अस्त्र-शस्त्रके द्वारा मारे नहीं जा सकोगे॥ २७॥

वज्रस्य च निपातेन विरुजं त्वां समीक्ष्य च।
सहस्रनेत्रः प्रीतात्मा ददौ ते वरमुत्तमम्॥ २८॥
स्वच्छन्दतश्च मरणं तव स्यादिति वै प्रभो।

'प्रभो ! वज्रके प्रहारसे भी तुम्हें पीड़ित न देखकर सहस्र नेत्रधारी इन्द्रके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने तुम्हारे लिये यह उत्तम वर दिया—'मृत्यु तुम्हारी इच्छाके अधीन होगी—तुम जब चाहोगे, तभी मर सकोगे, अन्यथा नहीं'॥ २८½॥

स त्वं केसरिणः पुत्रः क्षेत्रजो भीमविक्रमः॥ २९॥
मारुतस्यौरसः पुत्रस्तेजसा चापि तत्समः।

'इस प्रकार तुम केसरीके क्षेत्रज पुत्र हो। तुम्हारा पराक्रम शत्रुओंके लिये भयंकर है। तुम वायुदेवके औरस पुत्र हो, इसलिये तेजकी दृष्टिसे भी उन्हींके समान हो॥ २९½॥

त्वं हि वायुसुतो वत्स प्लवने चापि तत्समः॥ ३०॥
वयमद्य गतप्राणा भवानस्मासु साम्प्रतम्।
दाक्ष्यविक्रमसम्पन्नः कपिराज इवापरः॥ ३१॥

'वत्स ! तुम पवनके पुत्र हो, अतः छलाँग मारनेमें भी उन्हींके तुल्य हो। हमारी प्राणशक्ति अब चली गयी। इस समय तुम्हीं हमलोगोंमें दूसरे वानरराजकी भाँति चातुर्य एवं पौरुषसे सम्पन्न हो॥ ३०-३१॥

त्रिविक्रमे मया तात सशैलवनकानना।
त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी परिक्रान्ता प्रदक्षिणम्॥ ३२॥

'तात ! भगवान् वामनने त्रिलोकीको नापनेके लिये जब पैर बढ़ाया था, उस समय मैंने पर्वत, वन और काननोंसहित समूची पृथ्वीकी इक्कीस बार प्रदक्षिणा की थी॥ ३२॥

तथा चौषधयोऽस्माभिः संचिता देवशासनात्।
निर्मथ्यममृतं याभिस्तदानीं नो महद्बलम्॥ ३३॥

'समुद्र-मन्थनके समय देवताओंकी आज्ञासे हमने उन ओषधियोंका संचय किया था, जिनके द्वारा अमृतको मथकर निकालना था। उन दिनों हममें महान् बल था॥ ३३॥

स इदानीमहं वृद्धः परिहीनपराक्रमः।
साम्प्रतं कालमस्माकं भवान् सर्वगुणान्वितः॥ ३४॥

'अब तो मैं बूढ़ा हो गया हूँ। मेरा पराक्रम घट गया है। इस समय हमलोगोंमें तुम्हीं सब प्रकारके गुणोंसे सम्पन्न हो॥

तद् विजृम्भस्व विक्रान्त प्लवतामुत्तमो ह्यसि।
त्वद्वीर्यं द्रष्टुकामा हि सर्वा वानरवाहिनी॥ ३५॥

'अतः पराक्रमी वीर ! तुम अपने असीम बलका विस्तार करो। छलाँग मारनेवालोंमें तुम सबसे श्रेष्ठ हो। यह सारी वानरसेना तुम्हारे बल-पराक्रमको देखना चाहती है॥ ३५॥

उत्तिष्ठ हरिशार्दूल लङ्घयस्व महार्णवम्।
परा हि सर्वभूतानां हनुमन् या गतिस्तव॥ ३६॥

'वानरश्रेष्ठ! उठो और इस महासागरको लाँघ जाओ; क्योंकि तुम्हारी गति सभी प्राणियोंसे बढ़कर है॥ ३६॥

विषण्णा हरयः सर्वे हनुमन् किमुपेक्षसे।
विक्रमस्व महावेग विष्णुस्त्रीन् विक्रमानिव॥ ३७॥

'हनुमन्! समस्त वानर चिन्तामें पड़े हैं। तुम क्यों इनकी उपेक्षा करते हो? महान् वेगशाली वीर! जैसे भगवान् विष्णुने त्रिलोकीको नापनेके लिये तीन पग बढ़ाये थे, उसी प्रकार तुम भी अपने पैर बढ़ाओ'॥ ३७॥

ततः कपीनामृषभेण चोदितः
प्रतीतवेगः पवनात्मजः कपिः।
प्रहर्षयंस्तां हरिवीरवाहिनीं
चकार रूपं महदात्मनस्तदा॥ ३८॥

इस प्रकार वानरों और भालुओंमें श्रेष्ठ जाम्बवान्की प्रेरणा पाकर कपिवर पवनकुमार हनुमान्को अपने महान् वेगपर विश्वास हो आया। उन्होंने वानर वीरोंकी उस सेनाका हर्ष बढ़ाते हुए उस समय अपना विराट्रूप प्रकट किया॥ ३८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे षट्षष्टितमः सर्गः॥ ६६॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें छाछठवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ६६॥

सप्तषष्टितमः सर्गः

हनुमान्जीका समुद्र लाँघनेके लिये उत्साह प्रकट करना, जाम्बवान्के द्वारा उनकी प्रशंसा तथा वेगपूर्वक छलाँग मारनेके लिये हनुमान्जीका महेन्द्र पर्वतपर चढ़ना

तं दृष्ट्वा जृम्भमाणं ते क्रमितुं शतयोजनम्।
वेगेनापूर्यमाणं च सहसा वानरोत्तमम्॥ १॥
सहसा शोकमुत्सृज्य प्रहर्षेण समन्विताः।
विनेदुस्तुष्टुवुश्चापि हनूमन्तं महाबलम्॥ २॥

सौ योजनके समुद्रको लाँघनेके लिये वानरश्रेष्ठ हनुमान्जीको सहसा बढ़ते और वेगसे परिपूर्ण होते देख सब वानर तुरंत शोक छोड़कर अत्यन्त हर्षसे भर गये और महाबली हनुमान्जीकी स्तुति करते हुए जोर-जोरसे गर्जना करने लगे॥ १-२॥

प्रहृष्टा विस्मिताश्चापि ते वीक्षन्ते समन्ततः।
त्रिविक्रमं कृतोत्साहं नारायणमिव प्रजाः॥ ३॥

वे उनके चारों ओर खड़े हो प्रसन्न एवं चकित होकर उन्हें इस प्रकार देखने लगे, जैसे उत्साहयुक्त नारायणावतार वामनजीको समस्त प्रजाने देखा था॥ ३॥

संस्तूयमानो हनुमान् व्यवर्धत महाबलः।
समाविद्ध्य च लाङ्गूलं हर्षाद् बलमुपेयिवान्॥ ४॥

अपनी प्रशंसा सुनकर महाबली हनुमान्ने शरीरको और भी बढ़ाना आरम्भ किया। साथ ही हर्षके साथ अपनी पूँछको बारम्बार घुमाकर अपने महान् बलका स्मरण किया॥ ४॥

तस्य संस्तूयमानस्य वृद्धैर्वानरपुङ्गवैः।
तेजसाऽऽपूर्यमाणस्य रूपमासीदनुत्तमम्॥ ५॥

बड़े-बूढ़े वानरशिरोमणियोंके मुखसे अपनी प्रशंसा सुनते और तेजसे परिपूर्ण होते हुए हनुमान्जीका रूप उस समय बड़ा ही उत्तम प्रतीत होता था॥ ५॥

यथा विजृम्भते सिंहो विवृते गिरिगह्वरे।
मारुतस्यौरसः पुत्रस्तथा सम्प्रति जृम्भते॥ ६॥

जैसे पर्वतकी विस्तृत कन्दरामें सिंह अँगड़ाई लेता है, उसी प्रकार वायुदेवताके औरस पुत्रने उस समय अपने शरीरको अँगड़ाई ले-लेकर बढ़ाया॥ ६॥

अशोभत मुखं तस्य जृम्भमाणस्य धीमतः।
अम्बरीषोपमं दीप्तं विधूम इव पावकः॥ ७॥

जँभाई लेते समय बुद्धिमान् हनुमान्जीका दीप्तिमान् मुख जलते हुए भाड़ तथा धूमरहित अग्निके समान शोभा पा रहा था॥

हरीणामुत्थितो मध्यात् सम्प्रहृष्टतनूरुहः।
अभिवाद्य हरीन् वृद्धान् हनूमानिदमब्रवीत्॥ ८॥

वे वानरोंके बीचसे उठकर खड़े हो गये। उनके सम्पूर्ण शरीरमें रोमाञ्च हो आया। उस अवस्थामें हनुमान्जीने बड़े-बूढ़े वानरोंको प्रणाम करके इस प्रकार कहा— ॥ ८॥

आरुजन् पर्वताग्राणि हुताशनसखोऽनिलः।
बलवानप्रमेयश्च वायुराकाशगोचरः॥ ९॥

'आकाशमें विचरनेवाले वायुदेवता बड़े बलवान् हैं। उनकी शक्तिकी कोई सीमा नहीं है। वे अग्निदेवके सखा हैं और अपने वेगसे बड़े-बड़े पर्वत-शिखरोंको भी तोड़ डालते हैं॥

तस्याहं शीघ्रवेगस्य शीघ्रगस्य महात्मनः।
मारुतस्यौरसः पुत्रः प्लवनेनास्मि तत्समः॥ १०॥

'अत्यन्त शीघ्र वेगसे चलनेवाले उन शीघ्रगामी महात्मा वायुका मैं औरस पुत्र हूँ और छलाँग मारनेमें उन्हींके समान हूँ॥

उत्सहेयं हि विस्तीर्णमालिखन्तमिवाम्बरम्।
मेरुं गिरिमसङ्गेन परिगन्तुं सहस्रशः॥ ११॥

'कई सहस्र योजनोंतक फैले हुए मेरुगिरिकी, जो आकाशके बहुत बड़े भागको ढके हुए है और उसमें रेखा खींचता-सा जान पड़ता है, मैं बिना विश्राम लिये सहस्रों बार परिक्रमा कर सकता हूँ॥ ११ ॥

बाहुवेगप्रणुन्नेन सागरेणाहमुत्सहे ।
समाप्लावयितुं लोकं सपर्वतनदीह्रदम् ॥ १२ ॥

'अपनी भुजाओंके वेगसे समुद्रको विक्षुब्ध करके उसके जलसे मैं पर्वत, नदी और जलाशयोंसहित सम्पूर्ण जगत्‌को आप्लावित कर सकता हूँ॥ १२ ॥

ममोरुजङ्घावेगेन भविष्यति समुत्थितः ।
समुत्थितमहाग्राहः समुद्रो वरुणालयः ॥ १३ ॥

'वरुणका निवासस्थान यह महासागर मेरी जाँघों और पिंडलियोंके वेगसे विक्षुब्ध हो उठेगा और इसके भीतर रहनेवाले बड़े-बड़े ग्राह ऊपर आ जायँगे॥ १३ ॥

पन्नगाशनमाकाशे पतन्तं पक्षिसेवितम् ।
वैनतेयमहं शक्तः परिगन्तुं सहस्रशः ॥ १४ ॥

'समस्त पक्षी जिनकी सेवा करते हैं, वे सर्पभोजी विनतानन्दन गरुड़ आकाशमें उड़ते हों तो भी मैं हजारों बार उनके चारों ओर घूम सकता हूँ॥ १४ ॥

उदयात् प्रस्थितं वापि ज्वलन्तं रश्मिमालिनम् ।
अनस्तमितमादित्यमहं गन्तुं समुत्सहे ॥ १५ ॥
ततो भूमिमसंस्पृष्ट्वा पुनरागन्तुमुत्सहे ।
प्रवेगेनैव महता भीमेन प्लवगर्षभाः ॥ १६ ॥

'श्रेष्ठ वानरो ! उदयाचलसे चलकर अपने तेजसे प्रज्वलित होते हुए सूर्यदेवको मैं अस्त होनेसे पहले ही छू सकता हूँ और वहाँसे पृथ्वीतक आकर यहाँ पैर रखे बिना ही पुनः उनके पासतक बड़े भयंकर वेगसे जा सकता हूँ॥ १५-१६ ॥

उत्सहेयमतिक्रान्तुं सर्वानाकाशगोचरान् ।
सागरान् शोषयिष्यामि दारयिष्यामि मेदिनीम् ॥ १७ ॥
पर्वतांश्चूर्णयिष्यामि प्लवमानः प्लवङ्गमः ।
हरिष्याम्यूरुवेगेन प्लवमानो महार्णवम् ॥ १८ ॥

'आकाशचारी समस्त ग्रह-नक्षत्र आदिको लाँघकर आगे बढ़ जानेका उत्साह रखता हूँ। मैं चाहूँ तो समुद्रोंको सोख लूँगा, पृथ्वीको विदीर्ण कर दूँगा और कूद-कूदकर पर्वतोंको चूर-चूर कर डालूँगा; क्योंकि मैं दूरतककी छलाँग मारनेवाला वानर हूँ। महान् वेगसे महासागरको फाँदता हुआ मैं अवश्य उसके पार पहुँच जाऊँगा॥ १७-१८ ॥

लतानां विविधं पुष्पं पादपानां च सर्वशः ।
अनुयास्यति मामद्य प्लवमानं विहायसा ॥ १९ ॥

'आज आकाशमें वेगपूर्वक जाते समय लताओं और वृक्षोंके नाना प्रकारके फूल मेरे साथ-साथ उड़ते जायँगे॥

भविष्यति हि मे पन्थाः स्वातेः पन्था इवाम्बरे ।
चरन्तं घोरमाकाशमुत्पतिष्यन्तमेव च ॥ २० ॥
द्रक्ष्यन्ति निपतन्तं च सर्वभूतानि वानराः ।

'बहुत-से फूल बिखरे होनेके कारण मेरा मार्ग आकाशमें अनेक नक्षत्रपुञ्जोंसे सुशोभित स्वातिमार्ग (छायापथ) के समान प्रतीत होगा। वानरो ! आज समस्त प्राणी मुझे भयंकर आकाशमें सीधे जाते हुए, ऊपर उछलते हुए और नीचे उतरते हुए देखेंगे॥

महामेरुप्रतीकाशं मां द्रक्ष्यध्वं प्लवङ्गमाः ॥ २१ ॥
दिवमावृत्य गच्छन्तं ग्रसमानमिवाम्बरम् ।
विधमिष्यामि जीमूतान् कम्पयिष्यामि पर्वतान् ।
सागरं शोषयिष्यामि प्लवमानः समाहितः ॥ २२ ॥

'कपिवरो ! तुम देखोगे, मैं महागिरि मेरुके समान विशाल शरीर धारण करके स्वर्गको ढकता और आकाशको निगलता हुआ-सा आगे बढ़ूँगा, बादलोंको छिन्न-भिन्न कर डालूँगा, पर्वतोंको हिला दूँगा और एकचित्त हो छलाँग मारकर आगे बढ़नेपर समुद्रको भी सुखा दूँगा॥ २१-२२ ॥

वैनतेयस्य वा शक्तिर्मम वा मारुतस्य वा ।
ऋते सुपर्णराजानं मारुतं वा महाबलम् ।
न तद् भूतं प्रपश्यामि यन्मां प्लुतमनुव्रजेत् ॥ २३ ॥

'विनतानन्दन गरुडमें, मुझमें अथवा वायुदेवतामें ही समुद्रको लाँघ जानेकी शक्ति है। पक्षिराज गरुड अथवा महाबली वायुदेवताके सिवा और किसी प्राणीको मैं ऐसा नहीं देखता, जो यहाँसे छलाँग मारनेपर मेरे साथ जा सके॥ २३ ॥

निमेषान्तरमात्रेण निरालम्बनमम्बरम् ।
सहसा निपतिष्यामि घनाद् विद्युदिवोत्थिता ॥ २४ ॥

'मेघसे उत्पन्न हुई विद्युत्‌की भाँति मैं पलक मारते-मारते सहसा निराधार आकाशमें उड़ जाऊँगा॥ २४ ॥

भविष्यति हि मे रूपं प्लवमानस्य सागरम् ।
विष्णोः प्रक्रममाणस्य तदा त्रीन् विक्रमानिव ॥ २५ ॥

'समुद्रको लाँघते समय मेरा वही रूप प्रकट होगा, जो तीनों पगोंको बढ़ाते समय वामनरूपधारी भगवान् विष्णुका हुआ था॥ २५ ॥

बुद्ध्या चाहं प्रपश्यामि मनश्चेष्टा च मे तथा ।
अहं द्रक्ष्यामि वैदेहीं प्रमोदध्वं प्लवङ्गमाः ॥ २६ ॥

'वानरो ! मैं बुद्धिसे जैसा देखता या सोचता हूँ, मेरे मनकी चेष्टा भी उसके अनुरूप ही होती है। मुझे निश्चय जान पड़ता है कि मैं विदेहकुमारीका दर्शन करूँगा, अतः अब तुमलोग खुशियाँ मनाओ॥ २६ ॥

मारुतस्य समो वेगे गरुडस्य समो जवे।
अयुतं योजनानां तु गमिष्यामीति मे मतिः॥ २७॥

'मैं वेगमें वायुदेवता तथा गरुडके समान हूँ। मेरा तो ऐसा विश्वास है कि इस समय मैं दस हजार योजनतक जा सकता हूँ॥

वासवस्य सवज्रस्य ब्रह्मणो वा स्वयम्भुवः।
विक्रम्य सहसा हस्तादमृतं तदिहानये॥ २८॥
लङ्कां वापि समुत्क्षिप्य गच्छेयमिति मे मतिः।

'वज्रधारी इन्द्र अथवा स्वयम्भू ब्रह्माजीके हाथसे भी मैं बलपूर्वक अमृत छीनकर सहसा यहाँ ला सकता हूँ। समूची लङ्काको भी भूमिसे उखाड़कर हाथपर उठाये चल सकता हूँ। ऐसा मेरा विश्वास है'॥ २८½॥

तमेवं वानरश्रेष्ठं गर्जन्तममितप्रभम्॥ २९॥
प्रहृष्टा हरयस्तत्र समुदैक्षन्त विस्मिताः।

अमिततेजस्वी वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌जी जब इस प्रकार गर्जना कर रहे थे, उस समय सम्पूर्ण वानर अत्यन्त हर्षमें भरकर चकितभावसे उनकी ओर देख रहे थे॥ २९½॥

तच्चास्य वचनं श्रुत्वा ज्ञातीनां शोकनाशनम्॥ ३०॥
उवाच परिसंहृष्टो जाम्बवान् प्लवगेश्वरः।

हनुमान्‌जीकी बातें भाई-बन्धुओंके शोकको नष्ट करनेवाली थीं। उन्हें सुनकर वानर-सेनापति जाम्बवान्‌को बड़ी प्रसन्नता हुई। वे बोले—॥ ३०½॥

वीर केसरिणः पुत्र वेगवन् मारुतात्मज॥ ३१॥
ज्ञातीनां विपुलः शोकस्त्वया तात प्रणाशितः।

'वीर! केसरीके सुपुत्र! वेगशाली पवनकुमार! तात! तुमने अपने बन्धुओंका महान् शोक नष्ट कर दिया॥ ३१½॥

तव कल्याणरुचयः कपिमुख्याः समागताः॥ ३२॥
मङ्गलान्यर्थसिद्ध्यर्थं करिष्यन्ति समाहिताः।

'यहाँ आये हुए सभी श्रेष्ठ वानर तुम्हारे कल्याणकी कामना करते हैं। अब ये कार्यकी सिद्धिके उद्देश्यसे एकाग्रचित्त हो तुम्हारे लिये मङ्गलकृत्य—स्वस्तिवाचन आदिका अनुष्ठान करेंगे॥ ३२½॥

ऋषीणां च प्रसादेन कपिवृद्धमतेन च॥ ३३॥
गुरूणां च प्रसादेन सम्प्लव त्वं महार्णवम्।

'ऋषियोंके प्रसाद, वृद्ध वानरोंकी अनुमति तथा गुरुजनोंकी कृपासे तुम इस महासागरके पार हो जाओ॥

स्थास्यामश्चैकपादेन यावदागमनं तव॥ ३४॥
त्वद्गतानि च सर्वेषां जीवनानि वनौकसाम्।

'जबतक तुम लौटकर यहाँ आओगे, तबतक हम तुम्हारी प्रतीक्षामें एक पैरसे खड़े रहेंगे; क्योंकि हम सब वानरोंका जीवन तुम्हारे ही अधीन है'॥ ३४½॥

ततश्च हरिशार्दूलस्तानुवाच वनौकसः॥ ३५॥
कोऽपि लोके न मे वेगं प्लवने धारयिष्यति।

तदनन्तर कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌ने उन वनवासी वानरोंसे कहा—'जब मैं यहाँसे छलाँग मारूँगा, उस समय संसारमें कोई भी मेरे वेगको धारण नहीं कर सकेगा॥ ३५½॥

एतानीह नगस्यास्य शिलासंकटशालिनः॥ ३६॥
शिखराणि महेन्द्रस्य स्थिराणि च महान्ति च।
येषु वेगं गमिष्यामि महेन्द्रशिखरेष्वहम्॥ ३७॥
नानाद्रुमविकीर्णेषु धातुनिष्यन्दशोभिषु।

'शिलाओंके समूहसे शोभा पानेवाले केवल इस महेन्द्रपर्वतके ये शिखर ही ऊँचे-ऊँचे और स्थिर हैं, जिनपर नाना प्रकारके वृक्ष फैले हुए हैं तथा गैरिक आदि धातुओंके समुदाय शोभा दे रहे हैं। इन महेन्द्र-शिखरोंपर ही वेगपूर्वक पैर रखकर मैं यहाँसे छलाँग मारूँगा॥३६-३७½॥

एतानि मम वेगं हि शिखराणि महान्ति च॥ ३८॥
प्लवतो धारयिष्यन्ति योजनानामितः शतम्।

'यहाँसे सौ योजनके लिये छलाँग मारते समय महेन्द्रपर्वतके ये महान् शिखर ही मेरे वेगको धारण कर सकेंगे'॥ ३८½॥

ततस्तु मारुतप्रख्यः स हरिर्मारुतात्मजः।
आरुरोह नगश्रेष्ठं महेन्द्रमरिमर्दनः॥ ३९॥

यों कहकर वायुके समान महापराक्रमी शत्रुमर्दन पवनकुमार हनुमान्‌जी पर्वतोंमें श्रेष्ठ महेन्द्रपर चढ़ गये॥ ३९॥

वृतं नानाविधैः पुष्पैर्मृगसेवितशाद्वलम्।
लताकुसुमसम्बाधं नित्यपुष्पफलद्रुमम्॥ ४०॥

वह पर्वत नाना प्रकारके पुष्पयुक्त वृक्षोंसे भरा हुआ था, वन्य पशु वहाँकी हरी-हरी घास चर रहे थे, लताओं और फूलोंसे वह सघन जान पड़ता था और वहाँके वृक्षोंमें सदा ही फल-फूल लगे रहते थे॥ ४०॥

सिंहशार्दूलसहितं मत्तमातङ्गसेवितम्।
मत्तद्विजगणोद्घुष्टं सलिलोत्पीडसंकुलम्॥ ४१॥

महेन्द्र पर्वतके वनोंमें सिंह और बाघ भी निवास करते थे, मतवाले गजराज विचरते थे, मदमत्त पक्षियोंके समूह सदा कलरव किया करते थे तथा जलके स्रोतों और झरनोंसे वह पर्वत व्याप्त दिखायी देता था॥ ४१॥

महद्भिरुच्छ्रितं शृङ्गैर्महेन्द्रं स महाबलः।
विचचार हरिश्रेष्ठो महेन्द्रसमविक्रमः॥ ४२॥

बड़े-बड़े शिखरोंसे ऊँचे प्रतीत होनेवाले महेन्द्रपर्वतपर आरूढ़ हो इन्द्रतुल्य पराक्रमी महाबली कपिश्रेष्ठ हनुमान् वहाँ इधर-उधर टहलने लगे॥ ४२॥

पादाभ्यां पीडितस्तेन महाशैलो महात्मना।
ररास सिंहाभिहतो महान् मत्त इव द्विपः॥ ४३॥

महाकाय हनुमान्‌जीके दोनों पैरोंसे दबा हुआ वह महान् पर्वत सिंहसे आक्रान्त हुए महान् मदमत्त गजराजकी भाँति चीत्कार-सा करने लगा (वहाँ रहनेवाले प्राणियोंका शब्द ही मानो उसका आर्त चीत्कार था)॥ ४३॥

मुमोच सलिलोत्पीडान् विप्रकीर्णशिलोच्चयः।
वित्रस्तमृगमातङ्गः प्रकम्पितमहाद्रुमः॥ ४४॥

उसके शिलासमूह इधर-उधर बिखर गये। उससे नये-नये झरने फूट निकले। वहाँ रहनेवाले मृग और हाथी भयसे थर्रा उठे और बड़े-बड़े वृक्ष झोंके खाकर झूमने लगे॥ ४४॥

नानागन्धर्वमिथुनैः पानसंसर्गकर्कशैः।
उत्पतद्भिर्विहंगैश्च विद्याधरगणैरपि॥ ४५॥
त्यज्यमानमहासानुः संनिलीनमहोरगः।
शैलशृङ्गशिलोत्पातस्तदाभूत् स महागिरिः॥ ४६॥

मधुपानके संसर्गसे उद्धत चित्तवाले अनेकानेक गन्धर्वोंके जोड़े, विद्याधरोंके समुदाय और उड़ते हुए पक्षी भी उस पर्वतके विशाल शिखरोंको छोड़कर जाने लगे। बड़े-बड़े सर्प बिलोंमें छिप गये तथा उस पर्वतके शिखरोंसे बड़ी-बड़ी शिलाएँ टूट-टूटकर गिरने लगीं। इस प्रकार वह महान् पर्वत बड़ी दुरवस्थामें पड़ गया॥ ४५-४६॥

निःश्वसद्भिस्तदा तैस्तु भुजगैरर्धनिःसृतैः।
सपताक इवाभाति स तदा धरणीधरः॥ ४७॥

बिलोंसे अपने आधे शरीरको बाहर निकालकर लम्बी साँस खींचते हुए सर्पोंसे उपलक्षित होनेवाला वह महान् पर्वत उस समय अनेकानेक पताकाओंसे अलंकृत-सा प्रतीत होता था॥

ऋषिभिस्त्राससम्भ्रान्तैस्त्यज्यमानः शिलोच्चयः।
सीदन् महति कान्तारे सार्थहीन इवाध्वगः॥ ४८॥

भयसे घबराये हुए ऋषि-मुनि भी उस पर्वतको छोड़ने लगे। जैसे विशाल दुर्गम वनमें अपने साथियोंसे बिछुड़ा हुआ एक राही भारी विपत्तिमें फँस जाता है, यही दशा उस महान् पर्वत महेन्द्रकी हो रही थी॥ ४८॥

स वेगवान् वेगसमाहितात्मा
हरिप्रवीरः परवीरहन्ता।
मनः समाधाय महानुभावो
जगाम लङ्कां मनसा मनस्वी॥ ४९॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले वानरसेनाके श्रेष्ठ वीर वेगशाली महामनस्वी महानुभाव हनुमान्‌जीका मन वेगपूर्वक छलाँग मारनेकी योजनामें लगा हुआ था। उन्होंने चित्तको एकाग्र करके मन-ही-मन लङ्काका स्मरण किया॥ ४९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे सप्तषष्टितमः सर्गः॥ ६७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें सरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ६७॥

★

किष्किन्धाकाण्डं सम्पूर्णम्

★

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण खण्ड २ की विषय-सूची

सर्ग	विषय	पृष्ठ-संख्या
	(सुन्दरकाण्डम्)	
१-	हनुमान्जीके द्वारा समुद्रका लङ्घन, मैनाकके द्वारा उनका स्वागत, सुरसापर उनकी विजय तथा सिंहिकाका वध करके उनका समुद्रके उस पार पहुँचकर लङ्काकी शोभा देखना	१
२-	लङ्कापुरीका वर्णन, उसमें प्रवेश करनेके विषयमें हनुमान्जीका विचार, उनका लघु-रूपसे पुरीमें प्रवेश तथा चन्द्रोदयका वर्णन ..	१५
३-	लङ्कापुरीका अवलोकन करके हनुमान्जीका विस्मित होना, उसमें प्रवेश करते समय निशाचरी लङ्काका उन्हें रोकना और उनकी मारसे विह्वल होकर उन्हें पुरीमें प्रवेश करनेकी अनुमति देना	१९
४-	हनुमान्जीका लङ्कापुरी एवं रावणके अन्तःपुरमें प्रवेश	२२
५-	हनुमान्जीका रावणके अन्तःपुरमें घर-घरमें सीताको ढूँढ़ना और उन्हें न देखकर दुःखी होना	२४
६-	हनुमान्जीका रावण तथा अन्यान्य राक्षसोंके घरोंमें सीताजीकी खोज करना	२७
७-	रावणके भवन एवं पुष्पक विमानका वर्णन ..	३०
८-	हनुमान्जीके द्वारा पुनः पुष्पक विमानका दर्शन	३२
९-	हनुमान्जीका रावणके श्रेष्ठ भवन, पुष्पक विमान तथा रावणके रहनेकी सुन्दर हवेलीको देखकर उसके भीतर सोयी हुई सहस्रों सुन्दरी स्त्रियोंका अवलोकन करना	३३
१०-	हनुमान्जीका अन्तःपुरमें सोये हुए रावण तथा गाढ़ निद्रामें पड़ी हुई उसकी स्त्रियोंको देखना तथा मन्दोदरीको सीता समझकर प्रसन्न होना	३९
११-	वह सीता नहीं है—ऐसा निश्चय होनेपर हनुमान्जीका पुनः अन्तःपुरमें और उसकी पानभूमिमें सीताका पता लगाना, उनके मनमें धर्मलोपकी आशङ्का और स्वतः उसका निवारण होना	४३
१२-	सीताके मरणकी आशङ्कासे हनुमान्जीका शिथिल होना; फिर उत्साहका आश्रय लेकर अन्य स्थानोंमें उनकी खोज करना और कहीं भी पता न लगनेसे पुनः उनका चिन्तित होना	४६
१३-	सीताजीके नाशकी आशङ्कासे हनुमान्जीकी चिन्ता, श्रीरामको सीताके न मिलनेकी सूचना देनेसे अनर्थकी सम्भावना देख हनुमान्जीका न लौटनेका निश्चय करके पुनः खोजनेका विचार करना और अशोकवाटिकामें घूमनेके विषयमें तरह-तरहकी बातें सोचना	४८
१४-	हनुमान्जीका अशोकवाटिकामें प्रवेश करके उसकी शोभा देखना तथा एक अशोक वृक्षपर छिपे रहकर वहींसे सीताका अनुसन्धान करना	५३
१५-	वनकी शोभा देखते हुए हनुमान्जीका एक चैत्यप्रासाद (मन्दिर) के पास सीताको दयनीय अवस्थामें देखना, पहचानना और प्रसन्न होना	५६
१६-	हनुमान्जीका मन-ही-मन सीताजीके शील और सौन्दर्यकी सराहना करते हुए उन्हें कष्टमें पड़ी देख स्वयं भी उनके लिये शोक करना	६०
१७-	भयंकर राक्षसियोंसे घिरी हुई सीताके दर्शनसे हनुमान्जीका प्रसन्न होना	६२
१८-	अपनी स्त्रियोंसे घिरे हुए रावणका अशोक-वाटिकामें आगमन और हनुमान्जीका उसे देखना	६५
१९-	रावणको देखकर दुःख, भय और चिन्तामें डुबी हुई सीताकी अवस्थाका वर्णन	६७
२०-	रावणका सीताजीको प्रलोभन	६९
२१-	सीताजीका रावणको समझाना और उसे श्रीरामके सामने नगण्य बताना	७१
२२-	रावणका सीताको दो मासकी अवधि देना, सीताका उसे फटकारना, फिर रावणका उन्हें धमकाकर राक्षसियोंके नियन्त्रणमें रखकर स्त्रियों-सहित पुनः महलको लौट जाना	७४
२३-	राक्षसियोंका सीताजीको समझाना	७७
२४-	सीताजीका राक्षसियोंकी बात माननेसे इनकार कर देना तथा राक्षसियोंका उन्हें मारने-काटनेकी धमकी देना	७८
२५-	राक्षसियोंकी बात माननेसे इनकार करके शोक-संतप्त सीताका विलाप करना	८१

२६-सीताका करुण-विलाप तथा अपने प्राणोंको त्याग देनेका निश्चय करना ८३
२७-त्रिजटाका स्वप्न—राक्षसोंके विनाश और श्रीरघुनाथजीकी विजयकी शुभ सूचना ८६
२८-विलाप करती हुई सीताका प्राण-त्यागके लिये उद्यत होना ९०
२९-सीताजीके शुभ शकुन ९२
३०-सीताजीसे वार्तालाप करनेके विषयमें हनुमान्जी-का विचार करना ९३
३१-हनुमान्जीका सीताको सुनानेके लिये श्रीराम-कथाका वर्णन करना ९५
३२-सीताजीका तर्क-वितर्क ९७
३३-सीताजीका हनुमान्जीको अपना परिचय देते हुए अपने वनगमन और अपहरणका वृत्तान्त बताना ९८
३४-सीताजीका हनुमान्जीके प्रति संदेह और उसका समाधान तथा हनुमान्जीके द्वारा श्रीरामचन्द्रजी-के गुणोंका गान १००
३५-सीताजीके पूछनेपर हनुमान्जीका श्रीरामके शारीरिक चिह्नों और गुणोंका वर्णन करना तथा नर-वानरकी मित्रताका प्रसङ्ग सुनाकर सीताजीके मनमें विश्वास उत्पन्न करना १०३
३६-हनुमान्जीका सीताको मुद्रिका देना, सीताका 'श्रीराम कब मेरा उद्धार करेंगे' यह उत्सुक होकर पूछना तथा हनुमान्जीका श्रीरामके सीताविषयक प्रेमका वर्णन करके उन्हें सान्त्वना देना १०९
३७-सीताका हनुमान्जीसे श्रीरामको शीघ्र बुलानेका आग्रह, हनुमान्जीका सीतासे अपने साथ चलनेका अनुरोध तथा सीताका अस्वीकार करना ११२
३८-सीताजीका हनुमान्जीको पहचानके रूपमें चित्रकूट पर्वतपर घटित हुए एक कौएके प्रसङ्गको सुनाना, भगवान् श्रीरामको शीघ्र बुला लानेके लिये अनुरोध करना और चूड़ामणि देना ११७
३९-चूड़ामणि लेकर जाते हुए हनुमान्जीसे सीताका श्रीराम आदिको उत्साहित करनेके लिये कहना तथा समुद्र-तरणके विषयमें शङ्कित हुई सीताको वानरोंका पराक्रम बताकर हनुमान्जीका आश्वासन देना १२२
४०-सीताका श्रीरामसे कहनेके लिये पुनः संदेश देना तथा हनुमान्जीका उन्हें आश्वासन दे उत्तर दिशाकी ओर जाना १२५
४१-हनुमान्जीके द्वारा प्रमदावन (अशोक-वाटिका) का विध्वंस १२७
४२-राक्षसियोंके मुखसे एक वानरके द्वारा प्रमदावनके विध्वंसका समाचार सुनकर रावणका किंकर नामक राक्षसोंको भेजना और हनुमान्जी-के द्वारा उन सबका संहार १२९
४३-हनुमान्जीके द्वारा चैत्यप्रासादका विध्वंस तथा उसके रक्षकोंका वध १३२
४४-प्रहस्त-पुत्र जम्बुमालीका वध १३३
४५-मन्त्रीके सात पुत्रोंका वध १३५
४६-रावणके पाँच सेनापतियोंका वध १३६
४७-रावणपुत्र अक्षकुमारका पराक्रम और वध ... १३९
४८-इन्द्रजित् और हनुमान्जीका युद्ध, उसके दिव्यास्त्रके बन्धनमें बँधकर हनुमान्जीका रावणके दरबारमें उपस्थित होना १४३
४९-रावणके प्रभावशाली स्वरूपको देखकर हनुमान्जी-के मनमें अनेक प्रकारके विचारोंका उठना .. १४८
५०-रावणका प्रहस्तके द्वारा हनुमान्जीसे लङ्कामें आनेका कारण पुछवाना और हनुमान्का अपने-को श्रीरामका दूत बताना १४९
५१-हनुमान्जीका श्रीरामके प्रभावका वर्णन करते हुए रावणको समझाना १५०
५२-विभीषणका दूतके वधको अनुचित बताकर उसे दूसरा कोई दण्ड देनेके लिये कहना तथा रावण-का उनके अनुरोधको स्वीकार कर लेना १५३
५३-राक्षसोंका हनुमान्जीकी पूँछमें आग लगाकर उन्हें नगरमें घुमाना १५६
५४-लङ्कापुरीका दहन और राक्षसोंका विलाप ... १५९
५५-सीताजीके लिये हनुमान्जीकी चिन्ता और उसका निवारण १६३
५६-हनुमान्जीका पुनः सीताजीसे मिलकर लौटना और समुद्रको लाँघना १६५
५७-हनुमान्जीका समुद्रको लाँघकर जाम्बवान् और अङ्गद आदि सुहृदोंसे मिलना १६८
५८-जाम्बवान्के पूछनेपर हनुमान्जीका अपनी लङ्कायात्राका सारा वृत्तान्त सुनाना १७२
५९-हनुमान्जीका सीताकी दुरवस्था बताकर वानरोंको लङ्कापर आक्रमण करनेके लिये उत्तेजित करना १८२
६०-अङ्गदका लङ्काको जीतकर सीताको ले आनेका उत्साहपूर्ण विचार और जाम्बवान्के द्वारा उसका निवारण १८४

६१-वानरोंका मधुवनमें जाकर वहाँके मधु एवं फलोंका मनमाना उपभोग करना और वन-रक्षकको घसीटना १८५
६२-वानरोंद्वारा मधुवनके रक्षकों और दधिमुखका पराभव तथा सेवकोंसहित दधिमुखका सुग्रीवके पास जाना १८७
६३-दधिमुखसे मधुवनके विध्वंसका समाचार सुनकर सुग्रीवका हनुमान् आदि वानरोंकी सफलताके विषयमें अनुमान १९०
६४-दधिमुखसे सुग्रीवका संदेश सुनकर अङ्गद-हनुमान् आदि वानरोंका किष्किन्धामें पहुँचना और हनुमान्जीका श्रीरामको प्रणाम करके सीता देवीके दर्शनका समाचार बताना १९२
६५-हनुमान्जीका श्रीरामको सीताका समाचार सुनाना १९५
६६-चूडामणिको देखकर और सीताका समाचार पाकर श्रीरामका उनके लिये विलाप १९७
६७-हनुमान्जीका भगवान् श्रीरामको सीताका संदेश सुनाना १९८
६८-हनुमान्जीका सीताके संदेह और अपने द्वारा उनके निवारणका वृत्तान्त बताना २०१

(युद्धकाण्डम्)

१-हनुमान्जीकी प्रशंसा करके श्रीरामका उन्हें हृदयसे लगाना और समुद्रको पार करनेके लिये चिन्तित होना २०३
२-सुग्रीवका श्रीरामको उत्साह प्रदान करना २०४
३-हनुमान्जीका लङ्काके दुर्ग, फाटक, सेना-विभाग और संक्रम आदिका वर्णन करके भगवान् श्रीरामसे सेनाको कूच करनेकी आज्ञा देनेके लिये प्रार्थना करना २०६
४-श्रीराम आदिके साथ वानर-सेनाका प्रस्थान और समुद्र-तटपर उसका पड़ाव २०८
५-श्रीरामका सीताके लिये शोक और विलाप .. २१६
६-रावणका कर्तव्य-निर्णयके लिये अपने मन्त्रियोंसे समुचित सलाह देनेका अनुरोध करना २१८
७-राक्षसोंका रावण और इन्द्रजित्के बल-पराक्रमका वर्णन करते हुए उसे रामपर विजय पानेका विश्वास दिलाना २१९
८-प्रहस्त, दुर्मुख, वज्रदंष्ट्र, निकुम्भ और वज्रहनुका रावणके सामने शत्रु-सेनाको मार गिरानेका उत्साह दिखाना २२१
९-विभीषणका रावणसे श्रीरामकी अजेयता बताकर सीताको लौटा देनेके लिये अनुरोध करना २२३
१०-विभीषणका रावणके महलमें जाना, उसे अपशकुनोंका भय दिखाकर सीताको लौटा देनेके लिये प्रार्थना करना और रावणका उनकी बात न मानकर उन्हें वहाँसे विदा कर देना २२४
११-रावण और उसके सभासदोंका सभाभवनमें एकत्र होना २२६
१२-नगरकी रक्षाके लिये सैनिकोंकी नियुक्ति, रावणका सीताके प्रति अपनी आसक्ति बताकर उनके हरणका प्रसंग बताना और भावी कर्तव्यके लिये सभासदोंकी सम्मति माँगना, कुम्भकर्णका पहले तो उसे फटकारना, फिर समस्त शत्रुओंके वधका स्वयं ही भार उठाना २२९
१३-महापार्श्वका रावणको सीतापर बलात्कारके लिये उकसाना और रावणका शापके कारण अपनेको ऐसा करनेमें असमर्थ बताना तथा अपने पराक्रमके गीत गाना २३२
१४-विभीषणका रामको अजेय बताकर उनके पास सीताको लौटा देनेकी सम्मति देना २३३
१५-इन्द्रजित्द्वारा विभीषणका उपहास तथा विभीषणका उसे फटकारकर सभामें अपनी उचित सम्मति देना २३६
१६-रावणके द्वारा विभीषणका तिरस्कार और विभीषणका भी उसे फटकारकर चल देना .. २३७
१७-विभीषणका श्रीरामकी शरणमें आना और श्रीरामका अपने मन्त्रियोंके साथ उन्हें आश्रय देनेके विषयमें विचार करना २३९
१८-भगवान् श्रीरामका शरणागतकी रक्षाका महत्त्व एवं अपना व्रत बताकर विभीषणसे मिलना . २४४
१९-विभीषणका आकाशसे उतरकर भगवान् श्रीराम-के चरणोंकी शरण लेना, उनके पूछनेपर रावणकी शक्तिका परिचय देना और श्रीरामका रावण-वधकी प्रतिज्ञा करके विभीषणको लङ्काके राज्यपर अभिषिक्त कर उनकी सम्मतिसे समुद्र-तटपर धरना देनेके लिये बैठना २४६
२०-शार्दूलके कहनेसे रावणका शुकको दूत बनाकर सुग्रीवके पास संदेश भेजना, वहाँ वानरोंद्वारा उसकी दुर्दशा, श्रीरामकी कृपासे उसका संकटसे छूटना और सुग्रीवका रावणके लिये उत्तर देना २४९
२१-श्रीरामका समुद्रके तटपर कुशा बिछाकर तीन दिनोंतक धरना देनेपर भी समुद्रके दर्शन न देनेसे कुपित हो उसे बाण मारकर विक्षुब्ध कर देना . २५२

२२-समुद्रकी सलाहके अनुसार नलके द्वारा सागरपर सौ योजन लंबे पुलका निर्माण तथा उसके द्वारा श्रीराम आदिसहित वानरसेनाका उस पार पहुँचकर पड़ाव डालना २५४
२३-श्रीरामका लक्ष्मणसे उत्पातसूचक लक्षणोंका वर्णन और लङ्कापर आक्रमण २६०
२४-श्रीरामका लक्ष्मणसे लङ्काकी शोभाका वर्णन करके सेनाको व्यूहबद्ध खड़ी होनेके लिये आदेश देना, श्रीरामकी आज्ञासे बन्धनमुक्त हुए शुकका रावणके पास जाकर उनकी सैन्यशक्तिकी प्रबलता बताना तथा रावणका अपने बलकी डींग हाँकना २६१
२५-रावणका शुक और सारणको गुप्तरूपसे वानरसेनामें भेजना, विभीषणद्वारा उनका पकड़ा जाना, श्रीरामकी कृपासे छुटकारा पाना तथा श्रीरामका संदेश लेकर लङ्कामें लौटकर उनका रावणको समझाना २६४
२६-सारणका रावणको पृथक्-पृथक् वानर-यूथपतियोंका परिचय देना २६६
२७-वानरसेनाके प्रधान यूथपतियोंका परिचय २६९
२८-शुकके द्वारा सुग्रीवके मन्त्रियोंका, मैन्द और द्विविदका, हनुमान्‌का, श्रीराम, लक्ष्मण, विभीषण और सुग्रीवका परिचय देकर वानर-सेनाकी संख्याका निरूपण करना २७२
२९-रावणका शुक और सारणको फटकारकर अपने दरबारसे निकाल देना, उसके भेजे हुए गुप्तचरोंका श्रीरामकी दयासे वानरोंके चंगुलसे छूटकर लङ्कामें आना २७५
३०-रावणके भेजे हुए गुप्तचरों एवं शार्दूलका उससे वानरसेनाका समाचार बताना और मुख्य-मुख्य वीरोंका परिचय देना २७८
३१-मायारचित श्रीरामका कटा मस्तक दिखाकर रावणद्वारा सीताको मोहमें डालनेका प्रयत्न .. २८०
३२-श्रीरामके मारे जानेका विश्वास करके सीताका विलाप तथा रावणका सभामें जाकर मन्त्रियोंके सलाहसे युद्धविषयक उद्योग करना २८३
३३-सरमाका सीताको सान्त्वना देना, रावणकी मायाका भेद खोलना, श्रीरामके आगमनका प्रिय समाचार सुनाना और उनके विजयी होने-का विश्वास दिलाना २८६
३४-सीताके अनुरोधसे सरमाका उन्हें मन्त्रियोंसहित रावणका निश्चित विचार बताना २८८
३५-माल्यवान्‌का रावणको श्रीरामसे संधि करनेके लिये समझाना २९०
३६-माल्यवान्‌पर आक्षेप और नगरकी रक्षाका प्रबन्ध करके रावणका अपने अन्तःपुरमें जाना २९३
३७-विभीषणका श्रीरामसे रावणद्वारा किये गये लङ्काकी रक्षाके प्रबन्धका वर्णन तथा श्रीराम-द्वारा लङ्काके विभिन्न द्वारोंपर आक्रमण करनेके लिये अपने सेनापतियोंकी नियुक्ति २९४
३८-श्रीरामका प्रमुख वानरोंके साथ सुवेल पर्वतपर चढ़कर वहाँ रातमें निवास करना २९६
३९-वानरोंसहित श्रीरामका सुवेल-शिखरसे लङ्कापुरीका निरीक्षण करना २९८
४०-सुग्रीव और रावणका मल्लयुद्ध ३००
४१-श्रीरामका सुग्रीवको दुःसाहससे रोकना, लङ्काके चारों द्वारोंपर वानरसैनिकोंकी नियुक्ति, रामदूत अङ्गदका रावणके महलमें पराक्रम तथा वानरों-के आक्रमणसे राक्षसोंको भय ३०३
४२-लङ्कापर वानरोंकी चढ़ाई तथा राक्षसोंके साथ उनका घोर युद्ध ३०९
४३-द्वन्द्वयुद्धमें वानरोंद्वारा राक्षसोंकी पराजय ३१२
४४-रातमें वानरों और राक्षसोंका घोर युद्ध, अङ्गदके द्वारा इन्द्रजित्‌की पराजय, मायासे अदृश्य हुए इन्द्रजित्‌का नागमय बाणोंद्वारा श्रीराम और लक्ष्मणको बाँधना ३१५
४५-इन्द्रजित्‌के बाणोंसे श्रीराम और लक्ष्मणका अचेत होना और वानरोंका शोक करना ३१७
४६-श्रीराम और लक्ष्मणको मूर्छित देख वानरोंका शोक, इन्द्रजित्‌का हर्षोद्गार, विभीषणका सुग्रीव-को समझाना, इन्द्रजित्‌का लङ्कामें जाकर पिताको शत्रुवधका वृत्तान्त बताना और प्रसन्न हुए रावणके द्वारा अपने पुत्रका अभिनन्दन ३२०
४७-वानरोंद्वारा श्रीराम और लक्ष्मणकी रक्षा, रावणकी आज्ञासे राक्षसियोंका सीताको पुष्पक-विमानद्वारा रणभूमिमें ले जाकर श्रीराम और लक्ष्मणका दर्शन कराना और सीताका दुःखी होकर रोना ३२३
४८-सीताका विलाप और त्रिजटाका उन्हें समझा-बुझाकर श्रीराम-लक्ष्मणके जीवित होनेका विश्वास दिलाकर पुनः लङ्कामें ही लौटा लाना . ३२४
४९-श्रीरामका सचेत होकर लक्ष्मणके लिये विलाप करना और स्वयं प्राणत्यागका विचार करके वानरोंको लौट जानेकी आज्ञा देना ३२५

५०-विभीषणको इन्द्रजित् समझकर वानरोंका पलायन और सुग्रीवकी आज्ञासे जाम्बवान्का उन्हें सान्त्वना देना, विभीषणका विलाप और सुग्रीवका उन्हें समझाना, गरुड़का आना और श्रीराम-लक्ष्मणको नागपाशसे मुक्त करके चला जाना ३२९

५१-श्रीरामके बन्धनमुक्त होनेका पता पाकर चिन्तित हुए रावणका धूम्राक्षको युद्धके लिये भेजना और सेनासहित धूम्राक्षका नगरसे बाहर आना··· ३३३

५२-धूम्राक्षका युद्ध और हनुमान्जीके द्वारा उसका वध ३३६

५३-वज्रदंष्ट्रका सेनासहित युद्धके लिये प्रस्थान, वानरों और राक्षसोंका युद्ध, वज्रदंष्ट्रद्वारा वानरोंका तथा अङ्गदद्वारा राक्षसोंका संहार .. ३३८

५४-वज्रदंष्ट्र और अङ्गदका युद्ध तथा अङ्गदके हाथसे उस निशाचरका वध ३४०

५५-रावणकी आज्ञासे अकम्पन आदि राक्षसोंका युद्धमें आना और वानरोंके साथ उनका घोर युद्ध ३४३

५६-हनुमान्जीके द्वारा अकम्पनका वध ३४५

५७-प्रहस्तका रावणकी आज्ञासे विशाल सेनासहित युद्धके लिये प्रस्थान ३४७

५८-नीलके द्वारा प्रहस्तका वध ३५०

५९-प्रहस्तके मारे जानेसे दुःखी हुए रावणका स्वयं ही युद्धके लिये पधारना, उसके साथ आये हुए मुख्य वीरोंका परिचय, रावणकी मारसे सुग्रीवका अचेत होना, लक्ष्मणका युद्धमें आना, हनुमान् और रावणमें थप्पड़ोंकी मार, रावणद्वारा नीलका मूर्च्छित होना, लक्ष्मणका शक्तिके आघातसे मूर्च्छित एवं सचेत होना तथा श्रीरामसे परास्त होकर रावणका लङ्कामें घुस जाना ३५४

६०-अपनी पराजयसे दुःखी हुए रावणकी आज्ञासे सोये हुए कुम्भकर्णका जगाया जाना और उसे देखकर वानरोंका भयभीत होना ३६५

६१-विभीषणका श्रीरामसे कुम्भकर्णका परिचय देना और श्रीरामकी आज्ञासे वानरोंका युद्धके लिये लङ्काके द्वारोंपर डट जाना ३७२

६२-कुम्भकर्णका रावणके भवनमें प्रवेश तथा रावण-का रामसे भय बताकर उसे शत्रुसेनाके विनाशके लिये प्रेरित करना ३७४

६३-कुम्भकर्णका रावणको उसके कुकृत्योंके लिये उपालम्भ देना और उसे धैर्य बँधाते हुए युद्ध-विषयक उत्साह प्रकट करना ३७६

६४-महोदरका कुम्भकर्णके प्रति आक्षेप करके रावणको बिना युद्धके ही अभीष्ट वस्तुकी प्राप्तिका उपाय बताना ३८०

६५-कुम्भकर्णकी रणयात्रा ३८३

६६-कुम्भकर्णके भयसे भागे हुए वानरोंका अङ्गद-द्वारा प्रोत्साहन और आवाहन, कुम्भकर्णद्वारा वानरोंका संहार, पुनः वानरसेनाका पलायन और अङ्गदका उसे समझा-बुझाकर लौटाना . ३८७

६७-कुम्भकर्णका भयंकर युद्ध और श्रीरामके हाथसे उसका वध ३८९

६८-कुम्भकर्णके वधका समाचार सुनकर रावणका विलाप ४०२

६९-रावणके पुत्रों और भाइयोंका युद्धके लिये जाना और नरान्तकका अङ्गदके द्वारा वध ४०४

७०-हनुमान्जीके द्वारा देवान्तक और त्रिशिराका, नीलके द्वारा महोदरका तथा ऋषभके द्वारा महापार्श्वका वध ४११

७१-अतिकायका भयंकर युद्ध और लक्ष्मणके द्वारा उसका वध ४१५

७२-रावणकी चिन्ता तथा उसका राक्षसोंको पुरीकी रक्षाके लिये सावधान रहनेका आदेश ४२३

७३-इन्द्रजित्के ब्रह्मास्त्रसे वानरसेनासहित श्रीराम और लक्ष्मणका मूर्च्छित होना ४२४

७४-जाम्बवान्के आदेशसे हनुमान्जीका हिमालयसे दिव्य ओषधियोंके पर्वतको लाना और उन ओषधियोंकी गन्धसे श्रीराम, लक्ष्मण एवं समस्त वानरोंका पुनः स्वस्थ होना ४३०

७५-लङ्कापुरीका दहन तथा राक्षसों और वानरोंका भयंकर युद्ध ४३६

७६-अङ्गदके द्वारा कम्पन और प्रजङ्घका, द्विविदके द्वारा शोणिताक्षका, मैन्दके द्वारा यूपाक्षका और सुग्रीवके द्वारा कुम्भका वध ४४०

७७-हनुमान्के द्वारा निकुम्भका वध ४४६

७८-रावणकी आज्ञासे मकराक्षका युद्धके लिये प्रस्थान ४४७

७९-श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा मकराक्षका वध ४४९

८०-रावणकी आज्ञासे इन्द्रजित्का घोर युद्ध तथा उसके वधके विषयमें श्रीराम और लक्ष्मण-की बातचीत ४५१

८१- इन्द्रजित्‌के द्वारा मायामयी सीताका वध ४५४
८२- हनुमान्‌जीके नेतृत्वमें वानरों और निशाचरोंका युद्ध, हनुमान्‌जीका श्रीरामके पास लौटना और इन्द्रजित्‌का निकुम्भिला-मन्दिरमें जाकर होम करना ४५७
८३- सीताके मारे जानेकी बात सुनकर श्रीरामका शोकसे मूर्च्छित होना और लक्ष्मणका उन्हें समझाते हुए पुरुषार्थके लिये उद्यत होना .. ४५८
८४- विभीषणका श्रीरामको इन्द्रजित्‌की मायाका रहस्य बताकर सीताके जीवित होनेका विश्वास दिलाना और लक्ष्मणको सेनासहित निकुम्भिला-मन्दिरमें भेजनेके लिये अनुरोध करना ४६२
८५- विभीषणके अनुरोधसे श्रीरामचन्द्रजीका लक्ष्मणको इन्द्रिजत्‌के वधके लिये जानेकी आज्ञा देना और सेनासहित लक्ष्मणका निकुम्भिला-मन्दिरके पास पहुँचना ४६४
८६- वानरों और राक्षसोंका युद्ध, हनुमान्‌जीके द्वारा राक्षससेनाका संहार और उनका इन्द्रजित्‌को द्वन्द्वयुद्धके लिये ललकारना तथा लक्ष्मणका उसे देखना ४६६
८७- इन्द्रजित् और विभीषणकी रोषपूर्ण बातचीत ४६८
८८- लक्ष्मण और इन्द्रजित्‌की परस्पर रोषभरी बातचीत और घोर युद्ध ४७०
८९- विभीषणका राक्षसोंपर प्रहार, उनका वानर-यूथपतियोंको प्रोत्साहन देना, लक्ष्मणद्वारा इन्द्रजित्‌के सारथिका और वानरोंद्वारा उसके घोड़ोंका वध ४७६
९०- इन्द्रजित् और लक्ष्मणका भयंकर युद्ध तथा इन्द्रजित्‌का वध ४७९
९१- लक्ष्मण और विभीषण आदिका श्रीरामचन्द्रजीके पास आकर इन्द्रजित्‌के वधका समाचार सुनाना, प्रसन्न हुए श्रीरामके द्वारा लक्ष्मणको हृदयसे लगाकर उनकी प्रशंसा तथा सुषेणद्वारा लक्ष्मण आदिकी चिकित्सा ४८५
९२- रावणका शोक तथा सुपार्श्वके समझानेसे उसका सीता-वधसे निवृत्त होना ४८७
९३- श्रीरामद्वारा राक्षससेनाका संहार ४९१
९४- राक्षसियोंका विलाप ४९४
९५- रावणका अपने मन्त्रियोंको बुलाकर शत्रुवध-विषयक अपना उत्साह प्रकट करना और सबके साथ रणभूमिमें आकर पराक्रम दिखाना ... ४९७
९६- सुग्रीवद्वारा राक्षससेनाका संहार और विरूपाक्षका वध ५००
९७- सुग्रीवके साथ महोदरका घोर युद्ध तथा वध ५०२
९८- अङ्गदके द्वारा महापार्श्वका वध ५०५
९९- श्रीराम और रावणका युद्ध ५०६
१००-राम और रावणका युद्ध, रावणकी शक्तिसे लक्ष्मणका मूर्च्छित होना तथा रावणका युद्धसे भागना ५०९
१०१-श्रीरामका विलाप तथा हनुमान्‌जीकी लायी हुई ओषधिके सुषेणद्वारा किये गये प्रयोगसे लक्ष्मणका सचेत हो उठना ५१३
१०२-इन्द्रके भेजे हुए रथपर बैठकर श्रीरामका रावणके साथ युद्ध करना ५१७
१०३-श्रीरामका रावणको फटकारना और उनके द्वारा घायल किये गये रावणको सारथिका रणभूमिसे बाहर ले जाना ५२१
१०४-रावणका सारथिको फटकारना और सारथिका अपने उत्तरसे रावणको संतुष्ट करके उसके रथको रणभूमिमें पहुँचाना ५२३
१०५-अगस्त्य मुनिका श्रीरामको विजयके लिये 'आदित्यहृदय' के पाठकी सम्मति देना ... ५२५
१०६-रावणके रथको देख श्रीरामका मातलिको सावधान करना, रावणकी पराजयके सूचक उत्पातों तथा रामकी विजय सूचित करनेवाले शुभ शकुनोंका वर्णन ५२८
१०७-श्रीराम और रावणका घोर युद्ध ५३०
१०८-श्रीरामके द्वारा रावणका वध ५३५
१०९-विभीषणका विलाप और श्रीरामका उन्हें समझाकर रावणके अन्त्येष्टि-संस्कारके लिये आदेश देना ५३७
११०-रावणकी स्त्रियोंका विलाप ५३९
१११-मन्दोदरीका विलाप तथा रावणके शवका दाह-संस्कार ५४१
११२-विभीषणका राज्याभिषेक और श्रीरघुनाथजीका हनुमान्‌जीके द्वारा सीताके पास संदेश भेजना ५४९
११३-हनुमान्‌जीका सीताजीसे बातचीत करके लौटना और उनका संदेश श्रीरामको सुनाना . ५५०
११४-श्रीरामकी आज्ञासे विभीषणका सीताको उनके समीप लाना और सीताका प्रियतमके मुख-चन्द्रका दर्शन करना ५५४

११५-सीताके चरित्रपर संदेह करके श्रीरामका उन्हें ग्रहण करनेसे इन्कार करना और अन्यत्र जानेके लिये कहना ५५७
११६-सीताका श्रीरामको उपालम्भपूर्ण उत्तर देकर अपने सतीत्वकी परीक्षा देनेके लिये अग्निमें प्रवेश करना ५५८
११७-भगवान् श्रीरामके पास देवताओंका आगमन तथा ब्रह्माद्वारा उनकी भगवत्ताका प्रतिपादन एवं स्तवन ५६१
११८-मूर्तिमान् अग्निदेवका सीताको लेकर चितासे प्रकट होना और श्रीरामको समर्पित करके उनकी पवित्रताको प्रमाणित करना तथा श्रीरामका सीताको सहर्ष स्वीकार करना ५६३
११९-महादेवजीकी आज्ञासे श्रीराम और लक्ष्मणका विमानद्वारा आये हुए राजा दशरथको प्रणाम करना और दशरथका दोनों पुत्रों तथा सीताको आवश्यक संदेश दे इन्द्रलोकको जाना ५६५
१२०-श्रीरामके अनुरोधसे इन्द्रका मरे हुए वानरोंको जीवित करना, देवताओंका प्रस्थान और वानर-सेनाका विश्राम ५६७
१२१-श्रीरामका अयोध्या जानेके लिये उद्यत होना और उनकी आज्ञासे विभीषणका पुष्पक विमानको मँगाना ५६९
१२२-श्रीरामकी आज्ञासे विभीषणद्वारा वानरोंका विशेष सत्कार तथा सुग्रीव और विभीषणसहित वानरोंको साथ लेकर श्रीरामका पुष्पक विमानद्वारा अयोध्याको प्रस्थान करना ५७१
१२३-अयोध्याकी यात्रा करते समय श्रीरामका सीताजी-को मार्गके स्थान दिखाना ५७३
१२४-श्रीरामका भरद्वाज-आश्रमपर उतरकर महर्षिसे मिलना और उनसे वर पाना ५७६
१२५-हनुमान्‌जीका निषादराज गुह तथा भरतजीको श्रीरामके आगमनकी सूचना देना और प्रसन्न हुए भरतका उन्हें उपहार देनेकी घोषणा करना ... ५७८
१२६-हनुमान्‌जीका भरतको श्रीराम, लक्ष्मण और सीताके वनवाससम्बन्धी सारे वृत्तान्तोंको सुनाना ५८१
१२७-अयोध्यामें श्रीरामके स्वागतकी तैयारी, भरतके साथ सबका श्रीरामकी अगवानीके लिये नन्दि-ग्राममें पहुँचना, श्रीरामका आगमन, भरत आदि-के साथ उनका मिलाप तथा पुष्पक विमानको कुबेरके पास भेजना ५८५
१२८-भरतका श्रीरामको राज्य लौटाना, श्रीरामकी नगरयात्रा, राज्याभिषेक, वानरोंकी विदाई तथा ग्रन्थका माहात्म्य ५८९

(उत्तरकाण्डम्)

१-श्रीरामके दरबारमें महर्षियोंका आगमन, उनके साथ उनकी बातचीत तथा श्रीरामके प्रश्न ५९७
२-महर्षि अगस्त्यके द्वारा पुलस्त्यके गुण और तपस्याका वर्णन तथा उनसे विश्रवा मुनिकी उत्पत्तिका कथन ६००
३-विश्रवासे वैश्रवण (कुबेर) की उत्पत्ति, उनकी तपस्या, वरप्राप्ति तथा लङ्कामें निवास ६०२
४-राक्षसवंशका वर्णन—हेति, विद्युत्केश और सुकेशकी उत्पत्ति ६०४
५-सुकेशके पुत्र माल्यवान्, सुमाली और मालीकी संतानोंका वर्णन ६०७
६-देवताओंका भगवान् शङ्करकी सलाहसे राक्षसोंके वधके लिये भगवान् विष्णुकी शरणमें जाना और उनसे आश्वासन पाकर लौटना, राक्षसोंका देवताओंपर आक्रमण और भगवान् विष्णुका उनकी सहायताके लिये आना ६१०
७-भगवान् विष्णुद्वारा राक्षसोंका संहार और पलायन ६१४
८-माल्यवान्‌का युद्ध और पराजय तथा सुमाली आदि सब राक्षसोंका रसातलमें प्रवेश ६१८
९-रावण आदिका जन्म और उनका तपके लिये गोकर्ण-आश्रममें जाना ६२०
१०-रावण आदिकी तपस्या और वर-प्राप्ति ६२३
११-रावणका संदेश सुनकर पिताकी आज्ञासे कुबेरका लङ्काको छोड़कर कैलासपर जाना, लङ्कामें रावणका राज्याभिषेक तथा राक्षसोंका निवास ६२६
१२-शूर्पणखा तथा रावण आदि तीनों भाइयोंका विवाह और मेघनादका जन्म ६२९
१३-रावणद्वारा बनवाये गये शयनागारमें कुम्भकर्ण-का सोना, रावणका अत्याचार, कुबेरका दूत भेजकर उसे समझाना तथा कुपित हुए रावणका उस दूतको मार डालना ६३१
१४-मन्त्रियोंसहित रावणका यक्षोंपर आक्रमण और उनकी पराजय ६३४

१५-माणिभद्र तथा कुबेरकी पराजय और रावणद्वारा पुष्पक विमानका अपहरण ६३६
१६-नन्दीश्वरका रावणको शाप, भगवान् शङ्करद्वारा रावणका मानभङ्ग तथा उनसे चन्द्रहास नामक खड्गकी प्राप्ति ६३९
१७-रावणसे तिरस्कृत ब्रह्मर्षिकन्या वेदवतीका उसे शाप देकर अग्निमें प्रवेश करना और दूसरे जन्ममें सीताके रूपमें प्रादुर्भूत होना ६४२
१८-रावणद्वारा मरुत्तकी पराजय तथा इन्द्र आदि देवताओंका मयूर आदि पक्षियोंको वरदान देना ६४५
१९-रावणके द्वारा अनरण्यका वध तथा उनके द्वारा उसे शापकी प्राप्ति ६४७
२०-नारदजीका रावणको समझाना, उनके कहनेसे रावणका युद्धके लिये यमलोकको जाना तथा नारदजीका इस युद्धके विषयमें विचार करना ६४९
२१-रावणका यमलोकपर आक्रमण और उसके द्वारा यमराजके सैनिकोंका संहार ६५२
२२-यमराज और रावणका युद्ध, यमका रावणके वधके लिये उठाये हुए कालदण्डको ब्रह्माजीके कहनेसे लौटा लेना, विजयी रावणका यमलोकसे प्रस्थान ६५४
२३-रावणके द्वारा निवातकवचोंसे मैत्री, कालकेयोंका वध तथा वरुणपुत्रोंकी पराजय ६५८
२४-रावणद्वारा अपहृत हुई देवता आदिकी कन्याओं और स्त्रियोंका विलाप एवं शाप, रावणका रोती हुई शूर्पणखाको आश्वासन देना और उसे खरके साथ दण्डकारण्यमें भेजना ... ६६१
२५-यज्ञोंद्वारा मेघनादकी सफलता, विभीषणका रावणको पर-स्त्री-हरणके दोष बताना, कुम्भीनसीको आश्वासन दे मधुको साथ ले रावणका देवलोकपर आक्रमण करना ६६४
२६-रावणका रम्भापर बलात्कार करना और नलकूबरका रावणको भयंकर शाप देना ६६७
२७-सेनासहित रावणका इन्द्रलोकपर आक्रमण, इन्द्रकी भगवान् विष्णुसे सहायताके लिये प्रार्थना, भविष्यमें रावण-वधकी प्रतिज्ञा करके विष्णुका इन्द्रको लौटाना, देवताओं और राक्षसोंका युद्ध तथा वसुके द्वारा सुमालीका वध ६७१
२८-मेघनाद और जयन्तका युद्ध, पुलोमाका जयन्तको अन्यत्र ले जाना, देवराज इन्द्रका युद्धभूमिमें पदार्पण, रुद्रों तथा मरुद्गणोंद्वारा राक्षससेनाका संहार और इन्द्र तथा रावणका युद्ध ६७४
२९-रावणका देवसेनाके बीचसे होकर निकलना, देवताओंका उसे कैद करनेके लिये प्रयत्न, मेघनादका मायाद्वारा इन्द्रको बन्दी बनाना तथा विजयी होकर सेनासहित लङ्काको लौटना ६७७
३०-ब्रह्माजीका इन्द्रजित्को वरदान देकर इन्द्रको उसकी कैदसे छुड़ाना और उनके पूर्वकृत पापकर्मको याद दिलाकर उनसे वैष्णवयज्ञका अनुष्ठान करनेके लिये कहना, उस यज्ञको पूर्ण करके इन्द्रका स्वर्गलोकमें जाना ६८०
३१-रावणका माहिष्मतीपुरीमें जाना और वहाँके राजा अर्जुनको न पाकर मन्त्रियोंसहित उसका विन्ध्यगिरिके समीप नर्मदामें नहाकर भगवान् शिवकी आराधना करना ६८४
३२-अर्जुनकी भुजाओंसे नर्मदाके प्रवाहका अवरुद्ध होना, रावणके पुष्पोपहारका बह जाना, फिर रावण आदि निशाचरोंका अर्जुनके साथ युद्ध तथा अर्जुनका रावणको कैद करके अपने नगरमें ले जाना ६८७
३३-पुलस्त्यजीका रावणको अर्जुनकी कैदसे छुटकारा दिलाना ६९१
३४-वालीके द्वारा रावणका पराभव तथा रावणका उन्हें अपना मित्र बनाना ६९३
३५-हनुमान्जीकी उत्पत्ति, शैशवावस्थामें इनका सूर्य, राहु और ऐरावतपर आक्रमण, इन्द्रके वज्रसे इनकी मूर्छा, वायुके कोपसे संसारके प्राणियोंको कष्ट और उन्हें प्रसन्न करनेके लिये देवताओंसहित ब्रह्माजीका उनके पास जाना ६९६
३६-ब्रह्मा आदि देवताओंका हनुमान्जीको जीवित करके नाना प्रकारके वरदान देना और वायुका उन्हें लेकर अञ्जनाके घर जाना, ऋषियोंके शापसे हनुमान्जीको अपने बलकी विस्मृति, श्रीरामका अगस्त्य आदि ऋषियोंसे अपने यज्ञमें पधारनेके लिये प्रस्ताव करके उन्हें विदा देना ७००
३७-श्रीरामका सभासदोंके साथ राजसभामें बैठना .. ७०५
३८-श्रीरामके द्वारा राजा जनक, युधाजित्, प्रतर्दन तथा अन्य नरेशोंकी विदाई ७०६
३९-राजाओंका श्रीरामके लिये भेंट देना और श्रीरामका वह सब लेकर अपने मित्रों, वानरों,

रीछों और राक्षसोंको बाँट देना तथा वानर आदिका वहाँ सुखपूर्वक रहना ७०८

-वानरों, रीछों और राक्षसोंको विदाई ७१०

-कुबेरके भेजे हुए पुष्पक विमानका आना और श्रीरामसे पूजित एवं अनुगृहीत होकर अदृश्य हो जाना, भरतके द्वारा श्रीरामराज्यके विलक्षण प्रभावका वर्णन ७१२

-अशोकवनिकामें श्रीराम और सीताका विहार, गर्भिणी सीताका तपोवन देखनेकी इच्छा प्रकट करना और श्रीरामका इसके लिये स्वीकृति देना ७१४

-भद्रका पुरवासियोंके मुखसे सीताके विषयमें सुनी हुई अशुभ चर्चासे श्रीरामको अवगत कराना ... ७१६

-श्रीरामके बुलानेसे सब भाइयोंका उनके पास आना ७१७

-श्रीरामका भाइयोंके समक्ष सर्वत्र फैले हुए लोकापवादकी चर्चा करके सीताको वनमें छोड़ आनेके लिये लक्ष्मणको आदेश देना ७१९

-लक्ष्मणका सीताको रथपर बिठाकर उन्हें वनमें छोड़नेके लिये ले जाना और गङ्गाजीके तटपर पहुँचना ७२१

-लक्ष्मणका सीताजीको नावसे गङ्गाजीके उस पार पहुँचाकर बड़े दुःखसे उन्हें उनके त्यागे जानेकी बात बताना ७२३

-सीताका दुःखपूर्ण वचन, श्रीरामके लिये उनका संदेश, लक्ष्मणका जाना और सीताका रोना ... ७२४

-मुनिकुमारोंसे समाचार पाकर वाल्मीकिका सीताके पास आ उन्हें सान्त्वना देना और आश्रममें लिवा ले जाना ७२६

-लक्ष्मण और सुमन्त्रकी बातचीत ७२७

-मार्गमें सुमन्त्रका दुर्वासाके मुखसे सुनी हुई भृगुऋषिके शापकी कथा कहकर तथा भविष्यमें होनेवाली कुछ बातें बताकर दुःखी लक्ष्मणको शान्त करना ७२९

-अयोध्याके राजभवनमें पहुँचकर लक्ष्मणका दुःखी श्रीरामसे मिलना और उन्हें सान्त्वना देना ७३०

-श्रीरामका कार्यार्थी पुरुषोंकी उपेक्षासे राजा नृगको मिलनेवाली शापकी कथा सुनाकर लक्ष्मणको देखभालके लिये आदेश देना ७३२

-राजा नृगका एक सुन्दर गड्ढा बनवाकर अपने पुत्रको राज्य दे स्वयं उसमें प्रवेश करके शाप भोगना ७३३

५५-राजा निमि और वसिष्ठका एक-दूसरेके शापसे देहत्याग ७३५

५६-ब्रह्माजीके कहनेसे वसिष्ठका वरुणके वीर्यमें आवेश, वरुणका उर्वशीके समीप एक कुम्भमें अपने वीर्यका आधान तथा मित्रके शापसे उर्वशीका भूतलमें राजा पुरूरवाके पास रहकर पुत्र उत्पन्न करना ७३६

५७-वसिष्ठका नूतन शरीर धारण और निमिका प्राणियोंके नयनोंमें निवास ७३८

५८-ययातिको शुक्राचार्यका शाप ७३९

५९-ययातिका अपने पुत्र पूरुको अपना बुढ़ापा देकर बदलेमें उसका यौवन लेना और भोगोंसे तृप्त होकर पुनः दीर्घकालके बाद उसे उसका यौवन लौटा देना, पूरुका अपने पिताकी गद्दीपर अभिषेक तथा यदुको शाप ७४१

प्रक्षिप्त सर्ग १-श्रीरामके द्वारपर कार्यार्थी कुत्तेका आगमन और श्रीरामका उसे दरबारमें लानेका आदेश ७४३

२-कुत्तेके प्रति श्रीरामका न्याय, उसकी इच्छाके अनुसार उसे मारनेवाले ब्राह्मण-को मठाधीश बना देना और कुत्तेका मठाधीश होनेका दोष बताना ७४५

६०-श्रीरामके दरबारमें च्यवन आदि ऋषियोंका शुभागमन, श्रीरामके द्वारा उनका सत्कार करके उनके अभीष्ट कार्यको पूर्ण करनेकी प्रतिज्ञा तथा ऋषियोंद्वारा उनकी प्रशंसा ७४८

६१-ऋषियोंका मधुको प्राप्त हुए वर तथा लवणासुरके बल और अत्याचारका वर्णन करके उससे प्राप्त होनेवाले भयको दूर करनेके लिये श्रीरघुनाथजीसे प्रार्थना करना ७५०

६२-श्रीरामका ऋषियोंसे लवणासुरके आहार-विहारके विषयमें पूछना और शत्रुघ्नकी रुचि जान-कर उन्हें लवण-वधके कार्यमें नियुक्त करना .. ७५२

६३-श्रीरामद्वारा शत्रुघ्नका राज्याभिषेक तथा उन्हें लवणासुरके शूलसे बचनेके उपायका प्रतिपादन ७५३

६४-श्रीरामकी आज्ञाके अनुसार शत्रुघ्नका सेनाको आगे भेजकर एक मासके पश्चात् स्वयं भी प्रस्थान करना ७५५

६५-महर्षि वाल्मीकिका शत्रुघ्नको सुदासपुत्र कल्माषपादकी कथा सुनाना ७५६

६६-सीताके दो पुत्रोंका जन्म, वाल्मीकिद्वारा उनकी रक्षाकी व्यवस्था और इस समाचारसे प्रसन्न हुए शत्रुघ्नका वहाँसे प्रस्थान करके यमुनातटपर पहुँचना ७५९
६७-च्यवन मुनिका शत्रुघ्नको लवणासुरके शूलकी शक्तिका परिचय देते हुए राजा मान्धाताके वधका प्रसंग सुनाना ७६०
६८-लवणासुरका आहारके लिये निकलना, शत्रुघ्नका मधुपुरीके द्वारपर डट जाना और लौटे हुए लवणासुरके साथ उनकी रोषभरी बातचीत ७६२
६९-शत्रुघ्न और लवणासुरका युद्ध तथा लवणका वध ७६३
७०-देवताओंसे वरदान पा शत्रुघ्नका मधुरापुरीको बसाकर बारहवें वर्षमें वहाँसे श्रीरामके पास जानेका विचार करना ७६६
७१-शत्रुघ्नका थोड़ेसे सैनिकोंके साथ अयोध्याको प्रस्थान, मार्गमें वाल्मीकिके आश्रममें रामचरितका गान सुनकर उन सबका आश्चर्यचकित होना ७६७
७२-वाल्मीकिजीसे विदा ले शत्रुघ्नजीका अयोध्यामें जाकर श्रीराम आदिसे मिलना और सात दिनोंतक वहाँ रहकर पुनः मधुपुरीको प्रस्थान करना ७६९
७३-एक ब्राह्मणका अपने मरे हुए बालकको राजद्वारपर लाना तथा राजाको ही दोषी बताकर विलाप करना ७७०
७४-नारदजीका श्रीरामसे एक तपस्वी शूद्रके अधर्माचरणको ब्राह्मणबालककी मृत्युमें कारण बताना ७७२
७५-श्रीरामका पुष्पक विमानद्वारा अपने राज्यकी सभी दिशाओंमें घूमकर दुष्कर्मका पता लगाना; किंतु सर्वत्र सत्कर्म ही देखकर दक्षिण दिशामें एक शूद्र तपस्वीके पास पहुँचना ७७४
७६-श्रीरामके द्वारा शम्बूकका वध, देवताओंद्वारा उनकी प्रशंसा, अगस्त्याश्रमपर महर्षि अगस्त्यके द्वारा उनका सत्कार और उनके लिये आभूषणदान ७७५
७७-महर्षि आगस्त्यका एक स्वर्गीय पुरुषके शवभक्षणका प्रसंग सुनाना ७७८
७८-राजा श्वेतका अगस्त्यजीको अपने लिये घृणित आहारकी प्राप्तिका कारण बताते हुए ब्रह्माजीके साथ हुए अपनी वार्ताको उपस्थित करना और उन्हें दिव्य आभूषणका दान दे भूख-प्यासके कष्टसे मुक्त होना ७८०
७९-इक्ष्वाकुपुत्र राजा दण्डका राज्य ७८२
८०-राजा दण्डका भार्गव-कन्याके साथ बलात्कार .. ७८३
८१-शुक्रके शापसे सपरिवार राजा दण्ड और उनके राज्यका नाश ७८४
८२-श्रीरामका अगस्त्य-आश्रमसे अयोध्यापुरीको लौटना ७८६
८३-भरतके कहनेसे श्रीरामका राजसूय-यज्ञ करनेके विचारसे निवृत्त होना ७८७
८४-लक्ष्मणका अश्वमेध-यज्ञका प्रस्ताव करते हुए इन्द्र और वृत्रासुरकी कथा सुनाना, वृत्रासुरकी तपस्या और इन्द्रका भगवान् विष्णुसे उसके वधके लिये अनुरोध ७८८
८५-भगवान् विष्णुके तेजका इन्द्र और वज्र आदिमें प्रवेश, इन्द्रके वज्रसे वृत्रासुरका वध तथा ब्रह्महत्याग्रस्त इन्द्रका अन्धकारमय प्रदेशमें जाना ७९०
८६-इन्द्रके बिना जगत्में अशान्ति तथा अश्वमेधके अनुष्ठानसे इन्द्रका ब्रह्महत्यासे मुक्त होना ७९१
८७-श्रीरामका लक्ष्मणको राजा इलकी कथा सुनाना—इलको एक-एक मासतक स्त्रीत्व और पुरुषत्वकी प्राप्ति ७९३
८८-इला और बुधका एक-दूसरेको देखना तथा बुधका उन सब स्त्रियोंको किंपुरुषी नाम देकर पर्वतपर रहनेके लिये आदेश देना ७९४
८९-बुध और इलाका समागम तथा पुरूरवाकी उत्पत्ति ७९६
९०-अश्वमेधके अनुष्ठानसे इलाको पुरुषत्वकी प्राप्ति ७९८
९१-श्रीरामके आदेशसे अश्वमेध-यज्ञकी तैयारी ७९९
९२-श्रीरामके अश्वमेध-यज्ञमें दान-मानकी विशेषता . ८०१
९३-श्रीरामके यज्ञमें महर्षि वाल्मीकिका आगमन और उनका रामायणगानके लिये कुश और लवको आदेश ८०३
९४-लवकुशद्वारा रामायणकाव्यका गान तथा श्रीरामका उसे भरी सभामें सुनना ८०४
९५-श्रीरामका सीतासे उनकी शुद्धता प्रमाणित करनेके लिये शपथ करानेका विचार ८०६
९६-महर्षि वाल्मीकिद्वारा सीताकी शुद्धताका समर्थन ८०७

९७-सीताका शपथ-ग्रहण और रसातलमें प्रवेश .. ८०९
९८-सीताके लिये श्रीरामका खेद, ब्रह्माजीका उन्हें समझाना और उत्तरकाण्डका शेष अंश सुननेके लिये प्रेरित करना ८११
९९-सीताके रसातल-प्रवेशके पश्चात् श्रीरामकी जीवनचर्या, रामराज्यकी स्थिति तथा माताओंके परलोकगमन आदिका वर्णन ८१२
१००-केकयदेशसे ब्रह्मर्षि गार्ग्यका भेंट लेकर आना और उनके संदेशके अनुसार श्रीरामकी आज्ञासे कुमारोंसहित भरतका गन्धर्व देशपर आक्रमण करनेके लिये प्रस्थान ८१४
१०१-भरतका गन्धर्वोंपर आक्रमण और उनका संहार करके वहाँ दो सुन्दर नगर बसाकर अपने दोनों पुत्रोंको सौंपना और फिर अयोध्याको लौट आना ८१५
१०२-श्रीरामकी आज्ञासे भरत और लक्ष्मणद्वारा कुमार अङ्गद और चन्द्रकेतुकी कारुपथदेशके विभिन्न राज्योंपर नियुक्ति ८१७
१०३-श्रीरामके यहाँ कालका आगमन और एक कठोर शर्तके साथ उनका वार्ताके लिये उद्यत होना . ८१८
१०४-कालका श्रीरामचन्द्रजीको ब्रह्माजीका संदेश सुनाना और श्रीरामका उसे स्वीकार करना ... ८१९
१०५-दुर्वासाके शापके भयसे लक्ष्मणका नियम भङ्ग करके श्रीरामके पास इनके आगमनका समाचार देनेके लिये जाना, श्रीरामका दुर्वासा मुनिको भोजन कराना और उनके चले जानेपर लक्ष्मणके लिये चिन्तित होना ८२०
१०६-श्रीरामके त्याग देनेपर लक्ष्मणका सशरीर स्वर्गगमन ८२२
१०७-वसिष्ठजीके कहनेसे श्रीरामका पुरवासियोंको अपने साथ ले जानेका विचार तथा कुश और लवका राज्याभिषेक करना ८२३
१०८-श्रीरामचन्द्रजीका भाइयों, सुग्रीव आदि वानरों तथा रीछोंके साथ परमधाम जानेका निश्चय और विभीषण, हनुमान्, जाम्बवान्, मैन्द एवं द्विविदको इस भूतलपर ही रहनेका आदेश देना ८२४
१०९-परमधाम जानेके लिये निकले हुए श्रीरामके साथ समस्त अयोध्यावासियोंका प्रस्थान ८२७
११०-भाइयोंसहित श्रीरामका विष्णुस्वरूपमें प्रवेश तथा साथ आये हुए सब लोगोंको सन्तानक लोककी प्राप्ति ८२८
१११-रामायण काव्यका उपसंहार और इसकी महिमा ८३०

★

॥ श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः ॥
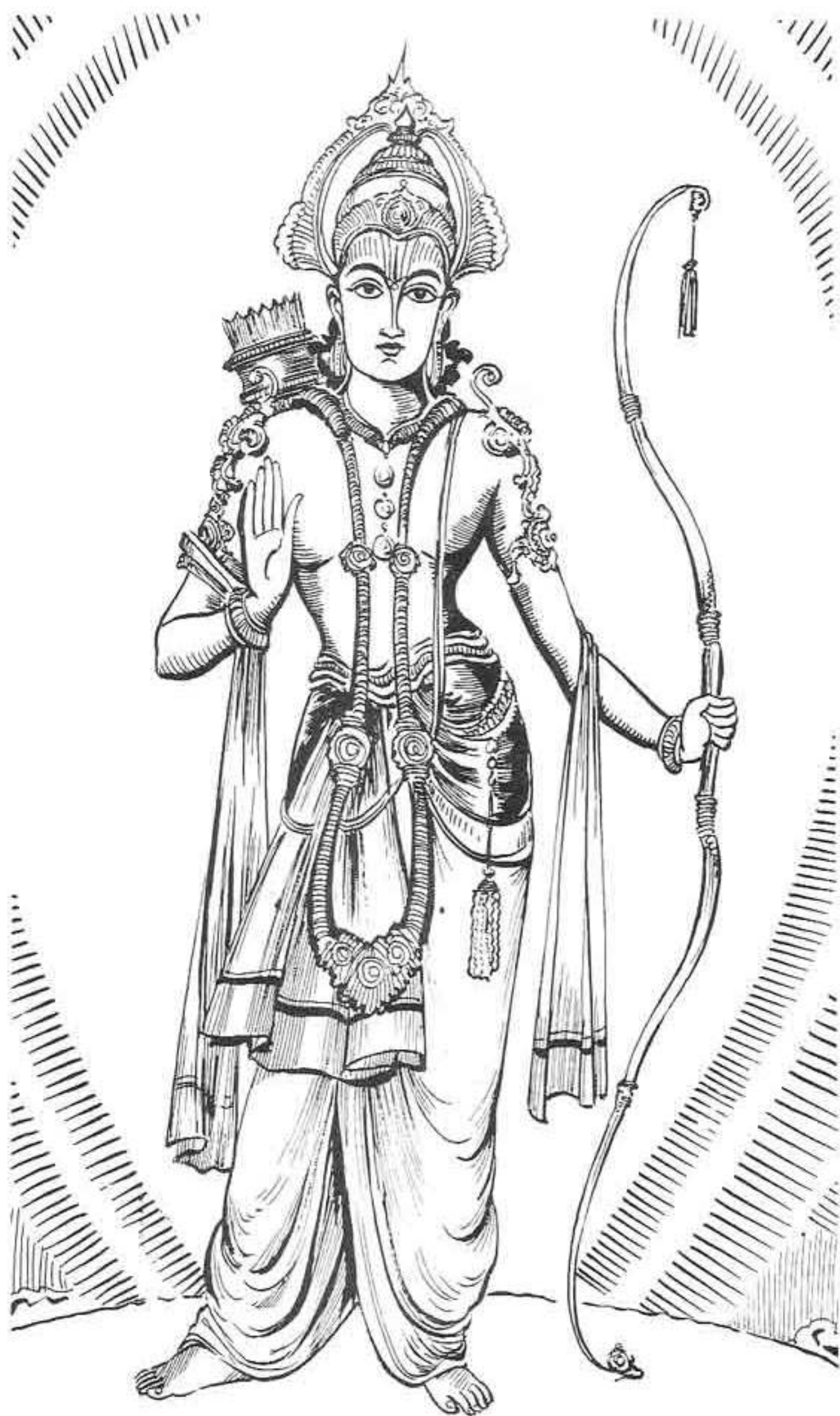
श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणम्

सुन्दरकाण्डम्

प्रथमः सर्गः

हनुमान्‌जीके द्वारा समुद्रका लङ्घन, मैनाकके द्वारा उनका स्वागत, सुरसापर उनकी विजय तथा सिंहिकाका वध करके उनका समुद्रके उस पार पहुँचकर लङ्काकी शोभा देखना

ततो रावणनीतायाः सीतायाः शत्रुकर्षणः।
इयेष पदमन्वेष्टुं चारणाचरिते पथि॥ १॥

तदनन्तर शत्रुओंका संहार करनेवाले हनुमान्‌जीने रावणद्वारा हरी गयी सीताके निवासस्थानका पता लगानेके लिये उस आकाशमार्गसे जानेका विचार किया, जिसपर चारण (देवजातिविशेष) विचरा करते हैं॥ १॥

दुष्करं निष्प्रतिद्वन्द्वं चिकीर्षन् कर्म वानरः।
समुदग्रशिरोग्रीवो गवां पतिरिवाबभौ॥ २॥

कपिवर हनुमान्‌जी ऐसा कर्म करना चाहते थे, जो दूसरोंके लिये दुष्कर था तथा उस कार्यमें उन्हें किसी और की सहायता भी नहीं प्राप्त थी। उन्होंने मस्तक और ग्रीवा ऊँची की। उस समय वे हृष्ट-पुष्ट साँड़के समान प्रतीत होने लगे॥ २॥

अथ वैदूर्यवर्णेषु शाद्वलेषु महाबलः।
धीरः सलिलकल्पेषु विचचार यथासुखम्॥ ३॥

फिर धीर स्वभाववाले वे महाबली पवनकुमार वैदूर्यमणि (नीलम) और समुद्रके जलकी भाँति हरी-हरी घासपर सुखपूर्वक विचरने लगे॥ ३॥

द्विजान् वित्रासयन् धीमानुरसा पादपान् हरन्।
मृगांश्च सुबहून् निघ्नन् प्रवृद्ध इव केसरी॥ ४॥

उस समय बुद्धिमान् हनुमान्‌जी पक्षियोंको त्रास देते, वृक्षोंको वक्षःस्थलके आघातसे धराशायी करते तथा बहुत-से मृगों (वन-जन्तुओं) को कुचलते हुए पराक्रममें बढ़े-चढ़े सिंहके समान शोभा पा रहे थे॥ ४॥

नीललोहितमाञ्जिष्ठपद्मवर्णैः सितासितैः।
स्वभावसिद्धैर्विमलैर्धातुभिः समलंकृतम्॥ ५॥

उस पर्वतका जो तलप्रदेश था, वह पहाड़ोंमें स्वभावसे ही उत्पन्न होनेवाली नीली, लाल, मजीठ और कमलके-से रंगवाली श्वेत तथा श्याम वर्णवाली निर्मल धातुओंसे अच्छी तरह अलंकृत था॥ ५॥

कामरूपिभिराविष्टमभीक्ष्णं सपरिच्छदैः।
यक्षकिंनरगन्धर्वैर्देवकल्पैः सपन्नगैः॥ ६॥

उसपर देवोपम यक्ष, किन्नर, गन्धर्व और नाग, जो इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले थे, निरन्तर परिवारसहित निवास करते थे॥ ६॥

स तस्य गिरिवर्यस्य तले नागवरायुते।
तिष्ठन् कपिवरस्तत्र ह्रदे नाग इवाबभौ॥ ७॥

बड़े-बड़े गजराजोंसे भरे हुए उस पर्वतके समतल प्रदेशमें खड़े हुए कपिवर हनुमान्‌जी वहाँ जलाशयमें स्थित हुए विशालकाय हाथीके समान जान पड़ते थे॥ ७॥

स सूर्याय महेन्द्राय पवनाय स्वयम्भुवे।
भूतेभ्यश्चाञ्जलिं कृत्वा चकार गमने मतिम्॥ ८॥

उन्होंने सूर्य, इन्द्र, पवन, ब्रह्मा और भूतों (देवयोनिविशेषों) को भी हाथ जोड़कर उस पार जानेका विचार किया॥ ८॥

अञ्जलिं प्राङ्मुखं कुर्वन् पवनायात्मयोनये।
ततो हि ववृधे गन्तुं दक्षिणो दक्षिणां दिशम्॥ ९॥

फिर पूर्वाभिमुख होकर अपने पिता पवनदेवको प्रणाम किया। तत्पश्चात् कार्यकुशल हनुमान्‌जी दक्षिण दिशामें जानेके लिये बढ़ने लगे (अपने शरीरको बढ़ाने लगे)॥ ९॥

प्लवगप्रवरैर्दृष्टः प्लवने कृतनिश्चयः।
ववृधे रामवृद्ध्यर्थं समुद्र इव पर्वसु॥ १०॥

बड़े-बड़े वानरोंने देखा जैसे पूर्णिमाके दिन समुद्रमें ज्वार आने लगता है, उसी प्रकार, समुद्र-लङ्घनके लिये दृढ़ निश्चय करनेवाले हनुमान्‌जी श्रीरामकी कार्य-सिद्धिके लिये बढ़ने लगे॥ १०॥

निष्प्रमाणशरीरः सँल्लिलङ्घयिषुरर्णवम्।
बाहुभ्यां पीडयामास चरणाभ्यां च पर्वतम्॥ ११॥

समुद्रको लाँघनेकी इच्छासे उन्होंने अपने शरीरको

बेहद बढ़ा लिया और अपनी दोनों भुजाओं तथा चरणोंसे उस पर्वतको दबाया ॥ ११ ॥

स चचालाचलश्चाशु मुहूर्तं कपिपीडितः ।
तरूणां पुष्पिताग्राणां सर्वं पुष्पमशातयत् ॥ १२ ॥

कपिवर हनुमान्‌जीके द्वारा दबाये जानेपर तुरंत ही वह पर्वत काँप उठा और दो घड़ीतक डगमगाता रहा। उसके ऊपर जो वृक्ष उगे थे, उनकी डालियोंके अग्रभाग फूलोंसे लदे हुए थे; किंतु उस पर्वतके हिलनेसे उनके वे सारे फूल झड़ गये ॥ १२ ॥

तेन पादपमुक्तेन पुष्पौघेण सुगन्धिना ।
सर्वतः संवृतः शैलो बभौ पुष्पमयो यथा ॥ १३ ॥

वृक्षोंसे झड़ी हुई उस सुगन्धित पुष्पराशिके द्वारा सब ओरसे आच्छादित हुआ वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था, मानो वह फूलोंका ही बना हुआ हो ॥ १३ ॥

तेन चोत्तमवीर्येण पीड्यमानः स पर्वतः ।
सलिलं सम्प्रसुस्राव मदमत्त इव द्विपः ॥ १४ ॥

महापराक्रमी हनुमान्‌जीके द्वारा दबाया जाता हुआ महेन्द्रपर्वत जलके स्रोत बहाने लगा, मानो कोई मदमत्त गजराज अपने कुम्भस्थलसे मदकी धारा बहा रहा हो ॥ १४ ॥

पीड्यमानस्तु बलिना महेन्द्रस्तेन पर्वतः ।
रीतीर्निर्वर्तयामास काञ्चनाञ्जनराजतीः ॥ १५ ॥

बलवान् पवनकुमारके भारसे दबा हुआ महेन्द्रगिरि सुनहरे, रुपहले और काले रंगके जलस्रोत प्रवाहित करने लगा ॥ १५ ॥

मुमोच च शिलाः शैलो विशालाः समनःशिलाः ।
मध्यमेनार्चिषा जुष्टो धूमराजीरिवानलः ॥ १६ ॥

इतना ही नहीं, जैसे मध्यम ज्वालासे युक्त अग्नि लगातार धुआँ छोड़ रही हो, उसी प्रकार वह पर्वत मैनसिलसहित बड़ी-बड़ी शिलाएँ गिराने लगा ॥ १६ ॥

हरिणा पीड्यमानेन पीड्यमानानि सर्वतः ।
गुहाविष्टानि सत्त्वानि विनेदुर्विकृतैः स्वरैः ॥ १७ ॥

हनुमान्‌जीके उस पर्वत-पीडनसे पीड़ित होकर वहाँके समस्त जीव गुफाओंमें घुस गये और बुरी तरहसे चिल्लाने लगे ॥ १७ ॥

स महान् सत्त्वसन्नादः शैलपीडानिमित्तजः ।
पृथिवीं पूरयामास दिशश्चोपवनानि च ॥ १८ ॥

इस प्रकार पर्वतको दबानेके कारण उत्पन्न हुआ वह जीव-जन्तुओंका महान् कोलाहल पृथ्वी, उपवन और सम्पूर्ण दिशाओंमें भर गया ॥ १८ ॥

शिरोभिः पृथुभिर्नागा व्यक्तस्वस्तिकलक्षणैः ।
वमन्तः पावकं घोरं ददंशुर्दशनैः शिलाः ॥ १९ ॥

जिनमें स्वस्तिक[1] चिह्न स्पष्ट दिखायी दे रहे थे, उन स्थूल फणोंसे विषकी भयानक आग उगलते हुए बड़े-बड़े सर्प उस पर्वतकी शिलाओंको अपने दाँतोंसे डँसने लगे ॥ १९ ॥

तास्तदा सविषैर्दष्टाः कुपितैस्तैर्महाशिलाः ।
जज्वलुः पावकोद्दीप्ता बिभिदुश्च सहस्रधा ॥ २० ॥

क्रोधसे भरे हुए उन विषैले साँपोंके काटनेपर वे बड़ी-बड़ी शिलाएँ इस प्रकार जल उठीं, मानो उनमें आग लग गयी हो। उस समय उन सबके सहस्रों टुकड़े हो गये ॥ २० ॥

यानि त्वौषधजालानि तस्मिञ्जातानि पर्वते ।
विषघ्नान्यपि नागानां न शेकुः शमितुं विषम् ॥ २१ ॥

उस पर्वतपर जो बहुत-सी ओषधियाँ उगी हुई थीं, वे विषको नष्ट करनेवाली होनेपर भी उन नागोंके विषको शान्त न कर सकीं ॥ २१ ॥

भिद्यतेऽयं गिरिर्भूतैरिति मत्वा तपस्विनः ।
त्रस्ता विद्याधरास्तस्मादुत्पेतुः स्त्रीगणैः सह ॥ २२ ॥

उस समय वहाँ रहनेवाले तपस्वी और विद्याधरोंने समझा कि इस पर्वतको भूतलोग तोड़ रहे हैं, इससे भयभीत होकर वे अपनी स्त्रियोंके साथ वहाँसे ऊपर उठकर अन्तरिक्षमें चले गये ॥ २२ ॥

पानभूमिगतं हित्वा हैममासवभाजनम् ।
पात्राणि च महार्हाणि करकांश्च हिरण्मयान् ॥ २३ ॥
लेह्यानुच्चावचान् भक्ष्यान् मांसानि विविधानि च ।
आर्षभाणि च चर्माणि खड्गांश्च कनकत्सरून् ॥ २४ ॥
कृतकण्ठगुणाः क्षीबा रक्तमाल्यानुलेपनाः ।
रक्ताक्षाः पुष्कराक्षाश्च गगनं प्रतिपेदिरे ॥ २५ ॥

मधुपानके स्थानमें रखे हुए सुवर्णमय आसवपात्र, बहुमूल्य बर्तन, सोनेके कलश, भाँति-भाँतिके भक्ष्य पदार्थ, चटनी, नाना प्रकारके फलोंके गूदे, बैलोंकी खालकी बनी हुई ढालें और सुवर्णजटित मूठवाली तलवारें छोड़कर कण्ठमें माला धारण किये, लाल रंगके फूल और अनुलेपन (चन्दन) लगाये, प्रफुल्ल कमलके सदृश सुन्दर एवं लाल नेत्रवाले वे मतवाले विद्याधरगण भयभीत-से होकर आकाशमें चले गये ॥ २३—२५ ॥

हारनूपुरकेयूरपारिहार्यधराः स्त्रियः ।
विस्मिताः सस्मितास्तस्थुराकाशे रमणैः सह ॥ २६ ॥

उनकी स्त्रियाँ गलेमें हार, पैरोंमें नूपुर, भुजाओंमें बाजूबंद और कलाइयोंमें कंगन धारण किये आकाशमें अपने पतियोंके साथ मन्द-मन्द मुस्कराती हुई चकित-सी खड़ी हो गयीं ॥ २६ ॥

---

१. साँपके फनोंमें दिखायी देनेवाली नील रेखाको स्वस्तिक कहते हैं।

दर्शयन्तो महाविद्यां विद्याधरमहर्षयः।
सहितास्तस्थुराकाशे वीक्षांचक्रुश्च पर्वतम्॥ २७॥

विद्याधर और महर्षि अपनी महाविद्या (आकाशमें निराधार खड़े होनेकी शक्ति)का परिचय देते हुए अन्तरिक्षमें एक साथ खड़े हो गये और उस पर्वतकी ओर देखने लगे॥ २७॥

शुश्रुवुश्च तदा शब्दमृषीणां भावितात्मनाम्।
चारणानां च सिद्धानां स्थितानां विमलेऽम्बरे॥ २८॥

उन्होंने उस समय निर्मल आकाशमें खड़े हुए भावितात्मा (पवित्र अन्तःकरणवाले) महर्षियों, चारणों और सिद्धोंकी ये बातें सुनीं—॥ २८॥

एष पर्वतसंकाशो हनुमान् मारुतात्मजः।
तितीर्षति महावेगः समुद्रं वरुणालयम्॥ २९॥

'अहा! ये पर्वतके समान विशालकाय महान् वेगशाली पवनपुत्र हनुमान्‌जी वरुणालय समुद्रको पार करना चाहते हैं॥ २९॥

रामार्थं वानरार्थं च चिकीर्षन् कर्म दुष्करम्।
समुद्रस्य परं पारं दुष्प्रापं प्राप्तुमिच्छति॥ ३०॥

'श्रीरामचन्द्रजी और वानरोंके कार्यकी सिद्धिके लिये दुष्कर कर्म करनेकी इच्छा रखनेवाले ये पवनकुमार समुद्रके दूसरे तटपर पहुँचना चाहते हैं, जहाँ जाना अत्यन्त कठिन है'॥ ३०॥

इति विद्याधरा वाचः श्रुत्वा तेषां तपस्विनाम्।
तमप्रमेयं ददृशुः पर्वते वानरर्षभम्॥ ३१॥

इस प्रकार विद्याधरोंने उन तपस्वी महात्माओंकी कही हुई ये बातें सुनकर पर्वतके ऊपर अतुलित बलशाली वानरशिरोमणि हनुमान्‌जीको देखा॥ ३१॥

दुधुवे च स रोमाणि चकम्पे चानलोपमः।
ननाद च महानादं सुमहानिव तोयदः॥ ३२॥

उस समय हनुमान्‌जी अग्निके समान जान पड़ते थे। उन्होंने अपने शरीरको हिलाया और रोएँ झाड़े तथा महान् मेघके समान बड़े जोर-जोरसे गर्जना की॥ ३२॥

आनुपूर्व्या च वृत्तं तल्लाङ्गूलं रोमभिश्चितम्।
उत्पतिष्यन् विचिक्षेप पक्षिराज इवोरगम्॥ ३३॥

हनुमान्‌जी अब ऊपरको उछलना ही चाहते थे। उन्होंने क्रमशः गोलाकार मुड़ी तथा रोमावलियोंसे भरी हुई अपनी पूँछको उसी प्रकार आकाशमें फेंका, जैसे पक्षिराज गरुड़ सर्पको फेंकते हैं॥ ३३॥

तस्य लाङ्गूलमाविद्धमतिवेगस्य पृष्ठतः।
ददृशे गरुडेनेव ह्रियमाणो महोरगः॥ ३४॥

अत्यन्त वेगशाली हनुमान्‌जीके पीछे आकाशमें फैली हुई उनकी कुछ-कुछ मुड़ी हुई पूँछ गरुड़के द्वारा ले जाये जाते हुए महान् सर्पके समान दिखायी देती थी॥ ३४॥

बाहू संस्तम्भयामास महापरिघसंनिभौ।
आससाद कपिः कट्यां चरणौ संचुकोच च॥ ३५॥

उन्होंने अपनी विशाल परिघके समान भुजाओंको पर्वतपर जमाया। फिर ऊपरके सब अङ्गोंको इस तरह सिकोड़ लिया कि वे कटिकी सीमामें ही आ गये; साथ ही उन्होंने दोनों पैरोंको भी समेट लिया॥ ३५॥

संहृत्य च भुजौ श्रीमांस्तथैव च शिरोधराम्।
तेजः सत्त्वं तथा वीर्यमाविवेश स वीर्यवान्॥ ३६॥

तत्पश्चात् तेजस्वी और पराक्रमी हनुमान्‌जीने अपनी दोनों भुजाओं और गर्दनको भी सिकोड़ लिया। इस समय उनमें तेज, बल और पराक्रम—सभीका आवेश हुआ॥ ३६॥

मार्गमालोकयन् दूरादूर्ध्वप्रणिहितेक्षणः।
रुरोध हृदये प्राणानाकाशमवलोकयन्॥ ३७॥

उन्होंने अपने लम्बे मार्गपर दृष्टि दौड़ानेके लिये नेत्रोंको ऊपर उठाया और आकाशकी ओर देखते हुए प्राणोंको हृदयमें रोका॥ ३७॥

पद्भ्यां दृढमवस्थानं कृत्वा स कपिकुञ्जरः।
निकुच्य कर्णौ हनुमानुत्पतिष्यन् महाबलः॥ ३८॥
वानरान् वानरश्रेष्ठ इदं वचनमब्रवीत्।

इस प्रकार ऊपरको छलाँग मारनेकी तैयारी करते हुए कपिश्रेष्ठ महाबली हनुमान्‌ने अपने पैरोंको अच्छी तरह जमाया और कानोंको सिकोड़कर उन वानरशिरोमणिने अन्य वानरोंसे इस प्रकार कहा—॥३८½॥

यथा राघवनिर्मुक्तः शरः श्वसनविक्रमः॥ ३९॥
गच्छेत् तद्वद् गमिष्यामि लङ्कां रावणपालिताम्।

'जैसे श्रीरामचन्द्रजीका छोड़ा हुआ बाण वायुवेगसे चलता है, उसी प्रकार मैं रावणद्वारा पालित लङ्कापुरीमें जाऊँगा॥३९½॥

नहि द्रक्ष्यामि यदि तां लङ्कायां जनकात्मजाम्॥ ४०॥
अनेनैव हि वेगेन गमिष्यामि सुरालयम्।

'यदि लङ्कामें जनकनन्दिनी सीताको नहीं देखूँगा तो इसी वेगसे मैं स्वर्गलोकमें चला जाऊँगा॥ ४०½॥

यदि वा त्रिदिवे सीतां न द्रक्ष्यामि कृतश्रमः॥ ४१॥
बद्ध्वा राक्षसराजानमानयिष्यामि रावणम्।

'इस प्रकार परिश्रम करनेपर यदि मुझे स्वर्गमें भी सीताका दर्शन नहीं होगा तो राक्षसराज रावणको बाँधकर लाऊँगा॥ ४१½॥

सर्वथा कृतकार्योऽहमेष्यामि सह सीतया॥ ४२॥
आनयिष्यामि वा लङ्कां समुत्पाट्य सरावणाम्।

'सर्वथा कृतकृत्य होकर मैं सीताके साथ लौटूँगा अथवा रावणसहित लङ्कापुरीको ही उखाड़कर लाऊँगा'॥ ४२½॥

एवमुक्त्वा तु हनुमान् वानरो वानरोत्तमः ॥ ४३ ॥
उत्पपाताथ वेगेन वेगवानविचारयन्।
सुपर्णमिव चात्मानं मेने स कपिकुञ्जरः ॥ ४४ ॥

ऐसा कहकर वेगशाली वानरप्रवर श्रीहनुमान्जीने विघ्न-बाधाओंका कोई विचार न करके बड़े वेगसे ऊपरकी ओर छलाँग मारी। उस समय उन वानरशिरोमणिने अपनेको साक्षात् गरुड़के समान ही समझा॥ ४३-४४॥

समुत्पतति वेगात् तु वेगात् ते नगरोहिणः।
संहृत्य विटपान् सर्वान् समुत्पेतुः समन्ततः ॥ ४५ ॥

जिस समय वे कूदे, उस समय उनके वेगसे आकृष्ट हो पर्वतपर उगे हुए सब वृक्ष उखड़ गये और अपनी सारी डालियोंको समेटकर उनके साथ ही सब ओरसे वेगपूर्वक उड़ चले॥ ४५॥

स मत्तकोयष्टिभकान् पादपान् पुष्पशालिनः।
उद्वहन्नुरुवेगेन जगाम विमलेऽम्बरे ॥ ४६ ॥

वे हनुमान्जी मतवाले कोयष्टि आदि पक्षियोंसे युक्त, बहुसंख्यक पुष्पशोभित वृक्षोंको अपने महान् वेगसे ऊपरकी ओर खींचते हुए निर्मल आकाशमें अग्रसर होने लगे॥ ४६॥

ऊरुवेगोत्थिता वृक्षा मुहूर्तं कपिमन्वयुः।
प्रस्थितं दीर्घमध्वानं स्वबन्धुमिव बान्धवाः ॥ ४७ ॥

उनकी जाँघोंके महान् वेगसे ऊपरको उठे हुए वृक्ष एक मुहूर्ततक उनके पीछे-पीछे इस प्रकार गये, जैसे दूर-देशके पथपर जानेवाले अपने भाई-बन्धुको उसके बन्धु-बान्धव पहुँचाने जाते हैं॥ ४७॥

तमूरुवेगोन्मथिताः सालाश्चान्ये नगोत्तमाः।
अनुजग्मुर्हनूमन्तं सैन्या इव महीपतिम् ॥ ४८ ॥

हनुमान्जीकी जाँघोंके वेगसे उखड़े हुए साल तथा दूसरे-दूसरे श्रेष्ठ वृक्ष उनके पीछे-पीछे उसी प्रकार चले, जैसे राजाके पीछे उसके सैनिक चलते हैं॥ ४८॥

सुपुष्पिताग्रैर्बहुभिः पादपैरन्वितः कपिः।
हनूमान् पर्वताकारो बभूवाद्भुतदर्शनः ॥ ४९ ॥

जिनकी डालियोंके अग्रभाग फूलोंसे सुशोभित थे, उन बहुतेरे वृक्षोंसे संयुक्त हुए पर्वताकार हनुमान्जी अद्भुत शोभासे सम्पन्न दिखायी दिये॥ ४९॥

सारवन्तोऽथ ये वृक्षा न्यमज्जँल्लवणाम्भसि।
भयादिव महेन्द्रस्य पर्वता वरुणालये ॥ ५० ॥

उन वृक्षोंमेंसे जो भारी थे, वे थोड़ी ही देरमें गिरकर क्षारसमुद्रमें डूब गये। ठीक उसी तरह, जैसे कितने ही पंखधारी पर्वत देवराज इन्द्रके भयसे वरुणालयमें निमग्न हो गये थे॥ ५०॥

स नानाकुसुमैः कीर्णः कपिः साङ्कुरकोरकैः।
शुशुभे मेघसंकाशः खद्योतैरिव पर्वतः ॥ ५१ ॥

मेघके समान विशालकाय हनुमान्जी अपने साथ खींचकर आये हुए वृक्षोंके अङ्कुर और कोरसहित फूलोंसे आच्छादित हो जुगुनुओंकी जगमगाहटसे युक्त पर्वतके समान शोभा पाते थे॥ ५१॥

विमुक्तास्तस्य वेगेन मुक्त्वा पुष्पाणि ते द्रुमाः।
व्यवशीर्यन्त सलिले निवृत्ताः सुहृदो यथा ॥ ५२ ॥

वे वृक्ष जब हनुमान्जीके वेगसे मुक्त हो जाते (उनके आकर्षणसे छूट जाते), तब अपने फूल बरसाते हुए इस प्रकार समुद्रके जलमें डूब जाते थे, जैसे सुहृद्वर्गके लोग परदेश जानेवाले अपने किसी बन्धुको दूरतक पहुँचाकर लौट आते हैं॥ ५२॥

लघुत्वेनोपपन्नं तद् विचित्रं सागरेऽपतत्।
द्रुमाणां विविधं पुष्पं कपिवायुसमीरितम्।
ताराचितमिवाकाशं प्रबभौ स महार्णवः ॥ ५३ ॥

हनुमान्जीके शरीरसे उठी हुई वायुसे प्रेरित हो वृक्षोंके भाँति-भाँतिके पुष्प अत्यन्त हलके होनेके कारण जब समुद्रमें गिरते थे, तब डूबते नहीं थे। इसलिये उनकी विचित्र शोभा होती थी। उन फूलोंके कारण वह महासागर तारोंसे भरे हुए आकाशके समान सुशोभित होता था॥ ५३॥

पुष्पौघेण सुगन्धेन नानावर्णेन वानरः।
बभौ मेघ इवोद्यन् वै विद्युद्गणविभूषितः ॥ ५४ ॥

अनेक रंगकी सुगन्धित पुष्पराशिसे उपलक्षित वानर-वीर हनुमान्जी बिजली-से सुशोभित होकर उठते हुए मेघके समान जान पड़ते थे॥ ५४॥

तस्य वेगसमुद्धूतैः पुष्पैस्तोयमदृश्यत।
ताराभिरिव रामाभिरुदिताभिरिवाम्बरम् ॥ ५५ ॥

उनके वेगसे झड़े हुए फूलोंके कारण समुद्रका जल उगे हुए रमणीय तारोंसे खचित आकाशके समान दिखायी देता था॥ ५५॥

तस्याम्बरगतौ बाहू ददृशाते प्रसारितौ।
पर्वताग्राद् विनिष्क्रान्तौ पञ्चास्याविव पन्नगौ ॥ ५६ ॥

आकाशमें फैलायी गयी उनकी दोनों भुजाएँ ऐसी दिखायी देती थीं, मानो किसी पर्वतके शिखरसे पाँच फनवाले दो सर्प निकले हुए हों॥ ५६॥

पिबन्निव बभौ चापि सोर्मिजालं महार्णवम्।
पिपासुरिव चाकाशं ददृशे स महाकपिः ॥ ५७ ॥

उस समय महाकपि हनुमान् ऐसे प्रतीत होते थे, मानो तरङ्गमालाओंसहित महासागरको पी रहे हों। वे ऐसे दिखायी देते थे, मानो आकाशको भी पी जाना चाहते हों॥ ५७॥

तस्य विद्युत्प्रभाकारे वायुमार्गानुसारिणः ।
नयने विप्रकाशेते पर्वतस्थाविवानलौ ॥ ५८ ॥

वायुके मार्गका अनुसरण करनेवाले हनुमान्‌जीके बिजलीकी-सी चमक पैदा करनेवाले दोनों नेत्र ऐसे प्रकाशित हो रहे थे, मानो पर्वतपर दो स्थानोंमें लगे हुए दावानल दहक रहे हों ॥ ५८ ॥

पिङ्गे पिङ्गाक्षमुख्यस्य बृहती परिमण्डले ।
चक्षुषी सम्प्रकाशेते चन्द्रसूर्याविव स्थितौ ॥ ५९ ॥

पिंगल नेत्रवाले वानरोंमें श्रेष्ठ हनुमान्‌जीकी दोनों गोल बड़ी-बड़ी और पीले रंगकी आँखें चन्द्रमा और सूर्यके समान प्रकाशित हो रही थीं ॥ ५९ ॥

मुखं नासिकया तस्य ताम्रया ताम्रमाबभौ ।
संध्यया समभिस्पृष्टं यथा स्यात् सूर्यमण्डलम् ॥ ६० ॥

लाल-लाल नासिकाके कारण उनका सारा मुँह लाली लिये हुए था, अतः वह संध्याकालसे संयुक्त सूर्यमण्डलके समान सुशोभित होता था ॥ ६० ॥

लाङ्गूलं च समाविद्धं प्लवमानस्य शोभते ।
अम्बरे वायुपुत्रस्य शक्रध्वज इवोच्छ्रितम् ॥ ६१ ॥

आकाशमें तैरते हुए पवनपुत्र हनुमान्‌की उठी हुई टेढ़ी पूँछ इन्द्रकी ऊँची ध्वजाके समान जान पड़ती थी ॥ ६१ ॥

लाङ्गूलचक्रो हनुमाञ्शुक्लदंष्ट्रोऽनिलात्मजः ।
व्यरोचत महाप्राज्ञः परिवेषीव भास्करः ॥ ६२ ॥

महाबुद्धिमान् पवनपुत्र हनुमान्‌जीकी दाढ़ें सफेद थीं और पूँछ गोलाकार मुड़ी हुई थी। इसलिये वे परिधिसे घिरे हुए सूर्यमण्डलके समान जान पड़ते थे ॥ ६२ ॥

स्फिग्देशेनातिताम्रेण रराज स महाकपिः ।
महता दारितेनेव गिरिर्गैरिकधातुना ॥ ६३ ॥

उनकी कमरके नीचेका भाग बहुत लाल था। इससे वे महाकपि हनुमान् फटे हुए गेरूसे युक्त विदारित पर्वतके समान शोभा पाते थे ॥ ६३ ॥

तस्य वानरसिंहस्य प्लवमानस्य सागरम् ।
कक्षान्तरगतो वायुर्जीमूत इव गर्जति ॥ ६४ ॥

ऊपर-ऊपरसे समुद्रको पार करते हुए वानरसिंह हनुमान्‌की काँखसे होकर निकली हुई वायु बादलके समान गरजती थी ॥ ६४ ॥

खे यथा निपतत्युल्का उत्तरान्ताद् विनिःसृता ।
दृश्यते सानुबन्धा च तथा स कपिकुञ्जरः ॥ ६५ ॥

जैसे ऊपरकी दिशासे प्रकट हुई पुच्छयुक्त उल्का आकाशमें जाती देखी जाती है, उसी प्रकार अपनी पूँछके कारण कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌जी भी दिखायी देते थे ॥ ६५ ॥

पतत्पतङ्गसंकाशो व्यायतः शुशुभे कपिः ।
प्रवृद्ध इव मातङ्गः कक्ष्यया बध्यमानया ॥ ६६ ॥

चलते हुए सूर्यके समान विशालकाय हनुमान्‌जी अपनी पूँछके कारण ऐसी शोभा पा रहे थे, मानो कोई बड़ा गजराज अपनी कमरमें बँधी हुई रस्सीसे सुशोभित हो रहा हो ॥ ६६ ॥

उपरिष्टाच्छरीरेण छायया चावगाढया ।
सागरे मारुताविष्टा नौरिवासीत् तदा कपिः ॥ ६७ ॥

हनुमान्‌जीका शरीर समुद्रसे ऊपर-ऊपर चल रहा था और उनकी परछाईं जलमें डूबी हुई-सी दिखायी देती थी। इस प्रकार शरीर और परछाईं दोनोंसे उपलक्षित हुए वे कपिवर हनुमान् समुद्रके जलमें पड़ी हुई उस नौकाके समान प्रतीत होते थे, जिसका ऊपरी भाग (पाल) वायुसे परिपूर्ण हो और निम्नभाग समुद्रके जलसे लगा हुआ हो ॥ ६७ ॥

यं यं देशं समुद्रस्य जगाम स महाकपिः ।
स तु तस्याङ्गवेगेन सोन्माद इव लक्ष्यते ॥ ६८ ॥

वे समुद्रके जिस-जिस भागमें जाते थे, वहाँ-वहाँ उनके अङ्गके वेगसे उत्ताल तरङ्गें उठने लगती थीं। अतः वह भाग उन्मत्त (विक्षुब्ध)-सा दिखायी देता था ॥ ६८ ॥

सागरस्योर्मिजालानामुरसा शैलवर्ष्मणाम् ।
अभिघ्नंस्तु महावेगः पुप्लुवे स महाकपिः ॥ ६९ ॥

महान् वेगशाली महाकपि हनुमान् पर्वतोंके समान ऊँची महासागरकी तरङ्गमालाओंको अपनी छातीसे चूर-चूर करते हुए आगे बढ़ रहे थे ॥ ६९ ॥

कपिवातश्च बलवान् मेघवातश्च निर्गतः ।
सागरं भीमनिर्ह्रादं कम्पयामासतुर्भृशम् ॥ ७० ॥

कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌के शरीरसे उठी हुई तथा मेघोंकी घटामें व्याप्त हुई प्रबल वायुने भीषण गर्जना करनेवाले समुद्रमें भारी हलचल मचा दी ॥ ७० ॥

विकर्षन्नूर्मिजालानि बृहन्ति लवणाम्भसि ।
पुप्लुवे कपिशार्दूलो विकिरन्निव रोदसी ॥ ७१ ॥

वे कपिकेसरी अपने प्रचण्ड वेगसे समुद्रमें बहुत-सी ऊँची-ऊँची तरङ्गोंको आकर्षित करते हुए इस प्रकार उड़े जा रहे थे, मानो पृथ्वी और आकाश दोनोंको विक्षुब्ध कर रहे हैं ॥ ७१ ॥

मेरुमन्दरसंकाशानुद्गतान् सुमहार्णवे ।
अत्यक्रामन्महावेगस्तरङ्गान् गणयन्निव ॥ ७२ ॥

वे महान् वेगशाली वानरवीर उस महासमुद्रमें उठी हुई सुमेरु और मन्दराचलके समान उत्ताल तरङ्गोंकी मानो गणना करते हुए आगे बढ़ रहे थे ॥ ७२ ॥

तस्य वेगसमुद्घुष्टं जलं सजलदं तदा ।
अम्बरस्थं विबभ्राजे शरदभ्रमिवाततम् ॥ ७३ ॥

उस समय उनके वेगसे ऊँचे उठकर मेघमण्डलके साथ आकाशमें स्थित हुआ समुद्रका जल शरत्कालके फैले हुए मेघोंके समान जान पड़ता था ॥ ७३ ॥

तिमिनक्रझषाः कूर्मा दृश्यन्ते विवृतास्तदा ।
वस्त्रापकर्षणेनेव शरीराणि शरीरिणाम् ॥ ७४ ॥

जल हट जानेके कारण समुद्रके भीतर रहनेवाले मगर, नाकें, मछलियाँ और कछुए साफ-साफ दिखायी देते थे। जैसे वस्त्र खींच लेनेपर देहधारियोंके शरीर नंगे दीखने लगते हैं ॥ ७४ ॥

क्रममाणं समीक्ष्याथ भुजगाः सागरंगमाः ।
व्योम्नि तं कपिशार्दूलं सुपर्णमिव मेनिरे ॥ ७५ ॥

समुद्रमें विचरनेवाले सर्प आकाशमें जाते हुए कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌जीको देखकर उन्हें गरुड़के ही समान समझने लगे ॥ ७५ ॥

दशयोजनविस्तीर्णा त्रिंशद्योजनमायता ।
छाया वानरसिंहस्य जवे चारुतराभवत् ॥ ७६ ॥

कपिकेसरी हनुमान्‌जीकी दस योजन चौड़ी और तीस योजन लम्बी छाया वेगके कारण अत्यन्त रमणीय जान पड़ती थी ॥ ७६ ॥

श्वेताभ्रघनराजीव वायुपुत्रानुगामिनी ।
तस्य सा शुशुभे छाया पतिता लवणाम्भसि ॥ ७७ ॥

खारे पानीके समुद्रमें पड़ी हुई पवनपुत्र हनुमान्‌का अनुसरण करनेवाली उनकी वह छाया श्वेत बादलोंकी पंक्तिके समान शोभा पाती थी ॥ ७७ ॥

शुशुभे स महातेजा महाकायो महाकपिः ।
वायुमार्गे निरालम्बे पक्षवानिव पर्वतः ॥ ७८ ॥

वे परम तेजस्वी महाकाय महाकपि हनुमान् आलम्बनहीन आकाशमें पंखधारी पर्वतके समान जान पड़ते थे ॥ ७८ ॥

येनासौ याति बलवान् वेगेन कपिकुञ्जरः ।
तेन मार्गेण सहसा द्रोणीकृत इवार्णवः ॥ ७९ ॥

वे बलवान् कपिश्रेष्ठ जिस मार्गसे वेगपूर्वक निकल जाते थे, उस मार्गसे संयुक्त समुद्र सहसा कठौते या कड़ाहके समान हो जाता था (उनके वेगसे उठी हुई वायुके द्वारा वहाँका जल हट जानेसे वह स्थान कठौते आदिके समान गहरा-सा दिखायी पड़ता था) ॥ ७९ ॥

आपाते पक्षिसङ्घानां पक्षिराज इव व्रजन् ।
हनुमान् मेघजालानि प्रकर्षन् मारुतो यथा ॥ ८० ॥

पक्षी-समूहोंके उड़नेके मार्गमें पक्षिराज गरुड़की भाँति जाते हुए हनुमान् वायुके समान मेघमालाओंको अपनी ओर खींच लेते थे ॥ ८० ॥

पाण्डुरारुणवर्णानि नीलमञ्जिष्ठकानि च ।
कपिनाऽऽकृष्यमाणानि महाभ्राणि चकाशिरे ॥ ८१ ॥

हनुमान्‌जीके द्वारा खींचे जाते हुए वे श्वेत, अरुण, नील और मजीठके-से रंगवाले बड़े-बड़े मेघ वहाँ बड़ी शोभा पाते थे ॥ ८१ ॥

प्रविशन्नभ्रजालानि निष्पतंश्च पुनः पुनः ।
प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च चन्द्रमा इव दृश्यते ॥ ८२ ॥

वे बारम्बार बादलोंके समूहमें घुस जाते और बाहर निकल आते थे। इस तरह छिपते और प्रकाशित होते हुए चन्द्रमाके समान दृष्टिगोचर होते थे ॥ ८२ ॥

प्लवमानं तु तं दृष्ट्वा प्लवगं त्वरितं तदा ।
ववृषुस्तत्र पुष्पाणि देवगन्धर्वचारणाः ॥ ८३ ॥

उस समय तीव्रगतिसे आगे बढ़ते हुए वानरवीर हनुमान्‌जीको देखकर देवता, गन्धर्व और चारण उनके ऊपर फूलोंकी वर्षा करने लगे ॥ ८३ ॥

तताप नहि तं सूर्यः प्लवन्तं वानरेश्वरम् ।
सिषेवे च तदा वायू रामकार्यार्थसिद्धये ॥ ८४ ॥

वे श्रीरामचन्द्रजीका कार्य सिद्ध करनेके लिये जा रहे थे, अतः उस समय वेगसे जाते हुए वानरराज हनुमान्‌को सूर्यदेवने ताप नहीं पहुँचाया और वायुदेवने भी उनकी सेवा की ॥ ८४ ॥

ऋषयस्तुष्टुवुश्चैनं प्लवमानं विहायसा ।
जगुश्च देवगन्धर्वाः प्रशंसन्तो वनौकसम् ॥ ८५ ॥

आकाशमार्गसे यात्रा करते हुए वानरवीर हनुमान्‌की ऋषि-मुनि स्तुति करने लगे तथा देवता और गन्धर्व उनकी प्रशंसाके गीत गाने लगे ॥ ८५ ॥

नागाश्च तुष्टुवुर्यक्षा रक्षांसि विविधानि च ।
प्रेक्ष्य सर्वे कपिवरं सहसा विगतक्लमम् ॥ ८६ ॥

उन कपिश्रेष्ठको बिना थकावटके सहसा आगे बढ़ते देख नाग, यक्ष और नाना प्रकारके राक्षस सभी उनकी स्तुति करने लगे ॥ ८६ ॥

तस्मिन् प्लवगशार्दूले प्लवमाने हनूमति ।
इक्ष्वाकुकुलमानार्थी चिन्तयामास सागरः ॥ ८७ ॥

जिस समय कपिकेसरी हनुमान्‌जी उछलकर समुद्र पार कर रहे थे, उस समय इक्ष्वाकुकुलका सम्मान करनेकी इच्छासे समुद्रने विचार किया— ॥ ८७ ॥

साहाय्यं वानरेन्द्रस्य यदि नाहं हनूमतः ।
करिष्यामि भविष्यामि सर्ववाच्यो विवक्षताम् ॥ ८८ ॥

'यदि मैं वानरराज हनुमान्‌जीकी सहायता नहीं करूँगा तो बोलनेकी इच्छावाले सभी लोगोंकी दृष्टिमें मैं सर्वथा निन्दनीय हो जाऊँगा ॥ ८८ ॥

अहमिक्ष्वाकुनाथेन सगरेण विवर्धितः ।
इक्ष्वाकुसचिवश्चायं तन्नार्हत्यवसादितुम् ॥ ८९ ॥

'मुझे इक्ष्वाकुकुलके महाराज सगरने बढ़ाया था। इस समय ये हनुमान्‌जी भी इक्ष्वाकुवंशी वीर श्रीरघुनाथजीकी सहायता कर रहे हैं, अतः इन्हें इस यात्रामें किसी प्रकारका कष्ट नहीं होना चाहिये ॥ ८९ ॥

तथा मया विधातव्यं विश्रमेत यथा कपिः ।
शेषं च मयि विश्रान्तः सुखी सोऽतितरिष्यति ॥ ९० ॥

'मुझे ऐसा कोई उपाय करना चाहिये, जिससे वानरवीर यहाँ कुछ विश्राम कर ले। मेरे आश्रयमें विश्राम कर लेनेपर शेष भागको ये सुगमतासे पार कर लेंगे' ॥ ९० ॥

इति कृत्वा मतिं साध्वीं समुद्रश्छन्नमम्भसि ।
हिरण्यनाभं मैनाकमुवाच गिरिसत्तमम् ॥ ९१ ॥

यह शुभ विचार करके समुद्रने अपने जलमें छिपे हुए सुवर्णमय गिरिश्रेष्ठ मैनाकसे कहा— ॥ ९१ ॥

त्वमिहासुरसङ्घानां देवराज्ञा महात्मना ।
पातालनिलयानां हि परिघः संनिवेशितः ॥ ९२ ॥

'शैलप्रवर! महात्मा देवराज इन्द्रने तुम्हें यहाँ पातालवासी असुरसमूहोंके निकलनेके मार्गको रोकनेके लिये परिघरूपसे स्थापित किया है ॥ ९२ ॥

त्वमेषां ज्ञातवीर्याणां पुनरेवोत्पतिष्यताम् ।
पातालस्याप्रमेयस्य द्वारमावृत्य तिष्ठसि ॥ ९३ ॥

'इन असुरोंका पराक्रम सर्वत्र प्रसिद्ध है। वे फिर पातालसे ऊपरको आना चाहते हैं, अतः उन्हें रोकनेके लिये तुम अप्रमेय पाताललोकके द्वारको बंद करके खड़े हो ॥ ९३ ॥

तिर्यगूर्ध्वमधश्चैव शक्तिस्ते शैल वर्धितुम् ।
तस्मात् संचोदयामि त्वामुत्तिष्ठ गिरिसत्तम ॥ ९४ ॥

'शैल! ऊपर-नीचे और अगल-बगलमें सब ओर बढ़नेकी तुममें शक्ति है। गिरिश्रेष्ठ! इसीलिये मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ कि तुम ऊपरको ओर उठो ॥ ९४ ॥

स एष कपिशार्दूलस्त्वामुपर्येति वीर्यवान् ।
हनुमान् रामकार्यार्थी भीमकर्मा खमाप्लुतः ॥ ९५ ॥

'देखो, ये पराक्रमी कपिकेसरी हनुमान् तुम्हारे ऊपर होकर जा रहे हैं। ये बड़ा भयंकर कर्म करनेवाले हैं, इस समय श्रीरामका कार्य सिद्ध करनेके लिये इन्होंने आकाशमें छलाँग मारी है ॥ ९५ ॥

अस्य साह्यं मया कार्यमिक्ष्वाकुकुलवर्तिनः ।
मम इक्ष्वाकवः पूज्याः परं पूज्यतमास्तव ॥ ९६ ॥

'ये इक्ष्वाकुवंशी रामके सेवक हैं, अतः मुझे इनकी सहायता करनी चाहिये। इक्ष्वाकुवंशके लोग मेरे पूजनीय हैं और तुम्हारे लिये तो वे परम पूजनीय हैं ॥ ९६ ॥

कुरु साचिव्यमस्माकं न नः कार्यमतिक्रमेत् ।
कर्तव्यमकृतं कार्यं सतां मन्युमुदीरयेत् ॥ ९७ ॥

'अतः तुम हमारी सहायता करो। जिससे हमारे कर्तव्य कर्मका (हनुमान्‌जीके सत्काररूपी कार्यका) अवसर बीत न जाय। यदि कर्तव्यका पालन नहीं किया जाय तो वह सत्पुरुषोंके क्रोधको जगा देता है ॥ ९७ ॥

सलिलादूर्ध्वमुत्तिष्ठ तिष्ठत्वेष कपिस्त्वयि ।
अस्माकमतिथिश्चैव पूज्यश्च प्लवतां वरः ॥ ९८ ॥

'इसलिये तुम पानीसे ऊपर उठो, जिससे ये छलाँग मारनेवालोंमें श्रेष्ठ कपिवर हनुमान् तुम्हारे ऊपर कुछ कालतक ठहरें—विश्राम करें। ये हमारे पूजनीय अतिथि भी हैं ॥ ९८ ॥

चामीकरमहानाभ देवगन्धर्वसेवित ।
हनुमांस्त्वयि विश्रान्तस्ततः शेषं गमिष्यति ॥ ९९ ॥

'देवताओं और गन्धर्वोंद्वारा सेवित तथा सुवर्णमय विशाल शिखरवाले मैनाक! तुम्हारे ऊपर विश्राम करनेके पश्चात् हनुमान्‌जी शेष मार्गको सुखपूर्वक तय कर लेंगे ॥ ९९ ॥

काकुत्स्थस्यानृशंस्यं च मैथिल्याश्च विवासनम् ।
श्रमं च प्लवगेन्द्रस्य समीक्ष्योत्थातुमर्हसि ॥ १०० ॥

'ककुत्स्थवंशी श्रीरामचन्द्रजीकी दयालुता, मिथिलेश-कुमारी सीताका परदेशमें रहनेके लिये विवश होना तथा वानरराज हनुमान्‌का परिश्रम देखकर तुम्हें अवश्य ऊपर उठना चाहिये' ॥ १०० ॥

हिरण्यगर्भो मैनाको निशम्य लवणाम्भसः ।
उत्पपात जलात् तूर्णं महाद्रुमलतावृतः ॥ १०१ ॥

यह सुनकर बड़े-बड़े वृक्षों और लताओंसे आवृत सुवर्णमय मैनाक पर्वत तुरंत ही क्षार समुद्रके जलसे ऊपरको उठ गया ॥ १०१ ॥

स सागरजलं भित्त्वा बभूवाभ्युच्छ्रितस्तदा ।
यथा जलधरं भित्त्वा दीप्तरश्मिर्दिवाकरः ॥ १०२ ॥

जैसे उद्दीप्त किरणोंवाले दिवाकर (सूर्य) मेघोंके आवरणको भेदकर उदित होते हैं, उसी प्रकार उस समय महासागरके जलका भेदन करके वह पर्वत बहुत ऊँचा उठ गया ॥ १०२ ॥

स महात्मा मुहूर्तेन पर्वतः सलिलावृतः ।
दर्शयामास शृङ्गाणि सागरेण नियोजितः ॥ १०३ ॥

समुद्रकी आज्ञा पाकर जलमें छिपे रहनेवाले उस विशालकाय पर्वतने दो ही घड़ीमें हनुमान्‌जीको अपने शिखरोंका दर्शन कराया ॥ १०३ ॥

शातकुम्भमयैः शृङ्गैः सकिंनरमहोरगैः ।
आदित्योदयसंकाशैरुल्लिखद्भिरिवाम्बरम् ॥ १०४ ॥

उस पर्वतके वे शिखर सुवर्णमय थे। उनपर किन्नर और बड़े-बड़े नाग निवास करते थे। सूर्योदयके समान तेजःपुञ्जसे विभूषित वे शिखर इतने ऊँचे थे कि आकाशमें रेखा-सी खींच रहे थे ॥ १०४ ॥

तस्य जाम्बूनदैः शृङ्गैः पर्वतस्य समुत्थितैः ।
आकाशं शस्त्रसंकाशमभवत् काञ्चनप्रभम् ॥ १०५ ॥

उस पर्वतके उठे हुए सुवर्णमय शिखरोंके कारण शस्त्रके

समान नील वर्णवाला आकाश सुनहरी प्रभासे उद्भासित होने लगा ॥ १०५ ॥

जातरूपमयैः शृङ्गैर्भ्राजमानैर्महाप्रभैः ।
आदित्यशतसंकाशः सोऽभवद् गिरिसत्तमः ॥ १०६ ॥

उन परम कान्तिमान् और तेजस्वी सुवर्णमय शिखरोंसे वह गिरिश्रेष्ठ मैनाक सैकड़ों सूर्योंके समान देदीप्यमान हो रहा था ॥ १०६ ॥

समुत्थितमसङ्गेन हनूमानग्रतः स्थितम् ।
मध्ये लवणतोयस्य विघ्नोऽयमिति निश्चितः ॥ १०७ ॥

क्षार समुद्रके बीचमें अविलम्ब उठकर सामने खड़े हुए मैनाकको देखकर हनुमान्‌जीने मन-ही-मन निश्चित किया कि यह कोई विघ्न उपस्थित हुआ है ॥ १०७ ॥

स तमुच्छ्रितमत्यर्थं महावेगो महाकपिः ।
उरसा पातयामास जीमूतमिव मारुतः ॥ १०८ ॥

अतः वायु जैसे बादलको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार महान् वेगशाली महाकपि हनुमान्‌ने बहुत ऊँचे उठे हुए मैनाक पर्वतके उस उच्चतर शिखरको अपनी छातीके धक्केसे नीचे गिरा दिया ॥ १०८ ॥

स तदासादितस्तेन कपिना पर्वतोत्तमः ।
बुद्ध्वा तस्य हरेर्वेगं जहर्ष च ननाद च ॥ १०९ ॥

इस प्रकार कपिवर हनुमान्‌जीके द्वारा नीचा देखनेपर उनके उस महान् वेगका अनुभव करके पर्वतश्रेष्ठ मैनाक बड़ा प्रसन्न हुआ और गर्जना करने लगा ॥ १०९ ॥

तमाकाशगतं वीरमाकाशे समुपस्थितः ।
प्रीतो हृष्टमना वाक्यमब्रवीत् पर्वतः कपिम् ॥ ११० ॥
मानुषं धारयन् रूपमात्मनः शिखरे स्थितः ।

तब आकाशमें स्थित हुए उस पर्वतने आकाशगत वीर वानर हनुमान्‌जीसे प्रसन्नचित्त होकर कहा। वह मनुष्यरूप धारण करके अपने ही शिखरपर स्थित हो इस प्रकार बोला— ॥ ११०$\frac{1}{2}$ ॥

दुष्करं कृतवान् कर्म त्वमिदं वानरोत्तम ॥ १११ ॥
निपत्य मम शृङ्गेषु सुखं विश्रम्य गम्यताम् ।

'वानरशिरोमणे! आपने यह दुष्कर कर्म किया है। अब उतरकर मेरे इन शिखरोंपर सुखपूर्वक विश्राम कर लीजिये, फिर आगेकी यात्रा कीजियेगा ॥ १११$\frac{1}{2}$ ॥

राघवस्य कुले जातैरुदधिः परिवर्धितः ॥ ११२ ॥
स त्वां रामहिते युक्तं प्रत्यर्चयति सागरः ।

'श्रीरघुनाथजीके पूर्वजोंने समुद्रकी वृद्धि की थी, इस समय आप उनका हित करनेमें लगे हैं; अतः समुद्र आपका सत्कार करना चाहता है ॥ ११२$\frac{1}{2}$ ॥

कृते च प्रतिकर्तव्यमेष धर्मः सनातनः ॥ ११३ ॥
सोऽयं तत्प्रतिकारार्थी त्वत्तः सम्मानमर्हति ।

'किसीने उपकार किया हो तो बदलेमें उसका भी उपकार किया जाय—यह सनातन धर्म है। इस दृष्टिसे प्रत्युपकार करनेकी इच्छावाला यह सागर आपसे सम्मान पानेके योग्य है (आप इसका सत्कार ग्रहण करें, इतनेसे ही इसका सम्मान हो जायगा) ॥ ११३$\frac{1}{2}$ ॥

त्वन्निमित्तमनेनाहं बहुमानात् प्रचोदितः ॥ ११४ ॥
योजनानां शतं चापि कपिरेष खमाप्लुतः ।
तव सानुषु विश्रान्तः शेषं प्रक्रमतामिति ॥ ११५ ॥

'आपके सत्कारके लिये समुद्रने बड़े आदरसे मुझे नियुक्त किया है और कहा है—'इन कपिवर हनुमान्‌ने सौ योजन दूर जानेके लिये आकाशमें छलाँग मारी है, अतः कुछ देरतक तुम्हारे शिखरोंपर ये विश्राम कर लें, फिर शेष भागका लङ्घन करेंगे' ॥ ११४-११५ ॥

तिष्ठ त्वं हरिशार्दूल मयि विश्रम्य गम्यताम् ।
तदिदं गन्धवत् स्वादु कन्दमूलफलं बहु ॥ ११६ ॥
तदास्वाद्य हरिश्रेष्ठ विश्रान्तोऽथ गमिष्यसि ।

'अतः कपिश्रेष्ठ! आप कुछ देरतक मेरे ऊपर विश्राम कर लीजिये, फिर जाइयेगा। इस स्थानपर ये बहुत-से सुगन्धित और सुस्वादु कन्द, मूल तथा फल हैं। वानर-शिरोमणे! इनका आस्वादन करके थोड़ी देरतक सुस्ता लीजिये। उसके बाद आगेकी यात्रा कीजियेगा ॥ ११६$\frac{1}{2}$ ॥

अस्माकमपि सम्बन्धः कपिमुख्य त्वयास्ति वै ।
प्रख्यातस्त्रिषु लोकेषु महागुणपरिग्रहः ॥ ११७ ॥

'कपिवर! आपके साथ हमारा भी कुछ सम्बन्ध है। आप महान् गुणोंका संग्रह करनेवाले और तीनों लोकोंमें विख्यात हैं ॥ ११७ ॥

वेगवन्तः प्लवन्तो ये प्लवगा मारुतात्मज ।
तेषां मुख्यतमं मन्ये त्वामहं कपिकुञ्जर ॥ ११८ ॥

'कपिश्रेष्ठ पवननन्दन! जो-जो वेगशाली और छलाँग मारने-वाले वानर हैं, उन सबमें मैं आपहीको श्रेष्ठतम मानता हूँ ॥ ११८ ॥

अतिथिः किल पूजार्हः प्राकृतोऽपि विजानता ।
धर्मं जिज्ञासमानेन किं पुनर्यादृशो भवान् ॥ ११९ ॥

'धर्मकी जिज्ञासा रखनेवाले विज्ञ पुरुषके लिये एक साधारण अतिथि भी निश्चय ही पूजाके योग्य माना गया है। फिर आप-जैसे असाधारण शौर्यशाली पुरुष कितने सम्मानके योग्य हैं, इस विषयमें तो कहना क्या है? ॥ ११९ ॥

त्वं हि देववरिष्ठस्य मारुतस्य महात्मनः ।
पुत्रस्तस्यैव वेगेन सदृशः कपिकुञ्जर ॥ १२० ॥

'कपिश्रेष्ठ! आप देवशिरोमणि महात्मा वायुके पुत्र हैं और वेगमें भी उन्हींके समान हैं ॥ १२० ॥

पूजिते त्वयि धर्मज्ञे पूजां प्राप्नोति मारुतः ।
तस्मात् त्वं पूजनीयो मे शृणु चाप्यत्र कारणम् ॥ १२१ ॥

'आप धर्मके ज्ञाता हैं। आपकी पूजा होनेपर साक्षात्

वायुदेवका पूजन हो जायगा। इसलिये आप अवश्य ही मेरे पूजनीय हैं। इसमें एक और भी कारण है, उसे सुनिये॥ १२१॥

पूर्वं कृतयुगे तात पर्वताः पक्षिणोऽभवन्।
तेऽपि जग्मुर्दिशः सर्वा गरुडा इव वेगिनः॥ १२२॥

'तात! पूर्वकालके सत्ययुगकी बात है। उन दिनों पर्वतोंके भी पंख होते थे। वे भी गरुड़के समान वेगशाली होकर सम्पूर्ण दिशाओंमें उड़ते फिरते थे॥ १२२॥

ततस्तेषु प्रयातेषु देवसङ्घाः सहर्षिभिः।
भूतानि च भयं जग्मुस्तेषां पतनशङ्कया॥ १२३॥

उनके इस तरह वेगपूर्वक उड़ने और आने-जानेपर देवता, ऋषि और समस्त प्राणियोंको उनके गिरनेकी आशङ्कासे बड़ा भय होने लगा॥ १२३॥

ततः क्रुद्धः सहस्राक्षः पर्वतानां शतक्रतुः।
पक्षांश्चिच्छेद वज्रेण ततः शतसहस्रशः॥ १२४॥

इससे सहस्र नेत्रोंवाले देवराज इन्द्र कुपित हो उठे और उन्होंने अपने वज्रसे लाखों पर्वतोंके पंख काट डाले॥ १२४॥

स मामुपगतः क्रुद्धो वज्रमुद्यम्य देवराट्।
ततोऽहं सहसा क्षिप्तः श्वसनेन महात्मना॥ १२५॥

उस समय कुपित हुए देवराज इन्द्र वज्र उठाये मेरी ओर भी आये, किन्तु महात्मा वायुने सहसा मुझे इस समुद्रमें गिरा दिया॥ १२५॥

अस्मिँल्लवणतोये च प्रक्षिप्तः प्लवगोत्तम।
गुप्तपक्षः समग्रश्च तव पित्राभिरक्षितः॥ १२६॥

वानरश्रेष्ठ! इस क्षार समुद्रमें गिराकर आपके पिताने मेरे पंखोंकी रक्षा कर ली और मैं अपने सम्पूर्ण अंशसे सुरक्षित बच गया॥ १२६॥

ततोऽहं मानयामि त्वां मान्योऽसि मम मारुते।
त्वया ममैष सम्बन्धः कपिमुख्य महागुणः॥ १२७॥

पवननन्दन! कपिश्रेष्ठ! इसीलिये मैं आपका आदर करता हूँ। आप मेरे माननीय हैं। आपके साथ मेरा यह सम्बन्ध महान् गुणोंसे युक्त है॥ १२७॥

अस्मिन्नेवंगते कार्ये सागरस्य ममैव च।
प्रीतिं प्रीतमनाः कर्तुं त्वमर्हसि महामते॥ १२८॥

महामते! इस प्रकार चिरकालके बाद जो यह प्रत्युपकाररूप कार्य (आपके पिताके उपकारका बदला चुकानेका अवसर) प्राप्त हुआ है, इसमें आप प्रसन्नचित्त होकर मेरी और समुद्रकी भी प्रीतिका सम्पादन करें (हमारा आतिथ्य ग्रहण करके हमें संतुष्ट करें)॥ १२८॥

श्रमं मोक्षय पूजां च गृहाण हरिसत्तम।
प्रीतिं च मम मान्यस्य प्रीतोऽस्मि तव दर्शनात्॥ १२९॥

वानरशिरोमणे! आप यहाँ अपनी थकान उतारिये, हमारी पूजा ग्रहण कीजिये और मेरे प्रेमको भी स्वीकार कीजिये। मैं आप-जैसे माननीय पुरुषके दर्शनसे बहुत प्रसन्न हुआ हूँ'॥ १२९॥

एवमुक्तः कपिश्रेष्ठस्तं नगोत्तममब्रवीत्।
प्रीतोऽस्मि कृतमातिथ्यं मन्युरेषोऽपनीयताम्॥ १३०॥

मैनाकके ऐसा कहनेपर कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌जीने उस उत्तम पर्वतसे कहा—'मैनाक! मुझे भी आपसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई है। मेरा आतिथ्य हो गया। अब आप अपने मनसे यह दुःख अथवा चिन्ता निकाल दीजिये कि इन्होंने मेरी पूजा ग्रहण नहीं की॥ १३०॥

त्वरते कार्यकालो मे अहश्चाप्यतिवर्तते।
प्रतिज्ञा च मया दत्ता न स्थातव्यमिहान्तरा॥ १३१॥

'मेरे कार्यका समय मुझे बहुत जल्दी करनेके लिये प्रेरित कर रहा है। यह दिन भी बीता जा रहा है। मैंने वानरोंके समीप यह प्रतिज्ञा कर ली है कि मैं यहाँ बीचमें कहीं नहीं ठहर सकता'॥ १३१॥

इत्युक्त्वा पाणिना शैलमालभ्य हरिपुङ्गवः।
जगामाकाशमाविश्य वीर्यवान् प्रहसन्निव॥ १३२॥

ऐसा कहकर महाबली वानरशिरोमणि हनुमान्‌ने हँसते हुएसे वहाँ मैनाकका अपने हाथसे स्पर्श किया और आकाशमें ऊपर उठकर चलने लगे॥ १३२॥

स पर्वतसमुद्राभ्यां बहुमानादवेक्षितः।
पूजितश्चोपपन्नाभिराशीर्भिरभिनन्दितः॥ १३३॥

उस समय पर्वत और समुद्र दोनोंने ही बड़े आदरसे उनकी ओर देखा, उनका सत्कार किया और यथोचित आशीर्वादोंसे उनका अभिनन्दन किया॥ १३३॥

अथोर्ध्वं दूरमागत्य हित्वा शैलमहार्णवौ।
पितुः पन्थानमासाद्य जगाम विमलेऽम्बरे॥ १३४॥

फिर पर्वत और समुद्रको छोड़कर उनसे दूर ऊपर उठकर अपने पिताके मार्गका आश्रय ले हनुमान्‌जी निर्मल आकाशमें चलने लगे॥ १३४॥

भूयश्चोर्ध्वं गतिं प्राप्य गिरिं तमवलोकयन्।
वायुसूनुर्निरालम्बो जगाम कपिकुञ्जरः॥ १३५॥

तत्पश्चात् और भी ऊँचे उठकर उस पर्वतको देखते हुए कपिश्रेष्ठ पवनपुत्र हनुमान्‌जी बिना किसी आधारके आगे बढ़ने लगे॥ १३५॥

तद् द्वितीयं हनुमतो दृष्ट्वा कर्म सुदुष्करम्।
प्रशशंसुः सुराः सर्वे सिद्धाश्च परमर्षयः॥ १३६॥

हनुमान्‌जीका यह दूसरा अत्यन्त दुष्कर कर्म देखकर सम्पूर्ण देवता, सिद्ध और महर्षिगण उनकी प्रशंसा करने लगे॥ १३६॥

देवताश्चाभवन् हृष्टास्तत्रस्थास्तस्य कर्मणा।
काञ्चनस्य सुनाभस्य सहस्राक्षश्च वासवः॥ १३७॥

वहाँ आकाशमें ठहरे हुए देवता तथा सहस्र नेत्रधारी इन्द्र उस सुन्दर मध्य भागवाले सुवर्णमय मैनाक पर्वतके उस कार्यसे बहुत प्रसन्न हुए ॥ १३७ ॥

उवाच वचनं धीमान् परितोषात् सगद्गदम्।
सुनाभं पर्वतश्रेष्ठं स्वयमेव शचीपतिः ॥ १३८ ॥

उस समय स्वयं बुद्धिमान् शचीपति इन्द्रने अत्यन्त संतुष्ट होकर पर्वतश्रेष्ठ सुनाभ मैनाकसे गद्गद वाणीमें कहा— ॥ १३८ ॥

हिरण्यनाभ शैलेन्द्र परितुष्टोऽस्मि ते भृशम्।
अभयं ते प्रयच्छामि गच्छ सौम्य यथासुखम् ॥ १३९ ॥

'सुवर्णमय शैलराज मैनाक! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। सौम्य! तुम्हें अभय दान देता हूँ। तुम सुखपूर्वक जहाँ चाहो, जाओ ॥ १३९ ॥

साह्यं कृतं ते सुमहद् विश्रान्तस्य हनूमतः।
क्रमतो योजनशतं निर्भयस्य भये सति ॥ १४० ॥

'सौ योजन समुद्रको लाँघते समय जिनके मनमें कोई भय नहीं रहा है, फिर भी जिनके लिये हमारे हृदयमें यह भय था कि पता नहीं इनका क्या होगा? उन्हीं हनुमान्‌जीको विश्रामका अवसर देकर तुमने उनकी बहुत बड़ी सहायता की है ॥ १४० ॥

रामस्यैष हितायैव याति दाशरथेः कपिः।
सत्क्रियां कुर्वता शक्त्या तोषितोऽस्मि दृढं त्वया ॥ १४१ ॥

'ये वानरश्रेष्ठ हनुमान् दशरथनन्दन श्रीरामकी सहायताके लिये ही जा रहे हैं। तुमने यथाशक्ति इनका सत्कार करके मुझे पूर्ण संतोष प्रदान किया है' ॥ १४१ ॥

स तत् प्रहर्षमलभद् विपुलं पर्वतोत्तमः।
देवतानां पतिं दृष्ट्वा परितुष्टं शतक्रतुम् ॥ १४२ ॥

देवताओंके स्वामी शतक्रतु इन्द्रको संतुष्ट देखकर पर्वतोंमें श्रेष्ठ मैनाकको बड़ा हर्ष प्राप्त हुआ ॥ १४२ ॥

स वै दत्तवरः शैलो बभूवावस्थितस्तदा।
हनूमांश्च मुहूर्तेन व्यतिचक्राम सागरम् ॥ १४३ ॥

इस प्रकार इन्द्रका दिया हुआ वर पाकर मैनाक उस समय जलमें स्थित हो गया और हनुमान्‌जी समुद्रके उस प्रदेशको उसी मुहूर्तमें लाँघ गये ॥ १४३ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः।
अब्रुवन् सूर्यसंकाशां सुरसां नागमातरम् ॥ १४४ ॥

तब देवता, गन्धर्व, सिद्ध और महर्षियोंने सूर्यतुल्य तेजस्विनी नागमाता सुरसासे कहा— ॥ १४४ ॥

अयं वातात्मजः श्रीमान् प्लवते सागरोपरि।
हनूमान् नाम तस्य त्वं मुहूर्तं विघ्नमाचर ॥ १४५ ॥

'ये पवननन्दन श्रीमान् हनुमान्‌जी समुद्रके ऊपर होकर जा रहे हैं। तुम दो घड़ीके लिये इनके मार्गमें विघ्न डाल दो ॥ १४५ ॥

राक्षसं रूपमास्थाय सुघोरं पर्वतोपमम्।
दंष्ट्राकरालं पिङ्गाक्षं वक्त्रं कृत्वा नभःस्पृशम् ॥ १४६ ॥

'तुम पर्वतके समान अत्यन्त भयंकर राक्षसीका रूप धारण करो। उसमें विकराल दाढ़ें, पीले नेत्र और आकाशको स्पर्श करनेवाला विकट मुँह बनाओ ॥ १४६ ॥

बलमिच्छामहे ज्ञातुं भूयश्चास्य पराक्रमम्।
त्वां विजेष्यत्युपायेन विषादं वा गमिष्यति ॥ १४७ ॥

'हमलोग पुनः हनुमान्‌जीके बल और पराक्रमकी परीक्षा लेना चाहते हैं। या तो किसी उपायसे ये तुम्हें जीत लेंगे अथवा विषादमें पड़ जायँगे (इससे इनके बलाबलका ज्ञान हो जायगा)' ॥ १४७ ॥

एवमुक्ता तु सा देवी दैवतैरभिसत्कृता।
समुद्रमध्ये सुरसा बिभ्रती राक्षसं वपुः ॥ १४८ ॥
विकृतं च विरूपं च सर्वस्य च भयावहम्।
प्लवमानं हनूमन्तमावृत्येदमुवाच ह ॥ १४९ ॥

देवताओंके सत्कारपूर्वक इस प्रकार कहनेपर देवी सुरसाने समुद्रके बीचमें राक्षसीका रूप धारण किया। उसका वह रूप बड़ा ही विकट, बेडौल और सबके लिये भयावना था। वह समुद्रके पार जाते हुए हनुमान्‌जीको घेरकर उनसे इस प्रकार बोली— ॥ १४८-१४९ ॥

मम भक्ष्यः प्रदिष्टस्त्वमीश्वरैर्वानरर्षभ।
अहं त्वां भक्षयिष्यामि प्रविशेदं ममाननम् ॥ १५० ॥

'कपिश्रेष्ठ! देवेश्वरोंने तुम्हें मेरा भक्ष्य बताकर मुझे अर्पित कर दिया है, अतः मैं तुम्हें खाऊँगी। तुम मेरे इस मुँहमें चले आओ ॥ १५० ॥

वर एष पुरा दत्तो मम धात्रेति सत्वरा।
व्यादाय वक्त्रं विपुलं स्थिता सा मारुतेः पुरः ॥ १५१ ॥

'पूर्वकालमें ब्रह्माजीने मुझे यह वर दिया था।' ऐसा कहकर वह तुरंत ही अपना विशाल मुँह फैलाकर हनुमान्‌जीके सामने खड़ी हो गयी ॥ १५१ ॥

एवमुक्तः सुरसया प्रहृष्टवदनोऽब्रवीत्।
रामो दाशरथिर्नाम प्रविष्टो दण्डकावनम्।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा वैदेह्या चापि भार्यया ॥ १५२ ॥

सुरसाके ऐसा कहनेपर हनुमान्‌जीने प्रसन्नमुख होकर कहा—'देवि! दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजी अपने भाई लक्ष्मण और धर्मपत्नी सीताजीके साथ दण्डकारण्यमें आये थे ॥ १५२ ॥

अन्यकार्यविषक्तस्य बद्धवैरस्य राक्षसैः।
तस्य सीता हृता भार्या रावणेन यशस्विनी ॥ १५३ ॥

'वहाँ परहित-साधनमें लगे हुए श्रीरामका राक्षसोंके साथ वैर बँध गया। अतः रावणने उनकी यशस्विनी भार्या सीताको हर लिया ॥ १५३ ॥

तस्याः सकाशं दूतोऽहं गमिष्ये रामशासनात्।
कर्तुमर्हसि रामस्य साह्यं विषयवासिनि ॥ १५४ ॥

'मैं श्रीरामकी आज्ञासे उनका दूत बनकर सीताजीके पास जा रहा हूँ। तुम भी श्रीरामके राज्यमें निवास करती हो। अतः तुम्हें उनकी सहायता करनी चाहिये ॥ १५४ ॥

अथवा मैथिलीं दृष्ट्वा रामं चाक्लिष्टकारिणम्।
आगमिष्यामि ते वक्त्रं सत्यं प्रतिशृणोमि ते ॥ १५५ ॥

'अथवा (यदि तुम मुझे खाना ही चाहती हो तो) मैं सीताजीका दर्शन करके अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीसे जब मिल लूँगा, तब तुम्हारे मुखमें आ जाऊँगा—यह तुमसे सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ' ॥ १५५ ॥

एवमुक्ता हनुमता सुरसा कामरूपिणी।
अब्रवीन्नातिवर्तेन्मां कश्चिदेष वरो मम ॥ १५६ ॥

हनुमान्‌जीके ऐसा कहनेपर इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली सुरसा बोली—'मुझे यह वर मिला है कि कोई भी मुझे लाँघकर आगे नहीं जा सकता' ॥ १५६ ॥

तं प्रयान्तं समुद्वीक्ष्य सुरसा वाक्यमब्रवीत्।
बलं जिज्ञासमाना सा नागमाता हनूमतः ॥ १५७ ॥

फिर भी हनुमान्‌जीको जाते देख उनके बलको जाननेकी इच्छा रखनेवाली नागमाता सुरसाने उनसे कहा— ॥ १५७ ॥

निविश्य वदनं मेऽद्य गन्तव्यं वानरोत्तम।
वर एष पुरा दत्तो मम धात्रेति सत्वरा ॥ १५८ ॥
व्यादाय विपुलं वक्त्रं स्थिता सा मारुतेः पुरः।

'वानरश्रेष्ठ! आज मेरे मुखमें प्रवेश करके ही तुम्हें आगे जाना चाहिये। पूर्वकालमें विधाताने मुझे ऐसा ही वर दिया था।' ऐसा कहकर सुरसा तुरंत अपना विशाल मुँह फैलाकर हनुमान्‌जीके सामने खड़ी हो गयी ॥ १५८½ ॥

एवमुक्तः सुरसया क्रुद्धो वानरपुंगवः ॥ १५९ ॥
अब्रवीत् कुरु वै वक्त्रं येन मां विषहिष्यसि।
इत्युक्त्वा सुरसां क्रुद्धो दशयोजनमायताम् ॥ १६० ॥
दशयोजनविस्तारो हनूमानभवत् तदा।
तं दृष्ट्वा मेघसंकाशं दशयोजनमायतम्।
चकार सुरसाप्यास्यं विंशद् योजनमायतम् ॥ १६१ ॥

सुरसाके ऐसा कहनेपर वानरशिरोमणि हनुमान्‌जी कुपित हो उठे और बोले—तुम अपना मुँह इतना बड़ा बना लो जिससे उसमें मेरा भार सह सको' यों कहकर जब वे मौन हुए, तब सुरसाने अपना मुख दस योजन विस्तृत बना लिया। यह देखकर कुपित हुए हनुमान्‌जी भी तत्काल दस योजन बड़े हो गये। उन्हें मेघके समान दस योजन विस्तृत शरीरसे युक्त हुआ देख सुरसाने भी अपने मुखको बीस योजन बड़ा बना लिया ॥ १५९—१६१ ॥

हनुमांस्तु ततः क्रुद्धस्त्रिंशद् योजनमायतः।
चकार सुरसा वक्त्रं चत्वारिंशत् तथोच्छ्रितम् ॥ १६२ ॥

तब हनुमान्‌जीने क्रुद्ध होकर अपने शरीरको तीस योजन अधिक बड़ा किया। फिर तो सुरसाने भी अपने मुँहको चालीस योजन ऊँचा कर लिया ॥ १६२ ॥

बभूव हनुमान् वीरः पञ्चाशद् योजनोच्छ्रितः।
चकार सुरसा वक्त्रं षष्टिं योजनमुच्छ्रितम् ॥ १६३ ॥

यह देख वीर हनुमान् पचास योजन ऊँचे हो गये। तब सुरसाने अपना मुँह साठ योजन ऊँचा बना लिया ॥ १६३ ॥

तदैव हनुमान् वीरः सप्तति योजनोच्छ्रितः।
चकार सुरसा वक्त्रमशीतिं योजनोच्छ्रितम् ॥ १६४ ॥

फिर तो वीर हनुमान् उसी क्षण सत्तर योजन ऊँचे हो गये। अब सुरसाने अस्सी योजन ऊँचा मुँह बना लिया ॥ १६४ ॥

हनूमाननलप्रख्यो नवति योजनोच्छ्रितः।
चकार सुरसा वक्त्रं शतयोजनमायतम् ॥ १६५ ॥

तदनन्तर अग्निके समान तेजस्वी हनुमान् नब्बे योजन ऊँचे हो गये। यह देख सुरसाने भी अपने मुँहका विस्तार सौ योजनका कर लिया* ॥ १६५ ॥

तद् दृष्ट्वा व्यादितं त्वास्यं वायुपुत्रः स बुद्धिमान्।
दीर्घजिह्वं सुरसया सुभीमं नरकोपमम् ॥ १६६ ॥
स संक्षिप्यात्मनः कायं जीमूत इव मारुतिः।
तस्मिन् मुहूर्ते हनुमान् बभूवाङ्गुष्ठमात्रकः ॥ १६७ ॥

सुरसाके फैलाये हुए उस विशाल जिह्वासे युक्त और नरकके समान अत्यन्त भयंकर मुँहको देखकर बुद्धिमान् वायुपुत्र हनुमान्‌ने मेघकी भाँति अपने शरीरको संकुचित कर लिया। वे उसी क्षण अँगूठेके बराबर छोटे हो गये ॥ १६६-१६७ ॥

सोऽभिपद्याथ तद्वक्त्रं निष्पत्य च महाबलः।
अन्तरिक्षे स्थितः श्रीमानिदं वचनमब्रवीत् ॥ १६८ ॥

फिर वे महाबली श्रीमान् पवनकुमार सुरसाके उस मुँहमें प्रवेश करके तुरंत निकल आये और आकाशमें खड़े होकर इस प्रकार बोले— ॥ १६८ ॥

प्रविष्टोऽस्मि हि ते वक्त्रं दाक्षायणि नमोऽस्तु ते।
गमिष्ये यत्र वैदेही सत्यश्चासीद् वरस्तव ॥ १६९ ॥

'दक्षकुमारी! तुम्हें नमस्कार है। मैं तुम्हारे मुँहमें प्रवेश कर चुका। लो तुम्हारा वर भी सत्य हो गया। अब मैं उस स्थानको जाऊँगा, जहाँ विदेहकुमारी सीता विद्यमान हैं' ॥ १६९ ॥

तं दृष्ट्वा वदनान्मुक्तं चन्द्रं राहुमुखादिव।
अब्रवीत् सुरसा देवी स्वेन रूपेण वानरम् ॥ १७० ॥

* १६२ से लेकर १६५ तकके चार श्लोक कुछ टीकाकारोंने प्रक्षिप्त बताये हैं, किंतु रामायणशिरोमणि नामक टीकामें इनकी व्याख्या उपलब्ध होती है। अतः यहाँ मूलमें इन्हें सम्मिलित कर लिया गया है।

राहुके मुखसे छूटे हुए चन्द्रमाकी भाँति अपने मुखसे मुक्त हुए हनुमान्‌जीको देखकर सुरसा देवीने अपने असली रूपमें प्रकट होकर उन वानरवीरसे कहा— ॥ १७० ॥

अर्थसिद्ध्यै हरिश्रेष्ठ गच्छ सौम्य यथासुखम्।
समानय च वैदेहीं राघवेण महात्मना ॥ १७१ ॥

'कपिश्रेष्ठ! तुम भगवान् श्रीरामके कार्यकी सिद्धिके लिये सुखपूर्वक जाओ। सौम्य! विदेहनन्दिनी सीताको महात्मा श्रीरामसे शीघ्र मिलाओ' ॥ १७१ ॥

तत् तृतीयं हनुमतो दृष्ट्वा कर्म सुदुष्करम्।
साधुसाध्विति भूतानि प्रशशंसुस्तदा हरिम् ॥ १७२ ॥

कपिवर हनुमान्‌जीका यह तीसरा अत्यन्त दुष्कर कर्म देख, सब प्राणी वाह-वाह करके उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ १७२ ॥

स सागरमनाधृष्यमभ्येत्य वरुणालयम्।
जगामाकाशमाविश्य वेगेन गरुडोपमः ॥ १७३ ॥

वे वरुणके निवासभूत अलङ्घ्य समुद्रके निकट आकर आकाशका ही आश्रय ले गरुड़के समान वेगसे आगे बढ़ने लगे ॥ १७३ ॥

सेविते वारिधाराभिः पतगैश्च निषेविते।
चरिते कैशिकाचार्यैरैरावतनिषेविते ॥ १७४ ॥
सिंहकुञ्जरशार्दूलपतगोरगवाहनैः।
विमानैः सम्पतद्भिश्च विमलैः समलंकृते ॥ १७५ ॥
वज्राशनिसमस्पर्शैः पावकैरिव शोभिते।
कृतपुण्यैर्महाभागैः स्वर्गजिद्भिरधिष्ठिते ॥ १७६ ॥
वहता हव्यमत्यन्तं सेविते चित्रभानुना।
ग्रहनक्षत्रचन्द्रार्कतारागणविभूषिते ॥ १७७ ॥
महर्षिगणगन्धर्वनागयक्षसमाकुले।
विविक्ते विमले विश्वे विश्वावसुनिषेविते ॥ १७८ ॥
देवराजगजाक्रान्ते चन्द्रसूर्यपथे शिवे।
विताने जीवलोकस्य वितते ब्रह्मनिर्मिते ॥ १७९ ॥
बहुशः सेविते वीरैर्विद्याधरगणैर्वृते।
जगाम वायुमार्गे च गरुत्मानिव मारुतिः ॥ १८० ॥

जो जलकी धाराओंसे सेवित, पक्षियोंसे संयुक्त, गानविद्याके आचार्य तुम्बुरु आदि गन्धर्वोंके विचरणका स्थान तथा ऐरावतके आने-जानेका मार्ग है, सिंह, हाथी, बाघ, पक्षी और सर्प आदि वाहनोंसे जुते और उड़ते हुए निर्मल विमान जिसकी शोभा बढ़ाते हैं, जिनका स्पर्श वज्र और अशनिके समान दुःसह तथा तेज अग्निके समान प्रकाशमान है तथा जो स्वर्गलोकपर विजय पा चुके हैं, ऐसे महाभाग पुण्यात्मा पुरुषोंका जो निवासस्थान है, देवताके लिये अधिक मात्रामें हविष्यका भार वहन करनेवाले अग्निदेव जिसका सदा सेवन करते हैं, ग्रह, नक्षत्र, चन्द्रमा, सूर्य और तारे आभूषणकी भाँति जिसे सजाते हैं, महर्षियोंके समुदाय, गन्धर्व, नाग और यक्ष जहाँ भरे रहते हैं, जो जगत्‌का आश्रय-स्थान, एकान्त और निर्मल है, गन्धर्वराज विश्वावसु जिसमें निवास करते हैं, देवराज इन्द्रका हाथी जहाँ चलता-फिरता है, जो चन्द्रमा और सूर्यका भी मङ्गलमय मार्ग है, इस जीव-जगत्‌के लिये विमल वितान (चँदोवा) है, साक्षात् परब्रह्म परमात्माने ही जिसकी सृष्टि की है, जो बहुसंख्यक वीरोंसे सेवित और विद्याधरगणोंसे आवृत है, उस वायुपथ आकाशमें पवननन्दन हनुमान्‌जी गरुड़के समान वेगसे चले ॥ १७४—१८० ॥

हनुमान् मेघजालानि प्राकर्षन् मारुतो यथा।
कालागुरुसवर्णानि रक्तपीतसितानि च ॥ १८१ ॥

वायुके समान हनुमान्‌जी अगरके समान काले तथा लाल, पीले और श्वेत बादलोंको खींचते हुए आगे बढ़ने लगे ॥ १८१ ॥

कपिना कृष्यमाणानि महाभ्राणि चकाशिरे।
प्रविशन्नभ्रजालानि निष्पतंश्च पुनः पुनः ॥ १८२ ॥
प्रावृषीन्दुरिवाभाति निष्पतन् प्रविशंस्तदा।

उनके द्वारा खींचे जाते हुए वे बड़े-बड़े बादल अद्भुत शोभा पा रहे थे। वे बारम्बार मेघ-समूहोंमें प्रवेश करते और बाहर निकलते थे। उस अवस्थामें बादलोंमें छिपते तथा प्रकट होते हुए वर्षाकालके चन्द्रमाकी भाँति उनकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ १८२½ ॥

प्रदृश्यमानः सर्वत्र हनूमान् मारुतात्मजः ॥ १८३ ॥
भेजेऽम्बरं निरालम्बं पक्षयुक्त इवाद्रिराट्।

सर्वत्र दिखायी देते हुए पवनकुमार हनुमानजी पंखधारी गिरिराजके समान निराधार आकाशका आश्रय लेकर आगे बढ़ रहे थे ॥ १८३½ ॥

प्लवमानं तु तं दृष्ट्वा सिंहिका नाम राक्षसी ॥ १८४ ॥
मनसा चिन्तयामास प्रवृद्धा कामरूपिणी।

इस तरह जाते हुए हनुमान्‌जीको इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली विशालकाया सिंहिका नामवाली राक्षसीने देखा। देखकर वह मन-ही-मन इस प्रकार विचार करने लगी— ॥ १८४½ ॥

अद्य दीर्घस्य कालस्य भविष्याम्यहमाशिता ॥ १८५ ॥
इदं मम महासत्त्वं चिरस्य वशमागतम्।

'आज दीर्घकालके बाद यह विशाल जीव मेरे वशमें आया है। इसे खा लेनेपर बहुत दिनोंके लिये मेरा पेट भर जायगा' ॥ १८५½ ॥

इति संचिन्त्य मनसा छायामस्य समाक्षिपत् ॥ १८६ ॥
छायायां गृह्यमाणायां चिन्तयामास वानरः।
समाक्षिप्तोऽस्मि सहसा पङ्गूकृतपराक्रमः ॥ १८७ ॥
प्रतिलोमेन वातेन महानौरिव सागरे।

अपने हृदयमें ऐसा सोचकर उस राक्षसीने हनुमान्‌जीकी छाया पकड़ ली। छाया पकड़ी जानेपर वानरवीर हनुमान्‌ने

सोचा—'अहो! सहसा किसने मुझे पकड़ लिया, इस पकड़के सामने मेरा पराक्रम पङ्गु हो गया है। जैसे प्रतिकूल हवा चलनेपर समुद्रमें जहाजकी गति अवरुद्ध हो जाती है, वैसी ही दशा आज मेरी भी हो गयी है' ॥१८६-१८७½॥

तिर्यगूर्ध्वमधश्चैव वीक्षमाणस्तदा कपिः ॥ १८८ ॥
ददर्श स महासत्त्वमुत्थितं लवणाम्भसि ।

यही सोचते हुए कपिवर हनुमान्‌ने उस समय अगल-बगलमें, ऊपर और नीचे दृष्टि डाली। इतनेहीमें उन्हें समुद्रके जलके ऊपर उठा हुआ एक विशालकाय प्राणी दिखायी दिया ॥ १८८½ ॥

तद् दृष्ट्वा चिन्तयामास मारुतिर्विकृताननाम् ॥ १८९ ॥
कपिराज्ञा यथाख्यातं सत्त्वमद्भुतदर्शनम् ।
छायाग्राहि महावीर्यं तदिदं नात्र संशयः ॥ १९० ॥

उस विकराल मुखवाली राक्षसीको देखकर पवनकुमार हनुमान् सोचने लगे—वानरराज सुग्रीवने जिस महापराक्रमी छायाग्राही अद्भुत जीवकी चर्चा की थी, वह निःसंदेह यही है ॥ १८९-१९० ॥

स तां बुद्ध्वार्थतत्त्वेन सिंहिकां मतिमान् कपिः ।
व्यवर्धत महाकायः प्रावृषीव बलाहकः ॥ १९१ ॥

तब बुद्धिमान् कपिवर हनुमान्‌जीने यह निश्चय करके कि वास्तवमें यही सिंहिका है, वर्षाकालके मेघकी भाँति अपने शरीरको बढ़ाना आरम्भ किया। इस प्रकार वे विशालकाय हो गये ॥ १९१ ॥

तस्य सा कायमुद्वीक्ष्य वर्धमानं महाकपेः ।
वक्त्रं प्रसारयामास पातालाम्बरसंनिभम् ॥ १९२ ॥
घनराजीव गर्जन्ती वानरं समभिद्रवत् ।

उन महाकपिके शरीरको बढ़ते देख सिंहिकाने अपना मुँह पाताल और आकाशके मध्यभागके समान फैला लिया और मेघोंकी घटाके समान गर्जना करती हुई उन वानरवीरकी ओर दौड़ी ॥१९२½॥

स ददर्श ततस्तस्या विकृतं सुमहन्मुखम् ॥ १९३ ॥
कायमात्रं च मेधावी मर्माणि च महाकपिः ।

हनुमान्‌जीने उसका अत्यन्त विकराल और बड़ा हुआ मुख देखा। उन्हें अपने शरीरके बराबर ही उसका मुँह दिखायी दिया। उस समय बुद्धिमान् महाकपि हनुमान्‌ने सिंहिकाके मर्मस्थानोंको अपना लक्ष्य बनाया ॥१९३½॥

स तस्या विकृते वक्त्रे वज्रसंहननः कपिः ॥ १९४ ॥
संक्षिप्य मुहुरात्मानं निपपात महाकपिः ।

तदनन्तर वज्रोपम शरीरवाले महाकपि पवनकुमार अपने शरीरको संकुचित करके उसके विकराल मुखमें आ गिरे ॥१९४½॥

आस्ये तस्या निमज्जन्तं ददृशुः सिद्धचारणाः ॥ १९५ ॥
ग्रस्यमानं यथा चन्द्रं पूर्णं पर्वणि राहुणा ।

उस समय सिद्धों और चारणोंने हनुमान्‌जीको सिंहिकाके मुखमें उसी प्रकार निमग्न होते देखा, जैसे पूर्णिमाकी रातमें पूर्ण चन्द्रमा राहुके ग्रास बन गये हों ॥१९५½॥

ततस्तस्या नखैस्तीक्ष्णैर्मर्माण्युत्कृत्य वानरः ॥ १९६ ॥
उत्पपाताथ वेगेन मनःसम्पातविक्रमः ।

मुखमें प्रवेश करके उन वानरवीरने अपने तीखे नखोंसे उस राक्षसीके मर्मस्थानोंको विदीर्ण कर डाला। इसके पश्चात् वे मनके समान गतिसे उछलकर वेगपूर्वक बाहर निकल आये ॥१९६½॥

तां तु दिष्ट्या च धृत्या च दाक्षिण्येन निपात्य सः ॥ १९७ ॥
कपिप्रवीरो वेगेन ववृधे पुनरात्मवान् ।

दैवके अनुग्रह, स्वाभाविक धैर्य तथा कौशलसे उस राक्षसीको मारकर वे मनस्वी वानरवीर पुनः वेगसे बढ़कर बड़े हो गये ॥१९७½॥

हतहृत्सा हनुमता पपात विधुराम्भसि ।
स्वयंभुवैव हनुमान् सृष्टस्तस्या निपातने ॥ १९८ ॥

हनुमान्‌जीने प्राणोंके आश्रयभूत उसके हृदयस्थलको ही नष्ट कर दिया, अतः वह प्राणशून्य होकर समुद्रके जलमें गिर पड़ी। विधाताने ही उसे मार गिरानेके लिये हनुमान्‌जीको निमित्त बनाया था ॥ १९८ ॥

तां हतां वानरेणाशु पतितां वीक्ष्य सिंहिकाम् ।
भूतान्याकाशचारीणि तमूचुः प्लवगोत्तमम् ॥ १९९ ॥

उन वानरवीरके द्वारा शीघ्र ही मारी जाकर सिंहिका जलमें गिर पड़ी। यह देख आकाशमें विचरनेवाले प्राणी उन कपिश्रेष्ठसे बोले— ॥ १९९ ॥

भीममद्य कृतं कर्म महत्सत्त्वं त्वया हतम् ।
साधयार्थमभिप्रेतमरिष्टं प्लवतां वर ॥ २०० ॥

'कपिवर! तुमने यह बड़ा ही भयंकर कर्म किया है, जो इस विशालकाय प्राणीको मार गिराया है। अब तुम बिना किसी विघ्न-बाधाके अपना अभीष्ट कार्य सिद्ध करो ॥ २०० ॥

यस्य त्वेतानि चत्वारि वानरेन्द्र यथा तव ।
धृतिर्दृष्टिर्मतिर्दाक्ष्यं स कर्मसु न सीदति ॥ २०१ ॥

'वानरेन्द्र! जिस पुरुषमें तुम्हारे समान धैर्य, सूझ, बुद्धि और कुशलता—ये चार गुण होते हैं, उसे अपने कार्यमें कभी असफलता नहीं होती' ॥ २०१ ॥

स तैः सम्पूजितः पूज्यः प्रतिपन्नप्रयोजनैः ।
जगामाकाशमाविश्य पन्नगाशनवत् कपिः ॥ २०२ ॥

इस प्रकार अपना प्रयोजन सिद्ध हो जानेसे उन आकाशचारी प्राणियोंने हनुमान्‌जीका बड़ा सत्कार

किया। इसके बाद वे आकाशमें चढ़कर गरुड़के समान वेगसे चलने लगे॥ २०२॥

प्राप्तभूयिष्ठपारस्तु सर्वतः परिलोकयन्।
योजनानां शतस्यान्ते वनराजीं ददर्श सः॥ २०३॥

सौ योजनके अन्तमें प्रायः समुद्रके पार पहुँचकर जब उन्होंने सब ओर दृष्टि डाली, तब उन्हें एक हरी-भरी वन-श्रेणी दिखायी दी॥ २०३॥

ददर्श च पतन्नेव विविधद्रुमभूषितम्।
द्वीपं शाखामृगश्रेष्ठो मलयोपवनानि च॥ २०४॥

आकाशमें उड़ते हुए ही शाखामृगोंमें श्रेष्ठ हनुमान्‌जीने भाँति-भाँतिके वृक्षोंसे सुशोभित लङ्का नामक द्वीप देखा। उत्तर तटकी भाँति समुद्रके दक्षिण तटपर भी मलय नामक पर्वत और उसके उपवन दिखायी दिये॥ २०४॥

सागरं सागरानूपान् सागरानूपजान् द्रुमान्।
सागरस्य च पत्नीनां मुखान्यपि विलोकयत्॥ २०५॥

समुद्र, सागरतटवर्ती जलप्राय देश तथा वहाँ उगे हुए वृक्ष एवं सागरपत्नी सरिताओंके मुहानोंको भी उन्होंने देखा॥ २०५॥

स महामेघसंकाशं समीक्ष्यात्मानमात्मवान्।
निरुन्धन्तमिवाकाशं चकार मतिमान् मतिम्॥ २०६॥

मनको वशमें रखनेवाले बुद्धिमान् हनुमान्‌जीने अपने शरीरको महान् मेघोंकी घटाके समान विशाल तथा आकाशको अवरुद्ध करता-सा देख मन-ही-मन इस प्रकार विचार किया—॥ २०६॥

कायवृद्धिं प्रवेगं च मम दृष्ट्वैव राक्षसाः।
मयि कौतूहलं कुर्युरिति मेने महामतिः॥ २०७॥

'अहो! मेरे शरीरकी विशालता तथा मेरा यह तीव्र वेग देखते ही राक्षसोंके मनमें मेरे प्रति बड़ा कौतूहल होगा—वे मेरा भेद जाननेके लिये उत्सुक हो जायँगे।' परम बुद्धिमान् हनुमान्‌जीके मनमें यह धारणा पक्की हो गयी॥ २०७॥

ततः शरीरं संक्षिप्य तन्महीधरसंनिभम्।
पुनः प्रकृतिमापेदे वीतमोह इवात्मवान्॥ २०८॥

मनस्वी हनुमान् अपने पर्वताकार शरीरको संकुचित करके पुनः अपने वास्तविक स्वरूपमें स्थित हो गये। ठीक उसी तरह, जैसे मनको वशमें रखनेवाला मोहरहित पुरुष अपने मूल स्वरूपमें प्रतिष्ठित होता है॥ २०८॥

तद्रूपमतिसंक्षिप्य हनूमान् प्रकृतौ स्थितः।
त्रीन् क्रमानिव विक्रम्य बलिवीर्यहरो हरिः॥ २०९॥

जैसे बलिके पराक्रमसम्बन्धी अभिमानको हर लेनेवाले श्रीहरिने विराट्‌रूपसे तीन पग चलकर तीनों लोकोंको नाप लेनेके पश्चात् अपने उस स्वरूपको समेट लिया था, उसी प्रकार हनुमान्‌जी समुद्रको लाँघ जानेके बाद अपने उस विशाल रूपको संकुचित करके अपने वास्तविक स्वरूपमें स्थित हो गये॥ २०९॥

स चारुनानाविधरूपधारी
परं समासाद्य समुद्रतीरम्।
परैरशक्यं प्रतिपन्नरूपः
समीक्षितात्मा समवेक्षितार्थः॥ २१०॥

हनुमान्‌जी बड़े ही सुन्दर और नाना प्रकारके रूप धारण कर लेते थे। उन्होंने समुद्रके दूसरे तटपर, जहाँ दूसरोंका पहुँचना असम्भव था, पहुँचकर अपने विशाल शरीरकी ओर दृष्टिपात किया। फिर अपने कर्तव्यका विचार करके छोटा-सा रूप धारण कर लिया॥ २१०॥

ततः स लम्बस्य गिरेः समृद्धे
विचित्रकूटे निपपात कूटे।
सकेतकोद्दालकनारिकेले
महाभ्रकूटप्रतिमो महात्मा॥ २११॥

महान् मेघ-समूहके समान शरीरवाले महात्मा हनुमान्‌जी केवड़े, लसोड़े और नारियलके वृक्षोंसे विभूषित लम्बपर्वतके विचित्र लघु शिखरोंवाले महान् समृद्धिशाली शृङ्गपर कूद पड़े॥ २११॥

ततस्तु सम्प्राप्य समुद्रतीरं
समीक्ष्य लङ्कां गिरिवर्यमूर्ध्नि।
कपिस्तु तस्मिन् निपपात पर्वते
विधूय रूपं व्यथयन्मृगद्विजान्॥ २१२॥

तदनन्तर समुद्रके तटपर पहुँचकर वहाँसे उन्होंने एक श्रेष्ठ पर्वतके शिखरपर बसी हुई लङ्काको देखा। देखकर अपने पहले रूपको तिरोहित करके वे वानरवीर वहाँके पशु-पक्षियोंको व्यथित करते हुए उसी पर्वतपर उतर पड़े॥ २१२॥

स सागरं दानवपन्नगायुतं
बलेन विक्रम्य महोर्मिमालिनम्।
निपत्य तीरे च महोदधेस्तदा
ददर्श लङ्काममरावतीमिव॥ २१३॥

इस प्रकार दानवों और सर्पोंसे भरे हुए तथा बड़ी-बड़ी उत्ताल तरङ्गमालाओंसे अलंकृत महासागरको बलपूर्वक लाँघकर वे उसके तटपर उतर गये और अमरावतीके समान सुशोभित लङ्कापुरीकी शोभा देखने लगे॥ २१३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे प्रथमः सर्गः॥ १॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें पहला सर्ग पूरा हुआ॥ १॥

—★—

द्वितीयः सर्गः

लङ्कापुरीका वर्णन, उसमें प्रवेश करनेके विषयमें हनुमान्‌जीका विचार, उनका लघुरूपसे पुरीमें प्रवेश तथा चन्द्रोदयका वर्णन

स सागरमनाधृष्यमतिक्रम्य महाबलः।
त्रिकूटस्य तटे लङ्कां स्थितः स्वस्थो ददर्श ह॥ १॥

महाबली हनुमान्‌जी अलङ्घनीय समुद्रको पार करके त्रिकूट (लम्ब) नामक पर्वतके शिखरपर स्वस्थ भावसे खड़े हो लङ्कापुरीकी शोभा देखने लगे॥ १॥

ततः पादपमुक्तेन पुष्पवर्षेण वीर्यवान्।
अभिवृष्टस्ततस्तत्र बभौ पुष्पमयो हरिः॥ २॥

उस समय उनके ऊपर वहाँ वृक्षोंसे झड़े हुए फूलोंकी वर्षा होने लगी। इससे वहाँ बैठे हुए पराक्रमी हनुमान् फूलके बने हुए वानरके समान प्रतीत होने लगे॥ २॥

योजनानां शतं श्रीमांस्तीर्त्वाप्युत्तमविक्रमः।
अनिःश्वसन् कपिस्तत्र न ग्लानिमधिगच्छति॥ ३॥

उत्तम पराक्रमी श्रीमान् वानरवीर हनुमान् सौ योजन समुद्र लाँघकर भी वहाँ लम्बी साँस नहीं खींच रहे थे और न ग्लानिका ही अनुभव करते थे॥ ३॥

शतान्यहं योजनानां क्रमेयं सुबहून्यपि।
किं पुनः सागरस्यान्तं संख्यातं शतयोजनम्॥ ४॥

उलटे वे यह सोचते थे, मैं सौ-सौ योजनोंके बहुत-से समुद्र लाँघ सकता हूँ; फिर इस गिने-गिनाये सौ योजन समुद्रको पार करना कौन बड़ी बात है?॥ ४॥

स तु वीर्यवतां श्रेष्ठः प्लवतामपि चोत्तमः।
जगाम वेगवाँल्लङ्कां लङ्घयित्वा महोदधिम्॥ ५॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ तथा वानरोंमें उत्तम वे वेगवान् पवन-कुमार महासागरको लाँघकर शीघ्र ही लङ्कामें जा पहुँचे॥ ५॥

शाद्वलानि च नीलानि गन्धवन्ति वनानि च।
मधुमन्ति च मध्येन जगाम नगवन्ति च॥ ६॥

रास्तेमें हरी-हरी दूब और वृक्षोंसे भरे हुए मकरन्दपूर्ण सुगन्धित वन देखते हुए वे मध्यमार्गसे जा रहे थे॥ ६॥

शैलांश्च तरुसंछन्नान् वनराजीश्च पुष्पिताः।
अभिचक्राम तेजस्वी हनुमान् प्लवगर्षभः॥ ७॥

तेजस्वी वानरशिरोमणि हनुमान् वृक्षोंसे आच्छादित पर्वतों और फूलोंसे भरी हुई वन-श्रेणियोंमें विचरने लगे॥ ७॥

स तस्मिन्नचले तिष्ठन् वनान्युपवनानि च।
स नगाग्रे स्थितां लङ्कां ददर्श पवनात्मजः॥ ८॥

उस पर्वतपर स्थित हो पवनपुत्र हनुमान्‌ने बहुत-से वन और उपवन देखे तथा उस पर्वतके अग्रभागमें बसी हुई लङ्काका भी अवलोकन किया॥ ८॥

सरलान् कर्णिकारांश्च खर्जूरांश्च सुपुष्पितान्।
प्रियालान् मुचुलिन्दांश्च कुटजान् केतकानपि॥ ९॥
प्रियङ्गून् गन्धपूर्णांश्च नीपान् सप्तच्छदांस्तथा।
असनान् कोविदारांश्च करवीरांश्च पुष्पितान्॥ १०॥
पुष्पभारनिबद्धांश्च तथा मुकुलितानपि।
पादपान् विहगाकीर्णान् पवनाधूतमस्तकान्॥ ११॥

उन कपिश्रेष्ठने वहाँ सरल (चीड़), कनेर, खिले हुए खजूर, प्रियाल (चिरौंजी), मुचुलिन्द (जम्बीरी नीबू), कुटज, केतक (केवड़े), सुगन्धपूर्ण प्रियङ्गु (पिप्पली), नीप (कदम्ब या अशोक), छितवन, असन, कोविदार तथा खिले हुए करवीर भी देखे। फूलोंके भारसे लदे हुए तथा मुकुलित (अधखिले) बहुत-से वृक्ष उन्हें दृष्टिगोचर हुए, जिनमें पक्षी भरे हुए थे और हवाके झोंकेसे जिनकी डालियाँ झूम रही थीं॥ ९—११॥

हंसकारण्डवाकीर्णा वापीः पद्मोत्पलावृताः।
आक्रीडान् विविधान् रम्यान् विविधांश्च जलाशयान्॥ १२॥

हंसों और कारण्डवोंसे व्याप्त तथा कमल और उत्पलसे आच्छादित हुई बहुत-सी बावड़ियाँ, भाँति-भाँतिके रमणीय क्रीडास्थान तथा नाना प्रकारके जलाशय उनके दृष्टिपथमें आये॥ १२॥

संततान् विविधैर्वृक्षैः सर्वर्तुफलपुष्पितैः।
उद्यानानि च रम्याणि ददर्श कपिकुञ्जरः॥ १३॥

उन जलाशयोंके चारों ओर सभी ऋतुओंमें फल-फूल देनेवाले अनेक प्रकारके वृक्ष फैले हुए थे। उन वानरशिरोमणिने वहाँ बहुत-से रमणीय उद्यान भी देखे॥ १३॥

समासाद्य च लक्ष्मीवाँल्लङ्कां रावणपालिताम्।
परिखाभिः सपद्माभिः सोत्पलाभिरलंकृताम्॥ १४॥
सीतापहरणात् तेन रावणेन सुरक्षिताम्।
समन्ताद् विचरद्भिश्च राक्षसैरुग्रधन्वभिः॥ १५॥

अद्भुत शोभासे सम्पन्न हनुमान्‌जी धीरे-धीरे रावण-पालित लङ्कापुरीके पास पहुँचे। उसके चारों ओर खुदी हुई खाइयाँ उस नगरीकी शोभा बढ़ा रही थीं। उनमें उत्पल और पद्म आदि कई जातियोंके कमल खिले थे। सीताको हर लानेके कारण रावणने लङ्कापुरीकी रक्षाका विशेष प्रबन्ध कर रखा था। उसके चारों ओर भयंकर धनुष धारण करनेवाले राक्षस घूमते रहते थे॥ १४-१५॥

काञ्चनेनावृतां रम्यां प्राकारेण महापुरीम्।
गृहैश्च गिरिसंकाशैः शारदाम्बुदसंनिभैः ॥ १६ ॥

वह महापुरी सोनेकी चहारदीवारीसे घिरी हुई थी तथा पर्वतके समान ऊँचे और शरद्-ऋतुके बादलोंके समान श्वेत भवनोंसे भरी हुई थी ॥ १६ ॥

पाण्डुराभिः प्रतोलीभिरुच्चाभिरभिसंवृताम्।
अट्टालकशताकीर्णां पताकाध्वजशोभिताम् ॥ १७ ॥

श्वेत रंगकी ऊँची-ऊँची सड़कें उस पुरीको सब ओरसे घेरे हुए थीं। सैकड़ों अट्टालिकाएँ वहाँ शोभा पा रही थीं तथा फहराती हुई ध्वजा-पताकाएँ उस नगरीकी शोभा बढ़ा रही थीं ॥ १७ ॥

तोरणैः काञ्चनैर्दिव्यैर्लतापङ्क्तिविराजितैः।
ददर्श हनुमाँल्लङ्कां देवो देवपुरीमिव ॥ १८ ॥

उसके बाहरी फाटक सोनेके बने हुए थे और उनकी दीवारें लता-बेलोंके चित्रसे सुशोभित थीं। हनुमान्‌जीने उन फाटकोंसे सुशोभित लङ्काको उसी प्रकार देखा, जैसे कोई देवता देवपुरीका निरीक्षण कर रहा हो ॥ १८ ॥

गिरिमूर्ध्नि स्थितां लङ्कां पाण्डुरैर्भवनैः शुभैः।
ददर्श स कपिः श्रीमान् पुरीमाकाशगामिव ॥ १९ ॥

तेजस्वी कपि हनुमान्‌ने सुन्दर शुभ्र सदनोंसे सुशोभित और पर्वतके शिखरपर स्थित लङ्काको इस तरह देखा, मानो वह आकाशमें विचरनेवाली नगरी हो ॥ १९ ॥

पालितां राक्षसेन्द्रेण निर्मितां विश्वकर्मणा।
प्लवमानामिवाकाशे ददर्श हनुमान् कपिः ॥ २० ॥

कपिवर हनुमान्‌ने विश्वकर्माद्वारा निर्मित तथा राक्षसराज रावणद्वारा सुरक्षित उस पुरीको आकाशमें तैरती-सी देखा ॥ २० ॥

वप्रप्राकारजघनां विपुलाम्बुवनाम्बराम्।
शतघ्नीशूलकेशान्तामट्टालकावतंसकाम् ॥ २१ ॥
मनसेव कृतां लङ्कां निर्मितां विश्वकर्मणा।

विश्वकर्माकी बनायी हुई लङ्का मानो उनके मानसिक संकल्पसे रची गयी एक सुन्दरी स्त्री थी। चहारदीवारी और उसके भीतरकी वेदी उसकी जघनस्थली जान पड़ती थी, समुद्रका विशाल जलराशि और वन उसके वस्त्र थे, शतघ्नी और शूल नामक अस्त्र ही उसके केश थे और बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएँ उसके लिये कर्णभूषण-सी प्रतीत हो रही थीं ॥ २१ १/२ ॥

द्वारमुत्तरमासाद्य चिन्तयामास वानरः ॥ २२ ॥
कैलासनिलयप्रख्यमालिखन्तमिवाम्बरम्।
ध्रियमाणमिवाकाशमुच्छ्रितैर्भवनोत्तमैः ॥ २३ ॥

उस पुरीके उत्तर द्वारपर पहुँचकर वानरवीर हनुमान्‌जी चिन्तामें पड़ गये। वह द्वार कैलास पर्वतपर बसी हुई अलकापुरीके बहिर्द्वारके समान ऊँचा था और आकाशमें रेखा-सी खींचता जान पड़ता था। ऐसा जान पड़ता था मानो अपने ऊँचे-ऊँचे प्रासादोंपर आकाशको उठा रखा है ॥ २२-२३ ॥

सम्पूर्णां राक्षसैर्घोरैर्नागैर्भोगवतीमिव।
अचिन्त्यां सुकृतां स्पष्टां कुबेराध्युषितां पुरा ॥ २४ ॥
दंष्ट्रिभिर्बहुभिः शूरैः शूलपट्टिशपाणिभिः।
रक्षितां राक्षसैर्घोरैर्गुहामाशीविषैरिव ॥ २५ ॥

लङ्कापुरी भयानक राक्षसोंसे उसी तरह भरी थी, जैसे पातालकी भोगवतीपुरी नागोंसे भरी रहती है। उसकी निर्माणकला अचिन्त्य थी। उसकी रचना सुन्दर ढंगसे की गयी थी। वह हनुमान्‌जीको स्पष्ट दिखायी देती थी। पूर्वकालमें साक्षात् कुबेर वहाँ निवास करते थे। हाथोंमें शूल और पट्टिश लिये बड़ी-बड़ी दाढ़ोंवाले बहुत-से शूरवीर घोर राक्षस लङ्कापुरीकी उसी प्रकार रक्षा करते थे, जैसे विषधर सर्प अपनी पुरीकी करते हैं ॥ २४-२५ ॥

तस्याश्च महतीं गुप्तिं सागरं च निरीक्ष्य सः।
रावणं च रिपुं घोरं चिन्तयामास वानरः ॥ २६ ॥

उस नगरकी बड़ी भारी चौकसी, उसके चारों ओर समुद्रकी खाई तथा रावण-जैसे भयंकर शत्रुको देखकर हनुमान्‌जी इस प्रकार विचारने लगे— ॥ २६ ॥

आगत्यापीह हरयो भविष्यन्ति निरर्थकाः।
नहि युद्धेन वै लङ्का शक्या जेतुं सुरैरपि ॥ २७ ॥

'यदि वानर यहाँतक आ जायँ तो भी वे व्यर्थ ही सिद्ध होंगे; क्योंकि युद्धके द्वारा देवता भी लङ्कापर विजय नहीं पा सकते ॥ २७ ॥

इमां त्वविषमां लङ्कां दुर्गां रावणपालिताम्।
प्राप्यापि सुमहाबाहुः किं करिष्यति राघवः ॥ २८ ॥

'जिससे बढ़कर विषम (संकटपूर्ण) स्थान और कोई नहीं है, उस रावणपालित इस दुर्गम लङ्कामें आकर महाबाहु श्रीरघुनाथजी भी क्या करेंगे? ॥ २८ ॥

अवकाशो न साम्नस्तु राक्षसेष्वभिगम्यते।
न दानस्य न भेदस्य नैव युद्धस्य दृश्यते ॥ २९ ॥

'राक्षसोंपर सामनीतिके प्रयोगके लिये तो कोई गुंजाइश ही नहीं है। इनपर दान, भेद और युद्ध (दण्ड) नीतिका प्रयोग भी सफल होता नहीं दिखायी देता ॥ २९ ॥

चतुर्णामेव हि गतिर्वानराणां तरस्विनाम्।
वालिपुत्रस्य नीलस्य मम राज्ञश्च धीमतः ॥ ३० ॥

'यहाँ चार ही वेगशाली वानरोंकी पहुँच हो सकती है—वालिपुत्र अङ्गदकी, नीलकी, मेरी और बुद्धिमान् राजा सुग्रीवकी ॥ ३० ॥

यावज्जानामि वैदेहीं यदि जीवति वा न वा।
तत्रैव चिन्तयिष्यामि दृष्ट्वा तां जनकात्मजाम् ॥ ३१ ॥

अच्छा, पहले यह तो पता लगाऊँ कि विदेहकुमारी जीवित हैं या नहीं। जनककिशोरीका दर्शन करनेके पश्चात् ही मैं इस विषयमें कोई विचार करूँगा ॥ ३१ ॥

ततः स चिन्तयामास मुहूर्तं कपिकुञ्जरः ।
गिरिशृङ्गे स्थितस्तस्मिन् रामस्याभ्युदयं ततः ॥ ३२ ॥

तदनन्तर उस पर्वत-शिखरपर खड़े हुए कपिश्रेष्ठ हनुमान्जी श्रीरामचन्द्रजीके अभ्युदयके लिये सीताजीका पता लगानेके उपायपर दो घड़ीतक विचार करते रहे ॥ ३२ ॥

अनेन रूपेण मया न शक्या रक्षसां पुरी ।
प्रवेष्टुं राक्षसैर्गुप्ता क्रूरैर्बलसमन्वितैः ॥ ३३ ॥

उन्होंने सोचा—'मैं इस रूपसे राक्षसोंकी इस नगरीमें प्रवेश नहीं कर सकता; क्योंकि बहुत-से क्रूर और बलवान् राक्षस इसकी रक्षा कर रहे हैं ॥ ३३ ॥

उग्रौजसो महावीर्या बलवन्तश्च राक्षसाः ।
वञ्चनीया मया सर्वे जानकीं परिमार्गता ॥ ३४ ॥

जानकीकी खोज करते समय मुझे अपनेको छिपानेके लिये यहाँके सभी महातेजस्वी, महापराक्रमी और बलवान् राक्षसोंसे आँख बचानी होगी ॥ ३४ ॥

लक्ष्यालक्ष्येण रूपेण रात्रौ लङ्कापुरी मया ।
प्रदोषकाले प्रवेष्टुं मे कृत्यं साधयितुं महत् ॥ ३५ ॥

अतः मुझे रात्रिके समय ही नगरमें प्रवेश करना चाहिये और जानकीका अन्वेषणरूप यह महान् समयोचित कार्य सिद्ध करनेके लिये ऐसे रूपका आश्रय लेना चाहिये, जो आँखसे देखा न जा सके; केवल कार्यसे यह अनुमान हो कि कोई आया था' ॥ ३५ ॥

तां पुरीं तादृशीं दृष्ट्वा दुराधर्षां सुरासुरैः ।
हनुमांश्चिन्तयामास विनिःश्वस्य मुहुर्मुहुः ॥ ३६ ॥

देवताओं और असुरोंके लिये भी दुर्जय वैसी लङ्कापुरीको देखकर हनुमान्जी बारम्बार लम्बी साँस खींचते हुए यों विचार करने लगे— ॥ ३६ ॥

केनोपायेन पश्येयं मैथिलीं जनकात्मजाम् ।
अदृष्टो राक्षसेन्द्रेण रावणेन दुरात्मना ॥ ३७ ॥

किस उपायसे काम लूँ, जिससे दुरात्मा राक्षसराज रावणकी दृष्टिसे ओझल रहकर मैं मिथिलेशनन्दिनी जनककिशोरी सीताका दर्शन प्राप्त कर सकूँ ॥ ३७ ॥

न विनश्येत् कथं कार्यं रामस्य विदितात्मनः ।
एकामेकस्तु पश्येयं रहिते जनकात्मजाम् ॥ ३८ ॥

किस रीतिसे कार्य किया जाय, जिससे जगद्विख्यात श्रीरामचन्द्रजीका काम भी न बिगड़े और मैं एकान्तमें अकेली जानकीजीसे भेंट भी कर लूँ ॥ ३८ ॥

भूताश्चार्था विनश्यन्ति देशकालविरोधिताः ।
विक्लवं दूतमासाद्य तमः सूर्योदये यथा ॥ ३९ ॥

कई बार कातर अथवा अविवेकपूर्ण कार्य करनेवाले दूतके हाथमें पड़कर देश और कालके विपरीत व्यवहार होनेके कारण बने-बनाये काम भी उसी तरह बिगड़ जाते हैं, जैसे सूर्योदय होनेपर अन्धकार नष्ट हो जाता है ॥ ३९ ॥

अर्थानर्थान्तरे बुद्धिर्निश्चितापि न शोभते ।
घातयन्तीह कार्याणि दूताः पण्डितमानिनः ॥ ४० ॥

'राजा और मन्त्रियोंके द्वारा निश्चित किया हुआ कर्तव्याकर्तव्यविषयक विचार भी किसी अविवेकी दूतका आश्रय लेनेसे शोभा (सफलता) नहीं पाता है। अपनेको पण्डित माननेवाले अविवेकी दूत सारा काम ही चौपट कर देते हैं ॥ ४० ॥

न विनश्येत् कथं कार्यं वैक्लव्यं न कथं भवेत् ।
लङ्घनं च समुद्रस्य कथं नु न भवेद् वृथा ॥ ४१ ॥

'अच्छा तो किस उपायका अवलम्बन करनेसे स्वामीका कार्य नहीं बिगड़ेगा; मुझे घबराहट या अविवेक नहीं होगा और मेरा यह समुद्रका लाँघना भी व्यर्थ नहीं होने पायेगा ॥ ४१ ॥

मयि दृष्टे तु रक्षोभी रामस्य विदितात्मनः ।
भवेद् व्यर्थमिदं कार्यं रावणानर्थमिच्छतः ॥ ४२ ॥

'यदि राक्षसोंने मुझे देख लिया तो रावणका अनर्थ चाहनेवाले उन विख्यातनामा भगवान् श्रीरामका यह कार्य सफल न हो सकेगा ॥ ४२ ॥

नहि शक्यं क्वचित् स्थातुमविज्ञातेन राक्षसैः ।
अपि राक्षसरूपेण किमुतान्येन केनचित् ॥ ४३ ॥

'यहाँ दूसरे किसी रूपकी तो बात ही क्या है, राक्षसका रूप धारण करके भी राक्षसोंसे अज्ञात रहकर कहीं ठहरना असम्भव है ॥ ४३ ॥

वायुरप्यत्र नाज्ञातश्चरेदिति मतिर्मम ।
नह्यत्राविदितं किंचिद् रक्षसां भीमकर्मणाम् ॥ ४४ ॥

'मेरा तो ऐसा विश्वास है कि राक्षसोंसे छिपे रहकर वायुदेव भी इस पुरीमें विचरण नहीं कर सकते। यहाँ कोई भी ऐसा स्थान नहीं है, जो इन भयंकर कर्म करनेवाले राक्षसोंको ज्ञात न हो ॥ ४४ ॥

इहाहं यदि तिष्ठामि स्वेन रूपेण संवृतः ।
विनाशमुपयास्यामि भर्तुरर्थश्च हास्यति ॥ ४५ ॥

'यदि यहाँ मैं अपने इस रूपसे छिपकर भी रहूँगा तो मारा जाऊँगा और मेरे स्वामीके कार्यमें भी हानि पहुँचेगी ॥ ४५ ॥

तदहं स्वेन रूपेण रजन्यां ह्रस्वतां गतः ।
लङ्कामभिपतिष्यामि राघवस्यार्थसिद्धये ॥ ४६ ॥

'अतः मैं श्रीरघुनाथजीका कार्य सिद्ध करनेके लिये रातमें अपने इसी रूपसे छोटा-सा शरीर धारण करके लङ्कामें प्रवेश करूँगा ॥ ४६ ॥

रावणस्य पुरीं रात्रौ प्रविश्य सुदुरासदाम्।
प्रविश्य भवनं सर्वं द्रक्ष्यामि जनकात्मजाम्॥ ४७॥

'यद्यपि रावणकी इस पुरीमें जाना बहुत ही कठिन है तथापि रातको इसके भीतर प्रवेश करके सभी घरोंमें घुसकर मैं जानकीजीकी खोज करूँगा'॥ ४७॥

इति निश्चित्य हनुमान् सूर्यस्यास्तमयं कपिः।
आचकाङ्क्षे तदा वीरो वैदेह्या दर्शनोत्सुकः॥ ४८॥

ऐसा निश्चय करके वीर वानर हनुमान् विदेहनन्दिनीके दर्शनके लिये उत्सुक हो उस समय सूर्यास्तकी प्रतीक्षा करने लगे॥ ४८॥

सूर्ये चास्तं गते रात्रौ देहं संक्षिप्य मारुतिः।
वृषदंशकमात्रोऽथ बभूवाद्भुतदर्शनः॥ ४९॥

सूर्यास्त हो जानेपर रातके समय उन पवनकुमारने अपने शरीरको छोटा बना लिया। वे बिल्लीके बराबर होकर अत्यन्त अद्भुत दिखायी देने लगे॥ ४९॥

प्रदोषकाले हनुमांस्तूर्णमुत्पत्य वीर्यवान्।
प्रविवेश पुरीं रम्यां प्रविभक्तमहापथाम्॥ ५०॥

प्रदोषकालमें पराक्रमी हनुमान् तुरंत ही उछलकर उस रमणीय पुरीमें घुस गये। वह नगरी पृथक्-पृथक् बने हुए चौड़े और विशाल राजमार्गोंसे सुशोभित थी॥ ५०॥

प्रासादमालावितता स्तम्भैः काञ्चनसंनिभैः।
शातकुम्भनिभैर्जालैर्गन्धर्वनगरोपमाम्॥ ५१॥

उसमें प्रासादोंकी लंबी पंक्तियाँ दूरतक फैली हुई थीं। सुनहरे रंगके खम्भों और सोनेकी जालियोंसे विभूषित वह नगरी गन्धर्वनगरके समान रमणीय प्रतीत होती थी॥ ५१॥

सप्तभौमाष्टभौमैश्च स ददर्श महापुरीम्।
तलैः स्फटिकसंकीर्णैः कार्तस्वरविभूषितैः॥ ५२॥
वैदूर्यमणिचित्रैश्च मुक्ताजालविभूषितैः।
तैस्तैः शुशुभिरे तानि भवनान्यत्र रक्षसाम्॥ ५३॥

हनुमान्‌जीने उस विशाल पुरीको सतमहले, अठमहले मकानों और सुवर्णजटित स्फटिक मणिकी फर्शोंसे सुशोभित देखा। उनमें वैदूर्य (नीलम) भी जड़े गये थे, जिससे उनकी विचित्र शोभा होती थी। मोतियोंकी जालियाँ भी उन महलोंकी शोभा बढ़ाती थीं। उन सबके कारण राक्षसोंके वे भवन बड़ी सुन्दर शोभासे सम्पन्न हो रहे थे॥ ५२-५३॥

काञ्चनानि विचित्राणि तोरणानि च रक्षसाम्।
लङ्कामुद्योतयामासुः सर्वतः समलंकृताम्॥ ५४॥

सोनेके बने हुए विचित्र फाटक सब ओरसे सजी हुई राक्षसोंकी उस लङ्काको और भी उद्दीप्त कर रहे थे॥ ५४॥

अचिन्त्यामद्भुताकारां दृष्ट्वा लङ्कां महाकपिः।
आसीद् विषण्णो हृष्टश्च वैदेह्या दर्शनोत्सुकः॥ ५५॥

ऐसी अचिन्त्य और अद्भुत आकारवाली लङ्काको देखकर महाकपि हनुमान् विषादमें पड़ गये; परंतु जानकीजीके दर्शनके लिये उनके मनमें बड़ी उत्कण्ठा थी, इसलिये उनका हर्ष और उत्साह भी कम नहीं हुआ॥ ५५॥

स पाण्डुराविद्धविमानमालिनीं
महार्हजाम्बूनदजालतोरणाम्।
यशस्विनीं रावणबाहुपालितां
क्षपाचरैर्भीमबलैः सुपालिताम्॥ ५६॥

परस्पर सटे हुए श्वेतवर्णके सतमंजिले महलोंकी पंक्तियाँ लङ्कापुरीकी शोभा बढ़ा रही थीं। बहुमूल्य जाम्बूनद नामक सुवर्णकी जालियों और बन्दनवारोंसे वहाँके घरोंको सजाया गया था। भयंकर बलशाली निशाचर उस पुरीकी अच्छी तरह रक्षा करते थे। रावणके बाहुबलसे भी वह सुरक्षित थी। उसके यशकी ख्याति सुदूरतक फैली हुई थी। ऐसी लङ्कापुरीमें हनुमान्‌जीने प्रवेश किया॥ ५६॥

चन्द्रोऽपि साचिव्यमिवास्य कुर्वं-
स्तारागणैर्मध्यगतो विराजन्।
ज्योत्स्नावितानेन वितत्य लोका-
नुत्तिष्ठतेऽनेकसहस्ररश्मिः॥ ५७॥

उस समय तारागणोंके साथ उनके बीचमें विराजमान अनेक सहस्र किरणोंवाले चन्द्रदेव भी हनुमान्‌जीकी सहायता-सी करते हुए समस्त लोकोंपर अपनी चाँदनीका चँदोवा-सा तानकर उदित हो गये॥ ५७॥

शङ्खप्रभं क्षीरमृणालवर्ण-
मुद्गच्छमानं व्यवभासमानम्।
ददर्श चन्द्रं स कपिप्रवीरः
पोप्लूयमानं सरसीव हंसम्॥ ५८॥

वानरोंके प्रमुख वीर श्रीहनुमान्‌जीने शङ्खकी-सी कान्ति तथा दूध और मृणालके-से वर्णवाले चन्द्रमाको आकाशमें इस प्रकार उदित एवं प्रकाशित होते देखा, मानो किसी सरोवरमें कोई हंस तैर रहा हो॥ ५८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे द्वितीयः सर्गः॥ २॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें दूसरा सर्ग पूरा हुआ॥ २॥

—★—

तृतीयः सर्गः

लङ्कापुरीका अवलोकन करके हनुमान्‌जीका विस्मित होना, उसमें प्रवेश करते समय निशाचरी लङ्काका उन्हें रोकना और उनकी मारसे विह्वल होकर उन्हें पुरीमें प्रवेश करनेकी अनुमति देना

स लम्बशिखरे लम्बे लम्बतोयदसंनिभे।
सत्त्वमास्थाय मेधावी हनुमान् मारुतात्मजः ॥ १ ॥
निशि लङ्कां महासत्त्वो विवेश कपिकुञ्जरः।
रम्यकाननतोयाढ्यां पुरीं रावणपालिताम् ॥ २ ॥

ऊँचे शिखरवाले लंबे (त्रिकूट) पर्वतपर जो महान् मेघोंकी घटाके समान जान पड़ता था, बुद्धिमान् महाशक्तिशाली कपिश्रेष्ठ पवनकुमार हनुमान्‌ने सत्त्वगुणका आश्रय ले रातके समय रावणपालित लङ्कापुरीमें प्रवेश किया। वह नगरी सुरम्य वन और जलाशयोंसे सुशोभित थी ॥ १-२ ॥

शारदाम्बुधरप्रख्यैर्भवनैरुपशोभिताम् ।
सागरोपमनिर्घोषां सागरानिलसेविताम् ॥ ३ ॥

शरत्कालके बादलोंकी भाँति श्वेत कान्तिवाले सुन्दर भवन उसकी शोभा बढ़ाते थे। वहाँ समुद्रकी गर्जनाके समान गम्भीर शब्द होता रहता था। सागरकी लहरोंको छूकर बहनेवाली वायु इस पुरीकी सेवा करती थी ॥ ३ ॥

सुपुष्टबलसम्पुष्टां यथैव विटपावतीम् ।
चारुतोरणनिर्यूहां पाण्डुरद्वारतोरणाम् ॥ ४ ॥

वह अलकापुरीके समान शक्तिशालिनी सेनाओंसे सुरक्षित थी। उस पुरीके सुन्दर फाटकोंपर मतवाले हाथी शोभा पाते थे। उस पुरीके अन्तर्द्वार और बहिर्द्वार दोनों ही श्वेत कान्तिसे सुशोभित थे ॥ ४ ॥

भुजगाचरितां गुप्तां शुभां भोगवतीमिव ।
तां सविद्युद्घनाकीर्णां ज्योतिर्गणनिषेविताम् ॥ ५ ॥
चण्डमारुतनिर्ह्रादां यथा चाप्यमरावतीम् ।

उस नगरीकी रक्षाके लिये बड़े-बड़े सर्पोंका संचरण (आना-जाना) होता रहता है, इसलिये वह नागोंसे सुरक्षित सुन्दर भोगवती पुरीके समान जान पड़ती थी। अमरावती पुरीके समान वहाँ आवश्यकताके अनुसार बिजलियोंसहित मेघ छाये रहते थे। ग्रहों और नक्षत्रोंके सदृश विद्युत्-दीपोंके प्रकाशसे वह पुरी प्रकाशित थी तथा प्रचण्ड वायुकी ध्वनि वहाँ सदा होती रहती थी ॥ ५½ ॥

शातकुम्भेन महता प्राकारेणाभिसंवृताम् ।
किङ्किणीजालघोषाभिः पताकाभिरलंकृताम् ॥ ६ ॥

सोनेके बने हुए विशाल परकोटेसे घिरी हुई लङ्कापुरी क्षुद्र घण्टिकाओंकी झनकारसे युक्त पताकाओंद्वारा अलंकृत थी ॥ ६½ ॥

आसाद्य सहसा हृष्टः प्राकारमभिपेदिवान् ॥ ७ ॥
विस्मयाविष्टहृदयः पुरीमालोक्य सर्वतः ।

उस पुरीके समीप पहुँचकर हर्ष और उत्साहसे भरे हुए हनुमान्‌जी सहसा उछलकर उसके परकोटेपर चढ़ गये। वहाँ सब ओरसे लङ्कापुरीका अवलोकन करके हनुमान्‌जीका चित्त आश्चर्यसे चकित हो उठा ॥ ७½ ॥

जाम्बूनदमयैर्द्वारैर्वैदूर्यकृतवेदिकैः ॥ ८ ॥
वज्रस्फटिकमुक्ताभिर्मणिकुट्टिमभूषितैः ।
तप्तहाटकनिर्यूहै राजतामलपाण्डुरैः ॥ ९ ॥
वैदूर्यकृतसोपानैः स्फाटिकान्तरपांसुभिः ।
चारुसंजवनोपेतैः खमिवोत्पतितैः शुभैः ॥ १० ॥

सुवर्णके बने हुए द्वारोंसे उस नगरीकी अपूर्व शोभा हो रही थी। उन सभी द्वारोंपर नीलमके चबूतरे बने हुए थे। वे सब द्वार हीरों, स्फटिकों और मोतियोंसे जड़े गये थे। मणिमयी फर्शें उनकी शोभा बढ़ा रही थीं। उनके दोनों ओर तपाये सुवर्णके बने हुए हाथी शोभा पाते थे। उन द्वारोंका ऊपरी भाग चाँदीसे निर्मित होनेके कारण स्वच्छ और श्वेत था। उनकी सीढ़ियाँ नीलमकी बनी हुई थीं। उन द्वारोंके भीतरी भाग स्फटिक मणिके बने हुए और धूलसे रहित थे। वे सभी द्वार रमणीय सभा-भवनोंसे युक्त और सुन्दर थे तथा इतने ऊँचे थे कि आकाशमें उठे हुए-से जान पड़ते थे ॥ ८—१० ॥

क्रौञ्चबर्हिणसंघुष्टै राजहंसनिषेवितैः ।
तूर्याभरणनिर्घोषैः सर्वतः परिनादिताम् ॥ ११ ॥

वहाँ क्रौञ्च और मयूरोंके कलरव गूँजते रहते थे, उन द्वारोंपर राजहंस नामक पक्षी भी निवास करते थे। वहाँ भाँति-भाँतिके वाद्यों और आभूषणोंकी मधुर ध्वनि होती रहती थी, जिससे लङ्कापुरी सब ओरसे प्रतिध्वनित हो रही थी ॥ ११ ॥

वस्वौकसारप्रतिमां समीक्ष्य नगरीं ततः ।
खमिवोत्पतितां लङ्कां जहर्ष हनुमान् कपिः ॥ १२ ॥

कुबेरकी अलकाके समान शोभा पानेवाली लङ्कानगरी त्रिकूटके शिखरपर प्रतिष्ठित होनेके कारण आकाशमें उठी हुई-सी प्रतीत होती थी। उसे देखकर कपिवर हनुमान्‌को बड़ा हर्ष हुआ ॥ १२ ॥

तां समीक्ष्य पुरीं लङ्कां राक्षसाधिपतेः शुभाम् ।
अनुत्तमामृद्धिमतीं चिन्तयामास वीर्यवान् ॥ १३ ॥

राक्षसराजकी वह सुन्दर पुरी लङ्का सबसे उत्तम और समृद्धिशालिनी थी। उसे देखकर पराक्रमी हनुमान् इस प्रकार सोचने लगे— ॥ १३ ॥

नेयमन्येन नगरी शक्या धर्षयितुं बलात्।
रक्षिता रावणबलैरुद्यतायुधपाणिभिः ॥ १४ ॥

'रावणके सैनिक हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लिये इस पुरीकी रक्षा करते हैं, अतः दूसरा कोई बलपूर्वक इसे अपने काबूमें नहीं कर सकता ॥ १४ ॥

कुमुदाङ्गदयोर्वापि सुषेणस्य महाकपेः।
प्रसिद्धेयं भवेद् भूमिर्मैन्दद्विविदयोरपि ॥ १५ ॥
विवस्वतस्तनूजस्य हरेश्च कुशपर्वणः।
ऋक्षस्य कपिमुख्यस्य मम चैव गतिर्भवेत् ॥ १६ ॥

'केवल कुमुद, अङ्गद, महाकपि सुषेण, मैन्द, द्विविद, सूर्यपुत्र सुग्रीव, वानर कुशपर्वा और वानरसेनाके प्रमुख वीर ऋक्षराज जाम्बवान्की तथा मेरी भी पहुँच इस पुरीके भीतर हो सकती है' ॥ १५-१६ ॥

समीक्ष्य च महाबाहो राघवस्य पराक्रमम्।
लक्ष्मणस्य च विक्रान्तमभवत् प्रीतिमान् कपिः ॥ १७ ॥

फिर महाबाहु श्रीराम और लक्ष्मणके पराक्रमका विचार करके कपिवर हनुमान्को बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ १७ ॥

तां रत्नवसनोपेतां गोष्ठागारावतंसिकाम्।
यन्त्रागारस्तनीमृद्धां प्रमदामिव भूषिताम् ॥ १८ ॥
तां नष्टतिमिरां दीपैर्भास्वरैश्च महाग्रहैः।
नगरीं राक्षसेन्द्रस्य स ददर्श महाकपिः ॥ १९ ॥

महाकपि हनुमान्ने देखा, राक्षसराज रावणकी नगरी लङ्का वस्त्राभूषणोंसे विभूषित सुन्दरी युवतीके समान जान पड़ती है। रत्नमय परकोटे ही इसके वस्त्र हैं, गोष्ठ (गोशाला) तथा दूसरे-दूसरे भवन आभूषण हैं। परकोटोंपर लगे हुए यन्त्रोंके जो गृह हैं, वे ही मानो इस लङ्कारूपी युवतीके स्तन हैं। यह सब प्रकारके समृद्धियोंसे सम्पन्न है। प्रकाशपूर्ण द्वीपों और महान् ग्रहोंने यहाँका अन्धकार नष्ट कर दिया है ॥ १८-१९ ॥

अथ सा हरिशार्दूलं प्रविशन्तं महाकपिम्।
नगरी स्वेन रूपेण ददर्श पवनात्मजम् ॥ २० ॥

तदनन्तर वानरश्रेष्ठ महाकपि पवनकुमार हनुमान् उस पुरीमें प्रवेश करने लगे। इतनेमें ही उस नगरीकी अधिष्ठात्री देवी लङ्काने अपने स्वाभाविक रूपमें प्रकट होकर उन्हें देखा ॥ २० ॥

सा तं हरिवरं दृष्ट्वा लङ्का रावणपालिता।
स्वयमेवोत्थिता तत्र विकृताननदर्शना ॥ २१ ॥

वानरश्रेष्ठ हनुमान्को देखते ही रावणपालित लङ्का स्वयं ही उठ खड़ी हुई। उसका मुँह देखनेमें बड़ा विकट था ॥ २१ ॥

पुरस्तात् तस्य वीरस्य वायुसूनोरतिष्ठत।
मुञ्चमाना महानादमब्रवीत् पवनात्मजम् ॥ २२ ॥

वह उन वीर पवनकुमारके सामने खड़ी हो गयी और बड़े जोरसे गर्जना करती हुई उनसे इस प्रकार बोली— ॥ २२ ॥

कस्त्वं केन च कार्येण इह प्राप्तो वनालय।
कथयस्वेह यत् तत्त्वं यावत् प्राणा धरन्ति ते ॥ २३ ॥

'वनचारी वानर! तू कौन है और किस कार्यसे यहाँ आया है? तुम्हारे प्राण जबतक बने हुए हैं, तबतक ही यहाँ आनेका जो यथार्थ रहस्य है, उसे ठीक-ठीक बता दो ॥ २३ ॥

न शक्यं खल्वियं लङ्का प्रवेष्टुं वानर त्वया।
रक्षिता रावणबलैरभिगुप्ता समन्ततः ॥ २४ ॥

'वानर! रावणकी सेना सब ओरसे इस पुरीकी रक्षा करती है, अतः निश्चय ही तू इस लङ्कामें प्रवेश नहीं कर सकता' ॥ २४ ॥

अथ तामब्रवीद् वीरो हनुमानग्रतः स्थिताम्।
कथयिष्यामि तत् तत्त्वं यन्मां त्वं परिपृच्छसे ॥ २५ ॥
का त्वं विरूपनयना पुरद्वारेऽवतिष्ठसे।
किमर्थं चापि मां क्रोधान्निर्भर्त्सयसि दारुणे ॥ २६ ॥

तब वीरवर हनुमान् अपने सामने खड़ी हुई लङ्कासे बोले—'क्रूर स्वभाववाली नारी! तू मुझसे जो कुछ पूछ रही है, उसे मैं ठीक-ठीक बता दूँगा; किंतु पहले यह तो बता, तू है कौन? तेरी आँखें बड़ी भयंकर हैं। तू इस नगरके द्वारपर खड़ी है। क्या कारण है कि तू इस प्रकार क्रोध करके मुझे डाँट रही है ॥ २५-२६ ॥

हनुमद्वचनं श्रुत्वा लङ्का सा कामरूपिणी।
उवाच वचनं क्रुद्धा परुषं पवनात्मजम् ॥ २७ ॥

हनुमान्जीकी यह बात सुनकर इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली लङ्का कुपित हो उन पवनकुमारसे कठोर वाणीमें बोली— ॥ २७ ॥

अहं राक्षसराजस्य रावणस्य महात्मनः।
आज्ञाप्रतीक्षा दुर्धर्षा रक्षामि नगरीमिमाम् ॥ २८ ॥

'मैं महामना राक्षसराज रावणकी आज्ञाकी प्रतीक्षा करनेवाली उनकी सेविका हूँ। मुझपर आक्रमण करना किसीके लिये भी अत्यन्त कठिन है। मैं इस नगरीकी रक्षा करती हूँ ॥ २८ ॥

न शक्यं मामवज्ञाय प्रवेष्टुं नगरीमिमाम्।
अद्य प्राणैः परित्यक्तः स्वप्स्यसे निहतो मया ॥ २९ ॥

'मेरी अवहेलना करके इस पुरीमें प्रवेश करना किसीके लिये भी सम्भव नहीं है। आज मेरे हाथसे मारा जाकर तू प्राणहीन हो इस पृथ्वीपर शयन करेगा ॥ २९ ॥

अहं हि नगरी लङ्का स्वयमेव प्लवङ्गम।
सर्वतः परिरक्षामि अतस्ते कथितं मया ॥ ३० ॥

वानर ! मैं स्वयं ही लङ्का नगरी हूँ, अतः सब ओरसे इसकी रक्षा करती हूँ। यही कारण है कि मैंने तेरे प्रति कठोर वाणीका प्रयोग किया है' ॥ ३० ॥

लङ्काया वचनं श्रुत्वा हनुमान् मारुतात्मजः ।
यत्नवान् स हरिश्रेष्ठः स्थितः शैल इवापरः ॥ ३१ ॥

लङ्काकी यह बात सुनकर पवनकुमार कपिश्रेष्ठ हनुमान् उसे जीतनेके लिये यत्नशील हो दूसरे पर्वतके समान वहाँ खड़े हो गये ॥ ३१ ॥

स तां स्त्रीरूपविकृतां दृष्ट्वा वानरपुङ्गवः ।
आबभाषेऽथ मेधावी सत्त्ववान् प्लवगर्षभः ॥ ३२ ॥

लङ्काको विकराल राक्षसीके रूपमें देखकर बुद्धिमान् वानरशिरोमणि शक्तिशाली कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌ने उससे इस प्रकार कहा— ॥ ३२ ॥

द्रक्ष्यामि नगरीं लङ्कां साट्टप्राकारतोरणाम् ।
इत्यर्थमिह सम्प्राप्तः परं कौतूहलं हि मे ॥ ३३ ॥

मैं अट्टालिकाओं, परकोटों और नगरद्वारोंसहित इस लङ्का नगरीको देखूँगा। इसी प्रयोजनसे यहाँ आया हूँ। इसे देखनेके लिये मेरे मनमें बड़ा कौतूहल है ॥ ३३ ॥

वनान्युपवनानीह लङ्कायाः काननानि च ।
सर्वतो गृहमुख्यानि द्रष्टुमागमनं हि मे ॥ ३४ ॥

इस लङ्काके जो वन, उपवन, कानन और मुख्य-मुख्य भवन हैं, उन्हें देखनेके लिये ही यहाँ मेरा आगमन हुआ है' ॥ ३४ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा लङ्का सा कामरूपिणी ।
भूय एव पुनर्वाक्यं बभाषे परुषाक्षरम् ॥ ३५ ॥

हनुमान्‌जीका यह कथन सुनकर इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली लङ्का पुनः कठोर वाणीमें बोली— ॥ ३५ ॥

मामनिर्जित्य दुर्बुद्धे राक्षसेश्वरपालिताम् ।
न शक्यं ह्यद्य ते द्रष्टुं पुरीयं वानराधम ॥ ३६ ॥

'खोटी बुद्धिवाले नीच वानर ! राक्षसेश्वर रावणके द्वारा मेरी रक्षा हो रही है। तू मुझे परास्त किये बिना आज इस पुरीको नहीं देख सकता' ॥ ३६ ॥

ततः स हरिशार्दूलस्तामुवाच निशाचरीम् ।
दृष्ट्वा पुरीमिमां भद्रे पुनर्यास्ये यथागतम् ॥ ३७ ॥

तब उन वानरशिरोमणिने उस निशाचरीसे कहा—'भद्रे ! इस पुरीको देखकर मैं फिर जैसे आया हूँ, उसी तरह लौट जाऊँगा' ॥ ३७ ॥

ततः कृत्वा महानादं सा वै लङ्का भयंकरम् ।
तलेन वानरश्रेष्ठं ताडयामास वेगिता ॥ ३८ ॥

यह सुनकर लङ्काने बड़ी भयंकर गर्जना करके वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌को बड़े जोरसे एक थप्पड़ मारा ॥ ३८ ॥

ततः स हरिशार्दूलो लङ्कया ताडितो भृशम् ।
ननाद सुमहानादं वीर्यवान् मारुतात्मजः ॥ ३९ ॥

लङ्काद्वारा इस प्रकार जोरसे पीटे जानेपर उन परम पराक्रमी पवनकुमार कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌ने बड़े जोरसे सिंहनाद किया ॥ ३९ ॥

ततः संवर्तयामास वामहस्तस्य सोऽङ्गुलीः ।
मुष्टिनाभिजघानैनां हनुमान् क्रोधमूर्च्छितः ॥ ४० ॥

फिर उन्होंने अपने बायें हाथकी अङ्गुलियोंको मोड़कर मुट्ठी बाँध ली और अत्यन्त कुपित हो उस लङ्काको एक मुक्का जमा दिया ॥ ४० ॥

स्त्री चेति मन्यमानेन नातिक्रोधः स्वयं कृतः ।
सा तु तेन प्रहारेण विह्वलाङ्गी निशाचरी ।
पपात सहसा भूमौ विकृताननदर्शना ॥ ४१ ॥

उसे स्त्री समझकर हनुमान्‌जीने स्वयं ही अधिक क्रोध नहीं किया। किंतु उस लघु प्रहारसे ही उस निशाचरीके सारे अङ्ग व्याकुल हो गये। वह सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ी। उस समय उसका मुख बड़ा विकराल दिखायी देता था ॥ ४१ ॥

ततस्तु हनुमान् वीरस्तां दृष्ट्वा विनिपातिताम् ।
कृपां चकार तेजस्वी मन्यमानः स्त्रियं च ताम् ॥ ४२ ॥

अपने ही द्वारा गिरायी गयी उस लङ्काको ओर देखकर और उसे स्त्री समझकर तेजस्वी वीर हनुमान्‌को उसपर दया आ गयी। उन्होंने उसपर बड़ी कृपा की ॥ ४२ ॥

ततो वै भृशमुद्विग्ना लङ्का सा गद्गदाक्षरम् ।
उवाचागर्वितं वाक्यं हनुमन्तं प्लवङ्गमम् ॥ ४३ ॥

उधर अत्यन्त उद्विग्न हुई लङ्का उन वानरवीर हनुमान्‌से अभिमानशून्य गद्गदवाणीमें इस प्रकार बोली— ॥ ४३ ॥

प्रसीद सुमहाबाहो त्रायस्व हरिसत्तम ।
समये सौम्य तिष्ठन्ति सत्त्ववन्तो महाबलाः ॥ ४४ ॥

'महाबाहो ! प्रसन्न होइये। कपिश्रेष्ठ ! मेरी रक्षा कीजिये। सौम्य ! महाबली सत्त्वगुणशाली वीर पुरुष शास्त्रकी मर्यादापर स्थिर रहते हैं (शास्त्रमें स्त्रीको अवध्य बताया है, इसलिये आप मेरे प्राण न लीजिये) ॥ ४४ ॥

अहं तु नगरी लङ्का स्वयमेव प्लवङ्गम ।
निर्जिताहं त्वया वीर विक्रमेण महाबल ॥ ४५ ॥

'महाबली वीर वानर ! मैं स्वयं लङ्कापुरी ही हूँ, आपने अपने पराक्रमसे मुझे परास्त कर दिया है ॥ ४५ ॥

इदं च तथ्यं शृणु मे ब्रुवन्त्या वै हरीश्वर ।
स्वयं स्वयम्भुवा दत्तं वरदानं यथा मम ॥ ४६ ॥

'वानरेश्वर ! मैं आपसे एक सच्ची बात कहती हूँ। आप इसे सुनिये। साक्षात् स्वयम्भू ब्रह्माजीने मुझे जैसा वरदान दिया था, वह बता रही हूँ ॥ ४६ ॥

यदा त्वां वानरः कश्चिद् विक्रमाद् वशमानयेत् ।
तदा त्वया हि विज्ञेयं रक्षसां भयमागतम् ॥ ४७ ॥

'उन्होंने कहा था—जब कोई वानर तुझे अपने पराक्रमसे वशमें कर ले, तब यह तुझे समझ लेना चाहिये कि

अब राक्षसोंपर बड़ा भारी भय आ पहुँचा है ॥ ४७ ॥

स हि मे समयः सौम्य प्राप्तोऽद्य तव दर्शनात्।
स्वयम्भूविहितः सत्यो न तस्यास्ति व्यतिक्रमः ॥ ४८ ॥

'सौम्य! आपका दर्शन पाकर आज मेरे सामने वही घड़ी आ गयी है। ब्रह्माजीने जिस सत्यका निश्चय कर दिया है, उसमें कोई उलट-फेर नहीं हो सकता ॥ ४८ ॥

सीतानिमित्तं राज्ञस्तु रावणस्य दुरात्मनः।
रक्षसां चैव सर्वेषां विनाशः समुपागतः ॥ ४९ ॥

'अब सीताके कारण दुरात्मा राजा रावण तथा समस्त राक्षसोंके विनाशका समय आ पहुँचा है ॥ ४९ ॥

तत् प्रविश्य हरिश्रेष्ठ पुरीं रावणपालिताम्।
विधत्स्व सर्वकार्याणि यानि यानीह वाञ्छसि ॥ ५० ॥

'कपिश्रेष्ठ! अतः आप इस रावणपालित पुरीमें प्रवेश कीजिये और यहाँ जो-जो कार्य करना चाहते हों, उन सबको पूर्ण कर लीजिये ॥ ५० ॥

प्रविश्य शापोपहतां हरीश्वर
पुरीं शुभां राक्षसमुख्यपालिताम्।
यदृच्छया त्वं जनकात्मजां सतीं
विमार्ग सर्वत्र गतो यथासुखम् ॥ ५१ ॥

'वानरेश्वर! राक्षसराज रावणके द्वारा पालित यह सुन्दर पुरी अभिशापसे नष्टप्राय हो चुकी है। अतः इसमें प्रवेश करके आप स्वेच्छानुसार सुखपूर्वक सर्वत्र सती-साध्वी जनकनन्दिनी सीताकी खोज कीजिये' ॥ ५१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें तीसरा सर्ग पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थः सर्गः

हनुमान्‌जीका लङ्कापुरी एवं रावणके अन्तःपुरमें प्रवेश

स निर्जित्य पुरीं लङ्कां श्रेष्ठां तां कामरूपिणीम्।
विक्रमेण महातेजा हनूमान् कपिसत्तमः ॥ १ ॥
अद्वारेण महावीर्यः प्राकारमवपुप्लुवे।
निशि लङ्कां महासत्त्वो विवेश कपिकुञ्जरः ॥ २ ॥

इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली श्रेष्ठ राक्षसी लङ्कापुरीको अपने पराक्रमसे परास्त करके महातेजस्वी महाबली महान् सत्त्वशाली वानरशिरोमणि कपिकुञ्जर हनुमान् बिना दरवाजेके ही रातमें चहारदीवारी फाँद गये और लङ्काके भीतर घुस गये ॥ १-२ ॥

प्रविश्य नगरीं लङ्कां कपिराजहितंकरः।
चक्रेऽथ पादं सव्यं च शत्रूणां स तु मूर्धनि ॥ ३ ॥

कपिराज सुग्रीवका हित करनेवाले हनुमान्‌जीने इस तरह लङ्कापुरीमें प्रवेश करके मानो शत्रुओंके सिरपर अपना बायाँ पैर रख दिया ॥ ३ ॥

प्रविष्टः सत्त्वसम्पन्नो निशायां मारुतात्मजः।
स महापथमास्थाय मुक्तपुष्पविराजितम् ॥ ४ ॥
ततस्तु तां पुरीं लङ्कां रम्यामभिययौ कपिः।

सत्त्वगुणसे सम्पन्न पवनपुत्र हनुमान् उस रातमें परकोटेके भीतर प्रवेश करके बिखेरे गये फूलोंसे सुशोभित राजमार्गका आश्रय ले उस रमणीय लङ्कापुरीकी ओर चले ॥ ४½ ॥

हसितोत्कृष्टनिनदैस्तूर्यघोषपुरस्कृतैः ॥ ५ ॥
वज्राङ्कुशनिकाशैश्च वज्रजालविभूषितैः।
गृहमेधैः पुरी रम्या बभासे द्यौरिवाम्बुदैः ॥ ६ ॥

जैसे आकाश श्वेत बादलोंसे सुशोभित होता है, उसी प्रकार वह रमणीय पुरी अपने श्वेत मेघसदृश गृहोंसे उत्तम शोभा पा रही थी। वे गृह अट्टहासजनित उत्कृष्ट शब्दों तथा वाद्यघोषोंसे मुखरित थे। उनमें वज्रों तथा अङ्कुशोंके चित्र अङ्कित थे और हीरोंके बने हुए झरोखे उनकी शोभा बढ़ाते थे ॥ ५-६ ॥

प्रजज्वाल तदा लङ्का रक्षोगणगृहैः शुभैः।
सिताभ्रसदृशैश्चित्रैः पद्मस्वस्तिकसंस्थितैः ॥ ७ ॥
वर्धमानगृहैश्चापि सर्वतः सुविभूषितैः।

उस समय लङ्का श्वेत बादलोंके समान सुन्दर एवं विचित्र राक्षस-गृहोंसे प्रकाशित हो रही थी। उन गृहोंमेंसे कोई तो कमलके आकारमें बने हुए थे। कोई[1] स्वस्तिकके चिह्न या आकारसे युक्त थे और किन्हींका निर्माण वर्धमानसंज्ञक[2] गृहोंके रूपमें हुआ था। वे सभी सब ओरसे सजाये गये थे ॥ ७½ ॥

तां चित्रमाल्याभरणां कपिराजहितंकरः ॥ ८ ॥
राघवार्थे चरञ्श्रीमान् ददर्श च ननन्द च।

वानरराज सुग्रीवका हित करनेवाले श्रीमान् हनुमान्

१-२ वाराहमिहिरकी संहितामें गृहोंके विभिन्न संस्थानों (आकृतियों) का वर्णन किया गया है। उन्हीं संस्थानोंके अनुसार उनके

रघुनाथजीकी कार्यसिद्धिके लिये विचित्र पुष्पमय उद्यानोंसे अलंकृत लङ्कामें विचरने लगे। उन्होंने उस पुरीको अच्छी तरह देखा और देखकर प्रसन्नताका अनुभव किया ॥ ८½ ॥

भवनाद् भवनं गच्छन् ददर्श कपिकुञ्जरः ॥ ९ ॥
विविधाकृतिरूपाणि भवनानि ततस्ततः।
शुश्राव रुचिरं गीतं त्रिस्थानस्वरभूषितम् ॥ १० ॥

उन कपिश्रेष्ठने जहाँ-तहाँ एक घरसे दूसरे घरपर जाते हुए विविध आकार-प्रकारके भवन देखे तथा हृदय, कण्ठ और मूर्धा—इन तीन स्थानोंसे निकलनेवाले मन्द, मध्यम और उच्च स्वरसे विभूषित मनोहर गीत सुना ॥ ९-१० ॥

स्त्रीणां मदनविद्धानां दिवि चाप्सरसामिव।
शुश्राव काञ्चीनिनदं नूपुराणां च निःस्वनम् ॥ ११ ॥

उन्होंने स्वर्गीय अप्सराओंके समान सुन्दरी तथा काम-वेदनासे पीड़ित कामिनियोंकी करधनी और पायजेबोंकी झनकार सुनी ॥ ११ ॥

सोपाननिनदांश्चापि भवनेषु महात्मनाम्।
आस्फोटितनिनादांश्च क्ष्वेडितांश्च ततस्ततः ॥ १२ ॥

इसी तरह जहाँ-तहाँ महामनस्वी राक्षसोंके घरोंमें सीढ़ियोंपर चढ़ते समय स्त्रियोंकी काञ्ची और मंजीरकी मधुरध्वनि तथा पुरुषोंके ताल ठोंकने और गर्जनेकी भी आवाजें उन्हें सुनायी दीं ॥ १२ ॥

शुश्राव जपतां तत्र मन्त्रान् रक्षोगृहेषु वै।
स्वाध्यायनिरतांश्चैव यातुधानान् ददर्श सः ॥ १३ ॥

राक्षसोंके घरोंमें बहुतोंको तो उन्होंने वहाँ मन्त्र जपते हुए सुना और कितने ही निशाचरोंको स्वाध्यायमें तत्पर देखा ॥ १३ ॥

रावणस्तवसंयुक्तान् गर्जतो राक्षसानपि।
राजमार्गं समावृत्य स्थितं रक्षोगणं महत् ॥ १४ ॥

कई राक्षसोंको उन्होंने रावणकी स्तुतिके साथ गर्जना करते और निशाचरोंकी एक बड़ी भीड़को राजमार्ग रोककर खड़ी हुई देखा ॥ १४ ॥

ददर्श मध्यमे गुल्मे राक्षसस्य चरान् बहून्।
दीक्षिताञ्जटिलान् मुण्डान् गोजिनाम्बरवाससः ॥ १५ ॥
दर्भमुष्टिप्रहरणानग्निकुण्डायुधांस्तथा।
कूटमुद्गरपाणींश्च दण्डायुधधरानपि ॥ १६ ॥

नगरके मध्यभागमें उन्हें रावणके बहुत-से गुप्तचर दिखायी दिये। उनमें कोई योगकी दीक्षा लिये हुए, कोई जटा बढ़ाये, कोई मूड़ मुँड़ाये, कोई गोचर्म या मृगचर्म धारण किये और कोई नंग-धड़ंग थे। कोई मुट्ठीभर कुशोंको ही अस्त्र-रूपसे धारण किये हुए थे। किन्हींका अग्निकुण्ड ही आयुध था। किन्हींके हाथमें कूट या मुद्गर था। कोई डंडेको ही हथियाररूपमें लिये हुए थे ॥ १५-१६ ॥

एकाक्षानेकवर्णांश्च लंबोदरपयोधरान्।
करालान् भुग्नवक्त्रांश्च विकटान् वामनांस्तथा ॥ १७ ॥

किन्हींके एक ही आँख थी तो किन्हींके रूप बहुरंगे थे। कितनोंके पेट और स्तन बहुत बड़े थे। कोई बड़े विकराल थे। किन्हींके मुँह टेढ़े-मेढ़े थे। कोई विकट थे तो कोई बौने ॥ १७ ॥

धन्विनः खड्गिनश्चैव शतघ्नीमुसलायुधान्।
परिघोत्तमहस्तांश्च विचित्रकवचोज्ज्वलान् ॥ १८ ॥

किन्हींके पास धनुष, खड्ग, शतघ्नी और मूसलरूप आयुध थे। किन्हींके हाथोंमें उत्तम परिघ विद्यमान थे। और कोई विचित्र कवचोंसे प्रकाशित हो रहे थे ॥ १८ ॥

नातिस्थूलान् नातिकृशान् नातिदीर्घातिह्रस्वकान्।
नातिगौरान् नातिकृष्णान्नातिकुब्जान्न वामनान् ॥ १९ ॥

कुछ निशाचर न तो अधिक मोटे थे, न अधिक दुर्बल, न बहुत लंबे थे न अधिक छोटे, न बहुत गोरे थे न अधिक काले तथा न अधिक कुबड़े थे न विशेष बौने ही ॥ १९ ॥

विरूपान् बहुरूपांश्च सुरूपांश्च सुवर्चसः।
ध्वजिनः पताकिनश्चैव ददर्श विविधायुधान् ॥ २० ॥

कोई बड़े कुरूप थे, कोई अनेक प्रकारके रूप धारण कर सकते थे, किन्हींका रूप सुन्दर था, कोई बड़े तेजस्वी थे तथा किन्हींके पास ध्वजा, पताका और अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्र थे ॥ २० ॥

...दिये गये हैं। जहाँ स्वस्तिकसंस्थान और वर्धमानसंज्ञक गृहका उल्लेख हुआ है, इनके लक्षणोंको स्पष्ट करनेवाले वचनोंको यहाँ उद्धृत किया जाता है—

चतुःशालं चतुर्द्वारं सर्वतोभद्रसंज्ञितम्। पश्चिमद्वाररहितं नन्द्यावर्ताह्वयन्तु तत् ॥
दक्षिणद्वाररहितं वर्धमानं धनप्रदम्। प्राग्द्वाररहितं स्वस्तिकाख्यं पुत्रधनप्रदम् ॥

चार शालाओंसे युक्त गृहको, जिसके प्रत्येक दिशामें एक-एक करके चार द्वार हों, 'सर्वतोभद्र' कहते हैं। जिसमें तीन ही द्वार हों और पश्चिम दिशाकी ओर द्वार न हो, उसका नाम 'नन्द्यावर्त' है। जिसमें दक्षिणके सिवा अन्य तीन दिशाओंमें द्वार हों, उसे 'वर्धमान' नाम कहते हैं। वह धन देनेवाला होता है तथा जिसमें केवल पूर्व दिशाकी ओर द्वार न हो, उस गृहका नाम 'स्वस्तिक' है। वह पुत्र और धन देनेवाला होता है।

शक्तिवृक्षायुधांश्चैव पट्टिशाशनिधारिणः ।
क्षेपणीपाशहस्तांश्च ददर्श स महाकपिः ॥ २१ ॥

कोई शक्ति और वृक्षरूप आयुध धारण किये देखे जाते थे तथा किन्हींके पास पट्टिश, वज्र, गुलेल और पाश थे। महाकपि हनुमान‌्ने उन सबको देखा ॥ २१ ॥

स्रग्विणस्त्वनुलिप्तांश्च वराभरणभूषितान् ।
नानावेषसमायुक्तान् यथास्वैरचरान् बहून् ॥ २२ ॥

किन्हींके गलेमें फूलोंके हार थे और ललाट आदि अङ्ग चन्दनसे चर्चित थे। कोई श्रेष्ठ आभूषणोंसे सजे हुए थे। कितने ही नाना प्रकारके वेषभूषासे संयुक्त थे और बहुतेरे स्वेच्छानुसार विचरनेवाले जान पड़ते थे ॥ २२ ॥

तीक्ष्णशूलधरांश्चैव वज्रिणश्च महाबलान् ।
शतसाहस्रमव्यग्रमारक्षं मध्यमं कपिः ॥ २३ ॥
रक्षोऽधिपतिनिर्दिष्टं ददर्शान्तःपुराग्रतः ।

कितने ही राक्षस तीखे शूल तथा वज्र लिये हुए थे। वे सब-के-सब महान् बलसे सम्पन्न थे। इनके सिवा कपिवर हनुमान‌्ने एक लाख रक्षक सेनाको राक्षसराज रावणकी आज्ञासे सावधान होकर नगरके मध्यभागकी रक्षामें संलग्न देखा। वे सारे सैनिक रावणके अन्तःपुरके अग्रभागमें स्थित थे ॥२३½॥

स तदा तद् गृहं दृष्ट्वा महाहाटकतोरणम् ॥ २४ ॥
राक्षसेन्द्रस्य विख्यातमद्रिमूर्ध्नि प्रतिष्ठितम् ।
पुण्डरीकावतंसाभिः परिखाभिः समावृतम् ॥ २५ ॥
प्राकारावृतमत्यन्तं ददर्श स महाकपिः ।
त्रिविष्टपनिभं दिव्यं दिव्यनादविनादितम् ॥ २६ ॥

रक्षक सेनाके लिये जो विशाल भवन बना था, उसका फाटक बहुमूल्य सुवर्णद्वारा निर्मित हुआ था। उस आरक्षाभवनको देखकर महाकपि हनुमान‌्जीने राक्षसराज रावणके सुप्रसिद्ध राजमहलपर दृष्टिपात किया, जो त्रिकूट पर्वतके एक शिखरपर प्रतिष्ठित था। वह सब ओरसे श्वेत कमलोंद्वारा अलंकृत खाइयोंसे घिरा हुआ था। उसके चारों ओर बहुत ऊँचा परकोटा था, जिसने उस राजभवनको घेर रखा था। वह दिव्य भवन स्वर्गलोकके समान मनोहर था और वहाँ संगीत आदिके दिव्य शब्द गूँज रहे थे ॥ २४—२६ ॥

वाजिहेषितसंघुष्टं नादितं भूषणैस्तथा ।
रथैर्यानैर्विमानैश्च तथा हयगजैः शुभैः ॥ २७ ॥
वारणैश्च चतुर्दन्तैः श्वेताभ्रनिचयोपमैः ।
भूषितं रुचिरद्वारं मत्तैश्च मृगपक्षिभिः ॥ २८ ॥

घोड़ोंकी हिनहिनाहटकी आवाज भी वहाँ सब ओर फैली हुई थी। आभूषणोंकी रुनझुन भी कानोंमें पड़ती रहती थी। नाना प्रकारके रथ, पालकी आदि सवारी, विमान, सुन्दर हाथी, घोड़े, श्वेत बादलोंकी घटाके समान दिखायी देनेवाले चार दाँतोंसे युक्त सजे-सजाये मतवाले हाथी तथा मदमत्त पशु-पक्षियोंके संचरणसे उस राजमहलका द्वार बड़ा सुन्दर दिखायी देता था ॥ २७-२८ ॥

रक्षितं सुमहावीर्यैर्यातुधानैः सहस्रशः ।
राक्षसाधिपतेर्गुप्तमाविवेश गृहं कपिः ॥ २९ ॥

सहस्रों महापराक्रमी निशाचर राक्षसराजके उस महलकी रक्षा करते थे। उस गुप्त भवनमें भी कपिवर हनुमान‌्जी जा पहुँचे ॥ २९ ॥

स हेमजाम्बूनदचक्रवालं
महार्हमुक्तामणि भूषितान्तम् ।
परार्ध्यकालागुरुचन्दनार्हं
स रावणान्तःपुरमाविवेश ॥ ३० ॥

तदनन्तर जिसके चारों ओर सुवर्ण एवं जाम्बूनदका परकोटा था, जिसका ऊपरी भाग बहुमूल्य मोती और मणियोंसे विभूषित था तथा अत्यन्त उत्तम काले अगुरु एवं चन्दनसे जिसकी अर्चना की जाती थी, रावणके उस अन्तःपुरमें हनुमान‌्जीने प्रवेश किया ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें चौथा सर्ग पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमः सर्गः

हनुमान‌्जीका रावणके अन्तःपुरमें घर-घरमें सीताको ढूँढ़ना और उन्हें न देखकर दुःखी होना

ततः स मध्यंगतमंशुमन्तं
ज्योत्स्नावितानं मुहुरुद्वमन्तम् ।
ददर्श धीमान् भुवि भानुमन्तं
गोष्ठे वृषं मत्तमिव भ्रमन्तम् ॥ १ ॥

तत्पश्चात् बुद्धिमान् हनुमान‌्जीने देखा, जिस प्रकार गोशालाके भीतर गौओंके झुंडमें मतवाला साँड़ विचरता है, उसी प्रकार पृथ्वीके ऊपर बारम्बार अपनी चाँदनीका चँदोवा तानते हुए चन्द्रदेव आकाशके मध्यभागमें तारिकाओंके बीच विचरण कर रहे हैं ॥ १ ॥

लोकस्य पापानि विनाशयन्तं
महोदधिं चापि समेधयन्तम् ।

भूतानि सर्वाणि विराजयन्तं
ददर्श शीतांशुमथाभियान्तम् ॥ २ ॥

वे शीतरश्मि चन्द्रमा जगत्के पाप-तापका नाश कर रहे थे, महासागरमें ज्वार उठा रहे थे, समस्त प्राणियोंको नयी दीप्ति एवं प्रकाश दे रहे थे और आकाशमें क्रमशः ऊपरकी ओर उठ रहे थे ॥ २ ॥

या भाति लक्ष्मीर्भुवि मन्दरस्था
यथा प्रदोषेषु च सागरस्था ।
तथैव तोयेषु च पुष्करस्था
रराज सा चारुनिशाकरस्था ॥ ३ ॥

भूतलपर मन्दराचलमें, संध्याके समय महासागरमें और जलके भीतर कमलोंमें जो लक्ष्मी जिस प्रकार सुशोभित होती है, वे ही उसी प्रकार मनोहर चन्द्रमामें शोभा पा रही थीं ॥ ३ ॥

हंसो यथा राजतपञ्जरस्थः
सिंहो यथा मन्दरकन्दरस्थः ।
वीरो यथा गर्वितकुञ्जरस्थ-
श्चन्द्रोऽपि बभ्राज तथाम्बरस्थः ॥ ४ ॥

जैसे चाँदीके पिंजरेमें हंस, मन्दराचलकी कन्दरामें सिंह तथा मदमत्त हाथीकी पीठपर वीर पुरुष शोभा पाते हैं, उसी प्रकार आकाशमें चन्द्रदेव सुशोभित हो रहे थे ॥ ४ ॥

स्थितः ककुद्मानिव तीक्ष्णशृङ्गो
महाचलः श्वेत इवोर्ध्वशृङ्गः ।
हस्तीव जाम्बूनदबद्धशृङ्गो
विभाति चन्द्रः परिपूर्णशृङ्गः ॥ ५ ॥

जैसे तीखे सींगवाला बैल खड़ा हो, जैसे ऊपरको उठे शिखरवाला महान् पर्वत श्वेत (हिमालय) शोभा पाता हो और जैसे सुवर्णजटित दाँतोंसे युक्त गजराज सुशोभित होता हो, उसी प्रकार हरिणके शृङ्गरूपी चिह्नसे युक्त परिपूर्ण चन्द्रमा छवि पा रहे थे ॥ ५ ॥

विनष्टशीताम्बुतुषारपङ्को
महाग्रहग्राहविनष्टपङ्कः ।
प्रकाशलक्ष्म्याश्रयनिर्मलाङ्को
रराज चन्द्रो भगवाञ्छशाङ्कः ॥ ६ ॥

जिनका शीतल जल और हिमरूपी पङ्कसे संसर्गका दोष नष्ट हो गया है, अर्थात् जो इनके संसर्गसे बहुत दूर हैं, सूर्य-किरणोंको ग्रहण करनेके कारण जिन्होंने अपने अन्धकार-रूपी पङ्कको भी नष्ट कर दिया है तथा प्रकाशरूप लक्ष्मीका आश्रयस्थान होनेके कारण जिनकी कालिमा भी निर्मल प्रतीत होती है, वे भगवान् शशलाञ्छन चन्द्रदेव आकाशमें प्रकाशित हो रहे थे ॥ ६ ॥

शिलातलं प्राप्य यथा मृगेन्द्रो
महारणं प्राप्य यथा गजेन्द्रः ।
राज्यं समासाद्य यथा नरेन्द्र-
स्तथा प्रकाशो विरराज चन्द्रः ॥ ७ ॥

जैसे गुफाके बाहर शिलातलपर बैठा हुआ मृगराज (सिंह) शोभा पाता है, जैसे विशाल वनमें पहुँचकर गजराज सुशोभित होता है तथा जैसे राज्य पाकर राजा अधिक शोभासे सम्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार निर्मल प्रकाशसे युक्त होकर चन्द्रदेव सुशोभित हो रहे थे ॥ ७ ॥

प्रकाशचन्द्रोदयनष्टदोषः
प्रवृद्धरक्षःपिशिताशदोषः ।
रामाभिरामेरितचित्तदोषः
स्वर्गप्रकाशो भगवान् प्रदोषः ॥ ८ ॥

प्रकाशयुक्त चन्द्रमाके उदयसे जिसका अन्धकाररूपी दोष दूर हो गया है, जिसमें राक्षसोंके जीव-हिंसा और मांसभक्षणरूपी दोष बढ़ गये हैं तथा रमणियोंके रमणविषयक चित्तदोष (प्रणय-कलह) निवृत्त हो गये हैं, वह पूजनीय प्रदोषकाल स्वर्गसदृश सुखका प्रकाश करने लगा ॥ ८ ॥

तन्त्रीस्वराः कर्णसुखाः प्रवृत्ताः
स्वपन्ति नार्यः पतिभिः सुवृत्ताः ।
नक्तंचराश्चापि तथा प्रवृत्ता
विहर्तुमत्यद्भुतरौद्रवृत्ताः ॥ ९ ॥

वीणाके श्रवणसुखद शब्द झङ्कृत हो रहे थे, सदाचारिणी स्त्रियाँ पतियोंके साथ सो रही थीं तथा अत्यन्त अद्भुत और भयंकर शील-स्वभाववाले निशाचर निशीथ कालमें विहार कर रहे थे ॥ ९ ॥

मत्तप्रमत्तानि समाकुलानि
रथाश्वभद्रासनसंकुलानि ।
वीरश्रिया चापि समाकुलानि
ददर्श धीमान् स कपिः कुलानि ॥ १० ॥

बुद्धिमान् वानर हनुमान्ने वहाँ बहुत-से घर देखे। किन्हींमें ऐश्वर्य-मदसे मत्त निशाचर निवास करते थे, किन्हींमें मदिरापानसे मतवाले राक्षस भरे हुए थे। कितने ही घर रथ, घोड़े आदि वाहनों और भद्रासनोंसे सम्पन्न थे तथा कितने ही वीर-लक्ष्मीसे व्याप्त दिखायी देते थे। वे सभी गृह एक-दूसरेसे मिले हुए थे ॥ १० ॥

परस्परं चाधिकमाक्षिपन्ति
भुजांश्च पीनानधिविक्षिपन्ति ।
मत्तप्रलापानधिविक्षिपन्ति
मत्तानि चान्योन्यमधिक्षिपन्ति ॥ ११ ॥

राक्षसलोग आपसमें एक-दूसरेपर अधिक आक्षेप करते थे। अपनी मोटी-मोटी भुजाओंको भी हिलाते और चलाते थे। मतवालोंकी-सी बहकी-बहकी बातें करते थे और मदिरासे उन्मत्त होकर परस्पर कटु वचन बोलते थे ॥ ११ ॥

रक्षांसि वक्षांसि च विक्षिपन्ति
गात्राणि कान्तासु च विक्षिपन्ति।
रूपाणि चित्राणि च विक्षिपन्ति
दृढानि चापानि च विक्षिपन्ति॥ १२॥

इतना ही नहीं, वे मतवाले राक्षस अपनी छाती भी पीटते थे। अपने हाथ आदि अङ्गोंको अपनी प्यारी पत्नियोंपर रख देते थे। सुन्दर रूपवाले चित्रोंका निर्माण करते थे और अपने सुदृढ़ धनुषोंको कानतक खींचा करते थे॥ १२॥

ददर्श कान्ताश्च समालभन्त्य-
स्तथापरास्तत्र पुनः स्वपन्त्यः।
सुरूपवक्त्राश्च तथा हसन्त्यः
क्रुद्धाः पराश्चापिविनिःश्वसन्त्यः॥ १३॥

हनुमान्‌जीने यह भी देखा कि नायिकाएँ अपने अङ्गोंमें चन्दन आदिका अनुलेपन करती हैं। दूसरी वहाँ सोती हैं। तीसरी सुन्दर रूप और मनोहर मुखवाली ललनाएँ हँसती हैं तथा अन्य वनिताएँ प्रणय-कलहसे कुपित हो लंबी साँसें खींच रही हैं॥ १३॥

महागजैश्चापि तथा नदद्भिः
सुपूजितैश्चापि तथा सुसद्भिः।
रराज वीरैश्च विनिःश्वसद्भि-
र्ह्रदा भुजंगैरिव निःश्वसद्भिः॥ १४॥

चिग्घाड़ते हुए महान् गजराजों, अत्यन्त सम्मानित श्रेष्ठ सभासदों तथा लंबी साँसें छोड़नेवाले वीरोंके कारण वह लङ्कापुरी फुफकारते हुए सर्पोंसे युक्त सरोवरोंके समान शोभा पा रही थी॥ १४॥

बुद्धिप्रधानान् रुचिराभिधानान्
संश्रद्दधानाञ्जगतः प्रधानान्।
नानाविधानान् रुचिराभिधानान्
ददर्श तस्यां पुरि यातुधानान्॥ १५॥

हनुमान्‌जीने उस पुरीमें बहुत-से उत्कृष्ट बुद्धिवाले, सुन्दर बोलनेवाले, सम्यक् श्रद्धा रखनेवाले, अनेक प्रकारके रूप-रंगवाले और मनोहर नाम धारण करनेवाले विश्वविख्यात राक्षस देखे॥ १५॥

ननन्द दृष्ट्वा स च तान् सुरूपान्
नानागुणानात्मगुणानुरूपान्।
विद्योतमानान् स च तान् सुरूपान्
ददर्श कांश्चिच्च पुनर्विरूपान्॥ १६॥

वे सुन्दर रूपवाले, नाना प्रकारके गुणोंसे सम्पन्न, अपने गुणोंके अनुरूप व्यवहार करनेवाले और तेजस्वी थे। उन्हें देखकर हनुमान्‌जी बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने बहुतेरे राक्षसोंको सुन्दर रूपसे सम्पन्न देखा और कोई-कोई उन्हें बड़े कुरूप दिखायी दिये॥ १६॥

ततो वरार्हाः सुविशुद्धभावा-
स्तेषां स्त्रियस्तत्र महानुभावाः।
प्रियेषु पानेषु च सक्तभावा
ददर्श तारा इव सुस्वभावाः॥ १७॥

तदनन्तर वहाँ उन्होंने सुन्दर वस्त्राभूषण धारण करनेके योग्य सुन्दरी राक्षस-रमणियोंको देखा, जिनका भाव अत्यन्त विशुद्ध था। वे बड़ी प्रभावशालिनी थीं। उनका मन प्रियतममें तथा मधुपानमें आसक्त था। वे तारिकाओंकी भाँति कान्तिमती और सुन्दर स्वभाववाली थीं॥ १७॥

स्त्रियो ज्वलन्तीस्त्रपयोपगूढा
निशीथकाले रमणोपगूढाः।
ददर्श काश्चित् प्रमदोपगूढा
यथा विहंगा विहगोपगूढाः॥ १८॥

हनुमान्‌जीकी दृष्टिमें कुछ ऐसी स्त्रियाँ भी आयीं, जो अपने रूप-सौन्दर्यसे प्रकाशित हो रही थीं। वे बड़ी लजीली थीं और आधी रातके समय अपने प्रियतमके आलिङ्गनपाशमें इस प्रकार बँधी हुई थीं जैसे पक्षिणी पक्षीके द्वारा आलिङ्गित होती है। वे सब-के-सब आनन्दमें मग्न थीं॥ १८॥

अन्याः पुनर्हर्म्यतलोपविष्टा-
स्तत्र प्रियाङ्केषु सुखोपविष्टाः।
भर्तुः परा धर्मपरा निविष्टा
ददर्श धीमान् मदनोपविष्टाः॥ १९॥

दूसरी बहुत-सी स्त्रियाँ महलोंकी छतोंपर बैठी थीं। वे पतिकी सेवामें तत्पर रहनेवाली, धर्मपरायणा, विवाहिता और कामभावनासे भावित थीं। हनुमान्‌जीने उन सबको अपने प्रियतमके अङ्कमें सुखपूर्वक बैठी देखा॥ १९॥

अप्रावृताः काञ्चनराजिवर्णाः
काश्चित्परार्ध्यास्तपनीयवर्णाः।
पुनश्च काश्चिच्छशलक्ष्मवर्णाः
कान्तप्रहीणा रुचिराङ्गवर्णाः॥ २०॥

कितनी ही कामिनियाँ सुवर्ण-रेखाके समान कान्तिमती दिखायी देती थीं। उन्होंने अपनी ओढ़नी उतार दी थी। कितनी ही उत्तम वनिताएँ तपाये हुए सुवर्णके समान रंगवाली थीं तथा कितनी ही पतिवियोगिनी बालाएँ चन्द्रमाके समान श्वेत वर्णकी दिखायी देती थीं। उनकी अङ्गकान्ति बड़ी ही सुन्दर थी॥ २०॥

ततः प्रियान् प्राप्य मनोऽभिरामान्
सुप्रीतियुक्ताः सुमनोऽभिरामाः।
गृहेषु हृष्टाः परमाभिरामा
हरिप्रवीरः स ददर्श रामाः॥ २१॥

तदनन्तर वानरोंके प्रमुख वीर हनुमान्‌जीने विभिन्न गृहोंमें ऐसी परम सुन्दरी रमणियोंका अवलोकन किया, जो मनोभिराम प्रियतमका संयोग पाकर अत्यन्त प्रसन्न हो रही थीं। फूलोंके हारसे विभूषित होनेके कारण उनकी रमणीयता

और भी बढ़ गयी थी और वे सब-की-सब हर्षसे उत्फुल्ल दिखायी देती थीं ॥ २१ ॥

चन्द्रप्रकाशाश्च हि वक्त्रमाला
वक्राः सुपक्ष्माश्च सुनेत्रमालाः ।
विभूषणानां च ददर्श मालाः
शतह्रदानामिव चारुमालाः ॥ २२ ॥

उन्होंने चन्द्रमाके समान प्रकाशमान मुखोंकी पंक्तियाँ, सुन्दर पलकोंवाले तिरछे नेत्रोंकी पंक्तियाँ और चमचमाती हुई विद्युल्लेखाओंके समान आभूषणोंकी भी मनोहर पंक्तियाँ देखीं ॥ २२ ॥

न त्वेव सीतां परमाभिजातां
पथि स्थिते राजकुले प्रजाताम् ।
लतां प्रफुल्लामिव साधुजातां
ददर्श तन्वीं मनसाभिजाताम् ॥ २३ ॥

किंतु जो परमात्माके मानसिक संकल्पसे धर्ममार्गपर स्थिर रहनेवाले राजकुलमें प्रकट हुई थीं, जिनका प्रादुर्भाव परम ऐश्वर्यकी प्राप्ति करानेवाला है, जो परम सुन्दर रूपमें उत्पन्न हुई प्रफुल्ल लताके समान शोभा पाती थीं, उन कृशाङ्गी सीताको उन्होंने वहाँ कहीं नहीं देखा था ॥ २३ ॥

सनातने वर्त्मनि संनिविष्टां
रामेक्षणीं तां मदनाभिविष्टाम् ।
भर्तुर्मनः श्रीमदनुप्रविष्टां
स्त्रीभ्यः पराभ्यश्च सदा विशिष्टाम् ॥ २४ ॥
उष्णार्दितां सानुसृतास्त्रकण्ठीं
पुरा वरार्होत्तमनिष्ककण्ठीम् ।
सुजातपक्ष्मामभिरक्तकण्ठीं
वने प्रनृत्तामिव नीलकण्ठीम् ॥ २५ ॥
अव्यक्तरेखामिव चन्द्रलेखां
पांसुप्रदिग्धामिव हेमरेखाम् ।
क्षतप्ररूढामिव वर्णरेखां
वायुप्रभुग्नामिव मेघरेखाम् ॥ २६ ॥
सीतामपश्यन्मनुजेश्वरस्य
रामस्य पत्नीं वदतां वरस्य ।
बभूव दुःखोपहतश्चिरस्य
प्लवंगमो मन्द इवाचिरस्य ॥ २७ ॥

जो सदा सनातन मार्गपर स्थित रहनेवाली, श्रीरामपर ही दृष्टि रखनेवाली, श्रीरामविषयक काम या प्रेमसे परिपूर्ण, अपने पतिके तेजस्वी मनमें बसी हुई तथा दूसरी सभी स्त्रियोंसे सदा ही श्रेष्ठ थीं; जिन्हें विरहजनित ताप सदा पीड़ा देता रहता था, जिनके नेत्रोंसे निरन्तर आँसुओंकी झड़ी लगी रहती थी और कण्ठ उन आँसुओंसे गद्गद रहता था, पहले संयोगकालमें जिनका कण्ठ श्रेष्ठ एवं बहुमूल्य निष्क (पदक)से विभूषित रहा करता था, जिनकी पलकें बहुत ही सुन्दर थीं और कण्ठस्वर अत्यन्त मधुर था तथा जो वनमें नृत्य करनेवाली मयूरीके समान मनोहर लगती थीं, जो मेघ आदिसे आच्छादित होनेके कारण अव्यक्त रेखावाली चन्द्रलेखाके समान दिखायी देती थीं, धूलि-धूसर सुवर्ण-रेखा-सी प्रतीत होती थीं, बाणके आघातसे उत्पन्न हुई रेखा-(चिह्न-) सी जान पड़ती थीं तथा वायुके द्वारा उड़ायी जाती हुई बादलोंकी रेखा-सी दृष्टिगोचर होती थीं। वक्ताओंमें श्रेष्ठ नरेश्वर श्रीरामचन्द्रजीकी पत्नी उन सीताजीको बहुत देरतक ढूँढ़नेपर भी जब हनुमान्‌जी न देख सके, तब वे तत्क्षण अत्यन्त दुःखी और शिथिल हो गये ॥ २४—२७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें पाँचवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५ ॥

—★—

षष्ठः सर्गः

हनुमान्‌जीका रावण तथा अन्यान्य राक्षसोंके घरोंमें सीताजीकी खोज करना

स निकामं विमानेषु विचरन् कामरूपधृक् ।
विचचार कपिर्लङ्कां लाघवेन समन्वितः ॥ १ ॥

फिर इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले कपिवर हनुमान्‌जी बड़ी शीघ्रताके साथ लङ्काके सतमहले मकानोंमें यथेच्छ विचरने लगे ॥ १ ॥

आससाद च लक्ष्मीवान् राक्षसेन्द्रनिवेशनम् ।
प्राकारेणार्कवर्णेन भास्वरेणाभिसंवृतम् ॥ २ ॥

अत्यन्त बल-वैभवसे सम्पन्न वे पवनकुमार राक्षसराज रावणके महलमें पहुँचे, जो चारों ओरसे सूर्यके समान चम-चमाते हुए सुवर्णमय परकोटोंसे घिरा हुआ था ॥ २ ॥

रक्षितं राक्षसैर्भीमैः सिंहैरिव महद् वनम् ।
समीक्षमाणो भवनं चकाशे कपिकुञ्जरः ॥ ३ ॥

जैसे सिंह विशाल वनकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार

बहुतेरे भयानक राक्षस रावणके उस महलकी रक्षा कर रहे थे। उस भवनका निरीक्षण करते हुए कपिकुञ्जर हनुमान्‌जी मन-ही-मन हर्षका अनुभव करने लगे॥ ३॥

रूप्यकोपहितैश्चित्रैस्तोरणैर्हेमभूषणैः।
विचित्राभिश्च कक्ष्याभिर्द्वारैश्च रुचिरैर्वृतम्॥ ४॥

वह महल चाँदीसे मढ़े हुए चित्रों, सोने जड़े हुए दरवाजों और बड़ी अद्भुत ड्योढ़ियों तथा सुन्दर द्वारोंसे युक्त था॥ ४॥

गजास्थितैर्महामात्रैः शूरैश्च विगतश्रमैः।
उपस्थितमसंहार्यैर्हयैः स्यन्दनयायिभिः॥ ५॥

हाथीपर चढ़े हुए महावत तथा श्रमहीन शूरवीर वहाँ उपस्थित थे। जिनके वेगको कोई रोक नहीं सकता था, ऐसे रथवाहक अश्व भी वहाँ शोभा पा रहे थे॥ ५॥

सिंहव्याघ्रतनुत्राणैर्दान्तकाञ्चनराजतैः।
घोषवद्भिर्विचित्रैश्च सदा विचरितं रथैः॥ ६॥

सिंहों और बाघोंके चमड़ोंके बने हुए कवचोंसे वे रथ ढके हुए थे, उनमें हाथी-दाँत, सुवर्ण तथा चाँदीकी प्रतिमाएँ रखी हुई थीं। उन रथोंमें लगी हुई छोटी-छोटी घंटिकाओंकी मधुर ध्वनि वहाँ होती रहती थी; ऐसे विचित्र रथ उस रावण-भवनमें सदा आ-जा रहे थे॥ ६॥

बहुरत्नसमाकीर्णं परार्ध्यासनभूषितम्।
महारथसमावापं महारथमहासनम्॥ ७॥

रावणका वह भवन अनेक प्रकारके रत्नोंसे व्याप्त था, बहुमूल्य आसन उसकी शोभा बढ़ाते थे। उसमें सब ओर बड़े-बड़े रथोंके ठहरनेके स्थान बने थे और महारथी वीरोंके लिये विशाल वासस्थान बनाये गये थे॥ ७॥

दृश्यैश्च परमोदारैस्तैस्तैश्च मृगपक्षिभिः।
विविधैर्बहुसाहस्रैः परिपूर्णं समन्ततः॥ ८॥

दर्शनीय एवं परम सुन्दर नाना प्रकारके सहस्रों पशु और पक्षी वहाँ सब ओर भरे हुए थे॥ ८॥

विनीतैरन्तपालैश्च रक्षोभिश्च सुरक्षितम्।
मुख्याभिश्च वरस्त्रीभिः परिपूर्णं समन्ततः॥ ९॥

सीमाकी रक्षा करनेवाले विनयशील राक्षस उस भवनकी रक्षा करते थे। वह सब ओरसे मुख्य-मुख्य सुन्दरियोंसे भरा रहता था॥ ९॥

मुदितप्रमदारत्नं राक्षसेन्द्रनिवेशनम्।
वराभरणसंह्रादैः समुद्रस्वननिःस्वनम्॥ १०॥

वहाँकी रत्नस्वरूपा युवती रमणियाँ सदा प्रसन्न रहा करती थीं। सुन्दर आभूषणोंकी झनकारोंसे झंकृत राक्षसराजका वह महल समुद्रके कलकलनादकी भाँति मुखरित रहता था॥ १०॥

तद् राजगुणसम्पन्नं मुख्यैश्च वरचन्दनैः।
महाजनसमाकीर्णं सिंहैरिव महद् वनम्॥ ११॥

वह भवन राजोचित सामग्रियोंसे पूर्ण था, श्रेष्ठ एवं सुन्दर चन्दनोंसे चर्चित था तथा सिंहोंसे भरे हुए विशाल वनकी भाँति प्रधान-प्रधान पुरुषोंसे परिपूर्ण था॥ ११॥

भेरीमृदङ्गाभिरुतं शङ्खघोषविनादितम्।
नित्यार्चितं पर्वसुतं पूजितं राक्षसैः सदा॥ १२॥

वहाँ भेरी और मृदङ्गकी ध्वनि सब ओर फैली हुई थी। वहाँ शङ्खकी ध्वनि गूँज रही थी। उसकी नित्य पूजा एवं सजावट होती थी। पर्वके दिन वहाँ होम किया जाता था। राक्षसलोग सदा ही उस राजभवनकी पूजा करते थे॥ १२॥

समुद्रमिव गम्भीरं समुद्रसमनिःस्वनम्।
महात्मनो महद् वेश्म महारत्नपरिच्छदम्॥ १३॥

वह समुद्रके समान गम्भीर और उसीके समान कोलाहलपूर्ण था। महामना रावणका वह विशाल भवन महान् रत्नमय अलंकारोंसे अलंकृत था॥ १३॥

महारत्नसमाकीर्णं ददर्श स महाकपिः।
विराजमानं वपुषा गजाश्वरथसंकुलम्॥ १४॥

उसमें हाथी-घोड़े और रथ भरे हुए थे तथा वह महान् रत्नोंसे व्याप्त होनेके कारण अपने स्वरूपसे प्रकाशित हो रहा था। महाकपि हनुमान्‌ने उसे देखा॥ १४॥

लङ्काभरणमित्येव सोऽमन्यत महाकपिः।
चचार हनुमांस्तत्र रावणस्य समीपतः॥ १५॥

देखकर कपिवर हनुमान्‌ने उस भवनको लङ्काका आभूषण ही माना। तदनन्तर वे उस रावण-भवनके आस-पास ही विचरने लगे॥ १५॥

गृहाद् गृहं राक्षसानामुद्यानानि च सर्वशः।
वीक्षमाणोऽप्यसंत्रस्तः प्रासादांश्च चचार सः॥ १६॥

इस प्रकार वे एक घरसे दूसरे घरमें जाकर राक्षसोंके बगीचोंके सभी स्थानोंको देखते हुए बिना किसी भयसे अट्टालिकाओंपर विचरण करने लगे॥ १६॥

अवप्लुत्य महावेगः प्रहस्तस्य निवेशनम्।
ततोऽन्यत् पुप्लुवे वेश्म महापार्श्वस्य वीर्यवान्॥ १७॥

महान् वेगशाली और पराक्रमी वीर हनुमान् वहाँसे कूदकर प्रहस्तके घरमें उतर गये। फिर वहाँसे उछले और महापार्श्वके महलमें पहुँच गये॥ १७॥

अथ मेघप्रतीकाशं कुम्भकर्णनिवेशनम्।
विभीषणस्य च तथा पुप्लुवे स महाकपिः॥ १८॥

तदनन्तर वे महाकपि हनुमान् मेघके समान प्रतीत होनेवाले कुम्भकर्णके भवनमें और वहाँसे विभीषणके महलमें कूद गये॥ १८॥

महोदरस्य च तथा विरूपाक्षस्य चैव हि।
विद्युज्जिह्वस्य भवनं विद्युन्मालेस्तथैव च॥ १९॥

इसी तरह क्रमशः वे महोदर, विरूपाक्ष, विद्युज्जिह्व और विद्युन्मालिके घरमें गये॥ १९॥

वज्रदंष्ट्रस्य च तथा पुप्लुवे स महाकपिः ।
शुकस्य च महावेगः सारणस्य च धीमतः ॥ २० ॥

इसके बाद महान् वेगशाली महाकपि हनुमान्‌ने फिर छलाँग मारी और वे वज्रदंष्ट्र, शुक तथा बुद्धिमान् सारणके घरमें जा पहुँचे ॥ २० ॥

तथा चेन्द्रजितो वेश्म जगाम हरियूथपः ।
जम्बुमालेः सुमालेश्च जगाम हरिसत्तमः ॥ २१ ॥

इसके बाद वे वानर-यूथपति कपिश्रेष्ठ इन्द्रजित्‌के घरमें गये और वहाँसे जम्बुमालि तथा सुमालिके घरमें पहुँच गये ॥ २१ ॥

रश्मिकेतोश्च भवनं सूर्यशत्रोस्तथैव च ।
वज्रकायस्य च तथा पुप्लुवे स महाकपिः ॥ २२ ॥

तदनन्तर वे महाकपि उछलते-कूदते हुए रश्मिकेतु, सूर्यशत्रु और वज्रकायके महलोंमें जा पहुँचे ॥ २२ ॥

धूम्राक्षस्याथ सम्पातेर्भवनं मारुतात्मजः ।
विद्युद्रूपस्य भीमस्य घनस्य विघनस्य च ॥ २३ ॥
शुकनाभस्य चक्रस्य शठस्य कपटस्य च ।
ह्रस्वकर्णस्य दंष्ट्रस्य लोमशस्य च रक्षसः ॥ २४ ॥
युद्धोन्मत्तस्य मत्तस्य ध्वजग्रीवस्य सादिनः ।
विद्युज्जिह्वद्विजिह्वानां तथा हस्तिमुखस्य च ॥ २५ ॥
करालस्य पिशाचस्य शोणिताक्षस्य चैव हि ।
क्रममाणः क्रमेणैव हनुमान् मारुतात्मजः ॥ २६ ॥
तेषु तेषु महार्हेषु भवनेषु महायशाः ।
तेषामृद्धिमतामृद्धिं ददर्श स महाकपिः ॥ २७ ॥

फिर क्रमशः वे कपिवर पवनकुमार धूम्राक्ष, सम्पाति, विद्युद्रूप, भीम, घन, विघन, शुकनाभ, चक्र, शठ, कपट, ह्रस्वकर्ण, दंष्ट्र, लोमश, युद्धोन्मत्त, मत्त, ध्वजग्रीव, विद्युज्जिह्व, द्विजिह्व, हस्तिमुख, कराल, पिशाच और शोणिताक्ष आदिके महलोंमें गये। इस प्रकार क्रमशः कूदते-फाँदते हुए महा यशस्वी पवनपुत्र हनुमान् उन-उन बहुमूल्य भवनोंमें पधारे। वहाँ उन महाकपिने उन समृद्धिशाली राक्षसोंकी समृद्धि देखी ॥ २३—२७ ॥

सर्वेषां समतिक्रम्य भवनानि समन्ततः ।
आससादाथ लक्ष्मीवान् राक्षसेन्द्रनिवेशनम् ॥ २८ ॥

तत्पश्चात् बल-वैभवसे सम्पन्न हनुमान् उन सब भवनोंको लाँघकर पुनः राक्षसराज रावणके महलपर आ गये ॥ २८ ॥

रावणस्योपशायिन्यो ददर्श हरिसत्तमः ।
विचरन् हरिशार्दूलो राक्षसीर्विकृतेक्षणाः ॥ २९ ॥

वहाँ विचरते हुए उन वानरशिरोमणि कपिश्रेष्ठने रावणके निकट सोनेवाली (उसके पलंगकी रक्षा करनेवाली) राक्षसियोंको देखा, जिनकी आँखें बड़ी विकराल थीं ॥ २९ ॥

शूलमुद्गरहस्तांश्च शक्तितोमरधारिणः ।
ददर्श विविधान्गुल्मांस्तस्य रक्षःपतेर्गृहे ॥ ३० ॥

साथ ही, उन्होंने उस राक्षसराजके भवनमें राक्षसियोंके बहुत-से समुदाय देखे, जिनके हाथोंमें शूल, मुद्गर, शक्ति और तोमर आदि अस्त्र-शस्त्र विद्यमान थे ॥ ३० ॥

राक्षसांश्च महाकायान् नानाप्रहरणोद्यतान् ।
रक्ताञ्श्वेतान् सितांश्चापि हरींश्चापि महाजवान् ॥ ३१ ॥

उनके सिवा, वहाँ बहुत-से विशालकाय राक्षस भी दिखायी दिये, जो नाना प्रकारके हथियारोंसे लैस थे। इतना ही नहीं, वहाँ लाल और सफेद रंगके बहुत-से अत्यन्त वेगशाली घोड़े भी बँधे हुए थे ॥ ३१ ॥

कुलीनान् रूपसम्पन्नान् गजान् परगजारुजान् ।
शिक्षितान् गजशिक्षायामैरावतसमान् युधि ॥ ३२ ॥
निहन्तॄन् परसैन्यानां गृहे तस्मिन् ददर्श सः ।
क्षरतश्च यथा मेघान् स्रवतश्च यथा गिरीन् ॥ ३३ ॥
मेघस्तनितनिर्घोषान् दुर्धर्षान् समरे परैः ।

साथ ही अच्छी जातिके रूपवान् हाथी भी थे, जो शत्रु-सेनाके हाथियोंको मार भगानेवाले थे। वे सब-के-सब गजशिक्षामें सुशिक्षित, युद्धमें ऐरावतके समान पराक्रमी तथा शत्रुसेनाओंका संहार करनेमें समर्थ थे। वे बरसते हुए मेघों और झरने बहाते हुए पर्वतोंके समान मदकी धारा बहा रहे थे। उनकी गर्जना मेघ-गर्जनाके समान जान पड़ती थी। वे समराङ्गणमें शत्रुओंके लिये दुर्जय थे। हनुमान्‌जीने रावणके भवनमें उन सबको देखा ॥ ३२-३३½ ॥

सहस्रं वाहिनीस्तत्र जाम्बूनदपरिष्कृताः ॥ ३४ ॥
हेमजालैरविच्छिन्नास्तरुणादित्यसंनिभाः ।
ददर्श राक्षसेन्द्रस्य रावणस्य निवेशने ॥ ३५ ॥

राक्षसराज रावणके उस महलमें उन्होंने सहस्रों ऐसी सेनाएँ देखीं, जो जाम्बूनदके आभूषणोंसे विभूषित थीं। उनके सारे अङ्ग सोनेके गहनोंसे ढके हुए थे तथा वे प्रातःकालके सूर्यकी भाँति उद्दीप्त हो रही थीं ॥ ३४-३५ ॥

शिबिका विविधाकाराः स कपिर्मारुतात्मजः ।
लतागृहाणि चित्राणि चित्रशालागृहाणि च ॥ ३६ ॥
क्रीडागृहाणि चान्यानि दारुपर्वतकानि च ।
कामस्य गृहकं रम्यं दिवागृहकमेव च ॥ ३७ ॥
ददर्श राक्षसेन्द्रस्य रावणस्य निवेशने ।

पवनपुत्र हनुमान्‌जीने राक्षसराज रावणके उस भवनमें अनेक प्रकारकी पालकियाँ, विचित्र लता-गृह, चित्रशालाएँ, क्रीड़ाभवन, काष्ठमय क्रीडापर्वत, रमणीय विलासगृह और दिनमें उपयोगमें आनेवाले विलासभवन भी देखे ॥ ३६-३७½ ॥

स मन्दरसमप्रख्यं मयूरस्थानसंकुलम् ॥ ३८ ॥
ध्वजयष्टिभिराकीर्णं ददर्श भवनोत्तमम् ।
अनन्तरत्ननिचयं निधिजालं समन्ततः ।
धीरनिष्ठितकर्माङ्गं गृहं भूतपतेरिव ॥ ३९ ॥

उन्होंने वह महल मन्दराचलके समान ऊँचा, क्रीड़ा-मयूरोंके रहनेके स्थानोंसे युक्त, ध्वजाओंसे व्याप्त, अनन्त रत्नोंका भण्डार और सब ओरसे निधियोंसे भरा हुआ देखा। उसमें धीर पुरुषोंने निधिरक्षाके उपयुक्त कर्माङ्गोंका अनुष्ठान किया था तथा वह साक्षात् भूतनाथ (महेश्वर या कुबेर) के भवनके समान जान पड़ता था॥ ३८-३९॥

अर्चिर्भिश्चापि रत्नानां तेजसा रावणस्य च।
विरराज च तद् वेश्म रश्मिवानिव रश्मिभिः॥ ४०॥

रत्नोंकी किरणों तथा रावणके तेजके कारण वह घर किरणोंसे युक्त सूर्यके समान जगमगा रहा था॥ ४०॥

जाम्बूनदमयान्येव शयनान्यासनानि च।
भाजनानि च शुभ्राणि ददर्श हरियूथपः॥ ४१॥

वानरयूथपति हनुमान्‌ने वहाँके पलंग, चौकी और पात्र सभी अत्यन्त उज्ज्वल तथा जाम्बूनद सुवर्णके बने हुए ही देखे॥ ४१॥

मध्वासवकृतक्लेदं मणिभाजनसंकुलम्।
मनोरममसम्बाधं कुबेरभवनं यथा॥ ४२॥
नूपुराणां च घोषेण काञ्चीनां निःस्वनेन च।
मृदङ्गतलनिर्घोषैर्घोषवद्भिर्विनादितम्॥ ४३॥

उसमें मधु और आसवके गिरनेसे वहाँकी भूमि गीली हो रही थी। मणिमय पात्रोंसे भरा हुआ वह सुविस्तृत महल कुबेर-भवनके समान मनोरम जान पड़ता था। नूपुरोंकी झनकार, करधनियोंकी खनखनाहट, मृदङ्गों और तालियोंकी मधुर ध्वनि तथा अन्य गम्भीर घोष करनेवाले वाद्योंसे वह भवन मुखरित हो रहा था॥ ४२-४३॥

प्रासादसंघातयुतं स्त्रीरत्नशतसंकुलम्।
सुव्यूढकक्ष्यं हनुमान् प्रविवेश महागृहम्॥ ४४॥

उसमें सैकड़ों अट्टालिकाएँ थीं, सैकड़ों रमणी-रत्नोंसे वह व्याप्त था। उसकी ड्योढ़ियाँ बहुत बड़ी-बड़ी थीं। ऐसे विशाल भवनमें हनुमान्‌जीने प्रवेश किया॥ ४४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे षष्ठः सर्गः॥ ६॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें छठा सर्ग पूरा हुआ॥ ६॥

—★—

सप्तमः सर्गः

रावणके भवन एवं पुष्पक विमानका वर्णन

स वेश्मजालं बलवान् ददर्श
व्यासक्तवैदूर्यसुवर्णजालम्।
यथा महत्प्रावृषि मेघजालं
विद्युत्पिनद्धं सविहङ्गजालम्॥ १॥

बलवान् वीर हनुमान्‌जीने नीलमसे जड़ी हुई सोनेकी खिड़कियोंसे सुशोभित तथा पक्षि-समूहोंसे युक्त भवनोंका समुदाय देखा, जो वर्षाकालमें बिजलीसे युक्त महती मेघमालाके समान मनोहर जान पड़ता था॥ १॥

निवेशनानां विविधाश्च शालाः
प्रधानशङ्खायुधचापशालाः।
मनोहराश्चापि पुनर्विशाला
ददर्श वेश्माद्रिषु चन्द्रशालाः॥ २॥

उसमें नाना प्रकारकी बैठकें, शङ्ख, आयुध और धनुषोंकी मुख्य-मुख्य शालाएँ तथा पर्वतोंके समान ऊँचे महलोंके ऊपर मनोहर एवं विशाल चन्द्रशालाएँ (अट्टालिकाएँ) देखीं॥ २॥

गृहाणि नानावसुराजितानि
देवासुरैश्चापि सुपूजितानि।
सर्वैश्च दोषैः परिवर्जितानि
कपिर्ददर्श स्वबलार्जितानि॥ ३॥

कपिवर हनुमान्‌ने वहाँ नाना प्रकारके रत्नोंसे सुशोभित ऐसे-ऐसे घर देखे, जिनकी देवता और असुर भी प्रशंसा करते थे। वे गृह सम्पूर्ण दोषोंसे रहित थे तथा रावणने उन्हें अपने पुरुषार्थसे प्राप्त किया था॥ ३॥

तानि प्रयत्नाभिसमाहितानि
मयेन साक्षादिव निर्मितानि।
महीतले सर्वगुणोत्तराणि
ददर्श लङ्काधिपतेर्गृहाणि॥ ४॥

वे भवन बड़े प्रयत्नसे बनाये गये थे और ऐसे अद्भुत लगते थे, मानो साक्षात् मयदानवने ही उनका निर्माण किया हो। हनुमान्‌जीने उन्हें देखा, लङ्कापति रावणके वे घर इस भूतलपर सभी गुणोंमें सबसे बढ़-चढ़कर थे॥ ४॥

ततो ददर्शोच्छ्रितमेघरूपं
मनोहरं काञ्चनचारुरूपम्।
रक्षोऽधिपस्यात्मबलानुरूपं
गृहोत्तमं ह्यप्रतिरूपरूपम्॥ ५॥

फिर उन्होंने राक्षसराज रावणका उसकी शक्तिके अनुरूप अत्यन्त उत्तम और अनुपम भवन (पुष्पक विमान) देखा, जो मेघके समान ऊँचा, सुवर्णके समान सुन्दर कान्तिवाला

बड़ा मनोहर था॥ ५ ॥

महीतले स्वर्गमिव प्रकीर्णं
श्रिया ज्वलन्तं बहुरत्नकीर्णम्।
नानातरूणां कुसुमावकीर्णं
गिरेरिवाग्रं रजसावकीर्णम्॥ ६ ॥

वह इस भूतलपर बिखरे हुए स्वर्गके समान जान पड़ता था। अपनी कान्तिसे प्रज्वलित-सा हो रहा था। अनेकानेक रत्नोंसे व्याप्त, भाँति-भाँतिके वृक्षोंके फूलोंसे आच्छादित तथा पुष्पोंके परागसे भरे हुए पर्वत-शिखरके समान शोभा पाता था॥ ६ ॥

नारीप्रवेकैरिव दीप्यमानं
तडिद्भिरम्भोधरमर्च्यमानम्।
हंसप्रवेकैरिव वाह्यमानं
श्रिया युतं खे सुकृतं विमानम्॥ ७ ॥

वह विमानरूप भवन विद्युन्मालाओंसे पूजित मेघके समान रमणी-रत्नोंसे देदीप्यमान हो रहा था और श्रेष्ठ हंसोंद्वारा आकाशमें ढोये जाते हुए विमानकी भाँति जान पड़ता था। उस दिव्य विमानको बहुत सुन्दर ढंगसे बनाया गया था। वह अद्भुत शोभासे सम्पन्न दिखायी देता था॥ ७ ॥

यथा नगाग्रं बहुधातुचित्रं
यथा नभश्च ग्रहचन्द्रचित्रम्।
ददर्श युक्तीकृतचारुमेघ-
चित्रं विमानं बहुरत्नचित्रम्॥ ८ ॥

जैसे अनेक धातुओंके कारण पर्वतशिखर, ग्रहों और चन्द्रमाके कारण आकाश तथा अनेक वर्णोंसे युक्त होनेके कारण मनोहर मेघ विचित्र शोभा धारण करते हैं, उसी तरह नाना प्रकारके रत्नोंसे निर्मित होनेके कारण वह विमान भी विचित्र शोभासे सम्पन्न दिखायी देता था॥ ८ ॥

मही कृता पर्वतराजिपूर्णा
शैलाः कृता वृक्षवितानपूर्णाः।
वृक्षाः कृताः पुष्पवितानपूर्णाः
पुष्पं कृतं केसरपत्रपूर्णम्॥ ९ ॥

उस विमानकी आधारभूमि (आरोहियोंके खड़े होनेका स्थान) सोने और मणियोंके द्वारा निर्मित कृत्रिम पर्वत-मालाओंसे पूर्ण बनायी गयी थी। वे पर्वत वृक्षोंकी विस्तृत पंक्तियोंसे हरे-भरे रचे गये थे। वे वृक्ष फूलोंके बाहुल्यसे व्याप्त बनाये गये थे तथा वे पुष्प भी केसर एवं पंखुड़ियोंसे पूर्ण निर्मित हुए थे*॥ ९ ॥

कृतानि वेश्मानि च पाण्डुराणि
तथा सुपुष्पाण्यपि पुष्कराणि।
पुनश्च पद्मानि सकेसराणि
वनानि चित्राणि सरोवराणि॥ १० ॥

उस विमानमें श्वेतभवन बने हुए थे। सुन्दर फूलोंसे सुशोभित पोखरे बनाये गये थे। केसरयुक्त कमल, विचित्र वन और अद्भुत सरोवरोंका भी निर्माण किया गया था॥ १० ॥

पुष्पाह्वयं नाम विराजमानं
रत्नप्रभाभिश्च विघूर्णमानम्।
वेश्मोत्तमानामपि चोच्चमानं
महाकपिस्तत्र महाविमानम्॥ ११ ॥

महाकपि हनुमान्‌ने जिस सुन्दर विमानको वहाँ देखा, उसका नाम पुष्पक था। वह रत्नोंकी प्रभासे प्रकाशमान था और इधर-उधर भ्रमण करता था। देवताओंके गृहाकार उत्तम विमानोंमें सबसे अधिक आदर उस महाविमान पुष्पकका ही होता था॥ ११ ॥

कृताश्च वैदूर्यमया विहङ्गा
रूप्यप्रवालैश्च तथा विहङ्गाः।
चित्राश्च नानावसुभिर्भुजङ्गा
जात्यानुरूपास्तुरगाः शुभाङ्गाः॥ १२ ॥

उसमें नीलम, चाँदी और मूँगोंके आकाशचारी पक्षी बनाये गये थे। नाना प्रकारके रत्नोंसे विचित्र वर्णके सर्पोंका निर्माण किया गया था और अच्छी जातिके घोड़ोंके समान ही सुन्दर अङ्गवाले अश्व भी बनाये गये थे॥ १२ ॥

प्रवालजाम्बूनदपुष्पपक्षाः
सलीलमावर्जितजिह्मपक्षाः।
कामस्य साक्षादिव भान्ति पक्षाः
कृता विहङ्गाः सुमुखाः सुपक्षाः॥ १३ ॥

उस विमानपर सुन्दर मुख और मनोहर पंखवाले बहुत-से ऐसे विहङ्गम निर्मित हुए थे, जो साक्षात् कामदेवके सहायक जान पड़ते थे। उनकी पाँखें मूँगे और सुवर्णके बने हुए फूलोंसे युक्त थीं तथा उन्होंने लीलापूर्वक अपने बाँके पंखोंको समेट रखा था॥ १३ ॥

नियुज्यमानाश्च गजाः सुहस्ताः
सकेसराश्चोत्पलपत्रहस्ताः।
बभूव देवी च कृतासुहस्ता
लक्ष्मीस्तथा पद्मिनि पद्महस्ता॥ १४ ॥

उस विमानके कमलमण्डित सरोवरमें ऐसे हाथी बनाये

---

* जहाँ पूर्वकथित वस्तुओंके प्रति उत्तरोत्तर कथित वस्तुओंका विशेषण-भावसे स्थापन किया जाय, वहाँ 'एकावली' अलंकार माना जाता है। इस लक्षणके अनुसार इस श्लोकमें एकावली अलंकार है। यहाँ 'मही' का विशेषण पर्वत, पर्वतका वृक्ष और वृक्षका विशेषण पुष्प आदि समझना चाहिये। गोविन्दराजने यहाँ 'अधिक' नामक अलंकार माना है, परंतु जहाँ आधारसे आधेयकी विशेषता बतायी गयी हो वहीं इसका विषय है, यहाँ ऐसी बात नहीं है।

गये थे, जो लक्ष्मीके अभिषेक-कार्यमें नियुक्त थे। उनकी सूँड़ बड़ी सुन्दर थी। उनके अङ्गोंमें कमलोंके केसर लगे हुए थे तथा उन्होंने अपनी सूँड़ोंमें कमल-पुष्प धारण किये थे। उनके साथ ही वहाँ तेजस्विनी लक्ष्मी देवीकी प्रतिमा भी विराजमान थी, जिनका उन हाथियोंके द्वारा अभिषेक हो रहा था। उनके हाथ बड़े सुन्दर थे। उन्होंने अपने हाथमें कमलपुष्प धारण कर रखा था ॥ १४ ॥

इतीव तद्‍गृहमभिगम्य शोभनं
सविस्मयो नगमिव चारुकन्दरम्।
पुनश्च तत्परमसुगन्धि सुन्दरं
हिमात्यये नगमिव चारुकन्दरम्॥ १५॥

इस प्रकार सुन्दर कन्दराओंवाले पर्वतके समान तथा बसन्तऋतुमें सुन्दर कोटरोंवाले परम सुगन्धयुक्त वृक्षके समान उस शोभायमान मनोहर भवन (विमान) में पहुँचकर हनुमान्‌जी बड़े विस्मित हुए ॥ १५ ॥

ततः स तां कपिरभिपत्य पूजितां
चरन् पुरीं दशमुखबाहुपालिताम्।
अदृश्य तां जनकसुतां सुपूजितां
सुदुःखितां पतिगुणवेगनिर्जिताम्॥ १६॥

तदनन्तर दशमुख रावणके बाहुबलसे पालित उस प्रशंसित पुरीमें जाकर चारों ओर घूमनेपर भी पतिके गुणोंके वेगसे पराजित (विमुग्ध) अत्यन्त दुःखिनी और परम पूजनीया जनककिशोरी सीताको न देखकर कपिवर हनुमान् बड़ी चिन्तामें पड़ गये ॥ १६ ॥

ततस्तदा बहुविधभावितात्मनः
कृतात्मनो जनकसुतां सुवर्त्मनः।
अपश्यतोऽभवदतिदुःखितं मनः
सचक्षुषः प्रविचरतो महात्मनः॥ १७॥

महात्मा हनुमान्‌जी अनेक प्रकारसे परमार्थ-चिन्तनमें तत्पर रहनेवाले कृतात्मा (पवित्र अन्तःकरणवाले) सन्मार्गगामी तथा उत्तम दृष्टि रखनेवाले थे। इधर-उधर बहुत घूमनेपर भी जब उन महात्माको जानकीजी-का पता न लगा, तब उनका मन बहुत दुःखी हो गया ॥ १७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें सातवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७ ॥

—★—

अष्टमः सर्गः

हनुमान्‌जीके द्वारा पुनः पुष्पक विमानका दर्शन

स तस्य मध्ये भवनस्य संस्थितो
महद्विमानं मणिरत्नचित्रितम्।
प्रतप्तजाम्बूनदजालकृत्रिमं
ददर्श धीमान् पवनात्मजः कपिः॥ १॥

रावणके भवनके मध्यभागमें खड़े हुए बुद्धिमान् पवनकुमार कपिवर हनुमान्‌जीने मणि तथा रत्नोंसे जटित एवं तपे हुए सुवर्णमय गवाक्षोंकी रचनासे युक्त उस विशाल विमानको पुनः देखा ॥ १ ॥

तदप्रमेयप्रतिकारकृत्रिमं
कृतं स्वयं साध्विति विश्वकर्मणा।
दिवं गते वायुपथे प्रतिष्ठितं
व्यराजतादित्यपथस्य लक्ष्म तत्॥ २॥

उसकी रचनाको सौन्दर्य आदिकी दृष्टिसे मापा नहीं जा सकता था। उसका निर्माण अनुपम रीतिसे किया गया था। स्वयं विश्वकर्माने ही उसे बनाया था और बहुत उत्तम कहकर उसकी प्रशंसा की थी। जब वह आकाशमें उठकर वायुमार्गमें स्थित होता था, तब सौर मार्गके चिह्न-सा सुशोभित होता था ॥ २ ॥

न तत्र किंचिन्न कृतं प्रयत्नतो
न तत्र किंचिन्न महार्घरत्नवत्।
न ते विशेषा नियताः सुरेष्वपि
न तत्र किंचिन्न महाविशेषवत्॥ ३॥

उसमें कोई ऐसी वस्तु नहीं थी, जो अत्यन्त प्रयत्नसे न बनायी गयी हो तथा वहाँ कोई भी ऐसा स्थान या विमानका अङ्ग नहीं था, जो बहुमूल्य रत्नोंसे जटित न हो। उसमें जो विशेषताएँ थीं, वे देवताओंके विमानोंमें भी नहीं थीं। उसमें कोई ऐसी चीज नहीं थी, जो बड़ी भारी विशेषतासे युक्त न हो ॥ ३ ॥

तपः समाधानपराक्रमार्जितं
मनःसमाधानविचारचारिणम्।
अनेकसंस्थानविशेषनिर्मितं
ततस्ततस्तुल्यविशेषनिर्मितम्॥ ४॥

रावणने जो निराहार रहकर तप किया था और भगवान्‌के चिन्तनमें चित्तको एकाग्र किया था, इससे मिले हुए पराक्रमके द्वारा उसने उस विमानपर अधिकार प्राप्त किया था। मनमें जहाँ भी जानेका संकल्प उठता, वहीं वह विमान

बनाया गया था। अनेक प्रकारकी विशिष्ट निर्माण-कलाओं-द्वारा उस विमानकी रचना हुई थी तथा जहाँ-तहाँसे प्राप्त की गयी दिव्य विमान-निर्माणोचित विशेषताओंसे उसका निर्माण हुआ था ॥ ४ ॥

मनः समाधाय तु शीघ्रगामिनं
दुरासदं मारुततुल्यगामिनम्।
महात्मनां पुण्यकृतां महर्द्धिनां
यशस्विनामग्र्यमुदामिवालयम् ॥ ५ ॥

वह स्वामीके मनका अनुसरण करते हुए बड़ी शीघ्रतासे चलनेवाला, दूसरोंके लिये दुर्लभ और वायुके समान वेगपूर्वक आगे बढ़नेवाला था तथा श्रेष्ठ आनन्द (महान् सुख) के भागी, बढ़े-चढ़े तपवाले, पुण्यकारी महात्माओंका वह आश्रय था ॥ ५ ॥

विशेषमालम्ब्य विशेषसंस्थितं
विचित्रकूटं बहुकूटमण्डितम्।
मनोऽभिरामं शरदिन्दुनिर्मलं
विचित्रकूटं शिखरं गिरेर्यथा ॥ ६ ॥

वह विमान गतिविशेषका आश्रय ले व्योमरूप देश-विभागमें स्थित था। आश्चर्यजनक विचित्र वस्तुओंका समुदाय उसमें एकत्र किया गया था। बहुत-सी शालाओंके कारण उसकी बड़ी शोभा हो रही थी। वह शरद्-ऋतुके चन्द्रमाके समान निर्मल और मनको आनन्द प्रदान करनेवाला था। विचित्र छोटे-छोटे शिखरोंसे युक्त किसी पर्वतके प्रधान शिखरकी जैसी शोभा होती है, उसी प्रकार अद्भुत शिखरवाले उस पुष्पक विमानकी भी शोभा हो रही थी ॥ ६ ॥

वहन्ति यत्कुण्डलशोभितानना
महाशना व्योमचरानिशाचराः।
विवृत्तविध्वस्तविशाललोचना
महाजवा भूतगणाः सहस्रशः ॥ ७ ॥
वसन्तपुष्पोत्करचारुदर्शनं
वसन्तमासादपि चारुदर्शनम्।
स पुष्पकं तत्र विमानमुत्तमं
ददर्श तद् वानरवीरसत्तमः ॥ ८ ॥

जिनके मुखमण्डल कुण्डलोंसे सुशोभित और नेत्र घूमते या घूरते रहनेवाले, निमेषरहित तथा बड़े-बड़े थे, वे अपरिमित भोजन करनेवाले, महान् वेगशाली, आकाशमें विचरनेवाले तथा रातमें भी दिनके समान ही चलनेवाले सहस्रों भूतगण जिसका भार वहन करते थे, जो वसन्त-कालिक पुष्प-पुञ्जके समान रमणीय दिखायी देता था और वसन्त माससे भी अधिक सुहावना दृष्टिगोचर होता था, उस उत्तम पुष्पक विमानको वानरशिरोमणि हनुमान्‌जीने वहाँ देखा ॥ ७-८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डेऽष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें आठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमः सर्गः

हनुमान्‌जीका रावणके श्रेष्ठ भवन पुष्पक विमान तथा रावणके रहनेकी सुन्दर हवेलीको देखकर उसके भीतर सोयी हुई सहस्रों सुन्दरी स्त्रियोंका अवलोकन करना

तस्यालयवरिष्ठस्य मध्ये विमलमायतम्।
ददर्श भवनश्रेष्ठं हनुमान् मारुतात्मजः ॥ १ ॥
अर्धयोजनविस्तीर्णमायतं योजनं महत्।
भवनं राक्षसेन्द्रस्य बहुप्रासादसंकुलम् ॥ २ ॥

लङ्कावर्ती सर्वश्रेष्ठ महान् गृहके मध्यभागमें पवनपुत्र हनुमान्‌जीने देखा एक उत्तम भवन शोभा पा रहा है। वह बहुत ही निर्मल एवं विस्तृत था। उसकी लंबाई एक योजनकी और चौड़ाई आधे योजनकी थी। राक्षसराज रावणका वह विशाल भवन बहुत-सी अट्टालिकाओंसे व्याप्त था ॥ १-२ ॥

मार्गमाणस्तु वैदेहीं सीतामायतलोचनाम्।
सर्वतः परिचक्राम हनूमानरिसूदनः ॥ ३ ॥

विशाललोचना विदेह-नन्दिनी सीताकी खोज करते हुए शत्रुसूदन हनुमान्‌जी उस भवनमें सब ओर चक्कर लगाते फिरे ॥ ३ ॥

उत्तमं राक्षसावासं हनुमानवलोकयन्।
आससादाथ लक्ष्मीवान् राक्षसेन्द्रनिवेशनम् ॥ ४ ॥

बल-वैभवसे सम्पन्न हनुमान् राक्षसोंके उस उत्तम आवासका अवलोकन करते हुए एक ऐसे सुन्दर गृहमें जा पहुँचे, जो राक्षसराज रावणका निजी निवास-स्थान था ॥ ४ ॥

चतुर्विषाणैर्द्विरदैस्त्रिविषाणैस्तथैव च।
परिक्षिप्तमसम्बाधं रक्ष्यमाणमुदायुधैः ॥ ५ ॥

चार दाँत तथा तीन दाँतोंवाले हाथी इस विस्तृत

भवनको चारों ओरसे घेरकर खड़े थे और हाथोंमें हथियार लिये बहुत-से राक्षस उसकी रक्षा करते थे॥ ५॥

राक्षसीभिश्च पत्नीभी रावणस्य निवेशनम्।
आहृताभिश्च विक्रम्य राजकन्याभिरावृतम्॥ ६॥

रावणका वह महल उसकी राक्षसजातीय पत्नियों तथा पराक्रमपूर्वक हरकर लायी हुई राजकन्याओंसे भरा हुआ था॥ ६॥

तन्नक्रमकराकीर्णं तिमिंगिलझषाकुलम्।
वायुवेगसमाधूतं पन्नगैरिव सागरम्॥ ७॥

इस प्रकार नर-नारियोंसे भरा हुआ वह कोलाहलपूर्ण भवन नाके और मगरोंसे व्याप्त, तिमिङ्गलों और मत्स्योंसे पूर्ण, वायुवेगसे विक्षुब्ध तथा सर्पोंसे आवृत महासागरके समान प्रतीत होता था॥ ७॥

या हि वैश्रवणे लक्ष्मीर्या चन्द्रे हरिवाहने।
सा रावणगृहे रम्या नित्यमेवानपायिनी॥ ८॥

जो लक्ष्मी कुबेर, चन्द्रमा और इन्द्रके यहाँ निवास करती हैं, वे ही और भी सुरम्य रूपसे रावणके घरमें नित्य ही निश्चल होकर रहती थीं॥ ८॥

या च राज्ञः कुबेरस्य यमस्य वरुणस्य च।
तादृशी तद्विशिष्टा वा ऋद्धी रक्षोगृहेष्विह॥ ९॥

जो समृद्धि महाराज कुबेर, यम और वरुणके यहाँ दृष्टिगोचर होती है, वही अथवा उससे भी बढ़कर राक्षसोंके घरोंमें देखी जाती थी॥ ९॥

तस्य हर्म्यस्य मध्यस्थवेश्म चान्यत् सुनिर्मितम्।
बहुनिर्यूहसंयुक्तं ददर्श पवनात्मजः॥ १०॥

उस (एक योजन लंबे और आधे योजन चौड़े) महलके मध्यभागमें एक दूसरा भवन (पुष्पक विमान) था, जिसका निर्माण बड़े सुन्दर ढंगसे किया गया था। वह भवन बहुसंख्यक मतवाले हाथियोंसे युक्त था। पवनकुमार हनुमान्‌जीने फिर उसे देखा॥ १०॥

ब्रह्मणोऽर्थे कृतं दिव्यं दिवि यद् विश्वकर्मणा।
विमानं पुष्पकं नाम सर्वरत्नविभूषितम्॥ ११॥

वह सब प्रकारके रत्नोंसे विभूषित पुष्पक नामक दिव्य विमान स्वर्गलोकमें विश्वकर्माने ब्रह्माजीके लिये बनाया था॥ ११॥

परेण तपसा लेभे यत् कुबेरः पितामहात्।
कुबेरमोजसा जित्वा लेभे तद् राक्षसेश्वरः॥ १२॥

कुबेरने बड़ी भारी तपस्या करके उसे ब्रह्माजीसे प्राप्त किया और फिर कुबेरको बलपूर्वक परास्त करके राक्षसराज रावणने उसे अपने हाथमें कर लिया॥ १२॥

ईहामृगसमायुक्तैः कार्तस्वरहिरण्मयैः।
सुकृतैराचितं स्तम्भैः प्रदीप्तमिव च श्रिया॥ १३॥

उसमें भेड़ियोंकी मूर्तियोंसे युक्त सोने-चाँदीके सुन्दर खम्भे बनाये गये थे, जिनके कारण वह भवन अद्भुत कान्तिसे उद्दीप्त-सा हो रहा था॥ १३॥

मेरुमन्दरसंकाशैरुल्लिखद्भिरिवाम्बरम्।
कूटागारैः शुभागारैः सर्वतः समलंकृतम्॥ १४॥

उसमें सुमेरु और मन्दराचलके समान ऊँचे अनेकानेक गुप्त गृह और मङ्गल भवन बने थे, जो अपनी ऊँचाईसे आकाशमें रेखा-सी खींचते हुए जान पड़ते थे। उनके द्वारा वह विमान सब ओरसे सुशोभित होता था॥ १४॥

ज्वलनार्कप्रतीकाशैः सुकृतं विश्वकर्मणा।
हेमसोपानयुक्तं च चारुप्रवरवेदिकम्॥ १५॥

उनका प्रकाश अग्नि और सूर्यके समान था। विश्वकर्माने बड़ी कारीगरीसे उसका निर्माण किया था। उसमें सोनेकी सीढ़ियाँ और अत्यन्त मनोहर उत्तम वेदियाँ बनायी गयी थीं॥ १५॥

जालवातायनैर्युक्तं काञ्चनैः स्फाटिकैरपि।
इन्द्रनीलमहानीलमणिप्रवरवेदिकम्॥ १६॥

सोने और स्फटिकके झरोखे और खिड़कियाँ लगायी गयी थीं। इन्द्रनील और महानील मणियोंकी श्रेष्ठतम वेदियाँ रची गयी थीं॥ १६॥

विद्रुमेण विचित्रेण मणिभिश्च महाधनैः।
निस्तुलाभिश्च मुक्ताभिस्तलेनाभिविराजितम्॥ १७॥

उसकी फर्श विचित्र मूँगे, बहुमूल्य मणियों तथा अनुपम गोल-गोल मोतियोंसे जड़ी गयी थी, जिससे उस विमानकी बड़ी शोभा हो रही थी॥ १७॥

चन्दनेन च रक्तेन तपनीयनिभेन च।
सुपुण्यगन्धिना युक्तमादित्यतरुणोपमम्॥ १८॥

सुवर्णके समान लाल रंगके सुगन्धयुक्त चन्दनसे संयुक्त होनेके कारण वह बालसूर्यके समान जान पड़ता था॥ १८॥

कूटागारैर्वराकारैर्विविधैः समलंकृतम्।
विमानं पुष्पकं दिव्यमारुरोह महाकपिः।
तत्रस्थः सर्वतो गन्धं पानभक्ष्यान्नसम्भवम्॥ १९॥
दिव्यं सम्मूर्च्छितं जिघ्रन् रूपवन्तमिवानिलम्।

महाकपि हनुमान्‌जी उस दिव्य पुष्पक विमानपर चढ़ गये, जो नाना प्रकारके सुन्दर कूटागारों (अट्टालिकाओं) से अलंकृत था। वहाँ बैठकर वे सब ओर फैली हुई नाना प्रकारके पेय, भक्ष्य और अन्नकी दिव्य गन्ध सूँघने लगे। वह गन्ध मूर्तिमान् पवन-सी प्रतीत होती थी॥ १९$\frac{1}{2}$॥

स गन्धस्तं महासत्त्वं बन्धुर्बन्धुमिवोत्तमम्॥ २०॥
इत एहीत्युवाचेव तत्र यत्र स रावणः।

जैसे कोई बन्धु-बान्धव अपने उत्तम बन्धुको अपने पास बुलाता है, उसी प्रकार वह सुगन्ध उन महाबली हनुमान्‌जीको

मानो यह कहकर कि 'इधर चले आओ' जहाँ रावण था, वहाँ बुला रही थी ॥ २०$\frac{1}{2}$ ॥

ततस्तां प्रस्थितः शालां ददर्श महतीं शिवाम् ॥ २१ ॥
रावणस्य महाकान्तां कान्तामिव वरस्त्रियम् ।

तदनन्तर हनुमान्‌जी उस ओर प्रस्थित हुए। आगे बढ़नेपर उन्होंने एक बहुत बड़ी हवेली देखी, जो बहुत ही सुन्दर और सुखद थी। वह हवेली रावणको बहुत ही प्रिय थी, ठीक वैसे ही जैसे पतिको कान्तिमयी सुन्दरी पत्नी अधिक प्रिय होती है ॥ २१$\frac{1}{2}$ ॥

मणिसोपानविकृतां हेमजालविराजिताम् ॥ २२ ॥
स्फाटिकैरावृततलां दन्तान्तरितरूपिकाम् ।
मुक्तावज्रप्रवालैश्च रूप्यचामीकरैरपि ॥ २३ ॥

इसमें मणियोंकी सीढ़ियाँ बनी थीं और सोनेकी खिड़कियाँ उसकी शोभा बढ़ाती थीं। उसकी फर्श स्फटिक मणिसे बनायी गयी थी, जहाँ बीच-बीचमें हाथीके दाँतके द्वारा विभिन्न प्रकारकी आकृतियाँ बनी हुई थीं। मोती, हीरे, मूँगे, चाँदी और सोनेके द्वारा भी उसमें अनेक प्रकारके आकार अङ्कित किये गये थे ॥ २२-२३ ॥

विभूषितां मणिस्तम्भैः सुबहुस्तम्भभूषिताम् ।
समैर्ऋजुभिरत्युच्चैः समन्तात् सुविभूषितैः ॥ २४ ॥

मणियोंके बने हुए बहुत-से खम्भे, जो समान, सीधे, बहुत ही ऊँचे और सब ओरसे विभूषित थे, आभूषणकी भाँति उस हवेलीकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ २४ ॥

स्तम्भैः पक्षैरिवात्युच्चैर्दिवं सम्प्रस्थितामिव ।
महत्या कुथयाऽऽस्तीर्णां पृथिवीलक्षणाङ्कया ॥ २५ ॥

अपने अत्यन्त ऊँचे स्तम्भरूपी पंखोंसे मानो वह आकाशको उड़ती हुई-सी जान पड़ती थी। उसके भीतर पृथ्वीके वन-पर्वत आदि चिह्नोंसे अङ्कित एक बहुत बड़ा कालीन बिछा हुआ था ॥ २५ ॥

पृथिवीमिव विस्तीर्णां सराष्ट्रगृहशालिनीम् ।
नादितां मत्तविहगैर्दिव्यगन्धाधिवासिताम् ॥ २६ ॥

राष्ट्र और गृह आदिके चित्रोंसे सुशोभित वह शाला पृथ्वीके समान विस्तीर्ण जान पड़ती थी। वहाँ मतवाले विहङ्गमोंके कलरव गूँजते रहते थे तथा वह दिव्य सुगन्धसे सुवासित थी ॥ २६ ॥

परार्ध्यास्तरणोपेतां रक्षोऽधिपनिषेविताम् ।
धूम्रामगुरुधूपेन विमलां हंसपाण्डुराम् ॥ २७ ॥

उस हवेलीमें बहुमूल्य बिछौने बिछे हुए थे तथा स्वयं राक्षसराज रावण उसमें निवास करता था। वह अगुरु नामक धूपके धूएँसे धूमिल दिखायी देती थी, किंतु वास्तवमें हंसके समान श्वेत एवं निर्मल थी ॥ २७ ॥

पत्रपुष्पोपहारेण कल्माषीमिव सुप्रभाम् ।
मनसो मोदजननीं वर्णस्यापि प्रसाधिनीम् ॥ २८ ॥

पत्र-पुष्पके उपहारसे वह शाला चितकबरी-सी जान पड़ती थी। अथवा वसिष्ठ मुनिकी शबला गौकी भाँति सम्पूर्ण कामनाओंकी देनेवाली थी। उसकी कान्ति बड़ी ही सुन्दर थी। वह मनको आनन्द देनेवाली तथा शोभाको भी सुशोभित करनेवाली थी ॥ २८ ॥

तां शोकनाशिनीं दिव्यां श्रियः संजननीमिव ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थैस्तु पञ्च पञ्चभिरुत्तमैः ॥ २९ ॥
तर्पयामास मातेव तदा रावणपालिता ।

वह दिव्य शाला शोकका नाश करनेवाली तथा सम्पत्तिकी जननी-सी जान पड़ती थी। हनुमान्‌जीने उसे देखा। उस रावणपालित शालाने उस समय माताकी भाँति शब्द, स्पर्श आदि पाँच विषयोंसे हनुमान्‌जीकी श्रोत्र आदि पाँचों इन्द्रियोंको तृप्त कर दिया ॥ २९$\frac{1}{2}$ ॥

स्वर्गोऽयं देवलोकोऽयमिन्द्रस्यापि पुरी भवेत् ।
सिद्धिर्वेयं परा हि स्यादित्यमन्यत मारुतिः ॥ ३० ॥

उसे देखकर हनुमान्‌जी यह तर्क-वितर्क करने लगे कि सम्भव है, यही स्वर्गलोक या देवलोक हो। यह इन्द्रकी पुरी भी हो सकती है अथवा यह परमसिद्धि (ब्रह्मलोककी प्राप्ति) है ॥ ३० ॥

प्रध्यायत इवापश्यत् प्रदीपांस्तत्र काञ्चनान् ।
धूर्तानिव महाधूर्तैर्देवनेन पराजितान् ॥ ३१ ॥

हनुमान्‌जीने उस शालामें सुवर्णमय दीपकोंको एकतार जलते देखा, मानो वे ध्यानमग्न हो रहे हों; ठीक उसी तरह जैसे किसी बड़े जुआरीसे जुएमें हारे हुए छोटे जुआरी धननाशकी चिन्ताके कारण ध्यानमें डूबे हुए-से दिखायी देते हैं ॥ ३१ ॥

दीपानां च प्रकाशेन तेजसा रावणस्य च ।
अर्चिर्भिर्भूषणानां च प्रदीप्तेत्यभ्यमन्यत ॥ ३२ ॥

दीपकोंके प्रकाश, रावणके तेज और आभूषणोंकी कान्तिसे वह सारी हवेली जलती हुई-सी जान पड़ती थी ॥ ३२ ॥

ततोऽपश्यत् कुथासीनं नानावर्णाम्बरस्रजम् ।
सहस्रं वरनारीणां नानावेषविभूषितम् ॥ ३३ ॥

तदनन्तर हनुमान्‌जीने कालीनपर बैठी हुई सहस्रों सुन्दरी स्त्रियाँ देखीं, जो रंग-बिरंगे वस्त्र और पुष्पमाला धारण किये अनेक प्रकारकी वेषभूषाओंसे विभूषित थीं ॥ ३३ ॥

परिवृत्तेऽर्धरात्रे तु पाननिद्रावशंगतम् ।
क्रीडित्वोपरतं रात्रौ प्रसुप्तं बलवत् तदा ॥ ३४ ॥

आधी रात बीत जानेपर वे क्रीड़ासे उपरत हो मधुपानके मद और निद्राके वशीभूत हो उस समय गाढ़ी नींदमें सो गयी थीं ॥ ३४ ॥

तत् प्रसुप्तं विरुरुचे निःशब्दान्तरभूषितम् ।
निःशब्दहंसभ्रमरं यथा पद्मवनं महत् ॥ ३५ ॥

उन सोयी हुई सहस्रों नारियोंके कटिभागमें अब करधनी-की खनखनाहटका शब्द नहीं हो रहा था। हंसोंके कलरव तथा भ्रमरोंके गुञ्जारवसे रहित विशाल कमल-वनके समान उन सुप्त सुन्दरियोंका समुदाय बड़ी शोभा पा रहा था॥ ३५॥

तासां संवृतदान्तानि मीलिताक्षीणि मारुतिः।
अपश्यत् पद्मगन्धीनि वदनानि सुयोषिताम्॥ ३६॥

पवनकुमार हनुमान्‌जीने उन सुन्दरी युवतियोंके मुख देखे, जिनसे कमलोंकी-सी सुगन्ध फैल रही थी। उनके दाँत ढँके हुए थे और आँखें मुँद गयी थीं॥ ३६॥

प्रबुद्धानीव पद्मानि तासां भूत्वा क्षपाक्षये।
पुनः संवृतपत्राणि रात्राविव बभुस्तदा॥ ३७॥

रात्रिके अन्तमें खिले हुए कमलोंके समान उन सुन्दरियोंके जो मुखारविन्द हर्षसे उत्फुल्ल दिखायी देते थे, वे ही फिर रात आनेपर सो जानेके कारण मुँदे हुए दलवाले कमलोंके समान शोभा पा रहे थे॥ ३७॥

इमानि मुखपद्मानि नियतं मत्तषट्पदाः।
अम्बुजानीव फुल्लानि प्रार्थयन्ति पुनः पुनः॥ ३८॥
इति वामन्यत श्रीमानुपपत्त्या महाकपिः।
मेने हि गुणतस्तानि समानि सलिलोद्भवैः॥ ३९॥

उन्हें देखकर श्रीमान् महाकपि हनुमान् यह सम्भावना करने लगे कि 'मतवाले भ्रमर प्रफुल्ल कमलोंके समान इन मुखारविन्दोंकी प्राप्तिके लिये नित्य ही बारंबार प्रार्थना करते होंगे—उनपर सदा स्थान पानेके लिये तरसते होंगे'; क्योंकि वे गुणकी दृष्टिसे उन मुखारविन्दोंको पानीसे उत्पन्न होनेवाले कमलोंके समान ही समझते थे॥ ३८-३९॥

सा तस्य शुशुभे शाला ताभिः स्त्रीभिर्विराजिता।
शारदीव प्रसन्ना द्यौस्ताराभिरभिशोभिता॥ ४०॥

रावणकी वह हवेली उन स्त्रियोंसे प्रकाशित होकर वैसी ही शोभा पा रही थी, जैसे शरत्कालमें निर्मल आकाश ताराओंसे प्रकाशित एवं सुशोभित होता है॥ ४०॥

स च ताभिः परिवृतः शुशुभे राक्षसाधिपः।
यथा ह्युडुपतिः श्रीमांस्ताराभिरिव संवृतः॥ ४१॥

उन स्त्रियोंसे घिरा हुआ राक्षसराज रावण ताराओंसे घिरे हुए कान्तिमान् नक्षत्रपति चन्द्रमाके समान शोभा पा रहा था॥ ४१॥

याश्च्यवन्तेऽम्बरात् ताराः पुण्यशेषसमावृताः।
इमास्ताः संगताः कृत्स्ना इति मेने हरिस्तदा॥ ४२॥

उस समय हनुमान्‌जीको ऐसा मालूम हुआ कि आकाश (स्वर्ग) से भोगावशिष्ट पुण्यके साथ जो ताराएँ नीचे गिरती हैं, वे सब-की-सब मानो यहाँ इन सुन्दरियोंके रूपमें एकत्र हो गयी हैं*॥ ४२॥

ताराणामिव सुव्यक्तं महतीनां शुभार्चिषाम्।
प्रभावर्णप्रसादाश्च विरेजुस्तत्र योषिताम्॥ ४३॥

क्योंकि वहाँ उन युवतियोंके तेज, वर्ण और प्रसाद स्पष्टतः सुन्दर प्रभावाले महान् तारोंके समान ही सुशोभित होते थे॥ ४३॥

व्यावृत्तकचपीनस्रक्प्रकीर्णवरभूषणाः।
पानव्यायामकालेषु निद्रोपहतचेतसः॥ ४४॥

मधुपानके अनन्तर व्यायाम (नृत्य, गान, क्रीड़ा आदि) के समय जिनके केश खुलकर बिखर गये थे, पुष्पमालाएँ मर्दित होकर छिन्न-भिन्न हो गयी थीं और सुन्दर आभूषण भी शिथिल होकर इधर-उधर खिसक गये थे, वे सभी सुन्दरियाँ वहाँ निद्रासे अचेत-सी होकर सो रही थीं॥ ४४॥

व्यावृत्ततिलकाः काश्चित् काश्चिदुद्भ्रान्तनूपुराः।
पार्श्वे गलितहाराश्च काश्चित् परमयोषितः॥ ४५॥

किन्हींके मस्तककी (सिंदूर-कस्तूरी आदिकी) वेदियाँ पुछ गयी थीं, किन्हींके नूपुर पैरोंसे निकलकर दूर जा पड़े थे तथा किन्हीं सुन्दरी युवतियोंके हार टूटकर उनके बगलमें ही पड़े थे॥ ४५॥

मुक्ताहारवृताश्चान्याः काश्चित् प्रस्रस्तवाससः।
व्याविद्धरशनादामाः किशोर्य इव वाहिताः॥ ४६॥

कोई मोतियोंके हार टूट जानेसे उनके बिखरे दानोंसे आवृत थीं, किन्हींके वस्त्र खिसक गये थे और किन्हींकी करधनीकी लड़ें टूट गयी थीं। वे युवतियाँ बोझ ढोकर थकी हुई अश्वजातिकी नयी बछेड़ियोंके समान जान पड़ती थीं॥ ४६॥

अकुण्डलधराश्चान्या विच्छिन्नमृदितस्रजः।
गजेन्द्रमृदिताः फुल्ला लता इव महावने॥ ४७॥

किन्हींके कानोंके कुण्डल गिर गये थे, किन्हींकी पुष्पमालाएँ मसली जाकर छिन्न-भिन्न हो गयी थीं। इससे वे महान् वनमें गजराजद्वारा दली-मली गयी फूली लताओंके समान प्रतीत होती थीं॥ ४७॥

चन्द्रांशुकिरणाभाश्च हाराः कासांचिदुद्गताः।
हंसा इव बभुः सुप्ताः स्तनमध्येषु योषिताम्॥ ४८॥

किन्हींके चन्द्रमा और सूर्यकी किरणोंके समान प्रकाशमान हार उनके वक्षःस्थलपर पड़कर उभरे हुए प्रतीत होते थे। वे उन युवतियोंके स्तनमण्डलपर ऐसे जान पड़ते थे मानो वहाँ हंस सो रहे हों॥ ४८॥

अपरासां च वैदूर्याः कादम्बा इव पक्षिणः।
हेमसूत्राणि चान्यासां चक्रवाका इवाभवन्॥ ४९॥

दूसरी स्त्रियोंके स्तनोंपर नीलमके हार पड़े थे, जो कादम्ब (जलकाक) नामक पक्षीके समान शोभा पाते थे तथा अन्य

* इस श्लोकमें 'अत्युक्ति' अलंकार है।

स्त्रियोंके उरोजोंपर जो सोनेके हार थे, वे चक्रवाक (सुरखाब) नामक पक्षियोंके समान जान पड़ते थे ॥ ४९ ॥

हंसकारण्डवोपेताश्चक्रवाकोपशोभिताः ।
आपगा इव ता रेजुर्जघनैः पुलिनैरिव ॥ ५० ॥

इस प्रकार वे हंस, कारण्डव (जलकाक) तथा चक्रवाकोंसे सुशोभित नदियोंके समान शोभा पाती थीं। उनके जघनप्रदेश उन नदियोंके तटोंके समान जान पड़ते थे ॥ ५० ॥

किङ्किणीजालसंकाशास्ता हेमविपुलाम्बुजाः ।
भावग्राहा यशस्तीराः सुप्ता नद्य इवाबभुः ॥ ५१ ॥

वे सोयी हुई सुन्दरियाँ वहाँ सरिताओंके समान सुशोभित होती थीं। किङ्किणियों (घुँघुरुओं) के समूह उनमें मुकुलके समान प्रतीत होते थे। सोनेके विभिन्न आभूषण ही वहाँ बहुसंख्यक स्वर्णकमलोंकी शोभा धारण करते थे। भाव (सुप्तावस्थामें भी वासनावश होनेवाली शृङ्गार-चेष्टाएँ) ही मानो ग्राह थे तथा यश (कान्ति) ही तटके समान जान पड़ते थे ॥ ५१ ॥

मृदुष्वङ्गेषु कासांचित् कुचाग्रेषु च संस्थिताः ।
बभूवुर्भूषणानीव शुभा भूषणराजयः ॥ ५२ ॥

किन्हीं सुन्दरियोंके कोमल अङ्गोंमें तथा कुचोंके अग्रभागपर उभरी हुई आभूषणोंकी सुन्दर रेखाएँ नये गहनोंके समान ही शोभा पाती थीं ॥ ५२ ॥

अंशुकान्ताश्च कासांचिन्मुखमारुतकम्पिताः ।
उपर्युपरि वक्त्राणां व्याधूयन्ते पुनः पुनः ॥ ५३ ॥

किन्हींके मुखपर पड़े हुए उनकी झीनी साड़ीके अञ्चल उनकी नासिकासे निकली हुई साँससे कम्पित हो बारंबार हिल रहे थे ॥ ५३ ॥

ताः पताका इवोद्धूताः पत्नीनां रुचिरप्रभाः ।
नानावर्णसुवर्णानां वक्त्रमूलेषु रेजिरे ॥ ५४ ॥

नाना प्रकारके सुन्दर रूप-रंगवाली उन रावणपत्नियोंके मुखोंपर हिलते हुए वे अञ्चल सुन्दर कान्तिवाली फहराती हुई पताकाओंके समान शोभा पा रहे थे ॥ ५४ ॥

ववल्गुश्चात्र कासांचित् कुण्डलानि शुभार्चिषाम् ।
मुखमारुतसंकम्पैर्मन्दं मन्दं च योषिताम् ॥ ५५ ॥

वहाँ किन्हीं-किन्हीं सुन्दर कान्तिमती कामिनियोंके कानोंके कुण्डल उनके निःश्वासजनित कम्पनसे धीरे-धीरे हिल रहे थे ॥ ५५ ॥

शर्करासवगन्धः स प्रकृत्या सुरभिः सुखः ।
तासां वदननिःश्वासः सिषेवे रावणं तदा ॥ ५६ ॥

उन सुन्दरियोंके मुखसे निकली हुई स्वभावसे ही सुगन्धित श्वासवायु शर्करानिर्मित आसवकी मनोहर गन्धसे युक्त हो और भी सुखद बनकर उस समय रावणकी सेवा करती थी ॥ ५६ ॥

रावणाननशङ्काश्च काश्चिद् रावणयोषितः ।
मुखानि च सपत्नीनामुपाजिघ्रन् पुनः पुनः ॥ ५७ ॥

रावणकी कितनी ही तरुणी पत्नियाँ रावणका ही मुख समझकर बारंबार अपनी सौतोंके ही मुखोंको सूँघ रही थीं ॥ ५७ ॥

अत्यर्थं सक्तमनसो रावणे ता वरस्त्रियः ।
अस्वतन्त्राः सपत्नीनां प्रियमेवाचरंस्तदा ॥ ५८ ॥

उन सुन्दरियोंका मन रावणमें अत्यन्त आसक्त था, इसलिये वे आसक्ति तथा मदिराके मदसे परवश हो उस समय रावणके मुखके भ्रमसे अपनी सौतोंका मुख सूँघकर उनका प्रिय ही करती थीं (अर्थात् वे भी उस समय अपने मुख-संलग्न हुए उन सौतोंके मुखोंको रावणका ही मुख समझकर उसे सूँघनेका सुख उठाती थीं) ॥ ५८ ॥

बाहूनुपनिधायान्याः पारिहार्यविभूषितान् ।
अंशुकानि च रम्याणि प्रमदास्तत्र शिश्यिरे ॥ ५९ ॥

अन्य मदमत्त युवतियाँ अपनी वलयविभूषित भुजाओंका ही तकिया लगाकर तथा कोई-कोई सिरके नीचे अपने सुरम्य वस्त्रोंको ही रखकर वहाँ सो रही थीं ॥ ५९ ॥

अन्या वक्षसि चान्यस्यास्तस्याः काचित् पुनर्भुजम् ।
अपरा त्वङ्कमन्यस्यास्तस्याश्चाप्यपरा कुचौ ॥ ६० ॥

एक स्त्री दूसरीकी छातीपर सिर रखकर सोयी थी तो कोई दूसरी स्त्री उसकी भी एक बाँहको ही तकिया बनाकर सो गयी थी। इसी तरह एक अन्य स्त्री दूसरीकी गोदमें सिर रखकर सोयी थी तो कोई दूसरी उसके भी कुचोंका ही तकिया लगाकर सो गयी थी ॥ ६० ॥

ऊरुपार्श्वकटीपृष्ठमन्योन्यस्य समाश्रिताः ।
परस्परनिविष्टाङ्ग्यो मदस्नेहवशानुगाः ॥ ६१ ॥

इस तरह रावणविषयक स्नेह और मदिराजनित मदके वशीभूत हुई वे सुन्दरियाँ एक-दूसरीके ऊरु, पार्श्वभाग, कटिप्रदेश तथा पृष्ठभागका सहारा ले आपसमें अङ्गों-से-अङ्ग मिलाये वहाँ बेसुध पड़ी थीं ॥ ६१ ॥

अन्योन्यस्याङ्गसंस्पर्शात् प्रीयमाणाः सुमध्यमाः ।
एकीकृतभुजाः सर्वाः सुषुपुस्तत्र योषितः ॥ ६२ ॥

वे सुन्दर कटिप्रदेशवाली समस्त युवतियाँ एक-दूसरीके अङ्गस्पर्शको प्रियतमका स्पर्श मानकर उससे मन-ही-मन आनन्दका अनुभव करती हुई परस्पर बाँह-से-बाँह मिलाये सो रही थीं ॥ ६२ ॥

अन्योन्यभुजसूत्रेण स्त्रीमाला ग्रथिता हि सा ।
मालेव ग्रथिता सूत्रे शुशुभे मत्तषट्पदा ॥ ६३ ॥

एक-दूसरीके बाहुरूपी सूत्रमें गुँथी हुई काले-काले केशोंवाली स्त्रियोंकी वह माला सूतमें पिरोयी हुई मतवाले भ्रमरोंसे युक्त पुष्पमालाकी भाँति शोभा पा रही थी ॥ ६३ ॥

लतानां माधवे मासि फुल्लानां वायुसेवनात् ।
अन्योन्यमालाग्रथितं संसक्तकुसुमोच्चयम् ॥ ६४ ॥
प्रतिवेष्टितसुस्कन्धमन्योन्यभ्रमराकुलम् ।
आसीद् वनमिवोद्धूतं स्त्रीवनं रावणस्य तत् ॥ ६५ ॥

माधवमास (वसन्त) में मलयानिलके सेवनसे जैसे खिली हुई लताओंका वन कम्पित होता रहता है, उसी प्रकार रावणकी स्त्रियोंका वह समुदाय निःश्वासवायुके चलनेसे अञ्चलोंके हिलनेके कारण कम्पित होता-सा जान पड़ता था। जैसे लताएँ परस्पर मिलकर मालाकी भाँति आबद्ध हो जाती हैं, उनकी सुन्दर शाखाएँ परस्पर लिपट जाती हैं और इसीलिये उनके पुष्पसमूह भी आपसमें मिले हुए-से प्रतीत होते हैं तथा उनपर बैठे हुए भ्रमर भी परस्पर मिल जाते हैं, उसी प्रकार वे सुन्दरियाँ एक-दूसरीसे मिलकर मालाकी भाँति गुँथ गयी थीं। उनकी भुजाएँ और कंधे परस्पर सटे हुए थे। उनकी वेणीमें गुँथे हुए फूल भी आपसमें मिल गये थे तथा उन सबके केशकलाप भी एक-दूसरेसे जुड़ गये थे॥ ६४-६५॥

उचितेष्वपि सुव्यक्तं न तासां योषितां तदा।
विवेकः शक्य आधातुं भूषणाङ्गाम्बरस्रजाम्॥ ६६॥

यद्यपि उन युवतियोंके वस्त्र, अङ्ग, आभूषण और हार उचित स्थानोंपर ही प्रतिष्ठित थे, यह बात स्पष्ट दिखायी दे रही थी, तथापि उन सबके परस्पर गुँथ जानेके कारण यह विवेक होना असम्भव हो गया था कि कौन वस्त्र, आभूषण, अङ्ग अथवा हार किसके हैं* ॥ ६६॥

रावणे सुखसंविष्टे ताः स्त्रियो विविधप्रभाः।
ज्वलन्तः काञ्चना दीपाः प्रेक्षन्तो निमिषा इव॥ ६७॥

रावणके सुखपूर्वक सो जानेपर वहाँ जलते हुए सुवर्णमय प्रदीप उन अनेक प्रकारकी कान्तिवाली कामिनियोंको मानो एकटक दृष्टिसे देख रहे थे॥ ६७॥

राजर्षिविप्रदैत्यानां गन्धर्वाणां च योषितः।
रक्षसां चाभवन् कन्यास्तस्य कामवशंगताः॥ ६८॥

राजर्षियों, ब्रह्मर्षियों, दैत्यों, गन्धर्वों तथा राक्षसोंकी कन्याएँ कामके वशीभूत होकर रावणकी पत्नियाँ बन गयी थीं॥ ६८॥

युद्धकामेन ताः सर्वा रावणेन हृताः स्त्रियः।
समदा मदनेनैव मोहिताः काश्चिदागताः॥ ६९॥

उन सब स्त्रियोंका रावणने युद्धकी इच्छासे अपहरण किया था और कुछ मदमत्त रमणियाँ कामदेवसे मोहित होकर स्वयं ही उसकी सेवामें उपस्थित हो गयी थीं॥ ६९॥

न तत्र काश्चित् प्रमदाः प्रसह्य
वीर्योपपन्नेन गुणेन लब्धाः।
न चान्यकामापि न चान्यपूर्वा
विना वरार्हां जनकात्मजां तु॥ ७०॥

वहाँ ऐसी कोई स्त्रियाँ नहीं थीं, जिन्हें बल-पराक्रमसे सम्पन्न होनेपर भी रावण उनकी इच्छाके विरुद्ध बलात् हर लाया हो। वे सब-की-सब उसे अपने अलौकिक गुणसे ही उपलब्ध हुई थीं। जो श्रेष्ठतम पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजीके ही योग्य थीं, उन जनककिशोरी सीताको छोड़कर दूसरी कोई ऐसी स्त्री वहाँ नहीं थी, जो रावणके सिवा किसी दूसरेकी इच्छा रखनेवाली हो अथवा जिसका पहले कोई दूसरा पति रहा हो॥ ७०॥

न चाकुलीना न च हीनरूपा
नादक्षिणा नानुपचारयुक्ता।
भार्याभवत् तस्य न हीनसत्त्वा
न चापि कान्तस्य न कामनीया॥ ७१॥

रावणकी कोई भार्या ऐसी नहीं थी, जो उत्तम कुलमें उत्पन्न न हुई हो अथवा जो कुरूप, अनुदार या कौशलरहित, उत्तम वस्त्राभूषण एवं माला आदिसे वञ्चित, शक्तिहीन तथा प्रियतमको अप्रिय हो॥ ७१॥

बभूव बुद्धिस्तु हरीश्वरस्य
यदीदृशी राघवधर्मपत्नी।
इमा महाराक्षसराजभार्याः
सुजातमस्येति हि साधुबुद्धेः॥ ७२॥

उस समय श्रेष्ठ बुद्धिवाले वानरराज हनुमान्जीके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि ये महान् राक्षसराज रावणकी भार्याएँ जिस तरह अपने पतिके साथ रहकर सुखी हैं, उसी प्रकार यदि रघुनाथजीकी धर्मपत्नी सीताजी भी इन्हींकी भाँति अपने पतिके साथ रहकर सुखका अनुभव करतीं अर्थात् यदि रावण शीघ्र ही उन्हें श्रीरामचन्द्रजीकी सेवामें समर्पित कर देता तो यह इसके लिये परम मङ्गलकारी होता॥ ७२॥

पुनश्च सोऽचिन्तयदात्तरूपो
ध्रुवं विशिष्टा गुणतो हि सीता।
अथायमस्यां कृतवान् महात्मा
लङ्केश्वरः कष्टमनार्यकर्म॥ ७३॥

फिर उन्होंने सोचा निश्चय ही सीता गुणोंकी दृष्टिसे इन सबकी अपेक्षा बहुत ही बढ़-चढ़कर हैं। इस महाबली लङ्कापतिने मायामय रूप धारण करके सीताको धोखा देकर इनके प्रति यह अपहरणरूप महान् कष्टप्रद नीच कर्म किया है॥ ७३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे नवमः सर्गः॥ ९॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें नवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ९॥

—★—

* इस श्लोकमें 'भ्रान्तिमान्' नामक अलंकार है।

दशमः सर्गः

हनुमान्‌जीका अन्तःपुरमें सोये हुए रावण तथा गाढ़ निद्रामें पड़ी हुई उसकी स्त्रियोंको देखना तथा मन्दोदरीको सीता समझकर प्रसन्न होना

तत्र दिव्योपमं मुख्यं स्फाटिकं रत्नभूषितम्।
अवेक्षमाणो हनुमान् ददर्श शयनासनम्॥ १॥

वहाँ इधर-उधर दृष्टिपात करते हुए हनुमान्‌जीने एक दिव्य एवं श्रेष्ठ वेदी देखी, जिसपर पलंग बिछाया जाता था। वह वेदी स्फटिक मणिकी बनी हुई थी और उसमें अनेक प्रकारके रत्न जड़े गये थे॥ १॥

दान्तकाञ्चनचित्राङ्गैर्वैदूर्यैश्च वरासनैः।
महार्हास्तरणोपेतैरुपपन्नं महाधनैः॥ २॥

वहाँ वैदूर्यमणि (नीलम) के बने हुए श्रेष्ठ आसन (पलंग) बिछे हुए थे, जिनकी पाटी-पाये आदि अङ्ग हाथी-दाँत और सुवर्णसे जटित होनेके कारण चितकबरे दिखायी देते थे। उन महामूल्यवान् पलंगोंपर बहुमूल्य बिछौने बिछाये गये थे। उन सबके कारण उस वेदीकी बड़ी शोभा हो रही थी॥ २॥

तस्य चैकतमे देशे दिव्यमालोपशोभितम्।
ददर्श पाण्डुरं छत्रं ताराधिपतिसंनिभम्॥ ३॥

उस पलंगके एक भागमें उन्होंने चन्द्रमाके समान एक श्वेत छत्र देखा, जो दिव्य मालाओंसे सुशोभित था॥ ३॥

जातरूपपरिक्षिप्तं चित्रभानोः समप्रभम्।
अशोकमालाविततं ददर्श परमासनम्॥ ४॥

वह उत्तम पलंग सुवर्णसे जटित होनेके कारण अग्निके समान देदीप्यमान हो रहा था। हनुमान्‌जीने उसे अशोक-पुष्पोंकी मालाओंसे अलङ्कृत देखा॥ ४॥

वालव्यजनहस्ताभिर्वीज्यमानं समन्ततः।
गन्धैश्च विविधैर्जुष्टं वरधूपेन धूपितम्॥ ५॥

उसके चारों ओर खड़ी हुई बहुत-सी स्त्रियाँ हाथोंमें चँवर लिये उसपर हवा कर रही थीं। वह पलंग अनेक प्रकारकी गन्धोंसे सेवित तथा उत्तम धूपसे सुवासित था॥ ५॥

परमास्तरणास्तीर्णमाविकाजिनसंवृतम्।
दामभिर्वरमाल्यानां समन्तादुपशोभितम्॥ ६॥

उसपर उत्तमोत्तम बिछौने बिछे हुए थे। उसमें भेड़की खाल मढ़ी हुई थी तथा वह सब ओरसे उत्तम फूलोंकी मालाओंसे सुशोभित था॥ ६॥

तस्मिञ्जीमूतसंकाशं प्रदीप्तोज्ज्वलकुण्डलम्।
लोहिताक्षं महाबाहुं महारजतवाससम्॥ ७॥
लोहितेनानुलिप्ताङ्गं चन्दनेन सुगन्धिना।
संध्यारक्तमिवाकाशे तोयदं सतडिद्गुणम्॥ ८॥
वृतमाभरणैर्दिव्यैः सुरूपं कामरूपिणम्।
सवृक्षवनगुल्माढ्यं प्रसुप्तमिव मन्दरम्॥ ९॥
क्रीडित्वोपरतं रात्रौ वराभरणभूषितम्।
प्रियं राक्षसकन्यानां राक्षसानां सुखावहम्॥ १०॥
पीत्वाप्युपरतं चापि ददर्श स महाकपिः।
भास्वरे शयने वीरं प्रसुप्तं राक्षसाधिपम्॥ ११॥

उस प्रकाशमान पलंगपर महाकपि हनुमान्‌जीने वीर राक्षसराज रावणको सोते देखा, जो सुन्दर आभूषणोंसे विभूषित, इच्छानुसार रूप धारण करनेवाला, दिव्य आभरणोंसे अलङ्कृत और सुरूपवान् था। वह राक्षस-कन्याओंका प्रियतम तथा राक्षसोंको सुख पहुँचानेवाला था। उसके अङ्गोंमें सुगन्धित लाल चन्दनका अनुलेप लगा हुआ था, जिससे वह आकाशमें संध्याकालकी लाली तथा विद्युल्लेखासे युक्त मेघके समान शोभा पाता था। उसकी अङ्गकान्ति मेघके समान श्याम थी। उसके कानोंमें उज्ज्वल कुण्डल झिलमिला रहे थे। आँखें लाल थीं और भुजाएँ बड़ी-बड़ी। उसके वस्त्र सुनहरे रंगके थे। वह रातको स्त्रियोंके साथ क्रीडा करके मदिरा पीकर आराम कर रहा था। उसे देखकर ऐसा जान पड़ता था, मानो वृक्ष, वन और लता-गुल्मोंसे सम्पन्न मन्दराचल सो रहा हो॥ ७—११॥

निःश्वसन्तं यथा नागं रावणं वानरोत्तमः।
आसाद्य परमोद्विग्नः सोपासर्पत् सुभीतवत्॥ १२॥
अथारोहणमासाद्य वेदिकान्तरमाश्रितः।
क्षीबं राक्षसशार्दूलं प्रेक्षते स्म महाकपिः॥ १३॥

उस समय साँस लेता हुआ रावण फुफकारते हुए सर्पके समान जान पड़ता था। उसके पास पहुँचकर वानरशिरोमणि हनुमान् अत्यन्त उद्विग्न हो भलीभाँति डरे हुएकी भाँति सहसा दूर हट गये और सीढ़ियोंपर चढ़कर एक-दूसरी वेदीपर जाकर खड़े हो गये। वहाँसे उन महाकपिने उस मतवाले राक्षससिंहको देखना आरम्भ किया॥ १२-१३॥

शुशुभे राक्षसेन्द्रस्य स्वपतः शयनं शुभम्।
गन्धहस्तिनि संविष्टे यथा प्रस्रवणं महत्॥ १४॥

राक्षसराज रावणके सोते समय वह सुन्दर पलंग उसी प्रकार शोभा पा रहा था, जैसे गन्धहस्तीके शयन करनेपर विशाल प्रस्रवणगिरि सुशोभित हो रहा हो॥ १४॥

काञ्चनाङ्गदसंनद्धौ ददर्श स महात्मनः।
विक्षिप्तौ राक्षसेन्द्रस्य भुजाविन्द्रध्वजोपमौ॥ १५॥

उन्होंने महाकाय राक्षसराज रावणकी फैलायी हुई दो भुजाएँ देखीं, जो सोनेके बाजूबंदसे विभूषित हो इन्द्रध्वजके समान जान पड़ती थीं ॥ १५ ॥

ऐरावतविषाणाग्रैरापीडनकृतव्रणौ ।
वज्रोल्लिखितपीनांसौ विष्णुचक्रपरिक्षतौ ॥ १६ ॥

युद्धकालमें उन भुजाओंपर ऐरावत हाथीके दाँतोंके अग्रभागसे जो प्रहार किये गये थे, उनके आघातका चिह्न बन गया था। उन भुजाओंके मूलभाग या कंधे बहुत मोटे थे और उनपर वज्रद्वारा किये गये आघातके भी चिह्न दिखायी देते थे। भगवान् विष्णुके चक्रसे भी किसी समय वे भुजाएँ क्षत-विक्षत हो चुकी थीं ॥ १६ ॥

पीनौ समसुजातांसौ सङ्गतौ बलसंयुतौ ।
सुलक्षणनखाङ्गुष्ठौ स्वङ्गुलीयकलक्षितौ ॥ १७ ॥

वे भुजाएँ सब ओरसे समान और सुन्दर कंधोंवाली तथा मोटी थीं। उनकी संधियाँ सुदृढ़ थीं। वे बलिष्ठ और उत्तम लक्षणवाले नखों एवं अङ्गुष्ठोंसे सुशोभित थीं। उनकी अङ्गुलियाँ और हथेलियाँ बड़ी सुन्दर दिखायी देती थीं ॥ १७ ॥

संहतौ परिघाकारौ वृत्तौ करिकरोपमौ ।
विक्षिप्तौ शयने शुभ्रे पञ्चशीर्षाविवोरगौ ॥ १८ ॥

वे सुगठित एवं पुष्ट थीं। परिघके समान गोलाकार तथा हाथीके शुण्डदण्डकी भाँति चढ़ाव-उतारवाली एवं लंबी थीं। उस उज्ज्वल पलंगपर फैली वे बाँहें पाँच-पाँच फनवाले दो सर्पोंके समान दृष्टिगोचर होती थीं ॥ १८ ॥

शशक्षतजकल्पेन सुशीतेन सुगन्धिना ।
चन्दनेन परार्ध्येन स्वनुलिप्तौ स्वलंकृतौ ॥ १९ ॥

खरगोशके खूनकी भाँति लाल रंगके उत्तम, सुशीतल एवं सुगन्धित चन्दनसे चर्चित हुई वे भुजाएँ अलङ्कारोंसे अलंकृत थीं ॥ १९ ॥

उत्तमस्त्रीविमृदितौ गन्धोत्तमनिषेवितौ ।
यक्षपन्नगगन्धर्वदेवदानवराविणौ ॥ २० ॥

सुन्दरी युवतियाँ धीरे-धीरे उन बाँहोंको दबाती थीं। उनपर उत्तम गन्ध-द्रव्यका लेप हुआ था। वे यक्ष, नाग, गन्धर्व, देवता और दानव सभीको युद्धमें रुलानेवाली थीं ॥ २० ॥

ददर्श स कपिस्तस्य बाहू शयनसंस्थितौ ।
मन्दरस्यान्तरे सुप्तौ महाही रुषिताविव ॥ २१ ॥

कपिवर हनुमान्‌ने पलंगपर पड़ी हुई उन दोनों भुजाओंको देखा। वे मन्दराचलकी गुफामें सोये हुए दो रोषभरे अजगरोंके समान जान पड़ती थीं ॥ २१ ॥

ताभ्यां स परिपूर्णाभ्यामुभाभ्यां राक्षसेश्वरः ।
शुशुभेऽचलसंकाशः शृङ्गाभ्यामिव मन्दरः ॥ २२ ॥

उन बड़ी-बड़ी और गोलाकार दो भुजाओंसे युक्त पर्वताकार राक्षसराज रावण दो शिखरोंसे संयुक्त मन्दराचलके समान शोभा पा रहा था* ॥ २२ ॥

चूतपुंनागसुरभिर्बकुलोत्तमसंयुतः ।
मृष्टान्नरससंयुक्तः पानगन्धपुरःसरः ॥ २३ ॥
तस्य राक्षसराजस्य निश्चक्राम महामुखात् ।
शयानस्य विनिःश्वासः पूरयन्निव तद् गृहम् ॥ २४ ॥

वहाँ सोये हुए राक्षसराज रावणके विशाल मुखसे आम और नागकेसरकी सुगन्धसे मिश्रित, मौलसिरीके सुवाससे सुवासित और उत्तम अन्नरससे संयुक्त तथा मधुपानकी गन्धसे मिली हुई जो सौरभयुक्त साँस निकल रही थी, वह उस सारे घरको सुगन्धसे परिपूर्ण-सा कर देती थी ॥ २३-२४ ॥

मुक्तामणिविचित्रेण काञ्चनेन विराजिता ।
मुकुटेनापवृत्तेन कुण्डलोज्ज्वलिताननम् ॥ २५ ॥

उसका कुण्डलसे प्रकाशमान मुखारविन्द अपने स्थानसे हटे हुए तथा मुक्तामणिसे जटित होनेके कारण विचित्र आभावाले सुवर्णमय मुकुटसे और भी उद्भासित हो रहा था ॥ २५ ॥

रक्तचन्दनदिग्धेन तथा हारेण शोभिना ।
पीनायतविशालेन वक्षसाभिविराजिता ॥ २६ ॥

उसकी छाती लाल चन्दनसे चर्चित, हारसे सुशोभित, उभरी हुई तथा लंबी-चौड़ी थी। उसके द्वारा उस राक्षसराजके सम्पूर्ण शरीरकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ २६ ॥

पाण्डुरेणापविद्धेन क्षौमेण क्षतजेक्षणम् ।
महार्हेण सुसंवीतं पीतेनोत्तरवाससा ॥ २७ ॥

उसकी आँखें लाल थीं। उसकी कटिके नीचेका भाग ढीलेढाले श्वेत रेशमी वस्त्रसे ढका हुआ था तथा वह पीले रंगकी बहुमूल्य रेशमी चादर ओढ़े हुए था ॥ २७ ॥

माषराशिप्रतीकाशं निःश्वसन्तं भुजङ्गवत् ।
गाङ्गे महति तोयान्ते प्रसुप्तमिव कुञ्जरम् ॥ २८ ॥

वह स्वच्छ स्थानमें रखे हुए उड़दके ढेरके समान जान पड़ता था और सर्पके समान साँसें ले रहा था। उस उज्ज्वल पलंगपर सोया हुआ रावण गङ्गाकी अगाध जलराशिमें सोये हुए गजराजके समान दिखायी देता था ॥ २८ ॥

चतुर्भिः काञ्चनैर्दीपैर्दीप्यमानं चतुर्दिशम् ।
प्रकाशीकृतसर्वाङ्गं मेघं विद्युद्गणैरिव ॥ २९ ॥

उसकी चारों दिशाओंमें चार सुवर्णमय दीपक जल रहे

---

* यहाँ शयनागारमें सोये हुए रावणके एक ही मुख और दो ही बाँहोंका वर्णन आया है। इससे जान पड़ता है कि वह साधारण स्थितिमें इसी तरह रहता था। युद्ध आदिके विशेष अवसरोंपर ही वह स्वेच्छापूर्वक दस मुख और बीस भुजाओंसे संयुक्त होता था।

थे, जिनकी प्रभासे वह देदीप्यमान हो रहा था और उसके सारे अङ्ग प्रकाशित होकर स्पष्ट दिखायी दे रहे थे। ठीक उसी तरह, जैसे विद्युद्गणोंसे मेघ प्रकाशित एवं परिलक्षित होता है ॥ २९ ॥

पादमूलगताश्चापि ददर्श सुमहात्मनः ।
पत्नीः स प्रियभार्यस्य तस्य रक्षःपतेर्गृहे ॥ ३० ॥

स्त्रियोंके प्रेमी उन महाकाय राक्षसराजके घरमें हनुमान्‌जीने उसकी पत्नियोंको भी देखा, जो उसके चरणोंके आस-पास ही सो रही थीं ॥ ३० ॥

शशिप्रकाशवदना वरकुण्डलभूषणाः ।
अम्लानमाल्याभरणा ददर्श हरियूथपः ॥ ३१ ॥

वानरयूथपति हनुमान्‌जीने देखा, उन रावणपत्नियोंके मुख चन्द्रमाके समान प्रकाशमान थे। वे सुन्दर कुण्डलोंसे विभूषित थीं तथा ऐसे फूलोंके हार पहने हुए थीं, जो कभी मुरझाते नहीं थे ॥ ३१ ॥

नृत्यवादित्रकुशला राक्षसेन्द्रभुजाङ्कगाः ।
वराभरणधारिण्यो निषण्णा ददृशे कपिः ॥ ३२ ॥

वे नाचने और बाजे बजानेमें निपुण थीं, राक्षसराज रावणकी बाँहों और अङ्कमें स्थान पानेवाली थीं तथा सुन्दर आभूषण धारण किये हुए थीं। कपिवर हनुमान्‌ने उन सबको वहाँ सोती देखा ॥ ३२ ॥

वज्रवैदूर्यगर्भाणि श्रवणान्तेषु योषिताम् ।
ददर्श तापनीयानि कुण्डलान्यङ्गदानि च ॥ ३३ ॥

उन्होंने उन सुन्दरियोंके कानोंके समीप हीरे तथा नीलम जड़े हुए सोनेके कुण्डल और बाजूबंद देखे ॥ ३३ ॥

तासां चन्द्रोपमैर्वक्त्रैः शुभैर्ललितकुण्डलैः ।
विरराज विमानं तन्नभस्तारागणैरिव ॥ ३४ ॥

ललित कुण्डलोंसे अलङ्कृत तथा चन्द्रमाके समान मनोहर उनके सुन्दर मुखोंसे वह विमानाकार पर्यङ्क तारिकाओंसे मण्डित आकाशकी भाँति सुशोभित हो रहा था ॥ ३४ ॥

मदव्यायामखिन्नास्ता राक्षसेन्द्रस्य योषितः ।
तेषु तेष्ववकाशेषु प्रसुप्तास्तनुमध्यमाः ॥ ३५ ॥

क्षीण कटिप्रदेशवाली वे राक्षसराजकी स्त्रियाँ मद तथा रतिक्रीडाके परिश्रमसे थककर जहाँ-तहाँ जो जिस अवस्थामें थीं वैसे ही सो गयी थीं ॥ ३५ ॥

अङ्गहारैस्तथैवान्या कोमलैर्नृत्यशालिनी ।
विन्यस्तशुभसर्वाङ्गी प्रसुप्ता वरवर्णिनी ॥ ३६ ॥

विधाताने जिसके सारे अङ्गोंको सुन्दर एवं विशेष शोभासे सम्पन्न बनाया था, वह कोमलभावसे अङ्गोंके संचालन (लटकाने-मटकाने आदि) द्वारा नाचनेवाली कोई अन्य नृत्यनिपुणा सुन्दरी स्त्री गाढ़ निद्रामें सोकर भी वासनावश जाग्रत्-अवस्थाकी ही भाँति नृत्यके अभिनयसे सुशोभित हो रही थी ॥ ३६ ॥

काचिद् वीणां परिष्वज्य प्रसुप्ता सम्प्रकाशते ।
महानदीप्रकीर्णेव नलिनी पोतमाश्रिता ॥ ३७ ॥

कोई वीणाको छातीसे लगाकर सोयी हुई सुन्दरी ऐसी जान पड़ती थी, मानो महानदीमें पड़ी हुई कोई कमलिनी किसी नौकासे सट गयी हो ॥ ३७ ॥

अन्या कक्षगतेनैव मड्डुकेनासितेक्षणा ।
प्रसुप्ता भामिनी भाति बालपुत्रेव वत्सला ॥ ३८ ॥

दूसरी कजरारे नेत्रोंवाली भामिनी काँखमें दबे हुए मड्डुक (लघुवाद्य विशेष) के साथ ही सो गयी थी। वह ऐसी प्रतीत होती थी, जैसे कोई पुत्रवत्सला जननी अपने छोटे-से शिशुको गोदमें लिये सो रही हो ॥ ३८ ॥

पटहं चारुसर्वाङ्गी न्यस्य शेते शुभस्तनी ।
चिरस्य रमणं लब्ध्वा परिष्वज्येव कामिनी ॥ ३९ ॥

कोई सर्वाङ्गसुन्दरी एवं रुचिर कुचोंवाली कामिनी पटहको अपने नीचे रखकर सो रही थी, मानो चिरकालके पश्चात् प्रियतमको अपने निकट पाकर कोई प्रेयसी उसे हृदयसे लगाये सो रही हो ॥ ३९ ॥

काचिद् वीणां परिष्वज्य सुप्ता कमललोचना ।
वरं प्रियतमं गृह्य सकामेव हि कामिनी ॥ ४० ॥

कोई कमललोचना युवती वीणाका आलिङ्गन करके सोयी हुई ऐसी जान पड़ती थी, मानो कामभावसे युक्त कामिनी अपने श्रेष्ठ प्रियतमको भुजाओंमें भरकर सो गयी हो ॥ ४० ॥

विपञ्चीं परिगृह्यान्या नियता नृत्यशालिनी ।
निद्रावशमनुप्राप्ता सहकान्तेव भामिनी ॥ ४१ ॥

नियमपूर्वक नृत्यकलासे सुशोभित होनेवाली एक अन्य युवती विपञ्ची (विशेष प्रकारकी वीणा) को अङ्कमें भरकर प्रियतमके साथ सोयी हुई प्रेयसीकी भाँति निद्राके अधीन हो गयी थी ॥ ४१ ॥

अन्या कनकसंकाशैर्मृदुपीनैर्मनोरमैः ।
मृदङ्गं परिविद्ध्याङ्गैः प्रसुप्ता मत्तलोचना ॥ ४२ ॥

कोई मतवाले नयनोंवाली दूसरी सुन्दरी अपने सुवर्ण-सदृश गौर, कोमल, पुष्ट और मनोरम अङ्गोंसे मृदङ्गको दबाकर गाढ़ निद्रामें सो गयी थी ॥ ४२ ॥

भुजपाशान्तरस्थेन कक्षगेन कृशोदरी ।
पणवेन सहानिन्द्या सुप्ता मदकृतश्रमा ॥ ४३ ॥

नशेसे थकी हुई कोई कृशोदरी अनिन्द्य सुन्दरी रमणी अपने भुजपाशोंके बीचमें स्थित और काँखमें दबे हुए पणवके साथ ही सो गयी थी ॥ ४३ ॥

डिण्डिमं परिगृह्यान्या तथैवासक्तडिण्डिमा ।
प्रसुप्ता तरुणं वत्समुपगूह्येव भामिनी ॥ ४४ ॥

दूसरी स्त्री डिंडिमको लेकर उसी तरह उससे सटी हुई सो गयी थी, मानो कोई भामिनी अपने बालक पुत्रको हृदयसे लगाये हुए नींद ले रही हो ॥ ४४ ॥

काचिदाडम्बरं नारी भुजसम्भोगपीडितम्।
कृत्वा कमलपत्राक्षी प्रसुप्ता मदमोहिता ॥ ४५ ॥

मदिराके मदसे मोहित हुई कोई कमलनयनी नारी आडम्बर नामक वाद्यको अपनी भुजाओंके आलिङ्गनसे दबाकर प्रगाढ़ निद्रामें निमग्न हो गयी ॥ ४५ ॥

कलशीमपविद्ध्यान्या प्रसुप्ता भाति भामिनी।
वसन्ते पुष्पशबला मालेव परिमार्जिता ॥ ४६ ॥

कोई दूसरी युवती निद्रावश जलसे भरी हुई सुराहीको लुढ़काकर भीगी अवस्थामें ही बेसुध सो रही थी। उस अवस्थामें वह वसन्त-ऋतुमें विभिन्न वर्णके पुष्पोंकी बनी और जलके छींटेसे सींची हुई मालाके समान प्रतीत होती थी ॥ ४६ ॥

पाणिभ्यां च कुचौ काचित् सुवर्णकलशोपमौ।
उपगुह्याबला सुप्ता निद्राबलपराजिता ॥ ४७ ॥

निद्राके बलसे पराजित हुई कोई अबला सुवर्णमय कलशके समान प्रतीत होनेवाले अपने कुचोंको दोनों हाथोंसे दबाकर सो रही थी ॥ ४७ ॥

अन्या कमलपत्राक्षी पूर्णेन्दुसदृशानना।
अन्यामालिङ्ग्य सुश्रोणीं प्रसुप्ता मदविह्वला ॥ ४८ ॥

पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाली दूसरी कमललोचना कामिनी सुन्दर नितम्बवाली किसी अन्य सुन्दरीका आलिङ्गन करके मदसे विह्वल होकर सो गयी थी ॥ ४८ ॥

आतोद्यानि विचित्राणि परिष्वज्य वरस्त्रियः।
निपीड्य च कुचैः सुप्ताः कामिन्यः कामुकानिव ॥ ४९ ॥

जैसे कामिनियाँ अपने चाहनेवाले कामुकोंको छातीसे लगाकर सोती हैं, उसी प्रकार कितनी ही सुन्दरियाँ विचित्र-विचित्र वाद्योंका आलिङ्गन करके उन्हें कुचोंसे दबाये सो गयी थीं ॥ ४९ ॥

तासामेकान्तविन्यस्ते शयानां शयने शुभे।
ददर्श रूपसम्पन्नामथ तां स कपिः स्त्रियम् ॥ ५० ॥

उन सबकी शय्याओंसे पृथक् एकान्तमें बिछी हुई सुन्दर शय्यापर सोयी हुई एक रूपवती युवतीको वहाँ हनुमान्‌जीने देखा ॥ ५० ॥

मुक्तामणिसमायुक्तैर्भूषणैः सुविभूषिताम्।
विभूषयन्तीमिव च स्वश्रिया भवनोत्तमम् ॥ ५१ ॥

वह मोती और मणियोंसे जड़े हुए आभूषणोंसे भलीभाँति विभूषित थी और अपनी शोभासे उस उत्तम भवनको विभूषित-सा कर रही थी ॥ ५१ ॥

गौरीं कनकवर्णाभामिष्टामन्तःपुरेश्वरीम्।
कपिर्मन्दोदरीं तत्र शयानां चारुरूपिणीम् ॥ ५२ ॥
स तां दृष्ट्वा महाबाहुर्भूषितां मारुतात्मजः।
तर्कयामास सीतेति रूपयौवनसम्पदा।
हर्षेण महता युक्तो ननन्द हरियूथपः ॥ ५३ ॥

वह गोरे रंगकी थी। उसकी अङ्गकान्ति सुवर्णके समान दमक रही थी। वह रावणकी प्रियतमा और उसके अन्तःपुरकी स्वामिनी थी। उसका नाम मन्दोदरी था। वह अपने मनोहर रूपसे सुशोभित हो रही थी। वही वहाँ सो रही थी। हनुमान्‌जीने उसीको देखा। रूप और यौवनकी सम्पत्तिसे युक्त और वस्त्राभूषणोंसे विभूषित मन्दोदरीको देखकर महाबाहु पवनकुमारने अनुमान किया कि ये ही सीताजी हैं। फिर तो वे वानरयूथपति हनुमान् महान् हर्षसे युक्त हो आनन्दमग्न हो गये ॥ ५२-५३ ॥

आस्फोटयामास चुचुम्ब पुच्छं
ननन्द चिक्रीड जगौ जगाम।
स्तम्भानरोहन्निपपात भूमौ
निदर्शयन् स्वां प्रकृतिं कपीनाम् ॥ ५४ ॥

वे अपनी पूँछको पटकने और चूमने लगे। अपनी वानरों-जैसी प्रकृतिका प्रदर्शन करते हुए आनन्दित होने, खेलने और गाने लगे, इधर-उधर आने-जाने लगे। वे कभी खंभोंपर चढ़ जाते और कभी पृथ्वीपर कूद पड़ते थे ॥ ५४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे दशमः सर्गः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें दसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १० ॥

—★—

एकादशः सर्गः

वह सीता नहीं है—ऐसा निश्चय होनेपर हनुमान्‌जीका पुनः अन्तःपुरमें और उसकी पानभूमिमें सीताका पता लगाना, उनके मनमें धर्मलोपकी आशङ्का और स्वतः उसका निवारण होना

अवधूय च तां बुद्धिं बभूवावस्थितस्तदा।
जगाम चापरां चिन्तां सीतां प्रति महाकपिः॥ १॥

फिर उस समय इस विचारको छोड़कर महाकपि हनुमान्‌जी अपनी स्वाभाविक स्थितिमें स्थित हुए और वे सीताजीके विषयमें दूसरे प्रकारकी चिन्ता करने लगे॥ १॥

न रामेण वियुक्ता सा स्वप्तुमर्हति भामिनी।
न भोक्तुं नाप्यलंकर्तुं न पानमुपसेवितुम्॥ २॥

(उन्होंने सोचा—) 'भामिनी सीता श्रीरामचन्द्रजीसे बिछुड़ गयी हैं। इस दशामें वे न तो सो सकती हैं, न भोजन कर सकती हैं, न शृङ्गार एवं अलङ्कार धारण कर सकती हैं, फिर मदिरापानका सेवन तो किसी प्रकार भी नहीं कर सकतीं॥ २॥

नान्यं नरमुपस्थातुं सुराणामपि चेश्वरम्।
न हि रामसमः कश्चिद् विद्यते त्रिदशेष्वपि॥ ३॥

'वे किसी दूसरे पुरुषके पास, वह देवताओंका भी ईश्वर क्यों न हो, नहीं जा सकतीं। देवताओंमें भी कोई ऐसा नहीं है जो श्रीरामचन्द्रजीकी समानता कर सके॥ ३॥

अन्येयमिति निश्चित्य भूयस्तत्र चचार सः।
पानभूमौ हरिश्रेष्ठः सीतासंदर्शनोत्सुकः॥ ४॥

'अतः अवश्य ही यह सीता नहीं, कोई दूसरी स्त्री है।' ऐसा निश्चय करके वे कपिश्रेष्ठ सीताजीके दर्शनके लिये उत्सुक हो पुनः वहाँकी मधुशालामें विचरने लगे॥ ४॥

क्रीडितेनापराः क्लान्ता गीतेन च तथापराः।
नृत्येन चापराः क्लान्ताः पानविप्रहतास्तथा॥ ५॥

वहाँ कोई स्त्रियाँ क्रीडा करनेसे थकी हुई थीं तो कोई गीत गानेसे। दूसरी नृत्य करके थक गयी थीं और कितनी ही स्त्रियाँ अधिक मद्यपान करके अचेत हो रही थीं॥ ५॥

मुरजेषु मृदङ्गेषु चेलिकासु च संस्थिताः।
तथाऽऽस्तरणमुख्येषु संविष्टाश्चापराः स्त्रियः॥ ६॥

बहुत-सी स्त्रियाँ ढोल, मृदङ्ग और चेलिका नामक वाद्योंपर अपने अङ्गोंको टेककर सो गयी थीं तथा दूसरी महिलाएँ अच्छे-अच्छे बिछौनोंपर सोयी हुई थीं॥ ६॥

अङ्गनानां सहस्रेण भूषितेन विभूषणैः।
रूपसंलापशीलेन युक्तगीतार्थभाषिणा॥ ७॥
देशकालाभियुक्तेन युक्तवाक्याभिधायिना।
रताधिकेन संयुक्तां ददर्श हरियूथपः॥ ८॥

वानरयूथपति हनुमान्‌जीने उस पानभूमिको ऐसी सहस्रों रमणियोंसे संयुक्त देखा, जो भाँति-भाँतिके आभूषणोंसे विभूषित, रूप-लावण्यकी चर्चा करनेवाली, गीतके समुचित अभिप्रायको अपनी वाणीद्वारा प्रकट करनेवाली, देश और कालको समझनेवाली, उचित बात बोलनेवाली और रति-क्रीडामें अधिक भाग लेनेवाली थीं॥ ७-८॥

अन्यत्रापि वरस्त्रीणां रूपसंलापशायिनाम्।
सहस्रं युवतीनां तु प्रसुप्तं स ददर्श ह॥ ९॥

दूसरे स्थानपर भी उन्होंने ऐसी सहस्रों सुन्दरी युवतियोंको सोते देखा, जो आपसमें रूप-सौन्दर्यकी चर्चा करती हुई लेट रही थीं॥ ९॥

देशकालाभियुक्तं तु युक्तवाक्याभिधायि तत्।
रताविरतसंसुप्तं ददर्श हरियूथपः॥ १०॥

वानरयूथपति पवनकुमारने ऐसी बहुत-सी स्त्रियोंको देखा, जो देश-कालको जाननेवाली, उचित बात कहनेवाली तथा रतिक्रीडाके पश्चात् गाढ़ निद्रामें सोयी हुई थीं॥ १०॥

तासां मध्ये महाबाहुः शुशुभे राक्षसेश्वरः।
गोष्ठे महति मुख्यानां गवां मध्ये यथा वृषः॥ ११॥

उन सबके बीचमें महाबाहु राक्षसराज रावण विशाल गोशालामें श्रेष्ठ गौओंके बीच सोये हुए साँड़की भाँति शोभा पा रहा था॥ ११॥

स राक्षसेन्द्रः शुशुभे ताभिः परिवृतः स्वयम्।
करेणुभिर्यथारण्ये परिकीर्णो महाद्विपः॥ १२॥

जैसे वनमें हथिनियोंसे घिरा हुआ कोई महान् गजराज सो रहा हो, उसी प्रकार उस भवनमें उन सुन्दरियोंसे घिरा हुआ स्वयं राक्षसराज रावण सुशोभित हो रहा था॥ १२॥

सर्वकामैरुपेतां च पानभूमिं महात्मनः।
ददर्श कपिशार्दूलस्तस्य रक्षःपतेर्गृहे॥ १३॥
मृगाणां महिषाणां च वराहाणां च भागशः।
तत्र न्यस्तानि मांसानि पानभूमौ ददर्श सः॥ १४॥

उस महाकाय राक्षसराजके भवनमें कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌ने वह पानभूमि देखी, जो सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोगोंसे सम्पन्न थी। उस मधुशालामें अलग-अलग मृगों, भैंसों और सूअरोंके मांस रखे गये थे, जिन्हें हनुमान्‌जीने देखा॥ १३-१४॥

रौक्मेषु च विशालेषु भाजनेष्वप्यभक्षितान्।
ददर्श कपिशार्दूलो मयूरान् कुक्कुटांस्तथा॥ १५॥

वराहवाध्रीणसकान् दधिसौवर्चलायुतान् ।
शल्यान् मृगमयूरांश्च हनुमानन्ववैक्षत ॥ १६ ॥

वानरसिंह हनुमान्‌ने वहाँ सैनिक बड़े-बड़े पात्रोंमें मोर, मुर्गे, सूअर, गेंडा, साही, हरिण तथा मयूरोंके मांस देखे, जो दही और नमक मिलाकर रखे गये थे। वे अभी खाये नहीं गये थे ॥ १५-१६ ॥

कृकलान् विविधांश्छागाञ्छशकानर्धभक्षितान् ।
महिषानेकशल्यांश्च मेषांश्च कृतनिष्ठितान् ॥ १७ ॥
लेह्यानुच्चावचान् पेयान् भोज्यान्युच्चावचानि च ।
तथाम्ललवणोत्तंसैर्विविधै रागखाण्डवैः ॥ १८ ॥

कृकल नामक पक्षी, भाँति-भाँतिके बकरे, खरगोश, आधे खाये हुए भैंसे, एकशल्य नामक मत्स्य और भेड़े—ये सब-के-सब राँध-पकाकर रखे हुए थे। इनके साथ अनेक प्रकारकी चटनियाँ भी थीं। भाँति-भाँतिके पेय तथा भक्ष्य पदार्थ भी विद्यमान थे। जीभकी शिथिलता दूर करनेके लिये खटाई और नमकके साथ भाँति-भाँतिके राग[1] और खाण्डव भी रखे गये थे ॥ १७-१८ ॥

महानूपुरकेयूरैरपविद्धैर्महाधनैः ।
पानभाजनविक्षिप्तैः फलैश्च विविधैरपि ॥ १९ ॥
कृतपुष्पोपहारा भूरधिकां पुष्यति श्रियम् ।

बहुमूल्य बड़े-बड़े नूपुर और बाजूबंद जहाँ-तहाँ पड़े हुए थे। मद्यपानके पात्र इधर-उधर लुढ़काये हुए थे। भाँति-भाँतिके फल भी बिखरे पड़े थे। इन सबसे उपलक्षित होनेवाली वह पानभूमि, जिसे फूलोंसे सजाया गया था, अधिक शोभाका पोषण एवं संवर्धन कर रही थी ॥ १९½ ॥

तत्र तत्र च विन्यस्तैः सुश्लिष्टशयनासनैः ॥ २० ॥
पानभूमिर्विना वह्निं प्रदीप्तेवोपलक्ष्यते ।

यत्र-तत्र रखी हुई सुदृढ़ शय्याओं और सुन्दर स्वर्णमय सिंहासनोंसे सुशोभित होनेवाली वह मधुशाला ऐसी जगमगा रही थी कि बिना आगके ही जलती हुई-सी दिखायी देती थी ॥ २०½ ॥

बहुप्रकारैर्विविधैर्वरसंस्कारसंस्कृतैः ॥ २१ ॥
मांसैः कुशलसंयुक्तैः पानभूमिगतैः पृथक् ।
दिव्याः प्रसन्नाविविधाः सुराः कृतसुरा अपि ॥ २२ ॥
शर्करासवमाध्वीकाः पुष्पासवफलासवाः ।
वासचूर्णैश्च विविधैर्मृष्टास्तैस्तैः पृथक् पृथक् ॥ २३ ॥

अच्छी छौंक-बघारसे तैयार किये गये नाना प्रकारके विविध मांस चतुर रसोइयोंद्वारा बनाये गये थे और उस पानभूमिमें पृथक्-पृथक् सजाकर रखे गये थे। उनके साथ ही स्वच्छ दिव्य सुराएँ (जो कदम्ब आदि वृक्षोंसे स्वतः उत्पन्न हुई थीं) और कृत्रिम सुराएँ (जिन्हें शराब बनानेवाले लोग तैयार करते हैं) भी वहाँ रखी गयी थीं। उनमें शार्करासव,[2] माध्वीक,[3] पुष्पासव[4] और फलासव[5] भी थे। इन सबको नाना प्रकारके सुगन्धित चूर्णोंसे पृथक्-पृथक् वासित किया गया था ॥ २१—२३ ॥

संतता शुशुभे भूमिर्माल्यैश्च बहुसंस्थितैः ।
हिरण्मयैश्च कलशैर्भाजनैः स्फाटिकैरपि ॥ २४ ॥
जाम्बूनदमयैश्चान्यैः करकैरभिसंवृता ।

वहाँ अनेक स्थानोंपर रखे हुए नाना प्रकारके फूलों, सुवर्णमय कलशों, स्फटिकमणिके पात्रों तथा जाम्बूनदके बने हुए अन्यान्य कमण्डलुओंसे व्याप्त हुई वह पानभूमि बड़ी शोभा पा रही थी ॥ २४½ ॥

राजतेषु च कुम्भेषु जाम्बूनदमयेषु च ॥ २५ ॥
पानश्रेष्ठां तथा भूमिं कपिस्तत्र ददर्श सः ।

चाँदी और सोनेके घड़ोंमें, जहाँ श्रेष्ठ पेय पदार्थ रखे थे, उस पानभूमिको कपिवर हनुमान्‌जीने वहाँ अच्छी तरह घूम-घूमकर देखा ॥ २५½ ॥

सोऽपश्यच्छातकुम्भानि सीधोर्मणिमयानि च ॥ २६ ॥
तानि तानि च पूर्णानि भाजनानि महाकपिः ।

महाकपि पवनकुमारने देखा, वहाँ मदिरासे भरे हुए सोने और मणियोंके भिन्न-भिन्न पात्र रखे गये हैं ॥ २६½ ॥

क्वचिदर्धावशेषाणि क्वचित् पीतान्यशेषतः ॥ २७ ॥
क्वचिन्नैव प्रपीतानि पानानि स ददर्श ह ।

किसी घड़ेमें आधी मदिरा शेष थी तो किसी घड़ेकी सारी-की-सारी पी ली गयी थी तथा किन्हीं-किन्हीं घड़ोंमें रखे हुए मद्य सर्वथा पीये नहीं गये थे। हनुमान्‌जीने उन सबको देखा ॥ २७½ ॥

क्वचिद् भक्ष्यांश्च विविधान् क्वचित् पानानि भागशः ॥ २८ ॥
क्वचिदर्धावशेषाणि पश्यन् वै विचचार ह ।

कहीं नाना प्रकारके भक्ष्य पदार्थ और कहीं पीनेकी वस्तुएँ अलग-अलग रखी गयी थीं और कहीं उनमेंसे

---

१. अंगूर और अनारके रसमें मिश्री और मधु आदि मिलानेसे जो मधुर रस तैयार होता है, वह पतला हो तो 'राग' कहलाता है और गाढ़ा हो जाय तो 'खाण्डव' नाम धारण करता है।

जैसा कि कहा है—

सितामध्वादिमधुरो द्राक्षादाडिमयो रसः। विरलश्चेत् कृतो रागः सान्द्रश्चेत् खाण्डवः स्मृतः ॥

२. शर्करासे तैयार की हुई सुरा 'शार्करासव' कहलाती है।

३. मधुसे बनायी हुई 'मदिरा'। ४. महुआके फूलसे तथा अन्यान्य पुष्पोंके मकरन्दसे बनायी हुई सुराको 'पुष्पासव' कहते हैं।

५. द्राक्षा आदि फलोंके रससे तैयार की हुई 'सुरा'।

आधी-आधी सामग्री ही बची थी। उन सबको देखते हुए वे वहाँ सर्वत्र विचरने लगे ॥ २८½ ॥

शयनान्यत्र नारीणां शून्यानि बहुधा पुनः।
परस्परं समाश्लिष्य काश्चित् सुप्तावराङ्गनाः ॥ २९ ॥

उस अन्तःपुरमें स्त्रियोंकी बहुत-सी शय्याएँ सूनी पड़ी थीं और कितनी ही सुन्दरियाँ एक ही जगह एक-दूसरीका आलिङ्गन किये सो रही थीं ॥ २९ ॥

काचिच्च वस्त्रमन्यस्या अपहृत्योपगुह्य च।
उपगम्याबला सुप्ता निद्राबलपराजिता ॥ ३० ॥

निद्राके बलसे पराजित हुई कोई अबला दूसरी स्त्रीका वस्त्र उतारकर उसे धारण किये उसके पास जा उसीका आलिङ्गन करके सो गयी थी ॥ ३० ॥

तासामुच्छ्वासवातेन वस्त्रं माल्यं च गात्रजम्।
नात्यर्थं स्पन्दते चित्रं प्राप्य मन्दमिवानिलम् ॥ ३१ ॥

उनकी साँसकी हवासे उनके शरीरके विविध प्रकारके वस्त्र और पुष्पमाला आदि वस्तुएँ उसी तरह धीरे-धीरे हिल रही थीं, जैसे धीमी-धीमी वायुके चलनेसे हिला करती हैं ॥ ३१ ॥

चन्दनस्य च शीतस्य सीधोर्मधुरसस्य च।
विविधस्य च माल्यस्य पुष्पस्य विविधस्य च ॥ ३२ ॥
बहुधा मारुतस्तस्य गन्धं विविधमुद्वहन्।
स्नानानां चन्दनानां च धूपानां चैव मूर्च्छितः ॥ ३३ ॥
प्रववौ सुरभिर्गन्धो विमाने पुष्पके तदा।

उस समय पुष्पकविमानमें शीतल चन्दन, मद्य, मधुरस, विविध प्रकारकी माला, भाँति-भाँतिके पुष्प, स्नान-सामग्री, चन्दन और धूपकी अनेक प्रकारकी गन्धका भार वहन करती हुई सुगन्धित वायु सब ओर प्रवाहित हो रही थी ॥ ३३ ॥

श्यामावदातास्तत्रान्याः काश्चित् कृष्णा वराङ्गनाः ॥ ३४ ॥
काश्चित् काञ्चनवर्णाङ्ग्यः प्रमदा राक्षसालये।

उस राक्षसराजके भवनमें कोई साँवली, कोई गोरी, कोई काली और कोई सुवर्णके समान कान्तिवाली सुन्दरी युवतियाँ सो रही थीं ॥ ३४½ ॥

तासां निद्रावशत्वाच्च मदनेन विमूर्च्छितम् ॥ ३५ ॥
पद्मिनीनां प्रसुप्तानां रूपमासीद् यथैव हि।

निद्राके वशमें होनेके कारण उनका काममोहित रूप मुँदे हुए मुखवाले कमलपुष्पोंके समान जान पड़ता था ॥ ३५ ॥

एवं सर्वमशेषेण रावणान्तःपुरं कपिः।
ददर्श स महातेजा न ददर्श च जानकीम् ॥ ३६ ॥

इस प्रकार महातेजस्वी कपिवर हनुमान्‌ने रावणका सारा अन्तःपुर छान डाला तो भी वहाँ उन्हें जनकनन्दिनी सीताका दर्शन नहीं हुआ ॥ ३६ ॥

निरीक्षमाणश्च ततस्ताः स्त्रियः स महाकपिः।
जगाम महतीं शङ्कां धर्मसाध्वसशङ्कितः ॥ ३७ ॥

उन सोती हुई स्त्रियोंको देखते-देखते महाकपि हनुमान् धर्मके भयसे शङ्कित हो उठे। उनके हृदयमें बड़ा भारी संदेह उपस्थित हो गया ॥ ३७ ॥

परदारावरोधस्य प्रसुप्तस्य निरीक्षणम्।
इदं खलु ममात्यर्थं धर्मलोपं करिष्यति ॥ ३८ ॥

वे सोचने लगे कि इस तरह गाढ़ निद्रामें सोयी हुई परायी स्त्रियोंको देखना अच्छा नहीं है। यह तो मेरे धर्मका अत्यन्त विनाश कर डालेगा ॥ ३८ ॥

न हि मे परदाराणां दृष्टिर्विषयवर्तिनी।
अयं चात्र मया दृष्टः परदारपरिग्रहः ॥ ३९ ॥

'मेरी दृष्टि अबतक कभी परायी स्त्रियोंपर नहीं पड़ी थी। यहीं आनेपर मुझे परायी स्त्रियोंका अपहरण करनेवाले इस पापी रावणका भी दर्शन हुआ है (ऐसे पापीको देखना भी धर्मका लोप करनेवाला होता है)' ॥ ३९ ॥

तस्य प्रादुरभूच्चिन्ता पुनरन्या मनस्विनः।
निश्चितैकान्तचित्तस्य कार्यनिश्चयदर्शिनी ॥ ४० ॥

तदनन्तर मनस्वी हनुमान्‌जीके मनमें एक दूसरी विचारधारा उत्पन्न हुई। उनका चित्त अपने लक्ष्यमें सुस्थिर था; अतः यह नयी विचारधारा उन्हें अपने कर्तव्यका ही निश्चय करानेवाली थी ॥ ४० ॥

कामं दृष्टा मया सर्वा विश्वस्ता रावणस्त्रियः।
न तु मे मनसा किंचिद् वैकृत्यमुपपद्यते ॥ ४१ ॥

(वे सोचने लगे—) 'इसमें संदेह नहीं कि रावणकी स्त्रियाँ निःशङ्क सो रही थीं और उसी अवस्थामें मैंने उन सबको अच्छी तरह देखा है, तथापि मेरे मनमें कोई विकार नहीं उत्पन्न हुआ है ॥ ४१ ॥

मनो हि हेतुः सर्वेषामिन्द्रियाणां प्रवर्तने।
शुभाशुभास्ववस्थासु तच्च मे सुव्यवस्थितम् ॥ ४२ ॥

'सम्पूर्ण इन्द्रियोंको शुभ और अशुभ अवस्थाओंमें लगनेकी प्रेरणा देनेमें मन ही कारण है; किंतु मेरा वह मन पूर्णतः स्थिर है (उसका कहीं राग या द्वेष नहीं है; इसलिये मेरा यह परस्त्री-दर्शन धर्मका लोप करनेवाला नहीं हो सकता) ॥ ४२ ॥

नान्यत्र हि मया शक्या वैदेही परिमार्गितुम्।
स्त्रियो हि स्त्रीषु दृश्यन्ते सदा सम्परिमार्गणे ॥ ४३ ॥

'विदेहनन्दिनी सीताको दूसरी जगह मैं ढूँढ़ भी तो नहीं सकता था; क्योंकि स्त्रियोंको ढूँढ़ते समय उन्हें स्त्रियोंके ही बीचमें देखा जाता है ॥ ४३ ॥

यस्य सत्त्वस्य या योनिस्तस्यां तत् परिमार्गते।
न शक्यं प्रमदा नष्टा मृगीषु परिमार्गितुम् ॥ ४४ ॥

'जिस जीवकी जो जाति होती है, उसीमें उसे खोजा जाता है। खोयी हुई युवती स्त्रीको हरिनियोंके बीचमें नहीं ढूँढ़ा जा सकता है ॥ ४४ ॥

तदिदं मार्गितं तावच्छुद्धेन मनसा मया।
रावणान्तःपुरं सर्वं दृश्यते न च जानकी॥ ४५॥

'अतः मैंने रावणके इस सारे अन्तःपुरमें शुद्ध हृदयसे ही अन्वेषण किया है; किंतु यहाँ जानकीजी नहीं दिखायी देती हैं'॥ ४५॥

देवगन्धर्वकन्याश्च नागकन्याश्च वीर्यवान्।
अवेक्षमाणो हनुमान् नैवापश्यत जानकीम्॥ ४६॥

अन्तःपुरका निरीक्षण करते हुए पराक्रमी हनुमान्ने देवताओं, गन्धर्वों और नागोंकी कन्याओंको वहाँ देखा, किंतु जनकनन्दिनी सीताको नहीं देखा॥ ४६॥

तामपश्यन् कपिस्तत्र पश्यंश्चान्या वरस्त्रियः।
अपक्रम्य तदा वीरः प्रस्थातुमुपचक्रमे॥ ४७॥

दूसरी सुन्दरियोंको देखते हुए वीर वानर हनुमान्ने जब वहाँ सीताको नहीं देखा, तब वे वहाँसे हटकर अन्यत्र जानेको उद्यत हुए॥ ४७॥

स भूयः सर्वतः श्रीमान् मारुतिर्यत्नमाश्रितः।
आपानभूमिमुत्सृज्य तां विचेतुं प्रचक्रमे॥ ४८॥

फिर तो श्रीमान् पवनकुमारने उस पानभूमिको छोड़कर अन्य सब स्थानोंमें उन्हें बड़े यत्नका आश्रय लेकर खोजना आरम्भ किया॥ ४८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे एकादशः सर्गः॥ ११॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें ग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ११॥

—★—

द्वादशः सर्गः

सीताके मरणकी आशङ्कासे हनुमान्जीका शिथिल होना, फिर उत्साहका आश्रय लेकर अन्य स्थानोंमें उनकी खोज करना और कहीं भी पता न लगनेसे पुनः उनका चिन्तित होना

स तस्य मध्ये भवनस्य संस्थितो
लतागृहांश्चित्रगृहान् निशागृहान्।
जगाम सीतां प्रतिदर्शनोत्सुको
न चैव तां पश्यति चारुदर्शनाम्॥ १॥

उस राजभवनके भीतर स्थित हुए हनुमान्जी सीताजीके दर्शनके लिये उत्सुक हो क्रमशः लता-मण्डपोंमें, चित्रशालाओंमें तथा रात्रिकालिक विश्रामगृहोंमें गये; परंतु वहाँ भी उन्हें परम सुन्दरी सीताका दर्शन नहीं हुआ॥ १॥

स चिन्तयामास ततो महाकपिः
प्रियामपश्यन् रघुनन्दनस्य ताम्।
ध्रुवं न सीता म्रियते यथा न मे
विचिन्वतो दर्शनमेति मैथिली॥ २॥

रघुनन्दन श्रीरामकी प्रियतमा सीता जब वहाँ भी दिखायी न दीं, तब वे महाकपि हनुमान् इस प्रकार चिन्ता करने लगे—'निश्चय ही अब मिथिलेशकुमारी सीता जीवित नहीं हैं; इसीलिये बहुत खोजनेपर भी वे मेरे दृष्टिपथमें नहीं आ रही हैं॥ २॥

सा राक्षसानां प्रवरेण जानकी
स्वशीलसंरक्षणतत्परा सती।
अनेन नूनं प्रति दुष्टकर्मणा
हता भवेदार्यपथे परे स्थिता॥ ३॥

'सती-साध्वी सीता उत्तम आर्यमार्गपर स्थित रहनेवाली थीं। वे अपने शील और सदाचारकी रक्षामें तत्पर रही हैं; इसलिये निश्चय ही इस दुराचारी राक्षसराजने उन्हें मार डाला होगा॥ ३॥

विरूपरूपा विकृता विवर्चसो
महानना दीर्घविरूपदर्शनाः।
समीक्ष्य ता राक्षसराजयोषितो
भयाद् विनष्टा जनकेश्वरात्मजा॥ ४॥

'राक्षसराज रावणके यहाँ जो दास्यकर्म करनेवाली राक्षसियाँ हैं, उनके रूप बड़े बेडौल हैं। वे बड़ी विकट और विकराल हैं। उनकी कान्ति भी भयंकर है। उनके मुँह विशाल और आँखें भी बड़ी-बड़ी एवं भयानक हैं। उन सबको देखकर जनकराजनन्दिनीने भयके मारे प्राण त्याग दिये होंगे॥ ४॥

सीतामदृष्ट्वा ह्यनवाप्य पौरुषं
विहृत्य कालं सह वानरैश्चिरम्।
न मेऽस्ति सुग्रीवसमीपगा गतिः
सुतीक्ष्णदण्डो बलवांश्च वानरः॥ ५॥

'सीताका दर्शन न होनेसे मुझे अपने पुरुषार्थका फल नहीं प्राप्त हो सका। इधर वानरोंके साथ सुदीर्घकालतक इधर-उधर भ्रमण करके मैंने लौटनेकी अवधि भी बिता दी है; अतः अब मेरा सुग्रीवके पास जानेका भी मार्ग बंद हो गया; क्योंकि वह वानर बड़ा बलवान् और अत्यन्त कठोर दण्ड देनेवाला है॥ ५॥

दृष्टमन्तःपुरं सर्वं दृष्टा रावणयोषितः।
न सीता दृश्यते साध्वी वृथा जातो मम श्रमः॥ ६॥

'मैंने रावणका सारा अन्तःपुर छान डाला, एक-एक करके रावणकी समस्त स्त्रियोंको भी देख लिया; किंतु अभीतक साध्वी सीताका दर्शन नहीं हुआ; अतः मेरा समुद्रलङ्घनका सारा परिश्रम व्यर्थ हो गया ॥ ६ ॥

किं नु मां वानराः सर्वे गतं वक्ष्यन्ति संगताः ।
गत्वा तत्र त्वया वीर किं कृतं तद् वदस्व नः ॥ ७ ॥

'जब मैं लौटकर जाऊँगा, तब सारे वानर मिलकर मुझसे क्या कहेंगे; वे पूछेंगे, वीर ! वहाँ जाकर तुमने क्या किया है—यह मुझे बताओ ॥ ७ ॥

अदृष्ट्वा किं प्रवक्ष्यामि तामहं जनकात्मजाम् ।
ध्रुवं प्रायमुपासिष्ये कालस्य व्यतिवर्तने ॥ ८ ॥

'किंतु जनकनन्दिनी सीताको न देखकर मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा। सुग्रीवके निश्चित किये हुए समयका उल्लङ्घन कर देनेपर अब मैं निश्चय ही आमरण उपवास करूँगा ॥ ८ ॥

किं वा वक्ष्यति वृद्धश्च जाम्बवानङ्गदश्च सः ।
गतं पारं समुद्रस्य वानराश्च समागताः ॥ ९ ॥

'बड़े-बूढ़े जाम्बवान् और युवराज अङ्गद मुझसे क्या कहेंगे ? समुद्रके पार जानेपर अन्य वानर भी जब मुझसे मिलेंगे, तब वे क्या कहेंगे ?' ॥ ९ ॥

अनिर्वेदः श्रियो मूलमनिर्वेदः परं सुखम् ।
भूयस्तत्र विचेष्यामि न यत्र विचयः कृतः ॥ १० ॥

(इस प्रकार थोड़ी देरतक हताश-से होकर वे फिर सोचने लगे—) 'हताश न होकर उत्साहको बनाये रखना ही सम्पत्तिका मूल कारण है। उत्साह ही परम सुखका हेतु है; अतः मैं पुनः उन स्थानोंमें सीताकी खोज करूँगा, जहाँ अबतक अनुसन्धान नहीं किया गया था ॥ १० ॥

अनिर्वेदो हि सततं सर्वार्थेषु प्रवर्तकः ।
करोति सफलं जन्तोः कर्म यच्च करोति सः ॥ ११ ॥

'उत्साह ही प्राणियोंको सर्वदा सब प्रकारके कर्मोंमें प्रवृत्त करता है और वही उन्हें वे जो कुछ करते हैं उस कार्यमें सफलता प्रदान करता है ॥ ११ ॥

तस्मादनिर्वेदकरं यत्नं चेष्टेऽहमुत्तमम् ।
अदृष्टांश्च विचेष्यामि देशान् रावणपालितान् ॥ १२ ॥

'इसलिये अब मैं और भी उत्तम एवं उत्साहपूर्वक प्रयत्नके लिये चेष्टा करूँगा। रावणके द्वारा सुरक्षित जिन स्थानोंको अबतक नहीं देखा था, उनमें भी पता लगाऊँगा ॥ १२ ॥

आपानशाला विचितास्तथा पुष्पगृहाणि च ।
चित्रशालाश्च विचिता भूयः क्रीडागृहाणि च ॥ १३ ॥
निष्कुटान्तररथ्याश्च विमानानि च सर्वशः ।
इति संचिन्त्य भूयोऽपि विचेतुमुपचक्रमे ॥ १४ ॥

'आपानशाला, पुष्पगृह, चित्रशाला, क्रीडागृह, गृहोद्यानकी गलियाँ और पुष्पक आदि विमान—इन सबको तो मैंने चप्पा-चप्पा देख डाला (अब अन्यत्र खोज करूँगा)।' यह सोचकर उन्होंने पुनः खोजना आरम्भ किया ॥ १३-१४ ॥

भूमीगृहांश्चैत्यगृहान् गृहातिगृहकानपि ।
उत्पतन् निपतंश्चापि तिष्ठन् गच्छन् पुनः क्वचित् ॥ १५ ॥

वे भूमिके भीतर बने हुए घरों (तहखानों) में, चौराहोंपर बने हुए मण्डपोंमें तथा घरोंको लाँघकर उनसे थोड़ी ही दूरपर बने हुए विलास-भवनोंमें सीताकी खोज करने लगे। वे किसी घरके ऊपर चढ़ जाते, किसीसे नीचे कूद पड़ते, कहीं ठहर जाते और किसीको चलते-चलते ही देख लेते थे ॥ १५ ॥

अपवृण्वंश्च द्वाराणि कपाटान्यवघट्टयन् ।
प्रविशन् निष्पतंश्चापि प्रपतन्नुत्पतन्निव ॥ १६ ॥

घरोंके दरवाजोंको खोल देते, कहीं किवाड़ भिड़का देते, किसीके भीतर घुसकर देखते और फिर निकल आते थे। वे गिरते-पड़ते और उछलते हुए-से सर्वत्र खोज करने लगे ॥ १६ ॥

सर्वमप्यवकाशं स विचचार महाकपिः ।
चतुरङ्गुलमात्रोऽपि नावकाशः स विद्यते ।
रावणान्तःपुरे तस्मिन् यं कपिर्न जगाम सः ॥ १७ ॥

उन महाकपिने वहाँके सभी स्थानोंमें विचरण किया। रावणके अन्तःपुरमें कोई चार अङ्गुलका भी ऐसा स्थान नहीं रह गया, जहाँ कपिवर हनुमान्‌जी न पहुँचे हों ॥ १७ ॥

प्राकारान्तरवीथ्यश्च वेदिकाश्चैत्यसंश्रयाः ।
श्वभ्राश्च पुष्करिण्यश्च सर्वं तेनावलोकितम् ॥ १८ ॥

उन्होंने परकोटेके भीतरकी गलियाँ, चौराहेके वृक्षोंके नीचे बनी हुई वेदियाँ, गड्ढे और पोखरियाँ—सबको छान डाला ॥ १८ ॥

राक्षस्यो विविधाकारा विरूपा विकृतास्तथा ।
दृष्टा हनुमता तत्र न तु सा जनकात्मजा ॥ १९ ॥

हनुमान्‌जीने जगह-जगह नाना प्रकारके आकारवाली, कुरूप और विकट राक्षसियाँ देखीं; किंतु वहाँ उन्हें जानकीजीका दर्शन नहीं हुआ ॥ १९ ॥

रूपेणाप्रतिमा लोके परा विद्याधरस्त्रियः ।
दृष्टा हनुमता तत्र न तु राघवनन्दिनी ॥ २० ॥

संसारमें जिनके रूप-सौन्दर्यकी कहीं तुलना नहीं थी ऐसी बहुत-सी विद्याधरियाँ भी हनुमान्‌जीकी दृष्टिमें आयीं; परंतु वहाँ उन्हें श्रीरघुनाथजीको आनन्द प्रदान करनेवाली सीता नहीं दिखायी दीं ॥ २० ॥

नागकन्या वरारोहाः पूर्णचन्द्रनिभाननाः ।
दृष्टा हनुमता तत्र न तु सा जनकात्मजा ॥ २१ ॥

हनुमान्‌जीने सुन्दर नितम्ब और पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाली बहुत-सी नागकन्याएँ भी वहाँ देखीं; किंतु जनककिशोरीका उन्हें दर्शन नहीं हुआ ॥ २१ ॥

प्रमथ्य राक्षसेन्द्रेण नागकन्या बलाद्धृताः ।
दृष्टा हनुमता तत्र न सा जनकनन्दिनी ॥ २२ ॥

राक्षसराजके द्वारा नागसेनाको मथकर बलात् हरकर लायी हुई नागकन्याओंको तो पवनकुमारने वहाँ देखा; किंतु जानकीजी उन्हें दृष्टिगोचर नहीं हुईं ॥ २२ ॥

सोऽपश्यंस्तां महाबाहुः पश्यंश्चान्या वरस्त्रियः ।
विषसाद महाबाहुर्हनूमान् मारुतात्मजः ॥ २३ ॥

महाबाहु पवनकुमार हनुमान्‌को दूसरी बहुत-सी सुन्दरियाँ दिखायी दीं; परंतु सीताजी उनके देखनेमें नहीं आयीं। इसलिये वे बहुत दुःखी हो गये ॥ २३ ॥

उद्योगं वानरेन्द्राणां प्लवनं सागरस्य च ।
व्यर्थं वीक्ष्यानिलसुतश्चिन्तां पुनरुपागतः ॥ २४ ॥

उन वानरशिरोमणि वीरोंके उद्योग और अपने द्वारा किये गये समुद्रलङ्घनको व्यर्थ हुआ देखकर पवनपुत्र हनुमान् वहाँ पुनः बड़ी भारी चिन्तामें पड़ गये ॥ २४ ॥

अवतीर्य विमानाच्च हनूमान् मारुतात्मजः ।
चिन्तामुपजगामाथ शोकोपहतचेतनः ॥ २५ ॥

उस समय वायुनन्दन हनुमान् विमानसे नीचे उतर आये और बड़ी चिन्ता करने लगे। शोकसे उनकी चेतनाशक्ति शिथिल हो गयी ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें बारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १२ ॥

—★—

त्रयोदशः सर्गः

सीताजीके नाशकी आशङ्कासे हनुमान्‌जीकी चिन्ता, श्रीरामको सीताके न मिलनेकी सूचना देनेसे अनर्थकी सम्भावना देख हनुमान्‌जीका न लौटनेका निश्चय करके पुनः खोजनेका विचार करना और अशोकवाटिकामें ढूँढ़नेके विषयमें तरह-तरहकी बातें सोचना

विमानात् तु स संक्रम्य प्राकारं हरियूथपः ।
हनूमान् वेगवानासीद् यथा विद्युद् घनान्तरे ॥ १ ॥

वानरयूथपति हनुमान् विमानसे उतरकर महलके परकोटेपर चढ़ आये। वहाँ आकर वे मेघमालाके अङ्कमें चमकती हुई बिजलीके समान बड़े वेगसे इधर-उधर घूमने लगे * ॥ १ ॥

सम्परिक्रम्य हनुमान् रावणस्य निवेशनान् ।
अदृष्ट्वा जानकीं सीतामब्रवीद् वचनं कपिः ॥ २ ॥

रावणके सभी घरोंमें एक बार पुनः चक्कर लगाकर जब कपिवर हनुमान्‌जीने जनकनन्दिनी सीताको नहीं देखा, तब वे मन-ही-मन इस प्रकार कहने लगे— ॥ २ ॥

भूयिष्ठं लोलिता लङ्का रामस्य चरता प्रियम् ।
न हि पश्यामि वैदेहीं सीतां सर्वाङ्गशोभनाम् ॥ ३ ॥

'मैंने श्रीरामचन्द्रजीका प्रिय करनेके लिये कई बार लङ्काको छान डाला; किंतु सर्वाङ्गसुन्दरी विदेहनन्दिनी सीता मुझे कहीं नहीं दिखायी देती हैं ॥ ३ ॥

पल्वलानि तटाकानि सरांसि सरितस्तथा ।
नद्योऽनूपवनान्ताश्च दुर्गाश्च धरणीधराः ॥ ४ ॥
लोलिता वसुधा सर्वा न च पश्यामि जानकीम् ।

'मैंने यहाँके छोटे तालाब, पोखरे, सरोवर, सरिताएँ, नदियाँ, पानीके आस-पासके जंगल तथा दुर्गम पहाड़— सब देख डाले। इस नगरके आस-पासकी सारी भूमि खोज डाली; किंतु कहीं भी मुझे जानकीजीका दर्शन नहीं हुआ ॥ ४½ ॥

इह सम्पातिना सीता रावणस्य निवेशने ।
आख्याता गृध्रराजेन न च सा दृश्यते न किम् ॥ ५ ॥

'गृध्रराज सम्पातिने तो सीताजीको यहाँ रावणके महलमें ही बताया था। फिर भी न जाने क्यों वे यहाँ दिखायी नहीं देती हैं ॥ ५ ॥

किं नु सीताथ वैदेही मैथिली जनकात्मजा ।
उपतिष्ठेत विवशा रावणेन हता बलात् ॥ ६ ॥

'क्या रावणके द्वारा बलपूर्वक हरकर लायी हुई विदेह-कुलनन्दिनी मिथिलेशकुमारी जनकदुलारी सीता कभी विवश होकर रावणकी सेवामें उपस्थित हो सकती हैं (यह असम्भव है) ॥ ६ ॥

क्षिप्रमुत्पततो मन्ये सीतामादाय रक्षसः ।
बिभ्यतो रामबाणानामन्तरा पतिता भवेत् ॥ ७ ॥

'मैं तो समझता हूँ कि श्रीरामचन्द्रजीके बाणोंसे भयभीत हो वह राक्षस जब सीताको लेकर शीघ्रतापूर्वक आकाशमें

---

* घनमालामें विद्युत्‌की उपमासे यह ध्वनित होता है कि रावणका वह परकोटा इन्द्रनीलमणिका बना हुआ था और उसपर सुवर्णके समान गौर कान्तिवाले हनुमान्‌जी विद्युत्‌के समान प्रतीत होते थे।

उछला है, उस समय कहीं बीचमें ही वे छूटकर गिर पड़ी हैं ॥ ७ ॥

अथवा ह्रियमाणायाः पथि सिद्धनिषेविते ।
मन्ये पतितमार्याया हृदयं प्रेक्ष्य सागरम् ॥ ८ ॥

'अथवा यह भी सम्भव है कि जब आर्या सीता सिद्ध-सेवित आकाशमार्गसे ले जायी जाती रही हों, उस समय समुद्रको देखकर भयके मारे उनका हृदय ही फटकर नीचे गिर पड़ा हो ॥ ८ ॥

रावणस्योरुवेगेन भुजाभ्यां पीडितेन च ।
तया मन्ये विशालाक्ष्या त्यक्तं जीवितमार्यया ॥ ९ ॥

'अथवा यह भी मालूम होता है कि रावणके प्रबल वेग और उसकी भुजाओंके दृढ़ बन्धनसे पीड़ित होकर विशाललोचना आर्या सीताने अपने प्राणोंका परित्याग कर दिया है ॥ ९ ॥

उपर्युपरि सा नूनं सागरं क्रमतस्तदा ।
विचेष्टमाना पतिता समुद्रे जनकात्मजा ॥ १० ॥

'ऐसा भी हो सकता है कि जिस समय रावण उन्हें समुद्रके ऊपर होकर ला रहा हो, उस समय जनककुमारी सीता छटपटाकर समुद्रमें गिर पड़ी हों। अवश्य ऐसा ही हुआ होगा ॥ १० ॥

आहो क्षुद्रेण चानेन रक्षन्ती शीलमात्मनः ।
अबन्धुर्भक्षिता सीता रावणेन तपस्विनी ॥ ११ ॥
अथवा राक्षसेन्द्रस्य पत्नीभिरसितेक्षणा ।
अदुष्टा दुष्टभावाभिर्भक्षिता सा भविष्यति ॥ १२ ॥

'अथवा ऐसा तो नहीं हुआ कि अपने शीलकी रक्षामें तत्पर हुई किसी सहायक बन्धुकी सहायतासे वञ्चित तपस्विनी सीताको इस नीच रावणने ही खा लिया हो अथवा मनमें दुष्ट भावना रखनेवाली राक्षसराज रावणकी पत्नियोंने ही कजरारे नेत्रोंवाली साध्वी सीताको अपना आहार बना लिया होगा ॥ ११-१२ ॥

सम्पूर्णचन्द्रप्रतिमं पद्मपत्रनिभेक्षणम् ।
रामस्य ध्यायती वक्त्रं पञ्चत्वं कृपणा गता ॥ १३ ॥

'हाय! श्रीरामचन्द्रजीके पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर तथा प्रफुल्ल कमलदलके सदृश नेत्रवाले मुखका चिन्तन करती हुई दयनीया सीता इस संसारसे चल बसीं ॥ १३ ॥

हा राम लक्ष्मणेत्येवं हायोध्ये चेति मैथिली ।
विलप्य बहु वैदेही न्यस्तदेहा भविष्यति ॥ १४ ॥

'हा राम! हा लक्ष्मण! हा अयोध्यापुरी! इस प्रकार पुकार-पुकारकर बहुत विलाप करके मिथिलेशकुमारी विदेहनन्दिनी सीताने अपने शरीरको त्याग दिया होगा ॥ १४ ॥

अथवा निहिता मन्ये रावणस्य निवेशने ।
भृशं लालप्यते बाला पञ्जरस्थेव सारिका ॥ १५ ॥

'अथवा मेरी समझमें यह आता है कि वे रावणके ही किसी गुप्त गृहमें छिपाकर रखी गयी हैं। हाय! वहाँ वह बाला पींजरेमें बन्द हुई मैनाकी तरह बारम्बार आर्तनाद करती होगी ॥ १५ ॥

जनकस्य कुले जाता रामपत्नी सुमध्यमा ।
कथमुत्पलपत्राक्षी रावणस्य वशं व्रजेत् ॥ १६ ॥

'जो जनकके कुलमें उत्पन्न हुई हैं और श्रीरामचन्द्रजीकी धर्मपत्नी हैं, वे नील कमलके-से नेत्रोंवाली सुमध्यमा सीता रावणके अधीन कैसे हो सकती हैं? ॥ १६ ॥

विनष्टा वा प्रणष्टा वा मृता वा जनकात्मजा ।
रामस्य प्रियभार्यस्य न निवेदयितुं क्षमम् ॥ १७ ॥

'जनककिशोरी सीता चाहे गुप्त गृहमें अदृश्य करके रखी गयी हों, चाहे समुद्रमें गिरकर प्राणोंसे हाथ धो बैठी हों अथवा श्रीरामचन्द्रजीके विरहका कष्ट न सह सकनेके कारण उन्होंने मृत्युकी शरण ली हो, किसी भी दशामें श्रीरामचन्द्रजीको इस बातकी सूचना देना उचित न होगा; क्योंकि वे अपनी पत्नीको बहुत प्यार करते हैं ॥ १७ ॥

निवेद्यमाने दोषः स्याद् दोषः स्यादनिवेदने ।
कथं नु खलु कर्तव्यं विषमं प्रतिभाति मे ॥ १८ ॥

'इस समाचारके बतानेमें भी दोष है और न बतानेमें भी दोषकी सम्भावना है, ऐसी दशामें किस उपायसे काम लेना चाहिये? मुझे तो बताना और न बताना—दोनों ही दुष्कर प्रतीत होते हैं ॥ १८ ॥

अस्मिन्नेवंगते कार्ये प्राप्तकालं क्षमं च किम् ।
भवेदिति मतिं भूयो हनुमान् प्रविचारयन् ॥ १९ ॥

'ऐसी दशामें जब कोई भी कार्य करना दुष्कर प्रतीत होता है, तब मेरे लिये इस समयके अनुसार क्या करना उचित होगा?' इन्हीं बातोंपर हनुमान्‌जी बारम्बार विचार करने लगे ॥ १९ ॥

यदि सीतामदृष्ट्वाहं वानरेन्द्रपुरीमितः ।
गमिष्यामि ततः को मे पुरुषार्थो भविष्यति ॥ २० ॥

(उन्होंने फिर सोचा—) 'यदि मैं सीताजीको देखे बिना ही यहाँसे वानरराजकी पुरी किष्किन्धाको लौट जाऊँगा तो मेरा पुरुषार्थ ही क्या रह जायगा? ॥ २० ॥

ममेदं लङ्घनं व्यर्थं सागरस्य भविष्यति ।
प्रवेशश्चैव लङ्कायां राक्षसानां च दर्शनम् ॥ २१ ॥

'फिर तो मेरा यह समुद्रलङ्घन, लङ्कामें प्रवेश और राक्षसोंको देखना सब व्यर्थ हो जायगा ॥ २१ ॥

किं वा वक्ष्यति सुग्रीवो हरयो वापि संगताः ।
किष्किन्धामनुसम्प्राप्तं तौ वा दशरथात्मजौ ॥ २२ ॥

'किष्किन्धामें पहुँचनेपर मुझसे मिलकर सुग्रीव, दूसरे-दूसरे वानर तथा वे दोनों दशरथराजकुमार भी क्या कहेंगे? ॥ २२ ॥

गत्वा तु यदि काकुत्स्थं वक्ष्यामि परुषं वचः ।
न दृष्टेति मया सीता ततस्त्यक्ष्यति जीवितम् ॥ २३ ॥

'यदि वहाँ जाकर मैं श्रीरामचन्द्रजीसे यह कठोर बात कह दूँ कि मुझे सीताका दर्शन नहीं हुआ तो वे प्राणोंका परित्याग कर देंगे ॥ २३ ॥

परुषं दारुणं तीक्ष्णं क्रूरमिन्द्रियतापनम् ।
सीतानिमित्तं दुर्वाक्यं श्रुत्वा स न भविष्यति ॥ २४ ॥

'सीताजीके विषयमें ऐसे रूखे, कठोर, तीखे और इन्द्रियोंको संताप देनेवाले दुर्वचनको सुनकर वे कदापि जीवित नहीं रहेंगे ॥ २४ ॥

तं तु कृच्छ्रगतं दृष्ट्वा पञ्चत्वगतमानसम् ।
भृशानुरक्तमेधावी न भविष्यति लक्ष्मणः ॥ २५ ॥

'उन्हें संकटमें पड़कर प्राणोंके परित्यागका संकल्प करते देख उनके प्रति अत्यन्त अनुराग रखनेवाले बुद्धिमान् लक्ष्मण भी जीवित नहीं रहेंगे ॥ २५ ॥

विनष्टौ भ्रातरौ श्रुत्वा भरतोऽपि मरिष्यति ।
भरतं च मृतं दृष्ट्वा शत्रुघ्नो न भविष्यति ॥ २६ ॥

'अपने इन दो भाइयोंके विनाशका समाचार सुनकर भरत भी प्राण त्याग देंगे और भरतकी मृत्यु देखकर शत्रुघ्न भी जीवित नहीं रह सकेंगे ॥ २६ ॥

पुत्रान् मृतान् समीक्ष्याथ न भविष्यन्ति मातरः ।
कौसल्या च सुमित्रा च कैकेयी च न संशयः ॥ २७ ॥

'इस प्रकार चारों पुत्रोंकी मृत्यु हुई देख कौसल्या, सुमित्रा और कैकेयी—ये तीनों माताएँ भी निस्संदेह प्राण दे देंगी ॥ २७ ॥

कृतज्ञः सत्यसंधश्च सुग्रीवः प्लवगाधिपः ।
रामं तथागतं दृष्ट्वा ततस्त्यक्ष्यति जीवितम् ॥ २८ ॥

'कृतज्ञ और सत्यप्रतिज्ञ वानरराज सुग्रीव भी जब श्रीरामचन्द्रजीको ऐसी अवस्थामें देखेंगे तो स्वयं भी प्राणविसर्जन कर देंगे ॥ २८ ॥

दुर्मना व्यथिता दीना निरानन्दा तपस्विनी ।
पीडिता भर्तृशोकेन रुमा त्यक्ष्यति जीवितम् ॥ २९ ॥

'तत्पश्चात् पतिशोकसे पीड़ित हो दुःखितचित्त, दीन, व्यथित और आनन्दशून्य हुई तपस्विनी रुमा भी जान दे देगी ॥ २९ ॥

वालिजेन तु दुःखेन पीडिता शोककर्शिता ।
पञ्चत्वमागता राज्ञी तारापि न भविष्यति ॥ ३० ॥

'फिर तो रानी तारा भी जीवित नहीं रहेंगी। वे वालीके विरहजनित दुःखसे तो पीड़ित थीं ही, इस नूतन शोकसे कातर हो शीघ्र ही मृत्युको प्राप्त हो जायँगी ॥ ३० ॥

मातापित्रोर्विनाशेन सुग्रीवव्यसनेन च ।
कुमारोऽप्यङ्गदस्तस्माद् विजहिष्यति जीवितम् ॥ ३१ ॥

'माता-पिताके विनाश और सुग्रीवके मरणजनित संकटसे पीड़ित हो कुमार अङ्गद भी अपने प्राणोंका परित्याग कर देंगे ॥ ३१ ॥

भर्तृजेन तु दुःखेन अभिभूता वनौकसः ।
शिरांस्यभिहनिष्यन्ति तलैर्मुष्टिभिरेव च ॥ ३२ ॥
सान्त्वेनानुप्रदानेन मानेन च यशस्विना ।
लालिताः कपिनाथेन प्राणांस्त्यक्ष्यन्ति वानराः ॥ ३३ ॥

'तदनन्तर स्वामीके दुःखसे पीड़ित हुए सारे वानर अपने हाथों और मुक्कोंसे सिर पीटने लगेंगे। यशस्वी वानरराजने सान्त्वनापूर्ण वचनों और दान-मानसे जिनका लालन-पालन किया था, वे वानर अपने प्राणोंका परित्याग कर देंगे ॥ ३२-३३ ॥

न वनेषु न शैलेषु न निरोधेषु वा पुनः ।
क्रीडामनुभविष्यन्ति समेत्य कपिकुञ्जराः ॥ ३४ ॥

'ऐसी अवस्थामें शेष वानर वनों, पर्वतों और गुफाओंमें एकत्र होकर फिर कभी क्रीड़ा-विहारका आनन्द नहीं लेंगे ॥ ३४ ॥

सपुत्रदाराः सामात्या भर्तृव्यसनपीडिताः ।
शैलाग्रेभ्यः पतिष्यन्ति समेषु विषमेषु च ॥ ३५ ॥

'अपने राजाके शोकसे पीड़ित हो सब वानर अपने पुत्र, स्त्री और मन्त्रियोंसहित पर्वतोंके शिखरोंसे नीचे सम अथवा विषम स्थानोंमें गिरकर प्राण दे देंगे ॥ ३५ ॥

विषमुद्बन्धनं वापि प्रवेशं ज्वलनस्य वा ।
उपवासमथो शस्त्रं प्रचरिष्यन्ति वानराः ॥ ३६ ॥

'अथवा सारे विष पी लेंगे या फाँसी लगा लेंगे या जलती आगमें प्रवेश कर जायँगे। उपवास करने लगेंगे अथवा अपने ही शरीरमें छुरा भोंक लेंगे ॥ ३६ ॥

घोरमारोदनं मन्ये गते मयि भविष्यति ।
इक्ष्वाकुकुलनाशश्च नाशश्चैव वनौकसाम् ॥ ३७ ॥

'मेरे वहाँ जानेपर मैं समझता हूँ बड़ा भयंकर आर्तनाद होने लगेगा। इक्ष्वाकुकुलका नाश और वानरोंका भी विनाश हो जायगा ॥ ३७ ॥

सोऽहं नैव गमिष्यामि किष्किन्धां नगरीमितः ।
नहि शक्ष्याम्यहं द्रष्टुं सुग्रीवं मैथिलीं विना ॥ ३८ ॥

'इसलिये मैं यहाँसे किष्किन्धापुरीको तो नहीं जाऊँगा। मिथिलेशकुमारी सीताको देखे बिना मैं सुग्रीवका भी दर्शन नहीं कर सकूँगा ॥ ३८ ॥

मय्यगच्छति चेहस्थे धर्मात्मानौ महारथौ ।
आशया तौ धरिष्येते वानराश्च तरस्विनः ॥ ३९ ॥

'यदि मैं यहीं रहूँ और वहाँ न जाऊँ तो मेरी आशा लगाये वे दोनों धर्मात्मा महारथी बन्धु प्राण धारण किये रहेंगे और वे वेगशाली वानर भी जीवित रहेंगे ॥ ३९ ॥

हस्तादानो मुखादानो नियतो वृक्षमूलिकः ।
वानप्रस्थो भविष्यामि ह्यदृष्ट्वा जनकात्मजाम् ॥ ४० ॥
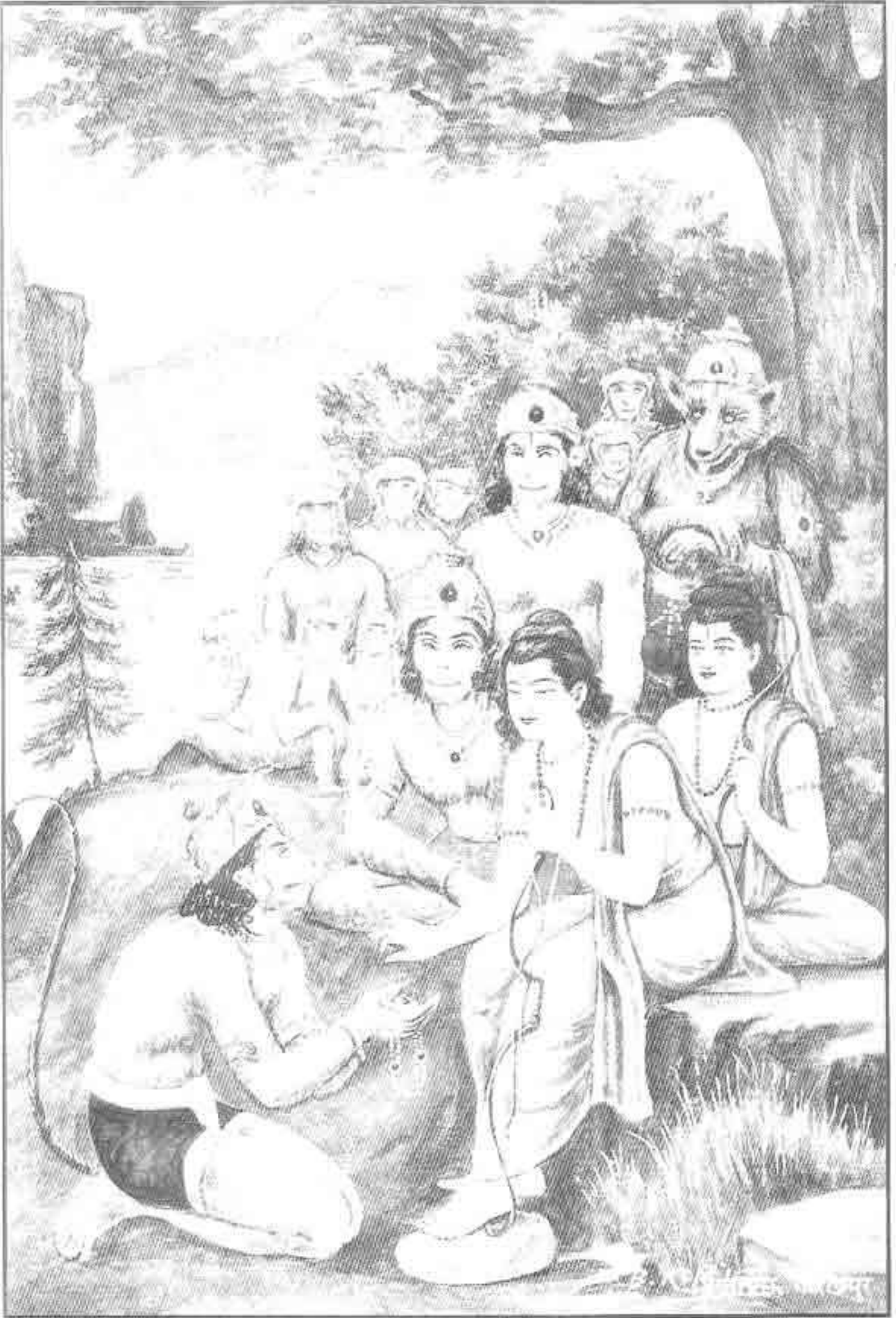
सीताद्वारा प्रदत्त चूड़ामणि श्रीरामको समर्पित करना Crest jewel of Sītā handed over to Śrī Rāma

सेतुबन्ध

Bridging the sea
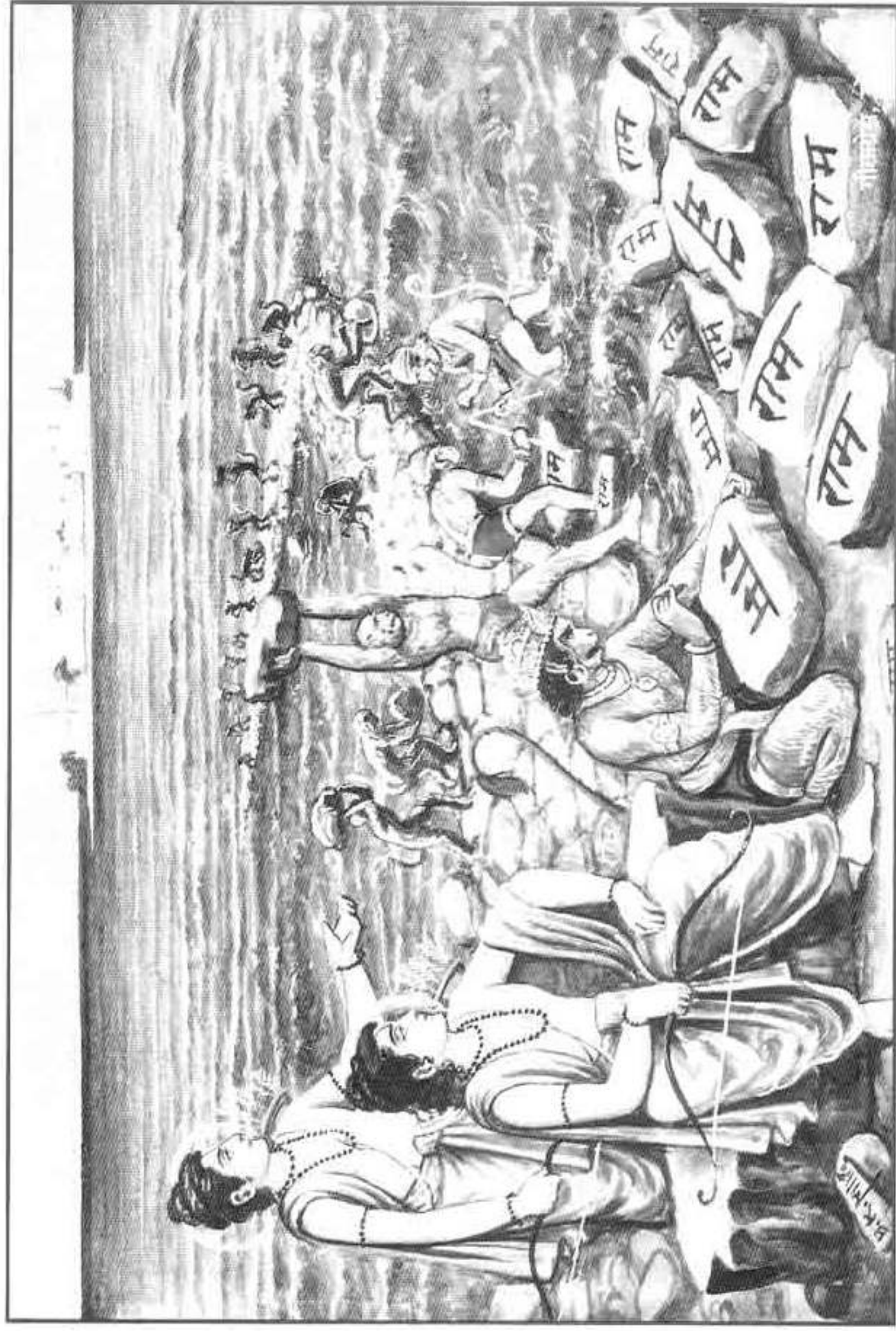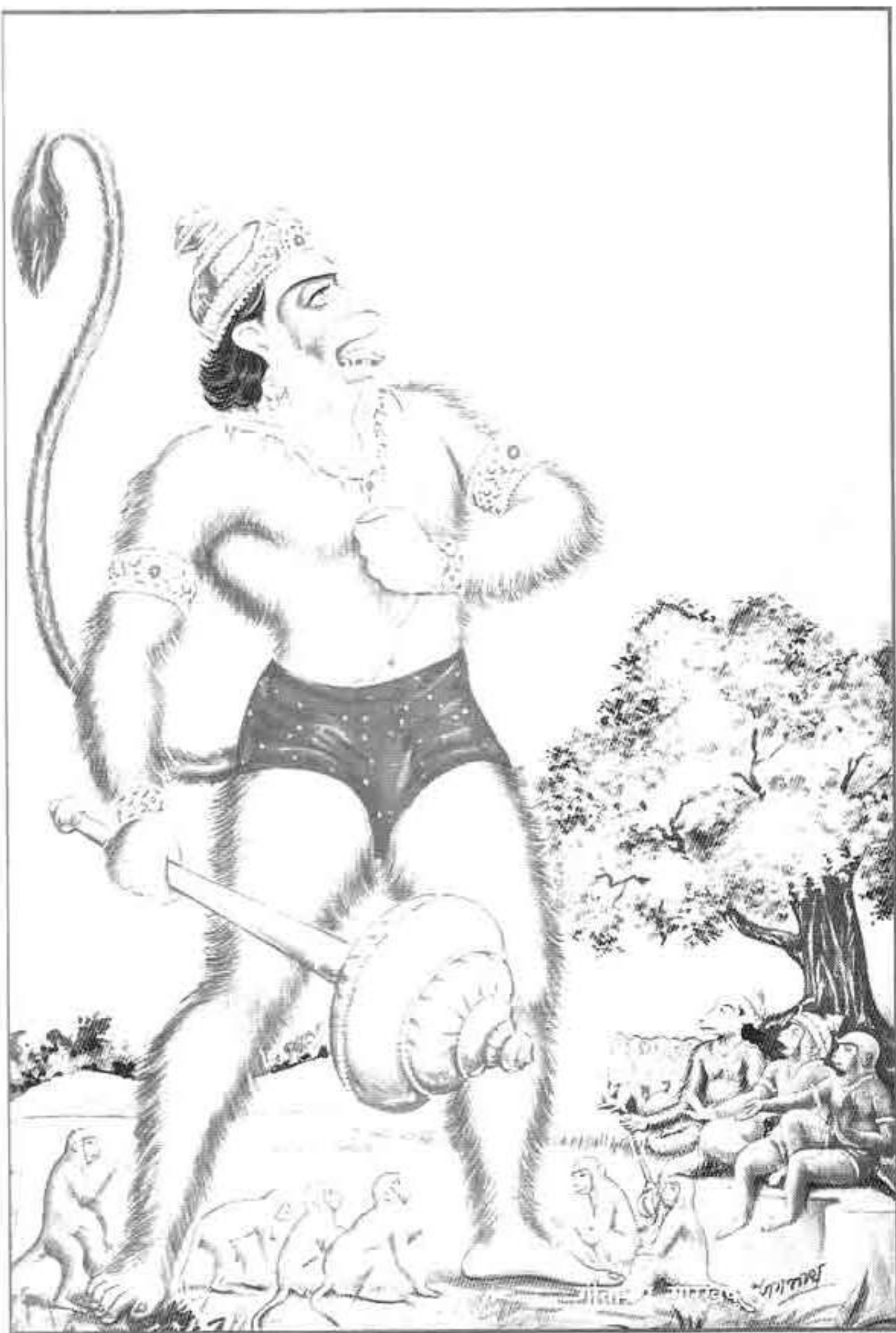
भूधराकार हनुमान्

Mountainous Hanumān
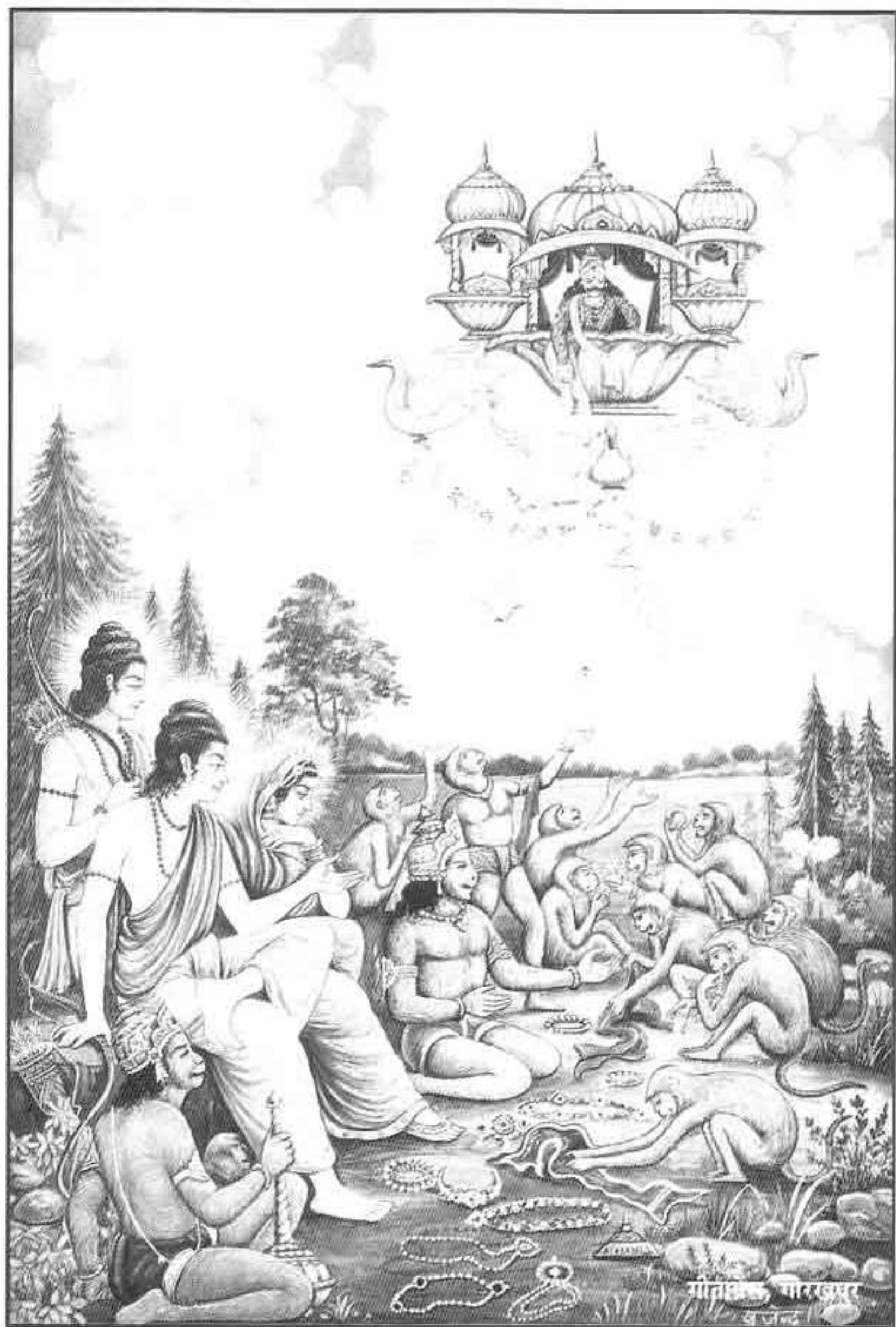
विभीषणद्वारा वस्त्राभूषणोंकी वर्षा   Vibhīṣaṇa showers ornaments and garments
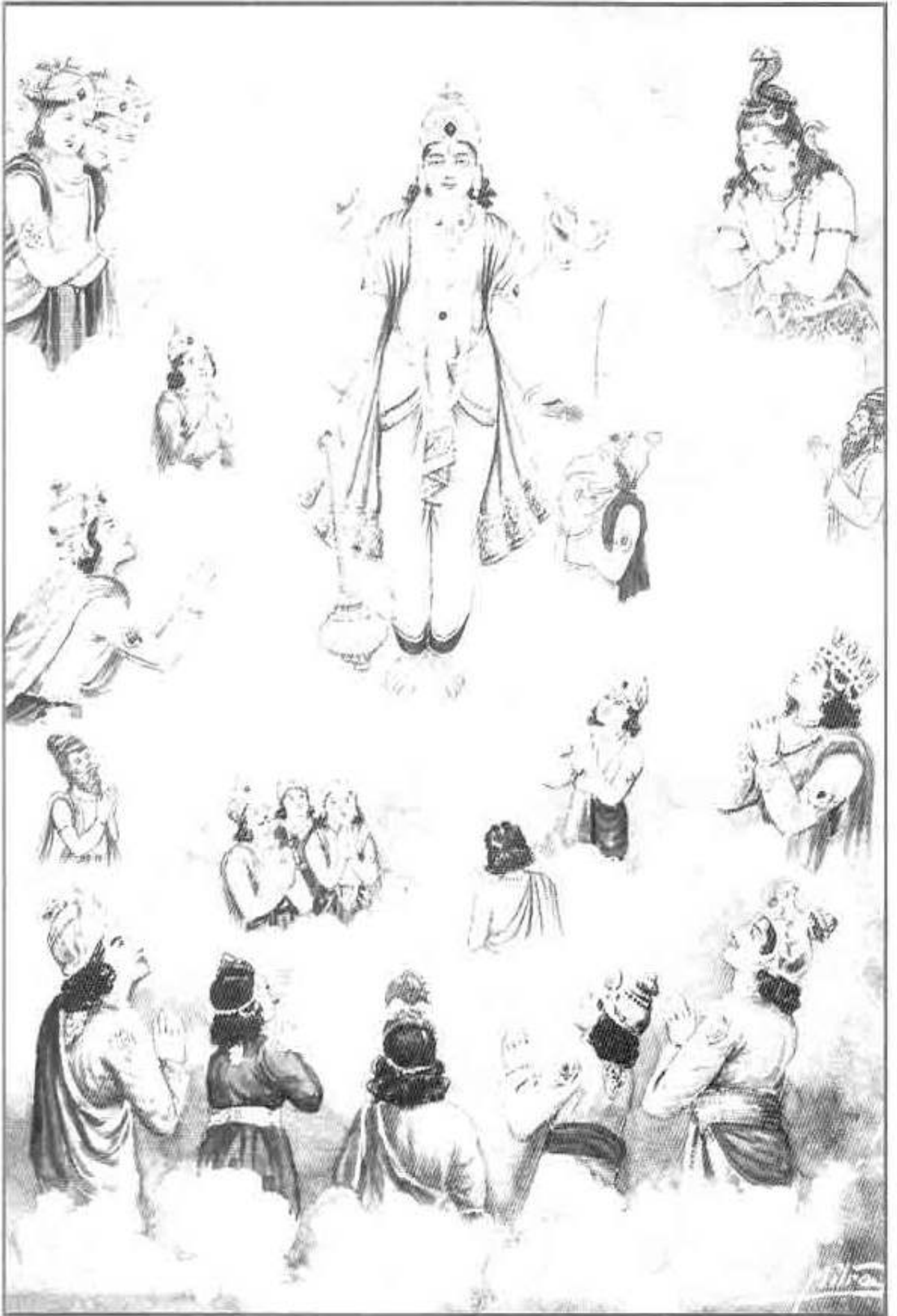
देवसभामें भगवान् विष्णु

Lord Viṣṇu in assembly of god
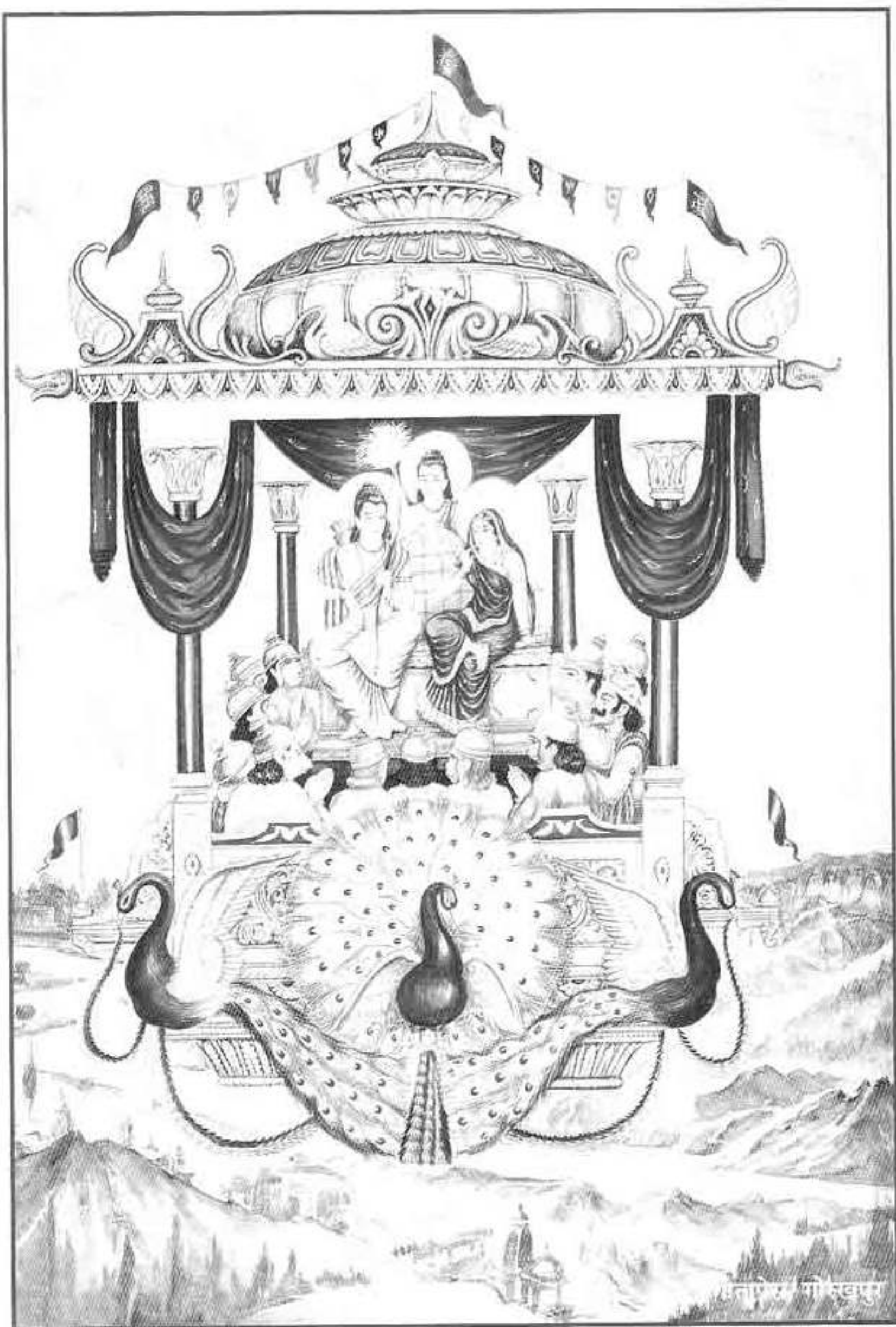
पुष्पकद्वारा अयोध्या-यात्रा

Journey to Ayodhyā by Puṣpaka
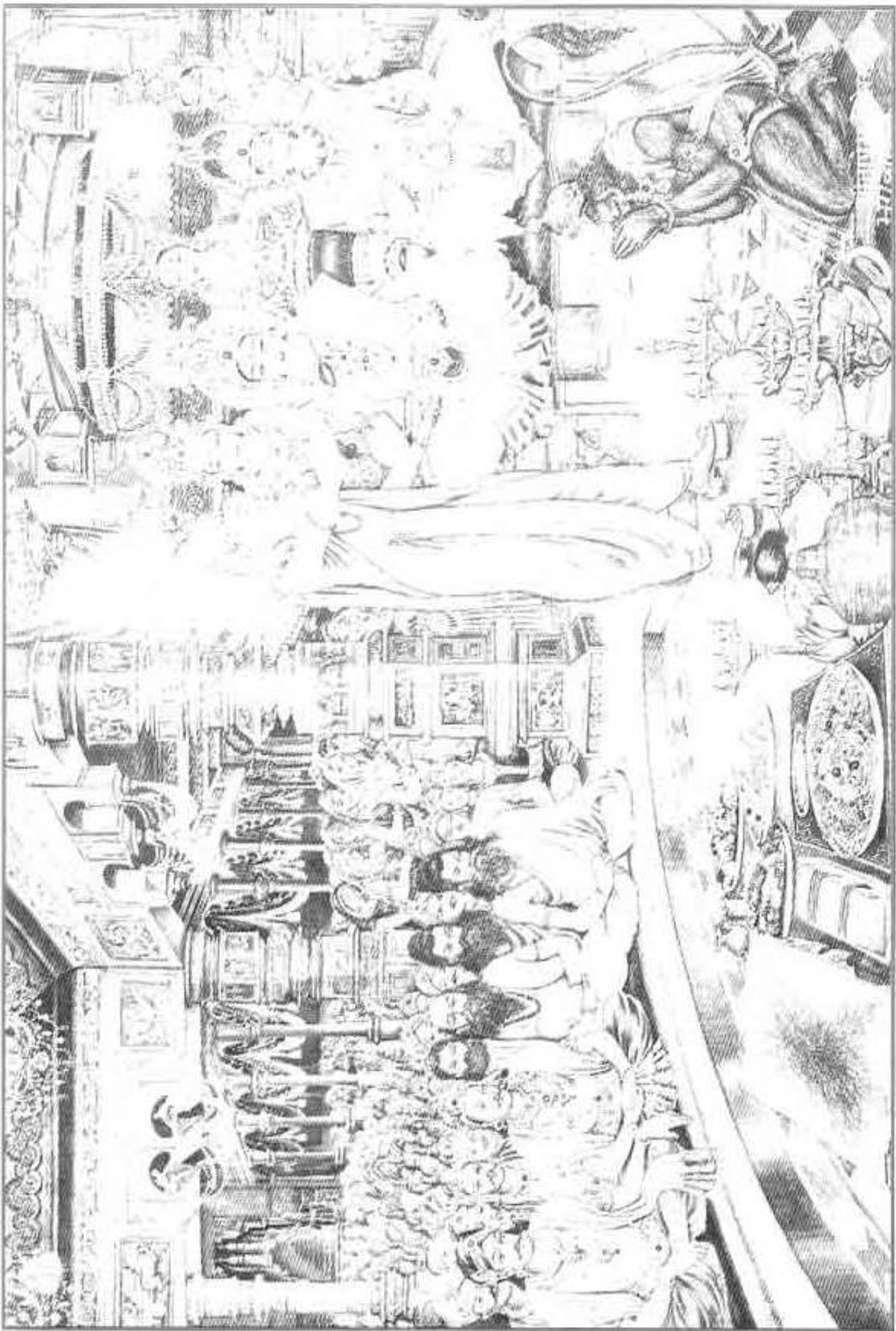
भगवान् श्रीरामका राज्याभिषेक

Coronation of Lord Śrī Rāma

सीता-त्यागके पश्चात् लक्ष्मण श्रीरामके सान्निध्यमें   Lakṣmaṇa with Śrī Rāma after abandoning Sītā

'जानकीजीका दर्शन न मिलनेपर मैं यहाँ वानप्रस्थी हो जाऊँगा। मेरे हाथपर अपने-आप जो फल आदि खाद्य वस्तु आ जायगी, उसीको खाकर रहूँगा या परच्छासे मेरे मुँहमें जो फल आदि खाद्य वस्तु पड़ जायगी, उसीसे निर्वाह करूँगा तथा शौच, संतोष आदि नियमोंके पालनपूर्वक वृक्षके नीचे निवास करूँगा ॥ ४० ॥

सागरानूपजे देशे बहुमूलफलोदके।
चितिं कृत्वा प्रवेक्ष्यामि समिद्धमरणीसुतम् ॥ ४१ ॥

'अथवा सागरतटवर्ती स्थानमें, जहाँ फल-मूल और जलकी अधिकता होती है, मैं चिता बनाकर जलती हुई आगमें प्रवेश कर जाऊँगा ॥ ४१ ॥

उपविष्टस्य वा सम्यग् लिङ्गिनं साधयिष्यतः।
शरीरं भक्षयिष्यन्ति वायसाः श्वापदानि च ॥ ४२ ॥

'अथवा आमरण उपवासके लिये बैठकर लिङ्गशरीरधारी जीवात्माका शरीरसे वियोग करानेके प्रयत्नमें लगे हुए मेरे शरीरको कौवे तथा हिंसक जन्तु अपना आहार बना लेंगे ॥ ४२ ॥

इदमप्यृषिभिर्दृष्टं निर्याणमिति मे मतिः।
सम्यगापः प्रवेक्ष्यामि न चेत् पश्यामि जानकीम् ॥ ४३ ॥

'यदि मुझे जानकीजीका दर्शन नहीं हुआ तो मैं खुशी-खुशी जल-समाधि ले लूँगा। मेरे विचारसे इस तरह जल-प्रवेश करके परलोकगमन करना ऋषियोंकी दृष्टिमें भी उत्तम ही है ॥ ४३ ॥

सुजातमूला सुभगा कीर्तिमाला यशस्विनी।
प्रभग्ना चिररात्राय मम सीतामपश्यतः ॥ ४४ ॥

'जिसका प्रारम्भ शुभ है, ऐसी सुभगा, यशस्विनी और मेरी कीर्तिमालारूपा यह दीर्घ रात्रि भी सीताजीको देखे बिना ही बीत चली ॥ ४४ ॥

तापसो वा भविष्यामि नियतो वृक्षमूलिकः।
नेतः प्रतिगमिष्यामि तामदृष्ट्वासितेक्षणाम् ॥ ४५ ॥

'अथवा अब मैं नियमपूर्वक वृक्षके नीचे निवास करनेवाला तपस्वी हो जाऊँगा; किंतु उस असितलोचना सीताको देखे बिना यहाँसे कदापि नहीं लौटूँगा ॥ ४५ ॥

यदि तु प्रतिगच्छामि सीतामनधिगम्य ताम्।
अङ्गदः सहितः सर्वैर्वानरैर्न भविष्यति ॥ ४६ ॥

'यदि सीताका पता लगाये बिना ही मैं लौट जाऊँ तो समस्त वानरोंसहित अङ्गद जीवित नहीं रहेंगे ॥ ४६ ॥

विनाशे बहवो दोषा जीवन् प्राप्नोति भद्रकम्।
तस्मात् प्राणान् धरिष्यामि ध्रुवो जीवति संगमः ॥ ४७ ॥

'इस जीवनका नाश कर देनेमें बहुत-से दोष हैं। जो पुरुष जीवित रहता है, वह कभी-न-कभी अवश्य कल्याणका भागी होता है; अतः मैं इन प्राणोंको धारण किये रहूँगा। जीवित रहनेपर अभीष्ट वस्तु अथवा सुखकी प्राप्ति अवश्यम्भावी है' ॥ ४७ ॥

एवं बहुविधं दुःखं मनसा धारयन् बहु।
नाध्यगच्छत् तदा पारं शोकस्य कपिकुञ्जरः ॥ ४८ ॥

इस तरह मनमें अनेक प्रकारके दुःख धारण किये कपिकुञ्जर हनुमान्‌जी शोकका पार न पा सके ॥ ४८ ॥

ततो विक्रममासाद्य धैर्यवान् कपिकुञ्जरः।
रावणं वा वधिष्यामि दशग्रीवं महाबलम्।
काममस्तु हृता सीता प्रत्याचीर्णं भविष्यति ॥ ४९ ॥

तदनन्तर धैर्यवान् कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌ने पराक्रमका सहारा लेकर सोचा—'अथवा महाबली दशमुख रावणका ही वध क्यों न कर डालूँ। भले ही सीताका अपहरण हो गया हो, इस रावणको मार डालनेसे उस वैरका भरपूर बदला सध जायगा ॥ ४९ ॥

अथवैनं समुत्क्षिप्य उपर्युपरि सागरम्।
रामायोपहरिष्यामि पशुं पशुपतेरिव ॥ ५० ॥

'अथवा इसे उठाकर समुद्रके ऊपर-ऊपरसे ले जाऊँ और जैसे पशुपति (रुद्र या अग्नि) को पशु अर्पित किया जाय, उसी प्रकार श्रीरामके हाथमें इसको सौंप दूँ' ॥ ५० ॥

इति चिन्तासमापन्नः सीतामनधिगम्य ताम्।
ध्यानशोकपरीतात्मा चिन्तयामास वानरः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार सीताजीको न पाकर वे चिन्तामें निमग्न हो गये। उनका मन सीताके ध्यान और शोकमें डूब गया। फिर वे वानरवीर इस प्रकार विचार करने लगे— ॥ ५१ ॥

यावत् सीतां न पश्यामि रामपत्नीं यशस्विनीम्।
तावदेतां पुरीं लङ्कां विचिनोमि पुनः पुनः ॥ ५२ ॥

'जबतक मैं यशस्विनी श्रीराम-पत्नी सीताका दर्शन न कर लूँगा, तबतक इस लङ्कापुरीमें बारंबार उनकी खोज करता रहूँगा ॥ ५२ ॥

सम्पातिवचनाच्चापि रामं यद्यानयाम्यहम्।
अपश्यन् राघवो भार्यां निर्दहेत् सर्ववानरान् ॥ ५३ ॥

'यदि सम्पातिके कहनेसे भी मैं श्रीरामको यहाँ बुला ले आऊँ तो अपनी पत्नीको यहाँ न देखनेपर श्रीरघुनाथजी समस्त वानरोंको जलाकर भस्म कर देंगे ॥ ५३ ॥

इहैव नियताहारो वत्स्यामि नियतेन्द्रियः।
न मत्कृते विनश्येयुः सर्वे ते नरवानराः ॥ ५४ ॥

'अतः यहाँ नियमित आहार और इन्द्रियोंके संयमपूर्वक निवास करूँगा। मेरे कारण वे समस्त नर और वानर नष्ट न हों ॥ ५४ ॥

अशोकवनिका चापि महतीयं महाद्रुमा।
इमामधिगमिष्यामि नहीयं विचिता मया ॥ ५५ ॥

'इधर यह बहुत बड़ी अशोकवाटिका है, इसके भीतर बड़े-बड़े वृक्ष हैं। इसमें मैंने अभीतक अनुसंधान नहीं किया है, अतः अब इसीमें चलकर ढूँढूँगा ॥ ५५ ॥

वसून् रुद्रांस्तथाऽऽदित्यानश्विनौ मरुतोऽपि च।
नमस्कृत्वा गमिष्यामि रक्षसां शोकवर्धनः॥ ५६॥

'राक्षसोंके शोकको बढ़ानेवाला मैं यहाँसे वसु, रुद्र, आदित्य, अश्विनीकुमार और मरुद्गणोंको नमस्कार करके अशोकवाटिकामें चलूँगा॥ ५६॥

जित्वा तु राक्षसान् देवीमिक्ष्वाकुकुलनन्दिनीम्।
सम्प्रदास्यामि रामाय सिद्धीमिव तपस्विने॥ ५७॥

'वहाँ समस्त राक्षसोंको जीतकर जैसे तपस्वीको सिद्धि प्रदान की जाती है, इसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजीके हाथमें इक्ष्वाकुकुलको आनन्दित करनेवाली देवी सीताको सौंप दूँगा'॥ ५७॥

स मुहूर्तमिव ध्यात्वा चिन्ताविग्रथितेन्द्रियः।
उदतिष्ठन् महाबाहुर्हनूमान् मारुतात्मजः॥ ५८॥
नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय
देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै।
नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो
नमोऽस्तु चन्द्राग्निमरुद्गणेभ्यः॥ ५९॥

इस प्रकार दो घड़ीतक सोच-विचारकर चिन्तासे शिथिल इन्द्रियवाले महाबाहु पवनकुमार हनुमान् सहसा उठकर खड़े हो गये (और देवताओंको नमस्कार करते हुए बोले—) 'लक्ष्मणसहित श्रीरामको नमस्कार है। जनकनन्दिनी सीता देवीको भी नमस्कार है। रुद्र, इन्द्र, यम और वायु देवताको नमस्कार है तथा चन्द्रमा, अग्नि एवं मरुद्गणोंको भी नमस्कार है'॥ ५८-५९॥

स तेभ्यस्तु नमस्कृत्वा सुग्रीवाय च मारुतिः।
दिशः सर्वाः समालोक्य सोऽशोकवनिकां प्रति॥ ६०॥

इस प्रकार उन सबको तथा सुग्रीवको भी नमस्कार करके पवनकुमार हनुमान्‌जी सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर दृष्टिपात करके अशोकवाटिकामें जानेको उद्यत हुए॥ ६०॥

स गत्वा मनसा पूर्वमशोकवनिकां शुभाम्।
उत्तरं चिन्तयामास वानरो मारुतात्मजः॥ ६१॥

उन वानरवीर पवनकुमारने पहले मनके द्वारा ही उस सुन्दर अशोकवाटिकामें जाकर भावी कर्तव्यका इस प्रकार चिन्तन किया॥ ६१॥

ध्रुवं तु रक्षोबहुला भविष्यति वनाकुला।
अशोकवनिका पुण्या सर्वसंस्कारसंस्कृता॥ ६२॥

'वह पुण्यमयी अशोकवाटिका सींचने-कोड़ने आदि सब प्रकारके संस्कारोंसे सँवारी गयी है। वह दूसरे-दूसरे वनोंसे भी घिरी हुई है; अतः उसकी रक्षाके लिये वहाँ निश्चय ही बहुत-से राक्षस तैनात किये गये होंगे॥ ६२॥

रक्षिणश्चात्र विहिता नूनं रक्षन्ति पादपान्।
भगवानपि विश्वात्मा नातिक्षोभं प्रवायति॥ ६३॥

'राक्षसराजके नियुक्त किये हुए रक्षक अवश्य ही वहाँके वृक्षोंकी रक्षा करते होंगे; इसलिये जगत्‌के प्राणस्वरूप भगवान् वायुदेव भी वहाँ अधिक वेगसे नहीं बहते होंगे॥ ६३॥

संक्षिप्तोऽयं मयाऽऽत्मा च रामार्थे रावणस्य च।
सिद्धिं दिशन्तु मे सर्वे देवाः सर्षिगणास्त्विह॥ ६४॥

'मैंने श्रीरामचन्द्रजीके कार्यकी सिद्धि तथा रावणसे अदृश्य रहनेके लिये अपने शरीरको संकुचित करके छोटा बना लिया है। मुझे इस कार्यमें ऋषियोंसहित समस्त देवता सिद्धि—सफलता प्रदान करें॥ ६४॥

ब्रह्मा स्वयम्भूर्भगवान् देवाश्चैव तपस्विनः।
सिद्धिमग्निश्च वायुश्च पुरुहूतश्च वज्रभृत्॥ ६५॥

'स्वयम्भू भगवान् ब्रह्मा, अन्य देवगण, तपोनिष्ठ महर्षि, अग्निदेव, वायु तथा वज्रधारी इन्द्र भी मुझे सफलता प्रदान करें॥ ६५॥

वरुणः पाशहस्तश्च सोमादित्यौ तथैव च।
अश्विनौ च महात्मानौ मरुतः सर्व एव च॥ ६६॥
सिद्धिं सर्वाणि भूतानि भूतानां चैव यः प्रभुः।
दास्यन्ति मम ये चान्येऽप्यदृष्टाः पथि गोचराः॥ ६७॥

'पाशधारी वरुण, सोम, आदित्य, महात्मा अश्विनीकुमार, समस्त मरुद्गण, सम्पूर्ण भूत और भूतोंके अधिपति तथा और भी जो मार्गमें दीखनेवाले एवं न दीखनेवाले देवता हैं, वे सब मुझे सिद्धि प्रदान करेंगे॥ ६६-६७॥

तदुन्नसं पाण्डुरदन्तमव्रणं
शुचिस्मितं पद्मपलाशलोचनम्।
द्रक्ष्ये तदार्यावदनं कदा न्वहं
प्रसन्नताराधिपतुल्यवर्चसम्॥ ६८॥

'जिसकी नाक ऊँची और दाँत सफेद हैं, जिसमें चेचक आदिके दाग नहीं हैं, जहाँ पवित्र मुसकानकी छटा छायी रहती है, जिसके नेत्र प्रफुल्ल कमलदलके समान सुशोभित होते हैं तथा जो निष्कलङ्क कलाधरके तुल्य कमनीय कान्तिसे युक्त है, वह आर्या सीताका मुख मुझे कब दिखायी देगा?॥ ६८॥

क्षुद्रेण हीनेन नृशंसमूर्तिना
सुदारुणालंकृतवेषधारिणा।
बलाभिभूता ह्यबला तपस्विनी
कथं नु मे दृष्टिपथेऽद्य सा भवेत्॥ ६९॥

'इस क्षुद्र, नीच, नृशंसरूपधारी और अत्यन्त दारुण होनेपर भी अलंकारयुक्त विश्वसनीय वेष धारण करनेवाले रावणने उस तपस्विनी अबलाको बलात् अपने अधीन कर लिया है। अब किस प्रकार वह मेरे दृष्टिपथमें आ सकती है?'॥ ६९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे त्रयोदशः सर्गः॥ १३॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें तेरहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १३॥

चतुर्दशः सर्गः

हनुमान्जीका अशोकवाटिकामें प्रवेश करके उसकी शोभा देखना तथा एक अशोकवृक्षपर छिपे रहकर वहींसे सीताका अनुसन्धान करना

स मुहूर्तमिव ध्यात्वा मनसा चाधिगम्य ताम्।
अवप्लुतो महातेजाः प्राकारं तस्य वेश्मनः॥ १॥

महातेजस्वी हनुमान्जी एक मुहूर्ततक इसी प्रकार विचार करते रहे। तत्पश्चात् मन-ही-मन सीताजीका ध्यान करके वे रावणके महलसे कूद पड़े और अशोकवाटिकाकी चहारदीवारीपर चढ़ गये॥ १॥

स तु संहृष्टसर्वाङ्गः प्राकारस्थो महाकपिः।
पुष्पिताग्रान् वसन्तादौ ददर्श विविधान् द्रुमान्॥ २॥

उस चहारदीवारीपर बैठे हुए महाकपि हनुमान्जीके सारे अङ्गोंमें हर्षजनित रोमाञ्च हो आया। उन्होंने वसन्तके आरम्भमें वहाँ नाना प्रकारके वृक्ष देखे, जिनकी डालियोंके अग्रभाग फूलोंके भारसे लदे थे॥ २॥

सालानशोकान् भव्यांश्च चम्पकांश्च सुपुष्पितान्।
उद्दालकान् नागवृक्षांश्चूतान् कपिमुखानपि॥ ३॥
तथाऽऽम्रवणसम्पन्नाँल्लताशतसमन्वितान्।
ज्यामुक्त इव नाराचः पुप्लुवे वृक्षवाटिकाम्॥ ४॥

वहाँ साल, अशोक, निम्ब और चम्पाके वृक्ष खूब खिले हुए थे। बहुवार, नागकेसर और बन्दरके मुँहकी भाँति लाल फल देनेवाले आम भी पुष्प एवं मञ्जरियोंसे सुशोभित हो रहे थे। अमराइयोंसे युक्त वे सभी वृक्ष शत-शत लताओंसे आवेष्टित थे। हनुमान्जी प्रत्यञ्चासे छूटे हुए बाणके समान उछले और उन वृक्षोंकी वाटिकामें जा पहुँचे॥ ३-४॥

स प्रविश्य विचित्रां तां विहगैरभिनादिताम्।
राजतैः काञ्चनैश्चैव पादपैः सर्वतो वृताम्॥ ५॥
विहगैर्मृगसङ्घैश्च विचित्रां चित्रकाननाम्।
उदितादित्यसंकाशां ददर्श हनुमान् बली॥ ६॥

वह विचित्र वाटिका सोने और चाँदीके समान वर्णवाले वृक्षोंद्वारा सब ओरसे घिरी हुई थी। उसमें नाना प्रकारके पक्षी कलरव कर रहे थे, जिससे वह सारी वाटिका गूँज रही थी। उसके भीतर प्रवेश करके बलवान् हनुमान्जीने उसका निरीक्षण किया। भाँति-भाँतिके विहंगमों और मृगसमूहोंसे उसकी विचित्र शोभा हो रही थी। वह विचित्र काननोंसे अलंकृत थी और नवोदित सूर्यके समान अरुण रंगकी दिखायी देती थी॥ ५-६॥

वृतां नानाविधैर्वृक्षैः पुष्पोपगफलोपगैः।
कोकिलैर्भृङ्गराजैश्च मत्तैर्नित्यनिषेविताम्॥ ७॥

फूलों और फलोंसे लदे हुए नाना प्रकारके वृक्षोंसे व्याप्त हुई उस अशोकवाटिकाका मतवाले कोकिल और भ्रमर सेवन करते थे॥ ७॥

प्रहृष्टमनुजां काले मृगपक्षिमदाकुलाम्।
मत्तबर्हिणसंघुष्टां नानाद्विजगणायुताम्॥ ८॥

वह वाटिका ऐसी थी, जहाँ जानेसे हर समय लोगोंके मनमें प्रसन्नता होती थी। मृग और पक्षी मदमत्त हो उठते थे। मतवाले मोरोंका कलनाद वहाँ निरन्तर गूँजता रहता था और नाना प्रकारके पक्षी वहाँ निवास करते थे॥ ८॥

मार्गमाणो वरारोहां राजपुत्रीमनिन्दिताम्।
सुखप्रसुप्तान् विहगान् बोधयामास वानरः॥ ९॥

उस वाटिकामें सती-साध्वी सुन्दरी राजकुमारी सीताकी खोज करते हुए वानरवीर हनुमान्ने घोंसलोंमें सुखपूर्वक सोये हुए पक्षियोंको जगा दिया॥ ९॥

उत्पतद्भिर्द्विजगणैः पक्षैर्वातैः समाहताः।
अनेकवर्णा विविधा मुमुचुः पुष्पवृष्टयः॥ १०॥

उड़ते हुए विहंगमोंके पंखोंकी हवा लगनेसे वहाँके वृक्ष अनेक प्रकारके रंग-बिरंगे फूलोंकी वर्षा करने लगे॥ १०॥

पुष्पावकीर्णः शुशुभे हनुमान् मारुतात्मजः।
अशोकवनिकामध्ये यथा पुष्पमयो गिरिः॥ ११॥

उस समय पवनकुमार हनुमान्जी उन फूलोंसे आच्छादित होकर ऐसी शोभा पाने लगे, मानो उस अशोकवनमें कोई फूलोंका बना हुआ पहाड़ शोभा पा रहा हो॥ ११॥

दिशः सर्वाभिधावन्तं वृक्षखण्डगतं कपिम्।
दृष्ट्वा सर्वाणि भूतानि वसन्त इति मेनिरे॥ १२॥

सम्पूर्ण दिशाओंमें दौड़ते और वृक्षसमूहोंमें घूमते हुए कपिवर हनुमान्जीको देखकर समस्त प्राणी एवं राक्षस ऐसा मानने लगे कि साक्षात् ऋतुराज वसन्त ही यहाँ वानरवेशमें विचर रहा है॥ १२॥

वृक्षेभ्यः पतितैः पुष्पैरवकीर्णा पृथग्विधैः।
रराज वसुधा तत्र प्रमदेव विभूषिता॥ १३॥

वृक्षोंसे झड़कर गिरे हुए भाँति-भाँतिके फूलोंसे आच्छादित हुई वहाँकी भूमि फूलोंके शृङ्गारसे विभूषित हुई युवती स्त्रीके समान शोभा पाने लगी॥ १३॥

तरस्विना ते तरवस्तरसा बहु कम्पिताः।
कुसुमानि विचित्राणि ससृजुः कपिना तदा॥ १४॥

उस समय उन वेगशाली वानरवीरके द्वारा वेगपूर्वक बारंबार हिलाये हुए वे वृक्ष विचित्र पुष्पोंकी वर्षा कर रहे थे॥ १४॥

निर्धूतपत्रशिखराः शीर्णपुष्पफलद्रुमाः।
निक्षिप्तवस्त्राभरणा धूर्ता इव पराजिताः॥ १५॥

इस प्रकार डालियोंके पत्ते झड़ जाने तथा फल-फूल और

पल्लवोंके टूटकर बिखर जानेसे नंग-धड़ंग दिखायी देनेवाले वे वृक्ष उन हारे हुए जुआरियोंके समान जान पड़ते थे, जिन्होंने अपने गहने और कपड़े भी दाँवपर रख दिये हों॥ १५॥

हनूमता वेगवता कम्पितास्ते नगोत्तमाः।
पुष्पपत्रफलान्याशु मुमुचुः फलशालिनः॥ १६॥

वेगशाली हनुमान्‌जीके हिलाये हुए वे फलशाली श्रेष्ठ वृक्ष तुरंत ही अपने फल-फूल और पत्तोंका परित्याग कर देते थे॥ १६॥

विहङ्गसङ्घैर्हीनास्ते स्कन्धमात्राश्रया द्रुमाः।
बभूवुरगमाः सर्वे मारुतेन विनिर्धुताः॥ १७॥

पवनपुत्र हनुमान्‌द्वारा कम्पित किये गये वे वृक्ष फल-फूल आदिके न होनेसे केवल डालियोंके आश्रय बने हुए थे; पक्षियोंके समुदाय भी उन्हें छोड़कर चल दिये थे। उस अवस्थामें वे सब-के-सब प्राणिमात्रके लिये अगम्य (असेवनीय) हो गये थे॥ १७॥

विधूतकेशी युवतिर्यथा मृदितवर्णका।
निपीतशुभदन्तोष्ठी नखैर्दन्तैश्च विक्षता॥ १८॥
तथा लाङ्गूलहस्तैस्तु चरणाभ्यां च मर्दिता।
तथैवाशोकवनिका प्रभग्नवनपादपा॥ १९॥

जिसके केश खुल गये हैं, अङ्गराग मिट गये हैं, सुन्दर दन्तावलीसे युक्त अधर-सुधाका पान कर लिया गया है तथा जिसके कतिपय अङ्ग नखक्षत एवं दन्तक्षतसे उपलक्षित हो रहे हैं, प्रियतमके उपभोगमें आयी हुई उस युवतीके समान ही उस अशोकवाटिकाकी भी दशा हो रही थी। हनुमान्‌जीके हाथ-पैर और पूँछसे रौंदी जा चुकी थी तथा उसके अच्छे-अच्छे वृक्ष टूटकर गिर गये थे; इसलिये वह श्रीहीन हो गयी थी॥ १८-१९॥

महालतानां दामानि व्यधमत् तरसा कपिः।
यथा प्रावृषि वेगेन मेघजालानि मारुतः॥ २०॥

जैसे वायु वर्षा-ऋतुमें अपने वेगसे मेघसमूहोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार कपिवर हनुमान्‌ने वहाँ फैली हुई विशाल लता-वल्लरियोंके वितान वेगपूर्वक तोड़ डाले॥ २०॥

स तत्र मणिभूमीश्च राजतीश्च मनोरमाः।
तथा काञ्चनभूमीश्च विचरन् ददृशे कपिः॥ २१॥

वहाँ विचरते हुए उन वानरवीरने पृथक्-पृथक् ऐसी मनोरम भूमियोंका दर्शन किया, जिनमें मणि, चाँदी एवं सोने जड़े गये थे॥ २१॥

वापीश्च विविधाकाराः पूर्णाः परमवारिणा।
महार्हैर्मणिसोपानैरुपपन्नास्ततस्ततः॥ २२॥
मुक्ताप्रवालसिकताः स्फाटिकान्तरकुट्टिमाः।
काञ्चनैस्तरुभिश्चित्रैस्तीरजैरुपशोभिताः॥ २३॥

उस वाटिकामें उन्होंने जहाँ-तहाँ विभिन्न आकारोंकी बावड़ियाँ देखीं, जो उत्तम जलसे भरी हुई और मणिमय सोपानोंसे युक्त थीं। उनके भीतर मोती और मूँगोंकी बालुकाएँ थीं। जलके नीचेकी फर्श स्फटिक मणिकी बनी हुई थी और उन बावड़ियोंके तटोंपर तरह-तरहके विचित्र सुवर्णमय वृक्ष शोभा दे रहे थे॥ २२-२३॥

बुद्धपद्मोत्पलवनाश्चक्रवाकोपशोभिताः।
नत्यूहरुतसंघुष्टा हंससारसनादिताः॥ २४॥

उनमें खिले हुए कमलोंके वन और चक्रवाकोंके जोड़े शोभा बढ़ा रहे थे तथा पपीहा, हंस और सारसोंके कलनाद गूँज रहे थे॥ २४॥

दीर्घाभिर्द्रुमयुक्ताभिः सरिद्भिश्च समन्ततः।
अमृतोपमतोयाभिः शिवाभिरुपसंस्कृताः॥ २५॥

अनेकानेक विशाल, तटवर्ती वृक्षोंसे सुशोभित, अमृतके समान मधुर जलसे पूर्ण तथा सुखदायिनी सरिताएँ चारों ओरसे उन बावड़ियोंका सदा संस्कार करती थीं (उन्हें स्वच्छ जलसे परिपूर्ण बनाये रखती थीं)॥ २५॥

लताशतैरवतताः संतानकुसुमावृताः।
नानागुल्मावृतवनाः करवीरकृतान्तराः॥ २६॥

उनके तटोंपर सैकड़ों प्रकारकी लताएँ फैली हुई थीं। खिले हुए कल्पवृक्षोंने उन्हें चारों ओरसे घेर रखा था। उनके जल नाना प्रकारकी झाड़ियोंसे ढके हुए थे तथा बीच-बीचमें खिले हुए कनेरके वृक्ष गवाक्षकी-सी शोभा पाते थे॥ २६॥

ततोऽम्बुधरसंकाशं प्रवृद्धशिखरं गिरिम्।
विचित्रकूटं कूटैश्च सर्वतः परिवारितम्॥ २७॥
शिलागृहैरवततं नानावृक्षसमावृतम्।
ददर्श कपिशार्दूलो रम्यं जगति पर्वतम्॥ २८॥

फिर वहाँ कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌ने एक मेघके समान काला और ऊँचे शिखरोंवाला पर्वत देखा, जिसकी चोटियाँ बड़ी विचित्र थीं। उसके चारों ओर दूसरे-दूसरे भी बहुत-से पर्वत-शिखर शोभा पाते थे। उसमें बहुत-सी पत्थरकी गुफाएँ थीं और उस पर्वतपर अनेकानेक वृक्ष उगे हुए थे। वह पर्वत संसारभरमें बड़ा रमणीय था॥ २७-२८॥

ददर्श च नगात् तस्मान्नदीं निपतितां कपिः।
अङ्कादिव समुत्पत्य प्रियस्य पतितां प्रियाम्॥ २९॥

कपिवर हनुमान्‌ने उस पर्वतसे गिरी हुई एक नदी देखी, जो प्रियतमके अङ्कसे उछलकर गिरी हुई प्रियतमाके समान जान पड़ती थी॥ २९॥

जले निपतिताग्रैश्च पादपैरुपशोभिताम्।
वार्यमाणामिव क्रुद्धां प्रमदां प्रियबन्धुभिः॥ ३०॥

जिनकी डालियाँ नीचे झुककर पानीसे लग गयी थीं, ऐसे तटवर्ती वृक्षोंसे उस नदीकी वैसी ही शोभा हो रही थी, मानो प्रियतमसे रूठकर अन्यत्र जाती हुई युवतीको उसकी प्यारी

सरित्वयाँ उसे आगे बढ़नेसे रोक रही हों ॥ ३० ॥

पुनरावृत्ततोयां च ददर्श स महाकपिः ।
प्रसन्नामिव कान्तस्य कान्तां पुनरुपस्थिताम् ॥ ३१ ॥

फिर उन महाकपिने देखा कि वृक्षोंकी उन डालियोंसे टकराकर उस नदीके जलका प्रवाह पीछेकी ओर मुड़ गया है। मानो प्रसन्न हुई प्रेयसी पुनः प्रियतमकी सेवामें उपस्थित हो रही हो ॥ ३१ ॥

तस्यादूरात् स पद्मिन्यो नानाद्विजगणायुताः ।
ददर्श कपिशार्दूलो हनूमान् मारुतात्मजः ॥ ३२ ॥

उस पर्वतसे थोड़ी ही दूरपर कपिश्रेष्ठ पवनपुत्र हनुमान्‌ने बहुत-से कमलमण्डित सरोवर देखे, जिनमें नाना प्रकारके पक्षी चहचहा रहे थे ॥ ३२ ॥

कृत्रिमां दीर्घिकां चापि पूर्णां शीतेन वारिणा ।
मणिप्रवरसोपानां मुक्तासिकतशोभिताम् ॥ ३३ ॥

उनके सिवा उन्होंने एक कृत्रिम तालाब भी देखा, जो शीतल जलसे भरा हुआ था। उसमें श्रेष्ठ मणियोंकी सीढ़ियाँ बनी थीं और वह मोतियोंकी बालुकाराशिसे सुशोभित था ॥ ३३ ॥

विविधैर्मृगसङ्घैश्च विचित्रां चित्रकाननाम् ।
प्रासादैः सुमहद्भिश्च निर्मितैर्विश्वकर्मणा ॥ ३४ ॥
काननैः कृत्रिमैश्चापि सर्वतः समलंकृताम् ।

उस अशोकवाटिकामें विश्वकर्माके बनाये हुए बड़े-बड़े महल और कृत्रिम कानन सब ओरसे उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। नाना प्रकारके मृगसमूहोंसे उसकी विचित्र शोभा हो रही थी। उस वाटिकामें विचित्र वन-उपवन शोभा दे रहे थे ॥३४½॥

ये केचित् पादपास्तत्र पुष्पोपगफलोपगाः ॥ ३५ ॥
सच्छत्राः सवितर्दीकाः सर्वे सौवर्णवेदिकाः ।

वहाँ जो कोई भी वृक्ष थे, वे सब फल-फूल देनेवाले थे, छत्रकी भाँति घनी छाया किये रहते थे। उन सबके नीचे चाँदीकी और उसके ऊपर सोनेकी वेदियाँ बनी हुई थीं ॥३५½॥

लताप्रतानैर्बहुभिः पर्णैश्च बहुभिर्वृताम् ॥ ३६ ॥
काञ्चनीं शिंशपामेकां ददर्श स महाकपिः ।
वृतां हेममयीभिस्तु वेदिकाभिः समन्ततः ॥ ३७ ॥

तदनन्तर महाकपि हनुमान्‌ने एक सुवर्णमयी शिंशपा (अशोक) का वृक्ष देखा, जो बहुत-से लतावितानों और अगणित पत्तोंसे व्याप्त था। वह वृक्ष भी सब ओरसे सुवर्णमयी वेदिकाओंसे घिरा था ॥ ३६-३७ ॥

सोऽपश्यद् भूमिभागांश्च नगप्रस्रवणानि च ।
सुवर्णवृक्षानपरान् ददर्श शिखिसंनिभान् ॥ ३८ ॥

इसके सिवा उन्होंने और भी बहुत-से खुले मैदान, पहाड़ी झरने और अग्निके समान दीप्तिमान् सुवर्णमय वृक्ष देखे ॥ ३८ ॥

तेषां द्रुमाणां प्रभया मेरोरिव महाकपिः ।
अमन्यत तदा वीरः काञ्चनोऽस्मीति सर्वतः ॥ ३९ ॥

उस समय वीर महाकपि हनुमान्‌जीने सुमेरुके समान उन वृक्षोंकी प्रभाके कारण अपनेको भी सब ओरसे सुवर्णमय ही समझा ॥ ३९ ॥

तान् काञ्चनान् वृक्षगणान् मारुतेन प्रकम्पितान् ।
किङ्किणीशतनिर्घोषान् दृष्ट्वा विस्मयमागमत् ॥ ४० ॥
सुपुष्पिताग्रान् रुचिरांस्तरुणाङ्कुरपल्लवान् ।

वे सुवर्णमय वृक्षसमूह जब वायुके झोंके खाकर हिलने लगते, तब उनसे सैकड़ों घुँघुरुओंके बजनेकी-सी मधुर ध्वनि होती थी। वह सब देखकर हनुमान्‌जीको बड़ा विस्मय हुआ। उन वृक्षोंकी डालियोंमें सुन्दर फूल खिले हुए थे और नये-नये अङ्कुर तथा पल्लव निकले हुए थे, जिससे वे बड़े सुन्दर दिखायी देते थे ॥ ४०½ ॥

तामारुह्य महावेगः शिंशपां पर्णसंवृताम् ॥ ४१ ॥
इतो द्रक्ष्यामि वैदेहीं रामदर्शनलालसाम् ।
इतश्चेतश्च दुःखार्तां सम्पतन्तीं यदृच्छया ॥ ४२ ॥

महान् वेगशाली हनुमान्‌जी पत्तोंसे हरी-भरी उस शिंशपापर यह सोचकर चढ़ गये कि 'मैं यहींसे श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनके लिये उत्सुक हुई उन विदेहनन्दिनी सीताको देखूँगा, जो दुःखसे आतुर हो इच्छानुसार इधर-उधर जाती-आती होंगी ॥ ४१-४२ ॥

अशोकवनिका चेयं दृढं रम्या दुरात्मनः ।
चन्दनैश्चम्पकैश्चापि बकुलैश्च विभूषिता ॥ ४३ ॥
इयं च नलिनी रम्या द्विजसङ्घनिषेविता ।
इमां सा राजमहिषी नूनमेष्यति जानकी ॥ ४४ ॥

'दुरात्मा रावणकी यह अशोकवाटिका बड़ी ही रमणीय है। चन्दन, चम्पा और मौलसिरीके वृक्ष इसकी शोभा बढ़ा रहे हैं। इधर यह पक्षियोंसे सेवित कमलमण्डित सरोवर भी बड़ा सुन्दर है। राजरानी जानकी इसके तटपर निश्चय ही आती होंगी ॥ ४३-४४ ॥

सा रामा राजमहिषी राघवस्य प्रिया सती ।
वनसंचारकुशला ध्रुवमेष्यति जानकी ॥ ४५ ॥

'रघुनाथजीकी प्रियतमा राजरानी रामा सती-साध्वी जानकी वनमें घूमने-फिरनेमें बहुत कुशल हैं। वे अवश्य इधर आयेंगी ॥ ४५ ॥

अथवा मृगशावाक्षी वनस्यास्य विचक्षणा ।
वनमेष्यति साद्येह रामचिन्तासुकर्शिता ॥ ४६ ॥

'अथवा इस वनकी विशेषताओंके ज्ञानमें निपुण मृग-शावकनयनी सीता आज यहाँ इस तालाबके तटवर्ती वनमें अवश्य पधारेंगी; क्योंकि वे रामचन्द्रजीके वियोगकी चिन्तासे अत्यन्त दुबली हो गयी होंगी (और इस सुन्दर

स्थानमें आनेसे उनकी चिन्ता कुछ कम हो सकेगी) ॥ ४६ ॥

रामशोकाभिसंतप्ता सा देवी वामलोचना।
वनवासरता नित्यमेष्यते वनचारिणी ॥ ४७ ॥

'सुन्दर' नेत्रवाली देवी सीता भगवान् श्रीरामके विरह-शोकसे बहुत ही संतप्त होंगी। वनवासमें उनका सदा ही प्रेम रहा है, अतः वे वनमें विचरती हुई इधर अवश्य आयेंगी ॥ ४७ ॥

वनेचराणां सततं नूनं स्पृहयते पुरा।
रामस्य दयिता चार्या जनकस्य सुता सती ॥ ४८ ॥

'श्रीरामकी प्यारी पत्नी सती-साध्वी जनकनन्दिनी सीता पहले निश्चय ही वनवासी जन्तुओंसे सदा प्रेम करती रही होंगी। (इसलिये उनके लिये वनमें भ्रमण करना स्वाभाविक है, अतः यहाँ उनके दर्शनकी सम्भावना है ही) ॥ ४८ ॥

संध्याकालमनाः श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी।
नदीं चेमां शुभजलां संध्यार्थे वरवर्णिनी ॥ ४९ ॥

'यह प्रातःकालकी संध्या (उपासना) का समय है, इसमें मन लगानेवाली और सदा सोलह वर्षकी-सी अवस्थामें रहनेवाली अक्षययौवना जनककुमारी सुन्दरी सीता संध्याकालिक उपासनाके लिये इस पुण्यसलिला नदीके तटपर अवश्य पधारेंगी ॥ ४९ ॥

तस्याश्चाप्यनुरूपेयमशोकवनिका शुभा।
शुभाया: पार्थिवेन्द्रस्य पत्नी रामस्य सम्मता ॥ ५० ॥

'जो राजाधिराज श्रीरामचन्द्रजीकी समादरणीया पत्नी हैं, उन शुभलक्षणा सीताके लिये यह सुन्दर अशोकवाटिका भी सब प्रकारसे अनुकूल ही है ॥ ५० ॥

यदि जीवति सा देवी ताराधिपनिभानना।
आगमिष्यति सावश्यमिमां शीतजलां नदीम् ॥ ५१ ॥

'यदि चन्द्रमुखी सीता देवी जीवित हैं तो वे इस शीतल जलवाली सरिताके तटपर अवश्य पदार्पण करेंगी' ॥ ५१ ॥

एवं तु मत्वा हनुमान् महात्मा
प्रतीक्षमाणो मनुजेन्द्रपत्नीम्।
अवेक्षमाणश्च ददर्श सर्वं
सुपुष्पिते पर्णघने निलीनः ॥ ५२ ॥

ऐसा सोचते हुए महात्मा हनुमान्‌जी नरेन्द्रपत्नी सीताके शुभागमनकी प्रतीक्षामें तत्पर हो सुन्दर फूलोंसे सुशोभित तथा घने पत्तेवाले उस अशोकवृक्षपर छिपे रहकर उस सम्पूर्ण वनपर दृष्टिपात करते रहे ॥ ५२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें चौदहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशः सर्गः

वनकी शोभा देखते हुए हनुमान्‌जीका एक चैत्यप्रासाद (मन्दिर) के पास सीताको दयनीय अवस्थामें देखना, पहचानना और प्रसन्न होना

स वीक्षमाणस्तत्रस्थो मार्गमाणश्च मैथिलीम्।
अवेक्षमाणश्च महीं सर्वां तामन्ववैक्षत ॥ १ ॥

उस अशोकवृक्षपर बैठे-बैठे हनुमान्‌जी सम्पूर्ण वनको देखते और सीताको ढूँढ़ते हुए वहाँकी सारी भूमिपर दृष्टिपात करने लगे ॥ १ ॥

संतानकलताभिश्च पादपैरुपशोभिताम्।
दिव्यगन्धरसोपेतां सर्वतः समलंकृताम् ॥ २ ॥

वह भूमि कल्पवृक्षकी लताओं तथा वृक्षोंसे सुशोभित थी, दिव्य गन्ध तथा दिव्य रससे परिपूर्ण थी और सब ओरसे सजायी गयी थी ॥ २ ॥

तां स नन्दनसंकाशां मृगपक्षिभिरावृताम्।
हर्म्यप्रासादसम्बाधां कोकिलाकुलनिःस्वनाम् ॥ ३ ॥

मृगों और पक्षियोंसे व्याप्त होकर वह भूमि नन्दनवनके समान शोभा पा रही थी, अट्टालिकाओं तथा राजभवनोंसे युक्त थी तथा कोकिल-समूहोंकी काकलीसे कोलाहलपूर्ण जान पड़ती थी ॥ ३ ॥

काञ्चनोत्पलपद्माभिर्वापीभिरुपशोभिताम्।
बह्वासनकुथोपेतां बहुभूमिगृहायुताम् ॥ ४ ॥

सुवर्णमय उत्पल और कमलोंसे भरी हुई बावड़ियाँ उसकी शोभा बढ़ा रही थीं। बहुत-से आसन और कालीन वहाँ बिछे हुए थे। अनेकानेक भूमिगृह वहाँ शोभा पा रहे थे ॥ ४ ॥

सर्वर्तुकुसुमैः रम्यैः फलवद्भिश्च पादपैः।
पुष्पितानामशोकानां श्रिया सूर्योदयप्रभाम् ॥ ५ ॥

सभी ऋतुओंमें फूल देनेवाले और फलोंसे भरे हुए रमणीय वृक्ष उस भूमिको विभूषित कर रहे थे। खिले हुए अशोकोंकी शोभासे सूर्योदयकालकी छटा-सी छिटक रही थी ॥ ५ ॥

प्रदीप्तामिव तत्रस्थो मारुतिः समुदैक्षत।
निष्पत्रशाखां विहगैः क्रियमाणामिवासकृत् ॥ ६ ॥

पवनकुमार हनुमान्‌ने उस अशोकपर बैठे-बैठे ही उस दमकती हुई-सी वाटिकाको देखा। वहाँके पक्षी उस

लतिकाको बारंबार पत्रों और शाखाओंसे हीन कर रहे थे ॥ ६ ॥

विनिष्पतद्भिः शतशश्चित्रैः पुष्पावतंसकैः ।
समूलपुष्परचितैरशोकैः शोकनाशनैः ॥ ७ ॥
पुष्पभारातिभारैश्च स्पृशद्भिरिव मेदिनीम् ।
कर्णिकारैः कुसुमितैः किंशुकैश्च सुपुष्पितैः ॥ ८ ॥
स देशः प्रभया तेषां प्रदीप्त इव सर्वतः ।

वृक्षोंसे झड़ते हुए सैकड़ों विचित्र पुष्प-गुच्छोंसे नीचेसे ऊपरतक मानो फूलसे बने हुए शोकनाशक अशोकोंसे, फूलोंके भारी भारसे झुककर पृथ्वीका स्पर्श-सा करते हुए खिले हुए कनेरोंसे तथा सुन्दर फूलवाले पलाशोंसे उपलक्षित वह भूभाग उनकी प्रभाके कारण सब ओरसे उद्दीप्त-सा हो रहा था ॥ ७-८½ ॥

पुंनागाः सप्तपर्णाश्च चम्पकोद्दालकास्तथा ॥ ९ ॥
विवृद्धमूला बहवः शोभन्ते स्म सुपुष्पिताः ।

पुंनाग (श्वेत कमल या नागकेसर), छितवन, चम्पा तथा बहुवार आदि बहुत-से सुन्दर पुष्पवाले वृक्ष, जिनकी जड़ें बहुत मोटी थीं, वहाँ शोभा पा रहे थे ॥ ९½ ॥

शातकुम्भनिभाः केचित् केचिदग्निशिखप्रभाः ॥ १० ॥
नीलाञ्जननिभाः केचित् तत्राशोकाः सहस्रशः ।

वहाँ सहस्रों अशोकके वृक्ष थे, जिनमेंसे कुछ तो सुवर्णके समान कान्तिमान् थे, कुछ आगकी ज्वालाके समान प्रकाशित हो रहे थे और कोई-कोई काले काजलकी-सी कान्तिवाले थे ॥ १०½ ॥

नन्दनं विबुधोद्यानं चित्रं चैत्ररथं यथा ॥ ११ ॥
अतिवृत्तमिवाचिन्त्यं दिव्यं रम्यश्रियायुतम् ।

वह अशोकवन देवोद्यान नन्दनके समान आनन्ददायी, कुबेरके चैत्ररथ वनके समान विचित्र तथा उन दोनोंसे भी बढ़कर अचिन्त्य, दिव्य एवं रमणीय शोभासे सम्पन्न था ॥ ११½ ॥

द्वितीयमिव चाकाशं पुष्पज्योतिर्गणायुतम् ॥ १२ ॥
पुष्परत्नशतैश्चित्रं पञ्चमं सागरं यथा ।

वह पुष्परूपी नक्षत्रोंसे युक्त दूसरे आकाशके समान सुशोभित होता था तथा पुष्पमय सैकड़ों रत्नोंसे विचित्र शोभा पानेवाले पाँचवें समुद्रके समान जान पड़ता था ॥ १२½ ॥

सर्वर्तुपुष्पैर्निचितं पादपैर्मधुगन्धिभिः ॥ १३ ॥
नानानिनादैरुद्यानं रम्यं मृगगणद्विजैः ।
अनेकगन्धप्रवहं पुण्यगन्धं मनोहरम् ॥ १४ ॥
शैलेन्द्रमिव गन्धाढ्यं द्वितीयं गन्धमादनम् ।

सब ऋतुओंमें फूल देनेवाले मनोरम गन्धयुक्त वृक्षोंसे भरा हुआ तथा भाँति-भाँतिके कलरव करनेवाले मृगों और पक्षियोंसे सुशोभित वह उद्यान बड़ा रमणीय प्रतीत होता था। वह अनेक प्रकारकी सुगन्धका भार वहन करनेके कारण पवित्र गन्धसे युक्त और मनोहर जान पड़ता था। दूसरे गिरिराज गन्धमादनके समान उत्तम सुगन्धसे व्याप्त था ॥ १३-१४½ ॥

अशोकवनिकायां तु तस्यां वानरपुङ्गवः ॥ १५ ॥
स ददर्शाविदूरस्थं चैत्यप्रासादमूर्जितम् ।
मध्ये स्तम्भसहस्रेण स्थितं कैलासपाण्डुरम् ॥ १६ ॥
प्रवालकृतसोपानं तप्तकाञ्चनवेदिकम् ।
मुष्णन्तमिव चक्षूंषि द्योतमानमिव श्रिया ॥ १७ ॥
निर्मलं प्रांशुभावत्वादुल्लिखन्तमिवाम्बरम् ।

उस अशोकवाटिकामें वानर-शिरोमणि हनुमान्‌ने थोड़ी ही दूरपर एक गोलाकार ऊँचा मन्दिर देखा, जिसके भीतर एक हजार खंभे लगे हुए थे। वह मन्दिर कैलास पर्वतके समान श्वेत वर्णका था। उसमें मूँगेकी सीढ़ियाँ बनी थीं तथा तपाये हुए सोनेकी वेदियाँ बनायी गयी थीं। वह निर्मल प्रासाद अपनी शोभासे देदीप्यमान-सा हो रहा था। दर्शकोंकी दृष्टिमें चकाचौंध-सा पैदा कर देता था और बहुत ऊँचा होनेके कारण आकाशमें रेखा खींचता-सा जान पड़ता था ॥ १५—१७½ ॥

ततो मलिनसंवीतां राक्षसीभिः समावृताम् ॥ १८ ॥
उपवासकृशां दीनां निःश्वसन्तीं पुनः पुनः ।
ददर्श शुक्लपक्षादौ चन्द्ररेखामिवामलाम् ॥ १९ ॥

वह चैत्यप्रासाद (मन्दिर) देखनेके अनन्तर उनकी दृष्टि वहाँ एक सुन्दरी स्त्रीपर पड़ी, जो मलिन वस्त्र धारण किये राक्षसियोंसे घिरी हुई बैठी थी। वह उपवास करनेके कारण अत्यन्त दुर्बल और दीन दिखायी देती थी तथा बारंबार सिसक रही थी। शुक्लपक्षके आरम्भमें चन्द्रमाकी कला जैसी निर्मल और कृश दिखायी देती है, वैसी ही वह भी दृष्टिगोचर होती थी ॥ १८-१९ ॥

मन्दप्रख्यायमानेन रूपेण रुचिरप्रभाम् ।
पिनद्धां धूमजालेन शिखामिव विभावसोः ॥ २० ॥

धुँधली-सी स्मृतिके आधारपर कुछ-कुछ पहचाने जानेवाले अपने रूपसे वह सुन्दर प्रभा बिखेर रही थी और धूएँसे ढकी हुई अग्निकी ज्वालाके समान जान पड़ती थी ॥ २० ॥

पीतेनैकेन संवीतां क्लिष्टेनोत्तमवाससा ।
सपङ्कामनलंकारां विपद्मामिव पद्मिनीम् ॥ २१ ॥

एक ही पीले रंगके पुराने रेशमी वस्त्रसे उसका शरीर ढका हुआ था। वह मलिन, अलंकारशून्य होनेके कारण कमलोंसे रहित पुष्करिणीके समान श्रीहीन दिखायी देती थी ॥ २१ ॥

पीडितां दुःखसंतप्तां परिक्षीणां तपस्विनीम्।
ग्रहेणाङ्गारकेणेव पीडितामिव रोहिणीम्॥ २२॥

वह तपस्विनी मंगलग्रहसे आक्रान्त रोहिणीके समान शोकसे पीड़ित, दुःखसे संतप्त और सर्वथा क्षीणकाय हो रही थी॥ २२॥

अश्रुपूर्णमुखीं दीनां कृशामनशनेन च।
शोकध्यानपरां दीनां नित्यं दुःखपरायणाम्॥ २३॥

उपवाससे दुर्बल हुई उस दुःखिया नारीके मुँहपर आँसुओंकी धारा बह रही थी। वह शोक और चिन्तामें मग्न हो दीन दशामें पड़ी हुई थी एवं निरन्तर दुःखमें ही डूबी रहती थी॥ २३॥

प्रियं जनमपश्यन्तीं पश्यन्तीं राक्षसीगणम्।
स्वगणेन मृगीं हीनां श्वगणेनावृतामिव॥ २४॥

वह अपने प्रियजनोंको तो देख नहीं पाती थी। उसकी दृष्टिके समक्ष सदा राक्षसियोंका समूह ही बैठा रहता था। जैसे कोई मृगी अपने यूथसे बिछुड़कर कुत्तोंके झुंडसे घिर गयी हो, वही दशा उसकी भी हो रही थी॥ २४॥

नीलनागाभया वेण्या जघनं गतयैकया।
नीलया नीरदापाये वनराज्या महीमिव॥ २५॥

काली नागिनके समान कटिसे नीचेतक लटकी हुई एकमात्र काली वेणीके द्वारा उपलक्षित होनेवाली वह नारी बादलोंके हट जानेपर नीली वनश्रेणीसे घिरी हुई पृथ्वीके समान प्रतीत होती थी॥ २५॥

सुखार्हां दुःखसंतप्तां व्यसनानामकोविदाम्।
तां विलोक्य विशालाक्षीमधिकं मलिनां कृशाम्॥ २६॥
तर्कयामास सीतेति कारणैरुपपादिभिः।

वह सुख भोगनेके योग्य थी, किंतु दुःखसे संतप्त हो रही थी। इसके पहले उसे संकटोंका कोई अनुभव नहीं था। उस विशाल नेत्रोंवाली, अत्यन्त मलिन और क्षीणकाय अबलाका अवलोकन करके युक्तियुक्त कारणोंद्वारा हनुमान्‌जीने यह अनुमान किया कि हो-न-हो यही सीता है॥२६½॥

ह्रियमाणा तदा तेन रक्षसा कामरूपिणा॥ २७॥
यथारूपा हि दृष्टा सा तथारूपेयमङ्गना।

इच्छानुसार रूप धारण करनेवाला वह राक्षस जब सीताजीको हरकर ले जा रहा था, उस दिन जिस रूपमें उनका दर्शन हुआ था, कल्याणी नारी भी वैसे ही रूपसे युक्त दिखायी देती है॥२७½॥

पूर्णचन्द्राननां सुभ्रूं चारुवृत्तपयोधराम्॥ २८॥
कुर्वतीं प्रभया देवीं सर्वा वितिमिरा दिशः।

देवी सीताका मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर था। उनकी भौंहें बड़ी सुन्दर थीं। दोनों स्तन मनोहर और गोलाकार थे। वे अपनी अङ्गकान्तिसे सम्पूर्ण दिशाओंका अन्धकार दूर किये देती थीं॥२८½॥

तां नीलकण्ठीं बिम्बोष्ठीं सुमध्यां सुप्रतिष्ठिताम्॥ २९॥

उनके केश काले-काले और ओष्ठ बिम्बफलके समान लाल थे। कटिभाग बहुत ही सुन्दर था। सारे अङ्ग सुडौल और सुगठित थे॥ २९॥

सीतां पद्मपलाशाक्षीं मन्मथस्य रतिं यथा।
इष्टां सर्वस्य जगतः पूर्णचन्द्रप्रभामिव॥ ३०॥
भूमौ सुतनुमासीनां नियतामिव तापसीम्।
निःश्वासबहुलां भीरुं भुजगेन्द्रवधूमिव॥ ३१॥

कमलनयनी सीता कामदेवकी प्रेयसी रतिके समान सुन्दरी थीं, पूर्ण चन्द्रमाकी प्रभाके समान समस्त जगत्के लिये प्रिय थीं। उनका शरीर बहुत ही सुन्दर था। वे नियमपरायणा तापसीके समान भूमिपर बैठी थीं। यद्यपि वे स्वभावसे ही भीरु और चिन्ताके कारण बारंबार लंबी साँस खींचती थीं तो भी दूसरोंके लिये नागिनके समान भयंकर थीं॥ ३०-३१॥

शोकजालेन महता विततेन न राजतीम्।
संसक्तां धूमजालेन शिखामिव विभावसोः॥ ३२॥

वे विस्तृत महान् शोकजालसे आच्छादित होनेके कारण विशेष शोभा नहीं पा रही थीं। धूएँके समूहसे मिली हुई अग्निशिखाके समान दिखायी देती थीं॥ ३२॥

तां स्मृतीमिव संदिग्धामृद्धिं निपतितामिव।
विहतामिव च श्रद्धामाशां प्रतिहतामिव॥ ३३॥
सोपसर्गां यथा सिद्धिं बुद्धिं सकलुषामिव।
अभूतेनापवादेन कीर्तिं निपतितामिव॥ ३४॥

वे संदिग्ध अर्थवाली स्मृति, भूतलपर गिरी हुई ऋद्धि, टूटी हुई श्रद्धा, भग्न हुई आशा, विघ्नयुक्त सिद्धि, कलुषित बुद्धि और मिथ्या कलंकसे भ्रष्ट हुई कीर्तिके समान जान पड़ती थीं॥ ३३-३४॥

रामोपरोधव्यथितां रक्षोगणनिपीडिताम्।
अबलां मृगशावाक्षीं वीक्षमाणां ततस्ततः॥ ३५॥

श्रीरामचन्द्रजीकी सेवामें रुकावट पड़ जानेसे उनके मनमें बड़ी व्यथा हो रही थी। राक्षसोंसे पीड़ित हुई मृग-शावकनयनी अबला सीता असहायकी भाँति इधर-उधर देख रही थीं॥ ३५॥

बाष्पाम्बुपरिपूर्णेन कृष्णवक्राक्षिपक्ष्मणा।
वदनेनाप्रसन्नेन निःश्वसन्तीं पुनः पुनः॥ ३६॥

उनका मुख प्रसन्न नहीं था। उसपर आँसुओंकी धारा बह रही थी और नेत्रोंकी पलकें काली एवं टेढ़ी दिखायी देती थीं। वे बारंबार लंबी साँस खींचती थीं॥ ३६॥

मलपङ्कधरां दीनां मण्डनार्हाममण्डिताम्।
प्रभां नक्षत्रराजस्य कालमेघैरिवावृताम्॥ ३७॥

उनके शरीरपर मैल जम गयी थी। वे दीनताकी मूर्ति बनी बैठी थीं तथा शृङ्गार और भूषण धारण करनेके योग्य होनेपर भी अलंकारशून्य थीं, अतः काले बादलोंसे ढकी हुई चन्द्रमाकी प्रभाके समान जान पड़ती थीं॥ ३७॥

तस्य संदिदिहे बुद्धिस्तथा सीतां निरीक्ष्य च।
आम्नायानामयोगेन विद्यां प्रशिथिलामिव॥ ३८॥

अभ्यास न करनेसे शिथिल (विस्मृत) हुई विद्याके समान क्षीण हुई सीताको देखकर हनुमान्‌जीकी बुद्धि संदेहमें पड़ गयी॥ ३८॥

दुःखेन बुबुधे सीतां हनुमाननलंकृताम्।
संस्कारेण यथा हीनां वाचमर्थान्तरं गताम्॥ ३९॥

अलंकार तथा स्नान-अनुलेपन आदि अङ्गसंस्कारसे रहित हुई सीता व्याकरणादिजनित संस्कारसे शून्य होनेके कारण अर्थान्तरको प्राप्त हुई वाणीके समान पहचानी नहीं जा रही थीं। हनुमान्‌जीने बड़े कष्टसे उन्हें पहचाना॥ ३९॥

तां समीक्ष्य विशालाक्षीं राजपुत्रीमनिन्दिताम्।
तर्कयामास सीतेति कारणैरुपपादयन्॥ ४०॥

उन विशाललोचना सती-साध्वी राजकुमारीको देखकर उन्होंने कारणों (युक्तियों) द्वारा उपपादन करते हुए मनमें निश्चय किया कि यही सीता हैं॥ ४०॥

वैदेह्या यानि चाङ्गेषु तदा रामोऽन्वकीर्तयत्।
तान्याभरणजालानि गात्रशोभीन्यलक्षयत्॥ ४१॥

उन दिनों श्रीरामचन्द्रजीने विदेहकुमारीके अङ्गोंमें जिन-जिन आभूषणोंके होनेकी चर्चा की थी, वे ही आभूषण-समूह इस समय उनके अङ्गोंकी शोभा बढ़ा रहे थे। हनुमान्‌जीने इस बातको ओर लक्ष्य किया॥ ४१॥

सुकृतौ कर्णवेष्टौ च श्वदंष्ट्रौ च सुसंस्थितौ।
मणिविद्रुमचित्राणि हस्तेष्वाभरणानि च॥ ४२॥

सुन्दर बने हुए कुण्डल और कुत्तेके दाँतोंकी-सी आकृतिवाले त्रिकर्ण नामधारी कर्णफूल कानोंमें सुन्दर ढंगसे सुप्रतिष्ठित एवं सुशोभित थे। हाथोंमें कंगन आदि आभूषण थे, जिनमें मणि और मूँगे जड़े हुए थे॥ ४२॥

श्यामानि चिरयुक्तत्वात् तथा संस्थानवन्ति च।
तान्येवैतानि मन्येऽहं यानि रामोऽन्वकीर्तयत्॥ ४३॥
तत्र यान्यवहीनानि तान्यहं नोपलक्षये।
यान्यस्या नावहीनानि तानीमानि न संशयः॥ ४४॥

यद्यपि बहुत दिनोंसे पहने गये होनेके कारण वे कुछ काले पड़ गये थे, तथापि उनके आकार-प्रकार वैसे ही थे। (हनुमान्‌जीने सोचा—) 'श्रीरामचन्द्रजीने जिनकी चर्चा की थी, मेरी समझमें ये वे ही आभूषण हैं। सीताजीने जो आभूषण वहाँ गिरा दिये थे, उनको मैं इनके अङ्गोंमें नहीं देख रहा हूँ। इनके जो आभूषण मार्गमें गिराये नहीं गये थे, वे ही ये दिखायी देते हैं, इसमें संशय नहीं है॥ ४३-४४॥

पीतं कनकपट्टाभं स्रस्तं तद्वसनं शुभम्।
उत्तरीयं नगासक्तं तदा दृष्टं प्लवङ्गमैः॥ ४५॥
भूषणानि च मुख्यानि दृष्टानि धरणीतले।
अनयैवापविद्धानि स्वनवन्ति महान्ति च॥ ४६॥

'उस समय वानरोंने पर्वतपर गिराये हुए सुवर्णपत्रके समान जो सुन्दर पीला वस्त्र और पृथ्वीपर पड़े हुए उत्तमोत्तम बहुमूल्य एवं बजनेवाले आभूषण देखे थे, वे इन्हींके गिराये हुए थे॥ ४५-४६॥

इदं चिरगृहीतत्वाद् वसनं क्लिष्टवत्तरम्।
तथाप्यनूनं तद्वर्णं तथा श्रीमद्यथेतरत्॥ ४७॥

'यह वस्त्र बहुत दिनोंसे पहने जानेके कारण यद्यपि बहुत पुराना हो गया है, तथापि इसका पीला रंग अभीतक उतरा नहीं है। यह भी वैसा ही कान्तिमान् है, जैसा वह दूसरा वस्त्र था॥ ४७॥

इयं कनकवर्णाङ्गी रामस्य महिषी प्रिया।
प्रणष्टापि सती यस्य मनसो न प्रणश्यति॥ ४८॥

'ये सुवर्णके समान गौर अङ्गवाली श्रीरामचन्द्रजीकी प्यारी महारानी हैं, जो अदृश्य हो जानेपर भी उनके मनसे विलग नहीं हुई हैं॥ ४८॥

इयं सा यत्कृते रामश्चतुर्भिरिह तप्यते।
कारुण्येनानृशंस्येन शोकेन मदनेन च॥ ४९॥

'ये वे ही सीता हैं, जिनके लिये श्रीरामचन्द्रजी इस जगत्‌में करुणा, दया, शोक और प्रेम—इन चार कारणोंसे संतप्त होते रहते हैं॥ ४९॥

स्त्री प्रणष्टेति कारुण्यादाश्रितेत्यानृशंस्यतः।
पत्नी नष्टेति शोकेन प्रियेति मदनेन च॥ ५०॥

'एक स्त्री खो गयी, यह सोचकर उनके हृदयमें करुणा भर आती है। वह हमारे आश्रित थी, यह सोचकर वे दयासे द्रवित हो उठते हैं। मेरी पत्नी ही मुझसे बिछुड़ गयी, इसका विचार करके वे शोकसे व्याकुल हो उठते हैं तथा मेरी प्रियतमा मेरे पास नहीं रही, ऐसी भावना करके उनके हृदयमें प्रेमकी वेदना होने लगती है॥ ५०॥

अस्या देव्या यथारूपमङ्गप्रत्यङ्गसौष्ठवम्।
रामस्य च यथारूपं तस्येयमसितेक्षणा॥ ५१॥

जैसा अलौकिक रूप श्रीरामचन्द्रजीका है तथा जैसा मनोहर रूप एवं अङ्ग-प्रत्यङ्गकी सुघड़ता इन देवी सीतामें है; इसे देखते हुए कजरारे नेत्रोंवाली सीता उन्हींके योग्य पत्नी हैं ॥ ५१ ॥

अस्या देव्या मनस्तस्मिंस्तस्य चास्यां प्रतिष्ठितम् ।
तेनेयं स च धर्मात्मा मुहूर्तमपि जीवति ॥ ५२ ॥

'इन देवीका मन श्रीरघुनाथजीमें और श्रीरघुनाथजीका मन इनमें लगा हुआ है, इसीलिये ये तथा धर्मात्मा श्रीराम जीवित हैं। इनके मुहूर्तमात्र जीवनमें भी यही कारण है ॥ ५२ ॥

दुष्करं कृतवान् रामो हीनो यदनया प्रभुः ।
धारयत्यात्मनो देहं न शोकेनावसीदति ॥ ५३ ॥

'इनके बिछुड़ जानेपर भी भगवान् श्रीराम जो अपने शरीरको धारण करते हैं, शोकसे शिथिल नहीं हो जाते हैं, यह उन्होंने अत्यन्त दुष्कर कार्य किया है' ॥ ५३ ॥

एवं सीतां तथा दृष्ट्वा हृष्टः पवनसम्भवः ।
जगाम मनसा रामं प्रशशंस च तं प्रभुम् ॥ ५४ ॥

इस प्रकार उस अवस्थामें सीताका दर्शन पाकर पवनपुत्र हनुमान्जी बहुत प्रसन्न हुए। वे मन-ही-मन भगवान् श्रीरामके पास जा पहुँचे—उनका चिन्तन करने लगे तथा सीता-जैसी साध्वीको पत्नीरूपमें पानेसे उनके सौभाग्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ ५४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें पंद्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १५ ॥

★

षोडशः सर्गः

हनुमान्जीका मन-ही-मन सीताजीके शील और सौन्दर्यकी सराहना करते हुए उन्हें कष्टमें पड़ी देख स्वयं भी उनके लिये शोक करना

प्रशस्य तु प्रशस्तव्यां सीतां तां हरिपुङ्गवः ।
गुणाभिरामं रामं च पुनश्चिन्तापरोऽभवत् ॥ १ ॥

परम प्रशंसनीया सीता और गुणाभिराम श्रीरामकी प्रशंसा करके वानरश्रेष्ठ हनुमान्जी फिर विचार करने लगे ॥ १ ॥

स मुहूर्तमिव ध्यात्वा बाष्पपर्याकुलेक्षणः ।
सीतामाश्रित्य तेजस्वी हनूमान् विललाप ह ॥ २ ॥

लगभग दो घड़ीतक कुछ सोच-विचार करनेपर उनके नेत्रोंमें आँसू भर आये और वे तेजस्वी हनुमान् सीताके विषयमें इस प्रकार विलाप करने लगे ॥ २ ॥

मान्या गुरुविनीतस्य लक्ष्मणस्य गुरुप्रिया ।
यदि सीता हि दुःखार्ता कालो हि दुरतिक्रमः ॥ ३ ॥

'अहो ! जिन्होंने गुरुजनोंसे शिक्षा पायी है, उन लक्ष्मणके बड़े भाई श्रीरामकी प्रियतमा पत्नी सीता भी यदि इस प्रकार दुःखसे आतुर हो रही हैं तो यह कहना पड़ता है कि कालका उल्लङ्घन करना सभीके लिये अत्यन्त कठिन है ॥ ३ ॥

रामस्य व्यवसायज्ञा लक्ष्मणस्य च धीमतः ।
नात्यर्थं क्षुभ्यते देवी गङ्गेव जलदागमे ॥ ४ ॥

'जैसे वर्षा-ऋतु आनेपर भी देवी गङ्गा अधिक क्षुब्ध नहीं होती है, उसी प्रकार श्रीराम तथा बुद्धिमान् लक्ष्मणके अमोघ पराक्रमका निश्चित ज्ञान रखनेवाली देवी सीता भी शोकसे अधिक विचलित नहीं हो रही हैं ॥ ४ ॥

तुल्यशीलवयोवृत्तां तुल्याभिजनलक्षणाम् ।
राघवोऽर्हति वैदेहीं तं चेयमसितेक्षणा ॥ ५ ॥

'सीताके शील, स्वभाव, अवस्था और बर्ताव श्रीरामके ही समान हैं। उनका कुल भी उन्हींके तुल्य महान् है, अतः श्रीरघुनाथजी विदेहकुमारी सीताके सर्वथा योग्य हैं तथा ये कजरारे नेत्रोंवाली सीता भी उन्हींके योग्य हैं' ॥ ५ ॥

तां दृष्ट्वा नवहेमाभां लोककान्तामिव श्रियम् ।
जगाम मनसा रामं वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ६ ॥

नूतन सुवर्णके समान दीप्तिमती और लोककमनीया लक्ष्मीजीके समान शोभामयी श्रीसीताको देखकर हनुमान्जीने श्रीरामचन्द्रजीका स्मरण किया और मन-ही-मन इस प्रकार कहा ॥ ६ ॥

अस्या हेतोर्विशालाक्ष्या हतो वाली महाबलः ।
रावणप्रतिमो वीर्ये कबन्धश्च निपातितः ॥ ७ ॥

'इन्हीं विशाललोचना सीताके लिये भगवान् श्रीरामने महाबली वालीका वध किया और रावणके समान पराक्रमी कबन्धको भी मार गिराया ॥ ७ ॥

विराधश्च हतः संख्ये राक्षसो भीमविक्रमः ।
वने रामेण विक्रम्य महेन्द्रेणेव शम्बरः ॥ ८ ॥

'इन्हींके लिये श्रीरामने वनमें पराक्रम करके भयानक पराक्रमी राक्षस विराधको भी उसी प्रकार युद्धमें मार डाला, जैसे देवराज इन्द्रने शम्बरासुरका वध किया था ॥ ८ ॥

नैषा पश्यति राक्षस्यो नेमान् पुष्पफलद्रुमान्।
एकस्थहृदया नूनं राममेवानुपश्यति ॥ २५ ॥

'ये न तो राक्षसियोंकी ओर देखती हैं और न इन फल-फूलवाले वृक्षोंपर ही दृष्टि डालती हैं, सर्वथा एकाग्रचित्त हो मनकी आँखोंसे केवल श्रीरामका ही निरन्तर दर्शन (ध्यान) करती हैं—इसमें संदेह नहीं है ॥ २५ ॥

भर्ता नाम परं नार्याः शोभनं भूषणादपि।
एषा हि रहिता तेन शोभनार्हा न शोभते ॥ २६ ॥

'निश्चय ही पति नारीके लिये आभूषणकी अपेक्षा भी अधिक शोभाका हेतु है। ये सीता उन्हीं पतिदेवसे बिछुड़ गयी हैं, इसलिये शोभाके योग्य होनेपर भी शोभा नहीं पा रही हैं ॥ २६ ॥

दुष्करं कुरुते रामो हीनो यदनया प्रभुः।
धारयत्यात्मनो देहं न दुःखेनावसीदति ॥ २७ ॥

'भगवान् श्रीराम इनसे बिछुड़ जानेपर भी जो अपने शरीरको धारण कर रहे हैं, दुःखसे अत्यन्त शिथिल नहीं हो जाते हैं, यह उनका अत्यन्त दुष्कर कर्म है ॥ २७ ॥

इमामसितकेशान्तां शतपत्रनिभेक्षणाम्।
सुखार्हां दुःखितां ज्ञात्वा ममापि व्यथितं मनः ॥ २८ ॥

'काले केश और कमल-जैसे नेत्रवाली ये सीता वास्तवमें सुख भोगनेके योग्य हैं। इन्हें दुःखी जानकर मेरा मन भी व्यथित हो उठता है ॥ २८ ॥

क्षितिक्षमा पुष्करसंनिभेक्षणा
या रक्षिता राघवलक्ष्मणाभ्याम्।
सा राक्षसीभिर्विकृतेक्षणाभिः
संरक्ष्यते सम्प्रति वृक्षमूले ॥ २९ ॥

'अहो! जो पृथ्वीके समान क्षमाशील और प्रफुल्ल कमलके समान नेत्रोंवाली हैं तथा श्रीराम और लक्ष्मणने जिनकी सदा रक्षा की है, वे ही सीता आज इस वृक्षके नीचे बैठी हैं और ये विकराल नेत्रोंवाली राक्षसियाँ इनकी रखवाली करती हैं ॥ २९ ॥

हिमहतनलिनीव नष्टशोभा
व्यसनपरम्परया निपीड्यमाना।
सहचररहितेव चक्रवाकी
जनकसुता कृपणां दशां प्रपन्ना ॥ ३० ॥

'हिमकी मारी हुई कमलिनीके समान इनकी शोभा नष्ट हो गयी है, दुःख-पर-दुःख उठानेके कारण अत्यन्त पीड़ित हो रही हैं तथा अपने सहचरसे बिछुड़ी हुई चकवीके समान पति-वियोगका कष्ट सहन करती हुई ये जनककिशोरी सीता बड़ी दयनीय दशाको पहुँच गयी हैं ॥ ३० ॥

अस्या हि पुष्पावनताग्रशाखाः
शोकं दृढं वै जनयन्त्यशोकाः।
हिमव्यपायेन च शीतरश्मि-
रभ्युत्थितो नैकसहस्त्ररश्मिः ॥ ३१ ॥

'फूलोंके भारसे जिनकी डालियोंके अग्रभाग झुक गये हैं, वे अशोकवृक्ष इस समय सीतादेवीके लिये अत्यन्त शोक उत्पन्न कर रहे हैं तथा शिशिरका अन्त हो जानेसे वसन्तकी रातमें उदित हुए शीतल किरणोंवाले चन्द्रदेव भी इनके लिये अनेक सहस्र किरणोंसे प्रकाशित होनेवाले सूर्य-देवकी भाँति संताप दे रहे हैं' ॥ ३१ ॥

इत्येवमर्थं कपिरन्ववेक्ष्य
सीतेयमित्येव तु जातबुद्धिः।
संश्रित्य तस्मिन् निषसाद वृक्षे
बली हरीणामृषभस्तरस्वी ॥ ३२ ॥

इस प्रकार विचार करते हुए बलवान् वानरश्रेष्ठ वेगशाली हनुमान्‌जी यह निश्चय करके कि 'ये ही सीता हैं' उसी वृक्षपर बैठे रहे ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें सोलहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १६ ॥

—★—

सप्तदशः सर्गः

भयंकर राक्षसियोंसे घिरी हुई सीताके दर्शनसे हनुमान्‌जीका प्रसन्न होना

ततः कुमुदखण्डाभो निर्मलं निर्मलोदयः।
प्रजगाम नभश्चन्द्रो हंसो नीलमिवोदकम् ॥ १ ॥

तदनन्तर वह दिन बीतनेके पश्चात् कुमुदसमूहके समान श्वेत वर्णवाले तथा निर्मलरूपसे उदित हुए चन्द्रदेव स्वच्छ आकाशमें कुछ ऊपरको चढ़ आये। उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो कोई हंस किसी नील जलराशिमें तैर रहा हो ॥ १ ॥

साचिव्यमिव कुर्वन् स प्रभया निर्मलप्रभः।
चन्द्रमा रश्मिभिः शीतैः सिषेवे पवनात्मजम् ॥ २ ॥

निर्मल कान्तिवाले चन्द्रमा अपनी प्रभासे सीताजीके

किन्हींके हाथमें शूल थे तो किन्हींके मुद्गर। कोई क्रोधी स्वभावकी थीं तो कोई कलहसे प्रेम रखती थीं। धुएँ-जैसे केश और विकृत मुखवाली कितनी ही विकराल राक्षसियाँ सदा मद्यपान किया करती थीं। मदिरा और मांस उन्हें सदा प्रिय थे॥ १५-१६॥

मांसशोणितदिग्धाङ्गीर्मांसशोणितभोजनाः।
ता ददर्श कपिश्रेष्ठो रोमहर्षणदर्शनाः॥ १७॥

कितनी ही अपने अङ्गोंमें रक्त और मांसका लेप लगाये रहती थीं। रक्त और मांस ही उनके भोजन थे। उन्हें देखते ही रोंगटे खड़े हो जाते थे। कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌जीने उन सबको देखा॥ १७॥

स्कन्धवन्तमुपासीनाः परिवार्य वनस्पतिम्।
तस्याधस्ताच्च तां देवीं राजपुत्रीमनिन्दिताम्॥ १८॥
लक्षयामास लक्ष्मीवान् हनूमाञ्जनकात्मजाम्।
निष्प्रभां शोकसंतप्तां मलसंकुलमूर्धजाम्॥ १९॥

वे उत्तम शाखावाले उस अशोकवृक्षको चारों ओरसे घेरकर उससे थोड़ी दूरपर बैठी थीं और सती साध्वी राजकुमारी सीता देवी उसी वृक्षके नीचे उसकी जड़से सटी हुई बैठी थीं। उस समय शोभाशाली हनुमान्‌जीने जनककिशोरी जानकीजीकी ओर विशेषरूपसे लक्ष्य किया। उनकी कान्ति फीकी पड़ गयी थी। वे शोकसे संतप्त थीं और उनके केशोंमें मैल जम गयी थी॥ १८-१९॥

क्षीणपुण्यां च्युतां भूमौ तारां निपतितामिव।
चारित्रव्यपदेशाढ्यां भर्तृदर्शनदुर्गताम्॥ २०॥

जैसे पुण्य क्षीण हो जानेपर कोई तारा स्वर्गसे टूटकर पृथ्वीपर गिर पड़ी हो, उसी तरह वे भी कान्तिहीन दिखायी देती थीं। वे आदर्श चरित्र (पातिव्रत्य) से सम्पन्न तथा इसके लिये सुविख्यात थीं। उन्हें पतिके दर्शनके लिये लाले पड़े थे॥ २०॥

भूषणैरुत्तमैर्हीनां भर्तृवात्सल्यभूषिताम्।
राक्षसाधिपसंरुद्धां बन्धुभिश्च विनाकृताम्॥ २१॥

वे उत्तम भूषणोंसे रहित थीं तो भी पतिके वात्सल्यसे विभूषित थीं (पतिका स्नेह ही उनके लिये शृङ्गार था)। राक्षसराज रावणने उन्हें बंदिनी बना रखा था। वे स्वजनोंसे बिछुड़ गयी थीं॥ २१॥

वियूथां सिंहसंरुद्धां बद्धां गजवधूमिव।
चन्द्ररेखां पयोदान्ते शारदाभ्रैरिवावृताम्॥ २२॥

जैसे कोई हथिनी अपने यूथसे अलग हो गयी हो, यूथपतिके स्नेहसे बँधी हो और उसे किसी सिंहने रोक लिया हो। रावणकी कैदमें पड़ी हुई सीताकी भी वैसी ही दशा थी। वे वर्षाकाल बीत जानेपर शरद्-ऋतुके श्वेत बादलोंसे घिरी हुई चन्द्ररेखाके समान प्रतीत होती थीं॥ २२॥

क्लिष्टरूपामसंस्पर्शादयुक्तामिव वल्लकीम्।
स तां भर्तृहिते युक्तामयुक्तां रक्षसां वशे॥ २३॥
अशोकवनिकामध्ये शोकसागरमाप्लुताम्।
ताभिः परिवृतां तत्र सग्रहामिव रोहिणीम्॥ २४॥

जैसे वीणा अपने स्वामीकी अङ्गुलियोंके स्पर्शसे वञ्चित हो वादन आदिकी क्रियासे रहित अयोग्य अवस्थामें मूक पड़ी रहती है, उसी प्रकार सीता पतिके सम्पर्कसे दूर होनेके कारण महान् क्लेशमें पड़कर ऐसी अवस्थाको पहुँच गयी थीं, जो उनके योग्य नहीं थी। पतिके हितमें तत्पर रहनेवाली सीता राक्षसोंके अधीन रहनेके योग्य नहीं थीं; फिर भी वैसी दशामें पड़ी थीं। अशोकवाटिकामें रहकर भी वे शोकके सागरमें डूबी हुई थीं। क्रूर ग्रहसे आक्रान्त हुई रोहिणीकी भाँति वे वहाँ उन राक्षसियोंसे घिरी हुई थीं। हनुमान्‌जीने उन्हें देखा। वे पुष्पहीन लताकी भाँति श्रीहीन हो रही थीं॥ २४॥

ददर्श हनुमांस्तत्र लतामकुसुमामिव।
सा मलेन च दिग्धाङ्गी वपुषा चाप्यलंकृता।
मृणाली पङ्कदिग्धेव विभाति च न भाति च॥ २५॥

उनके सारे अङ्गोंमें मैल जम गयी थी। केवल शरीर-सौन्दर्य ही उनका अलंकार था। वे कीचड़से लिपटी हुई कमल-नालकी भाँति शोभा और अशोभा दोनोंसे युक्त हो रही थीं॥ २५॥

मलिनेन तु वस्त्रेण परिक्लिष्टेन भामिनीम्।
संवृतां मृगशावाक्षीं ददर्श हनुमान् कपिः॥ २६॥

मैले और पुराने वस्त्रसे ढकी हुई मृगशावकनयनी भामिनी सीताको कपिवर हनुमान्‌ने उस अवस्थामें देखा॥ २६॥

तां देवीं दीनवदनामदीनां भर्तृतेजसा।
रक्षितां स्वेन शीलेन सीतामसितलोचनाम्॥ २७॥

यद्यपि देवी सीताके मुखपर दीनता छा रही थी तथापि अपने पतिके तेजका स्मरण हो आनेसे उनके हृदयसे वह दैन्य दूर हो जाता था। कजरारे नेत्रोंवाली सीता अपने शीलसे ही सुरक्षित थीं॥ २७॥

तां दृष्ट्वा हनुमान् सीतां मृगशावनिभेक्षणाम्।
मृगकन्यामिव त्रस्तां वीक्षमाणां समन्ततः॥ २८॥
दहन्तीमिव निःश्वासैर्वृक्षान् पल्लवधारिणः।
संघातमिव शोकानां दुःखस्योर्मिमिवोत्थिताम्॥ २९॥
तां क्षमां सुविभक्ताङ्गीं विनाभरणशोभिनीम्।
प्रहर्षमतुलं लेभे मारुतिः प्रेक्ष्य मैथिलीम्॥ ३०॥

उनके नेत्र मृगछौनोंके समान चञ्चल थे। वे डरी हुई मृगकन्याकी भाँति सब ओर सशङ्क दृष्टिसे देख रही थीं। अपने उच्छ्वासोंसे पल्लवधारी वृक्षोंको दग्ध-सी करती जान पड़ती थीं। शोकोंकी मूर्तिमती प्रतिमा-सी दिखायी देती थीं और दुःखकी उठी हुई तरंग-सी प्रतीत होती थीं। उनके सभी अङ्गोंका विभाग सुन्दर था। यद्यपि वे विरह-शोकसे दुर्बल हो गयी थीं तथापि आभूषणोंके बिना ही शोभा पाती थीं। इस अवस्थामें मिथिलेशकुमारी सीताको देखकर पवनपुत्र

हनुमान्‌को उनका पता लग जानेके कारण अनुपम हर्ष प्राप्त हुआ ॥ २८—३० ॥

हर्षजानि च सोऽश्रूणि तां दृष्ट्वा मदिरेक्षणाम्।
मुमोच हनुमांस्तत्र नमश्चक्रे च राघवम्॥ ३१॥

मनोहर नेत्रवाली सीताको वहाँ देखकर हनुमान्‌जी हर्षके आँसू बहाने लगे। उन्होंने मन-ही-मन श्रीरघुनाथजीको नमस्कार किया ॥ ३१ ॥

नमस्कृत्वाथ रामाय लक्ष्मणाय च वीर्यवान्।
सीतादर्शनसंहृष्टो हनुमान् संवृतोऽभवत्॥ ३२॥

सीताके दर्शनसे उल्लसित हो श्रीराम और लक्ष्मणको नमस्कार करके पराक्रमी हनुमान् वहीं छिपे रहे ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें सत्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशः सर्गः

अपनी स्त्रियोंसे घिरे हुए रावणका अशोकवाटिकामें आगमन और हनुमान्‌जीका उसे देखना

तथा विप्रेक्षमाणस्य वनं पुष्पितपादपम्।
विचिन्वतश्च वैदेहीं किंचिच्छेषा निशाभवत्॥ १॥

इस प्रकार फूले हुए वृक्षोंसे सुशोभित उस वनकी शोभा देखते और विदेहनन्दिनीका अनुसंधान करते हुए हनुमान्‌जीकी वह सारी रात प्रायः बीत चली। केवल एक पहर रात बाकी रही ॥ १ ॥

षडङ्गवेदविदुषां क्रतुप्रवरयाजिनाम्।
शुश्राव ब्रह्मघोषान् स विरात्रे ब्रह्मरक्षसाम्॥ २॥

रातके उस पिछले पहरमें छहों अङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेदोंके विद्वान् तथा श्रेष्ठ यज्ञोंद्वारा यजन करनेवाले ब्रह्म-राक्षसोंके घरमें वेदपाठकी ध्वनि होने लगी, जिसे हनुमान्‌जीने सुना ॥ २ ॥

अथ मङ्गलवादित्रैः शब्दैः श्रोत्रमनोहरैः।
प्राबोध्यत महाबाहुर्दशग्रीवो महाबलः॥ ३॥

तदनन्तर मङ्गल वाद्यों तथा श्रवण-सुखद शब्दोंद्वारा महाबली महाबाहु दशमुख रावणको जगाया गया ॥ ३ ॥

विबुध्य तु महाभागो राक्षसेन्द्रः प्रतापवान्।
स्रस्तमाल्याम्बरधरो वैदेहीमन्वचिन्तयत्॥ ४॥

जागनेपर महान् भाग्यशाली एवं प्रतापी राक्षसराज रावणने सबसे पहले विदेहनन्दिनी सीताका चिन्तन किया। उस समय नींदके कारण उसके पुष्पहार और वस्त्र अपने स्थानसे खिसक गये थे ॥ ४ ॥

भृशं नियुक्तस्तस्यां च मदनेन मदोत्कटः।
न तु तं राक्षसः कामं शशाकात्मनि गूहितुम्॥ ५॥

वह मदमत्त निशाचर कामसे प्रेरित हो सीताके प्रति अत्यन्त आसक्त हो गया था। अतः उस कामभावको अपने भीतर छिपाये रखनेमें असमर्थ हो गया ॥ ५ ॥

स सर्वाभरणैर्युक्तो बिभ्रच्छ्रियमनुत्तमाम्।
तां नगैर्विविधैर्जुष्टां सर्वपुष्पफलोपगैः॥ ६॥
वृतां पुष्करिणीभिश्च नानापुष्पोपशोभिताम्।
सदा मत्तैश्च विहगैर्विचित्रां परमाद्भुतैः॥ ७॥
ईहामृगैश्च विविधैर्वृतां दृष्टिमनोहरैः।
वीथीः सम्प्रेक्षमाणश्च मणिकाञ्चनतोरणाम्॥ ८॥
नानामृगगणाकीर्णां फलैः प्रपतितैर्वृताम्।
अशोकवनिकामेव प्राविशत् संततद्रुमाम्॥ ९॥

उसने सब प्रकारके आभूषण धारण किये और परम उत्तम शोभासे सम्पन्न हो उस अशोकवाटिकामें ही प्रवेश किया, जो सब प्रकारके फूल और फल देनेवाले भाँति-भाँतिके वृक्षोंसे सुशोभित थी। नाना प्रकारके पुष्प उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। बहुत-से सरोवरोंद्वारा वह वाटिका घिरी हुई थी। सदा मतवाले रहनेवाले परम अद्भुत पक्षियोंके कारण उसकी विचित्र शोभा होती थी। कितने ही नयनाभिराम क्रीडामृगोंसे भरी हुई वह वाटिका भाँति-भाँतिके मृगसमूहोंसे व्याप्त थी। बहुत-से गिरे हुए फलोंके कारण वहाँकी भूमि ढक गयी थी। पुष्पवाटिकामें मणि और सुवर्णके फाटक लगे थे और उसके भीतर पंक्तिबद्ध वृक्ष बहुत दूरतक फैले हुए थे। वहाँकी गलियोंको देखता हुआ रावण उस वाटिकामें घुसा ॥ ६—९ ॥

अङ्गनाः शतमात्रं तु तं व्रजन्तमनुव्रजन्।
महेन्द्रमिव पौलस्त्यं देवगन्धर्वयोषितः॥ १०॥

जैसे देवताओं और गन्धर्वोंकी स्त्रियाँ देवराज इन्द्रके पीछे चलती हैं, उसी प्रकार अशोकवनमें जाते हुए पुलस्त्यनन्दन रावणके पीछे-पीछे लगभग एक सौ सुन्दरियाँ गयीं ॥ १० ॥

दीपिकाः काञ्चनीः काश्चिज्जगृहुस्तत्र योषितः।
वालव्यजनहस्ताश्च तालवृन्तानि चापराः॥ ११॥

उन युवतियोंमेंसे किन्हींने सुवर्णमय दीपक ले रखे थे। किन्हींके हाथोंमें चँवर थे तो किन्हींके हाथोंमें ताड़के पंखे ॥ ११ ॥

काञ्चनैश्चैव भृङ्गारैर्जह्रुः सलिलमग्रतः ।
मण्डलाग्रा बृसीश्चैव गृह्यान्याः पृष्ठतो ययुः ॥ १२ ॥

कुछ सुन्दरियाँ सोनेकी झारियोंमें जल लिये आगे-आगे चल रही थीं और कई दूसरी स्त्रियाँ गोलाकार बृसी नामक आसन लिये पीछे-पीछे जा रही थीं ॥ १२ ॥

काचिद् रत्नमयीं पात्रीं पूर्णां पानस्य भ्राजतीम् ।
दक्षिणा दक्षिणेनैव तदा जग्राह पाणिना ॥ १३ ॥

कोई चतुर-चालाक युवती दाहिने हाथमें पेय रससे भरी हुई रत्ननिर्मित चमचमाती कलशी लिये हुए थी ॥ १३ ॥

राजहंसप्रतीकाशं छत्रं पूर्णशशिप्रभम् ।
सौवर्णदण्डमपरा गृहीत्वा पृष्ठतो ययौ ॥ १४ ॥

कोई दूसरी स्त्री सोनेके डंडेसे युक्त और पूर्ण चन्द्रमा तथा राजहंसके समान श्वेतछत्र लेकर रावणके पीछे-पीछे चल रही थी ॥ १४ ॥

निद्रामदपरीताक्ष्यो रावणस्योत्तमस्त्रियः ।
अनुजग्मुः पतिं वीरं घनं विद्युल्लता इव ॥ १५ ॥

जैसे बादलके साथ-साथ बिजलियाँ चलती हैं, उसी प्रकार रावणकी सुन्दरी स्त्रियाँ अपने वीर पतिके पीछे-पीछे जा रही थीं। उस समय नींदके नशेमें उनकी आँखें झपी जाती थीं ॥ १५ ॥

व्याविद्धहारकेयूराः समामृदितवर्णकाः ।
समागलितकेशान्ताः सस्वेदवदनास्तथा ॥ १६ ॥

उनके हार और बाजूबंद अपने स्थानसे खिसक गये थे। अङ्गराग मिट गये थे। चोटियाँ खुल गयी थीं और मुखपर पसीनेकी बूँदें छा रही थीं ॥ १६ ॥

घूर्णन्त्यो मदशेषेण निद्रया च शुभाननाः ।
स्वेदक्लिष्टाङ्गकुसुमाः समाल्याकुलमूर्धजाः ॥ १७ ॥

वे सुमुखी स्त्रियाँ अवशेष मद और निद्रासे झूमती हुई-सी चल रही थीं। विभिन्न अङ्गोंमें धारण किये गये पुष्प पसीनेसे भीग गये थे और पुष्पमालाओंसे अलङ्कृत केश कुछ-कुछ हिल रहे थे ॥ १७ ॥

प्रयान्तं नैर्ऋतपतिं नार्यो मदिरलोचनाः ।
बहुमानाच्च कामाच्च प्रियभार्यास्तमन्वयुः ॥ १८ ॥

जिनकी आँखें मदमत्त बना देनेवाली थीं, वे राक्षसराजकी प्यारी पत्नियाँ अशोकवनमें जाते हुए पतिके साथ बड़े आदरसे और अनुरागपूर्वक जा रही थीं ॥ १८ ॥

स च कामपराधीनः पतिस्तासां महाबलः ।
सीतासक्तमना मन्दो मन्दाञ्चितगतिर्बभौ ॥ १९ ॥

उन सबका पति महाबली मन्दबुद्धि रावण कामके अधीन हो रहा था। वह सीतामें मन लगाये मन्दगतिसे आगे बढ़ता हुआ अद्भुत शोभा पा रहा था ॥ १९ ॥

ततः काञ्चीनिनादं च नूपुराणां च निःस्वनम् ।
शुश्राव परमस्त्रीणां कपिर्मारुतनन्दनः ॥ २० ॥

उस समय वायुनन्दन कपिवर हनुमान्‌जीने उन परम सुन्दरी रावणपत्नियोंकी करधनीका कलनाद और नूपुरोंकी झनकार सुनी ॥ २० ॥

तं चाप्रतिमकर्माणमचिन्त्यबलपौरुषम् ।
द्वारदेशमनुप्राप्तं ददर्श हनुमान् कपिः ॥ २१ ॥

साथ ही, अनुपम कर्म करनेवाले तथा अचिन्त्य बल-पौरुषसे सम्पन्न रावणको भी कपिवर हनुमान्‌ने देखा, जो अशोकवाटिकाके द्वारतक आ पहुँचा था ॥ २१ ॥

दीपिकाभिरनेकाभिः समन्तादवभासितम् ।
गन्धतैलावसिक्ताभिर्ध्रियमाणाभिरग्रतः ॥ २२ ॥

उसके आगे-आगे सुगन्धित तेलसे भीगी हुई और स्त्रियों-द्वारा हाथोंमें धारण की हुई बहुत-सी मशालें जल रही थीं, जिनके द्वारा वह सब ओरसे प्रकाशित हो रहा था ॥ २२ ॥

कामदर्पमदैर्युक्तं जिह्मताम्रायतेक्षणम् ।
समक्षमिव कंदर्पमपविद्धशरासनम् ॥ २३ ॥

वह काम, दर्प और मदसे युक्त था। उसकी आँखें टेढ़ी, लाल और बड़ी-बड़ी थीं। वह धनुषरहित साक्षात् कामदेवके समान जान पड़ता था ॥ २३ ॥

मथितामृतफेनाभमरजोवस्त्रमुत्तमम् ।
सपुष्पमवकर्षन्तं विमुक्तं सक्तमङ्गदे ॥ २४ ॥

उसका वस्त्र मथे हुए दूधके फेनकी भाँति श्वेत, निर्मल और उत्तम था। उसमें मोतीके दाने और फूल टँके हुए थे। वह वस्त्र उसके बाजूबंदमें उलझ गया था और रावण उसे खींचकर सुलझा रहा था ॥ २४ ॥

तं पत्रविटपे लीनः पत्रपुष्पशतावृतः ।
समीपमुपसंक्रान्तं विज्ञातुमुपचक्रमे ॥ २५ ॥

अशोक-वृक्षके पत्तों और डालियोंमें छिपे हुए हनुमान्‌जी सैकड़ों पत्रों तथा पुष्पोंसे ढक गये थे। उसी अवस्थामें उन्होंने निकट आये हुए रावणको पहचाननेका प्रयत्न किया ॥ २५ ॥

अवेक्षमाणस्तु तदा ददर्श कपिकुञ्जरः ।
रूपयौवनसम्पन्ना रावणस्य वरस्त्रियः ॥ २६ ॥

उसकी ओर देखते समय कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌ने रावणकी सुन्दरी स्त्रियोंको भी लक्ष्य किया, जो रूप और यौवनसे सम्पन्न थीं ॥ २६ ॥

ताभिः परिवृतो राजा सुरूपाभिर्महायशाः ।
तन्मृगद्विजसंघुष्टं प्रविष्टः प्रमदावनम् ॥ २७ ॥

उन सुन्दर रूपवाली युवतियोंसे घिरे हुए महायशस्वी राजा रावणने उस प्रमदावनमें प्रवेश किया, जहाँ अनेक प्रकारके पशु-पक्षी अपनी-अपनी बोली बोल रहे थे ॥ २७ ॥

क्षीबो विचित्राभरणः शङ्कुकर्णो महाबलः ।
तेन विश्रवसः पुत्रः स दृष्टो राक्षसाधिपः ॥ २८ ॥

वह मतवाला दिखायी देता था। उसके आभूषण विचित्र थे। उसके कान ऐसे प्रतीत होते थे, मानो वहाँ खूँटे गाड़े गये हैं। इस प्रकार वह विश्रवामुनिका पुत्र महाबली राक्षसराज रावण हनुमान्‌जीके दृष्टिपथमें आया॥ २८॥

वृतः परमनारीभिस्ताराभिरिव चन्द्रमाः।
तं ददर्श महातेजास्तेजोवन्तं महाकपिः॥ २९॥
रावणोऽयं महाबाहुरिति संचिन्त्य वानरः।
सोऽयमेव पुरा शेते पुरमध्ये गृहोत्तमे।
अवप्लुतो महातेजा हनूमान् मारुतात्मजः॥ ३०॥

ताराओंसे घिरे हुए चन्द्रमाकी भाँति वह परम सुन्दरी युवतियोंसे घिरा हुआ था। महातेजस्वी महाकपि हनुमान्‌ने उस तेजस्वी राक्षसको देखा और देखकर यह निश्चय किया कि यही महाबाहु रावण है। पहले यही नगरमें उत्तम महलके भीतर सोया हुआ था। ऐसा सोचकर वे वानरवीर महातेजस्वी पवनकुमार हनुमान्‌जी जिस डालीपर बैठे थे, वहाँसे कुछ नीचे उतर आये (क्योंकि वे निकटसे रावणकी सारी चेष्टाएँ देखना चाहते थे)॥ २९-३०॥

स तथाप्युग्रतेजाः स निर्धूतस्तस्य तेजसा।
पत्रे गुह्यान्तरे सक्तो मतिमान् संवृतोऽभवत्॥ ३१॥

यद्यपि मतिमान् हनुमान्‌जी भी बड़े उग्रतेजस्वी थे, तथापि रावणके तेजसे तिरस्कृत-से होकर सघन पत्तोंमें घुसकर छिप गये॥ ३१॥

स तामसितकेशान्तां सुश्रोणीं संहतस्तनीम्।
दिदृक्षुरसितापाङ्गीमुपावर्तत रावणः॥ ३२॥

उधर रावण काले केश, कजरारे नेत्र, सुन्दर कटिभाग और परस्पर सटे हुए स्तनवाली सुन्दरी सीताको देखनेके लिये उनके पास गया॥ ३२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डेऽष्टादशः सर्गः॥ १८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें अठारहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १८॥

—★—

एकोनविंशः सर्गः

रावणको देखकर दुःख, भय और चिन्तामें डूबी हुई सीताकी अवस्थाका वर्णन

तस्मिन्नेव ततः काले राजपुत्री त्वनिन्दिता।
रूपयौवनसम्पन्नं भूषणोत्तमभूषितम्॥ १॥
ततो दृष्ट्वैव वैदेही रावणं राक्षसाधिपम्।
प्रावेपत वरारोहा प्रवाते कदली यथा॥ २॥

उस समय अनिन्दिता सुन्दरी राजकुमारी सीताने जब उत्तमोत्तम आभूषणोंसे विभूषित तथा रूप-यौवनसे सम्पन्न राक्षसराज रावणको आते देखा, तब वे प्रचण्ड हवामें हिलनेवाली कदलीके समान भयके मारे थर-थर काँपने लगीं॥ १-२॥

ऊरुभ्यामुदरं छाद्य बाहुभ्यां च पयोधरौ।
उपविष्टा विशालाक्षी रुदती वरवर्णिनी॥ ३॥

सुन्दर कान्तिवाली विशाललोचना जानकीने अपनी जाँघोंसे पेट और दोनों भुजाओंसे स्तन छिपा लिये तथा वहाँ बैठी-बैठी वे रोने लगीं॥ ३॥

दशग्रीवस्तु वैदेहीं रक्षितां राक्षसीगणैः।
ददर्श दीनां दुःखार्तां नावं सन्नामिवार्णवे॥ ४॥
असंवृतायामासीनां धरण्यां संशितव्रताम्।
छिन्नां प्रपतितां भूमौ शाखामिव वनस्पतेः॥ ५॥

राक्षसियोंके पहरेमें रहती हुई विदेहराजकुमारी सीता अत्यन्त दीन और दुःखी हो रही थीं। वे समुद्रमें जीर्ण-शीर्ण होकर डूबी हुई नौकाके समान दुःखके सागरमें निमग्न थीं। उस अवस्थामें दशमुख रावणने उनकी ओर देखा। वे बिना बिछौनेके खुली जमीनपर बैठी थीं और कटकर पृथ्वीपर गिरी हुई वृक्षकी शाखाके समान जान पड़ती थीं। उनके द्वारा बड़े कठोर व्रतका पालन किया जा रहा था॥ ४-५॥

मलमण्डनदिग्धाङ्गीं मण्डनार्हाममण्डनाम्।
मृणाली पङ्कदिग्धेव विभाति न विभाति च॥ ६॥

उनके अङ्गोंमें अङ्गरागकी जगह मैल जमी हुई थी। वे आभूषण धारण तथा शृङ्गार करनेयोग्य होनेपर भी उन सबसे वञ्चित थीं और कीचड़में सनी हुई कमलनालकी भाँति शोभा पाती थीं तथा नहीं भी पाती थीं। (कमलनाल जैसे सुकुमारताके कारण शोभा पाती है और कीचड़में सनी रहनेके कारण शोभा नहीं पाती, वैसे ही वे अपने सहज सौन्दर्यसे सुशोभित थीं, किंतु मलिनताके कारण शोभा नहीं देती थीं)॥ ६॥

समीपं राजसिंहस्य रामस्य विदितात्मनः।
संकल्पहयसंयुक्तैर्यान्तीमिव मनोरथैः॥ ७॥

संकल्पोंके घोड़ोंसे जुते हुए मनोमय रथपर चढ़कर आत्मज्ञानी राजसिंह भगवान् श्रीरामके पास जाती हुई-सी प्रतीत होती थीं॥ ७॥

शुष्यन्तीं रुदतीमेकां ध्यानशोकपरायणाम्।
दुःखस्यान्तमपश्यन्तीं रामां राममनुव्रताम्॥ ८॥

उनका शरीर सूखता जा रहा था। वे अकेली बैठकर रोती तथा श्रीरामचन्द्रजीके ध्यान एवं उनके वियोगके शोकमें डूबी रहती थीं। उन्हें अपने दुःखका अन्त नहीं दिखायी देता था। वे श्रीरामचन्द्रजीमें अनुराग रखनेवाली तथा उनकी रमणीय भार्या थीं॥ ८॥

चेष्टमानामथाविष्टां पन्नगेन्द्रवधूमिव।
धूप्यमानां ग्रहेणेव रोहिणीं धूमकेतुना॥ ९॥

जैसे नागराजकी वधू (नागिन) मणि-मन्त्रादिसे अभिभूत हो छटपटाने लगती है, उसी तरह सीता भी पतिके वियोगमें तड़प रही थीं तथा धूमके समान वर्णवाले केतुग्रहसे ग्रस्त हुई रोहिणीके समान संतप्त हो रही थीं॥ ९॥

वृत्तशीले कुले जातामाचारवति धार्मिके।
पुनः संस्कारमापन्नां जातामिव च दुष्कुले॥ १०॥

यद्यपि सदाचारी और सुशील कुलमें उनका जन्म हुआ था। फिर धार्मिक तथा उत्तम आचार-विचारवाले कुलमें वे ब्याही गयी थीं—विवाह-संस्कारसे सम्पन्न हुई थीं, तथापि दूषित कुलमें उत्पन्न हुई नारीके समान मलिन दिखायी देती थीं॥ १०॥

सन्नामिव महाकीर्तिं श्रद्धामिव विमानिताम्।
प्रज्ञामिव परिक्षीणामाशां प्रतिहतामिव॥ ११॥
आयतीमिव विध्वस्तामाज्ञां प्रतिहतामिव।
दीप्तामिव दिशं काले पूजामपहृतामिव॥ १२॥
पौर्णमासीमिव निशां तमोग्रस्तेन्दुमण्डलाम्।
पद्मिनीमिव विध्वस्तां हतशूरां चमूमिव॥ १३॥
प्रभामिव तमोध्वस्तामुपक्षीणामिवापगाम्।
वेदीमिव परामृष्टां शान्तामग्निशिखामिव॥ १४॥

वे क्षीण हुई विशाल कीर्ति, तिरस्कृत हुई श्रद्धा, सर्वथा ह्रासको प्राप्त हुई बुद्धि, टूटी हुई आशा, नष्ट हुए भविष्य, उल्लङ्घित हुई राजाज्ञा, उत्पातकालमें दहकती हुई दिशा, नष्ट हुई देवपूजा, चन्द्रग्रहणसे मलिन हुई पूर्णमासीकी रात, तुषारपातसे जीर्ण-शीर्ण हुई कमलिनी, जिसका शूरवीर सेनापति मारा गया हो, ऐसी सेना, अन्धकारसे नष्ट हुई प्रभा, सूखी हुई सरिता, अपवित्र प्राणियोंके स्पर्शसे अशुद्ध हुई वेदी और बुझी हुई अग्निशिखाके समान प्रतीत होती थीं॥ ११—१४॥

उत्कृष्टपर्णकमलां वित्रासितविहङ्गमाम्।
हस्तिहस्तपरामृष्टामाकुलामिव पद्मिनीम्॥ १५॥

जिसे हाथीने अपनी सूँड़से हुँड़ेर डाला हो; अतएव जिसके पत्ते और कमल उखड़ गये हों तथा जलपक्षी भयसे थर्रा उठे हों, उस मथित एवं मलिन हुई पुष्करिणीके समान सीता श्रीहीन दिखायी देती थीं॥ १५॥

पतिशोकातुरां शुष्कां नदीं विस्रावितामिव।
परया मृजया हीनां कृष्णपक्षे निशामिव॥ १६॥

पतिके विरह-शोकसे उनका हृदय बड़ा व्याकुल था। जिसका जल नहरोंके द्वारा इधर-उधर निकाल दिया गया हो, ऐसी नदीके समान वे सूख गयी थीं तथा उत्तम उबटन आदिके न लगनेसे कृष्णपक्षकी रात्रिके समान मलिन हो रही थीं॥ १६॥

सुकुमारीं सुजाताङ्गीं रत्नगर्भगृहोचिताम्।
तप्यमानामिवोष्णेन मृणालीमचिरोद्धृताम्॥ १७॥

उनके अङ्ग बड़े सुकुमार और सुन्दर थे। वे रत्नजटित राजमहलमें रहनेके योग्य थीं; परंतु गर्मीसे तपी और तुरंत तोड़कर फेंकी हुई कमलिनीके समान दयनीय दशाको पहुँच गयी थीं॥ १७॥

गृहीतामालितां स्तम्भे यूथपेन विनाकृताम्।
निःश्वसन्तीं सुदुःखार्तां गजराजवधूमिव॥ १८॥

जिसे यूथपतिसे अलग करके पकड़कर खंभेमें बाँध दिया गया हो, उस हथिनीके समान वे अत्यन्त दुःखसे आतुर होकर लम्बी साँस खींच रही थीं॥ १८॥

एकया दीर्घया वेण्या शोभमानामयत्नतः।
नीलया नीरदापाये वनराज्या महीमिव॥ १९॥

बिना प्रयत्नके ही बँधी हुई एक ही लम्बी वेणीसे सीताकी वैसी ही शोभा हो रही थी, जैसे वर्षा-ऋतु बीत जानेपर सुदूरतक फैली हुई हरी-भरी वनश्रेणीसे पृथ्वी सुशोभित होती है॥ १९॥

उपवासेन शोकेन ध्यानेन च भयेन च।
परिक्षीणां कृशां दीनामल्पाहारां तपोधनाम्॥ २०॥

वे उपवास, शोक, चिन्ता और भयसे अत्यन्त क्षीण, कृशकाय और दीन हो गयी थीं। उनका आहार बहुत कम हो गया था तथा एकमात्र तप ही उनका धन था॥ २०॥

आयाचमानां दुःखार्तां प्राञ्जलिं देवतामिव।
भावेन रघुमुख्यस्य दशग्रीवपराभवम्॥ २१॥

वे दुःखसे आतुर हो अपने कुलदेवतासे हाथ जोड़कर मन-ही-मन यह प्रार्थना-सी कर रही थीं कि श्रीरामचन्द्रजीके हाथसे दशमुख रावणकी पराजय हो॥ २१॥

समीक्षमाणां रुदतीमनिन्दितां
सुपक्ष्मताम्रायतशुक्ललोचनाम्।
अनुव्रतां राममतीव मैथिलीं
प्रलोभयामास वधाय रावणः॥ २२॥

सुन्दर बरौनियोंसे युक्त, लाल, श्वेत एवं विशाल नेत्रोंवाली सती-साध्वी मिथिलेशकुमारी सीता श्रीरामचन्द्रजीमें अत्यन्त अनुरक्त थीं और इधर-उधर देखती हुई रो रही थीं। इस अवस्थामें उन्हें देखकर राक्षसराज रावण अपने ही वधके लिये उनको लुभानेकी चेष्टा करने लगा॥ २२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे एकोनविंशः सर्गः॥ १९॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १९॥

विंशः सर्गः

रावणका सीताजीको प्रलोभन

स तां परिवृतां दीनां निरानन्दां तपस्विनीम्।
साकारैर्मधुरैर्वाक्यैर्न्यदर्शयत रावणः॥ १॥

राक्षसियोंसे घिरी हुई दीन और आनन्दशून्य तपस्विनी सीताको सम्बोधित करके रावण अभिप्राययुक्त मधुर वचनोंद्वारा अपने मनका भाव प्रकट करने लगा—॥ १॥

मां दृष्ट्वा नागनासोरु गूहमाना स्तनोदरम्।
अदर्शनमिवात्मानं भयान्नेतुं त्वमिच्छसि॥ २॥

'हाथीकी सूँडके समान सुन्दर जाँघोंवाली सीते! मुझे देखते ही तुम अपने स्तन और उदरको इस प्रकार छिपाने लगी हो, मानो डरके मारे अपनेको अदृश्य कर देना चाहती हो॥ २॥

कामये त्वां विशालाक्षि बहु मन्यस्व मां प्रिये।
सर्वाङ्गगुणसम्पन्ने सर्वलोकमनोहरे॥ ३॥

'किंतु विशाललोचने! मैं तो तुम्हें चाहता हूँ—तुमसे प्रेम करता हूँ। समस्त संसारका मन मोहनेवाली सर्वाङ्गसुन्दरी प्रिये! तुम भी मुझे विशेष आदर दो—मेरी प्रार्थना स्वीकार करो॥ ३॥

नेह किञ्चिन्मनुष्या वा राक्षसाः कामरूपिणः।
व्यपसर्पतु ते सीते भयं मत्तः समुत्थितम्॥ ४॥

'यहाँ तुम्हारे लिये कोई भय नहीं है। इस स्थानमें न तो मनुष्य आ सकते हैं, न इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले दूसरे राक्षस ही, केवल मैं आ सकता हूँ। परन्तु सीते! मुझसे जो तुम्हें भय हो रहा है, वह तो दूर हो ही जाना चाहिये॥ ४॥

स्वधर्मो रक्षसां भीरु सर्वदैव न संशयः।
गमनं वा परस्त्रीणां हरणं सम्प्रमथ्य वा॥ ५॥

'भीरु! (तुम यह न समझो कि मैंने कोई अधर्म किया है) परायी स्त्रियोंके पास जाना अथवा बलात् उन्हें हर लाना यह राक्षसोंका सदा ही अपना धर्म रहा है—इसमें संदेह नहीं है॥ ५॥

एवं चैवमकामां त्वां न च स्प्रक्ष्यामि मैथिलि।
कामं कामः शरीरे मे यथाकामं प्रवर्तताम्॥ ६॥

'मिथिलेशनन्दिनि! ऐसी अवस्थामें भी जबतक तुम मुझे न चाहोगी, तबतक मैं तुम्हारा स्पर्श नहीं करूँगा। भले ही कामदेव मेरे शरीरपर इच्छानुसार अत्याचार करे॥ ६॥

देवि नेह भयं कार्यं मयि विश्वसिहि प्रिये।
प्रणयस्व च तत्त्वेन मैवं भूः शोकलालसा॥ ७॥

'देवि! इस विषयमें तुम्हें भय नहीं करना चाहिये। प्रिये! मुझपर विश्वास करो और यथार्थरूपसे प्रेमदान दो। इस तरह शोकसे व्याकुल न हो जाओ॥ ७॥

एकवेणी अधःशय्या ध्यानं मलिनमम्बरम्।
अस्थानेऽप्युपवासश्च नैतान्यौपयिकानि ते॥ ८॥

'एक वेणी धारण करना, नीचे पृथ्वीपर सोना, चिन्तामग्न रहना, मैले वस्त्र पहनना और बिना अवसरके उपवास करना—ये सब बातें तुम्हारे योग्य नहीं हैं॥ ८॥

विचित्राणि च माल्यानि चन्दनान्यगुरूणि च।
विविधानि च वासांसि दिव्यान्याभरणानि च॥ ९॥
महार्हाणि च पानानि शयनान्यासनानि च।
गीतं नृत्यं च वाद्यं च लभ मां प्राप्य मैथिलि॥ १०॥

'मिथिलेशकुमारी! मुझे पाकर तुम विचित्र पुष्प-माला, चन्दन, अगुरु, नाना प्रकारके वस्त्र, दिव्य आभूषण, बहुमूल्य पेय, शय्या, आसन, नाच, गान और वाद्यका सुख भोगो॥ ९-१०॥

स्त्रीरत्नमसि मैवं भूः कुरु गात्रेषु भूषणम्।
मां प्राप्य हि कथं वा स्यास्त्वमनर्हा सुविग्रहे॥ ११॥

'तुम स्त्रियोंमें रत्न हो। इस तरह मलिन वेषमें न रहो। अपने अङ्गोंमें आभूषण धारण करो। सुन्दरि! मुझे पाकर भी तुम भूषण आदिसे असम्मानित कैसे रहोगी!॥ ११॥

इदं ते चारु संजातं यौवनं ह्यतिवर्तते।
यदतीतं पुनर्नैति स्रोतः स्रोतस्विनामिव॥ १२॥

'यह तुम्हारा नवोदित सुन्दर यौवन बीता जा रहा है। जो बीत जाता है, वह नदियोंके प्रवाहकी भाँति फिर लौटकर नहीं आता॥ १२॥

त्वां कृत्वोपरतो मन्ये रूपकर्ता स विश्वकृत्।
नहि रूपोपमा ह्यन्या तवास्ति शुभदर्शने॥ १३॥

'शुभदर्शने! मैं तो ऐसा समझता हूँ कि रूपकी रचना करनेवाला लोकस्रष्टा विधाता तुम्हें बनाकर फिर उस कार्यसे विरत हो गया; क्योंकि तुम्हारे रूपकी समता करनेवाली दूसरी कोई स्त्री नहीं है॥ १३॥

त्वां समासाद्य वैदेहि रूपयौवनशालिनीम्।
कः पुनर्नातिवर्तेत साक्षादपि पितामहः॥ १४॥

'विदेहनन्दिनि! रूप और यौवनसे सुशोभित होनेवाली तुमको पाकर कौन ऐसा पुरुष है, जो धैर्यसे विचलित न होगा। भले ही वह साक्षात् ब्रह्मा क्यों न हो॥ १४॥

यद् यत् पश्यामि ते गात्रं शीतांशुसदृशानने।
तस्मिंस्तस्मिन् पृथुश्रोणि चक्षुर्मम निबध्यते॥ १५॥

'चन्द्रमाके समान मुखवाली सुमध्यमे! मैं तुम्हारे जिस-जिस अङ्गको देखता हूँ, उसी-उसीमें मेरे नेत्र उलझ जाते हैं॥ १५॥

भव मैथिलि भार्या मे मोहमेतं विसर्जय।
बह्वीनामुत्तमस्त्रीणां ममाग्रमहिषी भव॥ १६॥

'मिथिलेशकुमारी! तुम मेरी भार्या बन जाओ। पातिव्रत्यके इस मोहको छोड़ो। मेरे यहाँ बहुत-सी सुन्दरी रानियाँ हैं। तुम उन सबमें श्रेष्ठ पटरानी बनो॥ १६॥

लोकेभ्यो यानि रत्नानि सम्प्रमथ्याहृतानि मे।
तानि ते भीरु सर्वाणि राज्यं चैव ददामि ते॥ १७॥

'भीरु! मैं अनेक लोकोंसे उन्हें मथकर जो-जो रत्न लाया हूँ, वे सब तुम्हारे ही होंगे और यह राज्य भी मैं तुम्हींको समर्पित कर दूँगा॥ १७॥

विजित्य पृथिवीं सर्वां नानानगरमालिनीम्।
जनकाय प्रदास्यामि तव हेतोर्विलासिनि॥ १८॥

'विलासिनि! तुम्हारी प्रसन्नताके लिये मैं विभिन्न नगरोंकी मालाओंसे अलङ्कृत इस सारी पृथ्वीको जीतकर राजा जनकके हाथमें सौंप दूँगा॥ १८॥

नेह पश्यामि लोकेऽन्यं यो मे प्रतिबलो भवेत्।
पश्य मे सुमहद्वीर्यमप्रतिद्वन्द्वमाहवे॥ १९॥

'इस संसारमें मैं किसी दूसरे ऐसे पुरुषको नहीं देखता, जो मेरा सामना कर सके। तुम युद्धमें मेरा वह महान् पराक्रम देखना, जिसके सामने कोई प्रतिद्वन्द्वी टिक नहीं पाता॥ १९॥

असकृत् संयुगे भग्ना मया विमृदितध्वजाः।
अशक्ताः प्रत्यनीकेषु स्थातुं मम सुरासुराः॥ २०॥

'मैंने युद्धस्थलमें जिनकी ध्वजाएँ तोड़ डाली थीं, वे देवता और असुर मेरे सामने ठहरनेमें असमर्थ होनेके कारण कई बार पीठ दिखा चुके हैं॥ २०॥

इच्छ मां क्रियतामद्य प्रतिकर्म तवोत्तमम्।
सुप्रभाण्यवसज्जन्तां तवाङ्गे भूषणानि हि॥ २१॥

'तुम मुझे स्वीकार करो। आज तुम्हारा उत्तम शृङ्गार किया जाय और तुम्हारे अङ्गोंमें चमकीले आभूषण पहनाये जायँ॥ २१॥

साधु पश्यामि ते रूपं सुयुक्तं प्रतिकर्मणा।
प्रतिकर्माभिसंयुक्ता दाक्षिण्येन वरानने॥ २२॥

'सुमुखि! आज मैं शृङ्गारसे सुसज्जित हुए तुम्हारे सुन्दर रूपको देख रहा हूँ*। तुम उदारतावश मुझपर कृपा करके शृङ्गारसे सम्पन्न हो जाओ॥ २२॥

भुङ्क्ष्व भोगान् यथाकामं पिब भीरु रमस्व च।
यथेष्टं च प्रयच्छ त्वं पृथिवीं वा धनानि च॥ २३॥

'भीरु! फिर इच्छानुसार भाँति-भाँतिके भोग भोगो, दिव्य रसका पान करो, विहरो तथा पृथ्वी या धनका यथेष्टरूपसे दान करो॥ २३॥

ललस्व मयि विस्रब्धा धृष्टमाज्ञापयस्व च।
मत्प्रसादाल्ललन्त्याश्च ललतां बान्धवास्तव॥ २४॥

'तुम मुझपर विश्वास करके भोग भोगनेकी इच्छा करो और निर्भय होकर मुझे अपनी सेवाके लिये आज्ञा दो। मुझपर कृपा करके इच्छानुसार भोग भोगती हुई तुम-जैसी पटरानीके भाई-बन्धु भी मनमाने भोग भोग सकते हैं॥ २४॥

ऋद्धिं ममानुपश्य त्वं श्रियं भद्रे यशस्विनि।
किं करिष्यसि रामेण सुभगे चीरवासिना॥ २५॥

'भद्रे! यशस्विनि! तुम मेरी समृद्धि और धन-सम्पत्तिकी ओर तो देखो। सुभगे! चीर-वस्त्र धारण करनेवाले रामको लेकर क्या करोगी?॥ २५॥

निक्षिप्तविजयो रामो गतश्रीर्वनगोचरः।
व्रती स्थण्डिलशायी च शङ्के जीवति वा न वा॥ २६॥

'रामने विजयकी आशा त्याग दी है। वे श्रीहीन होकर वन-वनमें विचर रहे हैं, व्रतका पालन करते हैं और मिट्टीकी वेदीपर सोते हैं। अब तो मुझे यह भी संदेह होने लगा है कि वे जीवित भी हैं या नहीं॥ २६॥

नहि वैदेहि रामस्त्वां द्रष्टुं वाप्युपलभ्यते।
पुरोबलाकैरसितैर्मेघैर्ज्योत्स्नामिवावृताम्॥ २७॥

'विदेहनन्दिनि! जिनके आगे बगुलोंकी पंक्तियाँ चलती हैं, उन काले बादलोंसे छिपी हुई चन्द्रिकाके समान तुमको अब राम पाना तो दूर रहा, देख भी नहीं सकते हैं॥ २७॥

न चापि मम हस्तात् त्वां प्राप्तुमर्हति राघवः।
हिरण्यकशिपुः कीर्तिमिन्द्रहस्तगतामिव॥ २८॥

'जैसे हिरण्यकशिपु इन्द्रके हाथमें गयी हुई कीर्तिको न पा सका, उसी प्रकार राम भी मेरे हाथसे तुम्हें नहीं पा सकते॥ २८॥

चारुस्मिते चारुदति चारुनेत्रे विलासिनि।
मनो हरसि मे भीरु सुपर्णः पन्नगं यथा॥ २९॥

'मनोहर मुस्कान, सुन्दर दन्तावलि तथा रमणीय नेत्रोंवाली विलासिनि! भीरु! जैसे गरुड़ सर्पको उठा ले जाते हैं, उसी प्रकार तुम मेरे मनको हर लेती हो॥ २९॥

क्लिष्टकौशेयवसनां तन्वीमप्यनलंकृताम्।
त्वां दृष्ट्वा स्वेषु दारेषु रतिं नोपलभाम्यहम्॥ ३०॥

'तुम्हारा रेशमी पीताम्बर मैला हो गया है। तुम बहुत दुबली-पतली हो गयी हो और तुम्हारे अङ्गोंमें आभूषण भी नहीं हैं तो भी तुम्हें देखकर अपनी दूसरी स्त्रियोंमें मेरा मन नहीं लगता॥ ३०॥

अन्तःपुरनिवासिन्यः स्त्रियः सर्वगुणान्विताः।
यावत्यो मम सर्वासामैश्वर्यं कुरु जानकि॥ ३१॥

'जनकनन्दिनि! मेरे अन्तःपुरमें निवास करनेवाली जितनी भी सर्वगुणसम्पन्न रानियाँ हैं, उन सबकी तुम स्वामिनी बन जाओ॥ ३१॥

---

* यहाँ भविष्यका वर्तमानकी भाँति वर्णन होनेसे 'भाविक' अलंकार समझना चाहिये।

मम ह्यसितकेशान्ते त्रैलोक्यप्रवरस्त्रियः।
मास्त्वां परिचरिष्यन्ति श्रियमप्सरसो यथा ॥ ३२ ॥

'काले केशोंवाली सुन्दरी! जैसे अप्सराएँ लक्ष्मीकी सेवा करती हैं, उसी प्रकार त्रिभुवनकी श्रेष्ठ सुन्दरियाँ यहाँ तुम्हारी परिचर्या करेंगी ॥ ३२ ॥

यानि वैश्रवणे सुभ्रु रत्नानि च धनानि च।
तानि लोकांश्च सुश्रोणि मया भुङ्क्ष्व यथासुखम् ॥ ३३ ॥

'सुभ्रु! सुश्रोणि! कुबेरके यहाँ जितने भी अच्छे रत्न और धन हैं, उन सबका तथा सम्पूर्ण लोकोंका तुम मेरे साथ सुखपूर्वक उपभोग करो ॥ ३३ ॥

न रामस्तपसा देवि न बलेन च विक्रमैः।
न धनेन मया तुल्यस्तेजसा यशसापि वा ॥ ३४ ॥

'देवि! राम तो न तपसे, न बलसे, न पराक्रमसे, न धनसे और न तेज अथवा यशके द्वारा ही मेरी समानता कर सकते हैं ॥ ३४ ॥

पिब विहर रमस्व भुङ्क्ष्व भोगान्
धननिचयं प्रदिशामि मेदिनीं च।
मयि लल ललने यथासुखं त्वं
त्वयि च समेत्य ललन्तु बान्धवास्ते ॥ ३५ ॥

'तुम दिव्य रसका पान, विहार एवं रमण करो तथा अभीष्ट भोग भोगो। मैं तुम्हें धनकी राशि और सारी पृथ्वी भी समर्पित किये देता हूँ। ललने! तुम मेरे पास रहकर मौजसे मनचाही वस्तुएँ ग्रहण करो और तुम्हारे निकट आकर तुम्हारे भाई-बन्धु भी सुखपूर्वक इच्छानुसार भोग आदि प्राप्त करें ॥ ३५ ॥

कुसुमिततरुजालसंततानि
भ्रमरयुतानि समुद्रतीरजानि।
कनकविमलहारभूषिताङ्गी
विहर मया सह भीरु काननानि ॥ ३६ ॥

'भीरु! तुम सोनेके निर्मल हारोंसे अपने अङ्गको विभूषित करके मेरे साथ समुद्र-तटवर्ती उन काननोंमें विहार करो, जिनमें खिले हुए वृक्षोंके समुदाय सब ओर फैले हुए हैं और उनपर भ्रमर मँड़रा रहे हैं' ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे विंशः सर्गः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशः सर्गः

सीताजीका रावणको समझाना और उसे श्रीरामके सामने नगण्य बताना

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सीता रौद्रस्य रक्षसः।
आर्ता दीनस्वरा दीनं प्रत्युवाच ततः शनैः ॥ १ ॥

उस भयंकर राक्षसकी वह बात सुनकर सीताको बड़ी पीड़ा हुई। उन्होंने दीन वाणीमें बड़े दुःखके साथ धीरे-धीरे उत्तर देना आरम्भ किया ॥ १ ॥

दुःखार्ता रुदती सीता वेपमाना तपस्विनी।
चिन्तयन्ती वरारोहा पतिमेव पतिव्रता ॥ २ ॥

उस समय सुन्दर अङ्गोंवाली पतिव्रता देवी तपस्विनी सीता दुःखसे आतुर होकर रोती हुई काँप रही थीं और अपने पतिदेवका ही चिन्तन कर रही थीं ॥ २ ॥

तृणमन्तरतः कृत्वा प्रत्युवाच शुचिस्मिता।
निवर्तय मनो मत्तः स्वजने प्रीयतां मनः ॥ ३ ॥

पवित्र मुस्कानवाली विदेहनन्दिनीने तिनकेकी ओट करके रावणको इस प्रकार उत्तर दिया—'तुम मेरी ओरसे अपना मन हटा लो और आत्मीय जनों (अपनी ही पत्नियों) पर प्रेम करो ॥ ३ ॥

न मां प्रार्थयितुं युक्तस्त्वं सिद्धिमिव पापकृत्।
अकार्यं न मया कार्यमेकपत्न्या विगर्हितम् ॥ ४ ॥

'जैसे पापाचारी पुरुष सिद्धिकी इच्छा नहीं कर सकता, उसी प्रकार तुम मेरी इच्छा करनेके योग्य नहीं हो। जो पतिव्रताके लिये निन्दित है, वह न करनेयोग्य कार्य मैं कदापि नहीं कर सकती ॥ ४ ॥

कुलं सम्प्राप्तया पुण्यं कुले महति जातया।
एवमुक्त्वा तु वैदेही रावणं तं यशस्विनी ॥ ५ ॥
रावणं पृष्ठतः कृत्वा भूयो वचनमब्रवीत्।
नाहमौपयिकी भार्या परभार्या सती तव ॥ ६ ॥

'क्योंकि मैं एक महान् कुलमें उत्पन्न हुई हूँ और ब्याह करके एक पवित्र कुलमें आयी हूँ।' रावणसे ऐसा कहकर यशस्विनी विदेहराजकुमारीने उसकी ओर अपनी पीठ फेर ली और इस प्रकार कहा—'रावण! मैं सती और परायी स्त्री हूँ। तुम्हारी भार्या बननेयोग्य नहीं हूँ ॥ ५-६ ॥

साधु धर्ममवेक्षस्व साधु साधुव्रतं चर।
यथा तव तथान्येषां रक्ष्या दारा निशाचर ॥ ७ ॥

'निशाचर! तुम श्रेष्ठ धर्मकी ओर दृष्टिपात करो और सत्पुरुषोंके व्रतका अच्छी तरह पालन करो। जैसे तुम्हारी स्त्रियाँ तुमसे संरक्षण पाती हैं, उसी प्रकार दूसरोंकी स्त्रियोंकी

भी तुम्हें रक्षा करनी चाहिये ॥ ७ ॥

आत्मानमुपमां कृत्वा स्वेषु दारेषु रम्यताम्।
अतुष्टं स्वेषु दारेषु चपलं चपलेन्द्रियम्।
नयन्ति निकृतिप्रज्ञं परदाराः पराभवम् ॥ ८ ॥

'तुम अपनेको आदर्श बनाकर अपनी ही स्त्रियोंमें अनुरक्त रहो। जो अपनी स्त्रियोंसे संतुष्ट नहीं रहता तथा जिसकी बुद्धि धिक्कार देनेयोग्य है, उस चपल इन्द्रियोंवाले चञ्चल पुरुषको परायी स्त्रियाँ पराभवको पहुँचा देती हैं—उसे फजीहतमें डाल देती हैं ॥ ८ ॥

इह सन्तो न वा सन्ति सतो वा नानुवर्तसे।
यथा हि विपरीता ते बुद्धिराचारवर्जिता ॥ ९ ॥

'क्या यहाँ सत्पुरुष नहीं रहते हैं अथवा रहनेपर भी तुम उनका अनुसरण नहीं करते हो? जिससे तुम्हारी बुद्धि ऐसी विपरीत एवं सदाचारशून्य हो गयी है? ॥ ९ ॥

वचो मिथ्याप्रणीतात्मा पथ्यमुक्तं विचक्षणैः।
राक्षसानामभावाय त्वं वा न प्रतिपद्यसे ॥ १० ॥

'अथवा बुद्धिमान् पुरुष जो तुम्हारे हितकी बात कहते हैं, उसे निःसार मानकर राक्षसोंके विनाशपर तुले रहनेके कारण तुम ग्रहण ही नहीं करते हो? ॥ १० ॥

अकृतात्मानमासाद्य राजानमनये रतम्।
समृद्धानि विनश्यन्ति राष्ट्राणि नगराणि च ॥ ११ ॥

'जिसका मन अपवित्र तथा सदुपदेशको नहीं ग्रहण करनेवाला है, ऐसे अन्यायी राजाके हाथमें पड़कर बड़े-बड़े समृद्धिशाली राज्य और नगर नष्ट हो जाते हैं ॥ ११ ॥

तथैव त्वां समासाद्य लङ्का रत्नौघसंकुला।
अपराधात् तवैकस्य नचिराद् विनशिष्यति ॥ १२ ॥

'इसी प्रकार यह रत्नराशिसे पूर्ण लङ्कापुरी तुम्हारे हाथमें आ जानेसे अब अकेले तुम्हारे ही अपराधसे बहुत जल्द नष्ट हो जायगी ॥ १२ ॥

स्वकृतैर्हन्यमानस्य रावणादीर्घदर्शिनः।
अभिनन्दन्ति भूतानि विनाशे पापकर्मणः ॥ १३ ॥

'रावण! जब कोई अदूरदर्शी पापाचारी अपने कुकर्मोंसे मारा जाता है, उस समय उसका विनाश होनेपर समस्त प्राणियोंको प्रसन्नता होती है ॥ १३ ॥

एवं त्वां पापकर्माणं वक्ष्यन्ति निकृता जनाः।
दिष्ट्यैतद् व्यसनं प्राप्तो रौद्र इत्येव हर्षिताः ॥ १४ ॥

'इसी प्रकार तुमने जिन लोगोंको कष्ट पहुँचाया है, वे तुम्हें पापी कहेंगे और 'बड़ा अच्छा हुआ, जो इस आततायीको यह कष्ट प्राप्त हुआ' ऐसा कहकर हर्ष मनायेंगे ॥ १४ ॥

शक्या लोभयितुं नाहमैश्वर्येण धनेन वा।
अनन्या राघवेणाहं भास्करेण यथा प्रभा ॥ १५ ॥

'जैसे प्रभा सूर्यसे अलग नहीं होती, उसी प्रकार मैं श्रीरघुनाथजीसे अभिन्न हूँ। ऐश्वर्य या धनके द्वारा तुम मुझे लुभा नहीं सकते ॥ १५ ॥

उपधाय भुजं तस्य लोकनाथस्य सत्कृतम्।
कथं नामोपधास्यामि भुजमन्यस्य कस्यचित् ॥ १६ ॥

'जगदीश्वर श्रीरामचन्द्रजीकी सम्मानित भुजापर सिर रखकर अब मैं किसी दूसरेकी बाँहकी तकिया कैसे लगा सकती हूँ? ॥ १६ ॥

अहमौपयिकी भार्या तस्यैव च धरापतेः।
व्रतस्नातस्य विद्येव विप्रस्य विदितात्मनः ॥ १७ ॥

'जिस प्रकार वेदविद्या आत्मज्ञानी स्नातक ब्राह्मणकी ही सम्पत्ति होती है, उसी प्रकार मैं केवल उन पृथ्वीपति रघुनाथजीकी ही भार्या होनेयोग्य हूँ॥ १७ ॥

साधु रावण रामेण मां समानय दुःखिताम्।
वने वासितया सार्धं करेण्वेव गजाधिपम् ॥ १८ ॥

'रावण! तुम्हारे लिये यही अच्छा होगा कि जिस प्रकार वनमें समागमकी वासनासे युक्त हथिनीको कोई गजराजसे मिला दे, उसी प्रकार तुम मुझ दुःखियाको श्रीरघुनाथजीसे मिला दो ॥ १८ ॥

मित्रमौपयिकं कर्तुं रामः स्थानं परीप्सता।
बन्धं चानिच्छता घोरं त्वयासौ पुरुषर्षभः ॥ १९ ॥

'यदि तुम्हें अपने नगरकी रक्षा और दारुण बन्धनसे बचनेकी इच्छा हो तो पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामको अपना मित्र बना लेना चाहिये; क्योंकि वे ही इसके योग्य हैं ॥ १९ ॥

विदितः सर्वधर्मज्ञः शरणागतवत्सलः।
तेन मैत्री भवतु ते यदि जीवितुमिच्छसि ॥ २० ॥

'भगवान् श्रीराम समस्त धर्मोंके ज्ञाता और सुप्रसिद्ध शरणागतवत्सल हैं। यदि तुम जीवित रहना चाहते हो तो उनके साथ तुम्हारी मित्रता हो जानी चाहिये ॥ २० ॥

प्रसादयस्व त्वं चैनं शरणागतवत्सलम्।
मां चास्मै प्रयतो भूत्वा निर्यातयितुमर्हसि ॥ २१ ॥

'तुम शरणागतवत्सल श्रीरामकी शरण लेकर उन्हें प्रसन्न करो और शुद्धहृदय होकर मुझे उनके पास लौटा दो ॥ २१ ॥

एवं हि ते भवेत् स्वस्ति सम्प्रदाय रघूत्तमे।
अन्यथा त्वं हि कुर्वाणः परां प्राप्स्यसि चापदम् ॥ २२ ॥

'इस प्रकार मुझे श्रीरघुनाथजीको सौंप देनेपर तुम्हारा भला होगा। इसके विपरीत आचरण करनेपर तुम बड़ी भारी विपत्तिमें पड़ जाओगे ॥ २२ ॥

वर्जयेद् वज्रमुत्सृष्टं वर्जयेदन्तकश्चिरम्।
त्वद्विधं न तु संक्रुद्धो लोकनाथः स राघवः ॥ २३ ॥

'तुम्हारे-जैसे निशाचरको कदाचित् हाथसे छूटा हुआ वज्र बिना मारे छोड़ सकता है और काल भी बहुत दिनोंतक तुम्हारी उपेक्षा कर सकता है; किंतु क्रोधमें भरे हुए लोकनाथ रघुनाथजी कदापि नहीं छोड़ेंगे ॥ २३ ॥

रामस्य धनुषः शब्दं श्रोष्यसि त्वं महास्वनम्।
शतक्रतुविसृष्टस्य निर्घोषमशनेरिव ॥ २४ ॥

'इन्द्रके छोड़े हुए वज्रकी गड़गड़ाहटके समान तुम श्रीरामचन्द्रजीके धनुषकी घोर टंकार सुनोगे ॥ २४ ॥

इह शीघ्रं सुपर्वाणो ज्वलितास्या इवोरगाः।
इषवो निपतिष्यन्ति रामलक्ष्मणलक्षिताः ॥ २५ ॥

'यहाँ श्रीराम और लक्ष्मणके नामोंसे अङ्कित और सुन्दर गाँठवाले बाण प्रज्वलित मुखवाले सर्पोंके समान शीघ्र ही गिरेंगे ॥ २५ ॥

रक्षांसि निहनिष्यन्तः पुर्यामस्यां न संशयः।
असम्पातं करिष्यन्ति पतन्तः कङ्कवाससः ॥ २६ ॥

'वे कङ्कपत्रवाले बाण इस पुरीमें राक्षसोंका संहार करेंगे, इसमें संशय नहीं है। वे इस तरह बरसेंगे कि यहाँ तिल रखनेकी भी जगह नहीं रह जायगी ॥ २६ ॥

राक्षसेन्द्रमहासर्पान् स रामगरुडो महान्।
उद्धरिष्यति वेगेन वैनतेय इवोरगान् ॥ २७ ॥

'जैसे विनतानन्दन गरुड़ सर्पोंका संहार करते हैं, उसी प्रकार श्रीरामरूपी महान् गरुड़ राक्षसराजरूपी बड़े-बड़े सर्पोंको वेगपूर्वक उच्छिन्न कर डालेंगे ॥ २७ ॥

अपनेष्यति मां भर्ता त्वत्तः शीघ्रमरिंदमः।
असुरेभ्यः श्रियं दीप्तां विष्णुस्त्रिभिरिव क्रमैः ॥ २८ ॥

'जैसे भगवान् विष्णुने अपने तीन ही पगोंद्वारा असुरोंसे उनकी उद्दीप्त राजलक्ष्मी छीन ली थी, उसी प्रकार मेरे स्वामी शत्रुसूदन श्रीराम मुझे शीघ्र ही तेरे यहाँसे निकाल ले जायँगे ॥ २८ ॥

जनस्थाने हतस्थाने निहते रक्षसां बले।
अशक्तेन त्वया रक्षः कृतमेतदसाधु वै ॥ २९ ॥

'राक्षस! जब राक्षसोंकी सेनाका संहार हो जानेसे जनस्थानका तुम्हारा आश्रय नष्ट हो गया और तुम युद्ध करनेमें असमर्थ हो गये, तब तुमने छल और चोरीसे यह नीच कर्म किया है ॥ २९ ॥

आश्रमं तत्तयोः शून्यं प्रविश्य नरसिंहयोः।
गोचरं गतयोर्भ्रात्रोरपनीता त्वयाधम ॥ ३० ॥

'नीच निशाचर! तुमने पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मणके सूने आश्रममें घुसकर मेरा हरण किया था। वे दोनों उस समय मायामृगको मारनेके लिये वनमें गये हुए थे (नहीं तो तभी तुम्हें इसका फल मिल जाता) ॥ ३० ॥

नहि गन्धमुपाघ्राय रामलक्ष्मणयोस्त्वया।
शक्यं संदर्शने स्थातुं शुना शार्दूलयोरिव ॥ ३१ ॥

'श्रीराम और लक्ष्मणकी तो गन्ध पाकर भी तुम उनके सामने नहीं ठहर सकते। क्या कुत्ता कभी दो-दो बाघोंके सामने टिक सकता है? ॥ ३१ ॥

तस्य ते विग्रहे ताभ्यां युगग्रहणमस्थिरम्।
वृत्रस्येवेन्द्रबाहुभ्यां बाहोरेकस्य विग्रहे ॥ ३२ ॥

'जैसे इन्द्रकी दो बाँहोंके साथ युद्ध छिड़नेपर वृत्रासुरकी एक बाँहके लिये संग्रामके बोझको सँभालना असम्भव हो गया, उसी प्रकार समराङ्गणमें उन दोनों भाइयोंके साथ युद्धका जुआ उठाये रखना या टिकना तुम्हारे लिये सर्वथा असम्भव है ॥ ३२ ॥

क्षिप्रं तव स नाथो मे रामः सौमित्रिणा सह।
तोयमल्पमिवादित्यः प्राणानादास्यते शरैः ॥ ३३ ॥

'वे मेरे प्राणनाथ श्रीराम सुमित्राकुमार लक्ष्मणके साथ आकर अपने बाणोंद्वारा शीघ्र तुम्हारे प्राण हर लेंगे। ठीक उसी तरह, जैसे सूर्य थोड़ेसे जलको अपनी किरणोंद्वारा शीघ्र सुखा देते हैं ॥ ३३ ॥

गिरिं कुबेरस्य गतोऽथवाऽऽलयं
सभां गतो वा वरुणस्य राज्ञः।
असंशयं दाशरथेर्विमोक्ष्यसे
महाद्रुमः कालहतोऽशनेरिव ॥ ३४ ॥

'तुम कुबेरके कैलासपर्वतपर चले जाओ अथवा वरुणकी सभामें जाकर छिप रहो, किंतु कालका मारा हुआ विशाल वृक्ष जैसे वज्रका आघात लगते ही नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार तुम दशरथनन्दन श्रीरामके बाणसे मारे जाकर तत्काल प्राणोंसे हाथ धो बैठोगे, इसमें संशय नहीं है; क्योंकि काल तुम्हें पहलेसे ही मार चुका है' ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे एकविंशः सर्गः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें इक्कीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २१ ॥

—★—

द्वाविंशः सर्गः

रावणका सीताको दो मासकी अवधि देना, सीताका उसे फटकारना, फिर रावणका उन्हें धमकाकर राक्षसियोंके नियन्त्रणमें रखकर स्त्रियोंसहित पुनः महलको लौट जाना

सीताया वचनं श्रुत्वा परुषं राक्षसेश्वरः।
प्रत्युवाच ततः सीतां विप्रियं प्रियदर्शनाम्॥ १॥

सीताके ये कठोर वचन सुनकर राक्षसराज रावणने उन प्रियदर्शना सीताको यह अप्रिय उत्तर दिया—॥ १॥

यथा यथा सान्त्वयिता वश्यः स्त्रीणां तथा तथा।
यथा यथा प्रियं वक्ता परिभूतस्तथा तथा॥ २॥

'लोकमें पुरुष जैसे-जैसे स्त्रियोंसे अनुनय-विनय करता है, वैसे-वैसे वह उनका प्रिय होता जाता है; परंतु मैं तुमसे ज्यों-ज्यों मीठे वचन बोलता हूँ, त्यों-ही-त्यों तुम मेरा तिरस्कार करती जा रही हो॥ २॥

संनियच्छति मे क्रोधं त्वयि कामः समुत्थितः।
द्रवतो मार्गमासाद्य हयानिव सुसारथिः॥ ३॥

'किंतु जैसे अच्छा सारथि कुमार्गमें दौड़ते हुए घोड़ोंको रोकता है, वैसे ही तुम्हारे प्रति जो मेरा प्रेम उत्पन्न हो गया है, वही मेरे क्रोधको रोक रहा है॥ ३॥

वामः कामो मनुष्याणां यस्मिन् किल निबध्यते।
जने तस्मिंस्त्वनुक्रोशः स्नेहश्च किल जायते॥ ४॥

'मनुष्योंमें यह काम (प्रेम) बड़ा टेढ़ा है। वह जिसके प्रति बँध जाता है, उसीके प्रति करुणा और स्नेह उत्पन्न हो जाता है॥ ४॥

एतस्मात् कारणान्न त्वां घातयामि वरानने।
वधार्हामवमानार्हां मिथ्या प्रव्रजने रताम्॥ ५॥

'सुमुखि! यही कारण है कि झूठे वैराग्यमें तत्पर तथा वध और तिरस्कारके योग्य होनेपर भी तुम्हारा मैं वध नहीं कर रहा हूँ॥ ५॥

परुषाणि हि वाक्यानि यानि यानि ब्रवीषि माम्।
तेषु तेषु वधो युक्तस्तव मैथिलि दारुणः॥ ६॥

'मिथिलेशकुमारी! तुम मुझसे जैसी-जैसी कठोर बातें कह रही हो, उनके बदले तो तुम्हें कठोर प्राणदण्ड देना ही उचित है'॥ ६॥

एवमुक्त्वा तु वैदेहीं रावणो राक्षसाधिपः।
क्रोधसंरम्भसंयुक्तः सीतामुत्तरमब्रवीत्॥ ७॥

विदेहराजकुमारी सीतासे ऐसा कहकर क्रोधके आवेशमें भरे हुए राक्षसराज रावणने उन्हें फिर इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ७॥

द्वौ मासौ रक्षितव्यौ मे योऽवधिस्ते मया कृतः।
ततः शयनमारोह मम त्वं वरवर्णिनि॥ ८॥

'सुन्दरि! मैंने तुम्हारे लिये जो अवधि नियुक्त की है, उसके अनुसार मुझे दो महीने और प्रतीक्षा करनी है। तत्पश्चात् तुम्हें मेरी शय्यापर आना होगा॥ ८॥

द्वाभ्यामूर्ध्वं तु मासाभ्यां भर्तारं मामनिच्छतीम्।
मम त्वां प्रातराशार्थे सूदाश्छेत्स्यन्ति खण्डशः॥ ९॥

'अतः याद रखो—यदि दो महीनेके बाद तुम मुझे अपना पति बनाना स्वीकार नहीं करोगी तो रसोइये मेरे कलेवेके लिये तुम्हारे टुकड़े-टुकड़े कर डालेंगे'॥ ९॥

तां भर्त्स्यमानां सम्प्रेक्ष्य राक्षसेन्द्रेण जानकीम्।
देवगन्धर्वकन्यास्ता विषेदुर्विकृतेक्षणाः॥ १०॥

राक्षसराज रावणके द्वारा जनकनन्दिनी सीताको इस प्रकार धमकायी जाती देख देवताओं और गन्धर्वोंकी कन्याओंको बड़ा विषाद हुआ। उनकी आँखें विकृत हो गयीं॥ १०॥

ओष्ठप्रकारैरपरा नेत्रैर्वक्त्रैस्तथापराः।
सीतामाश्वासयामासुस्तर्जितां तेन रक्षसा॥ ११॥

तब उनमेंसे किसीने ओठोंसे, किसीने नेत्रोंसे तथा किसीने मुँहके संकेतसे उस राक्षसद्वारा डाँटी जाती हुई सीताको धैर्य बँधाया॥ ११॥

ताभिराश्वासिता सीता रावणं राक्षसाधिपम्।
उवाचात्महितं वाक्यं वृत्तशौटीर्यगर्वितम्॥ १२॥

उनके धैर्य बँधानेपर सीताने राक्षसराज रावणसे अपने सदाचार (पातिव्रत्य) और पतिके शौर्यके अभिमानसे पूर्ण हितकर वचन कहा—॥ १२॥

नूनं न ते जनः कश्चिदस्मिन्निःश्रेयसि स्थितः।
निवारयति यो न त्वां कर्मणोऽस्माद् विगर्हितात्॥ १३॥

'निश्चय ही इस नगरमें कोई भी पुरुष तेरा भला चाहनेवाला नहीं है, जो तुझे इस निन्दित कर्मसे रोके॥ १३॥

मां हि धर्मात्मनः पत्नीं शचीमिव शचीपतेः।
त्वदन्यस्त्रिषु लोकेषु प्रार्थयेन्मनसापि कः॥ १४॥

'जैसे शची इन्द्रकी धर्मपत्नी हैं, उसी प्रकार मैं धर्मात्मा भगवान् श्रीरामकी पत्नी हूँ। त्रिलोकीमें तेरे सिवा दूसरा कौन है, जो मनसे भी मुझे प्राप्त करनेकी इच्छा करे॥ १४॥

राक्षसाधम रामस्य भार्याममिततेजसः।
उक्तवानसि यत् पापं क्व गतस्तस्य मोक्ष्यसे॥ १५॥

'नीच राक्षस! तूने अमित तेजस्वी श्रीरामकी भार्यासे जो पापकी बात कही है, उसके फलस्वरूप दण्डसे तू कहाँ जाकर छुटकारा पायेगा?॥ १५॥

यथा दृप्तश्च मातङ्गः शशश्च सहितौ वने।
तथा द्विरदवद् रामस्त्वं नीच शशवत् स्मृतः॥ १६॥

'जिस प्रकार वनमें कोई मतवाला हाथी और कोई खरगोश दैववश एक-दूसरेके साथ युद्धके लिये तुल जायँ, वैसे ही भगवान् श्रीराम और तू है। नीच निशाचर! भगवान् राम तो गजराजके समान हैं और तू खरगोशके तुल्य है॥ १६॥

स त्वमिक्ष्वाकुनाथं वै क्षिपन्निह न लज्जसे ।
चक्षुषो विषये तस्य न यावदुपगच्छसि ॥ १७ ॥

'अरे ! इक्ष्वाकुनाथ श्रीरामका तिरस्कार करते तुझे लज्जा नहीं आती। तू जबतक उनकी आँखोंके सामने नहीं जाता, तबतक जो चाहे कह ले ॥ १७ ॥

इमे ते नयने क्रूरे विकृते कृष्णपिङ्गले ।
क्षितौ न पतिते कस्मान्मामनार्य निरीक्षतः ॥ १८ ॥

'अनार्य ! मेरी ओर दृष्टि डालते समय तेरी ये क्रूर और विकार युक्त काली-पीली आँखें पृथ्वीपर क्यों नहीं गिर पड़ीं ? ॥ १८ ॥

तस्य धर्मात्मनः पत्नी स्नुषा दशरथस्य च ।
कथं व्याहरतो मां ते न जिह्वा पाप शीर्यति ॥ १९ ॥

'मैं धर्मात्मा श्रीरामकी धर्मपत्नी और महाराज दशरथकी पुत्रवधू हूँ। पापी ! मुझसे पापकी बातें करते समय तेरी जीभ क्यों नहीं गल जाती है ? ॥ १९ ॥

असंदेशात्तु रामस्य तपसश्चानुपालनात् ।
न त्वां कुर्मि दशग्रीव भस्म भस्मार्हतेजसा ॥ २० ॥

'दशमुख रावण ! मेरा तेज ही तुझे भस्म कर डालनेके लिये पर्याप्त है। केवल श्रीरामकी आज्ञा न होनेसे और अपनी तपस्याको सुरक्षित रखनेके विचारसे मैं तुझे भस्म नहीं कर रही हूँ ॥ २० ॥

नापहर्तुमहं शक्या तस्य रामस्य धीमतः ।
विधिस्तव वधार्थाय विहितो नात्र संशयः ॥ २१ ॥

'मैं मतिमान् श्रीरामकी भार्या हूँ, मुझे हर ले आनेकी शक्ति तेरे अंदर नहीं थी। निःसंदेह तेरे वधके लिये ही विधाताने यह विधान रच दिया है ॥ २१ ॥

शूरेण धनदभ्रात्रा बलैः समुदितेन च ।
अपोह्य रामं कस्माद्धि दारचौर्यं त्वया कृतम् ॥ २२ ॥

'तू तो बड़ा शूरवीर बनता है, कुबेरका भाई है और तेरे पास सेनाएँ भी बहुत हैं, फिर श्रीरामको छलसे दूर हटाकर क्यों तूने उनकी स्त्रीकी चोरी की है ? ॥ २२ ॥

सीताया वचनं श्रुत्वा रावणो राक्षसाधिपः ।
विवृत्य नयने क्रूरे जानकीमन्ववैक्षत ॥ २३ ॥

सीताकी ये बातें सुनकर राक्षसराज रावणने उन जनकदुलारीकी ओर आँखें तरेरकर देखा। उसकी दृष्टिसे क्रूरता टपक रही थी ॥ २३ ॥

नीलजीमूतसंकाशो महाभुजशिरोधरः ।
सिंहसत्त्वगतिः श्रीमान् दीप्तजिह्वोग्रलोचनः ॥ २४ ॥

वह नीलमेघके समान काला और विशालकाय था। उसकी भुजाएँ और ग्रीवा बड़ी थीं। वह गति और पराक्रममें सिंहके समान था और तेजस्वी दिखायी देता था। उसकी जीभ आगकी लपटके समान लपलपा रही थी तथा नेत्र बड़े भयंकर प्रतीत होते थे ॥ २४ ॥

चलाग्रमुकुटप्रांशुश्चित्रमाल्यानुलेपनः ।
रक्तमाल्याम्बरधरस्तप्ताङ्गदविभूषणः ॥ २५ ॥
श्रोणीसूत्रेण महता मेचकेन सुसंवृतः ।
अमृतोत्पादने नद्धो भुजङ्गेनेव मन्दरः ॥ २६ ॥

क्रोधके कारण उसके मुकुटका अग्रभाग हिल रहा था, जिससे वह बहुत ऊँचा जान पड़ता था। उसने तरह-तरहके हार और अनुलेपन धारण कर रखे थे तथा पके सोनेके बने हुए बाजूबंद उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। वह लाल रंगके फूलोंकी माला और लाल वस्त्र पहने हुए था। उसकी कमरके चारों ओर काले रंगका लम्बा कटिसूत्र बँधा हुआ था, जिससे वह अमृत-मन्थनके समय वासुकिसे लिपटे हुए मन्दराचलके समान जान पड़ता था ॥ २५-२६ ॥

ताभ्यां स परिपूर्णाभ्यां भुजाभ्यां राक्षसेश्वरः ।
शुशुभेऽचलसंकाशः शृङ्गाभ्यामिव मन्दरः ॥ २७ ॥

पर्वतके समान विशालकाय राक्षसराज रावण अपनी दोनों परिपुष्ट भुजाओंसे उसी प्रकार शोभा पा रहा था, मानो दो शिखरोंसे मन्दराचल सुशोभित हो रहा हो ॥ २७ ॥

तरुणादित्यवर्णाभ्यां कुण्डलाभ्यां विभूषितः ।
रक्तपल्लवपुष्पाभ्यामशोकाभ्यामिवाचलः ॥ २८ ॥

प्रातःकालके सूर्यकी भाँति अरुण-पीत कान्तिवाले दो कुण्डल उसके कानोंकी शोभा बढ़ा रहे थे, मानो लाल पल्लवों और फूलोंसे युक्त दो अशोक वृक्ष किसी पर्वतको सुशोभित कर रहे हों ॥ २८ ॥

स कल्पवृक्षप्रतिमो वसन्त इव मूर्तिमान् ।
श्मशानचैत्यप्रतिमो भूषितोऽपि भयंकरः ॥ २९ ॥

वह अभिनव शोभासे सम्पन्न होकर कल्पवृक्ष एवं मूर्तिमान् वसन्तके समान जान पड़ता था। आभूषणोंसे विभूषित होनेपर भी श्मशानचैत्य[1] (मरघटमें बने हुए देवालय)की भाँति भयंकर प्रतीत होता था ॥ २९ ॥

अवेक्षमाणो वैदेहीं कोपसंरक्तलोचनः ।
उवाच रावणः सीतां भुजङ्ग इव निःश्वसन् ॥ ३० ॥

रावणने क्रोधसे लाल आँखें करके विदेहकुमारी सीताकी ओर देखा और फुफकारते हुए सर्पके समान लम्बी साँसें

---

१. प्राचीनकालमें नगरकी श्मशानभूमिके पास एक गोलाकार देवालय-सा बना रहता था, जहाँ राजाकी आज्ञासे प्राणदण्डके अपराधियोंका जल्लादोंके द्वारा वध कराया जाता था। जब वहाँ किसीको प्राणदण्ड देनेका अवसर आता, तब उस देवालयको लाल-पीतकर फूलोंकी वन्दनवारोंसे सजाया जाता था। उस विभूषित श्मशानचैत्यको देखते ही लोग यह सोचकर भयभीत हो उठते थे कि आज यहाँ किसीके जीवनका अन्त होनेवाला है। इस तरह जैसे वह श्मशानचैत्य विभूषित होनेपर भी भयंकर लगता था, उसी प्रकार रावण सुन्दर शृङ्गार करके भी सीताको भयानक प्रतीत होता था; क्योंकि वह उनके सतीत्वको नष्ट करना चाहता था।

खींचकर कहा— ॥ ३० ॥

अनयेनाभिसम्पन्नमर्थहीनमनुव्रते ।
नाशयाम्यहमद्य त्वां सूर्यः संध्यामिवौजसा ॥ ३१ ॥

'अन्यायी और निर्धन मनुष्यका अनुसरण करनेवाली नारी! जैसे सूर्यदेव अपने तेजसे प्रातःकालिक संध्याके अन्धकारको नष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार आज मैं तेरा विनाश किये देता हूँ' ॥ ३१ ॥

इत्युक्त्वा मैथिलीं राजा रावणः शत्रुरावणः ।
संददर्श ततः सर्वा राक्षसीर्घोरदर्शनाः ॥ ३२ ॥

मिथिलेशकुमारीसे ऐसा कहकर शत्रुओंको रुलानेवाले राजा रावणने भयंकर दिखायी देनेवाली समस्त राक्षसियोंकी ओर देखा ॥ ३२ ॥

एकाक्षीमेककर्णां च कर्णप्रावरणां तथा ।
गोकर्णीं हस्तिकर्णीं च लम्बकर्णीमकर्णिकाम् ॥ ३३ ॥
हस्तिपद्यश्वपद्यौ च गोपदीं पादचूलिकाम् ।
एकाक्षीमेकपादीं च पृथुपादीमपादिकाम् ॥ ३४ ॥
अतिमात्रशिरोग्रीवामतिमात्रकुचोदरीम् ।
अतिमात्रास्यनेत्रां च दीर्घजिह्वानखामपि ॥ ३५ ॥
अनासिकां सिंहमुखीं गोमुखीं सूकरीमुखीम् ।
यथा मद्वशगा सीता क्षिप्रं भवति जानकी ॥ ३६ ॥
तथा कुरुत राक्षस्यः सर्वाः क्षिप्रं समेत्य वा ।
प्रतिलोमानुलोमैश्च सामदानादिभेदनैः ॥ ३७ ॥
आवर्जयत वैदेहीं दण्डस्योद्यमनेन च ।

उसने एकाक्षी (एक आँखवाली), एककर्णा (एक कानवाली), कर्णप्रावरणा (लंबे कानोंसे अपने शरीरको ढक लेनेवाली), गोकर्णी (गौके-से कानोंवाली), हस्तिकर्णी (हाथीके समान कानोंवाली), लंबकर्णी (लंबे कानवाली), अकर्णिका (बिना कानकी), हस्तिपदी (हाथीके-से पैरोंवाली), अश्वपदी (घोड़ेके समान पैरवाली), गोपदी (गायके समान पैरवाली), पादचूलिका (केशयुक्त पैरोंवाली), एकाक्षी, एकपादी (एक पैरवाली), पृथुपादी (मोटे पैरवाली), अपादिका (बिना पैरोंकी), अतिमात्र-शिरोग्रीवा (विशाल सिर और गर्दनवाली), अतिमात्रकुचोदरी (बहुत बड़े-बड़े स्तन और पेटवाली), अतिमात्रास्यनेत्रा (विशाल मुख और नेत्रवाली), दीर्घजिह्वानखा (लंबी जीभ और नखोंवाली), अनासिका (बिना नाककी), सिंहमुखी (सिंहके समान मुखवाली), गोमुखी (गौके समान मुखवाली) तथा सूकरीमुखी (सूकरीके समान मुखवाली)—इन सब राक्षसियोंसे कहा— 'निशाचरियो! तुम सब लोग मिलकर अथवा अलग-अलग शीघ्र ही ऐसा प्रयत्न करो, जिससे जनककिशोरी सीता बहुत जल्द मेरे वशमें आ जाय। अनुकूल-प्रतिकूल उपायोंसे, साम, दान और भेदनीतिसे तथा दण्डका भी भय दिखाकर विदेहकुमारी सीताको वशमें लानेकी चेष्टा करो' ॥ ३३—३७½ ॥

इति प्रतिसमादिश्य राक्षसेन्द्रः पुनः पुनः ॥ ३८ ॥
काममन्युपरीतात्मा जानकीं प्रति गर्जत ।

राक्षसियोंको इस प्रकार बारम्बार आज्ञा देकर काम और क्रोधसे व्याकुल हुआ राक्षसराज रावण जानकीजीकी ओर देखकर गर्जना करने लगा ॥ ३८½ ॥

उपगम्य ततः क्षिप्रं राक्षसी धान्यमालिनी ॥ ३९ ॥
परिष्वज्य दशग्रीवमिदं वचनमब्रवीत् ।

तदनन्तर राक्षसियोंकी स्वामिनी मन्दोदरी तथा धान्यमालिनी नामवाली राक्षस-कन्या शीघ्र रावणके पास आयीं और उसका आलिङ्गन करके बोलीं— ॥ ३९½ ॥

मया क्रीड महाराज सीतया किं तवानया ॥ ४० ॥
विवर्णया कृपणया मानुष्या राक्षसेश्वर ।

'महाराज राक्षसराज! आप मेरे साथ क्रीडा कीजिये। इस कान्तिहीन और दीन-मानव-कन्या सीतासे आपको क्या प्रयोजन है? ॥ ४०½ ॥

नूनमस्यां महाराज न देवा भोगसत्तमान् ॥ ४१ ॥
विदधत्यमरश्रेष्ठास्तव बाहुबलार्जितान् ।

'महाराज! निश्चय ही देवश्रेष्ठ ब्रह्माजीने इसके भाग्यमें आपके बाहुबलसे उपार्जित दिव्य एवं उत्तम भोग नहीं लिखे हैं ॥ ४१½ ॥

अकामां कामयानस्य शरीरमुपतप्यते ॥ ४२ ॥
इच्छतीं कामयानस्य प्रीतिर्भवति शोभना ।

'प्राणनाथ! जो स्त्री अपनेसे प्रेम नहीं करती, उसकी कामना करनेवाले पुरुषके शरीरमें केवल ताप ही होता है और अपने प्रति अनुराग रखनेवाली स्त्रीकी कामना करनेवालेको उत्तम प्रसन्नता प्राप्त होती है' ॥ ४२½ ॥

एवमुक्तस्तु राक्षस्या समुत्क्षिप्तस्ततो बली ।
प्रहसन् मेघसंकाशो राक्षसः स न्यवर्तत ॥ ४३ ॥

जब राक्षसीने ऐसा कहा और उसे दूसरी ओर वह हटा ले गयी, तब मेघके समान काला और बलवान् राक्षस रावण जोर-जोरसे हँसता हुआ महलकी ओर लौट पड़ा ॥ ४३ ॥

प्रस्थितः स दशग्रीवः कम्पयन्निव मेदिनीम् ।
ज्वलद्भास्करसंकाशं प्रविवेश निवेशनम् ॥ ४४ ॥

अशोकवाटिकासे प्रस्थित होकर पृथ्वीको कम्पित-सी करते हुए दशग्रीवने उद्दीप्त सूर्यके सदृश प्रकाशित होनेवाले अपने भवनमें प्रवेश किया ॥ ४४ ॥

देवगन्धर्वकन्याश्च नागकन्याश्च तास्ततः ।
परिवार्य दशग्रीवं प्रविशुस्ता गृहोत्तमम् ॥ ४५ ॥

तदनन्तर देवता, गन्धर्व और नागोंकी कन्याएँ भी रावणको सब ओरसे घेरकर उसके साथ ही उस उत्तम राजभवनमें चली गयीं ॥ ४५ ॥

स मैथिलीं धर्मपरामवस्थितां
प्रवेपमानां परिभर्त्स्य रावणः ।
विहाय सीतां मदनेन मोहितः
स्वमेव वेश्म प्रविवेश रावणः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार अपने धर्ममें तत्पर, स्थिरचित्त और भयसे काँपती हुई मिथिलेशकुमारी सीताको धमकाकर काममोहित रावण अपने ही महलमें चला गया ॥ ४६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे द्वाविंशः सर्गः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें बाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २२ ॥

—★—

त्रयोविंशः सर्गः

राक्षसियोंका सीताजीको समझाना

इत्युक्त्वा मैथिलीं राजा रावणः शत्रुरावणः ।
संदिश्य च ततः सर्वा राक्षसीर्निर्जगाम ह ॥ १ ॥

शत्रुओंको रुलानेवाला राजा रावण सीताजीसे पूर्वोक्त बातें कहकर तथा सब राक्षसियोंको उन्हें वशमें लानेके लिये आदेश दे वहाँसे निकल गया ॥ १ ॥

निष्क्रान्ते राक्षसेन्द्रे तु पुनरन्तःपुरं गते ।
राक्षस्यो भीमरूपास्ताः सीतां समभिदुद्रुवुः ॥ २ ॥

अशोकवाटिकासे निकलकर जब राक्षसराज रावण अन्तःपुरको चला गया, तब वहाँ जो भयानक रूपवाली राक्षसियाँ थीं, वे सब चारों ओरसे दौड़ी हुई सीताके पास आयीं ॥ २ ॥

ततः सीतामुपागम्य राक्षस्यः क्रोधमूर्च्छिताः ।
परं परुषया वाचा वैदेहीमिदमब्रुवन् ॥ ३ ॥

विदेहकुमारी सीताके समीप आकर क्रोधसे व्याकुल हुई उन राक्षसियोंने अत्यन्त कठोर वाणीद्वारा उनसे इस प्रकार कहना आरम्भ किया— ॥ ३ ॥

पौलस्त्यस्य वरिष्ठस्य रावणस्य महात्मनः ।
दशग्रीवस्य भार्या त्वं सीते न बहु मन्यसे ॥ ४ ॥

'सीते ! तुम पुलस्त्यजीके कुलमें उत्पन्न हुए सर्वश्रेष्ठ दशग्रीव महामना रावणकी भार्या बनना भी कोई बहुत बड़ी बात नहीं समझती ?' ॥ ४ ॥

ततस्त्वेकजटा नाम राक्षसी वाक्यमब्रवीत् ।
आमन्त्र्य क्रोधताम्राक्षी सीतां करतलोदरीम् ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् एकजटा नामवाली राक्षसीने क्रोधसे लाल आँखें करके कृशोदरी सीताको पुकारकर कहा— ॥ ५ ॥

प्रजापतीनां षण्णां तु चतुर्थोऽयं प्रजापतिः ।
मानसो ब्रह्मणः पुत्रः पुलस्त्य इति विश्रुतः ॥ ६ ॥

'विदेहकुमारी ! पुलस्त्यजी छः[1] प्रजापतियोंमें चौथे हैं और ब्रह्माजीके मानस पुत्र हैं। इस रूपमें उनकी सर्वत्र ख्याति है ॥ ६ ॥

पुलस्त्यस्य तु तेजस्वी महर्षिर्मानसः सुतः ।
नाम्ना स विश्रवा नाम प्रजापतिसमप्रभः ॥ ७ ॥

'पुलस्त्यजीके मानस पुत्र तेजस्वी महर्षि विश्रवा हैं। वे भी प्रजापतिके समान ही प्रकाशित होते हैं ॥ ७ ॥

तस्य पुत्रो विशालाक्षि रावणः शत्रुरावणः ।
तस्य त्वं राक्षसेन्द्रस्य भार्या भवितुमर्हसि ॥ ८ ॥
मयोक्तं चारुसर्वाङ्गि वाक्यं किं नानुमन्यसे ।

'विशाललोचने ! ये शत्रुओंके रुलानेवाले महाराज रावण उन्हींके पुत्र हैं और समस्त राक्षसोंके राजा हैं। तुम्हें इनकी भार्या हो जाना चाहिये। सर्वाङ्गसुन्दरी ! मेरी इस कही हुई बातका तुम अनुमोदन क्यों नहीं करतीं ?' ॥ ८½ ॥

ततो हरिजटा नाम राक्षसी वाक्यमब्रवीत् ॥ ९ ॥
विवृत्य नयने कोपान्मार्जारसदृशेक्षणा ।
येन देवास्त्रयस्त्रिंशद् देवराजश्च निर्जितः ॥ १० ॥
तस्य त्वं राक्षसेन्द्रस्य भार्या भवितुमर्हसि ।

इसके बाद बिल्लीके समान भूरे आँखोंवाली हरिजटा नामकी राक्षसीने क्रोधसे आँखें फाड़कर कहना आरम्भ किया—'अरी ! जिन्होंने तैंतीसों[2] देवताओं तथा देवराज इन्द्रको भी परास्त कर दिया है, उन राक्षसराज रावणकी रानी तो तुम्हें अवश्य बन जाना चाहिये ॥ ९-१०½ ॥

वीर्योत्सिक्तस्य शूरस्य संग्रामेष्वनिवर्तिनः ।
बलिनो वीर्ययुक्तस्य भार्या त्वं किं न लिप्ससे ॥ ११ ॥

'उन्हें अपने पराक्रमपर गर्व है। वे युद्धसे पीछे न

---

१. मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु—ये छः प्रजापति हैं।

२. बारह आदित्य, ग्यारह रुद्र, आठ वसु और दो अश्विनीकुमार—ये तैंतीस देवता हैं।

हटनेवाले शूरवीर हैं। ऐसे बल-पराक्रमसम्पन्न पुरुषकी भार्या बनना तुम क्यों नहीं चाहती हो ? ॥ ११ ॥

प्रियां बहुमतां भार्यां त्यक्त्वा राजा महाबलः।
सर्वासां च महाभागां त्वामुपैष्यति रावणः ॥ १२ ॥
समृद्धं स्त्रीसहस्रेण नानारत्नोपशोभितम्।
अन्तःपुरं तदुत्सृज्य त्वामुपैष्यति रावणः ॥ १३ ॥

'महाबली राजा रावण अपनी अधिक प्रिय और सम्मानित भार्या मन्दोदरीको भी, जो सबकी स्वामिनी हैं, छोड़कर तुम्हारे पास पधारेंगे। तुम्हारा कितना महान् सौभाग्य है। वे सहस्रों रमणियोंसे भरे हुए और अनेक प्रकारके रत्नोंसे सुशोभित उस अन्तःपुरको छोड़कर तुम्हारे पास पधारेंगे (अतः तुम्हें उनकी प्रार्थना मान लेनी चाहिये)' ॥ १२-१३ ॥

अन्या तु विकटा नाम राक्षसी वाक्यमब्रवीत्।
असकृद् भीमवीर्येण नागा गन्धर्वदानवाः।
निर्जिताः समरे येन स ते पार्श्वमुपागतः ॥ १४ ॥
तस्य सर्वसमृद्धस्य रावणस्य महात्मनः।
किमर्थं राक्षसेन्द्रस्य भार्यात्वं नेच्छसेऽधमे ॥ १५ ॥

तदनन्तर विकटा नामवाली दूसरी राक्षसीने कहा—'जिन भयानक पराक्रमी राक्षसराजने नागों, गन्धर्वों और दानवोंको भी समराङ्गणमें बारम्बार परास्त किया है, वे ही तुम्हारे पास पधारे थे। नीच नारी! उन्हीं सम्पूर्ण ऐश्वर्योंसे सम्पन्न महामना राक्षसराज रावणकी भार्या बननेके लिये तुम्हें क्यों इच्छा नहीं होती है ?' ॥ १४-१५ ॥

ततस्तां दुर्मुखी नाम राक्षसी वाक्यमब्रवीत्।
यस्य सूर्यो न तपति भीतो यस्य स मारुतः।
न वाति स्मायतापाङ्गि किं त्वं तस्य न तिष्ठसे ॥ १६ ॥

फिर उनसे दुर्मुखी नामवाली राक्षसीने कहा—'विशाललोचने! जिनसे भय मानकर सूर्य तपना छोड़ देता है और वायुकी गति रुक जाती है, उनके पास तुम क्यों नहीं रहती ?॥ १६ ॥

पुष्पवृष्टिं च तरवो मुमुचुर्यस्य वै भयात्।
शैलाः सुस्रुवुः पानीयं जलदाश्च यदेच्छति ॥ १७ ॥
तस्य नैर्ऋतराजस्य राजराजस्य भामिनि।
किं त्वं न कुरुषे बुद्धिं भार्यार्थे रावणस्य हि ॥ १८ ॥

'भामिनि! जिनके भयसे वृक्ष फूल बरसाने लगते हैं और जो जब इच्छा करते हैं, तभी पर्वत तथा मेघ जलका स्रोत बहाने लगते हैं। उन्हीं राजाधिराज राक्षसराज रावणकी भार्या बननेके लिये तुम्हारे मनमें क्यों नहीं विचार होता है ? ॥ १७-१८ ॥

साधु ते तत्त्वतो देवि कथितं साधु भामिनि।
गृहाण सुस्मिते वाक्यमन्यथा न भविष्यसि ॥ १९ ॥

'देवि! मैंने तुमसे उत्तम, यथार्थ और हितकी बात कही है। सुन्दर मुस्कानवाली सीते! तुम मेरी बात मान लो, नहीं तो तुम्हें प्राणोंसे हाथ धोना पड़ेगा' ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे त्रयोविंशः सर्गः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें तेईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २३ ॥

—★—

चतुर्विंशः सर्गः

सीताजीका राक्षसियोंकी बात माननेसे इनकार कर देना तथा राक्षसियोंका उन्हें मारने-काटनेकी धमकी देना

ततः सीतां समस्तास्ता राक्षस्यो विकृताननाः।
परुषं परुषानर्हामूचुस्तद्वाक्यमप्रियम् ॥ १ ॥

तदनन्तर विकराल मुखवाली उन समस्त राक्षसियोंने जो कटुवचन सुननेके योग्य नहीं थीं, उन सीतासे अप्रिय तथा कठोर बचन कहना आरम्भ किया— ॥ १ ॥

किं त्वमन्तःपुरे सीते सर्वभूतमनोरमे।
महार्हशयनोपेते न वासमनुमन्यसे ॥ २ ॥

'सीते! रावणका अन्तःपुर समस्त प्राणियोंके लिये मनोरम है। वहाँ बहुमूल्य शय्याएँ बिछी रहती हैं। उस अन्तःपुरमें तुम्हारा निवास हो, इसके लिये तुम क्यों नहीं अनुमति देतीं ? ॥ २ ॥

मानुषी मानुषस्यैव भार्यात्वं बहु मन्यसे।
प्रत्याहर मनो रामान्नैवं जातु भविष्यति ॥ ३ ॥

'तुम मानुषी हो, इसलिये मनुष्यकी भार्याका जो पद है, उसीको तुम अधिक महत्त्व देती हो; किंतु अब तुम रामकी ओरसे अपना मन हटा लो, अन्यथा कदापि जीवित नहीं रहोगी ॥ ३ ॥

त्रैलोक्यवसुभोक्तारं रावणं राक्षसेश्वरम्।
भर्तारमुपसंगम्य विहरस्व यथासुखम् ॥ ४ ॥

'तुम त्रिलोकीके ऐश्वर्यको भोगनेवाले राक्षसराज रावणको पतिरूपमें पाकर आनन्दपूर्वक विहार करो ॥ ४ ॥

मानुषी मानुषं तं तु राममिच्छसि शोभने।
राज्याद् भ्रष्टमसिद्धार्थं विक्लवन्तमनिन्दिते ॥ ५ ॥

'अनिन्द्य सुन्दरि! तुम मानवी हो, इसीलिये मनुष्य-जातीय रामको ही चाहती हो; परंतु राम इस समय राज्यसे भ्रष्ट हैं। उनका कोई मनोरथ सफल नहीं होता है तथा वे सदा व्याकुल रहते हैं'॥ ५॥

राक्षसीनां वचः श्रुत्वा सीता पद्मनिभेक्षणा।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यामिदं वचनमब्रवीत्॥ ६॥

राक्षसियोंकी ये बातें सुनकर कमलनयनी सीताने आँसूभरे नेत्रोंसे उनकी ओर देखकर इस प्रकार कहा—॥ ६॥

यदिदं लोकविद्विष्टमुदाहरत संगताः।
नैतन्मनसि वाक्यं मे किल्बिषं प्रतितिष्ठति॥ ७॥

'तुम सब मिलकर मुझसे जो यह लोक-विरुद्ध प्रस्ताव कर रही हो, तुम्हारा यह पापपूर्ण वचन मेरे हृदयमें एक क्षणके लिये भी नहीं ठहर पाता है॥ ७॥

न मानुषी राक्षसस्य भार्या भवितुमर्हति।
कामं खादत मां सर्वा न करिष्यामि वो वचः॥ ८॥

'एक मानवकन्या किसी राक्षसकी भार्या नहीं हो सकती। तुम सब लोग भले ही मुझे खा जाओ; किंतु मैं तुम्हारी बात नहीं मान सकती॥ ८॥

दीनो वा राज्यहीनो वा यो मे भर्ता स मे गुरुः।
तं नित्यमनुरक्तास्मि यथा सूर्यं सुवर्चला॥ ९॥

'मेरे पति दीन हों अथवा राज्यहीन—वे ही मेरे स्वामी हैं, वे ही मेरे गुरु हैं, मैं सदा उन्हींमें अनुरक्त हूँ और रहूँगी। जैसे सुवर्चला सूर्यमें अनुरक्त रहती हैं॥ ९॥

यथा शची महाभागा शक्रं समुपतिष्ठति।
अरुन्धती वसिष्ठं च रोहिणी शशिनं यथा॥ १०॥
लोपामुद्रा यथागस्त्यं सुकन्या च्यवनं यथा।
सावित्री सत्यवन्तं च कपिलं श्रीमती यथा॥ ११॥
सौदासं मदयन्तीव केशिनी सगरं यथा।
नैषधं दमयन्तीव भैमी पतिमनुव्रता॥ १२॥
तथाहमिक्ष्वाकुवरं रामं पतिमनुव्रता।

'जैसे महाभागा शची इन्द्रकी सेवामें उपस्थित होती हैं, जैसे देवी अरुन्धती महर्षि वसिष्ठमें, रोहिणी चन्द्रमामें, लोपामुद्रा अगस्त्यमें, सुकन्या च्यवनमें, सावित्री सत्यवान्‌में, श्रीमती कपिलमें, मदयन्ती सौदासमें, केशिनी सगरमें तथा भीमकुमारी दमयन्ती अपने पति निषधनरेश नलमें अनुराग रखती हैं, उसी प्रकार मैं भी अपने पतिदेव इक्ष्वाकुवंश-शिरोमणि भगवान् श्रीराममें अनुरक्त हूँ॥ १०—१२½॥

सीताया वचनं श्रुत्वा राक्षस्यः क्रोधमूर्च्छिताः।
भर्त्सयन्ति स्म परुषैर्वाक्यै रावणचोदिताः॥ १३॥

सीताकी बात सुनकर राक्षसियोंके क्रोधकी सीमा न रही। वे रावणकी आज्ञाके अनुसार कठोर वचनोंद्वारा उन्हें धमकाने लगीं॥ १३॥

अवलीनः स निर्वाक्यो हनुमाञ्छिंशपाद्रुमे।
सीतां संतर्जयन्तीस्ता राक्षसीरशृणोत् कपिः॥ १४॥

अशोकवृक्षमें चुपचाप छिपे बैठे हुए वानर हनुमान्‌जी सीताको फटकारती हुई राक्षसियोंकी बातें सुनते रहे॥ १४॥

तामभिक्रम्य संरब्धा वेपमानां समन्ततः।
भृशं संलिलिहुर्दीप्तान् प्रलम्बान् दशनच्छदान्॥ १५॥

वे सब राक्षसियाँ कुपित हो वहाँ काँपती हुई सीतापर चारों ओरसे टूट पड़ीं और अपने लम्बे एवं चमकीले ओठोंको बारम्बार चाटने लगीं॥ १५॥

ऊचुश्च परमक्रुद्धाः प्रगृह्याशु परश्वधान्।
नेयमर्हति भर्तारं रावणं राक्षसाधिपम्॥ १६॥

उनका क्रोध बहुत बढ़ा हुआ था। वे सब-की-सब तुरंत हाथोंमें फरसे लेकर बोल उठीं—'यह राक्षसराज रावणको पतिरूपमें पानेयोग्य है ही नहीं'॥ १६॥

सा भर्त्स्यमाना भीमाभी राक्षसीभिर्वराङ्गना।
सा बाष्पमपमार्जन्ती शिंशपां तामुपागमत्॥ १७॥

उस भयानक राक्षसियोंके बारम्बार डाँटने और धमकानेपर सर्वाङ्गसुन्दरी कल्याणी सीता अपने आँसू पोंछती हुई उसी अशोकवृक्षके नीचे चली आयीं (जिसके ऊपर हनुमान्‌जी छिपे बैठे थे)॥ १७॥

ततस्तां शिंशपां सीता राक्षसीभिः समावृता।
अभिगम्य विशालाक्षी तस्थौ शोकपरिप्लुता॥ १८॥

विशाललोचना वैदेही शोक-सागरमें डूबी हुई थीं। इसलिये वहाँ चुपचाप बैठ गयीं। किंतु उन राक्षसियोंने वहाँ भी आकर उन्हें चारों ओरसे घेर लिया॥ १८॥

तां कृशां दीनवदनां मलिनाम्बरवासिनीम्।
भर्त्सयाञ्चक्रिरे भीमा राक्षस्यस्ताः समन्ततः॥ १९॥

वे बहुत ही दुर्बल हो गयी थीं। उनके मुखपर दीनता छा रही थी और उन्होंने मलिन वस्त्र पहन रखा था। उस अवस्थामें उन जनकनन्दिनीको चारों ओर खड़ी हुई भयानक राक्षसियोंने फिर धमकाना आरम्भ किया॥ १९॥

ततस्तु विनता नाम राक्षसी भीमदर्शना।
अब्रवीत् कुपिताकारा कराला निर्णतोदरी॥ २०॥

तदनन्तर विनता नामकी राक्षसी आगे बढ़ी। वह देखनेमें बड़ी भयंकर थी। उसकी देह क्रोधकी सजीव प्रतिमा जान पड़ती थी। उस विकराल राक्षसीके पेट भीतरकी ओर धँसे हुए थे। वह बोली—॥ २०॥

सीते पर्याप्तमेतावद् भर्तुः स्नेहः प्रदर्शितः।
सर्वत्रातिकृतं भद्रे व्यसनायोपकल्पते॥ २१॥

'सीते! तूने अपने पतिके प्रति जितना स्नेह दिखाया है, इतना ही बहुत है। भद्रे! अति करना तो सब जगह दुःखका ही कारण होता है॥ २१॥

परितुष्टास्मि भद्रं ते मानुषस्ते कृतो विधिः।
ममापि तु वचः पथ्यं ब्रुवन्त्याः कुरु मैथिलि ॥ २२ ॥

'मिथिलेशकुमारी! तुम्हारा भला हो। मैं तुमसे बहुत संतुष्ट हूँ; क्योंकि तुमने मानवोचित शिष्टाचारका अच्छी तरह पालन किया है। अब मैं भी तुम्हारे हितके लिये जो बात कहती हूँ, उसपर ध्यान दो—उसका शीघ्र पालन करो ॥ २२ ॥

रावणं भज भर्तारं भर्तारं सर्वरक्षसाम्।
विक्रान्तमापतन्तं च सुरेशमिव वासवम् ॥ २३ ॥

'समस्त राक्षसोंका भरण-पोषण करनेवाले महाराज रावणको तुम अपना पति स्वीकार कर लो। वे देवराज इन्द्रके समान बड़े पराक्रमी तथा रूपवान् हैं ॥ २३ ॥

दक्षिणं त्यागशीलं च सर्वस्य प्रियवादिनम्।
मानुषं कृपणं रामं त्यक्त्वा रावणमाश्रय ॥ २४ ॥

'दीन-हीन मनुष्य रामका परित्याग करके सबसे प्रिय वचन बोलनेवाले, उदार और त्यागी रावणका आश्रय लो ॥ २४ ॥

दिव्याङ्गरागा वैदेहि दिव्याभरणभूषिता।
अद्यप्रभृति लोकानां सर्वेषामीश्वरी भव ॥ २५ ॥

'विदेहराजकुमारी! तुम आजसे समस्त लोकोंकी स्वामिनी बन जाओ और दिव्य अङ्गराग तथा दिव्य आभूषण धारण करो ॥ २५ ॥

अग्नेः स्वाहा यथा देवी शची वेन्द्रस्य शोभने।
किं ते रामेण वैदेहि कृपणेन गतायुषा ॥ २६ ॥

'शोभने! जैसे अग्निकी प्रिय पत्नी स्वाहा और इन्द्रकी प्राणवल्लभा शची हैं, उसी प्रकार तुम रावणकी प्रेयसी बन जाओ। विदेहकुमारी! श्रीराम तो दीन हैं। उनकी आयु भी अब समाप्त हो चली है। उनसे तुम्हें क्या मिलेगा! ॥ २६ ॥

एतदुक्तं च मे वाक्यं यदि त्वं न करिष्यसि।
अस्मिन् मुहूर्ते सर्वास्त्वां भक्षयिष्यामहे वयम् ॥ २७ ॥

'यदि तुम मेरी कही हुई इस बातको नहीं मानोगी तो हम सब मिलकर तुम्हें इसी मुहूर्तमें अपना आहार बना लेंगी' ॥ २७ ॥

अन्या तु विकटा नाम लम्बमानपयोधरा।
अब्रवीत् कुपिता सीतां मुष्टिमुद्यम्य तर्जती ॥ २८ ॥

तदनन्तर दूसरी राक्षसी सामने आयी। उसके लम्बे-लम्बे स्तन लटक रहे थे। उसका नाम विकटा था। वह कुपित हो मुक्का तानकर डाँटती हुई सीतासे बोली— ॥ २८ ॥

बहून्यप्रतिरूपाणि वचनानि सुदुर्मते।
अनुक्रोशान्मृदुत्वाच्च सोढानि तव मैथिलि ॥ २९ ॥

'अत्यन्त खोटी बुद्धिवाली मिथिलेशकुमारी! अबतक हमलोगोंने अपने कोमल स्वभाववश तुमपर दया आ जानेके कारण तुम्हारी बहुत-सी अनुचित बातें सह ली हैं ॥ २९ ॥

न च नः कुरुषे वाक्यं हितं कालपुरस्कृतम्।
आनीतासि समुद्रस्य पारमन्यैर्दुरासदम् ॥ ३० ॥
रावणान्तःपुरे घोरे प्रविष्टा चासि मैथिलि।
रावणस्य गृहे रुद्धा अस्माभिस्त्वभिरक्षिता ॥ ३१ ॥

'इतनेपर भी तुम हमारी बात नहीं मानती हो। हमने तुम्हारे हितके लिये ही समयोचित सलाह दी थी। देखो, तुम्हें समुद्रके इस पार ले आया गया है, जहाँ पहुँचना दूसरोंके लिये अत्यन्त कठिन है। यहाँ भी रावणके भयानक अन्तःपुरमें तुम लाकर रखी गयी हो। मिथिलेशकुमारी! याद रखो, रावणके घरमें कैद हो और हम-जैसी राक्षसियाँ तुम्हारी चौकसी कर रही हैं ॥ ३०-३१ ॥

न त्वां शक्तः परित्रातुमपि साक्षात् पुरंदरः।
कुरुष्व हितवादिन्या वचनं मम मैथिलि ॥ ३२ ॥

'मैथिलि! साक्षात् इन्द्र भी यहाँ तुम्हारी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हो सकते। अतः मेरा कहना मानो, मैं तुम्हारे हितकी बात बता रही हूँ ॥ ३२ ॥

अलमश्रुनिपातेन त्यज शोकमनर्थकम्।
भज प्रीतिं प्रहर्षं च त्यजन्ती नित्यदैन्यताम् ॥ ३३ ॥

'आँसू बहानेसे कुछ होने-जानेवाला नहीं है। यह व्यर्थका शोक त्याग दो। सदा छायी रहनेवाली दीनताको दूर करके अपने हृदयमें प्रसन्नता और उल्लासको स्थान दो ॥ ३३ ॥

सीते राक्षसराजेन परिक्रीड यथासुखम्।
जानीमहे यथा भीरु स्त्रीणां यौवनमध्रुवम् ॥ ३४ ॥

'सीते! राक्षसराज रावणके साथ सुखपूर्वक क्रीडाविहार करो। भीरु! हम सभी स्त्रियाँ जानती हैं कि नारियोंका यौवन टिकनेवाला नहीं होता ॥ ३४ ॥

यावन्न ते व्यतिक्रामेत् तावत् सुखमवाप्नुहि।
उद्यानानि च रम्याणि पर्वतोपवनानि च ॥ ३५ ॥
सह राक्षसराजेन चर त्वं मदिरेक्षणे।
स्त्रीसहस्राणि ते देवि वशे स्थास्यन्ति सुन्दरि ॥ ३६ ॥

'जबतक तुम्हारा यौवन नहीं ढल जाता, तबतक सुख भोग लो। मदमत्त बना देनेवाले नेत्रोंसे शोभा पानेवाली सुन्दरी! तुम राक्षसराज रावणके साथ लङ्काके रमणीय उद्यानों और पर्वतीय उपवनोंमें विहार करो। देवि! ऐसा करनेसे सहस्रों स्त्रियाँ सदा तुम्हारी आज्ञाके अधीन रहेंगी ॥ ३५-३६ ॥

रावणं भज भर्तारं भर्तारं सर्वरक्षसाम्।
उत्पाट्य वा ते हृदयं भक्षयिष्यामि मैथिलि ॥ ३७ ॥
यदि मे व्याहृतं वाक्यं न यथावत् करिष्यसि।

'महाराज रावण समस्त राक्षसोंका भरण-पोषण करनेवाले स्वामी हैं। तुम उन्हें अपना पति बना लो। मैथिलि! याद रखो, मैंने जो बात कही है, यदि उसका ठीक-ठीक पालन

नहीं करोगी तो मैं अभी तुम्हारा कलेजा निकालकर खा जाऊँगी' ॥३७½॥

ततश्चण्डोदरी नाम राक्षसी क्रूरदर्शना ॥ ३८ ॥
भ्रामयन्ती महच्छूलमिदं वचनमब्रवीत्।

अब चण्डोदरी नामवाली राक्षसीकी बारी आयी। उसकी दृष्टिसे ही क्रूरता टपकती थी। उसने विशाल त्रिशूल घुमाते हुए यह बात कही— ॥३८½॥

इमां हरिणशावाक्षीं त्रासोत्कम्पपयोधराम् ॥ ३९ ॥
रावणेन हृतां दृष्ट्वा दौर्हृदो मे महानयम्।
यकृत्प्लीहं महत् क्रोडं हृदयं च सबन्धनम् ॥ ४० ॥
गात्राण्यपि तथा शीर्षं खादेयमिति मे मतिः।

'महाराज रावण जब इसे हरकर ले आये थे, उस समय भयके मारे यह थर-थर काँप रही थी, जिससे इसके दोनों स्तन हिल रहे थे। उस दिन इस मृगशावकनयनी मानव-कन्याको देखकर मेरे हृदयमें यह बड़ी भारी इच्छा जाग्रत् हुई—इसके जिगर, तिल्ली, विशाल वक्षःस्थल, हृदय, उसके आधारस्थान, अन्यान्य अङ्ग तथा सिरको मैं खा जाऊँ। इस समय भी मेरा ऐसा ही विचार है' ॥३९-४०½॥

ततस्तु प्रघसा नाम राक्षसी वाक्यमब्रवीत् ॥ ४१ ॥
कण्ठमस्या नृशंसायाः पीडयामः किमास्यते।
निवेद्यतां ततो राज्ञे मानुषी सा मृतेति ह ॥ ४२ ॥
नात्र कश्चन संदेहः खादतेति स वक्ष्यति।

तदनन्तर प्रघसा नामक राक्षसी बोल उठी—'फिर तो हमलोग इस क्रूर-हृदया सीताका गला घोंट दें; अब चुपचाप बैठे रहनेकी क्या आवश्यकता है? इसे मारकर महाराजको सूचना दे दी जाय कि वह मानवकन्या मर गयी। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस समाचारको सुनकर महाराज यह आज्ञा दे देंगे कि तुम सब लोग उसे खा जाओ' ॥४१-४२½॥

ततस्त्वजामुखी नाम राक्षसी वाक्यमब्रवीत् ॥ ४३ ॥
विशस्येमां ततः सर्वान् समान् कुरुत पिण्डकान्।
विभजाम ततः सर्वा विवादो मे न रोचते ॥ ४४ ॥
पेयमानीयतां क्षिप्रं माल्यं च विविधं बहु।

तत्पश्चात् राक्षसी अजामुखीने कहा—'मुझे तो व्यर्थका वादविवाद अच्छा नहीं लगता। आओ, पहले इसे काटकर इसके बहुत-से टुकड़े कर डालें। वे सभी टुकड़े बराबर माप-तौलके होने चाहिये। फिर उन टुकड़ोंको हमलोग आपसमें बाँट लेंगी। साथ ही नाना प्रकारकी पेय-सामग्री तथा फूल-माला आदि भी शीघ्र ही प्रचुर मात्रामें मँगा ली जाय' ॥ ४४ ॥

ततः शूर्पणखा नाम राक्षसी वाक्यमब्रवीत् ॥ ४५ ॥
अजामुख्या यदुक्तं वै तदेव मम रोचते।
सुरा चानीयतां क्षिप्रं सर्वशोकविनाशिनी ॥ ४६ ॥
मानुषं मांसमास्वाद्य नृत्यामोऽथ निकुम्भिलाम्।

तदनन्तर राक्षसी शूर्पणखाने कहा—'अजामुखीने जो बात कही है, वही मुझे भी अच्छी लगती है। समस्त शोकोंको नष्ट कर देनेवाली सुराको भी शीघ्र मँगवा लो। उसके साथ मनुष्यके मांसका आस्वादन करके हम निकुम्भिला देवीके सामने नृत्य करेंगी' ॥४५-४६½॥

एवं निर्भर्त्स्यमाना सा सीता सुरसुतोपमा।
राक्षसीभिर्विरूपाभिर्धैर्यमुत्सृज्य रोदिति ॥ ४७ ॥

उन विकराल रूपवाली राक्षसियोंके द्वारा इस प्रकार धमकायी जानेपर देवकन्याके समान सुन्दरी सीता धैर्य छोड़कर फूट-फूटकर रोने लगीं ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे चतुर्विंशः सर्गः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें चौबीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशः सर्गः

राक्षसियोंकी बात माननेसे इनकार करके शोक-संतप्त सीताका विलाप करना

अथ तासां वदन्तीनां परुषं दारुणं बहु।
राक्षसीनामसौम्यानां रुरोद जनकात्मजा ॥ १ ॥

जब वे क्रूर राक्षसियाँ इस प्रकारकी बहुत-सी कठोर एवं क्रूरतापूर्ण बातें कह रही थीं, उस समय जनकनन्दिनी सीता अधीर हो-होकर रो रही थीं ॥ १ ॥

एवमुक्ता तु वैदेही राक्षसीभिर्मनस्विनी।
उवाच परमत्रस्ता बाष्पगद्गदया गिरा ॥ २ ॥

उन राक्षसियोंके इस प्रकार कहनेपर अत्यन्त भयभीत हुई मनस्विनी विदेहराजकुमारी सीता नेत्रोंसे आँसू बहाती गद्गद वाणीमें बोलीं— ॥ २ ॥

न मानुषी राक्षसस्य भार्या भवितुमर्हति।
कामं खादत मां सर्वा न करिष्यामि वो वचः ॥ ३ ॥

'राक्षसियो! मनुष्यकी कन्या कभी राक्षसकी भार्या नहीं हो सकती। तुम्हारा जी चाहे तो तुम सबलोग मिलकर मुझे खा जाओ, परंतु मैं तुम्हारी बात नहीं मानूँगी' ॥ ३ ॥

सा राक्षसीमध्यगता सीता सुरसुतोपमा।
न शर्म लेभे शोकार्ता रावणेनेव भर्त्सिता ॥ ४ ॥

राक्षसियोंके बीचमें बैठी हुई देवकन्याके समान सुन्दरी

सीता रावणके द्वारा धमकायी जानेके कारण शोकसे आर्त-सी होकर चैन नहीं पा रही थीं ॥ ४ ॥

वेपते स्माधिकं सीता विशन्तीवाङ्गमात्मनः ।
वने यूथपरिभ्रष्टा मृगी कोकैरिवार्दिता ॥ ५ ॥

जैसे वनमें अपने यूथसे बिछुड़ी हुई मृगी भेड़ियोंसे पीड़ित होकर भयके मारे काँप रही हो, उसी प्रकार सीता जोर-जोरसे काँप रही थीं और इस तरह सिकुड़ी जा रही थीं, मानो अपने अङ्गोंमें ही समा जायँगी ॥ ५ ॥

सा त्वशोकस्य विपुलां शाखामालम्ब्य पुष्पिताम् ।
चिन्तयामास शोकेन भर्तारं भग्नमानसा ॥ ६ ॥

उनका मनोरथ भङ्ग हो गया था। वे हताश-सी होकर अशोकवृक्षकी खिली हुई एक विशाल शाखाका सहारा ले शोकसे पीड़ित हो अपने पतिदेवका चिन्तन करने लगीं ॥ ६ ॥

सा स्नापयन्ती विपुलौ स्तनौ नेत्रजलस्रवैः ।
चिन्तयन्ती न शोकस्य तदान्तमधिगच्छति ॥ ७ ॥

आँसुओंके प्रवाहसे अपने स्थूल उरोजोंका अभिषेक करती हुई वे चिन्तामें डूबी थीं और उस समय शोकका पार नहीं पा रही थीं ॥ ७ ॥

सा वेपमाना पतिता प्रवाते कदली यथा ।
राक्षसीनां भयत्रस्ता विवर्णवदनाभवत् ॥ ८ ॥

प्रचण्ड वायुके चलनेपर कम्पित होकर गिरे हुए केलेके वृक्षकी भाँति वे राक्षसियोंके भयसे त्रस्त हो पृथ्वीपर गिर पड़ीं। उस समय उनके मुखकी कान्ति फीकी पड़ गयी थी ॥ ८ ॥

तस्याः सा दीर्घबहुला वेपन्त्याः सीतया तदा ।
ददृशे कम्पिता वेणी व्यालीव परिसर्पती ॥ ९ ॥

उस बेलामें काँपती हुई सीताकी विशाल एवं घनीभूत वेणी भी कम्पित हो रही थी, इसलिये वह रेंगती हुई सर्पिणीके समान दिखायी देती थी ॥ ९ ॥

सा निःश्वसन्ती शोकार्ता कोपोपहतचेतना ।
आर्ता व्यसृजदश्रूणि मैथिली विललाप च ॥ १० ॥

वे शोकसे पीड़ित होकर लम्बी साँसें खींच रही थीं और क्रोधसे अचेत-सी होकर आर्तभावसे आँसू बहा रही थीं। उस समय मिथिलेशकुमारी इस प्रकार विलाप करने लगीं— ॥ १० ॥

हा रामेति च दुःखार्ता हा पुनर्लक्ष्मणेति च ।
हा श्वश्रूर्मम कौसल्ये हा सुमित्रेति भामिनी ॥ ११ ॥

'हा राम! हा लक्ष्मण! हा मेरी सासु कौसल्ये! हा आर्ये सुमित्रे! बारम्बार ऐसा कहकर दुःखसे पीड़ित हुई भामिनी सीता रोने-बिलखने लगीं ॥ ११ ॥

लोकप्रवादः सत्योऽयं पण्डितैः समुदाहृतः ।
अकाले दुर्लभो मृत्युः स्त्रिया वा पुरुषस्य वा ॥ १२ ॥

'हाय! पण्डितोंने यह लोकोक्ति ठीक ही कही है कि 'किसी भी स्त्री या पुरुषकी मृत्यु बिना समय आये नहीं होती' ॥ १२ ॥

यत्राहमाभिः क्रूराभी राक्षसीभिरिहार्दिता ।
जीवामि हीना रामेण मुहूर्तमपि दुःखिता ॥ १३ ॥

'तभी तो मैं श्रीरामके दर्शनसे वञ्चित तथा इन क्रूर राक्षसियोंद्वारा पीड़ित होनेपर भी यहाँ मुहूर्तभर भी जी रही हूँ ॥ १३ ॥

एषाल्पपुण्या कृपणा विनशिष्याम्यनाथवत् ।
समुद्रमध्ये नौः पूर्णा वायुवेगैरिवाहता ॥ १४ ॥

'मैंने पूर्वजन्ममें बहुत थोड़े पुण्य किये थे, इसीलिये इस दीन दशामें पड़कर मैं अनाथकी भाँति मारी जाऊँगी। जैसे समुद्रके भीतर सामानसे भरी हुई नौका वायुके वेगसे आहत हो डूब जाती है, उसी प्रकार मैं भी नष्ट हो जाऊँगी ॥ १४ ॥

भर्तारं तमपश्यन्ती राक्षसीवशमागता ।
सीदामि खलु शोकेन कूलं तोयहतं यथा ॥ १५ ॥

'मुझे पतिदेवके दर्शन नहीं हो रहे हैं। मैं इन राक्षसियोंके चंगुलमें फँस गयी हूँ और पानीके थपेड़ोंसे आहत हो कटते हुए कगारेके समान शोकसे क्षीण होती जा रही हूँ ॥ १५ ॥

तं पद्मदलपत्राक्षं सिंहविक्रान्तगामिनम् ।
धन्याः पश्यन्ति मे नाथं कृतज्ञं प्रियवादिनम् ॥ १६ ॥

'आज जिन लोगोंको सिंहके समान पराक्रमी और सिंहकी-सी चालवाले मेरे कमलदललोचन, कृतज्ञ और प्रियवादी प्राणनाथके दर्शन हो रहे हैं, वे धन्य हैं ॥ १६ ॥

सर्वथा तेन हीनाया रामेण विदितात्मना ।
तीक्ष्णं विषमिवास्वाद्य दुर्लभं मम जीवनम् ॥ १७ ॥

'उन आत्मज्ञानी भगवान् श्रीरामसे बिछुड़कर मेरा जीवित रहना उसी तरह सर्वथा दुर्लभ है, जैसे तेज विषका पान करके किसीका भी जीना अत्यन्त कठिन हो जाता है ॥ १७ ॥

कीदृशं तु महापापं मया देहान्तरे कृतम् ।
तेनेदं प्राप्यते घोरं महादुःखं सुदारुणम् ॥ १८ ॥

'पता नहीं, मैंने पूर्व-जन्ममें दूसरे शरीरसे कैसा महान् पाप किया था, जिससे यह अत्यन्त कठोर, घोर और महान् दुःख मुझे प्राप्त हुआ है? ॥ १८ ॥

जीवितं त्यक्तुमिच्छामि शोकेन महता वृता ।
राक्षसीभिश्च रक्षन्त्या रामो नासाद्यते मया ॥ १९ ॥

'इन राक्षसियोंके संरक्षणमें रहकर तो मैं अपने प्राणाराम श्रीरामको कदापि नहीं पा सकती, इसलिये महान् शोकसे घिर गयी हूँ और इससे तंग आकर अपने जीवनका अन्त कर देना चाहती हूँ ॥ १९ ॥

धिगस्तु खलु मानुष्यं धिगस्तु परवश्यताम् ।
न शक्यं यत् परित्यक्तुमात्मच्छन्देन जीवितम् ॥ २० ॥

'इस मानव-जीवन और परतन्त्रताको धिक्कार है, जहाँ अपनी इच्छाके अनुसार प्राणोंका परित्याग भी नहीं किया जा सकता' ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे पञ्चविंशः सर्गः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें पचीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २५ ॥

षड्विंशः सर्गः

सीताका करुण-विलाप तथा अपने प्राणोंको त्याग देनेका निश्चय करना

**प्रसक्ताश्रुमुखी त्वेवं ब्रुवती जनकात्मजा ।
अधोगतमुखी बाला विलप्तुमुपचक्रमे ॥ १ ॥
उन्मत्तेव प्रमत्तेव भ्रान्तचित्तेव शोचती ।
उपावृत्ता किशोरीव विवेष्टन्ती महीतले ॥ २ ॥**

जनकनन्दिनी सीताके मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही थी। उन्होंने अपना मुख नीचेकी ओर झुका लिया था। वे उपर्युक्त बातें कहती हुई ऐसी जान पड़ती थीं मानो उन्मत्त हो गयी हों—उनपर भूत सवार हो गया हो अथवा पित्त बढ़ जानेसे पागलोंका-सा प्रलाप कर रही हों अथवा दिग्भ्रम आदिके कारण, उनका चित्त भ्रान्त हो गया हो। वे शोकमग्न हो धरतीपर लोटती हुई बछेड़ीके समान पड़ी-पड़ी छटपटा रही थीं। उसी अवस्थामें सरलहृदया सीताने इस प्रकार विलाप करना आरम्भ किया— ॥ १-२ ॥

**राघवस्य प्रमत्तस्य रक्षसा कामरूपिणा ।
रावणेन प्रमथ्याहमानीता क्रोशती बलात् ॥ ३ ॥**

'हाय! इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले राक्षस मारीचके द्वारा जब रघुनाथजी दूर हटा दिये गये और मेरी ओरसे असावधान हो गये, उस अवस्थामें रावण मुझ रोती, चिल्लाती हुई अबलाको बलपूर्वक उठाकर यहाँ ले आया ॥ ३ ॥

**राक्षसीवशमापन्ना भर्त्स्यमाना च दारुणम् ।
चिन्तयन्ती सुदुःखार्ता नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ ४ ॥**

'अब मैं राक्षसियोंके वशमें पड़ी हूँ और इनकी कठोर धमकियाँ सुनती एवं सहती हूँ। ऐसी दशामें अत्यन्त दुःखसे आर्त एवं चिन्तित होकर मैं जीवित नहीं रह सकती ॥ ४ ॥

**नहि मे जीवितेनार्थो नैवार्थैर्न च भूषणैः ।
वसन्त्या राक्षसीमध्ये विना रामं महारथम् ॥ ५ ॥**

'महारथी श्रीरामके बिना राक्षसियोंके बीचमें रहकर मुझे न तो जीवनसे कोई प्रयोजन है, न धनकी आवश्यकता है और न आभूषणोंसे ही कोई काम है ॥ ५ ॥

**अश्मसारमिदं नूनमथवाप्यजरामरम् ।
हृदयं मम येनेदं न दुःखेन विशीर्यते ॥ ६ ॥**

'अवश्य ही मेरा यह हृदय लोहेका बना हुआ है अथवा अजर-अमर है, जिससे इस महान् दुःखमें पड़कर भी यह फटता नहीं है ॥ ६ ॥

**धिङ्मामनार्यामसतीं याहं तेन विना कृता ।
मुहूर्तमपि जीवामि जीवितं पापजीविका ॥ ७ ॥**

'मैं बड़ी ही अनार्य और असती हूँ, मुझे धिक्कार है, जो उनसे अलग होकर मैं एक मुहूर्त भी इस पापी जीवनको धारण किये हूँ। अब तो यह जीवन केवल दुःख देनेके लिये ही है ॥ ७ ॥

**चरणेनापि सव्येन न स्पृशेयं निशाचरम् ।
रावणं किं पुनरहं कामयेयं विगर्हितम् ॥ ८ ॥**

'उस लोकनिन्दित निशाचर रावणको तो मैं बायें पैरसे भी नहीं छू सकती, फिर उसे चाहनेकी तो बात ही क्या है? ॥ ८ ॥

**प्रत्याख्यानं न जानाति नात्मानं नात्मनः कुलम् ।
यो नृशंसस्वभावेन मां प्रार्थयितुमिच्छति ॥ ९ ॥**

'यह राक्षस अपने क्रूर स्वभावके कारण न तो मेरे इनकारपर ध्यान देता है, न अपने महत्त्वको समझता है और न अपने कुलकी प्रतिष्ठाका ही विचार करता है। बारम्बार मुझे प्राप्त करनेकी ही इच्छा करता है ॥ ९ ॥

**छिन्ना भिन्ना प्रभिन्ना वा दीप्ता वाग्नौ प्रदीपिता ।
रावणं नोपतिष्ठेयं किं प्रलापेन वश्चिरम् ॥ १० ॥**

'राक्षसियो! तुम्हारे देरतक बकवाद करनेसे क्या लाभ? तुम मुझे छेदो, चीरो, टुकड़े-टुकड़े कर डालो, आगमें सेंक दो अथवा सर्वथा जलाकर भस्म कर डालो तो भी मैं रावणके पास नहीं फटक सकती ॥ १० ॥

**ख्यातः प्राज्ञः कृतज्ञश्च सानुक्रोशश्च राघवः ।
सद्वृत्तो निरनुक्रोशः शङ्के मद्भाग्यसंक्षयात् ॥ ११ ॥**

'श्रीरघुनाथजी विश्वविख्यात ज्ञानी, कृतज्ञ, सदाचारी और परम दयालु हैं तथापि मुझे संदेह हो रहा है कि कहीं वे मेरे भाग्यके नष्ट हो जानेसे मेरे प्रति निर्दय तो नहीं हो गये? ॥ ११ ॥

**राक्षसानां जनस्थाने सहस्राणि चतुर्दश ।
एकेनैव निरस्तानि स मां किं नाभिपद्यते ॥ १२ ॥**

'अन्यथा जिन्होंने जनस्थानमें अकेले ही चौदह हजार राक्षसोंको कालके गालमें डाल दिया, वे मेरे पास क्यों नहीं आ रहे हैं? ॥ १२ ॥

**निरुद्धा रावणेनाहमल्पवीर्येण रक्षसा ।
समर्थः खलु मे भर्ता रावणं हन्तुमाहवे ॥ १३ ॥**

'इस अल्प बलवाले राक्षस रावणने मुझे कैद कर रखा है। निश्चय ही मेरे पतिदेव समराङ्गणमें इस रावणका वध करनेमें समर्थ हैं ॥ १३ ॥

**विराधो दण्डकारण्ये येन राक्षसपुङ्गवः ।
रणे रामेण निहतः स मां किं नाभिपद्यते ॥ १४ ॥**

'जिन श्रीरामने दण्डकारण्यके भीतर राक्षसशिरोमणि विराधको युद्धमें मार डाला था, वे मेरी रक्षा करनेके लिये यहाँ क्यों नहीं आ रहे हैं? ॥ १४ ॥

**कामं मध्ये समुद्रस्य लङ्केयं दुष्प्रधर्षणा ।
न तु राघवबाणानां गतिरोधो भविष्यति ॥ १५ ॥**

'यह लङ्का समुद्रके बीचमें बसी है, अतः किसी दूसरेके लिये यहाँ आक्रमण करना भले ही कठिन हो; किंतु श्रीरघुनाथजीके बाणोंकी गति यहाँ भी कुण्ठित नहीं हो सकती ॥ १५ ॥

किं नु तत् कारणं येन रामो दृढपराक्रमः ।
रक्षसापहृतां भार्यामिष्टां यो नाभिपद्यते ॥ १६ ॥

'वह कौन-सा कारण है, जिससे बाधित होकर सुदृढ़ पराक्रमी श्रीराम राक्षसद्वारा अपहृत हुई अपनी प्राणपत्नी सीताको छुड़ानेके लिये नहीं आ रहे हैं ॥ १६ ॥

इहस्थां मां न जानीते शङ्के लक्ष्मणपूर्वजः ।
जानन्नपि स तेजस्वी धर्षणां मर्षयिष्यति ॥ १७ ॥

'मुझे तो संदेह होता है कि लक्ष्मणजीके ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामचन्द्रजीको मेरे इस लङ्कामें होनेका पता ही नहीं है। मेरे यहाँ होनेकी बात यदि वे जानते होते तो उनके-जैसा तेजस्वी पुरुष अपनी पत्नीका यह तिरस्कार कैसे सह सकता था ? ॥ १७ ॥

हृतेति मां योऽधिगत्य राघवाय निवेदयेत् ।
गृध्रराजोऽपि स रणे रावणेन निपातितः ॥ १८ ॥

'जो श्रीरघुनाथजीको मेरे हरे जानेकी सूचना दे सकते थे, उन गृध्रराज जटायुको भी रावणने युद्धमें मार गिराया था ॥ १८ ॥

कृतं कर्म महत् तेन मां तथाभ्यवपद्यता ।
तिष्ठता रावणवधे वृद्धेनापि जटायुषा ॥ १९ ॥

'जटायु यद्यपि बूढ़े थे तो भी मुझपर अनुग्रह करके रावणका वध करनेके लिये उद्यत हो उन्होंने बहुत बड़ा पुरुषार्थ किया था ॥ १९ ॥

यदि मामिह जानीयाद् वर्तमानां हि राघवः ।
अद्य बाणैरभिक्रुद्धः कुर्याल्लोकमराक्षसम् ॥ २० ॥

'यदि श्रीरघुनाथजीको मेरे यहाँ रहनेका पता लग जाता तो वे आज ही कुपित होकर सारे संसारको राक्षसोंसे शून्य कर डालते ॥ २० ॥

निर्दहेच्च पुरीं लङ्कां निर्दहेच्च महोदधिम् ।
रावणस्य च नीचस्य कीर्तिं नाम च नाशयेत् ॥ २१ ॥

'लङ्कापुरीको भी जला देते, महासागरको भी भस्म कर डालते तथा इस नीच निशाचर रावणके नाम और यशका भी नाश कर देते ॥ २१ ॥

ततो निहतनाथानां राक्षसीनां गृहे गृहे ।
यथाहमेवं रुदती तथा भूयो न संशयः ॥ २२ ॥

'फिर तो निःसंदेह अपने पतियोंका संहार हो जानेसे घर-घरमें राक्षसियोंका इसी प्रकार क्रन्दन होता, जैसे आज मैं रो रही हूँ ॥ २२ ॥

अन्विष्य रक्षसां लङ्कां कुर्याद् रामः सलक्ष्मणः ।
नहि ताभ्यां रिपुर्दृष्टो मुहूर्तमपि जीवति ॥ २३ ॥

'श्रीराम और लक्ष्मण लङ्काका पता लगाकर निश्चय ही राक्षसोंका संहार करेंगे। जिस शत्रुको उन दोनों भाइयोंने एक बार देख लिया, वह दो घड़ी भी जीवित नहीं रह सकता ॥ २३ ॥

चिताधूमाकुलपथा गृध्रमण्डलमण्डिता ।
अचिरेणैव कालेन श्मशानसदृशी भवेत् ॥ २४ ॥

'अब थोड़े ही समयमें यह लङ्कापुरी श्मशान-भूमिके समान हो जायगी। यहाँकी सड़कोंपर चिताका धुआँ फैल रहा होगा और गीधोंकी जमातें इस भूमिकी शोभा बढ़ाती होंगी ॥ २४ ॥

अचिरेणैव कालेन प्राप्स्याम्येनं मनोरथम् ।
दुष्प्रस्थानोऽयमाभाति सर्वेषां वो विपर्ययः ॥ २५ ॥

'वह समय शीघ्र आनेवाला है जब कि मेरा यह मनोरथ पूर्ण होगा। तुम सब लोगोंका यह दुराचार तुम्हारे लिये शीघ्र ही विपरीत परिणाम उपस्थित करेगा, ऐसा स्पष्ट जान पड़ता है ॥ २५ ॥

यादृशानि तु दृश्यन्ते लङ्कायामशुभानि तु ।
अचिरेणैव कालेन भविष्यति हतप्रभा ॥ २६ ॥

'लङ्कामें जैसे-जैसे अशुभ लक्षण दिखायी दे रहे हैं, उनसे जान पड़ता है कि अब शीघ्र ही इसकी चमक-दमक नष्ट हो जायगी ॥ २६ ॥

नूनं लङ्का हते पापे रावणे राक्षसाधिपे ।
शोषमेष्यति दुर्धर्षा प्रमदा विधवा यथा ॥ २७ ॥

'पापाचारी राक्षसराज रावणके मारे जानेपर यह दुर्धर्ष लङ्कापुरी भी निश्चय ही विधवा युवतीकी भाँति सूख जायगी, नष्ट हो जायगी ॥ २७ ॥

पुण्योत्सवसमृद्धा च नष्टभर्त्री सराक्षसा ।
भविष्यति पुरी लङ्का नष्टभर्त्री यथाङ्गना ॥ २८ ॥

'आज जिस लङ्कामें पुण्यमय उत्सव होते हैं, वह राक्षसोंके सहित अपने स्वामीके नष्ट हो जानेपर विधवा स्त्रीके समान श्रीहीन हो जायगी ॥ २८ ॥

नूनं राक्षसकन्यानां रुदतीनां गृहे गृहे ।
श्रोष्यामि नचिरादेव दुःखार्तानामिह ध्वनिम् ॥ २९ ॥

'निश्चय ही मैं बहुत शीघ्र लङ्काके घर-घरमें दुःखसे आतुर होकर रोती हुई राक्षसकन्याओंकी क्रन्दन-ध्वनि सुनूँगी ॥ २९ ॥

सान्धकारा हतद्योता हतराक्षसपुङ्गवा ।
भविष्यति पुरी लङ्का निर्दग्धा रामसायकैः ॥ ३० ॥

'श्रीरामचन्द्रजीके सायकोंसे दग्ध हो जानेके कारण लङ्कापुरीकी प्रभा नष्ट हो जायगी। इसमें अन्धकार छा जायगा और यहाँके सभी प्रमुख राक्षस कालके गालमें चले जायँगे ॥ ३० ॥

यदि नाम स शूरो मां रामो रक्तान्तलोचनः ।
जानीयाद् वर्तमानां यां राक्षसस्य निवेशने ॥ ३१ ॥

'यह सब तभी सम्भव होगा, जब कि लाल नेत्रप्रान्तवाले शूरवीर भगवान् श्रीरामको यह पता लग जाय कि मैं राक्षसके अन्तःपुरमें बंदी बनाकर रखी गयी हूँ ॥ ३१ ॥

अनेन तु नृशंसेन रावणेनाधमेन मे ।
समयो यस्तु निर्दिष्टस्तस्य कालोऽयमागतः ॥ ३२ ॥

'इस नीच और नृशंस रावणने मेरे लिये जो समय नियत किया है, उसकी पूर्ति भी निकट भविष्यमें ही हो जायगी ॥ ३२ ॥

न च मे विहितो मृत्युरस्मिन् दुष्टेन वर्तते ।
अकार्यं ये न जानन्ति नैर्ऋताः पापकारिणः ॥ ३३ ॥

'उसी समय दुष्ट रावणने मेरे वधका निश्चय किया है। ये पापाचारी राक्षस इतना भी नहीं जानते हैं कि क्या करना चाहिये और क्या नहीं ॥ ३३ ॥

अधर्मात् तु महोत्पातो भविष्यति हि साम्प्रतम् ।
नैते धर्मं विजानन्ति राक्षसाः पिशिताशनाः ॥ ३४ ॥

'इस समय अधर्मसे ही महान् उत्पात होनेवाला है। ये मांसभक्षी राक्षस धर्मको बिलकुल नहीं जानते हैं ॥ ३४ ॥

ध्रुवं मां प्रातराशार्थं राक्षसः कल्पयिष्यति ।
साहं कथं करिष्यामि तं विना प्रियदर्शनम् ॥ ३५ ॥

'वह राक्षस अवश्य ही अपने कलेवेके लिये मेरे शरीरके टुकड़े-टुकड़े करा डालेगा। उस समय अपने प्रियदर्शन पतिके बिना मैं असहाय अबला क्या करूँगी? ॥ ३५ ॥

रामं रक्तान्तनयनमपश्यन्ती सुदुःखिता ।
क्षिप्रं वैवस्वतं देवं पश्येयं पतिना विना ॥ ३६ ॥

'जिनके नेत्रप्रान्त अरुण वर्णके हैं, उन श्रीरामचन्द्रजीका दर्शन न पाकर अत्यन्त दुःखमें पड़ी हुई मुझ असहाय अबलाको पतिका चरणस्पर्श किये बिना ही शीघ्र यमदेवताका दर्शन करना पड़ेगा ॥ ३६ ॥

नाजानाज्जीवतीं रामः स मां भरतपूर्वजः ।
जानन्तौ तु न कुर्यातां नोर्व्यां हि परिमार्गणम् ॥ ३७ ॥

'भरतके बड़े भाई भगवान् श्रीराम यह नहीं जानते हैं कि मैं जीवित हूँ। यदि उन्हें इस बातका पता होता तो ऐसा सम्भव नहीं था कि वे पृथ्वीपर मेरी खोज नहीं करते ॥ ३७ ॥

नूनं ममैव शोकेन स वीरो लक्ष्मणाग्रजः ।
देवलोकमितो यातस्त्यक्त्वा देहं महीतले ॥ ३८ ॥

'मुझे तो यह निश्चित जान पड़ता है कि मेरे ही शोकसे लक्ष्मणके बड़े भाई वीरवर श्रीराम भूतलपर अपने शरीरका त्याग करके यहाँसे देवलोकको चले गये हैं ॥ ३८ ॥

धन्या देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
मम पश्यन्ति ये वीरं रामं राजीवलोचनम् ॥ ३९ ॥

'वे देवता, गन्धर्व, सिद्ध और महर्षिगण धन्य हैं, जो मेरे पतिदेव वीर-शिरोमणि कमलनयन श्रीरामका दर्शन पा रहे हैं ॥ ३९ ॥

अथवा नहि तस्यार्थो धर्मकामस्य धीमतः ।
मया रामस्य राजर्षेर्भार्यया परमात्मनः ॥ ४० ॥

'अथवा केवल धर्मकी कामना रखनेवाले परमात्मस्वरूप बुद्धिमान् राजर्षि श्रीरामको भार्यासे कोई प्रयोजन नहीं है (इसलिये वे मेरी सुध नहीं ले रहे हैं) ॥ ४० ॥

दृश्यमाने भवेत् प्रीतिः सौहृदं नास्त्यदृश्यतः ।
नाशयन्ति कृतघ्नास्तु न रामो नाशयिष्यति ॥ ४१ ॥

'जो स्वजन अपनी दृष्टिके सामने होते हैं, उन्हींपर प्रीति बनी रहती है। जो आँखसे ओझल होते हैं, उनपर लोगोंका स्नेह नहीं रहता है (शायद इसीलिये श्रीरघुनाथजी मुझे भूल गये हैं, परंतु यह भी सम्भव नहीं है; क्योंकि) कृतघ्न मनुष्य ही पीठ-पीछे प्रेमको ठुकरा देते हैं। भगवान् श्रीराम ऐसा नहीं करेंगे ॥ ४१ ॥

किं वा मय्यगुणाः केचित् किं वा भाग्यक्षयो हि मे ।
या हि सीता वरार्हेण हीना रामेण भामिनी ॥ ४२ ॥

'अथवा मुझमें कोई दुर्गुण हैं या मेरा भाग्य ही फूट गया है, जिससे इस समय मैं मानिनी सीता अपने परम पूजनीय पति श्रीरामसे बिछुड़ गयी हूँ ॥ ४२ ॥

श्रेयो मे जीवितान्मर्तुं विहीनाया महात्मना ।
रामादक्लिष्टचारित्राच्छूराच्छत्रुनिबर्हणात् ॥ ४३ ॥

'मेरे पति भगवान् श्रीरामका सदाचार अक्षुण्ण है। वे शूरवीर होनेके साथ ही शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ हैं। मैं उनसे संरक्षण पानेके योग्य हूँ, परंतु उन महात्मासे बिछुड़ गयी। ऐसी दशामें जीवित रहनेकी अपेक्षा मर जाना ही मेरे लिये श्रेयस्कर है ॥ ४३ ॥

अथवा न्यस्तशस्त्रौ तौ वने मूलफलाशनौ ।
भ्रातरौ हि नरश्रेष्ठौ चरन्तौ वनगोचरौ ॥ ४४ ॥

'अथवा वनमें फल-मूल खाकर विचरनेवाले वे दोनों वनवासी बन्धु नरश्रेष्ठ श्रीराम और लक्ष्मण अब अहिंसाका व्रत लेकर अपने अस्त्र-शस्त्रोंका परित्याग कर चुके हैं ॥ ४४ ॥

अथवा राक्षसेन्द्रेण रावणेन दुरात्मना ।
छद्मना घातितौ शूरौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ४५ ॥

'अथवा दुरात्मा राक्षसराज रावणने उन दोनों शूरवीर बन्धु श्रीराम और लक्ष्मणको छलसे मरवा डाला है ॥ ४५ ॥

साहमेवंविधे काले मर्तुमिच्छामि सर्वतः ।
न च मे विहितो मृत्युरस्मिन् दुःखेऽतिवर्तति ॥ ४६ ॥

'अतः ऐसे समयमें मैं सब प्रकारसे अपने जीवनका अन्त कर देनेकी इच्छा रखती हूँ; परंतु मालूम होता है इस महान् दुःखमें होते हुए भी अभी मेरी मृत्यु नहीं लिखी है ॥ ४६ ॥

धन्याः खलु महात्मानो मुनयः सत्यसम्मताः ।
जितात्मानो महाभागा येषां न स्तः प्रियाप्रिये ॥ ४७ ॥

'सत्यस्वरूप परमात्माको ही अपना आत्मा माननेवाले

और अपने अन्तःकरणको वशमें रखनेवाले वे महाभाग महात्मा महर्षिगण धन्य हैं, जिनके कोई प्रिय और अप्रिय नहीं हैं ॥ ४७ ॥

प्रियान्न सम्भवेद् दुःखमप्रियादधिकं भवेत्।
ताभ्यां हि ते वियुज्यन्ते नमस्तेषां महात्मनाम् ॥ ४८ ॥

'जिन्हें प्रियके वियोगसे दुःख नहीं होता और अप्रियका संयोग प्राप्त होनेपर उससे भी अधिक कष्टका अनुभव नहीं होता—इस प्रकार जो प्रिय और अप्रिय दोनोंसे परे हैं, उन महात्माओंको मेरा नमस्कार है ॥ ४८ ॥

साहं त्यक्ता प्रियेणैव रामेण विदितात्मना।
प्राणांस्त्यक्ष्यामि पापस्य रावणस्य गता वशम् ॥ ४९ ॥

'मैं अपने प्रियतम आत्मज्ञानी भगवान् श्रीरामसे बिछुड़ गयी हूँ और पापी रावणके चंगुलमें आ फँसी हूँ; अतः अब इन प्राणोंका परित्याग कर दूँगी' ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे षड्विंशः सर्गः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें छब्बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २६ ॥

—★—

सप्तविंशः सर्गः

त्रिजटाका स्वप्न—राक्षसोंके विनाश और श्रीरघुनाथजीकी विजयकी शुभ सूचना

इत्युक्ताः सीतया घोरं राक्षस्यः क्रोधमूर्च्छिताः।
काश्चिज्जग्मुस्तदाख्यातुं रावणस्य दुरात्मनः ॥ १ ॥

सीताने जब ऐसी भयंकर बात कही, तब वे राक्षसियाँ क्रोधसे अचेत-सी हो गयीं और उनमेंसे कुछ उस दुरात्मा रावणसे वह संवाद कहनेके लिये चल दीं ॥ १ ॥

ततः सीतामुपागम्य राक्षस्यो भीमदर्शनाः।
पुनः परुषमेकार्थमनर्थार्थमथाब्रुवन् ॥ २ ॥

तत्पश्चात् भयंकर दिखायी देनेवाली वे राक्षसियाँ सीताके पास आकर पुनः एक ही प्रयोजनसे सम्बन्ध रखनेवाली कठोर बातें, जो उनके लिये ही अनर्थकारिणी थीं, कहने लगीं— ॥ २ ॥

अद्येदानीं तवानार्ये सीते पापविनिश्चये।
राक्षस्यो भक्षयिष्यन्ति मांसमेतद् यथासुखम् ॥ ३ ॥

'पापपूर्ण विचार रखनेवाली अनार्ये सीते! आज इसी समय ये सब राक्षसियाँ मौजके साथ तेरा यह मांस खायेंगी' ॥ ३ ॥

सीतां ताभिरनार्याभिर्दृष्ट्वा संतर्जितां तदा।
राक्षसी त्रिजटा वृद्धा प्रबुद्धा वाक्यमब्रवीत् ॥ ४ ॥

उन दुष्ट निशाचरियोंके द्वारा सीताको इस प्रकार डरायी जाती देख बूढ़ी राक्षसी त्रिजटा, जो तत्काल सोकर उठी थी, उन सबसे कहने लगी— ॥ ४ ॥

आत्मानं खादतानार्या न सीतां भक्षयिष्यथ।
जनकस्य सुतामिष्टां स्नुषां दशरथस्य च ॥ ५ ॥

'नीच निशाचरियो! तुमलोग अपने-आपको ही खा जाओ। राजा जनककी प्यारी बेटी तथा महाराज दशरथकी प्रिय पुत्रवधू सीताजीको नहीं खा सकोगी ॥ ५ ॥

स्वप्नो ह्यद्य मया दृष्टो दारुणो रोमहर्षणः।
राक्षसानामभावाय भर्तुरस्या भवाय च ॥ ६ ॥

'आज मैंने बड़ा भयंकर और रोमाञ्चकारी स्वप्न देखा है, जो राक्षसोंके विनाश और सीतापतिके अभ्युदयकी सूचना देनेवाला है' ॥ ६ ॥

एवमुक्तास्त्रिजटया राक्षस्यः क्रोधमूर्च्छिताः।
सर्वा एवाब्रुवन् भीतास्त्रिजटां तामिदं वचः ॥ ७ ॥

त्रिजटाके ऐसा कहनेपर वे सब राक्षसियाँ, जो पहले क्रोधसे मूर्च्छित हो रही थीं, भयभीत हो उठीं और त्रिजटासे इस प्रकार बोलीं— ॥ ७ ॥

कथयस्व त्वया दृष्टः स्वप्नोऽयं कीदृशो निशि।
तासां श्रुत्वा तु वचनं राक्षसीनां मुखोद्गतम् ॥ ८ ॥
उवाच वचनं काले त्रिजटा स्वप्नसंश्रितम्।

'अरी! बताओ तो सही, तुमने आज रातमें यह कैसा स्वप्न देखा है?' उन राक्षसियोंके मुखसे निकली हुई यह बात सुनकर त्रिजटाने उस समय वह स्वप्न-सम्बन्धी बात इस प्रकार कही— ॥ ८½ ॥

गजदन्तमयीं दिव्यां शिबिकामन्तरिक्षगाम् ॥ ९ ॥
युक्तां वाजिसहस्रेण स्वयमास्थाय राघवः।
शुक्लमाल्याम्बरधरो लक्ष्मणेन समागतः ॥ १० ॥

'आज स्वप्नमें मैंने देखा है कि आकाशमें चलनेवाली एक दिव्य शिबिका है। वह हाथीदाँतकी बनी हुई है। उसमें एक हजार घोड़े जुते हुए हैं और श्वेत पुष्पोंकी माला तथा श्वेत वस्त्र धारण किये स्वयं श्रीरघुनाथजी लक्ष्मणके साथ उस शिबिकापर चढ़कर यहाँ पधारे हैं ॥ ९-१० ॥

स्वप्ने चाद्य मया दृष्टा सीता शुक्लाम्बरावृता।
सागरेण परिक्षिप्तं श्वेतपर्वतमास्थिता ॥ ११ ॥
रामेण संगता सीता भास्करेण प्रभा यथा।

'आज स्वप्नमें मैंने यह भी देखा है कि सीता श्वेत वस्त्र धारण किये श्वेत पर्वतके शिखरपर बैठी हैं और वह पर्वत

समुद्रसे घिरा हुआ है, वहाँ जैसे सूर्यदेवसे उनकी प्रभा मिलती है, उसी प्रकार सीता श्रीरामचन्द्रजीसे मिली हैं ॥ ११ ॥

राघवश्च पुनर्दृष्टश्चतुर्दन्तं महागजम् ॥ १२ ॥
आरूढः शैलसंकाशं चकास सहलक्ष्मणः ।

'मैंने श्रीरघुनाथजीको फिर देखा, वे चार दाँतवाले विशाल गजराजपर, जो पर्वतके समान ऊँचा था, लक्ष्मणके साथ बैठे हुए बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ १२½ ॥

ततस्तु सूर्यसंकाशौ दीप्यमानौ स्वतेजसा ॥ १३ ॥
शुक्लमाल्याम्बरधरौ जानकीं पर्युपस्थितौ ।

'तदनन्तर अपने तेजसे सूर्यके समान प्रकाशित होते तथा श्वेत माला और श्वेत वस्त्र धारण किये वे दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण जानकीजीके पास आये ॥ १३½ ॥

ततस्तस्य नगस्याग्रे ह्याकाशस्थस्य दन्तिनः ॥ १४ ॥
भर्त्रा परिगृहीतस्य जानकी स्कन्धमाश्रिता ।

'फिर उस पर्वत-शिखरपर आकाशमें ही खड़े हुए और पतिद्वारा पकड़े गये उस हाथीके कंधेपर जानकीजी भी आ पहुँचीं ॥ १४½ ॥

भर्तुरङ्कात् समुत्पत्य ततः कमललोचना ॥ १५ ॥
चन्द्रसूर्यौ मया दृष्टा पाणिभ्यां परिमार्जती ।

'इसके बाद कमलनयनी सीता अपने पतिके अङ्कसे ऊपरको उछलकर चन्द्रमा और सूर्यके पास पहुँच गयीं। वहाँ मैंने देखा वे अपने दोनों हाथोंसे चन्द्रमा और सूर्यको पोंछ रही हैं—उनपर हाथ फेर रही हैं* ॥ १५½ ॥

ततस्ताभ्यां कुमाराभ्यामास्थितः स गजोत्तमः ।
सीतया च विशालाक्ष्या लङ्काया उपरि स्थितः ॥ १६ ॥

'तत्पश्चात् जिसपर वे दोनों राजकुमार और विशाललोचना सीताजी विराजमान थीं, वह महान् गजराज लङ्काके ऊपर आकर खड़ा हो गया ॥ १६ ॥

पाण्डुरर्षभयुक्तेन रथेनाष्टयुजा स्वयम् ।
इहोपयातः काकुत्स्थः सीतया सह भार्यया ॥ १७ ॥
शुक्लमाल्याम्बरधरो लक्ष्मणेन सहागतः ।

'फिर मैंने देखा कि आठ सफेद बैलोंसे जुते हुए एक रथपर आरूढ़ हो ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामचन्द्रजी श्वेत पुष्पोंकी माला और वस्त्र धारण किये अपनी धर्मपत्नी सीता और भाई लक्ष्मणके साथ यहाँ पधारे हैं ॥ १७½ ॥

ततोऽन्यत्र मया दृष्टो रामः सत्यपराक्रमः ॥ १८ ॥
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सीतया सह वीर्यवान् ।
आरुह्य पुष्पकं दिव्यं विमानं सूर्यसंनिभम् ॥ १९ ॥
उत्तरां दिशमालोच्य प्रस्थितः पुरुषोत्तमः ।

'इसके बाद दूसरी जगह मैंने देखा सत्यपराक्रमी और बल-विक्रमशाली पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम अपनी पत्नी सीता और भाई लक्ष्मणके साथ सूर्यतुल्य तेजस्वी दिव्य पुष्पक विमानपर आरूढ़ हो उत्तर दिशाको लक्ष्य करके यहाँसे प्रस्थित हुए हैं ॥ १८-१९½ ॥

एवं स्वप्ने मया दृष्टो रामो विष्णुपराक्रमः ॥ २० ॥
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सीतया सह भार्यया ।

'इस प्रकार मैंने स्वप्नमें भगवान् विष्णुके समान पराक्रमी श्रीरामका उनकी पत्नी सीता और भाई लक्ष्मणके साथ दर्शन किया ॥ २०½ ॥

न हि रामो महातेजाः शक्यो जेतुं सुरासुरैः ॥ २१ ॥
राक्षसैर्वापि चान्यैर्वा स्वर्गः पापजनैरिव ।

'श्रीरामचन्द्रजी महातेजस्वी हैं। उन्हें देवता, असुर, राक्षस तथा दूसरे लोग भी कदापि जीत नहीं सकते। ठीक उसी तरह, जैसे पापी मनुष्य स्वर्गलोकपर विजय नहीं पा सकते ॥ २१½ ॥

रावणश्च मया दृष्टो मुण्डस्तैलसमुक्षितः ॥ २२ ॥
रक्तवासाः पिबन्मत्तः करवीरकृतस्रजः ।
विमानात् पुष्पकादद्य रावणः पतितः क्षितौ ॥ २३ ॥

'मैंने रावणको भी सपनेमें देखा था। वह मूड़ मुड़ाये तेलसे नहाकर लाल कपड़े पहने हुए था। मदिरा पीकर मतवाला हो रहा था तथा करवीरके फूलोंकी माला पहने हुए था। इसी वेषभूषामें आज रावण पुष्पक विमानसे पृथ्वीपर गिर पड़ा था ॥ २२-२३ ॥

कृष्यमाणः स्त्रिया मुण्डो दृष्टः कृष्णाम्बरः पुनः ।
रथेन खरयुक्तेन रक्तमाल्यानुलेपनः ॥ २४ ॥
पिबंस्तैलं हसन्नृत्यन् भ्रान्तचित्ताकुलेन्द्रियः ।
गर्दभेन ययौ शीघ्रं दक्षिणां दिशमास्थितः ॥ २५ ॥

'एक स्त्री उस मुण्डित-मस्तक रावणको कहीं खींचे लिये जा रही थी। उस समय मैंने फिर देखा रावणने काले कपड़े पहन रखे हैं। वह गधे जुते हुए रथसे यात्रा कर रहा था। लाल फूलोंकी माला और लाल चन्दनसे विभूषित था। तेल पीता, हँसता और नाचता था। पागलोंकी तरह उसका चित्त भ्रान्त और इन्द्रियाँ व्याकुल थीं। वह गधेपर सवार हो शीघ्रतापूर्वक दक्षिण दिशाकी ओर जा रहा था ॥ २४-२५ ॥

पुनरेव मया दृष्टो रावणो राक्षसेश्वरः ।
पतितोऽवाक्शिरा भूमौ गर्दभाद् भयमोहितः ॥ २६ ॥

---

* जो स्त्री या पुरुष स्वप्नमें अपने दोनों हाथोंसे सूर्यमण्डल अथवा चन्द्रमण्डलको छू लेता है, उसे विशाल राज्यकी प्राप्ति होती है, जैसा कि स्वप्नाध्यायका वचन है—

आदित्यमण्डलं वापि चन्द्रमण्डलमेव वा। स्वप्ने गृह्णाति हस्ताभ्यां राज्यं सम्प्राप्नुयान्महत्॥
(गोविन्दराजविरचित रामायणभूषण)

'तदनन्तर मैंने फिर देखा राक्षसराज रावण गधेसे नीचे भूमिपर गिर पड़ा है। उसका सिर नीचेकी ओर है (और पैर ऊपरकी ओर) तथा वह भयसे मोहित हो रहा है॥ २६॥

सहसोत्थाय सम्भ्रान्तो भयार्तो मदविह्वलः।
उन्मत्तरूपो दिग्वासा दुर्वाक्यं प्रलपन् बहु॥ २७॥
दुर्गन्धं दुःसहं घोरं तिमिरं नरकोपमम्।
मलपङ्कं प्रविश्याशु मग्नस्तत्र स रावणः॥ २८॥

'फिर वह भयातुर हो घबराकर सहसा उठा और मदसे विह्वल हो पागलके समान नंग-धड़ंग वेषमें बहुत-से दुर्वचन (गाली आदि) बकता हुआ आगे बढ़ गया। सामने ही दुर्गन्धयुक्त दुःसह घोर अन्धकारपूर्ण और नरकतुल्य मलका पङ्क था, रावण उसीमें घुसा और वहीं डूब गया॥ २७-२८॥

प्रस्थितो दक्षिणामाशां प्रविष्टोऽकर्दमं ह्रदम्।
कण्ठे बद्ध्वा दशग्रीवं प्रमदा रक्तवासिनी॥ २९॥
काली कर्दमलिप्ताङ्गी दिशं याम्यां प्रकर्षति।
एवं तत्र मया दृष्टः कुम्भकर्णो महाबलः॥ ३०॥

'तदनन्तर फिर देखा रावण दक्षिणकी ओर जा रहा है। उसने एक ऐसे तालाबमें प्रवेश किया है, जिसमें कीचड़का नाम नहीं है। वहाँ एक काले रंगकी स्त्री है, जिसके अङ्गोंमें कीचड़ लिपटी हुई है। वह युवती लाल वस्त्र पहने हुए है और रावणका गला बाँधकर उसे दक्षिण दिशाकी ओर खींच रही है। वहाँ महाबली कुम्भकर्णको भी मैंने इसी अवस्थामें देखा है॥ २९-३०॥

रावणस्य सुताः सर्वे मुण्डास्तैलसमुक्षिताः।
वराहेण दशग्रीवः शिशुमारेण चेन्द्रजित्॥ ३१॥
उष्ट्रेण कुम्भकर्णश्च प्रयातो दक्षिणां दिशम्।

'रावणके सभी पुत्र भी मूड़ मुड़ाये और तेलमें नहाये दिखायी दिये हैं। यह भी देखनेमें आया कि रावण सूअरपर, इन्द्रजित् सूँसपर और कुम्भकर्ण ऊँटपर सवार हो दक्षिण दिशाको गये हैं॥३१ १/२॥

एकस्तत्र मया दृष्टः श्वेतच्छत्रो विभीषणः॥ ३२॥
शुक्लमाल्याम्बरधरः शुक्लगन्धानुलेपनः।

'राक्षसोंमें एकमात्र विभीषण ही ऐसे हैं, जिन्हें मैंने वहाँ श्वेत छत्र लगाये, सफेद माला पहने, श्वेत वस्त्र धारण किये तथा श्वेत चन्दन और अङ्गराग लगाये देखा है॥३२ १/२॥

शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैर्नृत्तगीतैरलंकृतः॥ ३३॥
आरुह्य शैलसंकाशं मेघस्तनितनिःस्वनम्।
चतुर्दन्तं गजं दिव्यमास्ते तत्र विभीषणः॥ ३४॥
चतुर्भिः सचिवैः सार्धं वैहायसमुपस्थितः॥ ३५॥

'उनके पास शङ्खध्वनि हो रही थी, नगाड़े बजाये जा रहे थे। इनके गम्भीर घोषके साथ ही नृत्य और गीत भी हो रहे थे, जो विभीषणकी शोभा बढ़ा रहे थे। विभीषण वहाँ अपने चार मन्त्रियोंके साथ पर्वतके समान विशालकाय मेघके समान गम्भीर शब्द करनेवाले तथा चार दाँतोंवाले दिव्य गजराजपर आरूढ़ हो आकाशमें खड़े थे॥ ३३—३५॥

समाजश्च महान् वृत्तो गीतवादित्रनिःस्वनः।
पिबतां रक्तमाल्यानां रक्षसां रक्तवाससाम्॥ ३६॥

'यह भी देखनेमें आया कि तेल पीनेवाले तथा लाल माला और लाल वस्त्र धारण करनेवाले राक्षसोंका वहाँ बहुत बड़ा समाज जुटा हुआ है एवं गीतों और वाद्योंकी मधुर ध्वनि हो रही है॥ ३६॥

लङ्का चेयं पुरी रम्या सवाजिरथकुञ्जरा।
सागरे पतिता दृष्टा भग्नगोपुरतोरणा॥ ३७॥

'यह रमणीय लङ्कापुरी घोड़े, रथ और हाथियोंसहित समुद्रमें गिरी हुई देखी गयी है। इसके बाहरी और भीतरी दरवाजे टूट गये हैं॥ ३७॥

लङ्का दृष्टा मया स्वप्ने रावणेनाभिरक्षिता।
दग्धा रामस्य दूतेन वानरेण तरस्विना॥ ३८॥

'मैंने स्वप्नमें देखा है कि रावणद्वारा सुरक्षित लङ्कापुरीको श्रीरामचन्द्रजीका दूत बनकर आये हुए एक वेगशाली वानरने जलाकर भस्म कर दिया है॥ ३८॥

पीत्वा तैलं प्रमत्ताश्च प्रहसन्त्यो महास्वनाः।
लङ्कायां भस्मरूक्षायां सर्वा राक्षसयोषितः॥ ३९॥

'राखसे रूखी हुई लङ्कामें सारी राक्षसरमणियाँ तेल पीकर मतवाली हो बड़े जोर-जोरसे ठहाका मारकर हँसती हैं॥ ३९॥

कुम्भकर्णादयश्चेमे सर्वे राक्षसपुङ्गवाः।
रक्तं निवसनं गृह्य प्रविष्टा गोमयह्रदम्॥ ४०॥

'कुम्भकर्ण आदि ये समस्त राक्षसशिरोमणि वीर लाल कपड़े पहनकर गोबरके कुण्डमें घुस गये हैं॥ ४०॥

अपगच्छत पश्यध्वं सीतामाप्नोति राघवः।
घातयेत् परमामर्षी युष्मान् सार्धं हि राक्षसैः॥ ४१॥

'अतः अब तुमलोग हट जाओ और देखो कि किस तरह श्रीरघुनाथजी सीताको प्राप्त कर रहे हैं। वे बड़े अमर्षशील हैं, राक्षसोंके साथ तुम सबको भी मरवा डालेंगे॥ ४१॥

प्रियां बहुमतां भार्यां वनवासमनुव्रताम्।
भर्त्सितां तर्जितां वापि नानुमंस्यति राघवः॥ ४२॥

'जिन्होंने वनवासमें भी उनका साथ दिया है, उन अपनी पतिव्रता भार्या और परमादरणीया प्रियतमा सीताका इस तरह धमकाया और डराया जाना श्रीरघुनाथजी कदापि सहन नहीं करेंगे॥ ४२॥

तदलं क्रूरवाक्यैश्च सान्त्वमेवाभिधीयताम्।
अभियाचाम वैदेहीमेतद्धि मम रोचते॥ ४३॥

'अतः अब इस तरह कठोर बातें सुनाना छोड़ो; क्योंकि इनसे कोई लाभ नहीं होगा। अब तो मधुर वचनका ही

प्रयोग करो। मुझे तो यही अच्छा लगता है कि हमलोग विदेहनन्दिनी सीतासे कृपा और क्षमाकी याचना करें॥ ४३॥

यस्या ह्येवंविधः स्वप्नो दुःखितायाः प्रदृश्यते।
सा दुःखैर्बहुभिर्मुक्ता प्रियं प्राप्नोत्यनुत्तमम्॥ ४४॥

'जिस दुःखिनी नारीके विषयमें ऐसा स्वप्न देखा जाता है, वह बहुसंख्यक दुःखोंसे छुटकारा पाकर परम उत्तम प्रिय वस्तु प्राप्त कर लेती है॥ ४४॥

भर्त्सितामपि याचध्वं राक्षस्यः किं विवक्षया।
राघवाद्धि भयं घोरं राक्षसानामुपस्थितम्॥ ४५॥

'राक्षसियो! मैं जानती हूँ, तुम्हें कुछ और कहने या बोलनेकी इच्छा है; किंतु इससे क्या होगा? यद्यपि तुमने सीताको बहुत धमकाया है तो भी इनकी शरणमें आकर इनसे अभयकी याचना करो; क्योंकि श्रीरघुनाथजीकी ओरसे राक्षसोंके लिये घोर भय उपस्थित हुआ है॥ ४५॥

प्रणिपातप्रसन्ना हि मैथिली जनकात्मजा।
अलमेषा परित्रातुं राक्षस्यो महतो भयात्॥ ४६॥

'राक्षसियो! जनकनन्दिनी मिथिलेशकुमारी सीता केवल प्रणाम करनेसे ही प्रसन्न हो जायँगी। ये ही उस महान् भयसे तुम्हारी रक्षा करनेमें समर्थ हैं॥ ४६॥

अपि चास्या विशालाक्ष्या न किंचिदुपलक्षये।
विरूपमपि चाङ्गेषु सुसूक्ष्ममपि लक्षणम्॥ ४७॥

'इन विशाललोचना सीताके अङ्गोंमें मुझे कोई सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भी विपरीत लक्षण नहीं दिखायी देता (जिससे समझा जाय कि ये सदा कष्टमें ही रहेंगी)॥ ४७॥

छायावैगुण्यमात्रं तु शङ्के दुःखमुपस्थितम्।
अदुःखार्हामिमां देवीं वैहायसमुपस्थिताम्॥ ४८॥

'मैं तो समझती हूँ कि इन्हें जो वर्तमान दुःख प्राप्त हुआ है, वह ग्रहणके समय चन्द्रमापर पड़ी हुई छायाके समान थोड़ी ही देरका है; क्योंकि ये देवी सीता मुझे स्वप्नमें विमानपर बैठी दिखायी दी हैं, अतः ये दुःख भोगनेके योग्य कदापि नहीं हैं॥ ४८॥

अर्थसिद्धिं तु वैदेह्याः पश्याम्यहमुपस्थिताम्।
राक्षसेन्द्रविनाशं च विजयं राघवस्य च॥ ४९॥

'मुझे तो अब जानकीजीके अभीष्ट मनोरथकी सिद्धि उपस्थित दिखायी देती है। राक्षसराज रावणके विनाश और रघुनाथजीकी विजयमें अब अधिक विलम्ब नहीं है॥ ४९॥

निमित्तभूतमेतत् तु श्रोतुमस्या महत् प्रियम्।
दृश्यते च स्फुरच्चक्षुः पद्मपत्रमिवायतम्॥ ५०॥

'कमलदलके समान इनका विशाल बायाँ नेत्र फड़कता दिखायी देता है। यह इस बातका सूचक है कि इन्हें शीघ्र ही अत्यन्त प्रिय संवाद सुननेको मिलेगा॥ ५०॥

ईषद्धि हृषितो वास्या दक्षिणाया ह्यदक्षिणः।
अकस्मादेव वैदेह्या बाहुरेकः प्रकम्पते॥ ५१॥

'इन उदारहृदया विदेहराजकुमारीकी एक बायीं बाँह कुछ रोमाञ्चित होकर सहसा काँपने लगी है (यह भी शुभका ही सूचक है)॥ ५१॥

करेणुहस्तप्रतिमः सव्यश्चोरुरनुत्तमः।
वेपन् कथयतीवास्या राघवं पुरतः स्थितम्॥ ५२॥

'हाथीकी सूँड़के समान जो इनकी परम उत्तम बायीं जाँघ है, वह भी कम्पित होकर मानो यह सूचित कर रही है कि अब श्रीरघुनाथजी शीघ्र ही तुम्हारे सामने उपस्थित होंगे॥ ५२॥

पक्षी च शाखानिलयं प्रविष्टः
पुनः पुनश्चोत्तमसान्त्ववादी।
सुस्वागतं वाचमुदीरयाणः
पुनः पुनश्चोदयतीव हृष्टः॥ ५३॥

'देखो, सामने यह पक्षी शाखाके ऊपर अपने घोंसलेमें बैठकर बारम्बार उत्तम सान्त्वनापूर्ण मीठी बोली बोल रहा है। इसकी वाणीसे 'सुस्वागतम्' की ध्वनि निकल रही है और इसके द्वारा यह हर्षमें भरकर मानो पुनः-पुनः मङ्गलप्राप्तिकी सूचना दे रहा है अथवा आनेवाले प्रियतमकी अगवानीके लिये प्रेरित कर रहा है'॥ ५३॥

ततः सा ह्रीमती बाला भर्तुर्विजयहर्षिता।
अवोचद् यदि तत् तथ्यं भवेयं शरणं हि वः॥ ५४॥

इस प्रकार पतिदेवकी विजयके संवादसे हर्षमें भरी हुई लजीली सीता उन सबसे बोलीं—'यदि तुम्हारी बात ठीक हुई तो मैं अवश्य ही तुम सबकी रक्षा करूँगी'॥ ५४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे सप्तविंशः सर्गः॥ २७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें सत्ताईसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २७॥

—★—

अष्टाविंशः सर्गः

विलाप करती हुई सीताका प्राण-त्यागके लिये उद्यत होना

सा राक्षसेन्द्रस्य वचो निशम्य
तद् रावणस्य प्रियमप्रियार्ता ।
सीता वितत्रास यथा वनान्ते
सिंहाभिपन्ना गजराजकन्या ॥ १ ॥

पतिके विरहके दुःखसे व्याकुल हुई सीता राक्षसराज रावणके उन अप्रिय वचनोंको याद करके उसी तरह भयभीत हो गयीं, जैसे वनमें सिंहके पंजेमें पड़ी हुई कोई गजराजकी बच्ची ॥ १ ॥

सा राक्षसीमध्यगता च भीरु-
र्वाग्भिर्भृशं रावणतर्जिता च ।
कान्तारमध्ये विजने विसृष्टा
बालेव कन्या विललाप सीता ॥ २ ॥

राक्षसियोंके बीचमें बैठकर उनके कठोर वचनोंसे बारम्बार धमकायी और रावणद्वारा फटकारी गयी भीरु स्वभाववाली सीता निर्जन एवं बीहड़ वनमें अकेली छूटी हुई अल्पवयस्का बालिकाके समान विलाप करने लगीं ॥ २ ॥

सत्यं बतेदं प्रवदन्ति लोके
नाकालमृत्युर्भवतीति सन्तः ।
यत्राहमेवं परिभर्त्स्यमाना
जीवामि यस्मात् क्षणमप्यपुण्या ॥ ३ ॥

वे बोलीं—'संतजन लोकमें यह बात ठीक ही कहते हैं कि बिना समय आये किसीकी मृत्यु नहीं होती, तभी तो इस प्रकार धमकायी जानेपर भी मैं पुण्यहीना नारी क्षणभर भी जीवित रह पाती हूँ ॥ ३ ॥

सुखाद् विहीनं बहुदुःखपूर्ण-
मिदं तु नूनं हृदयं स्थिरं मे ।
विदीर्यते यन्न सहस्रधाद्य
वज्राहतं शृङ्गमिवाचलस्य ॥ ४ ॥

'मेरा यह हृदय सुखसे रहित और अनेक प्रकारके दुःखोंसे भरा होनेपर भी निश्चय ही अत्यन्त दृढ़ है। इसीलिये वज्रके मारे हुए पर्वतशिखरकी भाँति आज इसके सहस्रों टुकड़े नहीं हो जाते ॥ ४ ॥

नैवास्ति नूनं मम दोषमत्र
वध्याहमस्याप्रियदर्शनस्य ।
भावं न चास्याहमनुप्रदातु-
मलं द्विजो मन्त्रमिवाद्विजाय ॥ ५ ॥

'मैं इस दुष्ट रावणके हाथसे मारी जानेवाली हूँ, इसलिये यहाँ आत्मघात करनेसे भी मुझे कोई दोष नहीं लग सकता। कुछ भी हो, जैसे द्विज किसी शूद्रको वेदमन्त्रका उपदेश नहीं देता, उसी प्रकार मैं भी इस निशाचरको अपने हृदयका अनुराग नहीं दे सकती ॥ ५ ॥

तस्मिन्ननागच्छति लोकनाथे
गर्भस्थजन्तोरिव शल्यकृन्तः ।
नूनं ममाङ्गान्यचिरादनार्यः
शस्त्रैः शितैश्छेत्स्यति राक्षसेन्द्रः ॥ ६ ॥

'हाय! लोकनाथ भगवान् श्रीरामके आनेसे पहले ही यह दुष्ट राक्षसराज निश्चय ही अपने तीखे शस्त्रोंसे मेरे अङ्गोंके शीघ्र ही टुकड़े-टुकड़े कर डालेगा। ठीक वैसे ही, जैसे शल्यचिकित्सक किसी विशेष अवस्थामें गर्भस्थ शिशुके टूक-टूक कर देता है (अथवा जैसे इन्द्रने दितिके गर्भमें स्थित शिशुके उनचास टुकड़े कर डाले थे) ॥ ६ ॥

दुःखं बतेदं ननु दुःखिताया
मासौ चिरायाभिगमिष्यतो द्वौ ।
बद्धस्य वध्यस्य यथा निशान्ते
राजोपरोधादिव तस्करस्य ॥ ७ ॥

'मैं बड़ी दुःखिया हूँ। दुःखकी बात है कि मेरी अवधिके ये दो महीने भी जल्दी ही समाप्त हो जायँगे। राजाके कारागारमें कैद हुए और रात्रिके अन्तमें फाँसीकी सजा पानेवाले अपराधी चोरकी जो दशा होती है, वही मेरी भी है ॥ ७ ॥

हा राम हा लक्ष्मण हा सुमित्रे
हा राममातः सह मे जनन्यः ।
एषा विपद्याम्यहमल्पभाग्या
महार्णवे नौरिव मूढवाता ॥ ८ ॥

'हा राम! हा लक्ष्मण! हा सुमित्रे! हा श्रीरामजननी कौसल्ये! और हा मेरी माताओ! जिस प्रकार बवंडरमें पड़ी हुई नौका महासागरमें डूब जाती है, उसी प्रकार आज मैं मन्दभागिनी सीता प्राणसङ्कटकी दशामें पड़ी हुई हूँ ॥ ८ ॥

तरस्विनौ धारयता मृगस्य
सत्त्वेन रूपं मनुजेन्द्रपुत्रौ ।
नूनं विशस्तौ मम कारणात् तौ
सिंहर्षभौ द्वाविव वैद्युतेन ॥ ९ ॥

'निश्चय ही उस मृगरूपधारी जीवने मेरे कारण उन दोनों वेगशाली राजकुमारोंको मार डाला होगा। जैसे दो श्रेष्ठ सिंह बिजलीसे मार दिये जायँ, वही दशा उन दोनों भाइयोंकी हुई होगी ॥ ९ ॥

नूनं स कालो मृगरूपधारी
मामल्पभाग्यां लुलुभे तदानीम् ।
यत्रार्यपुत्रौ विससर्ज मूढा
रामानुजं लक्ष्मणपूर्वजं च ॥ १० ॥

'अवश्य ही उस समय कालने ही मृगका रूप धारण करके मुझ मन्दभागिनीको लुभाया था, जिससे प्रभावित हो

मुझ मूढ़ नारीने उन दोनों आर्यपुत्रों—श्रीराम और लक्ष्मणको उसके पीछे भेज दिया था॥ १०॥

हा राम सत्यव्रत दीर्घबाहो
हा पूर्णचन्द्रप्रतिमानवक्त्र।
हा जीवलोकस्य हितः प्रियश्च
वध्यां न मां वेत्सि हि राक्षसानाम्॥ ११॥

'हा सत्यव्रतधारी महाबाहु श्रीराम! हा पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाले रघुनन्दन! हा जीवजगत्के हितैषी और प्रियतम! आपको पता नहीं है कि मैं राक्षसोंके हाथसे मारी जानेवाली हूँ॥ ११॥

अनन्यदेवत्वमियं क्षमा च
भूमौ च शय्या नियमश्च धर्मे।
पतिव्रतात्वं विफलं ममेदं
कृतं कृतघ्नेष्विव मानुषाणाम्॥ १२॥

'मेरी यह अनन्योपासना, क्षमा, भूमिशयन, धर्मसम्बन्धी नियमोंका पालन और पतिव्रतपरायणता—ये सब-के-सब कृतघ्नोंके प्रति किये गये मनुष्योंके उपकारकी भाँति निष्फल हो गये॥ १२॥

मोघो हि धर्मश्चरितो ममायं
तथैकपत्नीत्वमिदं निरर्थकम्।
या त्वां न पश्यामि कृशा विवर्णा
हीना त्वया सङ्गमने निराशा॥ १३॥

'प्रभो! यदि मैं अत्यन्त कृश और कान्तिहीन होकर आपसे बिछुड़ी ही रह गयी तथा आपसे मिलनेकी आशा खो बैठी, तब तो मैंने जिसका जीवनभर आचरण किया है, वह धर्म मेरे लिये व्यर्थ हो गया और यह एकपत्नीव्रत भी किसी काम नहीं आया॥ १३॥

पितुर्निदेशं नियमेन कृत्वा
वनान्निवृत्तश्चरितव्रतश्च।
स्त्रीभिस्तु मन्ये विपुलेक्षणाभिः
संरंस्यसे वीतभयः कृतार्थः॥ १४॥

'मैं तो समझती हूँ आप नियमानुसार पिताकी आज्ञाका पालन करके अपने व्रतको पूर्ण करनेके पश्चात् जब वनसे लौटेंगे, तब निर्भय एवं सफलमनोरथ हो विशाल नेत्रोंवाली बहुत-सी सुन्दरियोंके साथ विवाह करके उनके साथ रमण करेंगे॥ १४॥

अहं तु राम त्वयि जातकामा
चिरं विनाशाय निबद्धभावा।
मोघं चरित्वाथ तपो व्रतं च
त्यक्ष्यामि धिग्जीवितमल्पभाग्याम्॥ १५॥

'किंतु श्रीराम! मैं तो केवल आपमें ही अनुराग रखती हूँ। मेरा हृदय चिरकालतक आपसे ही बँधा रहेगा। मैं अपने विनाशके लिये ही आपसे प्रेम करती हूँ। अबतक मैंने तप और व्रत आदि जो कुछ भी किया है, वह मेरे लिये व्यर्थ सिद्ध हुआ है। उस अभीष्ट फलको न देनेवाले धर्मका आचरण करके अब मुझे अपने प्राणोंका परित्याग करना पड़ेगा। अतः मुझ मन्दभागिनीको धिक्कार है॥ १५॥

संजीवितं क्षिप्रमहं त्यजेयं
विषेण शस्त्रेण शितेन वापि।
विषस्य दाता न तु मेऽस्ति कश्चि-
च्छस्त्रस्य वा वेश्मनि राक्षसस्य॥ १६॥

'मैं शीघ्र ही किसी तीखे शस्त्र अथवा विषसे अपने प्राण त्याग दूँगी; परंतु इस राक्षसके यहाँ मुझे कोई विष या शस्त्र देनेवाला भी नहीं है'॥ १६॥

शोकाभितप्ता बहुधा विचिन्त्य
सीताथ वेणीग्रथनं गृहीत्वा।
उद्बध्य वेण्युद्ग्रथनेन शीघ्र-
महं गमिष्यामि यमस्य मूलम्॥ १७॥

शोकसे संतप्त हुई सीताने इसी प्रकार बहुत कुछ विचार करके अपनी चोटीको पकड़कर निश्चय किया कि मैं शीघ्र ही इस चोटीसे फाँसी लगाकर यमलोकमें पहुँच जाऊँगी॥ १७॥

उपस्थिता सा मृदुसर्वगात्री
शाखां गृहीत्वा च नगस्य तस्य।
तस्यास्तु रामं परिचिन्तयन्त्या
रामानुजं स्वं च कुलं शुभाङ्ग्याः॥ १८॥
तस्या विशोकानि तदा बहूनि
धैर्यार्जितानि प्रवराणि लोके।
प्रादुर्निमित्तानि तदा बभूवुः
पुरापि सिद्धान्युपलक्षितानि॥ १९॥

सीताजीके सभी अङ्ग बड़े कोमल थे। वे उस अशोक-वृक्षके निकट उसकी शाखा पकड़कर खड़ी हो गयीं। इस प्रकार प्राण-त्यागके लिये उद्यत हो जब वे श्रीराम, लक्ष्मण और अपने कुलके विषयमें विचार करने लगीं, उस समय शुभाङ्गी सीताके समक्ष ऐसे बहुत-से लोकप्रसिद्ध श्रेष्ठ शकुन प्रकट हुए, जो शोकको निवृत्ति करनेवाले और उन्हें ढाढ़स बँधानेवाले थे। उन शकुनोंका दर्शन और उनके शुभ फलोंका अनुभव उन्हें पहले भी हो चुका था॥ १८-१९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डेऽष्टाविंशः सर्गः॥ २८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें अट्ठाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २८॥

★

एकोनत्रिंशः सर्गः

सीताजीके शुभ शकुन

तथागतां तां व्यथितामनिन्दितां
व्यतीतहर्षां परिदीनमानसाम्।
शुभां निमित्तानि शुभानि भेजिरे
नरं श्रिया जुष्टमिवोपसेविनः॥ १॥

इस प्रकार अशोकवृक्षके नीचे आनेपर बहुत-से शुभ शकुन प्रकट हो उन व्यथितहृदया, सती-साध्वी, हर्षशून्य, दीनचित्त तथा शुभलक्षणा सीताका उसी तरह सेवन करने लगे, जैसे श्रीसम्पन्न पुरुषके पास सेवा करनेवाले लोग स्वयं पहुँच जाते हैं॥ १॥

तस्याः शुभं वाममरालपक्ष्म-
राज्यावृतं कृष्णविशालशुक्लम्।
प्रास्पन्दतैकं नयनं सुकेश्या
मीनाहतं पद्ममिवाभिताम्रम्॥ २॥

उस समय सुन्दर केशोंवाली सीताका बाँकी बरौनियोंसे घिरा हुआ परम मनोहर काला, श्वेत और विशाल बायाँ नेत्र फड़कने लगा। जैसे मछलीके आघातसे लाल कमल हिलने लगा हो॥ २॥

भुजश्च चार्वञ्चितवृत्तपीनः
परार्ध्यकालागुरुचन्दनार्हः।
अनुत्तमेनाध्युषितः प्रियेण
चिरेण वामः समवेपताशु॥ ३॥

साथ ही उनकी सुन्दर प्रशंसित गोलाकार मोटी, बहुमूल्य काले अगुरु और चन्दनसे चर्चित होनेयोग्य तथा परम उत्तम प्रियतमद्वारा चिरकालसे सेवित बायीं भुजा भी तत्काल फड़क उठी॥ ३॥

गजेन्द्रहस्तप्रतिमश्च पीन-
स्तयोर्द्वयोः संहतयोस्तु जातः।
प्रस्पन्दमानः पुनरूरुरस्या
रामं पुरस्तात् स्थितमाचचक्षे॥ ४॥

फिर उनकी परस्पर जुड़ी हुई दोनों जाँघोंमेंसे एक बायीं जाँघ, जो गजराजकी सूँड़के समान पीन (मोटी) थी, बारम्बार फड़ककर मानो यह सूचना देने लगी कि भगवान् श्रीराम तुम्हारे सामने खड़े हैं॥ ४॥

शुभं पुनर्हेमसमानवर्ण-
मीषद्रजोध्वस्तमिवातुलाक्ष्याः।
वासः स्थितायाः शिखराग्रदन्त्याः
किंचित् परिस्त्रंसत चारुगात्र्याः॥ ५॥

तत्पश्चात् अनारके बीजकी भाँति सुन्दर दाँत, मनोहर गात्र और अनुपम नेत्रवाली सीताका, जो वहाँ वृक्षके नीचे खड़ी थीं, सोनेके समान रंगवाला किंचित् मलिन रेशमी पीताम्बर तनिका-सा खिसक गया और भावी शुभकी सूचना देने लगा॥ ५॥

एतैर्निमित्तैरपरैश्च सुभ्रूः
संचोदिता प्रागपि साधुसिद्धैः।
वातातपक्लान्तमिव प्रणष्टं
वर्षेण बीजं प्रतिसंजहर्ष॥ ६॥

इनसे तथा और भी अनेक शकुनोंसे, जिनके द्वारा पहले भी मनोरथसिद्धिका परिचय मिल चुका था, प्रेरित हुई सुन्दर भौंहोंवाली सीता उसी प्रकार हर्षसे खिल उठीं, जैसे हवा और धूपसे सूखकर नष्ट हुआ बीज वर्षाके जलसे सिंचकर हरा हो गया हो॥ ६॥

तस्याः पुनर्बिम्बफलोपमोष्ठं
स्वक्षिभ्रुकेशान्तमरालपक्ष्म।
वक्त्रं बभासे सितशुक्लदंष्ट्रं
राहोर्मुखाच्चन्द्र इव प्रमुक्तः॥ ७॥

उनका बिम्बफलके समान लाल ओठों, सुन्दर नेत्रों, मनोहर भौंहों, रुचिर केशों, बाँकी बरौनियों तथा श्वेत,उज्ज्वल दाँतोंसे सुशोभित मुख राहुके ग्राससे मुक्त हुए चन्द्रमाकी भाँति प्रकाशित होने लगा॥ ७॥

सा वीतशोका व्यपनीततन्द्रा
शान्तज्वरा हर्षविबुद्धसत्त्वा।
अशोभतार्या वदनेन शुक्ले
शीतांशुना रात्रिरिवोदितेन॥ ८॥

उनका शोक जाता रहा, सारी थकावट दूर हो गयी, मनका ताप शान्त हो गया और हृदय हर्षसे खिल उठा। उस समय आर्या सीता शुक्लपक्षमें उदित हुए शीतरश्मि चन्द्रमासे सुशोभित रात्रिकी भाँति अपने मनोहर मुखसे अद्भुत शोभा पाने लगीं॥ ८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे एकोनत्रिंशः सर्गः॥ २९॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें उन्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २९॥

—★—

त्रिंशः सर्गः

सीताजीसे वार्तालाप करनेके विषयमें हनुमान्‌जीका विचार करना

हनुमानपि विक्रान्तः सर्वं शुश्राव तत्त्वतः।
सीतायास्त्रिजटायाश्च राक्षसीनां च तर्जितम्॥ १॥

पराक्रमी हनुमान्‌जीने भी सीताजीका विलाप, त्रिजटाकी स्वप्नचर्चा तथा राक्षसियोंकी डाँट-डपट—ये सब प्रसंग ठीक-ठीक सुन लिये॥ १॥

अवेक्षमाणस्तां देवीं देवतामिव नन्दने।
ततो बहुविधां चिन्तां चिन्तयामास वानरः॥ २॥

सीताजी ऐसी जान पड़ती थीं मानो नन्दनवनमें कोई देवी हों। उन्हें देखते हुए वानरवीर हनुमान्‌जी तरह-तरहकी चिन्ता करने लगे—॥ २॥

यां कपीनां सहस्राणि सुबहून्ययुतानि च।
दिक्षु सर्वासु मार्गन्ते सेयमासादिता मया॥ ३॥

'जिन सीताजीको हजारों-लाखों वानर समस्त दिशाओंमें ढूँढ़ रहे हैं, आज उन्हें मैंने पा लिया॥ ३॥

चारेण तु सुयुक्तेन शत्रोः शक्तिमवेक्षता।
गूढेन चरता तावदवेक्षितमिदं मया॥ ४॥
राक्षसानां विशेषश्च पुरी चेयं निरीक्षिता।
राक्षसाधिपतेरस्य प्रभावो रावणस्य च॥ ५॥

'मैं स्वामीद्वारा नियुक्त दूत बनकर गुप्तरूपसे शत्रुकी शक्तिका पता लगा रहा था। इसी सिलसिलेमें मैंने राक्षसोंके तारतम्यका, इस पुरीका तथा इस राक्षसराज रावणके प्रभावका भी निरीक्षण कर लिया॥ ४-५॥

यथा तस्याप्रमेयस्य सर्वसत्त्वदयावतः।
समाश्वासयितुं भार्यां पतिदर्शनकाङ्क्षिणीम्॥ ६॥

'श्रीसीताजी असीम प्रभावशाली तथा सब जीवोंपर दया करनेवाले भगवान् श्रीरामकी भार्या हैं। ये अपने पतिदेवका दर्शन पानेकी अभिलाषा रखती हैं, अतः इन्हें सान्त्वना देना उचित है॥ ६॥

अहमाश्वासयाम्येनां पूर्णचन्द्रनिभाननाम्।
अदृष्टदुःखां दुःखस्य न ह्यन्तमधिगच्छतीम्॥ ७॥

'इनका मुख पूर्णचन्द्रमाके समान मनोहर है। इन्होंने पहले कभी ऐसा दुःख नहीं देखा था, परंतु इस समय दुःखका पार नहीं पा रही हैं। अतः मैं इन्हें आश्वासन दूँगा॥ ७॥

यदि ह्यहं सतीमेनां शोकोपहतचेतनाम्।
अनाश्वास्य गमिष्यामि दोषवद् गमनं भवेत्॥ ८॥

'ये शोकके कारण अचेत-सी हो रही हैं, यदि मैं इन सती-साध्वी सीताको सान्त्वना दिये बिना ही चला जाऊँगा तो मेरा वह जाना दोषयुक्त होगा॥ ८॥

गते हि मयि तत्रेयं राजपुत्री यशस्विनी।
परित्राणमपश्यन्ती जानकी जीवितं त्यजेत्॥ ९॥

'मेरे चले जानेपर अपनी रक्षाका कोई उपाय न देखकर ये यशस्विनी राजकुमारी जानकी अपने जीवनका अन्त कर देंगी॥ ९॥

यथा च स महाबाहुः पूर्णचन्द्रनिभाननः।
समाश्वासयितुं न्याय्यः सीतादर्शनलालसः॥ १०॥

'पूर्णचन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाले महाबाहु श्रीरामचन्द्रजी भी सीताजीके दर्शनके लिये उत्सुक हैं। जिस प्रकार उन्हें सीताका संदेश सुनाकर सान्त्वना देना उचित है, उसी प्रकार सीताको भी उनका संदेश सुनाकर आश्वासन देना उचित होगा॥ १०॥

निशाचरीणां प्रत्यक्षमक्षमं चाभिभाषितम्।
कथं नु खलु कर्तव्यमिदं कृच्छ्रगतो ह्यहम्॥ ११॥

'परंतु राक्षसियोंके सामने इनसे बात करना मेरे लिये ठीक नहीं होगा। ऐसी अवस्थामें यह कार्य कैसे सम्पन्न करना चाहिये, यही निश्चय करना मेरे लिये सबसे बड़ी कठिनाई है॥ ११॥

अनेन रात्रिशेषेण यदि नाश्वास्यते मया।
सर्वथा नास्ति संदेहः परित्यक्ष्यति जीवितम्॥ १२॥

'यदि इस रात्रिके बीतते-बीतते मैं सीताको सान्त्वना नहीं दे देता हूँ तो ये सर्वथा अपने जीवनका परित्याग कर देंगी, इसमें संदेह नहीं है॥ १२॥

रामस्तु यदि पृच्छेन्मां किं मां सीताब्रवीद् वचः।
किमहं तं प्रतिब्रूयामसम्भाष्य सुमध्यमाम्॥ १३॥

'यदि श्रीरामचन्द्रजी मुझसे पूछें कि सीताने मेरे लिये क्या संदेश भेजा है तो इन सुमध्यमा सीतासे बात किये बिना मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा॥ १३॥

सीतासंदेशरहितं मामितस्त्वरया गतम्।
निर्दहेदपि काकुत्स्थः क्रोधतीव्रेण चक्षुषा॥ १४॥

'यदि मैं सीताका संदेश लिये बिना ही यहाँसे तुरंत लौट गया तो ककुत्स्थकुलभूषण भगवान् श्रीराम अपनी क्रोधभरी दुःसह दृष्टिसे मुझे जलाकर भस्म कर डालेंगे॥ १४॥

यदि वोद्योजयिष्यामि भर्तारं रामकारणात्।
व्यर्थमागमनं तस्य ससैन्यस्य भविष्यति॥ १५॥

'यदि मैं इन्हें सान्त्वना दिये बिना ही लौट जाऊँ और श्रीरामचन्द्रजीके कार्यकी सिद्धिके लिये अपने स्वामी वानरराज सुग्रीवको उत्तेजित करूँ तो वानरसेनाके साथ उनका यहाँतक आना व्यर्थ हो जायगा (क्योंकि सीता इसके पहले ही अपने प्राण त्याग देंगी)॥ १५॥

अन्तरं त्वहमासाद्य राक्षसीनामवस्थितः।
शनैराश्वासयाम्यद्य संतापबहुलामिमाम्॥ १६॥

'अच्छा तो राक्षसियोंके रहते हुए ही अवसर पाकर आज

मैं यहीं बैठे-बैठे इन्हें धीरे-धीरे सान्त्वना दूँगा; क्योंकि इनके मनमें बड़ा संताप है॥ १६॥

अहं ह्यतितनुश्चैव वानरश्च विशेषतः।
वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्॥ १७॥

'एक तो मेरा शरीर अत्यन्त सूक्ष्म है, दूसरे मैं वानर हूँ। विशेषतः वानर होकर भी मैं यहाँ मानवोचित संस्कृत-भाषामें बोलूँगा॥ १७॥

यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति॥ १८॥

'परंतु ऐसा करनेमें एक बाधा है, यदि मैं द्विजकी भाँति संस्कृत-वाणीका प्रयोग करूँगा तो सीता मुझे रावण समझकर भयभीत हो जायँगी॥ १८॥

अवश्यमेव वक्तव्यं मानुषं वाक्यमर्थवत्।
मया सान्त्वयितुं शक्या नान्यथेयमनिन्दिता॥ १९॥

'ऐसी दशामें अवश्य ही मुझे उस सार्थक भाषाका प्रयोग करना चाहिये, जिसे अयोध्याके आस-पासकी साधारण जनता बोलती है, अन्यथा इन सती-साध्वी सीताको मैं उचित आश्वासन नहीं दे सकता॥ १९॥

सेयमालोक्य मे रूपं जानकी भाषितं तथा।
रक्षोभिस्त्रासिता पूर्वं भूयस्त्रासमुपैष्यति॥ २०॥

'यदि मैं सामने जाऊँ तो मेरे इस वानररूपको देखकर और मेरे मुखसे मानवोचित भाषा सुनकर ये जनकनन्दिनी सीता, जिन्हें पहलेसे ही राक्षसोंने भयभीत कर रखा है और भी डर जायँगी॥ २०॥

ततो जातपरित्रासा शब्दं कुर्यान्मनस्विनी।
जानाना मां विशालाक्षी रावणं कामरूपिणम्॥ २१॥

'मनमें भय उत्पन्न हो जानेपर ये विशाललोचना मनस्विनी सीता मुझे इच्छानुसार रूप धारण करनेवाला रावण समझकर जोर-जोरसे चीखने-चिल्लाने लगेंगी॥ २१॥

सीतया च कृते शब्दे सहसा राक्षसीगणः।
नानाप्रहरणो घोरः समेयादन्तकोपमः॥ २२॥

'सीताके चिल्लानेपर ये यमराजके समान भयानक राक्षसियाँ तरह-तरहके हथियार लेकर सहसा आ धमकेंगी॥ २२॥

ततो मां सम्परिक्षिप्य सर्वतो विकृताननाः।
वधे च ग्रहणे चैव कुर्युर्यत्नं महाबलाः॥ २३॥

'तदनन्तर ये विकट मुखवाली महाबलवती राक्षसियाँ मुझे सब ओरसे घेरकर मारने या पकड़ लेनेका प्रयत्न करेंगी॥ २३॥

तं मां शाखाः प्रशाखाश्च स्कन्धांश्चोत्तमशाखिनाम्।
दृष्ट्वा च परिधावन्तं भवेयुः परिशङ्किताः॥ २४॥

'फिर मुझे बड़े-बड़े वृक्षोंकी शाखा-प्रशाखा और मोटी-मोटी डालियोंपर दौड़ता देख ये सब-की-सब सशङ्क हो उठेंगी॥ २४॥

मम रूपं च सम्प्रेक्ष्य वने विचरतो महत्।
राक्षस्यो भयवित्रस्ता भवेयुर्विकृतस्वराः॥ २५॥

'वनमें विचरते हुए मेरे इस विशाल रूपको देखकर राक्षसियाँ भी भयभीत हो बुरी तरहसे चिल्लाने लगेंगी॥ २५॥

ततः कुर्युः समाह्वानं राक्षस्यो रक्षसामपि।
राक्षसेन्द्रनियुक्तानां राक्षसेन्द्रनिवेशने॥ २६॥

'इसके बाद वे निशाचरियाँ राक्षसराज रावणके महलमें उसके द्वारा नियुक्त किये गये राक्षसोंको बुला लेंगी॥ २६॥

ते शूलशरनिस्त्रिंशविविधायुधपाणयः।
आपतेयुर्विमर्देऽस्मिन् वेगेनोद्वेगकारणात्॥ २७॥

'इस हलचलमें वे राक्षस भी उद्विग्न होकर शूल, बाण, तलवार और तरह-तरहके शस्त्रास्त्र लेकर बड़े वेगसे आ धमकेंगे॥ २७॥

संरुद्धस्तैस्तु परितो विधमे राक्षसं बलम्।
शक्नुयां न तु सम्प्राप्तुं परं पारं महोदधेः॥ २८॥

'उनके द्वारा सब ओरसे घिर जानेपर मैं राक्षसोंकी सेनाका संहार तो कर सकता हूँ; परंतु समुद्रके उस पार नहीं पहुँच सकता॥ २८॥

मां वा गृह्णीयुराप्लुत्य बहवः शीघ्रकारिणः।
स्यादियं चागृहीतार्था मम च ग्रहणं भवेत्॥ २९॥

'यदि बहुत-से फुर्तीले राक्षस मुझे घेरकर पकड़ लें तो सीताजीका मनोरथ भी पूरा नहीं होगा और मैं भी बंदी बना लिया जाऊँगा॥ २९॥

हिंसाभिरुचयो हिंस्युरिमां वा जनकात्मजाम्।
विपन्नं स्यात् ततः कार्यं रामसुग्रीवयोरिदम्॥ ३०॥

'इसके सिवा हिंसामें रुचि रखनेवाले राक्षस यदि इस जनकदुलारीको मार डालें तो श्रीरघुनाथजी और सुग्रीवका यह सीताकी प्राप्तिरूप अभीष्ट कार्य ही नष्ट हो जायगा॥ ३०॥

उद्देशे नष्टमार्गेऽस्मिन् राक्षसैः परिवारिते।
सागरेण परिक्षिप्ते गुप्ते वसति जानकी॥ ३१॥

'यह स्थान राक्षसोंसे घिरा हुआ है। यहाँ आनेका मार्ग दूसरोंका देखा या जाना हुआ नहीं है तथा इस प्रदेशको समुद्रने चारों ओरसे घेर रखा है। ऐसे गुप्त स्थानमें जानकीजी निवास करती हैं॥ ३१॥

विशस्ते वा गृहीते वा रक्षोभिर्मयि संयुगे।
नाशं पश्यामि रामस्य सहायं कार्यसाधने॥ ३२॥

'यदि राक्षसोंने मुझे संग्राममें मार दिया या पकड़ लिया तो फिर श्रीरघुनाथजीके कार्यको पूर्ण करनेके लिये कोई दूसरा सहायक भी मैं नहीं देख रहा हूँ॥ ३२॥

विमृशंश्च न पश्यामि यो हते मयि वानरः।
शतयोजनविस्तीर्णं लङ्घयेत महोदधिम्॥ ३३॥

'बहुत विचार करनेपर भी मुझे ऐसा कोई वानर नहीं दिखायी देता है, जो मेरे मारे जानेपर सौ योजन विस्तृत महासागरको लाँघ सके॥ ३३॥

कामं हन्तुं समर्थोऽस्मि सहस्राण्यपि रक्षसाम्।
न तु शक्ष्याम्यहं प्राप्तुं परं पारं महोदधेः॥ ३४॥

'मैं इच्छानुसार सहस्रों राक्षसोंको मार डालनेमें समर्थ हूँ; परंतु युद्धमें फँस जानेपर महासागरके उस पार नहीं जा सकूँगा॥ ३४॥

असत्यानि च युद्धानि संशयो मे न रोचते।
कश्च निःसंशयं कार्यं कुर्यात् प्राज्ञः ससंशयम्॥ ३५॥

'युद्ध अनिश्चयात्मक होता है (उसमें किस पक्षकी विजय होगी, यह निश्चित नहीं रहता) और मुझे संशययुक्त कार्य प्रिय नहीं है। कौन ऐसा बुद्धिमान् होगा, जो संशयरहित कार्यको संशययुक्त बनाना चाहेगा॥ ३५॥

एष दोषो महान् हि स्यान्मम सीताभिभाषणे।
प्राणत्यागश्च वैदेह्या भवेदनभिभाषणे॥ ३६॥

'सीताजीसे बातचीत करनेमें मुझे यही महान् दोष प्रतीत होता है और यदि बातचीत नहीं करता हूँ तो विदेहनन्दिनी सीताका प्राणत्याग भी निश्चित ही है॥ ३६॥

भूताश्चार्था विरुध्यन्ति देशकालविरोधिताः।
विक्लवं दूतमासाद्य तमः सूर्योदये यथा॥ ३७॥

अविवेकी या असावधान दूतके हाथमें पड़नेपर बने-बनाये काम भी देश-कालके विरोधी होकर उसी प्रकार असफल हो जाते हैं, जैसे सूर्यके उदय होनेपर सब ओर फैले हुए अन्धकारका कोई वश नहीं चलता, वह निष्फल हो जाता है॥ ३७॥

अर्थानर्थान्तरे बुद्धिर्निश्चितापि न शोभते।
घातयन्ति हि कार्याणि दूताः पण्डितमानिनः॥ ३८॥

'कर्तव्य और अकर्तव्यके विषयमें स्वामीकी निश्चित बुद्धि भी अविवेकी दूतके कारण शोभा नहीं पाती है; क्योंकि अपनेको बड़ा बुद्धिमान् या पण्डित समझनेवाले दूत अपनी ही नासमझीसे कार्यको नष्ट कर डालते हैं॥ ३८॥

न विनश्येत् कथं कार्यं वैक्लव्यं न कथं मम।
लङ्घनं च समुद्रस्य कथं नु न वृथा भवेत्॥ ३९॥
कथं नु खलु वाक्यं मे शृणुयान्नोद्विजेत च।
इति संचिन्त्य हनुमांश्चकार मतिमान् मतिम्॥ ४०॥

'फिर किस प्रकार यह काम न बिगड़े, किस तरह मुझसे कोई असावधानी न हो, किस प्रकार मेरा समुद्र लाँघना व्यर्थ न हो जाय और किस तरह सीताजी मेरी सारी बातें सुन लें, किंतु घबराहटमें न पड़ें—इन सब बातोंपर विचार करके बुद्धिमान् हनुमान्‌जीने यह निश्चय किया॥ ३९-४०॥

राममक्लिष्टकर्माणं सुबन्धुमनुकीर्तयन्।
नैनामुद्वेजयिष्यामि तद्बन्धुगतचेतनाम्॥ ४१॥

'जिनका चित्त अपने जीवन-बन्धु श्रीराममें ही लगा है, उन सीताजीको मैं उनके प्रियतम श्रीरामका जो अनायास ही महान् कर्म करनेवाले हैं, गुण गा-गाकर सुनाऊँगा और उन्हें उद्विग्न नहीं होने दूँगा॥ ४१॥

इक्ष्वाकूणां वरिष्ठस्य रामस्य विदितात्मनः।
शुभानि धर्मयुक्तानि वचनानि समर्पयन्॥ ४२॥

'मैं इक्ष्वाकुकुलभूषण विदितात्मा भगवान् श्रीरामके सुन्दर, धर्मानुकूल वचनोंको सुनाता हुआ यहीं बैठा रहूँगा॥ ४२॥

श्रावयिष्यामि सर्वाणि मधुरां प्रब्रुवन् गिरम्।
श्रद्धास्यति यथा सीता तथा सर्वं समादधे॥ ४३॥

'मीठी वाणी बोलकर श्रीरामके सारे संदेशोंको इस प्रकार सुनाऊँगा, जिससे सीताका उन वचनोंपर विश्वास हो। जिस तरह उनके मनका संदेह दूर हो, उसी तरह मैं सब बातोंका समाधान करूँगा'॥ ४३॥

इति स बहुविधं महाप्रभावो
जगतिपतेः प्रमदामवेक्षमाणः।
मधुरमवितथं जगाद वाक्यं
द्रुमविटपान्तरमास्थितो हनूमान्॥ ४४॥

इस प्रकार भाँति-भाँतिसे विचार करके अशोक-वृक्षकी शाखाओंमें छिपकर बैठे हुए महाप्रभावशाली हनुमान्‌जी पृथ्वीपति श्रीरामचन्द्रजीकी भार्याकी ओर देखते हुए मधुर एवं यथार्थ बात कहने लगे॥ ४४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे त्रिंशः सर्गः॥ ३०॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३०॥

★

एकत्रिंशः सर्गः

हनुमान्‌जीका सीताको सुनानेके लिये श्रीराम-कथाका वर्णन करना

एवं बहुविधां चिन्तां चिन्तयित्वा महामतिः।
संश्रवे मधुरं वाक्यं वैदेह्या व्याजहार ह॥ १॥

इस प्रकार बहुत-सी बातें सोच-विचारकर महामति हनुमान्‌जीने सीताको सुनाते हुए मधुर वाणीमें इस तरह

कहना आरम्भ किया— ॥ १ ॥

राजा दशरथो नाम रथकुञ्जरवाजिमान्।
पुण्यशीलो महाकीर्तिरिक्ष्वाकूणां महायशाः ॥ २ ॥

'इक्ष्वाकुवंशमें राजा दशरथ नामसे प्रसिद्ध एक पुण्यात्मा राजा हो गये हैं। वे अत्यन्त कीर्तिमान् और महान् यशस्वी थे। उनके यहाँ रथ, हाथी और घोड़े बहुत अधिक थे ॥ २ ॥

राजर्षीणां गुणश्रेष्ठस्तपसा चर्षिभिः समः।
चक्रवर्तिकुले जातः पुरंदरसमो बले ॥ ३ ॥

'उन श्रेष्ठ नरेशमें राजर्षियोंके समान गुण थे। तपस्यामें भी वे ऋषियोंकी समानता करते थे। उनका जन्म चक्रवर्ती नरेशोंके कुलमें हुआ था। वे देवराज इन्द्रके समान बलवान् थे ॥ ३ ॥

अहिंसारतिरक्षुद्रो घृणी सत्यपराक्रमः।
मुख्यस्येक्ष्वाकुवंशस्य लक्ष्मीवाँल्लक्ष्मिवर्धनः ॥ ४ ॥
पार्थिवव्यञ्जनैर्युक्तः पृथुश्रीः पार्थिवर्षभः।
पृथिव्यां चतुरन्तायां विश्रुतः सुखदः सुखी ॥ ५ ॥

'उनके मनमें अहिंसा-धर्मके प्रति बड़ा अनुराग था। उनमें क्षुद्रताका नाम नहीं था। वे दयालु, सत्य-पराक्रमी और श्रेष्ठ इक्ष्वाकुवंशकी शोभा बढ़ानेवाले थे। वे लक्ष्मीवान् नरेश राजोचित लक्षणोंसे युक्त, परिपुष्ट शोभासे सम्पन्न और भूपालोंमें श्रेष्ठ थे। चारों समुद्र जिसकी सीमा हैं, उस सम्पूर्ण भूमण्डलमें सब ओर उनकी बड़ी ख्याति थी। वे स्वयं तो सुखी थे ही। दूसरोंको भी सुख देनेवाले थे ॥ ४-५ ॥

तस्य पुत्रः प्रियो ज्येष्ठस्ताराधिपनिभाननः।
रामो नाम विशेषज्ञः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥ ६ ॥

'उनके ज्येष्ठ पुत्र श्रीराम-नामसे प्रसिद्ध हैं। वे पिताके लाड़ले, चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाले, सम्पूर्ण धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ और शस्त्र-विद्याके विशेषज्ञ हैं ॥ ६ ॥

रक्षिता स्वस्य वृत्तस्य स्वजनस्यापि रक्षिता।
रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य च परंतपः ॥ ७ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीराम अपने सदाचारके, स्वजनोंके, इस जीव-जगत्के तथा धर्मके भी रक्षक हैं ॥ ७ ॥

तस्य सत्याभिसंधस्य वृद्धस्य वचनात् पितुः।
सभार्यः सह च भ्रात्रा वीरः प्रव्रजितो वनम् ॥ ८ ॥

'उनके बूढ़े पिता महाराज दशरथ बड़े सत्यप्रतिज्ञ थे। उनकी आज्ञासे वीर श्रीरघुनाथजी अपनी पत्नी और भाई लक्ष्मणके साथ वनमें चले आये ॥ ८ ॥

तेन तत्र महारण्ये मृगयां परिधावता।
राक्षसा निहताः शूरा बहवः कामरूपिणः ॥ ९ ॥

'वहाँ विशाल वनमें शिकार खेलते हुए श्रीरामने इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले बहुत-से शूरवीर राक्षसोंका वध कर डाला ॥ ९ ॥

जनस्थानवधं श्रुत्वा निहतौ खरदूषणौ।
ततस्त्वमर्षापहता जानकी रावणेन तु ॥ १० ॥

'उनके द्वारा जनस्थानके विध्वंस और खर-दूषणके वधका समाचार सुनकर रावणने अमर्षवश जनकनन्दिनी सीताका अपहरण कर लिया ॥ १० ॥

वञ्चयित्वा वने रामं मृगरूपेण मायया।
स मार्गमाणस्तां देवीं रामः सीतामनिन्दिताम् ॥ ११ ॥
आससाद वने मित्रं सुग्रीवं नाम वानरम्।

'पहले तो उस राक्षसने मायासे मृग बने हुए मारीचके द्वारा वनमें श्रीरामचन्द्रजीको धोखा दिया और स्वयं जानकीजीको हर ले गया। भगवान् श्रीराम परम साध्वी सीतादेवीकी खोज करते हुए मतंग-वनमें आकर सुग्रीव नामक वानरसे मिले और उनके साथ उन्होंने मैत्री स्थापित कर ली ॥ ११½ ॥

ततः स वालिनं हत्वा रामः परपुरंजयः ॥ १२ ॥
आयच्छत् कपिराज्यं तु सुग्रीवाय महात्मने।

'तदनन्तर शत्रु-नगरीपर विजय पानेवाले श्रीरामने वालीका वध करके वानरोंका राज्य महात्मा सुग्रीवको दे दिया ॥ १२ ॥

सुग्रीवेणाभिसंदिष्टा हरयः कामरूपिणः ॥ १३ ॥
दिक्षु सर्वासु तां देवीं विचिन्वन्तः सहस्रशः।

'तत्पश्चात् वानरराज सुग्रीवकी आज्ञासे इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले हजारों वानर सीतादेवीका पता लगानेके लिये सम्पूर्ण दिशाओंमें निकले हैं ॥ १३½ ॥

अहं सम्पातिवचनाच्छतयोजनमायतम् ॥ १४ ॥
तस्या हेतोर्विशालाक्ष्याः समुद्रं वेगवान् प्लुतः।

'उन्हींमेंसे एक मैं भी हूँ। मैं सम्पातिके कहनेसे विशाललोचना विदेहनन्दिनीकी खोजके लिये सौ योजन विस्तृत समुद्रको वेगपूर्वक लाँघकर यहाँ आया हूँ ॥ १४½ ॥

यथारूपां यथावर्णां यथालक्ष्मवतीं च ताम् ॥ १५ ॥
अश्रौषं राघवस्याहं सेयमासादिता मया।
विररामैवमुक्त्वा स वाचं वानरपुङ्गवः ॥ १६ ॥

'मैंने श्रीरघुनाथजीके मुखसे जानकीजीका जैसा रूप, जैसा रंग तथा जैसे लक्षण सुने थे, उनके अनुरूप ही इन्हें पाया है।' इतना ही कहकर वानरशिरोमणि हनुमान्जी चुप हो गये ॥ १५-१६ ॥

जानकी चापि तच्छ्रुत्वा विस्मयं परमं गता।
ततः सा वक्रकेशान्ता सुकेशी केशसंवृतम्।
उन्नम्य वदनं भीरुः शिंशपामन्ववैक्षत ॥ १७ ॥

उनकी बातें सुनकर जनकनन्दिनी सीताको बड़ा विस्मय हुआ। उनके केश घुँघराले और बड़े ही सुन्दर थे। भीरु सीताने केशोंसे ढके हुए अपने मुँहको ऊपर उठाकर उस अशोक-वृक्षकी ओर देखा ॥ १७ ॥

निशम्य सीता वचनं कपेश्च
दिशश्च सर्वाः प्रदिशश्च वीक्ष्य।
स्वयं प्रहर्षं परमं जगाम
सर्वात्मना राममनुस्मरन्ती ॥ १८ ॥

कपिके वचन सुनकर सीताको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे सम्पूर्ण वृत्तियोंसे भगवान् श्रीरामका स्मरण करती हुई समस्त दिशाओंमें दृष्टि दौड़ाने लगीं ॥ १८ ॥

सा तिर्यगूर्ध्वं च तथा ह्यधस्ता-
न्निरीक्षमाणा तमचिन्त्यबुद्धिम्।
ददर्श पिङ्गाधिपतेरमात्यं
वातात्मजं सूर्यमिवोदयस्थम् ॥ १९ ॥

उन्होंने ऊपर-नीचे तथा इधर-उधर दृष्टिपात करके उन अचिन्त्य बुद्धिवाले पवनपुत्र हनुमान्‌को, जो वानरराज सुग्रीवके मन्त्री थे, उदयाचलपर विराजमान सूर्यके समान देखा ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे एकत्रिंशः सर्गः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें इकतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशः सर्गः

सीताजीका तर्क-वितर्क

ततः शाखान्तरे लीनं दृष्ट्वा चलितमानसा।
वेष्टितार्जुनवस्त्रं तं विद्युत्संघातपिङ्गलम् ॥ १ ॥
सा ददर्श कपिं तत्र प्रश्रितं प्रियवादिनम्।
फुल्लाशोकोत्कराभासं तप्तचामीकरेक्षणम् ॥ २ ॥

तब शाखाके भीतर छिपे हुए, विद्युत्पुञ्जके समान अत्यन्त पिङ्गल वर्णवाले और श्वेत वस्त्रधारी हनुमान्‌जीपर उनकी दृष्टि पड़ी फिर तो उनका चित्त चञ्चल हो उठा। उन्होंने देखा, फूले हुए अशोकके समान अरुण कान्तिसे प्रकाशित एक विनीत और प्रियवादी वानर डालियोंके बीचमें बैठा है। उसके नेत्र तपाये हुए सुवर्णके समान चमक रहे हैं ॥ १-२ ॥

साथ दृष्ट्वा हरिश्रेष्ठं विनीतवदवस्थितम्।
मैथिली चिन्तयामास विस्मयं परमं गता ॥ ३ ॥

विनीतभावसे बैठे हुए वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌जीको देखकर मिथिलेश-कुमारीको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे मन-ही-मन सोचने लगीं— ॥ ३ ॥

अहो भीममिदं सत्त्वं वानरस्य दुरासदम्।
दुर्निरीक्ष्यमिदं मत्वा पुनरेव मुमोह सा ॥ ४ ॥

'अहो! वानरयोनिका यह जीव तो बड़ा ही भयंकर है। इसे पकड़ना बहुत ही कठिन है। इसकी ओर तो आँख उठाकर देखनेका भी साहस नहीं होता।' ऐसा विचारकर वे पुनः भयसे मूर्च्छित-सी हो गयीं ॥ ४ ॥

विललाप भृशं सीता करुणं भयमोहिता।
राम रामेति दुःखार्ता लक्ष्मणेति च भामिनी ॥ ५ ॥

भयसे मोहित हुई भामिनी सीता अत्यन्त करुणाजनक स्वरमें 'हा राम! हा राम! हा लक्ष्मण!' ऐसा कहकर दुःखसे आतुर हो अत्यन्त विलाप करने लगीं ॥ ५ ॥

रुरोद सहसा सीता मन्दमन्दस्वरा सती।
साथ दृष्ट्वा हरिवरं विनीतवदुपागतम्।
मैथिली चिन्तयामास स्वप्नोऽयमिति भामिनी ॥ ६ ॥

उस समय सीता मन्द स्वरमें सहसा रो पड़ीं। इतनेहीमें उन्होंने देखा, वह श्रेष्ठ वानर बड़ी विनयके साथ निकट आ बैठा है। तब भामिनी मिथिलेशकुमारीने सोचा—'यह कोई स्वप्न तो नहीं है' ॥ ६ ॥

सा वीक्षमाणा पृथुभुग्नवक्त्रं
शाखामृगेन्द्रस्य यथोक्तकारम्।
ददर्श पिङ्गप्रवरं महार्हं
वातात्मजं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ॥ ७ ॥

उधर दृष्टिपात करते हुए उन्होंने वानरराज सुग्रीवके आज्ञापालक विशाल और टेढ़े मुखवाले परम आदरणीय, बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ, वानरप्रवर पवनपुत्र हनुमान्‌जीको देखा ॥ ७ ॥

सा तं समीक्ष्यैव भृशं विपन्ना
गतासुकल्पेव बभूव सीता।
चिरेण संज्ञां प्रतिलभ्य चैवं
विचिन्तयामास विशालनेत्रा ॥ ८ ॥

उन्हें देखते ही सीताजी अत्यन्त व्यथित होकर ऐसी दशाको पहुँच गयीं, मानो उनके प्राण निकल गये हों। फिर बड़ी देरमें चेत होनेपर विशाललोचना विदेह-राजकुमारीने इस प्रकार विचार किया— ॥ ८ ॥

स्वप्नो मयायं विकृतोऽद्य दृष्टः
शाखामृगः शास्त्रगणैर्निषिद्धः।
स्वस्त्यस्तु रामाय सलक्ष्मणाय
तथा पितुर्मे जनकस्य राज्ञः ॥ ९ ॥

'आज मैंने यह बड़ा बुरा स्वप्न देखा है। सपनेमें वानरको देखना शास्त्रोंने निषिद्ध बताया है। मेरी भगवान्‌से प्रार्थना है कि श्रीराम, लक्ष्मण और मेरे पिता जनकका मङ्गल हो (उनपर इस दुःस्वप्नका प्रभाव न पड़े) ॥ ९ ॥

स्वप्नो हि नायं नहि मेऽस्ति निद्रा
शोकेन दुःखेन च पीडितायाः।
सुखं हि मे नास्ति यतो विहीना
तेनेन्दुपूर्णप्रतिमाननेन ॥ १० ॥

'परंतु यह स्वप्न तो हो नहीं सकता; क्योंकि शोक और दुःखसे पीड़ित रहनेके कारण मुझे कभी नींद आती ही नहीं है (नींद उसे आती है, जिसे सुख हो)। मुझे तो उन पूर्णचन्द्रके समान मुखवाले श्रीरघुनाथजीसे बिछुड़ जानेके कारण अब सुख सुलभ ही नहीं है॥ १०॥

रामेति रामेति सदैव बुद्ध्या
विचिन्त्य वाचा ब्रुवती तमेव।
तस्यानुरूपं च कथां तदर्था-
मेवं प्रपश्यामि तथा शृणोमि॥ ११॥

'मैं बुद्धिसे सर्वदा 'राम! राम!' ऐसा चिन्तन करके वाणीद्वारा भी राम-नामका ही उच्चारण करती रहती हूँ; अतः उस विचारके अनुरूप वैसे ही अर्थवाली यह कथा देख और सुन रही हूँ॥ ११॥

अहं हि तस्याद्य मनोभवेन
सम्पीडिता तद्गतसर्वभावा।
विचिन्तयन्ती सततं तमेव
तथैव पश्यामि तथा शृणोमि॥ १२॥

'मेरा हृदय सर्वदा श्रीरघुनाथमें ही लगा हुआ है; अतः श्रीराम-दर्शनकी लालसासे अत्यन्त पीड़ित हो सदा उन्हींका चिन्तन करती हुई उन्हींको देखती और उन्हींकी कथा सुनती हूँ॥ १२॥

मनोरथः स्यादिति चिन्तयामि
तथापि बुद्ध्यापि वितर्कयामि।
किं कारणं तस्य हि नास्ति रूपं
सुव्यक्तरूपश्च वदत्ययं माम्॥ १३॥

'सोचती हूँ कि सम्भव है यह मेरे मनकी ही कोई भावना हो तथापि बुद्धिसे भी तर्क-वितर्क करती हूँ कि यह जो कुछ दिखायी देता है, इसका क्या कारण है? मनोरथ या मनकी भावनाका कोई स्थूल रूप नहीं होता; परंतु इस वानरका रूप तो स्पष्ट दिखायी दे रहा है और यह मुझसे बातचीत भी करता है॥ १३॥

नमोऽस्तु वाचस्पतये सवज्रिणे
स्वयम्भुवे चैव हुताशनाय।
अनेन चोक्तं यदिदं ममाग्रतो
वनौकसा तच्च तथास्तु नान्यथा॥ १४॥

'मैं वाणीके स्वामी बृहस्पतिको, वज्रधारी इन्द्रको, स्वयम्भू ब्रह्माजीको तथा वाणीके अधिष्ठातृ-देवता अग्निको भी नमस्कार करती हूँ। इस वनवासी वानरने मेरे सामने यह जो कुछ कहा है, वह सब सत्य हो, उसमें कुछ भी अन्यथा न हो'॥ १४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे द्वात्रिंशः सर्गः॥ ३२॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें बत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३२॥

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

सीताजीका हनुमान्‌जीको अपना परिचय देते हुए अपने वनगमन और अपहरणका वृत्तान्त बताना

सोऽवतीर्य द्रुमात् तस्माद् विद्रुमप्रतिमाननः।
विनीतवेषः कृपणः प्रणिपत्योपसृत्य च॥ १॥
तामब्रवीन्महातेजा हनूमान् मारुतात्मजः।
शिरस्यञ्जलिमाधाय सीतां मधुरया गिरा॥ २॥

उधर मूँगेके समान लाल मुखवाले महातेजस्वी पवनकुमार हनुमान्‌जीने उस अशोक-वृक्षसे नीचे उतरकर माथेपर अञ्जलि बाँध ली और विनीतभावसे दीनतापूर्वक निकट आकर प्रणाम करनेके अनन्तर सीताजीसे मधुर वाणीमें कहा—॥ १-२॥

का नु पद्मपलाशाक्षि क्लिष्टकौशेयवासिनि।
द्रुमस्य शाखामालम्ब्य तिष्ठसि त्वमनिन्दिते॥ ३॥
किमर्थं तव नेत्राभ्यां वारि स्रवति शोकजम्।
पुण्डरीकपलाशाभ्यां विप्रकीर्णमिवोदकम्॥ ४॥

'प्रफुल्लकमलदलके समान विशाल नेत्रोंवाली देवि! यह मलिन रेशमी पीताम्बर धारण किये आप कौन हैं? अनिन्दिते! इस वृक्षकी शाखाका सहारा लिये आप यहाँ क्यों खड़ी हैं? कमलके पत्तोंसे झरते हुए जल-बिन्दुओंके समान आपकी आँखोंसे ये शोकके आँसू क्यों गिर रहे हैं॥ ३-४॥

सुराणामसुराणां च नागगन्धर्वरक्षसाम्।
यक्षाणां किंनराणां च का त्वं भवसि शोभने॥ ५॥
का त्वं भवसि रुद्राणां मरुतां वा वरानने।
वसूनां वा वरारोहे देवता प्रतिभासि मे॥ ६॥

'शोभने! आप देवता, असुर, नाग, गन्धर्व, राक्षस, यक्ष, किन्नर, रुद्र, मरुद्गण अथवा वसुओंमेंसे कौन हैं? इनमेंसे किसकी कन्या अथवा पत्नी हैं? सुमुखि! वरारोहे! मुझे तो आप कोई देवता-सी जान पड़ती हैं॥ ५-६॥

किं नु चन्द्रमसा हीना पतिता विबुधालयात्।
रोहिणी ज्योतिषां श्रेष्ठा श्रेष्ठा सर्वगुणाधिका॥ ७॥

'क्या आप चन्द्रमासे बिछुड़कर देवलोकसे गिरी हुई

नक्षत्रोंमें श्रेष्ठ और गुणोंमें सबसे बढ़ी-चढ़ी रोहिणी देवी हैं ? ॥ ७ ॥

कोपाद् वा यदि वा मोहाद् भर्तारमसितेक्षणे ।
वसिष्ठं कोपयित्वा त्वं वासि कल्याण्यरुन्धती ॥ ८ ॥

'अथवा कजरारे नेत्रोंवाली देवि ! आप कोप या मोहसे अपने पति वसिष्ठजीको कुपित करके यहाँ आयी हुई कल्याणस्वरूपा सतीशिरोमणि अरुन्धती तो नहीं हैं ॥ ८ ॥

को नु पुत्रः पिता भ्राता भर्ता वा ते सुमध्यमे ।
अस्माल्लोकादमुं लोकं गतं त्वमनुशोचसि ॥ ९ ॥

'सुमध्यमे ! आपका पुत्र, पिता, भाई अथवा पति कौन इस लोकसे चलकर परलोकवासी हो गया है, जिसके लिये आप शोक करती हैं ॥ ९ ॥

रोदनादतिनिःश्वासाद् भूमिसंस्पर्शनादपि ।
न त्वां देवीमहं मन्ये राज्ञः संज्ञावधारणात् ॥ १० ॥
व्यञ्जनानि हि ते यानि लक्षणानि च लक्षये ।
महिषी भूमिपालस्य राजकन्या च मे मता ॥ ११ ॥

'रोने, लम्बी साँस खींचने तथा पृथ्वीका स्पर्श करनेके कारण मैं आपको देवी नहीं मानता । आप बारम्बार किसी राजाका नाम ले रही हैं तथा आपके चिह्न और लक्षण जैसे दिखायी देते हैं, उन सबपर दृष्टिपात करनेसे यही अनुमान होता है कि आप किसी राजाकी महारानी तथा किसी नरेशकी कन्या हैं ॥ १०-११ ॥

रावणेन जनस्थानाद् बलात् प्रमथिता यदि ।
सीता त्वमसि भद्रं ते तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ॥ १२ ॥

'रावण जनस्थानसे जिन्हें बलपूर्वक हर लाया था, वे सीताजी ही यदि आप हों तो आपका कल्याण हो । आप ठीक-ठीक मुझे बताइये । मैं आपके विषयमें जानना चाहता हूँ ॥ १२ ॥

यथा हि तव वै दैन्यं रूपं चाप्यतिमानुषम् ।
तपसा चान्वितो वेषस्त्वं राममहिषी ध्रुवम् ॥ १३ ॥

'दुःखके कारण आपमें जैसी दीनता आ गयी है, जैसा आपका अलौकिक रूप है तथा जैसा तपस्विनीका-सा वेष है, इन सबके द्वारा निश्चय ही आप श्रीरामचन्द्रजीकी महारानी जान पड़ती हैं' ॥ १३ ॥

सा तस्य वचनं श्रुत्वा रामकीर्तनहर्षिता ।
उवाच वाक्यं वैदेही हनूमन्तं द्रुमाश्रितम् ॥ १४ ॥

हनुमान्‌जीकी बात सुनकर विदेहनन्दिनी सीता श्रीरामचन्द्रजीकी चर्चासे बहुत प्रसन्न थीं; अतः वृक्षका सहारा लिये खड़े हुए उन पवनकुमारसे इस प्रकार बोलीं ॥ १४ ॥

पृथिव्यां राजसिंहानां मुख्यस्य विदितात्मनः ।
स्नुषा दशरथस्याहं शत्रुसैन्यप्रणाशिनः ॥ १५ ॥
दुहिता जनकस्याहं वैदेहस्य महात्मनः ।
सीतेति नाम्ना चोक्ताहं भार्या रामस्य धीमतः ॥ १६ ॥

'कपिवर ! जो भूमण्डलके श्रेष्ठ राजाओंमें प्रधान थे, जिनकी सर्वत्र प्रसिद्धि थी तथा जो शत्रुओंकी सेनाका संहार करनेमें समर्थ थे, उन महाराज दशरथकी मैं पुत्रवधू हूँ, विदेहराज महात्मा जनककी पुत्री हूँ और परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीरामकी धर्मपत्नी हूँ । मेरा नाम सीता है ॥ १५-१६ ॥

समा द्वादश तत्राहं राघवस्य निवेशने ।
भुञ्जाना मानुषान् भोगान् सर्वकामसमृद्धिनी ॥ १७ ॥

'अयोध्यामें श्रीरघुनाथजीके अन्तःपुरमें बारह वर्षोंतक मैं सब प्रकारके मानवीय भोग भोगती रही और मेरी सारी अभिलाषाएँ सदैव पूर्ण होती रहीं ॥ १७ ॥

ततस्त्रयोदशे वर्षे राज्ये चेक्ष्वाकुनन्दनम् ।
अभिषेचयितुं राजा सोपाध्यायः प्रचक्रमे ॥ १८ ॥

'तदनन्तर तेरहवें वर्षमें महाराज दशरथने राजगुरु वसिष्ठजीके साथ इक्ष्वाकुकुलभूषण भगवान् श्रीरामके राज्याभिषेककी तैयारी आरम्भ की ॥ १८ ॥

तस्मिन् सम्भ्रियमाणे तु राघवस्याभिषेचने ।
कैकेयी नाम भर्तारमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १९ ॥

'जब वे श्रीरघुनाथजीके अभिषेकके लिये आवश्यक सामग्रीका संग्रह कर रहे थे, उस समय उनकी कैकेयी नामवाली भार्याने पतिसे इस प्रकार कहा— ॥ १९ ॥

न पिबेयं न खादेयं प्रत्यहं मम भोजनम् ।
एष मे जीवितस्यान्तो रामो यद्यभिषिच्यते ॥ २० ॥

'अब न तो मैं जलपान करूँगी और न प्रतिदिनका भोजन ही ग्रहण करूँगी । यदि श्रीरामका राज्याभिषेक हुआ तो यही मेरे जीवनका अन्त होगा ॥ २० ॥

यत् तदुक्तं त्वया वाक्यं प्रीत्या नृपतिसत्तम ।
तच्चेन्न वितथं कार्यं वनं गच्छतु राघवः ॥ २१ ॥

'नृपश्रेष्ठ ! आपने प्रसन्नतापूर्वक मुझे जो वचन दिया है, उसे यदि असत्य नहीं करना है तो श्रीराम वनको चले जायँ' ॥ २१ ॥

स राजा सत्यवाग् देव्या वरदानमनुस्मरन् ।
मुमोह वचनं श्रुत्वा कैकेय्याः क्रूरमप्रियम् ॥ २२ ॥

'महाराज दशरथ बड़े सत्यवादी थे । उन्होंने कैकेयी-देवीको दो वर देनेके लिये कहा था । उस वरदानका स्मरण करके कैकेयीके क्रूर एवं अप्रिय वचनको सुनकर वे मूर्छित हो गये ॥ २२ ॥

ततस्तं स्थविरो राजा सत्यधर्मे व्यवस्थितः ।
ज्येष्ठं यशस्विनं पुत्रं रुदन् राज्यमयाचत ॥ २३ ॥

'तदनन्तर सत्यधर्ममें स्थित हुए बूढ़े महाराजने अपने यशस्वी ज्येष्ठ पुत्र श्रीरघुनाथजीसे भरतके लिये राज्य माँगा ॥ २३ ॥

स पितुर्वचनं श्रीमानभिषेकात् परं प्रियम् ।
मनसा पूर्वमासाद्य वाचा प्रतिगृहीतवान् ॥ २४ ॥

'श्रीमान् रामको पिताके वचन राज्याभिषेकसे भी बढ़कर प्रिय थे। इसलिये उन्होंने पहले उन वचनोंको मनसे ग्रहण किया, फिर वाणीसे भी स्वीकार कर लिया॥ २४॥

दद्यान्न प्रतिगृह्णीयात् सत्यं ब्रूयान्न चानृतम्।
अपि जीवितहेतोर्हि रामः सत्यपराक्रमः॥ २५॥

'सत्य-पराक्रमी भगवान् श्रीराम केवल देते हैं, लेते नहीं। वे सदा सत्य बोलते हैं, अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये भी कभी झूठ नहीं बोल सकते॥ २५॥

स विहायोत्तरीयाणि महार्हाणि महायशाः।
विसृज्य मनसा राज्यं जनन्यै मां समादिशत्॥ २६॥

'उन महायशस्वी श्रीरघुनाथजीने बहुमूल्य उत्तरीय वस्त्र उतार दिये और मनसे राज्यका त्याग करके मुझे अपनी माताके हवाले कर दिया॥ २६॥

साहं तस्याग्रतस्तूर्णं प्रस्थिता वनचारिणी।
नहि मे तेन हीनाया वासः स्वर्गेऽपि रोचते॥ २७॥

'किंतु मैं तुरंत ही उनके आगे-आगे वनकी ओर चल दी; क्योंकि उनके बिना मुझे स्वर्गमें भी रहना अच्छा नहीं लगता॥ २७॥

प्रागेव तु महाभागः सौमित्रिर्मित्रनन्दनः।
पूर्वजस्यानुयात्रार्थे कुशचीरैरलंकृतः॥ २८॥

'अपने सुहृदोंको आनन्द देनेवाले सुमित्राकुमार महाभाग लक्ष्मण भी अपने बड़े भाईका अनुसरण करनेके लिये उनसे भी पहले कुश तथा चीर-वस्त्र धारण करके तैयार हो गये॥ २८॥

ते वयं भर्तुरादेशं बहुमान्य दृढव्रताः।
प्रविष्टाः स्म पुरादृष्टं वनं गम्भीरदर्शनम्॥ २९॥

'इस प्रकार हम तीनोंने अपने स्वामी महाराज दशरथकी आज्ञाको अधिक आदर देकर दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करते हुए उस सघन वनमें प्रवेश किया, जिसे पहले कभी नहीं देखा था॥ २९॥

वसतो दण्डकारण्ये तस्याहममितौजसः।
रक्षसापहृता भार्या रावणेन दुरात्मना॥ ३०॥

'वहाँ दण्डकारण्यमें रहते समय उन अमिततेजस्वी भगवान् श्रीरामकी भार्या मुझ सीताको दुरात्मा राक्षस रावण यहाँ हर लाया है॥ ३०॥

द्वौ मासौ तेन मे कालो जीवितानुग्रहः कृतः।
ऊर्ध्वं द्वाभ्यां तु मासाभ्यां ततस्त्यक्ष्यामि जीवितम्॥ ३१॥

'उसने अनुग्रहपूर्वक मेरे जीवन-धारणके लिये दो मासकी अवधि निश्चित कर दी है। उन दो महीनोंके बाद मुझे अपने प्राणोंका परित्याग करना पड़ेगा'॥ ३१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे त्रयस्त्रिंशः सर्गः॥ ३३॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें तैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३३॥

—★—

चतुस्त्रिंशः सर्गः

सीताजीका हनुमान्‌जीके प्रति संदेह और उसका समाधान तथा हनुमान्‌जीके द्वारा श्रीरामचन्द्रजीके गुणोंका गान

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा हनूमान् हरिपुङ्गवः।
दुःखाद् दुःखाभिभूतायाः सान्त्वमुत्तरमब्रवीत्॥ १॥

दुःख-पर-दुःख उठानेके कारण पीड़ित हुई सीताका उपर्युक्त वचन सुनकर वानरशिरोमणि हनुमान्‌जीने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—॥ १॥

अहं रामस्य संदेशाद् देवि दूतस्तवागतः।
वैदेहि कुशली रामः स त्वां कौशलमब्रवीत्॥ २॥

'देवि! मैं श्रीरामचन्द्रजीका दूत हूँ और आपके लिये उनका संदेश लेकर आया हूँ। विदेहनन्दिनी! श्रीरामचन्द्रजी सकुशल हैं और उन्होंने आपका कुशल-समाचार पूछा है॥ २॥

यो ब्राह्ममस्त्रं वेदांश्च वेद वेदविदां वरः।
स त्वां दाशरथी रामो देवि कौशलमब्रवीत्॥ ३॥

'देवि! जिन्हें ब्रह्मास्त्र और वेदोंका भी पूर्ण ज्ञान है, वे वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ दशरथनन्दन श्रीराम स्वयं सकुशल रहकर आपकी भी कुशल पूछ रहे हैं॥ ३॥

लक्ष्मणश्च महातेजा भर्तुस्तेऽनुचरः प्रियः।
कृतवाञ्छोकसंतप्तः शिरसा तेऽभिवादनम्॥ ४॥

'आपके पतिके अनुचर तथा प्रिय महातेजस्वी लक्ष्मणने भी शोकसे संतप्त हो आपके चरणोंमें मस्तक झुकाकर प्रणाम कहलाया है'॥ ४॥

सा तयोः कुशलं देवी निशम्य नरसिंहयोः।
प्रतिसंहृष्टसर्वाङ्गी हनूमन्तमथाब्रवीत्॥ ५॥

पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मणका समाचार सुनकर देवी सीताके सम्पूर्ण अङ्गोंमें हर्षजनित रोमाञ्च हो आया और वे हनुमान्‌जीसे बोलीं—॥ ५॥

कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति मा।
एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि॥ ६॥

'यदि मनुष्य जीवित रहे तो उसे सौ वर्ष बाद भी आनन्द प्राप्त होता ही है, यह लौकिक कहावत आज मुझे बिलकुल सत्य एवं कल्याणमयी जान पड़ती है' ॥ ६ ॥

तयोः समागमे तस्मिन् प्रीतिरुत्पादिताद्भुता।
परस्परेण चालापं विश्वस्तौ तौ प्रचक्रतुः ॥ ७ ॥

सीता और हनुमान्‌के इस मिलाप (परस्पर दर्शन) से दोनोंको ही अद्भुत प्रसन्नता प्राप्त हुई। वे दोनों विश्वस्त होकर एक-दूसरेसे वार्तालाप करने लगे ॥ ७ ॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा हनूमान् मारुतात्मजः।
सीतायाः शोकतप्तायाः समीपमुपचक्रमे ॥ ८ ॥

शोकसंतप्त सीताकी वे बातें सुनकर पवनकुमार हनुमान्‌जी उनके कुछ निकट चले गये ॥ ८ ॥

यथा यथा समीपं स हनूमानुपसर्पति।
तथा तथा रावणं सा तं सीता परिशङ्कते ॥ ९ ॥

हनुमान्‌जी ज्यों-ज्यों निकट आते, त्यों-ही-त्यों सीताको यह शङ्का होती कि यह कहीं रावण न हो ॥ ९ ॥

अहो धिग् धिक्कृतमिदं कथितं हि यदस्य मे।
रूपान्तरमुपागम्य स एवायं हि रावणः ॥ १० ॥

ऐसा विचार आते ही वे मन-ही-मन कहने लगीं— 'अहो! धिक्कार है, जो इसके सामने मैंने अपने मनकी बात कह दी। यह दूसरा रूप धारण करके आया हुआ वह रावण ही है' ॥ १० ॥

तामशोकस्य शाखां तु विमुक्त्वा शोककर्शिता।
तस्यामेवानवद्याङ्गी धरण्यां समुपाविशत् ॥ ११ ॥

फिर तो निर्दोष अङ्गोंवाली सीता उस अशोक-वृक्षकी शाखाको छोड़ शोकसे कातर हो वहीं जमीनपर बैठ गयीं ॥ ११ ॥

अवन्दत महाबाहुस्ततस्तां जनकात्मजाम्।
सा चैनं भयसंत्रस्ता भूयो नैनमुदैक्षत ॥ १२ ॥

तत्पश्चात् महाबाहु हनुमान्‌ने जनकनन्दिनी सीताके चरणोंमें प्रणाम किया, किंतु वे भयभीत होनेके कारण फिर उनकी ओर देख न सकीं ॥ १२ ॥

तं दृष्ट्वा वन्दमानं च सीता शशिनिभानना।
अब्रवीद् दीर्घमुच्छ्वस्य वानरं मधुरस्वरा ॥ १३ ॥

वानर हनुमान्‌को बारम्बार वन्दना करते देख चन्द्रमुखी सीता लम्बी साँस खींचकर उनसे मधुर वाणीमें बोलीं— ॥ १३ ॥

मायां प्रविष्टो मायावी यदि त्वं रावणः स्वयम्।
उत्पादयसि मे भूयः संतापं तन्न शोभनम् ॥ १४ ॥

'यदि तुम स्वयं मायावी रावण हो और मायामय शरीरमें प्रवेश करके फिर मुझे कष्ट दे रहे हो तो यह तुम्हारे लिये अच्छी बात नहीं है ॥ १४ ॥

स्वं परित्यज्य रूपं यः परिव्राजकरूपवान्।
जनस्थाने मया दृष्टस्त्वं स एव हि रावणः ॥ १५ ॥

'जिसे मैंने जनस्थानमें देखा था तथा जो अपने यथार्थ रूपको छोड़कर संन्यासीका रूप धारण करके आया था, तुम वही रावण हो ॥ १५ ॥

उपवासकृशां दीनां कामरूप निशाचर।
संतापयसि मां भूयः संतापं तन्न शोभनम् ॥ १६ ॥

'इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले निशाचर! मैं उपवास करते-करते दुबली हो गयी हूँ और मन-ही-मन दुःखी रहती हूँ। इतनेपर भी जो तुम फिर मुझे संताप दे रहे हो, यह तुम्हारे लिये अच्छी बात नहीं है ॥ १६ ॥

अथवा नैतदेवं हि यन्मया परिशङ्कितम्।
मनसो हि मम प्रीतिरुत्पन्ना तव दर्शनात् ॥ १७ ॥

'अथवा जिस बातकी मेरे मनमें शङ्का हो रही है, वह न भी हो; क्योंकि तुम्हें देखनेसे मेरे मनमें प्रसन्नता हुई है ॥ १७ ॥

यदि रामस्य दूतस्त्वमागतो भद्रमस्तु ते।
पृच्छामि त्वां हरिश्रेष्ठ प्रिया रामकथा हि मे ॥ १८ ॥

'वानरश्रेष्ठ! सचमुच ही यदि तुम भगवान् श्रीरामके दूत हो तो तुम्हारा कल्याण हो। मैं तुमसे उनकी बातें पूछती हूँ; क्योंकि श्रीरामकी चर्चा मुझे बहुत ही प्रिय है ॥ १८ ॥

गुणान् रामस्य कथय प्रियस्य मम वानर।
चित्तं हरसि मे सौम्य नदीकूलं यथा रयः ॥ १९ ॥

'वानर! मेरे प्रियतम श्रीरामके गुणोंका वर्णन करो। सौम्य! जैसे जलका वेग नदीके तटको हर लेता है, उसी प्रकार तुम श्रीरामकी चर्चासे मेरे चित्तको चुराये लेते हो ॥ १९ ॥

अहो स्वप्नस्य सुखता याहमेव चिराहृता।
प्रेषितं नाम पश्यामि राघवेण वनौकसम् ॥ २० ॥

'अहो! यह स्वप्न कैसा सुखद हुआ? जिससे यहाँ चिरकालसे हरकर लायी गयी मैं आज भगवान् श्रीरामके भेजे हुए दूत वानरको देख रही हूँ ॥ २० ॥

स्वप्नेऽपि यद्यहं वीरं राघवं सहलक्ष्मणम्।
पश्येयं नावसीदेयं स्वप्नोऽपि मम मत्सरी ॥ २१ ॥

'यदि मैं लक्ष्मणसहित वीरवर श्रीरघुनाथजीको स्वप्नमें भी देख लिया करूँ तो मुझे इतना कष्ट न हो; परंतु स्वप्न भी मुझसे डाह करता है ॥ २१ ॥

नाहं स्वप्नमिमं मन्ये स्वप्ने दृष्ट्वा हि वानरम्।
न शक्योऽभ्युदयः प्राप्तुं प्राप्तश्चाभ्युदयो मम ॥ २२ ॥

'मैं इसे स्वप्न नहीं समझती; क्योंकि स्वप्नमें वानरको देख लेनेपर किसीका अभ्युदय नहीं हो सकता और मैंने यहाँ अभ्युदय प्राप्त किया है (अभ्युदयकालमें जैसी प्रसन्नता होती है, वैसी ही प्रसन्नता मेरे मनमें छा रही है) ॥ २२ ॥

किं नु स्याच्चित्तमोहोऽयं भवेद् वातगतिस्त्वियम्।
उन्मादजो विकारो वा स्यादयं मृगतृष्णिका ॥ २३ ॥

'अथवा यह मेरे चित्तका मोह तो नहीं है। वात-विकारसे होनेवाला भ्रम तो नहीं है। उन्मादका विकार तो नहीं उमड़ आया अथवा यह मृगतृष्णा तो नहीं है॥ २३॥

अथवा नायमुन्मादो मोहोऽप्युन्मादलक्षणः।
सम्बुध्ये चाहमात्मानमिमं चापि वनौकसम्॥ २४॥

'अथवा यह उन्मादजनित विकार नहीं है। उन्मादके समान लक्षणवाला मोह भी नहीं है; क्योंकि मैं अपने-आपको देख और समझ रही हूँ तथा इस वानरको भी ठीक-ठीक देखती और समझती हूँ (उन्माद आदिकी अवस्थाओंमें इस तरह ठीक-ठीक ज्ञान होना सम्भव नहीं है।)' ॥ २४॥

इत्येवं बहुधा सीता सम्प्रधार्य बलाबलम्।
रक्षसां कामरूपत्वान्मेने तं राक्षसाधिपम्॥ २५॥
एतां बुद्धिं तदा कृत्वा सीता सा तनुमध्यमा।
न प्रतिव्याजहाराथ वानरं जनकात्मजा॥ २६॥

इस तरह सीता अनेक प्रकारसे राक्षसोंकी प्रबलता और वानरकी निर्बलताका निश्चय करके उन्हें राक्षसराज रावण ही माना; क्योंकि राक्षसोंमें इच्छानुसार रूप धारण करनेकी शक्ति होती है। ऐसा विचारकर सूक्ष्म कटिप्रदेशवाली जनककुमारी सीताने कपिवर हनुमान्‌जीसे फिर कुछ नहीं कहा॥ २६॥

सीताया निश्चितं बुद्ध्वा हनूमान् मारुतात्मजः।
श्रोत्रानुकूलैर्वचनैस्तदा तां सम्प्रहर्षयन्॥ २७॥

सीताके इस निश्चयको समझकर पवनकुमार हनुमान्‌जी उस समय कानोंको सुख पहुँचानेवाले अनुकूल वचनोंद्वारा उनका हर्ष बढ़ाते हुए बोले—॥ २७॥

आदित्य इव तेजस्वी लोककान्तः शशी यथा।
राजा सर्वस्य लोकस्य देवो वैश्रवणो यथा॥ २८॥

'भगवान् श्रीराम सूर्यके समान तेजस्वी, चन्द्रमाके समान लोककमनीय तथा देव कुबेरकी भाँति सम्पूर्ण जगत्‌के राजा हैं॥ २८॥

विक्रमेणोपपन्नश्च यथा विष्णुर्महायशाः।
सत्यवादी मधुरवाग् देवो वाचस्पतिर्यथा॥ २९॥

'महायशस्वी भगवान् विष्णुके समान पराक्रमी तथा बृहस्पतिजीकी भाँति सत्यवादी एवं मधुरभाषी हैं॥ २९॥

रूपवान् सुभगः श्रीमान् कंदर्प इव मूर्तिमान्।
स्थानक्रोधे प्रहर्ता च श्रेष्ठो लोके महारथः॥ ३०॥

'रूपवान्, सौभाग्यशाली और कान्तिमान् तो वे इतने हैं, मानो मूर्तिमान् कामदेव हों। वे क्रोधके पात्रपर ही प्रहार करनेमें समर्थ और संसारके श्रेष्ठ महारथी हैं॥ ३०॥

बाहुच्छायामवष्टब्धो यस्य लोको महात्मनः।
अपक्रम्याश्रमपदान्मृगरूपेण राघवम्॥ ३१॥
शून्ये येनापनीतासि तस्य द्रक्ष्यसि तत्फलम्।

'सम्पूर्ण विश्व उन महात्माकी भुजाओंके आश्रयमें—उन्हींकी छत्रच्छायामें विश्राम करता है। मृगरूपधारी निशाचरद्वारा श्रीरघुनाथजीको आश्रमसे दूर हटाकर जिसने सूने आश्रममें पहुँचकर आपका अपहरण किया है, उसे उस पापका जो फल मिलनेवाला है, उसको आप अपनी आँखों देखेंगी॥ ३१½॥

अचिराद् रावणं संख्ये यो वधिष्यति वीर्यवान्॥ ३२॥
क्रोधप्रमुक्तैरिषुभिर्ज्वलद्भिरिव पावकैः।

'पराक्रमी श्रीरामचन्द्रजी क्रोधपूर्वक छोड़े गये प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी बाणोंद्वारा समराङ्गणमें शीघ्र ही रावणका वध करेंगे॥ ३२½॥

तेनाहं प्रेषितो दूतस्त्वत्सकाशमिहागतः॥ ३३॥
त्वद्वियोगेन दुःखार्तः स त्वां कौशलमब्रवीत्।

'मैं उन्हींका भेजा हुआ दूत होकर यहाँ आपके पास आया हूँ। भगवान् श्रीराम आपके वियोगजनित दुःखसे पीड़ित हैं। उन्होंने आपके पास अपनी कुशल कहलायी है और आपकी भी कुशल पूछी है॥ ३३½॥

लक्ष्मणश्च महातेजाः सुमित्रानन्दवर्धनः॥ ३४॥
अभिवाद्य महाबाहुः स त्वां कौशलमब्रवीत्।

'सुमित्राका आनन्द बढ़ानेवाले महातेजस्वी महाबाहु लक्ष्मणने भी आपको प्रणाम करके आपकी कुशल पूछी है॥ ३४½॥

रामस्य च सखा देवि सुग्रीवो नाम वानरः॥ ३५॥
राजा वानरमुख्यानां स त्वां कौशलमब्रवीत्।
नित्यं स्मरति ते रामः ससुग्रीवः सलक्ष्मणः॥ ३६॥

'देवि! श्रीरघुनाथजीके सखा एक सुग्रीव नामक वानर हैं, जो मुख्य-मुख्य वानरोंके राजा हैं, उन्होंने भी आपसे कुशल पूछी है। सुग्रीव और लक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्रजी प्रतिदिन आपका स्मरण करते हैं॥ ३५-३६॥

दिष्ट्या जीवसि वैदेहि राक्षसीवशमागता।
नचिराद् द्रक्ष्यसे रामं लक्ष्मणं च महारथम्॥ ३७॥

'विदेहनन्दिनि! राक्षसियोंके चंगुलमें फँसकर भी आप अभीतक जीवित हैं, यह बड़े सौभाग्यकी बात है। अब आप शीघ्र ही महारथी श्रीराम और लक्ष्मणका दर्शन करेंगी॥ ३७॥

मध्ये वानरकोटीनां सुग्रीवं चामितौजसम्।
अहं सुग्रीवसचिवो हनूमान् नाम वानरः॥ ३८॥

'साथ ही करोड़ों वानरोंसे घिरे हुए अमिततेजस्वी सुग्रीवको भी आप देखेंगी। मैं सुग्रीवका मन्त्री हनुमान् नामक वानर हूँ॥ ३८॥

प्रविष्टो नगरीं लङ्कां लङ्घयित्वा महोदधिम्।
कृत्वा मूर्ध्नि पदन्यासं रावणस्य दुरात्मनः॥ ३९॥

'मैंने महासागरको लाँघकर और दुरात्मा रावणके सिरपर पैर रखकर लङ्कापुरीमें प्रवेश किया है॥ ३९॥

त्वां द्रष्टुमुपयातोऽहं समाश्रित्य पराक्रमम्।
नाहमस्मि तथा देवि यथा मामवगच्छसि।
विशङ्का त्यज्यतामेषा श्रद्धत्स्व वदतो मम॥ ४०॥

'मैं अपने पराक्रमका भरोसा करके आपका दर्शन करनेके लिये यहाँ उपस्थित हुआ हूँ। देवि! आप मुझे जैसा समझ रही हैं, मैं वैसा नहीं हूँ। आप यह विपरीत आशङ्का छोड़ दीजिये और मेरी बातपर विश्वास कीजिये'॥ ४०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे चतुस्त्रिंशः सर्गः॥ ३४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें चौंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३४॥

पञ्चत्रिंशः सर्गः

सीताजीके पूछनेपर हनुमान्‌जीका श्रीरामके शारीरिक चिह्नों और गुणोंका वर्णन करना तथा नर-वानरकी मित्रताका प्रसङ्ग सुनाकर सीताजीके मनमें विश्वास उत्पन्न करना

तां तु रामकथां श्रुत्वा वैदेही वानरर्षभात्।
उवाच वचनं सान्त्वमिदं मधुरया गिरा॥ १॥

वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌जीके मुखसे श्रीरामचन्द्रजीकी चर्चा सुनकर विदेहराजकुमारी सीता शान्तिपूर्वक मधुर वाणीमें बोलीं—॥ १॥

क्व ते रामेण संसर्गः कथं जानासि लक्ष्मणम्।
वानराणां नराणां च कथमासीत् समागमः॥ २॥

'कपिवर! तुम्हारा श्रीरामचन्द्रजीके साथ सम्बन्ध कहाँ हुआ? तुम लक्ष्मणको कैसे जानते हो? मनुष्यों और वानरोंका यह मेल किस प्रकार सम्भव हुआ?॥ २॥

यानि रामस्य चिह्नानि लक्ष्मणस्य च वानर।
तानि भूयः समाचक्ष्व न मां शोकः समाविशेत्॥ ३॥

'वानर! श्रीराम और लक्ष्मणके जो चिह्न हैं, उनका फिरसे वर्णन करो, जिससे मेरे मनमें किसी प्रकारके शोकका समावेश न हो॥ ३॥

कीदृशं तस्य संस्थानं रूपं तस्य च कीदृशम्।
कथमूरू कथं बाहू लक्ष्मणस्य च शंस मे॥ ४॥

'मुझे बताओ भगवान् श्रीराम और लक्ष्मणकी आकृति कैसी है? उनका रूप किस तरहका है? उनकी जाँघें और भुजाएँ कैसी हैं?'॥ ४॥

एवमुक्तस्तु वैदेह्या हनूमान् मारुतात्मजः।
ततो रामं यथातत्त्वमाख्यातुमुपचक्रमे॥ ५॥

विदेहराजकुमारी सीताके इस प्रकार पूछनेपर पवनकुमार हनुमान्‌जीने श्रीरामचन्द्रजीके स्वरूपका यथावत् वर्णन आरम्भ किया—॥ ५॥

जानन्ती बत दिष्ट्या मां वैदेहि परिपृच्छसि।
भर्तुः कमलपत्राक्षि संस्थानं लक्ष्मणस्य च॥ ६॥

'कमलके समान सुन्दर नेत्रोंवाली विदेहराजकुमारी! आप अपने पतिदेव श्रीरामके तथा देवर लक्ष्मणजीके शरीरके विषयमें जानती हुई भी जो मुझसे पूछ रही हैं, यह मेरे लिये बड़े सौभाग्यकी बात है॥ ६॥

यानि रामस्य चिह्नानि लक्ष्मणस्य च यानि वै।
लक्षितानि विशालाक्षि वदतः शृणु तानि मे॥ ७॥

'विशाललोचने! श्रीराम और लक्ष्मणके जिन-जिन चिह्नोंको मैंने लक्ष्य किया है, उन्हें बताता हूँ। मुझसे सुनिये॥ ७॥

रामः कमलपत्राक्षः पूर्णचन्द्रनिभाननः।
रूपदाक्षिण्यसम्पन्नः प्रसूतो जनकात्मजे॥ ८॥

'जनकनन्दिनि! श्रीरामचन्द्रजीके नेत्र प्रफुल्ल-कमलदलके समान विशाल एवं सुन्दर हैं। मुख पूर्णिमाके चन्द्रमाके समान मनोहर है। वे जन्मकालसे ही रूप और उदारता आदि गुणोंसे सम्पन्न हैं॥ ८॥

तेजसाऽऽदित्यसंकाशः क्षमया पृथिवीसमः।
बृहस्पतिसमो बुद्ध्या यशसा वासवोपमः॥ ९॥
रक्षिता जीवलोकस्य स्वजनस्य च रक्षिता।
रक्षिता स्वस्य वृत्तस्य धर्मस्य च परंतपः॥ १०॥

'वे तेजमें सूर्यके समान, क्षमामें पृथ्वीके तुल्य, बुद्धिमें बृहस्पतिके सदृश और यशमें इन्द्रके समान हैं। वे सम्पूर्ण जीव-जगत्‌के तथा स्वजनोंके भी रक्षक हैं। शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीराम अपने सदाचार और धर्मकी रक्षा करते हैं॥ ९-१०॥

रामो भामिनि लोकस्य चातुर्वर्ण्यस्य रक्षिता।
मर्यादानां च लोकस्य कर्ता कारयिता च सः॥ ११॥

'भामिनि! श्रीरामचन्द्रजी जगत्‌के चारों वर्णोंकी रक्षा करते हैं। लोकमें धर्मकी मर्यादाओंको बाँधकर उनका पालन करने और करानेवाले भी वे ही हैं॥ ११॥

अर्चिष्मानर्चितोऽत्यर्थं ब्रह्मचर्यव्रते स्थितः।
साधूनामुपकारज्ञः प्रचारज्ञश्च कर्मणाम्॥ १२॥

'सर्वत्र अत्यन्त भक्तिभावसे उनकी पूजा होती है। ये कान्तिमान् एवं परम प्रकाशस्वरूप हैं, ब्रह्मचर्य-व्रतके पालनमें लगे रहते हैं, साधु पुरुषोंका उपकार मानते और आचरणोंद्वारा सत्कर्मोंके प्रचारका ढंग जानते हैं॥ १२॥

राजनीत्यां विनीतश्च ब्राह्मणानामुपासकः।
ज्ञानवाञ्शीलसम्पन्नो विनीतश्च परंतपः॥ १३॥

'वे राजनीतिमें पूर्ण शिक्षित, ब्राह्मणोंके उपासक, ज्ञानवान्, शीलवान्, विनम्र तथा शत्रुओंको संताप देनेमें समर्थ हैं॥ १३॥

यजुर्वेदविनीतश्च वेदविद्भिः सुपूजितः।
धनुर्वेदे च वेदे च वेदाङ्गेषु च निष्ठितः॥ १४॥

'उन्हें यजुर्वेदकी भी अच्छी शिक्षा मिली है। वेदवेत्ता विद्वानोंने उनका बड़ा सम्मान किया है। वे चारों वेद, धनुर्वेद और छहों वेदाङ्गोंके भी परिनिष्ठित विद्वान् हैं॥ १४॥

विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवः शुभाननः।
गूढजत्रुः सुताम्राक्षो रामो नाम जनैः श्रुतः॥ १५॥

'उनके कंधे मोटे, भुजाएँ बड़ी-बड़ी, गला शङ्खके समान और मुख सुन्दर है। गलेकी हँसली मांससे ढकी हुई है तथा नेत्रोंमें कुछ-कुछ लालिमा है। वे लोगोंमें 'श्रीराम' के नामसे प्रसिद्ध हैं॥ १५॥

दुन्दुभिस्वननिर्घोषः स्निग्धवर्णः प्रतापवान्।
समश्च सुविभक्ताङ्गो वर्णं श्यामं समाश्रितः॥ १६॥

'उनका स्वर दुन्दुभिके समान गम्भीर और शरीरका रंग सुन्दर एवं चिकना है। उनका प्रताप बहुत बढ़ा-चढ़ा है। उनके सभी अङ्ग सुडौल और बराबर हैं। उनकी कान्ति श्याम है॥ १६॥

त्रिस्थिरस्त्रिप्रलम्बश्च त्रिसमस्त्रिषु चोन्नतः।
त्रिताम्रस्त्रिषु च स्निग्धो गम्भीरस्त्रिषु नित्यशः॥ १७॥

'उनके तीन अङ्ग (वक्षःस्थल, कलाई और मुट्ठी) स्थिर (सुदृढ़) हैं। भौंहें, भुजाएँ और मेढ़ू—ये तीन अङ्ग लंबे हैं। केशोंका अग्रभाग, अण्डकोष और घुटने—ये तीन समान—बराबर हैं। वक्षःस्थल, नाभिके किनारेका भाग और उदर—ये तीन उभरे हुए हैं। नेत्रोंके कोने, नख और हाथ-पैरके तलवे—ये तीन लाल हैं। शिश्नका अग्रभाग, दोनों पैरोंकी रेखाएँ और सिरके बाल—ये तीन चिकने हैं तथा स्वर, चाल और नाभि—ये तीन गम्भीर हैं॥ १७॥

त्रिवलीमांस्त्र्यवनतश्चतुर्व्यङ्गस्त्रिशीर्षवान्।
चतुष्कलश्चतुर्लेखश्चतुष्किष्कुश्चतुः समः॥ १८॥

'उनके उदर तथा गलेमें तीन रेखाएँ हैं। तलवोंके मध्यभाग, पैरोंकी रेखाएँ और स्तनोंके अग्रभाग—ये तीन धँसे हुए हैं। गला, पीठ तथा दोनों पिण्डलियाँ—ये चार अङ्ग छोटे हैं। मस्तकमें तीन भँवरें हैं। पैरोंके अँगूठेके नीचे तथा ललाटमें चार-चार रेखाएँ हैं। वे चार हाथ ऊँचे हैं। उनके कपोल, भुजाएँ, जाँघें और घुटने—ये चार अङ्ग बराबर हैं॥ १८॥

चतुर्दशसमद्वन्द्वश्चतुर्दंष्ट्रश्चतुर्गतिः।
महोष्ठहनुनासश्च पञ्चस्निग्धोऽष्टवंशवान्॥ १९॥

'शरीरमें जो दो-दोकी संख्यामें चौदह[1] अङ्ग होते हैं, वे भी उनके परस्पर सम हैं। उनकी चारों कोनोंकी चारों दाढ़ें शास्त्रीय लक्षणोंसे युक्त हैं। वे सिंह, बाघ, हाथी और साँड़—इन चारके समान चार प्रकारकी गतिसे चलते हैं। उनके ओठ, ठोढ़ी और नासिका—सभी प्रशस्त हैं। केश, नेत्र, दाँत, त्वचा और पैरके तलवे—इन पाँचों अङ्गोंमें स्निग्धता भरी है। दोनों भुजाएँ, दोनों जाँघें, दोनों पिण्डलियाँ, हाथ और पैरोंकी अँगुलियाँ—ये आठ अङ्ग उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न (लंबे) हैं॥ १९॥

दशपद्मो दशबृहत्त्रिभिर्व्याप्तो द्विशुक्लवान्।
षडुन्नतो नवतनुस्त्रिभिर्व्याप्नोति राघवः॥ २०॥

'उनके नेत्र, मुख-विवर, मुख-मण्डल, जिह्वा, ओठ, तालु, स्तन, नख, हाथ और पैर ये—दस अङ्ग कमलके समान हैं। छाती, मस्तक, ललाट, गला, भुजाएँ, कंधे, नाभि, चरण, पीठ और कान—ये दस अङ्ग विशाल हैं। वे श्री, यश और प्रताप—इन तीनोंसे व्याप्त हैं। उनके मातृकुल और पितृकुल दोनों अत्यन्त शुद्ध हैं। पार्श्वभाग, उदर, वक्षःस्थल, नासिका, कंधे और ललाट—ये छः अङ्ग ऊँचे हैं। केश, नख, लोम, त्वचा, अंगुलियोंके पोर, शिश्न, बुद्धि और दृष्टि आदि नौ सूक्ष्म (पतले) हैं तथा वे श्रीरघुनाथजी पूर्वाह्न, मध्याह्न और अपराह्न—इन तीन कालोंद्वारा क्रमशः धर्म, अर्थ और कामका अनुष्ठान करते हैं॥ २०॥

सत्यधर्मरतः श्रीमान् संग्रहानुग्रहे रतः।
देशकालविभागज्ञः सर्वलोकप्रियंवदः॥ २१॥

'श्रीरामचन्द्रजी सत्यधर्मके अनुष्ठानमें संलग्न, श्रीसम्पन्न, न्यायसङ्गत धनका संग्रह और प्रजापर अनुग्रह करनेमें तत्पर, देश और कालके विभागको समझनेवाले तथा सब लोगोंसे प्रिय वचन बोलनेवाले हैं॥ २१॥

भ्राता चास्य च वैमात्रः सौमित्रिरमितप्रभः।
अनुरागेण रूपेण गुणैश्चापि तथाविधः॥ २२॥

'उनके सौतेले भाई सुमित्राकुमार लक्ष्मण भी बड़े तेजस्वी हैं। अनुराग, रूप और सद्गुणोंकी दृष्टिसे भी वे श्रीरामचन्द्रजीके ही समान हैं॥ २२॥

स सुवर्णच्छविः श्रीमान् रामः श्यामो महायशाः।
तावुभौ नरशार्दूलौ त्वद्दर्शनकृतोत्सवौ॥ २३॥
विचिन्वन्तौ महीं कृत्स्नामस्माभिः सह संगतौ।

---

१. भौंह, नथुने, नेत्र, कान, ओठ, स्तन, कोहनी, कलाई, जाँघ, घुटने, अण्डकोष, कमरके दोनों भाग, हाथ और पैर।

'उन दोनों भाइयोंमें अन्तर इतना ही है कि लक्ष्मणके शरीरकी कान्ति सुवर्णके समान गौर है और महायशस्वी श्रीरामचन्द्रजीका विग्रह श्याम-सुन्दर है। वे दोनों नरश्रेष्ठ आपके दर्शनके लिये उत्कण्ठित हो सारी पृथ्वीपर आपकी ही खोज करते हुए हमलोगोंसे मिले थे ॥२३½॥

त्वामेव मार्गमाणौ तौ विचरन्तौ वसुन्धराम् ॥ २४ ॥
ददर्शतुर्मृगपतिं पूर्वजेनावरोपितम् ।

'आपको ही ढूँढ़नेके लिये पृथ्वीपर विचरते हुए उन दोनों भाइयोंने वानरराज सुग्रीवका साक्षात्कार किया, जो अपने बड़े भाईके द्वारा राज्यसे उतार दिये गये थे ॥२४½॥

ऋष्यमूकस्य मूले तु बहुपादपसंकुले ॥ २५ ॥
भ्रातुर्भयार्तमासीनं सुग्रीवं प्रियदर्शनम् ।

'ऋष्यमूक पर्वतके मूलभागमें जो बहुत-से वृक्षोंद्वारा घिरा हुआ है, भाईके भयसे पीड़ित हो बैठे हुए प्रियदर्शन सुग्रीवसे वे दोनों भाई मिले ॥२५½॥

वयं च हरिराजं तं सुग्रीवं सत्यसङ्गरम् ॥ २६ ॥
परिचर्यामहे राज्यात् पूर्वजेनावरोपितम् ।

'उन दिनों जिन्हें बड़े भाईने राज्यसे उतार दिया था, उन सत्यप्रतिज्ञ वानरराज सुग्रीवकी सेवामें हम सब लोग रहा करते थे ॥२६½॥

ततस्तौ चीरवसनौ धनुःप्रवरपाणिनौ ॥ २७ ॥
ऋष्यमूकस्य शैलस्य रम्यं देशमुपागतौ ।
स तौ दृष्ट्वा नरव्याघ्रौ धन्विनौ वानरर्षभः ॥ २८ ॥
अभिप्लुतो गिरेस्तस्य शिखरं भयमोहितः ।

'शरीरपर वल्कलवस्त्र तथा हाथमें धनुष धारण किये वे दोनों भाई जब ऋष्यमूक पर्वतके रमणीय प्रदेशमें आये, तब धनुष धारण करनेवाले उन दोनों नरश्रेष्ठ वीरोंको वहाँ उपस्थित देख वानरशिरोमणि सुग्रीव भयसे घबरा उठे और उछलकर उस पर्वतके उच्चतम शिखरपर जा चढ़े ॥२७-२८½॥

ततः स शिखरे तस्मिन् वानरेन्द्रो व्यवस्थितः ॥ २९ ॥
तयोः समीपं मामेव प्रेषयामास सत्वरम् ।

'उस शिखरपर बैठनेके पश्चात् वानरराज सुग्रीवने मुझे ही शीघ्रतापूर्वक उन दोनों बन्धुओंके पास भेजा ॥२९½॥

तावहं पुरुषव्याघ्रौ सुग्रीववचनात् प्रभू ॥ ३० ॥
रूपलक्षणसम्पन्नौ कृताञ्जलिरुपस्थितः ।

'सुग्रीवकी आज्ञासे उन प्रभावशाली रूपवान् तथा शुभलक्षणसम्पन्न दोनों पुरुषसिंह वीरोंकी सेवामें मैं हाथ जोड़कर उपस्थित हुआ ॥३०½॥

तौ परिज्ञाततत्त्वार्थौ मया प्रीतिसमन्वितौ ॥ ३१ ॥
पृष्ठमारोप्य तं देशं प्रापितौ पुरुषर्षभौ ।

'मुझसे यथार्थ बातें जानकर उन दोनोंको बड़ी प्रसन्नता हुई। फिर मैं अपनी पीठपर चढ़ाकर उन दोनों पुरुषोत्तम बन्धुओंको उस स्थानपर ले गया (जहाँ वानरराज सुग्रीव थे) ॥३१॥

निवेदितौ च तत्त्वेन सुग्रीवाय महात्मने ॥ ३२ ॥
तयोरन्योन्यसम्भाषाद् भृशं प्रीतिरजायत ।

'वहाँ महात्मा सुग्रीवको मैंने इन दोनों बन्धुओंका यथार्थ परिचय दिया। तत्पश्चात् श्रीराम और सुग्रीवने परस्पर बातें कीं, इससे उन दोनोंमें बड़ा प्रेम हो गया ॥३२½॥

तत्र तौ कीर्तिसम्पन्नौ हरीश्वरनरेश्वरौ ॥ ३३ ॥
परस्परकृताश्वासौ कथया पूर्ववृत्तया ।

'वहाँ उन दोनों यशस्वी वानरेश्वर और नरेश्वरोंने अपने ऊपर बीती हुई पहलेकी घटनाएँ सुनायीं तथा दोनोंने दोनोंको आश्वासन दिया ॥३३½॥

तं ततः सान्त्वयामास सुग्रीवं लक्ष्मणाग्रजः ॥ ३४ ॥
स्त्रीहेतोर्वालिना भ्रात्रा निरस्तं पुरुतेजसा ।

'उस समय लक्ष्मणके बड़े भाई श्रीरघुनाथजीने स्त्रीके लिये अपने महातेजस्वी भाई वालीद्वारा घरसे निकाले हुए सुग्रीवको सान्त्वना दी ॥३४½॥

ततस्त्वन्नाशजं शोकं रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥ ३५ ॥
लक्ष्मणो वानरेन्द्राय सुग्रीवाय न्यवेदयत् ।

'तत्पश्चात् अनायास ही महान् कर्म करनेवाले भगवान् श्रीरामको आपके वियोगसे जो शोक हो रहा था, उसे लक्ष्मणने वानरराज सुग्रीवको सुनाया ॥३५½॥

स श्रुत्वा वानरेन्द्रस्तु लक्ष्मणेनेरितं वचः ॥ ३६ ॥
तदासीन्निष्प्रभोऽत्यर्थं ग्रहग्रस्त इवांशुमान् ।

'लक्ष्मणजीकी कही हुई वह बात सुनकर वानरराज सुग्रीव उस समय ग्रहग्रस्त सूर्यके समान अत्यन्त कान्तिहीन हो गये ॥३६½॥

ततस्त्वद्गात्रशोभीनि रक्षसा ह्रियमाणया ॥ ३७ ॥
यान्याभरणजालानि पातितानि महीतले ।
तानि सर्वाणि रामाय आनीय हरियूथपाः ॥ ३८ ॥
संहृष्टा दर्शयामासुर्गतिं तु न विदुस्तव ।

'तदनन्तर वानर-यूथपतियोंने आपके शरीरपर शोभा पानेवाले उन सब आभूषणोंको ले आकर बड़ी प्रसन्नताके साथ श्रीरामचन्द्रजीको दिखाया, जिन्हें आपने उस समय पृथ्वीपर गिराया था, जब कि राक्षस आपको हरकर लिये जा रहा था। वानरोंने आभूषण तो दिखाये, किंतु उन्हें आपका पता कुछ भी मालूम नहीं था ॥३७-३८½॥

तानि रामाय दत्तानि मयैवोपहृतानि च ॥ ३९ ॥
स्वनवन्त्यवकीर्णानि तस्मिन् विहतचेतसि ।
तान्यङ्के दर्शनीयानि कृत्वा बहुविधं तदा ॥ ४० ॥
तेन देवप्रकाशेन देवेन परिदेवितम् ।

'आपके द्वारा गिराये जानेपर वे सब आभूषण झन-झनकी आवाजके साथ जमीनपर गिरे और बिखर गये थे। मैं ही उन सबको बटोरकर ले आया था। उस दिन जब वे गहने श्रीरामचन्द्रजीको दिये गये, उस समय वे उन्हें अपनी गोदमें लेकर अचेत-से हो गये थे। उन दर्शनीय आभूषणोंको छातीसे लगाकर देवतुल्य आभावाले भगवान् श्रीरामने बहुत विलाप किया ॥ ३९-४०½ ॥

पश्यतस्तानि रुदतस्ताम्यतश्च पुनः पुनः ॥ ४१ ॥
प्रादीपयद् दाशरथेस्तदा शोकहुताशनम् ॥ ४२ ॥
शायितं च चिरं तेन दुःखार्तेन महात्मना।
मयापि विविधैर्वाक्यैः कृच्छ्रादुत्थापितः पुनः ॥ ४३ ॥

'उन आभूषणोंको बारंबार देखते, रोते और तिलमिला उठते थे। उस समय दशरथनन्दन श्रीरामकी शोकाग्नि प्रज्वलित हो उठी। उस दुःखसे आतुर हो वे महात्मा रघुवीर बहुत देरतक मूर्छित अवस्थामें पड़े रहे। तब मैंने नाना प्रकारके सान्त्वनापूर्ण वचन कहकर बड़ी कठिनाईसे उन्हें उठाया ॥ ४१—४३ ॥

तानि दृष्ट्वा महार्हाणि दर्शयित्वा मुहुर्मुहुः।
राघवः सहसौमित्रिः सुग्रीवे संन्यवेशयत् ॥ ४४ ॥

'लक्ष्मणसहित श्रीरघुनाथजीने उन बहुमूल्य आभूषणोंको बारंबार देखा और दिखाया। फिर वे सब सुग्रीवको दे दिये ॥ ४४ ॥

स तवादर्शनादार्ये राघवः परितप्यते।
महता ज्वलता नित्यमग्निनेवाग्निपर्वतः ॥ ४५ ॥

'आर्ये! आपको न देख पानेके कारण श्रीरघुनाथजीको बड़ा दुःख और संताप हो रहा है। जैसे ज्वालामुखी पर्वत जलती हुई बड़ी भारी आगसे सदा तपता रहता है, उसी प्रकार वे आपकी विरहाग्निसे जल रहे हैं ॥ ४५ ॥

त्वत्कृते तमनिद्रा च शोकश्चिन्ता च राघवम्।
तापयन्ति महात्मानमग्न्यगारमिवाग्नयः ॥ ४६ ॥

'आपके लिये महात्मा श्रीरघुनाथजीको अनिद्रा (निरन्तर जागरण), शोक और चिन्ता—ये तीनों उसी प्रकार संताप देते हैं, जैसे आहवनीय आदि त्रिविध अग्नियाँ अग्निशालाको तपाती रहती हैं ॥ ४६ ॥

तवादर्शनशोकेन राघवः परिचाल्यते।
महता भूमिकम्पेन महानिव शिलोच्चयः ॥ ४७ ॥

'देवि! आपको न देख पानेका शोक श्रीरघुनाथजीको उसी प्रकार विचलित कर देता है, जैसे भारी भूकम्पसे महान् पर्वत भी हिल जाता है ॥ ४७ ॥

काननानि सुरम्याणि नदीप्रस्रवणानि च।
चरन् न रतिमाप्नोति त्वामपश्यन् नृपात्मजे ॥ ४८ ॥

'राजकुमारि! आपको न देखनेके कारण रमणीय काननों, नदियों और झरनोंके पास विचरनेपर भी श्रीरामको सुख नहीं मिलता है ॥ ४८ ॥

स त्वां मनुजशार्दूलः क्षिप्रं प्राप्स्यति राघवः।
समित्रबान्धवं हत्वा रावणं जनकात्मजे ॥ ४९ ॥

'जनकनन्दिनि! पुरुषसिंह भगवान् श्रीराम रावणको उसके मित्र और बन्धु-बान्धवोंसहित मारकर शीघ्र ही आपसे मिलेंगे ॥ ४९ ॥

सहितौ रामसुग्रीवावुभावकुरुतां तदा।
समयं वालिनं हन्तुं तव चान्वेषणं प्रति ॥ ५० ॥

'उन दिनों श्रीराम और सुग्रीव जब मित्रभावसे मिले, तब दोनोंने एक-दूसरेकी सहायताके लिये प्रतिज्ञा की। श्रीरामने वालीको मारनेका और सुग्रीवने आपकी खोज करानेका वचन दिया ॥ ५० ॥

ततस्ताभ्यां कुमाराभ्यां वीराभ्यां स हरीश्वरः।
किष्किन्धां समुपागम्य वाली युद्धे निपातितः ॥ ५१ ॥

'इसके बाद उन दोनों वीर राजकुमारोंने किष्किन्धामें जाकर वानरराज वालीको युद्धमें मार गिराया ॥ ५१ ॥

ततो निहत्य तरसा रामो वालिनमाहवे।
सर्वर्क्षहरिसङ्घानां सुग्रीवमकरोत् पतिम् ॥ ५२ ॥

'युद्धमें वेगपूर्वक वालीको मारकर श्रीरामने सुग्रीवको समस्त भालुओं और वानरोंका राजा बना दिया ॥ ५२ ॥

रामसुग्रीवयोरैक्यं देव्येवं समजायत।
हनूमन्तं च मां विद्धि तयोर्दूतमुपागतम् ॥ ५३ ॥

'देवि! श्रीराम और सुग्रीवमें इस प्रकार मित्रता हुई है। मैं उन दोनोंका दूत बनकर यहाँ आया हूँ। आप मुझे हनुमान् समझें ॥ ५३ ॥

स्वं राज्यं प्राप्य सुग्रीवः स्वानानीय महाकपीन्।
त्वदर्थं प्रेषयामास दिशो दश महाबलान् ॥ ५४ ॥

'अपना राज्य पानेके अनन्तर सुग्रीवने अपने आश्रयमें रहनेवाले बड़े-बड़े बलवान् वानरोंको बुलाया और उन्हें आपकी खोजके लिये दसों दिशाओंमें भेजा ॥ ५४ ॥

आदिष्टा वानरेन्द्रेण सुग्रीवेण महौजसः।
अद्रिराजप्रतीकाशाः सर्वतः प्रस्थिता महीम् ॥ ५५ ॥

'वानरराज सुग्रीवकी आज्ञा पाकर गिरिराजके समान विशालकाय महाबली वानर पृथ्वीपर सब ओर चल दिये ॥ ५५ ॥

ततस्ते मार्गमाणा वै सुग्रीववचनातुराः।
चरन्ति वसुधां कृत्स्नां वयमन्ये च वानराः ॥ ५६ ॥

'सुग्रीवकी आज्ञासे भयभीत हो हम तथा अन्य वानर आपकी खोज करते हुए समस्त भूमण्डलमें विचर रहे हैं ॥ ५६ ॥

अङ्गदो नाम लक्ष्मीवान् वालिसूनुर्महाबलः।
प्रस्थितः कपिशार्दूलस्त्रिभागबलसंवृतः ॥ ५७ ॥

'वालीके शोभाशाली पुत्र महाबली कपिश्रेष्ठ अंगद

वानरोंकी एक तिहाई सेना साथ लेकर आपकी खोजमें निकले थे (उन्हींके दलमें मैं भी था)॥ ५७॥

तेषां नो विप्रणष्टानां विन्ध्ये पर्वतसत्तमे।
भृशं शोकपरीतानामहोरात्रगणा गताः॥ ५८॥

'पर्वतश्रेष्ठ विन्ध्यमें आकर खो जानेके कारण हमने वहाँ बड़ा कष्ट उठाया और वहीं हमारे बहुत दिन बीत गये॥ ५८॥

ते वयं कार्यनैराश्यात् कालस्यातिक्रमेण च।
भयाच्च कपिराजस्य प्राणांस्त्यक्तुमुपस्थिताः॥ ५९॥

'अब हमें कार्य-सिद्धिकी कोई आशा नहीं रह गयी और निश्चित अवधिसे भी अधिक समय बिता देनेके कारण वानरराज सुग्रीवका भी भय था, इसलिये हम सब लोग अपने प्राण त्याग देनेके लिये उद्यत हो गये॥ ५९॥

विचित्य गिरिदुर्गाणि नदीप्रस्रवणानि च।
अनासाद्य पदं देव्याः प्राणांस्त्यक्तुं व्यवस्थिताः॥ ६०॥

'पर्वतके दुर्गम स्थानोंमें, नदियोंके तटोंपर और झरनोंके आस-पासकी सारी भूमि छान डाली तो भी जब हमें देवी सीता-(आप-) के स्थानका पता न चला, तब हम प्राण त्याग देनेको तैयार हो गये॥ ६०॥

ततस्तस्य गिरेर्मूर्ध्नि वयं प्रायमुपास्महे।
दृष्ट्वा प्रायोपविष्टांश्च सर्वान् वानरपुङ्गवान्॥ ६१॥
भृशं शोकार्णवे मग्नः पर्यदेवयदङ्गदः।

'मरणान्त उपवासका निश्चय करके हम सब-के-सब उस पर्वतके शिखरपर बैठ गये। उस समय समस्त वानर-शिरोमणियोंको प्राण त्याग देनेके लिये बैठे देख कुमार अङ्गद अत्यन्त शोकके समुद्रमें डूब गये और विलाप करने लगे॥ ६१½॥

तव नाशं च वैदेहि वालिनश्च तथा वधम्॥ ६२॥
प्रायोपवेशमस्माकं मरणं च जटायुषः।

'विदेहनन्दिनि! आपका पता न लगने, वालीके मारे जाने, हमलोगोंके मरणान्त उपवास करने तथा जटायुके मरनेकी बातपर विचार करके कुमार अङ्गदको बड़ा दुःख हुआ था॥ ६२½॥

तेषां नः स्वामिसंदेशान्निराशानां मुमूर्षताम्॥ ६३॥
कार्यहेतोरिहायातः शकुनिर्वीर्यवान् महान्।
गृध्रराजस्य सोदर्यः सम्पातिर्नाम गृध्रराट्॥ ६४॥

'स्वामीके आज्ञापालनसे निराश होकर हम मरना ही चाहते थे कि दैववश हमारा कार्य सिद्ध करनेके लिये गृध्रराज जटायुके बड़े भाई सम्पाति, जो स्वयं भी गीधोंके राजा और महान् बलवान् पक्षी हैं, वहाँ आ पहुँचे॥ ६३-६४॥

श्रुत्वा भ्रातृवधं कोपादिदं वचनमब्रवीत्।
यवीयान् केन मे भ्राता हतः क्व च निपातितः॥ ६५॥
एतदाख्यातुमिच्छामि भवद्भिर्वानरोत्तमाः।

'हमारे मुँहसे अपने भाईके वधकी चर्चा सुनकर वे कुपित हो उठे और बोले—'वानरशिरोमणियो! बताओ, मेरे छोटे भाई जटायुका वध किसने किया है? वह कहाँ मारा गया है? यह सब वृत्तान्त मैं तुमलोगोंसे सुनना चाहता हूँ'॥ ६५½॥

अङ्गदोऽकथयत् तस्य जनस्थाने महद्वधम्॥ ६६॥
रक्षसा भीमरूपेण त्वामुद्दिश्य यथार्थतः।

'तब अंगदने जनस्थानमें आपकी रक्षाके उद्देश्यसे जूझते समय जटायुका उस भयानक रूपधारी राक्षसके द्वारा जो महान् वध किया गया था, वह सब प्रसंग ज्यों-का-त्यों कह सुनाया॥ ६६½॥

जटायोस्तु वधं श्रुत्वा दुःखितः सोऽरुणात्मजः॥ ६७॥
त्वामाह स वरारोहे वसन्तीं रावणालये।

'जटायुके वधका वृत्तान्त सुनकर अरुणपुत्र सम्पातिको बड़ा दुःख हुआ। वरारोहे! उन्होंने ही हमें बताया कि आप रावणके घरमें निवास कर रही हैं॥ ६७½॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सम्पातेः प्रीतिवर्धनम्॥ ६८॥
अङ्गदप्रमुखाः सर्वे ततः प्रस्थापिता वयम्।
विन्ध्यादुत्थाय सम्प्राप्ताः सागरस्यान्तमुत्तमम्॥ ६९॥
त्वद्दर्शने कृतोत्साहा हृष्टाः पुष्टाः प्लवङ्गमाः।
अङ्गदप्रमुखाः सर्वे वेलोपान्तमुपागताः॥ ७०॥

'सम्पातिका वह वचन वानरोंके लिये बड़ा हर्षवर्धक था। उसे सुनकर उन्हींके भेजनेसे अङ्गद आदि हम सभी वानर आपके दर्शनकी आशासे उत्साहित हो विन्ध्यपर्वतसे उठकर समुद्रके उत्तम तटपर आये। इस प्रकार अङ्गद आदि सभी हृष्ट-पुष्ट वानर समुद्रके किनारे आ पहुँचे॥ ६८—७०॥

चिन्तां जग्मुः पुनर्भीमां त्वद्दर्शनसमुत्सुकाः।
अथाहं हरिसैन्यस्य सागरं दृश्य सीदतः॥ ७१॥
व्यवधूय भयं तीव्रं योजनानां शतं प्लुतः।

'आपके दर्शनके लिये उत्सुक होनेपर भी सामने अपार समुद्रको देखकर सब वानर फिर भयानक चिन्तामें पड़ गये। समुद्रको देखकर वानर-सेना कष्टमें पड़ गयी है, यह जानकर मैं उन सबके तीव्र भयको दूर करता हुआ सौ योजन समुद्रको लाँघकर यहाँ आ गया॥ ७१½॥

लङ्का चापि मया रात्रौ प्रविष्टा राक्षसाकुला॥ ७२॥
रावणश्च मया दृष्टस्त्वं च शोकनिपीडिता।

'राक्षसोंसे भरी हुई लङ्कामें मैंने रातमें ही प्रवेश किया है। यहाँ आकर रावणको देखा है और शोकसे पीड़ित हुई आपका भी दर्शन किया है॥ ७२½॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं यथावृत्तमनिन्दिते॥ ७३॥
अभिभाषस्व मां देवि दूतो दाशरथेरहम्।

'सतीशिरोमणे! यह सारा वृत्तान्त मैंने ठीक-ठीक आपके सामने रखा है। देवि! मैं दशरथनन्दन

श्रीरामका दूत हूँ, अतः आप मुझसे बात कीजिये ॥७३½॥

तन्वां रामकृतोद्योगं त्वन्निमित्तमिहागतम् ॥ ७४ ॥
सुग्रीवसचिवं देवि बुद्ध्यस्व पवनात्मजम् ।

'मैंने श्रीरामचन्द्रजीके कार्यकी सिद्धिके लिये ही यह सारा उद्योग किया है और आपके दर्शनके निमित्त मैं यहाँ आया हूँ। देवि ! आप मुझे सुग्रीवका मन्त्री तथा वायुदेवताका पुत्र हनुमान् समझें ॥७४½॥

कुशली तव काकुत्स्थः सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ ७५ ॥
गुरोराराधने युक्तो लक्ष्मणः शुभलक्षणः ।
तस्य वीर्यवतो देवि भर्तुस्तव हिते रतः ॥ ७६ ॥

'देवि ! आपके पतिदेव समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामचन्द्रजी सकुशल हैं तथा बड़े भाईकी सेवामें संलग्न रहनेवाले शुभलक्षण लक्ष्मण भी प्रसन्न हैं। वे आपके उन पराक्रमी पतिदेवके हित-साधनमें ही तत्पर रहते हैं ॥ ७५-७६ ॥

अहमेकस्तु सम्प्राप्तः सुग्रीववचनादिह ।
मयेयमसहायेन चरता कामरूपिणा ॥ ७७ ॥
दक्षिणा दिगनुक्रान्ता त्वन्मार्गविचयैषिणा ।

'मैं सुग्रीवकी आज्ञासे अकेला ही यहाँ आया हूँ। इच्छानुसार रूप धारण करनेकी शक्ति रखता हूँ। आपका पता लगानेकी इच्छासे मैंने बिना किसी सहायकके अकेले ही घूम-फिरकर इस दक्षिण दिशाका अनुसंधान किया है ॥७७½॥

दिष्ट्याहं हरिसैन्यानां त्वन्नाशमनुशोचताम् ॥ ७८ ॥
अपनेष्यामि संतापं तवाधिगमशासनात् ।

'आपके विनाशकी सम्भावनासे जो निरन्तर शोकमें डूबे रहते हैं, उन वानरसैनिकोंको यह बताकर कि आप मिल गयीं, मैं उनका संताप दूर करूँगा। यह मेरे लिये बड़े हर्षकी बात होगी ॥७८½॥

दिष्ट्या हि न मम व्यर्थं सागरस्येह लङ्घनम् ॥ ७९ ॥
प्राप्स्याम्यहमिदं देवि त्वद्दर्शनकृतं यशः ।

'देवि ! मेरा समुद्रको लाँघकर यहाँतक आना व्यर्थ नहीं हुआ। सबसे पहले आपके दर्शनका यह यश मुझे ही मिलेगा। यह मेरे लिये सौभाग्यकी बात है ॥७९½॥

राघवश्च महावीर्यः क्षिप्रं त्वामभिपत्स्यते ॥ ८० ॥
सपुत्रबान्धवं हत्वा रावणं राक्षसाधिपम् ।

'महापराक्रमी श्रीरामचन्द्रजी राक्षसराज रावणको उसके पुत्र और बन्धु-बान्धवोंसहित मारकर शीघ्र ही आपसे आ मिलेंगे ॥८०½॥

माल्यवान् नाम वैदेहि गिरीणामुत्तमो गिरिः ॥ ८१ ॥
ततो गच्छति गोकर्णं पर्वतं केसरी हरिः ।
स च देवर्षिभिर्दिष्टः पिता मम महाकपिः ।
तीर्थे नदीपतेः पुण्ये शम्बसादनमुद्धरन् ॥ ८२ ॥
यस्याहं हरिणः क्षेत्रे जातो वातेन मैथिलि ।
हनूमानिति विख्यातो लोके स्वेनैव कर्मणा ॥ ८३ ॥

'विदेहनन्दिनि ! पर्वतोंमें माल्यवान् नामसे प्रसिद्ध एक उत्तम पर्वत है। वहाँ केसरी नामक वानर निवास करते थे। एक दिन वे वहाँसे गोकर्ण पर्वतपर गये। महाकपि केसरी मेरे पिता हैं। उन्होंने समुद्रके तटपर विद्यमान उस पवित्र गोकर्ण तीर्थमें देवर्षियोंकी आज्ञासे शम्बसादन नामक दैत्यका संहार किया था। मिथिलेशकुमारी ! उन्हीं कपिराज केसरीकी स्त्रीके गर्भसे वायुदेवताके द्वारा मेरा जन्म हुआ है। मैं लोकमें अपने ही कर्मद्वारा 'हनुमान्' नामसे विख्यात हूँ ॥ ८१—८३ ॥

विश्वासार्थं तु वैदेहि भर्तुरुक्ता मया गुणाः ।
अचिरात् त्वामितो देवि राघवो नयिता ध्रुवम् ॥ ८४ ॥

'विदेहनन्दिनि ! आपको विश्वास दिलानेके लिये मैंने आपके स्वामीके गुणोंका वर्णन किया है। देवि ! श्रीरघुनाथजी शीघ्र ही आपको यहाँसे ले चलेंगे—यह निश्चित बात है' ॥ ८४ ॥

एवं विश्वासिता सीता हेतुभिः शोककर्शिता ।
उपपन्नैरभिज्ञानैर्दूतं तमधिगच्छति ॥ ८५ ॥

इस प्रकार युक्तियुक्त एवं विश्वसनीय कारणों तथा पहचानके रूपमें बताये गये श्रीराम और लक्ष्मणके शारीरिक चिह्नोंद्वारा हनुमान्‌जीने शोकसे दुर्बल हुई सीताको अपना विश्वास दिलाया। तब उन्होंने हनुमान्‌जीको श्रीरामका दूत समझा ॥ ८५ ॥

अतुलं च गता हर्षं प्रहर्षेण तु जानकी ।
नेत्राभ्यां वक्रपक्ष्माभ्यां मुमोचानन्दजं जलम् ॥ ८६ ॥

उस समय जनकनन्दिनी सीताको अनुपम हर्ष प्राप्त हुआ। उस महान् हर्षके कारण वे कुटिल बरौनियोंवाले दोनों नेत्रोंसे आनन्दके आँसू बहाने लगीं ॥ ८६ ॥

चारु तद् वदनं तस्यास्ताम्रशुक्लायतेक्षणम् ।
अशोभत विशालाक्ष्या राहुमुक्त इवोडुराट् ॥ ८७ ॥

उस अवसरपर विशाललोचना सीताका मनोहर मुख, जो लाल, सफेद और बड़े-बड़े नेत्रोंसे युक्त था, राहुके ग्रहणसे मुक्त हुए चन्द्रमाके समान शोभा पा रहा था ॥ ८७ ॥

हनूमन्तं कपिं व्यक्तं मन्यते नान्यथेति सा ।
अथोवाच हनूमांस्तामुत्तरं प्रियदर्शनाम् ॥ ८८ ॥

'अब वे हनुमान्‌को वास्तविक वानर मानने लगीं। इसके विपरीत मायामय रूपधारी राक्षस नहीं। तदनन्तर हनुमान्‌जीने प्रियदर्शना सीतासे फिर कहा— ॥ ८८ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं समाश्वसिहि मैथिलि ।
किं करोमि कथं वा ते रोचते प्रतियाम्यहम् ॥ ८९ ॥

'मिथिलेशकुमारी ! इस प्रकार आपने जो कुछ पूछा था, वह सब मैंने बता दिया। अब आप धैर्य धारण करें। बताइये, मैं आपकी कैसी और क्या सेवा करूँ। इस समय

आपकी रुचि क्या है, आज्ञा हो तो अब मैं लौट जाऊँ ॥ ८९ ॥

हतेऽसुरे संयति शम्बसादने कपिप्रवीरेण महर्षिचोदनात्।
ततोऽस्मि वायुप्रभवो हि मैथिलि प्रभावतस्तत्प्रतिमश्च वानरः ॥ ९० ॥

'महर्षियोंकी प्रेरणासे कपिवर केसरीद्वारा युद्धमें शम्बसादन नामक असुरके मारे जानेपर मैंने पवनदेवताके द्वारा जन्म ग्रहण किया। अतः मैथिलि! मैं उन वायुदेवताके समान ही प्रभावशाली वानर हूँ' ॥ ९० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें पैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशः सर्गः

हनुमान्‌जीका सीताको मुद्रिका देना, सीताका 'श्रीराम कब मेरा उद्धार करेंगे' यह उत्सुक होकर पूछना तथा हनुमान्‌जीका श्रीरामके सीताविषयक प्रेमका वर्णन करके उन्हें सान्त्वना देना

भूय एव महातेजा हनूमान् पवनात्मजः।
अब्रवीत् प्रश्रितं वाक्यं सीताप्रत्ययकारणात् ॥ १ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी पवनकुमार हनुमान्‌जी सीताजीको विश्वास दिलानेके लिये पुनः विनययुक्त वचन बोले— ॥ १ ॥

वानरोऽहं महाभागे दूतो रामस्य धीमतः।
रामनामाङ्कितं चेदं पश्य देव्यङ्गुलीयकम् ॥ २ ॥

'महाभागे! मैं परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीरामका दूत वानर हूँ। देवि! यह श्रीरामनामसे अङ्कित मुद्रिका है, इसे लेकर देखिये ॥ २ ॥

प्रत्ययार्थं तवानीतं तेन दत्तं महात्मना।
समाश्वसिहि भद्रं ते क्षीणदुःखफला ह्यसि ॥ ३ ॥

'आपको विश्वास दिलानेके लिये ही मैं इसे लेता आया हूँ। महात्मा श्रीरामचन्द्रजीने स्वयं यह अंगूठी मेरे हाथमें दी थी। आपका कल्याण हो। अब आप धैर्य धारण करें। आपको जो दुःखरूपी फल मिल रहा था, वह अब समाप्त हो चला है' ॥ ३ ॥

गृहीत्वा प्रेक्षमाणा सा भर्तुः करविभूषितम्।
भर्तारमिव सम्प्राप्तं जानकी मुदिताभवत् ॥ ४ ॥

पतिके हाथको सुशोभित करनेवाली उस मुद्रिकाको लेकर सीताजी उसे ध्यानसे देखने लगीं। उस समय जानकीजीको इतनी प्रसन्नता हुई, मानो स्वयं उनके पतिदेव ही उन्हें मिल गये हों ॥ ४ ॥

चारु तद् वदनं तस्यास्ताम्रशुक्लायतेक्षणम्।
बभूव हर्षोदग्रं च राहुमुक्त इवोडुराट् ॥ ५ ॥

उनका लाल, सफेद और विशाल नेत्रोंसे युक्त मनोहर मुख हर्षसे खिल उठा, मानो चन्द्रमा राहुके ग्रहणसे मुक्त हो गया हो ॥ ५ ॥

ततः सा ह्रीमती बाला भर्तुः संदेशहर्षिता।
परितुष्टा प्रियं कृत्वा प्रशशंस महाकपिम् ॥ ६ ॥

वे लजीली विदेहबाला प्रियतमका संदेश पाकर बहुत प्रसन्न हुईं। उनके मनको बड़ा संतोष हुआ। वे महाकपि हनुमान्‌जीका आदर करके उनकी प्रशंसा करने लगीं— ॥ ६ ॥

विक्रान्तस्त्वं समर्थस्त्वं प्राज्ञस्त्वं वानरोत्तम।
येनेदं राक्षसपदं त्वयैकेन प्रधर्षितम् ॥ ७ ॥

'वानरश्रेष्ठ! तुम बड़े पराक्रमी, शक्तिशाली और बुद्धिमान् हो; क्योंकि तुमने अकेले ही इस राक्षसपुरीको पददलित कर दिया है ॥ ७ ॥

शतयोजनविस्तीर्णः सागरो मकरालयः।
विक्रमश्लाघनीयेन क्रमता गोष्पदीकृतः ॥ ८ ॥

'तुम अपने पराक्रमके कारण प्रशंसाके योग्य हो; क्योंकि तुमने मगर आदि जन्तुओंसे भरे हुए सौ योजन विस्तारवाले महासागरको लाँघते समय उसे गायकी खुरीके बराबर समझा है। इसलिये प्रशंसाके पात्र हो ॥ ८ ॥

नहि त्वां प्राकृतं मन्ये वानरं वानरर्षभ।
यस्य ते नास्ति संत्रासो रावणादपि सम्भ्रमः ॥ ९ ॥

'वानरशिरोमणे! मैं तुम्हें कोई साधारण वानर नहीं मानती हूँ; क्योंकि तुम्हारे मनमें रावण-जैसे राक्षससे भी न तो भय होता है और न घबराहट ही ॥ ९ ॥

अर्हसे च कपिश्रेष्ठ मया समभिभाषितुम्।
यद्यसि प्रेषितस्तेन रामेण विदितात्मना ॥ १० ॥

'कपिश्रेष्ठ! यदि तुम्हें आत्मज्ञानी भगवान् श्रीरामने भेजा है तो तुम अवश्य इस योग्य हो कि मैं तुमसे बातचीत करूँ ॥ १० ॥

प्रेषयिष्यति दुर्धर्षो रामो ह्यपरीक्षितम्।
पराक्रममविज्ञाय मत्सकाशं विशेषतः ॥ ११ ॥

'दुर्धर्ष वीर श्रीरामचन्द्रजी विशेषतः मेरे निकट ऐसे किसी पुरुषको नहीं भेजेंगे, जिसके पराक्रमका उन्हें ज्ञान न हो तथा जिसके शीलस्वभावकी उन्होंने परीक्षा न कर ली हो ॥ ११ ॥

दिष्ट्या च कुशली रामो धर्मात्मा सत्यसंगरः ।
लक्ष्मणश्च महातेजाः सुमित्रानन्दवर्धनः ॥ १२ ॥

'सत्यप्रतिज्ञ एवं धर्मात्मा भगवान् श्रीराम सकुशल हैं तथा सुमित्राका आनन्द बढ़ानेवाले महातेजस्वी लक्ष्मण भी स्वस्थ एवं सुखी हैं, यह जानकर मुझे बड़ा हर्ष हुआ है और यह शुभ संवाद मेरे लिये सौभाग्यका सूचक है ॥ १२ ॥

कुशली यदि काकुत्स्थः किं न सागरमेखलाम् ।
महीं दहति कोपेन युगान्ताग्निरिवोत्थितः ॥ १३ ॥

'यदि ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम सकुशल हैं तो वे प्रलयकालमें उठे हुए प्रलयंकर अग्निके समान कुपित हो समुद्रोंसे घिरी हुई सारी पृथ्वीको दग्ध क्यों नहीं कर देते हैं ? ॥ १३ ॥

अथवा शक्तिमन्तौ तौ सुराणामपि निग्रहे ।
ममैव तु न दुःखानामस्ति मन्ये विपर्ययः ॥ १४ ॥

'अथवा वे दोनों भाई देवताओंको भी दण्ड देनेकी शक्ति रखते हैं (तो भी अबतक जो चुप बैठे हैं, इसमें उनका नहीं मेरे ही भाग्यका दोष है) । मैं समझती हूँ कि अभी मेरे ही दुःखोंका अन्त नहीं आया है ॥ १४ ॥

कच्चिन्न व्यथते रामः कच्चिन्न परितप्यते ।
उत्तराणि च कार्याणि कुरुते पुरुषोत्तमः ॥ १५ ॥

'अच्छा, यह तो बताओ, पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजीके मनमें कोई व्यथा तो नहीं है ? वे संतप्त तो नहीं होते ? उन्हें आगे जो कुछ करना है, उसे वे करते हैं या नहीं ? ॥ १५ ॥

कच्चिन्न दीनः सम्भ्रान्तः कार्येषु च न मुह्यति ।
कच्चित् पुरुषकार्याणि कुरुते नृपतेः सुतः ॥ १६ ॥

'उन्हें किसी प्रकारकी दीनता या घबराहट तो नहीं है ? वे काम करते-करते मोहके वशीभूत तो नहीं हो जाते ? क्या राजकुमार श्रीराम पुरुषोचित कार्य (पुरुषार्थ) करते हैं ? ॥ १६ ॥

द्विविधं त्रिविधोपायमुपायमपि सेवते ।
विजिगीषुः सुहृत् कच्चिन्मित्रेषु च परंतपः ॥ १७ ॥

'क्या शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीराम मित्रोंके प्रति मित्रभाव रखकर साम और दानरूप दो उपायोंका ही अवलम्बन करते हैं ? तथा शत्रुओंके प्रति उन्हें जीतनेकी इच्छा रखकर दान, भेद और दण्ड—इन तीन प्रकारके उपायोंका ही आश्रय लेते हैं ? ॥ १७ ॥

कच्चिन्मित्राणि लभतेऽमित्रैश्चाप्यभिगम्यते ।
कच्चित् कल्याणमित्रश्च मित्रैश्चापि पुरस्कृतः ॥ १८ ॥

'क्या श्रीराम स्वयं प्रयत्नपूर्वक मित्रोंका संग्रह करते हैं ? क्या उनके शत्रु भी शरणागत होकर अपनी रक्षाके लिये उनके पास आते हैं ? क्या उन्होंने मित्रोंका उपकार करके उन्हें अपने लिये कल्याणकारी बना लिया है ? क्या वे कभी अपने मित्रोंसे भी उपकृत या पुरस्कृत होते हैं ? ॥ १८ ॥

कच्चिदाशास्ति देवानां प्रसादं पार्थिवात्मजः ।
कच्चित् पुरुषकारं च दैवं च प्रतिपद्यते ॥ १९ ॥

'क्या राजकुमार श्रीराम कभी देवताओंका भी कृपाप्रसाद चाहते हैं—उनकी कृपाके लिये प्रार्थना करते हैं ? क्या वे पुरुषार्थ और दैव दोनोंका आश्रय लेते हैं ? ॥ १९ ॥

कच्चिन्न विगतस्नेहो विवासान्मयि राघवः ।
कच्चिन्मां व्यसनादस्मान्मोक्षयिष्यति राघवः ॥ २० ॥

'दुर्भाग्यवश मैं उनसे दूर हो गयी हूँ। इस कारण श्रीरघुनाथजी मुझपर स्नेहहीन तो नहीं हो गये हैं ? क्या वे मुझे कभी इस संकटसे छुड़ायेंगे ? ॥ २० ॥

सुखानामुचितो नित्यमसुखानामनूचितः ।
दुःखमुत्तरमासाद्य कच्चिद् रामो न सीदति ॥ २१ ॥

'वे सदा सुख भोगनेके ही योग्य हैं, दुःख भोगनेके योग्य कदापि नहीं हैं; परंतु इन दिनों दुःख-पर-दुःख उठानेके कारण श्रीराम अधिक खिन्न और शिथिल तो नहीं हो गये हैं ? ॥ २१ ॥

कौसल्यायास्तथा कच्चित् सुमित्रायास्तथैव च ।
अभीक्ष्णं श्रूयते कच्चित् कुशलं भरतस्य च ॥ २२ ॥

'क्या उन्हें माता कौसल्या, सुमित्रा तथा भरतका कुशल-समाचार बराबर मिलता रहता है ? ॥ २२ ॥

मन्निमित्तेन मानार्हः कच्चिच्छोकेन राघवः ।
कच्चिन्नान्यमना रामः कच्चिन्मां तारयिष्यति ॥ २३ ॥

'क्या सम्माननीय श्रीरघुनाथजी मेरे लिये होनेवाले शोकसे अधिक संतप्त हैं ? वे मेरी ओरसे अन्यमनस्क तो नहीं हो गये हैं ? क्या श्रीराम मुझे इस संकटसे उबारेंगे ? ॥ २३ ॥

कच्चिदक्षौहिणीं भीमां भरतो भ्रातृवत्सलः ।
ध्वजिनीं मन्त्रिभिर्गुप्तां प्रेषयिष्यति मत्कृते ॥ २४ ॥

'क्या भाईपर अनुराग रखनेवाले भरतजी मेरे उद्धारके लिये मन्त्रियोंद्वारा सुरक्षित भयंकर अक्षौहिणी सेना भेजेंगे ? ॥ २४ ॥

वानराधिपतिः श्रीमान् सुग्रीवः कच्चिदेष्यति ।
मत्कृते हरिभिर्वीरैर्वृतो दन्तनखायुधैः ॥ २५ ॥

'क्या श्रीमान् वानरराज सुग्रीव दाँत और नखोंसे प्रहार करनेवाले वीर वानरोंको साथ ले मुझे छुड़ानेके लिये यहाँतक आनेका कष्ट करेंगे ? ॥ २५ ॥

कच्चिच्च लक्ष्मणः शूरः सुमित्रानन्दवर्धनः ।
अस्त्रविच्छरजालेन राक्षसान् विधमिष्यति ॥ २६ ॥

'क्या सुमित्राका आनन्द बढ़ानेवाले शूरवीर लक्ष्मण, जो अनेक अस्त्रोंके ज्ञाता हैं, अपने बाणोंकी बर्षासे राक्षसोंका संहार करेंगे ? ॥ २६ ॥

रौद्रेण कच्चिदस्त्रेण रामेण निहतं रणे।
द्रक्ष्याम्यल्पेन कालेन रावणं ससुहृज्जनम्॥ २७॥

'क्या मैं रावणको उसके बन्धु-बान्धवोंसहित थोड़े ही दिनोंमें श्रीरघुनाथजीके द्वारा युद्धमें भयंकर अस्त्र-शस्त्रोंसे मारा गया देखूँगी ?॥ २७॥

कच्चिन्न तद्धेमसमानवर्णं
तस्याननं पद्मसमानगन्धि।
मया विना शुष्यति शोकदीनं
जलक्षये पद्ममिवातपेन॥ २८॥

'जैसे पानी सूख जानेपर धूपसे कमल सूख जाता है, उसी प्रकार मेरे बिना शोकसे दुःखी हुआ श्रीरामका वह सुवर्णके समान कान्तिमान् और कमलके सदृश सुगन्धित मुख सूख तो नहीं गया है ?॥ २८॥

धर्मापदेशात् त्यजतः स्वराज्यं
मां चाप्यरण्यं नयतः पदातेः।
नासीद् यथा यस्य न भीर्न शोकः
कच्चित् स धैर्यं हृदये करोति॥ २९॥

'धर्मपालनके उद्देश्यसे अपने राज्यका त्याग करते और मुझे पैदल ही वनमें लाते समय जिन्हें तनिक भी भय और शोक नहीं हुआ, वे श्रीरघुनाथजी इस संकटके समय हृदयमें धैर्य तो धारण करते हैं न ?॥ २९॥

न चास्य माता न पिता न चान्यः
स्नेहाद् विशिष्टोऽस्ति मया समो वा।
तावद्ध्यहं दूत जिजीविषेयं
यावत् प्रवृत्तिं शृणुयां प्रियस्य॥ ३०॥

'दूत! उनके माता-पिता तथा अन्य कोई सम्बन्धी भी ऐसे नहीं हैं, जिन्हें उनका स्नेह मुझसे अधिक अथवा मेरे बराबर भी मिला हो। मैं तो तभीतक जीवित रहना चाहती हूँ, जबतक यहाँ आनेके सम्बन्धमें अपने प्रियतमकी प्रवृत्ति सुन रही हूँ'॥ ३०॥

इतीव देवी वचनं महार्थं
तं वानरेन्द्रं मधुरार्थमुक्त्वा।
श्रोतुं पुनस्तस्य वचोऽभिरामं
रामार्थयुक्तं विरराम रामा॥ ३१॥

देवी सीता वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌के प्रति इस प्रकार महान् अर्थसे युक्त मधुर वचन कहकर श्रीरामचन्द्रजीसे सम्बन्ध रखनेवाली उनकी मनोहर वाणी पुनः सुननेके लिये चुप हो गयीं॥ ३१॥

सीताया वचनं श्रुत्वा मारुतिर्भीमविक्रमः।
शिरस्यञ्जलिमाधाय वाक्यमुत्तरमब्रवीत्॥ ३२॥

सीताजीका वचन सुनकर भयंकर पराक्रमी पवनकुमार हनुमान् मस्तकपर अञ्जलि बाँधे उन्हें इस प्रकार उत्तर देने लगे—॥ ३२॥

न त्वामिहस्थां जानीते रामः कमललोचनः।
तेन त्वां नानयत्याशु शचीमिव पुरंदरः॥ ३३॥

'देवि! कमलनयन भगवान् श्रीरामको यह पता ही नहीं है कि आप लङ्कामें रह रही हैं। इसीलिये जैसे इन्द्र दानवोंके यहाँसे शचीको उठा ले गये, उस प्रकार वे शीघ्र यहाँसे आपको नहीं ले जा रहे हैं॥ ३३॥

श्रुत्वैव च वचो मह्यं क्षिप्रमेष्यति राघवः।
चमूं प्रकर्षन् महतीं हर्यृक्षगणसंयुताम्॥ ३४॥

'जब मैं यहाँसे लौटकर जाऊँगा, तब मेरी बात सुनते ही श्रीरघुनाथजी वानर और भालुओंकी विशाल सेना लेकर तुरंत वहाँसे चल देंगे॥ ३४॥

विष्टम्भयित्वा बाणौघैरक्षोभ्यं वरुणालयम्।
करिष्यति पुरीं लङ्कां काकुत्स्थः शान्तराक्षसाम्॥ ३५॥

'ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम अपने बाण-समूहोंद्वारा अक्षोभ्य महासागरको भी स्तब्ध करके उसपर सेतु बाँधकर लङ्कापुरीमें पहुँच जायँगे और उसे राक्षसोंसे सूनी कर देंगे॥ ३५॥

तत्र यद्यन्तरा मृत्युर्यदि देवा महासुराः।
स्थास्यन्ति पथि रामस्य स तानपि वधिष्यति॥ ३६॥

'उस समय श्रीरामके मार्गमें यदि मृत्यु, देवता अथवा बड़े-बड़े असुर भी विघ्न बनकर खड़े होंगे तो वे उन सबका भी संहार कर डालेंगे॥ ३६॥

तवादर्शनजेनार्ये शोकेन परिपूरितः।
न शर्म लभते रामः सिंहार्दित इव द्विपः॥ ३७॥

'आर्ये! आपको न देखनेके कारण उत्पन्न हुए शोकसे उनका हृदय भरा रहता है; अतः श्रीराम सिंहसे पीड़ित हुए हाथीकी भाँति क्षणभरको भी चैन नहीं पाते हैं॥ ३७॥

मन्दरेण च ते देवि शपे मूलफलेन च।
मलयेन च विन्ध्येन मेरुणा दर्दुरेण च॥ ३८॥
यथा सुनयनं वल्गु बिम्बोष्ठं चारुकुण्डलम्।
मुखं द्रक्ष्यसि रामस्य पूर्णचन्द्रमिवोदितम्॥ ३९॥

'देवि! मन्दर आदि पर्वत हमारे वासस्थान हैं और फल-मूल भोजन। अतः मैं मन्दराचल, मलय, विन्ध्य, मेरु तथा दर्दुर पर्वतकी और अपनी जीविकाके साधन फल-मूलकी सौगंध खाकर कहता हूँ कि आप शीघ्र ही श्रीरामका नवोदित पूर्ण चन्द्रमाके समान वह मनोहर मुख देखेंगी, जो सुन्दर नेत्र, बिम्बफलके समान लाल-लाल ओठ और सुन्दर कुण्डलोंसे अलंकृत एवं चित्ताकर्षक है॥ ३८-३९॥

क्षिप्रं द्रक्ष्यसि वैदेहि रामं प्रस्रवणे गिरौ।
शतक्रतुमिवासीनं नागपृष्ठस्य मूर्धनि॥ ४०॥

'विदेहनन्दिनि! ऐरावतकी पीठपर बैठे हुए देवराज

इन्द्रके समान प्रस्रवण गिरिके शिखरपर विराजमान श्रीरामका आप शीघ्र दर्शन करेंगी ॥ ४० ॥

न मांसं राघवो भुङ्क्ते न चैव मधु सेवते ।
वन्यं सुविहितं नित्यं भक्तमश्नाति पञ्चमम् ॥ ४१ ॥

'कोई भी रघुवंशी न तो मांस खाता है और न मधुका ही सेवन करता है; फिर भगवान् श्रीराम इन वस्तुओंका सेवन क्यों करते ? वे सदा चार समय उपवास करके पाँचवें समय शास्त्रविहित जंगली फल-मूल और नीवार आदि भोजन करते हैं ॥ ४१ ॥

नैव दंशान् न मशकान् न कीटान् न सरीसृपान् ।
राघवोऽपनयेद् गात्रात् त्वद्गतेनान्तरात्मना ॥ ४२ ॥

'श्रीरघुनाथजीका चित्त सदा आपमें लगा रहता है, अतः उन्हें अपने शरीरपर चढ़े हुए डाँस, मच्छर, कीड़ों और सर्पोंको हटानेकी भी सुधि नहीं रहती ॥ ४२ ॥

नित्यं ध्यानपरो रामो नित्यं शोकपरायणः ।
नान्यच्चिन्तयते किंचित् स तु कामवशं गतः ॥ ४३ ॥

'श्रीराम आपके प्रेमके वशीभूत हो सदा आपका ही ध्यान करते और निरन्तर आपके ही विरह-शोकमें डूबे रहते हैं। आपको छोड़कर दूसरी कोई बात वे सोचते ही नहीं हैं ॥ ४३ ॥

अनिद्रः सततं रामः सुप्तोऽपि च नरोत्तमः ।
सीतेति मधुरां वाणीं व्याहरन् प्रतिबुध्यते ॥ ४४ ॥

'नरश्रेष्ठ ! श्रीरामको सदा आपकी चिन्ताके कारण कभी नींद नहीं आती है। यदि कभी आँख लगी भी तो 'सीता-सीता' इस मधुर वाणीका उच्चारण करते हुए वे जल्दी ही जाग उठते हैं ॥ ४४ ॥

दृष्ट्वा फलं वा पुष्पं वा यच्चान्यत् स्त्रीमनोहरम् ।
बहुशो हा प्रियेत्येवं श्वसंस्त्वामभिभाषते ॥ ४५ ॥

'किसी फल, फूल अथवा स्त्रियोंके मनको लुभानेवाली दूसरी वस्तुको भी जब वे देखते हैं, तब लंबी साँस लेकर बारंबार 'हा प्रिये ! हा प्रिये !' कहते हुए आपको पुकारने लगते हैं ॥ ४५ ॥

स देवि नित्यं परितप्यमान-
स्त्वामेव सीतेत्यभिभाषमाणः ।
धृतव्रतो राजसुतो महात्मा
तवैव लाभाय कृतप्रयत्नः ॥ ४६ ॥

'देवि ! राजकुमार महात्मा श्रीराम आपके लिये सदा दुःखी रहते हैं, सीता-सीता कहकर आपकी ही रट लगाते हैं तथा उत्तम व्रतका पालन करते हुए आपकी ही प्राप्तिके प्रयत्नमें लगे हुए हैं' ॥ ४६ ॥

सा रामसंकीर्तनवीतशोका
रामस्य शोकेन समानशोका ।
शरन्मुखेनाम्बुदशेषचन्द्रा
निशेव वैदेहसुता बभूव ॥ ४७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी चर्चासे सीताका अपना शोक तो दूर हो गया; किंतु श्रीरामके शोककी बात सुनकर वे पुनः उन्हींके समान शोकमें निमग्न हो गयीं। उस समय विदेहनन्दिनी सीता शरद्-ऋतु आनेपर मेघोंकी घटा और चन्द्रमा—दोनोंसे युक्त (अन्धकार और प्रकाशपूर्ण) रात्रिके समान हर्ष और शोकसे युक्त प्रतीत होती थीं ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे षट्त्रिंशः सर्गः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें छत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशः सर्गः

सीताका हनुमान्‌जीसे श्रीरामको शीघ्र बुलानेका आग्रह, हनुमान्‌जीका सीतासे अपने साथ चलनेका अनुरोध तथा सीताका अस्वीकार करना

सा सीता वचनं श्रुत्वा पूर्णचन्द्रनिभानना ।
हनूमन्तमुवाचेदं धर्मार्थसहितं वचः ॥ १ ॥

हनुमान्‌जीका पूर्वोक्त वचन सुनकर पूर्णचन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाली सीताने उनसे धर्म और अर्थसे युक्त बात कही— ॥ १ ॥

अमृतं विषसम्पृक्तं त्वया वानर भाषितम् ।
यच्च नान्यमना रामो यच्च शोकपरायणः ॥ २ ॥

'वानर ! तुमने जो कहा कि श्रीरघुनाथजीका चित्त दूसरी ओर नहीं जाता और वे शोकमें डूबे रहते हैं, तुम्हारा यह कथन मुझे विषमिश्रित अमृतके समान लगा है ॥ २ ॥

ऐश्वर्ये वा सुविस्तीर्णे व्यसने वा सुदारुणे ।
रज्ज्वेव पुरुषं बद्ध्वा कृतान्तः परिकर्षति ॥ ३ ॥

'कोई बड़े भारी ऐश्वर्यमें स्थित हो अथवा अत्यन्त भयंकर विपत्तिमें पड़ा हो, काल मनुष्यको इस तरह खींच लेता है, मानो उसे रस्सीमें बाँध रखा हो ॥ ३ ॥

विधिर्नूनमसंहार्यः प्राणिनां प्लवगोत्तम ।
सौमित्रिं मां च रामं च व्यसनैः पश्य मोहितान् ॥ ४ ॥

'वानरशिरोमणे ! दैवके विधानको रोकना प्राणियोंके वशकी बात नहीं है। उदाहरणके लिये सुमित्राकुमार लक्ष्मणको, मुझको और श्रीरामको भी देख लो। हमलोग

किस तरह वियोग-दुःखसे मोहित हो रहे हैं॥ ४॥

शोकस्यास्य कथं पारं राघवोऽधिगमिष्यति।
प्लवमानः परिक्रान्तो हतनौः सागरे यथा॥ ५॥

'समुद्रमें नौकाके नष्ट हो जानेपर अपने हाथोंसे तैरनेवाले पराक्रमी पुरुषकी भाँति श्रीरघुनाथजी कैसे इस शोक-सागरसे पार होंगे?॥ ५॥

राक्षसानां वधं कृत्वा सूदयित्वा च रावणम्।
लङ्कामुन्मथितां कृत्वा कदा द्रक्ष्यति मां पतिः॥ ६॥

'राक्षसोंका वध, रावणका संहार और लङ्कापुरीका विध्वंस करके मेरे पतिदेव मुझे कब देखेंगे?॥ ६॥

स वाच्यः संत्वरस्वेति यावदेव न पूर्यते।
अयं संवत्सरः कालस्तावद्धि मम जीवितम्॥ ७॥

'तुम उनसे जाकर कहना, वे शीघ्रता करें। यह वर्ष जबतक पूरा नहीं हो जाता, तभीतक मेरा जीवन शेष है॥ ७॥

वर्तते दशमो मासो द्वौ तु शेषौ प्लवङ्गम।
रावणेन नृशंसेन समयो यः कृतो मम॥ ८॥

'वानर! यह दसवाँ महीना चल रहा है। अब वर्ष पूरा होनेमें दो ही मास शेष हैं। निर्दयी रावणने मेरे जीवनके लिये जो अवधि निश्चित की है, उसमें इतना ही समय बाकी रह गया है॥ ८॥

विभीषणेन च भ्रात्रा मम निर्यातनं प्रति।
अनुनीतः प्रयत्नेन न च तत् कुरुते मतिम्॥ ९॥

'रावणके भाई विभीषणने मुझे लौटा देनेके लिये उससे यत्नपूर्वक बड़ी अनुनय-विनय की थी, किंतु वह उनकी बात नहीं मानता है॥ ९॥

मम प्रतिप्रदानं हि रावणस्य न रोचते।
रावणं मार्गते संख्ये मृत्युः कालवशंगतम्॥ १०॥

'मेरा लौटाया जाना रावणको अच्छा नहीं लगता; क्योंकि वह कालके अधीन हो रहा है और युद्धमें मौत उसे ढूँढ़ रही है॥ १०॥

ज्येष्ठा कन्या कला नाम विभीषणसुता कपे।
तया ममैतदाख्यातं मात्रा प्रहितया स्वयम्॥ ११॥

'कपे! विभीषणकी ज्येष्ठ पुत्रीका नाम कला है। उसकी माताने स्वयं उसे मेरे पास भेजा था। उसीने ये सारी बातें मुझसे कही हैं॥ ११॥

अविन्ध्यो नाम मेधावी विद्वान् राक्षसपुङ्गवः।
धृतिमाञ्छीलवान् वृद्धो रावणस्य सुसम्मतः॥ १२॥

'अविन्ध्य नामका एक श्रेष्ठ राक्षस है, जो बड़ा ही बुद्धिमान्, विद्वान्, धीर, सुशील, वृद्ध तथा रावणका सम्मानपात्र है॥ १२॥

रामात् क्षयमनुप्राप्तं रक्षसां प्रत्यचोदयत्।
न च तस्य स दुष्टात्मा शृणोति वचनं हितम्॥ १३॥

उसने रावणको यह बताकर कि श्रीरामके हाथसे राक्षसोंके विनाशका अवसर आ पहुँचा है, मुझे लौटा देनेके लिये प्रेरित किया था, किंतु वह दुष्टात्मा उसके हितकारी वचनोंको भी नहीं सुनता है॥ १३॥

आशंसेयं हरिश्रेष्ठ क्षिप्रं मां प्राप्स्यते पतिः।
अन्तरात्मा हि मे शुद्धस्तस्मिंश्च बहवो गुणाः॥ १४॥

'कपिश्रेष्ठ! मुझे तो यह आशा हो रही है कि मेरे पतिदेव मुझसे शीघ्र ही आ मिलेंगे; क्योंकि मेरी अन्तरात्मा शुद्ध है और श्रीरघुनाथजीमें बहुत-से गुण हैं॥ १४॥

उत्साहः पौरुषं सत्त्वमानृशंस्यं कृतज्ञता।
विक्रमश्च प्रभावश्च सन्ति वानर राघवे॥ १५॥

'वानर! श्रीरामचन्द्रजीमें उत्साह, पुरुषार्थ, बल, दयालुता, कृतज्ञता, पराक्रम और प्रभाव आदि सभी गुण विद्यमान हैं॥ १५॥

चतुर्दश सहस्राणि राक्षसानां जघान यः।
जनस्थाने विना भ्रात्रा शत्रुः कस्तस्य नोद्विजेत्॥ १६॥

'जिन्होंने जनस्थानमें अपने भाईकी सहायता लिये बिना ही चौदह हजार राक्षसोंका संहार कर डाला, उनसे कौन शत्रु भयभीत न होगा?॥ १६॥

न स शक्यस्तुलयितुं व्यसनैः पुरुषर्षभः।
अहं तस्यानुभावज्ञा शक्रस्येव पुलोमजा॥ १७॥

'श्रीरामचन्द्रजी पुरुषोंमें श्रेष्ठ हैं। वे संकटोंसे तोले या विचलित किये जायँ, यह सर्वथा असम्भव है। जैसे पुलोम-कन्या शची इन्द्रके प्रभावको जानती हैं, उसी तरह मैं श्रीरघुनाथजीकी शक्ति-सामर्थ्यको अच्छी तरह जानती हूँ॥ १७॥

शरजालांशुमाञ्छूरः कपे रामदिवाकरः।
शत्रुरक्षोमयं तोयमुपशोषं नयिष्यति॥ १८॥

'कपिवर! शूरवीर भगवान् श्रीराम सूर्यके समान हैं। उनके बाणसमूह ही उनकी किरणें हैं। वे उनके द्वारा शत्रुभूत राक्षसरूपी जलको शीघ्र ही सोख लेंगे'॥ १८॥

इति संजल्पमानां तां रामार्थे शोककर्शिताम्।
अश्रुसम्पूर्णवदनामुवाच हनुमान् कपिः॥ १९॥

इतना कहते-कहते सीताके मुखपर आँसुओंकी धारा बह चली। वे श्रीरामचन्द्रजीके लिये शोकसे पीड़ित हो रही थीं। उस समय कपिवर हनुमान्‌जीने उनसे कहा—॥ १९॥

श्रुत्वैव च वचो मह्यं क्षिप्रमेष्यति राघवः।
चमूं प्रकर्षन् महतीं हर्यृक्षगणसंकुलाम्॥ २०॥

'देवि! आप धैर्य धारण करें। मेरा वचन सुनते ही श्रीरघुनाथजी वानर और भालुओंकी विशाल सेना लेकर शीघ्र यहाँके लिये प्रस्थान कर देंगे॥ २०॥

अथवा मोचयिष्यामि त्वामद्यैव सराक्षसात्।
अस्माद् दुःखादुपारोह मम पृष्ठमनिन्दिते॥ २१॥

'अथवा मैं अभी आपको इस राक्षसजनित दुःखसे

छुटकारा दिला दूँगा। सती-साध्वी देवि! आप मेरी पीठपर बैठ जाइये॥ २१॥

त्वां तु पृष्ठगतां कृत्वा संतरिष्यामि सागरम्।
शक्तिरस्ति हि मे वोढुं लङ्कामपि सरावणाम्॥ २२॥

'आपको पीठपर बैठाकर मैं समुद्रको लाँघ जाऊँगा। मुझमें रावणसहित सारी लङ्काको भी ढो ले जानेकी शक्ति है॥ २२॥

अहं प्रस्रवणस्थाय राघवायाद्य मैथिलि।
प्रापयिष्यामि शक्राय हव्यं हुतमिवानलः॥ २३॥

'मिथिलेशकुमारी! रघुनाथजी प्रस्रवणगिरिपर रहते हैं। मैं आज ही आपको उनके पास पहुँचा दूँगा। ठीक उसी तरह, जैसे अग्निदेव हवन किये गये हविष्यको इन्द्रकी सेवामें ले जाते हैं॥ २३॥

द्रक्ष्यस्यद्यैव वैदेहि राघवं सहलक्ष्मणम्।
व्यवसायसमायुक्तं विष्णुं दैत्यवधे यथा॥ २४॥

'विदेहनन्दिनि! दैत्योंके वधके लिये उत्साह रखनेवाले भगवान् विष्णुकी भाँति राक्षसोंके संहारके लिये सचेष्ट हुए श्रीराम और लक्ष्मणका आप आज ही दर्शन करेंगी॥ २४॥

त्वद्दर्शनकृतोत्साहमाश्रमस्थं महाबलम्।
पुरंदरमिवासीनं नगराजस्य मूर्धनि॥ २५॥

'आपके दर्शनका उत्साह मनमें लिये महाबली श्रीराम पर्वत-शिखरपर अपने आश्रममें उसी प्रकार बैठे हैं, जैसे देवराज इन्द्र गजराज ऐरावतकी पीठपर विराजमान होते हैं॥ २५॥

पृष्ठमारोह मे देवि मा विकाङ्क्षस्व शोभने।
योगमन्विच्छ रामेण शशाङ्केनेव रोहिणी॥ २६॥

'देवि! आप मेरी पीठपर बैठिये। शोभने! मेरे कथनकी उपेक्षा न कीजिये। चन्द्रमासे मिलनेवाली रोहिणीकी भाँति आप श्रीरामचन्द्रजीके साथ मिलनेका निश्चय कीजिये॥ २६॥

कथयन्तीव शशिना संगमिष्यसि रोहिणी।
मत्पृष्ठमधिरोह त्वं तराकाशं महार्णवम्॥ २७॥

'मुझे भगवान् श्रीरामसे मिलना है, इतना कहते ही आप चन्द्रमासे रोहिणीकी भाँति श्रीरघुनाथजीसे मिल जायँगी। आप मेरी पीठपर आरूढ़ होइये और आकाशमार्गसे ही महासागरको पार कीजिये॥ २७॥

नहि मे सम्प्रयातस्य त्वामितो नयतोऽङ्गने।
अनुगन्तुं गतिं शक्ताः सर्वे लङ्कानिवासिनः॥ २८॥

'कल्याणि! मैं आपको लेकर जब यहाँसे चलूँगा, उस समय समूचे लङ्का-निवासी मिलकर भी मेरा पीछा नहीं कर सकते॥ २८॥

यथैवाहमिह प्राप्तस्तथैवाहमसंशयम्।
यास्यामि पश्य वैदेहि त्वामुद्यम्य विहायसम्॥ २९॥

'विदेहनन्दिनि! जिस प्रकार मैं यहाँ आया हूँ, उसी तरह आपको लेकर आकाशमार्गसे चला जाऊँगा, इसमें संदेह नहीं है। आप मेरा पराक्रम देखिये'॥ २९॥

मैथिली तु हरिश्रेष्ठाच्छ्रुत्वा वचनमद्भुतम्।
हर्षविस्मितसर्वाङ्गी हनूमन्तमथाब्रवीत्॥ ३०॥

वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌के मुखसे यह अद्भुत वचन सुनकर मिथिलेशकुमारी सीताके सारे शरीरमें हर्ष और विस्मयके कारण रोमाञ्च हो आया। उन्होंने हनुमान्‌जीसे कहा—॥ ३०॥

हनूमन् दूरमध्वानं कथं मां नेतुमिच्छसि।
तदेव खलु ते मन्ये कपित्वं हरियूथप॥ ३१॥

'वानरयूथपति हनुमान्! तुम इतने दूरके मार्गपर मुझे कैसे ले चलना चाहते हो? तुम्हारे इस दुःसाहसको मैं वानरोचित चपलता ही समझती हूँ॥ ३१॥

कथं चाल्पशरीरस्त्वं मामितो नेतुमिच्छसि।
सकाशं मानवेन्द्रस्य भर्तुर्मे प्लवगर्षभ॥ ३२॥

'वानरशिरोमणे! तुम्हारा शरीर तो बहुत छोटा है। फिर तुम मुझे मेरे स्वामी महाराज श्रीरामके पास ले जानेकी इच्छा कैसे करते हो?'॥ ३२॥

सीतायास्तु वचः श्रुत्वा हनूमान् मारुतात्मजः।
चिन्तयामास लक्ष्मीवान् नवं परिभवं कृतम्॥ ३३॥

सीताजीकी यह बात सुनकर शोभाशाली पवनकुमार हनुमान्‌ने इसे अपने लिये नया तिरस्कार ही माना॥ ३३॥

न मे जानाति सत्त्वं वा प्रभावं वासितेक्षणा।
तस्मात् पश्यतु वैदेही यद् रूपं मम कामतः॥ ३४॥

वे सोचने लगे—'कजरारे नेत्रोंवाली विदेहनन्दिनी सीता मेरे बल और प्रभावको नहीं जानतीं। इसलिये आज मेरे उस रूपको, जिसे मैं इच्छानुसार धारण कर लेता हूँ, ये देख लें'॥ ३४॥

इति संचिन्त्य हनुमांस्तदा प्लवगसत्तमः।
दर्शयामास सीतायाः स्वरूपमरिमर्दनः॥ ३५॥

ऐसा विचार करके शत्रुमर्दन वानरशिरोमणि हनुमान्‌ने उस समय सीताको अपना स्वरूप दिखाया॥ ३५॥

स तस्मात् पादपाद् धीमानाप्लुत्य प्लवगर्षभः।
ततो वर्धितुमारेभे सीताप्रत्ययकारणात्॥ ३६॥

वे बुद्धिमान् कपिवर उस वृक्षसे नीचे कूद पड़े और सीताजीको विश्वास दिलानेके लिये बढ़ने लगे॥ ३६॥

मेरुमन्दरसंकाशो बभौ दीप्तानलप्रभः।
अग्रतो व्यवतस्थे च सीताया वानरर्षभः॥ ३७॥

बात-की-बातमें उनका शरीर मेरुपर्वतके समान ऊँचा हो गया। वे प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी प्रतीत होने लगे। इस तरह विशाल रूप धारण करके वे वानरश्रेष्ठ हनुमान् सीताजीके सामने खड़े हो गये॥ ३७॥

हरिः पर्वतसंकाशस्ताम्रवक्त्रो महाबलः।
वज्रदंष्ट्रनखो भीमो वैदेहीमिदमब्रवीत्॥ ३८॥

तत्पश्चात् पर्वतके समान विशालकाय, ताँबेके समान लाल मुख तथा वज्रके समान दाढ़ और नखवाले भयानक महाबली वानरवीर हनुमान् विदेहनन्दिनीसे इस प्रकार बोले— ॥ ३८॥

सपर्वतवनोद्देशां साट्टप्राकारतोरणाम्।
लङ्कामिमां सनाथां वा नयितुं शक्तिरस्ति मे॥ ३९॥

'देवि! मुझमें पर्वत, वन, अट्टालिका, चहारदिवारी और नगरद्वारसहित इस लङ्कापुरीको रावणके साथ ही उठा ले जानेकी शक्ति है॥ ३९॥

तदवस्थाप्यतां बुद्धिरलं देवि विकाङ्क्षया।
विशोकं कुरु वैदेहि राघवं सहलक्ष्मणम्॥ ४०॥

'अतः आप मेरे साथ चलनेका निश्चय कर लीजिये। आपकी आशङ्का व्यर्थ है। देवि! विदेहनन्दिनि! आप मेरे साथ चलकर लक्ष्मणसहित श्रीरघुनाथजीका शोक दूर कीजिये'॥ ४०॥

तं दृष्ट्वाचलसंकाशमुवाच जनकात्मजा।
पद्मपत्रविशालाक्षी मारुतस्यौरसं सुतम्॥ ४१॥

वायुके औरस पुत्र हनुमान्‌जीको पर्वतके समान विशाल शरीर धारण किये देख प्रफुल्ल कमलदलके समान बड़े-बड़े नेत्रोंवाली जनककिशोरीने उनसे कहा— ॥ ४१॥

तव सत्त्वं बलं चैव विजानामि महाकपे।
वायोरिव गतिश्चापि तेजश्चाग्नेरिवाद्भुतम्॥ ४२॥

'महाकपे! मैं तुम्हारी शक्ति और पराक्रमको जानती हूँ। वायुके समान तुम्हारी गति और अग्निके समान तुम्हारा अद्भुत तेज है॥ ४२॥

प्राकृतोऽन्यः कथं चेमां भूमिमागन्तुमर्हति।
उदधेरप्रमेयस्य पारं वानरयूथप॥ ४३॥

'वानरयूथपते! दूसरा कोई साधारण वानर अपार महासागरके पारकी इस भूमिमें कैसे आ सकता है?॥ ४३॥

जानामि गमने शक्तिं नयने चापि ते मम।
अवश्यं सम्प्रधार्याशु कार्यसिद्धिरिवात्मनः॥ ४४॥

'मैं जानती हूँ तुम समुद्र पार करने और मुझे ले जानेमें भी समर्थ हो, तथापि तुम्हारी तरह मुझे भी अपनी कार्यसिद्धिके विषयमें अवश्य भलीभाँति विचार कर लेना चाहिये॥ ४४॥

अयुक्तं तु कपिश्रेष्ठ मया गन्तुं त्वया सह।
वायुवेगसवेगस्य वेगो मां मोहयेत् तव॥ ४५॥

'कपिश्रेष्ठ! तुम्हारे साथ मेरा जाना किसी भी दृष्टिसे उचित नहीं है; क्योंकि तुम्हारा वेग वायुके वेगके समान तीव्र है। जाते समय यह वेग मुझे मूर्छित कर सकता है॥ ४५॥

अहमाकाशमासक्ता उपर्युपरि सागरम्।
प्रपतेयं हि ते पृष्ठाद् भूयो वेगेन गच्छतः॥ ४६॥

'मैं समुद्रके ऊपर-ऊपर आकाशमें पहुँच जानेपर अधिक वेगसे चलते हुए तुम्हारे पृष्ठभागसे नीचे गिर सकती हूँ॥ ४६॥

पतिता सागरे चाहं तिमिनक्रझषाकुले।
भवेयमाशु विवशा यादसामन्नमुत्तमम्॥ ४७॥

'इस तरह समुद्रमें, जो तिमि नामक बड़े-बड़े मत्स्यों, नाकों और मछलियोंसे भरा हुआ है, गिरकर विवश हो मैं शीघ्र ही जल-जन्तुओंका उत्तम आहार बन जाऊँगी॥ ४७॥

न च शक्ष्ये त्वया सार्धं गन्तुं शत्रुविनाशन।
कलत्रवति संदेहस्त्वयि स्यादप्यसंशयम्॥ ४८॥

'इसलिये शत्रुनाशन वीर! मैं तुम्हारे साथ नहीं चल सकूँगी। एक स्त्रीको साथ लेकर जब तुम जाने लगोगे, उस समय राक्षसोंको तुमपर संदेह होगा, इसमें संशय नहीं है॥ ४८॥

ह्रियमाणां तु मां दृष्ट्वा राक्षसा भीमविक्रमाः।
अनुगच्छेयुरादिष्टा रावणेन दुरात्मना॥ ४९॥

'मुझे हरकर ले जायी जाती देख दुरात्मा रावणकी आज्ञासे भयंकर पराक्रमी राक्षस तुम्हारा पीछा करेंगे॥ ४९॥

तैस्त्वं परिवृतः शूरैः शूलमुद्गरपाणिभिः।
भवेस्त्वं संशयं प्राप्तो मया वीर कलत्रवान्॥ ५०॥

'वीर! उस समय मुझ-जैसी रक्षणीया अबलाके साथ होनेके कारण तुम हाथोंमें शूल और मुद्गर धारण करनेवाले उन शौर्यशाली राक्षसोंसे घिरकर प्राणसंशयकी अवस्थामें पहुँच जाओगे॥ ५०॥

सायुधा बहवो व्योम्नि राक्षसास्त्वं निरायुधः।
कथं शक्ष्यसि संयातुं मां चैव परिरक्षितुम्॥ ५१॥

'आकाशमें अस्त्र-शस्त्रधारी बहुत-से राक्षस तुमपर आक्रमण करेंगे और तुम्हारे हाथमें कोई भी अस्त्र न होगा। उस दशामें तुम उन सबके साथ युद्ध और मेरी रक्षा दोनों कार्य कैसे कर सकोगे?॥ ५१॥

युध्यमानस्य रक्षोभिस्ततस्तैः क्रूरकर्मभिः।
प्रपतेयं हि ते पृष्ठाद् भयार्ता कपिसत्तम॥ ५२॥

'कपिश्रेष्ठ! उन क्रूरकर्मा राक्षसोंके साथ जब तुम युद्ध करने लगोगे, उस समय मैं भयसे पीड़ित होकर तुम्हारी पीठसे अवश्य ही गिर जाऊँगी॥ ५२॥

अथ रक्षांसि भीमानि महान्ति बलवन्ति च।
कथंचित् साम्पराये त्वां जयेयुः कपिसत्तम॥ ५३॥
अथवा युध्यमानस्य पतेयं विमुखस्य ते।
पतितां च गृहीत्वा मां नयेयुः पापराक्षसाः॥ ५४॥

'कपिश्रेष्ठ ! यदि कहीं वे महान् बलवान् भयानक राक्षस किसी तरह तुम्हें युद्धमें जीत लें अथवा युद्ध करते समय मेरी रक्षाकी ओर तुम्हारा ध्यान न रहनेसे यदि मैं गिर गयी तो वे पापी राक्षस मुझ गिरी हुई अबलाको फिर पकड़ ले जायँगे ॥ ५३-५४ ॥

मां वा हरेयुस्त्वद्धस्ताद् विशसेयुरथापि वा ।
अनवस्थौ हि दृश्येते युद्धे जयपराजयौ ॥ ५५ ॥

'अथवा यह भी सम्भव है कि वे निशाचर मुझे तुम्हारे हाथसे छीन ले जायँ या मेरा वध ही कर डालें; क्योंकि युद्धमें विजय और पराजयको अनिश्चित ही देखा जाता है ॥ ५५ ॥

अहं वापि विपद्येयं रक्षोभिरभितर्जिता ।
त्वत्प्रयत्नो हरिश्रेष्ठ भवेन्निष्फल एव तु ॥ ५६ ॥

'अथवा वानरशिरोमणे ! यदि राक्षसोंकी अधिक डाँट पड़नेपर मेरे प्राण निकल गये तो फिर तुम्हारा यह सारा प्रयत्न निष्फल ही हो जायगा ॥ ५६ ॥

कामं त्वमपि पर्याप्तो निहन्तुं सर्वराक्षसान् ।
राघवस्य यशो हीयेत् त्वया शस्तैस्तु राक्षसैः ॥ ५७ ॥

'यद्यपि तुम भी सम्पूर्ण राक्षसोंका संहार करनेमें समर्थ हो तथापि तुम्हारे द्वारा राक्षसोंका वध हो जानेपर श्रीरघुनाथजीके सुयशमें बाधा आयेगी (लोग यही कहेंगे कि श्रीराम स्वयं कुछ भी न कर सके) ॥ ५७ ॥

अथवाऽऽदाय रक्षांसि न्यसेयुः संवृते हि माम् ।
यत्र ते नाभिजानीयुर्हरयो नापि राघवः ॥ ५८ ॥

'अथवा यह भी सम्भव है कि राक्षसलोग मुझे ले जाकर किसी ऐसे गुप्त स्थानमें रख दें, जहाँ न तो वानरोंको मेरा पता लगे और न श्रीरघुनाथजीको ही ॥ ५८ ॥

आरम्भस्तु मदर्थोऽयं ततस्तव निरर्थकः ।
त्वया हि सह रामस्य महानागमने गुणः ॥ ५९ ॥

'यदि ऐसा हुआ तो मेरे लिये किया गया तुम्हारा यह सारा उद्योग व्यर्थ हो जायगा। यदि तुम्हारे साथ श्रीरामचन्द्रजी यहाँ पधारें तो उनके आनेसे बहुत बड़ा लाभ होगा ॥ ५९ ॥

मयि जीवितमायत्तं राघवस्यामितौजसः ।
भ्रातॄणां च महाबाहो तव राजकुलस्य च ॥ ६० ॥

'महाबाहो ! अमित पराक्रमी श्रीरघुनाथजीका, उनके भाइयोंका, तुम्हारा तथा वानरराज सुग्रीवके कुलका जीवन मुझपर ही निर्भर है ॥ ६० ॥

तौ निराशौ मदर्थं च शोकसंतापकर्शितौ ।
सह सर्वर्क्षहरिभिस्त्यक्ष्यतः प्राणसंग्रहम् ॥ ६१ ॥

'शोक और संतापसे पीड़ित हुए वे दोनों भाई जब मेरी प्राप्तिकी ओरसे निराश हो जायँगे, तब सम्पूर्ण रीछों और वानरोंके साथ अपने प्राणोंका परित्याग कर देंगे ॥ ६१ ॥

भर्तुर्भक्तिं पुरस्कृत्य रामादन्यस्य वानर ।
नाहं स्प्रष्टुं स्वतो गात्रमिच्छेयं वानरोत्तम ॥ ६२ ॥

'वानरश्रेष्ठ ! (तुम्हारे साथ न चल सकनेका एक प्रधान कारण और भी है—) वानरवीर ! पतिभक्तिकी ओर दृष्टि रखकर मैं भगवान् श्रीरामके सिवा दूसरे किसी पुरुषके शरीरका स्वेच्छासे स्पर्श करना नहीं चाहती ॥ ६२ ॥

यदहं गात्रसंस्पर्शं रावणस्य गता बलात् ।
अनीशा किं करिष्यामि विनाथा विवशा सती ॥ ६३ ॥

'रावणके शरीरसे जो मेरा स्पर्श हो गया है, वह तो उसके बलात् हुआ है। उस समय मैं असमर्थ, अनाथ और बेबस थी, क्या करती ॥ ६३ ॥

यदि रामो दशग्रीवमिह हत्वा सराक्षसम् ।
मामितो गृह्य गच्छेत तत् तस्य सदृशं भवेत् ॥ ६४ ॥

'यदि श्रीरघुनाथजी यहाँ राक्षसोंसहित दशमुख रावणका वध करके मुझे यहाँसे ले चलें तो वह उनके योग्य कार्य होगा ॥ ६४ ॥

श्रुताश्च दृष्टा हि मया पराक्रमा
महात्मनस्तस्य रणावमर्दिनः ।
न देवगन्धर्वभुजङ्गराक्षसा
भवन्ति रामेण समा हि संयुगे ॥ ६५ ॥

'मैंने युद्धमें शत्रुओंका मर्दन करनेवाले महात्मा श्रीरामके पराक्रम अनेक बार देखे और सुने हैं। देवता, गन्धर्व, नाग और राक्षस सब मिलकर भी संग्राममें उनकी समानता नहीं कर सकते ॥ ६५ ॥

समीक्ष्य तं संयति चित्रकार्मुकं
महाबलं वासवतुल्यविक्रमम् ।
सलक्ष्मणं को विषहेत राघवं
हुताशनं दीप्तमिवानिलेरितम् ॥ ६६ ॥

'युद्धस्थलमें विचित्र धनुष धारण करनेवाले इन्द्रतुल्य पराक्रमी महाबली श्रीरघुनाथजी लक्ष्मणके साथ रह वायुका सहारा पाकर प्रज्वलित हुए अग्निकी भाँति उद्दीप्त हो उठते हैं। उस समय उन्हें देखकर उनका वेग कौन सह सकता है ? ॥ ६६ ॥

सलक्ष्मणं राघवमाजिमर्दनं
दिशागजं मत्तमिव व्यवस्थितम् ।
सहेत को वानरमुख्य संयुगे
युगान्तसूर्यप्रतिमं शरार्चिषम् ॥ ६७ ॥

'वानरशिरोमणे ! समराङ्गणमें अपने बाणरूपी तेजसे प्रलयकालीन सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाले और मतवाले दिग्गजकी भाँति खड़े हुए रणमर्दन श्रीराम और लक्ष्मणका सामना कौन कर सकता है ? ॥ ६७ ॥

स मे कपिश्रेष्ठ सलक्ष्मणं प्रियं
सयूथपं क्षिप्रमिहोपपादय ।
चिराय रामं प्रति शोककर्शितां
कुरुष्व मां वानरवीर हर्षिताम् ॥ ६८ ॥

'इसलिये कपिश्रेष्ठ! वानरवीर! तुम प्रयत्न करके यूथपति सुग्रीव और लक्ष्मणसहित मेरे प्रियतम श्रीरामचन्द्रजीको शीघ्र यहाँ बुला ले आओ। मैं श्रीरामके लिये चिरकालसे शोकाकुल हो रही हूँ। तुम उनके शुभागमनसे मुझे हर्ष प्रदान करो' ॥ ६८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें सैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टात्रिंशः सर्गः

सीताजीका हनुमान्‌जीको पहचानके रूपमें चित्रकूट पर्वतपर घटित हुए एक कौएके प्रसंगको सुनाना, भगवान् श्रीरामको शीघ्र बुला लानेके लिये अनुरोध करना और चूड़ामणि देना

ततः स कपिशार्दूलस्तेन वाक्येन तोषितः।
सीतामुवाच तच्छ्रुत्वा वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ १ ॥

सीताके इस वचनसे कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌जीको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे बातचीतमें कुशल थे। उन्होंने पूर्वोक्त बातें सुनकर सीतासे कहा— ॥ १ ॥

युक्तरूपं त्वया देवि भाषितं शुभदर्शने।
सदृशं स्त्रीस्वभावस्य साध्वीनां विनयस्य च ॥ २ ॥

'देवि! आपका कहना बिलकुल ठीक और युक्तिसंगत है। शुभदर्शने! आपकी यह बात नारी-स्वभावके तथा पतिव्रताओंकी विनयशीलताके अनुरूप है ॥ २ ॥

स्त्रीत्वान्न त्वं समर्थासि सागरं व्यतिवर्तितुम्।
मामधिष्ठाय विस्तीर्णं शतयोजनमायतम् ॥ ३ ॥

'इसमें संदेह नहीं कि आप अबला होनेके कारण मेरी पीठपर बैठकर सौ योजन विस्तृत समुद्रके पार जानेमें समर्थ नहीं हैं ॥ ३ ॥

द्वितीयं कारणं यच्च ब्रवीषि विनयान्विते।
रामादन्यस्य नार्हामि संसर्गमिति जानकि ॥ ४ ॥
एतत् ते देवि सदृशं पत्न्यास्तस्य महात्मनः।
का ह्यन्या त्वामृते देवि ब्रूयाद् वचनमीदृशम् ॥ ५ ॥

'जनकनन्दिनि! आपने जो दूसरा कारण बताते हुए कहा है कि मेरे लिये श्रीरामचन्द्रजीके सिवा दूसरे किसी पुरुषका स्वेच्छापूर्वक स्पर्श करना उचित नहीं है, यह आपके ही योग्य है। देवि! महात्मा श्रीरामकी धर्मपत्नीके मुखसे ऐसी बात निकल सकती है। आपको छोड़कर दूसरी कौन स्त्री ऐसा वचन कह सकती है ॥ ४-५ ॥

श्रोष्यते चैव काकुत्स्थः सर्वं निरवशेषतः।
चेष्टितं यत् त्वया देवि भाषितं च ममाग्रतः ॥ ६ ॥

'देवि! मेरे सामने आपने जो-जो पवित्र चेष्टाएँ कीं और जो-जैसी उत्तम बातें कही हैं, वे सब पूर्णरूपसे श्रीरामचन्द्रजी मुझसे सुनेंगे ॥ ६ ॥

कारणैर्बहुभिर्देवि रामप्रियचिकीर्षया।
स्नेहप्रस्कन्नमनसा मयैतत् समुदीरितम् ॥ ७ ॥

'देवि! मैंने जो आपको अपने साथ ले जानेका आग्रह किया, उसके बहुत-से कारण हैं। एक तो मैं श्रीरामचन्द्रजीका शीघ्र ही प्रिय करना चाहता था। अतः स्नेहपूर्ण हृदयसे ही मैंने ऐसी बात कही है ॥ ७ ॥

लङ्काया दुष्प्रवेशत्वाद् दुस्तरत्वान्महोदधेः।
सामर्थ्यादात्मनश्चैव मयैतत् समुदीरितम् ॥ ८ ॥

'दूसरा कारण यह है कि लङ्कामें प्रवेश करना सबके लिये अत्यन्त कठिन है। तीसरा कारण है, महासागरको पार करनेकी कठिनाई। इन सब कारणोंसे तथा अपनेमें आपको ले जानेकी शक्ति होनेसे मैंने ऐसा प्रस्ताव किया था ॥ ८ ॥

इच्छामि त्वां समानेतुमद्यैव रघुनन्दिना।
गुरुस्नेहेन भक्त्या च नान्यथा तदुदाहृतम् ॥ ९ ॥

'मैं आज ही आपको श्रीरघुनाथजीसे मिला देना चाहता था। अतः अपने परमाराध्य गुरु श्रीरामके प्रति स्नेह और आपके प्रति भक्तिके कारण ही मैंने ऐसी बात कही थी किसी और उद्देश्यसे नहीं ॥ ९ ॥

यदि नोत्सहसे यातुं मया सार्धमनिन्दिते।
अभिज्ञानं प्रयच्छ त्वं जानीयाद् राघवो हि यत् ॥ १० ॥

'किंतु सती-साध्वी देवि! यदि आपके मनमें मेरे साथ चलनेका उत्साह नहीं है तो आप अपनी कोई पहचान ही दे दीजिये, जिससे श्रीरामचन्द्रजी यह जान लें कि मैंने आपका दर्शन किया है' ॥ १० ॥

एवमुक्ता हनुमता सीता सुरसुतोपमा।
उवाच वचनं मन्दं बाष्पप्रग्रथिताक्षरम् ॥ ११ ॥

हनुमान्‌जीके ऐसा कहनेपर देवकन्याके समान तेजस्विनी सीता अश्रुगद्गदवाणीमें धीरे-धीरे इस प्रकार बोलीं— ॥ ११ ॥

इदं श्रेष्ठमभिज्ञानं ब्रूयास्त्वं तु मम प्रियम्।
शैलस्य चित्रकूटस्य पादे पूर्वोत्तरे पदे ॥ १२ ॥

तापसाश्रमवासिन्याः प्राज्यमूलफलोदके।
तस्मिन् सिद्धाश्रिते देशे मन्दाकिन्यविदूरतः॥ १३॥
तस्योपवनखण्डेषु नानापुष्पसुगन्धिषु।
विहृत्य सलिले क्लिन्नो ममाङ्के समुपाविशः॥ १४॥

'वानरश्रेष्ठ! तुम मेरे प्रियतमसे यह उत्तम पहचान बताना—'नाथ! चित्रकूट पर्वतके उत्तर-पूर्ववाले भागपर, जो मन्दाकिनी नदीके समीप है तथा जहाँ फल-मूल और जलकी अधिकता है, उस सिद्धसेवित प्रदेशमें तापसाश्रमके भीतर जब मैं निवास करती थी, उन्हीं दिनों नाना प्रकारके फूलोंकी सुगन्धसे वासित उस आश्रमके उपवनोंमें जलविहार करके आप भीगे हुए आये और मेरी गोदमें बैठ गये॥ १२—१४॥

ततो मांससमायुक्तो वायसः पर्यतुण्डयत्।
तमहं लोष्टमुद्यम्य वारयामि स्म वायसम्॥ १५॥
दारयन् स च मां काकस्तत्रैव परिलीयते।
न चाप्युपारमन्मांसाद् भक्षार्थी बलिभोजनः॥ १६॥

'तदनन्तर (किसी दूसरे समय) एक मांसलोलुप कौआ आकर मुझपर चोंच मारने लगा। मैंने ढेला उठाकर उसे हटानेकी चेष्टा की, परंतु मुझे बार-बार चोंच मारकर वह कौआ वहीं कहीं छिप जाता था। उस बलिभोजी कौएको खानेकी इच्छा थी, इसलिये वह मेरा मांस नोचनेसे निवृत्त नहीं होता था॥ १५-१६॥

उत्कर्षन्त्यां च रशनां क्रुद्धायां मयि पक्षिणे।
स्रंसमाने च वसने ततो दृष्टा त्वया ह्यहम्॥ १७॥

'मैं उस पक्षीपर बहुत कुपित थी। अतः अपने लहँगेको दृढ़तापूर्वक कसनेके लिये कटिसूत्र (नारे) को खींचने लगी। उस समय मेरा वस्त्र कुछ नीचे खिसक गया और उसी अवस्थामें आपने मुझे देख लिया॥ १७॥

त्वया विहसिता चाहं क्रुद्धा संलज्जिता तदा।
भक्ष्यगृद्धेन काकेन दारिता त्वामुपागता॥ १८॥

'देखकर आपने मेरी हँसी उड़ायी। इससे मैं पहले तो कुपित हुई और फिर लज्जित हो गयी। इतनेहीमें उस भक्ष्य-लोलुप कौएने फिर चोंच मारकर मुझे क्षत-विक्षत कर दिया और उसी अवस्थामें मैं आपके पास आयी॥ १८॥

ततः श्रान्ताहमुत्सङ्गमासीनस्य तवाविशम्।
क्रुध्यन्तीव प्रहृष्टेन त्वयाहं परिसान्त्विता॥ १९॥

'आप वहाँ बैठे हुए थे। मैं उस कौएकी हरकतसे तंग आ गयी थी। अतः थककर आपकी गोदमें आ बैठी। उस समय मैं कुपित-सी हो रही थी और आपने प्रसन्न होकर मुझे सान्त्वना दी॥ १९॥

बाष्पपूर्णमुखी मन्दं चक्षुषी परिमार्जती।
लक्षिताहं त्वया नाथ वायसेन प्रकोपिता॥ २०॥

'नाथ! कौएने मुझे कुपित कर दिया था। मेरे मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही थी और मैं धीरे-धीरे आँखें पोंछ रही थी। आपने मेरी उस अवस्थाको लक्ष्य किया'॥ २०॥

परिश्रमाच्च सुप्ता हे राघवाङ्केऽस्म्यहं चिरम्।
पर्यायेण प्रसुप्तश्च ममाङ्के भरताग्रजः॥ २१॥

'हनुमान्! मैं थक जानेके कारण उस दिन बहुत देरतक श्रीरघुनाथजीकी गोदमें सोयी रही। फिर उनकी बारी आयी और वे भरतके बड़े भाई मेरी गोदमें सिर रखकर सो रहे॥ २१॥

स तत्र पुनरेवाथ वायसः समुपागमत्।
ततः सुप्तप्रबुद्धां मां राघवाङ्कात् समुत्थिताम्।
वायसः सहसागम्य विददार स्तनान्तरे॥ २२॥

'इसी समय वह कौआ फिर वहाँ आया। मैं सोकर जगनेके बाद श्रीरघुनाथजीकी गोदसे उठकर बैठी ही थी कि उस कौएने सहसा झपटकर मेरी छातीमें चोंच मार दी॥ २२॥

पुनः पुनरथोत्पत्य विददार स मां भृशम्।
ततः समुत्थितो रामो मुक्तैः शोणितबिन्दुभिः॥ २३॥

'उसने बारंबार उड़कर मुझे अत्यन्त घायल कर दिया। मेरे शरीरसे रक्तकी बूँदें झरने लगीं, इससे श्रीरामचन्द्रजीकी नींद खुल गयी और वे जागकर उठ बैठे॥ २३॥

स मां दृष्ट्वा महाबाहुर्वितुन्नां स्तनयोस्तदा।
आशीविष इव क्रुद्धः श्वसन् वाक्यमभाषत॥ २४॥

'मेरी छातीमें घाव हुआ देख महाबाहु श्रीराम उस समय कुपित हो उठे और फुफकारते हुए विषधर सर्पके समान जोर-जोरसे साँस लेते हुए बोले—॥ २४॥

केन ते नागनासोरु विक्षतं वै स्तनान्तरम्।
कः क्रीडति सरोषेण पञ्चवक्त्रेण भोगिना॥ २५॥

'हाथीकी सूँड़के समान जाँघोंवाली सुन्दरी! किसने तुम्हारी छातीको क्षत-विक्षत किया है? कौन रोषसे भरे हुए पाँच मुखवाले सर्पके साथ खेल रहा है?'॥ २५॥

वीक्षमाणस्ततस्तं वै वायसं समवैक्षत।
नखैः सरुधिरैस्तीक्ष्णैर्मामेवाभिमुखं स्थितम्॥ २६॥

'इतना कहकर जब उन्होंने इधर-उधर दृष्टि डाली, तब उस कौएको देखा, जो मेरी ओर ही मुँह किये बैठा था। उसके तीखे पंजे खूनसे रँग गये थे॥ २६॥

पुत्रः किल स शक्रस्य वायसः पततां वरः।
धरान्तरं गतः शीघ्रं पवनस्य गतौ समः॥ २७॥

'वह पक्षियोंमें श्रेष्ठ कौआ इन्द्रका पुत्र था। उसकी गति वायुके समान तीव्र थी। वह शीघ्र ही स्वर्गसे उड़कर पृथ्वीपर आ पहुँचा था॥ २७॥

ततस्तस्मिन् महाबाहुः कोपसंवर्तितेक्षणः।
वायसे कृतवान् क्रूरां मतिं मतिमतां वरः॥ २८॥

'उस समय बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ महाबाहु श्रीरामके नेत्र

क्रोधसे घूमने लगे। उन्होंने उस कौएको कठोर दण्ड देनेका विचार किया॥ २८॥

स दर्भसंस्तराद् गृह्य ब्रह्मणोऽस्त्रेण योजयत्।
स दीप्त इव कालाग्निर्जज्वालाभिमुखो द्विजम्॥ २९॥

'श्रीरामने कुशकी चटाईसे एक कुश निकाला और उसे ब्रह्मास्त्रके मन्त्रसे अभिमन्त्रित किया। अभिमन्त्रित करते ही वह कालाग्निके समान प्रज्वलित हो उठा। उसका लक्ष्य वह पक्षी ही था॥ २९॥

स तं प्रदीप्तं चिक्षेप दर्भं तं वायसं प्रति।
ततस्तु वायसं दर्भः सोऽम्बरेऽनुजगाम ह॥ ३०॥

'श्रीरघुनाथजीने वह प्रज्वलित कुश उस कौएकी ओर छोड़ा। फिर तो वह आकाशमें उसका पीछा करने लगा॥ ३०॥

अनुसृष्टस्तदा काको जगाम विविधां गतिम्।
त्राणकाम इमं लोकं सर्वं वै विचचार ह॥ ३१॥

'वह कौआ कई प्रकारकी उड़ानें लगाता अपने प्राण बचानेके लिये इस सम्पूर्ण जगत्में भागता फिरा, किंतु उस बाणने कहीं भी उसका पीछा न छोड़ा॥ ३१॥

स पित्रा च परित्यक्तः सर्वैश्च परमर्षिभिः।
त्रींल्लोकान् सम्परिक्रम्य तमेव शरणं गतः॥ ३२॥

'उसके पिता इन्द्र तथा समस्त श्रेष्ठ महर्षियोंने भी उसका परित्याग कर दिया। तीनों लोकोंमें घूमकर अन्तमें वह पुनः भगवान् श्रीरामकी ही शरणमें आया॥ ३२॥

स तं निपतितं भूमौ शरण्यः शरणागतम्।
वधार्हमपि काकुत्स्थः कृपया पर्यपालयत्॥ ३३॥

'रघुनाथजी शरणागतवत्सल हैं। उनकी शरणमें आकर जब वह पृथ्वीपर गिर पड़ा, तब उन्हें उसपर दया आ गयी; अतः वधके योग्य होनेपर भी उस कौएको उन्होंने मारा नहीं, उबारा॥ ३३॥

परिद्यूनं विवर्णं च पतमानं तमब्रवीत्।
मोघमस्त्रं न शक्यं तु ब्राह्मं कर्तुं तदुच्यताम्॥ ३४॥

'उसकी शक्ति क्षीण हो चुकी थी और वह उदास होकर सामने गिरा था। इस अवस्थामें उसको लक्ष्य करके भगवान् बोले—'ब्रह्मास्त्रको तो व्यर्थ किया नहीं जा सकता। अतः बताओ, इसके द्वारा तुम्हारा कौन-सा अङ्ग-भङ्ग किया जाय'॥ ३४॥

ततस्तस्याक्षि काकस्य हिनस्ति स्म स दक्षिणम्।
दत्त्वा तु दक्षिणं नेत्रं प्राणेभ्यः परिरक्षितः॥ ३५॥

'फिर उसकी सम्मतिके अनुसार श्रीरामने उस अस्त्रसे उस कौएकी दाहिनी आँख नष्ट कर दी। इस प्रकार दायाँ नेत्र देकर वह अपने प्राण बचा सका॥ ३५॥

स रामाय नमस्कृत्वा राज्ञे दशरथाय च।
विसृष्टस्तेन वीरेण प्रतिपेदे स्वमालयम्॥ ३६॥

'तदनन्तर दशरथनन्दन राजा रामको नमस्कार करके उन वीरशिरोमणिसे विदा लेकर वह अपने निवासस्थानको चला गया॥ ३६॥

मत्कृते काकमात्रेऽपि ब्रह्मास्त्रं समुदीरितम्।
कस्माद् यो माहरत् त्वत्तः क्षमसे तं महीपते॥ ३७॥

'कपिश्रेष्ठ! तुम मेरे स्वामीसे जाकर कहना—'प्राणनाथ! पृथ्वीपते! आपने मेरे लिये एक साधारण अपराध करनेवाले कौएपर भी ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया था; फिर जो आपके पाससे मुझे हर ले आया, उसको आप कैसे क्षमा कर रहे हैं?॥ ३७॥

स कुरुष्व महोत्साहां कृपां मयि नरर्षभ।
त्वया नाथवती नाथ ह्यनाथा इव दृश्यते॥ ३८॥

'नरश्रेष्ठ! मेरे ऊपर महान् उत्साहसे पूर्ण कृपा कीजिये। प्राणनाथ! जो सदा आपसे सनाथ है, वह सीता आज अनाथ-सी दिखायी देती है॥ ३८॥

आनृशंस्यं परो धर्मस्त्वत्त एव मया श्रुतम्।
जानामि त्वां महावीर्यं महोत्साहं महाबलम्॥ ३९॥

'दया करना सबसे बड़ा धर्म है, यह मैंने आपसे ही सुना है। मैं आपको अच्छी तरह जानती हूँ। आपका बल, पराक्रम और उत्साह महान् है॥ ३९॥

अपारवारमक्षोभ्यं गाम्भीर्यात् सागरोपमम्।
भर्तारं ससमुद्राया धरण्या वासवोपमम्॥ ४०॥

'आपका कहीं आर-पार नहीं है—आप असीम हैं। आपको कोई क्षुब्ध या पराजित नहीं कर सकता। आप गम्भीरतामें समुद्रके समान हैं। समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीके स्वामी हैं तथा इन्द्रके समान तेजस्वी हैं। मैं आपके प्रभावको जानती हूँ॥ ४०॥

एवमस्त्रविदां श्रेष्ठो बलवान् सत्त्ववानपि।
किमर्थमस्त्रं रक्षःसु न योजयसि राघव॥ ४१॥

'रघुनन्दन! इस प्रकार अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ, बलवान् और शक्तिशाली होते हुए भी आप राक्षसोंपर अपने अस्त्रोंका प्रयोग क्यों नहीं करते हैं?॥ ४१॥

न नागा नापि गन्धर्वा न सुरा न मरुद्गणाः।
रामस्य समरे वेगं शक्ताः प्रतिसमीहितुम्॥ ४२॥

'पवनकुमार! नाग, गन्धर्व, देवता और मरुद्गण—कोई भी समराङ्गणमें श्रीरामचन्द्रजीका वेग नहीं सह सकते॥ ४२॥

तस्य वीर्यवतः कश्चिद् यद्यस्ति मयि सम्भ्रमः।
किमर्थं न शरैस्तीक्ष्णैः क्षयं नयति राक्षसान्॥ ४३॥

'उन परम पराक्रमी श्रीरामके हृदयमें यदि मेरे लिये कुछ व्याकुलता है तो वे अपने तीखे सायकोंसे इन राक्षसोंका संहार क्यों नहीं कर डालते?॥ ४३॥

भ्रातुरादेशमादाय लक्ष्मणो वा परंतपः।
कस्य हेतोर्न मां वीरः परित्राति महाबलः॥ ४४॥

'अथवा शत्रुओंको संताप देनेवाले महाबली वीर लक्ष्मण ही अपने बड़े भाईकी आज्ञा लेकर मेरा उद्धार क्यों नहीं करते हैं ?' ॥ ४४ ॥

यदि तौ पुरुषव्याघ्रौ वाय्विन्द्रसमतेजसौ ।
सुराणामपि दुर्धर्षौ किमर्थं मामुपेक्षतः ॥ ४५ ॥

'वे दोनों पुरुषसिंह वायु तथा इन्द्रके समान तेजस्वी हैं। यदि वे देवताओंके लिये भी दुर्जय हैं तो किस लिये मेरी उपेक्षा करते हैं ?' ॥ ४५ ॥

ममैव दुष्कृतं किंचिन्महदस्ति न संशयः ।
समर्थावपि तौ यन्मां नावेक्षेते परंतपौ ॥ ४६ ॥

'निःसंदेह मेरा ही कोई महान् पाप उदित हुआ है, जिससे वे दोनों शत्रुसंतापी वीर मेरा उद्धार करनेमें समर्थ होते हुए भी मुझपर कृपादृष्टि नहीं कर रहे हैं' ॥ ४६ ॥

वैदेह्या वचनं श्रुत्वा करुणं साश्रु भाषितम् ।
अथाब्रवीन्महातेजा हनूमान् हरियूथपः ॥ ४७ ॥

विदेहकुमारी सीताने आँसू बहाते हुए जब यह करुणायुक्त बात कही, तब इसे सुनकर वानरयूथपति महातेजस्वी हनुमान् इस प्रकार बोले— ॥ ४७ ॥

त्वच्छोकविमुखो रामो देवि सत्येन ते शपे ।
रामे दुःखाभिपन्ने तु लक्ष्मणः परितप्यते ॥ ४८ ॥

'देवि ! मैं सत्यकी शपथ खाकर आपसे कहता हूँ कि श्रीरामचन्द्रजी आपके विरह-शोकसे पीड़ित हो अन्य सब कार्योंसे विमुख हो गये हैं—केवल आपका ही चिन्तन करते रहते हैं। श्रीरामके दुःखी होनेसे लक्ष्मण भी सदा संतप्त रहते हैं ॥ ४८ ॥

कथंचिद् भवती दृष्टा न कालः परिशोचितुम् ।
इमं मुहूर्तं दुःखानामन्तं द्रक्ष्यसि शोभने ॥ ४९ ॥

'किसी तरह आपका दर्शन हो गया। अब शोक करनेका अवसर नहीं है। शोभने ! इसी घड़ीसे आप अपने दुःखोंका अन्त होता देखेंगी ॥ ४९ ॥

तावुभौ पुरुषव्याघ्रौ राजपुत्रौ महाबलौ ।
त्वद्दर्शनकृतोत्साहौ लोकान् भस्मीकरिष्यतः ॥ ५० ॥

'वे दोनों पुरुषसिंह राजकुमार बड़े बलवान् हैं तथा आपको देखनेके लिये उनके मनमें विशेष उत्साह है। अतः वे समस्त राक्षस-जगत्को भस्म कर डालेंगे ॥ ५० ॥

हत्वा च समरक्रूरं रावणं सहबान्धवम् ।
राघवस्त्वां विशालाक्षि स्वां पुरीं प्रति नेष्यति ॥ ५१ ॥

'विशाललोचने ! रघुनाथजी समराङ्गणमें क्रूरता प्रकट करनेवाले रावणको उसके बन्धु-बान्धवोंसहित मारकर आपको अपनी पुरीमें ले जायँगे ॥ ५१ ॥

ब्रूहि यद् राघवो वाच्यो लक्ष्मणश्च महाबलः ।
सुग्रीवो वापि तेजस्वी हरयो वा समागताः ॥ ५२ ॥

'अब भगवान् श्रीराम, महाबली लक्ष्मण, तेजस्वी सुग्रीव तथा वहाँ एकत्र हुए वानरोंके प्रति आपको जो कुछ कहना हो, वह कहिये' ॥ ५२ ॥

इत्युक्तवति तस्मिंश्च सीता पुनरथाब्रवीत् ।
कौसल्या लोकभर्तारं सुषुवे यं मनस्विनी ॥ ५३ ॥
तं ममार्थे सुखं पृच्छ शिरसा चाभिवादय ।

हनुमान्‌जीके ऐसा कहनेपर देवी सीताने फिर कहा—'कपिश्रेष्ठ ! मनस्विनी कौसल्या देवीने जिन्हें जन्म दिया है तथा जो सम्पूर्ण जगत्के स्वामी हैं, उन श्रीरघुनाथजीको मेरी ओरसे मस्तक झुकाकर प्रणाम करना और उनका कुशल-समाचार पूछना ॥५३ $\frac{1}{2}$ ॥

स्रजश्च सर्वरत्नानि प्रियायाश्च वराङ्गनाः ॥ ५४ ॥
ऐश्वर्यं च विशालायां पृथिव्यामपि दुर्लभम् ।
पितरं मातरं चैव सम्मान्याभिप्रसाद्य च ॥ ५५ ॥
अनुप्रव्रजितो रामं सुमित्रा येन सुप्रजाः ।
आनुकूल्येन धर्मात्मा त्यक्त्वा सुखमनुत्तमम् ॥ ५६ ॥
अनुगच्छति काकुत्स्थं भ्रातरं पालयन् वने ।
सिंहस्कन्धो महाबाहुर्मनस्वी प्रियदर्शनः ॥ ५७ ॥
पितृवद् वर्तते रामे मातृवन्मां समाचरत् ।
ह्रियमाणां तदा वीरो न तु मां वेद लक्ष्मणः ॥ ५८ ॥
वृद्धोपसेवी लक्ष्मीवाञ्शक्तो न बहुभाषिता ।
राजपुत्रप्रियश्रेष्ठः सदृशः श्वशुरस्य मे ॥ ५९ ॥
मत्तः प्रियतरो नित्यं भ्राता रामस्य लक्ष्मणः ।
नियुक्तो धुरि यस्यां तु तामुद्वहति वीर्यवान् ॥ ६० ॥
यं दृष्ट्वा राघवो नैव वृत्तमार्यमनुस्मरत् ।
स ममार्थाय कुशलं वक्तव्यो वचनान्मम ॥ ६१ ॥
मृदुर्नित्यं शुचिर्दक्षः प्रियो रामस्य लक्ष्मणः ।
यथा हि वानरश्रेष्ठ दुःखक्षयकरो भवेत् ॥ ६२ ॥

तत्पश्चात् विशाल भूमण्डलमें भी जिसका मिलना कठिन है ऐसे उत्तम ऐश्वर्यका, भाँति-भाँतिके हारों, सब प्रकारके रत्नों तथा मनोहर सुन्दरी स्त्रियोंका भी परित्याग कर पिता-माताको सम्मानित एवं राजी करके जो श्रीरामचन्द्रजीके साथ वनमें चले आये, जिनके कारण सुमित्रा देवी उत्तम संतानवाली कही जाती हैं, जिनका चित्त सदा धर्ममें लगा रहता है, जो सर्वोत्तम सुखको त्यागकर वनमें बड़े भाई श्रीरामकी रक्षा करते हुए सदा उनके अनुकूल चलते हैं, जिनके कंधे सिंहके समान और भुजाएँ बड़ी-बड़ी हैं, जो देखनेमें प्रिय लगते और मनको वशमें रखते हैं, जिनका श्रीरामके प्रति पिताके समान और मेरे प्रति माताके समान भाव तथा वर्ताव रहता है, जिन वीर लक्ष्मणको उस समय मेरे हरे जानेकी बात नहीं मालूम हो सकी थी, जो बड़े-बूढ़ोंकी सेवामें संलग्न रहनेवाले, शोभाशाली, शक्तिमान् तथा कम बोलनेवाले हैं, राजकुमार श्रीरामके प्रिय व्यक्तियोंमें जिनका सबसे ऊँचा स्थान है, जो मेरे श्वशुरके सदृश पराक्रमी हैं तथा

श्रीरघुनाथजीका जिन छोटे भाई लक्ष्मणके प्रति सदा मुझसे भी अधिक प्रेम रहता है, जो पराक्रमी वीर अपने ऊपर डाले हुए कार्यभारको बड़ी योग्यताके साथ वहन करते हैं तथा जिन्हें देखकर श्रीरघुनाथजी अपने मरे हुए पिताको भी भूल गये हैं (अर्थात् जो पिताके समान श्रीरामके पालनमें दत्तचित्त रहते हैं)। उन लक्ष्मणसे भी तुम मेरी ओरसे कुशल पूछना और वानरश्रेष्ठ! मेरे कथनानुसार उनसे ऐसी बातें कहना, जिन्हें सुनकर नित्य कोमल, पवित्र, दक्ष तथा श्रीरामके प्रिय बन्धु लक्ष्मण मेरा दुःख दूर करनेको तैयार हो जायँ॥ ५४—६२॥

त्वमस्मिन् कार्यनिर्वाहे प्रमाणं हरियूथप।
राघवस्त्वत्समारम्भान्मयि यत्नपरो भवेत्॥ ६३॥

'वानरयूथपते! अधिक क्या कहूँ? जिस तरह यह कार्य सिद्ध हो सके, वही उपाय तुम्हें करना चाहिये। इस विषयमें तुम्हीं प्रमाण हो—इसका सारा भार तुम्हारे ही ऊपर है। तुम्हारे प्रोत्साहन देनेसे ही श्रीरघुनाथजी मेरे उद्धारके लिये प्रयत्नशील हो सकते हैं॥ ६३॥

इदं ब्रूयाश्च मे नाथं शूरं रामं पुनः पुनः।
जीवितं धारयिष्यामि मासं दशरथात्मज॥ ६४॥
ऊर्ध्वं मासान्न जीवेयं सत्येनाहं ब्रवीमि ते।

'तुम मेरे स्वामी शूरवीर भगवान् श्रीरामसे बारंबार कहना—'दशरथनन्दन! मेरे जीवनकी अवधिके लिये जो मास नियत हैं, उनमेंसे जितना शेष है, उतने ही समयतक मैं जीवन धारण करूँगी। उन अवशिष्ट दो महीनोंके बाद मैं जीवित नहीं रह सकती। यह मैं आपसे सत्यकी शपथ खाकर कह रही हूँ॥६४½॥

रावणेनोपरुद्धां मां निकृत्या पापकर्मणा।
त्रातुमर्हसि वीर त्वं पातालादिव कौशिकीम्॥ ६५॥

'वीर! पापाचारी रावणने मुझे कैद कर रखा है। अतः राक्षसियोंद्वारा शठतापूर्वक मुझे बड़ी पीड़ा दी जाती है। जैसे भगवान् विष्णुने इन्द्रकी लक्ष्मीका पातालसे उद्धार किया था, उसी प्रकार आप यहाँसे मेरा उद्धार करें'॥ ६५॥

ततो वस्त्रगतं मुक्त्वा दिव्यं चूडामणिं शुभम्।
प्रदेयो राघवायेति सीता हनुमते ददौ॥ ६६॥

ऐसा कहकर सीताने कपड़ेमें बँधी हुई सुन्दर दिव्य चूड़ामणिको खोलकर निकाला और 'इसे श्रीरामचन्द्रजीको दे देना' ऐसा कहकर हनुमान्‌जीके हाथपर रख दिया॥ ६६॥

प्रतिगृह्य ततो वीरो मणिरत्नमनुत्तमम्।
अङ्गुल्या योजयामास नह्यस्य प्राभवद् भुजः॥ ६७॥

उस परम उत्तम मणिरत्नको लेकर वीर हनुमान्‌जीने उसे अपनी अङ्गुलीमें डाल लिया। उनकी बाँह अत्यन्त सूक्ष्म होनेपर भी उसके छेदमें न आ सकी (इससे जान पड़ता है कि हनुमान्‌जीने अपना विशाल रूप दिखानेके बाद फिर सूक्ष्म रूप धारण कर लिया था)॥ ६७॥

मणिरत्नं कपिवरः प्रतिगृह्याभिवाद्य च।
सीतां प्रदक्षिणं कृत्वा प्रणतः पार्श्वतः स्थितः॥ ६८॥

वह मणिरत्न लेकर कपिवर हनुमान्‌ने सीताको प्रणाम किया और उनकी प्रदक्षिणा करके वे विनीतभावसे उनके पास खड़े हो गये॥ ६८॥

हर्षेण महता युक्तः सीतादर्शनजेन सः।
हृदयेन गतो रामं लक्ष्मणं च सलक्षणम्॥ ६९॥

सीताजीका दर्शन होनेसे उन्हें महान् हर्ष प्राप्त हुआ था। वे मन-ही-मन भगवान् श्रीराम और शुभ-लक्षणसम्पन्न लक्ष्मणके पास पहुँच गये थे। उन दोनोंका चिन्तन करने लगे थे॥ ६९॥

मणिवरमुपगृह्य तं महार्हं
जनकनृपात्मजया धृतं प्रभावात्।
गिरिवरपवनावधूतमुक्तः
सुखितमनाः प्रतिसंक्रमं प्रपेदे॥ ७०॥

राजा जनककी पुत्री सीताने अपने विशेष प्रभावसे जिसे छिपाकर धारण कर रखा था, उस बहुमूल्य मणि-रत्नको लेकर हनुमान्‌जी मन-ही-मन उस पुरुषके समान सुखी एवं प्रसन्न हुए, जो किसी श्रेष्ठ पर्वतके ऊपरी भागसे उठी हुई प्रबल वायुके वेगसे कम्पित होकर पुनः उसके प्रभावसे मुक्त हो गया हो। तदनन्तर उन्होंने वहाँसे लौट जानेकी तैयारी की॥ ७०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डेऽष्टात्रिंशः सर्गः॥ ३८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें अड़तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३८॥

—★—

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

चूड़ामणि लेकर जाते हुए हनुमान्‌जीसे सीताका श्रीराम आदिको उत्साहित करनेके लिये कहना तथा समुद्र-तरणके विषयमें शङ्कित हुई सीताको वानरोंका पराक्रम बताकर हनुमान्‌जीका आश्वासन देना

मणिं दत्त्वा ततः सीता हनूमन्तमथाब्रवीत्।
अभिज्ञानमभिज्ञातमेतद् रामस्य तत्त्वतः॥ १॥

मणि देनेके पश्चात् सीता हनुमान्‌जीसे बोलीं—'मेरे इस चिह्नको भगवान् श्रीरामचन्द्रजी भलीभाँति पहचानते हैं॥ १॥

मणिं दृष्ट्वा तु रामो वै त्रयाणां संस्मरिष्यति।
वीरो जनन्या मम च राज्ञो दशरथस्य च॥ २॥

'इस मणिको देखकर वीर श्रीराम निश्चय ही तीन व्यक्तियोंका—मेरी माताका, मेरा तथा महाराज दशरथका एक साथ ही स्मरण करेंगे॥ २॥

स भूयस्त्वं समुत्साहचोदितो हरिसत्तम।
अस्मिन् कार्यसमुत्साहे प्रचिन्तय यदुत्तरम्॥ ३॥

'कपिश्रेष्ठ! तुम पुनः विशेष उत्साहसे प्रेरित हो इस कार्यकी सिद्धिके लिये जो भावी कर्तव्य हो, उसे सोचो॥ ३॥

त्वमस्मिन् कार्यनिर्योगे प्रमाणं हरिसत्तम।
तस्य चिन्तय यो यत्नो दुःखक्षयकरो भवेत्॥ ४॥

'वानरशिरोमणे! इस कार्यको निभानेमें तुम्हीं प्रमाण हो—तुमपर ही सारा भार है। तुम इसके लिये कोई ऐसा उपाय सोचो, जो मेरे दुःखका निवारण करनेवाला हो॥ ४॥

हनूमन् यत्नमास्थाय दुःखक्षयकरो भव।
स तथेति प्रतिज्ञाय मारुतिर्भीमविक्रमः॥ ५॥
शिरसाऽऽवन्द्य वैदेहीं गमनायोपचक्रमे।

'हनूमन्! तुम विशेष प्रयत्न करके मेरा दुःख दूर करनेमें सहायक बनो।' तब 'बहुत अच्छा' कहकर सीताजीकी आज्ञाके अनुसार कार्य करनेकी प्रतिज्ञा करके वे भयंकर पराक्रमी पवनकुमार विदेहनन्दिनीके चरणोंमें मस्तक झुकाकर वहाँसे जानेको तैयार हुए॥ ५½॥

ज्ञात्वा सम्प्रस्थितं देवी वानरं पवनात्मजम्॥ ६॥
बाष्पगद्गदया वाचा मैथिली वाक्यमब्रवीत्।

पवनपुत्र वानरवीर हनुमान्‌को वहाँसे लौटनेके लिये उद्यत जान मिथिलेशकुमारीका गला भर आया और वे अश्रुगद्गद वाणीमें बोलीं— ॥ ६½॥

हनूमन् कुशलं ब्रूयाः सहितौ रामलक्ष्मणौ॥ ७॥
सुग्रीवं च सहामात्यं सर्वान् वृद्धांश्च वानरान्।
ब्रूयास्त्वं वानरश्रेष्ठ कुशलं धर्मसंहितम्॥ ८॥

'हनूमन्! तुम श्रीराम और लक्ष्मण दोनोंको एक साथ ही मेरा कुशल-समाचार बताना और उनका कुशल-मङ्गल पूछना। वानरश्रेष्ठ! फिर मन्त्रियोंसहित सुग्रीव तथा अन्य सब बड़े-बूढ़े वानरोंसे धर्मयुक्त कुशल-समाचार कहना और पूछना॥ ७-८॥

यथा च स महाबाहुर्मां तारयति राघवः।
अस्माद् दुःखाम्बुसंरोधात् त्वं समाधातुमर्हसि॥ ९॥

'महाबाहु श्रीरघुनाथजी जिस प्रकार इस दुःखके समुद्रसे मेरा उद्धार करें, वैसा ही यत्न तुम्हें करना चाहिये॥ ९॥

जीवन्तीं मां यथा रामः सम्भावयति कीर्तिमान्।
तत् त्वया हनुमन् वाच्यं वाचा धर्ममवाप्नुहि॥ १०॥

'हनुमन्! यशस्वी रघुनाथजी जिस प्रकार मेरे जीते-जी यहाँ आकर मुझसे मिलें—मुझे सँभालें वैसी ही बातें तुम उनसे कहो और ऐसा करके वाणीके द्वारा धर्माचरणका फल प्राप्त करो॥ १०॥

नित्यमुत्साहयुक्तस्य वाचः श्रुत्वा मयेरिताः।
वर्धिष्यते दाशरथेः पौरुषं मदवाप्तये॥ ११॥

'यों तो दशरथनन्दन भगवान् श्रीराम सदा ही उत्साहसे भरे रहते हैं, तथापि मेरी कही हुई बातें सुनकर मेरी प्राप्तिके लिये उनका पुरुषार्थ और भी बढ़ेगा॥ ११॥

मत्संदेशयुता वाचस्त्वत्तः श्रुत्वैव राघवः।
पराक्रमे मतिं वीरो विधिवत् संविधास्यति॥ १२॥

'तुम्हारे मुखसे मेरे संदेशसे युक्त बातें सुनकर ही वीर रघुनाथजी पराक्रम करनेमें विधिवत् अपना मन लगायेंगे'॥ १२॥

सीतायास्तद् वचः श्रुत्वा हनूमान् मारुतात्मजः।
शिरस्यञ्जलिमाधाय वाक्यमुत्तरमब्रवीत्॥ १३॥

सीताकी यह बात सुनकर पवनकुमार हनुमान्‌ने माथेपर अञ्जलि बाँधकर विनयपूर्वक उनकी बातका उत्तर दिया— ॥ १३॥

क्षिप्रमेष्यति काकुत्स्थो हर्यृक्षप्रवरैर्वृतः।
यस्ते युधि विजित्यारीञ्शोकं व्यपनयिष्यति॥ १४॥

'देवि! जो युद्धमें सारे शत्रुओंको जीतकर आपके शोकका निवारण करेंगे, वे ककुत्स्थकुलभूषण भगवान् श्रीराम श्रेष्ठ वानरों और भालुओंके साथ शीघ्र ही यहाँ पधारेंगे॥ १४॥

नहि पश्यामि मर्त्येषु नासुरेषु सुरेषु वा।
यस्तस्य वमतो बाणान् स्थातुमुत्सहतेऽग्रतः॥ १५॥

'मैं मनुष्यों, असुरों अथवा देवताओंमें भी किसीको ऐसा नहीं देखता, जो बाणोंकी वर्षा करते हुए भगवान् श्रीरामके सामने ठहर सके॥ १५॥

अप्यर्कमपि पर्जन्यमपि वैवस्वतं यमम्।
स हि सोढुं रणे शक्तस्तव हेतोर्विशेषतः ॥ १६ ॥

'भगवान् श्रीराम विशेषतः आपके लिये तो युद्धमें सूर्य, इन्द्र और सूर्यपुत्र यमका भी सामना कर सकते हैं ॥ १६ ॥

स हि सागरपर्यन्तां महीं साधितुमर्हति।
त्वन्निमित्तो हि रामस्य जयो जनकनन्दिनि ॥ १७ ॥

'वे समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीको भी जीत लेनेयोग्य हैं। जनकनन्दिनि! आपके लिये युद्ध करते समय श्रीरामचन्द्रजीको निश्चय ही विजय प्राप्त होगी' ॥ १७ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सम्यक् सत्यं सुभाषितम्।
जानकी बहु मेने तं वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १८ ॥

हनुमान्‌जीका कथन युक्तियुक्त, सत्य और सुन्दर था। उसे सुनकर जनकनन्दिनीने उनका बड़ा आदर किया और वे उनसे फिर कुछ कहनेको उद्यत हुईं ॥ १८ ॥

ततस्तं प्रस्थितं सीता वीक्षमाणा पुनः पुनः।
भर्तृस्नेहान्वितं वाक्यं सौहार्दादनुमानयत् ॥ १९ ॥

तदनन्तर वहाँसे प्रस्थित हुए हनुमान्‌जीकी ओर बार-बार देखती हुई सीताने सौहार्दवश स्वामीके प्रति स्नेहसे युक्त सम्मानपूर्ण बात कही— ॥ १९ ॥

यदि वा मन्यसे वीर वसैकाहमरिंदम।
कस्मिंश्चित् संवृते देशे विश्रान्तः श्वो गमिष्यसि ॥ २० ॥

'शत्रुओंका दमन करनेवाले वीर! यदि तुम ठीक समझो तो यहाँ एक दिन किसी गुप्त स्थानमें निवास करो। इस तरह एक दिन विश्राम करके कल चले जाना ॥ २० ॥

मम चैवाल्पभाग्यायाः सांनिध्यात् तव वानर।
अस्य शोकस्य महतो मुहूर्तं मोक्षणं भवेत् ॥ २१ ॥

'वानरवीर! तुम्हारे निकट रहनेसे मुझ मन्दभागिनीके महान् शोकका थोड़ी देरके लिये निवारण हो जायगा ॥ २१ ॥

ततो हि हरिशार्दूल पुनरागमनाय तु।
प्राणानामपि संदेहो मम स्यान्नात्र संशयः ॥ २२ ॥

'कपिश्रेष्ठ! विश्रामके पश्चात् यहाँसे यात्रा करनेके अनन्तर यदि फिर तुमलोगोंके आनेमें संदेह या विलम्ब हुआ तो मेरे प्राणोंपर भी संकट आ जायगा, इसमें संशय नहीं है ॥ २२ ॥

तवादर्शनजः शोको भूयो मां परितापयेत्।
दुःखाद् दुःखपरामृष्टां दीपयन्निव वानर ॥ २३ ॥

'वानरवीर! मैं दुःख-पर-दुःख उठा रही हूँ। तुम्हारे चले जानेपर तुम्हें न देख पानेका शोक मुझे पुनः दग्ध करता हुआ-सा संताप देता रहेगा ॥ २३ ॥

अयं च वीर संदेहस्तिष्ठतीव ममाग्रतः।
सुमहांस्त्वत्सहायेषु हर्यृक्षेषु हरीश्वर ॥ २४ ॥
कथं नु खलु दुष्पारं तरिष्यन्ति महोदधिम्।
तानि हर्यृक्षसैन्यानि तौ वा नरवरात्मजौ ॥ २५ ॥

'वीर वानरेश्वर! तुम्हारे साथी रीछों और वानरोंके विषयमें मेरे सामने अब भी यह महान् संदेह तो विद्यमान ही है कि वे रीछ और वानरोंकी सेनाएँ तथा वे दोनों राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण इस दुष्पार महासागरको कैसे पार करेंगे ॥ २४-२५ ॥

त्रयाणामेव भूतानां सागरस्येह लङ्घने।
शक्तिः स्याद् वैनतेयस्य तव वा मारुतस्य वा ॥ २६ ॥

'इस संसारमें समुद्रको लाँघनेकी शक्ति तो केवल तीन प्राणियोंमें ही देखी गयी है। तुममें, गरुड़में अथवा वायुदेवतामें ॥ २६ ॥

तदस्मिन् कार्यनियोगे वीरैवं दुरतिक्रमे।
किं पश्यसे समाधानं त्वं हि कार्यविदां वरः ॥ २७ ॥

'वीर! इस प्रकार इस समुद्रलङ्घनरूपी कार्यको निभाना अत्यन्त कठिन हो गया है। ऐसी दशामें तुम्हें कार्यसिद्धिका कौन-सा उपाय दिखायी देता है? यह बताओ; क्योंकि कार्य-सिद्धिका उपाय जाननेवाले लोगोंमें तुम सबसे श्रेष्ठ हो ॥ २७ ॥

काममस्य त्वमेवैकः कार्यस्य परिसाधने।
पर्याप्तः परवीरघ्न यशस्यस्ते फलोदयः ॥ २८ ॥

'शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले पवनकुमार! इसमें संदेह नहीं कि तुम अकेले ही मेरे उद्धाररूपी कार्यको सिद्ध करनेमें पूर्णतः समर्थ हो; परंतु ऐसा करनेसे जो विजयरूप फल प्राप्त होगा, उसका यश केवल तुम्हींको मिलेगा भगवान् श्रीरामको नहीं ॥ २८ ॥

बलैः समग्रैर्युधि मां रावणं जित्य संयुगे।
विजयी स्वपुरं यायात् तत्तस्य सदृशं भवेत् ॥ २९ ॥

'यदि रघुनाथजी सारी सेनाके साथ रावणको युद्धमें पराजित करके विजयी हो मुझे साथ ले अपनी पुरीको पधारें तो वह उनके अनुरूप कार्य होगा ॥ २९ ॥

बलैस्तु संकुलां कृत्वा लङ्कां परबलार्दनः।
मां नयेद् यदि काकुत्स्थस्तत् तस्य सदृशं भवेत् ॥ ३० ॥

'शत्रुसेनाका संहार करनेवाले श्रीराम यदि अपनी सेनाओंद्वारा लङ्काको पददलित करके मुझे अपने साथ ले चलें तो वही उनके योग्य होगा ॥ ३० ॥

तद्यथा तस्य विक्रान्तमनुरूपं महात्मनः।
भवेदाहवशूरस्य तथा त्वमुपपादय ॥ ३१ ॥

'अतः तुम ऐसा उपाय करो जिससे समरशूर महात्मा श्रीरामका उनके अनुरूप पराक्रम प्रकट हो' ॥ ३१ ॥

तदर्थोपहितं वाक्यं प्रश्रितं हेतुसंहितम्।
निशम्य हनुमाञ्शेषं वाक्यमुत्तरमब्रवीत् ॥ ३२ ॥

देवी सीताकी उपर्युक्त बात अर्थयुक्त, स्नेहयुक्त तथा युक्तियुक्त थी। उनकी उस अवशिष्ट बातको सुनकर हनुमान्‌जीने इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ ३२ ॥

देवि हर्यृक्षसैन्यानामीश्वरः प्लवतां वरः।
सुग्रीवः सत्यसम्पन्नस्तवार्थे कृतनिश्चयः॥ ३३॥

'देवि! वानर और भालुओंकी सेनाके स्वामी कपिश्रेष्ठ सुग्रीव सत्यवादी हैं। वे आपके उद्धारके लिये दृढ़ निश्चय कर चुके हैं॥ ३३॥

स वानरसहस्राणां कोटीभिरभिसंवृतः।
क्षिप्रमेष्यति वैदेहि राक्षसानां निबर्हणः॥ ३४॥

'विदेहनन्दिनि! उनमें राक्षसोंका संहार करनेकी शक्ति है। वे सहस्रों कोटि वानरोंकी सेना साथ लेकर शीघ्र ही लङ्कापर चढ़ाई करेंगे॥ ३४॥

तस्य विक्रमसम्पन्नाः सत्त्ववन्तो महाबलाः।
मनःसंकल्पसम्पाता निदेशे हरयः स्थिताः॥ ३५॥

'उनके पास पराक्रमी, धैर्यशाली, महाबली और मानसिक संकल्पके समान बहुत दूरतक उछलकर जानेवाले बहुत-से वानर हैं, जो उनकी आज्ञाका पालन करनेके लिये सदा तैयार रहते हैं॥ ३५॥

येषां नोपरि नाधस्तान्न तिर्यक् सज्जते गतिः।
न च कर्मसु सीदन्ति महत्स्वमिततेजसः॥ ३६॥

'जिनकी ऊपर-नीचे तथा इधर-उधर कहीं भी गति नहीं रुकती। वे बड़े-से-बड़े कार्योंके आ पड़नेपर भी कभी हिम्मत नहीं हारते। उनमें महान् तेज है॥ ३६॥

असकृत् तैर्महोत्साहैः ससागरधराधरा।
प्रदक्षिणीकृता भूमिर्वायुमार्गानुसारिभिः॥ ३७॥

'उन्होंने अत्यन्त उत्साहसे पूर्ण होकर वायुपथ (आकाश) का अनुसरण करते हुए समुद्र और पर्वतोंसहित इस पृथ्वीकी अनेक बार परिक्रमा की है॥ ३७॥

मद्विशिष्टाश्च तुल्याश्च सन्ति तत्र वनौकसः।
मत्तः प्रत्यवरः कश्चिन्नास्ति सुग्रीवसंनिधौ॥ ३८॥

'सुग्रीवकी सेनामें मेरे समान तथा मुझसे भी बढ़कर पराक्रमी वानर हैं। उनके पास कोई भी ऐसा वानर नहीं है जो बल-पराक्रममें मुझसे कम हो॥ ३८॥

अहं तावदिह प्राप्तः किं पुनस्ते महाबलाः।
नहि प्रकृष्टाः प्रेष्यन्ते प्रेष्यन्ते हीतरे जनाः॥ ३९॥

'जब मैं ही यहाँ आ गया, तब अन्य महाबली वीरोंके आनेमें क्या संदेह है? जो श्रेष्ठ पुरुष होते हैं, उन्हें संदेश-वाहक दूत बनाकर नहीं भेजा जाता। साधारण कोटिके लोग ही भेजे जाते हैं॥ ३९॥

तदलं परितापेन देवि शोको व्यपैतु ते।
एकोत्पातेन ते लङ्कामेष्यन्ति हरियूथपाः॥ ४०॥

'अतः देवि! आपको संताप करनेकी आवश्यकता नहीं है। आपका शोक दूर हो जाना चाहिये। वानरयूथपति एक ही छलाँगमें लङ्का पहुँच जायँगे॥ ४०॥

मम पृष्ठगतौ तौ च चन्द्रसूर्याविवोदितौ।
त्वत्सकाशं महासङ्घौ नृसिंहावागमिष्यतः॥ ४१॥

'उदयकालके सूर्य और चन्द्रमाकी भाँति शोभा पानेवाले और महान् वानर-समुदायके साथ रहनेवाले वे दोनों पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मण मेरी पीठपर बैठकर आपके पास आ पहुँचेंगे॥ ४१॥

तौ हि वीरौ नरवरौ सहितौ रामलक्ष्मणौ।
आगम्य नगरीं लङ्कां सायकैर्विधमिष्यतः॥ ४२॥

'वे दोनों नरश्रेष्ठ वीर श्रीराम और लक्ष्मण एक साथ आकर अपने सायकोंसे लङ्कापुरीका विध्वंस कर डालेंगे॥ ४२॥

सगणं रावणं हत्वा राघवो रघुनन्दनः।
त्वामादाय वरारोहे स्वपुरीं प्रति यास्यति॥ ४३॥

'वरारोहे! रघुकुलको आनन्दित करनेवाले श्रीरघुनाथजी रावणको उसके सैनिकोंसहित मारकर आपको साथ ले अपनी पुरीको लौटेंगे॥ ४३॥

तदाश्वसिहि भद्रं ते भव त्वं कालकाङ्क्षिणी।
नचिराद् द्रक्ष्यसे रामं प्रज्वलन्तमिवानलम्॥ ४४॥

'इसलिये आप धैर्य धारण करें। आपका कल्याण हो। आप समयकी प्रतीक्षा करें। प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी श्रीरघुनाथजी आपको शीघ्र ही दर्शन देंगे॥ ४४॥

निहते राक्षसेन्द्रे च सपुत्रामात्यबान्धवे।
त्वं समेष्यसि रामेण शशाङ्केनेव रोहिणी॥ ४५॥

'पुत्र, मन्त्री और बन्धु-बान्धवोंसहित राक्षसराज रावणके मारे जानेपर आप श्रीरामचन्द्रजीसे उसी प्रकार मिलेंगी, जैसे रोहिणी चन्द्रमासे मिलती है॥ ४५॥

क्षिप्रं त्वं देवि शोकस्य पारं द्रक्ष्यसि मैथिलि।
रावणं चैव रामेण द्रक्ष्यसे निहतं बलात्॥ ४६॥

'देवि! मिथिलेशकुमारी! आप शीघ्र ही अपने शोकका अन्त हुआ देखेंगी। आपको यह भी दृष्टिगोचर होगा कि श्रीरामचन्द्रजीने रावणको बलपूर्वक मार डाला है'॥ ४६॥

एवमाश्वास्य वैदेहीं हनूमान् मारुतात्मजः।
गमनाय मतिं कृत्वा वैदेहीं पुनरब्रवीत्॥ ४७॥

विदेहनन्दिनी सीताको इस प्रकार आश्वासन दे पवनकुमार हनुमान्‌जीने वहाँसे लौटनेका निश्चय करके उनसे फिर कहा—॥ ४७॥

तमरिघ्नं कृतात्मानं क्षिप्रं द्रक्ष्यसि राघवम्।
लक्ष्मणं च धनुष्पाणिं लङ्काद्वारमुपागतम्॥ ४८॥

'देवि! आप शीघ्र ही देखेंगी कि शुद्ध हृदयवाले शत्रुनाशक श्रीरघुनाथजी तथा लक्ष्मण हाथमें धनुष लिये लङ्काके द्वारपर आ पहुँचे हैं॥ ४८॥

नखदंष्ट्रायुधान् वीरान् सिंहशार्दूलविक्रमान्।
वानरान् वारणेन्द्राभान् क्षिप्रं द्रक्ष्यसि संगतान्॥ ४९॥

'नख और दाढ़ ही जिनके अस्त्र-शस्त्र हैं तथा जो सिंह और व्याघ्रके समान पराक्रमी एवं गजराजोंके समान विशालकाय हैं, ऐसे वानरोंको भी आप शीघ्र ही एकत्र हुआ देखेंगी ॥ ४९ ॥

शैलाम्बुदनिकाशानां लङ्कामलयसानुषु ।
नर्दतां कपिमुख्यानामार्ये यूथान्यनेकशः ॥ ५० ॥

'आर्ये ! पर्वत और मेघके समान विशालकाय मुख्य-मुख्य वानरोंके बहुत-से झुंड लङ्कावर्ती मलयपर्वतके शिखरोंपर गर्जते दिखायी देंगे ॥ ५० ॥

स तु मर्मणि घोरेण ताडितो मन्मथेषुणा ।
न शर्म लभते रामः सिंहार्दित इव द्विपः ॥ ५१ ॥

'श्रीरामचन्द्रजीके मर्मस्थलमें कामदेवके भयंकर बाणोंसे चोट पहुँची है। इसलिये वे सिंहसे पीड़ित हुए गजराजकी भाँति चैन नहीं पाते हैं ॥ ५१ ॥

रुद मा देवि शोकेन मा भूत् ते मनसो भयम् ।
शचीव भर्त्रा शक्रेण सङ्गमेष्यसि शोभने ॥ ५२ ॥

'देवि ! आप शोकके कारण रोदन न करें। आपके मनका भय दूर हो जाय। शोभने ! जैसे शची देवराज इन्द्रसे मिलती हैं, उसी प्रकार आप अपने पतिदेवसे मिलेंगी ॥ ५२ ॥

रामाद् विशिष्टः कोऽन्योऽस्ति कश्चित् सौमित्रिणा समः ।
अग्निमारुतकल्पौ तौ भ्रातरौ तव संश्रयौ ॥ ५३ ॥

'भला, श्रीरामचन्द्रजीसे बढ़कर दूसरा कौन है? तथा लक्ष्मणजीके समान भी कौन हो सकता है? अग्नि और वायुके तुल्य तेजस्वी वे दोनों भाई आपके आश्रय हैं (आपको कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिये) ॥ ५३ ॥

नास्मिंश्चिरं वत्स्यसि देवि देशे
रक्षोगणैरध्युषितेऽतिरौद्रे ।
न ते चिरादागमनं प्रियस्य
क्षमस्व मत्संगमकालमात्रम् ॥ ५४ ॥

'देवि ! राक्षसोंद्वारा सेवित इस अत्यन्त भयंकर देशमें आपको अधिक दिनोंतक नहीं रहना पड़ेगा। आपके प्रियतमके आनेमें विलम्ब नहीं होगा। जबतक मेरी उनसे भेंट न हो, उतने समयतकके विलम्बको आप क्षमा करें' ॥ ५४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें उनतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

—★—

चत्वारिंशः सर्गः

सीताका श्रीरामसे कहनेके लिये पुनः संदेश देना तथा हनुमान्‌जीका उन्हें आश्वासन दे उत्तर दिशाकी ओर जाना

श्रुत्वा तु वचनं तस्य वायुसूनोर्महात्मनः ।
उवाचात्महितं वाक्यं सीता सुरसुतोपमा ॥ १ ॥

वायुपुत्र महात्मा हनुमान्‌जीका वचन सुनकर देवकन्याके समान तेजस्विनी सीताने अपने हितके विचारसे इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

त्वां दृष्ट्वा प्रियवक्तारं सम्प्रहृष्यामि वानर ।
अर्धसंजातसस्येव वृष्टिं प्राप्य वसुंधरा ॥ २ ॥

'वानरवीर ! तुमने मुझे बड़ा ही प्रिय संवाद सुनाया है। तुम्हें देखकर हर्षके मारे मेरे शरीरमें रोमाञ्च हो आया है। ठीक उसी तरह, जैसे वर्षाका पानी पड़नेसे आधी जमी हुई खेतीवाली भूमि हरी-भरी हो जाती है ॥ २ ॥

यथा तं पुरुषव्याघ्रं गात्रैः शोकाभिकर्शितैः ।
संस्पृशेयं सकामाहं तथा कुरु दयां मयि ॥ ३ ॥

'मुझपर ऐसी दया करो, जिससे मैं शोकके कारण दुर्बल हुए अपने अङ्गोंद्वारा नरश्रेष्ठ श्रीरामका प्रेमपूर्वक स्पर्श कर सकूँ ॥ ३ ॥

अभिज्ञानं च रामस्य दद्या हरिगणोत्तम ।
क्षिप्तामिषीकां काकस्य कोपादेकाक्षिशातनीम् ॥ ४ ॥

'वानरश्रेष्ठ ! श्रीरामने क्रोधवश जो कौएकी एक आँखको फोड़नेवाली सींकका बाण चलाया था, उस प्रसङ्गको तुम पहचानके रूपमें उन्हें याद दिलाना ॥ ४ ॥

मनःशिलायास्तिलको गण्डपार्श्वे निवेशितः ।
त्वया प्रणष्टे तिलके तं किल स्मर्तुमर्हसि ॥ ५ ॥

'मेरी ओरसे यह भी कहना कि प्राणनाथ ! पहलेकी उस बातको भी याद कीजिये, जब कि मेरे कपोलमें लगे हुए तिलकके मिट जानेपर आपने अपने हाथसे मैनसिलका तिलक लगाया था ॥ ५ ॥

स वीर्यवान् कथं सीतां हृतां समनुमन्यसे ।
वसन्तीं रक्षसां मध्ये महेन्द्रवरुणोपम ॥ ६ ॥

'महेन्द्र और वरुणके समान पराक्रमी प्रियतम ! आप बलवान् होकर भी अपहृत होकर राक्षसोंके घरमें निवास करनेवाली मुझ सीताका तिरस्कार कैसे सहन करते हैं ? ॥ ६ ॥

एष चूडामणिर्दिव्यो मया सुपरिरक्षितः।
एतं दृष्ट्वा प्रहृष्यामि व्यसने त्वामिवानघ॥ ७॥

'निष्पाप प्राणेश्वर! इस दिव्य चूडामणिको मैंने बड़े यत्नसे सुरक्षित रखा था और संकटके समय इसे देखकर मानो मुझे आपका ही दर्शन हो गया हो, इस तरह मैं हर्षका अनुभव करती थी॥ ७॥

एष निर्यातितः श्रीमान् मया ते वारिसम्भवः।
अतः परं न शक्ष्यामि जीवितुं शोकलालसा॥ ८॥

'समुद्रके जलसे उत्पन्न हुआ यह कान्तिमान् मणिरत्न आज आपको लौटा रही हूँ। अब शोकसे आतुर होनेके कारण मैं अधिक समयतक जीवित नहीं रह सकूँगी॥ ८॥

असह्यानि च दुःखानि वाचश्च हृदयच्छिदः।
राक्षसैः सह संवासं त्वत्कृते मर्षयाम्यहम्॥ ९॥

'दुःसह दुःख, हृदयको छेदनेवाली बातें और राक्षसियोंके साथ निवास—यह सब कुछ मैं आपके लिये ही सह रही हूँ॥ ९॥

धारयिष्यामि मासं तु जीवितं शत्रुसूदन।
मासादूर्ध्वं न जीविष्ये त्वया हीना नृपात्मज॥ १०॥

'राजकुमार! शत्रुसूदन! मैं आपकी प्रतीक्षामें किसी तरह एक मासतक जीवन धारण करूँगी। इसके बाद आपके बिना मैं जीवित नहीं रह सकूँगी॥ १०॥

घोरो राक्षसराजोऽयं दृष्टिश्च न सुखा मयि।
त्वां च श्रुत्वा विषज्जन्तं न जीवेयमपि क्षणम्॥ ११॥

'यह राक्षसराज रावण बड़ा क्रूर है; मेरे प्रति इसकी दृष्टि भी अच्छी नहीं है। अब यदि आपको भी विलम्ब करते सुन लूँगी तो मैं क्षणभर भी जीवित नहीं रह सकती'॥ ११॥

वैदेह्या वचनं श्रुत्वा करुणं साश्रुभाषितम्।
अथाब्रवीन्महातेजा हनूमान् मारुतात्मजः॥ १२॥

सीताजीके यह आँसू बहाते कहे हुए करुणाजनक वचन सुनकर महातेजस्वी पवनकुमार हनुमान्‌जी बोले—॥ १२॥

त्वच्छोकविमुखो रामो देवि सत्येन ते शपे।
रामे शोकाभिभूते तु लक्ष्मणः परितप्यते॥ १३॥

'देवि! मैं सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ कि श्रीरघुनाथजी आपके शोकसे ही सब कामोंसे विमुख हो रहे हैं। श्रीरामके शोकातुर होनेसे लक्ष्मण भी बहुत दुःखी रहते हैं॥ १३॥

दृष्टा कथंचिद् भवती न कालः परिदेवितुम्।
इमं मुहूर्तं दुःखानामन्तं द्रक्ष्यसि भामिनि॥ १४॥

'अब किसी तरह आपका दर्शन हो गया, इसलिये रोने-धोने या शोक करनेका अवसर नहीं रहा। भामिनि! आप इसी मुहूर्तमें अपने सारे दुःखोंका अन्त हुआ देखेंगी॥ १४॥

तावुभौ पुरुषव्याघ्रौ राजपुत्रावनिन्दितौ।
त्वद्दर्शनकृतोत्साहौ लङ्कां भस्मीकरिष्यतः॥ १५॥

'वे दोनों भाई पुरुषसिंह राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण सर्वत्र प्रशंसित वीर हैं। आपके दर्शनके लिये उत्साहित होकर वे लङ्कापुरीको भस्म कर डालेंगे॥ १५॥

हत्वा तु समरे रक्षो रावणं सहबान्धवैः।
राघवौ त्वां विशालाक्षि स्वां पुरीं प्रति नेष्यतः॥ १६॥

विशाललोचने! राक्षस रावणको समराङ्गणमें उसके बन्धु-बान्धवोंसहित मारकर वे दोनों रघुवंशी बन्धु आपको अपनी पुरीमें ले जायँगे॥ १६॥

यत्तु रामो विजानीयादभिज्ञानमनिन्दिते।
प्रीतिसंजननं भूयस्तस्य त्वं दातुमर्हसि॥ १७॥

'सती-साध्वी देवि! जिसे श्रीरामचन्द्रजी जान सकें और जो उनके हृदयमें प्रेम एवं प्रसन्नताका संचार करनेवाली हो, ऐसी कोई और भी पहचान आपके पास हो तो वह उनके लिये आप मुझे दें'॥ १७॥

साब्रवीद् दत्तमेवाहो मयाभिज्ञानमुत्तमम्।
एतदेव हि रामस्य दृष्ट्वा यत्नेन भूषणम्॥ १८॥
श्रद्धेयं हनुमन् वाक्यं तव वीर भविष्यति।

तब सीताजीने कहा—'कपिश्रेष्ठ! मैंने तुम्हें उत्तम-से-उत्तम पहचान तो दे ही दी। वीर हनुमन्! इसी आभूषणको यत्नपूर्वक देख लेनेपर श्रीरामके लिये तुम्हारी सारी बातें विश्वसनीय हो जायँगी'॥१८½॥

स तं मणिवरं गृह्य श्रीमान् प्लवगसत्तमः॥ १९॥
प्रणम्य शिरसा देवीं गमनायोपचक्रमे।

उस श्रेष्ठ मणिको लेकर वानरशिरोमणि श्रीमान् हनुमान् देवी सीताको सिर झुका प्रणाम करनेके पश्चात् वहाँसे जानेको उद्यत हुए॥१९½॥

तमुत्पातकृतोत्साहमवेक्ष्य हरियूथपम्॥ २०॥
वर्धमानं महावेगमुवाच जनकात्मजा।
अश्रुपूर्णमुखी दीना बाष्पगद्गदया गिरा॥ २१॥

वानरयूथपति महावेगशाली हनुमान्‌को वहाँसे छलाँग मारनेके लिये उत्साहित हो बढ़ते देख जनकनन्दिनी सीताके मुखपर आँसुओंकी धारा बहने लगी। वे दुःखी हो अश्रु-गद्गद वाणीमें बोलीं—॥ २०-२१॥

हनूमन् सिंहसंकाशौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
सुग्रीवं च सहामात्यं सर्वान् ब्रूया अनामयम्॥ २२॥

'हनुमन्! सिंहके समान पराक्रमी दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणसे तथा मन्त्रियोंसहित सुग्रीव एवं अन्य सब वानरोंसे मेरा कुशल-मङ्गल कहना॥ २२॥

यथा च स महाबाहुर्मां तारयति राघवः।
अस्माद् दुःखाम्बुसंरोधात् त्वं समाधातुमर्हसि॥ २३॥

'महाबाहु श्रीरघुनाथजीको तुम्हें इस प्रकार समझाना चाहिये, जिससे वे दुःखके इस महासागरसे मेरा उद्धार करें॥ २३॥

इदं च तीव्रं मम शोकवेगं
रक्षोभिरेभिः परिभर्त्सनं च ।
ब्रूयास्तु रामस्य गतः समीपं
शिवश्च तेऽध्वास्तु हरिप्रवीर ॥ २४ ॥

'वानरोंके प्रमुख वीर! मेरा यह दुःसह शोक-वेग और इन राक्षसोंकी यह डाँट-डपट भी तुम श्रीरामके समीप जाकर कहना। जाओ, तुम्हारा मार्ग मङ्गलमय हो' ॥ २४ ॥

स राजपुत्र्या प्रतिवेदितार्थः
कपिः कृतार्थः परिहृष्टचेताः ।
तदल्पशेषं प्रसमीक्ष्य कार्यं
दिशं ह्युदीचीं मनसा जगाम ॥ २५ ॥

राजकुमारी सीताके उक्त अभिप्रायको जानकर कपिवर हनुमान्‌ने अपनेको कृतार्थ समझा और प्रसन्नचित्त होकर थोड़े-से शेष रहे कार्यका विचार करते हुए वहाँसे उत्तर दिशाकी ओर प्रस्थान किया ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें चालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४० ॥

—★—

एकचत्वारिंशः सर्गः

हनुमान्‌जीके द्वारा प्रमदावन (अशोकवाटिका) का विध्वंस

स च वाग्भिः प्रशस्ताभिर्गमिष्यन् पूजितस्तया ।
तस्माद् देशादपाक्रम्य चिन्तयामास वानरः ॥ १ ॥

सीताजीसे उत्तम वचनोंद्वारा समादर पाकर वानरवीर हनुमान्‌जी जब वहाँसे जाने लगे, तब उस स्थानसे दूसरी जगह हटकर वे इस प्रकार विचार करने लगे— ॥ १ ॥

अल्पशेषमिदं कार्यं दृष्टेयमसितेक्षणा ।
त्रीनुपायानतिक्रम्य चतुर्थ इह दृश्यते ॥ २ ॥

'मैंने कजरारे नेत्रोंवाली सीताजीका दर्शन तो कर लिया, अब मेरे इस कार्यका थोड़ा-सा अंश (शत्रुकी शक्तिका पता लगाना) शेष रह गया है। इसके लिये चार उपाय हैं—साम, दान, भेद और दण्ड। यहाँ साम आदि तीन उपायोंको लाँघकर केवल चौथे उपाय (दण्ड) का प्रयोग ही उपयोगी दिखायी देता है ॥ २ ॥

न साम रक्षःसु गुणाय कल्पते
न दानमर्थोपचितेषु युज्यते ।
न भेदसाध्या बलदर्पिता जनाः
पराक्रमस्त्वेष ममेह रोचते ॥ ३ ॥

'राक्षसोंके प्रति सामनीतिका प्रयोग करनेसे कोई लाभ नहीं होता। इनके पास धन भी बहुत है, अतः इन्हें दान देनेका भी कोई उपयोग नहीं है। इसके सिवा, ये बलके अभिमानमें चूर रहते हैं, अतः भेदनीतिके द्वारा भी इन्हें वशमें नहीं किया जा सकता। ऐसी दशामें मुझे यहाँ पराक्रम दिखाना ही उचित जान पड़ता है ॥ ३ ॥

न चास्य कार्यस्य पराक्रमादृते
विनिश्चयः कश्चिदिहोपपद्यते ।
हतप्रवीराश्च रणे तु राक्षसाः
कथंचिदीयुर्यदिहाद्य मार्दवम् ॥ ४ ॥

'इस कार्यकी सिद्धिके लिये पराक्रमके सिवा यहाँ और किसी उपायका अवलम्बन ठीक नहीं जँचता। यदि युद्धमें राक्षसोंके मुख्य-मुख्य वीर मारे जायँ तो ये लोग किसी तरह कुछ नरम पड़ सकते हैं ॥ ४ ॥

कार्ये कर्मणि निर्वृत्ते यो बहून्यपि साधयेत् ।
पूर्वकार्याविरोधेन स कार्यं कर्तुमर्हति ॥ ५ ॥

'जो पुरुष प्रधान कार्यके सम्पन्न हो जानेपर दूसरे-दूसरे बहुत-से कार्योंको भी सिद्ध कर लेता है और पहलेके कार्योंमें बाधा नहीं आने देता, वही कार्यको सुचारु रूपमें कर सकता है ॥ ५ ॥

न ह्येकः साधको हेतुः स्वल्पस्यापीह कर्मणः ।
यो ह्यर्थं बहुधा वेद स समर्थोऽर्थसाधने ॥ ६ ॥

'छोटे-से-छोटे कर्मकी भी सिद्धिके लिये कोई एक ही साधक हेतु नहीं हुआ करता। जो पुरुष किसी कार्य या प्रयोजनको अनेक प्रकारसे सिद्ध करनेकी कला जानता हो, वही कार्य-साधनमें समर्थ हो सकता है ॥ ६ ॥

इहैव तावत्कृतनिश्चयो ह्यहं
व्रजेयमद्य प्लवगेश्वरालयम् ।
परात्मसम्मर्दविशेषतत्त्ववित्
ततः कृतं स्यान्मम भर्तृशासनम् ॥ ७ ॥

'यदि इसी यात्रामें मैं इस बातको ठीक-ठीक समझ लूँ कि अपने और शत्रुपक्षमें युद्ध होनेपर कौन प्रबल होगा और कौन निर्बल, तत्पश्चात् भविष्यके कार्यका भी निश्चय करके आज सुग्रीवके पास चलूँ तो मेरे द्वारा स्वामीकी आज्ञाका पूर्णरूपसे पालन हुआ समझा जायगा ॥ ७ ॥

कथं नु खल्वद्य भवेत् सुखागतं
प्रसह्य युद्धं मम राक्षसैः सह ।

तथैव खल्वात्मबलं च सारवत्
समानयेन्मां च रणे दशाननः ॥ ८ ॥

'परंतु आज मेरा यहाँतक आना सुखद अथवा शुभ परिणामका जनक कैसे होगा? राक्षसोंके साथ हठात् युद्ध करनेका अवसर मुझे कैसे प्राप्त होगा? तथा दशमुख रावण समरमें अपनी सेनाको और मुझे भी तुलनात्मक दृष्टिसे देखकर कैसे यह समझ सकेगा कि कौन सबल है? ॥ ८ ॥

ततः समासाद्य रणे दशाननं
समन्त्रिवर्गं सबलं सयायिनम्।
हृदि स्थितं तस्य मतं बलं च
सुखेन मत्वाहमितः पुनर्व्रजे ॥ ९ ॥

'उस युद्धमें मन्त्री, सेना और सहायकोंसहित रावणका सामना करके मैं उसके हार्दिक अभिप्राय तथा सैनिक-शक्तिका अनायास ही पता लगा लूँगा। उसके बाद यहाँसे जाऊँगा ॥ ९ ॥

इदमस्य नृशंसस्य नन्दनोपममुत्तमम्।
वनं नेत्रमनःकान्तं नानाद्रुमलतायुतम् ॥ १० ॥

'इस निर्दयी रावणका यह सुन्दर उपवन नेत्रोंको आनन्द देनेवाला और मनोरम है। नाना प्रकारके वृक्षों और लताओंसे व्याप्त होनेके कारण यह नन्दनवनके समान उत्तम प्रतीत होता है ॥ १० ॥

इदं विध्वंसयिष्यामि शुष्कं वनमिवानलः।
अस्मिन् भग्ने ततः कोपं करिष्यति स रावणः ॥ ११ ॥

'जैसे आग सूखे वनको जला डालती है, उसी प्रकार मैं भी आज इस उपवनका विध्वंस कर डालूँगा। इसके भग्न हो जानेपर रावण अवश्य मुझपर क्रोध करेगा ॥ ११ ॥

ततो महत्साश्वमहारथद्विपं
बलं समानेष्यति राक्षसाधिपः।
त्रिशूलकालायसपट्टिशायुधं
ततो महद्युद्धमिदं भविष्यति ॥ १२ ॥

'तत्पश्चात् वह राक्षसराज हाथी, घोड़े तथा विशाल रथोंसे युक्त और त्रिशूल, कालायस एवं पट्टिश आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित बहुत बड़ी सेना लेकर आयेगा। फिर तो यहाँ महान् संग्राम छिड़ जायगा' ॥ १२ ॥

अहं च तैः संयति चण्डविक्रमैः
समेत्य रक्षोभिरभङ्गविक्रमः।
निहत्य तद् रावणचोदितं बलं
सुखं गमिष्यामि हरीश्वरालयम् ॥ १३ ॥

'उस युद्धमें मेरी गति रुक नहीं सकती। मेरा पराक्रम कुण्ठित नहीं हो सकता। मैं प्रचण्ड पराक्रम दिखानेवाले उन राक्षसोंसे भिड़ जाऊँगा और रावणकी भेजी हुई उस सारी सेनाको मौतके घाट उतारकर सुखपूर्वक सुग्रीवके निवासस्थान किष्किन्धापुरीको लौट जाऊँगा' ॥ १३ ॥

ततो मारुतवत् क्रुद्धो मारुतिर्भीमविक्रमः।
ऊरुवेगेन महता द्रुमान् क्षेप्तुमथारभत् ॥ १४ ॥

ऐसा सोचकर भयानक पुरुषार्थ प्रकट करनेवाले पवनकुमार हनुमान्‌जी क्रोधसे भर गये और वायुके समान बड़े भारी वेगसे वृक्षोंको उखाड़-उखाड़कर फेंकने लगे ॥ १४ ॥

ततस्तद्धनुमान् वीरो बभञ्ज प्रमदावनम्।
मत्तद्विजसमाघुष्टं नानाद्रुमलतायुतम् ॥ १५ ॥

तदनन्तर वीर हनुमान्‌ने मतवाले पक्षियोंके कलरवसे मुखरित और नाना प्रकारके वृक्षों एवं लताओंसे भरे-पूरे उस प्रमदावन (अन्तःपुरके उपवन) को उजाड़ डाला ॥ १५ ॥

तद्वनं मथितैर्वृक्षैर्भिन्नैश्च सलिलाशयैः।
चूर्णितैः पर्वताग्रैश्च बभूवाप्रियदर्शनम् ॥ १६ ॥

वहाँके वृक्षोंको खण्ड-खण्ड कर दिया। जलाशयोंको मथ डाला और पर्वत-शिखरोंको चूर-चूर कर डाला। इससे वह सुन्दर वन कुछ ही क्षणोंमें अभव्य दिखायी देने लगा ॥ १६ ॥

नानाशकुन्तविरुतैः प्रभिन्नसलिलाशयैः।
ताम्रैः किसलयैः क्लान्तैः क्लान्तद्रुमलतायुतैः ॥ १७ ॥
न बभौ तद् वनं तत्र दावानलहतं यथा।
व्याकुलावरणा रेजुर्विह्वला इव ता लताः ॥ १८ ॥

नाना प्रकारके पक्षी वहाँ भयके मारे चें-चें करने लगे, जलाशयोंके घाट टूट-फूट गये, तामेके समान वृक्षोंके लाल-लाल पल्लव मुरझा गये तथा वहाँके वृक्ष और लताएँ भी रौंद डाली गयीं। इन सब कारणोंसे वह प्रमदावन वहाँ ऐसा जान पड़ता था, मानो दावानलसे झुलस गया हो। वहाँकी लताएँ अपने आवरणोंके नष्ट-भ्रष्ट हो जानेसे घबरायी हुई स्त्रियोंके समान प्रतीत होती थीं ॥ १७-१८ ॥

लतागृहैश्चित्रगृहैश्च सादितै-
र्व्यालैर्मृगैरार्तरवैश्च पक्षिभिः।
शिलागृहैरुन्मथितैस्तथा गृहैः
प्रणष्टरूपं तदभून्महद् वनम् ॥ १९ ॥

लतामण्डप और चित्रशालाएँ उजाड़ हो गयीं। पाले हुए हिंसक जन्तु, मृग तथा तरह-तरहके पक्षी आर्तनाद करने लगे। प्रस्तरनिर्मित प्रासाद तथा अन्य साधारण गृह भी तहस-नहस हो गये। इससे उस महान् प्रमदावनका सारा रूप-सौन्दर्य नष्ट हो गया ॥ १९ ॥

सा विह्वलाशोकलताप्रताना
वनस्थली शोकलताप्रताना।
जाता दशास्यप्रमदावनस्य
कपेर्बलाद्धि प्रमदावनस्य ॥ २० ॥

दशमुख रावणकी स्त्रियोंकी रक्षा करनेवाले तथा अन्तःपुरके क्रीडाविहारके लिये उपयोगी उस विशाल

काननकी भूमि, जहाँ चञ्चल अशोक-लताओंके समूह शोभा पाते थे, कपिवर हनुमान्‌जीके बलप्रयोगसे श्रीहीन होकर शोचनीय लताओंके विस्तारसे युक्त हो गयी (उसकी दुरवस्था देखकर दर्शकके मनमें दुःख होता था) ॥ २० ॥

ततः स कृत्वा जगतीपतेर्महान्
महद् व्यलीकं मनसो महात्मनः ।
युयुत्सुरेको बहुभिर्महाबलैः
श्रियाज्वलंस्तोरणमाश्रितः कपिः ॥ २१ ॥

इस प्रकार महामना राजा रावणके मनको विशेष कष्ट पहुँचानेवाला कार्य करके अनेक महाबलियोंके साथ अकेले ही युद्ध करनेका हौसला लेकर कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌जी प्रमदावनके फाटकपर आ गये। उस समय वे अपने अद्भुत तेजसे प्रकाशित हो रहे थे ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे एकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें इकतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

—★—

द्विचत्वारिंशः सर्गः

राक्षसियोंके मुखसे एक वानरके द्वारा प्रमदावनके विध्वंसका समाचार सुनकर रावणका किंकर नामक राक्षसोंको भेजना और हनुमान्‌जीके द्वारा उन सबका संहार

ततः पक्षिनिनादेन वृक्षभङ्गस्वनेन च ।
बभूवुस्त्राससम्भ्रान्ताः सर्वे लङ्कानिवासिनः ॥ १ ॥

उधर पक्षियोंके कोलाहल और वृक्षोंके टूटनेकी आवाज सुनकर समस्त लङ्कानिवासी भयसे घबरा उठे ॥ १ ॥

विद्रुताश्च भयत्रस्ता विनेदुर्मृगपक्षिणः ।
रक्षसां च निमित्तानि क्रूराणि प्रतिपेदिरे ॥ २ ॥

पशु और पक्षी भयभीत होकर भागने तथा आर्तनाद करने लगे। राक्षसोंके सामने भयंकर अपशकुन प्रकट होने लगे ॥ २ ॥

ततो गतायां निद्रायां राक्षस्यो विकृताननाः ।
तद् वनं ददृशुर्भग्नं तं च वीरं महाकपिम् ॥ ३ ॥

प्रमदावनमें सोयी हुई विकराल मुखवाली राक्षसियोंकी निद्रा टूट गयी। उन्होंने उठनेपर उस वनको उजड़ा हुआ देखा। साथ ही उनकी दृष्टि उन वीर महाकपि हनुमान्‌जीपर भी पड़ी ॥ ३ ॥

स ता दृष्ट्वा महाबाहुर्महासत्त्वो महाबलः ।
चकार सुमहद्रूपं राक्षसीनां भयावहम् ॥ ४ ॥

महाबली, महान् साहसी एवं महाबाहु हनुमान्‌जीने जब उन राक्षसियोंको देखा, तब उन्हें डरानेवाला विशाल रूप धारण कर लिया ॥ ४ ॥

ततस्तु गिरिसंकाशमतिकायं महाबलम् ।
राक्षस्यो वानरं दृष्ट्वा पप्रच्छुर्जनकात्मजाम् ॥ ५ ॥

पर्वतके समान बड़े शरीरवाले महाबली वानरको देखकर वे राक्षसियाँ जनकनन्दिनी सीतासे पूछने लगीं— ॥ ५ ॥

कोऽयं कस्य कुतो वायं किंनिमित्तमिहागतः ।
कथं त्वया सहानेन संवादः कृत इत्युत ॥ ६ ॥
आचक्ष्व नो विशालाक्षि मा भूत् ते सुभगे भयम् ।
संवादमसितापाङ्गि त्वया किं कृतवानयम् ॥ ७ ॥

'विशाललोचने! यह कौन है? किसका है? और कहाँसे किस लिये यहाँ आया है? इसने तुम्हारे साथ क्यों बातचीत की है? कजरारे नेत्रप्रान्तवाली सुन्दरि! ये सब बातें हमें बताओ। तुम्हें डरना नहीं चाहिये। इसने तुम्हारे साथ क्या बातें की थीं?' ॥ ६-७ ॥

अथाब्रवीत् तदा साध्वी सीता सर्वाङ्गशोभना ।
रक्षसां कामरूपाणां विज्ञाने का गतिर्मम ॥ ८ ॥

तब सर्वाङ्गसुन्दरी साध्वी सीताने कहा—'इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले राक्षसोंको समझने या पहचाननेका मेरे पास क्या उपाय है? ॥ ८ ॥

यूयमेवास्य जानीत योऽयं यद् वा करिष्यति ।
अहिरेव ह्यहेः पादान् विजानाति न संशयः ॥ ९ ॥

'तुम्हीं जानो यह कौन है और क्या करेगा? साँपके पैरोंको साँप ही पहचानता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ९ ॥

अहमप्यतिभीतास्मि नैव जानामि को ह्ययम् ।
वेद्मि राक्षसमेवैनं कामरूपिणमागतम् ॥ १० ॥

'मैं भी इसे देखकर बहुत डरी हुई हूँ। मुझे नहीं मालूम कि यह कौन है? मैं तो इसे इच्छानुसार रूप धारण करके आया हुआ कोई राक्षस ही समझती हूँ' ॥ १० ॥

वैदेह्या वचनं श्रुत्वा राक्षस्यो विद्रुता द्रुतम् ।
स्थिताः काश्चिद्गताः काश्चिद् रावणाय निवेदितुम् ॥ ११ ॥

विदेहनन्दिनी सीताकी यह बात सुनकर राक्षसियाँ बड़े वेगसे भागीं। उनमेंसे कुछ तो वहीं खड़ी हो गयीं और कुछ

रावणको सूचना देनेके लिये चली गयीं ॥ ११ ॥

रावणस्य समीपे तु राक्षस्यो विकृताननाः ।
विरूपं वानरं भीमं रावणाय न्यवेदिषुः ॥ १२ ॥

रावणके समीप जाकर उन विकराल मुखवाली राक्षसियोंने रावणको यह सूचना दी कि कोई विकटरूपधारी भयंकर वानर प्रमदावनमें आ पहुँचा है ॥ १२ ॥

अशोकवनिकामध्ये राजन् भीमवपुः कपिः ।
सीतया कृतसंवादस्तिष्ठत्यमितविक्रमः ॥ १३ ॥

वे बोलीं—'राजन्! अशोकवाटिकामें एक वानर आया है, जिसका शरीर बड़ा भयंकर है। उसने सीतासे बातचीत की है। वह महापराक्रमी वानर अभी वहीं मौजूद है ॥ १३ ॥

न च तं जानकी सीता हरिं हरिणलोचना ।
अस्माभिर्बहुधा पृष्टा निवेदयितुमिच्छति ॥ १४ ॥

'हमने बहुत पूछा तो भी जनककिशोरी मृगनयनी सीता उस वानरके विषयमें हमें कुछ बताना नहीं चाहती हैं ॥ १४ ॥

वासवस्य भवेद् दूतो दूतो वैश्रवणस्य वा ।
प्रेषितो वापि रामेण सीतान्वेषणकाङ्क्षया ॥ १५ ॥

'सम्भव है वह इन्द्र या कुबेरका दूत हो अथवा श्रीरामने ही उसे सीताकी खोजके लिये भेजा हो ॥ १५ ॥

तेनैवाद्भुतरूपेण यत्तत्तव मनोहरम् ।
नानामृगगणाकीर्णं प्रमृष्टं प्रमदावनम् ॥ १६ ॥

'अद्भुत रूप धारण करनेवाले उस वानरने आपके मनोहर प्रमदावनको, जिसमें नाना प्रकारके पशु-पक्षी रहा करते थे, उजाड़ दिया ॥ १६ ॥

न तत्र कश्चिदुद्देशो यस्तेन न विनाशितः ।
यत्र सा जानकी देवी स तेन न विनाशितः ॥ १७ ॥

'प्रमदावनका कोई भी ऐसा भाग नहीं है, जिसको उसने नष्ट न कर डाला हो। केवल वह स्थान, जहाँ जानकी देवी रहती हैं, उसने नष्ट नहीं किया है ॥ १७ ॥

जानकीरक्षणार्थं वा श्रमाद् वा नोपलक्ष्यते ।
अथवा कः श्रमस्तस्य सैव तेनाभिरक्षिता ॥ १८ ॥

'जानकीजीकी रक्षाके लिये उसने उस स्थानको बचा दिया है या परिश्रमसे थककर—यह निश्चित रूपसे नहीं जान पड़ता है। अथवा उसे परिश्रम तो क्या हुआ होगा? उसने उस स्थानको बचाकर सीताकी ही रक्षा की है ॥ १८ ॥

चारुपल्लवपत्राढ्यं यं सीता स्वयमास्थिता ।
प्रवृद्धः शिंशपावृक्षः स च तेनाभिरक्षितः ॥ १९ ॥

'मनोहर पल्लवों और पत्तोंसे भरा हुआ वह विशाल अशोक वृक्ष, जिसके नीचे सीताका निवास है, उसने सुरक्षित रख छोड़ा है ॥ १९ ॥

तस्योग्ररूपस्योग्रं त्वं दण्डमाज्ञातुमर्हसि ।
सीता सम्भाषिता येन वनं तेन विनाशितम् ॥ २० ॥

'जिसने सीतासे वार्तालाप किया और उस वनको उजाड़ डाला, उस उग्र रूपधारी वानरको आप कोई कठोर दण्ड देनेकी आज्ञा प्रदान करें ॥ २० ॥

मनःपरिगृहीतां तां तव रक्षोगणेश्वर ।
कः सीतामभिभाषेत यो न स्यात् त्यक्तजीवितः ॥ २१ ॥

'राक्षसराज! जिन्हें आपने अपने हृदयमें स्थान दिया है, उन सीता देवीसे कौन बातें कर सकता है? जिसने अपने प्राणोंका मोह नहीं छोड़ा है, वह उनसे वार्तालाप कैसे कर सकता है?' ॥ २१ ॥

राक्षसीनां वचः श्रुत्वा रावणो राक्षसेश्वरः ।
चिताग्निरिव जज्वाल कोपसंवर्तितेक्षणः ॥ २२ ॥

राक्षसियोंकी यह बात सुनकर राक्षसोंका राजा रावण प्रज्वलित चिताकी भाँति क्रोधसे जल उठा। उसके नेत्र रोषसे घूमने लगे ॥ २२ ॥

तस्य क्रुद्धस्य नेत्राभ्यां प्रापतन्नश्रुबिन्दवः ।
दीप्ताभ्यामिव दीपाभ्यां सार्चिषः स्नेहबिन्दवः ॥ २३ ॥

क्रोधमें भरे हुए रावणकी आँखोंसे आँसूकी बूँदें टपकने लगीं, मानो जलते हुए दो दीपकोंसे आगकी लपटोंके साथ तेलकी बूँदें झर रही हों ॥ २३ ॥

आत्मनः सदृशान् वीरान् किंकरान्नाम राक्षसान् ।
व्यादिदेश महातेजा निग्रहार्थं हनूमतः ॥ २४ ॥

उस महातेजस्वी निशाचरने हनुमान्‌जीको कैद करनेके लिये अपने ही समान वीर किंकर नामधारी राक्षसोंको जानेकी आज्ञा दी ॥ २४ ॥

तेषामशीतिसाहस्रं किंकराणां तरस्विनाम् ।
निर्ययुर्भवनात् तस्मात् कूटमुद्गरपाणयः ॥ २५ ॥

राजाकी आज्ञा पाकर अस्सी हजार वेगवान् किंकर हाथोंमें कूट और मुद्गर लिये उस महलसे बाहर निकले ॥ २५ ॥

महोदरा महादंष्ट्रा घोररूपा महाबलाः ।
युद्धाभिमनसः सर्वे हनूमद्ग्रहणोन्मुखाः ॥ २६ ॥

उनकी दाढ़ें विशाल, पेट बड़ा और रूप भयानक था। वे सब-के-सब महान् बली, युद्धके अभिलाषी और हनुमान्‌जीको पकड़नेके लिये उत्सुक थे ॥ २६ ॥

ते कपिं तं समासाद्य तोरणस्थमवस्थितम् ।
अभिपेतुर्महावेगाः पतङ्गा इव पावकम् ॥ २७ ॥

प्रमदावनके फाटकपर खड़े हुए उन वानरवीरके पास पहुँचकर वे महान् वेगशाली निशाचर उनपर चारों ओरसे इस प्रकार झपटे, जैसे फतिंगे आगपर टूट पड़े हों ॥ २७ ॥

ते गदाभिर्विचित्राभिः परिघैः काञ्चनाङ्गदैः ।
आजघ्नुर्वानरश्रेष्ठं शरैरादित्यसंनिभैः ॥ २८ ॥

वे विचित्र गदाओं, सोनेसे मढ़े हुए परिघों और सूर्यके समान प्रज्वलित बाणोंके साथ वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌पर चढ़ आये ॥ २८ ॥

मुद्गरैः पट्टिशैः शूलैः प्रासतोमरपाणयः ।
परिवार्य हनूमन्तं सहसा तस्थुरग्रतः ॥ २९ ॥

हाथमें प्रास और तोमर लिये मुद्गर, पट्टिश और शूलोंसे सुसज्जित हो वे सहसा हनुमान्‌को चारों ओरसे घेरकर उनके सामने खड़े हो गये ॥ २९ ॥

हनूमानपि तेजस्वी श्रीमान् पर्वतसंनिभः।
क्षितावाविद्ध्य लाङ्गूलं ननाद च महाध्वनिम्॥ ३०॥

तब पर्वतके समान विशाल शरीरवाले तेजस्वी श्रीमान् हनुमान् भी अपनी पूँछको पृथ्वीपर पटककर बड़े जोरसे गर्जने लगे ॥ ३० ॥

स भूत्वा तु महाकायो हनूमान् मारुतात्मजः।
पुच्छमास्फोटयामास लङ्कां शब्देन पूरयन्॥ ३१॥

पवनपुत्र हनुमान् अत्यन्त विशाल शरीर धारण करके अपनी पूँछ फटकारने और उसके शब्दसे लङ्काको प्रतिध्वनित करने लगे ॥ ३१ ॥

तस्यास्फोटितशब्देन महता चानुनादिना।
पेतुर्विहङ्गा गगनादुच्चैश्चेदमघोषयत्॥ ३२॥

उनकी पूँछ फटकारनेका गम्भीर घोष बहुत दूरतक गूँज उठता था। उससे भयभीत हो पक्षी आकाशसे गिर पड़ते थे। उस समय हनुमान्‌जीने उच्च स्वरसे इस प्रकार घोषणा की— ॥ ३२ ॥

जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः।
राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः॥ ३३॥
दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः।
हनूमाञ्शत्रुसैन्यानां निहन्ता मारुतात्मजः॥ ३४॥
न रावणसहस्रं मे युद्धे प्रतिबलं भवेत्।
शिलाभिश्च प्रहरतः पादपैश्च सहस्रशः॥ ३५॥
अर्दयित्वा पुरीं लङ्कामभिवाद्य च मैथिलीम्।
समृद्धार्थो गमिष्यामि मिषतां सर्वरक्षसाम्॥ ३६॥

'अत्यन्त बलवान् भगवान् श्रीराम तथा महाबली लक्ष्मणकी जय हो। श्रीरघुनाथजीके द्वारा सुरक्षित राजा सुग्रीवकी भी जय हो। मैं अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले कोसलनरेश श्रीरामचन्द्रजीका दास हूँ। मेरा नाम हनुमान् है। मैं वायुका पुत्र तथा शत्रुसेनाका संहार करनेवाला हूँ। जब मैं हजारों वृक्ष और पत्थरोंसे प्रहार करने लगूँगा, उस समय सहस्रों रावण मिलकर भी युद्धमें मेरे बलकी समानता अथवा मेरा सामना नहीं कर सकते। मैं लङ्कापुरीको तहस-नहस कर डालूँगा और मिथिलेशकुमारी सीताको प्रणाम करनेके अनन्तर सब राक्षसोंके देखते-देखते अपना कार्य सिद्ध करके जाऊँगा' ॥ ३३—३६ ॥

तस्य संनादशब्देन तेऽभवन् भयशङ्किताः।
ददृशुश्च हनूमन्तं संध्यामेघमिवोन्नतम्॥ ३७॥

हनुमान्‌जीकी इस गर्जनासे समस्त राक्षसोंपर भय एवं आतङ्क छा गया। उन सबने हनुमान्‌जीको देखा। वे संध्या-कालके ऊँचे मेघके समान लाल एवं विशालकाय दिखायी देते थे ॥ ३७ ॥

स्वामिसंदेशनिःशङ्कास्ततस्ते राक्षसाः कपिम्।
चित्रैः प्रहरणैर्भीमैरभिपेतुस्ततस्ततः॥ ३८॥

हनुमान्‌जीने अपने स्वामीका नाम लेकर स्वयं ही अपना परिचय दे दिया था, इसलिये राक्षसोंको उन्हें पहचाननेमें कोई संदेह नहीं रहा। वे नाना प्रकारके भयंकर अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करते हुए चारों ओरसे उनपर टूट पड़े ॥ ३८ ॥

स तैः परिवृतः शूरैः सर्वतः स महाबलः।
आससादायसं भीमं परिघं तोरणाश्रितम्॥ ३९॥

उन शूरवीर राक्षसोंद्वारा सब ओरसे घिर जानेपर महाबली हनुमान्‌ने फाटकपर रखा हुआ एक भयंकर लोहेका परिघ उठा लिया ॥ ३९ ॥

स तं परिघमादाय जघान रजनीचरान्।
सपन्नगमिवादाय स्फुरन्तं विनतासुतः॥ ४०॥

जैसे विनतानन्दन गरुड़ने छटपटाते हुए सर्पको पंजोंमें दाब रखा हो, उसी प्रकार उस परिघको हाथमें लेकर हनुमान्‌जीने उन निशाचरोंका संहार आरम्भ किया ॥ ४० ॥

विचचाराम्बरे वीरः परिगृह्य च मारुतिः।
सूदयामास वज्रेण दैत्यानिव सहस्रदृक्॥ ४१॥

वीर पवनकुमार उस परिघको लेकर आकाशमें विचरने लगे। जैसे सहस्रनेत्रधारी इन्द्र अपने वज्रसे दैत्योंका वध करते हैं, उसी प्रकार उन्होंने उस परिघसे सामने आये हुए समस्त राक्षसोंको मार डाला ॥ ४१ ॥

स हत्वा राक्षसान् वीरः किंकरान् मारुतात्मजः।
युद्धाकाङ्क्षी महावीरस्तोरणं समवस्थितः॥ ४२॥

उन किंकर नामधारी राक्षसोंका वध करके महावीर पवनपुत्र हनुमान्‌जी युद्धकी इच्छासे पुनः उस फाटकपर खड़े हो गये ॥ ४२ ॥

ततस्तस्माद् भयान्मुक्ताः कतिचित्तत्र राक्षसाः।
निहतान् किंकरान् सर्वान् रावणाय न्यवेदयन्॥ ४३॥

तदनन्तर वहाँ उस भयसे मुक्त हुए कुछ राक्षसोंने जाकर रावणको यह समाचार निवेदन किया कि समस्त किंकर नामक राक्षस मार डाले गये ॥ ४३ ॥

स राक्षसानां निहतं महाबलं
निशम्य राजा परिवृत्तलोचनः।
समादिदेशाप्रतिमं पराक्रमे
प्रहस्तपुत्रं समरे सुदुर्जयम्॥ ४४॥

राक्षसोंकी उस विशाल सेनाको मारी गयी सुनकर राक्षसराज रावणकी आँखें चढ़ गयीं और उसने प्रहस्तके पुत्रको जिसके पराक्रमकी कहीं तुलना नहीं थी तथा युद्धमें जिसे परास्त करना नितान्त कठिन था, हनुमान्‌जीका सामना करनेके लिये भेजा ॥ ४४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे द्विचत्वारिंशः सर्गः॥ ४२॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें बयालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

हनुमान्‌जीके द्वारा चैत्यप्रासादका विध्वंस तथा उसके रक्षकोंका वध

ततः स किंकरान् हत्वा हनूमान् ध्यानमास्थितः।
वनं भग्नं मया चैत्यप्रासादो न विनाशितः॥ १॥

इधर किंकरोंका वध करके हनुमान्‌जी यह सोचने लगे कि 'मैंने वनको तो उजाड़ दिया, परंतु इस चैत्य[1]प्रासादको नष्ट नहीं किया है॥ १॥

तस्मात् प्रासादमद्यैवमिमं विध्वंसयाम्यहम्।
इति संचिन्त्य हनुमान् मनसादर्शयन् बलम्॥ २॥
चैत्यप्रासादमुत्प्लुत्य मेरुशृङ्गमिवोन्नतम्।
आरुरोह हरिश्रेष्ठो हनूमान् मारुतात्मजः॥ ३॥

'अतः आज इस चैत्यप्रासादका भी विध्वंस किये देता हूँ।' मन-ही-मन ऐसा विचारकर पवनपुत्र वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌जी अपने बलका प्रदर्शन करते हुए मेरुपर्वतके शिखरकी भाँति ऊँचे उस चैत्यप्रासादपर उछलकर चढ़ गये॥ २-३॥

आरुह्य गिरिसंकाशं प्रासादं हरियूथपः।
बभौ स सुमहातेजाः प्रतिसूर्य इवोदितः॥ ४॥

उस पर्वताकार प्रासादपर चढ़कर महातेजस्वी वानर-यूथपति हनुमान् तुरंतके उगे हुए दूसरे सूर्यकी भाँति शोभा पाने लगे॥ ४॥

सम्प्रधृष्य तु दुर्धर्षश्चैत्यप्रासादमुन्नतम्।
हनूमान् प्रज्वलँल्लक्ष्म्या पारियात्रोपमोऽभवत्॥ ५॥

उस ऊँचे प्रासादपर आक्रमण करके दुर्धर्ष वीर हनुमान्‌जी अपनी सहज शोभासे उद्भासित होते हुए पारियात्र पर्वतके समान प्रतीत होने लगे॥ ५॥

स भूत्वा सुमहाकायः प्रभावान् मारुतात्मजः।
धृष्टमास्फोटयामास लङ्कां शब्देन पूरयन्॥ ६॥

वे तेजस्वी पवनकुमार विशाल शरीर धारण करके लङ्काको प्रतिध्वनित करते हुए धृष्टतापूर्वक उस प्रासादको तोड़ने-फोड़ने लगे॥ ६॥

तस्यास्फोटितशब्देन महता श्रोत्रघातिना।
पेतुर्विहंगमास्तत्र चैत्यपालाश्च मोहिताः॥ ७॥

जोर-जोरसे होनेवाला वह तोड़-फोड़का शब्द कानोंसे टकराकर उन्हें बहरा किये देता था। इससे मूर्छित हो वहाँके पक्षी और प्रासादरक्षक भी पृथ्वीपर गिर पड़े॥ ७॥

अस्त्रविज्जयतां रामो लक्ष्मणश्च महाबलः।
राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः॥ ८॥
दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः।
हनूमाञ्शत्रुसैन्यानां निहन्ता मारुतात्मजः॥ ९॥
न रावणसहस्रं मे युद्धे प्रतिबलं भवेत्।
शिलाभिश्च प्रहरतः पादपैश्च सहस्रशः॥ १०॥
धर्षयित्वा पुरीं लङ्कामभिवाद्य च मैथिलीम्।
समृद्धार्थो गमिष्यामि मिषतां सर्वरक्षसाम्॥ ११॥

उस समय हनुमान्‌जीने पुनः वह घोषणा की—'अस्त्रवेत्ता भगवान् श्रीराम तथा महाबली लक्ष्मणकी जय हो। श्रीरघुनाथजीके द्वारा सुरक्षित राजा सुग्रीवकी भी जय हो। मैं अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले कोसलनरेश श्रीरामचन्द्रजीका दास हूँ। मेरा नाम हनुमान् है। मैं वायुका पुत्र तथा शत्रुसेनाका संहार करनेवाला हूँ। जब मैं हजारों वृक्षों और पत्थरोंसे प्रहार करने लगूँगा, उस समय सहस्रों रावण मिलकर भी युद्धमें मेरे बलकी समानता अथवा मेरा सामना नहीं कर सकते। मैं लङ्कापुरीको तहस-नहस कर डालूँगा और मिथिलेशकुमारी सीताको प्रणाम करनेके अनन्तर सब राक्षसोंके देखते-देखते अपना कार्य सिद्ध करके जाऊँगा'॥ ८—११॥

एवमुक्त्वा महाकायश्चैत्यस्थो हरियूथपः।
ननाद भीमनिर्ह्रादो रक्षसां जनयन् भयम्॥ १२॥

ऐसा कहकर चैत्यप्रासादपर खड़े हुए विशालकाय वानरयूथपति हनुमान् राक्षसोंके मनमें भय उत्पन्न करते हुए भयानक आवाजमें गर्जना करने लगे॥ १२॥

तेन नादेन महता चैत्यपालाः शतं ययुः।
गृहीत्वा विविधानस्त्रान् प्रासान् खड्गान् परश्वधान्॥ १३॥

उस भीषण गर्जनासे प्रभावित हो सैकड़ों प्रासादरक्षक नाना प्रकारके प्रास, खड्ग और फरसे लिये वहाँ आये॥ १३॥

विसृजन्तो महाकाया मारुतिं पर्यवारयन्।
ते गदाभिर्विचित्राभिः परिघैः काञ्चनाङ्गदैः॥ १४॥
आजग्मुर्वानरश्रेष्ठं बाणैश्चादित्यसंनिभैः।

उन विशालकाय राक्षसोंने उन सब अस्त्रोंका प्रहार करते हुए वहाँ पवनकुमार हनुमान्‌जीको घेर लिया। विचित्र गदाओं, सोनेके पत्र जड़े हुए परिघों और सूर्यतुल्य तेजस्वी बाणोंसे सुसज्जित हो वे सब-के-सब उन वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌पर चढ़ आये॥ १४½॥

आवर्त इव गङ्गायास्तोयस्य विपुलो महान्॥ १५॥
परिक्षिप्य हरिश्रेष्ठं स बभौ रक्षसां गणः।

वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌को चारों ओरसे घेरकर खड़ा हुआ राक्षसोंका वह महान् समुदाय गङ्गाजीके जलमें उठी हुई बड़ी भारी भँवरके समान जान पड़ता था॥ १५½॥

---

1. लङ्कामें राक्षसोंके कुलदेवताका जो स्थान था, उसीका नाम चैत्यप्रासाद रखा गया था।

ततो वातात्मजः क्रुद्धो भीमरूपं समास्थितः ॥ १६ ॥
प्रासादस्य महांस्तस्य स्तम्भं हेमपरिष्कृतम् ।
उत्पाटयित्वा वेगेन हनूमान् मारुतात्मजः ॥ १७ ॥
ततस्तं भ्रामयामास शतधारं महाबलः ।
तत्र चाग्निः समभवत् प्रासादश्चाप्यदह्यत ॥ १८ ॥

तब राक्षसोंको इस प्रकार आक्रमण करते देख पवनकुमार हनुमान्‌ने कुपित हो बड़ा भयंकर रूप धारण किया। उन महावीरने उस प्रासादके एक सुवर्णभूषित खंभेको, जिसमें सौ धारें थीं, बड़े वेगसे उखाड़ लिया। उखाड़कर उन महाबली वीरने उसे घुमाना आरम्भ किया। घुमानेपर उससे आग प्रकट हो गयी, जिससे वह प्रासाद जलने लगा ॥ १६—१८ ॥

दह्यमानं ततो दृष्ट्वा प्रासादं हरियूथपः ।
स राक्षसशतं हत्वा वज्रेणेन्द्र इवासुरान् ॥ १९ ॥
अन्तरिक्षस्थितः श्रीमानिदं वचनमब्रवीत् ।

प्रासादको जलते देख वानरयूथपति हनुमान्‌ने वज्रसे असुरोंका संहार करनेवाले इन्द्रकी भाँति उन सैकड़ों राक्षसोंको उस खंभेसे ही मार डाला और आकाशमें खड़े होकर उन तेजस्वी वीरने इस प्रकार कहा— ॥ १९½ ॥

मादृशानां सहस्राणि विसृष्टानि महात्मनाम् ॥ २० ॥
बलिनां वानरेन्द्राणां सुग्रीववशवर्तिनाम् ।

'राक्षसो! सुग्रीवके वशमें रहनेवाले मेरे-जैसे सहस्रों विशालकाय बलवान् वानरश्रेष्ठ सब ओर भेजे गये हैं ॥ २०½ ॥

अटन्ति वसुधां कृत्स्नां वयमन्ये च वानराः ॥ २१ ॥
दशनागबलाः केचित् केचिद् दशगुणोत्तराः ।
केचिन्नागसहस्रस्य बभूवुस्तुल्यविक्रमाः ॥ २२ ॥

'हम तथा दूसरे सभी वानर समूची पृथ्वीपर घूम रहे हैं। किन्हींमें दस हाथियोंका बल है तो किन्हींमें सौ हाथियोंका। कितने ही वानर एक सहस्र हाथियोंके समान बल-विक्रमसे सम्पन्न हैं ॥ २१-२२ ॥

सन्ति चौघबलाः केचित् सन्ति वायुबलोपमाः ।
अप्रमेयबलाः केचित् तत्रासन् हरियूथपाः ॥ २३ ॥

'किन्हींका बल जलके महान् प्रवाहकी भाँति असह्य है। कितने ही वायुके समान बलवान् हैं और कितने ही वानर-यूथपति अपने भीतर असीम बल धारण करते हैं ॥ २३ ॥

ईदृग्विधैस्तु हरिभिर्वृतो दन्तनखायुधैः ।
शतैः शतसहस्रैश्च कोटिभिश्चायुतैरपि ॥ २४ ॥
आगमिष्यति सुग्रीवः सर्वेषां वो निषूदनः ।

'दाँत और नख ही जिनके आयुध हैं ऐसे अनन्त बलशाली सैकड़ों, हजारों, लाखों और करोड़ों वानरोंसे घिरे हुए वानरराज सुग्रीव यहाँ पधारेंगे, जो तुम सब निशाचरोंका संहार करनेमें समर्थ हैं ॥ २४½ ॥

नेयमस्ति पुरी लङ्का न यूयं न च रावणः ।
यस्य त्विक्ष्वाकुवीरेण बद्धं वैरं महात्मना ॥ २५ ॥

'अब न तो यह लङ्कापुरी रहेगी, न तुमलोग रहोगे और न वह रावण ही रह सकेगा, जिसने इक्ष्वाकुवंशी वीर महात्मा श्रीरामके साथ वैर बाँध रखा है' ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें तैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

—★—

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

प्रहस्त-पुत्र जम्बुमालीका वध

संदिष्टो राक्षसेन्द्रेण प्रहस्तस्य सुतो बली ।
जम्बुमाली महादंष्ट्रो निर्जगाम धनुर्धरः ॥ १ ॥

राक्षसराज रावणकी आज्ञा पाकर प्रहस्तका बलवान् पुत्र जम्बुमाली, जिसकी दाढ़ें बहुत बड़ी थीं, हाथमें धनुष लिये राजमहलसे बाहर निकला ॥ १ ॥

रक्तमाल्याम्बरधरः स्रग्वी रुचिरकुण्डलः ।
महान् विवृत्तनयनश्चण्डः समरदुर्जयः ॥ २ ॥

वह लाल रंगके फूलोंकी माला और लाल रंगके ही वस्त्र पहने हुए था। उसके गलेमें हार और कानोंमें सुन्दर कुण्डल शोभा दे रहे थे। उसकी आँखें घूम रही थीं। वह विशालकाय, क्रोधी और संग्राममें दुर्जय था ॥ २ ॥

धनुः शक्रधनुःप्रख्यं महद् रुचिरसायकम् ।
विस्फारयाणो वेगेन वज्राशनिसमस्वनम् ॥ ३ ॥

उसका धनुष इन्द्रधनुषके समान विशाल था। उसके द्वारा छोड़े जानेवाले बाण भी बड़े सुन्दर थे। जब वह वेगसे उस धनुषको खींचता, तब उससे वज्र और अशनिके समान गड़गड़ाहट पैदा होती थी ॥ ३ ॥

तस्य विस्फारघोषेण धनुषो महता दिशः ।
प्रदिशश्च नभश्चैव सहसा समपूर्यत ॥ ४ ॥

उस धनुषकी महती टंकार-ध्वनिसे सम्पूर्ण दिशाएँ,

विदिशाएँ और आकाश सभी सहसा गूँज उठे ॥ ४ ॥

रथेन खरयुक्तेन तमागतमुदीक्ष्य सः ।
हनूमान् वेगसम्पन्नो जहर्ष च ननाद च ॥ ५ ॥

वह गधे जुते हुए रथपर बैठकर आया था। उसे देखकर वेगशाली हनुमान्‌जी बड़े प्रसन्न हुए और जोर-जोरसे गर्जना करने लगे ॥ ५ ॥

तं तोरणविटङ्कस्थं हनूमन्तं महाकपिम् ।
जम्बुमाली महातेजा विव्याध निशितैः शरैः ॥ ६ ॥

महातेजस्वी जम्बुमालीने महाकपि हनुमान्‌जीको फाटकके छज्जेपर खड़ा देख उन्हें तीखे बाणोंसे बींधना आरम्भ कर दिया ॥ ६ ॥

अर्धचन्द्रेण वदने शिरस्येकेन कर्णिना ।
बाह्वोर्विव्याध नाराचैर्दशभिस्तु कपीश्वरम् ॥ ७ ॥

उसने अर्द्धचन्द्र नामक बाणसे उनके मुखपर, कर्णी नामक एक बाणसे मस्तकपर और दस नाराचोंसे उन कपीश्वरकी दोनों भुजाओंपर गहरी चोट की ॥ ७ ॥

तस्य तच्छुशुभे ताम्रं शरेणाभिहतं मुखम् ।
शरदीवाम्बुजं फुल्लं विद्धं भास्कररश्मिना ॥ ८ ॥

उसके बाणसे घायल हुआ हनुमान्‌जीका लाल मुँह शरद्-ऋतुमें सूर्यकी किरणोंसे विद्ध हो खिले हुए लाल कमलके समान शोभा पा रहा था ॥ ८ ॥

तत्तस्य रक्तं रक्तेन रञ्जितं शुशुभे मुखम् ।
यथाऽऽकाशे महापद्मं सिक्तं काञ्चनबिन्दुभिः ॥ ९ ॥

रक्तसे रञ्जित हुआ उनका वह रक्तवर्णका मुख ऐसी शोभा पा रहा था, मानो आकाशमें लाल रंगके विशाल कमलको सुवर्णमय जलकी बूँदोंसे सींच दिया गया हो—उसपर सोनेका पानी चढ़ा दिया गया हो ॥ ९ ॥

चुकोप बाणाभिहतो राक्षसस्य महाकपिः ।
ततः पार्श्वेऽतिविपुलां ददर्श महतीं शिलाम् ॥ १० ॥
तरसा तां समुत्पाट्य चिक्षेप जववद् बली ।

राक्षस जम्बुमालीके बाणोंकी चोट खाकर महाकपि हनुमान्‌जी कुपित हो उठे। उन्होंने अपने पास ही पत्थरकी एक बहुत बड़ी चट्टान पड़ी देखी और उसे वेगसे उठाकर उन बलवान् वीरने बड़े जोरसे उस राक्षसकी ओर फेंका ॥ १० १/२ ॥

तां शरैर्दशभिः क्रुद्धस्ताडयामास राक्षसः ॥ ११ ॥
विपन्नं कर्म तद् दृष्ट्वा हनूमांश्चण्डविक्रमः ।
सालं विपुलमुत्पाट्य भ्रामयामास वीर्यवान् ॥ १२ ॥

किंतु क्रोधमें भरे उस राक्षसने दस बाण मारकर उस प्रस्तर-शिलाको तोड़-फोड़ डाला। अपने उस कर्मको व्यर्थ हुआ देख प्रचण्ड पराक्रमी और बलशाली हनुमान्‌ने एक विशाल सालका वृक्ष उखाड़कर उसे घुमाना आरम्भ किया ॥ ११-१२ ॥

भ्रामयन्तं कपिं दृष्ट्वा सालवृक्षं महाबलम् ।
चिक्षेप सुबहून् बाणाञ्जम्बुमाली महाबलः ॥ १३ ॥

उन महान् बलशाली वानरवीरको सालका वृक्ष घुमाते देख महाबली जम्बुमालीने उनके ऊपर बहुत-से बाणोंकी वर्षा की ॥ १३ ॥

सालं चतुर्भिश्चिच्छेद वानरं पञ्चभिर्भुजे ।
उरस्येकेन बाणेन दशभिस्तु स्तनान्तरे ॥ १४ ॥

उसने चार बाणोंसे सालवृक्षको काट गिराया, पाँचसे हनुमान्‌जीकी भुजाओंमें, एक बाणसे उनकी छातीमें और दस बाणोंसे उनके दोनों स्तनोंके मध्यभागमें चोट पहुँचायी ॥ १४ ॥

स शरैः पूरिततनुः क्रोधेन महता वृतः ।
तमेव परिघं गृह्य भ्रामयामास वेगितः ॥ १५ ॥

बाणोंसे हनुमान्‌जीका सारा शरीर भर गया। फिर तो उन्हें बड़ा क्रोध हुआ और उन्होंने उसी परिघको उठाकर उसे बड़े वेगसे घुमाना आरम्भ किया ॥ १५ ॥

अतिवेगोऽतिवेगेन भ्रामयित्वा बलोत्कटः ।
परिघं पातयामास जम्बुमालेर्महोरसि ॥ १६ ॥

अत्यन्त वेगवान् और उत्कट बलशाली हनुमान्‌ने बड़े वेगसे घुमाकर उस परिघको जम्बुमालीकी विशाल छातीपर दे मारा ॥ १६ ॥

तस्य चैव शिरो नास्ति न बाहू जानुनी न च ।
न धनुर्न रथो नाश्वास्तत्रादृश्यन्त नेषवः ॥ १७ ॥

फिर तो न उसके मस्तकका पता लगा और न दोनों भुजाओं तथा घुटनोंका ही। न धनुष बचा न रथ, न वहाँ घोड़े दिखायी दिये और न बाण ही ॥ १७ ॥

स हतस्तरसा तेन जम्बुमाली महारथः ।
पपात निहतो भूमौ चूर्णिताङ्ग इव द्रुमः ॥ १८ ॥

उस परिघसे वेगपूर्वक मारा गया महारथी जम्बुमाली चूर-चूर हुए वृक्षकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १८ ॥

जम्बुमालिं सुनिहतं किंकरांश्च महाबलान् ।
चुक्रोध रावणः श्रुत्वा क्रोधसंरक्तलोचनः ॥ १९ ॥

जम्बुमाली तथा महाबली किंकरोंके मारे जानेका समाचार सुनकर रावणको बड़ा क्रोध हुआ। उसकी आँखें रोषसे रक्तवर्णकी हो गयीं ॥ १९ ॥

स रोषसंवर्तितताम्रलोचनः
प्रहस्तपुत्रे निहते महाबले ।
अमात्यपुत्रानतिवीर्यविक्रमान्
समादिदेशाशु निशाचरेश्वरः ॥ २० ॥

महाबली प्रहस्तपुत्र जम्बुमालीके मारे जानेपर निशाचरराज रावणके नेत्र रोषसे लाल होकर घूमने लगे। उसने तुरंत ही अपने मन्त्रीके पुत्रोंको, जो बड़े बलवान् और पराक्रमी थे, युद्धके लिये जानेकी आज्ञा दी ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें चौवालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

मन्त्रीके सात पुत्रोंका वध

ततस्ते राक्षसेन्द्रेण चोदिता मन्त्रिणः सुताः।
निर्ययुर्भवनात् तस्मात् सप्त सप्तार्चिवर्चसः॥ १॥

राक्षसोंके राजा रावणकी आज्ञा पाकर मन्त्रीके सात बेटे, जो अग्निके समान तेजस्वी थे, उस राजमहलसे बाहर निकले॥ १॥

महद्बलपरीवारा धनुष्मन्तो महाबलाः।
कृतास्त्रास्त्रविदां श्रेष्ठाः परस्परजयैषिणः॥ २॥

उनके साथ बहुत बड़ी सेना थी। वे अत्यन्त बलवान्, धनुर्धर, अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ तथा परस्पर होड़ लगाकर शत्रुपर विजय पानेकी इच्छा रखनेवाले थे॥ २॥

हेमजालपरिक्षिप्तैर्ध्वजवद्भिः पताकिभिः।
तोयदस्वननिर्घोषैर्वाजियुक्तैर्महारथैः॥ ३॥
तप्तकाञ्चनचित्राणि चापान्यमितविक्रमाः।
विस्फारयन्तः संहृष्टास्तडिद्वन्त इवाम्बुदाः॥ ४॥

उनके घोड़े जुते हुए विशाल रथ सोनेकी जालीसे ढके हुए थे। उनपर ध्वजा-पताकाएँ फहरा रही थीं और उनके पहियोंके चलनेसे मेघोंकी गम्भीर गर्जनाके समान ध्वनि होती थी। ऐसे रथोंपर सवार हो वे अमित पराक्रमी मन्त्रिकुमार तपाये हुए सोनेसे चित्रित अपने धनुषोंकी टङ्कार करते हुए बड़े हर्ष और उत्साहके साथ आगे बढ़े। उस समय वे सब-के-सब विद्युत्सहित मेघके समान शोभा पाते थे॥ ३-४॥

जनन्यस्तास्ततस्तेषां विदित्वा किंकरान् हतान्।
बभूवुः शोकसम्भ्रान्ताः सबान्धवसुहृज्जनाः॥ ५॥

तब, पहले जो किंकर नामक राक्षस मारे गये थे, उनकी मृत्युका समाचार पाकर इन सबकी माताएँ अमङ्गलकी आशङ्कासे भाई-बन्धु और सुहृदोंसहित शोकसे घबरा उठीं॥ ५॥

ते परस्परसंघर्षात् तप्तकाञ्चनभूषणाः।
अभिपेतुर्हनूमन्तं तोरणस्थमवस्थितम्॥ ६॥

तपाये हुए सोनेके आभूषणोंसे विभूषित वे सातों वीर परस्पर होड़-सी लगाकर फाटकपर खड़े हुए हनुमान्‌जीपर टूट पड़े॥ ६॥

सृजन्तो बाणवृष्टिं ते रथगर्जितनिःस्वनाः।
प्रावृट्काल इवाम्भोदा विचेरुर्नैर्ऋताम्बुदाः॥ ७॥

जैसे वर्षाकालमें मेघ वर्षा करते हुए विचरते हैं, उसी प्रकार वे राक्षसरूपी बादल बाणोंकी वर्षा करते हुए वहाँ विचरण करने लगे। रथोंकी घर्घराहट ही उनकी गर्जना थी॥ ७॥

अवकीर्णस्ततस्ताभिर्हनूमाञ्शरवृष्टिभिः।
अभवत् संवृताकारः शैलराडिव वृष्टिभिः॥ ८॥

तदनन्तर राक्षसोंद्वारा की गयी उस बाण-वर्षासे हनुमान्‌जी उसी तरह आच्छादित हो गये, जैसे कोई गिरिराज जलकी वर्षासे ढक गया हो॥ ८॥

स शरान् वञ्चयामास तेषामाशुचरः कपिः।
रथवेगांश्च वीराणां विचरन् विमलेऽम्बरे॥ ९॥

उस समय निर्मल आकाशमें शीघ्रतापूर्वक विचरते हुए कपिवर हनुमान् उन राक्षसवीरोंके बाणों तथा रथके वेगोंको व्यर्थ करते हुए अपने-आपको बचाने लगे॥ ९॥

स तैः क्रीडन् धनुष्मद्भिर्व्योम्नि वीरः प्रकाशते।
धनुष्मद्भिर्यथा मेघैर्मारुतः प्रभुरम्बरे॥ १०॥

जैसे व्योममण्डलमें शक्तिशाली वायुदेव इन्द्रधनुषयुक्त मेघोंके साथ क्रीडा करते हैं, उसी प्रकार वीर पवनकुमार उन धनुर्धर वीरोंके साथ खेल-सा करते हुए आकाशमें अद्भुत शोभा पा रहे थे॥ १०॥

स कृत्वा निनदं घोरं त्रासयंस्तां महाचमूम्।
चकार हनुमान् वेगं तेषु रक्षःसु वीर्यवान्॥ ११॥

पराक्रमी हनुमान्‌ने राक्षसोंकी उस विशाल वाहिनीको भयभीत करते हुए घोर गर्जना की और उन राक्षसोंपर बड़े वेगसे आक्रमण किया॥ ११॥

तलेनाभिहनत् कांश्चित् पादैः कांश्चित् परंतपः।
मुष्टिभिश्चाहनत् कांश्चिन्नखैः कांश्चिद् व्यदारयत्॥ १२॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले उन वानरवीरने किन्हींको थप्पड़से ही मार गिराया, किन्हींको पैरोंसे कुचल डाला, किन्हींका घूँसोंसे काम तमाम किया और किन्हींको नखोंसे फाड़ डाला॥ १२॥

प्रममाथोरसा कांश्चिदूरुभ्यामपरानपि।
केचित् तस्यैव नादेन तत्रैव पतिता भुवि॥ १३॥

कुछ लोगोंको छातीसे दबाकर उनका कचूमर निकाल दिया और किन्हीं-किन्हींको दोनों जाँघोंसे दबोचकर मसल डाला। कितने ही निशाचर उनकी गर्जनासे ही प्राणहीन होकर वहीं पृथ्वीपर गिर पड़े॥ १३॥

ततस्तेष्ववपन्नेषु भूमौ निपतितेषु च।
तत्सैन्यमगमत् सर्वं दिशो दश भयार्दितम्॥ १४॥

इस प्रकार जब मन्त्रीके सारे पुत्र मारे जाकर धराशायी हो गये, तब उनकी बची-खुची सारी सेना भयभीत होकर दसों दिशाओंमें भाग गयी॥ १४॥

विनेदुर्विस्वरं नागा निपेतुर्भुवि वाजिनः।
भग्ननीडध्वजच्छत्रैर्भूश्च कीर्णाभवद् रथैः॥ १५॥

उस समय हाथी वेदनाके मारे बुरी तरहसे चिग्घाड़ रहे थे, घोड़े धरतीपर मरे पड़े थे तथा जिनके बैठक, ध्वज और छत्र आदि खण्डित हो गये थे, ऐसे टूटे हुए रथोंसे समूची रणभूमि पट गयी थी॥ १५॥

स्रवता रुधिरेणाथ स्रवन्त्यो दर्शिताः पथि।
विविधैश्च स्वनैर्लङ्का ननाद विकृतं तदा॥ १६॥

मार्गमें खूनकी नदियाँ बहती दिखायी दीं तथा लङ्कापुरी राक्षसोंके विविध शब्दोंके कारण मानो उस समय विकृत स्वरसे चीत्कार कर रही थी॥ १६॥

स तान् प्रवृद्धान् विनिहत्य राक्षसान्
महाबलश्चण्डपराक्रमः कपिः।
युयुत्सुरन्यैः पुनरेव राक्षसै-
स्तदेव वीरोऽभिजगाम तोरणम्॥ १७॥

प्रचण्ड पराक्रमी और महाबली वानरवीर हनुमान्‌जी उन बढ़े-चढ़े राक्षसोंको मौतके घाट उतारकर दूसरे राक्षसोंके साथ युद्ध करनेकी इच्छासे फिर उसी फाटकपर जा पहुँचे॥ १७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे पञ्चचत्वारिंशः सर्गः॥ ४५॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें पैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ४५॥

—★—

षट्चत्वारिंशः सर्गः

रावणके पाँच सेनापतियोंका वध

हतान् मन्त्रिसुतान् बुद्ध्वा वानरेण महात्मना।
रावणः संवृताकारश्चकार मतिमुत्तमाम्॥ १॥

महात्मा हनुमान्‌जीके द्वारा मन्त्रीके पुत्र भी मारे गये—यह जानकर रावणने भयभीत होनेपर भी अपने आकारको प्रयत्नपूर्वक छिपाया और उत्तम बुद्धिका आश्रय ले आगेके कर्तव्यका निश्चय किया॥ १॥

स विरूपाक्षयूपाक्षौ दुर्धरं चैव राक्षसम्।
प्रघसं भासकर्णं च पञ्च सेनाग्रनायकान्॥ २॥
संदिदेश दशग्रीवो वीरान् नयविशारदान्।
हनूमद्ग्रहणेऽव्यग्रान् वायुवेगसमान् युधि॥ ३॥

दशग्रीवने विरूपाक्ष, यूपाक्ष, दुर्धर, प्रघस और भासकर्ण—इन पाँच सेनापतियोंको, जो बड़े वीर, नीतिनिपुण, धैर्यवान् तथा युद्धमें वायुके समान वेगशाली थे, हनुमान्‌जीको पकड़नेके लिये आज्ञा दी॥ २-३॥

यात सेनाग्रगाः सर्वे महाबलपरिग्रहाः।
सवाजिरथमातङ्गाः स कपिः शास्यतामिति॥ ४॥

उसने कहा—'सेनाके अग्रगामी वीरो! तुमलोग घोड़े, रथ और हाथियोंसहित बड़ी भारी सेना साथ लेकर जाओ और उस वानरको बलपूर्वक पकड़कर उसे अच्छी तरह शिक्षा दो॥ ४॥

यत्तैश्च खलु भाव्यं स्यात् तमासाद्य वनालयम्।
कर्म चापि समाधेयं देशकालाविरोधितम्॥ ५॥

'उस वनचारी वानरके पास पहुँचकर तुम सबलोगोंको सावधान और अत्यन्त प्रयत्नशील हो जाना चाहिये तथा काम वही करना चाहिये, जो देश और कालके अनुरूप हो॥ ५॥

न ह्यहं तं कपिं मन्ये कर्मणा प्रति तर्कयन्।
सर्वथा तन्महद् भूतं महाबलपरिग्रहम्॥ ६॥

'जब मैं उसके अलौकिक कर्मोंको देखते हुए उसके स्वरूपपर विचार करता हूँ, तब वह मुझे वानर नहीं जान पड़ता है। वह सर्वथा कोई महान् प्राणी है, जो महान् बलसे सम्पन्न है॥ ६॥

वानरोऽयमिति ज्ञात्वा नहि शुद्ध्यति मे मनः।
नैवाहं तं कपिं मन्ये यथेयं प्रस्तुता कथा॥ ७॥

'यह वानर है' ऐसा समझकर मेरा मन उसकी ओरसे शुद्ध (विश्वस्त) नहीं हो रहा है। यह जैसा प्रसङ्ग उपस्थित है या जैसी बातें चल रही हैं, उन्हें देखते हुए मैं उसे वानर नहीं मानता हूँ॥ ७॥

भवेदिन्द्रेण वा सृष्टमस्मदर्थं तपोबलात्।
सनागयक्षगन्धर्वदेवासुरमहर्षयः॥ ८॥
युष्माभिः प्रहितैः सर्वैर्मया सह विनिर्जिताः।
तैरवश्यं विधातव्यं व्यलीकं किंचिदेव नः॥ ९॥

'सम्भव है इन्द्रने हमलोगोंका विनाश करनेके लिये अपने तपोबलसे इसकी सृष्टि की हो। मेरी आज्ञासे तुम सबलोगोंने मेरे साथ रहकर नागोंसहित यक्षों, गन्धर्वों, देवताओं, असुरों और महर्षियोंको भी अनेक बार पराजित किया है; अतः वे अवश्य हमारा कुछ अनिष्ट करना चाहेंगे॥ ९॥

तदेव नात्र संदेहः प्रसह्य परिगृह्यताम्।
यात सेनाग्रगाः सर्वे महाबलपरिग्रहाः॥ १०॥
सवाजिरथमातङ्गाः स कपिः शास्यतामिति।

'अतः यह उन्हींका रचा हुआ प्राणी है, इसमें संदेह नहीं। तुमलोग उसे हठपूर्वक पकड़ ले आओ। मेरी सेनाके अग्रगामी वीरो! तुम हाथी, घोड़े और रथोंसहित बड़ी भारी सेना साथ लेकर जाओ और उस वानरको अच्छी तरह शिक्षा दो॥ १० $\frac{1}{2}$॥

नावमन्यो भवद्भिश्च कपिर्धीरपराक्रमः॥ ११॥
दृष्टा हि हरयः पूर्वं मया विपुलविक्रमाः।

'वानर समझकर तुम्हें उसकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये; क्योंकि वह धीर और पराक्रमी है। मैंने पहले बड़े-बड़े पराक्रमी वानर और भालू देखे हैं ॥ ११½ ॥

वाली च सह सुग्रीवो जाम्बवांश्च महाबलः ॥ १२ ॥
नीलः सेनापतिश्चैव ये चान्ये द्विविदादयः।

'जिनके नाम इस प्रकार हैं—वाली, सुग्रीव, महाबली जाम्बवान्, सेनापति नील तथा द्विविद आदि अन्य वानर ॥ १२½ ॥

नैव तेषां गतिर्भीमा न तेजो न पराक्रमः ॥ १३ ॥
न मतिर्न बलोत्साहो न रूपपरिकल्पनम्।

'किंतु उनका वेग ऐसा भयंकर नहीं है और न उनमें ऐसा तेज, पराक्रम, बुद्धि, बल, उत्साह तथा रूप धारण करनेकी शक्ति ही है ॥ १३½ ॥

महत्सत्त्वमिदं ज्ञेयं कपिरूपं व्यवस्थितम् ॥ १४ ॥
प्रयत्नं महदास्थाय क्रियतामस्य निग्रहः।

'वानरके रूपमें यह कोई बड़ा शक्तिशाली जीव प्रकट हुआ है, ऐसा जानना चाहिये। अतः तुमलोग महान् प्रयत्न करके उसे कैद करो ॥ १४½ ॥

कामं लोकास्त्रयः सेन्द्राः ससुरासुरमानवाः ॥ १५ ॥
भवतामग्रतः स्थातुं न पर्याप्ता रणाजिरे।

'भले ही इन्द्रसहित देवता, असुर, मनुष्य एवं तीनों लोक उतर आवें, वे रणभूमिमें तुम्हारे सामने ठहर नहीं सकते ॥ १५½ ॥

तथापि तु नयज्ञेन जयमाकाङ्क्षता रणे ॥ १६ ॥
आत्मा रक्ष्यः प्रयत्नेन युद्धसिद्धिर्हि चञ्चला।

'तथापि समराङ्गणमें विजयकी इच्छा रखनेवाले नीतिज्ञ पुरुषको यत्नपूर्वक अपनी रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि युद्धमें सफलता अनिश्चित होती है' ॥ १६½ ॥

ते स्वामिवचनं सर्वे प्रतिगृह्य महौजसः ॥ १७ ॥
समुत्पेतुर्महावेगा हुताशसमतेजसः।
रथैश्च मत्तैर्नागैश्च वाजिभिश्च महाजवैः ॥ १८ ॥
शस्त्रैश्च विविधैस्तीक्ष्णैः सर्वैश्चोपहिता बलैः।

स्वामीकी आज्ञा स्वीकार करके वे सब-के-सब अग्निके समान तेजस्वी, महान् वेगशाली और अत्यन्त बलवान् राक्षस तेज चलनेवाले घोड़ों, मतवाले हाथियों तथा विशाल रथोंपर चढ़कर युद्धके लिये चल दिये। वे सब प्रकारके तीखे शस्त्रों और सेनाओंसे सम्पन्न थे ॥ १७-१८½ ॥

ततस्तु ददृशुर्वीरा दीप्यमानं महाकपिम् ॥ १९ ॥
रश्मिमन्तमिवोद्यन्तं स्वतेजोरश्मिमालिनम्।
तोरणस्थं महावेगं महासत्त्वं महाबलम् ॥ २० ॥
महामतिं महोत्साहं महाकायं महाभुजम्।

आगे जानेपर उन वीरोंने देखा महाकपि हनुमान्‌जी फाटकपर खड़े हैं और अपनी तेजोमयी किरणोंसे मण्डित हो उदयकालके सूर्यकी भाँति देदीप्यमान हो रहे हैं। उनकी शक्ति, बल, वेग, बुद्धि, उत्साह, शरीर और भुजाएँ सभी महान् थीं ॥ १९-२०½ ॥

तं समीक्ष्यैव ते सर्वे दिक्षु सर्वास्ववस्थिताः ॥ २१ ॥
तैस्तैः प्रहरणैर्भीमैरभिपेतुस्ततस्ततः।

उन्हें देखते ही वे सब राक्षस, जो सभी दिशाओंमें खड़े थे, भयंकर अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करते हुए चारों ओरसे उनपर टूट पड़े ॥ २१½ ॥

तस्य पञ्चायसास्तीक्ष्णाः सिताः पीतमुखाः शराः।
शिरस्युत्पलपत्राभा दुर्धरेण निपातिताः ॥ २२ ॥

निकट पहुँचनेपर पहले दुर्धरने हनुमान्‌जीके मस्तकपर लोहेके बने हुए पाँच बाण मारे। वे सभी बाण मर्मभेदी और पैनी धारवाले थे। उनके अग्रभागपर सोनेका पानी दिया गया था। जिससे वे पीतमुख दिखायी देते थे। वे पाँचों बाण उनके सिरपर प्रफुल्लकमलदलके समान शोभा पा रहे थे ॥ २२ ॥

स तैः पञ्चभिराविद्धः शरैः शिरसि वानरः।
उत्पपात नदन् व्योम्नि दिशो दश विनादयन् ॥ २३ ॥

मस्तकमें उन पाँच बाणोंसे गहरी चोट खाकर वानरवीर हनुमान्‌जी अपनी भीषण गर्जनासे दसों दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए आकाशमें ऊपरकी ओर उछल पड़े ॥ २३ ॥

ततस्तु दुर्धरो वीरः सरथः सज्जकार्मुकः।
किरञ्शरशतैर्नैकैरभिपेदे महाबलः ॥ २४ ॥

तब रथमें बैठे हुए महाबली वीर दुर्धरने धनुष चढ़ाये कई सौ बाणोंकी वर्षा करते हुए उनका पीछा किया ॥ २४ ॥

स कपिर्वारयामास तं व्योम्नि शरवर्षिणम्।
वृष्टिमन्तं पयोदान्ते पयोदमिव मारुतः ॥ २५ ॥

आकाशमें खड़े हुए उन वानरवीरने बाणोंकी वर्षा करते हुए दुर्धरको अपने हुंकारमात्रसे उसी प्रकार रोक दिया, जैसे वर्षा-ऋतुके अन्तमें वृष्टि करनेवाले बादलको वायु रोक देती है ॥ २५ ॥

अर्द्यमानस्ततस्तेन दुर्धरेणानिलात्मजः।
चकार निनदं भूयो व्यवर्धत च वीर्यवान् ॥ २६ ॥

जब दुर्धर अपने बाणोंसे अधिक पीड़ा देने लगा, तब वे परम पराक्रमी पवनकुमार पुनः विकट गर्जना करने और अपने शरीरको बढ़ाने लगे ॥ २६ ॥

स दूरं सहसोत्पत्य दुर्धरस्य रथे हरिः।
निपपात महावेगो विद्युद्राशिर्गिराविव ॥ २७ ॥

तत्पश्चात् वे महावेगशाली वानरवीर बहुत दूरतक ऊँचे उछलकर सहसा दुर्धरके रथपर कूद पड़े, मानो किसी पर्वतपर बिजलीका समूह गिर पड़ा हो ॥ २७ ॥

ततः स मथिताष्टाश्वं रथं भग्नाक्षकूबरम्।
विहाय न्यपतद् भूमौ दुर्धरस्त्यक्तजीवितः ॥ २८ ॥

उनके भारसे रथके आठों घोड़ोंका कचूमर निकल गया, धुरी और कूबर टूट गये तथा दुर्धर प्राणहीन हो उस रथको छोड़कर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २८ ॥

तं विरूपाक्षयूपाक्षौ दृष्ट्वा निपतितं भुवि ।
तौ जातरोषौ दुर्धर्षावुत्पेततुररिंदमौ ॥ २९ ॥

दुर्धरको धराशायी हुआ देख शत्रुओंका दमन करनेवाले दुर्धर्ष वीर विरूपाक्ष और यूपाक्षको बड़ा क्रोध हुआ। वे दोनों आकाशमें उछले ॥ २९ ॥

स ताभ्यां सहसोत्प्लुत्य विष्ठितो विमलेऽम्बरे ।
मुद्गराभ्यां महाबाहुर्वक्षस्यभिहतः कपिः ॥ ३० ॥

उन दोनोंने सहसा उछलकर निर्मल आकाशमें खड़े हुए महाबाहु कपिवर हनुमान्‌जीकी छातीमें मुद्गरोंसे प्रहार किया ॥ ३० ॥

तयोर्वेगवतोर्वेगं निहत्य स महाबलः ।
निपपात पुनर्भूमौ सुपर्ण इव वेगितः ॥ ३१ ॥

उन दोनों वेगवान् वीरोंके वेगको विफल करके महाबली हनुमान्‌जी वेगशाली गरुड़के समान पुनः पृथ्वीपर कूद पड़े ॥ ३१ ॥

स सालवृक्षमासाद्य समुत्पाट्य च वानरः ।
तावुभौ राक्षसौ वीरौ जघान पवनात्मजः ॥ ३२ ॥

वहाँ वानरशिरोमणि पवनकुमारने एक साल-वृक्षके पास जाकर उसे उखाड़ लिया और उसीके द्वारा उन दोनों राक्षसवीरोंको मार डाला ॥ ३२ ॥

ततस्तांस्त्रीन् हताञ्ज्ञात्वा वानरेण तरस्विना ।
अभिपेदे महावेगः प्रहस्य प्रघसो बली ॥ ३३ ॥
भासकर्णश्च संक्रुद्धः शूलमादाय वीर्यवान् ।
एकतः कपिशार्दूलं यशस्विनमवस्थितौ ॥ ३४ ॥

उन वेगशाली वानरवीरके द्वारा उन तीनों राक्षसोंको मारा गया देख महान् वेगसे युक्त बलवान् वीर प्रघस हँसता हुआ उनके पास आया। दूसरी ओरसे पराक्रमी वीर भासकर्ण भी अत्यन्त क्रोधमें भरकर शूल हाथमें लिये वहाँ आ पहुँचा। वे दोनों यशस्वी कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌जीके निकट एक ही ओर खड़े हो गये ॥ ३३-३४ ॥

पट्टिशेन शिताग्रेण प्रघसः प्रत्यपोथयत् ।
भासकर्णश्च शूलेन राक्षसः कपिकुञ्जरम् ॥ ३५ ॥

प्रघसने तेज धारवाले पट्टिशसे तथा राक्षस भासकर्णने शूलसे कपिकुञ्जर हनुमान्‌जीपर प्रहार किया ॥ ३५ ॥

स ताभ्यां विक्षतैर्गात्रैरसृग्दिग्धतनूरुहः ।
अभवद् वानरः क्रुद्धो बालसूर्यसमप्रभः ॥ ३६ ॥

उन दोनोंके प्रहारोंसे हनुमान्‌जीके शरीरमें कई जगह घाव हो गये और उनके शरीरकी रोमावली रक्तसे रँग गयी। उस समय क्रोधमें भरे हुए वानरवीर हनुमान् प्रातःकालके सूर्यकी भाँति अरुण कान्तिसे प्रकाशित हो रहे थे ॥ ३६ ॥

समुत्पाट्य गिरेः शृङ्गं समृगव्यालपादपम् ।
जघान हनुमान् वीरो राक्षसौ कपिकुञ्जरः ।
गिरिशृङ्गसुनिष्पिष्टौ तिलशस्तौ बभूवतुः ॥ ३७ ॥

तब मृग, सर्प और वृक्षोंसहित एक पर्वत-शिखरको उखाड़कर कपिश्रेष्ठ वीर हनुमान्‌ने उन दोनों राक्षसोंपर दे मारा। पर्वत-शिखरके आघातसे वे दोनों पिस गये और उनके शरीर तिलके समान खण्ड-खण्ड हो गये ॥ ३७ ॥

ततस्तेष्ववसन्नेषु सेनापतिषु पञ्चसु ।
बलं तदवशेषं तु नाशयामास वानरः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार उन पाँचों सेनापतियोंके नष्ट हो जानेपर हनुमान्‌जीने उनकी बची-खुची सेनाका भी संहार आरम्भ किया ॥ ३८ ॥

अश्वैरश्वान् गजैर्नागान् योधैर्योधान् रथै रथान् ।
स कपिर्नाशयामास सहस्राक्ष इवासुरान् ॥ ३९ ॥

जैसे देवराज इन्द्र असुरोंका विनाश करते हैं, उसी प्रकार उन वानरवीरने घोड़ोंसे घोड़ोंका, हाथियोंसे हाथियोंका, योद्धाओंसे योद्धाओंका और रथोंसे रथोंका संहार कर डाला ॥ ३९ ॥

हतैर्नागैस्तुरंगैश्च भग्नाक्षैश्च महारथैः ।
हतैश्च राक्षसैर्भूमी रुद्धमार्गा समन्ततः ॥ ४० ॥

मरे हुए हाथियों और तीव्रगामी घोड़ोंसे, टूटी हुई धुरोंवाले विशाल रथोंसे तथा मारे गये राक्षसोंकी लाशोंसे वहाँकी सारी भूमि चारों ओरसे इस तरह पट गयी थी कि आने-जानेका रास्ता बंद हो गया था ॥ ४० ॥

ततः कपिस्तान् ध्वजिनीपतीन् रणे
निहत्य वीरान् सबलान् सवाहनान् ।
तथैव वीरः परिगृह्य तोरणं
कृतक्षणः काल इव प्रजाक्षये ॥ ४१ ॥

इस प्रकार सेना और वाहनोंसहित उन पाँचों वीर सेनापतियोंको रणभूमिमें मौतके घाट उतारकर महावीर वानर हनुमान्‌जी पुनः युद्धके लिये अवसर पाकर पहलेकी ही भाँति फाटकपर जाकर खड़े हो गये। उस समय वे प्रजाका संहार करनेके लिये उद्यत हुए कालके समान जान पड़ते थे ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें छियालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

—★—

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

रावणपुत्र अक्षकुमारका पराक्रम और वध

सेनापतीन् पञ्च स तु प्रमापितान्
हनूमता सानुचरान् सवाहनान्।
निशम्य राजा समरोद्धतोन्मुखं
कुमारमक्षं प्रसमैक्षताक्षम्॥ १॥

हनुमान्‌जीके द्वारा अपने पाँच सेनापतियोंको सेवकों और वाहनोंसहित मारा गया सुनकर राजा रावणने अपने सामने बैठे हुए पुत्र अक्षकुमारकी ओर देखा, जो युद्धमें उद्धत और उसके लिये उत्कण्ठित रहनेवाला था॥ १॥

स तस्य दृष्ट्यर्पणसम्प्रचोदितः
प्रतापवान् काञ्चनचित्रकार्मुकः।
समुत्पपाताथ सदस्युदीरितो
द्विजातिमुख्यैर्हविषेव पावकः॥ २॥

पिताके दृष्टिपातमात्रसे प्रेरित हो वह प्रतापी वीर युद्धके लिये उत्साहपूर्वक उठा। उसका धनुष सुवर्णजटित होनेके कारण विचित्र शोभा धारण करता था। जैसे श्रेष्ठ ब्राह्मणोंद्वारा यज्ञशालामें हविष्यकी आहुति देनेपर अग्निदेव प्रज्वलित हो उठते हैं, उसी प्रकार वह भी सभामें उठकर खड़ा हो गया॥ २॥

ततो महान् बालदिवाकरप्रभं
प्रतप्तजाम्बूनदजालसंततम्।
रथं समास्थाय ययौ स वीर्यवान्
महाहरिं तं प्रति नैर्ऋतर्षभः॥ ३॥

वह महापराक्रमी राक्षसशिरोमणि अक्ष प्रातःकालीन सूर्यके समान कान्तिमान् तथा तपाये हुए सुवर्णके जालसे आच्छादित रथपर आरूढ़ हो उन महाकपि हनुमान्‌जीके पास चल दिया॥ ३॥

ततस्तपः संग्रहसंचयार्जितं
प्रतप्तजाम्बूनदजालचित्रितम्।
पताकिनं रत्नविभूषितध्वजं
मनोजवाष्टाश्ववरैः सुयोजितम्॥ ४॥

सुरासुराधृष्यमसङ्गचारिणं
तडित्प्रभं व्योमचरं समाहितम्।
सतूणमष्टासिनिबद्धबन्धुरं
यथाक्रमावेशितशक्तितोमरम्॥ ५॥

विराजमानं प्रतिपूर्णवस्तुना
सहेमदाम्ना शशिसूर्यवर्चसा।
दिवाकराभं रथमास्थितस्ततः
स निर्जगामामरतुल्यविक्रमः॥ ६॥

वह रथ उसे बड़ी भारी तपस्याओंके संग्रहसे प्राप्त हुआ था। उसमें तपे हुए जाम्बूनद (सुवर्ण) की जाली जड़ी हुई थी। पताका फहरा रही थी। उसका ध्वजदण्ड रत्नोंसे विभूषित था। उसमें मनके समान वेगवाले आठ घोड़े अच्छी तरह जुते हुए थे। देवता और असुर कोई भी उस रथको नष्ट नहीं कर सकते थे। उसकी गति कहीं रुकती नहीं थी। वह बिजलीके समान प्रकाशित होता और आकाशमें भी चलता था। उस रथ-को सब सामग्रियोंसे सुसज्जित किया गया था। उसमें तरकस रखे गये थे। आठ तलवारोंके बँधे रहनेसे वह और भी सुन्दर दिखायी देता था। उसमें यथास्थान शक्ति और तोमर आदि अस्त्र-शस्त्र क्रमसे रखे गये थे। चन्द्रमा और सूर्यके समान दीप्तिमान् तथा सोनेकी रस्सीसे युक्त युद्धके समस्त उपकरणोंसे सुशोभित उस सूर्यतुल्य तेजस्वी रथपर बैठकर देवताओंके तुल्य पराक्रमी अक्षकुमार राजमहलसे बाहर निकला॥ ४—६॥

स पूरयन् खं च महीं च साचलां
तुरङ्गमातङ्गमहारथस्वनैः।
बलैः समेतैः सहतोरणस्थितं
समर्थमासीनमुपागमत् कपिम्॥ ७॥

घोड़े, हाथी और बड़े-बड़े रथोंकी भयंकर आवाजसे पर्वतोंसहित पृथ्वी तथा आकाशको गुँजाता हुआ वह बड़ी भारी सेना साथ लेकर वाटिकाके द्वारपर बैठे हुए शक्तिशाली वीर वानर हनुमान्‌जीके पास जा पहुँचा॥ ७॥

स तं समासाद्य हरिं हरीक्षणो
युगान्तकालाग्निमिव प्रजाक्षये।
अवस्थितं विस्मितजातसम्भ्रमं
समैक्षताक्षो बहुमानचक्षुषा॥ ८॥

सिंहके समान भयंकर नेत्रवाले अक्षने वहाँ पहुँचकर लोकसंहारके समय प्रज्वलित हुई प्रलयाग्निके समान स्थित और विस्मय एवं सम्भ्रममें पड़े हुए हनुमान्‌जीको अत्यन्त गर्वभरी दृष्टिसे देखा॥ ८॥

स तस्य वेगं च कपेर्महात्मनः
पराक्रमं चारिषु रावणात्मजः।
विचारयन् स्वं च बलं महाबलो
युगक्षये सूर्य इवाभिवर्धत॥ ९॥

उन महात्मा कपिश्रेष्ठके वेग तथा शत्रुओंके प्रति उनके पराक्रमका और अपने बलका भी विचार करके वह महाबली रावणकुमार प्रलयकालके सूर्यकी भाँति बढ़ने लगा॥ ९॥

स जातमन्युः प्रसमीक्ष्य विक्रमं
स्थितः स्थिरः संयति दुर्निवारणम्।
समाहितात्मा हनुमन्तमाहवे
प्रचोदयामास शितैः शरैस्त्रिभिः॥ १०॥

हनुमान्‌जीके पराक्रमपर दृष्टिपात करके उसे क्रोध आ गया। अतः स्थिरतापूर्वक स्थित हो उसने एकाग्रचित्तसे तीन

तीखे बाणोंद्वारा रणदुर्जय हनुमान्‌जीको युद्धके लिये प्रेरित किया ॥ १० ॥

ततः कपिं तं प्रसमीक्ष्य गर्वितं
जितश्रमं शत्रुपराजयोचितम् ।
अवैक्षताक्षः समुदीर्णमानसं
सबाणपाणिः प्रगृहीतकार्मुकः ॥ ११ ॥

तदनन्तर हाथमें धनुष और बाण लिये अक्षने यह जानकर कि 'ये खेद या थकावटको जीत चुके हैं, शत्रुओंको पराजित करनेकी योग्यता रखते हैं और युद्धके लिये इनके मनका उत्साह बढ़ा हुआ है; इसीलिये ये गर्वीले दिखायी देते हैं, उनकी ओर दृष्टिपात किया ॥ ११ ॥

स हेमनिष्काङ्गदचारुकुण्डलः
समाससादाशुपराक्रमः कपिम् ।
तयोर्बभूवाप्रतिमः समागमः
सुरासुराणामपि सम्भ्रमप्रदः ॥ १२ ॥

गलेमें सुवर्णके निष्क (पदक), बाँहोंमें बाजूबंद और कानोंमें मनोहर कुण्डल धारण किये वह शीघ्रपराक्रमी रावणकुमार हनुमान्‌जीके पास आया। उस समय उन दोनों वीरोंमें जो टक्कर हुई, उसकी कहीं तुलना नहीं थी। उनका युद्ध देवताओं और असुरोंके मनमें भी घबराहट पैदा कर देनेवाला था ॥ १२ ॥

ररास भूमिर्न तताप भानुमान्
ववौ न वायुः प्रचचाल चाचलः ।
कपेः कुमारस्य च वीर्यसंयुगं
ननाद च द्यौरुदधिश्च चुक्षुभे ॥ १३ ॥

कपिश्रेष्ठ हनुमान् और अक्षकुमारका वह संग्राम देखकर भूतलके सारे प्राणी चीख उठे। सूर्यका ताप कम हो गया। वायुकी गति रुक गयी। पर्वत हिलने लगे। आकाशमें भयंकर शब्द होने लगा और समुद्रमें तूफान आ गया ॥ १३ ॥

स तस्य वीरः सुमुखान् पतत्रिणः
सुवर्णपुङ्खान् सविषानिवोरगान् ।
समाधिसंयोगविमोक्षतत्त्ववि-
च्छरानथ त्रीन् कपिमूर्ध्न्यताडयत् ॥ १४ ॥

अक्षकुमार निशाना साधने, बाणको धनुषपर चढ़ाने और उसे लक्ष्यकी ओर छोड़नेमें बड़ा प्रवीण था। उस वीरने विषधर सर्पोंके समान भयंकर, सुवर्णमय पंखोंसे युक्त, सुन्दर अग्रभाग-वाले तथा पत्रयुक्त तीन बाण हनुमान्‌जीके मस्तकमें मारे ॥ १४ ॥

स तैः शरैर्मूर्ध्नि समं निपातितैः
क्षरन्नसृग्दिग्धविवृत्तनेत्रः ।
नवोदितादित्यनिभः शरांशुमान्
व्यराजतादित्य इवांशुमालिकः ॥ १५ ॥

उन तीनोंकी चोट हनुमान्‌जीके माथेमें एक साथ ही लगी, इससे खूनकी धारा गिरने लगी। वे उस रक्तसे नहा उठे और उनकी आँखें घूमने लगीं। उस समय बाणरूपी किरणोंसे युक्त हो वे तुरंतके उगे हुए अंशुमाली सूर्यके समान शोभा पाने लगे ॥ १५ ॥

ततः प्लवङ्गाधिपमन्त्रिसत्तमः
समीक्ष्य तं राजवरात्मजं रणे ।
उदग्रचित्रायुधचित्रकार्मुकं
जहर्ष चापूर्यत चाहवोन्मुखः ॥ १६ ॥

तदनन्तर वानरराजके श्रेष्ठ मन्त्री हनुमान्‌जी राक्षसराज रावणके राजकुमार अक्षको अति उत्तम विचित्र आयुध एवं अद्भुत धनुष धारण किये देख हर्ष और उत्साहसे भर गये और युद्धके लिये उत्कण्ठित हो अपने शरीरको बढ़ाने लगे ॥ १६ ॥

स मन्दराग्रस्थ इवांशुमाली
विवृद्धकोपो बलवीर्यसंवृतः ।
कुमारमक्षं सबलं सवाहनं
ददाह नेत्राग्निमरीचिभिस्तदा ॥ १७ ॥

हनुमान्‌जीका क्रोध बहुत बढ़ा हुआ था। वे बल और पराक्रमसे सम्पन्न थे, अतः मन्दराचलके शिखरपर प्रकाशित होनेवाले सूर्यदेवके समान वे अपनी नेत्राग्निमयी किरणोंसे उस समय सेना और सवारियोंसहित राजकुमार अक्षको दग्ध-सा करने लगे ॥ १७ ॥

ततः स बाणासनशक्रकार्मुकः
शरप्रवर्षो युधि राक्षसाम्बुदः ।
शरान् मुमोचाशु हरीश्वराचले
बलाहको वृष्टिमिवाचलोत्तमे ॥ १८ ॥

तब जैसे बादल श्रेष्ठ पर्वतपर जल बरसाता है, उसी प्रकार युद्धस्थलमें अपने शरासनरूपी इन्द्र-धनुषसे युक्त वह राक्षसरूपी मेघ बाणवर्षी होकर कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌रूपी पर्वतपर बड़े वेगसे बाणोंकी वृष्टि करने लगा ॥ १८ ॥

कपिस्ततस्तं रणचण्डविक्रमं
प्रवृद्धतेजोबलवीर्यसायकम् ।
कुमारमक्षं प्रसमीक्ष्य संयुगे
ननाद हर्षाद् घनतुल्यनिःस्वनः ॥ १९ ॥

रणभूमिमें अक्षकुमारका पराक्रम बड़ा प्रचण्ड दिखायी देता था। उसके तेज, बल, पराक्रम और बाण सभी बढ़े-चढ़े थे। युद्धस्थलमें उसकी ओर दृष्टिपात करके हनुमान्‌जीने हर्ष और उत्साहमें भरकर मेघके समान भयानक गर्जना की ॥ १९ ॥

स बालभावाद् युधि वीर्यदर्पितः
प्रवृद्धमन्युः क्षतजोपमेक्षणः ।
समाससादाप्रतिमं रणे कपिं
गजो महाकूपमिवावृतं तृणैः ॥ २० ॥

समराङ्गणमें बलके घमंडमें भरे हुए अक्षकुमारको उनकी गर्जना सुनकर बड़ा क्रोध हुआ। उसकी आँखें रक्तके समान लाल हो गयीं। वह अपने बालोचित अज्ञानके कारण अनुपम पराक्रमी हनुमान्‌जीका सामना करनेके लिये आगे बढ़ा। ठीक उसी तरह, जैसे कोई हाथी तिनकोंसे ढके हुए विशाल कूपकी ओर अग्रसर होता है॥ २०॥

स तेन बाणैः प्रसभं निपातितै-
श्चकार नादं घननादनिःस्वनः।
समुत्सहेनाशु नभः समारुजन्
भुजोरुविक्षेपणघोरदर्शनः॥ २१॥

उसके बलपूर्वक चलाये हुए बाणोंसे विद्ध होकर हनुमान्‌जीने तुरंत ही उत्साहपूर्वक आकाशको विदीर्ण करते हुए-से मेघके समान गम्भीर स्वरसे भीषण गर्जना की। उस समय दोनों भुजाओं और जाँघोंको चलानेके कारण वे बड़े भयंकर दिखायी देते थे॥ २१॥

तमुत्पतन्तं समभिद्रवद् बली
स राक्षसानां प्रवरः प्रतापवान्।
रथी रथश्रेष्ठतरः किरञ्छरैः
पयोधरः शैलमिवाश्मवृष्टिभिः॥ २२॥

उन्हें आकाशमें उछलते देख रथियोंमें श्रेष्ठ और रथपर चढ़े हुए उस बलवान्, प्रतापी एवं राक्षसशिरोमणि वीरने बाणोंकी वर्षा करते हुए उनका पीछा किया। उस समय वह ऐसा जान पड़ता था मानो कोई मेघ किसी पर्वतपर ओले और पत्थरोंकी वर्षा कर रहा हो॥ २२॥

स ताञ्छरांस्तस्य हरिर्विमोक्षयं-
श्चचार वीरः पथि वायुसेविते।
शरान्तरे मारुतवद् विनिष्पतन्
मनोजवः संयति भीमविक्रमः॥ २३॥

उस युद्धस्थलमें मनके समान वेगवाले वीर हनुमान्‌जी भयंकर पराक्रम प्रकट करने लगे। वे अक्षकुमारके उन बाणोंको व्यर्थ करते हुए वायुके पथपर विचरते और दो बाणोंके बीचसे हवाकी भाँति निकल जाते थे॥ २३॥

तमात्तबाणासनमाहवोन्मुखं
खमास्तृणन्तं विविधैः शरोत्तमैः।
अवैक्षताक्षं बहुमानचक्षुषा
जगाम चिन्तां स च मारुतात्मजः॥ २४॥

अक्षकुमार हाथमें धनुष लिये युद्धके लिये उन्मुख हो नाना प्रकारके उत्तम बाणोंद्वारा आकाशको आच्छादित किये देता था। पवनकुमार हनुमान्‌ने उसे बड़े आदरकी दृष्टिसे देखा और वे मन-ही-मन कुछ सोचने लगे॥ २४॥

ततः शरैर्भिन्नभुजान्तरः कपिः
कुमारवर्येण महात्मना नदन्।
महाभुजः कर्मविशेषतत्त्वविद्
विचिन्तयामास रणे पराक्रमम्॥ २५॥

इतनेहीमें महामना वीर अक्षकुमारने अपने बाणोंद्वारा कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌जीकी दोनों भुजाओंके मध्यभाग—छातीमें गहरा आघात किया। वे महाबाहु वानरवीर समयोचित कर्तव्यविशेषको ठीक-ठीक जानते थे; अतः वे रणक्षेत्रमें उस चोटको सहकर सिंहनाद करते हुए उसके पराक्रमके विषयमें इस प्रकार विचार करने लगे—॥ २५॥

अबालवद् बालदिवाकरप्रभः
करोत्ययं कर्म महन्महाबलः।
न चास्य सर्वाहवकर्मशालिनः
प्रमापणे मे मतिरत्र जायते॥ २६॥

'यह महाबली अक्षकुमार बालसूर्यके समान तेजस्वी है और बालक होकर भी बड़ोंके समान महान् कर्म कर रहा है। युद्धसम्बन्धी समस्त कर्मोंमें कुशल होनेके कारण अद्‌भुत शोभा पानेवाले इस वीरको यहाँ मार डालनेकी मेरी इच्छा नहीं हो रही है॥ २६॥

अयं महात्मा च महांश्च वीर्यतः
समाहितश्चातिसहश्च संयुगे।
असंशयं कर्मगुणोदयादयं
सनागयक्षैर्मुनिभिश्च पूजितः॥ २७॥

'यह महामनस्वी राक्षसकुमार बल-पराक्रमकी दृष्टिसे महान् है। युद्धमें सावधान एवं एकाग्रचित्त है तथा शत्रुके वेगको सहन करनेमें अत्यन्त समर्थ है। अपने कर्म और गुणोंकी उत्कृष्टताके कारण यह नागों, यक्षों और मुनियोंके द्वारा भी प्रशंसित हुआ होगा, इसमें संशय नहीं है॥ २७॥

पराक्रमोत्साहविवृद्धमानसः
समीक्षते मां प्रमुखोऽग्रतः स्थितः।
पराक्रमो ह्यस्य मनांसि कम्पयेत्
सुरासुराणामपि शीघ्रकारिणः॥ २८॥

'पराक्रम और उत्साहसे इसका मन बढ़ा हुआ है। यह युद्धके मुहानेपर मेरे सामने खड़ा हो मुझे ही देख रहा है। शीघ्रतापूर्वक युद्ध करनेवाले इस वीरका पराक्रम देवताओं और असुरोंके हृदयको भी कम्पित कर सकता है॥ २८॥

न खल्वयं नाभिभवेदुपेक्षितः
पराक्रमो ह्यस्य रणे विवर्धते।
प्रमापणं ह्यस्य ममाद्य रोचते
न वर्धमानोऽग्निरुपेक्षितुं क्षमः॥ २९॥

'किंतु यदि इसकी उपेक्षा की गयी तो यह मुझे परास्त किये बिना नहीं रहेगा; क्योंकि संग्राममें इसका पराक्रम बढ़ता जा रहा है। अतः अब इसे मार डालना ही मुझे अच्छा जान पड़ता है। बढ़ती हुई आगकी उपेक्षा करना कदापि उचित नहीं है'॥ २९॥

इति प्रवेगं तु परस्य तर्कयन्
स्वकर्मयोगं च विधाय वीर्यवान्।

चकार वेगं तु महाबलस्तदा
मतिं च चक्रेऽस्य वधे तदानीम् ॥ ३० ॥

इस प्रकार शत्रुके वेगका विचार कर उसके प्रतीकारके लिये अपने कर्तव्यका निश्चय करके महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न हनुमान्‌जीने उस समय अपना वेग बढ़ाया और उस शत्रुको मार डालनेका विचार किया ॥ ३० ॥

स तस्य तानष्ट वरान् महाहयान्
समाहितान् भारसहान् विवर्तने ।
जघान वीरः पथि वायुसेविते
तलप्रहारैः पवनात्मजः कपिः ॥ ३१ ॥

तत्पश्चात् आकाशमें विचरते हुए वीर वानर पवनकुमारने थप्पड़ोंकी मारसे अक्षकुमारके उन आठों उत्तम और विशाल घोड़ोंको, जो भार सहन करनेमें समर्थ और नाना प्रकारके पैंतरे बदलनेकी कलामें सुशिक्षित थे, यमलोक पहुँचा दिया ॥ ३१ ॥

ततस्तलेनाभिहतो महारथः
स तस्य पिङ्गाधिपमन्त्रिनिर्जितः ।
स भग्ननीडः परिवृत्तकूबरः
पपात भूमौ हतवाजिरम्बरात् ॥ ३२ ॥

तदनन्तर वानरराज सुग्रीवके मन्त्री हनुमान्‌जीने अक्षकुमारके उस विशाल रथको भी अभिभूत कर दिया, उन्होंने हाथसे ही पीटकर रथकी बैठक तोड़ डाली और उसके हरसेको उलट दिया। घोड़े तो पहले ही मर चुके थे, अतः वह महान् रथ आकाशसे पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ३२ ॥

स तं परित्यज्य महारथो रथं
सकार्मुकः खड्गधरः खमुत्पतन् ।
ततोऽभियोगादृषिरुग्रवीर्यवान्
विहाय देहं मरुतामिवालयम् ॥ ३३ ॥

उस समय महारथी अक्षकुमार धनुष और तलवार ले रथ छोड़कर अन्तरिक्षमें ही उड़ने लगा। ठीक वैसे ही, जैसे कोई उग्रशक्तिसे सम्पन्न महर्षि योगमार्गसे शरीर त्यागकर स्वर्गलोककी ओर चला जा रहा हो ॥ ३३ ॥

कपिस्ततस्तं विचरन्तमम्बरे
पतत्त्रिराजानिलसिद्धसेविते ।
समेत्य तं मारुतवेगविक्रमः
क्रमेण जग्राह च पादयोर्दृढम् ॥ ३४ ॥

तब वायुके समान वेग और पराक्रमवाले कपिवर हनुमान्‌जीने पक्षिराज गरुड़, वायु तथा सिद्धोंसे सेवित व्योममार्गमें विचरते हुए उस राक्षसके पास पहुँचकर क्रमशः उसके दोनों पैर दृढ़तापूर्वक पकड़ लिये ॥ ३४ ॥

स तं समाविध्य सहस्रशः कपि-
र्महोरगं गृह्य इवाण्डजेश्वरः ।
मुमोच वेगात् पितृतुल्यविक्रमो
महीतले संयति वानरोत्तमः ॥ ३५ ॥

फिर तो अपने पिता वायु देवताके तुल्य पराक्रमी वानर-शिरोमणि हनुमान्‌ने जिस प्रकार गरुड़ बड़े-बड़े सर्पोंको घुमाते हैं, उसी तरह उसे हजारों बार घुमाकर बड़े वेगसे उस युद्ध-भूमिमें पटक दिया ॥ ३५ ॥

स भग्नबाहूरुकटीपयोधरः
क्षरन्नसृङ्‌निर्मथितास्थिलोचनः ।
सम्भिन्नसंधिः प्रविकीर्णबन्धनो
हतः क्षितौ वायुसुतेन राक्षसः ॥ ३६ ॥

नीचे गिरते ही उसकी भुजा, जाँघ, कमर और छातीके टुकड़े-टुकड़े हो गये, खूनकी धारा बहने लगी, शरीरकी हड्डियाँ चूर-चूर हो गयीं, आँखें बाहर निकल आयीं, अस्थियोंके जोड़ टूट गये और नस-नाड़ियोंके बन्धन शिथिल हो गये। इस तरह वह राक्षस पवनकुमार हनुमान्‌जीके हाथसे मारा गया ॥ ३६ ॥

महाकपिर्भूमितले निपीड्य तं
चकार रक्षोऽधिपतेर्महद्भयम् ।
महर्षिभिश्चक्रचरैः समागतैः
समेत्य भूतैश्च सयक्षपन्नगैः ।
सुरैश्च सेन्द्रैर्भृशजातविस्मयै-
र्हते कुमारे स कपिर्निरीक्षितः ॥ ३७ ॥

अक्षकुमारको पृथ्वीपर पटककर महाकपि हनुमान्‌जीने राक्षसराज रावणके हृदयमें बहुत बड़ा भय उत्पन्न कर दिया। उसके मारे जानेपर नक्षत्र-मण्डलमें विचरनेवाले महर्षियों, यक्षों, नागों, भूतों तथा इन्द्रसहित देवताओंने वहाँ एकत्र होकर बड़े विस्मयके साथ हनुमान्‌जीका दर्शन किया ॥ ३७ ॥

निहत्य तं वज्रिसुतोपमं रणे
कुमारमक्षं क्षतजोपमेक्षणम् ।
तदेव वीरोऽभिजगाम तोरणं
कृतक्षणः काल इव प्रजाक्षये ॥ ३८ ॥

युद्धमें इन्द्रपुत्र जयन्तके समान पराक्रमी और लाल-लाल आँखोंवाले अक्षकुमारका काम तमाम करके वीरवर हनुमान्‌जी प्रजाके संहारके लिये उद्यत हुए कालकी भाँति पुनः युद्धकी प्रतीक्षा करते हुए वाटिकाके उसी द्वारपर जा पहुँचे ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें सैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

—★—

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

इन्द्रजित् और हनुमान्‌जीका युद्ध, उसके दिव्यास्त्रके बन्धनमें बँधकर हनुमान्‌जीका रावणके दरबारमें उपस्थित होना

ततस्तु रक्षोऽधिपतिर्महात्मा
हनूमताक्षे निहते कुमारे।
मनः समाधाय स देवकल्पं
समादिदेशेन्द्रजितं सरोषः॥ १॥

तदनन्तर हनुमान्‌जीके द्वारा अक्षकुमारके मारे जानेपर राक्षसोंका स्वामी महाकाय रावण अपने मनको किसी तरह सुस्थिर करके रोषसे जल उठा और देवताओंके तुल्य पराक्रमी कुमार इन्द्रजित् (मेघनाद) को इस प्रकार आज्ञा दी— ॥ १॥

त्वमस्त्रविच्छस्त्रभृतां वरिष्ठः
सुरासुराणामपि शोकदाता।
सुरेषु सेन्द्रेषु च दृष्टकर्मा
पितामहाराधनसंचितास्त्रः॥ २॥

'बेटा! तुमने ब्रह्माजीकी आराधना करके अनेक प्रकारके अस्त्रोंका ज्ञान प्राप्त किया है। तुम अस्त्रवेत्ता, शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ तथा देवताओं और असुरोंको भी शोक प्रदान करनेवाले हो। इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंके समुदायमें तुम्हारा पराक्रम देखा गया है॥ २॥

तवास्त्रबलमासाद्य ससुराः समरुद्गणाः।
न शेकुः समरे स्थातुं सुरेश्वरसमाश्रिताः॥ ३॥

'इन्द्रके आश्रयमें रहनेवाले देवता और मरुद्गण भी समर-भूमिमें तुम्हारे अस्त्र-बलका सामना होनेपर टिक नहीं सके हैं॥ ३॥

न कश्चित् त्रिषु लोकेषु संयुगेन गतश्रमः।
भुजवीर्याभिगुप्तश्च तपसा चाभिरक्षितः।
देशकालप्रधानश्च त्वमेव मतिसत्तमः॥ ४॥

'तीनों लोकोंमें तुम्हारे सिवा दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जो युद्धसे थकता न हो। तुम अपने बाहुबलसे तो सुरक्षित हो ही, तपस्याके बलसे भी पूर्णतः निरापद हो। देश-कालका ज्ञान रखनेवालोंमें प्रधान और बुद्धिकी दृष्टिसे भी सर्वश्रेष्ठ तुम्हीं हो॥ ४॥

न तेऽस्त्यशक्यं समरेषु कर्मणां
न तेऽस्त्यकार्यं मतिपूर्वमन्त्रणे।
न सोऽस्ति कश्चित् त्रिषु संग्रहेषु
न वेद यस्तेऽस्त्रबलं बलं च॥ ५॥

'युद्धमें तुम्हारे वीरोचित कर्मोंके द्वारा कुछ भी असाध्य नहीं है। शास्त्रानुकूल बुद्धिपूर्वक राजकार्यका विचार करते समय तुम्हारे लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। तुम्हारा कोई भी विचार ऐसा नहीं होता, जो कार्यका साधक न हो। त्रिलोकीमें एक भी ऐसा वीर नहीं है, जो तुम्हारी शारीरिक शक्ति और अस्त्र-बलको न जानता हो॥ ५॥

ममानुरूपं तपसो बलं च ते
पराक्रमश्चास्त्रबलं च संयुगे।
न त्वां समासाद्य रणावमर्दे
मनः श्रमं गच्छति निश्चितार्थम्॥ ६॥

'तुम्हारा तपोबल, युद्धविषयक पराक्रम और अस्त्रबल मेरे ही समान है। युद्धस्थलमें तुमको पाकर मेरा मन कभी खेद या विषादको नहीं प्राप्त होता; क्योंकि इसे यह निश्चित विश्वास रहता है कि विजय तुम्हारे पक्षमें होगी॥ ६॥

निहताः किंकराः सर्वे जम्बुमाली च राक्षसः।
अमात्यपुत्रा वीराश्च पञ्च सेनाग्रगामिनः॥ ७॥

'देखो, किंकर नामवाले समस्त राक्षस मार डाले गये। जम्बुमाली नामका राक्षस भी जीवित न रह सका, मन्त्रीके सातों वीर पुत्र तथा मेरे पाँच सेनापति भी कालके गालमें चले गये॥ ७॥

बलानि सुसमृद्धानि साश्वनागरथानि च।
सहोदरस्ते दयितः कुमारोऽक्षश्च सूदितः।
न तु तेष्वेव मे सारो यस्त्वय्यरिनिषूदन॥ ८॥

'उनके साथ ही हाथी, घोड़े और रथोंसहित मेरी बहुत-सी बल-वीर्यसे सम्पन्न सेनाएँ भी नष्ट हो गयीं और तुम्हारा प्रिय बन्धु कुमार अक्ष भी मार डाला गया। शत्रुसूदन! मुझमें जो तीनों लोकोंपर विजय पानेकी शक्ति है, वह तुम्हींमें है। पहले जो लोग मारे गये हैं, उनमें वह शक्ति नहीं थी (इसलिये तुम्हारी विजय निश्चित है)॥ ८॥

इदं च दृष्ट्वा निहतं महद् बलं
कपेः प्रभावं च पराक्रमं च।
त्वमात्मनश्चापि निरीक्ष्य सारं
कुरुष्व वेगं स्वबलानुरूपम्॥ ९॥

'इस प्रकार अपनी विशाल सेनाका संहार और उस वानरका प्रभाव एवं पराक्रम देखकर तुम अपने बलका भी विचार कर लो; फिर अपनी शक्तिके अनुसार उद्योग करो॥ ९॥

बलावमर्दस्त्वयि संनिकृष्टे
यथा गते शाम्यति शान्तशत्रौ।
तथा समीक्ष्यात्मबलं परं च
समारभस्वास्त्रभृतां वरिष्ठ॥ १०॥

'शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ वीर! तुम्हारे सब शत्रु शान्त हो चुके हैं। तुम अपने और पराये बलका विचार करके ऐसा प्रयत्न करो, जिससे युद्धभूमिके निकट तुम्हारे पहुँचते ही मेरी सेनाका विनाश रुक जाय॥ १०॥

न वीर सेना गणशश्च्यवन्ति
न वज्रमादाय विशालसारम्।
न मारुतस्यास्ति गतिप्रमाणं
न चाग्निकल्पः करणेन हन्तुम्॥ ११॥

'वीरवर! तुम्हें अपने साथ सेना नहीं ले जानी चाहिये; क्योंकि वे सेनाएँ समूह-की-समूह या तो भाग जाती हैं या मारी जाती हैं। इसी तरह अधिक तीक्ष्णता और कठोरतासे युक्त वज्र लेकर भी जानेकी कोई आवश्यकता नहीं है (क्योंकि उसके ऊपर वह भी व्यर्थ सिद्ध हो चुका है)। उस वायुपुत्र हनुमान्‌की गति अथवा शक्तिका कोई माप-तोल या सीमा नहीं है। वह अग्नि-तुल्य तेजस्वी वानर किसी साधनविशेषसे नहीं मारा जा सकता॥ ११॥

तमेवमर्थं प्रसमीक्ष्य सम्यक्
स्वकर्मसाम्याद्धि समाहितात्मा।
स्मरंश्च दिव्यं धनुषोऽस्य वीर्यं
व्रजाक्षतं कर्म समारभस्व॥ १२॥

'इन सब बातोंका अच्छी तरह विचार करके प्रतिपक्षीमें अपने समान ही पराक्रम समझकर तुम अपने चित्तको एकाग्र कर लो—सावधान हो जाओ। अपने इस धनुषके दिव्य प्रभावको याद रखते हुए आगे बढ़ो और ऐसा पराक्रम करके दिखाओ, जो खाली न जाय॥ १२॥

न खल्वियं मतिश्रेष्ठ यत्त्वां सम्प्रेषयाम्यहम्।
इयं च राजधर्माणां क्षत्रस्य च मतिर्मता॥ १३॥

'उत्तम बुद्धिवाले वीर! मैं तुम्हें जो ऐसे संकटमें भेज रहा हूँ, यह यद्यपि (स्नेहकी दृष्टिसे) उचित नहीं है, तथापि मेरा यह विचार राजनीति और क्षत्रिय-धर्मके अनुकूल है॥ १३॥

नानाशस्त्रेषु संग्रामे वैशारद्यमरिंदम।
अवश्यमेव बोद्धव्यं काम्यश्च विजयो रणे॥ १४॥

'शत्रुदमन! वीर पुरुषको संग्राममें नाना प्रकारके शस्त्रोंकी कुशलता अवश्य प्राप्त करनी चाहिये, साथ ही युद्धमें विजय पानेकी भी अभिलाषा रखनी चाहिये'॥ १४॥

ततः पितुस्तद्वचनं निशम्य
प्रदक्षिणं दक्षसुतप्रभावः।
चकार भर्तारमतित्वरेण
रणाय वीरः प्रतिपन्नबुद्धिः॥ १५॥

अपने पिता राक्षसराज रावणके इस वचनको सुनकर देवताओंके समान प्रभावशाली वीर मेघनादने युद्धके लिये निश्चित विचार करके जल्दीसे अपने स्वामी रावणकी परिक्रमा की॥ १५॥

ततस्तैः स्वगणैरिष्टैरिन्द्रजित् प्रतिपूजितः।
युद्धोद्धतकृतोत्साहः संग्रामं सम्प्रपद्यत॥ १६॥

तत्पश्चात् सभामें बैठे हुए अपने दलके प्रिय राक्षसोंद्वारा भूरि-भूरि प्रशंसित हो इन्द्रजित् विकट युद्धके लिये मनमें उत्साह भरकर संग्रामभूमिकी ओर जानेको उद्यत हुआ॥ १६॥

श्रीमान् पद्मविशालाक्षो राक्षसाधिपतेः सुतः।
निर्जगाम महातेजाः समुद्र इव पर्वणि॥ १७॥

उस समय प्रफुल्ल कमलदलके समान विशाल नेत्रोंवाला राक्षसराज रावणका पुत्र महातेजस्वी श्रीमान् इन्द्रजित् पर्वके दिन उमड़े हुए समुद्रके समान विशेष हर्ष और उत्साहसे पूर्ण हो राजमहलसे बाहर निकला॥ १७॥

स पक्षिराजोपमतुल्यवेगै-
र्व्याघ्रैश्चतुर्भिः स तु तीक्ष्णदंष्ट्रैः।
रथं समायुक्तमसह्यवेगः
समारुरोहेन्द्रजिदिन्द्रकल्पः॥ १८॥

जिसका वेग शत्रुओंके लिये असह्य था, वह इन्द्रके समान पराक्रमी मेघनाद पक्षिराज गरुड़के समान तीव्र गति तथा तीखे दाढ़ोंवाले चार सिंहोंसे जुते हुए उत्तम रथपर आरूढ़ हुआ॥ १८॥

स रथी धन्विनां श्रेष्ठः शस्त्रज्ञोऽस्त्रविदां वरः।
रथेनाभिययौ क्षिप्रं हनूमान् यत्र सोऽभवत्॥ १९॥

अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञाता, अस्त्रवेत्ताओंमें अग्रगण्य और धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ वह रथी वीर रथके द्वारा शीघ्र उस स्थानपर गया, जहाँ हनुमान्‌जी उसकी प्रतीक्षामें बैठे थे॥ १९॥

स तस्य रथनिर्घोषं ज्यास्वनं कार्मुकस्य च।
निशम्य हरिवीरोऽसौ सम्प्रहृष्टतरोऽभवत्॥ २०॥

उसके रथकी घर्घराहट और धनुषकी प्रत्यञ्चाका गम्भीर घोष सुनकर वानरवीर हनुमान्‌जी अत्यन्त हर्ष और उत्साहसे भर गये॥ २०॥

इन्द्रजिच्चापमादाय शितशल्यांश्च सायकान्।
हनूमन्तमभिप्रेत्य जगाम रणपण्डितः॥ २१॥

इन्द्रजित् युद्धकी कलामें प्रवीण था। वह धनुष और तीखे अग्रभागवाले सायकोंको लेकर हनुमान्‌जीको लक्ष्य करके आगे बढ़ा॥ २१॥

तस्मिंस्ततः संयति जातहर्षे
रणाय निर्गच्छति बाणपाणौ।
दिशश्च सर्वाः कलुषा बभूवु-
र्मृगाश्च रौद्रा बहुधा विनेदुः॥ २२॥

हृदयमें हर्ष और उत्साह तथा हाथोंमें बाण लेकर वह ज्यों ही युद्धके लिये निकला, त्यों ही सम्पूर्ण दिशाएँ मलिन हो गयीं और भयानक पशु नाना प्रकारसे आर्तनाद करने लगे॥ २२॥

समागतास्तत्र तु नागयक्षा
महर्षयश्चक्रचराश्च सिद्धाः।
नभः समावृत्य च पक्षिसङ्घा
विनेदुरुच्चैः परमप्रहृष्टाः॥ २३॥

उस समय वहाँ नाग, यक्ष, महर्षि और नक्षत्र-मण्डलमें विचरनेवाले सिद्धगण भी आ गये। साथ ही पक्षियोंके समुदाय भी आकाशको आच्छादित करके अत्यन्त हर्षमें भरकर उच्च स्वरसे चहचहाने लगे ॥ २३ ॥

आयान्तं स रथं दृष्ट्वा तूर्णमिन्द्रध्वजं कपिः ।
ननाद च महानादं व्यवर्धत च वेगवान् ॥ २४ ॥

इन्द्राकार चिह्नवाली ध्वजासे सुशोभित रथपर बैठकर शीघ्रतापूर्वक आते हुए मेघनादको देखकर वेगशाली वानर-वीर हनुमान्ने बड़े जोरसे गर्जना की और अपने शरीरको बढ़ाया ॥ २४ ॥

इन्द्रजित् स रथं दिव्यमाश्रितश्चित्रकार्मुकः ।
धनुर्विस्फारयामास तडिदूर्जितनिःस्वनम् ॥ २५ ॥

उस दिव्य रथपर बैठकर विचित्र धनुष धारण करनेवाले इन्द्रजित्ने बिजलीकी गड़गड़ाहटके समान टंकार करनेवाले अपने धनुषको खींचा ॥ २५ ॥

ततः समेतावतितीक्ष्णवेगौ
महाबलौ तौ रणनिर्विशङ्कौ ।
कपिश्च रक्षोऽधिपतेस्तनूजः
सुरासुरेन्द्राविव बद्धवैरौ ॥ २६ ॥

फिर तो अत्यन्त दुःसह वेग और महान् बलसे सम्पन्न हो युद्धमें निर्भय होकर आगे बढ़नेवाले वे दोनों वीर कपिवर हनुमान् तथा राक्षसराजकुमार मेघनाद परस्पर वैर बाँधकर देवराज इन्द्र और दैत्यराज बलिकी भाँति एक-दूसरेसे भिड़ गये ॥ २६ ॥

स तस्य वीरस्य महारथस्य
धनुष्मतः संयति सम्मतस्य ।
शरप्रवेगं व्यहनत् प्रवृद्ध-
श्चचार मार्गे पितुरप्रमेयः ॥ २७ ॥

अप्रमेय शक्तिशाली हनुमान्जी विशाल शरीर धारण करके अपने पिता वायुके मार्गपर विचरने और युद्धमें सम्मानित होनेवाले उस धनुर्धर महारथी राक्षसवीरके बाणोंके महान् वेगको व्यर्थ करने लगे ॥ २७ ॥

ततः शरानायततीक्ष्णशल्यान्
सुपत्रिणः काञ्चनचित्रपुङ्खान् ।
मुमोच वीरः परवीरहन्ता
सुसंततान् वज्रसमानवेगान् ॥ २८ ॥

इतनेहीमें शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले इन्द्रजित्ने बड़ी और तीखी नोक तथा सुन्दर परोंवाले, सोनेकी विचित्र पंखोंसे सुशोभित और वज्रके समान वेगशाली बाणोंको लगातार छोड़ना आरम्भ किया ॥ २८ ॥

ततः स तत्स्यन्दननिःस्वनं च
मृदङ्गभेरीपटहस्वनं च ।
विकृष्यमाणस्य च कार्मुकस्य
निशम्य घोषं पुनरुत्पपात ॥ २९ ॥

उस समय उसके रथकी घर्घराहट, मृदङ्ग, भेरी और पटह आदि बाजोंके शब्द एवं खींचे जाते हुए धनुषकी टंकार सुनकर हनुमान्जी फिर ऊपरकी ओर उछले ॥ २९ ॥

शराणामन्तरेष्वाशु व्यावर्तत महाकपिः ।
हरिस्तस्याभिलक्ष्यस्य मोक्षयँल्लक्ष्यसंग्रहम् ॥ ३० ॥

ऊपर जाकर वे महाकपि वानरवीर लक्ष्य वेधनेमें प्रसिद्ध मेघनादके साधे हुए निशानेको व्यर्थ करते हुए उसके छोड़े हुए बाणोंके बीचसे शीघ्रतापूर्वक निकलकर अपनेको बचाने लगे ॥ ३० ॥

शराणामग्रतस्तस्य पुनः समभिवर्तत ।
प्रसार्य हस्तौ हनुमानुत्पपातानिलात्मजः ॥ ३१ ॥

वे पवनकुमार हनुमान् बारंबार उसके बाणोंके सामने आकर खड़े हो जाते और फिर दोनों हाथ फैलाकर बात-की-बातमें उड़ जाते थे ॥ ३१ ॥

तावुभौ वेगसम्पन्नौ रणकर्मविशारदौ ।
सर्वभूतमनोग्राहि चक्रतुर्युद्धमुत्तमम् ॥ ३२ ॥

वे दोनों वीर महान् वेगसे सम्पन्न तथा युद्ध करनेकी कलामें चतुर थे। वे सम्पूर्ण भूतोंके चित्तको आकर्षित करनेवाला उत्तम युद्ध करने लगे ॥ ३२ ॥

हनूमतो वेद न राक्षसोऽन्तरं
न मारुतिस्तस्य महात्मनोऽन्तरम् ।
परस्परं निर्विषहौ बभूवतुः
समेत्य तौ देवसमानविक्रमौ ॥ ३३ ॥

वह राक्षस हनुमान्जीपर प्रहार करनेका अवसर नहीं पाता था और पवनकुमार हनुमान्जी भी उस महामनस्वी वीरको धर दबानेका मौका नहीं पाते थे। देवताओंके समान पराक्रमी वे दोनों वीर परस्पर भिड़कर एक-दूसरेके लिये दुःसह हो उठे थे ॥ ३३ ॥

ततस्तु लक्ष्ये स विहन्यमाने
शरेष्वमोघेषु च सम्पतत्सु ।
जगाम चिन्तां महतीं महात्मा
समाधिसंयोगसमाहितात्मा ॥ ३४ ॥

लक्ष्यवेधके लिये चलाये हुए मेघनादके वे अमोघ बाण भी जब व्यर्थ होकर गिर पड़े, तब लक्ष्यपर बाणोंका संधान करनेमें सदा एकाग्रचित्त रहनेवाले उस महामनस्वी वीरको बड़ी चिन्ता हुई ॥ ३४ ॥

ततो मतिं राक्षसराजसूनु-
श्चकार तस्मिन् हरिवीरमुख्ये ।
अवध्यतां तस्य कपेः समीक्ष्य
कथं निगच्छेदिति निग्रहार्थम् ॥ ३५ ॥

उन कपिश्रेष्ठको अवध्य समझकर राक्षसराजकुमार मेघनाद वानरवीरोंमें प्रमुख हनुमान्जीके विषयमें यह विचार करने लगा कि 'इन्हें किसी तरह कैद कर लेना चाहिये, परंतु

ये मेरी पकड़में आ कैसे सकते हैं?' ॥ ३५ ॥

ततः पैतामहं वीरः सोऽस्त्रमस्त्रविदां वरः ।
संदधे सुमहातेजास्तं हरिप्रवरं प्रति ॥ ३६ ॥

फिर तो अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ उस महातेजस्वी वीरने उन कपिश्रेष्ठको लक्ष्य करके अपने धनुषपर ब्रह्माजीके दिये हुए अस्त्रका संधान किया ॥ ३६ ॥

अवध्योऽयमिति ज्ञात्वा तमस्त्रेणास्त्रतत्त्ववित् ।
निजग्राह महाबाहुं मारुतात्मजमिन्द्रजित् ॥ ३७ ॥

अस्त्रतत्त्वके ज्ञाता इन्द्रजित्ने महाबाहु पवनकुमारको अवध्य जानकर उन्हें उस अस्त्रसे बाँध लिया ॥ ३७ ॥

तेन बद्धस्ततोऽस्त्रेण राक्षसेन स वानरः ।
अभवन्निर्विचेष्टश्च पपात च महीतले ॥ ३८ ॥

राक्षसद्वारा उस अस्त्रसे बाँध लिये जानेपर वानरवीर हनुमान्‌जी निश्चेष्ट होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३८ ॥

ततोऽथ बुद्ध्वा स तदस्त्रबन्धं
प्रभोः प्रभावाद् विगताल्पवेगः ।
पितामहानुग्रहमात्मनश्च
विचिन्तयामास हरिप्रवीरः ॥ ३९ ॥

अपनेको ब्रह्मास्त्रसे बँधा हुआ जानकर भी उन्हीं भगवान् ब्रह्माके प्रभावसे हनुमान्‌जीको थोड़ी-सी भी पीड़ाका अनुभव नहीं हुआ। वे प्रमुख वानरवीर अपने ऊपर ब्रह्माजीके महान् अनुग्रहका विचार करने लगे ॥ ३९ ॥

ततः स्वायम्भुवैर्मन्त्रैर्ब्रह्मास्त्रं चाभिमन्त्रितम् ।
हनूमांश्चिन्तयामास वरदानं पितामहात् ॥ ४० ॥

जिन मन्त्रोंके देवता साक्षात् स्वयम्भू ब्रह्मा हैं, उनसे अभिमन्त्रित हुए उस ब्रह्मास्त्रको देखकर हनुमान्‌जीको पितामह ब्रह्मासे अपने लिये मिले हुए वरदानका स्मरण हो आया (ब्रह्माजीने उन्हें वर दिया था कि मेरा अस्त्र तुम्हें एक ही मुहूर्तमें अपने बन्धनसे मुक्त कर देगा) ॥ ४० ॥

न मेऽस्य बन्धस्य च शक्तिरस्ति
विमोक्षणे लोकगुरोः प्रभावात् ।
इत्येवमेवं विहितोऽस्त्रबन्धो
मयाऽऽत्मयोनेरनुवर्तितव्यः ॥ ४१ ॥

फिर वे सोचने लगे 'लोकगुरु ब्रह्माके प्रभावसे मुझमें इस अस्त्रके बन्धनसे छुटकारा पानेकी शक्ति नहीं है—ऐसा मानकर ही इन्द्रजित्ने मुझे इस प्रकार बाँधा है, तथापि मुझे भगवान् ब्रह्माके सम्मानार्थ इस अस्त्रबन्धनका अनुसरण करना चाहिये' ॥ ४१ ॥

स वीर्यमस्त्रस्य कपिर्विचार्य
पितामहानुग्रहमात्मनश्च ।
विमोक्षशक्तिं परिचिन्तयित्वा
पितामहाज्ञामनुवर्तते स्म ॥ ४२ ॥

कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌जीने उस अस्त्रकी शक्ति, अपने ऊपर पितामहकी कृपा तथा अपनेमें उसके बन्धनसे छूट जानेकी सामर्थ्य—इन तीनोंपर विचार करके अन्तमें ब्रह्माजीकी आज्ञाका ही अनुसरण किया ॥ ४२ ॥

अस्त्रेणापि हि बद्धस्य भयं मम न जायते ।
पितामहमहेन्द्राभ्यां रक्षितस्यानिलेन च ॥ ४३ ॥

उनके मनमें यह बात आयी कि 'इस अस्त्रसे बँध जानेपर भी मुझे कोई भय नहीं है; क्योंकि ब्रह्मा, इन्द्र और वायुदेवता तीनों मेरी रक्षा करते हैं ॥ ४३ ॥

ग्रहणे चापि रक्षोभिर्महन्मे गुणदर्शनम् ।
राक्षसेन्द्रेण संवादस्तस्माद् गृह्णन्तु मां परे ॥ ४४ ॥

'राक्षसोंद्वारा पकड़े जानेमें भी मुझे महान् लाभ ही दिखायी देता है; क्योंकि इससे मुझे राक्षसराज रावणके साथ बातचीत करनेका अवसर मिलेगा। अतः शत्रु मुझे पकड़कर ले चलें' ॥ ४४ ॥

स निश्चितार्थः परवीरहन्ता
समीक्ष्यकारी विनिवृत्तचेष्टः ।
परैः प्रसह्याभिगतैर्निगृह्य
ननाद तैस्तैः परिभर्त्स्यमानः ॥ ४५ ॥

ऐसा निश्चय करके विचारपूर्वक कार्य करनेवाले शत्रुवीरोंके संहारक हनुमान्‌जी निश्चेष्ट हो गये। फिर तो सभी शत्रु निकट आकर उन्हें बलपूर्वक पकड़ने और डाँट बताने लगे। उस समय हनुमान्‌जी, मानो कष्ट पा रहे हों, इस प्रकार चीखते और कटकटाते थे ॥ ४५ ॥

ततस्ते राक्षसा दृष्ट्वा विनिश्चेष्टमरिंदमम् ।
बबन्धुः शणवल्कैश्च द्रुमचीरैश्च संहतैः ॥ ४६ ॥

राक्षसोंने देखा अब यह हाथ-पैर नहीं हिलाता, तब वे शत्रुहन्ता हनुमान्‌जीको सुतरी और वृक्षोंके वल्कलको बटकर बनाये गये रस्सोंसे बाँधने लगे ॥ ४६ ॥

स रोचयामास परैश्च बन्धं
प्रसह्य वीरैरभिगर्हणं च ।
कौतूहलान्मां यदि राक्षसेन्द्रो
द्रष्टुं व्यवस्येदिति निश्चितार्थः ॥ ४७ ॥

शत्रुवीरोंने जो उन्हें हठपूर्वक बाँधा और उनका तिरस्कार किया, यह सब कुछ उस समय उन्हें अच्छा लगा। उनके मनमें यह निश्चित विचार हो गया था कि ऐसी अवस्थामें राक्षसराज रावण सम्भवतः कौतूहलवश मुझे देखनेकी इच्छा करेगा (इसीलिये वे सब कुछ सह रहे थे) ॥ ४७ ॥

स बद्धस्तेन वल्केन विमुक्तोऽस्त्रेण वीर्यवान् ।
अस्त्रबन्धः स चान्यं हि न बन्धमनुवर्तते ॥ ४८ ॥

वल्कलके रस्सेसे बँध जानेपर पराक्रमी हनुमान् ब्रह्मास्त्रके बन्धनसे मुक्त हो गये; क्योंकि उस अस्त्रका बन्धन किसी दूसरे बन्धनके साथ नहीं रहता ॥ ४८ ॥

अथेन्द्रजित् तं द्रुमचीरबद्धं
विचार्य वीरः कपिसत्तमं तम्।
विमुक्तमस्त्रेण जगाम चिन्ता-
मन्येन बद्धोऽप्यनुवर्ततेऽस्त्रम्॥ ४९॥
अहो महत् कर्म कृतं निरर्थं
न राक्षसैर्मन्त्रगतिर्विमृष्टा।
पुनश्च नास्त्रे विहतेऽस्त्रमन्यत्
प्रवर्तते संशयिताः स्म सर्वे॥ ५०॥

वीर इन्द्रजित्ने जब देखा कि यह वानरशिरोमणि तो केवल वृक्षोंके वल्कलसे बँधा है, दिव्यास्त्रके बन्धनसे मुक्त हो चुका है, तब उसे बड़ी चिन्ता हुई। वह सोचने लगा—'दूसरी वस्तुओंसे बँधा हुआ होनेपर भी यह अस्त्र-बन्धनमें बँधे हुएकी भाँति बर्ताव कर रहा है। ओह! इन राक्षसोंने मेरा किया हुआ बहुत बड़ा काम चौपट कर दिया। इन्होंने मन्त्रकी शक्तिपर विचार नहीं किया। यह अस्त्र जब एक बार व्यर्थ हो जाता है, तब पुनः दूसरी बार इसका प्रयोग नहीं हो सकता। अब तो विजयी होकर भी हम सब लोग संशयमें पड़ गये॥ ४९-५०॥

अस्त्रेण हनुमान् मुक्तो नात्मानमवबुध्यते।
कृष्यमाणस्तु रक्षोभिस्तैश्च बन्धैर्निपीडितः॥ ५१॥
हन्यमानस्ततः क्रूरै राक्षसैः कालमुष्टिभिः।
समीपं राक्षसेन्द्रस्य प्राकृष्यत स वानरः॥ ५२॥

हनुमान्‌जी यद्यपि अस्त्रके बन्धनसे मुक्त हो गये थे तो भी उन्होंने ऐसा बर्ताव किया, मानो वे इस बातको जानते ही न हों। क्रूर राक्षस उन्हें बन्धनोंसे पीड़ा देते और कठोर मुक्कोंसे मारते हुए खींचकर ले चले। इस तरह वे वानरवीर राक्षसराज रावणके पास पहुँचाये गये॥ ५१-५२॥

अथेन्द्रजित् तं प्रसमीक्ष्य मुक्त-
मस्त्रेण बद्धं द्रुमचीरसूत्रैः।
व्यदर्शयत् तत्र महाबलं तं
हरिप्रवीरं सगणाय राज्ञे॥ ५३॥

तब इन्द्रजित्ने उन महाबली वानरवीरको ब्रह्मास्त्रसे मुक्त तथा वृक्षके वल्कलोंकी रस्सियोंसे बँधा देख उन्हें वहाँ सभासद्गणोंसहित राजा रावणको दिखाया॥ ५३॥

तं मत्तमिव मातङ्गं बद्धं कपिवरोत्तमम्।
राक्षसा राक्षसेन्द्राय रावणाय न्यवेदयन्॥ ५४॥

मतवाले हाथीके समान बँधे हुए उन वानरशिरोमणिको राक्षसोंने राक्षसराज रावणकी सेवामें समर्पित कर दिया॥ ५४॥

कोऽयं कस्य कुतो वापि किं कार्यं कोऽभ्युपाश्रयः।
इति राक्षसवीराणां दृष्ट्वा संजज्ञिरे कथाः॥ ५५॥

उन्हें देखकर राक्षसवीर आपसमें कहने लगे—'यह कौन है? किसका पुत्र या सेवक है? कहाँसे आया है? यहाँ इसका क्या काम है? तथा इसे सहारा देनेवाला कौन है?॥ ५५॥

हन्यतां दह्यतां वापि भक्ष्यतामिति चापरे।
राक्षसास्तत्र संक्रुद्धाः परस्परमथाब्रुवन्॥ ५६॥

कुछ दूसरे राक्षस जो अत्यन्त क्रोधसे भरे थे, परस्पर इस प्रकार बोले—'इस वानरको मार डालो, जला डालो या खा डालो'॥ ५६॥

अतीत्य मार्गं सहसा महात्मा
स तत्र रक्षोऽधिपपादमूले।
ददर्श राज्ञः परिचारवृद्धान्
गृहं महारत्नविभूषितं च॥ ५७॥

महात्मा हनुमान्‌जी सारा रास्ता तै करके जब सहसा राक्षसराज रावणके पास पहुँच गये, तब उन्होंने उसके चरणोंके समीप बहुत-से बड़े-बूढ़े सेवकोंको और बहुमूल्य रत्नोंसे विभूषित सभाभवनको भी देखा॥ ५७॥

स ददर्श महातेजा रावणः कपिसत्तमम्।
रक्षोभिर्विकृताकारैः कृष्यमाणमितस्ततः॥ ५८॥

उस समय महातेजस्वी रावणने विकट आकारवाले राक्षसोंके द्वारा इधर-उधर घसीटे जाते हुए कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌जीको देखा॥ ५८॥

राक्षसाधिपतिं चापि ददर्श कपिसत्तमः।
तेजोबलसमायुक्तं तपन्तमिव भास्करम्॥ ५९॥

कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌ने भी राक्षसराज रावणको तपते हुए सूर्यके समान तेज और बलसे सम्पन्न देखा॥ ५९॥

स रोषसंवर्तितताम्रदृष्टि-
र्दशाननस्तं कपिमन्ववेक्ष्य।
अथोपविष्टान् कुलशीलवृद्धान्
समादिशत् तं प्रति मुख्यमन्त्रीन्॥ ६०॥

हनुमान्‌जीको देखकर दशमुख रावणकी आँखें रोषसे चञ्चल और लाल हो गयीं। उसने वहाँ बैठे हुए कुलीन, सुशील और मुख्य मन्त्रियोंको उनसे परिचय पूछनेके लिये आज्ञा दी॥ ६०॥

यथाक्रमं तैः स कपिश्च पृष्टः
कार्यार्थमर्थस्य च मूलमादौ।
निवेदयामास हरीश्वरस्य
दूतः सकाशादहमागतोऽस्मि॥ ६१॥

उन सबने पहले क्रमशः कपिवर हनुमान्‌से उनका कार्य, प्रयोजन तथा उसके मूल कारणके विषयमें पूछा। तब उन्होंने यह बताया कि 'मैं वानरराज सुग्रीवके पाससे उनका दूत होकर आया हूँ'॥ ६१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डेऽष्टचत्वारिंशः सर्गः॥ ४८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें अड़तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ४८॥

एकोनपञ्चाशः सर्गः

रावणके प्रभावशाली स्वरूपको देखकर हनुमान्‌जीके मनमें अनेक प्रकारके विचारोंका उठना

ततः स कर्मणा तस्य विस्मितो भीमविक्रमः ।
हनूमान् क्रोधताम्राक्षो रक्षोऽधिपमवैक्षत ॥ १ ॥

इन्द्रजित्‌के उस नीतिपूर्ण कर्मसे विस्मित तथा रावणके सीताहरण आदि कर्मोंसे कुपित हो रोषसे लाल आँखें किये भयंकर पराक्रमी हनुमान्‌जीने राक्षसराज रावणकी ओर देखा ॥ १ ॥

भ्राजमानं महार्हेण काञ्चनेन विराजता ।
मुक्ताजालवृतेनाथ मुकुटेन महाद्युतिम् ॥ २ ॥

वह महातेजस्वी राक्षसराज सोनेके बने हुए बहुमूल्य एवं दीप्तिमान् मुकुटसे, जिसमें मोतियोंका काम किया हुआ था, उद्भासित हो रहा था ॥ २ ॥

वज्रसंयोगसंयुक्तैर्महार्हमणिविग्रहैः ।
हैमैराभरणैश्चित्रैर्मनसेव प्रकल्पितैः ॥ ३ ॥

उसके विभिन्न अङ्गोंमें सोनेके विचित्र आभूषण ऐसे सुन्दर लगते थे मानो मानसिक संकल्पद्वारा बनाये गये हों। उनमें हीरे तथा बहुमूल्य मणिरत्न जड़े हुए थे, उन आभूषणोंसे रावणकी अद्भुत शोभा होती थी ॥ ३ ॥

महार्हक्षौमसंवीतं रक्तचन्दनरूषितम् ।
स्वनुलिप्तं विचित्राभिर्विविधाभिश्च भक्तिभिः ॥ ४ ॥

बहुमूल्य रेशमी वस्त्र उसके शरीरकी शोभा बढ़ा रहे थे। वह लाल चन्दनसे चर्चित था और भाँति-भाँतिकी विचित्र रचनाओंसे युक्त सुन्दर अङ्गरागोंसे उसका सारा अङ्ग सुशोभित हो रहा था ॥ ४ ॥

विचित्रं दर्शनीयैश्च रक्ताक्षैर्भीमदर्शनैः ।
दीप्ततीक्ष्णमहादंष्ट्रं प्रलम्बं दशनच्छदैः ॥ ५ ॥

उसकी आँखें देखने योग्य, लाल-लाल और भयावनी थीं; उनसे और चमकीली तीखी एवं बड़ी-बड़ी दाढ़ों तथा लंबे-लंबे ओठोंके कारण उसकी विचित्र शोभा होती थी ॥ ५ ॥

शिरोभिर्दशभिर्वीरो भ्राजमानं महौजसम् ।
नानाव्यालसमाकीर्णैः शिखरैरिव मन्दरम् ॥ ६ ॥

वीर हनुमान्‌जीने देखा, अपने दस मस्तकोंसे सुशोभित महाबली रावण नाना प्रकारके सर्पोंसे भरे हुए अनेक शिखरोंद्वारा शोभा पानेवाले मन्दराचलके समान प्रतीत हो रहा है ॥ ६ ॥

नीलाञ्जनचयप्रख्यं हारेणोरसि राजता ।
पूर्णचन्द्राभवक्त्रेण सबालार्कमिवाम्बुदम् ॥ ७ ॥

उसका शरीर काले कोयलेके ढेरकी भाँति काला था और वक्षःस्थल चमकीले हारसे विभूषित था। वह पूर्ण चन्द्रके समान मनोरम मुखद्वारा प्रातःकालके सूर्यसे युक्त मेघकी भाँति शोभा पा रहा था ॥ ७ ॥

बाहुभिर्बद्धकेयूरैश्चन्दनोत्तमरूषितैः ।
भ्राजमानाङ्गदैर्भीमैः पञ्चशीर्षैरिवोरगैः ॥ ८ ॥

जिनमें केयूर बँधे थे, उत्तम चन्दनका लेप हुआ था और चमकीले अङ्गद शोभा दे रहे थे, उन भयंकर भुजाओंसे सुशोभित रावण ऐसा जान पड़ता था, मानो पाँच सिरवाले अनेक सर्पोंसे सेवित हो रहा हो ॥ ८ ॥

महति स्फाटिके चित्रे रत्नसंयोगचित्रिते ।
उत्तमास्तरणास्तीर्णे सूपविष्टं वरासने ॥ ९ ॥

वह स्फटिकमणिके बने हुए विशाल एवं सुन्दर सिंहासनपर, जो नाना प्रकारके रत्नोंके संयोगसे चित्रित, विचित्र तथा सुन्दर बिछौनोंसे आच्छादित था, बैठा हुआ था ॥ ९ ॥

अलंकृताभिरत्यर्थं प्रमदाभिः समन्ततः ।
वालव्यजनहस्ताभिरारात्समुपसेवितम् ॥ १० ॥

वस्त्र और आभूषणोंसे खूब सजी हुई बहुत-सी युवतियाँ हाथमें चँवर लिये सब ओरसे आस-पास खड़ी हो उसकी सेवा करती थीं ॥ १० ॥

दुर्धरेण प्रहस्तेन महापार्श्वेन रक्षसा ।
मन्त्रिभिर्मन्त्रतत्त्वज्ञैर्निकुम्भेन च मन्त्रिणा ॥ ११ ॥
उपोपविष्टं रक्षोभिश्चतुर्भिर्बलदर्पितम् ।
कृत्स्नं परिवृतं लोकं चतुर्भिरिव सागरैः ॥ १२ ॥

मन्त्र-तत्त्वको जाननेवाले दुर्धर, प्रहस्त, महापार्श्व तथा निकुम्भ—ये चार राक्षसजातीय मन्त्री उसके पास बैठे थे। उन चारों राक्षसोंसे घिरा हुआ बलाभिमानी रावण चार समुद्रोंसे घिरे हुए समस्त भूलोककी भाँति शोभा पा रहा था ॥ ११-१२ ॥

मन्त्रिभिर्मन्त्रतत्त्वज्ञैरन्यैश्च शुभदर्शिभिः ।
आश्वास्यमानं सचिवैः सुरैरिव सुरेश्वरम् ॥ १३ ॥

जैसे देवता देवराज इन्द्रको सान्त्वना देते हैं, उसी प्रकार मन्त्रतत्त्वके ज्ञाता मन्त्री तथा दूसरे-दूसरे शुभचिन्तक सचिव उसे आश्वासन दे रहे थे ॥ १३ ॥

अपश्यद् राक्षसपतिं हनूमानतितेजसम् ।
वेष्टितं मेरुशिखरे सतोयमिव तोयदम् ॥ १४ ॥

इस प्रकार हनुमान्‌जीने मन्त्रियोंसे घिरे हुए अत्यन्त तेजस्वी, सिंहासनारूढ़ राक्षसराज रावणको मेरुशिखरपर विराजमान सजल जलधरके समान देखा ॥ १४ ॥

स तैः सम्पीड्यमानोऽपि रक्षोभिर्भीमविक्रमैः ।
विस्मयं परमं गत्वा रक्षोऽधिपमवैक्षत ॥ १५ ॥

उन भयानक पराक्रमी राक्षसोंसे पीड़ित होनेपर भी हनुमान्‌जी अत्यन्त विस्मित होकर राक्षसराज रावणको बड़े गौरसे देखते रहे ॥ १५ ॥

भ्राजमानं ततो दृष्ट्वा हनुमान् राक्षसेश्वरम्।
मनसा चिन्तयामास तेजसा तस्य मोहितः ॥ १६ ॥

उस दीप्तिशाली राक्षसराजको अच्छी तरह देखकर उसके तेजसे मोहित हो हनुमान्‌जी मन-ही-मन इस प्रकार विचार करने लगे— ॥ १६ ॥

अहो रूपमहो धैर्यमहो सत्त्वमहो द्युतिः।
अहो राक्षसराजस्य सर्वलक्षणयुक्तता ॥ १७ ॥

'अहो! इस राक्षसराजका रूप कैसा अद्भुत है! कैसा अनोखा धैर्य है। कैसी अनुपम शक्ति है! और कैसा आश्चर्यजनक तेज है! इसका सम्पूर्ण राजोचित लक्षणोंसे सम्पन्न होना कितने आश्चर्यकी बात है! ॥ १७ ॥

यद्यधर्मो न बलवान् स्यादयं राक्षसेश्वरः।
स्यादयं सुरलोकस्य सशक्रस्यापि रक्षिता ॥ १८ ॥

'यदि इसमें प्रबल अधर्म न होता तो यह राक्षसराज रावण इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवलोकका संरक्षक हो सकता था ॥ १८ ॥

अस्य क्रूरैर्नृशंसैश्च कर्मभिर्लोककुत्सितैः।
सर्वे बिभ्यति खल्वस्माल्लोकाः सामरदानवाः ॥ १९ ॥
अयं ह्युत्सहते क्रुद्धः कर्तुमेकार्णवं जगत्।
इति चिन्तां बहुविधामकरोन्मतिमान् कपिः।
दृष्ट्वा राक्षसराजस्य प्रभावममितौजसः ॥ २० ॥

'इसके लोकनिन्दित क्रूरतापूर्ण निष्ठुर कर्मोंके कारण देवताओं और दानवोंसहित सम्पूर्ण लोक इससे भयभीत रहते हैं। यह कुपित होनेपर समस्त जगत्‌को एकार्णवमें निमग्न कर सकता है—संसारमें प्रलय मचा सकता है।' अमित तेजस्वी राक्षसराजके प्रभावको देखकर वे बुद्धिमान् वानरवीर ऐसी अनेक प्रकारकी चिन्ताएँ करते रहे ॥ १९-२० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें उनचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

—★—

पञ्चाशः सर्गः

रावणका प्रहस्तके द्वारा हनुमान्‌जीसे लङ्कामें आनेका कारण पुछवाना और हनुमान्‌का अपनेको श्रीरामका दूत बताना

तमुद्वीक्ष्य महाबाहुः पिङ्गाक्षं पुरतः स्थितम्।
रोषेण महताऽऽविष्टो रावणो लोकरावणः ॥ १ ॥

समस्त लोकोंको रुलानेवाला महाबाहु रावण भूरी आँखोंवाले हनुमान्‌जीको सामने खड़ा देख महान् रोषसे भर गया ॥ १ ॥

शङ्काहतात्मा दध्यौ स कपीन्द्रं तेजसा वृतम्।
किमेष भगवान् नन्दी भवेत् साक्षादिहागतः ॥ २ ॥
येन शप्तोऽस्मि कैलासे मया प्रहसिते पुरा।
सोऽयं वानरमूर्तिः स्यात्किंस्विद् बाणोऽपि वासुरः ॥ ३ ॥

साथ ही तरह-तरहकी आशङ्काओंसे उसका दिल बैठ गया। अतः वह तेजस्वी वानरराजके विषयमें विचार करने लगा—'क्या इस वानरके रूपमें साक्षात् भगवान् नन्दी यहाँ पधारे हुए हैं, जिन्होंने पूर्वकालमें कैलास पर्वतपर जब कि मैंने उनका उपहास किया था, मुझे शाप दे दिया था? वे ही तो वानरका स्वरूप धारण करके यहाँ नहीं आये हैं? अथवा इस रूपमें बाणासुरका आगमन तो नहीं हुआ है?' ॥ २-३ ॥

स राजा रोषताम्राक्षः प्रहस्तं मन्त्रिसत्तमम्।
कालयुक्तमुवाचेदं वचो विपुलमर्थवत् ॥ ४ ॥

इस तरह तर्क-वितर्क करते हुए राजा रावणने क्रोधसे लाल आँखें करके मन्त्रिवर प्रहस्तसे समयानुकूल गम्भीर एवं अर्थयुक्त बात कही— ॥ ४ ॥

दुरात्मा पृच्छ्यतामेष कुतः किं वास्य कारणम्।
वनभङ्गे च कोऽस्यार्थो राक्षसानां च तर्जने ॥ ५ ॥

'अमात्य! इस दुरात्मासे पूछो तो सही, यह कहाँसे आया है? इसके आनेका क्या कारण है? प्रमदावनको उजाड़ने तथा राक्षसोंको मारनेमें इसका क्या उद्देश्य था? ॥ ५ ॥

मत्पुरीमप्रधृष्यां वै गमने किं प्रयोजनम्।
आयोधने वा किं कार्यं पृच्छ्यतामेष दुर्मतिः ॥ ६ ॥

'मेरी दुर्जय पुरीमें जो इसका आना हुआ है, इसमें इसका क्या प्रयोजन है? अथवा इसने जो राक्षसोंके साथ युद्ध छेड़ दिया है, इसमें इसका क्या उद्देश्य है? ये सारी बातें इस दुर्बुद्धि वानरसे पूछो' ॥ ६ ॥

रावणस्य वचः श्रुत्वा प्रहस्तो वाक्यमब्रवीत्।
समाश्वसिहि भद्रं ते न भीः कार्या त्वया कपे ॥ ७ ॥

रावणकी बात सुनकर प्रहस्तने हनुमान्‌जीसे कहा—'वानर! तुम घबराओ न, धैर्य रखो। तुम्हारा भला हो। तुम्हें डरनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ ७ ॥

यदि तावत् त्वमिन्द्रेण प्रेषितो रावणालयम्।
तत्त्वमाख्याहि मा ते भूद् भयं वानर मोक्ष्यसे ॥ ८ ॥

'यदि तुम्हें इन्द्रने महाराज रावणकी नगरीमें भेजा है तो ठीक-ठीक बता दो। वानर! डरो न। छोड़ दिये जाओगे ॥ ८ ॥

यदि वैश्रवणस्य त्वं यमस्य वरुणस्य च।
चारुरूपमिदं कृत्वा प्रविष्टो नः पुरीमिमाम् ॥ ९ ॥

'अथवा यदि तुम कुबेर, यम या वरुणके दूत हो और यह सुन्दर रूप धारण करके हमारी इस पुरीमें घुस आये हो तो यह भी बता दो ॥ ९ ॥

विष्णुना प्रेषितो वापि दूतो विजयकाङ्क्षिणा।
नहि ते वानरं तेजो रूपमात्रं तु वानरम् ॥ १० ॥

'अथवा विजयकी अभिलाषा रखनेवाले विष्णुने तुम्हें दूत बनाकर भेजा है? तुम्हारा तेज वानरोंका-सा नहीं है। केवल रूपमात्र वानरका है ॥ १० ॥

तत्त्वतः कथयस्वाद्य ततो वानर मोक्ष्यसे।
अनृतं वदतश्चापि दुर्लभं तव जीवितम् ॥ ११ ॥

'वानर! इस समय सच्ची बात कह दो, फिर तुम छोड़ दिये जाओगे। यदि झूठ बोलोगे तो तुम्हारा जीना असम्भव हो जायगा ॥ ११ ॥

अथवा यन्निमित्तस्ते प्रवेशो रावणालये।
एवमुक्तो हरिवरस्तदा रक्षोगणेश्वरम् ॥ १२ ॥
अब्रवीन्नास्मि शक्रस्य यमस्य वरुणस्य च।
धनदेन न मे सख्यं विष्णुना नास्मि चोदितः ॥ १३ ॥

'अथवा और सब बातें छोड़ो। तुम्हारा इस रावणके नगरमें आनेका क्या उद्देश्य है? यही बता दो।' प्रहस्तके इस प्रकार पूछनेपर उस समय वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌ने राक्षसोंके स्वामी रावणसे कहा—'मैं इन्द्र, यम अथवा वरुणका दूत नहीं हूँ। कुबेरके साथ भी मेरी मैत्री नहीं है और भगवान् विष्णुने भी मुझे यहाँ नहीं भेजा है ॥ १२-१३ ॥

जातिरेव मम त्वेषा वानरोऽहमिहागतः।
दर्शने राक्षसेन्द्रस्य तदिदं दुर्लभं मया ॥ १४ ॥
वनं राक्षसराजस्य दर्शनार्थं विनाशितम्।
ततस्ते राक्षसाः प्राप्ता बलिनो युद्धकाङ्क्षिणः ॥ १५ ॥
रक्षणार्थं च देहस्य प्रतियुद्धा मया रणे।

'मैं जन्मसे ही वानर हूँ और राक्षस रावणसे मिलनेके उद्देश्यसे ही मैंने उनके इस दुर्लभ वनको उजाड़ा है। इसके बाद तुम्हारे बलवान् राक्षस युद्धकी इच्छासे मेरे पास आये और मैंने अपने शरीरकी रक्षाके लिये रणभूमिमें उनका सामना किया ॥ १४-१५½ ॥

अस्त्रपाशैर्न शक्योऽहं बद्धुं देवासुरैरपि ॥ १६ ॥
पितामहादेष वरो ममापि हि समागतः।

'देवता अथवा असुर भी मुझे अस्त्र अथवा पाशसे बाँध नहीं सकते। इसके लिये मुझे भी ब्रह्माजीसे वरदान मिल चुका है ॥ १६½ ॥

राजानं द्रष्टुकामेन मयास्त्रमनुवर्तितम् ॥ १७ ॥
विमुक्तोऽप्यहमस्त्रेण राक्षसैस्त्वभिवेदितः।

'राक्षसराजको देखनेकी इच्छासे ही मैंने अस्त्रसे बँधना स्वीकार किया है। यद्यपि इस समय मैं अस्त्रसे मुक्त हूँ तथापि इन राक्षसोंने मुझे बँधा समझकर ही यहाँ लाकर तुम्हें सौंपा है ॥ १७½ ॥

केनचिद् रामकार्येण आगतोऽस्मि तवान्तिकम् ॥ १८ ॥
दूतोऽहमिति विज्ञाय राघवस्यामितौजसः।
श्रूयतामेव वचनं मम पथ्यमिदं प्रभो ॥ १९ ॥

'भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका कुछ कार्य है, जिसके लिये मैं तुम्हारे पास आया हूँ। प्रभो! मैं अमित तेजस्वी श्रीरघुनाथजीका दूत हूँ, ऐसा समझकर मेरे इस हितकारी वचनको अवश्य सुनो' ॥ १८-१९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे पञ्चाशः सर्गः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें पचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशः सर्गः

हनुमान्‌जीका श्रीरामके प्रभावका वर्णन करते हुए रावणको समझाना

तं समीक्ष्य महासत्त्वं सत्त्ववान् हरिसत्तमः।
वाक्यमर्थवदव्यग्रस्तमुवाच दशाननम् ॥ १ ॥

महाबली दशमुख रावणकी ओर देखते हुए शक्तिशाली वानरशिरोमणि हनुमान्‌ने शान्तभावसे यह अर्थयुक्त बात कही— ॥ १ ॥

अहं सुग्रीवसंदेशादिह प्राप्तस्तवान्तिके।
राक्षसेश हरीशस्त्वां भ्राता कुशलमब्रवीत् ॥ २ ॥

'राक्षसराज! मैं सुग्रीवका संदेश लेकर यहाँ तुम्हारे पास आया हूँ। वानरराज सुग्रीव तुम्हारे भाई हैं। इसी नाते उन्होंने तुम्हारा कुशल-समाचार पूछा है ॥ २ ॥

भ्रातुः शृणु समादेशं सुग्रीवस्य महात्मनः।
धर्मार्थसहितं वाक्यमिह चामुत्र च क्षमम् ॥ ३ ॥

'अब तुम अपने भाई महात्मा सुग्रीवका संदेश—धर्म और अर्थयुक्त वचन, जो इहलोक और परलोकमें भी

लाभदायक है, सुनो॥ ३॥

राजा दशरथो नाम रथकुञ्जरवाजिमान्।
पितेव बन्धुलोकस्य सुरेश्वरसमद्युतिः॥ ४॥

'अभी हालमें ही दशरथनामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं, जो पिताकी भाँति प्रजाके हितैषी, इन्द्रके समान तेजस्वी तथा रथ, हाथी, घोड़े आदिसे सम्पन्न थे॥ ४॥

ज्येष्ठस्तस्य महाबाहुः पुत्रः प्रियतरः प्रभुः।
पितुर्निदेशान्निष्क्रान्तः प्रविष्टो दण्डकावनम्॥ ५॥
लक्ष्मणेन सह भ्राता सीतया सह भार्यया।
रामो नाम महातेजा धर्म्यं पन्थानमाश्रितः॥ ६॥

'उनके परम प्रिय ज्येष्ठ पुत्र महातेजस्वी, प्रभावशाली महाबाहु श्रीरामचन्द्रजी पिताकी आज्ञासे धर्ममार्गका आश्रय लेकर अपनी पत्नी सीता और भाई लक्ष्मणके साथ दण्डकारण्यमें आये थे॥ ५-६॥

तस्य भार्या जनस्थाने भ्रष्टा सीतेति विश्रुता।
वैदेहस्य सुता राज्ञो जनकस्य महात्मनः॥ ७॥

'सीता विदेहदेशके राजा महात्मा जनककी पुत्री हैं। जनस्थानमें आनेपर श्रीरामचन्द्रकी सीता कहीं खो गयी हैं॥ ७॥

मार्गमाणस्तु तां देवीं राजपुत्रः सहानुजः।
ऋश्यमूकमनुप्राप्तः सुग्रीवेण च संगतः॥ ८॥

'राजकुमार श्रीराम अपने भाईके साथ उन्हीं सीतादेवीको खोज करते हुए ऋष्यमूक पर्वतपर आये और सुग्रीवसे मिले॥ ८॥

तस्य तेन प्रतिज्ञातं सीतायाः परिमार्गणम्।
सुग्रीवस्यापि रामेण हरिराज्यं निवेदितुम्॥ ९॥

'सुग्रीवने उनसे सीताको ढूँढ़ निकालनेकी प्रतिज्ञा की और श्रीरामने सुग्रीवको वानरोंका राज्य दिलानेका वचन दिया॥ ९॥

ततस्तेन मृधे हत्वा राजपुत्रेण वालिनम्।
सुग्रीवः स्थापितो राज्ये हर्यृक्षाणां गणेश्वरः॥ १०॥

'तत्पश्चात् राजकुमार श्रीरामचन्द्रजीने युद्धमें वालीको मारकर सुग्रीवको किष्किन्धाके राज्यपर स्थापित कर दिया। इस समय सुग्रीव वानरों और भालुओंके समुदायके स्वामी हैं॥ १०॥

त्वया विज्ञातपूर्वश्च वाली वानरपुङ्गवः।
स तेन निहतः संख्ये शरेणैकेन वानरः॥ ११॥

'वानरराज वालीको तो तुम पहलेसे ही जानते हो। उस वानरवीरको युद्धभूमिमें श्रीरामने एक ही बाणसे मार गिराया था॥ ११॥

स सीतामार्गणे व्यग्रः सुग्रीवः सत्यसंगरः।
हरीन् सम्प्रेषयामास दिशः सर्वा हरीश्वरः॥ १२॥

'अब सत्यप्रतिज्ञ सुग्रीव सीताको खोज निकालनेके लिये व्यग्र हो उठे हैं। उन वानरराजने समस्त दिशाओंमें वानरोंको भेजा है॥ १२॥

तां हरीणां सहस्राणि शतानि नियुतानि च।
दिक्षु सर्वासु मार्गन्ते ह्यधश्चोपरि चाम्बरे॥ १३॥

'इस समय सैकड़ों, हजारों और लाखों वानर सम्पूर्ण दिशाओं तथा आकाश और पातालमें भी सीताजीकी खोज कर रहे हैं॥ १३॥

वैनतेयसमाः केचित् केचित् तत्रानिलोपमाः।
असङ्गगतयः शीघ्रा हरिवीरा महाबलाः॥ १४॥

'उन वानरवीरोंमेंसे कोई गरुड़के समान वेगवान् हैं तो कोई वायुके समान। उनकी गति कहीं नहीं रुकती। वे कपिवीर शीघ्रगामी और महान् बली हैं॥ १४॥

अहं तु हनुमान्नाम मारुतस्यौरसः सुतः।
सीतायास्तु कृते तूर्णं शतयोजनमायतम्॥ १५॥
समुद्रं लङ्घयित्वैव त्वां दिदृक्षुरिहागतः।
भ्रमता च मया दृष्टा गृहे ते जनकात्मजा॥ १६॥

'मेरा नाम हनुमान् है। मैं वायुदेवताका औरस पुत्र हूँ। सीताका पता लगाने और तुमसे मिलनेके लिये सौ योजन विस्तृत समुद्रको लाँघकर तीव्र गतिसे यहाँ आया हूँ। घूमते-घूमते तुम्हारे अन्तःपुरमें मैंने जनकनन्दिनी सीताको देखा है॥ १५-१६॥

तद् भवान् दृष्टधर्मार्थस्तपःकृतपरिग्रहः।
परदारान् महाप्राज्ञ नोपरोद्धुं त्वमर्हसि॥ १७॥

'महामते! तुम धर्म और अर्थके तत्त्वको जानते हो। तुमने बड़े भारी तपका संग्रह किया है। अतः दूसरेकी स्त्रीको अपने घरमें रोक रखना तुम्हारे लिये कदापि उचित नहीं है॥ १७॥

नहि धर्मविरुद्धेषु बह्वपायेषु कर्मसु।
मूलघातिषु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः॥ १८॥

'धर्मविरुद्ध कार्योंमें बहुत-से अनर्थ भरे रहते हैं। वे कर्ताका जड़मूलसे नाश कर डालते हैं। अतः तुम-जैसे बुद्धिमान् पुरुष ऐसे कार्योंमें नहीं प्रवृत्त होते॥ १८॥

कश्च लक्ष्मणमुक्तानां रामकोपानुवर्तिनाम्।
शराणामग्रतः स्थातुं शक्तो देवासुरेष्वपि॥ १९॥

'देवताओं और असुरोंमें भी कौन ऐसा वीर है, जो श्रीरामचन्द्रजीके क्रोध करनेके पश्चात् लक्ष्मणके छोड़े हुए बाणोंके सामने ठहर सके॥ १९॥

न चापि त्रिषु लोकेषु राजन् विद्येत कश्चन।
राघवस्य व्यलीकं यः कृत्वा सुखमवाप्नुयात्॥ २०॥

'राजन्! तीनों लोकोंमें एक भी ऐसा प्राणी नहीं है, जो भगवान् श्रीरामका अपराध करके सुखी रह सके॥ २०॥

तत् त्रिकालहितं वाक्यं धर्म्यमर्थानुयायि च।
मन्यस्व नरदेवाय जानकी प्रतिदीयताम्॥ २१॥

'इसलिये मेरी धर्म और अर्थके अनुकूल बात, जो तीनों

कालमें हितकर है, मान लो और जानकीजीको श्रीरामचन्द्रजीके पास लौटा दो ॥ २१ ॥

दृष्टा हीयं मया देवी लब्धं यदिह दुर्लभम्।
उत्तरं कर्म यच्छेषं निमित्तं तत्र राघवः ॥ २२ ॥

'मैंने इन देवी सीताका दर्शन कर लिया। जो दुर्लभ वस्तु थी, उसे यहाँ पा लिया। इसके बाद जो कार्य शेष है, उसके साधनमें श्रीरघुनाथजी ही निमित्त हैं ॥ २२ ॥

लक्षितेयं मया सीता तथा शोकपरायणा।
गृहे यां नाभिजानासि पञ्चास्यामिव पन्नगीम् ॥ २३ ॥

'मैंने यहाँ सीताकी अवस्थाको लक्ष्य किया है। वे निरन्तर शोकमें डूबी रहती हैं। सीता तुम्हारे घरमें पाँच फनवाली नागिनके समान निवास करती हैं, जिन्हें तुम नहीं जानते हो ॥ २३ ॥

नेयं जरयितुं शक्या सासुरैरमरैरपि।
विषसंसृष्टमत्यर्थं भुक्तमन्नमिवौजसा ॥ २४ ॥

'जैसे अत्यन्त विषमिश्रित अन्नको खाकर कोई उसे बलपूर्वक नहीं पचा सकता, उसी प्रकार सीताजीको अपनी शक्तिसे पचा लेना देवताओं और असुरोंके लिये भी असम्भव है ॥ २४ ॥

तपःसंतापलब्धस्ते सोऽयं धर्मपरिग्रहः।
न स नाशयितुं न्याय्य आत्मप्राणपरिग्रहः ॥ २५ ॥

'तुमने तपस्याका कष्ट उठाकर धर्मके फलस्वरूप जो यह ऐश्वर्यका संग्रह किया है तथा शरीर और प्राणोंको चिरकालतक धारण करनेकी शक्ति प्राप्त की है, उसका विनाश करना उचित नहीं ॥ २५ ॥

अवध्यतां तपोभिर्यां भवान् समनुपश्यति।
आत्मनः सासुरैर्देवैर्हेतुस्तत्राप्ययं महान् ॥ २६ ॥

'तुम तपस्याके प्रभावसे देवताओं और असुरोंद्वारा जो अपनी अवध्यता देख रहे हो, उसमें भी तपस्याजनित यह धर्म ही महान् कारण है (अथवा उस अवध्यताके होते हुए भी तुम्हारे वधका दूसरा महान् कारण उपस्थित है) ॥ २६ ॥

सुग्रीवो न च देवोऽयं न यक्षो न च राक्षसः।
मानुषो राघवो राजन् सुग्रीवश्च हरीश्वरः।
तस्मात् प्राणपरित्राणं कथं राजन् करिष्यसि ॥ २७ ॥

'राक्षसराज! सुग्रीव और श्रीरामचन्द्रजी न तो देवता हैं, न यक्ष हैं और न राक्षस ही हैं। श्रीरघुनाथजी मनुष्य हैं और सुग्रीव वानरोंके राजा। अतः उनके हाथसे तुम अपने प्राणोंकी रक्षा कैसे करोगे? ॥ २७ ॥

न तु धर्मोपसंहारमधर्मफलसंहितम्।
तदेव फलमन्वेति धर्मश्चाधर्मनाशनः ॥ २८ ॥

'जो पुरुष प्रबल अधर्मके फलसे बँधा हुआ है, उसे धर्मका फल नहीं मिलता। वह उस अधर्मफलको ही पाता है। हाँ, यदि उस अधर्मके बाद किसी प्रबल धर्मका अनुष्ठान किया गया हो तो वह पहलेके अधर्मका नाशक होता है * ॥ २८ ॥

प्राप्तं धर्मफलं तावद् भवता नात्र संशयः।
फलमस्याप्यधर्मस्य क्षिप्रमेव प्रपत्स्यसे ॥ २९ ॥

'तुमने पहले जो धर्म किया था, उसका पूरा-पूरा फल तो यहाँ पा लिया, अब इस सीताहरणरूपी अधर्मका फल भी तुम्हें शीघ्र ही मिलेगा ॥ २९ ॥

जनस्थानवधं बुद्ध्वा वालिनश्च वधं तथा।
रामसुग्रीवसख्यं च बुद्ध्यस्व हितमात्मनः ॥ ३० ॥

'जनस्थानके राक्षसोंका संहार, वालीका वध और श्रीराम तथा सुग्रीवकी मैत्री—इन तीनों कार्योंको अच्छी तरह समझ लो। उसके बाद अपने हितका विचार करो ॥ ३० ॥

कामं खल्वहमप्येकः सवाजिरथकुञ्जराम्।
लङ्कां नाशयितुं शक्तस्तस्यैष तु न निश्चयः ॥ ३१ ॥

'यद्यपि मैं अकेला ही हाथी, घोड़े और रथोंसहित समूची लङ्काका नाश कर सकता हूँ, तथापि श्रीरघुनाथजीका ऐसा विचार नहीं है—उन्होंने मुझे इस कार्यके लिये आज्ञा नहीं दी है ॥ ३१ ॥

रामेण हि प्रतिज्ञातं हर्यृक्षगणसंनिधौ।
उत्सादनममित्राणां सीता यैस्तु प्रधर्षिता ॥ ३२ ॥

'जिन लोगोंने सीताका तिरस्कार किया है, उन शत्रुओंका स्वयं ही संहार करनेके लिये श्रीरामचन्द्रजीने वानरों और भालुओंके सामने प्रतिज्ञा की है ॥ ३२ ॥

अपकुर्वन् हि रामस्य साक्षादपि पुरंदरः।
न सुखं प्राप्नुयादन्यः किं पुनस्त्वद्विधो जनः ॥ ३३ ॥

'भगवान् श्रीरामका अपराध करके साक्षात् इन्द्र भी सुख नहीं पा सकते, फिर तुम्हारे-जैसे साधारण लोगोंकी तो बात ही क्या है? ॥ ३३ ॥

यां सीतेत्यभिजानासि येयं तिष्ठति ते गृहे।
कालरात्रीति तां विद्धि सर्वलङ्काविनाशिनीम् ॥ ३४ ॥

'जिनको तुम सीताके नामसे जानते हो और जो इस समय तुम्हारे अन्तःपुरमें मौजूद हैं, उन्हें सम्पूर्ण लङ्काका विनाश करनेवाली कालरात्रि समझो ॥ ३४ ॥

तदलं कालपाशेन सीताविग्रहरूपिणा।
स्वयं स्कन्धावसक्तेन क्षेममात्मनि चिन्त्यताम् ॥ ३५ ॥

'सीताका शरीर धारण करके तुम्हारे पास कालकी फाँसी आ पहुँची है, उसमें स्वयं गला फँसाना ठीक नहीं है। अतः अपने कल्याणकी चिन्ता करो ॥ ३५ ॥

---

* जैसा कि श्रुतिका वचन है—'धर्मेण पापमपनुदति।' अर्थात् धर्मसे मनुष्य अपने पापको दूर करता है। स्मृतियोंमें बताये गये प्रायश्चित्त कृच्छ्रव्रत आदि भी इसी बातके समर्थक हैं।

सीतायास्तेजसा दग्धां रामकोपप्रदीपिताम्।
दह्यमानामिमां पश्य पुरीं साट्टप्रतोलिकाम्॥ ३६॥

'देखो, अट्टालिकाओं और गलियोंसहित यह लङ्कापुरी सीताजीके तेज और श्रीरामकी क्रोधाग्निसे जलकर भस्म होने जा रही है (बचा सको तो बचाओ)॥ ३६॥

स्वानि मित्राणि मन्त्रींश्च ज्ञातीन् भ्रातॄन् सुतान् हितान्।
भोगान् दारांश्च लङ्कां च मा विनाशमुपानय॥ ३७॥

'इन मित्रों, मन्त्रियों, कुटुम्बीजनों, भाइयों, पुत्रों, हितकारियों, स्त्रियों, सुख-भोगके साधनों तथा समूची लङ्काको मौतके मुखमें न झोंको॥ ३७॥

सत्यं राक्षसराजेन्द्र शृणुष्व वचनं मम।
रामदासस्य दूतस्य वानरस्य विशेषतः॥ ३८॥

'राक्षसोंके राजाधिराज! मैं भगवान् श्रीरामका दास हूँ, दूत हूँ और विशेषतः वानर हूँ। मेरी सच्ची बात सुनो— ॥ ३८॥

सर्वाँल्लोकान् सुसंहृत्य सभूतान् सचराचरान्।
पुनरेव तथा स्रष्टुं शक्तो रामो महायशाः॥ ३९॥

'महायशस्वी श्रीरामचन्द्रजी चराचर प्राणियोंसहित सम्पूर्ण लोकोंका संहार करके फिर उनका नये सिरेसे निर्माण करनेकी शक्ति रखते हैं॥ ३९॥

देवासुरनरेन्द्रेषु यक्षरक्षोरगेषु च।
विद्याधरेषु नागेषु गन्धर्वेषु मृगेषु च॥ ४०॥
सिद्धेषु किंनरेन्द्रेषु पतत्रिषु च सर्वतः।
सर्वत्र सर्वभूतेषु सर्वकालेषु नास्ति सः॥ ४१॥
यो रामं प्रति युध्येत विष्णुतुल्यपराक्रमम्।

'भगवान् श्रीराम श्रीविष्णुके तुल्य पराक्रमी हैं। देवता, असुर, मनुष्य, यक्ष, राक्षस, सर्प, विद्याधर, नाग, गन्धर्व, मृग, सिद्ध, किंनर, पक्षी एवं अन्य समस्त प्राणियोंमें कहीं किसी समय कोई भी ऐसा नहीं है, जो श्रीरघुनाथजीके साथ लोहा ले सके॥ ४०-४१½॥

सर्वलोकेश्वरस्येह कृत्वा विप्रियमीदृशम्।
रामस्य राजसिंहस्य दुर्लभं तव जीवितम्॥ ४२॥

'सम्पूर्ण लोकोंके अधीश्वर राजसिंह श्रीरामका ऐसा महान् अपराध करके तुम्हारा जीवित रहना कठिन है॥ ४२॥

देवाश्च दैत्याश्च निशाचरेन्द्र
गन्धर्वविद्याधरनागयक्षाः।
रामस्य लोकत्रयनायकस्य
स्थातुं न शक्ताः समरेषु सर्वे॥ ४३॥

'निशाचरराज! श्रीरामचन्द्रजी तीनों लोकोंके स्वामी हैं। देवता, दैत्य, गन्धर्व, विद्याधर, नाग तथा यक्ष—ये सब मिलकर भी युद्धमें उनके सामने नहीं टिक सकते॥ ४३॥

ब्रह्मा स्वयम्भूश्चतुराननो वा
रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा।
इन्द्रो महेन्द्रः सुरनायको वा
स्थातुं न शक्ता युधि राघवस्य॥ ४४॥

'चार मुखोंवाले स्वयम्भू ब्रह्मा, तीन नेत्रोंवाले त्रिपुरनाशक रुद्र अथवा देवताओंके स्वामी महान् ऐश्वर्यशाली इन्द्र भी समराङ्गणमें श्रीरघुनाथजीके सामने नहीं ठहर सकते'॥ ४४॥

स सौष्ठवोपेतमदीनवादिनः
कपेर्निशम्याप्रतिमोऽप्रियं वचः।
दशाननः कोपविवृत्तलोचनः
समादिशत् तस्य वधं महाकपेः॥ ४५॥

वीरभावसे निर्भयतापूर्वक भाषण करनेवाले महाकपि हनुमान्‌जीकी बातें बड़ी सुन्दर एवं युक्तियुक्त थीं, तथापि वे रावणको अप्रिय लगीं। उन्हें सुनकर अनुपम शक्तिशाली दशानन रावणने क्रोधसे आँखें तरेरकर सेवकोंको उनके वधके लिये आज्ञा दी॥ ४५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे एकपञ्चाशः सर्गः॥ ५१॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें इक्यावनवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ५१॥

द्विपञ्चाशः सर्गः

विभीषणका दूतके वधको अनुचित बताकर उसे दूसरा कोई दण्ड देनेके लिये कहना तथा रावणका उनके अनुरोधको स्वीकार कर लेना

स तस्य वचनं श्रुत्वा वानरस्य महात्मनः।
आज्ञापयद् वधं तस्य रावणः क्रोधमूर्च्छितः॥ १॥

वानरशिरोमणि महात्मा हनुमान्‌जीका वचन सुनकर क्रोधसे तमतमाये हुए रावणने अपने सेवकोंको आज्ञा दी—'इस वानरका वध कर डालो'॥ १॥

वधे तस्य समाज्ञप्ते रावणेन दुरात्मना।
निवेदितवतो दौत्यं नानुमेने विभीषणः॥ २॥

दुरात्मा रावणने जब उनके वधकी आज्ञा दी, तब विभीषण भी वहीं थे। उन्होंने उस आज्ञाका अनुमोदन नहीं किया; क्योंकि हनुमान्‌जी अपनेको सुग्रीव एवं श्रीरामका दूत बता चुके थे॥ २॥

तं रक्षोऽधिपतिं क्रुद्धं तच्च कार्यमुपस्थितम्।
विदित्वा चिन्तयामास कार्यं कार्यविधौ स्थितः॥ ३॥

एक ओर राक्षसराज रावण क्रोधसे भरा हुआ था, दूसरी ओर वह दूतके वधका कार्य उपस्थित था। यह सब जानकर यथोचित कार्यके सम्पादनमें लगे हुए विभीषणने समयोचित कर्तव्यका निश्चय किया॥ ३॥

निश्चितार्थस्ततः साम्ना पूज्यं शत्रुजिदग्रजम्।
उवाच हितमत्यर्थं वाक्यं वाक्यविशारदः॥ ४॥

निश्चय हो जानेपर वार्तालापकुशल विभीषणने पूजनीय ज्येष्ठ भ्राता शत्रुविजयी रावणसे शान्तिपूर्वक यह हितकर वचन कहा—॥ ४॥

क्षमस्व रोषं त्यज राक्षसेन्द्र
प्रसीद मे वाक्यमिदं शृणुष्व।
वधं न कुर्वन्ति परावरज्ञा
दूतस्य सन्तो वसुधाधिपेन्द्राः॥ ५॥

'राक्षसराज! क्षमा कीजिये, क्रोधको त्याग दीजिये, प्रसन्न होइये और मेरी यह बात सुनिये। ऊँच-नीचका ज्ञान रखनेवाले श्रेष्ठ राजालोग दूतका वध नहीं करते हैं॥ ५॥

राजन् धर्मविरुद्धं च लोकवृत्तेश्च गर्हितम्।
तव चासदृशं वीर कपेरस्य प्रमापणम्॥ ६॥

'वीर महाराज! इस वानरको मारना धर्मके विरुद्ध और लोकाचारकी दृष्टिसे भी निन्दित है। आप-जैसे वीरके लिये तो यह कदापि उचित नहीं है॥ ६॥

धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च राजधर्मविशारदः।
परावरज्ञो भूतानां त्वमेव परमार्थवित्॥ ७॥
गृह्यन्ते यदि रोषेण त्वादृशोऽपि विचक्षणाः।
ततः शास्त्रविपश्चित्त्वं श्रम एव हि केवलम्॥ ८॥

'आप धर्मके ज्ञाता, उपकारको माननेवाले और राजधर्मके विशेषज्ञ हैं, भले-बुरेका ज्ञान रखनेवाले और परमार्थके ज्ञाता हैं। यदि आप-जैसे विद्वान् भी रोषके वशीभूत हो जायँ तब तो समस्त शास्त्रोंका पाण्डित्य प्राप्त करना केवल श्रम ही होगा॥ ७-८॥

तस्मात् प्रसीद शत्रुघ्न राक्षसेन्द्र दुरासद।
युक्तायुक्तं विनिश्चित्य दूतदण्डो विधीयताम्॥ ९॥

'अतः शत्रुओंका संहार करनेवाले दुर्जय राक्षसराज! आप प्रसन्न होइये और उचित-अनुचितका विचार करके दूतके योग्य किसी दण्डका विधान कीजिये'॥ ९॥

विभीषणवचः श्रुत्वा रावणो राक्षसेश्वरः।
कोपेन महताऽऽविष्टो वाक्यमुत्तरमब्रवीत्॥ १०॥

विभीषणकी बात सुनकर राक्षसोंका स्वामी रावण महान् कोपसे भरकर उन्हें उत्तर देता हुआ बोला—॥ १०॥

न पापानां वधे पापं विद्यते शत्रुसूदन।
तस्मादिमं वधिष्यामि वानरं पापकारिणम्॥ ११॥

'शत्रुसूदन! पापियोंका वध करनेमें पाप नहीं है। इस वानरने वाटिकाका विध्वंस तथा राक्षसोंका वध करके पाप किया है। इसलिये अवश्य ही इसका वध करूँगा'॥ ११॥

अधर्ममूलं बहुदोषयुक्त-
मनार्यजुष्टं वचनं निशम्य।
उवाच वाक्यं परमार्थतत्त्वं
विभीषणो बुद्धिमतां वरिष्ठः॥ १२॥

रावणका वचन अनेक दोषोंसे युक्त और पापका मूल था। वह श्रेष्ठ पुरुषोंके योग्य नहीं था। उसे सुनकर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ विभीषणने उत्तम कर्तव्यका निश्चय करानेवाली बात कही—॥ १२॥

प्रसीद लङ्केश्वर राक्षसेन्द्र
धर्मार्थतत्त्वं वचनं शृणुष्व।
दूता न वध्याः समयेषु राजन्
सर्वेषु सर्वत्र वदन्ति सन्तः॥ १३॥

'लङ्केश्वर! प्रसन्न होइये। राक्षसराज! मेरे धर्म और अर्थतत्त्वसे युक्त वचनको ध्यान देकर सुनिये। राजन्! सत्पुरुषोंका कथन है कि दूत कहीं किसी समय भी वध करने योग्य नहीं होते॥ १३॥

असंशयं शत्रुरयं प्रवृद्धः
कृतं ह्यनेनाप्रियमप्रमेयम्।
न दूतवध्यां प्रवदन्ति सन्तो
दूतस्य दृष्टा बहवो हि दण्डाः॥ १४॥

'इसमें संदेह नहीं कि यह बहुत बड़ा शत्रु है; क्योंकि इसने वह अपराध किया है जिसकी कहीं तुलना नहीं है, तथापि सत्पुरुष दूतका वध करना उचित नहीं बताते हैं। दूतके लिये अन्य प्रकारके बहुत-से दण्ड देखे गये हैं॥ १४॥

वैरूप्यमङ्गेषु कशाभिघातो
मौण्ड्यं तथा लक्षणसंनिपातः।
एतान् हि दूते प्रवदन्ति दण्डान्
वधस्तु दूतस्य न नः श्रुतोऽस्ति॥ १५॥

'किसी अङ्गको भङ्ग या विकृत कर देना, कोड़ेसे पिटवाना, सिर मुड़वा देना तथा शरीरमें कोई चिह्न दाग देना—ये ही दण्ड दूतके लिये उचित बताये गये हैं। उसके लिये वधका दण्ड तो मैंने कभी नहीं सुना है॥ १५॥

कथं च धर्मार्थविनीतबुद्धिः
परावरप्रत्ययनिश्चितार्थः।
भवद्विधः कोपवशे हि तिष्ठेत्
कोपं न गच्छन्ति हि सत्त्ववन्तः॥ १६॥

'आपकी बुद्धि धर्म और अर्थकी शिक्षासे युक्त है। आप ऊँच-नीचका विचार करके कर्तव्यका निश्चय करनेवाले हैं। आप-जैसा नीतिज्ञ पुरुष कोपके अधीन कैसे हो सकता है?

क्योंकि शक्तिशाली पुरुष क्रोध नहीं करते हैं ॥ १६ ॥

न धर्मवादे न च लोकवृत्ते
न शास्त्रबुद्धिग्रहणेषु वापि।
विद्येत कश्चित्तव वीर तुल्य-
स्त्वं ह्युत्तमः सर्वसुरासुराणाम् ॥ १७ ॥

'वीर! धर्मकी व्याख्या करने, लोकाचारका पालन करने अथवा शास्त्रीय सिद्धान्तको समझनेमें आपके समान दूसरा कोई नहीं है। आप सम्पूर्ण देवताओं और असुरोंमें श्रेष्ठ हैं ॥ १७ ॥

पराक्रमोत्साहमनस्विनां च
सुरासुराणामपि दुर्जयेन।
त्वयाप्रमेयेण सुरेन्द्रसङ्घा
जिताश्च युद्धेष्वसकृन्नरेन्द्राः ॥ १८ ॥

'पराक्रम और उत्साहसे सम्पन्न जो मनस्वी देवता और असुर हैं, उनके लिये भी आपपर विजय पाना अत्यन्त कठिन है। आप अप्रमेय शक्तिशाली हैं। आपने अनेक युद्धोंमें बारंबार देवेश्वरों तथा नरेशोंको पराजित किया है ॥ १८ ॥

इत्थंविधस्यामरदैत्यशत्रोः
शूरस्य वीरस्य तवाजितस्य।
कुर्वन्ति वीरा मनसाप्यलीकं
प्राणैर्विमुक्ता न तु भोः पुरा ते ॥ १९ ॥

'देवताओं और दैत्योंसे भी शत्रुता रखनेवाले ऐसे आप अपराजित शूरवीरका पहले कभी शत्रुपक्षी वीर मनसे भी पराभव नहीं कर सके हैं। जिन्होंने सिर उठाया, वे तत्काल प्राणोंसे हाथ धो बैठे ॥ १९ ॥

न चाप्यस्य कपेर्घाते कंचित् पश्याम्यहं गुणम्।
तेष्वयं पात्यतां दण्डो यैरयं प्रेषितः कपिः ॥ २० ॥

'इस वानरको मारनेमें मुझे कोई लाभ नहीं दिखायी देता। जिन्होंने इसे भेजा है, उन्हींको यह प्राणदण्ड दिया जाय ॥ २० ॥

साधुर्वा यदि वासाधुः परैरेष समर्पितः।
ब्रुवन् परार्थं परवान् न दूतो वधमर्हति ॥ २१ ॥

'यह भला हो या बुरा, शत्रुओंने इसे भेजा है; अतः यह उन्हींके स्वार्थकी बात करता है। दूत सदा पराधीन होता है, अतः वह वधके योग्य नहीं होता है ॥ २१ ॥

अपि चास्मिन् हते नान्यं राजन् पश्यामि खेचरम्।
इह यः पुनरागच्छेत् परं पारं महोदधेः ॥ २२ ॥

'राजन्! इसके मारे जानेपर मैं दूसरे किसी ऐसे आकाशचारी प्राणीको नहीं देखता, जो शत्रुके समीपसे महासागरके इस पार फिर आ सके (ऐसी दशामें शत्रुकी गति-विधिका आपको पता नहीं लग सकेगा) ॥ २२ ॥

तस्मान्नास्य वधे यत्नः कार्यः परपुरंजय।
भवान् सेन्द्रेषु देवेषु यत्नमास्थातुमर्हति ॥ २३ ॥

'अतः शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले महाराज! आपको इस दूतके वधके लिये कोई प्रयत्न नहीं करना चाहिये। आप तो इस योग्य हैं कि इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंपर चढ़ाई कर सकें ॥ २३ ॥

अस्मिन् विनष्टे नहि भूतमन्यं
पश्यामि यस्तौ नरराजपुत्रौ।
युद्धाय युद्धप्रिय दुर्विनीता-
वुद्योजयेद् वै भवता विरुद्धौ ॥ २४ ॥

'युद्धप्रेमी महाराज! इसके नष्ट हो जानेपर मैं दूसरे किसी प्राणीको ऐसा नहीं देखता, जो आपसे विरोध करनेवाले उन दोनों स्वतन्त्र प्रकृतिके राजकुमारोंको युद्धके लिये तैयार कर सके ॥ २४ ॥

पराक्रमोत्साहमनस्विनां च
सुरासुराणामपि दुर्जयेन।
त्वया मनोनन्दन नैर्ऋतानां
युद्धाय निर्नाशयितुं न युक्तम् ॥ २५ ॥

'राक्षसोंके हृदयको आनन्दित करनेवाले वीर! आप देवताओं और दैत्योंके लिये भी दुर्जय हैं; अतः पराक्रम और उत्साहसे भरे हुए हृदयवाले इन राक्षसोंके मनमें जो युद्ध करनेका हौसला बढ़ा हुआ है, उसे नष्ट कर देना आपके लिये कदापि उचित नहीं है ॥ २५ ॥

हिताश्च शूराश्च समाहिताश्च
कुलेषु जाताश्च महागुणेषु।
मनस्विनः शस्त्रभृतां वरिष्ठाः
कोपप्रशस्ताः सुभृताश्च योधाः ॥ २६ ॥
तदेकदेशेन बलस्य तावत्
केचित् तवादेशकृतोऽद्य यान्तु।
तौ राजपुत्रावुपगृह्य मूढौ
परेषु ते भावयितुं प्रभावम् ॥ २७ ॥

'मेरी राय तो यह है कि उन विरह-दुःखसे विकलचित्त राजकुमारोंको कैद करके शत्रुओंपर आपका प्रभाव डालने— दबदबा जमानेके लिये आपकी आज्ञासे थोड़ी-सी सेनाके साथ कुछ ऐसे योद्धा यहाँसे यात्रा करें, जो हितैषी, शूरवीर, सावधान, अधिक गुणवाले, महान् कुलमें उत्पन्न, मनस्वी, शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ, अपने रोष और जोशके लिये प्रशंसित तथा अधिक वेतन देकर अच्छी तरह पाले-पोसे गये हों ॥ २७ ॥

निशाचराणामधिपोऽनुजस्य
विभीषणस्योत्तमवाक्यमिष्टम्।
जग्राह बुद्ध्या सुरलोकशत्रु-
र्महाबलो राक्षसराजमुख्यः ॥ २८ ॥

अपने छोटे भाई विभीषणके इस उत्तम और प्रिय वचनको सुनकर निशाचरोंके स्वामी तथा देवलोकके शत्रु महाबली राक्षसराज रावणने बुद्धिसे सोच-विचारकर उसे स्वीकार कर लिया ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे द्विपञ्चाशः सर्गः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें बावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

—★—

त्रिपञ्चाशः सर्गः

राक्षसोंका हनुमान्‌जीकी पूँछमें आग लगाकर उन्हें नगरमें घुमाना

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा दशग्रीवो महात्मनः।
देशकालहितं वाक्यं भ्रातुरुत्तरमब्रवीत्॥ १ ॥

छोटे भाई महात्मा विभीषणकी बात देश और कालके लिये उपयुक्त एवं हितकर थी। उसको सुनकर दशाननने इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ १ ॥

सम्यगुक्तं हि भवता दूतवध्या विगर्हिता।
अवश्यं तु वधायान्यः क्रियतामस्य निग्रहः ॥ २ ॥

'विभीषण! तुम्हारा कहना ठीक है। वास्तवमें दूतके वधकी बड़ी निन्दा की गयी है; परंतु वधके अतिरिक्त दूसरा कोई दण्ड इसे अवश्य देना चाहिये ॥ २ ॥

कपीनां किल लाङ्गूलमिष्टं भवति भूषणम्।
तदस्य दीप्यतां शीघ्रं तेन दग्धेन गच्छतु ॥ ३ ॥

'वानरोंको अपनी पूँछ बड़ी प्यारी होती है। वही इनका आभूषण है। अतः जितना जल्दी हो सके, इसकी पूँछ जला दो। जली पूँछ लेकर ही यह यहाँसे जाय ॥ ३ ॥

ततः पश्यन्त्विमं दीनमङ्गवैरूप्यकर्शितम्।
सुमित्रज्ञातयः सर्वे बान्धवाः ससुहृज्जनाः ॥ ४ ॥

'वहाँ इसके मित्र, कुटुम्बी, भाई-बन्धु तथा हितैषी सुहृद् इसे अङ्ग-भङ्गके कारण पीड़ित एवं दीन अवस्थामें देखें' ॥ ४ ॥

आज्ञापयद् राक्षसेन्द्रः पुरं सर्वं सचत्वरम्।
लाङ्गूलेन प्रदीप्तेन रक्षोभिः परिणीयताम्॥ ५ ॥

फिर राक्षसराज रावणने यह आज्ञा दी कि 'राक्षसगण इसकी पूँछमें आग लगाकर इसे सड़कों और चौराहोंसहित समूचे नगरमें घुमावें' ॥ ५ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राक्षसाः कोपकर्कशाः।
वेष्टन्ते तस्य लाङ्गूलं जीर्णैः कार्पासिकैः पटैः ॥ ६ ॥

स्वामीका यह आदेश सुनकर क्रोधके कारण कठोरतापूर्ण बर्ताव करनेवाले राक्षस हनुमान्‌जीकी पूँछमें पुराने सूती कपड़े लपेटने लगे ॥ ६ ॥

संवेष्ट्यमाने लाङ्गूले व्यवर्धत महाकपिः।
शुष्कमिन्धनमासाद्य वनेष्विव हुताशनम्॥ ७ ॥

जब उनकी पूँछमें वस्त्र लपेटा जाने लगा, उस समय वनोंमें सूखी लकड़ी पाकर भभक उठनेवाली आगकी भाँति उन महाकपिका शरीर बढ़कर बहुत बड़ा हो गया ॥ ७ ॥

तैलेन परिषिच्याथ तेऽग्निं तत्रोपपादयन्।
लाङ्गूलेन प्रदीप्तेन राक्षसांस्तानताडयत्॥ ८ ॥
रोषामर्षपरीतात्मा बालसूर्यसमाननः।

राक्षसोंने वस्त्र लपेटनेके पश्चात् उनकी पूँछपर तेल छिड़क दिया और आग लगा दी। तब हनुमान्‌जीका हृदय रोषसे भर गया। उनका मुख प्रातःकालके सूर्यकी भाँति अरुण आभासे उद्भासित हो उठा और वे अपनी जलती हुई पूँछसे ही राक्षसोंको पीटने लगे ॥८½॥

स भूयः संगतैः क्रूरै राक्षसैर्हरिपुङ्गवः ॥ ९ ॥
सहस्त्रीबालवृद्धाश्च जग्मुः प्रीतिं निशाचराः।

तब क्रूर राक्षसोंने मिलकर पुनः उन वानरशिरोमणिको कसकर बाँध दिया। यह देख स्त्रियों, बालकों और बूढ़ोंसहित समस्त निशाचर बड़े प्रसन्न हुए ॥९½॥

निबद्धः कृतवान् वीरस्तत्कालसदृशीं मतिम्॥ १० ॥
कामं खलु न मे शक्ता निबद्धस्यापि राक्षसाः।
छित्त्वा पाशान् समुत्पत्य हन्यामहमिमान् पुनः ॥ ११ ॥

तब वीरवर हनुमान्‌जी बँधे-बँधे ही उस समयके योग्य विचार करने लगे—'यद्यपि मैं बँधा हुआ हूँ तो भी इन राक्षसोंका मुझपर जोर नहीं चल सकता। इन बन्धनोंको तोड़कर मैं उछल जाऊँगा और पुनः इन्हें मार सकूँगा ॥ १०-११ ॥

यदि भर्तृहितार्थाय चरन्तं भर्तृशासनात्।
निबध्नन्ते दुरात्मानो न तु मे निष्कृतिः कृता ॥ १२ ॥

'मैं अपने स्वामी श्रीरामके हितके लिये विचर रहा हूँ तो भी ये दुरात्मा राक्षस यदि अपने राजाके आदेशसे मुझे बाँध

रहे हैं तो इससे मैं जो कुछ कर चुका हूँ, उसका बदला नहीं पूरा हो सका है॥ १२॥

सर्वेषामेव पर्याप्तो राक्षसानामहं युधि।
किं तु रामस्य प्रीत्यर्थं विषहिष्येऽहमीदृशम्॥ १३॥

'मैं युद्धस्थलमें अकेला ही इन समस्त राक्षसोंका संहार करनेमें पूर्णतः समर्थ हूँ, किंतु इस समय श्रीरामचन्द्रजीकी प्रसन्नताके लिये मैं ऐसे बन्धनको चुपचाप सह लूँगा॥ १३॥

लङ्का चारयितव्या मे पुनरेव भवेदिति।
रात्रौ नहि सुदृष्टा मे दुर्गकर्मविधानतः॥ १४॥

'ऐसा करनेसे मुझे पुनः समूची लङ्कामें विचरने और इसके निरीक्षण करनेका अवसर मिलेगा; क्योंकि रातमें घूमनेके कारण मैंने दुर्गरचनाकी विधिपर दृष्टि रखते हुए इसका अच्छी तरह अवलोकन नहीं किया था॥ १४॥

अवश्यमेव द्रष्टव्या मया लङ्का निशाक्षये।
कामं बध्नन्तु मे भूयः पुच्छस्योद्दीपनेन च॥ १५॥
पीडां कुर्वन्ति रक्षांसि न मेऽस्ति मनसः श्रमः।

'अतः सवेरा हो जानेपर मुझे अवश्य ही लङ्का देखनी है। भले ही ये राक्षस मुझे बारंबार बाँधें और पूँछमें आग लगाकर पीड़ा पहुँचायें। मेरे मनमें इसके कारण तनिक भी कष्ट नहीं होगा'॥ १५½॥

ततस्ते संवृताकारं सत्त्ववन्तं महाकपिम्॥ १६॥
परिगृह्य ययुर्हृष्टा राक्षसाः कपिकुञ्जरम्।
शङ्खभेरीनिनादैश्च घोषयन्तः स्वकर्मभिः॥ १७॥
राक्षसाः क्रूरकर्माणश्चारयन्ति स्म तां पुरीम्।

तदनन्तर वे क्रूरकर्मा राक्षस अपने दिव्य आकारको छिपाये रखनेवाले सत्त्वगुणशाली महान् वानरवीर कपिकुञ्जर हनुमान्‌जीको पकड़कर बड़े हर्षके साथ ले चले और शङ्ख एवं भेरी बजाकर उनके (रावण-द्रोह आदि) अपराधोंकी घोषणा करते हुए उन्हें लङ्कापुरीमें सब ओर घुमाने लगे॥ १६-१७½॥

अन्वीयमानो रक्षोभिर्ययौ सुखमरिंदमः॥ १८॥
हनुमांश्चारयामास राक्षसानां महापुरीम्।
अथापश्यद् विमानानि विचित्राणि महाकपिः॥ १९॥

शत्रुदमन हनुमान्‌जी बड़ी मौजसे आगे बढ़ने लगे। समस्त राक्षस उनके पीछे-पीछे चल रहे थे। महाकपि हनुमान्‌जी राक्षसोंकी उस विशाल पुरीमें विचरते हुए उसे देखने लगे। उन्होंने वहाँ बड़े विचित्र विमान देखे॥ १८-१९॥

संवृतान् भूमिभागांश्च सुविभक्तांश्च चत्वरान्।
रथ्याश्च गृहसम्बाधाः कपिः शृङ्गाटकानि च॥ २०॥
तथा रथ्योपरथ्याश्च तथैव च गृहान्तरान्।

परकोटेसे घिरे हुए कितने ही भूभाग, पृथक्-पृथक् बने हुए सुन्दर चबूतरे, घनीभूत गृहपंक्तियोंसे घिरी हुई सड़कें, चौराहे, छोटी-बड़ी गलियाँ और घरोंके मध्यभाग— इन सबको वे बड़े गौरसे देखने लगे॥ २०½॥

चत्वरेषु चतुष्केषु राजमार्गे तथैव च॥ २१॥
घोषयन्ति कपिं सर्वे चार इत्येव राक्षसाः।

सब राक्षस उन्हें चौराहोंपर, चार खंभेवाले मण्डपोंमें तथा सड़कोंपर घुमाने और जासूस कहकर उनका परिचय देने लगे॥ २१½॥

स्त्रीबालवृद्धा निर्जग्मुस्तत्र तत्र कुतूहलात्॥ २२॥
तं प्रदीपितलाङ्गूलं हनूमन्तं दिदृक्षवः।

भिन्न-भिन्न स्थानोंमें जलती पूँछवाले हनुमान्‌जीको देखनेके लिये वहाँ बहुत-से बालक, वृद्ध और स्त्रियाँ कौतूहलवश घरसे बाहर निकल आती थीं॥ २२½॥

दीप्यमाने ततस्तस्य लाङ्गूलाग्रे हनूमतः॥ २३॥
राक्षस्यस्ता विरूपाक्ष्यः शंसुर्देव्यास्तदप्रियम्।

हनुमान्‌जीकी पूँछमें जब आग लगायी जा रही थी, उस समय भयंकर नेत्रोंवाली राक्षसियोंने सीतादेवीके पास जाकर उनसे यह अप्रिय समाचार कहा— ॥ २३½॥

यस्त्वया कृतसंवादः सीते ताम्रमुखः कपिः॥ २४॥
लाङ्गूलेन प्रदीप्तेन स एष परिणीयते।

'सीते! जिस लाल मुँहवाले बन्दरसे तुम्हारे साथ बातचीत की थी, उसकी पूँछमें आग लगाकर उसे सारे नगरमें घुमाया जा रहा है'॥ २४½॥

श्रुत्वा तद् वचनं क्रूरमात्मापहरणोपमम्॥ २५॥
वैदेही शोकसंतप्ता हुताशनमुपागमत्।

अपने अपहरणकी ही भाँति दुःख देनेवाली यह क्रूरतापूर्ण बात सुनकर विदेहनन्दिनी सीता शोकसे संतप्त हो उठीं और मन-ही-मन अग्निदेवकी उपासना करने लगीं॥ २५½॥

मङ्गलाभिमुखी तस्य सा तदासीन्महाकपेः॥ २६॥
उपतस्थे विशालाक्षी प्रयता हव्यवाहनम्।

उस समय विशाललोचना पवित्रहृदया सीता महाकपि हनुमान्‌जीके लिये मङ्गलकामना करती हुई अग्निदेवकी उपासनामें संलग्न हो गयीं और इस प्रकार बोलीं॥ २६½॥

यद्यस्ति पतिशुश्रूषा यद्यस्ति चरितं तपः।
यदि वा त्वेकपत्नीत्वं शीतो भव हनूमतः॥ २७॥

'अग्निदेव! यदि मैंने पतिकी सेवा की है और यदि मुझमें कुछ भी तपस्या तथा पातिव्रत्यका बल है तो तुम हनुमान्‌के लिये शीतल हो जाओ॥ २७॥

यदि किंचिदनुक्रोशस्तस्य मय्यस्ति धीमतः।
यदि वा भाग्यशेषो मे शीतो भव हनूमतः॥ २८॥

'यदि बुद्धिमान् भगवान् श्रीरामके मनमें मेरे प्रति

किंचिन्मात्र भी दया है अथवा यदि मेरा सौभाग्य शेष है तो तुम हनुमान्‌के लिये शीतल हो जाओ ॥ २८ ॥

यदि मां वृत्तसम्पन्नां तत्समागमलालसाम्।
स विजानाति धर्मात्मा शीतो भव हनूमतः ॥ २९ ॥

'यदि धर्मात्मा श्रीरघुनाथजी मुझे सदाचारसे सम्पन्न और अपनेसे मिलनेके लिये उत्सुक जानते हैं तो तुम हनुमान्‌के लिये शीतल हो जाओ ॥ २९ ॥

यदि मां तारयेदार्यः सुग्रीवः सत्यसंगरः।
अस्माद् दुःखाम्बुसंरोधाच्छीतो भव हनूमतः ॥ ३० ॥

'यदि सत्यप्रतिज्ञ आर्य सुग्रीव इस दुःखके महासागरसे मेरा उद्धार कर सकें तो तुम हनुमान्‌के लिये शीतल हो जाओ' ॥ ३० ॥

ततस्तीक्ष्णार्चिरव्यग्रः प्रदक्षिणशिखोऽनलः।
जज्वाल मृगशावाक्ष्याः शंसन्निव शुभं कपेः ॥ ३१ ॥

मृगनयनी सीताके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर तीखी लपटोंवाले अग्निदेव मानो उन्हें हनुमान्‌के मङ्गलकी सूचना देते हुए शान्तभावसे जलने लगे। उनकी शिखा प्रदक्षिण-भावसे उठने लगी ॥ ३१ ॥

हनूमज्जनकश्चैव पुच्छानलयुतोऽनिलः।
ववौ स्वास्थ्यकरो देव्याः प्रालेयानिलशीतलः ॥ ३२ ॥

हनुमान्‌के पिता वायुदेवता भी उनकी पूँछमें लगी हुई आगसे युक्त हो बर्फीली हवाके समान शीतल और देवी सीताके लिये स्वास्थ्यकारी (सुखद) होकर बहने लगे ॥ ३२ ॥

दह्यमाने च लाङ्गूले चिन्तयामास वानरः।
प्रदीप्तोऽग्निरयं कस्मान्न मां दहति सर्वतः ॥ ३३ ॥

उधर पूँछमें आग लगायी जानेपर हनुमान्‌जी सोचने लगे—'अहो! यह आग सब ओरसे प्रज्वलित होनेपर भी मुझे जलाती क्यों नहीं है? ॥ ३३ ॥

दृश्यते च महाज्वालः करोति च न मे रुजम्।
शिशिरस्येव सम्पातो लाङ्गूलाग्रे प्रतिष्ठितः ॥ ३४ ॥

'इसमें इतनी ऊँची ज्वाला उठती दिखायी देती है, तथापि यह आग मुझे पीड़ा नहीं दे रही है। मालूम होता है मेरी पूँछके अग्रभागमें बर्फका ढेर-सा रख दिया गया है ॥ ३४ ॥

अथ वा तदिदं व्यक्तं यद् दृष्टं प्लवता मया।
रामप्रभावादाश्चर्यं पर्वतः सरितां पतौ ॥ ३५ ॥

'अथवा उस दिन समुद्रको लाँघते समय मैंने सागरमें श्रीरामचन्द्रजीके प्रभावसे पर्वतके प्रकट होनेकी जो आश्चर्यजनक घटना देखी थी, उसी तरह आज यह अग्निकी शीतलता भी व्यक्त हुई है ॥ ३५ ॥

यदि तावत् समुद्रस्य मैनाकस्य च धीमतः।
रामार्थं सम्भ्रमस्तादृक्किमग्निर्न करिष्यति ॥ ३६ ॥

'यदि श्रीरामके उपकारके लिये समुद्र और बुद्धिमान् मैनाकके मनमें वैसी आदरपूर्ण उतावली देखी गयी तो क्या अग्निदेव उन भगवान्‌के उपकारके लिये शीतलता नहीं प्रकट करेंगे? ॥ ३६ ॥

सीतायाश्चानृशंस्येन तेजसा राघवस्य च।
पितुश्च मम सख्येन न मां दहति पावकः ॥ ३७ ॥

'निश्चय ही भगवती सीताकी दया, श्रीरघुनाथजीके तेज तथा मेरे पिताकी मैत्रीके प्रभावसे अग्निदेव मुझे जला नहीं रहे हैं' ॥ ३७ ॥

भूयः स चिन्तयामास मुहूर्तं कपिकुञ्जरः।
कथमस्मद्विधस्येह बन्धनं राक्षसाधमैः ॥ ३८ ॥
प्रतिक्रियास्य युक्ता स्यात् सति मह्यं पराक्रमे।

तदनन्तर कपिकुञ्जर हनुमान्‌ने पुनः एक मुहूर्ततक इस प्रकार विचार किया 'मेरे-जैसे पुरुषका यहाँ इन नीच निशाचरोंद्वारा बाँधा जाना कैसे उचित हो सकता है? पराक्रम रहते हुए मुझे अवश्य इसका प्रतीकार करना चाहिये' ॥ ३८½ ॥

ततश्छित्त्वा च तान् पाशान् वेगवान् वै महाकपिः ॥ ३९ ॥
उत्पपाताथ वेगेन ननाद च महाकपिः।

यह सोचकर वे वेगशाली महाकपि हनुमान् (जिन्हें राक्षसोंने पकड़ रखा था) उन बन्धनोंको तोड़कर बड़े वेगसे ऊपरको उछले और गर्जना करने लगे (उस समय भी उनका शरीर रस्सियोंमें बँधा हुआ ही था) ॥ ३९½ ॥

पुरद्वारं ततः श्रीमाञ्शैलशृङ्गमिवोन्नतम् ॥ ४० ॥
विभक्तरक्षःसम्बाधमाससादानिलात्मजः।

उछलकर वे श्रीमान् पवनकुमार पर्वत-शिखरके समान ऊँचे नगरद्वारपर जा पहुँचे, जहाँ राक्षसोंकी भीड़ नहीं थी ॥ ४०½ ॥

स भूत्वा शैलसंकाशः क्षणेन पुनरात्मवान् ॥ ४१ ॥
ह्रस्वतां परमां प्राप्तो बन्धनान्यवशातयत्।
विमुक्तश्चाभवच्छ्रीमान् पुनः पर्वतसंनिभः ॥ ४२ ॥

पर्वताकार होकर भी वे मनस्वी हनुमान् पुनः क्षणभरमें बहुत ही छोटे और पतले हो गये। इस प्रकार उन्होंने अपने सारे बन्धनोंको निकाल फेंका। उन बन्धनोंसे मुक्त होते ही तेजस्वी हनुमान्‌जी फिर पर्वतके समान विशालकाय हो गये ॥ ४१-४२ ॥

वीक्षमाणश्च ददृशे परिघं तोरणाश्रितम्।
स तं गृह्य महाबाहुः कालायसपरिष्कृतम्।
रक्षिणस्तान् पुनः सर्वान् सूदयामास मारुतिः ॥ ४३ ॥

उस समय उन्होंने जब इधर-उधर दृष्टि डाली, तब उन्हें फाटकके सहारे रखा हुआ एक परिघ दिखायी दिया। काले लोहेके बने हुए उस परिघको लेकर महाबाहु पवनपुत्रने वहाँके समस्त रक्षकोंको फिर मार गिराया ॥ ४३ ॥

स तान् निहत्वा रणचण्डविक्रमः
समीक्षमाणः पुनरेव लङ्काम्।
प्रदीप्तलाङ्गूलकृतार्चिमाली
प्रकाशितादित्य इवार्चिमाली ॥ ४४ ॥

उन राक्षसोंको मारकर रणभूमिमें प्रचण्ड पराक्रम प्रकट करनेवाले हनुमान्‌जी पुनः लङ्कापुरीका निरीक्षण करने लगे। उस समय जलती हुई पूँछसे जो ज्वालाओंकी माला-सी उठ रही थी, उससे अलंकृत हुए वे वानरवीर तेजःपुञ्जसे देदीप्यमान सूर्यदेवके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ ४४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें तिरपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

—★—

चतुःपञ्चाशः सर्गः

लङ्कापुरीका दहन और राक्षसोंका विलाप

वीक्षमाणस्ततो लङ्कां कपिः कृतमनोरथः।
वर्धमानसमुत्साहः कार्यशेषमचिन्तयत् ॥ १ ॥

हनुमान्‌जीके सभी मनोरथ पूर्ण हो गये थे। उनका उत्साह बढ़ता जा रहा था। अतः वे लङ्काका निरीक्षण करते हुए शेष कार्यके सम्बन्धमें विचार करने लगे— ॥ १ ॥

किं नु खल्ववशिष्टं मे कर्तव्यमिह साम्प्रतम्।
यदेषां रक्षसां भूयः संतापजननं भवेत् ॥ २ ॥

'अब इस समय लङ्कामें मेरे लिये कौन-सा ऐसा कार्य बाकी रह गया है, जो इन राक्षसोंको अधिक संताप देनेवाला हो ॥ २ ॥

वनं तावत्प्रमथितं प्रकृष्टा राक्षसा हताः।
बलैकदेशः क्षपितः शेषं दुर्गविनाशनम् ॥ ३ ॥

'प्रमदावनको तो मैंने पहले ही उजाड़ दिया था, बड़े-बड़े राक्षसोंको भी मौतके घाट उतार दिया और रावणकी सेनाके भी एक अंशका संहार कर डाला। अब दुर्गका विध्वंस करना शेष रह गया ॥ ३ ॥

दुर्गे विनाशिते कर्म भवेत् सुखपरिश्रमम्।
अल्पयत्नेन कार्येऽस्मिन् मम स्यात् सफलः श्रमः ॥ ४ ॥

'दुर्गका विनाश हो जानेपर मेरे द्वारा समुद्र-लङ्घन आदि कर्मके लिये किया गया प्रयास सुखद एवं सफल होगा। मैंने सीताजीकी खोजके लिये जो परिश्रम किया है, वह थोड़े-से ही प्रयत्नद्वारा सिद्ध होनेवाले लङ्कादहनसे सफल हो जायगा ॥ ४ ॥

यो ह्ययं मम लाङ्गूले दीप्यते हव्यवाहनः।
अस्य संतर्पणं न्याय्यं कर्तुमेभिर्गृहोत्तमैः ॥ ५ ॥

'मेरी पूँछमें जो ये अग्निदेव देदीप्यमान हो रहे हैं, इन्हें इन श्रेष्ठ गृहोंकी आहुति देकर तृप्त करना न्यायसंगत जान पड़ता है' ॥ ५ ॥

ततः प्रदीप्तलाङ्गूलः सविद्युदिव तोयदः।
भवनाग्रेषु लङ्काया विचचार महाकपिः ॥ ६ ॥

ऐसा सोचकर जलती हुई पूँछके कारण बिजलीसहित मेघकी भाँति शोभा पानेवाले कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌जी लङ्काके महलोंपर घूमने लगे ॥ ६ ॥

गृहाद् गृहं राक्षसानामुद्यानानि च वानरः।
वीक्षमाणो ह्यसंत्रस्तः प्रासादांश्च चचार सः ॥ ७ ॥

वे वानरवीर राक्षसोंके एक घरसे दूसरे घरपर पहुँचकर उद्यानों और राजभवनोंको देखते हुए निर्भय होकर विचरने लगे ॥ ७ ॥

अवप्लुत्य महावेगः प्रहस्तस्य निवेशनम्।
अग्निं तत्र विनिक्षिप्य श्वसनेन समो बली ॥ ८ ॥
ततोऽन्यत् पुप्लुवे वेश्म महापार्श्वस्य वीर्यवान्।
मुमोच हनुमानग्निं कालानलशिखोपमम् ॥ ९ ॥

घूमते-घूमते वायुके समान बलवान् और महान् वेगशाली हनुमान् उछलकर प्रहस्तके महलपर जा पहुँचे और उसमें आग लगाकर दूसरे घरपर कूद पड़े। वह महापार्श्वका निवासस्थान था। पराक्रमी हनुमान्‌ने उसमें भी कालाग्निकी लपटोंके समान प्रज्वलित होनेवाली आग फैला दी ॥ ८-९ ॥

वज्रदंष्ट्रस्य च तथा पुप्लुवे स महाकपिः।
शुकस्य च महातेजाः सारणस्य च धीमतः ॥ १० ॥

तत्पश्चात् वे महातेजस्वी महाकपि क्रमशः वज्रदंष्ट्र, शुक और बुद्धिमान् सारणके घरोंपर कूदे और उनमें आग लगाकर आगे बढ़ गये ॥ १० ॥

तथा चेन्द्रजितो वेश्म ददाह हरियूथपः।
जम्बुमालेः सुमालेश्च ददाह भवनं ततः ॥ ११ ॥

इसके बाद वानरयूथपति हनुमान्‌ने इन्द्रविजयी मेघनादका घर जलाया। फिर जम्बुमाली और सुमालीके घरोंको फूँक दिया ॥ ११ ॥

रश्मिकेतोश्च भवनं सूर्यशत्रोस्तथैव च।
ह्रस्वकर्णस्य दंष्ट्रस्य रोमशस्य च रक्षसः ॥ १२ ॥

युद्धोन्मत्तस्य मत्तस्य ध्वजग्रीवस्य रक्षसः।
विद्युज्जिह्वस्य घोरस्य तथा हस्तिमुखस्य च॥ १३॥
करालस्य विशालस्य शोणिताक्षस्य चैव हि।
कुम्भकर्णस्य भवनं मकराक्षस्य चैव हि॥ १४॥
नरान्तकस्य कुम्भस्य निकुम्भस्य दुरात्मनः।
यज्ञशत्रोश्च भवनं ब्रह्मशत्रोस्तथैव च॥ १५॥

तदनन्तर रश्मिकेतु, सूर्यशत्रु, ह्रस्वकर्ण, दंष्ट्र, राक्षस रोमश, रणोन्मत्त मत्त, ध्वजग्रीव, भयानक विद्युज्जिह्व, हस्तिमुख, कराल, विशाल, शोणिताक्ष, कुम्भकर्ण, मकराक्ष, नरान्तक, कुम्भ, दुरात्मा निकुम्भ, यज्ञशत्रु और ब्रह्मशत्रु आदि राक्षसोंके घरोंमें जा-जाकर उन्होंने आग लगायी॥ ९-१५॥

वर्जयित्वा महातेजा विभीषणगृहं प्रति।
क्रममाणः क्रमेणैव ददाह हरिपुङ्गवः॥ १६॥

उस समय महातेजस्वी कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌ने केवल विभीषणका घर छोड़कर अन्य सब घरोंमें क्रमशः पहुँचकर उन सबमें आग लगा दी॥ १६॥

तेषु तेषु महार्हेषु भवनेषु महायशाः।
गृहेष्वृद्धिमतामृद्धिं ददाह कपिकुञ्जरः॥ १७॥

महायशस्वी कपिकुञ्जर पवनकुमारने विभिन्न बहुमूल्य भवनोंमें जा-जाकर समृद्धिशाली राक्षसोंके घरोंकी सारी सम्पत्ति जलाकर भस्म कर डाली॥ १७॥

सर्वेषां समतिक्रम्य राक्षसेन्द्रस्य वीर्यवान्।
आससादाथ लक्ष्मीवान् रावणस्य निवेशनम्॥ १८॥

सबके घरोंको लाँघते हुए शोभाशाली पराक्रमी हनुमान् राक्षसराज रावणके महलपर जा पहुँचे॥ १८॥

ततस्तस्मिन् गृहे मुख्ये नानारत्नविभूषिते।
मेरुमन्दरसंकाशे नानामङ्गलशोभिते॥ १९॥
प्रदीप्तमग्निमुत्सृज्य लाङ्गूलाग्रे प्रतिष्ठितम्।
ननाद हनुमान् वीरो युगान्तजलदो यथा॥ २०॥

वही लङ्काके सब महलोंमें श्रेष्ठ, भाँति-भाँतिके रत्नोंसे विभूषित, मेरुपर्वतके समान ऊँचा और नाना प्रकारके माङ्गलिक उत्सवोंसे सुशोभित था। अपनी पूँछके अग्रभागमें प्रतिष्ठित हुई प्रज्वलित अग्निको उस महलमें छोड़कर वीरवर हनुमान् प्रलय-कालके मेघकी भाँति भयानक गर्जना करने लगे॥ १९-२०॥

श्वसनेन च संयोगादतिवेगो महाबलः।
कालाग्निरिव जज्वाल प्रावर्धत हुताशनः॥ २१॥

हवाका सहारा पाकर वह प्रबल आग बड़े वेगसे बढ़ने लगी और कालाग्निके समान प्रज्वलित हो उठी॥ २१॥

प्रदीप्तमग्निं पवनस्तेषु वेश्मसु चारयन्।
तानि काञ्चनजालानि मुक्तामणिमयानि च॥ २२॥
भवनान्यवशीर्यन्त रत्नवन्ति महान्ति च।
तानि भग्नविमानानि निपेतुर्वसुधातले॥ २३॥

वायु उस प्रज्वलित अग्निको सभी घरोंमें फैलाने लगी। सोनेकी खिड़कियोंसे सुशोभित, मोती और मणियोंद्वारा निर्मित तथा रत्नोंसे विभूषित ऊँचे-ऊँचे प्रासाद एवं सतमहले भवन फट-फटकर पृथ्वीपर गिरने लगे॥ २२-२३॥

भवनानीव सिद्धानामम्बरात् पुण्यसंक्षये।
संजज्ञे तुमुलः शब्दो राक्षसानां प्रधावताम्॥ २४॥
स्वे स्वे गृहपरित्राणे भग्नोत्साहोज्झितश्रियाम्।

वे गिरते हुए भवन पुण्यका क्षय होनेपर आकाशसे नीचे गिरनेवाले सिद्धोंके घरोंके समान जान पड़ते थे। उस समय राक्षस अपने-अपने घरोंको बचाने—उनकी आग बुझानेके लिये इधर-उधर दौड़ने लगे। उनका उत्साह जाता रहा और उनकी श्री नष्ट हो गयी थी। उन सबका तुमुल आर्तनाद चारों ओर गूँजने लगा॥ २४½॥

नूनमेषोऽग्निरायातः कपिरूपेण हा इति॥ २५॥
क्रन्दन्त्यः सहसा पेतुः स्तनंधयधराः स्त्रियः।

वे कहते थे—'हाय! यह वानरके रूपमें साक्षात् अग्नि देवता ही आ पहुँचा है।' कितनी ही स्त्रियाँ गोदमें बच्चे लिये सहसा क्रन्दन करती हुई नीचे गिर पड़ीं॥ २५½॥

काश्चिदग्निपरीताङ्ग्यो हर्म्येभ्यो मुक्तमूर्धजाः॥ २६॥
पतन्त्योरेजिरेऽभ्रेभ्यः सौदामन्य इवाम्बरात्।

कुछ राक्षसियोंके सारे अङ्ग आगकी लपटमें आ गये, वे बाल बिखेरे अट्टालिकाओंसे नीचे गिर पड़ीं। गिरते समय वे आकाशमें स्थित मेघोंसे गिरनेवाली बिजलियोंके समान प्रकाशित होती थीं॥ २६½॥

वज्रविद्रुमवैदूर्यमुक्तारजतसंहतान्॥ २७॥
विचित्रान् भवनाद्धातून्स्यन्दमानान् ददर्श सः।

हनुमान्‌जीने देखा जलते हुए घरोंसे हीरा, मूँगा, नीलम, मोती तथा सोने, चाँदी आदि विचित्र-विचित्र धातुओंकी राशि पिघल-पिघलकर बही जा रही है॥ २७½॥

नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां तृणानां च यथा तथा॥ २८॥
हनूमान् राक्षसेन्द्राणां वधे किंचिन्न तृप्यति।
न हनूमद्विशस्तानां राक्षसानां वसुन्धरा॥ २९॥

जैसे आग सूखे काठ और तिनकोंको जलानेसे कभी तृप्त नहीं होती, उसी प्रकार हनुमान् बड़े-बड़े राक्षसोंके वध करनेसे तनिक भी तृप्त नहीं होते थे और हनुमान्‌जीके मारे हुए राक्षसोंको अपनी गोदमें धारण करनेसे इस वसुन्धराका भी जी नहीं भरता था॥ २८-२९॥

हनूमता वेगवता वानरेण महात्मना।
लङ्कापुरं प्रदग्धं तद् रुद्रेण त्रिपुरं यथा॥ ३०॥

जैसे भगवान् रुद्रने पूर्वकालमें त्रिपुरको दग्ध किया था,

उसी प्रकार वेगशाली वानरवीर महात्मा हनुमान्‌जीने लङ्कापुरीको जला दिया ॥ ३० ॥

ततः स लङ्कापुरपर्वताग्रे
समुत्थितो भीमपराक्रमोऽग्निः।
प्रसार्य चूडावलयं प्रदीप्तो
हनूमता वेगवतोपसृष्टः ॥ ३१ ॥

तत्पश्चात् लङ्कापुरीके पर्वत-शिखरपर आग लगी, वहाँ अग्निदेवका बड़ा भयानक पराक्रम प्रकट हुआ। वेगशाली हनुमान्‌जीकी लगायी हुई वह आग चारों ओर अपने ज्वाला-मण्डलको फैलाकर बड़े जोरसे प्रज्वलित हो उठी ॥ ३१ ॥

युगान्तकालानलतुल्यरूपः
समारुतोऽग्निर्ववृधे दिवस्पृक्।
विधूमरश्मिर्भवनेषु सक्तो
रक्षःशरीराज्यसमर्पितार्चिः ॥ ३२॥

हवाका सहारा पाकर वह आग इतनी बढ़ गयी कि उसका रूप प्रलयकालीन अग्निके समान दिखायी देने लगा। उसकी ऊँची लपटें मानो स्वर्गलोकका स्पर्श कर रही थीं। लङ्काके भवनोंमें लगी हुई उस आगकी ज्वालामें धूमका नाम भी नहीं था। राक्षसोंके शरीररूपी घीकी आहुति पाकर उसकी ज्वालाएँ उत्तरोत्तर बढ़ रही थीं ॥ ३२ ॥

आदित्यकोटीसदृशः सुतेजा
लङ्कां समस्तां परिवार्य तिष्ठन्।
शब्दैरनेकैरशनिप्ररूढै-
र्भिन्दन्निवाण्डं प्रबभौ महाग्निः ॥ ३३ ॥

समूची लङ्कापुरीको अपनी लपटोंमें लपेटकर फैली हुई वह प्रचण्ड आग करोड़ों सूर्योंके समान प्रज्वलित हो रही थी। मकानों और पर्वतोंके फटने आदिसे होनेवाले नाना प्रकारके धड़ाकोंके शब्द बिजलीकी कड़कको भी मात करते थे, उस समय वह विशाल अग्नि ब्रह्माण्डको फोड़ती हुई-सी प्रकाशित हो रही थी ॥ ३३ ॥

तत्राम्बरादग्निरतिप्रवृद्धो
रूक्षप्रभः किंशुकपुष्पचूडः।
निर्वाणधूमाकुलराजयश्च
नीलोत्पलाभाः प्रचकाशिरेऽभ्राः ॥ ३४ ॥

वहाँ धरतीसे आकाशतक फैली हुई अत्यन्त बढ़ी-चढ़ी आगकी प्रभा बड़ी तीखी प्रतीत होती थी। उसकी लपटें टेसूके फूलकी भाँति लाल दिखायी देती थीं। नीचेसे जिनका सम्बन्ध टूट गया था, वे आकाशमें फैली हुई धूम-पंक्तियाँ नील कमलके समान रंगवाले मेघोंकी भाँति प्रकाशित हो रही थीं ॥ ३४ ॥

वज्री महेन्द्रस्त्रिदशेश्वरो वा
साक्षाद् यमो वा वरुणोऽनिलो वा।
रौद्रोऽग्निरर्को धनदश्च सोमो
न वानरोऽयं स्वयमेव कालः ॥ ३५ ॥

किं ब्रह्मणः सर्वपितामहस्य
लोकस्य धातुश्चतुराननस्य।
इहागतो वानररूपधारी
रक्षोपसंहारकरः प्रकोपः ॥ ३६ ॥

किं वैष्णवं वा कपिरूपमेत्य
रक्षोविनाशाय परं सुतेजः।
अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तमेकं
स्वमायया साम्प्रतमागतं वा ॥ ३७ ॥

इत्येवमूचुर्बहवो विशिष्टा
रक्षोगणास्तत्र समेत्य सर्वे।
सप्राणिसङ्घां सगृहां सवृक्षां
दग्धां पुरीं तां सहसा समीक्ष्य ॥ ३८ ॥

प्राणियोंके समुदाय, गृह और वृक्षोंसहित समस्त लङ्कापुरीको सहसा दग्ध हुई देख बड़े-बड़े राक्षस झुंड-के-झुंड एकत्र हो गये और वे सब-के-सब परस्पर इस प्रकार कहने लगे—'यह देवताओंका राजा वज्रधारी इन्द्र अथवा साक्षात् यमराज तो नहीं है? वरुण, वायु, रुद्र, अग्नि, सूर्य, कुबेर या चन्द्रमामेंसे तो कोई नहीं है? यह वानर नहीं साक्षात् काल ही है। क्या सम्पूर्ण जगत्‌के पितामह चतुर्मुख ब्रह्माजीका प्रचण्ड कोप ही वानरका रूप धारण करके राक्षसोंका संहार करनेके लिये यहाँ उपस्थित हुआ है? अथवा भगवान् विष्णुका महान् तेज जो अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्त और अद्वितीय है, अपनी मायासे वानरका शरीर ग्रहण करके राक्षसोंके विनाशके लिये तो इस समय नहीं आया है?' ॥ ३८ ॥

ततस्तु लङ्का सहसा प्रदग्धा
सराक्षसा साश्वरथा सनागा।
सपक्षिसङ्घा समृगा सवृक्षा
रुरोद दीना तुमुलं सशब्दम् ॥ ३९ ॥

इस प्रकार घोड़े, हाथी, रथ, पशु, पक्षी, वृक्ष तथा कितने ही राक्षसोंसहित लङ्कापुरी सहसा दग्ध हो गयी। वहाँके निवासी दीनभावसे तुमुल नाद करते हुए फूट-फूटकर रोने लगे ॥ ३९ ॥

हा तात हा पुत्रक कान्त मित्र
हा जीवितेशाङ्ग हतं सुपुण्यम्।
रक्षोभिरेवं बहुधा ब्रुवद्भिः
शब्दः कृतो घोरतरः सुभीमः ॥ ४० ॥

वे बोले—'हाय रे बप्पा! हाय बेटा! हा स्वामिन्! हा मित्र! हा प्राणनाथ! हमारे सब पुण्य नष्ट हो गये।' इस तरह भाँति-भाँतिसे विलाप करते हुए राक्षसोंने बड़ा भयंकर एवं घोर आर्तनाद किया ॥ ४० ॥

हुताशनज्वालसमावृता सा
हतप्रवीरा परिवृत्तयोधा।
हनूमतः क्रोधबलाभिभूता
बभूव शापोपहतेव लङ्का॥ ४१॥

हनुमान्‌जीके क्रोध-बलसे अभिभूत हुई लङ्कापुरी आगकी ज्वालासे घिर गयी थी। उसके प्रमुख-प्रमुख वीर मार डाले गये थे। समस्त योद्धा तितर-बितर और उद्विग्न हो गये थे। इस प्रकार वह पुरी शापसे आक्रान्त हुई-सी जान पड़ती थी॥ ४१॥

ससम्भ्रमं त्रस्तविषण्णराक्षसां
समुज्ज्वलज्ज्वालहुताशनाङ्किताम्।
ददर्श लङ्कां हनुमान् महामनाः
स्वयंभुरोषोपहतामिवावनिम्॥ ४२॥

महामनस्वी हनुमान्‌ने लङ्कापुरीको स्वयम्भू ब्रह्माजीके रोषसे नष्ट हुई पृथ्वीके समान देखा। वहाँके समस्त राक्षस बड़ी घबराहटमें पड़कर त्रस्त और विषादग्रस्त हो गये थे। अत्यन्त प्रज्वलित ज्वालामालाओंसे अलंकृत अग्निदेवने उसपर अपनी छाप लगा दी थी॥ ४२॥

भङ्क्त्वा वनं पादपरत्नसंकुलं
हत्वा तु रक्षांसि महान्ति संयुगे।
दग्ध्वा पुरीं तां गृहरत्नमालिनीं
तस्थौ हनूमान् पवनात्मजः कपिः॥ ४३॥

पवनकुमार वानरवीर हनुमान्‌जी उत्तमोत्तम वृक्षोंसे भरे हुए वनको उजाड़कर, युद्धमें बड़े-बड़े राक्षसोंको मारकर तथा सुन्दर महलोंसे सुशोभित लङ्कापुरीको जलाकर शान्त हो गये॥ ४३॥

स राक्षसांस्तान् सुबहूंश्च हत्वा
वनं च भङ्क्त्वा बहुपादपं तत्।
विसृज्य रक्षोभवनेषु चाग्निं
जगाम रामं मनसा महात्मा॥ ४४॥

महात्मा हनुमान् बहुत-से राक्षसोंका वध और बहुसंख्यक वृक्षोंसे भरे हुए प्रमदावनका विध्वंस करके निशाचरोंके घरोंमें आग लगाकर मन-ही-मन श्रीरामचन्द्रजीका स्मरण करने लगे॥ ४४॥

ततस्तु तं वानरवीरमुख्यं
महाबलं मारुततुल्यवेगम्।
महामतिं वायुसुतं वरिष्ठं
प्रतुष्टुवुर्देवगणाश्च सर्वे॥ ४५॥

तदनन्तर सम्पूर्ण देवताओंने वानरवीरोंमें प्रधान, महाबलवान्, वायुके समान वेगवान्, परम बुद्धिमान् और वायुदेवताके श्रेष्ठ पुत्र हनुमान्‌जीका स्तवन किया॥ ४५॥

देवाश्च सर्वे मुनिपुङ्गवाश्च
गन्धर्वविद्याधरपन्नगाश्च।
भूतानि सर्वाणि महान्ति तत्र
जग्मुः परां प्रीतिमतुल्यरूपाम्॥ ४६॥

उनके इस कार्यसे सभी देवता, मुनिवर, गन्धर्व, विद्याधर, नाग तथा सम्पूर्ण महान् प्राणी अत्यन्त प्रसन्न हुए। उनके उस हर्षकी कहीं तुलना नहीं थी॥ ४६॥

भङ्क्त्वा वनं महातेजा हत्वा रक्षांसि संयुगे।
दग्ध्वा लङ्कापुरीं भीमां रराज स महाकपिः॥ ४७॥

महातेजस्वी महाकपि पवनकुमार प्रमदावनको उजाड़कर, युद्धमें राक्षसोंको मारकर और भयंकर लङ्कापुरीको जलाकर बड़ी शोभा पाने लगे॥ ४७॥

गृहाग्र्यशृङ्गाग्रतले विचित्रे
प्रतिष्ठितो वानरराजसिंहः।
प्रदीप्तलाङ्गूलकृतार्चिमाली
व्यराजतादित्य इवार्चिमाली॥ ४८॥

श्रेष्ठ भवनोंके विचित्र शिखरपर खड़े हुए वानरराजसिंह हनुमान् अपनी जलती पूँछसे उठती हुई ज्वाला-मालाओंसे अलंकृत हो तेजःपुञ्जसे देदीप्यमान सूर्यदेवके समान प्रकाशित होने लगे॥ ४८॥

लङ्कां समस्तां सम्पीड्य लाङ्गूलाग्निं महाकपिः।
निर्वापयामास तदा समुद्रे हरिपुङ्गवः॥ ४९॥

इस प्रकार सारी लङ्कापुरीको पीड़ा दे वानरशिरोमणि महाकपि हनुमान्‌ने उस समय समुद्रके जलमें अपनी पूँछकी आग बुझायी॥ ४९॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः।
दृष्ट्वा लङ्कां प्रदग्धां तां विस्मयं परमं गताः॥ ५०॥

तत्पश्चात् लङ्कापुरीको दग्ध हुई देख देवता, गन्धर्व, सिद्ध और महर्षि बड़े विस्मित हुए॥ ५०॥

तं दृष्ट्वा वानरश्रेष्ठं हनुमन्तं महाकपिम्।
कालाग्निरिति संचिन्त्य सर्वभूतानि तत्रसुः॥ ५१॥

उस समय वानरश्रेष्ठ महाकपि हनुमान्‌को देख 'ये कालाग्नि हैं' ऐसा मानकर समस्त प्राणी भयसे थर्रा उठे॥ ५१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे चतुःपञ्चाशः सर्गः॥ ५४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें चौवनवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ५४॥

—★—

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

सीताजीके लिये हनुमान्‌जीकी चिन्ता और उसका निवारण

संदीप्यमानां वित्रस्तां त्रस्तरक्षोगणां पुरीम्।
अवेक्ष्य हनुमाँल्लङ्कां चिन्तयामास वानरः॥ १॥

वानरवीर हनुमान्‌जीने जब देखा कि सारी लङ्कापुरी जल रही है, वहाँके निवासियोंपर त्रास छा गया है और राक्षसगण अत्यन्त भयभीत हो गये हैं, तब उनके मनमें सीताके दग्ध होनेकी आशङ्कासे बड़ी चिन्ता हुई॥ १॥

तस्याभूत् सुमहांस्त्रासः कुत्सा चात्मन्यजायत।
लङ्कां प्रदहता कर्म किंस्वित् कृतमिदं मया॥ २॥

साथ ही उनपर महान् त्रास छा गया और उन्हें अपने प्रति घृणा-सी होने लगी। वे मन-ही-मन कहने लगे—'हाय! मैंने लङ्काको जलाते समय यह कैसा कुत्सित कर्म कर डाला?॥ २॥

धन्याः खलु महात्मानो ये बुद्ध्या कोपमुत्थितम्।
निरुन्धन्ति महात्मानो दीप्तमग्निमिवाम्भसा॥ ३॥

'जो महामनस्वी महात्मा पुरुष उठे हुए कोपको अपनी बुद्धिके द्वारा उसी प्रकार रोक देते हैं, जैसे साधारण लोग जलसे प्रज्वलित अग्निको शान्त कर देते हैं, वे ही इस संसारमें धन्य हैं॥ ३॥

क्रुद्धः पापं न कुर्यात् कः क्रुद्धो हन्याद् गुरूनपि।
क्रुद्धः परुषया वाचा नरः साधूनधिक्षिपेत्॥ ४॥

'क्रोधसे भर जानेपर कौन पुरुष पाप नहीं करता? क्रोधके वशीभूत हुआ मनुष्य गुरुजनोंकी भी हत्या कर सकता है। क्रोधी मानव साधु पुरुषोंपर भी कटुवचनोंद्वारा आक्षेप करने लगता है॥ ४॥

वाच्यावाच्यं प्रकुपितो न विजानाति कर्हिचित्।
नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं विद्यते क्वचित्॥ ५॥

'अधिक कुपित हुआ मनुष्य कभी इस बातका विचार नहीं करता कि मुँहसे क्या कहना चाहिये और क्या नहीं? क्रोधीके लिये कोई ऐसा बुरा काम नहीं, जिसे वह न कर सके और कोई ऐसी बुरी बात नहीं, जिसे वह मुँहसे न निकाल सके॥ ५॥

यः समुत्पतितं क्रोधं क्षमयैव निरस्यति।
यथोरगस्त्वचं जीर्णां स वै पुरुष उच्यते॥ ६॥

'जो हृदयमें उत्पन्न हुए क्रोधको क्षमाके द्वारा उसी तरह निकाल देता है, जैसे साँप अपनी पुरानी केंचुलको छोड़ देता है, वही पुरुष कहलाता है॥ ६॥

धिगस्तु मां सुदुर्बुद्धिं निर्लज्जं पापकृत्तमम्।
अचिन्तयित्वा तां सीतामग्निदं स्वामिघातकम्॥ ७॥

'मेरी बुद्धि बड़ी खोटी है, मैं निर्लज्ज और महान् पापाचारी हूँ। मैंने सीताकी रक्षाका कोई विचार न करके लङ्कामें आग लगा दी और इस तरह अपने स्वामीकी ही हत्या कर डाली। मुझे धिक्कार है॥ ७॥

यदि दग्धा त्वियं सर्वा नूनमार्यापि जानकी।
दग्धा तेन मया भर्तुर्हतं कार्यमजानता॥ ८॥

'यदि यह सारी लङ्का जल गयी तो आर्या जानकी भी निश्चय ही उसमें दग्ध हो गयी होंगी। ऐसा करके मैंने अनजानमें अपने स्वामीका सारा काम ही चौपट कर डाला॥ ८॥

यदर्थमयमारम्भस्तत्कार्यमवसादितम्।
मया हि दहता लङ्कां न सीता परिरक्षिता॥ ९॥

'जिस कार्यकी सिद्धिके लिये यह सारा उद्योग किया गया था, वह कार्य ही मैंने नष्ट कर दिया; क्योंकि लङ्का जलाते समय मैंने सीताकी रक्षा नहीं की॥ ९॥

ईषत्कार्यमिदं कार्यं कृतमासीन्न संशयः।
तस्य क्रोधाभिभूतेन मया मूलक्षयः कृतः॥ १०॥

'इसमें संदेह नहीं कि यह लङ्का-दहन एक छोटा-सा कार्य शेष रह गया था, जिसे मैंने पूर्ण किया; परंतु क्रोधसे पागल होनेके कारण मैंने श्रीरामचन्द्रजीके कार्यकी तो जड़ ही काट डाली॥ १०॥

विनष्टा जानकी व्यक्तं न ह्यदग्धः प्रदृश्यते।
लङ्कायाः कश्चिदुद्देशः सर्वा भस्मीकृता पुरी॥ ११॥

'लङ्काका कोई भी भाग ऐसा नहीं दिखायी देता, जहाँ आग न लगी हो। सारी पुरी ही मैंने भस्म कर डाली है, अतः जानकी नष्ट हो गयी, यह बात स्वतः स्पष्ट हो जाती है॥ ११॥

यदि तद्विहतं कार्यं मया प्रज्ञाविपर्ययात्।
इहैव प्राणसंन्यासो ममापि ह्यद्य रोचते॥ १२॥

'यदि अपनी विपरीत बुद्धिके कारण मैंने सारा काम चौपट कर दिया तो यहीं आज मेरे प्राणोंका भी विसर्जन हो जाना चाहिये। यही मुझे अच्छा जान पड़ता है॥ १२॥

किमग्नौ निपताम्यद्य आहोस्विद् वडवामुखे।
शरीरमिह सत्त्वानां दद्मि सागरवासिनाम्॥ १३॥

'क्या मैं अब जलती आगमें कूद पड़ूँ या वडवानलके मुखमें? अथवा समुद्रमें निवास करनेवाले जल-जन्तुओंको ही यहाँ अपना शरीर समर्पित कर दूँ॥ १३॥

कथं नु जीवता शक्यो मया द्रष्टुं हरीश्वरः।
तौ वा पुरुषशार्दूलौ कार्यसर्वस्वघातिना॥ १४॥

'जब मैंने सारा कार्य ही नष्ट कर दिया, तब अब जीते-जी कैसे वानरराज सुग्रीव अथवा उन दोनों पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मणका दर्शन कर सकता हूँ या उन्हें अपना मुँह दिखा सकता हूँ?॥ १४॥

मया खलु तदेवेदं रोषदोषात् प्रदर्शितम्।
प्रथितं त्रिषु लोकेषु कपित्वमनवस्थितम्॥ १५॥

'मैंने रोषके दोषसे तीनों लोकोंमें विख्यात इस वानरोचित चपलताका ही यहाँ प्रदर्शन किया है॥ १५॥

धिगस्तु राजसं भावमनीशमनवस्थितम्।
ईश्वरेणापि यद् रागान्मया सीता न रक्षिता॥ १६॥

'यह राजस भाव कार्य-साधनमें असमर्थ और अव्यवस्थित है, इसे धिक्कार है; क्योंकि इस रजोगुणमूलक क्रोधके ही कारण समर्थ होते हुए भी मैंने सीताकी रक्षा नहीं की॥ १६॥

विनष्टायां तु सीतायां तावुभौ विनशिष्यतः।
तयोर्विनाशे सुग्रीवः सबन्धुर्विनशिष्यति॥ १७॥

'सीताके नष्ट हो जानेसे वे दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण भी नष्ट हो जायँगे। उन दोनोंका नाश होनेपर बन्धु-बान्धवोंसहित सुग्रीव भी जीवित नहीं रहेंगे॥ १७॥

एतदेव वचः श्रुत्वा भरतो भ्रातृवत्सलः।
धर्मात्मा सहशत्रुघ्नः कथं शक्ष्यति जीवितुम्॥ १८॥

'फिर इसी समाचारको सुन लेनेपर भ्रातृवत्सल धर्मात्मा भरत और शत्रुघ्न भी कैसे जीवन धारण कर सकेंगे?॥ १८॥

इक्ष्वाकुवंशे धर्मिष्ठे गते नाशमसंशयम्।
भविष्यन्ति प्रजाः सर्वाः शोकसंतापपीडिताः॥ १९॥

'इस प्रकार धर्मनिष्ठ इक्ष्वाकुवंशके नष्ट हो जानेपर सारी प्रजा भी शोक-संतापसे पीड़ित हो जायगी, इसमें संशय नहीं है॥ १९॥

तदहं भाग्यरहितो लुप्तधर्मार्थसंग्रहः।
रोषदोषपरीतात्मा व्यक्तं लोकविनाशनः॥ २०॥

'अतः सीताकी रक्षा न करनेके कारण मैंने धर्म और अर्थके संग्रहको नष्ट कर दिया, अतएव मैं बड़ा भाग्यहीन हूँ। मेरा हृदय रोषदोषके वशीभूत हो गया है, इसलिये मैं अवश्य ही समस्त लोकका विनाशक हो गया हूँ—मुझे सम्पूर्ण जगत्‌के विनाशके पापका भागी होना पड़ेगा'॥ २०॥

इति चिन्तयतस्तस्य निमित्तान्युपपेदिरे।
पूर्वमप्युपलब्धानि साक्षात् पुनरचिन्तयत्॥ २१॥

इस प्रकार चिन्तामें पड़े हुए हनुमान्‌जीको कई शुभ शकुन दिखायी पड़े, जिनके अच्छे फलोंका वे पहले भी प्रत्यक्ष अनुभव कर चुके थे; अतः वे फिर इस प्रकार सोचने लगे—॥ २१॥

अथ वा चारुसर्वाङ्गी रक्षिता स्वेन तेजसा।
न नशिष्यति कल्याणी नाग्निरग्नौ प्रवर्तते॥ २२॥

'अथवा सम्भव है सर्वाङ्गसुन्दरी सीता अपने ही तेजसे सुरक्षित हों। कल्याणी जनकनन्दिनीका नाश कदापि नहीं होगा; क्योंकि आग आगको नहीं जलाती है॥ २२॥

नहि धर्मात्मनस्तस्य भार्याममिततेजसः।
स्वचरित्राभिगुप्तां तां स्प्रष्टुमर्हति पावकः॥ २३॥

'सीता अमित तेजस्वी धर्मात्मा भगवान् श्रीरामकी पत्नी हैं। वे अपने चरित्रके बलसे—पातिव्रत्यके प्रभावसे सुरक्षित हैं। आग उन्हें छू भी नहीं सकती॥ २३॥

नूनं रामप्रभावेण वैदेह्याः सुकृतेन च।
यन्मां दहनकर्मायं नादहद्धव्यवाहनः॥ २४॥

'अवश्य श्रीरामके प्रभाव तथा विदेहनन्दिनी सीताके पुण्यबलसे ही यह दाहक अग्नि मुझे नहीं जला सकी है॥ २४॥

त्रयाणां भरतादीनां भ्रातॄणां देवता च या।
रामस्य च मनःकान्ता सा कथं विनशिष्यति॥ २५॥

'फिर जो भरत आदि तीनों भाइयोंकी आराध्य देवी और श्रीरामचन्द्रजीकी हृदयवल्लभा हैं, वे आगसे कैसे नष्ट हो सकेंगी॥ २५॥

यद् वा दहनकर्मायं सर्वत्र प्रभुरव्ययः।
न मे दहति लाङ्गूलं कथमार्यां प्रधक्ष्यति॥ २६॥

'यह दाहक एवं अविनाशी अग्नि सर्वत्र अपना प्रभाव रखती है, सबको जला सकती है, तो भी यह जिनके प्रभावसे मेरी पूँछको नहीं जला पाती है, उन्हीं साक्षात् माता जानकीको कैसे जला सकेगी?'॥ २६॥

पुनश्चाचिन्तयत् तत्र हनूमान् विस्मितस्तदा।
हिरण्यनाभस्य गिरेर्जलमध्ये प्रदर्शनम्॥ २७॥

उस समय हनुमान्‌जीने वहाँ विस्मित होकर पुनः उस घटनाको स्मरण किया, जब कि समुद्रके जलमें उन्हें मैनाक पर्वतका दर्शन हुआ था॥ २७॥

तपसा सत्यवाक्येन अनन्यत्वाच्च भर्तरि।
असौ विनिर्दहेदग्निं न तामग्निः प्रधक्ष्यति॥ २८॥

वे सोचने लगे—'तपस्या, सत्यभाषण तथा पतिमें अनन्य भक्तिके कारण आर्या सीता ही अग्निको जला सकती हैं, आग उन्हें नहीं जला सकती'॥ २८॥

स तथा चिन्तयंस्तत्र देव्या धर्मपरिग्रहम्।
शुश्राव हनुमांस्तत्र चारणानां महात्मनाम्॥ २९॥

इस प्रकार भगवती सीताकी धर्मपरायणताका विचार करते हुए हनुमान्‌जीने वहाँ महात्मा चारणोंके मुखसे निकली हुई ये बातें सुनीं—॥ २९॥

अहो खलु कृतं कर्म दुर्विगाहं हनूमता।
अग्निं विसृजता तीक्ष्णं भीमं राक्षससद्मनि॥ ३०॥

'अहो! हनुमान्‌जीने राक्षसोंके घरोंमें दुःसह एवं भयंकर आग लगाकर बड़ा ही अद्भुत और दुष्कर कार्य किया है॥ ३०॥

प्रपलायितरक्षःस्त्रीबालवृद्धसमाकुला।
जनकोलाहलाध्माता क्रन्दन्तीवाद्रिकन्दरैः॥ ३१॥

दग्धेयं नगरी लङ्का साट्टप्राकारतोरणा।
जानकी न च दग्धेति विस्मयोऽद्भुत एव नः॥ ३२॥

'घरोंमेंसे भागे हुए राक्षसों, स्त्रियों, बालकों और बूढ़ोंसे भरी हुई सारी लङ्का जन-कोलाहलसे परिपूर्ण हो चीत्कार करती हुई-सी जान पड़ती है। पर्वतकी कन्दराओं, अटारियों, परकोटों और नगरके फाटकोंसहित यह सारी लङ्का नगरी दग्ध हो गयी; परंतु सीतापर आँच नहीं आयी। यह हमारे लिये बड़ी अद्भुत और आश्चर्यकी बात है'॥ ३१-३२॥

इति शुश्राव हनुमान् वाचंताममृतोपमाम्।
बभूव चास्य मनसो हर्षस्तत्कालसम्भवः॥ ३३॥

हनुमान्‌जीने जब चारणोंके कहे हुए ये अमृतके समान मधुर वचन सुने, तब उनके हृदयमें तत्काल हर्षोल्लास छा गया॥ ३३॥

स निमित्तैश्च दृष्टार्थैः कारणैश्च महागुणैः।
ऋषिवाक्यैश्च हनुमानभवत् प्रीतमानसः॥ ३४॥

अनेक बारके प्रत्यक्ष अनुभव किये हुए शुभ शकुनों, महान् गुणदायक कारणों तथा चारणोंके कहे हुए पूर्वोक्त वचनोंद्वारा सीताजीके जीवित होनेका निश्चय करके हनुमान्‌जीके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई॥ ३४॥

ततः कपिः प्राप्तमनोरथार्थ-
स्तामक्षतां राजसुतां विदित्वा।
प्रत्यक्षतस्तां पुनरेव दृष्ट्वा
प्रतिप्रयाणाय मतिं चकार॥ ३५॥

राजकुमारी सीताको कोई क्षति नहीं पहुँची है, यह जानकर कपिवर हनुमान्‌जीने अपना सम्पूर्ण मनोरथ सफल समझा और पुनः उनका प्रत्यक्ष दर्शन करके लौट जानेका विचार किया॥ ३५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे पञ्चपञ्चाशः सर्गः॥ ५५॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें पचपनवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ५५॥

—★—

षट्पञ्चाशः सर्गः

हनुमान्‌जीका पुनः सीताजीसे मिलकर लौटना और समुद्रको लाँघना

ततस्तु शिंशपामूले जानकीं पर्यवस्थिताम्।
अभिवाद्याब्रवीद् दिष्ट्या पश्यामि त्वामिहाक्षताम्॥ १॥

तदनन्तर हनुमान्‌जी अशोकवृक्षके नीचे बैठी हुई जानकीजीके पास गये और उन्हें प्रणाम करके बोले— 'आर्ये! सौभाग्यकी बात है कि इस समय मैं आपको सकुशल देख रहा हूँ'॥ १॥

ततस्तं प्रस्थितं सीता वीक्षमाणा पुनः पुनः।
भर्तुः स्नेहान्विता वाक्यं हनूमन्तमभाषत॥ २॥

सीता अपने पतिके स्नेहमें डूबी हुई थीं। वे हनुमान्‌जीको प्रस्थान करनेके लिये उद्यत जान उन्हें बारम्बार देखती हुई बोलीं—॥ २॥

यदि त्वं मन्यसे तात वसैकाहमिहानघ।
क्वचित् सुसंवृते देशे विश्रान्तः श्वो गमिष्यसि॥ ३॥

'तात! निष्पाप वानरवीर! यदि तुम उचित समझो तो एक दिन और यहाँ किसी गुप्त स्थानमें ठहर जाओ, आज विश्राम करके कल चले जाना॥ ३॥

मम चैवाल्पभाग्यायाः सांनिध्यात् तव वानर।
शोकस्यास्याप्रमेयस्य मुहूर्तं स्यादपि क्षयः॥ ४॥

'वानरप्रवर! तुम्हारे निकट रहनेसे मुझ मन्दभागिनीका अपार शोक भी थोड़ी देरके लिये कम हो जायगा॥ ४॥

गते हि हरिशार्दूल पुनः सम्प्राप्तये त्वयि।
प्राणेष्वपि न विश्वासो मम वानरपुङ्गव॥ ५॥

'कपिश्रेष्ठ! वानरशिरोमणे! जब तुम चले जाओगे, तब फिर तुम्हारे आनेतक मेरे प्राण रहेंगे या नहीं, इसका कोई विश्वास नहीं है॥ ५॥

अदर्शनं च ते वीर भूयो मां दारयिष्यति।
दुःखाद् दुःखतरं प्राप्तां दुर्मनःशोककर्शिताम्॥ ६॥

'वीर! मुझपर दुःख-पर-दुःख पड़ते गये हैं। मैं मानसिक शोकसे दिन-दिन दुर्बल होती जा रही हूँ। अब तुम्हारा दर्शन न होना मेरे हृदयको और भी विदीर्ण करता रहेगा॥ ६॥

अयं च वीर संदेहस्तिष्ठतीव ममाग्रतः।
सुमहत्सु सहायेषु हर्यृक्षेषु महाबलः॥ ७॥
कथं नु खलु दुष्पारं संतरिष्यति सागरम्।
तानि हर्यृक्षसैन्यानि तौ वा नरवरात्मजौ॥ ८॥

'वीर! मेरे सामने यह संदेह अभीतक बना ही हुआ है कि बड़े-बड़े वानरों और रीछोंके सहायक होनेपर भी महाबली सुग्रीव इस दुर्लङ्घ्य समुद्रको कैसे पार करेंगे? उनकी सेनाके वे वानर और भालू तथा वे दोनों राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण भी इस महासागरको कैसे लाँघ सकेंगे?॥ ७-८॥

त्रयाणामेव भूतानां सागरस्यापि लङ्घने।
शक्तिः स्याद् वैनतेयस्य तव वा मारुतस्य वा॥ ९॥

'तीन ही प्राणियोंमें इस समुद्रको लाँघनेकी शक्ति है—तुममें, गरुड़में अथवा वायुदेवतामें॥ ९॥

तदत्र कार्यनिर्बन्धे समुत्पन्ने दुरासदे।
किं पश्यसि समाधानं त्वं हि कार्यविशारदः॥ १०॥

'इस कार्यसम्बन्धी दुष्कर प्रतिबन्धके उपस्थित होनेपर तुम्हें क्या समाधान दिखायी देता है? बताओ, क्योंकि तुम कार्यकुशल हो॥ १०॥

काममस्य त्वमेवैकः कार्यस्य परिसाधने।
पर्याप्तः परवीरघ्न यशस्यस्ते फलोदयः॥ ११॥

'शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले कपिश्रेष्ठ! इसमें संदेह नहीं कि इस कार्यको सिद्ध करनेमें तुम अकेले ही पूर्ण समर्थ हो; परंतु तुम्हारे द्वारा जो विजयरूप फलकी प्राप्ति होगी, उससे तुम्हारा ही यश बढ़ेगा, भगवान् श्रीरामका नहीं॥ ११॥

बलैस्तु संकुलां कृत्वा लङ्कां परबलार्दनः।
मां नयेद् यदि काकुत्स्थस्तत् तस्य सदृशं भवेत्॥ १२॥

'परंतु शत्रुसेनाको पीड़ा देनेवाले श्रीरामचन्द्रजी यदि लङ्काको अपनी सेनासे पददलित करके मुझे यहाँसे ले चलें तो वह उनके योग्य पराक्रम होगा॥ १२॥

तद् यथा तस्य विक्रान्तमनुरूपं महात्मनः।
भवत्याहवशूरस्य तथा त्वमुपपादय॥ १३॥

'अतः तुम ऐसा उपाय करो, जिससे युद्धवीर महात्मा श्रीरामचन्द्रजीका उनके योग्य पराक्रम प्रकट हो'॥ १३॥

तदर्थोपहितं वाक्यं प्रश्रितं हेतुसंहितम्।
निशम्य हनुमान् वीरो वाक्यमुत्तरमब्रवीत्॥ १४॥

सीताजीकी यह बात स्नेहयुक्त तथा विशेष अभिप्रायसे भरी हुई थी। इसे सुनकर वीर हनुमान्‌ने इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १४॥

देवि हर्यृक्षसैन्यानामीश्वरः प्लवतां वरः।
सुग्रीवः सत्त्वसम्पन्नस्तवार्थे कृतनिश्चयः॥ १५॥

'देवि! वानर और भालुओंकी सेनाओंके स्वामी कपिश्रेष्ठ सुग्रीव बड़े शक्तिशाली पुरुष हैं। वे तुम्हारे उद्धारके लिये प्रतिज्ञा कर चुके हैं॥ १५॥

स वानरसहस्राणां कोटीभिरभिसंवृतः।
क्षिप्रमेष्यति वैदेहि सुग्रीवः प्लवगाधिपः॥ १६॥

'विदेहनन्दिनि! अतः वे वानरराज सुग्रीव सहस्रों कोटि वानरोंसे घिरे हुए तुरंत यहाँ आयेंगे॥ १६॥

तौ च वीरौ नरवरौ सहितौ रामलक्ष्मणौ।
आगम्य नगरीं लङ्कां सायकैर्विधमिष्यतः॥ १७॥

'साथ ही वे दोनों वीर नरश्रेष्ठ श्रीराम और लक्ष्मण भी एक साथ आकर अपने सायकोंसे इस लङ्कापुरीका विध्वंस कर डालेंगे॥ १७॥

सगणं राक्षसं हत्वा नचिराद् रघुनन्दनः।
त्वामादाय वरारोहे स्वां पुरीं प्रति यास्यति॥ १८॥

'वरारोहे! राक्षसराज रावणको उसके सैनिकोंसहित कालके गालमें डालकर श्रीरघुनाथजी आपको साथ ले शीघ्र ही अपनी पुरीको पधारेंगे॥ १८॥

समाश्वसिहि भद्रं ते भव त्वं कालकाङ्क्षिणी।
क्षिप्रं द्रक्ष्यसि रामेण निहतं रावणं रणे॥ १९॥

'इसलिये आप धैर्य धारण करें। आपका भला हो। आप समयकी प्रतीक्षा करें। रावण शीघ्र ही रणभूमिमें श्रीरामके हाथसे मारा जायगा, यह आप अपनी आँखों देखेंगी॥ १९॥

निहते राक्षसेन्द्रे च सपुत्रामात्यबान्धवे।
त्वं समेष्यसि रामेण शशाङ्केनेव रोहिणी॥ २०॥

'पुत्र, मन्त्री और भाई-बन्धुओंसहित राक्षसराज रावणके मारे जानेपर आप श्रीरामचन्द्रजीके साथ उसी प्रकार मिलेंगी, जैसे रोहिणी चन्द्रमासे मिलती है॥ २०॥

क्षिप्रमेष्यति काकुत्स्थो हर्यृक्षप्रवरैर्युतः।
यस्ते युधि विजित्यारीञ्छोकं व्यपनयिष्यति॥ २१॥

'वानरों और भालुओंके प्रमुख वीरोंके साथ श्रीरामचन्द्रजी शीघ्र ही यहाँ पधारेंगे और युद्धमें शत्रुओंको जीतकर आपका सारा शोक दूर कर देंगे'॥ २१॥

एवमाश्वास्य वैदेहीं हनूमान् मारुतात्मजः।
गमनाय मतिं कृत्वा वैदेहीमभ्यवादयत्॥ २२॥

विदेहनन्दिनी सीताको इस प्रकार आश्वासन दे वहाँसे जानेका विचार करके पवनकुमार हनुमान्‌ने उन्हें प्रणाम किया॥ २२॥

राक्षसान् प्रवरान् हत्वा नाम विश्राव्य चात्मनः।
समाश्वास्य च वैदेहीं दर्शयित्वा परं बलम्॥ २३॥
नगरीमाकुलां कृत्वा वञ्चयित्वा च रावणम्।
दर्शयित्वा बलं घोरं वैदेहीमभिवाद्य च॥ २४॥
प्रतिगन्तुं मनश्चक्रे पुनर्मध्येन सागरम्।

वे बड़े-बड़े राक्षसोंको मारकर अपने महान् बलका परिचय दे वहाँ ख्याति प्राप्त कर चुके थे। उन्होंने सीताको आश्वासन दे, लङ्कापुरीको व्याकुल करके, रावणको चकमा देकर, उसे अपना भयानक बल दिखा, वैदेहीको प्रणाम करके पुनः समुद्रके बीचसे होकर लौट जानेका विचार किया॥ २३-२४½॥

ततः स कपिशार्दूलः स्वामिसंदर्शनोत्सुकः॥ २५॥
आरुरोह गिरिश्रेष्ठमरिष्टमरिमर्दनः।

(अब यहाँ उनके लिये कोई कार्य बाकी नहीं रह गया था; अतः) अपने स्वामी श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनके लिये उत्सुक हो वे शत्रुमर्दन कपिश्रेष्ठ हनुमान् पर्वतोंमें उत्तम अरिष्ट गिरिपर चढ़ गये॥ २५½॥

तुङ्गपद्मकजुष्टाभिर्नीलाभिर्वनराजिभिः॥ २६॥
सोत्तरीयमिवाम्भोदैः शृङ्गान्तरविलम्बिभिः।

ऊँचे-ऊँचे पद्मकों—पद्मके समान वर्णवाले वृक्षोंसे सेवित नीली वनश्रेणियाँ मानो उस पर्वतका परिधान वस्त्र थीं। शिखरोंपर लटके हुए श्याम मेघ उसके लिये उत्तरीय वस्त्र-(चादर-)से प्रतीत होते थे ॥ २६ १/२ ॥

बोध्यमानमिव प्रीत्या दिवाकरकरैः शुभैः ॥ २७ ॥
उन्मिषन्तमिवोद्धूतैर्लोचनैरिव धातुभिः ।
तोयौघनिःस्वनैर्मन्द्रैः प्राधीतमिव पर्वतम् ॥ २८ ॥

सूर्यकी कल्याणमयी किरणें प्रेमपूर्वक उसे जगाती-सी जान पड़ती थीं। नाना प्रकारके धातु मानो उसके खुले हुए नेत्र थे, जिनसे वह सब कुछ देखता हुआ-सा स्थित था। पर्वतीय नदियोंकी जलराशिके गम्भीर घोषसे ऐसा लगता था, मानो वह पर्वत सस्वर वेदपाठ कर रहा हो ॥ २७-२८ ॥

प्रगीतमिव विस्पष्टं नानाप्रस्रवणस्वनैः ।
देवदारुभिरुद्धूतैरूर्ध्वबाहुमिव स्थितम् ॥ २९ ॥

अनेकानेक झरनोंके कलकल नादसे वह अरिष्टगिरि स्पष्टतया गीत-सा गा रहा था। ऊँचे-ऊँचे देवदारु वृक्षोंके कारण मानो हाथ ऊपर उठाये खड़ा था ॥ २९ ॥

प्रपातजलनिर्घोषैः प्राक्रुष्टमिव सर्वतः ।
वेपमानमिव श्यामैः कम्पमानैः शरद्घनैः ॥ ३० ॥

सब ओर जल-प्रपातोंकी गम्भीर ध्वनिसे व्याप्त होनेके कारण चिल्लाता या हल्ला मचाता-सा जान पड़ता था। झूमते हुए सरकंडोंके श्याम वनोंसे वह काँपता-सा प्रतीत होता था ॥ ३० ॥

वेणुभिर्मारुतोद्धूतैः कूजन्तमिव कीचकैः ।
निःश्वसन्तमिवामर्षाद् घोरैराशीविषोत्तमैः ॥ ३१ ॥

वायुके झोंके खाकर हिलते और मधुरध्वनि करते बाँसोंसे उपलक्षित होनेवाला वह पर्वत मानो बाँसुरी बजा रहा था। भयानक विषधर सर्पोंके फुंकारसे लंबी साँस खींचता-सा जान पड़ता था ॥ ३१ ॥

नीहारकृतगम्भीरैर्ध्यायन्तमिव गह्वरैः ।
मेघपादनिभैः पादैः प्रक्रान्तमिव सर्वतः ॥ ३२ ॥

कुहरेके कारण गहरी प्रतीत होनेवाली निश्चल गुफाओंद्वारा वह ध्यान-सा कर रहा था। उठते हुए मेघोंके समान शोभा पानेवाले पार्श्ववर्ती पर्वतोंद्वारा सब ओर विचरता-सा प्रतीत होता था ॥ ३२ ॥

जृम्भमाणमिवाकाशे शिखरैरभ्रमालिभिः ।
कूटैश्च बहुधा कीर्णं शोभितं बहुकन्दरैः ॥ ३३ ॥

मेघमालाओंसे अलंकृत शिखरोंद्वारा वह आकाशमें अँगड़ाई-सी ले रहा था। अनेकानेक शृङ्गोंसे व्याप्त तथा बहुत-सी कन्दराओंसे सुशोभित था ॥ ३३ ॥

सालतालैश्च कर्णैश्च वंशैश्च बहुभिर्वृतम् ।
लतावितानैर्विततैः पुष्पवद्भिरलंकृतम् ॥ ३४ ॥

साल, ताल, कर्ण और बहुसंख्यक बाँसके वृक्ष उसे सब ओरसे घेरे हुए थे। फूलोंके भारसे लदे और फैले हुए लता-वितान उस पर्वतके अलंकार थे ॥ ३४ ॥

नानामृगगणैः कीर्णं धातुनिष्यन्दभूषितम् ।
बहुप्रस्रवणोपेतं शिलासंचयसंकटम् ॥ ३५ ॥

नाना प्रकारके पशु वहाँ सब ओर भरे हुए थे। विविध धातुओंके पिघलनेसे उसकी बड़ी शोभा हो रही थी। वह पर्वत बहुसंख्यक झरनोंसे विभूषित तथा राशि-राशि शिलाओंसे भरा हुआ था ॥ ३५ ॥

महर्षियक्षगन्धर्वकिंनरोरगसेवितम् ।
लतापादपसम्बाधं सिंहाधिष्ठितकन्दरम् ॥ ३६ ॥

महर्षि, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर और नागगण वहाँ निवास करते थे। लताओं और वृक्षोंद्वारा वह सब ओरसे आच्छादित था। उसकी कन्दराओंमें सिंह दहाड़ रहे थे ॥ ३६ ॥

व्याघ्रादिभिः समाकीर्णं स्वादुमूलफलद्रुमम् ।
आरुरोहानिलसुतः पर्वतं प्लवगोत्तमः ॥ ३७ ॥
रामदर्शनशीघ्रेण प्रहर्षेणाभिचोदितः ।

व्याघ्र आदि हिंसक जन्तु भी वहाँ सब ओर फैले हुए थे। स्वादिष्ट फलोंसे लदे हुए वृक्ष और मधुर कन्द-मूल आदिकी वहाँ बहुतायत थी। ऐसे रमणीय पर्वतपर वानरशिरोमणि पवनकुमार हनुमान्‌जी श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनकी शीघ्रता और अत्यन्त हर्षसे प्रेरित होकर चढ़ गये ॥ ३७ १/२ ॥

तेन पादतलक्रान्ता रम्येषु गिरिसानुषु ॥ ३८ ॥
सघोषाः समशीर्यन्त शिलाश्चूर्णीकृतास्ततः ।

उस पर्वतके रमणीय शिखरोंपर जो शिलाएँ थीं, वे उनके पैरोंके आघातसे भारी आवाजके साथ चूर-चूर होकर बिखर जाती थीं ॥ ३८ १/२ ॥

स तमारुह्य शैलेन्द्रं व्यवर्धत महाकपिः ॥ ३९ ॥
दक्षिणादुत्तरं पारं प्रार्थयँल्लवणाम्भसः ।

उस शैलराज अरिष्टपर आरूढ़ हो महाकपि हनुमान्‌जीने समुद्रके दक्षिण तटसे उत्तर तटपर जानेकी इच्छासे अपने शरीरको बहुत बड़ा बना लिया ॥ ३९ १/२ ॥

अधिरुह्य ततो वीरः पर्वतं पवनात्मजः ॥ ४० ॥
ददर्श सागरं भीमं भीमोरगनिषेवितम् ।

उस पर्वतपर आरूढ़ होनेके पश्चात् वीरवर पवनकुमारने भयानक सर्पोंसे सेवित उस भीषण महासागरकी ओर दृष्टिपात किया ॥ ४० १/२ ॥

स मारुत इवाकाशं मारुतस्यात्मसम्भवः ॥ ४१ ॥
प्रपेदे हरिशार्दूलो दक्षिणादुत्तरां दिशम् ।

वायुदेवताके औरस पुत्र कपिश्रेष्ठ हनुमान् जैसे वायु आकाशमें तीव्रगतिसे प्रवाहित होती है, उसी प्रकार दक्षिणसे उत्तर दिशाकी ओर बड़े वेगसे (उछलकर) चले ॥ ४१ १/२ ॥

स तदा पीडितस्तेन कपिना पर्वतोत्तमः ॥ ४२ ॥
ररास विविधैर्भूतैः प्राविशद् वसुधातलम् ।
कम्पमानैश्च शिखरैः पतद्भिरपि च द्रुमैः ॥ ४३ ॥

हनुमान्‌जीके पैरोंका दबाव पड़नेके कारण उस श्रेष्ठ पर्वतसे बड़ी भयंकर आवाज हुई और वह अपने काँपते हुए शिखरों, टूटकर गिरते हुए वृक्षों तथा भाँति-भाँतिके प्राणियोंसहित तत्काल धरतीमें धँस गया ॥ ४२-४३ ॥

तस्योरुवेगोन्मथिताः पादपाः पुष्पशालिनः ।
निपेतुर्भूतले भग्नाः शक्रायुधहता इव ॥ ४४ ॥

उनके महान् वेगसे कम्पित हो फूलोंसे लदे हुए बहुसंख्यक वृक्ष इस प्रकार पृथ्वीपर गिर पड़े, मानो उन्हें वज्र मार गया हो ॥ ४४ ॥

कन्दरोदरसंस्थानां पीडितानां महौजसाम् ।
सिंहानां निनदो भीमो नभो भिन्दन् हि शुश्रुवे ॥ ४५ ॥

उस समय उस पर्वतकी कन्दराओंमें रहकर दबे हुए महाबली सिंहोंका भयंकर नाद आकाशको फाड़ता हुआ-सा सुनायी दे रहा था ॥ ४५ ॥

त्रस्तव्याविद्धवसना व्याकुलीकृतभूषणाः ।
विद्याधर्यः समुत्पेतुः सहसा धरणीधरात् ॥ ४६ ॥

भयके कारण जिनके वस्त्र ढीले पड़ गये थे और आभूषण उलट-पलट गये थे, वे विद्याधरियाँ सहसा उस पर्वतसे ऊपरकी ओर उड़ चलीं ॥ ४६ ॥

अतिप्रमाणा बलिनो दीप्तजिह्वा महाविषाः ।
निपीडितशिरोग्रीवा व्यवेष्टन्त महाहयः ॥ ४७ ॥

बड़े-बड़े आकार और चमकीली जीभवाले महाविषैले बलवान् सर्प अपने फन तथा गलेको दबाकर कुण्डलाकार हो गये ॥ ४७ ॥

किंनरोरगगन्धर्वयक्षविद्याधरास्तथा ।
पीडितं तं नगवरं त्यक्त्वा गगनमास्थिताः ॥ ४८ ॥

किन्नर, नाग, गन्धर्व, यक्ष और विद्याधर उस धँसते हुए पर्वतको छोड़कर आकाशमें स्थित हो गये ॥ ४८ ॥

स च भूमिधरः श्रीमान् बलिना तेन पीडितः ।
सवृक्षशिखरोदग्रः प्रविवेश रसातलम् ॥ ४९ ॥

बलवान् हनुमान्‌जीके वेगसे दबकर वह शोभाशाली महीधर वृक्षों और ऊँचे शिखरोंसहित रसातलमें चला गया ॥ ४९ ॥

दशयोजनविस्तारस्त्रिंशद्योजनमुच्छ्रितः ।
धरण्यां समतां यातः स बभूव धराधरः ॥ ५० ॥

अरिष्ट पर्वत तीस योजन ऊँचा और दस योजन चौड़ा था। फिर भी उनके पैरोंसे दबकर भूमिके बराबर हो गया ॥ ५० ॥

स लिलङ्घयिषुर्भीमं सलीलं लवणार्णवम् ।
कल्लोलास्फालवेलान्तमुत्पपात नभो हरिः ॥ ५१ ॥

जिसकी ऊँची-ऊँची तरङ्गें उठकर अपने किनारोंका चुम्बन करती थीं, उस खारे पानीके भयानक समुद्रको लीलापूर्वक लाँघ जानेकी इच्छासे हनुमान्‌जी आकाशमें उड़ चले ॥ ५१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे षट्पञ्चाशः सर्गः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें छप्पनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

★

सप्तपञ्चाशः सर्गः

हनुमान्‌जीका समुद्रको लाँघकर जाम्बवान् और अङ्गद आदि सुहृदोंसे मिलना

आप्लुत्य च महावेगः पक्षवानिव पर्वतः ।
भुजङ्गयक्षगन्धर्वप्रबुद्धकमलोत्पलम् ॥ १ ॥
स चन्द्रकुमुदं रम्यं सार्ककारण्डवं शुभम् ।
तिष्यश्रवणकादम्बमभ्रशैवलशाद्वलम् ॥ २ ॥
पुनर्वसुमहामीनं लोहिताङ्गमहाग्रहम् ।
ऐरावतमहाद्वीपं स्वातीहंसविलासितम् ॥ ३ ॥
वातसंघातजालोर्मिचन्द्रांशुशिशिराम्बुमत् ।
हनूमानपरिश्रान्तः पुप्लुवे गगनार्णवम् ॥ ४ ॥

पङ्खधारी पर्वतके समान महान् वेगशाली हनुमान्‌जी बिना थके-माँदे उस सुन्दर एवं रमणीय आकाशरूपी समुद्रको पार करने लगे, जिसमें नाग, यक्ष और गन्धर्व खिले हुए कमल और उत्पलके समान थे। चन्द्रमा कुमुद और सूर्य जलकुक्कुटके समान थे। पुष्य और श्रवण नक्षत्र कलहंस तथा बादल सेवार और घासके तुल्य थे। पुनर्वसु विशाल मत्स्य और मंगल बड़े भारी ग्राहके सदृश थे। ऐरावत हाथी वहाँ महान् द्वीप-सा प्रतीत होता था। वह आकाशरूपी समुद्र स्वातीरूपी हंसके विलाससे सुशोभित था तथा वायुसमूहरूप तरङ्गों और चन्द्रमाकी किरणरूप शीतल जलसे भरा हुआ था ॥ १—४ ॥

ग्रसमान इवाकाशं ताराधिपमिवोल्लिखन् ।
हरन्निव सनक्षत्रं गगनं सार्कमण्डलम् ॥ ५ ॥
अपारमपरिश्रान्तश्चाम्बुधिं समगाहत ।
हनूमान् मेघजालानि विकर्षन्निव गच्छति ॥ ६ ॥

हनुमान्‌जी आकाशको अपना ग्रास बनाते हुए, चन्द्रमण्डलको नखोंसे खरोंचते हुए, नक्षत्रों तथा सूर्यमण्डलसहित अन्तरिक्षको समेटते हुए और बादलोंके समूहको खींचते हुए-से अनायास ही अपार महासागरके पार चले जा रहे थे ॥ ५-६ ॥

पाण्डुरारुणवर्णानि नीलमाञ्जिष्ठकानि च।
हरितारुणवर्णानि महाभ्राणि चकाशिरे॥ ७॥

उस समय आसमानमें सफेद, लाल, नीले, मंजीठके रंगके, हरे और अरुण वर्णके बड़े-बड़े मेघ शोभा पा रहे थे॥ ७॥

प्रविशन्नभ्रजालानि निष्क्रमंश्च पुनः पुनः।
प्रकाशश्चाप्रकाशश्च चन्द्रमा इव दृश्यते॥ ८॥

वे कभी उन मेघ-समूहोंमें प्रवेश करते और कभी बाहर निकलते थे। बारम्बार ऐसा करते हुए हनुमान्‌जी छिपते और प्रकाशित होते हुए चन्द्रमाके समान दृष्टिगोचर हो रहे थे॥ ८॥

विविधाभ्रघनापन्नगोचरो धवलाम्बरः।
दृश्यादृश्यतनुर्वीरस्तथा चन्द्रायतेऽम्बरे॥ ९॥

नाना प्रकारके मेघोंकी घटाओंके भीतर होकर जाते हुए धवलाम्बरधारी वीरवर हनुमान्‌जीका शरीर कभी दीखता था और कभी अदृश्य हो जाता था; अतः वे आकाशमें बादलोंकी आड़में छिपते और प्रकाशित होते चन्द्रमाके समान जान पड़ते थे॥ ९॥

तार्क्ष्यायमाणो गगने स बभौ वायुनन्दनः।
दारयन् मेघवृन्दानि निष्पतंश्च पुनः पुनः॥ १०॥

बारम्बार मेघ-समूहोंको विदीर्ण करने और उनमें होकर निकलनेके कारण वे पवनकुमार हनुमान् आकाशमें गरुड़के समान प्रतीत होते थे॥ १०॥

नदन् नादेन महता मेघस्वनमहास्वनः।
प्रवरान् राक्षसान् हत्वा नाम विश्राव्य चात्मनः॥ ११॥
आकुलां नगरीं कृत्वा व्यथयित्वा च रावणम्।
अर्दयित्वा महावीरान् वैदेहीमभिवाद्य च॥ १२॥
आजगाम महातेजाः पुनर्मध्येन सागरम्।

इस प्रकार महातेजस्वी हनुमान् अपने महान् सिंहनादसे मेघोंकी गम्भीर गर्जनाको भी मात करते हुए आगे बढ़ रहे थे। वे प्रमुख राक्षसोंको मारकर अपना नाम प्रसिद्ध कर चुके थे। बड़े-बड़े वीरोंको रौंदकर उन्होंने लङ्कानगरीको व्याकुल तथा रावणको व्यथित कर दिया था। तत्पश्चात् विदेहनन्दिनी सीताको नमस्कार करके वे चले और तीव्र गतिसे पुनः समुद्रके मध्यभागमें आ पहुँचे॥ ११-१२½॥

पर्वतेन्द्रं सुनाभं च समुपस्पृश्य वीर्यवान्॥ १३॥
ज्यामुक्त इव नाराचो महावेगोऽभ्युपागमत्।

वहाँ पर्वतराज सुनाभ (मैनाक) का स्पर्श करके वे पराक्रमी एवं महान् वेगशाली वानरवीर धनुषसे छूटे हुए बाणकी भाँति आगे बढ़ गये॥ १३½॥

स किंचिदारात् सम्प्राप्तः समालोक्य महागिरिम्॥ १४॥
महेन्द्रं मेघसंकाशं ननाद स महाकपिः।

उत्तर तटके कुछ निकट पहुँचनेपर महागिरि महेन्द्रपर दृष्टि पड़ते ही उन महाकपिने मेघके समान बड़े जोरसे गर्जना की॥ १४½॥

स पूरयामास कपिर्दिशो दश समन्ततः॥ १५॥
नदन् नादेन महता मेघस्वनमहास्वनः।

उस समय मेघकी भाँति गम्भीर स्वरसे बड़ी भारी गर्जना करके उन वानरवीरने सब ओरसे दसों दिशाओंको कोलाहलपूर्ण कर दिया॥ १५½॥

स तं देशमनुप्राप्तः सुहृद्दर्शनलालसः॥ १६॥
ननाद सुमहानादं लाङ्गूलं चाप्यकम्पयत्।

फिर वे अपने मित्रोंको देखनेके लिये उत्सुक होकर उनके विश्रामस्थानकी ओर बढ़े और पूँछ हिलाने एवं जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे॥ १६½॥

तस्य नानद्यमानस्य सुपर्णाचरिते पथि॥ १७॥
फलतीवास्य घोषेण गगनं सार्कमण्डलम्।

जहाँ गरुड़ चलते हैं, उसी मार्गपर बारम्बार सिंहनाद करते हुए हनुमान्‌जीके गम्भीर घोषसे सूर्यमण्डलसहित आकाश मानो फटा जा रहा था॥ १७½॥

ये तु तत्रोत्तरे कूले समुद्रस्य महाबलाः॥ १८॥
पूर्वं संविष्ठिताः शूरा वायुपुत्रदिदृक्षवः।
महतो वायुनुन्नस्य तोयदस्येव निःस्वनम्।
शुश्रुवुस्ते तदा घोषमूरुवेगं हनूमतः॥ १९॥

उस समय वायुपुत्र हनुमान्‌के दर्शनकी इच्छासे जो शूरवीर महाबली वानर समुद्रके उत्तर तटपर पहलेसे ही बैठे थे, उन्होंने वायुसे टकराये हुए महान् मेघकी गर्जनाके समान हनुमान्‌जीका जोर-जोरसे सिंहनाद सुना॥ १८-१९॥

ते दीनमनसः सर्वे शुश्रुवुः काननौकसः।
वानरेन्द्रस्य निर्घोषं पर्जन्यनिनदोपमम्॥ २०॥

अनिष्टकी आशङ्कासे जिनके मनमें दीनता छा गयी थी, उन समस्त वनवासी वानरोंने उन वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌का मेघ-गर्जनाके समान सिंहनाद सुना॥ २०॥

निशम्य नदतो नादं वानरास्ते समन्ततः।
बभूवुरुत्सुकाः सर्वे सुहृद्दर्शनकाङ्क्षिणः॥ २१॥

गर्जते हुए पवनकुमारका वह सिंहनाद सुनकर सब ओर बैठे हुए वे समस्त वानर अपने सुहृद् हनुमान्‌जीको देखनेकी अभिलाषासे उत्कण्ठित हो गये॥ २१॥

जाम्बवान् स हरिश्रेष्ठः प्रीतिसंहृष्टमानसः।
उपामन्त्र्य हरीन् सर्वानिदं वचनमब्रवीत्॥ २२॥

वानर-भालुओंमें श्रेष्ठ जाम्बवान्‌के मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई। वे हर्षसे खिल उठे और सब वानरोंको निकट बुलाकर इस प्रकार बोले—॥ २२॥

सर्वथा कृतकार्योऽसौ हनुमान् नात्र संशयः।
न ह्यस्याकृतकार्यस्य नाद एवंविधो भवेत्॥ २३॥

'इसमें संदेह नहीं कि हनुमान्‌जी सब प्रकारसे अपना

कार्य सिद्ध करके आ रहे हैं। कृतकार्य हुए बिना इनकी ऐसी गर्जना नहीं हो सकती॥ २३॥

तस्य बाहूरुवेगं च निनादं च महात्मनः।
निशम्य हरयो हृष्टाः समुत्पेतुर्यतस्ततः॥ २४॥

महात्मा हनुमान्जीकी भुजाओं और जाँघोंका महान् वेग देख तथा उनका सिंहनाद सुन सभी वानर हर्षमें भरकर इधर-उधर उछलने-कूदने लगे॥ २४॥

ते नगाग्रान्नगाग्राणि शिखराच्छिखराणि च।
प्रहृष्टाः समपद्यन्त हनूमन्तं दिदृक्षवः॥ २५॥

हनुमान्जीको देखनेकी इच्छासे वे प्रसन्नतापूर्वक एक वृक्षसे दूसरे वृक्षोंपर तथा एक शिखरसे दूसरे शिखरोंपर चढ़ने लगे॥ २५॥

ते प्रीताः पादपाग्रेषु गृह्य शाखामवस्थिताः।
वासांसि च प्रकाशानि समाविध्यन्त वानराः॥ २६॥

वृक्षोंकी सबसे ऊँची शाखापर खड़े होकर वे प्रीतियुक्त वानर अपने स्पष्ट दिखायी देनेवाले वस्त्र हिलाने लगे॥ २६॥

गिरिगह्वरसंलीनो यथा गर्जति मारुतः।
एवं जगर्ज बलवान् हनूमान् मारुतात्मजः॥ २७॥

जैसे पर्वतकी गुफाओंमें अवरुद्ध हुई वायु बड़े जोरसे शब्द करती है, उसी प्रकार बलवान् पवनकुमार हनुमान्ने गर्जना की॥ २७॥

तमभ्रघनसंकाशमापतन्तं महाकपिम्।
दृष्ट्वा ते वानराः सर्वे तस्थुः प्राञ्जलयस्तदा॥ २८॥

मेघोंकी घटाके समान पास आते हुए महाकपि हनुमान्को देखकर वे सब वानर उस समय हाथ जोड़कर खड़े हो गये॥ २८॥

ततस्तु वेगवान् वीरो गिरेर्गिरिनिभः कपिः।
निपपात गिरेस्तस्य शिखरे पादपाकुले॥ २९॥

तत्पश्चात् पर्वतके समान विशाल शरीरवाले वेगशाली वीर वानर हनुमान् जो अरिष्ट पर्वतसे उछलकर चले थे, वृक्षोंसे भरे हुए महेन्द्र गिरिके शिखरपर कूद पड़े॥ २९॥

हर्षेणापूर्यमाणोऽसौ रम्ये पर्वतनिर्झरे।
छिन्नपक्ष इवाकाशात् पपात धरणीधरः॥ ३०॥

हर्षसे भरे हुए हनुमान्जी पर्वतके रमणीय झरनेके निकट पंख कटे हुए पर्वतके समान आकाशसे नीचे आ गये॥ ३०॥

ततस्ते प्रीतमनसः सर्वे वानरपुङ्गवाः।
हनूमन्तं महात्मानं परिवार्योपतस्थिरे॥ ३१॥

उस समय वे सभी श्रेष्ठ वानर प्रसन्नचित्त हो महात्मा हनुमान्जीको चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये॥ ३१॥

परिवार्य च ते सर्वे परां प्रीतिमुपागताः।
प्रहृष्टवदनाः सर्वे तमागतमुपागमन्॥ ३२॥

उपायनानि चादाय मूलानि च फलानि च।
प्रत्यर्चयन् हरिश्रेष्ठं हरयो मारुतात्मजम्॥ ३३॥

उन्हें घेरकर खड़े होनेसे उन सबको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे सब वानर प्रसन्नमुख होकर तुरंतके आये हुए पवनकुमार कपिश्रेष्ठ हनुमान्के पास भाँति-भाँतिकी भेंट-सामग्री तथा फल-मूल लेकर आये और उनका स्वागत-सत्कार करने लगे॥ ३२-३३॥

विनेदुर्मुदिताः केचित् केचित् किलकिलां तथा।
हृष्टाः पादपशाखाश्च आनिन्युर्वानरर्षभाः॥ ३४॥

कोई आनन्दमग्न होकर गर्जने लगे, कोई किलकारियाँ भरने लगे और कितने ही श्रेष्ठ वानर हर्षसे भरकर हनुमान्जीके बैठनेके लिये वृक्षोंकी शाखाएँ तोड़ लाये॥ ३४॥

हनूमांस्तु गुरून् वृद्धाञ्जाम्बवत्प्रमुखांस्तदा।
कुमारमङ्गदं चैव सोऽवन्दत महाकपिः॥ ३५॥

महाकपि हनुमान्जीने जाम्बवान् आदि वृद्ध गुरुजनों तथा कुमार अङ्गदको प्रणाम किया॥ ३५॥

स ताभ्यां पूजितः पूज्यः कपिभिश्च प्रसादितः।
दृष्टा देवीति विक्रान्तः संक्षेपेण न्यवेदयत्॥ ३६॥

फिर जाम्बवान् और अङ्गदने भी आदरणीय हनुमान्जीका आदर-सत्कार किया तथा दूसरे-दूसरे वानरोंने भी उनका सम्मान करके उनको संतुष्ट किया। तत्पश्चात् उन पराक्रमी वानरवीरने संक्षेपमें निवेदन किया—'मुझे सीतादेवीका दर्शन हो गया'॥ ३६॥

निषसाद च हस्तेन गृहीत्वा वालिनः सुतम्।
रमणीये वनोद्देशे महेन्द्रस्य गिरेस्तदा॥ ३७॥
हनूमानब्रवीत् पृष्टस्तदा तान् वानरर्षभान्।
अशोकवनिकासंस्था दृष्टा सा जनकात्मजा॥ ३८॥

तदनन्तर वालिकुमार अङ्गदका हाथ अपने हाथमें लेकर हनुमान्जी महेन्द्रगिरिके रमणीय वनप्रान्तमें जा बैठे और सबके पूछनेपर उन वानरशिरोमणियोंसे इस प्रकार बोले—'जनकनन्दिनी सीता लङ्काके अशोकवनमें निवास करती हैं। वहीं मैंने उनका दर्शन किया है'॥ ३७-३८॥

रक्ष्यमाणा सुघोराभी राक्षसीभिरनिन्दिता।
एकवेणीधरा बाला रामदर्शनलालसा॥ ३९॥
उपवासपरिश्रान्ता मलिना जटिला कृशा।

'अत्यन्त भयंकर आकारवाली राक्षसियाँ उनकी रखवाली करती हैं। साध्वी सीता बड़ी भोली-भाली हैं। वे एक वेणी धारण किये वहाँ रहती हैं और श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनके लिये बहुत ही उत्सुक हैं। उपवासके कारण बहुत थक गयी हैं, दुर्बल और मलिन हो रही हैं तथा उनके केश जटाके रूपमें परिणत हो गये हैं'॥ ३९ १/२॥

ततो दृष्टेति वचनं महार्थममृतोपमम् ॥ ४० ॥
निशम्य मारुतेः सर्वे मुदिता वानराभवन्।

उस समय 'सीताका दर्शन हो गया' यह वचन वानरोंको अमृतके समान प्रतीत हुआ। यह उनके महान् प्रयोजनकी सिद्धिका सूचक था। हनुमान्‌जीके मुखसे यह शुभ संवाद सुनकर सब वानर बड़े प्रसन्न हुए ॥ ४०½ ॥

क्ष्वेडन्त्यन्ये नदन्त्यन्ये गर्जन्त्यन्ये महाबलाः ॥ ४१ ॥
चक्रुः किलकिलामन्ये प्रतिगर्जन्ति चापरे।

कोई हर्षनाद और कोई सिंहनाद करने लगे। दूसरे महाबली वानर गर्जने लगे। कितने ही किलकारियाँ भरने लगे और दूसरे वानर एकको गर्जनाके उत्तरमें स्वयं भी गर्जना करने लगे ॥ ४१½ ॥

केचिदुच्छ्रितलाङ्गूलाः प्रहृष्टाः कपिकुञ्जराः ॥ ४२ ॥
आयताञ्चितदीर्घाणि लाङ्गूलानि प्रविव्यधुः।

बहुत-से कपिकुञ्जर हर्षसे उल्लसित हो अपनी पूँछ ऊपर उठाकर नाचने लगे। कितने ही अपनी लम्बी और मोटी पूँछें घुमाने या हिलाने लगे ॥ ४२½ ॥

अपरे तु हनूमन्तं श्रीमन्तं वानरोत्तमम् ॥ ४३ ॥
आप्लुत्य गिरिशृङ्गेषु संस्पृशन्ति स्म हर्षिताः।

कितने ही वानर हर्षोल्लाससे भरकर छलाँगें भरते हुए पर्वतशिखरोंपर वानरशिरोमणि श्रीमान् हनुमान्‌को छूने लगे ॥ ४३½ ॥

उक्तवाक्यं हनूमन्तमङ्गदस्तु तदाब्रवीत् ॥ ४४ ॥
सर्वेषां हरिवीराणां मध्ये वाचमनुत्तमाम्।

हनुमान्‌जीकी उपर्युक्त बात सुनकर अङ्गदने उस समय समस्त वानरवीरोंके बीचमें यह परम उत्तम बात कही— ॥ ४४½ ॥

सत्त्वे वीर्ये न ते कश्चित् समो वानर विद्यते ॥ ४५ ॥
यदवप्लुत्य विस्तीर्णं सागरं पुनरागतः।

'वानरश्रेष्ठ ! बल और पराक्रममें तुम्हारे समान कोई नहीं है; क्योंकि तुम इस विशाल समुद्रको लाँघकर फिर इस पार लौट आये ॥ ४५½ ॥

जीवितस्य प्रदाता नस्त्वमेको वानरोत्तम ॥ ४६ ॥
त्वत्प्रसादात् समेष्यामः सिद्धार्था राघवेण ह।

'कपिशिरोमणे ! एकमात्र तुम्हीं हमलोगोंके जीवनदाता हो। तुम्हारे प्रसादसे ही हम सब लोग सफलमनोरथ होकर श्रीरामचन्द्रजीसे मिलेंगे ॥ ४६½ ॥

अहो स्वामिनि ते भक्तिरहो वीर्यमहो धृतिः ॥ ४७ ॥
दिष्ट्या दृष्टा त्वया देवी रामपत्नी यशस्विनी।
दिष्ट्या त्यक्ष्यति काकुत्स्थः शोकं सीतावियोगजम् ॥ ४८ ॥

'अपने स्वामी श्रीरघुनाथजीके प्रति तुम्हारी भक्ति अद्भुत है। तुम्हारा पराक्रम और धैर्य भी आश्चर्यजनक है। बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम श्रीरामचन्द्रजीकी यशस्विनी पत्नी सीतादेवीका दर्शन कर आये, अब भगवान् श्रीराम सीताके वियोगसे उत्पन्न हुए शोकको त्याग देंगे, यह भी सौभाग्यका ही विषय है' ॥ ४७-४८ ॥

ततोऽङ्गदं हनूमन्तं जाम्बवन्तं च वानराः।
परिवार्य प्रमुदिता भेजिरे विपुलाः शिलाः ॥ ४९ ॥
उपविष्टा गिरेस्तस्य शिलासु विपुलासु ते।
श्रोतुकामाः समुद्रस्य लङ्घनं वानरोत्तमाः ॥ ५० ॥
दर्शनं चापि लङ्कायाः सीताया रावणस्य च।
तस्थुः प्राञ्जलयः सर्वे हनूमद्वदनोन्मुखाः ॥ ५१ ॥

तत्पश्चात् सभी श्रेष्ठ वानर समुद्रलङ्घन, लङ्का, रावण एवं सीताके दर्शनका समाचार सुननेके लिये एकत्र हुए तथा अङ्गद, हनुमान् और जाम्बवान्‌को चारों ओरसे घेरकर पर्वतकी बड़ी-बड़ी शिलाओंपर आनन्दपूर्वक बैठ गये। वे सब-के-सब हाथ जोड़े हुए थे और उन सबकी आँखें हनुमान्‌जीके मुखपर लगी थीं ॥ ४९—५१ ॥

तस्थौ तत्राङ्गदः श्रीमान् वानरैर्बहुभिर्वृतः।
उपास्यमानो विबुधैर्दिवि देवपतिर्यथा ॥ ५२ ॥

जैसे देवराज इन्द्र स्वर्गमें देवताओंद्वारा सेवित होकर बैठते हैं, उसी प्रकार बहुतेरे वानरोंसे घिरे हुए श्रीमान् अङ्गद वहाँ बीचमें विराजमान हुए ॥ ५२ ॥

हनूमता कीर्तिमता यशस्विना
तथाङ्गदेनाङ्गदनद्धबाहुना।
मुदा तदाध्यासितमुन्नतं मह-
न्महीधराग्रं ज्वलितं श्रियाभवत् ॥ ५३ ॥

कीर्तिमान् एवं यशस्वी हनुमान्‌जी तथा बाँहोंमें भुजबंद धारण किये अङ्गदके प्रसन्नतापूर्वक बैठनेसे वह ऊँचा एवं महान् पर्वतशिखर दिव्य कान्तिसे प्रकाशित हो उठा ॥ ५३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें सत्तावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

—★—

अष्टपञ्चाशः सर्गः

जाम्बवान्‌के पूछनेपर हनुमान्‌जीका अपनी लङ्कायात्राका सारा वृत्तान्त सुनाना

ततस्तस्य गिरेः शृङ्गे महेन्द्रस्य महाबलाः।
हनुमत्प्रमुखाः प्रीतिं हरयो जग्मुरुत्तमाम्॥ १॥

तदनन्तर हनुमान् आदि महाबली वानर महेन्द्रगिरिके शिखरपर परस्पर मिलकर बड़े प्रसन्न हुए॥ १॥

प्रीतिमत्सूपविष्टेषु वानरेषु महात्मसु।
तं ततः प्रतिसंहृष्टः प्रीतियुक्तं महाकपिम्॥ २॥
जाम्बवान् कार्यवृत्तान्तमपृच्छदनिलात्मजम्।
कथं दृष्टा त्वया देवी कथं वा तत्र वर्तते॥ ३॥
तस्यां चापि कथं वृत्तः क्रूरकर्मा दशाननः।
तत्त्वतः सर्वमेतन्नः प्रब्रूहि त्वं महाकपे॥ ४॥

जब सभी महामनस्वी वानर वहाँ प्रसन्नतापूर्वक बैठ गये, तब हर्षमें भरे हुए जाम्बवान्‌ने उन पवनकुमार महाकपि हनुमान्‌से प्रेमपूर्वक कार्यसिद्धिका समाचार पूछा—'महाकपे! तुमने देवी सीताको कैसे देखा? वे वहाँ किस प्रकार रहती हैं? और क्रूरकर्मा दशानन उनके प्रति कैसा बर्ताव करता है? ये सब बातें तुम हमें ठीक-ठीक बताओ॥ २—४॥

सम्मार्गिता कथं देवी किं च सा प्रत्यभाषत।
श्रुतार्थाश्चिन्तयिष्यामो भूयः कार्यविनिश्चयम्॥ ५॥

'तुमने देवी सीताको किस प्रकार ढूँढ़ निकाला और उन्होंने तुमसे क्या कहा? इन सब बातोंको सुनकर हमलोग आगेके कार्यक्रमका निश्चितरूपसे विचार करेंगे॥ ५॥

यश्चार्थस्तत्र वक्तव्यो गतैरस्माभिरात्मवान्।
रक्षितव्यं च यत्तत्र तद् भवान् व्याकरोतु नः॥ ६॥

'वहाँ किष्किन्धामें चलनेपर हमलोगोंको कौन-सी बात कहनी चाहिये और किस बातको गुप्त रखना चाहिये? तुम बुद्धिमान् हो, इसलिये तुम्हीं इन सब बातोंपर प्रकाश डालो'॥ ६॥

स नियुक्तस्ततस्तेन सम्प्रहृष्टतनूरुहः।
नमस्यञ्शिरसा देव्यै सीतायै प्रत्यभाषत॥ ७॥

जाम्बवान्‌के इस प्रकार पूछनेपर हनुमान्‌जीके शरीरमें रोमाञ्च हो आया। उन्होंने सीतादेवीको मन-ही-मन मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—॥ ७॥

प्रत्यक्षमेव भवतां महेन्द्राग्रात् खमाप्लुतः।
उदधेर्दक्षिणं पारं काङ्क्षमाणः समाहितः॥ ८॥

'मैं आपलोगोंके सामने ही समुद्रके दक्षिण तटपर जानेकी इच्छासे सावधान हो महेन्द्रपर्वतके शिखरसे आकाशमें उछला था॥ ८॥

गच्छतश्च हि मे घोरं विघ्नरूपमिवाभवत्।
काञ्चनं शिखरं दिव्यं पश्यामि सुमनोहरम्॥ ९॥
स्थितं पन्थानमावृत्य मेने विघ्नं च तं नगम्।

'आगे बढ़ते ही मैंने देखा एक परम मनोहर दिव्य सुवर्णमय शिखर प्रकट हुआ है, जो मेरी राह रोककर खड़ा है। वह मेरी यात्राके लिये भयानक विघ्न-सा प्रतीत हुआ। मैंने उसे मूर्तिमान् विघ्न ही माना॥ ९½॥

उपसंगम्य तं दिव्यं काञ्चनं नगमुत्तमम्॥ १०॥
कृता मे मनसा बुद्धिर्भेत्तव्योऽयं मयेति च।

'उस दिव्य उत्तम सुवर्णमय पर्वतके निकट पहुँचनेपर मैंने मन-ही-मन यह विचार किया कि मैं इसे विदीर्ण कर डालूँ॥ १०½॥

प्रहतस्य मया तस्य लाङ्गूलेन महागिरेः॥ ११॥
शिखरं सूर्यसंकाशं व्यशीर्यत सहस्रधा।

'फिर तो मैंने अपनी पूँछसे उसपर प्रहार किया। उसकी टक्कर लगते ही उस महान् पर्वतके सूर्यतुल्य तेजस्वी शिखरके सहस्रों टुकड़े हो गये॥ ११½॥

व्यवसायं च तं बुद्ध्वा स होवाच महागिरिः॥ १२॥
पुत्रेति मधुरां वाणीं मनः प्रह्लादयन्निव।
पितृव्यं चापि मां विद्धि सखायं मातरिश्वनः॥ १३॥

'मेरे उस निश्चयको समझकर महागिरि मैनाकने मनको आह्लादित-सा करते हुए मधुर वाणीमें 'पुत्र' कहकर मुझे पुकारा और कहा—'मुझे अपना चाचा समझो। मैं तुम्हारे पिता वायुदेवताका मित्र हूँ॥ १२-१३॥

मैनाकमिति विख्यातं निवसन्तं महोदधौ।
पक्षवन्तः पुरा पुत्र बभूवुः पर्वतोत्तमाः॥ १४॥

'मेरा नाम मैनाक है और मैं यहाँ महासागरमें निवास करता हूँ। बेटा! पूर्वकालमें सभी श्रेष्ठ पर्वत पङ्खधारी हुआ करते थे॥ १४॥

छन्दतः पृथिवीं चेरुर्बाधमानाः समन्ततः।
श्रुत्वा नगानां चरितं महेन्द्रः पाकशासनः॥ १५॥
वज्रेण भगवान् पक्षौ चिच्छेदैषां सहस्रशः।
अहं तु मोचितस्तस्मात् तव पित्रा महात्मना॥ १६॥

'वे समस्त प्रजाको पीड़ा देते हुए अपनी इच्छाके अनुसार सब ओर विचरते रहते थे। पर्वतोंका ऐसा आचरण सुनकर पाकशासन भगवान् इन्द्रने वज्रसे इन सहस्रों पर्वतोंके पङ्ख काट डाले; परंतु उस समय तुम्हारे महात्मा पिताने मुझे इन्द्रके हाथसे बचा लिया॥ १५-१६॥

मारुतेन तदा वत्स प्रक्षिप्तो वरुणालये।
राघवस्य मया साह्ये वर्तितव्यमरिंदम॥ १७॥
रामो धर्मभृतां श्रेष्ठो महेन्द्रसमविक्रमः।

'बेटा! उस समय वायुदेवताने मुझे समुद्रमें लाकर डाल दिया था (जिससे मेरे पङ्ख बच गये); अतः शत्रुदमन वीर! मुझे श्रीरघुनाथजीकी सहायताके कार्यमें अवश्य तत्पर होना

चाहिये; क्योंकि भगवान् श्रीराम धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ तथा इन्द्रतुल्य पराक्रमी हैं' ॥ १७½ ॥

एतच्छ्रुत्वा मया तस्य मैनाकस्य महात्मनः ॥ १८ ॥
कार्यमावेद्य च गिरेरुद्धतं वै मनो मम।
तेन चाहमनुज्ञातो मैनाकेन महात्मना ॥ १९ ॥

'महामना मैनाकको यह बात सुनकर मैंने अपना कार्य उन्हें बताया और उनकी आज्ञा लेकर फिर मेरा मन वहाँसे आगे जानेको उत्साहित हुआ। महाकाय मैनाकने उस समय मुझे जानेकी आज्ञा दे दी ॥ १८-१९ ॥

स चाप्यन्तर्हितः शैलो मानुषेण वपुष्मता।
शरीरेण महाशैलः शैलेन च महोदधौ ॥ २० ॥

'वह महान् पर्वत भी अपने मानवशरीरसे तो अन्तर्हित हो गया; परंतु पर्वतरूपसे महासागरमें ही स्थित रहा ॥ २० ॥

उत्तमं जवमास्थाय शेषमध्वानमास्थितः।
ततोऽहं सुचिरं कालं जवेनाभ्यगमं पथि ॥ २१ ॥

'फिर मैं उत्तम वेगका आश्रय ले शेष मार्गपर आगे बढ़ा और दीर्घकालतक बड़े वेगसे उस पथपर चलता रहा ॥ २१ ॥

ततः पश्याम्यहं देवीं सुरसां नागमातरम्।
समुद्रमध्ये सा देवी वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २२ ॥

'तत्पश्चात् बीच समुद्रमें मुझे नागमाता सुरसा देवीका दर्शन हुआ। देवी सुरसा मुझसे इस प्रकार बोलीं— ॥ २२ ॥

मम भक्ष्यः प्रदिष्टस्त्वममरैर्हरिसत्तम।
ततस्त्वां भक्षयिष्यामि विहितस्त्वं हि मे सुरैः ॥ २३ ॥

'कपिश्रेष्ठ! देवताओंने तुम्हें मेरा भक्ष्य बताया है, इसलिये मैं तुम्हें भक्षण करूँगी; क्योंकि सारे देवताओंने आज तुम्हें ही मेरा आहार नियत किया है' ॥ २३ ॥

एवमुक्तः सुरसया प्राञ्जलिः प्रणतः स्थितः।
विवर्णवदनो भूत्वा वाक्यं चेदमुदीरयम् ॥ २४ ॥

'सुरसाके ऐसा कहनेपर मैं हाथ जोड़कर विनीतभावसे उसके सामने खड़ा हो गया और उदासमुख होकर यों बोला— ॥ २४ ॥

रामो दाशरथिः श्रीमान् प्रविष्टो दण्डकावनम्।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सीतया च परंतपः ॥ २५ ॥

'देवि! शत्रुओंको संताप देनेवाले दशरथनन्दन श्रीमान् राम अपने भाई लक्ष्मण और पत्नी सीताके साथ दण्डकारण्यमें आये थे ॥ २५ ॥

तस्य सीता हृता भार्या रावणेन दुरात्मना।
तस्याः सकाशं दूतोऽहं गमिष्ये रामशासनात् ॥ २६ ॥

'वहाँ दुरात्मा रावणने उनकी पत्नी सीताको हर लिया। मैं इस समय श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञासे दूत होकर उन्हीं सीतादेवीके पास जा रहा हूँ ॥ २६ ॥

कर्तुमर्हसि रामस्य साहाय्यं विषये सती।
अथवा मैथिलीं दृष्ट्वा रामं चाक्लिष्टकारिणम् ॥ २७ ॥
आगमिष्यामि ते वक्त्रं सत्यं प्रतिशृणोमि ते।

'तुम भी श्रीरामचन्द्रजीके ही राज्यमें रहती हो, इसलिये तुम्हें उनकी सहायता करनी चाहिये। अथवा मैं मिथिलेश-कुमारी सीता तथा अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीका दर्शन करके तुम्हारे मुखमें आ जाऊँगा, यह तुमसे सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ' ॥ २७½ ॥

एवमुक्ता मया सा तु सुरसा कामरूपिणी ॥ २८ ॥
अब्रवीन्नातिवर्तेत कश्चिदेष वरो मम।

'मेरे ऐसा कहनेपर इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली सुरसा बोली—'मुझे यह वर मिला हुआ है कि मेरे आहारके रूपमें निकट आया हुआ कोई भी प्राणी मुझे टालकर आगे नहीं जा सकता' ॥ २८½ ॥

एवमुक्तः सुरसया दशयोजनमायतः ॥ २९ ॥
ततोऽर्धगुणविस्तारो बभूवाहं क्षणेन तु।
मत्प्रमाणाधिकं चैव व्यादितं तु मुखं तया ॥ ३० ॥

'जब सुरसाने ऐसा कहा—उस समय मेरा शरीर दस योजन बड़ा था, किंतु एक ही क्षणमें मैं उससे ड्योढ़ा बड़ा हो गया। तब सुरसाने भी अपने मुँहको मेरे शरीरकी अपेक्षा अधिक फैला लिया ॥ २९-३० ॥

तद् दृष्ट्वा व्यादितं त्वास्यं ह्रस्वं ह्यकरवं पुनः।
तस्मिन् मुहूर्ते च पुनर्बभूवाङ्गुष्ठसम्मितः ॥ ३१ ॥

'उसके फैले हुए मुँहको देखकर मैंने फिर अपने स्वरूपको छोटा कर लिया। उसी मुहूर्तमें मेरा शरीर अँगूठेके बराबर हो गया ॥ ३१ ॥

अभिपत्याशु तद्वक्त्रं निर्गतोऽहं ततः क्षणात्।
अब्रवीत् सुरसा देवी स्वेन रूपेण मां पुनः ॥ ३२ ॥

'फिर तो मैं सुरसाके मुँहमें शीघ्र ही घुस गया और तत्क्षण बाहर निकल आया। उस समय सुरसा देवीने अपने दिव्य रूपमें स्थित होकर मुझसे कहा— ॥ ३२ ॥

अर्थसिद्ध्यै हरिश्रेष्ठ गच्छ सौम्य यथासुखम्।
समानय च वैदेहीं राघवेण महात्मना ॥ ३३ ॥

'सौम्य! कपिश्रेष्ठ! अब तुम कार्यसिद्धिके लिये सुखपूर्वक यात्रा करो और विदेहनन्दिनी सीताको महात्मा रघुनाथजीसे मिलाओ ॥ ३३ ॥

सुखी भव महाबाहो प्रीतास्मि तव वानर।
ततोऽहं साधुसाध्वीति सर्वभूतैः प्रशंसितः ॥ ३४ ॥

'महाबाहु वानर! तुम सुखी रहो। मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ।' उस समय सभी प्राणियोंने 'साधु-साधु' कहकर मेरी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ३४ ॥

ततोऽन्तरिक्षं विपुलं प्लुतोऽहं गरुडो यथा।
छाया मे निगृहीता च न च पश्यामि किंचन ॥ ३५ ॥

'तत्पश्चात् मैं गरुड़की भाँति उस विशाल आकाशमें फिर उड़ने लगा। उस समय किसीने मेरी परछाईं पकड़ ली, किंतु मैं किसीको देख नहीं पाता था ॥ ३५ ॥

सोऽहं विगतवेगस्तु दिशो दश विलोकयन्।
न किंचित् तत्र पश्यामि येन मे विहता गतिः ॥ ३६ ॥

'छाया पकड़ी जानेसे मेरा वेग अवरुद्ध हो गया, अतः मैं दसों दिशाओंकी ओर देखने लगा; परंतु जिसने मेरी गति रोक दी थी, ऐसा कोई प्राणी मुझे वहाँ नहीं दिखायी दिया ॥ ३६ ॥

अथ मे बुद्धिरुत्पन्ना किंनाम गमने मम।
ईदृशो विघ्न उत्पन्नो रूपमत्र न दृश्यते ॥ ३७ ॥

'तब मेरे मनमें यह चिन्ता हुई कि मेरी यात्रामें ऐसा कौन-सा विघ्न पैदा हो गया, जिसका यहाँ रूप नहीं दिखायी दे रहा है ॥ ३७ ॥

अधोभागे तु मे दृष्टिः शोचतः पतिता तदा।
तत्राद्राक्षमहं भीमां राक्षसीं सलिलेशयाम् ॥ ३८ ॥

'इसी सोचमें पड़े-पड़े मैंने जब नीचेकी ओर दृष्टि डाली, तब मुझे एक भयानक राक्षसी दिखायी दी, जो जलमें निवास करती थी ॥ ३८ ॥

प्रहस्य च महानादमुक्तोऽहं भीमया तया।
अवस्थितमसम्भ्रान्तमिदं वाक्यमशोभनम् ॥ ३९ ॥

'उस भीषण निशाचरीने बड़े जोरसे अट्टहास करके निर्भय खड़े हुए मुझसे गरज-गरजकर यह अमङ्गलजनक बात कही— ॥ ३९ ॥

क्वासि गन्ता महाकाय क्षुधिताया ममेप्सितः।
भक्षः प्रीणय मे देहं चिरमाहारवर्जितम् ॥ ४० ॥

'विशालकाय वानर! कहाँ जाओगे? मैं भूखी हुई हूँ। तुम मेरे लिये मनोवाञ्छित भोजन हो। आओ, चिरकालसे निराहार पड़े हुए मेरे शरीर और प्राणोंको तृप्त करो' ॥ ४० ॥

बाढमित्येव तां वाणीं प्रत्यगृह्णामहं ततः।
आस्यप्रमाणादधिकं तस्याः कायमपूरयम् ॥ ४१ ॥

'तब मैंने 'बहुत अच्छा' कहकर उसकी बात मान ली और अपने शरीरको उसके मुखके प्रमाणसे बहुत अधिक बढ़ा लिया ॥ ४१ ॥

तस्याश्चास्यं महद् भीमं वर्धते मम भक्षणे।
न तु मां सा नु बुबुधे मम वा विकृतं कृतम् ॥ ४२ ॥

'परंतु उसका विशाल और भयानक मुख भी मुझे भक्षण करनेके लिये बढ़ने लगा। उसने मुझे या मेरे प्रभावको नहीं जाना तथा मैंने जो छल किया था, वह भी उसकी समझमें नहीं आया ॥ ४२ ॥

ततोऽहं विपुलं रूपं संक्षिप्य निमिषान्तरात्।
तस्या हृदयमादाय प्रपतामि नभःस्थलम् ॥ ४३ ॥

'फिर तो पलक मारते-मारते मैंने अपने विशाल रूपको अत्यन्त छोटा बना लिया और उसका कलेजा निकालकर आकाशमें उड़ गया ॥ ४३ ॥

सा विसृष्टभुजा भीमा पपात लवणाम्भसि।
मया पर्वतसंकाशा निकृत्तहृदया सती ॥ ४४ ॥

'मेरे द्वारा कलेजेके काट लिये जानेपर पर्वतके समान भयानक शरीरवाली वह दुष्टा राक्षसी अपनी दोनों बाँहें शिथिल हो जानेके कारण समुद्रके जलमें गिर पड़ी ॥ ४४ ॥

शृणोमि खगतानां च वाचः सौम्या महात्मनाम्।
राक्षसी सिंहिका भीमा क्षिप्रं हनुमता हता ॥ ४५ ॥

'उस समय मुझे आकाशचारी सिद्ध महात्माओंकी यह सौम्य वाणी सुनायी दी—'अहो! इस सिंहिका नामवाली भयानक राक्षसीको हनुमान्‌जीने शीघ्र ही मार डाला' ॥ ४५ ॥

तां हत्वा पुनरेवाहं कृत्यमात्ययिकं स्मरन्।
गत्वा च महदध्वानं पश्यामि नगमण्डितम् ॥ ४६ ॥
दक्षिणं तीरमुदधेर्लङ्का यत्र गता पुरी।

'उसे मारकर मैंने फिर अपने उस आवश्यक कार्यपर ध्यान दिया, जिसकी पूर्तिमें अधिक विलम्ब हो चुका था। उस विशाल मार्गको समाप्त करके मैंने पर्वतमालाओंसे मण्डित समुद्रका वह दक्षिण किनारा देखा, जहाँ लङ्कापुरी बसी हुई है ॥ ४६½ ॥

अस्तं दिनकरे याते रक्षसां निलयं पुरीम् ॥ ४७ ॥
प्रविष्टोऽहमविज्ञातो रक्षोभिर्भीमविक्रमैः।

'सूर्यदेवके अस्ताचलको चले जानेपर मैंने राक्षसोंकी निवासस्थानभूता लङ्कापुरीमें प्रवेश किया, किंतु वे भयानक पराक्रमी राक्षस मेरे विषयमें कुछ भी जान न सके ॥ ४७½ ॥

तत्र प्रविशतश्चापि कल्पान्तघनसप्रभा ॥ ४८ ॥
अट्टहासं विमुञ्चन्ती नारी काप्युत्थिता पुरः।

'मेरे प्रवेश करते ही प्रलयकालके मेघकी भाँति काली कान्तिवाली एक स्त्री अट्टहास करती हुई मेरे सामने खड़ी हो गयी ॥ ४८½ ॥

जिघांसन्तीं ततस्तां तु ज्वलदग्निशिरोरुहाम् ॥ ४९ ॥
सव्यमुष्टिप्रहारेण पराजित्य सुभैरवाम्।
प्रदोषकाले प्रविशं भीतयाहं तयोदितः ॥ ५० ॥

'उसके सिरके बाल प्रज्वलित अग्निके समान दिखायी देते थे। वह मुझे मार डालना चाहती थी। यह देख मैंने बायें हाथके मुक्केसे प्रहार करके उस भयंकर निशाचरीको परास्त कर दिया और प्रदोषकालमें पुरीके भीतर प्रविष्ट हुआ। उस समय उस डरी हुई निशाचरीने मुझसे इस प्रकार कहा— ॥ ४९-५० ॥

अहं लङ्कापुरी वीर निर्जिता विक्रमेण ते।
यस्मात् तस्माद् विजेतासि सर्वरक्षांस्यशेषतः ॥ ५१ ॥

'वीर! मैं साक्षात् लङ्कापुरी हूँ। तुमने अपने पराक्रमसे मुझे जीत लिया है, इसलिये तुम समस्त राक्षसोंपर पूर्णतः

विजय प्राप्त कर लोगे' ॥ ५१ ॥

तत्राहं सर्वरात्रं तु विचरञ्जनकात्मजाम्।
रावणान्तःपुरगतो न चापश्यं सुमध्यमाम्॥ ५२॥

'वहाँ सारी रात नगरमें घर-घर घूमने और रावणके अन्तःपुरमें पहुँचनेपर भी मैंने सुन्दर कटिप्रदेशवाली जनकनन्दिनी सीताको नहीं देखा ॥ ५२ ॥

ततः सीतामपश्यंस्तु रावणस्य निवेशने।
शोकसागरमासाद्य न पारमुपलक्षये॥ ५३॥

'रावणके महलमें सीताको न देखनेपर मैं शोक-सागरमें डूब गया। उस समय मुझे उस शोकका कहीं पार नहीं दिखायी देता था ॥ ५३ ॥

शोचता च मया दृष्टं प्राकारेणाभिसंवृतम्।
काञ्चनेन विकृष्टेन गृहोपवनमुत्तमम्॥ ५४॥

'सोचमें पड़े-पड़े ही मैंने एक उत्तम गृहोद्यान देखा, जो सोनेके बने हुए सुन्दर परकोटेसे घिरा हुआ था ॥ ५४ ॥

सप्राकारमवप्लुत्य पश्यामि बहुपादपम्।
अशोकवनिकामध्ये शिंशपापादपो महान्॥ ५५॥

'तब उस परकोटेको लाँघकर मैंने उस गृहोद्यानको देखा, जो बहुसंख्यक वृक्षोंसे भरा हुआ था। उस अशोकवाटिकाके बीचमें मुझे एक बहुत ऊँचा अशोक-वृक्ष दिखायी दिया ॥ ५५ ॥

तमारुह्य च पश्यामि काञ्चनं कदलीवनम्।
अदूराच्छिंशपावृक्षात् पश्यामि वरवर्णिनीम्॥ ५६॥

'उसपर चढ़कर मैंने सुवर्णमय कदलीवन देखा तथा उस अशोक-वृक्षके पास ही मुझे सर्वाङ्गसुन्दरी सीताजीका दर्शन हुआ ॥ ५६ ॥

श्यामां कमलपत्राक्षीमुपवासकृशाननाम्।
तदेकवासःसंवीतां रजोध्वस्तशिरोरुहाम्॥ ५७॥

'वे सदा सोलह वर्षकी-सी अवस्थासे युक्त दिखायी देती हैं। उनके नेत्र प्रफुल्ल कमलदलके समान सुन्दर हैं। सीताजी उपवास करनेके कारण अत्यन्त दुर्बल हो गयी हैं और उनकी यह दुर्बलता उनका मुख देखते ही स्पष्ट हो जाती है। वे एक ही वस्त्र पहनी हुई हैं और उनके केश धूलसे धूसर हो गये हैं ॥ ५७ ॥

शोकसंतापदीनाङ्गीं सीतां भर्तृहिते स्थिताम्।
राक्षसीभिर्विरूपाभिः क्रूराभिरभिसंवृताम्॥ ५८॥
मांसशोणितभक्ष्याभिर्व्याघ्रीभिर्हरिणीं यथा।

'उनके सारे अङ्ग शोक-संतापसे दीन दिखायी देते हैं। वे अपने स्वामीके हित-चिन्तनमें तत्पर हैं। रक्त-मांसका भोजन करनेवाली क्रूर एवं कुरूप राक्षसियाँ उन्हें चारों ओरसे घेरकर उनकी रखवाली करती हैं। ठीक उसी तरह जैसे बहुत-सी बाघिनें किसी हरिणीको घेरे हुए खड़ी हों ॥ ५८ ॥

सा मया राक्षसीमध्ये तर्ज्यमाना मुहुर्मुहुः॥ ५९॥
एकवेणीधरा दीना भर्तृचिन्तापरायणा।
भूमिशय्या विवर्णाङ्गी पद्मिनीव हिमागमे॥ ६०॥

'मैंने देखा, वे राक्षसियोंके बीचमें बैठी थीं और राक्षसियाँ उन्हें बारम्बार धमका रही थीं। वे सिरपर एक ही वेणी धारण किये दीनभावसे अपने पतिके चिन्तनमें तल्लीन हो रही थीं। धरती ही उनकी शय्या है। जैसे हेमन्त-ऋतु आनेपर कमलिनी सूखकर श्रीहीन हो जाती है, उसी प्रकार उनके सारे अङ्ग कान्तिहीन हो गये हैं ॥ ५९-६० ॥

रावणाद् विनिवृत्तार्था मर्तव्ये कृतनिश्चया।
कथंचिन्मृगशावाक्षी तूर्णमासादिता मया॥ ६१॥

'रावणकी ओरसे उनका हार्दिक भाव सर्वथा दूर है। वे मरनेका निश्चय कर चुकी हैं। उसी अवस्थामें मैं किसी तरह शीघ्रतापूर्वक मृगनयनी सीताके पास पहुँच सका ॥ ६१ ॥

तां दृष्ट्वा तादृशीं नारीं रामपत्नीं यशस्विनीम्।
तत्रैव शिंशपावृक्षे पश्यन्नहमवस्थितः॥ ६२॥

'वैसी अवस्थामें पड़ी हुई उन यशस्विनी नारी श्रीरामपत्नी सीताको अशोक-वृक्षके नीचे बैठी देख मैं भी उस वृक्षपर स्थित हो गया और उन्हें वहींसे निहारने लगा ॥ ६२ ॥

ततो हलहलाशब्दं काञ्चीनूपुरमिश्रितम्।
शृणोम्यधिकगम्भीरं रावणस्य निवेशने॥ ६३॥

'इतनेहीमें रावणके महलमें करधनी और नूपुरोंकी झनकारसे मिला हुआ अधिक गम्भीर कोलाहल सुनायी पड़ा ॥ ६३ ॥

ततोऽहं परमोद्विग्नः स्वरूपं प्रत्यसंहरम्।
अहं च शिंशपावृक्षे पक्षीव गहने स्थितः॥ ६४॥

'फिर तो मैंने अत्यन्त उद्विग्न होकर अपने स्वरूपको समेट लिया—छोटा बना लिया और पक्षीके समान उस गहन शिंशपा (अशोक) वृक्षमें छिपा बैठा रहा ॥ ६४ ॥

ततो रावणदाराश्च रावणश्च महाबलः।
तं देशमनुसम्प्राप्तो यत्र सीताभवत् स्थिता॥ ६५॥

'इतनेहीमें रावणकी स्त्रियाँ और महाबली रावण—ये सब-के-सब उस स्थानपर आ पहुँचे, जहाँ सीतादेवी विराजमान थीं ॥ ६५ ॥

तं दृष्ट्वाथ वरारोहा सीता रक्षोगणेश्वरम्।
संकुच्योरू स्तनौ पीनौ बाहुभ्यां परिरभ्य च॥ ६६॥

'राक्षसोंके स्वामी रावणको देखते ही सुन्दर कटिप्रदेशवाली सीता अपनी जाँघोंको सिकोड़कर और उभरे हुए दोनों स्तनोंको भुजाओंसे ढककर बैठ गयीं ॥ ६६ ॥

वित्रस्तां परमोद्विग्नां वीक्ष्यमाणामितस्ततः।
त्राणं कंचिदपश्यन्तीं वेपमानां तपस्विनीम्॥ ६७॥
तामुवाच दशग्रीवः सीतां परमदुःखिताम्।
अवाक्शिराः प्रपतितो बहुमन्यस्व मामिति॥ ६८॥

'वे अत्यन्त भयभीत और उद्विग्न होकर इधर-उधर देखने लगीं। उन्हें कोई भी अपना रक्षक नहीं दिखायी देता था। भयसे काँपती हुई अत्यन्त दुःखिनी तपस्विनी सीताके सामने जा दशमुख रावण नीचे सिर किये उनके चरणोंमें गिर पड़ा और इस प्रकार बोला—'विदेहकुमारी! मैं तुम्हारा सेवक हूँ। तुम मुझे अधिक आदर दो' ॥ ६७-६८ ॥

यदि चेत्त्वं तु मां दर्पान्नाभिनन्दसि गर्विते।
द्विमासानन्तरं सीते पास्यामि रुधिरं तव॥ ६९॥

'(इतनेपर भी अपने प्रति उनकी उपेक्षा देख वह कुपित होकर बोला—) 'गर्वीली सीते! यदि तू घमंडमें आकर मेरा अभिनन्दन नहीं करेगी तो आजसे दो महीनेके बाद मैं तेरा खून पी जाऊँगा' ॥ ६९ ॥

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य रावणस्य दुरात्मनः।
उवाच परमक्रुद्धा सीता वचनमुत्तमम्॥ ७०॥

'दुरात्मा रावणकी यह बात सुनकर सीताने अत्यन्त कुपित हो यह उत्तम वचन कहा— ॥ ७० ॥

राक्षसाधम रामस्य भार्याममिततेजसः।
इक्ष्वाकुवंशनाथस्य स्नुषां दशरथस्य च॥ ७१॥
अवाच्यं वदतो जिह्वा कथं न पतिता तव।

'नीच निशाचर! अमित तेजस्वी भगवान् श्रीरामकी पत्नी और इक्ष्वाकुकुलके स्वामी महाराज दशरथकी पुत्रवधूसे यह न कहने योग्य बात कहते समय तेरी जीभ क्यों नहीं गिर गयी? ॥ ७१$\frac{1}{2}$ ॥

किंस्विद्वीर्यं तवानार्य यो मां भर्तुरसंनिधौ॥ ७२॥
अपहृत्यागतः पाप तेनादृष्टो महात्मना।

'दुष्ट पापी! तुझमें क्या पराक्रम है? मेरे पतिदेव जब निकट नहीं थे, तब तू उन महात्माकी दृष्टिसे छिपकर चोरी-चोरी मुझे हर लाया ॥ ७२$\frac{1}{2}$ ॥

न त्वं रामस्य सदृशो दास्येऽप्यस्य न युज्यसे॥ ७३॥
अजेयः सत्यवाक् शूरो रणश्लाघी च राघवः।

'तू भगवान् श्रीरामकी समानता नहीं कर सकता। तू तो उनका दास होने योग्य भी नहीं है। श्रीरघुनाथजी सर्वथा अजेय, सत्यभाषी, शूरवीर और युद्धके अभिलाषी एवं प्रशंसक हैं' ॥ ७३$\frac{1}{2}$ ॥

जानक्या परुषं वाक्यमेवमुक्तो दशाननः॥ ७४॥
जज्वाल सहसा कोपाच्चितास्थ इव पावकः।
विवृत्य नयने क्रूरे मुष्टिमुद्यम्य दक्षिणम्॥ ७५॥
मैथिलीं हन्तुमारब्धः स्त्रीभिर्हाहाकृतं तदा।
स्त्रीणां मध्यात् समुत्पत्य तस्य भार्या दुरात्मनः॥ ७६॥
वरा मन्दोदरी नाम तया स प्रतिषेधितः।
उक्तश्च मधुरां वाणीं तया स मदनार्दितः॥ ७७॥

'जनकनन्दिनीके ऐसी कठोर बात कहनेपर दशमुख रावण चितामें लगी हुई आगकी भाँति सहसा क्रोधसे जल उठा और अपनी क्रूर आँखें फाड़-फाड़कर देखता हुआ दाहिना मुक्का तानकर मिथिलेशकुमारीको मारनेके लिये तैयार हो गया। यह देख उस समय वहाँ खड़ी हुई स्त्रियाँ हाहाकार करने लगीं। इतनेहीमें उन स्त्रियोंके बीचसे उस दुरात्माकी सुन्दरी भार्या मन्दोदरी झपटकर आगे आयी और उसने रावणको ऐसा करनेसे रोका। साथ ही उस कामपीड़ित निशाचरसे मधुर वाणीमें कहा— ॥ ७४—७७ ॥

सीतया तव किं कार्यं महेन्द्रसमविक्रम।
मया सह रमस्वाद्य मद्विशिष्टा न जानकी॥ ७८॥

'महेन्द्रके समान पराक्रमी राक्षसराज! सीतासे तुम्हें क्या काम है? आज मेरे साथ रमण करो। जनकनन्दिनी सीता मुझसे अधिक सुन्दरी नहीं है ॥ ७८ ॥

देवगन्धर्वकन्याभिर्यक्षकन्याभिरेव च।
सार्धं प्रभो रमस्वेति सीतया किं करिष्यसि॥ ७९॥

'प्रभो! देवताओं, गन्धर्वों और यक्षोंकी कन्याएँ हैं, इनके साथ रमण करो; सीताको लेकर क्या करोगे?' ॥ ७९ ॥

ततस्ताभिः समेताभिर्नारीभिः स महाबलः।
उत्थाप्य सहसा नीतो भवनं स्वं निशाचरः॥ ८०॥

'तदनन्तर वे सब स्त्रियाँ मिलकर उस महाबली निशाचर रावणको सहसा वहाँसे उठाकर अपने महलमें ले गयीं ॥ ८० ॥

याते तस्मिन् दशग्रीवे राक्षस्यो विकृताननाः।
सीतां निर्भर्त्सयामासुर्वाक्यैः क्रूरैः सुदारुणैः॥ ८१॥

'दशमुख रावणके चले जानेपर विकराल मुखवाली राक्षसियाँ अत्यन्त दारुण क्रूरतापूर्ण वचनोंद्वारा सीताको डराने-धमकाने लगीं ॥ ८१ ॥

तृणवद् भाषितं तासां गणयामास जानकी।
गर्जितं च तथा तासां सीतां प्राप्य निरर्थकम्॥ ८२॥

'परंतु जानकीने उनकी बातोंको तिनकेके समान तुच्छ समझा। उनका सारा गर्जन-तर्जन सीताके पास पहुँचकर व्यर्थ हो गया ॥ ८२ ॥

वृथा गर्जितनिश्चेष्टा राक्षस्यः पिशिताशनाः।
रावणाय शशंसुस्ताः सीताव्यवसितं महत्॥ ८३॥

'इस प्रकार गर्जना और सारी चेष्टाओंके व्यर्थ हो जानेपर उन मांसभक्षिणी राक्षसियोंने रावणके पास जाकर उसे सीताजीका महान् निश्चय कह सुनाया ॥ ८३ ॥

ततस्ताः सहिताः सर्वा विहताशा निरुद्यमाः।
परिक्लिश्य समस्तास्ता निद्रावशमुपागताः॥ ८४॥

'फिर वे सब-की-सब उन्हें अनेक प्रकारसे कष्ट दे हताश तथा उद्योगशून्य हो निद्राके वशीभूत होकर सो गयीं ॥ ८४ ॥

तासु चैव प्रसुप्तासु सीता भर्तृहिते रता।
विलप्य करुणं दीना प्रशुशोच सुदुःखिता॥ ८५॥

'उन सबके सो जानेपर पतिके हितमें तत्पर रहनेवाली

सीताजी करुणापूर्वक विलापकर अत्यन्त दीन और दुःखी हो शोक करने लगीं ॥ ८५ ॥

तासां मध्यात् समुत्थाय त्रिजटा वाक्यमब्रवीत् ।
आत्मानं खादत क्षिप्रं न सीतामसितेक्षणाम् ॥ ८६ ॥
जनकस्यात्मजां साध्वीं स्नुषां दशरथस्य च ।

'उन राक्षसियोंके बीचमें त्रिजटा नामवाली राक्षसी उठी और अन्य निशाचरियोंसे इस प्रकार बोली—'अरी ! तुम सब अपने-आपको ही जल्दी-जल्दी खा जाओ, कजरारे नेत्रोंवाली सीताको नहीं; ये राजा दशरथकी पुत्रवधू और जनककी लाड़ली सती-साध्वी सीता इस योग्य नहीं हैं ॥ ८६ $\frac{1}{2}$ ॥

स्वप्नो ह्यद्य मया दृष्टो दारुणो रोमहर्षणः ॥ ८७ ॥
रक्षसां च विनाशाय भर्तुरस्या जयाय च ।

'आज अभी मैंने बड़ा भयंकर तथा रोंगटे खड़े कर देनेवाला स्वप्न देखा है; वह राक्षसोंके विनाश तथा इन सीतादेवीके पतिकी विजयका सूचक है ॥ ८७ $\frac{1}{2}$ ॥

अलमस्मान् परित्रातुं राघवाद् राक्षसीगणम् ॥ ८८ ॥
अभियाचाम वैदेहीमेतद्धि मम रोचते ।

'ये सीता ही श्रीरघुनाथजीके रोषसे हमारी और इन सब राक्षसियोंकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं; अतः हमलोग विदेहनन्दिनीसे अपने अपराधोंके लिये क्षमा-याचना करें—यही मुझे अच्छा लगता है ॥ ८८ $\frac{1}{2}$ ॥

यदि ह्येवंविधः स्वप्नो दुःखितायाः प्रदृश्यते ॥ ८९ ॥
सा दुःखैर्विविधैर्मुक्ता सुखमाप्नोत्यनुत्तमम् ।

'यदि किसी दुःखिनीके विषयमें ऐसा स्वप्न देखा जाता है तो वह अनेक विध दुःखोंसे छूटकर परम उत्तम सुख पाती है ॥ ८९ $\frac{1}{2}$ ॥

प्रणिपातप्रसन्ना हि मैथिली जनकात्मजा ॥ ९० ॥
अलमेषा परित्रातुं राक्षस्यो महतो भयात् ।

'राक्षसियो ! केवल प्रणाम करनेमात्रसे मिथिलेश-कुमारी जानकी प्रसन्न हो जायँगी और ये महान् भयसे मेरी रक्षा करेंगी' ॥ ९० $\frac{1}{2}$ ॥

ततः सा ह्रीमती बाला भर्तुर्विजयहर्षिता ॥ ९१ ॥
अवोचद् यदि तत् तथ्यं भवेयं शरणं हि वः ।

'तब लज्जावती बाला सीता पतिकी विजयकी सम्भावनासे प्रसन्न हो बोलीं—'यदि यह बात सच होगी तो मैं अवश्य तुमलोगोंकी रक्षा करूँगी' ॥ ९१ $\frac{1}{2}$ ॥

तां चाहं तादृशीं दृष्ट्वा सीताया दारुणां दशाम् ॥ ९२ ॥
चिन्तयामास विश्रान्तो न च मे निर्वृतं मनः ।
सम्भाषणार्थं च मया जानक्याश्चिन्तितो विधिः ॥ ९३ ॥

कुछ विश्रामके पश्चात् मैं सीताकी वैसी दारुण दशा देखकर बड़ी चिन्तामें पड़ गया। मेरे मनको शान्ति नहीं मिलती थी। फिर मैंने जानकीजीके साथ वार्तालाप करनेके लिये एक उपाय सोचा ॥ ९२-९३ ॥

इक्ष्वाकुकुलवंशस्तु स्तुतो मम पुरस्कृतः ।
श्रुत्वा तु गदितां वाचं राजर्षिगणभूषिताम् ॥ ९४ ॥
प्रत्यभाषत मां देवी बाष्पैः पिहितलोचना ।

'पहले मैंने इक्ष्वाकुवंशकी प्रशंसा की। राजर्षियोंकी स्तुतिसे विभूषित मेरी वह वाणी सुनकर देवी सीताके नेत्रोंमें आँसू भर आया और वे मुझसे बोलीं— ॥ ९४ $\frac{1}{2}$ ॥

कस्त्वं केन कथं चेह प्राप्तो वानरपुङ्गव ॥ ९५ ॥
का च रामेण ते प्रीतिस्तन्मे शंसितुमर्हसि ।

'कपिश्रेष्ठ ! तुम कौन हो ? किसने तुम्हें भेजा है ? यहाँ कैसे आये हो ? और भगवान् श्रीरामके साथ तुम्हारा कैसा प्रेम है ? यह सब मुझे बताओ' ॥ ९५ $\frac{1}{2}$ ॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा अहमप्यब्रुवं वचः ॥ ९६ ॥
देवि रामस्य भर्तुस्ते सहायो भीमविक्रमः ।
सुग्रीवो नाम विक्रान्तो वानरेन्द्रो महाबलः ॥ ९७ ॥

'उनका वह वचन सुनकर मैंने भी कहा—'देवि ! तुम्हारे पतिदेव श्रीरामके सहायक एक भयंकर पराक्रमी बल-विक्रमसम्पन्न महाबली वानरराज हैं, जिनका नाम सुग्रीव है ॥ ९६-९७ ॥

तस्य मां विद्धि भृत्यं त्वं हनूमन्तमिहागतम् ।
भर्त्रा सम्प्रहितस्तुभ्यं रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ ९८ ॥

'उन्हींका मुझे सेवक समझो। मेरा नाम हनुमान् है। अनायास ही महान् कर्म करनेवाले तुम्हारे पति श्रीरामने भेजा है। इसलिये मैं यहाँ आया हूँ ॥ ९८ ॥

इदं तु पुरुषव्याघ्रः श्रीमान् दाशरथिः स्वयम् ।
अङ्गुलीयमभिज्ञानमदात् तुभ्यं यशस्विनि ॥ ९९ ॥

'यशस्विनि ! पुरुषसिंह दशरथनन्दन साक्षात् श्रीमान् रामने पहचानके लिये यह अँगूठी तुम्हें दी है। ९९ ॥

तदिच्छामि त्वयाज्ञप्तं देवि किं करवाण्यहम् ।
रामलक्ष्मणयोः पार्श्वं नयामि त्वां किमुत्तरम् ॥ १०० ॥

'देवि ! मैं चाहता हूँ कि आप मुझे आज्ञा दें कि मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? आप कहें तो मैं अभी आपको श्रीराम और लक्ष्मणके पास पहुँचा दूँ। इस विषयमें आपका क्या उत्तर है ?' ॥ १०० ॥

एतच्छ्रुत्वा विदित्वा च सीता जनकनन्दिनी ।
आह रावणमुत्पाट्य राघवो मां नयत्विति ॥ १०१ ॥

'मेरी यह बात सुनकर और सोच-समझकर जनकनन्दिनी सीताने कहा—'मेरी इच्छा है कि श्रीरघुनाथजी रावणका संहार करके मुझे यहाँसे ले चलें' ॥ १०१ ॥

प्रणम्य शिरसा देवीमहमार्यामनिन्दिताम् ।
राघवस्य मनोह्लादमभिज्ञानमयाचिषम् ॥ १०२ ॥

'तब मैंने उन सती-साध्वी देवी आर्या सीताको सिर झुकाकर प्रणाम किया और कोई ऐसी पहचान माँगी, जो श्रीरघुनाथजीके मनको आनन्द प्रदान करनेवाली हो ॥ १०२ ॥

अथ मामब्रवीत् सीता गृह्यतामयमुत्तमः ।
मणिर्येन महाबाहू रामस्त्वां बहु मन्यते ॥ १०३ ॥

'मेरे माँगनेपर सीताजीने कहा—'लो, यह उत्तम चूडामणि है, जिसे पाकर महाबाहु श्रीराम तुम्हारा विशेष आदर करेंगे' ॥ १०३ ॥

इत्युक्त्वा तु वरारोहा मणिप्रवरमुत्तमम् ।
प्रायच्छत् परमोद्विग्ना वाचा मां संदिदेश ह ॥ १०४ ॥

'ऐसा कहकर सुन्दरी सीताने मुझे वह परम उत्तम चूडामणि दी और अत्यन्त उद्विग्न होकर वाणीद्वारा अपना संदेश कहा ॥ १०४ ॥

ततस्तस्यै प्रणम्याहं राजपुत्र्यै समाहितः ।
प्रदक्षिणं परिक्राममिहाभ्युद्गतमानसः ॥ १०५ ॥

'तब मन-ही-मन यहाँ आनेके लिये उत्सुक हो एकाग्रचित्त होकर मैंने राजकुमारी सीताको प्रणाम किया और उनकी दक्षिणावर्त परिक्रमा की ॥ १०५ ॥

उत्तरं पुनरेवाह निश्चित्य मनसा तदा ।
हनूमन् मम वृत्तान्तं वक्तुमर्हसि राघवे ॥ १०६ ॥
यथा श्रुत्वैव नचिरात् तावुभौ रामलक्ष्मणौ ।
सुग्रीवसहितौ वीरावुपेयातां तथा कुरु ॥ १०७ ॥

'उस समय उन्होंने मनसे कुछ निश्चय करके पुनः मुझे उत्तर दिया—'हनुमन्! तुम श्रीरघुनाथजीको मेरा सारा वृत्तान्त सुनाना और ऐसा प्रयत्न करना, जिससे सुग्रीवसहित वे दोनों वीरबन्धु श्रीराम और लक्ष्मण मेरा हाल सुनते ही अविलम्ब यहाँ आ जायँ ॥ १०६-१०७ ॥

यदन्यथा भवेदेतद् द्वौ मासौ जीवितं मम ।
न मां द्रक्ष्यति काकुत्स्थो म्रिये साहमनाथवत् ॥ १०८ ॥

'यदि इसके विपरीत हुआ तो दो महीनेतक मेरा जीवन और शेष है। उसके बाद श्रीरघुनाथजी मुझे नहीं देख सकेंगे। मैं अनाथकी भाँति मर जाऊँगी' ॥ १०८ ॥

तच्छ्रुत्वा करुणं वाक्यं क्रोधो मामभ्यवर्तत ।
उत्तरं च मया दृष्टं कार्यशेषमनन्तरम् ॥ १०९ ॥

'उनका यह करुणाजनक वचन सुनकर राक्षसोंके प्रति मेरा क्रोध बहुत बढ़ गया। फिर मैंने शेष बचे हुए भावी कार्यपर विचार किया ॥ १०९ ॥

ततोऽवर्धत मे कायस्तदा पर्वतसंनिभः ।
युद्धाकाङ्क्षी वनं तस्य विनाशयितुमारभे ॥ ११० ॥

'तदनन्तर मेरा शरीर बढ़ने लगा और तत्काल पर्वतके समान हो गया। मैंने युद्धकी इच्छासे रावणके उस वनको उजाड़ना आरम्भ किया ॥ ११० ॥

तद् भग्नं वनखण्डं तु भ्रान्तत्रस्तमृगद्विजम् ।
प्रतिबुद्ध्य निरीक्षन्ते राक्षस्यो विकृताननाः ॥ १११ ॥

'जहाँके पशु और पक्षी घबराये और डरे हुए थे, उस उजड़े हुए वनखण्डको वहाँ सोकर उठी हुई विकराल मुखवाली राक्षसियोंने देखा ॥ १११ ॥

मां च दृष्ट्वा वने तस्मिन् समागम्य ततस्ततः ।
ताः समभ्यागताः क्षिप्रं रावणायाचचक्षिरे ॥ ११२ ॥

'उस वनमें मुझे देखकर वे सब इधर-उधरसे जुट गयीं और तुरंत रावणके पास जाकर उन्होंने वनविध्वंसका सारा समाचार कहा— ॥ ११२ ॥

राजन् वनमिदं दुर्गं तव भग्नं दुरात्मना ।
वानरेण ह्यविज्ञाय तव वीर्यं महाबल ॥ ११३ ॥

'महाबली राक्षसराज! एक दुरात्मा वानरने आपके बल-पराक्रमको कुछ भी न समझकर इस दुर्गम प्रमदावनको उजाड़ डाला है ॥ ११३ ॥

तस्य दुर्बुद्धिता राजंस्तव विप्रियकारिणः ।
वधमाज्ञापय क्षिप्रं यथासौ न पुनर्व्रजेत् ॥ ११४ ॥

'महाराज! यह उसकी दुर्बुद्धि ही है, जो उसने आपका अपराध किया। आप शीघ्र ही उसके वधकी आज्ञा दें, जिससे वह फिर बचकर चला न जाय' ॥ ११४ ॥

तच्छ्रुत्वा राक्षसेन्द्रेण विसृष्टा बहुदुर्जयाः ।
राक्षसाः किंकरा नाम रावणस्य मनोऽनुगाः ॥ ११५ ॥

'यह सुनकर राक्षसराजने अपने मनके अनुकूल चलनेवाले किंकर नामक राक्षसोंको भेजा, जिनपर विजय पाना अत्यन्त कठिन था ॥ ११५ ॥

तेषामशीतिसाहस्रं शूलमुद्गरपाणिनाम् ।
मया तस्मिन् वनोद्देशे परिघेण निषूदितम् ॥ ११६ ॥

'वे हाथोंमें शूल और मुद्गर लेकर आये थे। उनकी संख्या अस्सी हजार थी; परंतु मैंने उस वनप्रान्तमें एक परिघसे ही उन सबका संहार कर डाला ॥ ११६ ॥

तेषां तु हतशिष्टा ये ते गता लघुविक्रमाः ।
निहतं च मया सैन्यं रावणायाचचक्षिरे ॥ ११७ ॥

'उनमें जो मरनेसे बच गये, वे जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाते हुए भाग गये। उन्होंने रावणको मेरेद्वारा सारी सेनाके मारे जानेका समाचार बताया ॥ ११७ ॥

ततो मे बुद्धिरुत्पन्ना चैत्यप्रासादमुत्तमम् ।
तत्रस्थान् राक्षसान् हत्वा शतं स्तम्भेन वै पुनः ॥ ११८ ॥
ललामभूतो लङ्काया मया विध्वंसितो रुषा ।

'तत्पश्चात् मेरे मनमें एक नया विचार उत्पन्न हुआ और मैंने क्रोधपूर्वक वहाँके उत्तम चैत्यप्रासादको, जो लङ्काका सबसे सुन्दर भवन था तथा जिसमें सौ खम्भे लगे हुए थे, वहाँके राक्षसोंका संहार करके तोड़-फोड़ डाला ॥ ११८½ ॥

ततः प्रहस्तस्य सुतं जम्बुमालिनमादिशत् ॥ ११९ ॥
राक्षसैर्बहुभिः सार्धं घोररूपैर्भयानकैः ।

तब रावणने घोर रूपवाले भयानक राक्षसोंके साथ जिनकी संख्या बहुत अधिक थी, प्रहस्तके बेटे जम्बुमालीको युद्धके लिये भेजा ॥ ११९½ ॥

तमहं बलसम्पन्नं राक्षसं रणकोविदम् ॥ १२० ॥
परिघेणातिघोरेण सूदयामि सहानुगम् ।

'वह राक्षस बड़ा बलवान् तथा युद्धकी कलामें कुशल था तो भी मैंने अत्यन्त घोर परिघसे मारकर सेवकोंसहित उसे कालके गालमें डाल दिया ॥ १२०½ ॥

तच्छ्रुत्वा राक्षसेन्द्रस्तु मन्त्रिपुत्रान् महाबलान् ॥ १२१ ॥
पदातिबलसम्पन्नान् प्रेषयामास रावणः ।
परिघेणैव तान् सर्वान् नयामि यमसादनम् ॥ १२२ ॥

'यह सुनकर राक्षसराज रावणने पैदल सेनाके साथ अपने मन्त्रीके पुत्रोंको भेजा, जो बड़े बलवान् थे; किंतु मैंने परिघसे ही उन सबको यमलोक भेज दिया ॥ १२१-१२२ ॥

मन्त्रिपुत्रान् हताञ्छ्रुत्वा समरे लघुविक्रमान् ।
पञ्च सेनाग्रगाञ्छूरान् प्रेषयामास रावणः ॥ १२३ ॥

'समराङ्गणमें शीघ्रतापूर्वक पराक्रम प्रकट करनेवाले मन्त्रिकुमारोंको मारा गया सुनकर रावणने पाँच शूरवीर सेनापतियोंको भेजा ॥ १२३ ॥

तानहं सहसैन्यान् वै सर्वानेवाभ्यसूदयम् ।
ततः पुनर्दशग्रीवः पुत्रमक्षं महाबलम् ॥ १२४ ॥
बहुभी राक्षसैः सार्धं प्रेषयामास संयुगे ।

'उन सबको भी मैंने सेनासहित मौतके घाट उतार दिया। तब दशमुख रावणने अपने पुत्र महाबली अक्षकुमारको बहुसंख्यक राक्षसोंके साथ युद्धके लिये भेजा ॥ १२४½ ॥

तं तु मन्दोदरीपुत्रं कुमारं रणपण्डितम् ॥ १२५ ॥
सहसा खं समुद्यन्तं पादयोश्च गृहीतवान् ।
तमासीनं शतगुणं भ्रामयित्वा व्यपेषयम् ॥ १२६ ॥

'मन्दोदरीका वह पुत्र युद्धकी कलामें बड़ा प्रवीण था। वह आकाशमें उड़ रहा था। उसी समय मैंने सहसा उसके दोनों पैर पकड़ लिये और सौ बार घुमाकर उसे पृथ्वीपर पटक दिया। इस तरह वहाँ पड़े हुए कुमार अक्षको मैंने पीस डाला ॥ १२५-१२६ ॥

तमक्षमागतं भग्नं निशम्य स दशाननः ।
ततश्चेन्द्रजितं नाम द्वितीयं रावणः सुतम् ॥ १२७ ॥
व्यादिदेश सुसंक्रुद्धो बलिनं युद्धदुर्मदम् ।

'अक्षकुमार युद्धभूमिमें आया और मारा गया—यह सुनकर दशमुख रावणने अत्यन्त कुपित हो अपने दूसरे पुत्र इन्द्रजित्को, जो बड़ा ही रणदुर्मद और बलवान् था, भेजा ॥ १२७½ ॥

तच्चाप्यहं बलं सर्वं तं च राक्षसपुङ्गवम् ॥ १२८ ॥
नष्टौजसं रणे कृत्वा परं हर्षमुपागतः ।

'उसके साथ आयी हुई सारी सेनाको और उस राक्षस-शिरोमणिको भी युद्धमें हतोत्साह करके मुझे बड़ा हर्ष हुआ ॥ १२८½ ॥

महतापि महाबाहुः प्रत्ययेन महाबलः ॥ १२९ ॥
प्रहितो रावणेनैष सह वीरैर्मदोद्धतैः ।

'रावणने इस महाबली महाबाहु वीरको अनेक मदमत्त वीरोंके साथ बड़े विश्वाससे भेजा था ॥ १२९½ ॥

सोऽविषह्यं हि मां बुद्ध्वा स्वसैन्यं चावमर्दितम् ॥ १३० ॥
ब्रह्मणोऽस्त्रेण स तु मां प्रबद्ध्वा चातिवेगिनः ।
रज्जुभिश्चापि बध्नन्ति ततो मां तत्र राक्षसाः ॥ १३१ ॥

'इन्द्रजित्ने देखा, मेरी सारी सेना कुचल डाली गयी, तब उसने समझ लिया कि इस वानरका सामना करना असम्भव है। अतः उसने बड़े वेगसे ब्रह्मास्त्र चलाकर मुझे बाँध लिया। फिर तो वहाँ राक्षसोंने मुझे रस्सियोंसे भी बाँधा ॥ १३०-१३१ ॥

रावणस्य समीपं च गृहीत्वा मामुपागमन् ।
दृष्ट्वा सम्भाषितश्चाहं रावणेन दुरात्मना ॥ १३२ ॥
पृष्टश्च लङ्कागमनं राक्षसानां च तं वधम् ।
तत्सर्वं च रणे तत्र सीतार्थमुपजल्पितम् ॥ १३३ ॥

'इस तरह मुझे पकड़कर वे सब रावणके समीप ले आये। दुरात्मा रावणने मुझे देखकर वार्तालाप आरम्भ किया और पूछा—'तू लङ्कामें क्यों आया? तथा राक्षसोंका वध तूने क्यों किया?' मैंने वहाँ उत्तर दिया, 'यह सब कुछ मैंने सीताजीके लिये किया है' ॥ १३२-१३३ ॥

तस्यास्तु दर्शनाकाङ्क्षी प्राप्तस्त्वद्भवनं विभो ।
मारुतस्यौरसः पुत्रो वानरो हनुमानहम् ॥ १३४ ॥
रामदूतं च मां विद्धि सुग्रीवसचिवं कपिम् ।
सोऽहं दौत्येन रामस्य त्वत्सकाशमिहागतः ॥ १३५ ॥

'प्रभो! जनकनन्दिनीके दर्शनकी इच्छासे ही मैं तुम्हारे महलमें आया हूँ। मैं वायुदेवताका औरस पुत्र हूँ, जातिका वानर हूँ और हनुमान् मेरा नाम है। मुझे श्रीरामचन्द्रजीका दूत और सुग्रीवका मन्त्री समझो। श्रीरामचन्द्रजीका दूतकार्य करनेके लिये ही मैं यहाँ तुम्हारे पास आया हूँ ॥ १३४-१३५ ॥

शृणु चापि समादेशं यदहं प्रब्रवीमि ते ।
राक्षसेश हरीशस्त्वां वाक्यमाह समाहितम् ॥ १३६ ॥

'तुम मेरे स्वामीका संदेश, जो मैं तुम्हें बता रहा हूँ, सुनो। राक्षसराज! वानरराज सुग्रीवने तुमसे एकाग्रतापूर्वक जो बात कही है, उसपर ध्यान दो ॥ १३६ ॥

सुग्रीवश्च महाभागः स त्वां कौशलमब्रवीत् ।
धर्मार्थकामसहितं हितं पथ्यमुवाच ह ॥ १३७ ॥

'महाभाग सुग्रीवने तुम्हारी कुशल पूछी है और तुम्हें सुनानेके लिये यह धर्म, अर्थ एवं कामसे युक्त हितकर तथा लाभदायक बात कही है— ॥ १३७ ॥

वसतो ऋष्यमूके मे पर्वते विपुलद्रुमे ।
राघवो रणविक्रान्तो मित्रत्वं समुपागतः ॥ १३८ ॥

'जब मैं बहुसंख्यक वृक्षोंसे हरे-भरे ऋष्यमूक पर्वतपर निवास करता था, उन दिनों रणमें महान् पराक्रम प्रकट करनेवाले रघुनाथजीने मेरे साथ मित्रता स्थापित की थी ॥ १३८ ॥

तेन मे कथितं राजन् भार्या मे रक्षसा हृता ।
तत्र साहाय्यहेतोर्मे समयं कर्तुमर्हसि ॥ १३९ ॥

'राजन्! उन्होंने मुझे बताया कि 'राक्षस रावणने मेरी पत्नीको हर लिया है। उसके उद्धारके कार्यमें सहायता करनेके लिये तुम मेरे सामने प्रतिज्ञा करो' ॥ १३९ ॥

वालिना हृतराज्येन सुग्रीवेण सह प्रभुः ।
चक्रेऽग्निसाक्षिकं सख्यं राघवः सहलक्ष्मणः ॥ १४० ॥

'वालीने जिनका राज्य छीन लिया था, उन सुग्रीवके साथ (अर्थात् मेरे साथ) लक्ष्मणसहित भगवान् श्रीरामने अग्निको साक्षी बनाकर मित्रता की है ॥ १४० ॥

तेन वालिनमाहत्य शरेणैकेन संयुगे ।
वानराणां महाराजः कृतः सम्प्लवतां प्रभुः ॥ १४१ ॥

'श्रीरघुनाथजीने युद्धस्थलमें एक ही बाणसे वालीको मारकर सुग्रीवको (मुझको) उछलने-कूदनेवाले वानरोंका महाराज बना दिया है ॥ १४१ ॥

तस्य साहाय्यमस्माभिः कार्यं सर्वात्मना त्विह ।
तेन प्रस्थापितस्तुभ्यं समीपमिह धर्मतः ॥ १४२ ॥

'अतः हमलोगोंको सम्पूर्ण हृदयसे उनकी सहायता करनी है। यही सोचकर सुग्रीवने धर्मानुसार मुझे तुम्हारे पास भेजा है ॥ १४२ ॥

क्षिप्रमानीयतां सीता दीयतां राघवस्य च ।
यावन्न हरयो वीरा विधमन्ति बलं तव ॥ १४३ ॥

'उनका कहना है कि तुम तुरंत सीताको ले आओ और जबतक वीर वानर तुम्हारी सेनाका संहार नहीं करते हैं तभीतक उन्हें श्रीरघुनाथजीको सौंप दो ॥ १४३ ॥

वानराणां प्रभावोऽयं न केन विदितः पुरा ।
देवतानां सकाशं च ये गच्छन्ति निमन्त्रिताः ॥ १४४ ॥

'कौन ऐसा वीर है जिसे वानरोंका यह प्रभाव पहलेसे ही ज्ञात नहीं है। ये वे ही वानर हैं, जो युद्धके लिये निमन्त्रित होकर देवताओंके पास भी उनकी सहायताके लिये जाते हैं' ॥ १४४ ॥

इति वानरराजस्त्वामाहेत्यभिहितो मया ।
मामैक्षत ततो रुष्टश्चक्षुषा प्रदहन्निव ॥ १४५ ॥

'इस प्रकार वानरराज सुग्रीवने तुमसे संदेश कहा है। मेरे इतना कहते ही रावणने रुष्ट होकर मुझे इस तरह देखा, मानो अपनी दृष्टिसे मुझे दग्ध कर डालेगा ॥ १४५ ॥

तेन वध्योऽहमाज्ञप्तो रक्षसा रौद्रकर्मणा ।
मत्प्रभावमविज्ञाय रावणेन दुरात्मना ॥ १४६ ॥

'भयंकर कर्म करनेवाले दुरात्मा राक्षस रावणने मेरे प्रभावको न जानकर अपने सेवकोंको आज्ञा दे दी कि इस वानरका (मेरा) वध कर दिया जाय ॥ १४६ ॥

ततो विभीषणो नाम तस्य भ्राता महामतिः ।
तेन राक्षसराजश्च याचितो मम कारणात् ॥ १४७ ॥

'तब उसके परम बुद्धिमान् भाई विभीषणने मेरे लिये राक्षसराज रावणसे प्रार्थना करते हुए कहा— ॥ १४७ ॥

नैवं राक्षसशार्दूल त्यज्यतामेष निश्चयः ।
राजशास्त्रव्यपेतो हि मार्गः संलक्ष्यते त्वया ॥ १४८ ॥

'राक्षसशिरोमणे! ऐसा करना उचित नहीं है। आप अपने इस निश्चयको त्याग दीजिये। आपकी दृष्टि इस समय राजनीतिके विरुद्ध मार्गपर जा रही है ॥ १४८ ॥

दूतवध्या न दृष्टा हि राजशास्त्रेषु राक्षस ।
दूतेन वेदितव्यं च यथाभिहितवादिना ॥ १४९ ॥

'राक्षसराज! राजनीति-सम्बन्धी शास्त्रोंमें कहीं भी दूतके वधका विधान नहीं है। दूत तो वही कहता है, जैसा कहनेके लिये उसे बताया गया होता है। उसका कर्तव्य है कि वह अपने स्वामीके अभिप्रायका ज्ञान करा दे ॥ १४९ ॥

सुमहत्यपराधेऽपि दूतस्यातुलविक्रम ।
विरूपकरणं दृष्टं न वधोऽस्ति हि शास्त्रतः ॥ १५० ॥

'अनुपम पराक्रमी वीर! दूतका महान् अपराध होनेपर भी शास्त्रमें उसके वधका दण्ड नहीं देखा गया है। उसके किसी अङ्गको विकृत कर देनामात्र ही बताया गया है' ॥ १५० ॥

विभीषणेनैवमुक्तो रावणः संदिदेश तान् ।
राक्षसानेतदेवाद्य लाङ्गूलं दह्यतामिति ॥ १५१ ॥

'विभीषणके ऐसा कहनेपर रावणने उन राक्षसोंको आज्ञा दी—'अच्छा तो आज इसकी यह पूँछ ही जला दो' ॥ १५१ ॥

ततस्तस्य वचः श्रुत्वा मम पुच्छं समन्ततः ।
वेष्टितं शणवल्कैश्च पट्टैः कार्पासकैस्तथा ॥ १५२ ॥

'उसकी यह आज्ञा सुनकर राक्षसोंने मेरी पूँछमें सब ओरसे सुतरीकी रस्सियाँ तथा रेशमी और सूती कपड़े लपेट दिये ॥ १५२ ॥

राक्षसाः सिद्धसंनाहास्ततस्ते चण्डविक्रमाः ।
तदादीप्यन्त मे पुच्छं हनन्तः काष्ठमुष्टिभिः ॥ १५३ ॥

'इस प्रकार बाँध देनेके पश्चात् उन प्रचण्ड पराक्रमी राक्षसोंने काठके डंडों और मुक्कोंसे मारते हुए मेरी पूँछमें आग लगा दी ॥ १५३ ॥

बद्धस्य बहुभिः पाशैर्यन्त्रितस्य च राक्षसैः।
न मे पीडाभवत् काचिद् दिदृक्षोर्नगरीं दिवा ॥ १५४ ॥

'मैं दिनमें लङ्कापुरीको अच्छी तरह देखना चाहता था, इसलिये राक्षसोंद्वारा बहुत-सी रस्सियोंसे बाँधे और कसे जानेपर भी मुझे कोई पीड़ा नहीं हुई ॥ १५४ ॥

ततस्ते राक्षसाः शूरा बद्धं मामग्निसंवृतम्।
अघोषयन् राजमार्गे नगरद्वारमागताः ॥ १५५ ॥

'तत्पश्चात् नगरद्वारपर आकर वे शूरवीर राक्षस पूँछमें लगी हुई आगसे घिरे और बँधे हुए मुझको सड़कपर घुमाते हुए सब ओर मेरे अपराधकी घोषणा करने लगे ॥ १५५ ॥

ततोऽहं सुमहद्रूपं संक्षिप्य पुनरात्मनः।
विमोचयित्वा तं बन्धं प्रकृतिस्थः स्थितः पुनः ॥ १५६ ॥

'इतनेहीमें अपने उस विशाल रूपको संकुचित करके मैंने अपने-आपको उस बन्धनसे छुड़ा लिया और फिर स्वाभाविक रूपमें-आकर मैं वहाँ खड़ा हो गया ॥ १५६ ॥

आयसं परिघं गृह्य तानि रक्षांस्यसूदयम्।
ततस्तन्नगरद्वारं वेगेन प्लुतवानहम् ॥ १५७ ॥

'फिर फाटकपर रखे हुए एक लोहेके परिघको उठाकर मैंने उन सब राक्षसोंको मार डाला। इसके बाद बड़े वेगसे कूदकर मैं उस नगरद्वारपर चढ़ गया ॥ १५७ ॥

पुच्छेन च प्रदीप्तेन तां पुरीं साट्टगोपुराम्।
दहाम्यहमसम्भ्रान्तो युगान्ताग्निरिव प्रजाः ॥ १५८ ॥

'तत्पश्चात् समस्त प्रजाको दग्ध करनेवाली प्रलयाग्निके समान मैं बिना किसी घबराहटके अट्टालिका और गोपुरसहित उस पुरीको अपनी जलती हुई पूँछकी आगसे जलाने लगा ॥ १५८ ॥

विनष्टा जानकी व्यक्तं न ह्यदग्धः प्रदृश्यते।
लङ्कायाः कश्चिदुद्देशः सर्वा भस्मीकृता पुरी ॥ १५९ ॥
दहता च मया लङ्कां दग्धा सीता न संशयः।
रामस्य च महत्कार्यं मयेदं विफलीकृतम् ॥ १६० ॥

'फिर मैंने सोचा 'लङ्काका कोई भी स्थान ऐसा नहीं दिखायी देता है, जो जला हुआ न हो, सारी नगरी जलकर भस्म हो गयी है। अतः अवश्य ही जानकीजी भी नष्ट हो गयी होंगी। इसमें संदेह नहीं कि लङ्काको जलाते-जलाते मैंने सीताजीको भी जला दिया और इस प्रकार भगवान् श्रीरामके इस महान् कार्यको मैंने निष्फल कर दिया' ॥ १५९-१६० ॥

इति शोकसमाविष्टश्चिन्तामहमुपागतः।
ततोऽहं वाचमश्रौषं चारणानां शुभाक्षराम् ॥ १६१ ॥
जानकी न च दग्धेति विस्मयोदन्तभाषिणाम्।

'इस तरह शोकाकुल होकर मैं बड़ी चिन्तामें पड़ गया। इतनेहीमें आश्चर्ययुक्त वृत्तान्तका वर्णन करनेवाले चारणोंकी शुभ अक्षरोंसे विभूषित यह वाणी मेरे कानोंमें पड़ी कि जानकीजी इस आगसे नहीं जली हैं ॥ १६१ १/२ ॥

ततो मे बुद्धिरुत्पन्ना श्रुत्वा तामद्भुतां गिरम् ॥ १६२ ॥
अदग्धा जानकीत्येव निमित्तैश्चोपलक्षितम्।
दीप्यमाने तु लाङ्गूले न मां दहति पावकः ॥ १६३ ॥
हृदयं च प्रहृष्टं मे वाताः सुरभिगन्धिनः।

'उस अद्भुत वाणीको सुनकर मेरे मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ—'शुभ शकुनोंसे भी यही जान पड़ता है कि जानकीजी नहीं जली हैं; क्योंकि पूँछमें आग लग जानेपर भी अग्निदेव मुझे जला नहीं रहे हैं। मेरे हृदयमें महान् हर्ष भरा हुआ है और उत्तम सुगन्धसे युक्त मन्द-मन्द वायु चल रही है' ॥ १६२-१६३ १/२ ॥

तैर्निमित्तैश्च दृष्टार्थैः कारणैश्च महागुणैः ॥ १६४ ॥
ऋषिवाक्यैश्च दृष्टार्थैरभवं हृष्टमानसः।

'जिनके फलोंका मुझे प्रत्यक्ष अनुभव हो चुका था, उन उत्तम शकुनों, महान् गुणशाली कारणों तथा ऋषियों (चारणों) की प्रत्यक्ष देखी हुई बातोंसे भी सीताजीके सकुशल होनेका विश्वास करके मेरा मन हर्षसे भर गया ॥ १६४ १/२ ॥

पुनर्दृष्ट्वा च वैदेहीं विसृष्टश्च तया पुनः ॥ १६५ ॥
ततः पर्वतमासाद्य तत्रारिष्टमहं पुनः।
प्रतिप्लवनमारेभे युष्मद्दर्शनकाङ्क्षया ॥ १६६ ॥

'तत्पश्चात् मैंने पुनः विदेहनन्दिनीका दर्शन किया और फिर उनसे विदा लेकर मैं अरिष्ट पर्वतपर आ गया। वहींसे आपलोगोंके दर्शनकी इच्छासे मैंने प्रतिप्लवन (दुबारा आकाशमें उड़ना) आरम्भ किया ॥ १६५-१६६ ॥

ततः श्वसनचन्द्रार्कसिद्धगन्धर्वसेवितम्।
पन्थानमहमाक्रम्य भवतो दृष्टवानिह ॥ १६७ ॥

'तत्पश्चात् वायु, चन्द्रमा, सूर्य, सिद्ध और गन्धर्वोंसे सेवित मार्गका आश्रय ले यहाँ पहुँचकर मैंने आपलोगोंका दर्शन किया है ॥ १६७ ॥

राघवस्य प्रसादेन भवतां चैव तेजसा।
सुग्रीवस्य च कार्यार्थं मया सर्वमनुष्ठितम् ॥ १६८ ॥

'श्रीरामचन्द्रजीकी कृपा और आपलोगोंके प्रभावसे मैंने सुग्रीवके कार्यकी सिद्धिके लिये सब कुछ किया है ॥ १६८ ॥

एतत् सर्वं मया तत्र यथावदुपपादितम्।
तत्र यन्न कृतं शेषं तत् सर्वं क्रियतामिति ॥ १६९ ॥

'यह सारा कार्य मैंने वहाँ यथोचित रूपसे सम्पन्न किया है। जो कार्य नहीं किया है अथवा जो शेष रह गया है, वह सब आपलोग पूर्ण करें' ॥ १६९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डेऽष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें अट्ठावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमः सर्गः

हनुमान्‌जीका सीताकी दुरवस्था बताकर वानरोंको लङ्कापर आक्रमण करनेके लिये उत्तेजित करना

एतदाख्याय तत् सर्वं हनूमान् मारुतात्मजः ।
भूयः समुपचक्राम वचनं वक्तुमुत्तरम् ॥ १ ॥

यह सब वृत्तान्त बताकर पवनकुमार हनुमान्‌जीने पुनः उत्तम बातें कहनी आरम्भ कीं— ॥ १ ॥

सफलो राघवोद्योगः सुग्रीवस्य च सम्भ्रमः ।
शीलमासाद्य सीताया मम च प्रीणितं मनः ॥ २ ॥

'कपिवरो ! श्रीरामचन्द्रजीका उद्योग और सुग्रीवका उत्साह सफल हुआ। सीताजीका उत्तम शील-स्वभाव (पातिव्रत्य) देखकर मेरा मन अत्यन्त संतुष्ट हुआ है ॥ २ ॥

आर्यायाः सदृशं शीलं सीतायाः प्लवगर्षभाः ।
तपसा धारयेल्लोकान् क्रुद्धा वा निर्दहेदपि ॥ ३ ॥

'वानरशिरोमणियो ! जिस नारीका शील-स्वभाव आर्या सीताके समान होगा, वह अपनी तपस्यासे सम्पूर्ण लोकोंको धारण कर सकती है अथवा कुपित होनेपर तीनों लोकोंको जला सकती है ॥ ३ ॥

सर्वथातिप्रकृष्टोऽसौ रावणो राक्षसेश्वरः ।
यस्य तां स्पृशतो गात्रं तपसा न विनाशितम् ॥ ४ ॥

'राक्षसराज रावण सर्वथा महान् तपोबलसे सम्पन्न जान पड़ता है। जिसका अङ्ग सीताका स्पर्श करते समय उनकी तपस्यासे नष्ट नहीं हो गया ॥ ४ ॥

न तदग्निशिखा कुर्यात् संस्पृष्टा पाणिना सती ।
जनकस्य सुता कुर्याद् यत् क्रोधकलुषीकृता ॥ ५ ॥

'हाथसे छू जानेपर आगकी लपट भी वह काम नहीं कर सकती, जो क्रोध दिलानेपर जनकनन्दिनी सीता कर सकती हैं ॥ ५ ॥

जाम्बवत्प्रमुखान् सर्वाननुज्ञाप्य महाकपीन् ।
अस्मिन्नेवंगते कार्ये भवतां च निवेदिते ।
न्याय्यं स्म सह वैदेह्या द्रष्टुं तौ पार्थिवात्मजौ ॥ ६ ॥

'इस कार्यमें मुझे जहाँतक सफलता मिली है, वह सब इस रूपमें मैंने आपलोगोंको बता दिया। अब जाम्बवान् आदि सभी महाकपियोंकी सम्मति लेकर हम (सीताको रावणके कारावाससे लौटाकर) सीताके साथ ही श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मणका दर्शन करें, यही न्यायसङ्गत जान पड़ता है ॥ ६ ॥

अहमेकोऽपि पर्याप्तः सराक्षसगणां पुरीम् ।
तां लङ्कां तरसा हन्तुं रावणं च महाबलम् ॥ ७ ॥
किं पुनः सहितो वीरैर्बलवद्भिः कृतात्मभिः ।
कृतास्त्रैः प्लवगैः शक्तैर्भवद्भिर्विजयैषिभिः ॥ ८ ॥

'मैं अकेला भी राक्षसगणोंसहित समस्त लङ्कापुरीका वेगपूर्वक विध्वंस करने तथा महाबली रावणको मार डालनेके लिये पर्याप्त हूँ। फिर यदि सम्पूर्ण अस्त्रोंको जाननेवाले आप-जैसे वीर, बलवान्, शुद्धात्मा, शक्तिशाली और विजयाभिलाषी वानरोंकी सहायता मिल जाय, तब तो कहना ही क्या है ॥ ७-८ ॥

अहं तु रावणं युद्धे ससैन्यं सपुरःसरम् ।
सहपुत्रं वधिष्यामि सहोदरयुतं युधि ॥ ९ ॥

'युद्धस्थलमें सेना, अग्रगामी सैनिक, पुत्र और सगे भाइयोंसहित रावणका तो मैं ही वध कर डालूँगा ॥ ९ ॥

ब्राह्ममस्त्रं च रौद्रं च वायव्यं वारुणं तथा ।
यदि शक्रजितोऽस्त्राणि दुर्निरीक्ष्याणि संयुगे ।
तान्यहं निहनिष्यामि विधमिष्यामि राक्षसान् ॥ १० ॥

'यद्यपि इन्द्रजित्के ब्राह्म अस्त्र, रौद्र, वायव्य तथा वारुण आदि अस्त्र युद्धमें दुर्लक्ष्य होते हैं—किसीकी दृष्टिमें नहीं आते हैं, तथापि मैं ब्रह्माजीके वरदानसे उनका निवारण कर दूँगा और राक्षसोंका संहार कर डालूँगा ॥ १० ॥

भवतामभ्यनुज्ञातो विक्रमो मे रुणद्धि तम् ।
मयातुला विसृष्टा हि शैलवृष्टिर्निरन्तरा ॥ ११ ॥
देवानपि रणे हन्यात् किं पुनस्तान् निशाचरान् ।

'यदि आपलोगोंकी आज्ञा मिल जाय तो मेरा पराक्रम रावणको कुण्ठित कर देगा। मेरेद्वारा लगातार बरसाये जानेवाले पत्थरोंकी अनुपम वृष्टि रणभूमिमें देवताओंको भी मौतके घाट उतार देगी; फिर उन निशाचरोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ ११$\frac{1}{2}$ ॥

भवतामननुज्ञातो विक्रमो मे रुणद्धि माम् ॥ १२ ॥
सागरोऽप्यतियाद् वेलां मन्दरः प्रचलेदपि ।
न जाम्बवन्तं समरे कम्पयेदरिवाहिनी ॥ १३ ॥

'आपलोगोंकी आज्ञा न होनेके कारण ही मेरा पुरुषार्थ मुझे रोक रहा है। समुद्र अपनी मर्यादाको लाँघ जाय और मन्दराचल अपने स्थानसे हट जाय, परंतु समराङ्गणमें शत्रुओंकी सेना जाम्बवान्‌को विचलित कर दे, यह कभी सम्भव नहीं है ॥ १२-१३ ॥

सर्वराक्षससङ्घानां राक्षसा ये च पूर्वजाः ।
अलमेकोऽपि नाशाय वीरो वालिसुतः कपिः ॥ १४ ॥

'सम्पूर्ण राक्षसों और उनके पूर्वजोंको भी यमलोक पहुँचानेके लिये वालीके वीर पुत्र कपिश्रेष्ठ अङ्गद अकेले ही काफी हैं ॥ १४ ॥

प्लवगस्योरुवेगेन नीलस्य च महात्मनः ।
मन्दरोऽप्यवशीर्येत किं पुनर्युधि राक्षसाः ॥ १५ ॥

'वानरवीर महात्मा नीलके महान् वेगसे मन्दराचल भी विदीर्ण हो सकता है; फिर युद्धमें राक्षसोंका नाश करना उनके लिये कौन बड़ी बात है ? ॥ १५ ॥

सदेवासुरयक्षेषु गन्धर्वोरगपक्षिषु ।
मैन्दस्य प्रतियोद्धारं शंसत द्विविदस्य वा ॥ १६ ॥

'तुम सब-के-सब बताओ तो सही—देवता, असुर, यक्ष, गन्धर्व, नाग और पक्षियोंमें भी कौन ऐसा वीर है, जो मैन्द अथवा द्विविदके साथ लोहा ले सके ? ॥ १६ ॥

अश्विपुत्रौ महावेगावेतौ प्लवगसत्तमौ ।
एतयोः प्रतियोद्धारं न पश्यामि रणाजिरे ॥ १७ ॥

'ये दोनों वानरशिरोमणि महान् वेगशाली तथा अश्विनीकुमारोंके पुत्र हैं। समराङ्गणमें इन दोनोंका सामना करनेवाला मुझे कोई नहीं दिखायी देता ॥ १७ ॥

मयैव निहता लङ्का दग्धा भस्मीकृता पुरी ।
राजमार्गेषु सर्वेषु नाम विश्रावितं मया ॥ १८ ॥

'मैंने अकेले ही लङ्कावासियोंको मार गिराया, नगरमें आग लगा दी और सारी पुरीको जलाकर भस्म कर दिया। इतना ही नहीं, वहाँकी सब सड़कोंपर मैंने अपने नामका डंका पीट दिया ॥ १८ ॥

जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः ।
राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः ॥ १९ ॥
अहं कोसलराजस्य दासः पवनसम्भवः ।
हनूमानिति सर्वत्र नाम विश्रावितं मया ॥ २० ॥

'अत्यन्त बलशाली श्रीराम और महाबली लक्ष्मणकी जय हो। श्रीरघुनाथजीके द्वारा सुरक्षित राजा सुग्रीवकी भी जय हो। मैं कोसलनरेश श्रीरामचन्द्रजीका दास और वायुदेवताका पुत्र हूँ। हनुमान् मेरा नाम है—इस प्रकार सर्वत्र अपने नामकी घोषणा कर दी है ॥ १९-२० ॥

अशोकवनिकामध्ये रावणस्य दुरात्मनः ।
अधस्ताच्छिंशपामूले साध्वी करुणमास्थिता ॥ २१ ॥

'दुरात्मा रावणकी अशोकवाटिकाके मध्यभागमें एक अशोक-वृक्षके नीचे साध्वी सीता बड़ी दयनीय अवस्थामें रहती हैं ॥ २१ ॥

राक्षसीभिः परिवृता शोकसंतापकर्शिता ।
मेघरेखापरिवृता चन्द्ररेखेव निष्प्रभा ॥ २२ ॥

'राक्षसियोंसे घिरी हुई होनेके कारण वे शोक-संतापसे दुर्बल होती जा रही हैं। बादलोंकी पंक्तिसे घिरी हुई चन्द्रलेखाकी भाँति श्रीहीन हो गयी हैं ॥ २२ ॥

अचिन्तयन्ती वैदेही रावणं बलदर्पितम् ।
पतिव्रता च सुश्रोणी अवष्टब्धा च जानकी ॥ २३ ॥

'सुन्दर कटिप्रदेशवाली विदेहनन्दिनी जानकी पतिव्रता हैं। वे बलके घमंडमें भरे रहनेवाले रावणको कुछ भी नहीं समझती हैं तो भी उसीकी कैदमें पड़ी हैं ॥ २३ ॥

अनुरक्ता हि वैदेही रामे सर्वात्मना शुभा ।
अनन्यचित्ता रामेण पौलोमीव पुरन्दरे ॥ २४ ॥

'कल्याणी सीता श्रीराममें सम्पूर्ण हृदयसे अनुरक्त हैं, जैसे शची देवराज इन्द्रमें अनन्य प्रेम रखती हैं, उसी प्रकार सीताका चित्त अनन्यभावसे श्रीरामके ही चिन्तनमें लगा हुआ है ॥ २४ ॥

तदेकवासःसंवीता रजोध्वस्ता तथैव च ।
सा मया राक्षसीमध्ये तर्ज्यमाना मुहुर्मुहुः ॥ २५ ॥
राक्षसीभिर्विरूपाभिर्दृष्टा हि प्रमदावने ।
एकवेणीधरा दीना भर्तृचिन्तापरायणा ॥ २६ ॥

'वे एक ही साड़ी पहने धूलि-धूसरित हो रही हैं। राक्षसियोंके बीचमें रहती हैं और उन्हें बारंबार उनकी डाँट-फटकार सुननी पड़ती है। इस अवस्थामें कुरूप राक्षसियोंसे घिरी हुई सीताको मैंने प्रमदावनमें देखा है। वे एक ही वेणी धारण किये दीनभावसे केवल अपने पतिदेवके चिन्तनमें लगी रहती हैं ॥ २५-२६ ॥

अधःशय्या विवर्णाङ्गी पद्मिनीव हिमोदये ।
रावणाद् विनिवृत्तार्था मर्तव्यकृतनिश्चया ॥ २७ ॥

'वे नीचे भूमिपर सोती हैं। हेमन्तऋतुमें कमलिनीकी भाँति उनके अङ्गोंकी कान्ति फीकी पड़ गयी है। रावणसे उनका कोई प्रयोजन नहीं है। वे मरनेका निश्चय किये बैठी हैं ॥ २७ ॥

कथंचिन्मृगशावाक्षी विश्वासमुपपादिता ।
ततः सम्भाषिता चैव सर्वमर्थं प्रकाशिता ॥ २८ ॥

'उन मृगनयनी सीताको मैंने बड़ी कठिनाईसे किसी तरह अपना विश्वास दिलाया। तब उनसे बातचीतका अवसर मिला और सारी बातें मैं उनके समक्ष रख सका ॥ २८ ॥

रामसुग्रीवसख्यं च श्रुत्वा प्रीतिमुपागता ।
नियतः समुदाचारो भक्तिर्भर्तरि चोत्तमा ॥ २९ ॥

'श्रीराम और सुग्रीवकी मित्रताकी बात सुनकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। सीताजीमें सुदृढ़ सदाचार (पातिव्रत्य) विद्यमान है। अपने पतिके प्रति उनके हृदयमें उत्तम भक्ति है ॥ २९ ॥

यन्न हन्ति दशग्रीवं स महात्मा दशाननः ।
निमित्तमात्रं रामस्तु वधे तस्य भविष्यति ॥ ३० ॥

'सीता स्वयं ही जो रावणको नहीं मार डालती हैं, इससे जान पड़ता है कि दशमुख रावण महात्मा है—तपोबलसे सम्पन्न होनेके कारण शाप पानेके अयोग्य है (तथापि सीताहरणके पापसे वह नष्टप्राय ही है)। श्रीरामचन्द्रजी उसके वधमें केवल निमित्तमात्र होंगे ॥ ३० ॥

सा प्रकृत्यैव तन्वङ्गी तद्वियोगाच्च कर्शिता ।
प्रतिपत्पाठशीलस्य विद्येव तनुतां गता ॥ ३१ ॥

'भगवती सीता एक तो स्वभावसे ही दुबली-पतली हैं, दूसरे श्रीरामचन्द्रजीके वियोगसे और भी कृश हो गयी हैं। जैसे प्रतिपदाके दिन स्वाध्याय करनेवाले विद्यार्थीकी विद्या क्षीण हो जाती है, उसी प्रकार उनका शरीर भी अत्यन्त दुर्बल हो गया है ॥ ३१ ॥

एवमास्ते महाभागा सीता शोकपरायणा ।
यदत्र प्रतिकर्तव्यं तत् सर्वमुपकल्प्यताम् ॥ ३२ ॥

'इस प्रकार महाभागा सीता सदा शोकमें डूबी रहती हैं। अतः इस समय जो प्रतीकार करना हो, वह सब आपलोग करें' ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे एकोनषष्टितमः सर्गः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें उनसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

★

षष्टितमः सर्गः

अङ्गदका लङ्काको जीतकर सीताको ले आनेका उत्साहपूर्ण विचार और जाम्बवान्‌के द्वारा उसका निवारण

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा वालिसूनुरभाषत।
अश्विपुत्रौ महावेगौ बलवन्तौ प्लवंगमौ॥ १॥

हनुमान्‌जीकी यह बात सुनकर वालिपुत्र अङ्गदने कहा—'अश्विनीकुमारके पुत्र ये मैन्द और द्विविद दोनों वानर अत्यन्त वेगशाली और बलवान् हैं॥ १॥

पितामहवरोत्सेकात् परमं दर्पमास्थितौ।
अश्विनोर्माननार्थं हि सर्वलोकपितामहः॥ २॥
सर्वावध्यत्वमतुलमनयोर्दत्तवान् पुरा।
वरोत्सेकेन मत्तौ च प्रमथ्य महतीं चमूम्॥ ३॥
सुराणाममृतं वीरौ पीतवन्तौ महाबलौ।

'पूर्वकालमें ब्रह्माजीका वर मिलनेसे इनका अभिमान बढ़ गया और ये बड़े घमण्डमें भर गये थे। सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ब्रह्माजीने अश्विनीकुमारोंका मान रखनेके लिये पहले इन दोनोंको यह अनुपम वरदान दिया था कि तुम्हें कोई भी मार नहीं सकता। उस वरके अभिमानसे मत्त हो इन दोनों महाबली वीरोंने देवताओंकी विशाल सेनाको मथकर अमृत पी लिया था॥ २-३½॥

एतावेव हि संक्रुद्धौ सवाजिरथकुञ्जराम्॥ ४॥
लङ्कां नाशयितुं शक्तौ सर्वे तिष्ठन्तु वानराः।

'ये ही दोनों यदि क्रोधमें भर जायँ तो हाथी, घोड़े और रथोंसहित समूची लङ्काका नाश कर सकते हैं। भले ही और सब वानर बैठे रहें॥ ४½॥

अहमेकोऽपि पर्याप्तः सराक्षसगणां पुरीम्॥ ५॥
तां लङ्कां तरसा हन्तुं रावणं च महाबलम्।
किं पुनः सहितो वीरैर्बलवद्भिः कृतात्मभिः॥ ६॥
कृतास्त्रैः प्लवगैः शक्तैर्भवद्भिर्विजयैषिभिः।

'मैं अकेला भी राक्षसगणोंसहित समस्त लङ्कापुरीका वेगपूर्वक विध्वंस करने तथा महाबली रावणको मार डालनेके लिये पर्याप्त हूँ। फिर यदि सम्पूर्ण अस्त्रोंको जाननेवाले आप-जैसे वीर, बलवान्, शुद्धात्मा, शक्तिशाली और विजयाभिलाषी वानरोंकी सहायता मिल जाय, तब तो कहना ही क्या है?॥ ५-६½॥

वायुसूनोर्बलेनैव दग्धा लङ्केति नः श्रुतम्॥ ७॥
दृष्ट्वा देवी न चानीता इति तत्र निवेदितुम्।
न युक्तमिव पश्यामि भवद्भिः ख्यातपौरुषैः॥ ८॥

'वायुपुत्र हनुमान्‌जीने अकेले जाकर अपने पराक्रमसे ही लङ्काको फूँक डाला—यह बात हम सबलोगोंने सुन ही ली। आप-जैसे ख्यातनामा पुरुषार्थी वीरोंके रहते हुए मुझे भगवान् श्रीरामके सामने यह निवेदन करना उचित नहीं जान पड़ता कि 'हमने सीतादेवीका दर्शन तो किया, किंतु उन्हें ला नहीं सके'॥ ७-८॥

नहि वः प्लवने कश्चिन्नापि कश्चित् पराक्रमे।
तुल्यः सामरदैत्येषु लोकेषु हरिसत्तमाः॥ ९॥

'वानरशिरोमणियो! देवताओं और दैत्योंसहित सम्पूर्ण लोकोंमें कोई भी ऐसा वीर नहीं है, जो दूरतककी छलाँग मारने और पराक्रम दिखानेमें आपलोगोंकी समानता कर सके॥ ९॥

जित्वा लङ्कां सरक्षौघां हत्वा तं रावणं रणे।
सीतामादाय गच्छामः सिद्धार्था हृष्टमानसाः॥ १०॥

'अतः निशाचरसमुदायसहित लङ्काको जीतकर, युद्धमें रावणका वध करके, सीताको साथ ले, सफलमनोरथ एवं प्रसन्नचित्त होकर हमलोग श्रीरामचन्द्रजीके पास चलें॥ १०॥

तेष्वेवं हतवीरेषु राक्षसेषु हनूमता।
किमन्यदत्र कर्तव्यं गृहीत्वा याम जानकीम्॥ ११॥

'जब हनुमान्‌जीने राक्षसोंके प्रमुख वीरोंको मार डाला है, ऐसी परिस्थितिमें हमारा इसके सिवा और क्या कर्तव्य हो सकता है कि हम जनकनन्दिनी सीताको साथ लेकर ही चलें॥ ११॥

रामलक्ष्मणयोर्मध्ये न्यस्याम जनकात्मजाम्।
किं व्यलीकैस्तु तान् सर्वान् वानरान् वानरर्षभान्॥ १२॥
वयमेव हि गत्वा तान् हत्वा राक्षसपुङ्गवान्।
राघवं द्रष्टुमर्हामः सुग्रीवं सहलक्ष्मणम्॥ १३॥

'कपिवरो! हम जनककिशोरीको ले चलकर श्रीराम और लक्ष्मणके बीचमें खड़ी कर दें। किष्किन्धामें जुटे हुए उन सब वानरोंको कष्ट देनेकी क्या आवश्यकता है। हमलोग ही लङ्कामें चलकर वहाँके मुख्य-मुख्य राक्षसोंका वध कर डालें, उसके बाद लौटकर श्रीराम, लक्ष्मण तथा सुग्रीवका दर्शन करें'॥ १२-१३॥

तमेवं कृतसंकल्पं जाम्बवान् हरिसत्तमः।
उवाच परमप्रीतो वाक्यमर्थवदर्थवित्॥ १४॥

अङ्गदका ऐसा संकल्प जानकर वानर-भालुओंमें श्रेष्ठ और अर्थतत्त्वके ज्ञाता जाम्बवान्‌ने अत्यन्त प्रसन्न होकर यह सार्थक बात कही—॥ १४॥

नैषा बुद्धिर्महाबुद्धे यद् ब्रवीषि महाकपे।
विचेतुं वयमाज्ञप्ता दक्षिणां दिशमुत्तमाम्॥ १५॥
नानेतुं कपिराजेन नैव रामेण धीमता।

'महाकपे! तुम बड़े बुद्धिमान् हो तथापि इस समय जो

कुछ कह रहे हो, यह बुद्धिमानोंकी बात नहीं है; क्योंकि वानरराज सुग्रीव तथा परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीरामने हमें उत्तम दक्षिण दिशामें केवल सीताको खोजनेकी आज्ञा दी है, साथ ले आनेकी नहीं ॥ १५½ ॥

कथंचिन्निर्जितां सीतामस्माभिर्नाभिरोचयेत् ॥ १६ ॥
राघवो नृपशार्दूलः कुलं व्यपदिशन् स्वकम्।

'यदि हमलोग किसी तरह सीताको जीतकर उनके पास ले भी चलें तो नृपश्रेष्ठ श्रीराम अपने कुलके व्यवहारका स्मरण करते हुए हमारे इस कार्यको पसंद नहीं करेंगे ॥ १६½ ॥

प्रतिज्ञाय स्वयं राजा सीताविजयमग्रतः ॥ १७ ॥
सर्वेषां कपिमुख्यानां कथं मिथ्या करिष्यति।

'राजा श्रीरामने सभी प्रमुख वानरवीरोंके सामने स्वयं ही सीताको जीतकर लानेकी प्रतिज्ञा की है, उसे वे मिथ्या कैसे करेंगे ? ॥ १७½ ॥

विफलं कर्म च कृतं भवेत् तुष्टिर्न तस्य च ॥ १८ ॥
वृथा च दर्शितं वीर्यं भवेद् वानरपुङ्गवाः।

'अतः वानरशिरोमणियो ! ऐसी अवस्थामें हमारा किया-कराया कार्य निष्फल हो जायगा। भगवान् श्रीरामको संतोष भी नहीं होगा और हमारा पराक्रम दिखाना भी व्यर्थ सिद्ध होगा ॥ १८½ ॥

तस्माद् गच्छाम वै सर्वे यत्र रामः सलक्ष्मणः।
सुग्रीवश्च महातेजाः कार्यस्यास्य निवेदने ॥ १९ ॥

'इसलिये हम सब लोग इस कार्यकी सूचना देनेके लिये वहीं चलें, जहाँ लक्ष्मणसहित भगवान् श्रीराम और महातेजस्वी सुग्रीव विद्यमान हैं ॥ १९ ॥

न तावदेषा मतिरक्षमा नो
यथा भवान् पश्यति राजपुत्र।
यथा तु रामस्य मतिर्निविष्टा
तथा भवान् पश्यतु कार्यसिद्धिम् ॥ २० ॥

'राजकुमार ! तुम जैसा देखते या सोचते हो, यह विचार हमलोगोंके योग्य ही है—हम इसे न कर सकें, ऐसी बात नहीं है; तथापि इस विषयमें भगवान् श्रीरामका जैसा निश्चय हो, उसीके अनुसार तुम्हें कार्यसिद्धिपर दृष्टि रखनी चाहिये' ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे षष्टितमः सर्गः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें साठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्टितमः सर्गः

वानरोंका मधुवनमें जाकर वहाँके मधु एवं फलोंका मनमाना उपभोग करना और वनरक्षकको घसीटना

ततो जाम्बवतो वाक्यमगृह्णन्त वनौकसः।
अङ्गदप्रमुखा वीरा हनूमांश्च महाकपिः ॥ १ ॥

तदनन्तर अङ्गद आदि सभी वीर वानरों और महाकपि हनुमान्‌ने भी जाम्बवान्‌की बात मान ली ॥ १ ॥

प्रीतिमन्तस्ततः सर्वे वायुपुत्रपुरःसराः।
महेन्द्राग्रात् समुत्पत्य पुप्लुवुः प्लवगर्षभाः ॥ २ ॥

फिर वे सब श्रेष्ठ वानर पवनपुत्र हनुमान्‌को आगे करके मन-ही-मन प्रसन्नताका अनुभव करते हुए महेन्द्रगिरिके शिखरसे उछलते-कूदते चल दिये ॥ २ ॥

मेरुमन्दरसंकाशा मत्ता इव महागजाः।
छादयन्त इवाकाशं महाकाया महाबलाः ॥ ३ ॥

वे मेरु पर्वतके समान विशालकाय और बड़े-बड़े मदमत्त गजराजोंके समान महाबली वानर आकाशको आच्छादित करते हुए-से जा रहे थे ॥ ३ ॥

सभाज्यमानं भूतैस्तमात्मवन्तं महाबलम्।
हनूमन्तं महावेगं वहन्त इव दृष्टिभिः ॥ ४ ॥

उस समय सिद्ध आदि भूतगण अत्यन्त वेगशाली महाबली बुद्धिमान् हनुमान्‌जीकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे थे और अपलक नेत्रोंसे उनकी ओर इस तरह देख रहे थे, मानो अपनी दृष्टियोंद्वारा ही उन्हें ढो रहे हों ॥ ४ ॥

राघवे चार्थनिर्वृत्तिं कर्तुं च परमं यशः।
समाधाय समृद्धार्थाः कर्मसिद्धिभिरुन्नताः ॥ ५ ॥
प्रियाख्यानोन्मुखाः सर्वे सर्वे युद्धाभिनन्दिनः।
सर्वे रामप्रतीकारे निश्चितार्था मनस्विनः ॥ ६ ॥

श्रीरघुनाथजीके कार्यकी सिद्धि करनेका उत्तम यश पाकर उन वानरोंका मनोरथ सफल हो गया था। उस कार्यकी सिद्धि हो जानेसे उनका उत्साह बढ़ा हुआ था। वे सभी भगवान् श्रीरामको प्रिय संवाद सुनानेके लिये उत्सुक थे। सभी युद्धका अभिनन्दन करनेवाले थे। श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा रावणका पराभव हो—ऐसा सबने निश्चय कर लिया था तथा वे सब-के-सब मनस्वी वीर थे ॥ ५-६ ॥

प्लवमानाः खमाप्लुत्य ततस्ते काननौकसः।
नन्दनोपममासेदुर्वनं द्रुमशतायुतम् ॥ ७ ॥

आकाशमें छलाँग मारते हुए वे वनवासी वानर सैकड़ों

वृक्षोंसे भरे हुए एक सुन्दर वनमें जा पहुँचे, जो नन्दनवनके समान मनोहर था ॥ ७ ॥

यत् तन्मधुवनं नाम सुग्रीवस्याभिरक्षितम् ।
अधृष्यं सर्वभूतानां सर्वभूतमनोहरम् ॥ ८ ॥

उसका नाम मधुवन था। सुग्रीवका वह मधुवन सर्वथा सुरक्षित था। समस्त प्राणियोंमेंसे कोई भी उसको हानि नहीं पहुँचा सकता था। उसे देखकर सभी प्राणियोंका मन लुभा जाता था ॥ ८ ॥

यद् रक्षति महावीरः सदा दधिमुखः कपिः ।
मातुलः कपिमुख्यस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ॥ ९ ॥

कपिश्रेष्ठ महात्मा सुग्रीवके मामा महावीर दधिमुख नामक वानर सदा उस वनकी रक्षा करते थे ॥ ९ ॥

ते तद् वनमुपागम्य बभूवुः परमोत्कटाः ।
वानरा वानरेन्द्रस्य मनःकान्तं महावनम् ॥ १० ॥

वानरराज सुग्रीवके उस मनोरम महावनके पास पहुँचकर वे सभी वानर वहाँका मधु पीने और फल खाने आदिके लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हो गये ॥ १० ॥

ततस्ते वानरा हृष्टा दृष्ट्वा मधुवनं महत् ।
कुमारमभ्ययाचन्त मधूनि मधुपिङ्गलाः ॥ ११ ॥

तब हर्षसे भरे हुए तथा मधुके समान पिङ्गल वर्णवाले उन वानरोंने उस महान् मधुवनको देखकर कुमार अङ्गदसे मधुपान करनेकी आज्ञा माँगी ॥ ११ ॥

ततः कुमारस्तान् वृद्धाञ्जाम्बवत्प्रमुखान् कपीन् ।
अनुमान्य ददौ तेषां निसर्गं मधुभक्षणे ॥ १२ ॥

उस समय कुमार अङ्गदने जाम्बवान् आदि बड़े-बूढ़े वानरोंकी अनुमति लेकर उन सबको मधु पीनेकी आज्ञा दे दी ॥ १२ ॥

ते निसृष्टाः कुमारेण धीमता वालिसूनुना ।
हरयः समपद्यन्त द्रुमान् मधुकराकुलान् ॥ १३ ॥

बुद्धिमान् वालिपुत्र राजकुमार अङ्गदकी आज्ञा पाकर वे वानर भौंरोंके झुंडसे भरे हुए वृक्षोंपर चढ़ गये ॥ १३ ॥

भक्षयन्तः सुगन्धीनि मूलानि च फलानि च ।
जग्मुः प्रहर्षं ते सर्वे बभूवुश्च मदोत्कटाः ॥ १४ ॥

वहाँके सुगन्धित फल-मूलोंका भक्षण करते हुए उन सबको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे सभी मदसे उन्मत्त हो गये ॥ १४ ॥

ततश्चानुमताः सर्वे सुसंहृष्टा वनौकसः ।
मुदिताश्च ततस्ते च प्रनृत्यन्ति ततस्ततः ॥ १५ ॥

युवराजकी अनुमति मिल जानेसे सभी वानरोंको बड़ा हर्ष हुआ। वे आनन्दमग्न होकर इधर-उधर नाचने लगे ॥ १५ ॥

गायन्ति केचित् प्रहसन्ति केचि-
न्नृत्यन्ति केचित् प्रणमन्ति केचित् ।
पतन्ति केचित् प्रचरन्ति केचित्
प्लवन्ति केचित् प्रलपन्ति केचित् ॥ १६ ॥

कोई गाते, कोई हँसते, कोई नाचते, कोई नमस्कार करते, कोई गिरते-पड़ते, कोई जोर-जोरसे चलते, कोई उछलते-कूदते और कोई प्रलाप करते थे ॥ १६ ॥

परस्परं केचिदुपाश्रयन्ति
परस्परं केचिदतिब्रुवन्ति ।
द्रुमाद् द्रुमं केचिदभिद्रवन्ति
क्षितौ नगाग्रान्निपतन्ति केचित् ॥ १७ ॥

कोई एक-दूसरेके पास जाकर मिलते, कोई आपसमें विवाद करते, कोई एक वृक्षसे दूसरे वृक्षपर दौड़ जाते और कोई वृक्षोंकी डालियोंसे पृथ्वीपर कूद पड़ते थे ॥ १७ ॥

महीतलात् केचिदुदीर्णवेगा
महाद्रुमाग्राण्यभिसम्पतन्ति ।
गायन्तमन्यः प्रहसन्नुपैति
हसन्तमन्यः प्ररुदन्नुपैति ॥ १८ ॥

कितने ही प्रचण्ड वेगवाले वानर पृथ्वीसे दौड़कर बड़े-बड़े वृक्षोंकी चोटियोंतक पहुँच जाते थे। कोई गाता तो दूसरा उसके पास हँसता हुआ जाता था। कोई हँसते हुएके पास जोर-जोरसे रोता हुआ पहुँचता था ॥ १८ ॥

तुदन्तमन्यः प्रणदन्नुपैति
समाकुलं तत् कपिसैन्यमासीत् ।
न चात्र कश्चिन्न बभूव मत्तो
न चात्र कश्चिन्न बभूव दृप्तः ॥ १९ ॥

कोई दूसरेको पीड़ा देता तो दूसरा उसके पास बड़े जोरसे गर्जना करता हुआ आता था। इस प्रकार वह सारी वानरसेना मदोन्मत्त होकर उसके अनुरूप चेष्टा कर रही थी। वानरोंके उस समुदायमें कोई भी ऐसा नहीं था, जो मतवाला न हो गया हो और कोई भी ऐसा नहीं था, जो दर्पसे भर न गया हो ॥ १९ ॥

ततो वनं तत् परिभक्ष्यमाणं
द्रुमांश्च विध्वंसितपत्रपुष्पान् ।
समीक्ष्य कोपाद् दधिवक्त्रनामा
निवारयामास कपिः कपींस्तान् ॥ २० ॥

तदनन्तर मधुवनके फल-मूल आदिका भक्षण होता और वहाँके वृक्षोंके पत्तों एवं फूलोंको नष्ट किया जाता देख दधिमुख नामक वानरको बड़ा क्रोध हुआ और उन्होंने उन वानरोंको वैसा करनेसे रोका ॥ २० ॥

स तैः प्रवृद्धैः परिभर्त्स्यमानो
वनस्य गोप्ता हरिवृद्धवीरः ।
चकार भूयो मतिमुग्रतेजा
वनस्य रक्षां प्रति वानरेभ्यः ॥ २१ ॥

जिनपर अधिक नशा चढ़ गया था, उन बड़े-बड़े वानरोंने वनकी रक्षा करनेवाले उस वृद्ध वानरवीरको उलटे डाँट बतानी शुरू की, तथापि उग्र तेजस्वी दधिमुखने पुनः उन

वानरोंसे वनकी रक्षा करनेका विचार किया ॥ २१ ॥

उवाच कांश्चित् परुषाण्यभीत-
मसक्तमन्यांश्च तलैर्जघान ।
समेत्य कैश्चित् कलहं चकार
तथैव साम्नोपजगाम कांश्चित् ॥ २२ ॥

उन्होंने निर्भय होकर किन्हीं-किन्हींको कड़ी बातें सुनायीं। कितनोंको थप्पड़ोंसे मारा। बहुतोंके साथ भिड़कर झगड़ा किया और किन्हीं-किन्हींके प्रति शान्तिपूर्ण उपायसे ही काम लिया ॥ २२ ॥

स तैर्मदात्प्रतिवार्यवेगै-
र्बलाच्च तेन प्रतिवार्यमाणैः ।
प्रधर्षणे त्यक्तभयैः समेत्य
प्रकृष्यते चाप्यनवेक्ष्य दोषम् ॥ २३ ॥

मदके कारण जिनके वेगको रोकना असम्भव हो गया था, उन वानरोंको जब दधिमुख बलपूर्वक रोकनेकी चेष्टा करने लगे, तब वे सब मिलकर उन्हें बलपूर्वक इधर-उधर घसीटने लगे। वनरक्षकपर आक्रमण करनेसे राजदण्ड प्राप्त होगा, इसकी ओर उनकी दृष्टि नहीं गयी। अतएव वे सब निर्भय होकर उन्हें इधर-उधर खींचने लगे ॥ २३ ॥

नखैस्तुदन्तो दशनैर्दशन्त-
स्तलैश्च पादैश्च समापयन्तः ।
मदात् कपिं ते कपयः समन्ता-
न्महावनं निर्विषयं च चक्रुः ॥ २४ ॥

मदके प्रभावसे वे वानर कपिवर दधिमुखको नखोंसे बकोटने, दाँतोंसे काटने और थप्पड़ों तथा लातोंसे मार-मारकर अधमरा करने लगे। इस प्रकार उन्होंने उस विशाल वनको सब ओरसे फल आदिसे शून्य कर दिया ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे एकषष्टितमः सर्गः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें इकसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

—★—

द्विषष्टितमः सर्गः

वानरोंद्वारा मधुवनके रक्षकों और दधिमुखका पराभव तथा सेवकोंसहित दधिमुखका सुग्रीवके पास जाना

तानुवाच हरिश्रेष्ठो हनुमान् वानरर्षभः ।
अव्यग्रमनसो यूयं मधु सेवत वानराः ॥ १ ॥
अहमावर्जयिष्यामि युष्माकं परिपन्थिनः ।

उस समय वानरशिरोमणि कपिवर हनुमान्‌ने अपने साथियोंसे कहा—'वानरो! तुम सब लोग बेखटके मधुका पान करो। मैं तुम्हारे विरोधियोंको रोकूँगा' ॥ १½ ॥

श्रुत्वा हनुमतो वाक्यं हरीणां प्रवरोऽङ्गदः ॥ २ ॥
प्रत्युवाच प्रसन्नात्मा पिबन्तु हरयो मधु ।
अवश्यं कृतकार्यस्य वाक्यं हनुमतो मया ॥ ३ ॥
अकार्यमपि कर्तव्यं किमङ्ग पुनरीदृशम् ।

हनुमान्‌जीकी बात सुनकर वानरप्रवर अङ्गदने भी प्रसन्नचित्त होकर कहा—'वानरगण अपनी इच्छाके अनुसार मधुपान करें। हनुमान्‌जी इस समय कार्य सिद्ध करके लौटे हैं, अतः इनकी बात स्वीकार करनेके योग्य न हो तो भी मुझे अवश्य माननी चाहिये। फिर ऐसी बातके लिये तो कहना ही क्या है?' ॥ २-३½ ॥

अङ्गदस्य मुखाच्छ्रुत्वा वचनं वानरर्षभाः ॥ ४ ॥
साधु साध्विति संहृष्टा वानराः प्रत्यपूजयन् ।

अङ्गदके मुखसे ऐसी बात सुनकर सभी श्रेष्ठ वानर हर्षसे खिल उठे और 'साधु-साधु' कहते हुए उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ ४½ ॥

पूजयित्वाङ्गदं सर्वे वानरा वानरर्षभम् ॥ ५ ॥
जग्मुर्मधुवनं यत्र नदीवेग इव द्रुमम् ।

वानरशिरोमणि अङ्गदकी प्रशंसा करके वे सब वानर जहाँ मधुवन था, उस मार्गपर उसी तरह दौड़े गये, जैसे नदीके जलका वेग तटवर्ती वृक्षकी ओर जाता है ॥ ५½ ॥

ते प्रविष्टा मधुवनं पालानाक्रम्य शक्तितः ॥ ६ ॥
अतिसर्गाच्च पटवो दृष्ट्वा श्रुत्वा च मैथिलीम् ।
पपुः सर्वे मधु तदा रसवत् फलमाददुः ॥ ७ ॥

मिथिलेशकुमारी सीताको हनुमान्‌जी तो देखकर आये थे और अन्य वानरोंने उन्हींके मुखसे यह सुन लिया था कि वे लङ्कामें हैं, अतः उन सबका उत्साह बढ़ा हुआ था। इधर युवराज अङ्गदका आदेश भी मिल गया था, इसलिये वे सामर्थ्यशाली सभी वानर वनरक्षकोंपर पूरी शक्तिसे आक्रमण करके मधुवनमें घुस गये और वहाँ इच्छानुसार मधु पीने तथा रसीले फल खाने लगे ॥ ६-७ ॥

उत्पत्य च ततः सर्वे वनपालान् समागतान् ।
ते ताडयन्तः शतशः सक्ता मधुवने तदा ॥ ८ ॥

रोकनेके लिये अपने पास आये हुए रक्षकोंको वे सब वानर सैकड़ोंकी संख्यामें जुटकर उछल-उछलकर मारते थे और मधुवनके मधु पीने एवं फल खानेमें लगे हुए थे॥ ८॥

मधूनि द्रोणमात्राणि बाहुभिः परिगृह्य ते।
पिबन्ति कपयः केचित् सङ्घशस्तत्र हृष्टवत्॥ ९॥

कितने ही वानर झुंड-के-झुंड एकत्र हो वहाँ अपनी भुजाओंद्वारा एक-एक द्रोण[1] मधुसे भरे हुए छत्तोंको पकड़ लेते और सहर्ष पी जाते थे॥ ९॥

घ्नन्ति स्म सहिताः सर्वे भक्षयन्ति तथापरे।
केचित् पीत्वापविध्यन्ति मधूनि मधुपिङ्गलाः॥ १०॥
मधूच्छिष्टेन केचिच्च जघ्नुरन्योन्यमुत्कटाः।
अपरे वृक्षमूलेषु शाखा गृह्य व्यवस्थिताः॥ ११॥

मधुके समान पिङ्गल वर्णवाले वे सब वानर एक साथ होकर मधुके छत्तोंको पीटते, दूसरे वानर उस मधुको पीते और कितने ही पीकर बचे हुए मधुको फेंक देते थे। कितने ही मदमत्त हो एक-दूसरेको मोमसे मारते थे और कितने ही वानर वृक्षोंके नीचे डालियाँ पकड़कर खड़े हो गये थे॥ १०-११॥

अत्यर्थं च मदग्लानाः पर्णान्यास्तीर्य शेरते।
उन्मत्तवेगाः प्लवगा मधुमत्ताश्च हृष्टवत्॥ १२॥

कितने ही वानर मदके कारण अत्यन्त ग्लानिका अनुभव कर रहे थे। उनका वेग उन्मत्त पुरुषोंके समान देखा जाता था। वे मधु पी-पीकर मतवाले हो गये थे, अतः बड़े हर्षके साथ पत्ते बिछाकर सो गये॥ १२॥

क्षिपन्त्यपि तथान्योन्यं स्खलन्ति च तथापरे।
केचित् क्ष्वेडान् प्रकुर्वन्ति केचित् कूजन्ति हृष्टवत्॥ १३॥

कोई एक-दूसरेपर मधु फेंकते, कोई लड़खड़ाकर गिरते, कोई गरजते और कोई हर्षके साथ पक्षियोंकी भाँति कलरव करते थे॥ १३॥

हरयो मधुना मत्ताः केचित् सुप्ता महीतले।
धृष्टाः केचिद्धसन्त्यन्ये केचित् कुर्वन्ति चेतरत्॥ १४॥

मधुसे मतवाले हुए कितने ही वानर पृथ्वीपर सो गये थे। कुछ ढीठ वानर हँसते और कुछ रोदन करते थे॥ १४॥

कृत्वा केचिद् वदन्त्यन्ये केचिद् बुध्यन्ति चेतरत्।
येऽप्यत्र मधुपालाः स्युः प्रेष्या दधिमुखस्य तु॥ १५॥
तेऽपि तैर्वानरैर्भीमैः प्रतिषिद्धा दिशो गताः।
जानुभिश्च प्रघृष्टाश्च देवमार्गं च दर्शिताः॥ १६॥

कुछ वानर दूसरा काम करके दूसरा बताते थे और कुछ उस बातका दूसरा ही अर्थ समझते थे। उस वनमें जो दधिमुखके सेवक मधुकी रक्षामें नियुक्त थे, वे भी उन भयंकर वानरोंद्वारा रोके या पीटे जानेपर सभी दिशाओंमें भाग गये। उनमेंसे कई रखवालोंको अङ्गदके दलवालोंने जमीनपर पटककर घुटनोंसे खूब रगड़ा और कितनोंको पैर पकड़कर आकाशमें उछाल दिया था अथवा उन्हें पीठके बल गिराकर आकाश दिखा दिया था॥ १५-१६॥

अब्रुवन् परमोद्विग्ना गत्वा दधिमुखं वचः।
हनूमता दत्तवरैर्हतं मधुवनं बलात्।
वयं च जानुभिर्घृष्टा देवमार्गं च दर्शिताः॥ १७॥

वे सब सेवक अत्यन्त उद्विग्न हो दधिमुखके पास जाकर बोले—'प्रभो! हनुमान्‌जीके बढ़ावा देनेसे उनके दलके सभी वानरोंने बलपूर्वक मधुवनका विध्वंस कर डाला, हमलोगोंको गिराकर घुटनोंसे रगड़ा और हमें पीठके बल पटककर आकाशका दर्शन करा दिया'॥ १७॥

तदा दधिमुखः क्रुद्धो वनपस्तत्र वानरः।
हतं मधुवनं श्रुत्वा सान्त्वयामास तान् हरीन्॥ १८॥

तब उस वनके प्रधान रक्षक दधिमुख नामक वानर मधुवनके विध्वंसका समाचार सुनकर वहाँ कुपित हो उठे और उन वानरोंको सान्त्वना देते हुए बोले—॥ १८॥

एतागच्छत गच्छामो वानरानतिदर्पितान्।
बलेनावारयिष्यामि प्रभुञ्जानान् मधूत्तमम्॥ १९॥

'आओ-आओ, चलें इन वानरोंके पास। इनका घमंड बहुत बढ़ गया है। मधुवनके उत्तम मधुको लूटकर खानेवाले इन सबको मैं बलपूर्वक रोकूँगा'॥ १९॥

श्रुत्वा दधिमुखस्येदं वचनं वानरर्षभाः।
पुनर्वीरा मधुवनं तेनैव सहिता ययुः॥ २०॥

दधिमुखका यह वचन सुनकर वे वीर कपिश्रेष्ठ पुनः उन्हींके साथ मधुवनको गये॥ २०॥

मध्ये चैषां दधिमुखः सुप्रगृह्य महातरुम्।
समभ्यधावन् वेगेन सर्वे ते च प्लवंगमाः॥ २१॥

इनके बीचमें खड़े हुए दधिमुखने एक विशाल वृक्ष हाथमें लेकर बड़े वेगसे हनुमान्‌जीके दलपर धावा किया। साथ ही वे सब वानर भी उन मधु पीनेवाले वानरोंपर टूट पड़े॥ २१॥

ते शिलाः पादपांश्चैव पाषाणानपि वानराः।
गृहीत्वाभ्यागमन् क्रुद्धा यत्र ते कपिकुञ्जराः॥ २२॥

क्रोधसे भरे हुए वे वानर शिला, वृक्ष और पाषाण लिये उस स्थानपर आये, जहाँ वे हनुमान् आदि कपिश्रेष्ठ मधुका सेवन कर रहे थे॥ २२॥

बलान्निवारयन्तश्च आसेदुर्हरयो हरीन्।
संदष्टौष्ठपुटाः क्रुद्धा भर्त्सयन्तो मुहुर्मुहुः॥ २३॥

अपने ओठोंको दाँतोंसे दबाते और क्रोधपूर्वक बारंबार

---

१. आठ आढक या बत्तीस सेरके मापको द्रोण कहते हैं। यह प्राचीनकालमें प्रचलित था।

धमकाते हुए वे सब वानर उन वानरोंको बलपूर्वक रोकनेके लिये उनके पास आ पहुँचे ॥ २३ ॥

अथ दृष्ट्वा दधिमुखं क्रुद्धं वानरपुङ्गवाः।
अभ्यधावन्त वेगेन हनुमत्प्रमुखास्तदा ॥ २४ ॥

दधिमुखको कुपित हुआ देख हनुमान् आदि सभी श्रेष्ठ वानर उस समय बड़े वेगसे उनकी ओर दौड़े ॥ २४ ॥

सवृक्षं तं महाबाहुमापतन्तं महाबलम्।
वेगवन्तं विजग्राह बाहुभ्यां कुपितोऽङ्गदः ॥ २५ ॥

वृक्ष लेकर आते हुए वेगशाली महाबली महाबाहु दधिमुखको कुपित हुए अङ्गदने दोनों हाथोंसे पकड़ लिया ॥ २५ ॥

मदान्धो न कृपां चक्रे आर्यकोऽयं ममेति सः।
अथैनं निष्पिपेषाशु वेगेन वसुधातले ॥ २६ ॥

वे मधु पीकर मदान्ध हो रहे थे, अतः 'ये मेरे नाना हैं' ऐसा समझकर उन्होंने उनपर दया नहीं दिखायी। वे तुरंत बड़े वेगसे पृथ्वीपर पटककर उन्हें रगड़ने लगे ॥ २६ ॥

स भग्नबाहूरुमुखो विह्वलः शोणितोक्षितः।
प्रमुमोह महावीरो मुहूर्तं कपिकुञ्जरः ॥ २७ ॥

उनकी भुजाएँ, जाँघें और मुँह सभी टूट-फूट गये। वे खूनसे नहा गये और व्याकुल हो उठे। वे महावीर कपिकुञ्जर दधिमुख वहाँ दो घड़ीतक मूर्छित पड़े रहे ॥ २७ ॥

स कथंचिद् विमुक्तस्तैर्वानरैर्वानरर्षभः।
उवाचैकान्तमागत्य स्वान् भृत्यान् समुपागतान् ॥ २८ ॥

उन वानरोंके हाथसे किसी तरह छुटकारा मिलनेपर वानरश्रेष्ठ दधिमुख एकान्तमें आये और वहाँ एकत्र हुए अपने सेवकोंसे बोले— ॥ २८ ॥

एतागच्छत गच्छामो भर्ता नो यत्र वानरः।
सुग्रीवो विपुलग्रीवः सह रामेण तिष्ठति ॥ २९ ॥

'आओ-आओ, अब वहाँ चलें, जहाँ हमारे स्वामी मोटी गर्दनवाले सुग्रीव श्रीरामचन्द्रजीके साथ विराजमान हैं ॥ २९ ॥

सर्वं चैवाङ्गदे दोषं श्रावयिष्याम पार्थिवे।
अमर्षी वचनं श्रुत्वा घातयिष्यति वानरान् ॥ ३० ॥

'राजाके पास चलकर सारा दोष अङ्गदके माथे मढ़ देंगे। सुग्रीव बड़े क्रोधी हैं। मेरी बात सुनकर वे इन सभी वानरोंको मरवा डालेंगे ॥ ३० ॥

इष्टं मधुवनं ह्येतत् सुग्रीवस्य महात्मनः।
पितृपैतामहं दिव्यं देवैरपि दुरासदम् ॥ ३१ ॥

'महात्मा सुग्रीवको यह मधुवन बहुत ही प्रिय है। यह उनके बाप-दादोंका दिव्य वन है। इसमें प्रवेश करना देवताओंके लिये भी कठिन है ॥ ३१ ॥

स वानरानिमान् सर्वान् मधुलुब्धान् गतायुषः।
घातयिष्यति दण्डेन सुग्रीवः ससुहृज्जनान् ॥ ३२ ॥

'मधुके लोभी इन सभी वानरोंकी आयु समाप्त हो चली है। सुग्रीव इन्हें कठोर दण्ड देकर इनके सुहृदोंसहित इन सबको मरवा डालेंगे ॥ ३२ ॥

वध्या ह्येते दुरात्मानो नृपाज्ञापरिपन्थिनः।
अमर्षप्रभवो रोषः सफलो मे भविष्यति ॥ ३३ ॥

'राजाकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाले ये दुरात्मा राजद्रोही वानर वधके ही योग्य हैं। इनका वध होनेपर ही मेरा अमर्षजनित रोष सफल होगा' ॥ ३३ ॥

एवमुक्त्वा दधिमुखो वनपालान् महाबलः।
जगाम सहसोत्पत्य वनपालैः समन्वितः ॥ ३४ ॥

वनके रक्षकोंसे ऐसा कहकर उन्हें साथ ले महाबली दधिमुख सहसा उछलकर आकाशमार्गसे चले ॥ ३४ ॥

निमेषान्तरमात्रेण स हि प्राप्तो वनालयः।
सहस्रांशुसुतो धीमान् सुग्रीवो यत्र वानरः ॥ ३५ ॥

और पलक मारते-मारते वे उस स्थानपर जा पहुँचे, जहाँ बुद्धिमान् सूर्यपुत्र वानरराज सुग्रीव विराजमान थे ॥ ३५ ॥

रामं च लक्ष्मणं चैव दृष्ट्वा सुग्रीवमेव च।
समप्रतिष्ठां जगतीमाकाशान्निपपात ह ॥ ३६ ॥

श्रीराम, लक्ष्मण और सुग्रीवको दूरसे ही देखकर वे आकाशसे समतल भूमिपर कूद पड़े ॥ ३६ ॥

स निपत्य महावीरः सर्वैस्तैः परिवारितः।
हरिर्दधिमुखः पालैः पालानां परमेश्वरः ॥ ३७ ॥
स दीनवदनो भूत्वा कृत्वा शिरसि चाञ्जलिम्।
सुग्रीवस्याशु तौ मूर्ध्ना चरणौ प्रत्यपीडयत् ॥ ३८ ॥

वनरक्षकोंके स्वामी महावीर वानर दधिमुख पृथ्वीपर उतरकर उन रक्षकोंसे घिरे हुए उदास मुख किये सुग्रीवके पास गये और सिरपर अञ्जलि बाँधे उनके चरणोंमें मस्तक झुकाकर उन्होंने प्रणाम किया ॥ ३७-३८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे द्विषष्टितमः सर्गः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें बासठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

—★—

त्रिषष्टितमः सर्गः

दधिमुखसे मधुवनके विध्वंसका समाचार सुनकर सुग्रीवका हनुमान् आदि वानरोंकी सफलताके विषयमें अनुमान

ततो मूर्ध्ना निपतितं वानरं वानरर्षभः।
दृष्ट्वैवोद्विग्नहृदयो वाक्यमेतदुवाच ह ॥ १ ॥

वानर दधिमुखको माथा टेक प्रणाम करते देख वानर-शिरोमणि सुग्रीवका हृदय उद्विग्न हो उठा। वे उनसे इस प्रकार बोले— ॥ १ ॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ कस्मात् त्वं पादयोः पतितो मम।
अभयं ते प्रदास्यामि सत्यमेवाभिधीयताम् ॥ २ ॥

'उठो-उठो! तुम मेरे पैरोंपर कैसे पड़े हो? मैं तुम्हें अभयदान देता हूँ। तुम सच्ची बात बताओ ॥ २ ॥

किं सम्भ्रमाद्धितं कृत्स्नं ब्रूहि यद् वक्तुमर्हसि।
कच्चिन्मधुवने स्वस्ति श्रोतुमिच्छामि वानर ॥ ३ ॥

'कहो, किसके भयसे यहाँ आये हो। जो पूर्णतः हितकर बात हो, उसे बताओ; क्योंकि तुम सब कुछ कहनेके योग्य हो। मधुवनमें कुशल तो है न? वानर! मैं तुम्हारे मुखसे यह सब सुनना चाहता हूँ' ॥ ३ ॥

स समाश्वासितस्तेन सुग्रीवेण महात्मना।
उत्थाय स महाप्राज्ञो वाक्यं दधिमुखोऽब्रवीत् ॥ ४ ॥

महात्मा सुग्रीवके इस प्रकार आश्वासन देनेपर महाबुद्धिमान् दधिमुख खड़े होकर बोले— ॥ ४ ॥

नैवर्क्षरजसा राजन् न त्वया न च वालिना।
वनं निसृष्टपूर्वं ते नाशितं तत्तु वानरैः ॥ ५ ॥

'राजन्! आपके पिता ऋक्षरजाने, वालीने और आपने भी पहले कभी जिस वनके मनमाने उपभोगके लिये किसीको आज्ञा नहीं दी थी, उसीका हनुमान् आदि वानरोंने आज नाश कर दिया ॥ ५ ॥

न्यवारयमहं सर्वान् सहैभिर्वनचारिभिः।
अचिन्तयित्वा मां हृष्टा भक्षयन्ति पिबन्ति च ॥ ६ ॥

'मैंने इन वनरक्षक वानरोंके साथ उन सबको रोकनेकी बहुत चेष्टा की, परंतु वे मुझे कुछ भी न समझकर बड़े हर्षके साथ फल खाते और मधु पीते हैं ॥ ६ ॥

एभिः प्रधर्षणायां च वारितं वनपालकैः।
मामप्यचिन्तयन् देव भक्षयन्ति वनौकसः ॥ ७ ॥

'देव! इन हनुमान् आदि वानरोंने जब मधुवनमें लूट मचाना आरम्भ किया, तब हमारे इन वनरक्षकोंने उन सबको रोकनेकी चेष्टा की; परंतु वे वानर इनको और मुझे भी कुछ नहीं गिनते हुए वहाँके फल आदिका भक्षण कर रहे हैं ॥ ७ ॥

शिष्टमत्रापविध्यन्ति भक्षयन्ति तथापरे।
निवार्यमाणास्ते सर्वे भ्रुकुटिं दर्शयन्ति हि ॥ ८ ॥

'दूसरे, वानर वहाँ खाते-पीते तो हैं ही, उनके सामने जो कुछ बच जाता है, उसे उठाकर फेंक देते हैं और जब हमलोग रोकते हैं, तब वे सब हमें टेढ़ी भौंहें दिखाते हैं ॥ ८ ॥

इमे हि संरब्धतरास्तदा तैः सम्प्रधर्षिताः।
निवार्यन्ते वनात् तस्मात् क्रुद्धैर्वानरपुङ्गवैः ॥ ९ ॥

'जब ये रक्षक उनपर अधिक कुपित हुए, तब उन्होंने इनपर आक्रमण कर दिया। इतना ही नहीं, क्रोधसे भरे हुए उन वानरपुङ्गवोंने इन रक्षकोंको उस वनसे बाहर निकाल दिया ॥ ९ ॥

ततस्तैर्बहुभिर्वीरैर्वानरैर्वानरर्षभाः।
संरक्तनयनैः क्रोधाद्धरयः सम्प्रधर्षिताः ॥ १० ॥

'बाहर निकालकर उन बहुसंख्यक वीर वानरोंने क्रोधसे लाल आँखें करके वनकी रक्षा करनेवाले इन श्रेष्ठ वानरोंको धर दबाया ॥ १० ॥

पाणिभिर्निहताः केचित् केचिज्जानुभिराहताः।
प्रकृष्टाश्च तदा कामं देवमार्गं च दर्शिताः ॥ ११ ॥

'किन्हींको थप्पड़ोंसे मारा, किन्हींको घुटनोंसे रगड़ दिया, बहुतोंको इच्छानुसार घसीटा और कितनोंको पीठके बल पटककर आसमान दिखा दिया ॥ ११ ॥

एवमेते हताः शूरास्त्वयि तिष्ठति भर्तरि।
कृत्स्नं मधुवनं चैव प्रकामं तैश्च भक्ष्यते ॥ १२ ॥

'प्रभो! आप-जैसे स्वामीके रहते हुए ये शूरवीर वनरक्षक उनके द्वारा इस तरह मारे-पीटे गये हैं और वे अपराधी वानर अपनी इच्छाके अनुसार सारे मधुवनका उपभोग कर रहे हैं' ॥ १२ ॥

एवं विज्ञाप्यमानं तं सुग्रीवं वानरर्षभम्।
अपृच्छत् तं महाप्राज्ञो लक्ष्मणः परवीरहा ॥ १३ ॥

वानरशिरोमणि सुग्रीवको जब इस प्रकार मधुवनके लूटे जानेका वृत्तान्त बताया जा रहा था, उस समय शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले परम बुद्धिमान् लक्ष्मणने उनसे पूछा— ॥ १३ ॥

किमयं वानरो राजन् वनपः प्रत्युपस्थितः।
किं चार्थमभिनिर्दिश्य दुःखितो वाक्यमब्रवीत् ॥ १४ ॥

'राजन्! वनकी रक्षा करनेवाला यह वानर यहाँ किस लिये उपस्थित हुआ है? और किस विषयकी ओर संकेत करके इसने दुःखी होकर बात की है?' ॥ १४ ॥

एवमुक्तस्तु सुग्रीवो लक्ष्मणेन महात्मना।
लक्ष्मणं प्रत्युवाचेदं वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ १५ ॥

महात्मा लक्ष्मणके इस प्रकार पूछनेपर बातचीत करनेमें कुशल सुग्रीवने यों उत्तर दिया— ॥ १५ ॥

आर्य लक्ष्मण सम्प्राह वीरो दधिमुखः कपिः ।
अङ्गदप्रमुखैर्वीरैर्भक्षितं मधु वानरैः ॥ १६ ॥

'आर्य लक्ष्मण ! वीर वानर दधिमुखने मुझसे यह कहा है कि 'अङ्गद आदि वीर वानरोंने मधुवनका सारा मधु खा-पी लिया है' ॥ १६ ॥

नैषामकृतकार्याणामीदृशः स्याद् व्यतिक्रमः ।
वनं यदभिपन्नास्ते साधितं कर्म तद् ध्रुवम् ॥ १७ ॥

'इसकी बात सुनकर मुझे यह अनुमान होता है कि वे जिस कार्यके लिये गये थे, उसे अवश्य ही उन्होंने पूरा कर लिया है। तभी उन्होंने मधुवनपर आक्रमण किया है। यदि वे अपना कार्य सिद्ध करके न आये होते तो उनके द्वारा ऐसा अपराध नहीं बना होता—वे मेरे मधुवनको लूटनेका साहस नहीं कर सकते थे ॥ १७ ॥

वारयन्तो भृशं प्राप्ताः पाला जानुभिराहताः ।
तथा न गणितश्चायं कपिर्दधिमुखो बली ॥ १८ ॥
पतिर्मम वनस्यायमस्माभिः स्थापितः स्वयम् ।
दृष्टा देवी न संदेहो न चान्येन हनूमता ॥ १९ ॥

'जब रक्षक उन्हें बारंबार रोकनेके लिये आये, तब उन्होंने इन सबको पटककर घुटनोंसे रगड़ा है तथा इन बलवान् वानर दधिमुखको भी कुछ नहीं समझा है। ये ही मेरे उस वनके मालिक या प्रधान रक्षक हैं। मैंने स्वयं ही इन्हें इस कार्यमें नियुक्त किया है (फिर भी उन्होंने इनकी बात नहीं मानी है)। इससे जान पड़ता है, उन्होंने देवी सीताका दर्शन अवश्य कर लिया। इसमें कोई संदेह नहीं है। यह काम और किसीका नहीं, हनुमान्‌जीका ही है (उन्होंने ही सीताका दर्शन किया है) ॥ १८-१९ ॥

न ह्यन्यः साधने हेतुः कर्मणोऽस्य हनूमतः ।
कार्यसिद्धिर्हनुमति मतिश्च हरिपुङ्गवे ॥ २० ॥
व्यवसायश्च वीर्यं च श्रुतं चापि प्रतिष्ठितम् ।

'इस कार्यको सिद्ध करनेमें हनुमान्‌जीके सिवा और कोई कारण बना हो, ऐसा सम्भव नहीं है। वानरशिरोमणि हनुमान्‌में ही कार्य-सिद्धिकी शक्ति और बुद्धि है। उन्हींमें उद्योग, पराक्रम और शास्त्रज्ञान भी प्रतिष्ठित है ॥२०½ ॥

जाम्बवान् यत्र नेता स्यादङ्गदश्च महाबलः ॥ २१ ॥
हनूमांश्चाप्यधिष्ठाता न तत्र गतिरन्यथा ।

'जिस दलके नेता जाम्बवान् और महाबली अङ्गद हों तथा अधिष्ठाता हनुमान् हों, उस दलको विपरीत परिणाम—असफलता मिले, यह सम्भव नहीं है ॥२१½ ॥

अङ्गदप्रमुखैर्वीरैर्हतं मधुवनं किल ॥ २२ ॥
विचित्य दक्षिणामाशामागतैर्हरिपुङ्गवैः ।
आगतैश्चाप्रधृष्यं तद्धतं मधुवनं हि तैः ॥ २३ ॥
धर्षितं च वनं कृत्स्नमुपयुक्तं तु वानरैः ।
पातिता वनपालास्ते तदा जानुभिराहताः ॥ २४ ॥
एतदर्थमयं प्राप्तो वक्तुं मधुरवागिह ।
नाम्ना दधिमुखो नाम हरिः प्रख्यातविक्रमः ॥ २५ ॥

'दक्षिण दिशासे सीताजीका पता लगाकर लौटे हुए अङ्गद आदि वीर वानरपुङ्गवोंने उस मधुवनपर प्रहार किया है, जिसे पददलित करना किसीके लिये भी असम्भव था। उन्होंने मधुवनको नष्ट किया, उजाड़ा और सब वानरोंने मिलकर समूचे वनका मनमाने ढंगसे उपभोग किया। इतना ही नहीं, उन्होंने वनके रक्षकोंको भी दे मारा और उन्हें अपने घुटनोंसे मार-मारकर घायल किया। इसी बातको बतानेके लिये ये विख्यात पराक्रमी वानर दधिमुख, जो बड़े मधुरभाषी हैं यहाँ आये हैं ॥ २२—२५ ॥

दृष्टा सीता महाबाहो सौमित्रे पश्य तत्त्वतः ।
अभिगम्य यथा सर्वे पिबन्ति मधु वानराः ॥ २६ ॥

'महाबाहु सुमित्रानन्दन ! इस बातको आप ठीक समझें कि अब सीताका पता लग गया; क्योंकि वे सभी वानर उस वनमें जाकर मधु पी रहे हैं ॥ २६ ॥

न चाप्यदृष्ट्वा वैदेहीं विश्रुताः पुरुषर्षभ ।
वनं दत्तवरं दिव्यं धर्षयेयुर्वनौकसः ॥ २७ ॥

'पुरुषप्रवर ! विदेहनन्दिनीका दर्शन किये बिना उस दिव्य वनको, जो देवताओंसे मेरे पूर्वजको वरदानके रूपमें प्राप्त हुआ है, वे विख्यात वानर कभी विध्वंस नहीं कर सकते थे' ॥ २७ ॥

ततः प्रहृष्टो धर्मात्मा लक्ष्मणः सहराघवः ।
श्रुत्वा कर्णसुखां वाणीं सुग्रीववदनाच्च्युताम् ॥ २८ ॥
प्राहृष्यत भृशं रामो लक्ष्मणश्च महायशाः ।

सुग्रीवके मुखसे निकली हुई कानोंको सुख देनेवाली यह बात सुनकर धर्मात्मा लक्ष्मण श्रीरामचन्द्रजीके साथ बहुत प्रसन्न हुए। श्रीरामके हर्षकी सीमा न रही और महायशस्वी लक्ष्मण भी हर्षसे खिल उठे ॥२८½ ॥

श्रुत्वा दधिमुखस्यैवं सुग्रीवस्तु प्रहृष्य च ॥ २९ ॥
वनपालं पुनर्वाक्यं सुग्रीवः प्रत्यभाषत ।

दधिमुखकी उपर्युक्त बात सुनकर सुग्रीवको बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने अपने वनरक्षकको फिर इस प्रकार उत्तर दिया— ॥२९½ ॥

प्रीतोऽस्मि सोऽहं यद्भुक्तं वनं तैः कृतकर्मभिः ॥ ३० ॥
धर्षितं मर्षणीयं च चेष्टितं कृतकर्मणाम् ।
गच्छ शीघ्रं मधुवनं संरक्षस्व त्वमेव हि ।
शीघ्रं प्रेषय सर्वांस्तान् हनूमत्प्रमुखान् कपीन् ॥ ३१ ॥

'मामा ! अपना कार्य सिद्ध करके लौटे हुए उन वानरोंने

जो मेरे मधुवनका उपभोग किया है, उससे मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ; अतः तुम्हें भी कृतकृत्य होकर आये हुए उन कपियोंकी ढिठाई तथा उद्दण्डतापूर्ण चेष्टाओंको क्षमा कर देना चाहिये। अब शीघ्र जाओ और तुम्हीं उस मधुवनकी रक्षा करो। साथ ही हनुमान् आदि सब वानरोंको जल्दी यहाँ भेजो ॥ ३०-३१ ॥

इच्छामि शीघ्रं हनुमत्प्रधाना-
ञ्छाखामृगांस्तान् मृगराजदर्पान्।
प्रष्टुं कृतार्थान् सह राघवाभ्यां
श्रोतुं च सीताधिगमे प्रयत्नम् ॥ ३२ ॥

'मैं सिंहके समान दर्पसे भरे हुए उन हनुमान् आदि वानरोंसे शीघ्र मिलना चाहता हूँ और इन दोनों रघुवंशी बन्धुओंके साथ मैं उन कृतार्थ होकर लौटे हुए वीरोंसे यह पूछना तथा सुनना चाहता हूँ कि सीताकी प्राप्तिके लिये क्या प्रयत्न किया जाय' ॥ ३२ ॥

प्रीतिस्फीताक्षौ सम्प्रहृष्टौ कुमारौ
दृष्ट्वा सिद्धार्थौ वानराणां च राजा।
अङ्गैः प्रहृष्टैः कार्यसिद्धिं विदित्वा
बाह्वोरासन्नामतिमात्रं ननन्द ॥ ३३ ॥

वे दोनों राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण पूर्वोक्त समाचारसे अपनेको सफलमनोरथ मानकर हर्षसे पुलकित हो गये थे। उनकी आँखें प्रसन्नतासे खिल उठी थीं। उन्हें इस तरह प्रसन्न देख तथा अपने हर्षोत्फुल्ल अङ्गोंसे कार्यसिद्धिको हाथोंमें आयी हुई जान वानरराज सुग्रीव अत्यन्त आनन्दमें निमग्न हो गये ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे त्रिषष्टितमः सर्गः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें तिरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

—★—

चतुःषष्टितमः सर्गः

दधिमुखसे सुग्रीवका संदेश सुनकर अङ्गद-हनुमान् आदि वानरोंका किष्किन्धामें पहुँचना और हनुमान्‌जीका श्रीरामको प्रणाम करके सीता देवीके दर्शनका समाचार बताना

सुग्रीवेणैवमुक्तस्तु हृष्टो दधिमुखः कपिः।
राघवं लक्ष्मणं चैव सुग्रीवं चाभ्यवादयत् ॥ १ ॥

सुग्रीवके ऐसा कहनेपर प्रसन्नचित्त वानर दधिमुखने श्रीराम, लक्ष्मण और सुग्रीवको प्रणाम किया ॥ १ ॥

स प्रणम्य च सुग्रीवं राघवौ च महाबलौ।
वानरैः सहितः शूरैर्दिवमेवोत्पपात ह ॥ २ ॥

सुग्रीव तथा उन महाबली रघुवंशी बन्धुओंको प्रणाम करके वे शूरवीर वानरोंके साथ आकाशमार्गसे उड़ चले ॥ २ ॥

स यथैवागतः पूर्वं तथैव त्वरितं गतः।
निपत्य गगनाद् भूमौ तद् वनं प्रविवेश ह ॥ ३ ॥

जैसे पहले आये थे, उतनी ही शीघ्रतासे वे वहाँ जा पहुँचे और आकाशसे पृथ्वीपर उतरकर उन्होंने उस मधुवनमें प्रवेश किया ॥ ३ ॥

स प्रविष्टो मधुवनं ददर्श हरियूथपान्।
विमदानुद्धतान् सर्वान् मेहमानान् मधूदकम् ॥ ४ ॥

मधुवनमें प्रविष्ट होकर उन्होंने देखा कि समस्त वानर-यूथपति जो पहले उद्दण्ड हो रहे थे, अब मदरहित हो गये हैं—इनका नशा उतर गया है और ये मधुमिश्रित जलका मेहन (मूत्रेन्द्रियद्वारा त्याग) कर रहे हैं ॥ ४ ॥

स तानुपागमद् वीरो बद्ध्वा करपुटाञ्जलिम्।
उवाच वचनं श्लक्ष्णमिदं हृष्टवदङ्गदम् ॥ ५ ॥

वीर दधिमुख उनके पास गये और दोनों हाथोंकी अञ्जलि बाँध अङ्गदसे हर्षयुक्त मधुर वाणीमें इस प्रकार बोले— ॥ ५ ॥

सौम्य रोषो न कर्तव्यो यदेभिः परिवारणम्।
अज्ञानाद् रक्षिभिः क्रोधाद् भवन्तः प्रतिषेधिताः ॥ ६ ॥

'सौम्य! इन रक्षकोंने जो अज्ञानवश आपको रोका था, क्रोधपूर्वक आपलोगोंको मधु पीनेसे मना किया था, इसके लिये आप अपने मनमें क्रोध न करें ॥ ६ ॥

श्रान्तो दूरादनुप्राप्तो भक्षयस्व स्वकं मधु।
युवराजस्त्वमीशश्च वनस्यास्य महाबलः ॥ ७ ॥

'आपलोग दूरसे थके-माँदे आये हैं, अतः फल खाइये और मधु पीजिये। यह सब आपकी ही सम्पत्ति है। महाबली वीर! आप हमारे युवराज और इस वनके स्वामी हैं ॥ ७ ॥

मौर्ख्यात् पूर्वं कृतो रोषस्तद् भवान् क्षन्तुमर्हति।
यथैव हि पिता तेऽभूत् पूर्वं हरिगणेश्वरः ॥ ८ ॥
तथा त्वमपि सुग्रीवो नान्यस्तु हरिसत्तम।

'कपिश्रेष्ठ! मैंने पहले मूर्खतावश जो रोष प्रकट किया था, उसे आप क्षमा करें; क्योंकि पूर्वकालमें जैसे आपके पिता वानरोंके राजा थे, उसी प्रकार आप और

सुग्रीव भी हैं। आपलोगोंके सिवा दूसरा कोई हमारा स्वामी नहीं है॥८½॥

आख्यातं हि मया गत्वा पितृव्यस्य तवानघ॥ ९॥
इहोपयानं सर्वेषामेतेषां वनचारिणाम्।
भवदागमनं श्रुत्वा सहैभिर्वनचारिभिः॥ १०॥
प्रहृष्टो न तु रुष्टोऽसौ वनं श्रुत्वा प्रधर्षितम्।

'निष्पाप युवराज! मैंने यहाँसे जाकर आपके चाचा सुग्रीवसे इन सब वानरोंके यहाँ पधारनेका हाल कहा था। इन वानरोंके साथ आपका आगमन सुनकर वे बहुत प्रसन्न हुए। इस वनके विध्वंसका समाचार सुनकर भी उन्हें रोष नहीं हुआ॥९-१०½॥

प्रहृष्टो मां पितृव्यस्ते सुग्रीवो वानरेश्वरः॥ ११॥
शीघ्रं प्रेषय सर्वांस्तानिति होवाच पार्थिवः।

'आपके चाचा वानरराज सुग्रीवने बड़े हर्षके साथ मुझसे कहा है कि उन सबको शीघ्र यहाँ भेजो'॥११½॥

श्रुत्वा दधिमुखस्यैतद् वचनं श्लक्ष्णमङ्गदः॥ १२॥
अब्रवीत् तान् हरिश्रेष्ठो वाक्यं वाक्यविशारदः।

दधिमुखकी यह बात सुनकर बातचीत करनेमें कुशल कपिश्रेष्ठ अङ्गदने उन सबसे मधुर वाणीमें कहा—॥१२½॥

शङ्के श्रुतोऽयं वृत्तान्तो रामेण हरियूथपाः॥ १३॥
अयं च हर्षादाख्याति तेन जानामि हेतुना।
तत् क्षमं नेह नः स्थातुं कृते कार्ये परंतपाः॥ १४॥

'वानरयूथपतियो! जान पड़ता है भगवान् श्रीरामने हमलोगोंके लौटनेका समाचार सुन लिया; क्योंकि ये बहुत प्रसन्न होकर यहाँकी बात सुना रहे हैं। इसीसे मुझे ऐसा ज्ञात होता है। अतः शत्रुओंको संताप देनेवाले वीरो! कार्य पूरा हो जानेपर अब हमलोगोंको यहाँ अधिक नहीं ठहरना चाहिये॥१३-१४॥

पीत्वा मधु यथाकामं विक्रान्ता वनचारिणः।
किं शेषं गमनं तत्र सुग्रीवो यत्र वानरः॥ १५॥

'पराक्रमी वानर इच्छानुसार मधु पी चुके। अब यहाँ कौन-सा कार्य शेष है। इसलिये वहाँ चलना चाहिये, जहाँ वानरराज सुग्रीव हैं॥१५॥

सर्वे यथा मां वक्ष्यन्ति समेत्य हरिपुङ्गवाः।
तथास्मि कर्ता कर्तव्ये भवद्भिः परवानहम्॥ १६॥

'वानरपुङ्गवो! आप सब लोग मिलकर मुझसे जैसा कहेंगे, मैं वैसा ही करूँगा; क्योंकि कर्तव्यके विषयमें मैं आपलोगोंके अधीन हूँ॥१६॥

नाज्ञापयितुमीशोऽहं युवराजोऽस्मि यद्यपि।
अयुक्तं कृतकर्माणो यूयं धर्षयितुं बलात्॥ १७॥

'यद्यपि मैं युवराज हूँ तो भी आपलोगोंपर हुक्म नहीं चला सकता। आपलोग बहुत बड़ा कार्य पूरा करके आये हैं, अतः बलपूर्वक आपपर शासन चलाना कदापि उचित नहीं है'॥१७॥

ब्रुवतश्चाङ्गदस्यैवं श्रुत्वा वचनमुत्तमम्।
प्रहृष्टमनसो वाक्यमिदमूचुर्वनौकसः॥ १८॥

उस समय इस तरह बोलते हुए अङ्गदका उत्तम वचन सुनकर सब वानरोंका चित्त प्रसन्न हो गया और वे इस प्रकार बोले—॥१८॥

एवं वक्ष्यति को राजन् प्रभुः सन् वानरर्षभ।
ऐश्वर्यमदमत्तो हि सर्वोऽहमिति मन्यते॥ १९॥

'राजन्! कपिश्रेष्ठ! स्वामी होकर भी अपने अधीन रहनेवाले लोगोंसे कौन इस तरहकी बात करेगा? प्रायः सब लोग ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त हो अहंकारवश अपनेको ही सर्वोपरि मानने लगते हैं॥१९॥

तव चेदं सुसदृशं वाक्यं नान्यस्य कस्यचित्।
सन्नतिर्हि तवाख्याति भविष्यच्छुभयोग्यताम्॥ २०॥

'आपकी यह बात आपके ही योग्य है। दूसरे किसीके मुँहसे प्रायः ऐसी बात नहीं निकलती। यह नम्रता आपकी भावी शुभयोग्यताका परिचय दे रही है॥२०॥

सर्वे वयमपि प्राप्तास्तत्र गन्तुं कृतक्षणाः।
स यत्र हरिवीराणां सुग्रीवः पतिरव्ययः॥ २१॥

'हम सब लोग भी जहाँ वानरवीरोंके अविनाशी पति सुग्रीव विराजमान हैं, वहाँ चलनेके लिये उत्साहित हो यहाँ आपके समीप आये हैं॥२१॥

त्वया ह्यनुक्तैर्हरिभिर्नैव शक्यं पदात् पदम्।
क्वचिद् गन्तुं हरिश्रेष्ठ ब्रूमः सत्यमिदं तु ते॥ २२॥

'वानरश्रेष्ठ! आपकी आज्ञा प्राप्त हुए बिना हम वानरगण कहीं एक पग भी नहीं जा सकते, यह आपसे सच्ची बात कहते हैं'॥२२॥

एवं तु वदतां तेषामङ्गदः प्रत्यभाषत।
साधु गच्छाम इत्युक्त्वा खमुत्पेतुर्महाबलाः॥ २३॥

वे वानरगण जब ऐसी बातें कहने लगे, तब अङ्गद बोले—'बहुत अच्छा, अब हमलोग चलें।' इतना कहकर वे महाबली वानर आकाशमें उड़ चले॥२३॥

उत्पतन्तमनूत्पेतुः सर्वे ते हरियूथपाः।
कृत्वाऽऽकाशं निराकाशं यन्त्रोत्क्षिप्ता इवोपलाः॥ २४॥

आगे-आगे अङ्गद और उनके पीछे वे समस्त वानर-यूथपति उड़ने लगे। वे आकाशको आच्छादित करके गुलेलसे फेंके गये पत्थरोंकी भाँति तीव्रगतिसे जा रहे थे॥२४॥

अङ्गदं पुरतः कृत्वा हनूमन्तं च वानरम्।
तेऽम्बरं सहसोत्पत्य वेगवन्तः प्लवङ्गमाः॥ २५॥
विनदन्तो महानादं घना वातेरिता यथा।

अङ्गद और वानरवीर हनुमान्‌को आगे करके सभी

वेगवान् वानर सहसा आकाशमें उछलकर वायुसे उड़ाये गये बादलोंकी भाँति बड़े जोर-जोरसे गर्जना करते हुए किष्किन्धाके निकट जा पहुँचे ॥२५½ ॥

अङ्गदे समनुप्राप्ते सुग्रीवो वानरेश्वरः ॥ २६ ॥
उवाच शोकसंतप्तं रामं कमललोचनम् ।

अङ्गदके निकट पहुँचते ही वानरराज सुग्रीवने शोकसंतप्त कमलनयन श्रीरामसे कहा— ॥२६½ ॥

समाश्वसिहि भद्रं ते दृष्टा देवी न संशयः ॥ २७ ॥
नागन्तुमिह शक्यं तैरतीतसमयैरिह ।

'प्रभो ! धैर्य धारण कीजिये। आपका कल्याण हो। सीता देवीका पता लग गया है, इसमें संशय नहीं है; क्योंकि कृतकार्य हुए बिना दिये हुए समयकी अवधिको बिताकर ये वानर कदापि यहाँ नहीं आ सकते थे ॥२७½ ॥

अङ्गदस्य प्रहर्षाच्च जानामि शुभदर्शन ॥ २८ ॥
न मत्सकाशमागच्छेत् कृत्ये हि विनिपातिते ।
युवराजो महाबाहुः प्लवतामङ्गदो वरः ॥ २९ ॥

'शुभदर्शन श्रीराम ! अङ्गदकी अत्यन्त प्रसन्नतासे भी मुझे इसी बातकी सूचना मिल रही है। यदि काम बिगाड़ दिया गया होता तो वानरोंमें श्रेष्ठ युवराज महाबाहु अङ्गद मेरे पास कदापि लौटकर नहीं आते ॥ २८-२९ ॥

यद्यप्यकृतकृत्यानामीदृशः स्यादुपक्रमः ।
भवेत् तु दीनवदनो भ्रान्तविप्लुतमानसः ॥ ३० ॥

'यद्यपि कार्य सिद्ध न होनेपर भी इस तरह लोगोंका अपने घर लौटना देखा गया है, तथापि उस दशामें अङ्गदके मुखपर उदासी छायी होती और उनके चित्तमें घबराहटके कारण उथल-पुथल मचा होता ॥ ३० ॥

पितृपैतामहं चैतत् पूर्वकैरभिरक्षितम् ।
न मे मधुवनं हन्याददृष्ट्वा जनकात्मजाम् ॥ ३१ ॥

'मेरे बाप-दादोंके इस मधुवनका, जिसकी पूर्वजोंने भी सदा रक्षा की है, कोई जनककिशोरीका दर्शन किये बिना विध्वंस नहीं कर सकता था ॥ ३१ ॥

कौसल्या सुप्रजा राम समाश्वसिहि सुव्रत ।
दृष्टा देवी न संदेहो न चान्येन हनूमता ॥ ३२ ॥

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले श्रीराम ! आपको पाकर माता कौसल्या उत्तम संतानकी जननी हुई हैं। आप धैर्य धारण कीजिये। इसमें कोई संदेह नहीं कि देवी सीताका दर्शन हो गया। किसी औरने नहीं, हनुमान्‌जीने ही उनका दर्शन किया है ॥ ३२ ॥

नह्यन्यः कर्मणो हेतुः साधनेऽस्य हनूमतः ।
हनूमतीह सिद्धिश्च मतिश्च मतिसत्तम ॥ ३३ ॥
व्यवसायश्च शौर्यं च श्रुतं चापि प्रतिष्ठितम् ।
जाम्बवान् यत्र नेता स्यादङ्गदश्च हरीश्वरः ॥ ३४ ॥
हनूमांश्चाप्यधिष्ठाता न तत्र गतिरन्यथा ।

'मतिमानोंमें श्रेष्ठ रघुनन्दन ! इस कार्यको सिद्ध करनेमें हनुमान्‌जीके सिवा और कोई कारण बना हो, ऐसा सम्भव नहीं है। वानरशिरोमणि हनुमान्‌में ही कार्यसिद्धिकी शक्ति और बुद्धि है। उन्हींमें उद्योग, पराक्रम और शास्त्रज्ञान भी प्रतिष्ठित है। जिस दलके नेता जाम्बवान् और महाबली अङ्गद हों तथा अधिष्ठाता हनुमान् हों, उस दलको विपरीत परिणाम—असफलता मिले, यह सम्भव नहीं है ॥३३-३४½ ॥

मा भूश्चिन्तासमायुक्तः सम्प्रत्यमितविक्रम ॥ ३५ ॥
यदा हि दर्पितोदग्राः संगताः काननौकसः ।
नैषामकृतकार्याणामीदृशः स्यादुपक्रमः ॥ ३६ ॥
वनभङ्गेन जानामि मधूनां भक्षणेन च ।

'अमित पराक्रमी श्रीराम ! अब आप चिन्ता न करें। ये वनवासी वानर जो इतने अहंकारमें भरे हुए आ रहे हैं, कार्य सिद्ध हुए बिना इनका इस तरह आना सम्भव नहीं था। इनके मधु पीने और वन उजाड़नेसे भी मुझे ऐसा ही प्रतीत होता है' ॥३५-३६½ ॥

ततः किलकिलाशब्दं शुश्रावासन्नमम्बरे ॥ ३७ ॥
हनूमत्कर्मदृप्तानां नदतां काननौकसाम् ।
किष्किन्धामुपयातानां सिद्धिं कथयतामिव ॥ ३८ ॥

वे इस प्रकार कह ही रहे थे कि उन्हें आकाशमें निकटसे वानरोंकी किलकारियाँ सुनायी दीं। हनुमान्‌जीके पराक्रमपर गर्व करके किष्किन्धाके पास आ गर्जना करनेवाले वे वनवासी वानर मानो सिद्धिकी सूचना दे रहे थे ॥ ३७-३८ ॥

ततः श्रुत्वा निनादं तं कपीनां कपिसत्तमः ।
आयताञ्चितलाङ्गूलः सोऽभवद्धृष्टमानसः ॥ ३९ ॥

उन वानरोंका वह सिंहनाद सुनकर कपिश्रेष्ठ सुग्रीवका हृदय हर्षसे खिल उठा। उन्होंने अपनी पूँछ लंबी एवं ऊँची कर दी ॥ ३९ ॥

आजग्मुस्तेऽपि हरयो रामदर्शनकाङ्क्षिणः ।
अङ्गदं पुरतः कृत्वा हनूमन्तं च वानरम् ॥ ४० ॥

इतनेमें ही श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनकी इच्छासे अङ्गद और वानरवीर हनुमान्‌को आगे करके वे सब वानर वहाँ आ पहुँचे ॥ ४० ॥

तेऽङ्गदप्रमुखा वीराः प्रहृष्टाश्च मुदान्विताः ।
निपेतुर्हरिराजस्य समीपे राघवस्य च ॥ ४१ ॥

वे अङ्गद आदि वीर आनन्द और उत्साहसे भरकर वानरराज सुग्रीव तथा रघुनाथजीके समीप आकाशसे नीचे उतरे ॥ ४१ ॥

हनूमांश्च महाबाहुः प्रणम्य शिरसा ततः ।
नियतामक्षतां देवीं राघवाय न्यवेदयत् ॥ ४२ ॥

महाबाहु हनुमान्‌ने श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और उन्हें यह बताया कि 'देवी सीता पातिव्रत्यके कठोर नियमोंका पालन करती हुई शरीरसे सकुशल हैं' ॥ ४२ ॥

दृष्टा देवीति हनुमद्वदनादमृतोपमम्।
आकर्ण्य वचनं रामो हर्षमाप सलक्ष्मणः॥ ४३॥

'मैंने देवी सीताका दर्शन किया है' हनुमान्‌जीके मुखसे यह अमृतके समान मधुर वचन सुनकर लक्ष्मणसहित श्रीरामको बड़ी प्रसन्नता हुई॥ ४३॥

निश्चितार्थं ततस्तस्मिन् सुग्रीवं पवनात्मजे।
लक्ष्मणः प्रीतिमान् प्रीतं बहुमानादवैक्षत॥ ४४॥

पवनपुत्र हनुमान्‌के विषयमें सुग्रीवने पहलेसे ही निश्चय कर लिया था कि उन्हींके द्वारा कार्य सिद्ध हुआ है। इसलिये प्रसन्न हुए लक्ष्मणने प्रीतियुक्त सुग्रीवको ओर बड़े आदरसे देखा॥ ४४॥

प्रीत्या च परयोपेतो राघवः परवीरहा।
बहुमानेन महता हनूमन्तमवैक्षत॥ ४५॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले श्रीरघुनाथजीने परम प्रीति और महान् सम्मानके साथ हनुमान्‌जीकी ओर देखा॥ ४५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे चतुःषष्टितमः सर्गः॥ ६४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें चौंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ६४॥

पञ्चषष्टितमः सर्गः

हनुमान्‌जीका श्रीरामको सीताका समाचार सुनाना

ततः प्रस्रवणं शैलं ते गत्वा चित्रकाननम्।
प्रणम्य शिरसा रामं लक्ष्मणं च महाबलम्॥ १॥
युवराजं पुरस्कृत्य सुग्रीवमभिवाद्य च।
प्रवृत्तिमथ सीतायाः प्रवक्तुमुपचक्रमुः॥ २॥

तदनन्तर विचित्र काननोंसे सुशोभित प्रस्रवण पर्वतपर जाकर युवराज अङ्गदको आगे करके श्रीराम, महाबली लक्ष्मण तथा सुग्रीवको मस्तक झुकाकर प्रणाम करनेके अनन्तर सब वानरोंने सीताका समाचार बताना आरम्भ किया—॥ १-२॥

रावणान्तःपुरे रोधं राक्षसीभिश्च तर्जनम्।
रामे समनुरागं च यथा च नियमः कृतः॥ ३॥
एतदाख्याय ते सर्वं हरयो रामसंनिधौ।
वैदेहीमक्षतां श्रुत्वा रामस्तूत्तरमब्रवीत्॥ ४॥

'सीता देवी रावणके अन्तःपुरमें रोक रखी गयी हैं। राक्षसियाँ उन्हें धमकाती रहती हैं। श्रीरामके प्रति उनका अनन्य अनुराग है। रावणने सीताके जीवित रहनेके लिये केवल दो मासकी अवधि दे रखी है। इस समय विदेह-कुमारीको कोई क्षति नहीं पहुँची है—वे सकुशल हैं।' श्रीरामचन्द्रजीके निकट ये सब बातें बताकर वे वानर चुप हो गये। विदेहकुमारीके सकुशल होनेका वृत्तान्त सुनकर श्रीरामने आगेकी बात पूछते हुए कहा—॥ ३-४॥

क्व सीता वर्तते देवी कथं च मयि वर्तते।
एतन्मे सर्वमाख्यात वैदेहीं प्रति वानराः॥ ५॥

'वानरो! देवी सीता कहाँ हैं? मेरे प्रति उनका कैसा भाव है? विदेहकुमारीके विषयमें ये सारी बातें मुझसे कहो'॥ ५॥

रामस्य गदितं श्रुत्वा हरयो रामसंनिधौ।
चोदयन्ति हनूमन्तं सीतावृत्तान्तकोविदम्॥ ६॥

श्रीरामचन्द्रजीका यह कथन सुनकर वे वानर श्रीरामके निकट सीताके वृत्तान्तको अच्छी तरह जाननेवाले हनुमान्‌जीको उत्तर देनेके लिये प्रेरित करने लगे॥ ६॥

श्रुत्वा तु वचनं तेषां हनूमान् मारुतात्मजः।
प्रणम्य शिरसा देव्यै सीतायै तां दिशं प्रति॥ ७॥

उन वानरोंकी बात सुनकर पवनपुत्र हनुमान्‌जीने पहले देवी सीताके उद्देश्यसे दक्षिण दिशाकी ओर मस्तक झुकाकर प्रणाम किया॥ ७॥

उवाच वाक्यं वाक्यज्ञः सीताया दर्शनं यथा।
तं मणिं काञ्चनं दिव्यं दीप्यमानं स्वतेजसा॥ ८॥
दत्त्वा रामाय हनुमांस्ततः प्राञ्जलिरब्रवीत्।

फिर बातचीतकी कलाको जाननेवाले उन वानरवीरने सीताजीका दर्शन जिस प्रकार हुआ था, वह सारा वृत्तान्त कह सुनाया। तत्पश्चात् अपने तेजसे प्रकाशित होनेवाली उस दिव्य काञ्चनमणिको भगवान् श्रीरामके हाथमें देकर हनुमान्‌जी हाथ जोड़कर बोले—॥ ८½॥

समुद्रं लङ्घयित्वाहं शतयोजनमायतम्॥ ९॥
अगच्छं जानकीं सीतां मार्गमाणो दिदृक्षया।

'प्रभो! मैं जनकनन्दिनी सीताके दर्शनकी इच्छासे उनका पता लगाता हुआ सौ योजन विस्तृत समुद्रको लाँघकर उसके दक्षिण किनारेपर जा पहुँचा॥ ९½॥

तत्र लङ्केति नगरी रावणस्य दुरात्मनः॥ १०॥
दक्षिणस्य समुद्रस्य तीरे वसति दक्षिणे।

'वहीं दुरात्मा रावणकी नगरी लङ्का है। वह समुद्रके दक्षिण तटपर ही बसी हुई है॥ १०½॥

तत्र सीता मया दृष्टा रावणान्तःपुरे सती॥ ११॥
त्वयि संन्यस्य जीवन्ती रामा राम मनोरथम्।

दृष्टा मे राक्षसीमध्ये तर्ज्यमाना मुहुर्मुहुः ॥ १२ ॥
राक्षसीभिर्विरूपाभी रक्षिता प्रमदावने ।

'श्रीराम! लङ्कामें पहुँचकर मैंने रावणके अन्तःपुरमें प्रमदावनके भीतर राक्षसियोंके बीचमें बैठी हुई सती-साध्वी सुन्दरी देवी सीताका दर्शन किया। वे अपनी सारी अभिलाषाओंको आपमें ही केन्द्रित करके किसी तरह जीवन धारण कर रही हैं। विकराल रूपवाली राक्षसियाँ उनकी रखवाली करती हैं और बारंबार उन्हें डाँटती-फटकारती रहती हैं ॥११-१२½॥

दुःखमापद्यते देवी त्वया वीर सुखोचिता ॥ १३ ॥
रावणान्तःपुरे रुद्धा राक्षसीभिः सुरक्षिता ।
एकवेणीधरा दीना त्वयि चिन्तापरायणा ॥ १४ ॥

'वीरवर! देवी सीता आपके साथ सुख भोगनेके योग्य हैं, परंतु इस समय बड़े दुःखसे दिन बिता रही हैं। उन्हें रावणके अन्तःपुरमें रोक रखा गया है और वे राक्षसियोंके पहरेमें रहती हैं। सिरपर एक वेणी धारण किये दुःखी हो सदा आपकी चिन्तामें डूबी रहती हैं ॥ १३-१४ ॥

अधःशय्या विवर्णाङ्गी पद्मिनीव हिमागमे ।
रावणाद् विनिवृत्तार्था मर्तव्यकृतनिश्चया ॥ १५ ॥

'वे नीचे भूमिपर सोती हैं। जैसे जाड़ेके दिनोंमें पाला पड़नेके कारण कमलिनी सूख जाती है, उसी प्रकार उनके अङ्गोंकी कान्ति फीकी पड़ गयी है। रावणसे उनका कोई प्रयोजन नहीं है। उन्होंने प्राण त्याग देनेका निश्चय कर लिया है ॥ १५ ॥

देवी कथंचित् काकुत्स्थ त्वन्मना मार्गिता मया ।
इक्ष्वाकुवंशविख्यातिं शनैः कीर्तयतानघ ॥ १६ ॥
सा मया नरशार्दूल शनैर्विश्वासिता तदा ।
ततः सम्भाषिता देवी सर्वमर्थं च दर्शिता ॥ १७ ॥

'ककुत्स्थकुलभूषण! उनका मन निरन्तर आपमें ही लगा रहता है। निष्पाप नरश्रेष्ठ! मैंने बड़ा प्रयत्न करके किसी तरह महारानी सीताका पता लगाया और धीरे-धीरे इक्ष्वाकुवंशकी कीर्तिका वर्णन करते हुए किसी प्रकार उनके हृदयमें अपने प्रति विश्वास उत्पन्न किया। तत्पश्चात् देवीसे वार्तालाप करके मैंने यहाँकी सब बातें उन्हें बतलायीं ॥ १६-१७ ॥

रामसुग्रीवसख्यं च श्रुत्वा हर्षमुपागता ।
नियतः समुदाचारो भक्तिश्चास्याः सदा त्वयि ॥ १८ ॥

'आपकी सुग्रीवके साथ मित्रताका समाचार सुनकर उन्हें बड़ा हर्ष हुआ। उनका उच्चकोटिका आचार-विचार (पातिव्रत्य) सुदृढ़ है। वे सदा आपमें ही भक्ति रखती हैं ॥ १८ ॥

एवं मया महाभाग दृष्टा जनकनन्दिनी ।
उग्रेण तपसा युक्ता त्वद्भक्त्या पुरुषर्षभ ॥ १९ ॥

'महाभाग! पुरुषोत्तम! इस प्रकार जनकनन्दिनीको मैंने आपकी भक्तिसे प्रेरित होकर कठोर तपस्या करते देखा है ॥ १९ ॥

अभिज्ञानं च मे दत्तं यथावृत्तं तवान्तिके ।
चित्रकूटे महाप्राज्ञ वायसं प्रति राघव ॥ २० ॥

'महामते! रघुनन्दन! चित्रकूटमें आपके पास देवीके रहते समय एक कौएको लेकर जो घटना घटित हुई थी, उस वृत्तान्तको उन्होंने पहचानके रूपमें मुझसे कहा था ॥ २० ॥

विज्ञाप्यः पुनरप्येष रामो वायुसुत त्वया ।
अखिलेन यथा दृष्टमिति मामाह जानकी ॥ २१ ॥
अयं चास्मै प्रदातव्यो यत्नात् सुपरिरक्षितः ।

'जानकीजीने आते समय मुझसे कहा—'वायुनन्दन! तुम यहाँ जैसी मेरी हालत देख चुके हो, वह सब भगवान् श्रीरामको बताना और इस मणिको बड़े यत्नसे सुरक्षितरूपमें ले जाकर उनके हाथमें देना ॥२१½॥

ब्रुवता वचनान्येवं सुग्रीवस्योपशृण्वतः ॥ २२ ॥
एष चूडामणिः श्रीमान् मया ते यत्नरक्षितः ।
मनःशिलायास्तिलकं तत् स्मरस्वेति चाब्रवीत् ॥ २३ ॥
एष निर्यातितः श्रीमान् मया ते वारिसम्भवः ।
एनं दृष्ट्वा प्रमोदिष्ये व्यसने त्वामिवानघ ॥ २४ ॥

''ऐसे समयमें देना, जब कि सुग्रीव भी निकट बैठकर तुम्हारी कही हुई बातें सुन रहे हों। साथ ही मेरी ये बातें भी उनसे निवेदन करना—'प्रभो! आपकी दी हुई यह कान्तिमती चूड़ामणि मैंने बड़े यत्नसे सुरक्षित रखी थी। जलसे प्रकट हुए इस दीप्तिमान् रत्नको मैंने आपकी सेवामें लौटाया है। निष्पाप रघुनन्दन! संकटके समय इसे देखकर मैं उसी प्रकार आनन्दमग्न हो जाती थी, जैसे आपके दर्शनसे आनन्दित होती हूँ। आपने मेरे ललाटमें जो मैनसिलका तिलक लगाया था, इसको स्मरण कीजिये।' ये बातें जानकीजीने कही थीं ॥ २२—२४ ॥

जीवितं धारयिष्यामि मासं दशरथात्मज ।
ऊर्ध्वं मासान्न जीवेयं रक्षसां वशमागता ॥ २५ ॥

'उन्होंने यह भी कहा—'दशरथनन्दन! मैं एक मास और जीवन धारण करूँगी। उसके बाद राक्षसोंके वशमें पड़कर प्राण त्याग दूँगी—किसी तरह जीवित नहीं रह सकूँगी' ॥ २५ ॥

इति मामब्रवीत् सीता कृशाङ्गी धर्मचारिणी ।
रावणान्तःपुरे रुद्धा मृगीवोत्फुल्ललोचना ॥ २६ ॥

'इस प्रकार दुबले-पतले शरीरवाली धर्मपरायणा सीताने मुझे आपसे कहनेके लिये यह संदेश दिया था। वे रावणके अन्तःपुरमें कैद हैं और भयके मारे आँख फाड़-फाड़कर इधर-उधर देखनेवाली हरिणीके समान वे सशङ्क दृष्टिसे सब ओर देखा करती हैं ॥ २६ ॥

एतदेव मयाऽऽख्यातं सर्वं राघव यद् यथा।
सर्वथा सागरजले संतारः प्रविधीयताम्॥ २७॥

'रघुनन्दन! यही वहाँका वृत्तान्त है, जो सब-का-सब मैंने आपकी सेवामें निवेदन कर दिया। अब सब प्रकारसे समुद्रको पार करनेका प्रयत्न कीजिये'॥ २७॥

तौ जाताश्वासौ राजपुत्रौ विदित्वा
तच्चाभिज्ञानं राघवाय प्रदाय।
देव्या चाख्यातं सर्वमेवानुपूर्व्याद्
वाचा सम्पूर्णं वायुपुत्रः शशंस॥ २८॥

राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मणको कुछ आश्वासन मिल गया, ऐसा जानकर तथा वह पहचान श्रीरघुनाथजीके हाथमें देकर वायुपुत्र हनुमान्‌ने देवी सीताकी कही हुई सारी बातें क्रमशः अपनी वाणीद्वारा पूर्णरूपसे कह सुनायीं॥ २८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे पञ्चषष्टितमः सर्गः॥ ६५॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें पैंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ६५॥

षट्षष्टितमः सर्गः

चूडामणिको देखकर और सीताका समाचार पाकर श्रीरामका उनके लिये विलाप

एवमुक्तो हनुमता रामो दशरथात्मजः।
तं मणिं हृदये कृत्वा रुरोद सहलक्ष्मणः॥ १॥

हनुमान्‌जीके ऐसा कहनेपर दशरथनन्दन श्रीराम उस मणिको अपनी छातीसे लगाकर रोने लगे। साथ ही लक्ष्मण भी रो पड़े॥ १॥

तं तु दृष्ट्वा मणिश्रेष्ठं राघवः शोककर्शितः।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां सुग्रीवमिदमब्रवीत्॥ २॥

उस श्रेष्ठ मणिकी ओर देखकर शोकसे व्याकुल हुए श्रीरघुनाथजी अपने दोनों नेत्रोंमें आँसू भरकर सुग्रीवसे इस प्रकार बोले—॥ २॥

यथैव धेनुः स्रवति स्नेहाद् वत्सस्य वत्सला।
तथा ममापि हृदयं मणिश्रेष्ठस्य दर्शनात्॥ ३॥

'मित्र! जैसे वत्सला धेनु अपने बछड़ेके स्नेहसे थनोंसे दूध झरने लगती है, उसी प्रकार इस उत्तम मणिको देखकर आज मेरा हृदय भी द्रवीभूत हो रहा है॥ ३॥

मणिरत्नमिदं दत्तं वैदेह्याः श्वशुरेण मे।
वधूकाले यथा बद्धमधिकं मूर्ध्नि शोभते॥ ४॥

'मेरे श्वशुर राजा जनकने विवाहके समय वैदेहीको यह मणिरत्न दिया था, जो उसके मस्तकपर आबद्ध होकर बड़ी शोभा पाता था॥ ४॥

अयं हि जलसम्भूतो मणिः प्रवरपूजितः।
यज्ञे परमतुष्टेन दत्तः शक्रेण धीमता॥ ५॥

'जलसे प्रकट हुई यह मणि श्रेष्ठ देवताओंद्वारा पूजित है। किसी यज्ञमें बहुत संतुष्ट हुए बुद्धिमान् इन्द्रने राजा जनकको यह मणि दी थी॥ ५॥

इमं दृष्ट्वा मणिश्रेष्ठं तथा तातस्य दर्शनम्।
अद्यास्म्यवगतः सौम्य वैदेहस्य तथा विभोः॥ ६॥

'सौम्य! इस मणिरत्नका दर्शन करके आज मुझे मानो अपने पूज्य पिताका और विदेहराज महाराज जनकका भी दर्शन मिल गया हो, ऐसा अनुभव हो रहा है॥ ६॥

अयं हि शोभते तस्याः प्रियाया मूर्ध्नि मे मणिः।
अद्यास्य दर्शनेनाहं प्राप्तां तामिव चिन्तये॥ ७॥

'यह मणि सदा मेरी प्रिया सीताके सीमन्तपर शोभा पाती थी। आज इसे देखकर ऐसा जान पड़ता है मानो सीता ही मुझे मिल गयी॥ ७॥

किमाह सीता वैदेही ब्रूहि सौम्य पुनः पुनः।
परासुमिव तोयेन सिञ्चन्ती वाक्यवारिणा॥ ८॥

'सौम्य पवनकुमार! जैसे बेहोश हुए मनुष्यको होशमें लानेके लिये उसपर जलके छींटे दिये जाते हैं, उसी प्रकार विदेहनन्दिनी सीताने मूर्च्छित हुए-से मुझ रामको अपने वाक्यरूपी शीतल जलसे सींचते हुए क्या-क्या कहा है? यह बारंबार बताओ'॥ ८॥

इतस्तु किं दुःखतरं यदिमं वारिसम्भवम्।
मणिं पश्यामि सौमित्रे वैदेहीमागतां विना॥ ९॥

(अब वे लक्ष्मणसे बोले—) 'सुमित्रानन्दन! सीताके यहाँ आये बिना ही जो जलसे उत्पन्न हुई इस मणिको मैं देख रहा हूँ। इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या हो सकती है'॥ ९॥

चिरं जीवति वैदेही यदि मासं धरिष्यति।
क्षणं वीर न जीवेयं विना तामसितेक्षणाम्॥ १०॥

(फिर वे हनुमान्‌जीसे बोले—) 'वीर पवनकुमार! यदि विदेहनन्दिनी सीता एक मासतक जीवन धारण कर लेगी, तब तो वह बहुत समयतक जी रही है। मैं तो कजरारे नेत्रोंवाली जानकीके बिना अब एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता॥ १०॥

नय मामपि तं देशं यत्र दृष्टा मम प्रिया।
न तिष्ठेयं क्षणमपि प्रवृत्तिमुपलभ्य च॥ ११॥

'तुमने जहाँ मेरी प्रियाको देखा है, उसी देशमें मुझे भी ले चलो। उसका समाचार पाकर अब मैं एक क्षण भी यहाँ नहीं रुक सकता॥ ११॥

कथं सा मम सुश्रोणी भीरुभीरुः सती तदा।
भयावहानां घोराणां मध्ये तिष्ठति रक्षसाम्॥ १२॥

'हाय! मेरी सती-साध्वी सुमध्यमा सीता बड़ी भीरु है। वह उन घोर रूपधारी भयंकर राक्षसोंके बीचमें कैसे रहती होगी?॥ १२॥

शारदस्तिमिरोन्मुक्तो नूनं चन्द्र इवाम्बुदैः।
आवृतो वदनं तस्या न विराजति साम्प्रतम्॥ १३॥

'निश्चय ही अन्धकारसे मुक्त किंतु बादलोंसे ढके हुए शरत्कालीन चन्द्रमाके समान सीताका मुख इस समय शोभा नहीं पा रहा होगा॥ १३॥

किमाह सीता हनुमंस्तत्त्वतः कथयस्व मे।
एतेन खलु जीविष्ये भेषजेनातुरो यथा॥ १४॥

'हनुमन्! मुझे ठीक-ठीक बताओ, सीताने क्या-क्या कहा है? जैसे रोगी दवा लेनेसे जीता है, उसी प्रकार मैं सीताके इस संदेश-वाक्यको सुनकर ही जीवन धारण करूँगा॥ १४॥

मधुरा मधुरालापा किमाह मम भामिनी।
मद्विहीना वरारोहा हनुमन् कथयस्व मे।
दुःखाद् दुःखतरं प्राप्य कथं जीवति जानकी॥ १५॥

'हनुमन्! मुझसे बिछुड़ी हुई मेरी सुन्दर कटिप्रदेशवाली मधुरभाषिणी सुन्दरी प्रियतमा जनकनन्दिनी सीताने मेरे लिये कौन-सा संदेश दिया है? वह दुःख-पर-दुःख उठाकर भी कैसे जीवन धारण कर रही है?'॥ १५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे षट्षष्टितमः सर्गः॥ ६६॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें छाछठवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ६६॥

सप्तषष्टितमः सर्गः

हनुमान्‌जीका भगवान् श्रीरामको सीताका संदेश सुनाना

एवमुक्तस्तु हनुमान् राघवेण महात्मना।
सीताया भाषितं सर्वं न्यवेदयत राघवे॥ १॥

महात्मा श्रीरघुनाथजीके ऐसा कहनेपर श्रीहनुमान्‌जीने सीताजीकी कही हुई सब बातें उनसे निवेदन कर दीं॥ १॥

इदमुक्तवती देवी जानकी पुरुषर्षभ।
पूर्ववृत्तमभिज्ञानं चित्रकूटे यथातथम्॥ २॥

वे बोले—'पुरुषोत्तम! जानकी देवीने पहले चित्रकूटपर बीती हुई एक घटनाका यथावत् रूपसे वर्णन किया था। उसे उन्होंने पहचानके तौरपर इस प्रकार कहा था॥ २॥

सुखसुप्ता त्वया सार्धं जानकी पूर्वमुत्थिता।
वायसः सहसोत्पत्य विददार स्तनान्तरम्॥ ३॥

'पहले चित्रकूटमें कभी जानकी देवी आपके साथ सुख-पूर्वक सोयी थीं। वे सोकर आपसे पहले उठ गयीं। उस समय किसी कौएने सहसा उड़कर उनकी छातीमें चोंच मार दी॥ ३॥

पर्यायेण च सुप्तस्त्वं देव्यङ्के भरताग्रज।
पुनश्च किल पक्षी स देव्या जनयति व्यथा॥ ४॥

'भरताग्रज! आपलोग बारी-बारीसे एक-दूसरेके अङ्कमें सिर रखकर सोते थे। जब आप देवीके अङ्कमें मस्तक रखकर सोये थे, उस समय पुनः उसी पक्षीने आकर देवीको कष्ट देना आरम्भ किया॥ ४॥

ततः पुनरुपागम्य विददार भृशं किल।
ततस्त्वं बोधितस्तस्याः शोणितेन समुक्षितः॥ ५॥

'कहते हैं उसने फिर आकर जोरसे चोंच मार दी। तब देवीके शरीरसे रक्त बहने लगा और उससे भीग जानेके कारण आप जग उठे॥ ५॥

वायसेन च तेनैवं सततं बाध्यमानया।
बोधितः किल देव्या त्वं सुखसुप्तः परंतप॥ ६॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले रघुनन्दन! उस कौएने जब लगातार इस तरह पीड़ा दी, तब देवी सीताने सुखसे सोये हुए आपको जगा दिया॥ ६॥

तां च दृष्ट्वा महाबाहो दारितां च स्तनान्तरे।
आशीविष इव क्रुद्धस्ततो वाक्यं त्वमूचिवान्॥ ७॥

'महाबाहो! उनकी छातीमें घाव हुआ देख आप विषधर सर्पके समान कुपित हो उठे और इस प्रकार बोले—॥ ७॥

नखाग्रैः केन ते भीरु दारितं वै स्तनान्तरम्।
कः क्रीडति सरोषेण पञ्चवक्त्रेण भोगिना॥ ८॥

''भीरु! किसने अपने नखोंके अग्रभागसे तुम्हारी छातीमें घाव कर दिया है? कौन कुपित हुए पाँच मुँहवाले सर्पके साथ खेल रहा है?'॥ ८॥

निरीक्षमाणः सहसा वायसं समुदैक्षथाः।
नखैः सरुधिरैस्तीक्ष्णैस्तामेवाभिमुखं स्थितम्॥ ९॥

'ऐसा कहकर आपने जब सहसा इधर-उधर दृष्टि डाली, तब उस कौएको देखा। उसके तीखे पंजे खूनमें रँगे हुए थे और वह सीता देवीकी ओर मुँह करके ही कहीं बैठा था॥ ९॥

सुतः किल स शक्रस्य वायसः पततां वरः।
धरान्तरगतः शीघ्रं पवनस्य गतौ समः॥ १०॥

सुना है, उड़नेवालोंमें श्रेष्ठ वह कौआ साक्षात् इन्द्रका पुत्र था, जो उन दिनों पृथ्वीपर विचर रहा था। वह वायुदेवताके

समान शीघ्रगामी था ॥ १० ॥

ततस्तस्मिन् महाबाहो कोपसंवर्तितेक्षणः ।
वायसे त्वं व्यधाः क्रूरां मतिं मतिमतां वर ॥ ११ ॥

'मतिमानोंमें श्रेष्ठ महाबाहो ! उस समय आपके नेत्र क्रोधसे घूमने लगे और आपने उस कौएको कठोर दण्ड देनेका विचार किया ॥ ११ ॥

स दर्भसंस्तराद् गृह्य ब्रह्मास्त्रेण न्ययोजयः ।
स दीप्त इव कालाग्निर्जज्वालाभिमुखं खगम् ॥ १२ ॥

'आपने अपनी चटाईमेंसे एक कुशा निकालकर हाथमें ले लिया और उसे ब्रह्मास्त्रसे अभिमन्त्रित किया । फिर तो वह कुश प्रलयकालकी अग्निके समान प्रज्वलित हो उठा । उसका लक्ष्य वह कौआ ही था ॥ १२ ॥

स त्वं प्रदीप्तं चिक्षेप दर्भं तं वायसं प्रति ।
ततस्तु वायसं दीप्तः स दर्भोऽनुजगाम ह ॥ १३ ॥

'आपने उस जलते हुए कुशको कौएकी ओर छोड़ दिया । फिर तो वह दीप्तिमान् दर्भ उस कौएका पीछा करने लगा ॥ १३ ॥

भीतैश्च सम्परित्यक्तः सुरैः सर्वैश्च वायसः ।
त्रींल्लोकान् सम्परिक्रम्य त्रातारं नाधिगच्छति ॥ १४ ॥

'आपके भयसे डरे हुए समस्त देवताओंने भी उस कौएको त्याग दिया । वह तीनों लोकोंमें चक्कर लगाता फिरा, किंतु कहीं भी उसे कोई रक्षक नहीं मिला ॥ १४ ॥

पुनरप्यागतस्तत्र त्वत्सकाशमरिंदम ।
त्वं तं निपतितं भूमौ शरण्यः शरणागतम् ॥ १५ ॥
वधार्हमपि काकुत्स्थ कृपया परिपालयः ।

'शत्रुदमन श्रीराम ! सब ओरसे निराश होकर वह कौआ फिर वहीं आपकी शरणमें आया । शरणमें आकर पृथ्वीपर पड़े हुए उस कौएको आपने शरणमें ले लिया; क्योंकि आप शरणागतवत्सल हैं । यद्यपि वह वधके योग्य था तो भी आपने कृपापूर्वक उसकी रक्षा की ॥ १५½ ॥

मोघमस्त्रं न शक्यं तु कर्तुमित्येव राघव ॥ १६ ॥
भवांस्तस्याक्षि काकस्य हिनस्ति स्म स दक्षिणम् ।

'रघुनन्दन ! उस ब्रह्मास्त्रको व्यर्थ नहीं किया जा सकता था, इसलिये आपने उस कौएकी दाहिनी आँख फोड़ डाली ॥ १६½ ॥

राम त्वां स नमस्कृत्य राज्ञो दशरथस्य च ॥ १७ ॥
विसृष्टस्तु तदा काकः प्रतिपेदे स्वमालयम् ।

'श्रीराम ! तदनन्तर आपसे विदा ले वह कौआ भूतलपर आपको और स्वर्गमें राजा दशरथको नमस्कार करके अपने घरको चला गया ॥ १७½ ॥

एवमस्त्रविदां श्रेष्ठः सत्त्ववाञ्छीलवानपि ॥ १८ ॥
किमर्थमस्त्रं रक्षःसु न योजयसि राघव ।

'(सीता कहती हैं—) 'रघुनन्दन ! इस प्रकार अस्त्र-वेत्ताओंमें श्रेष्ठ, शक्तिशाली और शीलवान् होते हुए भी आप राक्षसोंपर अपने अस्त्रका प्रयोग क्यों नहीं करते हैं ? ॥ १८½ ॥

न दानवा न गन्धर्वा नासुरा न मरुद्गणाः ॥ १९ ॥
तव राम रणे शक्तास्तथा प्रतिसमासितुम् ।

'श्रीराम ! दानव, गन्धर्व, असुर और देवता कोई भी समराङ्गणमें आपका सामना नहीं कर सकते ॥ १९½ ॥

तव वीर्यवतः कश्चिन्मयि यद्यस्ति सम्भ्रमः ॥ २० ॥
क्षिप्रं सुनिशितैर्बाणैर्हन्यतां युधि रावणः ।

''आप बल-पराक्रमसे सम्पन्न हैं । यदि मेरे प्रति आपका कुछ भी आदर है तो आप शीघ्र ही अपने तीखे बाणोंसे रणभूमिमें रावणको मार डालिये ॥ २०½ ॥

भ्रातुरादेशमाज्ञाय लक्ष्मणो वा परंतपः ॥ २१ ॥
स किमर्थं नरवरो न मां रक्षति राघवः ।

''हनुमन् ! अथवा अपने भाईकी आज्ञा लेकर शत्रुओंको संताप देनेवाले रघुकुलतिलक नरश्रेष्ठ लक्ष्मण क्यों नहीं मेरी रक्षा करते हैं ? ॥ २१½ ॥

शक्तौ तौ पुरुषव्याघ्रौ वाय्वग्निसमतेजसौ ॥ २२ ॥
सुराणामपि दुर्धर्षौ किमर्थं मामुपेक्षतः ।

''वे दोनों पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मण वायु तथा अग्निके तुल्य तेजस्वी एवं शक्तिशाली हैं, देवताओंके लिये भी दुर्जय हैं; फिर किसलिये मेरी उपेक्षा कर रहे हैं ? ॥ २२½ ॥

ममैव दुष्कृतं किंचिन्महदस्ति न संशयः ॥ २३ ॥
समर्थौ सहितौ यन्मां न रक्षेते परंतपौ ।

''इसमें संदेह नहीं कि मेरा ही कोई ऐसा महान् पाप है, जिसके कारण वे दोनों शत्रुसंतापी वीर एक साथ रहकर समर्थ होते हुए मेरी रक्षा नहीं कर रहे हैं' ॥ २३½ ॥

वैदेह्या वचनं श्रुत्वा करुणं साधुभाषितम् ॥ २४ ॥
पुनरप्यहमार्यां तामिदं वचनमब्रुवम् ।

'रघुनन्दन ! विदेहनन्दिनीका करुणाजनक उत्तम वचन सुनकर मैंने पुनः आर्या सीतासे यह बात कही— ॥ २४½ ॥

त्वच्छोकविमुखो रामो देवि सत्येन ते शपे ॥ २५ ॥
रामे दुःखाभिभूते च लक्ष्मणः परितप्यते ।

'देवि ! मैं सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ कि श्रीरामचन्द्रजी तुम्हारे शोकके कारण ही सब कार्योंसे विरत हो रहे हैं । श्रीरामके दुःखी होनेसे लक्ष्मण भी संतप्त हो रहे हैं ॥ २५½ ॥

कथंचिद् भवती दृष्टा न कालः परिशोचितुम् ॥ २६ ॥
अस्मिन् मुहूर्ते दुःखानामन्तं द्रक्ष्यसि भामिनि ।

'किसी तरह आपका दर्शन हो गया (आपके निवास-स्थानका पता लग गया), अतः अब शोक करनेका अवसर नहीं है । भामिनि ! आप इसी मुहूर्तमें अपने सारे दुःखोंका अन्त हुआ देखेंगी ॥ २६½ ॥

तावुभौ नरशार्दूलौ राजपुत्रौ परंतपौ ॥ २७ ॥
त्वद्दर्शनकृतोत्साहौ लङ्कां भस्मीकरिष्यतः ।

'शत्रुओंको संताप देनेवाले वे दोनों नरश्रेष्ठ राजकुमार

आपके दर्शनके लिये उत्साहित हो लङ्कापुरीको जलाकर भस्म कर देंगे ॥२७½॥

हत्वा च समरे रौद्रं रावणं सहबान्धवम् ॥ २८ ॥
राघवस्त्वां वरारोहे स्वपुरीं नयिता ध्रुवम् ।

'वरारोहे! समराङ्गणमें रौद्र राक्षस रावणको बन्धु-बान्धवोंसहित मारकर रघुनाथजी अवश्य ही आपको अपनी पुरीमें ले जायँगे ॥२८½॥

यत् तु रामो विजानीयादभिज्ञानमनिन्दिते ॥ २९ ॥
प्रीतिसंजननं तस्य प्रदातुं तत् त्वमर्हसि ।

'सती-साध्वी देवि! अब आप मुझे कोई ऐसी पहचान दीजिये, जिसे श्रीरामचन्द्रजी जानते हों और जो उनके मनको प्रसन्न करनेवाला हो ॥२९½॥

साभिवीक्ष्य दिशः सर्वा वेण्युद्ग्रथनमुत्तमम् ॥ ३० ॥
मुक्त्वा वस्त्राद् ददौ मह्यं मणिमेतं महाबल ।

'महाबली वीर! तब उन्होंने चारों ओर देखकर वेणीमें बाँधने योग्य इस उत्तम मणिको अपने वस्त्रसे खोलकर मुझे दे दिया ॥३०½॥

प्रतिगृह्य मणिं दोर्भ्यां तव हेतो रघुप्रिय ॥ ३१ ॥
शिरसा सम्प्रणम्यैनामहमागमने त्वरे ।

'रघुवंशियोंके प्रियतम श्रीराम! आपके लिये इस मणिको दोनों हाथोंसे लेकर मैंने सीतादेवीको मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और यहाँ आनेके लिये मैं उतावला हो उठा ॥३१½॥

गमने च कृतोत्साहमवेक्ष्य वरवर्णिनी ॥ ३२ ॥
विवर्धमानं च हि मामुवाच जनकात्मजा ।
अश्रुपूर्णमुखी दीना बाष्पगद्गदभाषिणी ॥ ३३ ॥
ममोत्पतनसम्भ्रान्ता शोकवेगसमाहता ।
मामुवाच ततः सीता सभाग्योऽसि महाकपे ॥ ३४ ॥
यद् द्रक्ष्यसि महाबाहुं रामं कमललोचनम् ।
लक्ष्मणं च महाबाहुं देवरं मे यशस्विनम् ॥ ३५ ॥

'लौटनेके लिये उत्साहित हो मुझे अपने शरीरको बढ़ाते देख सुन्दरी जनकनन्दिनी सीता बहुत दुःखी हो गयीं। उनके मुखपर आँसुओंकी धारा बह चली। मेरी उछलनेकी तैयारीसे वे घबरा गयीं और शोकके वेगसे आहत हो उठीं। उस समय उनका स्वर अश्रुगद्गद हो गया था। वे मुझसे कहने लगीं—'महाकपे! तुम बड़े सौभाग्यशाली हो, जो मेरे महाबाहु प्रियतम कमलनयन श्रीरामको तथा मेरे यशस्वी देवर महाबाहु लक्ष्मणको भी अपनी आँखोंसे देखोगे' ॥ ३२—३५ ॥

सीतयाप्येवमुक्तोऽहमब्रुवं मैथिलीं तथा ।
पृष्ठमारोह मे देवि क्षिप्रं जनकनन्दिनि ॥ ३६ ॥
यावत्ते दर्शयाम्यद्य ससुग्रीवं सलक्ष्मणम् ।
राघवं च महाभागे भर्तारमसितेक्षणे ॥ ३७ ॥

'सीताजीके ऐसा कहनेपर मैंने उन मिथिलेशकुमारीसे कहा—'देवि! जनकनन्दिनी! आप शीघ्र मेरी पीठपर चढ़ जाइये। महाभागे! श्यामलोचने! मैं अभी सुग्रीव और लक्ष्मणसहित आपके पतिदेव श्रीरघुनाथजीका आपको दर्शन कराता हूँ' ॥ ३६-३७ ॥

साब्रवीन्मां ततो देवी नैष धर्मो महाकपे ।
यत्ते पृष्ठं सिषेवेऽहं स्ववशा हरिपुङ्गव ॥ ३८ ॥

'यह सुनकर सीता देवी मुझसे बोलीं—'महाकपे! वानरशिरोमणे! मेरा यह धर्म नहीं है कि मैं अपने वशमें होती हुई भी स्वेच्छासे तुम्हारी पीठका आश्रय लूँ ॥ ३८ ॥

पुरा च यदहं वीर स्पृष्टा गात्रेषु रक्षसा ।
तत्राहं किं करिष्यामि कालेनोपनिपीडिता ॥ ३९ ॥
गच्छ त्वं कपिशार्दूल यत्र तौ नृपतेः सुतौ ।

''वीर! पहले जो राक्षस रावणके द्वारा मेरे अङ्गोंका स्पर्श हो गया, उस समय वहाँ मैं क्या कर सकती थी? मुझे तो कालने ही पीड़ित कर रखा था। अतः वानरप्रवर! जहाँ वे दोनों राजकुमार हैं, वहाँ तुम जाओ' ॥३९½॥

इत्येवं सा समाभाष्य भूयः संदेष्टुमास्थिता ॥ ४० ॥
हनूमन् सिंहसंकाशौ तावुभौ रामलक्ष्मणौ ।
सुग्रीवं च सहामात्यं सर्वान् ब्रूया अनामयम् ॥ ४१ ॥

'ऐसा कहकर वे फिर मुझे संदेश देने लगीं—'हनुमन्! सिंहके समान पराक्रमी उन दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणसे, मन्त्रियोंसहित सुग्रीवसे तथा अन्य सब लोगोंसे भी मेरा कुशल-समाचार कहना और उनका पूछना ॥ ४०-४१ ॥

यथा च स महाबाहुर्मां तारयति राघवः ।
अस्माद्दुःखाम्बुसंरोधात् तत् त्वमाख्यातुमर्हसि ॥ ४२ ॥

''तुम वहाँ ऐसी बात कहना, जिससे महाबाहु रघुनाथजी इस दुःखसागरसे मेरा उद्धार करें ॥ ४२ ॥

इदं च तीव्रं मम शोकवेगं
रक्षोभिरेभिः परिभर्त्सनं च ।
ब्रूयास्तु रामस्य गतः समीपं
शिवश्च तेऽध्वास्तु हरिप्रवीर ॥ ४३ ॥

''वानरोंके प्रमुख वीर! मेरे इस तीव्र शोक-वेगको तथा इन राक्षसोंद्वारा जो मुझे डराया-धमकाया जाता है, इसको भी उन श्रीरामचन्द्रजीके पास जाकर कहना। तुम्हारा मार्ग मङ्गलमय हो' ॥ ४३ ॥

एतत् तवार्या नृप संयता सा
सीता वचः प्राह विषादपूर्वम् ।
एतच्च बुद्ध्वा गदितं यथा त्वं
श्रद्धत्स्व सीतां कुशलां समग्राम् ॥ ४४ ॥

'नरेश्वर! आपकी प्रियतमा संयमशीला आर्या सीताने बड़े विषादके साथ ये सारी बातें कही हैं। मेरी कही हुई इन सब बातोंपर विचार करके आप विश्वास करें कि सती-शिरोमणि सीता सकुशल हैं' ॥ ४४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे सप्तषष्टितमः सर्गः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें सरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

अष्टषष्टितमः सर्गः

हनुमान्‌जीका सीताके संदेह और अपनेद्वारा उनके निवारणका वृत्तान्त बताना

अथाहमुत्तरं देव्या पुनरुक्तः ससम्भ्रमम्।
तव स्नेहान्नरव्याघ्र सौहार्दादनुमान्य च॥ १॥

'पुरुषसिंह रघुनन्दन! आपके प्रति स्नेह और सौहार्दके कारण देवी सीताने मेरा सत्कार करके जानेके लिये उतावले हुए मुझसे पुनः यह उत्तम बात कही—॥ १॥

एवं बहुविधं वाच्यो रामो दाशरथिस्त्वया।
यथा मां प्राप्नुयाच्छीघ्रं हत्वा रावणमाहवे॥ २॥

''पवनकुमार! तुम दशरथनन्दन भगवान् श्रीरामसे अनेक प्रकारसे ऐसी बातें कहना, जिससे वे समराङ्गणमें शीघ्र ही रावणका वध करके मुझे प्राप्त कर लें॥ २॥

यदि वा मन्यसे वीर वसैकाहमरिंदम।
कस्मिंश्चित् संवृते देशे विश्रान्तः श्वो गमिष्यसि॥ ३॥

''शत्रुओंका दमन करनेवाले वीर! यदि तुम ठीक समझो तो यहाँ किसी गुप्त स्थानमें एक दिनके लिये ठहर जाओ। आज विश्राम करके कल सबेरे यहाँसे चले जाना॥ ३॥

मम चाप्यल्पभाग्यायाः सांनिध्यात् तव वानर।
अस्य शोकविपाकस्य मुहूर्तं स्याद् विमोक्षणम्॥ ४॥

''वानर! तुम्हारे निकट रहनेसे मुझ मन्दभागिनीको इस शोकविपाकसे थोड़ी देरके लिये भी छुटकारा मिल जाय॥ ४॥

गते हि त्वयि विक्रान्ते पुनरागमनाय वै।
प्राणानामपि संदेहो मम स्यान्नात्र संशयः॥ ५॥

''तुम पराक्रमी वीर हो। जब पुनः आनेके लिये यहाँसे चले जाओगे, तब मेरे प्राणोंके लिये भी संदेह उपस्थित हो जायगा। इसमें संशय नहीं है॥ ५॥

तवादर्शनजः शोको भूयो मां परितापयेत्।
दुःखाद् दुःखपराभूतां दुर्गतां दुःखभागिनीम्॥ ६॥

''तुम्हें न देखनेसे होनेवाला शोक दुःख-पर-दुःख उठानेसे पराभव तथा दुर्गतिमें पड़ी हुई मुझ दुःखियाको और भी संताप देता रहेगा॥ ६॥

अयं च वीर संदेहस्तिष्ठतीव ममाग्रतः।
सुमहांस्त्वत्सहायेषु हर्यृक्षेषु हरीश्वर॥ ७॥
कथं नु खलु दुष्पारं तरिष्यन्ति महोदधिम्।
तानि हर्यृक्षसैन्यानि तौ वा नरवरात्मजौ॥ ८॥

''वीर! वानरराज! मेरे सामने यह महान् संदेह-सा खड़ा हो गया है कि तुम जिनके सहायक हो, उन वानरों और भालुओंके होते हुए भी रीछों और वानरोंकी वे सेनाएँ तथा वे दोनों राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण इस अपार पारावारको कैसे पार करेंगे?॥ ७-८॥

त्रयाणामेव भूतानां सागरस्यास्य लङ्घने।
शक्तिः स्याद् वैनतेयस्य वायोर्वा तव चानघ॥ ९॥

''निष्पाप पवनकुमार! तीन ही भूतोंमें इस समुद्रको लाँघनेकी शक्ति देखी जाती है—विनतानन्दन गरुड़में, वायुदेवतामें और तुममें॥ ९॥

तदस्मिन् कार्यनियोगे वीरैवं दुरतिक्रमे।
किं पश्यसि समाधानं ब्रूहि कार्यविदां वर॥ १०॥

''वीर! जब इस प्रकार इस कार्यका साधन दुष्कर हो गया है, तब इसकी सिद्धिके लिये तुम कौन-सा समाधान (उपाय) देखते हो। कार्यसिद्धिके उपाय जाननेवालोंमें तुम श्रेष्ठ हो, अतः मेरी बातका उत्तर दो॥ १०॥

काममस्य त्वमेवैकः कार्यस्य परिसाधने।
पर्याप्तः परवीरघ्न यशस्यस्ते बलोदयः॥ ११॥

''विपक्षी वीरोंका नाश करनेवाले कपिश्रेष्ठ! इसमें संदेह नहीं कि इस कार्यकी सिद्धिके लिये तुम अकेले ही बहुत हो, तथापि तुम्हारे बलका यह उद्रेक तुम्हारे लिये ही यशकी वृद्धि करनेवाला होगा (श्रीरामके लिये नहीं)॥ ११॥

बलैः समग्रैर्यदि मां हत्वा रावणमाहवे।
विजयी स्वपुरीं रामो नयेत् तत् स्याद् यशस्करम्॥ १२॥

''यदि श्रीराम अपनी सम्पूर्ण सेनाके साथ यहाँ आकर युद्धमें रावणको मार डालें और विजयी होकर मुझे अपनी पुरीको ले चलें तो यह उनके लिये यशकी वृद्धि करनेवाला होगा॥ १२॥

यथाहं तस्य वीरस्य वनादुपधिना हृता।
रक्षसा तद्भयादेव तथा नार्हति राघवः॥ १३॥

''जिस प्रकार राक्षस रावणने वीरवर भगवान् श्रीरामके भयसे ही उनके सामने न जाकर छलपूर्वक वनसे मेरा अपहरण किया था, उस तरह श्रीरघुनाथजीको मुझे नहीं प्राप्त करना चाहिये (वे रावणको मारकर ही मुझे ले चलें)॥ १३॥

बलैस्तु संकुलां कृत्वा लङ्कां परबलार्दनः।
मां नयेद् यदि काकुत्स्थस्तत् तस्य सदृशं भवेत्॥ १४॥

''शत्रुसेनाका संहार करनेवाले ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम यदि अपने सैनिकोंद्वारा लङ्काको पददलित करके मुझे अपने साथ ले जायँ तो वह उनके योग्य पराक्रम होगा॥ १४॥

तद् यथा तस्य विक्रान्तमनुरूपं महात्मनः।
भवत्याहवशूरस्य तथा त्वमुपपादय॥ १५॥

''महात्मा श्रीराम संग्राममें शौर्य प्रकट करनेवाले हैं; अतः जिस प्रकार उनके अनुरूप पराक्रम प्रकट हो सके, वैसा ही उपाय तुम करो'॥ १५॥

तदर्थोपहितं वाक्यं प्रश्रितं हेतुसंहितम्।
निशम्याहं ततः शेषं वाक्यमुत्तरमब्रवम्॥ १६॥

'सीता देवीके उस अभिप्राययुक्त, विनयपूर्ण और

युक्तिसंगत वचनको सुनकर अन्तमें मैंने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ १६ ॥

देवि हर्यृक्षसैन्यानामीश्वरः प्लवतां वरः।
सुग्रीवः सत्त्वसम्पन्नस्त्वदर्थे कृतनिश्चयः ॥ १७ ॥

"देवि! वानर और भालुओंकी सेनाके स्वामी कपिश्रेष्ठ सुग्रीव बड़े शक्तिशाली हैं। वे आपका उद्धार करनेके लिये दृढ़ निश्चय कर चुके हैं ॥ १७ ॥

तस्य विक्रमसम्पन्नाः सत्त्ववन्तो महाबलाः।
मनःसंकल्पसदृशा निदेशे हरयः स्थिताः ॥ १८ ॥

"उनके पास पराक्रमी, शक्तिशाली और महाबली वानर हैं, जो मनके संकल्पके समान तीव्र गतिसे चलते हैं। वे सब-के-सब सदा उनकी आज्ञाके अधीन रहते हैं ॥ १८ ॥

येषां नोपरि नाधस्तान्न तिर्यक् सज्जते गतिः।
न च कर्मसु सीदन्ति महत्स्वमिततेजसः ॥ १९ ॥

"नीचे, ऊपर और अगल-बगलमें कहीं भी उनकी गति नहीं रुकती है। वे अमिततेजस्वी वानर बड़े-से-बड़े कार्य आ पड़नेपर भी कभी शिथिल नहीं होते हैं ॥ १९ ॥

असकृत् तैर्महाभागैर्वानरैर्बलसंयुतैः।
प्रदक्षिणीकृता भूमिर्वायुमार्गानुसारिभिः ॥ २० ॥

"वायुमार्ग (आकाश) का अनुसरण करनेवाले उन महाभाग बलवान् वानरोंने अनेक बार इस पृथ्वीकी परिक्रमा की है ॥ २० ॥

मद्विशिष्टाश्च तुल्याश्च सन्ति तत्र वनौकसः।
मत्तः प्रत्यवरः कश्चिन्नास्ति सुग्रीवसंनिधौ ॥ २१ ॥

"वहाँ मुझसे बढ़कर तथा मेरे समान शक्तिशाली बहुत-से वानर हैं। सुग्रीवके पास कोई ऐसा वानर नहीं है, जो मुझसे किसी बातमें कम हो ॥ २१ ॥

अहं तावदिह प्राप्तः किं पुनस्ते महाबलाः।
नहि प्रकृष्टाः प्रेष्यन्ते प्रेष्यन्ते हीतरे जनाः ॥ २२ ॥

"जब मैं ही यहाँ आ गया, तब फिर उन महाबली वानरोंके आनेमें क्या संदेह हो सकता है? आप जानती होंगी कि दूत या धावन बनाकर वे ही लोग भेजे जाते हैं, जो निम्नश्रेणीके होते हैं। अच्छी श्रेणीके लोग नहीं भेजे जाते ॥ २२ ॥

तदलं परितापेन देवि मन्युरपैतु ते।
एकोत्पातेन ते लङ्कामेष्यन्ति हरियूथपाः ॥ २३ ॥

"अतः देवि! अब संताप करनेकी आवश्यकता नहीं है। आपका मानसिक दुःख दूर हो जाना चाहिये। वे वानर-यूथपति एक ही छलाँगमें लङ्कामें पहुँच जायँगे ॥ २३ ॥

मम पृष्ठगतौ तौ च चन्द्रसूर्याविवोदितौ।
त्वत्सकाशं महाभागे नृसिंहावागमिष्यतः ॥ २४ ॥

"महाभागे! वे पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मण भी उदयाचलपर उदित होनेवाले चन्द्रमा और सूर्यकी भाँति मेरी पीठपर बैठकर आपके पास आ जायँगे ॥ २४ ॥

अरिघ्नं सिंहसंकाशं क्षिप्रं द्रक्ष्यसि राघवम्।
लक्ष्मणं च धनुष्मन्तं लङ्काद्वारमुपागतम् ॥ २५ ॥

"आप शीघ्र ही देखेंगी कि सिंहके समान पराक्रमी शत्रुनाशक श्रीराम और लक्ष्मण हाथमें धनुष लिये लङ्काके द्वारपर आ पहुँचे हैं ॥ २५ ॥

नखदंष्ट्रायुधान् वीरान् सिंहशार्दूलविक्रमान्।
वानरान् वारणेन्द्राभान् क्षिप्रं द्रक्ष्यसि संगतान् ॥ २६ ॥

"नख और दाढ़ें ही जिनके आयुध हैं, जो सिंह और बाघके समान पराक्रमी हैं तथा बड़े-बड़े गजराजोंके समान जिनकी विशाल काया है, उन वीर वानरोंको आप शीघ्र ही यहाँ एकत्र हुआ देखेंगी ॥ २६ ॥

शैलाम्बुदनिकाशानां लङ्कामलयसानुषु।
नर्दतां कपिमुख्यानां नचिराच्छ्रोष्यसे स्वनम् ॥ २७ ॥

"लङ्कावर्ती मलयपर्वतके शिखरोंपर पहाड़ों और मेघोंके समान विशाल शरीरवाले प्रधान-प्रधान वानर आकर गर्जना करेंगे और आप शीघ्र ही उनका सिंहनाद सुनेंगी ॥ २७ ॥

निवृत्तवनवासं च त्वया सार्धमरिंदमम्।
अभिषिक्तमयोध्यायां क्षिप्रं द्रक्ष्यसि राघवम् ॥ २८ ॥

"आपको जल्दी ही यह देखनेका भी सौभाग्य प्राप्त होगा कि शत्रुओंका दमन करनेवाले श्रीरघुनाथजी वनवासकी अवधि पूरी करके आपके साथ अयोध्यामें जाकर वहाँके राज्यपर अभिषिक्त हो गये हैं' ॥ २८ ॥

ततो मया वाग्भिरदीनभाषिणी
शिवाभिरिष्टाभिरभिप्रसादिता।
उवाह शान्तिं मम मैथिलात्मजा
तवातिशोकेन तथातिपीडिता ॥ २९ ॥

"आपके अत्यन्त शोकसे बहुत ही पीड़ित होनेपर भी जिनकी वाणीमें कभी दीनता नहीं आने पाती, उन मिथिलेश-कुमारीको जब मैंने प्रिय एवं मङ्गलमय वचनोंद्वारा सान्त्वना देकर प्रसन्न किया, तब उनके मनको कुछ शान्ति मिली' ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डेऽष्टषष्टितमः सर्गः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें अड़सठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

सुन्दरकाण्डं सम्पूर्णम्

॥ श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः ॥

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणम्

युद्धकाण्डम्

प्रथमः सर्गः

हनुमान्‌जीकी प्रशंसा करके श्रीरामका उन्हें हृदयसे लगाना और समुद्रको पार करनेके लिये चिन्तित होना

श्रुत्वा हनूमतो वाक्यं यथावदभिभाषितम्।
रामः प्रीतिसमायुक्तो वाक्यमुत्तरमब्रवीत्॥ १॥

हनुमान्‌जीके द्वारा यथावत्‌रूपसे कहे हुए इन वचनोंको सुनकर भगवान् श्रीराम बड़े प्रसन्न हुए और इस प्रकार उत्तम वचन बोले— ॥ १॥

कृतं हनूमता कार्यं सुमहद् भुवि दुर्लभम्।
मनसापि यदन्येन न शक्यं धरणीतले॥ २॥

'हनुमान्‌ने बड़ा भारी कार्य किया है। भूतलपर ऐसा कार्य होना कठिन है। इस भूमण्डलमें दूसरा कोई तो ऐसा कार्य करनेकी बात मनके द्वारा सोच भी नहीं सकता॥ २॥

नहि तं परिपश्यामि यस्तरेत महोदधिम्।
अन्यत्र गरुडाद् वायोरन्यत्र च हनूमतः॥ ३॥

'गरुड़, वायु और हनुमान्‌को छोड़कर दूसरे किसीको मैं ऐसा नहीं देखता, जो महासागरको लाँघ सके॥ ३॥

देवदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम्।
अप्रधृष्यां पुरीं लङ्कां रावणेन सुरक्षिताम्॥ ४॥
प्रविष्टः सत्त्वमाश्रित्य जीवन् को नाम निष्क्रमेत्।

'देवता, दानव, यक्ष, गन्धर्व, नाग और राक्षस—इनमेंसे किसीके लिये भी जिसपर आक्रमण करना असम्भव है तथा जो रावणके द्वारा भलीभाँति सुरक्षित है, उस लङ्कापुरीमें अपने बलके भरोसे प्रवेश करके कौन वहाँसे जीवित निकल सकता है?॥ ४½॥

को विशेत् सुदुराधर्षां राक्षसैश्च सुरक्षिताम्॥ ५॥
यो वीर्यबलसम्पन्नो न समः स्याद्धनूमतः।

जो हनुमान्‌के समान बल-पराक्रमसे सम्पन्न न हो, ऐसा कौन पुरुष राक्षसोंद्वारा सुरक्षित अत्यन्त दुर्जय लङ्कामें प्रवेश कर सकता है॥ ५½॥

भृत्यकार्यं हनुमता सुग्रीवस्य कृतं महत्।
एवं विधाय स्वबलं सदृशं विक्रमस्य च॥ ६॥

'हनुमान्‌ने समुद्र-लङ्घन आदि कार्योंके द्वारा अपने पराक्रमके अनुरूप बल प्रकट करके एक सच्चे सेवकके योग्य सुग्रीवका बहुत बड़ा कार्य सम्पन्न किया है॥ ६॥

यो हि भृत्यो नियुक्तः सन् भर्त्रा कर्मणि दुष्करे।
कुर्यात् तदनुरागेण तमाहुः पुरुषोत्तमम्॥ ७॥

'जो सेवक स्वामीके द्वारा किसी दुष्कर कार्यमें नियुक्त होनेपर उसे पूरा करके तदनुरूप दूसरे कार्यको भी (यदि वह मुख्य कार्यका विरोधी न हो) सम्पन्न करता है, वह सेवकोंमें उत्तम कहा गया है॥ ७॥

यो नियुक्तः परं कार्यं न कुर्यान्नृपतेः प्रियम्।
भृत्यो युक्तः समर्थश्च तमाहुर्मध्यमं नरम्॥ ८॥

'जो एक कार्यमें नियुक्त होकर योग्यता और सामर्थ्य होनेपर भी स्वामीके दूसरे प्रिय कार्यको नहीं करता (स्वामीने जितना कहा है, उतना ही करके लौट आता है) वह मध्यम श्रेणीका सेवक बताया गया है॥ ८॥

नियुक्तो नृपतेः कार्यं न कुर्याद् यः समाहितः।
भृत्यो युक्तः समर्थश्च तमाहुः पुरुषाधमम्॥ ९॥

'जो सेवक मालिकके किसी कार्यमें नियुक्त होकर अपनेमें योग्यता और सामर्थ्यके होते हुए भी उसे सावधानीसे पूरा नहीं करता, वह अधम कोटिका कहा गया है॥ ९॥

तन्नियोगे नियुक्तेन कृतं कृत्यं हनूमता।
न चात्मा लघुतां नीतः सुग्रीवश्चापि तोषितः॥ १०॥

'हनुमान्‌ने स्वामीके एक कार्यमें नियुक्त होकर उसके साथ ही दूसरे महत्त्वपूर्ण कार्योंको भी पूरा किया, अपने गौरवमें भी कमी नहीं आने दी—अपने-आपको दूसरोंकी दृष्टिमें छोटा नहीं बनने दिया और सुग्रीवको भी पूर्णतः संतुष्ट कर दिया॥ १०॥

अहं च रघुवंशश्च लक्ष्मणश्च महाबलः।
वैदेह्या दर्शनेनाद्य धर्मतः परिरक्षिताः॥ ११॥

'आज हनुमान्ने विदेहनन्दिनी सीताका पता लगाकर—उन्हें अपनी आँखों देखकर धर्मके अनुसार मेरी, समस्त रघुवंशकी और महाबली लक्ष्मणकी भी रक्षा की है ॥ ११ ॥

इदं तु मम दीनस्य मनो भूयः प्रकर्षति ।
यदिहास्य प्रियाख्यातुर्न कुर्मि सदृशं प्रियम् ॥ १२ ॥

'आज मेरे पास पुरस्कार देने योग्य वस्तुका अभाव है, यह बात मेरे मनमें बड़ी कसक पैदा कर रही है कि यहाँ जिसने मुझे ऐसा प्रिय संवाद सुनाया, उसका मैं कोई वैसा ही प्रिय कार्य नहीं कर पा रहा हूँ ॥ १२ ॥

एष सर्वस्वभूतस्तु परिष्वङ्गो हनूमतः ।
मया कालमिमं प्राप्य दत्तस्तस्य महात्मनः ॥ १३ ॥

'इस समय इन महात्मा हनुमान्को मैं केवल अपना प्रगाढ़ आलिङ्गन प्रदान करता हूँ, क्योंकि यही मेरा सर्वस्व है' ॥ १३ ॥

इत्युक्त्वा प्रीतिहृष्टाङ्गो रामस्तं परिषस्वजे ।
हनूमन्तं कृतात्मानं कृतकार्यमुपागतम् ॥ १४ ॥

ऐसा कहते-कहते रघुनाथजीके अङ्ग-प्रत्यङ्ग प्रेमसे पुलकित हो गये और उन्होंने अपनी आज्ञाके पालनमें सफलता पाकर लौटे हुए पवित्रात्मा हनुमान्जीको हृदयसे लगा लिया ॥ १४ ॥

ध्यात्वा पुनरुवाचेदं वचनं रघुसत्तमः ।
हरीणामीश्वरस्यापि सुग्रीवस्योपशृण्वतः ॥ १५ ॥

फिर थोड़ी देरतक विचार करके रघुवंशशिरोमणि श्रीरामने वानरराज सुग्रीवको सुनाकर यह बात कही— ॥ १५ ॥

सर्वथा सुकृतं तावत् सीतायाः परिमार्गणम् ।
सागरं तु समासाद्य पुनर्नष्टं मनो मम ॥ १६ ॥

'बन्धुओ ! सीताकी खोजका काम तो सुचारुरूपसे सम्पन्न हो गया; किंतु समुद्रतककी दुस्तरताका विचार करके मेरे मनका उत्साह फिर नष्ट हो गया ॥ १६ ॥

कथं नाम समुद्रस्य दुष्पारस्य महाम्भसः ।
हरयो दक्षिणं पारं गमिष्यन्ति समागताः ॥ १७ ॥

'महान् जलराशिसे परिपूर्ण समुद्रको पार करना तो बड़ा ही कठिन काम है। यहाँ एकत्र हुए ये वानर समुद्रके दक्षिण तटपर कैसे पहुँचेंगे ॥ १७ ॥

यद्यप्येषु तु वृत्तान्तो वैदेह्या गदितो मम ।
समुद्रपारगमने हरीणां किमिवोत्तरम् ॥ १८ ॥

'मेरी सीताने भी यही संदेह उठाया था, जिसका वृत्तान्त अभी-अभी मुझसे कहा गया है। इन वानरोंके समुद्रके पार जानेके विषयमें जो प्रश्न खड़ा हुआ है, उसका वास्तविक उत्तर क्या है ?' ॥ १८ ॥

इत्युक्त्वा शोकसम्भ्रान्तो रामः शत्रुनिबर्हणः ।
हनूमन्तं महाबाहुस्ततो ध्यानमुपागमत् ॥ १९ ॥

हनुमान्जीसे ऐसा कहकर शत्रुसूदन महाबाहु श्रीराम शोकाकुल होकर बड़ी चिन्तामें पड़ गये ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें पहला सर्ग पूरा हुआ ॥ १ ॥

—★—

द्वितीयः सर्गः

सुग्रीवका श्रीरामको उत्साह प्रदान करना

तं तु शोकपरिद्यूनं रामं दशरथात्मजम् ।
उवाच वचनं श्रीमान् सुग्रीवः शोकनाशनम् ॥ १ ॥

इस प्रकार शोकसे संतप्त हुए दशरथनन्दन श्रीरामसे सुग्रीवने उनके शोकका निवारण करनेवाली बात कही— ॥ १ ॥

किं त्वया तप्यते वीर यथान्यः प्राकृतस्तथा ।
मैवं भूस्त्यज संतापं कृतघ्न इव सौहृदम् ॥ २ ॥

'वीरवर ! आप दूसरे साधारण मनुष्योंकी भाँति क्यों संताप कर रहे हैं ? आप इस तरह चिन्तित न हों। जैसे कृतघ्न पुरुष सौहार्दको त्याग देता है, उसी तरह आप भी इस संतापको छोड़ दें ॥ २ ॥

संतापस्य च ते स्थानं नहि पश्यामि राघव ।
प्रवृत्तावुपलब्धायां ज्ञाते च निलये रिपोः ॥ ३ ॥

'रघुनन्दन ! जब सीताका समाचार मिल गया और शत्रुके निवास-स्थानका पता लग गया, तब मुझे आपके इस दुःख और चिन्ताका कोई कारण नहीं दिखायी देता ॥ ३ ॥

मतिमाञ्शास्त्रवित् प्राज्ञः पण्डितश्चासि राघव ।
त्यजेमां प्राकृतां बुद्धिं कृतात्मेवार्थदूषिणीम् ॥ ४ ॥

'रघुकुलभूषण ! आप बुद्धिमान्, शास्त्रोंके ज्ञाता विचारकुशल और पण्डित हैं, अतः कृतात्मा पुरुषकी भाँति इस अर्थदूषक प्राकृत बुद्धिका परित्याग कर दीजिये ॥ ४ ॥

समुद्रं लङ्घयित्वा तु महानक्रसमाकुलम् ।
लङ्कामारोहयिष्यामो हनिष्यामश्च ते रिपुम् ॥ ५ ॥

'बड़े-बड़े नाकोंसे भरे हुए समुद्रको लाँघकर हमलोग लङ्कापर चढ़ाई करेंगे और आपके शत्रुको नष्ट कर डालेंगे ॥ ५ ॥

निरुत्साहस्य दीनस्य शोकपर्याकुलात्मनः ।
सर्वार्था व्यवसीदन्ति व्यसनं चाधिगच्छति ॥ ६ ॥

'जो पुरुष उत्साहशून्य, दीन और मन-ही-मन शोकसे व्याकुल रहता है, उसके सारे काम बिगड़ जाते हैं और वह बड़ी विपत्तिमें पड़ जाता है ॥ ६ ॥

इमे शूराः समर्थाश्च सर्वतो हरियूथपाः ।
त्वत्प्रियार्थं कृतोत्साहाः प्रवेष्टुमपि पावकम् ।
एषां हर्षेण जानामि तर्कश्चापि दृढो मम ॥ ७ ॥

'ये वानरयूथपति सब प्रकारसे समर्थ एवं शूरवीर हैं। आपका प्रिय करनेके लिये इनके मनमें बड़ा उत्साह है। ये आपके लिये जलती आगमें भी प्रवेश कर सकते हैं। समुद्रको लाँघने और रावणको मारनेका प्रसंग चलनेपर इनका मुँह प्रसन्नतासे खिल जाता है। इनके इस हर्ष और उत्साहसे ही मैं इस बातको जानता हूँ तथा इस विषयमें मेरा अपना तर्क (निश्चय) भी सुदृढ़ है ॥ ७ ॥

विक्रमेण समानेष्ये सीतां हत्वा यथा रिपुम् ।
रावणं पापकर्माणं तथा त्वं कर्तुमर्हसि ॥ ८ ॥

'आप ऐसा कीजिये, जिससे हमलोग पराक्रमपूर्वक अपने शत्रु पापाचारी रावणका वध करके सीताको यहाँ ले आवें ॥ ८ ॥

सेतुरत्र यथा बद्ध्येद् यथा पश्येम तां पुरीम् ।
तस्य राक्षसराजस्य तथा त्वं कुरु राघव ॥ ९ ॥

'रघुनन्दन ! आप ऐसा कोई उपाय कीजिये, जिससे समुद्रपर सेतु बँध सके और हम उस राक्षसराजकी लङ्कापुरीको देख सकें ॥ ९ ॥

दृष्ट्वा तां हि पुरीं लङ्कां त्रिकूटशिखरे स्थिताम् ।
हतं च रावणं युद्धे दर्शनादवधारय ॥ १० ॥

'त्रिकूटपर्वतके शिखरपर बसी हुई लङ्कापुरी एक बार दीख जाय तो आप यह निश्चित समझिये कि युद्धमें रावण दिखायी दिया और मारा गया ॥ १० ॥

अबद्ध्वा सागरे सेतुं घोरे च वरुणालये ।
लङ्का न मर्दितुं शक्या सेन्द्रैरपि सुरासुरैः ॥ ११ ॥

'वरुणके निवासभूत घोर समुद्रपर पुल बाँधे बिना तो इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता और असुर भी लङ्काको पददलित नहीं कर सकते ॥ ११ ॥

सेतुबन्धः समुद्रे च यावल्लङ्कासमीपतः ।
सर्वं तीर्णं च मे सैन्यं जितमित्युपधारय ।
इमे हि समरे वीरा हरयः कामरूपिणः ॥ १२ ॥

'अतः जब लङ्काके निकटतक समुद्रपर पुल बँध जायगा, तब हमारी सारी सेना उस पार चली जायगी। फिर तो आप यही समझिये कि अपनी जीत हो गयी; क्योंकि इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले ये वानर युद्धमें बड़ी वीरता दिखानेवाले हैं ॥ १२ ॥

तदलं विक्लवां बुद्धिं राजन् सर्वार्थनाशिनीम् ।
पुरुषस्य हि लोकेऽस्मिञ्शोकः शौर्यापकर्षणः ॥ १३ ॥

'अतः राजन् ! आप इस व्याकुल बुद्धिका आश्रय न लें—बुद्धिकी इस व्याकुलताको त्याग दें; क्योंकि यह समस्त कार्योंको बिगाड़ देनेवाली है और शोक इस जगत्‌में पुरुषके शौर्यको नष्ट कर देता है ॥ १३ ॥

यत् तु कार्यं मनुष्येण शौटीर्यमवलम्ब्यताम् ।
तदलंकरणायैव कर्तुर्भवति सत्वरम् ॥ १४ ॥

'मनुष्यको जिसका आश्रय लेना चाहिये, उस शौर्यका ही वह अवलम्बन करे; क्योंकि वह कर्ताको शीघ्र ही अलंकृत कर देता है—उसके अभीष्ट फलकी सिद्धि करा देता है ॥ १४ ॥

अस्मिन् काले महाप्राज्ञ सत्त्वमातिष्ठ तेजसा ।
शूराणां हि मनुष्याणां त्वद्विधानां महात्मनाम् ।
विनष्टे वा प्रणष्टे वा शोकः सर्वार्थनाशनः ॥ १५ ॥

'अतः महाप्राज्ञ श्रीराम ! आप इस समय तेजके साथ ही धैर्यका आश्रय लें। कोई वस्तु खो गयी हो या नष्ट हो गयी हो, उसके लिये आप-जैसे शूरवीर महात्मा पुरुषोंको शोक नहीं करना चाहिये; क्योंकि शोक सब कामोंको बिगाड़ देता है ॥ १५ ॥

तत्त्वं बुद्धिमतां श्रेष्ठः सर्वशास्त्रार्थकोविदः ।
मद्विधैः सचिवैः सार्धमरिं जेतुं समर्हसि ॥ १६ ॥

'आप बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ और सम्पूर्ण शास्त्रोंके मर्मज्ञ हैं। अतः हम-जैसे मन्त्रियों एवं सहायकोंके साथ रहकर अवश्य ही शत्रुपर विजय प्राप्त कर सकते हैं ॥ १६ ॥

नहि पश्याम्यहं कंचित् त्रिषु लोकेषु राघव ।
गृहीतधनुषो यस्ते तिष्ठेदभिमुखो रणे ॥ १७ ॥

'रघुनन्दन ! मुझे तो तीनों लोकोंमें ऐसा कोई वीर नहीं दिखायी देता, जो रणभूमिमें धनुष लेकर खड़े हुए आपके सामने ठहर सके ॥ १७ ॥

वानरेषु समासक्तं न ते कार्यं विपत्स्यते ।
अचिराद् द्रक्ष्यसे सीतां तीर्त्वा सागरमक्षयम् ॥ १८ ॥

'वानरोंपर जिसका भार रखा गया है, आपका वह कार्य बिगड़ने नहीं पावेगा। आप शीघ्र ही इस अक्षय समुद्रको पार करके सीताका दर्शन करेंगे ॥ १८ ॥

तदलं शोकमालम्ब्य क्रोधमालम्ब भूपते ।
निश्चेष्टाः क्षत्रिया मन्दाः सर्वे चण्डस्य बिभ्यति ॥ १९ ॥

'पृथ्वीनाथ ! अपने हृदयमें शोकको स्थान देना व्यर्थ है। इस समय तो आप शत्रुओंके प्रति क्रोध धारण कीजिये। जो क्षत्रिय मन्द (क्रोधशून्य) होते हैं, उनसे कोई चेष्टा नहीं बन पाती; परंतु जो शत्रुके प्रति आवश्यक रोषसे भरा होता है, उससे सब डरते हैं ॥ १९ ॥

लङ्घनार्थं च घोरस्य समुद्रस्य नदीपतेः ।
सहास्माभिरिहोपेतः सूक्ष्मबुद्धिर्विचारय ॥ २० ॥

'नदियोंके स्वामी घोर समुद्रको पार करनेके लिये क्या उपाय किया जाय, इस विषयमें आप हमारे साथ बैठकर विचार कीजिये; क्योंकि आपकी बुद्धि बड़ी सूक्ष्म है ॥ २० ॥

लङ्घिते तत्र तैः सैन्यैर्जितमित्येव निश्चिनु।
सर्वं तीर्णं च मे सैन्यं जितमित्यवधार्यताम् ॥ २१ ॥

'यदि हमारे सैनिक समुद्रको लाँघ गये तो यही निश्चय रखिये कि अपनी जीत अवश्य होगी। सारी सेनाका समुद्रके उस पार पहुँच जाना ही अपनी विजय समझिये ॥ २१ ॥

इमे हि हरयः शूराः समरे कामरूपिणः।
तानरीन् विधमिष्यन्ति शिलापादपवृष्टिभिः ॥ २२ ॥

'ये वानर संग्राममें बड़े शूरवीर हैं और इच्छानुसार रूप धारण कर सकते हैं। ये पत्थरों और पेड़ोंकी वर्षा करके ही उन शत्रुओंका संहार कर डालेंगे ॥ २२ ॥

कथंचित् परिपश्यामि लङ्घितं वरुणालयम्।
हतमित्येव तं मन्ये युद्धे शत्रुनिबर्हण ॥ २३ ॥

'शत्रुसूदन श्रीराम! यदि किसी प्रकार मैं इस वानर-सेनाको समुद्रके उस पार पहुँची देख सकूँ तो मैं रावणको युद्धमें मरा हुआ ही समझता हूँ ॥ २३ ॥

किमुक्त्वा बहुधा चापि सर्वथा विजयी भवान्।
निमित्तानि च पश्यामि मनो मे सम्प्रहृष्यति ॥ २४ ॥

'बहुत कहनेसे क्या लाभ! मेरा तो विश्वास है कि आप सर्वथा विजयी होंगे; क्योंकि मुझे ऐसे ही शकुन दिखायी देते हैं और मेरा हृदय भी हर्ष एवं उत्साहसे भरा है' ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें दूसरा सर्ग पूरा हुआ ॥ २ ॥

—★—

तृतीयः सर्गः

हनुमान्‌जीका लंकाके दुर्ग, फाटक, सेना-विभाग और संक्रम आदिका वर्णन करके भगवान् श्रीरामसे सेनाको कूच करनेकी आज्ञा देनेके लिये प्रार्थना करना

सुग्रीवस्य वचः श्रुत्वा हेतुमत् परमार्थवत्।
प्रतिजग्राह काकुत्स्थो हनूमन्तमथाब्रवीत् ॥ १ ॥

सुग्रीवके ये युक्तियुक्त और उत्तम अभिप्रायसे पूर्ण वचन सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने उन्हें स्वीकार किया और फिर हनुमान्‌जीसे कहा— ॥ १ ॥

तपसा सेतुबन्धेन सागरोच्छोषणेन च।
सर्वथापि समर्थोऽस्मि सागरस्यास्य लङ्घने ॥ २ ॥

'मैं तपस्यासे पुल बाँधकर और समुद्रको सुखाकर सब प्रकारसे महासागरको लाँघ जानेमें समर्थ हूँ ॥ २ ॥

कति दुर्गाणि दुर्गाया लङ्कायास्तद् ब्रवीष्व मे।
ज्ञातुमिच्छामि तत् सर्वं दर्शनादिव वानर ॥ ३ ॥

'वानरवीर! तुम मुझे यह तो बताओ कि उस दुर्गम लङ्कापुरीके कितने दुर्ग हैं। मैं देखे हुएके समान उसका सारा विवरण स्पष्टरूपसे जानना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

बलस्य परिमाणं च द्वारदुर्गक्रियामपि।
गुप्तिकर्म च लङ्काया रक्षसां सदनानि च ॥ ४ ॥
यथासुखं यथावच्च लङ्कायामसि दृष्टवान्।
सर्वमाचक्ष्व तत्त्वेन सर्वथा कुशलो ह्यसि ॥ ५ ॥

'तुमने रावणकी सेनाका परिमाण, पुरीके दरवाजोंको दुर्गम बनानेके साधन, लङ्काकी रक्षाके उपाय तथा राक्षसोंके भवन—इन सबको सुखपूर्वक यथावत्-रूपसे वहाँ देखा है। अतः इन सबका ठीक-ठीक वर्णन करो; क्योंकि तुम सब प्रकारसे कुशल हो' ॥ ४-५ ॥

श्रुत्वा रामस्य वचनं हनूमान् मारुतात्मजः।
वाक्यं वाक्यविदां श्रेष्ठो रामं पुनरथाब्रवीत् ॥ ६ ॥

श्रीरघुनाथजीका यह वचन सुनकर वाणीके मर्मको समझनेवाले विद्वानोंमें श्रेष्ठ पवनकुमार हनुमान्‌ने श्रीरामसे फिर कहा— ॥ ६ ॥

श्रूयतां सर्वमाख्यास्ये दुर्गकर्म विधानतः।
गुप्ता पुरी यथा लङ्का रक्षिता च यथा बलैः ॥ ७ ॥
राक्षसाश्च यथा स्निग्धा रावणस्य च तेजसा।
परां समृद्धिं लङ्कायाः सागरस्य च भीमताम् ॥ ८ ॥
विभागं च बलौघस्य निर्देशं वाहनस्य च।
एवमुक्त्वा कपिश्रेष्ठः कथयामास तत्त्वतः ॥ ९ ॥

'भगवन्! सुनिये। मैं सब बातें बता रहा हूँ। लङ्काके दुर्ग किस विधिसे बने हैं, किस प्रकार लङ्कापुरीकी रक्षाकी व्यवस्था की गयी है, किस तरह वह सेनाओंसे सुरक्षित है, रावणके तेजसे प्रभावित हो राक्षस उसके प्रति कैसा स्नेह रखते हैं, लङ्काकी समृद्धि कितनी उत्तम है, समुद्र कितना भयंकर है, पैदल सैनिकोंका विभाग करके कहाँ कितने सैनिक रखे गये हैं और वहाँकि वाहनोंकी कितनी संख्या है—इन सब बातोंका मैं वर्णन करूँगा।' ऐसा कहकर कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌ने वहाँकी बातोंको ठीक-ठीक बताना आरम्भ किया ॥ ७—९ ॥

हृष्टप्रमुदिता लङ्का मत्तद्विपसमाकुला।
महती रथसम्पूर्णा रक्षोगणनिषेविता॥ १०॥

'प्रभो! लङ्कापुरी हर्ष और आमोद-प्रमोदसे पूर्ण है। वह विशाल पुरी मतवाले हाथियोंसे व्याप्त तथा असंख्य रथोंसे भरी हुई है। राक्षसोंके समुदाय सदा उसमें निवास करते हैं॥ १०॥

दृढबद्धकपाटानि महापरिघवन्ति च।
चत्वारि विपुलान्यस्या द्वाराणि सुमहान्ति च॥ ११॥

'उस पुरीके चार बड़े-बड़े दरवाजे हैं, जो बहुत लंबे-चौड़े हैं। उनमें बहुत मजबूत किवाड़ लगे हैं और मोटी-मोटी अर्गलाएँ हैं॥ ११॥

तत्रेषूपलयन्त्राणि बलवन्ति महान्ति च।
आगतं प्रतिसैन्यं तैस्तत्र प्रतिनिवार्यते॥ १२॥

'उन दरवाजोंपर बड़े विशाल और प्रबल यन्त्र लगे हैं। जो तीर और पत्थरोंके गोले बरसाते हैं। उनके द्वारा आक्रमण करनेवाली शत्रुसेनाको आगे बढ़नेसे रोका जाता है॥ १२॥

द्वारेषु संस्कृता भीमाः कालायसमयाः शिताः।
शतशो रचिता वीरैः शतघ्न्यो रक्षसां गणैः॥ १३॥

'जिन्हें वीर राक्षसगणोंने बनाया है, जो काले लोहेकी बनी हुई, भयंकर और तीखी हैं तथा जिनका अच्छी तरह संस्कार किया गया है, ऐसी सैकड़ों शतघ्नियाँ[1] (लोहेके काँटोंसे भरी हुई चार हाथ लंबी गदाएँ) उन दरवाजोंपर सजाकर रखी गयी हैं॥ १३॥

सौवर्णस्तु महांस्तस्याः प्राकारो दुष्प्रधर्षणः।
मणिविद्रुमवैदूर्यमुक्ताविरचितान्तरः॥ १४॥

'उस पुरीके चारों ओर सोनेका बना हुआ बहुत ऊँचा परकोटा है, जिसको तोड़ना बहुत ही कठिन है। उसमें मणि, मूँगे, नीलम और मोतियोंका काम किया गया है॥ १४॥

सर्वतश्च महाभीमाः शीततोया महाशुभाः।
अगाधा ग्राहवत्यश्च परिखा मीनसेविताः॥ १५॥

'परकोटोंके चारों ओर महाभयंकर, शत्रुओंका महान् अमङ्गल करनेवाली, ठंडे जलसे भरी हुई और अगाध गहराईसे युक्त कई खाइयाँ बनी हुई हैं, जिनमें ग्राह और बड़े-बड़े मत्स्य निवास करते हैं॥ १५॥

द्वारेषु तासां चत्वारः संक्रमाः परमायताः।
यन्त्रैरुपेता बहुभिर्महद्भिर्गृहपङ्क्तिभिः॥ १६॥

'उक्त चारों दरवाजोंके सामने उन खाइयोंपर मचानोंके रूपमें चार संक्रम[2] (लकड़ीके पुल) हैं, जो बहुत ही विस्तृत हैं। उनमें बहुत-से बड़े-बड़े यन्त्र लगे हुए हैं और उनके आस-पास परकोटेपर बने हुए मकानोंकी पंक्तियाँ हैं॥ १६॥

त्रायन्ते संक्रमास्तत्र परसैन्यागते सति।
यन्त्रैस्तैरवकीर्यन्ते परिखासु समन्ततः॥ १७॥

'जब शत्रुकी सेना आती है, तब यन्त्रोंके द्वारा उन संक्रमोंकी रक्षा की जाती है तथा उन यन्त्रोंके द्वारा ही उन्हें सब ओर खाइयोंमें गिरा दिया जाता है और वहाँ पहुँची हुई शत्रु-सेनाओंको भी सब ओर फेंक दिया जाता है॥ १७॥

एकस्त्वकम्प्यो बलवान् संक्रमः सुमहादृढः।
काञ्चनैर्बहुभिः स्तम्भैर्वेदिकाभिश्च शोभितः॥ १८॥

'उनमेंसे एक संक्रम तो बड़ा ही सुदृढ़ और अभेद्य है। वहाँ बहुत बड़ी सेना रहती है और वह सोनेके अनेक खंभों तथा चबूतरोंसे सुशोभित है॥ १८॥

स्वयं प्रकृतिमापन्नो युयुत्सू राम रावणः।
उत्थितश्चाप्रमत्तश्च बलानामनुदर्शने॥ १९॥

'रघुनाथजी! रावण युद्धके लिये उत्सुक होता हुआ स्वयं कभी क्षुब्ध नहीं होता—स्वस्थ एवं धीर बना रहता है। वह सेनाओंके बारंबार निरीक्षणके लिये सदा सावधान एवं उद्यत रहता है॥ १९॥

लङ्का पुनर्निरालम्बा देवदुर्गा भयावहा।
नादेयं पार्वतं वान्यं कृत्रिमं च चतुर्विधम्॥ २०॥

'लङ्कापर चढ़ाई करनेके लिये कोई अवलम्ब नहीं है। वह पुरी देवताओंके लिये भी दुर्गम और बड़ी भयावनी है। उसके चारों ओर नदी, पर्वत, वन और कृत्रिम (खाई, परकोटा आदि)—ये चार प्रकारके दुर्ग हैं॥ २०॥

स्थिता पारे समुद्रस्य दूरपारस्य राघव।
नौपथश्चापि नास्त्यत्र निरुद्देशश्च सर्वतः॥ २१॥

'रघुनन्दन! वह बहुत दूरतक फैले हुए समुद्रके दक्षिण किनारेपर बसी हुई है। वहाँ जानेके लिये नावका भी मार्ग नहीं है, क्योंकि उसमें लक्ष्यका भी किसी प्रकार पता रहना सम्भव नहीं है॥ २१॥

शैलाग्रे रचिता दुर्गा सा पूर्देवपुरोपमा।
वाजिवारणसम्पूर्णा लङ्का परमदुर्जया॥ २२॥

---

1. शतघ्नी च चतुर्हस्ता लोहकण्टकिनी गदा। इति वैजयन्ती।

2. मालूम होता है 'संक्रम' इस प्रकारके पुल थे, जिन्हें जब आवश्यकता होती, तभी यन्त्रोंद्वारा गिरा दिया जाता था। इसीसे शत्रु-सेना ओंपर उसे खाईमें गिरा देनेकी बात कही गयी है।

'वह दुर्गम पुरी पर्वतके शिखरपर बसायी गयी है और देवपुरीके समान सुन्दर दिखायी देती है, हाथी, घोड़ोंसे भरी हुई वह लङ्का अत्यन्त दुर्जय है ॥ २२ ॥

परिखाश्च शतघ्न्यश्च यन्त्राणि विविधानि च ।
शोभयन्ति पुरीं लङ्कां रावणस्य दुरात्मनः ॥ २३ ॥

'खाइयाँ, शतघ्नियाँ और तरह-तरहके यन्त्र दुरात्मा रावणकी उस लङ्कानगरीकी शोभा बढ़ाते हैं ॥ २३ ॥

अयुतं रक्षसामत्र पूर्वद्वारं समाश्रितम् ।
शूलहस्ता दुराधर्षाः सर्वे खड्गाग्रयोधिनः ॥ २४ ॥

'लङ्काके पूर्वद्वारपर दस हजार राक्षस रहते हैं, जो सब-के-सब हाथोंमें शूल धारण करते हैं। वे अत्यन्त दुर्जय और युद्धके मुहानेपर तलवारोंसे जूझनेवाले हैं ॥ २४ ॥

नियुतं रक्षसामत्र दक्षिणद्वारमाश्रितम् ।
चतुरङ्गेण सैन्येन योधास्तत्राप्यनुत्तमाः ॥ २५ ॥

'लङ्काके दक्षिण द्वारपर चतुरंगिणी सेनाके साथ एक लाख राक्षस योद्धा डटे रहते हैं। वहाँके सैनिक भी बड़े बहादुर हैं ॥ २५ ॥

प्रयुतं रक्षसामत्र पश्चिमद्वारमाश्रितम् ।
चर्मखड्गधराः सर्वे तथा सर्वास्त्रकोविदाः ॥ २६ ॥

'पुरीके पश्चिम द्वारपर दस लाख राक्षस निवास करते हैं। वे सब-के-सब ढाल और तलवार धारण करते हैं तथा सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञानमें निपुण हैं ॥ २६ ॥

न्यर्बुदं रक्षसामत्र उत्तरद्वारमाश्रितम् ।
रथिनश्चाश्ववाहाश्च कुलपुत्राः सुपूजिताः ॥ २७ ॥

'उस पुरीके उत्तर द्वारपर एक अर्बुद (दस करोड़) राक्षस रहते हैं। जिनमेंसे कुछ तो रथी हैं और कुछ घुड़सवार। वे सभी उत्तम कुलमें उत्पन्न और अपनी वीरताके लिये प्रशंसित हैं ॥ २७ ॥

शतशोऽथ सहस्राणि मध्यमं स्कन्धमाश्रिताः ।
यातुधाना दुराधर्षाः साग्रकोटिश्च रक्षसाम् ॥ २८ ॥

'लङ्काके मध्यभागकी छावनीमें सैकड़ों सहस्र दुर्जय राक्षस रहते हैं, जिनकी संख्या एक करोड़से अधिक है ॥ २८ ॥

ते मया संक्रमा भग्नाः परिखाश्चावपूरिताः ।
दग्धा च नगरी लङ्का प्राकाराश्चावसादिताः ।
बलैकदेशः क्षपितो राक्षसानां महात्मनाम् ॥ २९ ॥

'किंतु मैंने उन सब संक्रमोंको तोड़ डाला है, खाइयाँ पाट दी हैं, लङ्कापुरीको जला दिया है और उसके परकोटोंको भी धराशायी कर दिया है। इतना ही नहीं, वहाँके विशालकाय राक्षसोंकी सेनाका एक चौथाई भाग नष्ट कर डाला है ॥ २९ ॥

येन केन तु मार्गेण तराम वरुणालयम् ।
हतेति नगरी लङ्का वानरैरुपधार्यताम् ॥ ३० ॥

'हमलोग किसी-न-किसी मार्ग या उपायसे एक बार समुद्रको पार कर लें; फिर तो लङ्काको वानरोंके द्वारा नष्ट हुई ही समझिये ॥ ३० ॥

अङ्गदो द्विविदो मैन्दो जाम्बवान् पनसो नलः ।
नीलः सेनापतिश्चैव बलशेषेण किं तव ॥ ३१ ॥

'अङ्गद, द्विविद, मैन्द, जाम्बवान्, पनस, नल और सेनापति नील—इतने ही वानर लङ्काविजय करनेके लिये पर्याप्त हैं। बाकी सेना लेकर आपको क्या करना है? ॥ ३१ ॥

प्लवमाना हि गत्वा तां रावणस्य महापुरीम् ।
सपर्वतवनां भित्त्वा सखातां च सतोरणाम् ।
सप्राकारां सभवनामानयिष्यन्ति राघव ॥ ३२ ॥

'रघुनन्दन! ये अङ्गद आदि वीर आकाशमें उछलते-कूदते हुए रावणकी महापुरी लङ्कामें पहुँचकर उसे पर्वत, वन, खाई, दरवाजे, परकोटे और मकानोंसहित नष्ट करके सीताजीको यहाँ ले आयेंगे ॥ ३२ ॥

एवमाज्ञापय क्षिप्रं बलानां सर्वसंग्रहम् ।
मुहूर्तेन तु युक्तेन प्रस्थानमभिरोचय ॥ ३३ ॥

'ऐसा समझकर आप शीघ्र ही समस्त सैनिकोंको सम्पूर्ण आवश्यक वस्तुओंका संग्रह करके कूच करनेकी आज्ञा दीजिये और उचित मुहूर्तसे प्रस्थानकी इच्छा कीजिये' ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें तीसरा सर्ग पूरा हुआ ॥ ३ ॥

—★—

चतुर्थः सर्गः

श्रीराम आदिके साथ वानर-सेनाका प्रस्थान और समुद्र-तटपर उसका पड़ाव

श्रुत्वा हनूमतो वाक्यं यथावदनुपूर्वशः ।
ततोऽब्रवीन्महातेजा रामः सत्यपराक्रमः ॥ १ ॥

हनुमान्‌जीके वचनोंको क्रमशः यथावत्-रूपसे सुनकर सत्यपराक्रमी महातेजस्वी भगवान् श्रीरामने कहा— ॥ १ ॥

यन्निवेदयसे लङ्कां पुरीं भीमस्य रक्षसः ।
क्षिप्रमेनां वधिष्यामि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ २ ॥

'हनुमन्! मैं तुमसे सच कहता हूँ—तुमने उस भयानक राक्षसकी जिस लङ्कापुरीका वर्णन किया है, उसे मैं शीघ्र ही नष्ट कर डालूँगा ॥ २ ॥

अस्मिन् मुहूर्ते सुग्रीव प्रयाणमभिरोचय।
युक्तो मुहूर्ते विजये प्राप्तो मध्यं दिवाकरः॥ ३॥

'सुग्रीव! तुम इसी मुहूर्तमें प्रस्थानकी तैयारी करो। सूर्यदेव दिनके मध्य भागमें जा पहुँचे हैं। इसलिये इस विजय नामक मुहूर्तमें[१] हमारी यात्रा उपयुक्त होगी ॥ ३ ॥

सीतां हृत्वा तु तद् यातु क्वासौ यास्यति जीवितः।
सीता श्रुत्वाभियानं मे आशामेष्यति जीविते।
जीवितान्तेऽमृतं स्पृष्ट्वा पीत्वामृतमिवातुरः॥ ४॥

'रावण सीताको हरकर ले जाय; किंतु वह जीवित बचकर कहाँ जायगा? सिद्ध आदिके मुँहसे लङ्कापर मेरी चढ़ाईका समाचार सुनकर सीताको अपने जीवनकी आशा बँध जायगी; ठीक उसी तरह जैसे जीवनका अन्त उपस्थित होनेपर यदि रोगी अमृतका (अमृतत्वके साधनभूत दिव्य ओषधिका) स्पर्श कर ले अथवा अमृतोपम द्रवभूत ओषधिको पी ले तो उसे जीनेकी आशा हो जाती है ॥ ४ ॥

उत्तराफाल्गुनी ह्यद्य श्वस्तु हस्तेन योक्ष्यते।
अभिप्रयाम सुग्रीव सर्वानीकसमावृताः॥ ५॥

'आज उत्तराफाल्गुनी नामक नक्षत्र है। कल चन्द्रमाका हस्त नक्षत्रसे योग होगा। इसलिये सुग्रीव! हमलोग आज ही सारी सेनाओंके साथ यात्रा कर दें ॥ ५ ॥

निमित्तानि च पश्यामि यानि प्रादुर्भवन्ति वै।
निहत्य रावणं सीतामानयिष्यामि जानकीम्॥ ६॥

'इस समय जो शकुन प्रकट हो रहे हैं और जिन्हें मैं देख रहा हूँ, उनसे यह विश्वास होता है कि मैं अवश्य ही रावणका वध करके जनकनन्दिनी सीताको ले आऊँगा ॥ ६ ॥

उपरिष्टाद्धि नयनं स्फुरमाणमिमं मम।
विजयं समनुप्राप्तं शंसतीव मनोरथम्॥ ७॥

'इसके सिवा मेरी दाहिनी आँखका ऊपरी भाग फड़क रहा है। वह भी मानो मेरी विजय-प्राप्ति और मनोरथसिद्धिको सूचित कर रहा है' ॥ ७ ॥

ततो वानरराजेन लक्ष्मणेन सुपूजितः।
उवाच रामो धर्मात्मा पुनरप्यर्थकोविदः॥ ८॥

यह सुनकर वानरराज सुग्रीव तथा लक्ष्मणने भी उनका बड़ा आदर किया। तत्पश्चात् अर्थवेत्ता (नीतिनिपुण) धर्मात्मा श्रीरामने फिर कहा— ॥ ८ ॥

अग्रे यातु बलस्यास्य नीलो मार्गमवेक्षितुम्।
वृतः शतसहस्रेण वानराणां तरस्विनाम्॥ ९॥

'इस सेनाके आगे-आगे एक लाख वेगवान् वानरोंसे घिरे हुए सेनापति नील मार्ग देखनेके लिये चलें ॥ ९ ॥

फलमूलवता नील शीतकाननवारिणा।
पथा मधुमता चाशु सेनां सेनापते नय॥ १०॥

'सेनापति नील! तुम सारी सेनाको ऐसे मार्गसे शीघ्रता-पूर्वक ले चलो, जिसमें फल-मूलकी अधिकता हो, शीतल छायासे युक्त सघन वन हो, ठंडा जल मिल सके और मधु भी उपलब्ध हो सके ॥ १० ॥

दूषयेयुर्दुरात्मानः पथि मूलफलोदकम्।
राक्षसाः पथि रक्षेथास्तेभ्यस्त्वं नित्यमुद्यतः॥ ११॥

'सम्भव है दुरात्मा राक्षस रास्तेके फल-मूल और जलको विष आदिसे दूषित कर दें, अतः तुम मार्गमें सतत सावधान रहकर उनसे इन वस्तुओंकी रक्षा करना ॥ ११ ॥

निम्नेषु वनदुर्गेषु वनेषु च वनौकसः।
अभिप्लुत्याभिपश्येयुः परेषां निहितं बलम्॥ १२॥

'वानरोंको चाहिये कि जहाँ गड्ढे, दुर्गम वन और साधारण जंगल हों, वहाँ सब ओर कूद-फाँदकर यह देखते रहें कि कहीं शत्रुओंकी सेना तो नहीं छिपी है (ऐसा न हो कि हम आगे निकल जायँ और शत्रु अकस्मात् पीछेसे आक्रमण कर दे) ॥ १२ ॥

यत्तु फल्गु बलं किंचित् तदत्रैवोपपद्यताम्।
एतद्धि कृत्यं घोरं नो विक्रमेण प्रयुज्यताम्॥ १३॥

'जिस सेनामें बाल, वृद्ध आदिके कारण दुर्बलता हो, वह यहाँ किष्किन्धामें ही रह जाय; क्योंकि हमारा यह युद्धरूपी कृत्य बड़ा भयंकर है, अतः इसके लिये बल-विक्रमसम्पन्न सेनाको ही यात्रा करनी चाहिये ॥ १३ ॥

सागरौघनिभं भीममग्रानीकं महाबलाः।
कपिसिंहाः प्रकर्षन्तु शतशोऽथ सहस्रशः॥ १४॥

'सैकड़ों और हजारों महाबली कपिकेसरी वीर महासागरकी जलराशिके समान भयंकर एवं अपार वानर-सेनाके अग्रभागको अपने साथ आगे बढ़ाये चलें ॥ १४ ॥

गजश्च गिरिसंकाशो गवयश्च महाबलः।
गवाक्षश्चाग्रतो यातु गवां दृप्त इवर्षभः॥ १५॥

'पर्वतके समान विशालकाय गज, महाबली गवय तथा मतवाले साँड़की भाँति पराक्रमी गवाक्ष सेनाके आगे-आगे चलें ॥ १५ ॥

---

१. दिनमें दोपहरीके समय अभिजित् मुहूर्त होता है, इसीको विजय-मुहूर्त भी कहते हैं। यह यात्राके लिये बहुत उत्तम माना गया है। यद्यपि—'भुक्तौ दक्षिणयात्रायां प्रतिष्ठायां द्विजन्मनाम्। आधाने च ध्वजारोहे मृत्युदः स्यात् सदाभिजित्॥' इस ज्योतिष-रत्नाकरके वचनके अनुसार उक्त मुहूर्तमें दक्षिणयात्रा निषिद्ध है, तथापि किष्किन्धासे लङ्का दक्षिणपूर्वके कोणमें होनेके कारण वह दोष यहाँ नहीं प्राप्त होता है।

यातु वानरवाहिन्या वानरः प्लवतां पतिः ।
पालयन् दक्षिणं पार्श्वमृषभो वानरर्षभः ॥ १६ ॥

'उछल-कूदकर चलनेवाले कपियोंके पालक वानर-शिरोमणि ऋषभ इस वानर-सेनाके दाहिने भागकी रक्षा करते हुए चलें ॥ १६ ॥

गन्धहस्तीव दुर्धर्षस्तरस्वी गन्धमादनः ।
यातु वानरवाहिन्याः सव्यं पार्श्वमधिष्ठितः ॥ १७ ॥

'गन्धहस्तीके समान दुर्जय और वेगशाली वानर गन्धमादन इस वानर-वाहिनीके वामभागमें रहकर इसकी रक्षा करते हुए आगे बढ़ें ॥ १७ ॥

यास्यामि बलमध्येऽहं बलौघमभिहर्षयन् ।
अधिरुह्य हनूमन्तमैरावतमिवेश्वरः ॥ १८ ॥

'जैसे देवराज इन्द्र ऐरावत हाथीपर आरूढ़ होते हैं, उसी प्रकार मैं हनुमान्‌के कंधेपर चढ़कर सेनाके बीचमें रहकर सारी सेनाका हर्ष बढ़ाता हुआ चलूँगा ॥ १८ ॥

अङ्गदेनैष संयातु लक्ष्मणश्चान्तकोपमः ।
सार्वभौमेन भूतेशो द्रविणाधिपतिर्यथा ॥ १९ ॥

'जैसे धनाध्यक्ष कुबेर सार्वभौम नामक दिग्गजकी पीठपर बैठकर यात्रा करते हैं, उसी प्रकार कालके समान पराक्रमी लक्ष्मण अंगदपर आरूढ़ होकर यात्रा करें ॥ १९ ॥

जाम्बवांश्च सुषेणश्च वेगदर्शी च वानरः ।
ऋक्षराजो महाबाहुः कुक्षिं रक्षन्तु ते त्रयः ॥ २० ॥

'महाबाहु ऋक्षराज जाम्बवान्, सुषेण और वानर वेगदर्शी—ये तीनों वानर सेनाके पृष्ठभागकी रक्षा करें' ॥ २० ॥

राघवस्य वचः श्रुत्वा सुग्रीवो वाहिनीपतिः ।
व्यादिदेश महावीर्यो वानरान् वानरर्षभः ॥ २१ ॥

रघुनाथजीका यह वचन सुनकर महापराक्रमी वानरशिरोमणि सेनापति सुग्रीवने उन वानरोंको यथोचित आज्ञा दी ॥ २१ ॥

ते वानरगणाः सर्वे समुत्पत्य महौजसः ।
गुहाभ्यः शिखरेभ्यश्च आशु पुप्लुविरे तदा ॥ २२ ॥

तब वे समस्त महाबली वानरगण अपनी गुफाओं और शिखरोंसे शीघ्र ही निकलकर उछलते-कूदते हुए चलने लगे ॥ २२ ॥

ततो वानरराजेन लक्ष्मणेन च पूजितः ।
जगाम रामो धर्मात्मा ससैन्यो दक्षिणां दिशम् ॥ २३ ॥

तत्पश्चात् वानरराज सुग्रीव और लक्ष्मणके सादर अनुरोध करनेपर सेनासहित धर्मात्मा श्रीरामचन्द्रजी दक्षिण दिशाकी ओर प्रस्थित हुए ॥ २३ ॥

शतैः शतसहस्रैश्च कोटिभिश्चायुतैरपि ।
वारणाभैश्च हरिभिर्ययौ परिवृतस्तदा ॥ २४ ॥

उस समय सैकड़ों, हजारों, लाखों और करोड़ों वानरोंसे, जो हाथीके समान विशालकाय थे, घिरे हुए श्रीरघुनाथजी आगे बढ़ने लगे ॥ २४ ॥

तं यान्तमनुयान्ती सा महती हरिवाहिनी ।
हृष्टाः प्रमुदिताः सर्वे सुग्रीवेणापि पालिताः ॥ २५ ॥

यात्रा करते हुए श्रीरामके पीछे वह विशाल वानरवाहिनी चलने लगी । उस सेनाके सभी वीर सुग्रीवसे पालित होनेके कारण हृष्ट-पुष्ट एवं प्रसन्न थे ॥ २५ ॥

आप्लवन्तः प्लवन्तश्च गर्जन्तश्च प्लवंगमाः ।
क्ष्वेलन्तो निनदन्तश्च जग्मुर्वै दक्षिणां दिशम् ॥ २६ ॥

उनमेंसे कुछ वानर उस सेनाकी रक्षाके लिये उछलते-कूदते हुए चारों ओर चक्कर लगाते थे, कुछ मार्गशोधनके लिये कूदते-फाँदते आगे बढ़ जाते थे, कुछ वानर मेघोंके समान गर्जते, कुछ सिंहोंके समान दहाड़ते और कुछ किलकारियाँ भरते हुए दक्षिण दिशाकी ओर अग्रसर हो रहे थे ॥ २६ ॥

भक्षयन्तः सुगन्धीनि मधूनि च फलानि च ।
उद्वहन्तो महावृक्षान् मञ्जरीपुञ्जधारिणः ॥ २७ ॥

वे सुगन्धित मधु पीते और मीठे फल खाते हुए मञ्जरी-पुञ्ज धारण करनेवाले विशाल वृक्षोंको उखाड़कर कंधोंपर लिये चल रहे थे ॥ २७ ॥

अन्योन्यं सहसा दृप्ता निर्वहन्ति क्षिपन्ति च ।
पतन्तश्चोत्पतन्त्यन्ये पातयन्त्यपरे परान् ॥ २८ ॥

कुछ मतवाले वानर विनोदके लिये एक-दूसरेको ढो रहे थे । कोई अपने ऊपर चढ़े हुए वानरको झटककर दूर फेंक देते थे । कोई चलते-चलते ऊपरको उछल पड़ते थे और दूसरे वानर दूसरों-दूसरोंको ऊपरसे धक्के देकर नीचे गिरा देते थे ॥ २८ ॥

रावणो नो निहन्तव्यः सर्वे च रजनीचराः ।
इति गर्जन्ति हरयो राघवस्य समीपतः ॥ २९ ॥

श्रीरघुनाथजीके समीप चलते हुए वानर यह कहते हुए गर्जना करते थे कि 'हमें रावणको मार डालना चाहिये । समस्त निशाचरोंका भी संहार कर देना चाहिये' ॥ २९ ॥

पुरस्तादृषभो नीलो वीरः कुमुद एव च ।
पन्थानं शोधयन्ति स्म वानरैर्बहुभिः सह ॥ ३० ॥

सबसे आगे ऋषभ, नील और वीर कुमुद—ये बहुसंख्यक वानरोंके साथ रास्ता ठीक करते जाते थे ॥ ३० ॥

मध्ये तु राजा सुग्रीवो रामो लक्ष्मण एव च ।
बलिभिर्बहुभिर्भीमैर्वृतः शत्रुनिबर्हणः ॥ ३१ ॥

सेनाके मध्यभागमें राजा सुग्रीव, श्रीराम और लक्ष्मण—ये तीनों शत्रुसूदन वीर अनेक बलशाली एवं भयंकर वानरोंसे घिरे हुए चल रहे थे ॥ ३१ ॥

हरिः शतवलिर्वीरः कोटिभिर्दशभिर्वृतः ।
सर्वामेको ह्यवष्टभ्य ररक्ष हरिवाहिनीम् ॥ ३२ ॥

शतबलि नामका एक वीर वानर दस करोड़ वानरोंके साथ अकेला ही सारी सेनाको अपने नियन्त्रणमें रखकर उसकी रक्षा करता था ॥ ३२ ॥

कोटीशतपरीवारः केसरी पनसो गजः ।
अर्कश्च बहुभिः पार्श्वमेकं तस्याभिरक्षति ॥ ३३ ॥

सौ करोड़ वानरोंसे घिरे हुए केसरी और पनस—ये सेनाके एक (दक्षिण) भागकी तथा बहुत-से वानर सैनिकोंको साथ लिये गज और अर्क—ये उस वानर-सेनाके दूसरे (वाम) भागकी रक्षा करते थे ॥ ३३ ॥

सुषेणो जाम्बवांश्चैव ऋक्षैर्बहुभिरावृतौ ।
सुग्रीवं पुरतः कृत्वा जघनं संररक्षतुः ॥ ३४ ॥

बहुसंख्यक भालुओंसे घिरे हुए सुषेण और जाम्बवान्—ये दोनों सुग्रीवको आगे करके सेनाके पिछले भागकी रक्षा कर रहे थे ॥ ३४ ॥

तेषां सेनापतिर्वीरो नीलो वानरपुंगवः ।
सम्पतन् प्लवतां श्रेष्ठस्तद् बलं पर्यवारयत् ॥ ३५ ॥

उन सबके सेनापति कपिश्रेष्ठ वानरशिरोमणि वीरवर नील उस सेनाकी सब ओरसे रक्षा एवं नियन्त्रण कर रहे थे ॥ ३५ ॥

दरीमुखः प्रजङ्घश्च जम्भोऽथ रभसः कपिः ।
सर्वतश्च ययुर्वीरास्त्वरयन्तः प्लवंगमान् ॥ ३६ ॥

दरीमुख, प्रजङ्घ, जम्भ और रभस—ये वीर सब ओरसे वानरोंको शीघ्र आगे बढ़नेकी प्रेरणा देते हुए चल रहे थे ॥ ३६ ॥

एवं ते हरिशार्दूला गच्छन्ति बलदर्पिताः ।
अपश्यन्त गिरिश्रेष्ठं सह्यं गिरिशतायुतम् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार वे बलोन्मत्त कपि-केसरी वीर बराबर आगे बढ़ते गये। चलते-चलते उन्होंने पर्वतश्रेष्ठ सह्यगिरिको देखा, जिसके आस-पास और भी सैकड़ों पर्वत थे ॥ ३७ ॥

सरांसि च सुफुल्लानि तटाकानि वराणि च ।
रामस्य शासनं ज्ञात्वा भीमकोपस्य भीतवत् ॥ ३८ ॥
वर्जयन् नागराभ्याशांस्तथा जनपदानपि ।
सागरौघनिभं भीमं तद् वानरबलं महत् ॥ ३९ ॥
निःससर्प महाघोरं भीमघोषमिवार्णवम् ।

रास्तेमें उन्हें बहुत-से सुन्दर सरोवर और तालाब दिखायी दिये, जिनमें मनोहर कमल खिले हुए थे। श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञा थी कि रास्तेमें कोई किसी प्रकारका उपद्रव न करे। भयंकर कोपवाले श्रीरामचन्द्रजीके इस आदेशको जानकर समुद्रके जलप्रवाहकी भाँति अपार एवं भयंकर दिखायी देनेवाली वह विशाल वानर-सेना भयभीत-सी होकर नगरोंके समीपवर्ती स्थानों और जनपदोंको दूरसे ही छोड़ती चली जा रही थी। विकट गर्जना करनेके कारण भयानक शब्दवाले समुद्रकी भाँति वह महाघोर जान पड़ती थी ॥ ३८-३९ ½ ॥

तस्य दाशरथेः पार्श्वे शूरास्ते कपिकुञ्जराः ॥ ४० ॥
तूर्णमापुप्लुवुः सर्वे सदश्वा इव चोदिताः ।

वे सभी शूरवीर कपिकुञ्जर हाँके गये अच्छे घोड़ोंकी भाँति उछलते-कूदते हुए तुरंत ही दशरथनन्दन श्रीरामके पास पहुँच जाते थे ॥ ४० ½ ॥

कपिभ्यामुह्यमानौ तौ शुशुभाते नरर्षभौ ॥ ४१ ॥
महद्भ्यामिव संस्पृष्टौ ग्रहाभ्यां चन्द्रभास्करौ ।

हनुमान् और अंगद—इन दो वानर वीरोंद्वारा ढोये जाते हुए वे नरश्रेष्ठ श्रीराम और लक्ष्मण शुक्र और बृहस्पति—इन दो महाग्रहोंसे संयुक्त हुए चन्द्रमा और सूर्यके समान शोभा पा रहे थे ॥ ४१ ½ ॥

ततो वानरराजेन लक्ष्मणेन सुपूजितः ॥ ४२ ॥
जगाम रामो धर्मात्मा ससैन्यो दक्षिणां दिशम् ।

उस समय वानरराज सुग्रीव और लक्ष्मणसे सम्मानित हुए धर्मात्मा श्रीराम सेनासहित दक्षिण दिशाकी ओर बढ़े जा रहे थे ॥ ४२ ½ ॥

तमङ्गदगतो रामं लक्ष्मणः शुभया गिरा ॥ ४३ ॥
उवाच परिपूर्णार्थं पूर्णार्थप्रतिभानवान् ।

लक्ष्मणजी अंगदके कंधेपर बैठे हुए थे। वे शकुनोंके द्वारा कार्यसिद्धिकी बात अच्छी तरह जान लेते थे। उन्होंने पूर्णकाम भगवान् श्रीरामसे मङ्गलमयी वाणीमें कहा— ॥ ४३ ½ ॥

हृतामवाप्य वैदेहीं क्षिप्रं हत्वा च रावणम् ॥ ४४ ॥
समृद्धार्थः समृद्धार्थामयोध्यां प्रतियास्यसि ।
महान्ति च निमित्तानि दिवि भूमौ च राघव ॥ ४५ ॥
शुभानि तव पश्यामि सर्वाण्येवार्थसिद्धये ।

'रघुनन्दन! मुझे पृथ्वी और आकाशमें बहुत अच्छे-अच्छे शकुन दिखायी देते हैं। ये सब आपके मनोरथकी सिद्धिको सूचित करते हैं। इनसे निश्चय होता है कि आप शीघ्र ही रावणको मारकर हरी हुई सीताजीको प्राप्त करेंगे और सफलमनोरथ होकर समृद्धिशालिनी अयोध्याको पधारेंगे ॥ ४४-४५ ½ ॥

अनुवाति शिवो वायुः सेनां मृदुहितः सुखः ॥ ४६ ॥
पूर्णवल्गुस्वराश्चेमे प्रवदन्ति मृगद्विजाः ।
प्रसन्नाश्च दिशः सर्वा विमलश्च दिवाकरः ॥ ४७ ॥
उशना च प्रसन्नार्चिरनु त्वां भार्गवो गतः ।
ब्रह्मराशिर्विशुद्धश्च शुद्धाश्च परमर्षयः ।
अर्चिष्मन्तः प्रकाशन्ते ध्रुवं सर्वे प्रदक्षिणम् ॥ ४८ ॥

'देखिये सेनाके पीछे शीतल, मन्द, हितकर और सुखमय समीर चल रहा है। ये पशु और पक्षी पूर्ण मधुर स्वरमें अपनी-अपनी बोली बोल रहे हैं। सब दिशाएँ प्रसन्न हैं। सूर्यदेव निर्मल दिखायी दे रहे हैं। भृगुनन्दन शुक्र भी अपनी उज्ज्वल प्रभासे प्रकाशित हो आपके पीछेकी

दिशामें प्रकाशित हो रहे हैं। जहाँ सप्तर्षियोंका समुदाय शोभा पाता है, वह ध्रुवतारा भी निर्मल दिखायी देता है। शुद्ध और प्रकाशमान समस्त सप्तर्षिगण ध्रुवको अपने दाहिने रखकर उनकी परिक्रमा करते हैं॥ ४६—४८॥

त्रिशङ्कुर्विमलो भाति राजर्षिः सपुरोहितः।
पितामहः पुरोऽस्माकमिक्ष्वाकूणां महात्मनाम्॥ ४९॥

'हमारे साथ ही महामना इक्ष्वाकुवंशियोंके पितामह राजर्षि त्रिशंकु अपने पुरोहित वसिष्ठजीके साथ हमलोगोंके सामने ही निर्मल कान्तिसे प्रकाशित हो रहे हैं॥ ४९॥

विमले च प्रकाशेते विशाखे निरुपद्रवे।
नक्षत्रं परमस्माकमिक्ष्वाकूणां महात्मनाम्॥ ५०॥

'हम महामनस्वी इक्ष्वाकुवंशियोंके लिये जो सबसे उत्तम है, वह विशाखा नामक युगल नक्षत्र निर्मल एवं उपद्रवशून्य (मंगल आदि दुष्ट ग्रहोंकी आक्रान्तिसे रहित) होकर प्रकाशित हो रहा है॥ ५०॥

नैर्ऋतं नैर्ऋतानां च नक्षत्रमतिपीड्यते।
मूलो मूलवता स्पृष्टो धूप्यते धूमकेतुना॥ ५१॥

'राक्षसोंका नक्षत्र मूल, जिसके देवता निर्ऋति हैं, अत्यन्त पीड़ित हो रहा है। उस मूलके नियामक धूमकेतुसे आक्रान्त होकर वह संतापका भागी हो रहा है॥ ५१॥

सर्वं चैतद् विनाशाय राक्षसानामुपस्थितम्।
काले कालगृहीतानां नक्षत्रं ग्रहपीडितम्॥ ५२॥

'यह सब कुछ राक्षसोंके विनाशके लिये ही उपस्थित हुआ है; क्योंकि जो लोग कालपाशमें बँधे होते हैं, उन्हींका नक्षत्र समयानुसार ग्रहोंसे पीड़ित होता है॥ ५२॥

प्रसन्नाः सुरसाश्चापो वनानि फलवन्ति च।
प्रवान्ति नाधिका गन्धा यथर्तुकुसुमा द्रुमाः॥ ५३॥

'जल स्वच्छ और उत्तम रससे पूर्ण दिखायी देता है, जंगलोंमें पर्याप्त फल उपलब्ध होते हैं, सुगन्धित वायु अधिक तीव्रगतिसे नहीं बह रही है और वृक्षोंमें ऋतुओंके अनुसार फूल लगे हुए हैं॥ ५३॥

व्यूढानि कपिसैन्यानि प्रकाशन्तेऽधिकं प्रभो।
देवानामिव सैन्यानि संग्रामे तारकामये।
एवमार्य समीक्ष्यैतत् प्रीतो भवितुमर्हसि॥ ५४॥

'प्रभो! व्यूहबद्ध वानरी सेना बड़ी शोभासम्पन्न जान पड़ती है। तारकामय संग्रामके अवसरपर देवताओंकी सेनाएँ जिस तरह उत्साहसे सम्पन्न थीं, इसी प्रकार आज ये वानर-सेनाएँ भी हैं। आर्य! ऐसे शुभ लक्षण देखकर आपको प्रसन्न होना चाहिये'॥ ५४॥

इति भ्रातरमाश्वास्य हृष्टः सौमित्रिरब्रवीत्।
अथावृत्य महीं कृत्स्नां जगाम हरिवाहिनी॥ ५५॥

अपने भाई श्रीरामको आश्वासन देते हुए हर्षसे भरे सुमित्राकुमार लक्ष्मण जब इस प्रकार कह रहे थे, उस समय वानरोंकी सेना वहाँकी सारी भूमिको घेरकर आगे बढ़ने लगी॥ ५५॥

ऋक्षवानरशार्दूलैर्नखदंष्ट्रायुधैरपि।
कराग्रैश्चरणाग्रैश्च वानरैरुद्धतं रजः॥ ५६॥

उस सेनामें कुछ रीछ थे और कुछ सिंहके समान पराक्रमी वानर। नख और दाँत ही उनके शस्त्र थे। वे सभी वानर सैनिक हाथों और पैरोंकी अंगुलियोंसे बड़ी धूल उड़ा रहे थे॥ ५६॥

भीममन्तर्दधे लोकं निवार्य सवितुः प्रभाम्।
सपर्वतवनाकाशां दक्षिणां हरिवाहिनी॥ ५७॥
छादयन्ती ययौ भीमा द्यामिवाम्बुदसंततिः।

उनकी उड़ायी हुई उस भयंकर धूलने सूर्यकी प्रभाको ढककर सम्पूर्ण जगत्‌को छिपा-सा दिया। वह भयानक वानरसेना पर्वत, वन और आकाशसहित दक्षिण दिशाको आच्छादित-सी करती हुई उसी तरह आगे बढ़ रही थी, जैसे मेघोंकी घटा आकाशको ढककर अग्रसर होती है॥५७½॥

उत्तरन्त्याश्च सेनायाः सततं बहुयोजनम्॥ ५८॥
नदीस्रोतांसि सर्वाणि सस्यन्दुर्विपरीतवत्।

वह वानरी सेना जब किसी नदीको पार करती थी, उस समय लगातार कई योजनोंतक उसकी समस्त धाराएँ उलटी बहने लगती थीं॥५८½॥

सरांसि विमलाम्भांसि द्रुमाकीर्णांश्च पर्वतान्॥ ५९॥
समान् भूमिप्रदेशांश्च वनानि फलवन्ति च।
मध्येन च समन्ताच्च तिर्यक् चाधश्च साविशत्॥ ६०॥
समावृत्य महीं कृत्स्नां जगाम महती चमूः।

वह विशाल सेना निर्मल जलवाले सरोवर, वृक्षोंसे ढके हुए पर्वत, भूमिके समतल प्रदेश और फलोंसे भरे हुए वन—इन सभी स्थानोंके मध्यमें, इधर-उधर तथा ऊपर-नीचे सब ओरकी सारी भूमिको घेरकर चल रही थी॥५९-६०½॥

ते हृष्टवदनाः सर्वे जग्मुर्मारुतरंहसः॥ ६१॥
हरयो राघवस्यार्थे समारोपितविक्रमाः।

उस सेनाके सभी वानर प्रसन्नमुख तथा वायुके समान वेगवाले थे। रघुनाथजीकी कार्यसिद्धिके लिये उनका पराक्रम उबला पड़ता था॥६१½॥

हर्षं वीर्यं बलोद्रेकान् दर्शयन्तः परस्परम्॥ ६२॥
यौवनोत्सेकजाद् दर्पाद् विविधांश्चक्रुरध्वनि।

वे जवानीके जोश और अभिमानजनित दर्पके कारण रास्तेमें एक-दूसरेको उत्साह, पराक्रम तथा नाना प्रकारके बल-सम्बन्धी उत्कर्ष दिखा रहे थे॥६२½॥

तत्र केचिद् द्रुतं जग्मुरुत्पेतुश्च तथापरे॥ ६३॥
केचित् किलकिलां चक्रुर्वानरा वनगोचराः।
प्रास्फोटयंश्च पुच्छानि संनिजघ्नुः पदान्यपि॥ ६४॥

उनमेंसे कोई तो बड़ी तेजीसे भूतलपर चलते थे और दूसरे उछलकर आकाशमें उड़ जाते थे। कितने ही वनवासी वानर किलकारियाँ भरते, पृथ्वीपर अपनी पूँछ फटकारते और पैर पटकते थे॥ ६३-६४॥

भुजान् विक्षिप्य शैलांश्च द्रुमानन्ये बभञ्जिरे।
आरोहन्तश्च शृङ्गाणि गिरीणां गिरिगोचराः॥ ६५॥

कितने ही अपनी बाँहें फैलाकर पर्वत-शिखरों और वृक्षोंको तोड़ डालते थे तथा पर्वतोंपर विचरनेवाले बहुतेरे वानर पहाड़ोंकी चोटियोंपर चढ़ जाते थे॥ ६५॥

महानादान् प्रमुञ्चन्ति क्ष्वेडामन्ये प्रचक्रिरे।
ऊरुवेगैश्च ममृदुर्लताजालान्यनेकशः॥ ६६॥

कोई बड़े जोरसे गर्जते और कोई सिंहनाद करते थे। कितने ही अपनी जाँघोंके वेगसे अनेकानेक लता-समूहोंको मसल डालते थे॥ ६६॥

जृम्भमाणाश्च विक्रान्ता विचिक्रीडुः शिलाद्रुमैः।
ततः शतसहस्रैश्च कोटिभिश्च सहस्रशः॥ ६७॥
वानराणां सुघोराणां श्रीमत्परिवृता मही।

वे सभी वानर बड़े पराक्रमी थे। अँगड़ाई लेते हुए पत्थरकी चट्टानों और बड़े-बड़े वृक्षोंसे खेल करते थे। उन सहस्रों, लाखों और करोड़ों वानरोंसे घिरी हुई सारी पृथ्वी बड़ी शोभा पाती थी॥ ६७½॥

सा स्म याति दिवारात्रं महती हरिवाहिनी॥ ६८॥
प्रहृष्टमुदिताः सर्वे सुग्रीवेणाभिपालिताः।
वानरास्त्वरिता यान्ति सर्वे युद्धाभिनन्दिनः।
प्रमोक्षयिषवः सीतां मुहूर्तं क्वापि नावसन्॥ ६९॥

इस प्रकार वह विशाल वानरसेना दिन-रात चलती रही। सुग्रीवसे सुरक्षित सभी वानर हृष्ट-पुष्ट और प्रसन्न थे। सभी बड़ी उतावलीके साथ चल रहे थे। सभी युद्धका अभिनन्दन करनेवाले थे और सभी सीताजीको रावणकी कैदसे छुड़ाना चाहते थे। इसलिये उन्होंने रास्तेमें कहीं दो घड़ी भी विश्राम नहीं लिया॥ ६८-६९॥

ततः पादपसम्बाधं नानावनसमायुतम्।
सह्यपर्वतमासाद्य वानरास्ते समारुहन्॥ ७०॥

चलते-चलते घने वृक्षोंसे व्याप्त और अनेकानेक काननोंसे संयुक्त सह्य पर्वतके पास पहुँचकर वे सब वानर उसके ऊपर चढ़ गये॥ ७०॥

काननानि विचित्राणि नदीप्रस्रवणानि च।
पश्यन्नपि ययौ रामः सह्यस्य मलयस्य च॥ ७१॥

श्रीरामचन्द्रजी सह्य और मलयके विचित्र काननों, नदियों तथा झरनोंकी शोभा देखते हुए यात्रा कर रहे थे॥ ७१॥

चम्पकांस्तिलकांश्चूतानशोकान् सिन्दुवारकान्।
तिनिशान् करवीरांश्च भञ्जन्ति स्म प्लवंगमाः॥ ७२॥

वे वानर मार्गमें मिले हुए चम्पा, तिलक, आम, अशोक, सिन्दुवार, तिनिश और करवीर आदि वृक्षोंको तोड़ देते थे॥ ७२॥

अङ्कोलांश्च करञ्जांश्च प्लक्षन्यग्रोधपादपान्।
जम्बूकामलकान् नीपान् भञ्जन्ति स्म प्लवंगमाः॥ ७३॥

उछल-उछलकर चलनेवाले वे वानरसैनिक रास्तेके अंकोल, करंज, पाकर, बरगद, जामुन, आँवले और नीप आदि वृक्षोंको भी तोड़ डालते थे॥ ७३॥

प्रस्तरेषु च रम्येषु विविधाः काननद्रुमाः।
वायुवेगप्रचलिताः पुष्पैरवकिरन्ति तान्॥ ७४॥

रमणीय पत्थरोंपर उगे हुए नाना प्रकारके जंगली वृक्ष वायुके झोंकेसे झूम-झूमकर उन वानरोंपर फूलोंकी वर्षा करते थे॥ ७४॥

मारुतः सुखसंस्पर्शो वाति चन्दनशीतलः।
षट्पदैरनुकूजद्भिर्वनेषु मधुगन्धिषु॥ ७५॥

मधुसे सुगन्धित वनोंमें गुनगुनाते हुए भौंरोंके साथ चन्दनके समान शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु चल रही थी॥ ७५॥

अधिकं शैलराजस्तु धातुभिस्तु विभूषितः।
धातुभ्यः प्रसृतो रेणुर्वायुवेगेन घट्टितः॥ ७६॥
सुमहद्वानरानीकं छादयामास सर्वतः।

वह पर्वतराज गैरिक आदि धातुओंसे विभूषित हो बड़ी शोभा पा रहा था। उन धातुओंसे फैली हुई धूल वायुके वेगसे उड़कर उस विशाल वानरसेनाको सब ओरसे आच्छादित कर देती थी॥ ७६½॥

गिरिप्रस्थेषु रम्येषु सर्वतः सम्प्रपुष्पिताः॥ ७७॥
केतक्यः सिन्दुवाराश्च वासन्त्यश्च मनोरमाः।
माधव्यो गन्धपूर्णाश्च कुन्दगुल्माश्च पुष्पिताः॥ ७८॥

रमणीय पर्वतशिखरोंपर सब ओर खिली हुई केतकी, सिन्दुवार और वासन्ती लताएँ बड़ी मनोरम जान पड़ती थीं। प्रफुल्ल माधवी लताएँ सुगन्धसे भरी थीं और कुन्दकी झाड़ियाँ भी फूलोंसे लदी हुई थीं॥ ७७-७८॥

चिरिबिल्वा मधूकाश्च वञ्जुला बकुलास्तथा।
रञ्जकास्तिलकाश्चैव नागवृक्षाश्च पुष्पिताः॥ ७९॥

चिरिबिल्व, मधूक (महुआ), वञ्जुल, बकुल, रंजक, तिलक और नागकेसरके वृक्ष भी वहाँ खिले हुए थे॥ ७९॥

चूताः पाटलिकाश्चैव कोविदाराश्च पुष्पिताः।
मुचुलिन्दार्जुनाश्चैव शिंशपाः कुटजास्तथा॥ ८०॥
हिन्तालास्तिनिशाश्चैव चूर्णका नीपकास्तथा।
नीलाशोकाश्च सरला अङ्कोलाः पद्मकास्तथा॥ ८१॥

आम, पाडर और कोविदार भी फूलोंसे लदे थे। मुचुलिन्द, अर्जुन, शिंशपा, कुटज, हिंताल, तिनिश, चूर्णक, कदम्ब, नीलाशोक, सरल, अंकोल और पद्मक भी सुन्दर फूलोंसे सुशोभित थे॥ ८०-८१॥

प्रीयमाणैः प्लवंगैस्तु सर्वे पर्याकुलीकृताः ।
वाप्यस्तस्मिन् गिरौ रम्याः पल्वलानि तथैव च ॥ ८२ ॥
चक्रवाकानुचरिताः कारण्डवनिषेविताः ।
प्लवैः क्रौञ्चैश्च संकीर्णा वराहमृगसेविताः ॥ ८३ ॥

प्रसन्नतासे भरे हुए वानरोंने उन सब वृक्षोंको घेर लिया था। उस पर्वतपर बहुत-सी रमणीय बावड़ियाँ तथा छोटे-छोटे जलाशय थे, जहाँ चकवे विचरते और जलकुक्कुट निवास करते थे। जलकाक और क्रौञ्च भरे हुए थे तथा सूअर और हिरन उनमें पानी पीते थे ॥ ८२-८३ ॥

ऋक्षैस्तरक्षुभिः सिंहैः शार्दूलैश्च भयावहैः ।
व्यालैश्च बहुभिर्भीमैः सेव्यमानाः समन्ततः ॥ ८४ ॥

रीछ, तरक्षु (लकड़बग्घे), सिंह, भयंकर बाघ तथा बहुसंख्यक दुष्ट हाथी, जो बड़े भीषण थे, सब ओरसे आ-आकर उन जलाशयोंका सेवन करते थे ॥ ८४ ॥

पद्मैः सौगन्धिकैः फुल्लैः कुमुदैश्चोत्पलैस्तथा ।
वारिजैर्विविधैः पुष्पै रम्यास्तत्र जलाशयाः ॥ ८५ ॥

खिले हुए सुगन्धित कमल, कुमुद, उत्पल तथा जलमें होनेवाले भाँति-भाँतिके अन्य पुष्पोंसे वहाँके जलाशय बड़े रमणीय दिखायी देते थे ॥ ८५ ॥

तस्य सानुषु कूजन्ति नानाद्विजगणास्तथा ।
स्नात्वा पीत्वोदकान्यत्र जले क्रीडन्ति वानराः ॥ ८६ ॥

उस पर्वतके शिखरोंपर नाना प्रकारके पक्षी कलरव करते थे। वानर उन जलाशयोंमें नहाते, पानी पीते और जलमें क्रीड़ा करते थे ॥ ८६ ॥

अन्योन्यं प्लावयन्ति स्म शैलमारुह्य वानराः ।
फलान्यमृतगन्धीनि मूलानि कुसुमानि च ॥ ८७ ॥
बभञ्जुर्वानरास्तत्र पादपानां मदोत्कटाः ।
द्रोणमात्रप्रमाणानि लम्बमानानि वानराः ॥ ८८ ॥
ययुः पिबन्तः स्वस्थास्ते मधूनि मधुपिङ्गलाः ।

वे आपसमें एक-दूसरेपर पानी भी उछालते थे। कुछ वानर पर्वतपर चढ़कर वहाँके वृक्षोंके अमृततुल्य मीठे फलों, मूलों और फूलोंको तोड़ते थे। मधुके समान वर्णवाले कितने ही मदमत्त वानर वृक्षोंमें लटके और एक-एक द्रोण शहदसे भरे हुए मधुके छत्तोंको तोड़कर उनका मधु पी लेते और स्वस्थ (संतुष्ट) होकर चलते थे ॥८७-८८½॥

पादपानवभञ्जन्तो विकर्षन्तस्तथा लताः ॥ ८९ ॥
विधमन्तो गिरिवरान् प्रययुः प्लवगर्षभाः ।

पेड़ोंको तोड़ते, लताओंको खींचते और बड़े-बड़े पर्वतोंको प्रतिध्वनित करते हुए वे श्रेष्ठ वानर तीव्र गतिसे आगे बढ़ रहे थे ॥८९½॥

वृक्षेभ्योऽन्ये तु कपयो नदन्तो मधु दर्पिताः ॥ ९० ॥
अन्ये वृक्षान् प्रपद्यन्ते प्रपिबन्त्यपि चापरे ।

दूसरे वानर दर्पमें भरकर वृक्षोंसे मधुके छत्ते उतार लेते और जोर-जोरसे गर्जना करते थे। कुछ वानर वृक्षोंपर चढ़ जाते और कुछ मधु पीने लगते थे ॥९०½॥

बभूव वसुधा तैस्तु सम्पूर्णा हरिपुङ्गवैः ।
यथा कमलकेदारैः पक्वैरिव वसुंधरा ॥ ९१ ॥

उन वानरशिरोमणियोंसे भरी हुई वहाँकी भूमि पके हुए बालवाले कलमी धानोंकी क्यारियोंसे ढकी हुई धरतीके समान सुशोभित हो रही थी ॥ ९१ ॥

महेन्द्रमथ सम्प्राप्य रामो राजीवलोचनः ।
आरुरोह महाबाहुः शिखरं द्रुमभूषितम् ॥ ९२ ॥

कमलनयन महाबाहु श्रीरामचन्द्रजी महेन्द्र पर्वतके पास पहुँचकर भाँति-भाँतिके वृक्षोंसे सुशोभित उसके शिखरपर चढ़ गये ॥ ९२ ॥

ततः शिखरमारुह्य रामो दशरथात्मजः ।
कूर्ममीनसमाकीर्णमपश्यत् सलिलाशयम् ॥ ९३ ॥

महेन्द्र पर्वतके शिखरपर आरूढ़ हो दशरथनन्दन भगवान् श्रीरामने कछुओं और मत्स्योंसे भरे हुए समुद्रको देखा ॥ ९३ ॥

ते सह्यं समतिक्रम्य मलयं च महागिरिम् ।
आसेदुरानुपूर्व्येण समुद्रं भीमनिःस्वनम् ॥ ९४ ॥

इस प्रकार वे सह्य तथा मलयको लाँघकर क्रमशः महेन्द्र पर्वतके समीपवर्ती समुद्रके तटपर जा पहुँचे, जहाँ बड़ा भयंकर शब्द हो रहा था ॥ ९४ ॥

अवरुह्य जगामाशु वेलावनमनुत्तमम् ।
रामो रमयतां श्रेष्ठः ससुग्रीवः सलक्ष्मणः ॥ ९५ ॥

उस पर्वतसे उतरकर भक्तोंके मनको रमानेवालोंमें श्रेष्ठ भगवान् श्रीराम सुग्रीव और लक्ष्मणके साथ शीघ्र ही सागर-तटवर्ती परम उत्तम वनमें जा पहुँचे ॥ ९५ ॥

अथ धौतोपलतलां तोयौघैः सहसोत्थितैः ।
वेलामासाद्य विपुलां रामो वचनमब्रवीत् ॥ ९६ ॥

जहाँ सहसा उठी हुई जलकी तरङ्गोंसे प्रस्तरकी शिलाएँ धुल गयी थीं, उस विस्तृत सिन्धुतटपर पहुँचकर श्रीरामने कहा— ॥ ९६ ॥

एते वयमनुप्राप्ताः सुग्रीव वरुणालयम् ।
इहेदानीं विचिन्ता सा या नः पूर्वमुपस्थिता ॥ ९७ ॥

'सुग्रीव! लो, हम सब लोग समुद्रके किनारे तो आ गये। अब यहाँ मनमें फिर वही चिन्ता उत्पन्न हो गयी, जो हमारे सामने पहले उपस्थित थी ॥ ९७ ॥

अतः परमतीरोऽयं सागरः सरितां पतिः ।
न चायमनुपायेन शक्यस्तरितुमर्णवः ॥ ९८ ॥

'इससे आगे तो यह सरिताओंका स्वामी महासागर ही विद्यमान है, जिसका कहीं पार नहीं दिखायी देता। अब बिना किसी समुचित उपायके सागरको पार करना असम्भव है ॥ ९८ ॥

तदिहैव निवेशोऽस्तु मन्त्रः प्रस्तूयतामिह ।
यथेदं वानरबलं परं पारमवाप्नुयात् ॥ ९९ ॥

'इसलिये यहीं सेनाका पड़ाव पड़ जाय और हमलोग यहाँ बैठकर यह विचार आरम्भ करें कि किस प्रकार यह वानर-सेना समुद्रके उस पारतक पहुँच सकती है' ॥ ९९ ॥

इतीव स महाबाहुः सीताहरणकर्शितः ।
रामः सागरमासाद्य वासमाज्ञापयत् तदा ॥ १०० ॥

इस प्रकार सीताहरणके शोकसे दुर्बल हुए महाबाहु श्रीरामने समुद्रके किनारे पहुँचकर उस समय सारी सेनाको वहाँ ठहरनेकी आज्ञा दी ॥ १०० ॥

सर्वाः सेना निवेश्यन्तां वेलायां हरिपुङ्गव ।
सम्प्राप्तो मन्त्रकालो नः सागरस्येह लङ्घने ॥ १०१ ॥

वे बोले—'कपिश्रेष्ठ ! समस्त सेनाओंको समुद्रके तटपर ठहराया जाय। अब यहाँ हमारे लिये समुद्र-लङ्घनके उपायपर विचार करनेका अवसर प्राप्त हुआ है ॥ १०१ ॥

स्वां स्वां सेनां समुत्सृज्य मा च कश्चित् कुतो व्रजेत् ।
गच्छन्तु वानराः शूरा ज्ञेयं छन्नं भयं च नः ॥ १०२ ॥

'इस समय कोई भी सेनापति किसी भी कारणसे अपनी-अपनी सेनाको छोड़कर कहीं अन्यत्र न जाय। समस्त शूरवीर वानर-सेनाकी रक्षाके लिये यथास्थान चले जायँ। सबको यह जान लेना चाहिये कि हमलोगोंपर राक्षसोंकी मायासे गुप्त भय आ सकता है' ॥ १०२ ॥

रामस्य वचनं श्रुत्वा सुग्रीवः सहलक्ष्मणः ।
सेनां न्यवेशयत् तीरे सागरस्य द्रुमायुते ॥ १०३ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका यह वचन सुनकर लक्ष्मणसहित सुग्रीवने वृक्षावलियोंसे सुशोभित सागर-तटपर सेनाको ठहरा दिया ॥ १०३ ॥

विरराज समीपस्थं सागरस्य च तद् बलम् ।
मधुपाण्डुजलः श्रीमान् द्वितीय इव सागरः ॥ १०४ ॥

समुद्रके पास ठहरी हुई वह विशाल वानर-सेना मधुके समान पिङ्गलवर्णके जलसे भरे हुए दूसरे सागरकी-सी शोभा धारण करती थी ॥ १०४ ॥

वेलावनमुपागम्य ततस्ते हरिपुङ्गवाः ।
निविष्टाश्च परं पारं काङ्क्षमाणा महोदधेः ॥ १०५ ॥

सागर-तटवर्ती वनमें पहुँचकर वे सभी श्रेष्ठ वानर समुद्रके उस पार जानेकी अभिलाषा मनमें लिये वहीं ठहर गये ॥ १०५ ॥

तेषां निविशमानानां सैन्यसंनाहनिःस्वनः ।
अन्तर्धाय महानादमर्णवस्य प्रशुश्रुवे ॥ १०६ ॥

वहाँ डेरा डालते हुए उन श्रीराम आदिकी सेनाओंके संचरणसे जो महान् कोलाहल हुआ, वह महासागरकी गम्भीर गर्जनाको भी दबाकर सुनायी देने लगा ॥ १०६ ॥

सा वानराणां ध्वजिनी सुग्रीवेणाभिपालिता ।
त्रिधा निविष्टा महती रामस्यार्थपराभवत् ॥ १०७ ॥

सुग्रीवद्वारा सुरक्षित वह वानरोंकी विशाल सेना श्रीरामचन्द्रजीके कार्य-साधनमें तत्पर हो रीछ, लंगूर और वानरोंके भेदसे तीन भागोंमें विभक्त होकर ठहर गयी ॥ १०७ ॥

सा महार्णवमासाद्य हृष्टा वानरवाहिनी ।
वायुवेगसमाधूतं पश्यमाना महार्णवम् ॥ १०८ ॥

महासागरके तटपर पहुँचकर वह वानर-सेना वायुके वेगसे कम्पित हुए समुद्रकी शोभा देखती हुई बड़े हर्षका अनुभव करती थी ॥ १०८ ॥

दूरपारमसम्बाधं रक्षोगणनिषेवितम् ।
पश्यन्तो वरुणावासं निषेदुर्हरियूथपाः ॥ १०९ ॥

जिसका दूसरा तट बहुत दूर था और बीचमें कोई आश्रय नहीं था तथा जिसमें राक्षसोंके समुदाय निवास करते थे, उस वरुणालय समुद्रको देखते हुए वे वानर-यूथपति उसके तटपर बैठे रहे ॥ १०९ ॥

चण्डनक्रग्राहघोरं क्षपादौ दिवसक्षये ।
हसन्तमिव फेनौघैर्नृत्यन्तमिव चोर्मिभिः ॥ ११० ॥
चन्द्रोदये समुद्भूतं प्रतिचन्द्रसमाकुलम् ।
चण्डानिलमहाग्राहैः कीर्णं तिमितिमिंगिलैः ॥ १११ ॥

क्रोधमें भरे हुए नाकोंके कारण समुद्र बड़ा भयंकर दिखायी देता था। दिनके अन्त और रातके आरम्भमें—प्रदोषके समय चन्द्रोदय होनेपर उसमें ज्वार आ गया था। उस समय वह फेन-समूहोंके कारण हँसता और उत्ताल तरङ्गोंके कारण नाचता-सा प्रतीत होता था। चन्द्रमाके प्रतिबिम्बोंसे भरा-सा जान पड़ता था। प्रचण्ड वायुके समान वेगशाली बड़े-बड़े ग्राहोंसे और तिमि नामक महामत्स्योंको भी निगल जानेवाले महाभयंकर जल-जन्तुओंसे व्याप्त दिखायी देता था ॥ ११०-१११ ॥

दीप्तभोगैरिवाकीर्णं भुजङ्गैर्वरुणालयम् ।
अवगाढं महासत्त्वैर्नानाशैलसमाकुलम् ॥ ११२ ॥

वह वरुणालय प्रदीप्त फणोंवाले सर्पों, विशालकाय जलचरों और नाना पर्वतोंसे व्याप्त जान पड़ता था ॥ ११२ ॥

सुदुर्गं दुर्गमार्गं तमगाधमसुरालयम् ।
मकरैर्नागभोगैश्च विगाढा वातलोलिताः ।
उत्पेतुश्च निपेतुश्च प्रहृष्टा जलराशयः ॥ ११३ ॥

राक्षसोंका निवासभूत वह अगाध महासागर अत्यन्त दुर्गम था। उसे पार करनेका कोई मार्ग या साधन दुर्लभ था। उसमें वायुकी प्रेरणासे उठी हुई चञ्चल तरङ्गें, जो मगरों

और विशालकाय सर्पोंसे व्याप्त थीं, बड़े उल्लाससे ऊपरको उठती और नीचेको उतर आती थीं॥ ११३॥

अग्निचूर्णमिवाविद्धं भास्वराम्बुमहोरगम्।
सुरारिनिलयं घोरं पातालविषयं सदा॥ ११४॥
सागरं चाम्बरप्रख्यमम्बरं सागरोपमम्।
सागरं चाम्बरं चेति निर्विशेषमदृश्यत॥ ११५॥

समुद्रके जल-कण बड़े चमकीले दिखायी देते थे। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो सागरमें आगकी चिनगारियाँ बिखेर दी गयी हों। (फैले हुए नक्षत्रोंके कारण आकाश भी वैसा ही दिखायी देता था।) समुद्रमें बड़े-बड़े सर्प थे (आकाशमें भी राहु आदि सर्पाकार ही देखे जाते थे)। समुद्र देवद्रोही दैत्यों और राक्षसोंका आवास-स्थान था (आकाश भी वैसा ही था; क्योंकि वहाँ भी उनका संचरण देखा जाता था)। दोनों ही देखनेमें भयंकर और पातालके समान गम्भीर थे। इस प्रकार समुद्र आकाशके समान और आकाश समुद्रके समान जान पड़ता था। समुद्र और आकाशमें कोई अन्तर नहीं दिखायी देता था॥ ११४-११५॥

सम्पृक्तं नभसाप्यम्भः सम्पृक्तं च नभोऽम्भसा।
तादृग्रूपे स्म दृश्येते तारारत्नसमाकुले॥ ११६॥

जल आकाशसे मिला हुआ था और आकाश जलसे, आकाशमें तारे छिटके हुए थे और समुद्रमें मोती। इसलिये दोनों एक-से दिखायी देते थे॥ ११६॥

समुत्पतितमेघस्य वीचिमालाकुलस्य च।
विशेषो न द्वयोरासीत् सागरस्याम्बरस्य च॥ ११७॥

आकाशमें मेघोंकी घटा घिर आयी थी और समुद्र तरङ्गमालाओंसे व्याप्त हो रहा था। अतः समुद्र और आकाश दोनोंमें कोई अन्तर नहीं रह गया था॥ ११७॥

अन्योन्यैरहताः सक्ताः सस्वनुर्भीमनिःस्वनाः।
ऊर्मयः सिन्धुराजस्य महाभेर्य इवाम्बरे॥ ११८॥

परस्पर टकराकर और सटकर सिन्धुराजकी लहरें आकाशमें बजनेवाली देवताओंकी बड़ी-बड़ी भेरियोंके समान भयानक शब्द करती थीं॥ ११८॥

रत्नौघजलसंनादं विषक्तमिव वायुना।
उत्पतन्तमिव क्रुद्धं यादोगणसमाकुलम्॥ ११९॥

वायुसे प्रेरित हो रत्नोंको उछालनेवाली जलकी तरङ्गोंके कलकल नादसे युक्त और जल-जन्तुओंसे भरा हुआ समुद्र इस प्रकार ऊपरको उछल रहा था, मानो रोषसे भरा हुआ हो॥ ११९॥

ददृशुस्ते महात्मानो वाताहतजलाशयम्।
अनिलोद्धूतमाकाशे प्रवलान्तमिवोर्मिभिः॥ १२०॥

उन महामनस्वी वानरवीरोंने देखा, समुद्र वायुके थपेड़े खाकर पवनकी प्रेरणासे आकाशमें ऊँचे उठकर उत्ताल तरङ्गोंके द्वारा नृत्य-सा कर रहा था॥ १२०॥

ततो विस्मयमापन्ना हरयो ददृशुः स्थिताः।
भ्रान्तोर्मिजालसंनादं प्रलोलमिव सागरम्॥ १२१॥

तदनन्तर वहाँ खड़े हुए वानरोंने यह भी देखा कि चक्कर काटते हुए तरङ्ग-समूहोंके कल-कल नादसे युक्त महासागर अत्यन्त चञ्चल-सा हो गया है। यह देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ॥ १२१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे चतुर्थः सर्गः॥ ४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें चौथा सर्ग पूरा हुआ॥ ४॥

—★—

पञ्चमः सर्गः

श्रीरामका सीताके लिये शोक और विलाप

सा तु नीलेन विधिवत्स्वारक्षा सुसमाहिता।
सागरस्योत्तरे तीरे साधु सा विनिवेशिता॥ १॥

नीलने, जिसकी विधिवत् रक्षाकी व्यवस्था की गयी थी, उस परम सावधान वानर-सेनाको समुद्रके उत्तर तटपर अच्छे ढंगसे ठहराया॥ १॥

मैन्दश्च द्विविदश्चोभौ तत्र वानरपुङ्गवौ।
विचेरतुश्च तां सेनां रक्षार्थं सर्वतोदिशम्॥ २॥

मैन्द और द्विविद—ये दो प्रमुख वानरवीर उस सेनाकी रक्षाके लिये सब ओर विचरते रहते थे॥ २॥

निविष्टायां तु सेनायां तीरे नदनदीपतेः।
पार्श्वस्थं लक्ष्मणं दृष्ट्वा रामो वचनमब्रवीत्॥ ३॥

समुद्रके किनारे सेनाका पड़ाव पड़ जानेपर श्रीरामचन्द्रजीने अपने पास बैठे हुए लक्ष्मणकी ओर देखकर कहा—॥ ३॥

शोकश्च किल कालेन गच्छता ह्यपगच्छति।
मम चापश्यतः कान्तामहन्यहनि वर्धते॥ ४॥

'सुमित्रानन्दन! कहा जाता है कि शोक बीतते हुए समयके साथ स्वयं भी दूर हो जाता है; परंतु मेरा शोक तो अपनी प्राणवल्लभाको न देखनेके कारण दिनों-दिन बढ़ रहा है॥ ४॥

न मे दुःखं प्रिया दूरे न मे दुःखं हृतेति च।
एतदेवानुशोचामि वयोऽस्या ह्यतिवर्तते॥ ५॥

'मुझे इस बातका दुःख नहीं है कि मेरी प्रिया मुझसे दूर है। उसका अपहरण हुआ—इसका भी दुःख नहीं है। मैं तो बारंबार इसीलिये शोकमें डूबा रहता हूँ कि उसके जीवित रहनेके लिये जो अवधि नियत कर दी गयी है, वह शीघ्रतापूर्वक बीती जा रही है॥ ५॥

वाहि वात यतः कान्ता तां स्पृष्ट्वा मामपि स्पृश।
त्वयि मे गात्रसंस्पर्शश्चन्द्रे दृष्टिसमागमः॥ ६॥

'हवा! तुम वहाँ बह, जहाँ मेरी प्राणवल्लभा है। उसका स्पर्श करके मेरा भी स्पर्श कर। उस दशामें तुझसे जो मेरे अङ्गोंका स्पर्श होगा, वह चन्द्रमासे होनेवाले दृष्टिसंयोगकी भाँति मेरे सारे संतापको दूर करनेवाला और आह्लादजनक होगा॥ ६॥

तन्मे दहति गात्राणि विषं पीतमिवाशये।
हा नाथेति प्रिया सा मां ह्रियमाणा यदब्रवीत्॥ ७॥

'अपहरण होते समय मेरी प्यारी सीताने जो मुझे 'हा नाथ!' कहकर पुकारा था, वह पीये हुए उदरस्थित विषकी भाँति मेरे सारे अङ्गोंको दग्ध किये देता है॥ ७॥

तद्वियोगेन्धनवता तच्चिन्ताविमलार्चिषा।
रात्रिं दिवं शरीरं मे दह्यते मदनाग्निना॥ ८॥

'प्रियतमाका वियोग ही जिसका ईंधन है, उसकी चिन्ता ही जिसकी दीप्तिमती लपटें हैं, वह प्रेमाग्नि मेरे शरीरको रात-दिन जलाती रहती है॥ ८॥

अवगाह्यार्णवं स्वप्स्ये सौमित्रे भवता विना।
एवं च प्रज्वलन् कामो न मा सुप्तं जले दहेत्॥ ९॥

'सुमित्रानन्दन! तुम यहीं रहो। मैं तुम्हारे बिना अकेला ही समुद्रके भीतर घुसकर सोऊँगा। इस तरह जलमें शयन करनेपर यह प्रज्वलित प्रेमाग्नि मुझे दग्ध नहीं कर सकेगी॥ ९॥

बह्वेतत् कामयानस्य शक्यमेतेन जीवितुम्।
यदहं सा च वामोरुरेकां धरणिमाश्रितौ॥ १०॥

'मैं और वह वामोरु सीता एक ही भूतलपर सोते हैं। प्रियतमाके संयोगकी इच्छा रखनेवाले मुझ विरहीके लिये इतना ही बहुत है। इतनेसे भी मैं जीवित रह सकता हूँ॥ १०॥

केदारस्येव केदारः सोदकस्य निरूदकः।
उपस्नेहेन जीवामि जीवन्तीं यच्छृणोमि ताम्॥ ११॥

'जैसे जलसे भरी हुई क्यारीके सम्पर्कसे बिना जलकी क्यारीका धान भी जीवित रहता है—सूखता नहीं है, उसी प्रकार मैं जो यह सुनता हूँ कि सीता अभी जीवित है, इसीसे जी रहा हूँ॥ ११॥

कदा नु खलु सुश्रोणीं शतपत्रायतेक्षणाम्।
विजित्य शत्रून् द्रक्ष्यामि सीतां स्फीतामिव श्रियम्॥ १२॥

'कब वह समय आयेगा, जब शत्रुओंको परास्त करके मैं समृद्धिशालिनी राजलक्ष्मीके समान कमलनयनी सुमध्यमा सीताको देखूँगा॥ १२॥

कदा सुचारुदन्तोष्ठं तस्याः पद्ममिवाननम्।
ईषदुन्नाम्य पास्यामि रसायनमिवातुरः॥ १३॥

'जैसे रोगी रसायनका पान करता है, उसी प्रकार मैं कब सुन्दर दाँतों और बिम्बसदृश मनोहर ओठोंसे युक्त सीताके प्रफुल्लकमल-जैसे मुखको कुछ ऊपर उठाकर चूमूँगा॥ १३॥

तौ तस्याः सहितौ पीनौ स्तनौ तालफलोपमौ।
कदा न खलु सोत्कम्पौ शिलष्यन्त्या मां भजिष्यतः॥ १४॥

'मेरा आलिङ्गन करती हुई प्रिया सीताके वे परस्पर सटे हुए, तालफलके समान गोल और मोटे दोनों स्तन कब किंचित् कम्पनके साथ मेरा स्पर्श करेंगे॥ १४॥

सा नूनमसितापाङ्गी रक्षोमध्यगता सती।
मन्नाथा नाथहीनेव त्रातारं नाधिगच्छति॥ १५॥

'कजरारे नेत्रप्रान्तवाली वह सती-साध्वी सीता, जिसका मैं ही नाथ हूँ, आज अनाथकी भाँति राक्षसोंके बीचमें पड़कर निश्चय ही कोई रक्षक नहीं पा रही होगी॥ १५॥

कथं जनकराजस्य दुहिता मम च प्रिया।
राक्षसीमध्यगा शेते स्नुषा दशरथस्य च॥ १६॥

'राजा जनककी पुत्री, महाराज दशरथकी पुत्रवधू और मेरी प्रियतमा सीता राक्षसियोंके बीचमें कैसे सोती होगी॥ १६॥

अविक्षोभ्याणि रक्षांसि सा विधूयोत्पतिष्यति।
विधूय जलदान् नीलाञ्शशिलेखा शरत्स्विव॥ १७॥

'वह समय कब आयेगा, जब कि सीता मेरे द्वारा उन दुर्धर्ष राक्षसोंका विनाश करके उसी प्रकार अपना उद्धार करेगी, जैसे शरत्कालमें चन्द्रलेखा काले बादलोंका निवारण करके उनके आवरणसे मुक्त हो जाती है॥ १७॥

स्वभावतनुका नूनं शोकेनानशनेन च।
भूयस्तनुतरा सीता देशकालविपर्ययात्॥ १८॥

'स्वभावसे ही दुबले-पतले शरीरवाली सीता विपरीत देशकालमें पड़ जानेके कारण निश्चय ही शोक और उपवास करके और भी दुबली हो गयी होगी॥ १८॥

कदा नु राक्षसेन्द्रस्य निधायोरसि सायकान्।
शोकं प्रत्याहरिष्यामि शोकमुत्सृज्य मानसम्॥ १९॥

'मैं राक्षसराज रावणकी छातीमें अपने सायकोंको धँसाकर अपने मानसिक शोकका निराकरण करके कब सीताका शोक दूर करूँगा॥ १९॥

कदा नु खलु मे साध्वी सीतामरसुतोपमा।
सोत्कण्ठा कण्ठमालम्ब्य मोक्ष्यत्यानन्दजं जलम्॥ २०॥

'देवकन्याके समान सुन्दरी मेरी सती-साध्वी सीता कब

उत्कण्ठापूर्वक मेरे गलेसे लगकर अपने नेत्रोंसे आनन्दके आँसू बहायेगी॥ २०॥

कदा शोकमिमं घोरं मैथिलीविप्रयोगजम्।
सहसा विप्रमोक्ष्यामि वासः शुक्लेतरं यथा॥ २१॥

'ऐसा समय कब आयेगा, जब मैं मिथिलेशकुमारीके वियोगसे होनेवाले इस भयंकर शोकको मलिन वस्त्रकी भाँति सहसा त्याग दूँगा?'॥ २१॥

एवं विलपतस्तस्य तत्र रामस्य धीमतः।
दिनक्षयान्मन्दवपुर्भास्करोऽस्तमुपागमत्॥ २२॥

बुद्धिमान् श्रीरामचन्द्रजी वहाँ इस प्रकार विलाप कर ही रहे थे कि दिनका अन्त होनेके कारण मन्द किरणोंवाले सूर्यदेव अस्ताचलको जा पहुँचे॥ २२॥

आश्वासितो लक्ष्मणेन रामः संध्यामुपासत।
स्मरन् कमलपत्राक्षीं सीतां शोकाकुलीकृतः॥ २३॥

उस समय लक्ष्मणके धैर्य बँधानेपर शोकसे व्याकुल हुए श्रीरामने कमलनयनी सीताका चिन्तन करते हुए संध्योपासना की॥ २३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे पञ्चमः सर्गः॥ ५॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें पाँचवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ५॥

षष्ठः सर्गः

रावणका कर्तव्य-निर्णयके लिये अपने मन्त्रियोंसे समुचित सलाह देनेका अनुरोध करना

लङ्कायां तु कृतं कर्म घोरं दृष्ट्वा भयावहम्।
राक्षसेन्द्रो हनुमता शक्रेणेव महात्मना।
अब्रवीद् राक्षसान् सर्वान् ह्रिया किंचिदवाङ्मुखः॥ १॥

इधर इन्द्रतुल्य पराक्रमी महात्मा हनुमान्‌जीने लङ्कामें जो अत्यन्त भयावह घोर कर्म किया था, उसे देखकर राक्षसराज रावणका मुख लज्जासे कुछ नीचेको झुक गया और उसने समस्त राक्षसोंसे इस प्रकार कहा—॥ १॥

धर्षिता च प्रविष्टा च लङ्का दुष्प्रसहा पुरी।
तेन वानरमात्रेण दृष्टा सीता च जानकी॥ २॥

'निशाचरो! वह हनुमान्, जो एक वानरमात्र है, अकेला इस दुर्धर्ष पुरीमें घुस आया। उसने इसे तहस-नहस कर डाला और जनककुमारी सीतासे भेंट भी कर लिया॥ २॥

प्रासादो धर्षितश्चैत्यः प्रवरा राक्षसा हताः।
आविला च पुरी लङ्का सर्वा हनुमता कृता॥ ३॥

'इतना ही नहीं, हनुमान्‌ने चैत्यप्रासादको धराशायी कर दिया, मुख्य-मुख्य राक्षसोंको मार गिराया और सारी लङ्कापुरीमें खलबली मचा दी॥ ३॥

किं करिष्यामि भद्रं वः किं वो युक्तमनन्तरम्।
उच्यतां नः समर्थं यत् कृतं च सुकृतं भवेत्॥ ४॥

'तुमलोगोंका भला हो। अब मैं क्या करूँ? तुम्हें जो कार्य उचित और समर्थ जान पड़े तथा जिसे करनेपर कोई अच्छा परिणाम निकले, उसे बताओ॥ ४॥

मन्त्रमूलं च विजयं प्रवदन्ति मनस्विनः।
तस्माद् वै रोचये मन्त्रं रामं प्रति महाबलाः॥ ५॥

'महाबली वीरो! मनस्वी पुरुषोंका कहना है कि विजयका मूल कारण मन्त्रियोंकी दी हुई अच्छी सलाह ही है। इसलिये मैं श्रीरामके विषयमें आपलोगोंसे सलाह लेना अच्छा समझता हूँ॥ ५॥

त्रिविधाः पुरुषा लोके उत्तमाधममध्यमाः।
तेषां तु समवेतानां गुणदोषौ वदाम्यहम्॥ ६॥

'संसारमें उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकारके पुरुष होते हैं। मैं उन सबके गुण-दोषोंका वर्णन करता हूँ॥ ६॥

मन्त्रस्त्रिभिर्हि संयुक्तः समर्थैर्मन्त्रनिर्णये।
मित्रैर्वापि समानार्थैर्बान्धवैरपि वाधिकैः॥ ७॥
सहितो मन्त्रयित्वा यः कर्मारम्भान् प्रवर्तयेत्।
दैवे च कुरुते यत्नं तमाहुः पुरुषोत्तमम्॥ ८॥

'जिसका मन्त्र आगे बताये जानेवाले तीन लक्षणोंसे युक्त होता है तथा जो पुरुष मन्त्रनिर्णयमें समर्थ मित्रों, समान दुःख-सुखवाले बान्धवों और उनसे भी बढ़कर अपने हितकारियोंके साथ सलाह करके कार्यका आरम्भ करता है तथा दैवके सहारे प्रयत्न करता है, उसे उत्तम पुरुष कहते हैं॥ ७-८॥

एकोऽर्थं विमृशेदेको धर्मे प्रकुरुते मनः।
एकः कार्याणि कुरुते तमाहुर्मध्यमं नरम्॥ ९॥

'जो अकेला ही अपने कर्तव्यका विचार करता है, अकेला ही धर्ममें मन लगाता है और अकेला ही सब काम करता है, उसे मध्यम श्रेणीका पुरुष कहा जाता है॥ ९॥

गुणदोषौ न निश्चित्य त्यक्त्वा दैवव्यपाश्रयम्।
करिष्यामीति यः कार्यमुपेक्षेत् स नराधमः॥ १०॥

'जो गुण-दोषका विचार न करके दैवका भी आश्रय छोड़कर केवल 'करूँगा' इसी बुद्धिसे कार्य आरम्भ करता है और फिर उसकी उपेक्षा कर देता है, वह पुरुषोंमें अधम है॥ १०॥

यथेमे पुरुषा नित्यमुत्तमाधममध्यमाः ।
एवं मन्त्रोऽपि विज्ञेय उत्तमाधममध्यमः ॥ ११ ॥

'जैसे ये पुरुष सदा उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकारके होते हैं, वैसे ही मन्त्र (निश्चित किया हुआ विचार) भी उत्तम, मध्यम और अधम-भेदसे तीन प्रकारका समझना चाहिये ॥ ११ ॥

ऐकमत्यमुपागम्य शास्त्रदृष्टेन चक्षुषा ।
मन्त्रिणो यत्र निरतास्तमाहुर्मन्त्रमुत्तमम् ॥ १२ ॥

'जिसमें शास्त्रोक्त दृष्टिसे सब मन्त्री एकमत होकर प्रवृत्त होते हैं, उसे उत्तम मन्त्र कहते हैं ॥ १२ ॥

बह्वीरपि मतीर्गत्वा मन्त्रिणामर्थनिर्णयः ।
पुनर्यत्रैकतां प्राप्तः स मन्त्रो मध्यमः स्मृतः ॥ १३ ॥

'जहाँ प्रारम्भमें कई प्रकारका मतभेद होनेपर भी अन्तमें सब मन्त्रियोंका कर्तव्यविषयक निर्णय एक हो जाता है, वह मन्त्र मध्यम माना गया है ॥ १३ ॥

अन्योन्यमतिमास्थाय यत्र सम्प्रतिभाष्यते ।
न चैकमत्ये श्रेयोऽस्ति मन्त्रः सोऽधम उच्यते ॥ १४ ॥

'जहाँ भिन्न-भिन्न बुद्धिका आश्रय ले सब ओरसे स्पर्धापूर्वक भाषण किया जाय और एकमत होनेपर भी जिससे कल्याणकी सम्भावना न हो, वह मन्त्र या निश्चय अधम कहलाता है ॥ १४ ॥

तस्मात् सुमन्त्रितं साधु भवन्तो मतिसत्तमाः ।
कार्यं सम्प्रतिपद्यन्तमेतत् कृत्यं मतं मम ॥ १५ ॥

'आप सब लोग परम बुद्धिमान् हैं; इसलिये अच्छी तरह सलाह करके कोई एक कार्य निश्चित करें। उसीको मैं अपना कर्तव्य समझूँगा ॥ १५ ॥

वानराणां हि धीराणां सहस्रैः परिवारितः ।
रामोऽभ्येति पुरीं लङ्कामस्माकमुपरोधकः ॥ १६ ॥

'(ऐसे निश्चयकी आवश्यकता इसलिये पड़ी है कि) राम सहस्रों धीरवीर वानरोंके साथ हमारी लङ्कापुरीपर चढ़ाई करनेके लिये आ रहे हैं ॥ १६ ॥

तरिष्यति च सुव्यक्तं राघवः सागरं सुखम् ।
तरसा युक्तरूपेण सानुजः सबलानुगः ॥ १७ ॥

'यह बात भी भलीभाँति स्पष्ट हो चुकी है कि वे रघुवंशी राम अपने समुचित बलके द्वारा भाई, सेना और सेवकोंसहित सुखपूर्वक समुद्रको पार कर लेंगे ॥ १७ ॥

समुद्रमुच्छोषयति वीर्येणान्यत्करोति वा ।
तस्मिन्नेवंविधे कार्ये विरुद्धे वानरैः सह ।
हितं पुरे च सैन्ये च सर्वं सम्मन्त्र्यतां मम ॥ १८ ॥

'वे या तो समुद्रको ही सुखा डालेंगे या अपने पराक्रमसे कोई दूसरा ही उपाय करेंगे। ऐसी स्थितिमें वानरोंसे विरोध आ पड़नेपर नगर और सेनाके लिये जो भी हितकर हो, वैसी सलाह आपलोग दीजिये' ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें छठा सर्ग पूरा हुआ ॥ ६ ॥

—★—

सप्तमः सर्गः

राक्षसोंका रावण और इन्द्रजित्के बल-पराक्रमका वर्णन करते हुए उसे रामपर विजय पानेका विश्वास दिलाना

इत्युक्ता राक्षसेन्द्रेण राक्षसास्ते महाबलाः ।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे रावणं राक्षसेश्वरम् ॥ १ ॥
द्विषत्पक्षमविज्ञाय नीतिबाह्यास्त्वबुद्धयः ।

राक्षसोंको न तो नीतिका ज्ञान था और न वे शत्रुपक्षके बलाबलको ही समझते थे। वे बलवान् तो बहुत थे; किंतु नीतिकी दृष्टिसे महामूर्ख थे। इसलिये जब राक्षसराज रावणने उनसे पूर्वोक्त बातें कहीं, तब वे सब-के-सब हाथ जोड़कर उससे बोले— ॥ १$\frac{१}{२}$ ॥

राजन् परिघशक्त्यृष्टिशूलपट्टिशकुन्तलम् ॥ २ ॥
सुमहन्नो बलं कस्माद् विषादं भजते भवान् ।

'राजन्! हमारे पास परिघ, शक्ति, ऋष्टि, शूल, पट्टिश और भालोंसे लैस बहुत बड़ी सेना मौजूद है; फिर आप विषाद क्यों करते हैं? ॥ २$\frac{१}{२}$ ॥

त्वया भोगवतीं गत्वा निर्जिताः पन्नगा युधि ॥ ३ ॥
कैलासशिखरावासी यक्षैर्बहुभिरावृतः ।
सुमहत्कदनं कृत्वा वश्यस्ते धनदः कृतः ॥ ४ ॥

'आपने तो भोगवती पुरीमें जाकर नागोंको भी युद्धमें परास्त कर दिया था। बहुसंख्यक यक्षोंसे घिरे हुए कैलासशिखरके निवासी कुबेरको भी युद्धमें भारी मार-काट मचाकर वशमें कर लिया था ॥ ३-४ ॥

स महेश्वरसख्येन श्लाघमानस्त्वया विभो ।
निर्जितः समरे रोषाल्लोकपालो महाबलः ॥ ५ ॥

'प्रभो! महाबली लोकपाल कुबेर महादेवजीके साथ मित्रता होनेके कारण आपके साथ बड़ी स्पर्धा रखते थे; परंतु

आपने समराङ्गणमें रोषपूर्वक उन्हें हरा दिया ॥ ५ ॥

विनिपात्य च यक्षौघान् विक्षोभ्य विनिगृह्य च ।
त्वया कैलासशिखराद् विमानमिदमाहृतम् ॥ ६ ॥

'यक्षोंकी सेनाको विचलित करके बंदी बना लिया और कितनोंको धराशायी करके कैलासशिखरसे आप उनका यह विमान छीन लाये थे ॥ ६ ॥

मयेन दानवेन्द्रेण त्वद्भयात् सख्यमिच्छता ।
दुहिता तव भार्यार्थे दत्ता राक्षसपुङ्गव ॥ ७ ॥

'राक्षसशिरोमणे ! दानवराज मयने आपसे भयभीत होकर ही आपको अपना मित्र बना लेनेकी इच्छा की और इसी उद्देश्यसे आपको धर्मपत्नीके रूपमें अपनी पुत्री समर्पित कर दी ॥ ७ ॥

दानवेन्द्रो महाबाहो वीर्योत्सिक्तो दुरासदः ।
विगृह्य वशमानीतः कुम्भीनस्याः सुखावहः ॥ ८ ॥

'महाबाहो ! अपने पराक्रमका घमंड रखनेवाले दुर्जय दानवराज मधुको भी, जो आपकी बहिन कुम्भीनसीको सुख देनेवाला उसका पति है, आपने युद्ध छेड़कर वशमें कर लिया ॥ ८ ॥

निर्जितास्ते महाबाहो नागा गत्वा रसातलम् ।
वासुकिस्तक्षकः शङ्खो जटी च वशमाहृताः ॥ ९ ॥

'विशालबाहु वीर ! आपने रसातलपर चढ़ाई करके वासुकि, तक्षक, शङ्ख और जटी आदि नागोंको युद्धमें जीता और अपने अधीन कर लिया ॥ ९ ॥

अक्षया बलवन्तश्च शूरा लब्धवराः पुनः ।
त्वया संवत्सरं युद्ध्वा समरे दानवा विभो ॥ १० ॥
स्वबलं समुपाश्रित्य नीता वशमरिंदम ।
मायाश्चाधिगतास्तत्र बह्वयो वै राक्षसाधिप ॥ ११ ॥

'प्रभो ! शत्रुदमन राक्षसराज ! दानवलोग बड़े ही बलवान्, किसीसे नष्ट न होनेवाले, शूरवीर तथा वर पाकर अद्भुत शक्तिसे सम्पन्न हो गये थे; परंतु आपने समराङ्गणमें एक वर्षतक युद्ध करके अपने ही बलके भरोसे उन सबको अपने अधीन कर लिया और वहाँ उनसे बहुत-सी मायाएँ भी प्राप्त कीं ॥ १०-११ ॥

शूराश्च बलवन्तश्च वरुणस्य सुता रणे ।
निर्जितास्ते महाभाग चतुर्विधबलानुगाः ॥ १२ ॥

'महाभाग ! आपने वरुणके शूरवीर और बलवान् पुत्रोंको भी उनकी चतुरंगिणी सेनासहित युद्धमें परास्त कर दिया था ॥ १२ ॥

मृत्युदण्डमहाग्राहं शाल्मलीद्रुममण्डितम् ।
कालपाशमहावीचिं यमकिंकरपन्नगम् ॥ १३ ॥
महाज्वरेण दुर्धर्षं यमलोकमहार्णवम् ।
अवगाह्य त्वया राजन् यमस्य बलसागरम् ॥ १४ ॥
जयश्च विपुलः प्राप्तो मृत्युश्च प्रतिषेधितः ।
सुयुद्धेन च ते सर्वे लोकास्तत्र सुतोषिताः ॥ १५ ॥

'राजन् ! मृत्युका दण्ड ही जिसमें महान् ग्राहके समान है, जो यम-यातना-सम्बन्धी शाल्मलि आदि वृक्षोंसे मण्डित है, कालपाशरूपी उत्ताल तरङ्गें जिसकी शोभा बढ़ाती हैं, यमदूतरूपी सर्प जिसमें निवास करते हैं तथा जो महान् ज्वरके कारण दुर्जय है, उस यमलोकरूपी महासागरमें प्रवेश करके आपने यमराजकी सागर-जैसी सेनाको मथ डाला, मृत्युको रोक दिया और महान् विजय प्राप्त की। यही नहीं, युद्धकी उत्तम कलासे आपने वहाँके सब लोगोंको पूर्ण संतुष्ट कर दिया था ॥ १३—१५ ॥

क्षत्रियैर्बहुभिर्वीरैः शक्रतुल्यपराक्रमैः ।
आसीद् वसुमती पूर्णा महद्भिरिव पादपैः ॥ १६ ॥

'पहले यह पृथ्वी विशाल वृक्षोंकी भाँति इन्द्रतुल्य पराक्रमी बहुसंख्यक क्षत्रिय वीरोंसे भरी हुई थी ॥ १६ ॥

तेषां वीर्यगुणोत्साहैर्न समो राघवो रणे ।
प्रसह्य ते त्वया राजन् हताः समरदुर्जयाः ॥ १७ ॥

'उन वीरोंमें जो पराक्रम, गुण और उत्साह थे, उनकी दृष्टिसे राम रणभूमिमें उनके समान कदापि नहीं हैं; राजन् ! जब आपने उन समरदुर्जय वीरोंको भी बलपूर्वक मार डाला, तब रामपर विजय पाना आपके लिये कौन बड़ी बात है ? ॥ १७ ॥

तिष्ठ वा किं महाराज श्रमेण तव वानरान् ।
अयमेको महाबाहुरिन्द्रजित् क्षपयिष्यति ॥ १८ ॥

'अथवा महाराज ! आप चुपचाप यहीं बैठे रहें। आपको परिश्रम करनेकी क्या आवश्यकता है। अकेले ये महाबाहु इन्द्रजित् ही सब वानरोंका संहार कर डालेंगे ॥ १८ ॥

अनेन च महाराज माहेश्वरमनुत्तमम् ।
इष्ट्वा यज्ञं वरो लब्धो लोके परमदुर्लभः ॥ १९ ॥

'महाराज ! इन्होंने परम उत्तम माहेश्वर यज्ञका अनुष्ठान करके वह वर प्राप्त किया है, जो संसारमें दूसरेके लिये अत्यन्त दुर्लभ है ॥ १९ ॥

शक्तितोमरमीनं च विनिकीर्णान्त्रशैवलम् ।
गजकच्छपसम्बाधमश्वमण्डूकसंकुलम् ॥ २० ॥
रुद्रादित्यमहाग्राहं मरुद्वसुमहोरगम् ।
रथाश्वगजतोयौघं पदातिपुलिनं महत् ॥ २१ ॥
अनेन हि समासाद्य देवानां बलसागरम् ।
गृहीतो दैवतपतिर्लङ्कां चापि प्रवेशितः ॥ २२ ॥

'देवताओंकी सेना समुद्रके समान थी। शक्ति और तोमर ही उसमें मत्स्य थे। निकालकर फेंकी हुई आँतें सेवारका काम देती थीं। हाथी ही उस सैन्य-सागरमें कछुओंके समान भरे थे। घोड़े मेढकोंके समान उसमें सब ओर व्याप्त थे। रुद्रगण और आदित्यगण उस सेनारूपी समुद्रके बड़े-बड़े ग्राह थे। मरुद्गण और वसुगण वहाँके विशाल नाग थे। रथ, हाथी और घोड़े जलराशिके समान थे और पैदल सैनिक उसके

विशाल तट थे; परंतु इस इन्द्रजित्‌ने देवताओंके उस सैन्य-समुद्रमें घुसकर देवराज इन्द्रको कैद कर लिया और उन्हें लङ्कापुरीमें लाकर बंद कर दिया ॥ २०—२२ ॥

पितामहनियोगाच्च मुक्तः शम्बरवृत्रहा ।
गतस्त्रिविष्टपं राजन् सर्वदेवनमस्कृतः ॥ २३ ॥

'राजन्! फिर ब्रह्माजीके कहनेसे इन्होंने शम्बर और वृत्रासुरको मारनेवाले सर्वदेववन्दित इन्द्रको मुक्त किया। तब वे स्वर्गलोकमें गये ॥ २३ ॥

तमेव त्वं महाराज विसृजेन्द्रजितं सुतम् ।
यावद् वानर सेनां तां सरामां नयति क्षयम् ॥ २४ ॥

'अतः महाराज! इस कामके लिये आप राजकुमार इन्द्रजित्‌को ही भेजिये, जिससे ये रामसहित वानर-सेनाका यहाँ आनेसे पहले ही संहार कर डालें ॥ २४ ॥

राजन्नापदयुक्तेयमागता प्राकृताज्जनात् ।
हृदि नैव त्वया कार्या त्वं वधिष्यसि राघवम् ॥ २५ ॥

'राजन्! साधारण नर और वानरोंसे प्राप्त हुई इस आपत्तिके विषयमें चिन्ता करना आपके लिये उचित नहीं है। आपको तो अपने हृदयमें इसे स्थान ही नहीं देना चाहिये। आप अवश्य ही रामका वध कर डालेंगे' ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें सातवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७ ॥

—★—

अष्टमः सर्गः

प्रहस्त, दुर्मुख, वज्रदंष्ट्र, निकुम्भ और वज्रहनुका रावणके सामने शत्रु-सेनाको मार गिरानेका उत्साह दिखाना

ततो नीलाम्बुदप्रख्यः प्रहस्तो नाम राक्षसः ।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं शूरः सेनापतिस्तदा ॥ १ ॥

इसके बाद नील मेघके समान श्यामवर्णवाले शूर सेनापति प्रहस्त नामक राक्षसने हाथ जोड़कर कहा— ॥ १ ॥

देवदानवगन्धर्वाः पिशाचपतगोरगाः ।
सर्वे धर्षयितुं शक्याः किं पुनर्मानवौ रणे ॥ २ ॥

'महाराज! हमलोग देवता, दानव, गन्धर्व, पिशाच, पक्षी और सर्प सभीको पराजित कर सकते हैं; फिर उन दो मनुष्योंको रणभूमिमें हराना कौन बड़ी बात है ॥ २ ॥

सर्वे प्रमत्ता विश्वस्ता वञ्चिताः स्म हनूमता ।
नहि मे जीवतो गच्छेज्जीवन् स वनगोचरः ॥ ३ ॥

'पहले हमलोग असावधान थे। हमारे मनमें शत्रुओंकी ओरसे कोई खटका नहीं था। इसीलिये हम निश्चिन्त बैठे थे। यही कारण है कि हनुमान् हमें धोखा दे गया। नहीं तो मेरे जीते-जी वह वानर यहाँसे जीता-जागता नहीं जा सकता था ॥ ३ ॥

सर्वां सागरपर्यन्तां सशैलवनकाननाम् ।
करोम्यवानरां भूमिमाज्ञापयतु मां भवान् ॥ ४ ॥

'यदि आपकी आज्ञा हो तो पर्वत, वन और काननों-सहित समुद्रतककी सारी भूमिको मैं वानरोंसे सूनी कर दूँ ॥ ४ ॥

रक्षां चैव विधास्यामि वानराद् रजनीचर ।
नागमिष्यति ते दुःखं किंचिदात्मापराधजम् ॥ ५ ॥

'राक्षसराज! मैं वानरमात्रसे आपकी रक्षा करूँगा, अतः अपनेद्वारा किये गये सीता-हरणरूपी अपराधके कारण कोई दुःख आपपर नहीं आने पायेगा' ॥ ५ ॥

अब्रवीत् तु सुसंक्रुद्धो दुर्मुखो नाम राक्षसः ।
इदं न क्षमणीयं हि सर्वेषां नः प्रधर्षणम् ॥ ६ ॥

तत्पश्चात् दुर्मुख नामक राक्षसने अत्यन्त कुपित होकर कहा—'यह क्षमा करनेयोग्य अपराध नहीं है, क्योंकि इसके द्वारा हम सब लोगोंका तिरस्कार हुआ है ॥ ६ ॥

अयं परिभवो भूयः पुरस्यान्तःपुरस्य च ।
श्रीमतो राक्षसेन्द्रस्य वानरेण प्रधर्षणम् ॥ ७ ॥

'वानरके द्वारा हमलोगोंपर जो आक्रमण हुआ है, यह समस्त लङ्कापुरीका, महाराजके अन्तःपुरका और श्रीमान् राक्षसराज रावणका भी भारी पराभव है ॥ ७ ॥

अस्मिन् मुहूर्ते गत्वैको निवर्तिष्यामि वानरान् ।
प्रविष्टान् सागरं भीममम्बरं वा रसातलम् ॥ ८ ॥

'मैं अभी इसी मुहूर्तमें अकेला ही जाकर सारे वानरोंको मार भगाऊँगा। भले ही वे भयंकर समुद्रमें, आकाशमें अथवा रसातलमें ही क्यों न घुस गये हों' ॥ ८ ॥

ततोऽब्रवीत् सुसंक्रुद्धो वज्रदंष्ट्रो महाबलः ।
प्रगृह्य परिघं घोरं मांसशोणितरूषितम् ॥ ९ ॥

इतनेहीमें महाबली वज्रदंष्ट्र अत्यन्त क्रोधसे भरकर रक्त, मांससे सने हुए भयानक परिघको हाथमें लिये हुए बोला— ॥ ९ ॥

किं नो हनूमता कार्यं कृपणेन तपस्विना ।
रामे तिष्ठति दुर्धर्षे सुग्रीवेऽपि सलक्ष्मणे ॥ १० ॥

'दुर्जय वीर राम, सुग्रीव और लक्ष्मणके रहते हुए हमें उस बेचारे तपस्वी हनुमान्‌से क्या काम है ? ॥ १० ॥

अद्य रामं ससुग्रीवं परिघेण सलक्ष्मणम्।
आगमिष्यामि हत्वैको विक्षोभ्य हरिवाहिनीम्॥ ११ ॥

'आज मैं अकेला ही वानर-सेनामें तहलका मचा दूँगा और इस परिघसे सुग्रीव तथा लक्ष्मणसहित रामका भी काम तमाम करके लौट आऊँगा ॥ ११ ॥

इदं ममापरं वाक्यं शृणु राजन् यदिच्छसि।
उपायकुशलो ह्येव जयेच्छत्रूनतन्द्रितः॥ १२ ॥

'राजन्! यदि आपकी इच्छा हो तो आप यह मेरी दूसरी बात सुनें। उपायकुशल पुरुष ही यदि आलस्य छोड़कर प्रयत्न करे तो वह शत्रुओंपर विजय पा सकता है॥ १२ ॥

कामरूपधराः शूराः सुभीमा भीमदर्शनाः।
राक्षसा वा सहस्राणि राक्षसाधिप निश्चिताः॥ १३ ॥
काकुत्स्थमुपसंगम्य बिभ्रतो मानुषं वपुः।
सर्वे ह्यसम्भ्रमा भूत्वा ब्रुवन्तु रघुसत्तमम्॥ १४ ॥
प्रेषिता भरतेनैव भ्रात्रा तव यवीयसा।
स हि सेनां समुत्थाप्य क्षिप्रमेवोपयास्यति॥ १५ ॥

'अतः राक्षसराज! मेरी दूसरी राय यह है कि इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले, अत्यन्त भयानक तथा भयंकर दृष्टिवाले सहस्रों शूरवीर राक्षस एक निश्चित विचार करके मनुष्यका रूप धारण कर श्रीरामके पास जायँ और सब लोग बिना किसी घबराहटके उन रघुवंशशिरोमणिसे कहें कि हम आपके सैनिक हैं। हमें आपके छोटे भाई भरतने भेजा है। इतना सुनते ही वे वानर-सेनाको उठाकर तुरंत लङ्कापर आक्रमण करनेके लिये वहाँसे चल देंगे॥ १३—१५॥

ततो वयमितस्तूर्णं शूलशक्तिगदाधराः।
चापबाणासिहस्ताश्च त्वरितास्तत्र यामहे॥ १६ ॥

'तत्पश्चात् हमलोग यहाँसे शूल, शक्ति, गदा, धनुष, बाण और खड्ग धारण किये शीघ्र ही मार्गमें उनके पास जा पहुँचें॥ १६ ॥

आकाशे गणशः स्थित्वा हत्वा तां हरिवाहिनीम्।
अश्मशस्त्रमहावृष्ट्या प्रापयाम यमक्षयम्॥ १७ ॥

'फिर आकाशमें अनेक यूथ बनाकर खड़े हो जायँ और पत्थरों तथा शस्त्र-समूहोंकी बड़ी भारी वर्षा करके उस वानर-सेनाको यमलोक पहुँचा दें॥ १७ ॥

एवं चेदुपसर्पेतामनयं रामलक्ष्मणौ।
अवश्यमपनीतेन जहतामेव जीवितम्॥ १८ ॥

'यदि इस प्रकार हमारी बातें सुनकर वे दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण सेनाको कूच करनेकी आज्ञा दे देंगे और वहाँसे चल देंगे तो उन्हें हमारी अनीतिका शिकार होना पड़ेगा; उन्हें हमारे छलपूर्ण प्रहारसे पीड़ित होकर अपने प्राणोंका परित्याग करना पड़ेगा॥ १८ ॥

कौम्भकर्णिस्ततो वीरो निकुम्भो नाम वीर्यवान्।
अब्रवीत् परमक्रुद्धो रावणं लोकरावणम्॥ १९ ॥

तदनन्तर पराक्रमी वीर कुम्भकर्णकुमार निकुम्भने अत्यन्त कुपित होकर समस्त लोकोंको रुलानेवाले रावणसे कहा—॥ १९ ॥

सर्वे भवन्तस्तिष्ठन्तु महाराजेन संगताः।
अहमेको हनिष्यामि राघवं सहलक्ष्मणम्॥ २० ॥
सुग्रीवं सहनूमन्तं सर्वांश्चैवात्र वानरान्।

'आप सब लोग यहाँ महाराजके साथ चुपचाप बैठे रहें। मैं अकेला ही राम, लक्ष्मण, सुग्रीव, हनुमान् तथा अन्य सब वानरोंको भी यहाँ मौतके घाट उतार दूँगा'॥२० १/२॥

ततो वज्रहनुर्नाम राक्षसः पर्वतोपमः॥ २१ ॥
क्रुद्धः परिलिहन् सृक्कां जिह्वया वाक्यमब्रवीत्।

तब पर्वतके समान विशालकाय वज्रहनु नामक राक्षस कुपित हो जीभसे अपने जबड़ेको चाटता हुआ बोला—॥२१ १/२॥

स्वैरं कुर्वन्तु कार्याणि भवन्तो विगतज्वराः॥ २२ ॥
एकोऽहं भक्षयिष्यामि तां सर्वां हरिवाहिनीम्।

'आप सब लोग निश्चिन्त होकर इच्छानुसार अपना-अपना काम करें। मैं अकेला ही सारी वानर-सेनाको खा जाऊँगा॥२२ १/२॥

स्वस्थाः क्रीडन्तु निश्चिन्ताः पिबन्तु मधु वारुणीम्॥ २३ ॥
अहमेको वधिष्यामि सुग्रीवं सहलक्ष्मणम्।
साङ्गदं च हनूमन्तं सर्वांश्चैवात्र वानरान्॥ २४ ॥

'आपलोग स्वस्थ रहकर क्रीड़ा करें और निश्चिन्त हो वारुणी मदिराको पियें। मैं अकेला ही सुग्रीव, लक्ष्मण, अंगद, हनुमान् और अन्य सब वानरोंका भी यहाँ वध कर डालूँगा'॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डेऽष्टमः सर्गः॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें आठवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ८ ॥

—★—

नवमः सर्गः

विभीषणका रावणसे श्रीरामकी अजेयता बताकर सीताको लौटा देनेके लिये अनुरोध करना

ततो निकुम्भो रभसः सूर्यशत्रुर्महाबलः।
सुप्तघ्नो यज्ञकोपश्च महापार्श्वमहोदरौ॥ १॥
अग्निकेतुश्च दुर्धर्षो रश्मिकेतुश्च राक्षसः।
इन्द्रजिच्च महातेजा बलवान् रावणात्मजः॥ २॥
प्रहस्तोऽथ विरूपाक्षो वज्रदंष्ट्रो महाबलः।
धूम्राक्षश्चातिकायश्च दुर्मुखश्चैव राक्षसः॥ ३॥
परिघान् पट्टिशान्शूलान् प्रासाञ्शक्तिपरश्वधान्।
चापानि च सुबाणानि खड्गांश्च विपुलाम्बुधान्॥ ४॥
प्रगृह्य परमक्रुद्धाः समुत्पत्य च राक्षसाः।
अब्रुवन् रावणं सर्वे प्रदीप्ता इव तेजसा॥ ५॥

तत्पश्चात् निकुम्भ, रभस, महाबली सूर्यशत्रु, सुप्तघ्न, यज्ञकोप, महापार्श्व, महोदर, दुर्जय अग्निकेतु, राक्षस रश्मिकेतु, महातेजस्वी बलवान् रावणकुमार इन्द्रजित्, प्रहस्त, विरूपाक्ष, महाबली वज्रदंष्ट्र, धूम्राक्ष, अतिकाय और निशाचर दुर्मुख—ये सब राक्षस अत्यन्त कुपित हो हाथोंमें परिघ, पट्टिश, शूल, प्रास, शक्ति, फरसे, धनुष, बाण तथा पैनी धारवाले बड़े-बड़े खड्ग लिये उछलकर रावणके सामने आये और अपने तेजसे उद्दीप्त-से होकर वे सब-के-सब उससे बोले— ॥ १—५॥

अद्य रामं वधिष्यामः सुग्रीवं च सलक्ष्मणम्।
कृपणं च हनूमन्तं लङ्का येन प्रधर्षिता॥ ६॥

'हमलोग आज ही राम, सुग्रीव, लक्ष्मण और उस कायर हनुमान्को भी मार डालेंगे, जिसने लङ्कापुरी जलायी है'॥ ६॥

तान् गृहीतायुधान् सर्वान् वारयित्वा विभीषणः।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं पुनः प्रत्युपवेश्य तान्॥ ७॥

हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लिये खड़े हुए उन सब राक्षसोंको जानेके लिये उद्यत देख विभीषणने रोका और पुनः उन्हें बिठाकर दोनों हाथ जोड़ रावणसे कहा— ॥ ७॥

अप्युपायैस्त्रिभिस्तात योऽर्थः प्राप्तुं न शक्यते।
तस्य विक्रमकालांस्तान् युक्तानाहुर्मनीषिणः॥ ८॥

'तात! जो मनोरथ साम, दान और भेद—इन तीन उपायोंसे प्राप्त न हो सके, उसीकी प्राप्तिके लिये नीतिशास्त्रके ज्ञाता मनीषी विद्वानोंने पराक्रम करनेके योग्य अवसर बताये हैं॥ ८॥

प्रमत्तेष्वभियुक्तेषु दैवेन प्रहतेषु च।
विक्रमास्तात सिद्ध्यन्ति परीक्ष्य विधिना कृताः॥ ९॥

'तात! जो शत्रु असावधान हों, जिनपर दूसरे-दूसरे शत्रुओंने आक्रमण किया हो तथा जो महारोग आदिसे ग्रस्त होनेके कारण दैवसे मारे गये हों, उन्हींपर भलीभाँति परीक्षा करके विधिपूर्वक किये गये पराक्रम सफल होते हैं॥ ९॥

अप्रमत्तं कथं तं तु विजिगीषुं बले स्थितम्।
जितरोषं दुराधर्षं तं धर्षयितुमिच्छथ॥ १०॥

'श्रीरामचन्द्रजी बेखबर नहीं हैं। वे विजयकी इच्छासे आ रहे हैं और उनके साथ सेना भी है। उन्होंने क्रोधको सर्वथा जीत लिया है। अतः वे सर्वथा दुर्जय हैं। ऐसे अजेय वीरको तुमलोग परास्त करना चाहते हो॥ १०॥

समुद्रं लङ्घयित्वा तु घोरं नदनदीपतिम्।
गतिं हनूमतो लोके को विद्यात् तर्कयेत वा॥ ११॥
बलान्यपरिमेयानि वीर्याणि च निशाचराः।
परेषां सहसावज्ञा न कर्तव्या कथंचन॥ १२॥

'निशाचरो! नदों और नदियोंके स्वामी भयंकर महासागरको जो एक ही छलाँगमें लाँघकर यहाँतक आ पहुँचे थे, उन हनुमान्जीकी गतिको इस संसारमें कौन जान सकता है अथवा कौन उसका अनुमान लगा सकता है? शत्रुओंके पास असंख्य सेनाएँ हैं, उनमें असीम बल और पराक्रम है; इस बातको तुमलोग अच्छी तरह जान लो। दूसरोंकी शक्तिको भुलाकर किसी तरह भी सहसा उनकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये॥ ११-१२॥

किं च राक्षसराजस्य रामेणापकृतं पुरा।
आजहार जनस्थानाद् यस्य भार्यां यशस्विनः॥ १३॥

'श्रीरामचन्द्रजीने पहले राक्षसराज रावणका कौन-सा अपराध किया था, जिससे उन यशस्वी महात्माकी पत्नीको ये जनस्थानसे हर लाये?॥ १३॥

खरो यद्यतिवृत्तस्तु स रामेण हतो रणे।
अवश्यं प्राणिनां प्राणा रक्षितव्या यथाबलम्॥ १४॥

'यदि कहें कि उन्होंने खरको मारा था तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि खर अत्याचारी था। उसने स्वयं ही उन्हें मार डालनेके लिये उनपर आक्रमण किया था। इसलिये श्रीरामने रणभूमिमें उसका वध किया; क्योंकि प्रत्येक प्राणीको यथाशक्ति अपने प्राणोंकी रक्षा अवश्य करनी चाहिये॥ १४॥

एतन्निमित्तं वैदेही भयं नः सुमहद् भवेत्।
आहृता सा परित्याज्या कलहार्थे कृते नु किम्॥ १५॥

'यदि इसी कारणसे सीताको हरकर लाया गया हो तो उन्हें जल्दी ही लौटा देना चाहिये; अन्यथा हमलोगोंपर महान् भय आ सकता है। जिस कर्मका फल केवल कलह है, उसे करनेसे क्या लाभ?॥ १५॥

न तु क्षमं वीर्यवता तेन धर्मानुवर्तिना।
वैरं निरर्थकं कर्तुं दीयतामस्य मैथिली॥ १६॥

'श्रीराम बड़े धर्मात्मा और पराक्रमी हैं। उनके साथ व्यर्थ

वैर करना उचित नहीं है। मिथिलेशकुमारी सीताको उनके पास लौटा देना चाहिये॥ १६॥

यावन्न सगजां साश्वां बहुरत्नसमाकुलाम्।
पुरीं दारयते बाणैर्दीयतामस्य मैथिली॥ १७॥

'जबतक हाथी, घोड़े और अनेकों रत्नोंसे भरी हुई लङ्कापुरीका श्रीराम अपने बाणोंद्वारा विध्वंस नहीं कर डालते, तबतक ही मैथिलीको उन्हें लौटा दिया जाय॥ १७॥

यावत् सुघोरा महती दुर्धर्षा हरिवाहिनी।
नावस्कन्दति नो लङ्कां तावत् सीता प्रदीयताम्॥ १८॥

'जबतक अत्यन्त भयंकर, विशाल और दुर्जय वानरवाहिनी हमारी लङ्काको पददलित नहीं कर देती, तभीतक सीताको वापस कर दिया जाय॥ १८॥

विनश्येद्धि पुरी लङ्का शूराः सर्वे च राक्षसाः।
रामस्य दयिता पत्नी न स्वयं यदि दीयते॥ १९॥

'यदि श्रीरामकी प्राणवल्लभा सीताको हमलोग स्वयं ही नहीं लौटा देते हैं तो यह लङ्कापुरी नष्ट हो जायगी और समस्त शूरवीर राक्षस मार डाले जायँगे॥ १९॥

प्रसादये त्वां बन्धुत्वात् कुरुष्व वचनं मम।
हितं तथ्यं त्वहं ब्रूमि दीयतामस्य मैथिली॥ २०॥

'आप मेरे बड़े भाई हैं। अतः मैं आपको विनयपूर्वक प्रसन्न करना चाहता हूँ। आप मेरी बात मान लें। मैं आपके हितके लिये सच्ची बात कहता हूँ—आप श्रीरामचन्द्रजीको उनकी सीता वापस कर दें॥ २०॥

पुरा शरत्सूर्यमरीचिसंनिभान्
नवाग्रपुङ्खान् सुदृढान् नृपात्मजः।
सृजत्यमोघान् विशिखान् वधाय ते
प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली॥ २१॥

'राजकुमार श्रीराम जबतक आपके वधके लिये शरत्कालके सूर्यकी किरणोंके समान तेजस्वी, उज्ज्वल अग्रभाग एवं पंखोंसे सुशोभित, सुदृढ़ तथा अमोघ बाणोंकी वर्षा करें, उसके पहले ही आप उन दशरथनन्दनकी सेवामें मिथिलेशकुमारी सीताको सौंप दें॥ २१॥

त्यजाशु कोपं सुखधर्मनाशनं
भजस्व धर्मं रतिकीर्तिवर्धनम्।
प्रसीद जीवेम सपुत्रबान्धवाः
प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली॥ २२॥

'भैया! आप क्रोधको त्याग दें; क्योंकि वह सुख और धर्मका नाश करनेवाला है। धर्मका सेवन कीजिये; क्योंकि वह सुख और सुयशको बढ़ानेवाला है। हमपर प्रसन्न होइये, जिससे हम पुत्र और बन्धु-बान्धवोंसहित जीवित रह सकें। इसी दृष्टिसे मेरी प्रार्थना है कि आप दशरथनन्दन श्रीरामके हाथमें मिथिलेशकुमारी सीताको लौटा दें'॥ २२॥

विभीषणवचः श्रुत्वा रावणो राक्षसेश्वरः।
विसर्जयित्वा तान् सर्वान् प्रविवेश स्वकं गृहम्॥ २३॥

विभीषणकी यह बात सुनकर राक्षसराज रावण उन सब सभासदोंको विदा करके अपने महलमें चला गया॥ २३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे नवमः सर्गः॥ ९॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें नवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ९॥

—★—

दशमः सर्गः

विभीषणका रावणके महलमें जाना, उसे अपशकुनोंका भय दिखाकर सीताको लौटा देनेके लिये प्रार्थना करना और रावणका उनकी बात न मानकर उन्हें वहाँसे विदा कर देना

ततः प्रत्युषसि प्राप्ते प्राप्तधर्मार्थनिश्चयः।
राक्षसाधिपतेर्वेश्म भीमकर्मा विभीषणः॥ १॥
शैलाग्रचयसंकाशं शैलशृङ्गमिवोन्नतम्।
सुविभक्तमहाकक्षं महाजनपरिग्रहम्॥ २॥
मतिमद्भिर्महामात्रैरनुरक्तैरधिष्ठितम्।
राक्षसैश्चाप्तपर्याप्तैः सर्वतः परिरक्षितम्॥ ३॥
मत्तमातङ्गनिःश्वासैर्व्याकुलीकृतमारुतम्।
शङ्खघोषमहाघोषं तूर्यसम्बाधनादितम्॥ ४॥
प्रमदाजनसम्बाधं प्रजल्पितमहापथम्।
तप्तकाञ्चननिर्यूहं भूषणोत्तमभूषितम्॥ ५॥
गन्धर्वाणामिवावासमालयं मरुतामिव।
रत्नसंचयसम्बाधं भवनं भोगिनामिव॥ ६॥
तं महाभ्रमिवादित्यस्तेजोविस्तृतरश्मिवान्।
अग्रजस्यालयं वीरः प्रविवेश महाद्युतिः॥ ७॥

दूसरे दिन सवेरा होते ही धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले भीमकर्मा महातेजस्वी वीर विभीषण अपने बड़े भाई राक्षसराज रावणके घर गये। वह घर अनेक प्रासादोंके कारण पर्वतशिखरोंके समूहकी भाँति शोभा पाता था। उसकी ऊँचाई भी पहाड़की चोटीको लज्जित करती थी। उसमें अलग-अलग बड़ी-बड़ी कक्षाएँ (ड्योढ़ियाँ) सुन्दर ढंगसे बनी हुई थीं। बहुतेरे श्रेष्ठ पुरुषोंका वहाँ आना-जाना लगा रहता था। अनेकानेक बुद्धिमान् महामन्त्री, जो राजाके प्रति अनुराग रखनेवाले थे, उसमें बैठे थे। विश्वसनीय, हितैषी

तथा कार्यसाधनमें कुशल बहुसंख्यक राक्षस सब ओरसे उस भवनकी रक्षा करते थे। वहाँकी वायु मतवाले हाथियोंके निःश्वाससे मिश्रित हो बवंडर-सी जान पड़ती थी। शङ्ख-ध्वनिके समान राक्षसोंका गम्भीर घोष वहाँ गूँजता रहता था। नाना प्रकारके वाद्योंके मनोरम शब्द उस भवनको निनादित करते थे। रूप और यौवनके मदसे मतवाली युवतियोंकी वहाँ भीड़-सी लगती रहती थी। वहाँके बड़े-बड़े मार्ग लोगोंके वार्तालापसे मुखरित जान पड़ते थे। उसके फाटक तपाये हुए सुवर्णके बने हुए थे। उत्तम सजावटकी वस्तुओंसे वह महल अच्छी तरह सजा हुआ था, अतएव वह गन्धर्वोंके आवास और देवताओंके निवासस्थान-सा मनोरम प्रतीत होता था। रत्नराशिसे परिपूर्ण होनेके कारण वह नागभवनके समान उद्भासित होता था। जैसे तेजसे विस्तृत किरणोंवाले सूर्य महान् मेघोंकी घटामें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार तेजस्वी विभीषणने रावणके उस भवनमें पदार्पण किया॥ १—७॥

पुण्यान् पुण्याहघोषांश्च वेदविद्भिरुदाहृतान्।
शुश्राव सुमहातेजा भ्रातुर्विजयसंश्रितान्॥ ८॥

वहाँ पहुँचकर उन महातेजस्वी विभीषणने अपने भाईकी विजयके उद्देश्यसे वेदवेत्ता ब्राह्मणोंद्वारा किये गये पुण्याहवाचनके पवित्र घोष सुने॥ ८॥

पूजितान् दधिपात्रैश्च सर्पिर्भिः सुमनोक्षतैः।
मन्त्रवेदविदो विप्रान् ददर्श स महाबलः॥ ९॥

तत्पश्चात् उन महाबली विभीषणने वेदमन्त्रोंके ज्ञाता ब्राह्मणोंका दर्शन किया, जिनके हाथोंमें दही और घीके पात्र थे। फूलों और अक्षतोंसे उन सबकी पूजा की गयी थी॥ ९॥

स पूज्यमानो रक्षोभिर्दीप्यमानं स्वतेजसा।
आसनस्थं महाबाहुर्ववन्दे धनदानुजम्॥ १०॥

वहाँ जानेपर राक्षसोंने उनका स्वागत-सत्कार किया। फिर उन महाबाहु विभीषणने अपने तेजसे देदीप्यमान और सिंहासन-पर विराजमान कुबेरके छोटे भाई रावणको प्रणाम किया॥ १०॥

स राजदृष्टिसम्पन्नमासनं हेमभूषितम्।
जगाम समुदाचारं प्रयुज्याचारकोविदः॥ ११॥

तदनन्तर शिष्टाचारके ज्ञाता विभीषण '**विजयतां महाराजः**' (महाराजकी जय हो)' इत्यादि रूपसे राजाके प्रति परम्पराप्राप्त शुभाशंसासूचक वचनका प्रयोग करके राजाके द्वारा दृष्टिके संकेतसे बताये गये सुवर्णभूषित सिंहासनपर बैठ गये॥ ११॥

स रावणं महात्मानं विजने मन्त्रिसंनिधौ।
उवाच हितमत्यर्थं वचनं हेतुनिश्चितम्॥ १२॥
प्रसाद्य भ्रातरं ज्येष्ठं सान्त्वेनोपस्थितक्रमः।
देशकालार्थसंवादि दृष्टलोकपरावरः॥ १३॥

विभीषण जगत्की भली-बुरी बातोंको अच्छी तरह जानते थे। उन्होंने प्रणाम आदि व्यवहारका यथार्थ-रूपसे निर्वाह करके सान्त्वनापूर्ण वचनोंद्वारा अपने बड़े भाई महामना रावणको प्रसन्न किया और उससे एकान्तमें मन्त्रियोंके निकट देश, काल और प्रयोजनके अनुरूप, युक्तियोंद्वारा निश्चित तथा अत्यन्त हितकारक बात कही—॥ १२-१३॥

यदाप्रभृति वैदेही सम्प्राप्तेह परंतप।
तदाप्रभृति दृश्यन्ते निमित्तान्यशुभानि नः॥ १४॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले महाराज! जबसे विदेहकुमारी सीता यहाँ आयी हैं, तभीसे हमलोगोंको अनेक प्रकारके अमङ्गलसूचक अपशकुन दिखायी दे रहे हैं॥ १४॥

सस्फुलिङ्गः सधूमार्चिः सधूमकलुषोदयः।
मन्त्रसंधुक्षितोऽप्यग्निर्न सम्यगभिवर्धते॥ १५॥

'मन्त्रोंद्वारा विधिपूर्वक धधकानेपर भी आग अच्छी तरह प्रज्वलित नहीं हो रही है। उससे चिनगारियाँ निकलने लगती हैं। उसकी लपटके साथ धुआँ उठने लगता है और मन्थनकालमें जब अग्नि प्रकट होती है, उस समय भी वह धूएँसे मलिन ही रहती है॥ १५॥

अग्निष्टेष्वग्निशालासु तथा ब्रह्मस्थलीषु च।
सरीसृपाणि दृश्यन्ते हव्येषु च पिपीलिकाः॥ १६॥

'रसोई-घरोंमें, अग्निशालाओंमें तथा वेदाध्ययनके स्थानोंमें भी साँप देखे जाते हैं और हवन-सामग्रियोंमें चींटियाँ पड़ी दिखायी देती हैं॥ १६॥

गवां पयांसि स्कन्नानि विमदा वरकुञ्जराः।
दीनमश्वाः प्रहेषन्ते नवग्रासाभिनन्दिनः॥ १७॥

'गायोंका दूध सूख गया है, बड़े-बड़े गजराज मदरहित हो गये हैं; घोड़े नये ग्राससे आनन्दित (भोजनसे संतुष्ट) होनेपर भी दीनतापूर्ण स्वरमें हिनहिनाते हैं॥ १७॥

खरोष्ट्राश्वतरा राजन् भिन्नरोमाः स्रवन्ति च।
न स्वभावेऽवतिष्ठन्ते विधानैरपि चिन्तिताः॥ १८॥

'राजन्! गधों, ऊँटों और खच्चरोंके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। उनके नेत्रोंसे आँसू गिरने लगते हैं। विधिपूर्वक चिकित्सा की जानेपर भी वे पूर्णतः स्वस्थ हो नहीं पाते हैं॥ १८॥

वायसाः संघशः क्रूरा व्याहरन्ति समन्ततः।
समवेताश्च दृश्यन्ते विमानाग्रेषु संघशः॥ १९॥

'क्रूर कौए झुंड-के-झुंड एकत्र होकर कर्कश स्वरमें काँव-काँव करने लगते हैं तथा वे सतमहले मकानोंपर समूह-के-समूह इकट्ठे हुए देखे जाते हैं॥ १९॥

गृध्राश्च परिलीयन्ते पुरीमुपरि पिण्डिताः।
उपपन्नाश्च संध्ये द्वे व्याहरन्त्यशिवं शिवाः॥ २०॥

लङ्कापुरीके ऊपर झुंड-के-झुंड गीध उसका स्पर्श करते हुए-से मँडराते रहते हैं। दोनों संध्याओंके समय सियारिनें नगरके समीप आकर अमङ्गलसूचक शब्द करती हैं॥ २०॥

क्रव्यादानां मृगाणां च पुरीद्वारेषु संघशः।
श्रूयन्ते विपुला घोषाः सविस्फूर्जितनिःस्वनाः॥ २१॥

'नगरके सभी फाटकोंपर समूह-के-समूह एकत्र हुए मांसभक्षी पशुओंके जोर-जोरसे किये जानेवाले चीत्कार बिजलीकी गड़गड़ाहटके समान सुनायी पड़ते हैं॥ २१॥

तदेवं प्रस्तुते कार्ये प्रायश्चित्तमिदं क्षमम्।
रोचये वीर वैदेही राघवाय प्रदीयताम्॥ २२॥

'वीरवर! ऐसी परिस्थितिमें मुझे तो यही प्रायश्चित्त अच्छा जान पड़ता है कि विदेहकुमारी सीता श्रीरामचन्द्रजीको लौटा दी जायँ॥ २२॥

इदं च यदि वा मोहाल्लोभाद् वा व्याहृतं मया।
तत्रापि च महाराज न दोषं कर्तुमर्हसि॥ २३॥

'महाराज! यदि यह बात मैंने मोह या लोभसे कही हो तो भी आपको मुझमें दोषदृष्टि नहीं करनी चाहिये॥ २३॥

अयं हि दोषः सर्वस्य जनस्यास्योपलक्ष्यते।
रक्षसां राक्षसीनां च पुरस्यान्तःपुरस्य च॥ २४॥

'सीताका अपहरण तथा इससे होनेवाला अपशकुनरूपी दोष यहाँकी सारी जनता, राक्षस-राक्षसी तथा नगर और अन्तःपुर—सभीके लिये उपलक्षित होता है॥ २४॥

प्रापणे चास्य मन्त्रस्य निवृत्ताः सर्वमन्त्रिणः।
अवश्यं च मया वाच्यं यद् दृष्टमथवा श्रुतम्।
सम्प्रधार्य यथान्यायं तद् भवान् कर्तुमर्हति॥ २५॥

'यह बात आपके कानोंतक पहुँचानेमें प्रायः सभी मन्त्री संकोच करते हैं; परंतु जो बात मैंने देखी या सुनी है वह मुझे तो आपके आगे अवश्य निवेदन कर देनी चाहिये; अतः उसपर यथोचित विचार करके आप जैसा उचित समझें, वैसा करें'॥ २५॥

इति स्वमन्त्रिणां मध्ये भ्राता भ्रातरमूचिवान्।
रावणं रक्षसां श्रेष्ठं पथ्यमेतद् विभीषणः॥ २६॥

इस प्रकार भाई विभीषणने अपने मन्त्रियोंके बीचमें बड़े भाई राक्षसराज रावणसे ये हितकारी वचन कहे॥ २६॥

हितं महार्थं मृदु हेतुसंहितं
व्यतीतकालायतिसम्प्रतिक्षमम्।
निशम्य तद्वाक्यमुपस्थितज्वरः
प्रसङ्गवानुत्तरमेतदब्रवीत्॥ २७॥
भयं न पश्यामि कुतश्चिदप्यहं
न राघवः प्राप्स्यति जातु मैथिलीम्।
सुरैः सहेन्द्रैरपि संगरे कथं
ममाग्रतः स्थास्यति लक्ष्मणाग्रजः॥ २८॥

विभीषणकी ये हितकर, महान् अर्थकी साधक, कोमल, युक्तिसंगत तथा भूत, भविष्य और वर्तमानकालमें भी कार्यसाधनमें समर्थ बातें सुनकर रावणको बुखार चढ़ आया। श्रीरामके साथ वैर बढ़ानेमें उसकी आसक्ति हो गयी थी। इसलिये उसने इस प्रकार उत्तर दिया—'विभीषण! मैं तो कहींसे भी कोई भय नहीं देखता। राम मिथिलेशकुमारी सीताको कभी नहीं पा सकते। इन्द्रसहित देवताओंकी सहायता प्राप्त कर लेनेपर भी लक्ष्मणके बड़े भाई राम मेरे सामने संग्राममें कैसे टिक सकेंगे?'॥ २७-२८॥

इत्येवमुक्त्वा सुरसैन्यनाशनो
महाबलः संयति चण्डविक्रमः।
दशाननो भ्रातरमाप्तवादिनं
विसर्जयामास तदा विभीषणम्॥ २९॥

ऐसा कहकर देवसेनाके नाशक और समराङ्गणमें प्रचण्ड पराक्रम प्रकट करनेवाले महाबली दशाननने अपने यथार्थ-वादी भाई विभीषणको तत्काल विदा कर दिया॥ २९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे दशमः सर्गः॥ १०॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें दसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १०॥

—★—

एकादशः सर्गः

रावण और उसके सभासदोंका सभाभवनमें एकत्र होना

स बभूव कृशो राजा मैथिलीकाममोहितः।
असम्मानाच्च सुहृदां पापः पापेन कर्मणा॥ १॥

राक्षसोंका राजा रावण मिथिलेशकुमारी सीताके प्रति कामसे मोहित हो रहा था, उसके हितैषी सुहृद् विभीषण आदि उसका अनादर करने लगे थे—उसके कुकृत्योंकी निन्दा करते थे तथा वह सीताहरणरूपी जघन्य पाप-कर्मके कारण पापी घोषित किया गया था—इन सब कारणोंसे वह अत्यन्त कृश (चिन्तायुक्त एवं दुर्बल) हो गया था॥ १॥

अतीव कामसम्पन्नो वैदेहीमनुचिन्तयन्।
अतीतसमये काले तस्मिन् वै युधि रावणः।
अमात्यैश्च सुहृद्भिश्च प्राप्तकालममन्यत॥ २॥

वह अत्यन्त कामसे पीड़ित होकर बारंबार विदेहकुमारीका चिन्तन करता था, इसलिये युद्धका अवसर बीत जानेपर भी उसने उस समय मन्त्रियों और सुहृदोंके साथ

सलाह करके युद्धको ही समयोचित कर्तव्य माना ॥ २ ॥

स हेमजालविततं मणिविद्रुमभूषितम्।
उपगम्य विनीताश्वमारुरोह महारथम्॥ ३ ॥

वह सोनेकी जालीसे आच्छादित तथा मणि एवं मूँगोंसे विभूषित एक विशाल रथपर, जिसमें सुशिक्षित घोड़े जुते हुए थे; जा चढ़ा ॥ ३ ॥

तमास्थाय रथश्रेष्ठं महामेघसमस्वनम्।
प्रययौ रक्षसां श्रेष्ठो दशग्रीवः सभां प्रति॥ ४ ॥

महान् मेघोंकी गर्जनाके समान घर्घराहट पैदा करनेवाले उस उत्तम रथपर आरूढ़ हो राक्षसशिरोमणि दशग्रीव सभाभवनकी ओर प्रस्थित हुआ ॥ ४ ॥

असिचर्मधरा योधाः सर्वायुधधरास्ततः।
राक्षसा राक्षसेन्द्रस्य पुरस्तात् सम्प्रतस्थिरे॥ ५ ॥

उस समय राक्षसराज रावणके आगे-आगे ढाल-तलवार एवं सब प्रकारके आयुध धारण करनेवाले बहुसंख्यक राक्षस योद्धा जा रहे थे ॥ ५ ॥

नानाविकृतवेषाश्च नानाभूषणभूषिताः।
पार्श्वतः पृष्ठतश्चैनं परिवार्य ययुस्तदा॥ ६ ॥

इसी तरह भाँति-भाँतिके आभूषणोंसे विभूषित और नाना प्रकारके विकराल वेषवाले अगणित निशाचर उसे दायें-बायें और पीछेकी ओरसे घेरकर चल रहे थे ॥ ६ ॥

रथैश्चातिरथाः शीघ्रं मत्तैश्च वरवारणैः।
अनूत्पेतुर्दशग्रीवमाक्रीडद्भिश्च वाजिभिः॥ ७ ॥

रावणके प्रस्थान करते ही बहुत-से अतिरथी वीर रथों, मतवाले गजराजों और खेल-खेलमें तरह-तरहकी चालें दिखानेवाले घोड़ोंपर सवार हो तुरंत उसके पीछे चल दिये ॥ ७ ॥

गदापरिघहस्ताश्च शक्तितोमरपाणयः।
परश्वधधराश्चान्ये तथान्ये शूलपाणयः।
ततस्तूर्यसहस्राणां संजज्ञे निःस्वनो महान्॥ ८ ॥

किन्हींके हाथोंमें गदा और परिघ शोभा पा रहे थे। कोई शक्ति और तोमर लिये हुए थे। कुछ लोगोंने फरसे धारण कर रखे थे तथा अन्य राक्षसोंके हाथोंमें शूल चमक रहे थे, फिर तो वहाँ सहस्रों वाद्योंका महान् घोष होने लगा ॥ ८ ॥

तुमुलः शङ्खशब्दश्च सभां गच्छति रावणे।
स नेमिघोषेण महान् सहसाभिनिनादयन्॥ ९ ॥
राजमार्गं श्रिया जुष्टं प्रतिपेदे महारथः।

रावणके सभाभवनकी ओर यात्रा करते समय तुमुल शङ्खध्वनि होने लगी। उसका वह विशाल रथ अपने पहियोंकी घर्घराहटसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करता हुआ सहसा शोभाशाली राजमार्गपर जा पहुँचा ॥ ९$\frac{1}{2}$ ॥

विमलं चातपत्रं च प्रगृहीतमशोभत॥ १० ॥
पाण्डुरं राक्षसेन्द्रस्य पूर्णस्ताराधिपो यथा।

उस समय राक्षसराज रावणके ऊपर तना हुआ निर्मल श्वेत छत्र पूर्ण चन्द्रमाके समान शोभा पा रहा था ॥ १०$\frac{1}{2}$ ॥

हेममञ्जरिगर्भे च शुद्धस्फटिकविग्रहे॥ ११ ॥
चामरव्यजने तस्य रेजतुः सव्यदक्षिणे।

उसके दाहिने और बायें भागमें शुद्ध स्फटिकके डंडेवाले चँवर और व्यजन, जिनमें सोनेकी मञ्जरियाँ बनी हुई थीं, बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ ११$\frac{1}{2}$ ॥

ते कृताञ्जलयः सर्वे रथस्थं पृथिवीस्थिताः॥ १२ ॥
राक्षसा राक्षसश्रेष्ठं शिरोभिस्तं ववन्दिरे।

मार्गमें पृथ्वीपर खड़े हुए सभी राक्षस दोनों हाथ जोड़ रथपर बैठे हुए राक्षसशिरोमणि रावणको सिर झुकाकर वन्दना करते थे ॥ १२$\frac{1}{2}$ ॥

राक्षसैः स्तूयमानः सञ्जयाशीर्भिररिंदमः॥ १३ ॥
आससाद महातेजाः सभां विरचितां तदा।

राक्षसोंद्वारा की गयी स्तुति, जय-जयकार और आशीर्वाद सुनता हुआ शत्रुदमन महातेजस्वी रावण उस समय विश्वकर्माद्वारा निर्मित राजसभामें पहुँचा ॥ १३$\frac{1}{2}$ ॥

सुवर्णरजतास्तीर्णां विशुद्धस्फटिकान्तराम्॥ १४ ॥
विराजमानो वपुषा रुक्मपट्टोत्तरच्छदाम्।
तां पिशाचशतैः षड्भिरभिगुप्तां सदाप्रभाम्॥ १५ ॥
प्रविवेश महातेजाः सुकृतां विश्वकर्मणा।

उस सभाके फर्शमें सोने-चाँदीका काम किया हुआ था तथा बीच-बीचमें विशुद्ध स्फटिक भी जड़ा गया था। उसमें सोनेके कामवाले रेशमी वस्त्रोंकी चादरें बिछी हुई थीं। वह सभा सदा अपनी प्रभासे उद्भासित होती रहती थी। छः सौ पिशाच उसकी रक्षा करते थे। विश्वकर्माने उसे बहुत ही सुन्दर बनाया था। अपने शरीरसे सुशोभित होनेवाले महातेजस्वी रावणने उस सभामें प्रवेश किया ॥ १४-१५$\frac{1}{2}$ ॥

तस्यां तु वैदूर्यमयं प्रियकाजिनसंवृतम्॥ १६ ॥
महत्सोपाश्रयं भेजे रावणः परमासनम्।
ततः शशासेश्वरवद्दूतांल्लघुपराक्रमान्॥ १७ ॥

उस सभाभवनमें वैदूर्यमणि (नीलम) का बना हुआ एक विशाल और उत्तम सिंहासन था, जिसपर अत्यन्त मुलायम चमड़ेवाले 'प्रियक' नामक मृगका चर्म बिछा था और उसपर मसनद भी रखा हुआ था। रावण उसीपर बैठ गया। फिर उसने अपने शीघ्रगामी दूतोंको आज्ञा दी— ॥ १६-१७ ॥

समानयत मे क्षिप्रमिहैतान् राक्षसानिति।
कृत्यमस्ति महज्जाने कर्तव्यमिति शत्रुभिः॥ १८ ॥

'तुमलोग शीघ्र ही यहाँ बैठनेवाले सुविख्यात राक्षसोंको मेरे पास बुला ले आओ; क्योंकि शत्रुओंके साथ करनेयोग्य महान् कार्य मुझपर आ पड़ा है। इस बातको मैं अच्छी तरह समझ रहा हूँ (अतः इसपर विचार करनेके लिये सब

सभासदोंका यहाँ आना अत्यन्त आवश्यक है)' ॥ १८ ॥

राक्षसास्तद्वचः श्रुत्वा लङ्कायां परिचक्रमुः ।
अनुगेहमवस्थाय विहारशयनेषु च ।
उद्यानेषु च रक्षांसि चोदयन्तो ह्यभीतवत् ॥ १९ ॥

रावणका यह आदेश सुनकर वे राक्षस लङ्कामें सब ओर चक्कर लगाने लगे। वे एक-एक घर, विहारस्थान, शयनागार और उद्यानमें जा-जाकर बड़ी निर्भयतासे उन सब राक्षसोंको राजसभामें चलनेके लिये प्रेरित करने लगे ॥ १९ ॥

ते रथान्तचरा एके दृप्तानेके दृढान् हयान् ।
नागानेकेऽधिरुरुहुर्जग्मुश्चैके पदातयः ॥ २० ॥

तब उन राक्षसोंमेंसे कोई रथपर चढ़कर चले, कोई मतवाले हाथियोंपर और कोई मजबूत घोड़ोंपर सवार होकर अपने-अपने स्थानसे प्रस्थित हुए। बहुत-से राक्षस पैदल ही चल दिये ॥ २० ॥

सा पुरी परमाकीर्णा रथकुञ्जरवाजिभिः ।
सम्पतद्भिर्विरुरुचे गरुत्मद्भिरिवाम्बरम् ॥ २१ ॥

उस समय दौड़ते हुए रथों, हाथियों और घोड़ोंसे व्याप्त हुई वह पुरी बहुसंख्यक गरुड़ोंसे आच्छादित हुए आकाशकी भाँति शोभा पा रही थी ॥ २१ ॥

ते वाहनान्यवस्थाय यानानि विविधानि च ।
सभां पद्भिः प्रविविशुः सिंहा गिरिगुहामिव ॥ २२ ॥

गन्तव्य स्थानतक पहुँचकर अपने-अपने वाहनों और नाना प्रकारकी सवारियोंको बाहर ही रखकर वे सब सभासद् पैदल ही उस सभाभवनमें प्रविष्ट हुए, मानो बहुत-से सिंह किसी पर्वतकी कन्दरामें घुस रहे हों ॥ २२ ॥

राज्ञः पादौ गृहीत्वा तु राज्ञा ते प्रतिपूजिताः ।
पीठेष्वन्ये बृसीष्वन्ये भूमौ केचिदुपाविशन् ॥ २३ ॥

वहाँ पहुँचकर उन सबने राजाके पाँव पकड़े तथा राजाने भी उनका सत्कार किया। तत्पश्चात् कुछ लोग सोनेके सिंहासनोंपर, कुछ लोग कुशकी चटाइयोंपर और कुछ लोग साधारण बिछौनोंसे ढकी हुई भूमिपर ही बैठ गये ॥ २३ ॥

ते समेत्य सभायां वै राक्षसा राजशासनात् ।
यथार्हमुपतस्थुस्ते रावणं राक्षसाधिपम् ॥ २४ ॥

राजाकी आज्ञासे उस सभामें एकत्र होकर वे सब राक्षस राक्षसराज रावणके आसपास यथायोग्य आसनोंपर बैठ गये ॥ २४ ॥

मन्त्रिणश्च यथामुख्या निश्चितार्थेषु पण्डिताः ।
अमात्याश्च गुणोपेताः सर्वज्ञा बुद्धिदर्शनाः ॥ २५ ॥
समीयुस्तत्र शतशः शूराश्च बहवस्तथा ।
सभायां हेमवर्णायां सर्वार्थस्य सुखाय वै ॥ २६ ॥

यथायोग्य भिन्न-भिन्न विषयोंके लिये उचित सम्मति देनेवाले मुख्य-मुख्य मन्त्री, कर्तव्य-निश्चयमें पाण्डित्यका परिचय देनेवाले सचिव, बुद्धिदर्शी, सर्वज्ञ, सद्गुण-सम्पन्न उपमन्त्री तथा और भी बहुत-से शूरवीर सम्पूर्ण अर्थोंके निश्चयके लिये और सुखप्राप्तिके उपायपर विचार करनेके लिये उस सुनहरी कान्तिवाली सभाके भीतर सैकड़ोंकी संख्यामें उपस्थित थे ॥ २५-२६ ॥

ततो महात्मा विपुलं सुयुग्यं
रथं वरं हेमविचित्रिताङ्गम् ।
शुभं समास्थाय ययौ यशस्वी
विभीषणः संसदमग्रजस्य ॥ २७ ॥

तत्पश्चात् यशस्वी महात्मा विभीषण भी एक सुवर्णजटित, सुन्दर अश्वोंसे युक्त, विशाल, श्रेष्ठ एवं शुभकारक रथपर आरूढ़ हो अपने बड़े भाईकी सभामें जा पहुँचे ॥ २७ ॥

स पूर्वजायावरजः शशंस
नामाथ पश्चाच्चरणौ ववन्दे ।
शुकः प्रहस्तश्च तथैव तेभ्यो
ददौ यथार्हं पृथगासनानि ॥ २८ ॥

छोटे भाई विभीषणने पहले अपना नाम बताया, फिर बड़े भाईके चरणोंमें मस्तक झुकाया। इसी तरह शुक और प्रहस्तने भी किया। तब रावणने उन सबको यथायोग्य पृथक्-पृथक् आसन दिये ॥ २८ ॥

सुवर्णनानामणिभूषणानां
सुवाससां संसदि राक्षसानाम् ।
तेषां परार्घ्यागुरुचन्दनानां
स्रजां च गन्धाः प्रववुः समन्तात् ॥ २९ ॥

सुवर्ण एवं नाना प्रकारकी मणियोंके आभूषणोंसे विभूषित उन सुन्दर वस्त्रधारी राक्षसोंकी उस सभामें सब ओर बहुमूल्य अगुरु, चन्दन तथा पुष्पहारोंकी सुगन्ध छा रही थी ॥ २९ ॥

न चुक्रुशुर्नानृतमाह कश्चित्
सभासदो नापि जजल्पुरुच्चैः ।
संसिद्धार्थाः सर्व एवोग्रवीर्या
भर्तुः सर्वे ददृशुश्चाननं ते ॥ ३० ॥

उस समय उस सभाका कोई भी सदस्य असत्य नहीं बोलता था। वे सभी सभासद् न तो चिल्लाते थे और न जोर-जोरसे बातें ही करते थे। वे सब-के-सब सफलमनोरथ एवं भयंकर पराक्रमी थे और सभी अपने स्वामी रावणके मुँहकी ओर देख रहे थे ॥ ३० ॥

स रावणः शस्त्रभृतां मनस्विनां
महाबलानां समितौ मनस्वी ।
तस्यां सभायां प्रभया चकाशे
मध्ये वसूनामिव वज्रहस्तः ॥ ३१ ॥

उस सभामें शस्त्रधारी महाबली मनस्वी वीरोंका समागम होनेपर उनके बीचमें बैठा हुआ मनस्वी रावण अपनी प्रभासे उसी प्रकार प्रकाशित हो रहा था, जैसे वसुओंके बीचमें वज्रधारी इन्द्र देदीप्यमान होते हैं ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे एकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें ग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११ ॥

★

द्वादशः सर्गः

नगरकी रक्षाके लिये सैनिकोंकी नियुक्ति, रावणका सीताके प्रति अपनी आसक्ति बताकर उनके हरणका प्रसंग बताना और भावी कर्तव्यके लिये सभासदोंकी सम्मति माँगना, कुम्भकर्णका पहले तो उसे फटकारना, फिर समस्त शत्रुओंके वधका स्वयं ही भार उठाना

स तां परिषदं कृत्स्नां समीक्ष्य समितिंजयः।
प्रचोदयामास तदा प्रहस्तं वाहिनीपतिम्॥ १॥

शत्रुविजयी रावणने उस सम्पूर्ण सभाकी ओर दृष्टिपात करके सेनापति प्रहस्तको उस समय इस प्रकार आदेश दिया—॥ १॥

सेनापते यथा ते स्युः कृतविद्याश्चतुर्विधाः।
योधा नगररक्षायां तथा व्यादेष्टुमर्हसि॥ २॥

'सेनापते! तुम सैनिकोंको ऐसी आज्ञा दो, जिससे तुम्हारे अस्त्रविद्यामें पारंगत रथी, घुड़सवार, हाथीसवार और पैदल योद्धा नगरकी रक्षामें तत्पर रहें'॥ २॥

स प्रहस्तः प्रणीतात्मा चिकीर्षन् राजशासनम्।
विनिक्षिपद् बलं सर्वं बहिरन्तश्च मन्दिरे॥ ३॥

अपने मनको वशमें रखनेवाले प्रहस्तने राजाके आदेशका पालन करनेकी इच्छासे सारी सेनाको नगरके बाहर और भीतर यथायोग्य स्थानोंपर नियुक्त कर दिया॥ ३॥

ततो विनिक्षिप्य बलं सर्वं नगरगुप्तये।
प्रहस्तः प्रमुखे राज्ञो निषसाद जगाद च॥ ४॥

नगरकी रक्षाके लिये सारी सेनाको तैनात करके प्रहस्त राजा रावणके सामने आ बैठा और इस प्रकार बोला—॥ ४॥

विहितं बहिरन्तश्च बलं बलवतस्तव।
कुरुष्वाविमनाः क्षिप्रं यदभिप्रेतमस्ति ते॥ ५॥

'राक्षसराज! आप महाबली महाराजकी सेनाको मैंने नगरके बाहर और भीतर यथास्थान नियुक्त कर दिया है। अब आप स्वस्थचित्त होकर शीघ्र ही अपने अभीष्ट कार्यका सम्पादन कीजिये'॥ ५॥

प्रहस्तस्य वचः श्रुत्वा राजा राज्यहितैषिणः।
सुखेप्सुः सुहृदां मध्ये व्याजहार स रावणः॥ ६॥

राज्यका हित चाहनेवाले प्रहस्तकी यह बात सुनकर अपने सुखकी इच्छा रखनेवाले रावणने सुहृदोंके बीचमें यह बात कही—॥ ६॥

प्रियाप्रिये सुखे दुःखे लाभालाभे हिताहिते।
धर्मकामार्थकृच्छ्रेषु यूयमर्हथ वेदितुम्॥ ७॥

'सभासदो! धर्म, अर्थ और कामविषयक संकट उपस्थित होनेपर आपलोग प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख, लाभ-हानि और हिताहितका विचार करनेमें समर्थ हैं॥ ७॥

सर्वकृत्यानि युष्माभिः समारब्धानि सर्वदा।
मन्त्रकर्मनियुक्तानि न जातु विफलानि मे॥ ८॥

'आपलोगोंने सदा परस्पर विचार करके जिन-जिन कार्योंका आरम्भ किया है, वे सब-के-सब मेरे लिये कभी निष्फल नहीं हुए हैं॥ ८॥

ससोमग्रहनक्षत्रैर्मरुद्भिरिव वासवः।
भवद्भिरहमत्यर्थं वृतः श्रियमवाप्नुयाम्॥ ९॥

'जैसे चन्द्रमा, ग्रह और नक्षत्रोंसहित मरुद्गणोंसे घिरे हुए इन्द्र स्वर्गकी सम्पत्तिका उपभोग करते हैं, उसी भाँति आपलोगोंसे घिरा रहकर मैं भी लङ्काकी प्रचुर राजलक्ष्मीका सुख भोगता रहूँ—यही मेरी अभिलाषा है॥ ९॥

अहं तु खलु सर्वान् वः समर्थयितुमुद्यतः।
कुम्भकर्णस्य तु स्वप्नान्नेममर्थमचोदयम्॥ १०॥

'मैंने जो काम किया है, उसे मैं पहले ही आप सबके सामने रखकर आपके द्वारा उसका समर्थन चाहता था, परंतु उस समय कुम्भकर्ण सोये हुए थे, इसलिये मैंने इसकी चर्चा नहीं चलायी॥ १०॥

अयं हि सुप्तः षण्मासान् कुम्भकर्णो महाबलः।
सर्वशस्त्रभृतां मुख्यः स इदानीं समुत्थितः॥ ११॥

'समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ महाबली कुम्भकर्ण छः महीनोंसे सो रहे थे। अभी इनकी नींद खुली है॥ ११॥

इयं च दण्डकारण्याद् रामस्य महिषी प्रिया।
रक्षोभिश्चरितोद्देशादानीता जनकात्मजा॥ १२॥

'मैं दण्डकारण्यसे, जो राक्षसोंके विचरनेका स्थान है, रामकी प्यारी रानी जनकदुलारी सीताको हर लाया हूँ॥ १२॥

सा मे न शय्यामारोढुमिच्छत्यलसगामिनी।
त्रिषु लोकेषु चान्या मे न सीतासदृशी तथा॥ १३॥

'किंतु वह मन्दगामिनी सीता मेरी शय्यापर आरूढ़ होना नहीं चाहती है। मेरी दृष्टिमें तीनों लोकोंके भीतर सीताके समान सुन्दरी दूसरी कोई स्त्री नहीं है॥ १३॥

तनुमध्या पृथुश्रोणी शरदिन्दुनिभानना।
हेमबिम्बनिभा सौम्या मायेव मयनिर्मिता॥ १४॥

'उसके शरीरका मध्यभाग अत्यन्त सूक्ष्म है, कटिके पीछेका भाग स्थूल है, मुख शरत्कालके चन्द्रमाको लज्जित करता है, वह सौम्य रूप और स्वभाववाली सीता सोनेकी बनी हुई प्रतिमा-सी जान पड़ती है। ऐसा लगता है, जैसे वह मयासुरकी रची हुई कोई माया हो॥ १४॥

सुलोहिततलौ श्लक्ष्णौ चरणौ सुप्रतिष्ठितौ।
दृष्ट्वा ताम्रनखौ तस्या दीप्यते मे शरीरजः॥ १५॥

'उसके चरणोंके तलवे लाल रंगके हैं। दोनों पैर सुन्दर,

चिकने और सुडौल हैं तथा उनके नख ताँबे-जैसे लाल हैं। सीताके उन चरणोंको देखकर मेरी कामाग्नि प्रज्वलित हो उठती है ॥ १५ ॥

हुताग्नेरर्चिसंकाशामेनां सौरीमिव प्रभाम्।
उन्नसं विमलं वल्गु वदनं चारुलोचनम् ॥ १६ ॥
पश्यंस्तदवशस्तस्याः कामस्य वशमेयिवान्।

'जिसमें घीकी आहुति डाली गयी हो, उस अग्निकी लपट और सूर्यकी प्रभाके समान इस तेजस्विनी सीताको देखकर तथा ऊँची नाक और विशाल नेत्रोंसे सुशोभित उसके निर्मल एवं मनोहर मुखका अवलोकन करके मैं अपने वशमें नहीं रह गया हूँ। कामने मुझे अपने अधीन कर लिया है ॥ १६½ ॥

क्रोधहर्षसमानेन दुर्वर्णकरणेन च ॥ १७ ॥
शोकसंतापनित्येन कामेन कलुषीकृतः।

'जो क्रोध और हर्ष दोनों अवस्थाओंमें समानरूपसे बना रहता है, शरीरकी कान्तिको फीकी कर देता है और शोक तथा संतापके समय भी कभी मनसे दूर नहीं होता, उस कामने मेरे हृदयको कलुषित (व्याकुल) कर दिया है ॥ १७½ ॥

सा तु संवत्सरं कालं मामयाचत भामिनी ॥ १८ ॥
प्रतीक्षमाणा भर्तारं राममायतलोचना।
तन्मया चारुनेत्रायाः प्रतिज्ञातं वचः शुभम् ॥ १९ ॥

'विशाल नेत्रोंवाली माननीय सीताने मुझसे एक वर्षका समय माँगा है। इस बीचमें वह अपने पति श्रीरामकी प्रतीक्षा करेगी। मैंने मनोहर नेत्रोंवाली सीताके उस सुन्दर वचनको सुनकर उसे पूर्ण करनेकी प्रतिज्ञा कर ली है * ॥ १८-१९ ॥

श्रान्तोऽहं सततं कामाद् यातो हय इवाध्वनि।
कथं सागरमक्षोभ्यं तरिष्यन्ति वनौकसः ॥ २० ॥
बहुसत्त्वझषाकीर्णं तौ वा दशरथात्मजौ।

'जैसे बड़े मार्गमें चलते-चलते घोड़ा थक जाता है, उसी प्रकार मैं भी कामपीड़ासे थकावटका अनुभव कर रहा हूँ। वैसे तो मुझे शत्रुओंकी ओरसे कोई डर नहीं है; क्योंकि वे वनवासी वानर अथवा वे दोनों दशरथकुमार श्रीराम और लक्ष्मण असंख्य जल-जन्तुओं तथा मत्स्योंसे भरे हुए अलङ्घ्य महासागरको कैसे पार कर सकेंगे? ॥ २०½ ॥

अथवा कपिनैकेन कृतं नः कदनं महत् ॥ २१ ॥
दुर्ज्ञेयाः कार्यगतयो ब्रूत यस्य यथामति।
मानुषान्नो भयं नास्ति तथापि तु विमृश्यताम् ॥ २२ ॥

'अथवा एक ही वानरने आकर हमारे यहाँ महान् संहार मचा दिया था। इसलिये कार्यसिद्धिके उपायोंको समझ लेना अत्यन्त कठिन है। अतः जिसकी अपनी बुद्धिके अनुसार जैसा उचित जान पड़े, वह वैसा ही बतावे। तुम सब लोग अपने विचार अवश्य व्यक्त करो। यद्यपि हमें मनुष्यसे कोई भय नहीं है, तथापि तुम्हें विजयके उपायपर विचार तो करना ही चाहिये ॥ २१-२२ ॥

तदा देवासुरे युद्धे युष्माभिः सहितोऽजयम्।
ते मे भवन्तश्च तथा सुग्रीवप्रमुखान् हरीन् ॥ २३ ॥
परे पारे समुद्रस्य पुरस्कृत्य नृपात्मजौ।
सीतायाः पदवीं प्राप्य सम्प्राप्तौ वरुणालयम् ॥ २४ ॥

'उन दिनों जब देवताओं और असुरोंका युद्ध चल रहा था, उसमें आप सब लोगोंकी सहायतासे ही मैंने विजय प्राप्त की थी। आज भी आप मेरे उसी प्रकार सहायक हैं। वे दोनों राजकुमार सीताका पता पाकर सुग्रीव आदि वानरोंको साथ लिये समुद्रके उस तटतक पहुँच चुके हैं ॥ २३-२४ ॥

अदेया च यथा सीता वध्यौ दशरथात्मजौ।
भवद्भिर्मन्त्र्यतां मन्त्रः सुनीतं चाभिधीयताम् ॥ २५ ॥

'अब आपलोग आपसमें सलाह कीजिये और कोई ऐसी सुन्दर नीति बताइये, जिससे सीताको लौटाना न पड़े तथा वे दोनों दशरथकुमार मारे जायँ ॥ २५ ॥

नहि शक्तिं प्रपश्यामि जगत्यन्यस्य कस्यचित्।
सागरं वानरैस्तीर्त्वा निश्चयेन जयो मम ॥ २६ ॥

'वानरोंके साथ समुद्रको पार करके यहाँतक आनेकी शक्ति जगत्में रामके सिवा और किसीमें नहीं देखता हूँ (किन्तु राम और वानर यहाँ आकर भी मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकते), अतः यह निश्चय है कि जीत मेरी ही होगी' ॥ २६ ॥

तस्य कामपरीतस्य निशम्य परिदेवितम्।
कुम्भकर्णः प्रचुक्रोध वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २७ ॥

कामातुर रावणका यह खेदपूर्ण प्रलाप सुनकर कुम्भकर्णको क्रोध आ गया और उसने इस प्रकार कहा— ॥ २७ ॥

यदा तु रामस्य सलक्ष्मणस्य
प्रसह्य सीता खलु सा इहाहृता।
सकृत् समीक्ष्यैव सुनिश्चितं तदा
भजेत चित्तं यमुनेव यामुनम् ॥ २८ ॥

'जब तुम लक्ष्मणसहित श्रीरामके आश्रमसे एक बार

---

* यहाँ रावणने सभासदोंके सामने अपनी झूठी उदारता दिखानेके लिये सर्वथा असत्य कहा है। सीताजीने कभी अपने मुँहसे यह नहीं कहा था कि 'मुझे एक वर्षका समय दो। यदि उतने दिनोंतक श्रीराम नहीं आये तो मैं तुम्हारी हो जाऊँगी।' सीताने तो सदा तिरस्कारपूर्वक उसके जघन्य प्रस्तावको ठुकराया ही था। इसने स्वयं ही अपनी ओरसे उन्हें एक वर्षका अवसर दिया था। (देखिये अरण्यकाण्ड सर्ग ५६ श्लोक २४-२५)

स्वयं ही मनमाना विचार करके सीताको यहाँ बलपूर्वक हर लाये थे, उसी समय तुम्हारे चित्तको हमलोगोंके साथ इस विषयमें सुनिश्चित विचार कर लेना चाहिये था। ठीक उसी तरह जैसे यमुना जब पृथ्वीपर उतरनेको उद्यत हुई, तभी उन्होंने यमुनोत्री पर्वतके कुण्डविशेषको अपने जलसे पूर्ण किया था (पृथ्वीपर उतर जानेके बाद उनका वेग जब समुद्रमें जाकर शान्त हो गया, तब वे पुनः उस कुण्डको नहीं भर सकतीं, उसी प्रकार तुमने भी जब विचार करनेका अवसर था, तब तो हमारे साथ बैठकर विचार किया नहीं। अब अवसर बिताकर सारा काम बिगड़ जानेके बाद तुम विचार करने चले हो)॥ २८॥

सर्वमेतन्महाराज कृतमप्रतिमं तव ।
विधीयेत सहास्माभिरादावेवास्य कर्मणः ॥ २९ ॥

'महाराज! तुमने जो यह छलपूर्वक छिपकर परस्त्री-हरण आदि कार्य किया है, यह सब तुम्हारे लिये बहुत अनुचित है। इस पापकर्मको करनेसे पहले ही आपको हमारे साथ परामर्श कर लेना चाहिये था॥ २९॥

न्यायेन राजकार्याणि यः करोति दशानन ।
न स संतप्यते पश्चान्निश्चितार्थमतिर्नृपः ॥ ३० ॥

'दशानन! जो राजा सब राजकार्य न्यायपूर्वक करता है, उसकी बुद्धि निश्चयपूर्ण होनेके कारण उसे पीछे पछताना नहीं पड़ता है॥ ३०॥

अनुपायेन कर्माणि विपरीतानि यानि च ।
क्रियमाणानि दुष्यन्ति हवींष्यप्रयतेष्विव ॥ ३१ ॥

'जो कर्म उचित उपायका अवलम्बन किये बिना ही किये जाते हैं तथा जो लोक और शास्त्रके विपरीत होते हैं, वे पापकर्म उसी तरह दोषकी प्राप्ति कराते हैं, जैसे अपवित्र आभिचारिक यज्ञोंमें होमे गये हविष्य॥ ३१॥

यः पश्चात् पूर्वकार्याणि कर्माण्यभिचिकीर्षति ।
पूर्वं चापरकार्याणि स न वेद नयानयौ ॥ ३२ ॥

'जो पहले करनेयोग्य कार्योंको पीछे करना चाहता है और पीछे करनेयोग्य काम पहले ही कर डालता है, वह नीति और अनीतिको नहीं जानता॥ ३२॥

चपलस्य तु कृत्येषु प्रसमीक्ष्याधिकं बलम् ।
छिद्रमन्ये प्रपद्यन्ते क्रौञ्चस्य खमिव द्विजाः ॥ ३३ ॥

'शत्रुलोग अपने विपक्षीके बलको अपनेसे अधिक देखकर भी यदि वह हर काममें चपल (जल्दबाज) है तो उसका दमन करनेके लिये उसी तरह उसके छिद्र ढूँढ़ते रहते हैं, जैसे पक्षी दुर्लङ्घ्य क्रौञ्च पर्वतको लाँघकर आगे बढ़नेके लिये उसके (उस) छिद्रका[१] आश्रय लेते हैं (जिसे कुमार कार्तिकेयने अपनी शक्तिका प्रहार करके बनाया था)॥ ३३॥

त्वयेदं महदारब्धं कार्यमप्रतिचिन्तितम् ।
दिष्ट्या त्वां नावधीद् रामो विषमिश्रमिवामिषम् ॥ ३४ ॥

'महाराज! तुमने भावी परिणामका विचार किये बिना ही यह बहुत बड़ा दुष्कर्म आरम्भ किया है। जैसे विषमिश्रित भोजन खानेवालेके प्राण हर लेता है, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजी तुम्हारा वध कर डालेंगे। उन्होंने अभीतक तुम्हें मार नहीं डाला, इसे अपने लिये सौभाग्यकी बात समझो॥ ३४॥

तस्मात् त्वया समारब्धं कर्म ह्यप्रतिमं परैः ।
अहं समीकरिष्यामि हत्वा शत्रूंस्तवानघ ॥ ३५ ॥

'अनघ! यद्यपि तुमने शत्रुओंके साथ अनुचित कर्म आरम्भ किया है, तथापि मैं तुम्हारे शत्रुओंका संहार करके सबको ठीक कर दूँगा॥ ३५॥

अहमुत्सादयिष्यामि शत्रूंस्तव निशाचर ।
यदि शक्रविवस्वन्तौ यदि पावकमारुतौ ।
तावहं योधयिष्यामि कुबेरवरुणावपि ॥ ३६ ॥

'निशाचर! तुम्हारे शत्रु यदि इन्द्र, सूर्य, अग्नि, वायु, कुबेर और वरुण भी हों तो मैं उनके साथ युद्ध करूँगा और तुम्हारे सभी शत्रुओंको उखाड़ फेंकूँगा॥ ३६॥

गिरिमात्रशरीरस्य महापरिघयोधिनः ।
नर्दतस्तीक्ष्णदंष्ट्रस्य बिभीयाद् वै पुरंदरः ॥ ३७ ॥

'मैं पर्वतके समान विशाल एवं तीखी दाढ़ोंसे युक्त शरीर धारण करके महान् परिघ हाथमें ले समरभूमिमें जूझता हुआ जब गर्जना करूँगा, उस समय देवराज इन्द्र भी भयभीत हो जायँगे॥ ३७॥

पुनर्मां स द्वितीयेन शरेण निहनिष्यति ।
ततोऽहं तस्य पास्यामि रुधिरं काममाश्वस ॥ ३८ ॥

'राम मुझे एक बाणसे मारकर दूसरे बाणसे मारने लगेंगे, उसी बीचमें मैं उनका खून पी लूँगा। इसलिये तुम पूर्णतः निश्चिन्त हो जाओ॥ ३८॥

वधेन वै दाशरथेः सुखावहं
जयं तवाहर्तुमहं यतिष्ये ।
हत्वा च रामं सह लक्ष्मणेन
खादामि सर्वान् हरियूथमुख्यान् ॥ ३९ ॥

'मैं दशरथनन्दन श्रीरामका वध करके तुम्हारे लिये सुखदायिनी विजय सुलभ करानेका प्रयत्न करूँगा। लक्ष्मणसहित

१. कुमार कार्तिकेयने अपनी शक्तिके द्वारा क्रौञ्चपर्वतको विदीर्ण करके उसमें छेद कर दिया था—यह प्रसंग महाभारतमें आया है। (महा० शल्य प० ४६। ८४)

रामको मारकर समस्त वानरयूथपतियोंको खा जाऊँगा ॥ ३९ ॥

रमस्व कामं पिब चाग्र्यवारुणीं
कुरुष्व कार्याणि हितानि विज्वरः ।
मया तु रामे गमिते यमक्षयं
चिराय सीता वशगा भविष्यति ॥ ४० ॥

'तुम मौजसे विहार करो। उत्तम वारुणीका पान करो और निश्चिन्त होकर अपने लिये हितकर कार्य करते रहो। मेरेद्वारा रामके यमलोक भेज दिये जानेपर सीता चिरकालके लिये तुम्हारे अधीन हो जायगी' ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें बारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १२ ॥

—★—

त्रयोदशः सर्गः

महापार्श्वका रावणको सीतापर बलात्कारके लिये उकसाना और रावणका शापके कारण अपनेको ऐसा करनेमें असमर्थ बताना तथा अपने पराक्रमके गीत गाना

रावणं क्रुद्धमाज्ञाय महापार्श्वो महाबलः ।
मुहूर्तमनुसंचिन्त्य प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

तब रावणको कुपित हुआ जान महाबली महापार्श्वने दो घड़ीतक कुछ सोच-विचार करनेके बाद हाथ जोड़कर कहा— ॥ १ ॥

यः खल्वपि वनं प्राप्य मृगव्यालनिषेवितम् ।
न पिबेन्मधु सम्प्राप्य स नरो बालिशो भवेत् ॥ २ ॥

'जो हिंसक पशुओं और सर्पोंसे भरे हुए दुर्गम वनमें जाकर वहाँ पीने योग्य मधु पाकर भी उसे पीता नहीं है, वह पुरुष मूर्ख ही है ॥ २ ॥

ईश्वरस्येश्वरः कोऽस्ति तव शत्रुनिबर्हण ।
रमस्व सह वैदेह्या शत्रूनाक्रम्य मूर्धसु ॥ ३ ॥

'शत्रुसूदन महाराज ! आप तो स्वयं ही ईश्वर हैं। आपका ईश्वर कौन है? आप शत्रुओंके सिरपर पैर रखकर विदेहकुमारी सीताके साथ रमण कीजिये ॥ ३ ॥

बलात् कुक्कुटवृत्तेन प्रवर्तस्व महाबल ।
आक्रम्याक्रम्य सीतां वै तां भुङ्क्ष्व च रमस्व च ॥ ४ ॥

'महाबली वीर! आप कुक्कुटोंके बर्तावको अपनाकर सीताके साथ बलात्कार कीजिये। बारंबार आक्रमण करके उनके साथ रमण एवं उपभोग कीजिये ॥ ४ ॥

लब्धकामस्य ते पश्चादागमिष्यति किं भयम् ।
प्राप्तमप्राप्तकालं वा सर्वं प्रतिविधास्यसे ॥ ५ ॥

'जब आपका मनोरथ सफल हो जायगा, तब फिर आपपर कौन-सा भय आयेगा? यदि वर्तमान एवं भविष्यकालमें कोई भय आया भी तो उस समस्त भयका यथोचित प्रतीकार किया जायगा ॥ ५ ॥

कुम्भकर्णः सहास्माभिरिन्द्रजिच्च महाबलः ।
प्रतिषेधयितुं शक्तौ सवज्रमपि वज्रिणम् ॥ ६ ॥

'हमलोगोंके साथ यदि महाबली कुम्भकर्ण और इन्द्रजित् खड़े हो जायँ तो ये दोनों वज्रधारी इन्द्रको भी आगे बढ़नेसे रोक सकते हैं ॥ ६ ॥

उपप्रदानं सान्त्वं वा भेदं वा कुशलैः कृतम् ।
समतिक्रम्य दण्डेन सिद्धिमर्थेषु रोचये ॥ ७ ॥

'मैं तो नीतिनिपुण पुरुषोंके द्वारा प्रयुक्त साम, दान और भेदको छोड़कर केवल दण्डके द्वारा काम बना लेना ही अच्छा समझता हूँ ॥ ७ ॥

इह प्राप्तान् वयं सर्वाञ्छत्रूंस्तव महाबल ।
वशे शस्त्रप्रतापेन करिष्यामो न संशयः ॥ ८ ॥

'महाबली राक्षसराज ! यहाँ आपके जो भी शत्रु आयेंगे, उन्हें हमलोग अपने शस्त्रोंके प्रतापसे वशमें कर लेंगे, इसमें संशय नहीं है' ॥ ८ ॥

एवमुक्तस्तदा राजा महापार्श्वेन रावणः ।
तस्य सम्पूजयन् वाक्यमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

महापार्श्वके ऐसा कहनेपर उस समय लङ्काके राजा रावणने उसके वचनोंकी प्रशंसा करते हुए इस प्रकार कहा— ॥ ९ ॥

महापार्श्व निबोध त्वं रहस्यं किंचिदात्मनः ।
चिरवृत्तं तदाख्यास्ये यदवाप्तं पुरा मया ॥ १० ॥

'महापार्श्व ! बहुत दिन हुए पूर्वकालमें एक गुप्त घटना घटित हुई थी—मुझे शाप प्राप्त हुआ था। अपने जीवनके उस गुप्त रहस्यको आज मैं बता रहा हूँ, उसे सुनो ॥ १० ॥

पितामहस्य भवनं गच्छन्तीं पुञ्जिकस्थलाम् ।
चञ्चूर्यमाणामद्राक्षमाकाशेऽग्निशिखामिव ॥ ११ ॥

'एक बार मैंने आकाशमें अग्नि-शिखाके समान प्रकाशित होती हुई पुञ्जिकस्थला नामकी अप्सराको देखा, जो पितामह ब्रह्माजीके भवनकी ओर जा रही थी। वह अप्सरा मेरे भयसे लुकती-छिपती आगे बढ़ रही थी ॥ ११ ॥

सा प्रसह्य मया भुक्ता कृता विवसना ततः ।
स्वयम्भूभवनं प्राप्ता लोलिता नलिनी यथा ॥ १२ ॥

'मैंने बलपूर्वक उसके वस्त्र उतार दिये और हठात् उसका उपभोग किया। इसके बाद वह ब्रह्माजीके भवनमें गयी। उसकी दशा हाथीद्वारा मसलकर फेंकी हुई कमलिनीके समान हो रही थी॥ १२॥

तच्च तस्य तथा मन्ये ज्ञातमासीन्महात्मनः।
अथ संकुपितो वेधा मामिदं वाक्यमब्रवीत्॥ १३॥

'मैं समझता हूँ कि मेरेद्वारा उसकी जो दुर्दशा की गयी थी, वह पितामह ब्रह्माजीको ज्ञात हो गयी। इससे वे अत्यन्त कुपित हो उठे और मुझसे इस प्रकार बोले—॥ १३॥

अद्यप्रभृति यामन्यां बलान्नारीं गमिष्यसि।
तदा ते शतधा मूर्धा फलिष्यति न संशयः॥ १४॥

''आजसे यदि तू किसी दूसरी नारीके साथ बलपूर्वक समागम करेगा तो तेरे मस्तकके सौ टुकड़े हो जायँगे, इसमें संशय नहीं है''॥ १४॥

इत्यहं तस्य शापस्य भीतः प्रसभमेव ताम्।
नारोहये बलात् सीतां वैदेहीं शयने शुभे॥ १५॥

'इस तरह मैं ब्रह्माजीके शापसे भयभीत हूँ। इसीलिये अपनी शुभ-शय्यापर विदेहकुमारी सीताको हठात् एवं बलपूर्वक नहीं चढ़ाता हूँ॥ १५॥

सागरस्येव मे वेगो मारुतस्येव मे गतिः।
नैतद् दाशरथिर्वेद ह्यासादयति तेन माम्॥ १६॥

'मेरा वेग समुद्रके समान है और मेरी गति वायुके तुल्य है। इस बातको दशरथनन्दन राम नहीं जानते हैं, इसीसे वे मुझपर चढ़ाई करते हैं॥ १६॥

को हि सिंहमिवासीनं सुप्तं गिरिगुहाशये।
क्रुद्धं मृत्युमिवासीनं प्रबोधयितुमिच्छति॥ १७॥

'अन्यथा पर्वतकी कन्दरामें सुखपूर्वक सोये हुए सिंहके समान तथा कुपित होकर बैठी हुई मृत्युके तुल्य भयंकर मुझ रावणको कौन जगाना चाहेगा?॥ १७॥

न मत्तो निर्गतान् बाणान् द्विजिह्वान् पन्नगानिव।
रामः पश्यति संग्रामे तेन मामभिगच्छति॥ १८॥

'मेरे धनुषसे छूटे हुए दो जीभवाले सर्पोंके समान भयंकर बाणोंको समराङ्गणमें श्रीरामने कभी देखा नहीं है, इसीलिये वे मुझपर चढ़े आ रहे हैं॥ १८॥

क्षिप्रं वज्रसमैर्बाणैः शतधा कार्मुकच्युतैः।
राममादीपयिष्यामि उल्काभिरिव कुञ्जरम्॥ १९॥

'मैं अपने धनुषसे शीघ्रतापूर्वक छूटे हुए सैकड़ों वज्रसदृश बाणोंद्वारा रामको उसी प्रकार जला डालूँगा, जैसे लोग उल्काओंद्वारा हाथीको उसे भगानेके लिये जलाते हैं॥ १९॥

तच्चास्य बलमादास्ये बलेन महता वृतः।
उदितः सविता काले नक्षत्राणां प्रभामिव॥ २०॥

'जैसे प्रातःकाल उदित हुए सूर्यदेव नक्षत्रोंकी प्रभाको छीन लेते हैं, उसी प्रकार अपनी विशाल सेनासे घिरा हुआ मैं उनकी उस वानर-सेनाको आत्मसात् कर लूँगा॥ २०॥

न वासवेनापि सहस्रचक्षुषा
युधास्मि शक्यो वरुणेन वा पुनः।
मया त्वियं बाहुबलेन निर्जिता
पुरा पुरी वैश्रवणेन पालिता॥ २१॥

युद्धमें तो हजार नेत्रोंवाले इन्द्र और वरुण भी मेरा सामना नहीं कर सकते। पूर्वकालमें कुबेरके द्वारा पालित हुई इस लङ्कापुरीको मैंने अपने बाहुबलसे ही जीता था'॥ २१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे त्रयोदशः सर्गः॥ १३॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें तेरहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १३॥

—★—

चतुर्दशः सर्गः

विभीषणका रामको अजेय बताकर उनके पास सीताको लौटा देनेकी सम्मति देना

निशाचरेन्द्रस्य निशम्य वाक्यं
स कुम्भकर्णस्य च गर्जितानि।
विभीषणो राक्षसराजमुख्य-
मुवाच वाक्यं हितमर्थयुक्तम्॥ १॥

राक्षसराज रावणके इन वचनों और कुम्भकर्णकी गर्जनाओंको सुनकर विभीषणने रावणसे ये सार्थक और हितकारी वचन कहे—॥ १॥

वृतो हि बाह्वन्तरभोगराशि-
श्चिन्ताविषः सुस्मिततीक्ष्णदंष्ट्रः।
पञ्चाङ्गुलीपञ्चशिरोऽतिकायः
सीतामहाहिस्तव केन राजन्॥ २॥

'राजन्! सीता नामधारी विशालकाय महान् सर्पको किसने आपके गलेमें बाँध दिया है? उसके हृदयका भाग ही उस सर्पका शरीर है, चिन्ता ही विष है, सुन्दर मुसकान ही तीखी दाढ़ है और प्रत्येक हाथकी पाँच-पाँच अङ्गुलियाँ ही इस सर्पके पाँच सिर हैं॥ २॥

यावन्न लङ्कां समभिद्रवन्ति
बलीमुखाः पर्वतकूटमात्राः।
दंष्ट्रायुधाश्चैव नखायुधाश्च
प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली॥ ३॥

'जबतक पर्वत-शिखरके समान ऊँचे वानर, जिनके दाँत और नख ही आयुध हैं, लङ्कापर चढ़ाई नहीं करते, तभीतक

आप दशरथनन्दन श्रीरामके हाथमें मिथिलेशकुमारी सीताको सौंप दीजिये ॥ ३ ॥

यावन्न गृह्णन्ति शिरांसि बाणा
रामेरिता राक्षसपुंगवानाम्।
वज्रोपमा वायुसमानवेगाः
प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली ॥ ४ ॥

'जबतक श्रीरामचन्द्रजीके चलाये हुए वायुके समान वेगशाली तथा वज्रतुल्य बाण राक्षसशिरोमणियोंके सिर नहीं काट रहे हैं, तभीतक आप दशरथनन्दन श्रीरामकी सेवामें सीताजीको समर्पित कर दीजिये ॥ ४ ॥

न कुम्भकर्णेन्द्रजितौ च राज-
स्तथा महापार्श्वमहोदरौ वा।
निकुम्भकुम्भौ च तथातिकायः
स्थातुं समर्था युधि राघवस्य ॥ ५ ॥

'राजन्! ये कुम्भकर्ण, इन्द्रजित्, महापार्श्व, महोदर, निकुम्भ, कुम्भ और अतिकाय—कोई भी समराङ्गणमें श्रीरघुनाथजीके सामने नहीं ठहर सकते हैं ॥ ५ ॥

जीवंस्तु रामस्य न मोक्ष्यसे त्वं
गुप्तः सवित्राप्यथवा मरुद्भिः।
न वासवस्याङ्कगतो न मृत्यो-
र्नभो न पातालमनुप्रविष्टः ॥ ६ ॥

'यदि सूर्य या वायु आपकी रक्षा करें, इन्द्र या यम आपको गोदमें छिपा लें अथवा आप आकाश या पातालमें घुस जायँ तो भी श्रीरामके हाथसे जीवित नहीं बच सकेंगे' ॥ ६ ॥

निशम्य वाक्यं तु विभीषणस्य
ततः प्रहस्तो वचनं बभाषे।
न नो भयं विद्म न दैवतेभ्यो
न दानवेभ्योऽप्यथवा कदाचित् ॥ ७ ॥

विभीषणकी यह बात सुनकर प्रहस्तने कहा—'हम देवताओं अथवा दानवोंसे कभी नहीं डरते। भय क्या वस्तु है? यह हम जानते ही नहीं हैं ॥ ७ ॥

न यक्षगन्धर्वमहोरगेभ्यो
भयं न संख्ये पतगोरगेभ्यः।
कथं नु रामाद् भविता भयं नो
नरेन्द्रपुत्रात् समरे कदाचित् ॥ ८ ॥

'हमें युद्धमें यक्षों, गन्धर्वों, बड़े-बड़े नागों, पक्षियों और सर्पोंसे भी भय नहीं होता है; फिर समराङ्गणमें राजकुमार रामसे हमें कभी भी कैसे भय होगा?' ॥ ८ ॥

प्रहस्तवाक्यं त्वहितं निशम्य
विभीषणो राजहितानुकाङ्क्षी।
ततो महार्थं वचनं बभाषे
धर्मार्थकामेषु निविष्टबुद्धिः ॥ ९ ॥

विभीषण राजा रावणके सच्चे हितैषी थे। उनकी बुद्धिका धर्म, अर्थ और काममें अच्छा प्रवेश था। उन्होंने प्रहस्तके अहितकर वचन सुनकर यह महान् अर्थसे युक्त बात कही— ॥ ९ ॥

प्रहस्त राजा च महोदरश्च
त्वं कुम्भकर्णश्च यथार्थजातम्।
ब्रवीत रामं प्रति तन्न शक्यं
यथा गतिः स्वर्गमधर्मबुद्धेः ॥ १० ॥

'प्रहस्त! महाराज रावण, महोदर, तुम और कुम्भकर्ण—श्रीरामके प्रति जो कुछ कह रहे हो, वह सब तुम्हारे किये नहीं हो सकता। ठीक उसी तरह, जैसे पापात्मा पुरुषकी स्वर्गमें पहुँच नहीं हो सकती है ॥ १० ॥

वधस्तु रामस्य मया त्वया च
प्रहस्त सर्वैरपि राक्षसैर्वा।
कथं भवेदर्थविशारदस्य
महार्णवं तर्तुमिवाप्लवस्य ॥ ११ ॥

'प्रहस्त! श्रीराम अर्थविशारद हैं—समस्त कार्योंके साधनमें कुशल हैं। जैसे बिना जहाज या नौकाके कोई महासागरको पार नहीं कर सकता, उसी प्रकार मुझसे, तुमसे अथवा समस्त राक्षसोंसे भी श्रीरामका वध होना कैसे सम्भव है? ॥ ११ ॥

धर्मप्रधानस्य महारथस्य
इक्ष्वाकुवंशप्रभवस्य राज्ञः।
पुरोऽस्य देवाश्च तथाविधस्य
कृत्येषु शक्तस्य भवन्ति मूढाः ॥ १२ ॥

'श्रीराम धर्मको ही प्रधान वस्तु मानते हैं। उनका प्रादुर्भाव इक्ष्वाकुकुलमें हुआ है। वे सभी कार्योंके सम्पादनमें समर्थ और महारथी वीर हैं (उन्होंने विराध, कबन्ध और वाली-जैसे वीरोंको बात-की-बातमें यमलोक भेज दिया था)। ऐसे प्रसिद्ध पराक्रमी राजा श्रीरामसे सामना पड़नेपर तो देवता भी अपनी हेकड़ी भूल जायँगे (फिर हमारी-तुम्हारी तो बात ही क्या है?) ॥ १२ ॥

तीक्ष्णा न तावत् तव कङ्कपत्रा
दुरासदा राघवविप्रमुक्ताः।
भित्त्वा शरीरं प्रविशन्ति बाणाः
प्रहस्त तेनैव विकत्थसे त्वम् ॥ १३ ॥

'प्रहस्त! अभीतक श्रीरामके चलाये हुए कङ्कपत्रयुक्त, दुर्जय एवं तीखे बाण तुम्हारे शरीरको विदीर्ण करके भीतर नहीं घुसे हैं; इसीलिये तुम बढ़-बढ़कर बोल रहे हो ॥ १३ ॥

भित्त्वा न तावत् प्रविशन्ति कायं
प्राणान्तिकास्तेऽशनितुल्यवेगाः।
शिताः शरा राघवविप्रमुक्ताः
प्रहस्त तेनैव विकत्थसे त्वम् ॥ १४ ॥

'प्रहस्त! श्रीरामके बाण वज्रके समान वेगशाली होते हैं। वे प्राणोंका अन्त करके ही छोड़ते हैं। श्रीरघुनाथजीके धनुषसे

छूटे हुए वे तीखे बाण तुम्हारे शरीरको फोड़कर अंदर नहीं घुसे हैं; इसीलिये तुम इतनी शेखी बघारते हो॥ १४॥

न रावणो नातिबलस्त्रिशीर्षो
न कुम्भकर्णस्य सुतो निकुम्भः।
न चेन्द्रजिद् दाशरथिं प्रवोढुं
त्वं वा रणे शक्रसमं समर्थः॥ १५॥

'रावण, महाबली त्रिशिरा, कुम्भकर्णकुमार निकुम्भ और इन्द्रविजयी मेघनाद भी समराङ्गणमें इन्द्रतुल्य तेजस्वी दशरथनन्दन श्रीरामका वेग सहन करनेमें समर्थ नहीं हैं॥ १५॥

देवान्तको वापि नरान्तको वा
तथातिकायोऽतिरथो महात्मा।
अकम्पनश्चाद्रिसमानसारः
स्थातुं न शक्ता युधि राघवस्य॥ १६॥

'देवान्तक, नरान्तक, अतिकाय, महाकाय, अतिरथ तथा पर्वतके समान शक्तिशाली अकम्पन भी युद्धभूमिमें श्रीरघुनाथजीके सामने नहीं ठहर सकते हैं॥ १६॥

अयं च राजा व्यसनाभिभूतो
मित्रैरमित्रप्रतिमैर्भवद्भिः।
अन्वास्यते राक्षसनाशनार्थे
तीक्ष्णः प्रकृत्या ह्यसमीक्ष्यकारी॥ १७॥

'ये महाराज रावण तो व्यसनोंके[1] वशीभूत हैं, इसलिये सोच-विचारकर काम नहीं करते हैं। इसके सिवा ये स्वभावसे ही कठोर हैं तथा राक्षसोंके सत्यानाशके लिये तुम-जैसे शत्रुतुल्य मित्रोंकी सेवामें उपस्थित रहते हैं॥ १७॥

अनन्तभोगेन सहस्रमूर्ध्ना
नागेन भीमेन महाबलेन।
बलात् परिक्षिप्तमिमं भवन्तो
राजानमुत्क्षिप्य विमोचयन्तु॥ १८॥

'अनन्त शारीरिक बलसे सम्पन्न, सहस्र फनवाले और महान् बलशाली भयंकर नागने इस राजाको बलपूर्वक अपने शरीरसे आवेष्टित कर रखा है। तुम सबलोग मिलकर इसे बन्धनसे बाहर करके प्राणसंकटसे बचाओ (अर्थात् श्रीरामचन्द्रजीके साथ वैर बाँधना महान् सर्पके शरीरसे आवेष्टित होनेके समान है। इस भावको व्यक्त करनेके कारण यहाँ निदर्शना अलङ्कार व्यंग्य है)॥ १८॥

यावद्धि केशग्रहणात् सुहृद्भिः
समेत्य सर्वैः परिपूर्णकामैः।
निगृह्य राजा परिरक्षितव्यो
भूतैर्यथा भीमबलैर्गृहीतः॥ १९॥

'इस राजासे अबतक आपलोगोंकी सभी कामनाएँ पूर्ण हुई हैं। आप सब लोग इसके हितैषी सुहृद् हैं। अतः जैसे भयंकर बलशाली भूतोंसे गृहीत हुए पुरुषको उसके हितैषी आत्मीयजन उसके प्रति बलात् करके भी उसकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार आप सब लोग एकमत होकर—आवश्यकता हो तो इसके केश पकड़कर भी इसे अनुचित मार्गपर जानेसे रोकें और सब प्रकारसे इसकी रक्षा करें॥ १९॥

सुवारिणा राघवसागरेण
प्रच्छाद्यमानस्तरसा भवद्भिः।
युक्तस्त्वयं तारयितुं समेत्य
काकुत्स्थपातालमुखे पतन् सः॥ २०॥

'उत्तम चरित्ररूपी जलसे परिपूर्ण श्रीरघुनाथरूपी समुद्र इसे डुबो रहा है अथवा यों समझो कि यह श्रीरामरूपी पातालके गहरे गर्तमें गिर रहा है। ऐसी दशामें तुम सब लोगोंको मिलकर इसका उद्धार करना चाहिये॥ २०॥

इदं पुरस्यास्य सराक्षसस्य
राज्ञश्च पथ्यं ससुहृज्जनस्य।
सम्यग्घि वाक्यं स्वमतं ब्रवीमि
नरेन्द्रपुत्राय ददातु मैथिलीम्॥ २१॥

'मैं तो राक्षसोंसहित इस सारे नगरके और सुहृदोंसहित स्वयं महाराजके हितके लिये अपनी यही उत्तम सम्मति देता हूँ कि 'ये राजकुमार श्रीरामके हाथोंमें मिथिलेशकुमारी सीताको सौंप दें'॥ २१॥

परस्य वीर्यं स्वबलं च बुद्ध्वा
स्थानं क्षयं चैव तथैव वृद्धिम्।
तथा स्वपक्षेऽप्यनुमृश्य बुद्ध्या
वदेत् क्षमं स्वामिहितं स मन्त्री॥ २२॥

'वास्तवमें सच्चा मन्त्री वही है जो अपने और शत्रु-पक्षके बल-पराक्रमको समझकर तथा दोनों पक्षोंकी स्थिति, हानि और वृद्धिका अपने बुद्धिके द्वारा विचार करके जो स्वामीके लिये हितकर और उचित हो वही बात कहे'॥ २२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे चतुर्दशः सर्गः॥ १४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें चौदहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १४॥

———★———

१. राजाओंमें सात व्यसन माने गये हैं—

वाग्दण्डयोस्तु पारुष्यमर्थदूषणमेव च।
पानं स्त्री मृगया द्यूतं व्यसनं सप्तधा प्रभो॥

(कामन्दक नीतिका वचन गोविन्दराजकी टीका रामायण-भूषणसे) वाणी और दण्डकी कठोरता, धनका अपव्यय, मद्यपान, स्त्री, मृगया और द्यूत—ये राजाके सात प्रकारके व्यसन हैं।

पञ्चदशः सर्गः

इन्द्रजितद्वारा विभीषणका उपहास तथा विभीषणका उसे फटकारकर सभामें अपनी उचित सम्मति देना

बृहस्पतेस्तुल्यमतेर्वचस्त-
न्निशम्य यत्नेन विभीषणस्य ।
ततो महात्मा वचनं बभाषे
तत्रेन्द्रजिन्नैर्ऋतयूथमुख्यः ॥ १ ॥

विभीषण बृहस्पतिके समान बुद्धिमान् थे। उनके वचनोंको जैसे-तैसे बड़े कष्टसे सुनकर राक्षसयूथपतियोंमें प्रधान महाकाय इन्द्रजित्ने वहाँ यह बात कही— ॥ १ ॥

किं नाम ते तात कनिष्ठ वाक्य-
मनर्थकं वै बहुभीतवच्च ।
अस्मिन् कुले योऽपि भवेन्न जातः
सोऽपीदृशं नैव वदेन्न कुर्यात् ॥ २ ॥

'मेरे छोटे चाचा! आप बहुत डरे हुएकी भाँति यह कैसी निरर्थक बात कह रहे हैं? जिसने इस कुलमें जन्म न लिया होगा, वह पुरुष भी न तो ऐसी बात कहेगा और न ऐसा काम ही करेगा ॥ २ ॥

सत्त्वेन वीर्येण पराक्रमेण
धैर्येण शौर्येण च तेजसा च ।
एकः कुलेऽस्मिन् पुरुषो विमुक्तो
विभीषणस्तात कनिष्ठ एषः ॥ ३ ॥

'पिताजी! हमारे इस राक्षसकुलमें एकमात्र ये छोटे चाचा विभीषण ही बल, वीर्य, पराक्रम, धैर्य, शौर्य और तेजसे रहित हैं ॥ ३ ॥

किं नाम तौ मानुषराजपुत्रा-
वस्माकमेकेन हि राक्षसेन ।
सुप्राकृतेनापि निहन्तुमेतौ
शक्यौ कुतो भीषयसे स्म भीरो ॥ ४ ॥

'वे दोनों मानव राजकुमार क्या हैं? उन्हें तो हमारा एक साधारण-सा राक्षस भी मार सकता है; फिर मेरे डरपोक चाचा! आप हमें क्यों डरा रहे हैं? ॥ ४ ॥

त्रिलोकनाथो ननु देवराजः
शक्रो मया भूमितले निविष्टः ।
भयार्पिताश्चापि दिशः प्रपन्नाः
सर्वे तदा देवगणाः समग्राः ॥ ५ ॥

'मैंने तीनों लोकोंके स्वामी देवराज इन्द्रको भी स्वर्गसे हटाकर इस भूतलपर ला बिठाया था। उस समय सारे देवताओंने भयभीत हो भागकर सम्पूर्ण दिशाओंकी शरण ली थी ॥ ५ ॥

ऐरावतो निःस्वनमुन्नदन् स
निपातितो भूमितले मया तु ।
विकृष्य दन्तौ तु मया प्रसह्य
वित्रासिता देवगणाः समग्राः ॥ ६ ॥

'मैंने हठपूर्वक ऐरावत हाथीके दोनों दाँत उखाड़कर उसे स्वर्गसे पृथ्वीपर गिरा दिया था। उस समय वह जोर-जोरसे चिग्घाड़ रहा था। अपने इस पराक्रमद्वारा मैंने सम्पूर्ण देवताओंको आतङ्कमें डाल दिया था ॥ ६ ॥

सोऽहं सुराणामपि दर्पहन्ता
दैत्योत्तमानामपि शोककर्ता ।
कथं नरेन्द्रात्मजयोर्न शक्तो
मनुष्ययोः प्राकृतयोः सुवीर्यः ॥ ७ ॥

'जो देवताओंके भी दर्पका दलन कर सकता है, बड़े-बड़े दैत्योंको भी शोकमग्न कर देनेवाला है तथा जो उत्तम बल-पराक्रमसे सम्पन्न है, वही मुझ-जैसा वीर मनुष्य-जातिके दो साधारण राजकुमारोंका सामना कैसे नहीं कर सकता है?' ॥ ७ ॥

अथेन्द्रकल्पस्य दुरासदस्य
महौजसस्तद् वचनं निशम्य ।
ततो महार्थं वचनं बभाषे
विभीषणः शस्त्रभृतां वरिष्ठः ॥ ८ ॥

इन्द्रतुल्य तेजस्वी महापराक्रमी दुर्जय वीर इन्द्रजित्की यह बात सुनकर शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ विभीषणने ये महान् अर्थसे युक्त वचन कहे— ॥ ८ ॥

न तात मन्त्रे तव निश्चयोऽस्ति
बालस्त्वमद्याप्यविपक्वबुद्धिः ।
तस्मात् त्वयाप्यात्मविनाशनाय
वचोऽर्थहीनं बहु विप्रलप्तम् ॥ ९ ॥

'तात! अभी तुम बालक हो। तुम्हारी बुद्धि कच्ची है। तुम्हारे मनमें कर्तव्य और अकर्तव्यका यथार्थ निश्चय नहीं हुआ है। इसीलिये तुम भी अपने ही विनाशके लिये बहुत-सी निरर्थक बातें बक गये हो ॥ ९ ॥

पुत्रप्रवादेन तु रावणस्य
त्वमिन्द्रजिन्मित्रमुखोऽसि शत्रुः ।
यस्येदृशं राघवतो विनाशं
निशम्य मोहादनुमन्यसे त्वम् ॥ १० ॥

'इन्द्रजित्! तुम रावणके पुत्र कहलाकर भी ऊपरसे ही उसके मित्र हो। भीतरसे तो तुम पिताके शत्रु ही जान पड़ते हो। यही कारण है कि तुम श्रीरघुनाथजीके द्वारा राक्षसराजके विनाशकी बातें सुनकर भी मोहवश उन्हींकी हाँ-में-हाँ मिला रहे हो ॥ १० ॥

त्वमेव वध्यश्च सुदुर्मतिश्च
स चापि वध्यो य इहानयत् त्वाम् ।
बालं दृढं साहसिकं च योऽद्य
प्रावेशयन्मन्त्रकृतां समीपम् ॥ ११ ॥

'तुम्हारी बुद्धि बहुत ही खोटी है। तुम स्वयं तो मार डालनेके योग्य हो ही, जो तुम्हें यहाँ बुला लाया है, वह भी वधके ही योग्य है। जिसने आज तुम-जैसे अत्यन्त दुःसाहसी बालकको इन सलाहकारोंके समीप आने दिया है, वह प्राणदण्डका ही अपराधी है॥ ११॥

मूढोऽप्रगल्भोऽविनयोपपन्न-
स्तीक्ष्णस्वभावोऽल्पमतिर्दुरात्मा।
मूर्खस्त्वमत्यन्तसुदुर्मतिश्च
त्वमिन्द्रजिद् बालतया ब्रवीषि॥ १२॥

'इन्द्रजित्! तुम अविवेकी हो। तुम्हारी बुद्धि परिपक्व नहीं है। विनय तो तुम्हें छूतक नहीं गयी है। तुम्हारा स्वभाव बड़ा तीखा और बुद्धि बहुत थोड़ी है। तुम अत्यन्त दुर्बुद्धि, दुरात्मा और मूर्ख हो। इसीलिये बालकोंकी-सी ये सिर-पैरकी बातें करते हो॥ १२॥

को ब्रह्मदण्डप्रतिमप्रकाशा-
नर्चिष्मतः कालनिकाशरूपान्।
सहेत बाणान् यमदण्डकल्पान्
समक्षमुक्तान् युधि राघवेण॥ १३॥

'भगवान् श्रीरामके द्वारा युद्धके मुहानेपर शत्रुओंके समक्ष छोड़े गये तेजस्वी बाण साक्षात् ब्रह्मदण्डके समान प्रकाशित होते हैं, कालके समान जान पड़ते हैं और यमदण्डके समान भयंकर होते हैं। भला, उन्हें कौन सह सकता है?॥ १३॥

धनानि रत्नानि सुभूषणानि
वासांसि दिव्यानि मणींश्च चित्रान्।
सीतां च रामाय निवेद्य देवीं
वसेम राजन्निह वीतशोकाः॥ १४॥

'अतः राजन्! हमलोग धन, रत्न, सुन्दर आभूषण, दिव्य वस्त्र, विचित्र मणि और देवी सीताको श्रीरामकी सेवामें समर्पित करके ही शोकरहित होकर इस नगरमें निवास कर सकते हैं'॥ १४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे पञ्चदशः सर्गः॥ १५॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें पंद्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १५॥

—★—

षोडशः सर्गः

रावणके द्वारा विभीषणका तिरस्कार और विभीषणका भी उसे फटकारकर चल देना

सुनिविष्टं हितं वाक्यमुक्तवन्तं विभीषणम्।
अब्रवीत् परुषं वाक्यं रावणः कालचोदितः॥ १॥

रावणके सिरपर काल मँडरा रहा था, इसलिये उसने सुन्दर अर्थसे युक्त और हितकर बात कहनेपर भी विभीषणसे कठोर वाणीमें कहा—॥ १॥

वसेत् सह सपत्नेन क्रुद्धेनाशीविषेण च।
न तु मित्रप्रवादेन संवसेच्छत्रुसेविना॥ २॥

'भाई! शत्रु और कुपित विषधर सर्पके साथ रहना पड़े तो रह ले; परंतु जो मित्र कहलाकर भी शत्रुकी सेवा कर रहा हो, उसके साथ कदापि न रहे॥ २॥

जानामि शीलं ज्ञातीनां सर्वलोकेषु राक्षस।
हृष्यन्ति व्यसनेष्वेते ज्ञातीनां ज्ञातयः सदा॥ ३॥

'राक्षस! सम्पूर्ण लोकोंमें सजातीय बन्धुओंका जो स्वभाव होता है, उसे मैं अच्छी तरह जानता हूँ। जातिवाले सर्वदा अपने अन्य सजातीयोंकी आपत्तियोंमें ही हर्ष मानते हैं॥ ३॥

प्रधानं साधकं वैद्यं धर्मशीलं च राक्षस।
ज्ञातयोऽप्यवमन्यन्ते शूरं परिभवन्ति च॥ ४॥

'निशाचर! जो ज्येष्ठ होनेके कारण राज्य पाकर सबमें प्रधान हो गया हो, राज्यकार्यको अच्छी तरह चला रहा हो और विद्वान्, धर्मशील तथा शूरवीर हो, उसे भी कुटुम्बीजन अपमानित करते हैं और अवसर पाकर उसे नीचा दिखानेकी भी चेष्टा करते हैं॥ ४॥

नित्यमन्योन्यसंहृष्टा व्यसनेष्वाततायिनः।
प्रच्छन्नहृदया घोरा ज्ञातयस्तु भयावहाः॥ ५॥

'जातिवाले सदा एक-दूसरेपर संकट आनेपर हर्षका अनुभव करते हैं। वे बड़े आततायी होते हैं—मौका पड़नेपर आग लगाने, जहर देने, शस्त्र चलाने, धन हड़पने और क्षेत्र तथा स्त्रीका अपहरण करनेमें भी नहीं हिचकते हैं। अपना मनोभाव छिपाये रहते हैं; अतएव क्रूर और भयंकर होते हैं॥ ५॥

श्रूयन्ते हस्तिभिर्गीताः श्लोकाः पद्मवने पुरा।
पाशहस्तान् नरान् दृष्ट्वा शृणुष्व गदतो मम॥ ६॥

'पूर्वकालकी बात है, पद्मवनमें हाथियोंने अपने हृदयके उद्गार प्रकट किये थे, जो अब भी श्लोकोंके रूपमें गाये और सुने जाते हैं। एक बार कुछ लोगोंको हाथमें फंदा लिये आते देख हाथियोंने जो बातें कही थीं, उन्हें बता रहा हूँ, मुझसे सुनो॥ ६॥

नाग्निर्नान्यानि शस्त्राणि न नः पाशा भयावहाः।
घोराः स्वार्थप्रयुक्तास्तु ज्ञातयो नो भयावहाः॥ ७॥

'हमें अग्नि, दूसरे-दूसरे शस्त्र तथा पाश भय नहीं दे सकते। हमारे लिये तो अपने स्वार्थी जाति-भाई ही भयानक और खतरेकी वस्तु हैं॥ ७॥

उपायमेते वक्ष्यन्ति ग्रहणे नात्र संशयः।
कृत्स्नाद् भयाज्ज्ञातिभयं सुकष्टं विहितं च नः॥ ८॥

'ये ही हमारे पकड़े जानेका उपाय बता देंगे, इसमें संशय नहीं; अतः सम्पूर्ण भयोंकी अपेक्षा हमें अपने जाति-भाइयोंसे प्राप्त होनेवाला भय ही अधिक कष्टदायक जान पड़ता है॥ ८॥

विद्यते गोषु सम्पन्नं विद्यते ज्ञातितो भयम्।
विद्यते स्त्रीषु चापल्यं विद्यते ब्राह्मणे तपः॥ ९॥

'जैसे गौओंमें हव्य-कव्यकी सम्पत्ति दूध होता है, स्त्रियोंमें चपलता होती है और ब्राह्मणमें तपस्या रहा करती है, उसी प्रकार जाति-भाइयोंसे भय अवश्य प्राप्त होता है॥ ९॥

ततो नेष्टमिदं सौम्य यदहं लोकसत्कृतः।
ऐश्वर्यमभिजातश्च रिपूणां मूर्ध्नि च स्थितः॥ १०॥

'अतः सौम्य! आज जो सारा संसार मेरा सम्मान करता है और मैं जो ऐश्वर्यवान्, कुलीन और शत्रुओंके सिरपर स्थित हूँ, यह सब तुम्हें अभीष्ट नहीं है॥ १०॥

यथा पुष्करपत्रेषु पतितास्तोयबिन्दवः।
न श्लेषमभिगच्छन्ति तथानार्येषु सौहृदम्॥ ११॥

'जैसे कमलके पत्तोंपर गिरी हुई पानीकी बूँदें उसमें सटती नहीं हैं, उसी प्रकार अनार्योंके हृदयमें सौहार्द नहीं टिकता है॥ ११॥

यथा शरदि मेघानां सिञ्चतामपि गर्जताम्।
न भवत्यम्बुसंक्लेदस्तथानार्येषु सौहृदम्॥ १२॥

'जैसे शरद्-ऋतुमें गर्जते और बरसते हुए मेघोंके जलसे धरती गीली नहीं होती है, उसी प्रकार अनार्योंके हृदयमें स्नेहजनित आर्द्रता नहीं होती है॥ १२॥

यथा मधुकरस्तर्षाद् रसं विन्दन्न तिष्ठति।
तथा त्वमपि तत्रैव तथानार्येषु सौहृदम्॥ १३॥

'जैसे भौंरा बड़ी चाहसे फूलोंका रस पीता हुआ भी वहाँ ठहरता नहीं है, उसी प्रकार अनार्योंमें सुहृज्जनोचित स्नेह नहीं टिक पाता है। तुम भी ऐसे ही अनार्य हो॥ १३॥

यथा मधुकरस्तर्षात् काशपुष्पं पिबन्नपि।
रसमत्र न विन्देत तथानार्येषु सौहृदम्॥ १४॥

'जैसे भ्रमर रसकी इच्छासे काशके फूलका पान करे तो उसमें रस नहीं पा सकता, उसी प्रकार अनार्योंमें जो स्नेह होता है, वह किसीके लिये लाभदायक नहीं होता॥ १४॥

यथा पूर्वं गजः स्नात्वा गृह्य हस्तेन वै रजः।
दूषयत्यात्मनो देहं तथानार्येषु सौहृदम्॥ १५॥

'जैसे हाथी पहले स्नान करके फिर सूँड़से धूल उछालकर अपने शरीरको गँदला कर लेता है, उसी प्रकार दुर्जनोंकी मैत्री दूषित होती है॥ १५॥

योऽन्यस्त्वेवंविधं ब्रूयाद् वाक्यमेतन्निशाचर।
अस्मिन् मुहूर्ते न भवेत् त्वां तु धिक् कुलपांसन॥ १६॥

'कुलकलङ्क निशाचर! तुझे धिक्कार है। यदि तेरे सिवा दूसरा कोई ऐसी बातें कहता तो उसे इसी मुहूर्तमें अपने प्राणोंसे हाथ धोना पड़ता'॥ १६॥

इत्युक्तः परुषं वाक्यं न्यायवादी विभीषणः।
उत्पपात गदापाणिश्चतुर्भिः सह राक्षसैः॥ १७॥

विभीषण न्यायानुकूल बातें कह रहे थे तो भी रावणने जब उनसे ऐसे कठोर वचन कहे, तब वे हाथमें गदा लेकर अन्य चार राक्षसोंके साथ उसी समय उछलकर आकाशमें चले गये॥ १७॥

अब्रवीच्च तदा वाक्यं जातक्रोधो विभीषणः।
अन्तरिक्षगतः श्रीमान् भ्राता वै राक्षसाधिपम्॥ १८॥

उस समय अन्तरिक्षमें खड़े हुए तेजस्वी भ्राता विभीषणने कुपित होकर राक्षसराज रावणसे कहा—॥ १८॥

स त्वं भ्रान्तोऽसि मे राजन् ब्रूहि मां यद् यदिच्छसि।
ज्येष्ठो मान्यः पितृसमो न च धर्मपथे स्थितः।
इदं हि परुषं वाक्यं न क्षमाम्यग्रजस्य ते॥ १९॥

'राजन्! तुम्हारी बुद्धि भ्रममें पड़ी हुई है। तुम धर्मके मार्गपर नहीं हो। यों तो मेरे बड़े भाई होनेके कारण तुम पिताके समान आदरणीय हो। इसलिये मुझे जो-जो चाहो, कह लो; परंतु अग्रज होनेपर भी तुम्हारे इस कठोर वचनको कदापि नहीं सह सकता॥ १९॥

सुनीतं हितकामेन वाक्यमुक्तं दशानन।
न गृह्णन्त्यकृतात्मानः कालस्य वशमागताः॥ २०॥

'दशानन! जो अजितेन्द्रिय पुरुष कालके वशीभूत हो जाते हैं, वे हितकी कामनासे कहे हुए सुन्दर नीतियुक्त वचनोंको भी नहीं ग्रहण करते हैं॥ २०॥

सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥ २१॥

'राजन्! सदा प्रिय लगनेवाली मीठी-मीठी बातें कहनेवाले लोग तो सुगमतासे मिल सकते हैं; परंतु जो सुननेमें अप्रिय किंतु परिणाममें हितकर हो, ऐसी बात कहने और सुननेवाले दुर्लभ होते हैं॥ २१॥

बद्धं कालस्य पाशेन सर्वभूतापहारिणः।
न नश्यन्तमुपेक्षे त्वां प्रदीप्तं शरणं यथा॥ २२॥

'तुम समस्त प्राणियोंका संहार करनेवाले कालके पाशमें बँध चुके हो। जिसमें आग लग गयी हो, उस घरकी भाँति नष्ट हो रहे हो। ऐसी दशामें मैं तुम्हारी उपेक्षा नहीं कर सकता था, इसीलिये तुम्हें हितकी बात सुझा दी थी॥ २२॥

दीप्तपावकसंकाशैः शितैः काञ्चनभूषणैः।
न त्वामिच्छाम्यहं द्रष्टुं रामेण निहतं शरैः॥ २३॥

'श्रीरामके सुवर्णभूषित बाण प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी और तीखे हैं। मैं श्रीरामके द्वारा उन बाणोंसे तुम्हारी मृत्यु नहीं देखना चाहता था, इसीलिये तुम्हें समझानेकी चेष्टा की थी ॥ २३ ॥

शूराश्च बलवन्तश्च कृतास्त्राश्च नरा रणे।
कालाभिपन्नाः सीदन्ति यथा वालुकसेतवः ॥ २४ ॥

'कालके वशीभूत होनेपर बड़े-बड़े शूर-वीर, बलवान् और अस्त्रवेत्ता भी बालूकी भीति या बाँधके समान नष्ट हो जाते हैं ॥ २४ ॥

तन्मर्षयतु यच्चोक्तं गुरुत्वाद्धितमिच्छता।
आत्मानं सर्वथा रक्ष पुरीं चेमां सराक्षसाम्।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि सुखी भव मया विना ॥ २५ ॥

'राक्षसराज! मैं तुम्हारा हित चाहता हूँ। इसीलिये जो कुछ भी कहा है, वह यदि तुम्हें अच्छा नहीं लगा तो उसके लिये मुझे क्षमा कर दो; क्योंकि तुम मेरे बड़े भाई हो। अब तुम अपनी तथा राक्षसोंसहित इस समस्त लङ्कापुरीकी सब प्रकारसे रक्षा करो। तुम्हारा कल्याण हो। अब मैं यहाँसे चला जाऊँगा। तुम मेरे बिना सुखी हो जाओ ॥ २५ ॥

निवार्यमाणस्य मया हितैषिणा
न रोचते ते वचनं निशाचर।
परान्तकाले हि गतायुषो नरा
हितं न गृह्णन्ति सुहृद्भिरीरितम् ॥ २६ ॥

'निशाचरराज! मैं तुम्हारा हितैषी हूँ। इसीलिये मैंने तुम्हें बार-बार अनुचित मार्गपर चलनेसे रोका है, किंतु तुम्हें मेरी बात अच्छी नहीं लगती है। वास्तवमें जिन लोगोंकी आयु समाप्त हो जाती है, वे जीवनके अन्तकालमें अपने सुहृदोंकी कही हुई हितकर बात भी नहीं मानते हैं' ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें सोलहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १६ ॥

★

सप्तदशः सर्गः

विभीषणका श्रीरामकी शरणमें आना और श्रीरामका अपने मन्त्रियोंके साथ उन्हें आश्रय देनेके विषयमें विचार करना

इत्युक्त्वा परुषं वाक्यं रावणं रावणानुजः।
आजगाम मुहूर्तेन यत्र रामः सलक्ष्मणः ॥ १ ॥

रावणसे ऐसे कठोर वचन कहकर उसके छोटे भाई विभीषण दो ही घड़ीमें उस स्थानपर आ गये, जहाँ लक्ष्मण-सहित श्रीराम विराजमान थे ॥ १ ॥

तं मेरुशिखराकारं दीप्तामिव शतह्रदाम्।
गगनस्थं महीस्थास्ते ददृशुर्वानराधिपाः ॥ २ ॥

विभीषणका शरीर सुमेरु पर्वतके शिखरके समान ऊँचा था। वे आकाशमें चमकती हुई बिजलीके समान जान पड़ते थे। पृथ्वीपर खड़े हुए वानरयूथपतियोंने उन्हें आकाशमें स्थित देखा ॥ २ ॥

ते चाप्यनुचरास्तस्य चत्वारो भीमविक्रमाः।
तेऽपि वर्मायुधोपेता भूषणोत्तमभूषिताः ॥ ३ ॥

उनके साथ जो चार अनुचर थे। वे भी बड़ा भयंकर पराक्रम प्रकट करनेवाले थे। उन्होंने भी कवच धारण करके अस्त्र-शस्त्र ले रखे थे और वे सब-के-सब उत्तम आभूषणोंसे विभूषित थे ॥ ३ ॥

स च मेघाचलप्रख्यो वज्रायुधसमप्रभः।
वरायुधधरो वीरो दिव्याभरणभूषितः ॥ ४ ॥

वीर विभीषण भी मेघ और पर्वतके समान जान पड़ते थे। वज्रधारी इन्द्रके समान तेजस्वी, उत्तम आयुधधारी और दिव्य आभूषणोंसे अलंकृत थे ॥ ४ ॥

तमात्मपञ्चमं दृष्ट्वा सुग्रीवो वानराधिपः।
वानरैः सह दुर्धर्षश्चिन्तयामास बुद्धिमान् ॥ ५ ॥

उन चारों राक्षसोंके साथ पाँचवें विभीषणको देखकर दुर्धर्ष एवं बुद्धिमान् वीर वानरराज सुग्रीवने वानरोंके साथ विचार किया ॥ ५ ॥

चिन्तयित्वा मुहूर्तं तु वानरांस्तानुवाच ह।
हनुमत्प्रमुखान् सर्वानिदं वचनमुत्तमम् ॥ ६ ॥

थोड़ी देरतक सोचकर उन्होंने हनुमान् आदि सब वानरोंसे यह उत्तम बात कही— ॥ ६ ॥

एष सर्वायुधोपेतश्चतुर्भिः सह राक्षसैः।
राक्षसोऽभ्येति पश्यध्वमस्मान् हन्तुं न संशयः ॥ ७ ॥

'देखो, सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न यह राक्षस दूसरे चार निशाचरोंके साथ आ रहा है। इसमें संदेह नहीं कि यह हमें मारनेके लिये ही आता है' ॥ ७ ॥

सुग्रीवस्य वचः श्रुत्वा सर्वे ते वानरोत्तमाः।
शालानुद्यम्य शैलांश्च इदं वचनमब्रुवन् ॥ ८ ॥

सुग्रीवकी यह बात सुनकर वे सभी श्रेष्ठ वानर सालवृक्ष और पर्वतकी शिलाएँ उठाकर इस प्रकार बोले— ॥ ८ ॥

शीघ्रं व्यादिश नो राजन् वधायैषां दुरात्मनाम्।
निपतन्ति हता यावद् धरण्यामल्पचेतनाः ॥ ९ ॥

'राजन्! आप शीघ्र ही हमें इन दुरात्माओंके वधकी आज्ञा दीजिये, जिससे ये मन्दमति निशाचर मरकर ही इस पृथ्वीपर गिरें' ॥ ९ ॥

तेषां सम्भाषमाणानामन्योन्यं स विभीषणः।
उत्तरं तीरमासाद्य खस्थ एव व्यतिष्ठत ॥ १० ॥

आपसमें वे इस प्रकार बात कर ही रहे थे कि विभीषण समुद्रके उत्तर तटपर आकर आकाशमें ही खड़े हो गये ॥ १० ॥

स उवाच महाप्राज्ञः स्वरेण महता महान्।
सुग्रीवं तांश्च सम्प्रेक्ष्य खस्थ एव विभीषणः ॥ ११ ॥

महाबुद्धिमान् महापुरुष विभीषणने आकाशमें ही स्थित रहकर सुग्रीव तथा उन वानरोंकी ओर देखते हुए उच्च स्वरसे कहा— ॥ ११ ॥

रावणो नाम दुर्वृत्तो राक्षसो राक्षसेश्वरः।
तस्याहमनुजो भ्राता विभीषण इति श्रुतः ॥ १२ ॥

'रावण नामका जो दुराचारी राक्षस निशाचरोंका राजा है, उसीका मैं छोटा भाई हूँ। मेरा नाम विभीषण है ॥ १२ ॥

तेन सीता जनस्थानाद्धृता हत्वा जटायुषम्।
रुद्धा च विवशा दीना राक्षसीभिः सुरक्षिता ॥ १३ ॥

'रावणने जटायुको मारकर जनस्थानसे सीताका अपहरण किया था। उसीने दीन एवं असहाय सीताको रोक रखा है। इन दिनों सीता राक्षसियोंके पहरेमें रहती हैं ॥ १३ ॥

तमहं हेतुभिर्वाक्यैर्विविधैश्च न्यदर्शयम्।
साधु निर्यात्यतां सीता रामायेति पुनः पुनः ॥ १४ ॥

'मैंने भाँति-भाँतिके युक्तिसंगत वचनोंद्वारा उसे बारंबार समझाया कि तुम श्रीरामचन्द्रजीकी सेवामें सीताको सादर लौटा दो—इसीमें भलाई है ॥ १४ ॥

स च न प्रतिजग्राह रावणः कालचोदितः।
उच्यमानं हितं वाक्यं विपरीत इवौषधम् ॥ १५ ॥

'यद्यपि मैंने यह बात उसके हितके लिये ही कही थी तथापि कालसे प्रेरित होनेके कारण रावणने मेरी बात नहीं मानी। ठीक उसी प्रकार, जैसे मरणासन्न पुरुष औषध नहीं लेता ॥ १५ ॥

सोऽहं परुषितस्तेन दासवच्चावमानितः।
त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः ॥ १६ ॥

'यही नहीं, उसने मुझे बहुत-सी कठोर बातें सुनायीं और दासकी भाँति मेरा अपमान किया। इसलिये मैं अपने स्त्री-पुत्रोंको वहीं छोड़कर श्रीरघुनाथजीकी शरणमें आया हूँ ॥ १६ ॥

निवेदयत मां क्षिप्रं राघवाय महात्मने।
सर्वलोकशरण्याय विभीषणमुपस्थितम् ॥ १७ ॥

'वानरो! जो समस्त लोकोंको शरण देनेवाले हैं, उन महात्मा श्रीरामचन्द्रजीके पास जाकर शीघ्र मेरे आगमनकी सूचना दो और उनसे कहो—'शरणार्थी विभीषण सेवामें उपस्थित हुआ है' ॥ १७ ॥

एतत्तु वचनं श्रुत्वा सुग्रीवो लघुविक्रमः।
लक्ष्मणस्याग्रतो रामं संरब्धमिदमब्रवीत् ॥ १८ ॥

विभीषणकी यह बात सुनकर शीघ्रगामी सुग्रीवने तुरंत ही भगवान् श्रीरामके पास जाकर लक्ष्मणके सामने ही कुछ आवेशके साथ इस प्रकार कहा— ॥ १८ ॥

प्रविष्टः शत्रुसैन्यं हि प्राप्तः शत्रुरतर्कितः।
निहन्यादन्तरं लब्ध्वा उलूको वायसानिव ॥ १९ ॥

'प्रभो! आज कोई वैरी, जो राक्षस होनेके कारण पहले हमारे शत्रु रावणकी सेनामें सम्मिलित हुआ था, अब अकस्मात् हमारी सेनामें प्रवेश पानेके लिये आ गया है। वह मौका पाकर हमें उसी तरह मार डालेगा, जैसे उल्लू कौओंका काम तमाम कर देता है ॥ १९ ॥

मन्त्रे व्यूहे नये चारे युक्तो भवितुमर्हसि।
वानराणां च भद्रं ते परेषां च परंतप ॥ २० ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले रघुनन्दन! अतः आपको अपने वानरसैनिकोंपर अनुग्रह और शत्रुओंका निग्रह करनेके लिये कार्याकार्यके विचार, सेनाकी मोर्चेबंदी, नीतियुक्त उपायोंके प्रयोग तथा गुप्तचरोंकी नियुक्ति आदिके विषयमें सतत सावधान रहना चाहिये। ऐसा करनेसे ही आपका भला होगा ॥ २० ॥

अन्तर्धानगता ह्येते राक्षसाः कामरूपिणः।
शूराश्च निकृतिज्ञाश्च तेषां जातु न विश्वसेत् ॥ २१ ॥

'ये राक्षसलोग मनमाना रूप धारण कर सकते हैं। इनमें अन्तर्धान होनेकी भी शक्ति होती है। शूरवीर और मायावी तो ये होते ही हैं। इसलिये इनका कभी विश्वास नहीं करना चाहिये ॥ २१ ॥

प्रणिधी राक्षसेन्द्रस्य रावणस्य भवेदयम्।
अनुप्रविश्य सोऽस्मासु भेदं कुर्यान्न संशयः ॥ २२ ॥

'सम्भव है यह राक्षसराज रावणका कोई गुप्तचर हो। यदि ऐसा हुआ तो हमलोगोंमें घुसकर वह फूट पैदा कर देगा, इसमें संदेह नहीं ॥ २२ ॥

अथ वा स्वयमेवैष छिद्रमासाद्य बुद्धिमान्।
अनुप्रविश्य विश्वस्ते कदाचित् प्रहरेदपि ॥ २३ ॥

'अथवा यह बुद्धिमान् राक्षस छिद्र पाकर हमारी विश्वस्त सेनाके भीतर घुसकर कभी स्वयं ही हमलोगोंपर प्रहार कर बैठेगा, इस बातकी भी सम्भावना है ॥ २३ ॥

मित्राटविबलं चैव मौलभृत्यबलं तथा।
सर्वमेतद् बलं ग्राह्यं वर्जयित्वा द्विषद्बलम् ॥ २४ ॥

'मित्रोंकी, जंगली जातियोंकी तथा परम्परागत भृत्योंकी जो सेनाएँ हैं, इन सबका संग्रह तो किया जा सकता है; किंतु जो शत्रुपक्षसे मिले हुए हों, ऐसे सैनिकोंका संग्रह कदापि नहीं करना चाहिये' ॥ २४ ॥

प्रकृत्या राक्षसो ह्येष भ्रातामित्रस्य वै प्रभो ।
आगतश्च रिपुः साक्षात् कथमस्मिंश्च विश्वसेत् ॥ २५ ॥

'प्रभो! यह स्वभावसे तो राक्षस है ही, अपनेको शत्रुका भाई भी बता रहा है। इस दृष्टिसे यह साक्षात् हमारा शत्रु ही यहाँ आ पहुँचा है, फिर इसपर कैसे विश्वास किया जा सकता है' ॥ २५ ॥

रावणस्यानुजो भ्राता विभीषण इति श्रुतः ।
चतुर्भिः सह रक्षोभिर्भवन्तं शरणं गतः ॥ २६ ॥

'रावणका छोटा भाई, जो विभीषणके नामसे प्रसिद्ध है, चार राक्षसोंके साथ आपकी शरणमें आया है' ॥ २६ ॥

रावणेन प्रणीतं हि तमवेहि विभीषणम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये क्षमं क्षमवतां वर ॥ २७ ॥

'आप उस विभीषणको रावणका भेजा हुआ ही समझें। उचित व्यापार करनेवालोंमें श्रेष्ठ रघुनन्दन! मैं तो उसको कैद कर लेना ही उचित समझता हूँ' ॥ २७ ॥

राक्षसो जिह्मया बुद्ध्या संदिष्टोऽयमिहागतः ।
प्रहर्तुं मायया छन्नो विश्वस्ते त्वयि चानघ ॥ २८ ॥

'निष्पाप श्रीराम! मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि यह राक्षस रावणके कहनेसे ही यहाँ आया है। इसकी बुद्धिमें कुटिलता भरी है। यह मायासे छिपा रहेगा तथा जब आप इसपर पूरा विश्वास करके इसकी ओरसे निश्चिन्त हो जायँगे, तब यह आपहीपर चोट कर बैठेगा। इसी उद्देश्यसे इसका यहाँ आना हुआ है' ॥ २८ ॥

वध्यतामेष तीव्रेण दण्डेन सचिवैः सह ।
रावणस्य नृशंसस्य भ्राता ह्येष विभीषणः ॥ २९ ॥

'यह महाक्रूर रावणका भाई है, इसलिये इसे कठोर दण्ड देकर इसके मन्त्रियोंसहित मार डालना चाहिये' ॥ २९ ॥

एवमुक्त्वा तु तं रामं संरब्धो वाहिनीपतिः ।
वाक्यज्ञो वाक्यकुशलं ततो मौनमुपागमत् ॥ ३० ॥

बातचीतकी कला जाननेवाले एवं रोषमें भरे हुए सेनापति सुग्रीव प्रवचनकुशल श्रीरामसे ऐसी बातें कहकर चुप हो गये ॥ ३० ॥

सुग्रीवस्य तु तद् वाक्यं श्रुत्वा रामो महाबलः ।
समीपस्थानुवाचेदं हनुमत्प्रमुखान् कपीन् ॥ ३१ ॥

सुग्रीवका वह वचन सुनकर महाबली श्रीराम अपने निकट बैठे हुए हनुमान् आदि वानरोंसे इस प्रकार बोले— ॥ ३१ ॥

यदुक्तं कपिराजेन रावणावरजं प्रति ।
वाक्यं हेतुमदत्यर्थं भवद्भिरपि च श्रुतम् ॥ ३२ ॥

'वानरो! वानरराज सुग्रीवने रावणके छोटे भाई विभीषणके विषयमें जो अत्यन्त युक्तियुक्त बातें कही हैं, वे तुम लोगोंने भी सुनी हैं' ॥ ३२ ॥

सुहृदामर्थकृच्छ्रेषु युक्तं बुद्धिमता सदा ।
समर्थेनोपसंदेष्टुं शाश्वतीं भूतिमिच्छता ॥ ३३ ॥

'मित्रोंकी स्थायी उन्नति चाहनेवाले बुद्धिमान् एवं समर्थ पुरुषको कर्तव्याकर्तव्यके विषयमें संशय उपस्थित होनेपर सदा ही अपनी सम्मति देनी चाहिये' ॥ ३३ ॥

इत्येवं परिपृष्टास्ते स्वं स्वं मतमतन्द्रिताः ।
सोपचारं तदा राममूचुः प्रियचिकीर्षवः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार सलाह पूछी जानेपर श्रीरामका प्रिय करनेकी इच्छा रखनेवाले वे सब वानर आलस्य छोड़ उत्साहित हो सादर अपना-अपना मत प्रकट करने लगे— ॥ ३४ ॥

अज्ञातं नास्ति ते किंचित् त्रिषु लोकेषु राघव ।
आत्मानं पूजयन् राम पृच्छस्यस्मान् सुहृत्तया ॥ ३५ ॥

'रघुनन्दन! तीनों लोकोंमें कोई ऐसी बात नहीं है, जो आपको ज्ञात न हो, तथापि हम आपके अपने ही अङ्ग हैं, अतः आप मित्रभावसे हमारा सम्मान बढ़ाते हुए हमसे सलाह पूछते हैं' ॥ ३५ ॥

त्वं हि सत्यव्रतः शूरो धार्मिको दृढविक्रमः ।
परीक्ष्यकारी स्मृतिमान् निसृष्टात्मा सुहृत्सु च ॥ ३६ ॥

'आप सत्यव्रती, शूरवीर, धर्मात्मा, सुदृढ़ पराक्रमी, जाँच-बूझकर काम करनेवाले, स्मरणशक्तिसे सम्पन्न और मित्रोंपर विश्वास करके उन्हींके हाथोंमें अपने-आपको सौंप देनेवाले हैं' ॥ ३६ ॥

तस्मादेकैकशस्तावद् ब्रुवन्तु सचिवास्तव ।
हेतुतो मतिसम्पन्नाः समर्थाश्च पुनः पुनः ॥ ३७ ॥

'इसलिये आपके सभी बुद्धिमान् एवं सामर्थ्यशाली सचिव एक-एक करके बारी-बारीसे अपने युक्तियुक्त विचार प्रकट करें' ॥ ३७ ॥

इत्युक्ते राघवायाथ मतिमानङ्गदोऽग्रतः ।
विभीषणपरीक्षार्थमुवाच वचनं हरिः ॥ ३८ ॥

वानरोंके ऐसा कहनेपर सबसे पहले बुद्धिमान् वानर अङ्गद विभीषणकी परीक्षाके लिये सुझाव देते हुए श्रीरघुनाथजीसे बोले— ॥ ३८ ॥

शत्रोः सकाशात् सम्प्राप्तः सर्वथा तर्क्य एव हि ।
विश्वासनीयः सहसा न कर्तव्यो विभीषणः ॥ ३९ ॥

'भगवन्! विभीषण शत्रुके पाससे आया है, इसलिये उसपर अभी शङ्का ही करनी चाहिये। उसे सहसा विश्वासपात्र नहीं बना लेना चाहिये' ॥ ३९ ॥

छादयित्वाऽऽत्मभावं हि चरन्ति शठबुद्धयः ।
प्रहरन्ति च रन्ध्रेषु सोऽनर्थः सुमहान् भवेत् ॥ ४० ॥

'बहुत-से शठतापूर्ण विचार रखनेवाले लोग अपने

मनोभावको छिपाकर विचरते रहते हैं और मौका पाते ही प्रहार कर बैठते हैं। इससे बहुत बड़ा अनर्थ हो जाता है॥ ४० ॥

अर्थानर्थौ विनिश्चित्य व्यवसायं भजेत ह।
गुणतः संग्रहं कुर्याद् दोषतस्तु विसर्जयेत्॥ ४१ ॥

'अतः गुण-दोषका विचार करके पहले यह निश्चय कर लेना चाहिये कि इस व्यक्तिसे अर्थकी प्राप्ति होगी या अनर्थकी (यह हितका साधन करेगा या अहितका)। यदि उसमें गुण हो तो उसे स्वीकार करे और यदि दोष दिखायी दे तो त्याग दे॥ ४१ ॥

यदि दोषो महांस्तस्मिंस्त्यज्यतामविशङ्कितम्।
गुणान् वापि बहून् ज्ञात्वा संग्रहः क्रियतां नृप॥ ४२ ॥

'महाराज! यदि उसमें महान् दोष हो तो निःसंदेह उसका त्याग कर देना ही उचित है। गुणोंकी दृष्टिसे यदि उसमें बहुत-से सद्गुणोंके होनेका पता लगे, तभी उस व्यक्तिको अपनाना चाहिये'॥ ४२ ॥

शरभस्त्वथ निश्चित्य सार्थं वचनमब्रवीत्।
क्षिप्रमस्मिन् नरव्याघ्र चारः प्रतिविधीयताम्॥ ४३ ॥

तदनन्तर शरभने सोच-विचारकर यह सार्थक बात कही—'पुरुषसिंह! इस विभीषणके ऊपर शीघ्र ही कोई गुप्तचर नियुक्त कर दिया जाय॥ ४३ ॥

प्रणिधाय हि चारेण यथावत् सूक्ष्मबुद्धिना।
परीक्ष्य च ततः कार्यो यथान्यायं परिग्रहः॥ ४४ ॥

'सूक्ष्म बुद्धिवाले गुप्तचरको भेजकर उसके द्वारा यथावत्‌रूपसे उसकी परीक्षा कर ली जाय। इसके बाद यथोचित रीतिसे उसका संग्रह करना चाहिये'॥ ४४ ॥

जाम्बवांस्त्वथ सम्प्रेक्ष्य शास्त्रबुद्ध्याविचक्षणः।
वाक्यं विज्ञापयामास गुणवद् दोषवर्जितम्॥ ४५ ॥

इसके बाद परम चतुर जाम्बवान्‌ने शास्त्रीय बुद्धिसे विचार करके ये गुणयुक्त दोषरहित वचन कहे—॥ ४५ ॥

बद्धवैराद्य पापाद्य राक्षसेन्द्राद् विभीषणः।
अदेशकाले सम्प्राप्तः सर्वथा शङ्क्यतामयम्॥ ४६ ॥

'राक्षसराज रावण बड़ा पापी है। उसने हमारे साथ वैर बाँध रखा है और यह विभीषण उसीके पाससे आ रहा है। वास्तवमें न तो इसके आनेका यह समय है और न स्थान ही। इसलिये इसके विषयमें सब प्रकारसे सशङ्क ही रहना चाहिये'॥ ४६ ॥

ततो मैन्दस्तु सम्प्रेक्ष्य नयापनयकोविदः।
वाक्यं वचनसम्पन्नो बभाषे हेतुमत्तरम्॥ ४७ ॥

तदनन्तर नीति और अनीतिके ज्ञाता तथा वाग्वैभवसे सम्पन्न मैन्दने सोच-विचारकर यह युक्तियुक्त उत्तम बात कही—॥ ४७ ॥

अनुजो नाम तस्यैष रावणस्य विभीषणः।
पृच्छ्यतां मधुरेणायं शनैर्नरपतीश्वर॥ ४८ ॥

'महाराज! यह विभीषण रावणका छोटा भाई ही तो है, इसलिये इससे मधुर व्यवहारके साथ धीरे-धीरे सब बातें पूछनी चाहिये॥ ४८ ॥

भावमस्य तु विज्ञाय तत्त्वतस्तं करिष्यसि।
यदि दुष्टो न दुष्टो वा बुद्धिपूर्वं नरर्षभ॥ ४९ ॥

'नरश्रेष्ठ! फिर इसके भावको समझकर आप बुद्धिपूर्वक यह ठीक-ठीक निश्चय करें कि यह दुष्ट है या नहीं। उसके बाद जैसा उचित हो, वैसा करना चाहिये'॥ ४९ ॥

अथ संस्कारसम्पन्नो हनूमान् सचिवोत्तमः।
उवाच वचनं श्लक्ष्णमर्थवन्मधुरं लघु॥ ५० ॥

तत्पश्चात् सचिवोंमें श्रेष्ठ और सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानजनित संस्कारसे युक्त हनुमान्‌जीने ये श्रवणमधुर, सार्थक, सुन्दर और संक्षिप्त वचन कहे—॥ ५० ॥

न भवन्तं मतिश्रेष्ठं समर्थं वदतां वरम्।
अतिशाययितुं शक्तो बृहस्पतिरपि ब्रुवन्॥ ५१ ॥

'प्रभो! आप बुद्धिमानोंमें उत्तम, सामर्थ्यशाली और वक्ताओंमें श्रेष्ठ हैं। यदि बृहस्पति भी भाषण दें तो वे अपनेको आपसे बढ़कर वक्ता नहीं सिद्ध कर सकते॥ ५१ ॥

न वादान्नापि संघर्षान्नाधिक्यान्न च कामतः।
वक्ष्यामि वचनं राजन् यथार्थं राम गौरवात्॥ ५२ ॥

'महाराज श्रीराम! मैं जो कुछ निवेदन करूँगा, वह वाद-विवाद या तर्क, स्पर्धा, अधिक बुद्धिमत्ताके अभिमान अथवा किसी प्रकारकी कामनासे नहीं करूँगा। मैं तो कार्यकी गुरुतापर दृष्टि रखकर जो यथार्थ समझूँगा, वही बात कहूँगा॥ ५२ ॥

अर्थानर्थनिमित्तं हि यदुक्तं सचिवैस्तव।
तत्र दोषं प्रपश्यामि क्रिया नह्युपपद्यते॥ ५३ ॥

'आपके मन्त्रियोंने जो अर्थ और अनर्थके निर्णयके लिये गुण-दोषकी परीक्षा करनेका सुझाव दिया है, उसमें मुझे दोष दिखायी देता है; क्योंकि इस समय परीक्षा लेना कदापि सम्भव नहीं है॥ ५३ ॥

ऋते नियोगात् सामर्थ्यमवबोद्धुं न शक्यते।
सहसा विनियोगोऽपि दोषवान् प्रतिभाति मे॥ ५४ ॥

'विभीषण आश्रय देनेके योग्य हैं या नहीं—इसका निर्णय उसे किसी काममें नियुक्त किये बिना नहीं हो सकता और सहसा उसे किसी काममें लगा देना भी मुझे सदोष ही प्रतीत होता है॥ ५४ ॥

चारप्रणिहितं युक्तं यदुक्तं सचिवैस्तव।
अर्थस्यासम्भवात् तत्र कारणं नोपपद्यते॥ ५५ ॥

'आपके मन्त्रियोंने जो गुप्तचर नियुक्त करनेकी बात कही है, उसका कोई प्रयोजन न होनेसे वैसा करनेका कोई युक्तियुक्त कारण नहीं दिखायी देता। (जो दूर रहता हो और जिसका वृत्तान्त ज्ञात न हो, उसीके लिये गुप्तचरकी नियुक्ति की जाती है।

जो सामने खड़ा है और स्पष्टरूपसे अपना वृत्तान्त बता रहा है, उसके लिये गुप्तचर भेजनेकी क्या आवश्यकता है? ॥ ५५ ॥

अदेशकाले सम्प्राप्त इत्ययं यद् विभीषणः ।
विवक्षा तत्र मेऽस्तीयं तां निबोध यथामति ॥ ५६ ॥

'इसके सिवा जो यह कहा गया है कि विभीषणका इस समय यहाँ आना देश-कालके अनुरूप नहीं है। उसके विषयमें भी मैं अपनी बुद्धिके अनुसार कुछ कहना चाहता हूँ। आप सुनें ॥ ५६ ॥

एष देशश्च कालश्च भवतीह यथा तथा ।
पुरुषात् पुरुषं प्राप्य तथा दोषगुणावपि ॥ ५७ ॥
दौरात्म्यं रावणे दृष्ट्वा विक्रमं च तथा त्वयि ।
युक्तमागमनं ह्यत्र सदृशं तस्य बुद्धितः ॥ ५८ ॥

'उसके यहाँ आनेका यही उत्तम देश और काल है, यह बात जिस तरह सिद्ध होती है, वैसा बता रहा हूँ। विभीषण एक नीच पुरुषके पाससे चलकर एक श्रेष्ठ पुरुषके पास आया है। उसने दोनोंके दोषों और गुणोंका भी विवेचन किया है। तत्पश्चात् रावणमें दुष्टता और आपमें पराक्रम देख वह रावणको छोड़कर आपके पास आ गया है। इसलिये उसका यहाँ आगमन सर्वथा उचित और उसकी उत्तम बुद्धिके अनुरूप है ॥ ५७-५८ ॥

अज्ञातरूपैः पुरुषैः स राजन् पृच्छ्यतामिति ।
यदुक्तमत्र मे प्रेक्षा काचिदस्ति समीक्षिता ॥ ५९ ॥

'राजन्! किसी मन्त्रीके द्वारा जो यह कहा गया है कि अपरिचित पुरुषोंद्वारा इससे सारी बातें पूछी जायँ। उसके विषयमें मेरा जाँच-बूझकर निश्चित किया हुआ विचार है, जिसे आपके सामने रखता हूँ ॥ ५९ ॥

पृच्छ्यमानो विशङ्केत सहसा बुद्धिमान् वचः ।
तत्र मित्रं प्रदुष्येत मिथ्या पृष्टं सुखागतम् ॥ ६० ॥

'यदि कोई अपरिचित व्यक्ति यह पूछेगा कि तुम कौन हो, कहाँसे आये हो? किसलिये आये हो? इत्यादि, तब कोई बुद्धिमान् पुरुष सहसा उस पूछनेवालेपर संदेह करने लगेगा और यदि उसे यह मालूम हो जायगा कि सब कुछ जानते हुए भी मुझसे झूठे ही पूछा जा रहा है, तब सुखके लिये आये हुए उस नवागत मित्रका हृदय कलुषित हो जायगा (इस प्रकार हमें एक मित्रके लाभसे वञ्चित होना पड़ेगा) ॥ ६० ॥

अशक्यं सहसा राजन् भावो बोद्धुं परस्य वै ।
अन्तरेण स्वरैर्भिन्नैर्नैपुण्यं पश्यतां भृशम् ॥ ६१ ॥

'इसके सिवा महाराज! किसी दूसरेके मनकी बातको सहसा समझ लेना असम्भव है। बीच-बीचमें स्वरभेदसे आप अच्छी तरह यह निश्चय कर लें कि यह साधुभावसे आया है या असाधुभावसे ॥ ६१ ॥

न त्वस्य ब्रुवतो जातु लक्ष्यते दुष्टभावता ।
प्रसन्नं वदनं चापि तस्मान्मे नास्ति संशयः ॥ ६२ ॥

इसकी बातचीतसे भी कभी इसका दुर्भाव नहीं लक्षित होता। इसका मुख भी प्रसन्न है। इसलिये मेरे मनमें इसके प्रति कोई संदेह नहीं है ॥ ६२ ॥

अशङ्कितमतिः स्वस्थो न शठः परिसर्पति ।
न चास्य दुष्टवागस्ति तस्मान्मे नास्ति संशयः ॥ ६३ ॥

'दुष्ट पुरुष कभी निःशङ्क एवं स्वस्थचित्त होकर सामने नहीं आ सकता। इसके सिवा इसकी वाणी भी दोषयुक्त नहीं है। अतः मुझे इसके विषयमें कोई संदेह नहीं है ॥ ६३ ॥

आकारश्छाद्यमानोऽपि न शक्यो विनिगूहितुम् ।
बलाद्धि विवृणोत्येव भावमन्तर्गतं नृणाम् ॥ ६४ ॥

'कोई अपने आकारको कितना ही क्यों न छिपाये, उसके भीतरका भाव कभी छिप नहीं सकता। बाहरका आकार पुरुषोंके आन्तरिक भावको बलात् प्रकट कर देता है ॥ ६४ ॥

देशकालोपपन्नं च कार्यं कार्यविदां वर ।
सफलं कुरुते क्षिप्रं प्रयोगेणाभिसंहितम् ॥ ६५ ॥

'कार्यवेत्ताओंमें श्रेष्ठ रघुनन्दन! विभीषणका यहाँ आगमनरूप जो कार्य है, वह देश-कालके अनुरूप ही है। ऐसा कार्य यदि योग्य पुरुषके द्वारा सम्पादित हो तो अपने-आपको शीघ्र सफल बनाता है ॥ ६५ ॥

उद्योगं तव सम्प्रेक्ष्य मिथ्यावृत्तं च रावणम् ।
वालिनं च हतं श्रुत्वा सुग्रीवं चाभिषेचितम् ॥ ६६ ॥
राज्यं प्रार्थयमानस्तु बुद्धिपूर्वमिहागतः ।
एतावत् तु पुरस्कृत्य युज्यते तस्य संग्रहः ॥ ६७ ॥

'आपके उद्योग, रावणके मिथ्याचार, वालीके वध और सुग्रीवके राज्याभिषेकका समाचार जान-सुनकर राज्य पानेकी इच्छासे यह समझ-बूझकर ही यहाँ आपके पास आया है (इसके मनमें यह विश्वास है कि शरणागतवत्सल दयालु श्रीराम अवश्य ही मेरी रक्षा करेंगे और राज्य भी दे देंगे)। इन्हीं सब बातोंको दृष्टिमें रखकर विभीषणका संग्रह करना—उसे अपना लेना मुझे उचित जान पड़ता है ॥ ६६-६७ ॥

यथाशक्ति मयोक्तं तु राक्षसस्यार्जवं प्रति ।
प्रमाणं त्वं हि शेषस्य श्रुत्वा बुद्धिमतां वर ॥ ६८ ॥

'बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ रघुनाथ! इस प्रकार इस राक्षसकी सरलता और निर्दोषताके विषयमें मैंने यथाशक्ति निवेदन किया। इसे सुनकर आगे आप जैसा उचित समझें, वैसा करें' ॥ ६८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें सत्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १७ ॥

—★—

अष्टादशः सर्गः

भगवान् श्रीरामका शरणागतकी रक्षाका महत्त्व एवं अपना व्रत बताकर विभीषणसे मिलना

अथ रामः प्रसन्नात्मा श्रुत्वा वायुसुतस्य ह।
प्रत्यभाषत दुर्धर्षः श्रुतवानात्मनि स्थितम्॥ १॥

वायुनन्दन हनुमान्‌जीके मुखसे अपने मनमें बैठी हुई बात सुनकर दुर्जय वीर भगवान् श्रीरामका चित्त प्रसन्न हो गया। वे इस प्रकार बोले—॥ १॥

ममापि च विवक्षास्ति काचित् प्रति विभीषणम्।
श्रोतुमिच्छामि तत् सर्वं भवद्भिः श्रेयसि स्थितैः॥ २॥

'मित्रो! विभीषणके सम्बन्धमें मैं भी कुछ कहना चाहता हूँ। आप सब लोग मेरे हितसाधनमें संलग्न रहनेवाले हैं। अतः मेरी इच्छा है कि आप भी उसे सुन लें॥ २॥

मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथंचन।
दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतदगर्हितम्॥ ३॥

'जो मित्रभावसे मेरे पास आ गया हो, उसे मैं किसी तरह त्याग नहीं सकता। सम्भव है उसमें कुछ दोष भी हो, परंतु दोषीको आश्रय देना भी सत्पुरुषोंके लिये निन्दित नहीं है (अतः विभीषणको मैं अवश्य अपनाऊँगा)'॥ ३॥

सुग्रीवस्त्वथ तद्वाक्यमाभाष्य च विमृश्य च।
ततः शुभतरं वाक्यमुवाच हरिपुङ्गवः॥ ४॥

वानरराज सुग्रीवने भगवान् श्रीरामके इस कथनको सुनकर स्वयं भी उसे दोहराया और उसपर विचार करके यह परम सुन्दर बात कही—॥ ४॥

स दुष्टो वाप्यदुष्टो वा किमेष रजनीचरः।
ईदृशं व्यसनं प्राप्तं भ्रातरं यः परित्यजेत्॥ ५॥
को नाम स भवेत् तस्य यमेष न परित्यजेत्।

'प्रभो! यह दुष्ट हो या अदुष्ट, इससे क्या? है तो यह निशाचर ही। फिर जो पुरुष ऐसे संकटमें पड़े हुए अपने भाईको छोड़ सकता है, उसका दूसरा ऐसा कौन सम्बन्धी होगा, जिसे वह त्याग न सके'॥ ५½॥

वानराधिपतेर्वाक्यं श्रुत्वा सर्वानुदीक्ष्य तु॥ ६॥
ईषदुत्स्मयमानस्तु लक्ष्मणं पुण्यलक्षणम्।
इति होवाच काकुत्स्थो वाक्यं सत्यपराक्रमः॥ ७॥

वानरराज सुग्रीवकी यह बात सुनकर सत्यपराक्रमी श्रीरघुनाथजी सबकी ओर देखकर कुछ मुसकराये और पवित्र लक्षणवाले लक्ष्मणसे इस प्रकार बोले—॥ ६-७॥

अनधीत्य च शास्त्राणि वृद्धाननुपसेव्य च।
न शक्यमीदृशं वक्तुं यदुवाच हरीश्वरः॥ ८॥

'सुमित्रानन्दन! इस समय वानरराजने जैसी बात कही है, वैसी कोई भी पुरुष शास्त्रोंका अध्ययन और गुरुजनोंकी सेवा किये बिना नहीं कह सकता॥ ८॥

अस्ति सूक्ष्मतरं किंचिद् यथात्र प्रतिभाति मा।
प्रत्यक्षं लौकिकं चापि वर्तते सर्वराजसु॥ ९॥

'परंतु सुग्रीव! तुमने विभीषणमें जो भाईके परित्यागरूप दोषकी उद्भावना की है, उस विषयमें मुझे एक ऐसे अत्यन्त सूक्ष्म अर्थकी प्रतीति हो रही है, जो समस्त राजाओंमें प्रत्यक्ष देखा गया है और सभी लोगोंमें प्रसिद्ध है (मैं उसीको तुम सब लोगोंसे कहना चाहता हूँ)॥ ९॥

अमित्रास्तत्कुलीनाश्च प्रातिदेश्याश्च कीर्तिताः।
व्यसनेषु प्रहर्तारस्तस्मादयमिहागतः॥ १०॥

'राजाओंके छिद्र दो प्रकारके बताये गये हैं—एक तो उसी कुलमें उत्पन्न हुए जाति-भाई और दूसरे पड़ोसी देशोंके निवासी। ये संकटमें पड़नेपर अपने विरोधी राजा या राजपुत्रपर प्रहार कर बैठते हैं। इसी भयसे यह विभीषण यहाँ आया है (इसे भी अपने जाति-भाइयोंसे भय है)॥ १०॥

अपापास्तत्कुलीनाश्च मानयन्ति स्वकान् हितान्।
एष प्रायो नरेन्द्राणां शङ्कनीयस्तु शोभनः॥ ११॥

'जिनके मनमें पाप नहीं है, ऐसे एक कुलमें उत्पन्न हुए भाई-बन्धु अपने कुटुम्बीजनोंको हितैषी मानते हैं, परंतु यही सजातीय बन्धु अच्छा होनेपर भी प्रायः राजाओंके लिये शङ्कनीय होता है (रावण भी विभीषणको शङ्काकी दृष्टिसे देखने लगा है; इसलिये इसका अपनी रक्षाके लिये यहाँ आना अनुचित नहीं है। अतः तुम्हें इसके ऊपर भाईके त्यागका दोष नहीं लगाना चाहिये)॥ ११॥

यस्तु दोषस्त्वया प्रोक्तो ह्यादानेऽरिबलस्य च।
तत्र ते कीर्तयिष्यामि यथाशास्त्रमिदं शृणु॥ १२॥

'तुमने शत्रुपक्षीय सैनिकको अपनानेमें जो यह दोष बताया है कि वह अवसर देखकर प्रहार कर बैठता है, उसके विषयमें मैं तुम्हें यह नीतिशास्त्रके अनुकूल उत्तर दे रहा हूँ, सुनो॥ १२॥

न वयं तत्कुलीनाश्च राज्यकाङ्क्षी च राक्षसः।
पण्डिता हि भविष्यन्ति तस्माद् ग्राह्यो विभीषणः॥ १३॥

'हमलोग इसके कुटुम्बी तो हैं नहीं (अतः हमसे स्वार्थहानिकी आशङ्का इसे नहीं है) और यह राक्षस राज्य पानेका अभिलाषी है (इसलिये भी यह हमारा त्याग नहीं कर सकता)। इन राक्षसोंमें बहुत-से लोग बड़े विद्वान् भी होते हैं (अतः वे मित्र होनेपर बड़े कामके सिद्ध होंगे) इसलिये विभीषणको अपने पक्षमें मिला लेना चाहिये॥ १३॥

अव्यग्राश्च प्रहृष्टाश्च ते भविष्यन्ति संगताः।
प्रणादश्च महानेषोऽन्योन्यस्य भयमागतम्।
इति भेदं गमिष्यन्ति तस्माद् ग्राह्यो विभीषणः॥ १४॥

'हमसे मिल जानेपर ये विभीषण आदि निश्चिन्त एवं प्रसन्न हो जायँगे। इनकी जो यह शरणागतिके लिये प्रबल पुकार है, इससे मालूम होता है, राक्षसोंमें एक-दूसरेसे भय

बना हुआ है। इसी कारणसे इनमें परस्पर फूट होगी और ये नष्ट हो जायँगे। इसलिये भी विभीषणको ग्रहण कर लेना चाहिये॥ १४॥

न सर्वे भ्रातरस्तात भवन्ति भरतोपमाः।
मद्विधा वा पितुः पुत्राः सुहृदो वा भवद्विधाः॥ १५॥

'तात सुग्रीव! संसारमें सब भाई भरतके ही समान नहीं होते। बापके सब बेटे मेरे ही जैसे नहीं होते और सभी मित्र तुम्हारे ही समान नहीं हुआ करते हैं'॥ १५॥

एवमुक्तस्तु रामेण सुग्रीवः सहलक्ष्मणः।
उत्थायेदं महाप्राज्ञः प्रणतो वाक्यमब्रवीत्॥ १६॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर लक्ष्मणसहित महाबुद्धिमान् सुग्रीवने उठकर उन्हें प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—॥ १६॥

रावणेन प्रणिहितं तमवेहि निशाचरम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये क्षमं क्षमवतां वर॥ १७॥

'उचित कार्य करनेवालोंमें श्रेष्ठ रघुनन्दन! आप उस राक्षसको रावणका भेजा हुआ ही समझें। मैं तो उसे कैद कर लेना ही ठीक समझता हूँ॥ १७॥

राक्षसो जिह्मया बुद्ध्या संदिष्टोऽयमिहागतः।
प्रहर्तुं त्वयि विश्वस्ते विश्वस्ते मयि वानघ॥ १८॥
लक्ष्मणे वा महाबाहो स वध्यः सचिवैः सह।
रावणस्य नृशंसस्य भ्राता ह्येष विभीषणः॥ १९॥

'निष्पाप श्रीराम! यह निशाचर रावणके कहनेसे मनमें कुटिल विचार लेकर ही यहाँ आया है। जब हमलोग इसपर विश्वास करके इसकी ओरसे निश्चिन्त हो जायँगे, उस समय यह आपपर, मुझपर अथवा लक्ष्मणपर भी प्रहार कर सकता है। इसलिये महाबाहो! क्रूर रावणके भाई इस विभीषणका मन्त्रियोंसहित वध कर देना ही उचित है'॥ १८-१९॥

एवमुक्त्वा रघुश्रेष्ठं सुग्रीवो वाहिनीपतिः।
वाक्यज्ञो वाक्यकुशलं ततो मौनमुपागमत्॥ २०॥

प्रवचनकुशल रघुकुलतिलक श्रीरामसे ऐसा कहकर बातचीतकी कला जाननेवाले सेनापति सुग्रीव मौन हो गये॥ २०॥

स सुग्रीवस्य तद् वाक्यं रामः श्रुत्वा विमृश्य च।
ततः शुभतरं वाक्यमुवाच हरिपुङ्गवम्॥ २१॥

सुग्रीवका वह वचन सुनकर और उसपर भलीभाँति विचार करके श्रीरामने उन वानरशिरोमणिसे यह परम मङ्गलमयी बात कही—॥ २१॥

स दुष्टो वाप्यदुष्टो वा किमेष रजनीचरः।
सूक्ष्ममप्यहितं कर्तुं मम शक्तः कथंचन॥ २२॥

'वानरराज! विभीषण दुष्ट हो या साधु। क्या यह निशाचर किसी तरह भी मेरा सूक्ष्म-से-सूक्ष्मरूपमें भी अहित कर सकता है?॥ २२॥

पिशाचान् दानवान् यक्षान् पृथिव्यां चैव राक्षसान्।
अङ्गुल्यग्रेण तान् हन्यामिच्छन् हरिगणेश्वर॥ २३॥

'वानरयूथपते! यदि मैं चाहूँ तो पृथ्वीपर जितने भी पिशाच, दानव, यक्ष और राक्षस हैं, उन सबको एक अंगुलिके अग्रभागसे मार सकता हूँ॥ २३॥

श्रूयते हि कपोतेन शत्रुः शरणमागतः।
अर्चितश्च यथान्यायं स्वैश्च मांसैर्निमन्त्रितः॥ २४॥

'सुना जाता है कि एक कबूतरने अपनी शरणमें आये हुए अपने ही शत्रु एक व्याधका यथोचित आतिथ्य-सत्कार किया था और उसे निमन्त्रण दे अपने शरीरके मांसका भोजन कराया था॥ २४॥

स हि तं प्रतिजग्राह भार्याहर्तारमागतम्।
कपोतो वानरश्रेष्ठ किं पुनर्मद्विधो जनः॥ २५॥

'उस व्याधने उस कबूतरकी भार्या कबूतरीको पकड़ लिया था तो भी अपने घर आनेपर कबूतरने उसका आदर किया; फिर मेरे-जैसा मनुष्य शरणागतपर अनुग्रह करे, इसके लिये तो कहना ही क्या है?॥ २५॥

ऋषेः कण्वस्य पुत्रेण कण्डुना परमर्षिणा।
शृणु गाथा पुरा गीता धर्मिष्ठा सत्यवादिना॥ २६॥

'पूर्वकालमें कण्व मुनिके पुत्र सत्यवादी महर्षि कण्डुने एक धर्मविषयक गाथाका गान किया था। उसे बताता हूँ, सुनो॥ २६॥

बद्धाञ्जलिपुटं दीनं याचन्तं शरणागतम्।
न हन्यादानृशंस्यार्थमपि शत्रुं परंतप॥ २७॥

'परंतप! यदि शत्रु भी शरणमें आये और दीनभावसे हाथ जोड़कर दयाकी याचना करे तो उसपर प्रहार नहीं करना चाहिये॥ २७॥

आर्तो वा यदि वा दृप्तः परेषां शरणं गतः।
अरिः प्राणान् परित्यज्य रक्षितव्यः कृतात्मना॥ २८॥

'शत्रु दुःखी हो या अभिमानी, यदि वह अपने विपक्षीकी शरणमें जाय तो शुद्ध हृदयवाले श्रेष्ठ पुरुषको अपने प्राणोंका मोह छोड़कर उसकी रक्षा करनी चाहिये॥ २८॥

स चेद् भयाद् वा मोहाद् वा कामाद् वापि न रक्षति।
स्वया शक्त्या यथान्यायं तत् पापं लोकगर्हितम्॥ २९॥

'यदि वह भय, मोह अथवा किसी कामनासे न्यायानुसार यथाशक्ति उसकी रक्षा नहीं करता तो उसके उस पाप-कर्मकी लोकमें बड़ी निन्दा होती है॥ २९॥

विनष्टः पश्यतस्तस्य रक्षिणः शरणं गतः।
आनाय सुकृतं तस्य सर्वं गच्छेदरक्षितः॥ ३०॥

'यदि शरणमें आया हुआ पुरुष संरक्षण न पाकर उस रक्षकके देखते-देखते नष्ट हो जाय तो वह उसके सारे पुण्यको अपने साथ ले जाता है॥ ३०॥

एवं दोषो महानत्र प्रपन्नानामरक्षणे।
अस्वर्ग्यं चायशस्यं च बलवीर्यविनाशनम्॥ ३१॥

'इस प्रकार शरणागतकी रक्षा न करनेमें महान् दोष बताया गया है। शरणागतका त्याग स्वर्ग और सुयशकी प्राप्तिको मिटा देता है और मनुष्यके बल और वीर्यका नाश करता है'॥ ३१॥

करिष्यामि यथार्थं तु कण्डोर्वचनमुत्तमम्।
धर्मिष्ठं च यशस्यं च स्वर्ग्यं स्यात् तु फलोदये॥ ३२॥

'इसलिये मैं तो महर्षि कण्डुके उस यथार्थ और उत्तम वचनका ही पालन करूँगा; क्योंकि वह परिणाममें धर्म, यश और स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला है'॥ ३२॥

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥ ३३॥

'जो एक बार भी शरणमें आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कहकर मुझसे रक्षाकी प्रार्थना करता है, उसे मैं समस्त प्राणियोंसे अभय कर देता हूँ। यह मेरा सदाके लिये व्रत है'॥ ३३॥

आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्॥ ३४॥

'अतः कपिश्रेष्ठ सुग्रीव! वह विभीषण हो या स्वयं रावण आ गया हो। तुम उसे ले आओ। मैंने उसे अभयदान दे दिया'॥ ३४॥

रामस्य तु वचः श्रुत्वा सुग्रीवः प्लवगेश्वरः।
प्रत्यभाषत काकुत्स्थं सौहार्देनाभिपूरितः॥ ३५॥

भगवान् श्रीरामका यह वचन सुनकर वानरराज सुग्रीवने सौहार्दसे भरकर उनसे कहा—॥ ३५॥

किमत्र चित्रं धर्मज्ञ लोकनाथशिखामणे।
यत् त्वमार्यं प्रभाषेथाः सत्त्ववान् सत्पथे स्थितः॥ ३६॥

'धर्मज्ञ! लोकेश्वरशिरोमणे! आपने जो यह श्रेष्ठ धर्मकी बात कही है, इसमें क्या आश्चर्य है? क्योंकि आप महान् शक्तिशाली और सन्मार्गपर स्थित हैं'॥ ३६॥

मम चाप्यन्तरात्मायं शुद्धं वेत्ति विभीषणम्।
अनुमानाच्च भावाच्च सर्वतः सुपरीक्षितः॥ ३७॥

'यह मेरी अन्तरात्मा भी विभीषणको शुद्ध समझती है। हनुमान्‌जीने भी अनुमान और भावसे उनकी भीतर-बाहर सब ओरसे भलीभाँति परीक्षा कर ली है'॥ ३७॥

तस्मात् क्षिप्रं सहास्माभिस्तुल्यो भवतु राघव।
विभीषणो महाप्राज्ञः सखित्वं चाभ्युपैतु नः॥ ३८॥

'अतः रघुनन्दन! अब विभीषण शीघ्र ही यहाँ हमारे-जैसे होकर रहें और हमारी मित्रता प्राप्त करें'॥ ३८॥

ततस्तु सुग्रीववचो निशम्य त-
द्धरीश्वरेणाभिहितं नरेश्वरः।
विभीषणेनाशु जगाम संगमं
पतत्रिराजेन यथा पुरंदरः॥ ३९॥

तदनन्तर वानरराज सुग्रीवकी कही हुई वह बात सुनकर राजा श्रीराम शीघ्र आगे बढ़कर विभीषणसे मिले, मानो देवराज इन्द्र पक्षिराज गरुड़से मिल रहे हों॥ ३९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डेऽष्टादशः सर्गः॥ १८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें अठारहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १८॥

—★—

एकोनविंशः सर्गः

विभीषणका आकाशसे उतरकर भगवान् श्रीरामके चरणोंकी शरण लेना, उनके पूछनेपर रावणकी शक्तिका परिचय देना और श्रीरामका रावण-वधकी प्रतिज्ञा करके विभीषणको लङ्काके राज्यपर अभिषिक्त कर उनकी सम्मतिसे समुद्रतटपर धरना देनेके लिये बैठना

राघवेणाभये दत्ते संनतो रावणानुजः।
विभीषणो महाप्राज्ञो भूमिं समवलोकयत्॥ १॥

इस प्रकार श्रीरघुनाथजीके अभय देनेपर विनयशील महाबुद्धिमान् विभीषणने नीचे उतरनेके लिये पृथ्वीकी ओर देखा॥ १॥

खात् पपातावनिं हृष्टो भक्तैरनुचरः सह।
स तु रामस्य धर्मात्मा निपपात विभीषणः॥ २॥
पादयोर्निपपाताथ चतुर्भिः सह राक्षसैः।

वे अपने भक्त सेवकोंके साथ हर्षसे भरकर आकाशसे पृथ्वीपर उतर आये। उतरकर चारों राक्षसोंके साथ धर्मात्मा विभीषण श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें गिर पड़े॥ २½॥

अब्रवीच्च तदा वाक्यं रामं प्रति विभीषणः॥ ३॥
धर्मयुक्तं च युक्तं च साम्प्रतं सम्प्रहर्षणम्।

उस समय विभीषणने श्रीरामसे धर्मानुकूल, युक्तियुक्त, समयोचित और हर्षवर्द्धक बात कही—॥ ३½॥

अनुजो रावणस्याहं तेन चास्म्यवमानितः॥ ४॥
भवन्तं सर्वभूतानां शरण्यं शरणं गतः।

'भगवन्! मैं रावणका छोटा भाई हूँ। रावणने मेरा

अनुसरण किया है। आप समस्त प्राणियोंको शरण देनेवाले हैं, इसलिये मैंने आपकी शरण ली है॥ ४½ ॥

परित्यक्ता मया लङ्का मित्राणि च धनानि च ॥ ५ ॥
भवद्गतं हि मे राज्यं जीवितं च सुखानि च ।

'अपने सभी मित्र, धन और लङ्कापुरीको मैं छोड़ आया हूँ। अब मेरा राज्य, जीवन और सुख सब आपके ही अधीन है॥ ५½ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा रामो वचनमब्रवीत् ॥ ६ ॥
वचसा सान्त्वयित्वैनं लोचनाभ्यां पिबन्निव ।

विभीषणके ये वचन सुनकर श्रीरामने मधुर वाणीद्वारा उन्हें सान्त्वना दी और नेत्रोंसे मानो उन्हें पी जायँगे, इस प्रकार प्रेमपूर्वक उनकी ओर देखते हुए कहा— ॥ ६½ ॥

आख्याहि मम तत्त्वेन राक्षसानां बलाबलम् ॥ ७ ॥
एवमुक्तं तदा रक्षो रामेणाक्लिष्टकर्मणा ।
रावणस्य बलं सर्वमाख्यातुमुपचक्रमे ॥ ८ ॥

'विभीषण! तुम मुझे ठीक-ठीक राक्षसोंका बलाबल बताओ।' अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरामके ऐसा कहनेपर राक्षस विभीषणने रावणके सम्पूर्ण बलका परिचय देना आरम्भ किया— ॥ ७-८ ॥

अवध्यः सर्वभूतानां गन्धर्वोरगपक्षिणाम् ।
राजपुत्र दशग्रीवो वरदानात् स्वयम्भुवः ॥ ९ ॥

'राजकुमार! ब्रह्माजीके वरदानके प्रभावसे दशमुख रावण (केवल मनुष्यको छोड़कर) गन्धर्व, नाग और पक्षी आदि सभी प्राणियोंके लिये अवध्य है॥ ९ ॥

रावणानन्तरो भ्राता मम ज्येष्ठश्च वीर्यवान् ।
कुम्भकर्णो महातेजाः शक्रप्रतिबलो युधि ॥ १० ॥

'रावणसे छोटा और मुझसे बड़ा जो मेरा भाई कुम्भकर्ण है, वह महातेजस्वी और पराक्रमी है। युद्धमें वह इन्द्रके समान बलशाली है॥ १० ॥

राम सेनापतिस्तस्य प्रहस्तो यदि ते श्रुतः ।
कैलासे येन समरे मणिभद्रः पराजितः ॥ ११ ॥

'श्रीराम! रावणके सेनापतिका नाम प्रहस्त है। शायद आपने भी उसका नाम सुना होगा। उसने कैलासपर घटित हुए युद्धमें कुबेरके सेनापति मणिभद्रको भी पराजित कर दिया था॥ ११ ॥

बद्धगोधाङ्गुलित्राणस्त्ववध्यकवचो युधि ।
धनुरादाय यस्तिष्ठन्नदृश्यो भवतीन्द्रजित् ॥ १२ ॥

'रावणका पुत्र जो इन्द्रजित् है, वह गोहके चमड़ेके बने हुए दस्ताने पहनकर अवध्य कवच धारण करके हाथमें धनुष ले जब युद्धमें खड़ा होता है, उस समय अदृश्य हो जाता है॥ १२ ॥

संग्रामे सुमहद्व्यूहे तर्पयित्वा हुताशनम् ।
अन्तर्धानगतः श्रीमानिन्द्रजिद्धन्ति राघव ॥ १३ ॥

'रघुनन्दन! श्रीमान् इन्द्रजित्ने अग्निदेवको तृप्त करके ऐसी शक्ति प्राप्त कर ली है कि वह विशाल व्यूहसे युक्त संग्राममें अदृश्य होकर शत्रुओंपर प्रहार करता है॥ १३ ॥

महोदरमहापार्श्वौ राक्षसश्चाप्यकम्पनः ।
अनीकपास्तु तस्यैते लोकपालसमा युधि ॥ १४ ॥

'महोदर, महापार्श्व और अकम्पन—ये तीनों राक्षस रावणके सेनापति हैं और युद्धमें लोकपालोंके समान पराक्रम प्रकट करते हैं॥ १४ ॥

दशकोटिसहस्राणि रक्षसां कामरूपिणाम् ।
मांसशोणितभक्ष्याणां लङ्कापुरनिवासिनाम् ॥ १५ ॥
स तैस्तु सहितो राजा लोकपालानयोधयत् ।
सह देवैस्तु ते भग्ना रावणेन दुरात्मना ॥ १६ ॥

'लङ्कामें रक्त और मांसका भोजन करनेवाले और इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ जो दस कोटि सहस्र (एक खरब) राक्षस निवास करते हैं, उन्हें साथ लेकर राजा रावणने लोकपालोंसे युद्ध किया था। उस समय देवताओं-सहित वे सब लोकपाल दुरात्मा रावणसे पराजित हो भाग खड़े हुए'॥ १५-१६ ॥

विभीषणस्य तु वचस्तच्छ्रुत्वा रघुसत्तमः ।
अन्वीक्ष्य मनसा सर्वमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १७ ॥

विभीषणकी यह बात सुनकर रघुकुलतिलक श्रीरामने मन-ही-मन उन सबपर बारंबार विचार किया और इस प्रकार कहा— ॥ १७ ॥

यानि कर्मापदानानि रावणस्य विभीषण ।
आख्यातानि च तत्त्वेन ह्यवगच्छामि तान्यहम् ॥ १८ ॥

'विभीषण! तुमने रावणके युद्धविषयक जिन-जिन पराक्रमोंका वर्णन किया है, उन्हें मैं अच्छी तरह जानता हूँ॥ १८ ॥

अहं हत्वा दशग्रीवं सप्रहस्तं सहात्मजम् ।
राजानं त्वां करिष्यामि सत्यमेतच्छृणोतु मे ॥ १९ ॥

'परंतु सुनो! मैं सच कहता हूँ कि प्रहस्त और पुत्रोंके सहित रावणका वध करके मैं तुम्हें लङ्काका राजा बनाऊँगा॥ १९ ॥

रसातलं वा प्रविशेत् पातालं वापि रावणः ।
पितामहसकाशं वा न मे जीवन् विमोक्ष्यते ॥ २० ॥

'रावण रसातल या पातालमें प्रवेश कर जाय अथवा पितामह ब्रह्माजीके पास चला जाय तो भी वह अब मेरे हाथसे जीवित नहीं छूट सकेगा॥ २० ॥

अहत्वा रावणं संख्ये सपुत्रजनबान्धवम् ।
अयोध्यां न प्रवेक्ष्यामि त्रिभिस्तैर्भ्रातृभिः शपे ॥ २१ ॥

'मैं अपने तीनों भाइयोंकी सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि युद्धमें पुत्र, भृत्यजन और बन्धु-बान्धवोंसहित रावणका वध किये बिना अयोध्यापुरीमें प्रवेश नहीं करूँगा'॥ २१ ॥

श्रुत्वा तु वचनं तस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः।
शिरसाऽऽवन्द्य धर्मात्मा वक्तुमेवं प्रचक्रमे ॥ २२ ॥

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीके ये वचन सुनकर धर्मात्मा विभीषणने मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया और फिर इस प्रकार कहना आरम्भ किया— ॥ २२ ॥

राक्षसानां वधे साह्यं लङ्कायाश्च प्रधर्षणे।
करिष्यामि यथाप्राणं प्रेक्ष्यामि च वाहिनीम् ॥ २३ ॥

'प्रभो! राक्षसोंके संहारमें और लङ्कापुरीपर आक्रमण करके उसे जीतनेमें मैं आपकी यथाशक्ति सहायता करूँगा तथा प्राणोंकी बाजी लगाकर युद्धके लिये रावणकी सेनामें भी प्रवेश करूँगा' ॥ २३ ॥

इति ब्रुवाणं रामस्तु परिष्वज्य विभीषणम्।
अब्रवील्लक्ष्मणं प्रीतः समुद्राज्जलमानय ॥ २४ ॥
तेन चेमं महाप्राज्ञमभिषिञ्च विभीषणम्।
राजानं रक्षसां क्षिप्रं प्रसन्ने मयि मानद ॥ २५ ॥

विभीषणके ऐसा कहनेपर भगवान् श्रीरामने उन्हें हृदयसे लगा लिया और प्रसन्न होकर लक्ष्मणसे कहा—'दूसरोंको मान देनेवाले सुमित्रानन्दन! तुम समुद्रसे जल ले आओ और उसके द्वारा इन परम बुद्धिमान् राक्षसराज विभीषणका लङ्काके राज्यपर शीघ्र ही अभिषेक कर दो। मेरे प्रसन्न होनेपर इन्हें यह लाभ मिलना ही चाहिये' ॥ २४-२५ ॥

एवमुक्तस्तु सौमित्रिरभ्यषिञ्चद् विभीषणम्।
मध्ये वानरमुख्यानां राजानं राजशासनात् ॥ २६ ॥

उनके ऐसा कहनेपर सुमित्राकुमार लक्ष्मणने मुख्य-मुख्य वानरोंके बीच महाराज श्रीरामके आदेशसे विभीषणका राक्षसोंके राजाके पदपर अभिषेक कर दिया ॥ २६ ॥

तं प्रसादं तु रामस्य दृष्ट्वा सद्यः प्लवङ्गमाः।
प्रचुक्रुशुर्महात्मानं साधुसाध्विति चाब्रुवन् ॥ २७ ॥

भगवान् श्रीरामका यह तात्कालिक प्रसाद (अनुग्रह) देखकर सब वानर हर्षध्वनि करने और महात्मा श्रीरामको साधुवाद देने लगे ॥ २७ ॥

अब्रवीच्च हनूमांश्च सुग्रीवश्च विभीषणम्।
कथं सागरमक्षोभ्यं तराम वरुणालयम्।
सैन्यैः परिवृताः सर्वे वानराणां महौजसाम् ॥ २८ ॥

तत्पश्चात् हनुमान् और सुग्रीवने विभीषणसे पूछा—'राक्षसराज! हम सब लोग इस अक्षोभ्य समुद्रको महाबली वानरोंकी सेनाओंके साथ किस प्रकार पार कर सकेंगे? ॥ २८ ॥

उपायैरभिगच्छाम यथा नदनदीपतिम्।
तराम तरसा सर्वे ससैन्या वरुणालयम् ॥ २९ ॥

'जिस उपायसे हम सब लोग सेनासहित नदी और नदियोंके स्वामी वरुणालय समुद्रके पार जा सकें, वह बताओ' ॥ २९ ॥

एवमुक्तस्तु धर्मात्मा प्रत्युवाच विभीषणः।
समुद्रं राघवो राजा शरणं गन्तुमर्हति ॥ ३० ॥

उनके इस प्रकार पूछनेपर धर्मात्मा विभीषणने यों उत्तर दिया—'रघुवंशी राजा श्रीरामको समुद्रकी शरण लेनी चाहिये ॥ ३० ॥

खानितः सगरेणायमप्रमेयो महोदधिः।
कर्तुमर्हति रामस्य ज्ञातेः कार्यं महोदधिः ॥ ३१ ॥

'इस अपार महासागरको राजा सगरने खुदवाया था। श्रीरामचन्द्रजी सगरके वंशज हैं। इसलिये समुद्रको इनका काम अवश्य करना चाहिये' ॥ ३१ ॥

एवं विभीषणेनोक्तो राक्षसेन विपश्चिता।
आजगामाथ सुग्रीवो यत्र रामः सलक्ष्मणः ॥ ३२ ॥

विद्वान् राक्षस विभीषणके ऐसा कहनेपर सुग्रीव उस स्थानपर आये, जहाँ लक्ष्मणसहित श्रीराम विद्यमान थे ॥ ३२ ॥

ततश्चाख्यातुमारेभे विभीषणवचः शुभम्।
सुग्रीवो विपुलग्रीवः सागरस्योपवेशनम् ॥ ३३ ॥

वहाँ विशाल ग्रीवावाले सुग्रीवने समुद्रपर धरना देनेके विषयमें जो विभीषणका शुभ वचन था, उसे कहना आरम्भ किया ॥ ३३ ॥

प्रकृत्या धर्मशीलस्य रामस्यास्याप्यरोचत।
सलक्ष्मणं महातेजाः सुग्रीवं च हरीश्वरम् ॥ ३४ ॥
सत्क्रियार्थं क्रियादक्षं स्मितपूर्वमभाषत।

भगवान् श्रीराम स्वभावसे ही धर्मशील थे, अतः उन्हें भी विभीषणकी यह बात अच्छी लगी। वे महातेजस्वी रघुनाथजी लक्ष्मणसहित कार्यदक्ष वानरराज सुग्रीवका सत्कार करते हुए उनसे मुसकराकर बोले— ॥ ३४ 1/2 ॥

विभीषणस्य मन्त्रोऽयं मम लक्ष्मण रोचते ॥ ३५ ॥
सुग्रीवः पण्डितो नित्यं भवान् मन्त्रविचक्षणः।
उभाभ्यां सम्प्रधार्यार्थं रोचते यत् तदुच्यताम् ॥ ३६ ॥

'लक्ष्मण! विभीषणकी यह सम्मति मुझे भी अच्छी लगती है; परंतु सुग्रीव राजनीतिके बड़े पण्डित हैं और तुम भी समयोचित सलाह देनेमें सदा ही कुशल हो। इसलिये तुम दोनों प्रस्तुत कार्यपर अच्छी तरह विचार करके जो ठीक जान पड़े, वह बताओ' ॥ ३५-३६ ॥

एवमुक्तौ ततो वीरावुभौ सुग्रीवलक्ष्मणौ।
समुदाचारसंयुक्तमिदं वचनमूचतुः ॥ ३७ ॥

भगवान् श्रीरामके ऐसा कहनेपर वे दोनों वीर सुग्रीव और लक्ष्मण उनसे आदरपूर्वक बोले— ॥ ३७ ॥

किमर्थं नौ नरव्याघ्र न रोचिष्यति राघव।
विभीषणेन यत् तूक्तमस्मिन् काले सुखावहम् ॥ ३८ ॥

पुरुषसिंह रघुनन्दन! इस समय विभीषणने जो सुखदायक बात कही है, वह हम दोनोंको क्यों नहीं अच्छी लगेगी? ॥ ३८ ॥

अबद्ध्वा सागरे सेतुं घोरेऽस्मिन् वरुणालये।
लङ्का नासादितुं शक्या सेन्द्रैरपि सुरासुरैः ॥ ३९ ॥

'इस भयंकर समुद्रमें पुल बाँधे बिना इन्द्रसहित देवता और असुर भी इधरसे लङ्कापुरीमें नहीं पहुँच सकते ॥ ३९ ॥

विभीषणस्य शूरस्य यथार्थं क्रियतां वचः।
अलं कालात्ययं कृत्वा सागरोऽयं नियुज्यताम्।
यथा सैन्येन गच्छाम पुरीं रावणपालिताम् ॥ ४० ॥

'इसलिये आप शूरवीर विभीषणके यथार्थ वचनके अनुसार ही कार्य करें। अब अधिक विलम्ब करना ठीक नहीं है। इस समुद्रसे यह अनुरोध किया जाय कि वह हमारी सहायता करे, जिससे हम सेनाके साथ रावणपालित लङ्कापुरीमें पहुँच सकें' ॥ ४० ॥

एवमुक्तः कुशास्तीर्णे तीरे नदनदीपतेः।
संविवेश तदा रामो वेद्यामिव हुताशनः ॥ ४१ ॥

उन दोनोंके ऐसा कहनेपर श्रीरामचन्द्रजी उस समय समुद्रके तटपर कुश बिछाकर उसके ऊपर उसी तरह बैठे, जैसे वेदीपर अग्निदेव प्रतिष्ठित होते हैं ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे एकोनविंशः सर्गः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

विंशः सर्गः

शार्दूलके कहनेसे रावणका शुकको दूत बनाकर सुग्रीवके पास संदेश भेजना, वहाँ वानरोंद्वारा उसकी दुर्दशा, श्रीरामकी कृपासे उसका संकटसे छूटना और सुग्रीवका रावणके लिये उत्तर देना

ततो विनिविष्टां ध्वजिनीं सुग्रीवेणाभिपालिताम्।
ददर्श राक्षसोऽभ्येत्य शार्दूलो नाम वीर्यवान् ॥ १ ॥
चारो राक्षसराजस्य रावणस्य दुरात्मनः।
तां दृष्ट्वा सर्वतोऽव्यग्रां प्रतिगम्य स राक्षसः ॥ २ ॥
आविश्य लङ्कां वेगेन राजानमिदमब्रवीत्।

इसी बीचमें दुरात्मा राक्षसराज रावणके गुप्तचर पराक्रमी राक्षस शार्दूलने वहाँ आकर सागर-तटपर छावनी डाले पड़ी हुई सुग्रीवद्वारा सुरक्षित वानरी सेनाको देखा। सब ओर शान्तभावसे स्थित हुई उस विशाल सेनाको देखकर वह राक्षस लौट गया और जल्दीसे लङ्कापुरीमें जाकर राजा रावणसे यों बोला— ॥ १-२ ½ ॥

एष वै वानरर्क्षौघो लङ्कां समभिवर्तते ॥ ३ ॥
अगाधश्चाप्रमेयश्च द्वितीय इव सागरः।

'महाराज! लङ्काकी ओर वानरों और भालुओंका एक प्रवाह-सा बढ़ा चला आ रहा है। वह दूसरे समुद्रके समान अगाध और असीम है ॥ ३ ½ ॥

पुत्रौ दशरथस्येमौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ४ ॥
उत्तमौ रूपसम्पन्नौ सीतायाः पदमागतौ।

'राजा दशरथके ये पुत्र दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण बड़े ही रूपवान् और श्रेष्ठ वीर हैं। ये सीताका उद्धार करनेके लिये आ रहे हैं ॥ ४ ½ ॥

एतौ सागरमासाद्य संनिविष्टौ महाद्युते ॥ ५ ॥
बलं चाकाशमावृत्य सर्वतो दशयोजनम्।
तत्त्वभूतं महाराज क्षिप्रं वेदितुमर्हसि ॥ ६ ॥

'महातेजस्वी महाराज! ये दोनों रघुवंशी बन्धु भी इस समय समुद्र-तटपर ही आकर ठहरे हुए हैं। वानरोंकी वह सेना सब ओरसे दस योजनतकके खाली स्थानको घेरकर वहाँ ठहरी हुई है। यह बिलकुल ठीक बात है। आप शीघ्र ही इस विषयमें विशेष जानकारी प्राप्त करें ॥ ५-६ ॥

तव दूता महाराज क्षिप्रमर्हन्ति वेदितुम्।
उपप्रदानं सान्त्वं वा भेदो वात्र प्रयुज्यताम् ॥ ७ ॥

'राक्षससम्राट्! आपके दूत शीघ्र सारी बातोंका पता लगा लेनेके योग्य हैं, अतः उन्हें भेजें। तत्पश्चात् जैसा उचित समझें, वैसा करें—चाहे उन्हें सीताको लौटा दें, चाहे सुग्रीवसे मीठी-मीठी बातें करके उन्हें अपने पक्षमें मिला लें अथवा सुग्रीव और श्रीराममें फूट डलवा दें' ॥ ७ ॥

शार्दूलस्य वचः श्रुत्वा रावणो राक्षसेश्वरः।
उवाच सहसा व्यग्रः सम्प्रधार्यार्थमात्मनः।
शुकं साधु तदा रक्षो वाक्यमर्थविदां वरम् ॥ ८ ॥

शार्दूलकी बात सुनकर राक्षसराज रावण सहसा व्यग्र हो उठा और अपने कर्तव्यका निश्चय करके अर्थवेत्ताओंमें श्रेष्ठ शुक नामक राक्षससे यह उत्तम वचन बोला— ॥ ८ ॥

सुग्रीवं ब्रूहि गत्वाऽऽशु राजानं वचनान्मम।
यथासंदेशमक्लीबं श्लक्ष्णया परया गिरा ॥ ९ ॥

'दूत ! तुम मेरे कहनेसे शीघ्र ही वानरराज सुग्रीवके पास जाओ और मधुर एवं उत्तम वाणीद्वारा निर्भीकतापूर्वक उनसे मेरा यह संदेश कहो— ॥ ९ ॥

त्वं वै महाराजकुलप्रसूतो
महाबलश्चर्क्षरजःसुतश्च ।
न कश्चनार्थस्तव नास्त्यनर्थ-
स्तथापि मे भ्रातृसमो हरीश ॥ १० ॥

''वानरराज ! आप वानरोंके महाराजके कुलमें उत्पन्न हुए हैं। आदरणीय ऋक्षरजाके पुत्र हैं और स्वयं भी बड़े बलवान् हैं। मैं आपको अपने भाईके समान समझता हूँ। यदि मुझसे आपका कोई लाभ नहीं हुआ है तो मेरे द्वारा आपकी कोई हानि भी नहीं हुई है ॥ १० ॥

अहं यद्यहरं भार्यां राजपुत्रस्य धीमतः ।
किं तत्र तव सुग्रीव किष्किन्धां प्रति गम्यताम् ॥ ११ ॥

''सुग्रीव ! यदि मैं बुद्धिमान् राजपुत्र रामकी स्त्रीको हर लाया हूँ तो इसमें आपकी क्या हानि है ? अतः आप किष्किन्धाको लौट जाइये ॥ ११ ॥

नहीयं हरिभिर्लङ्का प्राप्तुं शक्या कथंचन ।
देवैरपि सगन्धर्वैः किं पुनर्नरवानरैः ॥ १२ ॥

''हमारी इस लङ्कामें वानरलोग किसी तरह भी नहीं पहुँच सकते। यहाँ देवताओं और गन्धर्वोंका भी प्रवेश होना असम्भव है; फिर मनुष्यों और वानरोंकी तो बात ही क्या है ?'' ॥ १२ ॥

स तदा राक्षसेन्द्रेण संदिष्टो रजनीचरः ।
शुको विहंगमो भूत्वा तूर्णमाप्लुत्य चाम्बरम् ॥ १३ ॥

राक्षसराज रावणके इस प्रकार संदेश देनेपर उस समय निशाचर शुक तोता नामक पक्षीका रूप धारण करके तुरंत आकाशमें उड़ चला ॥ १३ ॥

स गत्वा दूरमध्वानमुपर्युपरि सागरम् ।
संस्थितो ह्यम्बरे वाक्यं सुग्रीवमिदमब्रवीत् ॥ १४ ॥
सर्वमुक्तं यथाऽऽदिष्टं रावणेन दुरात्मना ।

समुद्रके ऊपर-ही-ऊपर बहुत दूरका रास्ता तै करके वह सुग्रीवके पास जा पहुँचा और आकाशमें ही ठहरकर उसने दुरात्मा रावणकी आज्ञाके अनुसार वे सारी बातें सुग्रीवसे कहीं ॥ १४ १/२ ॥

तत् प्रापयन्तं वचनं तूर्णमाप्लुत्य वानराः ॥ १५ ॥
प्रापद्यन्त तदा क्षिप्रं लोप्तुं हन्तुं च मुष्टिभिः ।

जिस समय वह संदेश सुना रहा था, उसी समय वानर उछलकर तुरंत उसके पास जा पहुँचे। वे चाहते थे कि हम शीघ्र ही इसकी पाँखें नोच लें और इसे घूसोंसे ही मार डालें ॥ १५ १/२ ॥

सर्वैः प्लवंगैः प्रसभं निगृहीतो निशाचरः ॥ १६ ॥
गगनाद् भूतले चाशु प्रतिगृह्यावतारितः ।

इस निश्चयके साथ सारे वानरोंने उस निशाचरको बलपूर्वक पकड़ लिया और उसे कैद करके तुरंत आकाशसे भूतलपर उतारा ॥ १६ १/२ ॥

वानरैः पीड्यमानस्तु शुको वचनमब्रवीत् ॥ १७ ॥
न दूतान् घ्नन्ति काकुत्स्थ वार्यन्तां साधु वानराः ।
यस्तु हित्वा मतं भर्तुः स्वमतं सम्प्रधारयेत् ।
अनुक्तवादी दूतः सन् स दूतो वधमर्हति ॥ १८ ॥

इस प्रकार वानरोंके पीड़ा देनेपर शुक पुकार उठा—'रघुनन्दन ! राजालोग दूतोंका वध नहीं करते हैं, अतः आप इन वानरोंको भलीभाँति रोकिये। जो स्वामीके अभिप्रायको छोड़कर अपना मत प्रकट करने लगता है, वह दूत बिना कही हुई बात कहनेका अपराधी है; अतः वही वधके योग्य होता है' ॥ १७-१८ ॥

शुकस्य वचनं रामः श्रुत्वा तु परिदेवितम् ।
उवाच मावधिष्टेति घ्नतः शाखामृगर्षभान् ॥ १९ ॥

शुकके वचन और विलापको सुनकर भगवान् श्रीरामने उसे पीटनेवाले प्रमुख वानरोंको पुकारकर कहा—'इसे मत मारो' ॥ १९ ॥

स च पत्रलघुर्भूत्वा हरिभिर्दर्शितेऽभये ।
अन्तरिक्षे स्थितो भूत्वा पुनर्वचनमब्रवीत् ॥ २० ॥

उस समयतक शुकके पंखोंका भार कुछ हलका हो गया था; (क्योंकि वानरोंने उन्हें नोच डाला था) फिर उनके अभय देनेपर शुक आकाशमें खड़ा हो गया और पुनः बोला— ॥ २० ॥

सुग्रीव सत्त्वसम्पन्न महाबलपराक्रम ।
किं मया खलु वक्तव्यो रावणो लोकरावणः ॥ २१ ॥

'महान् बल और पराक्रमसे युक्त शक्तिशाली सुग्रीव ! समस्त लोकोंको रुलानेवाले रावणको मुझे आपकी ओरसे क्या उत्तर देना चाहिये' ॥ २१ ॥

स एवमुक्तः प्लवगाधिपस्तदा
प्लवंगमानामृषभो महाबलः ।
उवाच वाक्यं रजनीचरस्य
चारं शुकं शुद्धमदीनसत्त्वः ॥ २२ ॥

शुकके इस प्रकार पूछनेपर उस समय कपिशिरोमणि महाबली उदारचेता वानरराज सुग्रीवने उस निशाचरके दूतसे यह स्पष्ट एवं निश्छल बात कही— ॥ २२ ॥

न मेऽसि मित्रं न तथानुकम्प्यो
न चोपकर्तासि न मे प्रियोऽसि ।
अरिश्च रामस्य सहानुबन्ध-
स्ततोऽसि वालीव वधार्ह वध्यः ॥ २३ ॥

'(दूत ! तुम रावणसे इस प्रकार कहना—) वधके योग्य दशानन ! तुम न तो मेरे मित्र हो, न दयाके पात्र हो, न मेरे उपकारी हो और न मेरे प्रिय व्यक्तियोंमेंसे ही कोई हो।

भगवान् श्रीरामके शत्रु हो, इस कारण अपने सगे-सम्बन्धियों-सहित तुम वालीकी भाँति ही मेरे लिये वध्य हो ॥ २३ ॥

निहन्म्यहं त्वां ससुतं सबन्धुं
सज्ञातिवर्गं रजनीचरेश ।
लङ्कां च सर्वां महता बलेन
सर्वैः करिष्यामि समेत्य भस्म ॥ २४ ॥

'निशाचरराज ! मैं पुत्र, बन्धु और कुटुम्बीजनोंसहित तुम्हारा संहार करूँगा और बड़ी भारी सेनाके साथ आकर समस्त लङ्कापुरीको भस्म कर डालूँगा ॥ २४ ॥

न मोक्ष्यसे रावण राघवस्य
सुरैः सहेन्द्रैरपि मूढ गुप्तः ।
अन्तर्हितः सूर्यपथं गतोऽपि
तथैव पातालमनुप्रविष्टः ।
गिरीशपादाम्बुजसंगतो वा
हतोऽसि रामेण सहानुजस्त्वम् ॥ २५ ॥

'मूर्ख रावण ! यदि इन्द्र आदि समस्त देवता तुम्हारी रक्षा करें तो भी श्रीरघुनाथजीके हाथसे अब तुम जीवित नहीं छूट सकोगे। तुम अन्तर्धान हो जाओ, आकाशमें चले जाओ, पातालमें घुस जाओ अथवा महादेवजीके चरणारविन्दोंका आश्रय लो; फिर भी अपने भाइयोंसहित तुम अवश्य श्रीरामचन्द्रजीके हाथोंसे मारे जाओगे ॥ २५ ॥

तस्य ते त्रिषु लोकेषु न पिशाचं न राक्षसम् ।
त्रातारं नानुपश्यामि न गन्धर्वं न चासुरम् ॥ २६ ॥

'तीनों लोकोंमें मुझे कोई भी पिशाच, राक्षस, गन्धर्व या असुर ऐसा नहीं दिखायी देता, जो तुम्हारी रक्षा कर सके ॥ २६ ॥

अवधीस्त्वं जरावृद्धं गृध्रराजं जटायुषम् ।
किं नु ते रामसांनिध्ये सकाशे लक्ष्मणस्य च ।
हृता सीता विशालाक्षी यां त्वं गृह्य न बुध्यसे ॥ २७ ॥

'चिरकालके बूढ़े गृध्रराज जटायुको तुमने क्यों मारा ? यदि तुममें बड़ा बल था तो श्रीराम और लक्ष्मणके पाससे तुमने विशाललोचना सीताका अपहरण क्यों नहीं किया ? तुम सीताजीको ले आकर अपने सिरपर आयी हुई विपत्तिको क्यों नहीं समझ रहे हो ? ॥ २७ ॥

महाबलं महात्मानं दुराधर्षं सुरैरपि ।
न बुध्यसे रघुश्रेष्ठं यस्ते प्राणान् हरिष्यति ॥ २८ ॥

'रघुकुलतिलक श्रीराम महाबली, महात्मा और देवताओंके लिये भी दुर्जय हैं, किंतु तुम उन्हें अभीतक समझ नहीं सके। (तुमने छिपकर सीताका हरण किया है, परंतु) वे (सामने आकर) तुम्हारे प्राणोंका अपहरण करेंगे' ॥ २८ ॥

ततोऽब्रवीद् वालिसुतोऽप्यङ्गदो हरिसत्तमः ।
नायं दूतो महाराज चारकः प्रतिभाति मे ॥ २९ ॥
तुलितं हि बलं सर्वमनेन तव तिष्ठता ।
गृह्यतां मागमल्लङ्कामेतद्धि मम रोचते ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् वानरशिरोमणि वालिकुमार अङ्गदने कहा—'महाराज ! मुझे तो यह दूत नहीं, कोई गुप्तचर प्रतीत होता है। इसने यहाँ खड़े-खड़े आपकी सारी सेनाका माप-तौल कर लिया है—पूरा-पूरा अंदाजा लगा लिया है। अतः इसे पकड़ लिया जाय, लङ्काको न जाने पाये। मुझे यही ठीक जान पड़ता है' ॥ २९-३० ॥

ततो राज्ञा समादिष्टाः समुत्पत्य वलीमुखाः ।
जगृहुश्च बबन्धुश्च विलपन्तमनाथवत् ॥ ३१ ॥

फिर तो राजा सुग्रीवके आदेशसे वानरोंने उछलकर उसे पकड़ लिया और बाँध दिया। वह बेचारा अनाथकी भाँति विलाप करता रहा ॥ ३१ ॥

शुकस्तु वानरैश्चण्डैस्तत्र तैः सम्प्रपीडितः ।
व्याचुक्रोश महात्मानं रामं दशरथात्मजम् ।
लुप्येते मे बलात् पक्षौ भिद्येते मे तथाक्षिणी ॥ ३२ ॥
यां च रात्रिं मरिष्यामि जाये रात्रिं च यामहम् ।
एतस्मिन्नन्तरे काले यन्मया ह्यशुभं कृतम् ।
सर्वं तदुपपद्येथा जह्यां चेद् यदि जीवितम् ॥ ३३ ॥

उन प्रचण्ड वानरोंसे पीड़ित हो शुकने दशरथनन्दन महात्मा श्रीरामको बड़े जोरसे पुकारा और कहा—'प्रभो ! बलपूर्वक मेरी पाँखें नोची और आँखें फोड़ी जा रही हैं। यदि आज मैंने प्राणोंका त्याग किया तो जिस रातमें मेरा जन्म हुआ था और जिस रातको मैं मरूँगा, जन्म और मरणके इस मध्यवर्ती कालमें, मैंने जो भी पाप किया है, वह सब आपको ही लगेगा' ॥ ३२-३३ ॥

नाघातयत् तदा रामः श्रुत्वा तत्परिदेवितम् ।
वानरानब्रवीद् रामो मुच्यतां दूत आगतः ॥ ३४ ॥

उस समय उसका वह विलाप सुनकर श्रीरामने उसका वध नहीं होने दिया। उन्होंने वानरोंसे कहा—'छोड़ दो। यह दूत होकर ही आया था' ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे विंशः सर्गः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २० ॥

—★—

एकविंशः सर्गः

श्रीरामका समुद्रके तटपर कुशा बिछाकर तीन दिनोंतक धरना देनेपर भी समुद्रके दर्शन न देनेसे कुपित हो उसे बाण मारकर विक्षुब्ध कर देना

ततः सागरवेलायां दर्भानास्तीर्य राघवः।
अञ्जलिं प्राङ्मुखः कृत्वा प्रतिशिश्ये महोदधेः॥ १॥

तदनन्तर श्रीरघुनाथजी समुद्रके तटपर कुशा बिछा महासागरके समक्ष हाथ जोड़ पूर्वाभिमुख हो वहाँ लेट गये॥ १॥

बाहुं भुजङ्गभोगाभमुपधायारिसूदनः।
जातरूपमयैश्चैव भूषणैर्भूषितं पुरा॥ २॥

उस समय शत्रुसूदन श्रीरामने सर्पके शरीरकी भाँति कोमल और वनवासके पहले सोनेके बने हुए सुन्दर आभूषणोंसे सदा विभूषित रहनेवाली अपनी एक (दाहिनी) बाँहको तकिया बना रखा था॥ २॥

मणिकाञ्चनकेयूरमुक्ताप्रवरभूषणैः।
भुजैः परमनारीणामभिमृष्टमनेकधा॥ ३॥

अयोध्यामें रहते समय मातृकोटिकी अनेक उत्तम नारियाँ (धायें) मणि और सुवर्णके बने हुए केयूरों तथा मोतीके श्रेष्ठ आभूषणोंसे विभूषित अपने कर-कमलोंद्वारा नहलाने-धुलाने आदिके समय अनेक बार श्रीरामके उस बाँहको सहलाती और दबाती थीं॥ ३॥

चन्दनागुरुभिश्चैव पुरस्तादभिसेवितम्।
बालसूर्यप्रकाशैश्च चन्दनैरुपशोभितम्॥ ४॥

पहले चन्दन और अगुरुसे उस बाँहकी सेवा होती थी। प्रातःकालके सूर्यकी-सी कान्तिवाले लाल चन्दन उसकी शोभा बढ़ाते थे॥ ४॥

शयने चोत्तमाङ्गेन सीतायाः शोभितं पुरा।
तक्षकस्येव सम्भोगं गङ्गाजलनिषेवितम्॥ ५॥

सीताहरणसे पहले शयनकालमें सीताका सिर उस बाँहकी शोभा बढ़ाता था और श्वेत शय्यापर स्थित एवं लाल चन्दनसे चर्चित हुई वह बाँह गङ्गाजलमें निवास करनेवाले तक्षकके[1] शरीरकी भाँति सुशोभित होती थी॥ ५॥

संयुगे युगसंकाशं शत्रूणां शोकवर्धनम्।
सुहृदां नन्दनं दीर्घं सागरान्तव्यपाश्रयम्॥ ६॥

युद्धस्थलमें जूएके समान वह विशाल भुजा शत्रुओंका शोक बढ़ानेवाली और सुहृदोंको दीर्घकालतक आनन्दित करनेवाली थी। समुद्रपर्यन्त अखण्ड भूमण्डलकी रक्षाका भार उनकी उसी भुजापर प्रतिष्ठित था॥ ६॥

अस्यता च पुनः सव्यं ज्याघातविहतत्वचम्।
दक्षिणो दक्षिणं बाहुं महापरिघसंनिभम्॥ ७॥
गोसहस्रप्रदातारं ह्युपधाय भुजं महत्।
अद्य मे तरणं वाथ मरणं सागरस्य वा॥ ८॥
इति रामो धृतिं कृत्वा महाबाहुर्महोदधिम्।
अधिशिश्ये च विधिवत् प्रयतो नियतो मुनिः॥ ९॥

बायीं ओरको बारंबार बाण चलानेके कारण प्रत्यञ्चाके आघातसे जिसकी त्वचापर रगड़ पड़ गयी थी, जो विशाल परिघके समान सुदृढ़ एवं बलिष्ठ थी तथा जिसके द्वारा उन्होंने सहस्रों गौओंका दान किया था, उस विशाल दाहिनी भुजाका तकिया लगाकर उदारता आदि गुणोंसे युक्त महाबाहु श्रीराम 'आज या तो मैं समुद्रके पार जाऊँगा या मेरेद्वारा समुद्रका संहार होगा' ऐसा निश्चय करके मौन हो मन, वाणी और शरीरको संयममें रखकर महासागरको अनुकूल करनेके उद्देश्यसे विधिपूर्वक धरना देते हुए उस कुशासनपर सो गये॥ ७—९॥

तस्य रामस्य सुप्तस्य कुशास्तीर्णे महीतले।
नियमादप्रमत्तस्य निशास्तिस्रोऽभिजग्मतुः॥ १०॥

कुश बिछी हुई भूमिपर सोकर नियमसे असावधान न होते हुए श्रीरामकी वहाँ तीन रातें व्यतीत हो गयीं॥ १०॥

स त्रिरात्रोषितस्तत्र नयज्ञो धर्मवत्सलः।
उपासत तदा रामः सागरं सरितां पतिम्॥ ११॥
न च दर्शयते रूपं मन्दो रामस्य सागरः।
प्रयतेनापि रामेण यथार्हमभिपूजितः॥ १२॥

इस प्रकार उस समय वहाँ तीन रात लेटे रहकर नीतिके ज्ञाता, धर्मवत्सल श्रीरामचन्द्रजी सरिताओंके स्वामी समुद्रकी उपासना करते रहे; परंतु नियमपूर्वक रहते हुए श्रीरामके द्वारा यथोचित पूजा और सत्कार पाकर भी उस मन्दमति महासागरने उन्हें अपने आधिदैविक रूपका दर्शन नहीं कराया—वह उनके समक्ष प्रकट नहीं हुआ॥ ११-१२॥

समुद्रस्य ततः क्रुद्धो रामो रक्तान्तलोचनः।
समीपस्थमुवाचेदं लक्ष्मणं शुभलक्षणम्॥ १३॥

तब अरुणनेत्रप्रान्तवाले भगवान् श्रीराम समुद्रपर कुपित हो उठे और पास ही खड़े हुए शुभलक्षणयुक्त लक्ष्मणसे इस प्रकार बोले—॥ १३॥

अवलेपः समुद्रस्य न दर्शयति यः स्वयम्।
प्रशमश्च क्षमा चैव आर्जवं प्रियवादिता॥ १४॥
असामर्थ्यफला ह्येते निर्गुणेषु सतां गुणाः।

---

१. तक्षकनागका रंग लाल माना गया है। (देखिये महाभारत, आदिपर्व ४४। २-३)

'समुद्रको अपने ऊपर बड़ा अहङ्कार है, जिससे वह स्वयं मेरे सामने प्रकट नहीं हो रहा है। शान्ति, क्षमा, सरलता और मधुर भाषण—ये जो सत्पुरुषोंके गुण हैं, इनका गुणहीनोंके प्रति प्रयोग करनेपर यही परिणाम होता है कि वे उस गुणवान् पुरुषको भी असमर्थ समझ लेते हैं॥ १४½॥

आत्मप्रशंसिनं दुष्टं धृष्टं विपरिधावकम्॥ १५॥
सर्वत्रोत्सृष्टदण्डं च लोकः सत्कुरुते नरम्।

'जो अपनी प्रशंसा करनेवाला, दुष्ट, धृष्ट, सर्वत्र धावा करनेवाला और अच्छे-बुरे सभी लोगोंपर कठोर दण्डका प्रयोग करनेवाला होता है, उस मनुष्यका सब लोग सत्कार करते हैं॥ १५½॥

न साम्ना शक्यते कीर्तिर्न साम्ना शक्यते यशः॥ १६॥
प्राप्तुं लक्ष्मण लोकेऽस्मिञ्जयो वा रणमूर्धनि।

'लक्ष्मण! सामनीति-(शान्ति-)के द्वारा इस लोकमें न तो कीर्ति प्राप्त की जा सकती है, न यशका प्रसार हो सकता है और न संग्राममें विजय ही पायी जा सकती है॥ १६½॥

अद्य मद्बाणनिर्भिन्नैर्मकरैर्मकरालयम्॥ १७॥
निरुद्धतोयं सौमित्रे प्लवद्भिः पश्य सर्वतः।

'सुमित्रानन्दन! आज मेरे बाणोंसे खण्ड-खण्ड हो मगर और मत्स्य सब ओर उतराकर बहने लगेंगे और उनकी लाशोंसे इस मकरालय (समुद्र) का जल आच्छादित हो जायगा। तुम यह दृश्य आज अपनी आँखों देख लो॥ १७½॥

भोगिनां पश्य भोगानि मया भिन्नानि लक्ष्मण॥ १८॥
महाभोगानि मत्स्यानां करिणां च करानिह।

'लक्ष्मण! तुम देखो कि मैं यहाँ जलमें रहनेवाले सर्पोंके शरीर, मत्स्योंके विशाल कलेवर और जल-हस्तियोंके शुण्ड-दण्डके किस तरह टुकड़े-टुकड़े कर डालता हूँ॥ १८½॥

सशङ्खशुक्तिकाजालं समीनमकरं तथा॥ १९॥
अद्य युद्धेन महता समुद्रं परिशोषये।

'आज महान् युद्ध ठानकर शङ्खों और सीपियोंके समुदाय तथा मत्स्यों और मगरोंसहित समुद्रको मैं अभी सुखाये देता हूँ॥ १९½॥

क्षमया हि समायुक्तं मामयं मकरालयः॥ २०॥
असमर्थं विजानाति धिक् क्षमामीदृशे जने।

'मगरोंका निवासभूत यह समुद्र मुझे क्षमासे युक्त देख असमर्थ समझने लगा है। ऐसे मूर्खोंके प्रति की गयी क्षमाको धिक्कार है॥ २०½॥

न दर्शयति साम्ना मे सागरो रूपमात्मनः॥ २१॥
चापमानय सौमित्रे शरांश्चाशीविषोपमान्।
समुद्रं शोषयिष्यामि पद्भ्यां यान्तु प्लवंगमाः॥ २२॥

'सुमित्रानन्दन! सामनीतिका आश्रय लेनेसे यह समुद्र मेरे सामने अपना रूप नहीं प्रकट कर रहा है, इसलिये धनुष तथा विषधर सर्पोंके समान भयंकर बाण ले आओ। मैं समुद्रको सुखा डालूँगा; फिर वानरलोग पैदल ही लङ्कापुरीको चलें॥ २१-२२॥

अद्याक्षोभ्यमपि क्रुद्धः क्षोभयिष्यामि सागरम्।
वेलासु कृतमर्यादं सहस्रोर्मिसमाकुलम्॥ २३॥
निर्मर्यादं करिष्यामि सायकैर्वरुणालयम्।
महार्णवं क्षोभयिष्ये महादानवसंकुलम्॥ २४॥

'यद्यपि समुद्रको अक्षोभ्य कहा गया है; फिर भी आज कुपित होकर मैं इसे विक्षुब्ध कर दूँगा। इसमें सहस्रों तरङ्गें उठती रहती हैं; फिर भी यह सदा अपने तटकी मर्यादा (सीमा) में ही रहता है। किंतु अपने बाणोंसे मारकर मैं इसकी मर्यादा नष्ट कर दूँगा। बड़े-बड़े दानवोंसे भरे हुए इस महासागरमें हलचल मचा दूँगा—तूफान ला दूँगा'॥ २३-२४॥

एवमुक्त्वा धनुष्पाणिः क्रोधविस्फारितेक्षणः।
बभूव रामो दुर्धर्षो युगान्ताग्निरिव ज्वलन्॥ २५॥

यों कहकर दुर्धर्ष वीर भगवान् श्रीरामने हाथमें धनुष ले लिया। वे क्रोधसे आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगे और प्रलयाग्निके समान प्रज्वलित हो उठे॥ २५॥

सम्पीड्य च धनुर्घोरं कम्पयित्वा शरैर्जगत्।
मुमोच विशिखानुग्रान् वज्रानिव शतक्रतुः॥ २६॥

उन्होंने अपने भयंकर धनुषको धीरेसे दबाकर उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी और उसकी टङ्कारसे सारे जगत्‌को कम्पित करते हुए बड़े भयंकर बाण छोड़े, मानो इन्द्रने बहुत-से वज्रोंका प्रहार किया हो॥ २६॥

ते ज्वलन्तो महावेगास्तेजसा सायकोत्तमाः।
प्रविशन्ति समुद्रस्य जलं वित्रस्तपन्नगम्॥ २७॥

तेजसे प्रज्वलित होते हुए वे महान् वेगशाली श्रेष्ठ बाण समुद्रके जलमें घुस गये। वहाँ रहनेवाले सर्प भयसे थर्रा उठे॥ २७॥

तोयवेगः समुद्रस्य समीनमकरो महान्।
स बभूव महाघोरः समारुतरवस्तथा॥ २८॥

'मत्स्यों और मगरोंसहित महासागरके जलका महान् वेग सहसा अत्यन्त भयंकर हो गया। वहाँ तूफानका कोलाहल छा गया॥ २८॥

महोर्मिमालावितत: शङ्खशुक्तिसमावृतः।
सधूमः परिवृत्तोर्मिः सहसासीन्महोदधिः॥ २९॥

बड़ी-बड़ी तरङ्ग-मालाओंसे सारा समुद्र व्याप्त हो उठा। शङ्ख और सीपियाँ पानीके ऊपर छा गयीं। वहाँ धुआँ उठने लगा और सारे महासागरमें सहसा बड़ी-बड़ी लहरें चक्कर काटने लगीं॥ २९॥

व्यथिताः पन्नगाश्चासन् दीप्तास्या दीप्तलोचनाः।
दानवाश्च महावीर्याः पातालतलवासिनः॥ ३०॥

चमकीले फन और दीप्तिशाली नेत्रोंवाले सर्प व्यथित हो उठे तथा पातालमें रहनेवाले महापराक्रमी दानव भी व्याकुल हो गये ॥ ३० ॥

ऊर्मयः सिन्धुराजस्य सनक्रमकरास्तथा ।
विन्ध्यमन्दरसंकाशाः समुत्पेतुः सहस्रशः ॥ ३१ ॥

सिन्धुराजकी सहस्रों लहरें जो विन्ध्याचल और मन्दराचलके समान विशाल एवं विस्तृत थीं, नाकों और मकरोंको साथ लिये ऊपरको उठने लगीं ॥ ३१ ॥

आघूर्णिततरङ्गौघः सम्भ्रान्तोरगराक्षसः ।
उद्वर्तितमहाग्राहः सघोषो वरुणालयः ॥ ३२ ॥

सागरकी उत्ताल तरङ्ग-मालाएँ झूमने और चक्कर काटने लगीं। वहाँ निवास करनेवाले नाग और राक्षस घबरा गये। बड़े-बड़े ग्राह ऊपरको उछलने लगे तथा वरुणके निवासभूत उस समुद्रमें सब ओर भारी कोलाहल मच गया ॥ ३२ ॥

ततस्तु तं राघवमुग्रवेगं
प्रकर्षमाणं धनुरप्रमेयम् ।
सौमित्रिरुत्पत्य विनिःश्वसन्तं
मामेति चोक्त्वा धनुराललम्बे ॥ ३३ ॥

तदनन्तर श्रीरघुनाथजी रोषसे लंबी साँस लेते हुए अपने भयंकर वेगशाली अनुपम धनुषको पुनः खींचने लगे। यह देख सुमित्राकुमार लक्ष्मण उछलकर उनके पास जा पहुँचे और 'बस, बस, अब नहीं, अब नहीं' ऐसा कहते हुए उन्होंने उनका धनुष पकड़ लिया ॥ ३३ ॥

एतद्विनापि ह्युदधेस्तवाद्य
सम्पत्स्यते वीरतमस्य कार्यम् ।
भवद्विधाः क्रोधवशं न यान्ति
दीर्घं भवान् पश्यतु साधुवृत्तम् ॥ ३४ ॥

(फिर वे बोले—) 'भैया ! आप वीर-शिरोमणि हैं। इस समुद्रको नष्ट किये बिना भी आपका कार्य सम्पन्न हो जायगा। आप-जैसे महापुरुष क्रोधके अधीन नहीं होते हैं। अब आप सुदीर्घकालतक उपयोगमें लाये जानेवाले किसी अच्छे उपायपर दृष्टि डालें—कोई दूसरी उत्तम युक्ति सोचें' ॥ ३४ ॥

अन्तर्हितैश्चापि तथान्तरिक्षे
ब्रह्मर्षिभिश्चैव सुरर्षिभिश्च ।
शब्दः कृतः कष्टमिति ब्रुवद्भि-
र्मामेति चोक्त्वा महता स्वरेण ॥ ३५ ॥

इसी समय अन्तरिक्षमें अव्यक्तरूपसे स्थित महर्षियों और देवर्षियोंने भी 'हाय ! यह तो बड़े कष्टकी बात है' ऐसा कहते हुए 'अब नहीं, अब नहीं' कहकर बड़े जोरसे कोलाहल किया ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे एकविंशः सर्गः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें इक्कीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २१ ॥

—★—

द्वाविंशः सर्गः

समुद्रकी सलाहके अनुसार नलके द्वारा सागरपर सौ योजन लंबे पुलका निर्माण तथा उसके द्वारा श्रीराम आदिसहित वानरसेनाका उस पार पहुँचकर पड़ाव डालना

अथोवाच रघुश्रेष्ठः सागरं दारुणं वचः ।
अद्य त्वां शोषयिष्यामि सपातालं महार्णव ॥ १ ॥

तब रघुकुलतिलक श्रीरामने समुद्रसे कठोर शब्दोंमें कहा—'महासागर ! आज मैं पातालसहित तुझे सुखा डालूँगा ॥ १ ॥

शरनिर्दग्धतोयस्य परिशुष्कस्य सागर ।
मया निहतसत्त्वस्य पांसुरुत्पद्यते महान् ॥ २ ॥

'सागर ! मेरे बाणोंसे तुम्हारी सारी जलराशि दग्ध हो जायगी, तू सूख जायगा और तेरे भीतर रहनेवाले सब जीव नष्ट हो जायँगे। उस दशामें तेरे यहाँ जलके स्थानमें विशाल बालुकाराशि पैदा हो जायगी ॥ २ ॥

मत्कार्मुकविसृष्टेन शरवर्षेण सागर ।
परं तीरं गमिष्यन्ति पद्भिरेव प्लवंगमाः ॥ ३ ॥

'समुद्र ! मेरे धनुषद्वारा की गयी बाण-वर्षासे जब तेरी ऐसी दशा हो जायगी, तब वानरलोग पैदल ही चलकर तेरे उस पार पहुँच जायँगे ॥ ३ ॥

विचिन्वन्नाभिजानासि पौरुषं नापि विक्रमम् ।
दानवालय संतापं मत्तो नाम गमिष्यसि ॥ ४ ॥

'दानवोंके निवासस्थान ! तू केवल चारों ओरसे बहकर आयी हुई जलराशिका संग्रह करता है। तुझे मेरे बल और पराक्रमका पता नहीं है। किंतु याद रख, (इस उपेक्षाके कारण) तुझे मुझसे भारी संताप प्राप्त होगा' ॥ ४ ॥

ब्राह्मेणास्त्रेण संयोज्य ब्रह्मदण्डनिभं शरम् ।
संयोज्य धनुषि श्रेष्ठे विचकर्ष महाबलः ॥ ५ ॥

यों कहकर महाबली श्रीरामने एक ब्रह्मदण्डके समान

भयंकर बाणको ब्रह्मास्त्रसे अभिमन्त्रित करके अपने श्रेष्ठ धनुषपर चढ़ाकर खींचा ॥ ५ ॥

तस्मिन् विकृष्टे सहसा राघवेण शरासने ।
रोदसी सम्पफालेव पर्वताश्च चकम्पिरे ॥ ६ ॥

श्रीरघुनाथजीके द्वारा सहसा उस धनुषके खींचे जाते ही पृथ्वी और आकाश मानो फटने लगे और पर्वत डगमगा उठे ॥ ६ ॥

तमश्च लोकमावव्रे दिशश्च न चकाशिरे ।
प्रतिचुक्षुभिरे चाशु सरांसि सरितस्तथा ॥ ७ ॥

सारे संसारमें अन्धकार छा गया। किसीको दिशाओंका ज्ञान न रहा। सरिताओं और सरोवरोंमें तत्काल हलचल पैदा हो गयी ॥ ७ ॥

तिर्यक् च सह नक्षत्रैः संगतौ चन्द्रभास्करौ ।
भास्करांशुभिरादीप्तं तमसा च समावृतम् ॥ ८ ॥

चन्द्रमा और सूर्य नक्षत्रोंके साथ तिर्यक्-गतिसे चलने लगे। सूर्यकी किरणोंसे प्रकाशित होनेपर भी आकाशमें अन्धकार छा गया ॥ ८ ॥

प्रचकाशे तदाऽऽकाशमुल्काशतविदीपितम् ।
अन्तरिक्षाच्च निर्घाता निर्जग्मुरतुलस्वनाः ॥ ९ ॥

उस समय आकाशमें सैकड़ों उल्काएँ प्रज्वलित होकर उसे प्रकाशित करने लगीं तथा अन्तरिक्षसे अनुपम एवं भारी गड़गड़ाहटके साथ वज्रपात होने लगे ॥ ९ ॥

वपुःप्रकर्षेण ववुर्दिव्यमारुतपङ्क्तयः ।
बभञ्ज च तदा वृक्षाञ्जलदानुद्वहन्मुहुः ॥ १० ॥
आरुजंश्चैव शैलाग्राञ्छिखराणि बभञ्ज च ।

परिवह आदि वायुभेदोंका समूह बड़े वेगसे बहने लगा। वह मेघोंकी घटाको उड़ाता हुआ बारंबार वृक्षोंको तोड़ने, बड़े-बड़े पर्वतोंसे टकराने और उनके शिखरोंको खण्डित करके गिराने लगा ॥ १०½ ॥

दिवि च स्म महामेघाः संहताः समहास्वनाः ॥ ११ ॥
मुमुचुर्वैद्युतानग्नींस्ते महाशनयस्तदा ।
यानि भूतानि दृश्यानि चुक्रुशुश्चाशनेः समम् ॥ १२ ॥
अदृश्यानि च भूतानि मुमुचुर्भैरवस्वनम् ।

आकाशमें महान् वेगशाली विशाल वज्र भारी गड़गड़ाहटके साथ टकराकर उस समय वैद्युत अग्निकी वर्षा करने लगे। जो प्राणी दिखायी दे रहे थे और जो नहीं दिखायी देते थे, वे सब बिजलीकी कड़कके समान भयंकर शब्द करने लगे ॥ ११-१२½ ॥

शिश्यिरे चाभिभूतानि संत्रस्तान्युद्विजन्ति च ॥ १३ ॥
सम्प्राविव्यथिरे चापि न च पस्पन्दिरे भयात् ।

उनमेंसे कितने ही अभिभूत होकर धराशायी हो गये। कितने ही भयभीत और उद्विग्न हो उठे। कोई व्यथासे व्याकुल हो गये और कितने ही भयके मारे जड़वत् हो गये ॥ १३½ ॥

सह भूतैः सतोयोर्मिः सनागः सहराक्षसः ॥ १४ ॥
सहसाभूत् ततो वेगाद् भीमवेगो महोदधिः ।
योजनं व्यतिचक्राम वेलामन्यत्र सम्प्लवात् ॥ १५ ॥

समुद्र अपने भीतर रहनेवाले प्राणियों, तरङ्गों, सर्पों और राक्षसोंसहित सहसा भयानक वेगसे युक्त हो गया और प्रलयकालके बिना ही तीव्रगतिसे अपनी मर्यादा लाँघकर एक-एक योजन आगे बढ़ गया ॥ १४-१५ ॥

तं तथा समतिक्रान्तं नातिचक्राम राघवः ।
समुद्धतममित्रघ्नो रामो नदनदीपतिम् ॥ १६ ॥

इस प्रकार नदों और नदियोंके स्वामी उस उद्धत समुद्रके मर्यादा लाँघकर बढ़ जानेपर भी शत्रुसूदन श्रीरामचन्द्रजी अपने स्थानसे पीछे नहीं हटे ॥ १६ ॥

ततो मध्यात् समुद्रस्य सागरः स्वयमुत्थितः ।
उदयाद्रिमहाशैलान्मेरोरिव दिवाकरः ॥ १७ ॥

तब समुद्रके बीचसे सागर स्वयं मूर्तिमान् होकर प्रकट हुआ, मानो महाशैल मेरुपर्वतके अङ्गभूत उदयाचलसे सूर्यदेव उदित हुए हों ॥ १७ ॥

पन्नगैः सह दीप्तास्यैः समुद्रः प्रत्यदृश्यत ।
स्निग्धवैदूर्यसंकाशो जाम्बूनदविभूषणः ॥ १८ ॥

चमकीले मुखवाले सर्पोंके साथ समुद्रका दर्शन हुआ। उसका वर्ण स्निग्ध वैदूर्यमणिके समान श्याम था। उसने जाम्बूनद नामक सुवर्णके बने हुए आभूषण पहन रखे थे ॥ १८ ॥

रक्तमाल्याम्बरधरः पद्मपत्रनिभेक्षणः ।
सर्वपुष्पमयीं दिव्यां शिरसा धारयन् स्रजम् ॥ १९ ॥

लाल रंगके फूलोंकी माला तथा लाल ही वस्त्र धारण किये थे। उसके नेत्र प्रफुल्ल कमलदलके समान सुन्दर थे। उसने सिरपर एक दिव्य पुष्पमाला धारण कर रखी थी, जो सब प्रकारके फूलोंसे बनायी गयी थी ॥ १९ ॥

जातरूपमयैश्चैव तपनीयविभूषणैः ।
आत्मजानां च रत्नानां भूषितो भूषणोत्तमैः ॥ २० ॥

सुवर्ण और तपे हुए काञ्चनके आभूषण उसकी शोभा बढ़ाते थे। वह अपने ही भीतर उत्पन्न हुए रत्नोंके उत्तम आभूषणोंसे विभूषित था ॥ २० ॥

धातुभिर्मण्डितः शैलो विविधैर्हिमवानिव ।
एकावलीमध्यगतं तरलं पाण्डरप्रभम् ॥ २१ ॥
विपुलेनोरसा बिभ्रत्कौस्तुभस्य सहोदरम् ।

इसीलिये नाना प्रकारके धातुओंसे अलंकृत हिमवान् पर्वतके समान शोभा पाता था। वह अपने विशाल वक्षःस्थलपर कौस्तुभ मणिके सहोदर (सदृश) एक श्वेत प्रभासे युक्त मुख्य रत्न धारण किये हुए था, जो मोतियोंकी इकहरी मालाके मध्यभागमें प्रकाशित हो रहा था ॥ २१½ ॥

आघूर्णिततरङ्गौघः कालिकानिलसंकुलः ॥ २२ ॥
गङ्गासिन्धुप्रधानाभिरापगाभिः समावृतः ।

चञ्चल तरङ्गें उसे घेरे हुए थीं। मेघमाला और वायुसे वह व्याप्त था तथा गङ्गा और सिन्धु आदि नदियाँ उसे सब ओरसे घेरकर खड़ी थीं॥ २२ १/२ ॥

उद्वर्तितमहाग्राहः सम्भ्रान्तोरगराक्षसः ॥ २३ ॥
देवतानां सुरूपाभिर्नानारूपाभिरीश्वरः ।
सागरः समुपक्रम्य पूर्वमामन्त्र्य वीर्यवान् ॥ २४ ॥
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं राघवं शरपाणिनम् ॥ २५ ॥

उसके भीतर बड़े-बड़े ग्राह उद्भ्रान्त हो रहे थे, नाग और राक्षस घबराये हुए थे। देवताओंके समान सुन्दर रूप धारण करके आयी हुई विभिन्न रूपवाली नदियोंके साथ शक्तिशाली नदीपति समुद्रने निकट आकर पहले धनुर्धर श्रीरघुनाथजीको सम्बोधित किया और फिर हाथ जोड़कर कहा— ॥ २३—२५ ॥

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च राघव ।
स्वभावे सौम्य तिष्ठन्ति शाश्वतं मार्गमाश्रिताः ॥ २६ ॥

'सौम्य रघुनन्दन ! पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और तेज—ये सर्वदा अपने स्वभावमें स्थित रहते हैं, अपने सनातन मार्गको कभी नहीं छोड़ते—सदा उसीके आश्रित रहते हैं॥ २६ ॥

तत्स्वभावो ममाप्येष यदगाधोऽहमप्लवः ।
विकारस्तु भवेद् गाध एतत् ते प्रवदाम्यहम् ॥ २७ ॥

'मेरा भी यह स्वभाव ही है जो मैं अगाध और अथाह हूँ—कोई मेरे पार नहीं जा सकता। यदि मेरी थाह मिल जाय तो यह विकार—मेरे स्वभावका व्यतिक्रम ही होगा। इसलिये मैं आपसे पार होनेका यह उपाय बताता हूँ॥ २७ ॥

न कामान्न च लोभाद् वा न भयात् पार्थिवात्मज ।
ग्राहनक्राकुलजलं स्तम्भयेयं कथंचन ॥ २८ ॥

'राजकुमार ! मैं मगर और नाके आदिसे भरे हुए अपने जलको किसी कामनासे, लोभसे अथवा भयसे किसी तरह स्तम्भित नहीं होने दूँगा॥ २८ ॥

विधास्ये येन गन्तासि विषहिष्येऽप्यहं तथा ।
न ग्राहा विधमिष्यन्ति यावत्सेना तरिष्यति ।
हरीणां तरणे राम करिष्यामि यथा स्थलम् ॥ २९ ॥

'श्रीराम ! मैं ऐसा उपाय बताऊँगा, जिससे आप मेरे पार चले जायँगे, ग्राह वानरोंको कष्ट नहीं देंगे, सारी सेना पार उतर जायगी और मुझे भी खेद नहीं होगा। मैं आसानीसे सब कुछ सह लूँगा। वानरोंके पार जानेके लिये जिस प्रकार पुल बन जाय, वैसा प्रयत्न मैं करूँगा'॥ २९ ॥

तमब्रवीत् तदा रामः शृणु मे वरुणालय ।
अमोघोऽयं महाबाणः कस्मिन् देशे निपात्यताम् ॥ ३० ॥

तब श्रीरामचन्द्रजीने उससे कहा—'वरुणालय ! मेरी बात सुनो। मेरा यह विशाल बाण अमोघ है। बताओ, इसे किस स्थानपर छोड़ा जाय'॥ ३० ॥

रामस्य वचनं श्रुत्वा तं च दृष्ट्वा महाशरम् ।
महोदधिर्महातेजा राघवं वाक्यमब्रवीत् ॥ ३१ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका यह वचन सुनकर और उस महान् बाणको देखकर महातेजस्वी महासागरने रघुनाथजीसे कहा— ॥ ३१ ॥

उत्तरेणावकाशोऽस्ति कश्चित् पुण्यतरो मम ।
द्रुमकुल्य इति ख्यातो लोके ख्यातो यथा भवान् ॥ ३२ ॥

'प्रभो ! जैसे जगत्‌में आप सर्वत्र विख्यात एवं पुण्यात्मा हैं, उसी प्रकार मेरे उत्तरकी ओर द्रुमकुल्य नामसे विख्यात एक बड़ा ही पवित्र देश है॥ ३२ ॥

उग्रदर्शनकर्माणो बहवस्तत्र दस्यवः ।
आभीरप्रमुखाः पापाः पिबन्ति सलिलं मम ॥ ३३ ॥

'वहाँ आभीर आदि जातियोंके बहुत-से मनुष्य निवास करते हैं, जिनके रूप और कर्म बड़े ही भयानक हैं। वे सब-के-सब पापी और लुटेरे हैं। वे लोग मेरा जल पीते हैं॥ ३३ ॥

तैर्न तत्स्पर्शनं पापं सहेयं पापकर्मभिः ।
अमोघः क्रियतां राम अयं तत्र शरोत्तमः ॥ ३४ ॥

'उन पापाचारियोंका स्पर्श मुझे प्राप्त होता रहता है, इस पापको मैं नहीं सह सकता। श्रीराम ! आप अपने इस उत्तम बाणको वहीं सफल कीजिये'॥ ३४ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सागरस्य महात्मनः ।
मुमोच तं शरं दीप्तं परं सागरदर्शनात् ॥ ३५ ॥

महामना समुद्रका यह वचन सुनकर सागरके दिखाये अनुसार उसी देशमें श्रीरामचन्द्रजीने वह अत्यन्त प्रज्वलित बाण छोड़ दिया॥ ३५ ॥

तेन तन्मरुकान्तारं पृथिव्यां किल विश्रुतम् ।
निपातितः शरो यत्र वज्राशनिसमप्रभः ॥ ३६ ॥

वह वज्र और अशनिके समान तेजस्वी बाण जिस स्थानपर गिरा था, वह स्थान उस बाणके कारण ही पृथ्वीमें दुर्गम मरुभूमिके नामसे प्रसिद्ध हुआ॥ ३६ ॥

ननाद च तदा तत्र वसुधा शल्यपीडिता ।
तस्माद् व्रणमुखात् तोयमुत्पपात रसातलात् ॥ ३७ ॥

उस बाणसे पीड़ित होकर उस समय वसुधा आर्तनाद कर उठी। उसकी चोटसे जो छेद हुआ, उसमें होकर रसातलका जल ऊपरको उछलने लगा॥ ३७ ॥

स बभूव तदा कूपो व्रण इत्येव विश्रुतः ।
सततं चोत्थितं तोयं समुद्रस्येव दृश्यते ॥ ३८ ॥

वह छिद्र कुएँके समान हो गया और व्रणके नामसे प्रसिद्ध हुआ। उस कुएँसे सदा निकलता हुआ जल समुद्रके जलकी भाँति ही दिखायी देता है॥ ३८ ॥

अवदारणशब्दश्च दारुणः समपद्यत ।
तस्मात् तद् बाणपातेन अपः कुक्षिष्वशोषयत् ॥ ३९ ॥

उस समय वहाँ भूमिके विदीर्ण होनेका भयंकर शब्द सुनायी पड़ा। उस बाणको गिराकर वहाँके भूतलको कुक्षिमें (तालाब-पोखरे आदिमें) वर्तमान जलको श्रीरामने सुखा दिया॥ ३९॥

विख्यातं त्रिषु लोकेषु मरुकान्तारमेव च।
शोषयित्वा तु तं कुक्षिं रामो दशरथात्मजः।
वरं तस्मै ददौ विद्वान् मरवेऽमरविक्रमः॥ ४१॥

तबसे वह स्थान तीनों लोकोंमें मरुकान्तारके नामसे ही विख्यात हो गया। जो पहले समुद्रका कुक्षिप्रदेश था, उसे सुखाकर देवोपम पराक्रमी विद्वान् दशरथनन्दन श्रीरामने उस मरुभूमिको वरदान दिया॥ ४०-४१॥

पशव्यश्चाल्परोगश्च फलमूलरसायुतः।
बहुस्नेहो बहुक्षीरः सुगन्धिर्विविधौषधिः॥ ४२॥

'यह मरुभूमि पशुओंके लिये हितकारी होगी। यहाँ रोग कम होंगे। यह भूमि फल, मूल और रसोंसे सम्पन्न होगी। यहाँ घी आदि चिकने पदार्थ अधिक सुलभ होंगे, दूधकी भी बहुतायत होगी। यहाँ सुगन्ध छायी रहेगी और अनेक प्रकारकी ओषधियाँ उत्पन्न होंगी'॥ ४२॥

एवमेतैश्च संयुक्तो बहुभिः संयुतो मरुः।
रामस्य वरदानाच्च शिवः पन्था बभूव ह॥ ४३॥

इस प्रकार भगवान् श्रीरामके वरदानसे वह मरुप्रदेश इस तरहके बहुसंख्यक गुणोंसे सम्पन्न हो सबके लिये मङ्गलकारी मार्ग बन गया॥ ४३॥

तस्मिन् दग्धे तदा कुक्षौ समुद्रः सरितां पतिः।
राघवं सर्वशास्त्रज्ञमिदं वचनमब्रवीत्॥ ४४॥

उस कुक्षिस्थानके दग्ध हो जानेपर सरिताओंके स्वामी समुद्रने सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञाता श्रीरघुनाथजीसे कहा—॥ ४४॥

अयं सौम्य नलो नाम तनयो विश्वकर्मणः।
पित्रा दत्तवरः श्रीमान् प्रीतिमान् विश्वकर्मणः॥ ४५॥

'सौम्य! आपकी सेनामें जो यह नल नामक कान्तिमान् वानर है, साक्षात् विश्वकर्माका पुत्र है। इसे इसके पिताने यह वर दिया है कि 'तुम मेरे ही समान समस्त शिल्पकलामें निपुण होओगे।' प्रभो! आप भी तो इस विश्वके स्रष्टा विश्वकर्मा हैं। इस नलके हृदयमें आपके प्रति बड़ा प्रेम है॥ ४५॥

एष सेतुं महोत्साहः करोतु मयि वानरः।
तमहं धारयिष्यामि यथा ह्येष पिता तथा॥ ४६॥

'यह महान् उत्साही वानर अपने पिताके समान ही शिल्पकर्ममें समर्थ है, अतः यह मेरे ऊपर पुलका निर्माण करे। मैं उस पुलको धारण करूँगा'॥ ४६॥

एवमुक्त्वोदधिर्नष्टः समुत्थाय नलस्ततः।
अब्रवीद् वानरश्रेष्ठो वाक्यं रामं महाबलम्॥ ४७॥

यों कहकर समुद्र अदृश्य हो गया। तब वानरश्रेष्ठ नल उठकर महाबली भगवान् श्रीरामसे बोला—॥ ४७॥

अहं सेतुं करिष्यामि विस्तीर्णे मकरालये।
पितुः सामर्थ्यमासाद्य तत्त्वमाह महोदधिः॥ ४८॥

'प्रभो! मैं पिताकी दी हुई शक्तिको पाकर इस विस्तृत समुद्रपर सेतुका निर्माण करूँगा। महासागरने ठीक कहा है॥ ४८॥

दण्ड एव वरो लोके पुरुषस्येति मे मतिः।
धिक् क्षमामकृतज्ञेषु सान्त्वं दानमथापि वा॥ ४९॥

'संसारमें पुरुषके लिये अकृतज्ञोंके प्रति दण्डनीतिका प्रयोग ही सबसे बड़ा अर्थसाधक है, ऐसा मेरा विश्वास होता है। वैसे लोगोंके प्रति क्षमा, सान्त्वना और दाननीतिके प्रयोगको धिक्कार है॥ ४९॥

अयं हि सागरो भीमः सेतुकर्मदिदृक्षया।
ददौ दण्डभयाद् गाधं राघवाय महोदधिः॥ ५०॥

इस भयानक समुद्रको राजा सगरके पुत्रोंने ही बढ़ाया है। फिर भी इसने कृतज्ञतासे नहीं, दण्डके भयसे ही सेतुकर्म देखनेकी इच्छा मनमें लाकर श्रीरघुनाथजीको अपनी थाह दी है॥ ५०॥

मम मातुर्वरो दत्तो मन्दरे विश्वकर्मणा।
मया तु सदृशः पुत्रस्तव देवि भविष्यति॥ ५१॥

'मन्दराचलपर विश्वकर्माजीने मेरी माताको यह वर दिया था कि 'देवि! तुम्हारे गर्भसे मेरे ही समान पुत्र होगा'॥ ५१॥

औरसस्तस्य पुत्रोऽहं सदृशो विश्वकर्मणा।
स्मारितोऽस्म्यहमेतेन तत्त्वमाह महोदधिः।
न चाप्यहमनुक्तो वः प्रब्रूयामात्मनो गुणान्॥ ५२॥

'इस प्रकार मैं विश्वकर्माका औरस पुत्र हूँ और शिल्पकर्ममें उन्हींके समान हूँ। इस समुद्रने आज मुझे इन सब बातोंका स्मरण दिला दिया है। महासागरने जो कुछ कहा है, ठीक है। मैं बिना पूछे आपलोगोंसे अपने गुणोंको नहीं बता सकता था, इसीलिये अबतक चुप था॥ ५२॥

समर्थश्चाप्यहं सेतुं कर्तुं वै वरुणालये।
तस्मादद्यैव बध्नन्तु सेतुं वानरपुङ्गवाः॥ ५३॥

'मैं महासागरपर पुल बाँधनेमें समर्थ हूँ, अतः सब वानर आज ही पुल बाँधनेका कार्य आरम्भ कर दें'॥ ५३॥

ततो विसृष्टा रामेण सर्वतो हरिपुङ्गवाः।
उत्पेततुर्महारण्यं हृष्टाः शतसहस्रशः॥ ५४॥

तब भगवान् श्रीरामके भेजनेसे लाखों बड़े-बड़े वानर हर्ष और उत्साहमें भरकर सब ओर उछलते हुए गये और बड़े-बड़े जंगलोंमें घुस गये॥ ५४॥

ते नगान् नगसंकाशाः शाखामृगगणर्षभाः।
बभञ्जुः पादपांस्तत्र प्रचकर्षुश्च सागरम्॥ ५५॥

वे पर्वतके समान विशालकाय वानरशिरोमणि पर्वतशिखरों और वृक्षोंको तोड़ देते और उन्हें समुद्रतक खींच लाते थे ॥ ५५ ॥

ते सालैश्चाश्वकर्णैश्च धवैर्वंशैश्च वानराः।
कुटजैरर्जुनैस्तालैस्तिलकैस्तिनिशैरपि ॥ ५६ ॥
बिल्वकैः सप्तपर्णैश्च कर्णिकारैश्च पुष्पितैः।
चूतैश्चाशोकवृक्षैश्च सागरं समपूरयन् ॥ ५७ ॥

वे साल, अश्वकर्ण, धव, बाँस, कुटज, अर्जुन, ताल, तिलक, तिनिश, बेल, छितवन, खिले हुए कनेर, आम और अशोक आदि वृक्षोंसे समुद्रको पाटने लगे ॥ ५६-५७ ॥

समूलांश्च विमूलांश्च पादपान् हरिसत्तमाः।
इन्द्रकेतूनिवोद्यम्य प्रजह्रुर्वानरास्तरून् ॥ ५८ ॥

वे श्रेष्ठ वानर वहाँके वृक्षोंको जड़से उखाड़ लाते या जड़के ऊपरसे भी तोड़ लाते थे। इन्द्रध्वजके समान ऊँचे-ऊँचे वृक्षोंको उठाये लिये चले आते थे ॥ ५८ ॥

तालान् दाडिमगुल्मांश्च नारिकेलविभीतकान्।
करीरान् बकुलान् निम्बान् समाजह्रुरितस्ततः ॥ ५९ ॥

ताड़ों, अनारकी झाड़ियों, नारियल और बहेड़ेके वृक्षों, करीर, बकुल तथा नीमको भी इधर-उधरसे तोड़-तोड़कर लाने लगे ॥ ५९ ॥

हस्तिमात्रान् महाकायाः पाषाणांश्च महाबलाः।
पर्वतांश्च समुत्पाट्य यन्त्रैः परिवहन्ति च ॥ ६० ॥

महाकाय महाबली वानर हाथीके समान बड़ी-बड़ी शिलाओं और पर्वतोंको उखाड़कर यन्त्रों (विभिन्न साधनों) द्वारा समुद्रतटपर ले आते थे ॥ ६० ॥

प्रक्षिप्यमाणैरचलैः सहसा जलमुद्धृतम्।
समुत्ससर्प चाकाशमवासर्पत् ततः पुनः ॥ ६१ ॥

शिलाखण्डोंको फेंकनेसे समुद्रका जल सहसा आकाशमें उठ जाता और फिर वहाँसे नीचेको गिर जाता था ॥ ६१ ॥

समुद्रं क्षोभयामासुर्निपतन्तः समन्ततः।
सूत्राण्यन्ये प्रगृह्णन्ति ह्यायतं शतयोजनम् ॥ ६२ ॥

उन वानरोंने सब ओर पत्थर गिराकर समुद्रमें हलचल मचा दी। कुछ दूसरे वानर सौ योजन लंबा सूत पकड़े हुए थे ॥ ६२ ॥

नलश्चक्रे महासेतुं मध्ये नदनदीपतेः।
स तदा क्रियते सेतुर्वानरैर्घोरकर्मभिः ॥ ६३ ॥

नल नदों और नदियोंके स्वामी समुद्रके बीचमें महान् सेतुका निर्माण कर रहे थे। भयंकर कर्म करनेवाले वानरोंने मिल-जुलकर उस समय सेतुनिर्माणका कार्य आरम्भ किया था ॥ ६३ ॥

दण्डानन्ये प्रगृह्णन्ति विचिन्वन्ति तथापरे।
वानरैः शतशस्तत्र रामस्याज्ञापुरःसरैः ॥ ६४ ॥
मेघाभैः पर्वताभैश्च तृणैः काष्ठैर्बबन्धिरे।
पुष्पिताग्रैश्च तरुभिः सेतुं बध्नन्ति वानराः ॥ ६५ ॥

कोई नापनेके लिये दण्ड पकड़ते थे तो कोई सामग्री जुटाते थे। श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञा शिरोधार्य करके सैकड़ों वानर जो पर्वतों और मेघोंके समान प्रतीत होते थे, वहाँ तिनकों और काष्ठोंद्वारा भिन्न-भिन्न स्थानोंमें पुल बाँध रहे थे। जिनके अग्रभाग फूलोंसे लदे थे, ऐसे वृक्षोंद्वारा भी वे वानर सेतु बाँधते थे ॥ ६४-६५ ॥

पाषाणांश्च गिरिप्रख्यान् गिरीणां शिखराणि च।
दृश्यन्ते परिधावन्तो गृह्य दानवसंनिभाः ॥ ६६ ॥

पर्वतों-जैसी बड़ी-बड़ी चट्टानें और पर्वत-शिखर लेकर सब ओर दौड़ते वानर दानवोंके समान दिखायी देते थे ॥ ६६ ॥

शिलानां क्षिप्यमाणानां शैलानां तत्र पात्यताम्।
बभूव तुमुलः शब्दस्तदा तस्मिन् महोदधौ ॥ ६७ ॥

उस समय उस महासागरमें फेंकी जाती हुई शिलाओं और गिराये जाते हुए पहाड़ोंके गिरनेसे बड़ा भीषण शब्द हो रहा था ॥ ६७ ॥

कृतानि प्रथमेनाह्ना योजनानि चतुर्दश।
प्रहृष्टैर्गजसंकाशैस्त्वरमाणैः प्लवङ्गमैः ॥ ६८ ॥

हाथीके समान विशालकाय वानर बड़े उत्साह और तेजीके साथ काममें लगे हुए थे। पहले दिन उन्होंने चौदह योजन लंबा पुल बाँधा ॥ ६८ ॥

द्वितीयेन तथैवाह्ना योजनानि तु विंशतिः।
कृतानि प्लवगैस्तूर्णं भीमकायैर्महाबलैः ॥ ६९ ॥

फिर दूसरे दिन भयंकर शरीरवाले महाबली वानरोंने तेजीसे काम करके बीस योजन लंबा पुल बाँध दिया ॥ ६९ ॥

अह्ना तृतीयेन तथा योजनानि तु सागरे।
त्वरमाणैर्महाकायैरेकविंशतिरेव च ॥ ७० ॥

तीसरे दिन शीघ्रतापूर्वक काममें जुटे हुए महाकाय कपियोंने समुद्रमें इक्कीस योजन लंबा पुल बाँध दिया ॥ ७० ॥

चतुर्थेन तथा चाह्ना द्वाविंशतिरथापि वा।
योजनानि महावेगैः कृतानि त्वरितैस्ततः ॥ ७१ ॥

चौथे दिन महान् वेगशाली और शीघ्रकारी वानरोंने बाईस योजन लंबा पुल और बाँध दिया ॥ ७१ ॥

पञ्चमेन तथा चाह्ना प्लवगैः क्षिप्रकारिभिः।
योजनानि त्रयोविंशत् सुवेलमधिकृत्य वै ॥ ७२ ॥

तथा पाँचवें दिन शीघ्रता करनेवाले उन वानर वीरोंने सुवेल पर्वतके निकटतक तेईस योजन लंबा पुल बाँधा ॥ ७२ ॥

स वानरवरः श्रीमान् विश्वकर्मात्मजो बली ।
बबन्ध सागरे सेतुं यथा चास्य पिता तथा ॥ ७३ ॥

इस प्रकार विश्वकर्माके बलवान् पुत्र कान्तिमान् कपिश्रेष्ठ नलने समुद्रमें सौ योजन लंबा पुल तैयार कर दिया। इस कार्यमें वे अपने पिताके समान ही प्रतिभाशाली थे ॥ ७३ ॥

स नलेन कृतः सेतुः सागरे मकरालये ।
शुशुभे सुभगः श्रीमान् स्वातीपथ इवाम्बरे ॥ ७४ ॥

मकरालय समुद्रमें नलके द्वारा निर्मित हुआ वह सुन्दर और शोभाशाली सेतु आकाशमें स्वातीपथ (छायापथ) के समान सुशोभित होता था ॥ ७४ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
आगम्य गगने तस्थुर्द्रष्टुकामास्तदद्भुतम् ॥ ७५ ॥

उस समय देवता, गन्धर्व, सिद्ध और महर्षि उस अद्भुत कार्यको देखनेके लिये आकाशमें आकर खड़े थे ॥ ७५ ॥

दशयोजनविस्तीर्णं शतयोजनमायतम् ।
ददृशुर्देवगन्धर्वा नलसेतुं सुदुष्करम् ॥ ७६ ॥

नलके बनाये हुए सौ योजन लंबे और दस योजन चौड़े उस पुलको देवताओं और गन्धर्वोंने देखा, जिसे बनाना बहुत ही कठिन काम था ॥ ७६ ॥

आप्लवन्तः प्लवन्तश्च गर्जन्तश्च प्लवंगमाः ।
तमचिन्त्यमसह्यं च ह्यद्भुतं लोमहर्षणम् ॥ ७७ ॥
ददृशुः सर्वभूतानि सागरे सेतुबन्धनम् ।

वानरलोग भी इधर-उधर उछल-कूदकर गर्जना करते हुए उस अचिन्त्य, असह्य, अद्भुत और रोमाञ्चकारी पुलको देख रहे थे। समस्त प्राणियोंने ही समुद्रमें सेतु बाँधनेका वह कार्य देखा ॥ ७७½ ॥

तानि कोटिसहस्राणि वानराणां महौजसाम् ॥ ७८ ॥
बध्नन्तः सागरे सेतुं जग्मुः पारं महोदधेः ।

इस प्रकार उन सहस्र कोटि (एक खरब) महाबली एवं उत्साही वानरोंका दल पुल बाँधते-बाँधते ही समुद्रके उस पार पहुँच गया ॥ ७८½ ॥

विशालः सुकृतः श्रीमान् सुभूमिः सुसमाहितः ॥ ७९ ॥
अशोभत महान् सेतुः सीमन्त इव सागरे ।

वह पुल बड़ा ही विशाल, सुन्दरतासे बनाया हुआ, शोभासम्पन्न, समतल और सुसम्बद्ध था। वह महान् सेतु सागरमें सीमन्तके समान शोभा पाता था ॥ ७९½ ॥

ततः पारे समुद्रस्य गदापाणिर्विभीषणः ॥ ८० ॥
परेषामभिघातार्थमतिष्ठत् सचिवैः सह ।

पुल तैयार हो जानेपर अपने सचिवोंके साथ विभीषण गदा हाथमें लेकर समुद्रके दूसरे तटपर खड़े हो गये, जिससे शत्रुपक्षीय राक्षस यदि पुल तोड़नेके लिये आवें तो उन्हें दण्ड दिया जा सके ॥ ८०½ ॥

सुग्रीवस्तु ततः प्राह रामं सत्यपराक्रमम् ॥ ८१ ॥
हनूमन्तं त्वमारोह अङ्गदं त्वथ लक्ष्मणः ।
अयं हि विपुलो वीर सागरो मकरालयः ॥ ८२ ॥
वैहायसौ युवामेतौ वानरौ धारयिष्यतः ।

तदनन्तर सुग्रीवने सत्यपराक्रमी श्रीरामसे कहा—'वीरवर! आप हनुमान्‌के कंधेपर चढ़ जाइये और लक्ष्मण अङ्गदकी पीठपर सवार हो लें; क्योंकि यह मकरालय समुद्र बहुत लंबा-चौड़ा है। ये दोनों वानर आकाश-मार्गसे चलनेवाले हैं। अतः ये ही दोनों आप दोनों भाइयोंको धारण कर सकेंगे' ॥८१-८२½ ॥

अग्रतस्तस्य सैन्यस्य श्रीमान् रामः सलक्ष्मणः ॥ ८३ ॥
जगाम धन्वी धर्मात्मा सुग्रीवेण समन्वितः ।

इस प्रकार धनुर्धर एवं धर्मात्मा भगवान् श्रीराम लक्ष्मण और सुग्रीवके साथ उस सेनाके आगे-आगे चले ॥ ८३½ ॥

अन्ये मध्येन गच्छन्ति पार्श्वतोऽन्ये प्लवंगमाः ॥ ८४ ॥
सलिलं प्रपतन्त्यन्ये मार्गमन्ये प्रपेदिरे ।
केचिद् वैहायसगताः सुपर्णा इव पुप्लुवुः ॥ ८५ ॥

दूसरे वानर सेनाके बीचमें और अगल-बगलमें होकर चलने लगे। कितने ही वानर जलमें कूद पड़ते और तैरते हुए चलते थे। दूसरे पुलका मार्ग पकड़कर जाते थे और कितने ही आकाशमें उछलकर गरुड़के समान उड़ते थे ॥ ८४-८५ ॥

घोषेण महता घोषं सागरस्य समुच्छ्रितम् ।
भीममन्तर्दधे भीमा तरन्ती हरिवाहिनी ॥ ८६ ॥

इस प्रकार पार जाती हुई उस भयंकर वानर-सेनाने अपने महान् घोषसे समुद्रकी बढ़ी हुई भीषण गर्जनाको भी दबा दिया ॥ ८६ ॥

वानराणां हि सा तीर्णा वाहिनी नलसेतुना ।
तीरे निविविशे राज्ञो बहुमूलफलोदके ॥ ८७ ॥

धीरे-धीरे वानरोंकी सारी सेना नलके बनाये हुए पुलसे समुद्रके उस पार पहुँच गयी। राजा सुग्रीवने फल, मूल और जलकी अधिकता देख सागरके तटपर ही सेनाका पड़ाव डाला ॥ ८७ ॥

तदद्भुतं राघवकर्म दुष्करं
समीक्ष्य देवाः सह सिद्धचारणैः ।
उपेत्य रामं सहसा महर्षिभि-
स्तमभ्यषिञ्चन् सुशुभैर्जलैः पृथक् ॥ ८८ ॥

भगवान् श्रीरामका वह अद्भुत और दुष्कर कर्म देखकर सिद्ध, चारण और महर्षियोंके साथ देवतालोग उनके पास आये तथा उन्होंने अलग-अलग पवित्र एवं शुभ जलसे उनका अभिषेक किया ॥ ८८ ॥

जयस्व शत्रून् नरदेव मेदिनीं
ससागरां पालय शाश्वतीः समाः ।
इतीव रामं नरदेवसत्कृतं
शुभैर्वचोभिर्विविधैरपूजयन् ॥ ८९ ॥

फिर बोले—'नरदेव ! तुम शत्रुओंपर विजय प्राप्त करो और समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीका सदा पालन करते रहो।' इस प्रकार भाँति-भाँतिके मङ्गलसूचक वचनोंद्वारा राजसम्मानित श्रीरामका उन्होंने अभिनन्दन किया ॥ ८९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे द्वाविंशः सर्गः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें बाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २२ ॥

—★—

त्रयोविंशः सर्गः

श्रीरामका लक्ष्मणसे उत्पातसूचक लक्षणोंका वर्णन और लङ्कापर आक्रमण

निमित्तानि निमित्तज्ञो दृष्ट्वा लक्ष्मणपूर्वजः ।
सौमित्रिं सम्परिष्वज्य इदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

उत्पातसूचक लक्षणोंके ज्ञाता तथा लक्ष्मणके बड़े भाई श्रीरामने बहुत-से अपशकुन देखकर सुमित्राकुमार लक्ष्मणको हृदयसे लगाया और इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

परिगृह्योदकं शीतं वनानि फलवन्ति च ।
बलौघं संविभज्येमं व्यूह्य तिष्ठेम लक्ष्मण ॥ २ ॥

'लक्ष्मण ! जहाँ शीतल जलकी सुविधा हो और फलोंसे भरे हुए जंगल हों, उन स्थानोंका आश्रय लेकर हम अपने सैन्यसमूहको कई भागोंमें बाँट दें और इसे व्यूहबद्ध करके इसकी रक्षाके लिये सदा सावधान रहें ॥ २ ॥

लोकक्षयकरं भीमं भयं पश्याम्युपस्थितम् ।
प्रबर्हणं प्रवीराणामृक्षवानररक्षसाम् ॥ ३ ॥

'मैं देखता हूँ समस्त लोकोंका संहार करनेवाला भीषण भय उपस्थित हुआ है, जो रीछों, वानरों और राक्षसोंके प्रमुख वीरोंके विनाशका सूचक है ॥ ३ ॥

वाताश्च कलुषा वान्ति कम्पते च वसुंधरा ।
पर्वताग्राणि वेपन्ते पतन्ति च महीरुहाः ॥ ४ ॥

'धूलसे भरी हुई प्रचण्ड वायु चल रही है। धरती काँपती है। पर्वतोंके शिखर हिल रहे हैं और पेड़ गिर रहे हैं ॥ ४ ॥

मेघाः क्रव्यादसंकाशाः परुषाः परुषस्वनाः ।
क्रूराः क्रूरं प्रवर्षन्ति मिश्रं शोणितबिन्दुभिः ॥ ५ ॥

'मेघोंकी घटा घिर आयी है, जो मांसभक्षी राक्षसोंके समान दिखायी देती है। वे मेघ देखनेमें तो क्रूर हैं ही, इनकी गर्जना भी बड़ी कठोर है। ये क्रूरतापूर्वक रक्तकी बूँदोंसे मिले हुए जलकी वर्षा करते हैं ॥ ५ ॥

रक्तचन्दनसंकाशा संध्या परमदारुणा ।
ज्वलतः प्रपतत्येतदादित्यादग्निमण्डलम् ॥ ६ ॥

'यह संध्या लाल चन्दनके समान कान्ति धारण करके बड़ी भयंकर दिखायी देती है। प्रज्वलित सूर्यसे ये आगकी ज्वालाएँ टूट-टूटकर गिर रही हैं ॥ ६ ॥

दीना दीनस्वराः क्रूराः सर्वतो मृगपक्षिणः ।
प्रत्यादित्यं विनर्दन्ति जनयन्तो महद्भयम् ॥ ७ ॥

'क्रूर पशु और पक्षी दीन आकार धारण कर सूर्यकी ओर मुँह करके दीनतापूर्ण स्वरमें चीत्कार करते हुए महान् भय उत्पन्न कर रहे हैं ॥ ७ ॥

रजन्यामप्रकाशस्तु संतापयति चन्द्रमाः ।
कृष्णरक्तांशुपर्यन्तो लोकक्षय इवोदितः ॥ ८ ॥

रातमें भी चन्द्रमा पूर्णतः प्रकाशित नहीं होते और अपने स्वभावके विपरीत ताप दे रहे हैं। ये काली और लाल किरणोंसे व्याप्त हो इस तरह उदित हुए हैं, मानो जगत्के प्रलयका काल आ पहुँचा हो ॥ ८ ॥

ह्रस्वो रूक्षोऽप्रशस्तश्च परिवेषस्तु लोहितः ।
आदित्ये विमले नीलं लक्ष्म लक्ष्मण दृश्यते ॥ ९ ॥

'लक्ष्मण ! निर्मल सूर्यमण्डलमें नीला चिह्न दिखायी देता है। सूर्यके चारों ओर ऐसा घेरा पड़ा है, जो छोटा, रूखा, अशुभ तथा लाल है ॥ ९ ॥

रजसा महता चापि नक्षत्राणि हतानि च ।
युगान्तमिव लोकानां पश्य शंसन्ति लक्ष्मण ॥ १० ॥

'सुमित्रानन्दन ! देखो ये तारे बड़ी भारी धूलिराशिसे आच्छादित हो हतप्रभ हो गये हैं, अतएव जगत्के भावी संहारकी सूचना दे रहे हैं ॥ १० ॥

काकाः श्येनास्तथा नीचा गृध्राः परिपतन्ति च ।
शिवाश्चाप्यशुभान् नादान् नदन्ति सुमहाभयान् ॥ ११ ॥

'कौए, बाज तथा अधम गीध चारों ओर उड़ रहे हैं और सियारिनें अशुभसूचक महाभयंकर बोली बोल रही हैं ॥ ११ ॥

शैलैः शूलैश्च खड्गैश्च विमुक्तैः कपिराक्षसैः।
भविष्यत्यावृता भूमिर्मांसशोणितकर्दमा ॥ १२ ॥

'जान पड़ता है वानरों और राक्षसोंके चलाये हुए शिलाखण्डों, शूलों और तलवारोंसे यह सारी भूमि पट जायगी तथा यहाँ मांस और रक्तकी कीच जम जायगी ॥ १२ ॥

क्षिप्रमद्यैव दुर्धर्षां पुरीं रावणपालिताम्।
अभियाम जवेनैव सर्वैर्हरिभिरावृताः ॥ १३ ॥

'हमलोग आज ही जितनी जल्दी हो सके, इस रावणपालित दुर्जय नगरी लङ्कापर समस्त वानरोंके साथ वेगपूर्वक धावा बोल दें' ॥ १३ ॥

इत्येवमुक्त्वा धन्वी स रामः संग्रामधर्षणः।
प्रतस्थे पुरतो रामो लङ्काभिमुखो विभुः ॥ १४ ॥

ऐसा कहकर संग्रामविजयी भगवान् श्रीराम हाथमें धनुष लिये सबसे आगे लङ्कापुरीकी ओर प्रस्थित हुए ॥ १४ ॥

सविभीषणसुग्रीवाः सर्वे ते वानरर्षभाः।
प्रतस्थिरे विनर्दन्तो धृतानां द्विषतां वधे ॥ १५ ॥

फिर विभीषण और सुग्रीवके साथ वे सभी श्रेष्ठ वानर गर्जना करते हुए युद्धका ही निश्चय रखनेवाले शत्रुओंका वध करनेके लिये आगे बढ़े ॥ १५ ॥

राघवस्य प्रियार्थं तु सुतरां वीर्यशालिनाम्।
हरीणां कर्मचेष्टाभिस्तुतोष रघुनन्दनः ॥ १६ ॥

वे सब-के-सब रघुनाथजीका प्रिय करना चाहते थे। उन बलशाली वानरोंके कर्मों और चेष्टाओंसे रघुकुलनन्दन श्रीरामको बड़ा संतोष हुआ ॥ १६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे त्रयोविंशः सर्गः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें तेईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशः सर्गः

श्रीरामका लक्ष्मणसे लङ्काकी शोभाका वर्णन करके सेनाको व्यूहबद्ध खड़ी होनेके लिये आदेश देना, श्रीरामकी आज्ञासे बन्धनमुक्त हुए शुकका रावणके पास जाकर उनकी सैन्यशक्तिकी प्रबलता बताना तथा रावणका अपने बलकी डींग हाँकना

सा वीरसमिती राज्ञा विरराज व्यवस्थिता।
शशिना शुभनक्षत्रा पौर्णमासीव शारदी ॥ १ ॥

सुग्रीवने उस वीर वानरसेनाकी यथोचित व्यवस्था की थी। उनके कारण वह वैसी ही शोभा पाती थी, जैसे चन्द्रमा और शुभ नक्षत्रोंसे युक्त शरत्कालकी पूर्णिमा सुशोभित हो रही हो ॥ १ ॥

प्रचचाल च वेगेन त्रस्ता चैव वसुंधरा।
पीड्यमाना बलौघेन तेन सागरवर्चसा ॥ २ ॥

वह विशाल सैन्य-समूह समुद्रके समान जान पड़ता था। उसके भारसे दबी हुई वसुधा भयभीत हो उठी और उसके वेगसे डोलने लगी ॥ २ ॥

ततः शुश्रुवुराकुष्टं लङ्कायां काननौकसः।
भेरीमृदङ्गसंघुष्टं तुमुलं लोमहर्षणम् ॥ ३ ॥

तदनन्तर वानरोंने लङ्कामें महान् कोलाहल सुना, जो भेरी और मृदङ्गके गम्भीर घोषसे मिलकर बड़ा ही भयंकर और रोमाञ्चकारी जान पड़ता था ॥ ३ ॥

बभूवुस्तेन घोषेण संहृष्टा हरियूथपाः।
अमृष्यमाणास्तद् घोषं विनेदुर्घोषवत्तरम् ॥ ४ ॥

उस तुमुलनादको सुनकर वानरयूथपति हर्ष और उत्साहमें भर गये और उसे न सह सकनेके कारण उससे भी बढ़कर जोर-जोरसे गर्जना करने लगे ॥ ४ ॥

राक्षसास्तत् प्लवंगानां शुश्रुवुस्तेऽपि गर्जितम्।
नर्दतामिव दृप्तानां मेघानामम्बरे स्वनम् ॥ ५ ॥

राक्षसोंने वानरोंकी वह गर्जना सुनी, जो दर्पमें भरकर सिंहनाद कर रहे थे। उनकी आवाज आकाशमें मेघोंकी गर्जनाके समान जान पड़ती थी ॥ ५ ॥

दृष्ट्वा दाशरथिर्लङ्कां चित्रध्वजपताकिनीम्।
जगाम मनसा सीतां दूयमानेन चेतसा ॥ ६ ॥

दशरथनन्दन श्रीरामने विचित्र ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित लङ्कापुरीको देखकर व्यथितचित्तसे मन-ही-मन सीताका स्मरण किया ॥ ६ ॥

अत्र सा मृगशावाक्षी रावणेनोपरुध्यते।
अभिभूता ग्रहेणेव लोहिताङ्गेन रोहिणी ॥ ७ ॥

वे भीतर-ही-भीतर कहने लगे—'हाय! यहीं वह मृगलोचना सीता रावणके कैदमें पड़ी है। उसकी दशा मंगलग्रहसे आक्रान्त हुई रोहिणीके समान हो रही है' ॥ ७ ॥

दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य समुद्वीक्ष्य च लक्ष्मणम्।
उवाच वचनं वीरस्तत्कालहितमात्मनः ॥ ८ ॥

मन-ही-मन ऐसा कहकर वीर श्रीराम गरम-गरम लंबी साँस खींचकर लक्ष्मणकी ओर देखते हुए अपने लिये

समयानुकूल हितकर वचन बोले— ॥ ८ ॥

आलिखन्तीमिवाकाशमुत्थितां पश्य लक्ष्मण।
मनसेव कृता लङ्कां नगाग्रे विश्वकर्मणा॥ ९॥

'लक्ष्मण! इस लङ्काकी ओर तो देखो। यह अपनी ऊँचाईसे आकाशमें रेखा खींचती हुई-सी जान पड़ती है। जान पड़ता है पूर्वकालमें विश्वकर्माने अपने मनसे ही इस पर्वत-शिखरपर लङ्कापुरीका निर्माण किया है॥ ९॥

विमानैर्बहुभिर्लङ्का संकीर्णा रचिता पुरा।
विष्णोः पदमिवाकाशं छादितं पाण्डुभिर्घनैः॥ १०॥

'पूर्वकालमें यह पुरी अनेक सतमंजले मकानोंसे भरी-पूरी बनायी गयी थी। इसके श्वेत एवं सघन विमानाकार भवनोंसे भगवान् विष्णुके चरणस्थापनका स्थानभूत आकाश आच्छादित-सा हो गया॥ १०॥

पुष्पितैः शोभिता लङ्का वनैश्चित्ररथोपमैः।
नानापतगसंघुष्टफलपुष्पोपगैः शुभैः॥ ११॥

'फूलोंसे भरे हुए चैत्ररथ वनके सदृश सुन्दर काननोंसे लङ्कापुरी सुशोभित हो रही है। उन काननोंमें नाना प्रकारके पक्षी कलरव कर रहे हैं तथा फलों और फूलोंकी प्राप्ति करानेके कारण वे बड़े सुन्दर जान पड़ते हैं॥ ११॥

पश्य मत्तविहंगानि प्रलीनभ्रमराणि च।
कोकिलाकुलखण्डानि दोधवीति शिवोऽनिलः॥ १२॥

'देखो, यह शीतल सुखद वायु इन वनोंको, जिनमें मतवाले पक्षी चहचहा रहे हैं, भौंरे पत्तों और फूलोंमें लीन हो रहे हैं तथा जिनके प्रत्येक खण्ड कोकिलोंके समूह एवं संगीतसे व्याप्त हैं, बारंबार कम्पित कर रहा है'॥ १२॥

इति दाशरथी रामो लक्ष्मणं समभाषत।
बलं च तत्र विभजच्छास्त्रदृष्टेन कर्मणा॥ १३॥

दशरथनन्दन भगवान् श्रीरामने लक्ष्मणसे ऐसा कहा और युद्धके शास्त्रीय नियमानुसार सेनाका विभाग किया॥ १३॥

शशास कपिसेनां तां बलादादाय वीर्यवान्।
अङ्गदः सह नीलेन तिष्ठेदुरसि दुर्जयः॥ १४॥

उस समय श्रीरामने वानरसैनिकोंको यह आदेश दिया—'इस विशाल सेनामेंसे अपनी सेनाको साथ लेकर दुर्जय एवं पराक्रमी वीर अङ्गद नीलके साथ वानरसेनाके पुरुषव्यूहमें हृदयके स्थानमें स्थित हों॥ १४॥

तिष्ठेद् वानरवाहिन्या वानरौघसमावृतः।
आश्रितो दक्षिणं पार्श्वमृषभो नाम वानरः॥ १५॥

'इसी तरह ऋषभ नामक वानर कपियोंके समुदायसे घिरे रहकर इस वानर-वाहिनीके दाहिने पार्श्वमें खड़े रहें॥ १५॥

गन्धहस्तीव दुर्धर्षस्तरस्वी गन्धमादनः।
तिष्ठेत् वानरवाहिन्याः सव्यं पार्श्वमधिष्ठितः॥ १६॥

'जो गन्धहस्तीके समान दुर्जय एवं वेगशाली हैं, वे कपिश्रेष्ठ गन्धमादन वानरसेनाके वाम पार्श्वमें खड़े हों॥ १६॥

मूर्ध्नि स्थास्याम्यहं यत्तो लक्ष्मणेन समन्वितः।
जाम्बवांश्च सुषेणश्च वेगदर्शी च वानरः॥ १७॥
ऋक्षमुख्या महात्मानः कुक्षिं रक्षन्तु ते त्रयः।

'मैं लक्ष्मणके साथ सावधान रहकर इस व्यूहके मस्तकके स्थानमें खड़ा होऊँगा। जाम्बवान्, सुषेण और वानर वेगदर्शी—ये तीन महामनस्वी वीर जो रीछोंकी सेनाके प्रधान हैं, वे सैन्यव्यूहके कुक्षिभागकी रक्षा करें॥ १७½॥

जघनं कपिसेनायाः कपिराजोऽभिरक्षतु।
पश्चार्धमिव लोकस्य प्रचेतास्तेजसा वृतः॥ १८॥

'वानरराज सुग्रीव वानरवाहिनीके पिछले भागकी रक्षामें उसी प्रकार लगे रहें, जैसे तेजस्वी वरुण इस जगत्‌की पश्चिम दिशाका संरक्षण करते हैं'॥ १८॥

सुविभक्तमहाव्यूहा महावानररक्षिता।
अनीकिनी सा विबभौ यथा द्यौः साभ्रसम्प्लवा॥ १९॥

इस प्रकार सुन्दरतासे विभक्त हो विशाल व्यूहमें बद्ध हुई वह सेना, जिसकी बड़े-बड़े वानर रक्षा करते थे, मेघोंसे घिरे हुए आकाशके समान जान पड़ती थी॥ १९॥

प्रगृह्य गिरिशृङ्गाणि महतश्च महीरुहान्।
आसेदुर्वानरा लङ्कां मिमर्दयिषवो रणे॥ २०॥

वानरलोग पर्वतोंके शिखर और बड़े-बड़े वृक्ष लेकर युद्धके लिये लङ्कापर चढ़ आये। वे उस पुरीको पददलित करके धूलमें मिला देना चाहते थे॥ २०॥

शिखरैर्विकिरामैनां लङ्कां मुष्टिभिरेव वा।
इति स्म दधिरे सर्वे मनांसि हरिपुङ्गवाः॥ २१॥

सभी वानरयूथपति ये ही मनसूबे बाँधते थे कि हम लङ्कापर पर्वत-शिखरोंकी वर्षा करें और लङ्कावासियोंको मुक्कोंसे मार-मारकर यमलोक पहुँचा दें॥ २१॥

ततो रामो महातेजाः सुग्रीवमिदमब्रवीत्।
सुविभक्तानि सैन्यानि शुक एष विमुच्यताम्॥ २२॥

तदनन्तर महातेजस्वी रामने सुग्रीवसे कहा—'हमलोगोंने अपनी सेनाओंको सुन्दर ढंगसे विभक्त करके उन्हें व्यूहबद्ध कर लिया है, अतः अब इस शुकको छोड़ दिया जाय'॥ २२॥

रामस्य तु वचः श्रुत्वा वानरेन्द्रो महाबलः।
मोचयामास तं दूतं शुकं रामस्य शासनात्॥ २३॥

श्रीरामचन्द्रजीका यह वचन सुनकर महाबली वानरराजने उनके आदेशसे रावणदूत शुकको बन्धनमुक्त करा दिया॥ २३॥

मोचितो रामवाक्येन वानरैश्च निपीडितः।
शुकः परमसंत्रस्तो रक्षोधिपमुपागमत्॥ २४॥

श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञासे छुटकारा पाकर वानरोंसे पीड़ित होनेके कारण अत्यन्त भयभीत हुआ शुक राक्षसराजके पास गया ॥ २४ ॥

रावणः प्रहसन्नेव शुकं वाक्यमुवाच ह ।
किमिमौ ते सितौ पक्षौ लूनपक्षश्च दृश्यसे ॥ २५ ॥
कच्चिन्नानेकचित्तानां तेषां त्वं वशमागतः ।

उस समय रावणने हँसते हुए-से ही शुकसे कहा—'ये तुम्हारी दोनों पाँखें बाँध क्यों दी गयी हैं। इससे तुम इस तरह दिखायी देते हो मानो तुम्हारे पंख नोच लिये गये हों। कहीं तुम उन चञ्चलचित्तवाले वानरोंके चंगुलमें तो नहीं फँस गये थे ?' ॥ २५½ ॥

ततः स भयसंविग्नस्तेन राज्ञाभिचोदितः ।
वचनं प्रत्युवाचेदं राक्षसाधिपमुत्तमम् ॥ २६ ॥

राजा रावणके इस प्रकार पूछनेपर भयसे घबराये हुए शुकने उस समय उस श्रेष्ठ राक्षसराजको इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ २६ ॥

सागरस्योत्तरे तीरेऽब्रुवं ते वचनं तथा ।
यथा संदेशमक्लिष्टं सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया गिरा ॥ २७ ॥

'महाराज ! मैंने समुद्रके उत्तर तटपर पहुँचकर आपका संदेश बहुत स्पष्ट शब्दोंमें मधुर वाणीद्वारा सान्त्वना देते हुए सुनाया ॥ २७ ॥

क्रुद्धैस्तैरहमुत्प्लुत्य दृष्टमात्रः प्लवंगमैः ।
गृहीतोऽस्म्यपि चारब्धो हन्तुं लोप्तुं च मुष्टिभिः ॥ २८ ॥

'किंतु मुझपर दृष्टि पड़ते ही कुपित हुए वानरोंने उछलकर मुझे पकड़ लिया और घूँसोंसे मारना एवं पाँखें नोचना आरम्भ किया ॥ २८ ॥

न ते संभाषितुं शक्याः सम्प्रश्नोऽत्र न विद्यते ।
प्रकृत्या कोपनास्तीक्ष्णा वानरा राक्षसाधिप ॥ २९ ॥

'राक्षसराज ! वे वानर स्वभावसे ही क्रोधी और तीखे हैं। उनसे बात भी नहीं की जा सकती थी। फिर यह पूछनेका अवसर कहाँ था कि तुम मुझे क्यों मार रहे हो ? ॥ २९ ॥

स च हन्ता विराधस्य कबन्धस्य खरस्य च ।
सुग्रीवसहितो रामः सीतायाः पदमागतः ॥ ३० ॥

'जो विराध, कबन्ध और खरका वध कर चुके हैं, वे श्रीराम सुग्रीवके साथ सीताके स्थानका पता पाकर उनका उद्धार करनेके लिये आये हैं ॥ ३० ॥

स कृत्वा सागरे सेतुं तीर्त्वा च लवणोदधिम् ।
एष रक्षांसि निर्धूय धन्वी तिष्ठति राघवः ॥ ३१ ॥

'वे रघुनाथजी समुद्रपर पुल बाँध लवणसागरको पार करके राक्षसोंको तिनकोंके समान समझकर धनुष हाथमें लिये यहाँ पास ही खड़े हैं ॥ ३१ ॥

ऋक्षवानरसङ्घानामनीकानि सहस्रशः ।
गिरिमेघनिकाशानां छादयन्ति वसुंधराम् ॥ ३२ ॥

'पर्वत और मेघोंके समान विशालकाय रीछों और वानर-समूहोंकी सहस्रों सेनाएँ इस पृथ्वीपर छा गयी हैं ॥ ३२ ॥

राक्षसानां बलौघस्य वानरेन्द्रबलस्य च ।
नैतयोर्विद्यते संधिर्देवदानवयोरिव ॥ ३३ ॥

'देवता और दानवोंमें जैसे मेल होना असम्भव है, उसी प्रकार राक्षसों और वानरराज सुग्रीवके सैनिकोंमें संधि नहीं हो सकती ॥ ३३ ॥

पुरा प्राकारमायान्ति क्षिप्रमेकतरं कुरु ।
सीतां चास्मै प्रयच्छाशु युद्धं वापि प्रदीयताम् ॥ ३४ ॥

'अतः जबतक वे लङ्कापुरीकी चहारदिवारीपर नहीं चढ़ आते, उसके पहले ही आप शीघ्रतापूर्वक दोमेंसे एक काम कर डालिये—या तो तुरंत ही उन्हें सीताको लौटा दीजिये या फिर सामने खड़े होकर युद्ध कीजिये' ॥ ३४ ॥

शुकस्य वचनं श्रुत्वा रावणो वाक्यमब्रवीत् ।
रोषसंरक्तनयनो निर्दहन्निव चक्षुषा ॥ ३५ ॥

शुककी यह बात सुनकर रावणकी आँखें रोषसे लाल हो गयीं। वह इस तरह घूर-घूरकर देखने लगा, मानो अपनी दृष्टिसे उसको दग्ध कर देगा। वह बोला— ॥ ३५ ॥

यदि मां प्रति युध्येरन् देवगन्धर्वदानवाः ।
नैव सीतां प्रदास्यामि सर्वलोकभयादपि ॥ ३६ ॥

'यदि देवता, गन्धर्व और दानव भी मुझसे युद्ध करनेको तैयार हो जायँ तथा सारे संसारके लोग मुझे भय दिखाने लगें तो भी मैं सीताको नहीं लौटाऊँगा ॥ ३६ ॥

कदा समभिधावन्ति मामका राघवं शराः ।
वसन्ते पुष्पितं मत्ता भ्रमरा इव पादपम् ॥ ३७ ॥

'जैसे मतवाले भ्रमर वसन्त-ऋतुमें फूलोंसे भरे हुए वृक्षपर टूट पड़ते हैं, उसी प्रकार मेरे बाण कब उस रघुवंशीपर धावा करेंगे ? ॥ ३७ ॥

कदा शोणितदिग्धाङ्गं दीप्तैः कार्मुकविच्युतैः ।
शरैरादीपयिष्यामि उल्काभिरिव कुञ्जरम् ॥ ३८ ॥

'वह अवसर कब आयेगा जब मेरे धनुषसे छूटे हुए तेजस्वी बाणोंद्वारा घायल होकर रामका शरीर लहूलुहान हो जायगा और जैसे जलती हुई लुकारीसे लोग हाथीको जलाते हैं, उसी तरह मैं उन बाणोंसे रामको दग्ध कर डालूँगा ॥ ३८ ॥

तच्चास्य बलमादास्ये बलेन महता वृतः ।
ज्योतिषामिव सर्वेषां प्रभामुद्यन् दिवाकरः ॥ ३९ ॥

'जैसे सूर्य अपने उदयके साथ ही समस्त नक्षत्रोंकी प्रभा हर लेते हैं, उसी प्रकार मैं विशाल सेनाके साथ रणभूमिमें खड़ा हो रामकी समस्त वानर-सेनाको आत्मसात् कर लूँगा ॥ ३९ ॥

सागरस्येव मे वेगो मारुतस्येव मे बलम् ।
न च दाशरथिर्वेद तेन मां योद्धुमिच्छति ॥ ४० ॥

दशरथकुमार रामने अभी समरभूमिमें समुद्रके समान मेरे वेग और वायुके समान मेरे बलका अनुभव नहीं किया है, इसलिये वह मेरे साथ युद्ध करना चाहता है ॥ ४० ॥

न मे तूणीशयान् बाणान् सविषानिव पन्नगान् ।
रामः पश्यति संग्रामे तेन मां योद्धुमिच्छति ॥ ४१ ॥

'मेरे तरकसमें सोये हुए बाण विषधर सर्पोंके समान भयंकर हैं। रामने संग्राममें उन बाणोंको देखा ही नहीं है; इसलिये वह मुझसे जूझना चाहता है ॥ ४१ ॥

न जानाति पुरा वीर्यं मम युद्धे स राघवः ।
मम चापमयीं वीणां शरकोणैः प्रवादिताम् ॥ ४२ ॥
ज्याशब्दतुमुलां घोरामार्तगीतमहास्वनाम् ।
नाराचतलसंनादां नदीमहितवाहिनीम् ।
अवगाह्य महारङ्गं वादयिष्याम्यहं रणे ॥ ४३ ॥

'पहले कभी युद्धमें रामका मेरे बल-पराक्रमसे पाला नहीं पड़ा है, इसीलिये वह मेरे साथ लड़नेका हौसला रखता है। मेरा धनुष एक सुन्दर वीणा है, जो बाणोंके कोनोंसे बजायी जाती है। उसकी प्रत्यञ्चासे जो टङ्कार-ध्वनि उठती है, वही उसकी भयंकर स्वरलहरी है। आर्तोंकी चीत्कार और पुकार ही उसपर उच्च स्वरसे गाया जानेवाला गीत है। नाराचोंको छोड़ते समय जो चट-चट शब्द होता है, वही मानो हथेलीपर दिया जानेवाला ताल है। बहती हुई नदीके समान जो शत्रुओंकी वाहिनी है, वही मानो उस संगीतोत्सवके लिये विशाल रंगभूमि है। मैं समराङ्गणमें उस रंगभूमिके भीतर प्रवेश करके अपनी वह भयंकर वीणा बजाऊँगा ॥ ४२-४३ ॥

न वासवेनापि सहस्रचक्षुषा
युद्धेऽस्मि शक्यो वरुणेन वा स्वयम् ।
यमेन वा धर्षयितुं शराग्निना
महाहवे वैश्रवणेन वा पुनः ॥ ४४ ॥

'यदि महासमरमें सहस्रनेत्रधारी इन्द्र अथवा साक्षात् वरुण या स्वयं यमराज अथवा मेरे बड़े भाई कुबेर ही आ जायँ तो वे भी अपनी बाणाग्निसे मुझे पराजित नहीं कर सकते' ॥ ४४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे चतुर्विंशः सर्गः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें चौबीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशः सर्गः

रावणका शुक और सारणको गुप्तरूपसे वानरसेनामें भेजना, विभीषणद्वारा उनका पकड़ा जाना, श्रीरामकी कृपासे छुटकारा पाना तथा श्रीरामका संदेश लेकर लङ्कामें लौटकर उनका रावणको समझाना

सबले सागरं तीर्णे रामे दशरथात्मजे ।
अमात्यौ रावणः श्रीमानब्रवीच्छुकसारणौ ॥ १ ॥

दशरथनन्दन भगवान् श्रीराम जब सेनासहित समुद्र पार कर चुके, तब श्रीमान् रावणने अपने दोनों मन्त्री शुक और सारणसे फिर कहा— ॥ १ ॥

समग्रं सागरं तीर्णं दुस्तरं वानरं बलम् ।
अभूतपूर्वं रामेण सागरे सेतुबन्धनम् ॥ २ ॥

'यद्यपि समुद्रको पार करना अत्यन्त कठिन था तो भी सारी वानरसेना उसे लाँघकर इस पार चली आयी। रामके द्वारा सागरपर सेतुका बाँधा जाना अभूतपूर्व कार्य है ॥ २ ॥

सागरे सेतुबन्धं तं न श्रद्दध्यां कथंचन ।
अवश्यं चापि संख्येयं तन्मया वानरं बलम् ॥ ३ ॥

'लोगोंके मुँहसे सुननेपर भी मुझे किसी तरह यह विश्वास नहीं होता कि समुद्रपर पुल बाँधा गया होगा। वानरसेना कितनी है? इसका ज्ञान मुझे अवश्य प्राप्त करना चाहिये ॥ ३ ॥

भवन्तौ वानरं सैन्यं प्रविश्यानुपलक्षितौ ।
परिमाणं च वीर्यं च ये च मुख्याः प्लवंगमाः ॥ ४ ॥
मन्त्रिणो ये च रामस्य सुग्रीवस्य च सम्मताः ।
ये पूर्वमभिवर्तन्ते ये च शूराः प्लवंगमाः ॥ ५ ॥
स च सेतुर्यथा बद्धः सागरे सलिलार्णवे ।
निवेशं च यथा तेषां वानराणां महात्मनाम् ॥ ६ ॥
रामस्य व्यवसायं च वीर्यं प्रहरणानि च ।
लक्ष्मणस्य च वीरस्य तत्त्वतो ज्ञातुमर्हथः ॥ ७ ॥
कश्च सेनापतिस्तेषां वानराणां महात्मनाम् ।
तच्च ज्ञात्वा यथातत्त्वं शीघ्रमागन्तुमर्हथः ॥ ८ ॥

'तुम दोनों इस तरह वानर-सेनामें प्रवेश करो कि तुम्हें कोई पहचान न सके। वहाँ जाकर यह पता लगाओ कि वानरोंकी संख्या कितनी है? उनकी शक्ति कैसी है? उनमें मुख्य-मुख्य वानर कौन-कौनसे हैं। श्रीराम और सुग्रीवके मनोऽनुकूल मन्त्री कौन-कौन हैं? कौन-कौन शूरवीर वानर-सेनाके आगे रहते हैं? अगाध जलराशिसे भरे हुए समुद्रमें वह पुल किस तरहह बाँधा गया? महामनस्वी

वानरोंकी छावनी कैसे पड़ी है? श्रीराम और वीरलक्ष्मणका निश्चय क्या है?—वे क्या करना चाहते हैं? उनके बल-पराक्रम कैसे हैं? उन दोनोंके पास कौन-कौनसे अस्त्र-शस्त्र हैं? और उन महामना वानरोंका प्रधान सेनापति कौन है? इन सब बातोंकी तुमलोग ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त करो और सबका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर शीघ्र लौट आओ' ॥ ४—८ ॥

इति प्रतिसमादिष्टौ राक्षसौ शुकसारणौ।
हरिरूपधरौ वीरौ प्रविष्टौ वानरं बलम्॥ ९॥

ऐसा आदेश पाकर दोनों वीर राक्षस शुक और सारण वानररूप धारण करके उस वानरी सेनामें घुस गये॥ ९॥

ततस्तद् वानरं सैन्यमचिन्त्यं लोमहर्षणम्।
संख्यातुं नाध्यगच्छेतां तदा तौ शुकसारणौ॥ १०॥

वानरोंकी वह सेना कितनी है? यह गिनना तो दूर रहा; मनसे उसका अंदाजा लगाना भी असम्भव था। उस अपार सेनाको देखकर रोंगटे खड़े हो जाते थे। उस समय शुक और सारण किसी तरह भी उसकी गणना नहीं कर सके॥ १०॥

तत् स्थितं पर्वताग्रेषु निझरेषु गुहासु च।
समुद्रस्य च तीरेषु वनेषूपवनेषु च।
तरमाणं च तीर्णं च तर्तुकामं च सर्वशः॥ ११॥

वह सेना पर्वतके शिखरोंपर, झरनोंके आसपास, गुफाओंमें, समुद्रके किनारे तथा वनों और उपवनोंमें भी फैली हुई थी। उसका कुछ भाग समुद्र पार कर रहा था, कुछ पार कर चुका था और कुछ सब प्रकारसे समुद्रको पार करनेकी तैयारीमें लगा था॥ ११॥

निविष्टं निविशच्चैव भीमनादं महाबलम्।
तद्बलार्णवमक्षोभ्यं ददृशाते निशाचरौ॥ १२॥

भयंकर कोलाहल करनेवाली वह विशाल सेना कुछ स्थानोंपर छावनी डाल चुकी थी और कुछ जगहोंपर डालती जा रही थी। दोनों निशाचरोंने देखा, वह वानरवाहिनी समुद्रके समान अक्षोभ्य थी॥ १२॥

तौ ददर्श महातेजाः प्रतिच्छन्नौ विभीषणः।
आचचक्षे स रामाय गृहीत्वा शुकसारणौ॥ १३॥

वानरवेशमें छिपकर सेनाका निरीक्षण करते हुए दोनों राक्षस शुक और सारणको महातेजस्वी विभीषणने देखा, देखते ही पहचाना और उन दोनोंको पकड़कर श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—॥ १३॥

तस्यैतौ राक्षसेन्द्रस्य मन्त्रिणौ शुकसारणौ।
लङ्कायाः समनुप्राप्तौ चारौ परपुरंजय॥ १४॥

'शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले नरेश्वर! ये दोनों लङ्कासे आये हुए गुप्तचर एवं राक्षसराज रावणके मन्त्री शुक तथा सारण हैं'॥ १४॥

तौ दृष्ट्वा व्यथितौ रामं निराशौ जीविते तथा।
कृताञ्जलिपुटौ भीतौ वचनं चेदमूचतुः॥ १५॥

वे दोनों राक्षस श्रीरामचन्द्रजीको देखकर अत्यन्त व्यथित हुए और जीवनसे निराश हो गये। उन दोनोंके मनमें भय समा गया। वे हाथ जोड़कर इस प्रकार बोले—॥ १५॥

आवामिहागतौ सौम्य रावणप्रहितावुभौ।
परिज्ञातुं बलं सर्वं तदिदं रघुनन्दन॥ १६॥

'सौम्य! रघुनन्दन! हम दोनोंको रावणने भेजा है और हम इस सारी सेनाके विषयमें आवश्यक जानकारी प्राप्त करनेके लिये आये हैं'॥ १६॥

तयोस्तद् वचनं श्रुत्वा रामो दशरथात्मजः।
अब्रवीत् प्रहसन् वाक्यं सर्वभूतहिते रतः॥ १७॥

उन दोनोंकी वह बात सुनकर सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें लगे रहनेवाले दशरथनन्दन भगवान् श्रीराम हँसते हुए बोले—॥ १७॥

यदि दृष्टं बलं सर्वं वयं वा सुसमाहिताः।
यथोक्तं वा कृतं कार्यं छन्दतः प्रतिगम्यताम्॥ १८॥

'यदि तुमने सारी सेना देख ली हो, हमारी सैनिक-शक्तिका ज्ञान प्राप्त कर लिया हो तथा रावणके कथनानुसार सब काम पूरा कर लिया हो तो अब तुम दोनों अपनी इच्छाके अनुसार प्रसन्नतापूर्वक लौट जाओ॥ १८॥

अथ किंचिददृष्टं वा भूयस्तद् द्रष्टुमर्हथः।
विभीषणो वा कात्स्न्र्येन पुनः संदर्शयिष्यति॥ १९॥

'अथवा यदि अभी कुछ देखना बाकी रह गया हो तो फिर देख लो। विभीषण तुम्हें सब कुछ पुनः पूर्णरूपसे दिखा देंगे॥ १९॥

न चेदं ग्रहणं प्राप्य भेतव्यं जीवितं प्रति।
न्यस्तशस्त्रौ गृहीतौ च न दूतौ वधमर्हथः॥ २०॥

'इस समय जो तुम पकड़ लिये गये हो, इससे तुम्हें अपने जीवनके विषयमें कोई भय नहीं होना चाहिये; क्योंकि शस्त्रहीन अवस्थामें पकड़े गये तुम दोनों दूत वधके योग्य नहीं हो॥ २०॥

प्रच्छन्नौ च विमुञ्चेमौ चारौ रात्रिंचरावुभौ।
शत्रुपक्षस्य सततं विभीषण विकर्षिणौ॥ २१॥

'विभीषण! ये दोनों राक्षस रावणके गुप्तचर हैं और छिपकर यहाँका भेद लेनेके लिये आये हैं। ये अपने शत्रुपक्ष (वानरसेना) में फूट डालनेका प्रयास कर रहे हैं। अब तो इनका भण्डा फूट हो गया; अतः इन्हें छोड़ दो॥ २१॥

प्रविश्य महतीं लङ्कां भवद्भ्यां धनदानुजः।
वक्तव्यो रक्षसां राजा यथोक्तं वचनं मम॥ २२॥

'शुक और सारण! जब तुम दोनों लङ्कामें पहुँचो, तब कुबेरके छोटे भाई राक्षसराज रावणको मेरी ओरसे यह

संदेश सुना देना— ॥ २२ ॥

यद् बलं त्वं समाश्रित्य सीतां मे हृतवानसि ।
तद् दर्शय यथाकामं ससैन्यश्च सबान्धवः ॥ २३ ॥

'रावण ! जिस बलके भरोसे तुमने मेरी सीताका अपहरण किया है, उसे अब सेना और बन्धुजनोंसहित आकर इच्छानुसार दिखाओ ॥ २३ ॥

श्वः काल्ये नगरीं लङ्कां सप्राकारां सतोरणाम् ।
रक्षसां च बलं पश्य शरैर्विध्वंसितं मया ॥ २४ ॥

'कल प्रातःकाल ही तुम परकोटे और दरवाजोंके सहित लङ्कापुरी तथा राक्षसी सेनाका मेरे बाणोंसे विध्वंस होता देखोगे ॥ २४ ॥

क्रोधं भीममहं मोक्ष्ये ससैन्ये त्वयि रावण ।
श्वः काल्ये वज्रवान् वज्रं दानवेष्विव वासवः ॥ २५ ॥

'रावण ! जैसे वज्रधारी इन्द्र दानवोंपर अपना वज्र छोड़ते हैं, उसी प्रकार मैं कल सबेरे ही सेनासहित तुमपर अपना भयंकर क्रोध छोड़ूँगा' ॥ २५ ॥

इति प्रतिसमादिष्टौ राक्षसौ शुकसारणौ ।
जयेति प्रतिनन्द्यैनं राघवं धर्मवत्सलम् ॥ २६ ॥
आगम्य नगरीं लङ्कामब्रूतां राक्षसाधिपम् ।

भगवान् श्रीरामका यह संदेश पाकर दोनों राक्षस शुक और सारण धर्मवत्सल श्रीरघुनाथजीका 'आपकी जय हो', 'आप चिरंजीवी हों' इत्यादि वचनोंद्वारा अभिनन्दन करके लङ्कापुरीमें आकर राक्षसराज रावणसे बोले— ॥ २६½ ॥

विभीषणगृहीतौ तु वधार्थं राक्षसेश्वर ॥ २७ ॥
दृष्ट्वा धर्मात्मना मुक्तौ रामेणामिततेजसा ।

'राक्षसेश्वर ! हमें तो विभीषणने वध करनेके लिये पकड़ लिया था; किंतु जब अमित तेजस्वी धर्मात्मा श्रीरामने देखा, तब हमें छुड़वा दिया ॥ २७½ ॥

एकस्थानगता यत्र चत्वारः पुरुषर्षभाः ॥ २८ ॥
लोकपालसमाः शूराः कृतास्त्रा दृढविक्रमाः ।
रामो दाशरथिः श्रीमाल्लँक्ष्मणश्च विभीषणः ॥ २९ ॥
सुग्रीवश्च महातेजा महेन्द्रसमविक्रमः ।
एते शक्ताः पुरीं लङ्कां सप्राकारां सतोरणाम् ॥ ३० ॥
उत्पाट्य संक्रामयितुं सर्वे तिष्ठन्तु वानराः ।

'दशरथनन्दन श्रीराम, श्रीमान् लक्ष्मण, विभीषण तथा महेन्द्रतुल्य पराक्रमी महातेजस्वी सुग्रीव—ये चारों वीर लोकपालोंके समान शौर्यशाली, दृढ़ पराक्रमी और अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता हैं। जहाँ ये चारों पुरुषप्रवर एक जगह एकत्र हो गये हैं, वहाँ विजय निश्चित है। और सब वानर अलग रहें तो भी ये चार ही परकोटे और दरवाजोंके सहित सारी लङ्कापुरीको उखाड़कर फेंक सकते हैं ॥ २८—३०½ ॥

यादृशं तद्धि रामस्य रूपं प्रहरणानि च ॥ ३१ ॥
वधिष्यति पुरीं लङ्कामेकस्तिष्ठन्तु ते त्रयः ।

'श्रीरामचन्द्रजीका जैसा रूप है और जैसे उनके अस्त्र-शस्त्र हैं, उनसे तो यही मालूम होता है कि वे अकेले ही सारी लङ्कापुरीका वध कर डालेंगे। भले ही वे बाकी तीन वीर भी बैठे ही रहें ॥ ३१½ ॥

रामलक्ष्मणगुप्ता सा सुग्रीवेण च वाहिनी ।
बभूव दुर्धर्षतरा सर्वैरपि सुरासुरैः ॥ ३२ ॥

'महाराज ! श्रीराम, लक्ष्मण और सुग्रीवसे सुरक्षित वह वानरोंकी सेना तो समस्त देवताओं और असुरोंके लिये भी अत्यन्त दुर्जय है ॥ ३२ ॥

प्रहृष्टयोधा ध्वजिनी महात्मनां
वनौकसां सम्प्रति योद्धुमिच्छताम् ।
अलं विरोधेन शमो विधीयतां
प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली ॥ ३३ ॥

'महामनस्वी वानर इस समय युद्ध करनेके लिये उत्सुक हैं। उनकी सेनाके सभी वीर योद्धा बड़े प्रसन्न हैं। अतः उनके साथ विरोध करनेसे आपको कोई लाभ नहीं होगा। इसलिये संधि कर लीजिये और श्रीरामचन्द्रजीकी सेवामें सीताको लौटा दीजिये' ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे पञ्चविंशः सर्गः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें पचीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २५ ॥

षड्विंशः सर्गः

सारणका रावणको पृथक्-पृथक् वानरयूथपतियोंका परिचय देना

तद्वचः सत्यमक्लीबं सारणेनाभिभाषितम् ।
निशम्य रावणो राजा प्रत्यभाषत सारणम् ॥ १ ॥

(शुक और) सारणके ये सच्चे और जोशीले शब्द सुनकर रावणने सारणसे कहा— ॥ १ ॥

यदि मामभियुञ्जीरन् देवगन्धर्वदानवाः ।
नैव सीतामहं दद्यां सर्वलोकभयादपि ॥ २ ॥

'यदि देवता, गन्धर्व और दानव भी मुझसे युद्ध करने आ जायँ और समस्त लोक भय दिखाने लगे तो भी मैं सीताको नहीं दूँगा ॥ २ ॥

त्वं तु सौम्य परित्रस्तो हरिभिः पीडितो भृशम् ।
प्रतिप्रदानमद्यैव सीतायाः साधु मन्यसे ॥ ३ ॥
को हि नाम सपत्नो मां समरे जेतुमर्हति ।

'सौम्य ! जान पड़ता है कि तुम्हें बंदरोंने बहुत तंग किया है। इसीसे भयभीत होकर तुम आज ही सीताको लौटा देना ठीक समझने लगे हो। भला, कौन ऐसा शत्रु है, जो समराङ्गणमें मुझे जीत सके' ॥ ३½ ॥

इत्युक्त्वा परुषं वाक्यं रावणो राक्षसाधिपः ॥ ४ ॥
आरुरोह ततः श्रीमान् प्रासादं हिमपाण्डुरम्।
बहुतालसमुत्सेधं रावणोऽथ दिदृक्षया ॥ ५ ॥

ऐसा कठोर वचन कहकर श्रीमान् राक्षसराज रावण वानरोंकी सेनाका निरीक्षण करनेके लिये अपनी कई ताल ऊँची और बर्फके समान श्वेत रंगकी अट्टालिकापर चढ़ गया ॥ ४-५ ॥

ताभ्यां चराभ्यां सहितो रावणः क्रोधमूर्च्छितः।
पश्यमानः समुद्रं तं पर्वतांश्च वनानि च ॥ ६ ॥
ददर्श पृथिवीदेशं सुसम्पूर्णं प्लवंगमैः।

उस समय रावण क्रोधसे तमतमा उठा था। उसने उन दोनों गुप्तचरोंके साथ जब समुद्र, पर्वत और वनोंपर दृष्टिपात किया, तब पृथिवीका सारा प्रदेश वानरोंसे भरा दिखायी दिया ॥ ६½ ॥

तदपारमसह्यं च वानराणां महाबलम् ॥ ७ ॥
आलोक्य रावणो राजा परिपप्रच्छ सारणम्।

वानरोंकी वह विशाल सेना अपार और असह्य थी। उसे देखकर राजा रावणने सारणसे पूछा— ॥ ७½ ॥

एषां के वानरा मुख्याः के शूराः के महाबलाः ॥ ८ ॥

'सारण ! इन वानरोंमें कौन-कौनसे मुख्य हैं ? कौन शूर-वीर हैं और कौन बलमें बहुत बढ़े-चढ़े हैं ? ॥ ८ ॥

के पूर्वमभिवर्तन्ते महोत्साहाः समन्ततः।
केषां शृणोति सुग्रीवः के वा यूथपयूथपाः ॥ ९ ॥
सारणाचक्ष्व मे सर्वं किंप्रभावाः प्लवंगमाः।

'कौन-कौनसे वानर महान् उत्साहसे सम्पन्न होकर युद्धमें आगे-आगे रहते हैं ? सुग्रीव किनकी बातें सुनते हैं और कौन यूथपतियोंके भी यूथपति हैं ? सारण ! ये सारी बातें मुझे बताओ। साथ ही यह भी कहो कि उन वानरोंका प्रभाव कैसा है ?' ॥ ९½ ॥

सारणो राक्षसेन्द्रस्य वचनं परिपृच्छतः ॥ १० ॥
आचचक्षेऽथ मुख्यज्ञो मुख्यांस्तत्र वनौकसः।

इस प्रकार पूछते हुए राक्षसराज रावणका वचन सुनकर मुख्य-मुख्य वानरोंको जाननेवाले सारणने उन मुख्य वानरोंका परिचय देते हुए कहा— ॥ १०½ ॥

एष योऽभिमुखो लङ्कां नर्दंस्तिष्ठति वानरः ॥ ११ ॥
यूथपानां सहस्राणां शतेन परिवारितः।
यस्य घोषेण महता सप्राकारा सतोरणा ॥ १२ ॥
लङ्का प्रतिहता सर्वा सशैलवनकानना।
सर्वशाखामृगेन्द्रस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ॥ १३ ॥
बलाग्रे तिष्ठते वीरो नीलो नामैष यूथपः।

'महाराज ! यह जो लङ्काकी ओर मुख करके खड़ा है और गरज रहा है, एक लाख यूथपोंसे घिरा हुआ है तथा जिसकी गर्जनाके अत्यन्त गम्भीर घोषसे परकोटे, दरवाजे, पर्वत और वनोंके सहित सारी लङ्का प्रतिहत हो गूँज उठी है, इसका नाम नील है। यह वीर यूथपतियोंमेंसे है। समस्त वानरोंके राजा महामना सुग्रीवकी सेनाके आगे यही खड़ा होता है ॥ ११—१३½ ॥

बाहू प्रगृह्य यः पद्भ्यां महीं गच्छति वीर्यवान् ॥ १४ ॥
लङ्कामभिमुखः कोपादभीक्ष्णं च विजृम्भते।
गिरिशृङ्गप्रतीकाशः पद्मकिंजल्कसंनिभः ॥ १५ ॥
स्फोटयत्यतिसंरब्धो लाङ्गूलं च पुनः पुनः।
यस्य लाङ्गूलशब्देन स्वनन्ति प्रदिशो दश ॥ १६ ॥
एष वानरराजेन सुग्रीवेणाभिषेचितः।
युवराजोऽङ्गदो नाम त्वामाह्वयति संयुगे ॥ १७ ॥

'जो पराक्रमी वानर दोनों उठी हुई बाँहोंको एक दूसरीसे पकड़कर दोनों पैरोंसे पृथ्वीपर टहल रहा है, लङ्काकी ओर मुख करके क्रोधपूर्वक देखता है और बारंबार अँगड़ाई लेता है, जिसका शरीर पर्वतशिखरके समान ऊँचा है, जिसकी कान्ति कमलकेसरके समान सुनहले रंगकी है, जो रोषसे भरकर बारंबार अपनी पूँछ पटक रहा है तथा जिसकी पूँछके पटकनेकी आवाजसे दसों दिशाएँ गूँज उठती हैं, यह युवराज अङ्गद है। वानरराज सुग्रीवने इसका युवराजके पदपर अभिषेक किया है। यह अपने साथ युद्धके लिये आपको ललकारता है ॥ १४—१७ ॥

वालिनः सदृशः पुत्रः सुग्रीवस्य सदा प्रियः।
राघवार्थे पराक्रान्तः शक्रार्थे वरुणो यथा ॥ १८ ॥

'वालीका यह पुत्र अपने पिताके समान ही बलशाली है। सुग्रीवको यह सदा ही प्रिय है। जैसे वरुण इन्द्रके लिये पराक्रम प्रकट करते हैं, उसी प्रकार यह श्रीरामचन्द्रजीके लिये अपना पुरुषार्थ प्रकट करनेके लिये उद्यत है ॥ १८ ॥

एतस्य सा मतिः सर्वा यद् दृष्टा जनकात्मजा।
हनूमता वेगवता राघवस्य हितैषिणा ॥ १९ ॥

'श्रीरघुनाथजीका हित चाहनेवाले वेगशाली हनुमान्‌जीने जो यहाँ आकर जनकनन्दिनी सीताका दर्शन किया, उसके भीतर इस अङ्गदकी ही सारी बुद्धि काम कर रही थी ॥ १९ ॥

बहूनि वानरेन्द्राणामेष यूथानि वीर्यवान्।
परिगृह्याभियाति त्वां स्वेनानीकेन मर्दितुम् ॥ २० ॥

'पराक्रमी अङ्गद वानरशिरोमणियोंके बहुत-से यूथ लिये अपनी सेनाके साथ आपको कुचल डालनेके लिये आ रहा है ॥ २० ॥

अनुवालिसुतस्यापि बलेन महता वृतः।
वीरस्तिष्ठति संग्रामे सेतुहेतुरयं नलः ॥ २१ ॥

'अङ्गदके पीछे संग्रामभूमिमें जो वीर विशाल सेनासे घिरा

हुआ खड़ा है, इसका नाम नल है। यही सेतु-निर्माणका प्रधान हेतु है॥ २१॥

ये तु विष्टभ्य गात्राणि क्ष्वेडयन्ति नदन्ति च।
उत्थाय च विजृम्भन्ते क्रोधेन हरिपुङ्गवाः॥ २२॥
एते दुष्प्रसहा घोराश्चण्डाश्चण्डपराक्रमाः।
अष्टौ शतसहस्राणि दशकोटिशतानि च।
य एनमनुगच्छन्ति वीराश्चन्दनवासिनः॥ २३॥
एषैवाशंसते लङ्कां स्वेनानीकेन मर्दितुम्।

'जो अपने अङ्गोंको सुस्थिर करके सिंहनाद करते और गर्जते हैं तथा जो कपिश्रेष्ठ वीर अपने आसनोंसे उठकर क्रोध-पूर्वक अँगड़ाई लेते हैं, इनके वेगको सह लेना अत्यन्त कठिन है। ये बड़े भयंकर, अत्यन्त क्रोधी और प्रचण्ड पराक्रमी हैं। इनकी संख्या दस अरब और आठ लाख है। ये सब वानर तथा चन्दनवनमें निवास करनेवाले वीर वानर इस यूथपति नलका ही अनुसरण करते हैं। यह नल भी अपनी सेनाद्वारा लङ्कापुरीको कुचल देनेका हौसला रखता है॥ २२-२३½॥

श्वेतो रजतसंकाशश्चपलो भीमविक्रमः॥ २४॥
बुद्धिमान् वानरः शूरस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः।
तूर्णं सुग्रीवमागम्य पुनर्गच्छति वानरः॥ २५॥
विभजन् वानरीं सेनामनीकानि प्रहर्षयन्।

'यह जो चाँदीके समान सफेद रंगका चञ्चल वानर दिखायी देता है, इसका नाम श्वेत है। यह भयंकर पराक्रम करनेवाला, बुद्धिमान्, शूरवीर और तीनों लोकोंमें विख्यात है। श्वेत बड़ी तेजीसे सुग्रीवके पास आकर फिर लौट जाता है। यह वानरीसेनाका विभाग करता और सैनिकोंमें हर्ष तथा उत्साह भरता है॥ २४-२५½॥

यः पुरा गोमतीतीरे रम्यं पर्येति पर्वतम्॥ २६॥
नाम्ना संरोचनो नाम नानानगयुतो गिरिः।
तत्र राज्यं प्रशास्त्येष कुमुदो नाम यूथपः॥ २७॥

'गोमतीके तटपर जो नाना प्रकारके वृक्षोंसे युक्त संरोचननामक पर्वत है, उसी रमणीय पर्वतके चारों ओर जो पहले विचरा करता था और वहीं अपने वानरराज्यका शासन करता था, वही यह कुमुदनामक यूथपति है॥ २६-२७॥

योऽसौ शतसहस्राणि सहर्षं परिकर्षति।
यस्य वाला बहुव्यामा दीर्घलाङ्गूलमाश्रिताः॥ २८॥
ताम्राः पीताः सिताः श्वेताः प्रकीर्णा घोरदर्शनाः।
अदीनो वानरश्चण्डः संग्राममभिकाङ्क्षति।
एषोऽप्याशंसते लङ्कां स्वेनानीकेन मर्दितुम्॥ २९॥

'वह जो लाखों वानर-सैनिकोंको सहर्ष अपने साथ खींचे लाता है, जिसकी लंबी दुममें बहुत बड़े-बड़े लाल, पीले, भूरे और सफेद रंगके बाल फैले हुए हैं और देखनेमें बड़े भयंकर हैं तथा जो कभी दीनता न दिखाकर सदा युद्धकी ही इच्छा रखता है, उस वानरका नाम चण्ड है। यह चण्ड भी अपनी सेनाद्वारा लङ्काको कुचल देनेकी इच्छा रखता है॥ २८-२९॥

यस्त्वेष सिंहसंकाशः कपिलो दीर्घकेसरः।
निभृतः प्रेक्षते लङ्कां दिधक्षन्निव चक्षुषा॥ ३०॥
विन्ध्यं कृष्णगिरिं सह्यं पर्वतं च सुदर्शनम्।
राजन् सततमध्यास्ते स रम्भो नाम यूथपः।
शतं शतसहस्राणां त्रिंशच्च हरिपुङ्गवाः॥ ३१॥
यं यान्ति वानरा घोराश्चण्डाश्चण्डपराक्रमाः।
परिवार्यानुगच्छन्ति लङ्कां मर्दितुमोजसा॥ ३२॥

'राजन्! जो सिंहके समान पराक्रमी और कपिल वर्णका है, जिसकी गर्दनमें लंबे-लंबे बाल हैं और जो ध्यान लगाकर लङ्काकी ओर इस प्रकार देख रहा है, मानो इसे भस्म कर देगा, वह रम्भ नामक यूथपति है। वह निरन्तर विन्ध्य, कृष्णगिरि, सह्य और सुदर्शन आदि पर्वतोंपर रहा करता है। जब वह युद्धके लिये चलता है, उस समय उसके पीछे एक करोड़ तीस श्रेष्ठ भयंकर, अत्यन्त क्रोधी और प्रचण्ड पराक्रमी वानर चलते हैं। वे सब-के-सब अपने बलसे लङ्काको मसल डालनेके लिये रम्भको सब ओरसे घेरे हुए आ रहे हैं॥ ३०—३२॥

यस्तु कर्णौ विवृणुते जृम्भते च पुनः पुनः।
न तु संविजते मृत्योर्न च सेनां प्रधावति॥ ३३॥
प्रकम्पते च रोषेण तिर्यक् च पुनरीक्षते।
पश्य लाङ्गूलविक्षेपं क्ष्वेडत्येष महाबलः॥ ३४॥

'जो कानोंको फैलाता है, बारंबार जँभाई लेता है, मृत्युसे भी नहीं डरता है और सेनाके पीछे न जाकर अर्थात् सेनाका भरोसा न करके अकेले ही युद्ध करना चाहता है, रोषसे काँप रहा है, तिरछी नजरसे देखता है और पूँछ फटकारकर सिंहनाद करता है, इसका नाम शरभ है। देखिये, यह महाबली वानर कैसी गर्जना करता है॥ ३३-३४॥

महाजवो वीतभयो रम्यं साल्वेयपर्वतम्।
राजन् सततमध्यास्ते शरभो नाम यूथपः॥ ३५॥

'इसका वेग महान् है। भय तो इसे छूतक नहीं गया है। राजन्! यह यूथपति शरभ सदा रमणीय साल्वेय पर्वतपर निवास करता है॥ ३५॥

एतस्य बलिनः सर्वे विहारा नाम यूथपाः।
राजञ्छतसहस्राणि चत्वारिंशत्तथैव च॥ ३६॥

'इसके पास जो यूथपति हैं, उन सबकी 'विहार' संज्ञा है। वे बड़े बलवान् हैं। राजन्! उनकी संख्या एक लाख चालीस हजार है॥ ३६॥

यस्तु मेघ इवाकाशं महानावृत्य तिष्ठति।
मध्ये वानरवीराणां सुराणामिव वासवः॥ ३७॥
भेरीणामिव संनादो यस्यैष श्रूयते महान्।
घोषः शाखामृगेन्द्राणां संग्राममभिकाङ्क्षताम्॥ ३८॥

एष पर्वतमध्यास्ते पारियात्रमनुत्तमम्।
युद्धे दुष्प्रसहो नित्यं पनसो नाम यूथपः॥ ३९॥
एनं शतसहस्राणां शतार्धं पर्युपासते।
यूथपा यूथपश्रेष्ठं येषां यूथानि भागशः॥ ४०॥

'जो विशाल वानर मेघके समान आकाशको घेरे हुए खड़ा है तथा वानरवीरोंके बीचमें ऐसा जान पड़ता है, जैसे देवताओंमें इन्द्र हों, युद्धकी इच्छावाले वानरोंके बीचमें जिसकी गम्भीर गर्जना ऐसी सुनायी देती है, मानो बहुत-सी भेरियोंका तुमुल नाद हो रहा हो तथा जो युद्धमें दुःसह है, वह 'पनस' नामसे प्रसिद्ध यूथपति है। यह पनस परम उत्तम पारियात्र पर्वतपर निवास करता है। यूथपतियोंमें श्रेष्ठ पनसकी सेवामें पचास लाख यूथपति रहते हैं, जिनके अपने-अपने यूथ अलग-अलग हैं॥ ३७—४०॥

यस्तु भीमां प्रवल्गन्तीं चमूं तिष्ठति शोभयन्।
स्थितां तीरे समुद्रस्य द्वितीय इव सागरः॥ ४१॥
एष दर्दुरसंकाशो विनतो नाम यूथपः।
पिबंश्चरति यो वेणां नदीनामुत्तमां नदीम्॥ ४२॥
षष्टिः शतसहस्राणि बलमस्य प्लवंगमाः।

'जो समुद्रके तटपर स्थित हुई इस उछलती-कूदती भीषण सेनाको दूसरे मूर्तिमान् समुद्रकी भाँति सुशोभित करता हुआ खड़ा है, वह दर्दुर पर्वतके समान विशालकाय वानर विनत नामसे प्रसिद्ध यूथपति है। वह नदियोंमें श्रेष्ठ वेणा नदीका पानी पीता हुआ विचरता है। साठ लाख वानर उसके सैनिक हैं॥ ४१-४२½॥

त्वामाह्वयति युद्धाय क्रोधनो नाम वानरः॥ ४३॥
विक्रान्ता बलवन्तश्च यथा यूथानि भागशः।

'जो युद्धके लिये सदा आपको ललकारता रहता है तथा जिसके पास बल-विक्रमशाली अनेक यूथपति रहते हैं और उन यूथपतियोंके पास पृथक्-पृथक् बहुत-से यूथ हैं, वह 'क्रोधन' नामसे प्रसिद्ध वानर है॥ ४३½॥

यस्तु गैरिकवर्णाभं वपुः पुष्यति वानरः॥ ४४॥
अवमत्य सदा सर्वान् वानरान् बलदर्पितः।
गवयो नाम तेजस्वी त्वां क्रोधादभिवर्तते॥ ४५॥
एनं शतसहस्राणि सप्ततिः पर्युपासते।
एषैवाशंसते लङ्कां स्वेनानीकेन मर्दितुम्॥ ४६॥

'वह जो गेरुके समान लाल रंगके शरीरका पोषण करता है, उस तेजस्वी वानरका नाम 'गवय' है। उसे अपने बलपर बड़ा घमंड है। वह सदा सब वानरोंका तिरस्कार किया करता है। देखिये, कितने रोषसे वह आपकी ओर बढ़ा आ रहा है। इसकी सेवामें सत्तर लाख वानर रहते हैं। यह भी अपनी सेनाके द्वारा लङ्काको धूलमें मिला देनेकी इच्छा रखता है॥ ४४—४६॥

एते दुष्प्रसहा वीरा येषां संख्या न विद्यते।
यूथपा यूथपश्रेष्ठास्तेषां यूथानि भागशः॥ ४७॥

'ये सारे-के-सारे वानर दुःसह वीर हैं। इनकी गणना करना भी असम्भव है। यूथपतियोंमें श्रेष्ठ जो यूथप हैं, उन सबके अलग-अलग यूथ हैं'॥ ४७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे षड्विंशः सर्गः॥ २६॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें छब्बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २६॥

—★—

सप्तविंशः सर्गः

वानरसेनाके प्रधान यूथपतियोंका परिचय

तांस्तु ते सम्प्रवक्ष्यामि प्रेक्षमाणस्य यूथपान्।
राघवार्थे पराक्रान्ता ये न रक्षन्ति जीवितम्॥ १॥

(सारणने कहा—) 'राक्षसराज! आप वानरसेनाका निरीक्षण कर रहे हैं, इसलिये मैं आपको उन यूथपतियोंका परिचय दे रहा हूँ, जो रघुनाथजीके लिये पराक्रम करनेको उद्यत हैं और अपने प्राणोंका मोह नहीं रखते हैं॥ १॥

स्निग्धा यस्य बहुव्यामा दीर्घलाङ्गूलमाश्रिताः।
ताम्राः पीताः सिताः श्वेताः प्रकीर्णा घोरकर्मणः॥ २॥
प्रगृहीताः प्रकाशन्ते सूर्यस्येव मरीचयः।
पृथिव्यां चानुकृष्यन्ते हरो नामैष वानरः॥ ३॥
यं पृष्ठतोऽनुगच्छन्ति शतशोऽथ सहस्रशः।
वृक्षानुद्यम्य सहसा लङ्कारोहणतत्पराः॥ ४॥
यूथपा हरिराजस्य किंकराः समुपस्थिताः।

'इधर यह हर नामका वानर है। भयंकर कर्म करनेवाले इस वानरकी लंबी पूँछपर लाल, पीले, भूरे और सफेद रंगके साढ़े तीन-तीन हाथ बड़े-बड़े चिकने रोएँ हैं। ये इधर-उधर फैले हुए रोम उठे होनेके कारण सूर्यकी किरणोंके समान चमक रहे हैं तथा चलते समय भूमिपर लोटते रहते हैं। इसके पीछे वानरराजके किंकररूप सैकड़ों और हजारों यूथपति उपस्थित हो वृक्ष उठाये सहसा लङ्कापर आक्रमण करनेके लिये चले आ रहे हैं॥ २—४½॥

नीलानिव महामेघांस्तिष्ठतो यांस्तु पश्यसि॥ ५॥
असिताञ्जनसंकाशान् युद्धे सत्यपराक्रमान्।
असंख्येयाननिर्देश्यान् परं पारमिवोदधेः॥ ६॥

पर्वतेषु च ये केचिद् विषयेषु नदीषु च।
एते त्वामभिवर्तन्ते राजन्नृक्षाः सुदारुणाः ॥ ७ ॥
एषां मध्ये स्थितो राजन् भीमाक्षो भीमदर्शनः।
पर्जन्य इव जीमूतैः समन्तात् परिवारितः ॥ ८ ॥
ऋक्षवन्तं गिरिश्रेष्ठमध्यास्ते नर्मदां पिबन्।
सर्वर्क्षाणामधिपतिर्धूम्रो नामैष यूथपः ॥ ९ ॥

'उधर नील महामेघ और अञ्जनके समान काले रंगके जिन रीछोंको आप खड़े देख रहे हैं, वे युद्धमें सच्चा पराक्रम प्रकट करनेवाले हैं। समुद्रके दूसरे तटपर स्थित हुए बालुका-कणोंके समान इनकी गणना नहीं की जा सकती, इसीलिये पृथक्-पृथक् नाम लेकर इनके विषयमें कुछ बताना सम्भव नहीं है। ये सब पर्वतों, विभिन्न देशों और नदियोंके तटोंपर रहते हैं। राजन्! ये अत्यन्त भयंकर स्वभाववाले रीछ आपपर चढ़े आ रहे हैं। इनके बीचमें इनका राजा खड़ा है, जिसकी आँखें बड़ी भयानक और जो दूसरोंके देखनेमें भी बड़ा भयंकर जान पड़ता है। वह काले मेघोंसे घिरे हुए इन्द्रकी भाँति चारों ओरसे इन रीछोंद्वारा घिरा हुआ है। इसका नाम धूम्र है। यह समस्त रीछोंका राजा और यूथपति है। यह रीछराज धूम्र पर्वतश्रेष्ठ ऋक्षवान्‌पर रहता और नर्मदाका जल पीता है ॥ ५—९ ॥

यवीयानस्य तु भ्राता पश्यैनं पर्वतोपमम्।
भ्रात्रा समानो रूपेण विशिष्टस्तु पराक्रमे ॥ १० ॥
स एष जाम्बवान् नाम महायूथपयूथपः।
प्रशान्तो गुरुवर्ती च सम्प्रहारेष्वमर्षणः ॥ ११ ॥

'इस धूम्रके छोटे भाई जाम्बवान् हैं, जो महान् यूथपतियोंके भी यूथपति हैं। देखिये ये कैसे पर्वताकार दिखायी देते हैं। ये रूपमें तो अपने भाईके समान ही हैं; किंतु पराक्रममें उससे भी बढ़कर हैं। इनका स्वभाव शान्त है। ये बड़े भाई तथा गुरुजनोंकी आज्ञाके अधीन रहते हैं और उनकी सेवा करते हैं। युद्धके अवसरोंपर इनका रोष और अमर्ष बहुत बढ़ जाता है ॥ १०-११ ॥

एतेन साह्यं तु महत् कृतं शक्रस्य धीमता।
दैवासुरे जाम्बवता लब्धाश्च बहवो वराः ॥ १२ ॥

'इन बुद्धिमान् जाम्बवान्‌ने देवासुर-संग्राममें इन्द्रकी बहुत बड़ी सहायता की थी और उनसे इन्हें बहुत-से वर भी प्राप्त हुए थे ॥ १२ ॥

आरुह्य पर्वताग्रेभ्यो महाभ्रविपुलाः शिलाः।
मुञ्चन्ति विपुलाकारा न मृत्योरुद्विजन्ति च ॥ १३ ॥
राक्षसानां च सदृशाः पिशाचानां च रोमशाः।
एतस्य सैन्या बहवो विचरन्त्यमितौजसः ॥ १४ ॥

'इनके बहुत-से सैनिक विचरते हैं, जिनके बल-पराक्रमकी कोई सीमा नहीं है। इन सबके शरीर बड़ी-बड़ी रोमावलियोंसे भरे हुए हैं। ये राक्षसों और पिशाचोंके समान क्रूर हैं और बड़े-बड़े पर्वत-शिखरोंपर चढ़कर वहाँसे महान् मेघोंके समान विशाल एवं विस्तृत शिलाखण्ड शत्रुओंपर छोड़ते हैं। इन्हें मृत्युसे कभी भय नहीं होता ॥ १३-१४ ॥

य एनमभिसंरब्धं प्लवमानमवस्थितम्।
प्रेक्षन्ते वानराः सर्वे स्थिता यूथपयूथपम् ॥ १५ ॥
एष राजन् सहस्राक्षं पर्युपास्ते हरीश्वरः।
बलेन बलसंयुक्तो दम्भो नामैष यूथपः ॥ १६ ॥

'जो खेल-खेलमें ही कभी उछलता और कभी खड़ा होता है, वहाँ खड़े हुए सब वानर जिसकी ओर आश्चर्यपूर्वक देखते हैं, जो यूथपतियोंका भी सरदार है और रोषसे भरा दिखायी देता है, वह दम्भ नामसे प्रसिद्ध यूथपति है। इसके पास बहुत बड़ी सेना है। राजन्! यह वानरराज दम्भ अपनी सेनाद्वारा ही सहस्राक्ष इन्द्रकी उपासना करता है—उनकी सहायताके लिये सेनाएँ भेजता रहता है ॥ १५-१६ ॥

यः स्थितं योजने शैलं गच्छन् पार्श्वेन सेवते।
ऊर्ध्वं तथैव कायेन गतः प्राप्नोति योजनम् ॥ १७ ॥
यस्मात् तु परमं रूपं चतुष्पात्सु न विद्यते।
श्रुतः संनादनो नाम वानराणां पितामहः ॥ १८ ॥
येन युद्धं तदा दत्तं रणे शक्रस्य धीमता।
पराजयश्च न प्राप्तः सोऽयं यूथपयूथपः ॥ १९ ॥

'जो चलते समय एक योजन दूर खड़े हुए पर्वतको भी अपने पार्श्वभागसे छू लेता है और एक योजन ऊँचेकी वस्तुतक अपने शरीरसे ही पहुँचकर उसे ग्रहण कर लेता है, चौपायोंमें जिससे बढ़ा रूप कहीं नहीं है, वह वानर संनादन नामसे विख्यात है। उसे वानरोंका पितामह कहा जाता है। उस बुद्धिमान् वानरने किसी समय इन्द्रको अपने साथ युद्धका अवसर दिया था, किंतु वह उनसे परास्त नहीं हुआ था, वही यह यूथपतियोंका भी सरदार है ॥ १७—१९ ॥

यस्य विक्रममाणस्य शक्रस्येव पराक्रमः।
एष गन्धर्वकन्यायामुत्पन्नः कृष्णवर्त्मना ॥ २० ॥
तदा देवासुरे युद्धे साह्यार्थं त्रिदिवौकसाम्।
यत्र वैश्रवणो राजा जम्बूमुपनिषेवते ॥ २१ ॥
यो राजा पर्वतेन्द्राणां बहुकिंनरसेविनाम्।
विहारसुखदो नित्यं भ्रातुस्ते राक्षसाधिप ॥ २२ ॥
तत्रैष रमते श्रीमान् बलवान् वानरोत्तमः।
युद्धेष्वकत्थनो नित्यं क्रथनो नाम यूथपः ॥ २३ ॥
वृतः कोटिसहस्रेण हरीणां समवस्थितः।
एषैवाशंसते लङ्कां स्वेनानीकेन मर्दितुम् ॥ २४ ॥

'युद्धके लिये जाते समय जिसका पराक्रम इन्द्रके समान दृष्टिगोचर होता है तथा देवताओं और असुरोंके युद्धमें देवताओंकी सहायताके लिये जिसे अग्निदेवने एक गन्धर्व-कन्याके गर्भसे उत्पन्न किया था, वही यह क्रथन नामक यूथपति

है। राक्षसराज! बहुत-से किन्नर जिनका सेवन करते हैं, उन बड़े-बड़े पर्वतोंका जो राजा है और आपके भाई कुबेरको सदा विहारका सुख प्रदान करता है तथा जिसपर उगे हुए जामुनके वृक्षके नीचे राजाधिराज कुबेर बैठा करते हैं, उसी पर्वतपर यह तेजस्वी बलवान् वानरशिरोमणि श्रीमान् क्रथन भी रमण करता है। यह युद्धमें कभी अपनी प्रशंसा नहीं करता और दस अरब वानरोंसे घिरा रहता है। यह भी अपनी सेनाके द्वारा लङ्काको रौंद डालनेका हौसला रखता है॥ २०—२४॥

यो गङ्गामनुपर्येति त्रासयन् गजयूथपान्।
हस्तिनां वानराणां च पूर्ववैरमनुस्मरन्॥ २५॥
एष यूथपतिर्नेता गर्जन् गिरिगुहाशयः।
गजान् रोधयते वन्यानारुजंश्च महीरुहान्॥ २६॥
हरीणां वाहिनीमुख्यो नदीं हैमवतीमनु।
उशीरबीजमाश्रित्य मन्दरं पर्वतोत्तमम्॥ २७॥
रमते वानरश्रेष्ठो दिवि शक्र इव स्वयम्।
एनं शतसहस्राणां सहस्रमभिवर्तते॥ २८॥
वीर्यविक्रमदृप्तानां नर्दतां बाहुशालिनाम्।
स एष नेता चैतेषां वानराणां महात्मनाम्॥ २९॥
स एष दुर्धरो राजन् प्रमाथी नाम यूथपः।
वातेनेवोद्धतं मेघं यमेनमनुपश्यसि॥ ३०॥
अनीकमपि संरब्धं वानराणां तरस्विनाम्।
उद्धूतमरुणाभासं पवनेन समन्ततः॥ ३१॥
विवर्तमानं बहुशो यत्रैतद्बहुलं रजः।

'जो हाथियों और वानरोंके पुराने[1] वैरका स्मरण करके गज-यूथपतियोंको भयभीत करता हुआ गङ्गाके किनारे विचरा करता है, जंगली पेड़ोंको तोड़-उखाड़कर उनके द्वारा हाथियोंको आगे बढ़नेसे रोक देता है, पर्वतोंकी कन्दरामें सोता और जोर-जोरसे गर्जना करता है, वानरयूथोंका स्वामी तथा संचालक है, वानरोंकी सेनाओंमें जिसे प्रमुख वीर माना जाता है, जो गङ्गातटपर शोभमान उशीरबीज नामक पर्वत तथा गिरिश्रेष्ठ मन्दराचलका आश्रय लेकर रहता एवं रमण करता है और जो वानरोंमें उसी प्रकार श्रेष्ठ स्थान रखता है जैसे स्वर्गके देवताओंमें साक्षात् इन्द्र, वही यह दुर्जेय वीर प्रमाथी नामक यूथपति है। इसके साथ बल और पराक्रमपर गर्व रखकर गर्जना करनेवाले दस करोड़ वानर रहते हैं, जो अपने बाहुबलसे सुशोभित होते हैं। यह प्रमाथी इन सभी महात्मा वानरोंका नेता है। वायुके वेगसे उठे हुए मेघकी भाँति जिस वानरको और आप बारंबार देख रहे हैं, जिससे सम्बन्ध रखनेवाले वेगशाली वानरोंकी सेना भी रोषसे भरी दिखायी देती है तथा जिसकी सेनाद्वारा उड़ायी गयी धूमिल रंगकी बहुत बड़ी धूलिराशि वायुसे सब ओर फैलकर जिसके निकट गिर रही है, वही यह प्रमाथी नामक वीर है॥ २५—३१½॥

एतेऽसितमुखा घोरा गोलाङ्गूला महाबलाः॥ ३२॥
शतं शतसहस्राणि दृष्ट्वा वै सेतुबन्धनम्।
गोलाङ्गूलं महाराज गवाक्षं नाम यूथपम्॥ ३३॥
परिवार्याभिनर्दन्ते लङ्कां मर्दितुमोजसा।

'ये काले मुँहवाले लंगूरजातिके वानर हैं। इनमें महान् बल है। इन भयंकर वानरोंकी संख्या एक करोड़ है। महाराज! जिसने सेतु बाँधनेमें सहायता की है, उस लंगूरजातिके गवाक्ष नामक यूथपतिको चारों ओरसे घेरकर ये वानर खड़े हैं और लङ्काको बलपूर्वक कुचल डालनेके लिये जोर-जोरसे गर्जना करते हैं॥ ३२-३३½॥

भ्रमराचरिता यत्र सर्वकालफलद्रुमाः॥ ३४॥
यं सूर्यस्तुल्यवर्णाभमनुपर्येति पर्वतम्।
यस्य भासा सदा भान्ति तद्वर्णा मृगपक्षिणः॥ ३५॥
यस्य प्रस्थं महात्मानो न त्यजन्ति महर्षयः।
सर्वकामफला वृक्षाः सदा फलसमन्विताः॥ ३६॥
मधूनि च महार्हाणि यस्मिन् पर्वतसत्तमे।
तत्रैष रमते राजन् रम्ये काञ्चनपर्वते॥ ३७॥
मुख्यो वानरमुख्यानां केसरी नाम यूथपः।

'जिस पर्वतपर सभी ऋतुओंमें फल देनेवाले वृक्ष भ्रमरोंसे सेवित दिखायी देते हैं, सूर्यदेव अपने ही समान वर्णवाले जिस पर्वतकी प्रतिदिन परिक्रमा करते हैं, जिसकी कान्तिसे वहाँके मृग और पक्षी सदा सुनहरे रंगके प्रतीत होते हैं, महात्मा महर्षिगण जिसके शिखरका कभी त्याग नहीं करते हैं, जहाँके सभी वृक्ष सम्पूर्ण मनोवाञ्छित वस्तुओंको फलके रूपमें प्रदान करते हैं और उनमें सदा फल लगे रहते हैं, जिस श्रेष्ठ शैलपर बहुमूल्य मधु उपलब्ध होते हैं, उसी रमणीय सुवर्णमय पर्वत महामेरुपर ये प्रमुख वानरोंमें प्रधान यूथपति केसरी रमण करते हैं॥ ३४—३७½॥

षष्टिर्गिरिसहस्राणि रम्याः काञ्चनपर्वताः॥ ३८॥
तेषां मध्ये गिरिवरस्त्वमिवानघ रक्षसाम्।

'साठ हजार जो रमणीय सुवर्णमय पर्वत हैं, उनके बीचमें एक श्रेष्ठ पर्वत है, जिसका नाम है सावर्णिमेरु। निष्पाप निशाचरपते! जैसे राक्षसोंमें आप श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार पर्वतोंमें वह सावर्णिमेरु उत्तम है॥ ३८½॥

तत्रैके कपिलाः श्वेतास्ताम्रास्या मधुपिङ्गलाः॥ ३९॥
निवसन्त्युत्तमगिरौ तीक्ष्णदंष्ट्रा नखायुधाः।

---

१. हनुमान्‌जीके पिता वानरराज केसरीने शम्बसादन नामक राक्षसको, जो हाथीका रूप धारण करके आया था, मार डाला था। इसीसे पूर्वकालमें हाथियोंसे वानरोंका वैर बँध गया था।

सिंहा इव चतुर्दंष्ट्रा व्याघ्रा इव दुरासदाः ॥ ४० ॥
सर्वे वैश्वानरसमा ज्वलदाशीविषोपमाः ।
सुदीर्घाञ्चितलाङ्गूला मत्तमातङ्गसंनिभाः ॥ ४१ ॥
महापर्वतसंकाशा महाजीमूतनिःस्वनाः ।
वृत्तपिङ्गलनेत्रा हि महाभीमगतिस्वनाः ॥ ४२ ॥
मर्दयन्तीव ते सर्वे तस्थुर्लङ्कां समीक्ष्य ते ।

'वहाँ जो पर्वतका अन्तिम शिखर है, उसपर कपिल (भूरे), श्वेत, लाल मुँहवाले और मधुके समान पिङ्गल वर्णवाले वानर निवास करते हैं, जिनके दाँत बड़े तीखे हैं और नख ही उनके आयुध हैं। वे सब सिंहके समान चार दाँतोंवाले, व्याघ्रके समान दुर्जय, अग्निके समान तेजस्वी और प्रज्वलित मुखवाले विषधर सर्पोंके समान क्रोधी होते हैं। उनकी पूँछ बहुत बड़ी ऊपरको उठी हुई और सुन्दर होती है। वे मतवाले हाथीके समान पराक्रमी, महान् पर्वतके समान ऊँचे और सुदृढ़ शरीरवाले तथा महान् मेघके समान गम्भीर गर्जना करनेवाले हैं। उनके नेत्र गोल-गोल एवं पिङ्गल वर्णके होते हैं। उनके चलनेपर बड़ा भयानक शब्द होता है। वे सभी वानर यहाँ आकर इस तरह खड़े हैं, मानो आपकी लङ्काको देखते ही मसल डालेंगे ॥ ३९—४२½ ॥

एष चैषामधिपतिर्मध्ये तिष्ठति वीर्यवान् ॥ ४३ ॥
जयार्थी नित्यमादित्यमुपतिष्ठति वीर्यवान् ।
नाम्ना पृथिव्यां विख्यातो राजञ्शतबलीति यः ॥ ४४ ॥

'देखिये उनके बीचमें यह उनका पराक्रमी सेनापति खड़ा है। यह बड़ा बलवान् है और विजयकी प्राप्तिके लिये सदा सूर्यदेवकी उपासना करता है। राजन्! यह वीर इस भूमण्डलमें शतबलिके नामसे विख्यात है ॥ ४३-४४ ॥

एषैवाशंसते लङ्कां स्वेनानीकेन मर्दितुम् ।
विक्रान्तो बलवाञ्छूरः पौरुषे स्वे व्यवस्थितः ॥ ४५ ॥
रामप्रियार्थं प्राणानां दयां न कुरुते हरिः ।

'बलवान्, पराक्रमी तथा शूरवीर यह शतबलि भी अपने ही पुरुषार्थके भरोसे युद्धके लिये खड़ा है और अपनी सेनाद्वारा लङ्कापुरीको मसल डालना चाहता है। यह वानरवीर श्रीरामचन्द्रजीका प्रिय करनेके लिये अपने प्राणोंपर भी दया नहीं करता है ॥ ४५½ ॥

गजो गवाक्षो गवयो नलो नीलश्च वानरः ॥ ४६ ॥
एकैकमेव योधानां कोटिभिर्दशभिर्वृतः ।

'गज, गवाक्ष, गवय, नल और नील—इनमेंसे एक-एक सेनापति दस-दस करोड़ योद्धाओंसे घिरा हुआ है ॥ ४६½ ॥

तथान्ये वानरश्रेष्ठा विन्ध्यपर्वतवासिनः ।
न शक्यन्ते बहुत्वात् तु संख्यातुं लघुविक्रमाः ॥ ४७ ॥

'इसी तरह विन्ध्यपर्वतपर निवास करनेवाले और भी बहुत-से शीघ्र पराक्रमी श्रेष्ठ वानर हैं, जो अधिक होनेके कारण गिने नहीं जा सकते ॥ ४७ ॥

सर्वे महाराज महाप्रभावाः
सर्वे महाशैलनिकाशकायाः ।
सर्वे समर्थाः पृथिवीं क्षणेन
कर्तुं प्रविध्वस्तविकीर्णशैलाम् ॥ ४८ ॥

'महाराज! ये सभी वानर बड़े प्रभावशाली हैं। सभीके शरीर बड़े-बड़े पर्वतोंके समान विशाल हैं और सभी क्षणभरमें भूमण्डलके समस्त पर्वतोंको चूर-चूर करके सब ओर बिखेर देनेकी शक्ति रखते हैं' ॥ ४८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे सप्तविंशः सर्गः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें सत्ताईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २७ ॥

—★—

अष्टाविंशः सर्गः

शुकके द्वारा सुग्रीवके मन्त्रियोंका, मैन्द और द्विविदका, हनुमान्का, श्रीराम, लक्ष्मण, विभीषण और सुग्रीवका परिचय देकर वानरसेनाकी संख्याका निरूपण करना

सारणस्य वचः श्रुत्वा रावणं राक्षसाधिपम् ।
बलमादिश्य तत् सर्वं शुको वाक्यमथाब्रवीत् ॥ १ ॥

'उस सारी वानरसेनाका परिचय देकर जब सारण चुप हो गया, तब उसका कथन सुनकर शुकने राक्षसराज रावणसे कहा— ॥ १ ॥

स्थितान् पश्यसि यानेतान् मत्तानिव महाद्विपान् ।
न्यग्रोधानिव गाङ्गेयान् सालान् हैमवतानिव ॥ २ ॥
एते दुष्प्रसहा राजन् बलिनः कामरूपिणः ।
दैत्यदानवसंकाशा युद्धे देवपराक्रमाः ॥ ३ ॥

'राजन्! जिन्हें आप मतवाले महागजराजोंके समान वहाँ

खड़ा देख रहे हैं, जो गङ्गातटके वटवृक्षों और हिमालयके शालवृक्षोंके समान जान पड़ते हैं, इनका वेग दुस्सह है। ये इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले और बलवान् हैं। दैत्यों और दानवोंके समान शक्तिशाली तथा युद्धमें देवताओंके समान पराक्रम प्रकट करनेवाले हैं॥ २-३॥

एषां कोटिसहस्राणि नव पञ्च च सप्त च।
तथा शङ्कुसहस्राणि तथा वृन्दशतानि च॥ ४॥
एते सुग्रीवसचिवाः किष्किन्धानिलयाः सदा।
हरयो देवगन्धर्वैरुत्पन्नाः कामरूपिणः॥ ५॥

'इनकी संख्या इक्कीस कोटि सहस्र, सहस्र शङ्कु और सौ वृन्द है*। ये सब-के-सब वानर सदा किष्किन्धामें रहनेवाले सुग्रीवके मन्त्री हैं। इनकी उत्पत्ति देवताओं और गन्धर्वोंसे हुई है। ये सभी इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ हैं॥ ४-५॥

यौ तौ पश्यसि तिष्ठन्तौ कुमारौ देवरूपिणौ।
मैन्दश्च द्विविदश्चैव ताभ्यां नास्ति समो युधि॥ ६॥
ब्रह्मणा समनुज्ञातावमृतप्राशिनावुभौ।
आशंसेते यथा लङ्कामेतौ मर्दितुमोजसा॥ ७॥

'राजन्! आप इन वानरोंमें देवताओंके समान रूपवाले जिन दो वानरोंको खड़ा देख रहे हैं उनके नाम हैं मैन्द और द्विविद। युद्धमें उनकी बराबरी करनेवाला कोई नहीं है। ब्रह्माजीकी आज्ञासे इन दोनोंने अमृतपान किया है। ये दोनों वीर अपने बल-पराक्रमसे लङ्काको कुचल डालनेकी इच्छा रखते हैं॥ ६-७॥

यं तु पश्यसि तिष्ठन्तं प्रभिन्नमिव कुञ्जरम्।
यो बलात् क्षोभयेत् क्रुद्धः समुद्रमपि वानरः॥ ८॥
एषोऽभिगन्ता लङ्कायां वैदेह्यास्तव च प्रभो।
एनं पश्य पुरा दृष्टं वानरं पुनरागतम्॥ ९॥
ज्येष्ठः केसरिणः पुत्रो वातात्मज इति श्रुतः।
हनूमानिति विख्यातो लङ्घितो येन सागरः॥ १०॥

'इधर जिसे आप मदकी धारा बहानेवाले मतवाले हाथीकी भाँति खड़ा देख रहे हैं, जो वानर कुपित होनेपर समुद्रको भी विक्षुब्ध कर सकता है, जो लङ्कामें आपके पास आया था और विदेहनन्दिनी सीतासे मिलकर गया था, उसे देखिये। पहलेका देखा हुआ यह वानर फिर आया है। यह केसरीका बड़ा पुत्र है। पवनपुत्रके भी नामसे विख्यात है। उसे लोग हनुमान् कहते हैं। इसीने पहले समुद्र लाँघा था॥ ८—१०॥

कामरूपो हरिश्रेष्ठो बलरूपसमन्वितः।
अनिवार्यगतिश्चैव यथा सततगः प्रभुः॥ ११॥

'बल और रूपसे सम्पन्न यह श्रेष्ठ वानर अपनी इच्छाके अनुसार रूप धारण कर सकता है। इसकी गति कहीं नहीं रुकती। यह वायुके समान सर्वत्र जा सकता है॥ ११॥

उद्यन्तं भास्करं दृष्ट्वा बालः किल बुभुक्षितः।
त्रियोजनसहस्रं तु अध्वानमवतीर्य हि॥ १२॥
आदित्यमाहरिष्यामि न मे क्षुत् प्रतियास्यति।
इति निश्चित्य मनसा पुप्लुवे बलदर्पितः॥ १३॥

'जब यह बालक था उस समयकी बात है, एक दिन इसको बहुत भूख लगी थी। उस समय उगते हुए सूर्यको देखकर यह तीन हजार योजन ऊँचा उछल गया था। उस समय मन-ही-मन यह निश्चय करके कि 'वहाँके फल आदिसे मेरी भूख नहीं जायगी, इसलिये सूर्यको (जो आकाशका दिव्य फल है) ले आऊँगा' यह बलाभिमानी वानर ऊपरको उछला था॥ १२-१३॥

अनाधृष्यतमं देवमपि देवर्षिराक्षसैः।
अनासाद्यैव पतितो भास्करोदयने गिरौ॥ १४॥

'देवर्षि और राक्षस भी जिन्हें परास्त नहीं कर सकते, उन सूर्यदेवतक न पहुँचकर यह वानर उदयगिरिपर ही गिर पड़ा॥ १४॥

पतितस्य कपेरस्य हनुरेका शिलातले।
किंचिद् भिन्ना दृढहनुर्हनूमानेष तेन वै॥ १५॥

'वहाँके शिलाखण्डपर गिरनेके कारण इस वानरकी एक हनु (ठोड़ी) कुछ कट गयी; साथ ही अत्यन्त दृढ़ हो गयी, इसलिये यह 'हनुमान्' नामसे प्रसिद्ध हुआ॥ १५॥

सत्यमागमयोगेन ममैष विदितो हरिः।
नास्य शक्यं बलं रूपं प्रभावो वानुभाषितुम्॥ १६॥
एष आशंसते लङ्कामेको मथितुमोजसा।
येन जाज्वल्यतेऽसौ वै धूमकेतुस्तवाद्य वै।
लङ्कायां निहितश्चापि कथं विस्मरसे कपिम्॥ १७॥

'विश्वसनीय व्यक्तियोंके सम्पर्कसे मैंने इस वानरका वृत्तान्त ठीक-ठीक जाना है। इसके बल, रूप और प्रभावका पूर्णरूपसे वर्णन करना किसीके लिये भी असम्भव है। यह अकेला ही सारी लङ्काको मसल देना चाहता है। जिसे आपने लङ्कामें रोक रखा था, उस अग्निको भी जिसने अपनी पूँछद्वारा प्रज्वलित करके सारी लङ्का जला डाली, उस वानरको आप भूलते कैसे हैं?॥ १६-१७॥

* इन संख्याओंका स्पष्टीकरण इसी सर्गके अन्तमें दी हुई परिभाषाके अनुसार समझना चाहिये।

यश्चैषोऽनन्तरः शूरः श्यामः पद्मनिभेक्षणः ।
इक्ष्वाकूणामतिरथो लोके विश्रुतपौरुषः ॥ १८ ॥

'हनुमान्‌जीके पास ही जो कमलके समान नेत्रवाले साँवले शूरवीर विराज रहे हैं, वे इक्ष्वाकुवंशके अतिरथी हैं। इनका पौरुष सम्पूर्ण लोकोंमें प्रसिद्ध है ॥ १८ ॥

यस्मिन् न चलते धर्मो यो धर्मं नातिवर्तते ।
यो ब्राह्ममस्त्रं वेदांश्च वेद वेदविदां वरः ॥ १९ ॥

'धर्म उनसे कभी अलग नहीं होता। ये धर्मका कभी उल्लङ्घन नहीं करते तथा ब्रह्मास्त्र और वेद दोनोंके ज्ञाता हैं। वेदवेत्ताओंमें इनका बहुत ऊँचा स्थान है ॥ १९ ॥

यो भिन्द्याद् गगनं बाणैर्मेदिनीं वापि दारयेत् ।
यस्य मृत्योरिव क्रोधः शक्रस्येव पराक्रमः ॥ २० ॥

'ये अपने बाणोंसे आकाशका भी भेदन कर सकते हैं, पृथ्वीको भी विदीर्ण करनेकी क्षमता रखते हैं। इनका क्रोध मृत्युके समान और पराक्रम इन्द्रके तुल्य है ॥ २० ॥

यस्य भार्या जनस्थानात् सीता चापि हृता त्वया ।
स एष रामस्त्वां राजन् योद्धुं समभिवर्तते ॥ २१ ॥

'राजन्! जिनकी भार्या सीताको आप जनस्थानसे हर लाये हैं, वे ही ये श्रीराम आपसे युद्ध करनेके लिये सामने आकर खड़े हैं ॥ २१ ॥

यस्यैष दक्षिणे पार्श्वे शुद्धजाम्बूनदप्रभः ।
विशालवक्षास्ताम्राक्षो नीलकुञ्चितमूर्धजः ॥ २२ ॥
एषो हि लक्ष्मणो नाम भ्रातुः प्रियहिते रतः ।
नये युद्धे च कुशलः सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ २३ ॥

'उनके दाहिने भागमें जो ये शुद्ध सुवर्णके समान कान्तिमान्, विशाल वक्षःस्थलसे सुशोभित, कुछ-कुछ लाल नेत्रवाले तथा मस्तकपर काले-काले घुँघराले केश धारण करनेवाले हैं, इनका नाम लक्ष्मण है। ये अपने भाईके प्रिय और हितमें लगे रहनेवाले हैं, राजनीति और युद्धमें कुशल हैं तथा सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ हैं ॥ २२-२३ ॥

अमर्षी दुर्जयो जेता विक्रान्तश्च जयी बली ।
रामस्य दक्षिणो बाहुर्नित्यं प्राणो बहिश्चरः ॥ २४ ॥

'ये अमर्षशील, दुर्जय, विजयी, पराक्रमी, शत्रुको पराजित करनेवाले तथा बलवान् हैं। लक्ष्मण सदा ही श्रीरामके दाहिने हाथ और बाहर विचरनेवाले प्राण हैं ॥ २४ ॥

नह्येष राघवस्यार्थे जीवितं परिरक्षति ।
एषैवाशंसते युद्धे निहन्तुं सर्वराक्षसान् ॥ २५ ॥

'इन्हें श्रीरघुनाथजीके लिये अपने प्राणोंकी रक्षाका भी ध्यान नहीं रहता। ये अकेले ही युद्धमें सम्पूर्ण राक्षसोंका संहार कर देनेकी इच्छा रखते हैं ॥ २५ ॥

यस्तु सव्यमसौ पक्षं रामस्याश्रित्य तिष्ठति ।
रक्षोगणपरिक्षिप्तो राजा ह्येष विभीषणः ॥ २६ ॥
श्रीमता राजराजेन लङ्कायामभिषेचितः ।
त्वामसौ प्रतिसंरब्धो युद्धायैषोऽभिवर्तते ॥ २७ ॥

'श्रीरामचन्द्रजीकी बायीं ओर जो राक्षसोंसे घिरे हुए खड़े हैं, ये राजा विभीषण हैं। राजाधिराज श्रीरामने इन्हें लङ्काके राज्यपर अभिषिक्त कर दिया है। अब ये आपपर कुपित होकर युद्धके लिये सामने आ गये हैं ॥ २६-२७ ॥

यं तु पश्यसि तिष्ठन्तं मध्ये गिरिमिवाचलम् ।
सर्वशाखामृगेन्द्राणां भर्तारममितौजसम् ॥ २८ ॥

'जिन्हें आप सब वानरोंके बीचमें पर्वतके समान अविचल भावसे खड़ा देखते हैं, वे समस्त वानरोंके स्वामी अमित तेजस्वी सुग्रीव हैं ॥ २८ ॥

तेजसा यशसा बुद्ध्या बलेनाभिजनेन च ।
यः कपीनतिबभ्राज हिमवानिव पर्वतः ॥ २९ ॥

'जैसे हिमालय सब पर्वतोंमें श्रेष्ठ है, उसी प्रकार वे तेज, यश, बुद्धि, बल और कुलकी दृष्टिसे समस्त वानरोंमें सर्वोपरि विराजमान हैं ॥ २९ ॥

किष्किन्धां यः समध्यास्ते गुहां सगहनद्रुमाम् ।
दुर्गां पर्वतदुर्गम्यां प्रधानैः सह यूथपैः ॥ ३० ॥

'ये गहन वृक्षोंसे युक्त किष्किन्धा नामक दुर्गम गुफामें निवास करते हैं। पर्वतोंके कारण उसमें प्रवेश करना अत्यन्त कठिन है। इनके साथ वहाँ प्रधान-प्रधान यूथपति भी रहते हैं ॥ ३० ॥

यस्यैषा काञ्चनी माला शोभते शतपुष्करा ।
कान्ता देवमनुष्याणां यस्यां लक्ष्मीः प्रतिष्ठिता ॥ ३१ ॥

'इनके गलेमें जो सौ कमलोंकी सुवर्णमयी माला सुशोभित है, उसमें सर्वदा लक्ष्मीदेवीका निवास है। उसे देवता और मनुष्य सभी पाना चाहते हैं ॥ ३१ ॥

एतां मालां च तारां च कपिराज्यं च शाश्वतम् ।
सुग्रीवो वालिनं हत्वा रामेण प्रतिपादितः ॥ ३२ ॥

'भगवान् श्रीरामने वालीको मारकर यह माला, तारा और वानरोंका राज्य—ये सब वस्तुएँ सुग्रीवको समर्पित कर दीं ॥ ३२ ॥

शतं शतसहस्राणां कोटिमाहुर्मनीषिणः ।
शतं कोटिसहस्राणां शङ्कुरित्यभिधीयते ॥ ३३ ॥

'मनीषी पुरुष सौ लाखकी संख्याको एक कोटि कहते हैं और सौ सहस्र कोटि (एक नील) को एक शङ्कु कहा जाता है ॥ ३३ ॥

शतं शङ्कुसहस्राणां महाशङ्कुरिति स्मृतः।
महाशङ्कुसहस्राणां शतं वृन्दमिहोच्यते ॥ ३४ ॥

'एक लाख शङ्कुको महाशङ्कु नाम दिया गया है। एक लाख महाशङ्कुको वृन्द कहते हैं ॥ ३४ ॥

शतं वृन्दसहस्राणां महावृन्दमिति स्मृतम्।
महावृन्दसहस्राणां शतं पद्ममिहोच्यते ॥ ३५ ॥

'एक लाख वृन्दका नाम महावृन्द है। एक लाख महावृन्दको पद्म कहते हैं ॥ ३५ ॥

शतं पद्मसहस्राणां महापद्ममिति स्मृतम्।
महापद्मसहस्राणां शतं खर्वमिहोच्यते ॥ ३६ ॥

'एक लाख पद्मको महापद्म माना गया है। एक लाख महापद्मको खर्व कहते हैं ॥ ३६ ॥

शतं खर्वसहस्राणां महाखर्वमिति स्मृतम्।
महाखर्वसहस्राणां समुद्रमभिधीयते।
शतं समुद्रसाहस्रमोघ इत्यभिधीयते ॥ ३७ ॥
शतमोघसहस्राणां महौघा इति विश्रुतः।

'एक लाख खर्वका महाखर्व होता है। एक सहस्र महाखर्वको समुद्र कहते हैं। एक लाख समुद्रको ओघ कहते हैं और एक लाख ओघकी महौघ संज्ञा है ॥ ३७½ ॥

एवं कोटिसहस्रेण शङ्कूनां च शतेन च।
महाशङ्कुसहस्रेण तथा वृन्दशतेन च ॥ ३८ ॥
महावृन्दसहस्रेण तथा पद्मशतेन च।
महापद्मसहस्रेण तथा खर्वशतेन च ॥ ३९ ॥
समुद्रेण च तेनैव महौघेन तथैव च।
एष कोटिमहौघेन समुद्रसदृशेन च ॥ ४० ॥
विभीषणेन वीरेण सचिवैः परिवारितः।
सुग्रीवो वानरेन्द्रस्त्वां युद्धार्थमनुवर्तते।
महाबलवृतो नित्यं महाबलपराक्रमः ॥ ४१ ॥

'इस प्रकार सहस्र कोटि, सौ शङ्कु, सहस्र महाशङ्कु, सौ वृन्द, सहस्र महावृन्द, सौ पद्म, सहस्र महापद्म, सौ खर्व, सौ समुद्र, सौ महौघ तथा समुद्र-सदृश (सौ) कोटि महौघ सैनिकोंसे, वीर विभीषणसे तथा अपने सचिवोंसे घिरे हुए वानरराज सुग्रीव आपको युद्धके लिये ललकारते हुए सामने आ रहे हैं। विशाल सेनासे घिरे हुए सुग्रीव महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न हैं ॥ ३८—४१ ॥

इमां महाराज समीक्ष्य वाहिनी-
मुपस्थितां प्रज्वलितग्रहोपमाम्।
ततः प्रयत्नः परमो विधीयतां
यथा जयः स्यान्न परैः पराभवः ॥ ४२ ॥

'महाराज! यह सेना एक प्रकाशमान ग्रहके समान है। इसे उपस्थित देख आप कोई ऐसा उपाय करें, जिससे आपकी विजय हो और शत्रुओंके सामने आपको नीचा न देखना पड़े' ॥ ४२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डेऽष्टाविंशः सर्गः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें अट्ठाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २८ ॥

—★—

एकोनत्रिंशः सर्गः

रावणका शुक और सारणको फटकारकर अपने दरबारसे निकाल देना, उसके भेजे हुए गुप्तचरोंका श्रीरामकी दयासे वानरोंके चंगुलसे छूटकर लङ्कामें आना

शुकेन तु समादिष्टान् दृष्ट्वा स हरियूथपान्।
लक्ष्मणं च महावीर्यं भुजं रामस्य दक्षिणम् ॥ १ ॥
समीपस्थं च रामस्य भ्रातरं च विभीषणम्।
सर्ववानरराजं च सुग्रीवं भीमविक्रमम् ॥ २ ॥
अङ्गदं चापि बलिनं वज्रहस्तात्मजात्मजम्।
हनूमन्तं च विक्रान्तं जाम्बवन्तं च दुर्जयम् ॥ ३ ॥
सुषेणं कुमुदं नीलं नलं च प्लवगर्षभम्।
गजं गवाक्षं शरभं मैन्दं च द्विविदं तथा ॥ ४ ॥

शुकके बताये अनुसार रावणने समस्त यूथपतियोंको देखकर श्रीरामकी दाहिनी बाँह महापराक्रमी लक्ष्मणको, श्रीरामके निकट बैठे हुए अपने भाई विभीषणको, समस्त वानरोंके राजा भयंकर पराक्रमी सुग्रीवको, इन्द्रपुत्र वालीके बेटे बलवान् अङ्गदको, बल-विक्रमशाली हनुमान्‌को, दुर्जय वीर जाम्बवान्‌को तथा सुषेण, कुमुद, नील, वानरश्रेष्ठ नल, गज, गवाक्ष, शरभ, मैन्द एवं द्विविदको भी देखा ॥ १—४ ॥

किंचिदाविग्नहृदयो जातक्रोधश्च रावणः।
भर्त्सयामास तौ वीरौ कथान्ते शुकसारणौ ॥ ५ ॥

उन सबको देखकर रावणका हृदय कुछ उद्विग्न हो उठा। उसे क्रोध आ गया और उसने बात समाप्त होनेपर वीर शुक

और सारणको फटकारा ॥ ५ ॥

अधोमुखौ तौ प्रणतावब्रवीच्छुकसारणौ ।
रोषगद्गदया वाचा संरब्धं परुषं तथा ॥ ६ ॥

'बेचारे शुक और सारण विनीत भावसे नीचे मुँह किये खड़े रहे और रावणने रोषगद्गद वाणीमें क्रोधपूर्वक यह कठोर बात कही— ॥ ६ ॥

न तावत् सदृशं नाम सचिवैरुपजीविभिः ।
विप्रियं नृपतेर्वक्तुं निग्रहे प्रग्रहे प्रभोः ॥ ७ ॥

'राजा निग्रह और अनुग्रह करनेमें भी समर्थ होता है। उसके सहारे जीविका चलानेवाले मन्त्रियोंको ऐसी कोई बात नहीं कहनी चाहिये, जो उसे अप्रिय लगे ॥ ७ ॥

रिपूणां प्रतिकूलानां युद्धार्थमभिवर्तताम् ।
उभाभ्यां सदृशं नाम वक्तुमप्रस्तवे स्तवम् ॥ ८ ॥

'जो शत्रु अपने विरोधी हैं और युद्धके लिये सामने आये हैं; उनकी बिना किसी प्रसङ्गके ही स्तुति करना क्या तुम दोनोंके लिये उचित था ? ॥ ८ ॥

आचार्या गुरवो वृद्धा वृथा वां पर्युपासिताः ।
सारं यद् राजशास्त्राणामनुजीव्यं न गृह्यते ॥ ९ ॥

'तुमलोगोंने आचार्य, गुरु और वृद्धोंकी व्यर्थ ही सेवा की है; क्योंकि राजनीतिका जो संग्रहणीय सार है, उसे तुम नहीं ग्रहण कर सके ॥ ९ ॥

गृहीतो वा न विज्ञातो भारोऽज्ञानस्य वाह्यते ।
ईदृशैः सचिवैर्युक्तो मूर्खैर्दिष्ट्या धराम्यहम् ॥ १० ॥

'यदि तुमने उसे ग्रहण भी किया हो तो भी इस समय तुम्हें उसका ज्ञान नहीं रह गया है—तुमने उसे भुला दिया है। तुमलोग केवल अज्ञानका बोझ ढो रहे हो। ऐसे मूर्ख मन्त्रियोंके सम्पर्कमें रहते हुए भी जो मैं अपने राज्यको सुरक्षित रख सका हूँ, वह सौभाग्यकी ही बात है ॥ १० ॥

किं नु मृत्योर्भयं नास्ति मां वक्तुं परुषं वचः ।
यस्य मे शासतो जिह्वा प्रयच्छति शुभाशुभम् ॥ ११ ॥

'मैं इस राज्यका शासक हूँ। मेरी जिह्वा ही तुम्हें शुभ या अशुभकी प्राप्ति करा सकती है—मैं वाणीमात्रसे तुमपर निग्रह और अनुग्रह कर सकता हूँ; फिर भी तुम दोनोंने मेरे सामने कठोर बात कहनेका साहस किया। क्या तुम्हें मृत्युका भय नहीं है ? ॥ ११ ॥

अप्येव दहनं स्पृष्ट्वा वने तिष्ठन्ति पादपाः ।
राजदण्डपरामृष्टास्तिष्ठन्ते नापराधिनः ॥ १२ ॥

'वनमें दावानलका स्पर्श करके भी वहाँके वृक्ष खड़े रह जायँ, यह सम्भव है; परंतु राजदण्डके अधिकारी अपराधी नहीं टिक सकते। वे सर्वथा नष्ट हो जाते हैं ॥ १२ ॥

हन्यामहं त्विमौ पापौ शत्रुपक्षप्रशंसिनौ ।
यदि पूर्वोपकारैर्मे क्रोधो न मृदुतां व्रजेत् ॥ १३ ॥

'यदि इनके पहलेके उपकारोंको याद करके मेरा क्रोध नरम न पड़ जाता तो शत्रुपक्षकी प्रशंसा करनेवाले इन दोनों पापियोंको मैं अभी मार डालता ॥ १३ ॥

अपध्वंसत नश्यध्वं संनिकर्षादितो मम ।
नहि वां हन्तुमिच्छामि स्मराम्युपकृतानि वाम् ।
हतावेव कृतघ्नौ द्वौ मयि स्नेहपराङ्मुखौ ॥ १४ ॥

'अब तुम दोनों मेरी सभामें प्रवेशके अधिकारसे वञ्चित हो। मेरे पाससे चले जाओ; फिर कभी मुझे अपना मुँह न दिखाना। मैं तुम दोनोंका वध करना नहीं चाहता; क्योंकि तुम दोनोंके किये हुए उपकारोंको सदा स्मरण रखता हूँ। तुम दोनों मेरे स्नेहसे विमुख और कृतघ्न हो, अतः मरे हुएके ही समान हो' ॥ १४ ॥

एवमुक्तौ तु सव्रीडौ तौ दृष्ट्वा शुकसारणौ ।
रावणं जयशब्देन प्रतिनन्द्याभिनिःसृतौ ॥ १५ ॥

उसके ऐसा कहनेपर शुक और सारण बहुत लज्जित हुए और जय-जयकारके द्वारा रावणका अभिनन्दन करके वहाँसे निकल गये ॥ १५ ॥

अब्रवीच्च दशग्रीवः समीपस्थं महोदरम् ।
उपस्थापय मे शीघ्रं चारानिति निशाचरः ।
महोदरस्तथोक्तस्तु शीघ्रमाज्ञापयच्चरान् ॥ १६ ॥

इसके पश्चात् दशमुख रावणने अपने पास बैठे हुए महोदरसे कहा—'मेरे सामने शीघ्र ही गुप्तचरोंको उपस्थित होनेकी आज्ञा दो।' यह आदेश पाकर निशाचर महोदरने शीघ्र ही गुप्तचरोंको हाजिर होनेकी आज्ञा दी ॥ १६ ॥

ततश्चाराः संत्वरिताः प्राप्ताः पार्थिवशासनात् ।
उपस्थिताः प्राञ्जलयो वर्धयित्वा जयाशिषः ॥ १७ ॥

राजाकी आज्ञा पाकर गुप्तचर उसी समय विजयसूचक आशीर्वाद दे हाथ जोड़े सेवामें उपस्थित हुए ॥ १७ ॥

तानब्रवीत् ततो वाक्यं रावणो राक्षसाधिपः ।
चारान् प्रत्ययिकाञ्शूरान् धीरान् विगतसाध्वसान् ॥ १८ ॥

वे सभी गुप्तचर विश्वासपात्र, शूरवीर, धीर एवं निर्भय थे। राक्षसराज रावणने उनसे यह बात कही— ॥ १८ ॥

इतो गच्छत रामस्य व्यवसायं परीक्षितुम् ।
मन्त्रेष्वभ्यन्तरा येऽस्य प्रीत्या तेन समागताः ॥ १९ ॥

'तुमलोग अभी वानरसेनामें रामका क्या निश्चय है, यह जाननेके लिये तथा गुप्तमन्त्रणामें भाग लेनेवाले

जो उनके अन्तरङ्ग मन्त्री हैं और जो लोग प्रेमपूर्वक उनसे मिले हैं—उनके मित्र हो गये हैं; उन सबके भी निश्चित विचार क्या हैं, इसकी जाँच करनेके लिये यहाँसे जाओ ॥ १९ ॥

कथं स्वपिति जागर्ति किमद्य च करिष्यति।
विज्ञाय निपुणं सर्वमागन्तव्यमशेषतः ॥ २० ॥

'वे कैसे सोते हैं? किस तरह जागते हैं और आज क्या करेंगे?—इन सब बातोंका पूर्णरूपसे अच्छी तरह पता लगाकर लौट आओ ॥ २० ॥

चारेण विदितः शत्रुः पण्डितैर्वसुधाधिपैः।
युद्धे स्वल्पेन यत्नेन समासाद्य निरस्यते ॥ २१ ॥

'गुप्तचरके द्वारा यदि शत्रुकी गति-विधिका पता चल जाय तो बुद्धिमान् राजा थोड़े-से ही प्रयत्नके द्वारा युद्धमें उसे धर दबाते और मार भगाते हैं' ॥ २१ ॥

चारास्तु ते तथेत्युक्त्वा प्रहृष्टा राक्षसेश्वरम्।
शार्दूलमग्रतः कृत्वा ततश्चक्रुः प्रदक्षिणम् ॥ २२ ॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर हर्षसे भरे हुए गुप्तचरोंने शार्दूलको आगे करके राक्षसराज रावणकी परिक्रमा की ॥ २२ ॥

ततस्तं तु महात्मानं चारा राक्षससत्तमम्।
कृत्वा प्रदक्षिणं जग्मुर्यत्र रामः सलक्ष्मणः ॥ २३ ॥

इस प्रकार वे गुप्तचर राक्षसशिरोमणि महाकाय रावणकी परिक्रमा करके उस स्थानपर गये, जहाँ लक्ष्मणसहित श्रीराम विराजमान थे ॥ २३ ॥

ते सुवेलस्य शैलस्य समीपे रामलक्ष्मणौ।
प्रच्छन्ना ददृशुर्गत्वा ससुग्रीवविभीषणौ ॥ २४ ॥

सुवेल पर्वतके निकट जाकर उन गुप्तचरोंने छिपे रहकर श्रीराम, लक्ष्मण, सुग्रीव और विभीषणको देखा ॥ २४ ॥

प्रेक्षमाणाश्चमूं तां च बभूवुर्भयविह्वलाः।
ते तु धर्मात्मना दृष्टा राक्षसेन्द्रेण राक्षसाः ॥ २५ ॥

वानरोंकी उस सेनाको देखकर वे भयसे व्याकुल हो उठे। इतनेहीमें धर्मात्मा राक्षसराज विभीषणने उन सब राक्षसोंको देख लिया ॥ २५ ॥

विभीषणेन तत्रस्था निगृहीता यदृच्छया।
शार्दूलो ग्राहितस्त्वेकः पापोऽयमिति राक्षसः ॥ २६ ॥

तब उन्होंने अकस्मात् वहाँ आये हुए राक्षसोंको फटकारा और अकेले शार्दूलको यह सोचकर पकड़वा लिया कि यह राक्षस बड़ा पापी है ॥ २६ ॥

मोचितः सोऽपि रामेण वध्यमानः प्लवंगमैः।
आनृशंस्येन रामेण मोचिता राक्षसाः परे ॥ २७ ॥

फिर तो वानर उसे पीटने लगे। तब भगवान् श्रीरामने दयावश उसे तथा अन्य राक्षसोंको भी छुड़ा दिया ॥ २७ ॥

वानरैरर्दितास्ते तु विक्रान्तैर्लघुविक्रमैः।
पुनर्लङ्कामनुप्राप्ताः श्वसन्तो नष्टचेतसः ॥ २८ ॥

बल-विक्रमसम्पन्न शीघ्र पराक्रमी वानरोंसे पीड़ित हो उन राक्षसोंके होश उड़ गये और वे हाँफते-हाँफते फिर लङ्कामें जा पहुँचे ॥ २८ ॥

ततो दशग्रीवमुपस्थितास्ते
चारा बहिर्नित्यचरा निशाचराः।
गिरेः सुवेलस्य समीपवासिनं
न्यवेदयन् रामबलं महाबलाः ॥ २९ ॥

तदनन्तर रावणकी सेवामें उपस्थित हो चरके वेशमें सदा बाहर विचरनेवाले उन महाबली निशाचरोंने यह सूचना दी कि श्रीरामचन्द्रजीकी सेना सुवेल पर्वतके निकट डेरा डाले पड़ी है ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे एकोनत्रिंशः सर्गः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें उन्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २९ ॥

—★—

त्रिंशः सर्गः

रावणके भेजे हुए गुप्तचरों एवं शार्दूलका उससे वानर-सेनाका समाचार बताना और मुख्य-मुख्य वीरोंका परिचय देना

ततस्तमक्षोभ्यबलं लङ्काधिपतये चराः।
सुवेले राघवं शैले निविष्टं प्रत्यवेदयन्॥ १॥

गुप्तचरोंने लङ्कापति रावणको यह बताया कि श्रीरामचन्द्रजीकी सेना सुवेल पर्वतके पास आकर ठहरी है और वह सर्वथा अजेय है॥ १॥

चाराणां रावणः श्रुत्वा प्राप्तं रामं महाबलम्।
जातोद्वेगोऽभवत् किंचिच्छार्दूलं वाक्यमब्रवीत्॥ २॥

गुप्तचरोंके मुँहसे यह सुनकर कि महाबली श्रीराम आ पहुँचे हैं, रावणको कुछ भय हो गया। वह शार्दूलसे बोला— ॥ २॥

अयथावच्च ते वर्णो दीनश्चासि निशाचर।
नासि कच्चिदमित्राणां क्रुद्धानां वशमागतः॥ ३॥

'निशाचर! तुम्हारे शरीरकी कान्ति पहले जैसी नहीं रह गयी है। तुम दीन (दुःखी) दिखायी दे रहे हो। कहीं कुपित हुए शत्रुओंके वशमें तो नहीं पड़ गये थे?' ॥ ३॥

इति तेनानुशिष्टस्तु वाचं मन्दमुदीरयन्।
तदा राक्षसशार्दूलं शार्दूलो भयविक्लवः॥ ४॥

उसके इस प्रकार पूछनेपर भयसे घबराये हुए शार्दूलने राक्षसप्रवर रावणसे मन्द स्वरमें कहा— ॥ ४॥

न ते चारयितुं शक्या राजन् वानरपुङ्गवाः।
विक्रान्ता बलवन्तश्च राघवेण च रक्षिताः॥ ५॥

'राजन्! उन श्रेष्ठ वानरोंकी गति-विधिका पता गुप्तचरोंद्वारा नहीं लगाया जा सकता। वे बड़े पराक्रमी, बलवान् तथा श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा सुरक्षित हैं॥ ५॥

नापि सम्भाषितुं शक्याः सम्प्रश्नोऽत्र न लभ्यते।
सर्वतो रक्ष्यते पन्था वानरैः पर्वतोपमैः॥ ६॥

'उनसे वार्तालाप करना भी असम्भव है; अतः 'आप कौन हैं, आपका क्या विचार है' इत्यादि प्रश्नोंके लिये वहाँ अवकाश ही नहीं मिलता। पर्वतोंके समान विशालकाय वानर सब ओरसे मार्गकी रक्षा करते हैं; अतः वहाँ प्रवेश होना भी कठिन ही है॥ ६॥

प्रविष्टमात्रे ज्ञातोऽहं बले तस्मिन् विचारिते।
बलाद् गृहीतो रक्षोभिर्बहुधास्मि विचारितः॥ ७॥

'उस सेनामें प्रवेश करके ज्यों ही उसकी गतिविधिका विचार करना आरम्भ किया, त्यों ही विभीषणके साथी राक्षसोंने मुझे पहचानकर बलपूर्वक पकड़ लिया और बारंबार इधर-उधर घुमाया॥ ७॥

जानुभिर्मुष्टिभिर्दन्तैस्तलैश्चाभिहतो भृशम्।
परिणीतोऽस्मि हरिभिर्बलमध्ये अमर्षणैः॥ ८॥

'उस सेनाके बीच अमर्षसे भरे हुए वानरोंने घुटनों, मुक्कों, दाँतों और थप्पड़ोंसे मुझे बहुत मारा और सारी सेनामें मेरे अपराधकी घोषणा करते हुए सब ओर मुझे घुमाया॥ ८॥

परिणीय च सर्वत्र नीतोऽहं रामसंसदि।
रुधिरस्राविदीनाङ्गो विह्वलश्चलितेन्द्रियः॥ ९॥

'सर्वत्र घुमाकर मुझे श्रीरामके दरबारमें ले जाया गया। उस समय मेरे शरीरसे खून निकल रहा था और अङ्ग-अङ्गमें दीनता छा रही थी। मैं व्याकुल हो गया था। मेरी इन्द्रियाँ विचलित हो रही थीं॥ ९॥

हरिभिर्वध्यमानश्च याचमानः कृताञ्जलिः।
राघवेण परित्रातो मा मेति च यदृच्छया॥ १०॥

'वानर पीट रहे थे और मैं हाथ जोड़कर रक्षाके लिये याचना कर रहा था। उस दशामें श्रीरामने अकस्मात् 'मत मारो, मत मारो' कहकर मेरी रक्षा की॥ १०॥

एष शैलशिलाभिस्तु पूरयित्वा महार्णवम्।
द्वारमाश्रित्य लङ्काया रामस्तिष्ठति सायुधः॥ ११॥

'श्रीराम पर्वतीय शिलाखण्डोंद्वारा समुद्रको पाटकर लङ्काके दरवाजेपर आ धमके हैं और हाथमें धनुष लिये खड़े हैं॥ ११॥

गरुडव्यूहमास्थाय सर्वतो हरिभिर्वृतः।
मां विसृज्य महातेजा लङ्कामेवातिवर्तते॥ १२॥

'वे महातेजस्वी रघुनाथजी गरुडव्यूहका आश्रय ले वानरोंके बीचमें विराजमान हैं और मुझे विदा करके वे लङ्कापर चढ़े चले आ रहे हैं॥ १२॥

पुरा प्राकारमायाति क्षिप्रमेकतरं कुरु।
सीतां वापि प्रयच्छाशु युद्धं वापि प्रदीयताम्॥ १३॥

'जबतक वे लङ्काके परकोटेतक पहुँचें, उसके पहले ही आप शीघ्रतापूर्वक दोमेंसे एक काम अवश्य कर डालिये—या तो उन्हें सीताजीको लौटा दीजिये या युद्धस्थलमें खड़े होकर उनका सामना कीजिये'॥ १३॥

मनसा तत् तदा प्रेक्ष्य तच्छ्रुत्वा राक्षसाधिपः।
शार्दूलं सुमहद्वाक्यमथोवाच स रावणः॥ १४॥

उसकी बात सुनकर मन-ही-मन उसपर विचार करनेके पश्चात् राक्षसराज रावणने शार्दूलसे यह महत्त्वपूर्ण बात कही— ॥ १४॥

यदि मां प्रतियुध्यन्ते देवगन्धर्वदानवाः।
नैव सीतां प्रदास्यामि सर्वलोकभयादपि॥ १५॥

'यदि देवता, गन्धर्व और दानव मुझसे युद्ध करें और सम्पूर्ण

नेक मुझे भय देने लगें तो भी मैं सीताको नहीं लौटाऊँगा' ॥ १५ ॥

एवमुक्त्वा महातेजा रावणः पुनरब्रवीत्।
त्वरिता भवता सेना केऽत्र शूराः प्लवंगमाः ॥ १६ ॥

ऐसा कहकर महातेजस्वी रावण फिर बोला—'तुम तो वानरोंकी सेनामें विचरण कर चुके हो; उसमें कौन-कौन-से वानर अधिक शूरवीर हैं ? ॥ १६ ॥

किं प्रभाः कीदृशाः सौम्य वानरा ये दुरासदाः।
कस्य पुत्राश्च पौत्राश्च तत्त्वमाख्याहि राक्षस ॥ १७ ॥

'सौम्य ! जो दुर्जय वानर हैं, वे कैसे हैं ? उनका प्रभाव कैसा है ? तथा वे किसके पुत्र और पौत्र हैं ? राक्षस ! ये सब बातें ठीक-ठीक बताओ ॥ १७ ॥

तथात्र प्रतिपत्स्यामि ज्ञात्वा तेषां बलाबलम्।
अवश्यं खलु संख्यानं कर्तव्यं युद्धमिच्छता ॥ १८ ॥

'उन वानरोंका बलाबल जानकर तदनुसार कर्तव्यका निश्चय करूँगा। युद्धकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको अपने तथा शत्रुपक्षको सेनाकी गणना—उसके विषयकी आवश्यक जानकारी अवश्य करनी चाहिये' ॥ १८ ॥

अथैवमुक्तः शार्दूलो रावणेनोत्तमश्चरः।
इदं वचनमारेभे वक्तुं रावणसंनिधौ ॥ १९ ॥

रावणके इस प्रकार पूछनेपर श्रेष्ठ गुप्तचर शार्दूलने उसके समीप यों कहना आरम्भ किया— ॥ १९ ॥

अथर्क्षरजसः पुत्रो युधि राजन् सुदुर्जयः।
गद्गदस्याथ पुत्रोऽत्र जाम्बवानिति विश्रुतः ॥ २० ॥

'राजन् ! उस वानरसेनामें जाम्बवान् नामसे प्रसिद्ध एक वीर है, जिसको युद्धमें परास्त करना बहुत ही कठिन है। वह ऋक्षरजा तथा गद्गदका पुत्र है ॥ २० ॥

गद्गदस्याथ पुत्रोऽन्यो गुरुपुत्रः शतक्रतोः।
कदनं यस्य पुत्रेण कृतमेकेन रक्षसाम् ॥ २१ ॥

'गद्गदका एक दूसरा पुत्र भी है (जिसका नाम धूम्र है)। इन्द्रके गुरु बृहस्पतिका पुत्र केसरी है, जिसके पुत्र हनुमान्‌ने अकेले ही यहाँ आकर पहले बहुत-से राक्षसोंका संहार कर डाला था ॥ २१ ॥

सुषेणश्चात्र धर्मात्मा पुत्रो धर्मस्य वीर्यवान्।
सौम्यः सोमात्मजश्चात्र राजन् दधिमुखः कपिः ॥ २२ ॥

'धर्मात्मा और पराक्रमी सुषेण धर्मका पुत्र है। राजन् ! दधिमुख नामक सौम्य वानर चन्द्रमाका बेटा है ॥ २२ ॥

सुमुखो दुर्मुखश्चात्र वेगदर्शी च वानरः।
मृत्युर्वानररूपेण नूनं सृष्टः स्वयंभुवा ॥ २३ ॥

'सुमुख, दुर्मुख और वेगदर्शी नामक वानर—ये मृत्युके पुत्र हैं। निश्चय ही स्वयम्भू ब्रह्माने मृत्युको ही इन वानरोंके रूपमें सृष्ट किया है ॥ २३ ॥

पुत्रो हुतवहस्यात्र नीलः सेनापतिः स्वयम्।
अनिलस्य तु पुत्रोऽत्र हनूमानिति विश्रुतः ॥ २४ ॥

'स्वयं सेनापति नील अग्निका पुत्र है। सुविख्यात वीर हनुमान् वायुका बेटा है ॥ २४ ॥

नप्ता शक्रस्य दुर्धर्षो बलवानङ्गदो युवा।
मैन्दश्च द्विविदश्चोभौ बलिनावश्विसम्भवौ ॥ २५ ॥

'बलवान् एवं दुर्जय वीर अङ्गद इन्द्रका नाती है। वह अभी नौजवान है। बलवान् वानर मैन्द और द्विविद—ये दोनों अश्विनीकुमारोंके पुत्र हैं ॥ २५ ॥

पुत्रा वैवस्वतस्याथ पञ्च कालान्तकोपमाः।
गजो गवाक्षो गवयः शरभो गन्धमादनः ॥ २६ ॥

'गज, गवाक्ष, गवय, शरभ और गन्धमादन—ये पाँच यमराजके पुत्र हैं और काल एवं अन्तकके समान पराक्रमी हैं ॥ २६ ॥

दश वानरकोट्यश्च शूराणां युद्धकाङ्क्षिणाम्।
श्रीमतां देवपुत्राणां शेषं नाख्यातुमुत्सहे ॥ २७ ॥

'इस प्रकार देवताओंसे उत्पन्न हुए तेजस्वी शूरवीर वानरोंकी संख्या दस करोड़ है। वे सब-के-सब युद्धकी इच्छा रखनेवाले हैं। इनके अतिरिक्त जो शेष वानर हैं, उनके विषयमें मैं कुछ नहीं कह सकता; क्योंकि उनकी गणना असम्भव है ॥ २७ ॥

पुत्रो दशरथस्यैष सिंहसंहननो युवा।
दूषणो निहतो येन खरश्च त्रिशिरास्तथा ॥ २८ ॥

'दशरथनन्दन श्रीरामका श्रीविग्रह सिंहके समान सुगठित है। इनकी युवावस्था है। इन्होंने अकेले ही खर-दूषण और त्रिशिराका संहार किया था ॥ २८ ॥

नास्ति रामस्य सदृशो विक्रमे भुवि कश्चन।
विराधो निहतो येन कबन्धश्चान्तकोपमः ॥ २९ ॥

'इस भूमण्डलमें श्रीरामचन्द्रजीके समान पराक्रमी वीर दूसरा कोई नहीं है। इन्होंने ही विराधका और कालके समान विकराल कबन्धका भी वध किया था ॥ २९ ॥

वक्तुं न शक्तो रामस्य गुणान् कश्चिन्नरः क्षितौ।
जनस्थानगता येन तावन्तो राक्षसा हताः ॥ ३० ॥

'इस भूतलपर कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है, जो श्रीरामके गुणोंका पूर्णरूपसे वर्णन कर सके। श्रीरामने ही जनस्थानमें उतने राक्षसोंका संहार किया था ॥ ३० ॥

लक्ष्मणश्चात्र धर्मात्मा मातंगानामिवर्षभः।
यस्य बाणपथं प्राप्य न जीवेदपि वासवः ॥ ३१ ॥

'धर्मात्मा लक्ष्मण भी श्रेष्ठ गजराजके समान पराक्रमी हैं, उनके बाणोंका निशाना बन जानेपर देवराज इन्द्र भी जीवित नहीं रह सकते ॥ ३१ ॥

श्वेतो ज्योतिर्मुखश्चात्र भास्करस्यात्मसम्भवौ।
वरुणस्याथ पुत्रोऽथ हेमकूटः प्लवंगमः ॥ ३२ ॥

'इनके सिवा उस सेनामें श्वेत और ज्योतिर्मुख—ये दो वानर भगवान् सूर्यके औरस पुत्र हैं। हेमकूट नामका वानर वरुणका पुत्र बताया जाता है ॥ ३२ ॥

विश्वकर्मसुतो वीरो नलः प्लवगसत्तमः।
विक्रान्तो वेगवानत्र वसुपुत्रः स दुर्धरः॥ ३३॥

'वानरशिरोमणि वीरवर नल विश्वकर्माके पुत्र हैं। वेगशाली और पराक्रमी दुर्धर वसु देवताका पुत्र है॥ ३३॥

राक्षसानां वरिष्ठश्च तव भ्राता विभीषणः।
प्रतिगृह्य पुरीं लङ्कां राघवस्य हिते रतः॥ ३४॥

'आपके भाई राक्षसशिरोमणि विभीषण भी लङ्कापुरीका राज्य लेकर श्रीरघुनाथजीके ही हितसाधनमें तत्पर रहते हैं॥ ३४॥

इति सर्वं समाख्यातं तथा वै वानरं बलम्।
सुवेलेऽधिष्ठितं शैले शेषकार्ये भवान् गतिः॥ ३५॥

'इस प्रकार मैंने सुवेल पर्वतपर ठहरी हुई वानरसेनाका पूरा-पूरा वर्णन कर दिया। अब जो शेष कार्य है, वह आपके ही हाथ है'*॥ ३५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे त्रिंशः सर्गः॥ ३०॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३०॥

—★—

एकत्रिंशः सर्गः

मायारचित श्रीरामका कटा मस्तक दिखाकर रावणद्वारा सीताको मोहमें डालनेका प्रयत्न

ततस्तमक्षोभ्यबलं लङ्कायां नृपतेश्चराः।
सुवेले राघवं शैले निविष्टं प्रत्यवेदयन्॥ १॥
चाराणां रावणः श्रुत्वा प्राप्तं रामं महाबलम्।
जातोद्वेगोऽभवत् किंचित् सचिवानिदमब्रवीत्॥ २॥

राक्षसराज रावणके गुप्तचरोंने जब लङ्कामें लौटकर यह बताया कि श्रीरामचन्द्रजीकी सेना सुवेल पर्वतपर आकर ठहरी है और उसपर विजय पाना असम्भव है, तब उन गुप्तचरोंकी बात सुनकर और महाबली श्रीराम आ गये, यह जानकर रावणको कुछ उद्वेग हुआ। उसने अपने मन्त्रियोंसे इस प्रकार कहा—॥ १-२॥

मन्त्रिणः शीघ्रमायान्तु सर्वे वै सुसमाहिताः।
अयं नो मन्त्रकालो हि सम्प्राप्त इति राक्षसाः॥ ३॥

'मेरे सभी मन्त्री एकाग्रचित्त होकर शीघ्र यहाँ आ जायँ। राक्षसो! यह हमारे लिये गुप्त मन्त्रणा करनेका अवसर आ गया है'॥ ३॥

तस्य तच्छासनं श्रुत्वा मन्त्रिणोऽभ्यागमन् द्रुतम्।
ततः स मन्त्रयामास राक्षसैः सचिवैः सह॥ ४॥

रावणका आदेश सुनकर समस्त मन्त्री शीघ्रतापूर्वक वहाँ आ गये। तब रावणने उन राक्षसजातीय सचिवोंके साथ बैठकर आवश्यक कर्तव्यपर विचार किया॥ ४॥

मन्त्रयित्वा तु दुर्धर्षः क्षमं यत् तदनन्तरम्।
विसर्जयित्वा सचिवान् प्रविवेश स्वमालयम्॥ ५॥

दुर्धर्ष वीर रावणने जो उचित कर्तव्य था, उसके विषयमें शीघ्र ही विचार-विमर्श करके उन सचिवोंको विदा कर दिया और अपने भवनमें प्रवेश किया॥ ५॥

ततो राक्षसमादाय विद्युज्जिह्वं महाबलम्।
मायाविनं महामायं प्राविशद् यत्र मैथिली॥ ६॥

फिर उसने महाबली, महामायावी, मायाविशारद राक्षस विद्युज्जिह्वको साथ लेकर उस प्रमदावनमें प्रवेश किया, जहाँ मिथिलेशकुमारी सीता विद्यमान थीं॥ ६॥

विद्युज्जिह्वं च मायाज्ञमब्रवीद् राक्षसाधिपः।
मोहयिष्यावहे सीतां मायया जनकात्मजाम्॥ ७॥

उस समय राक्षसराज रावणने माया जाननेवाले विद्युज्जिह्वसे कहा—'हम दोनों मायाद्वारा जनकनन्दिनी सीताको मोहित करेंगे॥ ७॥

शिरो मायामयं गृह्य राघवस्य निशाचर।
मां त्वं समुपतिष्ठस्व महच्च सशरं धनुः॥ ८॥

'निशाचर! तुम श्रीरामचन्द्रजीका मायानिर्मित मस्तक लेकर एक महान् धनुष-बाणके साथ मेरे पास आओ'॥ ८॥

एवमुक्तस्तथेत्याह विद्युज्जिह्वो निशाचरः।
दर्शयामास तां मायां सुप्रयुक्तां स रावणे॥ ९॥

रावणकी यह आज्ञा पाकर निशाचर विद्युज्जिह्वने कहा—'बहुत अच्छा'। फिर उसने रावणको बड़ी कुशलतासे प्रकट की हुई अपनी माया दिखायी॥ ९॥

तस्य तुष्टोऽभवद् राजा प्रददौ च विभूषणम्।
अशोकवनिकायां च सीतादर्शनलालसः॥ १०॥
नैर्ऋतानामधिपतिः संविवेश महाबलः।

इससे राजा रावण उसपर बहुत प्रसन्न हुआ और उसे अपना आभूषण उतारकर दे दिया। फिर वह महाबली

* इस सर्गमें जो वानरोंके जन्मका वर्णन किया गया है, वह प्रायः बालकाण्डके सत्रहवें सर्गमें किये गये वर्णनसे विरुद्ध है। वहाँ वरुणसे सुषेण, पर्जन्यसे शरभ और कुबेरसे गन्धमादनकी उत्पत्ति कही गयी है। परंतु इस सर्गमें सुषेणको धर्मका तथा शरभ और गन्धमादनको वैवस्वत यमका पुत्र कहा गया है। इस विरोधका परिहार यही है कि यहाँ कहे गये सुषेण आदि बालकाण्डवर्णित सुषेण आदिसे भिन्न हैं।

राक्षसराज सीताजीको देखनेके लिये अशोकवाटिकामें गया।

ततो दीनामदैन्यार्हां ददर्श धनदानुजः ॥ ११ ॥
अधोमुखीं शोकपरामुपविष्टां महीतले।
भर्तारं समनुध्यान्तीमशोकवनिकां गताम् ॥ १२ ॥

कुबेरके छोटे भाई रावणने वहाँ सीताको दीन दशामें पड़ी देखा, जो उस दीनताके योग्य नहीं थीं। वे अशोकवाटिकामें रहकर भी शोकमग्न थीं और सिर नीचा किये पृथ्वीपर बैठकर अपने पतिदेवका चिन्तन कर रही थीं ॥ ११-१२ ॥

उपास्यमानां घोराभी राक्षसीभिरदूरतः।
उपसृत्य ततः सीतां प्रहर्षं नाम कीर्तयन् ॥ १३ ॥
इदं च वचनं धृष्टमुवाच जनकात्मजाम्।

उनके आसपास बहुत-सी भयंकर राक्षसियाँ बैठी थीं। रावणने बड़े हर्षके साथ अपना नाम बताते हुए जनककिशोरी सीताके पास जाकर धृष्टतापूर्ण वचनोंमें कहा— ॥ १३½ ॥

सान्त्व्यमाना मया भद्रे यमाश्रित्य विमन्यसे ॥ १४ ॥
खरहन्ता स ते भर्ता राघवः समरे हतः।

'भद्रे! मेरे बार-बार सान्त्वना देने और प्रार्थना करनेपर भी तुम जिनका आश्रय लेकर मेरी बात नहीं मानती थीं, खरका वध करनेवाले वे तुम्हारे पतिदेव श्रीराम समरभूमिमें मारे गये ॥ १४½ ॥

छिन्नं ते सर्वथा मूलं दर्पश्च निहतो मया ॥ १५ ॥
व्यसनेनात्मनः सीते मम भार्या भविष्यसि।
विसृजैतां मतिं मूढे किं मृतेन करिष्यसि ॥ १६ ॥

'तुम्हारी जो जड़ थी, सर्वथा कट गयी। तुम्हारे दर्पको मैंने चूर्ण कर दिया। अब अपने ऊपर आये हुए इस संकटसे ही विवश होकर तुम स्वयं मेरी भार्या बन जाओगी। मूढ़ सीते! अब यह रामविषयक चिन्तन छोड़ दो। उस मरे हुए रामको लेकर क्या करोगी ॥ १५-१६ ॥

भवस्व भद्रे भार्याणां सर्वासामीश्वरी मम।
अल्पपुण्ये निवृत्तार्थे मूढे पण्डितमानिनि।
शृणु भर्तृवधं सीते घोरं वृत्रवधं यथा ॥ १७ ॥

'भद्रे! मेरी सब रानियोंकी स्वामिनी बन जाओ। मूढ़े! तुम अपनेको बड़ी बुद्धिमती समझती थी न। तुम्हारा पुण्य बहुत कम हो गया था। इसीलिये ऐसा हुआ है। अब रामके मारे जानेसे तुम्हारा जो उनकी प्राप्तिरूप प्रयोजन था, वह समाप्त हो गया। सीते! यदि सुनना चाहो तो वृत्रासुरके वधकी भयंकर घटनाके समान अपने पतिके मारे जानेका घोर समाचार सुन लो ॥ १७ ॥

समायातः समुद्रान्तं हन्तुं मां किल राघवः।
वानरेन्द्रप्रणीतेन बलेन महता वृतः ॥ १८ ॥

'कहा जाता है राम मुझे मारनेके लिये समुद्रके किनारेतक आये थे। उनके साथ वानरराज सुग्रीवकी लायी हुई विशाल सेना भी थी ॥ १८ ॥

संनिविष्टः समुद्रस्य पीड्य तीरमथोत्तरम्।
बलेन महता रामो व्रजत्यस्तं दिवाकरे ॥ १९ ॥

'उस विशाल सेनाके द्वारा राम समुद्रके उत्तर तटको दबाकर ठहरे। उस समय सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये थे ॥ १९ ॥

अथाध्वनि परिश्रान्तमर्धरात्रे स्थितं बलम्।
सुखसुप्तं समासाद्य चरितं प्रथमं चरैः ॥ २० ॥

'जब आधी रात हुई, उस समय रास्तेकी थकी-माँदी सारी सेना सुखपूर्वक सो गयी थी। उस अवस्थामें वहाँ पहुँचकर मेरे गुप्तचरोंने पहले तो उसका भलीभाँति निरीक्षण किया ॥ २० ॥

तत्प्रहस्तप्रणीतेन बलेन महता मम।
बलमस्य हतं रात्रौ यत्र रामः सलक्ष्मणः ॥ २१ ॥

'फिर प्रहस्तके सेनापतित्वमें वहाँ गयी हुई मेरी बहुत बड़ी सेनाने रातमें, जहाँ राम और लक्ष्मण थे, उस वानर-सेनाको नष्ट कर दिया ॥ २१ ॥

पट्टिशान् परिघांश्चक्रानृष्टीन् दण्डान् महायुधान्।
बाणजालानि शूलानि भास्वरान् कूटमुद्गरान् ॥ २२ ॥
यष्टीश्च तोमरान् प्रासांश्चक्राणि मुसलानि च।
उद्यम्योद्यम्य रक्षोभिर्वानरेषु निपातिताः ॥ २३ ॥

'उस समय राक्षसोंने पट्टिश, परिघ, चक्र, ऋष्टि, दण्ड, बड़े-बड़े आयुध, बाणोंके समूह, त्रिशूल, चमकीले कूट और मुद्गर, डंडे, तोमर, प्रास तथा मूसल उठा-उठाकर वानरोंपर प्रहार किया था ॥ २२-२३ ॥

अथ सुप्तस्य रामस्य प्रहस्तेन प्रमाथिना।
असक्तं कृतहस्तेन शिरश्छिन्नं महासिना ॥ २४ ॥

'तदनन्तर शत्रुओंको मथ डालनेवाले प्रहस्तने, जिसके हाथ खूब सधे हुए हैं, बहुत बड़ी तलवार हाथमें लेकर उससे बिना किसी रुकावटके रामका मस्तक काट डाला ॥ २४ ॥

विभीषणः समुत्पत्य निगृहीतो यदृच्छया।
दिशः प्रव्राजितः सैन्यैर्लक्ष्मणः प्लवगैः सह ॥ २५ ॥

'फिर अकस्मात् उछलकर उसने विभीषणको पकड़ लिया और वानरसैनिकोंसहित लक्ष्मणको विभिन्न दिशाओंमें भाग जानेको विवश किया ॥ २५ ॥

सुग्रीवो ग्रीवया सीते भग्नया प्लवगाधिपः।
निरस्तहनुकः सीते हनूमान् राक्षसैर्हतः ॥ २६ ॥

'सीते! वानरराज सुग्रीवकी ग्रीवा काट दी गयी, हनुमान्की हनु (ठोढ़ी) नष्ट करके उसे राक्षसोंने मार डाला ॥ २६ ॥

जाम्बवानथ जानुभ्यामुत्पतन् निहतो युधि।
पट्टिशैर्बहुभिश्छिन्नो निकृत्तः पादपो यथा ॥ २७ ॥

'जाम्बवान् ऊपरको उछल रहे थे, उसी समय युद्धस्थलमें राक्षसोंने बहुत-से पट्टिशोंद्वारा उनके दोनों घुटनोंपर प्रहार किया। वे छिन्न-भिन्न होकर कटे हुए पेड़की भाँति धराशायी हो गये ॥ २७ ॥

मैन्दश्च द्विविदश्चोभौ तौ वानरवरर्षभौ।
निःश्वसन्तौ रुदन्तौ च रुधिरेण परिप्लुतौ ॥ २८ ॥
असिना व्यायतौ छिन्नौ मध्ये ह्यरिनिषूदनौ।

'मैन्द और द्विविद दोनों श्रेष्ठ वानर खूनसे लथपथ होकर पड़े

है। वे लंबी साँसें खींचते और रोते थे। उसी अवस्थामें उन दोनों विशालकाय शत्रुसूदन वानरोंको तलवारद्वारा बीचसे ही काट डाला गया है ॥२८½॥

अनुश्वसिति मेदिन्यां पनसः पनसो यथा ॥ २९ ॥
नाराचैर्बहुभिश्छिन्नः शेते दर्यां दरीमुखः ।
कुमुदस्तु महातेजा निष्कूजन् सायकैर्हतः ॥ ३० ॥

'पनस नामका वानर पककर फटे हुए पनस (कटहल) के समान पृथ्वीपर पड़ा-पड़ा अन्तिम साँसें ले रहा है। दरीमुख अनेक नाराचोंसे छिन्न-भिन्न हो किसी दरी (कन्दरा) में पड़ा सो रहा है। महातेजस्वी कुमुद सायकोंसे घायल हो चीखता-चिल्लाता हुआ मर गया ॥ ३० ॥

अङ्गदो बहुभिश्छिन्नः शरैरासाद्य राक्षसैः ।
परितो रुधिरोद्गारी क्षितौ निपतितोऽङ्गदः ॥ ३१ ॥

'अङ्गदधारी अङ्गदपर आक्रमण करके बहुत-से राक्षसोंने उन्हें बाणोंद्वारा छिन्न-भिन्न कर दिया है। वे सब अङ्गोंसे रक्त बहाते हुए पृथ्वीपर पड़े हैं ॥ ३१ ॥

हरयो मथिता नागै रथजालैस्तथापरे ।
शयाना मृदितास्तत्र वायुवेगैरिवाम्बुदाः ॥ ३२ ॥

'जैसे बादल वायुके वेगसे फट जाते हैं, उसी प्रकार बड़े-बड़े हाथियों तथा रथसमूहोंने वहाँ सोये हुए वानरोंको रौंदकर मथ डाला ॥ ३२ ॥

प्रसृताश्च परे त्रस्ता हन्यमाना जघन्यतः ।
अनुद्रुतास्तु रक्षोभिः सिंहैरिव महाद्विपाः ॥ ३३ ॥

'जैसे सिंहके खदेड़नेसे बड़े-बड़े हाथी भागते हैं, उसी प्रकार राक्षसोंके पीछा करनेपर बहुत-से वानर पीठपर बाणोंकी मार खाते हुए भाग गये हैं ॥ ३३ ॥

सागरे पतिताः केचित् केचिद् गगनमाश्रिताः ।
ऋक्षा वृक्षानुपारूढा वानरीं वृत्तिमाश्रिताः ॥ ३४ ॥

'कोई समुद्रमें कूद पड़े और कोई आकाशमें उड़ गये हैं। बहुत-से रीछ वानरी वृत्तिका आश्रय ले पेड़ोंपर चढ़ गये हैं ॥ ३४ ॥

सागरस्य च तीरेषु शैलेषु च वनेषु च ।
पिङ्गलास्ते विरूपाक्षैः राक्षसैर्बहवो हताः ॥ ३५ ॥

'विकराल नेत्रोंवाले राक्षसोंने इन बहुसंख्यक भूरे बंदरोंको समुद्रतट, पर्वत और वनोंमें खदेड़-खदेड़कर मार डाला है ॥ ३५ ॥

एवं तव हतो भर्ता ससैन्यो मम सेनया ।
क्षतजार्द्रं रजोध्वस्तमिदं चास्याहृतं शिरः ॥ ३६ ॥

'इस प्रकार मेरी सेनाने सैनिकोंसहित तुम्हारे पतिको मौतके घाट उतार दिया। खूनसे भीगा और धूलमें सना हुआ उनका यह मस्तक यहाँ लाया गया है' ॥ ३६ ॥

ततः परमदुर्धर्षो रावणो राक्षसेश्वरः ।
सीतायामुपशृण्वत्यां राक्षसीमिदमब्रवीत् ॥ ३७ ॥

'ऐसा कहकर अत्यन्त दुर्जय राक्षसराज रावणने सीताके सुनते-सुनते एक राक्षसीसे कहा— ॥ ३७ ॥

राक्षसं क्रूरकर्माणं विद्युज्जिह्वं समानय ।
येन तद्राघवशिरः संग्रामात् स्वयमाहृतम् ॥ ३८ ॥

'तुम क्रूरकर्मा राक्षस विद्युज्जिह्वको बुला ले आओ, जो स्वयं संग्रामभूमिसे रामका सिर यहाँ ले आया है' ॥ ३८ ॥

विद्युज्जिह्वस्तदा गृह्य शिरस्तत्सशरासनम् ।
प्रणामं शिरसा कृत्वा रावणस्याग्रतः स्थितः ॥ ३९ ॥
तमब्रवीत् ततो राजा रावणो राक्षसं स्थितम् ।
विद्युज्जिह्वं महाजिह्वं समीपपरिवर्तिनम् ॥ ४० ॥

तब विद्युज्जिह्व धनुषसहित उस मस्तकको लेकर आया और सिर झुका रावणको प्रणाम करके उसके सामने खड़ा हो गया। उस समय अपने पास खड़े हुए विशाल जिह्वावाले राक्षस विद्युज्जिह्वसे राजा रावण यों बोला— ॥ ३९-४० ॥

अग्रतः कुरु सीतायाः शीघ्रं दाशरथेः शिरः ।
अवस्थां पश्चिमां भर्तुः कृपणा साधु पश्यतु ॥ ४१ ॥

'तुम दशरथकुमार रामका मस्तक शीघ्र ही सीताके आगे रख दो, जिससे यह बेचारी अपने पतिकी अन्तिम अवस्थाका अच्छी तरह दर्शन कर ले' ॥ ४१ ॥

एवमुक्तं तु तद् रक्षः शिरस्तत् प्रियदर्शनम् ।
उपनिक्षिप्य सीतायाः क्षिप्रमन्तरधीयत ॥ ४२ ॥

रावणके ऐसा कहनेपर वह राक्षस उस सुन्दर मस्तकको सीताके निकट रखकर तत्काल अदृश्य हो गया ॥ ४२ ॥

रावणश्चापि चिक्षेप भास्वरं कार्मुकं महत् ।
त्रिषु लोकेषु विख्यातं रामस्यैतदिति ब्रुवन् ॥ ४३ ॥

रावणने भी उस विशाल चमकीले धनुषको यह कहकर सीताके सामने डाल दिया कि यही रामका त्रिभुवनविख्यात धनुष है ॥ ४३ ॥

इदं तत् तव रामस्य कार्मुकं ज्यासमावृतम् ।
इह प्रहस्तेनानीतं तं हत्वा निशि मानुषम् ॥ ४४ ॥

फिर बोला—'सीते ! यही तुम्हारे रामका प्रत्यञ्चासहित धनुष है। रातके समय उस मनुष्यको मारकर प्रहस्त इस धनुषको यहाँ ले आया है' ॥ ४४ ॥

स विद्युज्जिह्वेन सहैव तच्छिरो
धनुश्च भूमौ विनिकीर्यमाणः ।
विदेहराजस्य सुतां यशस्विनीं
ततोऽब्रवीत् तां भव मे वशानुगा ॥ ४५ ॥

जब विद्युज्जिह्वने मस्तक वहाँ रखा, उसके साथ ही रावणने वह धनुष पृथ्वीपर डाल दिया। तत्पश्चात् वह विदेहराजकुमारी यशस्विनी सीतासे बोला—'अब तुम मेरे वशमें हो जाओ' ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे एकत्रिंशः सर्गः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें इकतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

—★—

द्वात्रिंशः सर्गः

श्रीरामके मारे जानेका विश्वास करके सीताका विलाप तथा रावणका सभामें जाकर मन्त्रियोंके सलाहसे युद्धविषयक उद्योग करना

सा सीता तच्छिरो दृष्ट्वा तच्च कार्मुकमुत्तमम्।
सुग्रीवप्रतिसंसर्गमाख्यातं च हनूमता॥ १॥
नयने मुखवर्णं च भर्तुस्तत्सदृशं मुखम्।
केशान् केशान्तदेशं च तं च चूडामणिं शुभम्॥ २॥
एतैः सर्वैरभिज्ञानैरभिज्ञाय सुदुःखिता।
विजगर्हेऽत्र कैकेयीं क्रोशन्ती कुररी यथा॥ ३॥

सीताजीने उस मस्तक और उस उत्तम धनुषको देखकर तथा हनुमान्‌जीकी कही हुई सुग्रीवके साथ मैत्री-सम्बन्ध होनेकी बात याद करके अपने पतिके-जैसे ही नेत्र, मुखका वर्ण, मुखाकृति, केश, ललाट और उस सुन्दर चूडामणिको लक्ष्य किया। इन सब चिह्नोंसे पतिको पहचानकर वे बहुत दुःखी हुई और कुररीकी भाँति रो-रोकर कैकेयीकी निन्दा करने लगीं—॥ १—३॥

सकामा भव कैकेयि हतोऽयं कुलनन्दनः।
कुलमुत्सादितं सर्वं त्वया कलहशीलया॥ ४॥

'कैकेयि! अब तुम सफलमनोरथ हो जाओ, रघुकुलको आनन्दित करनेवाले ये मेरे पतिदेव मारे गये। तुम स्वभावसे ही कलहकारिणी हो। तुमने समस्त रघुकुलका संहार कर डाला॥ ४॥

आर्येण किं नु कैकेय्याः कृतं रामेण विप्रियम्।
यन्मया चीरवसनं दत्त्वा प्रव्राजितो वनम्॥ ५॥

'आर्य श्रीरामने कैकेयीका कौन-सा अपराध किया था, जिससे उसने इन्हें चीरवस्त्र देकर मेरे साथ वनमें भेज दिया था'॥ ५॥

एवमुक्त्वा तु वैदेही वेपमाना तपस्विनी।
जगाम जगतीं बाला छिन्ना तु कदली यथा॥ ६॥

ऐसा कहकर दुःखकी मारी तपस्विनी वैदेही बाला थर-थर काँपती हुई कटी कदलीके समान पृथ्वीपर गिर पड़ीं॥ ६॥

सा मुहूर्तात् समाश्वस्य परिलभ्याथ चेतनाम्।
तच्छिरः समुपास्थाय विललापायतेक्षणा॥ ७॥

फिर दो घड़ीमें उनको चेतना लौटी और वे विशाललोचना सीता कुछ धीरज धारणकर उस मस्तकको अपने निकट रखकर विलाप करने लगीं—॥ ७॥

हा हतास्मि महाबाहो वीरव्रतमनुव्रत।
इमां ते पश्चिमावस्थां गतास्मि विधवा कृता॥ ८॥

'हाय! महाबाहो! मैं मारी गयी। आप वीरव्रतका पालन करनेवाले थे। आपकी इस अन्तिम अवस्थाको मुझे अपनी आँखोंसे देखना पड़ा। आपने मुझे विधवा बना दिया॥ ८॥

प्रथमं मरणं नार्या भर्तुर्वैगुण्यमुच्यते।
सुवृत्तः साधुवृत्तायाः संवृत्तस्त्वं ममाग्रतः॥ ९॥

'स्त्रीसे पहले पतिका मरना उसके लिये महान् अनर्थकारी दोष बताया जाता है। मुझ सती-साध्वीके रहते हुए मेरे सामने आप-जैसे सदाचारी पतिका निधन हुआ, यह मेरे लिये महान् दुःखकी बात है॥ ९॥

महद् दुःखं प्रपन्नाया मग्नायाः शोकसागरे।
यो हि मामुद्यतस्त्रातुं सोऽपि त्वं विनिपातितः॥ १०॥

'मैं महान् संकटमें पड़ी हूँ, शोकके समुद्रमें डूबी हूँ, जो मेरा उद्धार करनेके लिये उद्यत थे, उन आप-जैसे वीरको भी शत्रुओंने मार गिराया॥ १०॥

सा श्वश्रूर्मम कौसल्या त्वया पुत्रेण राघव।
वत्सेनेव यथा धेनुर्विवत्सा वत्सला कृता॥ ११॥

'रघुनन्दन! जैसे कोई बछड़ेके प्रति स्नेहसे भरी हुई गायको उस बछड़ेसे बिलग कर दे, वही दशा मेरी सास कौसल्याकी हुई है। वे दयामयी जननी आप-जैसे पुत्रसे बिछुड़ गयीं॥ ११॥

उद्दिष्टं दीर्घमायुस्ते दैवज्ञैरपि राघव।
अनृतं वचनं तेषामल्पायुरसि राघव॥ १२॥

'रघुवीर! ज्योतिषियोंने तो आपकी आयु बहुत बड़ी बतायी थी, किंतु उनकी बात झूठी सिद्ध हुई। रघुनन्दन! आप बड़े अल्पायु निकले॥ १२॥

अथवा नश्यति प्रज्ञा प्राज्ञस्यापि सतस्तव।
पचत्येनं तथा कालो भूतानां प्रभवो ह्ययम्॥ १३॥

'अथवा बुद्धिमान् होकर भी आपकी बुद्धि मारी गयी। तभी तो आप सोते हुए ही शत्रुके वशमें पड़ गये अथवा यह काल ही समस्त प्राणियोंके उद्भवमें हेतु है। अतः वही प्राणिमात्रको पकाता है—उन्हें शुभाशुभ कर्मोंके फलसे संयुक्त करता है॥ १३॥

अदृष्टं मृत्युमापन्नः कस्मात् त्वं नयशास्त्रवित्।
व्यसनानामुपायज्ञः कुशलो ह्यसि वर्जने॥ १४॥

'आप तो नीतिशास्त्रके विद्वान् थे। संकटसे बचनेके उपायोंको जानते थे और व्यसनोंके निवारणमें कुशल थे तो भी कैसे आपको ऐसी मृत्यु प्राप्त हुई, जो दूसरे किसी वीर पुरुषको प्राप्त होती नहीं देखी गयी थी?॥ १४॥

तथा त्वं सम्परिष्वज्य रौद्रयातिनृशंसया।
कालरात्र्या ममाच्छिद्य हृतः कमललोचन॥ १५॥

'कमलनयन! भीषण और अत्यन्त क्रूर कालरात्रि आपको हृदयसे लगाकर मुझसे हठात् छीन ले गयी॥ १५॥

इह शेषे महाबाहो मां विहाय तपस्विनीम्।
प्रियामिव यथा नारीं पृथिवीं पुरुषर्षभ ॥ १६ ॥

'पुरुषोत्तम! महाबाहो! आप मुझ तपस्विनीको त्यागकर अपनी प्रियतमा नारीकी भाँति इस पृथ्वीका आलिङ्गन करके यहाँ सो रहे हैं॥ १६॥

अर्चितं सततं यत्नाद् गन्धमाल्यैर्मया तव।
इदं ते मत्प्रियं वीर धनुः काञ्चनभूषितम् ॥ १७ ॥

'वीर! जिसका मैं प्रयत्नपूर्वक गन्ध और पुष्पमाला आदिके द्वारा नित्यप्रति पूजन करती थी तथा जो मुझे बहुत प्रिय था, यह आपका वही स्वर्णभूषित धनुष है॥ १७॥

पित्रा दशरथेन त्वं श्वशुरेण ममानघ।
सर्वैश्च पितृभिः सार्धं नूनं स्वर्गे समागतः ॥ १८ ॥

'निष्पाप रघुनन्दन! निश्चय ही आप स्वर्गमें जाकर मेरे श्वशुर और अपने पिता महाराज दशरथसे तथा अन्य सब पितरोंसे भी मिले होंगे॥ १८॥

दिवि नक्षत्रभूतं च महत्कर्मकृतं तथा।
पुण्यं राजर्षिवंशं त्वमात्मनः समुपेक्षसे ॥ १९ ॥

'आप पिताकी आज्ञाका पालनरूपी महान् कर्म करके अद्भुत पुण्यका उपार्जन कर यहाँसे अपने उस राजर्षिकुलकी उपेक्षा करके (उसे छोड़कर) जा रहे हैं, जो आकाशमें नक्षत्र[1] बनकर प्रकाशित होता है (आपको ऐसा नहीं करना चाहिये)॥ १९॥

किं मां न प्रेक्षसे राजन् किं वा न प्रतिभाषसे।
बालां बालेन सम्प्राप्तां भार्यां मां सहचारिणीम् ॥ २० ॥

'राजन्! आपने अपनी छोटी अवस्थामें ही जब कि मेरी भी छोटी ही अवस्था थी, मुझे पत्नीरूपमें प्राप्त किया। मैं सदा आपके साथ विचरनेवाली सहधर्मिणी हूँ। आप मेरी ओर क्यों नहीं देखते हैं अथवा मेरी बातका उत्तर क्यों नहीं देते हैं?॥ २०॥

संश्रुतं गृह्णता पाणिं चरिष्यामीति यत् त्वया।
स्मर तन्नाम काकुत्स्थ नय मामपि दुःखिताम् ॥ २१ ॥

'काकुत्स्थ! मेरा पाणिग्रहण करते समय जो आपने प्रतिज्ञा की थी कि मैं तुम्हारे साथ धर्माचरण करूँगा, उसका स्मरण कीजिये और मुझ दुःखिनीको भी साथ ही ले चलिये॥ २१॥

कस्मान्मामपहाय त्वं गतो गतिमतां वर।
अस्माल्लोकादमुं लोकं त्यक्त्वा मामपि दुःखिताम् ॥ २२ ॥

'गतिमानोंमें श्रेष्ठ रघुनन्दन! आप मुझे अपने साथ वनमें लाकर और यहाँ मुझ दुःखिनीको छोड़कर इस लोकसे परलोकको क्यों चले गये?॥ २२॥

कल्याणं रुचिरं गात्रं परिष्वक्तं मयैव तु।
क्रव्यादैस्तच्छरीरं ते नूनं विपरिकृष्यते ॥ २३ ॥

'मैंने ही अनेक मङ्गलमय उपचारोंसे सुन्दर आपके जिस श्रीविग्रहका आलिङ्गन किया था, आज उसीको मांसभक्षी हिंसक जन्तु अवश्य इधर-उधर घसीट रहे होंगे॥ २३॥

अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैरिष्टवानाप्तदक्षिणैः।
अग्निहोत्रेण संस्कारं केन त्वं न तु लप्स्यसे ॥ २४ ॥

'आपने तो पर्याप्त दक्षिणाओंसे युक्त अग्निष्टोम आदि यज्ञोंद्वारा भगवान् यज्ञपुरुषकी आराधना की है; फिर क्या कारण है कि अग्निहोत्रकी अग्निसे दाह-संस्कारका सुयोग आपको नहीं मिल रहा है॥ २४॥

प्रव्रज्यामुपपन्नानां त्रयाणामेकमागतम्।
परिप्रेक्ष्यति कौसल्या लक्ष्मणं शोकलालसा ॥ २५ ॥

'हम तीन व्यक्ति एक साथ वनमें आये थे; परंतु अब शोकाकुल हुई माता कौसल्या केवल एक व्यक्ति लक्ष्मणको ही घर लौटा हुआ देख सकेंगी॥ २५॥

स तस्याः परिपृच्छन्त्या वधं मित्रबलस्य ते।
तव चाख्यास्यते नूनं निशायां राक्षसैर्वधम् ॥ २६ ॥

'उनके पूछनेपर लक्ष्मण उन्हें रात्रिके समय राक्षसोंके हाथसे आपके मित्रकी सेनाके तथा सोते हुए आपके भी वधका समाचार अवश्य सुनायेंगे॥ २६॥

सा त्वां सुप्तं हतं ज्ञात्वा मां च रक्षोगृहं गताम्।
हृदयेनावदीर्णेन न भविष्यति राघव ॥ २७ ॥

'रघुनन्दन! जब उन्हें यह ज्ञात होगा कि आप सोते समय मारे गये और मैं राक्षसके घरमें हर लायी गयी हूँ तो उनका हृदय विदीर्ण हो जायगा और वे अपने प्राण त्याग देंगी॥ २७॥

मम हेतोरनार्याया अनघः पार्थिवात्मजः।
रामः सागरमुत्तीर्य वीर्यवान् गोष्पदे हतः ॥ २८ ॥

'हाय! मुझ अनार्याके लिये निष्पाप राजकुमार श्रीराम, जो महान पराक्रमी थे, समुद्रलङ्घन-जैसा महान् कर्म करके भी गायकी खुरीके बराबर जलमें डूब गये—बिना युद्ध किये सोते समय मारे गये॥ २८॥

अहं दाशरथेनोढा मोहात् स्वकुलपांसनी।
आर्यपुत्रस्य रामस्य भार्या मृत्युरजायत ॥ २९ ॥

'हाय! दशरथनन्दन श्रीराम मुझ-जैसी कुलकलङ्किनी नारीको मोहवश ब्याह लाये। पत्नी ही आर्यपुत्र श्रीरामके लिये मृत्युरूप बन गयी॥ २९॥

नूनमन्यां मया जातिं वारितं दानमुत्तमम्।
याहमद्यैव शोचामि भार्या सर्वातिथेरिह ॥ ३० ॥

[1] १. इक्ष्वाकुवंशके राजा त्रिशंकु आकाशमें नक्षत्र होकर प्रकाशित होते हैं, उन्हींके कारण क्षत्रिन्यायसे समस्त कुलको ही नक्षत्रकुल बताया है।

'जिनके यहाँ सब लोग याचक बनकर आते थे एवं सभी अतिथि जिन्हें प्रिय थे, उन्हीं श्रीरामकी पत्नी होकर जो मैं आज शोक कर रही हूँ, इससे जान पड़ता है कि मैंने दूसरे जन्ममें निश्चय ही उत्तम दानधर्ममें बाधा डाली थी ॥ ३० ॥

साधु घातय मां क्षिप्रं रामस्योपरि रावण।
समानय पतिं पत्न्या कुरु कल्याणमुत्तमम् ॥ ३१ ॥

'रावण! मुझे भी श्रीरामके शवके ऊपर रखकर मेरा वध करा डालो; इस प्रकार पतिको पत्नीसे मिला दो; यह उत्तम कल्याणकारी कार्य है, इसे अवश्य करो ॥ ३१ ॥

शिरसा मे शिरश्चास्य कायं कायेन योजय।
रावणानुगमिष्यामि गतिं भर्तुर्महात्मनः ॥ ३२ ॥

'रावण! मेरे सिरसे पतिके सिरका और मेरे शरीरसे उनके शरीरका संयोग करा दो। इस प्रकार मैं अपने महात्मा पतिकी गतिका ही अनुसरण करूँगी' ॥ ३२ ॥

इतीव दुःखसंतप्ता विललापायतेक्षणा।
भर्तुः शिरो धनुश्चैव ददर्श जनकात्मजा ॥ ३३ ॥

इस प्रकार दुःखसे संतप्त हुई विशाललोचना जनकनन्दिनी सीता पतिके मस्तक तथा धनुषको देखने और विलाप करने लगीं ॥ ३३ ॥

एवं लालप्यमानायां सीतायां तत्र राक्षसः।
अभिचक्राम भर्तारमनीकस्थः कृताञ्जलिः ॥ ३४ ॥

जब सीता इस तरह विलाप कर रही थीं, उसी समय वहाँ रावणकी सेनाका एक राक्षस हाथ जोड़े हुए अपने स्वामीके पास आया ॥ ३४ ॥

विजयस्वार्यपुत्रेति सोऽभिवाद्य प्रसाद्य च।
न्यवेदयदनुप्राप्तं प्रहस्तं वाहिनीपतिम् ॥ ३५ ॥

उसने 'आर्यपुत्र महाराजकी जय हो' कहकर रावणका अभिवादन किया और उसे प्रसन्न करके यह सूचना दी कि सेनापति प्रहस्त पधारे हैं ॥ ३५ ॥

अमात्यैः सहितः सर्वैः प्रहस्तस्त्वामुपस्थितः।
तेन दर्शनकामेन अहं प्रस्थापितः प्रभो ॥ ३६ ॥

'प्रभो! सब मन्त्रियोंके साथ प्रहस्त महाराजकी सेवामें उपस्थित हुए हैं। वे आपका दर्शन करना चाहते हैं, इसीलिये उन्होंने मुझे यहाँ भेजा है ॥ ३६ ॥

नूनमस्ति महाराज राजभावात् क्षमान्वित।
किंचिदात्ययिकं कार्यं तेषां त्वं दर्शनं कुरु ॥ ३७ ॥

'क्षमाशील महाराज! निश्चय ही कोई अत्यन्त आवश्यक राजकीय कार्य आ पड़ा है, अतः आप उन्हें दर्शन देनेका कष्ट करें' ॥ ३७ ॥

एतच्छ्रुत्वा दशग्रीवो राक्षसप्रतिवेदितम्।
अशोकवनिकां त्यक्त्वा मन्त्रिणां दर्शनं ययौ ॥ ३८ ॥

राक्षसकी कही हुई यह बात सुनकर दशग्रीव रावण अशोकवाटिका छोड़कर मन्त्रियोंसे मिलनेके लिये चला गया ॥ ३८ ॥

स तु सर्वं समर्थ्यैव मन्त्रिभिः कृत्यमात्मनः।
सभां प्रविश्य विदधे विदित्वा रामविक्रमम् ॥ ३९ ॥

उसने मन्त्रियोंसे अपने सारे कृत्यका समर्थन कराया और श्रीरामचन्द्रजीके पराक्रमका पता लगाकर सभाभवनमें प्रवेश करके वह प्रस्तुत कार्यकी व्यवस्था करने लगा ॥ ३९ ॥

अन्तर्धानं तु तच्छीर्षं तच्च कार्मुकमुत्तमम्।
जगाम रावणस्यैव निर्याणसमनन्तरम् ॥ ४० ॥

रावणके वहाँसे निकलते ही वह सिर और उत्तम धनुष दोनों अदृश्य हो गये ॥ ४० ॥

राक्षसेन्द्रस्तु तैः सार्धं मन्त्रिभिर्भीमविक्रमैः।
समर्थयामास तदा रामकार्यविनिश्चयम् ॥ ४१ ॥

राक्षसराज रावणने अपने उन भयानक मन्त्रियोंके साथ बैठकर रामके प्रति किये जानेवाले तत्कालोचित कर्तव्यका निश्चय किया ॥ ४१ ॥

अविदूरस्थितान् सर्वान् बलाध्यक्षान् हितैषिणः।
अब्रवीत् कालसदृशं रावणो राक्षसाधिपः ॥ ४२ ॥

फिर राक्षसराज रावणने पास ही खड़े हुए अपने हितैषी सेनापतियोंसे इस प्रकार समयानुकूल बात कही— ॥ ४२ ॥

शीघ्रं भेरीनिनादेन स्फुटं कोणाहतेन मे।
समानयध्वं सैन्यानि वक्तव्यं च न कारणम् ॥ ४३ ॥

'तुम सब लोग शीघ्र ही डंडेसे पीट-पीटकर धौंसा बजाते हुए समस्त सैनिकोंको एकत्र करो; परंतु उन्हें इसका कारण नहीं बताना चाहिये' ॥ ४३ ॥

ततस्तथेति प्रतिगृह्य तद्वच-
स्तदैव दूताः सहसा महद् बलम्।
समानयंश्चैव समागतं च
न्यवेदयन् भर्तरि युद्धकाङ्क्षिणि ॥ ४४ ॥

तब दूतोंने 'तथास्तु' कहकर रावणकी आज्ञा स्वीकार की और उसी समय सहसा विशाल सेनाको एकत्र कर दिया; फिर युद्धकी अभिलाषा रखनेवाले अपने स्वामीको यह सूचना दी कि 'सारी सेना आ गयी' ॥ ४४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें बत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

—★—

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

सरमाका सीताको सान्त्वना देना, रावणकी मायाका भेद खोलना, श्रीरामके आगमनका प्रिय समाचार सुनाना और उनके विजयी होनेका विश्वास दिलाना

सीतां तु मोहितां दृष्ट्वा सरमा नाम राक्षसी।
आससादाथ वैदेहीं प्रियां प्रणयिनी सखीम्॥ १॥

विदेहनन्दिनी सीताको मोहमें पड़ी हुई देख सरमा नामकी राक्षसी उनके पास उसी तरह आयी, जैसे प्रेम रखनेवाली सखी अपनी प्यारी सखीके पास जाती है॥ १॥

मोहितां राक्षसेन्द्रेण सीतां परमदुःखिताम्।
आश्वासयामास तदा सरमा मृदुभाषिणी॥ २॥

सीता राक्षसराजकी मायासे मोहित हो बड़े दुःखमें पड़ गयी थीं। उस समय मृदुभाषिणी सरमाने उन्हें अपने वचनोंद्वारा सान्त्वना दी॥ २॥

सा हि तत्र कृता मित्रं सीतया रक्ष्यमाणया।
रक्षन्ती रावणादिष्टा सानुक्रोशा दृढव्रता॥ ३॥

सरमा रावणकी आज्ञासे सीताजीकी रक्षा करती थी। उसने अपनी रक्षणीया सीताके साथ मैत्री कर ली थी। वह बड़ी दयालु और दृढ़-संकल्प थी॥ ३॥

सा ददर्श सखीं सीतां सरमा नष्टचेतनाम्।
उपावृत्योत्थितां ध्वस्तां वडवामिव पांसुषु॥ ४॥

सरमाने सखी सीताको देखा। उनकी चेतना नष्ट-सी हो रही थी। जैसे परिश्रमसे थकी हुई घोड़ी धरतीकी धूलमें लोटकर खड़ी हुई हो, उसी प्रकार सीता भी पृथ्वीपर लोटकर रोने और विलाप करनेके कारण धूलिधूसरित हो रही थीं॥ ४॥

तां समाश्वासयामास सखीस्नेहेन सुव्रताम्।
समाश्वसिहि वैदेहि मा भूत् ते मनसो व्यथा।
उक्ता यद् रावणेन त्वं प्रयुक्तश्च स्वयं त्वया॥ ५॥
सखीस्नेहेन तद् भीरु मया सर्वं प्रतिश्रुतम्।
लीनया गहने शून्ये भयमुत्सृज्य रावणात्।
तव हेतोर्विशालाक्षि नहि मे रावणाद् भयम्॥ ६॥

उसने एक सखीके स्नेहसे उत्तम व्रतका पालन करनेवाली सीताको आश्वासन दिया—'विदेहनन्दिनी! धैर्य धारण करो। तुम्हारे मनमें व्यथा नहीं होनी चाहिये। भीरु! रावणने तुमसे जो कुछ कहा है और स्वयं तुमने उसे जो उत्तर दिया है, वह सब मैंने सखीके प्रति स्नेह होनेके कारण सुन लिया है। विशाललोचने! तुम्हारे लिये मैं रावणका भय छोड़कर अशोकवाटिकामें सूने गहन स्थानमें छिपकर सारी बातें सुन रही थी। मुझे रावणसे कोई डर नहीं है॥ ५-६॥

स सम्भ्रान्तश्च निष्क्रान्तो यत्कृते राक्षसेश्वरः।
तत्र मे विदितं सर्वमभिनिष्क्रम्य मैथिलि॥ ७॥

'मिथिलेशकुमारी! राक्षसराज रावण जिस कारण यहाँसे घबराकर निकल गया है, उसका भी मैं वहाँ जाकर पूर्णरूपसे पता लगा आयी हूँ॥ ७॥

न शक्यं सौप्तिकं कर्तुं रामस्य विदितात्मनः।
वधश्च पुरुषव्याघ्रे तस्मिन् नैवोपपद्यते॥ ८॥

'भगवान् श्रीराम अपने स्वरूपको जाननेवाले सर्वज्ञ परमात्मा हैं। उनका सोते समय वध करना किसीके लिये भी सर्वथा असम्भव है। पुरुषसिंह श्रीरामके विषयमें इस तरह उनके वध होनेकी बात युक्तिसंगत नहीं जान पड़ती॥ ८॥

न त्वेवं वानरा हन्तुं शक्याः पादपयोधिनः।
सुरा देवर्षभेणेव रामेण हि सुरक्षिताः॥ ९॥

'वानरलोग वृक्षोंके द्वारा युद्ध करनेवाले हैं। उनका भी इस तरह मारा जाना कदापि सम्भव नहीं है; क्योंकि जैसे देवतालोग देवराज इन्द्रसे पालित होते हैं, उसी प्रकार ये वानर श्रीरामचन्द्रजीसे भलीभाँति सुरक्षित हैं॥ ९॥

दीर्घवृत्तभुजः श्रीमान् महोरस्कः प्रतापवान्।
धन्वी संहननोपेतो धर्मात्मा भुवि विश्रुतः॥ १०॥
विक्रान्तो रक्षिता नित्यमात्मनश्च परस्य च।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा कुलीनो नयशास्त्रवित्॥ ११॥
हन्ता परबलौघानामचिन्त्यबलपौरुषः।
न हतो राघवः श्रीमान् सीते शत्रुनिबर्हणः॥ १२॥

'सीते! श्रीमान् राम गोलाकार बड़ी-बड़ी भुजाओंसे सुशोभित, चौड़ी छातीवाले, प्रतापी, धनुर्धर, सुगठित शरीरसे युक्त और भूमण्डलमें सुविख्यात धर्मात्मा हैं। उनमें महान् पराक्रम है। वे भाई लक्ष्मणकी सहायतासे अपनी तथा दूसरेकी भी रक्षा करनेमें समर्थ हैं। नीतिशास्त्रके ज्ञाता और कुलीन हैं। उनके बल और पौरुष अचिन्त्य हैं। वे शत्रुपक्षके सैन्यसमूहोंका संहार करनेकी शक्ति रखते हैं। शत्रुसूदन श्रीराम कदापि मारे नहीं गये हैं॥ १०—१२॥

अयुक्तबुद्धिकृत्येन सर्वभूतविरोधिना।
एवं प्रयुक्ता रौद्रेण माया मायाविना त्वयि॥ १३॥

'रावणकी बुद्धि और कर्म दोनों ही बुरे हैं। वह समस्त प्राणियोंका विरोधी, क्रूर और मायावी है। उसने तुमपर यह मायाका प्रयोग किया था (वह मस्तक और धनुष मायाद्वारा रचे गये थे)॥ १३॥

शोकस्ते विगतः सर्वकल्याणं त्वामुपस्थितम्।
ध्रुवं त्वां भजते लक्ष्मीः प्रियं ते भवति शृणु॥ १४॥

'अब तुम्हारे शोकके दिन बीत गये। सब प्रकारसे कल्याणका अवसर उपस्थित हुआ है। निश्चय ही लक्ष्मी तुम्हारा सेवन करती हैं। तुम्हारा प्रिय कार्य होने जा रहा है।

उसे बताती हूँ, सुनो ॥ १४ ॥

उत्तीर्य सागरं रामः सह वानरसेनया ।
संनिविष्टः समुद्रस्य तीरमासाद्य दक्षिणम् ॥ १५ ॥

'श्रीरामचन्द्रजी वानरसेनाके साथ समुद्रको लाँघकर इस पार आ गये हैं। उन्होंने सागरके दक्षिणतटपर पड़ाव डाला है ॥ १५ ॥

दृष्टो मे परिपूर्णार्थः काकुत्स्थः सहलक्ष्मणः ।
सहितैः सागरान्तस्थैर्बलैस्तिष्ठति रक्षितः ॥ १६ ॥

'मैंने स्वयं लक्ष्मणसहित पूर्णकाम श्रीरामका दर्शन किया है। वे समुद्रतटपर ठहरी हुई अपनी संगठित सेनाओंद्वारा सर्वथा सुरक्षित हैं ॥ १६ ॥

अनेन प्रेषिता ये च राक्षसा लघुविक्रमाः ।
राघवस्तीर्ण इत्येवं प्रवृत्तिस्तैरिहाहृता ॥ १७ ॥

'रावणने जो-जो शीघ्रगामी राक्षस भेजे थे, वे सब यहाँ यही समाचार लाये हैं कि 'श्रीरघुनाथजी समुद्रको पार करके आ गये' ॥ १७ ॥

स तां श्रुत्वा विशालाक्षि प्रवृत्तिं राक्षसाधिपः ।
एष मन्त्रयते सर्वैः सचिवैः सह रावणः ॥ १८ ॥

'विशाललोचने ! इस समाचारको सुनकर वह राक्षसराज रावण अपने सभी मन्त्रियोंके साथ गुप्त परामर्श कर रहा है ॥ १८ ॥

इति ब्रुवाणा सरमा राक्षसी सीतया सह ।
सर्वोद्योगेन सैन्यानां शब्दं शुश्राव भैरवम् ॥ १९ ॥

जब राक्षसी सरमा सीतासे ये बातें कह रही थी, उसी समय उसने युद्धके लिये पूर्णतः उद्योगशील सैनिकोंका भैरव नाद सुना ॥ १९ ॥

दण्डनिर्घातवादिन्याः श्रुत्वा भेर्या महास्वनम् ।
उवाच सरमा सीतामिदं मधुरभाषिणी ॥ २० ॥

डंडेकी चोटसे बजनेवाले धौंसेका गम्भीर नाद सुनकर मधुरभाषिणी सरमाने सीतासे कहा— ॥ २० ॥

संनाहजननी ह्येषा भैरवा भीरु भेरिका ।
भेरीनादं च गम्भीरं शृणु तोयदनिःस्वनम् ॥ २१ ॥

'भीरु ! यह भयानक भेरीनाद युद्धके लिये तैयारीकी सूचना दे रहा है। मेघकी गर्जनाके समान रणभेरीका गम्भीर नाद तुम भी सुन लो ॥ २१ ॥

कल्प्यन्ते मत्तमातङ्गा युज्यन्ते रथवाजिनः ।
दृश्यन्ते तुरगारूढाः प्रासहस्ताः सहस्रशः ॥ २२ ॥

'मतवाले हाथी सजाये जा रहे हैं। रथमें घोड़े जोते जा रहे हैं और हजारों घुड़सवार हाथमें भाला लिये दृष्टिगोचर हो रहे हैं ॥ २२ ॥

तत्र तत्र च संनद्धाः सम्पतन्ति सहस्रशः ।
आपूर्यन्ते राजमार्गाः सैन्यैरद्भुतदर्शनैः ॥ २३ ॥
वेगवद्भिर्नदद्भिश्च तोयौघैरिव सागरः ।

'जहाँ-तहाँसे युद्धके लिये संनद्ध हुए सहस्रों सैनिक दौड़े चले आ रहे हैं। सारी सड़कें अद्भुत वेषमें सजे और बड़े वेगसे गर्जना करते हुए सैनिकोंसे उसी तरह भरती जा रही हैं जैसे जलके असंख्य प्रवाह सागरमें मिल रहे हों ॥२३½॥

शस्त्राणां च प्रसन्नानां चर्मणां वर्मणां तथा ॥ २४ ॥
रथवाजिगजानां च राक्षसेन्द्रानुयायिनाम् ।
सम्भ्रमो रक्षसामेष हृषितानां तरस्विनाम् ॥ २५ ॥
प्रभां विसृजतां पश्य नानावर्णसमुत्थिताम् ।
वनं निर्दहतो घर्मे यथा रूपं विभावसोः ॥ २६ ॥

'नाना प्रकारकी प्रभा बिखेरनेवाले चमचमाते हुए अस्त्र-शस्त्रों, ढालों और कवचोंकी वह चमक देखो। राक्षसराज रावणका अनुगमन करनेवाले रथों, घोड़ों, हाथियों तथा रोमाञ्चित हुए वेगशाली राक्षसोंमें इस समय यह बड़ी हड़बड़ी दिखायी देती है। ग्रीष्म ऋतुमें वनको जलाते हुए दावानलका जैसा जाज्वल्यमान रूप होता है, वैसी ही प्रभा इन अस्त्र-शस्त्र आदिकी दिखायी देती है ॥ २४—२६ ॥

घण्टानां शृणु निर्घोषं रथानां शृणु निःस्वनम् ।
हयानां हेषमाणानां शृणु तूर्यध्वनिं तथा ॥ २७ ॥

'हाथियोंपर बजते हुए घण्टोंका गम्भीर घोष सुनो, रथोंकी घर्घराहट सुनो और हिनहिनाते हुए घोड़ों तथा भाँति-भाँतिके बाजोंकी आवाज भी सुन लो ॥ २७ ॥

उद्यतायुधहस्तानां राक्षसेन्द्रानुयायिनाम् ।
सम्भ्रमो रक्षसामेष तुमुलो लोमहर्षणम् ॥ २८ ॥
श्रीस्त्वां भजति शोकघ्नी रक्षसां भयमागतम् ।

'हाथोंमें हथियार लिये रावणके अनुगामी राक्षसोंमें इस समय बड़ी घबराहट है। इससे यह जान लो कि उनपर कोई बड़ा भारी रोमाञ्चकारी भय उपस्थित हुआ है और शोकका निवारण करनेवाली लक्ष्मी तुम्हारी सेवामें उपस्थित हो रही है ॥२८½॥

रामः कमलपत्राक्षो दैत्यानामिव वासवः ॥ २९ ॥
अवजित्य जितक्रोधस्तमचिन्त्यपराक्रमः ।
रावणं समरे हत्वा भर्ता त्वाधिगमिष्यति ॥ ३० ॥

'तुम्हारे पति कमलनयन श्रीराम क्रोधको जीत चुके हैं। उनका पराक्रम अचिन्त्य है। वे दैत्योंको परास्त करनेवाले इन्द्रकी भाँति राक्षसोंको हराकर समराङ्गणमें रावणका वध करके तुम्हें प्राप्त कर लेंगे ॥ २९-३० ॥

विक्रमिष्यति रक्षःसु भर्ता ते सहलक्ष्मणः ।
यथा शत्रुषु शत्रुघ्नो विष्णुना सह वासवः ॥ ३१ ॥

'जैसे शत्रुसूदन इन्द्रने उपेन्द्रकी सहायतासे शत्रुओंपर पराक्रम प्रकट किया था, उसी प्रकार तुम्हारे पतिदेव श्रीराम अपने भाई लक्ष्मणके सहयोगसे राक्षसोंपर अपने बल-विक्रमका प्रदर्शन करेंगे ॥ ३१ ॥

आगतस्य हि रामस्य क्षिप्रमङ्कागतां सतीम्।
अहं द्रक्ष्यामि सिद्धार्थां त्वां शत्रौ विनिपातिते॥ ३२॥

'शत्रु रावणका संहार हो जानेपर मैं शीघ्र ही तुम-जैसी सती-साध्वीको यहाँ पधारे हुए श्रीरघुनाथजीकी गोदमें समोद बैठी देखूँगी। अब शीघ्र ही तुम्हारा मनोरथ पूरा होगा॥ ३२॥

अस्राण्यानन्दजानि त्वं वर्तयिष्यसि जानकि।
समागम्य परिष्वक्ता तस्योरसि महोरसः॥ ३३॥

'जनकनन्दिनि! विशाल वक्षःस्थलसे विभूषित श्रीरामके मिलनेपर उनकी छातीसे लगकर तुम शीघ्र ही नेत्रोंसे आनन्दके आँसू बहाओगी॥ ३३॥

अचिरान्मोक्ष्यते सीते देवि ते जघनं गताम्।
धृतामेकां बहून् मासान् वेणीं रामो महाबलः॥ ३४॥

'देवि सीते! कई महीनोंसे तुम्हारे केशोंकी एक ही वेणी जटाके रूपमें परिणत हो जो कटिप्रदेशतक लटक रही है, उसे महाबली श्रीराम शीघ्र ही अपने हाथोंसे खोलेंगे॥ ३४॥

तस्य दृष्ट्वा मुखं देवि पूर्णचन्द्रमिवोदितम्।
मोक्ष्यसे शोकजं वारि निर्मोकमिव पन्नगी॥ ३५॥

'देवि! जैसे नागिन केंचुल छोड़ती है, उसी प्रकार तुम उदित हुए पूर्णचन्द्रके समान अपने पतिका मुदित मुख देखकर शोकके आँसू बहाना छोड़ दोगी॥ ३५॥

रावणं समरे हत्वा नचिरादेव मैथिलि।
त्वया समग्रः प्रियया सुखार्हो लप्स्यते सुखम्॥ ३६॥

'मिथिलेशकुमारी! समराङ्गणमें शीघ्र ही रावणका वध करके सुख भोगनेके योग्य श्रीराम सफलमनोरथ हो तुझ प्रियतमाके साथ मनोवाञ्छित सुख प्राप्त करेंगे॥ ३६॥

सभाजिता त्वं रामेण मोदिष्यसि महात्मना।
सुवर्षेण समायुक्ता यथा सस्येन मेदिनी॥ ३७॥

'जैसे पृथ्वी उत्तम वर्षासे अभिषिक्त होनेपर हरी-भरी खेतीसे लहलहा उठती है, उसी प्रकार तुम महात्मा श्रीरामसे सम्मानित हो आनन्दमग्न हो जाओगी॥ ३७॥

गिरिवरमभितो विवर्तमानो
हय इव मण्डलमाशु यः करोति।
तमिह शरणमभ्युपैहि देवि
दिवसकरं प्रभवो ह्ययं प्रजानाम्॥ ३८॥

'देवि! जो गिरिवर मेरुके चारों ओर घूमते हुए अश्वकी भाँति शीघ्रतापूर्वक मण्डलाकार-गतिसे चलते हैं, उन्हीं भगवान् सूर्यकी (जो तुम्हारे कुलके देवता हैं) तुम यहाँ शरण लो; क्योंकि ये प्रजा-जनोंको सुख देने तथा उनका दुःख दूर करनेमें समर्थ हैं'॥ ३८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे त्रयस्त्रिंशः सर्गः॥ ३३॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें तैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३३॥

—★—

चतुस्त्रिंशः सर्गः

सीताके अनुरोधसे सरमाका उन्हें मन्त्रियोंसहित रावणका निश्चित विचार बताना

अथ तां जातसंतापां तेन वाक्येन मोहिताम्।
सरमा ह्लादयामास महीं दग्धामिवाम्भसा॥ १॥

रावणके पूर्वोक्त वचनसे मोहित एवं संतप्त हुई सीताको सरमाने अपनी वाणीद्वारा उसी प्रकार आह्लाद प्रदान किया, जैसे ग्रीष्मऋतुके तापसे दग्ध हुई पृथ्वीको वर्षाकालकी मेघमाला अपने जलसे आह्लादित कर देती है॥ १॥

ततस्तस्या हितं सख्याश्चिकीर्षन्ती सखी वचः।
उवाच काले कालज्ञा स्मितपूर्वाभिभाषिणी॥ २॥

तदनन्तर समयको पहचानने और मुसकराकर बात करनेवाली सखी सरमा अपनी प्रिय सखी सीताका हित करनेकी इच्छा रखकर यह समयोचित वचन बोली—॥ २॥

उत्सहेयमहं गत्वा त्वद्वाक्यमसितेक्षणे।
निवेद्य कुशलं रामे प्रतिच्छन्ना निवर्तितुम्॥ ३॥

'कजरारे नेत्रोंवाली सखी! मुझमें यह साहस और उत्साह है कि मैं श्रीरामके पास जाकर तुम्हारा संदेश और कुशल-समाचार निवेदन कर दूँ और फिर छिपी हुई वहाँसे लौट आऊँ॥ ३॥

नहि मे क्रममाणाया निरालम्बे विहायसि।
समर्थो गतिमन्वेतुं पवनो गरुडोऽपि वा॥ ४॥

'निराधार आकाशमें तीव्र वेगसे जाती हुई मेरी गतिका अनुसरण करनेमें वायु अथवा गरुड़ भी समर्थ नहीं हैं'॥ ४॥

एवं ब्रुवाणां तां सीता सरमामिदमब्रवीत्।
मधुरं श्लक्ष्णया वाचा पूर्वशोकाभिपन्नया॥ ५॥

ऐसी बात कहती हुई सरमासे सीताने उस स्नेहभरी मधुर वाणीद्वारा जो पहले शोकसे व्याप्त थी, इस प्रकार कहा—॥ ५॥

समर्था गगनं गन्तुमपि च त्वं रसातलम्।
अवगच्छाद्य कर्तव्यं कर्तव्यं ते मदन्तरे॥ ६॥

'सरमे ! तुम आकाश और पाताल सभी जगह जानेमें समर्थ हो। मेरे लिये जो कर्तव्य तुम्हें करना है, उसे अब बता रही हूँ, सुनो और समझो ॥ ६ ॥

मत्प्रियं यदि कर्तव्यं यदि बुद्धिः स्थिरा तव।
ज्ञातुमिच्छामि तं गत्वा किं करोतीति रावणः ॥ ७ ॥

'यदि तुम्हें मेरा प्रिय कार्य करना है और यदि इस विषयमें तुम्हारी बुद्धि स्थिर है तो मैं यह जानना चाहती हूँ कि रावण यहाँसे जाकर क्या कर रहा है ? ॥ ७ ॥

स हि मायाबलः क्रूरो रावणः शत्रुरावणः।
मां मोहयति दुष्टात्मा पीतमात्रेव वारुणी ॥ ८ ॥

'शत्रुओंको रुलानेवाला रावण मायाबलसे सम्पन्न है। वह दुष्टात्मा मुझे उसी प्रकार मोहित कर रहा है, जैसे वारुणी अधिक मात्रामें पी लेनेपर वह पीनेवालेको मोहित (अचेत) कर देती है ॥ ८ ॥

तर्जापयति मां नित्यं भर्त्सापयति चासकृत्।
राक्षसीभिः सुघोराभिर्यो मां रक्षति नित्यशः ॥ ९ ॥

'वह राक्षस अत्यन्त भयानक राक्षसियोंद्वारा प्रतिदिन मुझे डाँट बताता है, धमकाता है और सदा मेरी रखवाली करता है ॥ ९ ॥

उद्विग्ना शङ्किता चास्मि न स्वस्थं च मनो मम।
तद्भयाच्चाहमुद्विग्ना अशोकवनिकां गता ॥ १० ॥

'मैं सदा उससे उद्विग्न और शङ्कित रहती हूँ। मेरा चित्त स्वस्थ नहीं हो पाता। मैं उसीके भयसे व्याकुल होकर अशोकवाटिकामें चली आयी थी ॥ १० ॥

यदि नाम कथा तस्य निश्चितं वापि यद् भवेत्।
निवेदयेथाः सर्वं तद् वरो मे स्यादनुग्रहः ॥ ११ ॥

'यदि मन्त्रियोंके साथ उसकी बातचीत चल रही है तो वहाँ जो कुछ निश्चय हो अथवा रावणका जो निश्चित विचार हो, वह सब मुझे बताती रहो। यह मुझपर तुम्हारी बहुत बड़ी कृपा होगी' ॥ ११ ॥

सा त्वेवं ब्रुवतीं सीतां सरमा मृदुभाषिणी।
उवाच वदनं तस्याः स्पृशन्ती बाष्पविक्लवम् ॥ १२ ॥

ऐसी बातें कहती हुई सीतासे मधुरभाषिणी सरमाने उनके आँसुओंसे भीगे हुए मुखमण्डलको हाथसे पोंछते हुए इस प्रकार कहा— ॥ १२ ॥

एष ते यद्यभिप्रायस्तस्माद् गच्छामि जानकि।
गृह्य शत्रोरभिप्रायमुपावर्तामि मैथिलि ॥ १३ ॥

'मिथिलेशकुमारी जनकनन्दिनि ! यदि तुम्हारी यही इच्छा है तो मैं जाती हूँ और शत्रुके अभिप्रायको जानकर अभी लौटती हूँ' ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा ततो गत्वा समीपं तस्य रक्षसः।
शुश्राव कथितं तस्य रावणस्य समन्त्रिणः ॥ १४ ॥

ऐसा कहकर सरमाने उस राक्षसके समीप जाकर मन्त्रियोंसहित रावणकी कही हुई सारी बातें सुनीं ॥ १४ ॥

सा श्रुत्वा निश्चयं तस्य निश्चयज्ञा दुरात्मनः।
पुनरेवागमत् क्षिप्रमशोकवनिकां शुभाम् ॥ १५ ॥

उस दुरात्माके निश्चयको सुनकर उसने अच्छी तरह समझ लिया और फिर वह शीघ्र ही सुन्दर अशोकवाटिकामें लौट आयी ॥ १५ ॥

सा प्रविष्टा ततस्तत्र ददर्श जनकात्मजाम्।
प्रतीक्षमाणां स्वामेव भ्रष्टपद्मामिव श्रियम् ॥ १६ ॥

वहाँ प्रवेश करके उसने अपनी ही प्रतीक्षामें बैठी हुई जनककिशोरीको देखा, जो उस लक्ष्मीके समान जान पड़ती थीं, जिसके हाथका कमल कहीं गिर गया हो ॥ १६ ॥

तां तु सीता पुनः प्राप्तां सरमां प्रियभाषिणीम्।
परिष्वज्य च सुस्निग्धं ददौ च स्वयमासनम् ॥ १७ ॥

फिर लौटकर आयी हुई प्रियभाषिणी सरमाको बड़े स्नेहसे गले लगाकर सीताने स्वयं उसे बैठनेके लिये आसन दिया और कहा— ॥ १७ ॥

इहासीना सुखं सर्वमाख्याहि मम तत्त्वतः।
क्रूरस्य निश्चयं तस्य रावणस्य दुरात्मनः ॥ १८ ॥

'सखी ! यहाँ सुखसे बैठकर सारी बातें ठीक-ठीक बताओ। उस क्रूर एवं दुरात्मा रावणने क्या निश्चय किया' ॥ १८ ॥

एवमुक्ता तु सरमा सीतया वेपमानया।
कथितं सर्वमाचष्ट रावणस्य समन्त्रिणः ॥ १९ ॥

काँपती हुई सीताके इस प्रकार पूछनेपर सरमाने मन्त्रियोंसहित रावणकी कही हुई सारी बातें बतायीं— ॥ १९ ॥

जनन्या राक्षसेन्द्रो वै त्वन्मोक्षार्थं बृहद्वचः।
अतिस्निग्धेन वैदेहि मन्त्रिवृद्धेन चोदितः ॥ २० ॥

'विदेहनन्दिनि ! राक्षसराज रावणकी माताने तथा रावणके प्रति अत्यन्त स्नेह रखनेवाले एक बूढ़े मन्त्रीने भी बड़ी-बड़ी बातें कहकर तुम्हें छोड़ देनेके लिये रावणको प्रेरित किया ॥ २० ॥

दीयतामभिसत्कृत्य मनुजेन्द्राय मैथिली।
निदर्शनं ते पर्याप्तं जनस्थाने यदद्भुतम् ॥ २१ ॥

'राक्षसराज ! तुम महाराज श्रीरामको सत्कारपूर्वक उनकी पत्नी सीता लौटा दो। जनस्थानमें जो अद्भुत घटना घटित हुई थी, वही श्रीरामके पराक्रमको समझनेके लिये पर्याप्त प्रमाण एवं उदाहरण है ॥ २१ ॥

लङ्घनं च समुद्रस्य दर्शनं च हनूमतः।
वधं च रक्षसां युद्धे कः कुर्यान्मानुषो युधि ॥ २२ ॥

'(उनके सेवकोंमें भी अद्भुत शक्ति है) हनुमान्ने जो समुद्रको लाँघा, सीतासे भेंट की और युद्धमें बहुत-से राक्षसोंका वध किया—यह सब कार्य दूसरा कौन मनुष्य कर सकता है ?' ॥ २२ ॥

एवं स मन्त्रिवृद्धैश्च मात्रा च बहुबोधितः।
न त्वामुत्सहते मोक्तुमर्थमर्थपरो यथा॥ २३॥

'इस प्रकार बूढ़े मन्त्रियों तथा माताके बहुत समझानेपर भी वह तुम्हें उसी तरह छोड़नेकी इच्छा नहीं करता है, जैसे धनका लोभी धनको त्यागना नहीं चाहता है॥ २३॥

नोत्सहत्यमृतो मोक्तुं युद्धे त्वामिति मैथिलि।
सामात्यस्य नृशंसस्य निश्चयो ह्येष वर्तते॥ २४॥

'मिथिलेशकुमारी! वह युद्धमें मरे बिना तुम्हें छोड़नेका साहस नहीं कर सकता। मन्त्रियोंसहित उस नृशंस निशाचरका यही निश्चय है॥ २४॥

तदेषा सुस्थिरा बुद्धिर्मृत्युलोभादुपस्थिता।
भयान्न शक्तस्त्वां मोक्तुमनिरस्तः स संयुगे॥ २५॥
राक्षसानां च सर्वेषामात्मनश्च वधेन हि।

'रावणके सिरपर काल नाच रहा है। इसलिये उसके मनमें मृत्युके प्रति लोभ पैदा हो गया है। यही कारण है कि तुम्हें न लौटानेके निश्चयपर उसकी बुद्धि सुस्थिर हो गयी है। वह जबतक युद्धमें राक्षसोंके संहार और अपने वधके द्वारा (नष्ट) नहीं हो जायगा; केवल भय दिखानेसे तुम्हें नहीं छोड़ सकता॥ २५$\frac{1}{2}$॥

निहत्य रावणं संख्ये सर्वथा निशितैः शरैः।
प्रतिनेष्यति रामस्त्वामयोध्यामसितेक्षणे॥ २६॥

'कजरारे नेत्रोंवाली सीते! इसका परिणाम यही होगा कि भगवान् श्रीराम अपने सर्वथा तीखे बाणोंसे युद्धस्थलमें रावणका वध करके तुम्हें अयोध्याको ले जायँगे'॥ २६॥

एतस्मिन्नन्तरे शब्दो भेरीशङ्खसमाकुलः।
श्रुतो वै सर्वसैन्यानां कम्पयन् धरणीतलम्॥ २७॥

इसी समय भेरीनाद और शङ्खध्वनिसे मिला हुआ समस्त सैनिकोंका महान् कोलाहल सुनायी दिया, जो भूकम्प पैदा कर रहा था॥ २७॥

श्रुत्वा तु तं वानरसैन्यनादं
लङ्कागता राक्षसराजभृत्याः।
हतौजसो दैन्यपरीतचेष्टाः
श्रेयो न पश्यन्ति नृपस्य दोषात्॥ २८॥

वानरसैनिकोंके उस भीषण सिंहनादको सुनकर लङ्कामें रहनेवाले राक्षसराज रावणके सेवक हतोत्साह हो गये। उनकी सारी चेष्टा दीनतासे व्याप्त हो गयी। रावणके दोषसे उन्हें भी कोई कल्याणका उपाय नहीं दिखायी देता था॥ २८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे चतुस्त्रिंशः सर्गः॥ ३४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें चौंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३४॥

—★—

पञ्चत्रिंशः सर्गः

माल्यवान्‌का रावणको श्रीरामसे संधि करनेके लिये समझाना

तेन शङ्खविमिश्रेण भेरीशब्देन नादिना।
उपयाति महाबाहू रामः परपुरंजयः॥ १॥

शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले महाबाहु श्रीरामने शङ्खध्वनिसे मिश्रित हो तुमुल नाद करनेवाली भेरीकी आवाजके साथ लङ्कापर आक्रमण किया॥ १॥

तं निनादं निशम्याथ रावणो राक्षसेश्वरः।
मुहूर्तं ध्यानमास्थाय सचिवानभ्युदैक्षत॥ २॥

उस भेरीनादको सुनकर राक्षसराज रावणने दो घड़ीतक कुछ सोच-विचार करनेके पश्चात् अपने मन्त्रियोंकी ओर देखा॥ २॥

अथ तान् सचिवांस्तत्र सर्वानाभाष्य रावणः।
सभां संनादयन् सर्वामित्युवाच महाबलः॥ ३॥
जगत्संतापनः क्रूरोऽगर्हयन् राक्षसेश्वरः।

उन सब मन्त्रियोंको सम्बोधित करके जगत्‌को संताप देनेवाले, महाबली, क्रूर राक्षसराज रावणने सारी सभाको प्रतिध्वनित करके किसीपर आक्षेप न करते हुए कहा—॥ ३$\frac{1}{2}$॥

तरणं सागरस्यास्य विक्रमं बलपौरुषम्॥ ४॥
यदुक्तवन्तो रामस्य भवन्तस्तन्मया श्रुतम्।
भवतश्चाप्यहं वेद्मि युद्धे सत्यपराक्रमान्।
तूष्णीकानीक्षतोऽन्योन्यं विदित्वा रामविक्रमम्॥ ५॥

'आपलोगोंने रामके पराक्रम, बल-पौरुष तथा समुद्र-लङ्घनकी जो बात बतायी है, वह सब मैंने सुन ली; परंतु मैं तो आपलोगोंको भी, जो इस समय रामके पराक्रमकी बातें जानकर चुपचाप एक-दूसरेका मुँह देख रहे हैं, संग्रामभूमिमें सत्यपराक्रमी वीर समझता हूँ'॥ ४-५॥

ततस्तु सुमहाप्राज्ञो माल्यवान् नाम राक्षसः।
रावणस्य वचः श्रुत्वा इति मातामहोऽब्रवीत्॥ ६॥

रावणके इस आक्षेपपूर्ण वचनको सुननेके पश्चात् महाबुद्धिमान् माल्यवान् नामक राक्षसने, जो रावणका नाना था, इस प्रकार कहा—॥ ६॥

विद्यास्वभिविनीतो यो राजा राजन् नयानुगः ।
स शास्ति चिरमैश्वर्यमरींश्च कुरुते वशे ॥ ७ ॥

'राजन्! जो राजा चौदहों विद्याओंमें सुशिक्षित और नीतिका अनुसरण करनेवाला होता है, वह दीर्घकालतक राज्यका शासन करता है। वह शत्रुओंको भी वशमें कर लेता है॥ ७॥

संदधानो हि कालेन विगृह्णंश्चारिभिः सह ।
स्वपक्षे वर्धनं कुर्वन्महदैश्वर्यमश्नुते ॥ ८ ॥

'जो समयके अनुसार आवश्यक होनेपर शत्रुओंके साथ संधि और विग्रह करता है तथा अपने पक्षकी वृद्धिमें लगा रहता है, वह महान् ऐश्वर्यका भागी होता है॥ ८॥

हीयमानेन कर्तव्यो राज्ञा संधिः समेन च ।
न शत्रुमवमन्येत ज्यायान् कुर्वीत विग्रहम् ॥ ९ ॥

'जिस राजाकी शक्ति क्षीण हो रही हो अथवा जो शत्रुके समान ही शक्ति रखता हो, उसे संधि कर लेनी चाहिये। अपनेसे अधिक या समान शक्तिवाले शत्रुका कभी अपमान न करे। यदि स्वयं ही शक्तिमें बढ़ा-चढ़ा हो, तभी शत्रुके साथ वह युद्ध ठाने॥ ९॥

तन्मह्यं रोचते संधिः सह रामेण रावण ।
यदर्थमभियुक्तोऽसि सीता तस्मै प्रदीयताम् ॥ १० ॥

'इसलिये रावण! मुझे तो श्रीरामके साथ संधि करना ही अच्छा लगता है। जिसके लिये तुम्हारे ऊपर आक्रमण हो रहा है, वह सीता तुम श्रीरामको लौटा दो॥ १०॥

तस्य देवर्षयः सर्वे गन्धर्वाश्च जयैषिणः ।
विरोधं मा गमस्तेन संधिस्ते तेन रोचताम् ॥ ११ ॥

'देखो, देवता, ऋषि और गन्धर्व सभी श्रीरामकी विजय चाहते हैं, अतः तुम उनसे विरोध न करो। उनके साथ संधि कर लेनेकी ही इच्छा करो॥ ११॥

असृजद् भगवान् पक्षौ द्वावेव हि पितामहः ।
सुराणामसुराणां च धर्माधर्मौ तदाश्रयौ ॥ १२ ॥

'भगवान् ब्रह्माने सुर और असुर दो ही पक्षोंकी सृष्टि की है। धर्म और अधर्म ही इनके आश्रय हैं॥ १२॥

धर्मो हि श्रूयते पक्ष अमराणां महात्मनाम् ।
अधर्मो रक्षसां पक्षो ह्यसुराणां च राक्षस ॥ १३ ॥

'सुना जाता है महात्मा देवताओंका पक्ष धर्म है। राक्षसराज! राक्षसों और असुरोंका पक्ष अधर्म है॥ १३॥

धर्मो वै ग्रसतेऽधर्मं यदा कृतमभूद् युगम् ।
अधर्मो ग्रसते धर्मं यदा तिष्यः प्रवर्तते ॥ १४ ॥

जब सत्ययुग होता है, तब धर्म बलवान् होकर अधर्मको ग्रस लेता है और जब कलियुग आता है, तब अधर्म ही धर्मको दबा देता है॥ १४॥

तत् त्वया चरता लोकान् धर्मोऽपि निहतो महान् ।
अधर्मः प्रगृहीतश्च तेनास्मद् बलिनः परे ॥ १५ ॥

'तुमने दिग्विजयके लिये सब लोकोंमें भ्रमण करते हुए महान् धर्मका नाश किया है और अधर्मको गले लगाया है, इसलिये हमारे शत्रु हमसे प्रबल हैं॥ १५॥

स प्रमादात् प्रवृद्धस्तेऽधर्मोऽहिर्ग्रसते हि नः ।
विवर्धयति पक्षं च सुराणां सुरभावनः ॥ १६ ॥

'तुम्हारे प्रमादसे बढ़ा हुआ अधर्मरूपी अजगर अब हमें निगल जाना चाहता है और देवताओंद्वारा पालित धर्म उनके पक्षकी वृद्धि कर रहा है॥ १६॥

विषयेषु प्रसक्तेन यत्किंचित्कारिणा त्वया ।
ऋषीणामग्निकल्पानामुद्वेगो जनितो महान् ॥ १७ ॥

'विषयोंमें आसक्त होकर जो कुछ भी कर डालनेवाले तुमने जो मनमाना आचरण किया है, इससे अग्निके समान तेजस्वी ऋषियोंको बड़ा ही उद्वेग प्राप्त हुआ है॥ १७॥

तेषां प्रभावो दुर्धर्षः प्रदीप्त इव पावकः ।
तपसा भावितात्मानो धर्मस्यानुग्रहे रताः ॥ १८ ॥

'उनका प्रभाव प्रज्वलित अग्निके समान दुर्धर्ष है। वे ऋषि-मुनि तपस्याके द्वारा अपने अन्तःकरणको शुद्ध करके धर्मके ही संग्रहमें तत्पर रहते हैं॥ १८॥

मुख्यैर्यज्ञैर्यजन्त्येते तैस्तैर्यत्ते द्विजातयः ।
जुह्वत्यग्नींश्च विधिवद् वेदांश्चोच्चैरधीयते ॥ १९ ॥

'वे द्विजगण मुख्य-मुख्य यज्ञोंद्वारा यजन करते, विधिवत् अग्निमें आहुति देते और उच्च स्वरसे वेदोंका पाठ करते हैं॥ १९॥

अभिभूय च रक्षांसि ब्रह्मघोषानुदीरयन् ।
दिशो विप्रद्रुताः सर्वाः स्तनयित्नुरिवोष्णगे ॥ २० ॥

'उन्होंने राक्षसोंको अभिभूत करके वेदमन्त्रोंकी ध्वनिका विस्तार किया है, इसलिये ग्रीष्म-ऋतुमें मेघकी भाँति राक्षस सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग खड़े हुए हैं॥ २०॥

ऋषीणामग्निकल्पानामग्निहोत्रसमुत्थितः ।
आदत्ते रक्षसां तेजो धूमो व्याप्य दिशो दश ॥ २१ ॥

'अग्नितुल्य तेजस्वी ऋषियोंके अग्निहोत्रसे प्रकट हुआ धूम दसों दिशाओंमें व्याप्त होकर राक्षसोंके तेजको हर लेता है॥ २१॥

तेषु तेषु च देशेषु पुण्येष्वेव दृढव्रतैः ।
चर्यमाणं तपस्तीव्रं संतापयति राक्षसान् ॥ २२ ॥

'भिन्न-भिन्न देशोंमें पुण्य कर्मोंमें ही लगे रहकर दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ऋषिलोग जो तीव्र तपस्या करते हैं, वही राक्षसोंको संताप दे रही है॥ २२॥

देवदानवयक्षेभ्यो गृहीतश्च वरस्त्वया ।
मनुष्या वानरा ऋक्षा गोलाङ्गूला महाबलाः ।
बलवन्त इहागम्य गर्जन्ति दृढविक्रमाः ॥ २३ ॥

'तुमने देवताओं, दानवों और यक्षोंसे ही अवध्य होनेका वर प्राप्त किया है, मनुष्य आदिसे नहीं। परंतु यहाँ तो

मनुष्य, वानर, रीछ और लंगूर आकर गरज रहे हैं। वे सब-के-सब हैं भी बड़े बलवान्, सैनिकशक्तिसे सम्पन्न तथा सुदृढ़ पराक्रमी॥ २३॥

उत्पातान् विविधान् दृष्ट्वा घोरान् बहुविधान् बहून्।
विनाशमनुपश्यामि सर्वेषां रक्षसामहम्॥ २४॥

'नाना प्रकारके बहुत-से भयंकर उत्पातोंको लक्ष्य करके मैं तो इन समस्त राक्षसोंके विनाशका ही अवसर उपस्थित देख रहा हूँ॥ २४॥

खराभिस्तनिता घोरा मेघाः प्रतिभयंकराः।
शोणितेनाभिवर्षन्ति लङ्कामुष्णेन सर्वतः॥ २५॥

'घोर एवं भयंकर मेघ प्रचण्ड गर्जन-तर्जनके साथ लङ्कापर सब ओरसे गर्म खूनकी वर्षा कर रहे हैं॥ २५॥

रुदतां वाहनानां च प्रपतन्त्यश्रुबिन्दवः।
रजोध्वस्ता विवर्णाश्च न प्रभान्ति यथापुरम्॥ २६॥

'घोड़े-हाथी आदि वाहन रो रहे हैं और उनके नेत्रोंसे अश्रुबिन्दु झर रहे हैं। दिशाएँ धूल भर जानेसे मलिन हो अब पहलेकी भाँति प्रकाशित नहीं हो रही हैं॥ २६॥

व्याला गोमायवो गृध्रा वाशयन्ति च सुभैरवम्।
प्रविश्य लङ्कामारामे समवायांश्च कुर्वते॥ २७॥

'मांसभक्षी हिंसक पशु, गीदड़ और गीध भयंकर बोली बोलते हैं तथा लङ्काके उपवनमें घुसकर झुंड बनाकर बैठते हैं॥ २७॥

कालिकाः पाण्डुरैर्दन्तैः प्रहसन्त्यग्रतः स्थिताः।
स्त्रियः स्वप्नेषु मुष्णन्त्यो गृहाणि प्रतिभाष्य च॥ २८॥

'सपनेमें काले रंगकी स्त्रियाँ अपने पीले दाँत दिखाती हुई सामने आकर खड़ी हो जातीं और प्रतिकूल बातें कहकर घरके सामान चुराती हुई जोर-जोरसे हँसती हैं॥ २८॥

गृहाणां बलिकर्माणि श्वानः पर्युपभुञ्जते।
खरा गोषु प्रजायन्ते मूषका नकुलेषु च॥ २९॥

'घरोंमें जो बलिकर्म किये जाते हैं, उस बलि-सामग्रीको कुत्ते खा जाते हैं। गौओंसे गधे और नेवलोंसे चूहे पैदा होते हैं॥ २९॥

मार्जारा द्वीपिभिः सार्धं सूकराः शुनकैः सह।
किंनरा राक्षसैश्चापि समेयुर्मानुषैः सह॥ ३०॥

'बाघोंके साथ बिलाव, कुत्तोंके साथ सूअर तथा राक्षसों और मनुष्योंके साथ किन्नर समागम करते हैं॥ ३०॥

पाण्डुरा रक्तपादाश्च विहगाः कालचोदिताः।
राक्षसानां विनाशाय कपोता विचरन्ति च॥ ३१॥

'जिनकी पाँखें सफेद और पंजे लाल हैं, वे कबूतर पक्षी दैवसे प्रेरित हो राक्षसोंका भावी विनाश सूचित करनेके लिये यहाँ सब ओर विचरते हैं॥ ३१॥

चीचीकूचीति वाशन्त्यः शारिका वेश्मसु स्थिताः।
पतन्ति ग्रथिताश्चापि निर्जिताः कलहैषिभिः॥ ३२॥

'घरोंमें रहनेवाली सारिकाएँ कलहकी इच्छावाले दूसरे पक्षियोंसे चें-चें करती हुई गुँथ जाती हैं और उनसे पराजित हो पृथ्वीपर गिर पड़ती हैं॥ ३२॥

पक्षिणश्च मृगाः सर्वे प्रत्यादित्यं रुदन्ति ते।
करालो विकटो मुण्डः पुरुषः कृष्णपिङ्गलः॥ ३३॥
कालो गृहाणि सर्वेषां काले कालेऽन्ववेक्षते।

'पक्षी और मृग सभी सूर्यकी ओर मुँह करके रोते हैं। विकराल, विकट, काले और भूरे रंगके मूँड़ मुड़ाये हुए पुरुषका रूप धारण करके काल समय-समयपर हम सबके घरोंकी ओर देखता है॥ ३३½॥

एतान्यन्यानि दुष्टानि निमित्तान्युत्पतन्ति च॥ ३४॥
विष्णुं मन्यामहे रामं मानुषं रूपमास्थितम्।
नहि मानुषमात्रोऽसौ राघवो दृढविक्रमः॥ ३५॥
येन बद्धः समुद्रे च सेतुः स परमाद्भुतः।
कुरुष्व नरराजेन संधिं रामेण रावण।
ज्ञात्वावधार्य कर्माणि क्रियतामायतिक्षमम्॥ ३६॥

'ये तथा और भी बहुत-से अपशकुन हो रहे हैं। मैं ऐसा समझता हूँ कि साक्षात् भगवान् विष्णु ही मानवरूप धारण करके राम होकर आये हैं। जिन्होंने समुद्रमें अत्यन्त अद्भुत सेतु बाँधा है, वे दृढपराक्रमी रघुवीर साधारण मनुष्यमात्र नहीं हैं। रावण! तुम नरराज श्रीरामके साथ संधि कर लो। श्रीरामके अलौकिक कर्मों और लङ्कामें होनेवाले उत्पातोंको जानकर जो कार्य भविष्यमें सुख देनेवाला हो, उसका निश्चय करके वही करो'॥ ३४—३६॥

इदं वचस्तस्य निगद्य माल्यवान्
परीक्ष्य रक्षोधिपतेर्मनः पुनः।
अनुत्तमेषूत्तमपौरुषो बली
बभूव तूष्णीं समवेक्ष्य रावणम्॥ ३७॥

यह बात कहकर तथा राक्षसराज रावणके मनोभावकी परीक्षा करके उत्तम मन्त्रियोंमें श्रेष्ठ पौरुषशाली महाबली माल्यवान् रावणकी ओर देखता हुआ चुप हो गया॥ ३७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे पञ्चत्रिंशः सर्गः॥ ३५॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें पैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३५॥

षट्त्रिंशः सर्गः

माल्यवान्‌पर आक्षेप और नगरकी रक्षाका प्रबन्ध करके रावणका अपने अन्तःपुरमें जाना

तत् तु माल्यवतो वाक्यं हितमुक्तं दशाननः ।
न मर्षयति दुष्टात्मा कालस्य वशमागतः ॥ १ ॥

दुष्टात्मा दशमुख रावण कालके अधीन हो रहा था, इसलिये माल्यवान्‌की कही हुई हितकर बातको भी वह सहन नहीं कर सका ॥ १ ॥

स बद्ध्वा भ्रुकुटिं वक्त्रे क्रोधस्य वशमागतः ।
अमर्षात् परिवृत्ताक्षो माल्यवन्तमथाब्रवीत् ॥ २ ॥

वह क्रोधके वशीभूत हो गया । अमर्षसे उसके नेत्र घूमने लगे । उसने भौंहें टेढ़ी करके माल्यवान्‌से कहा— ॥ २ ॥

हितबुद्ध्या यदहितं वचः परुषमुच्यते ।
परपक्षं प्रविश्यैव नैतच्छ्रोत्रगतं मम ॥ ३ ॥

'तुमने शत्रुका पक्ष लेकर हित-बुद्धिसे जो मेरे अहितकी कठोर बात कही है, वह पूरी तौरसे मेरे कानोंतक नहीं पहुँची ॥ ३ ॥

मानुषं कृपणं राममेकं शाखामृगाश्रयम् ।
समर्थं मन्यसे केन त्यक्तं पित्रा वनाश्रयम् ॥ ४ ॥

'बेचारा राम एक मनुष्य ही तो है, जिसने सहारा लिया है कुछ बंदरोंका । पिताके त्याग देनेसे उसने वनकी शरण ली है । उसमें कौन सी ऐसी विशेषता है, जिससे तुम उसे बड़ा सामर्थ्यशाली मान रहे हो ॥ ४ ॥

रक्षसामीश्वरं मां च देवानां च भयंकरम् ।
हीनं मां मन्यसे केन अहीनं सर्वविक्रमैः ॥ ५ ॥

'मैं राक्षसोंका स्वामी तथा सभी प्रकारके पराक्रमोंसे सम्पन्न हूँ, देवताओंके मनमें भी भय उत्पन्न करता हूँ, फिर किस कारणसे तुम मुझे रामकी अपेक्षा हीन समझते हो ? ॥ ५ ॥

वीरद्वेषेण वा शङ्के पक्षपातेन वा रिपोः ।
त्वयाहं परुषाण्युक्तो परप्रोत्साहनेन वा ॥ ६ ॥

'तुमने जो मुझे कठोर बातें सुनायी हैं, उनके विषयमें मुझे शङ्का है कि तुम या तो मुझ जैसे वीरसे द्वेष रखते हो या शत्रुसे मिले हुए हो अथवा शत्रुओंने ऐसा कहने या करनेके लिये तुम्हें प्रोत्साहन दिया है ॥ ६ ॥

प्रभवन्तं पदस्थं हि परुषं कोऽभिभाषते ।
पण्डितः शास्त्रतत्त्वज्ञो विना प्रोत्साहनेन वा ॥ ७ ॥

'जो प्रभावशाली होनेके साथ ही अपने राज्यपर प्रतिष्ठित है, ऐसे पुरुषको कौन शास्त्रतत्त्वज्ञ विद्वान् शत्रुका प्रोत्साहन पाये बिना कटुवचन सुना सकता है ? ॥ ७ ॥

आनीय च वनात् सीतां पद्महीनामिव श्रियम् ।
किमर्थं प्रतिदास्यामि राघवस्य भयादहम् ॥ ८ ॥

'कमलहीन कमलाकी भाँति सुन्दरी सीताको वनसे ले आकर अब केवल रामके भयसे मैं कैसे लौटा दूँ ? ॥ ८ ॥

वृतं वानरकोटीभिः ससुग्रीवं सलक्ष्मणम् ।
पश्य कैश्चिदहोभिश्च राघवं निहतं मया ॥ ९ ॥

'करोड़ों वानरोंसे घिरे हुए सुग्रीव और लक्ष्मणसहित रामको मैं कुछ ही दिनोंमें मार डालूँगा, यह तुम अपनी आँखों देख लेना ॥ ९ ॥

द्वन्द्वे यस्य न तिष्ठन्ति दैवतान्यपि संयुगे ।
स कस्माद् रावणो युद्धे भयमाहारयिष्यति ॥ १० ॥

'जिसके सामने द्वन्द्वयुद्धमें देवता भी नहीं ठहर पाते हैं, वही रावण युद्धमें किससे भयभीत होगा ॥ १० ॥

द्विधा भज्येयमप्येवं न नमेयं तु कस्यचित् ।
एष मे सहजो दोषः स्वभावो दुरतिक्रमः ॥ ११ ॥

'मैं बीचसे दो टूक हो जाऊँगा, पर किसीके सामने झुक नहीं सकूँगा, यह मेरा सहज दोष है और स्वभाव किसीके लिये भी दुर्लङ्घ्य होता है ॥ ११ ॥

यदि तावत् समुद्रे तु सेतुर्बद्धो यदृच्छया ।
रामेण विस्मयः कोऽत्र येन ते भयमागतम् ॥ १२ ॥

'यदि रामने दैववश समुद्रपर सेतु बाँध लिया तो इसमें विस्मयकी कौन बात है, जिससे तुम्हें इतना भय हो गया है ? ॥ १२ ॥

स तु तीर्त्वार्णवं रामः सह वानरसेनया ।
प्रतिजानामि ते सत्यं न जीवन् प्रतियास्यति ॥ १३ ॥

'मैं तुम्हारे आगे सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि समुद्र पार करके वानरसेनासहित आये हुए राम यहाँसे जीवित नहीं लौट सकेंगे' ॥ १३ ॥

एवं ब्रुवाणं संरब्धं रुष्टं विज्ञाय रावणम् ।
व्रीडितो माल्यवान् वाक्यं नोत्तरं प्रत्यपद्यत ॥ १४ ॥

ऐसी बातें कहते हुए रावणको क्रोधसे भरा हुआ एवं रुष्ट जानकर माल्यवान् बहुत लज्जित हुआ और उसने कोई उत्तर नहीं दिया ॥ १४ ॥

जयाशिषा तु राजानं वर्धयित्वा यथोचितम् ।
माल्यवानभ्यनुज्ञातो जगाम स्वं निवेशनम् ॥ १५ ॥

माल्यवान्‌ने 'महाराजकी जय हो' इस विजयसूचक आशीर्वादसे राजाको यथोचित बढ़ावा दिया और उससे आज्ञा लेकर वह अपने घर चला गया ॥ १५ ॥

रावणस्तु सहामात्यो मन्त्रयित्वा विमृश्य च ।
लङ्कायास्तु तदा गुप्तिं कारयामास राक्षसः ॥ १६ ॥

तदनन्तर मन्त्रियोंसहित राक्षस रावणने परस्पर विचार-विमर्श करके तत्काल लङ्काकी रक्षाका प्रबन्ध किया ॥ १६ ॥

व्यादिदेश च पूर्वस्यां प्रहस्तं द्वारि राक्षसम् ।
दक्षिणस्यां महावीर्यौ महापार्श्वमहोदरौ ॥ १७ ॥

पश्चिमायामथ द्वारि पुत्रमिन्द्रजितं तदा।
व्यादिदेश महामायं राक्षसैर्बहुभिर्वृतम्॥ १८॥

उसने पूर्व द्वारपर उसकी रक्षाके लिये राक्षस प्रहस्तको तैनात किया, दक्षिण द्वारपर महापराक्रमी महापार्श्व और महोदरको नियुक्त किया तथा पश्चिम द्वारपर अपने पुत्र इन्द्रजित्‌को रखा, जो महान् मायावी था। वह बहुत-से राक्षसोंद्वारा घिरा हुआ था॥ १७-१८॥

उत्तरस्यां पुरद्वारि व्यादिश्य शुकसारणौ।
स्वयं चात्र गमिष्यामि मन्त्रिणस्तानुवाच ह॥ १९॥

तदनन्तर नगरके उत्तर द्वारपर शुक और सारणको रक्षाके लिये जानेकी आज्ञा दे मन्त्रियोंसे रावणने कहा—'मैं स्वयं भी उत्तर द्वारपर जाऊँगा'॥ १९॥

राक्षसं तु विरूपाक्षं महावीर्यपराक्रमम्।
मध्यमेऽस्थापयद् गुल्मे बहुभिः सह राक्षसैः॥ २०॥

नगरके बीचकी छावनीपर उसने बहुसंख्यक राक्षसोंके साथ महान् बल-पराक्रमसे सम्पन्न राक्षस विरूपाक्षको स्थापित किया॥ २०॥

एवं विधानं लङ्कायां कृत्वा राक्षसपुंगवः।
कृतकृत्यमिवात्मानं मन्यते कालचोदितः॥ २१॥

इस प्रकार लङ्कामें पुरीकी रक्षाका प्रबन्ध करके काल-प्रेरित राक्षसशिरोमणि रावण अपने-आपको कृतकृत्य मानने लगा॥ २१॥

विसर्जयामास ततः स मन्त्रिणो
विधानमाज्ञाप्य पुरस्य पुष्कलम्।
जयाशिषा मन्त्रिगणेन पूजितो
विवेश सोऽन्तःपुरमृद्धिमन्महत्॥ २२॥

इस तरह नगरके संरक्षणकी प्रचुर व्यवस्थाके लिये आज्ञा देकर रावणने सब मन्त्रियोंको विदा कर दिया और स्वयं भी उनके विजयसूचक आशीर्वादसे सम्मानित हो अपने समृद्धिशाली एवं विशाल अन्तःपुरमें चला गया॥ २२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे षट्‌त्रिंशः सर्गः॥ ३६॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें छत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३६॥

★

सप्तत्रिंशः सर्गः

विभीषणका श्रीरामसे रावणद्वारा किये गये लङ्काकी रक्षाके प्रबन्धका वर्णन तथा श्रीरामद्वारा लङ्काके विभिन्न द्वारोंपर आक्रमण करनेके लिये अपने सेनापतियोंकी नियुक्ति

नरवानरराजानौ स तु वायुसुतः कपिः।
जाम्बवानृक्षराजश्च राक्षसश्च विभीषणः॥ १॥
अङ्गदो वालिपुत्रश्च सौमित्रिः शरभः कपिः।
सुषेणः सहदायादो मैन्दो द्विविद एव च॥ २॥
गजो गवाक्षः कुमुदो नलोऽथ पनसस्तथा।
अमित्रविषयं प्राप्ताः समवेताः समर्थयन्॥ ३॥

शत्रुके देशमें पहुँचे हुए नरराज श्रीराम, सुमित्राकुमार लक्ष्मण, वानरराज सुग्रीव, वायुपुत्र हनुमान्, ऋक्षराज जाम्बवान्, राक्षस विभीषण, वालिपुत्र अङ्गद, शरभ, बन्धु-बान्धवोंसहित सुषेण, मैन्द, द्विविद, गज, गवाक्ष, कुमुद, नल और पनस—ये सब आपसमें मिलकर विचार करने लगे—॥ १—३॥

इयं सा लक्ष्यते लङ्का पुरी रावणपालिता।
सासुरोरगगन्धर्वैरमरैरपि दुर्जया॥ ४॥

'यही वह लङ्कापुरी दिखायी देती है, जिसका पालन रावण करता है। असुर, नाग और गन्धर्वोंसहित सम्पूर्ण देवताओंके लिये भी इसपर विजय पाना अत्यन्त कठिन है॥ ४॥

कार्यसिद्धिं पुरस्कृत्य मन्त्रयध्वं विनिर्णये।
नित्यं संनिहितो यत्र रावणो राक्षसाधिपः॥ ५॥

'राक्षसराज रावण इस पुरीमें सदा निवास करता है। अब आपलोग इसपर विजय पानेके उपायोंका निर्णय करनेके लिये परस्पर विचार करें'॥ ५॥

अथ तेषु ब्रुवाणेषु रावणावरजोऽब्रवीत्।
वाक्यमग्राम्यपदवत् पुष्कलार्थं विभीषणः॥ ६॥

उन सबके इस प्रकार कहनेपर रावणके छोटे भाई विभीषणने संस्कारयुक्त पद और प्रचुर अर्थसे भरी हुई वाणीमें कहा—॥ ६॥

अनलः पनसश्चैव सम्पातिः प्रमतिस्तथा।
गत्वा लङ्कां ममामात्याः पुरीं पुनरिहागताः॥ ७॥

'मेरे मन्त्री अनल, पनस, सम्पाति और प्रमति—ये चारों लङ्कापुरीमें जाकर फिर यहाँ लौट आये हैं॥ ७॥

भूत्वा शकुनयः सर्वे प्रविष्टाश्च रिपोर्बलम्।
विधानं विहितं यच्च तद् दृष्ट्वा समुपस्थिताः॥ ८॥

'ये सब लोग पक्षीका रूप धारण करके शत्रुकी सेनामें गये थे और वहाँ जो व्यवस्था की गयी है, उसे अपनी आँखों

देखकर फिर यहाँ उपस्थित हुए हैं ॥ ८ ॥

संविधाने यथाहुस्ते रावणस्य दुरात्मनः ।
राम तद् ब्रुवतः सर्वं याथातथ्येन मे शृणु ॥ ९ ॥

'श्रीराम ! इन्होंने दुरात्मा रावणके द्वारा किये गये नगर-रक्षाके प्रबन्धका जैसा वर्णन किया है, उसे मैं ठीक-ठीक बताता हूँ। आप वह सब मुझसे सुनिये ॥ ९ ॥

पूर्वं प्रहस्तः सबलो द्वारमासाद्य तिष्ठति ।
दक्षिणं च महावीर्यौ महापार्श्वमहोदरौ ॥ १० ॥

'सेनासहित प्रहस्त नगरके पूर्वद्वारका आश्रय लेकर खड़ा है। महापराक्रमी महापार्श्व और महोदर दक्षिण द्वारपर खड़े हैं ॥ १० ॥

इन्द्रजित् पश्चिमं द्वारं राक्षसैर्बहुभिर्वृतः ।
पट्टिशासिधनुष्मद्भिः शूलमुद्गरपाणिभिः ॥ ११ ॥
नानाप्रहरणैः शूरैरावृतो रावणात्मजः ।

'बहुसंख्यक राक्षसोंसे घिरा हुआ इन्द्रजित् नगरके पश्चिम द्वारपर खड़ा है। उसके साथी राक्षस पट्टिश, खड्ग, धनुष, शूल और मुद्गर आदि अस्त्र-शस्त्र हाथोंमें लिये हुए हैं। नाना प्रकारके आयुध धारण करनेवाले शूरवीरोंसे घिरा हुआ वह रावणकुमार पश्चिमद्वारकी रक्षाके लिये डटा है ॥ ११½ ॥

राक्षसानां सहस्रैस्तु बहुभिः शस्त्रपाणिभिः ॥ १२ ॥
युक्तः परमसंविग्नो राक्षसैः सह मन्त्रवित् ।
उत्तरं नगरद्वारं रावणः स्वयमास्थितः ॥ १३ ॥

'स्वयं मन्त्रवेत्ता रावण शुक, सारण आदि कई सहस्र शस्त्रधारी राक्षसोंके साथ नगरके उत्तर द्वारपर सावधानीके साथ खड़ा है। वह मन-ही-मन अत्यन्त उद्विग्न जान पड़ता है ॥ १२-१३ ॥

विरूपाक्षस्तु महता शूलखड्गधनुष्मता ।
बलेन राक्षसैः सार्धं मध्यमं गुल्ममाश्रितः ॥ १४ ॥

'विरूपाक्ष शूल, खड्ग और धनुष धारण करनेवाली विशाल राक्षससेनाके साथ नगरके बीचकी छावनीपर खड़ा है ॥ १४ ॥

एतानेवं विधान् गुल्माँल्लङ्कायां समुदीक्ष्य ते ।
मामका मन्त्रिणः सर्वे शीघ्रं पुनरिहागताः ॥ १५ ॥

'इस प्रकार मेरे सारे मन्त्री लङ्कामें विभिन्न स्थानोंपर नियुक्त हुई इन सेनाओंका निरीक्षण करके फिर शीघ्र यहाँ लौटे हैं ॥ १५ ॥

गजानां दशसाहस्रं रथानामयुतं तथा ।
हयानामयुते द्वे च साग्रकोटिश्च रक्षसाम् ॥ १६ ॥

'रावणकी सेनामें दस हजार हाथी, दस हजार रथ, बीस हजार घोड़े और एक करोड़से भी ऊपर पैदल राक्षस हैं ॥ १६ ॥

विक्रान्ता बलवन्तश्च संयुगेष्वाततायिनः ।
इष्टा राक्षसराजस्य नित्यमेते निशाचराः ॥ १७ ॥

'वे सभी बड़े वीर, बल-पराक्रमसे सम्पन्न और युद्धमें आततायी हैं। ये सभी निशाचर राक्षसराज रावणको सदा ही प्रिय हैं ॥ १७ ॥

एकैकस्यात्र युद्धार्थे राक्षसस्य विशाम्पते ।
परीवारः सहस्राणां सहस्रमुपतिष्ठते ॥ १८ ॥

'प्रजानाथ ! इनमेंसे एक-एक राक्षसके पास युद्धके लिये दस-दस लाखका परिवार उपस्थित है' ॥ १८ ॥

एतां प्रवृत्तिं लङ्कायां मन्त्रिप्रोक्तां विभीषणः ।
एवमुक्त्वा महाबाहू राक्षसांस्तानदर्शयत् ॥ १९ ॥
लङ्कायां सचिवैः सर्वं रामाय प्रत्यवेदयत् ।

महाबाहु विभीषणने मन्त्रियोंद्वारा बताये गये लङ्काविषयक समाचारको इस प्रकार बताकर उन मन्त्रीस्वरूप राक्षसोंको भी श्रीरामसे मिलाया और उनके द्वारा लङ्काका सारा वृत्तान्त पुनः उनसे कहलाया ॥ १९½ ॥

रामं कमलपत्राक्षमिदमुत्तरमब्रवीत् ॥ २० ॥
रावणावरजः श्रीमान् रामप्रियचिकीर्षया ।

तदनन्तर रावणके छोटे भाई श्रीमान् विभीषणने कमलनयन श्रीरामसे उनका प्रिय करनेके लिये स्वयं भी यह उत्तम बात कही— ॥ २०½ ॥

कुबेरं तु यदा राम रावणः प्रतियुद्ध्यति ॥ २१ ॥
षष्टिः शतसहस्राणि तदा निर्यान्ति राक्षसाः ।
पराक्रमेण वीर्येण तेजसा सत्त्वगौरवात् ।
सदृशा ह्यत्र दर्पेण रावणस्य दुरात्मनः ॥ २२ ॥

'श्रीराम ! जब रावणने कुबेरके साथ युद्ध किया था, उस समय साठ लाख राक्षस उसके साथ गये थे। वे सब-के-सब बल, पराक्रम, तेज, धैर्यकी अधिकता और दर्पकी दृष्टिसे दुरात्मा रावणके ही समान थे ॥ २१-२२ ॥

अत्र मन्युर्न कर्तव्यः कोपये त्वां न भीषये ।
समर्थो ह्यसि वीर्येण सुराणामपि निग्रहे ॥ २३ ॥

'मैंने जो रावणकी शक्तिका वर्णन किया है, इसको लेकर न तो आपको अपने मनमें दीनता लानी चाहिये और न मुझपर रोष ही करना चाहिये। मैं आपको डराता नहीं, शत्रुके प्रति आपके क्रोधको उभाड़ रहा हूँ; क्योंकि आप अपने बल-पराक्रमद्वारा देवताओंका भी दमन करनेमें समर्थ हैं ॥ २३ ॥

तद्भवांश्चतुरङ्गेण बलेन महता वृतम् ।
व्यूह्येदं वानरानीकं निर्मथिष्यसि रावणम् ॥ २४ ॥

'इसलिये आप इस वानरसेनाका व्यूह बनाकर ही विशाल चतुरङ्गिणी सेनासे घिरे हुए रावणका विनाश कर सकेंगे' ॥ २४ ॥

रावणावरजे वाक्यमेवं ब्रुवति राघवः ।
शत्रूणां प्रतिघातार्थमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २५ ॥

विभीषणके ऐसी बात कहनेपर भगवान् श्रीरामने

शत्रुओंको परास्त करनेके लिये इस प्रकार कहा— ॥ २५ ॥

पूर्वद्वारं तु लङ्काया नीलो वानरपुङ्गवः ।
प्रहस्तं प्रतियोद्धा स्याद् वानरैर्बहुभिर्वृतः ॥ २६ ॥

'बहुसंख्यक वानरोंसे घिरे हुए कपिश्रेष्ठ नील पूर्व द्वारपर जाकर प्रहस्तका सामना करें ॥ २६ ॥

अङ्गदो वालिपुत्रस्तु बलेन महता वृतः ।
दक्षिणे बाधतां द्वारे महापार्श्वमहोदरौ ॥ २७ ॥

'विशाल वाहिनीसे युक्त वालिकुमार अङ्गद दक्षिण द्वारपर स्थित हो महापार्श्व और महोदरके कार्यमें बाधा दें ॥ २७ ॥

हनूमान् पश्चिमद्वारं निष्पीड्य पवनात्मजः ।
प्रविशत्वप्रमेयात्मा बहुभिः कपिभिर्वृतः ॥ २८ ॥

'पवनकुमार हनुमान् अप्रमेय आत्मबलसे सम्पन्न हैं। ये बहुत-से वानरोंके साथ लङ्काके पश्चिम फाटकमें प्रवेश करें ॥ २८ ॥

दैत्यदानवसङ्घानामृषीणां च महात्मनाम् ।
विप्रकारप्रियः क्षुद्रो वरदानबलान्वितः ॥ २९ ॥
परिक्रमति यः सर्वाँल्लोकान् संतापयन् प्रजाः ।
तस्याहं राक्षसेन्द्रस्य स्वयमेव वधे धृतः ॥ ३० ॥
उत्तरं नगरद्वारमहं सौमित्रिणा सह ।
निपीड्याभिप्रवेक्ष्यामि सबलो यत्र रावणः ॥ ३१ ॥

'दैत्यों, दानवसमूहों तथा महात्मा ऋषियोंका अपकार करना ही जिसे प्रिय लगता है, जिसका स्वभाव क्षुद्र है, जो वरदानकी शक्तिसे सम्पन्न है और प्रजाजनोंको संताप देता हुआ सम्पूर्ण लोकोंमें घूमता रहता है, उस राक्षसराज रावणके वधका दृढ़ निश्चय लेकर मैं स्वयं ही सुमित्राकुमार लक्ष्मणके साथ नगरके उत्तर फाटकपर आक्रमण करके उसके भीतर प्रवेश करूँगा, जहाँ सेनासहित रावण विद्यमान है ॥ २९—३१ ॥

वानरेन्द्रश्च बलवानृक्षराजश्च वीर्यवान् ।
राक्षसेन्द्रानुजश्चैव गुल्मे भवतु मध्यमे ॥ ३२ ॥

'बलवान् वानरराज सुग्रीव, रीछोंके पराक्रमी राजा जाम्बवान् तथा राक्षसराज रावणके छोटे भाई विभीषण—ये लोग नगरके बीचके मोर्चेपर आक्रमण करें ॥ ३२ ॥

न चैव मानुषं रूपं कार्यं हरिभिराहवे ।
एषा भवतु नः संज्ञा युद्धेऽस्मिन् वानरे बले ॥ ३३ ॥

'वानरोंको युद्धमें मनुष्यका रूप नहीं धारण करना चाहिये। इस युद्धमें वानरोंकी सेनाका हमारे लिये यही संकेत या चिह्न होगा ॥ ३३ ॥

वानरा एव नश्चिह्नं स्वजनेऽस्मिन् भविष्यति ।
वयं तु मानुषेणैव सप्त योत्स्यामहे परान् ॥ ३४ ॥

'इस स्वजनवर्गमें वानर ही हमारे चिह्न होंगे। केवल हम सात व्यक्ति ही मनुष्यरूपमें रहकर शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे ॥ ३४ ॥

अहमेव सह भ्रात्रा लक्ष्मणेन महौजसा ।
आत्मना पञ्चमश्चायं सखा मम विभीषणः ॥ ३५ ॥

'मैं अपने महातेजस्वी भाई लक्ष्मणके साथ रहूँगा और ये मेरे मित्र विभीषण अपने चार मन्त्रियोंके साथ पाँचवें होंगे (इस प्रकार हम सात व्यक्ति मनुष्यरूपमें रहकर युद्ध करेंगे)' ॥ ३५ ॥

स रामः कृत्यसिद्ध्यर्थमेवमुक्त्वा विभीषणम् ।
सुवेलारोहणे बुद्धिं चकार मतिमान् प्रभुः ।
रमणीयतरं दृष्ट्वा सुवेलस्य गिरेस्तटम् ॥ ३६ ॥

अपने विजयरूपी प्रयोजनकी सिद्धिके लिये विभीषणसे ऐसा कहकर बुद्धिमान् भगवान् श्रीरामने सुवेल पर्वतपर चढ़नेका विचार किया। सुवेलपर्वतका तटप्रान्त बड़ा ही रमणीय था, उसे देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ३६ ॥

ततस्तु रामो महता बलेन
प्रच्छाद्य सर्वां पृथिवीं महात्मा ।
प्रहृष्टरूपोऽभिजगाम लङ्कां
कृत्वा मतिं सोऽरिवधे महात्मा ॥ ३७ ॥

तदनन्तर महामना महात्मा श्रीराम अपनी विशाल सेनाके द्वारा वहाँकी सारी पृथ्वीको आच्छादित करके शत्रुवधका निश्चय किये बड़े हर्ष और उत्साहसे लङ्काकी ओर चले ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें सैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

—★—

अष्टात्रिंशः सर्गः

श्रीरामका प्रमुख वानरोंके साथ सुवेल पर्वतपर चढ़कर वहाँ रातमें निवास करना

स तु कृत्वा सुवेलस्य मतिमारोहणं प्रति ।
लक्ष्मणानुगतो रामः सुग्रीवमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥
विभीषणं च धर्मज्ञमनुरक्तं निशाचरम् ।
मन्त्रज्ञं च विधिज्ञं च श्लक्ष्णया परया गिरा ॥ २ ॥

सुवेल पर्वतपर चढ़नेका विचार करके जिनके पीछे लक्ष्मणजी चल रहे थे, वे भगवान् श्रीराम सुग्रीवसे और धर्मके ज्ञाता, मन्त्रवेत्ता, विधिज्ञ एवं अनुरागी निशाचर विभीषणसे भी उत्तम एवं मधुर वाणीमें बोले— ॥ १-२ ॥

सुवेलं साधु शैलेन्द्रमिमं धातुशतैश्चितम्।
अध्यारोहामहे सर्वे वत्स्यामोऽत्र निशामिमाम्॥ ३॥

'मित्रो! यह पर्वतराज सुवेल सैकड़ों धातुओंसे भलीभाँति भरा हुआ है। हम सब लोग इसपर चढ़ें और आजकी इस रातमें यहीं निवास करें॥ ३॥

लङ्कां चालोकयिष्यामो निलयं तस्य रक्षसः।
येन मे मरणान्ताय हृता भार्या दुरात्मना॥ ४॥

'यहींसे हमलोग उस राक्षसकी निवासभूत लङ्कापुरीका भी अवलोकन करेंगे, जिस दुरात्माने अपनी मृत्युके लिये ही मेरी भार्याका अपहरण किया है॥ ४॥

येन धर्मो न विज्ञातो न वृत्तं न कुलं तथा।
राक्षस्या नीचया बुद्ध्या येन तद् गर्हितं कृतम्॥ ५॥

'जिसने न तो धर्मको जाना है, न सदाचारको ही कुछ समझा है और न कुलका ही विचार किया है; केवल राक्षसोचित नीच बुद्धिके कारण ही वह निन्दित कर्म किया है॥ ५॥

तस्मिन् मे वर्तते रोषः कीर्तिते राक्षसाधमे।
यस्यापराधान्नीचस्य वधं द्रक्ष्यामि रक्षसाम्॥ ६॥

'उस नीच राक्षसका नाम लेते ही उसपर मेरा रोष जाग उठता है। केवल उसी अधम निशाचरके अपराधसे मैं समस्त राक्षसोंका वध देखूँगा॥ ६॥

एको हि कुरुते पापं कालपाशवशं गतः।
नीचेनात्मापचारेण कुलं तेन विनश्यति॥ ७॥

'कालके पाशमें बँधा हुआ एक ही पुरुष पाप करता है, किंतु उस नीचके अपने ही दोषसे सारा कुल नष्ट हो जाता है'॥ ७॥

एवं सम्मन्त्रयन्नेव सक्रोधो रावणं प्रति।
रामः सुवेलं वासाय चित्रसानुमुपारुहत्॥ ८॥

इस प्रकार चिन्तन करते हुए ही श्रीराम रावणके प्रति कुपित हो विचित्र शिखरवाले सुवेल पर्वतपर निवास करनेके लिये चढ़ गये॥ ८॥

पृष्ठतो लक्ष्मणश्चैनमन्वगच्छत् समाहितः।
सशरं चापमुद्यम्य सुमहद्विक्रमे रतः॥ ९॥

उनके पीछे लक्ष्मण भी महान् पराक्रममें तत्पर एवं एकाग्रचित्त हो धनुष-बाण लिये हुए उस पर्वतपर आरूढ़ हो गये॥ ९॥

तमन्वारोहत् सुग्रीवः सामात्यः सविभीषणः।
हनुमानङ्गदो नीलो मैन्दो द्विविद एव च॥ १०॥
गजो गवाक्षो गवयः शरभो गन्धमादनः।
पनसः कुमुदश्चैव हरो रम्भश्च यूथपः॥ ११॥
जाम्बवांश्च सुषेणश्च ऋषभश्च महामतिः।
दुर्मुखश्च महातेजास्तथा शतबलिः कपिः॥ १२॥
एते चान्ये च बहवो वानराः शीघ्रगामिनः।
ते वायुवेगप्रवणास्तं गिरिं गिरिचारिणः॥ १३॥

तत्पश्चात् सुग्रीव, मन्त्रियोंसहित विभीषण, हनुमान्, अङ्गद, नील, मैन्द, द्विविद, गज, गवाक्ष, गवय, शरभ, गन्धमादन, पनस, कुमुद, हर, यूथपति रम्भ, जाम्बवान्, सुषेण, महामति ऋषभ, महातेजस्वी दुर्मुख तथा कपिवर शतबलि—ये और दूसरे भी बहुत-से शीघ्रगामी वानर जो वायुके समान वेगसे चलनेवाले तथा पर्वतोंपर ही विचरनेवाले थे, उस सुवेलगिरिपर चढ़ गये॥ १०—१३॥

अध्यारोहन्त शतशः सुवेलं यत्र राघवः।
ते त्वदीर्घेण कालेन गिरिमारुह्य सर्वतः॥ १४॥

सुवेल पर्वतपर जहाँ श्रीरघुनाथजी विराजमान थे, वे सैकड़ों वानर थोड़ी ही देरमें चढ़ गये और चढ़कर सब ओर विचरने लगे॥ १४॥

ददृशुः शिखरे तस्य विषक्तामिव खे पुरीम्।
तां शुभां प्रवरद्वारां प्राकारवरशोभिताम्॥ १५॥
लङ्कां राक्षससम्पूर्णां ददृशुर्हरियूथपाः।

उन वानर-यूथपतियोंने सुवेलपर्वतके शिखरपर खड़े हो उस सुन्दर लङ्कापुरीका निरीक्षण किया, जो आकाशमें ही बनी हुई-सी जान पड़ती थी। उसके फाटक बड़े मनोहर थे। उत्तम परकोटे उस नगरीकी शोभा बढ़ाते थे तथा वह पुरी राक्षसोंसे भरी-पूरी थी॥ १५ १/२॥

प्राकारवरसंस्थैश्च तथा नीलैश्च राक्षसैः॥ १६॥
ददृशुस्ते हरिश्रेष्ठाः प्राकारमपरं कृतम्॥ १७॥

उत्तम परकोटोंपर खड़े हुए नीलवर्णके राक्षस ऐसे जान पड़ते थे, मानो उन परकोटोंपर दूसरा परकोटा बना दिया गया हो। उन श्रेष्ठ वानरोंने वह सब कुछ देखा॥ १६-१७॥

ते दृष्ट्वा वानराः सर्वे राक्षसान् युद्धकाङ्क्षिणः।
मुमुचुर्विविधान् नादांस्तस्य रामस्य पश्यतः॥ १८॥

युद्धकी इच्छा रखनेवाले राक्षसोंको देखकर वे सब वानर श्रीरामके देखते-देखते नाना प्रकारसे सिंहनाद करने लगे॥ १८॥

ततोऽस्तमगमत् सूर्यः संध्यया प्रतिरञ्जितः।
पूर्णचन्द्रप्रदीप्ता च क्षपा समतिवर्तत॥ १९॥

तदनन्तर संध्याकी लालीसे रँगे हुए सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये और पूर्णचन्द्रमासे प्रकाशित उजेली रात वहाँ सब ओर छा गयी॥ १९॥

ततः स रामो हरिवाहिनीपति-
र्विभीषणेन प्रतिनन्द्य सत्कृतः।
सलक्ष्मणो यूथपयूथसंवृतः
सुवेलपृष्ठे न्यवसद् यथासुखम्॥ २०॥

तत्पश्चात् विभीषणद्वारा सादर सम्मानित हो वानरसेनाके स्वामी श्रीरामने अपने भाई लक्ष्मण और यूथपतियोंके समुदायके साथ सुवेल पर्वतके पृष्ठभागपर सुखपूर्वक निवास किया॥ २०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डेऽष्टात्रिंशः सर्गः॥ ३८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें अड़तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३८॥

—★—

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

वानरोंसहित श्रीरामका सुवेल-शिखरसे लङ्कापुरीका निरीक्षण करना

तां रात्रिमुषितास्तत्र सुवेले हरियूथपाः।
लङ्कायां ददृशुर्वीरा वनान्युपवनानि च॥ १॥

वानर-यूथपतियोंने वह रात उस सुवेलपर्वतपर ही बितायी और वहाँसे उन वीरोंने लङ्काके वन और उपवन भी देखे॥ १॥

समसौम्यानि रम्याणि विशालान्यायतानि च।
दृष्टिरम्याणि ते दृष्ट्वा बभूवुर्जातविस्मयाः॥ २॥

वे बड़े ही चौरस, शान्त, सुन्दर, विशाल और विस्तृत थे तथा देखनेमें अत्यन्त रमणीय जान पड़ते थे। उन्हें देखकर उन सब वानरोंको बड़ा विस्मय हुआ॥ २॥

चम्पकाशोकबकुलशालतालसमाकुला।
तमालवनसंछन्ना नागमालासमावृता॥ ३॥
हिन्तालैरर्जुनैर्नीपैः सप्तपर्णैः सुपुष्पितैः।
तिलकैः कर्णिकारैश्च पाटलैश्च समन्ततः॥ ४॥
शुशुभे पुष्पिताग्रैश्च लतापरिगतैर्द्रुमैः।
लङ्का बहुविधैर्दिव्यैर्यथेन्द्रस्यामरावती॥ ५॥

चम्पा, अशोक, बकुल, शाल और ताल-वृक्षोंसे व्याप्त, तमाल-वनसे आच्छादित और नागकेसरोंसे आवृत लङ्कापुरी हिंताल, अर्जुन, नीप (कदम्ब), खिले हुए छितवन, तिलक, कनेर तथा पाटल आदि नाना प्रकारके दिव्य वृक्षोंसे जिनके अग्रभाग फूलोंके भारसे लदे थे तथा जिनपर लतावल्लरियाँ फैली हुई थीं, इन्द्रकी अमरावतीके समान शोभा पाती थी॥ ३—५॥

विचित्रकुसुमोपेतै रक्तकोमलपल्लवैः।
शाद्वलैश्च तथा नीलैश्चित्राभिर्वनराजिभिः॥ ६॥

विचित्र फूलोंसे युक्त लाल कोमल पल्लवों, हरी-हरी घासों तथा विचित्र वनश्रेणियोंसे भी उस पुरीकी बड़ी शोभा हो रही थी॥ ६॥

गन्धाढ्यान्यतिरम्याणि पुष्पाणि च फलानि च।
धारयन्त्यगमास्तत्र भूषणानीव मानवाः॥ ७॥

जैसे मनुष्य आभूषण धारण करते हैं, उसी प्रकार वहाँके वृक्ष सुगन्धित फूल और अत्यन्त रमणीय फल धारण करते थे॥ ७॥

तच्चैत्ररथसंकाशं मनोज्ञं नन्दनोपमम्।
वनं सर्वर्तुकं रम्यं शुशुभे षट्पदायुतम्॥ ८॥

चैत्ररथ और नन्दनवनके समान वहाँका मनोहर वन सभी ऋतुओंमें भ्रमरोंसे व्याप्त हो रमणीय शोभा धारण करता था॥ ८॥

दात्यूहकोयष्टिबकैर्नृत्यमानैश्च बर्हिणैः।
रुतं परभृतानां च शुश्रुवे वननिर्झरे॥ ९॥

दात्यूह, कोयष्टि, बक और नाचते हुए मोर उस वनको सुशोभित करते थे। वनमें झरनोंके आसपास कोकिलकी कूक सुनायी पड़ती थी॥ ९॥

नित्यमत्तविहंगानि भ्रमराचरितानि च।
कोकिलाकुलखण्डानि विहंगाभिरुतानि च॥ १०॥
भृङ्गराजाधिगीतानि कुररस्वनितानि च।
कोणालकविघुष्टानि सारसाभिरुतानि च॥
विविशुस्ते ततस्तानि वनान्युपवनानि च॥ ११॥

लङ्काके वन और उपवन नित्य मतवाले विहङ्गमोंसे विभूषित थे। वहाँ वृक्षोंकी डालियोंपर भौंरे मँडराते रहते थे। उनके प्रत्येक खण्डमें कोकिलाएँ कुहू-कुहू बोला करती थीं। पक्षी चहचहाते रहते थे। भृङ्गराजके गीत मुखरित होते थे। कुररके शब्द गूँजा करते थे। कोणालकके कलरव होते रहते थे तथा सारसोंकी स्वरलहरी सब ओर छायी रहती थी। कुछ वानरवीर उन वनों और उपवनोंमें घुस गये॥ १०-११॥

हृष्टाः प्रमुदिता वीरा हरयः कामरूपिणः।
तेषां प्रविशतां तत्र वानराणां महौजसाम्॥ १२॥
पुष्पसंसर्गसुरभिर्ववौ घ्राणसुखोऽनिलः।
अन्ये तु हरिवीराणां यूथान्निष्क्रम्य यूथपाः।
सुग्रीवेणाभ्यनुज्ञाता लङ्कां जग्मुः पताकिनीम्॥ १३॥

वे सभी वीर वानर इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले, उत्साही और आनन्दमग्न थे। उन महातेजस्वी वानरोंके वहाँ प्रवेश करते ही फूलोंके संसर्गसे सुगन्धित तथा घ्राणेन्द्रियको सुख देनेवाली मन्द वायु चलने लगी। दूसरे बहुत-से यूथपति उन वानर वीरोंके समूहसे निकलकर सुग्रीवकी आज्ञा ले ध्वजा-पताकाओंसे अलंकृत लङ्कापुरीमें गये॥ १२-१३॥

वित्रासयन्तो विहगान् ग्लापयन्तो मृगद्विपान्।
कम्पयन्तश्च तां लङ्कां नादैः स्वैर्नदतां वराः॥ १४॥

गर्जनेवाले लोगोंमेंसे श्रेष्ठ वे वानरवीर अपने सिंहनादसे पक्षियोंको डराते, मृगों और हाथियोंके हर्ष छीनते तथा लङ्काको कम्पित करते हुए आगे बढ़ रहे थे॥ १४॥

कुर्वन्तस्ते महावेगा महीं चरणपीडिताम्।
रजश्च सहसैवोर्ध्वं जगाम चरणोत्थितम्॥ १५॥

वे महान् वेगशाली वानर पृथ्वीको जब चरणोंसे दबाते थे, उस समय उनके पैरोंसे उठी हुई धूल सहसा ऊपरको उड़ जाती थी॥ १५॥

ऋक्षाः सिंहाश्च महिषा वारणाश्च मृगाः खगाः।
तेन शब्देन वित्रस्ता जग्मुर्भीता दिशो दश॥ १६॥

वानरोंके उस सिंहनादसे त्रस्त एवं भयभीत हुए रीछ, सिंह, भैंसे, हाथी, मृग और पक्षी दसों दिशाओंकी ओर भाग गये॥ १६॥

शिखरं तु त्रिकूटस्य प्रांशु चैकं दिविस्पृशम्।
समन्तात् पुष्पसंछन्नं महारजतसंनिभम्॥ १७॥

त्रिकूट पर्वतका एक शिखर बहुत ऊँचा था। वह ऐसा जान पड़ता था, मानो स्वर्गलोकको छू रहा हो। उसपर सब ओर पीले रंगके फूल खिले हुए थे, जिनसे वह सोनेका-सा जान पड़ता था॥ १७॥

शतयोजनविस्तीर्णं विमलं चारुदर्शनम्।
श्लक्ष्णं श्रीमन्महच्चैव दुष्प्रापं शकुनैरपि॥ १८॥

उस शिखरका विस्तार सौ योजन था। वह देखनेमें बड़ा ही सुन्दर, स्वच्छ, स्निग्ध, कान्तिमान् और विशाल था। पक्षियोंके लिये भी उसकी चोटीतक पहुँचना कठिन होता था॥ १८॥

मनसापि दुरारोहं किं पुनः कर्मणा जनैः।
निविष्टा तस्य शिखरे लङ्का रावणपालिता॥ १९॥

लोग त्रिकूटके उस शिखरपर मनके द्वारा चढ़नेकी कल्पना भी नहीं कर सकते थे। फिर क्रियाद्वारा उसपर आरूढ़ होनेकी तो बात ही क्या है? रावणद्वारा पालित लङ्का त्रिकूटके उसी शिखरपर बसी हुई थी॥ १९॥

दशयोजनविस्तीर्णा विंशद्योजनमायता।
सा पुरी गोपुरैरुच्चैः पाण्डुराम्बुदसंनिभैः।
काञ्चनेन च शालेन राजतेन च शोभते॥ २०॥

वह पुरी दस योजन चौड़ी और बीस योजन लंबी थी। सफेद बादलोंके समान ऊँचे-ऊँचे गोपुर तथा सोने और चाँदीके परकोटे उसकी शोभा बढ़ाते थे॥ २०॥

प्रासादैश्च विमानैश्च लङ्का परमभूषिता।
घनैरिवातपापाये मध्यमं वैष्णवं पदम्॥ २१॥

जैसे ग्रीष्मके अन्तकाल—वर्षा ऋतुमें घनीभूत बादल आकाशकी शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार प्रासादों[1] और विमानोंसे[2] लङ्कापुरी अत्यन्त सुशोभित हो रही थी॥ २१॥

यस्यां स्तम्भसहस्रेण प्रासादः समलंकृतः।
कैलासशिखराकारो दृश्यते खमिवोल्लिखन्॥ २२॥

उस पुरीमें सहस्र खम्भोंसे अलंकृत एक चैत्यप्रासाद था, जो कैलास-शिखरके समान दिखायी देता था। वह आकाशको मापता हुआ-सा जान पड़ता था॥ २२॥

चैत्यः स राक्षसेन्द्रस्य बभूव पुरभूषणम्।
शतेन रक्षसां नित्यं यः समग्रेण रक्ष्यते॥ २३॥

राक्षसराज रावणका वह चैत्यप्रासाद लङ्कापुरीका आभूषण था। कई सौ राक्षस रक्षाके सभी साधनोंसे सम्पन्न होकर प्रतिदिन उसकी रक्षा करते थे॥ २३॥

मनोज्ञां काञ्चनवतीं पर्वतैरुपशोभिताम्।
नानाधातुविचित्रैश्च उद्यानैरुपशोभिताम्॥ २४॥

इस प्रकार वह पुरी बड़ी ही मनोहर, सुवर्णमयी, अनेकानेक पर्वतोंसे अलंकृत, नाना प्रकारकी विचित्र धातुओंसे चित्रित और अनेक उद्यानोंसे सुशोभित थी॥ २४॥

नानाविहगसंघुष्टां नानामृगनिषेविताम्।
नानाकुसुमसम्पन्नां नानाराक्षससेविताम्॥ २५॥

भाँति-भाँतिके विहङ्गम वहाँ अपनी मधुर बोली बोल रहे थे। नाना प्रकारके मृग आदि पशु उसका सेवन करते थे। अनेक प्रकारके फूलोंकी सम्पत्तिसे वह सम्पन्न थी और विविध

---

१. अमरकोशके अनुसार देवताओंके मन्दिरों तथा राजाओंके महलोंको प्रासाद कहते हैं। प्राचीन वास्तुविद्याके अनुसार बहुत लंबा, चौड़ा, ऊँचा और कई भूमियोंका पक्का या पत्थरका बना हुआ भव्य भवन जिसमें अनेक शृङ्ग, शृङ्खल और अण्डक आदि हों 'प्रासाद' कहा गया है। उसमें बहुत-से गवाक्षोंसे युक्त त्रिकोण, चतुष्कोण, आयत और वृत्तशालाएँ बनी होती हैं। आकृतिके भेदसे पुराणोंमें प्रासादके पाँच भेद किये गये हैं—चतुरस्र, चतुरायत, वृत्त, वृत्तायत और अष्टास्र। इनका नाम क्रमशः वैराज, पुष्पक, कैलास, मालक और त्रिविष्टप है। भूमि, अण्डक और शिखर आदिकी न्यूनता-अधिकताके कारण इन पाँचोंके नौ-नौ भेद माने गये हैं। जैसे वैराजके मेरु, मन्दर, विमान, भद्रक, सर्वतोभद्र, रुचक, नन्दन, नन्दिवर्धन और श्रीवत्स; पुष्पकके वलभी, गृहराज, शालागृह, मन्दिर, विमान, ब्रह्ममन्दिर, भवन, उत्तम्भ और शिविकावेश्म; कैलासके वलय, दुन्दुभि, पद्म, महापद्म, भद्रक, सर्वतोभद्र, रुचक, नन्दन, गवाक्ष और गवावृत्त; मालकके गज, वृषभ, हंस, गरुड, सिंह, भूमुख, भूधर, श्रीजय और पृथ्वीधर तथा त्रिविष्टपके वज्र, चक्र, मुष्टिक या बभ्रु, वक्र, स्वस्तिक, खड्ग, गदा, श्रीवृक्ष और विजय।

२. आकाशमार्गसे गमन करनेवाला रथ जो देवता आदिके पास होता है 'विमान' कहलाता है। सात मंजिलके मकानको भी विमान कहते हैं। प्राचीन वास्तुविद्याके अनुसार उस देवमन्दिरको विमानकी संज्ञा दी गयी है जो ऊपरकी ओर पतला होता चला गया हो। मानसार नामक प्राचीन ग्रन्थके अनुसार विमान गोल, चौपहला और अठपहला होता है। गोलको बेसर, चौपहलेको नागर और अठपहलेको द्राविड कहते हैं (हिंदी-शब्दसागरसे)।

प्रकारके आकारवाले राक्षस वहाँ निवास करते थे ॥ २५ ॥

तां समृद्धां समृद्धार्थां लक्ष्मीवाँल्लक्ष्मणाग्रजः ।
रावणस्य पुरीं रामो ददर्श सह वानरैः ॥ २६ ॥

धन-धान्यसे सम्पन्न तथा सम्पूर्ण मनोवाञ्छित वस्तुओंसे भरी-पूरी उस रावण-पुरीको लक्ष्मणके बड़े भाई लक्ष्मीवान् श्रीरामने वानरोंके साथ देखा ॥ २६ ॥

तां महागृहसम्बाधां दृष्ट्वा लक्ष्मणपूर्वजः ।
नगरीं त्रिदिवप्रख्यां विस्मयं प्राप वीर्यवान् ॥ २७ ॥

बड़े-बड़े महलोंसे सघन बसी हुई उस स्वर्गतुल्य नगरीको देखकर पराक्रमी श्रीराम बड़े विस्मित हुए ॥ २७ ॥

तां रत्नपूर्णां बहुसंविधानां
प्रासादमालाभिरलंकृतां च ।
पुरीं महायन्त्रकवाटमुख्यां
ददर्श रामो महता बलेन ॥ २८ ॥

इस प्रकार अपनी विशाल सेनाके साथ श्रीरघुनाथजीने अनेक प्रकारके रत्नोंसे पूर्ण, तरह-तरहकी रचनाओंसे सुसज्जित, ऊँचे-ऊँचे महलोंकी पंक्तिसे अलंकृत और बड़े-बड़े यन्त्रोंसे युक्त मजबूत किवाड़ोंवाली वह अद्भुत पुरी देखी ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें उनतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

—★—

चत्वारिंशः सर्गः

सुग्रीव और रावणका मल्लयुद्ध

ततो रामः सुवेलाग्रं योजनद्वयमण्डलम् ।
उपारोहत् ससुग्रीवो हरियूथैः समन्वितः ॥ १ ॥

तदनन्तर वानरयूथोंसे युक्त सुग्रीवसहित श्रीराम सुवेलपर्वतके सबसे ऊँचे शिखरपर चढ़े, जिसका विस्तार दो योजनका था ॥ १ ॥

स्थित्वा मुहूर्तं तत्रैव दिशो दश विलोकयन् ।
त्रिकूटशिखरे रम्ये निर्मितां विश्वकर्मणा ॥ २ ॥
ददर्श लङ्कां सुन्यस्तां रम्यकाननशोभिताम् ।

वहाँ दो घड़ी ठहरकर दसों दिशाओंकी ओर दृष्टिपात करते हुए श्रीरामने त्रिकूट पर्वतके रमणीय शिखरपर सुन्दर ढंगसे बसी हुई विश्वकर्माद्वारा निर्मित लङ्कापुरीको देखा, जो मनोहर काननोंसे सुशोभित थी ॥ २½ ॥

तस्य गोपुरशृङ्गस्थं राक्षसेन्द्रं दुरासदम् ॥ ३ ॥
श्वेतचामरपर्यन्तं विजयच्छत्रशोभितम् ।
रक्तचन्दनसंलिप्तं रत्नाभरणभूषितम् ॥ ४ ॥

उस नगरके गोपुरकी छतपर उन्हें दुर्जय राक्षसराज रावण बैठा दिखायी दिया, जिसके दोनों ओर श्वेत चँवर डुलाये जा रहे थे, सिरपर विजय-छत्र शोभा दे रहा था। रावणका सारा शरीर रक्तचन्दनसे चर्चित था। उसके अङ्ग लाल रंगके आभूषणोंसे विभूषित थे ॥ ३-४ ॥

नीलजीमूतसंकाशं हेमसंछादिताम्बरम् ।
ऐरावतविषाणाग्रैरुत्कृष्टकिणवक्षसम् ॥ ५ ॥

वह काले मेघके समान जान पड़ता था। उसके वस्त्रोंपर सोनेके काम किये गये थे। ऐरावत हाथीके दाँतोंके अग्रभागसे आहत होनेके कारण उसके वक्षःस्थलमें आघातचिह्न बन गया था ॥ ५ ॥

शशलोहितरागेण संवीतं रक्तवाससा ।
संध्यातपेन संछन्नं मेघराशिमिवाम्बरे ॥ ६ ॥

खरगोशके रक्तके समान लाल रंगसे रँगे हुए वस्त्रसे आच्छादित होकर वह आकाशमें संध्याकालकी धूपसे ढकी हुई मेघमालाके समान दिखायी देता था ॥ ६ ॥

पश्यतां वानरेन्द्राणां राघवस्यापि पश्यतः ।
दर्शनाद् राक्षसेन्द्रस्य सुग्रीवः सहसोत्थितः ॥ ७ ॥

मुख्य-मुख्य वानरों तथा श्रीरघुनाथजीके सामने ही राक्षसराज रावणपर दृष्टि पड़ते ही सुग्रीव सहसा खड़े हो गये ॥ ७ ॥

क्रोधवेगेन संयुक्तः सत्त्वेन च बलेन च ।
अचलाग्रादथोत्थाय पुप्लुवे गोपुरस्थले ॥ ८ ॥

वे क्रोधके वेगसे युक्त और शारीरिक एवं मानसिक बलसे प्रेरित हो सुवेलके शिखरसे उठकर उस गोपुरकी छतपर कूद पड़े ॥ ८ ॥

स्थित्वा मुहूर्तं सम्प्रेक्ष्य निर्भयेनान्तरात्मना ।
तृणीकृत्य च तद् रक्षः सोऽब्रवीत् परुषं वचः ॥ ९ ॥

वहाँ खड़े होकर वे कुछ देर तो रावणको देखते रहे। फिर निर्भय चित्तसे उस राक्षसको तिनकेके समान समझकर वे कठोर वाणीमें बोले— ॥ ९ ॥

लोकनाथस्य रामस्य सखा दासोऽस्मि राक्षस ।
न मया मोक्ष्यसेऽद्य त्वं पार्थिवेन्द्रस्य तेजसा ॥ १० ॥

'राक्षस! मैं लोकनाथ भगवान् श्रीरामका सखा और दास हूँ। महाराज श्रीरामके तेजसे आज तू मेरे हाथसे छूट नहीं सकेगा' ॥ १० ॥

इत्युक्त्वा सहसोत्पत्य पुप्लुवे तस्य चोपरि ।
आकृष्य मुकुटं चित्रं पातयामास तद् भुवि ॥ ११ ॥

ऐसा कहकर वे अकस्मात् उछलकर रावणके ऊपर जा कूदे और उसके विचित्र मुकुटोंको खींचकर उन्होंने पृथ्वीपर गिरा दिया ॥ ११ ॥

समीक्ष्य तूर्णमायान्तं बभाषे तं निशाचरः ।
सुग्रीवस्त्वं परोक्षं मे हीनग्रीवो भविष्यसि ॥ १२ ॥

उन्हें इस प्रकार तीव्र गतिसे अपने ऊपर आक्रमण करते देख रावणने कहा—'अरे! जबतक तू मेरे सामने नहीं आया था, तभीतक सुग्रीव (सुन्दर कण्ठसे युक्त) था। अब तो तू अपनी इस ग्रीवासे रहित हो जायगा' ॥ १२ ॥

इत्युक्त्वोत्थाय तं क्षिप्रं बाहुभ्यामाक्षिपत् तले ।
कन्दुवत् स समुत्थाय बाहुभ्यामाक्षिपद्धरिः ॥ १३ ॥

ऐसा कहकर रावणने अपनी दो भुजाओंद्वारा उन्हें शीघ्र ही उठाकर उस छतकी फर्शपर दे मारा। फिर वानरराज सुग्रीवने भी गेंदकी तरह उछलकर रावणको दोनों भुजाओंसे उठा लिया और उसी फर्शपर जोरसे पटक दिया ॥ १३ ॥

परस्परं स्वेदविदिग्धगात्रौ
परस्परं शोणितरक्तदेहौ ।
परस्परं श्लिष्टनिरुद्धचेष्टौ
परस्परं शाल्मलिकिंशुकाविव ॥ १४ ॥

फिर तो वे दोनों आपसमें गुँथ गये। दोनोंके ही शरीर पसीनेसे तर और खूनसे लथपथ हो गये तथा दोनों ही एक दूसरेकी पकड़में आनेके कारण निश्चेष्ट होकर खिले हुए सेमल और पलाश नामक वृक्षोंके समान दिखायी देने लगे ॥ १४ ॥

मुष्टिप्रहारैश्च तलप्रहारै-
ररत्निघातैश्च कराग्रघातैः ।
तौ चक्रतुर्युद्धमसह्यरूपं
महाबलौ राक्षसवानरेन्द्रौ ॥ १५ ॥

राक्षसराज रावण और वानरराज सुग्रीव दोनों ही बड़े बलवान् थे, अतः दोनों घूँसे, थप्पड़, कोहनी और पंजोंकी मारके साथ बड़ा असह्य युद्ध करने लगे ॥ १५ ॥

कृत्वा नियुद्धं भृशमुग्रवेगौ
कालं चिरं गोपुरवेदिमध्ये ।
उत्क्षिप्य चोत्क्षिप्य विनम्य देहौ
पादक्रमाद् गोपुरवेदिलग्नौ ॥ १६ ॥

गोपुरके चबूतरेपर बहुत देरतक भारी मल्लयुद्ध करके वे भयानक वेगवाले दोनों वीर बार-बार एक-दूसरेको उछालते और झुकाते हुए पैरोंको विशेष दाँव-पेंचके साथ चलाते-चलाते उस चबूतरेसे जा लगे ॥ १६ ॥

अन्योन्यमापीड्य विलग्नदेहौ
तौ पेततुः सालनिखातमध्ये ।
उत्पेततुर्भूमितलं स्पृशन्तौ
स्थित्वा मुहूर्तं त्वभिनिःश्वसन्तौ ॥ १७ ॥

एक-दूसरेको दबाकर परस्पर सटे हुए शरीरवाले वे दोनों योद्धा किलेके परकोटे और खाईके बीचमें गिर गये। वहाँ हाँफते हुए दो घड़ीतक पृथ्वीका आलिङ्गन किये पड़े रहे। तत्पश्चात् उछलकर खड़े हो गये ॥ १७ ॥

आलिङ्ग्य चालिङ्ग्य च बाहुयोक्त्रैः
संयोजयामासतुराहवे तौ ।
संरम्भशिक्षाबलसम्प्रयुक्तौ
सुचेरतुः सम्प्रति युद्धमार्गैः ॥ १८ ॥

फिर वे एक-दूसरेका बार-बार आलिङ्गन करके उसे बाहुपाशमें जकड़ने लगे। दोनों ही क्रोध, शिक्षा (मल्लयुद्ध-विषयक अभ्यास) तथा शारीरिक बलसे सम्पन्न थे; अतः उस युद्धस्थलमें कुश्तीके अनेक दाँव-पेंच दिखाते हुए भ्रमण करने लगे ॥ १८ ॥

शार्दूलसिंहाविव जातदंष्ट्रौ
गजेन्द्रपोताविव सम्प्रयुक्तौ ।
संहत्य संवेद्य च तौ कराभ्यां
तौ पेततुर्वै युगपद् धरायाम् ॥ १९ ॥

जिनके नये-नये दाँत निकले हों, ऐसे बाघ और सिंहके बच्चों तथा परस्पर लड़ते हुए गजराजके छोटे छौनोंके समान वे दोनों वीर अपने वक्षःस्थलसे एक-दूसरेको दबाते और हाथोंसे परस्पर बल आजमाते हुए एक साथ ही पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ १९ ॥

उद्यम्य चान्योन्यमधिक्षिपन्तौ
संचक्रमाते बहु युद्धमार्गैः ।
व्यायामशिक्षाबलसम्प्रयुक्तौ
क्लमं न तौ जग्मतुराशु वीरौ ॥ २० ॥

दोनों ही कसरती जवान थे और युद्धकी शिक्षा तथा बलसे सम्पन्न थे। अतः युद्ध जीतनेके लिये उद्यमशील हो एक-दूसरेपर आक्षेप करते हुए युद्धमार्गपर अनेक प्रकारसे विचरण करते थे तथापि उन वीरोंको जल्दी थकावट नहीं होती थी ॥ २० ॥

बाहूत्तमैर्वारणवारणाभै-
र्निवारयन्तौ परवारणाभौ ।
चिरेण कालेन भृशं प्रयुद्धौ
संचेरतुर्मण्डलमार्गमाशु ॥ २१ ॥

मतवाले हाथियोंके समान सुग्रीव और रावण गजराजके शुण्ड-दण्डकी भाँति मोटे एवं बलिष्ठ बाहुदण्डोंद्वारा एक-दूसरेके दाँवको रोकते हुए बहुत देरतक बड़े आवेशके साथ युद्ध करते और शीघ्रतापूर्वक पैंतरे बदलते रहे ॥ २१ ॥

तौ परस्परमासाद्य यत्तावन्योन्यसूदने ।
मार्जाराविव भक्षार्थेऽवतस्थाते मुहुर्मुहुः ॥ २२ ॥

वे परस्पर भिड़कर एक-दूसरेको मार डालनेका प्रयत्न कर रहे थे। जैसे दो बिलाव किसी भक्ष्य वस्तुके लिये क्रोधपूर्वक स्थित हो परस्पर दृष्टिपात कर बारंबार गुर्राते रहते हैं, उसी तरह रावण और सुग्रीव भी लड़ रहे थे॥ २२॥

मण्डलानि विचित्राणि स्थानानि विविधानि च।
गोमूत्रकाणि चित्राणि गतप्रत्यागतानि च॥ २३॥

विचित्र मण्डल[1] और भाँति-भाँतिके स्थानका[2] प्रदर्शन करते हुए गोमूत्रकी रेखाके समान कुटिल गतिसे चलते और विचित्र रीतिसे कभी आगे बढ़ते और कभी पीछे हटते थे॥ २३॥

तिरश्चीनगतान्येव तथा वक्रगतानि च।
परिमोक्षं प्रहाराणां वर्जनं परिधावनम्॥ २४॥
अभिद्रवणमाप्लावमवस्थानं सविग्रहम्।
परावृत्तमपावृत्तमपद्रुतमवप्लुतम्॥ २५॥
उपन्यस्तमपन्यस्तं युद्धमार्गविशारदौ।
तौ विचेरतुरन्योन्यं वानरेन्द्रश्च रावणः॥ २६॥

वे कभी तिरछी चालसे चलते, कभी टेढ़ी चालसे दायें-बायें घूम जाते, कभी अपने स्थानसे हटकर शत्रुके प्रहारको व्यर्थ कर देते, कभी बदलेमें स्वयं भी दाँव-पेंचका प्रयोग करके शत्रुके आक्रमणसे अपनेको बचा लेते, कभी एक खड़ा रहता तो दूसरा उसके चारों ओर दौड़ लगाता, कभी दोनों एक-दूसरेके सम्मुख शीघ्रतापूर्वक दौड़कर आक्रमण करते, कभी झुककर या मेढककी भाँति धीरेसे उछलकर चलते, कभी लड़ते हुए एक ही जगहपर स्थिर रहते, कभी पीछेकी ओर लौट पड़ते, कभी सामने खड़े-खड़े ही पीछे हटते, कभी विपक्षीको पकड़नेकी इच्छासे अपने शरीरको सिकोड़कर या झुकाकर उसकी ओर दौड़ते, कभी प्रतिद्वन्द्वीपर पैरसे प्रहार करनेके लिये नीचे मुँह किये उसपर टूट पड़ते, कभी प्रतिपक्षी योद्धाकी बाँह पकड़नेके लिये अपनी बाँह फैला देते और कभी विरोधीकी पकड़से बचनेके लिये अपनी बाँहोंको पीछे खींच लेते। इस प्रकार मल्लयुद्धकी कलामें परम प्रवीण वानरराज सुग्रीव तथा रावण एक-दूसरेपर आघात करनेके लिये मण्डलाकार विचर रहे थे॥ २४—२६॥

एतस्मिन्नन्तरे रक्षो मायाबलमथात्मनः।
आरब्धुमुपसम्पेदे ज्ञात्वा तं वानराधिपः॥ २७॥
उत्पपात तदाऽऽकाशं जितकाशी जितक्लमः।
रावणः स्थित एवात्र हरिराजेन वञ्चितः॥ २८॥

इसी बीचमें राक्षस रावणने अपनी मायाशक्तिसे काम लेनेका विचार किया। वानरराज सुग्रीव इस बातको ताड़ गये; इसलिये सहसा आकाशमें उछल पड़े। वे विजयोल्लाससे सुशोभित होते थे और थकावटको जीत चुके थे। वानरराज रावणको चकमा देकर निकल गये और वह खड़ा-खड़ा देखता ही रह गया॥ २७-२८॥

अथ हरिवरनाथः प्राप्तसंग्रामकीर्ति-
र्निशिचरपतिमाजौ योजयित्वा श्रमेण।
गगनमतिविशालं लङ्घयित्वार्कसूनु-
र्हरिगणबलमध्ये रामपार्श्वं जगाम॥ २९॥

जिन्हें संग्राममें कीर्ति प्राप्त हुई थी, वे वानरराज सूर्यपुत्र सुग्रीव निशाचरपति रावणको युद्धमें थकाकर अत्यन्त विशाल आकाशमार्गका लङ्घन करके वानरोंकी सेनाके बीच श्रीरामचन्द्रजीके पास आ पहुँचे॥ २९॥

इति स सवितृसूनुस्तत्र तत् कर्म कृत्वा
पवनगतिरनीकं प्राविशत् सम्प्रहृष्टः।
रघुवरनृपसूनोर्वर्धयन् युद्धहर्षं
तरुमृगगणमुख्यैः पूज्यमानो हरीन्द्रः॥ ३०॥

इस प्रकार वहाँ अद्भुत कर्म करके वायुके समान शीघ्रगामी सूर्यपुत्र सुग्रीवने दशरथराजकुमार श्रीरामके युद्धविषयक उत्साहको बढ़ाते हुए बड़े हर्षके साथ वानरसेनामें प्रवेश किया। उस समय प्रधान-प्रधान वानरोंने वानरराजका अभिनन्दन किया॥ ३०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे चत्वारिंशः सर्गः॥ ४०॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें चालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ४०॥

—★—

१. भरतने मल्लयुद्धमें चार प्रकारके मण्डल बताये हैं। इनके नाम हैं—चारिमण्डल, करणमण्डल, खण्डमण्डल और महामण्डल। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—एक पैरसे आगे बढ़कर चक्कर काटते हुए शत्रुपर आक्रमण करना चारिमण्डल कहलाता है। दो पैरसे मण्डलाकार घूमते हुए आक्रमण करना करणमण्डल कहा गया है। अनेक करणमण्डलोंका संयोग होनेसे खण्डमण्डल होता है और तीन या चार खण्डमण्डलोंके संयोगसे महामण्डल कहा गया है।

२. भरतमुनिने मल्लयुद्धमें छः स्थानोंका उल्लेख किया है—वैष्णव, समपाद, वैशाख, मण्डल, प्रत्यालीढ़ और अनालीढ़। पैरोंको आगे-पीछे अगल-बगलमें चलाते हुए विशेष प्रकारसे उन्हें यथास्थान स्थापित करना ही स्थान कहलाता है। कोई-कोई बाघ, सिंह आदि जन्तुओंके समान खड़े होनेकी रीतिको ही स्थान कहते हैं।

एकचत्वारिंशः सर्गः

श्रीरामका सुग्रीवको दुःसाहससे रोकना, लङ्काके चारों द्वारोंपर वानरसैनिकोंकी नियुक्ति, रामदूत अङ्गदका रावणके महलमें पराक्रम तथा वानरोंके आक्रमणसे राक्षसोंको भय

अथ तस्मिन् निमित्तानि दृष्ट्वा लक्ष्मणपूर्वजः ।
सुग्रीवं सम्परिष्वज्य रामो वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

सुग्रीवके शरीरमें युद्धके चिह्न देखकर लक्ष्मणके बड़े भाई श्रीरामने उन्हें हृदयसे लगा लिया और इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

असम्मन्त्र्य मया सार्धं तदिदं साहसं कृतम् ।
एवं साहसयुक्तानि न कुर्वन्ति जनेश्वराः ॥ २ ॥

'सुग्रीव ! तुमने मुझसे सलाह लिये बिना ही यह बड़े साहसका काम कर डाला । राजालोग ऐसे दुःसाहसपूर्ण कार्य नहीं किया करते हैं ॥ २ ॥

संशये स्थाप्य मां चेदं बलं चेमं विभीषणम् ।
कष्टं कृतमिदं वीर साहसं साहसप्रिय ॥ ३ ॥

'साहसप्रिय वीर ! तुमने मुझको, इस वानरसेनाको और विभीषणको भी संशयमें डालकर जो यह साहसपूर्ण कार्य किया है, इससे हमें बड़ा कष्ट हुआ ॥ ३ ॥

इदानीं मा कृथा वीर एवंविधमरिंदम ।
त्वयि किंचित्समापन्ने किं कार्यं सीतया मम ॥ ४ ॥
भरतेन महाबाहो लक्ष्मणेन यवीयसा ।
शत्रुघ्नेन च शत्रुघ्न स्वशरीरेण वा पुनः ॥ ५ ॥

'शत्रुओंका दमन करनेवाले वीर ! अब फिर तुम ऐसा दुःसाहस न करना । शत्रुसूदन महाबाहो ! यदि तुम्हें कुछ हो गया तो मैं, सीता, भरत, लक्ष्मण, छोटे भाई शत्रुघ्न तथा अपने इस शरीरको भी लेकर क्या करूँगा ? ॥ ४-५ ॥

त्वयि चानागते पूर्वमिति मे निश्चिता मतिः ।
जानतश्चापि ते वीर्यं महेन्द्रवरुणोपम ॥ ६ ॥
हत्वाहं रावणं युद्धे सपुत्रबलवाहनम् ।
अभिषिच्य च लङ्कायां विभीषणमथापि च ॥ ७ ॥
भरते राज्यमारोप्य त्यक्ष्ये देहं महाबल ।

'महेन्द्र और वरुणके समान महाबली ! यद्यपि मैं तुम्हारे बल-पराक्रमको जानता था, तथापि जबतक तुम यहाँ लौटकर नहीं आये थे, उससे पहले मैंने यह निश्चित विचार कर लिया था कि युद्धमें पुत्र, सेना और वाहनोंसहित रावणका वध करके लङ्काके राज्यपर विभीषणका अभिषेक कर दूँगा और अयोध्याका राज्य भरतको देकर अपने इस शरीरको त्याग दूँगा' ॥६-७½ ॥

तमेवं वादिनं रामं सुग्रीवः प्रत्यभाषत ॥ ८ ॥
तव भार्यापहर्तारं दृष्ट्वा राघव रावणम् ।
मर्षयामि कथं वीर जानन् विक्रममात्मनः ॥ ९ ॥

ऐसी बातें कहते हुए श्रीरामको सुग्रीवने यों उत्तर दिया—'वीर रघुनन्दन ! अपने पराक्रमका ज्ञान रखते हुए मैं आपकी भार्याका अपहरण करनेवाले रावणको देखकर कैसे क्षमा कर सकता था ?' ॥ ८-९ ॥

इत्येवं वादिनं वीरमभिनन्द्य च राघवः ।
लक्ष्मणं लक्ष्मिसम्पन्नमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १० ॥

वीर सुग्रीवने जब ऐसी बात कही, तब उनका अभिनन्दन करके श्रीरामचन्द्रजीने शोभासम्पन्न लक्ष्मणसे कहा— ॥ १० ॥

परिगृह्योदकं शीतं वनानि फलवन्ति च ।
बलौघं संविभज्येमं व्यूह्य तिष्ठाम लक्ष्मण ॥ ११ ॥

'लक्ष्मण ! शीतल जलसे भरे हुए जलाशय और फलोंसे सम्पन्न वनका आश्रय ले हमलोग इस विशाल वानरसेनाका विभाग करके व्यूहरचना कर लें और युद्धके लिये उद्यत हो जायँ ॥ ११ ॥

लोकक्षयकरं भीमं भयं पश्याम्युपस्थितम् ।
निबर्हणं प्रवीराणामृक्षवानररक्षसाम् ॥ १२ ॥

'इस समय मैं लोकसंहारकी सूचना देनेवाला भयानक अपशकुन उपस्थित देखता हूँ, जिससे सिद्ध होता है रीछों, वानरों और राक्षसोंके मुख्य-मुख्य वीरोंका संहार होगा ॥ १२ ॥

वाता हि परुषं वान्ति कम्पते च वसुंधरा ।
पर्वताग्राणि वेपन्ते नदन्ति धरणीधराः ॥ १३ ॥

'प्रचण्ड आँधी चल रही है, पृथ्वी काँपने लगी है, पर्वतोंके शिखर हिलने लगे हैं और दिग्गज चीत्कार करते हैं ॥ १३ ॥

मेघाः क्रव्यादसंकाशाः परुषाः परुषस्वराः ।
क्रूराः क्रूरं प्रवर्षन्ते मिश्रं शोणितबिन्दुभिः ॥ १४ ॥

'मेघ हिंसक जीवोंके समान क्रूर हो गये हैं। वे कठोर स्वरमें विकट गर्जना करते हैं तथा रक्त-बिन्दुओंसे मिले हुए जलकी क्रूरतापूर्ण वर्षा कर रहे हैं ॥ १४ ॥

रक्तचन्दनसंकाशा संध्या परमदारुणा ।
ज्वलच्च निपतत्येतदादित्यादग्निमण्डलम् ॥ १५ ॥

'अत्यन्त दारुण संध्या रक्त-चन्दनके समान लाल दिखायी देती है। सूर्यसे यह जलती आगका पुञ्ज गिर रहा है ॥ १५ ॥

आदित्यमभिवाश्यन्ति जनयन्तो महद्भयम् ।
दीना दीनस्वरा घोरा अप्रशस्ता मृगद्विजाः ॥ १६ ॥

'निषिद्ध पशु और पक्षी दीन हो दीनतासूचक स्वरमें सूर्यकी ओर देखते हुए चीत्कार करते हैं, इससे वे बड़े भयंकर लगते और महान् भय उत्पन्न करते हैं ॥ १६ ॥

रजन्यामप्रकाशश्च संतापयति चन्द्रमाः ।
कृष्णरक्तांशुपर्यन्तो यथा लोकस्य संक्षये ॥ १७ ॥

'रातमें चन्द्रमाका प्रकाश क्षीण हो जाता है। वे शीतलताकी जगह संताप देते हैं। उनके किनारेका भाग काला और लाल दिखायी देता है। समस्त लोकोंके संहारकालमें चन्द्रमाका जैसा रूप रहता है, वैसा ही इस समय भी देखा जाता है ॥ १७ ॥

ह्रस्वो रूक्षोऽप्रशस्तश्च परिवेषः सुलोहितः ।
आदित्यमण्डले नीलं लक्ष्म लक्ष्मण दृश्यते ॥ १८ ॥

'लक्ष्मण! सूर्यमण्डलमें छोटा, रूखा, अमङ्गलकारी और अत्यन्त लाल घेरा दिखायी देता है। साथ ही वहाँ काला चिह्न भी दृष्टिगोचर होता है ॥ १८ ॥

दृश्यन्ते न यथावच्च नक्षत्राण्यभिवर्तते ।
युगान्तमिव लोकस्य पश्य लक्ष्मण शंसति ॥ १९ ॥

'लक्ष्मण! ये नक्षत्र अच्छी तरह प्रकाशित नहीं हो रहे हैं—मलिन दिखायी देते हैं। यह अशुभ लक्षण संसारका प्रलय-सा सूचित करता हुआ मेरे सामने प्रकट हो रहा है ॥ १९ ॥

काकाः श्येनास्तथा गृध्रा नीचैः परिपतन्ति च ।
शिवाश्चाप्यशुभा वाचः प्रवदन्ति महास्वनाः ॥ २० ॥

'कौए, बाज और गीध नीचे गिरते हैं—भूतलपर आ-आ बैठते हैं और गीदड़ियाँ बड़े जोर-जोरसे अमङ्गलसूचक बोली बोलती हैं ॥ २० ॥

शैलैः शूलैश्च खड्गैश्च विमुक्तैः कपिराक्षसैः ।
भविष्यत्यावृता भूमिर्मांसशोणितकर्दमा ॥ २१ ॥

'इससे सूचित होता है कि वानरों और राक्षसोंद्वारा चलाये गये शिलाखण्डों, शूलों और खड्गोंसे यह धरती पट जायगी और यहाँ रक्त-मांसकी कीच जम जायगी ॥ २१ ॥

क्षिप्रमद्य दुराधर्षां पुरीं रावणपालिताम् ।
अभियाम जवेनैव सर्वतो हरिभिर्वृताः ॥ २२ ॥

'रावणके द्वारा पालित यह लङ्कापुरी शत्रुओंके लिये दुर्जय है, तथापि अब हम शीघ्र ही वानरोंके साथ इसपर सब ओरसे वेगपूर्वक आक्रमण करें' ॥ २२ ॥

इत्येवं तु वदन् वीरो लक्ष्मणं लक्ष्मणाग्रजः ।
तस्मादवातरच्छीघ्रं पर्वताग्रान्महाबलः ॥ २३ ॥

लक्ष्मणसे ऐसा कहते हुए वीर महाबली श्रीरामचन्द्रजी उस पर्वत-शिखरसे तत्काल नीचे उतर आये ॥ २३ ॥

अवतीर्य तु धर्मात्मा तस्माच्छैलात् स राघवः ।
परैः परमदुर्धर्षं ददर्श बलमात्मनः ॥ २४ ॥

उस पर्वतसे उतरकर धर्मात्मा श्रीरघुनाथजीने अपनी सेनाका निरीक्षण किया, जो शत्रुओंके लिये अत्यन्त दुर्जय थी ॥ २४ ॥

संनह्य तु ससुग्रीवः कपिराजबलं महत् ।
कालज्ञो राघवः काले संयुगायाभ्यचोदयत् ॥ २५ ॥

फिर सुग्रीवकी सहायतासे कपिराजकी उस विशाल सेनाको सुसज्जित करके समयका ज्ञान रखनेवाले श्रीरामने ज्योतिषशास्त्रोक्त शुभ समयमें उसे युद्धके लिये कूच करनेकी आज्ञा दी ॥ २५ ॥

ततः काले महाबाहुर्बलेन महता वृतः ।
प्रस्थितः पुरतो धन्वी लङ्कामभिमुखः पुरीम् ॥ २६ ॥

तदनन्तर महाबाहु धनुर्धर श्रीरघुनाथजी उस विशाल सेनाके साथ शुभ मुहूर्तमें आगे-आगे लङ्कापुरीकी ओर प्रस्थित हुए ॥ २६ ॥

तं विभीषणसुग्रीवौ हनूमाञ्जाम्बवान् नलः ।
ऋक्षराजस्तथा नीलो लक्ष्मणश्चान्वयुस्तदा ॥ २७ ॥

उस समय विभीषण, सुग्रीव, हनुमान्, ऋक्षराज जाम्बवान्, नल, नील तथा लक्ष्मण उनके पीछे-पीछे चले ॥ २७ ॥

ततः पश्चात् सुमहती पृतनर्क्षवनौकसाम् ।
प्रच्छाद्य महतीं भूमिमनुयाति स्म राघवम् ॥ २८ ॥

तत्पश्चात् रीछों और वानरोंकी वह विशाल सेना बहुत बड़ी भूमिको आच्छादित करके श्रीरघुनाथजीके पीछे-पीछे चली ॥ २८ ॥

शैलशृङ्गाणि शतशः प्रवृद्धांश्च महीरुहान् ।
जगृहुः कुञ्जरप्रख्या वानराः परवारणाः ॥ २९ ॥

शत्रुओंको आगे बढ़नेसे रोकनेवाले हाथीके समान विशालकाय वानरोंने सैकड़ों शैलशिखरों और बड़े-बड़े वृक्षोंको हाथमें ले रखा था ॥ २९ ॥

तौ त्वदीर्घेण कालेन भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
रावणस्य पुरीं लङ्कामासेदतुररिंदमौ ॥ ३० ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले वे दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण थोड़ी ही देरमें लङ्कापुरीके पास पहुँच गये ॥ ३० ॥

पताकामालिनीं रम्यामुद्यानवनशोभिताम् ।
चित्रवप्रां सुदुष्प्रापामुच्चैः प्राकारतोरणाम् ॥ ३१ ॥

वह रमणीय ध्वजा-पताकाओंसे अलंकृत थी। अनेकानेक उद्यान और वन उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। उसके चारों ओर बड़ा ही अद्भुत और ऊँचा परकोटा था। उस परकोटेसे मिला हुआ ही नगरका सदर फाटक था। उन परकोटोंके कारण लङ्कापुरीमें पहुँचना किसीके लिये भी अत्यन्त कठिन था ॥ ३१ ॥

तां सुरैरपि दुर्धर्षां रामवाक्यप्रचोदिताः ।
यथानिदेशं सम्पीड्य न्यविशन्त वनौकसः ॥ ३२ ॥

यद्यपि देवताओंके लिये भी लङ्कापर आक्रमण करना कठिन काम था तो भी श्रीरामकी आज्ञासे प्रेरित हो वानर यथास्थान रहकर उस पुरीपर घेरा डालकर उसके भीतर प्रवेश करने लगे ॥ ३२ ॥

लङ्कायास्तूत्तरद्वारं शैलशृङ्गमिवोन्नतम् ।
रामः सहानुजो धन्वी जुगोप च रुरोध च ॥ ३३ ॥

लङ्काका उत्तर द्वार पर्वतशिखरके समान ऊँचा था। श्रीराम और लक्ष्मणने धनुष हाथमें लेकर उसका मार्ग रोक लिया और वहीं रहकर वे अपनी सेनाकी रक्षा करने लगे॥ ३३॥

लङ्कामुपनिविष्टस्तु रामो दशरथात्मजः।
लक्ष्मणानुचरो वीरः पुरीं रावणपालिताम्॥ ३४॥
उत्तरद्वारमासाद्य यत्र तिष्ठति रावणः।
नान्यो रामाद्धि तद् द्वारं समर्थः परिरक्षितुम्॥ ३५॥

दशरथनन्दन वीर श्रीराम लक्ष्मणको साथ ले रावणपालित लङ्कापुरीके पास जा उत्तर द्वारपर पहुँचकर जहाँ स्वयं रावण खड़ा था, वहीं डट गये। श्रीरामके सिवा दूसरा कोई उस द्वारपर अपने सैनिकोंकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हो सकता था॥ ३४-३५॥

रावणाधिष्ठितं भीमं वरुणेनेव सागरम्।
सायुधै राक्षसैर्भीमैरभिगुप्तं समन्ततः॥ ३६॥

अस्त्र-शस्त्रधारी भयंकर राक्षसोंद्वारा सब ओरसे सुरक्षित उस भयानक द्वारपर रावण उसी तरह खड़ा था, जैसे वरुण देवता समुद्रमें अधिष्ठित होते हैं॥ ३६॥

लघूनां त्रासजननं पातालमिव दानवैः।
विन्यस्तानि च योधानां बहूनि विविधानि च॥ ३७॥
ददर्शायुधजालानि तथैव कवचानि च।

वह उत्तर द्वार अल्प बलशाली पुरुषोंके मनमें उसी प्रकार भय उत्पन्न करता था, जैसे दानवोंद्वारा सुरक्षित पाताल भयदायक जान पड़ता है। उस द्वारके भीतर योद्धाओंके बहुत-से भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्र और कवच रखे गये थे, जिन्हें भगवान् श्रीरामने देखा॥ ३७½॥

पूर्वं तु द्वारमासाद्य नीलो हरिचमूपतिः॥ ३८॥
अतिष्ठत् सह मैन्देन द्विविदेन च वीर्यवान्।

वानरसेनापति पराक्रमी नील मैन्द और द्विविदके साथ लङ्काके पूर्वद्वारपर जाकर डट गये॥ ३८½॥

अङ्गदो दक्षिणद्वारं जग्राह सुमहाबलः॥ ३९॥
ऋषभेण गवाक्षेण गजेन गवयेन च।

महाबली अङ्गदने ऋषभ, गवाक्ष, गज और गवयके साथ दक्षिण द्वारपर अधिकार जमा लिया॥ ३९½॥

हनूमान् पश्चिमद्वारं ररक्ष बलवान् कपिः॥ ४०॥
प्रमाथिप्रघसाभ्यां च वीरैरन्यैश्च संगतः।

प्रमाथी, प्रघस तथा अन्य वानरवीरोंके साथ बलवान् कपिश्रेष्ठ हनुमान्ने पश्चिम द्वारका मार्ग रोक लिया॥ ४०½॥

मध्यमे च स्वयं गुल्मे सुग्रीवः समतिष्ठत॥ ४१॥
सह सर्वैर्हरिश्रेष्ठैः सुपर्णपवनोपमैः।

उत्तर और पश्चिमके मध्यभागमें (वायव्यकोणमें) जो राक्षससेनाकी छावनी थी, उसपर गरुड़ और वायुके समान वेगशाली श्रेष्ठ वानरवीरोंके साथ सुग्रीवने आक्रमण किया॥ ४१½॥

वानराणां तु षट्त्रिंशत्कोट्यः प्रख्यातयूथपाः॥ ४२॥
निपीड्योपनिविष्टाश्च सुग्रीवो यत्र वानरः।

जहाँ वानरराज सुग्रीव थे, वहाँ वानरोंके छत्तीस करोड़ विख्यात यूथपति राक्षसोंको पीड़ा देते हुए उपस्थित रहते थे॥ ४२½॥

शासनेन तु रामस्य लक्ष्मणः सविभीषणः॥ ४३॥
द्वारे द्वारे हरीणां तु कोटिं कोटीन्र्यवेशयत्।

श्रीरामकी आज्ञासे विभीषणसहित लक्ष्मणने लङ्काके प्रत्येक द्वारपर एक-एक करोड़ वानरोंको नियुक्त कर दिया॥ ४३½॥

पश्चिमेन तु रामस्य सुषेणः सहजाम्बवान्॥ ४४॥
अदूरान्मध्यमे गुल्मे तस्थौ बहुबलानुगः।

सुषेण और जाम्बवान् बहुत-सी सेनाके साथ श्रीरामचन्द्रजीके पीछे थोड़ी ही दूरपर रहकर बीचके मोर्चेकी रक्षा करते रहे॥ ४४½॥

ते तु वानरशार्दूलाः शार्दूला इव दंष्ट्रिणः।
गृहीत्वा द्रुमशैलाग्रान् हृष्टा युद्धाय तस्थिरे॥ ४५॥

वे वानरसिंह बाघोंके समान बड़े-बड़े दाढ़ोंसे युक्त थे। वे हर्ष और उत्साहमें भरकर हाथोंमें वृक्ष और पर्वत-शिखर लिये युद्धके लिये डट गये॥ ४५॥

सर्वे विकृतलाङ्गूलाः सर्वे दंष्ट्रानखायुधाः।
सर्वे विकृतचित्राङ्गाः सर्वे च विकृताननाः॥ ४६॥

सभी वानरोंकी पूँछें क्रोधके कारण अस्वाभाविक रूपसे हिल रही थीं। दाढ़ें और नख ही उन सबके आयुध थे। उन सबके मुख आदि अङ्गोंपर क्रोधरूप विकारके विचित्र चिह्न परिलक्षित होते थे तथा सबके मुख विकट एवं विकराल दिखायी देते थे॥ ४६॥

दशनागबलाः केचित् केचिद् दशगुणोत्तराः।
केचिन्नागसहस्रस्य बभूवुस्तुल्यविक्रमाः॥ ४७॥

इनमेंसे किन्हीं वानरोंमें दस हाथियोंका बल था, कोई उनसे भी दसगुने अधिक बलवान् थे तथा किन्हींमें एक हजार हाथियोंके समान बल था॥ ४७॥

सन्ति चौघबलाः केचित् केचिच्छतगुणोत्तराः।
अप्रमेयबलाश्चान्ये तत्रासन् हरियूथपाः॥ ४८॥

किन्हींमें दस हजार हाथियोंकी शक्ति थी, कोई इनसे भी सौ गुने बलवान् थे तथा अन्य बहुतेरे वानर-यूथपतियोंमें तो बलका परिमाण ही नहीं था। वे असीम बलशाली थे॥ ४८॥

अद्भुतश्च विचित्रश्च तेषामासीत् समागमः।
तत्र वानरसैन्यानां शलभानामिवोद्गमः॥ ४९॥

वहाँ उन वानरसेनाओंका टिड्डीदलके उद्गमके समान अद्भुत एवं विचित्र समागम हुआ था॥ ४९॥

परिपूर्णमिवाकाशं सम्पूर्णेव च मेदिनी।
लङ्कामुपनिविष्टैश्च सम्पतद्भिश्च वानरैः॥ ५०॥

लङ्कामें उछल-उछलकर आते हुए वानरोंसे आकाश भर गया था और पुरीमें प्रवेश करके खड़े हुए कपिसमूहोंसे वहाँकी सारी पृथ्वी आच्छादित हो गयी थी॥ ५०॥

शतं शतसहस्राणां पृतनर्क्षवनौकसाम्।
लङ्काद्वाराण्युपाजग्मुरन्ये योद्धुं समन्ततः॥ ५१॥

रीछों और वानरोंकी एक करोड़ सेना तो लङ्काके चारों द्वारोंपर आकर डटी थी और अन्य सैनिक सब ओर युद्धके लिये चले गये थे॥ ५१॥

आवृतः स गिरिः सर्वैस्तैः समन्तात् प्लवङ्गमैः।
अयुतानां सहस्रं च पुरीं तामभ्यवर्तत॥ ५२॥

समस्त वानरोंने चारों ओरसे उस त्रिकूट पर्वतको (जिसपर लङ्का बसी थी) घेर लिया था। सहस्र अयुत (एक करोड़) वानर तो उस पुरीमें सभी द्वारोंपर लड़ती हुई सेनाका समाचार लेनेके लिये नगरमें सब ओर घूमते रहते थे॥ ५२॥

वानरैर्बलवद्भिश्च बभूव द्रुमपाणिभिः।
सर्वतः संवृता लङ्का दुष्प्रवेशापि वायुना॥ ५३॥

हाथोंमें वृक्ष लिये बलवान् वानरोंद्वारा सब ओरसे घिरी हुई लङ्कामें वायुके लिये भी प्रवेश पाना कठिन हो गया था॥ ५३॥

राक्षसा विस्मयं जग्मुः सहसाभिनिपीडिताः।
वानरैर्मेघसंकाशैः शक्रतुल्यपराक्रमैः॥ ५४॥

मेघके समान काले एवं भयंकर तथा इन्द्रतुल्य पराक्रमी वानरोंद्वारा सहसा पीड़ित होनेके कारण राक्षसोंको बड़ा विस्मय हुआ॥ ५४॥

महाञ्छब्दोऽभवत् तत्र बलौघस्याभिवर्ततः।
सागरस्येव भिन्नस्य यथा स्यात् सलिलस्वनः॥ ५५॥

जैसे सेतुको विदीर्ण कर अथवा मर्यादाको तोड़कर बहनेवाले समुद्रके जलका महान् शब्द होता है, उसी प्रकार वहाँ आक्रमण करती हुई विशाल वानरसेनाका महान् कोलाहल हो रहा था॥ ५५॥

तेन शब्देन महता सप्राकारा सतोरणा।
लङ्का प्रचलिता सर्वा सशैलवनकानना॥ ५६॥

उस महान् कोलाहलसे परकोटों, फाटकों, पर्वतों, वनों तथा काननोंसहित समूची लङ्कापुरीमें हलचल मच गयी॥ ५६॥

रामलक्ष्मणगुप्ता सा सुग्रीवेण च वाहिनी।
बभूव दुर्धर्षतरा सर्वैरपि सुरासुरैः॥ ५७॥

श्रीराम, लक्ष्मण और सुग्रीवसे सुरक्षित वह विशाल वानरवाहिनी समस्त देवताओं और असुरोंके लिये भी अत्यन्त दुर्जय हो गयी थी॥ ५७॥

राघवः संनिवेश्यैवं स्वसैन्यं रक्षसां वधे।
सम्मन्त्र्य मन्त्रिभिः सार्धं निश्चित्य च पुनः पुनः॥ ५८॥
आनन्तर्यमभिप्रेप्सुः क्रमयोगार्थतत्त्ववित्।
विभीषणस्यानुमते राजधर्ममनुस्मरन्॥ ५९॥
अंगदं वालितनयं समाहूयेदमब्रवीत्।

इस प्रकार राक्षसोंके वधके लिये अपनी सेनाको यथास्थान खड़ी करके उसके बादके कर्तव्यको जाननेकी इच्छासे श्रीरघुनाथजीने मन्त्रियोंके साथ बारंबार सलाह की और एक निश्चयपर पहुँचकर साम, दान आदि उपायोंके क्रमशः प्रयोगसे सुलभ होनेवाले अर्थतत्त्वके ज्ञाता श्रीराम विभीषणकी अनुमति ले राजधर्मका विचार करते हुए वालिपुत्र अङ्गदको बुलाकर उनसे इस प्रकार बोले—॥ ५८-५९½॥

गत्वा सौम्य दशग्रीवं ब्रूहि मद्वचनात् कपे॥ ६०॥
लङ्घयित्वा पुरीं लङ्कां भयं त्यक्त्वा गतव्यथः।
भ्रष्टश्रीकं गतैश्वर्यं मुमूर्षानष्टचेतनम्॥ ६१॥

'सौम्य! कपिप्रवर! दशमुख रावण राज्यलक्ष्मीसे भ्रष्ट हो गया, अब उसका ऐश्वर्य समाप्त हो चला, वह मरना ही चाहता है, इसलिये उसकी चेतना (विचार-शक्ति) नष्ट हो गयी है। तुम परकोटा लाँघकर लङ्कापुरीमें भय छोड़कर जाओ और व्यथारहित हो उससे मेरी ओरसे ये बातें कहो—॥ ६०-६१॥

ऋषीणां देवतानां च गन्धर्वाप्सरसां तथा।
नागानामथ यक्षाणां राज्ञां च रजनीचर॥ ६२॥
यच्च पापं कृतं मोहादवलिप्तेन राक्षस।
नूनं ते विगतो दर्पः स्वयंभूवरदानजः।
तस्य पापस्य सम्प्राप्ता व्युष्टिरद्य दुरासदा॥ ६३॥

''निशाचर! राक्षसराज! तुमने मोहवश घमंडमें आकर ऋषि, देवता, गन्धर्व, अप्सरा, नाग, यक्ष और राजाओंका बड़ा अपराध किया है। ब्रह्माजीका वरदान पाकर तुम्हें जो अभिमान हो गया था, निश्चय ही उसके नष्ट होनेका अब समय आ गया है। तुम्हारे उस पापका दुःसह फल आज उपस्थित है॥ ६२-६३॥

यस्य दण्डधरस्तेऽहं दाराहरणकर्शितः।
दण्डं धारयमाणस्तु लङ्काद्वारे व्यवस्थितः॥ ६४॥

''मैं अपराधियोंको दण्ड देनेवाला शासक हूँ। तुमने जो मेरी भार्याका अपहरण किया है, इससे मुझे बड़ा कष्ट पहुँचा है; अतः तुम्हें उसका दण्ड देनेके लिये मैं लङ्काके द्वारपर आकर खड़ा हूँ॥ ६४॥

पदवीं देवतानां च महर्षीणां च राक्षस।
राजर्षीणां च सर्वेषां गमिष्यसि युधि स्थिरः॥ ६५॥

''राक्षस! यदि तुम युद्धमें स्थिरतापूर्वक खड़े रहे तो उन समस्त देवताओं, महर्षियों और राजर्षियोंकी पदवीको पहुँच

जाओगे—उन्हींकी भाँति तुम्हें परलोकवासी होना पड़ेगा ॥ ६५ ॥

बलेन येन वै सीतां मायया राक्षसाधम।
मामतिक्रमयित्वा त्वं हतवांस्तन्निदर्शय ॥ ६६ ॥

"नीच निशाचर! जिस बलके भरोसे तुमने मुझे धोखा देकर मायासे सीताका हरण किया है, उसे आज युद्धके मैदानमें दिखाओ ॥ ६६ ॥

अराक्षसमिमं लोकं कर्तास्मि निशितैः शरैः।
न चेच्छरणमभ्येषि तामादाय तु मैथिलीम् ॥ ६७ ॥

"यदि तुम मिथिलेशकुमारीको लेकर मेरी शरणमें नहीं आये तो मैं अपने तीखे बाणोंद्वारा इस संसारको राक्षसोंसे सूना कर दूँगा ॥ ६७ ॥

धर्मात्मा राक्षसश्रेष्ठः सम्प्राप्तोऽयं विभीषणः।
लङ्कैश्वर्यमिदं श्रीमान् ध्रुवं प्राप्नोत्यकण्टकम् ॥ ६८ ॥

"राक्षसोंमें श्रेष्ठ ये श्रीमान् धर्मात्मा विभीषण भी मेरे साथ यहाँ आये हैं, निश्चय ही लङ्काका निष्कण्टक राज्य इन्हें ही प्राप्त होगा ॥ ६८ ॥

नहि राज्यमधर्मेण भोक्तुं क्षणमपि त्वया।
शक्यं मूर्खसहायेन पापेनाविदितात्मना ॥ ६९ ॥

"तुम पापी हो। तुम्हें अपने स्वरूपका ज्ञान नहीं है और तुम्हारे संगी-साथी भी मूर्ख हैं; अतः इस प्रकार अधर्मपूर्वक अब तुम एक क्षण भी इस राज्यको नहीं भोग सकोगे ॥ ६९ ॥

युध्यस्व मा धृतिं कृत्वा शौर्यमालम्ब्य राक्षस।
मच्छरैस्त्वं रणे शान्तस्ततः पूतो भविष्यसि ॥ ७० ॥

"राक्षस! शूरताका आश्रय ले धैर्य धारण करके मेरे साथ युद्ध करो। रणभूमिमें मेरे बाणोंसे शान्त (प्राणशून्य) होकर तुम पूत (शुद्ध एवं निष्पाप) हो जाओगे ॥ ७० ॥

यद्याविशसि लोकांस्त्रीन् पक्षीभूतो निशाचर।
मम चक्षुःपथं प्राप्य न जीवन् प्रतियास्यसि ॥ ७१ ॥

"निशाचर! मेरे दृष्टिपथमें आनेके पश्चात् यदि तुम पक्षी होकर तीनों लोकोंमें उड़ते और छिपते फिरो तो भी अपने घरको जीवित नहीं लौट सकोगे ॥ ७१ ॥

ब्रवीमि त्वां हितं वाक्यं क्रियतामौर्ध्वदेहिकम्।
सुदृष्टा क्रियतां लङ्का जीवितं ते मयि स्थितम् ॥ ७२ ॥

"अब मैं तुम्हें हितकी बात बताता हूँ। तुम अपना श्राद्ध कर डालो—परलोकमें सुख देनेवाले दान-पुण्य कर लो और लङ्काको जी भरकर देख लो; क्योंकि तुम्हारा जीवन मेरे अधीन हो चुका है" ॥ ७२ ॥

इत्युक्तः स तु तारेयो रामेणाक्लिष्टकर्मणा।
जगामाकाशमाविश्य मूर्तिमानिव हव्यवाट् ॥ ७३ ॥

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले भगवान् श्रीरामके ऐसा कहनेपर तारकुमार अङ्गद मूर्तिमान् अग्निकी भाँति आकाशमार्गसे चल दिये ॥ ७३ ॥

सोऽतिपत्य मुहूर्तेन श्रीमान् रावणमन्दिरम्।
ददर्शासीनमव्यग्रं रावणं सचिवैः सह ॥ ७४ ॥

श्रीमान् अङ्गद एक ही मुहूर्तमें परकोटा लाँघकर रावणके राजभवनमें जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने मन्त्रियोंके साथ शान्तभावसे बैठे हुए रावणको देखा ॥ ७४ ॥

ततस्तस्याविदूरेण निपत्य हरिपुंगवः।
दीप्ताग्निसदृशस्तस्थावङ्गदः कनकाङ्गदः ॥ ७५ ॥

वानरश्रेष्ठ अङ्गद सोनेके बाजूबंद पहने हुए थे और प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे, वे रावणके निकट पहुँचकर खड़े हो गये ॥ ७५ ॥

तद् रामवचनं सर्वमन्यूनाधिकमुत्तमम्।
सामात्यं श्रावयामास निवेद्यात्मानमात्मना ॥ ७६ ॥

उन्होंने पहले अपना परिचय दिया और मन्त्रियोंसहित रावणको श्रीरामचन्द्रजीकी कही हुई सारी उत्तम बातें ज्यों-की-त्यों सुना दीं। न तो एक भी शब्द कम किया और न बढ़ाया ॥ ७६ ॥

दूतोऽहं कोसलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः।
वालिपुत्रोऽङ्गदो नाम यदि ते श्रोत्रमागतः ॥ ७७ ॥

वे बोले—"मैं अनायास ही बड़े-बड़े उत्तम कर्म करनेवाले कोसलनरेश महाराज श्रीरामका दूत और वालीका पुत्र अङ्गद हूँ। सम्भव है कभी मेरा नाम भी तुम्हारे कानोंमें पड़ा हो ॥ ७७ ॥

आह त्वां राघवो रामः कौसल्यानन्दवर्धनः।
निष्पत्य प्रतियुध्यस्व नृशंस पुरुषो भव ॥ ७८ ॥

"माता कौसल्याका आनन्द बढ़ानेवाले रघुकुलतिलक श्रीरामने तुम्हारे लिये यह संदेश दिया है—'नृशंस रावण! जरा मर्द बनो और घरसे बाहर निकलकर युद्धमें मेरा सामना करो ॥ ७८ ॥

हन्तास्मि त्वां सहामात्यं सपुत्रज्ञातिबान्धवम्।
निरुद्विग्नास्त्रयो लोका भविष्यन्ति हते त्वयि ॥ ७९ ॥

"मैं मन्त्री, पुत्र और बन्धु-बान्धवोंसहित तुम्हारा वध करूँगा; क्योंकि तुम्हारे मारे जानेसे तीनों लोकोंके प्राणी निर्भय हो जायँगे ॥ ७९ ॥

देवदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम्।
शत्रुमद्योद्धरिष्यामि त्वामृषीणां च कण्टकम् ॥ ८० ॥

"तुम देवता, दानव, यक्ष, गन्धर्व, नाग और राक्षस—सभीके शत्रु हो। ऋषियोंके लिये तो कंटकरूप ही हो; अतः आज मैं तुम्हें उखाड़ फेंकूँगा ॥ ८० ॥

विभीषणस्य चैश्वर्यं भविष्यति हते त्वयि।
न चेत् सत्कृत्य वैदेहीं प्रणिपत्य प्रदास्यसि ॥ ८१ ॥

"अतः यदि तुम मेरे चरणोंमें गिरकर आदरपूर्वक सीताको नहीं लौटाओगे तो मेरे हाथसे मारे जाओगे और

तुम्हारे मारे जानेपर लङ्काका सारा ऐश्वर्य विभीषणको प्राप्त होगा'' ॥ ८१ ॥

इत्येवं परुषं वाक्यं ब्रुवाणे हरिपुङ्गवे।
अमर्षवशमापन्नो निशाचरगणेश्वरः ॥ ८२ ॥

वानरशिरोमणि अङ्गदके ऐसे कठोर वचन कहनेपर निशाचरगणोंका राजा रावण अत्यन्त अमर्षसे भर गया ॥ ८२ ॥

ततः स रोषमापन्नः शशास सचिवांस्तदा।
गृह्यतामिति दुर्मेधा वध्यतामिति चासकृत् ॥ ८३ ॥

रोषसे भरे हुए रावणने उस समय अपने मन्त्रियोंसे बार-बार कहा—'पकड़ लो इस दुर्बुद्धि वानरको और मार डालो' ॥ ८३ ॥

रावणस्य वचः श्रुत्वा दीप्ताग्निमिव तेजसा।
जगृहुस्तं ततो घोराश्चत्वारो रजनीचराः ॥ ८४ ॥

रावणकी यह बात सुनकर चार भयंकर निशाचरोंने प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी अङ्गदको पकड़ लिया ॥ ८४ ॥

ग्राहयामास तारेयः स्वयमात्मानमात्मवान्।
बलं दर्शयितुं वीरो यातुधानगणे तदा ॥ ८५ ॥

आत्मबलसे सम्पन्न ताराकुमार अङ्गदने उस समय राक्षसोंको अपना बल दिखानेके लिये स्वयं ही अपने-आपको पकड़ा दिया ॥ ८५ ॥

स तान् बाहुद्वयासक्तानादाय पतगानिव।
प्रासादं शैलसंकाशमुत्पपाताङ्गदस्तदा ॥ ८६ ॥

फिर वे पक्षियोंकी तरह अपनी दोनों भुजाओंसे जकड़े हुए उन चारों राक्षसोंको लिये-दिये ही उछले और उस महलकी छतपर, जो पर्वतशिखरके समान ऊँची थी, चढ़ गये ॥ ८६ ॥

तस्योत्पतनवेगेन निर्धूतास्तत्र राक्षसाः।
भूमौ निपतिताः सर्वे राक्षसेन्द्रस्य पश्यतः ॥ ८७ ॥

उनके उछलनेके वेगसे झटका खाकर वे सब राक्षस राक्षसराज रावणके देखते-देखते पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ८७ ॥

ततः प्रासादशिखरं शैलशृङ्गमिवोन्नतम्।
चक्राम राक्षसेन्द्रस्य वालिपुत्रः प्रतापवान् ॥ ८८ ॥

तदनन्तर प्रतापी वालिकुमार अङ्गद राक्षसराजके उस महलकी चोटीपर, जो पर्वतशिखरके समान ऊँची थी, पैर पटकते हुए घूमने लगे ॥ ८८ ॥

पफाल च तदाक्रान्तं दशग्रीवस्य पश्यतः।
पुरा हिमवतः शृङ्गं वज्रेणेव विदारितम् ॥ ८९ ॥

उनके पैरोंसे आक्रान्त होकर वह छत रावणके देखते-देखते फट गयी। ठीक उसी तरह, जैसे पूर्वकालमें वज्रके आघातसे हिमालयका शिखर विदीर्ण हो गया था ॥ ८९ ॥

भङ्क्त्वा प्रासादशिखरं नाम विश्राव्य चात्मनः।
विनद्य सुमहानादमुत्पपात विहायसा ॥ ९० ॥

इस प्रकार महलकी छत तोड़कर उन्होंने अपना नाम सुनाते हुए बड़े जोरसे सिंहनाद किया और वे आकाशमार्गसे उड़ चले ॥ ९० ॥

व्यथयन् राक्षसान् सर्वान् हर्षयंश्चापि वानरान्।
स वानराणां मध्ये तु रामपार्श्वमुपागतः ॥ ९१ ॥

राक्षसोंको पीड़ा देते और समस्त वानरोंका हर्ष बढ़ाते हुए वे वानरसेनाके बीच श्रीरामचन्द्रजीके पास लौट आये ॥ ९१ ॥

रावणस्तु परं चक्रे क्रोधं प्रासादधर्षणात्।
विनाशं चात्मनः पश्यन् निःश्वासपरमोऽभवत् ॥ ९२ ॥

अपने महलके टूटनेसे रावणको बड़ा क्रोध हुआ, परंतु विनाशकी घड़ी आयी देख वह लंबी साँसे छोड़ने लगा ॥ ९२ ॥

रामस्तु बहुभिर्हृष्टैर्विनदद्भिः प्लवङ्गमैः।
वृतो रिपुवधाकाङ्क्षी युद्धायैवाभ्यवर्तत ॥ ९३ ॥

इधर श्रीरामचन्द्रजी हर्षसे भरकर गर्जना करते हुए बहुसंख्यक वानरोंसे घिरे रहकर युद्धके लिये ही डटे रहे। वे अपने शत्रुका वध करना चाहते थे ॥ ९३ ॥

सुषेणस्तु महावीर्यो गिरिकूटोपमो हरिः।
बहुभिः संवृतस्तत्र वानरैः कामरूपिभिः ॥ ९४ ॥
स तु द्वाराणि संयम्य सुग्रीववचनात् कपिः।
पर्यक्रामत दुर्धर्षो नक्षत्राणीव चन्द्रमाः ॥ ९५ ॥

इसी समय पर्वतशिखरके समान विशालकाय महा-पराक्रमी दुर्जय वानर वीर सुषेणने इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले बहुसंख्यक वानरोंके साथ लङ्काके सभी दरवाजोंको काबूमें कर लिया और सुग्रीवकी आज्ञाके अनुसार वे (अपने सैनिकोंकी रक्षा करने एवं सभी द्वारोंका समाचार जाननेके लिये) बारी-बारीसे उन सबपर विचरने लगे, जैसे चन्द्रमा क्रमशः सब नक्षत्रोंपर गमन करते हैं ॥ ९४-९५ ॥

तेषामक्षौहिणिशतं समवेक्ष्य वनौकसाम्।
लङ्कामुपनिविष्टानां सागरं चाभिवर्तताम् ॥ ९६ ॥
राक्षसा विस्मयं जग्मुस्त्रासं जग्मुस्तथापरे।
अपरे समरे हर्षाद्धर्षमेवोपपेदिरे ॥ ९७ ॥

लङ्कापर घेरा डालकर समुद्रतक फैले हुए उन वनवासी वानरोंकी सौ अक्षौहिणी सेनाओंको देख राक्षसोंको बड़ा विस्मय हुआ। बहुत-से निशाचर भयभीत हो गये तथा अन्य कितने ही राक्षस समराङ्गणमें हर्ष और उत्साहसे भर गये ॥ ९६-९७ ॥

कृत्स्नं हि कपिभिर्व्याप्तं प्राकारपरिखान्तरम्।
ददृशू राक्षसा दीनाः प्राकारं वानरीकृतम्।
हाहाकारमकुर्वन्त राक्षसा भयमागताः ॥ ९८ ॥

उस समय लङ्काकी चहारदीवारी और खाईं सारी-की-सारी वानरोंसे व्याप्त हो रही थी। इस तरह राक्षसोंने चहारदीवारीको जब वानराकार हुई देखा, तब वे दीन-दुःखी और भयभीत हो हाहाकार करने लगे॥ ९८॥

तस्मिन् महाभीषणके प्रवृत्ते
कोलाहले राक्षसराजयोधाः।
प्रगृह्य रक्षांसि महायुधानि
युगान्तवाता इव संविचेरुः॥ ९९॥

वह महाभीषण कोलाहल आरम्भ होनेपर राक्षसराज रावणके योद्धा निशाचर बड़े-बड़े आयुध हाथोंमें लेकर प्रलयकालकी प्रचण्ड वायुके समान सब ओर विचरने लगे॥ ९९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे एकचत्वारिंशः सर्गः॥ ४१॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें इकतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ४१॥

—★—

द्विचत्वारिंशः सर्गः

लङ्कापर वानरोंकी चढ़ाई तथा राक्षसोंके साथ उनका घोर युद्ध

ततस्ते राक्षसास्तत्र गत्वा रावणमन्दिरम्।
न्यवेदयन् पुरीं रुद्धां रामेण सह वानरैः॥ १॥

तदनन्तर उन राक्षसोंने रावणके महलमें जाकर यह निवेदन किया कि 'वानरोंके साथ श्रीरामने लङ्कापुरीको चारों ओरसे घेर लिया है'॥ १॥

रुद्धां तु नगरीं श्रुत्वा जातक्रोधो निशाचरः।
विधानं द्विगुणं कृत्वा प्रासादं चाप्यरोहत॥ २॥

लङ्काके घेरे जानेकी बात सुनकर रावणको बड़ा क्रोध हुआ और वह नगरकी रक्षाका पहलेसे भी दुगुना प्रबन्ध करके महलकी अटारीपर चढ़ गया॥ २॥

स ददर्श वृतां लङ्कां सशैलवनकाननाम्।
असंख्येयैर्हरिगणैः सर्वतो युद्धकाङ्क्षिभिः॥ ३॥

वहाँसे उसने देखा कि पर्वत, वन और काननोंसहित सारी लङ्का सब ओरसे असंख्य युद्धाभिलाषी वानरोंद्वारा घिरी हुई है॥ ३॥

स दृष्ट्वा वानरैः सर्वैर्वसुधां कपिलीकृताम्।
कथं क्षपयितव्याः स्युरिति चिन्तापरोऽभवत्॥ ४॥

इस प्रकार समस्त वानरोंसे आच्छादित वसुधाको कपिल वर्णकी हुई देख वह इस चिन्तामें पड़ गया कि इन सबका विनाश कैसे होगा?॥ ४॥

स चिन्तयित्वा सुचिरं धैर्यमालम्ब्य रावणः।
राघवं हरियूथांश्च ददर्शायतलोचनः॥ ५॥

बहुत देरतक चिन्ता करनेके पश्चात् धैर्य धारण करके विशाल नेत्रोंवाले रावणने श्रीराम और वानरसेनाओंकी ओर पुनः देखा॥ ५॥

राघवः सह सैन्येन मुदितो नाम पुप्लुवे।
लङ्कां ददर्श गुप्तां वै सर्वतो राक्षसैर्वृताम्॥ ६॥

इधर श्रीरामचन्द्रजी अपनी सेनाके साथ प्रसन्नतापूर्वक आगे बढ़े। उन्होंने देखा, लङ्का सब ओरसे राक्षसोंद्वारा आवृत और सुरक्षित है॥ ६॥

दृष्ट्वा दाशरथिर्लङ्कां चित्रध्वजपताकिनीम्।
जगाम सहसा सीतां दूयमानेन चेतसा॥ ७॥

विचित्र ध्वजा-पताकाओंसे अलंकृत लङ्कापुरीको देखकर दशरथनन्दन श्रीराम व्यथित चित्तसे मन-ही-मन सीताका स्मरण करने लगे—॥ ७॥

अत्र सा मृगशावाक्षी मत्कृते जनकात्मजा।
पीड्यते शोकसंतप्ता कृशा स्थण्डिलशायिनी॥ ८॥

'हाय! वह मृगशावकनयनी जनकनन्दिनी सीता यहीं मेरे लिये शोकसंतप्त हो पीड़ा सहन करती है और पृथ्वीकी वेदीपर सोती है। सुनता हूँ, बहुत दुर्बल हो गयी है'॥ ८॥

निपीड्यमानां धर्मात्मा वैदेहीमनुचिन्तयन्।
क्षिप्रमाज्ञापयद् रामो वानरान् द्विषतां वधे॥ ९॥

इस प्रकार राक्षसियोंद्वारा पीड़ित विदेहनन्दिनीका बारम्बार चिन्तन करते हुए धर्मात्मा श्रीरामने तत्काल वानरोंको शत्रुभूत राक्षसोंका वध करनेके लिये आज्ञा दी॥ ९॥

एवमुक्ते तु वचसि रामेणाक्लिष्टकर्मणा।
संघर्षमाणाः प्लवगाः सिंहनादैरनादयन्॥ १०॥

अक्लिष्टकर्मा श्रीरामके इस प्रकार आज्ञा देते ही आगे बढ़नेके लिये परस्पर होड़-सी लगानेवाले वानरोंने अपने सिंहनादोंसे वहाँकी धरती और आकाशको गुँजा दिया॥ १०॥

शिखरैर्विकिरामैतां लङ्कां मुष्टिभिरेव वा।
इति स्म दधिरे सर्वे मनांसि हरियूथपाः॥ ११॥

वे समस्त वानर-यूथपति अपने मनमें यह निश्चय किये खड़े थे कि हमलोग पर्वत-शिखरोंकी वर्षा करके लङ्काके महलोंको चूर-चूर कर देंगे अथवा मुक्कोंसे ही मार-मारकर ढहा देंगे॥ ११॥

उद्यम्य गिरिशृङ्गाणि महान्ति शिखराणि च।
तरूंश्चोत्पाट्य विविधांस्तिष्ठन्ति हरियूथपाः॥ १२॥

वे वानरसेनापति पर्वतोंके बड़े-बड़े शिखर उठाकर और नाना प्रकारके वृक्षोंको उखाड़कर प्रहार करनेके लिये खड़े थे ॥ १२ ॥

प्रेक्षतो राक्षसेन्द्रस्य तान्यनीकानि भागशः ।
राघवप्रियकामार्थं लङ्कामारुरुहुस्तदा ॥ १३ ॥

राक्षसराज रावणके देखते-देखते विभिन्न भागोंमें बँटे हुए वे वानर-सैनिक श्रीरघुनाथजीका प्रिय करनेकी इच्छासे तत्काल लङ्काके परकोटेपर चढ़ गये ॥ १३ ॥

ते ताम्रवक्त्रा हेमाभा रामार्थे त्यक्तजीविताः ।
लङ्कामेवाभ्यवर्तन्त सालभूधरयोधिनः ॥ १४ ॥

ताँबे-जैसे लाल मुँह और सुवर्णकी-सी कान्तिवाले वे वानर श्रीरामचन्द्रजीके लिये प्राण निछावर करनेको तैयार थे। वे सब-के-सब साल वृक्ष और शैल-शिखरोंसे युद्ध करनेवाले थे; इसलिये उन्होंने लङ्कापर ही आक्रमण किया ॥ १४ ॥

ते द्रुमैः पर्वताग्रैश्च मुष्टिभिश्च प्लवंगमाः ।
प्राकाराग्राण्यसंख्यानि ममन्थुस्तोरणानि च ॥ १५ ॥

वे सभी वानर वृक्षों, पर्वत-शिखरों और मुक्कोंसे असंख्य परकोटों और दरवाजोंको तोड़ने लगे ॥ १५ ॥

परिखान् पूरयन्तश्च प्रसन्नसलिलाशयान् ।
पांसुभिः पर्वताग्रैश्च तृणैः काष्ठैश्च वानराः ॥ १६ ॥

उन वानरोंने स्वच्छ जलसे भरी हुई खाइयोंको धूल, पर्वत-शिखर, घास-फूस और काठोंसे पाट दिया ॥ १६ ॥

ततः सहस्रयूथाश्च कोटियूथाश्च यूथपाः ।
कोटियूथशताश्चान्ये लङ्कामारुरुहुस्तदा ॥ १७ ॥

फिर तो सहस्र यूथ, कोटि यूथ और सौ कोटि यूथोंको साथ लिये अनेक यूथपति उस समय लङ्काके किलेपर चढ़ गये ॥ १७ ॥

काञ्चनानि प्रमर्दन्तस्तोरणानि प्लवंगमाः ।
कैलासशिखराग्राणि गोपुराणि प्रमथ्य च ॥ १८ ॥
आप्लवन्तः प्लवन्तश्च गर्जन्तश्च प्लवंगमाः ।
लङ्कां तामभिधावन्ति महावारणसंनिभाः ॥ १९ ॥

बड़े-बड़े गजराजोंके समान विशालकाय वानर सोनेके बने हुए दरवाजोंको धूलमें मिलाते, कैलासशिखरके समान ऊँचे-ऊँचे गोपुरोंको भी ढहाते, उछलते-कूदते एवं गर्जते हुए लङ्कापर धावा बोलने लगे ॥ १८-१९ ॥

जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः ।
राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः ॥ २० ॥
इत्येवं घोषयन्तश्च गर्जन्तश्च प्लवंगमाः ।
अभ्यधावन्त लङ्कायाः प्राकारं कामरूपिणः ॥ २१ ॥

'अत्यन्त बलशाली श्रीरामचन्द्रजीकी जय हो, महाबली लक्ष्मणकी जय हो और श्रीरघुनाथजीके द्वारा सुरक्षित राजा सुग्रीवकी भी जय हो' ऐसी घोषणा करते और गर्जते हुए इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले वानर लङ्काके परकोटेपर टूट पड़े ॥ २०-२१ ॥

वीरबाहुः सुबाहुश्च नलश्च पनसस्तथा ।
निपीड्योपनिविष्टास्ते प्राकारं हरियूथपाः ।
एतस्मिन्नन्तरे चक्रुः स्कन्धावारनिवेशनम् ॥ २२ ॥

इसी समय वीरबाहु, सुबाहु, नल और पनस—ये वानरयूथपति लङ्काके परकोटेपर चढ़कर बैठ गये और उसी बीचमें उन्होंने वहाँ अपनी सेनाका पड़ाव डाल दिया ॥ २२ ॥

पूर्वद्वारं तु कुमुदः कोटिभिर्दशभिर्वृतः ।
आवृत्य बलवांस्तस्थौ हरिभिर्जितकाशिभिः ॥ २३ ॥

बलवान् कुमुद विजयश्रीसे सुशोभित होनेवाले दस करोड़ वानरोंके साथ (ईशानकोणमें रहकर) लङ्काके पूर्व[1] द्वारको घेरकर खड़ा हो गया ॥ २३ ॥

सहायार्थं तु तस्यैव निविष्टः प्रघसो हरिः ।
पनसश्च महाबाहुर्वानरैरभिसंवृतः ॥ २४ ॥

उसीकी सहायताके लिये अन्य वानरोंके साथ महाबाहु पनस और प्रघस भी आकर डट गये ॥ २४ ॥

दक्षिणद्वारमासाद्य वीरः शतबलिः कपिः ।
आवृत्य बलवांस्तस्थौ विंशत्या कोटिभिरावृतः ॥ २५ ॥

वीर शतबलिने (आग्नेयकोणमें स्थित हो) दक्षिण[2] द्वारपर आकर बीस करोड़ वानरोंके साथ उसे घेर लिया और वहीं पड़ाव डाल दिया ॥ २५ ॥

सुषेणः पश्चिमद्वारं गत्वा तारापिता बली ।
आवृत्य बलवांस्तस्थौ कोटिकोटिभिरावृतः ॥ २६ ॥

ताराके बलवान् पिता सुषेण (नैर्ऋत्यकोणमें स्थित हो) कोटि-कोटि वानरोंके साथ पश्चिम[3] द्वारपर आक्रमण करके उसे घेरकर खड़े हो गये ॥ २६ ॥

उत्तरद्वारमागम्य रामः सौमित्रिणा सह ।
आवृत्य बलवांस्तस्थौ सुग्रीवश्च हरीश्वरः ॥ २७ ॥

सुमित्राकुमार लक्ष्मणसहित महाबलवान् श्रीराम तथा वानरराज सुग्रीव उत्तर[4] द्वारको घेरकर खड़े हुए (सुग्रीव पूर्ववर्णनके अनुसार वायव्यकोणमें स्थित हो उत्तर द्वारवर्ती श्रीरामकी सहायता करते थे।) ॥ २७ ॥

गोलाङ्गूलो महाकायो गवाक्षो भीमदर्शनः ।
वृतः कोट्या महावीर्यस्तस्थौ रामस्य पार्श्वतः ॥ २८ ॥

१, २, ३, ४—यहाँ जो पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर शब्द आये हैं, वे क्रमशः ईशान, अग्नि, नैर्ऋत्य और वायव्यकोणका लक्ष्य करानेवाले हैं; क्योंकि पहले (४१ वें सर्गमें) पूर्व आदि दरवाजोंपर नील आदि यूथपतियोंके आक्रमणकी बात कह दी गयी है वे कुमुद आदि वानर निकटवर्ती ईशान आदि कोणोंमें रहकर पूर्वादि द्वारोंपर आक्रमण करके नील आदिकी सहायता करते थे।

लंगूर जातिके विशालकाय महापराक्रमी वानर गवाक्ष, जो देखनेमें बड़े भयंकर थे, एक करोड़ वानरोंके साथ श्रीरामचन्द्रजीके एक बगलमें खड़े हो गये ॥ २८ ॥

ऋक्षाणां भीमकोपानां धूम्रः शत्रुनिबर्हणः ।
वृतः कोट्या महावीर्यस्तस्थौ रामस्य पार्श्वतः ॥ २९ ॥

इसी तरह महाबली शत्रुसूदन ऋक्षराज धूम्र एक करोड़ भयानक क्रोधी रीछोंको साथ लेकर श्रीरामचन्द्रजीके दूसरी ओर खड़े हुए ॥ २९ ॥

संनद्धस्तु महावीर्यो गदापाणिर्विभीषणः ।
वृतो यत्तैस्तु सचिवैस्तस्थौ यत्र महाबलः ॥ ३० ॥

कवच आदिसे सुसज्जित महान् पराक्रमी विभीषण हाथमें गदा लिये अपने सावधान मन्त्रियोंके साथ वहीं आकर डट गये, जहाँ महाबली श्रीराम विद्यमान थे ॥ ३० ॥

गजो गवाक्षो गवयः शरभो गन्धमादनः ।
समन्तात् परिधावन्तो ररक्षुर्हरिवाहिनीम् ॥ ३१ ॥

गज, गवाक्ष, गवय, शरभ और गन्धमादन—सब ओर घूम-घूमकर वानर-सेनाकी रक्षा करने लगे ॥ ३१ ॥

ततः कोपपरीतात्मा रावणो राक्षसेश्वरः ।
निर्याणं सर्वसैन्यानां द्रुतमाज्ञापयत् तदा ॥ ३२ ॥

इसी समय अत्यन्त क्रोधसे भरे हुए राक्षसराज रावणने अपनी सारी सेनाको तुरंत ही बाहर निकलनेकी आज्ञा दी ॥ ३२ ॥

एतच्छ्रुत्वा तदा वाक्यं रावणस्य मुखेरितम् ।
सहसा भीमनिर्घोषमुद्घुष्टं रजनीचरैः ॥ ३३ ॥

रावणके मुखसे बाहर निकलनेका आदेश सुनते ही राक्षसोंने सहसा बड़ी भयानक गर्जना की ॥ ३३ ॥

ततः प्रबोधिता भेर्यश्चन्द्रपाण्डुरपुष्कराः ।
हेमकोणैरभिहता राक्षसानां समन्ततः ॥ ३४ ॥

फिर तो राक्षसोंके यहाँ जिनके मुखभाग चन्द्रमाके समान उज्ज्वल थे और जो सोनेके डंडेसे बजाये या पीटे जाते थे, वे बहुत-से धौंसे एक साथ बज उठे ॥ ३४ ॥

विनेदुश्च महाघोषाः शङ्खाः शतसहस्रशः ।
राक्षसानां सुघोराणां मुखमारुतपूरिताः ॥ ३५ ॥

साथ ही भयानक राक्षसोंके मुखकी वायुसे पूरित हो लाखों गम्भीर घोषवाले शङ्ख बजने लगे ॥ ३५ ॥

ते बभुः शुभनीलाङ्गाः सशङ्खा रजनीचराः ।
विद्युन्मण्डलसंनद्धाः सबलाका इवाम्बुदाः ॥ ३६ ॥

आभूषणोंकी प्रभासे सुशोभित काले शरीरवाले वे निशाचर शङ्ख बजाते समय विद्युत्प्रभासे उद्भासित तथा बकपंक्तियोंसे युक्त नील मेघोंके समान जान पड़ते थे ॥ ३६ ॥

निष्पतन्ति ततः सैन्या हृष्टा रावणचोदिताः ।
समये पूर्यमाणस्य वेगा इव महोदधेः ॥ ३७ ॥

तदनन्तर रावणकी प्रेरणासे उसके सैनिक बड़े हर्षके साथ युद्धके लिये निकलने लगे, मानो प्रलयकालमें महान् मेघोंके जलसे भरे जाते हुए समुद्रके वेग आगे बढ़ रहे हों ॥ ३७ ॥

ततो वानरसैन्येन मुक्तो नादः समन्ततः ।
मलयः पूरितो येन ससानुप्रस्थकन्दरः ॥ ३८ ॥

तत्पश्चात् वानर सैनिकोंने सब ओर बड़े जोरसे सिंहनाद किया, जिससे छोटे-बड़े शिखरों और कन्दराओंसहित मलयपर्वत गूँज उठा ॥ ३८ ॥

शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषः सिंहनादस्तरस्विनाम् ।
पृथिवीं चान्तरिक्षं च सागरं चाभ्यनादयत् ॥ ३९ ॥
गजानां बृंहितैः सार्धं हयानां हेषितैरपि ।
रथानां नेमिनिर्घोषै रक्षसां वदनस्वनैः ॥ ४० ॥

इस प्रकार हाथियोंके चिग्घाड़ने, घोड़ोंके हिनहिनाने, रथोंके पहियोंकी घर्घराहट एवं राक्षसोंके मुखसे प्रकट हुई आवाजके साथ ही शङ्ख और दुन्दुभियोंके शब्द तथा वेगवान् वानरोंके निनादसे पृथ्वी, आकाश और समुद्र निनादित हो उठे ॥ ३९-४० ॥

एतस्मिन्नन्तरे घोरः संग्रामः समपद्यत ।
रक्षसां वानराणां च यथा देवासुरे पुरा ॥ ४१ ॥

इतनेहीमें पूर्वकालमें घटित हुए देवासुर-संग्रामकी भाँति राक्षसों और वानरोंमें घोर युद्ध होने लगा ॥ ४१ ॥

ते गदाभिः प्रदीप्ताभिः शक्तिशूलपरश्वधैः ।
निजघ्नुर्वानरान् सर्वान् कथयन्तः स्वविक्रमान् ॥ ४२ ॥

वे राक्षस दमकती हुई गदाओं तथा शक्ति, शूल और फरसोंसे समस्त वानरोंको मारने एवं अपने पराक्रमकी घोषणा करने लगे ॥ ४२ ॥

तथा वृक्षैर्महाकायाः पर्वताग्रैश्च वानराः ।
निजघ्नुस्तानि रक्षांसि नखैर्दन्तैश्च वेगिनः ॥ ४३ ॥

इसी प्रकार वेगशाली विशालकाय वानर भी राक्षसोंपर बड़े-बड़े वृक्षों, पर्वत-शिखरों, नखों और दाँतोंसे चोट करने लगे ॥ ४३ ॥

राजा जयति सुग्रीव इति शब्दो महानभूत् ।
राजञ्जयजयेत्युक्त्वा स्वस्वनामकथां ततः ॥ ४४ ॥

वानरसेनामें 'वानरराज सुग्रीवकी जय हो' यह महान् शब्द होने लगा। उधर राक्षसलोग भी 'महाराज रावणकी जय हो' ऐसा कहकर अपने-अपने नामका उल्लेख करने लगे ॥ ४४ ॥

राक्षसास्त्वपरे भीमाः प्राकारस्था महीं गतान् ।
वानरान् भिन्दिपालैश्च शूलैश्चैव व्यदारयन् ॥ ४५ ॥

दूसरे बहुत-से भयानक राक्षस जो परकोटेपर चढ़े हुए थे, पृथ्वीपर खड़े हुए वानरोंको भिन्दिपालों और शूलोंसे विदीर्ण करने लगे ॥ ४५ ॥

वानराश्चापि संक्रुद्धाः प्राकारस्थान् महीं गताः ।
राक्षसान् पातयामासुः खमाप्लुत्य स्वबाहुभिः ॥ ४६ ॥

तब पृथ्वीपर खड़े हुए वानर भी अत्यन्त कुपित हो उठे और आकाशमें उछलकर परकोटेपर बैठे हुए राक्षसोंको अपनी बाँहोंसे पकड़-पकड़कर गिराने लगे ॥ ४६ ॥

स सम्प्रहारस्तुमुलो मांसशोणितकर्दमः ।
रक्षसां वानराणां च सम्बभूवाद्भुतोपमः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार राक्षसों और वानरोंमें बड़ा ही अद्भुत घमासान युद्ध हुआ, जिससे वहाँ रक्त और मांसकी कीच जम गयी ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें बयालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

—★—

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

द्वन्द्वयुद्धमें वानरोंद्वारा राक्षसोंकी पराजय

युध्यतां तु ततस्तेषां वानराणां महात्मनाम् ।
रक्षसां सम्बभूवाथ बलरोषः सुदारुणः ॥ १ ॥

तदनन्तर परस्पर युद्ध करते हुए महामना वानरों और राक्षसोंको एक-दूसरेकी सेनाको देखकर बड़ा भयंकर रोष हुआ ॥ १ ॥

ते हयैः काञ्चनापीडैर्गजैश्चाग्निशिखोपमैः ।
रथैश्चादित्यसंकाशैः कवचैश्च मनोरमैः ॥ २ ॥
निर्ययू राक्षसा वीरा नादयन्तो दिशो दश ।
राक्षसा भीमकर्माणो रावणस्य जयैषिणः ॥ ३ ॥

सोनेके आभूषणोंसे विभूषित घोड़ों, हाथियों, अग्निकी ज्वालाके समान देदीप्यमान रथों तथा सूर्यतुल्य तेजस्वी मनोरम कवचोंसे युक्त वे वीर राक्षस दसों दिशाओंको अपनी गर्जनासे गुँजाते हुए निकले। भयानक कर्म करनेवाले वे सभी निशाचर रावणकी विजय चाहते थे ॥ २-३ ॥

वानराणामपि चमूर्बृहती जयमिच्छताम् ।
अभ्यधावत तां सेनां रक्षसां घोरकर्मणाम् ॥ ४ ॥

भगवान् श्रीरामकी विजय चाहनेवाले वानरोंकी उस विशाल सेनाने भी घोर कर्म करनेवाले राक्षसोंकी सेनापर धावा किया ॥ ४ ॥

एतस्मिन्नन्तरे तेषामन्योन्यमभिधावताम् ।
रक्षसां वानराणां च द्वन्द्वयुद्धमवर्तत ॥ ५ ॥

इसी समय एक-दूसरेपर धावा बोलते हुए राक्षसों और वानरोंमें द्वन्द्वयुद्ध छिड़ गया ॥ ५ ॥

अङ्गदेनेन्द्रजित्सार्धं वालिपुत्रेण राक्षसः ।
अयुध्यत महातेजास्त्र्यम्बकेण यथान्धकः ॥ ६ ॥

वालिपुत्र अङ्गदके साथ महातेजस्वी राक्षस इन्द्रजित् उसी तरह भिड़ गया, जैसे त्रिनेत्रधारी महादेवजीके साथ अन्धकासुर लड़ रहा हो ॥ ६ ॥

प्रजङ्घेन च सम्पातिर्नित्यं दुर्धर्षणो रणे ।
जम्बुमालिनमारब्धो हनूमानपि वानरः ॥ ७ ॥

प्रजंघ नामक राक्षसके साथ सदा ही रणदुर्जय वीर सम्पातिने और जम्बुमालीके साथ वानर वीर हनुमान्‌जीने युद्ध आरम्भ किया ॥ ७ ॥

संगतस्तु महाक्रोधो राक्षसो रावणानुजः ।
समरे तीक्ष्णवेगेन शत्रुघ्नेन विभीषणः ॥ ८ ॥

अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए रावणानुज राक्षस विभीषण समराङ्गणमें प्रचण्ड वेगशाली शत्रुघ्नके साथ उलझ गये ॥ ८ ॥

तपनेन गजः सार्धं राक्षसेन महाबलः ।
निकुम्भेन महातेजा नीलोऽपि समयुध्यत ॥ ९ ॥

महाबली गज तपन नामक राक्षसके साथ लड़ने लगे। महातेजस्वी नील भी निकुम्भसे जूझने लगे ॥ ९ ॥

वानरेन्द्रस्तु सुग्रीवः प्रघसेन सुसंगतः ।
संगतः समरे श्रीमान् विरूपाक्षेण लक्ष्मणः ॥ १० ॥

वानरराज सुग्रीव प्रघसके साथ और श्रीमान् लक्ष्मण समरभूमिमें विरूपाक्षके साथ युद्ध करने लगे ॥ १० ॥

अग्निकेतुः सुदुर्धर्षो रश्मिकेतुश्च राक्षसः ।
सुप्तघ्नो यज्ञकोपश्च रामेण सह संगताः ॥ ११ ॥

दुर्जय वीर अग्निकेतु, रश्मिकेतु, सुप्तघ्न और यज्ञकोप—ये सब राक्षस श्रीरामचन्द्रजीके साथ जूझने लगे ॥ ११ ॥

वज्रमुष्टिश्च मैन्देन द्विविदेनाशनिप्रभः ।
राक्षसाभ्यां सुघोराभ्यां कपिमुख्यौ समागतौ ॥ १२ ॥

मैन्दके साथ वज्रमुष्टि और द्विविदके साथ अशनिप्रभ युद्ध करने लगे। इस प्रकार इन दोनों भयानक राक्षसोंके साथ वे दोनों कपिशिरोमणि वीर भिड़े हुए थे ॥ १२ ॥

वीरः प्रतपनो घोरो राक्षसो रणदुर्धरः ।
समरे तीक्ष्णवेगेन नलेन समयुध्यत ॥ १३ ॥

प्रतपन नामसे प्रसिद्ध एक घोर राक्षस था, जिसे

रणभूमिमें परास्त करना अत्यन्त कठिन था। वह वीर निशाचर समराङ्गणमें प्रचण्ड वेगशाली नलके साथ युद्ध करने लगा॥ १३॥

धर्मस्य पुत्रो बलवान् सुषेण इति विश्रुतः।
स विद्युन्मालिना सार्धमयुध्यत महाकपिः॥ १४॥

धर्मके बलवान् पुत्र महाकपि सुषेण राक्षस विद्युन्मालीके साथ लोहा लेने लगे॥ १४॥

वानराश्चापरे घोरा राक्षसैरपरैः सह।
द्वन्द्वं समीयुः सहसा युद्ध्वा च बहुभिः सह॥ १५॥

इसी प्रकार अन्यान्य भयानक वानर बहुतोंके साथ युद्ध करनेके पश्चात् दूसरे-दूसरे राक्षसोंके साथ सहसा द्वन्द्वयुद्ध करने लगे॥ १५॥

तत्रासीत् सुमहद् युद्धं तुमुलं रोमहर्षणम्।
रक्षसां वानराणां च वीराणां जयमिच्छताम्॥ १६॥

वहाँ राक्षस और वानरवीर अपनी-अपनी विजय चाहते थे। उनमें बड़ा भयंकर और रोमाञ्चकारी युद्ध होने लगा॥ १६॥

हरिराक्षसदेहेभ्यः प्रभूताः केशशाद्वलाः।
शरीरसंघाटवहाः प्रसुस्रुः शोणितापगाः॥ १७॥

वानरों और राक्षसोंके शरीरोंसे निकलकर बहुत-सी खूनकी नदियाँ बहने लगीं। उनके सिरके बाल ही वहाँ शैवाल (सेवार) के समान जान पड़ते थे। वे नदियाँ सैनिकोंकी लाशरूपी काष्ठसमूहोंको बहाये लिये जाती थीं॥ १७॥

आजघानेन्द्रजित् क्रुद्धो वज्रेणेव शतक्रतुः।
अङ्गदं गदया वीरं शत्रुसैन्यविदारणम्॥ १८॥

जिस प्रकार इन्द्र वज्रसे प्रहार करते हैं, उसी तरह इन्द्रजित् मेघनादने शत्रुसेनाको विदीर्ण करनेवाले वीर अङ्गदपर गदासे आघात किया॥ १८॥

तस्य काञ्चनचित्राङ्गं रथं साश्वं ससारथिम्।
जघान गदया श्रीमानङ्गदो वेगवान् हरिः॥ १९॥

किंतु वेगशाली वानर श्रीमान् अङ्गदने उसकी गदा हाथसे पकड़ ली और उसी गदासे इन्द्रजित्के सुवर्णजटित रथको सारथि और घोड़ोंसहित चूर-चूर कर डाला॥ १९॥

सम्पातिस्तु प्रजङ्घेन त्रिभिर्बाणैः समाहतः।
निजघानाश्वकर्णेन प्रजङ्घं रणमूर्धनि॥ २०॥

प्रजङ्घने सम्पातिको तीन बाणोंसे घायल कर दिया। तब सम्पातिने भी अश्वकर्ण नामक वृक्षसे युद्धके मुहानेपर प्रजङ्घको मार डाला॥ २०॥

जम्बुमाली रथस्थस्तु रथशक्त्या महाबलः।
बिभेद समरे क्रुद्धो हनूमन्तं स्तनान्तरे॥ २१॥

महाबली जम्बुमाली रथपर बैठा हुआ था। उसने कुपित होकर समराङ्गणमें एक रथ-शक्तिके द्वारा हनुमान‌जीकी छातीपर चोट की॥ २१॥

तस्य तं रथमास्थाय हनूमान् मारुतात्मजः।
प्रममाथ तलेनाशु सह तेनैव रक्षसा॥ २२॥

परंतु पवननन्दन हनुमान् उछलकर उसके उस रथपर चढ़ गये और तुरंत ही थप्पड़से मारकर उन्होंने उस राक्षसके साथ ही उस रथको भी चौपट कर दिया (जम्बुमाली मर गया)॥ २२॥

नदन् प्रतपनो घोरो नलं सोऽभ्यनुधावत।
नलः प्रतपनस्याशु पातयामास चक्षुषी॥ २३॥
भिन्नगात्रः शरैस्तीक्ष्णैः क्षिप्रहस्तेन रक्षसा।

दूसरी ओर भयानक राक्षस प्रतपन भीषण गर्जना करके नलकी ओर दौड़ा। शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले उस राक्षसने अपने तीखे बाणोंसे नलके शरीरको क्षत-विक्षत कर दिया। तब नलने तत्काल ही उसकी दोनों आँखें निकाल लीं॥ २३ 1/2॥

ग्रसन्तमिव सैन्यानि प्रघसं वानराधिपः॥ २४॥
सुग्रीवः सप्तपर्णेन निजघान जवेन च।

उधर राक्षस प्रघस वानरसेनाको कालका ग्रास बना रहा था। यह देख वानरराज सुग्रीवने सप्तपर्णनामक वृक्षसे उसे वेगपूर्वक मार गिराया॥ २४ 1/2॥

प्रपीड्य शरवर्षेण राक्षसं भीमदर्शनम्॥ २५॥
निजघान विरूपाक्षं शरेणैकेन लक्ष्मणः।

लक्ष्मणने पहले बाणोंकी वर्षा करके भयंकर दृष्टिवाले राक्षस विरूपाक्षको बहुत पीड़ा दी। फिर एक बाणसे मारकर उसे मौतके घाट उतार दिया॥ २५ 1/2॥

अग्निकेतुश्च दुर्धर्षो रश्मिकेतुश्च राक्षसः।
सुप्तघ्नो यज्ञकोपश्च रामं निर्बिभिदुः शरैः॥ २६॥

अग्निकेतु, दुर्जय रश्मिकेतु, सुप्तघ्न और यज्ञकोप नामक राक्षसोंने श्रीरामचन्द्रजीको अपने बाणोंसे घायल कर दिया॥ २६॥

तेषां चतुर्णां रामस्तु शिरांसि समरे शरैः।
क्रुद्धश्चतुर्भिश्चिच्छेद घोरैरग्निशिखोपमैः॥ २७॥

तब श्रीरामने कुपित हो अग्निशिखाके समान भयंकर बाणोंद्वारा समराङ्गणमें उन चारोंके सिर काट लिये॥ २७॥

वज्रमुष्टिस्तु मैन्देन मुष्टिना निहतो रणे।
पपात सरथः साश्वः सुराट्ट इव भूतले॥ २८॥

उस युद्धस्थलमें मैन्दने वज्रमुष्टिपर मुक्केका प्रहार किया, जिससे वह रथ और घोड़ोंसहित उसी तरह पृथ्वीपर गिर पड़ा, मानो देवताओंका विमान धराशायी हो गया हो॥ २८॥

निकुम्भस्तु रणे नीलं नीलाञ्जनचयप्रभम्।
निर्बिभेद शरैस्तीक्ष्णैः करैर्मेघमिवांशुमान्॥ २९॥

निकुम्भने काले कोयलेके समूहकी भाँति नील वर्णवाले

नीलको रणक्षेत्रमें अपने पैने बाणोंद्वारा उसी तरह छिन्न-भिन्न कर दिया, जैसे सूर्यदेव अपनी प्रचण्ड किरणोंद्वारा बादलोंको फाड़ देते हैं ॥ २९ ॥

पुनः शरशतेनाथ क्षिप्रहस्तो निशाचरः ।
बिभेद समरे नीलं निकुम्भः प्रजहास च ॥ ३० ॥

परंतु शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले उस निशाचरने समराङ्गणमें नीलको पुनः सौ बाणोंसे घायल कर दिया। ऐसा करके निकुम्भ जोर-जोरसे हँसने लगा ॥ ३० ॥

तस्यैव रथचक्रेण नीलो विष्णुरिवाहवे ।
शिरश्चिच्छेद समरे निकुम्भस्य च सारथेः ॥ ३१ ॥

यह देख नीलने उसीके रथके पहियेसे युद्धस्थलमें निकुम्भ तथा उसके सारथिका उसी तरह सिर काट लिया, जैसे भगवान् विष्णु संग्रामभूमिमें अपने चक्रसे दैत्योंके मस्तक उड़ा देते हैं ॥ ३१ ॥

वज्राशनिसमस्पर्शो द्विविदोऽप्यशनिप्रभम् ।
जघान गिरिशृङ्गेण मिषतां सर्वरक्षसाम् ॥ ३२ ॥

द्विविदका स्पर्श वज्र और अशनिके समान दुःसह था। उन्होंने सब राक्षसोंके देखते-देखते अशनिप्रभ नामक निशाचरपर एक पर्वतशिखरसे प्रहार किया ॥ ३२ ॥

द्विविदं वानरेन्द्रं तु द्रुमयोधिनमाहवे ।
शरैरशनिसंकाशैः स विव्याधाशनिप्रभः ॥ ३३ ॥

तब अशनिप्रभने युद्धस्थलमें वृक्ष लेकर युद्ध करनेवाले वानरराज द्विविदको वज्रतुल्य तेजस्वी बाणोंद्वारा घायल कर दिया ॥ ३३ ॥

स शरैरभिविद्धाङ्गो द्विविदः क्रोधमूर्च्छितः ।
सालेन सरथं साश्वं निजघानाशनिप्रभम् ॥ ३४ ॥

द्विविदका सारा शरीर बाणोंसे क्षत-विक्षत हो गया था, इससे उन्हें बड़ा क्रोध हुआ और उन्होंने एक सालवृक्षसे रथ और घोड़ोंसहित अशनिप्रभको मार गिराया ॥ ३४ ॥

विद्युन्माली रथस्थस्तु शरैः काञ्चनभूषणैः ।
सुषेणं ताडयामास ननाद च मुहुर्मुहुः ॥ ३५ ॥

रथपर बैठे हुए विद्युन्मालीने अपने सुवर्णभूषित बाणोंद्वारा सुषेणको बारम्बार घायल किया। फिर वह जोर-जोरसे गर्जना करने लगा ॥ ३५ ॥

तं रथस्थमथो दृष्ट्वा सुषेणो वानरोत्तमः ।
गिरिशृङ्गेण महता रथमाशु न्यपातयत् ॥ ३६ ॥

उसे रथपर बैठा देख वानरशिरोमणि सुषेणने एक विशाल पर्वत-शिखर चलाकर उसके रथको शीघ्र ही चूर-चूर कर डाला ॥ ३६ ॥

लाघवेन तु संयुक्तो विद्युन्माली निशाचरः ।
अपक्रम्य रथात् तूर्णं गदापाणिः क्षितौ स्थितः ॥ ३७ ॥

निशाचर विद्युन्माली तुरंत ही बड़ी फुर्तीके साथ रथसे नीचे कूद पड़ा और हाथमें गदा लेकर पृथ्वीपर खड़ा हो गया गया ॥ ३७ ॥

ततः क्रोधसमाविष्टः सुषेणो हरिपुङ्गवः ।
शिलां सुमहतीं गृह्य निशाचरमभिद्रवत् ॥ ३८ ॥

तदनन्तर क्रोधसे भरे हुए वानरशिरोमणि सुषेण एक बहुत बड़ी शिला लेकर उस निशाचरकी ओर दौड़े ॥ ३८ ॥

तमापतन्तं गदया विद्युन्माली निशाचरः ।
वक्षस्यभिजघानाशु सुषेणं हरिपुङ्गवम् ॥ ३९ ॥

कपिश्रेष्ठ सुषेणको आक्रमण करते देख निशाचर विद्युन्मालीने तत्काल ही गदासे उनकी छातीपर प्रहार किया ॥ ३९ ॥

गदाप्रहारं तं घोरमचिन्त्य प्लवगोत्तमः ।
तां तूष्णीं पातयामास तस्योरसि महामृधे ॥ ४० ॥

गदाके उस भीषण प्रहारकी कुछ भी परवा न करके वानरप्रवर सुषेणने उसी पहलेवाली शिलाको चुपचाप उठा लिया और उस महासमरमें उसे विद्युन्मालीकी छातीपर दे मारा ॥ ४० ॥

शिलाप्रहाराभिहतो विद्युन्माली निशाचरः ।
निष्पिष्टहृदयो भूमौ गतासुर्निपपात ह ॥ ४१ ॥

शिलाके प्रहारसे घायल हुए निशाचर विद्युन्मालीकी छाती चूर-चूर हो गयी और वह प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ४१ ॥

एवं तैर्वानरैः शूरैः शूरास्ते रजनीचराः ।
द्वन्द्वे विमथितास्तत्र दैत्या इव दिवौकसैः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार वे शूरवीर निशाचर शौर्यसम्पन्न वानर-वीरोंद्वारा वहाँ द्वन्द्वयुद्धमें उसी तरह कुचल दिये गये जैसे देवताओंद्वारा दैत्य मथ डाले गये थे ॥ ४२ ॥

भल्लैश्चान्यैर्गदाभिश्च शक्तितोमरसायकैः ।
अपविद्धैश्चापि रथैस्तथा सांग्रामिकैर्हयैः ॥ ४३ ॥
निहतैः कुञ्जरैर्मत्तैस्तथा वानरराक्षसैः ।
चक्राक्षयुगदण्डैश्च भग्नैर्धरणिसंश्रितैः ॥ ४४ ॥
बभूवायोधनं घोरं गोमायुगणसेवितम् ।
कबन्धानि समुत्पेतुर्दिक्षु वानररक्षसाम् ।
विमर्दे तुमुले तस्मिन् देवासुररणोपमे ॥ ४५ ॥

उस समय भालों, अन्यान्य बाणों, गदाओं, शक्तियों, तोमरों, सायकों, टूटे और फेंके हुए रथों, फौजी घोड़ों, मरे हुए मतवाले हाथियों, वानरों, राक्षसों, पहियों तथा टूटे हुए जूओंसे, जो धरतीपर बिखरे पड़े थे, वह युद्धभूमि बड़ी भयानक हो रही थी। गीदड़ोंके समुदाय वहाँ सब ओर विचर रहे थे। देवासुर-संग्रामके समान उस भयानक मार-काटमें वानरों और राक्षसोंके कबन्ध (मस्तकरहित धड़) सम्पूर्ण दिशाओंमें उछल रहे थे ॥ ४३—४५ ॥

निहन्यमाना हरिपुङ्गवैस्तदा
निशाचराः शोणितगन्धमूर्च्छिताः ।
पुनः सुयुद्धं तरसा समाश्रिता
दिवाकरस्यास्तमयाभिकाङ्क्षिणः ॥ ४६ ॥

उस समय उन वानरशिरोमणियोंद्वारा मारे जाते हुए निशाचर रक्तकी गन्धसे मतवाले हो रहे थे। वे सूर्यके अस्त होनेकी प्रतीक्षा करते हुए पुनः बड़े वेगसे घमासान युद्धमें तत्पर हो गये* ॥ ४६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें तैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४३ ॥
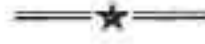
चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

रातमें वानरों और राक्षसोंका घोर युद्ध, अङ्गदके द्वारा इन्द्रजित्की पराजय, मायासे अदृश्य हुए इन्द्रजित्का नागमय बाणोंद्वारा श्रीराम और लक्ष्मणको बाँधना

युध्यतामेव तेषां तु तदा वानररक्षसाम्।
रविरस्तं गतो रात्रिः प्रवृत्ता प्राणहारिणी ॥ १ ॥

इस प्रकार उन वानर और राक्षसोंमें युद्ध चल ही रहा था कि सूर्यदेव अस्त हो गये तथा प्राणोंका संहार करनेवाली रात्रिका आगमन हुआ ॥ १ ॥

अन्योन्यं बद्धवैराणां घोराणां जयमिच्छताम्।
सम्प्रवृत्तं निशायुद्धं तदा वानररक्षसाम् ॥ २ ॥

वानरों और राक्षसोंमें परस्पर वैर बँध गया था। दोनों ही पक्षोंके योद्धा बड़े भयंकर थे तथा अपनी-अपनी विजय चाहते थे; अतः उस समय उनमें रात्रियुद्ध होने लगा ॥ २ ॥

राक्षसोऽसीति हरयो वानरोऽसीति राक्षसाः।
अन्योन्यं समरे जघ्नुस्तस्मिंस्तमसि दारुणे ॥ ३ ॥

उस दारुण अन्धकारमें वानरलोग अपने विपक्षीसे पूछते थे, क्या तुम राक्षस हो? और राक्षसलोग भी पूछते थे, क्या तुम वानर हो? इस प्रकार पूछ-पूछकर समराङ्गणमें वे एक दूसरेपर प्रहार करते थे ॥ ३ ॥

हत दारय चैहीति कथं विद्रवसीति च।
एवं सुतुमुलः शब्दस्तस्मिन् सैन्ये तु शुश्रुवे ॥ ४ ॥

सेनामें सब ओर 'मारो, काटो, आओ तो, क्यों भागे जाते हो'—ये भयंकर शब्द सुनायी दे रहे थे ॥ ४ ॥

कालाः काञ्चनसंनाहास्तस्मिंस्तमसि राक्षसाः।
सम्प्रदृश्यन्त शैलेन्द्रा दीप्तौषधिवना इव ॥ ५ ॥

काले-काले राक्षस सुवर्णमय कवचोंसे विभूषित होकर उस अन्धकारमें ऐसे दिखायी देते थे, मानो चमकती हुई ओषधियोंके वनसे युक्त काले पहाड़ हों ॥ ५ ॥

तस्मिंस्तमसि दुष्पारे राक्षसाः क्रोधमूर्च्छिताः।
परिपेतुर्महावेगा भक्षयन्तः प्लवङ्गमान् ॥ ६ ॥

उस अन्धकारसे पार पाना कठिन हो रहा था। उसमें क्रोधसे अधीर हुए महान् वेगशाली राक्षस वानरोंको खाते हुए उनपर सब ओरसे टूट पड़े ॥ ६ ॥

ते हयान् काञ्चनापीडान् ध्वजांश्चाशीविषोपमान्।
आप्लुत्य दशनैस्तीक्ष्णैर्भीमकोपा व्यदारयन् ॥ ७ ॥

तब वानरोंका कोप बड़ा भयानक हो उठा। वे उछल-उछलकर अपने तीखे दाँतोंद्वारा सुनहरे साजसे सजे हुए राक्षस-दलके घोड़ोंको और विषधर सर्पोंके समान दिखायी देनेवाले उनके ध्वजोंको भी विदीर्ण कर देते थे ॥ ७ ॥

वानरा बलिनो युद्धेऽक्षोभयन् राक्षसीं चमूम्।
कुञ्जरान् कुञ्जरारोहान् पताकाध्वजिनो रथान् ॥ ८ ॥
चकर्षुश्च ददंशुश्च दशनैः क्रोधमूर्च्छिताः।

बलवान् वानरोंने युद्धमें राक्षस-सेनाके भीतर हलचल मचा दी। वे सब-के-सब क्रोधसे पागल हो रहे थे; अतः हाथियों एवं हाथीसवारोंको तथा ध्वजा-पताकासे सुशोभित रथोंको भी खींच लेते और दाँतोंसे काट-काटकर क्षत-विक्षत कर देते थे ॥ ८½ ॥

लक्ष्मणश्चापि रामश्च शरैराशीविषोपमैः ॥ ९ ॥
दृश्यादृश्यानि रक्षांसि प्रवराणि निजघ्नतुः।

बड़े-बड़े राक्षस कभी प्रकट होकर युद्ध करते थे और कभी अदृश्य हो जाते थे; परंतु श्रीराम और लक्ष्मण विषधर सर्पोंके समान अपने बाणोंद्वारा दृश्य और अदृश्य सभी राक्षसोंको मार डालते थे ॥ ९½ ॥

तुरंगखुरविध्वस्तं रथनेमिसमुत्थितम् ॥ १० ॥
रुरोध कर्णनेत्राणि युध्यतां धरणीरजः।

घोड़ोंकी टापसे चूर्ण होकर रथके पहियोंसे उड़ायी हुई धरतीकी धूल योद्धाओंके कान और नेत्र बंद कर देती थी ॥ १०½ ॥

वर्तमाने तथा घोरे संग्रामे लोमहर्षणे।
रुधिरौघा महाघोरा नद्यस्तत्र विसुस्रुवुः ॥ ११ ॥

इस प्रकार रोमाञ्चकारी भयंकर संग्रामके छिड़ जानेपर

* सूर्यास्तके बाद प्रदोषकालसे लेकर पूरी रातभर राक्षसोंका बल अधिक बढ़ा होता है, इसीलिये वे सूर्यास्त होनेकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

वहाँ रक्तके प्रवाहको बहानेवाली खूनकी बड़ी भयंकर नदियाँ बहने लगीं ॥ ११ ॥

ततो भेरीमृदङ्गानां पणवानां च निःस्वनः ।
शङ्खनेमिस्वनोन्मिश्रः सम्बभूवाद्भुतोपमः ॥ १२ ॥

तदनन्तर भेरी, मृदङ्ग और पणव आदि बाजोंकी ध्वनि होने लगी, जो शङ्खोंके शब्द तथा रथके पहियोंकी घर्घराहटसे मिलकर बड़ी अद्भुत जान पड़ती थी ॥ १२ ॥

हतानां स्तनमानानां राक्षसानां च निःस्वनः ।
शस्तानां वानराणां च सम्बभूवात्र दारुणः ॥ १३ ॥

घायल होकर कराहते हुए राक्षसों और शस्त्रोंसे क्षतविक्षत हुए वानरोंका आर्तनाद वहाँ बड़ा भयंकर प्रतीत होता था ॥ १३ ॥

हतैर्वानरमुख्यैश्च शक्तिशूलपरश्वधैः ।
निहतैः पर्वताकारै राक्षसैः कामरूपिभिः ॥ १४ ॥
शस्त्रपुष्पोपहारा च तत्रासीद् युद्धमेदिनी ।
दुर्ज्ञेया दुर्निवेशा च शोणितास्रावकर्दमा ॥ १५ ॥

शक्ति, शूल और फरसोंसे मारे गये मुख्य-मुख्य वानरों तथा वानरोंद्वारा कालके गालमें डाले गये इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ पर्वताकार राक्षसोंसे उपलक्षित उस युद्धभूमिमें रक्तके प्रवाहसे कीच हो गयी थी। उसे पहचानना कठिन हो रहा था तथा वहाँ ठहरना तो और मुश्किल हो गया था। ऐसा जान पड़ता था उस भूमिको शस्त्ररूपी पुष्पोंका उपहार अर्पित किया गया है ॥ १४-१५ ॥

सा बभूव निशा घोरा हरिराक्षसहारिणी ।
कालरात्रीव भूतानां सर्वेषां दुरतिक्रमा ॥ १६ ॥

वानरों और राक्षसोंका संहार करनेवाली वह भयंकर रजनी कालरात्रिके समान समस्त प्राणियोंके लिये दुर्लङ्घ्य हो गयी थी ॥ १६ ॥

ततस्ते राक्षसास्तत्र तस्मिंस्तमसि दारुणे ।
राममेवाभ्यवर्तन्त संहृष्टाः शरवृष्टिभिः ॥ १७ ॥

तदनन्तर उस दारुण अन्धकारमें वहाँ वे सब राक्षस हर्ष और उत्साहसे भरकर बाणोंकी वर्षा करते हुए श्रीरामपर ही धावा करने लगे ॥ १७ ॥

तेषामापततां शब्दः क्रुद्धानामपि गर्जताम् ।
उद्वर्त इव सप्तानां समुद्राणामभूत् स्वनः ॥ १८ ॥

उस समय कुपित हो गर्जना करते हुए उन आक्रमणकारी राक्षसोंका शब्द प्रलयके समय सातों समुद्रोंके महान् कोलाहल-सा जान पड़ता था ॥ १८ ॥

तेषां रामः शरैः षड्भिः षड् जघान निशाचरान् ।
निमेषान्तरमात्रेण शरैरग्निशिखोपमैः ॥ १९ ॥

तब श्रीरामचन्द्रजीने पलक मारते-मारते अग्निज्वालाके समान छः भयानक बाणोंसे निम्नाङ्कित छः निशाचरोंको घायल कर दिया ॥ १९ ॥

यज्ञशत्रुश्च दुर्धर्षो महापार्श्वमहोदरौ ।
वज्रदंष्ट्रो महाकायस्तौ चोभौ शुकसारणौ ॥ २० ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—दुर्धर्ष वीर यज्ञशत्रु, महापार्श्व, महोदर, महाकाय, वज्रदंष्ट्र तथा वे दोनों शुक और सारण ॥ २० ॥

ते तु रामेण बाणौघैः सर्वमर्मसु ताडिताः ।
युद्धादपसृतास्तत्र सावशेषायुषोऽभवन् ॥ २१ ॥

श्रीरामके बाणसमूहोंसे सारे मर्मस्थानोंमें चोट पहुँचनेके कारण वे छहों राक्षस युद्ध छोड़कर भाग गये; इसीलिये उनकी आयु शेष रह गयी—जान बच गयी ॥ २१ ॥

निमेषान्तरमात्रेण घोरैरग्निशिखोपमैः ।
दिशश्चकार विमलाः प्रदिशश्च महारथः ॥ २२ ॥

महारथी श्रीरामने अग्नि-शिखाके समान प्रज्वलित भयंकर बाणोंद्वारा पलक मारते-मारते सम्पूर्ण दिशाओं और उनके कोणोंको निर्मल (प्रकाशपूर्ण) कर दिया ॥ २२ ॥

ये त्वन्ये राक्षसा वीरा रामस्याभिमुखे स्थिताः ।
तेऽपि नष्टाः समासाद्य पतङ्गा इव पावकम् ॥ २३ ॥

दूसरे भी जो-जो राक्षसवीर श्रीरामके सामने खड़े थे, वे भी उसी प्रकार नष्ट हो गये, जैसे आगमें पड़कर पतिंगे जल जाते हैं ॥ २३ ॥

सुवर्णपुङ्खैर्विशिखैः सम्पतद्भिः समन्ततः ।
बभूव रजनी चित्रा खद्योतैरिव शारदी ॥ २४ ॥

चारों ओर सुवर्णमय पङ्खवाले बाण गिर रहे थे। उनकी प्रभासे वह रजनी जुगुनुओंसे विचित्र दिखायी देनेवाली शरद् ऋतुकी रात्रिके समान अद्भुत प्रतीत होती थी ॥ २४ ॥

राक्षसानां च निनदैर्भेरीणां चैव निःस्वनैः ।
सा बभूव निशा घोरा भूयो घोरतराभवत् ॥ २५ ॥

राक्षसोंके सिंहनादों और भेरियोंकी आवाजोंसे वह भयानक रात्रि और भी भयंकर हो उठी थी ॥ २५ ॥

तेन शब्देन महता प्रवृद्धेन समन्ततः ।
त्रिकूटः कंदराकीर्णः प्रव्याहरदिवाचलः ॥ २६ ॥

सब ओर फैले हुए उस महान् शब्दसे प्रतिध्वनित हो कन्दराओंसे व्याप्त त्रिकूट पर्वत मानो किसीकी बातका उत्तर देता-सा जान पड़ता था ॥ २६ ॥

गोलाङ्गूला महाकायास्तमसा तुल्यवर्चसः ।
सम्परिष्वज्य बाहुभ्यां भक्षयन् रजनीचरान् ॥ २७ ॥

लंगूर जातिके विशालकाय वानर जो अन्धकारके समान काले थे, निशाचरोंको दोनों भुजाओंमें कसकर मार डालते और उन्हें कुत्ते आदिको खिला देते थे ॥ २७ ॥

अङ्गदस्तु रणे शत्रून् निहन्तुं समुपस्थितः ।
रावणिं निजघानाशु सारथिं च हयानपि ॥ २८ ॥

दूसरी ओर अङ्गद रणभूमिमें शत्रुओंका संहार करनेके लिये आगे बढ़े। उन्होंने रावणपुत्र इन्द्रजित्‌को घायल कर दिया तथा उसके सारथि और घोड़ोंको भी यमलोक पहुँचा दिया ॥ २८ ॥

इन्द्रजित् तु रथं त्यक्त्वा हताश्वो हतसारथिः ।
अङ्गदेन महात्यस्तस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ २९ ॥

अङ्गदके द्वारा घोड़े और सारथिके मारे जानेपर महान् कष्टमें पड़ा हुआ इन्द्रजित् रथको छोड़कर वहीं अन्तर्धान हो गया ॥ २९ ॥

तत् कर्म वालिपुत्रस्य सर्वे देवाः सहर्षिभिः ।
तुष्टुवुः पूजनार्हस्य तौ चोभौ रामलक्ष्मणौ ॥ ३० ॥

प्रशंसाके योग्य वालिकुमार अङ्गदके उस पराक्रमकी ऋषियोंसहित देवताओं तथा दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणने भी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ३० ॥

प्रभावं सर्वभूतानि विदुरिन्द्रजितो युधि ।
ततस्ते तं महात्मानं दृष्ट्वा तुष्टाः प्रधर्षितम् ॥ ३१ ॥

सम्पूर्ण प्राणी युद्धमें इन्द्रजित्‌के प्रभावको जानते थे; अतः अङ्गदके द्वारा उसको पराजित हुआ देख उन महात्मा अंगदपर दृष्टिपात करके सबको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ३१ ॥

ततः प्रहृष्टाः कपयः ससुग्रीवविभीषणाः ।
साधुसाध्विति नेदुश्च दृष्ट्वा शत्रुं पराजितम् ॥ ३२ ॥

शत्रुको पराजित हुआ देख सुग्रीव और विभीषणसहित सब वानर बड़े प्रसन्न हुए और अङ्गदको साधुवाद देने लगे ॥ ३२ ॥

इन्द्रजित् तु तदानेन निर्जितो भीमकर्मणा ।
संयुगे वालिपुत्रेण क्रोधं चक्रे सुदारुणम् ॥ ३३ ॥

युद्धस्थलमें भयानक कर्म करनेवाले वालिपुत्र अङ्गदसे पराजित होकर इन्द्रजित्‌ने बड़ा भयंकर क्रोध प्रकट किया ॥ ३३ ॥

सोऽन्तर्धानगतः पापो रावणी रणकर्शितः ।
ब्रह्मदत्तवरो वीरो रावणिः क्रोधमूर्च्छितः ॥ ३४ ॥
अदृश्यो निशितान् बाणान् मुमोचाशनिवर्चसः ।

रावणकुमार वीर इन्द्रजित् ब्रह्माजीसे वर प्राप्त कर चुका था। युद्धमें अधिक कष्ट पानेके कारण वह पापी रावणपुत्र क्रोधसे अचेत-सा हो रहा था; अतः अन्तर्धान-विद्याका आश्रय ले अदृश्य हो उसने वज्रके समान तेजस्वी और तीखे बाण बरसाने आरम्भ किये ॥ ३४½ ॥

रामं च लक्ष्मणं चैव घोरैर्नागमयैः शरैः ॥ ३५ ॥
बिभेद समरे क्रुद्धः सर्वगात्रेषु राक्षसः ।

समराङ्गणमें कुपित हुए इन्द्रजित्‌ने घोर सर्पमय बाणोंद्वारा श्रीराम और लक्ष्मणको घायल कर दिया। वे दोनों रघुवंशी बन्धु अपने सभी अङ्गोंमें चोट खाकर क्षत-विक्षत हो रहे थे ॥ ३५½ ॥

मायया संवृतस्तत्र मोहयन् राघवौ युधि ॥ ३६ ॥
अदृश्यः सर्वभूतानां कूटयोधी निशाचरः ।
बबन्ध शरबन्धेन भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ३७ ॥

मायासे आवृत हो समस्त प्राणियोंके लिये अदृश्य होकर वहाँ कूटयुद्ध करनेवाले उस निशाचरने युद्धस्थलमें दोनों रघुवंशी बन्धु श्रीराम और लक्ष्मणको मोहमें डालते हुए उन्हें सर्पाकार बाणोंके बन्धनमें बाँध लिया ॥ ३६-३७ ॥

तौ तेन पुरुषव्याघ्रौ क्रुद्धेनाशीविषैः शरैः ।
सहसाभिहतौ वीरौ तदा प्रेक्षन्त वानराः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार क्रोधसे भरे हुए इन्द्रजित्‌ने उन दोनों पुरुषप्रवर वीरोंको सहसा सर्पाकार बाणोंद्वारा बाँध लिया। उस समय वानरोंने उन्हें नागपाशमें बद्ध देखा ॥ ३८ ॥

प्रकाशरूपस्तु यदा न शक्त-
स्तौ बाधितुं राक्षसराजपुत्रः ।
मायां प्रयोक्तुं समुपाजगाम
बबन्ध तौ राजसुतौ दुरात्मा ॥ ३९ ॥

प्रकटरूपसे युद्ध करते समय जब राक्षसराजकुमार इन्द्रजित् उन दोनों राजकुमारोंको बाधा देनेमें समर्थ न हो सका, तब उनपर मायाका प्रयोग करनेको उतारू हो गया और उन दोनों भाइयोंको उस दुरात्माने बाँध लिया ॥ ३९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें चौवालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

—★—

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

इन्द्रजित्‌के बाणोंसे श्रीराम और लक्ष्मणका अचेत होना और वानरोंका शोक करना

स तस्य गतिमन्विच्छन् राजपुत्रः प्रतापवान् ।
दिदेशातिबलो रामो दश वानरयूथपान् ॥ १ ॥

तदनन्तर अत्यन्त बलशाली प्रतापी राजकुमार श्रीरामने इन्द्रजित्‌का पता लगानेके लिये दस वानर-यूथपतियोंको आज्ञा दी ॥ १ ॥

द्वौ सुषेणस्य दायादौ नीलं च प्लवगाधिपम्।
अङ्गदं वालिपुत्रं च शरभं च तरस्विनम्॥ २॥
द्विविदं च हनूमन्तं सानुप्रस्थं महाबलम्।
ऋषभं चर्षभस्कन्धमादिदेश परंतपः॥ ३॥

उनमें दो तो सुषेणके पुत्र थे और शेष आठ वानरराज नील, वालिपुत्र अङ्गद, वेगशाली वानर शरभ, द्विविद, हनुमान्, महाबली सानुप्रस्थ, ऋषभ तथा ऋषभस्कन्ध थे। शत्रुओंको संताप देनेवाले इन दसोंको उसका अनुसंधान करनेके लिये आज्ञा दी॥ २-३॥

ते सम्प्रहृष्टा हरयो भीमानुद्यम्य पादपान्।
आकाशं विविशुः सर्वे मार्गमाणा दिशो दश॥ ४॥

तब वे सभी वानर भयंकर वृक्ष उठाकर दसों दिशाओंमें खोजते हुए बड़े हर्षके साथ आकाशमार्गसे चले॥ ४॥

तेषां वेगवतां वेगमिषुभिर्वेगवत्तरैः।
अस्त्रवित् परमास्त्रैस्तु वारयामास रावणिः॥ ५॥

किंतु अस्त्रोंके ज्ञाता रावणकुमार इन्द्रजित्‌ने अत्यन्त वेगशाली बाणोंकी वर्षा करके अपने उत्तम अस्त्रोंद्वारा उन वेगवान् वानरोंके वेगको रोक दिया॥ ५॥

तं भीमवेगा हरयो नाराचैः क्षतविक्षताः।
अन्धकारे न ददृशुर्मेघैः सूर्यमिवावृतम्॥ ६॥

बाणोंसे क्षत-विक्षत हो जानेपर भी वे भयानक वेगशाली वानर अन्धकारमें मेघोंसे ढके हुए सूर्यकी भाँति इन्द्रजित्‌को न देख सके॥ ६॥

रामलक्ष्मणयोरेव सर्वदेहभिदः शरान्।
भृशमावेशयामास रावणिः समितिंजयः॥ ७॥

तत्पश्चात् युद्धविजयी रावणपुत्र इन्द्रजित् फिर श्रीराम और लक्ष्मणपर ही उनके सम्पूर्ण अङ्गोंको विदीर्ण करनेवाले बाणोंकी बारम्बार वर्षा करने लगा॥ ७॥

निरन्तरशरीरौ तु तावुभौ रामलक्ष्मणौ।
क्रुद्धेनेन्द्रजिता वीरौ पन्नगैः शरतां गतैः॥ ८॥

कुपित हुए इन्द्रजित्‌ने उन दोनों वीर श्रीराम और लक्ष्मणको बाणरूपधारी सर्पोंद्वारा इस तरह बाँधा कि उनके शरीरमें थोड़ा-सा भी ऐसा स्थान नहीं रह गया, जहाँ बाण न लगे हों॥ ८॥

तयोः क्षतजमार्गेण सुस्राव रुधिरं बहु।
तावुभौ च प्रकाशेते पुष्पिताविव किंशुकौ॥ ९॥

उन दोनोंके अङ्गोंमें जो घाव हो गये थे, उनके मार्गसे बहुत रक्त बहने लगा। उस समय वे दोनों भाई खिले हुए दो पलाश-वृक्षोंके समान प्रकाशित हो रहे थे॥ ९॥

ततः पर्यन्तरक्ताक्षो भिन्नाञ्जनचयोपमः।
रावणिर्भ्रातरौ वाक्यमन्तर्धानगतोऽब्रवीत्॥ १०॥

इसी समय जिसके नेत्रप्रान्त कुछ लाल थे और शरीर खानसे काटकर निकाले गये कोयलेके ढेरकी भाँति काला था, वह रावणकुमार इन्द्रजित् अन्तर्धान-अवस्थामें ही उन दोनों भाइयोंसे इस प्रकार बोला॥ १०॥

युध्यमानमनालक्ष्यं शक्रोऽपि त्रिदशेश्वरः।
द्रष्टुमासादितुं वापि न शक्तः किं पुनर्युवाम्॥ ११॥

'युद्धके समय अलक्ष्य हो जानेपर तो मुझे देवराज इन्द्र भी नहीं देख या पा सकता; फिर तुम दोनोंकी क्या बिसात है?॥ ११॥

प्रापिताविषुजालेन राघवौ कङ्कपत्रिणा।
एष रोषपरीतात्मा नयामि यमसादनम्॥ १२॥

'मैंने तुम दोनों रघुवंशियोंको कंकपत्रयुक्त बाणके जालमें फँसा लिया है। अब रोषसे भरकर मैं अभी तुम दोनोंको यमलोक भेजे देता हूँ'॥ १२॥

एवमुक्त्वा तु धर्मज्ञौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
निर्बिभेद शितैर्बाणैः प्रजहर्ष ननाद च॥ १३॥

ऐसा कहकर वह धर्मके ज्ञाता दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणको पैने बाणोंसे बींधने लगा और हर्षका अनुभव करते हुए जोर-जोरसे गर्जना करने लगा॥ १३॥

भिन्नाञ्जनचयश्यामो विस्फार्य विपुलं धनुः।
भूय एव शरान् घोरान् विससर्ज महामृधे॥ १४॥

कटे-छँटे कोयलेकी राशिके समान काला इन्द्रजित् फिर अपने विशाल धनुषको फैलाकर उस महासमरमें घोर बाणोंकी वर्षा करने लगा॥ १४॥

ततो मर्मसु मर्मज्ञो मज्जयन् निशिताञ्शरान्।
रामलक्ष्मणयोर्वीरो ननाद च मुहुर्मुहुः॥ १५॥

मर्मस्थलको जाननेवाला वह वीर श्रीराम और लक्ष्मणके मर्मस्थानोंमें अपने पैने बाणोंको डुबोता हुआ बारम्बार गर्जना करने लगा॥ १५॥

बद्धौ तु शरबन्धेन तावुभौ रणमूर्धनि।
निमेषान्तरमात्रेण न शेकतुरवेक्षितुम्॥ १६॥

युद्धके मुहानेपर बाणके बन्धनसे बँधे हुए वे दोनों बन्धु पलक मारते-मारते ऐसी दशाको पहुँच गये कि उनमें आँख उठाकर देखनेकी भी शक्ति नहीं रह गयी (वास्तवमें यह उनकी मनुष्यताका नाट्य करनेवाली लीलामात्र थी। वे तो कालके भी काल हैं। उन्हें कौन बाँध सकता था?)॥ १६॥

ततो विभिन्नसर्वाङ्गौ शरशल्याचितौ कृतौ।
ध्वजाविव महेन्द्रस्य रज्जुमुक्तौ प्रकम्पितौ॥ १७॥

इस प्रकार उनके सारे अङ्ग बिंध गये थे। बाणोंसे व्याप्त हो गये थे। वे रस्सीसे मुक्त हुए देवराज इन्द्रके दो ध्वजोंके समान कम्पित होने लगे॥ १७॥

तौ सम्प्रचलितौ वीरौ मर्मभेदेन कर्शितौ।
निपेततुर्महेष्वासौ जगत्यां जगतीपती॥ १८॥

वे महान् धनुर्धर वीर भूपाल मर्मस्थलके भेदनसे

विचलित एवं कृशकाय हो पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ १८ ॥

तौ वीरशयने वीरौ शयानौ रुधिरोक्षितौ ।
शरवेष्टितसर्वाङ्गावार्तौ परमपीडितौ ॥ १९ ॥

युद्धभूमिमें वीरशय्यापर सोये हुए वे दोनों वीर रक्तसे नहा उठे थे। उनके सारे अङ्गोंमें बाणरूपधारी नाग लिपटे हुए थे तथा वे अत्यन्त पीड़ित एवं व्यथित हो रहे थे ॥ १९ ॥

नह्यविद्धं तयोर्गात्रे बभूवाङ्गुलमन्तरम् ।
नानिर्विण्णं न चाध्वस्तमाकराग्रादजिह्मगैः ॥ २० ॥

उनके शरीरमें एक अङ्गुल भी जगह ऐसी नहीं थी, जो बाणोंसे बिंधी न हो तथा हाथोंके अग्रभागतक कोई भी अङ्ग ऐसा नहीं था, जो बाणोंसे विदीर्ण अथवा क्षुब्ध न हुआ हो ॥ २० ॥

तौ तु क्रूरेण निहतौ रक्षसा कामरूपिणा ।
असृक्सुस्रुवतुस्तीव्रं जलं प्रस्रवणाविव ॥ २१ ॥

जैसे झरने जल गिराते रहते हैं, उसी प्रकार वे दोनों भाई इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले उस क्रूर राक्षसके बाणोंसे घायल हो तीव्र वेगसे रक्तकी धारा बहा रहे थे ॥ २१ ॥

पपात प्रथमं रामो विद्धो मर्मसु मार्गणैः ।
क्रोधादिन्द्रजिता येन पुरा शक्रो विनिर्जितः ॥ २२ ॥

जिसने पूर्वकालमें इन्द्रको परास्त किया था, उस इन्द्रजित्के क्रोधपूर्वक चलाये हुए बाणोंद्वारा मर्मस्थलमें आहत होनेके कारण पहले श्रीराम ही धराशायी हुए ॥ २२ ॥

रुक्मपुङ्खैः प्रसन्नाग्रै रजोगतिभिराशुगैः ।
नाराचैरर्धनाराचैर्भल्लैरञ्जलिकैरपि ।
विव्याध वत्सदन्तैश्च सिंहदंष्ट्रैः क्षुरैस्तथा ॥ २३ ॥

इन्द्रजित्ने उन्हें सोनेके पंख, स्वच्छ अग्रभाग और धूलके समान गतिवाले (अर्थात् धूलकी भाँति छिद्ररहित स्थानमें भी प्रवेश करनेवाले) शीघ्रगामी नाराच[1], अर्धनाराच[2], भल्ल[3], अञ्जलिक[4], वत्सदन्त[5], सिंहदंष्ट्र[6] और क्षुर[7] जातिके बाणोंद्वारा घायल कर दिया था ॥ २३ ॥

स वीरशयने शिश्येऽविज्यमाविध्य कार्मुकम् ।
भिन्नमुष्टिपरीणाहं त्रिनतं रुक्मभूषितम् ॥ २४ ॥

जिसकी प्रत्यञ्चा चढ़ी हुई थी, किंतु मुट्ठीका बन्धन ढीला पड़ गया था, जो दोनों पार्श्वभाग और मध्यभाग तीनों स्थानोंमें झुका हुआ तथा सुवर्णसे भूषित था, उस धनुषको त्यागकर भगवान् श्रीराम वीरशय्यापर सोये हुए थे ॥ २४ ॥

बाणपातान्तरे रामं पतितं पुरुषर्षभम् ।
स तत्र लक्ष्मणो दृष्ट्वा निराशो जीवितेऽभवत् ॥ २५ ॥

फेंका हुआ बाण जितनी दूरीपर गिरता है, अपनेसे उतनी ही दूरीपर धरतीपर पड़े हुए पुरुषप्रवर श्रीरामको देखकर लक्ष्मण वहाँ अपने जीवनसे निराश हो गये ॥ २५ ॥

रामं कमलपत्राक्षं शरण्यं रणतोषिणम् ।
शुशोच भ्रातरं दृष्ट्वा पतितं धरणीतले ॥ २६ ॥

सबको शरण देनेवाले और युद्धसे संतुष्ट होनेवाले अपने भाई कमलनयन श्रीरामको पृथ्वीपर पड़ा देख लक्ष्मणको बड़ा शोक हुआ ॥ २६ ॥

हरयश्चापि तं दृष्ट्वा संतापं परमं गताः ।
शोकार्ताश्चुक्रुशुर्घोरमश्रुपूरितलोचनाः ॥ २७ ॥

उन्हें उस अवस्थामें देखकर वानरोंको भी बड़ा संताप हुआ। वे शोकसे आतुर हो नेत्रोंमें आँसू भरकर घोर आर्तनाद करने लगे ॥ २७ ॥

बद्धौ तु तौ वीरशये शयानौ
ते वानराः सम्परिवार्य तस्थुः ।
समागता वायुसुतप्रमुख्या
विषादमार्ताः परमं च जग्मुः ॥ २८ ॥

नागपाशमें बँधकर वीरशय्यापर सोये हुए उन दोनों भाइयोंको चारों ओरसे घेरकर सब वानर खड़े हो गये। वहाँ आये हुए हनुमान् आदि मुख्य-मुख्य वानर व्यथित हो बड़े विषादमें पड़ गये ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें पैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

★

1. जिसका अग्रभाग सीधा और गोल हो, उस बाणको 'नाराच' कहते हैं। 2. अर्ध भागमें नाराचकी समानता रखनेवाले बाण 'अर्धनाराच' कहलाते हैं। 3. जिनका अग्रभाग फरसेके समान हो, उस बाणकी 'भल्ल' संज्ञा है। आधुनिक भालेको भी भल्ल कहते हैं। 4. जिसका मुखभाग दोनों हाथोंकी अञ्जलिके समान हो, वह बाण 'अञ्जलिक' कहा गया है। 5. जिसका अग्रभाग बछड़ेके दाँतोंके समान दिखायी देता हो, उस बाणकी 'वत्सदन्त' संज्ञा होती है। 6. सिंहकी दाढ़के समान अग्रभागवाला बाण। 7. जिसका अग्रभाग छुरेकी धारके समान हो, उस बाणको 'क्षुर' कहते हैं।

षट्चत्वारिंशः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणको मूर्छित देख वानरोंका शोक, इन्द्रजित्का हर्षोद्गार, विभीषणका सुग्रीवको समझाना, इन्द्रजित्का लङ्कामें जाकर पिताको शत्रुवधका वृत्तान्त बताना और प्रसन्न हुए रावणके द्वारा अपने पुत्रका अभिनन्दन

ततो द्यां पृथिवीं चैव वीक्षमाणा वनौकसः।
ददृशुः संततौ बाणैर्भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ॥ १॥

तदनन्तर जब उपर्युक्त दस वानर पृथ्वी और आकाशकी छानबीन करके लौटे, तब उन्होंने दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणको बाणोंसे बिंधा हुआ देखा॥ १॥

वृष्ट्वेवोपरते देवे कृतकर्मणि राक्षसे।
आजगामाथ तं देशं ससुग्रीवो विभीषणः॥ २॥

जैसे वर्षा करके देवराज इन्द्र शान्त हो गये हों, उसी प्रकार वह राक्षस इन्द्रजित् जब अपना काम बनाकर बाणवर्षासे विरत हो गया, तब सुग्रीवसहित विभीषण भी उस स्थानपर आये॥ २॥

नीलश्च द्विविदो मैन्दः सुषेणः कुमुदोऽङ्गदः।
तूर्णं हनुमता सार्धमन्वशोचन्त राघवौ॥ ३॥

हनुमान्‌जीके साथ नील, द्विविद, मैन्द, सुषेण, कुमुद और अङ्गद तुरंत ही श्रीरघुनाथजीके लिये शोक करने लगे॥ ३॥

अचेष्टौ मन्दनिःश्वासौ शोणितेन परिप्लुतौ।
शरजालाचितौ स्तब्धौ शयानौ शरतल्पगौ॥ ४॥

उस समय वे दोनों भाई खूनसे लथपथ होकर बाणशय्यापर पड़े थे। बाणोंसे उनका सारा शरीर व्याप्त हो रहा था। वे निश्चल होकर धीरे-धीरे साँस ले रहे थे। उनकी चेष्टाएँ बंद हो गयी थीं॥ ४॥

निःश्वसन्तौ यथा सर्पौ निश्चेष्टौ मन्दविक्रमौ।
रुधिरस्रावदिग्धाङ्गौ तपनीयाविव ध्वजौ॥ ५॥

सर्पके समान साँस खींचते और निश्चेष्ट पड़े हुए उन दोनों भाइयोंका पराक्रम मन्द हो गया था। उनके सारे अङ्ग रक्त बहाकर उसीमें सन गये थे। वे दोनों टूटकर गिरे हुए दो सुवर्णमय ध्वजोंके समान जान पड़ते थे॥ ५॥

तौ वीरशयने वीरौ शयानौ मन्दचेष्टितौ।
यूथपैः स्वैः परिवृतौ बाष्पव्याकुललोचनैः॥ ६॥

वीरशय्यापर सोये हुए मन्द चेष्टावाले वे दोनों वीर आँसूभरे नेत्रोंवाले अपने यूथपतियोंसे घिरे हुए थे॥ ६॥

राघवौ पतितौ दृष्ट्वा शरजालसमन्वितौ।
बभूवुर्व्यथिताः सर्वे वानराः सविभीषणाः॥ ७॥

बाणोंके जालसे आवृत होकर पृथ्वीपर पड़े हुए उन दोनों रघुवंशी बन्धुओंको देखकर विभीषणसहित सब वानर व्यथित हो उठे॥ ७॥

अन्तरिक्षं निरीक्षन्तो दिशः सर्वाश्च वानराः।
न चैनं मायया छन्नं ददृशू रावणिं रणे॥ ८॥

समस्त वानर सम्पूर्ण दिशाओं और आकाशमें बारम्बार दृष्टिपात करनेपर भी मायाच्छन्न रावणकुमार इन्द्रजित्‌को रणभूमिमें नहीं देख पाते थे॥ ८॥

तं तु मायाप्रतिच्छन्नं माययैव विभीषणः।
वीक्षमाणो ददर्शाग्रे भ्रातुः पुत्रमवस्थितम्।
तमप्रतिमकर्माणमप्रतिद्वन्द्वमाहवे॥ ९॥

तब विभीषणने मायासे ही देखना आरम्भ किया। उस समय उन्होंने मायासे ही छिपे हुए अपने उस भतीजेको सामने खड़ा देखा, जिसके कर्म अनुपम थे और युद्धस्थलमें जिसका सामना करनेवाला कोई योद्धा नहीं था॥ ९॥

ददर्शान्तर्हितं वीरं वरदानाद् विभीषणः।
तेजसा यशसा चैव विक्रमेण च संयुतः॥ १०॥

तेज, यश और पराक्रमसे युक्त विभीषणने मायाके द्वारा ही वरदानके प्रभावसे छिपे हुए वीर इन्द्रजित्‌को देख लिया॥ १०॥

इन्द्रजित् त्वात्मनः कर्म तौ शयानौ समीक्ष्य च।
उवाच परमप्रीतो हर्षयन् सर्वराक्षसान्॥ ११॥

श्रीराम और लक्ष्मणको युद्धभूमिमें सोते देख इन्द्रजित्‌को बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने समस्त राक्षसोंका हर्ष बढ़ाते हुए अपने पराक्रमका वर्णन आरम्भ किया—॥ ११॥

दूषणस्य च हन्तारौ खरस्य च महाबलौ।
सादितौ मामकैर्बाणैर्भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ॥ १२॥

वह देखो, जिन्होंने खर और दूषणका वध किया था, वे दोनों भाई महाबली श्रीराम और लक्ष्मण मेरे बाणोंसे मारे गये॥ १२॥

नेमौ मोक्षयितुं शक्यावेतस्मादिषुबन्धनात्।
सर्वैरपि समागम्य सर्षिसङ्घैः सुरासुरैः॥ १३॥

'यदि सारे मुनिसमूहोंसहित समस्त देवता और असुर भी आ जायँ तो वे इस बाण-बन्धनसे इन दोनोंको छुटकारा नहीं दिला सकते॥ १३॥

यत्कृते चिन्तयानस्य शोकार्तस्य पितुर्मम।
अस्पृष्ट्वा शयनं गात्रैस्त्रियामा याति शर्वरी॥ १४॥
कृत्स्नेयं यत्कृते लङ्का नदी वर्षास्विवाकुला।
सोऽयं मूलहरोऽनर्थः सर्वेषां शमितो मया॥ १५॥

'जिसके कारण चिन्ता और शोकसे पीड़ित हुए मेरे पिता-की सारी रात शय्याका स्पर्श किये बिना ही बितानी पड़ती थी तथा जिसके कारण यह सारी लङ्का वर्षाकालमें नदीकी भाँति व्याकुल रहा करती थी, हम सबकी जड़को काटनेवाले उस अनर्थको आज मैंने शान्त कर दिया॥ १४-१५॥

रामस्य लक्ष्मणस्यैव सर्वेषां च वनौकसाम्।
विक्रमा निष्फलाः सर्वे यथा शरदि तोयदाः॥ १६॥

'जैसे शरद्ऋतुके सारे बादल पानी न बरसानेके कारण व्यर्थ होते हैं, उसी प्रकार श्रीराम, लक्ष्मण और सम्पूर्ण वानरोंके सारे बल-विक्रम निष्फल हो गये' ॥ १६ ॥

एवमुक्त्वा तु तान् सर्वान् राक्षसान् परिपश्यतः।
यूथपानपि तान् सर्वास्ताडयत् स च रावणिः ॥ १७ ॥

अपनी ओर देखते हुए उन सब राक्षसोंसे ऐसा कहकर रावणकुमार इन्द्रजित्ने वानरोंके उन समस्त सुप्रसिद्ध यूथपतियोंको भी मारना आरम्भ किया ॥ १७ ॥

नीलं नवभिराहत्य मैन्दं सद्विविदं तथा।
त्रिभिस्त्रिभिरमित्रघ्नस्तताप परमेषुभिः ॥ १८ ॥

उस शत्रुसूदन निशाचर वीरने नीलको नौ बाणोंसे घायल करके मैन्द और द्विविदको तीन-तीन उत्तम सायकोंद्वारा मारकर संतप्त कर दिया ॥ १८ ॥

जाम्बवन्तं महेष्वासो विद्ध्वा बाणेन वक्षसि।
हनूमतो वेगवतो विससर्ज शरान् दश ॥ १९ ॥

महाधनुर्धर इन्द्रजित्ने जाम्बवान्की छातीमें एक बाणसे गहरी चोट पहुँचाकर वेगशाली हनुमान्जीको भी दस बाण मारे ॥ १९ ॥

गवाक्षं शरभं चैव तावप्यमितविक्रमौ।
द्वाभ्यां द्वाभ्यां महावेगो विव्याध युधि रावणिः ॥ २० ॥

रावणकुमारका वेग उस समय बहुत बढ़ा हुआ था। उसने युद्धस्थलमें अमित पराक्रमी गवाक्ष और शरभको भी दो-दो बाण मारकर घायल कर दिया ॥ २० ॥

गोलाङ्गूलेश्वरं चैव वालिपुत्रमथाङ्गदम्।
विव्याध बहुभिर्बाणैस्त्वरमाणोऽथ रावणिः ॥ २१ ॥

तदनन्तर बड़ी उतावलीके साथ बाण चलाते हुए रावणकुमार इन्द्रजित्ने पुनः बहुसंख्यक बाणोंद्वारा लंगूरोंके राजा (गवाक्ष-) को और वालिपुत्र अङ्गदको भी गहरी चोट पहुँचायी ॥ २१ ॥

तान् वानरवरान् भित्त्वा शरैरग्निशिखोपमैः।
ननाद बलवांस्तत्र महासत्त्वः स रावणिः ॥ २२ ॥

इस प्रकार अग्नितुल्य तेजस्वी सायकोंसे उन मुख्य-मुख्य वानरोंको घायल करके महान् धैर्यशाली और बलवान् रावणकुमार वहाँ जोर-जोरसे गर्जना करने लगा ॥ २२ ॥

तानर्दयित्वा बाणौघैस्त्रासयित्वा च वानरान्।
प्रजहास महाबाहुर्वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २३ ॥

अपने बाणसमूहोंसे उन वानरोंको पीड़ित तथा भयभीत करके महाबाहु इन्द्रजित् अट्टहास करने लगा और इस प्रकार बोला ॥ २३ ॥

शरबन्धेन घोरेण मया बद्धौ चमूमुखे।
सहितौ भ्रातरावेतौ निशामयत राक्षसाः ॥ २४ ॥

'राक्षसो! देख लो, मैंने युद्धके मुहानेपर भयंकर बाणोंके पाशसे इन दोनों भाइयों श्रीराम और लक्ष्मणको एक साथ ही बाँध लिया है' ॥ २४ ॥

एवमुक्तास्तु ते सर्वे राक्षसाः कूटयोधिनः।
परं विस्मयमापन्नाः कर्मणा तेन हर्षिताः ॥ २५ ॥

इन्द्रजित्के ऐसा कहनेपर कूट-युद्ध करनेवाले वे सब राक्षस बड़े चकित हुए और उसके उस कर्मसे उन्हें बड़ा हर्ष भी हुआ ॥ २५ ॥

विनेदुश्च महानादान् सर्वे ते जलदोपमाः।
हतो राम इति ज्ञात्वा रावणिं समपूजयन् ॥ २६ ॥

वे सब-के-सब मेघोंके समान गम्भीर स्वरसे महान् सिंहनाद करने लगे तथा यह समझकर कि श्रीराम मारे गये, उन्होंने रावणकुमारका बड़ा अभिनन्दन किया ॥ २६ ॥

निष्पन्दौ तु तदा दृष्ट्वा भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
वसुधायां निरुच्छ्वासौ हताविल्यन्वमन्यत ॥ २७ ॥

इन्द्रजित्ने भी जब यह देखा कि श्रीराम और लक्ष्मण—दोनों भाई पृथ्वीपर निश्चेष्ट पड़े हैं तथा उनका श्वास भी नहीं चल रहा है, तब उन दोनोंको मरा हुआ ही समझा ॥ २७ ॥

हर्षेण तु समाविष्ट इन्द्रजित् समितिञ्जयः।
प्रविवेश पुरीं लङ्कां हर्षयन् सर्वनैर्ऋतान् ॥ २८ ॥

इससे युद्धविजयी इन्द्रजित्को बड़ा हर्ष हुआ तथा वह समस्त राक्षसोंका हर्ष बढ़ाता हुआ लङ्कापुरीमें चला गया ॥ २८ ॥

रामलक्ष्मणयोर्दृष्ट्वा शरीरे सायकैश्चिते।
सर्वाणि चाङ्गोपाङ्गानि सुग्रीवं भयमाविशत् ॥ २९ ॥

श्रीराम और लक्ष्मणके शरीरों तथा सभी अङ्ग-उपाङ्गोंको बाणोंसे व्याप्त देख सुग्रीवके मनमें भय समा गया ॥ २९ ॥

तमुवाच परित्रस्तं वानरेन्द्रं विभीषणः।
सबाष्पवदनं दीनं शोकव्याकुललोचनम् ॥ ३० ॥
अलं त्रासेन सुग्रीव बाष्पवेगो निगृह्यताम्।

उनके मुखपर दीनता छा गयी, आँसुओंकी धारा बह चली और नेत्र शोकसे व्याकुल हो उठे। उस समय अत्यन्त भयभीत हुए वानरराजसे विभीषणने कहा—'सुग्रीव! डरो मत। डरनेसे कोई लाभ नहीं। आँसुओंका यह वेग रोको ॥ ३०½ ॥

एवंप्रायाणि युद्धानि विजयो नास्ति नैष्ठिकः ॥ ३१ ॥
सभाग्यशेषतास्माकं यदि वीर भविष्यति।
मोहमेतौ प्रहास्येते महात्मानौ महाबलौ ॥ ३२ ॥
पर्यवस्थापयात्मानमनाथं मां च वानर।
सत्यधर्माभिरक्तानां नास्ति मृत्युकृतं भयम् ॥ ३३ ॥

'वीर! सभी युद्धोंकी प्रायः ऐसी ही स्थिति होती है, उनमें विजय निश्चित नहीं हुआ करती। यदि हमलोगोंका भाग्य शेष होगा तो ये दोनों महाबली महात्मा अवश्य मूर्छा त्याग देंगे। वानरराज! तुम अपनेको और मुझ अनाथको भी सँभालो।

जो लोग सत्य-धर्ममें अनुराग रखते हैं, उन्हें मृत्युका भय नहीं होता है' ॥ ३१—३३ ॥

एवमुक्त्वा ततस्तस्य जलक्लिन्नेन पाणिना ।
सुग्रीवस्य शुभे नेत्रे प्रममार्ज विभीषणः ॥ ३४ ॥

ऐसा कहकर विभीषणने जलसे भीगे हुए हाथसे सुग्रीवके दोनों सुन्दर नेत्र पोंछ दिये ॥ ३४ ॥

ततः सलिलमादाय विद्यया परिजप्य च ।
सुग्रीवनेत्रे धर्मात्मा प्रममार्ज विभीषणः ॥ ३५ ॥

तत्पश्चात् हाथमें जल लेकर उसे मन्त्रपूत करके धर्मात्मा विभीषणने सुग्रीवके नेत्रोंमें लगाया ॥ ३५ ॥

विमृज्य वदनं तस्य कपिराजस्य धीमतः ।
अब्रवीत् कालसम्प्राप्तमसम्भ्रान्तमिदं वचः ॥ ३६ ॥

फिर बुद्धिमान् वानरराजके भीगे हुए मुखको पोंछकर उन्होंने बिना किसी घबराहटके यह समयोचित बात कही— ॥ ३६ ॥

न कालः कपिराजेन्द्र वैक्लव्यमवलम्बितुम् ।
अतिस्नेहोऽपि कालेऽस्मिन् मरणायोपकल्पते ॥ ३७ ॥

'वानरसम्राट्! यह समय घबरानेका नहीं है। ऐसे समयमें अधिक स्नेहका प्रदर्शन भी मौतका भय उपस्थित कर देता है ॥ ३७ ॥

तस्मादुत्सृज्य वैक्लव्यं सर्वकार्यविनाशनम् ।
हितं रामपुरोगाणां सैन्यानामनुचिन्तय ॥ ३८ ॥

'इसलिये सब कामोंको बिगाड़ देनेवाली इस घबराहटको छोड़कर श्रीरामचन्द्रजी जिनके अगुआ अथवा स्वामी हैं, उन सेनाओंके हितका विचार करो ॥ ३८ ॥

अथ वा रक्ष्यतां रामो यावत्संज्ञाविपर्ययः ।
लब्धसंज्ञौ हि काकुत्स्थौ भयं नो व्यपनेष्यतः ॥ ३९ ॥

'अथवा जबतक श्रीरामचन्द्रजीको चेत न हो, तबतक इनकी रक्षा करनी चाहिये। होशमें आ जानेपर ये दोनों रघुवंशी वीर हमारा सारा भय दूर कर देंगे ॥ ३९ ॥

नैतत् किंचन रामस्य न च रामो मुमूर्षति ।
नह्येनं हास्यते लक्ष्मीर्दुर्लभा या गतायुषाम् ॥ ४० ॥

'श्रीरामके लिये यह संकट कुछ भी नहीं है। ये मर नहीं सकते हैं; क्योंकि जिनकी आयु समाप्त हो चली है, उनके लिये जो दुर्लभ लक्ष्मी (शोभा) है, वह इनका त्याग नहीं कर रही है ॥ ४० ॥

तस्मादाश्वासयात्मानं बलं चाश्वासय स्वकम् ।
यावत् सैन्यानि सर्वाणि पुनः संस्थापयाम्यहम् ॥ ४१ ॥

'अतः तुम अपनेको सँभालो और अपनी सेनाको आश्वासन दो। तबतक मैं इस घबरायी हुई सेनाको फिरसे धैर्य बँधाकर सुस्थिर करता हूँ ॥ ४१ ॥

एते हि फुल्लनयनास्त्रासादागतसाध्वसाः ।
कर्णे कर्णे प्रकथिता हरयो हरिसत्तम ॥ ४२ ॥

'कपिश्रेष्ठ! देखो, इन वानरोंके मनमें भय समा गया है, इसीलिये ये आँखें फाड़-फाड़कर देखते हैं और आपसमें कानाफूँसी करते हैं ॥ ४२ ॥

मां तु दृष्ट्वा प्रधावन्तमनीकं सम्प्रहर्षितम् ।
त्यजन्तु हरयस्त्रासं भुक्तपूर्वामिव स्रजम् ॥ ४३ ॥

'(अतः मैं इन्हें आश्वासन देने जाता हूँ) मुझे हर्षपूर्वक इधर-उधर दौड़ते देख और मेरे द्वारा धैर्य बँधायी हुई सेनाको प्रसन्न होती जान ये सभी वानर पहलेकी भोगी हुई मालाकी भाँति अपनी सारी भय-शङ्काको त्याग दें' ॥ ४३ ॥

समाश्वास्य तु सुग्रीवं राक्षसेन्द्रो विभीषणः ।
विद्रुतं वानरानीकं तत् समाश्वासयत् पुनः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार सुग्रीवको आश्वासन दे राक्षसराज विभीषणने भागनेके लिये उद्यत हुई वानर-सेनाको फिरसे सान्त्वना दी ॥ ४४ ॥

इन्द्रजित् तु महामायः सर्वसैन्यसमावृतः ।
विवेश नगरीं लङ्कां पितरं चाभ्युपागमत् ॥ ४५ ॥

इधर महामायावी इन्द्रजित् सारी सेनाके साथ लङ्कापुरीमें लौटा और अपने पिताके पास आया ॥ ४५ ॥

तत्र रावणमासाद्य अभिवाद्य कृताञ्जलिः ।
आचचक्षे प्रियं पित्रे निहतौ रामलक्ष्मणौ ॥ ४६ ॥

वहाँ रावणके पास पहुँचकर उसने उसे हाथ जोड़कर प्रणाम किया और श्रीराम-लक्ष्मणके मारे जानेका प्रिय संवाद सुनाया ॥ ४६ ॥

उत्पपात ततो हृष्टः पुत्रं च परिषस्वजे ।
रावणो रक्षसां मध्ये श्रुत्वा शत्रू निपातितौ ॥ ४७ ॥

राक्षसोंके बीचमें अपने दोनों शत्रुओंके मारे जानेका समाचार सुनकर रावण हर्षसे उछल पड़ा और उसने अपने पुत्रको हृदयसे लगा लिया ॥ ४७ ॥

उपाघ्राय च तं मूर्ध्नि पप्रच्छ प्रीतमानसः ।
पृच्छते च यथावृत्तं पित्रे तस्मै न्यवेदयत् ॥ ४८ ॥
यथा तौ शरबन्धेन निश्चेष्टौ निष्प्रभौ कृतौ ॥ ४९ ॥

फिर उसका मस्तक सूँघकर उसने प्रसन्नचित्त होकर उस घटनाका पूरा विवरण पूछा। पूछनेपर इन्द्रजित्‌ने पिताको सारा वृत्तान्त ज्यों-का-त्यों निवेदन किया और यह बताया कि किस प्रकार बाणोंके बन्धनमें बाँधकर श्रीराम और लक्ष्मणको निश्चेष्ट एवं निस्तेज किया गया है ॥ ४८-४९ ॥

स हर्षवेगानुगतान्तरात्मा
श्रुत्वा गिरं तस्य महारथस्य ।
जहौ ज्वरं दाशरथेः समुत्थं
प्रहृष्टवाचाभिननन्द पुत्रम् ॥ ५० ॥

महारथी इन्द्रजित्‌की उस बातको सुनकर रावणकी अन्तरात्मा हर्षके उद्रेकसे खिल उठी। दशरथनन्दन श्रीरामकी ओरसे जो उसे भय और चिन्ता प्राप्त हुई थी, उसे उसने त्याग दिया और प्रसन्नतापूर्ण वचनोंद्वारा अपने पुत्रका अभिनन्दन किया ॥ ५० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें छियालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

——★——

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

वानरोंद्वारा श्रीराम और लक्ष्मणकी रक्षा, रावणकी आज्ञासे राक्षसियोंका सीताको पुष्पकविमानद्वारा रणभूमिमें ले जाकर श्रीराम और लक्ष्मणका दर्शन कराना और सीताका दुःखी होकर रोना

तस्मिन् प्रविष्टे लङ्कायां कृतार्थे रावणात्मजे।
राघवं परिवार्याथ ररक्षुर्वानरर्षभाः ॥ १ ॥

रावणकुमार इन्द्रजित् जब अपना काम बनाकर लङ्कामें चला गया, तब सभी श्रेष्ठ वानर श्रीरघुनाथजीको चारों ओरसे घेरकर उनकी रक्षा करने लगे ॥ १ ॥

हनुमानङ्गदो नीलः सुषेणः कुमुदो नलः।
गजो गवाक्षो गवयः शरभो गन्धमादनः ॥ २ ॥
जाम्बवानृषभः स्कन्धो रम्भः शतबलिः पृथुः।
व्यूढानीकाश्च यत्ताश्च द्रुमानादाय सर्वतः ॥ ३ ॥

हनुमान्, अङ्गद, नील, सुषेण, कुमुद, नल, गज, गवाक्ष, गवय, शरभ, गन्धमादन, जाम्बवान्, ऋषभ, स्कन्ध, रम्भ, शतबलि और पृथु—ये सब सावधान हो अपनी सेनाकी व्यूहरचना करके हाथोंमें वृक्ष लिये सब ओरसे पहरा देने लगे ॥ २-३ ॥

वीक्षमाणा दिशः सर्वास्तिर्यगूर्ध्वं च वानराः।
तृणेष्वपि च चेष्टत्सु राक्षसा इति मेनिरे ॥ ४ ॥

वे सब वानर सम्पूर्ण दिशाओंमें ऊपर-नीचे और अगल-बगलमें भी देखते रहते थे तथा तिनकोंके भी हिल जानेपर यही समझते थे कि राक्षस आ गये ॥ ४ ॥

रावणश्चापि संहृष्टो विसृज्येन्द्रजितं सुतम्।
आजुहाव ततः सीतारक्षणी राक्षसीस्तदा ॥ ५ ॥

उधर हर्षसे भरे हुए रावणने भी अपने पुत्र इन्द्रजित्‌को विदा करके उस समय सीताजीकी रक्षा करनेवाली राक्षसियोंको बुलवाया ॥ ५ ॥

राक्षस्यस्त्रिजटा चापि शासनात् तमुपस्थिताः।
ता उवाच ततो हृष्टो राक्षसी राक्षसाधिपः ॥ ६ ॥

आज्ञा पाते ही त्रिजटा तथा अन्य राक्षसियाँ उसके पास आयीं। तब हर्षमें भरे हुए राक्षसराजने उन राक्षसियोंसे कहा— ॥ ६ ॥

हताविन्द्रजिताख्यात वैदेह्या रामलक्ष्मणौ।
पुष्पकं तत्समारोप्य दर्शयध्वं रणे हतौ ॥ ७ ॥

'तुमलोग विदेहकुमारी सीतासे जाकर कहो कि इन्द्रजित्‌ने राम और लक्ष्मणको मार डाला। फिर पुष्पकविमानपर सीताको चढ़ाकर रणभूमिमें ले जाओ और उन मारे गये दोनों बन्धुओंको उसे दिखा दो ॥ ७ ॥

यदाश्रयादवष्टब्धा नेयं मामुपतिष्ठते।
सोऽस्या भर्ता सह भ्रात्रा निहतो रणमूर्धनि ॥ ८ ॥

'जिसके आश्रयसे गर्वमें भरकर यह मेरे पास नहीं आती थी, वह इसका पति अपने भाईके साथ युद्धके मुहानेपर मारा गया ॥ ८ ॥

निर्विशङ्का निरुद्विग्ना निरपेक्षा च मैथिली।
मामुपस्थास्यते सीता सर्वाभरणभूषिता ॥ ९ ॥

'अब मिथिलेशकुमारी सीताको उसकी अपेक्षा नहीं रहेगी। वह समस्त आभूषणोंसे विभूषित हो भय और शङ्काको त्यागकर मेरी सेवामें उपस्थित होगी ॥ ९ ॥

अद्य कालवशं प्राप्तं रणे रामं सलक्ष्मणम्।
अवेक्ष्य विनिवृत्ता सा चान्यां गतिमपश्यती ॥ १० ॥
अनपेक्षा विशालाक्षी मामुपस्थास्यते स्वयम्।

'आज रणभूमिमें कालके अधीन हुए राम और लक्ष्मणको देखकर वह उनकी ओरसे अपना मन हटा लेगी तथा अपने लिये दूसरा कोई आश्रय न देखकर उधरसे निराश हो विशाललोचना सीता स्वयं ही मेरे पास चली आयेगी' ॥ १०½ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा रावणस्य दुरात्मनः ॥ ११ ॥
राक्षस्यस्तास्तथेत्युक्त्वा जग्मुर्वै यत्र पुष्पकम्।

दुरात्मा रावणकी वह बात सुनकर वे सब राक्षसियाँ 'बहुत अच्छा' कह उस स्थानपर गयीं, जहाँ पुष्पकविमान था ॥ ११½ ॥

ततः पुष्पकमादाय राक्षस्यो रावणाज्ञया ॥ १२ ॥
अशोकवनिकास्थां तां मैथिलीं समुपानयन्।

रावणकी आज्ञासे उस पुष्पकविमानको वे राक्षसियाँ अशोकवाटिकामें बैठी हुई मिथिलेशकुमारीके पास ले आयीं ॥ १२½ ॥

तामादाय तु राक्षस्यो भर्तृशोकपराजिताम् ॥ १३ ॥
सीतामारोपयामासुर्विमानं पुष्पकं तदा।

उन राक्षसियोंने पतिके शोकसे व्याकुल हुई सीताको

तत्काल पुष्पकविमानपर चढ़ाया ॥ १३ ॥

ततः पुष्पकमारोप्य सीतां त्रिजटया सह ॥ १४ ॥
जग्मुर्दर्शयितुं तस्यै राक्षस्यो रामलक्ष्मणौ ।
रावणश्चारयामास पताकाध्वजमालिनीम् ॥ १५ ॥

सीताको पुष्पकविमानपर बिठाकर त्रिजटासहित वे राक्षसियाँ उन्हें राम-लक्ष्मणका दर्शन करानेके लिये चलीं। इस प्रकार रावणने उन्हें ध्वजा-पताकाओंसे अलंकृत लङ्कापुरीके ऊपर विचरण करवाया ॥ १४-१५ ॥

प्राघोषयत हृष्टश्च लङ्कायां राक्षसेश्वरः ।
राघवो लक्ष्मणश्चैव हताविन्द्रजिता रणे ॥ १६ ॥

इधर हर्षसे भरे हुए राक्षसराज रावणने लङ्कामें सर्वत्र यह घोषणा करा दी कि राम और लक्ष्मण रणभूमिमें इन्द्रजित्‌के हाथसे मारे गये ॥ १६ ॥

विमानेनापि गत्वा तु सीता त्रिजटया सह ।
ददर्श वानराणां तु सर्वं सैन्यं निपातितम् ॥ १७ ॥

त्रिजटाके साथ उस विमानद्वारा वहाँ जाकर सीताने रणभूमिमें जो वानरोंकी सेनाएँ मारी गयी थीं, उन सबको देखा ॥ १७ ॥

प्रहृष्टमनसश्चापि ददर्श पिशिताशनान् ।
वानरांश्चातिदुःखार्तान् रामलक्ष्मणपार्श्वतः ॥ १८ ॥

उन्होंने मांसभक्षी राक्षसोंको तो भीतरसे प्रसन्न देखा और श्रीराम तथा लक्ष्मणके पास खड़े हुए वानरोंको अत्यन्त दुःखसे पीड़ित पाया ॥ १८ ॥

ततः सीता ददर्शोभौ शयानौ शरतल्पगौ ।
लक्ष्मणं चैव रामं च विसंज्ञौ शरपीडितौ ॥ १९ ॥

तदनन्तर सीताने बाणशय्यापर सोये हुए दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणको भी देखा, जो बाणोंसे पीड़ित हो संज्ञाशून्य होकर पड़े थे ॥ १९ ॥

विध्वस्तकवचौ वीरौ विप्रविद्धशरासनौ ।
सायकैश्छिन्नसर्वाङ्गौ शरस्तम्बमयौ क्षितौ ॥ २० ॥

उन दोनों वीरोंके कवच टूट गये थे, धनुष-बाण अलग पड़े थे, सायकोंसे सारे अङ्ग छिद गये थे और वे बाणसमूहोंके बने हुए पुतलोंकी भाँति पृथ्वीपर पड़े थे ॥ २० ॥

तौ दृष्ट्वा भ्रातरौ तत्र प्रवीरौ पुरुषर्षभौ ।
शयानौ पुण्डरीकाक्षौ कुमाराविव पावकी ॥ २१ ॥
शरतल्पगतौ वीरौ तथाभूतौ नरर्षभौ ।
दुःखार्ता करुणं सीता सुभृशं विललाप ह ॥ २२ ॥

जो प्रमुख वीर और समस्त पुरुषोंमें उत्तम थे, वे दोनों भाई कमलनयन राम और लक्ष्मण अग्निपुत्र कुमार शाख और विशाखकी भाँति शरसमूहमें सो रहे थे। उन दोनों नरश्रेष्ठ वीरोंको उस अवस्थामें बाणशय्यापर पड़ा देख दुःखसे पीड़ित हुई सीता करुणाजनक स्वरमें जोर-जोरसे विलाप करने लगीं ॥ २१-२२ ॥

भर्तारमनवद्याङ्गी लक्ष्मणं चासितेक्षणा ।
प्रेक्ष्य पांसुषु चेष्टन्त रुरोद जनकात्मजा ॥ २३ ॥

निर्दोष अङ्गोंवाली श्यामलोचना जनकनन्दिनी सीता अपने पति श्रीराम और देवर लक्ष्मणको धूलमें लोटते देख फूट-फूटकर रोने लगीं ॥ २३ ॥

सबाष्पशोकाभिहता समीक्ष्य
तौ भ्रातरौ देवसुतप्रभावौ ।
वितर्कयन्ती निधनं तयोः सा
दुःखान्विता वाक्यमिदं जगाद ॥ २४ ॥

उनके नेत्रोंसे आँसू बह रहे थे और हृदय शोकके आघातसे पीड़ित था। देवताओंके तुल्य प्रभावशाली उन दोनों भाइयोंको उस अवस्थामें देखकर उनके मरणकी आशङ्का करती हुई वे दुःख एवं चिन्तामें डूब गयीं और इस प्रकार बोलीं ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें सैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

सीताका विलाप और त्रिजटाका उन्हें समझा-बुझाकर श्रीराम-लक्ष्मणके जीवित होनेका विश्वास दिलाकर पुनः लङ्कामें ही लौटा लाना

भर्तारं निहतं दृष्ट्वा लक्ष्मणं च महाबलम् ।
विललाप भृशं सीता करुणं शोककर्शिता ॥ १ ॥

अपने स्वामी श्रीरामको तथा महाबली लक्ष्मणको भी मारा गया देख शोकसे पीड़ित हुई सीता बारम्बार करुणाजनक विलाप करने लगीं— ॥ १ ॥

ऊचुर्लाक्षणिका ये मां पुत्रिण्यविधवेति च ।
तेऽद्य सर्वे हते रामे ज्ञानिनोऽनृतवादिनः ॥ २ ॥

'सामुद्रिक लक्षणोंके ज्ञाता विद्वानोंने मुझे पुत्रवती और सधवा बताया था। आज श्रीरामके मारे जानेसे वे सब लक्षण-ज्ञानी पुरुष असत्यवादी हो गये ॥ २ ॥

यज्वनो महिषीं ये मामूचुः पत्नीं च सत्रिणः ।
तेऽद्य सर्वे हते रामे ज्ञानिनोऽनृतवादिनः ॥ ३ ॥

'जिन्होंने मुझे यज्ञपरायण तथा विविध सत्रोंका संचालन करनेवाले राजाधिराजकी पत्नी बताया था, आज

श्रीरामके मारे जानेसे वे सभी लक्षणवेत्ता पुरुष झूठे हो गये ॥ ३ ॥

वीरपार्थिवपत्नीनां ये विदुर्भर्तृपूजिताम् ।
तेऽद्य सर्वे हते रामे ज्ञानिनोऽनृतवादिनः ॥ ४ ॥

'जिन लोगोंने लक्षणोंद्वारा मुझे वीर राजाओंकी पत्नियोंमें पूजनीय और पतिके द्वारा सम्मानित समझा था, आज श्रीरामके न रहनेसे वे सभी लक्षणज्ञ पुरुष मिथ्यावादी हो गये ॥ ४ ॥

ऊचुः संश्रवणे ये मां द्विजाः कार्तान्तिकाः शुभाम् ।
तेऽद्य सर्वे हते रामे ज्ञानिनोऽनृतवादिनः ॥ ५ ॥

'ज्यौतिषशास्त्रके सिद्धान्तको जाननेवाले जिन ब्राह्मणोंने मेरे सामने ही मुझे नित्य मङ्गलमयी कहा था, वे सभी लक्षणवेत्ता पुरुष आज श्रीरामके मारे जानेपर असत्यवादी सिद्ध हो गये ॥ ५ ॥

इमानि खलु पद्मानि पादयोर्वै कुलस्त्रियः ।
आधिराज्येऽभिषिच्यन्ते नरेन्द्रैः पतिभिः सह ॥ ६ ॥

'जिन लक्षणभूत कमलोंके हाथ-पैर आदिमें होनेपर कुलवती स्त्रियाँ अपने पति राजाधिराजके साथ सम्राज्ञीके पदपर अभिषिक्त होती हैं, वे मेरे दोनों पैरोंमें निश्चित रूपसे विद्यमान हैं ॥ ६ ॥

वैधव्यं यान्ति यैर्नार्योऽलक्षणैर्भाग्यदुर्लभाः ।
नात्मनस्तानि पश्यामि पश्यन्ती हतलक्षणा ॥ ७ ॥

'जिन अशुभ लक्षणोंके कारण सौभाग्य दुर्लभ होता है और स्त्रियाँ विधवा हो जाती हैं, मैं बहुत देखनेपर भी अपने अङ्गोंमें ऐसे लक्षणोंको नहीं देख पाती, तथापि मेरे सारे शुभ लक्षण निष्फल हो गये ॥ ७ ॥

सत्यनामानि पद्मानि स्त्रीणामुक्तानि लक्षणैः ।
तान्यद्य निहते रामे वितथानि भवन्ति मे ॥ ८ ॥

'स्त्रियोंके हाथ-पैरोंमें जो कमलके चिह्न होते हैं, उन्हें लक्षणवेत्ता विद्वानोंने अमोघ बताया है; किंतु आज श्रीरामके मारे जानेसे वे सारे शुभ लक्षण मेरे लिये व्यर्थ हो गये ॥ ८ ॥

केशाः सूक्ष्माः समा नीला भ्रुवौ चासंहते मम ।
वृत्ते चारोमके जङ्घे दन्ताश्चाविरला मम ॥ ९ ॥

'मेरे सिरके बाल महीन, बराबर और काले हैं। भौंहें परस्पर जुड़ी हुई नहीं हैं। मेरी पिंडलियाँ (घुटनोंसे नीचेके भाग) गोल-गोल तथा रोमरहित हैं तथा मेरे दाँत भी परस्पर सटे हुए हैं ॥ ९ ॥

शङ्खे नेत्रे करौ पादौ गुल्फावूरू समौ चितौ ।
अनुवृत्तनखाः स्निग्धाः समाश्चाङ्गुलयो मम ॥ १० ॥

'मेरे नेत्रोंके आसपासके भाग, दोनों नेत्र, दोनों हाथ, दोनों पैर, दोनों गुल्फ (टखने) और जाँघें बराबर, विशाल एवं मांसल (पुष्ट) हैं। दोनों हाथोंकी अँगुलियाँ बराबर एवं चिकनी हैं और उनके नख गोल एवं उतार-चढ़ाववाले हैं ॥ १० ॥

स्तनौ चाविरलौ पीनौ मामकौ मग्नचूचुकौ ।
मग्ना चोत्सेधनी नाभिः पार्श्वोरस्कं च मे चितम् ॥ ११ ॥

'मेरे दोनों स्तन परस्पर सटे हुए और स्थूल हैं। इनके अग्र-भाग भीतरकी ओर दबे हुए हैं। मेरी नाभि गहरी और उसके आस-पासके भाग ऊँचे हैं। मेरे पार्श्वभाग तथा छाती मांसल हैं ॥ ११ ॥

मम वर्णो मणिनिभो मृदून्यङ्गरुहाणि च ।
प्रतिष्ठितां द्वादशभिर्मामूचुः शुभलक्षणाम् ॥ १२ ॥

'मेरी अङ्गकान्ति खरादी हुई मणिके समान उज्ज्वल है। शरीरके रोएँ कोमल हैं तथा पैरोंकी दसों अँगुलियाँ और दोनों तलवे—ये बारहों पृथ्वीसे अच्छी तरह सट जाते हैं। इन सबके कारण लक्षणज्ञोंने मुझे शुभलक्षणा बताया था ॥ १२ ॥

समग्रयवमच्छिद्रं पाणिपादं च वर्णवत् ।
मन्दस्मितेत्येव च मां कन्यालाक्षणिका विदुः ॥ १३ ॥

'मेरे हाथ-पैर लाल एवं उत्तम कान्तिसे युक्त हैं। उनमें जौकी समूची रेखाएँ हैं तथा मेरे हाथोंकी अँगुलियाँ जब परस्पर सटी होती हैं, उस समय उनमें तनिक भी छिद्र नहीं रह जाता है। कन्याके शुभलक्षणोंको जाननेवाले विद्वानोंने मुझे मन्द-मुसकानवाली बताया था ॥ १३ ॥

आधिराज्येऽभिषेको मे ब्राह्मणैः पतिना सह ।
कृतान्तकुशलैरुक्तं तत् सर्वं वितथीकृतम् ॥ १४ ॥

ज्यौतिषके सिद्धान्तको जाननेवाले निपुण ब्राह्मणोंने यह बताया था कि मेरा पतिके साथ राज्याभिषेक होगा, किंतु आज वे सारी बातें झूठी हो गयीं ॥ १४ ॥

शोधयित्वा जनस्थानं प्रवृत्तिमुपलभ्य च ।
तीर्त्वा सागरमक्षोभ्यं भ्रातरौ गोष्पदे हतौ ॥ १५ ॥

'इन दोनों भाइयोंने मेरे लिये जनस्थानको छान डाला तथा मेरा समाचार पाकर अक्षोभ्य समुद्रको पार किया, किंतु हाय! इतना सब कर लेनेके बाद थोड़ी-सी राक्षससेनाके द्वारा जिसे हराना इनके लिये गोपदको लाँघनेके समान था, वे दोनों मारे गये ॥ १५ ॥

ननु वारुणमाग्नेयमैन्द्रं वायव्यमेव च ।
अस्त्रं ब्रह्मशिरश्चैव राघवौ प्रत्यपद्यत ॥ १६ ॥

'परंतु ये दोनों रघुवंशी बन्धु तो वारुण, आग्नेय, ऐन्द्र, वायव्य और ब्रह्मशिर आदि अस्त्रोंको भी जानते थे। मरनेसे पहले इन्होंने उन अस्त्रोंका प्रयोग क्यों नहीं किया? ॥ १६ ॥

अदृश्यमानेन रणे मायया वासवोपमौ ।
मम नाथावनाथाया निहतौ रामलक्ष्मणौ ॥ १७ ॥

'मुझ अनाथाके रक्षक श्रीराम और लक्ष्मण इन्द्रतुल्य पराक्रमी थे, किंतु इन्द्रजित्‌ने स्वयं मायासे अदृश्य रहकर ही इन्हें रणभूमिमें मार डाला है ॥ १७ ॥

नहि दृष्टिपथं प्राप्य राघवस्य रणे रिपुः ।
जीवन् प्रतिनिवर्तेत यद्यपि स्यान्मनोजवः ॥ १८ ॥

'अन्यथा युद्धस्थलमें इन श्रीरघुनाथजीके दृष्टिपथमें आकर कोई भी शत्रु, वह मनके समान वेगशाली क्यों न हो, जीवित नहीं लौट सकता था ॥ १८ ॥

न कालस्यातिभारोऽस्ति कृतान्तश्च सुदुर्जयः।
यत्र रामः सह भ्रात्रा शेते युधि निपातितः॥ १९॥

'परंतु कालके लिये कुछ भी अधिक बोझ नहीं है (वह सब कुछ कर सकता है)। उसके लिये दैवको भी जीतना विशेष कठिन नहीं है। इस कालके ही वशमें पड़कर आज श्रीराम अपने भाईके साथ मारे जाकर युद्धभूमिमें सो रहे हैं ॥ १९ ॥

न शोचामि तथा रामं लक्ष्मणं च महारथम्।
नात्मानं जननीं चापि यथा श्वश्रूं तपस्विनीम्॥ २०॥
सा तु चिन्तयते नित्यं समाप्तव्रतमागतम्।
कदा द्रक्ष्यामि सीतां च लक्ष्मणं च सराघवम्॥ २१॥

'मैं श्रीराम, महारथी लक्ष्मण, अपने और अपनी माताके लिये भी उतना शोक नहीं करती हूँ जितना अपनी तपस्विनी सासुजीके लिये कर रही हूँ। वे तो प्रतिदिन यही सोचती होंगी कि वह दिन कब आयेगा जब कि वनवासका व्रत समाप्त करके वनसे लौटे हुए श्रीराम, लक्ष्मण और सीताको मैं देखूँगी' ॥ २०-२१ ॥

परिदेवयमानां तां राक्षसी त्रिजटाब्रवीत्।
मा विषादं कृथा देवि भर्तायं तव जीवति॥ २२॥

इस प्रकार विलाप करती हुई सीतासे राक्षसी त्रिजटाने कहा—'देवि! विषाद न करो। तुम्हारे ये पतिदेव जीवित हैं ॥ २२ ॥

कारणानि च वक्ष्यामि महान्ति सदृशानि च।
यथेमौ जीवतो देवि भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ॥ २३॥

'देवि! मैं तुम्हें कई ऐसे महान् और उचित कारण बताऊँगी, जिनसे यह सूचित होता है कि ये दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण जीवित हैं ॥ २३ ॥

नहि कोपपरीतानि हर्षपर्युत्सुकानि च।
भवन्ति युधि योधानां मुखानि निहते पतौ॥ २४॥

'युद्धमें स्वामीके मारे जानेपर योद्धाओंके मुँह क्रोध और हर्षकी उत्सुकतासे युक्त नहीं रहते (किंतु यहाँ ये दोनों बातें पायी जाती हैं। इसलिये ये दोनों जीवित हैं) ॥ २४ ॥

इदं विमानं वैदेहि पुष्पकं नाम नामतः।
दिव्यं त्वां धारयेन्नेदं यद्येतौ गतजीवितौ॥ २५॥

'विदेहनन्दिनि! यह पुष्पक नामक विमान दिव्य है। यदि इन दोनोंके प्राण चले गये होते तो (वैधव्यावस्थामें) यह तुम्हें धारण न करता ॥ २५ ॥

हतवीरप्रधाना हि गतोत्साहा निरुद्यमा।
सेना भ्रमति संख्येषु हतकर्णेव नौर्जले॥ २६॥
इयं पुनरसम्भ्रान्ता निरुद्विग्ना तपस्विनि।
सेना रक्षति काकुत्स्थौ मया प्रीत्या निवेदितौ॥ २७॥

'इसके सिवा जब प्रधान वीर मारा जाता है, तब उसकी सेना उत्साह और उद्योगसे हीन हो युद्धस्थलमें उसी तरह मारी-मारी फिरती है, जैसे कर्णधारके नष्ट हो जानेपर नौका जलमें हो बहती रहती है। परंतु तपस्विनि! इस सेनामें किसी प्रकारकी घबराहट या उद्वेग नहीं है। यह इन दोनों राजकुमारोंकी रक्षा कर रही है। इस प्रकार मैंने प्रेमपूर्वक तुम्हें यह बताया है कि ये दोनों भाई जीवित हैं ॥ २६-२७ ॥

सा त्वं भव सुविस्रब्धा अनुमानैः सुखोदयैः।
अहतौ पश्य काकुत्स्थौ स्नेहादेतद् ब्रवीमि ते॥ २८॥

'इसलिये अब तुम इन भावी सुखकी सूचना देनेवाले अनुमानों (हेतुओं) से निश्चिन्त हो जाओ—विश्वास करो कि ये जीवित हैं। तुम इन दोनों रघुवंशी राजकुमारोंको इसी रूपमें देखो कि ये मारे नहीं गये हैं। यह बात मैं तुमसे स्नेहवश कह रही हूँ ॥ २८ ॥

अनृतं नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्यामि मैथिलि।
चारित्रसुखशीलत्वात् प्रविष्टासि मनो मम॥ २९॥

'मिथिलेशकुमारी! तुम्हारा शील-स्वभाव तुम्हारे निर्मल चरित्रके कारण बड़ा सुखदायक जान पड़ता है, इसीलिये तुम मेरे मनमें घर कर गयी हो। अतएव मैंने तुमसे न तो पहले कभी झूठ कहा है और न आगे ही कहूँगी ॥ २९ ॥

नेमौ शक्यौ रणे जेतुं सेन्द्रैरपि सुरासुरैः।
तादृशं दर्शनं दृष्ट्वा मया चोदीरितं तव॥ ३०॥

'इन दोनों वीरोंको रणभूमिमें इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता और असुर भी नहीं जीत सकते। वैसा लक्षण देखकर ही मैंने तुमसे ये बातें कही हैं ॥ ३० ॥

इदं तु सुमहच्चित्रं शरैः पश्यस्व मैथिलि।
विसंज्ञौ पतितावेतौ नैव लक्ष्मीर्विमुञ्चति॥ ३१॥

'मिथिलेशकुमारी! यह महान् आश्चर्यकी बात तो देखो। बाणोंके लगनेसे ये अचेत होकर पड़े हैं तो भी लक्ष्मी (शरीरकी सहज कान्ति) इनका त्याग नहीं कर रही है ॥ ३१ ॥

प्रायेण गतसत्त्वानां पुरुषाणां गतायुषाम्।
दृश्यमानेषु वक्त्रेषु परं भवति वैकृतम्॥ ३२॥

'जिनके प्राण निकल जाते हैं अथवा जिनकी आयु समाप्त हो जाती है, उनके मुखोंपर यदि दृष्टिपात किया जाय तो प्रायः वहाँ बड़ी विकृति दिखायी देती है (इन दोनोंके मुखोंकी शोभा ज्यों-की-त्यों बनी हुई है; इसलिये ये जीवित हैं) ॥ ३२ ॥

त्यज शोकं च दुःखं च मोहं च जनकात्मजे।
रामलक्ष्मणयोरर्थे नाद्य शक्यमजीवितुम्॥ ३३॥

'जनककिशोरी! तुम श्रीराम और लक्ष्मणके लिये शोक, दुःख और मोह त्याग दो। ये अब मर नहीं सकते' ॥ ३३ ॥

श्रुत्वा तु वचनं तस्याः सीता सुरसुतोपमा।
कृताञ्जलिरुवाचेमामेवमस्त्विति मैथिली॥ ३४॥

त्रिजटाकी यह बात सुनकर देवकन्याके समान सुन्दरी मिथिलेशकुमारी सीताने हाथ जोड़कर उससे कहा—'बहिन! ऐसा ही हो'॥ ३४॥

विमानं पुष्पकं तत्तु संनिवर्त्य मनोजवम्।
दीना त्रिजटया सीता लङ्कामेव प्रवेशिता॥ ३५॥

फिर मनके समान वेगवाले पुष्पकविमानको लौटाकर त्रिजटा दुःखिनी सीताको लङ्कापुरीमें ही ले आयी॥ ३५॥

ततस्त्रिजटया सार्धं पुष्पकादवरुह्य सा।
अशोकवनिकामेव राक्षसीभिः प्रवेशिता॥ ३६॥

तत्पश्चात् त्रिजटाके साथ विमानसे उतरनेपर राक्षसियोंने उन्हें पुनः अशोकवाटिकामें ही पहुँचा दिया॥ ३६॥

प्रविश्य सीता बहुवृक्षखण्डां
तां राक्षसेन्द्रस्य विहारभूमिम्।
सम्प्रेक्ष्य संचिन्त्य च राजपुत्रौ
परं विषादं समुपाजगाम॥ ३७॥

बहुसंख्यक वृक्षसमूहोंसे सुशोभित राक्षसराजकी उस विहारभूमिमें पहुँचकर सीताने उसे देखा और उन दोनों राजकुमारोंका चिन्तन करके वे महान् शोकमें डूब गयीं॥ ३७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डेऽष्टचत्वारिंशः सर्गः॥ ४८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें अड़तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ४८॥

—★—

एकोनपञ्चाशः सर्गः

श्रीरामका सचेत होकर लक्ष्मणके लिये विलाप करना और स्वयं प्राणत्यागका विचार करके वानरोंको लौट जानेकी आज्ञा देना

घोरेण शरबन्धेन बद्धौ दशरथात्मजौ।
निःश्वसन्तौ यथा नागौ शयानौ रुधिरोक्षितौ॥ १॥

दशरथकुमार श्रीराम और लक्ष्मण भयंकर सर्पाकार बाणके बन्धनमें बँधे हुए-से पड़े थे। वे लहूलुहान हो रहे थे और फुफकारते हुए सर्पोंके समान साँसें ले रहे थे॥ १॥

सर्वे ते वानरश्रेष्ठाः ससुग्रीवमहाबलाः।
परिवार्य महात्मानौ तस्थुः शोकपरिप्लुताः॥ २॥

उन दोनों महात्माओंको चारों ओरसे घेरकर सुग्रीव आदि सभी श्रेष्ठ महाबली वानर शोकमें डूबे खड़े थे॥ २॥

एतस्मिन्नन्तरे रामः प्रत्यबुध्यत वीर्यवान्।
स्थिरत्वात् सत्त्वयोगाच्च शरैः संदानितोऽपि सन्॥ ३॥

इसी बीचमें पराक्रमी श्रीराम नागपाशसे बँधे होनेपर भी अपने शरीरकी दृढ़ता और शक्तिमत्ताके कारण मूर्छासे जाग उठे॥ ३॥

ततो दृष्ट्वा सरुधिरं निषण्णं गाढमर्पितम्।
भ्रातरं दीनवदनं पर्यदेवयदातुरः॥ ४॥

उन्होंने देखा कि भाई लक्ष्मण बाणोंसे अत्यन्त घायल होकर खूनसे लथपथ हुए पड़े हैं और उनका चेहरा बहुत उतर गया है; अतः वे आतुर होकर विलाप करने लगे—॥ ४॥

किं नु मे सीतया कार्यं लब्धया जीवितेन वा।
शयानं योऽद्य पश्यामि भ्रातरं युधि निर्जितम्॥ ५॥

'हाय! यदि मुझे सीता मिल भी गयीं तो मैं उन्हें लेकर क्या करूँगा? अथवा इस जीवनको ही रखकर क्या करना है? जब कि आज मैं अपने पराजित हुए भाईको युद्धस्थलमें पड़ा हुआ देख रहा हूँ॥ ५॥

शक्या सीतासमा नारी मर्त्यलोके विचिन्वता।
न लक्ष्मणसमो भ्राता सचिवः साम्परायिकः॥ ६॥

'मर्त्यलोकमें ढूँढ़नेपर मुझे सीता-जैसी दूसरी स्त्री मिल सकती है; परंतु लक्ष्मणके समान सहायक और युद्धकुशल भाई नहीं मिल सकता॥ ६॥

परित्यक्ष्याम्यहं प्राणान् वानराणां तु पश्यताम्।
यदि पञ्चत्वमापन्नः सुमित्रानन्दवर्धनः॥ ७॥

'सुमित्राके आनन्दको बढ़ानेवाले लक्ष्मण यदि जीवित न रहे तो मैं वानरोंके देखते-देखते अपने प्राणोंका परित्याग कर दूँगा॥ ७॥

किं नु वक्ष्यामि कौसल्यां मातरं किं नु कैकयीम्।
कथमम्बां सुमित्रां च पुत्रदर्शनलालसाम्॥ ८॥
विवत्सां वेपमानां च वेपन्तीं कुररीमिव।
कथमाश्वासयिष्यामि यदि यास्यामि तं विना॥ ९॥

'लक्ष्मणके बिना यदि मैं अयोध्याको लौटूँ तो माता कौसल्या और कैकेयीको क्या जवाब दूँगा तथा अपने पुत्रको देखनेके लिये उत्सुक हो बछड़ेसे बिछुड़ी गायके समान काँपती और कुररीकी भाँति रोती-बिलखती माता सुमित्रासे क्या कहूँगा? उन्हें किस तरह धैर्य बँधाऊँगा?॥ ८-९॥

कथं वक्ष्यामि शत्रुघ्नं भरतं च यशस्विनम्।
मया सह वनं यातो विना तेनाहमागतः॥ १०॥

'मैं यशस्वी भरत और शत्रुघ्नसे किस तरह यह कह

सकूँगा कि लक्ष्मण मेरे साथ वनको गये थे; किंतु मैं उन्हें वहीं खोकर उनके बिना ही लौट आया हूँ॥ १०॥

उपालम्भं न शक्ष्यामि सोढुमम्बासुमित्रया।
इहैव देहं त्यक्ष्यामि नहि जीवितुमुत्सहे॥ ११॥

'दोनों माताओंसहित सुमित्राका उपालम्भ मैं नहीं सह सकूँगा; अतः यहीं इस देहका त्याग दूँगा। अब मुझमें जीवित रहनेका उत्साह नहीं है॥ ११॥

धिङ्मां दुष्कृतकर्माणमनार्यं यत्कृते ह्यसौ।
लक्ष्मणः पतितः शेते शरतल्पे गतासुवत्॥ १२॥

'मुझ-जैसे दुष्कर्मी और अनार्यको धिक्कार है, जिसके कारण लक्ष्मण मरे हुएके समान बाण-शय्यापर सो रहे हैं॥ १२॥

त्वं नित्यं सुविषण्णं मामाश्वासयसि लक्ष्मण।
गतासुर्नाद्य शक्तोऽसि मामार्तमभिभाषितुम्॥ १३॥

'लक्ष्मण! जब मैं अत्यन्त विषादमें डूब जाता था, उस समय तुम्हीं सदा मुझे आश्वासन देते थे; परंतु आज तुम्हारे प्राण नहीं रहे, इसलिये आज तुम मुझ दुःखियासे बात करनेमें भी असमर्थ हो॥ १३॥

येनाद्य बहवो युद्धे निहता राक्षसाः क्षितौ।
तस्यामेवाद्य शूरस्त्वं शेषे विनिहतः शरैः॥ १४॥

'भैया! जिस रणभूमिमें आज तुमने बहुत-से राक्षसोंको मार गिराया था, उसीमें शूरवीर होकर भी तुम बाणोंद्वारा मारे जाकर सो रहे हो॥ १४॥

शयानः शरतल्पेऽस्मिन् सशोणितपरिस्रुतः।
शरभूतस्ततो भासि भास्करोऽस्तमिव व्रजन्॥ १५॥

'इस बाण-शय्यापर तुम खूनसे लथपथ होकर पड़े हो और बाणोंसे व्याप्त होकर अस्ताचलको जाते हुए सूर्यके समान प्रकाशित हो रहे हो॥ १५॥

बाणाभिहतमर्मत्वान्न शक्नोषीह भाषितुम्।
रुजा चाब्रुवतो यस्य दृष्टिरागेण सूच्यते॥ १६॥

'बाणोंसे तुम्हारा मर्मस्थल विदीर्ण हो गया, इसलिये तुम यहाँ बात भी नहीं कर सकते। यद्यपि तुम बोल नहीं रहे हो, तथापि तुम्हारे नेत्रोंकी लालीसे तुम्हारी मार्मिक पीड़ा सूचित हो रही है॥ १६॥

यथैव मां वनं यान्तमनुयातो महाद्युतिः।
अहमप्यनुयास्यामि तथैवैनं यमक्षयम्॥ १७॥

'जिस तरह वनकी यात्रा करते समय महातेजस्वी लक्ष्मण मेरे पीछे-पीछे चले आये थे, उसी प्रकार मैं भी यमलोकमें इनका अनुसरण करूँगा॥ १७॥

इष्टबन्धुजनो नित्यं मां च नित्यमनुव्रतः।
इमामद्य गतोऽवस्थां ममानार्यस्य दुर्नयैः॥ १८॥

'जो मेरे प्रिय बन्धुजन थे और सदा मुझमें अनुराग एवं भक्तिभाव रखते थे, वे ही लक्ष्मण आज मुझ अनार्यकी दुर्नीतियोंके कारण इस अवस्थाको पहुँच गये॥ १८॥

सुरुष्टेनापि वीरेण लक्ष्मणेन न संस्मरे।
परुषं विप्रियं चापि श्रावितं तु कदाचन॥ १९॥

'मुझे ऐसा कोई प्रसंग याद नहीं आता, जब कि वीर लक्ष्मणने अत्यन्त कुपित होनेपर भी मुझे कभी कोई कठोर या अप्रिय बात सुनायी हो॥ १९॥

विससर्जैकवेगेन पञ्च बाणशतानि यः।
इष्वस्त्रेष्वधिकस्तस्मात् कार्तवीर्याच्च लक्ष्मणः॥ २०॥

'लक्ष्मण एक ही वेगसे पाँच सौ बाणोंकी वर्षा करते थे; इसलिये धनुर्विद्यामें कार्तवीर्य अर्जुनसे भी बढ़कर थे॥ २०॥

अस्त्रैरस्त्राणि यो हन्याच्छक्रस्यापि महात्मनः।
सोऽयमुर्व्यां हतः शेते महार्हशयनोचितः॥ २१॥

'जो अपने अस्त्रोंद्वारा महात्मा इन्द्रके भी अस्त्रोंको काट सकते थे; वे ही बहुमूल्य शय्यापर सोनेयोग्य लक्ष्मण आज स्वयं मारे जाकर पृथ्वीपर सो रहे हैं॥ २१॥

तत्तु मिथ्या प्रलप्तं मां प्रधक्ष्यति न संशयः।
यन्मया न कृतो राजा राक्षसानां विभीषणः॥ २२॥

'मैं विभीषणको राक्षसोंका राजा न बना सका; अतः मेरा वह झूठा प्रलाप मुझे सदा जलाता रहेगा, इसमें संशय नहीं है॥ २२॥

अस्मिन् मुहूर्ते सुग्रीव प्रतियातुमितोऽर्हसि।
मत्वा हीनं मया राजन् रावणोऽभिभविष्यति॥ २३॥

'वानरराज सुग्रीव! तुम इसी मुहूर्तमें यहाँसे लौट जाओ; क्योंकि मेरे बिना तुम्हें असहाय समझकर रावण तुम्हारा तिरस्कार करेगा॥ २३॥

अङ्गदं तु पुरस्कृत्य ससैन्यं सपरिच्छदम्।
सागरं तर सुग्रीव नीलेन च नलेन च॥ २४॥

'मित्र सुग्रीव! सेना और सामग्रियोंसहित अङ्गदको आगे करके नल और नीलके साथ तुम समुद्रके पार चले जाओ॥ २४॥

कृतं हि सुमहत्कर्म यदन्यैर्दुष्करं रणे।
ऋक्षराजेन तुष्यामि गोलाङ्गूलाधिपेन च॥ २५॥

'मैं लंगूरोंके स्वामी गवाक्ष तथा ऋक्षराज जाम्बवान्से भी बहुत संतुष्ट हूँ। तुम सब लोगोंने युद्धमें वह महान् पुरुषार्थ कर दिखाया है, जो दूसरोंके लिये अत्यन्त दुष्कर था॥ २५॥

अङ्गदेन कृतं कर्म मैन्देन द्विविदेन च।
युद्धं केसरिणा संख्ये घोरं सम्पातिना कृतम्॥ २६॥

'अङ्गद, मैन्द और द्विविदने भी महान् पराक्रम प्रकट किया है। केसरी और सम्पातिने भी समराङ्गणमें घोर युद्ध किया है॥ २६॥

गवयेन गवाक्षेण शरभेण गजेन च।
अन्यैश्च हरिभिर्युद्धं मदर्थे त्यक्तजीवितैः॥ २७॥

'गवय, गवाक्ष, शरभ, गज तथा अन्य वानरोंने भी मेरे लिये प्राणोंका मोह छोड़कर संग्राम किया है॥ २७॥

न चातिक्रमितुं शक्यं दैवं सुग्रीव मानुषैः।
यत्तु शक्यं वयस्येन सुहृदा वा परं मम॥ २८॥
कृतं सुग्रीव तत् सर्वं भवता धर्मभीरुणा।
मित्रकार्यं कृतमिदं भवद्भिर्वानरर्षभाः॥ २९॥
अनुज्ञाता मया सर्वे यथेष्टं गन्तुमर्हथ।

'किंतु सुग्रीव! मनुष्योंके लिये दैवके विधानको लाँघना असम्भव है। मेरे परम मित्र अथवा उत्तम सुहृद्के नाते तुम-जैसे धर्मभीरु पुरुषके द्वारा जो कुछ किया जा सकता था, वह सब तुमने किया है। वानरशिरोमणियो! तुम सबने मिलकर मित्रके इस कार्यको सम्पन्न किया है। अब मैं आज्ञा देता हूँ—तुम सब जहाँ इच्छा हो, वहाँ चले जाओ' ॥ २८-२९½॥

शुश्रुवुस्तस्य ये सर्वे वानराः परिदेवितम्॥ ३०॥
वर्तयांचक्रिरेऽश्रूणि नेत्रैः कृष्णेतरेक्षणाः॥ ३१॥

भगवान् श्रीरामका यह विलाप भूरी आँखोंवाले जिन-जिन वानरोंने सुना, वे सब अपने नेत्रोंसे आँसू बहाने लगे॥ ३०-३१॥

ततः सर्वाण्यनीकानि स्थापयित्वा विभीषणः।
आजगाम गदापाणिस्त्वरितं यत्र राघवः॥ ३२॥

तदनन्तर समस्त सेनाओंको स्थिरतापूर्वक स्थापित करके विभीषण हाथमें गदा लिये तुरंत उस स्थानपर लौट आये, जहाँ श्रीरामचन्द्रजी विद्यमान थे॥ ३२॥

तं दृष्ट्वा त्वरितं यान्तं नीलाञ्जनचयोपमम्।
वानरा दुद्रुवुः सर्वे मन्यमानास्तु रावणिम्॥ ३३॥

काले कोयलोंकी राशिके समान कृष्ण कान्तिवाले विभीषणको शीघ्रतापूर्वक आते देख सब वानर उन्हें रावणपुत्र इन्द्रजित् समझकर इधर-उधर भागने लगे॥ ३३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे एकोनपञ्चाशः सर्गः॥ ४९॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें उनचासवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ४९॥

—★—

पञ्चाशः सर्गः

विभीषणको इन्द्रजित् समझकर वानरोंका पलायन और सुग्रीवकी आज्ञासे जाम्बवान्का उन्हें सान्त्वना देना, विभीषणका विलाप और सुग्रीवका उन्हें समझाना, गरुड़का आना और श्रीराम-लक्ष्मणको नागपाशसे मुक्त करके चला जाना

अथोवाच महातेजा हरिराजो महाबलः।
किमियं व्यथिता सेना मूढवातेव नौर्जले॥ १॥

उस समय महातेजस्वी महाबली वानरराज सुग्रीवने पूछा—'वानरो! जैसे जलमें बवंडरकी मारी हुई नौका डगमगाने लगती है, उसी प्रकार जो यह हमारी सेना सहसा व्यथित हो उठी है, इसका क्या कारण है?' ॥ १॥

सुग्रीवस्य वचः श्रुत्वा वालिपुत्रोऽङ्गदोऽब्रवीत्।
न त्वं पश्यसि रामं च लक्ष्मणं च महारथम्॥ २॥

सुग्रीवकी यह बात सुनकर वालिपुत्र अङ्गदने कहा—'क्या आप श्रीराम और महारथी लक्ष्मणकी दशा नहीं देख रहे हैं?॥ २॥

शरजालाचितौ वीरावुभौ दशरथात्मजौ।
शरतल्पे महात्मानौ शयानौ रुधिरोक्षितौ॥ ३॥

'ये दोनों वीर महात्मा दशरथकुमार रक्तसे भीगे हुए बाण-शय्यापर पड़े हैं और बाणोंके समूहसे व्याप्त हो रहे हैं'॥ ३॥

अथाब्रवीद् वानरेन्द्रः सुग्रीवः पुत्रमङ्गदम्।
नानिमित्तमिदं मन्ये भवितव्यं भयेन तु॥ ४॥

तब वानरराज सुग्रीवने पुत्र अङ्गदसे कहा—'बेटा! मैं ऐसा नहीं मानता कि सेनामें अकारण ही भगदड़ मच गयी है। किसी-न-किसी भयके कारण ऐसा होना चाहिये॥ ४॥

विषण्णवदना ह्येते त्यक्तप्रहरणा दिशः।
पलायन्तेऽत्र हरयस्त्रासादुत्फुल्ललोचनाः॥ ५॥

'ये वानर उदास मुँहसे अपने-अपने हथियार फेंककर सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग रहे हैं और भयके कारण आँखें फाड़-फाड़कर देख रहे हैं॥ ५॥

अन्योन्यस्य न लज्जन्ते न निरीक्षन्ति पृष्ठतः।
विप्रकर्षन्ति चान्योन्यं पतितं लङ्घयन्ति च॥ ६॥

'पलायन करते समय उन्हें एक-दूसरेसे लज्जा नहीं होती है। वे पीछेकी ओर नहीं देखते हैं। एक दूसरेको घसीटते हैं और जो गिर जाता है, उसे लाँघकर चल देते हैं (भयके मारे उठातेतक नहीं हैं)' ॥ ६॥

एतस्मिन्नन्तरे वीरो गदापाणिर्विभीषणः।
सुग्रीवं वर्धयामास राघवं च जयाशिषा॥ ७॥

इसी बीचमें वीर विभीषण हाथमें गदा लिये वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने विजयसूचक आशीर्वाद देकर सुग्रीव तथा

श्रीरघुनाथजीकी अभ्युदय-कामना की ॥ ७ ॥

विभीषणं च सुग्रीवो दृष्ट्वा वानरभीषणम्।
ऋक्षराजं महात्मानं समीपस्थमुवाच ह ॥ ८ ॥

वानरोंको भयभीत करनेवाले विभीषणको देखकर सुग्रीवने अपने पास ही खड़े हुए महात्मा ऋक्षराज जाम्बवान्‌से कहा— ॥ ८ ॥

विभीषणोऽयं सम्प्राप्तो यं दृष्ट्वा वानरर्षभाः।
द्रवन्त्यायतसंत्रासा रावणात्मजशङ्कया ॥ ९ ॥

'ये विभीषण आये हैं, जिन्हें देखकर वानरशिरोमणियोंको यह संदेह हुआ है कि रावणका बेटा इन्द्रजित् आ गया। इसीलिये इनका भय बहुत बढ़ गया है और वे भागे जा रहे हैं ॥ ९ ॥

शीघ्रमेतान् सुसंत्रस्तान् बहुधा विप्रधावितान्।
पर्यवस्थापयाख्याहि विभीषणमुपस्थितम् ॥ १० ॥

'तुम शीघ्र जाकर यह बताओ कि इन्द्रजित् नहीं, विभीषण आये हैं। ऐसा कहकर बहुधा भयभीत हो पलायन करते हुए इन सब वानरोंको सुस्थिर करो—भागनेसे रोको' ॥ १० ॥

सुग्रीवेणैवमुक्तस्तु जाम्बवानृक्षपार्थिवः।
वानरान् सान्त्वयामास संनिवर्त्य प्रधावतः ॥ ११ ॥

सुग्रीवके ऐसा कहनेपर ऋक्षराज जाम्बवान्‌ने भागते हुए वानरोंको लौटाकर उन्हें सान्त्वना दी ॥ ११ ॥

ते निवृत्ताः पुनः सर्वे वानरास्त्यक्तसाध्वसाः।
ऋक्षराजवचः श्रुत्वा तं च दृष्ट्वा विभीषणम् ॥ १२ ॥

ऋक्षराजकी बात सुनकर और विभीषणको अपनी आँखों देखकर वानरोंने भयको त्याग दिया तथा वे सब-के-सब फिर लौट आये ॥ १२ ॥

विभीषणस्तु रामस्य दृष्ट्वा गात्रं शरैश्चितम्।
लक्ष्मणस्य तु धर्मात्मा बभूव व्यथितस्तदा ॥ १३ ॥

श्रीराम और लक्ष्मणके शरीरको बाणोंसे व्याप्त हुआ देख धर्मात्मा विभीषणको उस समय बड़ी व्यथा हुई ॥ १३ ॥

जलक्लिन्नेन हस्तेन तयोर्नेत्रे विमृज्य च।
शोकसम्पीडितमना रुरोद विललाप च ॥ १४ ॥

उन्होंने जलसे भीगे हुए उन दोनों भाइयोंके नेत्र पोंछे और मन ही मन शोकसे पीड़ित हो वे रोने और विलाप करने लगे ॥ १४ ॥

इमौ तौ सत्त्वसम्पन्नौ विक्रान्तौ प्रियसंयुगौ।
इमामवस्थां गमितौ राक्षसैः कूटयोधिभिः ॥ १५ ॥

'हाय! जिन्हें युद्ध अधिक प्रिय था और जो बल-विक्रमसे सम्पन्न थे, वे ही ये दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण मायासे युद्ध करनेवाले राक्षसोंद्वारा इस अवस्थाको पहुँचा दिये गये ॥ १५ ॥

भ्रातृपुत्रेण मे तेन दुष्पुत्रेण दुरात्मना।
राक्षस्या जिह्मया बुद्ध्या वञ्चितावृजुविक्रमौ ॥ १६ ॥

'ये दोनों वीर सरलतापूर्वक पराक्रम प्रकट कर रहे थे। परंतु भाईके इस दुरात्मा कुपुत्रने अपनी कुटिल राक्षसी बुद्धिके द्वारा इन दोनोंके साथ धोखा किया ॥ १६ ॥

शरैरिमावलं विद्धौ रुधिरेण समुक्षितौ।
वसुधायामिमौ सुप्तौ दृश्येते शल्यकाविव ॥ १७ ॥

'इन दोनोंके शरीर बाणोंद्वारा पूर्णतः छिद गये हैं। ये दोनों भाई खूनसे नहा उठे हैं और इस अवस्थामें पृथ्वीपर सोये हुए ये दोनों राजकुमार काँटोंसे भरे हुए साही नामक जन्तुके समान दिखायी देते हैं ॥ १७ ॥

ययोर्वीर्यमुपाश्रित्य प्रतिष्ठा काङ्क्षिता मया।
ताविमौ देहनाशाय प्रसुप्तौ पुरुषर्षभौ ॥ १८ ॥

'जिनके बल-पराक्रमका आश्रय लेकर मैंने लङ्काके राज्यपर प्रतिष्ठित होनेकी अभिलाषा की थी; वे ही दोनों भाई पुरुषशिरोमणि श्रीराम और लक्ष्मण देह-त्यागके लिये सोये हुए हैं ॥ १८ ॥

जीवन्नद्य विपन्नोऽस्मि नष्टराज्यमनोरथः।
प्राप्तप्रतिज्ञश्च रिपुः सकामो रावणः कृतः ॥ १९ ॥

'आज मैं जीते-जी मर गया। मेरा राज्यविषयक मनोरथ नष्ट हो गया। शत्रु रावणने जो सीताको न लौटानेकी प्रतिज्ञा की थी, उसकी वह प्रतिज्ञा पूरी हुई। उसके पुत्रने उसे सफलमनोरथ बना दिया' ॥ १९ ॥

एवं विलपमानं तं परिष्वज्य विभीषणम्।
सुग्रीवः सत्त्वसम्पन्नो हरिराजोऽब्रवीदिदम् ॥ २० ॥

इस प्रकार विलाप करते हुए विभीषणको हृदयसे लगाकर शक्तिशाली वानरराज सुग्रीवने उनसे यों कहा— ॥ २० ॥

राज्यं प्राप्स्यसि धर्मज्ञ लङ्कायां नेह संशयः।
रावणः सह पुत्रेण स्वकामं नेह लप्स्यते ॥ २१ ॥

'धर्मज्ञ! तुम्हें लङ्काका राज्य प्राप्त होगा, इसमें संशय नहीं है। पुत्रसहित रावण यहाँ अपनी कामना पूरी नहीं कर सकेगा ॥ २१ ॥

गरुडाधिष्ठितावेतावुभौ राघवलक्ष्मणौ।
त्यक्त्वा मोहं वधिष्येते सगणं रावणं रणे ॥ २२ ॥

'ये दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण मूर्छा त्यागनेके पश्चात् गरुडकी पीठपर बैठकर रणभूमिमें राक्षसगणोंसहित रावणका वध करेंगे' ॥ २२ ॥

तमेवं सान्त्वयित्वा तु समाश्वास्य तु राक्षसम्।
सुषेणं श्वशुरं पार्श्वे सुग्रीवस्तमुवाच ह ॥ २३ ॥

राक्षस विभीषणको इस प्रकार सान्त्वना और आश्वासन देकर सुग्रीवने अपने बगलमें खड़े हुए श्वसुर सुषेणसे कहा— ॥ २३ ॥

सह शूरैर्हरिगणैर्लब्धसंज्ञावरिंदमौ।
गच्छ त्वं भ्रातरौ गृह्य किष्किन्धां रामलक्ष्मणौ ॥ २४ ॥

'आप होशमें आ जानेपर इन दोनों शत्रुदमन श्रीराम और लक्ष्मणको साथ ले शूरवीर वानरगणोंके साथ किष्किन्धाको चले जाइये ॥ २४ ॥

अहं तु रावणं हत्वा सपुत्रं सहबान्धवम्।
मैथिलीमानयिष्यामि शक्रो नष्टामिव श्रियम्॥ २५ ॥

'मैं रावणको पुत्र और बन्धु-बान्धवोंसहित मारकर उसके हाथसे मिथिलेशकुमारी सीताको उसी प्रकार छीन लाऊँगा, जैसे देवराज इन्द्र अपनी खोयी हुई राजलक्ष्मीको दैत्योंके यहाँसे हर लाये थे' ॥ २५ ॥

श्रुत्वैतद् वानरेन्द्रस्य सुषेणो वाक्यमब्रवीत्।
देवासुरं महायुद्धमनुभूतं पुरातनम्॥ २६ ॥

वानरराज सुग्रीवकी यह बात सुनकर सुषेणने कहा—'पूर्वकालमें जो देवासुर-महायुद्ध हुआ था, उसे हमने देखा था ॥ २६ ॥

तदा स्म दानवा देवाञ्शरसंस्पर्शकोविदान्।
निजघ्नुः शस्त्रविदुषश्छादयन्तो मुहुर्मुहुः॥ २७ ॥

'उस समय अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता तथा लक्ष्यवेधमें कुशल देवताओंको बारम्बार बाणोंसे आच्छादित करते हुए दानवोंने बहुत घायल कर दिया था ॥ २७ ॥

तानार्तान् नष्टसंज्ञांश्च गतासूंश्च बृहस्पतिः।
विद्याभिर्मन्त्रयुक्ताभिरोषधीभिश्चिकित्सति ॥ २८ ॥

'उस युद्धमें जो देवता अस्त्र-शस्त्रोंसे पीड़ित, अचेत और प्राणशून्य हो जाते थे, उन सबकी रक्षाके लिये बृहस्पतिजी मन्त्रयुक्त विद्याओं तथा दिव्य ओषधियोंद्वारा उनकी चिकित्सा करते थे ॥ २८ ॥

तान्यौषधान्यानयितुं क्षीरोदं यान्तु सागरम्।
जवेन वानराः शीघ्रं सम्पातिपनसादयः॥ २९ ॥

'मेरी राय है कि उन ओषधियोंको ले आनेके लिये सम्पाति और पनस आदि वानर शीघ्र ही वेगपूर्वक क्षीरसागरके तटपर जायँ ॥ २९ ॥

हरयस्तु विजानन्ति पार्वती ते महौषधी।
संजीवकरणीं दिव्यां विशल्यां देवनिर्मिताम्॥ ३० ॥

'सम्पाति आदि वानर वहाँ पर्वतपर प्रतिष्ठित हुई दो प्रसिद्ध महौषधियोंको जानते हैं। उनमेंसे एकका नाम है संजीवकरणी और दूसरीका नाम है विशल्यकरणी। इन दोनों दिव्य ओषधियोंका निर्माण साक्षात् ब्रह्माजीने किया है ॥ ३० ॥

चन्द्रश्च नाम द्रोणश्च क्षीरोदे सागरोत्तमे।
अमृतं यत्र मथितं तत्र ते परमौषधी॥ ३१ ॥
तौ तत्र विहितौ देवैः पर्वतौ तौ महोदधौ।
अयं वायुसुतो राजन् हनूमांस्तत्र गच्छतु॥ ३२ ॥

'सागरोंमें उत्तम क्षीरसमुद्रके तटपर चन्द्र और द्रोण नामक दो पर्वत हैं, जहाँ पूर्वकालमें अमृतका मन्थन किया गया था। उन्हीं दोनों पर्वतोंपर वे श्रेष्ठ ओषधियाँ वर्तमान हैं। महासागरमें देवताओंने ही उन दोनों पर्वतोंको प्रतिष्ठित किया था। राजन्! ये वायुपुत्र हनुमान् उन दिव्य ओषधियोंको लानेके लिये वहाँ जायँ' ॥ ३१-३२ ॥

एतस्मिन्नन्तरे वायुर्मेघाश्चापि सविद्युतः।
पर्यस्य सागरे तोयं कम्पयन्निव पर्वतान्॥ ३३ ॥

ओषधियोंको लानेकी वार्ता वहाँ चल ही रही थी कि बड़े जोरसे वायु प्रकट हुई, मेघोंकी घटा घिर आयी और बिजलियाँ चमकने लगीं। वह वायु सागरके जलमें हलचल मचाकर पर्वतोंको कम्पित-सी करने लगी ॥ ३३ ॥

महता पक्षवातेन सर्वद्वीपमहाद्रुमाः।
निपेतुर्भग्नविटपाः सलिले लवणाम्भसि॥ ३४ ॥

गरुड़के पंखसे उठी हुई प्रचण्ड वायुने सम्पूर्ण द्वीपके बड़े-बड़े वृक्षोंकी डालियाँ तोड़ डालीं और उन्हें लवणसमुद्रके जलमें गिरा दिया ॥ ३४ ॥

अभवन् पन्नगास्त्रस्ता भोगिनस्तत्रवासिनः।
शीघ्रं सर्वाणि यादांसि जग्मुश्च लवणार्णवम्॥ ३५ ॥

लङ्कावासी महाकाय सर्प भयसे थर्रा उठे। सम्पूर्ण जल-जन्तु शीघ्रतापूर्वक समुद्रके जलमें घुस गये ॥ ३५ ॥

ततो मुहूर्ताद् गरुडं वैनतेयं महाबलम्।
वानरा ददृशुः सर्वे ज्वलन्तमिव पावकम्॥ ३६ ॥

तदनन्तर दो ही घड़ीमें समस्त वानरोंने प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी महाबली विनतानन्दन गरुड़को वहाँ उपस्थित देखा ॥ ३६ ॥

तमागतमभिप्रेक्ष्य नागास्ते विप्रदुद्रुवुः।
यैस्तु तौ पुरुषौ बद्धौ शरभूतैर्महाबलैः॥ ३७ ॥

उन्हें आया देख जिन महाबली नागोंने बाणोंके रूपमें आकर उन दोनों महापुरुषोंको बाँध रखा था, वे सब-के-सब वहाँसे भाग खड़े हुए ॥ ३७ ॥

ततः सुपर्णः काकुत्स्थौ स्पृष्ट्वा प्रत्यभिनन्द्य च।
विममर्श च पाणिभ्यां मुखे चन्द्रसमप्रभे॥ ३८ ॥

तत्पश्चात् गरुड़ने उन दोनों रघुवंशी बन्धुओंको स्पर्श करके अभिनन्दन किया और अपने हाथोंसे उनके चन्द्रमाके समान कान्तिमान् मुखोंको पोंछा ॥ ३८ ॥

वैनतेयेन संस्पृष्टास्तयोः संरुरुहुर्व्रणाः।
सुवर्णे च तनू स्निग्धे तयोराशु बभूवतुः॥ ३९ ॥

गरुड़जीका स्पर्श प्राप्त होते ही श्रीराम और लक्ष्मणके सारे घाव भर गये और उनके शरीर तत्काल ही सुन्दर कान्तिसे युक्त एवं स्निग्ध हो गये ॥ ३९ ॥

तेजो वीर्यं बलं चौज उत्साहश्च महागुणाः।
प्रदर्शनं च बुद्धिश्च स्मृतिश्च द्विगुणा तयोः॥ ४० ॥

उनमें तेज, वीर्य, बल, ओज, उत्साह, दृष्टिशक्ति, बुद्धि और स्मरणशक्ति आदि महान् गुण पहलेसे भी दुगुने हो गये ॥ ४० ॥

तावुत्थाप्य महातेजा गरुडो वासवोपमौ।
उभौ च सस्वजे हृष्टो रामश्चैनमुवाच ह॥ ४१॥

फिर महातेजस्वी गरुड़ने उन दोनों भाइयोंको, जो साक्षात् इन्द्रके समान थे, उठाकर हृदयसे लगा लिया। तब श्रीरामजीने प्रसन्न होकर उनसे कहा—॥ ४१॥

भवत्प्रसादाद् व्यसनं रावणिप्रभवं महत्।
उपायेन व्यतिक्रान्तौ शीघ्रं च बलिनौ कृतौ॥ ४२॥

'इन्द्रजित्‌के कारण हमलोगोंपर जो महान् संकट आ गया था, उसे हम आपकी कृपासे लाँघ गये। आप विशिष्ट उपायके ज्ञाता हैं; अतः आपने हम दोनोंको शीघ्र ही पूर्ववत् बलसे सम्पन्न कर दिया है॥ ४२॥

यथा तातं दशरथं यथाजं च पितामहम्।
तथा भवन्तमासाद्य हृदयं मे प्रसीदति॥ ४३॥

जैसे पिता दशरथ और पितामह अजके पास जानेसे मेरा मन प्रसन्न हो सकता था, वैसे ही आपको पाकर मेरा हृदय हर्षसे खिल उठा है॥ ४३॥

को भवान् रूपसम्पन्नो दिव्यस्त्रगनुलेपनः।
वसानो विरजे वस्त्रे दिव्याभरणभूषितः॥ ४४॥

'आप बड़े रूपवान् हैं, दिव्य पुष्पोंकी माला और दिव्य अङ्गरागसे विभूषित हैं। आपने दो स्वच्छ वस्त्र धारण कर रखे हैं तथा दिव्य आभूषण आपकी शोभा बढ़ाते हैं। हम जानना चाहते हैं कि आप कौन हैं?' (सर्वज्ञ होते हुए भी भगवान्‌ने मानवभावका आश्रय लेकर गरुड़से ऐसा प्रश्न किया)॥ ४४॥

तमुवाच महातेजा वैनतेयो महाबलः।
पतत्रिराजः प्रीतात्मा हर्षपर्याकुलेक्षणम्॥ ४५॥

तब महातेजस्वी महाबली पक्षिराज विनतानन्दन गरुड़ने मन-ही-मन प्रसन्न हो आनन्दके आँसुओंसे भरे हुए नेत्रवाले श्रीरामसे कहा—॥ ४५॥

अहं सखा ते काकुत्स्थ प्रियः प्राणो बहिश्चरः।
गरुत्मानिह सम्प्राप्तो युवयोः साह्यकारणात्॥ ४६॥

'काकुत्स्थ! मैं आपका प्रिय मित्र गरुड़ हूँ। बाहर विचरनेवाला आपका प्राण हूँ। आप दोनोंकी सहायताके लिये ही मैं इस समय यहाँ आया हूँ॥ ४६॥

असुरा वा महावीर्या दानवा वा महाबलाः।
सुराश्चापि सगन्धर्वाः पुरस्कृत्य शतक्रतुम्॥ ४७॥
नेमं मोक्षयितुं शक्ताः शरबन्धं सुदारुणम्।

'महापराक्रमी असुर, महाबली दानव, देवता तथा गन्धर्व भी यदि इन्द्रको आगे करके यहाँ आते तो वे भी इस भयंकर सर्पाकार बाणके बन्धनसे आपको छुड़ानेमें समर्थ नहीं हो सकते थे॥ ४७½॥

मायाबलादिन्द्रजिता निर्मितं क्रूरकर्मणा॥ ४८॥
एते नागाः काद्रवेयास्तीक्ष्णदंष्ट्रा विषोल्बणाः।
रक्षोमायाप्रभावेण शरभूतास्त्वदाश्रयाः॥ ४९॥

'क्रूरकर्मा इन्द्रजित्‌ने मायाके बलसे जिन नागरूपी बाणोंका बन्धन तैयार किया था, वे नाग ये कद्रूके पुत्र ही थे। इनके दाँत बड़े तीखे होते हैं। इन नागोंका विष बड़ा भयंकर होता है। ये राक्षसकी मायाके प्रभावसे बाण बनकर आपके शरीरमें लिपट गये थे॥ ४८-४९॥

सभाग्यश्चासि धर्मज्ञ राम सत्यपराक्रम।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा समरे रिपुघातिना॥ ५०॥

'धर्मके ज्ञाता सत्यपराक्रमी श्रीराम! समराङ्गणमें शत्रुओंका संहार करनेवाले अपने भाई लक्ष्मणके साथ ही आप बड़े सौभाग्यशाली हैं (जो अनायास ही इस नागपाशसे मुक्त हो गये)॥ ५०॥

इमं श्रुत्वा तु वृत्तान्तं त्वरमाणोऽहमागतः।
सहसैवावयोः स्नेहात् सखित्वमनुपालयन्॥ ५१॥

'मैं देवताओंके मुखसे आपलोगोंके नागपाशमें बँधनेका समाचार सुनकर बड़ी उतावलीके साथ यहाँ आया हूँ। हम दोनोंमें जो स्नेह है, उससे प्रेरित हो मित्रधर्मका पालन करता हुआ सहसा आ पहुँचा हूँ॥ ५१॥

मोक्षितौ च महाघोरादस्मात् सायकबन्धनात्।
अप्रमादश्च कर्तव्यो युवाभ्यां नित्यमेव हि॥ ५२॥

'आकर मैंने इस महाभयंकर बाण-बन्धनसे आप दोनोंको छुड़ा दिया। अब आपको सदा ही सावधान रहना चाहिये॥ ५२॥

प्रकृत्या राक्षसाः सर्वे संग्रामे कूटयोधिनः।
शूराणां शुद्धभावानां भवतामार्जवं बलम्॥ ५३॥

'समस्त राक्षस स्वभावसे ही संग्राममें कपटपूर्वक युद्ध करनेवाले होते हैं, परंतु शुद्धभाववाले आप-जैसे शूरवीरोंका सरलता ही बल है॥ ५३॥

तन्न विश्वसनीयं वो राक्षसानां रणाजिरे।
एतेनैवोपमानेन नित्यं जिह्मा हि राक्षसाः॥ ५४॥

'इसलिये इसी दृष्टान्तको सामने रखकर आपको रणक्षेत्रमें राक्षसोंका कभी विश्वास नहीं करना चाहिये; क्योंकि राक्षस सदा ही कुटिल होते हैं॥ ५४॥

एवमुक्त्वा तदा रामं सुपर्णः स महाबलः।
परिष्वज्य च सुस्निग्धमाप्रष्टुमुपचक्रमे॥ ५५॥

ऐसा कहकर महाबली गरुड़ने उस समय परम स्नेही श्रीरामको हृदयसे लगाकर उनसे जानेकी आज्ञा लेनेका विचार किया॥ ५५॥

सखे राघव धर्मज्ञ रिपूणामपि वत्सल।
अभ्यनुज्ञातुमिच्छामि गमिष्यामि यथासुखम्॥ ५६॥

वे बोले—'शत्रुओंपर भी दया दिखानेवाले धर्मज्ञ मित्र रघुनन्दन! अब मैं सुखपूर्वक यहाँसे प्रस्थान करूँगा। इसके लिये आपकी आज्ञा चाहता हूँ॥ ५६॥

न च कौतूहलं कार्यं सखित्वं प्रति राघव।
कृतकर्मा रणे वीर सखित्वं प्रतिवेत्स्यसि॥ ५७॥

'वीर रघुनन्दन! मैंने जो अपनेको आपका सखा बताया है, इसके विषयमें आपको अपने मनमें कोई कौतूहल नहीं रखना चाहिये। आप युद्धमें सफलता प्राप्त कर लेनेपर मेरे इस सख्यभावको स्वयं समझ लेंगे॥ ५७॥

बालवृद्धावशेषां तु लङ्कां कृत्वा शरोर्मिभिः।
रावणं तु रिपुं हत्वा सीतां त्वमुपलप्स्यसे॥ ५८॥

'आप समुद्रकी लहरोंके समान अपने बाणोंकी परम्परासे लङ्काकी ऐसी दशा कर देंगे कि यहाँ केवल बालक और बूढ़े ही शेष रह जायँगे। इस तरह अपने शत्रु रावणका संहार करके आप सीताको अवश्य प्राप्त कर लेंगे'॥ ५८॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं सुपर्णः शीघ्रविक्रमः।
रामं च नीरुजं कृत्वा मध्ये तेषां वनौकसाम्॥ ५९॥
प्रदक्षिणं ततः कृत्वा परिष्वज्य च वीर्यवान्।
जगामाकाशमाविश्य सुपर्णः पवनो यथा॥ ६०॥

ऐसी बातें कहकर शीघ्रगामी एवं शक्तिशाली गरुड़ने श्रीरामको नीरोग करके उन वानरोंके बीचमें उनकी परिक्रमा की और उन्हें हृदयसे लगाकर वे वायुके समान गतिसे आकाशमें चले गये॥ ५९-६०॥

नीरुजौ राघवौ दृष्ट्वा ततो वानरयूथपाः।
सिंहनादं तदा नेदुर्लाङ्गूलं दुधुवुश्च ते॥ ६१॥

श्रीराम और लक्ष्मणको नीरोग हुआ देख उस समय सारे वानर-यूथपति सिंहनाद करने और पूँछ हिलाने लगे॥ ६१॥

ततो भेरीः समाजघ्नुर्मृदङ्गांश्चाप्यवादयन्।
दध्मुः शङ्खान् सम्प्रहृष्टाः क्ष्वेलन्त्यपि यथापुरम्॥ ६२॥

फिर तो वानरोंने डंके पीटे, मृदंग बजाये, शङ्खनाद किये और हर्षोल्लाससे भरकर पहलेकी भाँति वे गर्जने और ताल ठोंकने लगे॥ ६२॥

अपरे स्फोट्य विक्रान्ता वानरा नगयोधिनः।
द्रुमानुत्पाट्य विविधांस्तस्थुः शतसहस्रशः॥ ६३॥

दूसरे पराक्रमी वानर जो वृक्षों और पर्वत-शिखरोंको हाथमें लेकर युद्ध करते थे, नाना प्रकारके वृक्ष उखाड़कर लाखोंकी संख्यामें युद्धके लिये खड़े हो गये॥ ६३॥

विसृजन्तो महानादांस्त्रासयन्तो निशाचरान्।
लङ्काद्वाराण्युपाजग्मुर्योद्धुकामाः प्लवंगमाः॥ ६४॥

जोर-जोरसे गर्जते और निशाचरोंको डराते हुए सारे वानर युद्धकी इच्छासे लङ्काके दरवाजोंपर आकर डट गये॥ ६४॥

तेषां सुभीमस्तुमुलो निनादो
बभूव शाखामृगयूथपानाम्।
क्षये निदाघस्य यथा घनानां
नादः सुभीमो नदतां निशीथे॥ ६५॥

उस समय उन वानरयूथपतियोंका बड़ा भयंकर एवं तुमुल सिंहनाद सब ओर गूँजने लगा, मानो ग्रीष्म-ऋतुके अन्तमें आधी रातके समय गर्जते हुए मेघोंकी गम्भीर गर्जना सब ओर व्याप्त हो रही हो॥ ६५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे पञ्चाशः सर्गः॥ ५०॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें पचासवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ५०॥

—★—
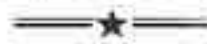
एकपञ्चाशः सर्गः

श्रीरामके बन्धनमुक्त होनेका पता पाकर चिन्तित हुए रावणका धूम्राक्षको युद्धके लिये भेजना और सेनासहित धूम्राक्षका नगरसे बाहर आना

तेषां तु तुमुलं शब्दं वानराणां महौजसाम्।
नर्दतां राक्षसैः सार्धं तदा शुश्राव रावणः॥ १॥

उस समय भीषण गर्जना करते हुए महाबली वानरोंका वह तुमुलनाद राक्षसोंसहित रावणने सुना॥ १॥

स्निग्धगम्भीरनिर्घोषं श्रुत्वा तं निनदं भृशम्।
सचिवानां ततस्तेषां मध्ये वचनमब्रवीत्॥ २॥

मन्त्रियोंके बीचमें बैठे हुए रावणने जब वह स्निग्ध गम्भीर घोष, वह उच्चस्वरसे किया हुआ सिंहनाद सुना, तब वह इस प्रकार बोला—॥ २॥

यथासौ सम्प्रहृष्टानां वानराणामुपस्थितः।
बहूनां सुमहान् नादो मेघानामिव गर्जताम्॥ ३॥
सुव्यक्तं महती प्रीतिरेतेषां नात्र संशयः।
तथाहि विपुलैर्नादैश्चुक्षुभे लवणार्णवः॥ ४॥

'इस समय गर्जते हुए मेघोंके समान जो अधिक हर्षमें भरे हुए बहुसंख्यक वानरोंका यह महान् कोलाहल प्रकट हो रहा है, इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि इन सबको बड़ा भारी हर्ष प्राप्त हुआ है; इसमें संशय नहीं है। तभी इस तरह बारम्बार की गयी गर्जनाओंसे यह खारे पानीका समुद्र विक्षुब्ध हो उठा है॥ ३-४॥

तौ तु बद्धौ शरैस्तीक्ष्णैर्भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
अयं च सुमहान् नादः शङ्कां जनयतीव मे॥ ५॥

'परंतु वे दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण तो तीखे बाणोंसे

बँधे हुए हैं। इधर यह महान् हर्षनाद भी हो रहा है, जो मेरे मनमें शङ्का-सी उत्पन्न कर रहा है' ॥ ५ ॥

एवं च वचनं चोक्त्वा मन्त्रिणो राक्षसेश्वरः।
उवाच नैर्ऋतांस्तत्र समीपपरिवर्तिनः ॥ ६ ॥

मन्त्रियोंसे ऐसा कहकर राक्षसराज रावणने अपने पास ही खड़े हुए राक्षसोंसे कहा— ॥ ६ ॥

ज्ञायतां तूर्णमेतेषां सर्वेषां च वनौकसाम्।
शोककाले समुत्पन्ने हर्षकारणमुत्थितम् ॥ ७ ॥

'तुमलोग शीघ्र ही जाकर इस बातका पता लगाओ कि शोकका अवसर उपस्थित होनेपर भी इन सब वानरोंके हर्षका कौन-सा कारण प्रकट हो गया है' ॥ ७ ॥

तथोक्तास्ते सुसम्भ्रान्ताः प्राकारमधिरुह्य च।
ददृशुः पालितां सेनां सुग्रीवेण महात्मना ॥ ८ ॥

रावणके इस प्रकार आदेश देनेपर वे राक्षस घबराये हुए गये और परकोटेपर चढ़कर महात्मा सुग्रीवके द्वारा पालित वानरसेनाकी ओर देखने लगे ॥ ८ ॥

तौ च मुक्तौ सुघोरेण शरबन्धेन राघवौ।
समुत्थितौ महाभागौ विषेदुः सर्वराक्षसाः ॥ ९ ॥

जब उन्हें मालूम हुआ कि महाभाग श्रीराम और लक्ष्मण उस अत्यन्त भयंकर नागरूपी बाणोंके बन्धनसे मुक्त होकर उठ गये हैं, तब समस्त राक्षसोंको बड़ा दुःख हुआ ॥ ९ ॥

संत्रस्तहृदयाः सर्वे प्राकारादवरुह्य ते।
विवर्णा राक्षसा घोरा राक्षसेन्द्रमुपस्थिताः ॥ १० ॥

उनका हृदय भयसे थर्रा उठा। वे सब भयानक राक्षस परकोटेसे उतरकर उदास हो राक्षसराज रावणकी सेवामें उपस्थित हुए ॥ १० ॥

तदप्रियं दीनमुखा रावणस्य च राक्षसाः।
कृत्स्नं निवेदयामासुर्यथावद् वाक्यकोविदाः ॥ ११ ॥

वे बातचीतकी कलामें कुशल थे। उनके मुखपर दीनता छा रही थी। उन निशाचरोंने वह सारा अप्रिय समाचार रावणको यथावत् रूपसे बताया ॥ ११ ॥

यौ ताविन्द्रजिता युद्धे भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
निबद्धौ शरबन्धेन निष्प्रकम्पभुजौ कृतौ ॥ १२ ॥
विमुक्तौ शरबन्धेन दृश्येते तौ रणाजिरे।
पाशानिव गजौ छित्त्वा गजेन्द्रसमविक्रमौ ॥ १३ ॥

(वे बोले—) 'महाराज! कुमार इन्द्रजित्‌ने जिन राम और लक्ष्मण दोनों भाइयोंको युद्धस्थलमें नागरूपी बाणोंके बन्धनसे बाँधकर हाथ हिलानेमें भी असमर्थ कर दिया था, वे गजराजके समान पराक्रमी दोनों वीर जैसे हाथी रस्सेको तोड़कर स्वतन्त्र हो जायँ, उसी तरह बाणबन्धनसे मुक्त हो समराङ्गणमें खड़े दिखायी देते हैं' ॥ १२-१३ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तेषां राक्षसेन्द्रो महाबलः।
चिन्ताशोकसमाक्रान्तो विवर्णवदनोऽभवत् ॥ १४ ॥

उनका यह वचन सुनकर महाबली राक्षसराज रावण चिन्ता तथा शोकके वशीभूत हो गया और उसका चेहरा उतर गया ॥ १४ ॥

घोरैर्दत्तवरैर्बद्धौ शरैराशीविषोपमैः।
अमोघैः सूर्यसंकाशैः प्रमथ्येन्द्रजिता युधि ॥ १५ ॥
तदस्त्रबन्धमासाद्य यदि मुक्तौ रिपू मम।
संशयस्थमिदं सर्वमनुपश्याम्यहं बलम् ॥ १६ ॥

(वह मन-ही-मन सोचने लगा—) 'जो विषधर सर्पोंके समान भयंकर, वरदानमें प्राप्त हुए और अमोघ थे तथा जिनका तेज सूर्यके समान था, उन्हींके द्वारा युद्धस्थलमें इन्द्रजित्‌ने जिन्हें बाँध दिया था, वे मेरे दोनों शत्रु यदि उस अस्त्रबन्धनमें पड़कर भी उससे छूट गये, तब तो अब मैं अपनी सारी सेनाको संशयापन्न ही देखता हूँ ॥ १५-१६ ॥

निष्फलाः खलु संवृत्ताः शराः पावकतेजसः।
आदत्तं यैस्तु संग्रामे रिपूणां जीवितं मम ॥ १७ ॥

'जिन्होंने पहले युद्धस्थलमें मेरे शत्रुओंके प्राण ले लिये थे, वे अग्नितुल्य तेजस्वी बाण निश्चय ही आज निष्फल हो गये' ॥ १७ ॥

एवमुक्त्वा तु संक्रुद्धो निःश्वसन्नुरगो यथा।
अब्रवीद् रक्षसां मध्ये धूम्राक्षं नाम राक्षसम् ॥ १८ ॥

ऐसा कहकर अत्यन्त कुपित हुआ रावण फुफकारते हुए सर्पके समान जोर-जोरसे साँस लेने लगा और राक्षसोंके बीचमें धूम्राक्ष नामक निशाचरसे बोला— ॥ १८ ॥

बलेन महता युक्तो रक्षसां भीमविक्रम।
त्वं वधायाशु निर्याहि रामस्य सह वानरैः ॥ १९ ॥

'भयानक पराक्रमी वीर! तुम राक्षसोंकी बहुत बड़ी सेना साथ लेकर वानरोंसहित रामका वध करनेके लिये शीघ्र जाओ' ॥ १९ ॥

एवमुक्तस्तु धूम्राक्षो राक्षसेन्द्रेण धीमता।
परिक्रम्य ततः शीघ्रं निर्जगाम नृपालयात् ॥ २० ॥

बुद्धिमान् राक्षसराजके इस प्रकार आज्ञा देनेपर धूम्राक्षने उसकी परिक्रमा की तथा वह तुरंत राजभवनसे बाहर निकल गया ॥ २० ॥

अभिनिष्क्रम्य तद् द्वारं बलाध्यक्षमुवाच ह।
त्वरयस्व बलं शीघ्रं किं चिरेण युयुत्सतः ॥ २१ ॥

रावणके गृहद्वारपर पहुँचकर उसने सेनापतिसे कहा—'सेनाको उतावलीके साथ शीघ्र तैयार करो। युद्धकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको विलम्ब करनेसे क्या लाभ?' ॥ २१ ॥

धूम्राक्षवचनं श्रुत्वा बलाध्यक्षो बलानुगः।
बलमुद्योजयामास रावणस्याज्ञया भृशम् ॥ २२ ॥

धूम्राक्षकी बात सुनकर रावणकी आज्ञाके अनुसार सेनापतिने जिनके पीछे बहुत बड़ी सेना थी, भारी संख्यामें

सैनिकोंको तैयार कर लिया ॥ २२ ॥

ते बद्धघण्टा बलिनो घोररूपा निशाचराः ।
विनद्यमानाः संहृष्टा धूम्राक्षं पर्यवारयन् ॥ २३ ॥

वे भयानक रूपधारी बलवान् निशाचर प्रास और शक्ति आदि अस्त्रोंमें घण्टे बाँधकर हर्ष और उत्साहसे युक्त हो जोर-जोरसे गर्जते हुए आये और धूम्राक्षको घेरकर खड़े हो गये ॥ २३ ॥

विविधायुधहस्ताश्च शूलमुद्गरपाणयः ।
गदाभिः पट्टिशैर्दण्डैरायसैर्मुसलैरपि ॥ २४ ॥
परिघैर्भिन्दिपालैश्च भल्लैः पाशैः परश्वधैः ।
निर्ययू राक्षसा घोरा नर्दन्तो जलदा यथा ॥ २५ ॥

उनके हाथोंमें नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र थे। कुछ लोगोंने अपने हाथोंमें शूल और मुद्गर ले रखे थे। गदा-पट्टिश, लोहदण्ड, मूसल, परिघ, भिन्दिपाल, भाले, पाश और फरसे लिये बहुतेरे भयानक राक्षस युद्धके लिये निकले। वे सभी मेघोंके समान गम्भीर गर्जना करते थे ॥ २४-२५ ॥

रथैः कवचिनस्त्वन्ये ध्वजैश्च समलंकृतैः ।
सुवर्णजालविहितैः खरैश्च विविधाननैः ॥ २६ ॥
हयैः परमशीघ्रैश्च गजैश्चैव मदोत्कटैः ।
निर्ययुर्नैर्ऋतव्याघ्रा व्याघ्रा इव दुरासदाः ॥ २७ ॥

कितने ही निशाचर ध्वजोंसे अलंकृत तथा सोनेकी जालीसे आच्छादित रथोंद्वारा युद्धके लिये बाहर आये। वे सब-के-सब कवच धारण किये हुए थे। कितने ही श्रेष्ठ राक्षस नाना प्रकारके मुखवाले गधों, परम शीघ्रगामी घोड़ों तथा मदमत्त हाथियोंपर सवार हो दुर्जय व्याघ्रोंके समान युद्धके लिये नगरसे बाहर निकले ॥ २६-२७ ॥

वृकसिंहमुखैर्युक्तं खरैः कनकभूषितैः ।
आरुरोह रथं दिव्यं धूम्राक्षः खरनिःस्वनः ॥ २८ ॥

धूम्राक्षके रथमें सोनेके आभूषणोंसे विभूषित ऐसे गधे जुते हुए थे जिनके मुँह भेड़ियों और सिंहोंके समान थे। गधेकी भाँति रेंकनेवाला धूम्राक्ष उस दिव्य रथपर सवार हुआ ॥ २८ ॥

स निर्यातो महावीर्यो धूम्राक्षो राक्षसैर्वृतः ।
हसन् वै पश्चिमद्वाराद्धनूमान् यत्र तिष्ठति ॥ २९ ॥

इस प्रकार बहुत से राक्षसोंके साथ महापराक्रमी धूम्राक्ष हँसता हुआ पश्चिम द्वारसे, जहाँ हनुमान्‌जी शत्रुका सामना करनेके लिये खड़े थे, युद्धके लिये निकला ॥ २९ ॥

रथप्रवरमास्थाय खरयुक्तं खरस्वनम् ।
प्रयान्तं तु महाघोरं राक्षसं भीमदर्शनम् ॥ ३० ॥
अन्तरिक्षगताः क्रूराः शकुनाः प्रत्यषेधयन् ।

गदहोंसे जुते और गदहोंकी-सी आवाज करनेवाले उस श्रेष्ठ रथपर बैठकर युद्धके लिये जाते हुए महाघोर राक्षस धूम्राक्षको, जो बड़ा भयानक दिखायी देता था, आकाशचारी क्रूर पक्षियोंने अशुभसूचक बोली बोलकर आगे बढ़नेसे मना किया ॥ ३०½ ॥

रथशीर्षे महाभीमो गृध्रश्च निपपात ह ॥ ३१ ॥
ध्वजाग्रे ग्रथिताश्चैव निपेतुः कुणपाशनाः ।
रुधिरार्द्रो महाञ्श्वेतः कबन्धः पतितो भुवि ॥ ३२ ॥

उसके रथके ऊपरी भागपर एक महाभयानक गीध आ गिरा। ध्वजके अग्रभागपर बहुत-से मुर्दाखोर पक्षी परस्पर गुँथे हुए-से गिर पड़े। उसी समय एक बहुत बड़ा श्वेत कबन्ध (धड़) खूनसे लथपथ होकर पृथ्वीपर गिरा ॥ ३१-३२ ॥

विस्वरं चोत्सृजन्नादान् धूम्राक्षस्य निपातितः ।
ववर्ष रुधिरं देवः संचचाल च मेदिनी ॥ ३३ ॥

वह कबन्ध बड़े जोर-जोरसे चीत्कार करता हुआ धूम्राक्षके पास ही गिरा था। बादल रक्तकी वर्षा करने लगे और पृथ्वी डोलने लगी ॥ ३३ ॥

प्रतिलोमं ववौ वायुर्निर्घातसमनिःस्वनः ।
तिमिरौघावृतास्तत्र दिशश्च न चकाशिरे ॥ ३४ ॥

वायु प्रतिकूल दिशाकी ओरसे बहने लगी। उसमें वज्रपातके समान गड़गड़ाहट पैदा होती थी। सम्पूर्ण दिशाएँ अन्धकारसे आच्छन्न हो जानेके कारण प्रकाशित नहीं होती थीं ॥ ३४ ॥

स तूत्पातांस्ततो दृष्ट्वा राक्षसानां भयावहान् ।
प्रादुर्भूतान् सुघोरांश्च धूम्राक्षो व्यथितोऽभवत् ।
मुमूहू राक्षसाः सर्वे धूम्राक्षस्य पुरःसराः ॥ ३५ ॥

राक्षसोंके लिये भय देनेवाले वहाँ प्रकट हुए उन भयंकर उत्पातोंको देखकर धूम्राक्ष व्यथित हो उठा और उसके आगे चलनेवाले सभी राक्षस अचेत-से हो गये ॥ ३५ ॥

ततः सुभीमो बहुभिर्निशाचरै-
र्वृतोऽभिनिष्क्रम्य रणोत्सुको बली ।
ददर्श तां राघवबाहुपालितां
महौघकल्पां बहु वानरीं चमूम् ॥ ३६ ॥

इस प्रकार बहुसंख्यक निशाचरोंसे घिरे हुए और युद्धके लिये उत्सुक रहनेवाले महाभयंकर बलवान् राक्षस धूम्राक्षने नगरसे बाहर निकलकर श्रीरामचन्द्रजीके बाहुबलसे सुरक्षित एवं प्रलयकालिक समुद्रके समान विशाल वानरी सेनाको देखा ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे एकपञ्चाशः सर्गः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें इक्यावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

—★—

द्विपञ्चाशः सर्गः

धूम्राक्षका युद्ध और हनुमान्‌जीके द्वारा उसका वध

धूम्राक्षं प्रेक्ष्य निर्यान्तं राक्षसं भीमविक्रमम्।
विनेदुर्वानराः सर्वे प्रहृष्टा युद्धकाङ्क्षिणः॥ १॥

भयंकर पराक्रमी निशाचर धूम्राक्षको निकलते देख युद्धकी इच्छा रखनेवाले समस्त वानर हर्ष और उत्साहसे भरकर सिंहनाद करने लगे॥ १॥

तेषां सुतुमुलं युद्धं संजज्ञे कपिरक्षसाम्।
अन्योन्यं पादपैर्घोरैर्निघ्नतां शूलमुद्गरैः॥ २॥

उस समय उन वानरों और राक्षसोंमें अत्यन्त भयंकर युद्ध छिड़ गया। वे घोर वृक्षों तथा शूलों और मुद्गरोंसे एक-दूसरेको चोट पहुँचाने लगे॥ २॥

राक्षसैर्वानरा घोरा विनिकृत्ताः समन्ततः।
वानरै राक्षसाश्चापि द्रुमैर्भूमिसमीकृताः॥ ३॥

राक्षसोंने चारों ओरसे घोर वानरोंको काटना आरम्भ किया तथा वानरोंने भी राक्षसोंको वृक्षोंसे मार-मारकर धराशायी कर दिया॥ ३॥

राक्षसास्त्वभिसंक्रुद्धा वानरान् निशितैः शरैः।
विव्यधुर्घोरसंकाशैः कङ्कपत्रैरजिह्मगैः॥ ४॥

क्रोधसे भरे हुए राक्षसोंने अपने कङ्कपत्रयुक्त, सीधे जानेवाले, घोर एवं तीखे बाणोंसे वानरोंको गहरी चोट पहुँचायी॥ ४॥

ते गदाभिश्च भीमाभिः पट्टिशैः कूटमुद्गरैः।
घोरैश्च परिघैश्चित्रैस्त्रिशूलैश्चापि संश्रितैः॥ ५॥
विदार्यमाणा रक्षोभिर्वानरास्ते महाबलाः।
अमर्षजनितोद्धर्षाश्चक्रुः कर्माण्यभीतवत्॥ ६॥

राक्षसोंद्वारा भयंकर गदाओं, पट्टिशों, कूट, मुद्गरों, घोर परिघों और हाथमें लिये हुए विचित्र त्रिशूलोंसे विदीर्ण किये जाते हुए वे महाबली वानर अमर्षजनित उत्साहसे निर्भयकी भाँति महान् कर्म करने लगे॥ ५-६॥

शरनिर्भिन्नगात्रास्ते शूलनिर्भिन्नदेहिनः।
जगृहुस्ते द्रुमांस्तत्र शिलाश्च हरियूथपाः॥ ७॥

बाणोंकी चोटसे उनके शरीर छिद गये थे। शूलोंकी मारसे देह विदीर्ण हो गयी थी। इस अवस्थामें उन वानर-यूथपतियोंने हाथोंमें वृक्ष और शिलाएँ उठायीं॥ ७॥

ते भीमवेगा हरयो नर्दमानास्ततस्ततः।
ममन्थू राक्षसान् वीरान् नामानि च बभाषिरे॥ ८॥

उस समय उनका वेग बड़ा भयंकर था। वे जोर-जोरसे गर्जना करते हुए जहाँ-तहाँ वीर राक्षसोंको पटक-पटककर मथने लगे और अपने नामोंकी भी घोषणा करने लगे॥ ८॥

तद् बभूवाद्भुतं घोरं युद्धं वानररक्षसाम्।
शिलाभिर्विविधाभिश्च बहुशाखैश्च पादपैः॥ ९॥

नाना प्रकारकी शिलाओं और बहुत-सी शाखावाले वृक्षोंके प्रहारसे वहाँ वानरों और राक्षसोंमें घोर एवं अद्भुत युद्ध होने लगा॥ ९॥

राक्षसा मथिताः केचिद् वानरैर्जितकाशिभिः।
ववमू रुधिरं केचिन्मुखै रुधिरभोजनाः॥ १०॥

विजयोल्लाससे सुशोभित होनेवाले वानरोंने कितने ही राक्षसोंको मसल डाला। कितने ही रक्तभोजी राक्षस उनकी मार खाकर अपने मुखोंसे रक्त वमन करने लगे॥ १०॥

पार्श्वेषु दारिताः केचित् केचिद् राशीकृता द्रुमैः।
शिलाभिश्चूर्णिताः केचित् केचिद् दन्तैर्विदारिताः॥ ११॥

कुछ राक्षसोंकी पसलियाँ फाड़ डाली गयीं। कितने ही वृक्षोंकी चोट खाकर ढेर हो गये, किन्हींका पत्थरोंकी चोटोंसे चूर्ण बन गया और कितने ही दाँतोंसे विदीर्ण कर दिये गये॥ ११॥

ध्वजैर्विमथितैर्भग्नैः खड्गैश्च विनिपातितैः।
रथैर्विध्वंसितैः केचिद् व्यथिता रजनीचराः॥ १२॥

कितनोंके ध्वज खण्डित करके मसल डाले गये। तलवारें छीनकर नीचे गिरा दी गयीं और रथ चौपट कर दिये गये। इस प्रकार दुर्दशामें पड़कर बहुत-से राक्षस व्यथित हो गये॥ १२॥

गजेन्द्रैः पर्वताकारैः पर्वताग्रैर्वनौकसाम्।
मथितैर्वाजिभिः कीर्णं सारोहैर्वसुधातलम्॥ १३॥

वानरोंके चलाये हुए पर्वत-शिखरोंसे कुचल डाले गये पर्वताकार गजराजों, घोड़ों और घुड़सवारोंसे वह सारी रणभूमि पट गयी॥ १३॥

वानरैर्भीमविक्रान्तैराप्लुत्योत्प्लुत्य वेगितैः।
राक्षसाः करजैस्तीक्ष्णैर्मुखेषु विनिदारिताः॥ १४॥

भयानक पराक्रम प्रकट करनेवाले वेगशाली वानर उछल-उछलकर अपने पंजोंसे राक्षसोंके मुँह नोच लेते या विदीर्ण कर देते थे॥ १४॥

विषण्णवदना भूयो विप्रकीर्णशिरोरुहाः।
मूढाः शोणितगन्धेन निपेतुर्धरणीतले॥ १५॥

उन राक्षसोंके मुखोंपर विषाद छा जाता। उनके बाल सब ओर बिखर जाते और रक्तकी गन्धसे मूर्च्छित हो पृथ्वीपर पड़ जाते थे॥ १५॥

अन्ये तु परमक्रुद्धा राक्षसा भीमविक्रमाः।
तलैरेवाभिधावन्ति वज्रस्पर्शसमैर्हरीन्॥ १६॥

दूसरे भीषण पराक्रमी राक्षस अत्यन्त क्रुद्ध हो अपने वज्रसदृश कठोर तमाचोंसे मारते हुए वहाँ वानरोंपर धावा करते थे॥ १६॥

वानरैः पातयन्तस्ते वेगिता वेगवत्तरैः।
मुष्टिभिश्चरणैर्दन्तैः पादपैश्चावपोथिताः॥ १७॥

प्रतिपक्षोंको वेगपूर्वक गिरानेवाले उन राक्षसोंका बहुत-से अत्यन्त वेगशाली वानरोंने लातों, मुक्कों, दाँतों और वृक्षोंकी मारसे कचूमर निकाल दिया ॥ १७ ॥

सैन्यं तु विद्रुतं दृष्ट्वा धूम्राक्षो राक्षसर्षभः ।
रोषेण कदनं चक्रे वानराणां युयुत्सताम् ॥ १८ ॥

अपनी सेनाको वानरोंद्वारा भगायी गयी देख राक्षस-शिरोमणि धूम्राक्षने युद्धकी इच्छासे सामने आये हुए वानरोंका रोषपूर्वक संहार आरम्भ किया ॥ १८ ॥

प्रासैः प्रमथिताः केचिद् वानराः शोणितस्रवाः ।
मुद्गरैराहताः केचित् पतिता धरणीतले ॥ १९ ॥

कुछ वानरोंको उसने भालोंसे गाँथ दिया, जिससे वे खूनकी धारा बहाने लगे। कितने ही वानर उसके मुद्गरोंसे आहत होकर धरतीपर लोट गये ॥ १९ ॥

परिघैर्मथिताः केचिद् भिन्दिपालैश्च दारिताः ।
पट्टिशैर्मथिताः केचिद् विह्वलन्तो गतासवः ॥ २० ॥

कुछ वानर परिघोंसे कुचल डाले गये। कुछ भिन्दिपालोंसे चीर दिये गये और कुछ पट्टिशोंसे मथे जाकर व्याकुल हो अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठे ॥ २० ॥

केचिद् विनिहता भूमौ रुधिरार्द्रा वनौकसः ।
केचिद् विद्राविता नष्टाः संक्रुद्धै राक्षसैर्युधि ॥ २१ ॥

कितने ही वानर राक्षसोंद्वारा मारे जाकर खूनसे लथपथ हो पृथ्वीपर सो गये और कितने ही क्रोधभरे राक्षसोंद्वारा युद्धस्थलमें खदेड़े जानेपर कहीं भागकर छिप गये ॥ २१ ॥

विभिन्नहृदयाः केचिदेकपार्श्वेन शायिताः ।
विदारितास्त्रिशूलैश्च केचिदान्त्रैर्विनिःसृताः ॥ २२ ॥

कितनोंके हृदय विदीर्ण हो गये। कितने ही एक करवटसे सुला दिये गये तथा कितनोंको त्रिशूलसे विदीर्ण करके धूम्राक्षने उनकी आँतें बाहर निकाल दीं ॥ २२ ॥

तत् सुभीमं महद्युद्धं हरिराक्षससंकुलम् ।
प्रबभौ शस्त्रबहुलं शिलापादपसंकुलम् ॥ २३ ॥

वानरों और राक्षसोंसे भरा हुआ वह महान् युद्ध बड़ा भयानक प्रतीत होता था। उसमें अस्त्र-शस्त्रोंकी बहुलता थी तथा शिलाओं और वृक्षोंकी वर्षासे सारी रणभूमि भर गयी थी ॥ २३ ॥

धनुर्ज्यातन्त्रिमधुरं हिक्कातालसमन्वितम् ।
मन्दस्तनितगीतं तद् युद्धगान्धर्वमाबभौ ॥ २४ ॥

वह युद्धरूपी गान्धर्व (संगीत-महोत्सव) अद्भुत प्रतीत होता था। धनुषकी प्रत्यञ्चासे जो टंकार-ध्वनि होती थी, वही मानो वीणाका मधुर नाद था, हिचकियाँ तालका काम देती थीं और मन्दस्वरसे घायलोंका जो कराहना होता था वही गीतका स्थान ले रहा था ॥ २४ ॥

धूम्राक्षस्तु धनुष्पाणिर्वानरान् रणमूर्धनि ।
हसन् विद्रावयामास दिशस्ताञ्छरवृष्टिभिः ॥ २५ ॥

इस प्रकार धनुष हाथमें लिये धूम्राक्षने युद्धके मुहानेपर बाणोंकी वर्षा करके वानरोंको हँसते-हँसते सम्पूर्ण दिशाओंमें मार भगाया ॥ २५ ॥

धूम्राक्षेणार्दितं सैन्यं व्यथितं प्रेक्ष्य मारुतिः ।
अभ्यवर्तत संक्रुद्धः प्रगृह्य विपुलां शिलाम् ॥ २६ ॥

धूम्राक्षकी मारसे अपनी सेनाको पीड़ित एवं व्यथित हुई देख पवनकुमार हनुमान्‌जी अत्यन्त कुपित हो उठे और एक विशाल शिला हाथमें ले उसके सामने आये ॥ २६ ॥

क्रोधाद् द्विगुणताम्राक्षः पितुस्तुल्यपराक्रमः ।
शिलां तां पातयामास धूम्राक्षस्य रथं प्रति ॥ २७ ॥

उस समय क्रोधके कारण उनके नेत्र दुगुने लाल हो रहे थे। उनका पराक्रम अपने पिता वायुदेवताके ही समान था। उन्होंने धूम्राक्षके रथपर वह विशाल शिला दे मारी ॥ २७ ॥

आपतन्तीं शिलां दृष्ट्वा गदामुद्यम्य सम्भ्रमात् ।
रथादाप्लुत्य वेगेन वसुधायां व्यतिष्ठत ॥ २८ ॥

उस शिलाको रथकी ओर आती देख धूम्राक्ष हड़बड़ीमें गदा लिये उठा और वेगपूर्वक रथसे कूदकर पृथ्वीपर खड़ा हो गया ॥ २८ ॥

सा प्रमथ्य रथं तस्य निपपात शिला भुवि ।
सचक्रकूबरं साश्वं सध्वजं सशरासनम् ॥ २९ ॥

वह शिला पहिये, कूबर, अश्व, ध्वज और धनुषसहित उसके रथको चूर-चूर करके पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ २९ ॥

स भङ्क्त्वा तु रथं तस्य हनूमान् मारुतात्मजः ।
रक्षसां कदनं चक्रे सस्कन्धविटपैर्द्रुमैः ॥ ३० ॥

इस प्रकार धूम्राक्षके रथको चौपट करके पवनपुत्र हनुमान्‌ने छोटी-बड़ी डालियोंसहित वृक्षोंद्वारा राक्षसोंका संहार आरम्भ किया ॥ ३० ॥

विभिन्नशिरसो भूत्वा राक्षसा रुधिरोक्षिताः ।
द्रुमैः प्रमथिताश्चान्ये निपेतुर्धरणीतले ॥ ३१ ॥

बहुतेरे राक्षसोंके सिर फूट गये और वे रक्तसे नहा उठे। दूसरे बहुत-से निशाचर वृक्षोंकी मारसे कुचले जाकर धरतीपर लोट गये ॥ ३१ ॥

विद्राव्य राक्षसं सैन्यं हनूमान् मारुतात्मजः ।
गिरेः शिखरमादाय धूम्राक्षमभिदुद्रुवे ॥ ३२ ॥

इस प्रकार राक्षससेनाको खदेड़कर पवनकुमार हनुमान्‌ने एक पर्वतका शिखर उठा लिया और धूम्राक्षपर धावा किया ॥ ३२ ॥

तमापतन्तं धूम्राक्षो गदामुद्यम्य वीर्यवान् ।
विनर्दमानः सहसा हनूमन्तमभिद्रवत् ॥ ३३ ॥

उन्हें आते देख पराक्रमी धूम्राक्षने भी गदा उठा ली और गर्जना करता हुआ वह सहसा हनुमान्‌जीकी ओर दौड़ा ॥ ३३ ॥

तस्य क्रुद्धस्य रोषेण गदां तां बहुकण्टकाम् ।
पातयामास धूम्राक्षो मस्तकेऽथ हनूमतः ॥ ३४ ॥

धूम्राक्षने कुपित हुए हनुमान्‌जीके मस्तकपर बहुसंख्यक काँटोंसे भरी हुई वह गदा दे मारी ॥ ३४ ॥

ताडितः स तया तत्र गदया भीमवेगया।
स कपिर्मारुतबलस्तं प्रहारमचिन्तयन् ॥ ३५ ॥
धूम्राक्षस्य शिरोमध्ये गिरिशृङ्गमपातयत्।

भयानक वेगवाली उस गदाकी चोट खाकर भी वायुके समान बलशाली कपिवर हनुमान्‌ने वहाँ इस प्रहारको कुछ भी नहीं गिना और धूम्राक्षके मस्तकपर वह पर्वतशिखर चला दिया ॥ ३५½ ॥

स विस्फारितसर्वाङ्गो गिरिशृङ्गेण ताडितः ॥ ३६ ॥
पपात सहसा भूमौ विकीर्ण इव पर्वतः।

पर्वतशिखरकी गहरी चोट खाकर धूम्राक्षके सारे अङ्ग छिन्न-भिन्न हो गये और वह बिखरे हुए पर्वतकी भाँति सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ३६½ ॥

धूम्राक्षं निहतं दृष्ट्वा हतशेषा निशाचराः।
त्रस्ताः प्रविविशुर्लङ्कां वध्यमानाः प्लवंगमैः ॥ ३७ ॥

धूम्राक्षको मारा गया देख मरनेसे बचे हुए निचाशर भयभीत हो वानरोंकी मार खाते हुए लङ्कामें घुस गये ॥ ३७ ॥

स तु पवनसुतो निहत्य शत्रून्
क्षतजवहाः सरितश्च संविकीर्य।
रिपुवधजनितश्रमो महात्मा
मुदमगमत् कपिभिः सुपूज्यमानः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार शत्रुओंको मारकर और रक्तकी धारा बहानेवाली बहुत-सी नदियोंको प्रवाहित करके महात्मा पवनकुमार हनुमान् यद्यपि शत्रुवधजनित परिश्रमसे थक गये थे, तथापि वानरोंद्वारा पूजित एवं प्रशंसित होनेसे उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे द्विपञ्चाशः सर्गः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें बावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

—★—

त्रिपञ्चाशः सर्गः

वज्रदंष्ट्रका सेनासहित युद्धके लिये प्रस्थान, वानरों और राक्षसोंका युद्ध, वज्रदंष्ट्रद्वारा वानरोंका तथा अङ्गदद्वारा राक्षसोंका संहार

धूम्राक्षं निहतं श्रुत्वा रावणो राक्षसेश्वरः।
क्रोधेन महताऽऽविष्टो निःश्वसन्नुरगो यथा ॥ १ ॥

धूम्राक्षके मारे जानेका समाचार सुनकर राक्षसराज रावणको महान् क्रोध हुआ। वह फुफकारते हुए सर्पके समान जोर-जोरसे साँस लेने लगा ॥ १ ॥

दीर्घमुष्णं विनिःश्वस्य क्रोधेन कलुषीकृतः।
अब्रवीद् राक्षसं क्रूरं वज्रदंष्ट्रं महाबलम् ॥ २ ॥

क्रोधसे कलुषित हो गर्म-गर्म लम्बी साँस खींचकर उसने क्रूर निशाचर महाबली वज्रदंष्ट्रसे कहा— ॥ २ ॥

गच्छ त्वं वीर निर्याहि राक्षसैः परिवारितः।
जहि दाशरथिं रामं सुग्रीवं वानरैः सह ॥ ३ ॥

'वीर! तुम राक्षसोंके साथ जाओ और दशरथकुमार राम और वानरोंसहित सुग्रीवको मार डालो' ॥ ३ ॥

तथेत्युक्त्वा द्रुततरं मायावी राक्षसेश्वरः।
निर्जगाम बलैः सार्धं बहुभिः परिवारितः ॥ ४ ॥

तब वह मायावी राक्षस 'बहुत अच्छा' कहकर बहुत बड़ी सेनाके साथ तुरंत युद्धके लिये चल दिया ॥ ४ ॥

नागैरश्वैः खरैरुष्ट्रैः संयुक्तः सुसमाहितः।
पताकाध्वजचित्रैश्च बहुभिः समलंकृतः ॥ ५ ॥

वह हाथी, घोड़े, गदहे और ऊँट आदि सवारियोंसे युक्त था, चित्तको पूर्णतः एकाग्र किये हुए था और पताका, ध्वज आदिसे विचित्र शोभा पानेवाले बहुत-से सेनाध्यक्ष उसकी शोभा बढ़ाते थे ॥ ५ ॥

ततो विचित्रकेयूरमुकुटेन विभूषितः।
तनुत्रं स समावृत्य सधनुर्निर्ययौ द्रुतम् ॥ ६ ॥

विचित्र भुजबंद और मुकुटसे विभूषित हो कवच धारण करके हाथमें धनुष लिये वह शीघ्र ही निकला ॥ ६ ॥

पताकालंकृतं दीप्तं तप्तकाञ्चनभूषितम्।
रथं प्रदक्षिणं कृत्वा समारोहच्चमूपतिः ॥ ७ ॥

ध्वजा-पताकाओंसे अलंकृत, दीप्तिमान् तथा सोनेके साज-बाजसे सुसज्जित रथकी परिक्रमा करके सेनापति वज्रदंष्ट्र उसपर आरूढ़ हुआ ॥ ७ ॥

ऋष्टिभिस्तोमरैश्चित्रैः श्लक्ष्णैश्च मुसलैरपि।
भिन्दिपालैश्च चापैश्च शक्तिभिः पट्टिशैरपि ॥ ८ ॥
खड्गैश्चक्रैर्गदाभिश्च निशितैश्च परश्वधैः।
पदातयश्च निर्यान्ति विविधाः शस्त्रपाणयः ॥ ९ ॥

उसके साथ ऋष्टि, विचित्र तोमर, चिकने मुसल, भिन्दिपाल, धनुष, शक्ति, पट्टिश, खड्ग, चक्र, गदा और तीखे फरसोंसे सुसज्जित बहुत-से पैदल योद्धा चले। उनके हाथोंमें अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्र शोभा पा रहे थे ॥ ८-९ ॥

विचित्रवाससः सर्वे दीप्ता राक्षसपुङ्गवाः ।
गजा महोत्कटाः शूराश्चलन्त इव पर्वताः ॥ १० ॥

विचित्र वस्त्र धारण करनेवाले सभी राक्षस वीर अपने तेजसे प्रज्वलित हो रहे थे । हाथियोंके समान मदमत्त राक्षस चलते-फिरते पर्वतोंके समान जान पड़ते थे ॥ १० ॥

ते युद्धकुशला रूढास्तोमराङ्कुशपाणिभिः ।
अन्ये लक्षणसंयुक्ताः शूरारूढा महाबलाः ॥ ११ ॥

हाथोंमें तोमर, अंकुश धारण करनेवाले महावत जिनकी पीठपर सवार थे तथा जो युद्धकी कलामें कुशल थे, वे हाथी युद्धके लिये आगे बढ़े । उत्तम लक्षणोंसे युक्त जो दूसरे-दूसरे महाबली घोड़े थे, जिनके ऊपर शूरवीर सैनिक सवार थे, वे भी युद्धके लिये निकले ॥ ११ ॥

तद् राक्षसबलं सर्वं विप्रस्थितमशोभत ।
प्रावृट्काले यथा मेघा नर्दमानाः सविद्युतः ॥ १२ ॥

युद्धके उद्देश्यसे प्रस्थित हुई राक्षसोंकी वह सारी सेना वर्षाकालमें गर्जते हुए बिजलीसहित मेघोंके समान शोभा पा रही थी ॥ १२ ॥

निःसृता दक्षिणद्वारादङ्गदो यत्र यूथपः ।
तेषां निष्क्रममाणानामशुभं समजायत ॥ १३ ॥

वह सेना लङ्काके दक्षिणद्वारसे निकली, जहाँ वानर-यूथपति अङ्गद राह रोके खड़े थे । उधरसे निकलते ही उन राक्षसोंके सामने अशुभसूचक अपशकुन होने लगा ॥ १३ ॥

आकाशाद् विघनात् तीव्रा उल्काश्चाभ्यपतंस्तदा ।
वमन्तः पावकज्वालाः शिवा घोरा ववाशिरे ॥ १४ ॥

मेघरहित आकाशसे तत्काल दुःसह उल्कापात होने लगे । भयानक गीदड़ मुँहसे आगकी ज्वाला उगलते हुए जोर-जोरसे बोली बोलने लगे ॥ १४ ॥

व्याहरन्त मृगा घोरा रक्षसां निधनं तदा ।
समापतन्तो योधास्तु प्रास्खलंस्तत्र दारुणम् ॥ १५ ॥

घोर पशु ऐसी बोली बोलते थे, जिससे राक्षसोंके विनाशकी सूचना मिल रही थी । युद्धके लिये आते हुए योद्धा बुरी तरह लड़खड़ाकर गिर पड़ते थे । इससे उनकी बड़ी दयनीय अवस्था हो जाती थी ॥ १५ ॥

एतानौत्पातिकान् दृष्ट्वा वज्रदंष्ट्रो महाबलः ।
धैर्यमालम्ब्य तेजस्वी निर्जगाम रणोत्सुकः ॥ १६ ॥

इन उत्पातसूचक लक्षणोंको देखकर भी महाबली वज्रदंष्ट्रने धैर्य नहीं छोड़ा । वह तेजस्वी वीर युद्धके लिये उत्सुक होकर निकला ॥ १६ ॥

तांस्तु विद्रवतो दृष्ट्वा वानरा जितकाशिनः ।
प्रणेदुः सुमहानादान् दिशः शब्देन पूरयन् ॥ १७ ॥

शीघ्रतासे आते हुए उन राक्षसोंको देखकर विजयकी अभिलाषासे सुशोभित होनेवाले वानर बड़े जोर-जोरसे गर्जना करने लगे । उन्होंने अपने सिंहनादसे सम्पूर्ण दिशाओंको गुँजा दिया ॥ १७ ॥

ततः प्रवृत्तं तुमुलं हरीणां राक्षसैः सह ।
घोराणां भीमरूपाणामन्योन्यवधकाङ्क्षिणाम् ॥ १८ ॥

तदनन्तर भयानक रूप धारण करनेवाले घोर वानरोंका राक्षसोंके साथ तुमुल युद्ध आरम्भ हुआ । दोनों दलोंके योद्धा एक-दूसरेका वध करना चाहते थे ॥ १८ ॥

निष्पतन्तो महोत्साहा भिन्नदेहशिरोधराः ।
रुधिरोक्षितसर्वाङ्गा न्यपतन् धरणीतले ॥ १९ ॥

वे बड़े उत्साहसे युद्धके लिये निकलते, परंतु देह और गर्दन कट जानेसे पृथ्वीपर गिर पड़ते थे । उस समय उनके सारे अङ्ग खूनसे भीग जाते थे ॥ १९ ॥

केचिदन्योन्यमासाद्य शूराः परिघबाहवः ।
चिक्षिपुर्विविधाञ्शस्त्रान् समरेष्वनिवर्तिनः ॥ २० ॥

युद्धमें कभी पीछे न हटनेवाले और परिघ-जैसी बाँहोंवाले कितने ही शूरवीर एक-दूसरेके निकट पहुँचकर परस्पर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करते थे ॥ २० ॥

द्रुमाणां च शिलानां च शस्त्राणां चापि निःस्वनः ।
श्रूयते सुमहांस्तत्र घोरो हृदयभेदनः ॥ २१ ॥

उस युद्धस्थलमें प्रयुक्त होनेवाले वृक्षों, शिलाओं और शस्त्रोंका महान् एवं घोर शब्द जब कानोंमें पड़ता था, तब वह हृदयको विदीर्ण-सा कर देता था ॥ २१ ॥

रथनेमिस्वनस्तत्र धनुषश्चापि घोरवत् ।
शङ्खभेरीमृदङ्गानां बभूव तुमुलः स्वनः ॥ २२ ॥

वहाँ रथके पहियोंकी घर्घराहट, धनुषकी भयानक टंकार तथा शङ्ख, भेरी और मृदङ्गोंका शब्द एकमें मिलकर बड़ा भयंकर प्रतीत होता था ॥ २२ ॥

केचिदस्त्राणि संत्यज्य बाहुयुद्धमकुर्वत ॥ २३ ॥
तलैश्च चरणैश्चापि मुष्टिभिश्च द्रुमैरपि ।
जानुभिश्च हताः केचिद् भग्नदेहाश्च राक्षसाः ।
शिलाभिश्चूर्णिताः केचिद् वानरैर्युद्धदुर्मदैः ॥ २४ ॥

कुछ योद्धा अपने हथियार फेंककर बाहुयुद्ध करने लगते थे । थप्पड़ों, लातों, मुक्कों, वृक्षों और घुटनोंकी मार खाकर कितने ही राक्षसोंके शरीर चूर-चूर हो गये थे । रणदुर्मद वानरोंने शिलाओंसे मार-मारकर कितने ही राक्षसोंका चूरा बना दिया था ॥ २३-२४ ॥

वज्रदंष्ट्रो भृशं बाणै रणे वित्रासयन् हरीन् ।
चचार लोकसंहारे पाशहस्त इवान्तकः ॥ २५ ॥

उस समय वज्रदंष्ट्र अपने बाणोंकी मारसे वानरोंको अत्यन्त भयभीत करता हुआ तीनों लोकोंके संहारके लिये उठे हुए पाशधारी यमराजके समान रणभूमिमें विचरने लगा ॥ २५ ॥

बलवन्तोऽस्त्रविदुषो नानाप्रहरणा रणे ।
जघ्नुर्वानरसैन्यानि राक्षसाः क्रोधमूर्च्छिताः ॥ २६ ॥

साथ ही क्रोधसे भरे तथा नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लिये अन्य अस्त्रवेत्ता बलवान् राक्षस भी वानरसेनाओंका रणभूमिमें संहार करने लगे ॥ २६ ॥

जघ्ने तान् राक्षसान् सर्वान् धृष्टो वालिसुतो रणे ।
क्रोधेन द्विगुणाविष्टः संवर्तक इवानलः ॥ २७ ॥

किंतु प्रलयकालमें संवर्तक अग्नि जैसे प्राणियोंका संहार करती है, उसी तरह वालिपुत्र अङ्गद और भी निर्भय हो दूने क्रोधसे भरकर उन सब राक्षसोंका वध करने लगे ॥ २७ ॥

तान् राक्षसगणान् सर्वान् वृक्षमुद्यम्य वीर्यवान् ।
अङ्गदः क्रोधताम्राक्षः सिंहः क्षुद्रमृगानिव ॥ २८ ॥
चकार कदनं घोरं शक्रतुल्यपराक्रमः ।

उनकी आँखें क्रोधसे लाल हो रही थीं। वे इन्द्रके तुल्य पराक्रमी थे। जैसे सिंह छोटे वन्य-पशुओंको अनायास ही नष्ट कर देता है, उसी तरह पराक्रमी अङ्गदने एक वृक्ष उठाकर उन समस्त राक्षसगणोंका घोर संहार आरम्भ किया ॥ २८½ ॥

अङ्गदाभिहतास्तत्र राक्षसा भीमविक्रमाः ॥ २९ ॥
विभिन्नशिरसः पेतुर्निकृत्ता इव पादपाः ।

अङ्गदकी मार खाकर वे भयानक पराक्रमी राक्षस सिर फट जानेके कारण कटे हुए वृक्षोंके समान पृथ्वीपर गिरने लगे ॥ २९½ ॥

रथैश्चित्रैर्ध्वजैरश्वैः शरीरैर्हरिरक्षसाम् ॥ ३० ॥
रुधिरौघेण संछन्ना भूमिर्भयकरी तदा ।

उस समय रथों, चित्र-विचित्र ध्वजों, घोड़ों, राक्षस और वानरोंके शरीरों तथा रक्तकी धाराओंसे भर जानेके कारण वह रणभूमि बड़ी भयानक जान पड़ती थी ॥ ३०½ ॥

हारकेयूरवस्त्रैश्च शस्त्रैश्च समलंकृता ॥ ३१ ॥
भूमिर्भाति रणे तत्र शारदीव यथा निशा ।

योद्धाओंके हार, केयूर (बाजूबंद), वस्त्र और शस्त्रोंसे अलंकृत हुई रणभूमि शरत्कालकी रात्रिके समान शोभा पाती थी ॥ ३१½ ॥

अङ्गदस्य च वेगेन तद् राक्षसबलं महत् ।
प्राकम्पत तदा तत्र पवनेनाम्बुदो यथा ॥ ३२ ॥

अङ्गदके वेगसे वहाँ वह विशाल राक्षससेना उस समय उसी तरह काँपने लगी, जैसे वायुके वेगसे मेघ कम्पित हो उठता है ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें तिरपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुःपञ्चाशः सर्गः

वज्रदंष्ट्र और अङ्गदका युद्ध तथा अङ्गदके हाथसे उस निशाचरका वध

स्वबलस्य च घातेन अङ्गदस्य बलेन च ।
राक्षसः क्रोधमाविष्टो वज्रदंष्ट्रो महाबलः ॥ १ ॥

अङ्गदके पराक्रमसे अपनी सेनाका संहार होता देख महाबली राक्षस वज्रदंष्ट्र अत्यन्त कुपित हो उठा ॥ १ ॥

विस्फार्य च धनुर्घोरं शक्राशनिसमप्रभम् ।
वानराणामनीकानि प्राकिरच्छरवृष्टिभिः ॥ २ ॥

वह इन्द्रके वज्रके समान तेजस्वी अपना भयंकर धनुष खींचकर वानरोंकी सेनापर बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ २ ॥

राक्षसाश्चापि मुख्यास्ते रथेषु समवस्थिताः ।
नानाप्रहरणाः शूराः प्रायुध्यन्त तदा रणे ॥ ३ ॥

उसके साथ अन्य प्रधान-प्रधान शूरवीर राक्षस भी रथोंपर बैठकर हाथोंमें तरह-तरहके हथियार लिये संग्रामभूमिमें युद्ध करने लगे ॥ ३ ॥

वानराणां च शूरास्तु ते सर्वे प्लवगर्षभाः ।
अयुध्यन्त शिलाहस्ताः समवेताः समन्ततः ॥ ४ ॥

वानरोंमें भी जो विशेष शूरवीर थे, वे सभी वानरशिरोमणि सब ओरसे एकत्र हो हाथोंमें शिलाएँ लिये जूझने लगे ॥ ४ ॥

तत्रायुधसहस्राणि तस्मिन्नायोधने भृशम् ।
राक्षसाः कपिमुख्येषु पातयांचक्रिरे तदा ॥ ५ ॥

उस समय इस रणभूमिमें राक्षसोंने मुख्य-मुख्य वानरोंपर हजारों अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा की ॥ ५ ॥

वानराश्चैव रक्षःसु गिरिवृक्षान् महाशिलाः ।
प्रवीराः पातयामासुर्मत्तवारणसंनिभाः ॥ ६ ॥

मतवाले हाथीके समान विशालकाय वीर वानरोंने भी राक्षसोंपर अनेकानेक पर्वत, वृक्ष और बड़ी-बड़ी शिलाएँ गिरायीं ॥ ६ ॥

शूराणां युध्यमानानां समरेष्वनिवर्तिनाम् ।
तद् राक्षसगणानां च सुयुद्धं समवर्तत ॥ ७ ॥

युद्धमें पीठ न दिखानेवाले और उत्साहपूर्वक जूझनेवाले शूरवीर वानरों और राक्षसोंका वह युद्ध उत्तरोत्तर बढ़ता गया ॥ ७ ॥

प्रभिन्नशिरसः केचिच्छिन्नैः पादैश्च बाहुभिः ।
शस्त्रैरर्दितदेहास्तु रुधिरेण समुक्षिताः ॥ ८ ॥

किन्हींके सिर फूटे, किन्हींके हाथ और पैर कट गये और बहुत-से योद्धाओंके शरीर शस्त्रोंके आघातसे पीड़ित हो खूनसे नहा गये ॥ ८ ॥

हरयो राक्षसाश्चैव शेरते गां समाश्रिताः ।
कङ्कगृध्रबलाढ्याश्च गोमायुकुलसंकुलाः ॥ ९ ॥

वानर और राक्षस दोनों ही धराशायी हो गये। उनपर कङ्क, गीध और कौए टूट पड़े। गीदड़ोंकी जमातें छा गयीं ॥ ९ ॥

कबन्धानि समुत्पेतुर्भीरूणां भीषणानि वै ।
भुजपाणिशिरश्छिन्नाश्छिन्नकायाश्च भूतले ॥ १० ॥

वहाँ जिनके मस्तक कट गये थे, ऐसे धड़ उठ-उठकर उछलने लगे, जो भीरु स्वभाववाले सैनिकोंको भयभीत करते थे। योद्धाओंकी कटी हुई भुजाएँ, हाथ, सिर तथा शरीरके मध्यभाग पृथ्वीपर पड़े हुए थे ॥ १० ॥

वानरा राक्षसाश्चापि निपेतुस्तत्र भूतले ।
ततो वानरसैन्येन हन्यमानं निशाचरम् ॥ ११ ॥
प्राभज्यत बलं सर्वं वज्रदंष्ट्रस्य पश्यतः ।

वानर और राक्षस दोनों ही दलोंके लोग वहाँ धराशायी हो रहे थे। तत्पश्चात् कुछ ही देरमें वानर-सैनिकोंके प्रहारोंसे पीड़ित हो सारी निशाचरसेना वज्रदंष्ट्रके देखते-देखते भाग चली ॥ ११½ ॥

राक्षसान् भयवित्रस्तान् हन्यमानान् प्लवंगमैः ॥ १२ ॥
दृष्ट्वा स रोषताम्राक्षो वज्रदंष्ट्रः प्रतापवान् ।

वानरोंकी मारसे राक्षसोंको भयभीत हुआ देख प्रतापी वज्रदंष्ट्रकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं ॥ १२½ ॥

प्रविवेश धनुष्पाणिस्त्रासयन् हरिवाहिनीम् ॥ १३ ॥
शरैर्विदारयामास कङ्कपत्रैरजिह्मगैः ।

वह हाथमें धनुष ले वानरसेनाको भयभीत करता हुआ उसके भीतर घुस गया और सीधे जानेवाले कङ्कपत्रयुक्त बाणोंद्वारा शत्रुओंको विदीर्ण करने लगा ॥ १३½ ॥

बिभेद वानरांस्तत्र सप्ताष्टौ नव पञ्च च ॥ १४ ॥
विव्याध परमक्रुद्धो वज्रदंष्ट्रः प्रतापवान् ।

अत्यन्त क्रोधसे भरा हुआ प्रतापी वज्रदंष्ट्र वहाँ एक-एक बाणसे पाँच, सात, आठ और नौ-नौ वानरोंको घायल कर देता था। इस तरह उसने वानर-सैनिकोंको गहरी चोट पहुँचायी ॥ १४½ ॥

त्रस्ताः सर्वे हरिगणाः शरैः संकृत्तदेहिनः ।
अङ्गदं सम्प्रधावन्ति प्रजापतिमिव प्रजाः ॥ १५ ॥

बाणोंसे जिनके अङ्ग छिन्न-भिन्न हो गये थे, वे समस्त वानरगण भयभीत हो अङ्गदकी ओर दौड़े, मानो प्रजा प्रजापतिकी शरणमें जा रही हो ॥ १५ ॥

ततो हरिगणान् भग्नान् दृष्ट्वा वालिसुतस्तदा ।
क्रोधेन वज्रदंष्ट्रं तमुदीक्षन्तमुदैक्षत ॥ १६ ॥

उस समय वानरोंको भागते देख वालिकुमार अङ्गदने अपनी ओर देखते हुए वज्रदंष्ट्रको क्रोधपूर्वक देखा ॥ १६ ॥

वज्रदंष्ट्रोऽङ्गदश्चोभौ योयुध्येते परस्परम् ।
चेरतुः परमक्रुद्धौ हरिमत्तगजाविव ॥ १७ ॥

फिर तो वज्रदंष्ट्र और अङ्गद अत्यन्त कुपित हो एक-दूसरेसे वेगपूर्वक युद्ध करने लगे। वे दोनों रणभूमिमें व्याघ्र और मतवाले हाथीके समान विचर रहे थे ॥ १७ ॥

ततः शतसहस्रेण हरिपुत्रं महाबलम् ।
जघान मर्मदेशेषु शरैरग्निशिखोपमैः ॥ १८ ॥

उस समय वज्रदंष्ट्रने महाबली वालिपुत्र अङ्गदके मर्मस्थानोंमें अग्नि-शिखाके समान तेजस्वी एक लाख बाण मारे ॥ १८ ॥

रुधिरोक्षितसर्वाङ्गो वालिसूनुर्महाबलः ।
चिक्षेप वज्रदंष्ट्राय वृक्षं भीमपराक्रमः ॥ १९ ॥

इससे उनके सारे अङ्ग लहू-लुहान हो उठे। तब भयानक पराक्रमी महाबली वालिकुमारने वज्रदंष्ट्रपर एक वृक्ष चलाया ॥ १९ ॥

दृष्ट्वा पतन्तं तं वृक्षमसम्भ्रान्तश्च राक्षसः ।
चिच्छेद बहुधा सोऽपि मथितः प्रापतद् भुवि ॥ २० ॥

उस वृक्षको अपनी ओर आते देखकर भी वज्रदंष्ट्रके मनमें घबराहट नहीं हुई। उसने बाण मारकर उस वृक्षके कई टुकड़े कर दिये। इस प्रकार खण्डित होकर वह वृक्ष पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २० ॥

तं दृष्ट्वा वज्रदंष्ट्रस्य विक्रमं प्लवगर्षभः ।
प्रगृह्य विपुलं शैलं चिक्षेप च ननाद च ॥ २१ ॥

वज्रदंष्ट्रके उस पराक्रमको देखकर वानरशिरोमणि अङ्गदने एक विशाल चट्टान लेकर उसके ऊपर दे मारी और बड़े जोरसे गर्जना की ॥ २१ ॥

तमापतन्तं दृष्ट्वा स रथादाप्लुत्य वीर्यवान् ।
गदापाणिरसम्भ्रान्तः पृथिव्यां समतिष्ठत ॥ २२ ॥

उस चट्टानको आती देख वह पराक्रमी राक्षस बिना किसी घबराहटके रथसे कूद पड़ा और केवल गदा हाथमें लेकर पृथ्वीपर खड़ा हो गया ॥ २२ ॥

अङ्गदेन शिला क्षिप्ता गत्वा तु रणमूर्धनि ।
सचक्रकूबरं साश्वं प्रममाथ रथं तदा ॥ २३ ॥

अङ्गदकी फेंकी हुई वह चट्टान उसके रथपर पहुँच गयी और युद्धके मुहानेपर उसने पहिये, कूबर तथा घोड़ोंसहित उस रथको तत्काल चूर-चूर कर डाला ॥ २३ ॥

ततोऽन्यच्छिखरं गृह्य विपुलं द्रुमभूषितम् ।
वज्रदंष्ट्रस्य शिरसि पातयामास वानरः ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् वानरवीर अङ्गदने वृक्षोंसे अलंकृत दूसरा विशाल शिखर हाथमें लेकर उसे वज्रदंष्ट्रके मस्तकपर दे मारा ॥ २४ ॥

अभवच्छोणितोद्गारी वज्रदंष्ट्रः सुमूर्च्छितः ।
मुहूर्तमभवन्मूढो गदामालिङ्ग्य निःश्वसन् ॥ २५ ॥

वज्रदंष्ट्र उसकी चोटसे मूर्च्छित हो गया और रक्त वमन करने लगा। वह गदाको हृदयसे लगाये दो घड़ीतक अचेत पड़ा रहा। केवल उसकी साँस चलती रही ॥ २५ ॥

स लब्धसंज्ञो गदया वालिपुत्रमवस्थितम् ।
जघान परमक्रुद्धो वक्षोदेशे निशाचरः ॥ २६ ॥

होशमें आनेपर उस निशाचरने अत्यन्त कुपित हो सामने खड़े हुए वालिपुत्रकी छातीमें गदासे प्रहार किया ॥ २६ ॥

गदां त्यक्त्वा ततस्तत्र मुष्टियुद्धमकुर्वत ।
अन्योन्यं जघ्नतुस्तत्र तावुभौ हरिराक्षसौ ॥ २७ ॥

फिर गदा त्यागकर वह वहाँ मुक्कोंसे युद्ध करने लगा। वे वानर और राक्षस दोनों वीर एक-दूसरेको मुक्कोंसे मारने लगे ॥ २७ ॥

रुधिरोद्गारिणौ तौ तु प्रहारैर्जनितश्रमौ ।
बभूवतुः सुविक्रान्तावङ्गारकबुधाविव ॥ २८ ॥

दोनों ही बड़े पराक्रमी थे और परस्पर जूझते हुए मङ्गल एवं बुधके समान जान पड़ते थे। आपसके प्रहारोंसे पीड़ित हो दोनों ही थक गये और मुँहसे रक्त वमन करने लगे ॥ २८ ॥

ततः परमतेजस्वी अङ्गदः प्लवगर्षभः ।
उत्पाट्य वृक्षं स्थितवानासीत् पुष्पफलैर्युतः ॥ २९ ॥

तत्पश्चात् परम तेजस्वी वानरशिरोमणि अङ्गद एक वृक्ष उखाड़कर खड़े हो गये। वे वहाँ उस वृक्षसम्बन्धी फल फूलोंके कारण स्वयं भी फल और फूलोंसे युक्त दिखायी देते थे ॥ २९ ॥

जग्राह चार्षभं चर्म खड्गं च विपुलं शुभम् ।
किङ्किणीजालसंछन्नं चर्मणा च परिष्कृतम् ॥ ३० ॥

उधर वज्रदंष्ट्रने ऋषभके चमड़ेकी बनी हुई ढाल और सुन्दर एवं विशाल तलवार ले ली। वह तलवार छोटी-छोटी घण्टियोंके जालसे आच्छादित तथा चमड़ेकी म्यानसे सुशोभित थी ॥ ३० ॥

चित्रांश्च रुचिरान् मार्गांश्चेरतुः कपिराक्षसौ ।
जघ्नतुश्च तदान्योन्यं नर्दन्तौ जयकाङ्क्षिणौ ॥ ३१ ॥

उस समय परस्पर विजयकी इच्छा रखनेवाले वे वानर और राक्षस वीर सुन्दर एवं विचित्र पैंतरे बदलने तथा गर्जते हुए एक-दूसरेपर चोट करने लगे ॥ ३१ ॥

व्रणैः सास्रैरशोभेतां पुष्पिताविव किंशुकौ ।
युध्यमानौ परिश्रान्तौ जानुभ्यामवनीं गतौ ॥ ३२ ॥

दोनोंके घावोंसे रक्तकी धारा बहने लगी, जिससे वे खिले हुए पलाश वृक्षोंके समान शोभा पाने लगे। लड़ते-लड़ते थक जानेके कारण दोनोंने ही पृथ्वीपर घुटने टेक दिये ॥ ३२ ॥

निमेषान्तरमात्रेण अङ्गदः कपिकुञ्जरः ।
उदतिष्ठत दीप्ताक्षो दण्डाहत इवोरगः ॥ ३३ ॥

किंतु पलक मारते-मारते कपिश्रेष्ठ अङ्गद उठकर खड़े हो गये। उनके नेत्र रोषसे उद्दीप्त हो उठे थे और वे डंडेकी चोट खाये हुए सर्पके समान उत्तेजित हो रहे थे ॥ ३३ ॥

निर्मलेन सुधौतेन खड्गेनास्य महच्छिरः ।
जघान वज्रदंष्ट्रस्य वालिसूनुर्महाबलः ॥ ३४ ॥

महाबली वालिकुमारने अपनी निर्मल एवं तेज धारवाली चमकीली तलवारसे वज्रदंष्ट्रका विशाल मस्तक काट डाला ॥ ३४ ॥

रुधिरोक्षितगात्रस्य बभूव पतितं द्विधा ।
तच्च तस्य परीताक्षं शुभं खड्गहतं शिरः ॥ ३५ ॥

खूनसे लथपथ शरीरवाले उस राक्षसका वह खड्गसे कटा हुआ सुन्दर मस्तक, जिसके नेत्र उलट गये थे, धरतीपर गिरकर दो टुकड़ोंमें विभक्त हो गया ॥ ३५ ॥

वज्रदंष्ट्रं हतं दृष्ट्वा राक्षसा भयमोहिताः ।
त्रस्ता ह्यभ्यद्रवँल्लङ्कां वध्यमानाः प्लवङ्गमैः ।
विषण्णवदना दीना ह्रिया किंचिदवाङ्मुखाः ॥ ३६ ॥

वज्रदंष्ट्रको मारा गया देख राक्षस भयसे अचेत हो गये। वे वानरोंकी मार खाकर भयके मारे लङ्कामें भाग गये। उनके मुखपर विषाद छा रहा था। वे बहुत दुःखी थे और लज्जाके कारण उन्होंने अपना मुँह कुछ नीचा कर लिया था ॥ ३६ ॥

निहत्य तं वज्रधरः प्रतापवान्
स वालिसूनुः कपिसैन्यमध्ये ।
जगाम हर्षं महितो महाबलः
सहस्रनेत्रस्त्रिदशैरिवावृतः ॥ ३७ ॥

वज्रधारी इन्द्रके समान प्रतापी महाबली वालिकुमार अङ्गद उस निशाचर वज्रदंष्ट्रको मारकर वानरसेनामें सम्मानित हो देवताओंसे घिरे हुए सहस्र नेत्रधारी इन्द्रके समान बड़े हर्षको प्राप्त हुए ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें चौवनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

—★—

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

रावणकी आज्ञासे अकम्पन आदि राक्षसोंका युद्धमें आना और वानरोंके साथ उनका घोर युद्ध

वज्रदंष्ट्रं हतं श्रुत्वा वालिपुत्रेण रावणः ।
बलाध्यक्षमुवाचेदं कृताञ्जलिमुपस्थितम् ॥ १ ॥

वालिपुत्र अङ्गदके हाथसे वज्रदंष्ट्रके मारे जानेका समाचार सुनकर रावणने हाथ जोड़कर अपने पास खड़े हुए सेनापतिसे कहा— ॥ १ ॥

शीघ्रं निर्यान्तु दुर्धर्षा राक्षसा भीमविक्रमाः ।
अकम्पनं पुरस्कृत्य सर्वशस्त्रास्त्रकोविदम् ॥ २ ॥

'अकम्पन सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता हैं, अतः उन्हींको आगे करके भयंकर पराक्रमी दुर्धर्ष राक्षस शीघ्र यहाँसे युद्धके लिये जायँ ॥ २ ॥

एष शास्ता च गोप्ता च नेता च युधि सत्तमः ।
भूतिकामश्च मे नित्यं नित्यं च समरप्रियः ॥ ३ ॥

'अकम्पनको युद्ध सदा ही प्रिय है। ये सर्वदा मेरी उन्नति चाहते हैं। इन्हें युद्धमें एक श्रेष्ठ योद्धा माना गया है। ये शत्रुओंको दण्ड देने, अपने सैनिकोंकी रक्षा करने तथा रणभूमिमें सेनाका संचालन करनेमें समर्थ हैं ॥ ३ ॥

एष जेष्यति काकुत्स्थौ सुग्रीवं च महाबलम् ।
वानरांश्चापरान् घोरान् हनिष्यति न संशयः ॥ ४ ॥

'अकम्पन दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणको तथा महाबली सुग्रीवको भी परास्त कर देंगे और दूसरे-दूसरे भयानक वानरोंका भी संहार कर डालेंगे, इसमें संशय नहीं है' ॥ ४ ॥

परिगृह्य स तामाज्ञां रावणस्य महाबलः ।
बलं सम्प्रेरयामास तदा लघुपराक्रमः ॥ ५ ॥

रावणकी उस आज्ञाको शिरोधार्य करके शीघ्रपराक्रमी महाबली सेनाध्यक्षने उस समय युद्धके लिये सेना भेजी ॥ ५ ॥

ततो नानाप्रहरणा भीमाक्षा भीमदर्शनाः ।
निष्पेतू राक्षसा मुख्या बलाध्यक्षप्रचोदिताः ॥ ६ ॥

सेनापतिसे प्रेरित हो भयानक नेत्रोंवाले मुख्य-मुख्य भयंकर राक्षस नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लिये नगरसे बाहर निकले ॥ ६ ॥

रथमास्थाय विपुलं तप्तकाञ्चनभूषणम् ।
मेघाभो मेघवर्णश्च मेघस्वनमहास्वनः ॥ ७ ॥
राक्षसैः संवृतो घोरैस्तदा निर्यात्यकम्पनः ।

उसी समय तपे हुए सोनेसे विभूषित विशाल रथपर आरूढ़ हो घोर राक्षसोंसे घिरा हुआ अकम्पन भी निकला। वह मेघके समान विशाल था, मेघके समान ही उसका रंग था और मेघके ही तुल्य उसकी गर्जना थी ॥ ७½ ॥

नहि कम्पयितुं शक्यः सुरैरपि महामृधे ॥ ८ ॥
अकम्पनस्ततस्तेषामादित्य इव तेजसा ।

महासमरमें देवता भी उसे कम्पित नहीं कर सकते थे, इसीलिये वह अकम्पन नामसे विख्यात था और राक्षसोंमें सूर्यके समान तेजस्वी था ॥ ८½ ॥

तस्य निर्धावमानस्य संरब्धस्य युयुत्सया ॥ ९ ॥
अकस्माद् दैन्यमागच्छद्धयानां रथवाहिनाम् ।

रोषावेशसे भरकर युद्धकी इच्छासे धावा करनेवाले अकम्पनके रथमें जुते हुए घोड़ोंका मन अकस्मात् दीनभावको प्राप्त हो गया ॥ ९½ ॥

व्यस्फुरन्नयनं चास्य सव्यं युद्धाभिनन्दिनः ॥ १० ॥
विवर्णो मुखवर्णश्च गद्गदश्चाभवत् स्वनः ।

यद्यपि अकम्पन युद्धका अभिनन्दन करनेवाला था, तथापि उस समय उसकी बायीं आँख फड़कने लगी। मुखकी कान्ति फीकी पड़ गयी और वाणी गद्गद हो गयी ॥ १०½ ॥

अभवत् सुदिने काले दुर्दिनं रूक्षमारुतम् ॥ ११ ॥
ऊचुः खगमृगाः सर्वे वाचः क्रूरा भयावहाः ।

यद्यपि वह समय सुदिनका था, तथापि सहसा रूखी हवाके साथ दुर्दिन छा गया। सभी पशु और पक्षी क्रूर एवं भयदायक बोली बोलने लगे ॥ ११½ ॥

स सिंहोपचितस्कन्धः शार्दूलसमविक्रमः ॥ १२ ॥
तानुत्पातानचिन्त्यैव निर्जगाम रणाजिरम् ।

अकम्पनके कंधे सिंहके समान पुष्ट थे। उसका पराक्रम व्याघ्रके समान था। वह पूर्वोक्त उत्पातोंकी कोई परवा न करके रणभूमिकी ओर चला ॥ १२½ ॥

तथा निर्गच्छतस्तस्य रक्षसः सह राक्षसैः ॥ १३ ॥
बभूव सुमहान् नादः क्षोभयन्निव सागरम् ।

जिस समय वह राक्षस दूसरे राक्षसोंके साथ लङ्कासे निकला, उस समय ऐसा महान् कोलाहल हुआ कि समुद्रमें हलचल-सी मच गयी ॥ १३½ ॥

तेन शब्देन वित्रस्ता वानराणां महाचमूः ॥ १४ ॥
द्रुमशैलप्रहाराणां योद्धुं समुपतिष्ठताम् ।
तेषां युद्धं महारौद्रं संजज्ञे कपिरक्षसाम् ॥ १५ ॥

उस महान् कोलाहलसे वानरोंकी वह विशाल सेना भयभीत हो गयी। युद्धके लिये उपस्थित हो वृक्षों और शैल-शिखरोंका प्रहार करनेवाले उन वानरों और राक्षसोंमें महाभयंकर युद्ध होने लगा ॥ १४-१५ ॥

रामरावणयोरर्थे समभित्यक्तदेहिनः ।
सर्वे ह्यतिबलाः शूराः सर्वे पर्वतसंनिभाः ॥ १६ ॥

श्रीराम और रावणके निमित्त आत्मत्यागके लिये उद्यत हुए वे समस्त शूरवीर अत्यन्त बलशाली और पर्वतके समान विशालकाय थे ॥ १६ ॥

हरयो राक्षसाश्चैव परस्परजिघांसया ।
तेषां विनर्दतां शब्दः संयुगेऽतितरस्विनाम् ॥ १७ ॥
शुश्रुवे सुमहान् कोपादन्योन्यमभिगर्जताम् ।

वानर तथा राक्षस एक-दूसरेके बधकी इच्छासे वहाँ एकत्र हुए थे। वे युद्धस्थलमें अत्यन्त वेगशाली थे। कोलाहल करते और एक-दूसरेको लक्ष्य करके क्रोधपूर्वक गर्जते थे। उनका महान् शब्द सुदूरतक सुनायी देता था ॥ १७½ ॥

रजश्चारुणवर्णाभं सुभीममभवद् भृशम् ॥ १८ ॥
उद्धूतं हरिरक्षोभिः संरुरोध दिशो दश ।

वानरों और राक्षसोंद्वारा उड़ायी गयी लाल रंगकी धूल बड़ी भयंकर जान पड़ती थी। उसने दसों दिशाओंको आच्छादित कर लिया था ॥ १८½ ॥

अन्योन्यं रजसा तेन कौशेयोद्धतपाण्डुना ॥ १९ ॥
संवृतानि च भूतानि ददृशुर्न रणाजिरे ।

परस्पर उड़ायी हुई वह धूल हिलते हुए रेशमी वस्त्रके समान पाण्डुवर्णकी दिखायी देती थी। उसके द्वारा समराङ्गणमें समस्त प्राणी ढक गये थे। अतः वानर और राक्षस उन्हें देख नहीं पाते थे ॥ १९½ ॥

न ध्वजो न पताका वा चर्म वा तुरगोऽपि वा ॥ २० ॥
आयुधं स्यन्दनो वापि ददृशे तेन रेणुना ।

उस धूलसे आच्छादित होनेके कारण ध्वज, पताका, ढाल, घोड़ा, अस्त्र-शस्त्र अथवा रथ कोई भी वस्तु दिखायी नहीं देती थी ॥ २०½ ॥

शब्दश्च सुमहांस्तेषां नर्दतामभिधावताम् ॥ २१ ॥
श्रूयते तुमुलो युद्धे न रूपाणि चकाशिरे ।

उन गर्जते और दौड़ते हुए प्राणियोंका महाभयंकर शब्द युद्धस्थलमें सबको सुनायी पड़ता था, परंतु उनके रूप नहीं दिखायी देते थे ॥ २१½ ॥

हरीनेव सुसंक्रुद्धा हरयो जघ्नुराहवे ॥ २२ ॥
राक्षसा राक्षसांश्चापि निजघ्नुस्तिमिरे तदा ।

अन्धकारमें आच्छादित युद्धस्थलमें अत्यन्त कुपित हुए वानर वानरोंपर ही प्रहार कर बैठते थे तथा राक्षस राक्षसोंको ही मारने लगते थे ॥ २२½ ॥

ते परांश्च विनिघ्नन्तः स्वांश्च वानरराक्षसाः ॥ २३ ॥
रुधिरार्द्रां तदा चक्रुर्महीं पङ्कानुलेपनाम् ।

अपने तथा शत्रुपक्षके योद्धाओंको मारते हुए वानरों तथा राक्षसोंने उस रणभूमिको रक्तकी धारासे भिगो दिया और वहाँ कीच मचा दी ॥ २३½ ॥

ततस्तु रुधिरौघेण सिक्तं ह्यपगतं रजः ॥ २४ ॥
शरीरशवसंकीर्णा बभूव च वसुंधरा ।

तदनन्तर रक्तके प्रवाहसे सिक्त जानेके कारण वहाँकी धूल बैठ गयी और सारी युद्धभूमि लाशोंसे भर गयी ॥ २४½ ॥

द्रुमशक्तिगदाप्रासैः शिलापरिघतोमरैः ॥ २५ ॥
राक्षसा हरयस्तूर्णं जघ्नुरन्योन्यमोजसा ।

वानर और राक्षस एक-दूसरेपर वृक्ष, शक्ति, गदा, प्रास, शिला, परिघ और तोमर आदिसे बलपूर्वक जल्दी-जल्दी प्रहार करने लगे ॥ २५½ ॥

बाहुभिः परिघाकारैर्युध्यन्तः पर्वतोपमान् ॥ २६ ॥
हरयो भीमकर्माणो राक्षसाञ्जघ्नुराहवे ।

भयंकर कर्म करनेवाले वानर अपनी परिघके समान भुजाओंद्वारा पर्वताकार राक्षसोंके साथ युद्ध करते हुए रणभूमिमें उन्हें मारने लगे ॥ २६½ ॥

राक्षसास्त्वभिसंक्रुद्धाः प्रासतोमरपाणयः ॥ २७ ॥
कपीन् निजघ्निरे तत्र शस्त्रैः परमदारुणैः ।

उधर राक्षसलोग भी अत्यन्त कुपित हो हाथोंमें प्रास और तोमर लिये अत्यन्त भयंकर शस्त्रोंद्वारा वानरोंका वध करने लगे ॥ २७½ ॥

अकम्पनः सुसंक्रुद्धो राक्षसानां चमूपतिः ॥ २८ ॥
संहर्षयति तान् सर्वान् राक्षसान् भीमविक्रमान् ।

उस समय अधिक रोषसे भरा हुआ राक्षस-सेनापति अकम्पन भी भयानक पराक्रम प्रकट करनेवाले उन सभी राक्षसोंका हर्ष बढ़ाने लगा ॥ २८½ ॥

हरयस्त्वपि रक्षांसि महाद्रुममहाश्मभिः ॥ २९ ॥
विदारयन्त्यभिक्रम्य शस्त्राण्याच्छिद्य वीर्यतः ।

वानर भी बलपूर्वक आक्रमण करके राक्षसोंके अस्त्र-शस्त्र छीनकर बड़े-बड़े वृक्षों और शिलाओंद्वारा उन्हें विदीर्ण करने लगे ॥ २९½ ॥

एतस्मिन्नन्तरे वीरा हरयः कुमुदो नलः ॥ ३० ॥
मैन्दश्च द्विविदः क्रुद्धाश्चक्रुर्वेगमनुत्तमम् ।

इसी समय वीर वानर कुमुद, नल, मैन्द और द्विविदने कुपित हो अपना परम उत्तम वेग प्रकट किया ॥ ३०½ ॥

ते तु वृक्षैर्महावीरा राक्षसानां चमूमुखे ॥ ३१ ॥
कदनं सुमहच्चक्रुर्लीलया हरिपुंगवाः ।
ममन्थू राक्षसान् सर्वे नानाप्रहरणैर्भृशम् ॥ ३२ ॥

उन महावीर वानरशिरोमणियोंने युद्धके मुहानेपर वृक्षोंद्वारा खेल-खेलमें ही राक्षसोंका बड़ा भारी संहार किया। उन सबने नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा राक्षसोंको भलीभाँति मथ डाला ॥ ३१-३२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें पचपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशः सर्गः

हनुमान्‌जीके द्वारा अकम्पनका वध

तद् दृष्ट्वा सुमहत् कर्म कृतं वानरसत्तमैः।
क्रोधमाहारयामास युधि तीव्रमकम्पनः॥ १॥

उन वानरशिरोमणियोंद्वारा किये गये उस महान् पराक्रमको देखकर युद्धस्थलमें अकम्पनको बड़ा भारी एवं दुःसह क्रोध हुआ॥ १॥

क्रोधमूर्च्छितरूपस्तु धुन्वन् परमकार्मुकम्।
दृष्ट्वा तु कर्म शत्रूणां सारथिं वाक्यमब्रवीत्॥ २॥

शत्रुओंका कर्म देख रोषसे उसका सारा शरीर व्याप्त हो गया और अपने उत्तम धनुषको हिलाते हुए उसने सारथिसे कहा—॥ २॥

तत्रैव तावत् त्वरितो रथं प्रापय सारथे।
एते च बलिनो घ्नन्ति सुबहून् राक्षसान् रणे॥ ३॥

'सारथे! ये बलवान् वानर युद्धमें बहुतेरे राक्षसोंका वध कर रहे हैं, अतः पहले वहीं शीघ्रतापूर्वक मेरा रथ पहुँचाओ॥ ३॥

एते च बलवन्तो वा भीमकोपाश्च वानराः।
द्रुमशैलप्रहरणास्तिष्ठन्ति प्रमुखे मम॥ ४॥

'ये वानर बलवान् तो हैं ही, इनका क्रोध भी बड़ा भयानक है। ये वृक्षों और शिलाओंका प्रहार करते हुए मेरे सामने खड़े हैं॥ ४॥

एतान् निहन्तुमिच्छामि समरश्लाघिनो ह्यहम्।
एतैः प्रमथितं सर्वं रक्षसां दृश्यते बलम्॥ ५॥

'ये युद्धकी स्पृहा रखनेवाले हैं; अतः मैं इन सबका वध करना चाहता हूँ। इन्होंने सारी राक्षससेनाको मथ डाला है। यह साफ दिखायी देता है'॥ ५॥

ततः प्रचलिताश्वेन रथेन रथिनां वरः।
हरीनभ्यपतद् दूराच्छरजालैरकम्पनः॥ ६॥

तदनन्तर तेज चलनेवाले घोड़ोंसे जुते हुए रथके द्वारा रथियोंमें श्रेष्ठ अकम्पन दूरसे ही बाणसमूहोंकी वर्षा करता हुआ उन वानरोंपर टूट पड़ा॥ ६॥

न स्थातुं वानराः शेकुः किं पुनर्योद्धुमाहवे।
अकम्पनशरैर्भग्नाः सर्व एवाभिदुद्रुवुः॥ ७॥

अकम्पनके बाणोंसे घायल हो सभी वानर भाग चले। वे युद्धस्थलमें खड़े भी न रह सके; फिर युद्ध करनेकी तो बात ही क्या है?॥ ७॥

तान् मृत्युवशमापन्नानकम्पनशरानुगान्।
समीक्ष्य हनुमाञ्ज्ञातीनुपतस्थे महाबलः॥ ८॥

अकम्पनके बाण वानरोंके पीछे लगे थे और वे मृत्युके अधीन होते जाते थे। अपने जाति-भाइयोंकी यह दशा देखकर महाबली हनुमान्‌जी अकम्पनके पास आये॥ ८॥

तं महाप्लवगं दृष्ट्वा सर्वे ते प्लवगर्षभाः।
समेत्य समरे वीराः संहृष्टाः पर्यवारयन्॥ ९॥

महाकपि हनुमान्‌जीको आया देख वे समस्त वीर वानर-शिरोमणि एकत्र हो हर्षपूर्वक उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये॥ ९॥

व्यवस्थितं हनूमन्तं ते दृष्ट्वा प्लवगर्षभाः।
बभूवुर्बलवन्तो हि बलवन्तमुपाश्रिताः॥ १०॥

हनुमान्‌जीको युद्धके लिये डटा हुआ देख वे सभी श्रेष्ठ वानर उन बलवान् वीरका आश्रय ले स्वयं भी बलवान् हो गये॥ १०॥

अकम्पनस्तु शैलाभं हनूमन्तमवस्थितम्।
महेन्द्र इव धाराभिः शरैरभिववर्ष ह॥ ११॥

पर्वतके समान विशालकाय हनुमान्‌जीको अपने सामने उपस्थित देख अकम्पन उनपर बाणोंकी फिर वर्षा करने लगा, मानो देवराज इन्द्र जलकी धारा बरसा रहे हों॥ ११॥

अचिन्तयित्वा बाणौघाञ्छरीरे पातितान् कपिः।
अकम्पनवधार्थाय मनो दध्रे महाबलः॥ १२॥

अपने शरीरपर गिराये गये उन बाण-समूहोंकी परवा न करके महाबली हनुमान्‌ने अकम्पनको मार डालनेका विचार किया॥ १२॥

स प्रहस्य महातेजा हनूमान् मारुतात्मजः।
अभिदुद्राव तद्रक्षः कम्पयन्निव मेदिनीम्॥ १३॥

फिर तो महातेजस्वी पवनकुमार हनुमान् महान् अट्टहास करके पृथ्वीको कँपाते हुए-से उस राक्षसकी ओर दौड़े॥ १३॥

तस्याथ नर्दमानस्य दीप्यमानस्य तेजसा।
बभूव रूपं दुर्धर्षं दीप्तस्येव विभावसोः॥ १४॥

उस समय वहाँ गर्जते और तेजसे देदीप्यमान होते हुए हनुमान्‌जीका रूप प्रज्वलित अग्निके समान दुर्धर्ष हो गया था॥ १४॥

आत्मानं त्वप्रहरणं ज्ञात्वा क्रोधसमन्वितः।
शैलमुत्पाटयामास वेगेन हरिपुङ्गवः॥ १५॥

अपने हाथमें कोई हथियार नहीं है, यह जानकर क्रोधसे भरे हुए वानरशिरोमणि हनुमान्‌ने बड़े वेगसे पर्वत उखाड़ लिया॥ १५॥

गृहीत्वा सुमहाशैलं पाणिनैकेन मारुतिः।
स विनद्य महानादं भ्रामयामास वीर्यवान्॥ १६॥

उस महान् पर्वतको एक ही हाथसे लेकर पराक्रमी पवनकुमार बड़े जोर-जोरसे गर्जना करते हुए उसे घुमाने लगे॥ १६॥

ततस्तमभिदुद्राव राक्षसेन्द्रमकम्पनम्।
पुरा हि नमुचिं संख्ये वज्रेणेव पुरंदरः॥ १७॥

फिर उन्होंने राक्षसराज अकम्पनपर धावा किया, ठीक उसी तरह, जैसे पूर्वकालमें देवेन्द्रने वज्र लेकर युद्धस्थलमें नमुचिपर आक्रमण किया था॥ १७॥

अकम्पनस्तु तद् दृष्ट्वा गिरिशृङ्गं समुद्यतम्।
दूरादेव महाबाणैरर्धचन्द्रैर्व्यदारयत्॥ १८॥

अकम्पनने उस उठे हुए पर्वतशिखरको देख अर्धचन्द्राकार विशाल बाणोंके द्वारा उसे दूरसे ही विदीर्ण कर दिया॥ १८॥

तं पर्वताग्रमाकाशे रक्षोबाणविदारितम्।
विकीर्णं पतितं दृष्ट्वा हनूमान् क्रोधमूर्च्छितः॥ १९॥

उस राक्षसके बाणसे विदीर्ण हो वह पर्वतशिखर आकाशमें ही बिखरकर गिर पड़ा। यह देख हनुमान्‌जीके क्रोधकी सीमा न रही॥ १९॥

सोऽश्वकर्णं समासाद्य रोषदर्पान्वितो हरिः।
तूर्णमुत्पाटयामास महागिरिमिवोच्छ्रितम्॥ २०॥

फिर रोष और दर्पसे उन वानरवीरने महान् पर्वतके समान ऊँचे अश्वकर्ण नामक वृक्षके पास जाकर उसे शीघ्रतापूर्वक उखाड़ लिया॥ २०॥

तं गृहीत्वा महास्कन्धं सोऽश्वकर्णं महाद्युतिः।
प्रगृह्य परया प्रीत्या भ्रामयामास संयुगे॥ २१॥

विशाल तनेवाले उस अश्वकर्णको हाथमें लेकर महातेजस्वी हनुमान्‌ने बड़ी प्रसन्नताके साथ उसे युद्धभूमिमें घुमाना आरम्भ किया॥ २१॥

प्रधावन्नुरुवेगेन बभञ्ज तरसा द्रुमान्।
हनुमान् परमक्रुद्धश्चरणैर्दारयन् महीम्॥ २२॥

प्रचण्ड क्रोधसे भरे हुए हनुमान्‌ने बड़े वेगसे दौड़कर कितने ही वृक्षोंको तोड़ डाला और पैरोंकी धमकसे वे पृथ्वीको भी विदीर्ण-सी करने लगे॥ २२॥

गजांश्च सगजारोहान् सरथान् रथिनस्तथा।
जघान हनुमान् धीमान् राक्षसांश्च पदातिगान्॥ २३॥

सवारोंसहित हाथियों, रथोंसहित रथियों तथा पैदल राक्षसोंको भी बुद्धिमान् हनुमान्‌जी मौतके घाट उतारने लगे॥ २३॥

तमन्तकमिव क्रुद्धं सद्रुमं प्राणहारिणम्।
हनूमन्तमभिप्रेक्ष्य राक्षसा विप्रदुद्रुवुः॥ २४॥

क्रोधसे भरे हुए यमराजकी भाँति वृक्ष हाथमें लिये प्राणहारी हनुमान्‌को देख राक्षस भागने लगे॥ २४॥

तमापतन्तं संक्रुद्धं राक्षसानां भयावहम्।
ददर्शाकम्पनो वीरश्चुक्षोभ च ननाद च॥ २५॥

राक्षसोंको भय देनेवाले हनुमान् अत्यन्त कुपित होकर शत्रुओंपर आक्रमण कर रहे थे। उस समय वीर अकम्पनने उन्हें देखा। देखते ही वह क्षोभसे भर गया और जोर-जोरसे गर्जना करने लगा॥ २५॥

स चतुर्दशभिर्बाणैर्निशितैर्देहदारणैः।
निर्बिभेद महावीर्यं हनूमन्तमकम्पनः॥ २६॥

अकम्पनने देहको विदीर्ण कर देनेवाले चौदह पैने बाण मारकर महापराक्रमी हनुमान्‌को घायल कर दिया॥ २६॥

स तथा विप्रकीर्णस्तु नाराचैः शितशक्तिभिः।
हनुमान् ददृशे वीरः प्ररूढ इव सानुमान्॥ २७॥

इस प्रकार नाराचों और तीखी शक्तियोंसे छिदे हुए वीर हनुमान् उस समय वृक्षोंसे व्याप्त पर्वतके समान दिखायी देते थे॥ २७॥

विरराज महावीर्यो महाकायो महाबलः।
पुष्पिताशोकसंकाशो विधूम इव पावकः॥ २८॥

उनका सारा शरीर रक्तसे रँग गया था, इसलिये वे महापराक्रमी महाबली और महाकाय हनुमान् खिले हुए अशोक एवं धूमरहित अग्निके समान शोभा पा रहे थे॥ २८॥

ततोऽन्यं वृक्षमुत्पाट्य कृत्वा वेगमनुत्तमम्।
शिरस्याभिजघानाशु राक्षसेन्द्रमकम्पनम्॥ २९॥

तदनन्तर महान् वेग प्रकट करके हनुमान्‌जीने एक दूसरा वृक्ष उखाड़ लिया और तुरंत ही उसे राक्षसराज अकम्पनके सिरपर दे मारा॥ २९॥

स वृक्षेण हतस्तेन सक्रोधेन महात्मना।
राक्षसो वानरेन्द्रेण पपात च ममार च॥ ३०॥

क्रोधसे भरे वानरश्रेष्ठ महात्मा हनुमान्‌के चलाये हुए उस वृक्षकी गहरी चोट खाकर राक्षस अकम्पन पृथ्वीपर गिरा और मर गया॥ ३०॥

तं दृष्ट्वा निहतं भूमौ राक्षसेन्द्रमकम्पनम्।
व्यथिता राक्षसाः सर्वे क्षितिकम्प इव द्रुमाः॥ ३१॥

जैसे भूकम्प आनेपर सारे वृक्ष काँपने लगते हैं, उसी प्रकार राक्षसराज अकम्पनको रणभूमिमें मारा गया देख समस्त राक्षस व्यथित हो उठे॥ ३१॥

त्यक्तप्रहरणाः सर्वे राक्षसास्ते पराजिताः।
लङ्कामभिययुस्त्रासाद् वानरैस्तैरभिद्रुताः॥ ३२॥

वानरोंके खदेड़नेपर वहाँ परास्त हुए वे सब राक्षस अपने अस्त्र-शस्त्र फेंककर डरके मारे लङ्कामें भाग गये॥ ३२॥

ते मुक्तकेशाः सम्भ्रान्ता भग्नमानाः पराजिताः।
भयाच्छ्रमजलैरङ्गैः प्रस्रवद्भिर्विदुद्रुवुः॥ ३३॥

उनके केश खुले हुए थे। वे घबरा गये थे और पराजित होनेसे उनका घमंड चूर-चूर हो गया था। भयके कारण उनके अङ्गोंसे पसीने चू रहे थे और इसी अवस्थामें वे भाग रहे थे॥ ३३॥

अन्योन्यं ये प्रमथ्नन्तो विविशुर्नगरं भयात्।
पृष्ठतस्ते तु सम्मूढाः प्रेक्षमाणा मुहुर्मुहुः॥ ३४॥

भयके कारण एक-दूसरेको कुचलते हुए वे भागकर लङ्कापुरीमें घुस गये। भागते समय वे बारंबार पीछे घूम-घूमकर देखते रहते थे ॥ ३४ ॥

तेषु लङ्कां प्रविष्टेषु राक्षसेषु महाबलाः ।
समेत्य हरयः सर्वे हनूमन्तमपूजयन् ॥ ३५ ॥

उन राक्षसोंके लङ्कामें घुस जानेपर समस्त महाबली वानरोंने एकत्र हो वहाँ हनुमान्‌जीका अभिनन्दन किया ॥ ३५ ॥

सोऽपि प्रवृद्धस्तान् सर्वान् हरीन् सम्प्रत्यपूजयत् ।
हनूमान् सत्त्वसम्पन्नो यथार्हमनुकूलतः ॥ ३६ ॥

उन शक्तिशाली हनुमान्‌जीने भी उत्साहित हो यथायोग्य अनुकूल बर्ताव करते हुए उन समस्त वानरोंका समादर किया ॥ ३६ ॥

विनेदुश्च यथाप्राणं हरयो जितकाशिनः ।
चकृषुश्च पुनस्तत्र सप्राणानेव राक्षसान् ॥ ३७ ॥

तत्पश्चात् विजयोल्लाससे सुशोभित होनेवाले वानरोंने पूरा बल लगाकर उच्च स्वरसे गर्जना की और वहाँ जीवित राक्षसोंको ही पकड़-पकड़कर घसीटना आरम्भ किया ॥ ३७ ॥

स वीरशोभामभजन्महाकपिः
समेत्य रक्षांसि निहत्य मारुतिः ।
महासुरं भीममममित्रनाशनं
विष्णुर्यथैवोरुबलं चमूमुखे ॥ ३८ ॥

जैसे भगवान् विष्णुने शत्रुनाशन, महाबली, भयंकर एवं महान् असुर मधुकैटभ आदिका वध करके वीर-शोभा (विजयलक्ष्मी) का वरण किया था, उसी प्रकार महाकपि हनुमान्‌ने राक्षसोंके पास पहुँचकर उन्हें मौतके घाट उतार वीरोचित शोभाको धारण किया ॥ ३८ ॥

अपूजयन् देवगणास्तदाकपिं
स्वयं च रामोऽतिबलश्च लक्ष्मणः ।
तथैव सुग्रीवमुखाः प्लवंगमा
विभीषणश्चैव महाबलस्तदा ॥ ३९ ॥

उस समय देवता, महाबली श्रीराम, लक्ष्मण, सुग्रीव आदि वानर तथा अत्यन्त बलशाली विभीषणने भी कपिवर हनुमान्‌जीका यथोचित सत्कार किया ॥ ३९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे षट्पञ्चाशः सर्गः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें छप्पनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

—★—

सप्तपञ्चाशः सर्गः

प्रहस्तका रावणकी आज्ञासे विशाल सेनासहित युद्धके लिये प्रस्थान

अकम्पनवधं श्रुत्वा क्रुद्धो वै राक्षसेश्वरः ।
किंचिद् दीनमुखश्चापि सचिवांस्तानुदैक्षत ॥ १ ॥

अकम्पनके वधका समाचार पाकर राक्षसराज रावणको बड़ा क्रोध हुआ। उसके मुखपर कुछ दीनता छा गयी और वह मन्त्रियोंकी ओर देखने लगा ॥ १ ॥

स तु ध्यात्वा मुहूर्तं तु मन्त्रिभिः संविचार्य च ।
ततस्तु रावणः पूर्वदिवसे राक्षसाधिपः ।
पुरीं परिययौ लङ्कां सर्वान् गुल्मानवेक्षितुम् ॥ २ ॥

पहले तो दो घड़ीतक वह कुछ सोचता रहा। फिर उसने मन्त्रियोंके साथ विचार किया और उसके बाद दिनके पूर्वभागमें राक्षसराज रावण स्वयं लङ्काके सब मोर्चोंका निरीक्षण करनेके लिये गया ॥ २ ॥

तां राक्षसगणैर्गुप्तां गुल्मैर्बहुभिरावृताम् ।
ददर्श नगरीं राजा पताकाध्वजमालिनीम् ॥ ३ ॥

राक्षसगणोंसे सुरक्षित और बहुत-सी छावनियोंसे घिरी हुई ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित उस नगरीको राजा रावणने अच्छी तरह देखा ॥ ३ ॥

रुद्धां तु नगरीं दृष्ट्वा रावणो राक्षसेश्वरः ।
उवाचात्महितं काले प्रहस्तं युद्धकोविदम् ॥ ४ ॥

लङ्कापुरी चारों ओरसे शत्रुओंद्वारा घेर ली गयी थी। यह देखकर राक्षसराज रावणने अपने हितैषी युद्धकलाकोविद प्रहस्तसे यह समयोचित बात कही— ॥ ४ ॥

पुरस्योपनिविष्टस्य सहसा पीडितस्य ह ।
नान्ययुद्धात् प्रपश्यामि मोक्षं युद्धविशारद ॥ ५ ॥

'युद्धविशारद वीर! नगरके अत्यन्त निकट शत्रुओंकी सेना छावनी डाले पड़ी है, इसीलिये सारा नगर सहसा व्यथित हो उठा है। अब मैं दूसरे किसीके युद्ध करनेसे इसका छुटकारा होता नहीं देखता हूँ ॥ ५ ॥

अहं वा कुम्भकर्णो वा त्वं वा सेनापतिर्मम ।
इन्द्रजिद् वा निकुम्भो वा वहेयुर्भारमीदृशम् ॥ ६ ॥

'अब तो इस तरहके युद्धका भार मैं, कुम्भकर्ण, मेरे सेनापति तुम, बेटा इन्द्रजित् अथवा निकुम्भ ही उठा सकते हैं ॥ ६ ॥

स त्वं बलमतः शीघ्रमादाय परिगृह्य च ।
विजयायाभिनिर्याहि यत्र सर्वे वनौकसः ॥ ७ ॥

'अतः तुम शीघ्र ही सेना लेकर विजयके लिये प्रस्थान करो और जहाँ ये सब वानर जुटे हुए हैं, वहाँ जाओ ॥ ७ ॥

निर्याणादेव तूर्णं च चलिता हरिवाहिनी ।
नर्दतां राक्षसेन्द्राणां श्रुत्वा नादं द्रविष्यति ॥ ८ ॥

'तुम्हारे निकलते ही सारी वानरसेना तुरंत विचलित हो उठेगी और गर्जते हुए राक्षसशिरोमणियोंका सिंहनाद सुनकर भाग खड़ी होगी॥ ८॥

चपला ह्यविनीताश्च चलचित्ताश्च वानराः।
न सहिष्यन्ति ते नादं सिंहनादमिव द्विपाः॥ ९॥

'वानरलोग बड़े चञ्चल, ढीठ और डरपोक होते हैं, जैसे हाथी सिंहकी गर्जना नहीं सह सकते, उसी प्रकार वे वानर तुम्हारा सिंहनाद नहीं सह सकेंगे॥ ९॥

विद्रुते च बले तस्मिन् रामः सौमित्रिणा सह।
अवशस्ते निरालम्बः प्रहस्त वशमेष्यति॥ १०॥

'प्रहस्त! जब वानरसेना भाग जायगी, तब कोई सहारा न रहनेके कारण लक्ष्मणसहित श्रीराम विवश होकर तुम्हारे अधीन हो जायँगे॥ १०॥

आपत्संशयिता श्रेयो नात्र निःसंशयीकृता।
प्रतिलोमानुलोमं वा यत् तु नो मन्यसे हितम्॥ ११॥

'युद्धमें मृत्यु संदिग्ध होती है, हो भी सकती है और न भी हो। किंतु ऐसी मृत्यु ही श्रेष्ठ है। (इसके विपरीत) जीवनको बिना संशय (जोखिम) में डाले (बिना युद्धस्थलके) जो मृत्यु होती है, वह श्रेष्ठ नहीं होती (ऐसा मेरा विचार है)। इसके अनुकूल या प्रतिकूल जो कुछ तुम हमारे लिये हितकर समझते हो, उसे बताओ'॥ ११॥

रावणेनैवमुक्तस्तु प्रहस्तो वाहिनीपतिः।
राक्षसेन्द्रमुवाचेदमसुरेन्द्रमिवोशना॥ १२॥

रावणके ऐसा कहनेपर सेनापति प्रहस्तने उस राक्षसराजके समक्ष उसी तरह अपना विचार व्यक्त किया, जैसे शुक्राचार्य असुरराज बलिको अपनी सलाह दिया करते हैं॥ १२॥

राजन् मन्त्रितपूर्वं नः कुशलैः सह मन्त्रिभिः।
विवादश्चापि नो वृत्तः समवेक्ष्य परस्परम्॥ १३॥

(उसने कहा—) 'राजन्! हमलोगोंने कुशल मन्त्रियोंके साथ पहले भी इस विषयपर विचार किया है। उन दिनों एक-दूसरेके मतकी आलोचना करके हमलोगोंमें विवाद भी खड़ा हो गया था (हमलोग सर्वसम्मतिसे किसी एक निर्णयपर नहीं पहुँच सके थे)॥ १३॥

प्रदानेन तु सीतायाः श्रेयो व्यवसितं मया।
अप्रदाने पुनर्युद्धं दृष्टमेव तथैव नः॥ १४॥

'मेरा पहलेसे ही यह निश्चय रहा है कि सीताजीको लौटा देनेसे ही हमलोगोंका कल्याण होगा और न लौटानेपर युद्ध अवश्य होगा। उस निश्चयके अनुसार ही हमें आज यह युद्धका संकट दिखायी दिया है॥ १४॥

सोऽहं दानैश्च मानैश्च सततं पूजितस्त्वया।
सान्त्वैश्च विविधैः काले किं न कुर्यां हितं तव॥ १५॥

'परंतु आपने दान, मान और विविध सान्त्वनाओंके द्वारा समय-समयपर सदा ही मेरा सत्कार किया है। फिर मैं आपका हितसाधन क्यों नहीं करूँगा? (अथवा आपके हितके लिये कौन-सा कार्य नहीं कर सकूँगा)॥ १५॥

नहि मे जीवितं रक्ष्यं पुत्रदारधनानि च।
त्वं पश्य मां जुहूषन्तं त्वदर्थे जीवितं युधि॥ १६॥

'मुझे अपने जीवन, स्त्री, पुत्र और धन आदिकी रक्षा नहीं करनी है—इनकी रक्षाके लिये मुझे कोई चिन्ता नहीं। आप देखिये कि मैं किस तरह आपके लिये युद्धकी ज्वालामें अपने जीवनकी आहुति देता हूँ'॥ १६॥

एवमुक्त्वा तु भर्तारं रावणं वाहिनीपतिः।
उवाचेदं बलाध्यक्षान् प्रहस्तः पुरतः स्थितान्॥ १७॥

अपने स्वामी रावणसे ऐसा कहकर प्रधान सेनापति प्रहस्तने अपने सामने खड़े हुए सेनाध्यक्षोंसे इस प्रकार कहा—॥ १७॥

समानयत मे शीघ्रं राक्षसानां महाबलम्।
मद्बाणानां तु वेगेन हतानां च रणाजिरे॥ १८॥
अद्य तृप्यन्तु मांसादाः पक्षिणः काननौकसाम्।

'तुमलोग शीघ्र मेरे पास राक्षसोंकी विशाल सेना ले आओ। आज मांसाहारी पक्षी समराङ्गणमें मेरे बाणोंके वेगसे मारे गये वानरोंके मांस खाकर तृप्त हो जायँ'॥१८½॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा बलाध्यक्षा महाबलाः॥ १९॥
बलमुद्योजयामासुस्तस्मिन् राक्षसमन्दिरे।

प्रहस्तकी यह बात सुनकर महाबली सेनाध्यक्षोंने रावणके उस महलके पास विशाल सेनाको युद्धके लिये तैयार किया॥१९½॥

सा बभूव मुहूर्तेन भीमैर्नानाविधायुधैः॥ २०॥
लङ्का राक्षसवीरैस्तैर्गजैरिव समाकुला।

दो ही घड़ीमें नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लिये हाथी-जैसे भयानक राक्षसवीरोंसे लङ्कापुरी भर गयी॥२०½॥

हुताशनं तर्पयतां ब्राह्मणांश्च नमस्यताम्॥ २१॥
आज्यगन्धप्रतिवहः सुरभिर्मारुतो ववौ।

कितने ही राक्षस घीकी आहुति देकर अग्निदेवको तृप्त करने लगे और ब्राह्मणोंको नमस्कार करके आशीर्वाद लेने लगे। उस समय घीकी गन्ध लेकर सुगन्धित वायु सब ओर बहने लगी॥२१½॥

स्रजश्च विविधाकारा जगृहुस्त्वभिमन्त्रिताः॥ २२॥
संग्रामसज्जाः संहृष्टा धारयन् राक्षसास्तदा।

राक्षसोंने मन्त्रोंद्वारा अभिमन्त्रित नाना प्रकारकी मालाएँ ग्रहण कीं और हर्ष एवं उत्साहसे युक्त हो युद्धोपयोगी वेश-भूषा धारण की॥२२½॥

सधनुष्काः कवचिनो वेगादाप्लुत्य राक्षसाः॥ २३॥
रावणं प्रेक्ष्य राजानं प्रहस्तं पर्यवारयन्।

धनुष और कवच धारण किये राक्षस वेगसे उछलकर आगे बढ़े और राजा रावणका दर्शन करते हुए प्रहस्तको चारों

ओरसे घेरकर खड़े हो गये ॥२३½॥

अथामन्त्र्य तु राजानं भेरीमाहत्य भैरवाम् ॥ २४ ॥
आरुरोह रथं युक्तः प्रहस्तः सज्जकल्पितम् ।

तदनन्तर राजाकी आज्ञा ले भयंकर भेरी बजवाकर कवच आदि धारण करके युद्धके लिये उद्यत हुआ प्रहस्त अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित रथपर आरूढ़ हुआ ॥२४½॥

हयैर्महाजवैर्युक्तं सम्यक्सूतं सुसंयतम् ॥ २५ ॥
महाजलदनिर्घोषं साक्षाच्चन्द्रार्कभास्वरम् ।

प्रहस्तके उस रथमें बड़े वेगशाली घोड़े जुते हुए थे, उसका सारथि भी अपने कार्यमें कुशल था। वह रथ पूर्णतः सारथिके नियन्त्रणमें था। उसके चलनेपर महान् मेघोंकी गर्जनाके समान घर्घर-ध्वनि होती थी। वह रथ साक्षात् चन्द्रमा और सूर्यके समान प्रकाशमान था ॥२५½॥

उरगध्वजदुर्धर्षं सुवरूथं स्वपस्करम् ॥ २६ ॥
सुवर्णजालसंयुक्तं प्रहसन्तमिव श्रिया ।

सर्पाकार या सर्पचिह्नित ध्वजके कारण वह दुर्धर्ष प्रतीत होता था। उस रथकी रक्षाके लिये जो कवच था, वह बहुत ही सुन्दर दिखायी देता था। उसके सारे अङ्ग सुन्दर थे और उसमें अच्छी-अच्छी सामग्रियाँ रखी गयी थीं। उस रथमें सोनेकी जाली लगी थी। वह अपनी कान्तिसे हँसता-सा प्रतीत होता था (अथवा दूसरे कान्तिमान् पदार्थोंका उपहास-सा कर रहा था) ॥२६½॥

ततस्तं रथमास्थाय रावणार्पितशासनः ॥ २७ ॥
लङ्काया निर्ययौ तूर्णं बलेन महता वृतः ।

उस रथपर बैठकर रावणकी आज्ञा शिरोधार्य करके विशाल सेनासे घिरा हुआ प्रहस्त तुरंत लङ्कासे बाहर निकला ॥२७½॥

ततो दुन्दुभिनिर्घोषः पर्जन्यनिनदोपमः ।
वादित्राणां च निनदः पूरयन्निव मेदिनीम् ॥ २८ ॥

उसके निकलते ही मेघकी गम्भीर गर्जनाके समान धौंसा बजने लगा। अन्य रणवाद्योंका निनाद भी पृथ्वीको परिपूर्ण करता-सा प्रतीत होने लगा ॥ २८ ॥

शुश्रुवे शङ्खशब्दश्च प्रयाते वाहिनीपतौ ।
निनदन्तः स्वरान् घोरान् राक्षसा जग्मुरग्रतः ॥ २९ ॥
भीमरूपा महाकायाः प्रहस्तस्य पुरःसराः ।

सेनापतिके प्रस्थानकालमें शङ्खोंकी ध्वनि भी सुनायी देने लगी। प्रहस्तके आगे चलनेवाले भयानक रूपधारी विशालकाय राक्षस भयंकर स्वरसे गर्जना करते हुए आगे बढ़े ॥२९½॥

नरान्तकः कुम्भहनुर्महानादः समुन्नतः ।
प्रहस्तसचिवा ह्येते निर्ययुः परिवार्य तम् ॥ ३० ॥

नरान्तक, कुम्भहनु, महानाद और समुन्नत—ये प्रहस्तके चारों सचिव उसे चारों ओरसे घेरकर निकले ॥ ३० ॥

व्यूढेनैव सुघोरेण पूर्वद्वारात् स निर्ययौ ।
गजयूथनिकाशेन बलेन महता वृतः ॥ ३१ ॥

प्रहस्तकी वह विशाल सेना हाथियोंके समूह-सी अत्यन्त भयंकर जान पड़ती थी। उसकी व्यूह-रचना हो चुकी थी। उस व्यूहबद्ध सेनाके साथ ही प्रहस्त लङ्काके पूर्वद्वारसे निकला ॥ ३१ ॥

सागरप्रतिमौघेन वृतस्तेन बलेन सः ।
प्रहस्तो निर्ययौ क्रुद्धः कालान्तकयमोपमः ॥ ३२ ॥

समुद्रके समान उस अपार सेनाके साथ जब प्रहस्त बाहर निकला, उस समय वह क्रोधसे भरे हुए प्रलयकालके संहारकारी यमराजके समान जान पड़ता था ॥ ३२ ॥

तस्य निर्याणघोषेण राक्षसानां च नर्दताम् ।
लङ्कायां सर्वभूतानि विनेदुर्विकृतैः स्वरैः ॥ ३३ ॥

उसके प्रस्थान करते समय जो भेरी आदि बाजों और गर्जते हुए राक्षसोंका गम्भीर घोष हुआ, उससे भयभीत हो लङ्काके सब प्राणी विकृत स्वरमें चीत्कार करने लगे ॥ ३३ ॥

व्यभ्रमाकाशमाविश्य मांसशोणितभोजनाः ।
मण्डलान्यपसव्यानि खगाश्चक्रू रथं प्रति ॥ ३४ ॥

उस समय बिना बादलके आकाशमें उड़कर रक्त-मांसका भोजन करनेवाले पक्षी मण्डल बनाकर प्रहस्तके रथकी दक्षिणावर्त परिक्रमा करने लगे ॥ ३४ ॥

वमन्त्यः पावकज्वालाः शिवा घोरा ववाशिरे ।
अन्तरिक्षात् पपातोल्का वायुश्च परुषं ववौ ॥ ३५ ॥

भयानक गीदड़ियाँ मुँहसे आगकी ज्वाला उगलती हुई अशुभसूचक बोली बोलने लगीं। आकाशसे उल्कापात होने लगा और प्रचण्ड वायु चलने लगी ॥ ३५ ॥

अन्योन्यमभिसंरब्धा ग्रहाश्च न चकाशिरे ।
मेघाश्च खरनिर्घोषा रथस्योपरि रक्षसः ॥ ३६ ॥
ववर्षू रुधिरं चास्य सिषिचुश्च पुरःसरान् ।
केतुमूर्धनि गृध्रस्तु विलीनो दक्षिणामुखः ॥ ३७ ॥
नदन्नुभयतः पार्श्वं समग्रां श्रियमाहरत् ।

ग्रह रोषपूर्वक आपसमें युद्ध करने लगे, जिससे उनका प्रकाश मन्द पड़ गया तथा मेघ उस राक्षसके रथके ऊपर गधोंकी-सी आवाजमें गर्जना करने लगे, रक्त बरसाने लगे और आगे चलनेवाले सैनिकोंको सींचने लगे। उसके ध्वजके ऊपर गीध दक्षिणकी ओर मुँह करके आ बैठा। उसने दोनों ओर अपनी अशुभ बोली बोलकर उस राक्षसकी सारी शोभा-सम्पत्ति हर ली ॥३६-३७½॥

सारथेर्बहुशश्चास्य संग्राममवगाहतः ॥ ३८ ॥
प्रतोदो न्यपतद्धस्तात् सूतस्य हयसादिनः ।

संग्रामभूमिमें प्रवेश करते समय घोड़ेको काबूमें रखनेवाले उसके सारथिके हाथसे कई बार चाबुक गिर पड़ा ॥३८½॥

निर्याणश्रीश्च या च स्याद् भास्वरा च सुदुर्लभा ॥ ३९ ॥
सा ननाश मुहूर्तेन समे च स्खलिता हयाः ।

युद्धके लिये निकलते समय प्रहस्तको जो परम दुर्लभ और प्रकाशमान शोभा थी, वह दो ही घड़ीमें नष्ट हो गयी। उसके घोड़े समतल भूमिमें भी लड़खड़ाकर गिर पड़े ॥ ३९½ ॥

प्रहस्तं तं हि निर्यान्तं प्रख्यातगुणपौरुषम् ।
युधि नानाप्रहरणा कपिसेनाभ्यवर्तत ॥ ४० ॥

जिसके गुण और पौरुष विख्यात थे, वह प्रहस्त ज्यों ही युद्धभूमिमें उपस्थित हुआ, त्यों ही शिला, वृक्ष आदि नाना प्रकारके प्रहार-साधनोंसे सम्पन्न वानरसेना उसका सामना करनेके लिये आ गयी ॥ ४० ॥

अथ घोषः सुतुमुलो हरीणां समजायत ।
वृक्षानारुजतां चैव गुर्वीर्वै गृह्णतां शिलाः ॥ ४१ ॥

तदनन्तर वृक्षोंको तोड़ने और भारी शिलाओंको उठाते हुए वानरोंका अत्यन्त भयंकर कोलाहल वहाँ सब ओर छा गया ॥ ४१ ॥

नदतां राक्षसानां च वानराणां च गर्जताम् ।
उभे प्रमुदिते सैन्ये रक्षोगणवनौकसाम् ॥ ४२ ॥

एक ओर राक्षस सिंहनाद कर रहे थे तो दूसरी ओर वानर गरज रहे थे। उन सबका तुमुल नाद वहाँ फैल गया। राक्षसों और वानरोंकी वे दोनों सेनाएँ हर्ष और उल्लाससे भरी थीं ॥ ४२ ॥

वेगितानां समर्थानामन्योन्यवधकाङ्क्षिणाम् ।
परस्परं चाह्वयतां निनादः श्रूयते महान् ॥ ४३ ॥

अत्यन्त वेगशाली, समर्थ तथा एक-दूसरेके वधकी इच्छावाले योद्धा परस्पर ललकार रहे थे। उनका महान् कोलाहल सबको सुनायी देता था ॥ ४३ ॥

ततः प्रहस्तः कपिराजवाहिनी-
मभिप्रतस्थे विजयाय दुर्मतिः ।
विवृद्धवेगां च विवेश तां चमूं
यथा मुमूर्षुः शलभो विभावसुम् ॥ ४४ ॥

इसी समय दुर्बुद्धि प्रहस्त विजयकी अभिलाषासे वानरराज सुग्रीवकी सेनाकी ओर बढ़ा और जैसे पतंग मरनेके लिये आगपर टूट पड़ता है, उसी प्रकार वह बढ़े हुए वेगशाली उस वानरसेनामें घुसनेकी चेष्टा करने लगा ॥ ४४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें सत्तावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

—★—

अष्टपञ्चाशः सर्गः

नीलके द्वारा प्रहस्तका वध

ततः प्रहस्तं निर्यान्तं दृष्ट्वा रणकृतोद्यमम् ।
उवाच सस्मितं रामो विभीषणमरिंदमः ॥ १ ॥

(इसके पूर्व) प्रहस्तको युद्धकी तैयारी करके लङ्कासे बाहर निकलते देख शत्रुसूदन श्रीरामचन्द्रजीने विभीषणसे मुसकराकर कहा— ॥ १ ॥

क एष सुमहाकायो बलेन महता वृतः ।
आगच्छति महावेगः किंरूपबलपौरुषः ॥ २ ॥
आचक्ष्व मे महाबाहो वीर्यवन्तं निशाचरम् ।

'महाबाहो! यह बड़े शरीर और महान् वेगवाला तथा बड़ी भारी सेनासे घिरा हुआ कौन योद्धा आ रहा है? इसका रूप, बल और पौरुष कैसा है? इस पराक्रमी निशाचरका मुझे परिचय दो' ॥ २½ ॥

राघवस्य वचः श्रुत्वा प्रत्युवाच विभीषणः ॥ ३ ॥
एष सेनापतिस्तस्य प्रहस्तो नाम राक्षसः ।
लङ्कायां राक्षसेन्द्रस्य त्रिभागबलसंवृतः ।
वीर्यवानस्त्रविच्छूरः सुप्रख्यातपराक्रमः ॥ ४ ॥

श्रीरघुनाथजीका वचन सुनकर विभीषणने इस प्रकार उत्तर दिया—'प्रभो! इस राक्षसका नाम प्रहस्त है। यह राक्षसराज रावणका सेनापति है और लङ्काकी एक तिहाई सेनासे घिरा हुआ है। इसका पराक्रम भलीभाँति विख्यात है। यह नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञाता, बल-विक्रमसे सम्पन्न और शूरवीर है' ॥ ३-४ ॥

ततः प्रहस्तं निर्यान्तं भीमं भीमपराक्रमम् ।
गर्जन्तं सुमहाकायं राक्षसैरभिसंवृतम् ॥ ५ ॥
ददर्श महती सेना वानराणां बलीयसाम् ।
अभिसंजातघोषाणां प्रहस्तमभिगर्जताम् ॥ ६ ॥

इसी समय महाबलवान् वानरोंकी विशाल सेनाने भी भयानक पराक्रमी, भीषण रूपधारी तथा महाकाय प्रहस्तको बड़े गर्जन-तर्जनके साथ लङ्कासे बाहर निकलते देखा। वह बहुसंख्यक राक्षसोंसे घिरा हुआ था। उसे देखते ही वानरोंके दलमें भी महान् कोलाहल होने लगा और वे प्रहस्तकी ओर देख-देखकर गर्जने लगे ॥ ५-६ ॥

खड्गशक्त्यृष्टिशूलाश्च बाणानि मुसलानि च ।
गदाश्च परिघाः प्रासा विविधाश्च परश्वधाः ॥ ७ ॥

धनूंषि च विचित्राणि राक्षसानां जयैषिणाम् ।
प्रगृहीतान्यराजन्त वानरानभिधावताम् ॥ ८ ॥

विजयकी इच्छावाले राक्षस वानरोंकी ओर दौड़े। उनके हाथोंमें खड्ग, शक्ति, ऋष्टि, शूल, बाण, मूसल, गदा, परिघ, प्रास, नाना प्रकारके फरसे और विचित्र-विचित्र धनुष शोभा पा रहे थे ॥ ७-८ ॥

जगृहुः पादपांश्चापि पुष्पितांस्तु गिरींस्तथा ।
शिलाश्च विपुला दीर्घा योद्धुकामाः प्लवंगमाः ॥ ९ ॥

तब वानरोंने भी युद्धकी इच्छासे खिले हुए वृक्ष, पर्वत तथा बड़े-बड़े पत्थर उठा लिये ॥ ९ ॥

तेषामन्योन्यमासाद्य संग्रामः सुमहानभूत् ।
बहूनामश्मवृष्टिं च शरवर्षं च वर्षताम् ॥ १० ॥

फिर दोनों पक्षोंके बहुसंख्यक वीरोंमें पत्थरों और बाणोंकी वर्षाके साथ-साथ आपसमें बड़ा भारी संग्राम छिड़ गया ॥ १० ॥

बहवो राक्षसा युद्धे बहून् वानरपुङ्गवान् ।
वानरा राक्षसांश्चापि निजघ्नुर्बहवो बहून् ॥ ११ ॥

उस युद्धस्थलमें बहुत-से राक्षसोंने बहुतेरे वानरोंका और बहुसंख्यक वानरोंने बहुत-से राक्षसोंका संहार कर डाला ॥ ११ ॥

शूलैः प्रमथिताः केचित् केचित् तु परमायुधैः ।
परिघैराहताः केचित् केचिच्छिन्नाः परश्वधैः ॥ १२ ॥

वानरोंमेंसे कोई शूलोंसे और कोई चक्रोंसे मथ डाले गये। कितने ही परिघोंकी मारसे आहत हो गये और कितनोंके फरसोंसे टुकड़े-टुकड़े कर डाले गये ॥ १२ ॥

निरुच्छ्वासाः पुनः केचित् पतिता जगतीतले ।
विभिन्नहृदयाः केचिदिषुसंधानसाधिताः ॥ १३ ॥

कितने ही योद्धा साँसरहित हो पृथ्वीपर गिर पड़े और कितने ही बाणोंके लक्ष्य बन गये, जिससे उनके हृदय विदीर्ण हो गये ॥ १३ ॥

केचिद् द्विधा कृताः खड्गैः स्फुरन्तः पतिता भुवि ।
वानरा राक्षसैः शूरैः पार्श्वतश्च विदारिताः ॥ १४ ॥

कितने ही वानर तलवारोंकी मारसे दो टूक होकर पृथ्वीपर गिर पड़े और तड़फड़ाने लगे। कितने ही शूरवीर राक्षसोंने वानरोंकी पसलियाँ फाड़ डालीं ॥ १४ ॥

वानरैश्चापि संक्रुद्धै राक्षसौघाः समन्ततः ।
पादपैर्गिरिशृङ्गैश्च सम्पिष्टा वसुधातले ॥ १५ ॥

इसी तरह वानरोंने भी अत्यन्त कुपित हो वृक्षों और पर्वत-शिखरोंद्वारा सब ओर भूतलपर झुंड-के-झुंड राक्षसोंको पीस डाला ॥ १५ ॥

वज्रस्पर्शतलैर्हस्तैर्मुष्टिभिश्च हता भृशम् ।
वमञ्शोणितमास्येभ्यो विशीर्णदशनेक्षणाः ॥ १६ ॥

वानरोंके वज्रतुल्य कठोर थप्पड़ों और मुक्कोंसे भलीभाँति पीटे गये राक्षस मुँहसे रक्त वमन करने लगे। उनके दाँत और नेत्र छिन्न-भिन्न होकर बिखर गये ॥ १६ ॥

आर्तस्वनं च स्वनतां सिंहनादं च नर्दताम् ।
बभूव तुमुलः शब्दो हरीणां रक्षसामपि ॥ १७ ॥

कोई आर्तनाद करते तो कोई सिंहोंके समान दहाड़ते थे। इस प्रकार वानरों और राक्षसोंका भयंकर कोलाहल वहाँ सब ओर गूँज उठा ॥ १७ ॥

वानरा राक्षसाः क्रुद्धा वीरमार्गमनुव्रताः ।
विवृत्तवदनाः क्रूराश्चक्रुः कर्माण्यभीतवत् ॥ १८ ॥

क्रोधसे भरे हुए वानर और राक्षस वीरोचित मार्गका अनुसरण करके युद्धमें पीठ नहीं दिखाते थे। वे मुँह बा-बाकर निर्भयके समान क्रूरतापूर्ण कर्म करते थे ॥ १८ ॥

नरान्तकः कुम्भहनुर्महानादः समुन्नतः ।
एते प्रहस्तसचिवाः सर्वे जघ्नुर्वनौकसः ॥ १९ ॥

नरान्तक, कुम्भहनु, महानाद और समुन्नत—ये प्रहस्तके सारे सचिव वानरोंका वध करने लगे ॥ १९ ॥

तेषां निपततां शीघ्रं निघ्नतां चापि वानरान् ।
द्विविदो गिरिशृङ्गेण जघानैकं नरान्तकम् ॥ २० ॥

शीघ्रतापूर्वक आक्रमण करते और वानरोंको मारते हुए प्रहस्तके सचिवोंमेंसे एकको, जिसका नाम नरान्तक था, द्विविदने एक पर्वतके शिखरसे मार डाला ॥ २० ॥

दुर्मुखः पुनरुत्थाय कपिः सविपुलद्रुमम् ।
राक्षसं क्षिप्रहस्तं तु समुन्नतमपोथयत् ॥ २१ ॥

फिर दुर्मुखने एक विशाल वृक्ष लिये उठकर शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले राक्षस समुन्नतको कुचल डाला ॥ २१ ॥

जाम्बवांस्तु सुसंक्रुद्धः प्रगृह्य महतीं शिलाम् ।
पातयामास तेजस्वी महानादस्य वक्षसि ॥ २२ ॥

तत्पश्चात् अत्यन्त कुपित हुए तेजस्वी जाम्बवान्ने एक बड़ी भारी शिला उठा ली और उसे महानादकी छातीपर दे मारा ॥ २२ ॥

अथ कुम्भहनुस्तत्र तारेणासाद्य वीर्यवान् ।
वृक्षेण महता सद्यः प्राणान् संत्याजयद् रणे ॥ २३ ॥

बाकी रहा पराक्रमी कुम्भहनु। वह तार नामक वानरसे भिड़ा और अन्तमें एक विशाल वृक्षकी चपेटमें आकर उसे भी रणभूमिमें अपने प्राणोंसे हाथ धोने पड़े ॥ २३ ॥

अमृष्यमाणस्तत्कर्म प्रहस्तो रथमास्थितः ।
चकार कदनं घोरं धनुष्पाणिर्वनौकसाम् ॥ २४ ॥

रथपर बैठे हुए प्रहस्तसे वानरोंका यह अद्भुत पराक्रम नहीं सहा गया। उसने हाथमें धनुष लेकर वानरोंका घोर संहार आरम्भ किया ॥ २४ ॥

आवर्त इव संजज्ञे सेनयोरुभयोस्तदा ।
क्षुभितस्याप्रमेयस्य सागरस्येव निःस्वनः ॥ २५ ॥

उस समय दोनों सेनाएँ जलके भँवरकी भाँति चक्कर काट रही थीं। विक्षुब्ध अपार महासागरकी गर्जनाके समान उनकी गर्जना सुनायी दे रही थी॥ २५॥

महता हि शरौघेण राक्षसो रणदुर्मदः।
अर्दयामास संक्रुद्धो वानरान् परमाहवे॥ २६॥

अत्यन्त क्रोधसे भरे हुए रणदुर्मद राक्षस प्रहस्तने अपने बाण-समूहोंद्वारा उस महासमरमें वानरोंको पीड़ित करना आरम्भ किया॥ २६॥

वानराणां शरीरैस्तु राक्षसानां च मेदिनी।
बभूवातिचिता घोरैः पर्वतैरिव संवृता॥ २७॥

पृथ्वीपर वानरों और राक्षसोंकी लाशोंके ढेर लग गये। उनसे आच्छादित हुई रणभूमि भयानक पर्वतोंसे ढकी हुई-सी जान पड़ती थी॥ २७॥

सा मही रुधिरौघेण प्रच्छन्ना सम्प्रकाशते।
संछन्ना माधवे मासि पलाशैरिव पुष्पितैः॥ २८॥

रक्तके प्रवाहसे आच्छादित हुई वह युद्धभूमि वैशाख-मासमें खिले हुए पलाश-वृक्षोंसे ढकी हुई वन्य भूमि-सी सुशोभित होती थी॥ २८॥

हतवीरौघवप्रां तु भग्नायुधमहाद्रुमाम्।
शोणितौघमहातोयां यमसागरगामिनीम्॥ २९॥
यकृत्प्लीहमहापङ्कां विनिकीर्णान्त्रशैवलाम्।
भिन्नकायशिरोमीनामङ्गावयवशाद्वलाम्॥ ३०॥
गृध्रहंसवराकीर्णां कङ्कसारससेविताम्।
मेदःफेनसमाकीर्णामार्तस्तनितनिःस्वनाम्॥ ३१॥
तां कापुरुषदुस्तारां युद्धभूमिमयीं नदीम्।
नदीमिव घनापाये हंससारससेविताम्॥ ३२॥
राक्षसाः कपिमुख्यास्ते तेरुस्तां दुस्तरां नदीम्।
यथा पद्मरजोध्वस्तां नलिनीं गजयूथपाः॥ ३३॥

मारे गये वीरोंकी लाशें ही जिसके दोनों तट थे। रक्तका प्रवाह ही जिसकी महान् जलराशि थी। टूटे-फूटे अस्त्र-शस्त्र ही जिसके तटवर्ती विशाल वृक्षोंके समान जान पड़ते थे। जो यमलोकरूपी समुद्रसे मिली हुई थी। सैनिकोंके यकृत् और प्लीहा (हृदयके दाहिने और बायें भाग) जिसके महान् पंक थे। निकली हुई आँतें जहाँ सेवारका काम देती थीं। कटे हुए सिर और धड़ जहाँ मत्स्य-से प्रतीत होते थे। शरीरके छोटे-छोटे अवयव एवं केश जिसमें घासका भ्रम उत्पन्न करते थे। जहाँ गीध ही हंस बनकर बैठे थे। कङ्करूपी सारस जिसका सेवन करते थे। मेदे ही फेन बनकर जहाँ सब ओर फैले थे। पीड़ितोंकी कराह जिसकी कलकल ध्वनि थी और कायरोंके लिये जिसे पार करना अत्यन्त कठिन था, उस युद्धभूमिरूपिणी नदीको प्रवाहित करके राक्षस और श्रेष्ठ वानर वर्षाके अन्तमें हंसों और सारसोंसे सेवित सरिताकी भाँति उस दुस्तर नदीको उसी तरह पार कर रहे थे, जैसे गजयूथपति कमलोंके परागसे आच्छादित किसी पुष्करिणीको पार करते हैं॥ २९—३३॥

ततः सृजन्तं बाणौघान् प्रहस्तं स्यन्दने स्थितम्।
ददर्श तरसा नीलो विधमन्तं प्लवंगमान्॥ ३४॥

तदनन्तर नीलने देखा, रथपर बैठा हुआ प्रहस्त बाण-समूहोंकी वर्षा करके वेगपूर्वक वानरोंका संहार कर रहा है॥ ३४॥

उद्धूत इव वायुः खे महदभ्रबलं बलात्।
समीक्ष्याभिद्रुतं युद्धे प्रहस्तो वाहिनीपतिः॥ ३५॥
रथेनादित्यवर्णेन नीलमेवाभिदुद्रुवे।

तब जैसे उठी हुई प्रचण्ड वायु आकाशमें महान् मेघोंकी घटाको छिन्न-भिन्न करके उड़ा देती है, उसी प्रकार नील भी बलपूर्वक राक्षस-सेनाका संहार करने लगे। इससे उस युद्धस्थलमें राक्षसी-सेना भाग खड़ी हुई। सेनापति प्रहस्तने जब अपनी सेनाकी ऐसी दुरवस्था देखी, तब उसने सूर्यतुल्य तेजस्वी रथके द्वारा नीलपर ही धावा किया॥ ३५½॥

स धनुर्धन्विनां श्रेष्ठो विकृष्य परमाहवे॥ ३६॥
नीलाय व्यसृजद् बाणान् प्रहस्तो वाहिनीपतिः।

धनुषधारियोंमें श्रेष्ठ और निशाचरोंकी सेनाके नायक प्रहस्तने उस महासमरमें अपने धनुषको खींचकर नीलपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी॥ ३६½॥

ते प्राप्य विशिखा नीलं विनिर्भिद्य समाहिताः॥ ३७॥
महीं जग्मुर्महावेगा रोषिता इव पन्नगाः।

रोषसे भरे हुए सर्पोंके समान वे महान् वेगशाली बाण नीलतक पहुँचकर उन्हें विदीर्ण करके बड़ी सावधानीके साथ धरतीमें समा गये॥ ३७½॥

नीलः शरैरभिहतो निशितैर्ज्वलनोपमैः॥ ३८॥
स तं परमदुर्धर्षमापतन्तं महाकपिः।
प्रहस्तं ताडयामास वृक्षमुत्पाट्य वीर्यवान्॥ ३९॥

प्रहस्तके पैने बाण प्रज्वलित अग्निके समान जान पड़ते थे। उनकी चोटसे नील बहुत घायल हो गये। इस तरह उस परम दुर्जय राक्षस प्रहस्तको अपने ऊपर आक्रमण करते देख बल-विक्रमशाली महाकपि नीलने एक पेड़ उखाड़कर उसीके द्वारा उसपर आघात किया॥ ३८-३९॥

स तेनाभिहतः क्रुद्धो नर्दन् राक्षसपुंगवः।
ववर्ष शरवर्षाणि प्लवंगानां चमूपतौ॥ ४०॥

नीलकी चोट खाकर कुपित हुआ राक्षसशिरोमणि प्रहस्त बड़े जोरसे गर्जता हुआ उन वानर-सेनापतिपर बाणोंकी वर्षा करने लगा॥ ४०॥

तस्य बाणगणानेव राक्षसस्य दुरात्मनः।
अपारयन् वारयितुं प्रत्यगृह्णान्निमीलितः।
यथैव गोवृषो वर्षं शारदं शीघ्रमागतम्॥ ४१॥
एवमेव प्रहस्तस्य शरवर्षान् दुरासदान्।
निमीलिताक्षः सहसा नीलः सेहे दुरासदान्॥ ४२॥

उस दुरात्मा राक्षसके बाण-समूहोंका निवारण करनेमें समर्थ न हो सकनेपर नील आँख बंद करके उन सब बाणोंको अपने अङ्गोंपर ही ग्रहण करने लगे। जैसे साँड़ सहसा आयी हुई शरद्-ऋतुकी वर्षाको चुपचाप अपने शरीरपर ही सह लेता है, उसी प्रकार प्रहस्तकी उस दुःसह बाणवर्षाको नील चुपचाप आँख बंद करके सहन करते रहे॥ ४१-४२॥

रोषितः शरवर्षेण सालेन महता महान्।
प्रजघान हयान् नीलः प्रहस्तस्य महाबलः॥ ४३॥

प्रहस्तकी बाणवर्षासे कुपित हो महाबली महाकपि नीलने एक विशाल सालवृक्षके द्वारा उसके घोड़ोंको मार डाला॥ ४३॥

ततो रोषपरीतात्मा धनुस्तस्य दुरात्मनः।
बभञ्ज तरसा नीलो ननाद च पुनः पुनः॥ ४४॥

तत्पश्चात् रोषसे भरे हुए नीलने उस दुरात्माके धनुषको भी बलपूर्वक तोड़ दिया और बारंबार वे गर्जना करने लगे॥ ४४॥

विधनुः स कृतस्तेन प्रहस्तो वाहिनीपतिः।
प्रगृह्य मुसलं घोरं स्यन्दनादवपुप्लुवे॥ ४५॥

नीलके द्वारा धनुषरहित किया गया सेनापति प्रहस्त एक भयानक मुसल हाथमें लेकर अपने रथसे कूद पड़ा॥ ४५॥

तावुभौ वाहिनीमुख्यौ जातवैरौ तरस्विनौ।
स्थितौ क्षतजसिक्ताङ्गौ प्रभिन्नाविव कुञ्जरौ॥ ४६॥

वे दोनों वीर अपनी-अपनी सेनाके प्रधान थे। दोनों ही एक-दूसरेके वैरी और वेगशाली थे। वे मदकी धारा बहानेवाले दो गजराजोंके समान खूनसे नहा उठे थे॥ ४६॥

उल्लिखन्तौ सुतीक्ष्णाभिर्दंष्ट्राभिरितरेतरम्।
सिंहशार्दूलसदृशौ सिंहशार्दूलचेष्टितौ॥ ४७॥

दोनों ही अपनी तीखी दाढ़ोंसे काट-काटकर एक-दूसरेके अङ्गोंको घायल किये देते थे। वे दोनों सिंह और व्याघ्रके समान पराक्रमशाली और उन्हींके समान विजयके लिये सचेष्ट थे॥ ४७॥

विक्रान्तविजयौ वीरौ समरेष्वनिवर्तिनौ।
काङ्क्षमाणौ यशः प्राप्तुं वृत्रवासवयोरिव॥ ४८॥

दोनों वीर पराक्रमी, विजयी और युद्धमें कभी पीठ न दिखानेवाले थे तथा वृत्रासुर और इन्द्रके समान युद्धमें यश पानेकी अभिलाषा रखते थे॥ ४८॥

आजघान तदा नीलं ललाटे मुसलेन सः।
प्रहस्तः परमायत्तस्ततः सुस्राव शोणितम्॥ ४९॥

उस समय परम उद्योगी प्रहस्तने नीलके ललाटमें मुसलसे आघात किया। इससे उनके ललाटसे रक्तकी धारा बह चली॥ ४९॥

ततः शोणितदिग्धाङ्गः प्रगृह्य च महातरुम्।
प्रहस्तस्योरसि क्रुद्धो विससर्ज महाकपिः॥ ५०॥

उनके सारे अङ्ग रक्तसे भीग गये। तब क्रोधसे भरे हुए महाकपि नीलने एक विशाल वृक्ष उठाकर प्रहस्तकी छातीपर दे मारा॥ ५०॥

तमचिन्त्यप्रहारं स प्रगृह्य मुसलं महत्।
अभिदुद्राव बलिनं बलान्नीलं प्लवंगमम्॥ ५१॥

उस प्रहारकी कोई परवा न करके प्रहस्त महान् मुसल हाथमें लिये बलवान् वानर नीलकी ओर बड़े वेगसे दौड़ा॥ ५१॥

तमुग्रवेगं संरब्धमापतन्तं महाकपिः।
ततः सम्प्रेक्ष्य जग्राह महावेगो महाशिलाम्॥ ५२॥

उस भयंकर वेगशाली राक्षसको रोषसे भरकर आक्रमण करते देख महान् वेगशाली महाकपि नीलने एक बड़ी भारी शिला हाथमें ले ली॥ ५२॥

तस्य युद्धाभिकामस्य मृधे मुसलयोधिनः।
प्रहस्तस्य शिलां नीलो मूर्ध्नि तूर्णमपातयत्॥ ५३॥

उस शिलाको नीलने रणभूमिमें संग्रामकी इच्छावाले मुसलयोधी निशाचर प्रहस्तके मस्तकपर तत्काल दे मारा॥ ५३॥

नीलेन कपिमुख्येन विमुक्ता महती शिला।
बिभेद बहुधा घोरा प्रहस्तस्य शिरस्तदा॥ ५४॥

कपिप्रवर नीलके द्वारा चलायी गयी उस भयंकर एवं विशाल शिलाने प्रहस्तके मस्तकको कुचलकर उसके कई टुकड़े कर डाले॥ ५४॥

स गतासुर्गतश्रीको गतसत्त्वो गतेन्द्रियः।
पपात सहसा भूमौ छिन्नमूल इव द्रुमः॥ ५५॥

उसके प्राण-पखेरू उड़ गये। उसकी कान्ति, उसका बल और उसकी सारी इन्द्रियाँ भी चली गयीं। वह राक्षस जड़से कटे हुए वृक्षकी भाँति सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ा॥ ५५॥

विभिन्नशिरसस्तस्य बहु सुस्राव शोणितम्।
शरीरादपि सुस्राव गिरेः प्रस्रवणं यथा॥ ५६॥

उसके छिन्न-भिन्न हुए मस्तकसे और शरीरसे भी बहुत खून गिरने लगा, मानो पर्वतसे पानीका झरना झर रहा हो॥ ५६॥

हते प्रहस्ते नीलेन तदकम्प्यं महाबलम्।
राक्षसानामहृष्टानां लङ्कामभिजगाम ह॥ ५७॥

नीलके द्वारा प्रहस्तके मारे जानेपर दुःखी हुए राक्षसोंकी वह अकम्पनीय विशाल सेना लङ्काको लौट गयी॥ ५७॥

न शेकुः समवस्थातुं निहते वाहिनीपतौ।
सेतुबन्धं समासाद्य विशीर्णं सलिलं यथा॥ ५८॥

सेनापतिके मारे जानेपर वह सेना ठहर न सकी। जैसे बाँध टूट जानेपर नदीका पानी रुक नहीं पाता॥ ५८॥

हते तस्मिंश्चमूमुख्ये राक्षसास्ते निरुद्यमाः।
रक्षःपतिगृहं गत्वा ध्यानमूकत्वमागताः॥ ५९॥

प्राप्ताः शोकार्णवं तीव्रं विसंज्ञा इव तेऽभवन्॥ ६०॥

सेनानायकके मारे जानेसे वे सारे राक्षस अपना युद्धविषयक उत्साह खो बैठे और राक्षसराज रावणके भवनमें जाकर चिन्ताके कारण चुपचाप खड़े हो गये। तीव्र शोक-समुद्रमें डूब जानेके कारण वे सब-के-सब अचेत-से हो गये थे ॥ ५९-६० ॥

ततस्तु नीलो विजयी महाबलः
प्रशस्यमानः सुकृतेन कर्मणा ।
समेत्य रामेण सलक्ष्मणेन
प्रहृष्टरूपस्तु बभूव यूथपः ॥ ६१ ॥

तदनन्तर विजयी सेनापति महाबली नील अपने इस महान् कर्मके कारण प्रशंसित होते हुए श्रीराम और लक्ष्मणसे आकर मिले और बड़े हर्षका अनुभव करने लगे ॥ ६१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डेऽष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें अट्ठावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

—★—

एकोनषष्टितमः सर्गः

प्रहस्तके मारे जानेसे दुःखी हुए रावणका स्वयं ही युद्धके लिये पधारना, उसके साथ आये हुए मुख्य वीरोंका परिचय, रावणकी मारसे सुग्रीवका अचेत होना, लक्ष्मणका युद्धमें आना, हनुमान् और रावणमें थप्पड़ोंकी मार, रावणद्वारा नीलका मूर्च्छित होना, लक्ष्मणका शक्तिके आघातसे मूर्च्छित एवं सचेत होना तथा श्रीरामसे परास्त होकर रावणका लङ्कामें घुस जाना

तस्मिन् हते राक्षससैन्यपाले
प्लवंगमानामृषभेण युद्धे ।
भीमायुधं सागरवेगतुल्यं
विदुद्रुवे राक्षसराजसैन्यम् ॥ १ ॥

वानरश्रेष्ठ नीलके द्वारा युद्धस्थलमें उस राक्षस-सेनापति प्रहस्तके मारे जानेपर समुद्रके समान वेगशालिनी और भयानक आयुधोंसे युक्त वह राक्षसराजकी सेना भाग चली ॥ १ ॥

गत्वा तु रक्षोधिपतेः शशंसुः
सेनापतिं पावकसूनुशस्तम् ।
तच्चापि तेषां वचनं निशम्य
रक्षोधिपः क्रोधवशं जगाम ॥ २ ॥

राक्षसोंने निशाचरराज रावणके पास जाकर अग्निपुत्र नीलके हाथसे प्रहस्तके मारे जानेका समाचार सुनाया। उनकी वह बात सुनकर राक्षसराज रावणको बड़ा क्रोध हुआ ॥ २ ॥

संख्ये प्रहस्तं निहतं निशम्य
क्रोधार्दितः शोकपरीतचेताः ।
उवाच तान् राक्षसयूथमुख्या-
निन्द्रो यथा निर्जरयूथमुख्यान् ॥ ३ ॥

'युद्धस्थलमें प्रहस्त मारा गया' यह सुनते ही वह क्रोधसे तमतमा उठा; किंतु थोड़ी ही देरमें उसका चित्त उसके लिये शोकसे व्याकुल हो गया। अतः वह मुख्य-मुख्य देवताओंसे वार्तालाप करनेवाले इन्द्रकी भाँति राक्षससेनाके मुख्य अधिकारियोंसे बोला— ॥ ३ ॥

नावज्ञा रिपवे कार्या यैरिन्द्रबलसादनः ।
सूदितः सैन्यपालो मे सानुयात्रः सकुञ्जरः ॥ ४ ॥

'शत्रुओंको नगण्य समझकर उनकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये। मैं जिन्हें बहुत छोटा समझता था, उन्हीं शत्रुओंने मेरे उस सेनापतिको सेवकों और हाथियोंसहित मार गिराया, जो इन्द्रकी सेनाका भी संहार करनेमें समर्थ था ॥ ४ ॥

सोऽहं रिपुविनाशाय विजयायाविचारयन् ।
स्वयमेव गमिष्यामि रणशीर्षं तदद्भुतम् ॥ ५ ॥

'अब मैं शत्रुओंके संहार और अपनी विजयके लिये बिना कोई विचार किये स्वयं ही उस अद्भुत युद्धके मुहानेपर जाऊँगा ॥ ५ ॥

अद्य तद् वानरानीकं रामं च सहलक्ष्मणम् ।
निर्दहिष्यामि बाणौघैर्वनं दीप्तैरिवाग्निभिः ।
अद्य संतर्पयिष्यामि पृथिवीं कपिशोणितैः ॥ ६ ॥

'जैसे प्रज्वलित आग वनको जला देती है, उसी तरह आज अपने बाणसमूहोंसे वानरोंकी सेना तथा लक्ष्मणसहित श्रीरामको मैं भस्म कर डालूँगा ? आज वानरोंके रक्तसे मैं इस पृथ्वीको तृप्त करूँगा' ॥ ६ ॥

स एवमुक्त्वा ज्वलनप्रकाशं
रथं तुरंगोत्तमराजियुक्तम् ।
प्रकाशमानं वपुषा ज्वलन्तं
समारुरोहामरराजशत्रुः ॥ ७ ॥

ऐसा कहकर वह देवराजका शत्रु रावण अग्निके समान प्रकाशमान रथपर सवार हुआ। उसके रथमें उत्तम घोड़ोंके समूह जुते हुए थे। वह अपने शरीरसे भी प्रज्वलित अग्निके समान उद्भासित हो रहा था ॥ ७ ॥

स शङ्खभेरीपणवप्रणादै-
रास्फोटितक्ष्वेडितसिंहनादैः ।
पुण्यैः स्तवैश्चापि सुपूज्यमान-
स्तदा ययौ राक्षसराजमुख्यः ॥ ८ ॥

उसके प्रस्थान करते समय शङ्ख, भेरी और पणव आदि बाजे बजने लगे। योद्धालोग ताल ठोकने, गर्जने और सिंहनाद करने लगे। बन्दीजन पवित्र स्तुतियोंद्वारा राक्षसराज शिरोमणि रावणकी भलीभाँति समाराधना करने लगे। इस प्रकार उसने यात्रा की॥ ८॥

स शैलजीमूतनिकाशरूपै-
र्मांसाशनैः पावकदीप्तनेत्रैः ।
बभौ वृतो राक्षसराजमुख्यो
भूतैर्वृतो रुद्र इवामरेशः ॥ ९ ॥

पर्वत और मेघोंके समान काले एवं विशाल रूपवाले मांसाहारी राक्षसोंसे, जिनके नेत्र प्रज्वलित अग्निके समान उद्दीप्त हो रहे थे, घिरा हुआ राक्षसराजाधिराज रावण भूतगणोंसे घिरे हुए देवेश्वर रुद्रके समान शोभा पाता था॥ ९॥

ततो नगर्याः सहसा महौजा
निष्क्रम्य तद् वानरसैन्यमुग्रम् ।
महार्णवाभ्रस्तनितं ददर्श
समुद्यतं पादपशैलहस्तम् ॥ १० ॥

महातेजस्वी रावणने लङ्कापुरीसे सहसा निकलकर महासागर और मेघोंके समान गर्जना करनेवाली उस भयंकर वानर-सेनाको देखा, जो हाथोंमें पर्वत-शिखर एवं वृक्ष लिये युद्धके लिये तैयार थी॥ १०॥

तद् राक्षसानीकमतिप्रचण्ड-
मालोक्य रामो भुजगेन्द्रबाहुः ।
विभीषणं शस्त्रभृतां वरिष्ठ-
मुवाच सेनानुगतः पृथुश्रीः ॥ ११ ॥

उस अत्यन्त प्रचण्ड राक्षससेनाको देखकर नागराज शेषके समान भुजाओंसे, वानर-सेनासे घिरे हुए तथा पुष्ट शोभा-सम्पत्तिसे युक्त श्रीरामचन्द्रजीने शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ विभीषणसे पूछा— ॥ ११॥

नानापताकाध्वजछत्रजुष्टं
प्रासासिशूलायुधशस्त्रजुष्टम् ।
कस्येदमक्षोभ्यमभीरुजुष्टं
सैन्यं महेन्द्रोपमनागजुष्टम् ॥ १२ ॥

'जो नाना प्रकारकी ध्वजा-पताकाओं और छत्रोंसे सुशोभित, प्रास, खड्ग और शूल आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न, अजेय, निडर योद्धाओंसे सेवित और महेन्द्रपर्वत-जैसे विशालकाय हाथियोंसे भरी हुई है, ऐसी यह सेना किसकी है?' ॥ १२॥

ततस्तु रामस्य निशम्य वाक्यं
विभीषणः शक्रसमानवीर्यः ।
शशंस रामस्य बलप्रवेकं
महात्मनां राक्षसपुंगवानाम् ॥ १३ ॥

इन्द्रके समान बलशाली विभीषण श्रीरामकी उपर्युक्त बात सुनकर महामना राक्षसशिरोमणियोंके बल एवं सैनिक-शक्तिका परिचय देते हुए उनसे बोले— ॥ १३॥

योऽसौ गजस्कन्धगतो महात्मा
नवोदितार्कोपमताम्रवक्त्रः ।
संकम्पयन्नागशिरोऽभ्युपैति
ह्यकम्पनं त्वेनमवेहि राजन् ॥ १४ ॥

'राजन्! यह जो महामनस्वी वीर हाथीकी पीठपर बैठा है, जिसका मुख नवोदित सूर्यके समान लाल रंगका है तथा जो अपने भारसे हाथीके मस्तकमें कम्पन उत्पन्न करता हुआ इधर आ रहा है, इसे आप अकम्पन[1] समझें॥ १४॥

योऽसौ रथस्थो मृगराजकेतु-
र्धुन्वन् धनुः शक्रधनुःप्रकाशम् ।
करीव भात्युग्रविवृत्तदंष्ट्रः
स इन्द्रजिन्नाम वरप्रधानः ॥ १५ ॥

'यह जो रथपर चढ़ा हुआ है, जिसकी ध्वजापर सिंहका चिह्न है, जिसके दाँत हाथीके समान उग्र और बाहर निकले हुए हैं तथा जो इन्द्रधनुषके समान कान्तिमान् धनुष हिलाता हुआ आ रहा है, उसका नाम इन्द्रजित् है। वह वरदानके प्रभावसे बड़ा प्रबल हो गया है॥ १५॥

यश्चैष विन्ध्यास्तमहेन्द्रकल्पो
धन्वी रथस्थोऽतिरथोऽतिवीरः ।
विस्फारयंश्चापमतुल्यमानं
नाम्नातिकायोऽतिविवृद्धकायः ॥ १६ ॥

'यह जो विन्ध्याचल, अस्ताचल और महेन्द्रगिरिके समान विशालकाय, अतिरथी एवं अतिशय वीर धनुष लिये रथपर बैठा है तथा अपने अनुपम धनुषको बारंबार खींच रहा है, इसका नाम अतिकाय है। इसकी काया बहुत बड़ी है॥ १६॥

योऽसौ नवार्कोदितताम्रचक्षु-
रारुह्य घण्टानिनदप्रणादम् ।
गजं खरं गर्जति वै महात्मा
महोदरो नाम स एष वीरः ॥ १७ ॥

'जिसके नेत्र प्रातःकाल उदित हुए सूर्यके समान लाल हैं तथा जिसकी आवाज घण्टाकी ध्वनिसे भी उत्कृष्ट है, ऐसे क्रूरस्वभाववाले गजराजपर आरूढ़ होकर जो जोर-जोरसे

1. यह अकम्पन हनुमान्‌जीके द्वारा मारे गये अकम्पनसे भिन्न है।

गर्जना कर रहा है, वह महामनस्वी वीर महोदर नामसे प्रसिद्ध है॥ १७॥

योऽसौ हयं काञ्चनचित्रभाण्ड-
मारुह्य संध्याभ्रगिरिप्रकाशम्।
प्रासं समुद्यम्य मरीचिनद्धं
पिशाच एषोऽशनितुल्यवेगः॥ १८॥

'जो सायंकालीन मेघसे युक्त पर्वतकी-सी आभावाले और सुवर्णमय आभूषणोंसे विभूषित घोड़ेपर चढ़कर चमकीले प्रास (भाले) को हाथमें लिये इधर आ रहा है, इसका नाम पिशाच है। यह वज्रके समान वेगशाली योद्धा है॥ १८॥

यश्चैष शूलं निशितं प्रगृह्य
विद्युत्प्रभं किंकरवज्रवेगम्।
वृषेन्द्रमास्थाय शशिप्रकाश-
मायाति योऽसौ त्रिशिरा यशस्वी॥ १९॥

'जिसने वज्रके वेगको भी अपना दास बना लिया है और जिससे बिजलीकी-सी प्रभा छिटकती रहती है, ऐसे तीखे त्रिशूलको हाथमें लिये जो यह चन्द्रमाके समान श्वेत कान्तिवाले साँड़पर चढ़कर युद्धभूमिमें आ रहा है, यह यशस्वी वीर त्रिशिरा[1] है॥ १९॥

असौ च जीमूतनिकाशरूपः
कुम्भः पृथुव्यूढसुजातवक्षाः।
समाहितः पन्नगराजकेतु-
र्विस्फारयन् याति धनुर्विधुन्वन्॥ २०॥

'जिसका रूप मेघके समान काला है, जिसकी छाती उभरी हुई, चौड़ी और सुन्दर है, जिसकी ध्वजापर नागराज वासुकिका चिह्न बना हुआ है तथा जो एकाग्रचित्त हो अपने धनुषको हिलाता और खींचता आ रहा है, वह कुम्भ नामक योद्धा है॥ २०॥

यश्चैष जाम्बूनदवज्रजुष्टं
दीप्तं सधूमं परिघं प्रगृह्य।
आयाति रक्षोबलकेतुभूतो
योऽसौ निकुम्भोऽद्भुतघोरकर्मा॥ २१॥

'जो सुवर्ण और वज्रसे जटित होनेके कारण दीप्तिमान् तथा इन्द्रनीलमणिसे मण्डित होनेके कारण धूमयुक्त अग्नि-सा प्रकाशित होता है, ऐसे परिघको हाथमें लेकर जो राक्षससेनाकी ध्वजाके समान आ रहा है, उसका नाम निकुम्भ है। उसका पराक्रम घोर एवं अद्भुत है॥ २१॥

यश्चैष चापासिशरौघजुष्टं
पताकिनं पावकदीप्तरूपम्।
रथं समास्थाय विभात्युदग्रो
नरान्तकोऽसौ नगशृङ्गयोधी॥ २२॥

'यह जो धनुष, खड्ग और बाणसमूहसे भरे हुए, ध्वजा-पताकासे अलंकृत तथा प्रज्वलित अग्निके समान देदीप्यमान रथपर आरूढ़ हो अतिशय शोभा पा रहा है, वह ऊँचे कदका योद्धा नरान्तक[2] है। वह पहाड़ोंकी चोटियोंसे युद्ध करता है॥ २२॥

यश्चैष नानाविधघोररूपै-
र्व्याघ्रोष्ट्रनागेन्द्रमृगाश्ववक्त्रैः।
भूतैर्वृतो भाति विवृत्तनेत्रै-
र्योऽसौ सुराणामपि दर्पहन्ता॥ २३॥
यत्रैतदिन्दुप्रतिमं विभाति
छत्रं सितं सूक्ष्मशलाकमग्र्यम्।
अत्रैष रक्षोधिपतिर्महात्मा
भूतैर्वृतो रुद्र इवावभाति॥ २४॥

'यह जो व्याघ्र, ऊँट, हाथी, हिरन और घोड़ेके-से मुँहवाले, चढ़ी हुई आँखवाले तथा अनेक प्रकारके भयंकर रूपवाले भूतोंसे घिरा हुआ है, जो देवताओंका भी दर्प दलन करनेवाला है तथा जहाँ जिसके ऊपर पूर्ण चन्द्रमाके समान श्वेत एवं पतली कमानीवाला सुन्दर छत्र शोभा पाता है, वही यह राक्षसराज महामना रावण है, जो भूतोंसे घिरे हुए रुद्रदेवके समान सुशोभित होता है॥ २३-२४॥

असौ किरीटी चलकुण्डलास्यो
नगेन्द्रविन्ध्योपमभीमकायः।
महेन्द्रवैवस्वतदर्पहन्ता
रक्षोधिपः सूर्य इवावभाति॥ २५॥

'यह सिरपर मुकुट धारण किये है। इसका मुख कानोंमें हिलते हुए कुण्डलोंसे अलंकृत है। इसका शरीर गिरिराज हिमालय और विन्ध्याचलके समान विशाल एवं भयंकर है तथा यह इन्द्र और यमराजके भी घमंडको चूर करनेवाला है। देखिये, यह राक्षसराज साक्षात् सूर्यके समान प्रकाशित हो रहा है'॥ २५॥

प्रत्युवाच ततो रामो विभीषणमरिंदमः।
अहो दीप्तमहातेजा रावणो राक्षसेश्वरः॥ २६॥

तब शत्रुदमन श्रीरामने विभीषणको इस प्रकार उत्तर दिया—'अहो! राक्षसराज रावणका तेज तो बहुत ही बढ़ा-चढ़ा और देदीप्यमान है॥ २६॥

आदित्य इव दुष्प्रेक्ष्यो रश्मिभिर्भाति रावणः।
न व्यक्तं लक्षये ह्यस्य रूपं तेजःसमावृतम्॥ २७॥

'रावण अपनी प्रभासे सूर्यकी ही भाँति ऐसी शोभा पा रहा

---

१. यह त्रिशिरा जनस्थानमें मारे गये त्रिशिरासे भिन्न है। यह रावणका पुत्र है और वह भाई था।
२. यह नरान्तक रावणका पुत्र है।

है कि इसकी ओर देखना कठिन हो रहा है। तेजोमण्डलसे व्याप्त होनेके कारण इसका रूप मुझे स्पष्ट नहीं दिखायी देता॥ २७॥

देवदानववीराणां वपुर्नैवंविधं भवेत्।
यादृशं राक्षसेन्द्रस्य वपुरेतद् विराजते॥ २८॥

'इस राक्षसराजका शरीर जैसा सुशोभित हो रहा है, ऐसा तो देवता और दानव वीरोंका भी नहीं होगा॥ २८॥

सर्वे पर्वतसंकाशाः सर्वे पर्वतयोधिनः।
सर्वे दीप्तायुधधरा योधास्तस्य महात्मनः॥ २९॥

'इस महाकाय राक्षसके सभी योद्धा पर्वतोंके समान विशाल हैं। सभी पर्वतोंसे युद्ध करनेवाले हैं और सब-के-सब चमकीले अस्त्र-शस्त्र लिये हुए हैं॥ २९॥

विभाति रक्षोराजोऽसौ प्रदीप्तैर्भीमदर्शनैः।
भूतैः परिवृतस्तीक्ष्णैर्देहवद्भिरिवान्तकः॥ ३०॥

'जो दीप्तिमान्, भयंकर दिखायी देनेवाले और तीखे स्वभाववाले हैं, उन राक्षसोंसे घिरा हुआ यह राक्षसराज रावण देहधारी भूतोंसे घिरे हुए यमराजके समान जान पड़ता है॥ ३०॥

दिष्ट्यायमद्य पापात्मा मम दृष्टिपथं गतः।
अद्य क्रोधं विमोक्ष्यामि सीताहरणसम्भवम्॥ ३१॥

'सौभाग्यकी बात है कि यह पापात्मा मेरी आँखोंके सामने आ गया। सीताहरणके कारण मेरे मनमें जो क्रोध संचित हुआ है, उसे आज इसके ऊपर छोड़ूँगा'॥ ३१॥

एवमुक्त्वा ततो रामो धनुरादाय वीर्यवान्।
लक्ष्मणानुचरस्तस्थौ समुद्धृत्य शरोत्तमम्॥ ३२॥

ऐसा कहकर बल-विक्रमशाली श्रीराम धनुष लेकर उत्तम बाण निकालकर युद्धके लिये डट गये। इस कार्यमें लक्ष्मणने भी उनका साथ दिया॥ ३२॥

ततः स रक्षोधिपतिर्महात्मा
रक्षांसि तान्याह महाबलानि।
द्वारेषु चर्यागृहगोपुरेषु
सुनिर्वृतास्तिष्ठत निर्विशङ्काः॥ ३३॥

तदनन्तर महामना राक्षसराज रावणने अपने साथ आये हुए उन महाबली राक्षसोंसे कहा—'तुमलोग निर्भय और प्रसन्न होकर नगरके द्वारों तथा राजमार्गके मकानोंकी ड्योढ़ियोंपर खड़े हो जाओ॥ ३३॥

इहागतं मां सहितं भवद्भि-
र्वनौकसश्छिद्रमिदं विदित्वा।
शून्यां पुरीं दुष्प्रसहां प्रमथ्य
प्रधर्षयेयुः सहसा समेताः॥ ३४॥

'क्योंकि आपलोगोंके साथ मुझे यहाँ आया देख वानर अपने लिये अच्छा मौका समझकर सहसा एकत्र हो मेरी सूनी नगरीमें, जिसके भीतर प्रवेश होना दूसरोंके लिये बहुत कठिन है, घुस जायँगे और इसे मथकर चौपट कर डालेंगे'॥ ३४॥

विसर्जयित्वा सचिवांस्ततस्तान्
गतेषु रक्षःसु यथानियोगम्।
व्यदारयद् वानरसागरौघं
महाझषः पूर्णमिवार्णवौघम्॥ ३५॥

इस प्रकार जब अपने मन्त्रियोंको विदा कर दिया और वे राक्षस उसकी आज्ञाके अनुसार इन-इन स्थानोंपर चले गये, तब रावण जैसे महामत्स्य (तिमिङ्गिल) पूरे महासागरको विक्षुब्ध कर देता है, उसी प्रकार समुद्र-जैसी वानरसेनाको विदीर्ण करने लगा॥ ३५॥

तमापतन्तं सहसा समीक्ष्य
दीप्तेषुचापं युधि राक्षसेन्द्रम्।
महत् समुत्पाट्य महीधराग्रं
दुद्राव रक्षोधिपतिं हरीशः॥ ३६॥

चमकीले धनुष-बाण लिये राक्षसराज रावणको युद्धस्थलमें सहसा आया देख वानरराज सुग्रीवने एक बहुत भारी पर्वत-शिखर उखाड़ लिया और उसे लेकर उस निशाचरराजपर आक्रमण किया॥ ३६॥

तच्छैलशृङ्गं बहुवृक्षसानु
प्रगृह्य चिक्षेप निशाचराय।
तमापतन्तं सहसा समीक्ष्य
चिच्छेद बाणैस्तपनीयपुङ्खैः॥ ३७॥

अनेक वृक्षों और शिखरोंसे युक्त उस महान् शैल-शिखरको सुग्रीवने रावणपर दे मारा। उस शिखरको अपने ऊपर आता देख रावणने सहसा सुवर्णमय पंखवाले बहुत-से बाण मारकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले॥ ३७॥

तस्मिन् प्रवृद्धोत्तमसानुवृक्षे
शृङ्गे विदीर्णे पतिते पृथिव्याम्।
महाहिकल्पं शरमन्तकाभं
समादधे राक्षसलोकनाथः॥ ३८॥

उत्तम वृक्ष और शिखरवाला वह महान् शैलशृङ्ग जब विदीर्ण होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा, तब राक्षसलोकके स्वामी रावणने महान् सर्प और यमराजके समान एक भयंकर बाणका संधान किया॥ ३८॥

स तं गृहीत्वानिलतुल्यवेगं
सविस्फुलिङ्गज्वलनप्रकाशम्।
बाणं महेन्द्राशनितुल्यवेगं
चिक्षेप सुग्रीववधाय रुष्टः॥ ३९॥

उस बाणका वेग वायुके समान था। उससे चिनगारियाँ छूटती थीं और प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाश फैलता था। इन्द्रके वज्रकी भाँति भयंकर वेगवाले उस बाणको रावणने रुष्ट होकर सुग्रीवके वधके लिये चलाया॥ ३९॥

स सायको रावणबाहुमुक्तः
शक्राशनिप्रख्यवपुःप्रकाशम् ।
सुग्रीवमासाद्य बिभेद वेगाद्
गुहेरिता क्रौञ्चमिवोग्रशक्तिः ॥ ४० ॥

रावणके हाथोंसे छूटे हुए उस सायकने इन्द्रके वज्रकी भाँति कान्तिमान् शरीरवाले सुग्रीवके पास पहुँचकर उसी तरह वेगपूर्वक उन्हें घायल कर दिया, जैसे स्वामी कार्तिकेयकी चलायी हुई भयानक शक्तिने क्रौञ्चपर्वतको विदीर्ण कर डाला था ॥ ४० ॥

स सायकार्तो विपरीतचेताः
कूजन् पृथिव्यां निपपात वीरः ।
तं वीक्ष्य भूमौ पतितं विसंज्ञं
नेदुः प्रहृष्टा युधि यातुधानाः ॥ ४१ ॥

उस बाणकी चोटसे वीर सुग्रीव अचेत हो गये और आर्तनाद करते हुए पृथ्वीपर गिर पड़े। सुग्रीवको बेहोश हो घूमकर गिरा देख उस युद्धस्थलमें आये हुए सब राक्षस बड़े हर्षके साथ सिंहनाद करने लगे ॥ ४१ ॥

ततो गवाक्षो गवयः सुषेण-
स्त्वथर्षभो ज्योतिमुखो नलश्च ।
शैलान् समुत्पाट्य विवृद्धकायाः
प्रदुद्रुवुस्तं प्रति राक्षसेन्द्रम् ॥ ४२ ॥

तब गवाक्ष, गवय, सुषेण, ऋषभ, ज्योतिर्मुख और नल—ये विशालकाय वानर पर्वतशिखरोंको उखाड़कर राक्षसराज रावणपर टूट पड़े ॥ ४२ ॥

तेषां प्रहारान् स चकार मोघान्
रक्षोधिपो बाणशतैः शिताग्रैः ।
तान् वानरेन्द्रानपि बाणजालै-
र्बिभेद जाम्बूनदचित्रपुङ्खैः ॥ ४३ ॥
ते वानरेन्द्रास्त्रिदशारिबाणै-
र्भिन्ना निपेतुर्भुवि भीमकायाः ।

परंतु निशाचरोंके राजा रावणने सैकड़ों तीखे बाण छोड़कर इन सबके प्रहारोंको व्यर्थ कर दिया और उन वानरेश्वरोंको भी सोनेके विचित्र पंखवाले बाण-समूहोंद्वारा क्षत-विक्षत कर दिया। देवद्रोही रावणके बाणोंसे घायल हो वे भीमकाय वानरेन्द्रगण धरतीपर गिर पड़े ॥ ४३½ ॥

ततस्तु तद् वानरसैन्यमुग्रं
प्रच्छादयामास स बाणजालैः ॥ ४४ ॥
ते वध्यमानाः पतिताश्च वीरा
नानद्यमाना भयशल्यविद्धाः ।

फिर तो रावणने अपने बाण-समूहोंद्वारा उस भयंकर वानरसेनाको आच्छादित कर दिया। रावणके बाणोंसे पीड़ित और डरे हुए वीर वानर उसकी मार खा-खाकर जोर-जोरसे चीत्कार करते हुए धराशायी होने लगे ॥ ४४½ ॥

शाखामृगा रावणसायकार्ता
जग्मुः शरण्यं शरणं स्म रामम् ॥ ४५ ॥
ततो महात्मा स धनुर्धनुष्मा-
नादाय रामः सहसा जगाम ।
तं लक्ष्मणः प्राञ्जलिरभ्युपेत्य
उवाच रामं परमार्थयुक्तम् ॥ ४६ ॥

रावणके सायकोंसे पीड़ित हो बहुत-से वानर शरणागत-वत्सल भगवान् श्रीरामकी शरणमें गये। तब धनुर्धर महात्मा श्रीराम सहसा धनुष लेकर आगे बढ़े। उसी समय लक्ष्मणजीने उनके सामने आकर हाथ जोड़ उनसे ये यथार्थ वचन कहे— ॥ ४६ ॥

काममार्य सुपर्याप्तो वधायास्य दुरात्मनः ।
विधमिष्याम्यहं चैतमनुजानीहि मां विभो ॥ ४७ ॥

'आर्य! इस दुरात्माका वध करनेके लिये तो मैं ही पर्याप्त हूँ। प्रभो! आप मुझे आज्ञा दीजिये। मैं इसका नाश करूँगा' ॥ ४७ ॥

तमब्रवीन्महातेजा रामः सत्यपराक्रमः ।
गच्छ यत्नपरश्चापि भव लक्ष्मण संयुगे ॥ ४८ ॥

उनकी बात सुनकर महातेजस्वी सत्यपराक्रमी श्रीरामने कहा—'अच्छा लक्ष्मण! जाओ। किंतु संग्राममें विजय पानेके लिये पूर्ण प्रयत्नशील रहना ॥ ४८ ॥

रावणो हि महावीर्यो रणेऽद्भुतपराक्रमः ।
त्रैलोक्येनापि संक्रुद्धो दुष्प्रसह्यो न संशयः ॥ ४९ ॥

'क्योंकि रावण महान् बल-विक्रमसे सम्पन्न है। यह युद्धमें अद्भुत पराक्रम दिखाता है। रावण यदि अधिक कुपित होकर युद्ध करने लगे तो तीनों लोकोंके लिये इसके वेगको सहन करना कठिन हो जायगा ॥ ४९ ॥

तस्यच्छिद्राणि मार्गस्व स्वच्छिद्राणि च लक्षय ।
चक्षुषा धनुषाऽऽत्मानं गोपायस्व समाहितः ॥ ५० ॥

'तुम युद्धमें रावणके छिद्र देखना। उसकी कमजोरियोंसे लाभ उठाना और अपने छिद्रोंपर भी दृष्टि रखना (कहीं शत्रु इनसे लाभ न उठाने पाये)। एकाग्रचित्त हो पूरी सावधानीके साथ अपनी दृष्टि और धनुषसे भी आत्मरक्षा करना' ॥ ५० ॥

राघवस्य वचः श्रुत्वा सम्परिष्वज्य पूज्य च ।
अभिवाद्य च रामाय ययौ सौमित्रिराहवे ॥ ५१ ॥

श्रीरघुनाथजीकी यह बात सुनकर सुमित्राकुमार लक्ष्मण उनके हृदयसे लग गये और श्रीरामका पूजन एवं अभिवादन करके वे युद्धके लिये चल दिये ॥ ५१ ॥

स रावणं वारणहस्तबाहुं
ददर्श भीमोद्यतदीप्तचापम् ।
प्रच्छादयन्तं शरवृष्टिजालै-
स्तान् वानरान् भिन्नविकीर्णदेहान् ॥ ५२ ॥

उन्होंने देखा, रावणकी भुजाएँ हाथीके शुण्ड-दण्डके

समान है। उसने बड़ा भयंकर एवं दीप्तिमान् धनुष उठा रखा है और बाण-समूहोंकी वर्षा करके वानरोंको कुचलता तथा उनके शरीरोंको छिन्न-भिन्न किये डालता है॥ ५२॥

तमालोक्य महातेजा हनुमान् मारुतात्मजः।
निवार्य शरजालानि विदुद्राव स रावणम्॥ ५३॥

रावणके इस प्रकार पराक्रम करते देख महातेजस्वी पवनपुत्र हनुमान्‌जी उसके बाण-समूहोंका निवारण करते हुए उसकी ओर दौड़े॥ ५३॥

रथं तस्य समासाद्य बाहुमुद्यम्य दक्षिणम्।
त्रासयन् रावणं धीमान् हनुमान् वाक्यमब्रवीत्॥ ५४॥

उसके रथके पास पहुँचकर अपना दायाँ हाथ उठा बुद्धिमान् हनुमान्‌ने रावणको भयभीत करते हुए कहा— ॥ ५४॥

देवदानवगन्धर्वैर्यक्षैश्च सह राक्षसैः।
अवध्यत्वं त्वया प्राप्तं वानरेभ्यस्तु ते भयम्॥ ५५॥

'निशाचर! तुमने देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष और राक्षसोंसे न मारे जानेका वर प्राप्त कर लिया है; परंतु वानरोंसे तो तुम्हें भय है ही॥ ५५॥

एष मे दक्षिणो बाहुः पञ्चशाखः समुद्यतः।
विधमिष्यति ते देहे भूतात्मानं चिरोषितम्॥ ५६॥

'देखो, पाँच अँगुलियोंसे युक्त यह मेरा दाहिना हाथ उठा हुआ है। तुम्हारे शरीरमें चिरकालसे जो जीवात्मा निवास करता है, उसे आज यह इस देहसे अलग कर देगा'॥ ५६॥

श्रुत्वा हनूमतो वाक्यं रावणो भीमविक्रमः।
संरक्तनयनः क्रोधादिदं वचनमब्रवीत्॥ ५७॥

हनुमान्‌जीका यह वचन सुनकर भयानक पराक्रमी रावणके नेत्र क्रोधसे लाल हो उठे और उसने रोषपूर्वक कहा— ॥ ५७॥

क्षिप्रं प्रहर निःशङ्कं स्थिरां कीर्तिमवाप्नुहि।
ततस्त्वां ज्ञातविक्रान्तं नाशयिष्यामि वानर॥ ५८॥

'वानर! तुम निःशङ्क होकर शीघ्र मेरे ऊपर प्रहार करो और सुस्थिर यश प्राप्त कर लो। तुममें कितना पराक्रम है, यह जान लेनेपर ही मैं तुम्हारा नाश करूँगा'॥ ५८॥

रावणस्य वचः श्रुत्वा वायुसूनुर्वचोऽब्रवीत्।
प्रहृतं हि मया पूर्वमक्षं तव सुतं स्मर॥ ५९॥

रावणकी बात सुनकर पवनपुत्र हनुमान्‌जी बोले—'मैंने पहले ही तुम्हारे पुत्र अक्षको मार डाला है। इस बातको याद तो करो'॥ ५९॥

एवमुक्तो महातेजा रावणो राक्षसेश्वरः।
आजघानानिलसुतं तलेनोरसि वीर्यवान्॥ ६०॥

इतने इतना कहते ही बल-विक्रमसम्पन्न महातेजस्वी राक्षसराज रावणने उन पवनकुमारकी छातीमें एक तमाचा जड़ दिया॥ ६०॥

स तलाभिहतस्तेन चचाल च मुहुर्मुहुः।
स्थितो मुहूर्तं तेजस्वी स्थैर्यं कृत्वा महामतिः॥ ६१॥
आजघान च संक्रुद्धस्तलेनैवामरद्विषम्।

उस थप्पड़की चोटसे हनुमान्‌जी बारंबार इधर-उधर चक्कर काटने लगे; परंतु वे बड़े बुद्धिमान् और तेजस्वी थे, अतः दो ही घड़ीमें अपनेको सुस्थिर करके खड़े हो गये। फिर उन्होंने भी अत्यन्त कुपित होकर उस देवद्रोहीको थप्पड़से ही मारा॥ ६१ १/२॥

ततः स तेनाभिहतो वानरेण महात्मना॥ ६२॥
दशग्रीवः समाधूतो यथा भूमितलेऽचलः।

उन महात्मा वानरके थप्पड़की मार खाकर दशमुख रावण उसी तरह काँप उठा, जैसे भूकम्प आनेपर पर्वत हिलने लगता है॥ ६२ १/२॥

संग्रामे तं तथा दृष्ट्वा रावणं तलताडितम्॥ ६३॥
ऋषयो वानराः सिद्धा नेदुर्देवाः सहासुरैः।

संग्रामभूमिमें रावणको थप्पड़ खाते देख ऋषि, वानर, सिद्ध, देवता और असुर सभी हर्षध्वनि करने लगे॥ ६३ १/२॥

अथाश्वस्य महातेजा रावणो वाक्यमब्रवीत्॥ ६४॥
साधु वानर वीर्येण श्लाघनीयोऽसि मे रिपुः।

तदनन्तर महातेजस्वी रावणने सँभलकर कहा—'शाबाश वानर! शाबाश, तुम पराक्रमकी दृष्टिसे मेरे प्रशंसनीय प्रतिद्वन्द्वी हो'॥ ६४ १/२॥

रावणेनैवमुक्तस्तु मारुतिर्वाक्यमब्रवीत्॥ ६५॥
धिगस्तु मम वीर्यस्य यत् त्वं जीवसि रावण।

रावणके ऐसा कहनेपर पवनकुमार हनुमान्‌ने कहा—'रावण! तू अब भी जीवित है, इसलिये मेरे पराक्रमको धिक्कार है!'॥ ६५ १/२॥

सकृत् तु प्रहरेदानीं दुर्बुद्धे किं विकत्थसे॥ ६६॥
ततस्त्वां मामको मुष्टिर्नयिष्यति यमक्षयम्।

'दुर्बुद्धे! अब तुम एक बार और मुझपर प्रहार करो। बढ़-बढ़कर बातें क्यों बना रहे हो। तुम्हारे प्रहारके पश्चात् जब मेरा मुक्का पड़ेगा, तब वह तुम्हें तत्काल यमलोक पहुँचा देगा'॥ ६६ १/२॥

ततो मारुतिवाक्येन कोपस्तस्य प्रजज्वले॥ ६७॥
संरक्तनयनो यत्नान्मुष्टिमावृत्य दक्षिणम्।
पातयामास वेगेन वानरोरसि वीर्यवान्॥ ६८॥

हनुमान्‌जीकी इस बातसे रावणका क्रोध प्रज्वलित हो उठा। उसकी आँखें लाल हो गयीं। उस पराक्रमी राक्षसने बड़े यत्नसे दाहिना मुक्का तानकर हनुमान्‌जीकी छातीमें वेगपूर्वक प्रहार किया॥ ६७-६८॥

हनूमान् वक्षसि व्यूढे संचचाल पुनः पुनः।
विह्वलं तु तदा दृष्ट्वा हनूमन्तं महाबलम्॥ ६९॥
रथेनातिरथः शीघ्रं नीलं प्रति समभ्यगात्।

छातीमें चोट लगनेपर हनुमान्‌जी पुनः विचलित हो उठे। महाबली हनुमान्‌जीको उस समय विह्वल देख अतिरथी रावण रथके द्वारा शीघ्र ही नीलपर जा चढ़ा॥ ६९½॥

राक्षसानामधिपतिर्दशग्रीवः प्रतापवान्॥ ७०॥
पन्नगप्रतिमैर्भीमैः परमर्माभिभेदनैः।
शरैरादीपयामास नीलं हरिचमूपतिम्॥ ७१॥

राक्षसोंके राजा प्रतापी दशग्रीवने शत्रुओंके मर्मको विदीर्ण करनेवाले सर्पतुल्य भयंकर बाणोंद्वारा वानर-सेनापति नीलको संताप देना आरम्भ किया॥ ७०-७१॥

स शरौघसमायस्तो नीलो हरिचमूपतिः।
करेणैकेन शैलाग्रं रक्षोधिपतयेऽसृजत्॥ ७२॥

उसके बाण-समूहोंसे पीड़ित हुए वानर-सेनापति नीलने उस राक्षसराजपर एक ही हाथसे पर्वतका एक शिखर उठाकर चलाया॥ ७२॥

हनूमानपि तेजस्वी समाश्वस्तो महामनाः।
विप्रेक्षमाणो युद्धेप्सुः सरोषमिदमब्रवीत्॥ ७३॥
नीलेन सह संयुक्तं रावणं राक्षसेश्वरम्।
अन्येन युध्यमानस्य न युक्तमभिधावनम्॥ ७४॥

इतनेहीमें तेजस्वी महामना हनुमान्‌जी भी सँभल गये और पुनः युद्धकी इच्छासे रावणकी ओर देखने लगे। उस समय राक्षसराज रावण नीलके साथ उलझा हुआ था। हनुमान्‌जीने उससे रोषपूर्वक कहा—'ओ निशाचर! इस समय तुम दूसरेके साथ युद्ध कर रहे हो, अतः अब तुमपर धावा करना मेरे लिये उचित न होगा'॥ ७३-७४॥

रावणोऽथ महातेजास्तं शृङ्गं सप्तभिः शरैः।
आजघान सुतीक्ष्णाग्रैस्तद् विकीर्णं पपात ह॥ ७५॥

इधर महातेजस्वी रावणने नीलके चलाये हुए पर्वत-शिखरपर तीखे अग्रभागवाले सात बाण मारे, जिससे वह टूट फूटकर पृथ्वीपर बिखर गया॥ ७५॥

तद् विकीर्णं गिरेः शृङ्गं दृष्ट्वा हरिचमूपतिः।
कालाग्निरिव जज्वाल कोपेन परवीरहा॥ ७६॥

उस पर्वतशिखरको बिखरा हुआ देख शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले वानर-सेनापति नील प्रलयकालकी अग्निके समान क्रोधसे प्रज्वलित हो उठे॥ ७६॥

सोऽश्वकर्णद्रुमाञ्शालांश्चूतांश्चापि सुपुष्पितान्।
अन्यांश्च विविधान् वृक्षान् नीलश्चिक्षेप संयुगे॥ ७७॥

उन्होंने युद्धस्थलमें अश्वकर्ण, साल, खिले हुए आम्र तथा अन्य नाना प्रकारके वृक्षोंको उखाड़-उखाड़कर रावणपर चलाना आरम्भ किया॥ ७७॥

स तान् वृक्षान् समासाद्य प्रतिचिच्छेद रावणः।
अभ्यवर्षच्च घोरेण शरवर्षेण पावकिम्॥ ७८॥

रावणने उन सब वृक्षोंको सामने आनेपर काट गिराया और अग्निपुत्र नीलपर बाणोंकी भयानक वर्षा की॥ ७८॥

अभिवृष्टः शरौघेण मेघेनेव महाचलः।
ह्रस्वं कृत्वा ततो रूपं ध्वजाग्रे निपपात ह॥ ७९॥

जैसे मेघ किसी महान् पर्वतपर जलकी वर्षा करता है, उसी तरह रावणने जब नीलपर बाणसमूहोंकी वर्षा की, तब वे छोटा-सा रूप बनाकर रावणकी ध्वजाके शिखरपर चढ़ गये॥ ७९॥

पावकात्मजमालोक्य ध्वजाग्रे समवस्थितम्।
जज्वाल रावणः क्रोधात् ततो नीलो ननाद च॥ ८०॥

अपनी ध्वजाके ऊपर बैठे हुए अग्निपुत्र नीलको देखकर रावण क्रोधसे जल उठा और उधर नील जोर-जोरसे गर्जना करने लगे॥ ८०॥

ध्वजाग्रे धनुषश्चाग्रे किरीटाग्रे च तं हरिम्।
लक्ष्मणोऽथ हनूमांश्च रामश्चापि सुविस्मिताः॥ ८१॥

नीलको कभी रावणकी ध्वजापर, कभी धनुषपर और कभी मुकुटपर बैठा देख श्रीराम, लक्ष्मण और हनुमान्‌जीको भी बड़ा विस्मय हुआ॥ ८१॥

रावणोऽपि महातेजाः कपिलाघवविस्मितः।
अस्त्रमाहारयामास दीप्तमाग्नेयमद्भुतम्॥ ८२॥

वानर नीलकी वह फुर्ती देखकर महातेजस्वी रावणको भी बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने अद्भुत तेजस्वी आग्नेयास्त्र हाथमें लिया॥ ८२॥

ततस्ते चुक्रुशुर्हृष्टा लब्धलक्षाः प्लवंगमाः।
नीललाघवसम्भ्रान्तं दृष्ट्वा रावणमाहवे॥ ८३॥

नीलकी फुर्तीसे रावणको घबराया हुआ देख हर्षका अवसर पाकर सब वानर बड़ी प्रसन्नताके साथ किलकारियाँ भरने लगे॥ ८३॥

वानराणां च नादेन संरब्धो रावणस्तदा।
सम्भ्रमाविष्टहृदयो न किंचित् प्रत्यपद्यत॥ ८४॥

उस समय वानरोंके हर्षनादसे रावणको बड़ा क्रोध हुआ। साथ ही हृदयमें घबराहट छा गयी थी, इसलिये वह कर्तव्यका कुछ निश्चय नहीं कर सका॥ ८४॥

आग्नेयेनापि संयुक्तं गृहीत्वा रावणः शरम्।
ध्वजशीर्षस्थितं नीलमुदैक्षत निशाचरः॥ ८५॥

तदनन्तर निशाचर रावणने आग्नेयास्त्रसे अभिमन्त्रित बाण हाथमें लेकर ध्वजके अग्रभागपर बैठे हुए नीलको देखा॥ ८५॥

ततोऽब्रवीन्महातेजा रावणो राक्षसेश्वरः।
कपे लाघवयुक्तोऽसि मायया परया सह॥ ८६॥

देखकर महातेजस्वी राक्षसराज रावणने उनसे कहा—'वानर! तुम उच्चकोटिकी मायाके साथ ही अपने भीतर बड़ी फुर्ती भी रखते हो॥ ८६॥

जीवितं खलु रक्षस्व यदि शक्तोऽसि वानर।
तानि तान्यात्मरूपाणि सृजसि त्वमनेकशः॥ ८७॥

तथापि त्वां मया मुक्तः सायकोऽस्त्रप्रयोजितः ।
जीवितं परिरक्षन्तं जीविताद् भ्रंशयिष्यति ॥ ८८ ॥

'वानर! यदि शक्तिशाली हो तो मेरे बाणसे अपने जीवनकी रक्षा करो। यद्यपि तुम अपने पराक्रमके योग्य ही भिन्न-भिन्न प्रकारके कर्म कर रहे हो तथापि मेरा छोड़ा हुआ दिव्यास्त्र-प्रेरित बाण जीवन-रक्षाकी चेष्टा करनेपर भी तुम्हें प्राणहीन कर देगा' ॥ ८७-८८ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहू रावणो राक्षसेश्वरः ।
संधाय बाणमस्त्रेण चमूपतिमताडयत् ॥ ८९ ॥

ऐसा कहकर महाबाहु राक्षसराज रावणने आग्नेयास्त्रयुक्त बाणका संधान करके उसके द्वारा सेनापति नीलको मारा ॥ ८९ ॥

सोऽस्त्रमुक्तेन बाणेन नीलो वक्षसि ताडितः ।
निर्दह्यमानः सहसा स पपात महीतले ॥ ९० ॥

उसके धनुषसे छूटे हुए उस बाणने नीलकी छातीपर गहरी चोट की। वे उसकी आँचसे जलते हुए सहसा पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ९० ॥

पितृमाहात्म्यसंयोगादात्मनश्चापि तेजसा ।
जानुभ्यामपतद् भूमौ न तु प्राणैर्व्ययुज्यत ॥ ९१ ॥

यद्यपि नीलने पृथ्वीपर घुटने टेक दिये, तथापि पिता अग्निदेवके माहात्म्यसे और अपने तेजके प्रभावसे उनके प्राण नहीं निकले ॥ ९१ ॥

विसंज्ञं वानरं दृष्ट्वा दशग्रीवो रणोत्सुकः ।
रथेनाम्बुदनादेन सौमित्रिमभिदुद्रुवे ॥ ९२ ॥

वानर नीलको अचेत हुआ देख रणोत्सुक रावणने मेघकी गर्जनाके समान गम्भीर ध्वनि करनेवाले रथके द्वारा सुमित्राकुमार लक्ष्मणपर धावा किया ॥ ९२ ॥

आसाद्य रणमध्ये तं वारयित्वा स्थितो ज्वलन् ।
धनुर्विस्फारयामास राक्षसेन्द्रः प्रतापवान् ॥ ९३ ॥

युद्धभूमिमें सारी वानरसेनाको आगे बढ़नेसे रोककर वह लक्ष्मणके पास पहुँच गया और प्रज्वलित अग्निके समान सामने खड़ा हो प्रतापी राक्षसराज रावण अपने धनुषकी टंकार करने लगा ॥ ९३ ॥

तमाह सौमित्रिरदीनसत्त्वो
विस्फारयन्तं धनुरप्रमेयम् ।
अन्वेहि मामद्य निशाचरेन्द्र
न वानरांस्त्वं प्रतियोद्धुमर्हसि ॥ ९४ ॥

उस समय अपने अनुपम धनुषको खींचते हुए रावणसे महान् शक्तिशाली लक्ष्मणने कहा—'निशाचरराज! अब मैं आ गया। अतः अब तुम्हें वानरोंके साथ युद्ध नहीं करना चाहिये' ॥ ९४ ॥

स तस्य वाक्यं प्रतिपूर्णघोषं
ज्याशब्दमुग्रं च निशम्य राजा ।
आसाद्य सौमित्रिमुपस्थितं तं
रोषान्वितं वाक्यमुवाच रक्षः ॥ ९५ ॥

लक्ष्मणकी वह बात गम्भीर ध्वनिसे युक्त थी और उनकी प्रत्यञ्चासे भी भयानक टंकार-ध्वनि हो रही थी। उसे सुनकर युद्धके लिये उपस्थित हुए सुमित्राकुमारके निकट जा राक्षसोंके राजा रावणने रोषपूर्वक कहा— ॥ ९५ ॥

दिष्ट्यासि मे राघव दृष्टिमार्गं
प्राप्तोऽन्तगामी विपरीतबुद्धिः ।
अस्मिन् क्षणे यास्यसि मृत्युलोकं
संसाद्यमानो मम बाणजालैः ॥ ९६ ॥

'रघुवंशी राजकुमार! सौभाग्यकी बात है कि तुम मेरी आँखोंके सामने आ गये। तुम्हारा शीघ्र ही अन्त होनेवाला है इसीलिये तुम्हारी बुद्धि विपरीत हो गयी है। अब तुम मेरे बाण-समूहोंसे पीड़ित हो इसी क्षण यमलोककी यात्रा करोगे' ॥ ९६ ॥

तमाह सौमित्रिरविस्मयानो
गर्जन्तमुद्वृत्तशिताग्रदंष्ट्रम् ।
राजन् न गर्जन्ति महाप्रभावा
विकत्थसे पापकृतां वरिष्ठ ॥ ९७ ॥

सुमित्राकुमार लक्ष्मणको उसकी बात सुनकर कोई विस्मय नहीं हुआ। उसके दाँत बड़े ही तीखे और उत्कट थे और वह जोर-जोरसे गर्जना कर रहा था। उस समय सुमित्राकुमारने उससे कहा—'राजन्! महान् प्रभावशाली पुरुष तुम्हारी तरह केवल गर्जना नहीं करते हैं। (कुछ पराक्रम करके दिखाते हैं।) पापाचारियोंमें अग्रगण्य रावण! तुम तो झूठे ही डींग हाँकते हो ॥ ९७ ॥

जानामि वीर्यं तव राक्षसेन्द्र
बलं प्रतापं च पराक्रमं च ।
अवस्थितोऽहं शरचापपाणि-
रागच्छ किं मोघविकत्थनेन ॥ ९८ ॥

'राक्षसराज! (तुमने सूने घरसे जो चोरी-चोरी एक असहाय नारीका अपहरण किया, इसीसे) मैं तुम्हारे बल, वीर्य, प्रताप और पराक्रमको अच्छी तरह जानता हूँ, इसीलिये हाथमें धनुष-बाण लेकर सामने खड़ा हूँ। आओ युद्ध करो। व्यर्थ बातें बनानेसे क्या होगा?' ॥ ९८ ॥

स एवमुक्तः कुपितः ससर्ज
रक्षोधिपः सप्त शरान् सुपुङ्खान् ।
तांल्लक्ष्मणः काञ्चनचित्रपुङ्खै-
श्चिच्छेद बाणैर्निशिताग्रधारैः ॥ ९९ ॥

उनके ऐसा कहनेपर कुपित हुए राक्षसराजने उनपर सुन्दर पंखवाले सात बाण छोड़े; परंतु लक्ष्मणने सोनेके बने हुए विचित्र पंखोंसे सुशोभित और तेज धारवाले बाणोंसे उन सबको काट डाला ॥ ९९ ॥

तान् प्रेक्षमाणः सहसा निकृत्तान्
निकृत्तभोगानिव पन्नगेन्द्रान् ।
लङ्केश्वरः क्रोधवशं जगाम
ससर्ज चान्यान् निशितान् पृषत्कान् ॥ १०० ॥

जैसे बड़े-बड़े सर्पोंके शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर दिये जायँ, उसी प्रकार अपने समस्त बाणोंको सहसा खण्डित हुआ देख लङ्कापति रावण क्रोधके वशीभूत हो गया और उसने दूसरे तीखे बाण छोड़े ॥ १०० ॥

स बाणवर्षं तु ववर्ष तीव्रं
रामानुजः कार्मुकसम्प्रयुक्तम् ।
क्षुरार्धचन्द्रोत्तमकर्णिभल्लैः
शरांश्च चिच्छेद न चुक्षुभे च ॥ १०१ ॥

परंतु श्रीरामके छोटे भाई लक्ष्मण इससे विचलित नहीं हुए। उन्होंने अपने धनुषसे बाणोंकी भयंकर वर्षा की और क्षुर, अर्धचन्द्र, उत्तम कर्णी तथा भल्ल जातिके बाणोंद्वारा रावणके छोड़े हुए उन सब बाणोंको काट डाला ॥ १०१ ॥

स बाणजालान्यपि तानि तानि
मोघानि पश्यंस्त्रिदशारिराजः ।
विसिस्मिये लक्ष्मणलाघवेन
पुनश्च बाणान् निशितान् मुमोच ॥ १०२ ॥

उन सभी बाणसमूहोंको निष्फल हुआ देख राक्षसराज रावण लक्ष्मणकी फुर्तीसे आश्चर्यचकित रह गया और उनपर पुनः तीखे बाण छोड़ने लगा ॥ १०२ ॥

स लक्ष्मणश्चापि शिताञ्छिताग्रान्
महेन्द्रतुल्योऽशनिभीमवेगान् ।
संधाय चापे ज्वलनप्रकाशान्
ससर्ज रक्षोधिपतेर्वधाय ॥ १०३ ॥

देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी लक्ष्मणने भी रावणके वधके लिये वज्रके समान भयानक वेग और तीखी धारवाले पैने बाणोंको, जो अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे, धनुषपर रखा ॥ १०३ ॥

स तान् प्रचिच्छेद हि राक्षसेन्द्रः
शिताञ्शरांल्लक्ष्मणमाजघान ।
शरेण कालाग्निसमप्रभेण
स्वयंभुदत्तेन ललाटदेशे ॥ १०४ ॥

परंतु राक्षसराजने उन सभी तीखे बाणोंको काट डाला और ब्रह्माजीके दिये हुए कालाग्निके समान तेजस्वी बाणसे लक्ष्मणजीके ललाटपर चोट की ॥ १०४ ॥

स लक्ष्मणो रावणसायकार्त-
श्चचाल चापं शिथिलं प्रगृह्य ।
पुनश्च संज्ञां प्रतिलभ्य कृच्छ्रा-
च्चिच्छेद चापं त्रिदशेन्द्रशत्रोः ॥ १०५ ॥

रावणके उस बाणसे पीड़ित हो लक्ष्मणजी विचलित हो उठे। उन्होंने हाथमें जो धनुष ले रखा था, उसकी मुट्ठी ढीली पड़ गयी। फिर उन्होंने बड़े कष्टसे होश सँभाला और देवद्रोही रावणके धनुषको काट दिया ॥ १०५ ॥

निकृत्तचापं त्रिभिराजघान
बाणैस्तदा दाशरथिः शिताग्रैः ।
स सायकार्तो विचचाल राजा
कृच्छ्राच्च संज्ञां पुनराससाद ॥ १०६ ॥

धनुष कट जानेपर रावणको लक्ष्मणने तीन बाण मारे, जो बहुत ही तीखे थे। उन बाणोंसे पीड़ित हो राजा रावण व्याकुल हो गया और बड़ी कठिनाईसे वह फिर सचेत हो सका ॥ १०६ ॥

स कृत्तचापः शरताडितश्च
मेदार्द्रगात्रो रुधिरावसिक्तः ।
जग्राह शक्तिं स्वयमुग्रशक्तिः
स्वयंभुदत्तां युधि देवशत्रुः ॥ १०७ ॥

जब धनुष कट गया और बाणोंकी गहरी चोट खानी पड़ी, तब रावणका सारा शरीर मेदे और रक्तसे भीग गया। उस अवस्थामें उस भयंकर शक्तिशाली देवद्रोही राक्षसने युद्धस्थलमें ब्रह्माजीकी दी हुई शक्ति उठा ली ॥ १०७ ॥

स तां सधूमानलसंनिकाशां
वित्रासनां संयति वानराणाम् ।
चिक्षेप शक्तिं तरसा ज्वलन्तीं
सौमित्रये राक्षसराष्ट्रनाथः ॥ १०८ ॥

वह शक्ति धूमयुक्त अग्निके समान दिखायी देती थी और युद्धमें वानरोंको भयभीत करनेवाली थी। राक्षसराजके स्वामी रावणने वह जलती हुई शक्ति बड़े वेगसे सुमित्राकुमारपर चलायी ॥ १०८ ॥

तामापतन्तीं भरतानुजोऽस्त्रै-
र्जघान बाणैश्च हुताग्निकल्पैः ।
तथापि सा तस्य विवेश शक्ति-
र्भुजान्तरं दाशरथेर्विशालम् ॥ १०९ ॥

अपनी ओर आती हुई उस शक्तिपर लक्ष्मणने अग्नितुल्य तेजस्वी बहुत-से बाणों तथा अस्त्रोंका प्रहार किया; तथापि वह शक्ति दशरथकुमार लक्ष्मणके विशाल वक्षःस्थलमें घुस गयी ॥ १०९ ॥

स शक्तिमाञ्शक्तिसमाहतः सन्
जज्वाल भूमौ स रघुप्रवीरः ।
तं विह्वलन्तं सहसाभ्युपेत्य
जग्राह राजा तरसा भुजाभ्याम् ॥ ११० ॥

रघुकुलके प्रधान वीर लक्ष्मण यद्यपि बड़े शक्तिशाली थे, तथापि उस शक्तिसे आहत हो पृथ्वीपर गिर पड़े और जलने से लगे। उन्हें विह्वल हुआ देख राजा रावण सहसा उनके पास जा पहुँचा और उनको वेगपूर्वक अपनी दोनों

भुजाओंसे उठाने लगा ॥ ११० ॥

हिमवान् मन्दरो मेरुस्त्रैलोक्यं वा सहामरैः ।
शक्यं भुजाभ्यामुद्धर्तुं न शक्यो भरतानुजः ॥ १११ ॥

जिस रावणमें देवताओंसहित हिमालय, मन्दराचल, मेरुगिरि अथवा तीनों लोकोंको भुजाओंद्वारा उठा लेनेकी शक्ति थी, वही भरतके छोटे भाई लक्ष्मणको उठानेमें समर्थ न हो सका ॥ १११ ॥

शक्त्या ब्राह्म्या तु सौमित्रिस्ताडितोऽपि स्तनान्तरे ।
विष्णोरमीमांस्यभागमात्मानं प्रत्यनुस्मरत् ॥ ११२ ॥

ब्रह्माकी शक्तिसे छातीमें चोट खानेपर भी लक्ष्मणजीने भगवान् विष्णुके अचिन्त्य अंशरूपसे अपना चिन्तन किया ॥ ११२ ॥

ततो दानवदर्पघ्नं सौमित्रिं देवकण्टकः ।
तं पीडयित्वा बाहुभ्यां न प्रभुर्लङ्घनेऽभवत् ॥ ११३ ॥

अतः देवशत्रु रावण दानवोंका दर्प चूर्ण करनेवाले लक्ष्मणको अपनी दोनों भुजाओंमें दबाकर हिलानेमें भी समर्थ न हो सका ॥ ११३ ॥

ततः क्रुद्धो वायुसुतो रावणं समभिद्रवत् ।
आजघानोरसि क्रुद्धो वज्रकल्पेन मुष्टिना ॥ ११४ ॥

इसी समय क्रोधसे भरे हुए वायुपुत्र हनुमान्‌जी रावणकी ओर दौड़े और अपने वज्र-सरीखे मुक्केसे रावणकी छातीमें मारा ॥ ११४ ॥

तेन मुष्टिप्रहारेण रावणो राक्षसेश्वरः ।
जानुभ्यामगमद् भूमौ चचाल च पपात च ॥ ११५ ॥

उस मुक्केकी मारसे राक्षसराज रावणने धरतीपर घुटने टेक दिये। वह काँपने लगा और अन्ततोगत्वा गिर पड़ा ॥ ११५ ॥

आस्यैश्च नेत्रैः श्रवणैः पपात रुधिरं बहु ।
विघूर्णमानो निश्चेष्टो रथोपस्थ उपाविशत् ॥ ११६ ॥

उसके मुख, नेत्र और कानोंसे बहुत सा रक्त गिरने लगा और वह चक्कर काटता हुआ रथके पिछले भागमें निश्चेष्ट होकर जा बैठा ॥ ११६ ॥

विसंज्ञो मूर्च्छितश्चासीन्न च स्थानं समालभत् ।
विसंज्ञं रावणं दृष्ट्वा समरे भीमविक्रमम् ॥ ११७ ॥
ऋषयो वानराश्चैव नेदुर्देवाश्च सासुराः ।

वह मूर्च्छित होकर अपनी सुध-बुध खो बैठा। वहाँ भी वह स्थिर न रह सका—तड़पता और छटपटाता रहा। समराङ्गणमें भयंकर पराक्रमी रावणको अचेत हुआ देख ऋषि, देवता, असुर और वानर हर्षनाद करने लगे ॥ ११७½ ॥

हनूमानथ तेजस्वी लक्ष्मणं रावणार्दितम् ॥ ११८ ॥
आनयद् राघवाभ्याशं बाहुभ्यां परिगृह्य तम् ।

इसके पश्चात् तेजस्वी हनुमान् रावणपीड़ित लक्ष्मणको दोनों हाथोंसे उठाकर श्रीरघुनाथजीके निकट ले आये ॥ ११८½ ॥

वायुसूनोः सुहृत्त्वेन भक्त्या परमया च सः ।
शत्रूणामप्यकम्प्योऽपि लघुत्वमगमत् कपेः ॥ ११९ ॥

हनुमान्‌जीके सौहार्द और उत्कट भक्तिभावके कारण लक्ष्मणजी उनके लिये हलके हो गये। शत्रुओंके लिये तो वे अब भी अकम्पनीय थे—वे उन्हें हिला नहीं सकते थे ॥ ११९ ॥

तं समुत्सृज्य सा शक्तिः सौमित्रिं युधि निर्जितम् ।
रावणस्य रथे तस्मिन् स्थानं पुनरुपागमत् ॥ १२० ॥

युद्धमें पराजित हुए लक्ष्मणको छोड़कर वह शक्ति पुनः रावणके रथपर लौट आयी ॥ १२० ॥

रावणोऽपि महातेजाः प्राप्य संज्ञां महाहवे ।
आददे निशितान् बाणाञ्जग्राह च महद्धनुः ॥ १२१ ॥

थोड़ी देरमें होशमें आनेपर महातेजस्वी रावणने फिर विशाल धनुष उठाया और पैने बाण हाथमें लिये ॥ १२१ ॥

आश्वस्तश्च विशल्यश्च लक्ष्मणः शत्रुसूदनः ।
विष्णोर्भागममीमांस्यमात्मानं प्रत्यनुस्मरन् ॥ १२२ ॥

शत्रुसूदन लक्ष्मणजी भी भगवान् विष्णुके अचिन्तनीय अंशरूपसे अपना चिन्तन करके स्वस्थ और नीरोग हो गये ॥ १२२ ॥

निपातितमहावीरां वानराणां महाचमूम् ।
राघवस्तु रणे दृष्ट्वा रावणं समभिद्रवत् ॥ १२३ ॥

वानरोंकी विशाल वाहिनीके बड़े-बड़े वीर मार गिराये गये, यह देखकर रणभूमिमें रघुनाथजीने रावणपर धावा किया ॥ १२३ ॥

अथैनमनुसंक्रम्य हनूमान् वाक्यमब्रवीत् ।
मम पृष्ठं समारुह्य राक्षसं शास्तुमर्हसि ॥ १२४ ॥
विष्णुर्यथा गरुत्मन्तमारुह्यामरवैरिणम् ।

उस समय हनुमान्‌जीने उनके पास आकर कहा—'प्रभो! जैसे भगवान् विष्णु गरुड़पर चढ़कर दैत्योंका संहार करते हैं, उसी प्रकार आप मेरी पीठपर चढ़कर इस राक्षसको दण्ड दें' ॥ १२४½ ॥

तच्छ्रुत्वा राघवो वाक्यं वायुपुत्रेण भाषितम् ॥ १२५ ॥
अथारुरोह सहसा हनूमन्तं महाकपिम् ।

पवनकुमारकी कही हुई यह बात सुनकर श्रीरघुनाथजी सहसा उन महाकपि हनुमान्‌की पीठपर चढ़ गये ॥ १२५½ ॥

रथस्थं रावणं संख्ये ददर्श मनुजाधिपः ॥ १२६ ॥
तमालोक्य महातेजाः प्रदुद्राव स रावणम् ।
वैरोचनमिव क्रुद्धो विष्णुरभ्युद्यतायुधः ॥ १२७ ॥

महाराज श्रीरामने समराङ्गणमें रावणको रथपर बैठा देखा। उसे देखते ही महातेजस्वी श्रीराम रावणकी ओर उसी प्रकार दौड़े, जैसे कुपित हुए भगवान् विष्णु अपना चक्र उठाये विरोचनकुमार बलिपर टूट पड़े थे ॥ १२६-१२७ ॥

ज्याशब्दमकरोत् तीव्रं वज्रनिष्पेषनिष्ठुरम् ।
गिरा गम्भीरया रामो राक्षसेन्द्रमुवाच ह ॥ १२८ ॥

उन्होंने अपने धनुषकी तीव्र टंकार प्रकट की, जो वज्रकी गड़गड़ाहटसे भी अधिक कठोर थी। इसके बाद श्रीरामचन्द्रजी राक्षसराज रावणसे गम्भीर वाणीमें बोले— ॥ १२८ ॥

तिष्ठ तिष्ठ मम त्वं हि कृत्वा विप्रियमीदृशम्।
क्व नु राक्षसशार्दूल गत्वा मोक्षमवाप्स्यसि ॥ १२९ ॥

'राक्षसोंमें बाघ बने हुए रावण! खड़ा रह, खड़ा रह। मेरा ऐसा अपराध करके तू कहाँ जाकर प्राणसंकटसे छुटकारा पा सकेगा ॥ १२९ ॥

यदीन्द्रवैवस्वतभास्करान् वा
स्वायंभुवैश्वानरशंकरान् वा।
गमिष्यसि त्वं दशधा दिशो वा
तथापि मे नाद्य गतो विमोक्ष्यसे ॥ १३० ॥

'यदि तू इन्द्र, यम अथवा सूर्यके पास, ब्रह्मा, अग्नि या शंकरके समीप अथवा दसों दिशाओंमें भागकर जायगा तो भी अब मेरे हाथसे बच नहीं सकेगा ॥ १३० ॥

यश्चैष शक्त्या निहतस्त्वयाद्य
गच्छन् विषादं सहसाभ्युपेत्य।
स एष रक्षोगणराज मृत्युः
सपुत्रपौत्रस्य तवाद्य युद्धे ॥ १३१ ॥

'तूने आज अपनी शक्तिके द्वारा युद्धमें जाते हुए जिन लक्ष्मणको आहत किया और जो उस शक्तिकी चोटसे सहसा मूर्च्छित हो गये थे, उन्हींके उस तिरस्कारका बदला लेनेके लिये आज मैं युद्धभूमिमें उपस्थित हुआ हूँ। राक्षसराज! मैं पुत्र-पौत्रोंसहित तेरी मौत बनकर आया हूँ ॥ १३१ ॥

एतेन चात्यद्भुतदर्शनानि
शरैर्जनस्थानकृतालयानि।
चतुर्दशान्यात्तवरायुधानि
रक्षःसहस्राणि निषूदितानि ॥ १३२ ॥

'रावण! तेरे सामने खड़े हुए इस रघुवंशी राजकुमारने ही अपने बाणोंद्वारा जनस्थाननिवासी उन चौदह हजार राक्षसोंका संहार कर डाला था, जो अद्भुत एवं दर्शनीय योद्धा थे और उत्तमोत्तम अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न थे' ॥ १३२ ॥

राघवस्य वचः श्रुत्वा राक्षसेन्द्रो महाबलः।
वायुपुत्रं महावेगं वहन्तं राघवं रणे ॥ १३३ ॥
रोषेण महताऽऽविष्टः पूर्ववैरमनुस्मरन्।
आजघान शरैर्दीप्तैः कालानलशिखोपमैः ॥ १३४ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी यह बात सुनकर महाबली राक्षसराज रावण महान् रोषसे भर गया। उसे पहलेके वैरका स्मरण हो आया और उसने कालाग्निकी शिखाके समान दीप्तिशाली बाणोंद्वारा रणभूमिमें श्रीरघुनाथजीका वाहन बने हुए महान् वेगशाली वायुपुत्र हनुमान्‌को अत्यन्त घायल कर दिया ॥ १३३-१३४ ॥

राक्षसेनाहवे तस्य ताडितस्यापि सायकैः।
स्वभावतेजोयुक्तस्य भूयस्तेजोऽभ्यवर्धत ॥ १३५ ॥

युद्धस्थलमें उस राक्षसके सायकोंसे आहत होनेपर भी स्वाभाविक तेजसे सम्पन्न हनुमान्‌जीका शौर्य और भी बढ़ गया ॥ १३५ ॥

ततो रामो महातेजा रावणेन कृतव्रणम्।
दृष्ट्वा प्लवगशार्दूलं क्रोधस्य वशमेयिवान् ॥ १३६ ॥

वानरशिरोमणि हनुमान्‌को रावणने घायल कर दिया, यह देखकर महातेजस्वी श्रीराम क्रोधके वशीभूत हो गये ॥ १३६ ॥

तस्याभिसंक्रम्य रथं सचक्रं
साश्वध्वजच्छत्रमहापताकम्।
ससारथिं साशनिशूलखड्गं
रामः प्रचिच्छेद शितैः शराग्रैः ॥ १३७ ॥

फिर तो उन भगवान् श्रीरामने आक्रमण करके पहिये, घोड़े, ध्वजा, छत्र, पताका, सारथि, अशनि, शूल और खड्गसहित उसके रथको अपने पैने बाणोंसे तिल-तिल करके काट डाला ॥ १३७ ॥

अथेन्द्रशत्रुं तरसा जघान
बाणेन वज्राशनिसंनिभेन।
भुजान्तरे व्यूढसुजातरूपे
वज्रेण मेरुं भगवानिवेन्द्रः ॥ १३८ ॥

जैसे भगवान् इन्द्रने वज्रके द्वारा मेरु पर्वतपर आघात किया हो, उसी प्रकार प्रभु श्रीरामचन्द्रजीने वज्र और अशनिके समान तेजस्वी बाणसे इन्द्रशत्रु रावणकी विशाल एवं सुन्दर छातीमें वेगपूर्वक आघात किया ॥ १३८ ॥

यो वज्रपाताशनिसंनिपाता-
न्न चुक्षुभे नापि चचाल राजा।
स रामबाणाभिहतो भृशार्त-
श्चचाल चापं च मुमोच वीरः ॥ १३९ ॥

जो राजा रावण वज्र और अशनिके आघातसे भी कभी क्षुब्ध एवं विचलित नहीं हुआ था, वही वीर उस समय श्रीरामचन्द्रजीके बाणोंसे घायल हो अत्यन्त आर्त एवं कम्पित हो उठा और उसके हाथसे धनुष छूटकर गिर पड़ा ॥ १३९ ॥

तं विह्वलन्तं प्रसमीक्ष्य रामः
समाददे दीप्तमथार्धचन्द्रम्।
तेनार्कवर्णं सहसा किरीटं
चिच्छेद रक्षोधिपतेर्महात्मा ॥ १४० ॥

रावणको व्याकुल हुआ देख महात्मा श्रीरामचन्द्रजीने एक चमचमाता हुआ अर्धचन्द्राकार बाण हाथमें लिया और उसके द्वारा राक्षसराजका सूर्यके समान देदीप्यमान मुकुट सहसा काट डाला ॥ १४० ॥

तं निर्विषाशीविषसंनिकाशं
शान्तार्चिषं सूर्यमिवाप्रकाशम्।

गतश्रियं कृत्तकिरीटकूट-
मुवाच रामो युधि राक्षसेन्द्रम् ॥ १४१ ॥

उस समय धनुष न होनेसे रावण विषहीन सर्पके समान अपना प्रभाव खो बैठा था। सायंकालमें जिसकी प्रभा शान्त हो गयी हो, उस सूर्यदेवके समान निस्तेज हो गया था तथा मुकुटोंका समूह कट जानेसे श्रीहीन दिखायी देता था। उस अवस्थामें श्रीरामने युद्धभूमिमें राक्षसराजसे कहा— ॥ १४१ ॥

कृतं त्वया कर्म महत् सुभीमं
हतप्रवीरश्च कृतस्त्वयाहम्।
तस्मात् परिश्रान्त इति व्यवस्य
न त्वां शरैर्मृत्युवशं नयामि ॥ १४२ ॥

'रावण! तुमने आज बड़ा भयंकर कर्म किया है, मेरी सेनाके प्रधान-प्रधान वीरोंको मार डाला है। इतनेपर भी थका हुआ समझकर मैं बाणोंद्वारा तुझे मौतके अधीन नहीं कर रहा हूँ ॥ १४२ ॥

प्रयाहि जानामि रणार्दितस्त्वं
प्रविश्य रात्रिंचरराज लङ्काम्।
आश्वस्य निर्याहि रथी च धन्वी
तदा बलं प्रेक्ष्यसि मे रथस्थः ॥ १४३ ॥

'निशाचरराज! मैं जानता हूँ तू युद्धसे पीड़ित है। इसलिये आज्ञा देता हूँ, जा, लङ्कामें प्रवेश करके कुछ देर विश्राम कर ले। फिर रथ और धनुषके साथ निकलना। उस समय रथारूढ़ रहकर तू फिर मेरा बल देखना' ॥ १४३ ॥

स एवमुक्तो हतदर्पहर्षो
निकृत्तचापः स हताश्वसूतः।
शरार्दितो भग्नमहाकिरीटो
विवेश लङ्कां सहसा स राजा ॥ १४४ ॥

भगवान् श्रीरामके ऐसा कहनेपर राजा रावण सहसा लङ्कामें घुस गया। उसका हर्ष और अभिमान मिट्टीमें मिल चुका था, धनुष काट दिया गया था, घोड़े तथा सारथि मार डाले गये थे, महान् किरीट खण्डित हो चुका था और वह स्वयं भी बाणोंसे बहुत पीड़ित था ॥ १४४ ॥

तस्मिन् प्रविष्टे रजनीचरेन्द्रे
महाबले दानवदेवशत्रौ।
हरीन् विशल्यान् सह लक्ष्मणेन
चकार रामः परमाहवाग्रे ॥ १४५ ॥

देवताओं और दानवोंके शत्रु महाबली निशाचरराज रावणके लङ्कामें चले जानेपर लक्ष्मणसहित श्रीरामने उस महायुद्धके मुहानेपर वानरोंके शरीरसे बाण निकाले ॥ १४५ ॥

तस्मिन् प्रभग्ने त्रिदशेन्द्रशत्रौ
सुरासुरा भूतगणा दिशश्च।
ससागराः सर्षिमहोरगाश्च
तथैव भूम्यम्बुचराः प्रहृष्टाः ॥ १४६ ॥

देवराज इन्द्रका शत्रु रावण जब युद्धस्थलसे भाग गया, तब उसके पराभवका विचार करके देवता, असुर, भूत, दिशाएँ, समुद्र, ऋषिगण, बड़े-बड़े नाग तथा भूचर और जलचर प्राणी भी बहुत प्रसन्न हुए ॥ १४६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे एकोनषष्टितमः सर्गः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें उनसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

षष्टितमः सर्गः

अपनी पराजयसे दुःखी हुए रावणकी आज्ञासे सोये हुए कुम्भकर्णका जगाया जाना और उसे देखकर वानरोंका भयभीत होना

स प्रविश्य पुरीं लङ्कां रामबाणभयार्दितः।
भग्नदर्पस्तदा राजा बभूव व्यथितेन्द्रियः ॥ १ ॥

भगवान् श्रीरामके बाणों और भयसे पीड़ित हो राक्षसराज रावण जब लङ्कापुरीमें पहुँचा, तब उसका अभिमान चूर-चूर हो गया था। उसकी सारी इन्द्रियाँ व्यथासे व्याकुल थीं ॥ १ ॥

मातंग इव सिंहेन गरुडेनेव पन्नगः।
अभिभूतोऽभवद् राजा राघवेण महात्मना ॥ २ ॥

जैसे सिंह गजराजको और गरुड़ विशाल नागको पीड़ित एवं पराजित कर देता है, उसी प्रकार महात्मा रघुनाथजीने राजा रावणको अभिभूत कर दिया था ॥ २ ॥

ब्रह्मदण्डप्रतीकानां विद्युच्चलितवर्चसाम्।
स्मरन् राघवबाणानां विव्यथे राक्षसेश्वरः ॥ ३ ॥

भगवान् श्रीरामके बाण ब्रह्मदण्डके प्रतीक जान पड़ते थे। उनकी दीप्ति चपलाके समान चञ्चल थी। उन्हें याद करके राक्षसराज रावणके मनमें बड़ी व्यथा हुई ॥ ३ ॥

स काञ्चनमयं दिव्यमाश्रित्य परमासनम्।
विप्रेक्षमाणो रक्षांसि रावणो वाक्यमब्रवीत् ॥ ४ ॥

सोनेके बने हुए दिव्य एवं श्रेष्ठ सिंहासनपर बैठकर राक्षसोंकी ओर देखता हुआ रावण उस समय इस प्रकार कहने लगा— ॥ ४ ॥

सर्वं तत् खलु मे मोघं यत् तप्तं परमं तपः।
यत् समानो महेन्द्रेण मानुषेण विनिर्जितः॥ ५॥

'मैंने जो बहुत बड़ी तपस्या की थी, वह सब अवश्य ही व्यर्थ हो गयी; क्योंकि आज महेन्द्रतुल्य पराक्रमी मुझ रावणको एक मनुष्यने परास्त कर दिया॥ ५॥

इदं तद् ब्रह्मणो घोरं वाक्यं मामभ्युपस्थितम्।
मानुषेभ्यो विजानीहि भयं त्वमिति तत्तथा॥ ६॥

'ब्रह्माजीने मुझसे कहा था कि 'तुम्हें मनुष्योंसे भय प्राप्त होगा। इस बातको अच्छी तरह जान लो'। उनका कहा हुआ यह घोर वचन इस समय सफल होकर मेरे समक्ष उपस्थित हुआ है॥ ६॥

देवदानवगन्धर्वैर्यक्षराक्षसपन्नगैः।
अवध्यत्वं मया प्रोक्तं मानुषेभ्यो न याचितम्॥ ७॥

'मैंने तो देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सर्पोंसे ही अवध्य होनेका वर माँगा था, मनुष्योंसे अभय होनेकी वर-याचना नहीं की थी॥ ७॥

तमिमं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम्।
इक्ष्वाकुकुलजातेन अनरण्येन यत् पुरा॥ ८॥
उत्पत्स्यति हि मद्वंशपुरुषो राक्षसाधम।
यस्त्वां सपुत्रं सामात्यं सबलं साश्वसारथिम्॥ ९॥
निहनिष्यति संग्रामे त्वां कुलाधम दुर्मते।

'पूर्वकालमें इक्ष्वाकुवंशी राजा अनरण्यने मुझे शाप देते हुए कहा था कि 'राक्षसाधम! कुलाङ्गार! दुर्मते! मेरे ही वंशमें एक ऐसा श्रेष्ठ पुरुष उत्पन्न होगा, जो तुझे पुत्र, मन्त्री, सेना, अश्व और सारथिके सहित समराङ्गणमें मार डालेगा।' मालूम होता है कि अनरण्यने जिसकी ओर संकेत किया था, वह दशरथकुमार राम वही मनुष्य है॥ ८-९½॥

शप्तोऽहं वेदवत्या च यथा सा धर्षिता पुरा॥ १०॥
सेयं सीता महाभागा जाता जनकनन्दिनी।

'इसके सिवा पूर्वकालमें मुझे वेदवतीने भी शाप दिया था; क्योंकि मैंने उसके साथ बलात्कार किया था। जान पड़ता है वही यह महाभागा जनकनन्दिनी सीता होकर प्रकट हुई है॥ १०½॥

उमा नन्दीश्वरश्चापि रम्भा वरुणकन्यका॥ ११॥
यथोक्तास्तन्मया प्राप्तं न मिथ्या ऋषिभाषितम्।

'इसी तरह उमा, नन्दीश्वर, रम्भा और वरुण-कन्याने भी जैसा-जैसा कहा था, वैसा ही परिणाम मुझे प्राप्त हुआ है।* सच है ऋषियोंकी बात कभी झूठी नहीं होती॥ ११½॥

एतदेव समागम्य यत्नं कर्तुमिहार्हथ॥ १२॥
राक्षसाश्चापि तिष्ठन्तु चर्यागोपुरमूर्धसु।

'ये शाप ही मुझपर भय अथवा संकट लानेमें कारण हुए हैं। इस बातको जानकर अब तुमलोग आये हुए संकटको टालनेका प्रयत्न करो। राक्षसलोग राजमार्गों तथा गोपुरोंके शिखरोंपर उनकी रक्षाके लिये डटे रहें॥ १२½॥

स चाप्रतिमगाम्भीर्यो देवदानवदर्पहा॥ १३॥
ब्रह्मशापाभिभूतस्तु कुम्भकर्णो विबोध्यताम्।

'साथ ही जिसके गाम्भीर्यकी कहीं तुलना नहीं है, जो देवताओं और दानवोंका दर्प दलन करनेवाला है तथा ब्रह्माजीके शापसे प्राप्त हुई निद्रा जिसे सदा अभिभूत किये रहती है, उस कुम्भकर्णको भी जगाया जाय'॥ १३½॥

समरे जितमात्मानं प्रहस्तं च निषूदितम्॥ १४॥
ज्ञात्वा रक्षोबलं भीममादिदेश महाबलः।
द्वारेषु यत्नः क्रियतां प्राकारश्चाधिरुह्यताम्॥ १५॥
निद्रावशसमाविष्टः कुम्भकर्णो विबोध्यताम्।

'प्रहस्त मारा गया और मैं भी समराङ्गणमें परास्त हो गया' ऐसा जानकर महाबली रावणने राक्षसोंकी भयानक सेनाको आदेश दिया कि 'तुमलोग नगरके दरवाजोंपर रहकर उनकी रक्षाके लिये यत्न करो। परकोटेपर भी चढ़ जाओ और निद्राके अधीन हुए कुम्भकर्णको जगा दो॥ १४-१५½॥

सुखं स्वपिति निश्चिन्तः कामोपहतचेतनः॥ १६॥
नव सप्त दशाष्टौ च मासान् स्वपिति राक्षसः।
मन्त्रं कृत्वा प्रसुप्तोऽयमितस्तु नवमेऽहनि॥ १७॥

'(मैं तो दुःखी, चिन्तित और अपूर्णकाम होकर जाग रहा हूँ और) वह राक्षस कामभोगसे अचेत हो बड़ी निश्चिन्तताके साथ सुखपूर्वक सो रहा है। वह कभी नौ, कभी सात, कभी दस और कभी आठ मासतक सोता रहता है। यह आजसे नौ महीने पहले मुझसे सलाह करके सोया था॥ १६-१७॥

तं तु बोधयत क्षिप्रं कुम्भकर्णं महाबलम्।
स हि संख्ये महाबाहुः ककुदं सर्वरक्षसाम्।
वानरान् राजपुत्रौ च क्षिप्रमेव हनिष्यति॥ १८॥

'अतः तुमलोग महाबली कुम्भकर्णको शीघ्र जगा दो। महाबाहु कुम्भकर्ण सभी राक्षसोंमें श्रेष्ठ है। वह युद्धस्थलमें वानरों और उन राजकुमारोंको भी शीघ्र ही मार डालेगा॥ १८॥

एष केतुः परं संख्ये मुख्यो वै सर्वरक्षसाम्।
कुम्भकर्णः सदा शेते मूढो ग्राम्यसुखे रतः॥ १९॥

---

* उमाने कैलास उठानेके समय भयभीत होनेसे रावणको शाप दिया था कि 'तेरी मृत्यु स्त्रीके कारण होगी।' नन्दीश्वरकी वानर-मूर्ति देखकर रावण हँसा था, इसलिये उन्होंने कहा था—'मेरे समान रूप और पराक्रमवाले ही तेरे कुलका नाश करेंगे।' रम्भाके निमित्तसे नल-कूबरने और वरुण-कन्या पुञ्जिकस्थलाके निमित्तसे ब्रह्माजीने शाप दिया था कि 'अनिच्छासे किसी स्त्रीके साथ सम्भोग करनेपर तेरी मृत्यु हो जायगी।'

'समस्त राक्षसोंमें प्रधान वह कुम्भकर्ण समरभूमिमें हमारे लिये सर्वोत्तम विजय-वैजयन्तीके समान है; किंतु खेदकी बात है कि वह मूर्ख ग्राम्यसुखमें आसक्त होकर सदा सोता रहता है॥ १९॥

रामेणाभिनिरस्तस्य संग्रामेऽस्मिन् सुदारुणे।
भविष्यति न मे शोकः कुम्भकर्णे विबोधिते॥ २०॥

'यदि कुम्भकर्णको जगा दिया जाय तो इस भयंकर संग्राममें मुझे रामसे पराजित होनेका शोक नहीं होगा॥ २०॥

किं करिष्याम्यहं तेन शक्रतुल्यबलेन हि।
ईदृशे व्यसने घोरे यो न साह्याय कल्पते॥ २१॥

'यदि इस घोर संकटके समय भी कुम्भकर्ण मेरी सहायता करनेमें समर्थ नहीं हो रहा है तो इन्द्रके तुल्य बलशाली होनेपर भी उससे मेरा प्रयोजन ही क्या है—मैं उसे लेकर क्या करूँगा?'॥ २१॥

ते तु तद् वचनं श्रुत्वा राक्षसेन्द्रस्य राक्षसाः।
जग्मुः परमसम्भ्रान्ताः कुम्भकर्णनिवेशनम्॥ २२॥

राक्षसराज रावणकी यह बात सुनकर समस्त राक्षस बड़ी घबराहटमें पड़कर कुम्भकर्णके घर गये॥ २२॥

ते रावणसमादिष्टा मांसशोणितभोजनाः।
गन्धं माल्यं महद्भक्ष्यमादाय सहसा ययुः॥ २३॥

रक्त-मांसका भोजन करनेवाले वे राक्षस रावणकी आज्ञा पाकर गन्ध, माल्य तथा खाने-पीनेकी बहुत-सी सामग्री लिये सहसा कुम्भकर्णके पास गये॥ २३॥

तां प्रविश्य महाद्वारां सर्वतो योजनायताम्।
कुम्भकर्णगुहां रम्यां पुष्पगन्धप्रवाहिनीम्॥ २४॥
कुम्भकर्णस्य निःश्वासादवधूता महाबलाः।
प्रतिष्ठमानाः कृच्छ्रेण यत्नात् प्रविविशुर्गुहाम्॥ २५॥

कुम्भकर्ण एक गुफामें रहता था, जो बड़ी ही सुन्दर थी और वहाँके वातावरणमें फूलोंकी सुगन्ध छायी रहती थी। उसकी लंबाई-चौड़ाई सब ओरसे एक-एक योजनकी थी तथा उसका दरवाजा बहुत बड़ा था। उसमें प्रवेश करते ही वे महाबली राक्षस कुम्भकर्णकी साँसके वेगसे सहसा पीछेको ठेल दिये गये। फिर बड़ी कठिनाईसे पैर जमाते हुए वे पुनः प्रयत्न करके उस गुफाके भीतर घुसे॥ २४-२५॥

तां प्रविश्य गुहां रम्यां रत्नकाञ्चनकुट्टिमाम्।
ददृशुर्नैर्ऋतव्याघ्राः शयानं भीमविक्रमम्॥ २६॥

उस गुफाकी फर्शमें रत्न और सुवर्ण जड़े गये थे, जिससे उसकी रमणीयता बहुत बढ़ गयी थी। उसके भीतर प्रवेश करके उन श्रेष्ठ राक्षसोंने देखा, भयानक पराक्रमी कुम्भकर्ण सो रहा है॥ २६॥

ते तु तं विकृतं सुप्तं विकीर्णमिव पर्वतम्।
कुम्भकर्णं महानिद्रं सहिताः प्रत्यबोधयन्॥ २७॥

महानिद्रामें निमग्न हुआ कुम्भकर्ण बिखरे हुए पर्वतके समान विकृतावस्थामें सोकर खर्राटे ले रहा था, अतः वे सब राक्षस एकत्र हो उसे जगानेकी चेष्टा करने लगे॥ २७॥

ऊर्ध्वलोमाञ्चिततनुं श्वसन्तमिव पन्नगम्।
भ्रामयन्तं विनिःश्वासैः शयानं भीमविक्रमम्॥ २८॥

उसका सारा शरीर ऊपर उठी हुई रोमावलियोंसे भरा था। वह सर्पके समान साँस लेता और अपने निःश्वासोंसे लोगोंको चक्करमें डाल देता था। वहाँ सोया हुआ वह राक्षस भयानक बल-विक्रमसे सम्पन्न था॥ २८॥

भीमनासापुटं तं तु पातालविपुलाननम्।
शयने न्यस्तसर्वाङ्गं मेदोरुधिरगन्धिनम्॥ २९॥

उसकी नासिकाके दोनों छिद्र बड़े भयंकर थे। मुँह पातालके समान विशाल था। उसने अपना सारा शरीर शय्यापर डाल रखा था और उसकी देहसे रक्त और चर्बीकी-सी गन्ध प्रकट होती थी॥ २९॥

काञ्चनाङ्गदनद्धाङ्गं किरीटिनार्कवर्चसम्।
ददृशुर्नैर्ऋतव्याघ्रं कुम्भकर्णमरिंदमम्॥ ३०॥

उसकी भुजाओंमें बाजूबन्द शोभा पाते थे। मस्तकपर तेजस्वी किरीट धारण करनेके कारण वह सूर्यदेवके समान प्रभापुञ्जसे प्रकाशित हो रहा था। इस रूपमें निशाचरश्रेष्ठ शत्रुदमन कुम्भकर्णको उन राक्षसोंने देखा॥ ३०॥

ततश्चक्रुर्महात्मानः कुम्भकर्णस्य चाग्रतः।
भूतानां मेरुसंकाशं राशिं परमतर्पणम्॥ ३१॥

तदनन्तर उन महाकाय निशाचरोंने कुम्भकर्णके सामने प्राणियोंके मेरुपर्वत-जैसे ढेर लगा दिये, जो उसे अत्यन्त तृप्ति प्रदान करनेवाले थे॥ ३१॥

मृगाणां महिषाणां च वराहाणां च संचयान्।
चक्रुर्नैर्ऋतशार्दूला राशिमन्नस्य चाद्भुतम्॥ ३२॥

उन श्रेष्ठ राक्षसोंने वहाँ मृगों, भैंसों और सूअरोंके समूह खड़े कर दिये तथा अन्नकी भी अद्भुत राशि एकत्र कर दी॥ ३२॥

ततः शोणितकुम्भांश्च मांसानि विविधानि च।
पुरस्तात् कुम्भकर्णस्य चक्रुस्त्रिदशशत्रवः॥ ३३॥

इतना ही नहीं, देवद्रोहियोंने कुम्भकर्णके आगे रक्तसे भरे हुए बहुतेरे घड़े और नाना प्रकारके मांस भी रख दिये॥ ३३॥

लिलिपुश्च परार्ध्येन चन्दनेन परंतपम्।
दिव्यैराश्वासयामासुर्माल्यैर्गन्धैश्च गन्धिभिः॥ ३४॥
धूपगन्धांश्च ससृजुस्तुष्टुवुश्च परंतपम्।
जलदा इव चानेदुर्यातुधानास्ततस्ततः॥ ३५॥

तत्पश्चात् उन्होंने शत्रुसंतापी कुम्भकर्णके शरीरमें बहुमूल्य चन्दनका लेप किया। दिव्य सुगन्धित पुष्प और चन्दन सुघाये। धूपोंकी सुगन्ध फैलायी। उस शत्रुदमन वीरकी

स्तुति की तथा जहाँ-तहाँ खड़े हुए राक्षस मेघोंके समान गम्भीर ध्वनिसे गर्जना करने लगे ॥ ३४-३५ ॥

शङ्खांश्च पूरयामासुः शशाङ्कसदृशप्रभान्।
तुमुलं युगपच्चापि विनेदुश्चाप्यमर्षिताः ॥ ३६ ॥

(इतनेपर भी जब कुम्भकर्ण नहीं उठा, तब) अमर्षसे भरे हुए राक्षस चन्द्रमाके समान श्वेत रंगके बहुत-से शङ्ख फूँकने तथा एक साथ तुमुल-ध्वनिसे गर्जना करने लगे ॥ ३६ ॥

नेदुरास्फोटयामासुश्चिक्षिपुस्ते निशाचराः।
कुम्भकर्णविबोधार्थं चक्रुस्ते विपुलं स्वरम् ॥ ३७ ॥

वे निशाचर सिंहनाद करने, ताल ठोंकने और कुम्भकर्णके विभिन्न अङ्गोंको झकझोरने लगे। उन्होंने कुम्भकर्णको जगानेके लिये बड़े जोर-जोरसे गम्भीर ध्वनि की ॥ ३७ ॥

सशङ्खभेरीपणवप्रणादं
सास्फोटितक्ष्वेलितसिंहनादम्।
दिशो द्रवन्तस्त्रिदिवं किरन्तः
श्रुत्वा विहंगाः सहसा निपेतुः ॥ ३८ ॥

शङ्ख, भेरी और पणव बजने लगे। ताल ठोंकने, गर्जने और सिंहनादका शब्द सब ओर गूँज उठा। वह तुमुल नाद सुनकर पक्षी समस्त दिशाओंकी ओर भागने और आकाशमें उड़ने लगे। उड़ते-उड़ते वे सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ते थे ॥ ३८ ॥

यदा भृशं तैर्निनदैर्महात्मा
न कुम्भकर्णो बुबुधे प्रसुप्तः।
ततो भुशुण्डीमुसलानि सर्वे
रक्षोगणास्ते जगृहुर्गदाश्च ॥ ३९ ॥

जब उस महान् कोलाहलसे भी सोया हुआ विशालकाय कुम्भकर्ण नहीं जग सका, तब उन समस्त राक्षसोंने अपने हाथोंमें भुशुण्डी, मुसल और गदाएँ ले लीं ॥ ३९ ॥

तं शैलशृङ्गैर्मुसलैर्गदाभि-
र्वक्षःस्थले मुद्गरमुष्टिभिश्च।
सुखप्रसुप्तं भुवि कुम्भकर्णं
रक्षांस्युदग्राणि तदा निजघ्नुः ॥ ४० ॥

कुम्भकर्ण भूतलपर ही सुखसे सो रहा था। उसी अवस्थामें उन प्रचण्ड राक्षसोंने उस समय उसकी छातीपर पर्वतशिखरों, मुसलों, गदाओं, मुद्गरों और मुक्कोंसे मारना आरम्भ किया ॥ ४० ॥

तस्य निःश्वासवातेन कुम्भकर्णस्य रक्षसः।
राक्षसाः कुम्भकर्णस्य स्थातुं शेकुर्न चाग्रतः ॥ ४१ ॥

किंतु राक्षस कुम्भकर्णकी निःश्वास-वायुसे प्रेरित हो वे सब निशाचर उसके आगे ठहर नहीं पाते थे ॥ ४१ ॥

ततः परिहिता गाढं राक्षसा भीमविक्रमाः।
मृदङ्गपणवान् भेरीः शङ्खकुम्भगणांस्तथा ॥ ४२ ॥
दश राक्षससाहस्रं युगपत्पर्यवारयत्।
नीलाञ्जनचयाकारं ते तु तं प्रत्यबोधयन् ॥ ४३ ॥

तदनन्तर अपने वस्त्रोंको खूब कसकर बाँध लेनेके पश्चात् वे भयानक पराक्रमी राक्षस जिनकी संख्या लगभग दस हजार थी, एक ही समय कुम्भकर्णको घेरकर खड़े हो गये और काले कोयलेके ढेरके समान पड़े हुए उस निशाचरको जगानेका प्रयत्न करने लगे। उन सबने एक साथ मृदंग, पणव, भेरी, शङ्ख और कुम्भ (धौंसे) बजाने आरम्भ किये ॥ ४२-४३ ॥

अभिघ्नन्तो नदन्तश्च न च सम्बुबुधे तदा।
यदा चैनं न शेकुस्ते प्रतिबोधयितुं तदा ॥ ४४ ॥
ततो गुरुतरं यत्नं दारुणं समुपाक्रमन्।

इस तरह वे राक्षस बाजे बजाते और गर्जते रहे तो भी कुम्भकर्णकी निद्रा नहीं टूटी। जब वे उसे किसी तरह जगा न सके, तब उन्होंने पहलेसे भी भारी प्रयत्न आरम्भ किया ॥ ४४½ ॥

अश्वानुष्ट्रान् खरान् नागाञ्जघ्नुर्दण्डकशाङ्कुशैः ॥ ४५ ॥
भेरीशङ्खमृदङ्गांश्च सर्वप्राणैरवादयन्।
निजघ्नुश्चास्य गात्राणि महाकाष्ठकटंकरैः ॥ ४६ ॥
मुद्गरैर्मुसलैश्चापि सर्वप्राणसमुद्यतैः।
तेन नादेन महता लङ्का सर्वा प्रपूरिता।
सपर्वतवना सर्वा सोऽपि नैव प्रबुध्यते ॥ ४७ ॥

वे घोड़ों, ऊँटों गदहों और हाथियोंको डंडों, कोड़ों तथा अङ्कुशोंसे मार-मारकर उसके ऊपर ठेलने लगे। सारी शक्ति लगाकर भेरी, मृदङ्ग और शङ्ख बजाने लगे तथा पूरा बल लगाकर उठाये गये बड़े-बड़े काष्ठोंके समूहों, मुद्गरों और मुसलोंसे भी उसके अङ्गोंपर प्रहार करने लगे। उस महान् कोलाहलसे पर्वतों और वनोंसहित सारी लङ्का गूँज उठी, परंतु कुम्भकर्ण नहीं जागा, नहीं जागा ॥ ४५—४७ ॥

ततो भेरीसहस्रं तु युगपत् समहन्यत।
मृष्टकाञ्चनकोणानामसक्तानां समन्ततः ॥ ४८ ॥

तदनन्तर सब ओर सहस्रों धौंसे एक साथ बजाये जाने लगे। वे सब-के-सब लगातार बजते रहे। उन्हें बजानेके लिये जो डंडे थे, वे सुन्दर सुवर्णके बने हुए थे ॥ ४८ ॥

एवमप्यतिनिद्रस्तु यदा नैव प्रबुध्यते।
शापस्य वशमापन्नस्ततः क्रुद्धा निशाचराः ॥ ४९ ॥

इतनेपर भी शापके अधीन हुआ वह अतिशय निद्रालु निशाचर नहीं जागा। इससे वहाँ आये हुए सब राक्षसोंको बड़ा क्रोध हुआ ॥ ४९ ॥

ततः कोपसमाविष्टाः सर्वे भीमपराक्रमाः।
तद् रक्षो बोधयिष्यन्तश्चक्रुरन्ये पराक्रमम् ॥ ५० ॥

फिर वे रोषसे भरे हुए सभी भयानक पराक्रमी निशाचर उस राक्षसको जगानेके लिये पराक्रम करने लगे ॥ ५० ॥

अन्ये भेरीः समाजघ्नुरन्ये चक्रुर्महास्वनम्।
केशानन्ये प्रलुलुपुः कर्णानन्ये दशन्ति च ॥ ५१ ॥

कोई धौंसे बजाने लगे, कोई महान् कोलाहल करने लगे, कोई कुम्भकर्णके सिरके बाल नोचने लगे और कोई दाँतोंसे

उसके कान काटने लगे ॥ ५१ ॥

उदकुम्भशतान्यन्ये समसिञ्चन्त कर्णयोः ।
न कुम्भकर्णः पस्पन्दे महानिद्रावशं गतः ॥ ५२ ॥

दूसरे राक्षसोंने उसके दोनों कानोंमें सौ घड़े पानी डाल दिये तो भी महानिद्राके वशमें पड़ा हुआ कुम्भकर्ण टस-से-मस नहीं हुआ ॥ ५२ ॥

अन्ये च बलिनस्तस्य कूटमुद्गरपाणयः ।
मूर्ध्नि वक्षसि गात्रेषु पातयन् कूटमुद्गरान् ॥ ५३ ॥

दूसरे बलवान् राक्षस काँटेदार मुद्गर हाथमें लेकर उन्हें उसके मस्तक, छाती तथा अन्य अङ्गोंपर गिराने लगे ॥ ५३ ॥

रज्जुबन्धनबद्धाभिः शतघ्नीभिश्च सर्वतः ।
वध्यमानो महाकायो न प्राबुध्यत राक्षसः ॥ ५४ ॥

तत्पश्चात् रस्सियोंसे बँधी हुई शतघ्नियोंद्वारा उसपर सब ओरसे चोटें पड़ने लगीं। फिर भी उस महाकाय राक्षसकी नींद नहीं टूटी ॥ ५४ ॥

वारणानां सहस्रं च शरीरेऽस्य प्रधावितम् ।
कुम्भकर्णस्तदा बुद्ध्वा स्पर्शं परमबुध्यत ॥ ५५ ॥

इसके बाद उसके शरीरपर हजारों हाथी दौड़ाये गये। तब उसे कुछ स्पर्श मालूम हुआ और वह जाग उठा ॥ ५५ ॥

स पात्यमानैर्गिरिशृङ्गवृक्षै-
रचिन्तयंस्तान् विपुलान् प्रहारान् ।
निद्राक्षयात् क्षुद्भयपीडितश्च
विजृम्भमाणः सहसोत्पपात ॥ ५६ ॥

यद्यपि उसके ऊपर पर्वतशिखर और वृक्ष गिराये जाते थे, तथापि उसने उन भारी प्रहारोंको कुछ भी नहीं गिना। हाथियोंके स्पर्शसे जब उसकी नींद टूटी, तब वह भूखके भयसे पीड़ित हो अँगड़ाई लेता हुआ सहसा उछलकर खड़ा हो गया ॥ ५६ ॥

स नागभोगाचलशृङ्गकल्पौ
विक्षिप्य बाहू जितवज्रसारौ ।
विवृत्य वक्त्रं बडवामुखाभं
निशाचरोऽसौ विकृतं जजृम्भे ॥ ५७ ॥

उसकी दोनों भुजाएँ नागोंके शरीर और पर्वतशिखरोंके समान जान पड़ती थीं। उन्होंने वज्रकी शक्तिको पराजित कर दिया था। उन दोनों बाँहों और मुँहको फैलाकर जब वह निशाचर जम्हाई लेने लगा, उस समय उसका मुख बड़वानलके समान विकराल जान पड़ता था ॥ ५७ ॥

तस्य जाजृम्भमाणस्य वक्त्रं पातालसंनिभम् ।
ददृशे मेरुशृङ्गाग्रे दिवाकर इवोदितः ॥ ५८ ॥

जम्हाई लेते समय कुम्भकर्णका पाताल-जैसा मुख मेरु-पर्वतके शिखरपर उगे हुए सूर्यके समान दिखायी देता था ॥ ५८ ॥

स जृम्भमाणोऽतिबलः प्रबुद्धस्तु निशाचरः ।
निःश्वासश्चास्य संजज्ञे पर्वतादिव मारुतः ॥ ५९ ॥

इस तरह जम्हाई लेता हुआ वह अत्यन्त बलशाली निशाचर जब जगा, तब उसके मुखसे जो साँस निकलती थी, वह पर्वत-से चली हुई वायुके समान प्रतीत होती थी ॥ ५९ ॥

रूपमुत्तिष्ठतस्तस्य कुम्भकर्णस्य तद् बभौ ।
युगान्ते सर्वभूतानि कालस्येव दिधक्षतः ॥ ६० ॥

नींदसे उठे हुए कुम्भकर्णका वह रूप प्रलयकालमें समस्त प्राणियोंके संहारकी इच्छा रखनेवाले कालके समान जान पड़ता था ॥ ६० ॥

तस्य दीप्ताग्निसदृशे विद्युत्सदृशवर्चसी ।
ददृशाते महानेत्रे दीप्ताविव महाग्रहौ ॥ ६१ ॥

उसकी दोनों बड़ी-बड़ी आँखें प्रज्वलित अग्नि और विद्युत्‌के समान दीप्तिमती दिखायी देती थीं। वे ऐसी लगती थीं मानो दो महान् ग्रह प्रकाशित हो रहे हों ॥ ६१ ॥

ततस्त्वदर्शयन् सर्वान् भक्ष्यांश्च विविधान् बहून् ।
वराहान् महिषांश्चैव बभक्ष स महाबलः ॥ ६२ ॥

तदनन्तर राक्षसोंने वहाँ जो अनेक प्रकारकी खाने-पीनेकी वस्तुएँ प्रचुर मात्रामें रखी गयी थीं, वे सब-की-सब कुम्भकर्णको दिखायीं। वह महाबली राक्षस बात-की-बातमें बहुतेरे भैंसों और सूअरोंको चट कर गया ॥ ६२ ॥

आदद् बुभुक्षितो मांसं शोणितं तृषितोऽपिबत् ।
मेदःकुम्भांश्च मद्यांश्च पपौ शक्ररिपुस्तदा ॥ ६३ ॥

उसे बड़ी भूख लगी थी, अतः उसने भरपेट मांस खाया और प्यास बुझानेके लिये रक्त पान किया। तदनन्तर उस इन्द्रद्रोही निशाचरने चर्बीसे भरे हुए कितने ही घड़े साफ कर दिये और वह कई घड़े मदिरा भी पी गया ॥ ६३ ॥

ततस्तृप्त इति ज्ञात्वा समुत्पेतुर्निशाचराः ।
शिरोभिश्च प्रणम्यैनं सर्वतः पर्यवारयन् ॥ ६४ ॥

तब उसे तृप्त जानकर राक्षस उछल-उछलकर उसके सामने आये और उसे सिर झुका प्रणाम करके उसके चारों ओर खड़े हो गये ॥ ६४ ॥

निद्राविशदनेत्रस्तु कलुषीकृतलोचनः ।
चारयन् सर्वतो दृष्टिं तान् ददर्श निशाचरान् ॥ ६५ ॥

उस समय उसके नेत्र निद्राके कारण अप्रसन्न—कुछ-कुछ खुले हुए थे और मलिन जान पड़ते थे। उसने सब ओर दृष्टि डालकर वहाँ खड़े हुए निशाचरोंको देखा ॥ ६५ ॥

स सर्वान् सान्त्वयामास नैर्ऋतान् नैर्ऋतर्षभः ।
बोधनाद् विस्मितश्चापि राक्षसानिदमब्रवीत् ॥ ६६ ॥

निशाचरोंमें श्रेष्ठ कुम्भकर्णने उन सब राक्षसोंको सान्त्वना दी और अपने जगाये जानेके कारण विस्मित हो उनसे इस प्रकार पूछा— ॥ ६६ ॥

किमर्थमहमादृत्य भवद्भिः प्रतिबोधितः ।
कच्चित् सुकुशलं राज्ञो भयं वा नेह किंचन ॥ ६७ ॥

'तुमलोगोंने इस प्रकार आदर करके मुझे किस लिये जगाया है ? राक्षसराज रावण कुशलसे हैं न ? यहाँ कोई भय तो नहीं उपस्थित हुआ है ?॥ ६७ ॥

अथवा ध्रुवमन्येभ्यो भयं परमुपस्थितम्।
यदर्थमेव त्वरितैर्भवद्भिः प्रतिबोधितः॥ ६८॥

'अथवा निश्चय ही यहाँ दूसरोंसे कोई महान् भय उपस्थित हुआ है, जिसके निवारणके लिये तुमलोगोंने इतनी उतावलीके साथ मुझे जगाया है॥ ६८॥

अद्य राक्षसराजस्य भयमुत्पाटयाम्यहम्।
दारयिष्ये महेन्द्रं वा शीतयिष्ये तथानलम्॥ ६९॥

'अच्छा तो आज मैं राक्षसराजके भयको उखाड़ फेंकूँगा। महेन्द्र (पर्वत या इन्द्र) को भी चीर डालूँगा और अग्निको भी ठंडा कर दूँगा॥ ६९॥

न ह्यल्पकारणे सुप्तं बोधयिष्यति मादृशम्।
तदाख्यातार्थतत्त्वेन मत्प्रबोधनकारणम्॥ ७०॥

'मुझ जैसे पुरुषको किसी छोटे-मोटे कारणवश नींदसे नहीं जगाया जायगा। अतः तुमलोग ठीक-ठीक बताओ, मेरे जगाये जानेका क्या कारण है ?'॥ ७०॥

एवं ब्रुवाणं संरब्धं कुम्भकर्णमरिंदमम्।
यूपाक्षः सचिवो राज्ञः कृताञ्जलिरभाषत॥ ७१॥

शत्रुसूदन कुम्भकर्ण जब रोषमें भरकर इस प्रकार पूछने लगा, तब राजा रावणके सचिव यूपाक्षने हाथ जोड़कर कहा—॥ ७१॥

न नो देवकृतं किंचिद् भयमस्ति कदाचन।
मानुषान्नो भयं राजंस्तुमुलं सम्प्रबाधते॥ ७२॥

'महाराज! हमें देवताओंकी ओरसे तो कभी कोई भय हो ही नहीं सकता। इस समय केवल एक मनुष्यसे तुमुल भय प्राप्त हुआ है, जो हमें सता रहा है॥ ७२॥

न दैत्यदानवेभ्यो वा भयमस्ति न नः क्वचित्।
यादृशं मानुषं राजन् भयमस्मानुपस्थितम्॥ ७३॥

'राजन्! इस समय एक मनुष्यसे हमारे लिये जैसा भय उपस्थित हो गया है, वैसा तो कभी दैत्यों और दानवोंसे भी नहीं हुआ था॥ ७३॥

वानरैः पर्वताकारैर्लङ्केयं परिवारिता।
सीताहरणसंतप्तात् रामान्नस्तुमुलं भयम्॥ ७४॥

'पर्वताकार वानरोंने आकर इस लङ्कापुरीको चारों ओरसे घेर लिया है। सीताहरणसे संतप्त हुए श्रीरामकी ओरसे हमें तुमुल भयकी प्राप्ति हुई है॥ ७४॥

एकेन वानरेणेयं पूर्वं दग्धा महापुरी।
कुमारो निहतश्चाक्षः सानुयात्रः सकुञ्जरः॥ ७५॥

'पहले एक ही वानरने यहाँ आकर इस महापुरीको जला दिया था और हाथियों तथा साथियोंसहित राजकुमार अक्षको भी मार डाला था॥ ७५॥

स्वयं रक्षोधिपश्चापि पौलस्त्यो देवकण्टकः।
व्रजेति संयुगे मुक्तो रामेणादित्यवर्चसा॥ ७६॥

'श्रीराम सूर्यके समान तेजस्वी हैं। उन्होंने देवशत्रु पुलस्त्य-कुलनन्दन साक्षात् राक्षसराज रावणको भी युद्धमें हराकर जीवित छोड़ दिया और कहा—'लङ्काको लौट जाओ'॥ ७६॥

यत्र देवैः कृतो राजा नापि दैत्यैर्न दानवैः।
कृतः स इह रामेण विमुक्तः प्राणसंशयात्॥ ७७॥

'महाराजकी जो दशा देवता, दैत्य और दानव भी नहीं कर सके थे, वह रामने कर दी। उनके प्राण बड़े संकटसे बचे हैं॥ ७७॥

स यूपाक्षवचः श्रुत्वा भ्रातुर्युधि पराभवम्।
कुम्भकर्णो विवृत्ताक्षो यूपाक्षमिदमब्रवीत्॥ ७८॥

युद्धमें भाईकी पराजयसे सम्बन्ध रखनेवाली यूपाक्षकी यह बात सुनकर कुम्भकर्ण आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगा और यूपाक्षसे इस प्रकार बोला—॥ ७८॥

सर्वमद्यैव यूपाक्ष हरिसैन्यं सलक्ष्मणम्।
राघवं च रणे जित्वा ततो द्रक्ष्यामि रावणम्॥ ७९॥

'यूपाक्ष! मैं अभी सारी वानरसेनाको तथा लक्ष्मणसहित रामको भी रणभूमिमें परास्त करके रावणका दर्शन करूँगा॥ ७९॥

राक्षसांस्तर्पयिष्यामि हरीणां मांसशोणितैः।
रामलक्ष्मणयोश्चापि स्वयं पास्यामि शोणितम्॥ ८०॥

'आज वानरोंके मांस और रक्तसे राक्षसोंको तृप्त करूँगा और स्वयं भी राम और लक्ष्मणके खून पीऊँगा'॥ ८०॥

तत् तस्य वाक्यं ब्रुवतो निशम्य
सगर्वितं रोषविवृद्धदोषम्।
महोदरो नैर्ऋतयोधमुख्यः
कृताञ्जलिर्वाक्यमिदं बभाषे॥ ८१॥

कुम्भकर्णके बढ़े हुए रोष-दोषसे युक्त अहङ्कारपूर्ण वचन सुनकर राक्षस-योद्धाओंमें प्रधान महोदरने हाथ जोड़कर यह बात कही—॥ ८१॥

रावणस्य वचः श्रुत्वा गुणदोषौ विमृश्य च।
पश्चादपि महाबाहो शत्रून् युधि विजेष्यसि॥ ८२॥

'महाबाहो! पहले चलकर महाराज रावणकी बात सुन लीजिये। फिर गुण-दोषका विचार करनेके पश्चात् युद्धमें शत्रुओंको परास्त कीजियेगा'॥ ८२॥

महोदरवचः श्रुत्वा राक्षसैः परिवारितः।
कुम्भकर्णो महातेजाः सम्प्रतस्थे महाबलः॥ ८३॥

महोदरकी यह बात सुनकर राक्षसोंसे घिरा हुआ महातेजस्वी महाबली कुम्भकर्ण वहाँसे चलनेकी तैयारी करने लगा॥ ८३॥

सुप्तमुत्थाप्य भीमाक्षं भीमरूपपराक्रमम्।
राक्षसास्त्वरिता जग्मुर्दशग्रीवनिवेशनम्॥ ८४॥

इस तरह सोये हुए भयानक नेत्र, रूप और पराक्रमवाले

कुम्भकर्णको उठाकर वे राक्षस शीघ्र ही दशमुख रावणके महलमें गये ॥ ८४ ॥

तेऽभिगम्य दशग्रीवमासीनं परमासने ।
ऊचुर्बद्धाञ्जलिपुटाः सर्व एव निशाचराः ॥ ८५ ॥

दशग्रीव उत्तम सिंहासनपर बैठा हुआ था, उसके पास जा सभी निशाचर हाथ जोड़कर बोले— ॥ ८५ ॥

कुम्भकर्णः प्रबुद्धोऽसौ भ्राता ते राक्षसेश्वर ।
कथं तत्रैव निर्यातु द्रक्ष्यसे तमिहागतम् ॥ ८६ ॥

'राक्षसेश्वर! आपके भाई कुम्भकर्ण जाग उठे हैं। कहिये, वे क्या करें? सीधे युद्धस्थलमें ही पधारें या आप उन्हें यहाँ उपस्थित देखना चाहते हैं?' ॥ ८६ ॥

रावणस्त्वब्रवीद्धृष्टो राक्षसांस्तानुपस्थितान् ।
द्रष्टुमेनमिहेच्छामि यथान्यायं च पूज्यताम् ॥ ८७ ॥

तब रावणने बड़े हर्षके साथ उन उपस्थित हुए राक्षसोंसे कहा—'मैं कुम्भकर्णको यहाँ देखना चाहता हूँ, उनका यथोचित सत्कार किया जाय' ॥ ८७ ॥

तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे पुनरागम्य राक्षसाः ।
कुम्भकर्णमिदं वाक्यमूचू रावणचोदिताः ॥ ८८ ॥

तब 'जो आज्ञा' कहकर रावणके भेजे हुए वे सब राक्षस पुनः कुम्भकर्णके पास आ इस प्रकार बोले— ॥ ८८ ॥

द्रष्टुं त्वां काङ्क्षते राजा सर्वराक्षसपुङ्गवः ।
गमने क्रियतां बुद्धिर्भ्रातरं सम्प्रहर्षय ॥ ८९ ॥

'प्रभो! सर्वराक्षसशिरोमणि महाराज रावण आपको देखना चाहते हैं। अतः आप वहाँ चलनेका विचार करें और पधारकर अपने भाईका हर्ष बढ़ावें' ॥ ८९ ॥

कुम्भकर्णस्तु दुर्धर्षो भ्रातुराज्ञाय शासनम् ।
तथेत्युक्त्वा महावीर्यः शयनादुत्पपात ह ॥ ९० ॥

भाईका वह आदेश पाकर महापराक्रमी दुर्जय वीर कुम्भकर्ण 'बहुत अच्छा' कहकर शय्यासे उठकर खड़ा हो गया ॥ ९० ॥

प्रक्षाल्य वदनं हृष्टः स्नातः परमहर्षितः ।
पिपासुस्त्वरयामास पानं बलसमीरणम् ॥ ९१ ॥

उसने बड़े हर्ष और प्रसन्नताके साथ मुँह धोकर स्नान किया और पीनेकी इच्छासे तुरंत बलवर्धक पेय ले आनेकी आज्ञा दी ॥ ९१ ॥

ततस्ते त्वरितास्तत्र राक्षसा रावणाज्ञया ।
मद्यं भक्ष्यांश्च विविधान् क्षिप्रमेवोपहारयन् ॥ ९२ ॥

तब रावणके आदेशसे वे सब राक्षस तुरंत मद्य तथा नाना प्रकारके भक्ष्य पदार्थ ले आये ॥ ९२ ॥

पीत्वा घटसहस्रे द्वे गमनायोपचक्रमे ।
ईषत्समुत्कटो मत्तस्तेजोबलसमन्वितः ॥ ९३ ॥

कुम्भकर्ण दो हजार घड़े मद्य गटककर चलनेको उद्यत हुआ। इससे उसमें कुछ ताजगी आ गयी तथा वह मतवाला, तेजस्वी और शक्तिसम्पन्न हो गया ॥ ९३ ॥

कुम्भकर्णो बभौ रुष्टः कालान्तकयमोपमः ।
भ्रातुः स भवनं गच्छन् रक्षोबलसमन्वितः ।
कुम्भकर्णः पदन्यासैरकम्पयत मेदिनीम् ॥ ९४ ॥

फिर जब राक्षसोंकी सेनाके साथ कुम्भकर्ण भाईके महलकी ओर चला, उस समय वह रोषसे भरे हुए प्रलयकालके विनाशकारी यमराजके समान जान पड़ता था। कुम्भकर्ण अपने पैरोंकी धमकसे सारी पृथ्वीको कम्पित कर रहा था ॥ ९४ ॥

स राजमार्गं वपुषा प्रकाशयन्
सहस्ररश्मिर्धरणीमिवांशुभिः ।
जगाम तत्राञ्जलिमालया वृतः
शतक्रतुर्गेहमिव स्वयंभुवः ॥ ९५ ॥

जैसे सूर्यदेव अपनी किरणोंसे भूतलको प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार वह अपने तेजस्वी शरीरसे राजमार्गको उद्भासित करता हुआ हाथ जोड़े अपने भाईके महलमें गया। ठीक उसी तरह, जैसे देवराज इन्द्र ब्रह्माजीके धाममें जाते हैं ॥ ९५ ॥

तं राजमार्गस्थममित्रघातिनं
वनौकसस्ते सहसा बहिःस्थिताः ।
दृष्ट्वाप्रमेयं गिरिशृङ्गकल्पं
वितत्रसुस्ते सह यूथपालैः ॥ ९६ ॥

राजमार्गपर चलते समय शत्रुघाती कुम्भकर्ण पर्वतशिखरके समान जान पड़ता था। नगरके बाहर खड़े हुए वानर सहसा उस विशालकाय राक्षसको देखकर सेनापतियोंसहित सहम गये ॥ ९६ ॥

केचिच्छरण्यं शरणं स्म रामं
व्रजन्ति केचिद् व्यथिताः पतन्ति ।
केचिद् दिशश्च व्यथिताः पतन्ति
केचिद् भयार्ता भुवि शेरते स्म ॥ ९७ ॥

उनमेंसे कुछ वानरोंने शरणागतवत्सल भगवान् श्रीरामकी शरण ली। कुछ व्यथित होकर गिर पड़े। कोई पीड़ित हो सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग गये और जहाँ-तहाँ धराशायी हो गये और कितने ही वानर भयसे पीड़ित हो धरतीपर लेट गये ॥ ९७ ॥

तमद्रिशृङ्गप्रतिमं किरीटिनं
स्पृशन्तमादित्यमिवात्मतेजसा ।
वनौकसः प्रेक्ष्य विवृद्धमद्भुतं
भयार्दिता दुद्रुविरे यतस्ततः ॥ ९८ ॥

वह पर्वतशिखरके समान ऊँचा था। उसके मस्तकपर मुकुट शोभा देता था। वह अपने तेजसे सूर्यका स्पर्श करता-सा जान पड़ता था। उस बढ़े हुए विशालकाय एवं अद्भुत राक्षसको देखकर सभी वनवासी वानर भयसे पीड़ित हो इधर-उधर भागने लगे ॥ ९८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे षष्टितमः सर्गः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें साठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्टितमः सर्गः

विभीषणका श्रीरामसे कुम्भकर्णका परिचय देना और श्रीरामकी आज्ञासे वानरोंका युद्धके लिये लङ्काके द्वारोंपर डट जाना

ततो रामो महातेजा धनुरादाय वीर्यवान्।
किरीटिनं महाकायं कुम्भकर्णं ददर्श ह॥ १॥

तदनन्तर हाथमें धनुष लेकर बल-विक्रमसे सम्पन्न महातेजस्वी श्रीरामने किरीटधारी महाकाय राक्षस कुम्भकर्णको देखा॥ १॥

तं दृष्ट्वा राक्षसश्रेष्ठं पर्वताकारदर्शनम्।
क्रममाणमिवाकाशं पुरा नारायणं यथा॥ २॥
सतोयाम्बुदसंकाशं काञ्चनाङ्गदभूषणम्।
दृष्ट्वा पुनः प्रदुद्राव वानराणां महाचमूः॥ ३॥

वह पर्वतके समान दिखायी देता था और राक्षसोंमें सबसे बड़ा था। जैसे पूर्वकालमें भगवान् नारायणने आकाशको नापनेके लिये डग भरे थे, उसी प्रकार वह भी डग बढ़ाता जा रहा था। सजल जलधरके समान काला कुम्भकर्ण सोनेके बाजूबन्दसे विभूषित था। उसे देखकर वानरोंकी वह विशाल सेना पुनः बड़े वेगसे भागने लगी॥ २-३॥

विद्रुतां वाहिनीं दृष्ट्वा वर्धमानं च राक्षसम्।
सविस्मितमिदं रामो विभीषणमुवाच ह॥ ४॥

अपनी सेनाको भागते तथा राक्षस कुम्भकर्णको बढ़ते देख श्रीरामचन्द्रजीको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने विभीषणसे पूछा—॥ ४॥

कोऽसौ पर्वतसंकाशः किरीटी हरिलोचनः।
लङ्कायां दृश्यते वीरः सविद्युदिव तोयदः॥ ५॥

'यह लङ्कापुरीमें पर्वतके समान विशालकाय वीर कौन है, जिसके मस्तकपर किरीट शोभा पाता है और नेत्र भूरे हैं? यह ऐसा दिखायी देता है मानो बिजलीसहित मेघ हो॥ ५॥

पृथिव्यां केतुभूतोऽसौ महानेकोऽत्र दृश्यते।
यं दृष्ट्वा वानराः सर्वे विद्रवन्ति ततस्ततः॥ ६॥

'इस भूतलपर यह एकमात्र महान् ध्वज-सा दृष्टिगोचर होता है। इसे देखकर सारे वानर इधर-उधर भाग चले हैं॥ ६॥

आचक्ष्व सुमहान् कोऽसौ रक्षो वा यदि वासुरः।
न मयैवंविधं भूतं दृष्टपूर्वं कदाचन॥ ७॥

'विभीषण! बताओ। यह इतने बड़े डील-डौलका कौन पुरुष है? कोई राक्षस है या असुर? मैंने ऐसे प्राणीको पहले कभी नहीं देखा था'॥ ७॥

सम्पृष्टो राजपुत्रेण रामेणाक्लिष्टकर्मणा।
विभीषणो महाप्राज्ञः काकुत्स्थमिदमब्रवीत्॥ ८॥

अनायास ही बड़े-बड़े कर्म करनेवाले राजकुमार श्रीरामने जब इस प्रकार पूछा, तब परम बुद्धिमान् विभीषणने उन ककुत्स्थकुलभूषण रघुनाथजीसे इस प्रकार कहा—॥ ८॥

येन वैवस्वतो युद्धे वासवश्च पराजितः।
सैष विश्रवसः पुत्रः कुम्भकर्णः प्रतापवान्।
अस्य प्रमाणसदृशो राक्षसोऽन्यो न विद्यते॥ ९॥

'भगवन्! जिसने युद्धमें वैवस्वत यम और देवराज इन्द्रको भी पराजित किया था, वही यह विश्रवाका प्रतापी पुत्र कुम्भकर्ण है। इसके बराबर लंबा दूसरा कोई राक्षस नहीं है॥ ९॥

एतेन देवा युधि दानवाश्च
यक्षा भुजंगाः पिशिताशनाश्च।
गन्धर्वविद्याधरकिंनराश्च
सहस्रशो राघव सम्प्रभग्नाः॥ १०॥

'रघुनन्दन! इसने देवता, दानव, यक्ष, नाग, राक्षस, गन्धर्व, विद्याधर और किन्नरोंको सहस्रों बार युद्धमें मार भगाया है॥ १०॥

शूलपाणिं विरूपाक्षं कुम्भकर्णं महाबलम्।
हन्तुं न शेकुस्त्रिदशाः कालोऽयमिति मोहिताः॥ ११॥

'इसके नेत्र बड़े भयंकर हैं। यह महाबली कुम्भकर्ण जब हाथमें शूल लेकर युद्धमें खड़ा हुआ, उस समय देवता भी इसे मारनेमें समर्थ न हो सके। यह कालरूप है, ऐसा समझकर वे सब-के-सब मोहित हो गये थे॥ ११॥

प्रकृत्या ह्येष तेजस्वी कुम्भकर्णो महाबलः।
अन्येषां राक्षसेन्द्राणां वरदानकृतं बलम्॥ १२॥

'कुम्भकर्ण स्वभावसे ही तेजस्वी और महाबलवान् है। अन्य राक्षसपतियोंके पास जो बल है, वह वरदानसे प्राप्त हुआ है॥ १२॥

बालेन जातमात्रेण क्षुधार्तेन महात्मना।
भक्षितानि सहस्राणि प्रजानां सुबहून्यपि॥ १३॥

'इस महाकाय राक्षसने जन्म लेते ही बाल्यावस्थामें भूखसे पीड़ित हो कई सहस्र प्रजाजनोंको खा डाला था॥ १३॥

तेषु सम्भक्ष्यमाणेषु प्रजा भयनिपीडिताः।
यान्ति स्म शरणं शक्रं तमप्यर्थं न्यवेदयन्॥ १४॥

'जब सहस्रों प्रजाजन इसका आहार बनने लगे, तब भयसे पीड़ित हो वे सब-के-सब देवराज इन्द्रकी शरणमें गये और उन सबने उनके समक्ष अपना कष्ट निवेदन किया॥ १४॥

स कुम्भकर्णं कुपितो महेन्द्रो
जघान वज्रेण शितेन वज्री।
स शक्रवज्राभिहतो महात्मा
चचाल कोपाच्च भृशं ननाद॥ १५॥

'इससे वज्रधारी देवराज इन्द्रको बड़ा क्रोध हुआ और उन्होंने अपने तीखे वज्रसे कुम्भकर्णको घायल कर दिया। इन्द्रके वज्रकी चोट खाकर वह महाकाय राक्षस क्षुब्ध हो उठा और रोषपूर्वक जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगा॥ १५॥

तस्य नानद्यमानस्य कुम्भकर्णस्य रक्षसः।
श्रुत्वा निनादं वित्रस्ताः प्रजा भूयो वितत्रसुः॥ १६॥

'राक्षस कुम्भकर्णके बारंबार गर्जना करनेपर उसका भयंकर सिंहनाद सुनकर प्रजावर्गके लोग भयभीत हो और भी डर गये॥ १६॥

ततः क्रुद्धो महेन्द्रस्य कुम्भकर्णो महाबलः।
निष्कृष्यैरावताद् दन्तं जघानोरसि वासवम्॥ १७॥

'तदनन्तर कुपित हुए महाबली कुम्भकर्णने इन्द्रके ऐरावतके मुँहसे एक दाँत उखाड़ लिया और उसीसे देवेन्द्रकी छातीपर प्रहार किया॥ १७॥

कुम्भकर्णप्रहारार्तो विजज्वाल स वासवः।
ततो विषेदुः सहसा देवा ब्रह्मर्षिदानवाः॥ १८॥

'कुम्भकर्णके प्रहारसे इन्द्र व्याकुल हो गये और उनके हृदयमें जलन होने लगी। यह देखकर सब देवता, ब्रह्मर्षि और दानव सहसा विषादमें डूब गये॥ १८॥

प्रजाभिःसह शक्रश्च ययौ स्थानं स्वयंभुवः।
कुम्भकर्णस्य दौरात्म्यं शशंसुस्ते प्रजापतेः॥ १९॥

'तत्पश्चात् इन्द्र उन प्रजाजनोंके साथ ब्रह्माजीके धाममें गये। वहाँ जाकर उन सबने प्रजापतिके समक्ष कुम्भकर्णकी दुष्टताका विस्तारपूर्वक वर्णन किया॥ १९॥

प्रजानां भक्षणं चापि देवानां चापि धर्षणम्।
आश्रमध्वंसनं चापि परस्त्रीहरणं भृशम्॥ २०॥

'इसके द्वारा प्रजाके भक्षण, देवताओंके धर्षण (तिरस्कार), ऋषियोंके आश्रमोंके विध्वंस तथा परायी स्त्रियोंके बारंबार हरण होनेकी भी बात बतायी॥ २०॥

एवं प्रजा यदि त्वेष भक्षयिष्यति नित्यशः।
अचिरेणैव कालेन शून्यो लोको भविष्यति॥ २१॥

'इन्द्रने कहा—'भगवन्! यदि यह नित्यप्रति इसी प्रकार प्रजाजनोंका भक्षण करता रहा तो थोड़े ही समयमें सारा संसार सूना हो जायगा'॥ २१॥

वासवस्य वचः श्रुत्वा सर्वलोकपितामहः।
रक्षांस्यावाहयामास कुम्भकर्णं ददर्श ह॥ २२॥

'इन्द्रकी यह बात सुनकर सर्वलोकपितामह ब्रह्माने सब राक्षसोंको बुलाया और कुम्भकर्णसे भी भेंट की॥ २२॥

कुम्भकर्णं समीक्ष्यैव वितत्रास प्रजापतिः।
कुम्भकर्णमथाश्वास्तः स्वयंभूरिदमब्रवीत्॥ २३॥

'कुम्भकर्णको देखते ही स्वयम्भू प्रजापति थर्रा उठे। फिर अपनेको सँभालकर वे उस राक्षससे बोले—॥ २३॥

ध्रुवं लोकविनाशाय पौलस्त्येनासि निर्मितः।
तस्मात् त्वमद्यप्रभृति मृतकल्पः शयिष्यसे॥ २४॥

''कुम्भकर्ण! निश्चय ही इस जगत्का विनाश करनेके लिये ही विश्रवाने तुझे उत्पन्न किया है; अतः मैं शाप देता हूँ, आजसे तू मुर्देके समान सोता रहेगा'॥ २४॥

ब्रह्मशापाभिभूतोऽथ निपपाताग्रतः प्रभोः।
ततः परमसम्भ्रान्तो रावणो वाक्यमब्रवीत्॥ २५॥

'ब्रह्माजीके शापसे अभिभूत होकर वह रावणके सामने ही गिर पड़ा। इससे रावणको बड़ी घबराहट हुई और उसने कहा—॥ २५॥

प्रवृद्धः काञ्चनो वृक्षः फलकाले निकृत्यते।
न नप्तारं स्वकं न्याय्यं शप्तुमेवं प्रजापते॥ २६॥

''प्रजापते! अपने द्वारा लगाया और बढ़ाया हुआ सुवर्णमय फल देनेवाला वृक्ष फल देनेके समय नहीं काटा जाता है। यह आपका नाती है, इसे इस प्रकार शाप देना कदापि उचित नहीं है॥ २६॥

न मिथ्यावचनश्च त्वं स्वप्स्यत्येव न संशयः।
कालस्तु क्रियतामस्य शयने जागरे तथा॥ २७॥

''आपकी बात कभी झूठी नहीं होती, इसलिये अब इसे सोना ही पड़ेगा, इसमें संशय नहीं है; परंतु आप इसके सोने और जागनेका कोई समय नियत कर दें'॥ २७॥

रावणस्य वचः श्रुत्वा स्वयंभूरिदमब्रवीत्।
शयिता ह्येष षण्मासमेकाहं जागरिष्यति॥ २८॥

'रावणका यह कथन सुनकर स्वयम्भू ब्रह्माने कहा—'यह छः मासतक सोता रहेगा और एक दिन जगेगा॥ २८॥

एकेनाह्ना त्वसौ वीरश्चरन् भूमिं बुभुक्षितः।
व्यात्तास्यो भक्षयेल्लोकान् संवृद्ध इव पावकः॥ २९॥

''उस एक दिन ही यह वीर भूखा होकर पृथ्वीपर विचरेगा और प्रज्वलित अग्निके समान मुँह फैलाकर बहुत-से लोगोंको खा जायगा'॥ २९॥

सोऽसौ व्यसनमापन्नः कुम्भकर्णमबोधयत्।
त्वत्पराक्रमभीतश्च राजा सम्प्रति रावणः॥ ३०॥

'महाराज! इस समय आपत्तिमें पड़कर और आपके पराक्रमसे भयभीत होकर राजा रावणने कुम्भकर्णको जगाया है॥ ३०॥

स एष निर्गतो वीरः शिबिराद् भीमविक्रमः।
वानरान् भृशसंक्रुद्धो भक्षयन् परिधावति॥ ३१॥

'यह भयानक पराक्रमी वीर अपने शिविरसे निकला है और अत्यन्त कुपित हो वानरोंको खा जानेके लिये सब ओर दौड़ रहा है॥ ३१॥

कुम्भकर्णं समीक्ष्यैव हरयोऽद्य प्रदुद्रुवुः।
कथमेनं रणे क्रुद्धं वारयिष्यन्ति वानराः॥ ३२॥

'जब कुम्भकर्णको देखकर ही आज सारे वानर भाग चले, तब रणभूमिमें कुपित हुए इस वीरको वे आगे बढ़नेसे कैसे रोक सकेंगे ?॥ ३२॥

उच्यन्तां वानराः सर्वे यन्त्रमेतत् समुच्छ्रितम्।
इति विज्ञाय हरयो भविष्यन्तीह निर्भयाः॥ ३३॥

'सब वानरोंसे यह कह दिया जाय कि यह कोई व्यक्ति नहीं, कायाद्वारा निर्मित ऊँचा यन्त्रमात्र है। ऐसा जानकर वानर निर्भय हो जायँगे'॥ ३३॥

विभीषणवचः श्रुत्वा हेतुमत् सुमुखोद्गतम्।
उवाच राघवो वाक्यं नीलं सेनापतिं तदा॥ ३४॥

विभीषणके सुन्दर मुखसे निकली हुई यह युक्तियुक्त बात सुनकर श्रीरघुनाथजीने सेनापति नीलसे कहा—॥ ३४॥

गच्छ सैन्यानि सर्वाणि व्यूह्य तिष्ठस्व पावके।
द्वाराण्यादाय लङ्कायाश्चर्याश्चाप्यथ संक्रमान्॥ ३५॥

'अग्निनन्दन! जाओ, समस्त सेनाओंकी मोर्चेबंदी करके युद्धके लिये तैयार रहो और लङ्काके द्वारों तथा राजमार्गोंपर अधिकार जमाकर वहीं डटे रहो॥ ३५॥

शैलशृङ्गाणि वृक्षांश्च शिलाश्चाप्युपसंहरन्।
भवन्तः सायुधाः सर्वे वानराः शैलपाणयः॥ ३६॥

'पर्वतोंके शिखर, वृक्ष और शिलाएँ एकत्र कर लो तथा तुम और सब वानर अस्त्र-शस्त्र एवं पत्थर लिये तैयार रहो॥ ३६॥

राघवेण समादिष्टो नीलो हरिचमूपतिः।
शशास वानरानीकं यथावत् कपिकुञ्जरः॥ ३७॥

श्रीरघुनाथजीकी यह आज्ञा पाकर वानरसेनापति कपिश्रेष्ठ नीलने वानरसैनिकोंको यथोचित कार्यके लिये आदेश दिया॥ ३७॥

ततो गवाक्षः शरभो हनूमानङ्गदस्तथा।
शैलशृङ्गाणि शैलाभा गृहीत्वा द्वारमभ्ययुः॥ ३८॥

तदनन्तर गवाक्ष, शरभ, हनुमान् और अङ्गद आदि पर्वताकार वानर पर्वतशिखर लिये लङ्काके द्वारपर डट गये॥ ३८॥

रामवाक्यमुपश्रुत्य हरयो जितकाशिनः।
पादपैरर्दयन् वीरा वानराः परवाहिनीम्॥ ३९॥

विजयोल्लाससे सुशोभित होनेवाले वीर वानर श्रीरामचन्द्रजीकी पूर्वोक्त आज्ञा सुनकर वृक्षोंद्वारा शत्रुसेनाको पीड़ित करने लगे॥ ३९॥

ततो हरीणां तदनीकमुग्रं
रराज शैलोद्यतवृक्षहस्तम्।
गिरेः समीपानुगतं यथैव
महन्महाम्भोधरजालमुग्रम्॥ ४०॥

तदनन्तर हाथोंमें शैल-शिखर और वृक्ष लिये वानरोंकी वह भयंकर सेना पर्वतके समीप घिरी हुई मेघोंकी बड़ी भारी उग्र घटाके समान सुशोभित होने लगी॥ ४०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे एकषष्टितमः सर्गः॥ ६१॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें इकसठवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ६१॥

द्विषष्टितमः सर्गः

कुम्भकर्णका रावणके भवनमें प्रवेश तथा रावणका रामसे भय बताकर उसे शत्रुसेनाके विनाशके लिये प्रेरित करना

स तु राक्षसशार्दूलो निद्रामदसमाकुलः।
राजमार्गं श्रिया जुष्टं ययौ विपुलविक्रमः॥ १॥

महापराक्रमी राक्षसशिरोमणि कुम्भकर्ण निद्रा और मदसे व्याकुल हो अलसाया हुआ-सा शोभाशाली राजमार्गसे जा रहा था॥ १॥

राक्षसानां सहस्रैश्च वृतः परमदुर्जयः।
गृहेभ्यः पुष्पवर्षेण कीर्यमाणस्तदा ययौ॥ २॥

वह परम दुर्जय वीर हजारों राक्षसोंसे घिरा हुआ यात्रा कर रहा था। सड़कके किनारेपर जो मकान थे, उनमेंसे उसके ऊपर फूल बरसाये जा रहे थे॥ २॥

स हेमजालविततं भानुभास्वरदर्शनम्।
ददर्श विपुलं रम्यं राक्षसेन्द्रनिवेशनम्॥ ३॥

उसने राक्षसराज रावणके रमणीय एवं विशाल भवनका दर्शन किया, जो सोनेकी जालीसे आच्छादित होनेके कारण सूर्यदेवके समान दीप्तिमान् दिखायी देता था॥ ३॥

स तत्तदा सूर्य इवाभ्रजालं
प्रविश्य रक्षोधिपतेर्निवेशनम्।
ददर्श दूरेऽग्रजमासनस्थं
स्वयंभुवं शक्र इवासनस्थम्॥ ४॥

जैसे सूर्य मेघोंकी घटामें छिप जायँ, उसी प्रकार कुम्भकर्णने राक्षसराजके महलमें प्रवेश किया और राजसिंहासनपर बैठे हुए अपने भाईको दूरसे ही देखा, मानो देवराज इन्द्रने दिव्य कमलासनपर विराजमान स्वयम्भू ब्रह्माका दर्शन किया हो॥ ४॥

भ्रातुः स भवनं गच्छन् रक्षोगणसमन्वितः।
कुम्भकर्णः पदन्यासैरकम्पयत मेदिनीम्॥ ५॥

राक्षसोंसहित कुम्भकर्ण अपने भाईके भवनमें जाते समय जब-जब एक-एक पैर आगे बढ़ाता था, तब-तब पृथ्वी काँप उठती थी ॥ ५ ॥

सोऽधिगम्य गृहं भ्रातुः कक्ष्यामभिविगाह्य च ।
ददर्शोद्विग्नमासीनं विमाने पुष्पके गुरुम् ॥ ६ ॥

भाईके भवनमें जाकर जब वह भीतरकी कक्षामें प्रविष्ट हुआ, तब उसने अपने बड़े भाईको उद्विग्न अवस्थामें पुष्पक विमानपर विराजमान देखा ॥ ६ ॥

अथ दृष्ट्वा दशग्रीवः कुम्भकर्णमुपस्थितम् ।
तूर्णमुत्थाय संहृष्टः संनिकर्षमुपानयत् ॥ ७ ॥

कुम्भकर्णको उपस्थित देख दशमुख रावण तुरंत उठकर खड़ा हो गया और बड़े हर्षके साथ उसे अपने समीप बुला लिया ॥ ७ ॥

अथासीनस्य पर्यङ्के कुम्भकर्णो महाबलः ।
भ्रातुर्ववन्दे चरणौ किं कृत्यमिति चाब्रवीत् ॥ ८ ॥

महाबली कुम्भकर्णने सिंहासनपर बैठे हुए अपने भाईके चरणोंमें प्रणाम किया और पूछा—'कौन-सा कार्य आ पड़ा है ?' ॥ ८ ॥

उत्पत्य चैनं मुदितो रावणः परिषस्वजे ।
स भ्रात्रा सम्परिष्वक्तो यथावच्चाभिनन्दितः ॥ ९ ॥

रावणने उछलकर बड़ी प्रसन्नताके साथ कुम्भकर्णको हृदयसे लगा लिया। भाई रावणने उसका आलिंगन करके यथावत्‌रूपसे अभिनन्दन किया ॥ ९ ॥

कुम्भकर्णः शुभं दिव्यं प्रतिपेदे वरासनम् ।
स तदासनमाश्रित्य कुम्भकर्णो महाबलः ॥ १० ॥
संरक्तनयनः क्रोधाद् रावणं वाक्यमब्रवीत् ।

इसके बाद कुम्भकर्ण सुन्दर दिव्य सिंहासनपर बैठा। उस आसनपर बैठकर महाबली कुम्भकर्णने क्रोधसे लाल आँखें किये रावणसे पूछा— ॥ १० १/२ ॥

किमर्थमहमादृत्य त्वया राजन् प्रबोधितः ॥ ११ ॥
शंस कस्माद् भयं तेऽत्र को वा प्रेतो भविष्यति ।

'राजन्! किस लिये तुमने बड़े आदरके साथ मुझे जगाया है? बताओ, यहाँ तुम्हें किससे भय प्राप्त हुआ है? अथवा कौन परलोकका पथिक होनेवाला है?' ॥ ११ १/२ ॥

भ्रातरं रावणः क्रुद्धं कुम्भकर्णमवस्थितम् ॥ १२ ॥
रोषेण परिवृत्ताभ्यां नेत्राभ्यां वाक्यमब्रवीत् ।

तब रावण अपने पास बैठे हुए कुपित भाई कुम्भकर्णसे रोषसे चञ्चल आँखें किये बोला— ॥ १२ १/२ ॥

अद्य ते सुमहान् कालः शयानस्य महाबल ॥ १३ ॥
सुखसुप्तस्त्वं न जानीषे मम रामकृतं भयम् ।

'महाबली वीर! तुम्हारे सोये-सोये दीर्घकाल व्यतीत हो गया। तुम गाढ़ निद्रामें निमग्न होनेके कारण नहीं जानते कि मुझे रामसे भय प्राप्त हुआ है ॥ १३ १/२ ॥

एष दाशरथिः श्रीमान् सुग्रीवसहितो बली ॥ १४ ॥
समुद्रं लङ्घयित्वा तु मूलं नः परिकृन्तति ।

'ये दशरथकुमार बलवान् श्रीमान् राम सुग्रीवके साथ समुद्र लाँघकर यहाँ आये हैं और हमारे कुलका विनाश कर रहे हैं ॥ १४ १/२ ॥

हन्त पश्यस्व लङ्कायां वनान्युपवनानि च ॥ १५ ॥
सेतुना सुखमागत्य वानरैकार्णवं कृतम् ।

'हाय! देखो तो सही, समुद्रमें पुल बाँधकर सुखपूर्वक यहाँ आये हुए वानरोंने लङ्काके समस्त वनों और उपवनोंको एकार्णवमय बना दिया है—यहाँ वानररूपी जलका समुद्र-सा लहरा रहा है ॥ १५ १/२ ॥

ये राक्षसा मुख्यतमा हतास्ते वानरैर्युधि ॥ १६ ॥
वानराणां क्षयं युद्धे न पश्यामि कथंचन ।
न चापि वानरा युद्धे जितपूर्वाः कदाचन ॥ १७ ॥

'हमारे जो मुख्य-मुख्य राक्षस वीर थे, उन्हें वानरोंने युद्धमें मार डाला; किंतु रणभूमिमें वानरोंका संहार होता मुझे किसी तरह नहीं दिखायी देता। युद्धमें कभी कोई वानर पहले जीते नहीं गये हैं ॥ १६-१७ ॥

तदेतद् भयमुत्पन्नं त्रायस्वेह महाबल ।
नाशय त्वमिमानद्य तदर्थं बोधितो भवान् ॥ १८ ॥

'महाबली वीर! इस समय हमारे ऊपर यही भय उपस्थित हुआ है। तुम इससे हमारी रक्षा करो और आज इन वानरोंको नष्ट कर दो। इसीलिये हमने तुम्हें जगाया है ॥ १८ ॥

सर्वक्षपितकोशं च स त्वमभ्युपपद्य माम् ।
त्रायस्वेमां पुरीं लङ्कां बालवृद्धावशेषिताम् ॥ १९ ॥

'हमारा सारा खजाना खाली हो गया है; अतः मुझपर अनुग्रह करके तुम इस लङ्कापुरीकी रक्षा करो; अब यहाँ केवल बालक और बूढ़े ही शेष रह गये हैं ॥ १९ ॥

भ्रातुरर्थे महाबाहो कुरु कर्म सुदुष्करम् ।
मयैवं नोक्तपूर्वो हि भ्राता कश्चित् परंतप ॥ २० ॥

'महाबाहो! तुम अपने इस भाईके लिये अत्यन्त दुष्कर पराक्रम करो। परंतप! आजसे पहले कभी किसी भाईसे मैंने ऐसी अनुनय-विनय नहीं की थी ॥ २० ॥

त्वय्यस्ति मम च स्नेहः परा सम्भावना च मे ।
देवासुरेषु युद्धेषु बहुशो राक्षसर्षभ ॥ २१ ॥
त्वया देवाः प्रतिव्यूह्य निर्जिताश्चासुरा युधि ॥ २२ ॥

'तुम्हारे ऊपर मेरा बड़ा स्नेह है और मुझे तुमसे बड़ी आशा है। राक्षसशिरोमणे! तुमने देवासुर-संग्रामके अवसरोंपर अनेक बार प्रतिद्वन्द्वीका स्थान लेकर रणभूमिमें देवताओं और असुरोंको भी परास्त किया है ॥ २१-२२ ॥

तदेतत् सर्वमातिष्ठ वीर्यं भीमपराक्रम ।
नहि ते सर्वभूतेषु दृश्यते सदृशो बली ॥ २३ ॥

'अतः भयंकर पराक्रमी वीर ! तुम्हीं यह सारा पराक्रमपूर्ण कार्य सम्पन्न करो; क्योंकि समस्त प्राणियोंमें तुम्हारे समान बलवान् मुझे दूसरा कोई नहीं दिखायी देता है ॥ २३ ॥

कुरुष्व मे प्रियहितमेतदुत्तमं
यथाप्रियं प्रियरण बान्धवप्रिय ।
स्वतेजसा व्यथय सपत्नवाहिनीं
शरद्घनं पवन इवोद्यतो महान् ॥ २४ ॥

'तुम युद्धप्रेमी तो हो ही, अपने बन्धु-बान्धवोंसे भी बड़ा प्रेम रखते हो। इस समय तुम मेरा यही प्रिय और उत्तम हित करो। अपने तेजसे शत्रुओंकी सेनाको उसी तरह व्यथित कर दो, जैसे वेगसे उठी हुई प्रचण्ड वायु शरद्-ऋतुके बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है' ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे द्विषष्टितमः सर्गः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें बासठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

—★—

त्रिषष्टितमः सर्गः

कुम्भकर्णका रावणको उसके कुकृत्योंके लिये उपालम्भ देना और उसे धैर्य बँधाते हुए युद्धविषयक उत्साह प्रकट करना

तस्य राक्षसराजस्य निशम्य परिदेवितम् ।
कुम्भकर्णो बभाषेदं वचनं प्रजहास च ॥ १ ॥

राक्षसराज रावणका यह विलाप सुनकर कुम्भकर्ण ठहाका मारकर हँसने लगा और इस प्रकार बोला— ॥ १ ॥

दृष्टो दोषो हि योऽस्माभिः पुरा मन्त्रविनिर्णये ।
हितेष्वनभियुक्तेन सोऽयमासादितस्त्वया ॥ २ ॥

'भाईसाहब ! पहले (विभीषण आदिके साथ) विचार करते समय हमलोगोंने जो दोष देखा था, वही तुम्हें इस समय प्राप्त हुआ है; क्योंकि तुमने हितैषी पुरुषों और उनकी बातोंपर विश्वास नहीं किया था ॥ २ ॥

शीघ्रं खल्वभ्युपेतं त्वां फलं पापस्य कर्मणः ।
निरयेष्वेव पतनं यथा दुष्कृतकर्मणः ॥ ३ ॥

'तुम्हें शीघ्र ही अपने पापकर्मका फल मिल गया। जैसे कुकर्मी पुरुषोंका नरकोंमें पड़ना निश्चित है, उसी प्रकार तुम्हें भी अपने दुष्कर्मका फल मिलना अवश्यम्भावी था ॥ ३ ॥

प्रथमं वै महाराज कृत्यमेतदचिन्तितम् ।
केवलं वीर्यदर्पेण नानुबन्धो विचारितः ॥ ४ ॥

'महाराज ! केवल बलके घमंडसे तुमने पहले इस पापकर्मकी कोई परवा नहीं की। इसके परिणामका कुछ भी विचार नहीं किया था ॥ ४ ॥

यः पश्चात्पूर्वकार्याणि कुर्यादैश्वर्यमास्थितः ।
पूर्वं चोत्तरकार्याणि न स वेद नयानयौ ॥ ५ ॥

'जो ऐश्वर्यके अभिमानमें आकर पहले करनेयोग्य कार्योंको पीछे करता है और पीछे करनेयोग्य कार्योंको पहले कर डालता है, वह नीति तथा अनीतिको नहीं जानता है ॥ ५ ॥

देशकालविहीनानि कर्माणि विपरीतवत् ।
क्रियमाणानि दुष्यन्ति हवींष्यप्रयतेष्विव ॥ ६ ॥

'जो कार्य उचित देश-काल न होनेपर विपरीत स्थितिमें किये जाते हैं, वे संस्कारहीन अग्नियोंमें होमे गये हविष्यकी भाँति केवल दुःखके ही कारण होते हैं ॥ ६ ॥

त्रयाणां पञ्चधा योगं कर्मणां यः प्रपद्यते ।
सचिवैः समयं कृत्वा स सम्यग् वर्तते पथि ॥ ७ ॥

'जो राजा सचिवोंके साथ विचार करके क्षय, वृद्धि और स्थानरूपसे उपलक्षित साम, दान और दण्ड—इन तीनों कर्मोंके पाँच[1] प्रकारके प्रयोगको काममें लाता है, वही उत्तम नीति-मार्गपर विद्यमान है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ७ ॥

यथागमं च यो राजा समयं च चिकीर्षति ।
बुध्यते सचिवैर्बुद्ध्या सुहृदश्चानुपश्यति ॥ ८ ॥

'जो नरेश नीतिशास्त्रके अनुसार मन्त्रियोंके साथ क्षय[2]

---

१. कार्यको आरम्भ करनेका उपाय, पुरुष और द्रव्यरूप सम्पत्ति, देश-कालका विभाग, विपत्तिको टालनेका उपाय और कार्यकी सिद्धि—ये पाँच प्रकारके योग हैं।

२. जब अपनी वृद्धि और शत्रुकी हानिका समय हो तब दण्डोपयोगी यान (युद्धयात्रा) उचित है। अपनी और शत्रुकी समान स्थिति हो तो सामपूर्वक सन्धि कर लेना उचित है। तथा जब अपनी हानि और शत्रुकी वृद्धिका समय हो, तब उसे कुछ देकर उसका आश्रय ग्रहण करना उचित होता है।

आदिके लिये उपयुक्त समयका विचार करके तदनुरूप कार्य करता है और अपनी बुद्धिसे सुहृदोंकी भी पहचान कर लेता है, वही कर्तव्य और अकर्तव्यका विवेक कर पाता है ॥ ८ ॥

धर्ममर्थं हि कामं वा सर्वान् वा रक्षसां पते।
भजेत पुरुषः काले त्रीणि द्वन्द्वानि वा पुनः॥ ९॥

'राक्षसराज! नीतिज्ञ पुरुषको चाहिये कि धर्म, अर्थ या कामका अथवा सबका अपने समयपर सेवन करे अथवा तीनों द्वन्द्वोंका—धर्म-अर्थ, अर्थ-धर्म और काम-अर्थ इन सबका भी उपयुक्त समयमें ही सेवन करे* ॥ ९ ॥

त्रिषु चैतेषु यच्छ्रेष्ठं श्रुत्वा तन्नावबुध्यते।
राजा वा राजमात्रो वा व्यर्थं तस्य बहुश्रुतम्॥ १०॥

'धर्म, अर्थ और काम—इन तीनोंमें धर्म ही श्रेष्ठ है; अतः विशेष अवसरोंपर अर्थ और कामकी उपेक्षा करके भी धर्मका ही सेवन करना चाहिये—इस बातको विश्वसनीय पुरुषोंसे सुनकर भी जो राजा या राजपुरुष नहीं समझता अथवा समझकर भी स्वीकार नहीं करता, उसका अनेक शास्त्रोंका अध्ययन व्यर्थ ही है ॥ १० ॥

उपप्रदानं सान्त्वं च भेदं काले च विक्रमम्।
योगं च रक्षसां श्रेष्ठ तावुभौ च नयानयौ॥ ११॥
काले धर्मार्थकामान् यः सम्मन्त्र्य सचिवैः सह।
निषेवेतात्मवाँल्लोके न स व्यसनमाप्नुयात्॥ १२॥

'राक्षसशिरोमणे! जो मनस्वी राजा मन्त्रियोंसे अच्छी तरह सलाह करके समयके अनुसार दान, भेद और पराक्रमका, इनके पूर्वोक्त पाँच प्रकारके योगका, नय और अनयका तथा ठीक समयपर धर्म, अर्थ और कामका सेवन करता है, वह इस लोकमें कभी दुःख या विपत्तिका भागी नहीं होता ॥ ११-१२ ॥

हितानुबन्धमालोक्य कुर्यात् कार्यमिहात्मनः।
राजा सहार्थतत्त्वज्ञैः सचिवैर्बुद्धिजीविभिः॥ १३॥

'राजाको चाहिये कि वह अर्थतत्त्वज्ञ एवं बुद्धिजीवी मन्त्रियोंकी सलाह लेकर जो अपने लिये परिणाममें हितकर दिखायी देता हो, वही कार्य करे ॥ १३ ॥

अनभिज्ञाय शास्त्रार्थान् पुरुषाः पशुबुद्धयः।
प्रागल्भ्याद् वक्तुमिच्छन्ति मन्त्रिष्वभ्यन्तरीकृताः॥ १४॥

'जो पशुके समान बुद्धिवाले किसी तरह मन्त्रियोंके भीतर सम्मिलित कर लिये गये हैं, वे शास्त्रके अर्थको तो जानते नहीं, केवल धृष्टतावश बातें बनाना चाहते हैं ॥ १४ ॥

अशास्त्रविदुषां तेषां कार्यं नाभिहितं वचः।
अर्थशास्त्रानभिज्ञानां विपुलां श्रियमिच्छताम्॥ १५॥

'शास्त्रके ज्ञानसे शून्य और अर्थशास्त्रसे अनभिज्ञ होते हुए भी प्रचुर सम्पत्ति चाहनेवाले उन अयोग्य मन्त्रियोंकी कही हुई बात कभी नहीं माननी चाहिये ॥ १५ ॥

अहितं च हिताकारं धाष्ट्र्याज्जल्पन्ति ये नराः।
अवश्यं मन्त्रबाह्यास्ते कर्तव्याः कृत्यदूषकाः॥ १६॥

'जो लोग धृष्टताके कारण अहितकर बातको हितका रूप देकर कहते हैं, वे निश्चय ही सलाह लेनेयोग्य नहीं हैं। अतः उन्हें इस कार्यसे अलग कर देना चाहिये। वे तो काम बिगाड़नेवाले ही होते हैं ॥ १६ ॥

विनाशयन्तो भर्तारं सहिताः शत्रुभिर्बुधैः।
विपरीतानि कृत्यानि कारयन्तीह मन्त्रिणः॥ १७॥

'कुछ बुरे मन्त्री साम आदि उपायोंके ज्ञाता शत्रुओंके साथ मिल जाते हैं और अपने स्वामीका विनाश करनेके लिये ही उससे विपरीत कर्म करवाते हैं ॥ १७ ॥

तान् भर्ता मित्रसंकाशानमित्रान् मन्त्रनिर्णये।
व्यवहारेण जानीयात् सचिवानुपसंहितान्॥ १८॥

'जब किसी वस्तु या कार्यके निश्चयके लिये मन्त्रियोंकी सलाह ली जा रही हो, उस समय राजा व्यवहारके द्वारा ही उन मन्त्रियोंको पहचाननेका प्रयत्न करे, जो घूस आदि लेकर शत्रुओंसे मिल गये हैं और अपने मित्र-से बने रहकर वास्तवमें शत्रुका काम करते हैं ॥ १८ ॥

चपलस्येह कृत्यानि सहसानुप्रधावतः।
छिद्रमन्ये प्रपद्यन्ते क्रौञ्चस्य खमिव द्विजाः॥ १९॥

'जो राजा चञ्चल है—आपातरमणीय वचनोंको सुनकर ही संतुष्ट हो जाता है और सहसा बिना सोचे-विचारे ही किसी भी कार्यकी ओर दौड़ पड़ता है, उसके इस छिद्र (दुर्बलता) को शत्रुलोग उसी तरह ताड़ जाते हैं, जैसे क्रौञ्च पर्वतके छेदको पक्षी। (क्रौञ्चपर्वतके छेदसे होकर पक्षी जैसे पर्वतके उस पार आते-जाते हैं, उसी तरह शत्रु भी राजाके उस छिद्र या कमजोरीसे लाभ उठाते हैं) ॥ १९ ॥

यो हि शत्रुमवज्ञाय आत्मानं नाभिरक्षति।
अवाप्नोतिहि सोऽनर्थान् स्थानाच्च व्यवरोप्यते॥ २०॥

'जो राजा शत्रुकी अवहेलना करके अपनी रक्षाका प्रबन्ध नहीं करता है, वह अनेक अनर्थोंका भागी होता और अपने स्थान (राज्य) से नीचे उतार दिया जाता है ॥ २० ॥

यदुक्तमिह ते पूर्वं प्रियया मेऽनुजेन च।
तदेव नो हितं वाक्यं यथेच्छसि तथा कुरु॥ २१॥

'तुम्हारी प्रिय पत्नी मन्दोदरी और मेरे छोटे भाई विभीषणने पहले तुमसे जो कुछ कहा था, वही हमारे लिये

---

* यहाँ यह बात कही गयी है कि शास्त्रके अनुसार प्रातःकाल धर्मका, मध्याह्नकालमें अर्थका और रात्रिमें कामसेवनका विधान है; अतः उन-उन समयोंमें धर्म आदिका सेवन करना चाहिये अथवा प्रातःकालमें धर्म और अर्थरूप द्वन्द्वका, मध्याह्नकालमें अर्थ और धर्मका और रात्रिमें काम और अर्थका सेवन करे। जो हर समय केवल कामका ही सेवन करता है, वह पुरुषोंमें अधम कोटिका है।

हितकर था। यों तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा करो' ॥ २१ ॥

तत् तु श्रुत्वा दशग्रीवः कुम्भकर्णस्य भाषितम्।
भ्रुकुटिं चैव संचक्रे क्रुद्धश्चैनमभाषत ॥ २२ ॥

कुम्भकर्णकी यह बात सुनकर दशमुख रावणने भौंहें टेढ़ी कर लीं और कुपित होकर उससे कहा— ॥ २२ ॥

मान्यो गुरुरिवाचार्यः किं मां त्वमनुशाससे।
किमेवं वाक्श्रमं कृत्वा यद् युक्तं तद् विधीयताम् ॥ २३ ॥

'तुम माननीय गुरु और आचार्यकी भाँति मुझे उपदेश क्यों दे रहे हो? इस तरह भाषण देनेका परिश्रम करनेसे क्या लाभ होगा? इस समय जो उचित और आवश्यक हो, वह काम करो ॥ २३ ॥

विभ्रमाच्चित्तमोहाद् वा बलवीर्याश्रयेण वा।
नाभिपन्नमिदानीं यद् व्यर्था तस्य पुनः कथा ॥ २४ ॥

'मैंने भ्रमसे, चित्तके मोहसे अथवा अपने बल-पराक्रमके भरोसे पहले जो तुमलोगोंकी बात नहीं मानी थी, उसकी इस समय पुनः चर्चा करना व्यर्थ है ॥ २४ ॥

अस्मिन् काले तु यद् युक्तं तदिदानीं विचिन्त्यताम्।
गतं तु नानुशोचन्ति गतं तु गतमेव हि ॥ २५ ॥
ममापनयजं दोषं विक्रमेण समीकुरु।

'जो बात बीत गयी, सो तो बीत ही गयी। बुद्धिमान् लोग बीती बातके लिये बारंबार शोक नहीं करते हैं। अब इस समय हमें क्या करना चाहिये, इसका विचार करो। अपने पराक्रमसे मेरे अनीतिजनित दुःखको शान्त कर दो ॥ २५½ ॥

यदि खल्वस्ति मे स्नेहो विक्रमं वाधिगच्छसि ॥ २६ ॥
यदि कार्यं ममैतत्ते हृदि कार्यतमं मतम्।

'यदि मुझपर तुम्हारा स्नेह है, यदि अपने भीतर यथेष्ट पराक्रम समझते हो और यदि मेरे इस कार्यको परम कर्तव्य समझकर हृदयमें स्थान देते हो तो युद्ध करो ॥ २६½ ॥

स सुहृद् यो विपन्नार्थं दीनमभ्युपपद्यते ॥ २७ ॥
स बन्धुर्योऽपनीतेषु साहाय्यायोपकल्पते।

'वही सुहृद् है, जो सारा कार्य नष्ट हो जानेसे दुःखी हुए स्वजनपर अकारण अनुग्रह करता है तथा वही बन्धु है, जो अनीतिके मार्गपर चलनेसे संकटमें पड़े हुए पुरुषोंकी सहायता करता है' ॥ २७½ ॥

तमथैवं ब्रुवाणं स वचनं धीरदारुणम् ॥ २८ ॥
रुष्टोऽयमिति विज्ञाय शनैः श्लक्ष्णमुवाच ह।

रावणको इस प्रकार धीर एवं दारुण वचन बोलते देख उसे रुष्ट समझकर कुम्भकर्ण धीरे-धीरे मधुर वाणीमें कुछ कहनेको उद्यत हुआ ॥ २८½ ॥

अतीव हि समालक्ष्य भ्रातरं क्षुभितेन्द्रियम् ॥ २९ ॥
कुम्भकर्णः शनैर्वाक्यं बभाषे परिसान्त्वयन्।

उसने देखा मेरे भाईकी सारी इन्द्रियाँ अत्यन्त विक्षुब्ध हो उठी हैं; अतः कुम्भकर्णने धीरे-धीरे उसे सान्त्वना देते हुए कहा— ॥ २९½ ॥

शृणु राजन्नवहितो मम वाक्यमरिंदम ॥ ३० ॥
अलं राक्षसराजेन्द्र संतापमुपपद्य ते।
रोषं च सम्परित्यज्य स्वस्थो भवितुमर्हसि ॥ ३१ ॥

'शत्रुदमन महाराज! सावधान होकर मेरी बात सुनो। राक्षसराज! संताप करना व्यर्थ है। अब तुम्हें रोष त्यागकर स्वस्थ हो जाना चाहिये ॥ ३०-३१ ॥

नैतन्मनसि कर्तव्यं मयि जीवति पार्थिव।
तमहं नाशयिष्यामि यत्कृते परितप्यसे ॥ ३२ ॥

'पृथ्वीनाथ! मेरे जीते-जी तुम्हें मनमें ऐसा भाव नहीं लाना चाहिये। तुम्हें जिसके कारण संतप्त होना पड़ रहा है, उसे मैं नष्ट कर दूँगा ॥ ३२ ॥

अवश्यं तु हितं वाच्यं सर्वावस्थं मया तव।
बन्धुभावादभिहितं भ्रातृस्नेहाच्च पार्थिव ॥ ३३ ॥

'महाराज! अवश्य ही सब अवस्थाओंमें मुझे तुम्हारे हितकी बात कहनी चाहिये। अतः मैंने बन्धुभाव और भ्रातृ-स्नेहके कारण ही ये बातें कही हैं ॥ ३३ ॥

सदृशं यच्च कालेऽस्मिन् कर्तुं स्नेहेन बन्धुना।
शत्रूणां कदनं पश्य क्रियमाणं मया रणे ॥ ३४ ॥

'इस समय एक भाईको स्नेहवश जो कुछ करना उचित है, वही करूँगा। अब रणभूमिमें मेरे द्वारा किया जानेवाला शत्रुओंका संहार देखो ॥ ३४ ॥

अद्य पश्य महाबाहो मया समरमूर्धनि।
हते रामे सह भ्रात्रा द्रवन्तीं हरिवाहिनीम् ॥ ३५ ॥

'महाबाहो! आज युद्धके मुहानेपर मेरे द्वारा भाईसहित रामके मारे जानेके पश्चात् तुम देखोगे कि वानरोंकी सेना किस तरह भागी जा रही है ॥ ३५ ॥

अद्य रामस्य तद् दृष्ट्वा मयाऽऽनीतं रणाच्छिरः।
सुखी भव महाबाहो सीता भवतु दुःखिता ॥ ३६ ॥

'महाबाहो! आज मैं संग्रामभूमिमें रामका सिर काट लाऊँगा। उसे देखकर तुम सुखी होना और सीता दुःखमें डूब जायगी ॥ ३६ ॥

अद्य रामस्य पश्यन्तु निधनं सुमहत् प्रियम्।
लङ्कायां राक्षसाः सर्वे ये ते निहतबान्धवाः ॥ ३७ ॥

'लङ्कामें जिन राक्षसोंके सगे-सम्बन्धी मारे गये हैं, वे भी आज रामकी मृत्यु देख लें। यह उनके लिये बहुत ही प्रिय बात होगी ॥ ३७ ॥

अद्य शोकपरीतानां स्वबन्धुवधशोचिनाम्।
शत्रोर्युधि विनाशेन करोम्यश्रुप्रमार्जनम् ॥ ३८ ॥

'अपने भाई-बन्धुओंके मारे जानेसे जो लोग अत्यन्त शोकमें डूबे हुए हैं, आज युद्धमें शत्रुका नाश करके मैं उनके आँसू पोछूँगा ॥ ३८ ॥

अद्य पर्वतसंकाशं ससूर्यमिव तोयदम्।
विकीर्णं पश्य समरे सुग्रीवं प्लवगेश्वरम् ॥ ३९ ॥

'आज पर्वतके समान विशालकाय वानरराज सुग्रीवको समराङ्गणमें खूनसे लथपथ होकर गिरे हुए देखोगे, जो सूर्यसहित मेघके समान दृष्टिगोचर होंगे ॥ ३९ ॥

कथं च राक्षसैरेभिर्मया च परिसान्त्वितः।
जिघांसुभिर्दाशरथिं व्यथसे त्वं सदानघ ॥ ४० ॥

'निष्पाप निशाचरराज! ये राक्षस तथा मैं—सब लोग दशरथपुत्र रामको मार डालनेकी इच्छा रखते हैं और तुम्हें इस बातके लिये आश्वासन देते हैं तो भी तुम सदा व्यथित क्यों रहते हो? ॥ ४० ॥

मां निहत्य किल त्वां हि निहनिष्यति राघवः।
नाहमात्मनि संतापं गच्छेयं राक्षसाधिप ॥ ४१ ॥

'राक्षसराज! पहले मेरा वध करके ही राम तुम्हें मार सकेंगे; किंतु मैं अपने विषयमें रामसे संताप या भय नहीं मानता ॥ ४१ ॥

कामं त्विदानीमपि मां व्यादिश त्वं परंतप।
न परः प्रेक्षणीयस्ते युद्धायातुलविक्रम ॥ ४२ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले अनुपम पराक्रमी वीर! इस समय तुम इच्छानुसार मुझे युद्धके लिये आदेश दो। शत्रुओंसे जूझनेके लिये तुम्हें दूसरे किसीकी ओर देखनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ ४२ ॥

अहमुत्सादयिष्यामि शत्रूंस्तव महाबलान्।
यदि शक्रो यदि यमो यदि पावकमारुतौ ॥ ४३ ॥
नानहं योधयिष्यामि कुबेरवरुणावपि।

'तुम्हारे महाबली शत्रु यदि इन्द्र, यम, अग्नि, वायु, कुबेर और वरुण भी हों तो मैं उनसे भी युद्ध करूँगा तथा उन सबको उखाड़ फेंकूँगा ॥ ४३½ ॥

गिरिमात्रशरीरस्य शितशूलधरस्य मे ॥ ४४ ॥
नर्दतस्तीक्ष्णदंष्ट्रस्य बिभीयाद् वै पुरंदरः।

'मेरा पर्वतके समान विशाल शरीर है। मैं हाथमें तीखा त्रिशूल धारण करता हूँ और मेरी दाढ़ें भी बहुत तीखी हैं। मेरे सिंहनाद करनेपर इन्द्र भी भयसे थर्रा उठेंगे ॥ ४४½ ॥

अथ वा त्यक्तशस्त्रस्य मृद्नतस्तरसा रिपून् ॥ ४५ ॥
न मे प्रतिमुखः कश्चित् स्थातुं शक्तो जिजीविषुः।

'अथवा यदि मैं शस्त्र त्याग करके भी वेगपूर्वक शत्रुओंको रौंदता हुआ रणभूमिमें विचरने लगूँ तो कोई भी जीवित रहनेकी इच्छावाला पुरुष मेरे सामने नहीं ठहर सकता ॥ ४५½ ॥

नैव शक्त्या न गदया नासिना निशितैः शरैः ॥ ४६ ॥
हस्ताभ्यामेव संरभ्य हनिष्यामि सवज्रिणम्।

'मैं न तो शक्तिसे, न गदासे, न तलवारसे और न पैने बाणोंसे ही काम लूँगा। रोषसे भरकर केवल दोनों हाथोंसे ही वज्रधारी इन्द्र-जैसे शत्रुको भी मौतके घाट उतार दूँगा ॥ ४६½ ॥

यदि मे मुष्टिवेगं स राघवोऽद्य सहिष्यति ॥ ४७ ॥
ततः पास्यन्ति बाणौघा रुधिरं राघवस्य मे।

'यदि राम आज मेरी मुक्केका वेग सह लेंगे तो मेरे बाण-समूह अवश्य ही उनका रक्त पान करेंगे ॥ ४७½ ॥

चिन्तया तप्यसे राजन् किमर्थं मयि तिष्ठति ॥ ४८ ॥
सोऽहं शत्रुविनाशाय तव निर्यातुमुद्यतः।

'राजन्! मेरे रहते हुए तुम किस लिये चिन्ताकी आगसे झुलस रहे हो? मैं तुम्हारे शत्रुओंका विनाश करनेके लिये अभी रणभूमिमें जानेको उद्यत हूँ ॥ ४८½ ॥

मुञ्च रामाद् भयं घोरं निहनिष्यामि संयुगे ॥ ४९ ॥
राघवं लक्ष्मणं चैव सुग्रीवं च महाबलम्।

'तुम्हें रामसे जो घोर भय हो रहा है, उसे त्याग दो। मैं रणभूमिमें राम, लक्ष्मण और महाबली सुग्रीवको अवश्य मार डालूँगा ॥ ४९½ ॥

हनूमन्तं च रक्षोघ्नं येन लङ्का प्रदीपिता ॥ ५० ॥
हरींश्च भक्षयिष्यामि संयुगे समुपस्थिते।
असाधारणमिच्छामि तव दातुं महद् यशः ॥ ५१ ॥

'युद्ध उपस्थित होनेपर मैं राक्षसोंका संहार करनेवाले उस हनुमान्‌को भी जीवित नहीं छोड़ूँगा, जिसने लङ्का जलायी थी। साथ ही अन्य वानरोंको भी खा जाऊँगा। आज मैं तुम्हें अलौकिक एवं महान् यश प्रदान करना चाहता हूँ ॥ ५०-५१ ॥

यदि चेन्द्राद् भयं राजन् यदि चापि स्वयंभुवः।
ततोऽहं नाशयिष्यामि नैशं तम इवांशुमान् ॥ ५२ ॥

'राजन्! यदि तुम्हें इन्द्र अथवा स्वयम्भू ब्रह्मासे भी भय हो तो मैं उस भयको भी उसी तरह नष्ट कर दूँगा, जैसे सूर्य रात्रिके अन्धकारको ॥ ५२ ॥

अपि देवाः शयिष्यन्ते मयि क्रुद्धे महीतले।
यमं च शमयिष्यामि भक्षयिष्यामि पावकम् ॥ ५३ ॥

'मेरे कुपित होनेपर देवता भी धराशायी हो जायँगे। (फिर मनुष्यों और वानरोंकी तो बात ही क्या है?) मैं यमराजको भी शान्त कर दूँगा। सर्वभक्षी अग्निका भी भक्षण कर जाऊँगा ॥ ५३ ॥

आदित्यं पातयिष्यामि सनक्षत्रं महीतले।
शतक्रतुं वधिष्यामि पास्यामि वरुणालयम् ॥ ५४ ॥

'नक्षत्रोंसहित सूर्यको भी पृथ्वीपर मार गिराऊँगा, इन्द्रका भी वध कर डालूँगा और समुद्रको भी पी जाऊँगा ॥ ५४ ॥

पर्वतांश्चूर्णयिष्यामि दारयिष्यामि मेदिनीम्।
दीर्घकालं प्रसुप्तस्य कुम्भकर्णस्य विक्रमम् ॥ ५५ ॥
अद्य पश्यन्तु भूतानि भक्ष्यमाणानि सर्वशः।
न त्विदं त्रिदिवं सर्वमाहारो मम पूर्यते ॥ ५६ ॥

'पर्वतोंको चूर-चूर कर दूँगा। भूमण्डलको विदीर्ण कर डालूँगा। आज मेरेद्वारा खाये जानेवाले सब प्राणी

दीर्घकालतक सोकर उठे हुए मुझ कुम्भकर्णका पराक्रम देखें। यह सारी त्रिलोकी आहार बन जाय तो भी मेरा पेट नहीं भर सकता ॥ ५५-५६ ॥

वधेन ते दाशरथेः सुखावहं
सुखं समाहर्तुमहं व्रजामि।
निहत्य रामं सह लक्ष्मणेन
खादामि सर्वान् हरियूथमुख्यान्॥ ५७॥

'दशरथकुमार श्रीरामका वध करके मैं तुम्हें उत्तरोत्तर सुखकी प्राप्ति करानेवाले सुख-सौभाग्यको देना चाहता हूँ। लक्ष्मणसहित रामका वध करके सभी प्रधान-प्रधान वानरयूथपतियोंको खा जाऊँगा ॥ ५७ ॥

रमस्व राजन् पिब चाद्य वारुणीं
कुरुष्व कृत्यानि विनीय दुःखम्।
मयाद्य रामे गमिते यमक्षयं
चिराय सीता वशगा भविष्यति॥ ५८॥

'राजन्! अब मौज करो, मदिरा पीओ और मानसिक दुःखको दूर करके सब कार्य करो। आज मेरे द्वारा राम यमलोक पहुँचा दिये जायँगे; फिर तो सीता चिरकाल (सदा) के लिये तुम्हारे अधीन हो जायगी' ॥ ५८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे त्रिषष्टितमः सर्गः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें तिरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

—★—

चतुःषष्टितमः सर्गः

महोदरका कुम्भकर्णके प्रति आक्षेप करके रावणको बिना युद्धके ही अभीष्ट वस्तुकी प्राप्तिका उपाय बताना

तदुक्तमतिकायस्य बलिनो बाहुशालिनः।
कुम्भकर्णस्य वचनं श्रुत्वोवाच महोदरः॥ १॥

अपनी भुजाओंसे सुशोभित होनेवाले विशालकाय एवं बलवान् राक्षस कुम्भकर्णका यह वचन सुनकर महोदरने कहा— ॥ १ ॥

कुम्भकर्ण कुले जातो धृष्टः प्राकृतदर्शनः।
अवलिप्तो न शक्नोषि कृत्यं सर्वत्र वेदितुम्॥ २॥

'कुम्भकर्ण! तुम उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए हो; परंतु तुम्हारी दृष्टि (बुद्धि) निम्नश्रेणीके लोगोंके समान है। तुम ढीठ और घमंडी हो, इसलिये सभी विषयोंमें क्या कर्तव्य है— इस बातको नहीं जान सकते ॥ २ ॥

नहि राजा न जानीते कुम्भकर्ण नयानयौ।
त्वं तु कैशोरकाद् धृष्टः केवलं वक्तुमिच्छसि॥ ३॥

'कुम्भकर्ण! हमारे महाराज नीति और अनीतिको नहीं जानते हैं, ऐसी बात नहीं है। तुम केवल अपने बचपनके कारण धृष्टतापूर्वक इस तरहकी बातें कहना चाहते हो ॥ ३ ॥

स्थानं वृद्धिं च हानिं च देशकालविधानवित्।
आत्मनश्च परेषां च बुध्यते राक्षसर्षभः॥ ४॥

'राक्षसशिरोमणि रावण देश-कालके लिये उचित कर्तव्यको जानते हैं और अपने तथा शत्रुपक्षके स्थान, वृद्धि एवं क्षयको अच्छी तरह समझते हैं ॥ ४ ॥

यत् त्वशक्यं बलवता वक्तुं प्राकृतबुद्धिना।
अनुपासितवृद्धेन कः कुर्यात् तादृशं बुधः॥ ५॥

'जिसने वृद्ध पुरुषोंकी उपासना या सत्संग नहीं किया है और जिसकी बुद्धि गँवारोंके समान है, ऐसा बलवान् पुरुष भी जिस कर्मको नहीं कर सकता—जिसे अनुचित समझता है, वैसे कर्मको कोई बुद्धिमान् पुरुष कैसे कर सकता है? ॥ ५ ॥

यांस्तु धर्मार्थकामांस्त्वं ब्रवीषि पृथगाश्रयान्।
अवबोद्धुं स्वभावेन नहि लक्षणमस्ति तान्॥ ६॥

'जिन अर्थ, धर्म और कामको तुम पृथक्-पृथक् आश्रयवाले बता रहे हो, उन्हें ठीक-ठीक समझनेकी तुम्हारे भीतर शक्ति ही नहीं है ॥ ६ ॥

कर्म चैव हि सर्वेषां कारणानां प्रयोजनम्।
श्रेयः पापीयसां चात्र फलं भवति कर्मणाम्॥ ७॥

'सुखके साधनभूत जो त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ एवं काम) हैं, उन सबका एकमात्र कर्म ही प्रयोजक है (क्योंकि जो कर्मानुष्ठानसे रहित है, उसका धर्म, अर्थ अथवा काम— कोई भी पुरुषार्थ सफल नहीं होता)। इसी तरह एक पुरुषके प्रयत्नसे सिद्ध होनेवाले सभी शुभाशुभ व्यापारोंका फल यहाँ एक ही कर्ताको प्राप्त होता है (इस प्रकार जब परस्पर विरुद्ध होनेपर भी धर्म और कामका अनुष्ठान एक ही पुरुषके द्वारा होता देखा जाता है, तब तुम्हारा यह कहना कि केवल धर्मका ही अनुष्ठान करना चाहिये, धर्मविरोधी कामका नहीं, कैसे संगत हो सकता है?) ॥ ७ ॥

निःश्रेयसफलावेव धर्मार्थावितरावपि।
अधर्मानर्थयोः प्राप्तं फलं च प्रात्यवायिकम्॥ ८॥

'निष्कामभावसे किये गये धर्म (जप, ध्यान आदि) और

अर्थ (धनसाध्य यज्ञ, दान आदि)—ये चित्तशुद्धिके द्वारा यद्यपि निःश्रेयस (मोक्ष) रूप फलकी प्राप्ति करानेवाले हैं तथापि कामना-विशेषसे स्वर्ग एवं अभ्युदय आदि अन्य फलोंकी भी प्राप्ति कराते हैं। पूर्वोक्त जपादिरूप या क्रियामय नित्य-धर्मका लोप होनेपर अधर्म और अनर्थ प्राप्त होते हैं और उनके रहते हुए प्रत्यवायजनित फल भोगना पड़ता है। परंतु काम्य-कर्म न करनेसे प्रत्यवाय नहीं होता, यह धर्म और अर्थकी अपेक्षा कामकी विशेषता है॥८॥

ऐहलौकिकपारक्यं कर्म पुंभिर्निषेव्यते।
कर्माण्यपि तु कल्यानि लभते काममास्थितः॥९॥

'जीवोंको धर्म और अधर्मके फल इस लोक और परलोकमें भी भोगने पड़ते हैं। परंतु जो कामना-विशेषके उद्देश्यसे यत्नपूर्वक कर्मोंका अनुष्ठान करता है, उसे यहाँ भी उसके सुख-मनोरथकी प्राप्ति हो जाती है। धर्म आदिके फलकी भाँति उसके लिये कालान्तर या लोकान्तरकी अपेक्षा नहीं होती है। (इस तरह काम धर्म और अर्थसे विलक्षण सिद्ध होता है)॥९॥

तत्र क्लृप्तमिदं राज्ञा हृदि कार्यं मतं च नः।
शत्रौ हि साहसं यत् तत् किमिवात्रापनीयते॥१०॥

'यहाँ राजाके लिये कामरूपी पुरुषार्थका सेवन उचित है ही*। ऐसा ही राक्षसराजने अपने हृदयमें निश्चित किया है और यही हम मन्त्रियोंकी भी सम्मति है। शत्रुके प्रति साहसपूर्ण कार्य करना कौन-सी अनीति है (अतः इन्होंने जो कुछ किया है, उचित ही किया है)॥१०॥

एकस्यैवाभियाने तु हेतुर्यः प्राहतस्त्वया।
तत्राप्यनुपपन्नं ते वक्ष्यामि यदसाधु च॥११॥

'तुमने युद्धके लिये अकेले अपने ही प्रस्थान करनेके विषयमें जो हेतु दिया है। अपने महान् बलके द्वारा शत्रुको परास्त कर देनेकी जो घोषणा की है। उसमें भी जो असंगत एवं अनुचित बात कही गयी है, उसे मैं तुम्हारे सामने रखता हूँ॥११॥

येन पूर्वं जनस्थाने बहवोऽतिबला हताः।
राक्षसा राघवं तं त्वं कथमेको जयिष्यसि॥१२॥

'जिन्होंने पहले जनस्थानमें बहुत-से अत्यन्त बलशाली राक्षसोंको मार डाला था, उन्हीं रघुवंशी वीर श्रीरामको तुम अकेले ही कैसे परास्त करोगे?॥१२॥

ये पूर्वं निर्जितास्तेन जनस्थाने महौजसः।
राक्षसांस्तान् पुरे सर्वान् भीतानद्य न पश्यसि॥१३॥

'जनस्थानमें श्रीरामने पहले जिन महान् बलशाली निशाचरोंको मार भगाया था, वे आज भी इस लङ्कापुरीमें विद्यमान हैं और उनका वह भय अबतक दूर नहीं हुआ है। क्या तुम उन राक्षसोंको नहीं देखते हो?॥१३॥

तं सिंहमिव संक्रुद्धं रामं दशरथात्मजम्।
सर्पं सुप्तमहो बुद्ध्वा प्रबोधयितुमिच्छसि॥१४॥

'दशरथकुमार श्रीराम अत्यन्त कुपित हुए सिंहके समान पराक्रमी एवं भयंकर हैं, क्या तुम उनसे भिड़नेका साहस करते हो? क्या जान-बूझकर सोये हुए सर्पको जगाना चाहते हो? तुम्हारी मूर्खतापर आश्चर्य होता है!॥१४॥

ज्वलन्तं तेजसा नित्यं क्रोधेन च दुरासदम्।
कस्तं मृत्युमिवासह्यमासादयितुमर्हति॥१५॥

'श्रीराम सदा ही अपने तेजसे देदीप्यमान हैं। वे क्रोध करनेपर अत्यन्त दुर्जय और मृत्युके समान असह्य हो उठते हैं। भला कौन योद्धा उनका सामना कर सकता है?॥१५॥

संशयस्थमिदं सर्वं शत्रोः प्रतिसमासने।
एकस्य गमनं तात नहि मे रोचते भृशम्॥१६॥

'हमारी यह सारी सेना भी यदि उस अजेय शत्रुका सामना करनेके लिये खड़ी हो तो उसका जीवन भी संशयमें पड़ सकता है। अतः तात! युद्धके लिये तुम्हारा अकेले जाना मुझे बिलकुल अच्छा नहीं लगता है॥१६॥

हीनार्थस्तु समृद्धार्थं को रिपुं प्राकृतं यथा।
निश्चितं जीवितत्यागे वशमानेतुमिच्छति॥१७॥

'जो सहायकोंसे सम्पन्न और प्राणोंकी बाजी लगाकर शत्रुओंका संहार करनेके लिये निश्चित विचार रखनेवाला हो, ऐसे शत्रुको अत्यन्त साधारण मानकर कौन असहाय योद्धा वशमें लानेकी इच्छा कर सकता है?॥१७॥

यस्य नास्ति मनुष्येषु सदृशो राक्षसोत्तम।
कथमाशंससे योद्धुं तुल्येनेन्द्रविवस्वतोः॥१८॥

'राक्षसशिरोमणे! मनुष्योंमें जिनकी समता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है तथा जो इन्द्र और सूर्यके समान तेजस्वी हैं, उन श्रीरामके साथ युद्ध करनेका हौसला तुम्हें कैसे हो रहा है?॥१८॥

एवमुक्त्वा तु संरब्धं कुम्भकर्णं महोदरः।
उवाच रक्षसां मध्ये रावणं लोकरावणम्॥१९॥

रोषके आवेशसे युक्त कुम्भकर्णसे ऐसा कहकर महोदरने समस्त राक्षसोंके बीचमें बैठे हुए लोकोंको रुलानेवाले रावणसे कहा—॥१९॥

लब्ध्वा पुरस्ताद् वैदेहीं किमर्थं त्वं विलम्बसे।
यदीच्छसि तदा सीता वशगा ते भविष्यति॥२०॥

'महाराज! आप विदेहकुमारीको अपने सामने पाकर

---

* यहाँ महोदरने रावणकी चापलूसी करनेके लिये 'कामवाद' की स्थापना या प्रशंसा की है। यह आदर्श मत नहीं है। वास्तवमें धर्म, अर्थ और काममें धर्म ही प्रधान है; अतः इसीके सेवनसे परिणाममें कल्याण हो सकता है।

भी किसलिये विलम्ब कर रहे हैं? आप जब चाहें तभी सीता आपके वशमें हो जायगी ॥ २० ॥

दृष्टः कश्चिदुपायो मे सीतोपस्थानकारकः ।
रुचितश्चेत् त्वया बुद्ध्या राक्षसेन्द्र ततः शृणु ॥ २१ ॥

'राक्षसराज! मुझे एक ऐसा उपाय सूझा है, जो सीताको आपकी सेवामें उपस्थित करके ही रहेगा। आप उसे सुनिये। सुनकर अपनी बुद्धिसे उसपर विचार कीजिये और ठीक जँचे तो उसे काममें लाइये ॥ २१ ॥

अहं द्विजिह्वः संह्रादी कुम्भकर्णो वितर्दनः ।
पञ्च रामवधायैते निर्यान्तीत्यवघोषय ॥ २२ ॥

'आप नगरमें यह घोषित करा दें कि महोदर, द्विजिह्व, संह्रादी, कुम्भकर्ण और वितर्दन—ये पाँच राक्षस रामका वध करनेके लिये जा रहे हैं ॥ २२ ॥

ततो गत्वा वयं युद्धं दास्यामस्तस्य यत्नतः ।
जेष्यामो यदि ते शत्रून् नोपायैः कार्यमस्ति नः ॥ २३ ॥

'हमलोग रणभूमिमें जाकर प्रयत्नपूर्वक श्रीरामके साथ युद्ध करेंगे। यदि आपके शत्रुओंपर हम विजय पा गये तो हमारे लिये सीताको वशमें करनेके निमित्त दूसरे किसी उपायकी आवश्यकता ही नहीं रह जायगी ॥ २३ ॥

अथ जीवति नः शत्रुर्वयं च कृतसंयुगाः ।
ततः समभिपत्स्यामो मनसा यत् समीक्षितम् ॥ २४ ॥

'यदि हमारा शत्रु अजेय होनेके कारण जीवित ही रह गया और हम भी युद्ध करते-करते मारे नहीं गये तो हम उस उपायको काममें लायेंगे, जिसे हमने मनसे सोचकर निश्चित किया है ॥ २४ ॥

वयं युद्धादिहैष्यामो रुधिरेण समुक्षिताः ।
विदार्य स्वतनुं बाणै रामनामाङ्कितैः शरैः ॥ २५ ॥
भक्षितो राघवोऽस्माभिर्लक्ष्मणश्चेति वादिनः ।
ततः पादौ ग्रहीष्यामस्त्वं नः कामं प्रपूरय ॥ २६ ॥

रामनामसे अङ्कित बाणोंद्वारा अपने शरीरको घायल कराकर खूनसे लथपथ हो हम यह कहते हुए युद्धभूमिसे यहाँ लौटेंगे कि हमने राम और लक्ष्मणको खा लिया है। उस समय हम आपके पैर पकड़कर यह भी कहेंगे कि हमने शत्रुको मारा है। इसलिये आप हमारी इच्छा पूरी कीजिये ॥ २५-२६ ॥

ततोऽवघोषय पुरे गजस्कन्धेन पार्थिव ।
हतो रामः सह भ्रात्रा ससैन्य इति सर्वतः ॥ २७ ॥

पृथ्वीनाथ! तब आप हाथीकी पीठपर किसीको बिठाकर सारे नगरमें यह घोषणा करा दें कि भाई और सेनाके सहित राम मारा गया ॥ २७ ॥

प्रीतो नाम ततो भूत्वा भृत्यानां त्वमरिंदम ।
भोगांश्च परिवारांश्च कामान् वसु च दापय ॥ २८ ॥

ततो माल्यानि वासांसि वीराणामनुलेपनम् ।
पेयं च बहु योधेभ्यः स्वयं च मुदितः पिब ॥ २९ ॥

'शत्रुदमन! इतना ही नहीं, आप प्रसन्नता दिखाते हुए अपने वीर सेवकोंको उनकी अभीष्ट वस्तुएँ, तरह-तरहकी भोग-सामग्रियाँ, दास-दासी आदि, धन-रत्न, आभूषण, वस्त्र और अनुलेपन दिलावें। अन्य योद्धाओंको भी बहुत-से उपहार दें तथा स्वयं भी खुशी मनाते हुए मद्यपान करें ॥ २८-२९ ॥

ततोऽस्मिन् बहुलीभूते कौलीने सर्वतो गते ।
भक्षितः ससुहृद् रामो राक्षसैरिति विश्रुते ॥ ३० ॥
प्रविश्याश्वास्य चापि त्वं सीतां रहसि सान्त्वयन् ।
धनधान्यैश्च कामैश्च रत्नैश्चैनां प्रलोभय ॥ ३१ ॥

'तदनन्तर जब लोगोंमें सब ओर यह चर्चा फैल जाय कि राम अपने सुहृदोंसहित राक्षसोंके आहार बन गये और सीताके कानोंमें भी यह बात पड़ जाय, तब आप सीताको समझानेके लिये एकान्तमें उसके वासस्थानपर जायँ और तरह-तरहसे धीरज बँधाकर उसे धन-धान्य, भाँति-भाँतिके भोग और रत्न आदिका लोभ दिखावें ॥ ३०-३१ ॥

अनयोपधया राजन् भूयः शोकानुबन्धया ।
अकामा त्वद्वशं सीता नष्टनाथा गमिष्यति ॥ ३२ ॥

'राजन्! इस प्रवञ्चनासे अपनेको अनाथ माननेवाली सीताका शोक और भी बढ़ जायगा और वह इच्छा न होनेपर भी आपके अधीन हो जायगी ॥ ३२ ॥

रमणीयं हि भर्तारं विनष्टमधिगम्य सा ।
नैराश्यात् स्त्रीलघुत्वाच्च त्वद्वशं प्रतिपत्स्यते ॥ ३३ ॥

'अपने रमणीय पतिको विनष्ट हुआ जान वह निराशा तथा नारी-सुलभ चपलताके कारण आपके वशमें आ जायगी ॥ ३३ ॥

सा पुरा सुखसंवृद्धा सुखार्हा दुःखकर्शिता ।
त्वय्यधीनं सुखं ज्ञात्वा सर्वथैव गमिष्यति ॥ ३४ ॥

'वह पहले सुखसे पली हुई है और सुख भोगनेके योग्य है; परंतु इन दिनों दुःखसे दुर्बल हो गयी है। ऐसी दशामें अब आपके ही अधीन अपना सुख समझकर सर्वथा आपकी सेवामें आ जायगी ॥ ३४ ॥

एतत् सुनीतं मम दर्शनेन
रामं हि दृष्ट्वैव भवेदनर्थः ।
इहैव ते सेत्स्यति मोत्सुको भू-
र्महानयुद्धेन सुखस्य लाभः ॥ ३५ ॥

'मेरे देखनेमें यही सबसे सुन्दर नीति है। युद्धमें तो श्रीरामका दर्शन करते ही आपको अनर्थ (मृत्यु) की प्राप्ति हो सकती है; अतः आप युद्धस्थलमें जानेके लिये उत्सुक न हों, यहीं आपके अभीष्ट मनोरथकी सिद्धि हो जायगी। बिना युद्धके ही आपको सुखका महान् लाभ होगा ॥ ३५ ॥

अनष्टसैन्यो ह्यनवाप्तसंशयो
रिपुं त्वयुद्धेन जयञ्जनाधिपः।
यशश्च पुण्यं च महान्महीपते
श्रियं च कीर्तिं च चिरं समश्नुते ॥ ३६ ॥

'महाराज! जो राजा बिना युद्धके ही शत्रुपर विजय पाता है, उसकी सेना नष्ट नहीं होती। उसका जीवन भी संशयमें नहीं पड़ता, वह पवित्र एवं महान् यश पाता तथा दीर्घकालतक लक्ष्मी एवं उत्तम कीर्तिका उपभोग करता है' ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे चतुःषष्टितमः सर्गः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें चौंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

★

पञ्चषष्टितमः सर्गः

कुम्भकर्णकी रणयात्रा

स तथोक्तस्तु निर्भर्त्स्य कुम्भकर्णो महोदरम्।
अब्रवीद् राक्षसश्रेष्ठं भ्रातरं रावणं ततः ॥ १ ॥

महोदरके ऐसा कहनेपर कुम्भकर्णने उसे डाँटा और अपने भाई राक्षसशिरोमणि रावणसे कहा— ॥ १ ॥

सोऽहं तव भयं घोरं वधात् तस्य दुरात्मनः।
रामस्याद्य प्रमार्जामि निर्वैरो हि सुखी भव ॥ २ ॥

'राजन्! आज मैं उस दुरात्मा रामका वध करके तुम्हारे घोर भयको दूर कर दूँगा। तुम वैरभावसे मुक्त होकर सुखी हो जाओ ॥ २ ॥

गर्जन्ति न वृथा शूरा निर्जला इव तोयदाः।
पश्य सम्पाद्यमानं तु गर्जितं युधि कर्मणा ॥ ३ ॥

'शूरवीर जलहीन बादलके समान व्यर्थ गर्जना नहीं किया करते। तुम देखना, अब युद्धस्थलमें मैं अपने पराक्रमके द्वारा ही गर्जना करूँगा ॥ ३ ॥

न मर्षयन्ति चात्मानं सम्भावयितुमात्मना।
अदर्शयित्वा शूरास्तु कर्म कुर्वन्ति दुष्करम् ॥ ४ ॥

'शूरवीरोंको अपने ही मुँहसे अपनी तारीफ करना सहन नहीं होता। वे वाणीके द्वारा प्रदर्शन न करके चुपचाप दुष्कर पराक्रम प्रकट करते हैं ॥ ४ ॥

विक्लवानां ह्यबुद्धीनां राज्ञां पण्डितमानिनाम्।
रोचते त्वद्वचो नित्यं कथ्यमानं महोदर ॥ ५ ॥

'महोदर! जो भीरु, मूर्ख और झूठे ही अपनेको पण्डित माननेवाले होंगे, उन्हीं राजाओंको तुम्हारे द्वारा कही जानेवाली ये चिकनी-चुपड़ी बातें सदा अच्छी लगेंगी ॥ ५ ॥

युद्धे कापुरुषैर्नित्यं भवद्भिः प्रियवादिभिः।
राजानमनुगच्छद्भिः सर्वं कृत्यं विनाशितम् ॥ ६ ॥

'युद्धमें कायरता दिखानेवाले तुम-जैसे चापलूसोंने ही सदा राजाकी हाँ-में-हाँ मिलाकर सारा काम चौपट किया है ॥ ६ ॥

राजशेषा कृता लङ्का क्षीणः कोशो बलं हतम्।
राजानमिममासाद्य सुहृच्चिह्नममित्रकम् ॥ ७ ॥

'अब तो लङ्कामें केवल राजा शेष रह गये हैं। खजाना खाली हो गया और सेना मार डाली गयी। इस राजाको पाकर तुमलोगोंने मित्रके रूपमें शत्रुका काम किया है ॥ ७ ॥

एष निर्याम्यहं युद्धमुद्यतः शत्रुनिर्जये।
दुर्नयं भवतामद्य समीकर्तुं महाहवे ॥ ८ ॥

'यह देखो, अब मैं शत्रुको जीतनेके लिये उद्यत होकर समरभूमिमें जा रहा हूँ। तुमलोगोंने अपनी खोटी नीतिके कारण जो विषम परिस्थिति उत्पन्न कर दी है, उसका आज महासमरमें समीकरण करना है—इस विषम संकटको सर्वदाके लिये टाल देना है' ॥ ८ ॥

एवमुक्तवतो वाक्यं कुम्भकर्णस्य धीमतः।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं प्रहसन् राक्षसाधिपः ॥ ९ ॥

बुद्धिमान् कुम्भकर्णने जब ऐसी बाँगचित बात कही, तब राक्षसराज रावणने हँसते हुए उत्तर दिया— ॥ ९ ॥

महोदरोऽयं रामात् तु परित्रस्तो न संशयः।
न हि रोचयते तात युद्धं युद्धविशारद ॥ १० ॥

'युद्धविशारद तात! यह महोदर श्रीरामसे बहुत डर गया है, इसमें संशय नहीं है। इसीलिये यह युद्धको पसंद नहीं करता है ॥ १० ॥

कश्चिन्मे त्वत्समो नास्ति सौहृदेन बलेन च।
गच्छ शत्रुवधाय त्वं कुम्भकर्ण जयाय च ॥ ११ ॥

'कुम्भकर्ण! मेरे आत्मीयजनोंमें सौहार्द और बलकी दृष्टिसे कोई भी तुम्हारी समानता करनेवाला नहीं है। तुम शत्रुओंका वध करने और विजय पानेके लिये युद्धभूमिमें जाओ ॥ ११ ॥

शयानः शत्रुनाशार्थं भवान् सम्बोधितो मया।
अयं हि कालः सुमहान् राक्षसानामरिंदम ॥ १२ ॥

'शत्रुदमन वीर! तुम सो रहे थे। तुम्हारे द्वारा शत्रुओंका नाश करानेके लिये ही मैंने तुम्हें जगाया है। राक्षसोंकी युद्धयात्राके लिये यह सबसे उत्तम समय है ॥ १२ ॥

संगच्छ शूलमादाय पाशहस्त इवान्तकः।
वानरान् राजपुत्रौ च भक्षयादित्यतेजसौ ॥ १३ ॥

'तुम पाशधारी यमराजकी भाँति शूल लेकर जाओ और सूर्यके समान तेजस्वी उन दोनों राजकुमारों तथा वानरोंको मारकर खा जाओ ॥ १३ ॥

समालोक्य तु ते रूपं विद्रविष्यन्ति वानराः ।
रामलक्ष्मणयोश्चापि हृदये प्रस्फुटिष्यतः ॥ १४ ॥

'वानर तुम्हारा रूप देखते ही भाग जायँगे तथा राम और लक्ष्मणके हृदय भी विदीर्ण हो जायँगे' ॥ १४ ॥

एवमुक्त्वा महातेजाः कुम्भकर्णं महाबलम् ।
पुनर्जातमिवात्मानं मेने राक्षसपुङ्गवः ॥ १५ ॥

महाबली कुम्भकर्णसे ऐसा कहकर महातेजस्वी राक्षसराज रावणने अपना पुनः नया जन्म हुआ-सा माना ॥ १५ ॥

कुम्भकर्णबलाभिज्ञो जानंस्तस्य पराक्रमम् ।
बभूव मुदितो राजा शशाङ्क इव निर्मलः ॥ १६ ॥

राजा रावण कुम्भकर्णके बलको अच्छी तरह जानता था, उसके पराक्रमसे भी पूर्ण परिचित था; इसलिये वह निर्मल चन्द्रमाके समान परम आह्लादसे भर गया ॥ १६ ॥

इत्येवमुक्तः संहृष्टो निर्जगाम महाबलः ।
राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा योद्धुमुद्युक्तवांस्तदा ॥ १७ ॥

रावणके ऐसा कहनेपर महाबली कुम्भकर्ण बहुत प्रसन्न हुआ। वह राजा रावणकी बात सुनकर उस समय युद्धके लिये उद्यत हो गया और लङ्कापुरीसे बाहर निकला ॥ १७ ॥

आददे निशितं शूलं वेगाच्छत्रुनिबर्हणः ।
सर्वं कालायसं दीप्तं तप्तकाञ्चनभूषणम् ॥ १८ ॥

शत्रुओंका संहार करनेवाले उस वीरने बड़े वेगसे तीखा शूल हाथमें लिया, जो सब-का-सब काले लोहेका बना हुआ, चमकीला और तपाये हुए सुवर्णसे विभूषित था ॥ १८ ॥

इन्द्राशनिसमप्रख्यं वज्रप्रतिमगौरवम् ।
देवदानवगन्धर्वयक्षपन्नगसूदनम् ॥ १९ ॥

उसकी कान्ति इन्द्रके अशनिके समान थी। वह वज्रके समान भारी था तथा देवताओं, दानवों, गन्धर्वों, यक्षों और नागोंका संहार करनेवाला था ॥ १९ ॥

रक्तमाल्यमहादामं स्वतश्चोद्गतपावकम् ।
आदाय विपुलं शूलं शत्रुशोणितरञ्जितम् ॥ २० ॥
कुम्भकर्णो महातेजा रावणं वाक्यमब्रवीत् ।
गमिष्याम्यहमेकाकी तिष्ठत्विह बलं मम ॥ २१ ॥

उसमें लाल फूलोंकी बहुत बड़ी माला लटक रही थी और उससे आगकी चिनगारियाँ झड़ रही थीं। शत्रुओंके रक्तसे रँगे हुए उस विशाल शूलको हाथमें लेकर महातेजस्वी कुम्भकर्ण रावणसे बोला—'मैं अकेला ही युद्धके लिये जाऊँगा। अपनी यह सारी सेना यहीं रहे ॥ २०-२१ ॥

अद्य तान् क्षुधितः क्रुद्धो भक्षयिष्यामि वानरान् ।
कुम्भकर्णवचः श्रुत्वा रावणो वाक्यमब्रवीत् ॥ २२ ॥

'आज मैं भूखा हूँ और मेरा क्रोध भी बढ़ा हुआ है। इसलिये समस्त वानरोंको भक्षण कर जाऊँगा।' कुम्भकर्णकी यह बात सुनकर रावण बोला— ॥ २२ ॥

सैन्यैः परिवृतो गच्छ शूलमुद्गरपाणिभिः ।
वानरा हि महात्मानः शूराः सुव्यवसायिनः ॥ २३ ॥
एकाकिनं प्रमत्तं वा नयेयुर्दशनैः क्षयम् ।
तस्मात् परमदुर्धर्षैः सैन्यैः परिवृतो व्रज ।
रक्षसामहितं सर्वं शत्रुपक्षं निषूदय ॥ २४ ॥

'कुम्भकर्ण! तुम हाथोंमें शूल और मुद्गर धारण करनेवाले सैनिकोंसे घिरे रहकर युद्धके लिये यात्रा करो, क्योंकि महामनस्वी वानर बड़े वीर और अत्यन्त उद्योगी हैं। वे तुम्हें अकेला या असावधान देख दाँतोंसे काट-काटकर नष्ट कर डालेंगे; इसलिये सेनासे घिरकर सब ओरसे सुरक्षित हो यहाँसे जाओ। उस दशामें तुम्हें परास्त करना शत्रुओंके लिये बहुत कठिन होगा। तुम राक्षसोंका अहित करनेवाले समस्त शत्रुदलका संहार करो' ॥ २३-२४ ॥

अथासनात् समुत्पत्य स्रजं मणिकृतान्तराम् ।
आबबन्ध महातेजाः कुम्भकर्णस्य रावणः ॥ २५ ॥

यों कहकर महातेजस्वी रावण अपने आसनसे उठा और एक सोनेकी माला, जिसके बीच-बीचमें मणियाँ पिरोयी हुई थीं, लेकर उसने कुम्भकर्णके गलेमें पहना दी ॥ २५ ॥

अङ्गदान्यङ्गुलीवेष्टान् वराण्याभरणानि च ।
हारं च शशिसंकाशमाबबन्ध महात्मनः ॥ २६ ॥

बाजूबंद, अँगूठियाँ, अच्छे-अच्छे आभूषण और चन्द्रमाके समान चमकीला हार—इन सबको उसने महाकाय कुम्भकर्णके अङ्गोंमें पहनाया ॥ २६ ॥

दिव्यानि च सुगन्धीनि माल्यदामानि रावणः ।
गात्रेषु सज्जयामास श्रोत्रयोश्चास्य कुण्डले ॥ २७ ॥

इतना ही नहीं, रावणने उसके विभिन्न अङ्गोंमें दिव्य सुगन्धित फूलोंकी मालाएँ भी बँधवा दीं और दोनों कानोंमें कुण्डल पहना दिये ॥ २७ ॥

काञ्चनाङ्गदकेयूरनिष्काभरणभूषितः ।
कुम्भकर्णो बृहत्कर्णः सुहुतोऽग्निरिवाबभौ ॥ २८ ॥

सोनेके अङ्गद, केयूर और पदक आदि आभूषणोंसे भूषित तथा सूपेके समान विशाल कानोंवाला कुम्भकर्ण घीकी उत्तम आहुति पाकर प्रज्वलित हुई अग्निके समान प्रकाशित हो उठा ॥ २८ ॥

श्रोणीसूत्रेण महता मेचकेन व्यराजत ।
अमृतोत्पादने नद्धो भुजङ्गेनेव मन्दरः ॥ २९ ॥

उसके कटिप्रदेशमें काले रंगकी एक विशाल करधनी थी, जिससे वह अमृतकी उत्पत्तिके लिये किये गये समुद्रमन्थनके समय नागराज वासुकिसे लिपटे हुए मन्दराचलके समान शोभा पाता था ॥ २९ ॥

स काञ्चनं भारसहं निवातं
विद्युत्प्रभं दीप्तमिवात्मभासा।
आबध्यमानः कवचं रराज
संध्याभ्रसंवीत इवाद्रिराजः॥ ३०॥

तदनन्तर कुम्भकर्णकी छातीमें एक सोनेका कवच बाँधा गया, जो भारी-से-भारी आघात सहन करनेमें समर्थ, अस्त्र-शस्त्रोंसे अभेद्य तथा अपनी प्रभासे विद्युत्‌के समान देदीप्यमान था। उसे धारण करके कुम्भकर्ण संध्याकालके लाल बादलोंसे संयुक्त गिरिराज अस्ताचलके समान सुशोभित हो रहा था॥ ३०॥

सर्वाभरणसर्वाङ्गः शूलपाणिः स राक्षसः।
त्रिविक्रमकृतोत्साहो नारायण इवाबभौ॥ ३१॥

सारे अङ्गोंमें सभी आवश्यक आभूषण धारण करके हाथोंमें शूल लिये वह राक्षस कुम्भकर्ण जब आगे बढ़ा, उस समय त्रिलोकीको नापनेके लिये तीन डग बढ़ानेको उत्साहित हुए भगवान् नारायण (वामन)-के समान जान पड़ा॥ ३१॥

भ्रातरं सम्परिष्वज्य कृत्वा चापि प्रदक्षिणम्।
प्रणम्य शिरसा तस्मै प्रतस्थे स महाबलः॥ ३२॥

भाईको हृदयसे लगाकर उसकी परिक्रमा करके उस महाबली वीरने उसे मस्तक झुकाकर प्रणाम किया। तत्पश्चात् वह युद्धके लिये चला॥ ३२॥

तमाशीर्भिः प्रशस्ताभिः प्रेषयामास रावणः।
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैः सैन्यैश्चापि वरायुधैः॥ ३३॥

उस समय रावणने उत्तम आशीर्वाद देकर श्रेष्ठ आयुधोंसे सुसज्जित सेनाओंके साथ उसे युद्धके लिये विदा किया। यात्राके समय उसने शङ्ख और दुन्दुभि आदि बाजे भी बजवाये॥ ३३॥

तं गजैश्च तुरंगैश्च स्यन्दनैश्चाम्बुदस्वनैः।
अनुजग्मुर्महात्मानो रथिनो रथिनां वरम्॥ ३४॥

हाथी, घोड़े और मेघोंकी गर्जनाके समान घर्घराहट पैदा करनेवाले रथोंपर सवार हो अनेकानेक महामनस्वी रथी वीर रथियोंमें श्रेष्ठ कुम्भकर्णके साथ गये॥ ३४॥

सर्पैरुष्ट्रैः खरैश्चैव सिंहद्विपमृगद्विजैः।
अनुजग्मुश्च तं घोरं कुम्भकर्णं महाबलम्॥ ३५॥

कितने ही राक्षस साँप, ऊँट, गधे, सिंह, हाथी, मृग और पक्षियोंपर सवार हो-होकर उस भयंकर महाबली कुम्भकर्णके पीछे-पीछे गये॥ ३५॥

स पुष्पवर्षैरवकीर्यमाणो
धृतातपत्रः शितशूलपाणिः।
मदोत्कटः शोणितगन्धमत्तो
विनिर्ययौ दानवदेवशत्रुः॥ ३६॥

उस समय उसके ऊपर फूलोंकी वर्षा हो रही थी। सिरपर श्वेत छत्र तना हुआ था और उसने हाथमें तीखा त्रिशूल ले रखा था। इस प्रकार देवताओं और दानवोंका शत्रु तथा रक्तकी गन्धसे मतवाला कुम्भकर्ण, जो स्वाभाविक मदसे भी उन्मत्त हो रहा था, युद्धके लिये निकला॥ ३६॥

पदातयश्च बहवो महानादा महाबलाः।
अन्वयू राक्षसा भीमा भीमाक्षाः शस्त्रपाणयः॥ ३७॥

उसके साथ बहुत-से पैदल राक्षस भी गये, जो बड़े बलवान्, जोर-जोरसे गर्जना करनेवाले, भीषण नेत्रधारी और भयानक रूपवाले थे। उन सबके हाथोंमें नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र थे॥ ३७॥

रक्ताक्षाः सुबहुव्यामा नीलाञ्जनचयोपमाः।
शूलानुद्यम्य खड्गांश्च निशितांश्च परश्वधान्॥ ३८॥
भिन्दिपालांश्च परिघान् गदाश्च मुसलानि च।
तालस्कन्धांश्च विपुलान् क्षेपणीयान् दुरासदान्॥ ३९॥

उनके नेत्र रोषसे लाल हो रहे थे। वे सभी कई व्याम[1] ऊँचे और काले कोयलेके ढेरकी भाँति काले थे। उन्होंने अपने हाथोंमें शूल, तलवार, तीखी धारवाले फरसे, भिन्दिपाल, परिघ, गदा, मुसल, बड़े-बड़े ताड़के वृक्षोंके तने और जिन्हें कोई काट न सके, ऐसी गुलेलें ले रखी थीं॥ ३८-३९॥

अथान्यद्वपुरादाय दारुणं घोरदर्शनम्।
निष्पपात महातेजाः कुम्भकर्णो महाबलः॥ ४०॥

तदनन्तर महातेजस्वी महाबली कुम्भकर्णने बड़ा उग्र रूप धारण किया, जिसे देखनेपर भय मालूम होता था। ऐसा रूप धारण करके वह युद्धके लिये चल पड़ा॥ ४०॥

धनुःशतपरीणाहः स षट्शतसमुच्छ्रितः।
रौद्रः शकटचक्राक्षो महापर्वतसंनिभः॥ ४१॥

उस समय वह छः सौ धनुषके बराबर विस्तृत और सौ धनुषके बराबर ऊँचा हो गया। उसकी आँखें दो गाड़ीके पहियोंके समान जान पड़ती थीं। वह विशाल पर्वतके समान भयंकर दिखायी देता था॥ ४१॥

संनिपत्य च रक्षांसि दग्धशैलोपमो महान्।
कुम्भकर्णो महावक्त्रः प्रहसन्निदमब्रवीत्॥ ४२॥

पहले तो उसने राक्षस-सेनाकी व्यूह-रचना की। फिर दावानलसे दग्ध हुए पर्वतके समान महाकाय कुम्भकर्ण अपना विशाल मुख फैलाकर अट्टहास करता हुआ इस प्रकार बोला—॥ ४२॥

---

१. लंबाईका एक माप। दोनों भुजाओंको दोनों ओर फैलानेपर एक हाथकी उँगलियोंके सिरेसे दूसरे हाथकी उँगलियोंके सिरेतक जितनी दूरी होती है, उसे 'व्याम' कहते हैं।

अद्य वानरमुख्यानां तानि यूथानि भागशः।
निर्दहिष्यामि संक्रुद्धः पतङ्गानिव पावकः॥ ४३॥

'राक्षसो! जैसे आग पतंगोंको जलाती है, उसी प्रकार मैं भी कुपित होकर आज प्रधान-प्रधान वानरोंके एक-एक झुंडको भस्म कर डालूँगा॥ ४३॥

नापराध्यन्ति मे कामं वानरा वनचारिणः।
जातिरस्मद्विधानां सा पुरोद्यानविभूषणम्॥ ४४॥

'यों तो वनमें विचरनेवाले बेचारे वानर स्वेच्छासे मेरा कोई अपराध नहीं कर रहे हैं; अतः वे वधके योग्य नहीं हैं। वानरोंकी जाति तो हम-जैसे लोगोंके नगरोद्यानकी आभूषण है॥ ४४॥

पुररोधस्य मूलं तु राघवः सहलक्ष्मणः।
हते तस्मिन् हतं सर्वं तं वधिष्यामि संयुगे॥ ४५॥

'वास्तवमें लङ्कापुरीपर घेरा डालनेके प्रधान कारण हैं—लक्ष्मणसहित राम। अतः सबसे पहले मैं उन्हींको युद्धमें मारूँगा। उनके मारे जानेपर सारी वानर-सेना स्वतः मरी हुई-सी हो जायगी'॥ ४५॥

एवं तस्य ब्रुवाणस्य कुम्भकर्णस्य राक्षसाः।
नादं चक्रुर्महाघोरं कम्पयन्त इवार्णवम्॥ ४६॥

कुम्भकर्णके ऐसा कहनेपर राक्षसोंने समुद्रको कम्पित-सा करते हुए बड़ी भयानक गर्जना की॥ ४६॥

तस्य निष्पततस्तूर्णं कुम्भकर्णस्य धीमतः।
बभूवुर्घोररूपाणि निमित्तानि समन्ततः॥ ४७॥

बुद्धिमान् राक्षस कुम्भकर्णके रणभूमिकी ओर पैर बढ़ाते ही चारों ओर घोर अपशकुन होने लगे॥ ४७॥

उल्काशनियुता मेघा बभूवुर्गर्दभारुणाः।
ससागरवना चैव वसुधा समकम्पत॥ ४८॥

गदहोंके समान भूरे रंगवाले बादल घिर आये। साथ ही उल्कापात हुआ और बिजलियाँ गिरीं। समुद्र और वनोंसहित सारी पृथ्वी काँपने लगी॥ ४८॥

घोररूपाः शिवा नेदुः सज्वालकवलैर्मुखैः।
मण्डलान्यपसव्यानि बबन्धुश्च विहंगमाः॥ ४९॥

भयानक गीदड़ियाँ मुँहसे आग उगलती हुई अमङ्गल-सूचक बोली बोलने लगीं। पक्षी मण्डल बाँधकर उसकी दक्षिणावर्त परिक्रमा करने लगे॥ ४९॥

निष्पपात च गृध्रोऽस्य शूले वै पथि गच्छतः।
प्रास्फुरन्नयनं चास्य सव्यो बाहुरकम्पत॥ ५०॥

रास्तेमें चलते समय कुम्भकर्णके शूलपर गीध आ बैठा। उसकी बायीं आँख फड़कने लगी और बायीं भुजा कम्पित होने लगी॥ ५०॥

निष्पपात तदा चोल्का ज्वलन्ती भीमनिःस्वना।
आदित्यो निष्प्रभश्चासीन्न वाति च सुखोऽनिलः॥ ५१॥

फिर उसी समय जलती हुई उल्का भयंकर आवाजके साथ गिरी। सूर्यकी प्रभा क्षीण हो गयी और हवा इतने वेगसे चल रही थी कि सुखद नहीं जान पड़ती थी॥ ५१॥

अचिन्तयन् महोत्पातानुदितान् रोमहर्षणान्।
निर्ययौ कुम्भकर्णस्तु कृतान्तबलचोदितः॥ ५२॥

इस प्रकार रोंगटे खड़े कर देनेवाले बहुत-से बड़े-बड़े उत्पात प्रकट हुए; किंतु उनकी कुछ भी परवा न करके कालकी शक्तिसे प्रेरित हुआ कुम्भकर्ण युद्धके लिये निकल पड़ा॥ ५२॥

स लङ्घयित्वा प्राकारं पद्भ्यां पर्वतसंनिभः।
ददर्शाभ्रघनप्रख्यं वानरानीकमद्भुतम्॥ ५३॥

वह पर्वतके समान ऊँचा था। उसने लङ्काकी चहारदीवारीको दोनों पैरोंसे लाँघकर देखा कि वानरोंकी अद्भुत सेना मेघोंकी घनीभूत घटाके समान छा रही है॥ ५३॥

ते दृष्ट्वा राक्षसश्रेष्ठं वानराः पर्वतोपमम्।
वायुनुन्ना इव घना ययुः सर्वा दिशस्तदा॥ ५४॥

उस पर्वताकार श्रेष्ठ राक्षसको देखते ही समस्त वानर हवासे उड़ाये गये बादलोंके समान तत्काल सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग चले॥ ५४॥

तद् वानरानीकमतिप्रचण्डं
दिशो द्रवद्भिन्नमिवाभ्रजालम्।
स कुम्भकर्णः समवेक्ष्य हर्षा-
न्ननाद भूयो घनवद्घनाभः॥ ५५॥

छिन्न-भिन्न हुए बादलोंके समूहकी भाँति उस अतिशय प्रचण्ड वानर-वाहिनीको सम्पूर्ण दिशाओंमें भागती देख मेघोंके समान काला कुम्भकर्ण बड़े हर्षके साथ सजल जलधरके सदृश गम्भीर स्वरमें बारंबार गर्जना करने लगा॥ ५५॥

ते तस्य घोरं निनदं निशम्य
यथा निनादं दिवि वारिदस्य।
पेतुर्धरण्यां बहवः प्लवङ्गा
निकृत्तमूला इव शालवृक्षाः॥ ५६॥

आकाशमें जैसी मेघोंकी गर्जना होती है, उसीके समान उस राक्षसका घोर सिंहनाद सुनकर बहुत-से वानर जड़से कटे हुए सालवृक्षोंके समान पृथ्वीपर गिर पड़े॥ ५६॥

विपुलपरिघवान् स कुम्भकर्णो
रिपुनिधनाय विनिःसृतो महात्मा।
कपिगणभयमाददत् सुभीमं
प्रभुरिव किंकरदण्डवान् युगान्ते॥ ५७॥

महाकाय कुम्भकर्णने शूलकी ही भाँति अपने एक हाथमें विशाल परिघ भी ले रखा था। वह वानर-समूहोंको अत्यन्त घोर भय प्रदान करता हुआ प्रलयकालमें संहारके साधनभूत कालदण्डोंसे युक्त भगवान् कालरुद्रके समान शत्रुओंका विनाश करनेके लिये पुरीसे बाहर निकला॥ ५७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे पञ्चषष्टितमः सर्गः॥ ६५॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें पैंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ६५॥

षट्षष्टितमः सर्गः

कुम्भकर्णके भयसे भागे हुए वानरोंका अंगदद्वारा प्रोत्साहन और आवाहन, कुम्भकर्णद्वारा वानरोंका संहार, पुनः वानर-सेनाका पलायन और अंगदका उसे समझा-बुझाकर लौटाना

स लङ्घयित्वा प्राकारं गिरिकूटोपमो महान्।
निर्ययौ नगरात् तूर्णं कुम्भकर्णो महाबलः॥ १॥

महाबली कुम्भकर्ण पर्वत-शिखरके समान ऊँचा और विशालकाय था। वह परकोटा लाँघकर बड़ी तेजीके साथ नगरसे बाहर निकला॥ १॥

ननाद च महानादं समुद्रमभिनादयन्।
विजयन्निव निर्घातान् विधमन्निव पर्वतान्॥ २॥

बाहर आकर पर्वतोंको कँपाता और समुद्रको गुँजाता हुआ-सा वह उच्चस्वरसे गम्भीर नाद करने लगा। उसकी वह गर्जना बिजलीकी कड़कको भी मात कर रही थी॥ २॥

तमवध्यं मघवता यमेन वरुणेन वा।
प्रेक्ष्य भीमाक्षमायान्तं वानरा विप्रदुद्रुवुः॥ ३॥

इन्द्र, यम अथवा वरुणके द्वारा भी उसका वध होना असम्भव था। उस भयानक नेत्रवाले निशाचरको आते देख सभी वानर भाग खड़े हुए॥ ३॥

तांस्तु विप्रद्रुतान् दृष्ट्वा राजपुत्रोऽङ्गदोऽब्रवीत्।
नलं नीलं गवाक्षं च कुमुदं च महाबलम्॥ ४॥

उन सबको भागते देख राजकुमार अंगदने नल, नील, गवाक्ष और महाबली कुमुदको सम्बोधित करके कहा— ॥ ४॥

आत्मनस्तानि विस्मृत्य वीर्याण्यभिजनानि च।
क्व गच्छत भयत्रस्ताः प्राकृता हरयो यथा॥ ५॥

'वानर वीरो! अपने उत्तम कुलों और उन अलौकिक पराक्रमोंको भुलाकर साधारण बंदरोंकी भाँति भयभीत हो तुम कहाँ भागे जा रहे हो?॥ ५॥

साधु सौम्या निवर्तध्वं किं प्राणान् परिरक्षथ।
नालं युद्धाय वै रक्षो महतीयं विभीषिका॥ ६॥

'सौम्य स्वभाववाले बहादुरो! अच्छा होगा कि तुम लौट आओ। क्यों जान बचानेके फेरमें पड़े हो? यह राक्षस हमारे साथ युद्ध करनेकी शक्ति नहीं रखता। यह तो इसकी बड़ी भारी विभीषिका है—इसने मायासे विशाल रूप धारण करके तुम्हें डरानेके लिये व्यर्थ घटाटोप फैला रखा है॥ ६॥

महतीमुत्थितामेनां राक्षसानां विभीषिकाम्।
विक्रमाद् विधमिष्यामो निवर्तध्वं प्लवङ्गमाः॥ ७॥

अपने सामने उठी हुई राक्षसोंकी इस बड़ी भारी विभीषिकाको हम अपने पराक्रमसे नष्ट कर देंगे। अतः वानरवीरो! लौट आओ'॥ ७॥

कृच्छ्रेण तु समाश्वस्य संगम्य च ततस्ततः।
वृक्षान् गृहीत्वा हरयः सम्प्रतस्थू रणाजिरे॥ ८॥

तब वानरोंने बड़ी कठिनाईसे धैर्य धारण किया और जहाँ-तहाँसे एकत्र हो हाथोंमें वृक्ष लेकर वे रणभूमिकी ओर चले॥ ८॥

ते निवर्त्य तु संरब्धाः कुम्भकर्णं वनौकसः।
निजघ्नुः परमक्रुद्धाः समदा इव कुञ्जराः॥ ९॥
प्रांशुभिर्गिरिशृङ्गैश्च शिलाभिश्च महाबलाः।
पादपैः पुष्पिताग्रैश्च हन्यमानो न कम्पते॥ १०॥

लौटनेपर वे महाबली वानर मतवाले हाथियोंकी भाँति अत्यन्त क्रोध और रोषसे भर गये और कुम्भकर्णके ऊपर ऊँचे-ऊँचे पर्वतोंके शिखरों, शिलाओं तथा खिले हुए वृक्षोंसे प्रहार करने लगे। उनकी मार खाकर भी कुम्भकर्ण विचलित नहीं होता था॥ ९-१०॥

तस्य गात्रेषु पतिता भिद्यन्ते बहवः शिलाः।
पादपाः पुष्पिताग्राश्च भग्नाः पेतुर्महीतले॥ ११॥

उसके अङ्गोंपर गिरी हुई बहुतेरी शिलाएँ चूर-चूर हो जाती थीं और वे खिले हुए वृक्ष भी उसके शरीरसे टकराते ही टूक-टूक होकर पृथ्वीपर गिर पड़ते थे॥ ११॥

सोऽपि सैन्यानि संक्रुद्धो वानराणां महौजसाम्।
ममन्थ परमायत्तो वनान्यग्निरिवोत्थितः॥ १२॥

उधर क्रोधसे भरा हुआ कुम्भकर्ण भी अत्यन्त सावधान हो महाबली वानरोंकी सेनाओंको उसी प्रकार रौंदने लगा, जैसे बढ़ा हुआ दावानल बड़े-बड़े जंगलोंको जलाकर भस्म कर देता है॥ १२॥

लोहितार्द्रास्तु बहवः शेरते वानरर्षभाः।
निरस्ताः पतिता भूमौ ताम्रपुष्पा इव द्रुमाः॥ १३॥

बहुत-से श्रेष्ठ वानर खूनसे लथपथ हो धरतीपर सो गये। जिन्हें उठाकर उसने ऊपर फेंक दिया, वे लाल फूलोंसे लदे हुए वृक्षोंकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़े॥ १३॥

लङ्घयन्तः प्रधावन्तो वानरा नावलोकयन्।
केचित् समुद्रे पतिताः केचिद् गगनमास्थिताः॥ १४॥

वानर ऊँची-नीची भूमिको लाँघते हुए जोर-जोरसे भागने लगे। वे आगे-पीछे और अगल-बगलमें कहीं भी दृष्टि नहीं डालते थे। कोई समुद्रमें गिर पड़े और कोई आकाशमें ही उड़ते रह गये॥ १४॥

वध्यमानास्तु ते वीरा राक्षसेन च लीलया।
सागरं येन ते तीर्णाः पथा तेनैव दुद्रुवुः॥ १५॥

उस राक्षसने खेल-खेलमें ही जिन्हें मारा, वे वीर वानर जिस मार्गसे समुद्र पार करके लङ्कामें आये थे, उसी मार्गसे भागने लगे॥ १५॥

ते स्थलानि तदा निम्नं विवर्णवदना भयात्।
ऋक्षा वृक्षान् समारूढाः केचित् पर्वतमाश्रिताः॥ १६॥

भयके मारे वानरोंके मुखकी कान्ति फीकी पड़ गयी। वे नीची जगह देख-देखकर भागने और छिपने लगे। कितने ही रीछ वृक्षोंपर जा चढ़े और कितनोंने पर्वतोंकी शरण ली॥ १६॥

ममज्जुरर्णवे केचिद् गुहाः केचित् समाश्रिताः।
निपेतुः केचिदपरे केचिन्नैवावतस्थिरे।
केचिद् भूमौ निपतिताः केचित् सुप्ता मृता इव॥ १७॥

कितने ही वानर और भालू समुद्रमें डूब गये। कितनोंने पर्वतोंकी गुफाओंका आश्रय लिया। कोई गिरे, कोई एक स्थानपर खड़े न रह सके, इसलिये भागे। कुछ धराशायी हो गये और कोई-कोई मुर्दोंके समान साँस रोककर पड़ गये॥ १७॥

तान् समीक्ष्याङ्गदो भग्नान् वानरानिदमब्रवीत्।
अवतिष्ठत युध्यामो निवर्तध्वं प्लवंगमाः॥ १८॥

उन वानरोंको भागते देख अंगदने इस प्रकार कहा—'वानरवीरो! ठहरो, लौट आओ। हम सब मिलकर युद्ध करेंगे॥ १८॥

भग्नानां वो न पश्यामि परिक्रम्य महीमिमाम्।
स्थानं सर्वे निवर्तध्वं किं प्राणान् परिरक्षथ॥ १९॥

'यदि तुम भाग गये तो सारी पृथ्वीकी परिक्रमा करके भी कहीं तुम्हें ठहरनेके लिये स्थान मिल सके, ऐसा मुझे नहीं दिखायी देता (सुग्रीवकी आज्ञाके बिना कहीं भी जानेपर तुम जीवित नहीं बच सकोगे)। इसलिये सब लोग लौट आओ। क्यों अपने ही प्राण बचानेकी फिक्रमें पड़े हो?॥ १९॥

निरायुधानां क्रमतामसङ्गगतिपौरुषाः।
दारा ह्युपहसिष्यन्ति स वै घातः सुजीवताम्॥ २०॥

'तुम्हारे वेग और पराक्रमको कोई रोकनेवाला नहीं है। यदि तुम हथियार डालकर भाग जाओगे तो तुम्हारी स्त्रियाँ ही तुमलोगोंका उपहास करेंगी और वह उपहास जीवित रहनेपर भी तुम्हारे लिये मृत्युके समान दुःखदायी होगा॥ २०॥

कुलेषु जाताः सर्वेऽस्मिन् विस्तीर्णेषु महत्सु च।
क्व गच्छत भयत्रस्ताः प्राकृता हरयो यथा।
अनार्याः खलु यद्भीतास्त्यक्त्वा वीर्यं प्रधावत॥ २१॥

'तुम सब लोग महान् और बहुत दूरतक फैले हुए श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न हुए हो। फिर साधारण वानरोंकी भाँति भयभीत होकर कहाँ भागे जा रहे हो? यदि तुम पराक्रम छोड़कर भयके कारण भागते हो तो निश्चय ही अनार्य समझे जाओगे॥ २१॥

विकत्थनानि वो यानि भवद्भिर्जनसंसदि।
तानि वः क्व नु यातानि सोदग्राणि हितानि च॥ २२॥

'तुम जन-समुदायमें बैठकर जो डींग हाँका करते थे कि हम बड़े प्रचण्ड वीर हैं और स्वामीके हितैषी हैं, तुम्हारी वे सब बातें आज कहाँ चली गयीं?॥ २२॥

भीरोः प्रवादाः श्रूयन्ते यस्तु जीवति धिक्कृतः।
मार्गः सत्पुरुषैर्जुष्टः सेव्यतां त्यज्यतां भयम्॥ २३॥

'जो सत्पुरुषोंद्वारा धिक्कृत होकर भी जीवन धारण करता है, उसके उस जीवनको धिक्कार है, इस तरहके निन्दात्मक वचन कायरोंको सदा सुनने पड़ते हैं। इसलिये तुमलोग भय छोड़ो और सत्पुरुषोंद्वारा सेवित मार्गका आश्रय लो॥ २३॥

शयामहे वा निहताः पृथिव्यामल्पजीविताः।
प्राप्नुयामो ब्रह्मलोकं दुष्प्रापं च कुयोधिभिः॥ २४॥

'यदि हमलोग अल्पजीवी हो और शत्रुके द्वारा मारे जाकर रणभूमिमें सो जायँ तो हमें उस ब्रह्मलोककी प्राप्ति होगी, जो युद्धपराङ्मुखोंके लिये परम दुर्लभ है॥ २४॥

अवाप्नुयामः कीर्तिं वा निहत्वा शत्रुमाहवे।
निहता वीरलोकस्य भोक्ष्यामो वसु वानराः॥ २५॥

'वानरो! यदि युद्धमें हमने शत्रुको मार गिराया तो हमें उत्तम कीर्ति मिलेगी और यदि स्वयं ही मारे गये तो हम वीरलोकके वैभवका उपभोग करेंगे॥ २५॥

न कुम्भकर्णः काकुत्स्थं दृष्ट्वा जीवन् गमिष्यति।
दीप्यमानमिवासाद्य पतङ्गो ज्वलनं यथा॥ २६॥

'श्रीरघुनाथजीके सामने जानेपर कुम्भकर्ण जीवित नहीं लौट सकेगा; ठीक उसी तरह, जैसे प्रज्वलित अग्निके पास पहुँचकर पतङ्ग भस्म हुए बिना नहीं रह सकता॥ २६॥

पलायनेन चोद्दिष्टाः प्राणान् रक्षामहे वयम्।
एकेन बहवो भग्ना यशो नाशं गमिष्यति॥ २७॥

'यदि हमलोग प्रख्यात वीर होकर भी भागकर अपने प्राण बचायेंगे और अधिक संख्यामें होकर भी एक योद्धाका सामना नहीं कर सकेंगे तो हमारा यश मिट्टीमें मिल जायगा'॥ २७॥

एवं ब्रुवाणं तं शूरमङ्गदं कनकाङ्गदम्।
द्रवमाणास्ततो वाक्यमूचुः शूरविगर्हितम्॥ २८॥

सोनेका बाजूबंद धारण करनेवाले शूरवीर अङ्गद जब ऐसा कह रहे थे, उस समय उन भागते हुए वानरोंने उन्हें ऐसा उत्तर दिया, जिसकी शौर्य-सम्पन्न योद्धा सदा निन्दा करते हैं॥ २८॥

कृतं नः कदनं घोरं कुम्भकर्णेन रक्षसा।
न स्थानकालो गच्छामो दयितं जीवितं हि नः॥ २९॥

वे बोले—'राक्षस कुम्भकर्णने हमारा घोर संहार मचा रखा है; अतः यह ठहरनेका समय नहीं है। हम जा रहे हैं; क्योंकि हमें अपनी जान प्यारी है'॥ २९॥

एतावदुक्त्वा वचनं सर्वे ते भेजिरे दिशः।
भीमं भीमाक्षमायान्तं दृष्ट्वा वानरयूथपाः॥ ३०॥

इतनी बात कहकर भयानक नेत्रवाले भीषण कुम्भकर्णको आते देख उन सब वानर-यूथपतियोंने विभिन्न दिशाओंकी शरण ली ॥ ३० ॥

द्रवमाणास्तु ते वीरा अङ्गदेन वलीमुखाः ।
सान्त्वनैश्चानुमानैश्च ततः सर्वे निवर्तिताः ॥ ३१ ॥

तब उन भागते हुए सभी वीर वानरोंको अङ्गदने सान्त्वना और आदर-सम्मानके द्वारा लौटाया ॥ ३१ ॥

प्रहर्षमुपनीताश्च वालिपुत्रेण धीमता ।
आज्ञाप्रतीक्षास्तस्थुश्च सर्वे वानरयूथपाः ॥ ३२ ॥

बुद्धिमान् वालिपुत्रने उन सबको प्रसन्न कर लिया । वे सब वानरयूथपति सुग्रीवकी आज्ञाकी प्रतीक्षा करते हुए खड़े हो गये ॥ ३२ ॥

ऋषभशरभमैन्दधूम्रनीलाः
कुमुदसुषेणगवाक्षरम्भताराः ।
द्विविदपनसवायुपुत्रमुख्या-
स्त्वरिततराभिमुखं रणं प्रयाताः ॥ ३३ ॥

तदनन्तर ऋषभ, शरभ, मैन्द, धूम्र, नील, कुमुद, सुषेण, गवाक्ष, रम्भ, तार, द्विविद, पनस और वायुपुत्र हनुमान् आदि श्रेष्ठ वानर-वीर तुरंत ही कुम्भकर्णका सामना करनेके लिये रणक्षेत्रकी ओर बढ़े ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे षट्षष्टितमः सर्गः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें छाछठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

—★—

सप्तषष्टितमः सर्गः

कुम्भकर्णका भयंकर युद्ध और श्रीरामके हाथसे उसका वध

ते निवृत्ता महाकायाः श्रुत्वाङ्गदवचस्तदा ।
नैष्ठिकीं बुद्धिमास्थाय सर्वे संग्रामकाङ्क्षिणः ॥ १ ॥

अङ्गदके पूर्वोक्त वचन सुनकर वे सब विशालकाय वानर मरने-मारनेका निश्चय करके युद्धकी इच्छासे लौटे थे ॥ १ ॥

समुदीरितवीर्यास्ते समारोपितविक्रमाः ।
पर्यवस्थापिता वाक्यैरङ्गदेन बलीयसा ॥ २ ॥

महाबली अङ्गदने उनके पूर्व-पराक्रमोंका वर्णन करके अपने वचनोंद्वारा उन्हें सुदृढ़ एवं बल-विक्रमसम्पन्न बनाकर खड़ा कर दिया था ॥ २ ॥

प्रयाताश्च गता हर्षं मरणे कृतनिश्चयाः ।
चक्रुः सुतुमुलं युद्धं वानरास्त्यक्तजीविताः ॥ ३ ॥

अब वे वानर मरनेका निश्चय करके बड़े हर्षके साथ आगे बढ़े और जीवनका मोह छोड़कर अत्यन्त भयंकर युद्ध करने लगे ॥ ३ ॥

अथ वृक्षान् महाकायाः सानूनि सुमहान्ति च ।
वानरास्तूर्णमुद्यम्य कुम्भकर्णमभिद्रवन् ॥ ४ ॥

उन विशालकाय वानर वीरोंने वृक्ष तथा बड़े-बड़े पर्वतशिखर लेकर तुरंत ही कुम्भकर्णपर धावा किया ॥ ४ ॥

कुम्भकर्णः सुसंक्रुद्धो गदामुद्यम्य वीर्यवान् ।
अर्दयन् स महाकायः समन्ताद् व्यक्षिपद् रिपून् ॥ ५ ॥

परंतु अत्यन्त क्रोधसे भरे हुए विक्रमशाली महाकाय कुम्भकर्णने गदा उठाकर शत्रुओंको घायल करके उन्हें चारों ओर बिखेर दिया ॥ ५ ॥

शतानि सप्त चाष्टौ च सहस्राणि च वानराः ।
प्रकीर्णाः शेरते भूमौ कुम्भकर्णेन ताडिताः ॥ ६ ॥

कुम्भकर्णकी मार खाकर आठ हजार सात सौ वानर तत्काल धराशायी हो गये ॥ ६ ॥

षोडशाष्टौ च दश च विंशत्त्रिंशत्तथैव च ।
परिक्षिप्य च बाहुभ्यां खादन् स परिधावति ।
भक्षयन् भृशसंक्रुद्धो गरुडः पन्नगानिव ॥ ७ ॥

वह सोलह, आठ, दस, बीस और तीस-तीस वानरोंको अपनी दोनों भुजाओंसे समेट लेता और जैसे गरुड़ सर्पोंको खाता है, उसी प्रकार अत्यन्त क्रोधपूर्वक उनका भक्षण करता हुआ सब ओर दौड़ता-फिरता था ॥ ७ ॥

कृच्छ्रेण च समाश्वस्ताः संगम्य च ततस्ततः ।
वृक्षाद्रिहस्ता हरयस्तस्थुः संग्राममूर्धनि ॥ ८ ॥

उस समय वानर बड़ी कठिनाईसे धैर्य धारण करके इधर-उधरसे एकत्र हुए और वृक्ष तथा पर्वतशिखर हाथोंमें लेकर संग्रामभूमिमें डटे रहे ॥ ८ ॥

ततः पर्वतमुत्पाट्य द्विविदः प्लवगर्षभः ।
दुद्राव गिरिशृङ्गाभं विलम्ब इव तोयदः ॥ ९ ॥

तत्पश्चात् मेघके समान विशाल शरीरवाले वानरशिरोमणि द्विविदने एक पर्वत उखाड़कर पर्वतशिखरके समान ऊँचे कुम्भकर्णपर आक्रमण किया ॥ ९ ॥

तं समुत्पाट्य चिक्षेप कुम्भकर्णाय वानरः ।
तमप्राप्य महाकायं तस्य सैन्येऽपतत् ततः ॥ १० ॥

उस पर्वतको उखाड़कर द्विविदने कुम्भकर्णके ऊपर

फेंका; किंतु वह उस विशालकाय राक्षसतक न पहुँचकर उसकी सेनामें जा गिरा ॥ १० ॥

ममर्दाश्वान् गजांश्चापि रथांश्चापि गजोत्तमान्।
तानि चान्यानि रक्षांसि एवं चान्यद्गिरेः शिरः ॥ ११ ॥

उस पर्वत-शिखरने राक्षससेनाके कितने ही घोड़ों, हाथियों, रथों, गजराजों तथा दूसरे-दूसरे राक्षसोंको भी कुचल डाला ॥ ११ ॥

तच्छैलवेगाभिहतं हताश्वं हतसारथिम्।
रक्षसां रुधिरक्लिन्नं बभूवायोधनं महत् ॥ १२ ॥

उस समय वह महान् युद्धस्थल, जिसमें शैल-शिखरके वेगसे कितने ही घोड़े और सारथि कुचल गये थे, राक्षसोंके रुधिरसे गीला हो गया ॥ १२ ॥

रथिनो वानरेन्द्राणां शरैः कालान्तकोपमैः।
शिरांसि नर्दतां जह्रुः सहसा भीमनिःस्वनाः ॥ १३ ॥

तब भयानक सिंहनाद करनेवाले राक्षस-सेनाके रथियोंने प्रलयकालीन यमराजके समान भयंकर बाणोंसे गर्जते हुए वानर-यूथपतियोंके मस्तकोंको सहसा काटना आरम्भ किया ॥ १३ ॥

वानराश्च महात्मानः समुत्पाट्य महाद्रुमान्।
रथानश्वान् गजानुष्ट्रान् राक्षसानभ्यसूदयन् ॥ १४ ॥

महामनस्वी वानर भी बड़े-बड़े पेड़ उखाड़कर शत्रुसेनाके रथ, घोड़े, हाथी, ऊँट और राक्षसोंका संहार करने लगे ॥ १४ ॥

हनूमाञ्छैलशृङ्गाणि शिलाश्च विविधान् द्रुमान्।
ववर्ष कुम्भकर्णस्य शिरस्यम्बरमास्थितः ॥ १५ ॥

हनुमान्‌जी आकाशमें पहुँचकर कुम्भकर्णके मस्तकपर पर्वत-शिखरों, शिलाओं और नाना प्रकारके वृक्षोंकी वर्षा करने लगे ॥ १५ ॥

तानि पर्वतशृङ्गाणि शूलेन स बिभेद ह।
बभञ्ज वृक्षवर्षं च कुम्भकर्णो महाबलः ॥ १६ ॥

परंतु महाबली कुम्भकर्णने अपने शूलसे उन पर्वतशिखरोंको फोड़ डाला और बरसाये जानेवाले वृक्षोंके भी टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ १६ ॥

ततो हरीणां तदनीकमुग्रं
दुद्राव शूलं निशितं प्रगृह्य।
तस्थौ स तस्यापततः परस्ता-
न्महीधराग्रं हनुमान् प्रगृह्य ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् उसने अपने तीक्ष्ण शूलको हाथमें लेकर वानरोंकी उस भयंकर सेनापर आक्रमण किया। यह देख हनुमान्‌जी एक पर्वत-शिखर हाथमें लेकर उस आक्रमणकारी राक्षसका सामना करनेके लिये खड़े हो गये ॥ १७ ॥

स कुम्भकर्णं कुपितो जघान
वेगेन शैलोत्तमभीमकायम्।
संचुक्षुभे तेन तदाभिभूतो
मेदार्द्रगात्रो रुधिरावसिक्तः ॥ १८ ॥

उन्होंने कुपित हो श्रेष्ठ पर्वतके समान भयानक शरीरवाले कुम्भकर्णपर बड़े वेगसे प्रहार किया। उनकी उस मारसे कुम्भकर्ण व्याकुल हो उठा। उसका सारा शरीर चर्बीसे गीला हो गया और वह रक्तसे नहा गया ॥ १८ ॥

स शूलमाविध्य तडित्प्रकाशं
गिरिं यथा प्रज्वलिताग्निशृङ्गम्।
बाह्वन्तरे मारुतिमाजघान
गुहोऽचलं क्रौञ्चमिवोग्रशक्त्या ॥ १९ ॥

फिर तो उसने भी बिजलीके समान चमकते हुए शूलको घुमाकर जिसके शिखरपर आग जल रही हो, उस पर्वतके समान हनुमान्‌जीकी छातीमें उसी तरह मारा, जैसे स्वामी कार्तिकेयने अपनी भयानक शक्तिसे क्रौञ्चपर्वतपर आघात किया था ॥ १९ ॥

स शूलनिर्भिन्नमहाभुजान्तरः
प्रविह्वलः शोणितमुद्वमन् मुखात्।
ननाद भीमं हनुमान् महाहवे
युगान्तमेघस्तनितस्वनोपमम् ॥ २० ॥

उस महासमरमें शूलकी चोटसे हनुमान्‌जीकी दोनों भुजाओंके बीचका भाग (वक्षःस्थल) विदीर्ण हो गया। वे व्याकुल हो गये और मुँहसे रक्त वमन करने लगे। उस समय पीड़ाके मारे उन्होंने बड़ा भयंकर आर्तनाद किया, जो प्रलयकालके मेघोंकी गर्जनाके समान जान पड़ता था ॥ २० ॥

ततो विनेदुः सहसा प्रहृष्टा
रक्षोगणास्तं व्यथितं समीक्ष्य।
प्लवंगमास्तु व्यथिता भयार्ताः
प्रदुद्रुवुः संयति कुम्भकर्णात् ॥ २१ ॥

हनुमान्‌जीको आघातसे पीड़ित देख राक्षसोंके हर्षकी सीमा न रही। वे सहसा जोर-जोरसे कोलाहल करने लगे। इधर कुम्भकर्णके भयसे पीड़ित एवं व्यथित हुए वानर युद्धभूमि छोड़कर भागने लगे ॥ २१ ॥

ततस्तु नीलो बलवान् पर्यवस्थापयन् बलम्।
प्रविचिक्षेप शैलाग्रं कुम्भकर्णाय धीमते ॥ २२ ॥

यह देख बलवान् नीलने वानरसेनाको धैर्य बँधाने एवं सुस्थिर रखनेके लिये बुद्धिमान् कुम्भकर्णपर एक पर्वतका शिखर चलाया ॥ २२ ॥

तदापतन्तं सम्प्रेक्ष्य मुष्टिनाभिजघान ह।
मुष्टिप्रहाराभिहतं तच्छैलाग्रं व्यशीर्यत।
सविस्फुलिङ्गं सज्वालं निपपात महीतले ॥ २३ ॥

उस पर्वतशिखरको अपने ऊपर आता देख कुम्भकर्णने उसपर मुक्केसे आघात किया। उसका मुक्का लगते ही वह

शिखर चूर-चूर होकर बिखर गया और आगकी चिनगारियाँ तथा लपटें निकालता हुआ पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २३ ॥

ऋषभः शरभो नीलो गवाक्षो गन्धमादनः ।
पञ्च वानरशार्दूलाः कुम्भकर्णमुपाद्रवन् ॥ २४ ॥

इसके बाद ऋषभ, शरभ, नील, गवाक्ष और गन्धमादन—इन पाँच प्रमुख वानरवीरोंने कुम्भकर्णपर धावा किया ॥ २४ ॥

शैलैर्वृक्षैस्तलैः पादैर्मुष्टिभिश्च महाबलाः ।
कुम्भकर्णं महाकायं निजघ्नुः सर्वतो युधि ॥ २५ ॥

वे महाबली वीर चारों ओरसे घेरकर युद्धस्थलमें महाकाय कुम्भकर्णको पर्वतों, वृक्षों, थप्पड़ों, लातों और मुक्कोंसे मारने लगे ॥ २५ ॥

स्पर्शानिव प्रहारांस्तान् वेदयानो न विव्यथे ।
ऋषभं तु महावेगं बाहुभ्यां परिषस्वजे ॥ २६ ॥

यद्यपि वे लोग बड़े जोर-जोरसे प्रहार करते थे, तथापि उसे ऐसा जान पड़ता था मानो कोई धीरेसे छू रहा हो। अतः इनकी मारसे उसे तनिक भी पीड़ा नहीं हुई। उसने महान् वेगशाली ऋषभको अपनी दोनों भुजाओंमें भर लिया ॥ २६ ॥

कुम्भकर्णभुजाभ्यां तु पीडितो वानरर्षभः ।
निपपातर्षभो भीमः प्रमुखागतशोणितः ॥ २७ ॥

कुम्भकर्णकी दोनों भुजाओंसे दबकर पीड़ित हुए भयंकर वानरशिरोमणि ऋषभके मुँहसे खून निकलने लगा और वे पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २७ ॥

मुष्टिना शरभं हत्वा जानुना नीलमाहवे ।
आजघान गवाक्षं तु तलेनेन्द्ररिपुस्तदा ।
पादेनाभ्यहनत् क्रुद्धस्तरसा गन्धमादनम् ॥ २८ ॥

तदनन्तर उस समरभूमिमें इन्द्रद्रोही कुम्भकर्णने शरभको मुक्केसे मारकर नीलको घुटनेसे रगड़ दिया और गवाक्षको थप्पड़से मारा। फिर क्रोधसे भरकर उसने गन्धमादनको बड़े वेगसे लात मारी ॥ २८ ॥

दत्तप्रहारव्यथिता मुमुहुः शोणितोक्षिताः ।
निपेतुस्ते तु मेदिन्यां निकृत्ता इव किंशुकाः ॥ २९ ॥

उसके प्रहारसे व्यथित हुए वानर मूर्च्छित हो गये और खूनसे नहा उठे। फिर कटे हुए पलाश वृक्षकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २९ ॥

तेषु वानरमुख्येषु पातितेषु महात्मसु ।
वानराणां सहस्राणि कुम्भकर्णं प्रदुद्रुवुः ॥ ३० ॥

उन महामनस्वी प्रमुख वानरोंके धराशायी हो जानेपर हजारों वानर एक साथ कुम्भकर्णपर टूट पड़े ॥ ३० ॥

तं शैलमिव शैलाभाः सर्वे तु प्लवगर्षभाः ।
समारुह्य समुत्पत्य ददंशुश्च महाबलाः ॥ ३१ ॥

पर्वतके समान प्रतीत होनेवाले वे समस्त महाबली वानर-यूथपति उस पर्वताकार राक्षसके ऊपर चढ़ गये और उछल-उछलकर उसे दाँतोंसे काटने लगे ॥ ३१ ॥

तं नखैर्दशनैश्चापि मुष्टिभिर्बाहुभिस्तथा ।
कुम्भकर्णं महाबाहुं निजघ्नुः प्लवगर्षभाः ॥ ३२ ॥

वे वानरशिरोमणि नखों, दाँतों, मुक्कों और हाथोंसे महाबाहु कुम्भकर्णको मारने लगे ॥ ३२ ॥

स वानरसहस्रैस्तु विचितः पर्वतोपमः ।
रराज राक्षसव्याघ्रो गिरिरात्मरुहैरिव ॥ ३३ ॥

जैसे पर्वत अपने ऊपर उगे हुए वृक्षोंसे सुशोभित होता है, उसी प्रकार सहस्रों वानरोंसे व्याप्त हुआ वह पर्वताकार राक्षस वीर अद्भुत शोभा पाने लगा ॥ ३३ ॥

बाहुभ्यां वानरान् सर्वान् प्रगृह्य स महाबलः ।
भक्षयामास संक्रुद्धो गरुडः पन्नगानिव ॥ ३४ ॥

जैसे गरुड़ सर्पोंको अपना आहार बनाते हैं, उसी तरह अत्यन्त कुपित हुआ वह महाबली राक्षस समस्त वानरोंको दोनों हाथोंसे पकड़-पकड़कर भक्षण करने लगा ॥ ३४ ॥

प्रक्षिप्ताः कुम्भकर्णेन वक्त्रे पातालसंनिभे ।
नासापुटाभ्यां संजग्मुः कर्णाभ्यां चैव वानराः ॥ ३५ ॥

कुम्भकर्ण अपने पातालके समान मुखमें वानरोंको झोंकता जाता था और वे उसके कानों तथा नाकोंकी राहसे बाहर निकलते जाते थे ॥ ३५ ॥

भक्षयन् भृशसंक्रुद्धो हरीन् पर्वतसंनिभः ।
बभञ्ज वानरान् सर्वान् संक्रुद्धो राक्षसोत्तमः ॥ ३६ ॥

अत्यन्त क्रोधसे भरकर वानरोंका भक्षण करते हुए पर्वतके समान विशालकाय उस राक्षसराजने समस्त वानरोंके अङ्ग-भङ्ग कर डाले ॥ ३६ ॥

मांसशोणितसंक्लेदां कुर्वन् भूमिं स राक्षसः ।
चचार हरिसैन्येषु कालाग्निरिव मूर्च्छितः ॥ ३७ ॥

रणभूमिमें रक्त और मांसकी कीच मचाता हुआ वह राक्षस बढ़ी हुई प्रलयाग्निके समान वानरसेनामें विचरने लगा ॥ ३७ ॥

वज्रहस्तो यथा शक्रः पाशहस्त इवान्तकः ।
शूलहस्तो बभौ युद्धे कुम्भकर्णो महाबलः ॥ ३८ ॥

शूल हाथमें लेकर संग्रामभूमिमें विचरता हुआ महाबली कुम्भकर्ण वज्रधारी इन्द्र और पाशधारी यमराजके समान जान पड़ता था ॥ ३८ ॥

यथा शुष्काण्यरण्यानि ग्रीष्मे दहति पावकः ।
तथा वानरसैन्यानि कुम्भकर्णो ददाह सः ॥ ३९ ॥

जैसे ग्रीष्म ऋतुमें दावानल सूखे जंगलोंको जला देता है, उसी प्रकार कुम्भकर्ण वानरसेनाओंको दग्ध करने लगा ॥ ३९ ॥

ततस्ते वध्यमानास्तु हतयूथाः प्लवंगमाः ।
वानरा भयसंविग्ना विनेदुर्विकृतैः स्वरैः ॥ ४० ॥

जिनके यूथ-के-यूथ नष्ट हो गये थे, वे वानर कुम्भकर्णकी मार खाकर भयसे उद्विग्न हो उठे और विकृत

स्वरमें चीत्कार करने लगे ॥ ४० ॥

अनेकशो वध्यमानाः कुम्भकर्णेन वानराः ।
राघवं शरणं जग्मुर्व्यथिता भिन्नचेतसः ॥ ४१ ॥

कुम्भकर्णके हाथसे मारे जाते हुए बहुत-से वानर, जिनका दिल टूट गया था, व्यथित हो श्रीरघुनाथजीकी शरणमें गये ॥ ४१ ॥

प्रभग्नान् वानरान् दृष्ट्वा वज्रहस्तात्मजात्मजः ।
अभ्यधावत वेगेन कुम्भकर्णं महाहवे ॥ ४२ ॥

वानरोंको भागते देख वालिकुमार अङ्गद उस महासमरमें कुम्भकर्णकी ओर बड़े वेगसे दौड़े ॥ ४२ ॥

शैलशृङ्गं महद् गृह्य विनदन् स मुहुर्मुहुः ।
त्रासयन् राक्षसान् सर्वान् कुम्भकर्णपदानुगान् ॥ ४३ ॥
चिक्षेप शैलशिखरं कुम्भकर्णस्य मूर्धनि ।

उन्होंने बारंबार गर्जना करके एक विशाल शैल-शिखर हाथमें ले लिया और कुम्भकर्णके पीछे चलनेवाले समस्त राक्षसोंको भयभीत करते हुए उस पर्वतशिखरको उसके मस्तकपर दे मारा ॥ ४३ १/२ ॥

स तेनाभिहतो मूर्ध्नि शैलेनेन्द्ररिपुस्तदा ॥ ४४ ॥
कुम्भकर्णः प्रजज्वाल क्रोधेन महता तदा ।
सोऽभ्यधावत वेगेन वालिपुत्रममर्षणः ॥ ४५ ॥

मस्तकपर उस पर्वत-शिखरकी चोट खाकर इन्द्रद्रोही कुम्भकर्ण उस समय महान् क्रोधसे जल उठा और उस प्रहारको सहन न कर सकनेके कारण बड़े वेगसे वालिपुत्रकी ओर दौड़ा ॥ ४४-४५ ॥

कुम्भकर्णो महानादस्त्रासयन् सर्ववानरान् ।
शूलं ससर्ज वै रोषादङ्गदे तु महाबलः ॥ ४६ ॥

बड़े जोरसे गर्जना करनेवाले महाबली कुम्भकर्णने समस्त वानरोंको संत्रस्त करते हुए अङ्गदपर बड़े रोषसे शूलका प्रहार किया ॥ ४६ ॥

तदापतन्तं बलवान् युद्धमार्गविशारदः ।
लाघवान्मोक्षयामास बलवान् वानरर्षभः ॥ ४७ ॥

किंतु युद्धमार्गके ज्ञाता बलवान् वानरशिरोमणि अङ्गदने फुर्तीसे हटकर अपनी ओर आते हुए उस शूलसे अपने-आपको बचा लिया ॥ ४७ ॥

उत्पत्य चैनं तरसा तलेनोरस्यताडयत् ।
स तेनाभिहतः कोपात् प्रमुमोहाचलोपमः ॥ ४८ ॥

साथ ही बड़े वेगसे उछलकर उन्होंने उसकी छातीमें एक थप्पड़ मारा। क्रोधपूर्वक चलाये हुए उस थप्पड़की मार खाकर वह पर्वताकार राक्षस मूर्च्छित हो गया ॥ ४८ ॥

स लब्धसंज्ञोऽतिबलो मुष्टिं संगृह्य राक्षसः ।
अपहस्तेन चिक्षेप विसंज्ञः स पपात ह ॥ ४९ ॥

थोड़ी देरमें जब उसे होश हुआ, तब उस अत्यन्त बलशाली राक्षसने भी बायें हाथसे मुक्का बाँधकर अङ्गदपर प्रहार किया, जिससे वे अचेत होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ४९ ॥

तस्मिन् प्लवगशार्दूले विसंज्ञे पतिते भुवि ।
तच्छूलं समुपादाय सुग्रीवमभिदुद्रुवे ॥ ५० ॥

वानरप्रवर अङ्गदके अचेत एवं धराशायी हो जानेपर कुम्भकर्ण वही शूल लेकर सुग्रीवकी ओर दौड़ा ॥ ५० ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य कुम्भकर्णं महाबलम् ।
उत्पपात तदा वीरः सुग्रीवो वानराधिपः ॥ ५१ ॥

महाबली कुम्भकर्णको अपनी ओर आते देख वीर वानरराज सुग्रीव तत्काल ऊपरको ओर उछले ॥ ५१ ॥

स पर्वताग्रमुत्क्षिप्य समाविध्य महाकपिः ।
अभिदुद्राव वेगेन कुम्भकर्णं महाबलम् ॥ ५२ ॥

महाकपि सुग्रीवने एक पर्वत-शिखरको उठा लिया और उसे घुमाकर महाबली कुम्भकर्णपर वेगपूर्वक धावा किया ॥ ५२ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य कुम्भकर्णः प्लवंगमम् ।
तस्थौ विवृत्तसर्वाङ्गो वानरेन्द्रस्य सम्मुखः ॥ ५३ ॥

वानर सुग्रीवको आक्रमण करते देख कुम्भकर्ण अपने सारे अङ्गोंको फैलाकर उन वानरराजके सामने खड़ा हो गया ॥ ५३ ॥

कपिशोणितदिग्धाङ्गं भक्षयन्तं महाकपीन् ।
कुम्भकर्णं स्थितं दृष्ट्वा सुग्रीवो वाक्यमब्रवीत् ॥ ५४ ॥

कुम्भकर्णका सारा शरीर वानरोंके रक्तसे नहा उठा था। वह बड़े-बड़े वानरोंको खाता हुआ उनके सामने खड़ा था। उसे देखकर सुग्रीवने कहा— ॥ ५४ ॥

पातिताश्च त्वया वीराः कृतं कर्म सुदुष्करम् ।
भक्षितानि च सैन्यानि प्राप्तं ते परमं यशः ॥ ५५ ॥
त्यज तद् वानरानीकं प्राकृतैः किं करिष्यसि ।
सहस्वैकं निपातं मे पर्वतस्यास्य राक्षस ॥ ५६ ॥

'राक्षस! तुमने बहुत-से वीरोंको मार गिराया, अत्यन्त दुष्कर कर्म कर दिखाया और कितने ही सैनिकोंको अपना आहार बना लिया। इससे तुम्हें शौर्यका महान् यश प्राप्त हुआ है। अब इन वानरोंकी सेनाको छोड़ दो। इन साधारण बंदरोंसे लड़कर क्या करोगे? यदि शक्ति हो तो मेरे चलाये हुए इस पर्वतकी एक ही चोट सह लो' ॥ ५५-५६ ॥

तद् वाक्यं हरिराजस्य सत्त्वधैर्यसमन्वितम् ।
श्रुत्वा राक्षसशार्दूलः कुम्भकर्णोऽब्रवीद् वचः ॥ ५७ ॥

वानरराजकी यह सत्त्व और धैर्यसे युक्त बात सुनकर राक्षसप्रवर कुम्भकर्ण बोला— ॥ ५७ ॥

प्रजापतेस्तु पौत्रस्त्वं तथैवर्क्षरजःसुतः ।
धृतिपौरुषसम्पन्नस्तस्माद् गर्जसि वानर ॥ ५८ ॥

'वानर! तुम प्रजापतिके पौत्र, ऋक्षरजाके पुत्र तथा धैर्य एवं पौरुषसे सम्पन्न हो। इसीलिये इस तरह गरज रहे हो' ॥ ५८ ॥

स कुम्भकर्णस्य वचो निशम्य
व्याविध्य शैलं सहसा मुमोच।
तेनाजघानोरसि कुम्भकर्णं
शैलेन वज्राशनिसंनिभेन ॥ ५९ ॥

कुम्भकर्णकी यह बात सुनकर सुग्रीवने उस शैल-शिखरको घुमाकर सहसा उसके ऊपर छोड़ दिया। वह वज्र और अशनिके समान था। उसके द्वारा उन्होंने कुम्भकर्णकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ ५९ ॥

तच्छैलशृङ्गं सहसा विभिन्नं
भुजान्तरे तस्य तदा विशाले।
ततो विषेदुः सहसा प्लवंगा
रक्षोगणाश्चापि मुदा विनेदुः ॥ ६० ॥

किंतु उसके विशाल वक्षःस्थलसे टकराकर वह शैल-शिखर सहसा चूर-चूर हो गया। यह देख वानर तत्काल विषादमें डूब गये और राक्षस बड़े हर्षके साथ गर्जना करने लगे ॥ ६० ॥

स शैलशृङ्गाभिहतश्चुकोप
ननाद रोषाच्च विवृत्य वक्त्रम्।
व्याविध्य शूलं स तडित्प्रकाशं
चिक्षेप हर्यृक्षपतेर्वधाय ॥ ६१ ॥

उस पर्वत-शिखरकी चोट खाकर कुम्भकर्णको बड़ा क्रोध हुआ। वह रोषसे मुँह फैलाकर जोर-जोरसे गर्जना करने लगा। फिर उसने बिजलीके समान चमकनेवाले उस शूलको घुमाकर सुग्रीवके वधके लिये चलाया ॥ ६१ ॥

तत् कुम्भकर्णस्य भुजप्रणुन्नं
शूलं शितं काञ्चनधामयष्टिम्।
क्षिप्रं समुत्पत्य निगृह्य दोर्भ्यां
बभञ्ज वेगेन सुतोऽनिलस्य ॥ ६२ ॥

कुम्भकर्णके हाथसे छूटे हुए उस तीखे शूलको, जिसके डंडेमें सोनेकी लड़ियाँ लगी हुई थीं, वायुपुत्र हनुमान्‌ने शीघ्र उछलकर दोनों हाथोंसे पकड़ लिया और उसे वेगपूर्वक तोड़ डाला ॥ ६२ ॥

कृतं भारसहस्रस्य शूलं कालायसं महत्।
बभञ्ज जानुमारोप्य तदा हृष्टः प्लवंगमः ॥ ६३ ॥

वह महान् शूल हजार भार काले लोहेका बना हुआ था, जिसे हनुमान्‌जीने बड़े हर्षके साथ अपने घुटनोंमें लगाकर तत्काल तोड़ दिया ॥ ६३ ॥

शूलं भग्नं हनुमता दृष्ट्वा वानरवाहिनी।
हृष्टा ननाद बहुशः सर्वतश्चापि दुद्रुवे ॥ ६४ ॥

हनुमान्‌जीके द्वारा शूलको तोड़ा गया देख वानर-सेना बड़े हर्षसे भरकर बारंबार सिंहनाद करने लगी और चारों ओर दौड़ लगाने लगी ॥ ६४ ॥

बभूवाथ परित्रस्तो राक्षसो विमुखोऽभवत्।
सिंहनादं च ते चक्रुः प्रहृष्टा वनगोचराः।
मारुतिं पूजयांचक्रुर्दृष्ट्वा शूलं तथागतम् ॥ ६५ ॥

परंतु वह राक्षस भयसे थर्रा उठा। उसके मुखपर उदासी छा गयी और वनचारी वानर अत्यन्त प्रसन्न हो सिंहनाद करने लगे। उन सबने शूलको खण्डित हुआ देख पवनकुमार हनुमान्‌जीकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ६५ ॥

स तत् तथा भग्नमवेक्ष्य शूलं
चुकोप रक्षोधिपतिर्महात्मा।
उत्पाट्य लङ्कामलयात् स शृङ्गं
जघान सुग्रीवमुपेत्य तेन ॥ ६६ ॥

इस प्रकार उस शूलको भग्न हुआ देख महाकाय राक्षसराज कुम्भकर्णको बड़ा क्रोध हुआ और उसने लङ्काके निकटवर्ती मलय पर्वतका शिखर उठाकर सुग्रीवके निकट जा उनपर दे मारा ॥ ६६ ॥

स शैलशृङ्गाभिहतो विसंज्ञः
पपात भूमौ युधि वानरेन्द्रः।
तं वीक्ष्य भूमौ पतितं विसंज्ञं
नेदुः प्रहृष्टा युधि यातुधानाः ॥ ६७ ॥

उस शैलशिखरसे आहत हो वानरराज सुग्रीव अपनी सुध-बुध खो बैठे और युद्धभूमिमें गिर पड़े। उन्हें अचेत होकर पृथ्वीपर पड़ा देख निशाचरोंको बड़ी प्रसन्नता हुई और वे रणक्षेत्रमें सिंहनाद करने लगे ॥ ६७ ॥

समभ्युपेत्याद्भुतघोरवीर्यं
स कुम्भकर्णो युधि वानरेन्द्रम्।
जहार सुग्रीवमभिप्रगृह्य
यथानिलो मेघमिव प्रचण्डः ॥ ६८ ॥

तदनन्तर कुम्भकर्णने युद्धस्थलमें अद्भुत एवं भयानक पराक्रम प्रकट करनेवाले वानरराज सुग्रीवके पास जाकर उन्हें उठा लिया और जैसे प्रचण्ड वायु बादलोंको उड़ा ले जाती है, उसी तरह वह उन्हें हर ले गया ॥ ६८ ॥

स तं महामेघनिकाशरूप-
मुत्पाट्य गच्छन् युधि कुम्भकर्णः।
रराज मेरुप्रतिमानरूपो
मेरुर्यथा व्युच्छ्रितघोरशृङ्गः ॥ ६९ ॥

कुम्भकर्णका स्वरूप मेरु पर्वतके समान जान पड़ता था। वह महान् मेघके समान रूपवाले सुग्रीवको उठाकर जब युद्धस्थलमें चला, उस समय भयानक ऊँचे शिखरोंवाले मेरुगिरिके समान ही शोभा पाने लगा ॥ ६९ ॥

ततस्तमादाय जगाम वीरः
संस्तूयमानो युधि राक्षसेन्द्रः।
शृण्वन् निनादं त्रिदिवालयानां
प्लवङ्गराजग्रहविस्मितानाम् ॥ ७० ॥

उन्हें लेकर वह वीर राक्षसराज लङ्काकी ओर चल दिया। उस समय युद्धस्थलमें सभी राक्षस उसकी स्तुति कर रहे थे। वानरराजके पकड़े जानेसे आश्चर्यचकित हुए देवताओंका

दुःखजनित शब्द उसे स्पष्ट सुनायी दे रहा था ॥ ७० ॥

ततस्तमादाय तदा स मेने
हरीन्द्रमिन्द्रोपममिन्द्रवीर्यः ।
अस्मिन् हते सर्वमिदं हतं स्यात्
सराघवं सैन्यमितीन्द्रशत्रुः ॥ ७१ ॥

इन्द्रके समान पराक्रमी इन्द्रद्रोही कुम्भकर्णने उस समय देवेन्द्रतुल्य तेजस्वी वानरराज सुग्रीवको पकड़कर मन-ही-मन यह मान लिया कि इनके मारे जानेसे श्रीरामसहित यह सारी वानर-सेना स्वतः नष्ट हो जायगी ॥ ७१ ॥

विद्रुतां वाहिनीं दृष्ट्वा वानराणामितस्ततः ।
कुम्भकर्णेन सुग्रीवं गृहीतं चापि वानरम् ॥ ७२ ॥
हनूमांश्चिन्तयामास मतिमान् मारुतात्मजः ।
एवं गृहीते सुग्रीवे किं कर्तव्यं मया भवेत् ॥ ७३ ॥

'वानरोंकी सेना इधर-उधर भाग रही है और वानरराज सुग्रीवको कुम्भकर्णने पकड़ लिया है', यह देखकर बुद्धिमान् पवनकुमार हनुमान्‌ने सोचा—'सुग्रीवके इस प्रकार पकड़ लिये जानेपर मुझे क्या करना चाहिये ?॥ ७२-७३ ॥

यद्धि न्याय्यं मया कर्तुं तत् करिष्याम्यसंशयम् ।
भूत्वा पर्वतसंकाशो नाशयिष्यामि राक्षसम् ॥ ७४ ॥

'मेरे लिये जो भी करना उचित होगा, उसे मैं निःसन्देह करूँगा। पर्वताकार रूप धारण करके उस राक्षसका नाश कर डालूँगा ॥ ७४ ॥

मया हते संयति कुम्भकर्णे
महाबले मुष्टिविशीर्णदेहे ।
विमोचिते वानरपार्थिवे च
भवन्तु हृष्टाः प्लवगाः समग्राः ॥ ७५ ॥

'युद्धस्थलमें अपने मुक्कोंसे मार-मारकर महाबली कुम्भकर्णके शरीरको चूर-चूर कर दूँगा; इस प्रकार जब वह मेरे हाथसे मारा जायगा तथा वानरराज सुग्रीवको उसकी कैदसे छुड़ा लिया जायगा, तब सारे वानर हर्षसे खिल उठेंगे, अच्छा ऐसा ही हो ॥ ७५ ॥

अथवा स्वयमप्येष मोक्षं प्राप्स्यति वानरः ।
गृहीतोऽयं यदि भवेत् त्रिदशैः सासुरोरगैः ॥ ७६ ॥

'अथवा वे सुग्रीव स्वयं ही उसकी पकड़से छूट जायँगे। यदि इन्हें देवता, असुर अथवा नाग भी पकड़ लें तो ये अपने ही प्रयत्नसे उनकी कैदसे भी छुटकारा पा जायँगे ॥ ७६ ॥

मन्ये न तावदात्मानं बुध्यते वानराधिपः ।
शैलप्रहाराभिहतः कुम्भकर्णेन संयुगे ॥ ७७ ॥

'मैं समझता हूँ कि युद्धमें कुम्भकर्णने शिलाके प्रहारसे सुग्रीवको जो गहरी चोट पहुँचायी है, उससे अचेत हुए वानरराजको अभीतक होश नहीं हुआ है ॥ ७७ ॥

अयं मुहूर्तात् सुग्रीवो लब्धसंज्ञो महाहवे ।
आत्मनो वानराणां च यत् पथ्यं तत् करिष्यति ॥ ७८ ॥

'एक ही मुहूर्तमें जब सुग्रीव सचेत होंगे, तब महासमरमें अपने और वानरोंके लिये जो हितकर कर्म होगा, उसे करेंगे ॥ ७८ ॥

मया तु मोक्षितस्यास्य सुग्रीवस्य महात्मनः ।
अप्रीतिश्च भवेत् कष्टा कीर्तिनाशश्च शाश्वतः ॥ ७९ ॥

'यदि मैं इन्हें छुड़ाऊँ तो महात्मा सुग्रीवको प्रसन्नता नहीं होगी, उलटे इनके मनमें खेद होगा और सदाके लिये इनके यशका नाश हो जायगा ॥ ७९ ॥

तस्मान्मुहूर्तं काङ्क्षिष्ये विक्रमं मोक्षितस्य तु ।
भिन्नं च वानरानीकं तावदाश्वासयाम्यहम् ॥ ८० ॥

'अतः मैं एक मुहूर्ततक उनके छूटनेकी प्रतीक्षा करूँगा। फिर वे छूट जायँगे तो उनका पराक्रम देखूँगा। तबतक भागी हुई वानर-सेनाको धैर्य बँधाता हूँ' ॥ ८० ॥

इत्येवं चिन्तयित्वाथ हनूमान् मारुतात्मजः ।
भूयः संस्तम्भयामास वानराणां महाचमूम् ॥ ८१ ॥

ऐसा विचारकर पवनकुमार हनुमान्‌ने वानरोंकी उस विशाल वाहिनीको पुनः आश्वासन दे स्थिरतापूर्वक स्थापित किया ॥ ८१ ॥

स कुम्भकर्णोऽथ विवेश लङ्कां
स्फुरन्तमादाय महाहरिं तम् ।
विमानचर्यागृहगोपुरस्थैः
पुष्पाग्र्यवर्षैरभिपूज्यमानः ॥ ८२ ॥

उधर कुम्भकर्ण हाथ-पैर हिलाते हुए महावानर सुग्रीवको लिये-दिये लङ्कामें घुस गया। उस समय विमानों (सतमहले मकानों), सड़कके दोनों ओर बनी हुई गृहपंक्तियों तथा गोपुरोंमें रहनेवाले स्त्री-पुरुष उत्तम फूलोंकी वर्षा करके कुम्भकर्णका स्वागत-सत्कार कर रहे थे ॥ ८२ ॥

लाजगन्धोदवर्षैस्तु सेच्यमानः शनैः शनैः ।
राजवीथ्यास्तु शीतत्वात् संज्ञां प्राप महाबलः ॥ ८३ ॥

लावा और गन्धयुक्त जलकी वर्षाद्वारा अभिषिक्त हो राजमार्गकी शीतलताके कारण महाबली सुग्रीवको धीरे-धीरे होश आ गया ॥ ८३ ॥

ततः स संज्ञामुपलभ्य कृच्छ्राद्
बलीयसस्तस्य भुजान्तरस्थः ।
अवेक्षमाणः पुरराजमार्गं
विचिन्तयामास मुहुर्महात्मा ॥ ८४ ॥

तब बड़ी कठिनाईसे सचेत हो बलवान् कुम्भकर्णकी भुजाओंमें दबे हुए महात्मा सुग्रीव नगर और राजमार्गकी ओर देखकर बारंबार इस प्रकार विचार करने लगे— ॥ ८४ ॥

एवं गृहीतेन कथं नु नाम
शक्यं मया सम्प्रतिकर्तुमद्य ।
तथा करिष्यामि यथा हरीणां
भविष्यतीष्टं च हितं च कार्यम् ॥ ८५ ॥

'इस प्रकार इस राक्षसको पकड़में आकर अब मैं किस तरह इससे भरपूर बदला ले सकता हूँ? मैं वही करूँगा, जिससे वानरोंका अभीष्ट और हितकर कार्य हो' ॥ ८५ ॥

ततः कराग्रैः सहसा समेत्य
राजा हरीणाममरेन्द्रशत्रोः ।
खरैश्च कर्णौ दशनैश्च नासां
ददंश पार्श्वेविददार पार्श्वौ ॥ ८६ ॥

ऐसा निश्चय करके वानरोंके राजा सुग्रीवने सहसा हाथोंके तीखे नखोंद्वारा इन्द्रशत्रु कुम्भकर्णके दोनों कान नोच लिये, दाँतोंसे उसकी नाक काट ली और अपने पैरोंके नखोंसे उस राक्षसकी दोनों पसलियाँ फाड़ डालीं ॥ ८६ ॥

स कुम्भकर्णो हृतकर्णनासो
विदारितस्तेन रदैर्नखैश्च ।
रोषाभिभूतः क्षतजार्द्रगात्रः
सुग्रीवमाविध्य पिपेष भूमौ ॥ ८७ ॥

सुग्रीवके दाँतों और नखोंसे दोनों कानोंका निम्न भाग और नाक कट जाने तथा पार्श्वभागके विदीर्ण हो जानेसे कुम्भकर्णका सारा शरीर लहूलुहान हो गया। तब उसे बड़ा रोष हुआ और उसने सुग्रीवको घुमाकर भूमिपर पटक दिया। पटककर वह उन्हें भूमिपर रगड़ने लगा ॥ ८७ ॥

स भूतले भीमबलाभिपिष्टः
सुरारिभिस्तैरभिहन्यमानः ।
जगाम खं कन्दुकवज्जवेन
पुनश्च रामेण समाजगाम ॥ ८८ ॥

भयानक बलशाली कुम्भकर्ण जब उन्हें पृथ्वीपर रगड़ रहा था और वे देवद्रोही राक्षस उनपर सब ओरसे चोट कर रहे थे, उसी समय सुग्रीव सहसा गेंदकी भाँति वेगपूर्वक आकाशमें उछले और पुनः श्रीरामचन्द्रजीसे आ मिले ॥ ८८ ॥

कर्णनासाविहीनस्तु कुम्भकर्णो महाबलः ।
रराज शोणितोत्सिक्तो गिरिः प्रस्रवणैरिव ॥ ८९ ॥

महाबली कुम्भकर्ण अपनी नाक और कान खो बैठा। उसके अङ्गोंसे इस तरह खून बहने लगा, जैसे पर्वतसे पानीके झरने गिरते हैं। वह रक्तसे नहा उठा और झरनोंसे युक्त शैलशिखरकी भाँति शोभा पाने लगा ॥ ८९ ॥

शोणिताद्रों महाकायो राक्षसो भीमदर्शनः ।
युद्धायाभिमुखो भूयो मनश्चक्रे निशाचरः ॥ ९० ॥

महाकाय राक्षस रक्तसे नहाकर और भी भयानक दिखायी देने लगा। उस निशाचरने पुनः शत्रुके सामने जाकर युद्ध करनेका विचार किया ॥ ९० ॥

अमर्षाच्छोणितोद्गारी शुशुभे रावणानुजः ।
नीलाञ्जनचयप्रख्यः ससंध्य इव तोयदः ॥ ९१ ॥

अमर्षपूर्वक रक्त वमन करता हुआ रावणका छोटा भाई कुम्भकर्ण, जिसके शरीरका रंग काले मेघके समान था, संध्याकालके बादलकी भाँति सुशोभित हो रहा था ॥ ९१ ॥

गते च तस्मिन् सुरराजशत्रुः
क्रोधात् प्रदुद्राव रणाय भूयः ।
अनायुधोऽस्मीति विचिन्त्य रौद्रो
घोरं तदा मुद्गरमाससाद ॥ ९२ ॥

सुग्रीवके निकल भागनेपर वह इन्द्रद्रोही राक्षस फिर युद्धके लिये दौड़ा। उस समय यह सोचकर कि 'मेरे पास कोई हथियार नहीं है' उसने एक बड़ा भयंकर मुद्गर ले लिया ॥ ९२ ॥

ततः स पुर्याः सहसा महौजा
निष्क्रम्य तद् वानरसैन्यमुग्रम् ।
बभक्ष रक्षो युधि कुम्भकर्णः
प्रजा युगान्ताग्निरिव प्रवृद्धः ॥ ९३ ॥

तदनन्तर महाबलशाली राक्षस कुम्भकर्ण सहसा लङ्कापुरीसे निकलकर प्रजाका भक्षण करनेवाली प्रलयकालकी प्रज्वलित अग्निके समान उस भयंकर वानर-सेनाको युद्धस्थलमें अपना आहार बनाने लगा ॥ ९३ ॥

बुभुक्षितः शोणितमांसगृध्नुः
प्रविश्य तद् वानरसैन्यमुग्रम् ।
चखाद रक्षांसि हरीन् पिशाचा-
नृक्षांश्च मोहाद् युधि कुम्भकर्णः ।
यथैव मृत्युर्हरते युगान्ते
स भक्षयामास हरींश्च मुख्यान् ॥ ९४ ॥

उस समय कुम्भकर्णको भूख सता रही थी, अतएव वह रक्त और मांसके लिये लालायित हो रहा था। उसने उस भयंकर वानर-सेनामें प्रवेश करके मोहवश वानरों और भालुओंके साथ-साथ राक्षसों तथा पिशाचोंको भी खाना आरम्भ कर दिया। वह प्रधान-प्रधान वानरोंको उसी प्रकार अपना ग्रास बना रहा था, जैसे प्रलयकालमें मृत्यु प्राणियोंके प्राणोंका अपहरण करती है ॥ ९४ ॥

एकं द्वौ त्रीन् बहून् क्रुद्धो वानरान् सह राक्षसैः ।
समादायैकहस्तेन प्रचिक्षेप त्वरन् मुखे ॥ ९५ ॥

वह बड़ी उतावलीके साथ एक हाथसे क्रोधपूर्वक एक, दो, तीन तथा बहुत-बहुत राक्षसों और वानरोंको समेटकर अपने मुँहमें झोंक लेता था ॥ ९५ ॥

सम्प्रस्रवंस्तदा मेदः शोणितं च महाबलः ।
वध्यमानो नगेन्द्राग्रैर्भक्षयामास वानरान् ॥ ९६ ॥

उस समय वह महाबली निशाचर पर्वत-शिखरोंकी मार खाता हुआ भी मुँहसे वानरोंकी चर्बी और रक्त गिराता हुआ उन सबका भक्षण कर रहा था ॥ ९६ ॥

ते भक्ष्यमाणा हरयो रामं जग्मुस्तदा गतिम् ।
कुम्भकर्णो भृशं क्रुद्धः कपीन् खादन् प्रधावति ॥ ९७ ॥

उसके द्वारा खाये जाते हुए वानर भयभीत हो उस समय भगवान् श्रीरामकी शरणमें गये। उधर कुम्भकर्ण अत्यन्त कुपित हो वानरोंको अपना आहार बनाता हुआ सब ओर उनपर धावा करने लगा॥ ९७॥

शतानि सप्त चाष्टौ च विंशत्त्रिंशत् तथैव च।
सम्परिष्वज्य बाहुभ्यां खादन् विपरिधावति॥ ९८॥

वह सात, आठ, बीस, तीस तथा सौ-सौ वानरोंको अपनी दोनों भुजाओंमें भर लेता और उन्हें खाता हुआ रणभूमिमें दौड़ता-फिरता था॥ ९८॥

मेदोवसाशोणितदिग्धगात्रः
कर्णावसक्तग्रथितान्त्रमालः।
ववर्ष शूलानि सुतीक्ष्णदंष्ट्रः
कालो युगान्तस्थ इव प्रवृद्धः॥ ९९॥

उसके शरीरमें मेद, चर्बी और रक्त लिपटे हुए थे। उसके कानोंमें आँतोंकी मालाएँ उलझी हुई थीं तथा उसकी दाढ़ें बहुत तीखी थीं। वह महाप्रलयके समय प्राणियोंका संहार करनेवाले विशाल रूपधारी कालके समान वानरोंपर शूलोंकी वर्षा कर रहा था॥ ९९॥

तस्मिन् काले सुमित्रायाः पुत्रः परबलार्दनः।
चकार लक्ष्मणः क्रुद्धो युद्धं परपुरंजयः॥ १००॥

उस समय शत्रुनगरोंपर विजय पाने तथा शत्रुओंका संहार करनेवाले सुमित्राकुमार लक्ष्मण कुपित होकर उस राक्षसके साथ युद्ध करने लगे॥ १००॥

स कुम्भकर्णस्य शराञ्शरीरे सप्त वीर्यवान्।
निचखानाददे चान्यान् विससर्ज च लक्ष्मणः॥ १०१॥

उन पराक्रमी लक्ष्मणने कुम्भकर्णके शरीरमें सात बाण धँसा दिये। फिर दूसरे बाण लिये और उन्हें भी उसपर छोड़ दिया॥ १०१॥

पीड्यमानस्तदस्त्रं तु विशेषं तत् स राक्षसः।
ततश्चुकोप बलवान् सुमित्रानन्दवर्धनः॥ १०२॥

उनसे पीड़ित हुए उस राक्षसने लक्ष्मणके उस अस्त्रको निःशेष कर दिया। तब सुमित्राके आनन्दको बढ़ानेवाले बलवान् लक्ष्मणको बड़ा क्रोध हुआ॥ १०२॥

अथास्य कवचं शुभ्रं जाम्बूनदमयं शुभम्।
प्रच्छादयामास शरैः संध्याभ्रमिव मारुतः॥ १०३॥

उन्होंने कुम्भकर्णके सुवर्णनिर्मित सुन्दर एवं दीप्तिमान् कवचको अपने बाणोंसे ढककर उसी तरह अदृश्य कर दिया, जैसे हवाने संध्याकालके बादलको उखाड़कर अदृश्य कर दिया हो॥ १०३॥

नीलाञ्जनचयप्रख्यः शरैः काञ्चनभूषणैः।
आपीड्यमानः शुशुभे मेघैः सूर्य इवांशुमान्॥ १०४॥

काले कोयलेके ढेरकी-सी कान्तिवाला कुम्भकर्ण लक्ष्मणके सुवर्णभूषित बाणोंसे आच्छादित हो मेघोंसे ढके हुए अंशुमाली सूर्यके समान शोभा पा रहा था॥ १०४॥

ततः स राक्षसो भीमः सुमित्रानन्दवर्धनम्।
सावज्ञमेव प्रोवाच वाक्यं मेघौघनिःस्वनः॥ १०५॥

तब उस भयंकर राक्षसने मेघकी गर्जनाके समान गम्भीर स्वरसे सुमित्रानन्दन लक्ष्मणका तिरस्कार करते हुए कहा— ॥ १०५॥

अन्तकस्याप्यकष्टेन युधि जेतारमाहवे।
युध्यता मामभीतेन ख्यापिता वीरता त्वया॥ १०६॥

'लक्ष्मण! मैं युद्धमें यमराजको भी बिना कष्ट उठाये ही जीत लेनेकी शक्ति रखता हूँ। तुमने मेरे साथ निर्भय होकर युद्ध करते हुए अपनी अद्भुत वीरताका परिचय दिया है॥ १०६॥

प्रगृहीतायुधस्येह मृत्योरिव महामृधे।
तिष्ठन्नप्यग्रतः पूज्यः किमु युद्धप्रदायकः॥ १०७॥

'जब मैं महासमरमें मृत्युके समान हथियार लेकर युद्धके लिये उद्यत होऊँ, उस समय जो मेरे सामने खड़ा रह जाय, वह भी प्रशंसाका पात्र है। फिर जो मुझे युद्ध प्रदान कर रहा हो, उसके लिये तो कहना ही क्या है?॥ १०७॥

ऐरावतं समारूढो वृतः सर्वामरैः प्रभुः।
नैव शक्रोऽपि समरे स्थितपूर्वः कदाचन॥ १०८॥

'ऐरावतपर आरूढ़ हो सम्पूर्ण देवताओंसे घिरे हुए शक्तिशाली इन्द्र भी पहले मेरे सामने युद्धमें नहीं ठहर सके हैं॥ १०८॥

अद्य त्वयाहं सौमित्रे बालेनापि पराक्रमैः।
तोषितो गन्तुमिच्छामि त्वामनुज्ञाप्य राघवम्॥ १०९॥

'सुमित्रानन्दन! तुमने बालक होकर भी आज अपने पराक्रमसे मुझे संतुष्ट कर दिया, अतः मैं तुम्हारी अनुमति लेकर युद्धके लिये श्रीरामके पास जाना चाहता हूँ॥ १०९॥

यत् तु वीर्यबलोत्साहैस्तोषितोऽहं रणे त्वया।
राममेवैकमिच्छामि हन्तुं यस्मिन् हते हतम्॥ ११०॥

'तुमने अपने वीर्य, बल और उत्साहसे रणभूमिमें मुझे संतोष प्रदान किया है; इसलिये अब मैं केवल रामको ही मारना चाहता हूँ, जिनके मारे जानेपर सारी शत्रुसेना स्वतः मर जायगी॥ ११०॥

रामे मयात्र निहते येऽन्ये स्थास्यन्ति संयुगे।
तानहं योधयिष्यामि स्वबलेन प्रमाथिना॥ १११॥

'मेरे द्वारा रामके मारे जानेपर जो दूसरे लोग युद्धभूमिमें खड़े रहेंगे, उन सबके साथ मैं अपने संहारकारी बलके द्वारा युद्ध करूँगा'॥ १११॥

इत्युक्तवाक्यं तद् रक्षः प्रोवाच स्तुतिसंहितम्।
मृधे घोरतरं वाक्यं सौमित्रिः प्रहसन्निव॥ ११२॥

वह राक्षस जब पूर्वोक्त बात कह चुका, तब सुमित्राकुमार लक्ष्मण रणभूमिमें ठठाकर हँस पड़े और उससे प्रशंसा-

मिश्रित कठोर वाणीमें बोले— ॥ ११२ ॥

यस्त्वं शक्रादिभिर्देवैरसह्यः प्राप्य पौरुषम्।
तत् सत्यं नान्यथा वीर दृष्टस्तेऽद्य पराक्रमः ॥ ११३ ॥
एष दाशरथी रामस्तिष्ठत्यद्रिरिवाचलः।

'वीर कुम्भकर्ण! तुम महान् पौरुष पाकर जो इन्द्र आदि देवताओंके लिये भी असह्य हो उठे हो, वह तुम्हारा कथन बिलकुल ठीक है, झूठ नहीं है। मैंने स्वयं अपनी आँखोंसे आज तुम्हारा पराक्रम देख लिया। ये रहे दशरथनन्दन भगवान् श्रीराम, जो पर्वतके समान अविचल भावसे खड़े हैं' ॥ ११३ ½ ॥

इति श्रुत्वा ह्यनादृत्य लक्ष्मणं स निशाचरः ॥ ११४ ॥
अतिक्रम्य च सौमित्रिं कुम्भकर्णो महाबलः।
राममेवाभिदुद्राव कम्पयन्निव मेदिनीम् ॥ ११५ ॥

लक्ष्मणकी यह बात सुनकर उसका आदर न करते हुए महाबली निशाचर कुम्भकर्णने सुमित्राकुमारको लाँघकर श्रीरामपर ही धावा किया। उस समय वह अपने पैरोंकी धमकसे पृथ्वीको कम्पित-सी किये देता था ॥ ११४-११५ ॥

अथ दाशरथी रामो रौद्रमस्त्रं प्रयोजयन्।
कुम्भकर्णस्य हृदये ससर्ज निशिताञ्शरान् ॥ ११६ ॥

उसे आते देख दशरथनन्दन श्रीरामने रौद्रास्त्रका प्रयोग करके कुम्भकर्णके हृदयमें अनेक तीखे बाण मारे ॥ ११६ ॥

तस्य रामेण विद्धस्य सहसाभिप्रधावतः।
अङ्गारमिश्राः क्रुद्धस्य मुखान्निश्चेरुरर्चिषः ॥ ११७ ॥

श्रीरामके बाणोंसे घायल हो वह सहसा उनपर टूट पड़ा। उस समय क्रोधसे भरे हुए कुम्भकर्णके मुखसे अङ्गारमिश्रित आगकी लपटें निकल रही थीं ॥ ११७ ॥

रामास्त्रविद्धो घोरं वै नर्दन् राक्षसपुङ्गवः।
अभ्यधावत संक्रुद्धो हरीन् विद्रावयन् रणे ॥ ११८ ॥

भगवान् श्रीरामके अस्त्रसे पीड़ित हो राक्षसप्रवर कुम्भकर्ण घोर गर्जना करता और रणभूमिमें वानरोंको खदेड़ता हुआ क्रोधपूर्वक उनकी ओर दौड़ा ॥ ११८ ॥

तस्योरसि निमग्नास्ते शरा बर्हिणवाससः।
हस्ताच्चास्य परिभ्रष्टा गदा चोर्व्यां पपात ह ॥ ११९ ॥

श्रीरामके बाणोंमें मोरके पंख लगे हुए थे। वे कुम्भकर्णकी छातीमें धँस गये। अतः व्याकुलताके कारण उसके हाथसे गदा छूटकर पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ११९ ॥

आयुधानि च सर्वाणि विप्रकीर्यन्त भूतले।
स निरायुधमात्मानं यदा मेने महाबलः ॥ १२० ॥
मुष्टिभ्यां च कराभ्यां च चकार कदनं महत्।

इतना ही नहीं, उसके अन्य सब आयुध भी भूमिपर बिखर गये। जब उसने समझ लिया कि अब मेरे पास कोई हथियार नहीं है, तब उस महाबली निशाचरने दोनों मुक्कों और हाथोंसे ही बड़ा भारी महान् संहार आरम्भ किया ॥ १२० ½ ॥

स बाणैरतिविद्धाङ्गः क्षतजेन समुक्षितः।
रुधिरं परिसुस्राव गिरिः प्रस्रवणं यथा ॥ १२१ ॥

बाणोंसे उसके सारे अङ्ग अत्यन्त घायल हो गये थे, इसलिये वह खूनसे नहा उठा और जैसे पर्वत झरने बहाता है, उसी तरह वह अपनी देहसे रक्तकी धारा बहाने लगा ॥ १२१ ॥

स तीव्रेण च कोपेन रुधिरेण च मूर्च्छितः।
वानरान् राक्षसानृक्षान् खादन् स परिधावति ॥ १२२ ॥

वह खूनसे लथपथ और दुःसह क्रोधसे व्याकुल होकर वानरों, भालुओं तथा राक्षसोंको भी खाता हुआ चारों ओर दौड़ने लगा ॥ १२२ ॥

अथ शृङ्गं समाविध्य भीमं भीमपराक्रमः।
चिक्षेप राममुद्दिश्य बलवानन्तकोपमः ॥ १२३ ॥

इसी बीचमें यमराजके समान प्रतीत होनेवाले उस बलवान् एवं भयानक पराक्रमी निशाचरने एक भयंकर पर्वतका शिखर उठाया और उसे घुमाकर श्रीरामचन्द्रजीको लक्ष्य करके चला दिया ॥ १२३ ॥

अप्राप्तमन्तरा रामः सप्तभिस्तमजिह्मगैः।
चिच्छेद गिरिशृङ्गं तं पुनः संधाय कार्मुकम् ॥ १२४ ॥

परंतु श्रीरामने पुनः धनुषका संधान करके सीधे जानेवाले सात बाण मारकर उस पर्वत-शिखरको बीचमें ही टूक-टूक कर डाला, अपने पासतक नहीं आने दिया ॥ १२४ ॥

ततस्तु रामो धर्मात्मा तस्य शृङ्गं महत् तदा।
शरैः काञ्चनचित्राङ्गैश्चिच्छेद भरताग्रजः ॥ १२५ ॥
तन्मेरुशिखराकारं द्योतमानमिव श्रिया।
द्वे शते वानराणां च पतमानमपातयत् ॥ १२६ ॥

भरतके बड़े भाई धर्मात्मा श्रीरामने सुवर्णभूषित विचित्र बाणोंद्वारा जब उस महान् पर्वतशिखरको काट दिया, उस समय अपनी प्रभासे प्रकाशित-सा होते हुए उस मेरुपर्वतके शृङ्गसदृश शिखरने भूमिपर गिरते-गिरते दो सौ वानरोंको धराशायी कर दिया ॥ १२५-१२६ ॥

तस्मिन् काले स धर्मात्मा लक्ष्मणो राममब्रवीत्।
कुम्भकर्णवधे युक्तो योगान् परिमृशन् बहून् ॥ १२७ ॥

उस समय धर्मात्मा लक्ष्मणने, जो कुम्भकर्णके वधके लिये नियुक्त थे, उसके वधकी अनेक युक्तियोंका विचार करते हुए श्रीरामसे कहा— ॥ १२७ ॥

नैवायं वानरान् राजन् न विजानाति राक्षसान्।
मत्तः शोणितगन्धेन स्वान् परांश्चैव खादति ॥ १२८ ॥

'राजन्! यह राक्षस शोणितकी गन्धसे मतवाला हो गया है; अतः न वानरोंको पहचानता है न राक्षसोंको। अपने और पराये दोनों ही पक्षोंके योद्धाओंको खा रहा है ॥ १२८ ॥

साध्वेनमधिरोहन्तु सर्वतो वानरर्षभाः।
यूथपाश्च यथा मुख्यास्तिष्ठन्त्वस्मिन् समन्ततः ॥ १२९ ॥

'अतः श्रेष्ठ वानर-यूथपतियोंमें जो प्रधान लोग हैं, वे सब ओरसे इसके ऊपर चढ़ जायँ और इसके शरीरपर ही बैठे रहें ॥ १२९ ॥

अद्यायं दुर्मतिः काले गुरुभारप्रपीडितः ।
प्रचरन् राक्षसो भूमौ नान्यान् हन्यात् प्लवंगमान् ॥ १३० ॥

'ऐसा होनेसे यह दुर्बुद्धि निशाचर इस समय भारी भारसे पीड़ित हो रणभूमिमें विचरण करते समय दूसरे वानरोंको नहीं मार सकेगा' ॥ १३० ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राजपुत्रस्य धीमतः ।
ते समारुरुहुर्हृष्टाः कुम्भकर्णं महाबलाः ॥ १३१ ॥

बुद्धिमान् राजकुमार लक्ष्मणकी यह बात सुनकर वे महाबली वानर-यूथपति बड़े हर्षके साथ कुम्भकर्णपर चढ़ गये ॥ १३१ ॥

कुम्भकर्णस्तु संक्रुद्धः समारूढः प्लवंगमैः ।
व्यधूनयत् तान् वेगेन दुष्टहस्तीव हस्तिपान् ॥ १३२ ॥

वानरोंके चढ़ जानेपर कुम्भकर्ण अत्यन्त कुपित हो उठा और जैसे बिगड़ैल हाथी महावतोंको गिरा देता है, उसी प्रकार उसने वेगपूर्वक वानरोंको अपनी देह हिलाकर गिरा दिया ॥ १३२ ॥

तान् दृष्ट्वा निधुतान् रामो रुष्टोऽयमिति राक्षसम् ।
समुत्पपात वेगेन धनुरुत्तममाददे ॥ १३३ ॥

उन सबको गिराया गया देख श्रीरामने यह समझ लिया कि कुम्भकर्ण रुष्ट हो गया है। फिर वे बड़े वेगसे उछलकर उस राक्षसकी ओर दौड़े और एक उत्तम धनुष हाथमें ले लिया ॥ १३३ ॥

क्रोधरक्तेक्षणो धीरो निर्दहन्निव चक्षुषा ।
राघवो राक्षसं वेगादभिदुद्राव वेगितः ।
यूथपान् हर्षयन् सर्वान् कुम्भकर्णबलार्दितान् ॥ १३४ ॥

उस समय उनके नेत्र क्रोधसे लाल हो रहे थे। वे धीर-वीर श्रीरघुनाथजी उसकी ओर इस प्रकार देखने लगे, मानो उसे अपनी दृष्टिसे दग्ध कर डालेंगे। उन्होंने कुम्भकर्णके बलसे पीड़ित समस्त वानरयूथपतियोंका हर्ष बढ़ाते हुए बड़े वेगसे उस राक्षसपर धावा किया ॥ १३४ ॥

स चापमादाय भुजंगकल्पं
दृढज्यमुग्रं तपनीयचित्रम् ।
हरीन् समाश्वास्य समुत्पपात
रामो निबद्धोत्तमतूणबाणः ॥ १३५ ॥

सुदृढ़ प्रत्यञ्चासे संयुक्त, सर्पके समान भयंकर और सुवर्णसे जटित होनेके कारण विचित्र शोभासे सम्पन्न उग्र धनुषको हाथमें लेकर श्रीरामने उत्तम तरकस और बाण बाँध लिये और वानरोंको आश्वासन देकर उन्होंने कुम्भकर्णपर बड़े वेगसे आक्रमण किया ॥ १३५ ॥

स वानरगणैस्तैस्तु वृतः परमदुर्जयैः ।
लक्ष्मणानुचरो वीरः सम्प्रतस्थे महाबलः ॥ १३६ ॥

उस समय अत्यन्त दुर्जय वानरसमूहोंने उन्हें चारों ओरसे घेर रखा था। लक्ष्मण उनके पीछे-पीछे चल रहे थे। इस प्रकार वे महाबली वीर श्रीराम आगे बढ़े ॥ १३६ ॥

स ददर्श महात्मानं किरीटिनमरिंदमम् ।
शोणिताप्लुतरक्ताक्षं कुम्भकर्णं महाबलः ॥ १३७ ॥
सर्वान् समभिधावन्तं यथा रुष्टं दिशागजम् ।
मार्गमाणं हरीन् क्रुद्धं राक्षसैः परिवारितम् ॥ १३८ ॥

उन महान् बलशाली श्रीरामने देखा, महाकाय शत्रुदमन कुम्भकर्ण मस्तकपर किरीट धारण किये सब ओर धावा कर रहा है। उसके सारे अङ्ग खूनसे लथपथ हो रहे हैं। वह रोषसे भरे हुए दिग्गजकी भाँति क्रोधपूर्वक वानरोंको खोज रहा है और उन सबपर आक्रमण करता है। बहुत-से राक्षस उसे घेरे हुए हैं ॥ १३७-१३८ ॥

विन्ध्यमन्दरसंकाशं काञ्चनाङ्गदभूषणम् ।
स्रवन्तं रुधिरं वक्त्राद् वर्षमेघमिवोत्थितम् ॥ १३९ ॥

वह विन्ध्य और मन्दराचलके समान जान पड़ता है। सोनेके बाजूबंद उसकी भुजाओंको विभूषित किये हुए हैं तथा वह (वर्षाकालमें) उमड़े हुए जलवर्षी मेघकी भाँति मुँहसे रक्तकी वर्षा कर रहा है ॥ १३९ ॥

जिह्वया परिलिह्यन्तं सृक्किणी शोणितोक्षिते ।
मृद्नन्तं वानरानीकं कालान्तकयमोपमम् ॥ १४० ॥

जिह्वाके द्वारा रक्तसे भीगे हुए जबड़े चाट रहा है और प्रलयकालके संहारकारी यमराजकी भाँति वानरोंकी सेनाको रौंद रहा है ॥ १४० ॥

तं दृष्ट्वा राक्षसश्रेष्ठं प्रदीप्तानलवर्चसम् ।
विस्फारयामास तदा कार्मुकं पुरुषर्षभः ॥ १४१ ॥

इस प्रकार प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी राक्षसशिरोमणि कुम्भकर्णको देखकर पुरुषप्रवर श्रीरामने तत्काल अपना धनुष खींचा ॥ १४१ ॥

स तस्य चापनिर्घोषात् कुपितो राक्षसर्षभः ।
अमृष्यमाणस्तं घोषमभिदुद्राव राघवम् ॥ १४२ ॥

उनके धनुषकी टंकार सुनकर राक्षसश्रेष्ठ कुम्भकर्ण कुपित हो उठा और उस टंकारध्वनिको सहन न करके श्रीरघुनाथजीकी ओर दौड़ा * ॥ १४२ ॥

---

* इस श्लोकके बाद कुछ प्रतियोंमें निम्नाङ्कित श्लोक अधिक उपलब्ध होते हैं, जो उपयोगी होनेसे यहाँ अर्थसहित दिये जा रहे हैं—

पुरस्ताद् राघवस्यार्थे गदायुक्तो विभीषणः। अभिदुद्राव वेगेन भ्राता भ्रातरमाहवे॥
विभीषणं पुरो दृष्ट्वा कुम्भकर्णोऽब्रवीदिदम्। प्रहरस्व रणे शीघ्रं क्षत्रधर्मे स्थिरो भव॥
भ्रातृस्नेहं परित्यज्य राघवस्य प्रियं कुरु। अस्मत्कार्ये कृते वत्स यस्त्वं राममुपागतः॥

ततस्तु वातोद्धतमेघकल्पं
भुजंगराजोत्तमभोगबाहुः ।
तमापतन्तं धरणीधराभ-
मुवाच रामो युधि कुम्भकर्णम् ॥ १४३ ॥

तदनन्तर जिनकी भुजाएँ नागराज वासुकिके समान विशाल और मोटी थीं, उन भगवान् श्रीरामने पवनकी प्रेरणासे उमड़े हुए मेघके समान काले और पर्वतके समान ऊँचे शरीरवाले कुम्भकर्णको आक्रमण करते देख रणभूमिमें उससे कहा— ॥ १४३ ॥

आगच्छ रक्षोऽधिप मा विषाद-
मवस्थितोऽहं प्रगृहीतचापः ।
अवेहि मां राक्षसवंशनाशनं
यस्त्वं मुहूर्ताद् भविता विचेताः ॥ १४४ ॥

'राक्षसराज ! आओ, विषाद न करो। मैं धनुष लेकर खड़ा हूँ। मुझे राक्षसवंशका विनाश करनेवाला समझो। अब तुम भी दो ही घड़ीमें अपनी चेतना खो बैठोगे (मर जाओगे)' ॥ १४४ ॥

रामोऽयमिति विज्ञाय जहास विकृतस्वनम् ।
अभ्यधावत संक्रुद्धो हरीन् विद्रावयन् रणे ॥ १४५ ॥

'यही राम हैं'—यह जानकर वह राक्षस विकृत स्वरमें अट्टहास करने लगा और अत्यन्त कुपित हो रणक्षेत्रमें वानरोंको भगाता हुआ उनकी ओर दौड़ा ॥ १४५ ॥

दारयन्निव सर्वेषां हृदयानि वनौकसाम् ।
प्रहस्य विकृतं भीमं स मेघस्तनितोपमम् ॥ १४६ ॥
कुम्भकर्णो महातेजा राघवं वाक्यमब्रवीत् ।
नाहं विराधो विज्ञेयो न कबन्धः खरो न च ।
न वाली न च मारीचः कुम्भकर्णः समागतः ॥ १४७ ॥

महातेजस्वी कुम्भकर्ण समस्त वानरोंके हृदयको विदीर्ण-सा करता हुआ विकृत स्वरमें जोर-जोरसे हँसकर मेघ-गर्जनाके समान गम्भीर एवं भयंकर वाणीमें श्रीरघुनाथजीसे बोला—'राम ! मुझे विराध, कबन्ध और खर नहीं समझना चाहिये। मैं मारीच और वाली भी नहीं हूँ। यह कुम्भकर्ण तुमसे लड़ने आया है ॥ १४६-१४७ ॥

पश्य मे मुद्गरं भीमं सर्वं कालायसं महत् ।
अनेन निर्जिता देवा दानवाश्च पुरा मया ॥ १४८ ॥

'मेरे इस भयंकर एवं विशाल मुद्गरकी ओर देखो। यह सब-का-सब काले लोहेका बना हुआ है। मैंने पूर्वकालमें इसीके द्वारा समस्त देवताओं और दानवोंको परास्त किया है ॥ १४८ ॥

विकर्णनास इति मां नावज्ञातुं त्वमर्हसि ।
स्वल्पापि हि न मे पीडा कर्णनासाविनाशनात् ॥ १४९ ॥

'मेरे नाक-कान नीचेसे कट गये हैं, ऐसा समझकर तुम्हें मेरी अवहेलना नहीं करनी चाहिये। इन दोनों अङ्गोंके नष्ट होनेसे मुझे थोड़ी-सी भी पीड़ा नहीं होती है ॥ १४९ ॥

त्वमेको रक्षसां लोके सत्यधर्माभिरक्षिता । नास्ति धर्माभिरक्तानां व्यसनं तु कदाचन ॥
संतानार्थं त्वमेवैकः कुलस्यास्य भविष्यसि । राघवस्य प्रसादात् त्वं रक्षसां राज्यमाप्स्यसि ॥
प्रकृत्या मम दुर्धर्ष शीघ्रं मार्गादपक्रम । न स्थातव्यं पुरस्तान्मे सम्भ्रमान्नष्टचेतसः ॥
न वेद्मि संयुगे सक्तः स्वान् परान् वा निशाचर । रक्षणीयोऽसि मे वत्स सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥
एवमुक्तो वचस्तेन कुम्भकर्णेन धीमता । विभीषणो महाबाहुः कुम्भकर्णमुवाच ह ॥
गदितं मे कुलस्यास्य रक्षणार्थमरिंदम । न श्रुतं सर्वरक्षोभिस्ततोऽहं राममागतः ॥
कृतं तु तन्महाभाग सुकृतं दुष्कृतं तु वा । एवमुक्त्वाश्रुपूर्णाक्षो गदापाणिर्विभीषणः ।
एकान्तमाश्रितो भूत्वा चिन्तयामास संस्थितः ॥

तब श्रीरामचन्द्रजीके लिये युद्ध करनेके निमित्त गदा हाथमें लिये विभीषण उनके आगे आकर खड़े हो गये और उस युद्धस्थलमें भाई होकर भाईका सामना करनेके लिये बड़े वेगसे आगे बढ़े। विभीषणको सामने देखकर कुम्भकर्णने इस प्रकार कहा—'वत्स ! तुम भाईका स्नेह छोड़कर श्रीरघुनाथजीका प्रिय करो और रणभूमिमें शीघ्र मेरे ऊपर गदा चलाओ। इस समय तुम क्षात्रधर्ममें दृढ़तापूर्वक स्थिर रहो। तुम जो श्रीरामकी शरणमें आ गये, इससे तुमने हमलोगोंका काम बना दिया। राक्षसोंमें एक तुम्हीं ऐसे हो, जिसने इस जगत्में सत्य और धर्मकी रक्षा की है। जो धर्ममें अनुरक्त होते हैं, उन्हें कभी कोई दुःख नहीं भोगना पड़ता है। अब एकमात्र तुम्हीं इस कुलकी संतानपरम्पराको सुरक्षित रखनेके लिये जीवित रहोगे। श्रीरघुनाथजीकी कृपासे तुम्हें राक्षसोंका राज्य प्राप्त होगा। दुर्जय वीर ! मेरी प्रकृतिसे तो तुम परिचित ही हो; अतः शीघ्र मेरा रास्ता छोड़कर दूर हट जाओ। इस समय सम्भ्रमके कारण मेरी विचारशक्ति नष्ट हो गयी है; अतः तुम्हें मेरे सामने नहीं खड़ा होना चाहिये। निशाचर ! इस समय युद्धमें आसक्त होनेके कारण मुझे अपने अथवा परायेकी पहचान नहीं हो रही है, तथापि वत्स ! तुम मेरे लिये रक्षणीय हो—मैं तुम्हारा वध करना नहीं चाहता। यह तुमसे सच्ची बात कहता हूँ।' बुद्धिमान् कुम्भकर्णके ऐसा कहनेपर महाबाहु विभीषणने उससे कहा—'शत्रुओंका दमन करनेवाले वीर ! मैंने इस कुलकी रक्षाके लिये बहुत कुछ कहा था; किंतु समस्त राक्षसोंने मेरी बात नहीं सुनी; अतः मैं निराश होकर श्रीरामकी शरणमें आ गया। महाभाग ! वह मेरे लिये पुण्य हो या पाप। अब मैंने श्रीरामका आश्रय तो ग्रहण कर ही लिया।' ऐसा कहकर गदाधारी विभीषणके नेत्रोंमें आँसू भर आये और वे एकान्तका आश्रय ले खड़े होकर चिन्ता करने लगे।

दर्शयेक्ष्वाकुशार्दूल वीर्यं गात्रेषु मेऽनघ।
ततस्त्वां भक्षयिष्यामि दृष्टपौरुषविक्रमम्॥ १५०॥

'निष्पाप रघुनन्दन! तुम इक्ष्वाकुवंशके वीर पुरुष हो, अतः मेरे अङ्गोंपर अपना पराक्रम दिखाओ। तुम्हारे पौरुष एवं बल-विक्रमको देख लेनेके बाद ही मैं तुम्हें खाऊँगा'॥ १५०॥

स कुम्भकर्णस्य वचो निशम्य
रामः सपुङ्खान् विससर्ज बाणान्।
तैराहतो वज्रसमप्रवेगै-
र्न चुक्षुभे न व्यथते सुरारिः॥ १५१॥

कुम्भकर्णकी यह बात सुनकर श्रीरामने उसके ऊपर सुन्दर पंखवाले बहुत-से बाण मारे। वज्रके समान वेगवाले उन बाणोंकी गहरी चोट खानेपर भी वह देवद्रोही राक्षस न तो क्षुब्ध हुआ और न व्यथित ही॥ १५१॥

यैः सायकैः सालवरा निकृत्ता
वाली हतो वानरपुङ्गवश्च।
ते कुम्भकर्णस्य तदा शरीरं
वज्रोपमा न व्यथयाम्प्रचक्रुः॥ १५२॥

जिन बाणोंसे श्रेष्ठ सालवृक्ष काटे गये और वानरराज वालीका वध हुआ, वे ही वज्रोपम बाण उस समय कुम्भकर्णके शरीरको व्यथा न पहुँचा सके॥ १५२॥

स वारिधारा इव सायकांस्तान्
पिबञ्शरीरेण महेन्द्रशत्रुः।
जघान रामस्य शरप्रवेगं
व्याविध्य तं मुद्गरमुग्रवेगम्॥ १५३॥

देवराज इन्द्रका शत्रु कुम्भकर्ण जलकी धाराके समान श्रीरामकी बाणवर्षाको अपने शरीरसे पीने लगा और भयंकर वेगशाली मुद्गरको चारों ओरसे घुमा-घुमाकर उनके बाणोंके महान् वेगको नष्ट करने लगा॥ १५३॥

ततस्तु रक्षः क्षतजानुलिप्तं
वित्रासनं देवमहाचमूनाम्।
व्याविध्य तं मुद्गरमुग्रवेगं
विद्रावयामास चमूं हरीणाम्॥ १५४॥

तदनन्तर वह राक्षस देवताओंकी विशाल सेनाको भयभीत करनेवाले और खूनसे लिपटे हुए उस उग्र वेगशाली मुद्गरको घुमा-घुमाकर वानरोंकी वाहिनीको खदेड़ने लगा॥ १५४॥

वायव्यमादाय ततोऽपरास्त्रं
रामः प्रचिक्षेप निशाचराय।
समुद्गरं तेन जहार बाहुं
स कृत्तबाहुस्तुमुलं ननाद॥ १५५॥

यह देख भगवान् श्रीरामने वायव्य नामक दूसरे अस्त्रका संधान करके उसे कुम्भकर्णपर चलाया और उसके द्वारा उस निशाचरकी मुद्गरसहित दाहिनी बाँह काट डाली। बाँह कट जानेपर वह राक्षस भयानक आवाजमें चीत्कार करने लगा॥ १५५॥

स तस्य बाहुर्गिरिशृङ्गकल्पः
समुद्गरो राघवबाणकृत्तः।
पपात तस्मिन् हरिराजसैन्ये
जघान तां वानरवाहिनीं च॥ १५६॥

श्रीरघुनाथजीके बाणसे कटी हुई वह बाँह, जो पर्वतशिखरके समान जान पड़ती थी, मुद्गरके साथ ही वानरोंकी सेनामें गिरी। उसके नीचे दबकर कितने ही वानर-सैनिक अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठे॥ १५६॥

ते वानरा भग्नहतावशेषाः
पर्यन्तमाश्रित्य तदा विषण्णाः।
प्रपीडिताङ्गा ददृशुः सुघोरं
नरेन्द्ररक्षोऽधिपसंनिपातम्॥ १५७॥

जो अङ्ग-भङ्ग होने या मरनेसे बचे, वे खिन्नचित्त हो किनारे जाकर खड़े हो गये। उनके शरीरमें बड़ी पीड़ा हो रही थी और वे चुपचाप महाराज श्रीराम और राक्षस कुम्भकर्णके घोर संग्रामको देखने लगे॥ १५७॥

स कुम्भकर्णोऽस्त्रनिकृत्तबाहु-
र्महासिकृत्ताग्र इवाचलेन्द्रः।
उत्पाटयामास करेण वृक्षं
ततोऽभिदुद्राव रणे नरेन्द्रम्॥ १५८॥

वायव्यास्त्रसे एक बाँह कट जानेपर कुम्भकर्ण शिखरहीन पर्वतके समान प्रतीत होने लगा। उसने एक ही हाथसे एक ताड़का वृक्ष उखाड़ लिया और उसे लेकर रणभूमिमें महाराज श्रीरामपर धावा किया॥ १५८॥

तं तस्य बाहुं सहतालवृक्षं
समुद्यतं पन्नगभोगकल्पम्।
ऐन्द्रास्त्रयुक्तेन जघान रामो
बाणेन जाम्बूनदचित्रितेन॥ १५९॥

तब श्रीरामने एक सुवर्णभूषित बाण निकालकर उसे ऐन्द्रास्त्रसे अभिमन्त्रित किया और उसके द्वारा सर्पके समान उठी हुई राक्षसकी दूसरी बाँहको भी वृक्षसहित काट गिराया॥ १५९॥

स कुम्भकर्णस्य भुजो निकृत्तः
पपात भूमौ गिरिसंनिकाशः।
विचेष्टमानो निजघान वृक्षा-
ञ्शैलाञ्शिलावानरराक्षसांश्च॥ १६०॥

कुम्भकर्णकी वह कटी हुई बाँह पर्वतशिखरके समान पृथ्वीपर गिरी और छटपटाने लगी। उसने कितने ही वृक्षों, शैलशिखरों, शिलाओं, वानरों और राक्षसोंको भी कुचल डाला॥ १६०॥

तं छिन्नबाहुं समवेक्ष्य रामः
समापतन्तं सहसा नदन्तम्।
द्वावर्धचन्द्रौ निशितौ प्रगृह्य
चिच्छेद पादौ युधि राक्षसस्य॥ १६१॥

उन दोनों भुजाओंके कट जानेपर वह राक्षस सहसा आर्तनाद करता हुआ श्रीरामपर टूट पड़ा। उसे आक्रमण करते देख श्रीरामने दो तीखे अर्धचन्द्राकार बाण लेकर उनके द्वारा युद्धस्थलमें उस राक्षसके दोनों पैर भी उड़ा दिये॥ १६१॥

तौ तस्य पादौ प्रदिशो दिशश्च
गिरेर्गुहाश्चैव महार्णवं च।
लङ्कां च सेनां कपिराक्षसानां
विनादयन्तौ विनिपेततुश्च॥ १६२॥

उसके दोनों पैर दिशा-विदिशा, पर्वतकी कन्दरा, महासागर, लङ्कापुरी तथा वानरों और राक्षसोंकी सेनाओंको भी प्रतिध्वनित करते हुए पृथ्वीपर गिर पड़े॥ १६२॥

निकृत्तबाहुर्विनिकृत्तपादो
विदार्य वक्त्रं वडवामुखाभम्।
दुद्राव रामं सहसाभिगर्जन्
राहुर्यथा चन्द्रमिवान्तरिक्षे॥ १६३॥

दोनों बाँहों और पैरोंके कट जानेपर उसने बड़वानलके समान अपने विकराल मुखको फैलाया और जैसे राहु आकाशमें चन्द्रमाको ग्रस लेता है, उसी प्रकार वह श्रीरामको ग्रसनेके लिये भयानक गर्जना करता हुआ सहसा उनके ऊपर टूट पड़ा॥ १६३॥

अपूरयत् तस्य मुखं शिताग्रै
रामः शरैर्हेमपिनद्धपुङ्खैः।
सम्पूर्णवक्त्रो न शशाक वक्तुं
चुकूज कृच्छ्रेण मुमूर्च्छ चापि॥ १६४॥

तब श्रीरामचन्द्रजीने सुवर्णजटित पंखवाले अपने तीखे बाणोंसे उसका मुँह भर दिया। मुँह भर जानेपर वह बोलनेमें भी असमर्थ हो गया और बड़ी कठिनाईसे आर्तनाद करके मूर्च्छित हो गया॥ १६४॥

अथाददे सूर्यमरीचिकल्पं
स ब्रह्मदण्डान्तककालकल्पम्।
अरिष्टमैन्द्रं निशितं सुपुङ्खं
रामः शरं मारुततुल्यवेगम्॥ १६५॥

तं वज्रजाम्बूनदचारुपुङ्खं
प्रदीप्तसूर्यज्वलनप्रकाशम्।
महेन्द्रवज्राशनितुल्यवेगं
रामः प्रचिक्षेप निशाचराय॥ १६६॥

इसके बाद भगवान् श्रीरामने ब्रह्मदण्ड तथा विनाशकारी कालके समान भयंकर एवं तीखा बाण, जो सूर्यकी किरणोंके समान उद्दीप्त, इन्द्रास्त्रसे अभिमन्त्रित, शत्रुनाशक, तेजस्वी सूर्य और प्रज्वलित अग्निके समान देदीप्यमान, हीरे और सुवर्णसे विभूषित सुन्दर पंखसे युक्त, वायु तथा इन्द्रके वज्र और अशनिके समान वेगशाली था, हाथमें लिया और उस निशाचरको लक्ष्य करके छोड़ दिया॥ १६५-१६६॥

स सायको राघवबाहुचोदितो
दिशः स्वभासा दश सम्प्रकाशयन्।
विधूमवैश्वानरभीमदर्शनो
जगाम शक्राशनिभीमविक्रमः॥ १६७॥

श्रीरघुनाथजीकी भुजाओंसे प्रेरित होकर वह बाण अपनी प्रभासे दसों दिशाओंको प्रकाशित करता हुआ इन्द्रके वज्रकी भाँति भयंकर वेगसे चला। वह धूमरहित अग्निके समान भयानक दिखायी देता था॥ १६७॥

स तन्महापर्वतकूटसंनिभं
सुवृत्तदंष्ट्रं चलचारुकुण्डलम्।
चकर्त रक्षोऽधिपतेः शिरस्तदा
यथैव वृत्रस्य पुरा पुरंदरः॥ १६८॥

जैसे पूर्वकालमें देवराज इन्द्रने वृत्रासुरका मस्तक काट डाला था, उसी प्रकार उस बाणने राक्षसराज कुम्भकर्णके महान् पर्वतशिखरके समान ऊँचे, सुन्दर गोलाकार दाढ़ोंसे युक्त तथा हिलते हुए मनोहर कुण्डलोंसे अलङ्कृत मस्तकको धड़से अलग कर दिया॥ १६८॥

कुम्भकर्णशिरो भाति कुण्डलालंकृतं महत्।
आदित्येऽभ्युदिते रात्रौ मध्यस्थ इव चन्द्रमाः॥ १६९॥

कुम्भकर्णका वह कुण्डलोंसे अलङ्कृत विशाल मस्तक प्रातःकाल सूर्योदय होनेपर आकाशके मध्यमें विराजमान चन्द्रमाकी भाँति निस्तेज प्रतीत होता था॥ १६९॥

तद् रामबाणाभिहतं पपात
रक्षःशिरः पर्वतसंनिकाशम्।
बभञ्ज चर्यागृहगोपुराणि
प्राकारमुच्चं तमपातयच्च॥ १७०॥

श्रीरामके बाणोंसे कटा हुआ राक्षसका वह पर्वताकार मस्तक लङ्कामें जा गिरा। उसने अपने धक्केसे सड़कके आस-पासके कितने ही मकानों, दरवाजों और ऊँचे परकोटेको भी धराशायी कर दिया॥ १७०॥

तच्चातिकायं हिमवत्प्रकाशं
रक्षस्तदा तोयनिधौ पपात।
ग्राहान् परान् मीनवरान् भुजंगमान्
ममर्द भूमिं च तथा विवेश॥ १७१॥

इसी प्रकार उस राक्षसका विशाल धड़ भी, जो हिमालयके समान जान पड़ता था, तत्काल समुद्रके जलमें गिर पड़ा और बड़े-बड़े ग्राहों, मत्स्यों तथा साँपोंको पीसता हुआ पृथ्वीके भीतर समा गया॥ १७१॥

तस्मिन् हते ब्राह्मणदेवशत्रौ
महाबले संयति कुम्भकर्णे ।
चचाल भूर्भूमिधराश्च सर्वे
हर्षाच्च देवास्तुमुलं प्रणेदुः ॥ १७२ ॥

ब्राह्मणों और देवताओंके शत्रु महाबली कुम्भकर्णके युद्धमें मारे जानेपर पृथ्वी डोलने लगी, पर्वत हिलने लगे और सम्पूर्ण देवता हर्षसे भरकर तुमुल नाद करने लगे ॥ १७२ ॥

ततस्तु देवर्षिमहर्षिपन्नगाः
सुराश्च भूतानि सुपर्णगुह्यकाः ।
सयक्षगन्धर्वगणा नभोगताः
प्रहर्षिता रामपराक्रमेण ॥ १७३ ॥

उस समय आकाशमें खड़े हुए देवर्षि, महर्षि, सर्प, देवता, भूतगण, गरुड़, गुह्यक, यक्ष और गन्धर्वगण श्रीरामका पराक्रम देखकर बहुत प्रसन्न हुए ॥ १७३ ॥

ततस्तु ते तस्य वधेन भूरिणा
मनस्विनो नैर्ऋतराजबान्धवाः ।
विनेदुरुच्चैर्व्यथिता रघूत्तमं
हरिं समीक्ष्यैव यथा मतंगजाः ॥ १७४ ॥

कुम्भकर्णके महान् वधसे राक्षसराज रावणके मनस्वी बन्धुओंको बड़ा दुःख हुआ । वे रघुकुलतिलक श्रीरामकी ओर देखकर उसी तरह उच्च स्वरसे रोने-कल्पने लगे, जैसे सिंहपर दृष्टि पड़ते ही मतवाले हाथी चीत्कार कर उठते हैं ॥ १७४ ॥

स देवलोकस्य तमो निहत्य
सूर्यो यथा राहुमुखाद् विमुक्तः ।
तथा व्यभासीद्धरिसैन्यमध्ये
निहत्य रामो युधि कुम्भकर्णम् ॥ १७५ ॥

देवसमूहको दुःख देनेवाले कुम्भकर्णका युद्धमें वध करके वानर-सेनाके बीचमें खड़े हुए भगवान् श्रीराम अन्धकारका नाश करके राहुके मुखसे छूटे हुए सूर्यदेवके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ १७५ ॥

प्रहर्षमीयुर्बहवश्च वानराः
प्रबुद्धपद्मप्रतिमैरिवाननैः ।
अपूजयन् राघवमिष्टभागिनं
हते रिपौ भीमबले नृपात्मजम् ॥ १७६ ॥

भयानक बलशाली शत्रुके मारे जानेसे बहुसंख्यक वानरोंको बड़ी प्रसन्नता हुई । उनके मुख विकसित कमलकी भाँति हर्षोल्लाससे खिल उठे तथा उन्होंने सफलमनोरथ हुए राजकुमार भगवान् श्रीरामकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ १७६ ॥

स कुम्भकर्णं सुरसैन्यमर्दनं
महत्सु युद्धेषु कदाचनाजितम् ।
ननन्द हत्वा भरताग्रजो रणे
महासुरं वृत्रमिवामराधिपः ॥ १७७ ॥

जो बड़े-बड़े युद्धोंमें कभी पराजित नहीं हुआ था तथा देवताओंकी सेनाको भी कुचल डालनेवाला था, उस महान् राक्षस कुम्भकर्णको रणभूमिमें मारकर रघुनाथजीको वैसी ही प्रसन्नता हुई जैसी वृत्रासुरका वध करके देवराज इन्द्रको हुई थी ॥ १७७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे सप्तषष्टितमः सर्गः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें सरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

अष्टषष्टितमः सर्गः

कुम्भकर्णके वधका समाचार सुनकर रावणका विलाप

कुम्भकर्णं हतं दृष्ट्वा राघवेण महात्मना ।
राक्षसा राक्षसेन्द्राय रावणाय न्यवेदयन् ॥ १ ॥

महात्मा श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा कुम्भकर्णको मारा गया देख राक्षसोंने अपने राजा रावणसे जाकर कहा— ॥ १ ॥

राजन् स कालसंकाशः संयुक्तः कालकर्मणा ।
विद्राव्य वानरीं सेनां भक्षयित्वा च वानरान् ॥ २ ॥

'महाराज ! कालके समान भयंकर पराक्रमी कुम्भकर्ण वानरसेनाको भगाकर तथा बहुत-से वानरोंको अपना आहार बनाकर स्वयं भी कालके गालमें चले गये ॥ २ ॥

प्रतपित्वा मुहूर्तं तु प्रशान्तो रामतेजसा ।
कायेनार्धप्रविष्टेन समुद्रं भीमदर्शनम् ॥ ३ ॥
निकृत्तनासाकर्णेन विक्षरद्रुधिरेण च ।
रुद्ध्वा द्वारं शरीरेण लङ्कायाः पर्वतोपमः ॥ ४ ॥
कुम्भकर्णस्तव भ्राता काकुत्स्थशरपीडितः ।
अगण्डभूतो विवृतो दावदग्ध इव द्रुमः ॥ ५ ॥

'वे दो घड़ीतक अपने प्रतापसे तपकर अन्तमें श्रीरामके तेजसे शान्त हो गये । उनका आधा शरीर (धड़) भयानक दिखायी देनेवाले समुद्रमें घुस गया और आधा शरीर (मस्तक) नाक-कान कट जानेसे खून बहाता हुआ लङ्काके द्वारपर पड़ा है । उस शरीरके द्वारा आपके भाई पर्वताकार कुम्भकर्ण लङ्काका द्वार रोककर पड़े हैं । वे श्रीरामके बाणोंसे पीड़ित हो हाथ, पैर और मस्तकसे हीन नंग-धड़ंग धड़के रूपमें परिणत

हो दावानलसे दग्ध हुए वृक्षकी भाँति नष्ट हो गये' ॥ ३—५ ॥

श्रुत्वा विनिहतं संख्ये कुम्भकर्णं महाबलम्।
रावणः शोकसंतप्तो मुमोह च पपात च ॥ ६ ॥

'महाबली कुम्भकर्ण युद्धस्थलमें मारा गया' यह सुनकर रावण शोकसे संतप्त एवं मूर्छित हो गया और तत्काल पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ६ ॥

पितृव्यं निहतं श्रुत्वा देवान्तकनरान्तकौ।
त्रिशिराश्चातिकायश्च रुरुदुः शोकपीडिताः ॥ ७ ॥

अपने चाचाके निधनका समाचार सुनकर देवान्तक, नरान्तक, त्रिशिरा और अतिकाय दुःखसे पीड़ित हो फूट-फूटकर रोने लगे ॥ ७ ॥

भ्रातरं निहतं श्रुत्वा रामेणाक्लिष्टकर्मणा।
महोदरमहापार्श्वौ शोकाक्रान्तौ बभूवतुः ॥ ८ ॥

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरामके द्वारा भाई कुम्भकर्ण मारे गये, यह सुनकर उसके सौतेले भाई महोदर और महापार्श्व शोकसे व्याकुल हो गये ॥ ८ ॥

ततः कृच्छ्रात् समासाद्य संज्ञां राक्षसपुङ्गवः।
कुम्भकर्णवधाद् दीनो विललापाकुलेन्द्रियः ॥ ९ ॥

तदनन्तर बड़े कष्टसे होशमें आनेपर राक्षसराज रावण कुम्भकर्णके वधसे दुःखी हो विलाप करने लगा। उसकी सारी इन्द्रियाँ शोकसे व्याकुल हो उठी थीं ॥ ९ ॥

हा वीर रिपुदर्पघ्न कुम्भकर्ण महाबल।
त्वं मां विहाय वै दैवाद् यातोऽसि यमसादनम् ॥ १० ॥

(वह रो-रोकर कहने लगा—) 'हा वीर! हा महाबली कुम्भकर्ण! तुम शत्रुओंके दर्पका दलन करनेवाले थे; किंतु दुर्भाग्यवश मुझे असहाय छोड़कर यमलोकको चल दिये ॥ १० ॥

मम शल्यमनुद्धृत्य बान्धवानां महाबल।
शत्रुसैन्यं प्रताप्यैकः क्व मां संत्यज्य गच्छसि ॥ ११ ॥

'महाबली वीर! तुम मेरा तथा इन भाई-बन्धुओंका कण्टक दूर किये बिना शत्रुसेनाको संतप्त करके मुझे छोड़ अकेले कहाँ चले जा रहे हो? ॥ ११ ॥

इदानीं खल्वहं नास्मि यस्य मे पतितो भुजः।
दक्षिणोऽयं समाश्रित्य न बिभेमि सुरासुरात् ॥ १२ ॥

'इस समय मैं अवश्य ही नहींके बराबर हूँ; क्योंकि मेरी दाहिनी बाँह कुम्भकर्ण धराशायी हो गया। जिसका भरोसा करके मैं देवता और असुर किसीसे नहीं डरता था ॥ १२ ॥

कथमेवंविधो वीरो देवदानवदर्पहा।
कालाग्निप्रतिमो ह्यद्य राघवेण रणे हतः ॥ १३ ॥

'देवताओं और दानवोंका दर्प चूर करनेवाला ऐसा वीर, जो कालाग्निके समान प्रतीत होता था, आज रणक्षेत्रमें रामके हाथसे कैसे मारा गया? ॥ १३ ॥

यस्य ते वज्रनिष्पेषो न कुर्याद् व्यसनं सदा।
स कथं रामबाणार्तः प्रसुप्तोऽसि महीतले ॥ १४ ॥

'भाई! तुम्हें तो वज्रका प्रहार भी कभी कष्ट नहीं पहुँचा सकता था। वही तुम आज रामके बाणोंसे पीड़ित हो भूतलपर कैसे सो रहे हो? ॥ १४ ॥

एते देवगणाः सार्धमृषिभिर्गगने स्थिताः।
निहतं त्वां रणे दृष्ट्वा निनदन्ति प्रहर्षिताः ॥ १५ ॥

'आज समराङ्गणमें तुम्हें मारा गया देख आकाशमें खड़े हुए ये ऋषियोंसहित देवता हर्षनाद कर रहे हैं ॥ १५ ॥

ध्रुवमद्यैव संहृष्टा लब्धलक्षाः प्लवंगमाः।
आरोक्ष्यन्तीह दुर्गाणि लङ्काद्वाराणि सर्वशः ॥ १६ ॥

'निश्चय ही अब अवसर पाकर हर्षसे भरे हुए वानर आज ही लङ्काके समस्त दुर्गम द्वारोंपर चढ़ जायँगे ॥ १६ ॥

राज्येन नास्ति मे कार्यं किं करिष्यामि सीतया।
कुम्भकर्णविहीनस्य जीविते नास्ति मे मतिः ॥ १७ ॥

'अब मुझे राज्यसे कोई प्रयोजन नहीं है। सीताको लेकर भी मैं क्या करूँगा? कुम्भकर्णके बिना जीनेका मेरा मन नहीं है ॥ १७ ॥

यद्यहं भ्रातृहन्तारं न हन्मि युधि राघवम्।
ननु मे मरणं श्रेयो न चेदं व्यर्थजीवितम् ॥ १८ ॥

'यदि मैं युद्धस्थलमें अपने भाईका वध करनेवाले रामको नहीं मार सकता तो मेरा मर जाना ही अच्छा है। इस निरर्थक जीवनको सुरक्षित रखना कदापि अच्छा नहीं है ॥ १८ ॥

अद्यैव तं गमिष्यामि देशं यत्रानुजो मम।
नहि भ्रातॄन् समुत्सृज्य क्षणं जीवितुमुत्सहे ॥ १९ ॥

'मैं आज ही उस देशको जाऊँगा, जहाँ मेरा छोटा भाई कुम्भकर्ण गया है। मैं अपने भाइयोंको छोड़कर क्षणभर भी जीवित नहीं रह सकता ॥ १९ ॥

देवा हि मां हसिष्यन्ति दृष्ट्वा पूर्वापकारिणम्।
कथमिन्द्रं जयिष्यामि कुम्भकर्ण हते त्वयि ॥ २० ॥

'मैंने पहले देवताओंका अपकार किया था। अब वे मुझे देखकर हँसेंगे। हा कुम्भकर्ण! तुम्हारे मारे जानेपर अब मैं इन्द्रको कैसे जीत सकूँगा? ॥ २० ॥

तदिदं मामनुप्राप्तं विभीषणवचः शुभम्।
यदज्ञानान्मया तस्य न गृहीतं महात्मनः ॥ २१ ॥

'मैंने महात्मा विभीषणकी कही हुई जिन उत्तम बातोंको अज्ञानवश स्वीकार नहीं किया था, वे मेरे ऊपर आज प्रत्यक्षरूपसे घटित हो रही हैं ॥ २१ ॥

विभीषणवचस्तावत् कुम्भकर्णप्रहस्तयोः।
विनाशोऽयं समुत्पन्नो मां व्रीडयति दारुणः ॥ २२ ॥

'जबसे कुम्भकर्ण और प्रहस्तका यह दारुण विनाश उत्पन्न हुआ है, तभीसे विभीषणकी बात याद आकर मुझे लज्जित कर रही है ॥ २२ ॥

तस्यायं कर्मणः प्राप्तो विपाको मम शोकदः ।
यन्मया धार्मिकः श्रीमान् स निरस्तो विभीषणः ॥ २३ ॥

'मैंने धर्मपरायण श्रीमान् विभीषणको जो घरसे निकाल दिया था, उसी कर्मका यह शोकदायक परिणाम अब मुझे भोगना पड़ रहा है' ॥ २३ ॥

इति बहुविधमाकुलान्तरात्मा
कृपणमतीव विलप्य कुम्भकर्णम् ।
न्यपतदपि दशाननो भृशार्त-
स्तमनुजमिन्द्ररिपुं हतं विदित्वा ॥ २४ ॥

इस प्रकार भाँति-भाँतिसे दीनतापूर्वक अत्यन्त विलाप करके व्याकुलचित्त हुआ दशमुख रावण अपने छोटे भाई इन्द्र-शत्रु कुम्भकर्णके वधका स्मरण करके बहुत ही व्यथित हो पुनः पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डेऽष्टषष्टितमः सर्गः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें अड़सठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

—★—

एकोनसप्ततितमः सर्गः

रावणके पुत्रों और भाइयोंका युद्धके लिये जाना और नरान्तकका अङ्गदके द्वारा वध

एवं विलपमानस्य रावणस्य दुरात्मनः ।
श्रुत्वा शोकाभिभूतस्य त्रिशिरा वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

दुरात्मा रावण जब शोकसे पीड़ित हो इस प्रकार विलाप करने लगा, तब त्रिशिराने कहा— ॥ १ ॥

एवमेव महावीर्यो हतो नस्तातमध्यमः ।
न तु सत्पुरुषा राजन् विलपन्ति यथा भवान् ॥ २ ॥

'राजन्! इसमें संदेह नहीं कि हमारे मझले चाचा, जो इस समय युद्धमें मारे गये हैं, ऐसे ही महान् पराक्रमी थे; परंतु आप जिस प्रकार रोते-कलपते हैं, उस तरह श्रेष्ठ पुरुष किसीके लिये विलाप नहीं करते हैं ॥ २ ॥

नूनं त्रिभुवनस्यापि पर्याप्तस्त्वमसि प्रभो ।
स कस्मात् प्राकृत इव शोचस्यात्मानमीदृशम् ॥ ३ ॥

'प्रभो! निश्चय आप अकेले ही तीनों लोकोंसे भी लोहा लेनेमें समर्थ हैं; फिर इस तरह साधारण पुरुषकी भाँति क्यों अपने-आपको शोकमें डाल रहे हैं? ॥ ३ ॥

ब्रह्मदत्तास्ति ते शक्तिः कवचं सायको धनुः ।
सहस्रखरसंयुक्तो रथो मेघसमस्वनः ॥ ४ ॥

'आपके पास ब्रह्माजीकी दी हुई शक्ति, कवच, धनुष तथा बाण है; साथ ही मेघ-गर्जनाके समान शब्द करनेवाला रथ भी है, जिसमें एक हजार गदहे जोते जाते हैं ॥ ४ ॥

त्वयासकृद्धि शस्त्रेण विशस्ता देवदानवाः ।
स सर्वायुधसम्पन्नो राघवं शास्तुमर्हसि ॥ ५ ॥

'आपने एक ही शस्त्रसे देवताओं और दानवोंको अनेक बार पछाड़ा है, अतः सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित होनेपर आप रामको भी दण्ड दे सकते हैं ॥ ५ ॥

कामं तिष्ठ महाराज निर्गमिष्याम्यहं रणे ।
उद्धरिष्यामि ते शत्रून् गरुडः पन्नगानिव ॥ ६ ॥

'अथवा महाराज! आपकी इच्छा हो तो यहीं रहें। मैं स्वयं युद्धके लिये जाऊँगा और जैसे गरुड़ सर्पोंका संहार करते हैं, उसी तरह मैं आपके शत्रुओंको जड़से उखाड़ फेकूँगा ॥ ६ ॥

शम्बरो देवराजेन नरको विष्णुना यथा ।
तथाद्य शयिता रामो मया युधि निपातितः ॥ ७ ॥

'जैसे इन्द्रने शम्बरासुरको और भगवान् विष्णुने नरकासुरको[1] मार गिराया था, उसी प्रकार युद्धस्थलमें आज मेरे द्वारा मारे जाकर राम सदाके लिये सो जायँगे' ॥ ७ ॥

श्रुत्वा त्रिशिरसो वाक्यं रावणो राक्षसाधिपः ।
पुनर्जातमिवात्मानं मन्यते कालचोदितः ॥ ८ ॥

त्रिशिराकी यह बात सुनकर राक्षसराज रावणको इतना संतोष हुआ कि वह अपना नया जन्म हुआ-सा मानने लगा। कालसे प्रेरित होकर ही उसकी ऐसी बुद्धि हो गयी ॥ ८ ॥

श्रुत्वा त्रिशिरसो वाक्यं देवान्तकनरान्तकौ ।
अतिकायश्च तेजस्वी बभूवुर्युद्धहर्षिताः ॥ ९ ॥

त्रिशिराका उपर्युक्त कथन सुनकर देवान्तक, नरान्तक और तेजस्वी अतिकाय—ये तीनों युद्धके लिये उत्साहित हो गये ॥ ९ ॥

---

१. यहाँ जिस नरकासुरका नाम आया है, वह विप्रचित्ति नामक दानवके द्वारा सिंहिकाके गर्भसे उत्पन्न हुए वातापि आदि सात पुत्रोंमेंसे एक था। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—वातापि, नमुचि, इल्वल, सृमर, अन्धक, नरक और कालनाभ। भगवान् श्रीकृष्णने द्वापरमें जिस भूमिपुत्र नरकासुरका वध किया था, वह यहाँ उल्लिखित नरकासुरसे भिन्न था। त्रिशिरा और रावणके समयमें तो उसका जन्म ही नहीं हुआ था।

ततोऽहमहमित्येवं गर्जन्तो नैर्ऋतर्षभाः ।
रावणस्य सुता वीराः शक्रतुल्यपराक्रमाः ॥ १० ॥

'मैं युद्धके लिये जाऊँगा, मैं जाऊँगा' ऐसा कहते और गर्जते हुए वे तीनों श्रेष्ठ निशाचर युद्धके लिये तैयार हो गये। रावणके वे वीर पुत्र इन्द्रके समान पराक्रमी थे ॥ १० ॥

अन्तरिक्षगताः सर्वे सर्वे मायाविशारदाः ।
सर्वे त्रिदशदर्पघ्नाः सर्वे समरदुर्मदाः ॥ ११ ॥

वे सब-के-सब आकाशमें विचरण करनेवाले, मायाविशारद, रणदुर्मद तथा देवताओंका भी दर्प दलन करनेवाले थे ॥ ११ ॥

सर्वे सुबलसम्पन्नाः सर्वे विस्तीर्णकीर्तयः ।
सर्वे समरमासाद्य न श्रूयन्ते स्म निर्जिताः ॥ १२ ॥
देवैरपि सगन्धर्वैः सकिंनरमहोरगैः ।
सर्वेऽस्त्रविदुषो वीराः सर्वे युद्धविशारदाः ।
सर्वे प्रवरविज्ञानाः सर्वे लब्धवरास्तथा ॥ १३ ॥

वे सभी उत्तम बलसे सम्पन्न थे। उन सबकी कीर्ति तीनों लोकोंमें फैली हुई थी और समरभूमिमें आनेपर गन्धर्वों, किंनरों तथा बड़े-बड़े नागोंसहित देवताओंसे भी कभी उन सबकी पराजय नहीं सुनी गयी थी। वे सभी अस्त्रवेत्ता, सभी वीर और सभी युद्धकी कलामें निपुण थे। उन सबको शस्त्रों और शास्त्रोंका उत्तम ज्ञान प्राप्त था और सबने तपस्याके द्वारा वरदान प्राप्त किया था ॥ १२-१३ ॥

स तैस्तथा भास्करतुल्यवर्चसैः
सुतैर्वृतः शत्रुबलश्रियार्दनैः ।
रराज राजा मघवान् यथामरै-
र्वृतो महादानवदर्पनाशनैः ॥ १४ ॥

सूर्यके समान तेजस्वी तथा शत्रुओंकी सेना और सम्पत्तिको रौंद डालनेवाले उन पुत्रोंसे घिरा हुआ राक्षसोंका राजा रावण बड़े-बड़े दानवोंका दर्प चूर्ण करनेवाले देवताओंसे घिरे हुए इन्द्रकी भाँति शोभा पा रहा था ॥ १४ ॥

स पुत्रान् सम्परिष्वज्य भूषयित्वा च भूषणैः ।
आशीर्भिश्च प्रशस्ताभिः प्रेषयामास वै रणे ॥ १५ ॥

उसने अपने पुत्रोंको हृदयसे लगाकर नाना प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित किया और उत्तम आशीर्वाद देकर रणभूमिमें भेजा ॥ १५ ॥

युद्धोन्मत्तं च मत्तं च भ्रातरौ चापि रावणः ।
रक्षणार्थं कुमाराणां प्रेषयामास संयुगे ॥ १६ ॥

रावणने अपने दोनों भाई युद्धोन्मत्त (महापार्श्व) और मत्त (महोदर) को भी युद्धमें कुमारोंकी रक्षाके लिये भेजा ॥ १६ ॥

तेऽभिवाद्य महात्मानं रावणं लोकरावणम् ।
कृत्वा प्रदक्षिणं चैव महाकायाः प्रतस्थिरे ॥ १७ ॥

वे सभी महाकाय राक्षस समस्त लोकोंको रुलानेवाले महामना रावणको प्रणाम और उसकी परिक्रमा करके युद्धके लिये प्रस्थित हुए ॥ १७ ॥

सर्वौषधीभिर्गन्धैश्च समालभ्य महाबलाः ।
निर्जग्मुर्नैर्ऋतश्रेष्ठाः षडेते युद्धकाङ्क्षिणः ॥ १८ ॥
त्रिशिराश्चातिकायश्च देवान्तकनरान्तकौ ।
महोदरमहापार्श्वौ निर्जग्मुः कालचोदिताः ॥ १९ ॥

सब प्रकारकी ओषधियों तथा गन्धोंका स्पर्श करके युद्धकी अभिलाषा रखनेवाले त्रिशिरा, अतिकाय, देवान्तक, नरान्तक, महोदर और महापार्श्व—ये छः महाबली श्रेष्ठ निशाचर कालसे प्रेरित हो युद्धके लिये पुरीसे बाहर निकले ॥ १८-१९ ॥

ततः सुदर्शनं नागं नीलजीमूतसंनिभम् ।
ऐरावतकुले जातमारुरोह महोदरः ॥ २० ॥

उस समय महोदर ऐरावतके कुलमें उत्पन्न हुए काले मेघके समान रंगवाले 'सुदर्शन' नामक हाथीपर सवार हुआ ॥ २० ॥

सर्वायुधसमायुक्तस्तूणीभिश्चाप्यलंकृतः ।
रराज गजमास्थाय सवितेवास्तमूर्धनि ॥ २१ ॥

समस्त आयुधोंसे सम्पन्न और तूणीरोंसे अलङ्कृत महोदर उस हाथीकी पीठपर बैठकर अस्ताचलके शिखरपर विराजमान सूर्यदेवके समान शोभा पा रहा था ॥ २१ ॥

हयोत्तमसमायुक्तं सर्वायुधसमाकुलम् ।
आरुरोह रथश्रेष्ठं त्रिशिरा रावणात्मजः ॥ २२ ॥

रावणकुमार त्रिशिरा एक उत्तम रथपर आरूढ़ हुआ, जिसमें सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्र रखे गये थे और उत्तम घोड़े जुते हुए थे ॥ २२ ॥

त्रिशिरा रथमास्थाय विरराज धनुर्धरः ।
सविद्युदुल्कः सज्वालः सेन्द्रचाप इवाम्बुदः ॥ २३ ॥

उस रथमें बैठकर धनुष धारण किये त्रिशिरा विद्युत्, उल्का, ज्वाला और इन्द्रधनुषसे युक्त मेघके समान शोभा पाने लगा ॥ २३ ॥

त्रिभिः किरीटैस्त्रिशिराः शुशुभे स रथोत्तमे ।
हिमवानिव शैलेन्द्रस्त्रिभिः काञ्चनपर्वतैः ॥ २४ ॥

उस उत्तम रथमें सवार हो तीन किरीटोंसे युक्त त्रिशिरा तीन सुवर्णमय शिखरोंसे युक्त गिरिराज हिमालयके समान शोभा पा रहा था ॥ २४ ॥

अतिकायोऽतितेजस्वी राक्षसेन्द्रसुतस्तदा ।
आरुरोह रथश्रेष्ठं श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥ २५ ॥

राक्षसराज रावणका अत्यन्त तेजस्वी पुत्र अतिकाय समस्त धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ था। वह भी उस समय एक उत्तम रथपर आरूढ़ हुआ ॥ २५ ॥

सुचक्राक्षं सुसंयुक्तं स्वनुकर्षं सुकूबरम् ।
तूणीबाणासनैर्दीप्तं प्रासासिपरिघाकुलम् ॥ २६ ॥

उस रथके पहिये और धुरे बहुत सुन्दर थे। उसमें उत्तम घोड़े जुते हुए थे तथा उसके अनुकर्ष[1] और कूबर[2] भी सुदृढ़ थे। तूणीर, बाण और धनुषके कारण वह रथ उद्दीप्त हो रहा था। प्रास, खड्ग और परिघोंसे वह भरा हुआ था॥ २६॥

स काञ्चनविचित्रेण किरीटेन विराजता।
भूषणैश्च बभौ मेरुः प्रभाभिरिव भासयन्॥ २७॥

वह सुवर्णनिर्मित विचित्र एवं दीप्तिशाली किरीट तथा अन्य आभूषणोंसे विभूषित हो अपनी प्रभासे प्रकाशका विस्तार करते हुए मेरुपर्वतके समान सुशोभित होता था॥ २७॥

स रराज रथे तस्मिन् राजसूनुर्महाबलः।
वृतो नैर्ऋतशार्दूलैर्वज्रपाणिरिवामरैः॥ २८॥

उस रथपर श्रेष्ठ निशाचरोंसे घिरकर बैठा हुआ वह महाबली राक्षसराजकुमार देवताओंसे घिरे हुए वज्रपाणि इन्द्रके समान शोभा पाता था॥ २८॥

हयमुच्चैःश्रवःप्रख्यं श्वेतं कनकभूषणम्।
मनोजवं महाकायमारुरोह नरान्तकः॥ २९॥

नरान्तक उच्चैःश्रवाके समान श्वेत वर्णवाले एक सुवर्णभूषित विशालकाय और मनके समान वेगशाली अश्वपर आरूढ़ हुआ॥ २९॥

गृहीत्वा प्रासमुल्काभं विरराज नरान्तकः।
शक्तिमादाय तेजस्वी गुहः शिखिगतो यथा॥ ३०॥

उल्काके समान दीप्तिमान् प्रास हाथमें लेकर तेजस्वी नरान्तक शक्ति लिये मोरपर बैठे हुए तेजःपुञ्जसे सम्पन्न कुमार कार्तिकेयके समान सुशोभित हो रहा था॥ ३०॥

देवान्तकः समादाय परिघं हेमभूषणम्।
परिगृह्य गिरिं दोर्भ्यां वपुर्विष्णोर्विडम्बयन्॥ ३१॥

देवान्तक स्वर्णभूषित परिघ लेकर समुद्रमन्थनके समय दोनों हाथोंसे मन्दराचल उठाये हुए भगवान् विष्णुके स्वरूपका अनुकरण-सा कर रहा था॥ ३१॥

महापार्श्वो महातेजा गदामादाय वीर्यवान्।
विरराज गदापाणिः कुबेर इव संयुगे॥ ३२॥

महातेजस्वी और पराक्रमी महापार्श्व हाथमें गदा लेकर युद्धस्थलमें गदाधारी कुबेरके समान शोभा पाने लगा॥ ३२॥

ते प्रतस्थुर्महात्मानोऽमरावत्याः सुरा इव।
तान् गजैश्च तुरङ्गैश्च रथैश्चाम्बुदनिःस्वनैः॥ ३३॥
अनूत्पेतुर्महात्मानो राक्षसाः प्रवरायुधाः।

अमरावतीपुरीसे निकलनेवाले देवताओंके समान वे सभी महाकाय निशाचर लङ्कापुरीसे चले। उनके पीछे श्रेष्ठ आयुध धारण किये विशालकाय राक्षस हाथी, घोड़ों तथा मेघकी गर्जनाके समान घर्घराहट पैदा करनेवाले रथोंपर सवार हो युद्धके लिये निकले॥ ३३½॥

ते विरेजुर्महात्मानः कुमाराः सूर्यवर्चसः॥ ३४॥
किरीटिनः श्रिया जुष्टा ग्रहा दीप्ता इवाम्बरे।

वे सूर्यतुल्य तेजस्वी, महामनस्वी राक्षसराजकुमार मस्तकपर किरीट धारण करके उत्तम शोभा-सम्पत्तिसे सेवित हो आकाशमें प्रकाशित होनेवाले ग्रहोंके समान सुशोभित हो रहे थे॥ ३४½॥

प्रगृहीता बभौ तेषां शस्त्राणामावलिः सिता॥ ३५॥
शरदभ्रप्रतीकाशा हंसावलिरिवाम्बरे।

उनके द्वारा धारण की हुई अस्त्र-शस्त्रोंकी श्वेत पङ्क्ति आकाशमें शरदृतुके बादलोंकी भाँति उज्ज्वल कान्तिसे युक्त हंसोंकी श्रेणीके समान शोभा पा रही थी॥ ३५½॥

मरणं वापि निश्चित्य शत्रूणां वा पराजयम्॥ ३६॥
इति कृत्वा मतिं वीराः संजग्मुः संयुगार्थिनः।

आज या तो हम शत्रुओंको परास्त कर देंगे, या स्वयं ही मृत्युकी गोदमें सदाके लिये सो जायँगे—ऐसा निश्चय करके वे वीर राक्षस युद्धके लिये आगे बढ़े॥ ३६½॥

जगर्जुश्च प्रणेदुश्च चिक्षिपुश्चापि सायकान्॥ ३७॥
जगृहुश्च महात्मानो निर्यान्तो युद्धदुर्मदाः।

वे युद्धदुर्मद महामनस्वी निशाचर गर्जते, सिंहनाद करते, बाण हाथमें लेते और उन्हें शत्रुओंपर छोड़ देते थे॥ ३७½॥

क्ष्वेडितास्फोटितानां वै संचचालेव मेदिनी॥ ३८॥
रक्षसां सिंहनादैश्च संस्फोटितमिवाम्बरम्।

उन राक्षसोंके गर्जने, ताल ठोंकने और सिंहनाद करनेसे पृथ्वी कम्पित-सी होने लगी और आकाश फटने-सा लगा॥ ३८½॥

तेऽभिनिष्क्रम्य मुदिता राक्षसेन्द्रा महाबलाः॥ ३९॥
ददृशुर्वानरानीकं समुद्यतशिलानगम्।

उन महाबली राक्षसशिरोमणि वीरोंने प्रसन्नतापूर्वक नगरकी सीमासे बाहर निकलकर देखा, वानरोंकी सेना पर्वतशिखर और बड़े-बड़े वृक्ष उठाये युद्धके लिये तैयार खड़ी है॥ ३९½॥

हरयोऽपि महात्मानो ददृशुः राक्षसं बलम्॥ ४०॥
हस्त्यश्वरथसम्बाधं किङ्किणीशतनादितम्।
नीलजीमूतसंकाशं समुद्यतमहायुधम्॥ ४१॥

---

[1] रथके धुरेपर कूबरके आधाररूपसे स्थापित काष्ठविशेषको अनुकर्ष कहते हैं।

[2] कूबर उस काष्ठको कहते हैं, जिसपर जुआ रखा जाता है। गाड़ीके हरसोंको भी प्राचीनकालमें कूबर कहा जाता था।

आदि अङ्गोंद्वारा ही अद्भुत युद्ध करने लगे ॥ ५६ ॥

वानरान् वानरैरेव जघ्नुस्ते नैर्ऋतर्षभाः ।
राक्षसान् राक्षसैरेव जघ्नुस्ते वानरा अपि ॥ ५७ ॥

राक्षसोंके प्रधान-प्रधान वीर वानरोंको पकड़कर उन्हें दूसरे वानरोंपर पटक देते थे। इसी प्रकार वानर भी राक्षसोंसे ही राक्षसोंको मार रहे थे ॥ ५७ ॥

आक्षिप्य च शिलाः शैलाञ्जघ्नुस्ते राक्षसास्तदा ।
तेषां चाच्छिद्य शस्त्राणि जघ्नू रक्षांसि वानराः ॥ ५८ ॥

उस समय राक्षस अपने शत्रुओंके हाथसे शिलाओं और शैल-शिखरोंको छीनकर उन्हींसे उनपर प्रहार करने लगे तथा वानर भी राक्षसोंके हथियार छीनकर उन्हींके द्वारा उनका वध करने लगे ॥ ५८ ॥

निर्जघ्नुः शैलशृङ्गैश्च बिभिदुश्च परस्परम् ।
सिंहनादान् विनेदुश्च रणे राक्षसवानराः ॥ ५९ ॥

इस तरह राक्षस और वानर दोनों ही दलोंके योद्धा एक-दूसरेको पर्वत-शिखरसे मारने, अस्त्र-शस्त्रोंसे विदीर्ण करने तथा रणभूमिमें सिंहोंके समान दहाड़ने लगे ॥ ५९ ॥

छिन्नवर्मतनुत्राणा राक्षसा वानरैर्हताः ।
रुधिरं प्रसुतास्तत्र रससारमिव द्रुमाः ॥ ६० ॥

राक्षसोंकी शरीर-रक्षाके साधनभूत कवच आदि छिन्न-भिन्न हो गये। वानरोंकी मार खाकर वे अपने शरीरसे उसी प्रकार रक्त बहाने लगे, जैसे वृक्ष अपने तनोंसे गोंद बहाया करते हैं ॥ ६० ॥

रथेन च रथं चापि वारणेनापि वारणम् ।
हयेन च हयं केचिन्निर्जघ्नुर्वानरा रणे ॥ ६१ ॥

कितने ही वानर रणभूमिमें रथसे रथको, हाथीसे हाथीको और घोड़ेसे घोड़ेको मार गिराते थे ॥ ६१ ॥

क्षुरप्रैरर्धचन्द्रैश्च भल्लैश्च निशितैः शरैः ।
राक्षसा वानरेन्द्राणां बिभिदुः पादपाञ्शिलाः ॥ ६२ ॥

वानर-यूथपतियोंके चलाये हुए वृक्षों और शिलाओंको निशाचर योद्धा तीखे क्षुरप्र, अर्धचन्द्र और भल्ल नामक बाणोंसे तोड़-फोड़ डालते थे ॥ ६२ ॥

विकीर्णाः पर्वतास्तैश्च द्रुमच्छिन्नैश्च संयुगे ।
हतैश्च कपिरक्षोभिर्दुर्गमा वसुधाभवत् ॥ ६३ ॥

टूट-फूटकर गिरे हुए पर्वतों, कटे हुए वृक्षों तथा राक्षसों और वानरोंकी लाशोंसे पट जानेके कारण उस भूमिमें चलना-फिरना कठिन हो गया ॥ ६३ ॥

ते वानरा गर्वितहृष्टचेष्टाः
संग्राममासाद्य भयं विमुच्य ।
युद्धं स्म सर्वे सह राक्षसैस्ते
नानायुधाश्चक्रुरदीनसत्त्वाः ॥ ६४ ॥

वानरोंकी सारी चेष्टाएँ गर्वसे भरी हुई तथा हर्ष और उत्साहसे युक्त थीं। उनके हृदयमें दीनता नहीं थी तथा उन्होंने राक्षसोंके ही नाना प्रकारके आयुध छीनकर हस्तगत कर लिये थे, अतः वे सब संग्राममें पहुँचकर राक्षसोंके साथ भय छोड़कर युद्ध कर रहे थे ॥ ६४ ॥

तस्मिन् प्रवृत्ते तुमुले विमर्दे
प्रहृष्यमाणेषु वलीमुखेषु ।
निपात्यमानेषु च राक्षसेषु
महर्षयो देवगणाश्च नेदुः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार जब भयंकर मारकाट मची हुई थी, वानर प्रसन्न थे और राक्षसोंकी लाशें गिर रही थीं, उस समय महर्षि तथा देवगण हर्षनाद करने लगे ॥ ६५ ॥

ततो हयं मारुततुल्यवेग-
मारुह्य शक्तिं निशितां प्रगृह्य ।
नरान्तको वानरसैन्यमुग्रं
महार्णवं मीन इवाविवेश ॥ ६६ ॥

तदनन्तर वायुके समान तीव्र वेगवाले घोड़ेपर सवार हो हाथमें तीखी शक्ति लिये नरान्तक वानरोंकी भयंकर सेनामें उसी तरह घुसा, जैसे कोई मत्स्य महासागरमें प्रवेश कर रहा हो ॥ ६६ ॥

स वानरान् सप्त शतानि वीरः
प्रासेन दीप्तेन विनिर्बिभेद ।
एकः क्षणेनेन्द्ररिपुर्महात्मा
जघान सैन्यं हरिपुङ्गवानाम् ॥ ६७ ॥

उस महाकाय इन्द्रद्रोही वीर निशाचरने चमचमाते हुए भालेसे अकेले ही सात सौ वानरोंको चीर डाला और क्षणभरमें वानर-यूथपतियोंकी एक बहुत बड़ी सेनाका संहार कर डाला ॥ ६७ ॥

ददृशुश्च महात्मानं हयपृष्ठप्रतिष्ठितम् ।
चरन्तं हरिसैन्येषु विद्याधरमहर्षयः ॥ ६८ ॥

घोड़ेकी पीठपर बैठे हुए उस महामनस्वी वीरको विद्याधरों और महर्षियोंने वानरोंकी सेनामें विचरते देखा ॥ ६८ ॥

स तस्य ददृशे मार्गो मांसशोणितकर्दमः ।
पतितैः पर्वताकारैर्वानरैरभिसंवृतः ॥ ६९ ॥

वह जिस मार्गसे निकल जाता, वहीं धराशायी हुए पर्वताकार वानरोंसे ढका दिखायी देता था और वहाँ रक्त एवं मांसकी कीच मच जाती थी ॥ ६९ ॥

यावद् विक्रमितुं बुद्धिं चक्रुः प्लवगपुङ्गवाः ।
तावदेतानतिक्रम्य निर्बिभेद नरान्तकः ॥ ७० ॥

वानरोंके प्रधान-प्रधान वीर जबतक पराक्रम करनेका विचार करते, तबतक ही नरान्तक इन सबको लाँघकर भालेकी मारसे घायल कर देता था ॥ ७० ॥

ज्वलन्तं प्रासमुद्यम्य संग्रामाग्रे नरान्तकः ।
ददाह हरिसैन्यानि वनानीव विभावसुः ॥ ७१ ॥

जैसे दावानल सूखे जंगलोंको जलाता है, उसी प्रकार

प्रज्वलित प्रास लिये नरान्तक युद्धके मुहानेपर वानर-सेनाओंको दग्ध करने लगा ॥ ७१ ॥

यावदुत्पाटयामासुर्वृक्षाञ्शैलान् वनौकसः ।
तावत् प्रासहताः पेतुर्वज्रकृत्ता इवाचलाः ॥ ७२ ॥

वानरलोग जबतक वृक्ष और पर्वत-शिखरोंको उखाड़ते, तबतक ही उसके भालेकी चोट खाकर वज्रके मारे हुए पर्वतकी भाँति ढह जाते थे ॥ ७२ ॥

दिक्षु सर्वासु बलवान् विचचार नरान्तकः ।
प्रमृद्नन् सर्वतो युद्धे प्रावृट्काले यथानिलः ॥ ७३ ॥

जैसे वर्षाकालमें प्रचण्ड वायु सब ओर वृक्षोंको तोड़ती-उखाड़ती हुई विचरती है, उसी प्रकार बलवान् नरान्तक रणभूमिमें वानरोंको रौंदता हुआ सम्पूर्ण दिशाओंमें विचरने लगा ॥ ७३ ॥

न शेकुर्धावितुं वीरा न स्थातुं स्पन्दितुं भयात् ।
उत्पतन्तं स्थितं यान्तं सर्वान् विव्याध वीर्यवान् ॥ ७४ ॥

वानर-वीर भयके मारे न तो भाग पाते थे, न खड़े रह पाते थे और न उनसे दूसरी ही कोई चेष्टा करते बनती थी। पराक्रमी नरान्तक उछलते हुए, पड़े हुए और जाते हुए सभी वानरोंपर भालेकी चोट कर देता था ॥ ७४ ॥

एकेनान्तककल्पेन प्रासेनादित्यतेजसा ।
भग्नानि हरिसैन्यानि निपेतुर्धरणीतले ॥ ७५ ॥

उसका प्रास (भाला) अपनी प्रभासे सूर्यके समान उद्दीप्त हो रहा था और यमराजके समान भयंकर जान पड़ता था। उस एक ही भालेकी मारसे घायल होकर झुंड-के-झुंड वानर धरतीपर सो गये ॥ ७५ ॥

वज्रनिष्पेषसदृशं प्रासस्याभिनिपातनम् ।
न शेकुर्वानराः सोढुं ते विनेदुर्महास्वनम् ॥ ७६ ॥

वज्रके आघातको भी मात करनेवाले उस प्रासके दारुण प्रहारको वानर नहीं सह सके। वे जोर-जोरसे चीत्कार करने लगे ॥ ७६ ॥

पततां हरिवीराणां रूपाणि प्रचकाशिरे ।
वज्रभिन्नाग्रकूटानां शैलानां पततामिव ॥ ७७ ॥

वहाँ गिरते हुए वानर-वीरोंके रूप उन पर्वतोंके समान दिखायी देते थे, जो वज्रके आघातसे शिखरोंके विदीर्ण हो जानेसे धराशायी हो रहे हों ॥ ७७ ॥

ये तु पूर्वं महात्मानः कुम्भकर्णेन पातिताः ।
ते स्वस्था वानरश्रेष्ठाः सुग्रीवमुपतस्थिरे ॥ ७८ ॥

पहले कुम्भकर्णने जिन्हें रणभूमिमें गिरा दिया था, वे महामनस्वी श्रेष्ठ वानर उस समय स्वस्थ हो सुग्रीवकी सेवामें उपस्थित हुए ॥ ७८ ॥

प्रेक्षमाणः स सुग्रीवो ददृशे हरिवाहिनीम् ।
नरान्तकभयत्रस्तां विद्रवन्तीं यतस्ततः ॥ ७९ ॥

सुग्रीवने जब सब ओर दृष्टिपात किया, तब देखा कि वानरोंकी सेना नरान्तकसे भयभीत होकर इधर-उधर भाग रही है ॥ ७९ ॥

विद्रुतां वाहिनीं दृष्ट्वा स ददर्श नरान्तकम् ।
गृहीतप्रासमायान्तं हयपृष्ठप्रतिष्ठितम् ॥ ८० ॥

सेनाको भागती देख उन्होंने नरान्तकपर भी दृष्टि डाली, जो घोड़ेकी पीठपर बैठकर हाथमें भाला लिये आ रहा था ॥ ८० ॥

दृष्ट्वोवाच महातेजाः सुग्रीवो वानराधिपः ।
कुमारमङ्गदं वीरं शक्रतुल्यपराक्रमम् ॥ ८१ ॥

उसे देखकर महातेजस्वी वानरराज सुग्रीवने इन्द्रतुल्य पराक्रमी वीर कुमार अङ्गदसे कहा— ॥ ८१ ॥

गच्छैनं राक्षसं वीरं योऽसौ तुरगमास्थितः ।
क्षोभयन्तं हरिबलं क्षिप्रं प्राणैर्वियोजय ॥ ८२ ॥

'बेटा ! वह जो घोड़ेपर बैठा हुआ वानर-सेनामें हलचल मचा रहा है, उस वीर राक्षसका सामना करनेके लिये जाओ और उसके प्राणोंका शीघ्र ही अन्त कर दो' ॥ ८२ ॥

स भर्तुर्वचनं श्रुत्वा निष्पपाताङ्गदस्तदा ।
अनीकान्मेघसंकाशादंशुमानिव वीर्यवान् ॥ ८३ ॥

स्वामीकी यह आज्ञा सुनकर पराक्रमी अङ्गद उस समय मेघोंकी घटाके समान प्रतीत होनेवाली वानर-सेनासे उसी तरह निकले, जैसे सूर्यदेव बादलोंके ओटसे प्रकट हो रहे हों ॥ ८३ ॥

शैलसंघातसंकाशो हरीणामुत्तमोऽङ्गदः ।
रराजाङ्गदसंनद्धः सधातुरिव पर्वतः ॥ ८४ ॥

वानरोंमें श्रेष्ठ अङ्गद शैल-समूहके समान विशालकाय थे। वे अपनी बाँहोंमें बाजूबंद धारण किये हुए थे, इसलिये सुवर्ण आदि धातुओंसे युक्त पर्वतके समान शोभा पाते थे ॥ ८४ ॥

निरायुधो महातेजाः केवलं नखदंष्ट्रवान् ।
नरान्तकमभिक्रम्य वालिपुत्रोऽब्रवीद् वचः ॥ ८५ ॥

वालिपुत्र अङ्गद महातेजस्वी थे। उनके पास कोई हथियार नहीं था। केवल नख और दाढ़ ही उनके अस्त्र-शस्त्र थे। वे नरान्तकके पास पहुँचकर इस प्रकार बोले— ॥ ८५ ॥

तिष्ठ किं प्राकृतैरेभिर्हरिभिस्त्वं करिष्यसि ।
अस्मिन् वज्रसमस्पर्शं प्रासं क्षिप्र ममोरसि ॥ ८६ ॥

'ओ निशाचर ! ठहर जा। इन साधारण बंदरोंको मारकर तू क्या करेगा ? तेरे भालेकी चोट वज्रके समान असह्य है; किंतु जरा इसे मेरी इस छातीपर तो मार' ॥ ८६ ॥

अङ्गदस्य वचः श्रुत्वा प्रचुक्रोध नरान्तकः ।
संदश्य दशनैरोष्ठं निःश्वस्य च भुजंगवत् ।
अभिगम्याङ्गदं क्रुद्धो वालिपुत्रं नरान्तकः ॥ ८७ ॥

अङ्गदकी यह बात सुनकर नरान्तकको बड़ा क्रोध हुआ। वह कुपित हो, दाँतोंसे ओठ दबा सर्पकी भाँति लंबी साँस ले, वालिपुत्र अङ्गदके पास आकर खड़ा हो गया॥ ८७॥

स प्रासमाविध्य तदाङ्गदाय
समुज्ज्वलन्तं सहसोत्ससर्ज।
स वालिपुत्रोरसि वज्रकल्पे
बभूव भग्नो न्यपतच्च भूमौ॥ ८८॥

उसने उस चमकते हुए भालेको घुमाकर सहसा उसे अङ्गदपर दे मारा। वालिपुत्र अङ्गदका वक्षःस्थल वज्रके समान कठोर था। नरान्तकका भाला उसपर टकराकर टूट गया और जमीनपर जा पड़ा॥ ८८॥

तं प्रासमालोक्य तदा विभग्नं
सुपर्णकृत्तोरगभोगकल्पम्।
तलं समुद्यम्य स वालिपुत्र-
स्तुरंगमस्याभिजघान मूर्ध्नि॥ ८९॥

उस भालेको गरुड़के द्वारा खण्डित किये गये सर्पके शरीरकी भाँति टूक-टूक होकर पड़ा देख वालिपुत्र अङ्गदने हथेली ऊँची करके नरान्तकके घोड़ेके मस्तकपर बड़े जोरसे थप्पड़ मारा॥ ८९॥

निमग्नपादः स्फुटिताक्षितारो
निष्क्रान्तजिह्वोऽचलसंनिकाशः।
स तस्य वाजी निपपात भूमौ
तलप्रहारेण विकीर्णमूर्धा॥ ९०॥

उस प्रहारसे घोड़ेका सिर फट गया, पैर नीचेको धँस गये, आँखें फूट गयीं और जीभ बाहर निकल आयी। वह पर्वताकार अश्व प्राणहीन होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा॥ ९०॥

नरान्तकः क्रोधवशं जगाम
हतं तुरंगं पतितं समीक्ष्य।
स मुष्टिमुद्यम्य महाप्रभावो
जघान शीर्षे युधि वालिपुत्रम्॥ ९१॥

घोड़ेको मरकर पृथ्वीपर पड़ा देख नरान्तकके क्रोधकी सीमा न रही। उस महाप्रभावशाली निशाचरने युद्धस्थलमें मुक्का तानकर वालिकुमारके मस्तकपर मारा॥ ९१॥

अथाङ्गदो मुष्टिविशीर्णमूर्धा
सुस्राव तीव्रं रुधिरं भृशोष्णम्।
मुहुर्विजज्वाल मुमोह चापि
संज्ञां समासाद्य विसिस्मिये च॥ ९२॥

मुक्केकी मारसे अङ्गदका सिर फूट गया। उससे वेगपूर्वक गर्म-गर्म रक्तकी धारा बहने लगी। उनके माथेमें बड़ी जलन हुई। वे मूर्छित हो गये और थोड़ी देरमें जब होश हुआ, तब उस राक्षसकी शक्ति देखकर आश्चर्यचकित हो उठे॥ ९२॥

अथाङ्गदो मृत्युसमानवेगं
संवर्त्य मुष्टिं गिरिशृङ्गकल्पम्।
निपातयामास तदा महात्मा
नरान्तकस्योरसि वालिपुत्रः॥ ९३॥

फिर अङ्गदने पर्वत-शिखरके समान अपना मुक्का ताना, जिसका वेग मृत्युके समान था। फिर उन महात्मा वालिकुमारने उससे नरान्तककी छातीमें प्रहार किया॥ ९३॥

स मुष्टिनिर्भिन्ननिमग्नवक्षा
ज्वाला वमञ्शोणितदिग्धगात्रः।
नरान्तको भूमितले पपात
यथाचलो वज्रनिपातभग्नः॥ ९४॥

मुक्केके आघातसे नरान्तकका हृदय विदीर्ण हो गया। वह मुँहसे आगकी ज्वाला-सी उगलने लगा। उसके सारे अङ्ग लहूलुहान हो गये और वह वज्रके मारे हुए पर्वतकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा॥ ९४॥

तदान्तरिक्षे त्रिदशोत्तमानां
वनौकसां चैव महाप्रणादः।
बभूव तस्मिन् निहतेऽग्र्यवीर्ये
नरान्तके वालिसुतेन संख्ये॥ ९५॥

वालिकुमारके द्वारा युद्धस्थलमें उत्तम पराक्रमी नरान्तकके मारे जानेपर उस समय आकाशमें देवताओंने और भूतलपर वानरोंने बड़े जोरसे हर्षनाद किया॥ ९५॥

अथाङ्गदो राममनःप्रहर्षणं
सुदुष्करं तं कृतवान् हि विक्रमम्।
विसिस्मिये सोऽप्यथ भीमकर्मा
पुनश्च युद्धे स बभूव हर्षितः॥ ९६॥

अङ्गदने श्रीरामचन्द्रजीके मनको अत्यन्त हर्ष प्रदान करनेवाला वह परम दुष्कर पराक्रम किया था। उससे श्रीरामचन्द्रजीको भी बड़ा विस्मय हुआ। तत्पश्चात् भीषण कर्म करनेवाले अङ्गद पुनः युद्धके लिये हर्ष और उत्साहसे भर गये॥ ९६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे एकोनसप्ततितमः सर्गः॥ ६९॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें उनहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ६९॥

—★—

सप्ततितमः सर्गः

हनुमान्‌जीके द्वारा देवान्तक और त्रिशिराका, नीलके द्वारा महोदरका तथा ऋषभके द्वारा महापार्श्वका वध

नरान्तकं हतं दृष्ट्वा चुक्रुशुर्नैर्ऋतर्षभाः।
देवान्तकस्त्रिमूर्धा च पौलस्त्यश्च महोदरः॥ १॥

नरान्तकको मारा गया देख देवान्तक, पुलस्त्यकुलनन्दन त्रिशिरा और महोदर—ये श्रेष्ठ राक्षस हाहाकार करने लगे॥ १॥

आरूढो मेघसंकाशं वारणेन्द्रं महोदरः।
वालिपुत्रं महावीर्यमभिदुद्राव वेगवान्॥ २॥

महोदरने मेघके समान गजराजपर बैठकर महापराक्रमी अङ्गदके ऊपर बड़े वेगसे धावा किया॥ २॥

भ्रातृव्यसनसंतप्तस्तदा देवान्तको बली।
आदाय परिघं घोरमङ्गदं समभिद्रवत्॥ ३॥

भाईके मारे जानेसे संतप्त हुए बलवान् देवान्तकने भयानक परिघ हाथमें लेकर अङ्गदपर आक्रमण किया॥ ३॥

रथमादित्यसंकाशं युक्तं परमवाजिभिः।
आस्थाय त्रिशिरा वीरो वालिपुत्रमथाभ्यगात्॥ ४॥

इस प्रकार वीर त्रिशिरा उत्तम घोड़ोंसे जुते हुए सूर्यतुल्य तेजस्वी रथपर बैठकर वालिकुमारका सामना करनेके लिये आया॥ ४॥

स त्रिभिर्देवदर्पघ्नै राक्षसेन्द्रैरभिद्रुतः।
वृक्षमुत्पाटयामास महाविटपमङ्गदः॥ ५॥
देवान्तकाय तं वीरश्चिक्षेप सहसाङ्गदः।
महावृक्षं महाशाखं शक्रो दीप्तामिवाशनिम्॥ ६॥

देवताओंका दर्प दलन करनेवाले उन तीनों निशाचरपतियोंके आक्रमण करनेपर वीर अङ्गदने विशाल शाखाओंसे युक्त एक वृक्षको उखाड़ लिया और जैसे इन्द्र प्रज्वलित वज्रका प्रहार करते हैं, उसी प्रकार उन वालिकुमारने बड़ी-बड़ी शाखाओंसे युक्त उस महान् वृक्षको सहसा देवान्तकपर दे मारा॥ ५-६॥

त्रिशिरास्तं प्रचिच्छेद शरैराशीविषोपमैः।
स वृक्षं कृत्तमालोक्य उत्पपात तदाङ्गदः॥ ७॥
स ववर्ष ततो वृक्षाञ्छिलाश्च कपिकुञ्जरः।
तान् प्रचिच्छेद संक्रुद्धस्त्रिशिरा निशितैः शरैः॥ ८॥

परंतु त्रिशिराने विषधर सर्पोंके समान भयंकर बाण मारकर उस वृक्षके टुकड़े-टुकड़े कर दिये। वृक्षको खण्डित हुआ देख कपिकुञ्जर अङ्गद तत्काल आकाशमें उछले और त्रिशिरापर वृक्षों तथा शिलाओंकी वर्षा करने लगे; किंतु क्रोधसे भरे हुए त्रिशिराने पैने बाणोंद्वारा उनको भी काट गिराया॥ ७-८॥

परिघाग्रेण तान् वृक्षान् बभञ्ज स महोदरः।
त्रिशिराश्चाङ्गदं वीरमभिदुद्राव सायकैः॥ ९॥

महोदरने अपने परिघके अग्रभागसे उन वृक्षोंको तोड़-फोड़ डाला। तत्पश्चात् सायकोंकी वर्षा करते हुए त्रिशिराने वीर अङ्गदपर धावा किया॥ ९॥

गजेन समभिद्रुत्य वालिपुत्रं महोदरः।
जघानोरसि संक्रुद्धस्तोमरैर्वज्रसंनिभैः॥ १०॥

साथ ही कुपित हुए महोदरने हाथीके द्वारा आक्रमण करके वालिकुमारकी छातीमें वज्रतुल्य तोमरोंका प्रहार किया॥ १०॥

देवान्तकश्च संक्रुद्धः परिघेण तदाङ्गदम्।
उपगम्याभिहत्याशु व्यपचक्राम वेगवान्॥ ११॥

इसी प्रकार देवान्तक भी अङ्गदके निकट आ अत्यन्त क्रोधपूर्वक परिघके द्वारा उन्हें चोट पहुँचाकर तुरंत वेगपूर्वक वहाँसे दूर हट गया॥ ११॥

स त्रिभिर्नैर्ऋतश्रेष्ठैर्युगपत् समभिद्रुतः।
न विव्यथे महातेजा वालिपुत्रः प्रतापवान्॥ १२॥

उन तीनों प्रमुख निशाचरोंने एक साथ ही धावा किया था, तो भी महातेजस्वी और प्रतापी वालिकुमार अङ्गदके मनमें तनिक भी व्यथा नहीं हुई॥ १२॥

स वेगवान् महावेगं कृत्वा परमदुर्जयः।
तलेन समभिद्रुत्य जघानास्य महागजम्॥ १३॥

वे अत्यन्त दुर्जय और बड़े वेगशाली थे। उन्होंने महान् वेग प्रकट करके महोदरके महान् गजराजपर आक्रमण किया और उसके मस्तकपर जोरसे थप्पड़ मारा॥ १३॥

तस्य तेन प्रहारेण नागराजस्य संयुगे।
पेततुर्नयने तस्य विननाश स कुञ्जरः॥ १४॥

युद्धस्थलमें उनके उस प्रहारसे गजराजकी दोनों आँखें निकलकर पृथ्वीपर गिर गयीं और वह तत्काल मर गया॥ १४॥

विषाणं चास्य निष्कृष्य वालिपुत्रो महाबलः।
देवान्तकमभिद्रुत्य ताडयामास संयुगे॥ १५॥

फिर महाबली वालिकुमारने उस हाथीका एक दाँत उखाड़ लिया और युद्धस्थलमें दौड़कर उसीके द्वारा देवान्तकपर चोट की॥ १५॥

स विह्वलस्तु तेजस्वी वातोद्धूत इव द्रुमः।
लाक्षारससवर्णं च सुस्राव रुधिरं महत्॥ १६॥

तेजस्वी देवान्तक उस प्रहारसे व्याकुल हो गया और वायुके हिलाये हुए वृक्षकी भाँति काँपने लगा। उसके शरीरसे महावरके समान रंगवाला रक्तका महान् प्रवाह बह चला॥ १६॥

अथाश्वस्य महातेजाः कृच्छ्राद् देवान्तको बली।
आविध्य परिघं वेगादाजघान तदाङ्गदम्॥ १७॥

तत्पश्चात् महातेजस्वी बलवान् देवान्तकने बड़ी कठिनाईसे अपनेको सँभालकर परिघ उठाया और उसे वेगपूर्वक घुमाकर अङ्गदपर दे मारा॥ १७॥

परिघाभिहतश्चापि वानरेन्द्रात्मजस्तदा।
जानुभ्यां पतितो भूमौ पुनरेवोत्पपात ह॥ १८॥

उस परिघकी चोट खाकर वानरराजकुमार अङ्गदने भूमिपर घुटने टेक दिये। फिर तुरंत ही उठकर वे ऊपरकी ओर उछले॥ १८॥

तमुत्पतन्तं त्रिशिरास्त्रिभिर्बाणैरजिह्मगैः।
घोरैर्हरिपतेः पुत्रं ललाटेऽभिजघान ह॥ १९॥

उछलते समय त्रिशिराने तीन सीधे जानेवाले भयंकर बाणों-द्वारा वानरराजकुमारके ललाटमें गहरी चोट पहुँचायी॥ १९॥

ततोऽङ्गदं परिक्षिप्तं त्रिभिर्नैर्ऋतपुङ्गवैः।
हनूमानथ विज्ञाय नीलश्चापि प्रतस्थतुः॥ २०॥

तदनन्तर अङ्गदको तीन प्रमुख निशाचरोंसे घिरा हुआ जान हनुमान् और नील भी उनकी सहायताके लिये अग्रसर हुए॥ २०॥

ततश्चिक्षेप शैलाग्रं नीलस्त्रिशिरसे तदा।
तद् रावणसुतो धीमान् बिभेद निशितैः शरैः॥ २१॥

उस समय नीलने त्रिशिरापर एक पर्वतशिखर चलाया; किंतु उस बुद्धिमान् रावणपुत्रने तीखे बाण मारकर उसे तोड़-फोड़ डाला॥ २१॥

तद्बाणशतनिर्भिन्नं विदारितशिलातलम्।
सविस्फुलिङ्गं सज्वालं निपपात गिरेः शिरः॥ २२॥

उसके सैकड़ों बाणोंसे विदीर्ण होकर उसकी एक-एक शिला बिखर गयी और वह पर्वतशिखर आगकी चिनगारियों तथा ज्वालाके साथ पृथ्वीपर गिर पड़ा॥ २२॥

स विजृम्भितमालोक्य हर्षाद् देवान्तको बली।
परिघेणाभिदुद्राव मारुतात्मजमाहवे॥ २३॥

अपने भाईका पराक्रम बढ़ता देख बलवान् देवान्तकको बड़ा हर्ष हुआ और उसने परिघ लेकर युद्धस्थलमें हनुमान्‌जीपर धावा किया॥ २३॥

तमापतन्तमुत्पत्य हनूमान् कपिकुञ्जरः।
आजघान तदा मूर्ध्नि वज्रकल्पेन मुष्टिना॥ २४॥

उसे आते देख कपिकुञ्जर हनुमान्‌जीने उछलकर अपने वज्र-सरीखे मुक्केसे उसके सिरपर मारा॥ २४॥

शिरसि प्राहरद् वीरस्तदा वायुसुतो बली।
नादेनाकम्पयच्चैव राक्षसान् स महाकपिः॥ २५॥

बलवान् वायुकुमार महाकपि हनुमान्‌जीने उस समय देवान्तकके मस्तकपर प्रहार किया और अपनी भीषण गर्जनासे राक्षसोंको कम्पित कर दिया॥ २५॥

स मुष्टिनिष्पिष्टविभिन्नमूर्धा
निर्वान्तदन्ताक्षिविलम्बिजिह्वः।
देवान्तको राक्षसराजसूनु-
र्गतासुरुर्व्यां सहसा पपात॥ २६॥

उनके मुष्टि-प्रहारसे देवान्तकका मस्तक फट गया और पिस उठा। दाँत, आँखें और लंबी जीभ बाहर निकल आयीं तथा वह राक्षसराजकुमार प्राणशून्य होकर सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ा॥ २६॥

तस्मिन् हते राक्षसयोधमुख्ये
महाबले संयति देवशत्रौ।
क्रुद्धस्त्रिशीर्षा निशितास्त्रमुग्रं
ववर्ष नीलोरसि बाणवर्षम्॥ २७॥

राक्षस-योद्धाओंमें प्रधान महाबली देवद्रोही देवान्तकके युद्धमें मारे जानेपर त्रिशिराको बड़ा क्रोध हुआ और उसने नीलकी छातीपर पैने बाणोंकी भयंकर वर्षा आरम्भ कर दी॥ २७॥

महोदरस्तु संक्रुद्धः कुञ्जरं पर्वतोपमम्।
भूयः समधिरुह्याशु मन्दरं रश्मिवानिव॥ २८॥

तदनन्तर अत्यन्त क्रोधसे भरा हुआ महोदर पुनः शीघ्र ही एक पर्वताकार हाथीपर सवार हुआ, मानो सूर्यदेव मन्दराचलपर आरूढ़ हुए हों॥ २८॥

ततो बाणमयं वर्षं नीलस्योपर्यपातयत्।
गिरौ वर्षं तडिच्चक्रचापवानिव तोयदः॥ २९॥

हाथीपर चढ़कर उसने नीलके ऊपर बाणोंकी विकट वर्षा की, मानो इन्द्रधनुष एवं विद्युन्मण्डलसे युक्त मेघ किसी पर्वतपर जलकी वर्षा कर रहा हो॥ २९॥

ततः शरौघैरभिवृष्यमाणो
विभिन्नगात्रः कपिसैन्यपालः।
नीलो बभूवाथ विसृष्टगात्रो
विष्टम्भितस्तेन महाबलेन॥ ३०॥

बाण-समूहोंकी निरन्तर वर्षा होनेसे वानरसेनापति नीलके सारे अङ्ग क्षत-विक्षत हो गये। उनका शरीर शिथिल हो गया। इस प्रकार महाबली महोदरने उन्हें मूर्छित करके उनके बल-विक्रमको कुण्ठित कर दिया॥ ३०॥

ततस्तु नीलः प्रतिलब्धसंज्ञः
शैलं समुत्पाट्य सवृक्षखण्डम्।
ततः समुत्पत्य महोग्रवेगो
महोदरं तेन जघान मूर्ध्नि॥ ३१॥

तत्पश्चात् होशमें आनेपर नीलने वृक्ष-समूहोंसे युक्त एक शैल-शिखरको उखाड़ लिया। उनका वेग बड़ा भयंकर था।

उन्होंने उछलकर उस वृक्षको महोदरके मस्तकपर दे मारा ॥ ३१ ॥

ततः स शैलाभिनिपातभग्नो
महोदरस्तेन महाद्विपेन ।
व्यामोहितो भूमितले गतासुः
पपात वज्राभिहतो यथाद्रिः ॥ ३२ ॥

उस पर्वतशिखरके आघातसे महोदर उस महान् गजराजके साथ ही चूर-चूर हो गया और मूर्च्छित एवं प्राणशून्य हो वज्रके मारे हुए पर्वतकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ३२ ॥

पितृव्यं निहतं दृष्ट्वा त्रिशिराश्चापमाददे ।
हनूमन्तं च संक्रुद्धो विव्याध निशितैः शरैः ॥ ३३ ॥

पिताके भाईको मारा गया देख त्रिशिराके क्रोधकी सीमा न रही। उसने धनुष हाथमें ले लिया और हनुमान्‌जीको पैने बाणोंसे बींधना आरम्भ किया ॥ ३३ ॥

स वायुसूनुः कुपितश्चिक्षेप शिखरं गिरेः ।
त्रिशिरास्तच्छरैस्तीक्ष्णैर्बिभेद बहुधा बली ॥ ३४ ॥

तब पवनकुमारने कुपित होकर उस राक्षसके ऊपर पर्वतका शिखर चलाया, परंतु बलवान् त्रिशिराने अपने तीखे सायकोंसे उसके कई टुकड़े कर डाले ॥ ३४ ॥

तद् व्यर्थं शिखरं दृष्ट्वा द्रुमवर्षं तदा कपिः ।
विससर्ज रणे तस्मिन् रावणस्य सुतं प्रति ॥ ३५ ॥

उस पर्वतशिखरके प्रहारको व्यर्थ हुआ देख कपिवर हनुमान्‌ने उस रणभूमिमें रावणपुत्र त्रिशिराके ऊपर वृक्षोंकी वर्षा आरम्भ की ॥ ३५ ॥

तमापतन्तमाकाशे द्रुमवर्षं प्रतापवान् ।
त्रिशिरा निशितैर्बाणैश्चिच्छेद च ननाद च ॥ ३६ ॥

किंतु प्रतापी त्रिशिराने आकाशमें होनेवाली वृक्षोंकी उस वृष्टिको अपने पैने बाणोंसे छिन्न-भिन्न कर दिया और बड़े जोरसे गर्जना की ॥ ३६ ॥

हनूमांस्तु समुत्पत्य हयं त्रिशिरसस्तदा ।
विददार नखैः क्रुद्धो गजेन्द्रं मृगराडिव ॥ ३७ ॥

तब हनुमान्‌जी कूदकर त्रिशिराके पास जा पहुँचे और जैसे कुपित सिंह गजराजको अपने पंजोंसे चीर डालता है, उसी प्रकार रोषसे भरे हुए उन पवनकुमारने त्रिशिराके घोड़ेको अपने नखोंसे विदीर्ण कर डाला ॥ ३७ ॥

अथ शक्तिं समासाद्य कालरात्रिमिवान्तकः ।
चिक्षेपानिलपुत्राय त्रिशिरा रावणात्मजः ॥ ३८ ॥

यह देख रावणकुमार त्रिशिराने शक्ति हाथमें ली, मानो यमराजने कालरात्रिको साथ ले लिया हो, वह शक्ति लेकर उसने पवनकुमार हनुमान्‌पर चलायी ॥ ३८ ॥

दिवः क्षिप्तामिवोल्कां तां शक्तिं क्षिप्तामसङ्गताम् ।
गृहीत्वा हरिशार्दूलो बभञ्ज च ननाद च ॥ ३९ ॥

जैसे आकाशसे उल्कापात हुआ हो, उसी प्रकार वह शक्ति, जिसकी गति कहीं कुण्ठित नहीं होती थी, चली; परंतु वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌जीने उसे अपने शरीरमें लगनेसे पहले ही हाथसे पकड़ लिया और तोड़ डाला, तोड़नेके बाद उन्होंने भयंकर गर्जना की ॥ ३९ ॥

तां दृष्ट्वा घोरसंकाशां शक्तिं भग्नां हनूमता ।
प्रहृष्टा वानरगणा विनेदुर्जलदा यथा ॥ ४० ॥

हनुमान्‌जीने वह भयानक शक्ति तोड़ दी, यह देख वानरवृन्द अत्यन्त हर्षसे उल्लसित हो मेघोंके समान गम्भीर गर्जना करने लगे ॥ ४० ॥

ततः खड्गं समुद्यम्य त्रिशिरा राक्षसोत्तमः ।
निचखान तदा खड्गं वानरेन्द्रस्य वक्षसि ॥ ४१ ॥

तब राक्षसशिरोमणि त्रिशिराने तलवार उठायी और कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌जीकी छातीपर उसकी भरपूर चोट की ॥ ४१ ॥

खड्गप्रहाराभिहतो हनूमान् मारुतात्मजः ।
आजघान त्रिमूर्धानं तलेनोरसि वीर्यवान् ॥ ४२ ॥

तलवारकी चोटसे घायल हो पराक्रमी पवनकुमार हनुमान्‌ने त्रिशिराकी छातीमें एक तमाचा जड़ दिया ॥ ४२ ॥

स तलाभिहतस्तेन स्रस्तहस्तायुधो भुवि ।
निपपात महातेजास्त्रिशिरास्त्यक्तचेतनः ॥ ४३ ॥

उनका थप्पड़ लगते ही महातेजस्वी त्रिशिरा अपनी चेतना खो बैठा। उसके हाथसे हथियार खिसक गया और वह स्वयं भी पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ४३ ॥

स तस्य पततः खड्गं तमाच्छिद्य महाकपिः ।
ननाद गिरिसंकाशस्त्रासयन् सर्वराक्षसान् ॥ ४४ ॥

गिरते समय उस राक्षसके खड्गको छीनकर पर्वताकार महाकपि हनुमान्‌जी सब राक्षसोंको भयभीत करते हुए जोर-जोरसे गर्जना करने लगे ॥ ४४ ॥

अमृष्यमाणस्तं घोषमुत्पपात निशाचरः ।
उत्पत्य च हनूमन्तं ताडयामास मुष्टिना ॥ ४५ ॥

उनकी वह गर्जना उस निशाचरसे सही नहीं गयी, अतः वह सहसा उछलकर खड़ा हो गया। उठते ही उसने हनुमान्‌जीको एक मुक्का मारा ॥ ४५ ॥

तेन मुष्टिप्रहारेण संचुकोप महाकपिः ।
कुपितश्च निजग्राह किरीटे राक्षसर्षभम् ॥ ४६ ॥

उसके मुक्केकी चोट खाकर महाकपि हनुमान्‌जीको बड़ा क्रोध हुआ। कुपित होनेपर उन्होंने उस राक्षसका मुकुटमण्डित मस्तक पकड़ लिया ॥ ४६ ॥

स तस्य शीर्षाण्यसिना शितेन
किरीटजुष्टानि सकुण्डलानि ।
क्रुद्धः प्रचिच्छेद सुतोऽनिलस्य
त्वष्टुः सुतस्येव शिरांसि शक्रः ॥ ४७ ॥

फिर तो जैसे पूर्वकालमें इन्द्रने त्वष्टाके पुत्र त्रिशिराके तीनों मस्तकोंको वज्रसे काट गिराया था, उसी प्रकार कुपित हुए पवनपुत्र हनुमान्‌ने रावणपुत्र त्रिशिराके किरीट और कुण्डलों-सहित तीनों मस्तकोंको तीखी तलवारसे काट डाला ॥ ४७ ॥

तान्यायताक्षाण्यगसंनिभानि
प्रदीप्तवैश्वानरलोचनानि ।
पेतुः शिरांसीन्द्ररिपोः पृथिव्यां
ज्योतींषि मुक्तानि यथार्कमार्गात् ॥ ४८ ॥

उन मस्तकोंकी सभी इन्द्रियाँ विशाल थीं। उनकी आँखें प्रज्वलित अग्निके समान उद्दीप्त हो रही थीं। उस इन्द्रद्रोही त्रिशिराके वे तीनों सिर उसी प्रकार पृथ्वीपर गिरे, जैसे आकाशसे तारे टूटकर गिरते हैं ॥ ४८ ॥

तस्मिन् हते देवरिपौ त्रिशीर्षे
हनूमता शक्रपराक्रमेण ।
नेदुः प्लवंगाः प्रचचाल भूमी
रक्षांस्यथो दुद्रुविरे समन्तात् ॥ ४९ ॥

देवद्रोही त्रिशिरा जब इन्द्रतुल्य पराक्रमी हनुमान्‌जीके हाथसे मारा गया, तब समस्त वानर हर्षनाद करने लगे, धरती काँपने लगी तथा राक्षस चारों दिशाओंकी ओर भाग चले ॥ ४९ ॥

हतं त्रिशिरसं दृष्ट्वा तथैव च महोदरम् ।
हतौ प्रेक्ष्य दुराधर्षौ देवान्तकनरान्तकौ ॥ ५० ॥
चुकोप परमामर्षी मत्तो राक्षसपुङ्गवः ।
जग्राहार्चिष्मतीं चापि गदां सर्वायसीं तदा ॥ ५१ ॥

त्रिशिरा तथा महोदरको मारा गया देख और दुर्जय वीर देवान्तक एवं नरान्तकको भी कालके गालमें गया हुआ जान अत्यन्त अमर्षशील राक्षसशिरोमणि मत्त (महापार्श्व) कुपित हो उठा। उसने एक तेजस्विनी गदा हाथमें ली, जो सम्पूर्णतः लोहेकी बनी हुई थी ॥ ५०-५१ ॥

हेमपट्टपरिक्षिप्तां मांसशोणितफेनिलाम् ।
विराजमानां विपुलां शत्रुशोणिततर्पिताम् ॥ ५२ ॥

उसपर सोनेका पत्र जड़ा हुआ था। युद्धस्थलमें पहुँचनेपर वह शत्रुओंके रक्त और मांसमें सन जाती थी। उसका आकार विशाल था। वह सुन्दर शोभासे सम्पन्न तथा शत्रुओंके रक्तसे तृप्त होनेवाली थी ॥ ५२ ॥

तेजसा सम्प्रदीप्ताग्रां रक्तमाल्यविभूषिताम् ।
ऐरावतमहापद्मसार्वभौमभयावहाम् ॥ ५३ ॥

उसका अग्रभाग तेजसे प्रज्वलित होता था। वह लाल रंगके फूलोंसे सजायी गयी थी तथा ऐरावत, पुण्डरीक और सार्वभौम नामक दिग्गजोंको भी भयभीत करनेवाली थी ॥ ५३ ॥

गदामादाय संक्रुद्धो मत्तो राक्षसपुङ्गवः ।
हरीन् समभिदुद्राव युगान्ताग्निरिव ज्वलन् ॥ ५४ ॥

उस गदाको हाथमें लेकर क्रोधसे भरा हुआ राक्षस-शिरोमणि मत्त (महापार्श्व) प्रलयकालकी अग्निके समान प्रज्वलित हो उठा और वानरोंकी ओर दौड़ा ॥ ५४ ॥

अथर्षभः समुत्पत्य वानरो रावणानुजम् ।
मत्तानीकमुपागम्य तस्थौ तस्याग्रतो बली ॥ ५५ ॥

तब ऋषभ नामक बलवान् वानर उछलकर रावणके छोटे भाई मत्तानीक (महापार्श्व) के पास आ पहुँचे और उसके सामने खड़े हो गये ॥ ५५ ॥

तं पुरस्तात् स्थितं दृष्ट्वा वानरं पर्वतोपमम् ।
आजघानोरसि क्रुद्धो गदया वज्रकल्पया ॥ ५६ ॥

पर्वताकार वानरवीर ऋषभको सामने खड़ा देख कुपित हुए महापार्श्वने अपनी वज्रतुल्य गदासे उनकी छातीपर प्रहार किया ॥ ५६ ॥

स तयाभिहतस्तेन गदया वानरर्षभः ।
भिन्नवक्षाः समाधूतः सुस्राव रुधिरं बहु ॥ ५७ ॥

उसकी उस गदाके आघातसे वानरशिरोमणि ऋषभका वक्षःस्थल क्षत-विक्षत हो गया। वे काँप उठे और अधिक मात्रामें खूनकी धारा बहाने लगे ॥ ५७ ॥

स सम्प्राप्य चिरात् संज्ञामृषभो वानरेश्वरः ।
क्रुद्धो विस्फुरमाणोष्ठो महापार्श्वमुदैक्षत ॥ ५८ ॥

बहुत देरके बाद होशमें आनेपर वानरराज ऋषभ कुपित हो उठे और महापार्श्वकी ओर देखने लगे। उस समय उनके ओठ फड़क रहे थे ॥ ५८ ॥

स वेगवान् वेगवदभ्युपेत्य
तं राक्षसं वानरवीरमुख्यः ।
संवर्त्य मुष्टिं सहसा जघान
बाह्वन्तरे शैलनिकाशरूपः ॥ ५९ ॥

वानरवीरोंमें प्रधान ऋषभका रूप पर्वतके समान जान पड़ता था। वे बड़े वेगशाली थे। उन्होंने वेगपूर्वक उस राक्षसके पास पहुँचकर मुक्का ताना और सहसा उसकी छातीपर प्रहार किया ॥ ५९ ॥

स कृत्तमूलः सहसेव वृक्षः
क्षितौ पपात क्षतजोक्षिताङ्गः ।
तां चास्य घोरां यमदण्डकल्पां
गदां प्रगृह्याशु तदा ननाद ॥ ६० ॥

फिर तो महापार्श्व जड़से कटे हुए वृक्षकी भाँति सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ा। उसके सारे अङ्ग रक्तसे नहा उठे। इधर ऋषभ उस निशाचरकी यमदण्डके समान भयंकर गदाको शीघ्र ही हाथमें लेकर जोर-जोरसे गर्जना करने लगे ॥ ६० ॥

मुहूर्तमासीत् स गतासुकल्पः
प्रत्यागतात्मा सहसा सुरारिः ।
उत्पत्य संध्याभ्रसमानवर्ण-
स्तं वारिराजात्मजमाजघान ॥ ६१ ॥

देवद्रोही महापार्श्व दो घड़ीतक मुर्देकी भाँति पड़ा रहा। फिर होशमें आनेपर वह सहसा उछलकर खड़ा हो गया। उसका रक्तरंजित शरीर संध्याकालके बादलोंके समान लाल दिखायी देता था। उसने देवतातुल्य ऋषभको गहरी चोट पहुँचायी ॥ ६१ ॥

स मूर्च्छितो भूमितले पपात
मुहूर्तमुत्पत्य पुनः ससंज्ञः ।
तामेव तस्याद्रिवराद्रिकल्पां
गदां समाविध्य जघान संख्ये ॥ ६२ ॥

उस चोटसे ऋषभ मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। दो घड़ीके बाद होशमें आनेपर वे पुनः उछलकर सामने आ गये और उन्होंने युद्धस्थलमें महापार्श्वकी उसी गदाको, जो किसी पर्वतराजकी चट्टानके समान जान पड़ती थी, घुमाकर उस निशाचरपर दे मारा ॥ ६२ ॥

सा तस्य रौद्रा समुपेत्य देहं
रौद्रस्य देवाध्वरविप्रशत्रोः ।
बिभेद वक्षः क्षतजं च भूरि
सुस्राव धात्वम्भ इवाद्रिराजः ॥ ६३ ॥

उसकी उस भयंकर गदाने देवता, यज्ञ और ब्राह्मणोंसे शत्रुता रखनेवाले उस रौद्र-राक्षसके शरीरपर चोट करके उसके वक्षःस्थलको विदीर्ण कर दिया। फिर तो जैसे पर्वतराज हिमालय गेरु आदि धातुओंसे मिला हुआ जल बहाता है, उसी प्रकार वह भी अधिक मात्रामें रक्त बहाने लगा ॥ ६३ ॥

अभिदुद्राव वेगेन गदां तस्य महात्मनः ।
तां गृहीत्वा गदां भीमामाविध्य च पुनः पुनः ॥ ६४ ॥
मत्तानीकं महात्मा स जघान रणमूर्धनि ।

उस समय उस राक्षसने महामना ऋषभके हाथसे अपनी गदा लेनेके लिये उनपर धावा किया; किंतु ऋषभने उस भयानक गदाको हाथमें लेकर बारंबार घुमाया और बड़े वेगसे महापार्श्वपर आक्रमण किया। इस तरह उन महामनस्वी वानर-वीरने युद्धके मुहानेपर उस निशाचरकी जीवन-लीला समाप्त कर दी थी ॥ ६४½ ॥

स स्वया गदया भग्नो विशीर्णदशनेक्षणः ॥ ६५ ॥
निपपात तदा मत्तो वज्राहत इवाचलः ।

अपनी ही गदाकी चोट खाकर महापार्श्वके दाँत टूट गये और आँखें फूट गयीं। वह वज्रके मारे हुए पर्वत-शिखरकी भाँति तत्काल धराशायी हो गया ॥ ६५½ ॥

विशीर्णनयने भूमौ गतसत्त्वे गतायुषि ।
पतिते राक्षसे तस्मिन् विद्रुतं राक्षसं बलम् ॥ ६६ ॥

जिसकी आँखें नष्ट और चेतना विलुप्त हो गयी थी, वह राक्षस महापार्श्व जब गतायु होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा, तब राक्षसोंकी सेना सब ओर भाग चली ॥ ६६ ॥

तस्मिन् हते भ्रातरि रावणस्य
तन्नैर्ऋतानां बलमर्णवाभम् ।
त्यक्तायुधं केवलजीवितार्थं
दुद्राव भिन्नार्णवसंनिकाशम् ॥ ६७ ॥

रावणके भाई महापार्श्वका वध हो जानेपर राक्षसोंकी वह समुद्रके समान विशाल सेना हथियार फेंककर केवल जान बचानेके लिये सब ओर भागने लगी, मानो महासागर फूटकर सब ओर बहने लगा हो ॥ ६७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे सप्ततितमः सर्गः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें सत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७० ॥

—★—

एकसप्ततितमः सर्गः

अतिकायका भयंकर युद्ध और लक्ष्मणके द्वारा उसका वध

स्वबलं व्यथितं दृष्ट्वा तुमुलं लोमहर्षणम् ।
भ्रातॄंश्च निहतान् दृष्ट्वा शक्रतुल्यपराक्रमान् ॥ १ ॥
पितृव्यौ चापि संदृश्य समरे संनिपातितौ ।
युद्धोन्मत्तं च मत्तं च भ्रातरौ राक्षसोत्तमौ ॥ २ ॥
चुकोप च महातेजा ब्रह्मदत्तवरो युधि ।
अतिकायोऽद्रिसंकाशो देवदानवदर्पहा ॥ ३ ॥

अतिकायने देखा, शत्रुओंके रोंगटे खड़े कर देनेवाली मेरी भयंकर सेना व्यथित हो उठी है, इन्द्रके तुल्य पराक्रमी मेरे भाइयोंका संहार हो गया है तथा मेरे चाचा—दोनों भाई युद्धोन्मत्त (महोदर) और मत्त (महापार्श्व) भी समराङ्गणमें मार गिराये गये हैं, तब उस महातेजस्वी निशाचरको बड़ा क्रोध हुआ। उसे ब्रह्माजीसे वरदान प्राप्त हो चुका था। अतिकाय पर्वतके समान विशालकाय तथा देवता और दानवोंके दर्पका दलन करनेवाला था ॥ १—३ ॥

स भास्करसहस्रस्य संघातमिव भास्वरम् ।
रथमारुह्य शक्रारिरभिदुद्राव वानरान् ॥ ४ ॥

वह इन्द्रका शत्रु था। उसने सहस्रों सूर्योंके समूहकी भाँति देदीप्यमान तेजस्वी रथपर आरूढ़ होकर वानरोंपर धावा किया ॥ ४ ॥

स विस्फार्य तदा चापं किरीटी मृष्टकुण्डलः।
नाम संश्रावयामास ननाद च महास्वनम्॥ ५॥

उसके मस्तकपर किरीट और कानोंमें शुद्ध सुवर्णके बने हुए कुण्डल झलमला रहे थे। उसने धनुषकी टङ्कार करके अपना नाम सुनाया और बड़े जोरसे गर्जना की॥ ५॥

तेन सिंहप्रणादेन नामविश्रावणेन च।
ज्याशब्देन च भीमेन त्रासयामास वानरान्॥ ६॥

उस सिंहनादसे, अपने नामकी घोषणासे और प्रत्यञ्चाकी भयानक टङ्कारसे उसने वानरोंको भयभीत कर दिया॥ ६॥

ते दृष्ट्वा देहमाहात्म्यं कुम्भकर्णोऽयमुत्थितः।
भयार्ता वानराः सर्वे संश्रयन्ते परस्परम्॥ ७॥

उसके शरीरकी विशालता देखकर वे वानर ऐसा मानने लगे कि यह कुम्भकर्ण ही फिर उठकर खड़ा हो गया। यह सोचकर सब वानर भयसे पीड़ित हो एक-दूसरेका सहारा लेने लगे॥ ७॥

ते तस्य रूपमालोक्य यथा विष्णोस्त्रिविक्रमे।
भयाद् वानरयोधास्ते विद्रवन्ति ततस्ततः॥ ८॥

त्रिविक्रम-अवतारके समय बढ़े हुए भगवान् विष्णुके विराट् रूपकी भाँति उसका शरीर देखकर वे वानर-सैनिक भयके मारे इधर-उधर भागने लगे॥ ८॥

तेऽतिकायं समासाद्य वानरा मूढचेतसः।
शरण्यं शरणं जग्मुर्लक्ष्मणाग्रजमाहवे॥ ९॥

अतिकायके निकट जाते ही वानरोंके चित्तपर मोह छा गया। वे युद्धस्थलमें लक्ष्मणके बड़े भाई शरणागतवत्सल भगवान् श्रीरामकी शरणमें गये॥ ९॥

ततोऽतिकायं काकुत्स्थो रथस्थं पर्वतोपमम्।
ददर्श धन्विनं दूराद् गर्जन्तं कालमेघवत्॥ १०॥

रथपर बैठे हुए पर्वताकार अतिकायको श्रीरामचन्द्रजीने भी देखा। वह हाथमें धनुष लिये कुछ दूरपर प्रलयकालके मेघकी भाँति गर्जना कर रहा था॥ १०॥

स तं दृष्ट्वा महाकायं राघवस्तु सुविस्मितः।
वानरान् सान्त्वयित्वा च विभीषणमुवाच ह॥ ११॥

उस महाकाय निशाचरको देखकर श्रीरामचन्द्रजीको भी बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने वानरोंको सान्त्वना देकर विभीषणसे पूछा—॥ ११॥

कोऽसौ पर्वतसंकाशो धनुष्मान् हरिलोचनः।
युक्ते हयसहस्रेण विशाले स्यन्दने स्थितः॥ १२॥

'विभीषण! हजार घोड़ोंसे जुते हुए विशाल रथपर बैठा हुआ वह पर्वताकार निशाचर कौन है? उसके हाथमें धनुष है और आँखें सिंहके समान तेजस्विनी दिखायी देती हैं॥ १२॥

य एष निशितैः शूलैः सुतीक्ष्णैः प्रासतोमरैः।
अर्चिष्मद्भिर्वृतो भाति भूतैरिव महेश्वरः॥ १३॥

'यह भूतोंसे घिरे हुए भूतनाथ महादेवजीके समान तीखे शूल तथा अत्यन्त तेजधारवाले तेजस्वी प्रासों और तोमरोंसे घिरकर अद्भुत शोभा पा रहा है॥ १३॥

कालजिह्वाप्रकाशाभिर्य एषोऽभिविराजते।
आवृतो रथशक्तीभिर्विद्युद्भिरिव तोयदः॥ १४॥

'इतना ही नहीं, कालकी जिह्वाके समान प्रकाशित होनेवाली रथशक्तियोंसे घिरा हुआ यह वीर निशाचर विद्युन्मालाओंसे आवृत मेघके समान प्रकाशित हो रहा है॥ १४॥

धनूंषि चास्य सज्जानि हेमपृष्ठानि सर्वशः।
शोभयन्ति रथश्रेष्ठं शक्रचापमिवाम्बरम्॥ १५॥

'जिनके पृष्ठभागमें सोने मढ़े हुए हैं, ऐसे अनेकानेक सुसज्जित धनुष उसके श्रेष्ठ रथकी सब ओरसे उसी तरह शोभा बढ़ा रहे हैं, जैसे इन्द्रधनुष आकाशको सुशोभित करता है॥ १५॥

य एष रक्षःशार्दूलो रणभूमिं विराजयन्।
अभ्येति रथिनां श्रेष्ठो रथेनादित्यवर्चसा॥ १६॥

'यह राक्षसोंमें सिंहके समान पराक्रमी और रथियोंमें श्रेष्ठ वीर अपने सूर्यतुल्य तेजस्वी रथके द्वारा रणभूमिकी शोभा बढ़ाता हुआ मेरे सामने आ रहा है॥ १६॥

ध्वजशृङ्गप्रतिष्ठेन राहुणाभिविराजते।
सूर्यरश्मिप्रभैर्बाणैर्दिशो दश विराजयन्॥ १७॥

'इसके ध्वजके शिखरपर पताकामें राहुका चिह्न अङ्कित है, जिससे रथकी बड़ी शोभा हो रही है। यह सूर्यकी किरणोंके समान चमकीले बाणोंसे दसों दिशाओंको प्रकाशित कर रहा है॥ १७॥

त्रिनतं मेघनिर्ह्रादं हेमपृष्ठमलंकृतम्।
शतक्रतुधनुःप्रख्यं धनुश्चास्य विराजते॥ १८॥

'इसके धनुषका पृष्ठभाग सोनेसे मढ़ा हुआ तथा पुष्प आदिसे अलङ्कृत है। वह आदि, मध्य और अन्त तीन स्थानोंमें झुका हुआ है। उसकी प्रत्यञ्चासे मेघोंकी गर्जनाके समान टंकार-ध्वनि प्रकट होती है। इस निशाचरका धनुष इन्द्र-धनुषके समान शोभा पाता है॥ १८॥

सध्वजः सपताकश्च सानुकर्षो महारथः।
चतुःसादिसमायुक्तो मेघस्तनितनिःस्वनः॥ १९॥

'इसका विशाल रथ ध्वजा, पताका और अनुकर्ष (रथके नीचे लगे हुए आधारभूत काष्ठ) से युक्त, चार सारथियोंसे नियन्त्रित और मेघकी गर्जनाके समान घर्घराहट पैदा करनेवाला है॥ १९॥

विंशतिर्दश चाष्टौ च तूणास्य रथमास्थिताः।
कार्मुकाणि च भीमानि ज्याश्च काञ्चनपिङ्गलाः॥ २०॥

'इसके रथपर बीस तरकस, दस भयंकर धनुष और आठ सुनहरे एवं पिङ्गलवर्णकी प्रत्यञ्चाएँ रखी हुई हैं॥ २०॥

द्वौ च खड्गौ च पार्श्वस्थौ प्रदीप्तौ पार्श्वशोभितौ ।
चतुर्हस्तत्सरुचितौ व्यक्तहस्तदशायतौ ॥ २१ ॥

'दोनों बगलमें दो चमकीली तलवारें शोभा पा रही हैं, जिनकी मूँठें चार हाथकी और लंबाई दस हाथकी है ॥ २१ ॥

रक्तकण्ठगुणो धीरो महापर्वतसंनिभः ।
कालः कालमहावक्त्रो मेघस्थ इव भास्करः ॥ २२ ॥

'गलेमें लाल रंगकी माला धारण किये महान् पर्वतके समान आकारवाला वह धीरवीर निशाचर काले रंगका दिखायी देता है। इसका विशाल मुख कालके मुखके समान भयंकर है तथा वह मेघोंकी ओटमें स्थित हुए सूर्यके समान प्रकाशित होता है ॥ २२ ॥

काञ्चनाङ्गदनद्धाभ्यां भुजाभ्यामेष शोभते ।
शृङ्गाभ्यामिव तुङ्गाभ्यां हिमवान् पर्वतोत्तमः ॥ २३ ॥

'इसकी बाँहोंमें सोनेके बाजूबंद बँधे हुए हैं। उन भुजाओंके द्वारा यह विशालकाय निशाचर दो ऊँचे शिखरोंसे युक्त गिरिराज हिमालयके समान शोभा पाता है ॥ २३ ॥

कुण्डलाभ्यामुभाभ्यां च भाति वक्त्रं सुभीषणम् ।
पुनर्वस्वन्तरगतं परिपूर्णो निशाकरः ॥ २४ ॥

'इसका अत्यन्त भीषण मुखमण्डल दोनों कुण्डलोंसे मण्डित हो पुनर्वसु नामक दो नक्षत्रोंके बीच स्थित हुए परिपूर्ण चन्द्रमाके समान सुशोभित हो रहा है ॥ २४ ॥

आचक्ष्व मे महाबाहो त्वमेनं राक्षसोत्तमम् ।
यं दृष्ट्वा वानराः सर्वे भयार्ता विद्रुता दिशः ॥ २५ ॥

'महाबाहो ! तुम मुझे इस श्रेष्ठ राक्षसका परिचय दो, जिसे देखते ही सब वानर भयभीत हो सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर भाग चले हैं' ॥ २५ ॥

स पृष्टो राजपुत्रेण रामेणामिततेजसा ।
आचचक्षे महातेजा राघवाय विभीषणः ॥ २६ ॥

अमित तेजस्वी राजकुमार श्रीरामके इस प्रकार पूछनेपर महातेजस्वी विभीषणने रघुनाथजीसे इस प्रकार कहा— ॥ २६ ॥

दशग्रीवो महातेजा राजा वैश्रवणानुजः ।
भीमकर्मा महात्मा हि रावणो राक्षसेश्वरः ॥ २७ ॥
तस्यासीद् वीर्यवान् पुत्रो रावणप्रतिमो बले ।
वृद्धसेवी श्रुतिधरः सर्वास्त्रविदुषां वरः ॥ २८ ॥

'भगवन् ! जो कुबेरका छोटा भाई, महातेजस्वी, महाकाय, भयानक कर्म करनेवाला तथा राक्षसोंका स्वामी दशमुख राजा रावण है, उसके एक बड़ा पराक्रमी पुत्र उत्पन्न हुआ, जो बलमें रावणके ही समान है। वह वृद्ध पुरुषोंका सेवन करनेवाला, वेद-शास्त्रोंका ज्ञाता तथा सम्पूर्ण अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ है ॥ २७-२८ ॥

अश्वपृष्ठे नागपृष्ठे खड्गे धनुषि कर्षणे ।
भेदे सान्त्वे च दाने च नये मन्त्रे च सम्मतः ॥ २९ ॥

'हाथी-घोड़ोंकी सवारी करने, तलवार चलाने, धनुषपर बाणोंका संधान करने, प्रत्यञ्चा खींचने, लक्ष्य बेधने, साम और दानका प्रयोग करने तथा न्याययुक्त बर्ताव एवं मन्त्रणा देनेमें वह सबके द्वारा सम्मानित है ॥ २९ ॥

यस्य बाहुं समाश्रित्य लङ्का भवति निर्भया ।
तनयं धान्यमालिन्या अतिकायमिमं विदुः ॥ ३० ॥

'उसीके बाहुबलका आश्रय लेकर लङ्कापुरी सदा निर्भय रहती आयी है। वही यह वीर निशाचर है। यह रावणकी दूसरी पत्नी धान्यमालिनीका पुत्र है। इसे लोग अतिकायके नामसे जानते हैं ॥ ३० ॥

एतेनाराधितो ब्रह्मा तपसा भावितात्मना ।
अस्त्राणि चाप्यवाप्तानि रिपवश्च पराजिताः ॥ ३१ ॥

'तपस्यासे विशुद्ध अन्तःकरणवाले इस अतिकायने दीर्घकालतक ब्रह्माजीकी आराधना की थी। इसने ब्रह्माजीसे अनेक दिव्यास्त्र प्राप्त किये हैं और उनके द्वारा बहुत-से शत्रुओंको पराजित किया है ॥ ३१ ॥

सुरासुरैरवध्यत्वं दत्तमस्मै स्वयंभुवा ।
एतच्च कवचं दिव्यं रथश्च रविभास्वरः ॥ ३२ ॥

'ब्रह्माजीने इसे देवताओं और असुरोंसे न मारे जानेका वरदान दिया है। ये दिव्य कवच और सूर्यके समान तेजस्वी रथ भी उन्हींके दिये हुए हैं ॥ ३२ ॥

एतेन शतशो देवा दानवाश्च पराजिताः ।
रक्षितानि च रक्षांसि यक्षाश्चापि निषूदिताः ॥ ३३ ॥

'इसने देवता और दानवोंको सैकड़ों बार पराजित किया है, राक्षसोंकी रक्षा की है और यक्षोंको मार भगाया है ॥ ३३ ॥

वज्रं विष्टम्भितं येन बाणैरिन्द्रस्य धीमता ।
पाशः सलिलराजस्य युद्धे प्रतिहतस्तथा ॥ ३४ ॥

'इस बुद्धिमान् राक्षसने अपने बाणोंद्वारा इन्द्रके वज्रको भी कुण्ठित कर दिया है तथा युद्धमें जलके स्वामी वरुणके पाशको भी सफल नहीं होने दिया है। ३४ ॥

एषोऽतिकायो बलवान् राक्षसानामथर्षभः ।
स रावणसुतो धीमान् देवदानवदर्पहा ॥ ३५ ॥

'राक्षसोंमें श्रेष्ठ यह बुद्धिमान् रावणकुमार अतिकाय बड़ा बलवान् तथा देवताओं और दानवोंके दर्पको भी दलन करनेवाला है ॥ ३५ ॥

तदस्मिन् क्रियतां यत्नः क्षिप्रं पुरुषपुङ्गव ।
पुरा वानरसैन्यानि क्षयं नयति सायकैः ॥ ३६ ॥

'पुरुषोत्तम ! अपने सायकोंसे यह सारी वानर-सेनाका संहार कर डाले, इसके पहले ही आप इस राक्षसको परास्त करनेका शीघ्र प्रयत्न कीजिये' ॥ ३६ ॥

ततोऽतिकायो बलवान् प्रविश्य हरिवाहिनीम् ।
विस्फारयामास धनुर्ननाद च पुनः पुनः ॥ ३७ ॥

विभीषण और भगवान् श्रीराममें इस प्रकार बातें हो ही रही थीं कि बलवान् अतिकाय वानरोंकी सेनामें घुस आया और बारम्बार गर्जना करता हुआ अपने धनुषपर टंकार देने लगा ॥ ३७ ॥

तं भीमवपुषं दृष्ट्वा रथस्थं रथिनां वरम्।
अभिपेतुर्महात्मानः प्रधाना ये वनौकसः ॥ ३८ ॥
कुमुदो द्विविदो मैन्दो नीलः शरभ एव च।
पादपैर्गिरिशृङ्गैश्च युगपत् समभिद्रवन् ॥ ३९ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ और भयंकर शरीरवाले उस राक्षसको रथपर बैठकर आते देख कुमुद, द्विविद, मैन्द, नील और शरभ आदि जो प्रधान-प्रधान महामनस्वी वानर थे, वे वृक्ष तथा पर्वतशिखर धारण किये एक साथ ही उसपर टूट पड़े ॥ ३८-३९ ॥

तेषां वृक्षांश्च शैलांश्च शरैः कनकभूषणैः।
अतिकायो महातेजाश्चिच्छेदास्त्रविदां वरः ॥ ४० ॥

परंतु अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी अतिकायने अपने सुवर्णभूषित बाणोंसे वानरोंके चलाये हुए वृक्षों और पर्वतशिखरोंको काट गिराया ॥ ४० ॥

तांश्चैव सर्वान् स हरीञ्शरैः सर्वायसैर्बली।
विव्याधाभिमुखान् संख्ये भीमकायो निशाचरः ॥ ४१ ॥

साथ ही उस बलवान् और भीमकाय निशाचरने युद्ध-स्थलमें सामने आये हुए उन समस्त वानरोंको लोहेके बाणोंसे बींध डाला ॥ ४१ ॥

तेऽर्दिता बाणवर्षेण भिन्नगात्राः पराजिताः।
न शेकुरतिकायस्य प्रतिकर्तुं महाहवे ॥ ४२ ॥

उसकी बाणवर्षासे आहत हो सबके शरीर क्षत-विक्षत हो गये। सबने हार मान ली और कोई भी उस महासमरमें अतिकायका सामना करनेमें समर्थ न हो सके ॥ ४२ ॥

तत् सैन्यं हरिवीराणां त्रासयामास राक्षसः।
मृगयूथमिव क्रुद्धो हरिर्यौवनदर्पितः ॥ ४३ ॥

जैसे जवानीके जोशसे भरा हुआ कुपित सिंह मृगोंके झुण्डको भयभीत कर देता है, उसी प्रकार वह राक्षस वानरवीरोंकी उस सेनाको त्रास देने लगा ॥ ४३ ॥

स राक्षसेन्द्रो हरियूथमध्ये
नायुध्यमानं निजघान कंचित्।
उत्पत्य रामं स धनुःकलापी
सगर्वितं वाक्यमिदं बभाषे ॥ ४४ ॥

वानरोंके झुण्डमें विचरते हुए राक्षसराज अतिकायने किसी भी ऐसे योद्धाको नहीं मारा, जो उसके साथ युद्ध न कर रहा हो। धनुष और तरकस धारण किये वह निशाचर उछलकर श्रीरामके पास आ गया तथा बड़े गर्वसे इस प्रकार बोला— ॥ ४४ ॥

रथे स्थितोऽहं शरचापपाणि-
र्न प्राकृतं कंचन योधयामि।
यस्यास्ति शक्तिर्व्यवसाययुक्तो
ददातु मे शीघ्रमिहाद्य युद्धम् ॥ ४५ ॥

'मैं धनुष और बाण लेकर रथपर बैठा हूँ। किसी साधारण प्राणीसे युद्ध करनेका मेरा विचार नहीं है। जिसके अंदर शक्ति हो, साहस और उत्साह हो, वह शीघ्र यहाँ आकर मुझे युद्धका अवसर दे' ॥ ४५ ॥

तत् तस्य वाक्यं ब्रुवतो निशम्य
चुकोप सौमित्रिरमित्रहन्ता।
अमृष्यमाणश्च समुत्पपात
जग्राह चापं च ततः स्मयित्वा ॥ ४६ ॥

उसके ये अहंकारपूर्ण वचन सुनकर शत्रुहन्ता सुमित्राकुमार लक्ष्मणको बड़ा क्रोध हुआ। उसकी बातोंको सहन न कर सकनेके कारण वे आगे बढ़ आये और किंचित् मुस्कराकर उन्होंने अपना धनुष उठाया ॥ ४६ ॥

क्रुद्धः सौमित्रिरुत्पत्य तूणादाक्षिप्य सायकम्।
पुरस्तादतिकायस्य विचकर्ष महद्धनुः ॥ ४७ ॥

कुपित हुए लक्ष्मण उछलकर आगे आये और तरकससे बाण खींचकर अतिकायके सामने आ अपने विशाल धनुषको खींचने लगे ॥ ४७ ॥

पूरयन् स महीं सर्वामाकाशं सागरं दिशः।
ज्याशब्दो लक्ष्मणस्योग्रस्त्रासयन् रजनीचरान् ॥ ४८ ॥

लक्ष्मणके धनुषकी प्रत्यञ्चाका वह शब्द बड़ा भयंकर था। वह सारी पृथ्वी, आकाश, समुद्र तथा सम्पूर्ण दिशाओंमें गूँज उठा और निशाचरोंको त्रास देने लगा ॥ ४८ ॥

सौमित्रेश्चापनिर्घोषं श्रुत्वा प्रतिभयं तदा।
विसिस्मिये महातेजा राक्षसेन्द्रात्मजो बली ॥ ४९ ॥

सुमित्राकुमारके धनुषकी वह भयानक टंकार सुनकर उस समय महातेजस्वी बलवान् राक्षसराजकुमार अतिकायको बड़ा विस्मय हुआ ॥ ४९ ॥

तदातिकायः कुपितो दृष्ट्वा लक्ष्मणमुत्थितम्।
आदाय निशितं बाणमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५० ॥

लक्ष्मणको अपना सामना करनेके लिये उठा देख अतिकाय रोषसे भर गया और तीखा बाण हाथमें लेकर इस प्रकार बोला— ॥ ५० ॥

बालस्त्वमसि सौमित्रे विक्रमेष्वविचक्षणः।
गच्छ किं कालसंकाशं मां योधयितुमिच्छसि ॥ ५१ ॥

'सुमित्राकुमार! तुम अभी बालक हो। पराक्रम करनेमें कुशल नहीं हो, अतः लौट जाओ। मैं तुम्हारे लिये कालके समान हूँ। मुझसे जूझनेकी इच्छा क्यों करते हो?॥ ५१॥

नहि मद्बाहुसृष्टानां बाणानां हिमवानपि।
सोढुमुत्सहते वेगमन्तरिक्षमथो मही ॥ ५२ ॥

'मेरे हाथसे छूटे हुए बाणोंका वेग गिरिराज हिमालय भी नहीं सह सकता। पृथ्वी और आकाश भी उसे नहीं सहन कर सकते॥ ५२॥

सुखप्रसुप्तं कालाग्निं विबोधयितुमिच्छसि।
न्यस्य चापं निवर्तस्व प्राणान्न जहि मद्गतः ॥ ५३ ॥

'तुम सुखसे सोयी (शान्त) हुई प्रलयाग्निको क्यों जगाना (प्रज्वलित करना) चाहते हो? धनुषको यहीं छोड़कर लौट जाओ। मुझसे भिड़कर अपने प्राणोंका परित्याग न करो॥ ५३॥

अथवा त्वं प्रतिस्तब्धो न निवर्तितुमिच्छसि।
तिष्ठ प्राणान् परित्यज्य गमिष्यसि यमक्षयम् ॥ ५४ ॥

'अथवा तुम बड़े अहंकारी हो, इसीलिये लौटना नहीं चाहते। अच्छा, खड़े रहो। अभी अपने प्राणोंसे हाथ धोकर यमलोककी यात्रा करोगे॥ ५४॥

पश्य मे निशितान् बाणान् रिपुदर्पनिषूदनान्।
ईश्वरायुधसंकाशांस्तप्तकाञ्चनभूषणान् ॥ ५५ ॥

'शत्रुओंका दर्प चूर्ण करनेवाले मेरे इन तीखे बाणोंको, जो तपे हुए सुवर्णसे भूषित हैं, देखो; ये भगवान् शंकरके त्रिशूलकी समानता करते हैं॥ ५५॥

एष ते सर्पसंकाशो बाणः पास्यति शोणितम्।
मृगराज इव क्रुद्धो नागराजस्य शोणितम्।
इत्येवमुक्त्वा संक्रुद्धः शरं धनुषि संदधे ॥ ५६ ॥

'जैसे कुपित हुआ सिंह गजराजका खून पीता है, उसी प्रकार यह सर्पके समान भयंकर बाण तुम्हारे रक्तका पान करेगा।' ऐसा कहकर अतिकायने अत्यन्त कुपित हो अपने धनुषपर बाणका संधान किया॥ ५६॥

श्रुत्वातिकायस्य वचः सरोषं
सगर्वितं संयति राजपुत्रः।
स संचुकोपातिबलो मनस्वी
उवाच वाक्यं च ततो महार्थम् ॥ ५७ ॥

युद्धस्थलमें अतिकायके रोष और गर्वसे भरे हुए इस वचनको सुनकर अत्यन्त बलशाली एवं मनस्वी राजकुमार लक्ष्मणको बड़ा क्रोध हुआ। वे यह महान् अर्थसे युक्त वचन बोले—॥ ५७॥

न वाक्यमात्रेण भवान् प्रधानो
न कत्थनात् सत्पुरुषा भवन्ति।
मयि स्थिते धन्विनि बाणपाणौ
निदर्शयस्वात्मबलं दुरात्मन् ॥ ५८ ॥

'दुरात्मन्! केवल बातें बनानेसे तू बड़ा नहीं हो सकता। सिर्फ डींग हाँकनेसे कोई श्रेष्ठ पुरुष नहीं होते। मैं हाथमें धनुष और बाण लेकर तेरे सामने खड़ा हूँ। तू अपना सारा बल मुझे दिखा॥ ५८॥

कर्मणा सूचयात्मानं न विकत्थितुमर्हसि।
पौरुषेण तु यो युक्तः स तु शूर इति स्मृतः ॥ ५९ ॥

'पराक्रमके द्वारा अपनी वीरताका परिचय दे। झूठी शेखी बघारना तेरे लिये उचित नहीं है। शूर वही माना गया है, जिसमें पुरुषार्थ हो॥ ५९॥

सर्वायुधसमायुक्तो धन्वी त्वं रथमास्थितः।
शरैर्वा यदि वाप्यस्त्रैर्दर्शयस्व पराक्रमम् ॥ ६० ॥

'तेरे पास सब तरहके हथियार मौजूद हैं। तू धनुष लेकर रथपर बैठा हुआ है; अतः बाणों अथवा अन्य अस्त्र-शस्त्रोंके द्वारा पहले अपना पराक्रम दिखा ले॥ ६०॥

ततः शिरस्ते निशितैः पातयिष्याम्यहं शरैः।
मारुतः कालसम्पक्वं वृन्तात् तालफलं यथा ॥ ६१ ॥

'उसके बाद मैं अपने तीखे बाणोंसे तेरा मस्तक उसी तरह काट गिराऊँगा, जैसे वायु कालक्रमसे पके हुए ताड़के फलको उसके वृन्त (बौंड़ी) से नीचे गिरा देती है॥ ६१॥

अद्य ते मामका बाणास्तप्तकाञ्चनभूषणाः।
पास्यन्ति रुधिरं गात्राद् बाणशल्यान्तरोत्थितम् ॥ ६२ ॥

'आज तपे हुए सुवर्णसे विभूषित मेरे बाण अपनी नोंकद्वारा किये गये छिद्रसे निकले हुए तेरे शरीरके रक्तका पान करेंगे॥ ६२॥

बालोऽयमिति विज्ञाय न चावज्ञातुमर्हसि।
बालो वा यदि वा वृद्धो मृत्युं जानीहि संयुगे ॥ ६३ ॥

'तू मुझे बालक जानकर मेरी अवहेलना न कर। मैं बालक होऊँ अथवा वृद्ध, संग्राममें तो तू मुझे अपना काल ही समझ ले॥ ६३॥

बालेन विष्णुना लोकास्त्रयः क्रान्तास्त्रिविक्रमैः।
लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा हेतुमत् परमार्थवत्।
अतिकायः प्रचुक्रोध बाणं चोत्तममाददे ॥ ६४ ॥

'वामनरूपधारी भगवान् विष्णु देखनेमें बालक ही थे; किंतु अपने तीन ही पगोंसे उन्होंने समूची त्रिलोकी नाप ली थी।' लक्ष्मणकी वह परम सत्य और युक्तियुक्त बात सुनकर

अतिकायके क्रोधकी सीमा न रही। उसने एक उत्तम बाण अपने हाथमें ले लिया॥ ६४॥

ततो विद्याधरा भूता देवा दैत्या महर्षयः।
गुह्यकाश्च महात्मानस्तद् युद्धं द्रष्टुमागमन्॥ ६५॥

तदनन्तर विद्याधर, भूत, देवता, दैत्य, महर्षि तथा महामना गुह्यकगण उस युद्धको देखनेके लिये आये॥ ६५॥

ततोऽतिकायः कुपितश्चापमारोप्य सायकम्।
लक्ष्मणाय प्रचिक्षेप संक्षिपन्निव चाम्बरम्॥ ६६॥

उस समय अतिकायने कुपित हो धनुषपर वह उत्तम बाण चढ़ाया और आकाशको अपना ग्रास बनाते हुए-से उसे लक्ष्मणपर चला दिया॥ ६६॥

तमापतन्तं निशितं शरमाशीविषोपमम्।
अर्धचन्द्रेण चिच्छेद लक्ष्मणः परवीरहा॥ ६७॥

किंतु शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले लक्ष्मणने एक अर्धचन्द्राकार बाणके द्वारा अपनी ओर आते हुए उस विषधर सर्पके तुल्य भयंकर एवं तीखे बाणको काट डाला॥ ६७॥

तं निकृत्तं शरं दृष्ट्वा कृत्तभोगमिवोरगम्।
अतिकायो भृशं क्रुद्धः पञ्च बाणान् समादधे॥ ६८॥

जैसे सर्पका फन कट जाय, उसी प्रकार उस बाणको खण्डित हुआ देख अत्यन्त कुपित हुए अतिकायने पाँच बाणोंको धनुषपर रखा॥ ६८॥

ताञ्शरान् सम्प्रचिक्षेप लक्ष्मणाय निशाचरः।
तानप्राप्ताञ्शितैर्बाणैश्चिच्छेद भरतानुजः॥ ६९॥

फिर उस निशाचरने लक्ष्मणपर ही वे पाँचों बाण चला दिये। वे बाण उनके समीप अभी आने भी नहीं पाये थे कि लक्ष्मणने तीखे सायकोंसे उनके टुकड़े-टुकड़े कर डाले॥ ६९॥

स ताञ्छित्त्वा शितैर्बाणैर्लक्ष्मणः परवीरहा।
आददे निशितं बाणं ज्वलन्तमिव तेजसा॥ ७०॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले लक्ष्मणने अपने पैने सायकोंसे उन बाणोंका खण्डन करनेके पश्चात् एक तेज बाण हाथमें लिया, जो अपने तेजसे प्रज्वलित-सा हो रहा था॥ ७०॥

तमादाय धनुःश्रेष्ठे योजयामास लक्ष्मणः।
विचकर्ष च वेगेन विससर्ज च सायकम्॥ ७१॥

उसे लेकर लक्ष्मणने अपने श्रेष्ठ धनुषपर रखा, उसकी प्रत्यञ्चाको खींचा और बड़े वेगसे वह सायक अतिकायपर छोड़ दिया॥ ७१॥

पूर्णायतविसृष्टेन शरेण नतपर्वणा।
ललाटे राक्षसश्रेष्ठमाजघान स वीर्यवान्॥ ७२॥

धनुषको पूर्णरूपसे खींचकर छोड़े गये तथा झुकी हुई गाँठवाले उस बाणके द्वारा पराक्रमी लक्ष्मणने राक्षसश्रेष्ठ अतिकायके ललाटमें गहरा आघात किया॥ ७२॥

स ललाटे शरो मग्नस्तस्य भीमस्य रक्षसः।
ददृशे शोणितेनाक्तः पन्नगेन्द्र इवाचले॥ ७३॥

वह बाण उस भयानक राक्षसके ललाटमें धँस गया और रक्तसे भींगकर पर्वतसे सटे हुए किसी नागराजके समान दिखायी देने लगा॥ ७३॥

राक्षसः प्रचकम्पेऽथ लक्ष्मणेषु प्रपीडितः।
रुद्रबाणहतं घोरं यथा त्रिपुरगोपुरम्॥ ७४॥
चिन्तयामास चाश्वस्य विमृश्य च महाबलः।

लक्ष्मणके बाणसे अत्यन्त पीड़ित हो वह राक्षस काँप उठा। ठीक उसी तरह, जैसे भगवान् रुद्रके बाणोंसे आहत हो त्रिपुरका भयंकर गोपुर हिल उठा था। फिर थोड़ी ही देरमें सँभलकर महाबली अतिकाय बड़ी चिन्तामें पड़ गया और कुछ सोच-विचारकर बोला—॥ ७४½॥

साधु बाणनिपातेन श्लाघनीयोऽसि मे रिपुः॥ ७५॥
विधायैवं विदार्यास्यं विनम्य च महाभुजौ।
स रथोपस्थमास्थाय रथेन प्रचचार ह॥ ७६॥

'शाबाश! इस प्रकार अमोघ बाणका प्रयोग करनेके कारण तुम मेरे स्पृहणीय शत्रु हो।' मुँह फैलाकर ऐसा कहनेके पश्चात् अतिकाय अपनी दोनों विशाल भुजाओंको काबूमें करके रथके पिछले भागमें बैठकर उस रथके द्वारा ही आगे बढ़ा॥ ७५-७६॥

एकं त्रीन् पञ्च सप्तेति सायकान् राक्षसर्षभः।
आददे संदधे चापि विचकर्षोत्ससर्ज च॥ ७७॥

उस राक्षसशिरोमणि वीरने क्रमशः एक, तीन, पाँच और सात सायकोंको लेकर उन्हें धनुषपर चढ़ाया और वेगपूर्वक खींचकर चला दिया॥ ७७॥

ते बाणाः कालसंकाशा राक्षसेन्द्रधनुश्च्युताः।
हेमपुङ्खा रविप्रख्याश्चक्रुर्दीप्तमिवाम्बरम्॥ ७८॥

उस राक्षसराजके धनुषसे छूटे हुए उन सुवर्णभूषित, सूर्यतुल्य तेजस्वी तथा कालके समान भयंकर बाणोंने आकाशको प्रकाशसे पूर्ण-सा कर दिया॥ ७८॥

ततस्तान् राक्षसोत्सृष्टाञ्शरौघान् राघवानुजः।
असम्भ्रान्तः प्रचिच्छेद निशितैर्बहुभिः शरैः॥ ७९॥

परंतु रघुनाथजीके छोटे भाई लक्ष्मणने बिना किसी घबराहटके उस निशाचरद्वारा चलाये हुए उन बाणसमूहोंको तेज धारवाले बहुसंख्यक सायकोंद्वारा काट गिराया॥ ७९॥

ताञ्शरान् युधि सम्प्रेक्ष्य निकृत्तान् रावणात्मजः।
चुकोप त्रिदशेन्द्रारिर्जग्राह निशितं शरम्॥ ८०॥

उन बाणोंको कटा हुआ देख इन्द्रद्रोही रावणकुमारको बड़ा क्रोध हुआ और उसने एक तीखा बाण हाथमें लिया॥ ८०॥

स संधाय महातेजास्तं बाणं सहसोत्सृजत्।
तेन सौमित्रिमायान्तमाजघान स्तनान्तरे ॥ ८१ ॥

उसे धनुषपर रखकर उस महातेजस्वी वीरने सहसा छोड़ दिया और उसके द्वारा सामने आते हुए सुमित्राकुमारकी छातीमें आघात किया ॥ ८१ ॥

अतिकायेन सौमित्रिस्ताडितो युधि वक्षसि।
सुस्राव रुधिरं तीव्रं मदं मत्त इव द्विपः ॥ ८२ ॥

अतिकायके उस बाणकी चोट खाकर सुमित्राकुमार युद्धस्थलमें अपने वक्षःस्थलसे तीव्रगतिसे रक्त बहाने लगे, मानो कोई मतवाला हाथी मस्तकसे मदकी वर्षा कर रहा हो ॥ ८२ ॥

स चकार तदात्मानं विशल्यं सहसा विभुः।
जग्राह च शरं तीक्ष्णमस्त्रेणापि समादधे ॥ ८३ ॥

फिर सामर्थ्यशाली लक्ष्मणने सहसा अपनी छातीसे उस बाणको निकाल दिया और एक तीखा सायक हाथमें लेकर उसे दिव्यास्त्रसे संयोजित किया ॥ ८३ ॥

आग्नेयेन तदास्त्रेण योजयामास सायकम्।
स जज्वाल तदा बाणो धनुष्यस्य महात्मनः ॥ ८४ ॥

उस समय अपने उस सायकको उन्होंने आग्नेयास्त्रसे अभिमन्त्रित किया। अभिमन्त्रित होते ही महात्मा लक्ष्मणके धनुषपर रखा हुआ वह बाण तत्काल प्रज्वलित हो उठा ॥ ८४ ॥

अतिकायोऽतितेजस्वी रौद्रमस्त्रं समादधे।
तेन बाणं भुजङ्गाभं हेमपुङ्खमयोजयत् ॥ ८५ ॥

उधर अत्यन्त तेजस्वी अतिकायने भी एक सुवर्णमय पंखवाला विषधर सर्पके समान बाण हाथमें लिया और उसे धनुषपर रखा ॥ ८५ ॥

तदस्त्रं ज्वलितं घोरं लक्ष्मणः शरमाहितम्।
अतिकायाय चिक्षेप कालदण्डमिवान्तकः ॥ ८६ ॥

इतनेहीमें लक्ष्मणने दिव्यास्त्रकी शक्तिसे सम्पन्न उस प्रज्वलित एवं भयंकर बाणको अतिकायके ऊपर चलाया, मानो यमराजने अपने कालदण्डका प्रयोग किया हो ॥ ८६ ॥

आग्नेयास्त्राभिसंयुक्तं दृष्ट्वा बाणं निशाचरः।
उत्ससर्ज तदा बाणं रौद्रं सूर्यास्त्रयोजितम् ॥ ८७ ॥

आग्नेयास्त्रसे अभिमन्त्रित हुए उस बाणको अपनी ओर आते देख निशाचर अतिकायने तत्काल ही अपने भयंकर बाणको सूर्यास्त्रसे अभिमन्त्रित करके चलाया ॥ ८७ ॥

तावुभावम्बरे बाणावन्योन्यमभिजघ्नतुः।
तेजसा सम्प्रदीप्ताग्रौ क्रुद्धाविव भुजङ्गमौ ॥ ८८ ॥
तावन्योन्यं विनिर्दह्य पेततुः पृथिवीतले ॥ ८९ ॥

उन दोनों सायकोंके अग्रभाग तेजसे प्रज्वलित हो रहे थे। आकाशमें पहुँचकर वे दोनों कुपित हुए दो सर्पोंकी भाँति आपसमें टकरा गये और एक-दूसरेको दग्ध करके पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ८८-८९ ॥

निरर्चिषौ भस्मकृतौ न भ्राजेते शरोत्तमौ।
तावुभौ दीप्यमानौ स्म न भ्राजेते महीतले ॥ ९० ॥

वे दोनों ही बाण उत्तम कोटिके थे और अपनी दीप्तिसे प्रकाशित हो रहे थे, तथापि एक-दूसरेके तेजसे भस्म होकर अपना-अपना तेज खो बैठे। इसलिये भूतलपर निष्प्रभ होनेके कारण उनकी शोभा नहीं हो रही थी ॥ ९० ॥

ततोऽतिकायः संक्रुद्धस्त्वाष्ट्रमैषीकमुत्सृजत्।
ततश्चिच्छेद सौमित्रिरस्त्रमैन्द्रेण वीर्यवान् ॥ ९१ ॥

तदनन्तर अतिकायने अत्यन्त कुपित हो त्वष्टा देवताके मन्त्रसे अभिमन्त्रित करके एक सींकका बाण छोड़ा; परंतु पराक्रमी लक्ष्मणने उस अस्त्रको ऐन्द्रास्त्रसे काट दिया ॥ ९१ ॥

ऐषीकं निहतं दृष्ट्वा कुमारो रावणात्मजः।
याम्येनास्त्रेण संक्रुद्धो योजयामास सायकम् ॥ ९२ ॥
ततस्तदस्त्रं चिक्षेप लक्ष्मणाय निशाचरः।
वायव्येन तदस्त्रेण निजघान स लक्ष्मणः ॥ ९३ ॥

सींकके बाणको नष्ट हुआ देख रावणपुत्र कुमार अतिकायके क्रोधकी सीमा न रही। उस राक्षसने एक सायकको याम्यास्त्रसे अभिमन्त्रित किया और उसे लक्ष्मणको लक्ष्य करके चला दिया; परंतु लक्ष्मणने वायव्यास्त्रद्वारा उसको भी नष्ट कर दिया ॥ ९२-९३ ॥

अथैनं शरधाराभिर्धाराभिरिव तोयदः।
अभ्यवर्षत संक्रुद्धो लक्ष्मणो रावणात्मजम् ॥ ९४ ॥

तत्पश्चात् जैसे मेघ जलकी धारा बरसाता है, उसी प्रकार अत्यन्त कुपित हुए लक्ष्मणने रावणकुमार अतिकायपर बाणधाराकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ९४ ॥

तेऽतिकायं समासाद्य कवचे वज्रभूषिते।
भग्नाग्रशल्याः सहसा पेतुर्बाणा महीतले ॥ ९५ ॥

अतिकायने एक दिव्य कवच बाँध रखा था, जिसमें हीरे जड़े हुए थे। लक्ष्मणके बाण अतिकायतक पहुँचकर उसके कवचसे टकराते और नोक टूट जानेके कारण सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ते थे ॥ ९५ ॥

तान्मोघानभिसम्प्रेक्ष्य लक्ष्मणः परवीरहा।
अभ्यवर्षत बाणानां सहस्रेण महायशाः ॥ ९६ ॥

उन बाणोंको असफल हुआ देख शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले महायशस्वी लक्ष्मणने पुनः सहस्रों बाणोंकी वर्षा की ॥ ९६ ॥

स वृष्यमाणो बाणौघैरतिकायो महाबलः।
अवध्यकवचः संख्ये राक्षसो नैव विव्यथे ॥ ९७ ॥

महाबली अतिकायका कवच अभेद्य था, इसलिये युद्धस्थलमें बाण-समूहोंकी वर्षा होनेपर भी वह राक्षस व्यथित नहीं होता था ॥ ९७ ॥

शरं चाशीविषाकारं लक्ष्मणाय व्यपासृजत्।
स तेन विद्धः सौमित्रिर्मर्मदेशे शरेण ह ॥ ९८ ॥

उसने लक्ष्मणपर विषधर सर्पके समान भयंकर बाण चलाया। उस बाणसे सुमित्राकुमारके मर्मस्थलमें चोट पहुँची ॥ ९८ ॥

मुहूर्तमात्रं निःसंज्ञो ह्यभवच्छत्रुतापनः ।
ततः संज्ञामुपालभ्य चतुर्भिः सायकोत्तमैः ॥ ९९ ॥
निजघान हयान् संख्ये सारथिं च महाबलः ।
ध्वजस्योन्मथनं कृत्वा शरवर्षैररिंदमः ॥ १०० ॥

अतः शत्रुओंको संताप देनेवाले लक्ष्मण दो घड़ीतक अचेत-अवस्थामें पड़े रहे। फिर होशमें आनेपर उन महाबली शत्रुदमन वीरने बाणोंकी वर्षासे शत्रुके रथकी ध्वजाको नष्ट कर दिया और चार उत्तम सायकोंसे रणभूमिमें उसके घोड़ों तथा सारथिको भी यमलोक पहुँचा दिया ॥ ९९-१०० ॥

असम्भ्रान्तः स सौमित्रिस्ताञ्शरानभिलक्षितान् ।
मुमोच लक्ष्मणो बाणान् वधार्थं तस्य रक्षसः ॥ १०१ ॥
न शशाक रुजं कर्तुं युधि तस्य नरोत्तमः ।

तत्पश्चात् सम्भ्रमरहित नरश्रेष्ठ सुमित्राकुमार लक्ष्मणने उस राक्षसके वधके लिये जाँचे-बूझे हुए बहुत-से अमोघ बाण छोड़े, तथापि वे समराङ्गणमें उस निशाचरके शरीरको पीड़ा न दे सके ॥ १०१½ ॥

अथैनमभ्युपागम्य वायुर्वाक्यमुवाच ह ॥ १०२ ॥
ब्रह्मदत्तवरो ह्येष अवध्यकवचावृतः ।
ब्राह्मेणास्त्रेण भिन्ध्येनमेष वध्यो हि नान्यथा ।
अवध्य एष ह्यन्येषामस्त्राणां कवची बली ॥ १०३ ॥

तदनन्तर वायुदेवताने उनके पास आकर कहा— 'सुमित्रानन्दन! इस राक्षसको ब्रह्माजीसे वरदान प्राप्त हुआ है। यह अभेद्य कवचसे ढका हुआ है। अतः इसको ब्रह्मास्त्रसे विदीर्ण कर डालो; अन्यथा यह नहीं मारा जा सकेगा। यह कवचधारी बलवान् निशाचर अन्य अस्त्रोंके लिये अवध्य है' ॥ १०२-१०३ ॥

ततस्तु वायोर्वचनं निशम्य
सौमित्रिरिन्द्रप्रतिमानवीर्यः ।
समादधे बाणमथोग्रवेगं
तद्ब्राह्ममस्त्रं सहसा नियुज्य ॥ १०४ ॥

लक्ष्मण इन्द्रके समान पराक्रमी थे। उन्होंने वायुदेवताका उपर्युक्त वचन सुनकर एक भयंकर वेगवाले बाणको सहसा ब्रह्मास्त्रसे अभिमन्त्रित करके धनुषपर रखा ॥ १०४ ॥

तस्मिन् वरास्त्रे तु नियुज्यमाने
सौमित्रिणा बाणवरे शिताग्रे ।
दिशश्च चन्द्रार्कमहाग्रहाश्च
नभश्च तत्रास ररास चोर्वी ॥ १०५ ॥

सुमित्राकुमार लक्ष्मणके द्वारा तेज धारवाले उस श्रेष्ठ बाणमें ब्रह्मास्त्रकी संयोजना की जानेपर उस समय सम्पूर्ण दिशाएँ, चन्द्रमा और सूर्य आदि बड़े-बड़े ग्रह तथा अन्तरिक्षलोकके प्राणी थर्रा उठे और भूमण्डलमें महान् कोलाहल मच गया ॥ १०५ ॥

तं ब्रह्मणोऽस्त्रेण नियुज्य चापे
शरं सपुङ्खं यमदूतकल्पम् ।
सौमित्रिरिन्द्रारिसुतस्य तस्य
ससर्ज बाणं युधि वज्रकल्पम् ॥ १०६ ॥

सुमित्राकुमारने धनुषपर रखे हुए उस सुन्दर पंखवाले बाणको जब ब्रह्मास्त्रसे अभिमन्त्रित किया, तब वह यमदूतके समान भयंकर और वज्रके समान अमोघ हो गया। उन्होंने युद्धस्थलमें उस बाणको इन्द्रद्रोही रावणके बेटे अतिकायको लक्ष्य करके चला दिया ॥ १०६ ॥

तं लक्ष्मणोत्सृष्टविवृद्धवेगं
समापतन्तं श्वसनोग्रवेगम् ।
सुपर्णवज्रोत्तमचित्रपुङ्खं
तदातिकायः समरे ददर्श ॥ १०७ ॥

लक्ष्मणके चलाये हुए उस बाणका वेग बहुत बढ़ा हुआ था। उसके पंख गरुड़के समान थे और उनमें हीरे जड़े हुए थे; इसलिये उनकी विचित्र शोभा होती थी। अतिकायने समराङ्गणमें उस बाणको उस समय वायुके समान भयंकर वेगसे अपनी ओर आते देखा ॥ १०७ ॥

तं प्रेक्षमाणः सहसातिकायो
जघान बाणैर्निशितैरनेकैः ।
स सायकस्तस्य सुपर्णवेग-
स्तथातिवेगेन जगाम पार्श्वम् ॥ १०८ ॥

उसे देखकर अतिकायने सहसा उसके ऊपर बहुत-से पैने बाण चलाये तो भी वह गरुड़के समान वेगशाली सायक बड़े वेगसे उसके पास जा पहुँचा ॥ १०८ ॥

तमागतं प्रेक्ष्य तदातिकायो
बाणं प्रदीप्तान्तककालकल्पम् ।
जघान शक्त्यृष्टिगदाकुठारैः
शूलैः शरैश्चाप्यविपन्नचेष्टः ॥ १०९ ॥

प्रलयङ्कर कालके समान प्रज्वलित हुए उस बाणको अत्यन्त निकट आया देखकर भी अतिकायकी युद्धविषयक चेष्टा नष्ट नहीं हुई। उसने शक्ति, ऋष्टि, गदा, कुठार, शूल तथा बाणोंद्वारा उसे नष्ट करनेका प्रयत्न किया ॥ १०९ ॥

तान्यायुधान्यद्भुतविग्रहाणि
मोघानि कृत्वा स शरोऽग्निदीप्तः ।
प्रगृह्य तस्यैव किरीटजुष्टं
तदातिकायस्य शिरो जहार ॥ ११० ॥

परंतु अग्निके समान प्रज्वलित हुए उस बाणने उन अद्भुत अस्त्रोंको व्यर्थ करके अतिकायके मुकुटमण्डित मस्तकको धड़से अलग कर दिया ॥ ११० ॥

तच्छिरः सशिरस्त्राणं लक्ष्मणेषुप्रमर्दितम् ।
पपात सहसा भूमौ शृङ्गं हिमवतो यथा ॥ १११ ॥

लक्ष्मणके बाणसे कटा हुआ राक्षसका वह शिरस्त्राण-सहित मस्तक हिमालयके शिखरकी भाँति सहसा पृथ्वीपर जा पड़ा ॥ १११ ॥

तं भूमौ पतितं दृष्ट्वा विक्षिप्ताम्बरभूषणम् ।
बभूवुर्व्यथिताः सर्वे हतशेषा निशाचराः ॥ ११२ ॥

उसके वस्त्र और आभूषण सब ओर बिखर गये। उसे धरतीपर पड़ा देख मरनेसे बचे हुए समस्त निशाचर व्यथित हो उठे ॥ ११२ ॥

ते विषण्णमुखा दीनाः प्रहारजनितश्रमाः ।
विनेदुरुच्चैर्बहवः सहसा विस्वरैः स्वरैः ॥ ११३ ॥

उनके मुखपर विषाद छा गया। उनपर जो मार पड़ी थी, उससे थक जानेके कारण वे और भी दुःखी हो गये थे। अतः वे बहुसंख्यक राक्षस सहसा विकृत स्वरमें जोर-जोरसे रोने-चिल्लाने लगे ॥ ११३ ॥

ततस्तत्परितं याता निरपेक्षा निशाचराः ।
पुरीमभिमुखा भीता द्रवन्तो नायके हते ॥ ११४ ॥

सेनानायकके मारे जानेपर निशाचरोंका युद्धविषयक उत्साह नष्ट हो गया, अतः वे भयभीत हो तुरंत ही लङ्कापुरीकी ओर भाग चले ॥ ११४ ॥

प्रहर्षयुक्ता बहवस्तु वानराः
प्रफुल्लपद्मप्रतिमाननास्तदा ।
अपूजयँल्लक्ष्मणमिष्टभागिनं
हते रिपौ भीमबले दुरासदे ॥ ११५ ॥

इधर उस भयंकर बलशाली दुर्जय शत्रुके मारे जानेपर बहुसंख्यक वानर हर्ष और उत्साहसे भर गये। उनके मुख प्रफुल्ल कमलोंके समान खिल उठे और वे अभीष्ट विजयके भागी बनकर लक्ष्मणकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ ११५ ॥

अतिबलमतिकायमभ्रकल्पं
युधि विनिपात्य स लक्ष्मणः प्रहृष्टः ।
त्वरितमथ तदा स रामपार्श्वं
कपिनिवहैश्च सुपूजितो जगाम ॥ ११६ ॥

युद्धस्थलमें अत्यन्त बलशाली और मेघके समान विशाल अतिकायको धराशायी करके लक्ष्मण बड़े प्रसन्न हुए। वे उस समय वानर-समूहोंसे सम्मानित हो तुरंत ही श्रीरामचन्द्रजीके पास गये ॥ ११६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे एकसप्ततितमः सर्गः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें इकहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

—★—

द्विसप्ततितमः सर्गः

रावणकी चिन्ता तथा उसका राक्षसोंको पुरीकी रक्षाके लिये सावधान रहनेका आदेश

अतिकायं हतं श्रुत्वा लक्ष्मणेन महात्मना ।
उद्वेगमगमद् राजा वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥

महात्मा लक्ष्मणके द्वारा अतिकायको मारा गया सुनकर राजा रावण उद्विग्न हो उठा और इस प्रकार बोला— ॥ १ ॥

धूम्राक्षः परमामर्षी सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
अकम्पनः प्रहस्तश्च कुम्भकर्णस्तथैव च ॥ २ ॥
एते महाबला वीरा राक्षसा युद्धकाङ्क्षिणः ।
जेतारः परसैन्यानां परैर्नित्यापराजिताः ॥ ३ ॥

'अत्यन्त अमर्षशील धूम्राक्ष, सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ अकम्पन, प्रहस्त तथा कुम्भकर्ण—ये महाबली वीर राक्षस सदा युद्धकी अभिलाषा रखते थे। ये सब-के-सब शत्रुओंकी सेनाओंपर विजय पाते और स्वयं विपक्षियोंसे कभी पराजित नहीं होते थे ॥ २-३ ॥

ससैन्यास्ते हता वीरा रामेणाक्लिष्टकर्मणा ।
राक्षसाः सुमहाकाया नानाशस्त्रविशारदाः ॥ ४ ॥

परंतु अनायास ही महान् कर्म करनेवाले रामने नाना प्रकारके शस्त्रोंके ज्ञानमें निपुण उन विशालकाय वीर राक्षसोंका सेनासहित संहार कर डाला ॥ ४ ॥

अन्ये च बहवः शूरा महात्मानो निपातिताः ।
प्रख्यातबलवीर्येण पुत्रेणेन्द्रजिता मम ॥ ५ ॥
तौ भ्रातरौ तदा बद्धौ घोरैर्दत्तवरैः शरैः ।
यन्न शक्यं सुरैः सर्वैरसुरैर्वा महाबलैः ॥ ६ ॥
मोक्तुं तद्बन्धनं घोरं यक्षगन्धर्वपन्नगैः ।
तन्न जाने प्रभावैर्वा मायया मोहनेन वा ॥ ७ ॥
शरबन्धाद् विमुक्तौ तौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।

'और भी बहुत-से महामनस्वी शूरवीर राक्षस उनके द्वारा मार गिराये गये। जिसके बल और पराक्रम सर्वत्र विख्यात हैं, उस मेरे बेटे इन्द्रजित्‌ने उन दोनों भाइयोंको वरदानप्राप्त और नागस्वरूप बाणोंसे बाँध लिया था। वह घोर बन्धन समस्त देवता और महाबली असुर भी नहीं खोल सकते थे। यक्ष, गन्धर्व और नागोंके लिये भी उस बन्धनसे छुटकारा दिलाना असम्भव था, तो भी वे दोनों भाई राम और लक्ष्मण उस बाण-बन्धनसे मुक्त हो गये। न जाने कौन-सा प्रभाव था, कैसी माया थी अथवा किस तरहकी मोहिनी ओषधि आदिका प्रयोग किया गया था, जिससे वे उस बन्धनसे छूट गये ॥ ५—७ ॥

ये योधा निर्गताः शूरा राक्षसा मम शासनात्॥ ८॥
ते सर्वे निहता युद्धे वानरैः सुमहाबलैः।

'मेरी आज्ञासे जो-जो शूरवीर योद्धा राक्षस युद्धके लिये निकले, उन सबको समराङ्गणमें महाबली वानरोंने मार डाला॥ ८½॥

तं न पश्याम्यहं युद्धे योऽद्य रामं सलक्ष्मणम्॥ ९॥
नाशयेत् सबलं वीरं ससुग्रीवं विभीषणम्।

'मैं आज ऐसे किसी वीरको नहीं देखता, जो युद्धमें लक्ष्मणसहित रामको और सेना तथा सुग्रीवसहित वीर विभीषणको नष्ट कर दे॥ ९½॥

अहो सुबलवान् रामो महदस्त्रबलं च वै॥ १०॥
यस्य विक्रममासाद्य राक्षसा निधनं गताः।

'अहो! राम बड़े बलवान् हैं, निश्चय ही उनका अस्त्र-बल महान् है; जिनके बल-विक्रमका सामना करके असंख्य राक्षस कालके गालमें चले गये॥ १०½॥

तं मन्ये राघवं वीरं नारायणमनामयम्॥ ११॥
तद्भयाद्धि पुरी लङ्का पिहितद्वारतोरणा।

'मैं उन वीर रघुनाथको रोग-शोकसे रहित साक्षात् नारायणरूप मानता हूँ; क्योंकि उन्हींके भयसे लङ्कापुरीके सभी दरवाजे और सदर फाटक सदा बंद रहते हैं॥ ११½॥

अप्रमत्तैश्च सर्वत्र गुल्मै रक्ष्या पुरी त्वियम्॥ १२॥
अशोकवनिका चैव यत्र सीताभिरक्ष्यते।

'राक्षसो! तुमलोग हर समय सावधान रहकर सैनिकसहित इस पुरीकी और जहाँ सीता रखी गयी हैं, उस अशोक-शिविर वाटिकाकी भी विशेषरूपसे रक्षा करो॥ १२½॥

निष्क्रमो वा प्रवेशो वा ज्ञातव्यः सर्वदैव नः॥ १३॥
यत्र यत्र भवेद् गुल्मस्तत्र तत्र पुनः पुनः।
सर्वतश्चापि तिष्ठध्वं स्वैः स्वैः परिवृता बलैः॥ १४॥

'अशोक-वाटिकामें कब कौन प्रवेश करता है और कब वहाँसे बाहर निकलता है, इसकी हमें सदा ही जानकारी रखनी चाहिये। जहाँ-जहाँ सैनिकोंके शिविर हों, वहाँ बारम्बार देखभाल करना, सब ओर अपने-अपने सैनिकोंके साथ पहरेपर रहना॥ १३-१४॥

द्रष्टव्यं च पदं तेषां वानराणां निशाचराः।
प्रदोषे वार्धरात्रे वा प्रत्यूषे वापि सर्वशः॥ १५॥

'निशाचरो! प्रदोषकाल, आधी रात तथा प्रातःकालमें भी सर्वथा वानरोंके आने-जानेपर दृष्टि रखना॥ १५॥

नावज्ञा तत्र कर्तव्या वानरेषु कदाचन।
द्विषतां बलमुद्युक्तमापतत् किं स्थितं यथा॥ १६॥

'वानरोंकी ओरसे कभी उपेक्षाभाव नहीं रखना चाहिये और सदा इस बातपर दृष्टि रखनी चाहिये कि शत्रुओंकी सेना युद्धके लिये उद्यमशील तो नहीं है? आक्रमण तो नहीं कर रही है अथवा पूर्ववत् जहाँ-की-तहाँ खड़ी है न?'॥ १६॥

ततस्ते राक्षसाः सर्वे श्रुत्वा लङ्काधिपस्य तत्।
वचनं सर्वमातिष्ठन् यथावत् तु महाबलाः॥ १७॥

लङ्कापतिका यह आदेश सुनकर समस्त महाबली राक्षस उन सारी बातोंका यथावत् रूपसे पालन करने लगे॥ १७॥

तान् सर्वान् हि समादिश्य रावणो राक्षसाधिपः।
मन्युशल्यं वहन् दीनः प्रविवेश स्वमालयम्॥ १८॥

उन सबको पूर्वोक्त आदेश देकर राक्षसराज रावण अपने हृदयमें चुभे हुए दुःख और क्रोधरूपी काँटेकी पीड़ाका भार वहन करता हुआ दीनभावसे अपने महलमें गया॥ १८॥

ततः स संदीपितकोपवह्नि-
र्निशाचराणामधिपो महाबलः।
तदेव पुत्रव्यसनं विचिन्तयन्
मुहुर्मुहुश्चैव तदा विनिःश्वसन्॥ १९॥

महाबली निशाचरराज रावणकी क्रोधाग्नि भड़क उठी थी। वह अपने पुत्रकी उस मृत्युको ही याद करके उस समय बारम्बार लंबी साँस खींच रहा था॥ १९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे द्विसप्ततितमः सर्गः॥ ७२॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें बहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ७२॥

त्रिसप्ततितमः सर्गः

इन्द्रजित्के ब्रह्मास्त्रसे वानरसेनासहित श्रीराम और लक्ष्मणका मूर्च्छित होना

ततो हतान् राक्षसपुङ्गवांस्तान्
देवान्तकादित्रिशिरोऽतिकायान्।
रक्षोगणास्तत्र हतावशिष्टा-
स्ते रावणाय त्वरिताः शशंसुः॥ १॥

संग्रामभूमिमें जो निशाचर मरनेसे बच गये थे, उन्होंने तुरंत रावणके पास जाकर उसे देवान्तक, त्रिशिरा और अतिकाय आदि राक्षसपुङ्गवोंके मारे जानेका समाचार सुनाया॥ १॥

ततो हतांस्तान् सहसा निशम्य
राजा महाबाष्पपरिप्लुताक्षः।

पुत्रक्षयं भ्रातृवधं च घोरं
विचिन्त्य राजा विपुलं प्रदध्यौ ॥ २ ॥

उनके वधकी बात सुनकर राजा रावणके नेत्रोंमें सहसा आँसुओंकी बाढ़ आ गयी। पुत्रों और भाइयोंके भयानक वधकी बात सोचकर उसको बड़ी चिन्ता हुई ॥ २ ॥

ततस्तु राजानमुदीक्ष्य दीनं
शोकार्णवे सम्परिपुप्लुवानम्।
रथर्षभो राक्षसराजसूनु-
स्तमिन्द्रजिद् वाक्यमिदं बभाषे ॥ ३ ॥

राजा रावणको शोकके समुद्रमें निमग्न एवं दीन हुआ देख रथियोंमें श्रेष्ठ राक्षसराजकुमार इन्द्रजित्‌ने यह बात कही— ॥ ३ ॥

न तात मोहं परिगन्तुमर्हसे
यत्रेन्द्रजिज्जीवति नैर्ऋतेश।
नेन्द्रारिबाणाभिहतो हि कश्चित्
प्राणान् समर्थः समरेऽभिपातुम् ॥ ४ ॥

'तात! राक्षसराज! जबतक इन्द्रजित् जीवित है तबतक आप चिन्ता और मोहमें न पड़िये। इस इन्द्रशत्रुके बाणोंसे घायल होकर कोई भी समराङ्गणमें अपने प्राणोंकी रक्षा नहीं कर सकता ॥ ४ ॥

पश्याद्य रामं सह लक्ष्मणेन
मद्बाणनिर्भिन्नविकीर्णदेहम्।
गतायुषं भूमितले शयानं
शितैः शरैराचितसर्वगात्रम् ॥ ५ ॥

'देखिये, आज मैं राम और लक्ष्मणके शरीरको बाणोंसे छिन्न-भिन्न करके उनके सारे अङ्गोंको तीखे सायकोंसे भर देता हूँ, और वे दोनों भाई गतायु होकर सदाके लिये धरतीपर सो जाते हैं ॥ ५ ॥

इमां प्रतिज्ञां शृणु शक्रशत्रोः
सुनिश्चितां पौरुषदैवयुक्ताम्।
अद्यैव रामं सह लक्ष्मणेन
संतर्पयिष्यामि शरैरमोघैः ॥ ६ ॥

'आप मुझ इन्द्रशत्रुकी इस सुनिश्चित प्रतिज्ञाको, जो मेरे पुरुषार्थसे और दैवबल (ब्रह्माजीकी कृपा) से भी सिद्ध होनेवाली है, सुन लीजिये—मैं आज ही लक्ष्मणसहित रामको अपने अमोघ बाणोंसे पूर्णतः तृप्त करूँगा—उनकी युद्धविषयक पिपासाको बुझा दूँगा ॥ ६ ॥

अद्येन्द्रवैवस्वतविष्णुरुद्र-
साध्याश्च वैश्वानरचन्द्रसूर्याः।
द्रक्ष्यन्ति मे विक्रममप्रमेयं
विष्णोरिवोग्रं बलियज्ञवाटे ॥ ७ ॥

'आज इन्द्र, यम, विष्णु, रुद्र, साध्य, अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा बलिके यज्ञमण्डपमें भगवान् विष्णुके भयंकर विक्रमकी भाँति मेरे अपार पराक्रमको देखेंगे' ॥ ७ ॥

स एवमुक्त्वा त्रिदशेन्द्रशत्रु-
रापृच्छ्य राजानमदीनसत्त्वः।
समारुरोहानिलतुल्यवेगं
रथं खरश्रेष्ठसमाधियुक्तम् ॥ ८ ॥

ऐसा कहकर उदारचेता इन्द्रशत्रु इन्द्रजित्‌ने राजा रावणसे आज्ञा ली और अच्छे गदहोंसे जुते हुए, युद्धसामग्रीसे सम्पन्न एवं वायुके समान वेगशाली रथपर वह सवार हुआ ॥ ८ ॥

समास्थाय महातेजा रथं हरिरथोपमम्।
जगाम सहसा तत्र यत्र युद्धमरिंदमः ॥ ९ ॥

उसका रथ इन्द्रके रथके समान जान पड़ता था। उसपर आरूढ़ हो शत्रुओंका दमन करनेवाला वह महातेजस्वी निशाचर सहसा उस स्थानपर जा पहुँचा, जहाँ युद्ध हो रहा था ॥ ९ ॥

तं प्रस्थितं महात्मानमनुजग्मुर्महाबलाः।
संहर्षमाणा बहवो धनुःप्रवरपाणयः ॥ १० ॥

उस महामनस्वी वीरको प्रस्थान करते देख बहुत-से महाबली राक्षस हाथोंमें श्रेष्ठ धनुष लिये हर्ष और उत्साहके साथ उसके पीछे-पीछे चले ॥ १० ॥

गजस्कन्धगताः केचित् केचित् परमवाजिभिः।
व्याघ्रवृश्चिकमार्जारखरोष्ट्रैश्च भुजङ्गमैः ॥ ११ ॥
वराहैः श्वापदैः सिंहैर्जम्बुकैः पर्वतोपमैः।
काकहंसमयूरैश्च राक्षसा भीमविक्रमाः ॥ १२ ॥

कोई हाथीपर बैठकर चले तो कोई उत्तम घोड़ोंपर। इनके सिवा बाघ, बिच्छू, बिलाव, गदहे, ऊँट, सर्प, सूअर, अन्य हिंसक जन्तु, सिंह, पर्वताकार गीदड़, कौआ, हंस और मोर आदिकी सवारियोंपर चढ़े हुए भयानक पराक्रमी राक्षस वहाँ युद्धके लिये आये ॥ ११-१२ ॥

प्रासपट्टिशनिस्त्रिंशपरश्वधगदाधराः।
भुशुण्डिमुद्गरायष्टिशतघ्नीपरिघायुधाः ॥ १३ ॥

उन सबने प्रास, पट्टिश, खड्ग, फरसे, गदा, भुशुण्डि, मुद्गर, डंडे, शतघ्नी और परिघ आदि आयुध धारण कर रखे थे ॥ १३ ॥

स शङ्खनिनदैः पूर्णैर्भेरीणां चापि निःस्वनैः।
जगाम त्रिदशेन्द्रारिराजिं वेगेन वीर्यवान् ॥ १४ ॥

शङ्खोंकी ध्वनिके साथ मिली हुई भेरियोंकी भयानक आवाज सब ओर गूँज उठी। उस तुमुलनादके साथ इन्द्रद्रोही पराक्रमी इन्द्रजित्‌ने बड़े वेगसे रणभूमिकी ओर प्रस्थान किया ॥ १४ ॥

स शङ्खशशिवर्णेन छत्रेण रिपुसूदनः।
रराज प्रतिपूर्णेन नभश्चन्द्रमसा यथा ॥ १५ ॥

जैसे पूर्ण चन्द्रमासे उपलक्षित आकाशकी शोभा होती है, उसी प्रकार ऊपर तने हुए शङ्ख और शशिके समान वर्णवाले

श्वेत छत्रसे वह शत्रुसूदन इन्द्रजित् सुशोभित हो रहा था ॥ १५ ॥

वीज्यमानस्ततो वीरो हैमैर्हेमविभूषणः ।
चारुचामरमुख्यैश्च मुख्यः सर्वधनुष्मताम् ॥ १६ ॥

सोनेके आभूषणोंसे विभूषित और समस्त धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ उस वीर निशाचरको दोनों ओरसे सुवर्णनिर्मित उत्तम एवं मनोहर चँवर डुलाये जा रहे थे ॥ १६ ॥

स तु दृष्ट्वा विनिर्यान्तं बलेन महता वृतम् ।
राक्षसाधिपतिः श्रीमान् रावणः पुत्रमब्रवीत् ॥ १७ ॥

विशाल सेनासे घिरे हुए अपने पुत्र इन्द्रजित्को प्रस्थान करते देख राक्षसोंके राजा श्रीमान् रावणने उससे कहा— ॥ १७ ॥

त्वमप्रतिरथः पुत्र त्वया वै वासवो जितः ।
किं पुनर्मानुषं धृष्यं निहनिष्यसि राघवम् ॥ १८ ॥

'बेटा ! कोई भी ऐसा प्रतिद्वन्द्वी रथी नहीं है, जो तुम्हारा सामना कर सके। तुमने देवराज इन्द्रको भी पराजित किया है। फिर आसानीसे जीत लेने योग्य एक मनुष्यको परास्त करना तुम्हारे लिये कौन बड़ी बात है ? तुम अवश्य ही रघुवंशी रामका वध करोगे' ॥ १८ ॥

तथोक्तो राक्षसेन्द्रेण प्रत्यगृह्णान्महाशिषः ।
ततस्त्विन्द्रजिता लङ्का सूर्यप्रतिमतेजसा ॥ १९ ॥
रराजाप्रतिवीर्येण द्यौरिवार्केण भास्वता ।

राक्षसराजके ऐसा कहनेपर इन्द्रजित्ने उसके उस महान् आशीर्वादको सिर झुकाकर ग्रहण किया। फिर तो जैसे अनुपम तेजस्वी सूर्यसे आकाशकी शोभा होती है, उसी प्रकार अप्रतिम शक्तिशाली और सूर्यतुल्य तेजस्वी इन्द्रजित्से लङ्कापुरी सुशोभित होने लगी ॥१९½॥

स सम्प्राप्य महातेजा युद्धभूमिमरिंदमः ॥ २० ॥
स्थापयामास रक्षांसि रथं प्रति समन्ततः ।

महातेजस्वी शत्रुदमन इन्द्रजित्ने रणभूमिमें पहुँचकर अपने रथके चारों ओर राक्षसोंको खड़ा कर दिया ॥२०½॥

ततस्तु हुतभोक्तारं हुतभुक्सदृशप्रभः ॥ २१ ॥
जुहुवे राक्षसश्रेष्ठो विधिवन्मन्त्रसत्तमैः ।
स हविर्लाजसत्कारैर्माल्यगन्धपुरस्कृतैः ॥ २२ ॥
जुहुवे पावकं तत्र राक्षसेन्द्रः प्रतापवान् ।

फिर बीचमें रथसे उतरकर पृथ्वीपर अग्निकी स्थापना करके अग्नितुल्य तेजस्वी उस राक्षसशिरोमणि वीरने चन्दन, फूल तथा लावा आदिके द्वारा अग्निदेवका पूजन किया। उसके बाद उस प्रतापी राक्षसराजने विधिपूर्वक श्रेष्ठ मन्त्रोंका उच्चारण करते हुए उस अग्निमें हविष्यकी आहुति दी ॥२१-२२½॥

शस्त्राणि शरपत्राणि समिधोऽथ बिभीतकाः ॥ २३ ॥
लोहितानि च वासांसि स्रुवं कार्ष्णायसं तथा ।

उस समय शस्त्र ही अग्निवेदीके चारों ओर बिछानेके लिये कुश या कासके पत्ते थे। बहेड़ेकी लकड़ीसे ही समिधाका काम लिया गया था। लाल रंगके वस्त्र उपयोगमें लाये गये और उस आभिचारिक यज्ञमें जो स्रुवा था, वह लोहेका बना हुआ था ॥२३½॥

स तत्राग्निं समास्तीर्य शरपत्रैः सतोमरैः ॥ २४ ॥
छागस्य कृष्णवर्णस्य गलं जग्राह जीवतः ।

उसने वहाँ तोमरसहित शस्त्ररूपी कासके पत्तोंको अग्निके चारों ओर फैलाकर होमके लिये काले रंगके जीवित बकरेका गला पकड़ा ॥२४½॥

सकृदेव समिद्धस्य विधूमस्य महार्चिषः ॥ २५ ॥
बभूवुस्तानि लिङ्गानि विजयं यान्यदर्शयन् ।

एक ही बार दी हुई उस आहुतिसे अग्नि प्रज्वलित हो उठी। उसमें धूम नहीं दिखायी देता था और आगकी बड़ी-बड़ी लपटें उठ रही थीं। उस समय उस अग्निसे वे सभी चिह्न प्रकट हुए, जो पूर्वकालमें उसे अपनी विजय दिखा चुके थे—युद्धस्थलमें उसको विजयकी प्राप्ति करा चुके थे ॥२५½॥

प्रदक्षिणावर्तशिखस्तप्तकाञ्चनसंनिभः ॥ २६ ॥
हविस्तत् प्रतिजग्राह पावकः स्वयमुत्थितः ।

अग्निदेवकी शिखा दक्षिणावर्त दिखायी देने लगी। उनका वर्ण तपाये हुए सुवर्णके समान सुन्दर था। इस रूपमें वे स्वयं प्रकट होकर उसके दिये हुए हविष्यको ग्रहण कर रहे थे ॥२६½॥

सोऽस्त्रमाहारयामास ब्राह्ममस्त्रविशारदः ॥ २७ ॥
धनुश्चात्मरथं चैव सर्वं तत्राभ्यमन्त्रयत् ।

तदनन्तर अस्त्रविद्याविशारद इन्द्रजित्ने ब्रह्मास्त्रका आवाहन किया और अपने धनुष तथा रथ आदि सब वस्तुओंको वहाँ सिद्ध ब्रह्मास्त्रमन्त्रसे अभिमन्त्रित किया ॥२७½॥

तस्मिन्नाहूयमानेऽस्त्रे हूयमाने च पावके ।
सार्कग्रहेन्दुनक्षत्रं वितत्रास नभस्थलम् ॥ २८ ॥

जब अग्निमें आहुति देकर उसने ब्रह्मास्त्रका आवाहन किया, तब सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह तथा नक्षत्रोंके साथ अन्तरिक्षलोकके सभी प्राणी भयभीत हो गये ॥ २८ ॥

स पावकं पावकदीप्ततेजा
हुत्वा महेन्द्रप्रतिमप्रभावः ।
सचापबाणासिरथाश्वसूतः
खेऽन्तर्दधेऽत्मानमचिन्त्यवीर्यः ॥ २९ ॥

जिसका तेज अग्निके समान उद्दीप्त हो रहा था तथा जो देवराज इन्द्रके समान अनुपम प्रभावसे युक्त था; उस अचिन्त्य पराक्रमी इन्द्रजित्ने अग्निमें आहुति देनेके पश्चात् धनुष, बाण, रथ, खड्ग, घोड़े और सारथिसहित अपने-

आपको आकाशमें अदृश्य कर लिया ॥ २९ ॥

ततो हयरथाकीर्णं पताकाध्वजशोभितम्।
निर्ययौ राक्षसबलं नर्दमानं युयुत्सया ॥ ३० ॥

इसके बाद वह घोड़े और रथोंसे व्याप्त तथा ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित राक्षससेनामें गया, जो युद्धकी इच्छासे गर्जना कर रही थी ॥ ३० ॥

ते शरैर्बहुभिश्चित्रैस्तीक्ष्णवेगैरलंकृतैः।
तोमरैरङ्कुशैश्चापि वानराञ्जघ्नुराहवे ॥ ३१ ॥

वे राक्षस दुःसह वेगवाले, सुवर्णभूषित, विचित्र एवं बहुसंख्यक बाणों, तोमरों और अङ्कुशोंद्वारा रणभूमिमें वानरोंपर प्रहार कर रहे थे ॥ ३१ ॥

रावणिस्तु सुसंक्रुद्धस्तान् निरीक्ष्य निशाचरान्।
हृष्टा भवन्तो युध्यन्तु वानराणां जिघांसया ॥ ३२ ॥

रावणपुत्र इन्द्रजित् शत्रुओंके प्रति अत्यन्त क्रोधसे भरा हुआ था। उसने निशाचरोंकी ओर देखकर कहा—'तुमलोग वानरोंको मार डालनेकी इच्छासे हर्ष और उत्साहपूर्वक युद्ध करो' ॥ ३२ ॥

ततस्ते राक्षसाः सर्वे गर्जन्तो जयकाङ्क्षिणः।
अभ्यवर्षंस्ततो घोरं वानराञ्शरवृष्टिभिः ॥ ३३ ॥

उसके इस प्रकार प्रेरणा देनेपर विजयकी अभिलाषा रखनेवाले वे समस्त राक्षस जोर-जोरसे गर्जना करते हुए वहाँ वानरोंपर बाणोंकी भयंकर वर्षा करने लगे ॥ ३३ ॥

स तु नालीकनाराचैर्गदाभिर्मुसलैरपि।
रक्षोभिः संवृतः संख्ये वानरान् विचकर्ष ह ॥ ३४ ॥

उस युद्धस्थलमें राक्षसोंसे घिरे रहकर इन्द्रजित्ने भी नालीक, नाराच, गदा और मुसल आदि अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा वानरोंका संहार आरम्भ किया ॥ ३४ ॥

ते वध्यमानाः समरे वानराः पादपायुधाः।
अभ्यवर्षन्त सहसा रावणिं शैलपादपैः ॥ ३५ ॥

समराङ्गणमें उसके अस्त्र-शस्त्रोंसे घायल होनेवाले वानर भी जो वृक्षोंसे ही हथियारका काम लेते थे, सहसा रावणकुमारपर शैल-शिखरों और वृक्षोंकी वर्षा करने लगे ॥ ३५ ॥

इन्द्रजित् तु तदा क्रुद्धो महातेजा महाबलः।
वानराणां शरीराणि व्यधमद् रावणात्मजः ॥ ३६ ॥

उस समय कुपित हुए महातेजस्वी महाबली रावणपुत्र इन्द्रजित्ने वानरोंके शरीरोंको छिन्न-भिन्न कर डाला ॥ ३६ ॥

शरेणैकेन च हरीन् नव पञ्च च सप्त च।
बिभेद समरे क्रुद्धो राक्षसान् सम्प्रहर्षयन् ॥ ३७ ॥

रणभूमिमें राक्षसोंका हर्ष बढ़ाता हुआ इन्द्रजित् रोषसे भरकर एक-एक बाणसे पाँच-पाँच, सात-सात तथा नौ-नौ वानरोंको विदीर्ण कर डालता था ॥ ३७ ॥

स शरैः सूर्यसंकाशैः शातकुम्भविभूषणैः।
वानरान् समरे वीरः प्रममाथ सुदुर्जयः ॥ ३८ ॥

उस अत्यन्त दुर्जय वीरने सुवर्णभूषित सूर्यतुल्य तेजस्वी सायकोंद्वारा समरभूमिमें वानरोंको मथ डाला ॥ ३८ ॥

ते भिन्नगात्राः समरे वानराः शरपीडिताः।
पेतुर्मथितसंकल्पाः सुरैरिव महासुराः ॥ ३९ ॥

रणक्षेत्रमें देवताओंद्वारा पीड़ित हुए बड़े-बड़े असुरोंकी भाँति इन्द्रजित्के बाणोंसे व्यथित हुए वानरोंके शरीर छिन्न-भिन्न हो गये। उनकी विजयकी आशापर तुषारपात हो गया और वे अचेत-से होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३९ ॥

ते तपन्तमिवादित्यं घोरैर्बाणगभस्तिभिः।
अभ्यधावन्त संक्रुद्धाः संयुगे वानरर्षभाः ॥ ४० ॥

उस समय युद्धस्थलमें बाणरूपी भयंकर किरणोंद्वारा सूर्यके समान तपते हुए इन्द्रजित्पर प्रधान-प्रधान वानरोंने बड़े रोषके साथ धावा किया ॥ ४० ॥

ततस्तु वानराः सर्वे भिन्नदेहा विचेतसः।
व्यथिता विद्रवन्ति स्म रुधिरेण समुक्षिताः ॥ ४१ ॥

परंतु उसके बाणोंसे शरीरके क्षत-विक्षत हो जानेसे वे सब वानर अचेत-से हो गये और खूनसे लथपथ हो व्यथित होकर इधर-उधर भागने लगे ॥ ४१ ॥

रामस्यार्थे पराक्रम्य वानरास्त्यक्तजीविताः।
नर्दन्तस्तेऽनिवृत्तास्तु समरे सशिलायुधाः ॥ ४२ ॥

वानरोंने भगवान् श्रीरामके लिये अपने जीवनका मोह छोड़ दिया था। वे पराक्रमपूर्वक गर्जना करते हुए हाथमें शिलाएँ लिये समरभूमिमें डटे रहे—युद्धभूमिसे पीछे न हटे ॥ ४२ ॥

ते द्रुमैः पर्वताग्रैश्च शिलाभिश्च प्लवंगमाः।
अभ्यवर्षन्त समरे रावणिं समवस्थिताः ॥ ४३ ॥

समराङ्गणमें खड़े हुए वे वानर रावणकुमारपर वृक्षों, पर्वतशिखरों और शिलाओंकी वर्षा करने लगे ॥ ४३ ॥

तं द्रुमाणां शिलानां च वर्षं प्राणहरं महत्।
व्यपोहत महातेजा रावणिः समितिंजयः ॥ ४४ ॥

वृक्षों और शिलाओंकी वह भारी वृष्टि राक्षसोंके प्राण हर लेनेवाली थी; परंतु समरविजयी महातेजस्वी रावणपुत्रने अपने बाणोंद्वारा उसे दूर हटा दिया ॥ ४४ ॥

ततः पावकसंकाशैः शरैराशीविषोपमैः।
वानराणामनीकानि बिभेद समरे प्रभुः ॥ ४५ ॥

तत्पश्चात् विषधर सर्पोंके समान भयंकर और अग्नितुल्य तेजस्वी बाणोंद्वारा उस शक्तिशाली वीरने समराङ्गणमें वानर-सैनिकोंको विदीर्ण करना आरम्भ किया ॥ ४५ ॥

अष्टादशशरैस्तीक्ष्णैः स विद्ध्वा गन्धमादनम्।
विव्याध नवभिश्चैव नलं दूरादवस्थितम् ॥ ४६ ॥

उसने अठारह तीखे बाणोंसे गन्धमादनको घायल करके दूर खड़े हुए नलपर भी नौ बाणोंका प्रहार किया ॥ ४६ ॥

सप्तभिस्तु महावीर्यो मैन्दं मर्मविदारणैः।
पञ्चभिर्विशिखैश्चैव गजं विव्याध संयुगे ॥ ४७ ॥

इसके बाद महापराक्रमी इन्द्रजित्‌ने सात मर्मभेदी सायकोंद्वारा मैन्दको और पाँच बाणोंसे गजको भी युद्धस्थलमें बींध डाला ॥ ४७ ॥

जाम्बवन्तं तु दशभिर्नीलं त्रिंशद्भिरेव च ।
सुग्रीवमृषभं चैव सोऽङ्गदं द्विविदं तथा ॥ ४८ ॥
घोरैर्दत्तवरैस्तीक्ष्णैर्निष्प्राणानकरोत् तदा ।

फिर दस बाणोंसे जाम्बवान्‌को और तीस सायकोंसे नीलको घायल कर दिया। तदनन्तर वरदानमें प्राप्त हुए बहुसंख्यक तीखे और भयानक सायकोंका प्रहार करके उस समय उसने सुग्रीव, ऋषभ, अङ्गद और द्विविदको भी निष्प्राण-सा कर दिया॥ ४८½ ॥

अन्यानपि तथा मुख्यान् वानरान् बहुभिः शरैः ॥ ४९ ॥
अर्दयामास संक्रुद्धः कालाग्निरिव मूर्च्छितः ।

सब ओर फैली हुई प्रलयाग्निके समान अत्यन्त रोषसे भरे हुए इन्द्रजित्‌ने दूसरे-दूसरे श्रेष्ठ वानरोंको भी बहुसंख्यक बाणोंकी मारसे व्यथित कर दिया ॥ ४९½ ॥

स शरैः सूर्यसंकाशैः सुमुक्तैः शीघ्रगामिभिः ॥ ५० ॥
वानराणामनीकानि निर्ममन्थ महारणे ।

उस महासमरमें रावणकुमारने अच्छी तरह छोड़े हुए सूर्यतुल्य तेजस्वी शीघ्रगामी सायकोंद्वारा वानरोंकी सेनाओंको मथ डाला ॥ ५०½ ॥

आकुलां वानरीं सेनां शरजालेन पीडिताम् ॥ ५१ ॥
हृष्टः स परया प्रीत्या ददर्श क्षतजोक्षिताम् ।

उसके बाणजालसे पीड़ित हो वानरी-सेना व्याकुल हो उठी और रक्तसे नहा गयी। उसने बड़े हर्ष और प्रसन्नताके साथ शत्रुसेनाकी इस दुरवस्थाको देखा ॥५१½ ॥

पुनरेव महातेजा राक्षसेन्द्रात्मजो बली ॥ ५२ ॥
संसृज्य बाणवर्षं च शस्त्रवर्षं च दारुणम् ।
ममर्द वानरानीकं परितस्त्विन्द्रजिद् बली ॥ ५३ ॥

वह राक्षसराजकुमार इन्द्रजित् बड़ा तेजस्वी, प्रभावशाली एवं बलवान् था। उसने सब ओरसे बाणों तथा अन्यान्य अस्त्र-शस्त्रोंकी भयंकर वर्षा करके पुनः वानर-सेनाको रौंद डाला ॥ ५२-५३ ॥

स्वसैन्यमुत्सृज्य समेत्य तूर्णं
महाहवे वानरवाहिनीषु ।
अदृश्यमानः शरजालमुग्रं
ववर्ष नीलाम्बुधरो यथाम्बु ॥ ५४ ॥

तत्पश्चात् वह अपनी सेनाके ऊपरी भागको छोड़कर उस महासमरमें तुरंत वानर-सेनाके ऊपर जा पहुँचा और स्वयं आकाशमें अदृश्य रहकर भयानक बाणसमूहकी उसी तरह वर्षा करने लगा, जैसे काला मेघ जलकी वृष्टि करता है ॥ ५४ ॥

ते शक्रजिद्बाणविशीर्णदेहा
मायाहता विस्वरमुन्नदन्तः ।
रणे निपेतुर्हरयोऽद्रिकल्पा
यथेन्द्रवज्राभिहता नगेन्द्राः ॥ ५५ ॥

जैसे इन्द्रके वज्रसे आहत हो बड़े-बड़े पर्वत धराशायी हो जाते हैं, उसी प्रकार वे पर्वताकार वानर रणभूमिमें इन्द्रजित्‌के बाणोंद्वारा छलसे मारे जाकर शरीरके क्षत-विक्षत हो जानेसे विकृत स्वरमें चीखते-चिल्लाते हुए पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ५५ ॥

ते केवलं संददृशुः शिताग्रान्
बाणान् रणे वानरवाहिनीषु ।
मायाविगूढं च सुरेन्द्रशत्रुं
न चात्र तं राक्षसमप्यपश्यन् ॥ ५६ ॥

रणभूमिमें वानर-सेनाओंपर जो पैनी धारवाले बाण गिर रहे थे, केवल उन्हींको वे वानर देख रहे थे। मायासे छिपे हुए उस इन्द्रद्रोही राक्षसको कहीं नहीं देख पाते थे ॥ ५६ ॥

ततः स रक्षोधिपतिर्महात्मा
सर्वा दिशो बाणगणैः शिताग्रैः ।
प्रच्छादयामास रविप्रकाशै-
र्विदारयामास च वानरेन्द्रान् ॥ ५७ ॥

उस समय उस महाकाय राक्षसराजने तीखी धारवाले सूर्यतुल्य तेजस्वी बाण-समूहोंद्वारा सम्पूर्ण दिशाओंको ढक दिया और वानर-सेनापतियोंको घायल कर दिया ॥ ५७ ॥

स शूलनिस्त्रिंशपरश्वधानि
व्याविद्धदीप्तानलसप्रभाणि ।
सविस्फुलिङ्गोज्ज्वलपावकानि
ववर्ष तीव्रं प्लवगेन्द्रसैन्ये ॥ ५८ ॥

वह वानरराजकी सेनामें बढ़े हुए प्रज्वलित पावकके समान दीप्तिमान् तथा चिनगारियोंसहित उज्ज्वल आग प्रकट करनेवाले शूल, खड्ग और फरसोंकी दुःसह वृष्टि करने लगा ॥ ५८ ॥

ततो ज्वलनसंकाशैर्बाणैर्वानरयूथपाः ।
ताडिताः शक्रजिद्बाणैः प्रफुल्ला इव किंशुकाः ॥ ५९ ॥

इन्द्रजित्‌के चलाये हुए अग्नितुल्य तेजस्वी बाणोंसे घायल हो रक्तसे नहाकर सारे वानर-यूथपति खिले हुए पलाश वृक्षके समान जान पड़ते थे ॥ ५९ ॥

तेऽन्योन्यमभिसर्पन्तो निनदन्तश्च विस्वरम् ।
राक्षसेन्द्रास्त्रनिर्भिन्ना निपेतुर्वानरर्षभाः ॥ ६० ॥

राक्षसराज इन्द्रजित्‌के बाणोंसे विदीर्ण हो वे श्रेष्ठ वानर एक-दूसरेके सामने जाकर विकृत स्वरमें चीत्कार करते हुए धराशायी हो जाते थे ॥ ६० ॥

उदीक्षमाणा गगनं केचिन्नेत्रेषु ताडिताः ।
शरैर्विविशुरन्योन्यं पेतुश्च जगतीतले ॥ ६१ ॥

कितने ही वानर आकाशकी ओर देख रहे थे। उसी समय उनके नेत्रोंमें बाणोंकी चोट लगी, अतः वे एक-दूसरेके

शरीरसे सट गये और पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ६१ ॥

हनूमन्तं च सुग्रीवमङ्गदं गन्धमादनम्।
जाम्बवन्तं सुषेणं च वेगदर्शिनमेव च ॥ ६२ ॥
मैन्दं च द्विविदं नीलं गवाक्षं गवयं तथा।
केसरिं हरिलोमानं विद्युद्दंष्ट्रं च वानरम् ॥ ६३ ॥
सूर्याननं ज्योतिर्मुखं तथा दधिमुखं हरिम्।
पावकाक्षं नलं चैव कुमुदं चैव वानरम् ॥ ६४ ॥
प्रासैः शूलैः शितैर्बाणैरिन्द्रजिन्मन्त्रसंहितैः।
विव्याध हरिशार्दूलान् सर्वांस्तान् राक्षसोत्तमः ॥ ६५ ॥

राक्षसप्रवर इन्द्रजित्‌ने दिव्य मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित प्रासों, शूलों और पैने बाणोंद्वारा हनुमान्, सुग्रीव, अङ्गद, गन्धमादन, जाम्बवान्, सुषेण, वेगदर्शी, मैन्द, द्विविद, नील, गवाक्ष, गवय, केसरी, हरिलोमा, विद्युद्दंष्ट्र, सूर्यानन, ज्योतिर्मुख, दधिमुख, पावकाक्ष, नल और कुमुद आदि सभी श्रेष्ठ वानरोंको घायल कर दिया ॥ ६२—६५ ॥

स वै गदाभिर्हरियूथमुख्यान्
निर्भिद्य बाणैस्तपनीयवर्णैः।
ववर्ष रामं शरवृष्टिजालैः
सलक्ष्मणं भास्कररश्मिकल्पैः ॥ ६६ ॥

गदाओं और सुवर्णके समान कान्तिमान् बाणोंद्वारा वानर-यूथपतियोंको क्षत-विक्षत करके वह लक्ष्मणसहित श्रीरामपर सूर्यकी किरणोंके समान चमकीले बाणसमूहोंकी वर्षा करने लगा ॥ ६६ ॥

स बाणवर्षैरभिवृष्यमाणो
धारानिपातानिव तानचिन्त्य।
समीक्षमाणः परमाद्भुतश्री
रामस्तदा लक्ष्मणमित्युवाच ॥ ६७ ॥

उस बाणवर्षाके लक्ष्य बने हुए परम अद्भुत शोभासे सम्पन्न श्रीराम पानीकी धाराके समान गिरनेवाले उन बाणोंकी कोई परवा न करके लक्ष्मणकी ओर देखते हुए बोले— ॥ ६७ ॥

असौ पुनर्लक्ष्मण राक्षसेन्द्रो
ब्रह्मास्त्रमाश्रित्य सुरेन्द्रशत्रुः।
निपातयित्वा हरिसैन्यमस्मा-
ञ्छितैः शरैरर्दयति प्रसक्तम् ॥ ६८ ॥

'लक्ष्मण! वह इन्द्रद्रोही राक्षसराज इन्द्रजित् प्राप्त हुए ब्रह्मास्त्रका सहारा लेकर वानर-सेनाको धराशायी करनेके पश्चात् अब तीखे बाणोंद्वारा हम दोनोंको भी पीड़ित कर रहा है ॥ ६८ ॥

स्वयंभुवा दत्तवरो महात्मा
समाहितोऽन्तर्हितभीमकायः।
कथं नु शक्यो युधि नष्टदेहो
निहन्तुमद्येन्द्रजिदुद्यतास्त्रः ॥ ६९ ॥

'ब्रह्माजीसे वरदान पाकर सदा सावधान रहनेवाले इस महामनस्वी वीरने अपने भीषण शरीरको अदृश्य कर लिया है। युद्धमें इस इन्द्रजित्‌का शरीर तो दिखायी ही नहीं देता, पर यह अस्त्रोंका प्रयोग करता जा रहा है। ऐसी दशामें इसे हमलोग किस तरह मार सकते हैं? ॥ ६९ ॥

मन्ये स्वयंभूर्भगवानचिन्त्य-
स्तस्यैतदस्त्रं प्रभवश्च योऽस्य।
बाणावपातं त्वमिहाद्य धीमन्
मया सहाव्यग्रमनाः सहस्व ॥ ७० ॥

'स्वयम्भू भगवान् ब्रह्माका स्वरूप अचिन्त्य है। वे ही इस जगत्‌के आदि कारण हैं। मैं समझता हूँ, उन्हींका यह अस्त्र है, अतः बुद्धिमान् सुमित्राकुमार! तुम मनमें किसी प्रकारकी घबराहट न लाकर मेरे साथ यहाँ चुपचाप खड़े हो इन बाणोंकी मार सहो ॥ ७० ॥

प्रच्छादयत्येष हि राक्षसेन्द्रः
सर्वा दिशः सायकवृष्टिजालैः।
एतच्च सर्वं पतिताग्र्यशूरं
न भ्राजते वानरराजसैन्यम् ॥ ७१ ॥

'यह राक्षसराज इन्द्रजित् इस समय बाण-समूहोंकी वर्षा करके सम्पूर्ण दिशाओंको आच्छादित किये देता है। वानरराज सुग्रीवकी यह सारी सेना, जिसके प्रधान-प्रधान शूरवीर धराशायी हो गये हैं, अब शोभा नहीं पा रही है ॥ ७१ ॥

आवां तु दृष्ट्वा पतितौ विसंज्ञौ
निवृत्तयुद्धौ हतहर्षरोषौ।
ध्रुवं प्रवेक्ष्यत्यमरारिवास-
मसौ समासाद्य रणाग्र्यलक्ष्मीम् ॥ ७२ ॥

'जब हम दोनों हर्ष एवं रोषसे रहित तथा युद्धसे निवृत्त हो अचेत-से होकर गिर जायँगे, तब हमें उस अवस्थामें देख युद्धके मुहानेपर विजय-लक्ष्मीको पाकर अवश्य ही यह राक्षसपुरी लङ्कामें लौट जायगा' ॥ ७२ ॥

ततस्तु ताविन्द्रजितोऽस्त्रजालै-
र्बभूवतुस्तत्र तदा विशस्तौ।
स चापि तौ तत्र विषादयित्वा
ननाद हर्षाद् युधि राक्षसेन्द्रः ॥ ७३ ॥

तदनन्तर वे दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण वहाँ इन्द्रजित्‌के बाण-समूहोंसे बहुत घायल हो गये। उस समय उन दोनोंको युद्धमें पीड़ित करके उस राक्षसराजने बड़े हर्षके साथ गर्जना की ॥ ७३ ॥

ततस्तदा वानरसैन्यमेवं
रामं च संख्ये सह लक्ष्मणेन।
विषादयित्वा सहसा विवेश
पुरीं दशग्रीवभुजाभिगुप्ताम्।

संस्तूयमानः स तु यातुधानैः
　　पित्रे च सर्वं हर्षितोऽभ्युवाच ॥ ७४ ॥

इस प्रकार संग्राममें वानरोंकी सेना तथा लक्ष्मणसहित श्रीरामको मूर्च्छित करके इन्द्रजित् सहसा दशमुख रावणकी भुजाओंद्वारा पालित लङ्कापुरीमें चला गया। उस समय समस्त निशाचर उसकी स्तुति कर रहे थे। वहाँ जाकर उसने पितासे प्रसन्नतापूर्वक अपनी विजयका सारा समाचार बताया॥ ७४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें तिहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७३ ॥

—★—

चतुःसप्ततितमः सर्गः

जाम्बवान्‌के आदेशसे हनुमान्‌जीका हिमालयसे दिव्य ओषधियोंके पर्वतको लाना और उन ओषधियोंकी गन्धसे श्रीराम, लक्ष्मण एवं समस्त वानरोंका पुनः स्वस्थ होना

तयोस्तदासादितयो रणाग्रे
　　मुमोह सैन्यं हरियूथपानाम्।
सुग्रीवनीलाङ्गदजाम्बवन्तो
　　न चापि किंचित् प्रतिपेदिरे ते॥ १॥

युद्धके मुहानेपर जब वे दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण निश्चेष्ट होकर पड़ गये, तब वानर-सेनापतियोंकी वह सेना किंकर्तव्यविमूढ़ हो गयी। सुग्रीव, नील, अंगद और जाम्बवान्‌को भी उस समय कुछ नहीं सूझता था॥ १॥

ततो विषण्णं समवेक्ष्य सर्वं
　　विभीषणो बुद्धिमतां वरिष्ठः।
उवाच शाखामृगराजवीरा-
　　नाश्वासयन्नप्रतिमैर्वचोभिः॥ २॥

उस समय सबको विषादमें डूबा हुआ देख बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ विभीषणने वानरराजके उन वीर सैनिकोंको आश्वासन देते हुए अनुपम वाणीमें कहा—॥ २॥

मा भैष्ट नास्त्यत्र विषादकालो
　　यदार्यपुत्रौ ह्यवशौ विषण्णौ।
स्वयंभुवो वाक्यमथोद्वहन्तौ
　　यत्सादिताविन्द्रजितास्त्रजालैः॥ ३॥

'वानर वीरो! आपलोग भयभीत न हों। यहाँ विषादका अवसर नहीं है; क्योंकि इन दोनों आर्यपुत्रोंने ब्रह्माजीके वचनोंका आदर एवं पालन करते हुए स्वयं ही हथियार नहीं उठाये थे; इसीलिये इन्द्रजित्‌ने इन दोनोंको अपने अस्त्र-समूहोंसे आच्छादित कर दिया था। अतएव ये दोनों भाई केवल विषादग्रस्त (मूर्च्छित) हो गये हैं (इनके प्राणोंपर संकट नहीं आया है)॥ ३॥

तस्मै तु दत्तं परमास्त्रमेतत्
　　स्वयंभुवा ब्राह्ममोघवीर्यम्।
तन्मानयन्तौ युधि राजपुत्रौ
　　निपातितौ कोऽत्र विषादकालः॥ ४॥

'स्वयम्भू ब्रह्माजीने यह उत्तम अस्त्र इन्द्रजित्‌को दिया था। ब्राह्मास्त्रके नामसे इसकी प्रसिद्धि है और इसका बल अमोघ है। संग्राममें उसका समादर—उसकी मर्यादाकी रक्षा करते हुए ही ये दोनों राजकुमार धराशायी हुए हैं; अतः इसमें खेदकी कौन-सी बात है?'॥ ४॥

ब्राह्ममस्त्रं ततो धीमान् मानयित्वा तु मारुतिः।
विभीषणवचः श्रुत्वा हनूमानिदमब्रवीत्॥ ५॥

विभीषणकी बात सुनकर बुद्धिमान् पवनकुमार हनुमान्‌ने ब्रह्मास्त्रका सम्मान करते हुए उनसे इस प्रकार कहा—॥ ५॥

अस्मिन्नस्त्रहते सैन्ये वानराणां तरस्विनाम्।
यो यो धारयते प्राणांस्तं तमाश्वासयावहे॥ ६॥

'राक्षसराज! इस अस्त्रसे घायल हुए वेगशाली वानर-सैनिकोंमें जो-जो प्राण धारण करते हों, उन-उनको हमें चलकर आश्वासन देना चाहिये'॥ ६॥

तावुभौ युगपद् वीरौ हनूमद्राक्षसोत्तमौ।
उल्काहस्तौ तदा रात्रौ रणशीर्षे विचेरतुः॥ ७॥

उस समय रात हो गयी थी, इसलिये हनुमान् और राक्षसप्रवर विभीषण दोनों वीर अपने-अपने हाथमें मसाल लिये एक ही साथ रणभूमिमें विचरने लगे॥ ७॥

भिन्नलाङ्गूलहस्तोरुपादाङ्गुलिशिरोधरैः।
स्रवद्भिः क्षतजं गात्रैः प्रस्रवद्भिः समन्ततः॥ ८॥
पतितैः पर्वताकारैर्वानरैरभिसंवृताम्।
शस्त्रैश्च पतितैर्दीप्तैर्ददृशाते वसुंधराम्॥ ९॥

जिनकी पूँछ, हाथ, पैर, जाँघ, अंगुलि और ग्रीवा आदि अङ्ग कट गये थे, अतएव जो अपने शरीरोंसे रक्त बहा रहे थे, ऐसे पर्वताकार वानरोंके गिरनेसे वहाँकी सारी भूमि सब ओरसे पट गयी थी तथा वहाँ गिरे हुए चमकीले अस्त्र-शस्त्रोंसे भी आच्छादित हो गयी थी। हनुमान् और

विभीषणने इस अवस्थामें इस युद्धभूमिका निरीक्षण किया ॥ ८-९ ॥

सुग्रीवमङ्गदं नीलं शरभं गन्धमादनम्।
जाम्बवन्तं सुषेणं च वेगदर्शिनमेव च ॥ १० ॥
मैन्दं नलं ज्योतिर्मुखं द्विविदं चापि वानरम्।
विभीषणो हनूमांश्च ददृशाते हतान् रणे ॥ ११ ॥

सुग्रीव, अंगद, नील, शरभ, गन्धमादन, जाम्बवान्, सुषेण, वेगदर्शी, मैन्द, नल, ज्योतिर्मुख तथा द्विविद—इन सभी वानरोंको हनुमान् और विभीषणने युद्धमें घायल होकर पड़ा देखा ॥ १०-११ ॥

सप्तषष्टिर्हताः कोट्यो वानराणां तरस्विनाम्।
अह्नः पञ्चमशेषेण वल्लभेन स्वयंभुवः ॥ १२ ॥

ब्रह्माजीके प्रिय अस्त्र—ब्रह्मास्त्रने दिनके चार भाग व्यतीत होते-होते सरसठ करोड़ वानरोंको हताहत कर दिया था। जब केवल पाँचवाँ भाग—सायाह्नकाल शेष रह गया, तब ब्रह्मास्त्रका प्रयोग बंद हुआ था ॥ १२ ॥

सागरौघनिभं भीमं दृष्ट्वा बाणार्दितं बलम्।
मार्गते जाम्बवन्तं च हनूमान् सविभीषणः ॥ १३ ॥

समुद्रके समान विशाल एवं भयंकर वानर-सेनाको बाणोंसे पीड़ित देख विभीषणसहित हनुमान्‌जी जाम्बवान्‌को ढूँढ़ने लगे ॥ १३ ॥

स्वभावजरया युक्तं वृद्धं शरशतैश्चितम्।
प्रजापतिसुतं वीरं शाम्यन्तमिव पावकम् ॥ १४ ॥
दृष्ट्वा समभिसंक्रम्य पौलस्त्यो वाक्यमब्रवीत्।
कच्चिदार्य शरैस्तीक्ष्णैर्न प्राणा ध्वंसितास्तव ॥ १५ ॥

ब्रह्माजीके पुत्र वीर जाम्बवान् एक तो स्वाभाविक वृद्धावस्थासे युक्त थे, दूसरे उनके शरीरमें सैकड़ों बाण धँसे हुए थे; अतः वे बुझती हुई आगके समान निस्तेज दिखायी देते थे। उन्हें देखकर विभीषण तुरंत ही उनके पास गये और बोले—'आर्य! इन तीखे बाणोंके प्रहारसे आपके प्राण निकल तो नहीं गये ?' ॥ १४-१५ ॥

विभीषणवचः श्रुत्वा जाम्बवानृक्षपुङ्गवः।
कृच्छ्रादभ्युद्गिरन् वाक्यमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥

विभीषणकी बात सुनकर ऋक्षराज जाम्बवान् बड़ी कठिनाईसे वाक्यका उच्चारण करते हुए इस प्रकार बोले— ॥ १६ ॥

नैर्ऋतेन्द्र महावीर्य स्वरेण त्वाभिलक्षये।
विद्धगात्रः शितैर्बाणैर्न त्वां पश्यामि चक्षुषा ॥ १७ ॥

'महापराक्रमी राक्षसराज! मैं केवल स्वरसे तुम्हें पहचान रहा हूँ। मेरे सभी अङ्ग पैने बाणोंसे बिंधे हुए हैं, अतः मैं आँख खोलकर तुम्हें नहीं देख सकता ॥ १७ ॥

अञ्जना सुप्रजा येन मातरिश्वा च सुव्रत।
हनूमान् वानरश्रेष्ठः प्राणान् धारयते क्वचित् ॥ १८ ॥

'उत्तम व्रतके पालक विभीषण! यह तो बताओ, जिनको जन्म देनेसे अञ्जनादेवी उत्तम पुत्रकी जननी और वायुदेव श्रेष्ठ पुत्रके जनक माने जाते हैं, वे वानरश्रेष्ठ हनुमान् कहीं जीवित हैं ?' ॥ १८ ॥

श्रुत्वा जाम्बवतो वाक्यमुवाचेदं विभीषणः।
आर्यपुत्रावतिक्रम्य कस्मात् पृच्छसि मारुतिम् ॥ १९ ॥

जाम्बवान्‌का यह प्रश्न सुनकर विभीषणने पूछा—'ऋक्षराज! आप दोनों महाराजकुमारोंको छोड़कर केवल पवनकुमार हनुमान्‌जीको ही क्यों पूछ रहे हैं ? ॥ १९ ॥

नैव राजनि सुग्रीवे नाङ्गदे नापि राघवे।
आर्य संदर्शितः स्नेहो यथा वायुसुते परः ॥ २० ॥

'आर्य! आपने न तो राजा सुग्रीवपर, न अंगदपर और न भगवान् श्रीरामपर ही वैसा स्नेह दिखाया है, जैसा पवनपुत्र हनुमान्‌जीके प्रति आपका प्रगाढ़ प्रेम लक्षित हो रहा है' ॥ २० ॥

विभीषणवचः श्रुत्वा जाम्बवान् वाक्यमब्रवीत्।
शृणु नैर्ऋतशार्दूल यस्मात् पृच्छामि मारुतिम् ॥ २१ ॥

विभीषणकी यह बात सुनकर जाम्बवान्‌ने कहा—'राक्षसराज! सुनो। मैं पवनकुमार हनुमान्‌जीको क्यों पूछता हूँ—यह बता रहा हूँ ॥ २१ ॥

अस्मिञ्जीवति वीरे तु हतमप्यहतं बलम्।
हनूमत्युज्झितप्राणे जीवन्तोऽपि मृता वयम् ॥ २२ ॥

'यदि वीरवर हनुमान् जीवित हों तो यह मरी हुई सेना भी जीवित ही है—ऐसा समझना चाहिये और यदि उनके प्राण निकल गये हों तो हमलोग जीते हुए भी मृतकके ही तुल्य हैं ॥ २२ ॥

धरते मारुतिस्तात मारुतप्रतिमो यदि।
वैश्वानरसमो वीर्ये जीविताशा ततो भवेत् ॥ २३ ॥

'तात! यदि वायुके समान वेगशाली और अग्निके समान पराक्रमी पवनकुमार हनुमान् जीवित हैं तो हम सबके जीवित होनेकी आशा की जा सकती है' ॥ २३ ॥

ततो वृद्धमुपागम्य विनयेनाभ्यवादयत्।
गृह्य जाम्बवतः पादौ हनूमान् मारुतात्मजः ॥ २४ ॥

बूढ़े जाम्बवान्‌के इतना कहते ही पवनपुत्र हनुमान्‌जी उनके पास आ गये और दोनों पैर पकड़कर उन्होंने विनीतभावसे उन्हें प्रणाम किया ॥ २४ ॥

श्रुत्वा हनूमतो वाक्यं तदा विव्यथितेन्द्रियः।
पुनर्जातमिवात्मानं मन्यते स्मर्क्षपुङ्गवः ॥ २५ ॥

हनुमान्‌जीकी बात सुनकर उस समय ऋक्षराज जाम्बवान्‌ने, जिनकी सारी इन्द्रियाँ बाणोंके प्रहारसे पीड़ित थीं, अपना पुनर्जन्म हुआ-सा माना ॥ २५ ॥

ततोऽब्रवीन्महातेजा हनूमन्तं स जाम्बवान्।
आगच्छ हरिशार्दूल वानरांस्त्रातुमर्हसि ॥ २६ ॥

फिर उन महातेजस्वी जाम्बवान्‌ने हनुमान्‌जीसे कहा—'वानरसिंह! आओ, सम्पूर्ण वानरोंकी रक्षा करो॥ २६॥

नान्यो विक्रमपर्याप्तस्त्वमेषां परमः सखा।
त्वत्पराक्रमकालोऽयं नान्यं पश्यामि कञ्चन॥ २७॥

'तुम्हारे सिवा दूसरा कोई पूर्ण पराक्रमसे युक्त नहीं है। तुम्हीं इन सबके परम सहायक हो। यह समय तुम्हारे ही पराक्रमका है। मैं दूसरे किसीको इसके योग्य नहीं देखता॥ २७॥

ऋक्षवानरवीराणामनीकानि प्रहर्षय।
विशल्यौ कुरु चाप्येतौ सादितौ रामलक्ष्मणौ॥ २८॥

'तुम रीछों और वानरवीरोंकी सेनाओंको हर्ष प्रदान करो और बाणोंसे पीड़ित हुए इन दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणके शरीरसे बाण निकालकर इन्हें स्वस्थ करो॥ २८॥

गत्वा परममध्वानमुपर्युपरि सागरम्।
हिमवन्तं नगश्रेष्ठं हनूमन् गन्तुमर्हसि॥ २९॥

'हनूमन्! समुद्रके ऊपर-ऊपर उड़कर बहुत दूरका रास्ता तै करके तुम्हें पर्वतश्रेष्ठ हिमालयपर जाना चाहिये॥ २९॥

ततः काञ्चनमत्युच्चमृषभं पर्वतोत्तमम्।
कैलासशिखरं चात्र द्रक्ष्यस्यरिनिषूदन॥ ३०॥

'शत्रुसूदन! वहाँ पहुँचनेपर तुम्हें बहुत ही ऊँचे सुवर्णमय उत्तम पर्वत ऋषभका तथा कैलास-शिखरका दर्शन होगा॥ ३०॥

तयोः शिखरयोर्मध्ये प्रदीप्तमतुलप्रभम्।
सर्वौषधियुतं वीर द्रक्ष्यस्योषधिपर्वतम्॥ ३१॥

'वीर! उन दोनों शिखरोंके बीचमें एक ओषधियोंका पर्वत दिखायी देगा, जो अत्यन्त दीप्तिमान् है। उसमें इतनी चमक है, जिसकी कहीं तुलना नहीं है। वह पर्वत सब प्रकारकी ओषधियोंसे सम्पन्न है॥ ३१॥

तस्य वानरशार्दूल चतस्रो मूर्ध्नि सम्भवाः।
द्रक्ष्यस्योषधयो दीप्ता दीपयन्तीर्दिशो दश॥ ३२॥

'वानरसिंह! उसके शिखरपर उत्पन्न चार ओषधियाँ तुम्हें दिखायी देंगी, जो अपनी प्रभासे दसों दिशाओंको प्रकाशित किये रहती हैं॥ ३२॥

मृतसञ्जीवनीं चैव विशल्यकरणीमपि।
सुवर्णकरणीं चैव संधानीं च महौषधीम्॥ ३३॥

'उनके नाम इस प्रकार हैं—मृतसञ्जीवनी, विशल्यकरणी, सुवर्णकरणी और संधानी नामक महौषधि॥ ३३॥

ताः सर्वा हनुमन् गृह्य क्षिप्रमागन्तुमर्हसि।
आश्वासय हरीन् प्राणैर्योज्य गन्धवहात्मज॥ ३४॥

'हनुमन्! पवनकुमार! तुम उन सब ओषधियोंको लेकर शीघ्र लौट आओ और वानरोंको प्राणदान देकर आश्वासन दो'॥ ३४॥

श्रुत्वा जाम्बवतो वाक्यं हनूमान् मारुतात्मजः।
आपूर्यत बलोद्धर्षैर्वायुवेगैरिवार्णवः॥ ३५॥

जाम्बवान्‌की यह बात सुनकर वायुनन्दन हनुमान्‌जी उसी तरह असीम बलसे भर गये, जैसे महासागर वायुके वेगसे व्याप्त हो जाता है॥ ३५॥

स पर्वततटाग्रस्थः पीडयन् पर्वतोत्तमम्।
हनूमान् दृश्यते वीरो द्वितीय इव पर्वतः॥ ३६॥

वीर हनुमान् एक पर्वतके शिखरपर खड़े हो गये और उस उत्तम पर्वतको पैरोंसे दबाते हुए द्वितीय पर्वतके समान दिखायी देने लगे॥ ३६॥

हरिपादविनिर्भग्नो निषसाद स पर्वतः।
न शशाक तदात्मानं वोढुं भृशनिपीडितः॥ ३७॥

हनुमान्‌जीके चरणोंके भारसे पीड़ित हो वह पर्वत धरतीमें धँस गया। अधिक दबाव पड़नेके कारण वह अपने शरीरको भी धारण न कर सका॥ ३७॥

तस्य पेतुर्नगा भूमौ हरिवेगाच्च जज्वलुः।
शृङ्गाणि च व्यकीर्यन्त पीडितस्य हनूमता॥ ३८॥

हनुमान्‌जीके भारसे पीड़ित हुए उस पर्वतके वृक्ष उन्हींके वेगसे टूटकर पृथ्वीपर गिर पड़े और कितने ही जल उठे। साथ ही उस पहाड़की चोटियाँ भी ढहने लगीं॥ ३८॥

तस्मिन् सम्पीड्यमाने तु भग्नद्रुमशिलातले।
न शेकुर्वानराः स्थातुं घूर्णमाने नगोत्तमे॥ ३९॥

हनुमान्‌जीके दबानेपर वह श्रेष्ठ पर्वत हिलने लगा। उसके वृक्ष और शिलाएँ टूट-फूटकर गिरने लगीं; अतः वानर वहाँ ठहर न सके॥ ३९॥

सा घूर्णितमहाद्वारा प्रभग्नगृहगोपुरा।
लङ्का त्रासाकुला रात्रौ प्रनृत्तेवाभवत् तदा॥ ४०॥

लङ्काका विशाल और ऊँचा द्वार भी हिल गया। मकान और दरवाजे ढह गये। समूची नगरी भयसे व्याकुल हो उस रातमें नाचती-सी जान पड़ी॥ ४०॥

पृथिवीधरसंकाशो निपीड्य पृथिवीधरम्।
पृथिवीं क्षोभयामास सार्णवां मारुतात्मजः॥ ४१॥

पर्वताकार पवनकुमार हनुमान्‌जीने उस पर्वतको दबाकर पृथ्वी और समुद्रमें भी हलचल पैदा कर दी॥ ४१॥

आरुरोह तदा तस्माद्धरिर्मलयपर्वतम्।
मेरुमन्दरसंकाशं नानाप्रस्रवणाकुलम्॥ ४२॥

तदनन्तर वहाँसे आगे बढ़कर वे मेरु और मन्दराचलके समान ऊँचे मलयपर्वतपर चढ़ गये। वह पर्वत नाना प्रकारके झरनोंसे व्याप्त था॥ ४२॥

नानाद्रुमलताकीर्णं विकासिकमलोत्पलम्।
सेवितं देवगन्धर्वैः षष्टियोजनमुच्छ्रितम्॥ ४३॥

वहाँ भाँति-भाँतिके वृक्ष और लताएँ फैली थीं। कमल

और कुमुद खिले हुए थे। देवता और गन्धर्व उस पर्वतका सेवन करते थे तथा वह साठ योजन ऊँचा था॥ ४३॥

विद्याधरैर्मुनिगणैरप्सरोभिर्निषेवितम्।
नानामृगगणाकीर्णं बहुकन्दरशोभितम्॥ ४४॥

विद्याधर, ऋषि-मुनि तथा अप्सराएँ भी वहाँ निवास करती थीं। अनेक प्रकारके मृगसमूह वहाँ सब ओर फैले हुए थे तथा बहुत-सी कन्दराएँ उस पर्वतकी शोभा बढ़ाती थीं॥ ४४॥

सर्वानाकुलयंस्तत्र यक्षगन्धर्वकिन्नरान्।
हनूमान् मेघसंकाशो ववृधे मारुतात्मजः॥ ४५॥

पवनकुमार हनुमान्‌जी वहाँ रहनेवाले यक्ष, गन्धर्व और किन्नर आदि सबको व्याकुल करते हुए मेघके समान बढ़ने लगे॥ ४५॥

पद्भ्यां तु शैलमापीड्य वडवामुखवन्मुखम्।
विवृत्योग्रं ननादोच्चैस्त्रासयन् रजनीचरान्॥ ४६॥

वे दोनों पैरोंसे उस पर्वतको दबाकर और वडवानलके समान अपने भयङ्कर मुखको फैलाकर निशाचरोंको डराते हुए जोर-जोरसे गर्जना करने लगे॥ ४६॥

तस्य नानद्यमानस्य श्रुत्वा निनदमुत्तमम्।
लङ्कास्था राक्षसव्याघ्रा न शेकुः स्पन्दितुं क्वचित्॥ ४७॥

उच्च स्वरसे बारम्बार गर्जते हुए हनुमान्‌जीका वह महान् सिंहनाद सुनकर लङ्कावासी श्रेष्ठ राक्षस भयके मारे कहीं हिल-डुल भी न सके॥ ४७॥

नमस्कृत्वा समुद्राय मारुतिर्भीमविक्रमः।
राघवार्थे परं कर्म समीहत परंतपः॥ ४८॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले भयानक पराक्रमी पवनकुमार हनुमान्‌जीने समुद्रको नमस्कार करके श्रीरामचन्द्रजीके लिये महान् पुरुषार्थ करनेका निश्चय किया॥ ४८॥

स पुच्छमुद्यम्य भुजङ्गकल्पं
विनम्य पृष्ठं श्रवणे निकुच्य।
विवृत्य वक्त्रं वडवामुखाभ-
मापुप्लुवे व्योम्नि स चण्डवेगः॥ ४९॥

वे अपनी सर्पाकार पूँछको ऊपर उठाकर पीठको झुकाकर दोनों कान सिकोड़कर और बडवामुख अग्निके समान अपना मुख फैलाकर प्रचण्डवेगसे आकाशमें उड़े॥ ४९॥

स वृक्षखण्डांस्तरसा जहार
शैलाञ्शिलाः प्राकृतवानरांश्च।
बाहूरुवेगोद्धतसम्प्रणुन्ना-
स्ते क्षीणवेगाः सलिले निपेतुः॥ ५०॥

हनुमान्‌जी अपने तीव्र वेगसे कितने ही वृक्षों, पर्वत-शिखरों, शिलाओं और वहाँ रहनेवाले साधारण वानरोंको भी साथ-साथ उड़ाते गये। उनकी भुजाओं और जाँघोंके वेगसे दूर तक दिये जानेके कारण जब उनका वेग शान्त हो गया, तब वे जल आदि समुद्रके जलमें गिर पड़े॥ ५०॥

स तौ प्रसार्योरगभोगकल्पौ
भुजौ भुजंगारिनिकाशवीर्यः।
जगाम शैलं नगराजमग्र्यं
दिशः प्रकर्षन्निव वायुसूनुः॥ ५१॥

सर्पके शरीरकी भाँति दिखायी देनेवाली अपनी दोनों भुजाओंको फैलाकर गरुडके समान पराक्रमी पवनपुत्र हनुमान्‌जी सम्पूर्ण दिशाओंको खींचते हुए-से श्रेष्ठ पर्वत गिरिराज हिमालयकी ओर चले॥ ५१॥

स सागरं घूर्णितवीचिमालं
तदम्भसा भ्रामितसर्वसत्त्वम्।
समीक्षमाणः सहसा जगाम
चक्रं यथा विष्णुकराग्रमुक्तम्॥ ५२॥

जिसकी तरंगमालाएँ झूम रही थीं तथा जिसके जलके द्वारा समस्त जल-जन्तु इधर-उधर घुमाये जा रहे थे, उस महासागरको देखते हुए हनुमान्‌जी भगवान् विष्णुके हाथसे छूटे हुए चक्रकी भाँति सहसा आगे बढ़ गये॥ ५२॥

स पर्वतान् पक्षिगणान् सरांसि
नदीस्तटाकानि पुरोत्तमानि।
स्फीताञ्जनांस्तानपि सम्प्रवीक्ष्य
जगाम वेगात् पितृतुल्यवेगः॥ ५३॥

उनका वेग अपने पिता वायुके ही समान था। वे अनेकानेक पर्वतों, पक्षियों, सरोवरों, नदियों, तालाबों, नगरों तथा समृद्धिशाली जनपदोंको देखते हुए बड़े वेगसे आगे बढ़ने लगे॥ ५३॥

आदित्यपथमाश्रित्य जगाम स गतश्रमः।
हनूमांस्त्वरितो वीरः पितुस्तुल्यपराक्रमः॥ ५४॥

वीर हनुमान् अपने पिताके ही तुल्य पराक्रमी और तीव्रगामी थे। वे सूर्यके मार्गका आश्रय ले बिना थके-माँदे शीघ्रतापूर्वक अग्रसर हो रहे थे॥ ५४॥

जवेन महता युक्तो मारुतिर्वातरंहसा।
जगाम हरिशार्दूलो दिशः शब्देन नादयन्॥ ५५॥

वानरसिंह पवनकुमार हनुमान् महान् वेगसे युक्त थे। वे सम्पूर्ण दिशाओंको शब्दायमान करते हुए वायुके समान वेगसे आगे बढ़े॥ ५५॥

स्मरञ्जाम्बवतो वाक्यं मारुतिर्भीमविक्रमः।
ददर्श सहसा चापि हिमवन्तं महाकपिः॥ ५६॥

महाकपि हनुमान्‌जीका बल-विक्रम बड़ा भयङ्कर था। उन्होंने जाम्बवान्‌के वचनोंका स्मरण करते हुए सहसा पहुँचकर हिमालय पर्वतका दर्शन किया॥ ५६॥

नानाप्रस्रवणोपेतं बहुकन्दरनिर्झरम्।
श्वेताभ्रचयसंकाशैः शिखरैश्चारुदर्शनैः।
शोभितं विविधैर्वृक्षैरगमत् पर्वतोत्तमम्॥ ५७॥

वहाँ अनेक प्रकारके सोते बह रहे थे। बहुत-सी कन्दराएँ और झरने उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। श्वेत बादलोंके समूहकी भाँति मनोहर दिखायी देनेवाले शिखरों और नाना प्रकारके वृक्षोंसे उस श्रेष्ठ पर्वतकी अद्भुत शोभा हो रही थी। हनुमान्‌जी उस पर्वतपर पहुँच गये॥ ५७॥

स तं समासाद्य महानगेन्द्र-
मतिप्रवृद्धोत्तमहेमशृङ्गम्।
ददर्श पुण्यानि महाश्रमाणि
सुरर्षिसङ्घोत्तमसेवितानि॥ ५८॥

उस महापर्वतराजका सबसे ऊँचा शिखर सुवर्णमय दिखायी देता था। वहाँ पहुँचकर हनुमान्‌जीने परम पवित्र बड़े-बड़े आश्रम देखे, जिनमें देवर्षियोंका श्रेष्ठ समुदाय निवास करता था॥ ५८॥

स ब्रह्मकोशं रजतालयं च
शक्रालयं रुद्रशरप्रमोक्षम्।
हयाननं ब्रह्मशिरश्च दीप्तं
ददर्श वैवस्वतकिंकरांश्च॥ ५९॥

उस पर्वतपर जिन्हें हिरण्यगर्भ भगवान् ब्रह्माका स्थान, उन्हींके दूसरे स्वरूप रजतनाभिका स्थान, इन्द्रका भवन, जहाँ खड़े होकर रुद्रदेवने त्रिपुरासुरपर बाण छोड़ा था, वह स्थान, भगवान् हयग्रीवका वासस्थान तथा ब्रह्मास्त्र देवताका दीप्तिमान् स्थान—ये सभी दिव्य स्थान दिखायी दिये। साथ ही यमराजके सेवक भी वहाँ दृष्टिगोचर हुए॥ ५९॥

वह्न्यालयं वैश्रवणालयं च
सूर्यप्रभं सूर्यनिबन्धनं च।
ब्रह्मालयं शङ्करकार्मुकं च
ददर्श नाभिं च वसुन्धरायाः॥ ६०॥

इसके सिवा अग्निका, कुबेरका और द्वादश सूर्योंके समावेशका भी सूर्यतुल्य तेजस्वी स्थान उन्हें दृष्टिगोचर हुआ। चतुर्मुख ब्रह्मा, शंकरजीके धनुष और वसुन्धराकी नाभिके स्थानोंका भी उन्होंने दर्शन किया॥ ६०॥

कैलासमग्र्यं हिमवच्छिलां च
तं वै वृषं काञ्चनशैलमग्र्यम्।
प्रदीप्तसर्वौषधिसम्प्रदीप्तं
ददर्श सर्वौषधिपर्वतेन्द्रम्॥ ६१॥

तत्पश्चात् श्रेष्ठ कैलासपर्वत, हिमालय-शिला, शिवजीके वाहन वृषभ तथा सुवर्णमय श्रेष्ठ पर्वत ऋषभको भी देखा। इसके बाद उनकी दृष्टि सम्पूर्ण ओषधियोंके उत्तम पर्वतपर पड़ी, जो सब प्रकारकी दीप्तिमती ओषधियोंसे देदीप्यमान हो रहा था॥ ६१॥

स तं समीक्ष्यानलराशिदीप्तं
विसिस्मिये वासवदूतसूनुः।
आप्लुत्य तं चौषधिपर्वतेन्द्रं
तत्रौषधीनां विचयं चकार॥ ६२॥

अग्निराशिके समान प्रकाशित होनेवाले उस पर्वतको देखकर पवनकुमार हनुमान्‌जीको बड़ा विस्मय हुआ। वे कूदकर ओषधियोंसे भरे हुए उस गिरिराजपर चढ़ गये और वहाँ पूर्वोक्त चारों ओषधियोंकी खोज करने लगे॥ ६२॥

स योजनसहस्राणि समतीत्य महाकपिः।
दिव्यौषधिधरं शैलं व्यचरन्मारुतात्मजः॥ ६३॥

महाकपि पवनपुत्र हनुमान्‌जी सहस्रों योजन लाँघकर वहाँ आये थे और दिव्य ओषधियोंको धारण करनेवाले उस शैल-शिखरपर विचरण कर रहे थे॥ ६३॥

महौषध्यस्ततः सर्वास्तस्मिन् पर्वतसत्तमे।
विज्ञायार्थिनमायान्तं ततो जग्मुरदर्शनम्॥ ६४॥

उस उत्तम पर्वतपर रहनेवाली सम्पूर्ण महौषधियाँ यह जानकर कि कोई हमें लेनेके लिये आ रहा है, तत्काल अदृश्य हो गयीं॥ ६४॥

स ता महात्मा हनुमानपश्यं-
श्चुकोप रोषाच्च भृशं ननाद।
अमृष्यमाणोऽग्निसमानचक्षु-
र्महीधरेन्द्रं तमुवाच वाक्यम्॥ ६५॥

उन ओषधियोंको न देखकर महात्मा हनुमान्‌जी कुपित हो उठे और रोषके कारण जोर-जोरसे गर्जना करने लगे। ओषधियोंका छिपाना उनके लिये असह्य हो गया। उनकी आँखें अग्निके समान लाल हो गयीं और वे उस पर्वतराजसे इस प्रकार बोले—॥ ६५॥

किमेतदेवं सुविनिश्चितं ते
यद् राघवे नासि कृतानुकम्पः।
पश्याद्य मद्बाहुबलाभिभूतो
विकीर्णमात्मानमथो नगेन्द्र॥ ६६॥

'नगेन्द्र! तुम श्रीरघुनाथजीपर भी कृपा नहीं कर सके, ऐसा निश्चय तुमने किस बलपर किया है? आज मेरे बाहुबलसे पराजित होकर तुम अपने-आपको सब ओर बिखरा हुआ देखो'॥ ६६॥

स तस्य शृङ्गं सनगं सनागं
सकाञ्चनं धातुसहस्रजुष्टम्।
विकीर्णकूटं ज्वलिताग्रसानुं
प्रगृह्य वेगात् सहसोन्ममाथ॥ ६७॥

ऐसा कहकर उन्होंने वेगसे पकड़कर वृक्षों, हाथियों, सुवर्ण तथा अन्य सहस्रों प्रकारकी धातुओंसे भरे हुए उस पर्वत-शिखरको ही सहसा उखाड़ लिया। वेगसे उखाड़े जानेके कारण उसकी बहुत-सी चोटियाँ बिखरकर गिर पड़ीं। उस पर्वतका ऊपरी भाग अपनी प्रभासे प्रज्वलित-सा हो रहा था॥ ६७॥

स तं समुत्पाट्य खमुत्पपात
वित्रास्य लोकान् ससुरासुरेन्द्रान्।

संस्तूयमानः खचरैरनेकै-
र्जगाम वेगाद् गरुडोग्रवेगः ॥ ६८ ॥

उसे उखाड़कर साथ ले हनुमान्‌जी देवेश्वरों और असुरेश्वरोंसहित सम्पूर्ण लोकोंको भयभीत करते हुए गरुड़के समान भयङ्कर वेगसे आकाशमें उड़ चले। उस समय बहुत-से आकाशचारी प्राणी उनकी स्तुति कर रहे थे ॥ ६८ ॥

स भास्कराध्वानमनुप्रपन्न-
स्तं भास्कराभं शिखरं प्रगृह्य।
बभौ तदा भास्करसंनिकाशो
रवेः समीपे प्रतिभास्कराभः ॥ ६९ ॥

सूर्यके समान चमकते हुए उस पर्वतशिखरको हाथमें लेकर हनुमान्‌जी सूर्यके ही पथपर जा पहुँचे थे। उस समय सूर्यदेवके समीप रहकर उन्हींके समान तेजस्वी शरीरवाले वे पवनकुमार दूसरे सूर्यकी भाँति प्रतीत होते थे ॥ ६९ ॥

स तेन शैलेन भृशं रराज
शैलोपमो गन्धवहात्मजस्तु।
सहस्रधारेण सपावकेन
चक्रेण खे विष्णुरिवार्पितेन ॥ ७० ॥

वायुदेवताके पुत्र हनुमान्‌जी पर्वतके समान जान पड़ते थे। उस पर्वतशिखरके साथ उनकी वैसी ही विशेष शोभा हो रही थी, जैसे सहस्रधारोंसे सुशोभित और अग्निकी ज्वालासे युक्त चक्र धारण करनेसे भगवान् विष्णु सुशोभित होते हैं ॥ ७० ॥

तं वानराः प्रेक्ष्य तदा विनेदुः
स तानपि प्रेक्ष्य मुदा ननाद।
तेषां समुत्कृष्टरवं निशाम्य
लङ्कालया भीमतरं विनेदुः ॥ ७१ ॥

उस समय उन्हें लौटा देख सब वानर जोर-जोरसे गर्जना करने लगे। उन्होंने भी उन सबको देखकर बड़े हर्षसे सिंहनाद किया। उन सबके उस तुमुलनादको सुनकर लङ्कावासी निशाचर और भी भयानक चीत्कार करने लगे ॥ ७१ ॥

ततो महात्मा निपपात तस्मिन्
शैलोत्तमे वानरसैन्यमध्ये।
हर्युत्तमेभ्यः शिरसाभिवाद्य
विभीषणं तत्र च सस्वजे सः ॥ ७२ ॥

तदनन्तर हनुमान्‌जी उस उत्तम पर्वत त्रिकूटपर कूद पड़े और वानरसेनाके मध्यमें आकर सभी श्रेष्ठ वानरोंको प्रणाम करके विभीषणसे भी उन्हें गले लगाकर मिले ॥ ७२ ॥

तावप्युभौ मानुषराजपुत्रौ
तं गन्धमाघ्राय महौषधीनाम्।
बभूवतुस्तत्र तदा विशल्या-
वुत्तस्थुरन्ये च हरिप्रवीराः ॥ ७३ ॥
सर्वे विशल्या विरुजाः क्षणेन
हरिप्रवीराश्च हताश्च ये स्युः।
गन्धेन तासां प्रवरौषधीनां
सुप्ता निशान्तेष्विव सम्प्रबुद्धाः ॥ ७४ ॥

इसके बाद वे दोनों राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण उन महौषधियोंकी सुगन्ध लेकर स्वस्थ हो गये। उनके शरीरसे बाण निकल गये और घाव भर गये। इसी प्रकार जो दूसरे-दूसरे प्रमुख वानर वीर वहाँ हताहत हुए थे, वे सब-के-सब उन श्रेष्ठ ओषधियोंकी सुगन्धसे रातके अन्तमें सोकर उठे हुए प्राणियोंकी भाँति क्षणभरमें नीरोग हो उठकर खड़े हो गये। उनके शरीरसे बाण निकल गये और उनकी सारी पीड़ा जाती रही ॥ ७३-७४ ॥

यदाप्रभृति लङ्कायां युध्यन्ते हरिराक्षसाः।
तदाप्रभृति मानार्थमाज्ञया रावणस्य च ॥ ७५ ॥
ये हन्यन्ते रणे तत्र राक्षसाः कपिकुञ्जरैः।
हता हतास्तु क्षिप्यन्ते सर्व एव तु सागरे ॥ ७६ ॥

लङ्कामें जबसे वानरों और राक्षसोंकी लड़ाई शुरू हुई, तभीसे वानरवीरोंद्वारा रणभूमिमें जो-जो राक्षस मारे जाते थे, वे सभी रावणकी आज्ञाके अनुसार प्रतिदिन मरते-मरते ही समुद्रमें फेंक दिये जाते थे। ऐसा इसलिये होता था कि वानरोंको यह मालूम न हो कि बहुत-से राक्षस मार डाले गये ॥ ७५-७६ ॥

ततो हरिर्गन्धवहात्मजस्तु
तमोषधीशैलमुदग्रवेगः।
निनाय वेगाद्धिमवन्तमेव
पुनश्च रामेण समाजगाम ॥ ७७ ॥

तत्पश्चात् प्रचण्ड वेगवाले पवनकुमार हनुमान्‌जीने पुनः ओषधियोंके उस पर्वतको वेगपूर्वक हिमालयपर ही पहुँचा दिया और फिर लौटकर वे श्रीरामचन्द्रजीसे आ मिले ॥ ७७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें चौहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७४ ॥

—★—

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

लङ्कापुरीका दहन तथा राक्षसों और वानरोंका भयङ्कर युद्ध

ततोऽब्रवीन्महातेजाः सुग्रीवो वानरेश्वरः।
अर्थ्यं विज्ञापयंश्चापि हनूमन्तमिदं वचः॥ १॥

तदनन्तर महातेजस्वी वानरराज सुग्रीवने हनुमान्‌जीसे आगेका कर्तव्य सूचित करनेके लिये कहा—॥ १॥

यतो हतः कुम्भकर्णः कुमाराश्च निषूदिताः।
नेदानीमुपनिर्हारं रावणो दातुमर्हति॥ २॥

'कुम्भकर्ण मारा गया। राक्षसराजके पुत्रोंका भी संहार हो गया; अतः अब रावण लङ्कापुरीकी रक्षाका कोई प्रबन्ध नहीं कर सकता॥ २॥

ये ये महाबलाः सन्ति लघवश्च प्लवंगमाः।
लङ्कामभिपतन्त्वाशु गृह्योल्काः प्लवगर्षभाः॥ ३॥

'इसलिये अपनी सेनामें जो-जो महाबली और शीघ्रगामी वानर हों, वे सब-के-सब मशाल ले-लेकर शीघ्र ही लङ्कापुरीपर धावा करें'॥ ३॥

ततोऽस्तं गत आदित्ये रौद्रे तस्मिन् निशामुखे।
लङ्कामभिमुखाः सोल्का जग्मुस्ते प्लवगर्षभाः॥ ४॥

सुग्रीवकी इस आज्ञाके अनुसार सूर्यास्त होनेपर भयङ्कर प्रदोषकालमें वे सभी श्रेष्ठ वानर मशाल हाथमें ले-लेकर लङ्काकी ओर चले॥ ४॥

उल्काहस्तैर्हरिगणैः सर्वतः समभिद्रुताः।
आरक्षस्था विरूपाक्षाः सहसा विप्रदुद्रुवुः॥ ५॥

जब उल्काधारी वानरोंने सब ओरसे आक्रमण किया, तब द्वार-रक्षाके काममें नियुक्त हुए राक्षस सहसा भाग खड़े हुए॥ ५॥

गोपुराट्टप्रतोलीषु चर्यासु विविधासु च।
प्रासादेषु च संहृष्टाः ससृजुस्ते हुताशनम्॥ ६॥

वे गोपुरों (दरवाजों), अट्टालिकाओं, सड़कों, नाना प्रकारकी गलियों और महलोंमें भी बड़े हर्षके साथ आग लगाने लगे॥ ६॥

तेषां गृहसहस्राणि ददाह हुतभुक् तदा।
प्रासादाः पर्वताकाराः पतन्ति धरणीतले॥ ७॥

वानरोंकी लगायी हुई वह आग उस समय सहस्रों घरोंको जलाने लगी। पर्वताकार प्रासाद धराशायी होने लगे॥ ७॥

अगुरुर्दह्यते तत्र परं चैव सुचन्दनम्।
मौक्तिका मणयः स्निग्धा वज्रं चापि प्रवालकम्॥ ८॥

कहीं अगुरु जल रहा था तो कहीं परम उत्तम चन्दन। मोती, स्निग्धमणि, हीरे और मूँगे भी दग्ध हो रहे थे॥ ८॥

क्षौमं च दह्यते तत्र कौशेयं चापि शोभनम्।
आविकं विविधं चौर्णं काञ्चनं भाण्डमायुधम्॥ ९॥

वहाँ क्षौम (अलसी या सनके रेशोंसे बना हुआ वस्त्र) भी जलता था और सुन्दर रेशमी वस्त्र भी। भेड़के रोएँका कम्बल, नाना प्रकारका ऊनी वस्त्र, सोनेके आभूषण और अस्त्र-शस्त्र भी जल रहे थे॥ ९॥

नानाविकृतसंस्थानं वाजिभाण्डपरिच्छदम्।
गजग्रैवेयकक्ष्याश्च रथभाण्डांश्च संस्कृतान्॥ १०॥

घोड़ोंके गहने, जीन आदि उपकरण जो अनेक प्रकार और विचित्र आकारके थे, दग्ध हो रहे थे। हाथीके गलेका आभूषण, उसे कसनेके लिये रस्से तथा रथोंके उपकरण, जो सुन्दर बने हुए थे, सब-के-सब आगमें जलकर भस्म हो रहे थे॥ १०॥

तनुत्राणि च योधानां हस्त्यश्वानां च वर्म च।
खड्गा धनूंषि ज्याबाणास्तोमराङ्कुशशक्तयः॥ ११॥
रोमजं वालजं चर्म व्याघ्रजं चाण्डजं बहु।
मुक्तामणिविचित्रांश्च प्रासादांश्च समन्ततः॥ १२॥
विविधानस्त्रसंघातानग्निर्दहति तत्र वै।

योद्धाओंके कवच, हाथी और घोड़ोंके बखतर, खड्ग, धनुष, प्रत्यञ्चा, बाण, तोमर, अङ्कुश, शक्ति, रोमज (कम्बल आदि), वालज (चँवर आदि), आसनोपयोगी व्याघ्रचर्म, अण्डज (कस्तूरी आदि), मोती और मणियोंसे जटित विचित्र महल तथा नाना प्रकारके अस्त्रसमूह—इन सबको सब ओर फैली हुई आग जला रही थी॥११-१२½॥

नानाविधान् गृहांश्चित्रान् ददाह हुतभुक् तदा॥ १३॥
आवासान् राक्षसानां च सर्वेषां गृहगृध्नुनाम्।
हेमचित्रतनुत्राणां स्रग्भाण्डाम्बरधारिणाम्॥ १४॥

उस समय अग्निदेवने नाना प्रकारके विचित्र गृहोंको दग्ध करना आरम्भ किया। जो घरोंमें आसक्त थे, सोनेके विचित्र कवच धारण किये हुए थे तथा हार, आभूषण और वस्त्रोंसे विभूषित थे, उन सभी राक्षसोंके आवासस्थान आगकी लपटोंमें आ गये॥ १३-१४॥

सीधुपानचलाक्षाणां मदविह्वलगामिनाम्।
कान्तालम्बितवस्त्राणां शत्रुसंजातमन्युनाम्॥ १५॥
गदाशूलासिहस्तानां खादतां पिबतामपि।
शयनेषु महार्हेषु प्रसुप्तानां प्रियैः सह॥ १६॥
त्रस्तानां गच्छतां तूर्णं पुत्रानादाय सर्वतः।
तेषां शतसहस्राणि तदा लङ्कानिवासिनाम्॥ १७॥
अदहत् पावकस्तत्र जज्वाल च पुनः पुनः।

मदिरापानसे जिनके नेत्र चञ्चल हो रहे थे, जो नशेसे विह्वल हो लड़खड़ाते हुए चलते थे, जिनके वस्त्रोंको उनकी प्रेयसी स्त्रियोंने पकड़ रखा था, जो शत्रुओंपर कुपित थे, जिनके हाथोंमें गदा, खड्ग और शूल शोभा पा रहे थे, जो खाने-पीनेमें लगे थे, जो बहुमूल्य शय्याओंपर अपनी प्राणवल्लभाओंके संग शयन कर रहे थे तथा जो आगसे भयभीत हो अपने पुत्रोंको गोदमें लेकर सब

और तीव्रगतिसे भाग रहे थे, ऐसे लाखों लङ्कानिवासियोंको उस समय अग्निने जलाकर भस्म कर दिया। वह आग वहाँ रह-रहकर पुनः प्रज्वलित हो उठती थी ॥ १५—१७½ ॥

सारवन्ति महार्हाणि गम्भीरगुणवन्ति च ॥ १८ ॥
हेमचन्द्रार्धचन्द्राणि चन्द्रशालोन्नतानि च।
तत्र चित्रगवाक्षाणि साधिष्ठानानि सर्वशः ॥ १९ ॥
मणिविद्रुमचित्राणि स्पृशन्तीव दिवाकरम्।
क्रौञ्चबर्हिणवीणानां भूषणानां च निःस्वनैः ॥ २० ॥
नादितान्यचलाभानि वेश्मान्यग्निर्ददाह सः।

जो बहुत मजबूत और बहुमूल्य बने हुए थे, गाम्भीर्य गुणोंसे युक्त थे—अनेकानेक ड्योढ़ियों, परकोटों, आन्तरिक गृहों, द्वारों और उपद्वारोंके कारण दुर्गम प्रतीत होते थे, जो सुवर्णनिर्मित अर्धचन्द्र अथवा पूर्णचन्द्रके आकारमें बने हुए थे, अट्टालिकाओंके कारण बहुत ऊँचे दिखायी देते थे, विचित्र झरोखे जिनकी शोभा बढ़ाते थे, जिनमें सब ओर सोने-बैठनेके लिये शय्या-आसन आदि सुसज्जित थे, मणियों और मूँगोंसे जटित होनेके कारण जिनकी विचित्र शोभा हो रही थी, जो अपनी ऊँचाईसे सूर्यदेवका स्पर्श-सा कर रहे थे, जिनमें क्रौञ्च और मोरोंके कलरव, वीणाकी मधुर-ध्वनि तथा भूषणोंकी झनकारें गूँज रही थीं और जो पर्वताकार दिखायी देते थे, उन सभी गृहोंको प्रज्वलित आगने जला दिया ॥ १८—२०½ ॥

ज्वलनेन परीतानि तोरणानि चकाशिरे ॥ २१ ॥
विद्युद्भिरिव नद्धानि मेघजालानि घर्मगे।

आगसे घिरे हुए लङ्काके बाहरी दरवाजे ग्रीष्मऋतुमें विद्युन्मालामण्डित मेघसमूहोंके समान प्रकाशित होते थे ॥ २१½ ॥

ज्वलनेन परीतानि गृहाणि प्रचकाशिरे ॥ २२ ॥
दावाग्निदीप्तानि यथा शिखराणि महागिरेः।

अग्निकी लपटोंमें लिपटे हुए लङ्कापुरीके मकान दावाग्निमें दग्ध होते हुए बड़े-बड़े पर्वतोंके शिखरोंके समान जान पड़ते थे ॥ २२½ ॥

विमानेषु प्रसुप्ताश्च दह्यमाना वराङ्गनाः ॥ २३ ॥
त्यक्ताभरणसंयोगा हाहेत्युच्चैर्विचुक्रुशुः।

सतमहले भवनोंमें सोयी हुई सुन्दरियाँ जब आगसे दग्ध होने लगीं, उस समय सारे आभूषणोंको फेंककर हाय-हाय करती हुई उच्चस्वरसे चीत्कार करने लगीं ॥ २३½ ॥

तत्र चाग्निपरीतानि निपेतुर्भवनान्यपि ॥ २४ ॥
वज्रिवज्रहतानीव शिखराणि महागिरेः।

वहाँ आगकी लपेटमें आये हुए कितने ही भवन इन्द्रके वज्रके मारे हुए महान् पर्वतोंके शिखरोंके समान धराशायी हो रहे थे ॥ २४½ ॥

तानि निर्दह्यमानानि दूरतः प्रचकाशिरे ॥ २५ ॥
हिमवच्छिखराणीव दह्यमानानि सर्वशः।

वे जलते हुए गगनचुम्बी भवन दूरसे ऐसे जान पड़ते थे, मानो हिमालयके शिखर सब ओरसे दग्ध हो रहे हों ॥ २५½ ॥

हर्म्याग्रैर्दह्यमानैश्च ज्वालाप्रज्वलितैरपि ॥ २६ ॥
रात्रौ सा दृश्यते लङ्का पुष्पितैरिव किंशुकैः।

अट्टालिकाओंके जलते हुए शिखर उठती हुई ज्वालाओंसे आवेष्टित हो रहे थे। रात्रिमें उनसे उपलक्षित हुई लङ्कापुरी खिले हुए पलाश-पुष्पोंसे युक्त-सी दिखायी देती थी ॥ २६½ ॥

हस्त्यध्यक्षैर्गजैर्मुक्तैर्मुक्तैश्च तुरगैरपि।
बभूव लङ्का लोकान्ते भ्रान्तग्राह इवार्णवः ॥ २७ ॥

हाथियोंके अध्यक्षोंने हाथियोंको और अश्वाध्यक्षोंने अश्वोंको भी खोल दिया था। वे वहाँ इधर-उधर भाग रहे थे, इससे लङ्कापुरी प्रलयकालमें भ्रान्त होकर घूमते हुए ग्राहोंसे युक्त महासागरके समान प्रतीत होती थी ॥ २७ ॥

अश्वं मुक्तं गजो दृष्ट्वा क्वचिद् भीतोऽपसर्पति।
भीतो भीतं गजं दृष्ट्वा क्वचिदश्वो निवर्तते ॥ २८ ॥

कहीं खुले हुए घोड़ेको देखकर हाथी भयभीत होकर भागता था और कहीं डरे हुए हाथीको देखकर भी घोड़ा भागने लगता था ॥ २८ ॥

लङ्कायां दह्यमानायां शुशुभे च महोदधिः।
छायासंसक्तसलिलो लोहितोद इवार्णवः ॥ २९ ॥

लङ्कापुरीके जलते समय समुद्रमें आगकी ज्वालाका प्रतिबिम्ब पड़ रहा था, जिससे वह महासागर लाल पानीसे युक्त लालसागरके समान शोभा पाता था ॥ २९ ॥

सा बभूव मुहूर्तेन हरिभिर्दीपिता पुरी।
लोकस्यास्य क्षये घोरे प्रदीप्तेव वसुन्धरा ॥ ३० ॥

वानरोंद्वारा जिसमें आग लगायी गयी थी, वह लङ्कापुरी दो ही घड़ीमें संसारके घोर संहारके समय दग्ध हुई पृथ्वीके समान प्रतीत होने लगी ॥ ३० ॥

नारीजनस्य धूमेन व्याप्तस्योच्चैर्विनेदुषः।
स्वनो ज्वलनतप्तस्य शुश्रुवे शतयोजनम् ॥ ३१ ॥

धूएँसे आच्छादित और आगसे संतप्त होकर उच्चस्वरसे आर्तनाद करती हुई लङ्काकी नारियोंका करुण क्रन्दन सौ योजन दूरतक सुनायी देता था ॥ ३१ ॥

प्रदग्धकायानपरान् राक्षसान् निर्गतान् बहिः।
सहसा ह्युत्पतन्ति स्म हरयोऽथ युयुत्सवः ॥ ३२ ॥

जिनके शरीर जल गये थे, ऐसे जो-जो राक्षस नगरसे बाहर निकलते, उनके ऊपर युद्धकी इच्छावाले वानर सहसा टूट पड़ते थे ॥ ३२ ॥

उद्घुष्टं वानराणां च राक्षसानां च निःस्वनम्।
दिशो दश समुद्रं च पृथिवीं च व्यनादयत् ॥ ३३ ॥

वानरोंकी गर्जना और राक्षसोंके आर्तनादसे दसों दिशाएँ,

समुद्र और पृथ्वी गूँज उठीं ॥ ३३ ॥

विशल्यौ च महात्मानौ तावुभौ रामलक्ष्मणौ ।
असम्भ्रान्तौ जगृहतुस्ते उभे धनुषी वरे ॥ ३४ ॥

इधर बाण निकल जानेसे स्वस्थ हुए दोनों भाई महात्मा श्रीराम और लक्ष्मणने बिना किसी घबराहटके अपने श्रेष्ठ धनुष उठाये ॥ ३४ ॥

ततो विस्फारयामास रामश्च धनुरुत्तमम् ।
बभूव तुमुलः शब्दो राक्षसानां भयावहः ॥ ३५ ॥

उस समय श्रीरामने अपने उत्तम धनुषको खींचा, उससे भयंकर टंकार प्रकट हुई, जो राक्षसोंको भयभीत कर देनेवाली थी ॥ ३५ ॥

अशोभत तदा रामो धनुर्विस्फारयन् महत् ।
भगवानिव संक्रुद्धो भवो वेदमयं धनुः ॥ ३६ ॥

श्रीरामचन्द्रजी अपने विशाल धनुषको खींचते हुए उसी तरह शोभा पा रहे थे, जैसे त्रिपुरासुरपर कुपित हो भगवान् शंकर अपने वेदमय धनुषकी टंकार करते हुए सुशोभित हुए थे ॥ ३६ ॥

उद्घुष्टं वानराणां च राक्षसानां च निःस्वनम् ।
ज्याशब्दस्तावुभौ शब्दावति रामस्य शुश्रुवे ॥ ३७ ॥

वानरोंकी गर्जना तथा राक्षसोंके कोलाहल—इन दोनों प्रकारके शब्दोंसे भी ऊपर उठकर श्रीरामके धनुषकी टंकार सुनायी पड़ती थी ॥ ३७ ॥

वानरोद्घुष्टघोषश्च राक्षसानां च निःस्वनः ।
ज्याशब्दश्चापि रामस्य त्रयं व्याप दिशो दश ॥ ३८ ॥

वानरोंकी गर्जना, राक्षसोंका कोलाहल और श्रीरामके धनुषकी टंकार—ये तीनों प्रकारके शब्द दसों दिशाओंमें व्याप्त हो रहे थे ॥ ३८ ॥

तस्य कार्मुकनिर्मुक्तैः शरैस्तत्पुरगोपुरम् ।
कैलासशृङ्गप्रतिमं विकीर्णमभवद् भुवि ॥ ३९ ॥

भगवान् श्रीरामके धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा लङ्कापुरीका वह नगरद्वार, जो कैलास-शिखरके समान ऊँचा था, टूट-फूटकर भूतलपर बिखर गया ॥ ३९ ॥

ततो रामशरान् दृष्ट्वा विमानेषु गृहेषु च ।
संनाहो राक्षसेन्द्राणां तुमुलः समपद्यत ॥ ४० ॥

सतमहले मकानों तथा अन्य गृहोंपर गिरते हुए श्रीरामके बाणोंको देखकर राक्षसपतियोंने युद्धके लिये बड़ी भयंकर तैयारी की ॥ ४० ॥

तेषां संनह्यमानानां सिंहनादं च कुर्वताम् ।
शर्वरी राक्षसेन्द्राणां रौद्रीव समपद्यत ॥ ४१ ॥

कमर कसकर और कवच आदि बाँधकर युद्धके लिये तैयार होते तथा सिंहनाद करते हुए उन राक्षसपतियोंके लिये वह रात कालरात्रिके समान प्राप्त हुई थी ॥ ४१ ॥

आदिष्टा वानरेन्द्रास्ते सुग्रीवेण महात्मना ।
आसन्नं द्वारमासाद्य युध्यध्वं च प्लवंगमाः ॥ ४२ ॥

उस समय महात्मा सुग्रीवने प्रधान-प्रधान वानरोंको यह आज्ञा दी—'वानरवीरो! तुम सब लोग अपने-अपने निकटवर्ती द्वारपर जाकर युद्ध करो ॥ ४२ ॥

यश्च वो वितथं कुर्यात् तत्र तत्राप्युपस्थितः ।
स हन्तव्योऽभिसम्प्लुत्य राजशासनदूषकः ॥ ४३ ॥

'तुमलोगोंमेंसे जो वहाँ-वहाँ युद्धभूमिमें उपस्थित होकर भी मेरे आदेशका पालन न करे—युद्धसे मुँह मोड़कर भाग जाय, उसे तुम सब लोग पकड़कर मार डालना; क्योंकि वह राजाज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाला होगा' ॥ ४३ ॥

तेषु वानरमुख्येषु दीप्तोल्कोज्ज्वलपाणिषु ।
स्थितेषु द्वारमाश्रित्य रावणं क्रोध आविशत् ॥ ४४ ॥

सुग्रीवकी इस आज्ञाके अनुसार जब मुख्य-मुख्य वानर जलते मशाल हाथमें लिये नगरद्वारपर जाकर डट गये, तब रावणको बड़ा क्रोध हुआ ॥ ४४ ॥

तस्य जृम्भितविक्षेपाद् व्यामिश्रा वै दिशो दश ।
रूपवानिव रुद्रस्य मन्युर्गात्रेष्वदृश्यत ॥ ४५ ॥

उसने अँगड़ाई लेकर जो अङ्गोंका संचालन किया, उससे दसों दिशाएँ व्याकुल हो उठीं। वह कालरुद्रके अङ्गोंमें प्रकट हुए मूर्तिमान् क्रोधकी भाँति दिखायी देने लगा ॥ ४५ ॥

स कुम्भं च निकुम्भं च कुम्भकर्णात्मजावुभौ ।
प्रेषयामास संक्रुद्धो राक्षसैर्बहुभिः सह ॥ ४६ ॥

क्रोधसे भरे हुए रावणने कुम्भकर्णके दो पुत्र कुम्भ और निकुम्भको बहुत-से राक्षसोंके साथ भेजा ॥ ४६ ॥

यूपाक्षः शोणिताक्षश्च प्रजङ्घः कम्पनस्तथा ।
निर्ययुः कौम्भकर्णिभ्यां सह रावणशासनात् ॥ ४७ ॥

रावणकी आज्ञासे यूपाक्ष, शोणिताक्ष, प्रजङ्घ और कम्पन भी कुम्भकर्णके दोनों पुत्रोंके साथ-साथ युद्धके लिये निकले ॥ ४७ ॥

शशास चैव तान् सर्वान् राक्षसान् स महाबलान् ।
राक्षसा गच्छताद्यैव सिंहनादं च नादयन् ॥ ४८ ॥

उस समय सिंहके समान दहाड़ते हुए रावणने उन समस्त महाबली राक्षसोंको आदेश दिया—'वीर निशाचरो! इसी रातमें तुमलोग युद्धके लिये जाओ' ॥ ४८ ॥

ततस्तु चोदितास्तेन राक्षसा ज्वलितायुधाः ।
लङ्काया निर्ययुर्वीराः प्रणदन्तः पुनः पुनः ॥ ४९ ॥

राक्षसराजकी आज्ञा पाकर वे वीर राक्षस हाथोंमें चमकीले अस्त्र-शस्त्र लिये बार-बार गर्जना करते हुए लङ्कापुरीसे बाहर निकले ॥ ४९ ॥

रक्षसां भूषणस्थाभिर्भाभिः स्वाभिश्च सर्वशः ।
चक्रुस्ते सप्रभं व्योम हरयश्चाग्निभिः सह ॥ ५० ॥

राक्षसोंने अपने आभूषणोंकी तथा अपनी प्रभासे और वानरोंने मशालकी आगसे वहाँके आकाशको प्रकाशसे परिपूर्ण कर दिया था ॥ ५० ॥

तत्र ताराधिपस्याभा ताराणां भा तथैव च ।
तयोराभरणाभा च ज्वलिता द्यामभासयत् ॥ ५१ ॥

चन्द्रमाकी, नक्षत्रोंकी और उन दोनों सेनाओंके आभूषणोंकी प्रज्वलित प्रभाने आकाशको प्रकाशित कर दिया था ॥ ५१ ॥

चन्द्राभा भूषणाभा च ग्रहाणां ज्वलतां च भा ।
हरिराक्षससैन्यानि भ्राजयामास सर्वतः ॥ ५२ ॥

चन्द्रमाकी चाँदनी, आभूषणोंकी प्रभा तथा प्रकाशमान ग्रहोंकी दीप्तिने सब ओरसे राक्षसों और वानरोंकी सेनाओंको उद्भासित कर रखा था ॥ ५२ ॥

तत्र चार्धप्रदीप्तानां गृहाणां सागरः पुनः ।
भाभिः संसक्तसलिलश्चलोर्मिः शुशुभेऽधिकम् ॥ ५३ ॥

लङ्काके अधजले गृहोंकी प्रभाका जलमें प्रतिबिम्ब पड़नेसे चञ्चल लहरोंवाला समुद्र अधिक शोभा पा रहा था ॥ ५३ ॥

पताकाध्वजसंयुक्तमुत्तमासिपरश्वधम् ।
भीमाश्वरथमातङ्गं नानापत्तिसमाकुलम् ॥ ५४ ॥
दीप्तशूलगदाखड्गप्रासतोमरकार्मुकम् ।
तद् राक्षसबलं भीमं घोरविक्रमपौरुषम् ॥ ५५ ॥

राक्षसोंकी वह भयंकर सेना ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित थी। सैनिकोंके हाथोंमें उत्तम खड्ग और फरसे चमक रहे थे। भयानक घोड़े, रथ और हाथियोंसे एवं नाना प्रकारके पैदल सैनिकोंसे वह लैस थी। चमकते हुए शूल, गदा, तलवार, भाले, तोमर और धनुष आदिसे युक्त हुई वह सेना भयानक विक्रम एवं पुरुषार्थ प्रकट करनेवाली थी ॥ ५४-५५ ॥

ददृशे ज्वलितप्रासं किङ्किणीशतनादितम् ।
हेमजालाचितभुजं व्यावेष्टितपरश्वधम् ॥ ५६ ॥
व्याघूर्णितमहाशस्त्रं बाणसंसक्तकार्मुकम् ।
गन्धमाल्यमधूत्सेकसम्मोदितमहानिलम् ॥ ५७ ॥
घोरं शूरजनाकीर्णं महाम्बुधरनिःस्वनम् ।

उस सेनामें भाले चमक रहे थे। सैकड़ों घुँघुरुओंका झंकार सुनायी पड़ता था। सैनिकोंकी भुजाओंमें सोनेके आभूषण बँधे हुए थे। उनके द्वारा फरसे चलाये जा रहे थे, बड़े-बड़े शस्त्र घुमाये जाते थे। धनुषपर बाणोंका संधान किया जाता था। चन्दन, पुष्पमाला और मधुकी अधिकतासे वहाँके महान् वातावरणमें अनुपम गन्ध छा रही थी। वह सेना शूरवीरोंसे व्याप्त तथा महान् मेघोंकी गर्जनाके समान सिंहनादसे निनादित होनेके कारण भयंकर दिखायी देती थी ॥ ५६-५७ १/२ ॥

तद् दृष्ट्वा बलमायातं राक्षसानां दुरासदम् ॥ ५८ ॥
संचचाल प्लवंगानां बलमुच्चैर्ननाद च ।

राक्षसोंकी उस दुर्जय सेनाको आती देख वानर-सेना आगे बढ़ी और उच्चस्वरसे गर्जना करने लगी ॥ ५८ १/२ ॥

जवेनाप्लुत्य च पुनस्तद् बलं रक्षसां महत् ॥ ५९ ॥
अभ्ययात् प्रत्यरिबलं पतंगा इव पावकम् ।

राक्षसोंकी विशाल सेना भी बड़े वेगसे उछलकर शत्रुसेनाकी ओर उसी तरह अग्रसर हुई, जैसे पतङ्ग आगपर टूट पड़ते हैं ॥ ५९ १/२ ॥

तेषां भुजपरामर्शव्यामृष्टपरिघाशनि ॥ ६० ॥
राक्षसानां बलं श्रेष्ठं भूयः परमशोभत ।

सैनिकोंकी भुजाओंके व्यापारसे जहाँ परिघ और अशनि झूम रहे थे, राक्षसोंकी वह उत्तम सेना बड़ी शोभा पा रही थी ॥ ६० १/२ ॥

तत्रोन्मत्ता इवोत्पेतुर्हरयोऽथ युयुत्सवः ॥ ६१ ॥
तरुशैलैरभिघ्नन्तो मुष्टिभिश्च निशाचरान् ।

वहाँ युद्धकी इच्छावाले वानर उन्मत्त-से होकर वृक्षों, पत्थरों और मुक्कोंसे निशाचरोंको मारते हुए, उनपर टूट पड़े ॥ ६१ १/२ ॥

तथैवापततां तेषां हरीणां निशितैः शरैः ॥ ६२ ॥
शिरांसि सहसा जह्रू राक्षसा भीमविक्रमाः ।

इसी प्रकार भयानक पराक्रमी निशाचर भी अपने तीखे बाणोंसे सामने आये हुए वानरोंके मस्तक सहसा काट-काटकर गिराने लगे ॥ ६२ १/२ ॥

दशनैर्हृतकर्णाश्च मुष्टिभिर्भिन्नमस्तकाः ।
शिलाप्रहारभग्नाङ्गा विचेरुस्तत्र राक्षसाः ॥ ६३ ॥

वानरोंने भी दाँतोंसे निशाचरोंके कान काट लिये, मुक्कोंसे मार-मारकर उनके मस्तक विदीर्ण कर दिये और शिलाओंके प्रहारसे उनके अङ्ग-भङ्ग कर दिये। इस अवस्थामें वे राक्षस वहाँ विचर रहे थे ॥ ६३ ॥

तथैवाप्यपरे तेषां कपीनामसिभिः शितैः ।
प्रवरानभितो जघ्नुर्घोररूपा निशाचराः ॥ ६४ ॥

इसी प्रकार घोर रूपधारी निशाचरोंने भी मुख्य-मुख्य वानरोंको अपनी तीखी तलवारोंसे सर्वथा घायल कर दिया था ॥ ६४ ॥

घ्नन्तमन्यं जघानान्यः पातयन्तमपातयत् ।
गर्हमाणं जगर्हान्यो दशन्तमपरोऽदशत् ॥ ६५ ॥

एक वीर जब दूसरे विपक्षी योद्धाको मारने लगता था, तब दूसरा आकर उसे मारने लगता था। इसी प्रकार एकको गिराते हुए योद्धाको दूसरा आकर धराशायी कर देता था। एकको निन्दा करनेवालेको दूसरा निन्दा करता और एकको दाँतोंसे काटनेवालेको दूसरा आकर काट लेता था ॥ ६५ ॥

देहीत्यन्यो ददात्यन्यो ददामीत्यपरः पुनः ।
किं क्लेशयसि तिष्ठेति तत्रान्योन्यं बभाषिरे ॥ ६६ ॥

एक आकर कहता कि 'मुझे युद्ध प्रदान करो' तो दूसरा उसे युद्धका अवसर देता था; फिर तीसरा कहता था कि 'तुम क्यों क्लेश उठाते हो ? मैं इसके साथ युद्ध करता हूँ।' इस तरह वे एक-दूसरेसे बातें करते थे ॥ ६६ ॥

विप्रलम्भितशस्त्रं च विमुक्तकवचायुधम्।
समुद्यतमहाप्रासं मुष्टिशूलासिकुन्तलम् ॥ ६७ ॥
प्रावर्तत महारौद्रं युद्धं वानररक्षसाम्।
वानरान् दश सप्तेति राक्षसा जघ्नुराहवे ॥ ६८ ॥
राक्षसान् दश सप्तेति वानराश्चाभ्यपातयन्।

उस समय वानरों और राक्षसोंमें बड़ा भयंकर युद्ध होने लगा। हथियार गिर जाते, कवच और अस्त्र-शस्त्र छूट जाते, बड़े-बड़े भाले ऊँचे उठे दिखायी देते तथा मुक्कों, शूलों, तलवारों और भालोंकी मार होती थी। उस युद्धस्थलमें राक्षस दस-दस या सात-सात वानरोंको एक साथ मार गिराते थे और वानर भी दस-दस या सात-सात राक्षसोंको एक साथ धराशायी कर देते थे ॥ ६७-६८½ ॥

विप्रलम्भितवस्त्रं च विमुक्तकवचध्वजम्।
बलं राक्षसमालम्ब्य वानराः पर्यवारयन् ॥ ६९ ॥

राक्षसोंके वस्त्र खुल गये, कवच और ध्वज टूट गये तथा उस राक्षसी सेनाको रोककर वानरोंने सब ओरसे घेर लिया ॥ ६९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे पञ्चसप्ततितमः सर्गः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें पचहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७५ ॥

—★—

षट्सप्ततितमः सर्गः

अङ्गदके द्वारा कम्पन और प्रजङ्घका, द्विविदके द्वारा शोणिताक्षका, मैन्दके द्वारा यूपाक्षका और सुग्रीवके द्वारा कुम्भका वध

प्रवृत्ते संकुले तस्मिन् घोरे वीरजनक्षये।
अङ्गदः कम्पनं वीरमाससाद रणोत्सुकः ॥ १ ॥

जब वीरजनोंका विनाश करनेवाला वह घोर घमासान युद्ध चल रहा था, उस समय अङ्गद संग्रामके लिये उत्सुक होकर वीर कम्पनका सामना करनेके लिये आये ॥ १ ॥

आहूय सोऽङ्गदं कोपात् ताडयामास वेगितः।
गदया कम्पनः पूर्वं स चचाल भृशाहतः ॥ २ ॥

कम्पनने अङ्गदको क्रोधपूर्वक ललकारकर बड़े वेगसे उनके ऊपर पहले गदाका प्रहार किया। इससे उनको बड़ी चोट पहुँची और वे काँपकर बेहोश हो गये ॥ २ ॥

स संज्ञां प्राप्य तेजस्वी चिक्षेप शिखरं गिरेः।
अर्दितश्च प्रहारेण कम्पनः पतितो भुवि ॥ ३ ॥

फिर चेत होनेपर तेजस्वी वीर अङ्गदने एक पर्वतका शिखर उठाकर उस राक्षसपर दे मारा। उस प्रहारसे पीड़ित हो कम्पन पृथ्वीपर गिर पड़ा—उसके प्राण-पखेरू उड़ गये ॥ ३ ॥

ततस्तु कम्पनं दृष्ट्वा शोणिताक्षो हतं रणे।
रथेनाभ्यपतत् क्षिप्रं तत्राङ्गदमभीतवत् ॥ ४ ॥

कम्पनको युद्धमें मारा गया देख शोणिताक्षने रथपर बैठकर तुरंत ही निर्भय हो अङ्गदपर धावा किया ॥ ४ ॥

सोऽङ्गदं निशितैर्बाणैस्तदा विव्याध वेगितः।
शरीरदारणैस्तीक्ष्णैः कालाग्निसमविग्रहैः ॥ ५ ॥

उसने शरीरको विदीर्ण करनेमें समर्थ और कालाग्निके समान आकारवाले तीखे तथा पैने बाणोंद्वारा बड़े वेगसे उस समय अङ्गदको चोट पहुँचायी ॥ ५ ॥

क्षुरक्षुरप्रनाराचैर्वत्सदन्तैः शिलीमुखैः।
कर्णिशल्यविपाठैश्च बहुभिर्निशितैः शरैः ॥ ६ ॥
अङ्गदः प्रतिविद्धाङ्गो वालिपुत्रः प्रतापवान्।
धनुरुग्रं रथं बाणान् ममर्द तरसा बली ॥ ७ ॥

उसके चलाये हुए क्षुर[1], क्षुरप्र[2], नाराच[3], वत्सदन्त[4], शिलीमुख[5], कर्णी[6], शल्य[7] और विपाठ[8] नामक बहुसंख्यक तीखे बाणोंसे जब प्रतापी वालिपुत्र अङ्गदके सारे अङ्ग बिंध गये, तब उन बलवान् वीरने बड़े वेगसे उस राक्षसके भयंकर धनुष, रथ और बाणोंको कुचल डाला ॥ ६-७ ॥

शोणिताक्षस्ततः क्षिप्रमसिचर्म समाददे।
उत्पपात तदा क्रुद्धो वेगवानविचारयन् ॥ ८ ॥

---

१. जिसका अग्रभाग नाईके छुरेके समान हो, उसे 'क्षुर' कहते हैं। २. अर्द्धचन्द्राकार बाण। ३. पूर्णतः लोहेके बने हुए बाणका नाम 'नाराच' है। उसमें नीचेसे ऊपरतक सब-का-सब लोहा ही होता है। ४. बछड़ेके दाँतके समान जिसका अग्रभाग हो, उसे 'वत्सदन्त' कहा गया है। ५. जिसका मुखभाग कङ्क (बकविशेष) की पाँखोंके समान हो, उस बाणको 'शिलीमुख' कहते हैं। ६. जिस बाणके दोनों पार्श्वभागोंमें कानका-सा आकार बना हो, वह 'कर्णी' कहलाता है। ७. जिसका फाल या अग्रभाग बड़ा हो, वह 'शल्य' है। किसी-किसीके मतमें आधे नाराचको 'शल्य' कहते हैं। ८. कनेरके पत्तेके अग्रभागके समान आकारवाले बाणका नाम 'विपाठ' है। ('रामायणतिलकसे)

तदनन्तर वेगवान् निशाचर शोणिताक्षने कुपित हो तत्काल ही ढाल और तलवार हाथमें ले ली तथा वह बिना सोचे-विचारे रथसे कूद पड़ा॥ ८॥

तं क्षिप्रतरमाप्लुत्य परामृश्याङ्गदो बली।
करेण तस्य तं खड्गं समाच्छिद्य ननाद च॥ ९॥

इतनेहीमें बलवान् अङ्गदने शीघ्रतापूर्वक उछलकर उसे पकड़ लिया और अपने हाथसे उसको उस तलवारको छीनकर बड़े जोरसे सिंहनाद किया॥ ९॥

तस्यांसफलके खड्गं निजघान ततोऽङ्गदः।
यज्ञोपवीतवच्चैनं चिच्छेद कपिकुञ्जरः॥ १०॥

फिर कपिकुञ्जर अङ्गदने उसके कंधेपर तलवारका वार किया और उसके शरीरको इस तरह चीर दिया मानो उसने यज्ञोपवीत पहन रखा हो॥ १०॥

तं प्रगृह्य महाखड्गं विनद्य च पुनः पुनः।
वालिपुत्रोऽभिदुद्राव रणशीर्षे परानरीन्॥ ११॥

इसके बाद वालिपुत्रने उस विशाल खड्गको लेकर बारम्बार गर्जना करते हुए युद्धके मुहानेपर दूसरे शत्रुओंपर धावा किया॥ ११॥

प्रजङ्घसहितो वीरो यूपाक्षस्तु ततो बली।
रथेनाभिययौ क्रुद्धो वालिपुत्रं महाबलम्॥ १२॥

इतनेहीमें प्रजङ्घको साथ लिये बलवान् वीर यूपाक्षने कुपित हो रथके द्वारा महाबली वालिपुत्रपर आक्रमण किया॥ १२॥

आयसीं तु गदां गृह्य स वीरः कनकाङ्गदः।
शोणिताक्षः समाश्वस्य तमेवानुपपात ह॥ १३॥

इसी बीचमें सोनेके बाजूबंद पहने वीर शोणिताक्षने अपनेको सँभालकर लोहेकी गदा उठायी और अङ्गदका ही पीछा किया॥ १३॥

प्रजङ्घस्तु महावीरो यूपाक्षसहितो बली।
गदयाभिययौ क्रुद्धो वालिपुत्रं महाबलम्॥ १४॥

फिर यूपाक्षसहित बलवान् महावीर प्रजङ्घ कुपित हो महाबली वालिपुत्रपर गदा लेकर चढ़ आया॥ १४॥

तयोर्मध्ये कपिश्रेष्ठः शोणिताक्षप्रजङ्घयोः।
विशाखयोर्मध्यगतः पूर्णचन्द्र इवाबभौ॥ १५॥

शोणिताक्ष और प्रजङ्घ दोनों राक्षसोंके बीचमें कपिश्रेष्ठ अङ्गद वैसी ही शोभा पा रहे थे, जैसे दोनों विशाखा नक्षत्रोंके बीचमें पूर्ण चन्द्रमा सुशोभित होते हैं॥ १५॥

अङ्गदं परिरक्षन्तौ मैन्दो द्विविद एव च।
तस्य तस्थतुरभ्याशे परस्परदिदृक्षया॥ १६॥

उस समय मैन्द और द्विविद अङ्गदकी रक्षा करनेके लिये उनके निकट आकर खड़े हो गये। वे दोनों अपने-अपने योग्य विपक्षी योद्धाकी तलाश भी कर रहे थे॥ १६॥

अभिपेतुर्महाकायाः प्रतियत्ता महाबलाः।
राक्षसा वानरान् रोषादसिबाणगदाधराः॥ १७॥

इतनेहीमें तलवार, बाण और गदा धारण किये बहुत-से महाबली विशालकाय राक्षस रोषपूर्वक वानरोंपर टूट पड़े॥ १७॥

त्रयाणां वानरेन्द्राणां त्रिभी राक्षसपुंगवैः।
संसक्तानां महद् युद्धमभवद् रोमहर्षणम्॥ १८॥

वे तीन वानर-सेनापति उन तीन प्रमुख राक्षसोंके साथ उलझे हुए थे। उस समय उनमें रोंगटे खड़े कर देनेवाला महान् युद्ध छिड़ गया॥ १८॥

ते तु वृक्षान् समादाय सम्प्रचिक्षिपुराहवे।
खड्गेन प्रतिचिक्षेप तान् प्रजङ्घो महाबलः॥ १९॥

उन तीनों वानरोंने रणभूमिमें वृक्ष ले-लेकर युद्धमें निशाचरोंपर चलाये, परंतु महाबली प्रजङ्घने अपनी तलवारसे उन सब वृक्षोंको काट गिराया॥ १९॥

रथानश्वान् द्रुमाञ्छैलान् प्रतिचिक्षिपुराहवे।
शरौघैः प्रतिचिच्छेद तान् यूपाक्षो महाबलः॥ २०॥

तत्पश्चात् उन्होंने रणभूमिमें उन राक्षसोंके रथों और घोड़ों-पर वृक्ष तथा पर्वतशिखर चलाये, परंतु महाबली यूपाक्षने अपने बाणसमूहोंसे उनके टुकड़े-टुकड़े कर डाले॥ २०॥

सृष्टान् द्विविदमैन्दाभ्यां द्रुमानुत्पाट्य वीर्यवान्।
बभञ्ज गदया मध्ये शोणिताक्षः प्रतापवान्॥ २१॥

मैन्द और द्विविदने जिन-जिन वृक्षोंको उखाड़-उखाड़कर उन राक्षसोंपर चलाया था, उन सबको बल-विक्रमशाली और प्रतापी शोणिताक्षने गदा मारकर बीचमें ही तोड़ डाला॥ २१॥

उद्यम्य विपुलं खड्गं परमर्मविदारणम्।
प्रजङ्घो वालिपुत्राय अभिदुद्राव वेगितः॥ २२॥

तत्पश्चात् प्रजङ्घने शत्रुओंके मर्मको विदीर्ण करनेवाली एक बहुत बड़ी तलवार उठाकर वालिपुत्र अङ्गदपर वेगपूर्वक आक्रमण किया॥ २२॥

तमभ्याशगतं दृष्ट्वा वानरेन्द्रो महाबलः।
आजघानाश्वकर्णेन द्रुमेणातिबलस्तदा॥ २३॥

बाहुं चास्य सनिस्त्रिंशमाजघान स मुष्टिना।
वालिपुत्रस्य घातेन स पपात क्षितावसिः॥ २४॥

उसे निकट आया देख अतिशय शक्तिशाली महाबली वानरराज अङ्गदने अश्वकर्ण नामक वृक्षसे मारा। साथ ही उसकी बाँहपर, जिसमें तलवार थी, उन्होंने एक घूसा मारा। वालिपुत्रके उस आघातसे वह तलवार छूटकर पृथ्वीपर जा गिरी॥ २३-२४॥

तं दृष्ट्वा पतितं भूमौ खड्गं मुसलसंनिभम्।
मुष्टिं संवर्तयामास वज्रकल्पं महाबलः॥ २५॥

मूसल-जैसी उस तलवारको पृथ्वीपर पड़ी देख महाबली प्रजङ्घने अपना वज्रके समान भयंकर मुक्का घुमाना आरम्भ किया॥ २५॥

स ललाटे महावीर्यमङ्गदं वानरर्षभम्।
आजघान महातेजाः स मुहूर्तं चचाल ह॥ २६॥
उस महातेजस्वी निशाचरने महापराक्रमी वानरशिरोमणि अङ्गदके ललाटमें बड़े जोरसे मुक्का मारा, जिससे अङ्गदको दो घड़ीतक चक्कर आता रहा॥ २६॥

स संज्ञां प्राप्य तेजस्वी वालिपुत्रः प्रतापवान्।
प्रजङ्घस्य शिरः कायात् पातयामास मुष्टिना॥ २७॥
इसके बाद होशमें आनेपर तेजस्वी और प्रतापी वालिकुमारने प्रजङ्घको ऐसा घूसा मारा कि उसका सिर धड़से अलग हो गया॥ २७॥

स यूपाक्षोऽश्रुपूर्णाक्षः पितृव्ये निहते रणे।
अवरुह्य रथात् क्षिप्रं क्षीणेषुः खड्गमाददे॥ २८॥
रणभूमिमें अपने चाचा प्रजङ्घके मारे जानेपर यूपाक्षकी आँखोंमें आँसू भर आये। उसके बाण नष्ट हो चुके थे। इसलिये तुरंत ही रथसे उतरकर उसने तलवार हाथमें ले ली॥ २८॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य यूपाक्षं द्विविदस्त्वरन्।
आजघानोरसि क्रुद्धो जग्राह च बलाद् बली॥ २९॥
यूपाक्षको आक्रमण करते देख बलवान् और द्विविदने कुपित हो बड़ी फुर्तीके साथ उसकी छातीमें चोट की और उसे बलपूर्वक पकड़ लिया॥ २९॥

गृहीतं भ्रातरं दृष्ट्वा शोणिताक्षो महाबलः।
आजघान महातेजा वक्षसि द्विविदं ततः॥ ३०॥
भाईको पकड़ा गया देख महातेजस्वी एवं महाबली शोणिताक्षने द्विविदकी छातीमें गदा मारी॥ ३०॥

स ततोऽभिहतस्तेन चचाल च महाबलः।
उद्यतां च पुनस्तस्य जहार द्विविदो गदाम्॥ ३१॥
शोणिताक्षकी मार खाकर महाबली द्विविद विचलित हो उठे। तत्पश्चात् जब उसने पुनः गदा उठायी, तब द्विविदने झपटकर उसे छीन लिया॥ ३१॥

एतस्मिन्नन्तरे मैन्दो द्विविदाभ्याशमागमत्।
यूपाक्षं ताडयामास तलेनोरसि वीर्यवान्॥ ३२॥
इसी बीचमें पराक्रमी मैन्द भी द्विविदके पास आ गये और उन्होंने यूपाक्षकी छातीमें एक थप्पड़ मारा॥ ३२॥

तौ शोणिताक्षयूपाक्षौ प्लवंगाभ्यां तरस्विनौ।
चक्रतुः समरे तीव्रमाकर्षोत्पाटनं भृशम्॥ ३३॥
वे दोनों वेगशाली वीर शोणिताक्ष और यूपाक्ष उन दोनों वानर मैन्द और द्विविदके साथ समराङ्गणमें बड़ी तेजीसे छीना-झपटी और पटका-पटकी करने लगे॥ ३३॥

द्विविदः शोणिताक्षं तु विददार नखैर्मुखे।
निष्पिपेष स वीर्येण क्षितावाविध्य वीर्यवान्॥ ३४॥
पराक्रमी द्विविदने अपने नखोंसे शोणिताक्षका मुँह नोच लिया और उसे बलपूर्वक पृथ्वीपर पटककर पीस डाला॥ ३४॥

यूपाक्षमभिसंक्रुद्धो मैन्दो वानरपुंगवः।
पीडयामास बाहुभ्यां पपात स हतः क्षितौ॥ ३५॥
तत्पश्चात् अत्यन्त क्रोधसे भरे हुए वानरपुङ्गव मैन्दने यूपाक्षको अपनी दोनों बाँहोंसे इस तरह दबाया कि वह निष्प्राण होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा॥ ३५॥

हतप्रवीरा व्यथिता राक्षसेन्द्रचमूस्तथा।
जगामाभिमुखी सा तु कुम्भकर्णात्मजो यतः॥ ३६॥
इन प्रमुख वीरोंके मारे जानेपर राक्षसराजकी सेना व्यथित हो उठी और भागकर उस ओर चली गयी, जहाँ कुम्भकर्णका पुत्र युद्ध कर रहा था॥ ३६॥

आपतन्तीं च वेगेन कुम्भस्तां सान्त्वयच्चमूम्।
अथोत्कृष्टं महावीर्यैर्लब्धलक्षैः प्लवंगमैः॥ ३७॥
वेगसे भागकर आती हुई उस सेनाको कुम्भने सान्त्वना दी। दूसरी ओर महापराक्रमी वानर युद्धमें सफल होनेके कारण जोर-जोरसे गर्जना करने लगे॥ ३७॥

निपातितमहावीरां दृष्ट्वा रक्षश्चमूं तदा।
कुम्भः प्रचक्रे तेजस्वी रणे कर्म सुदुष्करम्॥ ३८॥
राक्षससेनाके बड़े-बड़े वीरोंको मारा गया देख तेजस्वी कुम्भने रणभूमिमें अत्यन्त दुष्कर कर्म करना आरम्भ किया॥ ३८॥

स धनुर्धन्विनां श्रेष्ठः प्रगृह्य सुसमाहितः।
मुमोचाशीविषप्रख्याञ्छरान् देहविदारणान्॥ ३९॥
वह धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ था और युद्धमें चित्तको अत्यन्त एकाग्र रखता था। उसने धनुष उठाया और शरीरको विदीर्ण करनेमें समर्थ एवं सर्पके समान विषैले बाणोंको बरसाना आरम्भ किया॥ ३९॥

तस्य तच्छुशुभे भूयः सशरं धनुरुत्तमम्।
विद्युदैरावतार्चिष्मद्द्वितीयेन्द्रधनुर्यथा॥ ४०॥
उसका वह बाणसहित उत्तम धनुष विद्युत् और ऐरावतकी प्रभासे युक्त द्वितीय इन्द्रधनुषके समान अधिक शोभा पा रहा था॥ ४०॥

आकर्णकृष्टमुक्तेन जघान द्विविदं तदा।
तेन हाटकपुङ्खेन पत्रिणा पत्रवाससा॥ ४१॥
उसने सोनेके पङ्ख लगे हुए पत्रयुक्त बाणद्वारा, जो धनुषको कानतक खींचकर छोड़ा गया था, द्विविदको घायल कर दिया॥ ४१॥

सहसाभिहतस्तेन विप्रमुक्तपदः स्फुरन्।
निपपात त्रिकूटाभो विह्वलन् प्लवगोत्तमः॥ ४२॥
उसके बाणसे सहसा आहत होकर त्रिकूट पर्वतके समान विशालकाय वानरश्रेष्ठ द्विविद व्याकुल हो गये और छटपटाते हुए पाँव फैलाकर पृथ्वीपर गिर पड़े॥ ४२॥

मैन्दस्तु भ्रातरं तत्र भग्नं दृष्ट्वा महाहवे।
अभिदुद्राव वेगेन प्रगृह्य विपुलां शिलाम्॥ ४३॥

उस महासमरमें अपने भाईको घायल होकर गिरा देख मैन्द बहुत बड़ी शिला उठाकर वेगपूर्वक दौड़े ॥ ४३ ॥

तां शिलां तु प्रचिक्षेप राक्षसाय महाबलः ।
बिभेद तां शिलां कुम्भः प्रसन्नैः पञ्चभिः शरैः ॥ ४४ ॥

उन महाबली वीरने वह शिला उस राक्षसपर चला दी; परंतु कुम्भने पाँच चमकीले बाणोंद्वारा उस शिलाको टूक-टूक कर दिया ॥ ४४ ॥

संधाय चान्यं सुमुखं शरमाशीविषोपमम् ।
आजघान महातेजा वक्षसि द्विविदाग्रजम् ॥ ४५ ॥

फिर विषधर सर्पके समान भयंकर और सुन्दर अग्रभागवाला दूसरा बाण धनुषपर रखा और उसके द्वारा उस महातेजस्वी वीरने द्विविदके बड़े भाईकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ ४५ ॥

स तु तेन प्रहारेण मैन्दो वानरयूथपः ।
मर्मण्यभिहतस्तेन पपात भुवि मूर्च्छितः ॥ ४६ ॥

उसके उस प्रहारसे वानरयूथपति मैन्दके मर्मस्थानमें भारी आघात पहुँचा और वे मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ४६ ॥

अङ्गदो मातुलौ दृष्ट्वा मथितौ तु महाबलौ ।
अभिदुद्राव वेगेन कुम्भमुद्यतकार्मुकम् ॥ ४७ ॥

मैन्द और द्विविद अङ्गदके मामा थे। उन दोनों महाबली वीरोंको घायल हुआ देख अङ्गद धनुष लेकर खड़े हुए कुम्भके ऊपर बड़े वेगसे टूटे ॥ ४७ ॥

तमापतन्तं विव्याध कुम्भः पञ्चभिरायसैः ।
त्रिभिश्चान्यैः शितैर्बाणैर्मातंगमिव तोमरैः ।
सोऽङ्गदं बहुभिर्बाणैः कुम्भो विव्याध वीर्यवान् ॥ ४८ ॥

उन्हें आते देख कुम्भने लोहेके बने हुए पाँच बाणोंसे घायल कर दिया। फिर तीन तीखे बाण और मारे। जैसे महावत अङ्कुशसे मतवाले हाथीको मारता है, उसी प्रकार पराक्रमी कुम्भने बहुत-से बाणोंद्वारा अङ्गदको बींध डाला ॥ ४८ ॥

अकुण्ठधारैर्निशितैस्तीक्ष्णैः कनकभूषणैः ।
अङ्गदः प्रतिविद्धाङ्गो वालिपुत्रो न कम्पते ॥ ४९ ॥

जिनकी धारें कुण्ठित नहीं हुई थीं तथा जो सुवर्णसे विभूषित थे, ऐसे तेज और तीखे बाणोंसे वालिपुत्र अङ्गदका सारा शरीर छिद गया था तो भी वे कम्पित नहीं हुए ॥ ४९ ॥

शिलापादपवर्षाणि तस्य मूर्ध्नि ववर्ष ह ।
स प्रचिच्छेद तान् सर्वान् बिभेद च पुनः शिलाः ॥ ५० ॥
कुम्भकर्णात्मजः श्रीमान् वालिपुत्रसमीरितान् ।

उन्होंने उस राक्षसके मस्तकपर शिलाओं और वृक्षोंकी वर्षा आरम्भ कर दी; किंतु कुम्भकर्णकुमार श्रीमान् कुम्भने वालिपुत्रके चलाये हुए उन समस्त वृक्षोंको काट दिया और शिलाओंको भी तोड़-फोड़ डाला ॥ ५० १/२ ॥

आपतन्तं च सम्प्रेक्ष्य कुम्भो वानरयूथपम् ॥ ५१ ॥
भ्रुवौ विव्याध बाणाभ्यामुल्काभ्यामिव कुञ्जरम् ।

तत्पश्चात् वानरयूथपति अङ्गदको अपनी ओर आते देख कुम्भने दो बाणोंसे उनकी भौंहोंमें प्रहार किया, मानो दो उल्काओंद्वारा किसी हाथीको मारा गया हो ॥ ५१ १/२ ॥

तस्य सुस्राव रुधिरं पिहिते चास्य लोचने ॥ ५२ ॥
अङ्गदः पाणिना नेत्रे पिधाय रुधिरोक्षिते ।
सालमासन्नमेकेन परिजग्राह पाणिना ॥ ५३ ॥
सम्पीड्योरसि सस्कन्धं करेणाभिनिवेश्य च ।
किंचिदभ्यवनम्यैनमुन्ममाथ महारणे ॥ ५४ ॥

अङ्गदकी भौंहोंसे रक्त बहने लगा और उनकी आँखें बंद हो गयीं। तब उन्होंने एक हाथसे खूनसे भीगी हुई अपनी दोनों आँखोंको ढक लिया और दूसरे हाथसे पास ही खड़े हुए एक सालके वृक्षको पकड़ा। फिर छातीसे दबाकर तनेसहित उस वृक्षको कुछ झुका दिया और उस महासमरमें एक ही हाथसे उसे उखाड़ लिया ॥ ५२—५४ ॥

तमिन्द्रकेतुप्रतिमं वृक्षं मन्दरसंनिभम् ।
समुत्सृजत वेगेन मिषतां सर्वरक्षसाम् ॥ ५५ ॥

वह वृक्ष इन्द्रध्वज तथा मन्दराचलके समान ऊँचा था। उसे अङ्गदने सब राक्षसोंके देखते-देखते बड़े वेगसे कुम्भपर दे मारा ॥ ५५ ॥

स चिच्छेद शितैर्बाणैः सप्तभिः कायभेदनैः ।
अङ्गदो विव्यथेऽभीक्ष्णं स पपात मुमोह च ॥ ५६ ॥

किंतु शरीरको विदीर्ण कर देनेवाले सात तीखे बाण मारकर कुम्भने उस साल-वृक्षके टुकड़े-टुकड़े कर डाले, इससे अङ्गदको बड़ी व्यथा हुई। वे घायल तो थे ही, गिरे और मूर्च्छित हो गये ॥ ५६ ॥

अङ्गदं पतितं दृष्ट्वा सीदन्तमिव सागरे ।
दुरासदं हरिश्रेष्ठा राघवाय न्यवेदयन् ॥ ५७ ॥

दुर्जय वीर अङ्गदको समुद्रमें डूबते हुए-के समान पृथ्वीपर पड़ा देख श्रेष्ठ वानरोंने श्रीरघुनाथजीको इसकी सूचना दी ॥ ५७ ॥

रामस्तु व्यथितं श्रुत्वा वालिपुत्रं महाहवे ।
व्यादिदेश हरिश्रेष्ठाञ्जाम्बवत्प्रमुखांस्ततः ॥ ५८ ॥

श्रीरामने जब सुना कि वालिपुत्र अङ्गद महासमरमें मूर्च्छित होकर गिरे हैं, तब उन्होंने जाम्बवान् आदि प्रमुख वानरवीरोंको युद्धके लिये जानेकी आज्ञा दी ॥ ५८ ॥

ते तु वानरशार्दूलाः श्रुत्वा रामस्य शासनम् ।
अभिपेतुः सुसंक्रुद्धाः कुम्भमुद्यतकार्मुकम् ॥ ५९ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका आदेश सुनकर श्रेष्ठ वानर वीर अत्यन्त कुपित हो धनुष उठाये खड़े हुए कुम्भपर सब ओरसे टूट पड़े ॥ ५९ ॥

ततो द्रुमशिलाहस्ताः कोपसंरक्तलोचनाः ।
रिरक्षिषन्तोऽभ्यपतन्नङ्गदं वानरर्षभाः ॥ ६० ॥

वे सभी प्रमुख वानर अङ्गदकी रक्षा करना चाहते थे; अतः क्रोधसे लाल आँखें किये हाथोंमें वृक्ष और शिलाएँ लेकर उस राक्षसकी ओर दौड़े ॥ ६० ॥

जाम्बवांश्च सुषेणश्च वेगदर्शी च वानरः।
कुम्भकर्णात्मजं वीरं क्रुद्धाः समभिदुद्रुवुः ॥ ६१ ॥

जाम्बवान्, सुषेण और वेगदर्शीने कुपित हो वीर कुम्भकर्णकुमारपर धावा किया ॥ ६१ ॥

समीक्ष्यापततस्तांस्तु वानरेन्द्रान् महाबलान्।
आववार शरौघेण नगेनेव जलाशयम् ॥ ६२ ॥

उन महाबली वानर-यूथपतियोंको आक्रमण करते देख कुम्भने अपने बाणसमूहोंद्वारा उन सबको उसी तरह रोक दिया, जैसे आगे बढ़ते हुए जल-प्रवाहको मार्गमें खड़ा हुआ पर्वत रोक देता है ॥ ६२ ॥

तस्य बाणपथं प्राप्य न शेकुरपि वीक्षितुम्।
वानरेन्द्रा महात्मानो वेलामिव महोदधिः ॥ ६३ ॥

उसके बाणोंके मार्गमें आनेपर वे महामनस्वी वानर-यूथपति आगे बढ़ना तो दूर रहा उसकी ओर आँख उठाकर देख भी नहीं पाते थे। ठीक उसी तरह, जैसे महासागर अपनी तटभूमिको लाँघकर आगे नहीं जा सकता था ॥ ६३ ॥

तांस्तु दृष्ट्वा हरिगणाञ्शरवृष्टिभिरर्दितान्।
अङ्गदं पृष्ठतः कृत्वा भ्रातृजं प्लवगेश्वरः ॥ ६४ ॥
अभिदुद्राव सुग्रीवः कुम्भकर्णात्मजं रणे।
शैलसानुचरं नागं वेगवानिव केसरी ॥ ६५ ॥

उन सब वानरसमूहोंको कुम्भकी बाणवर्षासे पीड़ित देख वानरराज सुग्रीवने अपने भतीजे अङ्गदको पीछे करके स्वयं ही रणभूमिमें कुम्भकर्णकुमारपर उसी तरह धावा किया, जैसे पर्वतके शिखरपर विचरनेवाले हाथीके ऊपर वेगवान् सिंह आक्रमण करता है ॥ ६४-६५ ॥

उत्पाट्य च महावृक्षानश्वकर्णादिकान् बहून्।
अन्यांश्च विविधान् वृक्षांश्चिक्षेप स महाकपिः ॥ ६६ ॥

महाकपि सुग्रीव अश्वकर्ण आदि बड़े-बड़े वृक्ष तथा दूसरे भी नाना प्रकारके वृक्ष उखाड़कर उस राक्षसपर फेंकने लगे ॥ ६६ ॥

तां छादयन्तीमाकाशं वृक्षवृष्टिं दुरासदाम्।
कुम्भकर्णात्मजः श्रीमांश्चिच्छेद स्वशरैः शितैः ॥ ६७ ॥

वृक्षोंकी वह वर्षा आकाशको आच्छादित किये देती थी। उसे टालना अत्यन्त कठिन हो रहा था; किंतु श्रीमान् कुम्भकर्णने अपने तीखे बाणोंसे उन सब वृक्षोंको काट डाला ॥ ६७ ॥

अभिलक्ष्येण तीव्रेण कुम्भेन निशितैः शरैः।
आचितास्ते द्रुमा रेजुर्यथा घोराः शतघ्नयः।
द्रुमवर्षं तु तद् भिन्नं दृष्ट्वा कुम्भेन वीर्यवान् ॥ ६८ ॥
वानराधिपतिः श्रीमान् महासत्त्वो न विव्यथे।

लक्ष्य बेधनेमें सफल, तीव्र वेगशाली कुम्भके पैने बाणोंसे व्याप्त हुए वे वृक्ष भयानक शतघ्नियोंके समान सुशोभित होते थे उस वृक्ष-वृष्टिको कुम्भके द्वारा खण्डित हुई देख महान् शक्तिशाली पराक्रमी वानरराज सुग्रीव व्यथित नहीं हुए ॥ ६८½ ॥

स विध्यमानः सहसा सहमानस्तु ताञ्छरान् ॥ ६९ ॥
कुम्भस्य धनुराक्षिप्य बभञ्जेन्द्रधनुःप्रभम्।
अवप्लुत्य ततः शीघ्रं कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ॥ ७० ॥
अब्रवीत् कुपितः कुम्भं भग्नशृङ्गमिव द्विपम्।

वे उसके बाणोंकी चोट खाते और सहते हुए सहसा उछलकर उसके रथपर चढ़ गये और कुम्भके इन्द्र-धनुषके समान तेजस्वी धनुषको छीनकर उन्होंने उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले। तत्पश्चात् वे शीघ्र ही वहाँसे नीचे कूद पड़े। यह दुष्कर कर्म करनेके पश्चात् उन्होंने टूटे दाँतवाले हाथीके समान कुम्भसे कुपित होकर कहा— ॥ ६९-७०½ ॥

निकुम्भाग्रज वीर्यं ते बाणवेगं तदद्भुतम् ॥ ७१ ॥
संनतिश्च प्रभावश्च तव वा रावणस्य वा।
प्रह्लादबलिवृत्रघ्नकुबेरवरुणोपम ॥ ७२ ॥

'निकुम्भके बड़े भाई कुम्भ! तुम्हारा पराक्रम और तुम्हारे बाणोंका वेग अद्भुत है। राक्षसोंके प्रति विनय अथवा प्रवणता तथा प्रभाव या तो तुममें है या रावणमें। तुम प्रह्लाद, बलि, इन्द्र, कुबेर और वरुणके समान हो ॥ ७१-७२ ॥

एकस्त्वमनुजातोऽसि पितरं बलवत्तरम्।
त्वामेवैकं महाबाहुं शूलहस्तमरिंदमम् ॥ ७३ ॥
त्रिदशा नातिवर्तन्ते जितेन्द्रियमिवाधयः।
विक्रमस्व महाबुद्धे कर्माणि मम पश्य च ॥ ७४ ॥

'केवल तुमने ही अपने अत्यन्त बलशाली पिताका अनुसरण किया है। जैसे जितेन्द्रिय पुरुषको मानसिक व्यथाएँ अभिभूत नहीं करती हैं, उसी प्रकार शत्रुओंका दमन करनेवाले एकमात्र शूलधारी तुझ महाबाहु वीरको ही देवतालोग युद्धमें परास्त नहीं कर पाते हैं। महामते! पराक्रम प्रकट करो और अब मेरे बलको भी देखो ॥ ७३-७४ ॥

वरदानात् पितृव्यस्ते सहते देवदानवान्।
कुम्भकर्णस्तु वीर्येण सहते च सुरासुरान् ॥ ७५ ॥

'तुम्हारा पितृव्य रावण केवल वरदानके प्रभावसे देवताओं और दानवोंका वेग सहन करता है। तुम्हारा पिता कुम्भकर्ण अपने बल-पराक्रमसे देवताओं और असुरोंका सामना करता था (परंतु तुम वरदान और पराक्रम दोनोंसे सम्पन्न हो) ॥ ७५ ॥

धनुषीन्द्रजितस्तुल्यः प्रतापे रावणस्य च।
त्वमद्य रक्षसां लोके श्रेष्ठोऽसि बलवीर्यतः ॥ ७६ ॥

'तुम धनुर्विद्यामें इन्द्रजित्के समान और प्रतापमें रावणके तुल्य हो। राक्षसोंके संसारमें अब बल और पराक्रमकी दृष्टिसे केवल तुम्हीं श्रेष्ठ हो ॥ ७६ ॥

महाविमर्दं समरे मया सह तवाद्भुतम्।
अद्य भूतानि पश्यन्तु शक्रशम्बरयोरिव ॥ ७७ ॥

'आज सब प्राणी रणभूमिमें इन्द्र और शम्बरासुरकी भाँति

मेरे साथ तुम्हारे अद्भुत महायुद्धको देखें ॥ ७७ ॥

कृतमप्रतिमं कर्म दर्शितं चास्त्रकौशलम् ।
पतिता हरिवीराश्च त्वयैते भीमविक्रमाः ॥ ७८ ॥

'तुमने वह पराक्रम किया है, जिसकी कहीं तुलना नहीं है। तुमने अपना अस्त्र-कौशल दिखा दिया। तुम्हारे साथ युद्ध करके ये भयंकर पराक्रमी वानर वीर धराशायी हो गये ॥ ७८ ॥

उपालम्भभयाच्चैव नासि वीर मया हतः ।
कृतकर्मपरिश्रान्तो विश्रान्तः पश्य मे बलम् ॥ ७९ ॥

'वीर! अबतक जो मैंने तुम्हारा वध नहीं किया है, इसमें कारण है लोगोंके उपालम्भका भय—लोग यह कहकर मेरी निन्दा करते कि कुम्भ बहुत-से वीरोंके साथ युद्ध करके थक गया था, उस दशामें सुग्रीवने उसे मारा है; अतः अब तुम कुछ विश्राम कर लो, फिर मेरा बल देखो' ॥ ७९ ॥

तेन सुग्रीववाक्येन सावमानेन मानितः ।
अग्नेराज्यहुतस्येव तेजस्तस्याभ्यवर्धत ॥ ८० ॥

सुग्रीवके इस अपमानयुक्त वचनद्वारा सम्मानित हो घीकी आहुति पाये हुए अग्निदेवके समान कुम्भका तेज बढ़ गया ॥ ८० ॥

ततः कुम्भस्तु सुग्रीवं बाहुभ्यां जगृहे तदा ।
गजाविवातीतमदौ निःश्वसन्तौ मुहुर्मुहुः ॥ ८१ ॥
अन्योन्यगात्रग्रथितौ घर्षन्तावितरेतरम् ।
सधूमां मुखतो ज्वालां विसृजन्तौ परिश्रमात् ॥ ८२ ॥

फिर तो कुम्भने सुग्रीवको अपनी दोनों भुजाओंसे पकड़ लिया। तत्पश्चात् वे दोनों वीर मदमत्त गजराजोंकी भाँति बारंबार लंबी साँस खींचते हुए एक-दूसरेमें गुँथ गये। दोनों दोनोंको रगड़ने लगे और दोनों ही अपने मुखसे परिश्रमके कारण धूमयुक्त आगकी ज्वाला-सी उगलने लगे ॥ ८१-८२ ॥

तयोः पादाभिघाताच्च निमग्ना चाभवन्मही ।
व्याघूर्णिततरङ्गश्च चुक्षुभे वरुणालयः ॥ ८३ ॥

उन दोनोंके पैरोंके आघातसे धरती नीचेको धँसने लगी। झूमती हुई तरङ्गोंसे युक्त वरुणालय समुद्रमें ज्वार-सा आ गया ॥ ८३ ॥

ततः कुम्भं समुत्क्षिप्य सुग्रीवो लवणाम्भसि ।
पातयामास वेगेन दर्शयन्नुदधेस्तलम् ॥ ८४ ॥

इतनेहीमें सुग्रीवने कुम्भको उठाकर बड़े वेगसे समुद्रके जलमें फेंक दिया। उसमें गिरते ही कुम्भको समुद्रका निचला तल देखना पड़ा ॥ ८४ ॥

ततः कुम्भनिपातेन जलराशिः समुत्थितः ।
विन्ध्यमन्दरसंकाशो विससर्प समन्ततः ॥ ८५ ॥

कुम्भके गिरनेसे बड़ी भारी जलराशि ऊपरको उठी, जो विन्ध्य और मन्दराचलके समान जान पड़ी और सब ओर फैल गयी ॥ ८५ ॥

ततः कुम्भः समुत्पत्य सुग्रीवमभिपात्य च ।
आजघानोरसि क्रुद्धो वज्रकल्पेन मुष्टिना ॥ ८६ ॥

इसके बाद कुम्भ पुनः उछलकर बाहर आया और क्रोधपूर्वक सुग्रीवको पटककर उनकी छातीपर उसने वज्रके समान मुक्केसे प्रहार किया ॥ ८६ ॥

तस्य वर्म च पुस्फोट संजज्ञे चापि शोणितम् ।
तस्य मुष्टिर्महावेगः प्रतिजघ्नेऽस्थिमण्डले ॥ ८७ ॥

इससे वानरराजका कवच टूट गया और छातीसे खून बहने लगा। उसका महान् वेगशाली मुक्का सुग्रीवकी हड्डियोंपर बड़े वेगसे लगा था ॥ ८७ ॥

तस्य वेगेन तत्रासीत् तेजः प्रज्वलितं महत् ।
वज्रनिष्पेषसंजाता ज्वाला मेरोर्यथा गिरेः ॥ ८८ ॥

उसके वेगसे वहाँ बड़ी भारी ज्वाला जल उठी थी, मानो मेरु पर्वतके शिखरपर वज्रके आघातसे आग प्रकट हो गयी हो ॥ ८८ ॥

स तत्राभिहतस्तेन सुग्रीवो वानरर्षभः ।
मुष्टिं संवर्तयामास वज्रकल्पं महाबलः ॥ ८९ ॥
अर्चिःसहस्रविकचरविमण्डलवर्चसम् ।
स मुष्टिं पातयामास कुम्भस्योरसि वीर्यवान् ॥ ९० ॥

कुम्भके द्वारा इस प्रकार आहत होनेपर वानरराज महाबली परम पराक्रमी सुग्रीवने भी अपना वज्रतुल्य मुक्का सँभाला और कुम्भकी छातीमें बलपूर्वक आघात किया। उस मुक्केका तेज सहस्रों किरणोंसे प्रकाशित सूर्यमण्डलके समान उद्दीप्त हो रहा था ॥ ८९-९० ॥

स तु तेन प्रहारेण विह्वलो भृशपीडितः ।
निपपात तदा कुम्भो गतार्चिरिव पावकः ॥ ९१ ॥

उस प्रहारसे कुम्भको बड़ी पीड़ा हुई। वह व्याकुल हो बुझी हुई आगकी तरह गिर पड़ा ॥ ९१ ॥

मुष्टिनाभिहतस्तेन निपपाताशु राक्षसः ।
लोहिताङ्ग इवाकाशाद् दीप्तरश्मिर्यदृच्छया ॥ ९२ ॥

सुग्रीवके मुक्केकी चोट खाकर वह राक्षस आकाशसे अकस्मात् गिरनेवाले मंगलकी भाँति तत्काल धराशायी हो गया ॥ ९२ ॥

कुम्भस्य पततो रूपं भग्नस्योरसि मुष्टिना ।
बभौ रुद्राभिपन्नस्य यथा रूपं गवां पतेः ॥ ९३ ॥

मुक्केकी मारसे जिसका वक्षःस्थल चूर-चूर हो गया था, वह कुम्भ जब नीचे गिरने लगा, तब उसका रूप रुद्रदेवसे अभिभूत हुए सूर्यदेवके समान जान पड़ा ॥ ९३ ॥

तस्मिन् हते भीमपराक्रमेण
प्लवंगमानामृषभेण युद्धे ।
मही सशैला सवना चचाल
भयं च रक्षांस्यधिकं विवेश ॥ ९४ ॥

भयंकर पराक्रमी वानरराज सुग्रीवके द्वारा युद्धमें उस निशाचरके मारे जानेपर पर्वत और वनोंसहित सारी पृथ्वी काँपने लगी और राक्षसोंके हृदयमें अत्यन्त भय समा गया ॥ ९४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे षट्सप्ततितमः सर्गः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें छिहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७६ ॥

—★—

सप्तसप्ततितमः सर्गः

हनुमान्‌के द्वारा निकुम्भका वध

निकुम्भो भ्रातरं दृष्ट्वा सुग्रीवेण निपातितम्।
प्रदहन्निव कोपेन वानरेन्द्रमुदैक्षत॥ १॥

सुग्रीवके द्वारा अपने भाई कुम्भको मारा गया देख निकुम्भने वानरराजकी ओर इस प्रकार देखा, मानो उन्हें अपने क्रोधसे दग्ध कर देगा॥ १॥

ततः स्रग्दामसंनद्धं दत्तपञ्चाङ्गुलं शुभम्।
आददे परिघं धीरो महेन्द्रशिखरोपमम्॥ २॥

उस धीर-वीरने महेन्द्र पर्वतके शिखर-जैसा एक सुन्दर एवं विशाल परिघ हाथमें लिया, जो फूलोंकी लड़ियोंसे अलंकृत था और जिसमें पाँच-पाँच अंगुलके चौड़े लोहेके पत्र जड़े गये थे॥ २॥

हेमपट्टपरिक्षिप्तं वज्रविद्रुमभूषितम्।
यमदण्डोपमं भीमं रक्षसां भयनाशनम्॥ ३॥

उस परिघमें सोनेके पत्र भी जड़े थे और उसे हीरे तथा मूँगोंसे भी विभूषित किया गया था। वह परिघ यमदण्डके समान भयंकर तथा राक्षसोंके भयका नाश करनेवाला था॥ ३॥

तमाविध्य महातेजाः शक्रध्वजसमौजसम्।
निननाद विवृत्तास्यो निकुम्भो भीमविक्रमः॥ ४॥

उस इन्द्रध्वजके समान तेजस्वी परिघको घुमाता हुआ वह महातेजस्वी भयानक पराक्रमी राक्षस निकुम्भ मुँह फैलाकर जोर-जोरसे गर्जना करने लगा॥ ४॥

उरोगतेन निष्केण भुजस्थैरङ्गदैरपि।
कुण्डलाभ्यां च चित्राभ्यां मालया च सचित्रया॥ ५॥
निकुम्भो भूषणैर्भाति तेन स्म परिघेण च।
यथेन्द्रधनुषा मेघः सविद्युत्स्तनयित्नुमान्॥ ६॥

उसके वक्षःस्थलमें सोनेका पदक था। भुजाओंमें बाजूबंद शोभा देते थे। कानोंमें विचित्र कुण्डल झलमला रहे थे और गलेमें विचित्र माला जगमगा रही थी। इन सब आभूषणोंसे और उस परिघसे भी निकुम्भकी वैसी ही शोभा हो रही थी, जैसे विद्युत् और गर्जनासे युक्त मेघ इन्द्र-धनुषसे सुशोभित होता है॥ ५-६॥

परिघाग्रेण पुस्फोट वातग्रन्थिर्महात्मनः।
प्रजज्वाल सघोषश्च विधूम इव पावकः॥ ७॥

उस महाकाय राक्षसके परिघके अग्रभागसे टकराकर प्रवह-आवह आदि सात महावायुओंकी संधि टूट-फूट गयी तथा वह भारी गड़गड़ाहटके साथ धूमरहित अग्निकी भाँति प्रज्वलित हो उठा॥ ७॥

नगर्या विटपावत्या गन्धर्वभवनोत्तमैः।
सतारागणनक्षत्रं सचन्द्रसमहाग्रहम्।
निकुम्भपरिघाघूर्णं भ्रमतीव नभस्थलम्॥ ८॥

निकुम्भके परिघ घुमानेसे विटपावती नगरी (अलकापुरी), गन्धर्वोंके उत्तम भवन, तारे, नक्षत्र, चन्द्रमा तथा बड़े-बड़े ग्रहोंके साथ समस्त आकाशमण्डल घूमता-सा प्रतीत होता था॥ ८॥

दुरासदश्च संजज्ञे परिघाभरणप्रभः।
क्रोधेन्धनो निकुम्भाग्निर्युगान्ताग्निरिवोत्थितः॥ ९॥

परिघ और आभूषण ही जिसकी प्रभा थे, क्रोध ही जिसके लिये ईंधनका काम कर रहा था, वह निकुम्भ नामक अग्नि प्रलयकालकी आगके समान उठी और अत्यन्त दुर्जय हो गयी॥ ९॥

राक्षसा वानराश्चापि न शेकुः स्पन्दितुं भयात्।
हनुमांस्तु विवृत्योरस्तस्थौ प्रमुखतो बली॥ १०॥

उस समय राक्षस और वानर भयके मारे हिल-डुल भी न सके। केवल महाबली हनुमान् अपनी छाती खोलकर उस राक्षसके सामने खड़े हो गये॥ १०॥

परिघोपमबाहुस्तु परिघं भास्करप्रभम्।
बली बलवतस्तस्य पातयामास वक्षसि॥ ११॥

निकुम्भकी भुजाएँ परिघके समान थीं। उस महाबली राक्षसने उस सूर्यतुल्य तेजस्वी परिघको बलवान् वीर हनुमान्‌जीकी छातीपर दे मारा॥ ११॥

स्थिरे तस्योरसि व्यूढे परिघः शतधा कृतः।
विकीर्यमाणः सहसा उल्काशतमिवाम्बरे॥ १२॥

हनुमान्‌जीकी छाती बड़ी सुदृढ़ और विशाल थी। उससे टकराते ही उस परिघके सहसा सैकड़ों टुकड़े होकर बिखर गये, मानो आकाशमें सौ-सौ उल्काएँ एक साथ गिरी हों॥ १२॥

स तु तेन प्रहारेण न चचाल महाकपिः।
परिघेण समाधूतो यथा भूमिचलेऽचलः॥ १३॥

महाकपि हनुमान्‌जी परिघसे आहत होनेपर भी उस प्रहारसे विचलित नहीं हुए, जैसे भूकम्प होनेपर भी पर्वत नहीं गिरता है॥ १३॥

स तथाभिहतस्तेन हनूमान् प्लवगोत्तमः।
मुष्टिं संवर्तयामास बलेनातिमहाबलः॥ १४॥

अत्यन्त महान् बलशाली वानरशिरोमणि हनुमान्‌जीने इस प्रकार परिघकी मार खाकर बलपूर्वक अपनी मुट्ठी बाँधी॥ १४॥

तमुद्यम्य महातेजा निकुम्भोरसि वीर्यवान्।
अभिचिक्षेप वेगेन वेगवान् वायुविक्रमः॥ १५॥

वे महान् तेजस्वी, पराक्रमी, वेगवान् और वायुके समान बल-विक्रमसे सम्पन्न थे। उन्होंने मुक्का तानकर बड़े वेगसे निकुम्भकी छातीपर मारा ॥ १५ ॥

तत्र पुस्फोट वर्मास्य प्रसुस्राव च शोणितम्।
मुष्टिना तेन संजज्ञे मेघे विद्युदिवोत्थिता ॥ १६ ॥

उस मुक्केकी चोटसे वहाँ उसका कवच फट गया और छातीसे रक्त बहने लगा, मानो मेघमें बिजली चमक उठी हो ॥ १६ ॥

स तु तेन प्रहारेण निकुम्भो विचचाल च।
स्वस्थश्चापि निजग्राह हनूमन्तं महाबलम् ॥ १७ ॥

उस प्रहारसे निकुम्भ विचलित हो उठा, फिर थोड़ी ही देरमें सँभलकर उसने महाबली हनुमान्‌जीको पकड़ लिया ॥ १७ ॥

चुक्रुशुश्च तदा संख्ये भीमं लङ्कानिवासिनः।
निकुम्भेनोद्यतं दृष्ट्वा हनूमन्तं महाबलम् ॥ १८ ॥

उस समय युद्धस्थलमें निकुम्भके द्वारा महाबली हनुमान्‌जीका अपहरण होता देख लङ्कानिवासी राक्षस भयानक स्वरमें विजयसूचक गर्जना करने लगे ॥ १८ ॥

स तथा ह्रियमाणोऽपि हनुमांस्तेन रक्षसा।
आजघानानिलसुतो वज्रकल्पेन मुष्टिना ॥ १९ ॥

उस राक्षसके द्वारा इस प्रकार अपहृत होनेपर भी पवनपुत्र हनुमान्‌जीने अपने वज्रतुल्य मुक्केसे उसपर प्रहार किया ॥ १९ ॥

आत्मानं मोक्षयित्वाथ क्षितावभ्यवपद्यत।
हनूमानुन्ममाथाशु निकुम्भं मारुतात्मजः ॥ २० ॥

फिर वे अपनेको उसके चंगुलसे छुड़ाकर पृथ्वीपर खड़े हो गये। तदनन्तर वायुपुत्र हनुमान्‌ने तत्काल ही निकुम्भको पृथ्वीपर दे मारा ॥ २० ॥

निक्षिप्य परमायत्तो निकुम्भं निष्पिपेष च।
उत्पत्य चास्य वेगेन पपातोरसि वेगवान् ॥ २१ ॥
परिगृह्य च बाहुभ्यां परिवृत्य शिरोधराम्।
उत्पाटयामास शिरो भैरवं नदतो महत् ॥ २२ ॥

इसके बाद उन वेगशाली वीरने बड़े प्रयाससे निकुम्भको पृथ्वीपर गिराया और खूब रगड़ा। फिर वेगसे उछलकर वे उसकी छातीपर चढ़ बैठे और दोनों हाथोंसे गला मरोड़कर उन्होंने उसके मस्तकको उखाड़ लिया। गला मरोड़ते समय वह राक्षस भयंकर आर्तनाद कर रहा था ॥ २१-२२ ॥

अथ निनदति सादिते निकुम्भे
पवनसुतेन रणे बभूव युद्धम्।
दशरथसुतराक्षसेन्द्रसून्वो-
र्भृशतरमागतरोषयोः सुभीमम् ॥ २३ ॥

रणभूमिमें वायुपुत्र हनुमान्‌जीके द्वारा गर्जना करनेवाले निकुम्भके मारे जानेपर एक-दूसरेपर अत्यन्त कुपित हुए श्रीराम और मकराक्षमें बड़ा भयंकर युद्ध हुआ ॥ २३ ॥

व्यपेते तु जीवे निकुम्भस्य हृष्टा
विनेदुः प्लवंगा दिशः सस्वनुश्च।
चचालेव चोर्वी पपातेव सा द्यौ-
र्बलं राक्षसानां भयं चाविवेश ॥ २४ ॥

निकुम्भके प्राणत्याग करनेपर सभी वानर बड़े हर्षके साथ गर्जने लगे। सम्पूर्ण दिशाएँ कोलाहलसे भर गयीं। पृथ्वी चलती-सी जान पड़ी, आकाश मानो फट पड़ा हो, ऐसा प्रतीत होने लगा तथा राक्षसोंकी सेनामें भय समा गया ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें सतहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७७ ॥

अष्टसप्ततितमः सर्गः

रावणकी आज्ञासे मकराक्षका युद्धके लिये प्रस्थान

निकुम्भं निहतं श्रुत्वा कुम्भं च विनिपातितम्।
रावणः परमामर्षी प्रजज्वालानलो यथा ॥ १ ॥

निकुम्भ और कुम्भको मारा गया सुनकर रावणको बड़ा क्रोध हुआ। वह आगके समान जल उठा ॥ १ ॥

नैर्ऋतः क्रोधशोकाभ्यां द्वाभ्यां तु परिमूर्च्छितः।
खरपुत्रं विशालाक्षं मकराक्षमचोदयत् ॥ २ ॥

रावणने क्रोध और शोक दोनोंसे व्याकुल हो विशाल नेत्रोंवाले खरपुत्र मकराक्षसे कहा— ॥ २ ॥

गच्छ पुत्र मयाऽऽज्ञप्तो बलेनाभिसमन्वितः।
राघवं लक्ष्मणं चैव जहि तौ सवनौकसौ ॥ ३ ॥

'बेटा! मेरी आज्ञासे विशाल सेनाके साथ जाओ और वानरोंसहित उन दोनों भाई राम तथा लक्ष्मणको मार डालो' ॥ ३ ॥

रावणस्य वचः श्रुत्वा शूरमानी खरात्मजः।
बाढमित्यब्रवीद्‌धृष्टो मकराक्षो निशाचरम् ॥ ४ ॥
सोऽभिवाद्य दशग्रीवं कृत्वा चापि प्रदक्षिणम्।
निर्जगाम गृहाच्छुभ्राद् रावणस्याज्ञया बली ॥ ५ ॥

रावणकी यह बात सुनकर अपनेको शूरवीर माननेवाले खरपुत्र मकराक्षने हर्षपूर्वक कहा—'बहुत अच्छा'। फिर उस बली वीरने निशाचरराज रावणको प्रणाम करके उसकी

परिक्रमा की और उसकी आज्ञा लेकर वह उज्ज्वल राजभवनसे बाहर निकला ॥ ४-५ ॥

समीपस्थं बलाध्यक्षं खरपुत्रोऽब्रवीद् वचः ।
रथमानीयतां तूर्णं सैन्यं त्वानीयतां त्वरात् ॥ ६ ॥

पास ही सेनाध्यक्ष खड़ा था। खरके पुत्रने उससे कहा—'सेनापते ! शीघ्र रथ ले आओ और तुरंत ही सेनाको भी बुलवाओ' ॥ ६ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा बलाध्यक्षो निशाचरः ।
स्यन्दनं च बलं चैव समीपं प्रत्यपादयत् ॥ ७ ॥

मकराक्षकी यह बात सुनकर निशाचर सेनापतिने रथ और सेना उसके पास लाकर खड़ी कर दी ॥ ७ ॥

प्रदक्षिणं रथं कृत्वा समारुह्य निशाचरः ।
सूतं संचोदयामास शीघ्रं वै रथमावह ॥ ८ ॥

तब मकराक्षने रथकी प्रदक्षिणा की और उसपर आरूढ़ होकर सारथिको आदेश दिया—'रथको शीघ्रतापूर्वक ले चलो' ॥ ८ ॥

अथ तान् राक्षसान् सर्वान् मकराक्षोऽब्रवीदिदम् ।
यूयं सर्वे प्रयुध्यध्वं पुरस्तान्मम राक्षसाः ॥ ९ ॥

इसके बाद मकराक्षने समस्त राक्षसोंसे कहा—'निशाचरो ! तुमलोग मेरे आगे रहकर युद्ध करो ॥ ९ ॥

अहं राक्षसराजेन रावणेन महात्मना ।
आज्ञप्तः समरे हन्तुं तावुभौ रामलक्ष्मणौ ॥ १० ॥

'मुझे महामना राक्षसराज रावणने समरभूमिमें राम और लक्ष्मण दोनों भाइयोंको मारनेकी आज्ञा दी है ॥ १० ॥

अद्य रामं वधिष्यामि लक्ष्मणं च निशाचराः ।
शाखामृगं च सुग्रीवं वानरांश्च शरोत्तमैः ॥ ११ ॥

'राक्षसो ! आज मैं राम, लक्ष्मण, वानरराज सुग्रीव तथा दूसरे-दूसरे वानरोंका अपने उत्तम बाणोंद्वारा वध करूँगा ॥ ११ ॥

अद्य शूलनिपातैश्च वानराणां महाचमूम् ।
प्रदहिष्यामि सम्प्राप्तां शुष्केन्धनमिवानलः ॥ १२ ॥

'जैसे आग सूखी लकड़ीको जला देती है, उसी प्रकार आज मैं शूलोंकी मारसे सामने आयी हुई वानरोंकी विशाल वाहिनीको दग्ध कर डालूँगा' ॥ १२ ॥

मकराक्षस्य तच्छ्रुत्वा वचनं ते निशाचराः ।
सर्वे नानायुधोपेता बलवन्तः समाहिताः ॥ १३ ॥

मकराक्षका यह वचन सुनकर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न वे समस्त बलवान् निशाचर युद्धके लिये सावधान हो गये ॥ १३ ॥

ते कामरूपिणः क्रूरा दंष्ट्रिणः पिङ्गलेक्षणाः ।
मातंगा इव नर्दन्तो ध्वस्तकेशा भयावहाः ॥ १४ ॥

परिवार्य महाकाया महाकायं खरात्मजम् ।
अभिजग्मुस्ततो हृष्टाश्चालयन्तो वसुन्धराम् ॥ १५ ॥

वे सब-के-सब इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले और क्रूर स्वभावके थे। उनकी दाढ़ें बड़ी-बड़ी और आँखें भूरी थीं। उनके केश सब ओर बिखरे हुए थे, इसलिये वे बड़े भयानक जान पड़ते थे। हाथीके समान चिग्घाड़ते हुए वे विशालकाय निशाचर खरके पुत्र महाकाय मकराक्षको चारों ओरसे घेरकर पृथ्वीको कँपाते हुए बड़े हर्षके साथ युद्धभूमिकी ओर चले ॥ १४-१५ ॥

शङ्खभेरीसहस्राणामाहतानां समन्ततः ।
क्ष्वेलितास्फोटितानां च तत्र शब्दो महानभूत् ॥ १६ ॥

उस समय चारों ओर सहस्रों शङ्खोंकी ध्वनि हो रही थी। हजारों डंके पीटे जाते थे। योद्धाओंके गर्जने और ताल ठोंकनेकी आवाज भी उनके साथ मिली हुई थी। इस प्रकार वहाँ बड़ा भारी कोलाहल मच गया था ॥ १६ ॥

प्रभ्रष्टोऽथ करात् तस्य प्रतोदः सारथेस्तदा ।
पपात सहसा दैवाद् ध्वजस्तस्य तु रक्षसः ॥ १७ ॥

उस समय मकराक्षके सारथिके हाथसे चाबुक छूटकर नीचे गिर पड़ा और दैववश उस राक्षसका ध्वज भी सहसा धराशायी हो गया ॥ १७ ॥

तस्य ते रथसंयुक्ता हया विक्रमवर्जिताः ।
चरणैराकुलैर्गत्वा दीनाः सास्रमुखा ययुः ॥ १८ ॥

उसके रथमें जुते हुए घोड़े विक्रमरहित हो गये—वे अपनी नाना प्रकारकी विचित्र चालें भूल गये। पहले तो कुछ दूरतक आकुल—लड़खड़ाते हुए पैरोंसे गये; फिर ठीकसे चलने लगे। परंतु भीतरसे वे बहुत दुःखी थे। उनके मुखपर आँसूकी धारा बह रही थी ॥ १८ ॥

प्रवाति पवनस्तस्मिन् सपांसुः खरदारुणः ।
निर्याणे तस्य रौद्रस्य मकराक्षस्य दुर्मतेः ॥ १९ ॥

दुष्ट बुद्धिवाले उस भयंकर राक्षस मकराक्षकी यात्राके समय धूलसे भरी हुई दारुण एवं प्रचण्ड वायु चलने लगी थी ॥ १९ ॥

तानि दृष्ट्वा निमित्तानि राक्षसा वीर्यवत्तमाः ।
अचिन्त्य निर्गताः सर्वे यत्र तौ रामलक्ष्मणौ ॥ २० ॥

उन सब अपशकुनोंको देखकर भी वे महाबलशाली राक्षस उनकी कोई परवा न करके सब-के-सब उस स्थानपर गये, जहाँ श्रीराम और लक्ष्मण विद्यमान थे ॥ २० ॥

घनगजमहिषाङ्गतुल्यवर्णाः
समरमुखेष्वसकृद्गदासिभिन्नाः ।
अहमहमिति युद्धकौशलास्ते
रजनिचराः परिबभ्रमुर्मुहुस्ते ॥ २१ ॥

उन राक्षसोंकी अङ्गकान्ति मेघ, हाथी और भैंसोंके समान काली थी। वे युद्धके मुहानेपर अनेक बार गदाओं और तलवारोंकी चोटसे घायल हो चुके थे। उनमें युद्धविषयक कौशल विद्यमान था। वे निशाचर 'पहले मैं युद्ध करूँगा, पहले मैं युद्ध करूँगा' ऐसा बारंबार कहते हुए वहाँ सब ओर चक्कर लगाने लगे॥ २१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डेऽष्टसप्ततितमः सर्गः॥ ७८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें अठहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ७८॥

—★—

एकोनाशीतितमः सर्गः

श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा मकराक्षका वध

निर्गतं मकराक्षं ते दृष्ट्वा वानरपुंगवाः।
आप्लुत्य सहसा सर्वे योद्धुकामा व्यवस्थिताः॥ १॥

प्रधान-प्रधान वानरोंने जब देखा कि मकराक्ष नगरसे निकला आ रहा है, तब वे सब-के-सब सहसा उछलकर युद्धके लिये खड़े हो गये॥ १॥

ततः प्रवृत्तं सुमहत् तद् युद्धं लोमहर्षणम्।
निशाचरैः प्लवंगानां देवानां दानवैरिव॥ २॥

फिर तो वानरोंका निशाचरोंके साथ बड़ा भारी युद्ध छिड़ गया, जो देव-दानव-संग्रामके समान रोंगटे खड़े कर देनेवाला था॥ २॥

वृक्षशूलनिपातैश्च गदापरिघपातनैः।
अन्योन्यं मर्दयन्ति स्म तदा कपिनिशाचराः॥ ३॥

वानर और निशाचर वृक्ष, शूल, गदा और परिघोंकी मारसे उस समय एक-दूसरेको कुचलने लगे॥ ३॥

शक्तिखड्गगदाकुन्तैस्तोमरैश्च निशाचराः।
पट्टिशैर्भिन्दिपालैश्च बाणपातैः समन्ततः॥ ४॥
पाशमुद्गरदण्डैश्च निर्घातैश्चापरैस्तथा।
कदनं कपिसिंहानां चक्रुस्ते रजनीचराः॥ ५॥

निशाचरगण शक्ति, खड्ग, गदा, भाला, तोमर, पट्टिश, भिन्दिपाल, बाणप्रहार, पाश, मुद्गर, दण्ड तथा अन्य प्रकारके शस्त्रोंके आघातसे सब ओर वानरवीरोंका संहार करने लगे॥ ४-५॥

बाणौघैरर्दिताश्चापि खरपुत्रेण वानराः।
सम्भ्रान्तमनसः सर्वे दुद्रुवुर्भयपीडिताः॥ ६॥

खरपुत्र मकराक्षने अपने बाणसमूहोंसे वानरोंको अत्यन्त घायल कर दिया। उनके मनमें बड़ी घबराहट हुई और वे सब-के-सब भयसे पीड़ित हो इधर-उधर भागने लगे॥ ६॥

तान् दृष्ट्वा राक्षसाः सर्वे द्रवमाणान् वनौकसः।
नेदुस्ते सिंहवद् दृप्ता राक्षसा जितकाशिनः॥ ७॥

उन सब वानरोंको भागते देख विजयोल्लाससे सुशोभित होनेवाले वे समस्त राक्षस दर्पसे भरकर सिंहके समान गर्जना करने लगे॥ ७॥

विद्रवत्सु तदा तेषु वानरेषु समन्ततः।
रामस्तान् वारयामास शरवर्षेण राक्षसान्॥ ८॥

वे वानर जब सब ओर भागने-पराने लगे, तब श्रीरामचन्द्रजीने बाणोंकी वर्षा करके राक्षसोंको आगे बढ़नेसे रोका॥ ८॥

वारितान् राक्षसान् दृष्ट्वा मकराक्षो निशाचरः।
कोपानलसमाविष्टो वचनं चेदमब्रवीत्॥ ९॥

राक्षसोंको रोका गया देख निशाचर मकराक्ष क्रोधकी आगसे जल उठा और इस प्रकार बोला—॥ ९॥

तिष्ठ राम मया सार्धं द्वन्द्वयुद्धं भविष्यति।
त्याजयिष्यामि ते प्राणान् धनुर्मुक्तैः शितैः शरैः॥ १०॥

'राम! ठहरो, मेरे साथ तुम्हारा द्वन्द्वयुद्ध होगा। आज अपने धनुषसे छूटे हुए पैने बाणोंद्वारा तुम्हारे प्राण हर लूँगा॥ १०॥

यत् तदा दण्डकारण्ये पितरं हतवान् मम।
तदग्रतः स्वकर्मस्थं स्मृत्वा रोषोऽभिवर्धते॥ ११॥

'उन दिनों दण्डकारण्यके भीतर जो तुमने मेरे पिताका वध किया था, तभीसे लेकर अबतक तुम राक्षस-वधके ही कर्ममें लगे हुए थे। इस रूपमें तुम्हारा स्मरण करके मेरा रोष बढ़ता जा रहा है॥ ११॥

दह्यन्ते भृशमङ्गानि दुरात्मन् मम राघव।
यन्मयासि न दृष्टस्त्वं तस्मिन् काले महावने॥ १२॥

'दुरात्मा राघव! उस समय विशाल दण्डकारण्यमें जो तुम मुझे दिखायी नहीं दिये, इससे मेरे अङ्ग अत्यन्त रोषसे जलते रहते थे॥ १२॥

दिष्ट्यासि दर्शनं राम मम त्वं प्राप्तवानिह।
काङ्क्षितोऽसि क्षुधार्तस्य सिंहस्येवेतरो मृगः॥ १३॥

'किंतु राम! सौभाग्यकी बात है, जो तुम आज यहाँ मेरी आँखोंके सामने पड़ गये। जैसे भूखसे पीड़ित हुए सिंहको दूसरे वन-जन्तुओंकी अभिलाषा होती है, उसी तरह मैं भी तुम्हें पानेकी इच्छा करता था॥ १३॥

अद्य मद्बाणवेगेन प्रेतराड्विषयं गतः।
ये त्वया निहताः शूराः सह तैश्च वसिष्यसि॥ १४॥

'आज मेरे बाणोंके वेगसे यमराजके राज्यमें पहुँचकर तुम्हें उन्हीं वीर निशाचरोंके साथ निवास करना पड़ेगा, जो तुम्हारे हाथसे मारे गये हैं ॥ १४ ॥

बहुनात्र किमुक्तेन शृणु राम वचो मम।
पश्यन्तु सकला लोकास्त्वां मां चैव रणाजिरे ॥ १५ ॥

'राम ! यहाँ बहुत कहनेसे क्या लाभ ? मेरी बात सुनो। सब लोग इस समराङ्गणमें खड़े होकर केवल तुमको और मुझको देखें—तुम्हारे और मेरे युद्धका अवलोकन करें ॥ १५ ॥

अस्त्रैर्वा गदया वापि बाहुभ्यां वा रणाजिरे।
अभ्यस्तं येन वा राम वर्ततां तेन वा मृधम् ॥ १६ ॥

'राम ! तुम्हें रणभूमिमें अस्त्रोंसे, गदासे अथवा दोनों भुजाओंसे—जिससे भी अभ्यास हो, उसीके द्वारा आज तुम्हारे साथ मेरा युद्ध हो' ॥ १६ ॥

मकराक्षवचः श्रुत्वा रामो दशरथात्मजः।
अब्रवीत् प्रहसन् वाक्यमुत्तरोत्तरवादिनम् ॥ १७ ॥

मकराक्षकी यह बात सुनकर दशरथनन्दन भगवान् श्रीराम जोर-जोरसे हँसने लगे और उत्तरोत्तर बातें बनानेवाले उस राक्षससे बोले— ॥ १७ ॥

कत्थसे किं वृथा रक्षो बहून्यसदृशानि ते।
न रणे शक्यते जेतुं विना युद्धेन वाग्बलात् ॥ १८ ॥

'निशाचर ! क्यों व्यर्थ डींग हाँकता है। तेरे मुँहसे बहुत-सी ऐसी बातें निकल रही हैं, जो वीर पुरुषोंके योग्य नहीं हैं। संग्राममें युद्ध किये बिना कोरी बकवासके बलसे विजय नहीं प्राप्त हो सकती ॥ १८ ॥

चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां त्वत्पिता च यः।
त्रिशिरा दूषणश्चापि दण्डके निहतो मया ॥ १९ ॥
स्वाशिताश्चापि मांसेन गृध्रगोमायुवायसाः।
भविष्यन्त्यद्य वै पाप तीक्ष्णतुण्डनखाङ्कुशाः ॥ २० ॥

'पापी राक्षस ! यह ठीक है कि दण्डकारण्यमें चौदह हजार राक्षसोंके साथ तेरे पिता खरका, त्रिशिराका और दूषणका भी मैंने वध किया था। उस समय तीखी चोंच और अङ्कुशके समान पंजेवाले बहुत-से गीधों, गीदड़ों तथा कौओंको भी उनके मांससे अच्छी तरह तृप्त किया था और अब आज वे तेरे मांससे भरपेट भोजन पायेंगे' ॥ १९-२० ॥

राघवेणैवमुक्तस्तु मकराक्षो महाबलः।
बाणौघानमुचत् तस्मै राघवाय रणाजिरे ॥ २१ ॥

श्रीरघुनाथजीके ऐसा कहनेपर महाबली मकराक्षने रणभूमिमें उनके ऊपर बाण-समूहोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ २१ ॥

ताञ्छराञ्छरवर्षेण रामश्चिच्छेद नैकधा।
निपेतुर्भुवि विच्छिन्ना रुक्मपुङ्खाः सहस्रशः ॥ २२ ॥

परंतु श्रीरामने स्वयं भी बाणोंकी बौछार करके उस राक्षसके बाण टुकड़े-टुकड़े कर डाले। वे कटे हुए सुनहरी पाँखवाले सहस्रों बाण पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २२ ॥

तद् युद्धमभवत् तत्र समेत्यान्योन्यमोजसा।
खरराक्षसपुत्रस्य सूनोर्दशरथस्य च ॥ २३ ॥

दशरथनन्दन भगवान् श्रीराम और राक्षस खरके पुत्र मकराक्ष—इन दोनोंमें एक-दूसरेके निकट आकर बलपूर्वक युद्ध होने लगा ॥ २३ ॥

जीमूतयोरिवाकाशे शब्दो ज्यातलयोरिव।
धनुर्मुक्तः स्वनोऽन्योन्यं श्रूयते च रणाजिरे ॥ २४ ॥

उन दोनोंकी प्रत्यञ्चा और हथेलीकी रगड़से धनुषके द्वारा जो टंकार-शब्द प्रकट होता था, वह उस समराङ्गणमें परस्पर मिलकर उसी तरह सुनायी देता था, जैसे आकाशमें दो मेघोंके गर्जनेकी आवाज हो रही हो ॥ २४ ॥

देवदानवगन्धर्वाः किंनराश्च महोरगाः।
अन्तरिक्षगताः सर्वे द्रष्टुकामास्तदद्भुतम् ॥ २५ ॥

देवता, दानव, गन्धर्व, किन्नर और बड़े-बड़े नाग—ये सब-के-सब उस अद्भुत युद्धको देखनेके लिये अन्तरिक्षमें आकर खड़े हो गये ॥ २५ ॥

विद्धमन्योन्यगात्रेषु द्विगुणं वर्धते बलम्।
कृतप्रतिकृतान्योन्यं कुरुतां तौ रणाजिरे ॥ २६ ॥

दोनोंके शरीर बाणोंसे बिंध गये थे; फिर भी उनका बल दुगुना बढ़ता जाता था। वे दोनों संग्रामभूमिमें एक-दूसरेके अस्त्रोंको काटते हुए लड़ रहे थे ॥ २६ ॥

राममुक्तांस्तु बाणौघान् राक्षसस्त्वच्छिनद् रणे।
रक्षोमुक्तांस्तु रामो वै नैकधा प्राच्छिनच्छरैः ॥ २७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके छोड़े हुए बाण-समूहोंको वह राक्षस रणभूमिमें काट डालता था और राक्षसके चलाये हुए सायकोंको श्रीरामचन्द्रजी अपने बाणोंद्वारा टूक-टूक कर डालते थे ॥ २७ ॥

बाणौघवितताः सर्वा दिशश्च प्रदिशस्तथा।
संछन्ना वसुधा चैव समन्तान्न प्रकाशते ॥ २८ ॥

सम्पूर्ण दिशा और विदिशाएँ बाण-समूहोंसे आच्छादित हो गयी थीं तथा सारी पृथ्वी ढक गयी थी। चारों ओर कुछ भी दिखायी नहीं देता था ॥ २८ ॥

ततः क्रुद्धो महाबाहुर्धनुश्चिच्छेद संयुगे।
अष्टाभिरथ नाराचैः सूतं विव्याध राघवः ॥ २९ ॥

तदनन्तर महाबाहु श्रीरामचन्द्रजीने क्रोधमें भरकर उस राक्षसके धनुषको युद्धभूमिमें काट दिया और आठ नाराचोंद्वारा उसके सारथिको भी पीट दिया ॥ २९ ॥

भित्त्वा रथं शरै रामो हत्वा अश्वानपातयत्।
विरथो वसुधास्थः स मकराक्षो निशाचरः ॥ ३० ॥

फिर अनेक बाणोंसे रथको छिन्न-भिन्न करके श्रीरामने

घोड़ोंको भी मार गिराया। रथहीन हो जानेपर निशाचर मकराक्ष भूमिपर खड़ा हो गया॥ ३०॥

तत्तिष्ठद् वसुधां रक्षः शूलं जग्राह पाणिना।
त्रासनं सर्वभूतानां युगान्ताग्निसमप्रभम्॥ ३१॥

पृथ्वीपर खड़े हुए उस राक्षसने शूल हाथमें लिया, जो प्रलयकालकी अग्निके समान दीप्तिमान् तथा समस्त प्राणियोंको भयभीत करनेवाला था॥ ३१॥

दुरवापं महच्छूलं रुद्रदत्तं भयंकरम्।
जाज्वल्यमानमाकाशे संहारास्त्रमिवापरम्॥ ३२॥

वह परम दुर्लभ और महान् शूल भगवान् शंकरका दिया हुआ था, जो बहुत ही भयंकर था। वह दूसरे संहारास्त्रकी भाँति आकाशमें प्रज्वलित हो उठा॥ ३२॥

यं दृष्ट्वा देवताः सर्वा भयार्ता विद्रुता दिशः।
विभ्राम्य च महच्छूलं प्रज्वलन्तं निशाचरः॥ ३३॥
स क्रोधात् प्राहिणोत् तस्मै राघवाय महाहवे।

उसे देखकर सम्पूर्ण देवता भयसे पीड़ित हो सब दिशाओंमें भाग गये। उस निशाचरने प्रज्वलित होते हुए उस महान् शूलको घुमाकर महात्मा श्रीरघुनाथजीके ऊपर क्रोधपूर्वक चलाया॥ ३३ १/२॥

तमापतन्तं ज्वलितं खरपुत्रकराच्च्युतम्॥ ३४॥
बाणैश्चतुर्भिराकाशे शूलं चिच्छेद राघवः।

खरपुत्र मकराक्षके हाथसे छूटे हुए उस प्रज्वलित शूलको अपनी ओर आते देख श्रीरामचन्द्रजीने चार बाण मारकर आकाशमें ही उसको काट डाला॥ ३४ १/२॥

स भिन्नो नैकधा शूलो दिव्यहाटकमण्डितः।
व्यशीर्यत महोल्केव रामबाणार्दितो भुवि॥ ३५॥

दिव्य सुवर्णसे विभूषित वह शूल श्रीरामके बाणोंसे खण्डित हो अनेक टुकड़ोंमें बँट गया और बड़ी भारी उल्काके समान भूतलपर बिखर गया॥ ३५॥

तच्छूलं निहतं दृष्ट्वा रामेणाक्लिष्टकर्मणा।
साधु साध्विति भूतानि व्याहरन्ति नभोगताः॥ ३६॥

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरामके द्वारा उस शूलको खण्डित हुआ देख आकाशमें स्थित हुए सभी प्राणी उन्हें साधुवाद देने लगे॥ ३६॥

तं दृष्ट्वा निहतं शूलं मकराक्षो निशाचरः।
मुष्टिमुद्यम्य काकुत्स्थं तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत्॥ ३७॥

उस शूलके टुकड़े-टुकड़े हुए देख निशाचर मकराक्षने घूसा तानकर श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—'अरे! खड़ा रह, खड़ा रह'॥ ३७॥

स तं दृष्ट्वा पतन्तं तु प्रहस्य रघुनन्दनः।
पावकास्त्रं ततो रामः संदधे तु शरासने॥ ३८॥

उसे आक्रमण करते देख श्रीरामचन्द्रजीने हँसकर अपने धनुषपर आग्नेयास्त्रका संधान किया॥ ३८॥

तेनास्त्रेण हतं रक्षः काकुत्स्थेन तदा रणे।
संछिन्नहृदयं तत्र पपात च ममार च॥ ३९॥

और उस अस्त्रके द्वारा उन्होंने रणभूमिमें तत्काल उस राक्षसपर प्रहार किया। बाणके आघातसे राक्षसका हृदय विदीर्ण हो गया; अतः वह गिरा और मर गया॥ ३९॥

दृष्ट्वा ते राक्षसाः सर्वे मकराक्षस्य पातनम्।
लङ्कामेव प्रधावन्त रामबाणभयार्दिताः॥ ४०॥

मकराक्षका धराशायी होना देख वे सब राक्षस श्रीरामचन्द्रजीके बाणोंके भयसे व्याकुल हो लङ्कामें ही भाग गये॥ ४०॥

दशरथनृपसूनुबाणवेगै
रजनिचरं निहतं खरात्मजं तम्।
प्रददृशुरथ देवताः प्रहृष्टा
गिरिमिव वज्रहतं यथा विकीर्णम्॥ ४१॥

देवताओंने देखा, जैसे वज्रका मारा हुआ पर्वत बिखर जाता है, उसी प्रकार खरका पुत्र निशाचर मकराक्ष दशरथकुमार श्रीरामचन्द्रजीके बाणोंके वेगसे मार डाला गया। इससे उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई॥ ४१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे एकोनाशीतितमः सर्गः॥ ७९॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें उन्नासीवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ७९॥

—★—

अशीतितमः सर्गः

रावणकी आज्ञासे इन्द्रजित्का घोर युद्ध तथा उसके वधके विषयमें श्रीराम और लक्ष्मणकी बातचीत

मकराक्षं हतं श्रुत्वा रावणः समितिंजयः।
रोषेण महताविष्टो दन्तान् कटकटाय्य च॥ १॥

मकराक्षको मारा गया सुनकर समरविजयी रावण महान् रोषसे भरकर दाँत पीसने लगा॥ १॥

कुपितश्च तदा तत्र किं कार्यमिति चिन्तयन्।
आदिदेशाथ संक्रुद्धो रणायेन्द्रजितं सुतम्॥ २॥

कुपित हुआ वह निशाचर उस समय वहाँ इस चिन्तामें पड़ गया कि अब क्या करना चाहिये। उसने अत्यन्त क्रोधसे भरकर अपने पुत्र इन्द्रजित्‌को युद्धके लिये जानेकी आज्ञा दी॥ २॥

जहि वीर महावीर्यौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
अदृश्यो दृश्यमानो वा सर्वथा त्वं बलाधिकः॥ ३॥

वह बोला—'वीर! तुम महापराक्रमी राम और लक्ष्मण दोनों भाइयोंको छिपकर या प्रत्यक्षरूपसे मार डालो; क्योंकि तुम बलमें सर्वथा बढ़े-चढ़े हो॥ ३॥

त्वमप्रतिमकर्माणमिन्द्रं जयसि संयुगे।
किं पुनर्मानुषौ दृष्ट्वा न वधिष्यसि संयुगे॥ ४॥

'जिसके पराक्रमकी कहीं तुलना नहीं है, उस इन्द्रको भी तुम युद्धमें परास्त कर देते हो; फिर उन दो मनुष्योंको रणभूमिमें अपने सामने पाकर क्यों नहीं मार सकोगे?'॥ ४॥

तथोक्तो राक्षसेन्द्रेण प्रतिगृह्य पितुर्वचः।
यज्ञभूमौ स विधिवत् पावकं जुहुवेन्द्रजित्॥ ५॥

राक्षसराज रावणके ऐसा कहनेपर इन्द्रजित्‌ने पिताकी आज्ञा शिरोधार्य की और यज्ञभूमिमें जाकर अग्निकी स्थापना करके उसमें विधिपूर्वक हवन किया॥ ५॥

जुह्वतश्चापि तत्राग्निं रक्तोष्णीषधराः स्त्रियः।
आजग्मुस्तत्र सम्भ्रान्ता राक्षस्यो यत्र रावणिः॥ ६॥

उसके अग्निमें हवन करते समय लाल वस्त्र धारण किये बहुत-सी स्त्रियाँ घबरायी हुई उस स्थानपर आयीं, जहाँ वह रावणपुत्र हवन कर रहा था॥ ६॥

शस्त्राणि शरपत्राणि समिधोऽथ बिभीतकाः।
लोहितानि च वासांसि स्रुवं कार्ष्णायसं तथा॥ ७॥

उसके तलवार आदि शस्त्र ही सरपत—कुशास्तरणका काम दे रहे थे, बहेड़ेकी लकड़ी समिधा थी, लाल वस्त्र और लोहेका स्रुवा—ये सब वस्तुएँ उपयोगमें लायी गयी थीं॥ ७॥

सर्वतोऽग्निं समास्तीर्य शरपत्रैः सतोमरैः।
छागस्य सर्वकृष्णस्य गलं जग्राह जीवतः॥ ८॥

उसने तोमरसहित शस्त्ररूपी सरपत अग्निके चारों ओर बिछा दिये। उसके बाद काले रंगके जीवित बकरेका गला पकड़कर उसे अग्निमें होम दिया॥ ८॥

सकृद्धोमसमिद्धस्य विधूमस्य महार्चिषः।
बभूवुस्तानि लिङ्गानि विजयं दर्शयन्ति च॥ ९॥

एक ही बार किये गये उस होमसे अग्नि प्रज्वलित हो उठी, उसमें धुआँ नहीं था और बड़ी-बड़ी लपटें उठ रही थीं। उस अग्निमें वे सभी चिह्न प्रकट हुए, जो विजयकी सूचना देते थे॥ ९॥

प्रदक्षिणावर्तशिखस्तप्तहाटकसंनिभः।
हविस्तत् प्रतिजग्राह पावकः स्वयमुत्थितः॥ १०॥

उस समय तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिमान् अग्निदेवने स्वयं प्रकट होकर हविष्य ग्रहण किया। उनकी ज्वाला दक्षिणावर्त होकर निकल रही थी॥ १०॥

हुत्वाग्निं तर्पयित्वाथ देवदानवराक्षसान्।
आरुरोह रथश्रेष्ठमन्तर्धानगतं शुभम्॥ ११॥

अग्निमें आहुति दे आभिचारिक यज्ञ-सम्बन्धी देवता, दानव तथा राक्षसोंको तृप्त करनेके पश्चात् इन्द्रजित् अन्तर्धान होनेकी शक्तिसे सम्पन्न सुन्दर रथपर आरूढ़ हुआ॥ ११॥

स वाजिभिश्चतुर्भिस्तु बाणैस्तु निशितैर्युतः।
आरोपितमहाचापः शुशुभे स्यन्दनोत्तमः॥ १२॥

चार घोड़ों, पैने बाणों तथा अपने भीतर रखे हुए विशाल धनुषसे युक्त वह उत्तम रथ बड़ी शोभा पा रहा था॥ १२॥

जाज्वल्यमानो वपुषा तपनीयपरिच्छदः।
मृगैश्चन्द्रार्धचन्द्रैश्च स रथः समलंकृतः॥ १३॥

उसके सब सामान सोनेके बने हुए थे, अतः वह रथ अपने स्वरूपसे प्रज्वलित-सा जान पड़ता था। उसमें मृग, अर्धचन्द्र और पूर्णचन्द्र अङ्कित किये गये थे, जिनसे उसकी सजावट आकर्षक दिखायी देती थी॥ १३॥

जाम्बूनदमहाकम्बुर्दीप्तपावकसंनिभः।
बभूवेन्द्रजितः केतुर्वैदूर्यसमलंकृतः॥ १४॥

इन्द्रजित्‌का ध्वज प्रज्वलित अग्निके समान दीप्तिमान् था। उसमें सोनेके बड़े-बड़े कड़े पहनाये गये थे और उसे नीलमसे अलंकृत किया गया था॥ १४॥

तेन चादित्यकल्पेन ब्रह्मास्त्रेण च पालितः।
स बभूव दुराधर्षो रावणिः सुमहाबलः॥ १५॥

उस सूर्यतुल्य तेजस्वी रथ और ब्रह्मास्त्रसे सुरक्षित हुआ वह महाबली रावणकुमार इन्द्रजित् दूसरोंके लिये दुर्जय हो गया था॥ १५॥

सोऽभिनिर्याय नगरादिन्द्रजित् समितिंजयः।
हुत्वाग्निं राक्षसैर्मन्त्रैरन्तर्धानगतोऽब्रवीत्॥ १६॥

समरविजयी इन्द्रजित् नगरसे निकलकर निर्ऋति-देवता-सम्बन्धी मन्त्रोंसे अग्निमें आहुति दे अन्तर्धानकी शक्तिसे सम्पन्न हो इस प्रकार बोला—॥ १६॥

अद्य हत्वा रणे यौ तौ मिथ्या प्रव्रजितौ वने।
जयं पित्रे प्रदास्यामि रावणाय रणेऽधिकम्॥ १७॥

'जो व्यर्थ ही वनमें आये हैं (अथवा झूठे ही तपस्वीका बाना धारण किये हुए हैं), उन दोनों भाई राम और लक्ष्मणको आज रणभूमिमें मारकर मैं अपने पिता रावणको उत्कृष्ट जय प्रदान करूँगा॥ १७॥

अद्य निर्वानरामुर्वीं हत्वा रामं च लक्ष्मणम्।
करिष्ये परमां प्रीतिमित्युक्त्वान्तरधीयत॥ १८॥

'आज राम और लक्ष्मणको मारकर पृथ्वीको वानरोंसे सूनी करके मैं पिताको परम संतोष दूँगा।' ऐसा कहकर वह अदृश्य हो गया॥ १८॥

आपपाताथ संक्रुद्धो दशग्रीवेण चोदितः।
तीक्ष्णकार्मुकनाराचैस्तीक्ष्णस्त्विन्द्ररिपू रणे॥ १९॥

तत्पश्चात् दशमुख रावणसे प्रेरित हो इन्द्रशत्रु इन्द्रजित् कुपित होकर रणभूमिमें आया। उसके हाथमें धनुष और तीखे नाराच थे॥ १९॥

स ददर्श महावीर्यौ नागौ त्रिशिरसाविव।
सृजन्ताविषुजालानि वीरौ वानरमध्यगौ॥ २०॥

युद्धस्थलमें आकर उस निशाचरने वानरोंके बीचमें खड़े हो बाण-समूहोंकी वर्षा करते हुए महापराक्रमी वीर श्रीराम और लक्ष्मणको वहाँ (ऊँचे और मोटे कंधोंसे युक्त होनेके कारण) तीन सिरवाले नागोंके समान देखा॥ २०॥

इमौ ताविति संचिन्त्य सज्यं कृत्वा च कार्मुकम्।
संततानेषुधाराभिः पर्जन्य इव वृष्टिमान्॥ २१॥

'ये ही वे दोनों हैं' ऐसा सोचकर इन्द्रजित्‌ने अपने धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी और जलकी वर्षा करनेवाले मेघकी भाँति अपनी बाण-धाराओंसे सम्पूर्ण दिशाओंको भर दिया॥ २१॥

स तु वैहायसरथो युधि तौ रामलक्ष्मणौ।
अचक्षुर्विषये तिष्ठन् विव्याध निशितैः शरैः॥ २२॥

उसका रथ आकाशमें खड़ा था और श्रीराम तथा लक्ष्मण युद्धभूमिमें विराजमान थे। उन दोनोंकी दृष्टिसे ओझल होकर वह राक्षस उन्हें पैने बाणोंसे बींधने लगा॥ २२॥

तौ तस्य शरवेगेन परीतौ रामलक्ष्मणौ।
धनुषी सशरे कृत्वा दिव्यमस्त्रं प्रचक्रतुः॥ २३॥

उसके बाणोंके वेगसे व्याप्त हुए श्रीराम और लक्ष्मणने भी अपने-अपने धनुषपर बाणोंका संधान करके दिव्य अस्त्र प्रकट किये॥ २३॥

प्रच्छादयन्तौ गगनं शरजालैर्महाबलौ।
तमस्त्रैः सूर्यसंकाशैर्नैव पस्पर्शतुः शरैः॥ २४॥

उन महाबली बन्धुओंने सूर्यतुल्य तेजस्वी बाणसमूहोंसे आकाशको आच्छादित करके भी इन्द्रजित्‌का अपने बाणोंसे स्पर्श नहीं किया॥ २४॥

स हि धूमान्धकारं च चक्रे प्रच्छादयन्नभः।
दिशश्चान्तर्दधे श्रीमान् नीहारतमसा वृताः॥ २५॥

उस तेजस्वी राक्षसने मायासे धूमजनित अन्धकारकी सृष्टि की और आकाशको ढक दिया। साथ ही कुहरेका अन्धकार फैलाकर दिशाओंको भी ढक दिया॥ २५॥

नैव ज्यातलनिर्घोषो न च नेमिखुरस्वनः।
शुश्रुवे चरतस्तस्य न च रूपं प्रकाशते॥ २६॥

उसकी प्रत्यञ्चाकी टंकार नहीं सुनायी देती थी। पहियोंकी घर्घराहट तथा घोड़ोंकी टापकी आवाज भी कानोंमें नहीं पड़ती थी और सब ओर विचरते हुए उस राक्षसका रूप भी दृष्टि-गोचर नहीं होता था॥ २६॥

घनान्धकारे तिमिरे शिलावर्षमिवाद्भुतम्।
स ववर्ष महाबाहुर्नाराचशरवृष्टिभिः॥ २७॥

महाबाहु इन्द्रजित् उस घने अन्धकारमें जहाँ दृष्टि काम नहीं करती थी, पत्थरोंकी अद्भुत वृष्टिके समान नाराच नामक बाणोंकी वर्षा करने लगा॥ २७॥

स रामं सूर्यसंकाशैः शरैर्दत्तवरैर्भृशम्।
विव्याध समरे क्रुद्धः सर्वगात्रेषु रावणिः॥ २८॥

समराङ्गणमें कुपित हुए उस रावणकुमारने वरदानमें प्राप्त हुए सूर्यतुल्य तेजस्वी बाणोंद्वारा श्रीरामचन्द्रजीके सम्पूर्ण अङ्गोंमें घाव कर दिया॥ २८॥

तौ हन्यमानौ नाराचैर्धाराभिरिव पर्वतौ।
हेमपुङ्खान् नरव्याघ्रौ तिग्मान् मुमुचतुः शरान्॥ २९॥

जैसे दो पर्वतोंपर जलकी धाराएँ बरस रही हों, उसी प्रकार उन दोनों नरश्रेष्ठ वीरोंपर नाराचोंकी मार पड़ने लगी। उसी अवस्थामें वे दोनों वीर भी सोनेके पंखोंसे सुशोभित तीखे बाण छोड़ने लगे॥ २९॥

अन्तरिक्षं समासाद्य रावणिं कङ्कपत्रिणः।
निकृत्य पतगा भूमौ पेतुस्ते शोणिताप्लुताः॥ ३०॥

वे कङ्कपत्रयुक्त बाण आकाशमें पहुँचकर रावणकुमार इन्द्रजित्‌को क्षत-विक्षत करके रक्तमें डूबे हुए पृथ्वीपर गिर पड़ते थे॥ ३०॥

अतिमात्रं शरौघेण दीप्यमानौ नरोत्तमौ।
तानिषून् पततो भल्लैरनेकैर्विचकर्ततुः॥ ३१॥

बाणसमूहोंसे अत्यन्त देदीप्यमान वे दोनों नरश्रेष्ठ वीर अपने ऊपर गिरते हुए सायकोंको अनेक भल्ल मारकर काट गिराते थे॥ ३१॥

यतो हि ददृशाते तौ शरान् निपतिताञ्छितान्।
ततस्तु तौ दाशरथी ससृजातेऽस्त्रमुत्तमम्॥ ३२॥

जिस ओरसे तीखे बाण आते दिखायी देते, उसी ओर वे दोनों भाई दशरथकुमार श्रीराम और लक्ष्मण अपने उत्तम अस्त्रोंको चलाया करते थे॥ ३२॥

रावणिस्तु दिशः सर्वा रथेनातिरथोऽपतत्।
विव्याध तौ दाशरथी लघ्वस्त्रो निशितैः शरैः॥ ३३॥

अतिरथी वीर रावणपुत्र इन्द्रजित् अपने रथके द्वारा सम्पूर्ण दिशाओंमें दौड़ लगाता और बड़ी फुर्तीसे अस्त्र चलाता था। उसने अपने पैने बाणोंद्वारा उन दोनों दशरथकुमारोंको घायल कर दिया॥ ३३॥

तेनातिविद्धौ तौ वीरौ रुक्मपुङ्खैः सुसंहतैः।
बभूवतुर्दाशरथी पुष्पिताविव किंशुकौ॥ ३४॥

उसके सोनेके पंखवाले सुदृढ़ सायकोंद्वारा अत्यन्त घायल हुए वे दोनों वीर दशरथकुमार रक्तरञ्जित हो खिले हुए पलाशवृक्षोंके समान प्रतीत होते थे ॥ ३४ ॥

नास्य वेगगतिं कश्चिन्न च रूपं धनुः शरान्।
न चास्य विदितं किंचित् सूर्यस्येवाभ्रसम्प्लवे ॥ ३५ ॥

इन्द्रजित्‌की वेगपूर्ण गति, रूप, धनुष और बाणोंको कोई देख नहीं पाता था। मेघोंकी घटामें छिपे हुए सूर्यकी भाँति उसकी कोई भी बात किसीको ज्ञात नहीं हो पाती थी ॥ ३५ ॥

तेन विद्धाश्च हरयो निहताश्च गतासवः।
बभूवुः शतशस्तत्र पतिता धरणीतले ॥ ३६ ॥

उसके द्वारा घायल और आहत होकर कितने ही वानर अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठे तथा सैकड़ों योद्धा मरकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३६ ॥

लक्ष्मणस्तु ततः क्रुद्धो भ्रातरं वाक्यमब्रवीत्।
ब्राह्ममस्त्रं प्रयोक्ष्यामि वधार्थं सर्वरक्षसाम् ॥ ३७ ॥

तब लक्ष्मणको बड़ा क्रोध हुआ और उन्होंने अपने भाईसे कहा—'आर्य! अब मैं समस्त राक्षसोंके संहारके लिये ब्रह्मास्त्रका प्रयोग करूँगा' ॥ ३७ ॥

तमुवाच ततो रामो लक्ष्मणं शुभलक्षणम्।
नैकस्य हेतो रक्षांसि पृथिव्यां हन्तुमर्हसि ॥ ३८ ॥

उनकी यह बात सुनकर श्रीरामने शुभलक्षणसम्पन्न लक्ष्मणसे कहा—'भाई! एकके कारण भूमण्डलके समस्त राक्षसोंका वध करना तुम्हारे लिये उचित नहीं है ॥ ३८ ॥

अयुध्यमानं प्रच्छन्नं प्राञ्जलिं शरणागतम्।
पलायमानं मत्तं वा न हन्तुं त्वमिहार्हसि ॥ ३९ ॥
तस्यैव तु वधे यत्नं करिष्यामि महाभुज।
आदेक्ष्यावो महावेगानस्त्रानाशीविषोपमान् ॥ ४० ॥

'महाबाहो! जो युद्ध न करता हो, छिपा हो, हाथ जोड़कर शरणमें आया हो, युद्धसे भाग रहा हो अथवा पागल हो गया हो, ऐसे व्यक्तिको तुम्हें नहीं मारना चाहिये। अब मैं उस इन्द्रजित्‌के ही वधका प्रयत्न करता हूँ। आओ, हमलोग विषैले सर्पोंकी भाँति भयंकर तथा अत्यन्त वेगशाली अस्त्रोंका प्रयोग करें ॥ ३९-४० ॥

तमेनं मायिनं क्षुद्रमन्तर्हितरथं बलात्।
राक्षसं निहनिष्यन्ति दृष्ट्वा वानरयूथपाः ॥ ४१ ॥

'यह मायावी राक्षस बड़ा नीच है। इसने अन्तर्धान-शक्तिसे अपने रथको छिपा लिया है। यदि यह दीख जाय तो वानरयूथपति इस राक्षसको अवश्य मार डालेंगे ॥ ४१ ॥

यद्येष भूमिं विशते दिवं वा
रसातलं वापि नभस्तलं वा।
एवं विगूढोऽपि ममास्त्रदग्धः
पतिष्यते भूमितले गतासुः ॥ ४२ ॥

'यदि यह पृथ्वीमें समा जाय, स्वर्गको चला जाय, रसातलमें प्रवेश करे अथवा आकाशमें ही स्थित रहे तथापि इस तरह छिपे होनेपर भी मेरे अस्त्रोंसे दग्ध होकर प्राणशून्य हो भूतलपर अवश्य गिरेगा' ॥ ४२ ॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं महार्थं
रघुप्रवीरः प्लवगर्षभैर्वृतः।
वधाय रौद्रस्य नृशंसकर्मण-
स्तदा महात्मा त्वरितं निरीक्षते ॥ ४३ ॥

इस प्रकार महान् अभिप्रायसे युक्त वचन कहकर वानर शिरोमणियोंसे घिरे हुए रघुकुलके प्रमुख वीर महात्मा श्रीरामचन्द्रजी उस क्रूरकर्मा भयानक राक्षसका वध करनेके लिये तत्काल ही इधर-उधर दृष्टिपात करने लगे ॥ ४३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डेऽशीतितमः सर्गः ॥ ८० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें अस्सीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८० ॥

—★—

एकाशीतितमः सर्गः

इन्द्रजित्‌के द्वारा मायामयी सीताका वध

विज्ञाय तु मनस्तस्य राघवस्य महात्मनः।
स निवृत्याहवात् तस्मात् प्रविवेश पुरं ततः ॥ १ ॥

महात्मा रघुनाथजीके मनोभावको समझकर इन्द्रजित् युद्धसे निवृत्त हो लङ्कापुरीमें चला गया ॥ १ ॥

सोऽनुस्मृत्य वधं तेषां राक्षसानां तरस्विनाम्।
क्रोधताम्रेक्षणः शूरो निर्जगामाथ रावणिः ॥ २ ॥

वहाँ जानेपर बलवान् राक्षसोंके वधका स्मरण हो आनेसे शूरवीर रावणकुमारकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं। वह पुनः युद्धके लिये निकला ॥ २ ॥

स पश्चिमेन द्वारेण निर्ययौ राक्षसैर्वृतः।
इन्द्रजित् सुमहावीर्यः पौलस्त्यो देवकण्टकः ॥ ३ ॥

पुलस्त्यकुलमें उत्पन्न महापराक्रमी इन्द्रजित् देवताओंके लिये कण्टकरूप था। वह राक्षसोंकी बहुत बड़ी सेना साथ लेकर नगरके पश्चिम द्वारसे पुनः बाहर आया ॥ ३ ॥

इन्द्रजित्तु ततो दृष्ट्वा भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
रणायाभ्युद्यतौ वीरौ मायां प्रादुष्करोत् तदा ॥ ४ ॥

दोनों भाई वीर श्रीराम और लक्ष्मणको युद्धके लिये उद्यत देख इन्द्रजित्‌ने उस समय माया प्रकट की ॥ ४ ॥

इन्द्रजित्तु रथे स्थाप्य सीतां मायामयीं तदा।
बलेन महतावृत्य तस्या वधमरोचयत् ॥ ५ ॥

उसने मायामयी सीताका निर्माण करके उसे अपने रथपर बिठा लिया और विशाल सेनाके घेरेमें रखकर उसका वध करनेका विचार किया ॥ ५ ॥

मोहनार्थं तु सर्वेषां बुद्धिं कृत्वा सुदुर्मतिः।
हन्तुं सीतां व्यवसितो वानराभिमुखो ययौ ॥ ६ ॥

उसकी बुद्धि बहुत ही खोटी थी। उसने सबको मोहमें डालनेका विचार करके मायासे बनी हुई सीताको मारनेका निश्चय किया। इसी अभिप्रायसे वह वानरोंके सामने गया ॥ ६ ॥

तं दृष्ट्वा त्वभिनिर्यान्तं सर्वे ते काननौकसः।
उत्पेतुरभिसंक्रुद्धाः शिलाहस्ता युयुत्सवः ॥ ७ ॥

उसे युद्धके लिये निकलते देख सभी वानर क्रोधसे भर गये और हाथमें शिला उठाये युद्धकी इच्छासे उसके ऊपर टूट पड़े ॥ ७ ॥

हनूमान् पुरतस्तेषां जगाम कपिकुञ्जरः।
प्रगृह्य सुमहच्छृङ्गं पर्वतस्य दुरासदम् ॥ ८ ॥

कपिकुञ्जर हनुमान्‌जी उन सबके आगे-आगे चले। उन्होंने पर्वतका एक बहुत बड़ा शिखर ले रखा था, जिसे उठाना दूसरेके लिये नितान्त कठिन था ॥ ८ ॥

स ददर्श हतानन्दां सीतामिन्द्रजितो रथे।
एकवेणीधरां दीनामुपवासकृशाननाम् ॥ ९ ॥

उन्होंने इन्द्रजित्‌के रथपर सीताको देखा। उनकी खुशी मारी गयी थी। वे एक वेणी धारण किये बहुत दुःखी दिखायी देती थीं और उपवास करनेके कारण उनका मुख दुबला-पतला हो गया था ॥ ९ ॥

परिक्लिष्टैकवसनाममृजां राघवप्रियाम्।
रजोमलाभ्यामालिप्तैः सर्वगात्रैर्वरस्त्रियम् ॥ १० ॥

उनके शरीरपर एक ही मलिन वस्त्र था। श्रीरघुनाथजीकी प्रिया सीताके अङ्गोंमें उबटन आदि नहीं लगे थे। उनके सारे शरीरमें धूल और मैल भरी थी तो भी वे श्रेष्ठ और सुन्दर दिखायी देती थीं ॥ १० ॥

तां निरीक्ष्य मुहूर्तं तु मैथिलीमध्यवस्य च।
बभूवाचिरदृष्टा हि तेन सा जनकात्मजा ॥ ११ ॥

हनुमान्‌जी कुछ देरतक उनकी ओर देखते रहे। अन्तमें यह निश्चय किया कि ये मिथिलेशकुमारी ही हैं। उन्होंने जनककिशोरीको थोड़े ही दिन पहले देखा था, इसलिये वे शीघ्र ही उन्हें पहचान सके थे ॥ ११ ॥

अब्रवीत् तां तु शोकार्तां निरानन्दां तपस्विनीम्।
दृष्ट्वा रथस्थितां दीनां राक्षसेन्द्रसुताश्रिताम् ॥ १२ ॥

राक्षसराजके पुत्र इन्द्रजित्‌के पास रथपर बैठी हुई तपस्विनी सीता शोकसे पीड़ित, दीन एवं आनन्दशून्य हो रही थीं ॥ १२ ॥

किं समर्थितमस्येति चिन्तयन् स महाकपिः।
सह तैर्वानरश्रेष्ठैरभ्यधावत रावणिम् ॥ १३ ॥

सीताको वहाँ देखकर महाकपि हनुमान्‌जी यह सोचने लगे कि आखिर इस राक्षसका अभिप्राय क्या है? फिर वे मुख्य-मुख्य वानरोंको साथ लेकर रावणपुत्रकी ओर दौड़े ॥ १३ ॥

तद् वानरबलं दृष्ट्वा रावणिः क्रोधमूर्च्छितः।
कृत्वा विकोशं निस्त्रिंशं मूर्ध्नि सीतामकर्षयत् ॥ १४ ॥

वानरोंकी उस सेनाको अपनी ओर आती देख रावणकुमारके क्रोधकी सीमा न रही। उसने तलवारको म्यानसे बाहर निकाला और सीताके सिरके केश पकड़कर उन्हें घसीटा ॥ १४ ॥

तां स्त्रियं पश्यतां तेषां ताडयामास राक्षसः।
क्रोशन्तीं राम रामेति मायया योजितां रथे ॥ १५ ॥

मायाद्वारा रथपर बैठायी हुई वह स्त्री 'हा राम, हा राम' कहकर चिल्ला रही थी और वह राक्षस उन सबके देखते-देखते उस स्त्रीको पीट रहा था ॥ १५ ॥

गृहीतमूर्धजां दृष्ट्वा हनूमान् दैन्यमागतः।
दुःखजं वारि नेत्राभ्यामुत्सृजन् मारुतात्मजः ॥ १६ ॥

सीताका केश पकड़ा गया देख हनुमान्‌जीको बड़ा दुःख हुआ। वे पवनकुमार हनुमान् अपने नेत्रोंसे दुःखजनित आँसू बहाने लगे ॥ १६ ॥

तां दृष्ट्वा चारुसर्वाङ्गीं रामस्य महिषीं प्रियाम्।
अब्रवीत् परुषं वाक्यं क्रोधाद् रक्षोधिपात्मजम् ॥ १७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी सर्वाङ्गसुन्दरी प्यारी पटरानी सीताको उस अवस्थामें देख हनुमान्‌जी कुपित हो उठे और उस राक्षस-राजकुमार इन्द्रजित्‌से कठोर वाणीमें बोले— ॥ १७ ॥

दुरात्मन्नात्मनाशाय केशपक्षे परामृशः।
ब्रह्मर्षीणां कुले जातो राक्षसीं योनिमाश्रितः ॥ १८ ॥

'दुरात्मन्! तू अपने विनाशके लिये ही तुला हुआ है, तभी सीताके केशोंका स्पर्श कर रहा है। तेरा जन्म ब्रह्मर्षियोंके कुलमें हुआ है तथापि तूने राक्षस-जातिके स्वभावका ही आश्रय लिया है ॥ १८ ॥

धिक् त्वां पापसमाचारं यस्य ते मतिरीदृशी।
नृशंसानार्य दुर्वृत्त क्षुद्र पापपराक्रम।
अनार्यस्येदृशं कर्म घृणा ते नास्ति निर्घृण ॥ १९ ॥

'अरे! तेरी बुद्धि ऐसी बिगड़ी हुई है? धिक्कार है तुझ-जैसे पापाचारीको! नृशंस! अनार्य! दुराचारी तथा पापपूर्ण पराक्रम करनेवाले नीच! तेरी यह करतूत नीच पुरुषोंके ही योग्य है।

निर्दयी ! तेरे हृदयमें तनिक भी दया नहीं है ॥ १९ ॥

च्युता गृहाच्च राज्याच्च रामहस्ताच्च मैथिली ।
किं तवैषापराद्धा हि यदेनां हंसि निर्दय ॥ २० ॥

'बेचारी मिथिलेशकुमारी घरसे, राज्यसे और श्रीरामचन्द्रजीके करकमलोंके आश्रयसे भी बिछुड़ गयी हैं। निष्ठुर ! इन्होंने तेरा क्या अपराध किया है, जो तू इन्हें इतनी निर्दयतासे मार रहा है ?॥ २० ॥

सीतां हत्वा तु न चिरं जीविष्यसि कथंचन ।
वधार्ह कर्मणा तेन मम हस्तगतो ह्यसि ॥ २१ ॥

'सीताको मारकर तू अधिक कालतक किसी तरह जीवित नहीं रह सकेगा। वधके योग्य नीच ! तू अपने पापकर्मके कारण मेरे हाथमें पड़ गया है (अब तेरा जीना कठिन है)॥ २१ ॥

ये च स्त्रीघातिनां लोका लोकवध्यैश्च कुत्सिताः ।
इह जीवितमुत्सृज्य प्रेत्य तान् प्रति लप्स्यसे ॥ २२ ॥

'लोकमें अपने पापके कारण वधके योग्य माने गये जो चोर आदि हैं, वे भी जिन लोकोंकी निन्दा करते हैं तथा जो स्त्री-हत्यारोंको ही मिलते हैं, तू यहाँ अपने प्राणोंका परित्याग करके उन्हीं नरक-लोकोंमें जायगा'॥ २२ ॥

इति ब्रुवाणो हनुमान् सायुधैर्हरिभिर्वृतः ।
अभ्यधावत् सुसंक्रुद्धो राक्षसेन्द्रसुतं प्रति ॥ २३ ॥

ऐसी बातें कहते हुए हनुमान्‌जी अत्यन्त कुपित हो शिला आदि आयुध धारण करनेवाले वानरवीरोंके साथ राक्षसराजकुमारपर टूट पड़े॥ २३ ॥

आपतन्तं महावीर्यं तदनीकं वनौकसाम् ।
रक्षसां भीमकोपानामनीकेन न्यवारयत् ॥ २४ ॥

वानरोंके उस महापराक्रमी सैन्य-समुदायको आक्रमण करते देख इन्द्रजित्‌ने भयानक क्रोधवाले राक्षसोंकी सेनाके द्वारा उसे आगे बढ़नेसे रोका॥ २४ ॥

स तां बाणसहस्रेण विक्षोभ्य हरिवाहिनीम् ।
हनूमन्तं हरिश्रेष्ठमिन्द्रजित् प्रत्युवाच ह ॥ २५ ॥

फिर सहस्रों बाणोंद्वारा उस वानरवाहिनीमें हलचल मचाकर इन्द्रजित्‌ने कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌जीसे कहा— ॥ २५ ॥

सुग्रीवस्त्वं च रामश्च यन्निमित्तमिहागताः ।
तां वधिष्यामि वैदेहीमद्यैव तव पश्यतः ॥ २६ ॥
इमां हत्वा ततो रामं लक्ष्मणं त्वां च वानर ।
सुग्रीवं च वधिष्यामि तं चानार्यं विभीषणम् ॥ २७ ॥

'वानर ! सुग्रीव, राम और तुम सब लोग जिसके लिये यहाँतक आये हो, उस विदेहकुमारी सीताको मैं अभी तुम्हारे देखते-देखते मार डालूँगा। इसे मारकर मैं क्रमशः राम-लक्ष्मणका, तुम्हारा, सुग्रीवका तथा उस अनार्य विभीषणका भी वध कर डालूँगा॥ २६-२७ ॥

न हन्तव्याः स्त्रियश्चेति यद् ब्रवीषि प्लवंगम ।
पीडाकरममित्राणां यच्च कर्तव्यमेव तत् ॥ २८ ॥

'वेदर ! तुम जो यह कह रहे थे कि स्त्रियोंको मारना नहीं चाहिये, उसके उत्तरमें मुझे यह कहना है कि जिस कार्यके करनेसे शत्रुओंको अधिक कष्ट पहुँचे, वह कर्तव्य ही माना गया है॥ २८ ॥

तमेवमुक्त्वा रुदतीं सीतां मायामयीं च ताम् ।
शितधारेण खड्गेन निजघानेन्द्रजित् स्वयम् ॥ २९ ॥

हनुमान्‌जीसे ऐसा कहकर इन्द्रजित्‌ने स्वयं ही तेज धारवाली तलवारसे उस रोती हुई मायामयी सीतापर घातक प्रहार किया॥ २९ ॥

यज्ञोपवीतमार्गेण छिन्ना तेन तपस्विनी ।
सा पृथिव्यां पृथुश्रोणी पपात प्रियदर्शना ॥ ३० ॥

शरीरमें यज्ञोपवीत धारण करनेका जो स्थान है, उसी जगहसे उस मायामयी सीताके दो टुकड़े हो गये और वह स्थूल कटिप्रदेशवाली प्रियदर्शना तपस्विनी पृथ्वीपर गिर पड़ी॥ ३० ॥

तामिन्द्रजित् स्त्रियं हत्वा हनूमन्तमुवाच ह ।
मया रामस्य पश्येमां प्रियां शस्त्रनिषूदिताम् ।
एषा विशस्ता वैदेही निष्फलो वः परिश्रमः ॥ ३१ ॥

उस स्त्रीका वध करके इन्द्रजित्‌ने हनुमान्‌से कहा—'देख लो, मैंने रामकी इस प्यारी पत्नीको तलवारसे काट डाला। यह रही कटी हुई विदेह-राजकुमारी सीता। अब तुमलोगोंका युद्धके लिये परिश्रम व्यर्थ है'॥ ३१ ॥

ततः खड्गेन महता हत्वा तामिन्द्रजित्स्वयम् ।
हृष्टः स रथमास्थाय ननाद च महास्वनम् ॥ ३२ ॥

इस प्रकार स्वयं इन्द्रजित् विशाल खड्गसे उस मायामयी स्त्रीका वध करके रथपर बैठा-बैठा बड़े हर्षके साथ जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगा॥ ३२ ॥

वानराः शुश्रुवुः शब्दमदूरे प्रत्यवस्थिताः ।
व्यादितास्यस्य नदतस्तद्दुर्गं संश्रितस्य तु ॥ ३३ ॥

पास ही खड़े हुए वानरोंने उसकी उस गर्जनाको सुना। वह उस दुर्गम रथपर बैठकर मुँह बाये विकट सिंहनाद करता था॥ ३३ ॥

तथा तु सीतां विनिहत्य दुर्मतिः
प्रहृष्टचेताः स बभूव रावणिः ।
तं हृष्टरूपं समुदीक्ष्य वानरा
विषण्णरूपाः समभिप्रदुद्रुवुः ॥ ३४ ॥

रावणके उस पुत्रकी बुद्धि बड़ी खोटी थी। उसने इस प्रकार मायामयी सीताका वध करके अपने मनमें बड़ी प्रसन्नताका अनुभव किया। उसे हर्षसे उत्फुल्ल देख वानर विषादग्रस्त हो भाग खड़े हुए॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे एकाशीतितमः सर्गः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें इक्यासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८१ ॥

—★—

द्व्यशीतितमः सर्गः

हनुमान्‌जीके नेतृत्वमें वानरों और निशाचरोंका युद्ध, हनुमान्‌जीका श्रीरामके पास लौटना और इन्द्रजित्‌का निकुम्भिला-मन्दिरमें जाकर होम करना

श्रुत्वा तु भीमनिर्ह्लादं शक्राशनिसमस्वनम्।
वीक्ष्यमाणा दिशः सर्वा दुद्रुवुर्वानरा भृशम्॥ १॥

इन्द्रके वज्रकी गड़गड़ाहटके समान उस भयंकर सिंहनादको सुनकर वानर सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर देखते हुए जोर-जोरसे भागने लगे॥ १॥

तानुवाच ततः सर्वान् हनूमान् मारुतात्मजः।
विषण्णवदनान् दीनांस्त्रस्तान् विद्रवतः पृथक्॥ २॥

उन सबको विषादग्रस्त, दीन एवं भयभीत होकर भागते देख पवनकुमार हनुमान्‌जीने कहा—॥ २॥

कस्माद् विषण्णवदना विद्रवध्वं प्लवंगमाः।
त्यक्तयुद्धसमुत्साहाः शूरत्वं क्व नु वो गतम्॥ ३॥

'वानरो! तुम क्यों मुखपर विषाद लिये युद्ध-विषयक उत्साह छोड़कर भागे जा रहे हो? तुम्हारा वह शौर्य कहाँ चला गया?॥ ३॥

पृष्ठतोऽनुव्रजध्वं मामग्रतो यान्तमाहवे।
शूरैरभिजनोपेतैरयुक्तं हि निवर्तितुम्॥ ४॥

'मैं युद्धमें आगे-आगे चलता हूँ। तुम सब लोग मेरे पीछे आ जाओ। उत्तम कुलमें उत्पन्न शूरवीरोंके लिये युद्धमें पीठ दिखाना सर्वथा अनुचित है'॥ ४॥

एवमुक्ताः सुसंक्रुद्धा वायुपुत्रेण धीमता।
शैलशृङ्गान् द्रुमांश्चैव जगृहुर्हृष्टमानसाः॥ ५॥

बुद्धिमान् वायुपुत्रके ऐसा कहनेपर वानरोंका चित्त प्रसन्न हो गया और राक्षसोंके प्रति अत्यन्त कुपित हो उन्होंने हाथोंमें पर्वतशिखर और वृक्ष उठा लिये॥ ५॥

अभिपेतुश्च गर्जन्तो राक्षसान् वानरर्षभाः।
परिवार्य हनूमन्तमन्वयुश्च महाहवे॥ ६॥

वे श्रेष्ठ वानरवीर उस महासमरमें हनुमान्‌जीको चारों ओरसे घेरकर उनके पीछे-पीछे चले और जोर-जोरसे गर्जना करते हुए वहाँ राक्षसोंपर टूट पड़े॥ ६॥

स तैर्वानरमुख्यैस्तु हनूमान् सर्वतो वृतः।
हुताशन इवार्चिष्मानदहच्छत्रुवाहिनीम्॥ ७॥

उन श्रेष्ठ वानरोंद्वारा सब ओरसे घिरे हुए हनुमान्‌जी ज्वालामालाओंसे युक्त प्रज्वलित अग्निकी भाँति शत्रु-सेनाको दग्ध करने लगे॥ ७॥

स राक्षसानां कदनं चकार सुमहाकपिः।
वृतो वानरसैन्येन कालान्तकयमोपमः॥ ८॥

वानर-सैनिकोंसे घिरे हुए उन महाकपि हनुमान्‌जीने प्रलयकालके संहारकारी यमराजके समान राक्षसोंका संहार आरम्भ किया॥ ८॥

स तु शोकेन चाविष्टः कोपेन महता कपिः।
हनूमान् रावणिरथे महतीं पातयच्छिलाम्॥ ९॥

सीताके वधसे उनके मनमें बड़ा शोक हो रहा था और इन्द्रजित्‌का अत्याचार देखकर उनका क्रोध भी बहुत बढ़ गया था; इसलिये हनुमान्‌जीने रावणकुमारके रथपर एक बहुत बड़ी शिला फेंकी॥ ९॥

तामापतन्तीं दृष्ट्वैव रथः सारथिना तदा।
विधेयाश्वसमायुक्तः विदूरमपवाहितः॥ १०॥

उसे अपने ऊपर आती देख सारथिने तत्काल ही अपने अधीन रहनेवाले घोड़ोंसे जुते हुए उस रथको बहुत दूर हटा दिया॥ १०॥

तमिन्द्रजितमप्राप्य रथस्थं सहसारथिम्।
विवेश धरणीं भित्त्वा सा शिला व्यर्थमुद्यता॥ ११॥

अतः सारथिसहित रथपर बैठे हुए इन्द्रजित्‌के पासतक न पहुँचकर वह शिला धरती फोड़कर उसके भीतर समा गयी। उसके चलानेका सारा उद्योग व्यर्थ हो गया॥ ११॥

पतितायां शिलायां तु व्यथिता रक्षसां चमूः।
निपतन्त्या च शिलया राक्षसा मथिता भृशम्॥ १२॥

उस शिलाके गिरनेपर उस राक्षस-सेनाको बड़ी पीड़ा हुई। गिरती हुई उस शिलाने बहुतेरे राक्षसोंको कुचल डाला॥ १२॥

तमभ्यधावञ्शतशो नदन्तः काननौकसः।
ते द्रुमांश्च महाकाया गिरिशृङ्गाणि चोद्यताः॥ १३॥

तत्पश्चात् सैकड़ों विशालकाय वानर हाथोंमें वृक्ष एवं पर्वतशिखर उठाये गर्जना करते हुए इन्द्रजित्‌की ओर दौड़े॥ १३॥

क्षिपन्तीन्द्रजितं संख्ये वानरा भीमविक्रमाः।
वृक्षशैलमहावर्षं विसृजन्तः प्लवंगमाः॥ १४॥
शत्रूणां कदनं चक्रुर्नेदुश्च विविधैः स्वनैः।

वे भयानक पराक्रमी वानरवीर युद्धस्थलमें इन्द्रजित्‌पर उन वृक्षों और पर्वत-शिखरोंको फेंकने लगे। वृक्षों और शैलशिखरोंकी बड़ी भारी वृष्टि करते हुए वे वानर शत्रुओंका संहार करने और भाँति-भाँतिकी आवाजमें गर्जने लगे॥ १४½॥

वानरैस्तैर्महाभीमैर्घोररूपा निशाचराः॥ १५॥
वीर्यादभिहता वृक्षैर्व्यचेष्टन्त रणक्षितौ।

उन महाभयंकर वानरोंने वृक्षोंद्वारा घोररूपधारी निशाचरोंको बलपूर्वक मार गिराया। वे रणभूमिमें गिरकर छटपटाने लगे॥ १५½॥

स सैन्यमभिवीक्ष्याथ वानरार्दितमिन्द्रजित्॥ १६॥
प्रगृहीतायुधः क्रुद्धः परानभिमुखो ययौ।

अपनी सेनाको वानरोंद्वारा पीड़ित हुई देख इन्द्रजित् क्रोधपूर्वक अस्त्र-शस्त्र लिये शत्रुओंके सामने गया ॥१६½॥

स शरौघानवसृजन् स्वसैन्येनाभिसंवृतः ॥ १७ ॥
जघान कपिशार्दूलान् सुबहून् दृढविक्रमः ।
शूलैरशनिभिः खड्गैः पट्टिशैः शूलमुद्गरैः ॥ १८ ॥

अपनी सेनासे घिरे हुए उस सुदृढ़पराक्रमी वीर निशाचरने बाण-समूहोंकी वर्षा करते हुए शूल, वज्र, तलवार, पट्टिश तथा मुद्गरोंकी मारसे बहुत-से वानरवीरोंको हताहत कर दिया ॥१८½॥

ते चाप्यनुचरांस्तस्य वानरा जघ्नुराहवे ।
सुस्कन्धविटपैः शैलैः शिलाभिश्च महाबलः ॥ १९ ॥
हनूमान् कदनं चक्रे रक्षसां भीमकर्मणाम् ।

वानरोंने भी युद्धस्थलमें इन्द्रजित्के अनुचरोंको मारा। महाबली हनुमान्जी सुन्दर शाखाओं और डालियोंवाले शाल-वृक्षों तथा शिलाओंद्वारा भीमकर्मा राक्षसोंका संहार करने लगे ॥१९½॥

संनिवार्य परानीकमब्रवीत् तान् वनौकसः ॥ २० ॥
हनूमान् संनिवर्तध्वं न नः साध्यमिदं बलम् ।

इस तरह शत्रुसेनाका वेग रोककर हनुमान्जीने वानरोंसे कहा—'बन्धुओ ! अब लौट चलो, अब हमें इस सेनाके संहार करनेकी आवश्यकता नहीं रह गयी है ॥२०½॥

त्यक्त्वा प्राणान् विचेष्टन्तो रामप्रियचिकीर्षवः ॥ २१ ॥
यन्निमित्तं हि युध्यामो हता सा जनकात्मजा ।

'हमलोग जिनके लिये श्रीरामचन्द्रजीका प्रिय करनेकी इच्छा रखकर प्राणोंका मोह छोड़ पूरी चेष्टाके साथ युद्ध करते थे, वे जनककिशोरी सीता मारी गयीं ॥२१½॥

इममर्थं हि विज्ञाप्य रामं सुग्रीवमेव च ॥ २२ ॥
तौ यत् प्रतिविधास्येते तत् करिष्यामहे वयम् ।

'अब इस बातकी सूचना भगवान् श्रीराम और सुग्रीवको दे देनी चाहिये। फिर वे दोनों इसके लिये जैसा प्रतीकार सोचेंगे, वैसा ही हम भी करेंगे' ॥२२½॥

इत्युक्त्वा वानरश्रेष्ठो वारयन् सर्ववानरान् ॥ २३ ॥
शनैः शनैरसंत्रस्तः सबलः संन्यवर्तत ।

ऐसा कहकर वानरश्रेष्ठ हनुमान्जीने सब वानरोंको युद्धसे मना कर दिया और धीरे-धीरे सारी सेनाके साथ निर्भय होकर लौट आये ॥२३½॥

ततः प्रेक्ष्य हनूमन्तं व्रजन्तं यत्र राघवः ॥ २४ ॥
स होतुकामो दुष्टात्मा गतश्चैत्यं निकुम्भिलाम् ।

हनुमान्जीको श्रीरामचन्द्रजीके पास जाते देख दुरात्मा इन्द्रजित् होम करनेकी इच्छासे निकुम्भिलादेवीके मन्दिरमें गया ॥ २४ ॥

निकुम्भिलामधिष्ठाय पावकं जुहवेन्द्रजित् ॥ २५ ॥
यज्ञभूम्यां ततो गत्वा पावकस्तेन रक्षसा ।
हूयमानः प्रजज्वाल होमशोणितभुक् तदा ॥ २६ ॥
सार्चिःपिनद्धो ददृशे होमशोणिततर्पितः ।
संध्यागत इवादित्यः सुतीव्रोऽग्निः समुत्थितः ॥ २७ ॥

निकुम्भिला-मन्दिरमें जाकर उस निशाचर इन्द्रजित्ने अग्निमें आहुति दी। तदनन्तर यज्ञभूमिमें भी जाकर उस राक्षसने अग्निदेवको होमके द्वारा तृप्त किया। वे होमशोणितभोजी आभिचारिक अग्निदेवता आहुति पाते ही होम और शोणितसे तृप्त हो प्रज्वलित हो उठे और ज्वालाओंसे आवृत दिखायी देने लगे। वे तीव्र तेजवाले अग्निदेवता संध्याकालके सूर्यकी भाँति प्रकट हुए थे ॥ २५—२७ ॥

अथेन्द्रजिद् राक्षसभूतये तु
जुहाव हव्यं विधिना विधानवित् ।
दृष्ट्वा व्यतिष्ठन्त च राक्षसास्ते
महासमूहेषु नयानयज्ञाः ॥ २८ ॥

इन्द्रजित् यज्ञके विधानका ज्ञाता था। उसने समस्त राक्षसोंके अभ्युदयके लिये विधिपूर्वक हवन करना आरम्भ किया। उस होमको देखकर महायुद्धके अवसरोंपर नीति-अनीति—कर्तव्याकर्तव्यके ज्ञाता राक्षस खड़े हो गये ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे द्व्यशीतितमः सर्गः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें बयासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८२ ॥

—★—

त्र्यशीतितमः सर्गः

सीताके मारे जानेकी बात सुनकर श्रीरामका शोकसे मूर्च्छित होना और लक्ष्मणका उन्हें समझाते हुए पुरुषार्थके लिये उद्यत होना

राघवश्चापि विपुलं तं राक्षसवनौकसाम् ।
श्रुत्वा संग्रामनिर्घोषं जाम्बवन्तमुवाच ह ॥ १ ॥

भगवान् श्रीरामने भी राक्षसों और वानरोंके उस महान् युद्धघोषको सुनकर जाम्बवान्से कहा— ॥ १ ॥

सौम्य नूनं हनुमता कृतं कर्म सुदुष्करम् ।
श्रूयते च यथा भीमः सुमहानायुधस्वनः ॥ २ ॥

'सौम्य ! निश्चय ही हनुमान्जीने अत्यन्त दुष्कर कर्म आरम्भ किया है; क्योंकि उनके आयुधोंका यह महाभयंकर

शब्द स्पष्ट सुनायी पड़ता है ॥ २ ॥

तद् गच्छ कुरु साहाय्यं स्वबलेनाभिसंवृतः ।
क्षिप्रमृक्षपते तस्य कपिश्रेष्ठस्य युध्यतः ॥ ३ ॥

'अतः ऋक्षराज ! तुम अपनी सेनाके साथ शीघ्र जाओ और जूझते हुए कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌की सहायता करो' ॥ ३ ॥

ऋक्षराजस्तथेत्युक्त्वा स्वेनानीकेन संवृतः ।
आगच्छत् पश्चिमं द्वारं हनूमान् यत्र वानरः ॥ ४ ॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर अपनी सेनासे घिरे हुए ऋक्षराज जाम्बवान् लङ्काके पश्चिम द्वारपर, जहाँ वानरवीर हनुमान्‌जी विराजमान थे, आये ॥ ४ ॥

अथायान्तं हनूमन्तं ददर्शर्क्षपतिस्तदा ।
वानरैः कृतसंग्रामैः श्वसद्भिरभिसंवृतम् ॥ ५ ॥

वहाँ ऋक्षराजने युद्ध करके लौटे और लम्बी साँस खींचते हुए वानरोंके साथ हनुमान्‌जीको आते देखा ॥ ५ ॥

दृष्ट्वा पथि हनूमांश्च तदृक्षबलमुद्यतम् ।
नीलमेघनिभं भीमं संनिवार्य न्यवर्तत ॥ ६ ॥

हनुमान्‌जीने भी मार्गमें नील मेघके समान भयंकर ऋक्षसेनाको युद्धके लिये उद्यत देख उसे रोका और सबके साथ ही वे लौट आये ॥ ६ ॥

स तेन सह सैन्येन संनिकर्षं महायशाः ।
शीघ्रमागम्य रामाय दुःखितो वाक्यमब्रवीत् ॥ ७ ॥

महायशस्वी हनुमान्‌जी उस सेनाके साथ शीघ्र भगवान् श्रीरामके निकट आये और दुःखी होकर बोले— ॥ ७ ॥

समरे युध्यमानानामस्माकं प्रेक्षतां च सः ।
जघान रुदतीं सीतामिन्द्रजिद् रावणात्मजः ॥ ८ ॥

'प्रभो ! हमलोग युद्ध करनेमें लगे थे, उसी समय समरभूमिमें रावणपुत्र इन्द्रजित्‌ने हमारे देखते-देखते रोती हुई सीताको मार डाला है ॥ ८ ॥

उद्भ्रान्तचित्तस्तां दृष्ट्वा विषण्णोऽहमरिंदम ।
तदहं भवतो वृत्तं विज्ञापयितुमागतः ॥ ९ ॥

'शत्रुदमन ! उन्हें उस अवस्थामें देख मेरा चित्त उद्भ्रान्त हो उठा है। मैं विषादमें डूब गया हूँ। इसलिये मैं आपको यह समाचार बतानेके लिये आया हूँ' ॥ ९ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राघवः शोकमूर्च्छितः ।
निपपात तदा भूमौ छिन्नमूल इव द्रुमः ॥ १० ॥

हनुमान्‌जीकी यह बात सुनकर श्रीरामजी उस समय शोकसे मूर्च्छित हो जड़से कटे हुए वृक्षकी भाँति तत्काल पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ १० ॥

तं भूमौ देवसंकाशं पतितं दृश्य राघवम् ।
अभिपेतुः समुत्पत्य सर्वतः कपिसत्तमाः ॥ ११ ॥

देवतुल्य तेजस्वी श्रीरघुनाथजीको भूमिपर पड़ा देख समस्त श्रेष्ठ वानर सब ओरसे उछलकर वहाँ आ पहुँचे ॥ ११ ॥

आसिञ्चन् सलिलैश्चैनं पद्मोत्पलसुगन्धिभिः ।
प्रदहन्तमसंहार्यं सहसाग्निमिवोत्थितम् ॥ १२ ॥

वे कमल और उत्पलकी सुगन्धसे युक्त जल ले आकर उनके ऊपर छिड़कने लगे। उस समय वे सहसा प्रज्वलित होकर दहन-कर्म करनेवाली और बुझायी न जा सकनेवाली अग्निके समान दिखायी देते थे ॥ १२ ॥

तं लक्ष्मणोऽथ बाहुभ्यां परिष्वज्य सुदुःखितः ।
उवाच राममस्वस्थं वाक्यं हेत्वर्थसंयुतम् ॥ १३ ॥

भाईकी यह अवस्था देखकर लक्ष्मणको बड़ा दुःख हुआ। वे उन्हें दोनों भुजाओंमें भरकर बैठ गये और अस्वस्थ हुए श्रीरामसे यह युक्तियुक्त एवं प्रयोजनभरी बात बोले— ॥ १३ ॥

शुभे वर्त्मनि तिष्ठन्तं त्वामार्य विजितेन्द्रियम् ।
अनर्थेभ्यो न शक्नोति त्रातुं धर्मो निरर्थकः ॥ १४ ॥

'आर्य ! आप सदा शुभ मार्गपर स्थिर रहनेवाले और जितेन्द्रिय हैं, तथापि धर्म आपको अनर्थोंसे बचा नहीं पाता है। इसलिये वह निरर्थक ही जान पड़ता है ॥ १४ ॥

भूतानां स्थावराणां च जङ्गमानां च दर्शनम् ।
यथास्ति न तथा धर्मस्तेन नास्तीति मे मतिः ॥ १५ ॥

'स्थावरों तथा पशु आदि जङ्गम प्राणियोंको भी सुखका प्रत्यक्ष अनुभव होता है; किंतु उनके सुखमें धर्म कारण नहीं है (क्योंकि न तो उनमें धर्माचरणकी शक्ति है और न धर्ममें उनका अधिकार ही है)। अतः धर्म सुखका साधन नहीं है; ऐसा मेरा विचार है ॥ १५ ॥

यथैव स्थावरं व्यक्तं जङ्गमं च तथाविधम् ।
नायमर्थस्तथा युक्तस्त्वद्विधो न विपद्यते ॥ १६ ॥

'जैसे स्थावर भूत धर्माधिकारी न होनेपर भी सुखी देखा जाता है, उसी प्रकार जङ्गम प्राणी (पशु आदि) भी सुखी है, यह बात स्पष्ट ही समझमें आती है। यदि कहें, जहाँ धर्म है, वहाँ सुख अवश्य है तो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उस दशामें आप-जैसे धर्मात्मा पुरुषको विपत्तिमें नहीं पड़ना चाहिये ॥ १६ ॥

यद्यधर्मो भवेद् भूतो रावणो नरकं व्रजेत् ।
भवांश्च धर्मसंयुक्तो नैव व्यसनमाप्नुयात् ॥ १७ ॥

'यदि अधर्मकी भी सत्ता होती अर्थात् अधर्म अवश्य ही दुःखका साधन होता तो रावणको नरकमें पड़े रहना चाहिये था और आप-जैसे धर्मात्मा पुरुषपर संकट नहीं आना चाहिये था ॥ १७ ॥

तस्य च व्यसनाभावाद् व्यसनं चागते त्वयि ।
धर्मो भवत्यधर्मश्च परस्परविरोधिनौ ॥ १८ ॥

'रावणपर तो कोई संकट नहीं है और आप संकटमें पड़ गये हैं; अतः धर्म और अधर्म दोनों परस्परविरोधी हो गये हैं— धर्मात्माको दुःख और पापात्माको सुख मिलने लगा है ॥ १८ ॥

धर्मेणोपलभेद् धर्ममधर्मं चाप्यधर्मतः।
यद्यधर्मेण युज्येयुर्येष्वधर्मः प्रतिष्ठितः॥ १९॥
न धर्मेण वियुज्येरन्नाधर्मरुचयो जनाः।
धर्मेणाचरतां तेषां तथा धर्मफलं भवेत्॥ २०॥

'यदि धर्मसे धर्मका फल (सुख) और अधर्मसे अधर्मका फल (दुःख) ही मिलनेका नियम होता तो जिन रावण आदिमें अधर्म ही प्रतिष्ठित है, वे अधर्मके फलभूत दुःखसे ही युक्त होते और जो लोग अधर्ममें रुचि नहीं रखते हैं, वे धर्मसे—धर्मके फलभूत सुखसे कभी वञ्चित न होते। धर्ममार्गसे चलनेवाले इन धर्मात्मा पुरुषोंको केवल धर्मका फल—सुख ही प्राप्त होता॥ १९-२०॥

यस्मादर्था विवर्धन्ते येष्वधर्मः प्रतिष्ठितः।
क्लिश्यन्ते धर्मशीलाश्च तस्मादेतौ निरर्थकौ॥ २१॥

'किंतु जिनमें अधर्म प्रतिष्ठित है, उनके तो धन बढ़ रहे हैं और जो स्वभावसे ही धर्माचरण करनेवाले हैं, वे क्लेशमें पड़े हुए हैं। इसलिये ये धर्म और अधर्म—दोनों निरर्थक हैं॥ २१॥

वध्यन्ते पापकर्माणो यद्यधर्मेण राघव।
वधकर्महतोऽधर्मः स हतः कं वधिष्यति॥ २२॥

'रघुनन्दन! यदि पापाचारी पुरुष धर्म या अधर्मसे मारे जाते हैं तो धर्म या अधर्म क्रियारूप होनेके कारण (आदि, मध्य और अन्त) तीन ही क्षणोंतक रह सकता है। चतुर्थ क्षणमें तो वह स्वयं ही नष्ट हो जायगा; फिर नष्ट हुआ वह धर्म या अधर्म किसका वध करेगा?॥ २२॥

अथवा विहितेनायं हन्यते हन्ति चापरम्।
विधिः स लिप्यते तेन न स पापेन कर्मणा॥ २३॥

'अथवा यह जीव यदि विधिपूर्वक किये गये कर्मविशेष (श्येनयाग आदि) के द्वारा मारा जाता है या स्वयं वैसा कर्म करके दूसरेको मारता है तो विधि (विहित कर्मजनित अदृष्ट) को ही हत्याके दोषसे लिप्त होना चाहिये, कर्मका अनुष्ठान करनेवाले पुरुषका उस पापकर्मसे सम्बन्ध नहीं होना चाहिये। (क्योंकि पुत्रके किये हुए अपराधका दण्ड पिताको नहीं मिलता है)॥ २३॥

अदृष्टप्रतिकारेण अव्यक्तेनासता सता।
कथं शक्यं परं प्राप्तुं धर्मेणारिविकर्षण॥ २४॥

'शत्रुसूदन! जो चेतन न होनेके कारण प्रतीकार-ज्ञानसे शून्य है, अव्यक्त है और असत्‌के समान विद्यमान है, उस धर्मके द्वारा दूसरे (पापात्मा) को वध्यरूपसे प्राप्त करना कैसे सम्भव है?॥ २४॥

यदि सत् स्यात् सतां मुख्य नासत् स्यात् तव किंचन।
त्वया यदीदृशं प्राप्तं तस्मात् तन्नोपपद्यते॥ २५॥

'सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ रघुवीर! यदि सत्कर्मजनित अदृष्ट सत् या शुभ ही होता तो आपको कुछ भी अशुभ या दुःख नहीं प्राप्त होता। यदि आपको ऐसा दुःख प्राप्त हुआ है तो सत्कर्म-जनित अदृष्ट सत् ही है, इस कथनकी संगति नहीं बैठती *॥ २५॥

अथवा दुर्बलः क्लीबो बलं धर्मोऽनुवर्तते।
दुर्बलो हतमर्यादो न सेव्य इति मे मतिः॥ २६॥

'यदि दुर्बल और कातर (स्वतः कार्य-साधनमें असमर्थ) होनेके कारण धर्म पुरुषार्थका अनुसरण करता है, तब तो दुर्बल और फलदानकी मर्यादासे रहित धर्मका सेवन ही नहीं करना चाहिये—यह मेरी स्पष्ट राय है॥ २६॥

बलस्य यदि चेद् धर्मो गुणभूतः पराक्रमैः।
धर्ममुत्सृज्य वर्तस्व यथा धर्मे तथा बले॥ २७॥

'यदि धर्म बल अथवा पुरुषार्थका अङ्ग या उपकरणमात्र है तो धर्मको छोड़कर पराक्रमपूर्ण बर्ताव कीजिये। जैसे आप धर्मको प्रधान मानकर धर्ममें लगे हैं, उसी प्रकार बलको प्रधान मानकर बल या पुरुषार्थमें ही प्रवृत्त होइये॥ २७॥

अथ चेत् सत्यवचनं धर्मः किल परंतप।
अनृतं त्वय्यकरुणे किं न बद्धस्त्वया विना॥ २८॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले रघुनन्दन! यदि आप सत्यभाषणरूप धर्मका पालन करते हैं अर्थात् पिताकी आज्ञाको स्वीकार करके उनके सत्यकी रक्षारूप धर्मका अनुष्ठान करते हैं तो आप ज्येष्ठ पुत्रके प्रति युवराजपदपर अभिषिक्त करनेकी जो बात पिताने कही थी, उस सत्यका पालन न करनेपर पिताको जो असत्यरूप अधर्म प्राप्त हुआ, उसीके कारण वे आपसे वियुक्त होकर मर गये। ऐसी दशामें क्या आप राजाके पहले कहे हुए अभिषेक-सम्बन्धी सत्य वचनसे नहीं बँधे हुए थे? उस सत्यका पालन करनेके लिये बाध्य नहीं थे (यदि आपने पिताके पहले कहे हुए वचनका ही पालन करके युवराजपदपर अपना अभिषेक करा लिया होता तो न पिताकी मृत्यु हुई होती और न सीता-हरण आदि अनर्थ ही संघटित हुए होते)॥ २८॥

यदि धर्मो भवेद् भूत अधर्मो वा परंतप।
न स्म हत्वा मुनिं वज्री कुर्यादिज्यां शतक्रतुः॥ २९॥

* इस अध्यायके १४ वेंसे २५ वें श्लोकतक लक्ष्मणजीने जो धर्म और अधर्मकी सत्ताका खण्डन किया है, वह श्रीरामको दुःखी देखकर स्वयं उनसे भी अधिक दुःखी होकर ही किया है। जिस प्रकार परात्पर श्रीरामके लिये अपनी प्रियाकी माया-मूर्तिके वधको देखकर शोकसे अभिभूत हो जाना प्रेमकी लीलामात्र है, उसी प्रकार प्रियतम प्रभुके दुःखको देखकर दुःखावेशकी लीलासे इस प्रकारकी असंगत-सी लगनेवाली बातें कहना भी प्रेमजनित कातरताका ही परिचायक है। आगे चलकर दुःखका आवेश कुछ कम हो जानेपर तो स्वयं लक्ष्मणजीने ही ४४ वें श्लोकमें स्पष्ट कहा है कि श्रीरामका शोकापनोदन करके उन्हें युद्धमें प्रवृत्त करनेके लिये ही उन्होंने ये सब बातें कही थीं। —सम्पादक

'शत्रुदमन महाराज! यदि केवल धर्म अथवा अधर्म ही प्रधानरूपसे अनुष्ठानके योग्य होता तो वज्रधारी इन्द्र पौरुषद्वारा विश्वरूप मुनिकी हत्या (अधर्म) करके फिर यज्ञ (धर्म) का अनुष्ठान नहीं करते॥ २९॥

अधर्मसंश्रितो धर्मो विनाशयति राघव।
सर्वमेतद् यथाकामं काकुत्स्थ कुरुते नरः॥ ३०॥

'रघुनन्दन! धर्मसे भिन्न जो पुरुषार्थ है, उससे मिला हुआ धर्म ही शत्रुओंका नाश करता है। अतः काकुत्स्थ! प्रत्येक मनुष्य आवश्यकता एवं रुचिके अनुसार इन सबका (धर्म एवं पुरुषार्थका) अनुष्ठान करता है॥ ३०॥

मम चेदं मतं तात धर्मोऽयमिति राघव।
धर्ममूलं त्वया छिन्नं राज्यमुत्सृजता तदा॥ ३१॥

'तात राघव! इस प्रकार समयानुसार धर्म एवं पुरुषार्थमेंसे किसी एकका आश्रय लेना धर्म ही है; ऐसा मेरा मत है। आपने उस दिन राज्यका त्याग करके धर्मके मूलभूत अर्थका उच्छेद कर डाला॥ ३१॥

अर्थेभ्योऽथ प्रवृद्धेभ्यः संवृत्तेभ्यस्ततस्ततः।
क्रियाः सर्वाः प्रवर्तन्ते पर्वतेभ्य इवापगाः॥ ३२॥

'जैसे पर्वतोंसे नदियाँ निकलती हैं, उसी तरह जहाँ-तहाँसे संग्रह करके लाये और बढ़े हुए अर्थसे सारी क्रियाएँ (चाहे वे योगप्रधान हों या भोगप्रधान) सम्पन्न होती हैं (निष्काम भाव होनेपर सभी क्रियाएँ योगप्रधान हो जाती हैं और सकाम भाव होनेपर भोगप्रधान)॥ ३२॥

अर्थेन हि विमुक्तस्य पुरुषस्याल्पचेतसः।
विच्छिद्यन्ते क्रियाः सर्वा ग्रीष्मे कुसरितो यथा॥ ३३॥

'जो मन्दबुद्धि मानव अर्थसे वञ्चित है, उसकी सारी क्रियाएँ उसी तरह छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, जैसे ग्रीष्म ऋतुमें छोटी-छोटी नदियाँ सूख जाती हैं॥ ३३॥

सोऽयमर्थं परित्यज्य सुखकामः सुखैधितः।
पापमाचरते कर्तुं तदा दोषः प्रवर्तते॥ ३४॥

'जो पुरुष सुखमें पला हुआ है, वह यदि प्राप्त हुए अर्थको त्यागकर सुख चाहता है तो उस अभीष्ट सुखके लिये अन्यायपूर्वक अर्थोपार्जन करनेमें प्रवृत्त होता है; इसलिये उसे ताड़न, बन्धन, आदि दोष प्राप्त होते हैं॥ ३४॥

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः।
यस्यार्थाः स पुमाँल्लोके यस्यार्थाः स च पण्डितः॥ ३५॥

'जिसके पास धन है, उसीके अधिक मित्र होते हैं। जिसके पास धनका संग्रह है, उसीके सब लोग भाई-बन्धु बनते हैं। जिसके यहाँ पर्याप्त धन है, वही संसारमें श्रेष्ठ पुरुष कहलाता है और जिसके पास धन है, वही विद्वान् समझा जाता है॥ ३५॥

यस्यार्थाः स च विक्रान्तो यस्यार्थाः स च बुद्धिमान्।
यस्यार्थाः स महाभागो यस्यार्थाः स गुणाधिकः॥ ३६॥

'जिसके यहाँ धनराशि एकत्र है, वह पराक्रमी कहा जाता है। जिसके पास धनकी अधिकता है, वह बुद्धिमान् माना जाता है। जिसके यहाँ अर्थसंग्रह है, वह महान् भाग्यशाली कहलाता है तथा जिसके यहाँ धन-सम्पत्ति है, वह गुणोंमें भी बड़ा-चढ़ा समझा जाता है॥ ३६॥

अर्थस्यैते परित्यागे दोषाः प्रव्याहृता मया।
राज्यमुत्सृजता धीर येन बुद्धिस्त्वया कृता॥ ३७॥

'अर्थका त्याग करनेसे जो मित्रका अभाव आदि दोष प्राप्त होते हैं, उनका मैंने स्पष्टरूपसे वर्णन किया है। आपने राज्य छोड़ते समय क्या लाभ सोचकर अपनी बुद्धिमें अर्थ-त्यागकी भावनाको स्थान दिया, यह मैं नहीं जानता॥ ३७॥

यस्यार्था धर्मकामार्थास्तस्य सर्वं प्रदक्षिणम्।
अधनेनार्थकामेन नार्थः शक्यो विचिन्विता॥ ३८॥

'जिसके पास धन है, उसके धर्म और कामरूप सारे प्रयोजन सिद्ध होते हैं। उसके लिये सब कुछ अनुकूल बन जाता है। जो निर्धन है, वह अर्थकी इच्छा रखकर उसका अनुसंधान करनेपर भी पुरुषार्थके बिना उसे नहीं पा सकता॥ ३८॥

हर्षः कामश्च दर्पश्च धर्मः क्रोधः शमो दमः।
अर्थादेतानि सर्वाणि प्रवर्तन्ते नराधिप॥ ३९॥

'नरेश्वर! हर्ष, काम, दर्प, धर्म, क्रोध, शम और दम—ये सब धन होनेसे ही सफल होते हैं॥ ३९॥

येषां नश्यत्ययं लोकश्चरतां धर्मचारिणाम्।
तेऽर्थास्त्वयि न दृश्यन्ते दुर्दिनेषु यथा ग्रहाः॥ ४०॥

'जो धर्मका आचरण करनेवाले और तपस्यामें लगे हुए हैं, उन पुरुषोंका यह लोक (ऐहिक पुरुषार्थ) अर्थाभावके कारण ही नष्ट हो जाता है; यह स्पष्ट देखा जाता है। वही अर्थ इस दुर्दिनमें आपके पास उसी तरह नहीं दिखायी देता है, जैसे आकाशमें बादल घिर आनेपर ग्रहोंके दर्शन नहीं होते हैं॥ ४०॥

त्वयि प्रव्रजिते वीर गुरोश्च वचने स्थिते।
रक्षसापहृता भार्या प्राणैः प्रियतरा तव॥ ४१॥

'वीर! आप पूज्य पिताकी आज्ञा पालन करनेके लिये राज्य छोड़कर वनमें चले आये और सत्यके पालनपर ही डटे रहे; परन्तु राक्षसने आपकी पत्नीको, जो आपको प्राणोंसे भी अधिक प्यारी थी, हर लिया॥ ४१॥

तदद्य विपुलं वीर दुःखमिन्द्रजिता कृतम्।
कर्मणा व्यपनेष्यामि तस्मादुत्तिष्ठ राघव॥ ४२॥

'वीर रघुनन्दन! आज इन्द्रजित्‌ने हमलोगोंको जो महान् दुःख दिया है, उसे मैं अपने पराक्रमसे दूर करूँगा; अतः चिन्ता छोड़कर उठिये॥ ४२॥

उत्तिष्ठ नरशार्दूल दीर्घबाहो धृतव्रत।
किमात्मानं महात्मानमात्मानं नावबुध्यसे॥ ४३॥

'नरश्रेष्ठ! उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महाबाहो! उठिये। आप परम बुद्धिमान् और परमात्मा हैं, इस रूपमें अपने-आपको क्यों नहीं समझ रहे हैं?॥ ४३॥

अयमनघ तवोदितः प्रियार्थं
जनकसुतानिधनं निरीक्ष्य रुष्टः।
सरथगजहयां सराक्षसेन्द्रां
भृशमिषुभिर्विनिपातयामि लङ्काम्॥ ४४॥

'निष्पाप रघुवीर! यह मैंने आपसे जो कुछ कहा है, वह सब आपका प्रिय करनेके लिये—आपका ध्यान शोककी ओरसे हटाकर पुरुषार्थकी ओर आकृष्ट करनेके लिये कहा है। अब जनकनन्दिनीकी मृत्युका वृत्तान्त जानकर मेरा रोष बढ़ गया है, अतः आज अपने बाणोंद्वारा हाथी, घोड़े, रथ और राक्षसराज रावणसहित सारी लङ्काको धूलमें मिला दूँगा'॥ ४४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे त्र्यशीतितमः सर्गः॥ ८३॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें तिरासीवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ८३॥

—★—

चतुरशीतितमः सर्गः

विभीषणका श्रीरामको इन्द्रजित्की मायाका रहस्य बताकर सीताके जीवित होनेका विश्वास दिलाना और लक्ष्मणको सेनासहित निकुम्भिला-मन्दिरमें भेजनेके लिये अनुरोध करना

राममाश्वासमाने तु लक्ष्मणे भ्रातृवत्सले।
निक्षिप्य गुल्मान् स्वस्थाने तत्रागच्छद् विभीषणः॥ १॥

भ्रातृभक्त लक्ष्मण जब श्रीरामको इस प्रकार आश्वासन दे रहे थे, उसी समय विभीषण वानरसैनिकोंको अपने-अपने स्थानपर स्थापित करके वहाँ आये॥ १॥

नानाप्रहरणैर्वीरैश्चतुर्भिरभिसंवृतः।
नीलाञ्जनचयाकारैर्मातंगैरिव यूथपः॥ २॥

नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र धारण किये चार निशाचर वीर, जो काली कज्जल-राशिके समान काले शरीरवाले यूथपति गजराजोंके समान जान पड़ते थे, चारों ओरसे घेरकर उनकी रक्षा कर रहे थे॥ २॥

सोऽभिगम्य महात्मानं राघवं शोकलालसम्।
वानरांश्चापि ददृशे बाष्पपर्याकुलेक्षणान्॥ ३॥

वहाँ आकर उन्होंने देखा महात्मा लक्ष्मण शोकमें मग्न हैं तथा वानरोंके नेत्रोंमें भी आँसू भरे हुए हैं॥ ३॥

राघवं च महात्मानमिक्ष्वाकुकुलनन्दनम्।
ददर्श मोहमापन्नं लक्ष्मणस्याङ्कमाश्रितम्॥ ४॥

साथ ही इक्ष्वाकुकुलनन्दन महात्मा श्रीरघुनाथजीपर भी उनकी दृष्टि पड़ी, जो मूर्च्छित हो लक्ष्मणकी गोदमें लेटे हुए थे॥ ४॥

व्रीडितं शोकसंतप्तं दृष्ट्वा रामं विभीषणः।
अन्तर्दुःखेन दीनात्मा किमेतदिति सोऽब्रवीत्॥ ५॥

श्रीरामचन्द्रजीको लज्जित तथा शोकसे संतप्त देख विभीषणका हृदय आन्तरिक दुःखसे दीन हो गया। उन्होंने पूछा—'यह क्या बात है?'॥ ५॥

विभीषणमुखं दृष्ट्वा सुग्रीवं तांश्च वानरान्।
लक्ष्मणोवाच मन्दार्थमिदं बाष्पपरिप्लुतः॥ ६॥

तब लक्ष्मणने विभीषणके मुँहकी ओर देखकर तथा सुग्रीव और दूसरे-दूसरे वानरोंपर दृष्टिपात करके आँसू बहाते हुए मन्दस्वरमें कहा—॥ ६॥

हता इन्द्रजिता सीता इति श्रुत्वैव राघवः।
हनूमद्वचनात् सौम्य ततो मोहमुपाश्रितः॥ ७॥

'सौम्य! हनुमान्जीके मुँहसे यह सुनकर कि 'इन्द्रजित्ने सीताजीको मार डाला' श्रीरघुनाथजी तत्काल मूर्च्छित हो गये हैं'॥ ७॥

कथयन्तं तु सौमित्रिं संनिवार्य विभीषणः।
पुष्कलार्थमिदं वाक्यं विसंज्ञं राममब्रवीत्॥ ८॥

इस प्रकार कहते हुए लक्ष्मणको विभीषणने रोका और अचेत पड़े हुए श्रीरामचन्द्रजीसे यह निश्चित बात कही—॥ ८॥

मनुजेन्द्रार्तरूपेण यदुक्तस्त्वं हनूमता।
तदयुक्तमहं मन्ये सागरस्येव शोषणम्॥ ९॥

'महाराज! हनुमान्जीने दुःखी होकर जो आपको समाचार सुनाया है, उसे मैं समुद्रको सोख लेनेके समान असम्भव मानता हूँ॥ ९॥

अभिप्रायं तु जानामि रावणस्य दुरात्मनः।
सीतां प्रति महाबाहो न च घातं करिष्यति॥ १०॥

'महाबाहो! दुरात्मा रावणका सीताके प्रति क्या भाव है, यह मैं अच्छी तरह जानता हूँ। वह उनका वध कदापि नहीं करने देगा॥ १०॥

याच्यमानः सुबहुशो मया हितचिकीर्षुणा।
वैदेहीमुत्सृजस्वेति न च तत् कृतवान् वचः॥ ११॥

'मैंने उसका हित करनेकी इच्छासे अनेक बार यह अनुरोध किया कि विदेहकुमारीको छोड़ दो; किंतु उसने मेरी

बात नहीं मानी ॥ ११ ॥

नैव साम्ना न दानेन न भेदेन कुतो युधा।
सा द्रष्टुमपि शक्येत नैव चान्येन केनचित् ॥ १२ ॥

'सीताको दूसरा कोई पुरुष साम, दाम और भेदनीतिके द्वारा भी नहीं देख सकता; फिर युद्धके द्वारा कैसे देख सकता है? ॥ १२ ॥

वानरान् मोहयित्वा तु प्रतियातः स राक्षसः।
मायामयीं महाबाहो तां विद्धि जनकात्मजाम् ॥ १३ ॥

'महाबाहो! राक्षस इन्द्रजित् वानरोंको मोहमें डालकर चला गया है। जिसका उसने वध किया था, वह मायामयी जानकी थी, ऐसा निश्चित समझिये ॥ १३ ॥

चैत्यं निकुम्भिलामद्य प्राप्य होमं करिष्यति।
हुतवानुपयातो हि देवैरपि सवासवैः ॥ १४ ॥
दुराधर्षो भवत्येष संग्रामे रावणात्मजः।

'वह इस समय निकुम्भिला-मन्दिरमें जाकर होम करेगा और जब होम करके लौटेगा, उस समय उस रावणकुमारको संग्राममें परास्त करना इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंके लिये भी कठिन होगा ॥१४ १/२ ॥

तेन मोहयता नूनमेषा माया प्रयोजिता ॥ १५ ॥
विघ्नमन्विच्छता तत्र वानराणां पराक्रमे।

'निश्चय ही उसने हमलोगोंको मोहमें डालनेके लिये ही यह मायाका प्रयोग किया है। उसने सोचा होगा—यदि वानरोंका पराक्रम चलता रहा तो मेरे इस कार्यमें विघ्न पड़ेगा (इसीलिये उसने ऐसा किया है) ॥१५ १/२ ॥

ससैन्यास्तत्र गच्छामो यावत्तन्न समाप्यते ॥ १६ ॥
त्यजैनं नरशार्दूल मिथ्या संतापमागतम्।

'जबतक उसका होम कर्म समाप्त नहीं होता, उसके पहले ही हमलोग सेनासहित निकुम्भिला-मन्दिरमें चले चलें। नरश्रेष्ठ! झूठे ही प्राप्त हुए इस संतापको त्याग दीजिये ॥१६ १/२ ॥

सीदते हि बलं सर्वं दृष्ट्वा त्वां शोककर्शितम् ॥ १७ ॥
इह त्वं स्वस्थहृदयस्तिष्ठ सत्त्वसमुच्छ्रितः।
लक्ष्मणं प्रेषयास्माभिः सह सैन्यानुकर्षिभिः ॥ १८ ॥

'प्रभो! आपको शोकसे संतप्त होते देख सारी सेना दुःखमें पड़ी हुई है। आप तो धैर्यमें सबसे बढ़े-चढ़े हैं; अतः स्वस्थचित्त होकर यहीं रहिये और सेनाको लेकर जाते हुए हमलोगोंके साथ लक्ष्मणजीको भेज दीजिये ॥ १७-१८ ॥

एष तं नरशार्दूलो रावणिं निशितैः शरैः।
त्याजयिष्यति तत्कर्म ततो वध्यो भविष्यति ॥ १९ ॥

'ये नरश्रेष्ठ लक्ष्मण अपने पैने बाणोंसे मारकर रावणकुमारको वह होमकर्म त्याग देनेके लिये विवश कर देंगे। इससे वह मारा जा सकेगा ॥ १९ ॥

तस्यैते निशितास्तीक्ष्णाः पत्रिपत्राङ्गवाजिनः।
पतत्रिण इवासौम्याः शराः पास्यन्ति शोणितम् ॥ २० ॥

'लक्ष्मणके ये पैने बाण जो पक्षियोंके अङ्गभूत परोंसे युक्त होनेके कारण बड़े वेगशाली हैं, कंक आदि क्रूर पक्षियोंके समान इन्द्रजित्के रक्तका पान करेंगे ॥ २० ॥

तत् संदिश महाबाहो लक्ष्मणं शुभलक्षणम्।
राक्षसस्य विनाशाय वज्रं वज्रधरो यथा ॥ २१ ॥

'अतः महाबाहो! जैसे वज्रधारी इन्द्र दैत्योंके वधके लिये वज्रका प्रयोग करते हैं, उसी प्रकार आप उस राक्षसके विनाशके लिये शुभलक्षण-सम्पन्न लक्ष्मणको जानेकी आज्ञा दीजिये ॥ २१ ॥

मनुजवर न कालविप्रकर्षो
रिपुनिधनं प्रति यत्क्षमोऽद्य कर्तुम्।
त्वमतिसृज रिपोर्वधाय वज्री
दिविजरिपोर्मथने यथा महेन्द्रः ॥ २२ ॥

'नरेश्वर! शत्रुका विनाश करनेमें अब यह कालक्षेप करना उचित नहीं है। इसलिये आप शत्रुवधके लिये उसी तरह लक्ष्मणको भेजिये, जैसे देवद्रोही दैत्योंके विनाशके लिये देवराज इन्द्र वज्रका प्रयोग करते हैं ॥ २२ ॥

समाप्तकर्मा हि स राक्षसर्षभो
भवत्यदृश्यः समरे सुरासुरैः।
युयुत्सता तेन समाप्तकर्मणा
भवेत् सुराणामपि संशयो महान् ॥ २३ ॥

'वह राक्षसशिरोमणि इन्द्रजित् जब अपना अनुष्ठान पूरा कर लेगा, तब समराङ्गणमें देवता और असुर भी उसे देख नहीं सकेंगे। अपना कर्म पूरा करके जब वह युद्धकी इच्छासे रणभूमिमें खड़ा होगा, उस समय देवताओंको भी अपने जीवनकी रक्षाके विषयमें महान् संदेह होने लगेगा' ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे चतुरशीतितमः सर्गः ॥ ८४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें चौरासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८४ ॥

—★—

पञ्चाशीतितमः सर्गः

विभीषणके अनुरोधसे श्रीरामचन्द्रजीका लक्ष्मणको इन्द्रजित्‌के वधके लिये जानेकी आज्ञा देना और सेनासहित लक्ष्मणका निकुम्भिला-मन्दिरके पास पहुँचना

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राघवः शोककर्शितः।
नोपधारयते व्यक्तं यदुक्तं तेन रक्षसा॥ १॥

भगवान् श्रीराम शोकसे पीड़ित थे, अतः राक्षस विभीषणने जो कुछ कहा, उनकी उस बातको सुनकर भी वे उसे स्पष्टरूपसे समझ न सके—उसपर पूरा ध्यान न दे सके॥ १॥

ततो धैर्यमवष्टभ्य रामः परपुरंजयः।
विभीषणमुपासीनमुवाच कपिसंनिधौ॥ २॥

तदनन्तर शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले श्रीराम धैर्य धारण करके हनुमान्‌जीके समीप बैठे हुए विभीषणसे बोले—॥ २॥

नैर्ऋताधिपते वाक्यं यदुक्तं ते विभीषण।
भूयस्तच्छ्रोतुमिच्छामि ब्रूहि यत्ते विवक्षितम्॥ ३॥

'राक्षसराज विभीषण! तुमने अभी-अभी जो बात कही है, उसे मैं फिर सुनना चाहता हूँ। बोलो, तुम क्या कहना चाहते हो?'॥ ३॥

राघवस्य वचः श्रुत्वा वाक्यं वाक्यविशारदः।
यत् तत् पुनरिदं वाक्यं बभाषेऽथ विभीषणः॥ ४॥

श्रीरघुनाथजीकी यह बात सुनकर बातचीतमें कुशल विभीषणने, वह जो बात कही थी, उसे पुनः दुहराते हुए इस प्रकार कहा—॥ ४॥

यथाऽऽज्ञप्तं महाबाहो त्वया गुल्मनिवेशनम्।
तत् तथानुष्ठितं वीर त्वद्वाक्यसमनन्तरम्॥ ५॥

'महाबाहो! आपने जो सेनाओंको यथास्थान स्थापित करनेकी आज्ञा दी थी, वीर! वह काम तो मैंने आपकी आज्ञा होते ही पूरा कर दिया॥ ५॥

तान्यनीकानि सर्वाणि विभक्तानि समन्ततः।
विन्यस्ता यूथपाश्चैव यथान्यायं विभागशः॥ ६॥

'उन सब सेनाओंको विभक्त करके सब ओरके दरवाजोंपर स्थापित किया और यथोचित रीतिसे वहाँ अलग-अलग यूथपतियोंको भी नियुक्त कर दिया है॥ ६॥

भूयस्तु मम विज्ञाप्यं तच्छृणुष्व महाप्रभो।
त्वय्यकारणसंतप्ते संतप्तहृदया वयम्॥ ७॥

'महाराज! अब पुनः मुझे जो बात आपकी सेवामें निवेदन करनी है, उसे भी सुन लीजिये। बिना किसी कारणके आपके संतप्त होनेसे हमलोगोंके हृदयमें भी बड़ा संताप हो रहा है॥ ७॥

त्यज राजन्निमं शोकं मिथ्या संतापमागतम्।
यदियं त्यज्यतां चिन्ता शत्रुहर्षविवर्धिनी॥ ८॥

'राजन्! मिथ्या प्राप्त हुए इस शोक और संतापको त्याग दीजिये; साथ ही इस चिन्ताको भी अपने मनसे निकाल दीजिये; क्योंकि यह शत्रुओंका हर्ष बढ़ानेवाली है॥ ८॥

उद्यमः क्रियतां वीर हर्षः समुपसेव्यताम्।
प्राप्तव्या यदि ते सीता हन्तव्याश्च निशाचराः॥ ९॥

'वीर! यदि आप सीताको पाना और निशाचरोंका वध करना चाहते हैं तो उद्योग कीजिये; हर्ष और उत्साहका सहारा लीजिये॥ ९॥

रघुनन्दन वक्ष्यामि श्रूयतां मे हितं वचः।
साध्वयं यातु सौमित्रिर्बलेन महता वृतः॥ १०॥
निकुम्भिलायां सम्प्राप्तं हन्तुं रावणिमाहवे।

'रघुनन्दन! मैं एक आवश्यक बात बताता हूँ, मेरी इस हितकर बातको सुनिये। रावणकुमार इन्द्रजित् निकुम्भिला-मन्दिरकी ओर गया है, अतः ये सुमित्राकुमार लक्ष्मण विशाल सेना साथ लेकर अभी उसपर आक्रमण करें—युद्धमें उस रावणपुत्रका वध करनेके लिये उसपर चढ़ाई कर दें—यही अच्छा होगा॥ १०$\frac{1}{2}$॥

धनुर्मण्डलनिर्मुक्तैराशीविषविषोपमैः॥ ११॥
शरैर्हन्तुं महेष्वासो रावणिं समितिंजयः।

'युद्धविजयी महाधनुर्धर लक्ष्मण अपने मण्डलाकार धनुषद्वारा छोड़े गये विषधर सर्पोंके तुल्य भयानक बाणोंसे रावणपुत्रका वध करनेमें समर्थ हैं॥ ११$\frac{1}{2}$॥

तेन वीरेण तपसा वरदानात् स्वयंभुवः।
अस्त्रं ब्रह्मशिरः प्राप्तं कामगाश्च तुरङ्गमाः॥ १२॥

'उस वीरने तपस्या करके ब्रह्माजीके वरदानसे ब्रह्मशिर नामक अस्त्र और मनचाही गतिसे चलनेवाले घोड़े प्राप्त किये हैं॥ १२॥

स एष किल सैन्येन प्राप्तः किल निकुम्भिलाम्।
यद्युत्तिष्ठेत् कृतं कर्म हतान् सर्वांश्च विद्धि नः॥ १३॥

'निश्चय ही इस समय सेनाके साथ वह निकुम्भिलामें गया है। वहाँसे अपना हवन-कर्म समाप्त करके यदि वह उठेगा तो हम सब लोगोंको उसके हाथसे मरा ही समझिये॥ १३॥

निकुम्भिलामसम्प्राप्तमकृताग्निं च यो रिपुः।
त्वामाततायिनं हन्यादिन्द्रशत्रो स ते वधः॥ १४॥
वरो दत्तो महाबाहो सर्वलोकेश्वरेण वै।
इत्येवं विहितो राजन् वधस्तस्यैष धीमतः॥ १५॥

'महाबाहो! सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी ब्रह्माजीने उसे वरदान देते हुए कहा था—'इन्द्रशत्रो! निकुम्भिला नामक वटवृक्षके पास पहुँचने तथा हवन-सम्बन्धी कार्य पूर्ण करनेके पहले ही

जो शत्रु तुझ आततायी (शस्त्रधारी) को मारनेके लिये आक्रमण करेगा, उसीके हाथसे तुम्हारा वध होगा।' राजन्! इस प्रकार बुद्धिमान् इन्द्रजित्की मृत्युका विधान किया गया है॥ १४-१५॥

वधायेन्द्रजितो राम संदिशस्व महाबलम्।
हते तस्मिन् हतं विद्धि रावणं ससुहृद्गणम्॥ १६॥

'इसलिये श्रीराम! आप इन्द्रजित्का वध करनेके लिये महाबली लक्ष्मणको आज्ञा दीजिये। उसके मारे जानेपर रावणको अपने सुहृदोंसहित मरा ही समझिये'॥ १६॥

विभीषणवचः श्रुत्वा रामो वाक्यमथाब्रवीत्।
जानामि तस्य रौद्रस्य मायां सत्यपराक्रम॥ १७॥

विभीषणके वचन सुनकर श्रीरामचन्द्रजी शोकका परित्याग करके बोले—'सत्यपराक्रमी विभीषण! उस भयंकर राक्षसकी मायाको मैं जानता हूँ॥ १७॥

स हि ब्रह्मास्त्रवित् प्राज्ञो महामायो महाबलः।
करोत्यसंज्ञान् संग्रामे देवान् सवरुणानपि॥ १८॥

'वह ब्रह्मास्त्रका ज्ञाता, बुद्धिमान्, बहुत बड़ा मायावी और महान् बलवान् है। वरुणसहित सम्पूर्ण देवताओंको भी वह युद्धमें अचेत कर सकता है॥ १८॥

तस्यान्तरिक्षे चरतः सरथस्य महायशः।
न गतिर्ज्ञायते वीर सूर्यस्येवाभ्रसम्प्लवे॥ १९॥
राघवस्तु रिपोर्ज्ञात्वा मायावीर्यं दुरात्मनः।
लक्ष्मणं कीर्तिसम्पन्नमिदं वचनमब्रवीत्॥ २०॥

'महायशस्वी वीर! जब इन्द्रजित् रथसहित आकाशमें विचरने लगता है, उस समय बादलोंमें छिपे हुए सूर्यकी भाँति उसकी गतिका कुछ पता ही नहीं चलता।' विभीषणसे ऐसा कहकर भगवान् श्रीरामने अपने शत्रु दुरात्मा इन्द्रजित्की मायाशक्तिको जानकर यशस्वी वीर लक्ष्मणसे यह बात कही—॥ १९-२०॥

यद् वानरेन्द्रस्य बलं तेन सर्वेण संवृतः।
हनूमत्प्रमुखैश्चैव यूथपैः सह लक्ष्मण॥ २१॥
जाम्बवेनर्क्षपतिना सह सैन्येन संवृतः।
जहि तं राक्षससुतं मायाबलसमन्वितम्॥ २२॥

'लक्ष्मण! वानरराज सुग्रीवकी जो भी सेना है, वह सब साथ ले हनुमान् आदि यूथपतियों, ऋक्षराज जाम्बवान् तथा अन्य सैनिकोंसे घिरे रहकर तुम मायाबलसे सम्पन्न राक्षसराजकुमार इन्द्रजित्का वध करो॥ २१-२२॥

अयं त्वां सचिवैः सार्धं महात्मा रजनीचरः।
अभिज्ञस्तस्य मायानां पृष्ठतोऽनुगमिष्यति॥ २३॥

'ये महामना राक्षसराज विभीषण उसकी मायाओंसे अच्छी तरह परिचित हैं, अतः अपने मन्त्रियोंके साथ ये भी तुम्हारे पीछे-पीछे जायँगे'॥ २३॥

राघवस्य वचः श्रुत्वा लक्ष्मणः सविभीषणः।
जग्राह कार्मुकश्रेष्ठमन्यद् भीमपराक्रमः॥ २४॥

श्रीरघुनाथजीकी यह बात सुनकर विभीषणसहित भयानक पराक्रमी लक्ष्मणने अपना श्रेष्ठ धनुष हाथमें लिया॥ २४॥

संनद्धः कवची खड्गी सशरी वामचापभृत्।
रामपादावुपस्पृश्य हृष्टः सौमित्रिरब्रवीत्॥ २५॥

वे युद्धकी सब सामग्री लेकर तैयार हो गये। उन्होंने कवच धारण किया, तलवार बाँध ली और उत्तम बाण तथा बायें हाथमें धनुष ले लिये। तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजीके चरण छूकर हर्षसे भरे हुए सुमित्राकुमारने कहा—॥ २५॥

अद्य मत्कार्मुकोन्मुक्ताः शरा निर्भिद्य रावणिम्।
लङ्कामभिपतिष्यन्ति हंसाः पुष्करिणीमिव॥ २६॥

'आर्य! आज मेरे धनुषसे छूटे हुए बाण रावणकुमारको विदीर्ण करके उसी तरह लङ्कामें गिरेंगे, जैसे हंस कमलोंसे भरे हुए सरोवरमें उतरते हैं॥ २६॥

अद्यैव तस्य रौद्रस्य शरीरं मामकाः शराः।
विधमिष्यन्ति भित्त्वा तं महाचापगुणच्युताः॥ २७॥

'इस विशाल धनुषसे छूटे हुए मेरे बाण आज ही उस भयंकर राक्षसके शरीरको विदीर्ण करके उसे कालके गालमें डाल देंगे'॥ २७॥

एवमुक्त्वा तु वचनं द्युतिमान् भ्रातुरग्रतः।
स रावणिवधाकाङ्क्षी लक्ष्मणस्त्वरितं ययौ॥ २८॥

इन्द्रजित्के वधकी अभिलाषा रखनेवाले तेजस्वी लक्ष्मण अपने भाईके सामने ऐसी बात कहकर तुरंत वहाँसे चल दिये॥ २८॥

सोऽभिवाद्य गुरोः पादौ कृत्वा चापि प्रदक्षिणम्।
निकुम्भिलामभिययौ चैत्यं रावणिपालितम्॥ २९॥

पहले उन्होंने अपने बड़े भाईके चरणोंमें प्रणाम किया, फिर उनकी परिक्रमा करके रावणकुमारद्वारा पालित निकुम्भिला-मन्दिरकी ओर प्रस्थान किया॥ २९॥

विभीषणेन सहितो राजपुत्रः प्रतापवान्।
कृतस्वस्त्ययनो भ्रात्रा लक्ष्मणस्त्वरितो ययौ॥ ३०॥

भाई श्रीरामद्वारा स्वस्तिवाचन किये जानेके पश्चात् विभीषणसहित प्रतापी राजकुमार लक्ष्मण बड़ी उतावलीके साथ चले॥ ३०॥

वानराणां सहस्रैस्तु हनूमान् बहुभिर्वृतः।
विभीषणश्च सामात्यो लक्ष्मणं त्वरितं ययौ॥ ३१॥

कई हजार वानरवीरोंके साथ हनुमान् और मन्त्रियोंसहित विभीषण भी लक्ष्मणके पीछे शीघ्रतापूर्वक प्रस्थित हुए॥ ३१॥

महता हरिसैन्येन सवेगमभिसंवृतः।
ऋक्षराजबलं चैव ददर्श पथि विष्ठितम्॥ ३२॥

विशाल वानर-सेनासहित घिरे हुए लक्ष्मणने वेगपूर्वक आगे बढ़कर मार्गमें खड़ी हुई ऋक्षराज जाम्बवान्की सेनाको देखा॥ ३२॥

स गत्वा दूरमध्वानं सौमित्रिर्मित्रनन्दनः।
राक्षसेन्द्रबलं दूरादपश्यद् व्यूहमाश्रितम्॥ ३३॥

दूरतकका रास्ता तै कर लेनेपर मित्रोंको आनन्दित करनेवाले सुमित्राकुमारने कुछ दूरसे ही देखा, राक्षसराज रावणकी सेना मोर्चा बाँधे खड़ी है॥ ३३॥

स सम्प्राप्य धनुष्पाणिर्मायायोगमरिंदमः।
तस्थौ ब्रह्मविधानेन विजेतुं रघुनन्दनः॥ ३४॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले रघुकुलनन्दन लक्ष्मण हाथमें धनुष ले ब्रह्माजीके निश्चित किये हुए विधानके अनुसार उस मायावी राक्षसको जीतनेके लिये निकुम्भिला नामक स्थानमें पहुँचकर एक जगह खड़े हो गये॥ ३४॥

विभीषणेन सहितो राजपुत्रः प्रतापवान्।
अङ्गदेन च वीरेण तथानिलसुतेन च॥ ३५॥

उस समय प्रतापी राजकुमार लक्ष्मणके साथ विभीषण, वीर अङ्गद तथा पवनकुमार हनुमान् भी थे॥ ३५॥

विविधममलशस्त्रभास्वरं तद्
ध्वजगहनं गहनं महारथैश्च।
प्रतिभयतममप्रमेयवेगं
तिमिरमिव द्विषतां बलं विवेश॥ ३६॥

चमकीले अस्त्र-शस्त्रोंसे जो प्रकाशित हो रही थी, ध्वजों और महारथियोंके कारण गहन दिखायी देती थी, जिसके वेगका कोई माप नहीं था तथा जो अनेक प्रकारकी वेशभूषामें दृष्टिगोचर होती थी; अन्धकारके समान काली उस शत्रुसेनामें विभीषण आदिके साथ लक्ष्मणने प्रवेश किया॥ ३६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे पञ्चाशीतितमः सर्गः॥ ८५॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें पचासीवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ८५॥

—★—

षडशीतितमः सर्गः

वानरों और राक्षसोंका युद्ध, हनुमान्‌जीके द्वारा राक्षससेनाका संहार और उनका इन्द्रजित्‌को द्वन्द्वयुद्धके लिये ललकारना तथा लक्ष्मणका उसे देखना

अथ तस्यामवस्थायां लक्ष्मणं रावणानुजः।
परेषामहितं वाक्यमर्थसाधकमब्रवीत्॥ १॥

उस अवस्थामें रावणके छोटे भाई विभीषणने लक्ष्मणसे ऐसी बात कही, जो उनके अभीष्ट अर्थको सिद्ध करनेवाली तथा शत्रुओंके लिये अहितकर थी॥ १॥

यदेतद् राक्षसानीकं मेघश्यामं विलोक्यते।
एतदायोध्यतां शीघ्रं कपिभिश्च शिलायुधैः॥ २॥
तस्यानीकस्य महतो भेदने यत लक्ष्मण।
राक्षसेन्द्रसुतोऽप्यत्र भिन्ने दृश्यो भविष्यति॥ ३॥

वे बोले—'लक्ष्मण! यह सामने जो मेघोंकी काली घटाके समान राक्षसोंकी सेना दिखायी देती है, उसके साथ शिलारूपी आयुध धारण करनेवाले वानरवीर शीघ्र ही युद्ध छेड़ दें और आप भी इस विशाल वाहिनीके व्यूहका भेदन करनेका प्रयत्न करें। इसका मोर्चा टूटनेपर राक्षसराजका पुत्र इन्द्रजित् भी हमें यहीं दिखायी देगा॥ २-३॥

स त्वमिन्द्राशनिप्रख्यैः शरैरवकिरन् परान्।
अभिद्रवाशु यावद् वै नैतत् कर्म समाप्यते॥ ४॥

'अतः आप इस हवन-कर्मकी समाप्तिके पहले ही वज्रतुल्य बाणोंकी वर्षा करते हुए शत्रुओंपर शीघ्र धावा कीजिये॥ ४॥

जहि वीर दुरात्मानं मायापरमधार्मिकम्।
रावणिं क्रूरकर्माणं सर्वलोकभयावहम्॥ ५॥

'वीर! वह दुरात्मा रावणकुमार बड़ा ही मायावी, अधर्मी, क्रूर कर्म करनेवाला और सम्पूर्ण लोकोंके लिये भयंकर है; अतः इसका वध कीजिये'॥ ५॥

विभीषणवचः श्रुत्वा लक्ष्मणः शुभलक्षणः।
ववर्ष शरवर्षेण राक्षसेन्द्रसुतं प्रति॥ ६॥

विभीषणकी यह बात सुनकर शुभलक्षणसम्पन्न लक्ष्मणने राक्षसराजके पुत्रको लक्ष्य करके बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी॥ ६॥

ऋक्षाः शाखामृगाश्चैव द्रुमप्रवरयोधिनः।
अभ्यधावन्त सहितास्तदनीकमवस्थितम्॥ ७॥

साथ ही बड़े-बड़े वृक्ष लेकर युद्ध करनेवाले वानर और भालू भी वहाँ खड़ी हुई राक्षस-सेनापर एक साथ ही टूट पड़े॥ ७॥

राक्षसाश्च शितैर्बाणैरसिभिः शक्तितोमरैः।
अभ्यवर्तन्त समरे कपिसैन्यजिघांसवः॥ ८॥

उधरसे राक्षस भी वानरसेनाको नष्ट करनेकी इच्छासे समराङ्गणमें तीखे बाणों, तलवारों, शक्तियों और तोमरोंका प्रहार करते हुए उनका सामना करने लगे॥ ८॥

स सम्प्रहारस्तुमुलः संजज्ञे कपिरक्षसाम्।
शब्देन महता लङ्कां नादयन् वै समन्ततः॥ ९॥

इस प्रकार वानरों और राक्षसोंमें घमासान युद्ध होने

लगा। उसके महान् कोलाहलसे समूची लङ्कापुरी सब ओरसे गूँज उठी॥ ९॥

शस्त्रैश्च विविधाकारैः शितैर्बाणैश्च पादपैः।
उद्यतैर्गिरिशृङ्गैश्च घोरैराकाशमावृतम्॥ १०॥

नाना प्रकारके शस्त्रों, पैने बाणों, उठे हुए वृक्षों और भयानक पर्वत-शिखरोंसे वहाँका आकाश आच्छादित हो गया॥ १०॥

राक्षसा वानरेन्द्रेषु विकृताननबाहवः।
निवेशयन्तः शस्त्राणि चक्रुस्ते सुमहद्भयम्॥ ११॥

विकट मुँह और बाँहोंवाले राक्षसोंने वानर-यूथपतियोंपर (नाना प्रकारके) शस्त्रोंका प्रहार करते हुए उनके लिये महान् भय उपस्थित कर दिया॥ ११॥

तथैव सकलैर्वृक्षैर्गिरिशृङ्गैश्च वानराः।
अभिजघ्नुर्निजघ्नुश्च समरे सर्वराक्षसान्॥ १२॥

उसी प्रकार वानर भी समराङ्गणमें सम्पूर्ण वृक्षों और पर्वत-शिखरोंद्वारा समस्त राक्षसोंको मारने एवं हताहत करने लगे॥ १२॥

ऋक्षवानरमुख्यैश्च महाकायैर्महाबलैः।
रक्षसां युध्यमानानां महद्भयमजायत॥ १३॥

मुख्य-मुख्य महाकाय महाबली रीछों और वानरोंसे जूझते हुए राक्षसोंको महान् भय लगने लगा॥ १३॥

स्वमनीकं विषण्णं तु श्रुत्वा शत्रुभिरर्दितम्।
उदतिष्ठत दुर्धर्षः स कर्मण्यननुष्ठिते॥ १४॥

रावणकुमार इन्द्रजित् बड़ा दुर्धर्ष वीर था। उसने जब सुना कि मेरी सेना शत्रुओंद्वारा पीड़ित होकर बड़े दुःखमें पड़ गयी है, तब अनुष्ठान समाप्त होनेके पहले ही वह युद्धके लिये उठ खड़ा हुआ॥ १४॥

वृक्षान्धकारान्निर्गत्य जातक्रोधः स रावणिः।
आरुरोह रथं सज्जं पूर्वयुक्तं सुसंवृतम्॥ १५॥

उस समय उसके मनमें बड़ा क्रोध उत्पन्न हुआ था। वह वृक्षोंके अन्धकारसे निकलकर एक सुसज्जित रथपर आरूढ़ हुआ, जो पहलेसे ही जोतकर तैयार रखा गया था। वह रथ बहुत ही सुदृढ़ था॥ १५॥

स भीमकार्मुकशरः कृष्णाञ्जनचयोपमः।
रक्तास्यनयनो भीमो बभौ मृत्युरिवान्तकः॥ १६॥

इन्द्रजित्के हाथमें भयंकर धनुष और बाण थे। वह काले कोयलेके ढेर-सा जान पड़ता था। उसके मुँह और नेत्र लाल थे। वह भयंकर राक्षस विनाशकारी मृत्युके समान प्रतीत होता था॥ १६॥

दृष्ट्वैव तु रथस्थं तं पर्यवर्तत तद् बलम्।
रक्षसां भीमवेगानां लक्ष्मणेन युयुत्सताम्॥ १७॥

इन्द्रजित् रथपर बैठ गया, यह देखते ही लक्ष्मणके साथ युद्धकी इच्छा रखनेवाले भयंकर वेगशाली राक्षसोंकी वह सेना उसके आसपास सब ओर खड़ी हो गयी॥ १७॥

तस्मिंस्तु काले हनुमानरुजत् स दुरासदम्।
धरणीधरसंकाशो महावृक्षमरिंदमः॥ १८॥

उस समय शत्रुओंका दमन करनेवाले पर्वतके समान विशालकाय हनुमान्‌जीने एक बहुत बड़े वृक्षको, जिसे तोड़ना या उखाड़ना कठिन था, उखाड़ लिया॥ १८॥

स राक्षसानां तत् सैन्यं कालाग्निरिव निर्दहन्।
चकार बहुभिर्वृक्षैर्निःसंज्ञं युधि वानरः॥ १९॥

फिर तो वे वानरवीर प्रलयाग्निके समान प्रज्वलित हो उठे और युद्धस्थलमें राक्षसोंकी उस सेनाको दग्ध करते हुए बहुसंख्यक वृक्षोंकी मारसे अचेत करने लगे॥ १९॥

विध्वंसयन्तं तरसा दृष्ट्वैव पवनात्मजम्।
राक्षसानां सहस्राणि हनूमन्तमवाकिरन्॥ २०॥

पवनकुमार हनुमान्‌जी बड़े वेगसे राक्षस-सेनाका विध्वंस कर रहे हैं, यह देखते ही सहस्रों राक्षस उनपर अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे॥ २०॥

शितशूलधराः शूलैरसिभिश्चासिपाणयः।
शक्तिहस्ताश्च शक्तीभिः पट्टिशैः पट्टिशायुधाः॥ २१॥

चमकीले शूल धारण करनेवाले राक्षस शूलोंसे, जिनके हाथोंमें तलवारें थीं वे तलवारोंसे, शक्तिधारी शक्तियोंसे और पट्टिशधारी राक्षस पट्टिशोंसे उनपर प्रहार करने लगे॥ २१॥

परिघैश्च गदाभिश्च कुन्तैश्च शुभदर्शनैः।
शतशश्च शतघ्नीभिरायसैरपि मुद्गरैः॥ २२॥
घोरैः परशुभिश्चैव भिन्दिपालैश्च राक्षसाः।
मुष्टिभिर्वज्रकल्पैश्च तलैरशनिसंनिभैः॥ २३॥
अभिजघ्नुः समासाद्य समन्तात् पर्वतोपमम्।
तेषामपि च संक्रुद्धश्चकार कदनं महत्॥ २४॥

बहुत-से परिघों, गदाओं, सुन्दर भालों, सैकड़ों शतघ्नियों, लोहेके बने हुए मुद्गरों, भयानक फरसों, भिन्दिपालों, वज्रके समान मुक्कों और अशनितुल्य थप्पड़ोंसे वे समस्त राक्षस पास आकर सब ओरसे पर्वताकार हनुमान्‌जीपर प्रहार करने लगे। हनुमान्‌जीने कुपित होकर उनका भी महान् संहार किया॥ २२—२४॥

स ददर्श कपिश्रेष्ठमचलोपममिन्द्रजित्।
सूदमानमसंत्रस्तममित्रान् पवनात्मजम्॥ २५॥

इन्द्रजित्‌ने देखा, कपिवर पवनकुमार हनुमान् पर्वतके समान अचल हो निःशङ्कभावसे अपने शत्रुओंका संहार कर रहे हैं॥ २५॥

स सारथिमुवाचेदं याहि यत्रैष वानरः।
क्षयमेव हि नः कुर्याद् राक्षसानामुपेक्षितः॥ २६॥

यह देखकर उसने अपने सारथिसे कहा—'जहाँ यह वानर युद्ध करता है, वहीं चलो। यदि उसकी उपेक्षा की

गयी तो यह हम सब राक्षसोंका विनाश ही कर डालेगा' ॥ २६ ॥

इत्युक्तः सारथिस्तेन ययौ यत्र स मारुतिः ।
वहन् परमदुर्धर्षं स्थितमिन्द्रजितं रथे ॥ २७ ॥

उसके ऐसा कहनेपर सारथि रथपर बैठे हुए अत्यन्त दुर्जय वीर इन्द्रजित्को ढोता हुआ उस स्थानपर गया, जहाँ पवनपुत्र हनुमान्जी विराजमान थे ॥ २७ ॥

सोऽभ्युपेत्य शरान् खड्गान् पट्टिशांश्च परश्वधान् ।
अभ्यवर्षत दुर्धर्षः कपिमूर्धनि राक्षसः ॥ २८ ॥

वहाँ पहुँचकर उस दुर्जय राक्षसने हनुमान्जीके मस्तकपर बाणों, तलवारों, पट्टिशों और फरसोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ २८ ॥

तानि शस्त्राणि घोराणि प्रतिगृह्य स मारुतिः ।
रोषेण महताविष्टो वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ २९ ॥

उन भयानक शस्त्रोंको अपने शरीरपर झेलकर पवनपुत्र हनुमान्जी महान् रोषसे भर गये और इस प्रकार बोले— ॥ २९ ॥

युध्यस्व यदि शूरोऽसि रावणात्मज दुर्मते ।
वायुपुत्रं समासाद्य न जीवन् प्रतियास्यसि ॥ ३० ॥

'दुर्बुद्धि रावणकुमार ! यदि बड़े शूरवीर हो तो आओ, मेरे साथ मल्लयुद्ध करो। इस वायुपुत्रसे भिड़कर जीवित नहीं लौट सकोगे ॥ ३० ॥

बाहुभ्यां सम्प्रयुध्यस्व यदि मे द्वन्द्वमाहवे ।
वेगं सहस्व दुर्बुद्धे ततस्त्वं रक्षसां वरः ॥ ३१ ॥

'दुर्मते ! अपनी भुजाओंद्वारा मेरे साथ द्वन्द्व युद्ध करो। इस बाहुयुद्धमें यदि मेरा वेग सह लो तो तुम राक्षसोंमें श्रेष्ठ वीर समझे जाओगे' ॥ ३१ ॥

हनूमन्तं जिघांसन्तं समुद्यतशरासनम् ।
रावणात्मजमाचष्टे लक्ष्मणाय विभीषणः ॥ ३२ ॥

रावणकुमार इन्द्रजित् धनुष उठाकर हनुमान्जीका वध करना चाहता था। इसी अवस्थामें विभीषणने लक्ष्मणको उसका परिचय दिया— ॥ ३२ ॥

यः स वासवनिर्जेता रावणस्यात्मसम्भवः ।
स एष रथमास्थाय हनूमन्तं जिघांसति ॥ ३३ ॥
तमप्रतिमसंस्थानैः शरैः शत्रुनिवारणैः ।
जीवितान्तकरैर्घोरैः सौमित्रे रावणिं जहि ॥ ३४ ॥

'सुमित्रानन्दन ! रावणका जो पुत्र इन्द्रको भी जीत चुका है, वही यह रथपर बैठकर हनुमान्जीका वध करना चाहता है। अतः आप शत्रुओंका विदारण करनेवाले, अनुपम आकार-प्रकारसे युक्त एवं प्राणान्तकारी भयंकर बाणोंद्वारा उस रावणकुमारको मार डालिये' ॥ ३३-३४ ॥

इत्येवमुक्तस्तु तदा महात्मा
विभीषणेनारिविभीषणेन ।
ददर्श तं पर्वतसंनिकाशं
रथस्थितं भीमबलं दुरासदम् ॥ ३५ ॥

शत्रुओंको भयभीत करनेवाले विभीषणके ऐसा कहनेपर उस समय महात्मा लक्ष्मणने रथपर बैठे हुए उस भयंकर बलशाली पर्वताकार दुर्जय राक्षसको देखा ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे षडशीतितमः सर्गः ॥ ८६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें छियासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८६ ॥

—★—

सप्ताशीतितमः सर्गः

इन्द्रजित् और विभीषणकी रोषपूर्ण बातचीत

एवमुक्त्वा तु सौमित्रिं जातहर्षो विभीषणः ।
धनुष्पाणिं तमादाय त्वरमाणो जगाम सः ॥ १ ॥

पूर्वोक्त बात कहकर हर्षसे भरे हुए विभीषण धनुर्धर सुमित्राकुमारको साथ लेकर बड़े वेगसे आगे बढ़े ॥ १ ॥

अविदूरं ततो गत्वा प्रविश्य तु महद् वनम् ।
अदर्शयत तत्कर्म लक्ष्मणाय विभीषणः ॥ २ ॥

थोड़ी ही दूर जानेपर विभीषणने एक महान् वनमें प्रवेश करके लक्ष्मणको इन्द्रजित्के कर्मानुष्ठानका स्थान दिखाया ॥ २ ॥

नीलजीमूतसंकाशं न्यग्रोधं भीमदर्शनम् ।
तेजस्वी रावणभ्राता लक्ष्मणाय न्यवेदयत् ॥ ३ ॥

वहाँ एक बरगदका वृक्ष था, जो श्याममेघके समान सघन और देखनेमें भयंकर था। रावणके तेजस्वी भ्राता विभीषणने लक्ष्मणको वहाँकी सब वस्तुएँ दिखाकर कहा— ॥ ३ ॥

इहोपहारं भूतानां बलवान् रावणात्मजः ।
उपहृत्य ततः पश्चात् संग्राममभिवर्तते ॥ ४ ॥

'सुमित्रानन्दन ! यह बलवान् रावणकुमार प्रतिदिन यहीं आकर पहले भूतोंको बलि देता, उसके बाद युद्धमें प्रवृत्त होता है ॥ ४ ॥

अदृश्यः सर्वभूतानां ततो भवति राक्षसः ।
निहन्ति समरे शत्रून् बध्नाति च शरोत्तमैः ॥ ५ ॥

'इसीसे संग्रामभूमिमें यह राक्षस सम्पूर्ण भूतोंके लिये अदृश्य हो जाता है और उत्तम बाणोंसे शत्रुओंको मारता तथा बाँध लेता है'॥ ५॥

तमप्रविष्टं न्यग्रोधं बलिनं रावणात्मजम्।
विध्वंसय शरैर्दीप्तैः सरथं साश्वसारथिम्॥ ६॥

'अतः जबतक यह इस बरगदके नीचे आये, उसके पहले ही आप अपने तेजस्वी बाणोंद्वारा इस बलवान् रावणकुमारको रथ, घोड़े और सारथिसहित नष्ट कर दीजिये'॥ ६॥

तथेत्युक्त्वा महातेजाः सौमित्रिर्मित्रनन्दनः।
बभूवावस्थितस्तत्र चित्रं विस्फारयन् धनुः॥ ७॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर मित्रोंका आनन्द बढ़ानेवाले महातेजस्वी सुमित्राकुमार अपने विचित्र धनुषको टंकार करते हुए वहाँ खड़े हो गये॥ ७॥

स रथेनाग्निवर्णेन बलवान् रावणात्मजः।
इन्द्रजित् कवची खड्गी सध्वजः प्रत्यदृश्यत॥ ८॥

इतनेमें ही बलवान् रावणकुमार इन्द्रजित् अग्निके समान तेजस्वी रथपर बैठा हुआ कवच, खड्ग और ध्वजाके साथ दिखायी पड़ा॥ ८॥

तमुवाच महातेजाः पौलस्त्यमपराजितम्।
समाह्वये त्वां समरे सम्यग् युद्धं प्रयच्छ मे॥ ९॥

तब महातेजस्वी लक्ष्मणने पराजित न होनेवाले पुलस्त्यकुलनन्दन इन्द्रजित्से कहा—'राक्षसकुमार! मैं तुम्हें युद्धके लिये ललकारता हूँ। तुम अच्छी तरह सँभलकर मेरे साथ युद्ध करो'॥ ९॥

एवमुक्तो महातेजा मनस्वी रावणात्मजः।
अब्रवीत् परुषं वाक्यं तत्र दृष्ट्वा विभीषणम्॥ १०॥

लक्ष्मणके ऐसा कहनेपर महातेजस्वी और मनस्वी रावण-कुमारने वहाँ विभीषणको उपस्थित देख कठोर शब्दोंमें कहा—॥ १०॥

इह त्वं जातसंवृद्धः साक्षात् भ्राता पितुर्मम।
कथं द्रुह्यसि पुत्रस्य पितृव्यो मम राक्षस॥ ११॥

'राक्षस! यहीं तुम्हारा जन्म हुआ और यहीं बढ़कर तुम इतने बड़े हुए। तुम मेरे पिताके सगे भाई और मेरे चाचा हो। फिर तुम अपने पुत्रसे—मुझसे क्यों द्रोह करते हो?॥ ११॥

न ज्ञातित्वं न सौहार्दं न जातिस्तव दुर्मते।
प्रमाणं न च सौदर्यं न धर्मो धर्मदूषण॥ १२॥

'दुर्मते! तुममें न तो कुटुम्बीजनोंके प्रति अपनापनका भाव है, न आत्मीयजनोंके प्रति स्नेह है और न अपनी जातिका अभिमान ही है। तुममें कर्तव्य-अकर्तव्यकी मर्यादा, भ्रातृप्रेम और धर्म कुछ भी नहीं है। तुम राक्षस-धर्मको कलंकित करनेवाले हो॥ १२॥

शोच्यस्त्वमसि दुर्बुद्धे निन्दनीयश्च साधुभिः।
यस्त्वं स्वजनमुत्सृज्य परभृत्यत्वमागतः॥ १३॥

'दुर्बुद्धे! तुमने स्वजनोंका परित्याग करके दूसरोंकी गुलामी स्वीकार की है। अतः तुम सत्पुरुषोंद्वारा निन्दनीय और शोकके योग्य हो॥ १३॥

नैतच्छिथिलया बुद्ध्या त्वं वेत्सि महदन्तरम्।
क्व च स्वजनसंवासः क्व च नीच पराश्रयः॥ १४॥

'नीच निशाचर! तुम अपनी शिथिल बुद्धिके द्वारा इस महान् अन्तरको नहीं समझ पा रहे हो कि कहाँ तो स्वजनोंके साथ रहकर स्वच्छन्दताका आनन्द लेना और कहाँ दूसरोंकी गुलामी करके जीना है॥ १४॥

गुणवान् वा परजनः स्वजनो निर्गुणोऽपि वा।
निर्गुणः स्वजनः श्रेयान् यः परः पर एव सः॥ १५॥

'दूसरे लोग कितने ही गुणवान् क्यों न हों और स्वजन गुणहीन ही क्यों न हो? वह गुणहीन स्वजन भी दूसरोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ ही है, क्योंकि दूसरा दूसरा ही होता है (वह कभी अपना नहीं हो सकता)॥ १५॥

यः स्वपक्षं परित्यज्य परपक्षं निषेवते।
स स्वपक्षे क्षयं याते पश्चात् तैरेव हन्यते॥ १६॥

'जो अपने पक्षको छोड़कर दूसरे पक्षके लोगोंका सेवन करता है, वह अपने पक्षके नष्ट हो जानेपर फिर उन्हींके द्वारा मार डाला जाता है॥ १६॥

निरनुक्रोशता चेयं यादृशी ते निशाचर।
स्वजनेन त्वया शक्यं पौरुषं रावणानुज॥ १७॥

'रावणके छोटे भाई निशाचर! तुमने लक्ष्मणको इस स्थानतक ले आकर मेरा वध करानेके लिये प्रयत्न करके यह जैसी निर्दयता दिखायी है, ऐसा पुरुषार्थ तुम्हारे-जैसा स्वजन ही कर सकता है—तुम्हारे सिवा दूसरे किसी स्वजनके लिये ऐसा करना सम्भव नहीं है॥ १७॥

इत्युक्तो भ्रातृपुत्रेण प्रत्युवाच विभीषणः।
अजानन्निव मच्छीलं किं राक्षस विकत्थसे॥ १८॥

अपने भतीजेके ऐसा कहनेपर विभीषणने उत्तर दिया—'राक्षस! तू आज ऐसी शेखी क्यों बघारता है? जान पड़ता है तुझे मेरे स्वभावका पता ही नहीं है॥ १८॥

राक्षसेन्द्रसुतासाधो पारुष्यं त्यज गौरवात्।
कुले यद्यप्यहं जातो रक्षसां क्रूरकर्मणाम्।
गुणो यः प्रथमो नृणां तन्मे शीलमराक्षसम्॥ १९॥

'अधम! राक्षसराजकुमार! बड़ोंके बड़प्पनका खयाल करके तू इस कठोरताका परित्याग कर दे। यद्यपि मेरा जन्म क्रूरकर्मा राक्षसोंके कुलमें ही हुआ है, तथापि मेरा शील-स्वभाव राक्षसोंका-सा नहीं है। सत्पुरुषोंका जो प्रधान गुण सत्त्व है, मैंने उसीका आश्रय ले रखा है॥ १९॥

न रमे दारुणेनाहं न चाधर्मेण वै रमे।
भ्रात्रा विषमशीलोऽपि कथं भ्राता निरस्यते॥ २०॥

'क्रूरतापूर्ण कर्ममें मेरा मन नहीं लगता। अधर्ममें मेरी रुचि नहीं होती। यदि अपने भाईका शील-स्वभाव अपनेसे न मिलता हो तो भी बड़ा भाई छोटे भाईको कैसे घरसे निकाल सकता है? (परंतु मुझे घरसे निकाल दिया गया, फिर मैं दूसरे सत्पुरुषका आश्रय क्यों न लूँ?)' ॥ २० ॥

धर्मात् प्रच्युतशीलं हि पुरुषं पापनिश्चयम्।
त्यक्त्वा सुखमवाप्नोति हस्तादाशीविषं यथा॥ २१॥

'जिसका शील-स्वभाव धर्मसे भ्रष्ट हो गया हो, जिसने पाप करनेका दृढ़ निश्चय कर लिया हो, ऐसे पुरुषका त्याग करके प्रत्येक प्राणी उसी प्रकार सुखी होता है, जैसे हाथपर बैठे हुए जहरीले सर्पको त्याग देनेसे मनुष्य निर्भय हो जाता है॥ २१॥

परस्वहरणे युक्तं परदाराभिमर्शकम्।
त्याज्यमाहुर्दुरात्मानं वेश्म प्रज्वलितं यथा॥ २२॥

'जो दूसरोंका धन लूटता हो और परायी स्त्रीपर हाथ लगाता हो, उस दुरात्माको जलते हुए घरकी भाँति त्याग देने योग्य बताया गया है॥ २२॥

परस्वानां च हरणं परदाराभिमर्शनम्।
सुहृदामतिशङ्का च त्रयो दोषाः क्षयावहाः॥ २३॥

'पराये धनका अपहरण, परस्त्रीके साथ संसर्ग और अपने हितैषी सुहृदोंपर अधिक शङ्का—अविश्वास—ये तीन दोष विनाशकारी बताये गये हैं॥ २३॥

महर्षीणां वधो घोरः सर्वदेवैश्च विग्रहः।
अभिमानश्च रोषश्च वैरत्वं प्रतिकूलता॥ २४॥
एते दोषा मम भ्रातुर्जीवितैश्वर्यनाशनाः।
गुणान् प्रच्छादयामासुः पर्वतानिव तोयदाः॥ २५॥

'महर्षियोंका भयंकर वध, सम्पूर्ण देवताओंके साथ विरोध, अभिमान, रोष, वैर और धर्मके प्रतिकूल चलना—ये दोष मेरे भाईमें मौजूद हैं, जो उसके प्राण और ऐश्वर्य दोनोंका नाश करनेवाले हैं। जैसे बादल पर्वतोंको आच्छादित कर देते हैं, उसी प्रकार इन दोषोंने मेरे भाईके सारे गुणोंको ढक दिया है॥ २४-२५॥

दोषैरेतैः परित्यक्तो मया भ्राता पिता तव।
नेयमस्ति पुरी लङ्का न च त्वं न च ते पिता॥ २६॥

'इन्हीं दोषोंके कारण मैंने अपने भाई एवं तेरे पिताका त्याग किया है। अब न तो यह लङ्कापुरी रहेगी, न तू रहेगा और न तेरे पिता ही रह जायँगे॥ २६॥

अतिमानश्च बालश्च दुर्विनीतश्च राक्षस।
बद्धस्त्वं कालपाशेन ब्रूहि मां यद् यदिच्छसि॥ २७॥

'राक्षस! तू अत्यन्त अभिमानी, उद्दण्ड और बालक (मूर्ख) है, कालके पाशमें बँधा हुआ है; इसलिये तेरी जो-जो इच्छा हो, मुझे कह ले॥ २७॥

अद्येह व्यसनं प्राप्तं यन्मां परुषमुक्तवान्।
प्रवेष्टुं न त्वया शक्यं न्यग्रोधं राक्षसाधम॥ २८॥

'नीच राक्षस! तूने मुझसे जो कठोर बात कही है, उसीका यह फल है कि आज तुझपर यहाँ घोर संकट आया है। अब तू बरगदके नीचेतक नहीं जा सकता॥ २८॥

धर्षयित्वा च काकुत्स्थं न शक्यं जीवितुं त्वया।
युध्यस्व नरदेवेन लक्ष्मणेन रणे सह।
हतस्त्वं देवताकार्यं करिष्यसि यमक्षयम्॥ २९॥

'ककुत्स्थकुलभूषण लक्ष्मणका तिरस्कार करके तू जीवित नहीं रह सकता; अतः इन नरदेव लक्ष्मणके साथ रणभूमिमें युद्ध कर। यहाँ मारा जाकर तू यमलोकमें पहुँचेगा और देवताओंका कार्य करेगा (उन्हें संतुष्ट करेगा)॥ २९॥

निदर्शय स्वात्मबलं समुद्यतं
कुरुष्व सर्वायुधसायकव्ययम्।
न लक्ष्मणस्यैत्य हि बाणगोचरं
त्वमद्य जीवन् सबलो गमिष्यसि॥ ३०॥

'अब तू अपना बढ़ा हुआ सारा बल दिखा' समस्त आयुधों और सायकोंका व्यय कर ले; परंतु लक्ष्मणके बाणोंका निशाना बनकर आज तू सेनासहित जीवित नहीं लौट सकेगा'॥ ३०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे सप्ताशीतितमः सर्गः॥ ८७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें सतासीवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ८७॥

★

अष्टाशीतितमः सर्गः

लक्ष्मण और इन्द्रजित्की परस्पर रोषभरी बातचीत और घोर युद्ध

विभीषणवचः श्रुत्वा रावणिः क्रोधमूर्च्छितः।
अब्रवीत् परुषं वाक्यं क्रोधेनाभ्युत्पपात च॥ १॥

विभीषणकी यह बात सुनकर रावणकुमार इन्द्रजित् क्रोधसे मूर्च्छित-सा हो उठा। वह रोषपूर्वक कठोर बातें कहने लगा और उछलकर सामने आ गया॥ १॥

उद्यतायुधनिस्त्रिंशो रथे सुसमलंकृते।
कालाश्वयुक्ते महति स्थितः कालान्तकोपमः॥ २॥

उसने खड्ग तथा दूसरे आयुध भी उठा रखे थे। काले

घोड़ोंसे युक्त, सजे-सजाये विशाल रथपर बैठा हुआ इन्द्रजित् विनाशकारी कालके समान जान पड़ता था॥ २॥

महाप्रमाणमुद्यम्य विपुलं वेगवद् दृढम्।
धनुर्भीमबलो भीमं शरांश्चामित्रनाशनान्॥ ३॥

वह भयंकर बलशाली निशाचर बहुत बड़े आकारवाले, लंबे, मजबूत, वेगशाली और भयानक धनुषको तथा शत्रुओंका नाश करनेमें समर्थ बाणोंको भी लेकर युद्धके लिये उद्यत था॥ ३॥

तं ददर्श महेष्वासो रथस्थः समलंकृतः।
अलंकृतममित्रघ्नो रावणस्यात्मजो बली॥ ४॥
हनूमत्पृष्ठमारूढमुदयस्थरविप्रभम्।

वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत होकर रथपर बैठे हुए उस महाधनुर्धर, शत्रुनाशक बलवान् रावणकुमारने देखा, लक्ष्मण अपने तेजसे ही विभूषित हो हनुमान्‌जीकी पीठपर आरूढ़ होकर उदयाचलपर विराजमान सूर्यदेवके समान प्रकाशित हो रहे हैं॥४½॥

उवाचैनं सुसंरब्धः सौमित्रिं सविभीषणम्॥ ५॥
तांश्च वानरशार्दूलान् पश्यध्वं मे पराक्रमम्।
अद्य मत्कार्मुकोत्सृष्टं शरवर्षं दुरासदम्॥ ६॥
मुक्तवर्षमिवाकाशे धारयिष्यथ संयुगे।

देखते ही वह अत्यन्त रोषसे भर गया और विभीषणसहित सुमित्राकुमार तथा अन्य वानरसिंहोंसे कहा— 'शत्रुओ! आज मेरा पराक्रम देखना। तुम सब लोग युद्धस्थलमें मेरे धनुषसे छूटे हुए बाणोंकी दुःसह वर्षाको अपने अङ्गोंपर उसी तरह धारण करोगे, जैसे आकाशमें होनेवाली उन्मुक्त वर्षाको भूतलके प्राणी अपने ऊपर धारण करते हैं॥५-६½॥

अद्य वो मामका बाणा महाकार्मुकनिःसृताः।
विधमिष्यन्ति गात्राणि तूलराशिमिवानलः॥ ७॥

'जैसे आग रूईके ढेरको जला देती है, उसी प्रकार इस विशाल धनुषसे छूटे हुए मेरे बाण आज तुम्हारे शरीरोंकी धज्जियाँ उड़ा देंगे॥ ७॥

तीक्ष्णसायकनिर्भिन्नाञ्छूलशक्त्यृष्टितोमरैः।
अद्य वो गमयिष्यामि सर्वानेव यमक्षयम्॥ ८॥

'आज अपने शूल, शक्ति, ऋष्टि और तोमरोंद्वारा तथा तीखे सायकोंसे छिन्न-भिन्न करके तुम सब लोगोंको यमलोक पहुँचा दूँगा॥ ८॥

सृजतः शरवर्षाणि क्षिप्रहस्तस्य संयुगे।
जीमूतस्येव नदतः कः स्थास्यति ममाग्रतः॥ ९॥

'युद्धस्थलमें हाथोंकी बड़ी फुर्तीसे चलाकर जब मैं मेघके समान गर्जता हुआ बाणोंकी वर्षा आरम्भ करूँगा, उस समय कौन मेरे सामने ठहर सकेगा?॥ ९॥

रात्रियुद्धे तदा पूर्वं वज्राशनिसमैः शरैः।
शायितौ तौ मया भूमौ विसंज्ञौ सपुरःसरौ॥ १०॥
स्मृतिर्न तेऽस्ति वा मन्ये व्यक्तं यातो यमक्षयम्।
आशीविषसमं क्रुद्धं यन्मां योद्धुमुपस्थितः॥ ११॥

'लक्ष्मण! उस दिन रात्रियुद्धमें मैंने वज्र और अशनिके समान तेजस्वी बाणोंद्वारा जो पहले तुम दोनों भाइयोंको रणभूमिमें सुला दिया था और तुमलोग अपने अग्रगामी सैनिकोंसहित मूर्च्छित होकर पड़े थे, मैं समझता हूँ, उसका इस समय तुम्हें स्मरण नहीं हो रहा है। विषधर सर्पके समान रोषसे भरे हुए मुझ इन्द्रजित्‌के साथ जो तुम युद्ध करनेके लिये उपस्थित हो गये, उससे स्पष्ट जान पड़ता है कि यमलोकमें जानेके लिये उद्यत हो'॥ १०-११॥

तच्छ्रुत्वा राक्षसेन्द्रस्य गर्जितं राघवस्तदा।
अभीतवदनः क्रुद्धो रावणिं वाक्यमब्रवीत्॥ १२॥

राक्षसराजके बेटेकी वह गर्जना सुनकर रघुकुलनन्दन लक्ष्मण कुपित हो उठे। उनके मुखपर भयका कोई चिह्न नहीं था। वे उस रावणकुमारसे बोले—॥ १२॥

उक्तश्च दुर्गमः पारः कार्याणां राक्षस त्वया।
कार्याणां कर्मणा पारं यो गच्छति स बुद्धिमान्॥ १३॥

'निशाचर! तुमने केवल वाणीद्वारा अपने शत्रुवध आदि कार्योंकी पूर्तिके लिये घोषणा कर दी; परंतु उन कार्योंको पूरा करना तुम्हारे लिये बहुत ही कठिन है। जो क्रियाद्वारा कर्तव्यकर्मोंके पार पहुँचता है अर्थात् जो कहता नहीं, काम पूरा करके दिखा देता है, वही पुरुष बुद्धिमान् है॥ १३॥

स त्वमर्थस्य हीनार्थो दुरवापस्य केनचित्।
वाचा व्याहृत्य जानीषे कृतार्थोऽस्मीति दुर्मते॥ १४॥

'दुर्मते! तुम अपने अभीष्ट कार्यको सिद्ध करनेमें असमर्थ हो। जो कार्य किसीके द्वारा भी सिद्ध होना कठिन है, उसे केवल वाणीके द्वारा कहकर तुम अपनेको कृतार्थ मान रहे हो?॥ १४॥

अन्तर्धानगतेनाजौ यत्त्वया चरितस्तदा।
तस्कराचरितो मार्गो नैष वीरनिषेवितः॥ १५॥

'उस दिन संग्राममें अपनेको छिपाकर तुमने जिसका आश्रय लिया था, वह चोरोंका मार्ग है। वीर पुरुष उसका सेवन नहीं करते॥ १५॥

यथा बाणपथं प्राप्य स्थितोऽस्मि तव राक्षस।
दर्शयस्वाद्य तत्तेजो वाचा त्वं किं विकत्थसे॥ १६॥

'राक्षस! इस समय मैं तुम्हारे बाणोंके मार्गमें आकर खड़ा हूँ। आज तुम अपना वह तेज दिखाओ। केवल बढ़-बढ़कर बातें क्यों बना रहे हो?॥ १६॥

एवमुक्तो धनुर्भीमं परामृश्य महाबलः।
ससर्ज निशितान् बाणानिन्द्रजित् समितिंजयः॥ १७॥

लक्ष्मणके ऐसा कहनेपर संग्रामविजयी महाबली इन्द्रजित्‌ने अपने भयंकर धनुषको दृढ़तापूर्वक पकड़कर पैने बाणोंकी वृष्टि आरम्भ कर दी॥ १७॥

तेन सृष्टा महावेगाः शराः सर्पविषोपमाः ।
सम्प्राप्य लक्ष्मणं पेतुः श्वसन्त इव पन्नगाः ॥ १८ ॥

उसके छोड़े हुए महान् वेगशाली बाण साँपके विषकी तरह जहरीले थे। वे फुफकारते हुए सर्पके समान लक्ष्मणके शरीरपर पड़ने लगे ॥ १८ ॥

शरैरतिमहावेगैर्वेगवान् रावणात्मजः ।
सौमित्रिमिन्द्रजिद् युद्धे विव्याध शुभलक्षणम् ॥ १९ ॥

वेगवान् रावणकुमार इन्द्रजित्‌ने उन अत्यन्त वेगशाली बाणों-द्वारा युद्धमें शुभलक्षण लक्ष्मणको घायल कर दिया ॥ १९ ॥

स शरैरतिविद्धाङ्गो रुधिरेण समुक्षितः ।
शुशुभे लक्ष्मणः श्रीमान् विधूम इव पावकः ॥ २० ॥

बाणोंसे उनका शरीर अत्यन्त क्षत-विक्षत हो गया। वे रक्तसे नहा उठे। इस अवस्थामें श्रीमान् लक्ष्मण धूमरहित प्रज्वलित अग्निके समान शोभा पा रहे थे ॥ २० ॥

इन्द्रजित् त्वात्मनः कर्म प्रसमीक्ष्याभिगम्य च ।
विनद्य सुमहानादमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २१ ॥

इन्द्रजित् अपना यह पराक्रम देख लक्ष्मणके पास जा बड़े जोरसे गर्जना करके यों बोला— ॥ २१ ॥

पत्रिणः शितधारास्ते शरा मत्कार्मुकच्युताः ।
आदास्यन्तेऽद्य सौमित्रे जीवितं जीवितान्तकाः ॥ २२ ॥

'सुमित्राकुमार! मेरे धनुषसे छूटे हुए तेज धारवाले पंखधारी बाण शत्रुके जीवनका अन्त कर देनेवाले हैं। ये आज तुम्हारे प्राण लेकर ही रहेंगे ॥ २२ ॥

अद्य गोमायुसङ्घाश्च श्येनसङ्घाश्च लक्ष्मण ।
गृध्राश्च निपतन्तु त्वां गतासुं निहतं मया ॥ २३ ॥

'लक्ष्मण! आज मेरे द्वारा मारे जाकर जब तुम्हारे प्राण निकल जायँगे, तब तुम्हारी लाशपर झुंड-के-झुंड गीदड़, बाज और गीध टूट पड़ेंगे ॥ २३ ॥

क्षत्रबन्धुं सदानार्यं रामः परमदुर्मतिः ।
भक्तं भ्रातरमद्यैव त्वां द्रक्ष्यति हतं मया ॥ २४ ॥

'परम दुर्बुद्धि राम तुम-जैसे अनार्य, क्षत्रियाधम एवं अपने भक्त भाईको आज ही मेरेद्वारा मारा गया देखेंगे ॥ २४ ॥

विस्रस्तकवचं भूमौ व्यपविद्धशरासनम् ।
हतोत्तमाङ्गं सौमित्रे त्वामद्य निहतं मया ॥ २५ ॥

'सुमित्राकुमार! तुम्हारा कवच खिसककर पृथ्वीपर गिर जायगा, धनुष भी दूर जा पड़ेगा और तुम्हारा मस्तक भी धड़से अलग कर दिया जायगा। इस अवस्थामें राम आज मेरे हाथसे मारे गये तुमको देखेंगे' ॥ २५ ॥

इति ब्रुवाणं संक्रुद्धः परुषं रावणात्मजम् ।
हेतुमद् वाक्यमर्थज्ञो लक्ष्मणः प्रत्युवाच ह ॥ २६ ॥

इस तरह कठोर बातें कहते हुए रावणकुमार इन्द्रजित्‌से अपने प्रयोजनको जाननेवाले लक्ष्मणने कुपित होकर यह युक्तियुक्त उत्तर दिया— ॥ २६ ॥

वाग्बलं त्यज दुर्बुद्धे क्रूरकर्मन् हि राक्षस ।
अथ कस्माद् वदस्येतत् सम्पादय सुकर्मणा ॥ २७ ॥

'क्रूरकर्म करनेवाले दुर्बुद्धि राक्षस! बकवासका बल छोड़ दे। तू ये सब बातें कहता क्यों है? करके दिखा ॥ २७ ॥

अकृत्वा कत्थसे कर्म किमर्थमिह राक्षस ।
कुरु तत् कर्म येनाहं श्रद्दध्यां तव कत्थनम् ॥ २८ ॥

'निशाचर! जो काम अभी किया नहीं, उसके लिये यहाँ व्यर्थ डींग क्यों हाँकता है? तू जिसे कहता है, उस कार्यको पूरा कर, जिससे मुझे तेरी इस बढ़ा-चढ़ाकर कही हुई बातपर विश्वास हो ॥ २८ ॥

अनुक्त्वा परुषं वाक्यं किंचिदप्यनवक्षिपन् ।
अविकत्थन् वधिष्यामि त्वां पश्य पुरुषादन ॥ २९ ॥

'नरभक्षी राक्षस! तू देख लेना, मैं कोई कठोर बात न कहकर तेरे ऊपर किसी तरहका आक्षेप न करके आत्मप्रशंसा किये बिना ही तेरा वध करूँगा' ॥ २९ ॥

इत्युक्त्वा पञ्च नाराचानाकर्णापूरिताञ्शरान् ।
विजघान महावेगाल्लक्ष्मणो राक्षसोरसि ॥ ३० ॥

ऐसा कहकर लक्ष्मणने उस राक्षसकी छातीमें बड़े वेगसे पाँच नाराच मारे, जो धनुषको कानतक खींचकर छोड़े गये थे ॥ ३० ॥

सुपत्रवाजिता बाणा ज्वलिता इव पन्नगाः ।
नैर्ऋतोरस्यभासन्त सवितू रश्मयो यथा ॥ ३१ ॥

सुन्दर पंखोंके कारण अत्यन्त वेगसे जानेवाले और प्रज्वलित सर्पके समान दिखायी देनेवाले वे बाण उस राक्षसकी छातीपर सूर्यकी किरणोंके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ ३१ ॥

स शरैराहतस्तेन सरोषो रावणात्मजः ।
सुप्रयुक्तैस्त्रिभिर्बाणैः प्रतिविव्याध लक्ष्मणम् ॥ ३२ ॥

लक्ष्मणके बाणोंसे आहत होकर रावणकुमार रोषसे आगबबूला हो उठा। उसने अच्छी तरह चलाये हुए तीन बाणोंसे लक्ष्मणको भी घायल करके बदला चुकाया ॥ ३२ ॥

स बभूव महाभीमो नरराक्षससिंहयोः ।
विमर्दस्तुमुलो युद्धे परस्परजयैषिणोः ॥ ३३ ॥

एक ओर पुरुषसिंह लक्ष्मण थे तो दूसरी ओर राक्षससिंह इन्द्रजित्। दोनों युद्धस्थलमें एक-दूसरेपर विजय पाना चाहते थे। उन दोनोंका वह तुमुल संग्राम महाभयंकर था ॥ ३३ ॥

विक्रान्तौ बलसम्पन्नावुभौ विक्रमशालिनौ ।
उभौ परमदुर्जयावतुल्यबलतेजसौ ॥ ३४ ॥

वे दोनों वीर पराक्रमी, बलसम्पन्न, विक्रमशाली, परम दुर्जय तथा अनुपम बल और तेजसे युक्त होनेके कारण

अत्यन्त दुर्जय थे॥ ३४॥

युयुधाते तदा वीरौ ग्रहाविव नभोगतौ।
बलवृत्राविव हि तौ युधि वै दुष्प्रधर्षणौ॥ ३५॥

जैसे आकाशमें दो ग्रह टकरा गये हों, उसी तरह वे दोनों वीर परस्पर जूझ रहे थे। उस युद्धस्थलमें वे इन्द्र और वृत्रासुरके समान दुर्धर्ष जान पड़ते थे॥ ३५॥

युयुधाते महात्मानौ तदा केसरिणाविव।
बहूनवसृजन्तौ हि मार्गणौघानवस्थितौ।
नरराक्षसमुख्यौ तौ प्रहृष्टावभ्ययुध्यताम्॥ ३६॥

वे महामनस्वी नरश्रेष्ठ तथा राक्षसप्रवर वीर जैसे दो सिंह आपसमें लड़ रहे हों उसी प्रकार युद्ध करते थे और बहुत-से बाणोंकी वर्षा करते हुए युद्धभूमिमें डटे हुए थे। दोनों ही बड़े हर्ष और उत्साहके साथ एक-दूसरेका सामना करते थे॥ ३६॥

ततः शरान् दाशरथिः संधायामित्रकर्षणः।
ससर्ज राक्षसेन्द्राय क्रुद्धः सर्प इव श्वसन्॥ ३७॥

तदनन्तर दशरथनन्दन शत्रुसूदन लक्ष्मणने कुपित हुए सर्पकी भाँति लंबी साँस खींचते हुए अपने धनुषपर अनेक बाण रखे और उन सबको राक्षसराज इन्द्रजित्‌पर चलाया॥ ३७॥

तस्य ज्यातलनिर्घोषं स श्रुत्वा राक्षसाधिपः।
विवर्णवदनो भूत्वा लक्ष्मणं समुदैक्षत॥ ३८॥

उनके धनुषकी डोरीसे प्रकट होनेवाली टंकार-ध्वनि सुनकर राक्षसराज इन्द्रजित्‌का मुँह उदास हो गया और वह चुपचाप लक्ष्मणकी ओर देखने लगा॥ ३८॥

विवर्णवदनं दृष्ट्वा राक्षसं रावणात्मजम्।
सौमित्रिं युद्धसंयुक्तं प्रत्युवाच विभीषणः॥ ३९॥

रावणकुमार इन्द्रजित्‌का मुँह उदास देखकर विभीषणने युद्धमें लगे हुए सुमित्राकुमारसे कहा— ॥ ३९॥

निमित्तान्युप पश्यामि यान्यस्मिन् रावणात्मजे।
त्वर तेन महाबाहो भग्न एष न संशयः॥ ४०॥

'महाबाहो! इस समय रावणपुत्र इन्द्रजित्‌में मुझे जो लक्षण दिखायी दे रहे हैं, उनसे जान पड़ता है कि निःसंदेह इसका उत्साह भंग हो गया है; अतः आप इसके वधके लिये शीघ्रता करें'॥ ४०॥

ततः संधाय सौमित्रिः शरानाशीविषोपमान्।
मुमोच विशिखांस्तस्मिन् सर्पानिव विषोल्बणान्॥ ४१॥

तब सुमित्राकुमारने विषधर सर्पोंके समान भयंकर बाणोंको धनुषपर चढ़ाया और उन्हें इन्द्रजित्‌को लक्ष्य करके चला दिया। वे बाण क्या थे महाविषैले सर्प थे॥ ४१॥

शक्राशनिसमस्पर्शैर्लक्ष्मणेनाहतः शरैः।
मुहूर्तमभवन्मूढः सर्वसंक्षुभितेन्द्रियः॥ ४२॥

उन बाणोंका स्पर्श इन्द्रके वज्रकी भाँति दुःसह था। लक्ष्मणके चलाये हुए उन बाणोंकी चोट खाकर इन्द्रजित् दो घड़ीके लिये मूर्छित हो गया। उसकी सारी इन्द्रियाँ विक्षुब्ध हो उठीं॥ ४२॥

उपलभ्य मुहूर्तेन संज्ञां प्रत्यागतेन्द्रियः।
ददर्शावस्थितं वीरमाजौ दशरथात्मजम्।
सोऽभिचक्राम सौमित्रिं रोषात् संरक्तलोचनः॥ ४३॥

थोड़ी देरमें जब होश हुआ और इन्द्रियाँ सुस्थिर हुईं, तब उसने रणभूमिमें दशरथकुमार वीर लक्ष्मणको खड़ा देखा। देखते ही उसके नेत्र रोषसे लाल हो गये और वह सुमित्राकुमारके सामने गया॥ ४३॥

अब्रवीच्चैनमासाद्य पुनः स परुषं वचः।
किं न स्मरसि तद् युद्धे प्रथमे मत्पराक्रमम्।
निबद्धस्त्वं सह भ्रात्रा यदा युधि विचेष्टसे॥ ४४॥

वहाँ पहुँचकर वह उनसे कठोर वाणीमें बोला— 'सुमित्राकुमार! पहले युद्धमें मैंने जो पराक्रम दिखाया था, उसे क्या तुम भूल गये? उस दिन तुमको और तुम्हारे भाईको भी मैंने बाँध लिया था। उस समय तुम युद्धभूमिमें पड़े-पड़े छटपटा रहे थे॥ ४४॥

युवां खलु महायुद्धे वज्राशनिसमैः शरैः।
शायितौ प्रथमं भूमौ विसंज्ञौ सपुरःसरौ॥ ४५॥

'उस महायुद्धमें वज्र एवं अशनिके समान तेजस्वी बाणोंद्वारा मैंने तुम दोनों भाइयोंको पहले धरतीपर सुला दिया था। तुम दोनों अपने अग्रगामी सैनिकोंके साथ मूर्छित होकर पड़े थे॥ ४५॥

स्मृतिर्वा नास्ति ते मन्ये व्यक्तं वा यमसादनम्।
गन्तुमिच्छसि यन्मां त्वमाधर्षयितुमिच्छसि॥ ४६॥

'अथवा मालूम होता है कि तुम्हें उन सब बातोंकी याद नहीं आ रही है। यह स्पष्ट जान पड़ता है कि तुम यमलोकमें जाना चाहते हो। इसीलिये तुम मुझे पराजित करनेकी इच्छा रखते हो॥ ४६॥

यदि ते प्रथमे युद्धे न दृष्टो मत्पराक्रमः।
अद्य त्वां दर्शयिष्यामि तिष्ठेदानीं व्यवस्थितः॥ ४७॥

'यदि पहले युद्धमें तुमने मेरा पराक्रम नहीं देखा है तो आज तुम्हें दिखा दूँगा। इस समय सुस्थिरभावसे खड़े रहो'॥ ४७॥

इत्युक्त्वा सप्तभिर्बाणैरभिविव्याध लक्ष्मणम्।
दशभिस्तु हनूमन्तं तीक्ष्णधारैः शरोत्तमैः॥ ४८॥

ऐसा कहकर तीखी धारवाले सात बाणोंसे उसने लक्ष्मणको घायल कर दिया और दस उत्तम सायकोंद्वारा हनुमान्‌जीपर प्रहार किया॥ ४८॥

ततः शरशतेनैव सुप्रयुक्तेन वीर्यवान्।
क्रोधाद् द्विगुणसंरब्धो निर्बिभेद विभीषणम्॥ ४९॥

तत्पश्चात् दूने रोषसे भरे हुए उस पराक्रमी निशाचरने

अच्छी तरहसे छोड़े गये सौ बाणोंद्वारा विभीषणको क्रोधपूर्वक क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ४९ ॥

तद् दृष्ट्वेन्द्रजिता कर्म कृतं रामानुजस्तदा।
अचिन्तयित्वा प्रहसन्नैतत् किंचिदिति ब्रुवन्॥ ५०॥

इन्द्रजित्‌द्वारा किये गये इस पराक्रमको देखकर श्रीरामके छोटे भाई लक्ष्मणने उसकी कोई परवा नहीं की और हँसते-हँसते कहा—'यह तो कुछ नहीं है' ॥ ५० ॥

मुमोच च शरान् घोरान् संगृह्य नरपुंगवः।
अभीतवदनः क्रुद्धो रावणिं लक्ष्मणो युधि॥ ५१॥

साथ ही उन नरश्रेष्ठ लक्ष्मणने मुखपर भयकी छायातक नहीं आने दी। उन्होंने युद्धस्थलमें कुपित हो भयंकर बाण हाथमें लिये और उन्हें रावणकुमारको लक्ष्य करके चला दिया ॥ ५१ ॥

नैवं रणगताः शूराः प्रहरन्ति निशाचर।
लघवश्चाल्पवीर्याश्च शरा हीमे सुखास्तव॥ ५२॥

फिर वे बोले—'निशाचर! रणभूमिमें आये हुए शूरवीर इस तरह प्रहार नहीं करते। तुम्हारे ये बाण बहुत हल्के और कमजोर हैं। इनसे कष्ट नहीं होता—सुख ही मिलता है ॥ ५२ ॥

नैवं शूरास्तु युध्यन्ते समरे युद्धकाङ्क्षिणः।
इत्येवं तं ब्रुवन् धन्वी शरैरभिववर्ष ह॥ ५३॥

'युद्धकी इच्छा रखनेवाले शूरवीर समराङ्गणमें इस तरह युद्ध नहीं करते हैं।' ऐसा कहते हुए धनुर्धर वीर लक्ष्मणने उस राक्षसपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ५३ ॥

तस्य बाणैः सुविध्वस्तं कवचं काञ्चनं महत्।
व्यशीर्यत रथोपस्थे ताराजालमिवाम्बरात्॥ ५४॥

लक्ष्मणके बाणोंसे इन्द्रजित्‌का महान् कवच, जो सोनेका बना हुआ था, टूटकर रथकी बैठकमें बिखर गया, मानो आकाशसे ताराओंका समूह टूटकर गिर पड़ा हो ॥ ५४ ॥

विधूतवर्मा नाराचैर्बभूव स कृतव्रणः।
इन्द्रजित् समरे वीरः प्रत्यूषे भानुमानिव॥ ५५॥

कवच कट जानेपर नाराचोंके प्रहारसे वीर इन्द्रजित्‌के सारे अङ्गोंमें घाव हो गये। वह समराङ्गणमें रक्तसे रञ्जित हो प्रातःकालके सूर्यकी भाँति दिखायी देने लगा ॥ ५५ ॥

ततः शरसहस्रेण संक्रुद्धो रावणात्मजः।
बिभेद समरे वीरो लक्ष्मणं भीमविक्रमः॥ ५६॥

तब भयानक पराक्रमी वीर रावणकुमारने अत्यन्त कुपित हो समरभूमिमें लक्ष्मणको सहस्रों बाणोंसे घायल कर दिया ॥ ५६ ॥

व्यशीर्यत महद्दिव्यं कवचं लक्ष्मणस्य तु।
कृतप्रतिकृतान्योन्यं बभूवतुररिंदमौ॥ ५७॥

इससे लक्ष्मणका भी दिव्य एवं विशाल कवच छिन्न-भिन्न हो गया। वे दोनों शत्रुदमन वीर एक-दूसरेके प्रहारका जवाब देने लगे ॥ ५७ ॥

अभीक्ष्णं निःश्वसन्तौ तौ युध्येतां तुमुलं युधि।
शरसंकृत्तसर्वाङ्गौ सर्वतो रुधिरोक्षितौ॥ ५८॥

वे बारंबार हाँफते हुए भयानक युद्ध करने लगे। युद्धस्थलमें बाणोंके आघातसे दोनोंके सारे अङ्ग क्षत-विक्षत हो गये थे। अतः वे दोनों सब ओरसे लहूलुहान हो गये ॥ ५८ ॥

सुदीर्घकालं तौ वीरावन्योन्यं निशितैः शरैः।
ततक्षतुर्महात्मानौ रणकर्मविशारदौ।
बभूवतुश्चात्मजये यत्तौ भीमपराक्रमौ॥ ५९॥

दोनों वीर दीर्घकालतक एक-दूसरेपर पैने बाणोंका प्रहार करते रहे। दोनों ही महामनस्वी तथा युद्धकी कलामें निपुण थे। दोनों भयंकर पराक्रम प्रकट करते थे और अपनी-अपनी विजयके लिये प्रयत्नशील थे ॥ ५९ ॥

तौ शरौघैस्तथाकीर्णौ निकृत्तकवचध्वजौ।
सृजन्तौ रुधिरं चोष्णं जलं प्रस्रवणाविव॥ ६०॥

दोनोंके शरीर बाण-समूहोंसे व्याप्त थे। दोनोंके ही कवच और ध्वज कट गये थे। जैसे दो झरने जल बहा रहे हों, उसी तरह वे दोनों अपने शरीरसे गरम-गरम रक्त बहा रहे थे ॥ ६० ॥

शरवर्षं ततो घोरं मुञ्चतोर्भीमनिःस्वनम्।
सासारयोरिवाकाशे नीलयोः कालमेघयोः॥ ६१॥

दोनों ही भयंकर गर्जनाके साथ बाणोंकी घोर वर्षा कर रहे थे, मानो प्रलयकालके दो नील मेघ आकाशमें जलकी धारा बरसा रहे हों ॥ ६१ ॥

तयोरथ महान् कालो व्यतीयाद् युध्यमानयोः।
न च तौ युद्धवैमुख्यं क्लमं चाप्युपजग्मतुः॥ ६२॥

वहाँ जूझते हुए उन दोनों वीरोंका बहुत अधिक समय व्यतीत हो गया; परंतु वे दोनों न तो युद्धसे विमुख हुए और न उन्हें थकावट ही हुई ॥ ६२ ॥

अस्त्राण्यस्त्रविदां श्रेष्ठौ दर्शयन्तौ पुनः पुनः।
शरानुच्चावचाकारानन्तरिक्षे बबन्धतुः॥ ६३॥

दोनों ही अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ थे और बारंबार अपने अस्त्रोंका प्रदर्शन करते थे। उन्होंने आकाशमें छोटे-बड़े बाणोंका जाल-सा बाँध दिया ॥ ६३ ॥

व्यपेतदोषमस्यन्तौ लघु चित्रं च सुष्ठु च।
उभौ तु तुमुलं घोरं चक्रतुर्नरराक्षसौ॥ ६४॥

वे मनुष्य और राक्षस—दोनों वीर बड़ी फुर्तीके साथ अद्भुत और सुन्दर ढंगसे बाणोंका प्रहार करते थे। उनके बाण चलानेकी कलामें कोई दोष नहीं दिखायी देता था। वे दोनों घोर घमासान युद्ध कर रहे थे ॥ ६४ ॥

तयोः पृथक् पृथग् भीमः शुश्रुवे तलनिस्वनः ।
न कम्पं जनयामास निर्घात इव दारुणः ॥ ६५ ॥

बाण चलाते समय उन दोनोंकी हथेली और प्रत्यञ्चाका भयंकर एवं तुमुल नाद पृथक्-पृथक् सुनायी देता था, जो भयंकर वज्रपातकी आवाजके समान श्रोताओंके हृदयमें कम्प उत्पन्न कर देता था ॥ ६५ ॥

तयोः स भ्राजते शब्दस्तथा समरमत्तयोः ।
सुघोरयोर्निष्टनतोर्गगने मेघयोरिव ॥ ६६ ॥

उन दोनों रणोन्मत्त वीरोंका वह शब्द आकाशमें परस्पर टकराते हुए दो महाभयंकर मेघोंकी गड़गड़ाहटके समान सुशोभित होता था ॥ ६६ ॥

सुवर्णपुङ्खैर्नाराचैर्बलवन्तौ कृतव्रणौ ।
प्रसुस्रुवाते रुधिरं कीर्तिमन्तौ जये धृतौ ॥ ६७ ॥

वे दोनों बलवान् योद्धा सोनेके पंखवाले नाराचोंसे घायल हो शरीरसे खून बहा रहे थे। दोनों ही यशस्वी थे और अपनी-अपनी विजयके लिये प्रयत्न कर रहे थे ॥ ६७ ॥

ते गात्रयोर्निपतिता रुक्मपुङ्खाः शरा युधि ।
असृग्दिग्धा विनिष्पेतुर्विविशुर्धरणीतलम् ॥ ६८ ॥

युद्धमें उन दोनोंके चलाये हुए सुवर्णमय पंखवाले बाण एक-दूसरेके शरीरपर पड़ते, रक्तसे भीगकर निकलते और धरतीमें समा जाते थे ॥ ६८ ॥

अन्ये सुनिशितैः शस्त्रैराकाशे संजघट्टिरे ।
बभञ्जुश्चिच्छिदुश्चैव तयोर्बाणाः सहस्रशः ॥ ६९ ॥

उनके हजारों बाण आकाशमें तीखे शस्त्रोंसे टकराते और उन्हें तोड़कर टुकड़े-टुकड़े कर डालते थे ॥ ६९ ॥

स बभूव रणो घोरस्तयोर्बाणमयश्चयः ।
अग्निभ्यामिव दीप्ताभ्यां सत्रे कुशमयश्च यः ॥ ७० ॥

वह बड़ा भयंकर युद्ध हो रहा था। उसमें उन दोनोंके बाणोंका समूह यज्ञमें गार्हपत्य और आहवनीय नामक दो प्रज्वलित अग्नियोंके साथ बिछे हुए कुशोंके ढेरको भाँति जान पड़ता था ॥ ७० ॥

तयोः कृतव्रणौ देहौ शुशुभाते महात्मनोः ।
सुपुष्पाविव निष्पत्रौ वने किंशुकशाल्मली ॥ ७१ ॥

उन दोनों महामनस्वी वीरोंके क्षत-विक्षत शरीर वनमें पत्रहीन एवं लाल पुष्पोंसे भरे हुए पलाश और सेमलके वृक्षोंके समान सुशोभित होते थे ॥ ७१ ॥

चक्रतुस्तुमुलं घोरं संनिपातं मुहुर्मुहुः ।
इन्द्रजिल्लक्ष्मणश्चैव परस्परजयैषिणौ ॥ ७२ ॥

एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छावाले इन्द्रजित् और लक्ष्मण रह-रहकर बारंबार भयंकर मार-काट मचाते थे ॥ ७२ ॥

लक्ष्मणो रावणिं युद्धे रावणिश्चापि लक्ष्मणम् ।
अन्योन्यं तावभिघ्नन्तौ न श्रमं प्रतिपद्यताम् ॥ ७३ ॥

लक्ष्मण रणभूमिमें रावणकुमारपर चोट करते थे और रावणकुमार लक्ष्मणपर। इस तरह एक-दूसरेपर प्रहार करते हुए वे वीर थकते नहीं थे ॥ ७३ ॥

बाणजालैः शरीरस्थैरवगाढैस्तरस्विनौ ।
शुशुभाते महावीर्यौ प्ररूढाविव पर्वतौ ॥ ७४ ॥

उन दोनों वेगशाली वीरोंके शरीरमें बाणोंके समूह धँस गये थे, इसलिये वे दोनों महापराक्रमी योद्धा जिनपर बहुत-से वृक्ष उग आये हों, उन दो पर्वतोंके समान शोभा पाते थे ॥ ७४ ॥

तयो रुधिरसिक्तानि संवृतानि शरैर्भृशम् ।
बभ्राजुः सर्वगात्राणि ज्वलन्त इव पावकाः ॥ ७५ ॥

बाणोंसे ढके और खूनसे भीगे हुए उन दोनोंके सारे अङ्ग जलती हुई आगके समान उद्दीप्त हो रहे थे ॥ ७५ ॥

तयोरथ महान् कालो व्यतीयाद् युध्यमानयोः ।
न च तौ युद्धवैमुख्यं श्रमं चाप्यभिजग्मतुः ॥ ७६ ॥

इस तरह युद्ध करते-करते उन दोनोंका बहुत समय व्यतीत हो गया; परंतु वे दोनों न तो युद्धसे विमुख हुए और न उन्हें थकावट ही हुई ॥ ७६ ॥

अथ समरपरिश्रमं निहन्तुं
समरमुखेष्वजितस्य लक्ष्मणस्य ।
प्रियहितमुपपादयन् महात्मा
समरमुपेत्य विभीषणोऽवतस्थे ॥ ७७ ॥

युद्धके मुहानेपर पराजित न होनेवाले लक्ष्मणके युद्धजनित श्रमका निवारण तथा उनके प्रिय एवं हितका सम्पादन करनेके लिये महात्मा विभीषण युद्धभूमिमें आकर खड़े हो गये ॥ ७७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डेऽष्टाशीतितमः सर्गः ॥ ८८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें अट्ठासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८८ ॥

—★—

एकोननवतितमः सर्गः

विभीषणका राक्षसोंपर प्रहार, उनका वानरयूथपतियोंको प्रोत्साहन देना, लक्ष्मणद्वारा इन्द्रजित्के सारथिका और वानरोंद्वारा उसके घोड़ोंका वध

युध्यमानौ ततो दृष्ट्वा प्रसक्तौ नरराक्षसौ।
प्रभिन्नाविव मातङ्गौ परस्परजयैषिणौ ॥ १ ॥
तयोर्युद्धं द्रष्टुकामो वरचापधरो बली।
शूरः स रावणभ्राता तस्थौ संग्राममूर्धनि ॥ २ ॥

लक्ष्मण और इन्द्रजित्को दो मदमत्त हाथियोंकी भाँति परस्पर विजय पानेकी इच्छासे युद्धासक्त होकर जूझते देख उन दोनोंके युद्धको देखनेकी इच्छासे रावणके बलवान् भाई शूरवीर विभीषण सुन्दर धनुष धारण किये उस युद्धके मुहानेपर आकर खड़े हो गये ॥ १-२ ॥

ततो विस्फारयामास महद् धनुरवस्थितः।
उत्ससर्ज च तीक्ष्णाग्रान् राक्षसेषु महाशरान् ॥ ३ ॥

वहाँ खड़े होकर उन्होंने अपने विशाल धनुषको खींचा और राक्षसोंपर तेज धारवाले बड़े-बड़े बाणोंकी बरसाना आरम्भ किया ॥ ३ ॥

ते शराः शिखिसंस्पर्शा निपतन्तः समाहिताः।
राक्षसान् द्रावयामासुर्वज्राणीव महागिरीन् ॥ ४ ॥

जैसे वज्र नामक अस्त्र बड़े-बड़े पर्वतोंको विदीर्ण कर देते हैं, उसी प्रकार विभीषणके चलाये हुए वे बाण, जिनका स्पर्श आगके समान जलानेवाला था, राक्षसोंपर गिरकर उनके अङ्गोंको चीरने लगे ॥ ४ ॥

विभीषणस्यानुचरास्तेऽपि शूलासिपट्टिशैः।
चिच्छिदुः समरे वीरान् राक्षसान् राक्षसोत्तमाः ॥ ५ ॥

विभीषणके अनुचर भी राक्षसोंमें श्रेष्ठ वीर थे; अतः वे भी समराङ्गणमें शूल, खड्ग और पट्टिशोंद्वारा वीर राक्षसोंका संहार करने लगे ॥ ५ ॥

राक्षसैस्तैः परिवृतः स तदा तु विभीषणः।
बभौ मध्ये प्रधृष्टानां कलभानामिव द्विपः ॥ ६ ॥

उन चारों राक्षसोंसे घिरे हुए विभीषण धृष्ट गजशावकोंके बीचमें खड़े हुए गजराजकी भाँति शोभा पाते थे ॥ ६ ॥

ततः संचोदमानो वै हरीन् रक्षोवधप्रियान्।
उवाच वचनं काले कालज्ञो रक्षसां वरः ॥ ७ ॥

राक्षसोंमें श्रेष्ठ विभीषण समयोचित कर्तव्यको जानते थे, इसलिये उन्होंने वानरोंको, जिन्हें राक्षसोंका वध करना प्रिय था, युद्धके लिये प्रेरित करते हुए यह समयके अनुरूप बात कही— ॥ ७ ॥

एकोऽयं राक्षसेन्द्रस्य परायणमवस्थितः।
एतच्छेषं बलं तस्य किं तिष्ठत हरीश्वराः ॥ ८ ॥

'वानरेश्वरो ! अब खड़े-खड़े क्या देखते हो ? राक्षसराज रावणका यह एकमात्र सहारा है, जो तुम्हारे सामने खड़ा है। रावणकी सेनाका इतना ही भाग अब शेष रह गया है ॥ ८ ॥

अस्मिंश्च निहते पापे राक्षसे रणमूर्धनि।
रावणं वर्जयित्वा तु शेषमस्य बलं हतम् ॥ ९ ॥

'इस युद्धके मुहानेपर इस पापी राक्षस इन्द्रजित्के मारे जानेपर रावणको छोड़कर उसकी सारी सेनाको मरी हुई ही समझो ॥ ९ ॥

प्रहस्तो निहतो वीरो निकुम्भश्च महाबलः।
कुम्भकर्णश्च कुम्भश्च धूम्राक्षश्च निशाचरः ॥ १० ॥

'वीर प्रहस्त मारा गया, महाबली निकुम्भ, कुम्भकर्ण, कुम्भ तथा निशाचर धूम्राक्ष भी कालके गालमें चले गये ॥ १० ॥

जम्बुमाली महामाली तीक्ष्णवेगोऽशनिप्रभः।
सुप्तघ्नो यज्ञकोपश्च वज्रदंष्ट्रश्च राक्षसः ॥ ११ ॥
संह्रादी विकटोऽरिघ्नस्तपनो मन्द एव च।
प्रघासः प्रघसश्चैव प्रजङ्घो जङ्घ एव च ॥ १२ ॥
अग्निकेतुश्च दुर्धर्षो रश्मिकेतुश्च वीर्यवान्।
विद्युज्जिह्वो द्विजिह्वश्च सूर्यशत्रुश्च राक्षसः ॥ १३ ॥
अकम्पनः सुपार्श्वश्च चक्रमाली च राक्षसः।
कम्पनः सत्त्ववन्तौ तौ देवान्तकनरान्तकौ ॥ १४ ॥

'जम्बुमाली, महामाली, तीक्ष्णवेग, अशनिप्रभ, सुप्तघ्न, यज्ञकोप, राक्षस वज्रदंष्ट्र, संह्रादी, विकट, अरिघ्न, तपन, मन्द, प्रघास, प्रघस, प्रजङ्घ, जङ्घ, दुर्जय अग्निकेतु, पराक्रमी रश्मिकेतु, विद्युज्जिह्व, द्विजिह्व, राक्षस सूर्यशत्रु, अकम्पन, सुपार्श्व, निशाचर चक्रमाली, कम्पन तथा वे दोनों शक्तिशाली वीर देवान्तक और नरान्तक—ये सभी मारे जा चुके हैं ॥ ११—१४ ॥

एतान् निहत्यातिबलान् बहून् राक्षससत्तमान्।
बाहुभ्यां सागरं तीर्त्वा लङ्घ्यतां गोष्पदं लघु ॥ १५ ॥

'इन अत्यन्त बलशाली बहुसंख्यक राक्षसशिरोमणियोंका वध करके तुमलोगोंने हाथोंसे तैरकर समुद्र पार कर लिया है। अब गायकी खुरीके बराबर यह छोटा-सा राक्षस बचा हुआ है। अतः इसे भी शीघ्र ही लाँघ जाओ ॥ १५ ॥

एतावदेव शेषं वो जेतव्यमिति वानराः।
हताः सर्वे समागम्य राक्षसा बलदर्पिताः ॥ १६ ॥

'वानरो ! इतनी ही राक्षससेना और शेष रह गयी है, जिसे तुम्हें जीतना है। अपने बलपर घमंड करनेवाले प्रायः सभी राक्षस तुमसे भिड़कर मारे जा चुके हैं ॥ १६ ॥

अयुक्तं निधनं कर्तुं पुत्रस्य जनितुर्मम।
घृणामपास्य रामार्थे निहन्यां भ्रातुरात्मजम् ॥ १७ ॥

'मैं इसके बापका भाई हूँ। इस नाते यह मेरा पुत्र है। अतः मेरे लिये इसका वध करना अनुचित है, तथापि श्रीरामचन्द्रजीके लिये दयाको तिलाञ्जलि दे मैं अपने इस भतीजेको मारनेके लिये उद्यत हूँ॥ १७॥

हन्तुकामस्य मे बाष्पं चक्षुश्चैव निरुध्यति।
तमेवैष महाबाहुर्लक्ष्मणः शमयिष्यति॥ १८॥

'जब मैं स्वयं मारनेके लिये इसपर हथियार चलाना चाहता हूँ, उस समय आँसू मेरी दृष्टि बंद कर देते हैं; अतः ये महाबाहु लक्ष्मण ही इसका विनाश करेंगे॥ १८॥

वानरा घ्नत सम्भूय भृत्यानस्य समीपगान्।
इति तेनातियशसा राक्षसेनाभिचोदिताः॥ १९॥
वानरेन्द्रा जहृषिरे लाङ्गूलानि च विव्यधुः।

'वानरो! तुमलोग झुंड बनाकर इसके समीपवर्ती सेवकों-पर टूट पड़ो और उन्हें मार डालो।' इस प्रकार अत्यन्त यशस्वी राक्षस विभीषणके प्रेरित करनेपर वानरयूथपति हर्ष और उत्साहसे भर गये तथा अपनी पूँछ पटकने लगे॥ १९½॥

ततस्तु कपिशार्दूलाः क्ष्वेडन्तश्च पुनः पुनः।
मुमुचुर्विविधान् नादान् मेघान् दृष्ट्वेव बर्हिणः॥ २०॥

फिर वे सिंहके समान पराक्रमी वानर बारंबार गर्जते हुए उसी तरह नाना प्रकारके शब्द करने लगे, जैसे बादलोंको देखकर मोर अपनी बोली बोलने लगते हैं॥ २०॥

जाम्बवानपि तैः सर्वैः स्वयूथ्यैरभिसंवृतः।
तेऽश्मभिस्ताडयामासुर्नखैर्दन्तैश्च राक्षसान्॥ २१॥

अपने यूथवाले समस्त भालुओंसे घिरे हुए जाम्बवान् तथा वे वानर पत्थरों, नखों और दाँतोंसे वहाँ राक्षसोंको पीटने लगे॥ २१॥

निघ्नन्तमृक्षाधिपतिं राक्षसास्ते महाबलाः।
परिवव्रुर्भयं त्यक्त्वा तमनेकविधायुधाः॥ २२॥

अपने ऊपर प्रहार करते हुए ऋक्षराज जाम्बवान्‌को उन महाबली राक्षसोंने भय छोड़कर चारों ओरसे घेर लिया। उनके हाथमें अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्र थे॥ २२॥

शरैः परशुभिस्तीक्ष्णैः पट्टिशैर्यष्टितोमरैः।
जाम्बवन्तं मृधे जघ्नुर्निघ्नन्तं राक्षसीं चमूम्॥ २३॥

वे राक्षस सेनाका संहार करनेवाले जाम्बवान्‌पर युद्धस्थलमें बाणों, तीखे फरसों, पट्टिशों, डंडों और तोमरोंद्वारा प्रहार करने लगे॥ २३॥

स सम्प्रहारस्तुमुलः संजज्ञे कपिरक्षसाम्।
देवासुराणां क्रुद्धानां यथा भीमो महास्वनः॥ २४॥

वानरों और राक्षसोंका वह महायुद्ध क्रोधसे भरे हुए देवताओं और असुरोंके संग्रामकी भाँति बड़ा भयंकर हो चला। उसमें बड़े जोर-जोरसे भयानक कोलाहल होने लगा॥ २४॥

हनूमानपि संक्रुद्धः सालमुत्पाट्य पर्वतात्।
स लक्ष्मणं स्वयं पृष्ठादवरोप्य महामनाः॥ २५॥
रक्षसां कदनं चक्रे दुरासादः सहस्रशः।

उस समय महामनस्वी हनुमान्‌जीने लक्ष्मणको अपनी पीठसे उतार दिया और स्वयं भी अत्यन्त कुपित हो पर्वतशिखरसे एक सालवृक्ष उखाड़कर सहस्रों राक्षसोंका संहार करने लगे। शत्रुओंके लिये उन्हें परास्त करना बहुत ही कठिन था॥ २५½॥

स दत्त्वा तुमुलं युद्धं पितृव्यस्येन्द्रजिद् बली॥ २६॥
लक्ष्मणं परवीरघ्नः पुनरेवाभ्यधावत।

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले बलवान् इन्द्रजित्‌ने अपने चाचाको भी घोर युद्धका अवसर देकर पुनः लक्ष्मणपर धावा किया॥ २६½॥

तौ प्रयुद्धौ तदा वीरौ मृधे लक्ष्मणराक्षसौ॥ २७॥
शरौघानभिवर्षन्तौ जघ्नतुस्तौ परस्परम्।

लक्ष्मण और इन्द्रजित् दोनों वीर उस समय रणभूमिमें बड़े वेगसे जूझने लगे। वे दोनों बाणसमूहोंकी वर्षा करते हुए एक-दूसरेको चोट पहुँचाने लगे॥ २७½॥

अभीक्ष्णमन्तर्दधतुः शरजालैर्महाबलौ॥ २८॥
चन्द्रादित्याविवोष्णान्ते यथा मेघैस्तरस्विनौ।

वे महाबली वीर बाणोंका जाल-सा बिछाकर बारंबार एक-दूसरेको ढक देते थे। ठीक उसी तरह, जैसे वर्षाकालमें वेगशाली चन्द्रमा और सूर्य बादलोंसे आच्छादित हो जाया करते हैं॥ २८½॥

नह्यादानं न संधानं धनुषो वा परिग्रहः॥ २९॥
न विप्रमोक्षो बाणानां न विकर्षो न विग्रहः।
न मुष्टिप्रतिसंधानं न लक्ष्यप्रतिपादनम्॥ ३०॥
अदृश्यत तयोस्तत्र युध्यतोः पाणिलाघवात्।

युद्धमें लगे हुए उन दोनों वीरोंके हाथोंमें इतनी फुर्ती थी कि तरकससे बाणोंका निकालना, उनको धनुषपर रखना, धनुषको इस हाथसे उस हाथमें लेना, उसे मुट्ठीमें दृढ़तापूर्वक पकड़ना, कानतक खींचना, बाणोंका विभाग करना, उन्हें छोड़ना और लक्ष्य वेधना आदि कुछ भी दिखायी नहीं पड़ता था॥ २९-३०½॥

चापवेगप्रयुक्तैश्च बाणजालैः समन्ततः॥ ३१॥
अन्तरिक्षेऽभिसम्पन्ने न रूपाणि चकाशिरे।

धनुषके वेगसे छोड़े गये बाणसमूहोंद्वारा आकाश सब ओरसे ढक गया। अतः उसमें साकार वस्तुओंका दीखना बंद हो गया॥ ३१½॥

लक्ष्मणो रावणिं प्राप्य रावणिश्चापि लक्ष्मणम्॥ ३२॥
अव्यवस्था भवत्युग्रा ताभ्यामन्योन्यविग्रहे।

लक्ष्मण रावणकुमारके पास पहुँचकर और रावणकुमार लक्ष्मणके निकट जाकर दोनों परस्पर जूझने लगे। इस प्रकार

युद्ध करते हुए जब वे एक-दूसरेपर प्रहार करने लगते, तब भयंकर अव्यवस्था पैदा हो जाती थी। क्षण-क्षणमें यह निश्चय करना कठिन हो जाता था कि अमुककी विजय या पराजय होगी ॥३२½॥

ताभ्यामुभाभ्यां तरसा प्रसृष्टैर्विशिखैः शितैः ॥ ३३ ॥
निरन्तरमिवाकाशं बभूव तमसा वृतम्।

उन दोनोंके द्वारा वेगपूर्वक छोड़े गये तीखे बाणोंसे आकाश ठसाठस भर गया और वहाँ अँधेरा छा गया ॥३३½॥

तैः पतद्भिश्च बहुभिस्तयोः शरशतैः शितैः ॥ ३४ ॥
दिशश्च प्रदिशश्चैव बभूवुः शरसंकुलाः।

वहाँ गिरते हुए बहुसंख्यक अस्त्रों और सैकड़ों तीखे सायकोंसे सम्पूर्ण दिशाएँ और विदिशाएँ भी व्याप्त हो गयीं ॥३४½॥

तमसा विहितं सर्वमासीत् प्रतिभयं महत् ॥ ३५ ॥
अस्तं गते सहस्रांशौ संवृते तमसा च वै।
रुधिरौघा महानद्यः प्रावर्तन्त सहस्रशः ॥ ३६ ॥

अतः सब कुछ अन्धकारसे आच्छन्न हो गया और बड़ा भयानक दृश्य दिखायी देने लगा। सूर्य अस्त हो गये, सब ओर अँधेरा फैल गया और रक्तके प्रवाहसे पूर्ण सहस्रों बड़ी-बड़ी नदियाँ बह चलीं ॥ ३५-३६ ॥

क्रव्यादा दारुणा वाग्भिश्चिक्षिपुर्भीमनिःस्वनान्।
न तदानीं ववौ वायुर्न च जज्वाल पावकः ॥ ३७ ॥

मांसभक्षी भयंकर जन्तु अपनी वाणीद्वारा भयानक शब्द प्रकट करने लगे। उस समय न तो वायु चलती थी और न आग ही प्रज्वलित होती थी ॥ ३७ ॥

स्वस्त्यस्तु लोकेभ्य इति जजल्पुस्ते महर्षयः।
सम्पेतुश्चात्र संतप्ता गन्धर्वाः सह चारणैः ॥ ३८ ॥

महर्षिगण बोल उठे—'संसारका कल्याण हो।' उस समय गन्धर्वोंको बड़ा संताप हुआ। वे चारणोंके साथ वहाँसे भाग चले ॥ ३८ ॥

अथ राक्षससिंहस्य कृष्णान् कनकभूषणान्।
शरैश्चतुर्भिः सौमित्रिर्विव्याध चतुरो हयान् ॥ ३९ ॥

तदनन्तर लक्ष्मणने चार बाण मारकर उस राक्षससिंहके सोनेके आभूषणोंसे सजे हुए काले रंगके चारों घोड़ोंको बींध दिया ॥ ३९ ॥

ततोऽपरेण भल्लेन पीतेन निशितेन च।
सम्पूर्णायतमुक्तेन सुपत्रेण सुवर्चसा ॥ ४० ॥
महेन्द्राशनिकल्पेन सूतस्य विचरिष्यतः।
स तेन बाणाशनिना तलशब्दानुनादिना ॥ ४१ ॥
लाघवाद् राघवः श्रीमाञ्शिरः कायादपाहरत्।

तत्पश्चात् रघुकुलनन्दन श्रीमान् लक्ष्मणने दूसरे तीखे, पानीदार सुन्दर पंखवाले और चमकीले भल्लसे जो इन्द्रके वज्रकी समानता करता था तथा जिसे कानतक खींचकर छोड़ा गया था, रणभूमिमें विचरते हुए इन्द्रजित्‌के सारथिका मस्तक शीघ्रतापूर्वक धड़से अलग कर दिया। वह वज्रोपम बाण छूटनेके साथ ही हथेलीके शब्दसे अनुनादित हो सनसनाता हुआ आगे बढ़ा था ॥४०-४१½॥

स यन्तरि महातेजा हते मन्दोदरीसुतः ॥ ४२ ॥
स्वयं सारथ्यमकरोत् पुनश्च धनुरस्पृशत्।
तदद्भुतमभूत् तत्र सारथ्यं पश्यतां युधि ॥ ४३ ॥

सारथिके मारे जानेपर महातेजस्वी मन्दोदरीकुमार इन्द्रजित् स्वयं ही सारथिका भी काम सँभालता—घोड़ोंको भी काबूमें रखता और फिर धनुषको भी चलाता था। युद्धस्थलमें उसके द्वारा वहाँ सारथिके कार्यका भी सम्पादन होना दर्शकोंकी दृष्टिमें बड़ी अद्भुत बात थी ॥ ४२-४३ ॥

हयेषु व्यग्रहस्तं तं विव्याध निशितैः शरैः।
धनुष्यथ पुनर्व्यग्रं हयेषु मुमुचे शरान् ॥ ४४ ॥

इन्द्रजित् जब घोड़ोंको रोकनेके लिये हाथ बढ़ाता, तब लक्ष्मण उसे तीखे बाणोंसे बेधने लगते और जब वह युद्धके लिये धनुष उठाता, तब उसके घोड़ोंपर बाणोंका प्रहार करते थे ॥ ४४ ॥

छिद्रेषु तेषु बाणौघैर्विचरन्तमभीतवत्।
अर्दयामास समरे सौमित्रिः शीघ्रकृत्तमः ॥ ४५ ॥

उन छिद्रों (बाण-प्रहारके अवसरों) में शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले सुमित्राकुमार लक्ष्मणने समराङ्गणमें निर्भयसे विचरते हुए इन्द्रजित्‌को अपने बाण-समूहोंद्वारा अत्यन्त पीड़ित कर दिया ॥ ४५ ॥

निहतं सारथिं दृष्ट्वा समरे रावणात्मजः।
प्रजहौ समरोद्धर्षं विषण्णः स बभूव ह ॥ ४६ ॥

समरभूमिमें सारथिको मारा गया देख रावणकुमारने युद्धविषयक उत्साह त्याग दिया। वह विषादमें डूब गया ॥ ४६ ॥

विषण्णवदनं दृष्ट्वा राक्षसं हरियूथपाः।
ततः परमसंहृष्टा लक्ष्मणं चाभ्यपूजयन् ॥ ४७ ॥

उस राक्षसके मुखपर विषाद छाया हुआ देख वे वानर-यूथपति बड़े प्रसन्न हुए और लक्ष्मणकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ ४७ ॥

ततः प्रमाथी रभसः शरभो गन्धमादनः।
अमृष्यमाणाश्चत्वारश्चक्रुर्वेगं हरीश्वराः ॥ ४८ ॥

तत्पश्चात् प्रमाथी, शरभ, रभस और गन्धमादन—इन चार वानरेश्वरोंने अमर्षसे भरकर अपना महान् वेग प्रकट किया ॥ ४८ ॥

ते चास्य हयमुख्येषु तूर्णमुत्पत्य वानराः।
चतुर्षु सुमहावीर्या निपेतुर्भीमविक्रमाः ॥ ४९ ॥

वे चारों वानर महान् बलशाली और भयंकर पराक्रमी

थे। वे सहसा उछलकर इन्द्रजित्‌के चारों घोड़ोंपर कूद पड़े ॥ ४९ ॥

तेषामधिष्ठितानां तैर्वानरैः पर्वतोपमैः ।
मुखेभ्यो रुधिरं व्यक्तं हयानां समवर्तत ॥ ५० ॥

उन पर्वताकार वानरोंके भारसे दब जानेके कारण उन घोड़ोंके मुखोंसे खून निकलने लगा ॥ ५० ॥

ते हया मथिता भग्ना व्यसवो धरणीं गताः ।
ते निहत्य हयांस्तस्य प्रमथ्य च महारथम् ।
पुनरुत्पत्य वेगेन तस्थुर्लक्ष्मणपार्श्वतः ॥ ५१ ॥

उनसे रौंदे जानेके कारण घोड़ोंके अङ्ग-भङ्ग हो गये और वे प्राणहीन होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। इस प्रकार घोड़ोंको जान ले इन्द्रजित्‌के विशाल रथको भी तोड़-फोड़कर वे चारों वानर पुनः वेगसे उछले और लक्ष्मणके पास आकर खड़े हो गये ॥ ५१ ॥

स हताश्वादवप्लुत्य रथान्मथितसारथिः ।
शरवर्षेण सौमित्रिमभ्यधावत रावणिः ॥ ५२ ॥

सारथि तो पहले ही मारा गया था। जब घोड़े भी मार डाले गये, तब रावणकुमार रथसे कूद पड़ा और बाणोंकी वर्षा करता हुआ सुमित्राकुमारकी ओर बढ़ा ॥ ५२ ॥

ततो महेन्द्रप्रतिमः स लक्ष्मणः
पदातिनं तं निहतैर्हयोत्तमैः ।
सृजन्तमाजौ निशिताञ्छरोत्तमान्
भृशं तदा बाणगणैर्व्यदारयत् ॥ ५३ ॥

उस समय इन्द्रके समान पराक्रमी लक्ष्मणने श्रेष्ठ घोड़ोंके मारे जानेसे पैदल चलकर युद्धमें तीखे उत्तम बाणोंकी वर्षा करते हुए इन्द्रजित्‌को अपने बाणसमूहोंकी मारसे अत्यन्त घायल कर दिया ॥ ५३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे एकोननवतितमः सर्गः ॥ ८९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें नवासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८९ ॥

—★—

नवतितमः सर्गः

इन्द्रजित् और लक्ष्मणका भयंकर युद्ध तथा इन्द्रजित्‌का वध

स हताश्वो महातेजा भूमौ तिष्ठन् निशाचरः ।
इन्द्रजित् परमक्रुद्धः सम्प्रजज्वाल तेजसा ॥ १ ॥

घोड़ोंके मारे जानेपर पृथ्वीपर खड़े हुए महातेजस्वी निशाचर इन्द्रजित्‌का क्रोध बहुत बढ़ गया। वह तेजसे प्रज्वलित-सा हो उठा ॥ १ ॥

तौ धन्विनौ जिघांसन्तावन्योन्यमिषुभिर्भृशम् ।
विजयेनाभिनिष्क्रान्तौ वने गजवृषाविव ॥ २ ॥

इन्द्रजित् और लक्ष्मण दोनोंके हाथमें धनुष थे। दोनों ही अपनी-अपनी विजयके लिये एक-दूसरेके सम्मुख युद्धमें प्रवृत्त हुए थे। वे अपने बाणोंद्वारा परस्पर वधकी इच्छा रखकर वनमें लड़नेके लिये निकले हुए दो गजराजोंके समान एक-दूसरेपर गहरी चोट करने लगे ॥ २ ॥

निबर्हयन्तश्चान्योन्यं ते राक्षसवनौकसः ।
भर्तारं न जहुर्युद्धे सम्पतन्तस्ततस्ततः ॥ ३ ॥

वानर और राक्षस भी परस्पर संहार करते हुए इधर-उधर दौड़ते रहे; परंतु अपने-अपने स्वामीका साथ न छोड़ सके ॥ ३ ॥

ततस्तान् राक्षसान् सर्वान् हर्षयन् रावणात्मजः ।
स्तुवानो हर्षमाणश्च इदं वचनमब्रवीत् ॥ ४ ॥

तदनन्तर रावणकुमारने प्रसन्न हो प्रशंसा करके राक्षसोंका हर्ष बढ़ाते हुए कहा— ॥ ४ ॥

तमसा बहुलेनेमाः संसक्ताः सर्वतो दिशः ।
नेह विज्ञायते स्वो वा परो वा राक्षसोत्तमाः ॥ ५ ॥

'श्रेष्ठ निशाचरो! चारों दिशाओंमें अन्धकार छा रहा है, अतः यहाँ अपने या परायेकी पहचान नहीं हो रही है ॥ ५ ॥

धृष्टं भवन्तो युध्यन्तु हरीणां मोहनाय वै ।
अहं तु रथमास्थाय आगमिष्यामि संयुगे ॥ ६ ॥
तथा भवन्तः कुर्वन्तु यथेमे हि वनौकसः ।
न युध्येयुर्महात्मानः प्रविष्टे नगरं मयि ॥ ७ ॥

'इसलिये मैं जाता हूँ। दूसरे रथपर बैठकर शीघ्र ही युद्धके लिये आऊँगा। तबतक तुमलोग वानरोंको मोहमें डालनेके लिये निर्भय होकर ऐसा युद्ध करो, जिससे ये महामनस्वी वानर नगरमें प्रवेश करते समय मेरा सामना करनेके लिये न आवें' ॥ ६-७ ॥

इत्युक्त्वा रावणसुतो वञ्चयित्वा वनौकसः ।
प्रविवेश पुरीं लङ्कां रथहेतोरमित्रहा ॥ ८ ॥

ऐसा कहकर शत्रुहन्ता रावणकुमार वानरोंको चकमा दे रथके लिये लङ्कापुरीमें चला गया ॥ ८ ॥

स रथं भूषयित्वाथ रुचिरं हेमभूषितम् ।
प्रासासिशरसंयुक्तं युक्तं परमवाजिभिः ॥ ९ ॥
अधिष्ठितं हयज्ञेन सूतेनाप्तोपदेशिना ।
आरुरोह महातेजा रावणिः समितिंजयः ॥ १० ॥

उसने एक सुवर्णभूषित सुन्दर रथको सजाकर उसके ऊपर प्रास, खड्ग तथा बाण आदि आवश्यक सामग्री रखी, फिर उसमें उत्तम घोड़े जुतवाये और अश्व हाँकनेकी विद्याके जानकार तथा हितकर उपदेश देनेवाले सारथिको उसपर बिठाकर वह महातेजस्वी समरविजयी रावणकुमार स्वयं भी उस रथपर आरूढ़ हुआ॥ ९-१०॥

स राक्षसगणैर्मुख्यैर्वृतो मन्दोदरीसुतः।
निर्ययौ नगराद् वीरः कृतान्तबलचोदितः॥ ११॥

फिर प्रमुख राक्षसोंको साथ ले वीर मन्दोदरीकुमार कालशक्तिसे प्रेरित हो नगरसे बाहर निकला॥ ११॥

सोऽभिनिष्क्रम्य नगरादिन्द्रजित् परमौजसा।
अभ्ययाज्जवनैरश्वैर्लक्ष्मणं सविभीषणम्॥ १२॥

नगरसे निकलकर इन्द्रजित्ने अपने वेगशाली घोड़ोंद्वारा विभीषणसहित लक्ष्मणपर बलपूर्वक धावा किया॥ १२॥

ततो रथस्थमालोक्य सौमित्री रावणात्मजम्।
वानराश्च महावीर्या राक्षसश्च विभीषणः॥ १३॥
विस्मयं परमं जग्मुर्लाघवात् तस्य धीमतः।

रावणकुमारको रथपर बैठा देख सुमित्रानन्दन लक्ष्मण, महापराक्रमी वानरगण तथा राक्षसराज विभीषण—सबको बड़ा विस्मय हुआ। सभी उस बुद्धिमान् निशाचरकी फुर्ती देखकर दंग रह गये॥ १३½॥

रावणिश्चापि संक्रुद्धो रणे वानरयूथपान्॥ १४॥
पातयामास बाणौघैः शतशोऽथ सहस्रशः।

तत्पश्चात् क्रोधसे भरे हुए रावणपुत्रने अपने बाण-समूहोंद्वारा रणभूमिमें सैकड़ों और हजारों वानर-यूथपतियोंको गिराना आरम्भ किया॥ १४½॥

स मण्डलीकृतधनू रावणिः समितिंजयः॥ १५॥
हरीनभ्यहनत् क्रुद्धः परं लाघवमास्थितः।

युद्धविजयी रावणकुमारने अपने धनुषको इतना खींचा कि वह मण्डलाकार बन गया। उसने कुपित हो बड़ी शीघ्रताके साथ वानरोंका संहार आरम्भ किया॥ १५½॥

ते वध्यमाना हरयो नाराचैर्भीमविक्रमाः॥ १६॥
सौमित्रिं शरणं प्राप्ताः प्रजापतिमिव प्रजाः।

उसके नाराचोंकी मार खाते हुए भयानक पराक्रमी वानर सुमित्राकुमार लक्ष्मणकी शरणमें गये, मानो प्रजाने प्रजापतिकी शरण ली हो॥ १६½॥

ततः समरकोपेन ज्वलितो रघुनन्दनः।
चिच्छेद कार्मुकं तस्य दर्शयन् पाणिलाघवम्॥ १७॥

तब शत्रुके युद्धसे रघुकुलनन्दन लक्ष्मणका क्रोध भड़क उठा। वे रोषसे जल उठे और उन्होंने अपने हाथकी फुर्ती दिखाते हुए उस राक्षसके धनुषको काट दिया॥ १७॥

सोऽन्यत्कार्मुकमादाय सज्जं चक्रे त्वरन्निव।
तदप्यस्य त्रिभिर्बाणैर्लक्ष्मणो निरकृन्तत॥ १८॥

यह देख उस निशाचरने तुरंत ही दूसरा धनुष लेकर उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी; परंतु लक्ष्मणने तीन बाण मारकर उसके उस धनुषको भी काट दिया॥ १८॥

अथैनं छिन्नधन्वानमाशीविषविषोपमैः।
विव्याधोरसि सौमित्री रावणिं पञ्चभिः शरैः॥ १९॥

धनुष कट जानेपर विषधर सर्पके समान पाँच भयंकर बाणोंद्वारा सुमित्राकुमारने रावणपुत्रकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी॥ १९॥

ते तस्य कायं निर्भिद्य महाकार्मुकनिःसृताः।
निपेतुर्धरणीं बाणा रक्ता इव महोरगाः॥ २०॥

उनके विशाल धनुषसे छूटे हुए वे बाण इन्द्रजित्का शरीर छेदकर लाल रंगके बड़े-बड़े सर्पोंके समान पृथ्वीपर गिर पड़े॥ २०॥

स च्छिन्नधन्वा रुधिरं वमन् वक्त्रेण रावणिः।
जग्राह कार्मुकश्रेष्ठं दृढज्यं बलवत्तरम्॥ २१॥

धनुष कट जानेपर उन बाणोंकी चोट खाकर मुँहसे रक्त वमन करते हुए रावणपुत्रने पुनः एक मजबूत धनुष हाथमें लिया। उसकी प्रत्यञ्चा भी बहुत ही दृढ़ थी॥ २१॥

स लक्ष्मणं समुद्दिश्य परं लाघवमास्थितः।
ववर्ष शरवर्षाणि वर्षाणीव पुरंदरः॥ २२॥

फिर तो उसने लक्ष्मणको लक्ष्य करके बड़ी फुर्तीके साथ बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी, मानो देवराज इन्द्र जल बरसा रहे हों॥ २२॥

मुक्तमिन्द्रजिता तत्तु शरवर्षमरिंदमः।
आवारयदसम्भ्रान्तो लक्ष्मणः सुदुरासदम्॥ २३॥

यद्यपि इन्द्रजित्द्वारा की गयी उस बाणवर्षाको रोकना बहुत ही कठिन था तो भी शत्रुदमन लक्ष्मणने बिना किसी घबराहटके उसको रोक दिया॥ २३॥

संदर्शयामास तदा रावणिं रघुनन्दनः।
असम्भ्रान्तो महातेजास्तदद्भुतमिवाभवत्॥ २४॥

रघुकुलनन्दन महातेजस्वी लक्ष्मणके मनमें तनिक भी घबराहट नहीं थी। उन्होंने उस रावणकुमारको जो अपना पौरुष दिखाया, वह अद्भुत-सा ही था॥ २४॥

ततस्तान् राक्षसान् सर्वांस्त्रिभिरेकैकमाहवे।
अविध्यत् परमक्रुद्धः शीघ्रास्त्रं सम्प्रदर्शयन्।
राक्षसेन्द्रसुतं चापि बाणौघैः समताडयत्॥ २५॥

उन्होंने अत्यन्त कुपित हो अपनी शीघ्र अस्त्र-संचालनकी कलाका प्रदर्शन करते हुए उन समस्त राक्षसोंको प्रत्येकके शरीरमें तीन-तीन बाण मारकर घायल कर दिया तथा राक्षसराजके पुत्र इन्द्रजित्को भी अपने बाण-समूहोंद्वारा गहरी चोट पहुँचायी॥ २५॥

सोऽतिविद्धो बलवता शत्रुणा शत्रुघातिना।
असक्तं प्रेषयामास लक्ष्मणाय बहूञ्शरान्॥ २६॥

शत्रुहन्ता प्रबल शत्रुके बाणोंसे अत्यन्त घायल होकर इन्द्रजित्‌ने लक्ष्मणपर लगातार बहुत बाण बरसाये ॥ २६ ॥

तानप्राप्ताञ्छितैर्बाणैश्चिच्छेद परवीरहा ।
सारथेरस्य च रणे रथिनो रथसत्तमः ॥ २७ ॥
शिरो जहार धर्मात्मा भल्लेनानतपर्वणा ।

परंतु शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले रथियोंमें श्रेष्ठ धर्मात्मा लक्ष्मणने अपने पासतक पहुँचनेसे पहले ही उन बाणोंको अपने तीखे सायकोंद्वारा काट डाला और रणभूमिमें रथी इन्द्रजित्‌के सारथिका मस्तक भी झुकी हुई गाँठवाले भल्लसे उड़ा दिया ॥ २७½ ॥

असूतास्ते हयास्तत्र रथमूहुरविक्लवाः ॥ २८ ॥
मण्डलान्यभिधावन्ति तदद्भुतमिवाभवत् ।

सारथिके न रहनेपर भी वहाँ उसके घोड़े व्याकुल नहीं हुए। पूर्ववत् शान्तभावसे रथको ढोते रहे और विभिन्न प्रकारके पैंतरे बदलते हुए मण्डलाकार गतिसे दौड़ लगाते रहे। वह एक अद्भुत-सी बात थी ॥ २८½ ॥

अमर्षवशमापन्नः सौमित्रिर्दृढविक्रमः ॥ २९ ॥
प्रत्यविध्यद्धयांस्तस्य शरैर्वित्रासयन् रणे ।

सुदृढ़ पराक्रमी सुमित्राकुमार लक्ष्मण अमर्षके वशीभूत हो रणक्षेत्रमें उसके घोड़ोंको भयभीत करनेके लिये उन्हें बाणोंसे बेधने लगे ॥ २९½ ॥

अमर्षमाणस्तत्कर्म रावणस्य सुतो रणे ॥ ३० ॥
विव्याध दशभिर्बाणैः सौमित्रिं तममर्षणम् ।

रावणकुमार इन्द्रजित् युद्धस्थलमें लक्ष्मणके इस पराक्रमको नहीं सह सका। उसने उन अमर्षशील सुमित्राकुमारको दस बाण मारे ॥ ३०½ ॥

ते तस्य वज्रप्रतिमाः शराः सर्पविषोपमाः ।
विलयं जग्मुरागत्य कवचं काञ्चनप्रभम् ॥ ३१ ॥

उसके वे वज्रतुल्य बाण सर्पके विषकी भाँति प्राणघाती थे, तथापि लक्ष्मणके सुनहरी कान्तिवाले कवचसे टकराकर वहीं नष्ट हो गये ॥ ३१ ॥

अभेद्यकवचं मत्वा लक्ष्मणं रावणात्मजः ।
ललाटे लक्ष्मणं बाणैः सुपुङ्खैस्त्रिभिरिन्द्रजित् ॥ ३२ ॥
अविध्यत् परमक्रुद्धः शीघ्रमस्त्रं प्रदर्शयन् ।
तैः पृषत्कैर्ललाटस्थैः शुशुभे रघुनन्दनः ॥ ३३ ॥
रणाग्रे समरश्लाघी त्रिशृङ्ग इव पर्वतः ।

लक्ष्मणका कवच[1] अभेद्य है, ऐसा जानकर रावणकुमार इन्द्रजित्‌ने उनके ललाटमें सुन्दर पंखवाले तीन बाण मारे। उसने अपनी अस्त्र चलानेकी फुर्ती दिखाते हुए अत्यन्त क्रोधपूर्वक उन्हें घायल कर दिया। ललाटमें धँसे हुए उन बाणोंसे युद्धकी श्लाघा रखनेवाले रघुकुलनन्दन लक्ष्मण संग्रामके मुहानेपर तीन शिखरोंवाले पर्वतके समान शोभा पा रहे थे ॥ ३२-३३½ ॥

स तथाप्यर्दितो बाणै राक्षसेन तदा मृधे ॥ ३४ ॥
तमाशु प्रतिविव्याध लक्ष्मणः पञ्चभिः शरैः ।
विकृष्येन्द्रजितो युद्धे वदने शुभकुण्डले ॥ ३५ ॥

उस राक्षसके द्वारा युद्धमें बाणोंसे इस प्रकार पीड़ित किये जानेपर भी लक्ष्मणने उस समय तुरंत पाँच बाणोंका संधान किया और धनुषको खींचकर चलाये हुए उन बाणोंके द्वारा सुन्दर कुण्डलोंसे सुशोभित इन्द्रजित्‌के मुखमण्डलको क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ३४-३५ ॥

लक्ष्मणेन्द्रजितौ वीरौ महाबलशरासनौ ।
अन्योन्यं जघ्नतुर्वीरौ विशिखैर्भीमविक्रमौ ॥ ३६ ॥

लक्ष्मण तथा इन्द्रजित् दोनों वीर महाबलवान् थे। उनके धनुष भी बहुत बड़े थे। भयंकर पराक्रम करनेवाले वे दोनों योद्धा एक-दूसरेको बाणोंसे घायल करने लगे ॥ ३६ ॥

ततः शोणितदिग्धाङ्गौ लक्ष्मणेन्द्रजितावुभौ ।
रणे तौ रेजतुर्वीरौ पुष्पिताविव किंशुकौ ॥ ३७ ॥

इससे लक्ष्मण और इन्द्रजित् दोनोंके शरीर लहूलुहान हो गये। रणभूमिमें वे दोनों वीर फूले हुए पलाशके वृक्षोंकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ ३७ ॥

तौ परस्परमभ्येत्य सर्वगात्रेषु धन्विनौ ।
घोरैर्विव्यधतुर्बाणैः कृतभावावुभौ जये ॥ ३८ ॥

उन दोनों धनुर्धर वीरोंके मनमें विजय पानेके लिये दृढ़ संकल्प था, अतः वे आपसमें भिड़कर एक-दूसरेके सभी अङ्गोंको भयंकर बाणोंका निशाना बनाने लगे ॥ ३८ ॥

ततः समरकोपेन संयुतो रावणात्मजः ।
विभीषणं त्रिभिर्बाणैर्विव्याध वदने शुभे ॥ ३९ ॥

इसी बीचमें समरोचित क्रोधसे युक्त हुए रावणकुमारने विभीषणके सुन्दर मुखपर तीन बाणोंका प्रहार किया ॥ ३९ ॥

अयोमुखैस्त्रिभिर्विद्ध्वा राक्षसेन्द्रं विभीषणम् ।
एकैकेनाभिविव्याध तान् सर्वान् हरियूथपान् ॥ ४० ॥

जिनके अग्रभागमें लोहेके फल लगे हुए थे, ऐसे तीन बाणोंसे राक्षसराज विभीषणको घायल करके इन्द्रजित्‌ने उन सभी वानर-यूथपतियोंपर एक-एक बाणका प्रहार किया ॥ ४० ॥

तस्मै दृढतरं क्रुद्धो जघान गदया हयान् ।
विभीषणो महातेजा रावणेः स दुरात्मनः ॥ ४१ ॥

इससे महातेजस्वी विभीषणको उसपर बड़ा क्रोध आया

---

1. पहले लक्ष्मणके कवचके टूटनेका वर्णन आ चुका है। उसके बाद लक्ष्मणने फिर अभेद्य कवच धारण किया था। यह इस प्रसंगसे जाना जाता है।

और उन्होंने अपनी गदासे उस दुरात्मा रावणकुमारके चारों घोड़ोंको मार डाला ॥ ४१ ॥

स हताश्वादवप्लुत्य रथान्निहतसारथेः ।
अथ शक्तिं महातेजाः पितृव्याय मुमोच ह ॥ ४२ ॥

जिसका सारथि पहले ही मारा जा चुका था और अब घोड़े भी मार डाले गये, उस रथसे नीचे कूदकर महातेजस्वी इन्द्रजित्‌ने अपने चाचापर शक्तिका प्रहार किया ॥ ४२ ॥

तामापतन्तीं सम्प्रेक्ष्य सुमित्रानन्दवर्धनः ।
चिच्छेद निशितैर्बाणैर्दशधापातयद् भुवि ॥ ४३ ॥

उस शक्तिको आती देख सुमित्राका आनन्द बढ़ानेवाले लक्ष्मणने तीखे बाणोंसे काट डाला और दस टुकड़े करके उसे पृथ्वीपर गिरा दिया ॥ ४३ ॥

तस्मै दृढधनुः क्रुद्धो हताश्वाय विभीषणः ।
वज्रस्पर्शसमान् पञ्च ससर्जोरसि मार्गणान् ॥ ४४ ॥

तत्पश्चात् सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले विभीषणने जिसके घोड़े मारे गये थे, उस इन्द्रजित्‌पर कुपित हो उसकी छातीमें पाँच बाण मारे, जिनका स्पर्श वज्रके समान दुःसह था ॥ ४४ ॥

ते तस्य कायं भित्त्वा तु रुक्मपुङ्खा निमित्तगाः ।
बभूवुर्लोहितादिग्धा रक्ता इव महोरगाः ॥ ४५ ॥

सुनहरे पङ्खोंसे सुशोभित और लक्ष्यतक पहुँचनेवाले वे बाण इन्द्रजित्‌के शरीरको विदीर्ण करके उसके रक्तमें सन गये और लाल रंगके बड़े-बड़े सर्पोंके समान दिखायी देने लगे ॥ ४५ ॥

स पितृव्यस्य संक्रुद्ध इन्द्रजिच्छरमाददे ।
उत्तमं रक्षसां मध्ये यमदत्तं महाबलः ॥ ४६ ॥

तब महाबली इन्द्रजित्‌के मनमें अपने चाचाके प्रति बड़ा क्रोध हुआ। उसने राक्षसोंके बीचमें यमराजका दिया हुआ उत्तम बाण हाथमें लिया ॥ ४६ ॥

तं समीक्ष्य महातेजा महेषुं तेन संहितम् ।
लक्ष्मणोऽप्याददे बाणमन्यद् भीमपराक्रमः ॥ ४७ ॥

उस महान् बाणको इन्द्रजित्‌के द्वारा धनुषपर रखा गया देख भयानक पराक्रम करनेवाले महातेजस्वी लक्ष्मणने भी दूसरा बाण उठाया ॥ ४७ ॥

कुबेरेण स्वयं स्वप्ने यद् दत्तममितात्मना ।
दुर्जयं दुर्विषह्यं च सेन्द्रैरपि सुरासुरैः ॥ ४८ ॥

उस बाणकी शिक्षा महात्मा कुबेरने स्वप्नमें प्रकट होकर स्वयं उन्हें दी थी। वह बाण इन्द्र आदि देवताओं तथा असुरोंके लिये भी असह्य एवं दुर्जय था ॥ ४८ ॥

तयोस्तु धनुषी श्रेष्ठे बाहुभिः परिघोपमैः ।
विकृष्यमाणे बलवत् क्रौञ्चाविव चुकूजतुः ॥ ४९ ॥

उन दोनोंकी परिघके समान मोटी और बलिष्ठ भुजाओं-द्वारा जोर-जोरसे खींचे जाते हुए उन दोनोंके श्रेष्ठ धनुष दो क्रौञ्च पक्षियोंके समान शब्द करने लगे ॥ ४९ ॥

ताभ्यां तु धनुषि श्रेष्ठे संहितौ सायकोत्तमौ ।
विकृष्यमाणौ वीराभ्यां भृशं जज्वलतुः श्रिया ॥ ५० ॥

उन वीरोंने अपने-अपने श्रेष्ठ धनुषपर जो उत्तम सायक रखे थे, वे खींचे जाते ही अत्यन्त तेजसे प्रज्वलित हो उठे ॥ ५० ॥

तौ भासयन्तावाकाशं धनुर्भ्यां विशिखौ च्युतौ ।
मुखेन मुखमाहत्य संनिपेततुरोजसा ॥ ५१ ॥

दोनोंके बाण एक साथ ही धनुषसे छूटे और अपनी प्रभासे आकाशको प्रकाशित करने लगे। दोनोंके मुखभाग बड़े वेगसे आपसमें टकरा गये ॥ ५१ ॥

संनिपातस्तयोश्चासीच्छरयोर्घोररूपयोः ।
सधूमविस्फुलिङ्गश्च तज्जोऽग्निर्दारुणोऽभवत् ॥ ५२ ॥

उन दोनों भयानक बाणोंकी ज्यों ही टक्कर हुई, उससे दारुण अग्नि प्रकट हो गयी; जिससे धूआँ उठने लगा और चिनगारियाँ दिखायी दीं ॥ ५२ ॥

तौ महाग्रहसंकाशावन्योन्यं संनिपत्य च ।
संग्रामे शतधा यातौ मेदिन्यां चैव पेततुः ॥ ५३ ॥

वे दोनों बाण दो महान् ग्रहोंकी भाँति आपसमें टकराकर सैकड़ों टुकड़े हो संग्रामभूमिमें गिर पड़े ॥ ५३ ॥

शरौ प्रतिहतौ दृष्ट्वा तावुभौ रणमूर्धनि ।
व्रीडितौ जातरोषौ च लक्ष्मणेन्द्रजितौ तदा ॥ ५४ ॥

युद्धके मुहानेपर उन दोनों बाणोंको आपसके आघात-प्रतिघातसे व्यर्थ हुआ देख लक्ष्मण और इन्द्रजित् दोनोंको ही उस समय लज्जा हुई। फिर दोनों एक-दूसरेके प्रति अत्यन्त रोषसे भर गये ॥ ५४ ॥

सुसंरब्धस्तु सौमित्रिरस्त्रं वारुणमाददे ।
रौद्रं महेन्द्रजिद् युद्धेऽप्यसृजद् युधि निष्ठितः ॥ ५५ ॥

सुमित्रानन्दन लक्ष्मणने कुपित होकर वारुणास्त्र उठाया। साथ ही उस रणभूमिमें खड़े हुए इन्द्रजित्‌ने रौद्रास्त्र उठाया और उसे वारुणास्त्रके प्रतीकारके लिये छोड़ दिया ॥ ५५ ॥

तेन तद्विहितं शस्त्रं वारुणं परमाद्भुतम् ।
ततः क्रुद्धो महातेजा इन्द्रजित् समितिंजयः ।
आग्नेयं संदधे दीप्तं स लोकं संक्षिपन्निव ॥ ५६ ॥

उस रौद्रास्त्रसे आहत होकर लक्ष्मणका अत्यन्त अद्भुत वारुणास्त्र शान्त हो गया। तदनन्तर समरविजयी महातेजस्वी इन्द्रजित्‌ने कुपित होकर दीप्तिमान् आग्नेयास्त्रका संधान किया, मानो वह उसके द्वारा समस्त लोकोंका प्रलय कर देना चाहता हो ॥ ५६ ॥

सौरेणास्त्रेण तद् वीरो लक्ष्मणः पर्यवारयत् ।
अस्त्रं निवारितं दृष्ट्वा रावणिः क्रोधमूर्च्छितः ॥ ५७ ॥

परंतु वीर लक्ष्मणने सूर्यास्त्रके प्रयोगसे उसे शान्त कर दिया। अपने अस्त्रको प्रतिहत हुआ देख रावणकुमार इन्द्रजित् अचेत-सा हो गया ॥ ५७ ॥

आददे निशितं बाणमासुरं शत्रुदारणम्।
तस्माच्चापाद् विनिष्पेतुर्भास्वराः कूटमुद्गराः ॥ ५८ ॥
शूलानि च भुशुण्ड्यश्च गदाः खड्गाः परश्वधाः।

उसने आसुर नामक शत्रुनाशक तीखे बाणका प्रयोग किया, फिर तो उसके उस धनुषसे चमकते हुए कूट, मुद्गर, शूल, भुशुण्डि, गदा, खड्ग और फरसे निकलने लगे ॥ ५८ ½ ॥

तद् दृष्ट्वा लक्ष्मणः संख्ये घोरमस्त्रमथासुरम् ॥ ५९ ॥
अवार्यं सर्वभूतानां सर्वशस्त्रविदारणम्।
माहेश्वरेण द्युतिमांस्तदस्त्रं प्रत्यवारयत् ॥ ६० ॥

रणभूमिमें उस भयंकर आसुरास्त्रको प्रकट हुआ देख तेजस्वी लक्ष्मणने सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंको विदीर्ण करनेवाले माहेश्वरास्त्रका प्रयोग किया, जिसका समस्त प्राणी मिलकर भी निवारण नहीं कर सकते थे। उस माहेश्वरास्त्रके द्वारा उन्होंने उस आसुरास्त्रको नष्ट कर दिया ॥ ५९-६० ॥

तयोः समभवद् युद्धमद्भुतं रोमहर्षणम्।
गगनस्थानि भूतानि लक्ष्मणं पर्यवारयन् ॥ ६१ ॥

इस प्रकार उन दोनोंमें अत्यन्त अद्भुत और रोमाञ्चकारी युद्ध होने लगा। आकाशमें रहनेवाले प्राणी लक्ष्मणको घेरकर खड़े हो गये ॥ ६१ ॥

भैरवाभिरुते भीमे युद्धे वानररक्षसाम्।
भूतैर्बहुभिराकाशं विस्मितैरावृतं बभौ ॥ ६२ ॥

भैरव-गर्जनासे गूँजते हुए वानरों और राक्षसोंके उस भयानक युद्धके छिड़ जानेपर आश्चर्यचकित हुए बहुसंख्यक प्राणी आकाशमें आकर खड़े हो गये। उनसे घिरे हुए उस आकाशकी अद्भुत शोभा हो रही थी ॥ ६२ ॥

ऋषयः पितरो देवा गन्धर्वगरुडोरगाः।
शतक्रतुं पुरस्कृत्य ररक्षुर्लक्ष्मणं रणे ॥ ६३ ॥

ऋषि, पितर, देवता, गन्धर्व, गरुड़ और नाग भी इन्द्रको आगे करके रणभूमिमें सुमित्राकुमारकी रक्षा करने लगे ॥ ६३ ॥

अथान्यं मार्गणश्रेष्ठं संदधे राघवानुजः।
हुताशनसमस्पर्शं रावणात्मजदारणम् ॥ ६४ ॥

तत्पश्चात् लक्ष्मणने दूसरा उत्तम बाण अपने धनुषपर रखा, जिसका स्पर्श आगके समान जलानेवाला था। उसमें रावणकुमारको विदीर्ण कर देनेकी शक्ति थी ॥ ६४ ॥

सुपत्रमनुवृत्ताङ्गं सुपर्वाणं सुसंस्थितम्।
सुवर्णविकृतं वीरः शरीरान्तकरं शरम् ॥ ६५ ॥
दुरावारं दुर्विषहं राक्षसानां भयावहम्।
आशीविषविषप्रख्यं देवसंघैः समर्चितम् ॥ ६६ ॥
येन शक्रो महातेजा दानवानजयत् प्रभुः।
पुरा देवासुरे युद्धे वीर्यवान् हरिवाहनः ॥ ६७ ॥
अथैन्द्रमस्त्रं सौमित्रिः संयुगेष्वपराजितम्।
शरश्रेष्ठं धनुःश्रेष्ठे विकर्षन्निदमब्रवीत् ॥ ६८ ॥
लक्ष्मीवाँल्लक्ष्मणो वाक्यमर्थसाधकमात्मनः।
धर्मात्मा सत्यसंधश्च रामो दाशरथिर्यदि।
पौरुषे चाप्रतिद्वन्द्वस्तदैनं जहि रावणिम् ॥ ६९ ॥

उसमें सुन्दर पर लगे थे। उस बाणका सारा अङ्ग सुडौल एवं गोल था। उसकी गाँठ भी सुन्दर थी। वह बहुत ही मजबूत और सुवर्णसे भूषित था। उसमें शरीरको चीर डालनेकी क्षमता थी। उसे रोकना अत्यन्त कठिन था। उसके आघातको सह लेना भी बहुत मुश्किल था। वह राक्षसोंको भयभीत करनेवाला तथा विषधर सर्पके विषकी भाँति शत्रुके प्राण लेनेवाला था। देवताओंद्वारा उस बाणकी सदा ही पूजा की गयी थी। पूर्वकालके देवासुर संग्राममें हरे रंगके घोड़ोंसे युक्त रथवाले, पराक्रमी, शक्तिमान् एवं महातेजस्वी इन्द्रने उसी बाणसे दानवोंपर विजय पायी थी। उसका नाम था ऐन्द्रास्त्र। वह युद्धके अवसरोंपर कभी पराजित या असफल नहीं हुआ था। शोभासम्पन्न वीर सुमित्राकुमार लक्ष्मणने अपने उत्तम धनुषपर उस श्रेष्ठ बाणको रखकर उसे खींचते हुए अपने अभिप्रायको सिद्ध करनेवाली यह बात कही—'यदि दशरथनन्दन भगवान् श्रीराम धर्मात्मा और सत्यप्रतिज्ञ हैं तथा पुरुषार्थमें उनकी समानता करनेवाला दूसरा कोई वीर नहीं है तो हे अस्त्र! तुम इस रावणपुत्रका वध कर डालो' ॥ ६५—६९ ॥

इत्युक्त्वा बाणमाकर्णं विकृष्य तमजिह्मगम्।
लक्ष्मणः समरे वीरः ससर्जेन्द्रजितं प्रति।
ऐन्द्रास्त्रेण समायुज्य लक्ष्मणः परवीरहा ॥ ७० ॥

समराङ्गणमें ऐसा कहकर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले वीर लक्ष्मणने सीधे जानेवाले उस बाणको कानतक खींचकर ऐन्द्रास्त्रसे संयुक्त करके इन्द्रजित्‌की ओर छोड़ दिया ॥ ७० ॥

तच्छिरः सशिरस्त्राणं श्रीमज्ज्वलितकुण्डलम्।
प्रमथ्येन्द्रजितः कायात् पातयामास भूतले ॥ ७१ ॥

धनुषसे छूटते ही ऐन्द्रास्त्रने जगमगाते हुए कुण्डलोंसे युक्त इन्द्रजित्‌के शिरस्त्राणसहित दीप्तिमान् मस्तकको धड़से काटकर धरतीपर गिरा दिया ॥ ७१ ॥

तद् राक्षसतनूजस्य भिन्नस्कन्धं शिरो महत्।
तपनीयनिभं भूमौ ददृशे रुधिरोक्षितम् ॥ ७२ ॥

राक्षसपुत्र इन्द्रजित्‌का कंधेपरसे कटा हुआ वह विशाल सिर, जो खूनसे लथपथ हो रहा था, भूमिपर सुवर्णके समान दिखायी देने लगा ॥ ७२ ॥

हतः स निपपाताथ धरण्यां रावणात्मजः।
कवची सशिरस्त्राणो विप्रविद्धशरासनः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार मारा जाकर कवच, सिर और शिरस्त्राणसहित रावणकुमार धराशायी हो गया। उसका धनुष दूर जा गिरा ॥ ७३ ॥

चुक्रुशुस्ते ततः सर्वे वानराः सविभीषणाः।
हृष्यन्तो निहते तस्मिन् देवा वृत्रवधे यथा ॥ ७४ ॥

जैसे वृत्रासुरका वध होनेपर देवता प्रसन्न हुए थे, उसी प्रकार इन्द्रजित्के मारे जानेपर विभीषणसहित समस्त वानर हर्षसे भर गये और जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे ॥ ७४ ॥

अथान्तरिक्षे देवानामृषीणां च महात्मनाम्।
जज्ञेऽथ जयसंनादो गन्धर्वाप्सरसामपि ॥ ७५ ॥

आकाशमें देवताओं, महात्मा ऋषियों, गन्धर्वों तथा अप्सराओंका भी विजयजनित हर्षनाद गूँज उठा ॥ ७५ ॥

पतितं समभिज्ञाय राक्षसी सा महाचमूः।
वध्यमाना दिशो भेजे हरिभिर्जितकाशिभिः ॥ ७६ ॥

इन्द्रजित्को धराशायी हुआ जान राक्षसोंकी वह विशाल सेना विजयसे उल्लसित हुए वानरोंकी मार खाकर सम्पूर्ण दिशाओंमें भागने लगी ॥ ७६ ॥

वानरैर्वध्यमानास्ते शस्त्राण्युत्सृज्य राक्षसाः।
लङ्कामभिमुखाः सस्तुर्भ्रष्टसंज्ञाः प्रधाविताः ॥ ७७ ॥

वानरोंद्वारा मारे जाते हुए राक्षस अपनी सुध-बुध खो बैठे और अस्त्र-शस्त्रोंको छोड़कर तेजीसे भागते हुए लङ्काकी ओर चले गये ॥ ७७ ॥

दुद्रुवुर्बहुधा भीता राक्षसाः शतशो दिशः।
त्यक्त्वा प्रहरणान् सर्वे पट्टिशासिपरश्वधान् ॥ ७८ ॥

राक्षस बहुत डर गये थे; इसलिये वे सब-के-सब पट्टिश, खड्ग और फरसे आदि शस्त्रोंको त्यागकर सैकड़ोंकी संख्यामें एक साथ ही सब दिशाओंमें भागने लगे ॥ ७८ ॥

केचिल्लङ्कां परित्रस्ताः प्रविष्टा वानरार्दिताः।
समुद्रे पतिताः केचित् केचित् पर्वतमाश्रिताः ॥ ७९ ॥

वानरोंसे पीड़ित होकर कोई डरके मारे लङ्कामें घुस गये, कोई समुद्रमें कूद पड़े और कोई-कोई पर्वतकी चोटीपर चढ़ गये ॥ ७९ ॥

हतमिन्द्रजितं दृष्ट्वा शयानं च रणक्षितौ।
राक्षसानां सहस्रेषु न कश्चित् प्रत्यदृश्यत ॥ ८० ॥

इन्द्रजित् मारा गया और रणभूमिमें सो रहा है, यह देख हजारों राक्षसोंमेंसे एक भी वहाँ खड़ा नहीं दिखायी दिया ॥ ८० ॥

यथास्तं गत आदित्ये नावतिष्ठन्ति रश्मयः।
तथा तस्मिन् निपतिते राक्षसास्ते गता दिशः ॥ ८१ ॥

जैसे सूर्यके अस्त हो जानेपर उसकी किरणें यहाँ नहीं ठहरती हैं, उसी प्रकार इन्द्रजित्के धराशायी होनेपर वे राक्षस वहाँ रुक न सके, सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग गये ॥ ८१ ॥

शान्तरश्मिरिवादित्यो निर्वाण इव पावकः।
बभूव स महाबाहुर्व्यपास्तगतजीवितः ॥ ८२ ॥

महाबाहु इन्द्रजित् निष्प्राण हो जानेपर शान्त किरणोंवाले सूर्य अथवा बुझी हुई आगके समान निस्तेज हो गया ॥ ८२ ॥

प्रशान्तपीडाबहुलो विनष्टारिः प्रहर्षवान्।
बभूव लोकः पतिते राक्षसेन्द्रसुते तदा ॥ ८३ ॥

उस समय राक्षसराजकुमार इन्द्रजित्के समरभूमिमें गिर जानेपर सारे संसारकी अधिकांश पीड़ा नष्ट हो गयी। सबका शत्रु मारा गया और सभी हर्षसे भर गये ॥ ८३ ॥

हर्षं च शक्रो भगवान् सह सर्वैर्महर्षिभिः।
जगाम निहते तस्मिन् राक्षसे पापकर्मणि ॥ ८४ ॥

उस पापकर्मा राक्षसके मारे जानेपर सम्पूर्ण महर्षियोंके साथ भगवान् इन्द्रको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ८४ ॥

आकाशे चापि देवानां शुश्रुवे दुन्दुभिस्वनः।
नृत्यद्भिरप्सरोभिश्च गन्धर्वैश्च महात्मभिः ॥ ८५ ॥

आकाशमें नाचती हुई अप्सराओं और गाते हुए महामना गन्धर्वोंके नृत्य और गानकी ध्वनिके साथ देवताओंकी दुन्दुभिका शब्द भी सुनायी देने लगा ॥ ८५ ॥

ववर्षुः पुष्पवर्षाणि तदद्भुतमिवाभवत्।
प्रशशाम हते तस्मिन् राक्षसे क्रूरकर्मणि ॥ ८६ ॥

देवता आदि वहाँ फूलोंकी वर्षा करने लगे। वह दृश्य अद्भुत-सा प्रतीत हुआ। उस क्रूरकर्मा राक्षसके मारे जानेपर वहाँकी उड़ती हुई धूल शान्त हो गयी ॥ ८६ ॥

शुद्धा आपो नभश्चैव जहृषुर्दैवदानवाः।
आजग्मुः पतिते तस्मिन् सर्वलोकभयावहे ॥ ८७ ॥
ऊचुश्च सहितास्तुष्टा देवगन्धर्वदानवाः।
विज्वराः शान्तकलुषा ब्राह्मणा विचरन्त्विति ॥ ८८ ॥

सम्पूर्ण लोकोंको भय देनेवाले इन्द्रजित्के धराशायी होनेपर जल स्वच्छ हो गया, आकाश भी निर्मल दिखायी देने लगा और देवता तथा दानव हर्षसे खिल उठे। देवता, गन्धर्व और दानव वहाँ आये और सब एक साथ संतुष्ट होकर बोले—अब ब्राह्मणलोग निश्चिन्त एवं क्लेशशून्य होकर सर्वत्र विचरें ॥ ८७-८८ ॥

ततोऽभ्यनन्दन् संहृष्टाः समरे हरियूथपाः।
तमप्रतिबलं दृष्ट्वा हतं नैर्ऋतपुङ्गवम् ॥ ८९ ॥

समराङ्गणमें अप्रतिम बलशाली निशाचरशिरोमणि इन्द्रजित्को मारा गया देख हर्षसे भरे हुए वानर-यूथपति लक्ष्मणका अभिनन्दन करने लगे ॥ ८९ ॥

विभीषणो हनूमांश्च जाम्बवांश्चर्क्षयूथपः।
विजयेनाभिनन्दन्तस्तुष्टुवुश्चापि लक्ष्मणम् ॥ ९० ॥

विभीषण, हनुमान् और रीछ-यूथपति जाम्बवान्—ये इस विजयके लिये लक्ष्मणजीका अभिनन्दन करते हुए उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ ९० ॥

क्ष्वेडन्तश्च प्लवन्तश्च गर्जन्तश्च प्लवंगमाः।
लब्धलक्षा रघुसुतं परिवार्योपतस्थिरे ॥ ९१ ॥

हर्ष एवं रक्षाका अवसर पाकर वानर किलकिलाते, कूदते और गर्जते हुए वहाँ रघुकुलनन्दन लक्ष्मणको घेरकर खड़े हो गये ॥ ९१ ॥

लाङ्गूलानि प्रविध्यन्तः स्फोटयन्तश्च वानराः।
लक्ष्मणो जयतीत्येव वाक्यं विश्रावयंस्तदा ॥ ९२ ॥

उस समय अपनी पूँछोंको हिलाते और फटकारते हुए वानर और 'लक्ष्मणकी जय हो' यह नारा लगाने लगे ॥ ९२ ॥

अन्योन्यं च समाश्लिष्य हरयो हृष्टमानसाः ।
चक्रुरुच्चावचगुणा राघवाश्रयसत्कथाः ॥ ९३ ॥

वानरोंका चित्त हर्षसे भरा हुआ था। वे विविध गुणोंवाले वानर एक-दूसरेको हृदयसे लगाकर श्रीरामचन्द्रजीसे सम्बन्ध रखनेवाली कथाएँ कहने लगे ॥ ९३ ॥

तदसुकरमथाभिवीक्ष्य हृष्टाः
प्रियसुहृदो युधि लक्ष्मणस्य कर्म ।
परममुपलभन्मनःप्रहर्षं
विनिहतमिन्द्ररिपुं निशम्य देवाः ॥ ९४ ॥

युद्धस्थलमें लक्ष्मणके प्रिय सुहृद् वानर उनका वह दुष्कर एवं महान् पराक्रम देख बड़े प्रसन्न हुए। देवता भी उस इन्द्रद्रोही राक्षसका वध हुआ देख मनमें बड़े भारी हर्षका अनुभव करने लगे ॥ ९४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे नवतितमः सर्गः ॥ ९० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें नव्वेवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९० ॥

★

एकनवतितमः सर्गः

लक्ष्मण और विभीषण आदिका श्रीरामचन्द्रजीके पास आकर इन्द्रजित्‌के वधका समाचार सुनाना, प्रसन्न हुए श्रीरामके द्वारा लक्ष्मणको हृदयसे लगाकर उनकी प्रशंसा तथा सुषेणद्वारा लक्ष्मण आदिकी चिकित्सा

रुधिरक्लिन्नगात्रस्तु लक्ष्मणः शुभलक्षणः ।
बभूव हृष्टस्तं हत्वा शत्रुजेतारमाहवे ॥ १ ॥

संग्रामभूमिमें शत्रुविजयी इन्द्रजित्‌का वध करके रक्तसे भीगे हुए शरीरवाले शुभलक्षण लक्ष्मण बहुत प्रसन्न हुए ॥ १ ॥

ततः स जाम्बवन्तं च हनुमन्तं च वीर्यवान् ।
संनिपत्य महातेजास्तांश्च सर्वान् वनौकसः ॥ २ ॥
आजगाम ततः शीघ्रं यत्र सुग्रीवराघवौ ।
विभीषणमवष्टभ्य हनुमन्तं च लक्ष्मणः ॥ ३ ॥

बल-विक्रमसे सम्पन्न वे महातेजस्वी सुमित्राकुमार जाम्बवान् और हनुमान्‌जीसे दौड़कर मिले और उन समस्त वानरोंको साथ ले शीघ्रतापूर्वक उस स्थानपर आये, जहाँ वानरराज सुग्रीव और भगवान् श्रीराम विद्यमान थे। उस समय लक्ष्मण विभीषण और हनुमान्‌जीका सहारा लेकर चल रहे थे ॥ २-३ ॥

ततो राममभिक्रम्य सौमित्रिरभिवाद्य च ।
तस्थौ भ्रातृसमीपस्थः शक्रस्येन्द्रानुजो यथा ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके सामने आकर उनके चरणोंमें प्रणाम करके सुमित्राकुमार अपने उन ज्येष्ठ भ्राताके पास इसी तरह खड़े हो गये, जैसे इन्द्रके पास उपेन्द्र (वामनरूपधारी श्रीहरि) खड़े होते हैं ॥ ४ ॥

निष्टनन्निव चागत्य राघवाय महात्मने ।
आचचक्षे तदा वीरो घोरमिन्द्रजितो वधम् ॥ ५ ॥

उस समय वीर विभीषण प्रसन्नतापूर्वक लौटनेके द्वारा ही शत्रुके मारे जानेकी बात सूचित-सी करते हुए आये और महात्मा श्रीरघुनाथजीसे बोले—'प्रभो! इन्द्रजित्‌के वधका भयंकर कार्य सम्पन्न हो गया' ॥ ५ ॥

रावणेस्तु शिरश्छिन्नं लक्ष्मणेन महात्मना ।
न्यवेदयत रामाय तदा हृष्टो विभीषणः ॥ ६ ॥

विभीषणने बड़े हर्षके साथ श्रीरामसे यह निवेदन किया कि महात्मा लक्ष्मणने ही रावणकुमार इन्द्रजित्‌का मस्तक काटा है ॥ ६ ॥

श्रुत्वैव तु महावीर्यो लक्ष्मणेनेन्द्रजिद्वधम् ।
प्रहर्षमतुलं लेभे वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ ७ ॥

'लक्ष्मणके द्वारा इन्द्रजित्‌का वध हुआ है' यह समाचार सुनते ही महापराक्रमी श्रीरामचन्द्रजीको अनुपम हर्ष प्राप्त हुआ और वे इस प्रकार बोले ॥ ७ ॥

साधु लक्ष्मण तुष्टोऽस्मि कर्म चासुकरं कृतम् ।
रावणेर्हि विनाशेन जितमित्युपधारय ॥ ८ ॥

'शाबाश! लक्ष्मण! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। आज तुमने बड़ा दुष्कर पराक्रम किया। रावणपुत्र इन्द्रजित्‌के मारे जानेसे तुम यह निश्चित समझ लो कि अब हमलोग युद्धमें जीत गये' ॥ ८ ॥

स तं शिरस्युपाघ्राय लक्ष्मणं कीर्तिवर्धनम् ।
लज्जमानं बलात् स्नेहादङ्कमारोप्य वीर्यवान् ॥ ९ ॥
उपवेश्य तमुत्सङ्गे परिष्वज्यावपीडितम् ।
भ्रातरं लक्ष्मणं स्निग्धं पुनः पुनरुदैक्षत ॥ १० ॥

यशकी वृद्धि करनेवाले लक्ष्मण (उस समय अपनी प्रशंसा सुनकर) लजा रहे थे; किंतु पराक्रमी श्रीरामने उन्हें

बलपूर्वक खींचकर गोदमें ले लिया और बड़े स्नेहसे उनका मस्तक सूँघा। शस्त्रोंके आघातसे पीड़ित हुए स्नेही बन्धु लक्ष्मणको गोदमें बिठाकर और हृदयसे लगाकर वे बड़े प्यारसे उनकी ओर बारम्बार देखने लगे॥ ९-१०॥

शल्यसम्पीडितं शस्तं निःश्वसन्तं तु लक्ष्मणम्।
रामस्तु दुःखसंतप्तं तं तु निःश्वासपीडितम्॥ ११॥
मूर्ध्नि चैनमुपाघ्राय भूयः संस्पृश्य च त्वरन्।
उवाच लक्ष्मणं वाक्यमाश्वास्य पुरुषर्षभः॥ १२॥

लक्ष्मण अपने शरीरमें धँसे हुए बाणोंके द्वारा अत्यन्त पीड़ित थे। उनके अङ्गोंमें जगह-जगह घाव हो गया था। वे बारम्बार लम्बी साँस खींचते थे, आघातजनित क्लेशसे संतप्त हो रहे थे तथा उन्हें साँस लेनेमें भी पीड़ा होती थी। उस अवस्थामें पुरुषोत्तम श्रीरामने स्नेहसे उनका मस्तक सूँघकर पीड़ा दूर करनेके लिये पुनः जल्दी-जल्दी उनके शरीरपर हाथ फेरा और आश्वासन देकर लक्ष्मणसे इस प्रकार कहा—॥ ११-१२॥

कृतं परमकल्याणं कर्म दुष्करकर्मणा।
अद्य मन्ये हते पुत्रे रावणं निहतं युधि॥ १३॥
अद्याहं विजयी शत्रौ हते तस्मिन् दुरात्मनि।
रावणस्य नृशंसस्य दिष्ट्या वीर त्वया रणे॥ १४॥
छिन्नो हि दक्षिणो बाहुः स हि तस्य व्यपाश्रयः।

'वीर! तुमने अपने दुष्कर पराक्रमसे परम कल्याणकारी कार्य सम्पन्न किया है। आज बेटेके मारे जानेपर युद्धस्थलमें रावणको भी मैं मारा गया ही मानता हूँ। उस दुरात्मा शत्रुका वध हो जानेसे आज मैं वास्तवमें विजयी हो गया। सौभाग्यकी बात है कि तुमने रणभूमिमें इन्द्रजित्का वध करके निर्दयी निशाचर रावणकी दाहिनी बाँह ही काट डाली; क्योंकि वही उसका सबसे बड़ा सहारा था॥ १३-१४½॥

विभीषणहनूमद्भ्यां कृतं कर्म महद् रणे॥ १५॥
अहोरात्रैस्त्रिभिर्वीरः कथंचिद् विनिपातितः।
निरमित्रः कृतोऽस्म्यद्य निर्यास्यति हि रावणः॥ १६॥

'विभीषण और हनुमान्‌ने भी समरभूमिमें महान् पराक्रम कर दिखाया है। तुम सब लोगोंने मिलकर तीन दिन और तीन रातमें किसी तरह उस वीर राक्षसको मार गिराया तथा मुझे शत्रुहीन बना दिया। अब रावण ही युद्धके लिये निकलेगा॥ १५-१६॥

बलव्यूहेन महता निर्यास्यति हि रावणः।
बलव्यूहेन महता श्रुत्वा पुत्रं निपातितम्॥ १७॥

'महान् सैन्य-समुदायसहित पुत्रको मारा गया सुनकर रावण विशाल सेना साथ लेकर युद्धके लिये आयेगा॥ १७॥

तं पुत्रवधसंतप्तं निर्यान्तं राक्षसाधिपम्।
बलेनावृत्य महता निहनिष्यामि दुर्जयम्॥ १८॥

'पुत्रके वधसे संतप्त होकर निकले हुए उस दुर्जय राक्षसराज रावणको मैं अपनी बड़ी भारी सेनाके द्वारा घेरकर मार डालूँगा॥ १८॥

त्वया लक्ष्मण नाथेन सीता च पृथिवी च मे।
न दुष्प्रापा हते तस्मिञ्शक्रजेतरि चाहवे॥ १९॥

'लक्ष्मण! इन्द्रजित् इन्द्रको भी जीत चुका था। जब उसे भी तुमने युद्धभूमिमें मार गिराया; तब तुम-जैसे रक्षक और सहायकके होते हुए मुझे सीता और भूमण्डलके राज्यको प्राप्त करनेमें कोई कठिनाई नहीं होगी'॥ १९॥

स तं भ्रातरमाश्वास्य परिष्वज्य च राघवः।
रामः सुषेणं मुदितः समाभाष्येदमब्रवीत्॥ २०॥

इस प्रकार भाईको आश्वासन देकर रघुकुलनन्दन श्रीरामने उन्हें हृदयसे लगा लिया और प्रसन्नतापूर्वक सुषेणको बुलाकर कहा—॥ २०॥

विशल्योऽयं महाप्राज्ञ सौमित्रिर्मित्रवत्सलः।
यथा भवति सुस्वस्थस्तथा त्वं समुपाचर॥ २१॥

'परम बुद्धिमान् सुषेण! तुम शीघ्र ही ऐसा उपचार करो जिससे ये मित्रवत्सल सुमित्राकुमार पूर्णतः स्वस्थ हो जायँ और इनके शरीरसे बाण निकलकर घाव भरनेके साथ ही सारी पीड़ा दूर हो जाय॥ २१॥

विशल्यः क्रियतां क्षिप्रं सौमित्रिः सविभीषणः।
ऋक्षवानरसैन्यानां शूराणां द्रुमयोधिनाम्॥ २२॥
ये चाप्यन्येऽत्र युध्यन्ति सशल्या व्रणिनस्तथा।
तेऽपि सर्वे प्रयत्नेन क्रियन्ते सुखिनस्त्वया॥ २३॥

'सुमित्राकुमार लक्ष्मण और विभीषण दोनोंके शरीरसे तुम शीघ्र ही बाण निकाल दो और घाव अच्छा कर दो। वृक्षोंद्वारा युद्ध करनेवाले जो शूरवीर रीछ तथा वानर सैनिक हैं, उनमें भी जो दूसरे-दूसरे लोग बाणोंसे बिंधे हुए और घायल होकर युद्ध कर रहे हैं, उन सभीको तुम प्रयत्न करके सुखी एवं स्वस्थ कर दो'॥ २२-२३॥

एवमुक्तः स रामेण महात्मा हरियूथपः।
लक्ष्मणाय ददौ नस्तः सुषेणः परमौषधम्॥ २४॥

महात्मा श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर वानर-यूथपति सुषेणने लक्ष्मणकी नाकमें एक बहुत ही उत्तम ओषधि लगा दी॥ २४॥

स तस्य गन्धमाघ्राय विशल्यः समपद्यत।
तदा निर्वेदनश्चैव संरूढव्रण एव च॥ २५॥

उसकी गन्ध सूँघते ही लक्ष्मणके शरीरसे बाण निकल गये और उनकी सारी पीड़ा दूर हो गयी। उनके शरीरमें जितने भी घाव थे, सब भर गये॥ २५॥

विभीषणमुखानां च सुहृदां राघवाज्ञया।
सर्ववानरमुख्यानां चिकित्सामकरोत् तदा॥ २६॥

श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञासे सुषेणने विभीषण आदि सुहृदों

तथा समस्त वानरशिरोमणियोंकी तत्काल चिकित्सा की ॥ २६ ॥

ततः प्रकृतिमापन्नो हृतशल्यो गतक्लमः ।
सौमित्रिर्मुमुदे तत्र क्षणेन विगतज्वरः ॥ २७ ॥

फिर तो क्षणभरमें बाण निकल जाने और पीड़ा दूर हो जानेसे सुमित्राकुमार स्वस्थ एवं नीरोग हो हर्षका अनुभव करने लगे ॥ २७ ॥

तदैव रामः प्लवगाधिपस्तथा
विभीषणश्चर्क्षपतिश्च वीर्यवान् ।
अवेक्ष्य सौमित्रिमरोगमुत्थितं
मुदा ससैन्याः सुचिरं जहर्षिरे ॥ २८ ॥

उस समय भगवान् श्रीराम, वानरराज सुग्रीव, विभीषण तथा पराक्रमी ऋक्षराज जाम्बवान् लक्ष्मणको नीरोग होकर खड़ा हुआ देख सेनासहित बड़े प्रसन्न हुए ॥ २८ ॥

अपूजयत् कर्म स लक्ष्मणस्य
सुदुष्करं दाशरथिर्महात्मा ।
बभूव हृष्टो युधि वानरेन्द्रो
निशम्य तं शक्रजितं निपातितम् ॥ २९ ॥

दशरथनन्दन महात्मा श्रीरामने लक्ष्मणके उस अत्यन्त दुष्कर पराक्रमकी पुनः भूरि-भूरि प्रशंसा की। इन्द्रजित् युद्धमें मार गिराया गया, यह सुनकर वानरराज सुग्रीवको भी बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे एकनवतितमः सर्गः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें इक्यानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९१ ॥

—★—

द्विनवतितमः सर्गः

रावणका शोक तथा सुपार्श्वके समझानेसे उसका सीता-वधसे निवृत्त होना

ततः पौलस्त्यसचिवाः श्रुत्वा चेन्द्रजितो वधम् ।
आचचक्षुरभिज्ञाय दशग्रीवाय सत्वराः ॥ १ ॥

रावणके मन्त्रियोंने जब इन्द्रजित्के वधका समाचार सुना, तब उन्होंने स्वयं भी प्रत्यक्ष देखकर इसका निश्चय कर लेनेके बाद तुरंत जाकर दशमुख रावणसे सारा हाल कह सुनाया ॥ १ ॥

युद्धे हतो महाराज लक्ष्मणेन तवात्मजः ।
विभीषणसहायेन मिषतां नो महाद्युतिः ॥ २ ॥

वे बोले—'महाराज! युद्धमें विभीषणकी सहायता पाकर लक्ष्मणने आपके महातेजस्वी पुत्रको हमारे सैनिकोंके देखते-देखते मार डाला ॥ २ ॥

शूरः शूरेण संगम्य संयुगेष्वपराजितः ।
लक्ष्मणेन हतः शूरः पुत्रस्ते विबुधेन्द्रजित् ॥ ३ ॥
गतः स परमाँल्लोकाञ्शरैः संतर्प्य लक्ष्मणम् ।

'जिसने देवताओंके राजा इन्द्रको भी परास्त किया था और पहलेके युद्धोंमें जिसकी कभी पराजय नहीं हुई थी, वही आपका शूरवीर पुत्र इन्द्रजित् शौर्यसम्पन्न लक्ष्मणके साथ भिड़कर उनके द्वारा मारा गया। वह अपने बाणोंद्वारा लक्ष्मणको पूर्णतः तृप्त करके उत्तम लोकोंमें गया' ॥ ३½ ॥

स तं प्रतिभयं श्रुत्वा वधं पुत्रस्य दारुणम् ॥ ४ ॥
घोरमिन्द्रजितः संख्ये कश्मलं प्राविशन्महत् ।

युद्धमें अपने पुत्र इन्द्रजित्के भयानक वधका घोर एवं दारुण समाचार सुननेपर रावणको बड़ी भारी मूर्च्छाने धर दबाया ॥ ४½ ॥

उपलभ्य चिरात् संज्ञां राजा राक्षसपुंगवः ॥ ५ ॥
पुत्रशोकाकुलो दीनो विललापाकुलेन्द्रियः ।

फिर दीर्घकालके बाद होशमें आकर राक्षसप्रवर राजा रावण पुत्रशोकसे व्याकुल हो गया। उसकी सारी इन्द्रियाँ अकुला उठीं और वह दीनतापूर्वक विलाप करने लगा— ॥ ५½ ॥

हा राक्षसचमूमुख्य मम वत्स महाबल ॥ ६ ॥
जित्वेन्द्रं कथमद्य त्वं लक्ष्मणस्य वशं गतः ।

'हा पुत्र! हा राक्षस-सेनाके महाबली कर्णधार! तुम तो पहले इन्द्रपर भी विजय पा चुके थे; फिर आज लक्ष्मणके वशमें कैसे पड़ गये? ॥ ६½ ॥

ननु त्वमिषुभिः क्रुद्धो भिन्द्याः कालान्तकावपि ॥ ७ ॥
मन्दरस्यापि शृङ्गाणि किं पुनर्लक्ष्मणं युधि ।

'बेटा! तुम तो कुपित होनेपर अपने बाणोंसे काल और अन्तकको भी विदीर्ण कर सकते थे, मन्दराचलके शिखरोंको भी तोड़-फोड़ सकते थे; फिर युद्धमें लक्ष्मणको मार गिराना तुम्हारे लिये कौन बड़ी बात थी? ॥ ७½ ॥

अद्य वैवस्वतो राजा भूयो बहुमतो मम ॥ ८ ॥
येनाद्य त्वं महाबाहो संयुक्तः कालधर्मणा ।

'महाबाहो! आज सूर्यके पुत्र प्रेतराज यमका महत्त्व मुझे अधिक जान पड़ने लगा है, जिन्होंने तुम्हें भी कालधर्मसे संयुक्त कर दिया ॥ ८½ ॥

एष पन्थाः सुयोधानां सर्वामरगणेष्वपि ।
यः कृते हन्यते भर्तुः स पुमान् स्वर्गमृच्छति ॥ ९ ॥

'समस्त देवताओंमें भी अच्छे योद्धाओंका यही मार्ग है। जो अपने स्वामीके लिये युद्धमें मारा जाता है, वह पुरुष स्वर्गलोकमें जाता है॥ ९॥

अद्य देवगणाः सर्वे लोकपाला महर्षयः।
हतमिन्द्रजितं श्रुत्वा सुखं स्वप्स्यन्ति निर्भयाः॥ १०॥

'आज समस्त देवता, लोकपाल तथा महर्षि इन्द्रजित्‌का मारा जाना सुनकर निडर हो सुखकी नींद सो सकेंगे॥ १०॥

अद्य लोकास्त्रयः कृत्स्ना पृथिवी च सकानना।
एकेनेन्द्रजिता हीना शून्येव प्रतिभाति मे॥ ११॥

'आज तीनों लोक और काननोंसहित यह सारी पृथ्वी भी अकेले इन्द्रजित्‌के न होनेसे मुझे सूनी-सी दिखायी देती है॥ ११॥

अद्य नैर्ऋतकन्यानां श्रोष्याम्यन्तःपुरे रवम्।
करेणुसङ्घस्य यथा निनादं गिरिगह्वरे॥ १२॥

'जैसे गजराजके मारे जानेपर पर्वतकी कन्दरामें हथिनियोंका आर्तनाद सुनायी पड़ता है, उसी प्रकार आज अन्तःपुरमें मुझे राक्षस-कन्याओंका करुण-क्रन्दन सुनना पड़ेगा॥ १२॥

यौवराज्यं च लङ्कां च रक्षांसि च परंतप।
मातरं मां च भार्याश्च क्व गतोऽसि विहाय नः॥ १३॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले पुत्र! आज अपने युवराजपदको, लङ्कापुरीको, समस्त राक्षसोंको, अपनी माँको, मुझको और अपनी पत्नियोंको—हम सब लोगोंको छोड़कर तुम कहाँ चले गये?॥ १३॥

मम नाम त्वया वीर गतस्य यमसादनम्।
प्रेतकार्याणि कार्याणि विपरीते हि वर्तसे॥ १४॥

'वीर! होना तो यह चाहिये था कि मैं पहले यमलोकमें जाता और तुम यहाँ रहकर मेरे प्रेतकार्य करते; परंतु तुम विपरीत अवस्थामें स्थित हो गये (तुम परलोकवासी हुए और मुझे तुम्हारा प्रेतकार्य करना पड़ेगा)॥ १४॥

स त्वं जीवति सुग्रीवे लक्ष्मणे च सराघवे।
मम शल्यमनुद्धृत्य क्व गतोऽसि विहाय नः॥ १५॥

'हाय! राम, लक्ष्मण और सुग्रीव अभी जीवित हैं; ऐसी अवस्थामें मेरे हृदयका काँटा निकाले बिना ही तुम हमें छोड़कर कहाँ चले गये?'॥ १५॥

एवमादिविलापार्तं रावणं राक्षसाधिपम्।
आविवेश महान् कोपः पुत्रव्यसनसम्भवः॥ १६॥

इस प्रकार आर्तभावसे विलाप करते हुए राक्षसराज रावणके हृदयमें अपने पुत्रके वधका स्मरण करके महान् क्रोधका आवेश हुआ॥ १६॥

प्रकृत्या कोपनं ह्येनं पुत्रस्य पुनराधयः।
दीप्तं संदीपयामासुर्घर्मेऽर्कमिव रश्मयः॥ १७॥

एक तो वह स्वभावसे ही क्रोधी था। दूसरे पुत्रकी चिन्ताओंने उसे उत्तेजित कर दिया—जलते हुएको और भी जला दिया। जैसे सूर्यकी किरणें ग्रीष्म ऋतुमें उसे अधिक प्रचण्ड बना देती हैं॥ १७॥

ललाटे भ्रुकुटीभिश्च संगताभिर्व्यरोचत।
युगान्ते सह नक्रैस्तु महोर्मिभिरिवोदधिः॥ १८॥

ललाटमें टेढ़ी भौंहोंके कारण वह उसी तरह शोभा पाता था, जैसे प्रलयकालमें मगरों और बड़ी-बड़ी लहरोंसे महासागर सुशोभित होता है॥ १८॥

कोपाद् विजृम्भमाणस्य वक्त्राद् व्यक्तमिव ज्वलन्।
उत्पपात सधूमाग्निर्वृत्रस्य वदनादिव॥ १९॥

जैसे वृत्रासुरके मुखसे धूमसहित अग्नि प्रकट हुई थी, उसी तरह रोषसे जँभाई लेते हुए रावणके मुखसे प्रकटरूपमें धूमयुक्त प्रज्वलित अग्नि निकलने लगी॥ १९॥

स पुत्रवधसंतप्तः शूरः क्रोधवशं गतः।
समीक्ष्य रावणो बुद्ध्या वैदेह्या रोचयद् वधम्॥ २०॥

अपने पुत्रके वधसे संतप्त हुआ शूरवीर रावण सहसा क्रोधके वशीभूत हो गया। उसने बुद्धिसे सोच-विचारकर विदेहकुमारी सीताको मार डालना ही अच्छा समझा॥ २०॥

तस्य प्रकृत्या रक्ते च रक्ते क्रोधाग्निनापि च।
रावणस्य महाघोरे दीप्ते नेत्रे बभूवतुः॥ २१॥

रावणकी आँखें एक तो स्वभावसे ही लाल थीं। दूसरे क्रोधाग्निने उन्हें और भी रक्तवर्णकी बना दिया था। अतः उसके वे दीप्तिमान् नेत्र महान् घोर प्रतीत होते थे॥ २१॥

घोरं प्रकृत्या रूपं तत् तस्य क्रोधाग्निमूर्च्छितम्।
बभूव रूपं क्रुद्धस्य रुद्रस्येव दुरासदम्॥ २२॥

रावणका रूप स्वभावसे ही भयंकर था। उसपर क्रोधाग्निका प्रभाव पड़नेसे वह और भी भयानक हो चला और कुपित हुए रुद्रके समान दुर्जय प्रतीत होने लगा॥ २२॥

तस्य क्रुद्धस्य नेत्राभ्यां प्रापतन्नश्रुबिन्दवः।
दीप्ताभ्यामिव दीपाभ्यां सार्चिषः स्नेहबिन्दवः॥ २३॥

क्रोधसे भरे हुए उस निशाचरके नेत्रोंसे आँसुओंकी बूँदें गिरने लगीं, मानो जलते हुए दीपकोंसे लौके साथ ही तेलके बिंदु झड़ रहे हों॥ २३॥

दन्तान् विदशतस्तस्य श्रूयते दशनस्वनः।
यन्त्रस्याकृष्यमाणस्य मथ्नतो दानवैरिव॥ २४॥

वह दाँत पीसने लगा। उस समय उसके दाँतोंके कटकटानेका जो शब्द सुनायी देता था, वह समुद्र-मन्थनके समय दानवोंद्वारा खींचे जाते हुए मन्थन-यन्त्रस्वरूप मन्दराचलकी ध्वनिके समान जान पड़ता था॥ २४॥

कालाग्निरिव संक्रुद्धो यां यां दिशमवैक्षत।
तस्यां तस्यां भयत्रस्ता राक्षसाः संविलिल्यिरे॥ २५॥

कालाग्निके समान अत्यन्त कुपित हो वह जिस-जिस दिशाकी ओर दृष्टि डालता था, उस-उस दिशामें खड़े हुए

राक्षस भयभीत हो खम्भे आदिकी ओटमें छिप जाते थे ॥ २५ ॥

तमन्तकमिव क्रुद्धं चराचरचिखादिषुम्।
वीक्षमाणं दिशः सर्वा राक्षसा नोपचक्रमुः ॥ २६ ॥

चराचर प्राणियोंको ग्रस लेनेकी इच्छावाले कुपित कालके समान सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर देखते हुए रावणके पास राक्षस नहीं जाते थे—उसके निकट जानेका साहस नहीं करते थे ॥ २६ ॥

ततः परमसंक्रुद्धो रावणो राक्षसाधिपः।
अब्रवीद् रक्षसां मध्ये संस्तम्भयिषुराहवे ॥ २७ ॥

तब अत्यन्त कुपित हुआ राक्षसराज रावण युद्धमें राक्षसोंको स्थापित करनेकी इच्छासे उनके बीचमें खड़ा होकर बोला— ॥ २७ ॥

मया वर्षसहस्राणि चरित्वा परमं तपः।
तेषु तेष्ववकाशेषु स्वयंभूः परितोषितः ॥ २८ ॥

'निशाचरो! मैंने सहस्रों वर्षोतक कठोर तपस्या करके विभिन्न तपस्याओंकी समाप्तिपर स्वयम्भू ब्रह्माजीको संतुष्ट किया है ॥ २८ ॥

तस्यैव तपसो व्युष्ट्या प्रसादाच्च स्वयंभुवः।
नासुरेभ्यो न देवेभ्यो भयं मम कदाचन ॥ २९ ॥

'उसी तपस्याके फलसे और ब्रह्माजीकी कृपासे मुझे देवताओं और असुरोंकी ओरसे कभी भय नहीं है ॥ २९ ॥

कवचं ब्रह्मदत्तं मे यदादित्यसमप्रभम्।
देवासुरविमर्देषु न च्छिन्नं वज्रमुष्टिभिः ॥ ३० ॥

'मेरे पास ब्रह्माजीका दिया हुआ कवच है, जो सूर्यके समान दमकता रहता है। देवताओं और असुरोंके साथ घटित हुए मेरे संग्रामके अवसरोंपर वह वज्रके प्रहारसे भी टूट नहीं सका है ॥ ३० ॥

तेन मामद्य संयुक्तं रथस्थमिह संयुगे।
प्रतीयात् कोऽद्य मामाजौ साक्षादपि पुरंदरः ॥ ३१ ॥

'इसलिये यदि आज मैं युद्धके लिये तैयार हो रथपर बैठकर रणभूमिमें खड़ा होऊँ तो कौन मेरा सामना कर सकता है? साक्षात् इन्द्र ही क्यों न हो, वह भी मुझसे युद्ध करनेका साहस नहीं कर सकता ॥ ३१ ॥

यत् तदाभिप्रसन्नेन सशरं कार्मुकं महत्।
देवासुरविमर्देषु मम दत्तं स्वयंभुवा ॥ ३२ ॥
अद्य तूर्यशतैर्भीमं धनुरुत्थाप्यतां मम।
रामलक्ष्मणयोरेव वधाय परमाहवे ॥ ३३ ॥

'उन दिनों देवासुर-संग्राममें प्रसन्न हुए ब्रह्माजीने मुझे जो बाणसहित विशाल धनुष प्रदान किया था, आज मेरे उसी भयानक धनुषको सैकड़ों मङ्गल-वाद्योंकी ध्वनिके साथ महासमरमें राम और लक्ष्मणका वध करनेके लिये ही उठाया जाय ॥ ३२-३३ ॥

स पुत्रवधसंतप्तः क्रूरः क्रोधवशं गतः।
समीक्ष्य रावणो बुद्ध्या सीतां हन्तुं व्यवस्यत ॥ ३४ ॥

पुत्रके वधसे संतप्त हो क्रोधके वशीभूत हुए क्रूर रावणने अपनी बुद्धिसे सोच-विचारकर सीताको मार डालनेका ही निश्चय किया ॥ ३४ ॥

प्रत्यवेक्ष्य तु ताम्राक्षः सुघोरो घोरदर्शनः।
दीनो दीनस्वरान् सर्वांस्तानुवाच निशाचरान् ॥ ३५ ॥

उसकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं और आकृति अत्यन्त भयानक दिखायी देने लगी। वह सब ओर दृष्टि डालकर पुत्रके लिये दुःखी हो दीनतापूर्ण स्वरवाले सम्पूर्ण निशाचरोंसे बोला— ॥ ३५ ॥

मायया मम वत्सेन वञ्चनार्थं वनौकसाम्।
किंचिदेव हतं तत्र सीतेयमिति दर्शितम् ॥ ३६ ॥

'मेरे बेटेने मायासे केवल वानरोंको चकमा देनेके लिये एक आकृतिको 'यह सीता है' ऐसा कहकर दिखाया और झूठे ही उसका वध किया था ॥ ३६ ॥

तदिदं तथ्यमेवाहं करिष्ये प्रियमात्मनः।
वैदेहीं नाशयिष्यामि क्षत्रबन्धुमनुव्रताम् ॥ ३७ ॥

'सो आज उस झूठको मैं सत्य ही कर दिखाऊँगा और ऐसा करके अपना प्रिय करूँगा। उस क्षत्रियाधम राममें अनुराग रखनेवाली सीताका नाश कर डालूँगा' ॥ ३७ ॥

इत्येवमुक्त्वा सचिवान् खड्गमाशु परामृशत्।
उद्धृत्य गुणसम्पन्नं विमलाम्बरवर्चसम् ॥ ३८ ॥
निष्पपात स वेगेन सभार्यः सचिवैर्वृतः।
रावणः पुत्रशोकेन भृशमाकुलचेतनः ॥ ३९ ॥

मन्त्रियोंसे ऐसा कहकर उसने शीघ्र ही तलवार हाथमें ले ली, जो खड्गोचित गुणोंसे युक्त और आकाशके समान निर्मल कान्तिवाली थी। उसे म्यानसे निकालकर पत्नी और मन्त्रियोंसे घिरा हुआ रावण बड़े वेगसे आगे बढ़ा। पुत्रके शोकसे उसकी चेतना अत्यन्त आकुल हो रही थी ॥ ३८-३९ ॥

संक्रुद्धः खड्गमादाय सहसा यत्र मैथिली।
व्रजन्तं राक्षसं प्रेक्ष्य सिंहनादं विचुक्रुशुः ॥ ४० ॥

वह अत्यन्त कुपित हो तलवार लेकर सहसा उस स्थानपर जा पहुँचा, जहाँ मिथिलेशकुमारी सीता मौजूद थीं। उधर जाते हुए उस राक्षसको देखकर उसके मन्त्री सिंहनाद करने लगे ॥ ४० ॥

ऊचुश्चान्योन्यमालिङ्ग्य संक्रुद्धं प्रेक्ष्य राक्षसम्।
अद्यैनं तावुभौ दृष्ट्वा भ्रातरौ प्रव्यथिष्यतः ॥ ४१ ॥

वे रावणको रोषसे भरा देख एक-दूसरेका आलिङ्गन करके बोले—'आज इसे देखकर वे दोनों भाई राम और लक्ष्मण व्यथित हो उठेंगे ॥ ४१ ॥

लोकपाला हि चत्वारः क्रुद्धेनानेन निर्जिताः।
बहवः शत्रवश्चान्ये संयुगेष्वभिपातिताः ॥ ४२ ॥

'क्योंकि कुपित होनेपर इस राक्षसराजने इन्द्र आदि चारों लोकपालोंको जीत लिया और दूसरे बहुत-से शत्रुओंको भी युद्धमें मार गिराया था ॥ ४२ ॥

त्रिषु लोकेषु रत्नानि भुङ्क्ते आहृत्य रावणः ।
विक्रमे च बले चैव नास्त्यस्य सदृशो भुवि ॥ ४३ ॥

'तीनों लोकोंमें जो रत्नभूत पदार्थ हैं, उन सबको लाकर रावण भोग रहा है। भूमण्डलमें इसके समान पराक्रमी और बलवान् दूसरा कोई नहीं है' ॥ ४३ ॥

तेषां संजल्पमानानामशोकवनिकां गताम् ।
अभिदुद्राव वैदेहीं रावणः क्रोधमूर्च्छितः ॥ ४४ ॥

वे इस प्रकार बातचीत कर ही रहे थे कि क्रोधसे अचेत-सा हुआ रावण अशोक-वाटिकामें बैठी हुई विदेहकुमारी सीताका वध करनेके लिये दौड़ा ॥ ४४ ॥

वार्यमाणः सुसंक्रुद्धः सुहृद्भिर्हितबुद्धिभिः ।
अभ्यधावत संक्रुद्धः खे ग्रहो रोहिणीमिव ॥ ४५ ॥

उसके हितका विचार करनेवाले सुहृद् उस रोषभरे रावणको रोकनेकी चेष्टा कर रहे थे, तो भी वह अत्यन्त कुपित हो जैसे आकाशमें कोई क्रूर ग्रह रोहिणी नामक-नक्षत्रपर आक्रमण करता हो, उसी प्रकार सीताकी ओर दौड़ा ॥ ४५ ॥

मैथिली रक्ष्यमाणा तु राक्षसीभिरनिन्दिता ।
ददर्श राक्षसं क्रुद्धं निस्त्रिंशवरधारिणम् ॥ ४६ ॥
तं निशाम्य सनिस्त्रिंशं व्यथिता जनकात्मजा ।
निवार्यमाणं बहुशः सुहृद्भिरनिवर्तिनम् ॥ ४७ ॥

उस समय सतीसाध्वी सीता राक्षसियोंके संरक्षणमें थीं। उन्होंने देखा, क्रोधसे भरा हुआ राक्षस एक बहुत बड़ी तलवार लिये मुझे मारनेके लिये आ रहा है। यद्यपि उसके सुहृद् उसे बारम्बार रोक रहे हैं तो भी वह लौट नहीं रहा है। इस तरह तलवार ले रावणको आते देख जनकनन्दिनीके मनमें बड़ी व्यथा हुई ॥ ४६-४७ ॥

सीता दुःखसमाविष्टा विलपन्तीदमब्रवीत् ।
यथायं मामभिक्रुद्धः समभिद्रवति स्वयम् ॥ ४८ ॥
वधिष्यति सनाथां मामनाथामिव दुर्मतिः ।

सीता दुःखमें डूब गयीं और विलाप करती हुई इस प्रकार बोलीं—'यह दुर्बुद्धि राक्षस जिस तरह कुपित हो स्वयं मेरी ओर दौड़ा आ रहा है, इससे जान पड़ता है, यह सनाथा होनेपर भी मुझे अनाथाकी भाँति मार डालेगा ॥४८ १/२ ॥

बहुशश्चोदयामास भर्तारं मामनुव्रताम् ॥ ४९ ॥
भार्या मम भवस्वेति प्रत्याख्यातो ध्रुवं मया ।

'मैं अपने पतिमें अनुराग रखती हूँ तो भी इसने अनेक बार प्रेरित किया कि 'तुम मेरी भार्या बन जाओ।' उस समय निश्चय ही मैंने इसे ठुकरा दिया था ॥४९ १/२ ॥

सोऽयं मामनुपस्थाने व्यक्तं नैराश्यमागतः ॥ ५० ॥
क्रोधमोहसमाविष्टो व्यक्तं मां हन्तुमुद्यतः ।

'मेरे इस तरह ठुकरानेपर निश्चय ही यह निराश हो क्रोध और मोहके वशीभूत हो गया है और अवश्य ही मुझे मार डालनेके लिये उद्यत है ॥५० १/२ ॥

अथवा तौ नरव्याघ्रौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ५१ ॥
मन्निमित्तमनार्येण समरेऽद्य निपातितौ ।

'अथवा इस नीचने आज समराङ्गणमें मेरे ही कारण दोनों भाई पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मणको मार गिराया है ॥

भैरवो हि महान् नादो राक्षसानां श्रुतो मया ॥ ५२ ॥
बहूनामिह हृष्टानां तथा विक्रोशतां प्रियम् ।

'क्योंकि इस समय मैंने राक्षसोंका बड़ा भयंकर सिंहनाद सुना है। हर्षसे भरे हुए बहुत-से निशाचर अपने प्रियजनोंको पुकार रहे थे ॥५२ १/२ ॥

अहो धिङ्मन्निमित्तोऽयं विनाशो राजपुत्रयोः ॥ ५३ ॥
अथवा पुत्रशोकेन अहत्वा रामलक्ष्मणौ ।
विधमिष्यति मां रौद्रो राक्षसः पापनिश्चयः ॥ ५४ ॥

'अहो! यदि मेरे कारण उन राजकुमारोंका विनाश हुआ तो मेरे जीवनको धिक्कार है अथवा यह भी सम्भव है कि पापपूर्ण विचार रखनेवाला यह भयंकर राक्षस पुत्रशोकसे संतप्त हो श्रीराम और लक्ष्मणको न मार सकनेके कारण मेरा ही वध कर डाले ॥ ५३-५४ ॥

हनूमतस्तु तद् वाक्यं न कृतं क्षुद्रया मया ।
यद्यहं तस्य पृष्ठेन तदायासमनिर्जिता ॥ ५५ ॥
नाद्यैवमनुशोचेयं भर्तुरङ्कगता सती ।

'मुझ क्षुद्र (मूर्ख) नारीने हनुमान्‌की कही हुई वह बात नहीं मानी। यदि श्रीरामद्वारा जीती न जानेपर भी उस समय हनुमान्‌की पीठपर बैठकर चली गयी होती तो पतिके अङ्कमें स्थान पाकर आज इस तरह बारम्बार शोक नहीं करती ॥५५ १/२ ॥

मन्ये तु हृदयं तस्याः कौसल्यायाः फलिष्यति ॥ ५६ ॥
एकपुत्रा यदा पुत्रं विनष्टं श्रोष्यते युधि ।

'मेरी सास कौसल्या एक ही बेटेकी माँ हैं। यदि वे युद्धमें अपने पुत्रके विनाशका समाचार सुनेंगी तो मैं समझती हूँ कि उनका हृदय अवश्य फट जायगा ॥५६ १/२ ॥

सा हि जन्म च बाल्यं च यौवनं च महात्मनः ॥ ५७ ॥
धर्मकार्याणि रूपं च रुदती संस्मरिष्यति ।

'वे रोती हुई अपने महात्मा पुत्रके जन्म, बाल्यावस्था, युवावस्था, धर्म-कर्म तथा रूपका स्मरण करेंगी ॥५७ १/२ ॥

निराशा निहते पुत्रे दत्त्वा श्राद्धमचेतना ॥ ५८ ॥
अग्निमावेक्ष्यते नूनमपो वापि प्रवेक्ष्यति ।

'अपने पुत्रके मारे जानेपर पुत्र-दर्शनसे निराश एवं अचेत-सी हो वे उनका श्राद्ध करके निश्चय ही जलती आगमें समा जायँगी अथवा सरयूकी जलधारामें आत्मविसर्जन कर देंगी ॥ ५८½ ॥

धिगस्तु कुब्जामसतीं मन्थरां पापनिश्चयाम् ॥ ५९ ॥
यन्निमित्तमिमं शोकं कौसल्या प्रतिपत्स्यते ।

'पापपूर्ण विचारवाली उस दुष्टा कुबड़ी मन्थराको धिक्कार है, जिसके कारण मेरी सास कौसल्याको यह पुत्रका शोक देखना पड़ेगा' ॥ ५९½ ॥

इत्येवं मैथिलीं दृष्ट्वा विलपन्तीं तपस्विनीम् ॥ ६० ॥
रोहिणीमिव चन्द्रेण विना ग्रहवशं गताम् ।
एतस्मिन्नन्तरे तस्य अमात्यः शीलवाञ्छुचिः ॥ ६१ ॥
सुपार्श्वो नाम मेधावी रावणं रक्षसां वरम् ।
निवार्यमाणः सचिवैरिदं वचनमब्रवीत् ॥ ६२ ॥

चन्द्रमासे बिछुड़कर किसी क्रूर ग्रहके वशमें पड़ी हुई रोहिणीकी भाँति तपस्विनी सीताको इस प्रकार विलाप करती देख रावणके सुशील एवं शुद्ध आचार-विचारवाले सुपार्श्वनामक बुद्धिमान् मन्त्रीने दूसरे सचिवोंके मना करनेपर भी उस समय राक्षसराज रावणसे यह बात कही— ॥ ६०—६२ ॥

कथं नाम दशग्रीव साक्षाद्वैश्रवणानुज ।
हन्तुमिच्छसि वैदेहीं क्रोधाद् धर्ममपास्य च ॥ ६३ ॥

'महाराज दशग्रीव! तुम तो साक्षात् कुबेरके भाई हो; फिर क्रोधके कारण धर्मको तिलाञ्जलि दे विदेहकुमारीके वधकी इच्छा कैसे कर रहे हो? ॥ ६३ ॥

वेदविद्याव्रतस्नातः स्वकर्मनिरतस्तथा ।
स्त्रियः कस्माद् वधं वीर मन्यसे राक्षसेश्वर ॥ ६४ ॥

'वीर राक्षसराज! तुम विधिपूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए वेदविद्याका अध्ययन पूरा करके गुरुकुलसे स्नातक होकर निकले थे और तबसे सदा अपने कर्तव्यके पालनमें लगे रहे तो भी आज अपने हाथसे एक स्त्रीका वध करना तुम कैसे ठीक समझते हो? ॥ ६४ ॥

मैथिलीं रूपसम्पन्नां प्रत्यवेक्षस्व पार्थिव ।
तस्मिन्नेव सहास्माभिराहवे क्रोधमुत्सृज ॥ ६५ ॥

'पृथ्वीनाथ! इस मिथिलेशकुमारीके दिव्य रूपकी ओर देखो (देखकर इसके ऊपर दया करो) और युद्धमें हमलोगोंके साथ चलकर रामपर ही अपना क्रोध उतारो ॥ ६५ ॥

अभ्युत्थानं त्वमद्यैव कृष्णपक्षचतुर्दशी ।
कृत्वा निर्याह्यमावास्यां विजयाय बलैर्वृतः ॥ ६६ ॥

'आज कृष्णपक्षकी चतुर्दशी है। अतः आज ही युद्धकी तैयारी करके कल अमावस्याके दिन सेनाके साथ विजयके लिये प्रस्थान करो ॥ ६६ ॥

शूरो धीमान् रथी खड्गी रथप्रवरमास्थितः ।
हत्वा दाशरथिं रामं भवान् प्राप्स्यति मैथिलीम् ॥ ६७ ॥

'तुम शूरवीर, बुद्धिमान् और रथी वीर हो। एक श्रेष्ठ रथपर आरूढ़ हो खड्ग हाथमें लेकर युद्ध करो। दशरथनन्दन रामका वध करके तुम मिथिलेशकुमारी सीताको प्राप्त कर लोगे' ॥ ६७ ॥

स तद् दुरात्मा सुहृदा निवेदितं
वचः सुधर्म्यं प्रतिगृह्य रावणः ।
गृहं जगामाथ ततश्च वीर्यवान्
पुनः सभां च प्रययौ सुहृद्वृतः ॥ ६८ ॥

मित्रके कहे हुए उस उत्तम धर्मानुकूल वचनको स्वीकार करके बलवान् दुरात्मा रावण महलमें लौट गया और वहाँसे फिर अपने सुहृदोंके साथ उसने राजसभामें प्रवेश किया ॥ ६८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे द्विनवतितमः सर्गः ॥ ९२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें बानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९२ ॥

—★—

त्रिनवतितमः सर्गः

श्रीरामद्वारा राक्षससेनाका संहार

स प्रविश्य सभां राजा दीनः परमदुःखितः ।
निषसादासने मुख्ये सिंहः क्रुद्ध इव श्वसन् ॥ १ ॥

सभामें पहुँचकर राक्षसराज रावण अत्यन्त दुःखी एवं दीन हो श्रेष्ठ सिंहासनपर बैठा और कुपित सिंहकी भाँति लम्बी साँस लेने लगा ॥ १ ॥

अब्रवीच्च स तान् सर्वान् बलमुख्यान् महाबलः ।
रावणः प्राञ्जलिर्वाक्यं पुत्रव्यसनकर्शितः ॥ २ ॥

वह महाबली रावण पुत्रशोकसे पीड़ित हो रहा था; अतः अपनी सेनाके प्रधान-प्रधान योद्धाओंसे हाथ जोड़कर बोला— ॥ २ ॥

सर्वे भवन्तः सर्वेण हस्त्यश्वेन समावृताः ।
निर्यान्तु रथसङ्घैश्च पादातैश्चोपशोभिताः ॥ ३ ॥
एकं रामं परिक्षिप्य समरे हन्तुमर्हथ ।
वर्षन्तः शरवर्षाणि प्रावृट्काल इवाम्बुदाः ॥ ४ ॥

'वीरो! तुम सब लोग समस्त हाथी, घोड़े, रथसमुदाय तथा पैदल सैनिकोंसे घिरकर उन सबसे सुशोभित होते हुए नगरसे बाहर निकलो और समरभूमिमें एकमात्र रामको चारों ओरसे घेरकर मार डालो। जैसे वर्षाकालमें बादल जलकी वर्षा करते हैं, उसी प्रकार तुमलोग भी बाणोंकी वृष्टि करते हुए रामको मार डालनेका प्रयत्न करो॥ ३-४॥

अथवाहं शरैस्तीक्ष्णैर्भिन्नगात्रं महाहवे।
भवद्भिः श्वो निहन्तास्मि रामं लोकस्य पश्यतः॥ ५॥

'अथवा मैं ही कल महासमरमें तुम्हारे साथ रहकर अपने तीखे बाणोंसे रामके शरीरको छिन्न-भिन्न करके सब लोगोंके देखते-देखते उन्हें मार डालूँगा'॥ ५॥

इत्येतद् वाक्यमादाय राक्षसेन्द्रस्य राक्षसाः।
निर्ययुस्ते रथैः शीघ्रैर्नानानीकैश्च संयुताः॥ ६॥

राक्षसराजकी इस आज्ञाको शिरोधार्य करके वे निशाचर शीघ्रगामी रथों तथा नाना प्रकारकी सेनाओंसे युक्त हो लङ्कासे निकले॥ ६॥

परिघान् पट्टिशांश्चैव शरखड्गपरश्वधान्।
शरीरान्तकरान् सर्वे चिक्षिपुर्वानरान् प्रति॥ ७॥
वानराश्च द्रुमाञ्छैलान् राक्षसान् प्रति चिक्षिपुः।

वे सब राक्षस वानरोंपर परिघ, पट्टिश, बाण, तलवार तथा फरसे आदि शरीरनाशक अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करने लगे। इसी प्रकार वानर भी राक्षसोंपर पेड़ों और पत्थरोंकी वर्षा करने लगे॥ ७½॥

स संग्रामो महाभीमः सूर्यस्योदयनं प्रति॥ ८॥
रक्षसां वानराणां च तुमुलः समपद्यत।

सूर्योदयके समय राक्षसों और वानरोंके उस तुमुल युद्धने महाभयंकर रूप धारण किया॥ ८½॥

ते गदाभिश्च चित्राभिः प्रासैः खड्गैः परश्वधैः॥ ९॥
अन्योन्यं समरे जघ्नुस्तदा वानरराक्षसाः।

वानर और राक्षस उस युद्धभूमिमें विचित्र गदाओं, भालों, तलवारों और फरसोंसे एक-दूसरेको मारने लगे॥ ९½॥

एवं प्रवृत्ते संग्रामे ह्यद्भुतं सुमहद्रजः॥ १०॥
रक्षसां वानराणां च शान्तं शोणितविस्रवैः।

इस प्रकार युद्ध छिड़ जानेपर जो बहुत बड़ी धूलराशि उड़ रही थी, वह राक्षसों और वानरोंके रक्तका प्रवाह जारी होनेसे शान्त हो गयी। यह एक अद्भुत बात थी॥ १०½॥

मातंगरथकूलाश्च शरमत्स्या ध्वजद्रुमाः॥ ११॥
शरीरसंघाटवहाः प्रसस्रुः शोणितापगाः।

रणभूमिमें खूनकी कितनी ही नदियाँ बह चलीं, जो काष्ठसमूहकी भाँति शरीरसमुदायको ही बहाये लिये जाती थीं। गिरे हुए हाथी और रथ उन नदियोंके किनारे जान पड़ते थे। बाण मत्स्यके समान प्रतीत होते थे और ऊँचे-ऊँचे ध्वज ही उनके तटवर्ती वृक्ष थे॥ ११½॥

ततस्ते वानराः सर्वे शोणितौघपरिप्लुताः॥ १२॥
ध्वजवर्मरथानश्वान् नानाप्रहरणानि च।
आप्लुत्याप्लुत्य समरे वानरेन्द्रा बभञ्जिरे॥ १३॥

समस्त वानर खूनसे लथपथ हो रहे थे। वे कूद-कूदकर समराङ्गणमें राक्षसोंके ध्वज, कवच, रथ, घोड़े और नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंका विनाश करने लगे॥ १२-१३॥

केशान् कर्णललाटं च नासिकाश्च प्लवंगमाः।
रक्षसां दशनैस्तीक्ष्णैर्नखैश्चापि व्यकर्तयन्॥ १४॥

वानर अपने तीखे दाँतों और नखोंसे निशाचरोंके केश, कान, ललाट और नाक कुतर डालते थे॥ १४॥

एकैकं राक्षसं संख्ये शतं वानरपुंगवाः।
अभ्यधावन्त फलिनं वृक्षं शकुनयो यथा॥ १५॥

जैसे फलवाले वृक्षकी ओर सैकड़ों पक्षी दौड़ जाते हैं, उसी प्रकार एक-एक राक्षसपर सौ-सौ वानर टूट पड़े॥ १५॥

तदा गदाभिर्गुर्वीभिः प्रासैः खड्गैः परश्वधैः।
निर्जघ्नुर्वानरान् घोरान् राक्षसाः पर्वतोपमाः॥ १६॥

उस समय पर्वताकार राक्षस भी भारी गदाओं, भालों, तलवारों और फरसोंसे भयंकर वानरोंको मारने लगे॥ १६॥

राक्षसैर्वध्यमानानां वानराणां महाचमूः।
शरण्यं शरणं याता रामं दशरथात्मजम्॥ १७॥

राक्षसोंद्वारा मारी जाती हुई वानरोंकी वह विशाल सेना शरणागतवत्सल दशरथनन्दन भगवान् श्रीरामकी शरणमें गयी॥ १७॥

ततो रामो महातेजा धनुरादाय वीर्यवान्।
प्रविश्य राक्षसं सैन्यं शरवर्षं ववर्ष च॥ १८॥

तब बल-विक्रमशाली महातेजस्वी श्रीरामने धनुष ले राक्षसोंकी सेनामें प्रवेश करके बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी॥ १८॥

प्रविष्टं तु तदा रामं मेघाः सूर्यमिवाम्बरे।
नाभिजग्मुर्महाघोरा निर्दहन्तं शराग्निना॥ १९॥

जैसे आकाशमें बादल तपते हुए सूर्यपर आक्रमण नहीं कर सकते, उसी प्रकार सेनामें प्रवेश करके अपने बाणरूपी अग्निसे राक्षससेनाको दग्ध करते हुए श्रीरामपर वे महाक्रूर निशाचर धावा न कर सके॥ १९॥

कृतान्येव सुघोराणि रामेण रजनीचराः।
रणे रामस्य ददृशुः कर्माण्यसुकराणि ते॥ २०॥

निशाचर रणभूमिमें श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा किये गये अत्यन्त घोर एवं दुष्कर कर्मोंको ही देख पाते थे, उनके स्वरूपको नहीं॥ २०॥

चालयन्तं महासैन्यं विधमन्तं महारथान्।
ददृशुस्ते न वै रामं वातं वनगतं यथा॥ २१॥

जैसे वनमें चलती हुई हवा बड़े-बड़े वृक्षोंको हिलाती और तोड़ डालती है तो भी वह देखनेमें नहीं आती, उसी प्रकार भगवान् श्रीराम निशाचरोंकी विशाल सेनाको विचलित करते और कितने ही महारथियोंकी धज्जियाँ उड़ा देते थे, तो भी वे राक्षस उन्हें देख नहीं पाते थे॥ २१॥

छिन्नं भिन्नं शरैर्दग्धं प्रभग्नं शस्त्रपीडितम्।
बलं रामेण ददृशुर्न रामं शीघ्रकारिणम्॥ २२॥

वे अपनी सेनाको श्रीरामके द्वारा बाणोंसे छिन्न-भिन्न, दग्ध, भग्न और पीड़ित होती हुई देखते थे; किंतु शीघ्रतापूर्वक युद्ध करनेवाले श्रीराम उनकी दृष्टिमें नहीं आते थे॥ २२॥

प्रहरन्तं शरीरेषु न ते पश्यन्ति राघवम्।
इन्द्रियार्थेषु तिष्ठन्तं भूतात्मानमिव प्रजाः॥ २३॥

अपने शरीरोंपर प्रहार करते हुए श्रीरघुनाथजीको वे उसी तरह नहीं देख पाते थे, जैसे शब्दादि विषयोंके भोक्तारूपमें स्थित जीवात्माको प्रजाएँ नहीं देख पाती हैं॥ २३॥

एष हन्ति गजानीकमेष हन्ति महारथान्।
एष हन्ति शरैस्तीक्ष्णैः पदातीन् वाजिभिः सह॥ २४॥
इति ते राक्षसाः सर्वे रामस्य सदृशान् रणे।
अन्योन्यं कुपिता जघ्नुः सादृश्याद् राघवस्य तु॥ २५॥

'ये राम हैं, जो हाथियोंकी सेनाको मार रहे हैं, ये रहे राम, जो बड़े-बड़े रथियोंका संहार कर रहे हैं, नहीं-नहीं ये हैं राम, जो अपने पैने बाणोंसे घोड़ोसहित पैदल सैनिकोंका वध कर रहे हैं' इस प्रकार वे सब राक्षस श्रीरघुनाथजीकी किंचित् समानताके कारण सभीको राम समझ लेते और रामके ही भ्रमसे क्रोधमें भरकर आपसमें एक-दूसरेको मारने लगते थे॥ २४-२५॥

न ते ददृशिरे रामं दहन्तमपि वाहिनीम्।
मोहिताः परमास्त्रेण गान्धर्वेण महात्मना॥ २६॥

श्रीरामचन्द्रजी राक्षससेनाको दग्ध कर रहे थे तो भी वे राक्षस उन्हें देख नहीं सके। महात्मा श्रीरामने राक्षसोंको गान्धर्व नामक दिव्य अस्त्रसे मोहित कर दिया था॥ २६॥

ते तु रामसहस्राणि रणे पश्यन्ति राक्षसाः।
पुनः पश्यन्ति काकुत्स्थमेकमेव महाहवे॥ २७॥

अतः वे राक्षस रणभूमिमें कभी तो हजारों राम देखते थे और कभी उन्हें उस महासमरमें एक ही रामका दर्शन होता था॥ २७॥

भ्रमन्तीं काञ्चनीं कोटिं कार्मुकस्य महात्मनः।
अलातचक्रप्रतिमां ददृशुस्ते न राघवम्॥ २८॥

वे महात्मा श्रीरामके धनुषकी सुनहरी कोटि (नोक या अग्रभाग) को अलातचक्रकी भाँति घूमती देखते थे; किंतु साक्षात् श्रीरघुनाथजीको नहीं देख पाते थे॥ २८॥

शरीरनाभि सत्त्वार्चिः शरारं नेमिकार्मुकम्।
ज्याघोषतलनिर्घोषं तेजोबुद्धिगुणप्रभम्॥ २९॥
दिव्यास्त्रगुणपर्यन्तं निघ्नन्तं युधि राक्षसान्।
ददृशू रामचक्रं तत् कालचक्रमिव प्रजाः॥ ३०॥

युद्धस्थलमें राक्षसोंका संहार करते हुए श्रीरामचन्द्रजी साक्षात् चक्रके समान जान पड़ते थे। शरीरका मध्यभाग अर्थात् नाभि ही उस चक्रकी नाभि थी, बल ही उससे प्रकट होनेवाली ज्वाला था, बाण ही उसके अरे थे, धनुष ही नेमिका स्थान ग्रहण किये हुए था, धनुषकी टंकार और तलध्वनि—ये ही दोनों उस चक्रकी घर्घराहट थीं, तेज, बुद्धि और कान्ति आदि गुण ही उस चक्रकी प्रभा थे तथा दिव्यास्त्रोंके गुणप्रभाव ही उसके प्रान्तभाग अर्थात् धार थे। जैसे प्रजा प्रलयकालमें कालचक्रका दर्शन करती है, उसी प्रकार राक्षस उस समय श्रीरामरूपी चक्रको देख रहे थे॥ २९-३०॥

अनीकं दशसाहस्रं रथानां वातरंहसाम्।
अष्टादश सहस्राणि कुञ्जराणां तरस्विनाम्॥ ३१॥
चतुर्दश सहस्राणि सारोहाणां च वाजिनाम्।
पूर्णे शतसहस्रे द्वे राक्षसानां पदातिनाम्॥ ३२॥
दिवसस्याष्टभागेन शरैरग्निशिखोपमैः।
हतान्येकेन रामेण रक्षसां कामरूपिणाम्॥ ३३॥

श्रीरामने अकेले दिनके आठवें भाग (डेढ़ घंटे) में ही आगकी ज्वालाके समान तेजस्वी बाणोंद्वारा इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले राक्षसोंके वायुके समान वेगशाली दस हजार रथोंकी, अठारह हजार वेगवान् हाथियोंकी, चौदह हजार सवारोंसहित घोड़ोंकी तथा पूरे दो लाख पैदल निशाचरोंकी सेनाका संहार कर डाला॥ ३१—३३॥

ते हताश्वा हतरथाः शान्ता विमथितध्वजाः।
अभिपेतुः पुरीं लङ्कां हतशेषा निशाचराः॥ ३४॥

जब घोड़े और रथ नष्ट हो गये तथा ध्वज तोड़-फोड़ डाले गये, तब मरनेसे बचे हुए निशाचर शान्त हो लङ्कापुरीमें भाग गये॥ ३४॥

हतैर्गजपदात्यश्वैस्तद् बभूव रणाजिरम्।
आक्रीडभूमिः क्रुद्धस्य रुद्रस्येव महात्मनः॥ ३५॥

मारे गये हाथियों, घोड़ों और पैदल सैनिकोंकी लाशोंसे भरी हुई वह रणभूमि कुपित हुए महात्मा रुद्रदेवकी क्रीडाभूमि-सी प्रतीत होती थी॥ ३५॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः।
साधु साध्विति रामस्य तत् कर्म समपूजयन्॥ ३६॥

तदनन्तर देवता, गन्धर्व, सिद्ध और महर्षियोंने साधुवाद देकर भगवान् श्रीरामके इस कार्यकी प्रशंसा की॥ ३६॥

अब्रवीच्च तदा रामः सुग्रीवं प्रत्यनन्तरम्।
विभीषणं च धर्मात्मा हनूमन्तं च वानरम्॥ ३७॥
जाम्बवन्तं हरिश्रेष्ठं मैन्दं द्विविदमेव च।
एतदस्त्रबलं दिव्यं मम वा त्र्यम्बकस्य वा॥ ३८॥

उस समय धर्मात्मा श्रीरामने अपने पास खड़े हुए सुग्रीव, विभीषण, कपिवर हनुमान्, जाम्बवान्, कपिश्रेष्ठ मैन्द तथा द्विविदसे कहा—'यह दिव्य अस्त्र-बल मुझमें है या भगवान् शंकरमें' ॥ ३७-३८ ॥

निहत्य तां राक्षसराजवाहिनीं
रामस्तदा शक्रसमो महात्मा ।
अस्त्रेषु शस्त्रेषु जितक्लमश्च
संस्तूयते देवगणैः प्रहृष्टैः ॥ ३९ ॥

उस अवसरपर इन्द्रतुल्य तेजस्वी महात्मा श्रीराम जो अस्त्र-शस्त्रोंका संचालन करते समय कभी थकते नहीं थे, उस राक्षसराजकी सेनाका संहार करके हर्षभरे देवताओंके समुदायद्वारा पूजित एवं प्रशंसित होने लगे ॥ ३९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे त्रिनवतितमः सर्गः ॥ ९३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें तिरानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९३ ॥

चतुर्नवतितमः सर्गः

राक्षसियोंका विलाप

तानि नागसहस्राणि सारोहाणि च वाजिनाम् ।
रथानां त्वग्निवर्णानां सध्वजानां सहस्रशः ॥ १ ॥
राक्षसानां सहस्राणि गदापरिघयोधिनाम् ।
काञ्चनध्वजचित्राणां शूराणां कामरूपिणाम् ॥ २ ॥
निहतानि शरैर्दीप्तैस्तप्तकाञ्चनभूषणैः ।
रावणेन प्रयुक्तानि रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ ३ ॥
दृष्ट्वा श्रुत्वा च सम्भ्रान्ता हतशेषा निशाचराः ।
राक्षस्यश्च समागम्य दीनाश्चिन्तापरिप्लुताः ॥ ४ ॥

अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले भगवान् श्रीरामके द्वारा उनके तपाये हुए सुवर्णसे विभूषित चमकीले बाणोंसे रावणके भेजे हुए हजारों हाथी, सवारोंसहित सहस्रों घोड़े, अग्निके समान देदीप्यमान एवं ध्वजोंसे सुशोभित सहस्रों रथ तथा इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले, सुवर्णमय ध्वजसे विचित्र शोभा पानेवाले और गदा-परिघोंसे युद्ध करनेवाले हजारों शूरवीर राक्षस मारे गये—यह देख-सुनकर मरनेसे बचे हुए निशाचर घबरा उठे और लङ्कामें जा राक्षसियोंसे मिलकर बहुत ही दुःखी एवं चिन्तामग्न हो गये ॥ १—४ ॥

विधवा हतपुत्राश्च क्रोशन्त्यो हतबान्धवाः ।
राक्षस्यः सह संगम्य दुःखार्ताः पर्यदेवयन् ॥ ५ ॥

जिनके पति, पुत्र और भाई-बन्धु मारे गये थे, वे अनाथ राक्षसियाँ झुंड-की-झुंड एकत्र होकर दुःखसे पीड़ित हो विलाप करने लगीं— ॥ ५ ॥

कथं शूर्पणखा वृद्धा कराला निर्णतोदरी ।
आससाद वने रामं कंदर्पसमरूपिणम् ॥ ६ ॥

'हाय ! जिसका पेट धँसा हुआ और आकार विकराल है, वह बुढ़िया शूर्पणखा वनमें कामदेवके समान रूपवाले श्रीरामके पास कामभाव लेकर कैसे गयी—किस तरह जानेका साहस कर सकी ? ॥ ६ ॥

सुकुमारं महासत्त्वं सर्वभूतहिते रतम् ।
तं दृष्ट्वा लोकवध्या सा हीनरूपा प्रकामिता ॥ ७ ॥

'जो भगवान् राम सुकुमार और महान् बलशाली हैं तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें संलग्न रहते हैं, उन्हें देखकर वह कुरूपा राक्षसी उनके प्रति कामभावसे युक्त हो गयी—यह कैसा दुःसाहस है ? यह दुष्टा तो सबके द्वारा मार डालनेके योग्य है ॥ ७ ॥

कथं सर्वगुणैर्हीना गुणवन्तं महौजसम् ।
सुमुखं दुर्मुखी रामं कामयामास राक्षसी ॥ ८ ॥

'कहाँ सर्वगुणसम्पन्न, महान् बलशाली तथा सुन्दर मुखवाले श्रीराम और कहाँ वह सभी गुणोंसे हीन, दुर्मुखी राक्षसी ! उसने कैसे उनकी कामना की ? ॥ ८ ॥

जनस्यास्याल्पभाग्यत्वाद् वलिनी श्वेतमूर्धजा ।
अकार्यमपहास्यं च सर्वलोकविगर्हितम् ॥ ९ ॥
राक्षसानां विनाशाय दूषणस्य खरस्य च ।
चकाराप्रतिरूपा सा राघवस्य प्रधर्षणम् ॥ १० ॥

'जिसके सारे अङ्गोंमें झुर्रियाँ पड़ गयी हैं, सिरके बाल सफेद हो गये हैं तथा जो किसी भी दृष्टिसे श्रीरामके योग्य नहीं है, उस दुष्टाने हम लङ्कावासियोंके दुर्भाग्यसे ही खर, दूषण तथा अन्य राक्षसोंके विनाशके लिये श्रीरामका धर्षण (उन्हें अपने स्पर्शसे दूषित करनेका प्रयास) किया था ॥ ९-१० ॥

तन्निमित्तमिदं वैरं रावणेन कृतं महत् ।
वधाय सीता साऽऽनीता दशग्रीवेण रक्षसा ॥ ११ ॥

'उसके कारण ही दशमुख राक्षस रावणने यह महान् वैर बाँध लिया और अपने तथा राक्षसकुलके वधके लिये वह सीताजीको हर लाया ॥ ११ ॥

न च सीतां दशग्रीवः प्राप्नोति जनकात्मजाम् ।
बद्धं बलवता वैरमक्षयं राघवेण च ॥ १२ ॥

'दशमुख रावण जनकनन्दिनी सीताको कभी नहीं पा सकेगा; परंतु उसने बलवान् रघुनाथजीसे अमित्र वैर ठान लिया है॥ १२॥

वैदेहीं प्रार्थयानं तं विराधं प्रेक्ष्य राक्षसम्।
हतमेकेन रामेण पर्याप्तं तन्निदर्शनम्॥ १३॥

'राक्षस विराध विदेहकुमारी सीताको प्राप्त करना चाहता है, यह देख श्रीरामने एक ही बाणसे उसका काम तमाम कर दिया। यह एक ही दृष्टान्त उनकी अजेय शक्तिको समझनेके लिये काफी था॥ १३॥

चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम्।
निहतानि जनस्थाने शरैरग्निशिखोपमैः॥ १४॥
खरश्च निहतः संख्ये दूषणस्त्रिशिरास्तथा।
शरैरादित्यसंकाशैः पर्याप्तं तन्निदर्शनम्॥ १५॥

'जनस्थानमें भयानक कर्म करनेवाले चौदह हजार राक्षसोंको श्रीरामने अग्निशिखाके समान तेजस्वी बाणोंद्वारा कालके गालमें डाल दिया था और सूर्यके सदृश प्रकाशमान सायकोंके समराङ्गणमें खर, दूषण तथा त्रिशिराका भी संहार कर डाला था; वह उनकी अजेयताको समझ लेनेके लिये पर्याप्त दृष्टान्त था॥ १४-१५॥

हतो योजनबाहुश्च कबन्धो रुधिराशनः।
क्रोधान्नादं नदन् सोऽथ पर्याप्तं तन्निदर्शनम्॥ १६॥

'रक्तभोजी राक्षस कबन्धकी बाँहें एक-एक योजन लम्बी थीं और वह क्रोधवश बड़े जोर-जोरसे सिंहनाद करता था तो भी वह श्रीरामके हाथसे मारा गया। यह दृष्टान्त ही श्रीरामचन्द्रजीके दुर्जय पराक्रमका ज्ञान करानेके लिये पर्याप्त था॥ १६॥

जघान बलिनं रामः सहस्रनयनात्मजम्।
वालिनं मेरुसंकाशं पर्याप्तं तन्निदर्शनम्॥ १७॥

'मेरुपर्वतके समान महाकाय बलवान् इन्द्रकुमार वालीको श्रीरामचन्द्रजीने एक ही बाणसे मार गिराया। उनकी शक्तिका अनुमान लगानेके लिये वह एक ही उदाहरण काफी है॥ १७॥

ऋष्यमूके वसंश्चैव दीनो भग्नमनोरथः।
सुग्रीवः प्रापितो राज्यं पर्याप्तं तन्निदर्शनम्॥ १८॥

'सुग्रीव बहुत ही दुःखी और निराश होकर ऋष्यमूक पर्वतपर निवास करते थे; परंतु श्रीरामने उन्हें किष्किन्धाके राजसिंहासनपर बिठा दिया। उनके प्रभावको समझनेके लिये यह एक ही दृष्टान्त पर्याप्त है॥ १८॥

धर्मार्थसहितं वाक्यं सर्वेषां रक्षसां हितम्।
युक्तं विभीषणेनोक्तं मोहात् तस्य न रोचते॥ १९॥
विभीषणवचः कुर्याद् यदि स्म धनदानुजः।
श्मशानभूता दुःखार्ता नेयं लङ्का भविष्यति॥ २०॥

'विभीषणने जो धर्म और अर्थसे युक्त बात कही थी, वह सभी राक्षसोंके लिये हितकर तथा युक्तियुक्त थी; परंतु मोहवश रावणको वह अच्छी न लगी। यदि कुबेरका छोटा भाई रावण विभीषणकी बात मान लेता तो यह लङ्कापुरी इस तरह दुःखसे पीड़ित हो श्मशानभूमि नहीं बन जाती॥ १९-२०॥

कुम्भकर्णं हतं श्रुत्वा राघवेण महाबलम्।
अतिकायं च दुर्मर्षं लक्ष्मणेन हतं तदा।
प्रियं चेन्द्रजितं पुत्रं रावणो नावबुध्यते॥ २१॥

'महाबली कुम्भकर्ण श्रीरामके हाथसे मारा गया। दुःसह वीर अतिकायको लक्ष्मणने मार गिराया तथा रावणका प्यारा पुत्र इन्द्रजित् भी उन्हींके हाथसे मारा गया तथापि रावण भगवान् श्रीरामके प्रभावको नहीं समझ रहा है॥ २१॥

मम पुत्रो मम भ्राता मम भर्ता रणे हतः।
इत्येष श्रूयते शब्दो राक्षसीनां कुले कुले॥ २२॥

'हाय! मेरा बेटा मारा गया!' 'मेरे भाईको प्राणोंसे हाथ धोना पड़ा।' 'रणभूमिमें मेरे पतिदेव मार डाले गये।' लङ्काके घर-घरमें राक्षसियोंके ये शब्द सुनायी देते हैं॥ २२॥

रथाश्वनागाश्च हतास्तत्र तत्र सहस्रशः।
रणे रामेण शूरेण हताश्चापि पदातयः॥ २३॥

'समराङ्गणमें शूरवीर श्रीरामने जहाँ-तहाँ सहस्रों रथों, घोड़ों और हाथियोंका संहार कर डाला है। पैदल सैनिकोंको भी मौतके घाट उतार दिया है॥ २३॥

रुद्रो वा यदि वा विष्णुर्महेन्द्रो वा शतक्रतुः।
हन्ति नो रामरूपेण यदि वा स्वयमन्तकः॥ २४॥

'जान पड़ता है, श्रीरामका रूप धारण करके हमें साक्षात् भगवान् रुद्रदेव, भगवान् विष्णु, शतक्रतु इन्द्र अथवा स्वयं यमराज ही मार रहे हैं॥ २४॥

हतप्रवीरा रामेण निराशा जीविते वयम्।
अपश्यन्त्यो भयस्यान्तमनाथा विलपामहे॥ २५॥

'हमारे प्रमुख वीर श्रीरामके हाथसे मारे गये। अब हमलोग अपने जीवनसे निराश हो चली हैं। हमें इस भयका अन्त नहीं दिखायी देता, अतएव हम अनाथकी भाँति विलाप कर रही हैं॥ २५॥

रामहस्ताद् दशग्रीवः शूरो दत्तमहावरः।
इदं भयं महाघोरं समुत्पन्नं न बुद्ध्यते॥ २६॥

'दशमुख रावण शूरवीर है। इसे ब्रह्माजीने महान् वर दिया है। इसी घमंडके कारण यह श्रीरामके हाथसे प्राप्त हुए इस महाघोर भयको नहीं समझ पाता है॥ २६॥

तं न देवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः।
उपसृष्टं परित्रातुं शक्ता रामेण संयुगे॥ २७॥

'युद्धस्थलमें श्रीराम जिसे मारनेको तुल जायँ, उसे न तो देवता, न गन्धर्व, न पिशाच और न राक्षस ही बचा सकते हैं॥ २७॥

उत्पाताश्चापि दृश्यन्ते रावणस्य रणे रणे।
कथयन्ति हि रामेण रावणस्य निबर्हणम्॥ २८॥

'रावणके प्रत्येक युद्धमें जो उत्पात दिखायी देते हैं, वे रामके द्वारा रावणके विनाशकी ही सूचना देते हैं॥ २८॥

पितामहेन प्रीतेन देवदानवराक्षसैः।
रावणस्याभयं दत्तं मनुष्येभ्यो न याचितम्॥ २९॥

'ब्रह्माजीने प्रसन्न होकर रावणको देवताओं, दानवों तथा राक्षसोंकी ओरसे अभयदान दे दिया था। मनुष्योंकी ओरसे अभय प्राप्त होनेके लिये इसने याचना ही नहीं की थी॥ २९॥

तदिदं मानुषं मन्ये प्राप्तं निःसंशयं भयम्।
जीवितान्तकरं घोरं रक्षसां रावणस्य च॥ ३०॥

'अतः मुझे ऐसा जान पड़ता है कि यह निःसन्देह मनुष्योंकी ओरसे ही घोर भय प्राप्त हुआ है, जो राक्षसों तथा रावणके जीवनका अन्त कर देनेवाला है॥ ३०॥

पीड्यमानास्तु बलिना वरदानेन रक्षसा।
दीप्तैस्तपोभिर्विबुधाः पितामहमपूजयन्॥ ३१॥

'बलवान् राक्षस रावणने अपनी उद्दीप्त तपस्या तथा वरदानके प्रभावसे जब देवताओंको पीड़ा दी, तब उन्होंने पितामह ब्रह्माजीकी आराधना की॥ ३१॥

देवतानां हितार्थाय महात्मा वै पितामहः।
उवाच देवतास्तुष्ट इदं सर्वा महद्वचः॥ ३२॥

'इससे महात्मा ब्रह्माजी संतुष्ट हुए और उन्होंने देवताओंके हितके लिये उन सबसे यह महत्त्वपूर्ण बात कही॥ ३२॥

अद्यप्रभृति लोकांस्त्रीन् सर्वे दानवराक्षसाः।
भयेन प्रभृता नित्यं विचरिष्यन्ति शाश्वतम्॥ ३३॥

'आजसे समस्त दानव तथा राक्षस भयसे युक्त होकर ही नित्य-निरन्तर तीनों लोकोंमें विचरण करेंगे'॥ ३३॥

दैवतैस्तु समागम्य सर्वैश्चेन्द्रपुरोगमैः।
वृषध्वजस्त्रिपुरहा महादेवः प्रतोषितः॥ ३४॥

'तत्पश्चात् इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवताओंने मिलकर त्रिपुरनाशक वृषभध्वज महादेवजीको संतुष्ट किया॥ ३४॥

प्रसन्नस्तु महादेवो देवानेतद् वचोऽब्रवीत्।
उत्पत्स्यति हितार्थं वो नारी रक्षःक्षयावहा॥ ३५॥

'संतुष्ट होनेपर महादेवजीने देवताओंसे कहा—'तुम लोगोंके हितके लिये एक दिव्य नारीका आविर्भाव होगा, जो समस्त राक्षसोंके विनाशमें कारण होगी॥ ३५॥

एषा देवैः प्रयुक्ता तु क्षुद् यथा दानवान् पुरा।
भक्षयिष्यति नः सर्वान् राक्षसघ्नी सरावणान्॥ ३६॥

'जैसे पूर्वकल्पमें देवताओंद्वारा प्रयुक्त हुई क्षुधाने दानवोंका भक्षण किया था, उसी प्रकार यह निशाचरनाशिनी सीता रावणसहित हम सब लोगोंको खा जायगी॥ ३६॥

रावणस्यापनीतेन दुर्विनीतस्य दुर्मतेः।
अयं निष्टानको घोरः शोकेन समभिप्लुतः॥ ३७॥

'उद्दण्ड और दुर्बुद्धि रावणके अन्यायसे यह शोकसंयुक्त घोर विनाश हम सबको प्राप्त हुआ है॥ ३७॥

तं न पश्यामहे लोके यो नः शरणदो भवेत्।
राघवेणोपसृष्टानां कालेनेव युगक्षये॥ ३८॥

'जगत्में हम किसी ऐसे पुरुषको नहीं देखतीं हैं, जो महाप्रलयके समय कालकी भाँति इस समय श्रीरघुनाथजीसे संकटमें पड़ी हुई हम राक्षसियोंको शरण दे सके॥ ३८॥

नास्ति नः शरणं किंचिद् भये महति तिष्ठताम्।
दावाग्निवेष्टितानां हि करेणूनां यथा वने॥ ३९॥

'हम बड़े भारी भयकी अवस्थामें स्थित हैं। जैसे वनमें दावानलसे घिरी हुई हथिनियोंको कहीं प्राण बचानेके लिये जगह नहीं मिलती, उसी तरह हमारे लिये भी कोई शरण नहीं है॥ ३९॥

प्राप्तकालं कृतं तेन पौलस्त्येन महात्मना।
यत एव भयं दृष्टं तमेव शरणं गतः॥ ४०॥

'महात्मा पुलस्त्यनन्दन विभीषणने समयोचित कार्य किया है। उन्हें जिनसे भय दिखायी दिया, उन्हींकी शरणमें वे चले गये'॥ ४०॥

इतीव सर्वा रजनीचरस्त्रियः
परस्परं सम्परिरभ्य बाहुभिः।
विषेदुरार्तातिभयाभिपीडिता
विनेदुरुच्चैश्च तदा सुदारुणम्॥ ४१॥

इस प्रकार निशाचरोंकी सारी स्त्रियाँ एक-दूसरीको भुजाओंमें भरकर आर्तभाव एवं विषादग्रस्त हो गयीं और अत्यन्त भयसे पीड़ित हो अति भयंकर क्रन्दन करने लगीं॥ ४१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे चतुर्नवतितमः सर्गः॥ ९४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें चौरानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ९४॥

—★—

पञ्चनवतितमः सर्गः

रावणका अपने मन्त्रियोंको बुलाकर शत्रुवधविषयक अपना उत्साह प्रकट करना और सबके साथ रणभूमिमें आकर पराक्रम दिखाना

आर्तानां राक्षसीनां तु लङ्कायां वै कुले कुले।
रावणः करुणं शब्दं शुश्राव परिदेवितम्॥ १॥

रावणने लङ्काके घर-घरमें शोकमग्न राक्षसियोंका करुणाजनक विलाप सुना॥ १॥

स तु दीर्घं विनिःश्वस्य मुहूर्तं ध्यानमास्थितः।
बभूव परमक्रुद्धो रावणो भीमदर्शनः॥ २॥

वह लम्बी साँस खींचकर दो घड़ीतक ध्यानमग्न हो कुछ सोचता रहा; तत्पश्चात् रावण अत्यन्त कुपित हो बड़ा भयानक दिखायी देने लगा॥ २॥

संदश्य दशनैरोष्ठं क्रोधसंरक्तलोचनः।
राक्षसैरपि दुर्दर्शः कालाग्निरिव मूर्तिमान्॥ ३॥

उसने दाँतोंसे ओठ दबा लिया। उसकी आँखें रोषसे लाल हो गयीं। वह मूर्तिमान् प्रलयाग्निके समान दिखायी देने लगा। राक्षसोंके लिये भी उसकी ओर देखना कठिन हो गया॥ ३॥

उवाच च समीपस्थान् राक्षसान् राक्षसेश्वरः।
क्रोधाव्यक्तकथस्तत्र निर्दहन्निव चक्षुषा॥ ४॥

उस राक्षसराजने अपने पास खड़े हुए राक्षसोंसे अस्पष्ट शब्दोंमें वार्तालाप आरम्भ किया। उस समय वहाँ वह इस तरह देख रहा था, मानो अपने नेत्रोंसे दग्ध कर डालेगा॥ ४॥

महोदरं महापार्श्वं विरूपाक्षं च राक्षसम्।
शीघ्रं वदत सैन्यानि निर्यातेति ममाज्ञया॥ ५॥

उसने कहा—'निशाचरो! महोदर, महापार्श्व तथा राक्षस विरूपाक्षसे शीघ्र जाकर कहो—'तुमलोग मेरी आज्ञासे शीघ्र ही सेनाओंको कूच करनेका आदेश दो'॥ ५॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राक्षसास्ते भयार्दिताः।
चोदयामासुरव्यग्रान् राक्षसांस्तान् नृपाज्ञया॥ ६॥

रावणकी यह बात सुनकर भयसे पीड़ित हुए उन राक्षसोंने राजाकी आज्ञाके अनुसार उन निर्भीक निशाचरोंको पूर्वोक्त कार्य करनेके लिये प्रेरित किया॥ ६॥

ते तु सर्वे तथेत्युक्त्वा राक्षसा भीमदर्शनाः।
कृतस्वस्त्ययनाः सर्वे ते रणाभिमुखा ययुः॥ ७॥

तब 'तथास्तु' कहकर भयानक दीखनेवाले उन सभी राक्षसोंने अपने लिये स्वस्तिवाचन करवाया और युद्धके लिये प्रस्थान किया॥ ७॥

प्रतिपूज्य यथान्यायं रावणं ते महारथाः।
तस्थुः प्राञ्जलयः सर्वे भर्तुर्विजयकाङ्क्षिणः॥ ८॥

स्वामीकी विजय चाहनेवाले वे सभी महारथी वीर यथोचित रीतिसे रावणका आदर-सम्मान करके उसके सामने हाथ जोड़े खड़े हो गये॥ ८॥

ततोवाच प्रहस्यैतान् रावणः क्रोधमूर्च्छितः।
महोदरमहापार्श्वौ विरूपाक्षं च राक्षसम्॥ ९॥

तत्पश्चात् रावण क्रोधसे मूर्च्छित-सा होकर बड़े जोरसे हँस पड़ा और महोदर, महापार्श्व तथा राक्षस विरूपाक्षसे कहा—॥ ९॥

अद्य बाणैर्धनुर्मुक्तैर्युगान्तादित्यसंनिभैः।
राघवं लक्ष्मणं चैव नेष्यामि यमसादनम्॥ १०॥

'आज अपने धनुषसे छूटे हुए तीखे बाणोंद्वारा, जो प्रलयकालके सूर्य-सदृश तेजस्वी हैं, मैं राम और लक्ष्मणको भी यमलोक पहुँचा दूँगा॥ १०॥

खरस्य कुम्भकर्णस्य प्रहस्तेन्द्रजितोस्तथा।
करिष्यामि प्रतीकारमद्य शत्रुवधादहम्॥ ११॥

'आज शत्रुका वध करके खर, कुम्भकर्ण, प्रहस्त तथा इन्द्रजित्‌के मारे जानेका भरपूर बदला चुकाऊँगा॥ ११॥

नैवान्तरिक्षं न दिशो न च द्यौर्नापि सागराः।
प्रकाशत्वं गमिष्यन्ति मद्बाणजलदावृताः॥ १२॥

'मेरे बाण मेघोंकी घटाके समान सब ओर छा जायँगे; अतः अन्तरिक्ष, दिशाएँ, आकाश तथा समुद्र—कुछ भी दिखायी न देगा॥ १२॥

अद्य वानरमुख्यानां तानि यूथानि भागशः।
धनुषा शरजालेन वधिष्यामि पतत्रिणा॥ १३॥

'आज अपने धनुषसे पङ्खवाले बाणोंका जाल-सा बिछा दूँगा और वानरोंके मुख्य-मुख्य यूथोंका पृथक्-पृथक् वध करूँगा॥ १३॥

अद्य वानरसैन्यानि रथेन पवनौजसा।
धनुःसमुद्रादुद्भूतैर्मथिष्यामि शरोर्मिभिः॥ १४॥

'आज वायुके समान वेगशाली रथपर आरूढ़ हो मैं अपने धनुषरूपी समुद्रसे उठी हुई बाणमयी तरङ्गोंसे वानर-सेनाओंको मथ डालूँगा॥ १४॥

व्याकोशपद्मवक्त्राणि पद्मकेसरवर्चसाम्।
अद्य यूथतटाकानि गजवत् प्रमथाम्यहम्॥ १५॥

'कमल-केसरकी-सी कान्तिवाले वानरोंके यूथ सरोवरोंके समान हैं। उनके मुख ही उन सरोवरोंके भीतर प्रफुल्ल कमलके समान सुशोभित होते हैं। आज मैं हाथीके समान उनमें प्रवेश करके उन वानर-यूथरूपी सरोवरोंको मथ डालूँगा॥ १५॥

सशरैरद्य वदनैः संख्ये वानरयूथपाः।
मण्डयिष्यन्ति वसुधां सनालैरिव पङ्कजैः॥ १६॥

'आज युद्धस्थलमें गिरे हुए वानर-यूथपति अपने बाणविद्ध मुखोंद्वारा नालयुक्त कमलोंका भ्रम उत्पन्न करते हुए रणभूमिकी शोभा बढ़ायेंगे॥ १६॥

अद्य यूथप्रचण्डानां हरीणां द्रुमयोधिनाम्।
मुक्तेनैकेषुणा युद्धे भेत्स्यामि च शतं शतम्॥ १७॥

'आज युद्धभूमिमें धनुषसे छूटे हुए एक-एक बाणसे मैं वृक्ष लेकर जूझनेवाले सौ-सौ प्रचण्ड वानरोंको विदीर्ण करूँगा॥ १७॥

हतो भ्राता च येषां वै येषां च तनयो हतः।
वधेनाद्य रिपोस्तेषां करोम्यश्रुप्रमार्जनम्॥ १८॥

'आज शत्रुका वध करके मैं उन सब निशाचरोंके आँसू पोछूँगा, जिनके भाई और पुत्र इस युद्धमें मारे गये हैं॥ १८॥

अद्य मद्बाणनिर्भिन्नैः प्रस्तीर्णैर्गतचेतनैः।
करोमि वानरैर्युद्धे यत्नावेक्ष्यतलां महीम्॥ १९॥

आज युद्धमें मेरे बाणोंसे विदीर्ण तथा निर्जीव हुए वानर इस तरह बिछ जायँगे कि वहाँकी भूमि बड़े यत्नसे दीख सकेगी॥ १९॥

अद्य काकाश्च गृध्राश्च ये च मांसाशिनोऽपरे।
सर्वांस्तांस्तर्पयिष्यामि शत्रुमांसैः शराहतैः॥ २०॥

'आज अपने बाणोंद्वारा मारे गये शत्रुओंके मांसोंसे मैं कौओं, गीधों तथा जो दूसरे मांसभक्षी जन्तु हैं, उन सबको भी तृप्त करूँगा॥ २०॥

कल्प्यतां मे रथः शीघ्रं क्षिप्रमानीयतां धनुः।
अनुप्रयान्तु मां युद्धे येऽत्र शिष्टा निशाचराः॥ २१॥

'जल्दी मेरा रथ तैयार किया जाय, शीघ्र धनुष लाया जाय तथा मरनेसे बचे हुए निशाचर युद्धमें मेरे पीछे-पीछे चलें'॥ २१॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा महापार्श्वोऽब्रवीद् वचः।
बलाध्यक्षान् स्थितांस्तत्र बलं संत्वर्यतामिति॥ २२॥

रावणका वह वचन सुनकर महापार्श्वने वहाँ खड़े हुए सेनापतियोंसे कहा—'सेनाको शीघ्र ही कूच करनेकी आज्ञा दो'॥ २२॥

बलाध्यक्षास्तु संयुक्ता राक्षसांस्तान् गृहे गृहे।
चोदयन्तः परिययुर्लङ्कां लघुपराक्रमाः॥ २३॥

यह आज्ञा पाकर वे शीघ्रपराक्रमी सेनाध्यक्ष घर-घर जाकर उन राक्षसोंको तैयार होनेका आदेश देते हुए सारी लङ्कामें घूमते फिरे॥ २३॥

ततो मुहूर्तान्निष्पेतू राक्षसा भीमदर्शनाः।
नदन्तो भीमवदना नानाप्रहरणैर्भुजैः॥ २४॥

थोड़ी ही देरमें भयंकर मुख एवं आकारवाले राक्षस गर्जना करते हुए वहाँ आ पहुँचे। उनके हाथोंमें नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र थे॥ २४॥

असिभिः पट्टिशैः शूलैर्गदाभिर्मुसलैर्हलैः।
शक्तिभिस्तीक्ष्णधाराभिर्महद्भिः कूटमुद्गरैः॥ २५॥
यष्टिभिर्विविधैश्चक्रैर्निशितैश्च परश्वधैः।
भिन्दिपालैः शतघ्नीभिरन्यैश्चापि वरायुधैः॥ २६॥

तलवार, पट्टिश, शूल, गदा, मूसल, हल, तीखी धारवाली शक्ति, बड़े-बड़े कूटमुद्गर, डंडे, भाँति-भाँतिके चक्र, तीखे फरसे, भिन्दिपाल, शतघ्नी तथा अन्य प्रकारके उत्तमोत्तम अस्त्र-शस्त्रोंसे वे सम्पन्न थे॥ २५-२६॥

अथानयन् बलाध्यक्षाश्चत्वारो रावणाज्ञया।
रथानां नियुतं साग्रं नागानां नियुतत्रयम्॥ २७॥
अश्वानां षष्टिकोट्यस्तु खरोष्ट्राणां तथैव च।
पदातयस्त्वसंख्याता जग्मुस्ते राजशासनात्॥ २८॥

रावणकी आज्ञासे चार सेनापति एक लाखसे कुछ अधिक रथ, तीन लाख हाथी, साठ करोड़ घोड़े, उतने ही गदहे तथा ऊँट और असंख्य पैदल योद्धा लेकर आ पहुँचे। वे सब सैनिक राजाके आदेशसे वहाँ गये॥ २७-२८॥

बलाध्यक्षाश्च संस्थाप्य राज्ञः सेनां पुरःस्थिताम्।
एतस्मिन्नन्तरे सूतः स्थापयामास तं रथम्॥ २९॥

इस प्रकार विशाल सेना लाकर सेनाध्यक्षोंने राक्षसराज रावणके सामने खड़ी कर दी। इसी बीचमें सारथिने एक रथ लाकर उपस्थित कर दिया॥ २९॥

दिव्यास्त्रवरसम्पन्नं नानालंकारभूषितम्।
नानायुधसमाकीर्णं किङ्किणीजालसंयुतम्॥ ३०॥

उसमें उत्तम दिव्यास्त्र रखे थे, अनेक प्रकारके अलंकारोंसे उस रथको सजाया गया था। उसमें भाँति-भाँतिके हथियार थे और वह रथ घुँघुरुदार झालरोंसे सुशोभित था॥ ३०॥

नानारत्नपरिक्षिप्तं रत्नस्तम्भैर्विराजितम्।
जाम्बूनदमयैश्चैव सहस्रकलशैर्वृतम्॥ ३१॥

उसमें नाना प्रकारके रत्न जड़े हुए थे। रत्नमय खम्भे उसकी शोभा बढ़ाते थे और सोनेके बने हुए सहस्रों कलशोंसे वह अलंकृत था॥ ३१॥

तं दृष्ट्वा राक्षसाः सर्वे विस्मयं परमं गताः।
तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय रावणो राक्षसेश्वरः॥ ३२॥
कोटिसूर्यप्रतीकाशं ज्वलन्तमिव पावकम्।
द्रुतं सूतसमायुक्तं युक्ताष्टतुरगं रथम्।
आरुरोह तदा भीमं दीप्यमानं स्वतेजसा॥ ३३॥

उस रथको देखकर सब राक्षस अत्यन्त आश्चर्यसे चकित हो उठे। उसपर दृष्टि पड़ते ही राक्षसराज रावण सहसा उठकर खड़ा हो गया। वह रथ करोड़ों सूर्योंके समान तेजस्वी तथा प्रज्वलित अग्निके सदृश दीप्तिमान् था। उसमें आठ घोड़े जुते हुए थे। उसपर सारथि बैठा था। वह रथ अपने तेजसे प्रकाशित होता था। रावण तुरंत उस भयंकर रथपर आरूढ़ हो गया॥ ३२-३३॥

ततः प्रयातः सहसा राक्षसैर्बहुभिर्वृतः।
रावणः सत्त्वगाम्भीर्याद् दारयन्निव मेदिनीम्॥ ३४॥

तदनन्तर बहुत-से राक्षसोंसे घिरा हुआ रावण सहसा युद्धके लिये प्रस्थित हुआ। वह अपने बलकी अधिकतासे पृथ्वीको विदीर्ण-सा करता हुआ जा रहा था॥ ३४॥

ततश्चासीन्महानादस्तूर्याणां च ततस्ततः।
मृदङ्गैः पटहैः शङ्खैः कलहैः सह रक्षसाम्॥ ३५॥

फिर तो जहाँ-तहाँ सब ओर वाद्योंका महानाद गूँज उठा। मृदङ्ग, पटह, शङ्ख तथा राक्षसोंके कलहकी ध्वनि भी उसमें मिली हुई थी ॥ ३५ ॥

आगतो रक्षसां राजा छत्रचामरसंयुतः।
सीतापहारी दुर्वृत्तो ब्रह्मघ्नो देवकण्टकः।
योद्धुं रघुवरेणेति शुश्रुवे कलहध्वनिः ॥ ३६ ॥

'सीताको चुरानेवाला, दुराचारी, ब्रह्महत्यारा तथा देवताओंके लिये कण्टकरूप राक्षसराज रावण छत्र और चँवर लगाये श्रीरघुनाथजीके साथ युद्ध करनेके लिये आ रहा है' इस प्रकारकी कलह-ध्वनि कानोंमें पड़ रही थी ॥ ३६ ॥

तेन नादेन महता पृथिवी समकम्पत।
तं शब्दं सहसा श्रुत्वा वानरा दुद्रुवुर्भयात् ॥ ३७ ॥

उस महानादसे पृथ्वी काँप उठी। उस भयानक शब्दको सुनकर सब वानर सहसा भयसे भाग चले ॥ ३७ ॥

रावणस्तु महाबाहुः सचिवैः परिवारितः।
आजगाम महातेजा जयाय विजयं प्रति ॥ ३८ ॥

मन्त्रियोंसे घिरा हुआ महातेजस्वी महाबाहु रावण युद्धमें विजयकी प्राप्तिका उद्देश्य लेकर वहाँ आया ॥ ३८ ॥

रावणेनाभ्यनुज्ञातौ महापार्श्वमहोदरौ।
विरूपाक्षश्च दुर्धर्षो रथानारुरुहुस्तदा ॥ ३९ ॥

रावणकी आज्ञा पाकर उस समय महापार्श्व, महोदर तथा दुर्जय वीर विरूपाक्ष—तीनों ही रथोंपर आरूढ़ हुए ॥ ३९ ॥

ते तु हृष्टाभिनर्दन्तो भिन्दन्त इव मेदिनीम्।
नादं घोरं विमुञ्चन्तो निर्ययुर्जयकाङ्क्षिणः ॥ ४० ॥

वे हर्षपूर्वक जोर-जोरसे इस तरह दहाड़ रहे थे, मानो पृथिवीको विदीर्ण कर डालेंगे। वे विजयकी इच्छा मनमें लिये घोर सिंहनाद करते हुए पुरीसे बाहर निकले ॥ ४० ॥

ततो युद्धाय तेजस्वी रक्षोगणबलैर्वृतः।
निर्ययावुद्यतधनुः कालान्तकयमोपमः ॥ ४१ ॥

तदनन्तर काल, मृत्यु और यमराजके समान भयंकर तेजस्वी रावण धनुष हाथमें ले राक्षसोंकी सेनासे घिरकर युद्धके लिये आगे बढ़ा ॥ ४१ ॥

ततः प्रजविताश्वेन रथेन स महारथः।
द्वारेण निर्ययौ तेन यत्र तौ रामलक्ष्मणौ ॥ ४२ ॥

उसके रथके घोड़े बहुत तेज चलनेवाले थे। उसके द्वारा वह महारथी वीर लङ्काके उसी द्वारसे बाहर निकला, जहाँ श्रीराम और लक्ष्मण मौजूद थे ॥ ४२ ॥

ततो नष्टप्रभः सूर्यो दिशश्च तिमिरावृताः।
द्विजाश्च नेदुर्घोराश्च संचचाल च मेदिनी ॥ ४३ ॥

उस समय सूर्यकी प्रभा फीकी पड़ गयी। समस्त दिशाओंमें अन्धकार छा गया, भयंकर पक्षी अशुभ बोली बोलने लगे और धरती डोलने लगी ॥ ४३ ॥

ववर्ष रुधिरं देवश्चस्खलुश्च तुरंगमाः।
ध्वजाग्रे न्यपतद् गृध्रो विनेदुश्चाशिवं शिवाः ॥ ४४ ॥

बादल रक्तकी वर्षा करने लगे। घोड़े लड़खड़ाकर गिर पड़े। ध्वजके अग्रभागपर गीध आकर बैठ गया और गीदड़ियाँ अमङ्गलसूचक बोली बोलने लगीं ॥ ४४ ॥

नयनं चास्फुरद् वामं वामो बाहुरकम्पत।
विवर्णवदनश्चासीत् किंचिदभ्रश्यत स्वनः ॥ ४५ ॥

बायीं आँख फड़कने लगी। बायीं भुजा सहसा काँप उठी। उसके चेहरेका रंग फीका पड़ गया और आवाज कुछ बदल गयी ॥ ४५ ॥

ततो निष्पततो युद्धे दशग्रीवस्य रक्षसः।
रणे निधनशंसीनि रूपाण्येतानि जज्ञिरे ॥ ४६ ॥

राक्षस दशग्रीव ज्यों ही युद्धके लिये निकला, त्यों ही रणभूमिमें उसकी मृत्युके सूचक लक्षण प्रकट होने लगे ॥ ४६ ॥

अन्तरिक्षात् पपातोल्का निर्घातसमनिःस्वना।
विनेदुरशिवा गृध्रा वायसैरभिमिश्रिताः ॥ ४७ ॥

आकाशसे उल्कापात हुआ। उससे वज्रपातके समान गड़गड़ाहट पैदा हुई। अमङ्गलसूचक पक्षी गीध कौओंसे मिलकर अशुभ बोली बोलने लगे ॥ ४७ ॥

एतानचिन्तयन् घोरानुत्पातान् समवस्थितान्।
निर्ययौ रावणो मोहाद् वधार्थं कालचोदितः ॥ ४८ ॥

इन भयंकर उत्पातोंको सामने उपस्थित देखकर भी रावणने उनकी कोई परवा नहीं की। वह कालसे प्रेरित हो मोहवश अपने ही वधके लिये निकल पड़ा ॥ ४८ ॥

तेषां तु रथघोषेण राक्षसानां महात्मनाम्।
वानराणामपि चमूर्युद्धायैवाभ्यवर्तत ॥ ४९ ॥

उन महाकाय राक्षसोंके रथका गम्भीर घोष सुनकर वानरोंकी सेना भी युद्धके लिये ही उनके सामने आकर डट गयी ॥ ४९ ॥

तेषां तु तुमुलं युद्धं बभूव कपिरक्षसाम्।
अन्योन्यमाह्वयानानां क्रुद्धानां जयमिच्छताम् ॥ ५० ॥

फिर तो अपनी-अपनी जीत चाहते हुए रोषपूर्वक एक-दूसरेको ललकारनेवाले वानरों और राक्षसोंमें तुमुल युद्ध छिड़ गया ॥ ५० ॥

ततः क्रुद्धो दशग्रीवः शरैः काञ्चनभूषणैः।
वानराणामनीकेषु चकार कदनं महत् ॥ ५१ ॥

उस समय दशमुख रावण अपने सुवर्णभूषित बाणोंद्वारा वानरोंकी सेनाओंमें रोषपूर्वक बड़ी भारी मार-काट मचाने लगा ॥ ५१ ॥

निकृत्तशिरसः केचिद् रावणेन वलीमुखाः।
केचिद् विच्छिन्नहृदयाः केचिच्छ्रोत्रविवर्जिताः ॥ ५२ ॥

रावणने कितने ही वानरोंके सिर काट लिये, कितनोंकी छाती छेद डाली और बहुतोंके कान उड़ा दिये ॥ ५२ ॥

निरुच्छ्वासा हताः केचित् केचित् पार्श्वेषु दारिताः।
केचिद् विभिन्नशिरसः केचिच्चक्षुर्विनाकृताः ॥ ५३ ॥

कितनोंने घायल होकर प्राण त्याग दिये। रावणने कितने ही वानरोंकी पसलियाँ फाड़ डालीं, कितनोंके मस्तक कुचल डाले और कितनोंकी आँखें चौपट कर दीं॥ ५३॥

दशाननः क्रोधविवृत्तनेत्रो
यतो यतोऽभ्येति रथेन संख्ये।
ततस्ततस्तस्य शरप्रवेगं
सोढुं न शेकुर्हरियूथपास्ते॥ ५४॥

दशमुख रावणके नेत्र क्रोधसे घूम रहे थे। वह अपने रथके द्वारा युद्धस्थलमें जहाँ-जहाँ गया, वहाँ-वहाँ वे वानरयूथपति उसके बाणोंका वेग न सह सके॥ ५४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे पञ्चनवतितमः सर्गः॥ ९५॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें पञ्चानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ९५॥

षण्णवतितमः सर्गः

सुग्रीवद्वारा राक्षससेनाका संहार और विरूपाक्षका वध

तथा तैः कृत्तगात्रैस्तु दशग्रीवेण मार्गणैः।
बभूव वसुधा तत्र प्रकीर्णा हरिभिस्तदा॥ १॥

इस प्रकार जब रावणने अपने बाणोंसे वानरोंके अङ्ग-भङ्ग कर डाले, तब वहाँ धराशायी हुए वानरोंसे वह सारी रणभूमि पट गयी॥ १॥

रावणस्याप्रसह्यं तं शरसम्पातमेकतः।
न शेकुः सहितुं दीप्तं पतङ्गा ज्वलनं यथा॥ २॥

रावणके उस असह्य बाणप्रहारको वे वानर एक क्षण भी नहीं सह सके; ठीक वैसे ही, जैसे पतंग जलती आगका स्पर्श क्षणभर भी नहीं सह सकते हैं॥ २॥

तेऽर्दिता निशितैर्बाणैः क्रोशन्तो विप्रदुद्रुवुः।
पावकार्चिःसमाविष्टा दह्यमाना यथा गजाः॥ ३॥

राक्षसराजके तीखे बाणोंकी मारसे पीड़ित हो वे वानर उसी तरह चीखते-चिल्लाते हुए भागे, जैसे दावानलकी ज्वालाओंसे घिरकर जलते हुए हाथी चीत्कार करते हुए भागते हैं॥ ३॥

प्लवंगानामनीकानि महाभ्राणीव मारुतः।
संययौ समरे तस्मिन् विधमन् रावणः शरैः॥ ४॥

जैसे हवा बड़े-बड़े बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार रावण अपने बाणोंसे वानरसेनाओंका संहार करता हुआ समराङ्गणमें विचरने लगा॥ ४॥

कदनं तरसा कृत्वा राक्षसेन्द्रो वनौकसाम्।
आससाद ततो युद्धे त्वरितं राघवं रणे॥ ५॥

बड़े वेगसे वानरोंका संहार करके वह राक्षसराज समराङ्गणमें जूझनेके लिये तुरंत ही श्रीरामचन्द्रजीके पास जा पहुँचा॥ ५॥

सुग्रीवस्तान् कपीन् दृष्ट्वा भग्नान् विद्रावितान् रणे।
गुल्मे सुषेणं निक्षिप्य चक्रे युद्धे द्रुतं मनः॥ ६॥

उधर सुग्रीवने देखा, वानरसैनिक रावणसे खदेड़े जाकर समरभूमिसे भाग रहे हैं, तब उन्होंने सेनाको स्थिर रखनेका भार सुषेणको सौंपकर स्वयं शीघ्र ही युद्ध करनेका विचार किया॥ ६॥

आत्मनः सदृशं वीरं स तं निक्षिप्य वानरम्।
सुग्रीवोऽभिमुखं शत्रुं प्रतस्थे पादपायुधः॥ ७॥

सुषेणको अपने ही समान पराक्रमी वीर समझकर उन्होंने सेनाकी रक्षाका कार्य सौंपा और स्वयं वृक्ष लेकर शत्रुके सामने प्रस्थान किया॥ ७॥

पार्श्वतः पृष्ठतश्चास्य सर्वे वानरयूथपाः।
अनुजग्मुर्महाशैलान् विविधांश्च वनस्पतीन्॥ ८॥

उनके अगल-बगलमें और पीछे समस्त वानरयूथपति बड़े-बड़े पत्थर और नाना प्रकारके वृक्ष लेकर चले॥ ८॥

ननर्द युधि सुग्रीवः स्वरेण महता महान्।
पोथयन् विविधांश्चान्यान् ममन्थोत्तमराक्षसान्॥ ९॥
ममर्द च महाकायो राक्षसान् वानरेश्वरः।
युगान्तसमये वायुः प्रवृद्धानगमानिव॥ १०॥

उस समय सुग्रीवने युद्धमें उच्चस्वरसे गर्जना की और प्रलय-कालमें बड़े-बड़े वृक्षोंको उखाड़ फेंकनेवाले वायुदेवकी भाँति उन विशालकाय वानरराजने विभिन्न प्रकारकी आकृतिवाले बड़े-बड़े राक्षसोंको गिरा-गिराकर मथ एवं कुचल डाला॥ ९-१०॥

राक्षसानामनीकेषु शैलवर्षं ववर्ष ह।
अश्मवर्षं यथा मेघः पक्षिसङ्घेषु कानने॥ ११॥

जैसे बादल वनमें पक्षियोंके समुदायपर ओले बरसाता है, उसी प्रकार सुग्रीव राक्षसोंकी सेनाओंपर बड़े-बड़े पत्थरोंकी वर्षा करने लगे॥ ११॥

कपिराजविमुक्तैस्तैः शैलवर्षैस्तु राक्षसाः।
विकीर्णशिरसः पेतुर्विकीर्णा इव पर्वताः॥ १२॥

वानरराजके चलाये हुए शैलखण्डोंकी वर्षासे राक्षसोंके मस्तक कुचल जाते और वे ढहे हुए पर्वतोंके समान धराशायी हो जाते थे॥ १२॥

अथ संक्षीयमाणेषु राक्षसेषु समन्ततः।
सुग्रीवेण प्रभग्नेषु नदत्सु च पतत्सु च॥ १३॥
विरूपाक्षः स्वकं नाम धन्वी विश्राव्य राक्षसः।
रथादाप्लुत्य दुर्धर्षो गजस्कन्धमुपारुहत्॥ १४॥

इस प्रकार सुग्रीवकी मारसे जब सब ओर राक्षसोंका विनाश होने लगा तथा वे भागने और आर्तनाद करते हुए पृथ्वीपर गिरने लगे, तब विरूपाक्ष नामक दुर्जय राक्षस हाथमें धनुष ले अपना नाम घोषित करता हुआ रथसे कूद पड़ा और हाथीकी पीठपर जा चढ़ा॥ १३-१४॥

स तं द्विपमथारुह्य विरूपाक्षो महाबलः।
ननर्द भीमनिर्ह्रादं वानरानभ्यधावत॥ १५॥

उस हाथीपर चढ़कर महाबली विरूपाक्षने बड़ी भयानक आवाजमें गर्जना की और वानरोंपर वेगपूर्वक धावा किया॥ १५॥

सुग्रीवे स शरान् घोरान् विससर्ज चमूमुखे।
स्थापयामास चोद्विग्नान् राक्षसान् सम्प्रहर्षयन्॥ १६॥

उसने सेनाके मुहानेपर सुग्रीवको लक्ष्य करके बड़े भयंकर बाण छोड़े और डरे हुए राक्षसोंका हर्ष बढ़ाकर उन्हें स्थिरतापूर्वक स्थापित किया॥ १६॥

सोऽतिविद्धः शितैर्बाणैः कपीन्द्रस्तेन रक्षसा।
चुक्रोश च महाक्रोधो वधे चास्य मनो दधे॥ १७॥

उस राक्षसके पैने बाणोंसे अत्यन्त घायल हुए वानरराज सुग्रीवने महान् क्रोधसे भरकर भीषण गर्जना की और विरूपाक्षको मार डालनेका विचार किया॥ १७॥

ततः पादपमुद्धृत्य शूरः सम्प्रधनो हरिः।
अभिपत्य जघानास्य प्रमुखे तं महागजम्॥ १८॥

शूरवीर तो वे थे ही, सुन्दर ढंगसे युद्ध करना भी जानते थे; अतः एक वृक्ष उखाड़कर आगे बढ़े और अपने सामने खड़े हुए उसके विशाल हाथीपर उन्होंने उस वृक्षको दे मारा॥ १८॥

स तु प्रहाराभिहतः सुग्रीवेण महागजः।
अपासर्पद् धनुर्मात्रं निषसाद ननाद च॥ १९॥

सुग्रीवके प्रहारसे घायल हो वह महान् गजराज एक धनुष पीछे हटकर बैठ गया और पीड़ासे आर्तनाद करने लगा॥ १९॥

गजात् तु मथितात् तूर्णमपक्रम्य स वीर्यवान्।
राक्षसोऽभिमुखः शत्रुं प्रत्युद्गम्य ततः कपिम्॥ २०॥
आर्षभं चर्म खड्गं च प्रगृह्य लघुविक्रमः।
भर्त्सयन्निव सुग्रीवमाससाद व्यवस्थितम्॥ २१॥

पराक्रमी राक्षस विरूपाक्ष उस घायल हाथीकी पीठसे तुरंत कूद पड़ा और ढाल-तलवार ले शीघ्रतापूर्वक अपने शत्रु सुग्रीवकी ओर बढ़ा। सुग्रीव एक स्थानपर स्थिरतापूर्वक खड़े थे। वह उन्हें फटकारता हुआ-सा उनके पास जा पहुँचा॥ २०-२१॥

स हि तस्याभिसंक्रुद्धः प्रगृह्य विपुलां शिलाम्।
विरूपाक्षस्य चिक्षेप सुग्रीवो जलदोपमाम्॥ २२॥

यह देख सुग्रीवने एक बहुत बड़ी शिला हाथमें ली, जो मेघके समान काली थी। उसे उन्होंने विरूपाक्षके शरीरपर क्रोधपूर्वक दे मारा॥ २२॥

स तां शिलामापतन्तीं दृष्ट्वा राक्षसपुंगवः।
अपक्रम्य सुविक्रान्तः खड्गेन प्राहरत् तदा॥ २३॥

उस शिलाको अपने ऊपर आती देख उस परम पराक्रमी राक्षसशिरोमणि विरूपाक्षने पीछे हटकर आत्मरक्षा की और सुग्रीवपर तलवार चलायी॥ २३॥

तेन खड्गप्रहारेण रक्षसा बलिना हतः।
मुहूर्तमभवद् भूमौ विसंज्ञ इव वानरः॥ २४॥

उस बलवान् निशाचरकी तलवारसे घायल होकर वानरराज सुग्रीव मूर्च्छित होकर थोड़ी देर धरतीपर पड़े रहे॥ २४॥

सहसा स तदोत्पत्य राक्षसस्य महाहवे।
मुष्टिं संवर्त्य वेगेन पातयामास वक्षसि॥ २५॥

फिर सहसा उछलकर उन्होंने उस महासमरमें मुट्ठी बाँधकर विरूपाक्षकी छातीपर वेगपूर्वक एक मुक्का मारा॥ २५॥

मुष्टिप्रहाराभिहतो विरूपाक्षो निशाचरः।
तेन खड्गेन संक्रुद्धः सुग्रीवस्य चमूमुखे॥ २६॥
कवचं पातयामास पद्भ्यामभिहतोऽपतत्।

उनके मुक्केकी चोट खाकर निशाचर विरूपाक्षका क्रोध और बढ़ गया और उसने सेनाके मुहानेपर उसी तलवारसे सुग्रीवके कवचको काट गिराया; साथ ही उसके पैरोंका आघात पाकर वे पृथ्वीपर गिर पड़े॥ २६ १/२॥

स समुत्थाय पतितः कपिस्तस्य व्यसर्जयत्॥ २७॥
तलप्रहारमशनेः समानं भीमनिःस्वनम्।

गिरे हुए सुग्रीव पुनः उठकर खड़े हो गये और उन्होंने उस राक्षसको वज्रके समान भीषण शब्द करनेवाले थप्पड़से मारा॥ २७ १/२॥

तलप्रहारं तद् रक्षः सुग्रीवेण समुद्यतम्॥ २८॥
नैपुण्यान्मोचयित्वैनं मुष्टिनोरसि ताडयत्।

सुग्रीवके चलाये हुए उस थप्पड़का वार वह राक्षस अपने युद्धकौशलसे बचा गया और उसने सुग्रीवकी छातीपर एक घूसा मारा॥ २८ १/२॥

ततस्तु संक्रुद्धतरः सुग्रीवो वानरेश्वरः॥ २९॥
मोक्षितं चात्मनो दृष्ट्वा प्रहारं तेन रक्षसा।
स ददर्शान्तरं तस्य विरूपाक्षस्य वानरः॥ ३०॥

अब तो वानरराज सुग्रीवके क्रोधकी सीमा न रही। उन्होंने देखा कि राक्षसने मेरे प्रहारको व्यर्थ कर दिया और अपने ऊपर उसका स्पर्श नहीं होने दिया। तब वे विरूपाक्षपर

प्रहार करनेका अवसर देखने लगे ॥ २९-३० ॥

ततोऽन्यं पातयत् क्रोधाच्छङ्खदेशे महातलम्।
महेन्द्राशनिकल्पेन तलेनाभिहतः क्षितौ ॥ ३१ ॥
पपात रुधिरक्लिन्नः शोणितं हि समुद्गिरन्।
स्रोतोभ्यस्तु विरूपाक्षो जलं प्रस्रवणादिव ॥ ३२ ॥

तदनन्तर सुग्रीवने विरूपाक्षके ललाटपर क्रोधपूर्वक दूसरा महान् थप्पड़ मारा, जिसका स्पर्श इन्द्रके वज्रके समान दुःसह था। उससे आहत होकर विरूपाक्ष पृथ्वीपर गिर पड़ा। उसका सारा शरीर खूनसे भीग गया और वह समस्त इन्द्रिय-गोलकोंसे उसी प्रकार रक्त वमन करने लगा, जैसे झरनेसे जल गिर रहा हो ॥ ३१-३२ ॥

विवृत्तनयनं क्रोधात् सफेनं रुधिराप्लुतम्।
ददृशुस्ते विरूपाक्षं विरूपाक्षतरं कृतम् ॥ ३३ ॥
स्फुरन्तं परिवर्तन्तं पार्श्वेन रुधिरोक्षितम्।
करुणं च विनर्दन्तं ददृशुः कपयो रिपुम् ॥ ३४ ॥

उस राक्षसकी आँखें क्रोधसे घूम रही थीं। वह फेनयुक्त रुधिरमें डूबा हुआ था। वानरोंने देखा, विरूपाक्ष अत्यन्त विरूपाक्ष (कुरूप नेत्रवाला और भयंकर) हो गया है। खूनसे लथपथ हो छटपटाता करवटें बदलता तथा करुणाजनक आर्तनाद करता है ॥ ३३-३४ ॥

तथा तु तौ संयति सम्प्रयुक्तौ
तरस्विनौ वानरराक्षसानाम्।
बलार्णवौ सस्वनतुश्च भीमौ
महार्णवौ द्वाविव भिन्नसेतू ॥ ३५ ॥

इस प्रकार वे दोनों वेगशाली वानरों और राक्षसोंके सैन्य-समुद्र मर्यादा तोड़कर बहनेवाले दो भयानक महासागरोंके समान परस्पर संयुक्त हो युद्धभूमिमें महान् कोलाहल करने लगे ॥ ३५ ॥

विनाशितं प्रेक्ष्य विरूपनेत्रं
महाबलं तं हरिपार्थिवेन।
बलं समेतं कपिराक्षसाना-
मुद्वृत्तगङ्गाप्रतिमं बभूव ॥ ३६ ॥

वानरराज सुग्रीवके द्वारा महाबली विरूपाक्षका वध हुआ देख वानरों और राक्षसोंकी सेनाएँ एकत्र हो बढ़ी हुई गङ्गाके समान उद्वेलित हो गयीं (एक ओर आनन्दजनित कोलाहल था तो दूसरी ओर शोकके कारण आर्तनाद हो रहा था) ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे षण्णवतितमः सर्गः ॥ ९६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें छानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९६ ॥

—★—

सप्तनवतितमः सर्गः

सुग्रीवके साथ महोदरका घोर युद्ध तथा वध

हन्यमाने बले तूर्णमन्योन्यं ते महामृधे।
सरसीव महाघर्मे सूपक्षीणे बभूवतुः ॥ १ ॥

उस महासमरमें वे दोनों ओरकी सेनाएँ परस्परकी मारकाटसे प्रचण्ड ग्रीष्मऋतुमें सूखते हुए दो तालाबोंकी तरह शीघ्र ही क्षीण हो चलीं ॥ १ ॥

स्वबलस्य तु घातेन विरूपाक्षवधेन च।
बभूव द्विगुणं क्रुद्धो रावणो राक्षसाधिपः ॥ २ ॥

अपनी सेनाके विनाश और विरूपाक्षके वधसे राक्षसराज रावणका क्रोध दूना बढ़ गया ॥ २ ॥

प्रक्षीणं स्वबलं दृष्ट्वा वध्यमानं वलीमुखैः।
बभूवास्य व्यथा युद्धे दृष्ट्वा दैवविपर्ययम् ॥ ३ ॥

वानरोंकी मारसे अपनी सेनाको क्षीण हुई देख दैवके उलट-फेरपर दृष्टिपात करके युद्धस्थलमें उसे बड़ी व्यथा हुई ॥ ३ ॥

उवाच च समीपस्थं महोदरमनन्तरम्।
अस्मिन् काले महाबाहो जयाशा त्वयि मे स्थिता ॥ ४ ॥

उसने पास ही खड़े हुए महोदरसे कहा—'महाबाहो! इस समय मेरी विजयकी आशा तुम्हारे ऊपर ही अवलम्बित है ॥ ४ ॥

जहि शत्रुचमूं वीर दर्शयाद्य पराक्रमम्।
भर्तृपिण्डस्य कालोऽयं निर्वेष्टुं साधु युध्यताम् ॥ ५ ॥

'वीर! आज अपना पराक्रम दिखाओ और शत्रुसेनाका वध करो। यही स्वामीके अन्नका बदला चुकानेका समय है। अतः अच्छी तरह युद्ध करो' ॥ ५ ॥

एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा राक्षसेन्द्रो महोदरः।
प्रविवेशारिसेनां स पतङ्ग इव पावकम् ॥ ६ ॥

रावणके ऐसा कहनेपर राक्षसराज महोदरने 'बहुत अच्छा' कहकर उसकी आज्ञा शिरोधार्य की और जैसे पतङ्ग आगमें कूदता है, उसी प्रकार उसने शत्रुसेनामें प्रवेश किया ॥ ६ ॥

ततः स कदनं चक्रे वानराणां महाबलः।
भर्तृवाक्येन तेजस्वी स्वेन वीर्येण चोदितः ॥ ७ ॥

सेनामें प्रवेश करके तेजस्वी और महाबली महोदरने स्वामीकी आज्ञासे प्रेरित हो अपने पराक्रमद्वारा वानरोंका संहार आरम्भ किया ॥ ७ ॥

वानराश्च महासत्त्वाः प्रगृह्य विपुलाः शिलाः ।
प्रविश्यारिबलं भीमं जघ्नुस्ते सर्वराक्षसान् ॥ ८ ॥

वानर भी बड़े शक्तिशाली थे। वे बड़ी-बड़ी शिलाएँ लेकर शत्रुकी भयंकर सेनामें घुस गये और समस्त राक्षसोंका संहार करने लगे ॥ ८ ॥

महोदरः सुसंक्रुद्धः शरैः काञ्चनभूषणैः ।
चिच्छेद पाणिपादोरु वानराणां महाहवे ॥ ९ ॥

महोदरने अत्यन्त कुपित होकर अपने सुवर्णभूषित बाणोंद्वारा उस महायुद्धमें वानरोंके हाथ-पैर और जाँघें काट डालीं ॥ ९ ॥

ततस्ते वानराः सर्वे राक्षसैरर्दिता भृशम् ।
दिशो दश द्रुताः केचित् केचित् सुग्रीवमाश्रिताः ॥ १० ॥

राक्षसोंद्वारा अत्यन्त पीड़ित हुए वे सब वानर दसों दिशाओंमें भागने लगे। कितने ही सुग्रीवकी शरणमें गये ॥ १० ॥

प्रभग्नं समरे दृष्ट्वा वानराणां महाबलम् ।
अभिदुद्राव सुग्रीवो महोदरमनन्तरम् ॥ ११ ॥

वानरोंकी विशाल सेनाको समरभूमिसे भागती देख सुग्रीवने पास ही खड़े हुए महोदरपर आक्रमण किया ॥ ११ ॥

प्रगृह्य विपुलां घोरां महीधरसमां शिलाम् ।
चिक्षेप च महातेजास्तद्वधाय हरीश्वरः ॥ १२ ॥

वानरराज बड़े तेजस्वी थे। उन्होंने पर्वतके समान विशाल एवं भयंकर शिला उठाकर महोदरके वधके लिये उसपर चलायी ॥ १२ ॥

तामापतन्तीं सहसा शिलां दृष्ट्वा महोदरः ।
असम्भ्रान्तस्ततो बाणैर्निर्बिभेद दुरासदाम् ॥ १३ ॥

उस दुर्जय शिलाको सहसा अपने ऊपर आती देखकर भी महोदरके मनमें घबराहट नहीं हुई। उसने बाणोंद्वारा उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ १३ ॥

रक्षसा तेन बाणौघैर्निकृत्ता सा सहस्रधा ।
निपपात तदा भूमौ गृध्रचक्रमिवाकुलम् ॥ १४ ॥

उस राक्षसके बाणसमूहोंसे कटकर सहस्रों टुकड़ोंमें विभक्त हुई वह शिला उस समय आकुल हुए गृध्रसमुदायकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ १४ ॥

तां तु भिन्नां शिलां दृष्ट्वा सुग्रीवः क्रोधमूर्च्छितः ।
सालमुत्पाट्य चिक्षेप तं स चिच्छेद नैकधा ॥ १५ ॥

उस शिलाको विदीर्ण हुई देख सुग्रीवका क्रोध बहुत बढ़ गया। उन्होंने एक शालका वृक्ष उखाड़कर उस राक्षसके ऊपर फेंका, किंतु राक्षसने उसके भी कई टुकड़े कर डाले ॥ १५ ॥

शरैश्च विददारैनं शूरः परबलार्दनः ।
स ददर्श ततः क्रुद्धः परिघं पतितं भुवि ॥ १६ ॥

साथ ही शत्रुसेनाका दमन करनेवाले उस शूरवीरने इन्हें अपने बाणोंसे घायल कर दिया। इसी समय क्रोधसे भरे हुए सुग्रीवको वहाँ पृथ्वीपर पड़ा हुआ एक परिघ दिखायी दिया ॥ १६ ॥

आविध्य तु स तं दीप्तं परिघं तस्य दर्शयन् ।
परिघेणोग्रवेगेन जघानास्य हयोत्तमान् ॥ १७ ॥

उस तेजस्वी परिघको घुमाकर सुग्रीवने महोदरको अपनी फुर्ती दिखाते हुए उस भयानक वेगशाली परिघके द्वारा उस राक्षसके उत्तम घोड़ोंको मार डाला ॥ १७ ॥

तस्माद्धतहयाद् वीरः सोऽवप्लुत्य महारथात् ।
गदां जग्राह संक्रुद्धो राक्षसोऽथ महोदरः ॥ १८ ॥

घोड़ोंके मारे जानेपर वीर राक्षस महोदर अपने विशाल रथसे कूद पड़ा और अत्यन्त रोषसे भरकर उसने गदा उठा ली ॥ १८ ॥

गदापरिघहस्तौ तौ युधि वीरौ समीयतुः ।
नर्दन्तौ गोवृषप्रख्यौ घनाविव सविद्युतौ ॥ १९ ॥

एकके हाथमें गदा थी और दूसरेके हाथमें परिघ। वे दोनों वीर युद्धस्थलमें दो साँड़ों और बिजलीसहित दो मेघोंके समान गर्जना करते हुए एक-दूसरेसे भिड़ गये ॥ १९ ॥

ततः क्रुद्धो गदां तस्मै चिक्षेप रजनीचरः ।
ज्वलन्तीं भास्कराभासां सुग्रीवाय महोदरः ॥ २० ॥

तदनन्तर कुपित हुए राक्षस महोदरने सुग्रीवपर सूर्यतुल्य तेजसे दमकती हुई एक गदा चलायी ॥ २० ॥

गदां तां सुमहाघोरामापतन्तीं महाबलः ।
सुग्रीवो रोषताम्राक्षः समुद्यम्य महाहवे ॥ २१ ॥
आजघान गदां तस्य परिघेण हरीश्वरः ।
पपात तरसा भिन्नः परिघस्तस्य भूतले ॥ २२ ॥

उस महाभयंकर गदाको अपनी ओर आती देख महासमरमें महाबली वानरराज सुग्रीवके नेत्र रोषसे लाल हो गये और उन्होंने परिघ उठाकर उसके द्वारा राक्षसकी गदापर आघात किया। वह गदा गिर पड़ी; किंतु उसके वेगसे टकराकर सुग्रीवका परिघ भी टूटकर पृथ्वीपर जा गिरा ॥ २१-२२ ॥

ततो जग्राह तेजस्वी सुग्रीवो वसुधातलात् ।
आयसं मुसलं घोरं सर्वतो हेमभूषितम् ॥ २३ ॥

तब तेजस्वी सुग्रीवने भूमिपरसे एक लोहेका भयंकर मूसल उठाया; जिसमें सब ओरसे सोना जड़ा हुआ था ॥ २३ ॥

स तमुद्यम्य चिक्षेप सोऽप्यस्य प्राक्षिपद् गदाम् ।
भिन्नावन्योन्यमासाद्य पेततुस्तौ महीतले ॥ २४ ॥

उसे उठाकर उन्होंने राक्षसपर दे मारा। साथ ही उस राक्षसने भी इनके ऊपर गदा फेंकी। गदा और मूसल दोनों आपसमें टकराकर टूट गये और जमीनपर जा गिरे ॥ २४ ॥

ततो भिन्नप्रहरणौ मुष्टिभ्यां तौ समीयतुः।
तेजोबलसमाविष्टौ दीप्ताविव हुताशनौ॥ २५॥

वे दोनों वीर तेज और बलसे सम्पन्न थे और जलती हुई अग्नियोंके समान उद्दीप्त हो रहे थे। अपने-अपने आयुधोंके टूट जानेपर वे घूँसोंसे एक-दूसरेको मारने लगे॥ २५॥

जघ्नतुस्तौ तदान्योन्यं नदन्तौ च पुनः पुनः।
तलैश्चान्योन्यमासाद्य पेततुश्च महीतले॥ २६॥

उस समय बारम्बार गर्जते हुए वे दोनों योद्धा परस्पर मुक्कोंसे प्रहार करने लगे। फिर थप्पड़ोंसे एक-दूसरेको मारकर दोनों ही पृथ्वीपर गिर पड़े॥ २६॥

उत्पेततुस्तदा तूर्णं जघ्नतुश्च परस्परम्।
भुजैश्चिक्षिपतुर्वीरावन्योन्यमपराजितौ॥ २७॥

फिर तत्काल ही दोनों उछले और शीघ्र ही एक-दूसरेपर चोट करने लगे। वे दोनों वीर हार नहीं मानते थे। दोनों ही दोनोंपर भुजाओंद्वारा प्रहार करते रहे॥ २७॥

जग्मतुस्तौ श्रमं वीरौ बाहुयुद्धे परंतपौ।
आजहार तदा खड्गमदूरपरिवर्तिनम्॥ २८॥
राक्षसश्चर्मणा सार्धं महावेगो महोदरः।
तथैव च महाखड्गं चर्मणा पतितं सह।
जग्राह वानरश्रेष्ठः सुग्रीवो वेगवत्तरः॥ २९॥

शत्रुओंको तपानेवाले वे दोनों वीर बाहुयुद्ध करते-करते थक गये। तब महान् वेगशाली राक्षस महोदरने थोड़ी ही दूरपर पड़ी हुई ढालसहित तलवार उठा ली। उसी तरह अत्यन्त वेगशाली कपिश्रेष्ठ सुग्रीवने भी वहाँ गिरे हुए विशाल खड्गको ढालसहित उठा लिया॥ २८-२९॥

ततो रोषपरीताङ्गौ नदन्तावभ्यधावताम्।
उद्यतासी रणे हृष्टौ युधि शस्त्रविशारदौ॥ ३०॥

महोदर और सुग्रीव दोनों युद्धके मैदानमें शस्त्र चलानेकी कलामें चतुर थे तथा दोनोंके शरीर रोषसे प्रभावित थे; अतः रणभूमिमें हर्ष और उत्साहसे युक्त हो वे तलवार उठाये गर्जते हुए एक-दूसरेपर टूट पड़े॥ ३०॥

दक्षिणं मण्डलं चोभौ सुतूर्णं सम्परीयतुः।
अन्योन्यमभिसंक्रुद्धौ जये प्रणिहितावुभौ॥ ३१॥

वे दोनों बड़ी तेजीसे दायें-बायें पैंतरे बदल रहे थे, दोनोंका दोनोंपर क्रोध बढ़ा हुआ था तथा दोनों ही अपनी-अपनी विजयकी आशा लगाये हुए थे॥ ३१॥

स तु शूरो महावेगो वीर्यश्लाघी महोदरः।
महावर्मणि तं खड्गं पातयामास दुर्मतिः॥ ३२॥

अपने बलपर घमंड करनेवाले महान् वेगशाली तथा शौर्य-सम्पन्न दुर्बुद्धि महोदरने अपनी वह तलवार सुग्रीवके विशाल कवचपर दे मारी॥ ३२॥

लग्नमुत्कर्षतः खड्गं खड्गेन कपिकुञ्जरः।
जहार सशिरस्त्राणं कुण्डलोपगतं शिरः॥ ३३॥

सुग्रीवके कवचमें लगी हुई तलवारको जब वह राक्षस खींचने लगा, उसी समय कपिकुञ्जर सुग्रीवने महोदरके शिरस्त्राणसहित कुण्डलमण्डित मस्तकको अपने खड्गसे काट लिया॥ ३३॥

निकृत्तशिरसस्तस्य पतितस्य महीतले।
तद् बलं राक्षसेन्द्रस्य दृष्ट्वा तत्र न दृश्यते॥ ३४॥

मस्तक कट जानेपर राक्षसराज महोदर पृथ्वीपर गिर पड़ा। यह देखकर उसकी सेना फिर वहाँ नहीं दिखायी दी॥ ३४॥

हत्वा तं वानरैः सार्धं ननाद मुदितो हरिः।
चुक्रोध च दशग्रीवो बभौ हृष्टश्च राघवः॥ ३५॥

महोदरको मारकर प्रसन्न हुए वानरराज सुग्रीव अन्य वानरोंके साथ गर्जना करने लगे। उस समय दशमुख रावणको बड़ा क्रोध हुआ और श्रीरघुनाथजी हर्षसे खिल उठे॥ ३५॥

विषण्णवदनाः सर्वे राक्षसा दीनचेतसः।
विद्रवन्ति ततः सर्वे भयवित्रस्तचेतसः॥ ३६॥

उस समय समस्त राक्षसोंका मन दुःखी हो गया। उन सबके मुखपर विषाद छा गया और वे सभी भयभीतचित्त होकर वहाँसे भाग चले॥ ३६॥

महोदरं तं विनिपात्य भूमौ
महागिरेः कीर्णमिवैकदेशम्।
सूर्यात्मजस्तत्र रराज लक्ष्म्या
सूर्यः स्वतेजोभिरिवाप्रधृष्यः॥ ३७॥

महोदरका शरीर किसी महान् पर्वतके एक टूटे हुए शिखर-सा जान पड़ता था। उसे पृथ्वीपर गिराकर सूर्यपुत्र सुग्रीव वहाँ विजय-लक्ष्मीसे सुशोभित होने लगे, मानो अधर्षणीय सूर्यदेव अपने तेजसे प्रकाशित हो रहे हों॥ ३७॥

अथ विजयमवाप्य वानरेन्द्रः
समरमुखे सुरसिद्धयक्षसङ्घैः।
अवनितलगतैश्च भूतसङ्घै-
र्हरुषसमाकुलितैर्निरीक्ष्यमाणः॥ ३८॥

इस प्रकार वानरराज सुग्रीव युद्धके मुहानेपर विजय पाकर बड़ी शोभा पाने लगे। उस समय देवता, सिद्ध और यक्षोंके समुदाय तथा भूतलनिवासी प्राणियोंके समूह भी बड़े हर्षसे उनकी ओर देखने लगे॥ ३८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे सप्तनवतितमः सर्गः॥ ९७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें सत्तानवेवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ९७॥

—★—

अष्टनवतितमः सर्गः

अंगदके द्वारा महापार्श्वका वध

महोदरे तु निहते महापार्श्वो महाबलः ।
सुग्रीवेण समीक्ष्याथ क्रोधात् संरक्तलोचनः ॥ १ ॥

सुग्रीवके द्वारा महोदरके मारे जानेपर उनकी ओर देखकर महाबली महापार्श्वके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये ॥ १ ॥

अङ्गदस्य चमूं भीमां क्षोभयामास मार्गणैः ।
स वानराणां मुख्यानामुत्तमाङ्गानि राक्षसः ॥ २ ॥
पातयामास कायेभ्यः फलं वृन्तादिवानिलः ।

उसने अपने बाणोंद्वारा अंगदकी भयंकर सेनामें हलचल मचा दी। वह राक्षस मुख्य-मुख्य वानरोंके मस्तक धड़से काट-काटकर गिराने लगा, मानो वायु वृन्त या डंठलसे फल गिरा रही हो ॥२½ ॥

केषांचिदिषुभिर्बाहूंश्चिच्छेदाथ स राक्षसः ॥ ३ ॥
वानराणां सुसंरब्धः पार्श्वं केषांचिदाक्षिपत् ।

क्रोधसे भरे हुए महापार्श्वने अपने बाणोंसे कितनोंकी बाँहें काट दीं और कितने ही वानरोंकी पसलियाँ उड़ा दीं ॥३½ ॥

तेऽर्दिता बाणवर्षेण महापार्श्वेन वानराः ॥ ४ ॥
विषादविमुखाः सर्वे बभूवुर्गतचेतसः ।

महापार्श्वकी बाणवर्षासे पीड़ित हो बहुत-से वानर युद्धसे विमुख हो गये। सबकी चेतना जाती रही ॥४½ ॥

निशम्य बलमुद्विग्नमङ्गदो राक्षसार्दितम् ॥ ५ ॥
वेगं चक्रे महावेगः समुद्र इव पर्वसु ।

उस राक्षससे पीड़ित वानर-सेनाको उद्विग्न हुई देख महान् वेगशाली अङ्गदने पूर्णिमाके दिन समुद्रकी भाँति अपना भारी वेग प्रकट किया ॥५½ ॥

आयसं परिघं गृह्य सूर्यरश्मिसमप्रभम् ॥ ६ ॥
समरे वानरश्रेष्ठो महापार्श्वे न्यपातयत् ।

उन वानरशिरोमणिने सूर्यकी किरणोंके समान दमकनेवाला एक लोहेका परिघ उठाकर महापार्श्वपर दे मारा ॥६½ ॥

स तु तेन प्रहारेण महापार्श्वो विचेतनः ॥ ७ ॥
ससूतः स्यन्दनात् तस्माद् विसंज्ञश्चापतद् भुवि ।

उस प्रहारसे महापार्श्वकी सुध-बुध जाती रही और वह मूर्छित हो सारथिसहित रथसे नीचे जा पड़ा ॥७½ ॥

तस्यर्क्षराजस्तेजस्वी नीलाञ्जनचयोपमः ॥ ८ ॥
निष्पत्य सुमहावीर्यः स्वयूथान्मेघसंनिभात् ।
प्रगृह्य गिरिशृङ्गाभां क्रुद्धः स विपुलां शिलाम् ॥ ९ ॥
अश्वाञ्जघान तरसा बभञ्ज स्यन्दनं च तम् ।

इसी समय काले कोयलेके ढेरके समान कृष्ण वर्णवाले, महान् पराक्रमी और तेजस्वी ऋक्षराज जाम्बवान्ने मेघोंकी घटाके सदृश अपने यूथसे बाहर निकलकर कुपित हो एक पर्वतशिखरके समान विशाल शिला हाथमें ले ली और उसके द्वारा उस राक्षसके घोड़ोंको मार डाला तथा उसके रथको भी चूर्ण कर दिया ॥८-९½ ॥

मुहूर्ताल्लब्धसंज्ञस्तु महापार्श्वो महाबलः ॥ १० ॥
अङ्गदं बहुभिर्बाणैर्भूयस्तं प्रत्यविध्यत ।
जाम्बवन्तं त्रिभिर्बाणैराजघान स्तनान्तरे ॥ ११ ॥

दो घड़ीके बाद होशमें आनेपर महाबली महापार्श्वने बहुत-से बाणोंद्वारा पुनः अङ्गदको घायल कर दिया और जाम्बवान्की छातीमें भी तीन बाण मारे। १०-११ ॥

ऋक्षराजं गवाक्षं च जघान बहुभिः शरैः ।
गवाक्षं जाम्बवन्तं च स दृष्ट्वा शरपीडितौ ॥ १२ ॥
जग्राह परिघं घोरमङ्गदः क्रोधमूर्च्छितः ।

इतना ही नहीं, उसने रीछोंके राजा गवाक्षको भी बहुत-से बाणोंद्वारा क्षत-विक्षत कर दिया। गवाक्ष और जाम्बवान्को बाणोंसे पीड़ित देख अङ्गदके क्रोधकी सीमा न रही। उन्होंने भयंकर परिघ हाथमें ले लिया ॥१२½ ॥

तस्याङ्गदः सरोषाक्षो राक्षसस्य तमायसम् ॥ १३ ॥
दूरस्थितस्य परिघं रविरश्मिसमप्रभम् ।
द्वाभ्यां भुजाभ्यां संगृह्य भ्रामयित्वा च वेगवत् ॥ १४ ॥
महापार्श्वस्य चिक्षेप वधार्थं वालिनः सुतः ।

उनका वह परिघ सूर्यकी किरणोंके समान अपनी प्रभा बिखेर रहा था। वालिपुत्र अङ्गदके नेत्र क्रोधसे लाल हो उठे थे। उन्होंने उस लोहमय परिघको दोनों हाथोंसे पकड़कर घुमाया और दूर खड़े हुए महापार्श्वके वधके लिये वेगपूर्वक चला दिया ॥१३-१४½ ॥

स तु क्षिप्तो बलवता परिघस्तस्य रक्षसः ॥ १५ ॥
धनुश्च सशरं हस्ताच्छिरस्त्राणं च पातयत् ।

बलवान् वीर अङ्गदके चलाये हुए उस परिघने राक्षस महापार्श्वके हाथसे बाणसहित धनुष और मस्तकसे टोप गिरा दिये ॥१५½ ॥

तं समासाद्य वेगेन वालिपुत्रः प्रतापवान् ॥ १६ ॥
तलेनाभ्यहनत् क्रुद्धः कर्णमूले सकुण्डले ।

फिर प्रतापी वालिपुत्र अङ्गद बड़े वेगसे उसके पास जा पहुँचे और कुपित होकर उन्होंने उसके कुण्डलयुक्त कानके पास गालमें एक थप्पड़ मारा ॥१६½ ॥

स तु क्रुद्धो महावेगो महापार्श्वो महाद्युतिः ॥ १७ ॥
करेणैकेन जग्राह सुमहान्तं परश्वधम् ।

तब महान् वेगशाली महातेजस्वी महापार्श्वने कुपित होकर एक हाथमें बहुत बड़ा फरसा ले लिया ॥१७½ ॥

तं तैलधौतं विमलं शैलसारमयं दृढम् ॥ १८ ॥
राक्षसः परमक्रुद्धो वालिपुत्रे न्यपातयत्।

उस फरसेको तेलमें डुबोकर साफ किया गया था और वह अच्छे लोहेका बना हुआ एवं सुदृढ़ था। राक्षस महापार्श्वने अत्यन्त कुपित हो वह फरसा वालिपुत्र अङ्गदपर दे मारा ॥ १८½ ॥

तेन वामांसफलके भृशं प्रत्यवपातितम् ॥ १९ ॥
अङ्गदो मोक्षयामास सरोषः स परश्वधम्।

उसने अङ्गदके बायें कंधेपर बड़े वेगसे उस फरसेका प्रहार किया था, परंतु रोषसे भरे हुए अङ्गदने कतराकर अपनेको बचा लिया और उस फरसेको व्यर्थ कर दिया ॥ १९½ ॥

स वीरो वज्रसंकाशमङ्गदो मुष्टिमात्मनः ॥ २० ॥
संवर्तयत् सुसंक्रुद्धः पितुस्तुल्यपराक्रमः।

तत्पश्चात् अत्यन्त क्रोधसे भरे हुए वीर अङ्गदने, जो अपने पिताके समान ही पराक्रमी थे, वज्रके समान मुट्ठी बाँधी ॥ २०½ ॥

राक्षसस्य स्तनाभ्याशे मर्मज्ञो हृदयं प्रति ॥ २१ ॥
इन्द्राशनिसमस्पर्शं स मुष्टिं विन्यपातयत्।

वे हृदयके मर्मस्थानसे परिचित थे; अतः उन्होंने उस राक्षसके स्तनोंके निकट छातीमें बड़े वेगसे मुक्का मारा, जिसका स्पर्श इन्द्रके वज्रके समान असह्य था ॥ २१½ ॥

तेन तस्य निपातेन राक्षसस्य महामृधे ॥ २२ ॥
पफाल हृदयं चास्य स पपात हतो भुवि।

उनका वह घूसा लगते ही उस महासमरमें राक्षस महापार्श्वका हृदय फट गया और वह मरकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २२½ ॥

तस्मिन् विनिहते भूमौ तत् सैन्यं सम्प्रचुक्षुभे ॥ २३ ॥
अभवच्च महान् क्रोधः समरे रावणस्य तु।

उसके मरकर पृथ्वीपर गिर जानेके पश्चात् उसकी सेना विक्षुब्ध हो उठी तथा समरभूमिमें रावणको भी महान् क्रोध हुआ ॥ २३½ ॥

वानराणां प्रहृष्टानां सिंहनादः सुपुष्कलः ॥ २४ ॥
स्फोटयन्निव शब्देन लङ्कां साट्टालगोपुराम्।
सहेन्द्रेणेव देवानां नादः समभवन्महान् ॥ २५ ॥

उस समय हर्षसे भरे हुए वानरोंका महान् सिंहनाद होने लगा। वह अट्टालिकाओं तथा गोपुरोंसहित लङ्कापुरीको फोड़ता हुआ-सा प्रतीत हुआ। अङ्गदसहित वानरोंका वह महानाद इन्द्रसहित देवताओंके गम्भीर घोष-सा जान पड़ता था ॥ २४-२५ ॥

अथेन्द्रशत्रुस्त्रिदशालयानां
वनौकसां चैव महाप्रणादम्।
श्रुत्वा सरोषं युधि राक्षसेन्द्रः
पुनश्च युद्धाभिमुखोऽवतस्थे ॥ २६ ॥

युद्धस्थलमें देवताओं और वानरोंको वह बड़ी भारी गर्जना सुनकर इन्द्रद्रोही राक्षसराज रावण पुनः रोषपूर्वक युद्धके लिये उत्सुक हो वहाँ खड़ा हो गया ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डेऽष्टनवतितमः सर्गः ॥ ९८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें अट्ठानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९८ ॥

—★—

एकोनशततमः सर्गः

श्रीराम और रावणका युद्ध

महोदरमहापार्श्वौ हतौ दृष्ट्वा स रावणः।
तस्मिंश्च निहते वीरे विरूपाक्षे महाबले ॥ १ ॥
आविवेश महान् क्रोधो रावणं तु महामृधे।
सूतं संचोदयामास वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ २ ॥

महाबली वीर विरूपाक्ष तो मारा ही गया था; महोदर और महापार्श्व भी कालके गालमें डाल दिये गये—यह देख उस महासमरके भीतर रावणके हृदयमें महान् क्रोधका आवेश हुआ। उसने सारथिको रथ आगे बढ़ानेकी आज्ञा दी और इस प्रकार कहा— ॥ १-२ ॥

निहतानाममात्यानां रुद्धस्य नगरस्य च।
दुःखमेवापनेष्यामि हत्वा तौ रामलक्ष्मणौ ॥ ३ ॥

'सूत! मेरे मन्त्री मारे गये और लङ्कापुरीपर चारों ओरसे घेरा डाला गया। इसके लिये मुझे बड़ा दुःख है। आज राम और लक्ष्मणका वध करके ही मैं अपने इस दुःखको दूर करूँगा ॥ ३ ॥

रामवृक्षं रणे हन्मि सीतापुष्पफलप्रदम्।
प्रशाखा यस्य सुग्रीवो जाम्बवान् कुमुदो नलः ॥ ४ ॥
द्विविदश्चैव मैन्दश्च अङ्गदो गन्धमादनः।
हनूमांश्च सुषेणश्च सर्वे च हरियूथपाः ॥ ५ ॥

'रणभूमिमें उस रामरूपी वृक्षको उखाड़ फेंकूँगा, जो सीतारूपी फूलके द्वारा फल देनेवाला है तथा सुग्रीव, जाम्बवान्, कुमुद, नल, द्विविद, मैन्द, अङ्गद, गन्धमादन, हनुमान् और सुषेण आदि समस्त वानरयूथपति जिसकी शाखा-प्रशाखाएँ हैं' ॥ ४-५ ॥

स दिशो दश घोषेण रथस्यातिरथो महान्।
नादयन् प्रययौ तूर्णं राघवं चाभ्यधावत ॥ ६ ॥

ऐसा कहकर महान् अतिरथी वीर रावण अपने रथकी घर्घराहटसे दसों दिशाओंको गुँजाता हुआ बड़ी तेजीके साथ श्रीरघुनाथजीकी ओर बढ़ा॥ ६॥

पूरिता तेन शब्देन सनदीगिरिकानना।
संचचाल मही सर्वा त्रस्तसिंहमृगद्विजा ॥ ७ ॥

रथकी आवाजसे नदी, पर्वत और जंगलोंसहित वहाँकी सारी भूमि गूँज उठी, धरती डोलने लगी और वहाँके सारे पशु-पक्षी भयसे थर्रा उठे॥ ७॥

तामसं सुमहाघोरं चकारास्त्रं सुदारुणम्।
निर्ददाह कपीन् सर्वांस्ते प्रपेतुः समन्ततः ॥ ८ ॥

उस समय रावणने तामस[1] नामवाले अत्यन्त भयंकर महाघोर अस्त्रको प्रकट करके समस्त वानरोंको भस्म करना आरम्भ किया। सब ओर उनकी लाशें गिरने लगीं॥ ८॥

उत्पपात रजो भूमौ तैर्भग्नैः सम्प्रधावितैः।
नहि तत् सहितुं शेकुर्ब्रह्मणा निर्मितं स्वयम् ॥ ९ ॥

उनके पाँव उखड़ गये और वे इधर-उधर भागने लगे, इससे रणभूमिमें बहुत धूल उड़ने लगी। वह तामस-अस्त्र साक्षात् ब्रह्माजीका बनाया हुआ था, इसलिये वानर-योद्धा उसके वेगको सह न सके॥ ९॥

तान्यनीकान्यनेकानि रावणस्य शरोत्तमैः।
दृष्ट्वा भग्नानि शतशो राघवः पर्यवस्थितः ॥ १० ॥

रावणके उत्तम बाणोंसे आहत हो वानरोंकी सैकड़ों सेनाएँ तितर-बितर हो गयी हैं—यह देख भगवान् श्रीराम युद्धके लिये उद्यत हो सुस्थिरभावसे खड़े हो गये॥ १०॥

ततो राक्षसशार्दूलो विद्राव्य हरिवाहिनीम्।
स ददर्श ततो रामं तिष्ठन्तमपराजितम् ॥ ११ ॥
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा विष्णुना वासवं यथा।

उधर वानर-सेनाको खदेड़कर राक्षससिंह रावणने देखा कि किसीसे पराजित न होनेवाले श्रीराम अपने भाई लक्ष्मणके साथ उसी तरह खड़े हैं, जैसे इन्द्र अपने छोटे भाई भगवान् विष्णु (उपेन्द्र) के साथ खड़े होते हैं॥ ११$\frac{1}{2}$॥

आलिखन्तमिवाकाशमवष्टभ्य महद् धनुः ॥ १२ ॥
पद्मपत्रविशालाक्षं दीर्घबाहुमरिंदमम्।

वे अपने विशाल धनुषको उठाकर आकाशमें रेखा खींचते-से प्रतीत होते थे। उनके नेत्र विकसित कमलदलके समान विशाल थे, भुजाएँ बड़ी-बड़ी थीं और वे शत्रुओंका दमन करनेमें पूर्णतः समर्थ थे॥ १२$\frac{1}{2}$॥

ततो रामो महातेजाः सौमित्रिसहितो बली ॥ १३ ॥
वानरांश्च रणे भग्नानापतन्तं च रावणम्।
समीक्ष्य राघवो हृष्टो मध्ये जग्राह कार्मुकम् ॥ १४ ॥

तदनन्तर लक्ष्मणसहित खड़े हुए महातेजस्वी महाबली श्रीरामने रणभूमिमें वानरोंको भागते और रावणको आते देख मनमें बड़े हर्षका अनुभव किया और धनुषके मध्यभागको दृढ़ताके साथ पकड़ा॥ १३-१४॥

विस्फारयितुमारेभे ततः स धनुरुत्तमम्।
महावेगं महानादं निर्भिन्दन्निव मेदिनीम् ॥ १५ ॥

उन्होंने अपने महान् वेगशाली और महानाद प्रकट करनेवाले उत्तम धनुषको इस तरह खींचना और उसकी टङ्कार करना आरम्भ किया, मानो वे पृथ्वीको विदीर्ण कर डालेंगे॥ १५॥

रावणस्य च बाणौघै रामविस्फारितेन च।
शब्देन राक्षसास्तेन पेतुश्च शतशस्तदा ॥ १६ ॥

रावणके बाण-समूहोंसे तथा श्रीरामचन्द्रजीके धनुषकी टङ्कारसे जो भयंकर शब्द प्रकट हुआ, उससे आतङ्कित होकर सैकड़ों राक्षस तत्काल धराशायी हो गये॥ १६॥

तयोः शरपथं प्राप्य रावणो राजपुत्रयोः।
स बभौ च यथा राहुः समीपे शशिसूर्ययोः ॥ १७ ॥

उन दोनों राजकुमारोंके बाणोंके मार्गमें आकर रावण चन्द्रमा और सूर्यके समीप स्थित हुए राहुकी भाँति शोभा पाने लगा॥ १७॥

तमिच्छन् प्रथमं योद्धुं लक्ष्मणो निशितैः शरैः।
मुमोच धनुरायम्य शरानग्निशिखोपमान् ॥ १८ ॥

लक्ष्मण अपने पैने बाणोंके द्वारा रावणके साथ पहले स्वयं ही युद्ध करना चाहते थे; इसलिये धनुष तानकर वे अग्निशिखाके समान तेजस्वी बाण छोड़ने लगे॥ १८॥

तान् मुक्तमात्रानाकाशे लक्ष्मणेन धनुष्मता।
बाणान् बाणैर्महातेजा रावणः प्रत्यवारयत् ॥ १९ ॥

धनुर्धर लक्ष्मणके धनुषसे छूटते ही उन बाणोंको महातेजस्वी रावणने अपने सायकोंद्वारा आकाशमें ही काट गिराया॥ १९॥

एकमेकेन बाणेन त्रिभिस्त्रीन् दशभिर्दश।
लक्ष्मणस्य प्रचिच्छेद दर्शयन् पाणिलाघवम् ॥ २० ॥

वह अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाता हुआ लक्ष्मणके एक बाणको एक बाणसे, तीन बाणोंको तीन बाणसे और दस बाणोंको दसने ही बाणोंसे काट देता था॥ २०॥

अभ्यतिक्रम्य सौमित्रिं रावणः समितिंजयः।
आससाद रणे रामं स्थितं शैलमिवापरम् ॥ २१ ॥

समरविजयी रावण सुमित्राकुमारको लाँघकर रणभूमिमें दूसरे पर्वतकी भाँति अविचल भावसे खड़े हुए श्रीरामके पास जा पहुँचा॥ २१॥

---

1. इस अस्त्रका देवता तमोग्रह राहु है, इसलिये इसको 'तामस' कहते हैं।

स राघवं समासाद्य क्रोधसंरक्तलोचनः ।
व्यसृजच्छरवर्षाणि रावणो राक्षसेश्वरः ॥ २२ ॥

श्रीरघुनाथजीके निकट जाकर क्रोधसे लाल आँखें किये राक्षसराज रावण उनके ऊपर बाणोंकी वृष्टि करने लगा ॥ २२ ॥

शरधारास्ततो रामो रावणस्य धनुश्च्युताः ।
दृष्ट्वैवापतिताः शीघ्रं भल्लाञ्जग्राह सत्वरम् ॥ २३ ॥

रावणके धनुषसे गिरती हुई उन बाण-धाराओंपर दृष्टिपात करके श्रीरामने बड़ी उतावलीके साथ शीघ्र ही कई भल्ल हाथमें लिये ॥ २३ ॥

ताञ्छरौघांस्ततो भल्लैस्तीक्ष्णैश्चिच्छेद राघवः ।
दीप्यमानान् महाघोराञ्छरानाशीविषोपमान् ॥ २४ ॥

रघुकुलभूषण श्रीरामने रावणके विषधर सर्पोंके समान महाभयंकर एवं दीप्तिमान् बाणसमूहोंको उन तीखे भल्लोंसे काट डाला ॥ २४ ॥

राघवो रावणं तूर्णं रावणो राघवं तथा ।
अन्योन्यं विविधैस्तीक्ष्णैः शरवर्षैर्ववर्षतुः ॥ २५ ॥

फिर श्रीरामने रावणको और रावणने श्रीरामको अपना लक्ष्य बनाया और दोनों ही शीघ्रतापूर्वक एक-दूसरेपर भाँति-भाँतिके पैने बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ २५ ॥

चेरतुश्च चिरं चित्रं मण्डलं सव्यदक्षिणम् ।
बाणवेगात् समुत्क्षिप्तावन्योन्यमपराजितौ ॥ २६ ॥

वे दोनों चिरकालतक वहाँ विचित्र दायें-बायें पैंतरेसे विचरते रहे। बाणके वेगसे एक-दूसरेको घायल करते हुए वे दोनों वीर पराजित नहीं होते थे ॥ २६ ॥

तयोर्भूतानि वित्रेसुर्युगपत् सम्प्रयुध्यतोः ।
रौद्रयोः सायकमुचोर्यमान्तकनिकाशयोः ॥ २७ ॥

एक साथ जूझते और सायकोंकी वर्षा करते हुए श्रीराम और रावण यमराज और अन्तकके समान भयंकर जान पड़ते थे। उनके युद्धसे सम्पूर्ण प्राणी थर्रा उठे ॥ २७ ॥

सततं विविधैर्बाणैर्बभूव गगनं तदा ।
घनैरिवातपापाये विद्युन्मालासमाकुलैः ॥ २८ ॥

जैसे वर्षा ऋतुमें विद्युत्-समूहोंसे व्याप्त मेघोंकी घटासे आकाश आच्छादित हो जाता है, उसी प्रकार उस समय नाना प्रकारके बाणोंसे वह ढक गया था ॥ २८ ॥

गवाक्षितमिवाकाशं बभूव शरवृष्टिभिः ।
महावेगैः सुतीक्ष्णाग्रैर्गृध्रपत्रैः सुवाजितैः ॥ २९ ॥

गीधकी पाँखके सुन्दर परोंसे सुशोभित और तेज धारवाले महान् वेगशाली बाणोंकी अनवरत वर्षासे आकाश ऐसा जान पड़ता था, मानो उसमें बहुत-से झरोखे लग गये हों ॥ २९ ॥

शरान्धकारमाकाशं चक्रतुः परमं तदा ।
गतेऽस्तं तपने चापि महामेघाविवोत्थितौ ॥ ३० ॥

दो बड़े-बड़े मेघोंकी भाँति उठे हुए श्रीराम और रावणने सूर्यके अस्त और उदित होनेपर भी बाणोंके गहन अन्धकारसे आकाशको ढक रखा था ॥ ३० ॥

तयोरभून्महायुद्धमन्योन्यवधकाङ्क्षिणोः ।
अनासाद्यमचिन्त्यं च वृत्रवासवयोरिव ॥ ३१ ॥

दोनों एक-दूसरेका वध करना चाहते थे; अतः वृत्रासुर और इन्द्रकी भाँति उन दोनोंमें ऐसा महान् युद्ध होने लगा, जो दुर्लभ तथा अचिन्त्य है ॥ ३१ ॥

उभौ हि परमेष्वासावुभौ युद्धविशारदौ ।
उभावस्त्रविदां मुख्यावुभौ युद्धे विचेरतुः ॥ ३२ ॥

दोनों ही महान् धनुर्धर और दोनों ही युद्धकी कलामें निपुण थे। दोनों ही अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ थे; अतः दोनों बड़े ही उत्साहसे रणभूमिमें विचरने लगे ॥ ३२ ॥

उभौ हि येन व्रजतस्तेन तेन शरोर्मयः ।
ऊर्मयो वायुना विद्धा जग्मुः सागरयोरिव ॥ ३३ ॥

वे जिस-जिस मार्गसे जाते, उसी-उसीसे बाणोंकी लहर-सी उठने लगती थी। ठीक उसी तरह, जैसे वायुके थपेड़े खाकर दो समुद्रोंके जलमें उत्ताल तरङ्गें उठ रही हों ॥ ३३ ॥

ततः संसक्तहस्तस्तु रावणो लोकरावणः ।
नाराचमालां रामस्य ललाटे प्रत्यमुञ्चत ॥ ३४ ॥

तदनन्तर जिसके हाथ बाण छोड़नेमें ही लगे हुए थे, समस्त लोकोंको रुलानेवाले उस रावणने श्रीरामचन्द्रजीके ललाटमें नाराचोंकी माला-सी पहना दी ॥ ३४ ॥

रौद्रचापप्रयुक्तां तां नीलोत्पलदलप्रभाम् ।
शिरसाधारयद् रामो न व्यथामभ्यपद्यत ॥ ३५ ॥

भयंकर धनुषसे छूटी और नील कमलदलके समान श्याम कान्तिसे प्रकाशित होती हुई उस नाराच-मालाको श्रीरामचन्द्रजीने अपने सिरपर धारण किया; किंतु वे व्यथित नहीं हुए ॥ ३५ ॥

अथ मन्त्रानपि जपन् रौद्रमस्त्रमुदीरयन् ।
शरान् भूयः समादाय रामः क्रोधसमन्वितः ॥ ३६ ॥

तत्पश्चात् क्रोधसे भरे हुए श्रीरामने पुनः बहुत-से बाण लेकर मन्त्रजपपूर्वक रौद्रास्त्रका प्रयोग किया ॥ ३६ ॥

मुमोच च महातेजाश्चापमायम्य वीर्यवान् ।
ताञ्शरान् राक्षसेन्द्राय चिक्षेपाच्छिन्नसायकः ॥ ३७ ॥

फिर उन महातेजस्वी, महापराक्रमी और अविच्छिन्नरूपसे बाणवर्षा करनेवाले श्रीरघुवीरने धनुषको कानतक खींचकर वे सभी बाण राक्षसराज रावणपर छोड़ दिये ॥ ३७ ॥

ते महामेघसंकाशे कवचे पतिताः शराः ।
अवध्ये राक्षसेन्द्रस्य न व्यथां जनयंस्तदा ॥ ३८ ॥

वे बाण राक्षसराज रावणके महामेघके समान काले रंगके अभेद्य कवचपर गिरे थे; इसलिये उस समय उसे व्यथित न कर सके ॥ ३८ ॥

पुनरेवाथ तं रामो रथस्थं राक्षसाधिपम्।
ललाटे परमास्त्रेण सर्वास्त्रकुशलोऽभिनत्॥ ३९॥

सम्पूर्ण अस्त्रोंके संचालनमें कुशल भगवान् श्रीरामने पुनः रथपर बैठे हुए राक्षसराज रावणके ललाटमें उत्तम अस्त्रोंका प्रहार करके उसे घायल कर दिया॥ ३९॥

ते भित्त्वा बाणरूपाणि पञ्चशीर्षा इवोरगाः।
श्वसन्तो विविशुर्भूमिं रावणप्रतिकूलिताः॥ ४०॥

श्रीरामके वे उत्तम बाण रावणको घायल करके उसके निवारण करनेपर फुफकारते हुए पाँच सिरवाले सर्पोंके समान धरतीमें समा गये॥ ४०॥

निहत्य राघवस्यास्त्रं रावणः क्रोधमूर्छितः।
आसुरं सुमहाघोरमस्त्रं प्रादुश्चकार सः॥ ४१॥

श्रीरघुनाथजीके अस्त्रका निवारण करके क्रोधसे मूर्छित हुए रावणने आसुर नामक दूसरा महाभयंकर अस्त्र प्रकट किया॥ ४१॥

सिंहव्याघ्रमुखांश्चापि कङ्ककोकमुखानपि।
गृध्रश्येनमुखांश्चापि शृगालवदनांस्तथा॥ ४२॥
ईहामृगमुखांश्चापि व्यादितास्यान् भयावहान्।
पञ्चास्याँल्लेलिहानांश्च ससर्ज निशिताञ्शरान्॥ ४३॥
शरान् खरमुखांश्चान्यान् वराहमुखसंश्रितान्।
श्वानकुक्कुटवक्त्रांश्च मकराशीविषाननान्॥ ४४॥
एतांश्चान्यांश्च मायाभिः ससर्ज निशिताञ्छरान्।
रामं प्रति महातेजाः क्रुद्धः सर्प इव श्वसन्॥ ४५॥

उससे सिंह, बाघ, कङ्क, चक्रवाक, गीध, बाज, सियार, भेड़िये, गदहे, सूअर, कुत्ते, मुर्गे, मगर और जहरीले साँपोंके समान मुखवाले बाणोंकी वृष्टि होने लगी। वे बाण मुँह फैलाये, जबड़े चाटते हुए पाँच मुखवाले भयंकर सर्पोंके समान जान पड़ते थे। फुफकारते हुए सर्पकी भाँति कुपित हुए महातेजस्वी रावणने इनका तथा अन्य प्रकारके तीखे बाणोंका भी श्रीरामके ऊपर प्रयोग किया॥ ४२—४५॥

आसुरेण समाविष्टः सोऽस्त्रेण रघुपुङ्गवः।
ससर्जास्त्रं महोत्साहं पावकं पावकोपमः॥ ४६॥

उस आसुरास्त्रसे आवृत्त हुए अग्नि-तुल्य तेजस्वी महान् उत्साही रघुकुलतिलक श्रीरामने आग्नेयास्त्रका प्रयोग किया॥ ४६॥

अग्निदीप्तमुखान् बाणांस्तत्र सूर्यमुखानपि।
चन्द्रार्धचन्द्रवक्त्रांश्च धूमकेतुमुखानपि।
ग्रहनक्षत्रवर्णांश्च महोल्कामुखसंस्थितान्॥ ४७॥
विद्युज्जिह्वोपमांश्चापि ससर्ज विविधाञ्छरान्।

उसके द्वारा उन्होंने अग्नि, सूर्य, चन्द्र, अर्धचन्द्र, धूमकेतु, ग्रह, नक्षत्र, उल्का तथा बिजलीकी प्रभाके समान प्रज्वलित मुखवाले नाना प्रकारके बाण प्रकट किये॥ ४७½॥

ते रावणशरा घोरा राघवास्त्रसमाहताः॥ ४८॥
विलयं जग्मुराकाशे जघ्नुश्चैव सहस्रशः।

श्रीरघुनाथजीके आग्नेयास्त्रसे आहत हो रावणके वे भयंकर बाण आकाशमें ही विलीन हो गये, तथापि उनके द्वारा सहस्रों वानर मारे गये थे॥ ४८½॥

तदस्त्रं निहतं दृष्ट्वा रामेणाक्लिष्टकर्मणा॥ ४९॥
हृष्टा नेदुस्ततः सर्वे कपयः कामरूपिणः।
सुग्रीवाभिमुखा वीराः सम्परिक्षिप्य राघवम्॥ ५०॥

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरामने उस आसुरास्त्रको नष्ट कर दिया, यह देख इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले सुग्रीव आदि सभी वीर वानर श्रीरामको चारों ओरसे घेरकर हर्षनाद करने लगे॥ ४९-५०॥

ततस्तदस्त्रं विनिहत्य राघवः
प्रसह्य तद् रावणबाहुनिःसृतम्।
मुदान्वितो दाशरथिर्महात्मा
विनेदुरुच्चैर्मुदिताः कपीश्वराः॥ ५१॥

दशरथनन्दन महात्मा श्रीराम रावणके हाथोंसे छूटे हुए उस आसुरास्त्रका बलपूर्वक विनाश करके बड़े प्रसन्न हुए और वानर-यूथपति आनन्दमग्न हो उच्च स्वरसे सिंहनाद करने लगे॥ ५१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे एकोनशततमः सर्गः॥ ९९॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें निन्यानवेवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ९९॥

शततमः सर्गः

राम और रावणका युद्ध, रावणकी शक्तिसे लक्ष्मणका मूर्छित होना तथा रावणका युद्धसे भागना

तस्मिन् प्रतिहतेऽस्त्रे तु रावणो राक्षसाधिपः।
क्रोधं च द्विगुणं चक्रे क्रोधाच्चास्त्रमनन्तरम्॥ १॥
मयेन विहितं रौद्रमन्यदस्त्रं महाद्युतिः।
उत्स्रष्टुं रावणो भीमं राघवाय प्रचक्रमे॥ २॥

अपने उस अस्त्रके नष्ट हो जानेपर महातेजस्वी राक्षसराज रावणने दूना क्रोध प्रकट किया। उसने क्रोधवश श्रीरामके ऊपर एक दूसरे भयंकर अस्त्रको छोड़नेका आयोजन किया, जिसे मयासुरने बनाया था॥ १-२॥

ततः शूलानि निश्चेरुर्गदाश्च मुसलानि च।
कार्मुकाद् दीप्यमानानि वज्रसाराणि सर्वशः॥ ३॥
मुद्गराः कूटपाशाश्च दीप्ताश्चाशनयस्तथा।
निष्पेतुर्विविधास्तीक्ष्णा वाता इव युगक्षये॥ ४॥

उस समय रावणके धनुषसे वज्रके समान दृढ़ और दमकते हुए शूल, गदा, मूसल, मुद्गर, कूटपाश तथा चमचमाती अशनि आदि भाँति-भाँतिके तीखे अस्त्र छूटने लगे, मानो प्रलयकालमें वायुके विविध रूप प्रकट हो रहे हों॥ ३-४॥

तदस्त्रं राघवः श्रीमानुत्तमास्त्रविदां वरः।
जघान परमास्त्रेण गान्धर्वेण महाद्युतिः॥ ५॥

तब उत्तम अस्त्रके ज्ञाताओंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी श्रीमान् रघुनाथजीने गान्धर्व नामक श्रेष्ठ अस्त्रके द्वारा रावणके उस अस्त्रको शान्त कर दिया॥ ५॥

तस्मिन् प्रतिहतेऽस्त्रे तु राघवेण महात्मना।
रावणः क्रोधताम्राक्षः सौरमस्त्रमुदीरयत्॥ ६॥

महात्मा रघुनाथजीके द्वारा उस अस्त्रके प्रतिहत हो जानेपर रावणके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये और उसने सूर्यास्त्रका प्रयोग किया॥ ६॥

ततश्चक्राणि निष्पेतुर्भास्वराणि महान्ति च।
कार्मुकाद् भीमवेगस्य दशग्रीवस्य धीमतः॥ ७॥

फिर तो भयानक वेगशाली बुद्धिमान् राक्षस दशग्रीवके धनुषसे बड़े-बड़े तेजस्वी चक्र प्रकट होने लगे॥ ७॥

तैरासीद् गगनं दीप्तं सम्पतद्भिः समन्ततः।
पतद्भिश्च दिशो दीप्ताश्चन्द्रसूर्यग्रहैरिव॥ ८॥

चन्द्रमा और सूर्य आदि ग्रहोंके समान आकारवाले वे दीप्तिमान् अस्त्र-शस्त्र सब ओर प्रकट होते और गिरते थे। उनसे आकाशमें प्रकाश छा गया और सम्पूर्ण दिशाएँ उद्भासित हो उठीं॥ ८॥

तानि चिच्छेद बाणौघैश्चक्राणि तु स राघवः।
आयुधानि च चित्राणि रावणस्य चमूमुखे॥ ९॥

परंतु श्रीरामचन्द्रजीने अपने बाणसमूहोंद्वारा सेनाके मुहानेपर रावणके उन चक्रों और विचित्र आयुधोंके टुकड़े-टुकड़े कर डाले॥ ९॥

तदस्त्रं तु हतं दृष्ट्वा रावणो राक्षसाधिपः।
विव्याध दशभिर्बाणै रामं सर्वेषु मर्मसु॥ १०॥

उस अस्त्रको नष्ट हुआ देख राक्षसराज रावणने दस बाणोंद्वारा श्रीरामके सारे मर्मस्थानोंमें गहरी चोट पहुँचायी॥ १०॥

स विद्धो दशभिर्बाणैर्महाकार्मुकनिःसृतैः।
रावणेन महातेजा न प्राकम्पत राघवः॥ ११॥

रावणके विशाल धनुषसे छूटे हुए उन दस बाणोंसे घायल होनेपर भी महातेजस्वी श्रीरघुनाथजी विचलित नहीं हुए॥ ११॥

ततो विव्याध गात्रेषु सर्वेषु समितिंजयः।
राघवस्तु सुसंक्रुद्धो रावणं बहुभिः शरैः॥ १२॥

तत्पश्चात् समरविजयी श्रीरघुवीरने अत्यन्त कुपित हो बहुत-से बाण मारकर रावणके सारे अङ्गोंमें घाव कर दिया॥ १२॥

एतस्मिन्नन्तरे क्रुद्धो राघवस्यानुजो बली।
लक्ष्मणः सायकान् सप्त जग्राह परवीरहा॥ १३॥

इसी बीचमें शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले महाबली रामानुज लक्ष्मणने कुपित हो सात सायक हाथमें लिये॥ १३॥

तैः सायकैर्महावेगै रावणस्य महाद्युतिः।
ध्वजं मनुष्यशीर्षं तु तस्य चिच्छेद नैकधा॥ १४॥

उन महान् वेगशाली सायकोंद्वारा उन महातेजस्वी सुमित्राकुमारने रावणकी ध्वजाके, जिसमें मनुष्यकी खोपड़ीका चिह्न था, कई टुकड़े कर डाले॥ १४॥

सारथेश्चापि बाणेन शिरो ज्वलितकुण्डलम्।
जहार लक्ष्मणः श्रीमान् नैर्ऋतस्य महाबलः॥ १५॥

इसके बाद महाबली श्रीमान् लक्ष्मणने एक बाणसे उस राक्षसके सारथिका जगमगाते हुए कुण्डलोंसे मण्डित मस्तक भी काट लिया॥ १५॥

तस्य बाणैश्च चिच्छेद धनुर्गजकरोपमम्।
लक्ष्मणो राक्षसेन्द्रस्य पञ्चभिर्निशितैस्तदा॥ १६॥

इतना ही नहीं, लक्ष्मणने पाँच पैने बाण मारकर उस राक्षसराजके हाथीकी सूँड़के समान मोटे धनुषको भी काट डाला॥ १६॥

नीलमेघनिभांश्चास्य सदश्वान् पर्वतोपमान्।
जघानाप्लुत्य गदया रावणस्य विभीषणः॥ १७॥

तदनन्तर विभीषणने उछलकर अपनी गदासे रावणके नील मेघके समान कान्तिवाले सुन्दर पर्वताकार घोड़ोंको भी मार गिराया॥ १७॥

हताश्वात् तु तदा वेगादवप्लुत्य महारथात्।
कोपमाहारयत् तीव्रं भ्रातरं प्रति रावणः॥ १८॥

घोड़ोंके मारे जानेपर रावण अपने विशाल रथसे वेगपूर्वक कूद पड़ा और अपने भाईपर उसे बड़ा क्रोध आया॥ १८॥

ततः शक्तिं महाशक्तिः प्रदीप्तामशनीमिव।
विभीषणाय चिक्षेप राक्षसेन्द्रः प्रतापवान्॥ १९॥

तब उस महान् शक्तिशाली प्रतापी राक्षसराजने विभीषणको मारनेके लिये एक वज्रके समान प्रज्वलित शक्ति चलायी॥ १९॥

अप्राप्तामेव तां बाणैस्त्रिभिश्चिच्छेद लक्ष्मणः।
अथोदतिष्ठत् संनादो वानराणां महारणे॥ २०॥

वह शक्ति अभी विभीषणतक पहुँचने भी नहीं पायी थी

कि लक्ष्मणने तीन बाण मारकर उसे बीचमें ही काट दिया। यह देख उस महासमरमें वानरोंका महान् हर्षनाद गूँज उठा॥ २०॥

सम्पपात त्रिधा छिन्ना शक्तिः काञ्चनमालिनी।
सविस्फुलिङ्गा ज्वलिता महोल्केव दिवश्च्युता॥ २१॥

सोनेकी मालासे अलंकृत वह शक्ति तीन भागोंमें विभक्त होकर पृथ्वीपर गिर पड़ी, मानो आकाशसे चिनगारियोंसहित बड़ी भारी उल्का टूटकर गिरी हो॥ २१॥

ततः सम्भाविततरां कालेनापि दुरासदाम्।
जग्राह विपुलां शक्तिं दीप्यमानां स्वतेजसा॥ २२॥

तदनन्तर रावणने विभीषणको मारनेके लिये एक ऐसी विशाल शक्ति हाथमें ली, जो अपनी अमोघताके लिये विशेष विख्यात थी। काल भी उसके वेगको नहीं सह सकता था। वह शक्ति अपने तेजसे उद्दीप्त हो रही थी॥ २२॥

सा वेगिता बलवता रावणेन दुरात्मना।
जज्वाल सुमहातेजा दीप्ताशनिसमप्रभा॥ २३॥

दुरात्मा बलवान् रावणके द्वारा हाथमें ली हुई वह वेगशालिनी, महातेजस्विनी और वज्रके समान दीप्तिमती शक्ति अपने दिव्य तेजसे प्रज्वलित हो उठी॥ २३॥

एतस्मिन्नन्तरे वीरो लक्ष्मणस्तं विभीषणम्।
प्राणसंशयमापन्नं तूर्णमभ्यवपद्यत॥ २४॥

इसी बीचमें विभीषणको प्राण-संशयकी अवस्थामें पड़ा देख वीर लक्ष्मणने तुरंत उनकी रक्षा की। उन्हें पीछे करके वे स्वयं शक्तिके सामने खड़े हो गये॥ २४॥

तं विमोक्षयितुं वीरश्चापमायम्य लक्ष्मणः।
रावणं शक्तिहस्तं वै शरवर्षैरवाकिरत्॥ २५॥

विभीषणको बचानेके लिये वीर लक्ष्मण अपने धनुषको खींचकर हाथमें शक्ति लिये खड़े हुए रावणपर बाणोंकी वर्षा करने लगे॥ २५॥

कीर्यमाणः शरौघेण विसृष्टेन महात्मना।
न प्रहर्तुं मनश्चक्रे विमुखीकृतविक्रमः॥ २६॥

महात्मा लक्ष्मणके छोड़े हुए बाण-समूहोंका निशाना बनकर रावण अपने भाईको मारनेके पराक्रमसे विमुख हो गया। अब उसके मनमें प्रहार करनेकी इच्छा नहीं रह गयी॥ २६॥

मोक्षितं भ्रातरं दृष्ट्वा लक्ष्मणेन स रावणः।
लक्ष्मणाभिमुखस्तिष्ठन्निदं वचनमब्रवीत्॥ २७॥

लक्ष्मणने मेरे भाईको बचा लिया, यह देख रावण उनकी ओर मुँह करके खड़ा हो गया और इस प्रकार बोला—॥ २७॥

मोक्षितस्ते बलश्लाघिन् यस्मादेवं विभीषणः।
विमुच्य राक्षसं शक्तिस्त्वयीयं विनिपात्यते॥ २८॥

'अपने बलपर घमंड रखनेवाले लक्ष्मण! तुमने ऐसा प्रयास करके विभीषणको बचा लिया है, इसलिये अब उस राक्षसको छोड़कर मैं तुम्हारे ऊपर ही इस शक्तिका प्रहार करता हूँ॥ २८॥

एषा ते हृदयं भित्त्वा शक्तिर्लोहितलक्षणा।
मद्बाहुपरिघोत्सृष्टा प्राणानादाय यास्यति॥ २९॥

'यह शक्ति स्वभावसे ही शत्रुओंके खूनसे नहानेवाली है, यह मेरे हाथसे छूटते ही तुम्हारे हृदयको विदीर्ण करके प्राणोंको अपने साथ ले जायगी'॥ २९॥

इत्येवमुक्त्वा तां शक्तिमष्टघण्टां महास्वनाम्।
मयेन मायाविहिताममोघां शत्रुघातिनीम्॥ ३०॥
लक्ष्मणाय समुद्दिश्य ज्वलन्तीमिव तेजसा।
रावणः परमक्रुद्धश्चिक्षेप च ननाद च॥ ३१॥

ऐसा कहकर अत्यन्त कुपित हुए रावणने मयासुरकी मायासे निर्मित, आठ घण्टोंसे विभूषित तथा महाभयंकर शब्द करनेवाली, उस अमोघ एवं शत्रुघातिनी शक्तिको, जो अपने तेजसे प्रज्वलित हो रही थी, लक्ष्मणको लक्ष्य करके चला दिया और बड़े जोरसे गर्जना की॥ ३०-३१॥

सा क्षिप्ता भीमवेगेन वज्राशनिसमस्वना।
शक्तिरभ्यपतद् वेगाल्लक्ष्मणं रणमूर्धनि॥ ३२॥

वज्र और अशनिके समान गड़गड़ाहट पैदा करनेवाली वह शक्ति युद्धके मुहानेपर भयानक वेगसे चलायी गयी और लक्ष्मणको वेगपूर्वक लगी॥ ३२॥

तामनुव्याहरच्छक्तिमापतन्तीं स राघवः।
स्वस्त्यस्तु लक्ष्मणायेति मोघा भव हतोद्यमा॥ ३३॥

लक्ष्मणकी ओर आती हुई उस शक्तिको लक्ष्य करके भगवान् श्रीरामने कहा—'लक्ष्मणका कल्याण हो, तेरा प्राणनाश-विषयक उद्योग नष्ट हो; अतएव तू व्यर्थ हो जा'॥ ३३॥

रावणेन रणे शक्तिः क्रुद्धेनाशीविषोपमा।
मुक्ताऽऽशूरस्याभीतस्य लक्ष्मणस्य ममज्ज सा॥ ३४॥

वह शक्ति विषधर सर्पके समान भयंकर थी। रणभूमिमें कुपित हुए रावणने जब उसे छोड़ा, तब वह तुरंत ही निर्भय वीर लक्ष्मणकी छातीमें डूब गयी॥ ३४॥

न्यपतत् सा महावेगा लक्ष्मणस्य महोरसि।
जिह्वेवोरगराजस्य दीप्यमाना महाद्युतिः॥ ३५॥
ततो रावणवेगेन सुदूरमवगाढया।
शक्त्या विभिन्नहृदयः पपात भुवि लक्ष्मणः॥ ३६॥

नागराज वासुकिकी जिह्वाके समान देदीप्यमान वह महातेजस्विनी और महावेगवती शक्ति जब लक्ष्मणके विशाल वक्षःस्थलपर गिरी, तब रावणके वेगसे बहुत गहराईतक धँस गयी। उस शक्तिसे हृदय विदीर्ण हो जानेके कारण लक्ष्मण पृथ्वीपर गिर पड़े॥ ३५-३६॥

तदवस्थं समीपस्थो लक्ष्मणं प्रेक्ष्य राघवः।
भ्रातृस्नेहान्महातेजा विषण्णहृदयोऽभवत्॥ ३७॥

महातेजस्वी रघुनाथजी पास ही खड़े थे। वे लक्ष्मणको इस अवस्थामें देखकर भ्रातृस्नेहके कारण मन-ही-मन विषादमें डूब गये॥ ३७॥

स मुहूर्तमिव ध्यात्वा बाष्पपर्याकुलेक्षणः।
बभूव संरब्धतरो युगान्त इव पावकः॥ ३८॥

वे दो घड़ीतक चिन्तामें डूबे रहे। फिर नेत्रोंमें आँसू भरकर प्रलयकालमें प्रज्वलित हुई अग्निके समान अत्यन्त रोषसे उद्दीप्त हो उठे॥ ३८॥

न विषादस्य कालोऽयमिति संचिन्त्य राघवः।
चक्रे सुतुमलं युद्धं रावणस्य वधे धृतः।
सर्वयत्नेन महता लक्ष्मणं परिवीक्ष्य च॥ ३९॥

'यह विषादका समय नहीं है' ऐसा सोचकर श्रीरघुनाथजी रावणके वधका निश्चय करके महान् प्रयत्नके द्वारा सारी शक्ति लगाकर और लक्ष्मणकी ओर देखकर अत्यन्त भयंकर युद्ध करने लगे॥ ३९॥

स ददर्श ततो रामः शक्त्या भिन्नं महाहवे।
लक्ष्मणं रुधिरादिग्धं सपन्नगमिवाचलम्॥ ४०॥

तत्पश्चात् श्रीरामने उस महासमरमें शक्तिसे विदीर्ण हुए लक्ष्मणकी ओर देखा। वे खूनसे लथपथ होकर पड़े थे और सर्पयुक्त पर्वतके समान जान पड़ते थे॥ ४०॥

तामपि प्रहितां शक्तिं रावणेन बलीयसा।
यत्नतस्ते हरिश्रेष्ठा न शेकुरवमर्दितुम्॥ ४१॥

अत्यन्त बलवान् रावणकी चलायी हुई उस शक्तिको लक्ष्मणकी छातीसे निकालनेके लिये बहुत प्रयत्न करनेपर भी वे श्रेष्ठ वानरगण सफल न हो सके॥ ४१॥

अर्दिताश्चैव बाणौघैस्ते प्रवेकेण रक्षसाम्।
सौमित्रेः सा विनिर्भिद्य प्रविष्टा धरणीतलम्॥ ४२॥

क्योंकि वे वानर भी राक्षसशिरोमणि रावणके बाण-समूहोंसे बहुत पीड़ित थे। वह शक्ति सुमित्राकुमारके शरीरको विदीर्ण करके धरतीतक पहुँच गयी थी॥ ४२॥

तां कराभ्यां परामृश्य रामः शक्तिं भयावहाम्।
बभञ्ज समरे क्रुद्धो बलवान् विचकर्ष च॥ ४३॥

तब महाबली रघुनाथजीने उस भयंकर शक्तिको अपने दोनों हाथोंसे पकड़कर लक्ष्मणके शरीरसे निकाला और समराङ्गणमें कुपित हो उसे तोड़ डाला॥ ४३॥

तस्य निष्कर्षतः शक्तिं रावणेन बलीयसा।
शराः सर्वेषु गात्रेषु पातिता मर्मभेदिनः॥ ४४॥

श्रीरामचन्द्रजी जब लक्ष्मणके शरीरसे शक्ति निकाल रहे थे, उस समय महाबली रावण उनके सम्पूर्ण अङ्गोंपर मर्मभेदी बाणोंकी वर्षा करता रहा॥ ४४॥

अचिन्तयित्वा तान् बाणान् समाश्लिष्य च लक्ष्मणम्।
अब्रवीच्च हनूमन्तं सुग्रीवं च महाकपिम्॥ ४५॥

परंतु उन बाणोंकी परवा न करके लक्ष्मणको हृदयसे लगाकर भगवान् श्रीराम हनुमान् और महाकपि सुग्रीवसे बोले—॥ ४५॥

लक्ष्मणं परिवार्यैवं तिष्ठध्वं वानरोत्तमाः।
पराक्रमस्य कालोऽयं सम्प्राप्तो मे चिरेप्सितः॥ ४६॥

'कपिवरो! तुमलोग लक्ष्मणको इसी तरह सब ओरसे घेरकर खड़े रहो। अब मेरे लिये उस पराक्रमका अवसर आया है, जो मुझे चिरकालसे अभीष्ट था॥ ४६॥

पापात्मायं दशग्रीवो वध्यतां पापनिश्चयः।
काङ्क्षितं चातकस्येव घर्मान्ते मेघदर्शनम्॥ ४७॥

'इस पापात्मा एवं पापपूर्ण विचार रखनेवाले दशमुख रावणको अब मार डाला जाय, यही उचित है। जैसे पपीहेको ग्रीष्म ऋतुके अन्तमें मेघके दर्शनकी इच्छा रहती है, उसी प्रकार मैं भी इसका वध करनेके लिये चिरकालसे इसे देखना चाहता हूँ॥ ४७॥

अस्मिन् मुहूर्ते नचिरात् सत्यं प्रतिशृणोमि वः।
अरावणमरामं वा जगद् द्रक्ष्यथ वानराः॥ ४८॥

'वानरो! मैं इस मुहूर्तमें तुम्हारे सामने यह सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि कुछ ही देरमें यह संसार रावणसे रहित दिखायी देगा या रामसे॥ ४८॥

राज्यनाशं वने वासं दण्डके परिधावनम्।
वैदेह्याश्च परामर्शो रक्षोभिश्च समागमम्॥ ४९॥
प्राप्तं दुःखं महाघोरं क्लेशश्च निरयोपमः।
अद्य सर्वमहं त्यक्ष्ये निहत्वा रावणं रणे॥ ५०॥

'मेरे राज्यका नाश, वनका निवास, दण्डकारण्यकी दौड़-धूप, विदेहकुमारी सीताका राक्षसद्वारा अपहरण तथा राक्षसोंके साथ संग्राम—इन सबके कारण मुझे महाघोर दुःख सहना पड़ा है और नरकके समान कष्ट उठाना पड़ा है; किंतु रणभूमिमें रावणका वध करके आज मैं सारे दुःखोंसे छुटकारा पा जाऊँगा॥ ४९-५०॥

यदर्थं वानरं सैन्यं समानीतमिदं मया।
सुग्रीवश्च कृतो राज्ये निहत्वा वालिनं रणे।
यदर्थं सागरः क्रान्तः सेतुर्बद्धश्च सागरे॥ ५१॥
सोऽयमद्य रणे पापश्चक्षुर्विषयमागतः।
चक्षुर्विषयमागत्य नायं जीवितुमर्हति॥ ५२॥

'जिसके लिये मैं वानरोंकी यह विशाल सेना साथ लाया हूँ, जिसके कारण मैंने युद्धमें वालीका वध करके सुग्रीवको राज्यपर बिठाया है तथा जिसके उद्देश्यसे समुद्रपर पुल बाँधा और उसे पार किया, वह पापी रावण आज युद्धमें मेरी आँखोंके सामने उपस्थित है। मेरे दृष्टिपथमें आकर अब यह जीवित रहने योग्य नहीं है॥ ५१-५२॥

दृष्टिं दृष्टिविषस्येव सर्पस्य मम रावणः।
यथा वा वैनतेयस्य दृष्टिं प्राप्तो भुजंगमः॥ ५३॥

'दृष्टिमात्रसे संहारकारी विषका प्रसार करनेवाले सर्पकी

आँखोंके सामने आकर जैसे कोई मनुष्य जीवित नहीं बच सकता अथवा जैसे विनतानन्दन गरुड़की दृष्टिमें पड़कर कोई महान् सर्प जीवित नहीं बच सकता, उसी प्रकार आज रावण मेरे सामने आकर जीवित या सकुशल नहीं लौट सकता ॥ ५३ ॥

सुखं पश्यत दुर्धर्षा युद्धं वानरपुङ्गवाः ।
आसीनाः पर्वताग्रेषु ममेदं रावणस्य च ॥ ५४ ॥

'दुर्धर्ष वानरशिरोमणियो! अब तुमलोग पर्वतके शिखरोंपर बैठकर मेरे और रावणके इस युद्धको सुखपूर्वक देखो ॥ ५४ ॥

अद्य पश्यन्तु रामस्य रामत्वं मम संयुगे ।
त्रयो लोकाः सगन्धर्वाः सदेवाः सर्षिचारणाः ॥ ५५ ॥

'आज संग्राममें देवता, गन्धर्व, सिद्ध, ऋषि और चारणों-सहित तीनों लोकोंके प्राणी रामका रामत्व देखें ॥ ५५ ॥

अद्य कर्म करिष्यामि यल्लोकाः सचराचराः ।
सदेवाः कथयिष्यन्ति यावद् भूमिर्धरिष्यति ।
समागम्य सदा लोके यथा युद्धं प्रवर्तितम् ॥ ५६ ॥

'आज मैं वह पराक्रम प्रकट करूँगा, जिसकी जबतक यह पृथ्वी कायम रहेगी, तबतक चराचर जगत्‌के जीव और देवता भी सदा लोकमें एकत्र होकर चर्चा करेंगे और जिस प्रकार युद्ध हुआ है, उसे एक-दूसरेसे कहेंगे' ॥ ५६ ॥

एवमुक्त्वा शितैर्बाणैस्तप्तकाञ्चनभूषणैः ।
आजघान रणे रामो दशग्रीवं समाहितः ॥ ५७ ॥

ऐसा कहकर भगवान् श्रीराम सावधान हो अपने सुवर्णभूषित तीखे बाणोंसे रणभूमिमें दशानन रावणको घायल करने लगे ॥ ५७ ॥

तथा प्रदीप्तैर्नाराचैर्मुसलैश्चापि रावणः ।
अभ्यवर्षत् तदा रामं धाराभिरिव तोयदः ॥ ५८ ॥

इसी प्रकार जैसे मेघ जलकी धारा गिराता है, उसी तरह रावण भी श्रीरामपर चमकीले नाराचों और मुसलोंकी वर्षा करने लगा ॥ ५८ ॥

रामरावणमुक्तानामन्योन्यमभिनिघ्नताम् ।
वराणां च शराणां च बभूव तुमुलः स्वनः ॥ ५९ ॥

एक-दूसरेपर चोट करते हुए राम और रावणके छोड़े हुए श्रेष्ठ बाणोंके परस्पर टकरानेसे बड़ा भयंकर शब्द प्रकट होता था ॥ ५९ ॥

विच्छिन्नाश्च विकीर्णाश्च रामरावणयोः शराः ।
अन्तरिक्षात् प्रदीप्ताग्रा निपेतुर्धरणीतले ॥ ६० ॥

श्रीराम और रावणके बाण परस्पर छिन्न-भिन्न होकर आकाशसे पृथ्वीपर गिर पड़ते थे। उस समय उनके अग्रभाग बड़े उद्दीप्त दिखायी देते थे ॥ ६० ॥

तयोर्ज्यातलनिर्घोषो रामरावणयोर्महान् ।
त्रासनः सर्वभूतानां बभूवाद्भुतोपमः ॥ ६१ ॥

राम और रावणके धनुषकी प्रत्यञ्चासे प्रकट हुई महान् टंकारध्वनि समस्त प्राणियोंके मनमें त्रास उत्पन्न कर देती थी और बड़ी अद्भुत प्रतीत होती थी ॥ ६१ ॥

स कीर्यमाणः शरजालवृष्टिभि-
र्महात्मना दीप्तधनुष्मतार्दितः ।
भयात् प्रदुद्राव समेत्य रावणो
यथानिलेनाभिहतो बलाहकः ॥ ६२ ॥

जैसे वायुके थपेड़े खाकर मेघ छिन्न-भिन्न हो जाता है, उसी प्रकार दीप्तिमान् धनुष धारण करनेवाले महात्मा श्रीरामके बाण-समूहोंकी वर्षासे आहत एवं पीड़ित हुआ रावण भयके मारे वहाँसे भाग गया ॥ ६२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे शततमः सर्गः ॥ १०० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें सौवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १०० ॥

—★—

एकाधिकशततमः सर्गः

श्रीरामका विलाप तथा हनुमान्‌जीकी लायी हुई ओषधिके सुषेणद्वारा किये गये प्रयोगसे लक्ष्मणका सचेत हो उठना

शक्त्या निपातितं दृष्ट्वा रावणेन बलीयसा ।
लक्ष्मणं समरे शूरं शोणितौघपरिप्लुतम् ॥ १ ॥
स दत्त्वा तुमुलं युद्धं रावणस्य दुरात्मनः ।
विसृजन्नेव बाणौघान् सुषेणमिदमब्रवीत् ॥ २ ॥

महाबली रावणने शूरवीर लक्ष्मणको अपनी शक्तिसे युद्धमें धराशायी कर दिया था। वे रक्तके प्रवाहसे नहा उठे थे। यह देख भगवान् श्रीरामने दुरात्मा रावणके साथ घोर युद्ध करके बाण-समूहोंकी वर्षा करते हुए ही सुषेणसे इस प्रकार कहा— ॥ १-२ ॥

एष रावणवीर्येण लक्ष्मणः पतितो भुवि ।
सर्पवच्चेष्टते वीरो मम शोकमुदीरयन् ॥ ३ ॥

'ये वीर लक्ष्मण रावणके पराक्रमसे घायल होकर पृथ्वीपर पड़े हैं और चोट खाये हुए सर्पकी भाँति छटपटा रहे हैं। इस अवस्थामें इन्हें देखकर मेरा शोक बढ़ता जा रहा है ॥ ३ ॥

शोणितार्द्रमिमं वीरं प्राणैः प्रियतरं मम ।
पश्यतो मम का शक्तिर्योद्धुं पर्याकुलात्मनः ॥ ४ ॥

'ये वीर सुमित्राकुमार मुझे प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय हैं, इन्हें लहूलुहान देखकर मेरा मन व्याकुल हो रहा है, ऐसी दशामें मुझमें युद्ध करनेकी शक्ति क्या होगी ? ॥ ४ ॥

अयं स समरश्लाघी भ्राता मे शुभलक्षणः ।
यदि पञ्चत्वमापन्नः प्राणैर्मे किं सुखेन वा ॥ ५ ॥

'ये मेरे शुभलक्षण भाई, जो सदा युद्धका हौसला रखते थे, यदि मर गये तो मुझे इन प्राणोंके रखने और सुख भोगनेसे क्या प्रयोजन है ? ॥ ५ ॥

लज्जतीव हि मे वीर्यं भ्रश्यतीव कराद् धनुः ।
सायका व्यवसीदन्ति दृष्टिर्बाष्पवशं गता ॥ ६ ॥

'इस समय मेरा पराक्रम लज्जित-सा हो रहा है, हाथसे धनुष खसकता-सा जा रहा है, मेरे सायक शिथिल हो रहे हैं और नेत्रोंमें आँसू भर आये हैं ॥ ६ ॥

अवसीदन्ति गात्राणि स्वप्नयाने नृणामिव ।
चिन्ता मे वर्धते तीव्रा मुमूर्षापि च जायते ॥ ७ ॥
भ्रातरं निहतं दृष्ट्वा रावणेन दुरात्मना ।
विष्टनन्तं तु दुःखार्तं मर्मण्यभिहतं भृशम् ॥ ८ ॥

'जैसे स्वप्नमें मनुष्योंके शरीर शिथिल हो जाते हैं, वही दशा मेरे इन अङ्गोंकी है। मेरी तीव्र चिन्ता बढ़ती जा रही है और दुरात्मा रावणके द्वारा घायल होकर मार्मिक आघातसे अत्यन्त पीड़ित एवं दुःखातुर हुए भाई लक्ष्मणको कराहते देख मुझे मर जानेकी इच्छा हो रही है' ॥ ७-८ ॥

राघवो भ्रातरं दृष्ट्वा प्रियं प्राणं बहिश्चरम् ।
दुःखेन महताविष्टो ध्यानशोकपरायणः ॥ ९ ॥

श्रीरघुनाथजी बाहर विचरनेवाले प्राणोंके समान प्रिय भाई लक्ष्मणको इस अवस्थामें देख महान् दुःखसे व्याकुल हो गये, चिन्ता और शोकमें डूब गये ॥ ९ ॥

परं विषादमापन्नो विललापाकुलेन्द्रियः ।
भ्रातरं निहतं दृष्ट्वा लक्ष्मणं रणपांसुषु ॥ १० ॥

उनके मनमें बड़ा विषाद हुआ। इन्द्रियोंमें व्याकुलता छा गयी और वे रणभूमिकी धूलमें घायल होकर पड़े हुए भाई लक्ष्मणकी ओर देखकर विलाप करने लगे— ॥ १० ॥

विजयोऽपि हि मे शूर न प्रियायोपकल्पते ।
अचक्षुर्विषयश्चन्द्रः कां प्रीतिं जनयिष्यति ॥ ११ ॥

'शूरवीर ! अब संग्राममें विजय भी मिल जाय तो मुझे प्रसन्नता नहीं होगी। अन्धेके सामने चन्द्रमा अपनी चाँदनी बिखेर दें तो भी वे उसके मनमें कौन-सा आह्लाद पैदा कर सकेंगे ? ॥ ११ ॥

किं मे युद्धेन किं प्राणैर्युद्धकार्यं न विद्यते ।
यत्रायं निहतः शेते रणमूर्धनि लक्ष्मणः ॥ १२ ॥

'अब इस युद्धसे अथवा प्राणोंकी रक्षासे मुझे क्या प्रयोजन है ? अब लड़ने-भिड़नेकी कोई आवश्यकता नहीं है। जब संग्रामके मुहानेपर मारे जाकर लक्ष्मण ही सदाके लिये सो गये, तब युद्ध जीतनेसे क्या लाभ है ? ॥ १२ ॥

यथैव मां वनं यान्तमनुयाति महाद्युतिः ।
अहमप्यनुयास्यामि तथैवैनं यमक्षयम् ॥ १३ ॥

'वनमें आते समय जैसे महातेजस्वी लक्ष्मण मेरे पीछे-पीछे चले आये थे, उसी तरह यमलोकमें जाते समय मैं भी इनके पीछे-पीछे जाऊँगा ॥ १३ ॥

इष्टबन्धुजनो नित्यं मां स नित्यमनुव्रतः ।
इमामवस्थां गमितो राक्षसैः कूटयोधिभिः ॥ १४ ॥

'हाय ! जो सदा मुझमें अनुराग रखनेवाले मेरे प्रिय बन्धुजन थे, छलसे युद्ध करनेवाले निशाचरोंने आज उनकी यह दशा कर दी ॥ १४ ॥

देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः ।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः ॥ १५ ॥

'प्रत्येक देशमें स्त्रियाँ मिल सकती हैं, देश-देशमें जाति-भाई उपलब्ध हो सकते हैं; परंतु ऐसा कोई देश मुझे नहीं दिखायी देता, जहाँ सहोदर भाई मिल सके ॥ १५ ॥

किं नु राज्येन दुर्धर्षलक्ष्मणेन विना मम ।
कथं वक्ष्याम्यहं त्वम्बां सुमित्रां पुत्रवत्सलाम् ॥ १६ ॥

'दुर्धर्ष वीर लक्ष्मणके बिना मैं राज्य लेकर क्या करूँगा ? पुत्रवत्सला माता सुमित्रासे किस तरह बात कर सकूँगा ? ॥ १६ ॥

उपालम्भं न शक्ष्यामि सोढुं दत्तं सुमित्रया ।
किं नु वक्ष्यामि कौसल्यां मातरं किं नु कैकयीम् ॥ १७ ॥

'माता सुमित्राके दिये हुए उलाहनेको कैसे सह सकूँगा ? माता कौसल्या और कैकेयीको क्या जवाब दूँगा ? ॥ १७ ॥

भरतं किं नु वक्ष्यामि शत्रुघ्नं च महाबलम् ।
सह तेन वनं यातो विना तेनागतः कथम् ॥ १८ ॥

'भरत और महाबली शत्रुघ्न जब पूछेंगे कि आप लक्ष्मणके साथ वनमें गये थे, फिर उनके बिना ही कैसे लौट आये तो उन्हें मैं क्या उत्तर दूँगा ? ॥ १८ ॥

इहैव मरणं श्रेयो न तु बन्धुविगर्हणम् ।
किं मया दुष्कृतं कर्म कृतमन्यत्र जन्मनि ॥ १९ ॥
येन मे धार्मिको भ्राता निहतश्चाग्रतः स्थितः ।

'अतः मेरे लिये यहीं मर जाना अच्छा है। भाई-बन्धुओंमें जाकर उनकी कही हुई खोटी-खरी बातें सुनना अच्छा नहीं। मैंने पूर्वजन्ममें कौन-सा अपराध किया था, जिसके कारण मेरे सामने खड़ा हुआ मेरा धर्मात्मा भाई मारा गया ॥१९½ ॥

हा भ्रातर्मनुजश्रेष्ठ शूराणां प्रवर प्रभो ॥ २० ॥
एकाकी किं नु मां त्यक्त्वा परलोकाय गच्छसि ।

'हा भाई नरश्रेष्ठ लक्ष्मण ! हा प्रभावशाली शूरप्रवर ! तुम मुझे छोड़कर अकेले क्यों परलोकमें जा रहे हो ? ॥२०½ ॥

विलपन्तं च मां भ्रातः किमर्थं नावभाषसे ॥ २१ ॥
उत्तिष्ठ पश्य किं शेषे दीनं मां पश्य चक्षुषा ।

'भैया ! मैं तुम्हारे बिना रो रहा हूँ। तुम मुझसे बोलते क्यों नहीं हो ? प्रिय बन्धु ! उठो। आँखें खोलकर देखो। क्यों सो रहे हो ? मैं बहुत दुःखी हूँ। मुझपर दृष्टिपात करो' ॥२१½॥

शोकार्तस्य प्रमत्तस्य पर्वतेषु वनेषु च ॥ २२ ॥
विषण्णस्य महाबाहो समाश्वासयिता मम ।

'महाबाहो ! पर्वतों और वनोंमें जब मैं शोकसे पीड़ित हो प्रमत्त एवं विषादग्रस्त हो जाता था, तब तुम्हीं मुझे धैर्य बँधाते थे (फिर इस समय मुझे क्यों नहीं सान्त्वना देते हो ?)' ॥२२½॥

राममेवं ब्रुवाणं तु शोकव्याकुलितेन्द्रियम् ॥ २३ ॥
आश्वासयन्नुवाचेदं सुषेणः परमं वचः ।

इस तरह विलाप करते हुए भगवान् श्रीरामकी सारी इन्द्रियाँ शोकसे व्याकुल हो उठी थीं। उस समय सुषेणने उन्हें आश्वासन देते हुए यह उत्तम बात कही— ॥२३½॥

त्यजेमां नरशार्दूल बुद्धिं वैक्लव्यकारिणीम् ॥ २४ ॥
शोकसंजननीं चिन्तां तुल्यां बाणैश्चमूमुखे ।

'पुरुषसिंह ! व्याकुलता उत्पन्न करनेवाली इस चिन्तायुक्त बुद्धिका परित्याग कीजिये; क्योंकि युद्धके मुहानेपर की हुई चिन्ता बाणोंके समान होती है और केवल शोकको जन्म देती है ॥२४½॥

नैव पञ्चत्वमापन्नो लक्ष्मणो लक्ष्मिवर्धनः ॥ २५ ॥
नह्यस्य विकृतं वक्त्रं न च श्यामत्वमागतम् ।
सुप्रभं च प्रसन्नं च मुखमस्य निरीक्ष्यताम् ॥ २६ ॥

'आपके भाई शोभावर्धक लक्ष्मण मरे नहीं हैं। देखिये, इनके मुखकी आकृति अभी बिगड़ी नहीं है और न इनके चेहरेपर कालापन ही आया है। इनका मुख प्रसन्न एवं कान्तिमान् दिखायी दे रहा है ॥ २५-२६ ॥

पद्मपत्रतलौ हस्तौ सुप्रसन्ने च लोचने ।
नेदृशं दृश्यते रूपं गतासूनां विशां पते ॥ २७ ॥

'इनके हाथोंकी हथेलियाँ कमल-जैसी कोमल हैं, आँखें भी बहुत साफ हैं। प्रजानाथ ! मरे हुए प्राणियोंका ऐसा रूप नहीं देखा जाता है ॥ २७ ॥

विषादं मा कृथा वीर सप्राणोऽयमरिंदम ।
आख्याति तु प्रसुप्तस्य स्रस्तगात्रस्य भूतले ॥ २८ ॥
सोच्छ्वासं हृदयं वीर कम्पमानं मुहुर्मुहुः ।

'शत्रुओंका दमन करनेवाले वीर ! आप विषाद न करें। इनके शरीरमें प्राण है। वीर ! ये सो गये हैं। इनका शरीर शिथिल होकर भूतलपर पड़ा है। साँस चल रही है और हृदय बारम्बार कम्पित हो रहा है—उसकी गति बंद नहीं हुई है। यह लक्षण इनके जीवित होनेकी सूचना दे रहा है' ॥२८½॥

एवमुक्त्वा महाप्राज्ञः सुषेणो राघवं वचः ॥ २९ ॥
समीपस्थमुवाचेदं हनूमन्तं महाकपिम् ।

श्रीरामचन्द्रजीसे ऐसा कहकर परम बुद्धिमान् सुषेणने पास ही खड़े हुए महाकपि हनुमान्‌जीसे कहा— ॥२९½॥

सौम्य शीघ्रमितो गत्वा पर्वतं हि महोदयम् ॥ ३० ॥
पूर्वं तु कथितो योऽसौ वीर जाम्बवता तव ।
दक्षिणे शिखरे जातां महौषधिमिहानय ॥ ३१ ॥
विशल्यकरणीं नाम्ना सावर्ण्यकरणीं तथा ।
संजीवकरणीं वीर संधानीं च महौषधीम् ॥ ३२ ॥
संजीवनार्थं वीरस्य लक्ष्मणस्य त्वमानय ।

'सौम्य ! तुम शीघ्र ही यहाँसे महोदय पर्वतपर, जिसका पता जाम्बवान् तुम्हें पहले बता चुके हैं, जाओ और उसके दक्षिण शिखरपर उगी हुई विशल्यकरणी[1], सावर्ण्यकरणी[2], संजीवकरणी[3] तथा संधानी[4] नामसे प्रसिद्ध महौषधियोंको यहाँ ले आओ। वीर ! उन्हींसे वीरवर लक्ष्मणके जीवनकी रक्षा होगी' ॥३०—३२½॥

इत्येवमुक्तो हनुमान् गत्वा चौषधिपर्वतम् ।
चिन्तामभ्यगमच्छ्रीमानजानंस्ता महौषधीः ॥ ३३ ॥

उनके ऐसा कहनेपर हनुमान्‌जी ओषधिपर्वत (महोदय-गिरि) पर गये; परंतु उन महौषधियोंको न पहचाननेके कारण वे चिन्तामें पड़ गये ॥ ३३ ॥

तस्य बुद्धिः समुत्पन्ना मारुतेरमितौजसः ।
इदमेव गमिष्यामि गृहीत्वा शिखरं गिरेः ॥ ३४ ॥

इसी समय अमित तेजस्वी हनुमान्‌जीके हृदयमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि 'मैं पर्वतके इस शिखरको ही ले चलूँ ॥ ३४ ॥

अस्मिंस्तु शिखरे जातामोषधीं तां सुखावहाम् ।
प्रतर्केणावगच्छामि सुषेणो ह्येवमब्रवीत् ॥ ३५ ॥

इसी शिखरपर वह सुखदायिनी ओषधि उत्पन्न होती होगी, ऐसा मुझे अनुमानतः ज्ञात होता है; क्योंकि सुषेणने ऐसा ही कहा था ॥ ३५ ॥

अगृह्य यदि गच्छामि विशल्यकरणीमहम् ।
कालात्ययेन दोषः स्याद् वैक्लव्यं च महद् भवेत् ॥ ३६ ॥

'यदि विशल्यकरणीको लिये बिना ही लौट जाऊँ तो अधिक समय बीतनेसे दोषकी सम्भावना है और उससे बड़ी भारी घबराहट हो सकती है' ॥ ३६ ॥

---

१. शरीरमें धँसे हुए बाण आदिको निकालकर घाव भरने और पीड़ा दूर करनेवाली। २. शरीरमें पहलेकी-सी रंगत लानेवाली। ३. मूर्छा दूर कर चेतना प्रदान करनेवाली। ४. टूटी हुई हड्डियोंको जोड़नेवाली।

इति संचिन्त्य हनुमान् गत्वा क्षिप्रं महाबलः।
आसाद्य पर्वतश्रेष्ठं त्रिः प्रकम्प्य गिरेः शिरः॥ ३७॥
फुल्लनानातरुगणं समुत्पाट्य महाबलः।
गृहीत्वा हरिशार्दूलो हस्ताभ्यां समतोलयत्॥ ३८॥

ऐसा सोचकर महाबली हनुमान् तुरंत उस श्रेष्ठ पर्वतके पास जा पहुँचे और उसके शिखरको तीन बार हिलाकर उसे उखाड़ लिया। उसके ऊपर नाना प्रकारके वृक्ष खिले हुए थे। वानरश्रेष्ठ महाबली हनुमान्‌ने उसे दोनों हाथोंपर उठाकर तौला॥ ३७-३८॥

स नीलमिव जीमूतं तोयपूर्णं नभस्तलात्।
उत्पपात गृहीत्वा तु हनूमाञ्छिखरं गिरेः॥ ३९॥

जलसे भरे हुए नीले मेघके समान उस पर्वतशिखरको लेकर हनुमान्‌जी ऊपरको उछले॥ ३९॥

समागम्य महावेगः संन्यस्य शिखरं गिरेः।
विश्रम्य किंचिद्धनुमान् सुषेणमिदमब्रवीत्॥ ४०॥

उनका वेग महान् था। उस शिखरको सुषेणके पास पहुँचाकर उन्होंने पृथ्वीपर रख दिया और थोड़ी देर विश्राम करके हनुमान्‌जीने सुषेणसे इस प्रकार कहा—॥ ४०॥

औषधीर्नावगच्छामि ता अहं हरिपुङ्गव।
तदिदं शिखरं कृत्स्नं गिरेस्तस्याहृतं मया॥ ४१॥

'कपिश्रेष्ठ! मैं उन ओषधियोंको पहचानता नहीं हूँ। इसलिये उस पर्वतका सारा शिखर ही लेता आया हूँ'॥ ४१॥

एवं कथयमानं तु प्रशस्य पवनात्मजम्।
सुषेणो वानरश्रेष्ठो जग्राहोत्पाट्य चौषधीः॥ ४२॥

ऐसा कहते हुए हनुमान्‌जीकी भूरि-भूरि प्रशंसा करके वानरश्रेष्ठ सुषेणने उन ओषधियोंको उखाड़ लिया॥ ४२॥

विस्मितास्तु बभूवुस्ते सर्वे वानरपुङ्गवाः।
दृष्ट्वा तु हनुमत्कर्म सुरैरपि सुदुष्करम्॥ ४३॥

हनुमान्‌जीका वह कर्म देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुष्कर था। उसे देखकर समस्त वानरयूथपति बड़े विस्मित हुए॥ ४३॥

ततः संक्षोदयित्वा तामोषधीं वानरोत्तमः।
लक्ष्मणस्य ददौ नस्तः सुषेणः सुमहाद्युतिः॥ ४४॥

महातेजस्वी कपिश्रेष्ठ सुषेणने उस ओषधिको कूट-पीसकर लक्ष्मणजीकी नाकमें दे दिया॥ ४४॥

सशल्यः स समाघ्राय लक्ष्मणः परवीरहा।
विशल्यो विरुजः शीघ्रमुदतिष्ठन्महीतलात्॥ ४५॥

शत्रुका संहार करनेवाले लक्ष्मणके सारे शरीरमें बाण धँसे हुए थे। उस अवस्थामें उस ओषधिको सूँघते ही उनके शरीरसे बाण निकल गये और वे नीरोग हो शीघ्र ही भूतलसे उठकर खड़े हो गये॥ ४५॥

तमुत्थितं तु हरयो भूतलात् प्रेक्ष्य लक्ष्मणम्।
साधुसाध्विति सुप्रीता लक्ष्मणं प्रत्यपूजयन्॥ ४६॥

लक्ष्मणको भूतलसे उठकर खड़ा हुआ देख वे वानर अत्यन्त प्रसन्न हो 'साधु-साधु' कहकर उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे॥ ४६॥

एह्येहीत्यब्रवीद् रामो लक्ष्मणं परवीरहा।
सस्वजे गाढमालिङ्ग्य बाष्पपर्याकुलेक्षणः॥ ४७॥

तब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले भगवान् श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा—'आओ-आओ' ऐसा कहकर उन्होंने उन्हें दोनों भुजाओंमें भर लिया और गाढ़ आलिङ्गन करके हृदयसे लगा लिया। उस समय उनके नेत्रोंमें आँसू छलक रहे थे॥ ४७॥

अब्रवीच्च परिष्वज्य सौमित्रिं राघवस्तदा।
दिष्ट्या त्वां वीर पश्यामि मरणात् पुनरागतम्॥ ४८॥

सुमित्राकुमारको हृदयसे लगाकर श्रीरघुनाथजीने कहा—'वीर! बड़े सौभाग्यकी बात है कि मैं तुम्हें मृत्युके मुखसे पुनः लौटा हुआ देखता हूँ॥ ४८॥

नहि मे जीवितेनार्थः सीतया च जयेन वा।
को हि मे जीवितेनार्थस्त्वयि पञ्चत्वमागते॥ ४९॥

'तुम्हारे बिना मुझे जीवनकी रक्षासे, सीतासे अथवा विजयसे भी कोई मतलब नहीं है। जब तुम्हीं नहीं रहोगे, तब मैं इस जीवनको रखकर क्या करूँगा?'॥ ४९॥

इत्येवं ब्रुवतस्तस्य राघवस्य महात्मनः।
खिन्नः शिथिलया वाचा लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत्॥ ५०॥

महात्मा रघुनाथजीके ऐसा कहनेपर लक्ष्मण खिन्न हो शिथिल वाणीमें धीरे-धीरे बोले—॥ ५०॥

तां प्रतिज्ञां प्रतिज्ञाय पुरा सत्यपराक्रम।
लघुः कश्चिदिवासत्त्वो नैवं त्वं वक्तुमर्हसि॥ ५१॥

'आर्य! आप सत्यपराक्रमी हैं। आपने पहले रावणका वध करके विभीषणको लङ्काका राज्य देनेकी प्रतिज्ञा की थी। वैसी प्रतिज्ञा करके अब किसी ओछे और निर्बल मनुष्यकी भाँति आपको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये॥ ५१॥

नहि प्रतिज्ञां कुर्वन्ति वितथां सत्यवादिनः।
लक्षणं हि महत्त्वस्य प्रतिज्ञापरिपालनम्॥ ५२॥
नैराश्यमुपगन्तुं च नालं ते मत्कृतेऽनघ।
वधेन रावणस्याद्य प्रतिज्ञामनुपालय॥ ५३॥

'सत्यवादी पुरुष झूठी प्रतिज्ञा नहीं करते हैं। प्रतिज्ञाका पालन ही बड़प्पनका लक्षण है। निष्पाप रघुवीर! मेरे लिये आपको इतना निराश नहीं होना चाहिये। आज रावणका वध करके आप अपनी प्रतिज्ञा पूरी कीजिये॥ ५२-५३॥

न जीवन् यास्यते शत्रुस्तव बाणपथं गतः।
नर्दतस्तीक्ष्णदंष्ट्रस्य सिंहस्येव महागजः॥ ५४॥

'आपके बाणोंका लक्ष्य बनकर शत्रु जीवित नहीं लौट सकता। ठीक उसी तरह, जैसे गरजते हुए तीखी दाढ़वाले सिंहके सामने आकर महान् गजराज जीवित नहीं रह सकता॥ ५४॥

अहं तु वधमिच्छामि शीघ्रमस्य दुरात्मनः ।
यावदस्तं न यात्येष कृतकर्मा दिवाकरः ॥ ५५ ॥

'ये सूर्यदेव अपने दिनभरका भ्रमणकार्य पूरा करके अस्ताचलको नहीं चले जाते, तबतक ही जितना शीघ्र सम्भव हो सके, मैं उस दुरात्मा रावणका वध देखना चाहता हूँ ॥ ५५ ॥

यदि वधमिच्छसि रावणस्य संख्ये
यदि च कृतां हि तवेच्छसि प्रतिज्ञाम् ।
यदि तव राजसुताभिलाष आर्य
कुरु च वचो मम शीघ्रमद्य वीर ॥ ५६ ॥

'आर्य ! वीरवर ! यदि आप युद्धमें रावणका वध करना चाहते हैं, यदि आपके मनमें अपनी प्रतिज्ञाके पूरी करनेकी इच्छा है तथा आप राजकुमारी सीताको पानेकी अभिलाषा रखते हैं तो आज शीघ्र ही रावणको मारकर मेरी प्रार्थना सफल करें' ॥ ५६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे एकाधिकशततमः सर्गः ॥ १०१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें एक सौ एकवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १०१ ॥

—★—

द्व्यधिकशततमः सर्गः

इन्द्रके भेजे हुए रथपर बैठकर श्रीरामका रावणके साथ युद्ध करना

लक्ष्मणेन तु तद् वाक्यमुक्तं श्रुत्वा स राघवः ।
संदधे परवीरघ्नो धनुरादाय वीर्यवान् ॥ १ ॥

लक्ष्मणकी कही हुई उस बातको सुनकर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले पराक्रमी श्रीरामने धनुष लेकर उसपर बाणोंका संधान किया ॥ १ ॥

रावणाय शरान् घोरान् विससर्ज चमूमुखे ।
अथान्यं रथमास्थाय रावणो राक्षसाधिपः ॥ २ ॥
अभ्यधावत काकुत्स्थं स्वर्भानुरिव भास्करम् ।

उन्होंने सेनाके मुहानेपर रावणको लक्ष्य करके उन भयंकर बाणोंको छोड़ना आरम्भ किया। इतनेमें राक्षसराज रावण भी दूसरे रथपर सवार हो श्रीरामपर उसी तरह चढ़ आया, जैसे राहु सूर्यपर आक्रमण करता है ॥ २½ ॥

दशग्रीवो रथस्थस्तु रामं वज्रोपमैः शरैः ।
आजघान महाशैलं धाराभिरिव तोयदः ॥ ३ ॥

दशमुख रावण रथपर बैठा हुआ था। वह अपने वज्रोपम बाणोंद्वारा श्रीरामको उसी तरह बींधने लगा, जैसे मेघ किसी महान् पर्वतपर जलकी धारावाहिक वृष्टि करता है ॥ ३ ॥

दीप्तपावकसंकाशैः शरैः काञ्चनभूषणैः ।
अभ्यवर्षद् रणे रामो दशग्रीवं समाहितः ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्रजी भी एकाग्रचित्त हो रणभूमिमें दशमुख रावणपर प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी सुवर्णभूषित बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ ४ ॥

भूमौ स्थितस्य रामस्य रथस्थस्य च रक्षसः ।
न समं युद्धमित्याहुर्देवगन्धर्वकिंनराः ॥ ५ ॥

श्रीरघुनाथजी भूमिपर खड़े हैं और वह राक्षस रथपर चढ़ा हुआ है, ऐसी दशामें इन दोनोंका युद्ध बराबर नहीं है' यों आकाशमें खड़े हुए देवता, गन्धर्व और किंनर इस तरहकी बातें करने लगे ॥ ५ ॥

ततो देववरः श्रीमाञ्छ्रुत्वा तेषां वचोऽमृतम् ।
आहूय मातलिं शक्रो वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ६ ॥

उनकी ये अमृतके समान मधुर बातें सुनकर तेजस्वी देवराज इन्द्रने मातलिको बुलाकर कहा— ॥ ६ ॥

रथेन मम भूमिष्ठं शीघ्रं याहि रघूत्तमम् ।
आहूय भूतले यातः कुरु देवहितं महत् ॥ ७ ॥

'सारथे ! रघुकुलतिलक श्रीरामचन्द्रजी भूमिपर खड़े हैं। मेरा रथ लेकर तुम शीघ्र उनके पास जाओ। भूतलपर पहुँचकर श्रीरामको पुकारकर कहो—'यह रथ देवराजने आपकी सेवामें भेजा है।' इस तरह उन्हें रथपर बिठाकर तुम देवताओंके महान् हितका कार्य सिद्ध करो' ॥ ७ ॥

इत्युक्तो देवराजेन मातलिर्देवसारथिः ।
प्रणम्य शिरसा देवं ततो वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

देवराजके इस प्रकार कहनेपर देव-सारथि मातलिने उन्हें मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और यह बात कही— ॥ ८ ॥

शीघ्रं यास्यामि देवेन्द्र सारथ्यं च करोम्यहम् ।
ततो हयैश्च संयोज्य हरितैः स्यन्दनोत्तमम् ॥ ९ ॥

'देवेन्द्र ! मैं शीघ्र ही आपके उत्तम रथमें हरे रंगके घोड़े जोतकर उसे साथ लिये जाऊँगा और श्रीरघुनाथजीके सारथिका कार्य भी करूँगा' ॥ ९ ॥

ततः काञ्चनचित्राङ्गः किङ्किणीशतभूषितः ।
तरुणादित्यसंकाशो वैदूर्यमयकूबरः ।
सदश्वैः काञ्चनापीडैर्युक्तः श्वेतप्रकीर्णकैः ॥ १० ॥
हरिभिः सूर्यसंकाशैर्हेमजालविभूषितैः ।
रुक्मवेणुध्वजः श्रीमान् देवराजरथो वरः ॥ ११ ॥
देवराजेन संदिष्टो रथमारुह्य मातलिः ।
अभ्यवर्तत काकुत्स्थमवतीर्य त्रिविष्टपात् ॥ १२ ॥

तदनन्तर देवराज इन्द्रका जो शोभाशाली श्रेष्ठ रथ है, जिसके सभी अवयव सुवर्णमय होनेके कारण विचित्र शोभा धारण करते हैं, जिसे सैकड़ों घुँघुरुओंसे विभूषित किया गया है, जिसकी कान्ति प्रातःकालके सूर्यकी भाँति अरुण है, जिसके कूबरमें वैदूर्यमणि (नीलम) जड़ी गयी है, जिसमें सूर्यतुल्य तेजस्वी, हरे रंगवाले, सुवर्णजालसे विभूषित तथा सोनेके साज-बाजसे सजे हुए अच्छे घोड़े जुते हैं और उन घोड़ोंको श्वेत चँवर आदिसे अलंकृत किया गया है तथा जिसके ध्वजका दण्ड सोनेका बना हुआ है, उस रथपर आरूढ़ हो मातलि देवराजका संदेश ले स्वर्गसे भूतलपर उतरकर श्रीरामचन्द्रजीके सामने खड़ा हुआ ॥ १०—१२ ॥

अब्रवीच्च तदा रामं सप्रतोदो रथे स्थितः।
प्राञ्जलिर्मातलिर्वाक्यं सहस्राक्षस्य सारथिः ॥ १३ ॥

सहस्रलोचन इन्द्रका सारथि मातलि चाबुक लिये रथपर बैठा हुआ हाथ जोड़कर श्रीरामचन्द्रजीसे बोला— ॥ १३ ॥

सहस्राक्षेण काकुत्स्थ रथोऽयं विजयाय ते।
दत्तस्तव महासत्त्व श्रीमञ्छत्रुनिबर्हण ॥ १४ ॥

'महाबली शत्रुसूदन श्रीमान् रघुवीर! सहस्र नेत्रधारी देवराज इन्द्रने विजयके लिये आपको यह रथ समर्पित किया है ॥ १४ ॥

इदमैन्द्रं महच्चापं कवचं चाग्निसंनिभम्।
शराश्चादित्यसंकाशाः शक्तिश्च विमला शिवा ॥ १५ ॥

'यह इन्द्रका विशाल धनुष है। यह अग्निके समान तेजस्वी कवच है। ये सूर्यसदृश प्रकाशमान बाण हैं तथा यह कल्याणमयी निर्मल शक्ति है ॥ १५ ॥

आरुह्येमं रथं वीर राक्षसं जहि रावणम्।
मया सारथिना देव महेन्द्र इव दानवान् ॥ १६ ॥

'वीरवर महाराज! आप इस रथपर आरूढ़ हो मुझ सारथिकी सहायतासे राक्षसराज रावणका उसी तरह वध कीजिये, जैसे महेन्द्र दानवोंका संहार करते हैं' ॥ १६ ॥

इत्युक्तः सम्परिक्रम्य रथं तमभिवाद्य च।
आरुरोह तदा रामो लोकाँल्लक्ष्म्या विराजयन् ॥ १७ ॥

मातलिके ऐसा कहनेपर श्रीरामचन्द्रजीने उस रथकी परिक्रमा की और उसे प्रणाम करके वे उसपर सवार हुए। उस समय अपनी शोभासे वे समस्त लोकोंको प्रकाशित करने लगे ॥ १७ ॥

तद् बभौ चाद्भुतं युद्धं द्वैरथं रोमहर्षणम्।
रामस्य च महाबाहो रावणस्य च रक्षसः ॥ १८ ॥

तत्पश्चात् महाबाहु श्रीराम और राक्षस रावणमें द्वैरथ युद्ध प्रारम्भ हुआ, जो बड़ा ही अद्भुत और रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ॥ १८ ॥

स गान्धर्वेण गान्धर्वं दैवं दैवेन राघवः।
अस्त्रं राक्षसराजस्य जघान परमास्त्रवित् ॥ १९ ॥

श्रीरामचन्द्रजी उत्तम अस्त्रोंके ज्ञाता थे। उन्होंने राक्षसराजके चलाये हुए गान्धर्व-अस्त्रको गान्धर्व-अस्त्रसे और दैव-अस्त्रको दैव-अस्त्रसे नष्ट कर दिया ॥ १९ ॥

अस्त्रं तु परमं घोरं राक्षसं राक्षसाधिपः।
ससर्ज परमक्रुद्धः पुनरेव निशाचरः ॥ २० ॥

तब राक्षसोंके राजा निशाचर रावणने अत्यन्त कुपित हो पुनः परम भयानक राक्षसास्त्रका प्रयोग किया ॥ २० ॥

ते रावणधनुर्मुक्ताः शराः काञ्चनभूषणाः।
अभ्यवर्तन्त काकुत्स्थं सर्पा भूत्वा महाविषाः ॥ २१ ॥

फिर तो रावणके धनुषसे छूटे हुए सुवर्णभूषित बाण महाविषैले सर्प हो-होकर श्रीरामचन्द्रजीके निकट पहुँचने लगे ॥ २१ ॥

ते दीप्तवदना दीप्तं वमन्तो ज्वलनं मुखैः।
राममेवाभ्यवर्तन्त व्यादितास्या भयानकाः ॥ २२ ॥

उन सर्पोंके मुख आगके समान प्रज्वलित होते थे। वे अपने मुखोंसे जलती आग उगल रहे थे और मुँह फैलाये होनेके कारण बड़े भयंकर दिखायी देते थे। वे सब-के-सब श्रीरामके ही सामने आने लगे ॥ २२ ॥

तैर्वासुकिसमस्पर्शैर्दीप्तभोगैर्महाविषैः।
दिशश्च संतताः सर्वा विदिशश्च समावृताः ॥ २३ ॥

उनका स्पर्श वासुकि नागके समान असह्य था। उनके फन प्रज्वलित हो रहे थे और वे महान् विषसे भरे थे। उन सर्पाकार बाणोंसे व्याप्त होकर सम्पूर्ण दिशाएँ और विदिशाएँ आच्छादित हो गयीं ॥ २३ ॥

तान् दृष्ट्वा पन्नगान् रामः समापतत आहवे।
अस्त्रं गारुत्मतं घोरं प्रादुश्चक्रे भयावहम् ॥ २४ ॥

युद्धस्थलमें उन सर्पोंको आते देख भगवान् श्रीरामने अत्यन्त भयंकर गारुडास्त्रको प्रकट किया ॥ २४ ॥

ते राघवधनुर्मुक्ता रुक्मपुङ्खाः शिखिप्रभाः।
सुपर्णाः काञ्चना भूत्वा विचेरुः सर्पशत्रवः ॥ २५ ॥

फिर तो श्रीरघुनाथजीके धनुषसे छूटे हुए सुनहरे पंखवाले अग्नितुल्य तेजस्वी बाण सर्पोंके शत्रुभूत सुवर्णमय गरुड़ बनकर सब ओर विचरने लगे ॥ २५ ॥

ते तान् सर्वाञ्छराञ्जघ्नुः सर्परूपान् महाजवान्।
सुपर्णरूपा रामस्य विशिखाः कामरूपिणः ॥ २६ ॥

श्रीरामके इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले उन गरुड़ाकार बाणोंने रावणके महान् वेगशाली उन समस्त सर्पाकार सायकोंका संहार कर डाला ॥ २६ ॥

अस्त्रे प्रतिहते क्रुद्धो रावणो राक्षसाधिपः।
अभ्यवर्षत् तदा रामं घोराभिः शरवृष्टिभिः ॥ २७ ॥

इस प्रकार अपने अस्त्रके प्रतिहत हो जानेपर राक्षसराज रावण क्रोधसे जल उठा और उस समय श्रीरघुनाथजीपर भयंकर बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ २७ ॥

ततः शरसहस्रेण राममक्लिष्टकारिणम् ।
अर्दयित्वा शरौघेण मातलिं प्रत्यविध्यत ॥ २८ ॥

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरामको सहस्रों बाणोंसे पीड़ित करके उसने मातलिको भी अपने बाण-समूहोंसे घायल कर दिया ॥ २८ ॥

चिच्छेद केतुमुद्दिश्य शरेणैकेन रावणः ।
पातयित्वा रथोपस्थे रथात् केतुं च काञ्चनम् ॥ २९ ॥
ऐन्द्रानपि जघानाश्वाञ्शरजालेन रावणः ।

तत्पश्चात् रावणने इन्द्रके रथकी ध्वजाको लक्ष्य करके एक बाण मारा और उससे उस ध्वजको काट डाला। उस कटे हुए सुवर्णमय ध्वजको रथके ऊपरसे उसके निचले भागमें गिराकर रावणने अपने बाणोंके जालसे इन्द्रके घोड़ोंको भी क्षत-विक्षत कर दिया ॥ २९½ ॥

विषेदुर्देवगन्धर्वचारणा दानवैः सह ॥ ३० ॥
राममार्तं तदा दृष्ट्वा सिद्धाश्च परमर्षयः ।
व्यथिता वानरेन्द्राश्च बभूवुः सविभीषणाः ॥ ३१ ॥

यह देख देवता, गन्धर्व, चारण तथा दानव विषादमें डूब गये। श्रीरामको पीड़ित देख सिद्धों और महर्षियोंके मनमें भी बड़ी व्यथा हुई। विभीषणसहित सारे वानर-यूथपति भी बहुत दुःखी हो गये ॥ ३०-३१ ॥

रामचन्द्रमसं दृष्ट्वा ग्रस्तं रावणराहुणा ।
प्राजापत्यं च नक्षत्रं रोहिणीं शशिनः प्रियाम् ॥ ३२ ॥
समाक्रम्य बुधस्तस्थौ प्रजानामहितावहः ।

श्रीरामरूपी चन्द्रमाको रावणरूपी राहुसे ग्रस्त हुआ देख बुध नामक ग्रह जिसके देवता प्रजापति हैं, उस चन्द्र-प्रिया रोहिणी नामक नक्षत्रपर आक्रमण करके प्रजावर्गके लिये अहितकारक हो गया ॥ ३२½ ॥

सधूमपरिवृत्तोर्मिः प्रज्वलन्निव सागरः ॥ ३३ ॥
उत्पपात तदा क्रुद्धः स्पृशन्निव दिवाकरम् ।

समुद्र प्रज्वलित-सा होने लगा। उसकी लहरोंसे धूआँ-सा उठने लगा और वह कुपित-सा होकर ऊपरकी ओर इस प्रकार बढ़ने लगा, मानो सूर्यदेवको छू लेना चाहता है ॥ ३३½ ॥

शस्त्रवर्णः सुपरुषो मन्दरश्मिर्दिवाकरः ॥ ३४ ॥
अदृश्यत कबन्धाङ्कः संसक्तो धूमकेतुना ।

सूर्यकी किरणें मन्द हो गयीं। उसकी कान्ति तलवारकी भाँति काली पड़ गयी। वह अत्यन्त प्रखर कबन्धके चिह्नसे युक्त और धूमकेतु नामक उत्पात ग्रहसे संसक्त दिखायी देने लगा ॥ ३४½ ॥

कोसलानां च नक्षत्रं व्यक्तमिन्द्राग्निदैवतम् ॥ ३५ ॥
आहत्याङ्गारकस्तस्थौ विशाखमपि चाम्बरे ।

आकाशमें इक्ष्वाकुवंशियोंके नक्षत्र विशाखापर, जिसके देवता इन्द्र और अग्नि हैं, आक्रमण करके मंगल जा बैठा ॥ ३५½ ॥

दशास्यो विंशतिभुजः प्रगृहीतशरासनः ॥ ३६ ॥
अदृश्यत दशग्रीवो मैनाक इव पर्वतः ।

उस समय दस मस्तक और बीस भुजाओंसे युक्त दशग्रीव रावण हाथोंमें धनुष लिये मैनाक पर्वतके समान दिखायी देता था ॥ ३६½ ॥

निरस्यमानो रामस्तु दशग्रीवेण रक्षसा ॥ ३७ ॥
नाशक्नोदभिसंधातुं सायकान् रणमूर्धनि ।

राक्षस रावणके बाणोंसे बारम्बार निरस्त (आहत) होनेके कारण भगवान् श्रीराम युद्धके मुहानेपर अपने सायकोंका संधान नहीं कर पाते थे ॥ ३७½ ॥

स कृत्वा भ्रुकुटिं क्रुद्धः किंचित् संरक्तलोचनः ॥ ३८ ॥
जगाम सुमहाक्रोधं निर्दहन्निव राक्षसान् ।

तदनन्तर श्रीरघुनाथजीने क्रोधका भाव प्रकट किया। उनकी भौंहें टेढ़ी हो गयीं, नेत्र कुछ-कुछ लाल हो गये और उन्हें ऐसा महान् क्रोध हुआ, जिससे जान पड़ता था कि वे समस्त राक्षसोंको भस्म कर डालेंगे ॥ ३८½ ॥

तस्य क्रुद्धस्य वदनं दृष्ट्वा रामस्य धीमतः ।
सर्वभूतानि वित्रेसुः प्राकम्पत च मेदिनी ॥ ३९ ॥

उस समय कुपित हुए बुद्धिमान् श्रीरामके मुखकी ओर देखकर समस्त प्राणी भयसे थर्रा उठे और पृथ्वी काँपने लगी ॥ ३९ ॥

सिंहशार्दूलवाञ्छैलः संचचाल चलद् द्रुमः ।
बभूव चापि क्षुभितः समुद्रः सरितां पतिः ॥ ४० ॥

सिंहों और व्याघ्रोंसे भरा हुआ पर्वत हिल गया। उसके ऊपरके वृक्ष झूमने लगे और सरिताओंके स्वामी समुद्रमें ज्वार आ गया ॥ ४० ॥

खराश्च खरनिर्घोषा गगने परुषा घनाः ।
औत्पातिकाश्च नर्दन्तः समन्तात् परिचक्रमुः ॥ ४१ ॥

आकाशमें सब ओर उत्पातसूचक गर्दभाकार प्रचण्ड गर्जना करनेवाले रूखे बादल गर्जते हुए चक्कर लगाने लगे ॥ ४१ ॥

रामं दृष्ट्वा सुसंक्रुद्धमुत्पातांश्चैव दारुणान् ।
वित्रेसुः सर्वभूतानि रावणस्याभवद् भयम् ॥ ४२ ॥

श्रीरामचन्द्रजीको अत्यन्त कुपित और दारुण उत्पातोंका प्राकट्य देखकर समस्त प्राणी भयभीत हो गये तथा रावणके भीतर भी भय समा गया ॥ ४२ ॥

विमानस्थास्तदा देवा गन्धर्वाश्च महोरगाः ।
ऋषिदानवदैत्याश्च गरुत्मन्तश्च खेचराः ॥ ४३ ॥
ददृशुस्ते तदा युद्धं लोकसंवर्तसंस्थितम् ।
नानाप्रहरणैर्भीमैः शूरयोः सम्प्रयुध्यतोः ॥ ४४ ॥

उस समय विमानपर बैठे हुए देवता, गन्धर्व, बड़े-बड़े नाग, ऋषि, दानव, दैत्य तथा गरुड़—ये सब आकाशमें

स्थित होकर युद्धपरायण शूरवीर श्रीराम और रावणके समस्त लोकोंके प्रलयकी भाँति उपस्थित हुए नाना प्रकारके भयानक प्रहारोंसे युक्त उस युद्धका दृश्य देखने लगे ॥ ४३-४४ ॥

ऊचुः सुरासुराः सर्वे तदा विग्रहमागताः ।
प्रेक्षमाणा महायुद्धं वाक्यं भक्त्या प्रहृष्टवत् ॥ ४५ ॥

उस अवसरपर युद्ध देखनेके लिये आये हुए समस्त देवता और असुर उस महासमरको देखकर भक्तिभावसे हर्षपूर्वक बात करने लगे ॥ ४५ ॥

दशग्रीवं जयेत्याहुरसुराः समवस्थिताः ।
देवा राममथोचुस्ते त्वं जयेति पुनः पुनः ॥ ४६ ॥

वहाँ खड़े हुए असुर दशग्रीवको सम्बोधित करते हुए बोले— 'रावण ! तुम्हारी जय हो।' उधर देवता श्रीरामको पुकारकर बारम्बार कहने लगे—'रघुनन्दन ! आपकी जय हो, जय हो' ॥ ४६ ॥

एतस्मिन्नन्तरे क्रोधाद् राघवस्य च रावणः ।
प्रहर्तुकामो दुष्टात्मा स्पृशन् प्रहरणं महत् ॥ ४७ ॥

इसी समय दुष्टात्मा रावणने क्रोधमें आकर श्रीरामचन्द्रजीपर प्रहार करनेकी इच्छासे एक बहुत बड़ा हथियार उठाया ॥ ४७ ॥

वज्रसारं महानादं सर्वशत्रुनिबर्हणम् ।
शैलशृङ्गनिभैः कूटैश्चित्तदृष्टिभयावहम् ॥ ४८ ॥
सधूममिव तीक्ष्णाग्रं युगान्ताग्निचयोपमम् ।
अतिरौद्रमनासाद्यं कालेनापि दुरासदम् ॥ ४९ ॥

वह वज्रके समान शक्तिशाली, महान् शब्द करनेवाला तथा सम्पूर्ण शत्रुओंका संहारक था। उसकी शिखाएँ शैल-शिखरोंके समान थीं। वह मन और नेत्रोंको भी भयभीत करनेवाला था। उसके अग्रभाग बहुत तीखे थे। वह प्रलयकालकी धूमयुक्त अग्निराशिके समान अत्यन्त भयंकर जान पड़ता था।। उसे पाना या नष्ट करना कालके लिये भी कठिन एवं असम्भव था ॥ ४८-४९ ॥

त्रासनं सर्वभूतानां दारणं भेदनं तथा ।
प्रदीप्त इव रोषेण शूलं जग्राह रावणः ॥ ५० ॥

उसका नाम था शूल। वह समस्त भूतोंको छिन्न-भिन्न करके उन्हें भयभीत करनेवाला था। रोषसे उद्दीप्त हुए रावणने उस शूलको हाथमें ले लिया ॥ ५० ॥

तच्छूलं परमक्रुद्धो जग्राह युधि वीर्यवान् ।
अनीकैः समरे शूरै राक्षसः परिवारितः ॥ ५१ ॥

समरभूमिमें अनेक सेनाओंमें विभक्त शूरवीर राक्षसोंसे घिरे हुए उस पराक्रमी निशाचरने बड़े क्रोधके साथ उस शूलको ग्रहण किया था ॥ ५१ ॥

समुद्यम्य महाकायो ननाद युधि भैरवम् ।
संरक्तनयनो रोषात् स्वसैन्यमभिहर्षयन् ॥ ५२ ॥

उसे ऊपर उठाकर उस विशालकाय राक्षसने युद्धस्थलमें बड़ी भयानक गर्जना की। उस समय उसके नेत्र रोषसे लाल हो रहे थे और वह अपनी सेनाका हर्ष बढ़ा रहा था ॥ ५२ ॥

पृथिवीं चान्तरिक्षं च दिशश्च प्रदिशस्तथा ।
प्राकम्पयत् तदा शब्दो राक्षसेन्द्रस्य दारुणः ॥ ५३ ॥

राक्षसराज रावणके उस भयंकर सिंहनादने उस समय पृथ्वी, आकाश, दिशाओं और विदिशाओंको भी कम्पित कर दिया ॥ ५३ ॥

अतिकायस्य नादेन तेन तस्य दुरात्मनः ।
सर्वभूतानि वित्रेसुः सागरश्च प्रचुक्षुभे ॥ ५४ ॥

उस महाकाय दुरात्मा निशाचरके भैरवनादसे सम्पूर्ण प्राणी थर्रा उठे और सागर भी विक्षुब्ध हो उठा ॥ ५४ ॥

स गृहीत्वा महावीर्यः शूलं तद् रावणो महत् ।
विनद्य सुमहानादं रामं परुषमब्रवीत् ॥ ५५ ॥

उस विशाल शूलको हाथमें लेकर महापराक्रमी रावणने बड़े जोरसे गर्जना करके श्रीरामसे कठोर वाणीमें कहा— ॥ ५५ ॥

शूलोऽयं वज्रसारस्ते राम रोषान्मयोद्यतः ।
तव भ्रातृसहायस्य सद्यः प्राणान् हरिष्यति ॥ ५६ ॥

'राम ! यह शूल वज्रके समान शक्तिशाली है। इसे मैंने रोषपूर्वक अपने हाथमें लिया है। यह भाईसहित तुम्हारे प्राणोंको तत्काल हर लेगा ॥ ५६ ॥

रक्षसामद्य शूराणां निहतानां चमूमुखे ।
त्वां निहत्य रणश्लाघिन् करोमि तरसा समम् ॥ ५७ ॥

'युद्धकी इच्छा रखनेवाले राघव ! आज तुम्हारा वध करके सेनाके मुहानेपर जो शूरवीर राक्षस मारे गये हैं, उन्हींके समान अवस्थामें तुम्हें भी पहुँचा दूँगा ॥ ५७ ॥

तिष्ठेदानीं निहन्मि त्वामेष शूलेन राघव ।
एवमुक्त्वा स चिक्षेप तच्छूलं राक्षसाधिपः ॥ ५८ ॥

'रघुकुलके राजकुमार ! ठहरो, अभी इस शूलके द्वारा तुम्हें मौतके घाट उतारता हूँ।' ऐसा कहकर राक्षसराज रावणने श्रीरघुनाथजीके ऊपर उस शूलको चला दिया ॥ ५८ ॥

तद् रावणकरान्मुक्तं विद्युन्मालासमावृतम् ।
अष्टघण्टं महानादं वियद्गतमशोभत ॥ ५९ ॥

रावणके हाथसे छूटते ही वह शूल आकाशमें आकर चमक उठा। वह विद्युन्मालाओंसे व्याप्त-सा जान पड़ता था। आठ घंटोंसे युक्त होनेके कारण उससे गम्भीर घोष प्रकट हो रहा था ॥ ५९ ॥

तच्छूलं राघवो दृष्ट्वा ज्वलन्तं घोरदर्शनम् ।
ससर्ज विशिखान् रामश्चापमायम्य वीर्यवान् ॥ ६० ॥

परम पराक्रमी रघुकुलनन्दन श्रीरामने उस भयंकर एवं प्रज्वलित शूलको अपनी ओर आते देख धनुष तानकर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ६० ॥

आपतन्तं शरौघेण वारयामास राघवः।
उत्पतन्तं युगान्ताग्निं जलौघैरिव वासवः॥ ६१॥

श्रीरघुनाथजीने बाणसमूहोंद्वारा अपनी ओर आते हुए शूलको उसी तरह रोकनेका प्रयास किया, जैसे देवराज इन्द्र ऊपरकी ओर उठती हुई प्रलयाग्निको संवर्तक मेघोंके बरसाये हुए जलप्रवाहके द्वारा शान्त करनेकी चेष्टा करते हैं॥ ६१॥

निर्ददाह स तान् बाणान् रामकार्मुकनिःसृतान्।
रावणस्य महाञ्छूलः पतङ्गानिव पावकः॥ ६२॥

परंतु जैसे आग पतंगोंको जला देती है, उसी तरह रावणके उस महान् शूलने श्रीरामचन्द्रजीके धनुषसे छूटे हुए समस्त बाणोंको जलाकर भस्म कर दिया॥ ६२॥

तान् दृष्ट्वा भस्मसाद्भूताञ्छूलसंस्पर्शचूर्णितान्।
सायकानन्तरिक्षस्थान् राघवः क्रोधमाहरत्॥ ६३॥

श्रीरघुनाथजीने जब देखा मेरे सायक अन्तरिक्षमें उस शूलका स्पर्श होते ही चूर-चूर हो राखके ढेर बन गये हैं, तब उन्हें बड़ा क्रोध हुआ॥ ६३॥

स तां मातलिना नीतां शक्तिं वासवसम्मताम्।
जग्राह परमक्रुद्धो राघवो रघुनन्दनः॥ ६४॥

अत्यन्त क्रोधसे भरे हुए रघुकुलनन्दन रघुवीरने मातलिकी लायी हुई देवेन्द्रद्वारा सम्मानित शक्तिको हाथमें ले लिया॥ ६४॥

सा तोलिता बलवता शक्तिर्घण्टाकृतस्वना।
नभः प्रज्वालयामास युगान्तोल्केव सप्रभा॥ ६५॥

बलवान् श्रीरामके द्वारा उठायी हुई वह शक्ति प्रलयकालमें प्रज्वलित होनेवाली उल्काके समान प्रकाशमान थी। उसने समस्त आकाशको अपनी प्रभासे उद्भासित कर दिया तथा उससे घंटानाद प्रकट होने लगा॥ ६५॥

सा क्षिप्ता राक्षसेन्द्रस्य तस्मिञ्छूले पपात ह।
भिन्नः शक्त्या महाञ्छूलो निपपात गतद्युतिः॥ ६६॥

श्रीरामने जब उसे चलाया, तब वह शक्ति राक्षसराजके उस शूलपर ही पड़ी। उसके प्रहारसे टूक-टूक और निस्तेज हो वह महान् शूल पृथ्वीपर गिर पड़ा॥ ६६॥

निर्बिभेद ततो बाणैर्हयानस्य महाजवान्।
रामस्तीक्ष्णैर्महावेगैर्वज्रकल्पैरजिह्मगैः॥ ६७॥

इसके बाद श्रीरामचन्द्रजीने सीधे जानेवाले महावेगवान् वज्रतुल्य पैने बाणोंके द्वारा रावणके अत्यन्त वेगशाली घोड़ोंको घायल कर दिया॥ ६७॥

निर्बिभेदोरसि तदा रावणं निशितैः शरैः।
राघवः परमायत्तो ललाटे पत्रिभिस्त्रिभिः॥ ६८॥

फिर अत्यन्त सावधान होकर उन्होंने तीन तीखे तीरोंसे रावणकी छाती छेद डाली और तीन पंखदार बाणोंसे उसके ललाटमें भी चोट पहुँचायी॥ ६८॥

स शरैर्भिन्नसर्वाङ्गो गात्रप्रस्रुतशोणितः।
राक्षसेन्द्रः समूहस्थः फुल्लाशोक इवाबभौ॥ ६९॥

उन बाणोंकी मारसे रावणके सारे अङ्ग क्षत-विक्षत हो गये। उसके सारे शरीरसे खूनकी धारा बहने लगी। उस समय अपने सैन्यसमूहमें खड़ा हुआ राक्षसराज रावण फूलोंसे भरे हुए अशोकवृक्षके समान शोभा पाने लगा॥ ६९॥

स रामबाणैरतिविद्धगात्रो
निशाचरेन्द्रः क्षतजार्द्रगात्रः।
जगाम खेदं च समाजमध्ये
क्रोधं च चक्रे सुभृशं तदानीम्॥ ७०॥

श्रीरामचन्द्रजीके बाणोंसे जब सारा शरीर अत्यन्त घायल हो लहूलुहान हो गया, तब निशाचरराज रावणको उस रणभूमिमें बड़ा खेद हुआ। साथ ही उस समय उसने बड़ा भारी क्रोध प्रकट किया॥ ७०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे द्व्यधिकशततमः सर्गः॥ १०२॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें एक सौ दोवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १०२॥

त्र्यधिकशततमः सर्गः

श्रीरामका रावणको फटकारना और उनके द्वारा घायल किये गये रावणको सारथिका रणभूमिसे बाहर ले जाना

स तु तेन तदा क्रोधात् काकुत्स्थेनार्दितो भृशम्।
रावणः समरश्लाघी महाक्रोधमुपागमत्॥ १॥

श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा क्रोधपूर्वक अत्यन्त पीड़ित किये जानेपर युद्धकी इच्छा रखनेवाले रावणको महान् क्रोध हुआ॥ १॥

स दीप्तनयनोऽमर्षाच्चापमुद्यम्य वीर्यवान्।
अभ्यर्दयत् सुसंक्रुद्धो राघवं परमाहवे॥ २॥

उसके नेत्र अग्निके समान प्रज्वलित हो उठे। उस पराक्रमी वीरने अमर्षपूर्वक धनुष उठाया और अत्यन्त कुपित हो उस महासमरमें श्रीरघुनाथजीको पीड़ित करना आरम्भ किया॥ २॥

बाणधारासहस्रैस्तैः स तोयद इवाम्बरात्।
राघवं रावणो बाणैस्तटाकमिव पूरयन्॥ ३॥

जैसे बादल आकाशसे जलकी धारा बरसाकर तालाबको भर देता है, उसी प्रकार रावणने सहस्रों बाणधाराओंकी वृष्टि करके श्रीरामचन्द्रजीको आच्छादित कर दिया॥ ३॥

पूरितः शरजालेन धनुर्मुक्तेन संयुगे।
महागिरिरिवाकम्प्यः काकुत्स्थो न प्रकम्पते॥ ४॥

युद्धस्थलमें रावणके धनुषसे छूटे हुए बाणसमूहोंसे व्याप्त हो जानेपर भी श्रीरघुनाथजी विचलित नहीं हुए; क्योंकि वे महान् पर्वतकी भाँति अचल थे॥ ४॥

स शरैः शरजालानि वारयन् समरे स्थितः।
गभस्तीनिव सूर्यस्य प्रतिजग्राह वीर्यवान्॥ ५॥

वे समराङ्गणमें अपने बाणोंसे रावणके बाणोंका निवारण करते हुए स्थिरभावसे खड़े रहे। उन पराक्रमी रघुवीरने सूर्यके किरणोंकी भाँति शत्रुके बाणोंको ग्रहण किया॥ ५॥

ततः शरसहस्राणि क्षिप्रहस्तो निशाचरः।
निजघानोरसि क्रुद्धो राघवस्य महात्मनः॥ ६॥

तदनन्तर शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले निशाचर रावणने कुपित हो महामना राघवेन्द्रकी छातीमें सहस्रों बाण मारे॥ ६॥

स शोणितसमादिग्धः समरे लक्ष्मणाग्रजः।
दृष्टः फुल्ल इवारण्ये सुमहान् किंशुकद्रुमः॥ ७॥

समरभूमिमें उन बाणोंसे घायल हुए लक्ष्मणके बड़े भाई श्रीराम रक्तसे नहा उठे और जंगलमें खिले हुए पलाशके महान् वृक्षकी भाँति दिखायी देने लगे॥ ७॥

शराभिघातसंरब्धः सोऽभिजग्राह सायकान्।
काकुत्स्थः सुमहातेजा युगान्तादित्यवर्चसः॥ ८॥

उन बाणोंके आघातसे कुपित हो महातेजस्वी श्रीरामने प्रलयकालके सूर्यकी भाँति तेजस्वी सायकोंको हाथमें लिया॥ ८॥

ततोऽन्योन्यं सुसंरब्धौ तावुभौ रामरावणौ।
शरान्धकारे समरे नोपलक्षयतां तदा॥ ९॥

फिर तो वे दोनों परस्पर रोषावेशसे युक्त हो बाण चलाने लगे। समराङ्गणमें बाणोंसे अन्धकार-सा छा गया। उस समय श्रीराम और रावण दोनों एक-दूसरेको देख नहीं पाते थे॥ ९॥

ततः क्रोधसमाविष्टो रामो दशरथात्मजः।
उवाच रावणं वीरः प्रहस्य परुषं वचः॥ १०॥

इसी समय क्रोधसे भरे हुए वीर दशरथकुमार श्रीरामने रावणसे हँसते हुए कठोर वाणीमें कहा—॥ १०॥

मम भार्या जनस्थानादज्ञानाद् राक्षसाधम।
हृता ते विवशा यस्मात् तस्मात् त्वं नासि वीर्यवान्॥ ११॥

'नीच राक्षस! तू मेरे अनजानमें जनस्थानसे मेरी असहाय स्त्रीको हर लाया है, इसलिये तू बलवान् या पराक्रमी तो कदापि नहीं है॥ ११॥

मया विरहितां दीनां वर्तमानां महावने।
वैदेहीं प्रसभं हृत्वा शूरोऽहमिति मन्यसे॥ १२॥

'विशाल वनमें मुझसे बिलग हुई दीन अवस्थामें विद्यमान विदेहराजकुमारीका बलपूर्वक अपहरण करके तू अपनेको शूरवीर समझता है?॥ १२॥

स्त्रीषु शूर विनाथासु परदाराभिमर्शनम्।
कृत्वा कापुरुषं कर्म शूरोऽहमिति मन्यसे॥ १३॥

'असहाय अबलाओंपर वीरता दिखानेवाले निशाचर! परस्त्रीके अपहरण-जैसे कापुरुषोचित कर्म करके तू अपनेको शूरवीर मानता है?॥ १३॥

भिन्नमर्याद निर्लज्ज चारित्रेष्वनवस्थित।
दर्पान्मृत्युमुपादाय शूरोऽहमिति मन्यसे॥ १४॥

'धर्मकी मर्यादा भङ्ग करनेवाले पापी, निर्लज्ज और सदाचारशून्य निशाचर! तूने बलके घमंडसे वैदेहीके रूपमें अपनी मौत बुलायी है। क्या अब भी तू अपनेको शूरवीर समझता है?॥ १४॥

शूरेण धनदभ्रात्रा बलैः समुदितेन च।
श्लाघनीयं महत्कर्म यशस्यं च कृतं त्वया॥ १५॥

'तू बड़ा शूरवीर, बलसम्पन्न और साक्षात् कुबेरका भाई जो है! इसीलिये तूने यह परम प्रशंसनीय और महान् यशोवर्धक कर्म किया है॥ १५॥

उत्सेकेनाभिपन्नस्य गर्हितस्याहितस्य च।
कर्मणः प्राप्नुहीदानीं तस्याद्य सुमहत् फलम्॥ १६॥

'अभिमानपूर्वक किये गये उन निन्दित और अहितकर पाप-कर्मका जो महान् फल है, उसे तू आज अभी प्राप्त कर ले॥ १६॥

शूरोऽहमिति चात्मानमवगच्छसि दुर्मते।
नैव लज्जास्ति ते सीतां चौरवद् व्यपकर्षतः॥ १७॥

'खोटी बुद्धिवाले निशाचर! तू अपनेको शूरतासे सम्पन्न समझता है; किंतु सीताको चोरकी तरह चुराते समय तुझे तनिक भी लज्जा नहीं आयी?॥ १७॥

यदि मत्संनिधौ सीता धर्षिता स्यात् त्वया बलात्।
भ्रातरं तु खरं पश्येस्तदा मत्सायकैर्हतः॥ १८॥

'यदि मेरे समीप तू सीताका बलपूर्वक अपहरण करता तो अबतक मेरे सायकोंसे मारा जाकर अपने भाई खरका दर्शन करता होता॥ १८॥

दिष्ट्यासि मम मन्दात्मंश्चक्षुर्विषयमागतः।
अद्य त्वां सायकैस्तीक्ष्णैर्नयामि यमसादनम्॥ १९॥

'मन्दबुद्धे! सौभाग्यकी बात है कि आज तू मेरी आँखोंके सामने आ गया है। मैं अभी तुझे अपने तीखे बाणोंसे यमलोक पहुँचाता हूँ॥ १९॥

अद्य ते मच्छरैश्छिन्नं शिरो ज्वलितकुण्डलम्।
क्रव्यादा व्यपकर्षन्तु विकीर्णं रणपांसुषु॥ २०॥

'आज मेरे बाणोंसे कटकर रणभूमिकी धूलमें पड़े हुए जगमगाते कुण्डलोंसे युक्त तेरे मस्तकको मांसभक्षी जीव-जन्तु घसीटें॥ २०॥

निपत्योरसि गृध्रास्ते क्षितौ क्षिप्तस्य रावण।
पिबन्तु रुधिरं तर्षाद् बाणशल्यान्तरोत्थितम्॥ २१॥

'रावण! तेरी लाश पृथ्वीपर फेंकी पड़ी हो, उसकी छातीपर बहुत-से गृध्र टूट पड़ें और बाणोंकी नोकसे किये गये छेदके द्वारा प्रवाहित होनेवाले तेरे खूनको बड़ी प्यासके साथ पियें॥ २१॥

अद्य मद्बाणभिन्नस्य गतासोः पतितस्य ते।
कर्षन्त्वन्त्राणि पतगा गरुत्मन्त इवोरगान्॥ २२॥

'आज मेरे बाणोंसे विदीर्ण और प्राणशून्य होकर पड़े हुए तेरे शरीरकी आँतोंको पक्षी उसी तरह खींचें, जैसे गरुड़ सर्पोंको खींचते हैं'॥ २२॥

इत्येवं स वदन् वीरो रामः शत्रुनिबर्हणः।
राक्षसेन्द्रं समीपस्थं शरवर्षैरवाकिरत्॥ २३॥

ऐसा कहते हुए शत्रुओंका नाश करनेवाले वीर श्रीरामने पास ही खड़े हुए राक्षसराज रावणपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी॥ २३॥

बभूव द्विगुणं वीर्यं बलं हर्षश्च संयुगे।
रामस्यास्त्रबलं चैव शत्रोर्निधनकाङ्क्षिणः॥ २४॥

उस समय युद्धस्थलमें शत्रुवधकी इच्छा रखनेवाले श्रीरामका बल, पराक्रम, उत्साह और अस्त्र-बल बढ़कर दूना हो गया॥ २४॥

प्रादुर्बभूवुरस्त्राणि सर्वाणि विदितात्मनः।
प्रहर्षाच्च महातेजाः शीघ्रहस्ततरोऽभवत्॥ २५॥

आत्मज्ञानी रघुनाथजीके सामने सभी अस्त्र अपने-आप प्रकट होने लगे। हर्ष और उत्साहके कारण महातेजस्वी भगवान् श्रीरामका हाथ बड़ी तेजीसे चलने लगा॥ २५॥

शुभान्येतानि चिह्नानि विज्ञायात्मगतानि सः।
भूय एवार्दयद् रामो रावणं राक्षसान्तकृत्॥ २६॥

अपनेमें ये शुभ लक्षण प्रकट हुए जान राक्षसोंका अन्त करनेवाले भगवान् श्रीराम पुनः रावणको पीड़ित करने लगे॥ २६॥

हरीणां चाश्मनिकरैः शरवर्षैश्च राघवात्।
हन्यमानो दशग्रीवो विघूर्णहृदयोऽभवत्॥ २७॥

वानरोंके चलाये हुए प्रस्तरसमूहों और श्रीरामचन्द्रजीके छोड़े हुए बाणोंकी वर्षासे आहत होकर रावणका हृदय व्याकुल एवं विभ्रान्त हो उठा॥ २७॥

यदा च शस्त्रं नारेभे न चकर्ष शरासनम्।
नास्य प्रत्यकरोद् वीर्यं विक्लवेनान्तरात्मना॥ २८॥
क्षिप्ताश्चाशु शरास्तेन शस्त्राणि विविधानि च।
मरणार्थाय वर्तन्ते मृत्युकालोऽभ्यवर्तत॥ २९॥
सूतस्तु रथनेतास्य तदवस्थं निरीक्ष्य तम्।
शनैर्युद्धादसम्भ्रान्तो रथं तस्यापवाहयत्॥ ३०॥

जब हृदयकी व्याकुलताके कारण उसमें शस्त्र उठाने, धनुषको खींचने और श्रीरामके पराक्रमका सामना करनेकी क्षमता नहीं रह गयी तथा जब श्रीरामके शीघ्रतापूर्वक चलाये हुए बाण एवं भाँति-भाँतिके शस्त्र उसकी मृत्युके साधक बनने लगे और उसका मृत्युकाल समीप आ पहुँचा, तब उसकी ऐसी अवस्था देख उसका रथचालक सारथि बिना किसी घबराहटके उसके रथको रणभूमिसे दूर हटा ले गया॥ २८—३०॥

रथं च तस्याथ जवेन सारथि-
र्निवार्य भीमं जलदस्वनं तदा।
जगाम भीत्या समरान्महीपतिं
निरस्तवीर्यं पतितं समीक्ष्य॥ ३१॥

अपने राजाको शक्तिहीन होकर रथपर पड़ा देख रावणका सारथि मेघके समान गम्भीर घोष करनेवाले उसके भयानक रथको लौटाकर उसके साथ ही भयके मारे समरभूमिसे बाहर निकल गया॥ ३१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे त्र्यधिकशततमः सर्गः॥ १०३॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें एक सौ तीनवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १०३॥

—★—

चतुरधिकशततमः सर्गः

रावणका सारथिको फटकारना और सारथिका अपने उत्तरसे रावणको संतुष्ट करके उसके रथको रणभूमिमें पहुँचाना

स तु मोहात् सुसंक्रुद्धः कृतान्तबलचोदितः।
क्रोधसंरक्तनयनो रावणः सूतमब्रवीत्॥ १॥

रावण कालकी शक्तिसे प्रेरित हो रहा था, अतः मोहवश अत्यन्त कुपित हो क्रोधसे लाल आँखें करके अपने सारथिसे बोला—॥ १॥

हीनवीर्यमिवाशक्तं पौरुषेण विवर्जितम्।
भीरुं लघुमिवासत्त्वं विहीनमिव तेजसा॥ २॥
विमुक्तमिव मायाभिरस्त्रैरिव बहिष्कृतम्।
मामवज्ञाय दुर्बुद्धे स्वया बुद्ध्या विचेष्टसे॥ ३॥

'दुर्बुद्धे! क्या तूने मुझे पराक्रमशून्य, असमर्थ, पुरुषार्थशून्य, डरपोक, ओछा, धैर्यहीन, निस्तेज, मायारहित और अस्त्रोंके ज्ञानसे वञ्चित समझ रखा है, जो मेरी अवहेलना करके तू अपनी बुद्धिसे मनमाना काम कर रहा है (तूने मुझसे पूछा क्यों नहीं?) ॥ २-३ ॥

किमर्थं मामवज्ञाय मच्छन्दमनवेक्ष्य च।
त्वया शत्रुसमक्षं मे रथोऽयमपवाहितः ॥ ४ ॥

'मेरा अभिप्राय क्या है, यह जाने बिना ही मेरी अवहेलना करके तू किस लिये शत्रुके सामनेसे मेरा यह रथ हटा लाया? ॥ ४ ॥

त्वयाद्य हि ममानार्य चिरकालमुपार्जितम्।
यशो वीर्यं च तेजश्च प्रत्ययश्च विनाशितः ॥ ५ ॥

'अनार्य! आज तूने मेरे चिरकालसे उपार्जित यश, पराक्रम, तेज और विश्वासपर पानी फेर दिया ॥ ५ ॥

शत्रोः प्रख्यातवीर्यस्य रञ्जनीयस्य विक्रमैः।
पश्यतो युद्धलुब्धोऽहं कृतः कापुरुषस्त्वया ॥ ६ ॥

'मेरे शत्रुका बल-पराक्रम विख्यात है। उसे अपने बल-विक्रमद्वारा संतुष्ट करना मेरे लिये उचित है और मैं युद्धका लोभी हूँ, तो भी तूने रथ हटाकर शत्रुकी दृष्टिमें मुझे कायर सिद्ध कर दिया ॥ ६ ॥

यत् त्वं कथमिदं मोहान्न चेद् वहसि दुर्मते।
सत्योऽयं प्रतितर्को मे परेण त्वमुपस्कृतः ॥ ७ ॥

'दुर्मते! यदि तू इस रथको मोहवश किसी तरह भी शत्रुके सामने नहीं ले जाता है तो मेरा यह अनुमान सत्य है कि शत्रुने तुझे घूस देकर फोड़ लिया है ॥ ७ ॥

नहि तद् विद्यते कर्म सुहृदो हितकाङ्क्षिणः।
रिपूणां सदृशं त्वेतद् यत् त्वयैतदनुष्ठितम् ॥ ८ ॥

'हित चाहनेवाले मित्रका यह काम नहीं है। तूने जो कार्य किया है, वह शत्रुओंके करने योग्य है ॥ ८ ॥

निवर्तय रथं शीघ्रं यावन्नापैति मे रिपुः।
यदि वाध्युषितोऽसि त्वं स्मर्यते यदि मे गुणः ॥ ९ ॥

'यदि तू मेरे साथ बहुत दिनोंसे रहा है और यदि मेरे गुणोंका तुझे स्मरण है तो मेरे इस रथको शीघ्र लौटा ले चल। कहीं ऐसा न हो कि मेरा शत्रु भाग जाय' ॥ ९ ॥

एवं परुषमुक्तस्तु हितबुद्धिरबुद्धिना।
अब्रवीद् रावणं सूतो हितं सानुनयं वचः ॥ १० ॥

यद्यपि सारथिकी बुद्धिमें रावणके लिये हितकी ही भावना थी तथापि उस मूर्खने जब उससे ऐसी कठोर बात कही, तब सारथिने बड़ी विनयके साथ यह हितकर वचन कहा— ॥ १० ॥

न भीतोऽस्मि न मूढोऽस्मि नोपजप्तोऽस्मि शत्रुभिः।
न प्रमत्तो न निःस्नेहो विस्मृता न च सत्क्रिया ॥ ११ ॥

'महाराज! मैं डरा नहीं हूँ। मेरा विवेक भी नष्ट नहीं हुआ है और न मुझे शत्रुओंने ही बहकाया है। मैं असावधान भी नहीं हूँ। आपके प्रति मेरा स्नेह भी कम नहीं हुआ है तथा आपने जो मेरा सत्कार किया है, उसे भी मैं नहीं भूला हूँ ॥ ११ ॥

मया तु हितकामेन यशश्च परिरक्षता।
स्नेहप्रसन्नमनसा हितमित्यप्रियं कृतम् ॥ १२ ॥

'मैं सदा आपका हित चाहता हूँ और आपके यशकी रक्षाके लिये ही यत्नशील रहता हूँ। मेरा हृदय आपके प्रति स्नेहसे आर्द्र है। इस कार्यसे आपका हित होगा—यह सोचकर ही मैंने इसे किया है। भले ही यह आपको अप्रिय लगा हो ॥ १२ ॥

नास्मिन्नर्थे महाराज त्वं मां प्रियहिते रतम्।
कश्चिल्लघुरिवानार्यो दोषतो गन्तुमर्हसि ॥ १३ ॥

'महाराज! मैं आपके प्रिय और हितमें तत्पर रहनेवाला हूँ; अतः इस कार्यके लिये आप किसी ओछे और अनार्य पुरुषकी भाँति मुझपर दोषारोपण न करें ॥ १३ ॥

श्रूयतां प्रति दास्यामि यन्निमित्तं मया रथः।
नदीवेग इवाम्भोभिः संयुगे विनिवर्तितः ॥ १४ ॥

'जैसे चन्द्रोदयके कारण बढ़ा हुआ समुद्रका जल नदीके वेगको पीछे लौटा देता है, उसी प्रकार मैंने जिस कारणसे आपके रथको युद्धभूमिसे पीछे हटाया है, उसे बता रहा हूँ, सुनिये ॥ १४ ॥

श्रमं तवावगच्छामि महता रणकर्मणा।
नहि ते वीर्यसौमुख्यं प्रकर्षं नोपधारये ॥ १५ ॥

'उस समय मैंने यह समझा था कि आप महान् युद्धके कारण थक गये हैं। शत्रुकी अपेक्षा मैंने आपकी प्रबलता नहीं देखी, आपमें अधिक पराक्रम नहीं पाया ॥ १५ ॥

रथोद्वहनखिन्नाश्च भग्ना मे रथवाजिनः।
दीना घर्मपरिश्रान्ता गावो वर्षहता इव ॥ १६ ॥

'मेरे घोड़े भी रथको खींचते-खींचते थक गये थे। इनके पाँव लड़खड़ा रहे थे। ये धूपसे पीड़ित हो वर्षाकी मारी हुई गौओंके समान दुःखी हो गये थे ॥ १६ ॥

निमित्तानि च भूयिष्ठं यानि प्रादुर्भवन्ति नः।
तेषु तेष्वभिपन्नेषु लक्षयाम्यप्रदक्षिणम् ॥ १७ ॥

'साथ ही इस समय मेरे सामने जो-जो लक्षण प्रकट हो रहे हैं, यदि वे सफल हुए तो हमें उसमें अपना अमङ्गल ही दिखायी देता है ॥ १७ ॥

देशकालौ च विज्ञेयौ लक्षणानीङ्गितानि च।
दैन्यं हर्षश्च खेदश्च रथिनश्च बलाबलम् ॥ १८ ॥

'सारथिको देश-कालका, शुभाशुभ लक्षणोंका, रथीकी चेष्टाओंका, उत्साह, अनुत्साह और खेदका तथा बलाबलका भी ज्ञान रखना चाहिये ॥ १८ ॥

स्थलनिम्नानि भूमेश्च समानि विषमाणि च।
युद्धकालश्च विज्ञेयः परस्यान्तरदर्शनम्॥ १९॥

'धरतीके जो ऊँचे-नीचे, सम-विषम स्थान हों, उनकी भी जानकारी रखनी चाहिये। युद्धका उपयुक्त अवसर कब होगा, इसे जानना और शत्रुकी दुर्बलतापर भी दृष्टि रखनी चाहिये॥ १९॥

उपयानापयाने च स्थानं प्रत्यपसर्पणम्।
सर्वमेतद् रथस्थेन ज्ञेयं रथकुटुम्बिना॥ २०॥

'शत्रुके पास जाने, दूर हटने, युद्धमें स्थिर रहने तथा युद्धभूमिसे अलग हो जानेका उपयुक्त अवसर कब आता है' इन सब बातोंको समझना रथपर बैठे हुए सारथिका कर्तव्य है॥ २०॥

तव विश्रामहेतोस्तु तथैषां रथवाजिनाम्।
रौद्रं वर्जयता खेदं क्षमं कृतमिदं मया॥ २१॥

'आपको तथा इन रथके घोड़ोंको थोड़ी देरतक विश्राम देने और खेद दूर करनेके लिये मैंने जो यह कार्य किया है, सर्वथा उचित है॥ २१॥

स्वेच्छया न मया वीर रथोऽयमपवाहितः।
भर्तुः स्नेहपरीतेन मयेदं यत् कृतं प्रभो॥ २२॥

'वीर! प्रभो! मैंने मनमानी करनेके लिये नहीं, स्वामीके स्नेहवश उनकी रक्षाके लिये इस रथको दूर हटाया है॥ २२॥

आज्ञापय यथातत्त्वं वक्ष्यस्यरिनिषूदन।
तत् करिष्याम्यहं वीर गतानृण्येन चेतसा॥ २३॥

'शत्रुसूदन वीर! अब आज्ञा दीजिये। आप ठीक समझकर जो कुछ भी कहेंगे, उसे मैं मनमें आपके ऋणसे उऋण होनेकी भावना रखकर करूँगा'॥ २३॥

संतुष्टस्तेन वाक्येन रावणस्तस्य सारथेः।
प्रशस्यैनं बहुविधं युद्धलुब्धोऽब्रवीदिदम्॥ २४॥

सारथिके इस कथनसे रावण बहुत संतुष्ट हुआ और नाना प्रकारसे उसकी सराहना करके युद्धके लिये लोलुप होकर बोला—॥ २४॥

रथं शीघ्रमिमं सूत राघवाभिमुखं नय।
नाहत्वा समरे शत्रून् निवर्तिष्यति रावणः॥ २५॥

'सूत! अब तुम इस रथको शीघ्र रामके सामने ले चलो। रावण समरमें अपने शत्रुओंको मारे बिना घर नहीं लौटेगा'॥ २५॥

एवमुक्त्वा रथस्थस्य रावणो राक्षसेश्वरः।
ददौ तस्य शुभं ह्येकं हस्ताभरणमुत्तमम्।
श्रुत्वा रावणवाक्यानि सारथिः संन्यवर्तत॥ २६॥

ऐसा कहकर राक्षसराज रावणने सारथिको पुरस्कारके रूपमें अपने हाथका एक सुन्दर आभूषण उतारकर दे दिया। रावणका आदेश सुनकर सारथिने पुनः रथको लौटाया॥ २६॥

ततो द्रुतं रावणवाक्यचोदितः
प्रचोदयामास हयान् स सारथिः।
स राक्षसेन्द्रस्य ततो महारथः
क्षणेन रामस्य रणाग्रतोऽभवत्॥ २७॥

रावणकी आज्ञासे प्रेरित हो सारथिने तुरन्त ही अपने घोड़े हाँके। फिर तो राक्षसराजका वह विशाल रथ क्षण-भरमें युद्धके मुहानेपर श्रीरामचन्द्रजीके समीप जा पहुँचा॥ २७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे चतुरधिकशततमः सर्गः॥ १०४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें एक सौ चारवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १०४॥

पञ्चाधिकशततमः सर्गः

अगस्त्य मुनिका श्रीरामको विजयके लिये 'आदित्यहृदय'* के पाठकी सम्मति देना

ततो युद्धपरिश्रान्तं समरे चिन्तया स्थितम्।
रावणं चाग्रतो दृष्ट्वा युद्धाय समुपस्थितम्॥ १॥
दैवतैश्च समागम्य द्रष्टुमभ्यागतो रणम्।
उपगम्याब्रवीद् राममगस्त्यो भगवांस्तदा॥ २॥

उधर श्रीरामचन्द्रजी युद्धसे थककर चिन्ता करते हुए रणभूमिमें खड़े थे। इतनेमें रावण भी युद्धके लिये उनके सामने उपस्थित हो गया। यह देख भगवान् अगस्त्य मुनि, जो देवताओंके साथ युद्ध देखनेके लिये आये थे, श्रीरामके पास जाकर बोले—॥ १-२॥

राम राम महाबाहो शृणु गुह्यं सनातनम्।
येन सर्वानरीन् वत्स समरे विजयिष्यसि॥ ३॥

'सबके हृदयमें रमण करनेवाले महाबाहो राम! यह

* इस 'आदित्यहृदय' नामक स्तोत्रका विनियोग एवं न्यासविधि इस प्रकार है—

सनातन गोपनीय स्तोत्र सुनो। वत्स ! इसके जपसे तुम युद्धमें अपने समस्त शत्रुओंपर विजय पा जाओगे ॥ ३ ॥

आदित्यहृदयं पुण्यं सर्वशत्रुविनाशनम्।
जयावहं जपं नित्यमक्षयं परमं शिवम्॥ ४ ॥
सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं सर्वपापप्रणाशनम्।
चिन्ताशोकप्रशमनमायुर्वर्धनमुत्तमम् ॥ ५ ॥

'इस गोपनीय स्तोत्रका नाम है 'आदित्यहृदय'। यह परम पवित्र और सम्पूर्ण शत्रुओंका नाश करनेवाला है। इसके जपसे सदा विजयकी प्राप्ति होती है। यह नित्य अक्षय और परम कल्याणमय स्तोत्र है। सम्पूर्ण मङ्गलोंका भी मङ्गल है। इससे सब पापोंका नाश हो जाता है। यह चिन्ता और शोकको मिटाने तथा आयुको बढ़ानेवाला उत्तम साधन है ॥ ४-५ ॥

रश्मिमन्तं समुद्यन्तं देवासुरनमस्कृतम्।
पूजयस्व विवस्वन्तं भास्करं भुवनेश्वरम्॥ ६ ॥

'भगवान् सूर्य अपनी अनन्त किरणोंसे सुशोभित (रश्मिमान्) हैं। ये नित्य उदय होनेवाले (समुद्यन्), देवता और असुरोंसे नमस्कृत, विवस्वान् नामसे प्रसिद्ध, प्रभाका विस्तार करनेवाले (भास्कर) और संसारके स्वामी (भुवनेश्वर) हैं। तुम इनका [**रश्मिमते नमः, समुद्यते नमः, देवासुरनमस्कृताय नमः, विवस्वते नमः, भास्कराय नमः, भुवनेश्वराय नमः**]—इन नाम-मन्त्रोंके द्वारा पूजन करो ॥ ६ ॥

सर्वदेवात्मको ह्येष तेजस्वी रश्मिभावनः।
एष देवासुरगणाँल्लोकान् पाति गभस्तिभिः ॥ ७ ॥

'सम्पूर्ण देवता इन्हींके स्वरूप हैं। ये तेजकी राशि तथा अपनी किरणोंसे जगत्को सत्ता एवं स्फूर्ति प्रदान करनेवाले हैं। ये ही अपनी रश्मियोंका प्रसार करके देवता और असुरोंसहित सम्पूर्ण लोकोंका पालन करते हैं ॥ ७ ॥

एष ब्रह्मा च विष्णुश्च शिवः स्कन्दः प्रजापतिः।
महेन्द्रो धनदः कालो यमः सोमो ह्यपां पतिः ॥ ८ ॥
पितरो वसवः साध्या अश्विनौ मरुतो मनुः।
वायुर्वह्निः प्रजाः प्राण ऋतुकर्ता प्रभाकरः ॥ ९ ॥

'ये ही ब्रह्मा, विष्णु, शिव, स्कन्द, प्रजापति, इन्द्र, कुबेर, काल, यम, चन्द्रमा, वरुण, पितर, वसु, साध्य, अश्विनीकुमार, मरुद्गण, मनु, वायु, अग्नि, प्रजा, प्राण, ऋतुओंको प्रकट करनेवाले तथा प्रभाके पुञ्ज हैं ॥ ८-९ ॥

आदित्यः सविता सूर्यः खगः पूषा गभस्तिमान्।
सुवर्णसदृशो भानुर्हिरण्यरेता दिवाकरः ॥ १० ॥
हरिदश्वः सहस्रार्चिः सप्तसप्तिर्मरीचिमान्।
तिमिरोन्मथनः शम्भुस्त्वष्टा मार्तण्डकोंऽशुमान्॥ ११ ॥
हिरण्यगर्भः शिशिरस्तपनोऽहस्करो रविः।
अग्निगर्भोऽदितेः पुत्रः शङ्खः शिशिरनाशनः ॥ १२ ॥
व्योमनाथस्तमोभेदी ऋग्यजुःसामपारगः।
घनवृष्टिरपां मित्रो विन्ध्यवीथीप्लवंगमः ॥ १३ ॥
आतपी मण्डली मृत्युः पिङ्गलः सर्वतापनः।
कविर्विश्वो महातेजा रक्तः सर्वभवोद्भवः ॥ १४ ॥
नक्षत्रग्रहताराणामधिपो विश्वभावनः।
तेजसामपि तेजस्वी द्वादशात्मन् नमोऽस्तु ते ॥ १५ ॥

'इन्हींके नाम—आदित्य (अदितिपुत्र), सविता

विनियोग

ॐ अस्य आदित्यहृदयस्तोत्रस्यागस्त्यऋषिरनुष्टुप्छन्दः, आदित्यहृदयभूतो भगवान् ब्रह्मा देवता निरस्ताशेषविघ्नतया ब्रह्मविद्यासिद्धौ सर्वत्र जयसिद्धौ च विनियोगः।

ऋष्यादिन्यास

ॐ अगस्त्यऋषये नमः, शिरसि। अनुष्टुप्छन्दसे नमः, मुखे। आदित्यहृदयभूतब्रह्मदेवतायै नमः, हृदि। ॐ बीजाय नमः, गुह्ये। ॐ रश्मिमते शक्तये नमः, पादयोः। ॐ तत्सवितुरित्यादिगायत्रीकीलकाय नमः, नाभौ।

करन्यास

इस स्तोत्रके अङ्गन्यास और करन्यास तीन प्रकारसे किये जाते हैं। केवल प्रणवसे, गायत्रीमन्त्रसे अथवा 'रश्मिमते नमः' इत्यादि छः नाम-मन्त्रोंसे। यहाँ नाम-मन्त्रोंसे किये जानेवाले न्यासका प्रकार बताया जाता है—

ॐ रश्मिमते अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ॐ समुद्यते तर्जनीभ्यां नमः। ॐ देवासुरनमस्कृताय मध्यमाभ्यां नमः। ॐ विवस्वते अनामिकाभ्यां नमः। ॐ भास्कराय कनिष्ठिकाभ्यां नमः। ॐ भुवनेश्वराय करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।

हृदयादि अङ्गन्यास

ॐ रश्मिमते हृदयाय नमः। ॐ समुद्यते शिरसे स्वाहा। ॐ देवासुरनमस्कृताय शिखायै वषट्। ॐ विवस्वते कवचाय हुम्। ॐ भास्कराय नेत्रत्रयाय वौषट्। ॐ भुवनेश्वराय अस्त्राय फट्। इस प्रकार न्यास करके निम्नाङ्कित मन्त्रसे भगवान् सूर्यका ध्यान एवं नमस्कार करना चाहिये—

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

तत्पश्चात् 'आदित्यहृदय' स्तोत्रका पाठ करना चाहिये।

(जगत्‌को उत्पन्न करनेवाले), सूर्य (सर्वव्यापक), खग (आकाशमें विचरनेवाले), पूषा (पोषण करनेवाले), गभस्तिमान् (प्रकाशमान), सुवर्णसदृश, भानु (प्रकाशक), हिरण्यरेता (ब्रह्माण्डकी उत्पत्तिके बीज), दिवाकर (रात्रिका अन्धकार दूर करके दिनका प्रकाश फैलानेवाले), हरिदश्व (दिशाओंमें व्यापक अथवा हरे रंगके घोड़ेवाले), सहस्रार्चि (हजारों किरणोंसे सुशोभित), सप्तसप्ति (सात घोड़ोंवाले), मरीचिमान् (किरणोंसे सुशोभित), तिमिरोन्मथन (अन्धकार-का नाश करनेवाले), शम्भु (कल्याणके उद्‌गमस्थान), त्वष्टा (भक्तोंका दुःख दूर करने अथवा जगत्‌का संहार करनेवाले), मार्तण्डक (ब्रह्माण्डको जीवन प्रदान करनेवाले), अंशुमान् (किरण धारण करनेवाले), हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा), शिशिर (स्वभावसे ही सुख देनेवाले), तपन (गर्मी पैदा करनेवाले), अहस्कर (दिनकर), रवि (सबकी स्तुतिके पात्र), अग्निगर्भ (अग्निको गर्भमें धारण करनेवाले), अदितिपुत्र, शङ्ख (आनन्दस्वरूप एवं व्यापक), शिशिरनाशन (शीतका नाश करनेवाले), व्योमनाथ (आकाशके स्वामी), तमोभेदी (अन्धकारको नष्ट करनेवाले), ऋग्, यजुः और सामवेदके पारगामी, घनवृष्टि (घनी वृष्टिके कारण), अपां मित्र (जलको उत्पन्न करनेवाले), विन्ध्यवीथीप्लवङ्गम (आकाशमें तीव्रवेगसे चलनेवाले), आतपी (घाम उत्पन्न करनेवाले), मण्डली (किरणसमूहको धारण करनेवाले), मृत्यु (मौतके कारण), पिङ्गल (भूरे रंगवाले), सर्वतापन (सबको ताप देनेवाले), कवि (त्रिकालदर्शी), विश्व (सर्वस्वरूप), महातेजस्वी, रक्त (लाल रंगवाले), सर्वभवोद्भव (सबकी उत्पत्तिके कारण), नक्षत्र, ग्रह और तारोंके स्वामी, विश्वभावन (जगत्‌की रक्षा करनेवाले), तेजस्वियोंमें भी अति तेजस्वी तथा द्वादशात्मा (बारह स्वरूपोंमें अभिव्यक्त) हैं। [इन सभी नामोंसे प्रसिद्ध सूर्यदेव!] आपको नमस्कार है॥ १०—१५॥

नमः पूर्वाय गिरये पश्चिमायाद्रये नमः।
ज्योतिर्गणानां पतये दिनाधिपतये नमः॥ १६॥

पूर्वगिरि—उदयाचल तथा पश्चिमगिरि—अस्ताचलके रूपमें आपको नमस्कार है। ज्योतिर्गणों (ग्रहों और तारों) के स्वामी तथा दिनके अधिपति आपको प्रणाम है॥ १६॥

जयाय जयभद्राय हर्यश्वाय नमो नमः।
नमो नमः सहस्रांशो आदित्याय नमो नमः॥ १७॥

आप जयस्वरूप तथा विजय और कल्याणके दाता हैं। आपके रथमें हरे रंगके घोड़े जुते रहते हैं। आपको बारम्बार नमस्कार है। सहस्रों किरणोंसे सुशोभित भगवान् सूर्य! आपको बारम्बार प्रणाम है। आप अदितिके पुत्र होनेके कारण आदित्यनामसे प्रसिद्ध हैं, आपको नमस्कार है॥ १७॥

नम उग्राय वीराय सारङ्गाय नमो नमः।
नमः पद्मप्रबोधाय प्रचण्डाय नमोऽस्तु ते॥ १८॥

उग्र (अभक्तोंके लिये भयंकर), वीर (शक्ति-सम्पन्न) और सारंग (शीघ्रगामी) सूर्यदेवको नमस्कार है। कमलोंको विकसित करनेवाले प्रचण्ड तेजधारी मार्तण्डको प्रणाम है॥ १८॥

ब्रह्मेशानाच्युतेशाय सूरायादित्यवर्चसे।
भास्वते सर्वभक्षाय रौद्राय वपुषे नमः॥ १९॥

(परात्पर-रूपमें) आप ब्रह्मा, शिव और विष्णुके भी स्वामी हैं। सूर आपकी संज्ञा है, यह सूर्यमण्डल आपका ही तेज है, आप प्रकाशसे परिपूर्ण हैं, सबको स्वाहा कर देनेवाला अग्नि आपका ही स्वरूप है, आप रौद्ररूप धारण करनेवाले हैं; आपको नमस्कार है॥ १९॥

तमोघ्नाय हिमघ्नाय शत्रुघ्नायामितात्मने।
कृतघ्नघ्नाय देवाय ज्योतिषां पतये नमः॥ २०॥

आप अज्ञान और अन्धकारके नाशक, जड़ता एवं शीतके निवारक तथा शत्रुका नाश करनेवाले हैं, आपका स्वरूप अप्रमेय है। आप कृतघ्नोंका नाश करनेवाले, सम्पूर्ण ज्योतियोंके स्वामी और देवस्वरूप हैं; आपको नमस्कार है॥ २०॥

तप्तचामीकराभाय हरये विश्वकर्मणे।
नमस्तमोऽभिनिघ्नाय रुचये लोकसाक्षिणे॥ २१॥

आपकी प्रभा तपाये हुए सुवर्णके समान है, आप हरि (अज्ञानका हरण करनेवाले) और विश्वकर्मा (संसारकी सृष्टि करनेवाले) हैं; तमके नाशक, प्रकाशस्वरूप और जगत्‌के साक्षी हैं; आपको नमस्कार है॥ २१॥

नाशयत्येष वै भूतं तमेव सृजति प्रभुः।
पायत्येष तपत्येष वर्षत्येष गभस्तिभिः॥ २२॥

रघुनन्दन! ये भगवान् सूर्य ही सम्पूर्ण भूतोंका संहार, सृष्टि और पालन करते हैं। ये ही अपनी किरणोंसे गर्मी पहुँचाते और वर्षा करते हैं॥ २२॥

एष सुप्तेषु जागर्ति भूतेषु परिनिष्ठितः।
एष चैवाग्निहोत्रं च फलं चैवाग्निहोत्रिणाम्॥ २३॥

ये सब भूतोंमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित होकर उनके सो जानेपर भी जागते रहते हैं। ये ही अग्निहोत्र तथा अग्निहोत्री पुरुषोंको मिलनेवाले फल हैं॥ २३॥

देवाश्च क्रतवश्चैव क्रतूनां फलमेव च।
यानि कृत्यानि लोकेषु सर्वेषु परमप्रभुः॥ २४॥

(यज्ञमें भाग ग्रहण करनेवाले) देवता, यज्ञ और यज्ञोंके फल भी ये ही हैं। सम्पूर्ण लोकोंमें जितनी क्रियाएँ होती हैं, उन सबका फल देनेमें ये ही पूर्ण समर्थ हैं॥ २४॥

एनमापत्सु कृच्छ्रेषु कान्तारेषु भयेषु च।
कीर्तयन् पुरुषः कश्चिन्नावसीदति राघव॥ २५॥

'राघव ! विपत्तिमें, कष्टमें, दुर्गम मार्गमें तथा और किसी भयके अवसरपर जो कोई पुरुष इन सूर्यदेवका कीर्तन करता है, उसे दुःख नहीं भोगना पड़ता ॥ २५ ॥

पूजयस्वैनमेकाग्रो देवदेवं जगत्पतिम्।
एतत् त्रिगुणितं जप्त्वा युद्धेषु विजयिष्यसि ॥ २६ ॥

'इसलिये तुम एकाग्रचित्त होकर इन देवाधिदेव जगदीश्वरकी पूजा करो। इस आदित्यहृदयका तीन बार जप करनेसे तुम युद्धमें विजय पाओगे ॥ २६ ॥

अस्मिन् क्षणे महाबाहो रावणं त्वं जहिष्यसि।
एवमुक्त्वा ततोऽगस्त्यो जगाम स यथागतम् ॥ २७ ॥

महाबाहो ! 'तुम इसी क्षण रावणका वध कर सकोगे।' यह कहकर अगस्त्यजी जैसे आये थे, उसी प्रकार चले गये ॥ २७ ॥

एतच्छ्रुत्वा महातेजा नष्टशोकोऽभवत् तदा।
धारयामास सुप्रीतो राघवः प्रयतात्मवान् ॥ २८ ॥
आदित्यं प्रेक्ष्य जप्त्वेदं परं हर्षमवाप्तवान्।
त्रिराचम्य शुचिर्भूत्वा धनुरादाय वीर्यवान् ॥ २९ ॥
रावणं प्रेक्ष्य हृष्टात्मा जयार्थं समुपागमत्।
सर्वयत्नेन महता वृतस्तस्य वधेऽभवत् ॥ ३० ॥

उनका उपदेश सुनकर महातेजस्वी श्रीरामचन्द्रजीका शोक दूर हो गया। उन्होंने प्रसन्न होकर शुद्धचित्तसे आदित्यहृदयको धारण किया और तीन बार आचमन करके शुद्ध हो भगवान् सूर्यकी ओर देखते हुए इसका तीन बार जप किया। इससे उन्हें बड़ा हर्ष हुआ। फिर परम पराक्रमी रघुनाथजीने धनुष उठाकर रावणकी ओर देखा और उत्साहपूर्वक विजय पानेके लिये वे आगे बढ़े। उन्होंने पूरा प्रयत्न करके रावणके वधका निश्चय किया ॥ २८—३० ॥

अथ रविरवदन्निरीक्ष्य रामं
मुदितमनाः परमं प्रहृष्यमाणः।
निशिचरपतिसंक्षयं विदित्वा
सुरगणमध्यगतो वचस्त्वरेति ॥ ३१ ॥

उस समय देवताओंके मध्यमें खड़े हुए भगवान् सूर्यने प्रसन्न होकर श्रीरामचन्द्रजीकी ओर देखा और निशाचरराज रावणके विनाशका समय निकट जानकर हर्षपूर्वक कहा—'रघुनन्दन ! अब जल्दी करो' ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे पञ्चाधिकशततमः सर्गः ॥ १०५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें एक सौ पाँचवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १०५ ॥

—★—

षडधिकशततमः सर्गः

रावणके रथको देख श्रीरामका मातलिको सावधान करना, रावणकी पराजयके सूचक उत्पातों तथा रामकी विजय सूचित करनेवाले शुभ शकुनोंका वर्णन

सारथिः स रथं हृष्टः परसैन्यप्रधर्षणम्।
गन्धर्वनगराकारं समुच्छ्रितपताकिनम् ॥ १ ॥
युक्तं परमसम्पन्नैर्वाजिभिर्हेममालिभिः।
युद्धोपकरणैः पूर्णं पताकाध्वजमालिनम् ॥ २ ॥
ग्रसन्तमिव चाकाशं नादयन्तं वसुंधराम्।
प्रणाशं परसैन्यानां स्वसैन्यस्य प्रहर्षणम् ॥ ३ ॥
रावणस्य रथं क्षिप्रं चोदयामास सारथिः।

रावणके सारथिने हर्ष और उत्साहसे युक्त होकर उसके रथको शीघ्रतापूर्वक हाँका। वह रथ शत्रुसेनाको कुचल डालनेवाला था और गन्धर्वनगरके समान आश्चर्यजनक दिखायी देता था। उसपर बहुत ऊँची पताका फहरा रही थी। उस रथमें उत्तम गुणोंसे सम्पन्न और सोनेके हारोंसे अलंकृत घोड़े जुते हुए थे। रथके भीतर युद्धकी आवश्यक सामग्री भरी पड़ी थी। उस रथने ध्वजा-पताकाओंकी तो माला-सी पहन रखी थी। वह आकाशको, अपना ग्रास बनाता हुआ-सा जान पड़ता था। वसुन्धराको अपनी घर्घर-ध्वनिसे निनादित कर रहा था। वह शत्रुकी सेनाओंका नाशक और अपनी सेनाके योद्धाओंका हर्ष बढ़ानेवाला था ॥ १—३½ ॥

तमापतन्तं सहसा स्वनवन्तं महाध्वजम् ॥ ४ ॥
रथं राक्षसराजस्य नरराजो ददर्श ह।

नरराज श्रीरामचन्द्रजीने सहसा वहाँ आते हुए, विशाल ध्वजसे अलंकृत और घोर घर्घर-ध्वनिसे युक्त राक्षसराज रावणके उस रथको देखा ॥४½ ॥

कृष्णवाजिसमायुक्तं युक्तं रौद्रेण वर्चसा ॥ ५ ॥
दीप्यमानमिवाकाशे विमानं सूर्यवर्चसम्।

उसमें काले रंगके घोड़े जुते हुए थे। उसकी कान्ति बड़ी भयंकर थी। वह आकाशमें प्रकाशित होनेवाले सूर्यतुल्य तेजस्वी विमानके समान दृष्टिगोचर होता था ॥५½ ॥

तडित्पताकागहनं दर्शितेन्द्रायुधप्रभम् ॥ ६ ॥
शरधारा विमुञ्चन्तं धाराधरमिवाम्बुदम्।

उसपर फहराती हुई पताकाएँ विद्युत्‌के समान जान पड़ती थीं। वहाँ जो रावणका धनुष था, उसके द्वारा वह रथ

इन्द्रधनुषकी छटा छिटकाता था और बाणोंकी धारावाहिक वृष्टि करता था। इससे वह जलधारावर्षी मेघके समान प्रतीत होता था ॥६½॥

स दृष्ट्वा मेघसंकाशमापतन्तं रथं रिपोः ॥ ७ ॥
गिरेर्वज्राभिमृष्टस्य दीर्यतः सदृशस्वनम् ।
विस्फारयन् वै वेगेन बालचन्द्रानतं धनुः ॥ ८ ॥
उवाच मातलिं रामः सहस्राक्षस्य सारथिम् ।

उसकी आवाज ऐसी मालूम होती थी, मानो वज्रके आघातसे किसी पर्वतके फटनेका शब्द हो रहा हो। मेघके समान प्रतीत होनेवाले शत्रुके उस रथको आता देख श्रीरामचन्द्रजीने बड़े वेगसे अपने धनुषपर टंकार दी। उस समय उनका वह धनुष द्वितीयाके चन्द्रमा-जैसा दिखायी देता था। श्रीरामने इन्द्रसारथि मातलिसे कहा— ॥७-८½॥

मातले पश्य संरब्धमापतन्तं रथं रिपोः ॥ ९ ॥
यथापसव्यं पतता वेगेन महता पुनः ।
समरे हन्तुमात्मानं तथानेन कृता मतिः ॥ १० ॥

'मातले! देखो, मेरे शत्रु रावणका रथ बड़े वेगसे आ रहा है। रावण जिस प्रकार प्रदक्षिणभावसे महान् वेगके साथ पुनः आ रहा है, उससे जान पड़ता है, इसने समरभूमिमें अपने वधका निश्चय कर लिया है ॥ ९-१० ॥

तदप्रमादमातिष्ठ प्रत्युद्गच्छ रथं रिपोः ।
विध्वंसयितुमिच्छामि वायुर्मेघमिवोत्थितम् ॥ ११ ॥

'अतः अब तुम सावधान हो जाओ और शत्रुके रथकी ओर आगे बढ़ो। जैसे हवा उमड़े हुए बादलोंको छिन्न-भिन्न कर डालती है, उसी प्रकार आज मैं शत्रुके रथका विध्वंस करना चाहता हूँ ॥ ११ ॥

अविक्लवमसम्भ्रान्तमव्यग्रहृदयेक्षणम् ।
रश्मिसंचारनियतं प्रचोदय रथं द्रुतम् ॥ १२ ॥

'भय तथा घबराहट छोड़कर मन और नेत्रोंको स्थिर रखते हुए घोड़ोंकी बागडोर काबूमें रखो और रथको तेज चलाओ ॥ १२ ॥

कामं न त्वं समाधेयः पुरंदररथोचितः ।
युयुत्सुरहमेकाग्रः स्मारये त्वां न शिक्षये ॥ १३ ॥

'तुम्हें देवराज इन्द्रका रथ हाँकनेका अभ्यास है; अतः तुमको कुछ सिखानेकी आवश्यकता नहीं है। मैं एकाग्रचित्त होकर युद्ध करना चाहता हूँ। इसलिये तुम्हारे कर्तव्यका स्मरणमात्र करा रहा हूँ। तुम्हें शिक्षा नहीं देता हूँ' ॥ १३ ॥

परितुष्टः स रामस्य तेन वाक्येन मातलिः ।
प्रचोदयामास रथं सुरसारथिरुत्तमः ॥ १४ ॥
अपसव्यं ततः कुर्वन् रावणस्य महारथम् ।
चक्रसमुत्थितरजसा रावणं व्यवधूनयत् ॥ १५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके इस वचनसे देवताओंके श्रेष्ठ सारथि मातलिको बड़ा संतोष हुआ और उन्होंने रावणके विशाल रथको दाहिने रखते हुए अपने रथको आगे बढ़ाया। उसके पहियेसे इतनी धूल उड़ी कि रावण उसे देखकर काँप उठा ॥ १४-१५ ॥

ततः क्रुद्धो दशग्रीवस्ताम्रविस्फारितेक्षणः ।
रथप्रतिमुखं रामं सायकैरवधूनयत् ॥ १६ ॥

इससे दशमुख रावणको बड़ा क्रोध हुआ। वह अपनी लाल-लाल आँखें फाड़कर देखता हुआ रथके सामने हुए श्रीरामपर बाणोंकी वृष्टि करने लगा ॥ १६ ॥

धर्षणामर्षितो रामो धैर्यं रोषेण लङ्घयन् ।
जग्राह सुमहावेगमैन्द्रं युधि शरासनम् ॥ १७ ॥

उसके इस आक्रमणसे श्रीरामचन्द्रजीको बड़ा क्रोध हुआ। फिर रोषके साथ ही धैर्य धारण करके युद्धस्थलमें उन्होंने इन्द्रका धनुष हाथमें लिया, जो बड़ा ही वेगशाली था ॥ १७ ॥

शरांश्च सुमहावेगान् सूर्यरश्मिसमप्रभान् ।
तदुपोढं महद् युद्धमन्योन्यवधकाङ्क्षिणोः ।
परस्पराभिमुखयोर्दृप्तयोरिव सिंहयोः ॥ १८ ॥

साथ ही सूर्यकी किरणोंके समान प्रकाशित होनेवाले महान् वेगशाली बाण भी ग्रहण किये। तत्पश्चात् एक-दूसरेके वधकी इच्छा रखकर श्रीराम और रावण दोनोंमें बड़ा भारी युद्ध आरम्भ हुआ। दोनों दर्पसे भरे हुए दो सिंहोंके समान आमने-सामने डटे हुए थे ॥ १८ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
समीयुर्द्वैरथं द्रष्टुं रावणक्षयकाङ्क्षिणः ॥ १९ ॥

उस समय रावणके विनाशकी इच्छा रखनेवाले देवता, सिद्ध, गन्धर्व और महर्षि उन दोनोंके द्वैरथ युद्धको देखनेके लिये वहाँ एकत्र हो गये ॥ १९ ॥

समुत्पेतुरथोत्पाता दारुणा रोमहर्षणाः ।
रावणस्य विनाशाय राघवस्योदयाय च ॥ २० ॥

उस युद्धके समय ऐसे भयंकर उत्पात होने लगे, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाले थे। उनसे रावणके विनाश और श्रीरामचन्द्रजीके अभ्युदयकी सूचना मिलती थी ॥ २० ॥

ववर्ष रुधिरं देवो रावणस्य रथोपरि ।
वाता मण्डलिनस्तीव्रा व्यपसव्यं प्रचक्रमुः ॥ २१ ॥

मेघ रावणके रथपर रक्तकी वर्षा करने लगे। बड़े वेगसे उठे हुए बवंडर उसकी वामावर्त परिक्रमा करने लगे ॥ २१ ॥

महद्गृध्रकुलं चास्य भ्रममाणं नभस्थले ।
येन येन रथो याति तेन तेन प्रधावति ॥ २२ ॥

जिस-जिस मार्गसे रावणका रथ जाता था, उसी-उसी ओर आकाशमें मँडराता हुआ गीधोंका महान् समुदाय दौड़ा जाता था ॥ २२ ॥

संध्यया चावृता लङ्का जपापुष्पनिकाशया ।
दृश्यते सम्प्रदीप्तेव दिवसेऽपि वसुंधरा ॥ २३ ॥

असमयमें ही जपा (अड़हुल) के फूलकी-सी लाल रंगवाली संध्यासे आवृत हुई लङ्कापुरीकी भूमि दिनमें भी जलती हुई-सी दिखायी देती थी ॥ २३ ॥

सनिर्घाता महोल्काश्च सम्प्रपेतुर्महास्वनाः ।
विषादयंस्ते रक्षांसि रावणस्य तदाहिताः ॥ २४ ॥

रावणके सामने वज्रपातकी-सी गड़गड़ाहट और बड़ी भारी आवाजके साथ बड़ी-बड़ी उल्काएँ गिरने लगीं, जो उसके अहितकी सूचना दे रही थीं। उन उत्पातोंने राक्षसोंको विषादमें डाल दिया ॥ २४ ॥

रावणश्च यतस्तत्र प्रचचाल वसुंधरा ।
रक्षसां च प्रहरतां गृहीता इव बाहवः ॥ २५ ॥

रावण जहाँ-जहाँ जाता, वहाँ-वहाँकी भूमि डोलने लगती थी। प्रहार करते हुए राक्षसोंकी भुजाएँ ऐसी निकम्मी हो गयी थीं, मानो उन्हें किन्हींने पकड़ लिया हो ॥ २५ ॥

ताम्राः पीताः सिताः श्वेताः पतिताः सूर्यरश्मयः ।
दृश्यन्ते रावणस्याग्रे पर्वतस्येव धातवः ॥ २६ ॥

रावणके आगे पड़ी हुई सूर्यदेवकी किरणें पर्वतीय धातुओंके समान लाल, पीले, सफेद और काले रंगकी दिखायी देती थीं ॥ २६ ॥

गृध्रैरनुगताश्चास्य वमन्त्यो ज्वलनं मुखैः ।
प्रणेदुर्मुखमीक्षन्त्यः संरब्धमशिवं शिवाः ॥ २७ ॥

रावणके रोषावेशसे पूर्ण मुखकी ओर देखती और अपने-अपने मुखोंसे आग उगलती हुई गीदड़ियाँ अमङ्गलसूचक बोली बोलती थीं और उनके पीछे झुंड-के-झुंड गीध मड़राते चलते थे ॥ २७ ॥

प्रतिकूलं ववौ वायू रणे पांसून् समुत्किरन् ।
तस्य राक्षसराजस्य कुर्वन् दृष्टिविलोपनम् ॥ २८ ॥

रणभूमिमें धूल उड़ाती वायु राक्षसराज रावणकी आँखें बंद करती हुई प्रतिकूल दिशाकी ओर बह रही थी ॥ २८ ॥

निपेतुरिन्द्राशनयः सैन्ये चास्य समन्ततः ।
दुर्विषह्यस्वरा घोरा विना जलधरोदयम् ॥ २९ ॥

उसकी सेनापर सब ओरसे बिना बादलके ही दुःसह एवं कठोर आवाजके साथ भयानक बिजलियाँ गिरीं ॥ २९ ॥

दिशश्च प्रदिशः सर्वा बभूवुस्तिमिरावृताः ।
पांसुवर्षेण महता दुर्दर्शं च नभोऽभवत् ॥ ३० ॥

समस्त दिशाएँ और विदिशाएँ अन्धकारसे आच्छन्न हो गयीं। धूलकी बड़ी भारी वर्षाके कारण आकाशका दिखायी देना कठिन हो गया ॥ ३० ॥

कुर्वन्त्यः कलहं घोरं सारिकास्तद्रथं प्रति ।
निपेतुः शतशस्तत्र दारुणा दारुणारुताः ॥ ३१ ॥

भयानक आवाज करनेवाली सैकड़ों दारुण सारिकाएँ आपसमें घोर कलह करती हुई रावणके रथपर गिर पड़ती थीं ॥ ३१ ॥

जघनेभ्यः स्फुलिङ्गाश्च नेत्रेभ्योऽश्रूणि संततम् ।
मुमुचुस्तस्य तुरगास्तुल्यमग्निं च वारि च ॥ ३२ ॥

उसके घोड़े अपने जघनस्थलसे आगकी चिनगारियाँ और नेत्रोंसे आँसू बरसा रहे थे। इस प्रकार वे एक ही साथ आग और पानी दोनों प्रकट करते थे ॥ ३२ ॥

एवंप्रकारा बहवः समुत्पाता भयावहाः ।
रावणस्य विनाशाय दारुणाः सम्प्रजज्ञिरे ॥ ३३ ॥

इस तरह बहुत-से दारुण एवं भयंकर उत्पात प्रकट हुए, जो रावणके विनाशकी सूचना दे रहे थे ॥ ३३ ॥

रामस्यापि निमित्तानि सौम्यानि च शिवानि च ।
बभूवुर्जयशंसीनि प्रादुर्भूतानि सर्वशः ॥ ३४ ॥

श्रीरामके सामने भी अनेक शकुन प्रकट हुए, जो सब प्रकारसे शुभ, मङ्गलमय तथा विजयके सूचक थे ॥ ३४ ॥

निमित्तानीह सौम्यानि राघवः स्वजयाय वै ।
दृष्ट्वा परमसंहृष्टो हतं मेने च रावणम् ॥ ३५ ॥

श्रीरघुनाथजी अपनी विजयकी सूचना देनेवाले इन शुभ शकुनोंको देखकर बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने रावणको मरा हुआ ही समझा ॥ ३५ ॥

ततो निरीक्ष्यात्मगतानि राघवो
रणे निमित्तानि निमित्तकोविदः ।
जगाम हर्षं च परां च निर्वृतिं
चकार युद्धे ह्यधिकं च विक्रमम् ॥ ३६ ॥

शकुनोंके ज्ञाता भगवान् श्रीराम रणभूमिमें अपनेको प्राप्त होनेवाले शुभ शकुनोंका अवलोकन करके बड़े हर्ष और परम संतोषका अनुभव करने लगे तथा उन्होंने युद्धमें अधिक पराक्रम प्रकट किया ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे षडधिकशततमः सर्गः ॥ १०६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें एक सौ छठाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १०६ ॥

—★—

सप्ताधिकशततमः सर्गः

श्रीराम और रावणका घोर युद्ध

ततः प्रवृत्तं सुक्रूरं रामरावणयोस्तदा ।
सुमहद् द्वैरथं युद्धं सर्वलोकभयावहम् ॥ १ ॥

तदनन्तर श्रीराम और रावणमें अत्यन्त क्रूरतापूर्वक महान् द्वैरथ युद्ध आरम्भ हुआ, जो समस्त लोकोंके लिये भयंकर था ॥ १ ॥

ततो राक्षससैन्यं च हरीणां च महद्बलम् ।
प्रगृहीतप्रहरणं निश्चेष्टं समवर्तत ॥ २ ॥

उस समय राक्षसों और वानरोंकी विशाल सेनाएँ हाथमें हथियार लिये रहनेपर भी निश्चेष्ट खड़ी रहीं—कोई किसीपर प्रहार नहीं करता था ॥ २ ॥

सम्प्रयुद्धौ तु तौ दृष्ट्वा बलवन्नरराक्षसौ ।
व्याक्षिप्तहृदयाः सर्वे परं विस्मयमागताः ॥ ३ ॥

मनुष्य और निशाचर दोनों वीरोंको बलपूर्वक युद्ध करते देख सबके हृदय उन्हींकी ओर खिंच गये; अतः सभी बड़े आश्चर्यमें पड़ गये ॥ ३ ॥

नानाप्रहरणैर्व्यग्रैर्भुजैर्विस्मितबुद्धयः ।
तस्थुः प्रेक्ष्य च संग्रामं नाभिजग्मुः परस्परम् ॥ ४ ॥

दोनों ओरके सैनिकोंके हाथोंमें नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र विद्यमान थे और उनके हाथ युद्धके लिये व्यग्र थे, तथापि उस अद्भुत संग्रामको देखकर उनकी बुद्धि आश्चर्यचकित हो उठी थी; इसलिये वे चुपचाप खड़े थे। एक-दूसरेपर प्रहार नहीं करते थे ॥ ४ ॥

रक्षसां रावणं चापि वानराणां च राघवम् ।
पश्यतां विस्मिताक्षाणां सैन्यं चित्रमिवाबभौ ॥ ५ ॥

राक्षस रावणकी ओर देख रहे थे और वानर श्रीरघुनाथजीकी ओर। उन सबके नेत्र विस्मित थे; अतः निस्तब्ध खड़ी रहनेके कारण उभय पक्षकी सेनाएँ चित्रलिखित-सी जान पड़ती थीं ॥ ५ ॥

तौ तु तत्र निमित्तानि दृष्ट्वा राघवरावणौ ।
कृतबुद्धी स्थिरामर्षौ युयुधाते ह्यभीतवत् ॥ ६ ॥

श्रीराम और रावण दोनोंने वहाँ प्रकट होनेवाले निमित्तोंको देखकर उनके भावी फलका विचार करके युद्धविषयक विचारको स्थिर कर लिया था। उन दोनोंमेंसे एक-दूसरेके प्रति अमर्षका भाव दृढ़ हो गया था; इसलिये वे निर्भय-से होकर युद्ध करने लगे ॥ ६ ॥

जेतव्यमिति काकुत्स्थो मर्तव्यमिति रावणः ।
धृतौ स्ववीर्यसर्वस्वं युद्धेऽदर्शयतां तदा ॥ ७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीको यह विश्वास था कि मेरी ही जीत होगी और रावणको भी यह निश्चय हो गया था कि मुझे अवश्य ही मरना होगा; अतः वे दोनों युद्धमें अपना सारा पराक्रम प्रकट करके दिखाने लगे ॥ ७ ॥

ततः क्रोधाद् दशग्रीवः शरान् संधाय वीर्यवान् ।
मुमोच ध्वजमुद्दिश्य राघवस्य रथे स्थितम् ॥ ८ ॥

उस समय पराक्रमी दशाननने क्रोधपूर्वक बाणोंका संधान करके श्रीरघुनाथजीके रथपर फहराती हुई ध्वजाको निशाना बनाया और उन बाणोंको छोड़ दिया ॥ ८ ॥

ते शरास्तमनासाद्य पुरंदररथध्वजम् ।
रथशक्तिं परामृश्य निपेतुर्धरणीतले ॥ ९ ॥

परंतु उसके चलाये हुए वे बाण इन्द्रके रथकी ध्वजातक न पहुँच सके, केवल रथशक्तिको* छूते हुए धरतीपर गिर पड़े ॥ ९ ॥

ततो रामोऽपि संक्रुद्धश्चापमाकृष्य वीर्यवान् ।
कृतप्रतिकृतं कर्तुं मनसा सम्प्रचक्रमे ॥ १० ॥

तब महाबली श्रीरामचन्द्रजीने भी कुपित होकर अपने धनुषको खींचा और मन-ही-मन रावणके कृत्यका बदला चुकाने—उसके ध्वजको काट गिरानेका विचार किया ॥ १० ॥

रावणध्वजमुद्दिश्य मुमोच निशितं शरम् ।
महासर्पमिवासह्यं ज्वलन्तं स्वेन तेजसा ॥ ११ ॥

रावणके ध्वजको लक्ष्य करके उन्होंने विशाल सर्पके समान असह्य और अपने तेजसे प्रज्वलित तीखा बाण छोड़ दिया ॥ ११ ॥

रामश्चिक्षेप तेजस्वी केतुमुद्दिश्य सायकम् ।
जगाम स महीं छित्त्वा दशग्रीवध्वजं शरः ॥ १२ ॥

तेजस्वी श्रीरामने उस ध्वजकी ओर निशाना साधकर अपना सायक चलाया और वह दशाननके उस ध्वजको काटकर पृथ्वीमें समा गया ॥ १२ ॥

स निकृत्तोऽपतद् भूमौ रावणस्यन्दनध्वजः ।
ध्वजस्योन्मथनं दृष्ट्वा रावणः स महाबलः ॥ १३ ॥
सम्प्रदीप्तोऽभवत् क्रोधादमर्षात् प्रदहन्निव ।
स रोषवशमापन्नः शरवर्षं ववर्ष ह ॥ १४ ॥

रावणके रथका वह ध्वज कटकर धरतीपर गिर पड़ा। अपने ध्वजका विध्वंस हुआ देख महाबली रावण क्रोधसे जल उठा और अमर्षके कारण विपक्षीको जलाता हुआ-सा जान पड़ा। वह रोषके वशीभूत होकर बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ १३-१४ ॥

रामस्य तुरगान् दीप्तैः शरैर्विव्याध रावणः ।
ते दिव्या हरयस्तत्र नास्खलन्नापि बभ्रमुः ॥ १५ ॥
बभूवुः स्वस्थहृदयाः पद्मनालैरिवाहताः ।

रावणने अपने तेजस्वी बाणोंसे श्रीरामचन्द्रजीके घोड़ोंको घायल करना आरम्भ किया; परंतु वे घोड़े दिव्य थे, इसलिये न तो लड़खड़ाये और न अपने स्थानसे विचलित ही हुए। वे पूर्ववत् स्वस्थचित्त बने रहे, मानो उनपर कमलकी नालोंसे प्रहार किया गया हो ॥ १५½ ॥

तेषामसम्भ्रमं दृष्ट्वा वाजिनां रावणस्तदा ॥ १६ ॥
भूय एव सुसंक्रुद्धः शरवर्षं मुमोच ह ।

---

* रथकी कलशीपरका वह बाँस जिसमें लड़ाईके रथोंकी ध्वजाएँ लगायी जाती थीं। कुछ विद्वानोंने रथशक्तिका अर्थ—रथकी अद्भुत सामर्थ्य किया है। ऐसा अर्थ माननेपर यह भाव निकलता है कि रथके अद्भुत प्रभावका अनुभव करके वे बाण ध्वजतक न पहुँचकर पृथ्वीपर ही गिर पड़े।

गदाश्च परिघांश्चैव चक्राणि मुसलानि च ॥ १७ ॥
गिरिशृङ्गाणि वृक्षांश्च तथा शूलपरश्वधान् ।
मायाविहितमेतत् तु शस्त्रवर्षमपातयत् ।
सहस्रशस्तदा बाणानश्रान्तहृदयोद्यमः ॥ १८ ॥

उन घोड़ोंका घबराहटमें न पड़ना देख रावणका क्रोध और भी बढ़ गया। वह पुनः बाणोंकी वर्षा करने लगा। गदा, चक्र, परिघ, मूसल, पर्वत-शिखर, वृक्ष, शूल, फरसे तथा मायानिर्मित अन्यान्य शस्त्रोंकी वृष्टि करने लगा। उसने हृदयमें थकावटका अनुभव न करके सहस्रों बाण छोड़े ॥ १६—१८ ॥

तुमुलं त्रासजननं भीमं भीमप्रतिस्वनम् ।
तद् वर्षमभवद् युद्धे नैकशस्त्रमयं महत् ॥ १९ ॥

युद्धस्थलमें अनेक शस्त्रोंकी वह विशाल वर्षा बड़ी भयानक, तुमुल, त्रासजनक और भयंकर कोलाहलसे पूर्ण थी ॥ १९ ॥

विमुच्य राघवरथं समन्ताद् वानरे बले ।
सायकैरन्तरिक्षं च चकार सुनिरन्तरम् ॥ २० ॥
मुमोच च दशग्रीवो निःसङ्गेनान्तरात्मना ।

वह शस्त्रवर्षा श्रीरामचन्द्रजीके रथको छोड़कर सब ओरसे वानर-सेनाके ऊपर पड़ने लगी। दशमुख रावणने प्राणोंका मोह छोड़कर बाणोंका प्रयोग किया और अपने सायकोंसे वहाँके आकाशको ठसाठस भर दिया ॥२०½॥

व्यायच्छमानं तं दृष्ट्वा तत्परं रावणं रणे ॥ २१ ॥
प्रहसन्निव काकुत्स्थः संदधे निशिताञ्छरान् ।
स मुमोच ततो बाणाञ्छतशोऽथ सहस्रशः ॥ २२ ॥

तदनन्तर रणभूमिमें रावणको बाण चलानेमें अधिक परिश्रम करते देख श्रीरामचन्द्रजीने हँसते हुए-से तीखे बाणोंका संधान किया और उन्हें सैकड़ों तथा हजारोंकी संख्यामें छोड़ा ॥ २१-२२ ॥

तान् दृष्ट्वा रावणश्चक्रे स्वशरैः खं निरन्तरम् ।
ताभ्यां नियुक्तेन तदा शरवर्षेण भास्वता ॥ २३ ॥
शरबद्धमिवाभाति द्वितीयं भास्वदम्बरम् ।

उन बाणोंको देखकर रावणने पुनः अपने बाण बरसाये और आकाशको इतना भर दिया कि उसमें तिल रखनेकी भी जगह नहीं रह गयी। उन दोनोंके द्वारा की गयी चमकीले बाणोंकी वर्षासे वहाँका प्रकाशमान आकाश बाणोंसे बद्ध होकर किसी और ही आकाश-सा प्रतीत होता था ॥२३½॥

नानिमित्तोऽभवद् बाणो नानिर्भेत्ता न निष्फलः ॥ २४ ॥
अन्योन्यमभिसंहत्य निपेतुर्धरणीतले ।
तथा विसृजतोर्बाणान् रामरावणयोर्मृधे ॥ २५ ॥

उनका चलाया हुआ कोई भी बाण लक्ष्यतक पहुँचे बिना नहीं रहता था, लक्ष्यको बेधे या विदीर्ण किये बिना नहीं रुकता था तथा निष्फल भी नहीं होता था। इस तरह युद्धमें शस्त्रवर्षा करते हुए श्रीराम और रावणके बाण जब आपसमें टकराते थे, तब नष्ट होकर पृथ्वीपर गिर जाते थे ॥ २४-२५ ॥

प्रायुध्येतामविच्छिन्नमस्यन्तौ सव्यदक्षिणम् ।
चक्रतुश्च शरैर्घोरैर्निरुच्छ्वासमिवाम्बरम् ॥ २६ ॥

वे दोनों योद्धा दायें-बायें प्रहार करते हुए निरन्तर युद्धमें लगे रहे। उन्होंने अपने भयंकर बाणोंसे आकाशको इस तरह भर दिया कि मानो उसमें साँस लेनेकी भी जगह नहीं रह गयी ॥ २६ ॥

रावणस्य हयान् रामो हयान् रामस्य रावणः ।
जघ्नतुस्तौ तदान्योन्यं कृतानुकृतकारिणौ ॥ २७ ॥

श्रीरामने रावणके घोड़ोंको और रावणने श्रीरामके घोड़ोंको घायल कर दिया। वे दोनों एक-दूसरेके प्रहारका बदला चुकाते हुए परस्पर आघात करते रहे ॥ २७ ॥

एवं तु तौ सुसंक्रुद्धौ चक्रतुर्युद्धमुत्तमम् ।
मुहूर्तमभवद् युद्धं तुमुलं रोमहर्षणम् ॥ २८ ॥

इस प्रकार वे दोनों अत्यन्त क्रोधसे भरे हुए उत्तम रीतिसे युद्ध करने लगे। दो घड़ीतक तो उन दोनोंमें ऐसा भयंकर संग्राम हुआ, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ॥ २८ ॥

तौ तथा युध्यमानौ तु समरे रामरावणौ ।
ददृशुः सर्वभूतानि विस्मितेनान्तरात्मना ॥ २९ ॥

इस प्रकार युद्धमें लगे हुए श्रीराम तथा रावणको सम्पूर्ण प्राणी चकितचित्तसे निहारने लगे ॥ २९ ॥

अर्दयन्तौ तु समरे तयोस्तौ स्यन्दनोत्तमौ ।
परस्परमभिक्रुद्धौ परस्परमभिद्रुतौ ॥ ३० ॥

उन दोनोंके वे श्रेष्ठ रथ (तथा उसमें बैठे हुए रथी) समरभूमिमें अत्यन्त क्रोधपूर्वक एक-दूसरेको पीड़ा देने और परस्पर धावा करने लगे ॥ ३० ॥

परस्परवधे युक्तौ घोररूपौ बभूवतुः ।
मण्डलानि च वीथीश्च गतप्रत्यागतानि च ॥ ३१ ॥
दर्शयन्तौ बहुविधां सूतौ सारथ्यजां गतिम् ।

एक-दूसरेके वधके प्रयत्नमें लगे हुए वे दोनों वीर बड़े भयानक जान पड़ते थे। उन दोनोंके सारथि कभी रथको चक्कर काटते हुए ले जाते, कभी सीधे मार्गसे दौड़ाते और कभी आगेकी ओर बढ़ाकर पीछेकी ओर लौटाते थे। इस तरह वे दोनों अपने रथको हाँकनेमें विविध प्रकारके ज्ञानका परिचय देने लगे ॥३१½॥

अर्दयन् रावणं रामो राघवं चापि रावणः ॥ ३२ ॥
गतिवेगं समापन्नौ प्रवर्तननिवर्तने ।

श्रीराम रावणको पीड़ित करने लगे और रावण श्रीरामको पीड़ा देने लगा। इस प्रकार युद्धविषयक प्रवृत्ति और निवृत्तिमें वे दोनों तदनुरूप गतिवेगका आश्रय लेते थे ॥३२½॥

क्षिपतोः शरजालानि तयोस्तौ स्यन्दनोत्तमौ ॥ ३३ ॥
चेरतुः संयुगमहीं सासारौ जलदाविव ।

बाणसमूहोंकी वर्षा करते हुए उन दोनों वीरोंके वे श्रेष्ठ रथ जलकी धारा गिराते हुए दो जलधरोंके समान युद्धभूमिमें विचर रहे थे ॥ ३३½ ॥

दर्शयित्वा तदा तौ तु गतिं बहुविधां रणे ॥ ३४ ॥
परस्परस्याभिमुखौ पुनरेव च तस्थतुः ।

वे दोनों रथ युद्धस्थलमें भाँति-भाँतिकी गतिका प्रदर्शन करनेके बाद फिर आमने-सामने आकर खड़े हो गये ॥ ३४½ ॥

धुरं धुरेण रथयोर्वक्त्रं वक्त्रेण वाजिनाम् ॥ ३५ ॥
पताकाश्च पताकाभिः समीयुः स्थितयोस्तदा ।

उस समय वहाँ खड़े हुए उन दोनों रथोंके युगन्धर (हरसोंकी संधि) युगन्धरसे, घोड़ोंके मुख विपक्षी घोड़ोंके मुखसे तथा पताकाएँ पताकाओंसे मिल गयीं ॥ ३५½ ॥

रावणस्य ततो रामो धनुर्मुक्तैः शितैः शरैः ॥ ३६ ॥
चतुर्भिश्चतुरो दीप्तान् हयान् प्रत्यपसर्पयत् ।

तत्पश्चात् श्रीरामने अपने धनुषसे छूटे हुए चार पैने बाणोंद्वारा रावणके चारों तेजस्वी घोड़ोंको पीछे हटनेके लिये विवश कर दिया ॥ ३६½ ॥

स क्रोधवशमापन्नो हयानामपसर्पणे ॥ ३७ ॥
मुमोच निशितान् बाणान् राघवाय दशाननः ।

घोड़ोंके पीछे हटनेपर दशमुख रावण क्रोधके वशीभूत हो गया और श्रीरामपर तीखे बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ ३७½ ॥

सोऽतिविद्धो बलवता दशग्रीवेण राघवः ॥ ३८ ॥
जगाम न विकारं च न चापि व्यथितोऽभवत् ।

बलवान् दशाननके द्वारा अत्यन्त घायल किये जानेपर भी श्रीरघुनाथजीके चेहरेपर शिकनतक न आयी और न उनके मनमें व्यथा ही हुई ॥ ३८½ ॥

चिक्षेप च पुनर्बाणान् वज्रसारसमस्वनान् ॥ ३९ ॥
सारथिं वज्रहस्तस्य समुद्दिश्य दशाननः ।

तत्पश्चात् रावणने इन्द्रके सारथि मातलिको लक्ष्य करके वज्रके समान शब्द करनेवाले बाण छोड़े ॥ ३९½ ॥

मातलेस्तु महावेगाः शरीरे पतिताः शराः ॥ ४० ॥
न सूक्ष्ममपि सम्मोहं व्यथां वा प्रददुर्युधि ।

वे महान् वेगशाली बाण युद्धस्थलमें मातलिके शरीरपर पड़कर उन्हें थोड़ा-सा भी मोह या व्यथा न दे सके ॥ ४०½ ॥

तया धर्षणया क्रुद्धो मातलेर्न तथाऽऽत्मनः ॥ ४१ ॥
चकार शरजालेन राघवो विमुखं रिपुम् ।

रावणद्वारा मातलिके प्रति आक्रमणसे श्रीरामचन्द्रजीको जैसा क्रोध हुआ, वैसा अपनेपर किये गये आक्रमणसे नहीं हुआ था। अतः उन्होंने बाणोंका जाल-सा बिछाकर अपने शत्रुको युद्धसे विमुख कर दिया ॥ ४१½ ॥

विंशतिं त्रिंशतिं षष्टिं शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ४२ ॥
मुमोच राघवो वीरः सायकान् स्यन्दने रिपोः ।

वीर रघुनाथजीने शत्रुके रथपर बीस, तीस, साठ, सौ और हजार-हजार बाणोंकी वृष्टि की ॥ ४२½ ॥

रावणोऽपि ततः क्रुद्धो रथस्थो राक्षसेश्वरः ॥ ४३ ॥
गदामुसलवर्षेण रामं प्रत्यर्दयद् रणे ।

तब रथपर बैठा हुआ राक्षसराज रावण भी कुपित हो उठा और गदा तथा मूसलोंकी वर्षासे रणभूमिमें श्रीरामको पीड़ा देने लगा ॥ ४३½ ॥

तत् प्रवृत्तं पुनर्युद्धं तुमुलं रोमहर्षणम् ॥ ४४ ॥
गदानां मुसलानां च परिघाणां च निःस्वनैः ।
शराणां पुङ्खवातैश्च क्षुभिताः सप्त सागराः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार उन दोनोंमें पुनः बड़ा भयंकर और रोमाञ्चकारी युद्ध होने लगा। गदाओं, मुसलों और परिघोंकी आवाजसे तथा बाणोंके पंखोंकी सनसनाती हुई हवासे सातों समुद्र विक्षुब्ध हो उठे ॥ ४४-४५ ॥

क्षुब्धानां सागराणां च पातालतलवासिनः ।
व्यथिता दानवाः सर्वे पन्नगाश्च सहस्रशः ॥ ४६ ॥

उन विक्षुब्ध समुद्रोंके पातालतलमें निवास करनेवाले समस्त दानव और सहस्रों नाग व्यथित हो गये ॥ ४६ ॥

चकम्पे मेदिनी कृत्स्ना सशैलवनकानना ।
भास्करो निष्प्रभश्चासीन्न ववौ चापि मारुतः ॥ ४७ ॥

पर्वतों, वनों और काननोंसहित सारी पृथ्वी काँप उठी, सूर्यकी प्रभा लुप्त हो गयी और वायुकी गति भी रुक गयी ॥ ४७ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
चिन्तामापेदिरे सर्वे सकिंनरमहोरगाः ॥ ४८ ॥

देवता, गन्धर्व, सिद्ध, महर्षि, किन्नर और बड़े-बड़े नाग सभी चिन्तामें पड़ गये ॥ ४८ ॥

स्वस्ति गोब्राह्मणेभ्यस्तु लोकास्तिष्ठन्तु शाश्वताः ।
जयतां राघवः संख्ये रावणं राक्षसेश्वरम् ॥ ४९ ॥

सबके मुँहसे यही बात निकलने लगी—'गौ और ब्राह्मणोंका कल्याण हो, प्रवाहरूपसे सदा रहनेवाले इन लोकोंकी रक्षा हो और श्रीरघुनाथजी युद्धमें राक्षसराज रावणपर विजय पावें' ॥ ४९ ॥

एवं जपन्तोऽपश्यंस्ते देवाः सर्षिगणास्तदा ।
रामरावणयोर्युद्धं सुघोरं रोमहर्षणम् ॥ ५० ॥

इस प्रकार कहते हुए ऋषियोंसहित वे देवगण श्रीराम और रावणके अत्यन्त भयंकर तथा रोमाञ्चकारी युद्धको देखने लगे ॥ ५० ॥

गन्धर्वाप्सरसां सङ्घा दृष्ट्वा युद्धमनूपमम् ।
गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः ॥ ५१ ॥

रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव।
एवं ब्रुवन्तो ददृशुस्तद् युद्धं रामरावणम्॥ ५२॥

गन्धर्वों और अप्सराओंके समुदाय उस अनुपम युद्धको देखकर कहने लगे—'आकाश आकाशके ही तुल्य है, समुद्र समुद्रके ही समान है तथा राम और रावणका युद्ध राम और रावणके युद्धके ही सदृश है'* ऐसा कहते हुए वे सब लोग राम-रावणका युद्ध देखने लगे॥ ५१-५२॥

ततः क्रोधान्महाबाहू रघूणां कीर्तिवर्धनः।
संधाय धनुषा रामः शरमाशीविषोपमम्॥ ५३॥
रावणस्य शिरोऽच्छिन्दच्छ्रीमज्ज्वलितकुण्डलम्।
तच्छिरः पतितं भूमौ दृष्टं लोकैस्त्रिभिस्तदा॥ ५४॥

तदनन्तर रघुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले महाबाहु श्रीरामचन्द्रजीने कुपित होकर अपने धनुषपर एक विषधर सर्पके समान बाणका संधान किया और उसके द्वारा जगमगाते हुए कुण्डलोंसे युक्त रावणका एक सुन्दर मस्तक काट डाला। उसका वह कटा हुआ सिर उस समय पृथ्वीपर गिर पड़ा, जिसे तीनों लोकोंके प्राणियोंने देखा॥ ५३-५४॥

तस्यैव सदृशं चान्यद् रावणस्योत्थितं शिरः।
तत् क्षिप्रं क्षिप्रहस्तेन रामेण क्षिप्रकारिणा॥ ५५॥
द्वितीयं रावणशिरश्छिन्नं संयति सायकैः।

उसकी जगह रावणके वैसा ही दूसरा नया सिर उत्पन्न हो गया। शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले शीघ्रकारी श्रीरामने युद्धस्थलमें अपने सायकोंद्वारा रावणका वह दूसरा सिर भी शीघ्र ही काट डाला॥ ५५½॥

छिन्नमात्रं च तच्छीर्षं पुनरेव प्रदृश्यते॥ ५६॥
तदप्यशनिसंकाशैश्छिन्नं रामस्य सायकैः।

उसके कटते ही पुनः नया सिर उत्पन्न दिखायी देने लगा, किंतु उसे भी श्रीरामके वज्रतुल्य सायकोंने काट डाला॥ ५६½॥

एवमेव शतं छिन्नं शिरसां तुल्यवर्चसाम्॥ ५७॥
न चैव रावणस्यान्तो दृश्यते जीवितक्षये।

इस प्रकार एक-से तेजवाले उसके सौ सिर काट डाले गये, तथापि उसके जीवनका नाश होनेके लिये उसके मस्तकोंका अन्त होता नहीं दिखायी देता था॥ ५७½॥

ततः सर्वास्त्रविद् वीरः कौसल्यानन्दवर्धनः॥ ५८॥
मार्गणैर्बहुभिर्युक्तश्चिन्तयामास राघवः।

तदनन्तर कौसल्याका आनन्द बढ़ानेवाले, सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता वीर श्रीरामचन्द्रजी अनेक प्रकारके बाणोंसे युक्त होनेपर भी इस प्रकार चिन्ता करने लगे—॥ ५८½॥

मारीचो निहतो यैस्तु खरो यैस्तु सदूषणः॥ ५९॥
क्रौञ्चावटे विराधस्तु कबन्धो दण्डकावने।
यैः साला गिरयो भग्ना वाली च क्षुभितोऽम्बुधिः॥ ६०॥
त इमे सायकाः सर्वे युद्धे प्रात्ययिका मम।
किं नु तत् कारणं येन रावणे मन्दतेजसः॥ ६१॥

'अहो! मैंने जिन बाणोंसे मारीच, खर और दूषणको मारा, क्रौञ्चवनके गड्ढेमें विराधका वध किया, दण्डकारण्यमें कबन्धको मौतके घाट उतारा, सालवृक्ष और पर्वतोंको विदीर्ण किया, वालीके प्राण लिये और समुद्रको भी क्षुब्ध कर दिया, अनेक बारके संग्राममें परीक्षा करके जिनकी अमोघताका विश्वास कर लिया गया है, वे ही ये मेरे सब सायक आज रावणके ऊपर निस्तेज—कुण्ठित हो गये हैं; इसका क्या कारण हो सकता है?'॥ ५९—६१॥

इति चिन्तापरश्चासीदप्रमत्तश्च संयुगे।
ववर्ष शरवर्षाणि राघवो रावणोरसि॥ ६२॥

इस तरह चिन्तामें पड़ जानेपर भी श्रीरघुनाथजी युद्धस्थलमें सतत सावधान रहे। उन्होंने रावणकी छातीपर बाणोंकी झड़ी लगा दी॥ ६२॥

रावणोऽपि ततः क्रुद्धो रथस्थो राक्षसेश्वरः।
गदामुसलवर्षेण रामं प्रत्यर्दयद् रणे॥ ६३॥

तब रथपर बैठे हुए राक्षसराज रावणने भी कुपित होकर रणभूमिमें श्रीरामको गदा और मूसलोंकी वर्षासे पीड़ित करना आरम्भ किया॥ ६३॥

तत् प्रवृत्तं महद् युद्धं तुमुलं रोमहर्षणम्।
अन्तरिक्षे च भूमौ च पुनश्च गिरिमूर्धनि॥ ६४॥

उस महायुद्धने बड़ा भयंकर रूप धारण किया। उसे देखते ही रोंगटे खड़े हो जाते थे। वह युद्ध कभी आकाशमें, कभी भूतलपर और कभी-कभी पर्वतके शिखरपर होता था॥ ६४॥

देवदानवयक्षाणां पिशाचोरगरक्षसाम्।
पश्यतां तन्महद् युद्धं सर्वरात्रमवर्तत॥ ६५॥

देवता, दानव, यक्ष, पिशाच, नाग और राक्षसोंके देखते-देखते वह महान् संग्राम सारी रात चलता रहा॥ ६५॥

नैव रात्रिं न दिवसं न मुहूर्तं न च क्षणम्।
रामरावणयोर्युद्धं विराममुपगच्छति॥ ६६॥

श्रीराम और रावणका वह युद्ध न रातमें बंद होता था और न दिनमें। दो घड़ी अथवा एक क्षणके लिये भी उसका विराम नहीं हुआ॥ ६६॥

---

* 'गगनं गगनाकारं'से 'रामरावणयोरिव' तकके श्लोकमें अनन्वयालङ्कार है। जहाँ एक ही वस्तु उपमान और उपमेयरूपसे कही जाय, दूसरी कोई उपमा न मिल सके, वहाँ अनन्वयालङ्कार होता है।

दशरथसुतराक्षसेन्द्रयोस्तयो-
जयमनवेक्ष्य रणे स राघवस्य।
सुरवररथसारथिर्महात्मा
रणरतराममुवाच वाक्यमाशु॥ ६७॥

एक ओर दशरथकुमार श्रीराम थे और दूसरी ओर राक्षसराज रावण। उन दोनोंमेंसे श्रीरघुनाथजीकी युद्धमें विजय होती न देख देवराजके सारथि महात्मा मातलिने युद्धपरायण श्रीरामसे शीघ्रतापूर्वक कहा—॥ ६७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे सप्ताधिकशततमः सर्गः॥१०७॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें एक सौ सातवाँ सर्ग पूरा हुआ॥१०७॥

—★—

अष्टाधिकशततमः सर्गः

श्रीरामके द्वारा रावणका वध

अथ संस्मारयामास मातली राघवं तदा।
अजानन्निव किं वीर त्वमेनमनुवर्तसे॥ १॥

मातलिने श्रीरघुनाथजीको कुछ याद दिलाते हुए कहा—'वीरवर! आप अनजानकी तरह क्यों इस राक्षसका अनुसरण कर रहे हैं? (यह जो अस्त्र चलाता है, उसके निवारण करनेवाले अस्त्रका प्रयोगमात्र करके रह जाते हैं)॥ १॥

विसृजास्मै वधाय त्वमस्त्रं पैतामहं प्रभो।
विनाशकालः कथितो यः सुरैः सोऽद्य वर्तते॥ २॥

'प्रभो! आप इसके वधके लिये ब्रह्माजीके अस्त्रका प्रयोग कीजिये। देवताओंने इसके विनाशका जो समय बताया है, वह अब आ पहुँचा है'॥ २॥

ततः संस्मारितो रामस्तेन वाक्येन मातलेः।
जग्राह स शरं दीप्तं निःश्वसन्तमिवोरगम्॥ ३॥

मातलिके इस वाक्यसे श्रीरामचन्द्रजीको उस अस्त्रका स्मरण हो आया। फिर तो उन्होंने फुफकारते हुए सर्पके समान एक तेजस्वी बाण हाथमें लिया॥ ३॥

यं तस्मै प्रथमं प्रादादगस्त्यो भगवानृषिः।
ब्रह्मदत्तं महद् बाणममोघं युधि वीर्यवान्॥ ४॥

यह वही बाण था, जिसे पहले शक्तिशाली भगवान् अगस्त्य ऋषिने रघुनाथजीको दिया था। वह विशाल बाण ब्रह्माजीका दिया हुआ था और युद्धमें अमोघ था॥ ४॥

ब्रह्मणा निर्मितं पूर्वमिन्द्रार्थममितौजसा।
दत्तं सुरपतेः पूर्वं त्रिलोकजयकाङ्क्षिणः॥ ५॥

अमित तेजस्वी ब्रह्माजीने पहले इन्द्रके लिये उस बाणका निर्माण किया था और तीनों लोकोंपर विजय पानेकी इच्छा रखनेवाले देवेन्द्रको ही पूर्वकालमें अर्पित किया था॥ ५॥

यस्य वाजेषु पवनः फले पावकभास्करौ।
शरीरमाकाशमयं गौरवे मेरुमन्दरौ॥ ६॥

इस बाणके वेगमें वायुकी, धारमें अग्नि और सूर्यकी, शरीरमें आकाशकी तथा भारीपनमें मेरु और मन्दराचलकी प्रतिष्ठा की गयी थी॥ ६॥

जाज्वल्यमानं वपुषा सुपुङ्खं हेमभूषितम्।
तेजसा सर्वभूतानां कृतं भास्करवर्चसम्॥ ७॥
सधूममिव कालाग्निं दीप्तमाशीविषोपमम्।
नरनागाश्ववृन्दानां भेदनं क्षिप्रकारिणम्॥ ८॥

वह सम्पूर्ण भूतोंके तेजसे बनाया गया था। उससे सूर्यके समान ज्योति निकलती रहती थी। वह सुवर्णसे भूषित, सुन्दर पंखसे युक्त, स्वरूपसे जाज्वल्यमान, प्रलयकालकी धूमयुक्त अग्निके समान भयंकर, दीप्तिमान्, विषधर सर्पके समान विषैला, मनुष्य, हाथी और घोड़ोंको विदीर्ण कर डालनेवाला तथा शीघ्रतापूर्वक लक्ष्यका भेदन करनेवाला था॥ ७-८॥

द्वाराणां परिघाणां च गिरीणां चापि भेदनम्।
नानारुधिरदिग्धाङ्गं मेदोदिग्धं सुदारुणम्॥ ९॥
वज्रसारं महानादं नानासमितिदारुणम्।
सर्ववित्रासनं भीमं श्वसन्तमिव पन्नगम्॥ १०॥
कङ्कगृध्रबकानां च गोमायुगणरक्षसाम्।
नित्यभक्षप्रदं युद्धे यमरूपं भयावहम्॥ ११॥

बड़े-बड़े दरवाजों, परिघों तथा पर्वतोंको भी तोड़-फोड़ देनेकी इसमें शक्ति थी। उसका सारा शरीर नाना प्रकारके रक्तमें नहाया और चर्बीसे परिपुष्ट हुआ था। देखनेमें भी वह बड़ा भयंकर था। वज्रके समान कठोर, महान् शब्दसे युक्त, अनेकानेक युद्धोंमें शत्रुसेनाको विदीर्ण करनेवाला, सबको त्रास देनेवाला तथा फुफकारते हुए सर्पके समान भयंकर था। युद्धमें वह यमराजका भयावह रूप धारण कर लेता था। समरभूमिमें कौए, गीध, बगुले, गीदड़ तथा पिशाचोंको वह सदा भक्ष्य प्रदान करता था॥ ९—११॥

नन्दनं वानरेन्द्राणां रक्षसामवसादनम्।
वाजितं विविधैर्वाजैश्चारुचित्रैर्गरुत्मतः॥ १२॥

वह सायक वानर-यूथपतियोंको आनन्द देनेवाला तथा राक्षसोंको दुःखमें डालनेवाला था। गरुड़के सुन्दर विचित्र

और नाना प्रकारके पंख लगाकर वह पंखयुक्त बना हुआ था ॥ १२ ॥

तमुत्तमेषुं लोकानामिक्ष्वाकुभयनाशनम् ।
द्विषतां कीर्तिहरणं प्रहर्षकरमात्मनः ॥ १३ ॥
अभिमन्त्र्य ततो रामस्तं महेषुं महाबलः ।
वेदप्रोक्तेन विधिना संदधे कार्मुके बली ॥ १४ ॥

वह उत्तम बाण समस्त लोकों तथा इक्ष्वाकुवंशियोंके भयका नाशक था, शत्रुओंकी कीर्तिका अपहरण तथा अपने हर्षकी वृद्धि करनेवाला था। उस महान् सायकको वेदोक्त विधिसे अभिमन्त्रित करके महाबली श्रीरामने अपने धनुषपर रखा ॥ १३-१४ ॥

तस्मिन् संधीयमाने तु राघवेण शरोत्तमे ।
सर्वभूतानि संत्रेसुश्चचाल च वसुंधरा ॥ १५ ॥

श्रीरघुनाथजी जब उस उत्तम बाणका संधान करने लगे, तब सम्पूर्ण प्राणी थर्रा उठे और धरती डोलने लगी ॥ १५ ॥

स रावणाय संक्रुद्धो भृशमायम्य कार्मुकम् ।
चिक्षेप परमायत्तः शरं मर्मविदारणम् ॥ १६ ॥

श्रीरामने अत्यन्त कुपित हो बड़े यत्नके साथ धनुषको पूर्णरूपसे खींचकर उस मर्मभेदी बाणको रावणपर चला दिया ॥ १६ ॥

स वज्र इव दुर्धर्षो वज्रिबाहुविसर्जितः ।
कृतान्त इव चावार्यो न्यपतद् रावणोरसि ॥ १७ ॥

वज्रधारी इन्द्रके हाथोंसे छूटे हुए वज्रके समान दुर्धर्ष और कालके समान अनिवार्य वह बाण रावणकी छातीपर जा लगा ॥ १७ ॥

स विसृष्टो महावेगः शरीरान्तकरः परः ।
बिभेद हृदयं तस्य रावणस्य दुरात्मनः ॥ १८ ॥

शरीरका अन्त कर देनेवाले उस महान् वेगशाली श्रेष्ठ बाणने छूटते ही दुरात्मा रावणके हृदयको विदीर्ण कर डाला ॥ १८ ॥

रुधिराक्तः स वेगेन शरीरान्तकरः शरः ।
रावणस्य हरन् प्राणान् विवेश धरणीतलम् ॥ १९ ॥

शरीरका अन्त करके रावणके प्राण हर लेनेवाला वह बाण उसके खूनसे रँगकर वेगपूर्वक धरतीमें समा गया ॥ १९ ॥

स शरो रावणं हत्वा रुधिरार्द्रकृतच्छविः ।
कृतकर्मा निभृतवत् स तूणीं पुनराविशत् ॥ २० ॥

इस प्रकार रावणका वध करके खूनसे रँगा हुआ वह शोभाशाली बाण अपना काम पूरा करनेके पश्चात् पुनः विनीत सेवककी भाँति श्रीरामचन्द्रजीके तरकसमें लौट आया ॥ २० ॥

तस्य हस्ताद्धतस्याशु कार्मुकं तत् ससायकम् ।
निपपात सह प्राणैर्भ्रश्यमानस्य जीवितात् ॥ २१ ॥

श्रीरामके बाणोंकी चोट खाकर रावण जीवनसे हाथ धो बैठा। उसके प्राण निकलनेके साथ ही हाथसे सायकसहित धनुष भी छूटकर गिर पड़ा ॥ २१ ॥

गतासुर्भीमवेगस्तु नैर्ऋतेन्द्रो महाद्युतिः ।
पपात स्यन्दनाद् भूमौ वृत्रो वज्रहतो यथा ॥ २२ ॥

वह भयानक वेगशाली महातेजस्वी राक्षसराज प्राणहीन हो वज्रके मारे हुए वृत्रासुरकी भाँति रथसे पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २२ ॥

तं दृष्ट्वा पतितं भूमौ हतशेषा निशाचराः ।
हतनाथा भयत्रस्ताः सर्वतः सम्प्रदुद्रुवुः ॥ २३ ॥

रावणको पृथ्वीपर पड़ा देख मरनेसे बचे हुए सम्पूर्ण निशाचर स्वामीके मारे जानेसे भयभीत हो सब ओर भाग गये ॥ २३ ॥

नर्दन्तश्चाभिपेतुस्तान् वानरा द्रुमयोधिनः ।
दशग्रीववधं दृष्ट्वा वानरा जितकाशिनः ॥ २४ ॥

दशमुख रावणका वध हुआ देख विजयसे सुशोभित होनेवाले वानर, जो वृक्षोंद्वारा युद्ध करनेवाले थे, गर्जना करते हुए उन राक्षसोंपर टूट पड़े ॥ २४ ॥

अर्दिता वानरैर्हृष्टैर्लङ्कामभ्यपतन् भयात् ।
हताश्रयत्वात् करुणैर्बाष्पप्रस्रवणैर्मुखैः ॥ २५ ॥

उन हर्षोल्लासित वानरोंद्वारा पीड़ित किये जानेपर वे राक्षस भयके मारे लङ्कापुरीकी ओर भाग गये; क्योंकि उनका आश्रय नष्ट हो गया था। उनके मुखपर करुणायुक्त आँसुओंकी धारा बह रही थी ॥ २५ ॥

ततो विनेदुः संहृष्टा वानरा जितकाशिनः ।
वदन्तो राघवजयं रावणस्य च तद्वधम् ॥ २६ ॥

उस समय वानर विजय-लक्ष्मीसे सुशोभित हो अत्यन्त हर्ष और उत्साहसे भर गये तथा श्रीरघुनाथजीकी विजय और रावणके वधकी घोषणा करते हुए जोर-जोरसे गर्जना करने लगे ॥ २६ ॥

अथान्तरिक्षे व्यनदत् सौम्यस्त्रिदशदुन्दुभिः ।
दिव्यगन्धवहस्तत्र मारुतः सुसुखो ववौ ॥ २७ ॥

इसी समय आकाशमें मधुर स्वरसे देवताओंकी दुन्दुभियाँ बजने लगीं। वायु दिव्य सुगन्ध बिखेरती हुई मन्द-मन्द गतिसे प्रवाहित होने लगी ॥ २७ ॥

निपपातान्तरिक्षाच्च पुष्पवृष्टिस्तदा भुवि ।
किरन्ती राघवरथं दुरवापा मनोहरा ॥ २८ ॥

अन्तरिक्षसे भूतलपर श्रीरघुनाथजीके रथके ऊपर फूलोंकी वर्षा होने लगी, जो दुर्लभ तथा मनोहर थी ॥ २८ ॥

राघवस्तवसंयुक्ता गगने च विशुश्रुवे ।
साधुसाध्विति वागग्र्या देवतानां महात्मनाम् ॥ २९ ॥

आकाशमें महामना देवताओंके मुखसे निकली हुई श्रीरामचन्द्रजीकी स्तुतिसे युक्त साधुवादकी श्रेष्ठ वाणी सुनायी

देने लगी ॥ २९ ॥

आविवेश महान् हर्षो देवानां चारणैः सह।
रावणे निहते रौद्रे सर्वलोकभयंकरे ॥ ३० ॥

सम्पूर्ण लोकोंको भय देनेवाले रौद्र राक्षस रावणके मारे जानेपर देवताओं और चारणोंको महान् हर्ष हुआ ॥ ३० ॥

ततः सकामं सुग्रीवमङ्गदं च विभीषणम्।
चकार राघवः प्रीतो हत्वा राक्षसपुंगवम् ॥ ३१ ॥

श्रीरघुनाथजीने राक्षसराजको मारकर सुग्रीव, अङ्गद तथा विभीषणको सफलमनोरथ किया और स्वयं भी उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ३१ ॥

ततः प्रजग्मुः प्रशमं मरुद्गणा
दिशः प्रसेदुर्विमलं नभोऽभवत्।
मही चकम्पे न च मारुतो ववौ
स्थिरप्रभश्चाप्यभवद् दिवाकरः ॥ ३२ ॥

तत्पश्चात् देवताओंको बड़ी शान्ति मिली, सम्पूर्ण दिशाएँ प्रसन्न हो गयीं—उनमें प्रकाश छा गया, आकाश निर्मल हो गया, पृथ्वीका काँपना बंद हुआ, हवा स्वाभाविक गतिसे चलने लगी तथा सूर्यकी प्रभा भी स्थिर हो गयी ॥ ३२ ॥

ततस्तु सुग्रीवविभीषणाङ्गदाः
सुहृद्विशिष्टाः सहलक्ष्मणस्तदा।
समेत्य हृष्टा विजयेन राघवं
रणेऽभिरामं विधिनाभ्यपूजयन् ॥ ३३ ॥

सुग्रीव, विभीषण, अङ्गद तथा लक्ष्मण अपने सुहृदोंके साथ युद्धमें श्रीरामचन्द्रजीकी विजयसे बहुत प्रसन्न हुए। इसके बाद उन सबने मिलकर नयनाभिराम श्रीरामकी विधिवत् पूजा की ॥ ३३ ॥

स तु निहतरिपुः स्थिरप्रतिज्ञः
स्वजनबलाभिवृतो रणे बभूव।
रघुकुलनृपनन्दनो महौजा-
स्त्रिदशगणैरभिसंवृतो महेन्द्रः ॥ ३४ ॥

शत्रुको मारकर अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करनेके पश्चात् स्वजनोंसहित सेनासे घिरे हुए महातेजस्वी रघुकुलराजकुमार श्रीराम रणभूमिमें देवताओंसे घिरे हुए इन्द्रकी भाँति शोभा पाने लगे ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डेऽष्टाधिकशततमः सर्गः ॥ १०८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें एक सौ आठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १०८ ॥

——★——

नवाधिकशततमः सर्गः

विभीषणका विलाप और श्रीरामका उन्हें समझाकर रावणके अन्त्येष्टि-संस्कारके लिये आदेश देना

भ्रातरं निहतं दृष्ट्वा शयानं निर्जितं रणे।
शोकवेगपरीतात्मा विललाप विभीषणः ॥ १ ॥

पराजित हुए भाईको मरकर रणभूमिमें पड़ा देख विभीषणका हृदय शोकके वेगसे व्याकुल हो गया और वे विलाप करने लगे— ॥ १ ॥

वीरविक्रान्त विख्यात प्रवीण नयकोविद।
महार्हशयनोपेत किं शेषे निहतो भुवि ॥ २ ॥

'हा विख्यात पराक्रमी वीर भाई दशानन! हा कार्यकुशल नीतिज्ञ! तुम तो सदा बहुमूल्य बिछौनोंपर सोया करते थे, आज इस तरह मारे जाकर भूमिपर क्यों पड़े हो? ॥ २ ॥

निक्षिप्य दीर्घौ निश्चेष्टौ भुजावङ्गदभूषितौ।
मुकुटेनापवृत्तेन भास्कराकारवर्चसा ॥ ३ ॥

हे वीर! तुम्हारी ये बाजूबंदसे विभूषित दोनों विशाल भुजाएँ निश्चेष्ट हो गयी हैं। तुम इन्हें फैलाकर क्यों पड़े हुए हो? और तुम्हारे माथेका मुकुट जो सूर्यके समान तेजस्वी है, यहाँ गिरा पड़ा है ॥ ३ ॥

तदिदं वीर सम्प्राप्तं यन्मया पूर्वमीरितम्।
काममोहपरीतस्य यत् तन्न रुचितं तव ॥ ४ ॥

'वीरवर! आज तुम्हारे ऊपर वही संकट आकर पड़ा है, जिसके लिये मैंने तुम्हें पहलेसे ही आगाह कर दिया था; किंतु उस समय काम और मोहके वशीभूत होनेके कारण तुम्हें मेरी बातें नहीं रुची थीं ॥ ४ ॥

यन्न दर्पात् प्रहस्तो वा नेन्द्रजिन्नापरे जनाः।
न कुम्भकर्णोऽतिरथो नातिकायो नरान्तकः।
न स्वयं बहु मन्येथास्तस्योदर्कोऽयमागतः ॥ ५ ॥

'अहङ्कारके कारण न तो प्रहस्तने, न इन्द्रजित्ने, न दूसरे लोगोंने, न अतिरथी कुम्भकर्णने, न अतिकायने, न नरान्तकने और न स्वयं तुमने ही मेरी बातोंको अधिक महत्त्व दिया था, उसीका फल यह सामने आया है ॥ ५ ॥

गतः सेतुः सुनीतानां गतो धर्मस्य विग्रहः।
गतः सत्त्वस्य संक्षेपः सुहस्तानां गतिर्गता ॥ ६ ॥
आदित्यः पतितो भूमौ मग्नस्तमसि चन्द्रमाः।
चित्रभानुः प्रशान्तार्चिर्व्यवसायो निरुद्यमः।
अस्मिन् निपतिते वीरे भूमौ शस्त्रभृतां वरे ॥ ७ ॥

'आज शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ इस वीर रावणके धराशायी होनेसे सुन्दर नीतिपर चलनेवाले लोगोंकी मर्यादा टूट गयी

धर्मका मूर्तिमान् विग्रह चला गया, सत्त्व (बल) के संग्रहका स्थान नष्ट हो गया, सुन्दर हाथ चलानेवाले वीरोंका सहारा चला गया, सूर्य पृथ्वीपर गिर पड़ा, चन्द्रमा अँधेरेमें डूब गया, प्रज्वलित आग बुझ गयी और सारा उत्साह निरर्थक हो गया ॥ ६-७ ॥

किं शेषमिहलोकस्य गतसत्त्वस्य सम्प्रति ।
रणे राक्षसशार्दूले प्रसुप्ते इव पांसुषु ॥ ८ ॥

'रणभूमिकी धूलमें राक्षसशिरोमणि रावणके सो जानेसे इस लोकका आधार और बल समाप्त हो गया। अब यहाँ क्या शेष रह गया? ॥ ८ ॥

धृतिप्रवालः प्रसभाग्र्यपुष्प-
स्तपोबलः शौर्यनिबद्धमूलः ।
रणे महान् राक्षसराजवृक्षः
सम्मर्दितो राघवमारुतेन ॥ ९ ॥

'हाय! धैर्य ही जिसके पत्ते थे, हठ ही सुन्दर फूल था, तपस्या ही बल और शौर्य ही मूल था, उस राक्षसराज रावणरूपी महान् वृक्षको आज रणभूमिमें श्रीराघवेन्द्ररूपी प्रचण्ड वायुने रौंद डाला! ॥ ९ ॥

तेजोविषाणः कुलवंशवंशः
कोपप्रसादापरगात्रहस्तः ।
इक्ष्वाकुसिंहावगृहीतदेहः
सुप्तः क्षितौ रावणगन्धहस्ती ॥ १० ॥

'तेज ही जिसके दाँत थे, वंशपरम्परा ही पृष्ठभाग थी, क्रोध ही नीचेके (पैर आदि) अङ्ग थे और प्रसाद ही शुण्ड-दण्ड था, वह रावणरूपी गन्धहस्ती आज इक्ष्वाकुवंशी श्रीरामरूपी सिंहके द्वारा शरीरके विदीर्ण कर दिये जानेसे सदाके लिये पृथ्वीपर सो गया है! ॥ १० ॥

पराक्रमोत्साहविजृम्भितार्चि-
र्निःश्वासधूमः स्वबलप्रतापः ।
प्रतापवान् संयति राक्षसाग्नि-
र्निर्वापितो रामपयोधरेण ॥ ११ ॥

'पराक्रम और उत्साह जिसकी बढ़ती हुई ज्वालाओंके समान थे, निःश्वास ही धूम था और अपना बल ही प्रताप था, उस राक्षस रावणरूपी प्रतापी अग्निको इस समय युद्धस्थलमें श्रीरामरूपी मेघने बुझा दिया! ॥ ११ ॥

सिंहर्क्षलाङ्गूलककुद्विषाणः
पराभिजिद्गन्धनगन्धवाहः ।
रक्षोवृषश्चापलकर्णचक्षुः
क्षितीश्वरव्याघ्रहतोऽवसन्नः ॥ १२ ॥

'राक्षस सैनिक जिसकी पूँछ, ककुद् और सींग थे, जो शत्रुओंपर विजय पानेवाला था तथा पराक्रम और उत्साह आदि प्रकट करनेमें जो वायुके समान था, चपलतारूपी आँख तथा कानसे युक्त वह राक्षसराज रावणरूपी साँड़ महाराज श्रीरामरूपी व्याघ्रद्वारा मारा जाकर नष्ट हो गया!' ॥ १२ ॥

वदन्तं हेतुमद्वाक्यं परिदृष्टार्थनिश्चयम् ।
रामः शोकसमाविष्टमित्युवाच विभीषणम् ॥ १३ ॥

जिससे अर्थनिश्चय प्रकट हो रहा था, ऐसी युक्तिसंगत बात कहते हुए शोकमग्न विभीषणसे उस समय भगवान् श्रीरामने कहा— ॥ १३ ॥

नायं विनष्टो निश्चेष्टः समरे चण्डविक्रमः ।
अत्युन्नतमहोत्साहः पतितोऽयमशङ्कितः ॥ १४ ॥

'विभीषण! यह रावण समराङ्गणमें असमर्थ होकर नहीं मारा गया है। इसने प्रचण्ड पराक्रम प्रकट किया है, इसका उत्साह बहुत बढ़ा हुआ था। इसे मृत्युसे कोई भय नहीं था। यह दैवात् रणभूमिमें धराशायी हुआ है ॥ १४ ॥

नैवं विनष्टाः शोच्यन्ते क्षत्रधर्मव्यवस्थिताः ।
वृद्धिमाशंसमाना ये निपतन्ति रणाजिरे ॥ १५ ॥

'जो लोग अपने अभ्युदयकी इच्छासे क्षत्रियधर्ममें स्थित हो समराङ्गणमें मारे जाते हैं, इस तरह नष्ट होनेवाले लोगोंके विषयमें शोक नहीं करना चाहिये ॥ १५ ॥

येन सेन्द्रास्त्रयो लोकास्त्रासिता युधि धीमता ।
तस्मिन् कालसमायुक्ते न कालः परिशोचितुम् ॥ १६ ॥

'जिस बुद्धिमान् वीरने इन्द्रसहित तीनों लोकोंको युद्धमें भयभीत कर रखा था, वही यदि इस समय कालके अधीन हो गया तो उसके लिये शोक करनेका अवसर नहीं है ॥ १६ ॥

नैकान्तविजयो युद्धे भूतपूर्वः कदाचन ।
परैर्वा हन्यते वीरः परान् वा हन्ति संयुगे ॥ १७ ॥

'युद्धमें किसीको सदा विजय-ही-विजय मिले, ऐसा पहले भी कभी नहीं हुआ है। वीर पुरुष संग्राममें या तो शत्रुओंद्वारा मारा जाता है या स्वयं ही शत्रुओंको मार गिराता है ॥ १७ ॥

इयं हि पूर्वैः संदिष्टा गतिः क्षत्रियसम्मता ।
क्षत्रियो निहतः संख्ये न शोच्य इति निश्चयः ॥ १८ ॥

'आज रावणको जो गति प्राप्त हुई है, यह पूर्वकालके महापुरुषोंद्वारा बतायी गयी उत्तम गति है। क्षात्र-वृत्तिका आश्रय लेनेवाले वीरोंके लिये तो यह बड़े आदरकी वस्तु है। क्षत्रिय-वृत्तिसे रहनेवाला वीर पुरुष यदि युद्धमें मारा गया हो तो वह शोकके योग्य नहीं है; यही शास्त्रका सिद्धान्त है ॥ १८ ॥

तदेवं निश्चयं दृष्ट्वा तत्त्वमास्थाय विज्वरः ।
यदिहानन्तरं कार्यं कल्प्यं तदनुचिन्तय ॥ १९ ॥

'शास्त्रके इस निश्चयपर विचार करके सात्त्विक बुद्धिका आश्रय ले तुम निश्चिन्त हो जाओ और अब आगे जो कुछ (प्रेत-संस्कार आदि) कार्य करना हो, उसके सम्बन्धमें विचार करो' ॥ १९ ॥

तमुक्तवाक्यं विक्रान्तं राजपुत्रं विभीषणः।
उवाच शोकसंतप्तो भ्रातुर्हितमनन्तरम्॥ २०॥

परम पराक्रमी राजकुमार श्रीरामके ऐसा कहनेपर शोकसंतप्त हुए विभीषणने उनसे अपने भाईके लिये हितकर बात कही—॥ २०॥

योऽयं विमर्देष्वविभग्नपूर्वः
सुरैः समस्तैरपि वासवेन।
भवन्तमासाद्य रणे विभग्नो
वेलामिवासाद्य यथा समुद्रः॥ २१॥

'भगवन्! पूर्वकालमें युद्धके अवसरोंपर समस्त देवताओं तथा इन्द्रने भी जिसे कभी पीछे नहीं हटाया था, वही रावण आज रणभूमिमें आपसे टक्कर लेकर उसी तरह शान्त हो गया, जैसे समुद्र अपनी तट-भूमितक आकर शान्त हो जाता है॥ २१॥

अनेन दत्तानि वनीपकेषु
भुक्ताश्च भोगा निभृताश्च भृत्याः।
धनानि मित्रेषु समर्पितानि
वैराण्यमित्रेषु च यापितानि॥ २२॥

'इसने याचकोंको दान दिये, भोग भोगे और भृत्योंका भरण-पोषण किया है। मित्रोंको धन अर्पित किये और शत्रुओंसे वैरका बदला लिया॥ २२॥

एषोऽहिताग्निश्च महातपाश्च
वेदान्तगः कर्मसु चाग्र्यशूरः।
एतस्य यत् प्रेतगतस्य कृत्यं
तत् कर्तुमिच्छामि तव प्रसादात्॥ २३॥

'यह रावण अग्निहोत्री, महातपस्वी, वेदान्तवेत्ता तथा यज्ञ-यागादि कर्मोंमें श्रेष्ठ शूर—परम कर्मठ रहा है। अब यह प्रेतभावको प्राप्त हुआ है, अतः अब मैं ही आपकी कृपासे इसका प्रेत-कृत्य करना चाहता हूँ'॥ २३॥

स तस्य वाक्यैः करुणैर्महात्मा
सम्बोधितः साधु विभीषणेन।
आज्ञापयामास नरेन्द्रसूनुः
स्वर्गीयमाधानमदीनसत्त्वः॥ २४॥

विभीषणके करुणाजनक वचनोंद्वारा अच्छी तरह समझाये जानेपर उदारचेता राजकुमार महात्मा श्रीरामने उन्हें रावणके लिये स्वर्गादि उत्तम लोकोंकी प्राप्ति करानेवाला अन्त्येष्टि-कर्म करनेकी आज्ञा दी॥ २४॥

मरणान्तानि वैराणि निर्वृत्तं नः प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव॥ २५॥

वे बोले—'विभीषण! वैर जीवन-कालतक ही रहता है। मरनेके बाद उस वैरका अन्त हो जाता है। अब हमारा प्रयोजन सिद्ध हो चुका है, अतः अब तुम इसका संस्कार करो। इस समय यह जैसे तुम्हारे स्नेहका पात्र है, उसी तरह मेरा भी स्नेहभाजन है'॥ २५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे नवाधिकशततमः सर्गः॥ १०९॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें एक सौ नवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १०९॥

—★—

दशाधिकशततमः सर्गः

रावणकी स्त्रियोंका विलाप

रावणं निहतं श्रुत्वा राघवेण महात्मना।
अन्तःपुराद् विनिष्पेतू राक्षस्यः शोककर्शिताः॥ १॥

महात्मा श्रीरघुनाथजीके द्वारा रावणके मारे जानेका समाचार सुनकर शोकसे व्याकुल हुई राक्षसियाँ अन्तःपुरसे निकल पड़ीं॥ १॥

वार्यमाणाः सुबहुशो वेष्टन्त्यः क्षितिपांसुषु।
विमुक्तकेश्यः शोकार्ता गावो वत्सहता इव॥ २॥

लोगोंके बारम्बार मना करनेपर भी वे धरतीकी धूलमें लोटने लगती थीं। उनके केश खुले हुए थे और जिनके बछड़े मर गये हों, उन गौओंके समान वे शोकसे आतुर हो रही थीं॥ २॥

उत्तरेण विनिष्क्रम्य द्वारेण सह राक्षसैः।
प्रविश्यायोधनं घोरं विचिन्वन्त्यो हतं पतिम्॥ ३॥

राक्षसोंके साथ लङ्काके उत्तर दरवाजेसे निकलकर भयंकर युद्धभूमिमें प्रवेश करके वे अपने मरे हुए पतिको खोजने लगीं॥ ३॥

आर्यपुत्रेति वादिन्यो हा नाथेति च सर्वशः।
परिपेतुः कबन्धाङ्कां महीं शोणितकर्दमाम्॥ ४॥

'हा आर्यपुत्र! हा नाथ!' की पुकार मचाती हुई वे सब-की-सब उस रणभूमिमें जहाँ बिना मस्तकके लाशें बिछी हुई थीं तथा रक्तकी कीच जम गयी थी, सब ओर गिरती-पड़ती भटकने लगीं॥ ४॥

ता बाष्पपरिपूर्णाक्ष्यो भर्तृशोकपराजिताः।
करिण्य इव नर्दन्त्यः करेण्वो हतयूथपाः॥ ५॥

उनके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह रही थी। वे पतिके शोकसे बेसुध हो यूथपतिके मारे जानेपर हथिनियोंकी तरह

करुण-क्रन्दन कर रही थीं ॥ ५ ॥

ददृशुस्ता महाकायं महावीर्यं महाद्युतिम् ।
रावणं निहतं भूमौ नीलाञ्जनचयोपमम् ॥ ६ ॥

उन्होंने महाकाय, महापराक्रमी और महातेजस्वी रावणको देखा, जो काले कोयलेके ढेर-सा पृथ्वीपर मरा पड़ा था ॥ ६ ॥

ताः पतिं सहसा दृष्ट्वा शयानं रणपांसुषु ।
निपेतुस्तस्य गात्रेषु छिन्ना वनलता इव ॥ ७ ॥

रणभूमिकी धूलमें पड़े हुए अपने मृतक पतिपर सहसा दृष्टि पड़ते ही वे कटी हुई वनकी लताओंके समान उसके अङ्गोंपर गिर पड़ीं ॥ ७ ॥

बहुमानात् परिष्वज्य काचिदेनं रुरोद ह ।
चरणौ काचिदालम्ब्य काचित् कण्ठेऽवलम्ब्य च ॥ ८ ॥

उनमेंसे कोई तो बड़े आदरके साथ उसका आलिङ्गन करके, कोई पैर पकड़कर और कोई गलेसे लगकर रोने लगी ॥ ८ ॥

उत्क्षिप्य च भुजौ काचिद् भूमौ सुपरिवर्तते ।
हतस्य वदनं दृष्ट्वा काचिन्मोहमुपागमत् ॥ ९ ॥

कोई स्त्री अपनी दोनों भुजाएँ ऊपर उठा पछाड़ खाकर गिरी और धरतीपर लोटने लगी तथा कोई मरे हुए स्वामीका मुख देखकर मूर्छित हो गयी ॥ ९ ॥

काचिदङ्के शिरः कृत्वा रुरोद मुखमीक्षती ।
स्नापयन्ती मुखं बाष्पैस्तुषारैरिव पङ्कजम् ॥ १० ॥

कोई पतिका मस्तक गोदमें लेकर उसका मुँह निहारती और ओसकणोंसे कमलकी भाँति अश्रु-बिन्दुओंसे पतिके मुखारविन्दको नहलाती हुई रोदन करने लगी ॥ १० ॥

एवमार्ताः पतिं दृष्ट्वा रावणं निहतं भुवि ।
चुक्रुशुर्बहुधा शोकाद् भूयस्ताः पर्यदेवयन् ॥ ११ ॥

इस प्रकार अपने पतिदेवता रावणको धरतीपर मरकर गिरा देख वे सब-की-सब आर्तभावसे उसे पुकारने लगीं और शोकके कारण नाना प्रकारसे विलाप करने लगीं ॥ ११ ॥

येन वित्रासितः शक्रो येन वित्रासितो यमः ।
येन वैश्रवणो राजा पुष्पकेण वियोजितः ॥ १२ ॥
गन्धर्वाणामृषीणां च सुराणां च महात्मनाम् ।
भयं येन रणे दत्तं सोऽयं शेते रणे हतः ॥ १३ ॥

वे बोलीं—'हाय! जिन्होंने यमराज और इन्द्रको भी भयभीत कर रखा था, राजाधिराज कुबेरका पुष्पक विमान छीन लिया था तथा गन्धर्वों, ऋषियों और महामनस्वी देवताओंको भी रणभूमिमें भय प्रदान किया था, वे ही हमारे प्राणनाथ आज इस समराङ्गणमें मारे जाकर सदाके लिये सो गये हैं ॥ १२-१३ ॥

असुरेभ्यः सुरेभ्यो वा पन्नगेभ्योऽपि वा तथा ।
भयं यो न विजानाति तस्येदं मानुषाद् भयम् ॥ १४ ॥

'हाय! जो असुरों, देवताओं तथा नागोंसे भी भयभीत होना नहीं जानते थे, उन्हींको आज मनुष्यसे यह भय प्राप्त हो गया ॥ १४ ॥

अवध्यो देवतानां यस्तथा दानवरक्षसाम् ।
हतः सोऽयं रणे शेते मानुषेण पदातिना ॥ १५ ॥

'जिन्हें देवता, दानव और राक्षस भी नहीं मार सकते थे, वे ही आज एक पैदल मनुष्यके हाथसे मारे जाकर रणभूमिमें सो रहे हैं ॥ १५ ॥

यो न शक्यः सुरैर्हन्तुं न यक्षैर्नासुरैस्तथा ।
सोऽयं कश्चिदिवासत्त्वो मृत्युं मर्त्येन लम्भितः ॥ १६ ॥

'जो देवताओं, असुरों तथा यक्षोंके लिये भी अवध्य थे, वे ही किसी निर्बल प्राणीके समान एक मनुष्यके हाथसे मृत्युको प्राप्त हुए' ॥ १६ ॥

एवं वदन्त्यो रुरुदुस्तस्य ता दुःखिताः स्त्रियः ।
भूय एव च दुःखार्ता विलेपुश्च पुनः पुनः ॥ १७ ॥

इस तरहकी बातें कहती हुई रावणकी वे दुःखिनी स्त्रियाँ वहाँ फूट-फूटकर रोने लगीं तथा दुःखसे आतुर होकर पुनः बारम्बार विलाप करने लगीं ॥ १७ ॥

अशृण्वता तु सुहृदां सततं हितवादिनाम् ।
मरणायाहृता सीता राक्षसाश्च निपातिताः ।
एताः सममिदानीं ते वयमात्मा च पातितः ॥ १८ ॥

वे बोलीं—'प्राणनाथ! आपने सदा हितकी बात बतानेवाले सुहृदोंकी बातें अनसुनी कर दीं और अपनी मृत्युके लिये सीताका अपहरण किया। इसका फल यह हुआ कि ये राक्षस मार गिराये गये तथा आपने इस समय अपनेको रणभूमिमें और हमलोगोंको महान् दुःखके समुद्रमें गिरा दिया ॥ १८ ॥

ब्रुवाणोऽपि हितं वाक्यमिष्टो भ्राता विभीषणः ।
दृष्टं परुषितो मोहात् त्वयाऽऽत्मवधकाङ्क्षिणा ॥ १९ ॥

'आपके प्रिय भाई विभीषण आपको हितकी बात बता रहे थे तो भी आपने अपने वधके लिये उन्हें मोहवश कटु वचन सुनाये। उसीका यह फल प्रत्यक्ष दिखायी दिया है ॥ १९ ॥

यदि निर्यातिता ते स्यात् सीता रामाय मैथिली ।
न नः स्याद् व्यसनं घोरमिदं मूलहरं महत् ॥ २० ॥

'यदि आपने मिथिलेशकुमारी सीताको श्रीरामके पास लौटा दिया होता तो जड़-मूलसहित हमारा विनाश करनेवाला यह महाघोर संकट हमपर न आता ॥ २० ॥

वृत्तकामो भवेद् भ्राता रामो मित्रकुलं भवेत् ।
वयं चाविधवाः सर्वाः सकामा न च शत्रवः ॥ २१ ॥

'सीताको लौटा देनेपर आपके भाई विभीषणका भी मनोरथ सफल हो जाता, श्रीराम हमारे मित्र-पक्षमें आ जाते, हम सबको विधवा नहीं होना पड़ता और हमारे शत्रुओंकी कामनाएँ पूरी नहीं होतीं ॥ २१ ॥

त्वया पुनर्नृशंसेन सीतां संरुन्धता बलात्।
राक्षसा वयमात्मा च त्रयं तुल्यं निपातितम्॥ २२॥

'परंतु आप ऐसे निष्ठुर निकले कि सीताको बलपूर्वक कैद कर लिया तथा राक्षसोंको, हम स्त्रियोंको और अपने-आपको—तीनोंको भी एक साथ नीचे गिरा दिया—विपत्तिमें डाल दिया॥ २२॥

न कामकारः कामं वा तव राक्षसपुंगव।
दैवं चेष्टयते सर्वं हतं दैवेन हन्यते॥ २३॥

'राक्षसशिरोमणे! आपका स्वेच्छाचार ही हमारे विनाशमें कारण हुआ हो, ऐसी बात नहीं है। दैव ही सब कुछ कराता है। दैवका मारा हुआ ही मारा जाता या मरता है॥ २३॥

वानराणां विनाशोऽयं राक्षसानां च ते रणे।
तव चैव महाबाहो दैवयोगादुपागतः॥ २४॥

'महाबाहो! इस युद्धमें वानरोंका, राक्षसोंका और आपका भी विनाश दैवयोगसे ही हुआ है॥ २४॥

नैवार्थेन च कामेन विक्रमेण न चाज्ञया।
शक्या दैवगतिर्लोके निवर्तयितुमुद्यता॥ २५॥

'संसारमें फल देनेके लिये उन्मुख हुए दैवके विधानको कोई धनसे, कामनासे, पराक्रमसे, आज्ञासे अथवा शक्तिसे भी नहीं पलट सकता'॥ २५॥

विलेपुरेवं दीनास्ता राक्षसाधिपयोषितः।
कुरर्य इव दुःखार्ता बाष्पपर्याकुलेक्षणाः॥ २६॥

इस प्रकार राक्षसराजकी सभी स्त्रियाँ दुःखसे पीड़ित हो आँखोंमें आँसू भरकर दीनभावसे कुररीकी भाँति विलाप करने लगीं॥ २६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे दशाधिकशततमः सर्गः॥ ११०॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें एक सौ दसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ११०॥

—★—

एकादशाधिकशततमः सर्गः

मन्दोदरीका विलाप तथा रावणके शवका दाहसंस्कार

तासां विलपमानानां तदा राक्षसयोषिताम्।
ज्येष्ठपत्नी प्रिया दीना भर्तारं समुदैक्षत॥ १॥
दशग्रीवं हतं दृष्ट्वा रामेणाचिन्त्यकर्मणा।
पतिं मन्दोदरी तत्र कृपणा पर्यदेवयत्॥ २॥

उस समय विलाप करती हुई उन राक्षसियोंमें जो रावणकी ज्येष्ठ एवं प्यारी पत्नी मन्दोदरी थी, उसने अचिन्त्यकर्मा भगवान् श्रीरामके द्वारा मारे गये अपने पति दशमुख रावणको देखा। पतिको उस अवस्थामें देखकर वह वहाँ अत्यन्त दीन एवं दुःखी हो गयी और इस प्रकार विलाप करने लगी—॥ १-२॥

ननु नाम महाबाहो तव वैश्रवणानुज।
क्रुद्धस्य प्रमुखे स्थातुं त्रस्यत्यपि पुरंदरः॥ ३॥

'महाराज कुबेरके छोटे भाई! महाबाहु राक्षसराज! जब आप क्रोध करते थे, उस समय इन्द्र भी आपके सामने खड़े होनेमें भय खाते थे॥ ३॥

ऋषयश्च महान्तोऽपि गन्धर्वाश्च यशस्विनः।
ननु नाम तवोद्वेगाच्चारणाश्च दिशो गताः॥ ४॥

'बड़े-बड़े ऋषि, यशस्वी गन्धर्व और चारण भी आपके डरसे चारों दिशाओंमें भाग गये थे॥ ४॥

स त्वं मानुषमात्रेण रामेण युधि निर्जितः।
न व्यपत्रपसे राजन् किमिदं राक्षसेश्वर॥ ५॥

'वही आप आज युद्धमें एक मानवमात्र रामसे परास्त हो गये। राजन्! क्या आपको इससे लज्जा नहीं आती है? राक्षसेश्वर! बोलिये तो सही, यह क्या बात है?॥ ५॥

कथं त्रैलोक्यमाक्रम्य श्रिया वीर्येण चान्वितम्।
अविषह्यं जघान त्वां मानुषो वनगोचरः॥ ६॥

'आपने तीनों लोकोंको जीतकर अपनेको सम्पत्तिशाली और पराक्रमी बनाया था। आपके वेगको सह लेना किसीके लिये सम्भव नहीं था; फिर आप-जैसे वीरको एक वनवासी मनुष्यने कैसे मार डाला?॥ ६॥

मानुषाणामविषये चरतः कामरूपिणः।
विनाशस्तव रामेण संयुगे नोपपद्यते॥ ७॥

'आप ऐसे देशमें विचरते थे, जहाँ मनुष्योंकी पहुँच नहीं हो सकती थी। आप इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ थे तो भी युद्धमें रामके हाथसे आपका विनाश हुआ; यह सम्भव अथवा विश्वासके योग्य नहीं जान पड़ता॥ ७॥

न चैतत् कर्म रामस्य श्रद्दधामि चमूमुखे।
सर्वतः समुपेतस्य तव तेनाभिमर्षणम्॥ ८॥

'युद्धके मुहानेपर सब ओरसे विजय पानेवाले आपकी श्रीरामके द्वारा जो पराजय हुई, वह श्रीरामका काम है—ऐसा मुझे विश्वास नहीं होता (जब कि आप उन्हें निरा मनुष्य समझते रहे)॥ ८॥

अथवा रामरूपेण कृतान्तः स्वयमागतः।
मायां तव विनाशाय विधायाप्रतितर्किताम्॥ ९॥

'अथवा साक्षात् काल ही अतर्कित माया रचकर आपके विनाशके लिये श्रीरामके रूपमें यहाँ आ पहुँचा था ॥ ९ ॥

अथवा वासवेन त्वं धर्षितोऽसि महाबल।
वासवस्य तु का शक्तिस्त्वां द्रष्टुमपि संयुगे ॥ १० ॥
महाबलं महावीर्यं देवशत्रुं महौजसम्।

'महाबली वीर! अथवा यह भी सम्भव है कि साक्षात् इन्द्रने आपपर आक्रमण किया हो; परंतु इन्द्रकी क्या शक्ति है जो युद्धमें वे आपकी ओर आँख उठाकर देख भी सकें; क्योंकि आप महाबली, महापराक्रमी और महातेजस्वी देवशत्रु थे ॥ १०½ ॥

व्यक्तमेष महायोगी परमात्मा सनातनः ॥ ११ ॥
अनादिमध्यनिधनो महतः परमो महान्।
तमसः परमो धाता शङ्खचक्रगदाधरः ॥ १२ ॥
श्रीवत्सवक्षा नित्यश्रीरजय्यः शाश्वतो ध्रुवः।
मानुषं रूपमास्थाय विष्णुः सत्यपराक्रमः ॥ १३ ॥
सर्वैः परिवृतो देवैर्वानरत्वमुपागतैः।
सर्वलोकेश्वरः श्रीमाँल्लोकानां हितकाम्यया ॥ १४ ॥
स राक्षसपरीवारं देवशत्रुं भयावहम्।

'निश्चय ही ये श्रीरामचन्द्रजी महान् योगी एवं सनातन परमात्मा हैं। इनका आदि, मध्य और अन्त नहीं है। ये महान्‌से भी महान्, अज्ञानान्धकारसे परे तथा सबको धारण करनेवाले परमेश्वर हैं, जो अपने हाथमें शङ्ख, चक्र और गदा धारण करते हैं, जिनके वक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न है, भगवती लक्ष्मी जिनका कभी साथ नहीं छोड़तीं, जिन्हें परास्त करना सर्वथा असम्भव है तथा जो नित्य स्थिर एवं सम्पूर्ण लोकोंके अधीश्वर हैं, उन सत्यपराक्रमी भगवान् विष्णुने ही समस्त लोकोंका हित करनेकी इच्छासे मनुष्यका रूप धारण करके वानररूपमें प्रकट हुए सम्पूर्ण देवताओंके साथ आकर राक्षसोंसहित आपका वध किया है; क्योंकि आप देवताओंके शत्रु और समस्त संसारके लिये भयंकर थे ॥ ११—१४½ ॥

इन्द्रियाणि पुरा जित्वा जितं त्रिभुवनं त्वया ॥ १५ ॥
स्मरद्भिरिव तद् वैरमिन्द्रियैरेव निर्जितः।

'नाथ! पहले आपने अपनी इन्द्रियोंको जीतकर ही तीनों लोकोंपर विजय पायी थी, उस वैरको याद रखती हुई-सी इन्द्रियोंने ही अब आपको परास्त किया है ॥ १५½ ॥

यदैव हि जनस्थाने राक्षसैर्बहुभिर्वृतः ॥ १६ ॥
खरस्तु निहतो भ्राता तदा रामो न मानुषः।

'जब मैंने सुना कि जनस्थानमें बहुतेरे राक्षसोंसे घिरे होनेपर भी आपके भाई खरको श्रीरामने मार डाला है, तभी मुझे विश्वास हो गया कि श्रीरामचन्द्रजी कोई साधारण मनुष्य नहीं हैं ॥ १६½ ॥

यदैव नगरीं लङ्कां दुष्प्रवेशां सुरैरपि ॥ १७ ॥
प्रविष्टो हनुमान् वीर्यात् तदैव व्यथिता वयम्।

'जिस लङ्का नगरीमें देवताओंका भी प्रवेश होना कठिन था, वहीं जब हनुमान्‌जी बलपूर्वक घुस आये, उसी समय हमलोग भावी अनिष्टकी आशङ्कासे व्यथित हो उठी थीं ॥ १७½ ॥

क्रियतामविरोधश्च राघवेणेति यन्मया ॥ १८ ॥
उच्यमानो न गृह्णासि तस्येयं व्युष्टिरागता।

'मैंने बारंबार कहा—प्राणनाथ! आप रघुनाथजीसे वैर-विरोध न कीजिये; परंतु आपने मेरी बात नहीं मानी। उसीका आज यह फल मिला है ॥ १८½ ॥

अकस्माच्चाभिकामोऽसि सीतां राक्षसपुङ्गव ॥ १९ ॥
ऐश्वर्यस्य विनाशाय देहस्य स्वजनस्य च।

'राक्षसराज! आपने अपने ऐश्वर्यका, शरीरका तथा स्वजनोंका विनाश करनेके लिये ही अकस्मात् सीताकी कामना की थी ॥ १९½ ॥

अरुन्धत्या विशिष्टां तां रोहिण्याश्चापि दुर्मते ॥ २० ॥
सीतां धर्षयता मान्यां त्वया ह्यसदृशं कृतम्।
वसुधाया हि वसुधां श्रियाः श्रीं भर्तृवत्सलाम् ॥ २१ ॥

'दुर्मते! भगवती सीता अरुन्धती और रोहिणीसे भी बढ़कर पतिव्रता हैं। वे वसुधाकी भी वसुधा और श्रीकी भी श्री हैं। अपने स्वामीके प्रति अनन्य अनुराग रखनेवाली और सबकी पूजनीया उन सीतादेवीका तिरस्कार करके आपने बड़ा अनुचित कार्य किया था ॥ २०-२१ ॥

सीतां सर्वानवद्याङ्गीमरण्ये विजने शुभाम्।
आनयित्वा तु तां दीनां छद्मनाऽऽत्मस्वदूषणम् ॥ २२ ॥
अप्राप्य तं चैव कामं मैथिलीसंगमे कृतम्।
पतिव्रतायास्तपसा नूनं दग्धोऽसि मे प्रभो ॥ २३ ॥

'मेरे प्राणनाथ! सर्वाङ्गसुन्दरी शुभलक्षणा सीता निर्जन वनमें निवास करती थीं। आप छलसे उन्हें दुःखमें डालकर यहाँ हर लाये। यह आपके लिये बड़े कलङ्ककी बात हुई। मिथिलेशकुमारीके साथ समागमके लिये जो आपके मनमें कामना थी, उसे तो आप पा नहीं सके, उलटे उन पतिव्रता देवीकी तपस्यासे जलकर भस्म हो गये। अवश्य ऐसी ही बात हुई है ॥ २२-२३ ॥

तदैव यन्न दग्धस्त्वं धर्षयंस्तनुमध्यमाम्।
देवा बिभ्यति ते सर्वे सेन्द्राः साग्निपुरोगमाः ॥ २४ ॥

'तन्वङ्गी सीताका अपहरण करते समय ही आप जलकर राख नहीं हो गये—यही आश्चर्यकी बात है। आपकी जिस महिमासे इन्द्र और अग्नि आदि सम्पूर्ण देवता आपसे डरते थे, उसीने उस समय आपको दग्ध नहीं होने दिया ॥ २४ ॥

अवश्यमेव लभते फलं पापस्य कर्मणः।
भर्तः पर्यागते काले कर्ता नास्त्यत्र संशयः ॥ २५ ॥

'प्राणवल्लभ! इसमें कोई संदेह नहीं कि समय आनेपर कर्ताको उसके पाप-कर्मका फल अवश्य मिलता है ॥ २५ ॥

शुभकृच्छुभमाप्नोति पापकृत् पापमश्नुते।
विभीषणः सुखं प्राप्तस्त्वं प्राप्तः पापमीदृशम्॥ २६॥

'शुभकर्म करनेवालेको उत्तम फलकी प्राप्ति होती है और पापीको पापका फल—दुःख भोगना पड़ता है। विभीषणको अपने शुभ कर्मोंके कारण ही सुख प्राप्त हुआ है और आपको ऐसा दुःख भोगना पड़ा है॥ २६॥

सन्त्यन्याः प्रमदास्तुभ्यं रूपेणाभ्यधिकास्ततः।
अनङ्गवशमापन्नस्त्वं तु मोहान्न बुद्ध्यसे॥ २७॥

'आपके घरमें सीता देवीसे भी अधिक सुन्दर रूपवाली दूसरी युवतियाँ मौजूद हैं; परंतु आप कामके वशीभूत हो मोहवश इस बातको समझ नहीं पाते थे॥ २७॥

न कुलेन न रूपेण न दाक्षिण्येन मैथिली।
मयाधिका वा तुल्या वा तत् तु मोहान्न बुद्ध्यसे॥ २८॥

'मिथिलेशकुमारी सीता न तो कुलमें, न रूपमें और न दाक्षिण्य आदि गुणोंमें ही मुझसे बढ़कर हैं। वे मेरे बराबर भी नहीं हैं; परंतु आप मोहवश इस बातको ओर नहीं ध्यान देते थे॥ २८॥

सर्वदा सर्वभूतानां नास्ति मृत्युरलक्षणः।
तव तद्वदयं मृत्युर्मैथिलीकृतलक्षणः॥ २९॥

'संसारमें कभी किसी भी प्राणीकी मृत्यु अकारण नहीं होती है। इस नियमके अनुसार मिथिलेशकुमारी सीता आपकी मृत्युका कारण बन गयीं॥ २९॥

सीतानिमित्तजो मृत्युस्त्वया दूरादुपाहृतः।
मैथिली सह रामेण विशोका विहरिष्यति॥ ३०॥
अल्पपुण्या त्वहं घोरे पतिता शोकसागरे।

'आपने सीताके कारण होनेवाली मृत्युको स्वयं ही दूरसे बुला लिया। मिथिलेशनन्दिनी सीता अब शोकरहित हो श्रीरामके साथ विहार करेंगी; परंतु मेरा पुण्य बहुत थोड़ा था, इसलिये वह जल्दी समाप्त हो गया और मैं शोकके घोर समुद्रमें गिर पड़ी॥ ३०½॥

कैलासे मन्दरे मेरौ तथा चैत्ररथे वने॥ ३१॥
देवोद्यानेषु सर्वेषु विहृत्य सहिता त्वया।
विमानेनानुरूपेण या याम्यतुलया श्रिया॥ ३२॥
पश्यन्ती विविधान् देशांस्तांस्तांश्चित्रस्रगम्बरा।
भ्रंशिता कामभोगेभ्यः साम्मि वीर वधात् तव॥ ३३॥

वीर! जो मैं विचित्र वस्त्राभूषण धारण करके अनुपम शोभासे सम्पन्न हो मनके अनुरूप विमानद्वारा आपके साथ कैलास, मन्दराचल, मेरुपर्वत, चैत्ररथ वन तथा सम्पूर्ण देवोद्यानोंमें विहार करती हुई नाना प्रकारके देशोंको देखती फिरती थी, वही मैं आज आपका वध हो जानेसे समस्त कामभोगोंसे वञ्चित हो गयी॥ ३१—३३॥

सैवान्येवास्मि संवृत्ता धिग्राज्ञां चञ्चलां श्रियम्।
हा राजन् सुकुमारं ते सुभ्रु सुत्वक्समुन्नसम्॥ ३४॥
कान्तिश्रीद्युतिभिस्तुल्यमिन्दुपद्मदिवाकरैः।
किरीटकूटोज्ज्वलितं ताम्रास्यं दीप्तकुण्डलम्॥ ३५॥
मदव्याकुललोलाक्षं भूत्वा यत्पानभूमिषु।
विविधस्रग्धरं चारु वल्गुस्मितकथं शुभम्॥ ३६॥
तदेवाद्य तवैवं हि वक्त्रं न भ्राजते प्रभो।
रामसायकनिर्भिन्नं रक्तं रुधिरविस्रवैः॥ ३७॥
विशीर्णमेदोमस्तिष्कं रूक्षं स्यन्दनरेणुभिः।

'मैं वही रानी मन्दोदरी हूँ, किंतु आज दूसरी स्त्रीके समान हो गयी हूँ। राजाओंकी चञ्चल राजलक्ष्मीको धिक्कार है! हा राजन्! आपका जो सुकुमार मुखमण्डल सुन्दर भौंहों, मनोहर त्वचा और ऊँची नासिकासे युक्त था, कान्ति, शोभा और तेजके द्वारा जो क्रमशः चन्द्रमा, सूर्य और कमलको लज्जित करता था, किरीटोंके समूह जिसे जगमग बनाये रहते थे, जिसके अधर ताँबेके समान लाल थे, जिसमें दीप्तिमान् कुण्डल दमकते रहते थे, पान-भूमिमें जिसके नेत्र मदोंसे व्याकुल और चञ्चल देखे जाते थे, जो नाना प्रकारके गजरे धारण करता था, मनोहर और सुन्दर था तथा मुस्कराकर मीठी-मीठी बातें किया करता था, वही आपका मुखारविन्द आज शोभा नहीं पा रहा है। प्रभो! वह श्रीरामके सायकोंसे विदीर्ण हो खूनकी धारासे रँग गया है। इसका मेदा और मस्तिष्क छिन्न-भिन्न हो गया है तथा रथकी धूलोंसे इसमें रूक्षता आ गयी है॥ ३४—३७½॥

हा पश्चिमा मे सम्प्राप्ता दशा वैधव्यदायिनी॥ ३८॥
या मयाऽऽसीन्न सम्बुद्धा कदाचिदपि मन्दया।

'हाय! मुझ मन्दभागिनीने कभी जिसके विषयमें सोचा-तक नहीं था, वही मुझे वैधव्यका दुःख प्रदान करनेवाली अन्तिम अवस्था (मृत्यु) आपको प्राप्त हो गयी॥ ३८½॥

पिता दानवराजो मे भर्ता मे राक्षसेश्वरः॥ ३९॥
पुत्रो मे शक्रनिर्जेता इत्यहं गर्विता भृशम्।

'दानवराज मय मेरे पिता, राक्षसराज रावण मेरे पति और इन्द्रपर भी विजय प्राप्त करनेवाला इन्द्रजित् मेरा पुत्र है—यह सोचकर मैं अत्यन्त गर्वसे भरी रहती थी॥ ३९½॥

दृप्तारिमथनाः क्रूराः प्रख्यातबलपौरुषाः॥ ४०॥
अकुतश्चिद्भया नाथा ममेत्यासीन्मतिर्ध्रुवा।

'मेरी यह दृढ़ धारणा बनी हुई थी कि मेरे रक्षक ऐसे लोग हैं जो दर्पसे भरे हुए शत्रुओंको मथ डालनेमें समर्थ, क्रूर, विख्यात बल और पौरुषसे सम्पन्न तथा किसीसे भी भयभीत नहीं होनेवाले हैं॥ ४०½॥

तेषामेवंप्रभावाणां युष्माकं राक्षसर्षभाः॥ ४१॥
कथं भयमसम्बुद्धं मानुषादिदमागतम्।

'राक्षसशिरोमणियो! ऐसे प्रभावशाली तुमलोगोंको यह मनुष्यसे अज्ञात भय किस प्रकार प्राप्त हुआ?॥ ४१½॥

स्निग्धेन्द्रनीलनीलं तु प्रांशुशैलोपमं महत् ॥ ४२ ॥
केयूराङ्गदवैदूर्यमुक्ताहारस्रगुज्ज्वलम् ।
कान्तं विहारेष्वधिकं दीप्तं संग्रामभूमिषु ॥ ४३ ॥
भात्याभरणभाभिर्यद् विद्युद्भिरिव तोयदः ।
तदेवाद्य शरीरं ते तीक्ष्णैर्नैकशरैश्चितम् ॥ ४४ ॥
पुनर्दुर्लभसंस्पर्शं परिष्वक्तुं न शक्यते ।

'जो चिकने इन्द्रनील-मणिके समान श्याम, ऊँचे शैल-शिखरके समान विशाल तथा केयूर, अङ्गद, नीलम और मोतियोंके हार एवं फूलोंकी मालाओंसे सुसज्जित होनेके कारण अत्यन्त प्रकाशमान दिखायी देता था, विहार-स्थलोंमें अधिक कान्तिमान् तथा संग्राम-भूमियोंमें अतिशय दीप्तिमान् प्रतीत होता था और आभूषणोंकी प्रभासे जिसकी विद्युन्मालामण्डित मेघकी-सी शोभा होती थी, वही आपका शरीर आज अनेक तीखे बाणोंसे भरा हुआ है; अतः यद्यपि आजसे फिर इसका स्पर्श मेरे लिये दुर्लभ हो जायगा, तथापि इन बाणोंके कारण मैं इसका आलिङ्गन नहीं कर पाती हूँ ॥४२—४४½ ॥

श्वाविधः शललैर्यद्वद् बाणैर्लग्नैर्निरन्तरम् ॥ ४५ ॥
स्वर्पितैर्मर्मसु भृशं संछिन्नस्नायुबन्धनम् ।
क्षितौ निपतितं राजञ्श्यामं वै रुधिरच्छवि ॥ ४६ ॥
वज्रप्रहाराभिहतो विकीर्ण इव पर्वतः ।

'राजन् ! जैसे साहीकी देह काँटोंसे भरी होती है, उसी प्रकार आपके शरीरमें इतने बाण लगे हैं कि कहीं एक अंगुल भी जगह नहीं रह गयी है। वे सभी बाण मर्म-स्थानोंमें धँस गये हैं और उनसे शरीरका स्नायु-बन्धन छिन्न-भिन्न हो गया है। इस अवस्थामें पृथ्वीपर पड़ा हुआ आपका यह श्याम शरीर, जिसपर रक्तकी अरुण छटा छा रही है, वज्रकी मारसे चूर-चूर होकर बिखरे हुए पर्वतके समान जान पड़ता है ॥४५-४६½ ॥

हा स्वप्नः सत्यमेवेदं त्वं रामेण कथं हतः ॥ ४७ ॥
त्वं मृत्योरपि मृत्युः स्याः कथं मृत्युवशं गतः ।

'नाथ ! यह स्वप्न है या सत्य। हाय ! आप श्रीरामके हाथसे कैसे मारे गये ? आप तो मृत्युकी भी मृत्यु थे; फिर स्वयं ही मृत्युके अधीन कैसे हो गये ? ॥४७½ ॥

त्रैलोक्यवसुभोक्तारं त्रैलोक्योद्वेगदं महत् ॥ ४८ ॥
जेतारं लोकपालानां क्षेप्तारं शंकरस्य च ।
दृप्तानां निग्रहीतारमाविष्कृतपराक्रमम् ॥ ४९ ॥

'आपने तीनों लोकोंकी सम्पत्तिका उपभोग किया और त्रिलोकीके प्राणियोंको महान् उद्वेगमें डाल दिया था। आप लोकपालोंपर भी विजय पा चुके थे। आपने कैलास-पर्वतके साथ ही भगवान् शङ्करको भी उठा लिया था तथा बड़े-बड़े अभिमानी वीरोंको युद्धमें बंदी बनाकर अपने पराक्रमको प्रकट किया था ॥ ४८-४९ ॥

लोकक्षोभयितारं च साधुभूतविदारणम् ।
ओजसा दृप्तवाक्यानां वक्तारं रिपुसंनिधौ ॥ ५० ॥

'आपने समस्त संसारको क्षोभमें डाला, साधु पुरुषोंकी हिंसा की और शत्रुओंके समीप बलपूर्वक अहंकारपूर्ण बातें कहीं ॥ ५० ॥

स्वयूथभृत्यगोप्तारं हन्तारं भीमकर्मणाम् ।
हन्तारं दानवेन्द्राणां यक्षाणां च सहस्रशः ॥ ५१ ॥

'भयानक पराक्रम करनेवाले विपक्षियोंको मारकर अपने पक्षके लोगों और सेवकोंकी रक्षा की। दानवोंके सरदारों और हजारों यक्षोंको भी मौतके घाट उतारा ॥ ५१ ॥

निवातकवचानां तु निग्रहीतारमाहवे ।
नैकयज्ञविलोप्तारं त्रातारं स्वजनस्य च ॥ ५२ ॥

'आपने समराङ्गणमें निवातकवच नामक दानवोंका भी दमन किया, बहुत-से यज्ञ नष्ट कर डाले तथा आत्मीय जनोंकी सदा ही रक्षा की ॥ ५२ ॥

धर्मव्यवस्थाभेत्तारं मायास्रष्टारमाहवे ।
देवासुरनृकन्यानामाहर्तारं ततस्ततः ॥ ५३ ॥

'आप धर्मकी व्यवस्थाको तोड़नेवाले तथा संग्राममें मायाकी सृष्टि करनेवाले थे। देवताओं, असुरों और मनुष्योंकी कन्याओंको इधर-उधरसे हर लाते थे ॥ ५३ ॥

शत्रुस्त्रीशोकदातारं नेतारं स्वजनस्य च ।
लङ्काद्वीपस्य गोप्तारं कर्तारं भीमकर्मणाम् ॥ ५४ ॥
अस्माकं कामभोगानां दातारं रथिनां वरम् ।
एवंप्रभावं भर्तारं दृष्ट्वा रामेण पातितम् ॥ ५५ ॥
स्थिरास्मि या देहमिमं धारयामि हतप्रिया ।

'आप शत्रुकी स्त्रियोंको शोक प्रदान करनेवाले, स्वजनोंके नेता, लङ्कापुरीके रक्षक, भयानक कर्म करनेवाले तथा हम सब लोगोंको कामोपभोगका सुख देनेवाले थे। ऐसे प्रभावशाली तथा रथियोंमें श्रेष्ठ अपने प्रियतम पतिको श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा धराशायी किया गया देखकर भी जो मैं अबतक इस शरीरको धारण कर रही हूँ, प्रियतमके मारे जानेपर भी जी रही हूँ—यह मेरी पाषाणहृदयताका परिचायक है ॥५४-५५½ ॥

शयनेषु महार्हेषु शयित्वा राक्षसेश्वर ॥ ५६ ॥
इह कस्मात् प्रसुप्तोऽसि धरण्यां रेणुगुण्ठितः ।

'राक्षसराज ! आप तो बहुमूल्य पलंगोंपर शयन करते थे, फिर यहाँ धरतीपर धूलिमें लिपटे हुए क्यों सो रहे हैं ? ॥५६½ ॥

यदा मे तनयः शस्तो लक्ष्मणेनेन्द्रजिद् युधि ॥ ५७ ॥
तदा त्वभिहता तीव्रमद्य त्वस्मिन् निपातिता ।

'जब लक्ष्मणने युद्धमें मेरे बेटे इन्द्रजित्‌को मारा था, उस समय मुझे गहरा आघात पहुँचा था और आज आपका वध होनेसे तो मैं मार ही डाली गयी ॥५७½ ॥

साहं बन्धुजनैर्हीना हीना नाथेन च त्वया ॥ ५८ ॥
विहीना कामभोगैश्च शोचिष्ये शाश्वतीः समाः ।

'अब मैं बन्धुजनोंसे हीन, आप-जैसे स्वामीसे रहित तथा कामभोगोंसे वञ्चित होकर अनन्त वर्षोंतक शोकमें ही डूबी रहूँगी ॥५८½॥

प्रपन्नो दीर्घमध्वानं राजन्नद्य सुदुर्गमम्॥ ५९॥
नय मामपि दुःखार्तां न वर्तिष्ये त्वया विना।

'राजन्! आज आप जिस अत्यन्त दुर्गम एवं विशाल मार्गपर गये हैं, वहीं मुझ दुःखियाको भी ले चलिये। मैं आपके बिना जीवित नहीं रह सकूँगी ॥५९½॥

कस्मात् त्वं मां विहायेह कृपणां गन्तुमिच्छसि॥ ६०॥
दीनां विलपतीं मन्दां किं च मां नाभिभाषसे।

'हाय! मुझ असहायाको यहीं छोड़कर आप क्यों अन्यत्र चला जाना चाहते हैं? मैं दीन अभागिनी होकर आपके लिये रो रही हूँ। आप मुझसे बोलते क्यों नहीं? ॥६०½॥

दृष्ट्वा न खल्वभिक्रुद्धो मामिहानवगुण्ठिताम्॥ ६१॥
निर्गतां नगरद्वारात् पद्भ्यामेवागतां प्रभो।

'प्रभो! आज मेरे मुँहपर घूँघट नहीं है। मैं नगर-द्वारसे पैदल ही चलकर यहाँ आयी हूँ। इस दशामें मुझे देखकर आप क्रोध क्यों नहीं करते हैं? ॥६१½॥

पश्येष्टदार दारांस्ते भ्रष्टलज्जावगुण्ठनान्॥ ६२॥
बहिर्निष्पतितान् सर्वान् कथं दृष्ट्वा न कुप्यसि।

'आप अपनी स्त्रियोंसे बड़ा प्रेम करते थे। आज आपकी सभी स्त्रियाँ लाज छोड़कर, परदा हटाकर बाहर निकल आयी हैं। इन्हें देखकर आपको क्रोध क्यों नहीं होता? ॥६२½॥

अयं क्रीडासहायस्तेऽनाथो लालप्यते जनः॥ ६३॥
न चैनमाश्वासयसि किं वा न बहुमन्यसे।

'नाथ! आपकी क्रीडासहचरी यह मन्दोदरी आज अनाथ होकर विलाप कर रही है। आप इसे आश्वासन क्यों नहीं देते अथवा अधिक आदर क्यों नहीं करते? ॥६३½॥

यास्त्वया विधवा राजन् कृता नैकाः कुलस्त्रियः॥ ६४॥
पतिव्रता धर्मरता गुरुशुश्रूषणे रताः।
ताभिः शोकाभितप्ताभिः शप्तः परवशं गतः॥ ६५॥
त्वया विप्रकृताभिश्च तदा शप्तस्तदागतम्।

'राजन्! आपने बहुत-सी कुलललनाओंको, जो गुरुजनोंकी सेवामें लगी रहनेवाली, धर्मपरायणा तथा पतिव्रता थीं, विधवा बनाया और उनका अपमान किया था; अतः उस समय उन्होंने शोकसे संतप्त होकर आपको शाप दे दिया था, उसीका यह फल है कि आपको शत्रु एवं मृत्युके अधीन होना पड़ा है ॥६४-६५½॥

प्रवादः सत्यमेवायं त्वां प्रति प्रायशो नृप॥ ६६॥
पतिव्रतानां नाकस्मात् पतन्त्यश्रूणि भूतले।

महाराज! पतिव्रताओंके आँसू इस पृथ्वीपर व्यर्थ नहीं गिरते, यह कहावत आपके ऊपर प्रायः ठीक-ठीक घटी है ॥६६½॥

कथं च नाम ते राजँल्लोकानाक्रम्य तेजसा॥ ६७॥
नारीचौर्यमिदं क्षुद्रं कृतं शौण्डीर्यमानिना।

'राजन्! आप तो अपने तेजसे तीनों लोकोंको आक्रान्त करके अपनेको बड़ा शूरवीर मानते थे; फिर भी परायी स्त्रीको चुरानेका यह नीच काम आपने कैसे किया? ॥६७½॥

अपनीयाश्रमाद् रामं यन्मृगच्छद्मना त्वया॥ ६८॥
आनीता रामपत्नी सा अपनीय च लक्ष्मणम्।

'मायामय मृगके बहाने श्रीरामको आश्रमसे दूर हटाया और लक्ष्मणको भी अलग किया। उसके बाद आप श्रीरामपत्नी सीताको चुराकर यहाँ ले आये; यह कितनी बड़ी कायरता है ॥६८½॥

कातर्यं च न ते युद्धे कदाचित् संस्मराम्यहम्॥ ६९॥
तत् तु भाग्यविपर्यासान्नूनं ते पक्वलक्षणम्।

'युद्धमें कभी आपने कायरता दिखायी हो, यह मुझे याद नहीं पड़ता; परंतु भाग्यके फेरसे उस दिन सीताका हरण करते समय निश्चय ही आपमें कायरता आ गयी थी, जो आपके निकट विनाशकी सूचना दे रही थी ॥६९½॥

अतीतानागतार्थज्ञो वर्तमानविचक्षणः॥ ७०॥
मैथिलीमाहृतां दृष्ट्वा ध्यात्वा निःश्वस्य चायतम्।
सत्यवाक् स महाबाहो देवरो मे यदब्रवीत्॥ ७१॥
अयं राक्षसमुख्यानां विनाशः प्रत्युपस्थितः।

'महाबाहो! मेरे देवर विभीषण सत्यवादी, भूत और भविष्यके ज्ञाता तथा वर्तमानको भी समझनेमें कुशल हैं। उन्होंने हरकर लायी हुई मिथिलेशकुमारी सीताको देखकर मन-ही-मन कुछ विचार किया और अन्तमें लम्बी साँस छोड़कर कहा—अब प्रधान-प्रधान राक्षसोंके विनाशका समय उपस्थित हो गया है। उनकी यह बात ठीक निकली ॥७०-७१½॥

कामक्रोधसमुत्थेन व्यसनेन प्रसङ्गिना॥ ७२॥
निवृत्तस्त्वत्कृतेनार्थः सोऽयं मूलहरो महान्।
त्वया कृतमिदं सर्वमनाथं राक्षसं कुलम्॥ ७३॥

'काम और क्रोधसे उत्पन्न आपके आसक्तिविषयक दोषके कारण यह सारा ऐश्वर्य नष्ट हो गया और जड़मूलका नाश करनेवाला यह महान् अनर्थ प्राप्त हुआ। आज आपने समस्त राक्षसकुलको अनाथ कर दिया ॥ ७२-७३॥

नहि त्वं शोचितव्यो मे प्रख्यातबलपौरुषः।
स्त्रीस्वभावात् तु मे बुद्धिः कारुण्ये परिवर्तते॥ ७४॥

'आप अपने बल और पुरुषार्थके लिये विख्यात थे, अतः आपके लिये शोक करना मेरे लिये उचित नहीं है, तथापि स्त्रीस्वभावके कारण मेरे हृदयमें दीनता आ गयी है ॥ ७४॥

सुकृतं दुष्कृतं च त्वं गृहीत्वा स्वां गतिं गतः।
आत्मानमनुशोचामि त्वद्विनाशेन दुःखिताम्॥ ७५॥

'आप अपना पुण्य और पाप साथ लेकर अपनी वीरोचित

गतिको प्राप्त हुए हैं। आपके विनाशसे मैं महान् दुःखमें पड़ गयी हूँ; इसलिये बारम्बार अपने ही लिये शोक करती हूँ॥ ७५॥

सुहृदां हितकामानां न श्रुतं वचनं त्वया।
भ्रातॄणां चैव कार्त्स्न्येन हितमुक्तं दशानन॥ ७६॥

'महाराज दशानन! हित चाहनेवाले सुहृदों तथा बन्धुओंने जो आपसे सम्पूर्णतः हितकी बातें कही थीं, उन्हें आपने अनसुनी कर दिया॥ ७६॥

हेत्वर्थयुक्तं विधिवच्छ्रेयस्करमदारुणम्।
विभीषणेनाभिहितं न कृतं हेतुमत् त्वया॥ ७७॥

'विभीषणका कथन भी युक्ति और प्रयोजनसे पूर्ण था। विधिपूर्वक आपके सामने प्रस्तुत किया गया था। वह कल्याणकारी तो था ही, बहुत ही सौम्य भाषामें कहा गया था; किंतु उस युक्तियुक्त बातको भी आपने नहीं माना॥ ७७॥

मारीचकुम्भकर्णाभ्यां वाक्यं मम पितुस्तथा।
न कृतं वीर्यमत्तेन तस्येदं फलमीदृशम्॥ ७८॥

'आप अपने बलके घमंडमें मतवाले हो रहे थे; अतः मारीच, कुम्भकर्ण तथा मेरे पिताकी कही हुई बात भी आपने नहीं मानी। उसीका यह ऐसा फल आपको प्राप्त हुआ है॥ ७८॥

नीलजीमूतसंकाश पीताम्बर शुभाङ्गद।
स्वगात्राणि विनिक्षिप्य किं शेषे रुधिरावृतः॥ ७९॥

'प्राणनाथ! आपका नील मेघके समान श्याम वर्ण है। आप शरीरपर पीत वस्त्र और बाँहोंमें सुन्दर बाजूबंद धारण करनेवाले हैं। आज खूनसे लथपथ हो अपने शरीरको सब ओर छितराकर यहाँ क्यों सो रहे हैं?॥ ७९॥

प्रसुप्त इव शोकार्तां किं मां न प्रतिभाषसे।

'मैं शोकसे पीड़ित हो रही हूँ और आप गहरी नींदमें सोये हुए पुरुषकी भाँति मेरी बातका जवाब नहीं दे रहे हैं। नाथ! ऐसा क्यों हो रहा है?॥ ७९½॥

महावीर्यस्य दक्षस्य संयुगेष्वपलायिनः॥ ८०॥
यातुधानस्य दौहित्रीं किं मां न प्रतिभाषसे।

'मैं महान् पराक्रमी, युद्धकुशल और समरभूमिसे पीछे न हटनेवाले सुमाली नामक राक्षसकी दौहित्री (नतिनी) हूँ। आप मुझसे बोलते क्यों नहीं हैं॥ ८०½॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ किं शेषे नवे परिभवे कृते॥ ८१॥
अद्य वै निर्भया लङ्कां प्रविष्टाः सूर्यरश्मयः।

'राक्षसराज! उठिये, उठिये। श्रीरामके द्वारा आपका नूतन पराभव किया गया है तो भी आप सो कैसे रहे हैं? आज ही ये सूर्यकी किरणें लङ्कामें निर्भय होकर प्रविष्ट हुई हैं॥ ८१½॥

येन सूदयसे शत्रून् समरे सूर्यवर्चसा॥ ८२॥
वज्रं वज्रधरस्येव सोऽयं ते सततार्चितः।
रणे बहुप्रहरणो हेमजालपरिष्कृतः॥ ८३॥
परिघो व्यवकीर्णस्ते बाणैश्छिन्नः सहस्रधा।

'वीरवर! आप समरभूमिमें जिस सूर्यतुल्य तेजस्वी परिघके द्वारा शत्रुओंका संहार किया करते थे, वज्रधारी इन्द्रके वज्रकी भाँति जो सदा आपके द्वारा पूजित हुआ था, रणभूमिमें बहुसंख्यक शत्रुओंके प्राण लेनेवाला था और जिसे सोनेकी जालीसे विभूषित किया गया था, आपका वह परिघ श्रीरामके बाणोंसे सहस्रों टुकड़ोंमें विभक्त होकर इधर-उधर बिखरा पड़ा है॥ ८२-८३½॥

प्रियामिवोपसंगृह्य किं शेषे रणमेदिनीम्॥ ८४॥
अप्रियामिव कस्माद्य मां नेच्छस्यभिभाषितुम्।

'प्राणनाथ! आप अपनी प्यारी पत्नीकी भाँति रणभूमिका आलिङ्गन करके क्यों सो रहे हैं और किस कारणसे मुझे अप्रिय-सी मानकर मुझसे बोलनातक नहीं चाहते हैं?॥ ८४½॥

धिगस्तु हृदयं यस्या ममेदं न सहस्रधा॥ ८५॥
त्वयि पञ्चत्वमापन्ने फलते शोकपीडितम्।

'आपकी मृत्यु हो जानेपर भी मेरे शोकपीड़ित हृदयके हजारों टुकड़े नहीं हो जाते; अतः मुझ पाषाणहृदया नारीको धिक्कार है'॥ ८५½॥

इत्येवं विलपन्ती सा बाष्पपर्याकुलेक्षणा॥ ८६॥
स्नेहोपस्कन्नहृदया तदा मोहमुपागमत्।
कश्मलाभिहता सन्ना बभौ सा रावणोरसि॥ ८७॥
संध्यानुरक्ते जलदे दीप्ता विद्युदिवोज्ज्वला।

इस प्रकार विलाप करती हुई मन्दोदरीके नेत्रोंमें आँसू भरे हुए थे। उसका हृदय स्नेहसे द्रवीभूत हो रहा था। वह रोती-रोती सहसा मूर्च्छित हो गयी और उसी अवस्थामें रावणकी छातीपर गिर पड़ी। रावणके वक्षःस्थलपर मन्दोदरीकी वैसी ही शोभा हो रही थी, जैसे संध्याकी लालीसे रँगे हुए बादलमें दीप्तिमती विद्युत् चमक रही हो॥ ८६-८७½॥

तथागतां समुत्थाप्य सपत्न्यस्तां भृशातुराः॥ ८८॥
पर्यवस्थापयामासू रुदत्यो रुदतीं भृशम्।

उसकी सौतें भी शोकसे अत्यन्त आतुर हो रही थीं, उन्होंने उसे उस अवस्थामें देखकर उठाया और स्वयं भी रोते-रोते जोर-जोरसे विलाप करती हुई मन्दोदरीको धीरज बँधाया॥ ८८½॥

किं ते न विदिता देवि लोकानां स्थितिरध्रुवा॥ ८९॥
दशाविभागपर्याये राज्ञां वै चञ्चलाः श्रियः।

वे बोलीं—'महारानी! क्या आप नहीं जानतीं कि संसारका स्वरूप अस्थिर है। दशा बदल जानेपर राजाओंकी लक्ष्मी स्थिर नहीं रहती'॥ ८९½॥

इत्येवमुच्यमाना सा सशब्दं प्ररुरोद ह॥ ९०॥
स्नपयन्ती तदास्रेण स्तनौ वक्त्रं सुनिर्मलम्।

उनके ऐसा कहनेपर मन्दोदरी फूट-फूटकर रोने लगी। उस समय उसके दोनों स्तन और उज्ज्वल मुख आँसुओंसे नहा उठे थे ॥ ९०½ ॥

एतस्मिन्नन्तरे रामो विभीषणमुवाच ह ॥ ९१ ॥
संस्कारः क्रियतां भ्रातुः स्त्रीगणः परिसान्त्व्यताम्।

इसी समय श्रीरामचन्द्रजीने विभीषणसे कहा—'इन स्त्रियोंको धैर्य बँधाओ और अपने भाईका दाहसंस्कार करो' ॥ ९१½ ॥

तमुवाच ततो धीमान् विभीषण इदं वचः ॥ ९२ ॥
विमृश्य बुद्ध्या प्रश्रितं धर्मार्थसहितं हितम्।

यह सुनकर बुद्धिमान् विभीषणने (श्रीरामका अभिप्राय जाननेके उद्देश्यसे) बुद्धिसे सोच-विचारकर उनसे यह धर्म और अर्थसे युक्त विनयपूर्ण तथा हितकर बात कही— ॥ ९२½ ॥

त्यक्तधर्मव्रतं क्रूरं नृशंसमनृतं तथा ॥ ९३ ॥
नाहमर्हामि संस्कर्तुं परदाराभिमर्शनम्।

'भगवन्! जिसने धर्म और सदाचारका त्याग कर दिया था, जो क्रूर, निर्दयी, असत्यवादी तथा परायी स्त्रीका स्पर्श करनेवाला था, उसका दाहसंस्कार करना मैं उचित नहीं समझता हूँ ॥ ९३½ ॥

भ्रातृरूपो हि मे शत्रुरेष सर्वाहिते रतः ॥ ९४ ॥
रावणो नार्हते पूजां पूज्योऽपि गुरुगौरवात्।

'सबके अहितमें संलग्न रहनेवाला यह रावण भाईके रूपमें मेरा शत्रु था। यद्यपि ज्येष्ठ होनेसे गुरुजनोचित गौरवके कारण वह मेरा पूज्य था, तथापि वह मुझसे सत्कार पाने योग्य नहीं है ॥ ९४½ ॥

नृशंस इति मां राम वक्ष्यन्ति मनुजा भुवि ॥ ९५ ॥
श्रुत्वा तस्यागुणान् सर्वे वक्ष्यन्ति सुकृतं पुनः।

'श्रीराम! मेरी यह बात सुनकर संसारके मनुष्य मुझे क्रूर अवश्य कहेंगे; परंतु जब रावणके दुर्गुणोंको भी सुनेंगे, तब सब लोग मेरे इस विचारको उचित ही बतायेंगे' ॥ ९५½ ॥

तच्छ्रुत्वा परमप्रीतो रामो धर्मभृतां वरः ॥ ९६ ॥
विभीषणमुवाचेदं वाक्यज्ञं वाक्यकोविदः।

यह सुनकर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी बड़े प्रसन्न हुए। वे बातचीत करनेमें बड़े प्रवीण थे; अतः वचनोंका अभिप्राय समझनेवाले विभीषणसे इस प्रकार बोले— ॥ ९६½ ॥

तवापि मे प्रियं कार्यं त्वत्प्रभावान्मया जितम् ॥ ९७ ॥
अवश्यं तु क्षमं वाच्यो मया त्वं राक्षसेश्वर।

'राक्षसराज! मुझे तुम्हारा भी प्रिय करना है, क्योंकि तुम्हारे ही प्रभावसे मेरी जीत हुई है। अवश्य ही मुझे तुमसे उचित बात कहनी चाहिये; अतः सुनो ॥ ९७½ ॥

अधर्मानृतसंयुक्तः काममेष निशाचरः ॥ ९८ ॥
तेजस्वी बलवाञ्छूरः संग्रामेषु च नित्यशः।

'यह निशाचर भले ही अधर्मी और असत्यवादी रहा हो; परंतु संग्राममें सदा ही तेजस्वी, बलवान् तथा शूरवीर रहा है ॥ ९८½ ॥

शतक्रतुमुखैर्देवैः श्रूयते न पराजितः ॥ ९९ ॥
महात्मा बलसम्पन्नो रावणो लोकरावणः।

'सुना जाता है—इन्द्र आदि देवता भी इसे परास्त नहीं कर सके थे। समस्त लोकोंको रुलानेवाला रावण बल-पराक्रमसे सम्पन्न तथा महामनस्वी था ॥ ९९½ ॥

मरणान्तानि वैराणि निर्वृत्तं नः प्रयोजनम् ॥ १०० ॥
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव।

'वैर मरनेतक ही रहता है। मरनेके बाद उसका अन्त हो जाता है। अब हमारा प्रयोजन भी सिद्ध हो चुका है, अतः इस समय जैसे यह तुम्हारा भाई है, वैसे ही मेरा भी है; इसलिये इसका दाहसंस्कार करो ॥ १००½ ॥

त्वत्सकाशान्महाबाहो संस्कारं विधिपूर्वकम् ॥ १०१ ॥
क्षिप्रमर्हति धर्मेण त्वं यशोभाग भविष्यसि।

'महाबाहो! धर्मके अनुसार रावण तुम्हारी ओरसे शीघ्र ही विधिपूर्वक दाहसंस्कार प्राप्त करनेके योग्य है। ऐसा करनेसे तुम यशके भागी होओगे' ॥ १०१½ ॥

राघवस्य वचः श्रुत्वा त्वरमाणो विभीषणः ॥ १०२ ॥
संस्कारयितुमारेभे भ्रातरं रावणं हवम्।

श्रीरामचन्द्रजीके इस वचनको सुनकर विभीषण युद्धमें मारे गये अपने भाई रावणके दाहसंस्कारकी शीघ्रतापूर्वक तैयारी करने लगे ॥ १०२½ ॥

स प्रविश्य पुरीं लङ्कां राक्षसेन्द्रो विभीषणः ॥ १०३ ॥
रावणस्याग्निहोत्रं तु निर्यापयति सत्वरम्।

राक्षसराज विभीषणने लङ्कापुरीमें प्रवेश करके रावणके अग्निहोत्रको शीघ्र ही विधिपूर्वक समाप्त किया ॥ १०३½ ॥

शकटान् दारुरूपाणि अग्नीन् वै याजकांस्तथा ॥ १०४ ॥
तथा चन्दनकाष्ठानि काष्ठानि विविधानि च।
अगरूणि सुगन्धीनि गन्धांश्च सुरभींस्तथा ॥ १०५ ॥
मणिमुक्ताप्रवालानि निर्यापयति राक्षसः।

इसके बाद शकट, लकड़ी, अग्निहोत्रकी अग्नियाँ, यज्ञ करानेवाले पुरोहित, चन्दनकाष्ठ, अन्य विविध प्रकारकी लकड़ियाँ, सुगन्धित अगर, अन्यान्य सुन्दर गन्धयुक्त पदार्थ, मणि, मोती और मूँगा—इन सब वस्तुओंको उन्होंने एकत्र किया ॥ १०४-१०५½ ॥

आजगाम मुहूर्तेन राक्षसैः परिवारितः ॥ १०६ ॥
ततो माल्यवता सार्धं क्रियामेव चकार सः।

फिर दो ही घड़ीमें राक्षसोंसे घिरे हुए वे शीघ्र वहाँसे

चले आये। तदनन्तर माल्यवान्‌के साथ मिलकर उन्होंने दाह-संस्कारकी तैयारीका सारा कार्य पूर्ण किया ॥ १०६ १/२ ॥

सौवर्णीं शिबिकां दिव्यामारोप्य क्षौमवाससम् ॥ १०७ ॥
रावणं राक्षसाधीशमश्रुवर्णमुखा द्विजाः ।
तूर्यघोषैश्च विविधैः स्तुवद्भिश्चाभिनन्दितम् ॥ १०८ ॥

भाँति-भाँतिके वाद्यघोषोंद्वारा स्तुति करनेवाले मागधोंने जिसका अभिनन्दन किया था, राक्षसराज रावणके उस शवको रेशमी वस्त्रसे ढककर उसे सोनेके दिव्य विमानमें रखनेके पश्चात् राक्षसजातीय ब्राह्मण वहाँ नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए खड़े हो गये ॥ १०७-१०८ ॥

पताकाभिश्च चित्राभिः सुमनोभिश्च चित्रिताम् ।
उत्क्षिप्य शिबिकां तां तु विभीषणपुरोगमाः ॥ १०९ ॥
दक्षिणाभिमुखाः सर्वे गृह्य काष्ठानि भेजिरे ।

उस शिबिकाको विचित्र पताकाओं तथा फूलोंसे सजाया गया था। जिससे वह विचित्र शोभा धारण करती थी। विभीषण आदि राक्षस उसे कंधेपर उठाकर तथा अन्य सब लोग हाथमें सूखे काठ लिये दक्षिण दिशामें श्मशानभूमिकी ओर चले ॥ १०९ १/२ ॥

अग्नयो दीप्यमानास्ते तदाध्वर्युसमीरिताः ॥ ११० ॥
शरणाभिगताः सर्वे पुरस्तात् तस्य ते ययुः ।

यजुर्वेदीय याजकोंद्वारा ढोयी जाती हुई त्रिविध अग्नियाँ प्रज्वलित हो उठीं। वे सब कुण्डमें रखी हुई थीं और पुरोहितगण उन्हें लेकर शवके आगे-आगे चल रहे थे ॥ ११० १/२ ॥

अन्तःपुराणि सर्वाणि रुदमानानि सत्वरम् ॥ १११ ॥
पृष्ठतोऽनुययुस्तानि प्लवमानानि सर्वतः ।

अन्तःपुरकी सारी स्त्रियाँ रोती हुई तुरंत ही शवके पीछे-पीछे चल पड़ीं। वे सब ओर लड़खड़ाती चलती थीं ॥ १११ १/२ ॥

रावणं प्रयते देशे स्थाप्य ते भृशदुःखिताः ॥ ११२ ॥
चितां चन्दनकाष्ठैश्च पद्मकोशीरचन्दनैः ।
ब्राह्मया संवर्तयामासू राङ्कवास्तरणावृताम् ॥ ११३ ॥

आगे जाकर रावणके विमानको एक पवित्र स्थानमें रखकर अत्यन्त दुःखी हुए विभीषण आदि राक्षसोंने मलय-चन्दनकाष्ठ, पद्मक, उशीर (खस) तथा अन्य प्रकारके चन्दनोंद्वारा वेदोक्त विधिसे चिता बनायी और उसके ऊपर रङ्कु नामक मृगका चर्म बिछाया ॥ ११२-११३ ॥

प्रचक्रू राक्षसेन्द्रस्य पितृमेधमनुत्तमम् ।
वेदिं च दक्षिणाप्राच्यां यथास्थानं च पावकम् ॥ ११४ ॥
पृषदाज्येन सम्पूर्णं स्रुवं स्कन्धे प्रचिक्षिपुः ।
पादयोः शकटं प्रापुरूर्वोश्चोलूखलं तदा ॥ ११५ ॥

उसके ऊपर राक्षसराजके शवको सुलाकर उन्होंने उत्तम विधिसे उसका पितृमेध (दाहसंस्कार) किया। उन्होंने चिताके दक्षिण-पूर्वमें वेदी बनाकर उसपर यथास्थान अग्निको स्थापित किया था। फिर दधिमिश्रित घीसे भरी हुई स्रुवा रावणके कंधेपर रखी। इसके बाद पैरोंपर शकट और जाँघों पर उलूखल रखा ॥ ११४-११५ ॥

दारुपात्राणि सर्वाणि अरणिं चोत्तरारणिम् ।
दत्त्वा तु मुसलं चान्यं यथास्थानं विचक्रमुः ॥ ११६ ॥

तथा काष्ठके सभी पात्र, अरणि, उत्तरारणि और मूसल आदिको भी यथास्थान रख दिया ॥ ११६ ॥

शास्त्रदृष्टेन विधिना महर्षिविहितेन च ।
तत्र मेध्यं पशुं हत्वा राक्षसेन्द्रस्य राक्षसाः ॥ ११७ ॥
परिस्तरणिकां राज्ञो घृताक्तां समवेशयन् ।
गन्धैर्माल्यैरलंकृत्य रावणं दीनमानसाः ॥ ११८ ॥

वेदोक्त विधि और महर्षियोंद्वारा रचित कल्पसूत्रोंमें बतायी गयी प्रणालीसे वहाँ सारा कार्य हुआ। राक्षसोंने (राक्षसोंकी रीतिके अनुसार) मेध्य पशुका हनन करके राजा रावणकी चितापर फैलाये हुए मृगचर्मको घीसे तर कर दिया, फिर रावणके शवको चन्दन और फूलोंसे अलङ्कृत करके वे राक्षस मन-ही-मन दुःखका अनुभव करने लगे ॥ ११७-११८ ॥

विभीषणसहायास्ते वस्त्रैश्च विविधैरपि ।
लाजैरवकिरन्ति स्म बाष्पपूर्णमुखास्तथा ॥ ११९ ॥

फिर विभीषणके साथ अन्यान्य राक्षसोंने भी चितापर नाना प्रकारके वस्त्र और लावा बिखेरे। उस समय उनके मुखपर आँसुओंकी धारा बह चली ॥ ११९ ॥

स ददौ पावकं तस्य विधियुक्तं विभीषणः ।
स्नात्वा चैवार्द्रवस्त्रेण तिलान् दर्भविमिश्रितान् ॥ १२० ॥
उदकेन च सम्मिश्रान् प्रदाय विधिपूर्वकम् ।
ताः स्त्रियोऽनुनयामास सान्त्वयित्वा पुनः पुनः ॥ १२१ ॥

तदनन्तर विभीषणने चितामें विधिके अनुसार आग लगायी। उसके बाद स्नान करके भीगे वस्त्र पहने हुए ही उन्होंने तिल, कुश और जलके द्वारा विधिवत् रावणको जलाञ्जलि दी। तत्पश्चात् रावणकी स्त्रियोंको बारम्बार सान्त्वना देकर उनसे घर चलनेके लिये अनुनय-विनय की ॥ १२०-१२१ ॥

गम्यतामिति ताः सर्वा विविशुर्नगरं ततः ।
प्रविष्टासु पुरीं स्त्रीषु राक्षसेन्द्रो विभीषणः ।
रामपार्श्वमुपागम्य समतिष्ठद् विनीतवत् ॥ १२२ ॥

'महलमें चलो' यह विभीषणका आदेश सुनकर वे सारी स्त्रियाँ नगरमें चली गयीं। स्त्रियोंके पुरीमें प्रवेश कर जानेपर राक्षसराज विभीषण श्रीरामचन्द्रजीके पास आकर विनीतभावसे खड़े हो गये ॥ १२२ ॥

रामोऽपि सह सैन्येन ससुग्रीवः सलक्ष्मणः ।
हर्षं लेभे रिपुं हत्वा वृत्रं वज्रधरो यथा ॥ १२३ ॥

श्रीराम भी लक्ष्मण, सुग्रीव तथा समस्त सेनाके साथ शत्रुका वध करके बहुत प्रसन्न थे। ठीक उसी तरह, जैसे वज्रधारी इन्द्र वृत्रासुरको मारकर प्रसन्नताका अनुभव करने लगे थे॥ १२३॥

ततो विमुक्त्वा सशरं शरासनं
महेन्द्रदत्तं कवचं स तत्यहत्।
विमुच्य रोषं रिपुनिग्रहात् ततो
रामः स सौम्यत्वमुपागतोऽरिहा॥ १२४॥

तदनन्तर इन्द्रके दिये हुए धनुष, बाण और विशाल कवचको त्यागकर तथा शत्रुका दमन कर देनेके कारण रोषको भी छोड़कर शत्रुसूदन श्रीरामने शान्तभाव धारण कर लिया॥ १२४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे एकादशाधिकशततमः सर्गः॥ १११॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें एक सौ ग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १११॥

द्वादशाधिकशततमः सर्गः

विभीषणका राज्याभिषेक और श्रीरघुनाथजीका हनुमान्‌जीके द्वारा सीताके पास संदेश भेजना

ते रावणवधं दृष्ट्वा देवगन्धर्वदानवाः।
जग्मुः स्वैः स्वैर्विमानैस्ते कथयन्तः शुभाः कथाः॥ १॥

देवता, गन्धर्व और दानवगण रावण-वधका दृश्य देखकर उसीकी शुभ चर्चा करते हुए अपने-अपने विमानसे यथास्थान लौट गये॥ १॥

रावणस्य वधं घोरं राघवस्य पराक्रमम्।
सुयुद्धं वानराणां च सुग्रीवस्य च मन्त्रितम्॥ २॥
अनुरागं च वीर्यं च मारुतेर्लक्ष्मणस्य च।
पतिव्रतात्वं सीताया हनूमति पराक्रमम्॥ ३॥
कथयन्तो महाभागा जग्मुर्हृष्टा यथागतम्।

रावणके भयंकर वध, श्रीरघुनाथजीके पराक्रम, वानरोंके उत्तम युद्ध, सुग्रीवकी मन्त्रणा, लक्ष्मण और हनुमान्‌जीकी श्रीरामके प्रति भक्ति, उन दोनोंके पराक्रम, सीताके पातिव्रत्य तथा हनुमान्‌जीके पुरुषार्थकी बातें कहते हुए वे महाभाग देवता आदि जैसे आये थे, उसी तरह प्रसन्नतापूर्वक चले गये॥ २-३½॥

राघवस्तु रथं दिव्यमिन्द्रदत्तं शिखिप्रभम्॥ ४॥
अनुज्ञाप्य महाबाहुर्मातलिं प्रत्यपूजयत्।

इसके बाद महाबाहु भगवान् श्रीरामने इन्द्रके दिये हुए दिव्य रथको, जो अग्निके समान देदीप्यमान था, ले जानेकी आज्ञा देकर मातलिका बड़ा सम्मान किया॥ ४½॥

राघवेणाभ्यनुज्ञातो मातलिः शक्रसारथिः॥ ५॥
दिव्यं तं रथमास्थाय दिवमेवोत्पपात ह।

तब इन्द्रसारथि मातलि श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञासे उस दिव्य रथपर बैठकर पुनः दिव्य लोकको ही चले गये॥ ५½॥

तस्मिंस्तु दिवमारूढे सरथे रथिनां वरः॥ ६॥
राघवः परमप्रीतः सुग्रीवं परिषस्वजे।

मातलिके रथसहित देवलोकको चले जानेपर रथियोंमें श्रेष्ठ श्रीरामने बड़ी प्रसन्नताके साथ सुग्रीवको हृदयसे लगा लिया॥ ६½॥

परिष्वज्य च सुग्रीवं लक्ष्मणेनाभिवादितः॥ ७॥
पूज्यमानो हरिगणैराजगाम बलालयम्।

सुग्रीवका आलिङ्गन करनेके पश्चात् जब उन्होंने लक्ष्मणकी ओर दृष्टि डाली, तब लक्ष्मणने उनके चरणोंमें प्रणाम किया। फिर वानरसैनिकोंसे सम्मानित हो वे सेनाकी छावनीपर लौट आये॥ ७½॥

अथोवाच स काकुत्स्थः समीपपरिवर्तिनम्॥ ८॥
सौमित्रिं सत्त्वसम्पन्नं लक्ष्मणं दीप्ततेजसम्।
विभीषणमिमं सौम्य लङ्कायामभिषेचय॥ ९॥
अनुरक्तं च भक्तं च तथा पूर्वोपकारिणम्।

वहाँ आकर रघुनाथजीने अपने समीप खड़े हुए बल एवं उद्दीप्त तेजसे सम्पन्न सुमित्रानन्दन लक्ष्मणसे कहा—'सौम्य! अब तुम लङ्कामें जाकर इन विभीषणका राज्याभिषेक करो; क्योंकि ये मेरे प्रेमी, भक्त तथा पहले उपकार करनेवाले हैं॥ ८-९½॥

एष मे परमः कामो यदिमं रावणानुजम्॥ १०॥
लङ्कायां सौम्य पश्येयमभिषिक्तं विभीषणम्।

'सौम्य! यह मेरी बड़ी इच्छा है कि रावणके छोटे भाई इन विभीषणको मैं लङ्काके राज्यपर अभिषिक्त देखूँ'॥ १०½॥

एवमुक्तस्तु सौमित्री राघवेण महात्मना॥ ११॥
तथेत्युक्त्वा सुसंहृष्टः सौवर्णं घटमाददे।
तं घटं वानरेन्द्राणां हस्ते दत्त्वा मनोजवान्॥ १२॥
व्यादिदेश महासत्त्वान् समुद्रसलिलं तदा।

महात्मा श्रीरघुनाथजीके ऐसा कहनेपर सुमित्राकुमार लक्ष्मणको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने 'बहुत अच्छा' कहकर सोनेका घड़ा हाथमें लिया और उसे वानरयूथपतियोंके हाथमें देकर उन महान् शक्तिशाली तथा मनके समान वेगवाले

वानरोंको समुद्रका जल ले आनेकी आज्ञा दी ॥ ११-१२½ ॥

अतिशीघ्रं ततो गत्वा वानरास्ते मनोजवाः ॥ १३ ॥
आगतास्तु जलं गृह्य समुद्राद् वानरोत्तमाः ।

वे मनके समान वेगशाली श्रेष्ठ वानर तुरंत ही गये और समुद्रसे जल लेकर लौट आये ॥ १३½ ॥

ततस्त्वेकं घटं गृह्य संस्थाप्य परमासने ॥ १४ ॥
घटेन तेन सौमित्रिरभ्यषिञ्चद् विभीषणम् ।
लङ्कायां रक्षसां मध्ये राजानं रामशासनात् ॥ १५ ॥
विधिना मन्त्रदृष्टेन सुहृद्गणसमावृतम् ।
अभ्यषिञ्चंस्तदा सर्वे राक्षसा वानरास्तथा ॥ १६ ॥

तदनन्तर लक्ष्मणने एक घट जल लेकर उसे उत्तम आसनपर स्थापित कर दिया और उस घटके जलसे विभीषणका वेदोक्त विधिके अनुसार लङ्काके राजपदपर अभिषेक किया। यह अभिषेक श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञासे हुआ था। उस समय राक्षसोंके बीचमें सुहृदोंसे घिरे हुए विभीषण राजसिंहासनपर विराजमान थे। लक्ष्मणके बाद सभी राक्षसों और वानरोंने भी उनका अभिषेक किया ॥ १४—१६ ॥

प्रहर्षमतुलं गत्वा तुष्टुवू राममेव हि ।
तस्यामात्या जहृषिरे भक्ता ये चास्य राक्षसाः ॥ १७ ॥
दृष्ट्वाभिषिक्तं लङ्कायां राक्षसेन्द्रं विभीषणम् ।
राघवः परमां प्रीतिं जगाम सहलक्ष्मणः ॥ १८ ॥

वे अत्यन्त प्रसन्न होकर श्रीरामकी ही स्तुति करने लगे। राक्षसराज विभीषणको लङ्काके राज्यपर अभिषिक्त देख उनके मन्त्री और प्रेमी राक्षस बहुत प्रसन्न हुए। साथ ही लक्ष्मण-सहित श्रीरघुनाथजीको भी बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ १७-१८ ॥

स तद् राज्यं महत् प्राप्य रामदत्तं विभीषणः ।
सान्त्वयित्वा प्रकृतयस्ततो राममुपागमत् ॥ १९ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके दिये हुए उस विशाल राज्यको पाकर विभीषण अपनी प्रजाको सान्त्वना दे श्रीरामचन्द्रजीके पास आये ॥ १९ ॥

दध्यक्षतान् मोदकांश्च लाजाः सुमनसस्तथा ।
आजह्रुरथ संहृष्टाः पौरास्तस्मै निशाचराः ॥ २० ॥

उस समय हर्षसे भरे हुए नगरनिवासी निशाचर विभीषणको अर्पित करनेके लिये दही, अक्षत, मिठाई, लावा और फूल लाये ॥ २० ॥

स तान् गृहीत्वा दुर्धर्षो राघवाय न्यवेदयत् ।
मङ्गल्यं मङ्गलं सर्वं लक्ष्मणाय च वीर्यवान् ॥ २१ ॥

दुर्धर्ष पराक्रमी विभीषणने वे सब मङ्गलजनक माङ्गलिक वस्तुएँ लेकर श्रीराम और लक्ष्मणको भेंट कीं ॥ २१ ॥

कृतकार्यं समृद्धार्थं दृष्ट्वा रामो विभीषणम् ।
प्रतिजग्राह तत् सर्वं तस्यैव प्रतिकाम्यया ॥ २२ ॥

श्रीरघुनाथजीने विभीषणको कृतकार्य एवं सफलमनोरथ देख उनकी प्रसन्नताके लिये ही उन सब माङ्गलिक वस्तुओंको ले लिया ॥ २२ ॥

ततः शैलोपमं वीरं प्राञ्जलिं प्रणतं स्थितम् ।
उवाचेदं वचो रामो हनूमन्तं प्लवङ्गमम् ॥ २३ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने हाथ जोड़कर विनीतभावसे खड़े हुए पर्वताकार वीर वानर हनुमान्‌जीसे कहा— ॥ २३ ॥

अनुज्ञाप्य महाराजमिमं सौम्य विभीषणम् ।
प्रविश्य नगरीं लङ्कां कौशलं ब्रूहि मैथिलीम् ॥ २४ ॥

'सौम्य ! तुम इन महाराज विभीषणकी आज्ञा ले लङ्का-नगरीमें प्रवेश करके मिथिलेशकुमारी सीतासे उनका कुशल-समाचार पूछो ॥ २४ ॥

वैदेह्यै मां च कुशलं सुग्रीवं च सलक्ष्मणम् ।
आचक्ष्व वदतां श्रेष्ठ रावणं च हतं रणे ॥ २५ ॥
प्रियमेतदिहाख्याहि वैदेह्यास्त्वं हरीश्वर ।
प्रतिगृह्य तु संदेशमुपावर्तितुमर्हसि ॥ २६ ॥

'साथ ही उन विदेहराजकुमारीसे सुग्रीव और लक्ष्मणसहित मेरा कुशल-समाचार निवेदन करो। वक्ताओंमें श्रेष्ठ हरीश्वर ! तुम वैदेहीको यह प्रिय समाचार सुना दो कि रावण युद्धमें मारा गया। तत्पश्चात् उनका संदेश लेकर लौट आओ' ॥ २५-२६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे द्वादशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें एक सौ बारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११२ ॥

त्रयोदशाधिकशततमः सर्गः

हनुमान्‌जीका सीताजीसे बातचीत करके लौटना और उनका संदेश श्रीरामको सुनाना

इति प्रतिसमादिष्टो हनूमान् मारुतात्मजः ।
प्रविवेश पुरीं लङ्कां पूज्यमानो निशाचरैः ॥ १ ॥

भगवान् श्रीरामका यह आदेश पाकर पवनपुत्र हनुमान्‌जीने निशाचरोंसे सम्मानित होते हुए लङ्कापुरीमें प्रवेश किया ॥ १ ॥

प्रविश्य च पुरीं लङ्कामनुज्ञाप्य विभीषणम् ।
ततस्तेनाभ्यनुज्ञातो हनूमान् वृक्षवाटिकाम् ॥ २ ॥

पुरीमें प्रवेश करके उन्होंने विभीषणसे आज्ञा माँगी। उनकी आज्ञा मिल जानेपर हनुमान्‌जी अशोकवाटिकामें गये ॥ २ ॥

सम्प्रविश्य यथान्यायं सीताया विदितो हरिः।
ददर्श मृजया हीनां सातङ्कां रोहिणीमिव॥ ३॥

अशोकवाटिकामें प्रवेश करके न्यायानुसार उन्होंने सीताजीको अपने आगमनकी सूचना दी। तत्पश्चात् निकट जाकर उनका दर्शन किया। वे स्नान आदिसे हीन होनेके कारण कुछ मलिन दिखायी देती थीं और सशङ्क हुई रोहिणीके समान जान पड़ती थीं॥ ३॥

वृक्षमूले निरानन्दां राक्षसीभिः परीवृताम्।
निभृतः प्रणतः प्रह्वः सोऽभिगम्याभिवाद्य च॥ ४॥

सीताजी आनन्दशून्य हो वृक्षके नीचे राक्षसियोंसे घिरी बैठी थीं। हनुमान्‌जीने शान्त और विनीतभावसे सामने जाकर उन्हें प्रणाम किया। प्रणाम करके वे चुपचाप खड़े हो गये॥ ४॥

दृष्ट्वा तमागतं देवी हनुमन्तं महाबलम्।
तूष्णीमास्त तदा दृष्ट्वा स्मृत्वा हृष्टाभवत् तदा॥ ५॥

महाबली हनुमान्‌को आया देख देवी सीता उन्हें पहचानकर मन-ही-मन प्रसन्न हुईं, किंतु कुछ बोल न सकीं। चुपचाप बैठी रहीं॥ ५॥

सौम्यं तस्या मुखं दृष्ट्वा हनुमान् प्लवगोत्तमः।
रामस्य वचनं सर्वमाख्यातुमुपचक्रमे॥ ६॥

सीताके मुखपर सौम्यभाव लक्षित हो रहा था। उसे देखकर कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌ने श्रीरामचन्द्रजीकी कही हुई सब बातोंको उनसे कहना आरम्भ किया—॥ ६॥

वैदेहि कुशली रामः सहसुग्रीवलक्ष्मणः।
कुशलं चाह सिद्धार्थो हतशत्रुरमित्रजित्॥ ७॥

'विदेहनन्दिनि! श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मण और सुग्रीवके साथ सकुशल हैं। अपने शत्रुका वध करके सफलमनोरथ हुए उन शत्रुविजयी श्रीरामने आपकी कुशल पूछी है॥ ७॥

विभीषणसहायेन रामेण हरिभिः सह।
निहतो रावणो देवि लक्ष्मणेन च वीर्यवान्॥ ८॥

'देवि! विभीषणकी सहायता पाकर वानरों और लक्ष्मणसहित श्रीरामने बल-विक्रमसम्पन्न रावणको युद्धमें मार डाला है॥ ८॥

प्रियमाख्यामि ते देवि भूयश्च त्वां सभाजये।
तव प्रभावाद् धर्मज्ञे महान् रामेण संयुगे॥ ९॥
लब्धोऽयं विजयः सीते स्वस्था भव गतज्वरा।
रावणश्च हतः शत्रुर्लङ्का चैव वशीकृता॥ १०॥

धर्मको जाननेवाली देवि सीते! मैं आपको यह प्रिय संवाद सुनाता हूँ और अधिक-से-अधिक प्रसन्न देखना चाहता हूँ। आपके पातिव्रत्य धर्मके प्रभावसे ही युद्धमें श्रीरामने यह महान् विजय प्राप्त की है। अब आप चिन्ता छोड़कर स्वस्थ हो जायँ। हमलोगोंका शत्रु रावण मारा गया और लङ्का भगवान् श्रीरामके अधीन हो गयी॥ ९-१०॥

मया ह्यलब्धनिद्रेण धृतेन तव निर्जये।
प्रतिज्ञैषा विनिस्तीर्णा बद्ध्वा सेतुं महोदधौ॥ ११॥

'श्रीरामने आपको यह संदेश दिया है—'देवि! मैंने तुम्हारे उद्धारके लिये जो प्रतिज्ञा की थी, उसके लिये निद्रा त्यागकर अथक प्रयत्न किया और समुद्रमें पुल बाँधकर रावणवधके द्वारा उस प्रतिज्ञाको पूर्ण किया॥ ११॥

सम्भ्रमश्च न कर्तव्यो वर्तन्त्या रावणालये।
विभीषणविधेयं हि लङ्कैश्वर्यमिदं कृतम्॥ १२॥
तदाश्वसिहि विस्रब्धं स्वगृहे परिवर्तसे।
अयं चाभ्येति संहृष्टस्त्वद्दर्शनसमुत्सुकः॥ १३॥

'अब तुम अपनेको रावणके घरमें वर्तमान समझकर भयभीत न होना; क्योंकि लङ्काका सारा ऐश्वर्य विभीषणके अधीन कर दिया गया है। अब तुम अपने ही घरमें हो। ऐसा जानकर निश्चिन्त होकर धैर्य धारण करो।' देवि! ये विभीषण भी हर्षसे भरकर आपके दर्शनके लिये उत्कण्ठित हो अभी यहाँ आ रहे हैं'॥ १२-१३॥

एवमुक्ता तु सा देवी सीता शशिनिभानना।
प्रहर्षेणावरुद्धा सा व्याहर्तुं न शशाक ह॥ १४॥

हनुमान्‌जीके इस प्रकार कहनेपर चन्द्रमुखी सीतादेवीको बड़ा हर्ष हुआ। हर्षसे उनका गला भर आया और वे कुछ बोल न सकीं॥ १४॥

ततोऽब्रवीद्धरिवरः सीतामप्रतिजल्पतीम्।
किं त्वं चिन्तयसे देवि किं च मां नाभिभाषसे॥ १५॥

सीताजीको मौन देख कपिवर हनुमान्‌जी बोले—'देवि! आप क्या सोच रही हैं? मुझसे बोलती क्यों नहीं'॥ १५॥

एवमुक्ता हनुमता सीता धर्मपथे स्थिता।
अब्रवीत् परमप्रीता बाष्पगद्गदया गिरा॥ १६॥

हनुमान्‌जीके इस प्रकार पूछनेपर धर्मपरायणा सीतादेवी अत्यन्त प्रसन्न हो आनन्दके आँसू बहाती हुई गद्गदवाणीमें बोलीं—॥ १६॥

प्रियमेतदुपश्रुत्य भर्तुर्विजयसंश्रितम्।
प्रहर्षवशमापन्ना निर्वाक्यास्मि क्षणान्तरम्॥ १७॥

'अपने स्वामीकी विजयसे सम्बन्ध रखनेवाला यह प्रिय संवाद सुनकर मैं आनन्दविभोर हो गयी थी; इसलिये कुछ देरतक मेरे मुँहसे बात नहीं निकल सकी है॥ १७॥

नहि पश्यामि सदृशं चिन्तयन्ती प्लवंगम।
आख्यानकस्य भवतो दातुं प्रत्यभिनन्दनम्॥ १८॥

'वानर वीर! ऐसा प्रिय समाचार सुनानेके कारण मैं तुम्हें कुछ पुरस्कार देना चाहती हूँ; किंतु बहुत सोचनेपर भी मुझे इसके योग्य कोई वस्तु दिखायी नहीं देती॥ १८॥

न हि पश्यामि तत् सौम्य पृथिव्यामपि वानर।
सदृशं यत्प्रियाख्याने तव दत्त्वा भवेत् सुखम्॥ १९॥

'सौम्य वानर वीर! इस भूमण्डलमें मैं कोई ऐसी वस्तु नहीं देखती, जो इस प्रिय संवादके अनुरूप हो और जिसे तुम्हें देकर मैं संतुष्ट हो सकूँ' ॥ १९ ॥

हिरण्यं वा सुवर्णं वा रत्नानि विविधानि च।
राज्यं वा त्रिषु लोकेषु एतन्नार्हति भाषितम्॥ २०॥

'सोना, चाँदी, नाना प्रकारके रत्न अथवा तीनों लोकोंका राज्य भी इस प्रिय समाचारकी बराबरी नहीं कर सकता' ॥ २० ॥

एवमुक्तस्तु वैदेह्या प्रत्युवाच प्लवंगमः।
प्रगृहीताञ्जलिर्हर्षात् सीतायाः प्रमुखे स्थितः॥ २१॥

विदेहनन्दिनीके ऐसा कहनेपर वानरवीर हनुमान्‌जीको बड़ा हर्ष हुआ। वे सीताजीके सामने हाथ जोड़कर खड़े हो गये और इस प्रकार बोले— ॥ २१ ॥

भर्तुः प्रियहिते युक्ते भर्तुर्विजयकाङ्क्षिणि।
स्निग्धमेवंविधं वाक्यं त्वमेवार्हस्यनिन्दिते॥ २२॥

'पतिकी विजय चाहनेवाली और पतिके ही प्रिय एवं हितमें सदा संलग्न रहनेवाली सती-साध्वी देवि! आपके ही मुँहसे ऐसा स्नेहपूर्ण वचन निकल सकता है (आपके इस वचनसे मैं सब कुछ पा गया) ॥ २२ ॥

तवैतद् वचनं सौम्ये सारवत् स्निग्धमेव च।
रत्नौघाद् विविधाच्चापि देवराज्याद् विशिष्यते॥ २३॥

'सौम्ये! आपका यह वचन सारगर्भित और स्नेहयुक्त है, अतः भाँति-भाँतिकी रत्नराशि और देवताओंके राज्यसे भी बढ़कर है ॥ २३ ॥

अर्थतश्च मया प्राप्ता देवराज्यादयो गुणाः।
हतशत्रुं विजयिनं रामं पश्यामि सुस्थितम्॥ २४॥

'मैं जब यह देखता हूँ कि श्रीरामचन्द्रजी अपने शत्रुका वध करके विजयी हो गये और स्वयं सकुशल हैं, तब मैं यह अनुभव करता हूँ कि मेरे सारे प्रयोजन सिद्ध हो गये—देवताओंके राज्य आदि सभी उत्कृष्ट गुणोंसे युक्त पदार्थ मुझे मिल गये' ॥ २४ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा मैथिली जनकात्मजा।
ततः शुभतरं वाक्यमुवाच पवनात्मजम्॥ २५॥

उनकी बात सुनकर मिथिलेशकुमारी जानकीने उन पवनकुमारसे यह परम सुन्दर वचन कहा— ॥ २५ ॥

अतिलक्षणसम्पन्नं माधुर्यगुणभूषणम्।
बुद्ध्या ह्यष्टाङ्गया युक्तं त्वमेवार्हसि भाषितुम्॥ २६॥

'वीरवर! तुम्हारी वाणी उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न, माधुर्य गुणसे भूषित तथा बुद्धिके आठ[1] अङ्गों (गुणों) से अलंकृत है। ऐसी वाणी केवल तुम्हीं बोल सकते हो ॥ २६ ॥

श्लाघनीयोऽनिलस्य त्वं सुतः परमधार्मिकः।
बलं शौर्यं श्रुतं सत्त्वं विक्रमो दाक्ष्यमुत्तमम्॥ २७॥
तेजः क्षमा धृतिः स्थैर्यं विनीतत्वं न संशयः।
एते चान्ये च बहवो गुणास्त्वय्येव शोभनाः॥ २८॥

'तुम वायुदेवताके प्रशंसनीय पुत्र तथा परम धर्मात्मा हो। शारीरिक बल, शूरता, शास्त्रज्ञान, मानसिक बल, पराक्रम, उत्तम दक्षता, तेज, क्षमा, धैर्य, स्थिरता, विनय तथा अन्य बहुत-से सुन्दर गुण केवल तुम्हींमें एक साथ विद्यमान हैं, इसमें संशय नहीं है' ॥ २७-२८ ॥

अथोवाच पुनः सीतामसम्भ्रान्तो विनीतवत्।
प्रगृहीताञ्जलिर्हर्षात् सीतायाः प्रमुखे स्थितः॥ २९॥

तदनन्तर सीताके सामने बिना किसी घबराहटके हाथ जोड़कर विनीतभावसे खड़े हुए हनुमान्‌जी पुनः हर्षपूर्वक उनसे बोले— ॥ २९ ॥

इमास्तु खलु राक्षस्यो यदि त्वमनुमन्यसे।
हन्तुमिच्छामि ताः सर्वा याभिस्त्वं तर्जिता पुरा॥ ३०॥

'देवि! यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं इन समस्त राक्षसियोंको, जो पहले आपको बहुत डराती-धमकाती रही हैं, मार डालना चाहता हूँ ॥ ३० ॥

क्लिश्यन्तीं पतिदेवां त्वामशोकवनिकां गताम्।
घोररूपसमाचाराः क्रूराः क्रूरतरेक्षणाः॥ ३१॥
इह श्रुता मया देवि राक्षस्यो विकृताननाः।
असकृत्परुषैर्वाक्यैर्वदन्त्यो रावणाज्ञया॥ ३२॥

'आप-जैसी पतिव्रता देवी अशोकवाटिकामें बैठकर क्लेश भोग रही थीं और ये भयंकर रूप एवं आचारसे युक्त अत्यन्त क्रूर दृष्टिवाली विकरालमुखी क्रूर राक्षसियाँ आपको बारम्बार कठोर वचनोंद्वारा डाँटती-फटकारती रहती थीं। रावणकी आज्ञासे ये जैसी-जैसी बातें आपको सुनाती थीं, उन सबको मैंने यहाँ रहकर सुना है ॥ ३१-३२ ॥

विकृता विकृताकाराः क्रूराः क्रूरकचेक्षणाः।
इच्छामि विविधैर्घातैर्हन्तुमेताः सुदारुणाः॥ ३३॥

'ये सब-की-सब विकराल, विकट आकारवाली, क्रूर और अत्यन्त दारुण हैं। इनके नेत्रों और केशोंसे भी क्रूरता टपकती है। मैं तरह-तरहके आघातोंद्वारा इन सबका वध कर डालना चाहता हूँ ॥ ३३ ॥

---

१. शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा।
ऊहापोहोऽर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः॥

सुननेकी इच्छा, सुनना, ग्रहण करना, स्मरण रखना, ऊहा (तर्क-वितर्क), अपोह (सिद्धान्तका निश्चय) अर्थका ज्ञान होना तथा तत्त्वको समझना—ये आठ बुद्धिके गुण हैं।

राक्षस्यो दारुणकथा वरमेतत् प्रयच्छ मे।
मुष्टिभिः पार्ष्णिघातैश्च विशालैश्चैव बाहुभिः॥ ३४॥
जङ्घाजानुप्रहारैश्च दन्तानां चैव पीडनैः।
कर्तनैः कर्णनासानां केशानां लुञ्चनैस्तथा॥ ३५॥
निपात्य हन्तुमिच्छामि तव विप्रियकारिणीः।
एवं प्रहारैर्बहुभिः सम्प्रहार्य यशस्विनि॥ ३६॥
घातये तीव्ररूपाभिर्याभिस्त्वं तर्जिता पुरा।

'मेरी इच्छा है कि मुक्कों, लातों, विशाल भुजाओं—थप्पड़ों, पिण्डलियों और घुटनोंकी मारसे इन्हें घायल करके इनके दाँत तोड़ दूँ, इनकी नाक और कान काट लूँ तथा इनके सिरके बाल नोचूँ। यशस्विनि! इस तरह बहुत-से प्रहारोंद्वारा इन सबको पीटकर क्रूरतापूर्ण बातें करनेवाली इन अप्रियकारिणी राक्षसियोंको पटक-पटककर मार डालूँ। जिन-जिन भयानक रूपवाली राक्षसियोंने पहले आपको डाँट बतायी है, उन सबको मैं अभी मौतके घाट उतार दूँगा। इसके लिये आप मुझे केवल वर (आज्ञा) दे दें' ॥ ३४—३६½ ॥

इत्युक्ता सा हनुमता कृपणा दीनवत्सला॥ ३७॥
हनूमन्तमुवाचेदं चिन्तयित्वा विमृश्य च।

हनुमान्‌जीके ऐसा कहनेपर करुणामय स्वभाववाली दीनवत्सला सीताने मन-ही-मन बहुत कुछ सोच-विचार करके उनसे इस प्रकार कहा— ॥ ३७½ ॥

राजसंश्रयवश्यानां कुर्वतीनां पराज्ञया॥ ३८॥
विधेयानां च दासीनां कः कुप्येद् वानरोत्तम।
भाग्यवैषम्यदोषेण पुरस्ताद्दुष्कृतेन च॥ ३९॥
मयैतत् प्राप्यते सर्वं स्वकृतं ह्युपभुज्यते।
मैवं वद महाबाहो दैवी ह्येषा परा गतिः॥ ४०॥

'कपिश्रेष्ठ! ये बेचारी राजाके आश्रयमें रहनेके कारण पराधीन थीं। दूसरोंकी आज्ञासे ही सब कुछ करती थीं, अतः स्वामीकी आज्ञाका पालन करनेवाली इन दासियोंपर कौन क्रोध करेगा? मेरा भाग्य ही अच्छा नहीं था तथा मेरे पूर्वजन्मके दुष्कर्म अपना फल देने लगे थे, इसीसे मुझे यह सब कष्ट प्राप्त हुआ है; क्योंकि सभी प्राणी अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका ही फल भोगते हैं, अतः महाबाहो! तुम इन्हें मारनेकी बात न कहो। मेरे लिये दैवका ही ऐसा विधान था ॥ ३८—४० ॥

प्राप्तव्यं तु दशायोगान्मयैतदिति निश्चितम्।
दासीनां रावणस्याहं मर्षयामीह दुर्बला॥ ४१॥

'मुझे अपने पूर्वकर्मजनित दशाके योगसे यह सारा दुःख निश्चितरूपसे भोगना ही था; इसलिये रावणकी दासियोंका यदि कुछ अपराध हो भी तो उसे मैं क्षमा करती हूँ; क्योंकि इनके प्रति दयाके उद्रेकसे मैं दुर्बल हो रही हूँ ॥ ४१ ॥

आज्ञप्ता राक्षसेनेह राक्षस्यस्तर्जयन्ति माम्।
हते तस्मिन् न कुर्वन्ति तर्जनं मारुतात्मज॥ ४२॥

'पवनकुमार! उस राक्षसकी आज्ञासे ही ये मुझे धमकाया करती थीं। जबसे वह मारा गया है, तबसे ये बेचारी मुझे कुछ नहीं कहती हैं। इन्होंने डराना-धमकाना छोड़ दिया है ॥ ४२ ॥

अयं व्याघ्रसमीपे तु पुराणो धर्मसंहितः।
ऋक्षेण गीतः श्लोकोऽस्ति तं निबोध प्लवंगम॥ ४३॥

'वानरवीर! इस विषयमें एक पुराना धर्मसम्मत श्लोक है, जिसे किसी व्याघ्रके निकट एक रीछने कहा था *। वह श्लोक मैं बता रही हूँ' सुनो ॥ ४३ ॥

न परः पापमादत्ते परेषां पापकर्मणाम्।
समयो रक्षितव्यस्तु सन्तश्चारित्रभूषणाः॥ ४४॥

'श्रेष्ठ पुरुष दूसरेकी बुराई करनेवाले पापियोंके पापकर्मको नहीं अपनाते हैं—बदलेमें उनके साथ स्वयं भी पापपूर्ण बर्ताव नहीं करना चाहते हैं, अतः अपनी प्रतिज्ञा एवं सदाचारकी रक्षा ही करनी चाहिये; क्योंकि साधुपुरुष अपने उत्तम चरित्रसे ही विभूषित होते हैं। सदाचार ही उनका आभूषण है' ॥ ४४ ॥

पापानां वा शुभानां वा वधार्हाणामथापि वा।
कार्यं कारुण्यमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति॥ ४५॥

'श्रेष्ठ पुरुषको चाहिये कि कोई पापी हों या पुण्यात्मा अथवा वे वधके योग्य अपराध करनेवाले ही क्यों न हों, उन सबपर दया करे; क्योंकि ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है, जिससे कभी अपराध होता ही न हो ॥ ४५ ॥

लोकहिंसाविहाराणां क्रूराणां पापकर्मणाम्।
कुर्वतामपि पापानि नैव कार्यमशोभनम्॥ ४६॥

---

* पहलेकी बात है—एक बाघने किसी व्याधका पीछा किया। व्याध भागकर एक वृक्षपर चढ़ गया। उस वृक्षपर पहलेसे ही कोई रीछ बैठा हुआ था। बाघ वृक्षकी जड़के पास पहुँचकर पेड़पर बैठे हुए रीछसे बोला—'हम और तुम दोनों ही वनके जीव हैं। यह व्याध हम दोनोंका ही शत्रु है; अतः तुम इसे वृक्षसे नीचे गिरा दो।' रीछने उत्तर दिया—'यह व्याध मेरे निवासस्थानपर आकर एक प्रकारसे मेरी शरण ले चुका है, इसलिये मैं इसे नीचे नहीं गिराऊँगा। यदि गिरा दूँ तो धर्मकी हानि होगी।' ऐसा कहकर रीछ सो गया। तब बाघने व्याधसे कहा—'देखो, इस सोये हुए रीछको नीचे गिरा दो। मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।' उसके ऐसा कहनेपर व्याधने उस रीछको धक्का दे दिया; परंतु रीछ अभ्यासवश दूसरी डाल पकड़कर गिरनेसे बच गया। तब बाघने रीछसे कहा—'यह व्याध तुमको गिराना चाहता था; अतः अपराधी है। इसलिये अब इसको नीचे ढकेल दो।' बाघके इस प्रकार बारम्बार उकसानेपर भी रीछने उस व्याधको नहीं गिराया और 'न परः पापमादत्ते' इस श्लोकका गान करके उसे मुँहतोड़ उत्तर दे दिया। यह प्राचीन कथा है। (रामायणभूषण-टीकासे)

'जो लोगोंकी हिंसामें ही रमते और सदा पापका ही आचरण करते हैं, उन क्रूर स्वभाववाले पापियोंका भी कभी अमङ्गल नहीं करना चाहिये' ॥ ४६ ॥

एवमुक्तस्तु हनुमान् सीतया वाक्यकोविदः ।
प्रत्युवाच ततः सीतां रामपत्नीमनिन्दिताम् ॥ ४७ ॥

सीताजीके ऐसा कहनेपर बातचीत करनेमें कुशल हनुमान्‌जीने उन सती-साध्वी श्रीरामपत्नीको इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ ४७ ॥

युक्ता रामस्य भवती धर्मपत्नी गुणान्विता ।
प्रतिसंदिश मां देवि गमिष्ये यत्र राघवः ॥ ४८ ॥

'देवि ! आप श्रीरामकी धर्मपत्नी हैं; अतः आपका ऐसे सद्‌गुणोंसे सम्पन्न होना उचित ही है। अब आप अपनी ओरसे मुझे कोई संदेश दें। मैं श्रीरघुनाथजीके पास जाऊँगा' ॥ ४८ ॥

एवमुक्ता हनुमता वैदेही जनकात्मजा ।
साब्रवीद् द्रष्टुमिच्छामि भर्तारं भक्तवत्सलम् ॥ ४९ ॥

हनुमान्‌जीके ऐसा कहनेपर विदेहनन्दिनी जनकराजकिशोरी बोलीं—'मैं अपने भक्तवत्सल स्वामीका दर्शन करना चाहती हूँ' ॥ ४९ ॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा हनूमान् मारुतात्मजः ।
हर्षयन् मैथिलीं वाक्यमुवाचेदं महामतिः ॥ ५० ॥

सीताजीकी यह बात सुनकर परम बुद्धिमान् पवनकुमार हनुमान्‌जी उन मिथिलेशकुमारीका हर्ष बढ़ाते हुए इस प्रकार बोले— ॥ ५० ॥

पूर्णचन्द्रमुखं रामं द्रक्ष्यस्यद्य सलक्ष्मणम् ।
स्थितमित्रं हतामित्रं शचीवेन्द्रं सुरेश्वरम् ॥ ५१ ॥

'देवि ! जैसे शची देवराज इन्द्रका दर्शन करती हैं, उसी प्रकार आप पूर्णचन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाले उन श्रीराम और लक्ष्मणको आज देखेंगी, जिनके मित्र विद्यमान हैं और शत्रु मारे जा चुके हैं' ॥ ५१ ॥

तामेवमुक्त्वा भ्राजन्तीं सीतां साक्षादिव श्रियम् ।
आजगाम महातेजा हनूमान् यत्र राघवः ॥ ५२ ॥

साक्षात् लक्ष्मीकी भाँति सुशोभित होनेवाली सीतादेवीसे ऐसा कहकर महातेजस्वी हनुमान्‌जी उस स्थानपर लौट आये, जहाँ श्रीरघुनाथजी विराजमान थे ॥ ५२ ॥

सपदि हरिवरस्ततो हनूमान्
प्रतिवचनं जनकेश्वरात्मजायाः ।
कथितमकथयद् यथाक्रमेण
त्रिदशवरप्रतिमाय राघवाय ॥ ५३ ॥

वहाँसे लौटते ही कपिवर हनुमान्‌जीने देवराज इन्द्रके तुल्य तेजस्वी श्रीरघुनाथजीसे जनकराजकिशोरी सीताजीका दिया हुआ उत्तर क्रमशः कह सुनाया ॥ ५३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे त्रयोदशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें एक सौ तेरहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११३ ॥

—★—

चतुर्दशाधिकशततमः सर्गः

श्रीरामकी आज्ञासे विभीषणका सीताको उनके समीप लाना और सीताका प्रियतमके मुखचन्द्रका दर्शन करना

तमुवाच महाप्राज्ञः सोऽभिवाद्य प्लवङ्गमः ।
रामं कमलपत्राक्षं वरं सर्वधनुष्मताम् ॥ १ ॥

तदनन्तर परम बुद्धिमान् वानरवीर हनुमान्‌जीने सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ कमलनयन श्रीरामको प्रणाम करके कहा— ॥ १ ॥

यन्निमित्तोऽयमारम्भः कर्मणां यः फलोदयः ।
तां देवीं शोकसंतप्तां द्रष्टुमर्हसि मैथिलीम् ॥ २ ॥

'भगवन् ! जिनके लिये इन युद्ध आदि कर्मोंका सारा उद्योग आरम्भ किया गया था, उन शोकसंतप्त मिथिलेशकुमारी सीतादेवीको आप दर्शन दें ॥ २ ॥

सा हि शोकसमाविष्टा बाष्पपर्याकुलेक्षणा ।
मैथिली विजयं श्रुत्वा द्रष्टुं त्वामभिकाङ्क्षति ॥ ३ ॥

'वे शोकमें डूबी रहती हैं। उनके नेत्र आँसुओंसे भरे हुए हैं। आपकी विजयका समाचार सुनकर वे मिथिलेशकुमारी आपका दर्शन करना चाहती हैं ॥ ३ ॥

पूर्वकात् प्रत्ययाच्चाहमुक्तो विश्वस्तया तया ।
द्रष्टुमिच्छामि भर्तारमिति पर्याकुलेक्षणा ॥ ४ ॥

'पहली बार जो मैं आपका संदेश लेकर आया था, तभीसे उनका मेरे ऊपर विश्वास हो गया है कि यह मेरे स्वामीका आत्मीय जन है। उसी विश्वाससे युक्त हो उन्होंने नेत्रोंमें आँसू भरकर मुझसे कहा है कि मैं प्राणनाथका दर्शन करना चाहती हूँ' ॥ ४ ॥

एवमुक्तो हनुमता रामो धर्मभृतां वरः ।
आगच्छत् सहसा ध्यानमीषद्बाष्पपरिप्लुतः ॥ ५ ॥
स दीर्घमभिनिःश्वस्य जगतीमवलोकयन् ।
उवाच मेघसंकाशं विभीषणमुपस्थितम् ॥ ६ ॥

हनुमान्‌जीके ऐसा कहनेपर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी सहसा ध्यानस्थ हो गये। उनकी आँखें डबडबा आयीं और वे लम्बी साँस खींचकर भूमिकी ओर देखते हुए पास ही खड़े मेघके समान श्याम कान्तिवाले विभीषणसे बोले— ॥ ५-६ ॥

दिव्याङ्गरागां वैदेहीं दिव्याभरणभूषिताम्।
इह सीतां शिरःस्नातामुपस्थापय मा चिरम्॥ ७॥

'तुम विदेहनन्दिनी सीताको मस्तकपरसे स्नान कराकर दिव्य अङ्गराग तथा दिव्य आभूषणोंसे विभूषित करके शीघ्र मेरे पास ले आओ' ॥ ७ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण त्वरमाणो विभीषणः।
प्रविश्यान्तःपुरं सीतां स्त्रीभिः स्वाभिरचोदयत्॥ ८॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर विभीषण बड़ी उतावलीके साथ अन्तःपुरमें गये और पहले अपनी स्त्रियोंको भेजकर उन्होंने सीताको अपने आनेकी खबर दी ॥ ८ ॥

ततः सीतां महाभागां दृष्ट्वोवाच विभीषणः।
मूर्ध्नि बद्धाञ्जलिः श्रीमान् विनीतो राक्षसेश्वरः॥ ९॥

इसके बाद श्रीमान् राक्षसराज विभीषणने स्वयं ही जाकर महाभाग सीताका दर्शन किया और मस्तकपर अञ्जलि बाँध विनीतभावसे कहा— ॥ ९ ॥

दिव्याङ्गरागा वैदेहि दिव्याभरणभूषिता।
यानमारोह भद्रं ते भर्ता त्वां द्रष्टुमिच्छति॥ १०॥

'विदेहराजकुमारी! आप स्नान करके दिव्य अङ्गराग तथा दिव्य वस्त्राभूषणोंसे भूषित होकर सवारीपर बैठिये। आपका कल्याण हो। आपके स्वामी आपको देखना चाहते हैं' ॥ १० ॥

एवमुक्ता तु वैदेही प्रत्युवाच विभीषणम्।
अस्नात्वा द्रष्टुमिच्छामि भर्तारं राक्षसेश्वर॥ ११॥

उनके ऐसा कहनेपर वैदेहीने विभीषणको उत्तर दिया—'राक्षसराज! मैं बिना स्नान किये ही अभी पतिदेवका दर्शन करना चाहती हूँ' ॥ ११ ॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा प्रत्युवाच विभीषणः।
यथाऽऽह रामो भर्ता ते तत् तथा कर्तुमर्हसि॥ १२॥

सीताकी यह बात सुनकर विभीषण बोले—'देवि! आपके पतिदेव श्रीरामचन्द्रजीने जैसी आज्ञा दी है, आपको वैसा ही करना चाहिये' ॥ १२ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा मैथिली पतिदेवता।
भर्तृभक्त्यावृता साध्वी तथेति प्रत्यभाषत॥ १३॥

उनका यह वचन सुनकर पतिभक्तिसे सुरक्षित तथा पतिको ही देवता माननेवाली सती-साध्वी मिथिलेशकुमारी सीताने 'बहुत अच्छा' कहकर स्वामीकी आज्ञा शिरोधार्य कर ली ॥ १३ ॥

ततः सीतां शिरःस्नातां संयुक्तां प्रतिकर्मणा।
महार्हाभरणोपेतां महार्हाम्बरधारिणीम्॥ १४॥

तत्पश्चात् विदेहकुमारीने सिरसे स्नान करके सुन्दर शृङ्गार किया तथा बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण पहनकर वे चलनेको तैयार हो गयीं ॥ १४ ॥

आरोप्य शिबिकां दीप्तां परार्ध्याम्बरसंवृताम्।
रक्षोभिर्बहुभिर्गुप्तामाजहार विभीषणः॥ १५॥

तब विभीषण बहुमूल्य वस्त्रोंसे आवृत दीप्तिमती सीता देवीको शिबिकामें बिठाकर भगवान् श्रीरामके पास ले आये। उस समय बहुत-से निशाचर चारों ओरसे घेरकर उनकी रक्षा कर रहे थे ॥ १५ ॥

सोऽभिगम्य महात्मानं ज्ञात्वापि ध्यानमास्थितम्।
प्रणतश्च प्रहृष्टश्च प्राप्तां सीतां न्यवेदयत्॥ १६॥

भगवान् श्रीराम ध्यानस्थ हैं, यह जानकर भी विभीषण उनके पास गये और उन्हें प्रणाम करके प्रसन्नतापूर्वक बोले—'प्रभो! सीतादेवी आ गयी हैं' ॥ १६ ॥

तामागतामुपश्रुत्य रक्षोगृहचिरोषिताम्।
रोषं हर्षं च दैन्यं च राघवः प्राप शत्रुहा॥ १७॥

राक्षसके घरमें बहुत दिनोंतक निवास करनेके बाद आज सीताजी आयी हैं, यह सोच उनके आगमनका समाचार सुनकर शत्रुसूदन श्रीरघुनाथजीको एक ही समय रोष, हर्ष और दुःख प्राप्त हुआ ॥ १७ ॥

ततो यानगतां सीतां सविमर्शं विचारयन्।
विभीषणमिदं वाक्यमहृष्टो राघवोऽब्रवीत्॥ १८॥

तदनन्तर 'सीता सवारीपर आयी हैं' इस बातपर तर्क-वितर्कपूर्ण विचार करके श्रीरघुनाथजीको प्रसन्नता नहीं हुई। वे विभीषणसे इस प्रकार बोले— ॥ १८ ॥

राक्षसाधिपते सौम्य नित्यं मद्विजये रत।
वैदेही संनिकर्षं मे क्षिप्रं समभिगच्छतु॥ १९॥

'सदा मेरी विजयके लिये तत्पर रहनेवाले सौम्य राक्षसराज! तुम विदेहकुमारीसे कहो, वे शीघ्र मेरे पास आयें ॥ १९ ॥'

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राघवस्य विभीषणः।
तूर्णमुत्सारणं तत्र कारयामास धर्मवित्॥ २०॥

श्रीरघुनाथजीकी यह बात सुनकर धर्मज्ञ विभीषणने तुरंत वहाँसे दूसरे लोगोंको हटाना प्रारम्भ किया ॥ २० ॥

कञ्चुकोष्णीषिणस्तत्र वेत्रझर्झरपाणयः।
उत्सारयन्तस्तान् योधान् समन्तात् परिचक्रमुः॥ २१॥

पगड़ी बाँधे और अङ्गा पहिने हुए बहुत-से सिपाही हाथोंमें झाँझकी तरह बजती हुई छड़ी लिये उन वानर-योद्धाओंको हटाते हुए चारों ओर घूमने लगे ॥ २१ ॥

ऋक्षाणां वानराणां च राक्षसानां च सर्वशः।
वृन्दान्युत्सार्यमाणानि दूरमुत्तस्थुरन्ततः॥ २२॥

उनके द्वारा हटाये जाते हुए रीछों, वानरों और राक्षसोंके समुदाय अन्ततोगत्वा दूर जाकर खड़े हो गये ॥ २२ ॥

तेषामुत्सार्यमाणानां निःस्वनः सुमहानभूत्।
वायुनोद्धूयमानस्य सागरस्येव निःस्वनः॥ २३॥

जैसे वायुके थपेड़े खाकर उद्वेलित हुए समुद्रकी गर्जना बढ़ जाती है, उसी प्रकार वहाँसे हटाये जाते हुए उन वानर आदिके हटनेसे वहाँ बड़ा भारी कोलाहल मच गया॥ २३॥

उत्सार्यमाणांस्तान् दृष्ट्वा समन्ताज्जातसम्भ्रमान्।
दाक्षिण्यात्तदमर्षाच्च वारयामास राघवः॥ २४॥

जिन्हें हटाया जाता था, उनके मनमें बड़ा उद्वेग होता था, सब ओर वह उद्वेग देखकर श्रीरघुनाथजीने अपनी सहज उदारताके कारण उन हटानेवालोंको रोषपूर्वक रोका—॥ २४॥

संरम्भाच्चाब्रवीद् रामश्चक्षुषा प्रदहन्निव।
विभीषणं महाप्राज्ञं सोपालम्भमिदं वचः॥ २५॥

उस समय श्रीराम हटानेवाले सिपाहियोंकी ओर इस तरह रोषपूर्ण दृष्टिसे देख रहे थे, मानो उन्हें जलाकर भस्म कर डालेंगे। उन्होंने परम बुद्धिमान् विभीषणको उलाहना देते हुए क्रोधपूर्वक कहा—॥ २५॥

किमर्थं मामनादृत्य क्लिश्यतेऽयं त्वया जनः।
निवर्तयैनमुद्वेगं जनोऽयं स्वजनो मम॥ २६॥

'तुम किसलिये मेरा अनादर करके इन सब लोगोंको कष्ट दे रहे हो। रोक दो इस उद्वेगजनक कार्यको। यहाँ जितने लोग हैं यह सब मेरे आत्मीय जन हैं॥ २६॥

न गृहाणि न वस्त्राणि न प्राकारस्तिरस्क्रिया।
नेदृशा राजसत्कारा वृत्तमावरणं स्त्रियाः॥ २७॥

'घर, वस्त्र (कनात आदि) और चहारदीवारी आदि वस्तुएँ स्त्रीके लिये परदा नहीं हुआ करती हैं। इस तरह लोगोंको दूर हटानेके जो निष्ठुरतापूर्ण व्यवहार हैं, ये भी स्त्रीके लिये आवरण या परदेका काम नहीं देते हैं। पतिसे प्राप्त होनेवाले सत्कार तथा नारीके अपने सदाचार—ये ही उसके लिये आवरण हैं॥ २७॥

व्यसनेषु न कृच्छ्रेषु न युद्धेषु स्वयंवरे।
न क्रतौ नो विवाहे वा दर्शनं दूष्यते स्त्रियाः॥ २८॥

'विपत्तिकालमें, शारीरिक या मानसिक पीड़ाके अवसरोंपर, युद्धमें, स्वयंवरमें, यज्ञमें अथवा विवाहमें स्त्रीका दीखना (या दूसरोंकी दृष्टिमें आना) दोषकी बात नहीं है॥ २८॥

सैषा विपद्गता चैव कृच्छ्रेण च समन्विता।
दर्शने नास्ति दोषोऽस्या मत्समीपे विशेषतः॥ २९॥

'यह सीता इस समय विपत्तिमें है। मानसिक कष्टसे भी युक्त है और विशेषतः मेरे पास है; इसलिये इसका परदेके बिना सबके सामने आना दोषकी बात नहीं है॥ २९॥

विसृज्य शिबिकां तस्मात् पद्भ्यामेवापसर्पतु।
समीपे मम वैदेहीं पश्यन्त्वेते वनौकसः॥ ३०॥

'अतः जानकी शिबिका (पालकी) छोड़कर पैदल ही मेरे पास आयें और ये सभी वानर उनका दर्शन करें'॥ ३०॥

एवमुक्तस्तु रामेण सविमर्शो विभीषणः।
रामस्योपानयत् सीतां संनिकर्षं विनीतवत्॥ ३१॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर विभीषण बड़े विचारमें पड़ गये और विनीतभावसे सीताको उनके समीप ले आये॥ ३१॥

ततो लक्ष्मणसुग्रीवौ हनूमांश्च प्लवङ्गमः।
निशम्य वाक्यं रामस्य बभूवुर्व्यथिता भृशम्॥ ३२॥

उस समय श्रीरामचन्द्रजीका पूर्वोक्त वचन सुनकर लक्ष्मण, सुग्रीव तथा कपिवर हनुमान् तीनों ही अत्यन्त व्यथित हो उठे॥ ३२॥

कलत्रनिरपेक्षैश्च इङ्गितैरस्य दारुणैः।
अप्रीतमिव सीतायां तर्कयन्ति स्म राघवम्॥ ३३॥

श्रीरामचन्द्रजीकी भयंकर चेष्टाएँ यह सूचित कर रही थीं कि वे पत्नीकी ओरसे निरपेक्ष हो गये हैं। इसीलिये उन तीनोंने यह अनुमान किया कि श्रीरघुनाथजी सीतापर अप्रसन्न-से जान पड़ते हैं॥ ३३॥

लज्जया त्ववलीयन्ती स्वेषु गात्रेषु मैथिली।
विभीषणेनानुगता भर्तारं साभ्यवर्तत॥ ३४॥

आगे-आगे सीता थीं और पीछे विभीषण। वे लज्जासे अपने अङ्गोंमें ही सिकुड़ी जा रही थीं। इस तरह वे अपने पतिदेवके सामने उपस्थित हुईं॥ ३४॥

विस्मयाच्च प्रहर्षाच्च स्नेहाच्च पतिदेवता।
उदैक्षत मुखं भर्तुः सौम्यं सौम्यतरानना॥ ३५॥

सीताजीका मुख अत्यन्त सौम्यभावसे युक्त था। वे पतिको ही देवता माननेवाली थीं। उन्होंने बड़े विस्मय, हर्ष और स्नेहके साथ अपने स्वामीके सौम्य (मनोहर) मुखका दर्शन किया॥ ३५॥

अथ समपनुदन्मनःक्लमं सा
सुचिरमदृष्टमुदीक्ष्य वै प्रियस्य।
वदनमुदितपूर्णचन्द्रकान्तं
विमलशशाङ्कनिभानना तदाऽऽसीत्॥ ३६॥

उदयकालीन पूर्ण चन्द्रमाको भी लज्जित करनेवाले प्रियतमके सुन्दर मुखको, जिसके दर्शनसे वे बहुत दिनोंसे वञ्चित थीं, सीताने जी भरकर निहारा और अपने मनकी पीड़ा दूर की। उस समय उनका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा और निर्मल चन्द्रमाके समान शोभा पाने लगा॥ ३६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे चतुर्दशाधिकशततमः सर्गः॥ ११४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें एक सौ चौदहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ११४॥

पञ्चदशाधिकशततमः सर्गः

सीताके चरित्रपर संदेह करके श्रीरामका उन्हें ग्रहण करनेसे इन्कार करना और अन्यत्र जानेके लिये कहना

तां तु पार्श्वे स्थितां प्रह्वां रामः सम्प्रेक्ष्य मैथिलीम्।
हृदयान्तर्गतं भावं व्याहर्तुमुपचक्रमे॥ १॥

मिथिलेशकुमारी सीताको विनयपूर्वक अपने समीप खड़ी देख श्रीरामचन्द्रजीने अपना हार्दिक अभिप्राय बताना आरम्भ किया— ॥ १॥

एषासि निर्जिता भद्रे शत्रुं जित्वा रणाजिरे।
पौरुषाद् यदनुष्ठेयं मयैतदुपपादितम्॥ २॥

'भद्रे! समराङ्गणमें शत्रुको पराजित करके मैंने तुम्हें उसके चंगुलसे छुड़ा लिया। पुरुषार्थके द्वारा जो कुछ किया जा सकता था, वह सब मैंने किया॥ २॥

गतोऽस्म्यन्तममर्षस्य धर्षणा सम्प्रमार्जिता।
अवमानश्च शत्रुश्च युगपन्निहतौ मया॥ ३॥

'अब मेरे अमर्षका अन्त हो गया। मुझपर जो कलङ्क लगा था, उसका मैंने मार्जन कर दिया। शत्रुजनित अपमान और शत्रु दोनोंको एक साथ ही नष्ट कर डाला॥ ३॥

अद्य मे पौरुषं दृष्टमद्य मे सफलः श्रमः।
अद्य तीर्णप्रतिज्ञोऽहं प्रभवाम्यद्य चात्मनः॥ ४॥

'आज सबने मेरा पराक्रम देख लिया। अब मेरा परिश्रम सफल हो गया और इस समय प्रतिज्ञा पूर्ण करके मैं उसके भारसे मुक्त एवं स्वतन्त्र हो गया॥ ४॥

या त्वं विरहिता नीता चलचित्तेन रक्षसा।
दैवसम्पादितो दोषो मानुषेण मया जितः॥ ५॥

'जब तुम आश्रममें अकेली थीं, उस समय वह चञ्चल चित्तवाला राक्षस तुम्हें हर ले गया। यह दोष मेरे ऊपर दैववश प्राप्त हुआ था, जिसका मैंने मानवसाध्य पुरुषार्थके द्वारा मार्जन कर दिया॥ ५॥

सम्प्राप्तमवमानं यस्तेजसा न प्रमार्जति।
कस्तस्य पौरुषेणार्थो महताप्यल्पचेतसः॥ ६॥

'जो पुरुष प्राप्त हुए अपमानका अपने तेज या बलसे मार्जन नहीं कर देता है, उस मन्दबुद्धि मानवके महान् पुरुषार्थसे भी क्या लाभ हुआ?॥ ६॥

लङ्घनं च समुद्रस्य लङ्कायाश्चापि मर्दनम्।
सफलं तस्य च श्लाघ्यमद्य कर्म हनूमतः॥ ७॥

'हनुमान्‌ने जो समुद्रको लाँघा और लङ्काका विध्वंस किया, उनका वह प्रशंसनीय कर्म आज सफल हो गया॥ ७॥

युद्धे विक्रमतश्चैव हितं मन्त्रयतस्तथा।
सुग्रीवस्य ससैन्यस्य सफलोऽद्य परिश्रमः॥ ८॥

'सेनासहित सुग्रीवने युद्धमें पराक्रम दिखाया तथा समय-समयपर वे मुझे हितकर सलाह देते रहे हैं, इनका परिश्रम भी अब सार्थक हो गया॥ ८॥

विभीषणस्य च तथा सफलोऽद्य परिश्रमः।
विगुणं भ्रातरं त्यक्त्वा यो मां स्वयमुपस्थितः॥ ९॥

'ये विभीषण दुर्गुणोंसे भरे हुए अपने भाईका परित्याग करके स्वयं ही मेरे पास उपस्थित हुए थे। अबतकका किया हुआ इनका परिश्रम भी निष्फल नहीं हुआ'॥ ९॥

इत्येवं वदतः श्रुत्वा सीता रामस्य तद् वचः।
मृगीवोत्फुल्लनयना बभूवाश्रुपरिप्लुता॥ १०॥

इस तरह कहते हुए श्रीरामजीकी बातें सुनकर मृगीके समान विकसित नेत्रोंवाली सीताकी आँखोंमें आँसू भर आया॥ १०॥

पश्यतस्तां तु रामस्य समीपे हृदयप्रियाम्।
जनवादभयाद् राज्ञो बभूव हृदयं द्विधा॥ ११॥

वे अपने स्वामीकी हृदयवल्लभा थीं। उनके प्राणवल्लभ उन्हें अपने समीप देख रहे थे; परंतु लोकापवादके भयसे राजा श्रीरामका हृदय उस समय विदीर्ण हो रहा था॥ ११॥

सीतामुत्पलपत्राक्षीं नीलकुञ्चितमूर्धजाम्।
अवदद् वै वरारोहां मध्ये वानररक्षसाम्॥ १२॥

वे काले-काले घुँघराले बालोंवाली कमललोचना सुन्दरी सीतासे वानर और राक्षसोंकी भरी सभामें पुनः इस प्रकार कहने लगे— ॥ १२॥

यत् कर्तव्यं मनुष्येण धर्षणां प्रतिमार्जता।
तत् कृतं रावणं हत्वा मयेदं मानकाङ्क्षिणा॥ १३॥

'अपने तिरस्कारका बदला चुकानेके लिये मनुष्यका जो कर्तव्य है, वह सब मैंने अपनी मानरक्षाकी अभिलाषासे रावणका वध करके पूर्ण किया॥ १३॥

निर्जिता जीवलोकस्य तपसा भावितात्मना।
अगस्त्येन दुराधर्षा मुनिना दक्षिणेव दिक्॥ १४॥

'जैसे तपस्यासे भावित अन्तःकरणवाले अथवा तपस्यापूर्वक परमात्मस्वरूपका चिन्तन करनेवाले महर्षि अगस्त्यने वातापि और इल्वलके भयसे जीवजगत्‌के लिये दुर्गम हुई दक्षिण दिशाको जीता था, उसी प्रकार मैंने रावणके वशमें पड़ी हुई तुमको जीता है॥ १४॥

विदितश्चास्तु भद्रं ते योऽयं रणपरिश्रमः।
सुतीर्णः सुहृदां वीर्यान्न त्वदर्थं मया कृतः॥ १५॥

'तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हें मालूम होना चाहिये कि मैंने जो यह युद्धका परिश्रम उठाया है तथा इन मित्रोंके पराक्रमसे जो इसमें विजय पायी है, यह सब तुम्हें पानेके लिये नहीं किया गया है॥ १५॥

रक्षता तु मया वृत्तमपवादं च सर्वतः।
प्रख्यातस्यात्मवंशस्य न्यङ्गं च परिमार्जता॥ १६॥

'सदाचारकी रक्षा, सब ओर फैले हुए अपवादका निवारण तथा अपने सुविख्यात वंशपर लगे हुए कलङ्कका परिमार्जन करनेके लिये ही यह सब मैंने किया है ॥ १६ ॥

प्राप्तचारित्रसंदेहा मम प्रतिमुखे स्थिता ।
दीपो नेत्रातुरस्येव प्रतिकूलासि मे दृढा ॥ १७ ॥

'तुम्हारे चरित्रमें संदेहका अवसर उपस्थित है; फिर भी तुम मेरे सामने खड़ी हो। जैसे आँखके रोगीको दीपककी ज्योति नहीं सुहाती, उसी प्रकार आज तुम मुझे अत्यन्त अप्रिय जान पड़ती हो ॥ १७ ॥

तद् गच्छ त्वानुजानेऽद्य यथेष्टं जनकात्मजे ।
एता दश दिशो भद्रे कार्यमस्ति न मे त्वया ॥ १८ ॥

'अतः जनककुमारी! तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, चली जाओ। मैं अपनी ओरसे तुम्हें अनुमति देता हूँ। भद्रे! ये दसों दिशाएँ तुम्हारे लिये खुली हैं। अब तुमसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है ॥ १८ ॥

कः पुमांस्तु कुले जातः स्त्रियं परगृहोषिताम् ।
तेजस्वी पुनरादद्यात् सुहृल्लोभेन चेतसा ॥ १९ ॥

'कौन ऐसा कुलीन पुरुष होगा, जो तेजस्वी होकर भी दूसरेके घरमें रही हुई स्त्रीको, केवल इस लोभसे कि यह मेरे साथ बहुत दिनोंतक रहकर सौहार्द स्थापित कर चुकी है, मनसे भी ग्रहण कर सकेगा ॥ १९ ॥

रावणाङ्कपरिक्लिष्टां दृष्टां दुष्टेन चक्षुषा ।
कथं त्वां पुनरादद्यां कुलं व्यपदिशन्महत् ॥ २० ॥

'रावण तुम्हें अपनी गोदमें उठाकर ले गया और तुमपर अपनी दूषित दृष्टि डाल चुका है, ऐसी दशामें अपने कुलको महान् बताता हुआ मैं फिर तुम्हें कैसे ग्रहण कर सकता हूँ ॥ २० ॥

यदर्थं निर्जिता मे त्वं सोऽयमासादितो मया ।
नास्ति मे त्वय्यभिष्वङ्गो यथेष्टं गम्यतामिति ॥ २१ ॥

'अतः जिस उद्देश्यसे मैंने तुम्हें जीता था, वह सिद्ध हो गया—मेरे कुलके कलङ्कका मार्जन हो गया। अब मेरी तुम्हारे प्रति ममता या आसक्ति नहीं है; अतः तुम जहाँ जाना चाहो, जा सकती हो ॥ २१ ॥

तदद्य व्याहृतं भद्रे मयैतत् कृतबुद्धिना ।
लक्ष्मणे वाथ भरते कुरु बुद्धिं यथासुखम् ॥ २२ ॥

'भद्रे! मेरा यह निश्चित विचार है। इसके अनुसार ही आज मैंने तुम्हारे सामने ये बातें कही हैं। तुम चाहो तो भरत या लक्ष्मणके संरक्षणमें सुखपूर्वक रहनेका विचार कर सकती हो ॥ २२ ॥

शत्रुघ्ने वाथ सुग्रीवे राक्षसे वा विभीषणे ।
निवेशय मनः सीते यथा वा सुखमात्मना ॥ २३ ॥

'सीते! तुम्हारी इच्छा हो तो तुम शत्रुघ्न, वानरराज सुग्रीव अथवा राक्षसराज विभीषणके पास भी रह सकती हो। जहाँ तुम्हें सुख मिले, वहीं अपना मन लगाओ ॥ २३ ॥

नहि त्वां रावणो दृष्ट्वा दिव्यरूपां मनोरमाम् ।
मर्षयेत चिरं सीते स्वगृहे पर्यवस्थिताम् ॥ २४ ॥

'सीते! तुम-जैसी दिव्यरूप-सौन्दर्यसे सुशोभित मनोरम नारीको अपने घरमें स्थित देखकर रावण चिरकालतक तुमसे दूर रहनेका कष्ट नहीं सह सका होगा' ॥ २४ ॥

ततः प्रियार्हश्रवणा तदप्रियं
प्रियादुपश्रुत्य चिरस्य मानिनी ।
मुमोच बाष्पं रुदती तदा भृशं
गजेन्द्रहस्ताभिहतेव वल्लरी ॥ २५ ॥

जो सदा प्रिय वचन सुननेके ही योग्य थीं, वे मानिनी सीता चिरकालके बाद मिले हुए प्रियतमके मुखसे ऐसी अप्रिय बात सुनकर उस समय हाथीकी सूँड़से आहत हुई लताके समान आँसू बहाने और रोने लगीं ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे पञ्चदशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें एक सौ पंद्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११५ ॥

षोडशाधिकशततमः सर्गः

सीताका श्रीरामको उपालम्भपूर्ण उत्तर देकर अपने सतीत्वकी परीक्षा देनेके लिये अग्निमें प्रवेश करना

एवमुक्ता तु वैदेही परुषं रोमहर्षणम् ।
राघवेण सरोषेण श्रुत्वा प्रव्यथिताभवत् ॥ १ ॥

श्रीरघुनाथजीने रोषपूर्वक जब इस तरह रोंगटे खड़े कर देनेवाली कठोर बात कही, तब उसे सुनकर विदेहराजकुमारी सीताके मनमें बड़ी व्यथा हुई ॥ १ ॥

सा तदाश्रुतपूर्वं हि जने महति मैथिली ।
श्रुत्वा भर्तृवचो घोरं लज्जयावनताभवत् ॥ २ ॥

इतने बड़े जनसमुदायमें अपने स्वामीके मुँहसे ऐसी भयंकर बात, जो पहले कभी कानोंमें नहीं पड़ी थी, सुनकर मिथिलेशकुमारी लाजसे गड़ गयीं ॥ २ ॥

प्रविशन्तीव गात्राणि स्वानि सा जनकात्मजा।
वाक्शरैस्तैः सशल्येव भृशमश्रूण्यवर्तयत्॥ ३॥

उन वाग्बाणोंसे पीड़ित होकर वे जनककिशोरी अपने ही अङ्गोंमें विलीन-सी होने लगीं। उनके नेत्रोंसे आँसुओंका अविरल प्रवाह जारी हो गया॥ ३॥

ततो बाष्पपरिक्लिन्नं प्रमार्जन्ती स्वमाननम्।
शनैर्गद्गदया वाचा भर्तारमिदमब्रवीत्॥ ४॥

नेत्रोंके जलसे भीगे हुए अपने मुखको अंचलसे पोंछती हुई वे धीरे-धीरे गद्गद वाणीमें पतिदेवसे इस प्रकार बोलीं—॥ ४॥

किं मामसदृशं वाक्यमीदृशं श्रोत्रदारुणम्।
रूक्षं श्रावयसे वीर प्राकृतः प्राकृतामिव॥ ५॥

'वीर! आप ऐसी कठोर, अनुचित, कर्णकटु और रूखी बात मुझे क्यों सुना रहे हैं? जैसे कोई निम्न श्रेणीका पुरुष निम्नकोटिकी ही स्त्रीसे न कहने योग्य बातें भी कह डालता है, उसी तरह आप भी मुझसे कह रहे हैं॥ ५॥

न तथास्मि महाबाहो यथा मामवगच्छसि।
प्रत्ययं गच्छ मे स्वेन चारित्रेणैव ते शपे॥ ६॥

'महाबाहो! आप मुझे अब जैसी समझते हैं, वैसी मैं नहीं हूँ। मुझपर विश्वास कीजिये। मैं अपने सदाचारकी ही शपथ खाकर कहती हूँ कि मैं संदेहके योग्य नहीं हूँ॥ ६॥

पृथक्स्त्रीणां प्रचारेण जातिं त्वं परिशङ्कसे।
परित्यजैनां शङ्कां तु यदि तेऽहं परीक्षिता॥ ७॥

'नीच श्रेणीकी स्त्रियोंका आचरण देखकर यदि आप समूची स्त्री-जातिपर ही संदेह करते हैं तो यह उचित नहीं है। यदि आपने मुझे अच्छी तरह परख लिया हो तो अपने इस संदेहको मनसे निकाल दीजिये॥ ७॥

यदहं गात्रसंस्पर्शं गतास्मि विवशा प्रभो।
कामकारो न मे तत्र दैवं तत्रापराध्यति॥ ८॥

'प्रभो! रावणके शरीरसे जो मेरे इस शरीरका स्पर्श हो गया है, उसमें मेरी विवशता ही कारण है। मैंने स्वेच्छासे ऐसा नहीं किया था। इसमें मेरे दुर्भाग्यका ही दोष है॥ ८॥

मदधीनं तु यत् तन्मे हृदयं त्वयि वर्तते।
पराधीनेषु गात्रेषु किं करिष्याम्यनीश्वरी॥ ९॥

'जो मेरे अधीन है, वह मेरा हृदय सदा आपमें ही लगा रहता है (उसपर दूसरा कोई अधिकार नहीं कर सकता); परंतु मेरे अङ्ग तो पराधीन थे। उनका यदि दूसरेसे स्पर्श हो गया तो मैं विवश अबला क्या कर सकती थी॥ ९॥

सह संवृद्धभावेन संसर्गेण च मानद।
यदि तेऽहं न विज्ञाता हता तेनास्मि शाश्वतम्॥ १०॥

'दूसरोंको मान देनेवाले प्राणनाथ! हम दोनोंका परस्पर अनुराग सदा साथ-साथ बढ़ा है। हम सदा एक साथ रहते आये हैं। इतनेपर भी यदि आपने मुझे अच्छी तरह नहीं समझा तो मैं सदाके लिये मारी गयी॥ १०॥

प्रेषितस्ते महावीरो हनुमानवलोककः।
लङ्कास्थाहं त्वया राजन् किं तदा न विसर्जिता॥ ११॥

'महाराज! लङ्कामें मुझे देखनेके लिये जब आपने महावीर हनुमान्‌को भेजा था, उसी समय मुझे क्यों नहीं त्याग दिया?॥ ११॥

प्रत्यक्षं वानरस्यास्य तद्वाक्यसमनन्तरम्।
त्वया संत्यक्तया वीर त्यक्तं स्याज्जीवितं मया॥ १२॥

'उस समय वानरवीर हनुमान्‌के मुखसे आपके द्वारा अपने त्यागकी बात सुनकर तत्काल इनके सामने ही मैंने अपने प्राणोंका परित्याग कर दिया होता॥ १२॥

न वृथा ते श्रमोऽयं स्यात् संशये न्यस्य जीवितम्।
सुहृज्जनपरिक्लेशो न चायं विफलस्तव॥ १३॥

'फिर इस प्रकार अपने जीवनको संकटमें डालकर आपको यह युद्ध आदिका व्यर्थ परिश्रम नहीं करना पड़ता तथा आपके ये मित्रलोग भी अकारण कष्ट नहीं उठाते॥ १३॥

त्वया तु नृपशार्दूल रोषमेवानुवर्तता।
लघुनेव मनुष्येण स्त्रीत्वमेव पुरस्कृतम्॥ १४॥

'नृपश्रेष्ठ! आपने ओछे मनुष्यकी भाँति केवल रोषका ही अनुसरण करके मेरे शील-स्वभावका विचार छोड़कर केवल निम्नकोटिकी स्त्रियोंके स्वभावको ही अपने सामने रखा है॥ १४॥

अपदेशो मे जनकान्नोत्पत्तिर्वसुधातलात्।
मम वृत्तं च वृत्तज्ञ बहु ते न पुरस्कृतम्॥ १५॥

'सदाचारके मर्मको जाननेवाले देवता! राजा जनककी यज्ञभूमिसे आविर्भूत होनेके कारण ही मुझे जानकी कहकर पुकारा जाता है। वास्तवमें मेरी उत्पत्ति जनकसे नहीं हुई है। मैं भूतलसे प्रकट हुई हूँ। (साधारण मानव-जातिसे विलक्षण हूँ—दिव्य हूँ। उसी तरह मेरा आचार-विचार भी अलौकिक एवं दिव्य है; मुझमें चारित्रिक बल विद्यमान है, परंतु) आपने मेरी इन विशेषताओंको अधिक महत्त्व नहीं दिया—इन सबको अपने सामने नहीं रखा॥ १५॥

न प्रमाणीकृतः पाणिर्बाल्ये मम निपीडितः।
मम भक्तिश्च शीलं च सर्वं ते पृष्ठतः कृतम्॥ १६॥

'बाल्यावस्थामें आपने मेरा पाणिग्रहण किया है, इसकी ओर भी ध्यान नहीं दिया। आपके प्रति मेरे हृदयमें जो भक्ति है और मुझमें जो शील है, वह सब आपने पीछे ढकेल दिया—एक साथ ही भुला दिया'॥ १६॥

इति ब्रुवन्ती रुदती बाष्पगद्गदभाषिणी।
उवाच लक्ष्मणं सीता दीनं ध्यानपरायणम्॥ १७॥

इतना कहते-कहते सीताका गला भर आया। वे रोती और आँसू बहाती हुई दुःखी एवं चिन्तामग्न होकर बैठे हुए

लक्ष्मणसे गद्गद वाणीमें बोलीं— ॥ १७ ॥

चितां मे कुरु सौमित्रे व्यसनस्यास्य भेषजम्।
मिथ्यापवादोपहता नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ १८ ॥

'सुमित्रानन्दन ! मेरे लिये चिता तैयार कर दो। मेरे इस दुःखकी यही दवा है। मिथ्या कलङ्कसे कलङ्कित होकर मैं जीवित नहीं रह सकती ॥ १८ ॥

अप्रीतेन गुणैर्भर्त्रा त्यक्ताया जनसंसदि।
या क्षमा मे गतिर्गन्तुं प्रवेक्ष्ये हव्यवाहनम् ॥ १९ ॥

'मेरे स्वामी मेरे गुणोंसे प्रसन्न नहीं हैं। इन्होंने भरी सभामें मेरा परित्याग कर दिया है। ऐसी दशामें मेरे लिये जो उचित मार्ग है, उसपर जानेके लिये मैं अग्निमें प्रवेश करूँगी' ॥ १९ ॥

एवमुक्तस्तु वैदेह्या लक्ष्मणः परवीरहा।
अमर्षवशमापन्नो राघवं समुदैक्षत ॥ २० ॥

विदेहनन्दिनीके ऐसा कहनेपर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले लक्ष्मणने अमर्षके वशीभूत होकर श्रीरामचन्द्रजीकी ओर देखा (उनसे सीताजीका वह अपमान सहा नहीं जाता था) ॥ २० ॥

स विज्ञाय मनश्छन्दं रामस्याकारसूचितम्।
चितां चकार सौमित्रिर्मते रामस्य वीर्यवान् ॥ २१ ॥

परंतु श्रीरामके इशारेसे सूचित होनेवाले उनके हार्दिक अभिप्रायको जानकर पराक्रमी लक्ष्मणने उनकी सम्मतिसे ही चिता तैयार की ॥ २१ ॥

नहि रामं तदा कश्चित् कालान्तकयमोपमम्।
अनुनेतुमथो वक्तुं द्रष्टुं वाप्यशकत् सुहृत् ॥ २२ ॥

उस समय श्रीरघुनाथजी प्रलयकालीन संहारकारी यमराजके समान लोगोंके मनमें भय उत्पन्न कर रहे थे। उनका कोई भी मित्र उन्हें समझाने, उनसे कुछ कहने अथवा उनकी ओर देखनेका साहस न कर सका ॥ २२ ॥

अधोमुखं स्थितं रामं ततः कृत्वा प्रदक्षिणम्।
उपावर्तत वैदेही दीप्यमानं हुताशनम् ॥ २३ ॥

भगवान् श्रीराम सिर झुकाये खड़े थे। उसी अवस्थामें सीताजीने उनकी परिक्रमा की। इसके बाद वे प्रज्वलित अग्निके पास गयीं ॥ २३ ॥

प्रणम्य दैवतेभ्यश्च ब्राह्मणेभ्यश्च मैथिली।
बद्धाञ्जलिपुटा चेदमुवाचाग्निसमीपतः ॥ २४ ॥

वहाँ देवताओं तथा ब्राह्मणोंको प्रणाम करके मिथिलेशकुमारीने दोनों हाथ जोड़कर अग्निदेवके समीप इस प्रकार कहा— ॥ २४ ॥

यथा मे हृदयं नित्यं नापसर्पति राघवात्।
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः ॥ २५ ॥

'यदि मेरा हृदय कभी एक क्षणके लिये भी श्रीरघुनाथजीसे दूर न हुआ हो तो सम्पूर्ण जगत्के साक्षी अग्निदेव मेरी सब ओरसे रक्षा करें ॥ २५ ॥

यथा मां शुद्धचारित्रां दुष्टां जानाति राघवः।
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः ॥ २६ ॥

'मेरा चरित्र शुद्ध है फिर भी श्रीरघुनाथजी मुझे दूषित समझ रहे हैं। यदि मैं सर्वथा निष्कलङ्क होऊँ तो सम्पूर्ण जगत्के साक्षी अग्निदेव मेरी सब ओरसे रक्षा करें ॥ २६ ॥

कर्मणा मनसा वाचा यथा नातिचराम्यहम्।
राघवं सर्वधर्मज्ञं तथा मां पातु पावकः ॥ २७ ॥

'यदि मैंने मन, वाणी और क्रियाद्वारा कभी सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता श्रीरघुनाथजीका अतिक्रमण न किया हो तो अग्निदेव मेरी रक्षा करें' ॥ २७ ॥

आदित्यो भगवान् वायुर्दिशश्चन्द्रस्तथैव च।
अहश्चापि तथा संध्ये रात्रिश्च पृथिवी तथा।
यथान्येऽपि विजानन्ति तथा चारित्रसंयुताम् ॥ २८ ॥

'यदि भगवान् सूर्य, वायु, दिशाएँ, चन्द्रमा, दिन, रात, दोनों संध्याएँ, पृथ्वी देवी तथा अन्य देवता भी मुझे शुद्ध चरित्रसे युक्त जानते हों तो अग्निदेव मेरी सब ओरसे रक्षा करें' ॥ २८ ॥

एवमुक्त्वा तु वैदेही परिक्रम्य हुताशनम्।
विवेश ज्वलनं दीप्तं निःशङ्केनान्तरात्मना ॥ २९ ॥

ऐसा कहकर विदेहराजकुमारीने अग्निदेवकी परिक्रमा की और निःशङ्क चित्तसे वे उस प्रज्वलित अग्निमें समा गयीं ॥ २९ ॥

जनश्च सुमहांस्तत्र बालवृद्धसमाकुलः।
ददर्श मैथिलीं दीप्तां प्रविशन्तीं हुताशनम् ॥ ३० ॥

बालकों और बूढ़ोंसे भरे हुए वहाँके महान् जनसमुदायने उन दीप्तिमती मिथिलेशकुमारीको जलती आगमें प्रवेश करते देखा ॥ ३० ॥

सा तप्तनवहेमाभा तप्तकाञ्चनभूषणा।
पपात ज्वलनं दीप्तं सर्वलोकस्य संनिधौ ॥ ३१ ॥

तपाये हुए नूतन सुवर्णकी-सी कान्तिवाली सीता आगमें तपाकर शुद्ध किये गये सुवर्णके आभूषणोंसे विभूषित थीं। वे सब लोगोंके निकट उनके देखते-देखते उस जलती आगमें कूद पड़ीं ॥ ३१ ॥

ददृशुस्तां विशालाक्षीं पतन्तीं हव्यवाहनम्।
सीतां सर्वाणि रूपाणि रुक्मवेदिनिभां तदा ॥ ३२ ॥

सोनेकी बनी हुई वेदीके समान कान्तिमती विशाललोचना सीतादेवीको उस समय सम्पूर्ण भूतोंने आगमें गिरते देखा ॥ ३२ ॥

ददृशुस्तां महाभागां प्रविशन्तीं हुताशनम्।
ऋषयो देवगन्धर्वा यज्ञे पूर्णाहुतीमिव ॥ ३३ ॥

ऋषियों, देवताओं और गन्धर्वोंने देखा, जैसे यज्ञमें पूर्णाहुतिका होम होता है, उसी प्रकार महाभागा सीता जलती

आगमें प्रवेश कर रही हैं ॥ ३३ ॥

प्रचुक्रुशुः स्त्रियः सर्वास्तां दृष्ट्वा हव्यवाहने ।
पतन्तीं संस्कृतां मन्त्रैर्वसोर्धारामिवाध्वरे ॥ ३४ ॥

जैसे यज्ञमें मन्त्रोंद्वारा संस्कार की हुई वसुधाराकी[1] आहुति दी जाती है, उसी प्रकार दिव्य आभूषणोंसे विभूषित सीताको आगमें गिरते देख वहाँ आयी हुई सभी स्त्रियाँ चीख उठीं ॥ ३४ ॥

ददृशुस्तां त्रयो लोका देवगन्धर्वदानवाः ।
शप्तां पतन्तीं निरये त्रिदिवाद् देवतामिव ॥ ३५ ॥

तीनों लोकोंके दिव्य प्राणी, ऋषि, देवता, गन्धर्व तथा दानवोंने भी भगवती सीताको आगमें गिरते देखा, मानो स्वर्गसे कोई देवी शापग्रस्त होकर नरकमें गिरी हो ॥ ३५ ॥

तस्यामग्निं विशन्त्यां तु हाहेति विपुलः स्वनः ।
रक्षसां वानराणां च सम्बभूवाद्भुतोपमः ॥ ३६ ॥

उनके अग्निमें प्रवेश करते समय राक्षस और वानर जोर-जोरसे हाहाकार करने लगे। उनका वह अद्भुत आर्तनाद चारों ओर गूँज उठा ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे षोडशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें एक सौ सोलहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११६ ॥

—★—

सप्तदशाधिकशततमः सर्गः

भगवान् श्रीरामके पास देवताओंका आगमन तथा ब्रह्माद्वारा उनकी भगवत्ताका प्रतिपादन एवं स्तवन

ततो हि दुर्मना रामः श्रुत्वैवं वदतां गिरः ।
दध्यौ मुहूर्तं धर्मात्मा बाष्पव्याकुललोचनः ॥ १ ॥

तदनन्तर धर्मात्मा श्रीराम हाहाकार करनेवाले वानर और राक्षसोंकी बातें सुनकर मन-ही-मन बहुत दुःखी हुए और आँखोंमें आँसू भरकर दो घड़ीतक कुछ सोचते रहे ॥ १ ॥

ततो वैश्रवणो राजा यमश्च पितृभिः सह ।
सहस्राक्षश्च देवेशो वरुणश्च जलेश्वरः ॥ २ ॥
षडर्धनयनः श्रीमान् महादेवो वृषध्वजः ।
कर्ता सर्वस्य लोकस्य ब्रह्मा ब्रह्मविदां वरः ॥ ३ ॥
एते सर्वे समागम्य विमानैः सूर्यसंनिभैः ।
आगम्य नगरीं लङ्कामभिजग्मुश्च राघवम् ॥ ४ ॥

इसी समय विश्रवाके पुत्र यक्षराज कुबेर, पितरोंसहित यमराज, देवताओंके स्वामी सहस्र नेत्रधारी इन्द्र, जलके अधिपति वरुण, त्रिनेत्रधारी श्रीमान् वृषभध्वज महादेव तथा सम्पूर्ण जगत्‌के स्रष्टा ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ ब्रह्माजी—ये सब देवता सूर्यतुल्य विमानोंद्वारा लङ्कापुरीमें आकर श्रीरघुनाथजीके पास गये ॥ २—४ ॥

ततः सहस्ताभरणान् प्रगृह्य विपुलान् भुजान् ।
अब्रुवंस्त्रिदशश्रेष्ठा राघवं प्राञ्जलिं स्थितम् ॥ ५ ॥

भगवान् श्रीराम उनके सामने हाथ जोड़े खड़े थे। वे श्रेष्ठ देवता आभूषणोंसे अलंकृत अपनी विशाल भुजाओंको उठाकर उनसे बोले— ॥ ५ ॥

कर्ता सर्वस्य लोकस्य श्रेष्ठो ज्ञानविदां विभुः ।
उपेक्षसे कथं सीतां पतन्तीं हव्यवाहने ।
कथं देवगणश्रेष्ठमात्मानं नावबुद्ध्यसे ॥ ६ ॥

'श्रीराम! आप सम्पूर्ण विश्वके उत्पादक, ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ और सर्वव्यापक हैं। फिर इस समय आगमें गिरी हुई सीताकी उपेक्षा कैसे कर रहे हैं? आप समस्त देवताओंमें श्रेष्ठ विष्णु ही हैं। इस बातको कैसे नहीं समझ रहे हैं ॥ ६ ॥

ऋतधामा वसुः पूर्वं वसूनां च प्रजापतिः ।
त्रयाणामपि लोकानामादिकर्ता स्वयंप्रभुः ॥ ७ ॥

'पूर्वकालमें वसुओंके प्रजापति जो ऋतधामा नामक वसु थे, वे आप ही हैं। आप तीनों लोकोंके आदिकर्ता स्वयं प्रभु हैं ॥ ७ ॥

रुद्राणामष्टमो रुद्रः साध्यानामपि पञ्चमः ।
अश्विनौ चापि कर्णौ ते सूर्याचन्द्रमसौ दृशौ ॥ ८ ॥

'रुद्रोंमें आठवें रुद्र और साध्योंमें पाँचवें साध्य भी आप ही हैं। दो अश्विनीकुमार आपके कान हैं और सूर्य तथा चन्द्रमा नेत्र हैं ॥ ८ ॥

अन्ते चादौ च मध्ये च दृश्यसे च परंतप ।
उपेक्षसे च वैदेहीं मानुषः प्राकृतो यथा ॥ ९ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले देव! सृष्टिके आदि, अन्त और मध्यमें भी आप ही दिखायी देते हैं। फिर एक साधारण मनुष्यकी भाँति आप सीताकी उपेक्षा क्यों कर रहे हैं?' ॥ ९ ॥

इत्युक्तो लोकपालैस्तैः स्वामी लोकस्य राघवः ।
अब्रवीत् त्रिदशश्रेष्ठान् रामो धर्मभृतां वरः ॥ १० ॥

उन लोकपालोंके ऐसा कहनेपर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ

---

[1] घीकी अनवच्छिन्न धारा।

लोकनाथ रघुनाथ श्रीरामने उन श्रेष्ठ देवताओंसे कहा— ॥ १० ॥

आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम्।
सोऽहं यश्च यतश्चाहं भगवांस्तद् ब्रवीतु मे ॥ ११ ॥

'देवगण! मैं तो अपनेको मनुष्य दशरथपुत्र राम ही समझता हूँ। भगवन्! मैं जो हूँ और जहाँसे आया हूँ, वह सब आप ही मुझे बताइये' ॥ ११ ॥

इति ब्रुवाणं काकुत्स्थं ब्रह्मा ब्रह्मविदां वरः।
अब्रवीच्छृणु मे वाक्यं सत्यं सत्यपराक्रम ॥ १२ ॥

श्रीरघुनाथजीके ऐसा कहनेपर ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ ब्रह्माजीने उनसे इस प्रकार कहा—'सत्यपराक्रमी श्रीरघुवीर! आप मेरी सच्ची बात सुनिये ॥ १२ ॥

भवान् नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधः प्रभुः।
एकशृङ्गो वराहस्त्वं भूतभव्यसपत्नजित् ॥ १३ ॥

'आप चक्र धारण करनेवाले सर्वसमर्थ श्रीमान् भगवान् नारायण देव हैं, एक दाढ़वाले पृथ्वीधारी वराह हैं तथा देवताओंके भूत एवं भावी शत्रुओंको जीतनेवाले हैं ॥ १३ ॥

अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघव।
लोकानां त्वं परो धर्मो विष्वक्सेनश्चतुर्भुजः ॥ १४ ॥

'रघुनन्दन! आप अविनाशी परब्रह्म हैं। सृष्टिके आदि, मध्य और अन्तमें सत्यरूपसे विद्यमान हैं। आप ही लोकोंके परम धर्म हैं। आप ही विष्वक्सेन तथा चार भुजाधारी श्रीहरि हैं ॥ १४ ॥

शार्ङ्गधन्वा हृषीकेशः पुरुषः पुरुषोत्तमः।
अजितः खड्गधृग् विष्णुः कृष्णश्चैव बृहद्बलः ॥ १५ ॥

'आप ही शार्ङ्गधन्वा, हृषीकेश, अन्तर्यामी पुरुष और पुरुषोत्तम हैं। आप किसीसे पराजित नहीं होते। आप नन्दक नामक खड्ग धारण करनेवाले विष्णु एवं महाबली कृष्ण हैं ॥ १५ ॥

सेनानीर्ग्रामणीश्च त्वं बुद्धिः सत्त्वं क्षमा दमः।
प्रभवश्चाप्ययश्च त्वमुपेन्द्रो मधुसूदनः ॥ १६ ॥

'आप ही देव-सेनापति तथा गाँवोंके मुखिया अथवा नेता हैं। आप ही बुद्धि, सत्त्व, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह तथा सृष्टि एवं प्रलयके कारण हैं। आप ही उपेन्द्र (वामन) और मधुसूदन हैं ॥ १६ ॥

इन्द्रकर्मा महेन्द्रस्त्वं पद्मनाभो रणान्तकृत्।
शरण्यं शरणं च त्वामाहुर्दिव्या महर्षयः ॥ १७ ॥

'इन्द्रको भी उत्पन्न करनेवाले महेन्द्र और युद्धका अन्त करनेवाले शान्तस्वरूप पद्मनाभ भी आप ही हैं। दिव्य महर्षिगण आपको शरणदाता तथा शरणागतवत्सल बताते हैं ॥ १७ ॥

सहस्रशृङ्गो वेदात्मा शतशीर्षो महर्षभः।
त्वं त्रयाणां हि लोकानामादिकर्ता स्वयंप्रभुः ॥ १८ ॥

'आप ही सहस्रों शाखारूप सींग तथा सैकड़ों विधिवाक्यरूप मस्तकोंसे युक्त वेदरूप महावृषभ हैं। आप ही तीनों लोकोंके आदिकर्ता और स्वयंप्रभु (परम स्वतन्त्र) हैं ॥ १८ ॥

सिद्धानामपि साध्यानामाश्रयश्चासि पूर्वजः।
त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमोंकारः परात्परः ॥ १९ ॥

'आप सिद्ध और साध्योंके आश्रय तथा पूर्वज हैं। यज्ञ, वषट्कार और ओंकार भी आप ही हैं। आप श्रेष्ठसे भी श्रेष्ठ परमात्मा हैं ॥ १९ ॥

प्रभवं निधनं चापि नो विदुः को भवानिति।
दृश्यसे सर्वभूतेषु गोषु च ब्राह्मणेषु च ॥ २० ॥

'आपके आविर्भाव और तिरोभावको कोई नहीं जानता। आप कौन हैं—इसका भी किसीको पता नहीं है। समस्त प्राणियोंमें, गौओंमें तथा ब्राह्मणोंमें भी आप ही दिखायी देते हैं ॥ २० ॥

दिक्षु सर्वासु गगने पर्वतेषु नदीषु च।
सहस्रचरणः श्रीमाञ्शतशीर्षः सहस्रदृक् ॥ २१ ॥

'समस्त दिशाओंमें, आकाशमें, पर्वतोंमें और नदियोंमें भी आपकी ही सत्ता है। आपके सहस्रों चरण, सैकड़ों मस्तक और सहस्रों नेत्र हैं ॥ २१ ॥

त्वं धारयसि भूतानि पृथिवीं सर्वपर्वतान्।
अन्ते पृथिव्याः सलिले दृश्यसे त्वं महोरगः ॥ २२ ॥

'आप ही सम्पूर्ण प्राणियोंको, पृथ्वीको और समस्त पर्वतोंको धारण करते हैं। पृथ्वीका अन्त हो जानेपर आप ही जलके ऊपर महान् सर्प—शेषनागके रूपमें दिखायी देते हैं ॥ २२ ॥

त्रींल्लोकान् धारयन् राम देवगन्धर्वदानवान्।
अहं ते हृदयं राम जिह्वा देवी सरस्वती ॥ २३ ॥

'श्रीराम! आप ही तीनों लोकोंको तथा देवता, गन्धर्व और दानवोंको धारण करनेवाले विराट् पुरुष नारायण हैं। सबके हृदयमें रमण करनेवाले परमात्मन्! मैं ब्रह्मा आपका हृदय हूँ और देवी सरस्वती आपकी जिह्वा हैं ॥ २३ ॥

देवा रोमाणि गात्रेषु ब्रह्मणा निर्मिताः प्रभो।
निमेषस्ते स्मृता रात्रिरुन्मेषो दिवसस्तथा ॥ २४ ॥

'प्रभो! मुझ ब्रह्माने जिनकी सृष्टि की है, वे सब देवता आपके विराट् शरीरमें रोम हैं। आपके नेत्रोंका बन्द होना रात्रि और खुलना ही दिन है ॥ २४ ॥

संस्कारास्त्वभवन् वेदा नैतदस्ति त्वया विना।
जगत् सर्वं शरीरं ते स्थैर्यं ते वसुधातलम् ॥ २५ ॥

'वेद आपके संस्कार हैं। आपके बिना इस जगत्का अस्तित्व नहीं है। सम्पूर्ण विश्व आपका शरीर है। पृथ्वी आपकी स्थिरता है ॥ २५ ॥

अग्निः कोपः प्रसादस्ते सोमः श्रीवत्सलक्षणः।
त्वया लोकास्त्रयः क्रान्ताः पुरा स्वैर्विक्रमैस्त्रिभिः॥ २६॥

'अग्नि आपका कोप है और चन्द्रमा प्रसन्नता है. वक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न धारण करनेवाले भगवान् विष्णु आप ही हैं। पूर्वकालमें (वामनावतारके समय) आपने ही अपने तीन पगोंसे तीनों लोक नाप लिये थे॥ २६॥

महेन्द्रश्च कृतो राजा बलिं बद्ध्वा सुदारुणम्।
सीता लक्ष्मीर्भवान् विष्णुर्देवः कृष्णः प्रजापतिः॥ २७॥

'आपने अत्यन्त दारुण दैत्यराज बलिको बाँधकर इन्द्रको तीनों लोकोंका राजा बनाया था। सीता साक्षात् लक्ष्मी हैं और आप भगवान् विष्णु हैं। आप ही सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण एवं प्रजापति हैं॥ २७॥

वधार्थं रावणस्येह प्रविष्टो मानुषीं तनुम्।
तदिदं नस्त्वया कार्यं कृतं धर्मभृतां वर॥ २८॥

'धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ रघुवीर! आपने रावणका वध करनेके लिये ही इस लोकमें मनुष्यके शरीरमें प्रवेश किया था। हमलोगोंका कार्य आपने सम्पन्न कर दिया॥ २८॥

निहतो रावणो राम प्रहृष्टो दिवमाक्रम।
अमोघं देव वीर्यं ते न तेऽमोघाः पराक्रमाः॥ २९॥

'श्रीराम! आपके द्वारा रावण मारा गया। अब आप प्रसन्नतापूर्वक अपने दिव्य धाममें पधारिये। देव! आपका बल अमोघ है। आपके पराक्रम भी व्यर्थ होनेवाले नहीं हैं॥ २९॥

अमोघं दर्शनं राम अमोघस्तव संस्तवः।
अमोघास्ते भविष्यन्ति भक्तिमन्तो नरा भुवि॥ ३०॥

'श्रीराम! आपका दर्शन अमोघ है। आपका स्तवन भी अमोघ है तथा आपमें भक्ति रखनेवाले मनुष्य भी इस भूमण्डलमें अमोघ ही होंगे॥ ३०॥

ये त्वां देवं ध्रुवं भक्ताः पुराणं पुरुषोत्तमम्।
प्राप्नुवन्ति तथा कामानिह लोके परत्र च॥ ३१॥

'आप पुराणपुरुषोत्तम हैं। दिव्यरूपधारी परमात्मा हैं। जो लोग आपमें भक्ति रखेंगे, वे इस लोक और परलोकमें अपने सभी मनोरथ प्राप्त कर लेंगे'॥ ३१॥

इममार्षं स्तवं दिव्यमितिहासं पुरातनम्।
ये नराः कीर्तयिष्यन्ति नास्ति तेषां पराभवः॥ ३२॥

यह परम ऋषि ब्रह्माका कहा हुआ दिव्य स्तोत्र तथा पुरातन इतिहास है। जो लोग इसका कीर्तन करेंगे, उनका कभी पराभव नहीं होगा॥ ३२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे सप्तदशाधिकशततमः सर्गः॥ ११७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें एक सौ सत्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ११७॥

अष्टादशाधिकशततमः सर्गः

मूर्तिमान् अग्निदेवका सीताको लेकर चितासे प्रकट होना और श्रीरामको समर्पित करके उनकी पवित्रताको प्रमाणित करना तथा श्रीरामका सीताको सहर्ष स्वीकार करना

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं पितामहसमीरितम्।
अङ्केनादाय वैदेहीमुत्पपात विभावसुः॥ १॥

ब्रह्माजीके कहे हुए इन शुभ वचनोंको सुनकर मूर्तिमान् अग्निदेव विदेहनन्दिनी सीताको (पिताकी भाँति) गोदमें लिये चितासे ऊपरको उठे॥ १॥

विधूयाथ चितां तां तु वैदेहीं हव्यवाहनः।
उत्तस्थौ मूर्तिमानाशु गृहीत्वा जनकात्मजाम्॥ २॥

उस चिताको हिलाकर इधर-उधर बिखराते हुए दिव्य रूपधारी हव्यवाहन अग्निदेव वैदेही सीताको साथ लिये तुरंत ही उठकर खड़े हो गये॥ २॥

तरुणादित्यसंकाशां तप्तकाञ्चनभूषणाम्।
रक्ताम्बरधरां बालां नीलकुञ्चितमूर्धजाम्॥ ३॥
अक्लिष्टमाल्याभरणां तथारूपामनिन्दिताम्।
ददौ रामाय वैदेहीमङ्के कृत्वा विभावसुः॥ ४॥

सीताजी प्रातःकालके सूर्यकी भाँति अरुण-पीत कान्तिसे प्रकाशित हो रही थीं। तपाये हुए सोनेके आभूषण उनकी शोभा बढ़ा रहे थे। उनके श्रीअङ्गोंपर लाल रंगकी रेशमी साड़ी लहरा रही थी। सिरपर काले-काले घुँघराले केश सुशोभित होते थे। उनकी अवस्था नयी थी और उनके द्वारा धारण किये गये फूलोंके हार कुम्हलायेतक नहीं थे। अनिन्द्य सुन्दरी सती-साध्वी सीताका अग्निमें प्रवेश करते समय जैसा रूप और वेष था, वैसे ही रूप-सौन्दर्यसे प्रकाशित होती हुई उन वैदेहीको गोदमें लेकर अग्निदेवने श्रीरामको समर्पित कर दिया॥ ३-४॥

अब्रवीत् तु तदा रामं साक्षी लोकस्य पावकः।
एषा ते राम वैदेही पापमस्यां न विद्यते॥ ५॥

उस समय लोकसाक्षी अग्निने श्रीरामसे कहा— 'श्रीराम! यह आपकी धर्मपत्नी विदेहराजकुमारी सीता है।

इसमें कोई पाप या दोष नहीं है ॥ ५ ॥

नैव वाचा न मनसा नैव बुद्ध्या न चक्षुषा।
सुवृत्ता वृत्तशौटीर्यं न त्वामत्यचरच्छुभा ॥ ६ ॥

'उत्तम आचारवाली इस शुभलक्षणा सतीने मन, वाणी, बुद्धि अथवा नेत्रोंद्वारा भी आपके सिवा किसी दूसरे पुरुषका आश्रय नहीं लिया। इसने सदा सदाचारपरायण आपका ही आराधन किया है ॥ ६ ॥

रावणेनापनीतैषा वीर्योत्सिक्तेन रक्षसा।
त्वया विरहिता दीना विवशा निर्जने सती ॥ ७ ॥

'अपने बल-पराक्रमका घमंड रखनेवाले राक्षस रावणने जब इसका अपहरण किया था, उस समय यह बेचारी सती सूने आश्रममें अकेली थी— आप इसके पास नहीं थे; अतः यह वेवश थी (इसका कोई वश नहीं चला) ॥ ७ ॥

रुद्धा चान्तःपुरे गुप्ता त्वच्चित्ता त्वत्परायणा।
रक्षिता राक्षसीभिश्च घोराभिर्घोरबुद्धिभिः ॥ ८ ॥

'रावणने इसे लाकर अन्तःपुरमें कैद कर लिया। इसपर पहरा बिठा दिया। भयानक विचारोंवाली भीषण राक्षसियाँ इसकी रखवाली करने लगीं। तब भी इसका चित्त आपमें ही लगा रहा। यह आपहीको अपना परम आश्रय मानती रही ॥ ८ ॥

प्रलोभ्यमाना विविधं तर्ज्यमाना च मैथिली।
नाचिन्तयत तद्रक्षस्त्वद्गतेनान्तरात्मना ॥ ९ ॥

'तत्पश्चात् तरह-तरहके लोभ दिये गये। इस मिथिलेशकुमारीपर डाँट-फटकार भी पड़ी; परंतु इसकी अन्तरात्मा निरन्तर आपके ही चिन्तनमें लगी रही। इसने उस राक्षसके विषयमें कभी एक बार भी नहीं सोचा ॥ ९ ॥

विशुद्धभावां निष्पापां प्रतिगृह्णीष्व मैथिलीम्।
न किंचिदभिधातव्या अहमाज्ञापयामि ते ॥ १० ॥

'अतः इसका भाव सर्वथा शुद्ध है। यह मिथिलेशनन्दिनी सर्वथा निष्पाप है। आप इसे सादर स्वीकार करें। मैं आपको आज्ञा देता हूँ, आप इससे कभी कोई कठोर बात न कहें' ॥ १० ॥

ततः प्रीतमना रामः श्रुत्वैवं वदतां वरः।
दध्यौ मुहूर्तं धर्मात्मा हर्षव्याकुललोचनः ॥ ११ ॥

अग्निदेवकी यह बात सुनकर वक्ताओंमें श्रेष्ठ धर्मात्मा श्रीरामका मन प्रसन्न हो गया। उनके नेत्रोंमें आनन्दके आँसू छलक आये। वे थोड़ी देरतक विचारमें डूबे रहे ॥ ११ ॥

एवमुक्तो महातेजा धृतिमानुरुविक्रमः।
उवाच त्रिदशश्रेष्ठं रामो धर्मभृतां वरः ॥ १२ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी, धैर्यवान्, महान् पराक्रमी तथा धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ श्रीरामने देवशिरोमणि अग्निदेवसे उनकी पूर्वोक्त बातके उत्तरमें कहा— ॥ १२ ॥

अवश्यं चापि लोकेषु सीता पावनमर्हति।
दीर्घकालोषिता हीयं रावणान्तःपुरे शुभा ॥ १३ ॥

'भगवन्! लोगोंमें सीताजीकी पवित्रताका विश्वास दिलानेके लिये इनकी यह शुद्धिविषयक परीक्षा आवश्यक थी; क्योंकि शुभलक्षणा सीताको विवश होकर दीर्घकालतक रावणके अन्तःपुरमें रहना पड़ा है ॥ १३ ॥

बालिशो बत कामात्मा रामो दशरथात्मजः।
इति वक्ष्यति मां लोको जानकीमविशोध्य हि ॥ १४ ॥

'यदि मैं जनकनन्दिनीकी शुद्धिके विषयमें परीक्षा न करता तो लोग यही कहते कि दशरथपुत्र राम बड़ा ही मूर्ख और कामी है ॥ १४ ॥

अनन्यहृदयां सीतां मच्चित्तपरिरक्षिणीम्।
अहमप्यवगच्छामि मैथिलीं जनकात्मजाम् ॥ १५ ॥

'यह बात मैं भी जानता हूँ कि मिथिलेशनन्दिनी जनककुमारी सीताका हृदय सदा मुझमें ही लगा रहता है। मुझसे कभी अलग नहीं होता। ये सदा मेरा ही मन रखतीं—मेरी इच्छाके अनुसार चलती हैं ॥ १५ ॥

इमामपि विशालाक्षीं रक्षितां स्वेन तेजसा।
रावणो नातिवर्तेत वेलामिव महोदधिः ॥ १६ ॥

'मुझे यह भी विश्वास है कि जैसे महासागर अपनी तटभूमिको नहीं लाँघ सकता, उसी प्रकार रावण अपने ही तेजसे सुरक्षित इन विशाललोचना सीतापर अत्याचार नहीं कर सकता था ॥ १६ ॥

प्रत्ययार्थं तु लोकानां त्रयाणां सत्यसंश्रयः।
उपेक्षे चापि वैदेहीं प्रविशन्तीं हुताशनम् ॥ १७ ॥

'तथापि तीनों लोकोंके प्राणियोंके मनमें विश्वास दिलानेके लिये एकमात्र सत्यका सहारा लेकर मैंने अग्निमें प्रवेश करती हुई विदेहकुमारी सीताको रोकनेकी चेष्टा नहीं की ॥ १७ ॥

न शक्तः सुदुष्टात्मा मनसापि हि मैथिलीम्।
प्रधर्षयितुमप्राप्यां दीप्तामग्निशिखामिव ॥ १८ ॥

'मिथिलेशकुमारी सीता प्रज्वलित अग्निशिखाके समान दुर्धर्ष तथा दूसरेके लिये अलभ्य है। दुष्टात्मा रावण मनके द्वारा भी इनपर अत्याचार करनेमें समर्थ नहीं हो सकता था ॥ १८ ॥

नेयमर्हति वैक्लव्यं रावणान्तःपुरे सती।
अनन्या हि मया सीता भास्करस्य प्रभा यथा ॥ १९ ॥

'ये सती-साध्वी देवी रावणके अन्तःपुरमें रहकर भी व्याकुलता या घबराहटमें नहीं पड़ सकती थीं; क्योंकि ये मुझसे उसी तरह अभिन्न हैं, जैसे सूर्यदेवसे उनकी प्रभा ॥ १९ ॥

विशुद्धा त्रिषु लोकेषु मैथिली जनकात्मजा।
न विहातुं मया शक्या कीर्तिरात्मवता यथा ॥ २० ॥

'मिथिलेशकुमारी जानकी तीनों लोकोंमें परम पवित्र हैं। जैसे मनस्वी पुरुष कीर्तिका त्याग नहीं कर सकता, उसी तरह मैं भी इन्हें नहीं छोड़ सकता ॥ २० ॥

अवश्यं च मया कार्यं सर्वेषां वो वचो हितम्।
स्निग्धानां लोकनाथानामेवं च वदतां हितम्॥ २१॥

'आप सभी लोकपाल मेरे हितकी ही बात कह रहे हैं और आपलोगोंका मुझपर बड़ा स्नेह है; अतः आप सभी देवताओंके हितकर वचनका मुझे अवश्य पालन करना चाहिये'॥ २१॥

इत्येवमुक्त्वा विजयी महाबलः
प्रशस्यमानः स्वकृतेन कर्मणा।
समेत्य रामः प्रियया महायशाः
सुखं सुखार्होऽनुबभूव राघवः॥ २२॥

ऐसा कहकर अपने किये हुए पराक्रमसे प्रशंसित होनेवाले महाबली, महायशस्वी, विजयी वीर रघुकुलनन्दन श्रीराम अपनी प्रिया सीतासे मिले और मिलकर बड़े सुखका अनुभव करने लगे; क्योंकि वे सुख भोगनेके ही योग्य हैं॥ २२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डेऽष्टादशाधिकशततमः सर्गः॥ ११८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें एक सौ अठारहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ११८॥

—★—

एकोनविंशत्यधिकशततमः सर्गः

महादेवजीकी आज्ञासे श्रीराम और लक्ष्मणका विमानद्वारा आये हुए राजा दशरथको प्रणाम करना और दशरथका दोनों पुत्रों तथा सीताको आवश्यक संदेश दे इन्द्रलोकको जाना

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं राघवेणानुभाषितम्।
ततः शुभतरं वाक्यं व्याजहार महेश्वरः॥ १॥

श्रीरघुनाथजीके कहे हुए इन शुभ वचनोंको सुनकर श्रीमहादेवजी और भी शुभतर वचन बोले—॥ १॥

पुष्कराक्ष महाबाहो महावक्षः परंतप।
दिष्ट्या कृतमिदं कर्म त्वया धर्मभृतां वर॥ २॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले, विशाल वक्षःस्थलसे सुशोभित, महाबाहु कमलनयन! आप धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ हैं। आपने रावण-वधरूप कार्य सम्पन्न कर दिया—यह बड़े सौभाग्यकी बात है॥ २॥

दिष्ट्या सर्वस्य लोकस्य प्रवृद्धं दारुणं तमः।
अपवृत्तं त्वया संख्ये राम रावणजं भयम्॥ ३॥

'श्रीराम! रावणजनित भय और दुःख सारे लोकोंके लिये बढ़े हुए घोर अन्धकारके समान था, जिसे आपने युद्धमें मिटा दिया॥ ३॥

आश्वास्य भरतं दीनं कौसल्यां च यशस्विनीम्।
कैकेयीं च सुमित्रां च दृष्ट्वा लक्ष्मणमातरम्॥ ४॥
प्राप्य राज्यमयोध्यायां नन्दयित्वा सुहृज्जनम्।
इक्ष्वाकूणां कुले वंशं स्थापयित्वा महाबल॥ ५॥
इष्ट्वा तुरगमेधेन प्राप्य चानुत्तमं यशः।
ब्राह्मणेभ्यो धनं दत्त्वा त्रिदिवं गन्तुमर्हसि॥ ६॥

'महाबली वीर! अब दुःखी भरतको धीरज बँधाकर, यशस्विनी कौसल्या, कैकेयी तथा लक्ष्मणजननी सुमित्रासे मिलकर, अयोध्याका राज्य पाकर, सुहृदोंको आनन्द देकर, इक्ष्वाकुकुलमें अपना वंश स्थापित करके, अश्वमेध-यज्ञका अनुष्ठान कर, सर्वोत्तम यशका उपार्जन करके तथा ब्राह्मणोंको धन देकर आपको अपने परम धाममें जाना चाहिये॥ ४—६॥

एष राजा दशरथो विमानस्थः पिता तव।
काकुत्स्थ मानुषे लोके गुरुस्तव महायशाः॥ ७॥

'ककुत्स्थकुलनन्दन! देखिये, ये आपके पिता राजा दशरथ विमानपर बैठे हुए हैं। मनुष्यलोकमें ये ही आपके महायशस्वी गुरु थे॥ ७॥

इन्द्रलोकं गतः श्रीमांस्त्वया पुत्रेण तारितः।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा त्वमेनमभिवादय॥ ८॥

'ये श्रीमान् नरेश इन्द्रलोकको प्राप्त हुए हैं। आप-जैसे सुपुत्रने इन्हें तार दिया। आप भाई लक्ष्मणके साथ इन्हें नमस्कार करें'॥ ८॥

महादेववचः श्रुत्वा राघवः सहलक्ष्मणः।
विमानशिखरस्थस्य प्रणाममकरोत् पितुः॥ ९॥

महादेवजीकी यह बात सुनकर लक्ष्मणसहित श्रीरघुनाथजीने विमानमें उच्चस्थानपर बैठे हुए अपने पिताजीको प्रणाम किया॥ ९॥

दीप्यमानं स्वया लक्ष्म्या विरजोऽम्बरधारिणम्।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा ददर्श पितरं प्रभुः॥ १०॥

भाई लक्ष्मणसहित भगवान् श्रीरामने पिताको अच्छी तरह देखा। वे निर्मल वस्त्र धारण करके अपनी दिव्य शोभासे देदीप्यमान थे॥ १०॥

हर्षेण महताऽऽविष्टो विमानस्थो महीपतिः।
प्राणैः प्रियतरं दृष्ट्वा पुत्रं दशरथस्तदा॥ ११॥

विमानपर बैठे हुए महाराज दशरथ अपने प्राणोंसे भी प्यारे पुत्र श्रीरामको देखकर बहुत प्रसन्न हुए॥ ११॥

आरोप्याङ्के महाबाहुर्वरासनगतः प्रभुः।
बाहुभ्यां सम्परिष्वज्य ततो वाक्यं समाददे॥ १२॥

श्रेष्ठ आसनपर बैठे हुए उन महाबाहु नरेशने उन्हें गोदमें बिठाकर दोनों बाँहोंमें भर लिया और इस प्रकार कहा— ॥ १२ ॥

न मे स्वर्गो बहु मतः सम्मानश्च सुरर्षभैः ।
त्वया राम विहीनस्य सत्यं प्रतिशृणोमि ते ॥ १३ ॥

'राम ! मैं तुमसे सच कहता हूँ, तुमसे बिलग होकर मुझे स्वर्गका सुख तथा देवताओंद्वारा प्राप्त हुआ सम्मान भी अच्छा नहीं लगता ॥ १३ ॥

अद्य त्वां निहतामित्रं दृष्ट्वा सम्पूर्णमानसम् ।
निस्तीर्णवनवासं च प्रीतिरासीत् परा मम ॥ १४ ॥

'आज तुम शत्रुओंका वध करके पूर्णमनोरथ हो गये और तुमने वनवासकी अवधि भी पूरी कर ली, यह सब देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है ॥ १४ ॥

कैकेय्या यानि चोक्तानि वाक्यानि वदतां वर ।
तव प्रव्राजनार्थानि स्थितानि हृदये मम ॥ १५ ॥

'वक्ताओंमें श्रेष्ठ रघुनन्दन ! तुम्हें वनमें भेजनेके लिये कैकेयीने जो-जो बातें कही थीं, वे सब आज भी मेरे हृदयमें बैठी हुई हैं ॥ १५ ॥

त्वां तु दृष्ट्वा कुशलिनं परिष्वज्य सलक्ष्मणम् ।
अद्य दुःखाद् विमुक्तोऽस्मि नीहारादिव भास्करः ॥ १६ ॥

'आज लक्ष्मणसहित तुमको सकुशल देखकर और हृदयसे लगाकर मैं समस्त दुःखोंसे छुटकारा पा गया हूँ। ठीक उसी तरह, जैसे चन्द्रमा कुहरेसे निकल आये हों ॥ १६ ॥

तारितोऽहं त्वया पुत्र सुपुत्रेण महात्मना ।
अष्टावक्रेण धर्मात्मा कहोलो ब्राह्मणो यथा ॥ १७ ॥

'बेटा ! जैसे अष्टावक्रने अपने धर्मात्मा पिता कहोल नामक ब्राह्मणको तार दिया था, वैसे ही तुम-जैसे महात्मा पुत्रने मेरा उद्धार कर दिया ॥ १७ ॥

इदानीं च विजानामि यथा सौम्य सुरेश्वरैः ।
वधार्थं रावणस्येह पिहितं पुरुषोत्तमम् ॥ १८ ॥

'सौम्य ! आज इन देवताओंके द्वारा मुझे मालूम हुआ कि रावणका वध करनेके लिये स्वयं पुरुषोत्तम भगवान् ही तुम्हारे रूपमें अवतीर्ण हुए हैं ॥ १८ ॥

सिद्धार्था खलु कौसल्याया त्वां राम गृहं गतम् ।
वनान्निवृत्तं संहृष्टा द्रक्ष्यते शत्रुसूदनम् ॥ १९ ॥

'श्रीराम ! कौसल्याका जीवन सार्थक है, जो वनसे लौटनेपर तुम-जैसे शत्रुसूदन वीर पुत्रको अपने घरमें हर्ष और उल्लासके साथ देखेंगी ॥ १९ ॥

सिद्धार्थाः खलु ते राम नरा ये त्वां पुरीं गतम् ।
राज्ये चैवाभिषिक्तं च द्रक्ष्यन्ते वसुधाधिपम् ॥ २० ॥

'रघुनन्दन ! वे प्रजाजन भी कृतार्थ हैं, जो अयोध्या पहुँचनेपर तुम्हें राज्यसिंहासनपर भूमिपालके रूपमें अभिषिक्त होते देखेंगे ॥ २० ॥

अनुरक्तेन बलिना शुचिना धर्मचारिणा ।
इच्छेयं त्वामहं द्रष्टुं भरतेन समागतम् ॥ २१ ॥

'भरत बड़ा ही धर्मात्मा, पवित्र और बलवान् है। वह तुममें सच्चा अनुराग रखता है। मैं उसके साथ तुम्हारा शीघ्र ही मिलन देखना चाहता हूँ ॥ २१ ॥

चतुर्दश समाः सौम्य वने निर्यातितास्त्वया ।
वसता सीतया सार्धं मत्प्रीत्या लक्ष्मणेन च ॥ २२ ॥

'सौम्य ! तुमने मेरी प्रसन्नताके लिये लक्ष्मण और सीताके साथ रहते हुए वनमें चौदह वर्ष व्यतीत किये ॥ २२ ॥

निवृत्तवनवासोऽसि प्रतिज्ञा पूरिता त्वया ।
रावणं च रणे हत्वा देवताः परितोषिताः ॥ २३ ॥

'अब तुम्हारे वनवासकी अवधि पूरी हो गयी। मेरी प्रतिज्ञा भी तुमने पूर्ण कर दी तथा संग्राममें रावणको मारकर देवताओंको भी संतुष्ट कर दिया ॥ २३ ॥

कृतं कर्म यशः श्लाघ्यं प्राप्तं ते शत्रुसूदन ।
भ्रातृभिः सह राज्यस्थो दीर्घमायुरवाप्नुहि ॥ २४ ॥

'शत्रुसूदन ! ये सभी काम तुम कर चुके। इससे तुम्हें स्पृहणीय यश प्राप्त हुआ है। अब तुम भाइयोंके साथ राज्यपर प्रतिष्ठित हो दीर्घ आयु प्राप्त करो' ॥ २४ ॥

इति ब्रुवाणं राजानं रामः प्राञ्जलिरब्रवीत् ।
कुरु प्रसादं धर्मज्ञ कैकेय्या भरतस्य च ॥ २५ ॥

जब राजा इस प्रकार कह चुके, तब श्रीरामचन्द्रजी हाथ जोड़कर उनसे बोले—'धर्मज्ञ महाराज ! आप कैकेयी और भरतपर प्रसन्न हों—उन दोनोंपर कृपा करें ॥ २५ ॥

सपुत्रां त्वां त्यजामीति यदुक्ता केकयी त्वया ।
स शापः केकयीं घोरः सपुत्रां न स्पृशेत् प्रभो ॥ २६ ॥

'प्रभो ! आपने जो कैकेयीसे कहा था कि मैं पुत्रसहित तेरा त्याग करता हूँ, आपका वह घोर शाप पुत्रसहित कैकेयीका स्पर्श न करे' ॥ २६ ॥

तथेति स महाराजो राममुक्त्वा कृताञ्जलिम् ।
लक्ष्मणं च परिष्वज्य पुनर्वाक्यमुवाच ह ॥ २७ ॥

तब श्रीरामसे 'बहुत अच्छा' कहकर महाराज दशरथने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और हाथ जोड़े खड़े हुए लक्ष्मणको हृदयसे लगाकर फिर यह बात कही— ॥ २७ ॥

रामं शुश्रूषता भक्त्या वैदेह्या सह सीतया ।
कृता मम महाप्रीतिः प्राप्तं धर्मफलं च ते ॥ २८ ॥

'वत्स ! तुमने विदेहनन्दिनी सीताके साथ श्रीरामकी भक्तिपूर्वक सेवा करके मुझे बहुत प्रसन्न किया है। तुम्हें धर्मका फल प्राप्त हुआ है ॥ २८ ॥

धर्मं प्राप्स्यसि धर्मज्ञ यशश्च विपुलं भुवि ।
रामे प्रसन्ने स्वर्गं च महिमानं तथोत्तमम् ॥ २९ ॥

'धर्मज्ञ! भविष्यमें भी तुम्हें धर्मका फल प्राप्त होगा और भूमण्डलमें महान् यशकी उपलब्धि होगी। श्रीरामकी प्रसन्नतासे तुम्हें उत्तम स्वर्ग और महत्त्व प्राप्त होगा ॥ २९ ॥

रामं शुश्रूष भद्रं ते सुमित्रानन्दवर्धन।
रामः सर्वस्य लोकस्य हितेष्वभिरतः सदा ॥ ३० ॥

'सुमित्राका आनन्द बढ़ानेवाले लक्ष्मण! तुम्हारा कल्याण हो। तुम श्रीरामकी निरन्तर सेवा करते रहो। ये श्रीराम सदा सम्पूर्ण लोकोंके हितमें तत्पर रहते हैं ॥ ३० ॥

एते सेन्द्रास्त्रयो लोकाः सिद्धाश्च परमर्षयः।
अभिवाद्य महात्मानमर्चन्ति पुरुषोत्तमम् ॥ ३१ ॥

'देखो, इन्द्रसहित ये तीनों लोक, सिद्ध और महर्षि भी परमात्मस्वरूप पुरुषोत्तम रामको प्रणाम करके इनका पूजन कर रहे हैं ॥ ३१ ॥

एतत् तदुक्तमव्यक्तमक्षरं ब्रह्मसम्मितम्।
देवानां हृदयं सौम्य गुह्यं रामः परंतपः ॥ ३२ ॥

'सौम्य! शत्रुओंको संताप देनेवाले ये श्रीराम देवताओंके हृदय और परम गुह्य तत्त्व हैं। ये ही वेदोंद्वारा प्रतिपादित अव्यक्त एवं अविनाशी ब्रह्म हैं ॥ ३२ ॥

अवाप्तधर्माचरणं यशश्च विपुलं त्वया।
एवं शुश्रूषताव्यग्रं वैदेह्या सह सीतया ॥ ३३ ॥

'विदेहनन्दिनी सीताके साथ शान्तभावसे इनकी सेवा करते हुए तुमने सम्पूर्ण धर्माचरणका फल और महान् यश प्राप्त किया है' ॥ ३३ ॥

इत्युक्त्वा लक्ष्मणं राजा स्नुषां बद्धाञ्जलिं स्थिताम्।
पुत्रीत्याभाष्य मधुरं शनैरेनामुवाच ह ॥ ३४ ॥

लक्ष्मणसे ऐसा कहकर राजा दशरथने हाथ जोड़कर खड़ी हुई पुत्रवधू सीताको 'बेटी' कहकर पुकारा और धीरे-धीरे मधुर वाणीमें कहा— ॥ ३४ ॥

कर्तव्यो न तु वैदेहि मन्युस्त्यागमिमं प्रति।
रामेणेदं विशुद्ध्यर्थं कृतं वै त्वद्धितैषिणा ॥ ३५ ॥

'विदेहनन्दिनि! तुम्हें इस त्यागको लेकर श्रीरामपर कुपित नहीं होना चाहिये; क्योंकि ये तुम्हारे हितैषी हैं और संसारमें तुम्हारी पवित्रता प्रकट करनेके लिये ही इन्होंने ऐसा व्यवहार किया है ॥ ३५ ॥

सुदुष्करमिदं पुत्रि तव चारित्रलक्षणम्।
कृतं यत् तेऽन्यनारीणां यशो ह्यभिभविष्यति ॥ ३६ ॥

'बेटी! तुमने अपने विशुद्ध चरित्रको परिलक्षित करानेके लिये जो अग्निप्रवेशरूप कार्य किया है, वह दूसरी स्त्रियोंके लिये अत्यन्त दुष्कर है। तुम्हारा यह कर्म अन्य नारियोंके यशको ढक लेगा ॥ ३६ ॥

न त्वं कामं समाधेया भर्तृशुश्रूषणं प्रति।
अवश्यं तु मया वाच्यमेष ते दैवतं परम् ॥ ३७ ॥

'पति-सेवाके सम्बन्धमें भले ही तुम्हें कोई उपदेश देनेकी आवश्यकता न हो; किंतु इतना तो मुझे अवश्य बता देना चाहिये कि ये श्रीराम ही तुम्हारे सबसे बड़े देवता हैं' ॥ ३७ ॥

इति प्रतिसमादिश्य पुत्रौ सीतां च राघवः।
इन्द्रलोकं विमानेन ययौ दशरथो नृपः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार दोनों पुत्रों और सीताको आदेश एवं उपदेश देकर रघुवंशी राजा दशरथ विमानके द्वारा इन्द्रलोकको चले गये ॥ ३८ ॥

विमानमास्थाय महानुभावः
श्रिया च संहृष्टतनुर्नृपोत्तमः।
आमन्त्र्य पुत्रौ सह सीतया च
जगाम देवप्रवरस्य लोकम् ॥ ३९ ॥

नृपश्रेष्ठ महानुभाव दशरथ अद्भुत शोभासे सम्पन्न थे। उनका शरीर हर्षसे पुलकित हो रहा था। वे विमानपर बैठकर सीतासहित दोनों पुत्रोंसे बिदा ले देवराज इन्द्रके लोकमें चले गये ॥ ३९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे एकोनविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ ११९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें एक सौ उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११९ ॥

—★—

विंशत्यधिकशततमः सर्गः

श्रीरामके अनुरोधसे इन्द्रका मरे हुए वानरोंको जीवित करना, देवताओंका प्रस्थान और वानरसेनाका विश्राम

प्रतिप्रयाते काकुत्स्थे महेन्द्रः पाकशासनः।
अब्रवीत् परमप्रीतो राघवं प्राञ्जलिं स्थितम् ॥ १ ॥

महाराज दशरथके लौट जानेपर पाकशासन इन्द्रने अत्यन्त प्रसन्न हो हाथ जोड़े खड़े हुए श्रीरघुनाथजीसे कहा— ॥ १ ॥

अमोघं दर्शनं राम तवास्माकं नरर्षभ।
प्रीतियुक्ताः स्म तेन त्वं ब्रूहि यन्मनसेप्सितम् ॥ २ ॥

'नरश्रेष्ठ श्रीराम! तुम्हें जो हमारा दर्शन हुआ, वह व्यर्थ नहीं जाना चाहिये और हम तुमपर बहुत प्रसन्न हैं।' इसलिये तुम्हारे मनमें जो इच्छा हो, वह मुझसे कहो' ॥ २ ॥

एवमुक्तो महेन्द्रेण प्रसन्नेन महात्मना।
सुप्रसन्नमना हृष्टो वचनं प्राह राघवः ॥ ३ ॥

महात्मा इन्द्रने जब प्रसन्न होकर ऐसी बात कही, तब श्रीरघुनाथजीके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने हर्षसे

भरकर कहा— ॥ ३ ॥

यदि प्रीतिः समुत्पन्ना मयि ते विबुधेश्वर ।
वक्ष्यामि कुरु मे सत्यं वचनं वदतां वर ॥ ४ ॥

'वक्ताओंमें श्रेष्ठ देवेश्वर ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो मैं आपसे एक प्रार्थना करूँगा। आप मेरी उस प्रार्थनाको सफल करें ॥ ४ ॥

मम हेतोः पराक्रान्ता ये गता यमसादनम् ।
ते सर्वे जीवितं प्राप्य समुत्तिष्ठन्तु वानराः ॥ ५ ॥

'मेरे लिये युद्धमें पराक्रम करके जो यमलोकको चले गये हैं, वे सब वानर नया जीवन पाकर उठ खड़े हों ॥ ५ ॥

मत्कृते विप्रयुक्ता ये पुत्रैर्दारैश्च वानराः ।
तान् प्रीतमनसः सर्वान् द्रष्टुमिच्छामि मानद ॥ ६ ॥

'मानद ! जो वानर मेरे लिये अपने स्त्री-पुत्रोंसे बिछुड़ गये हैं, उन सबको मैं प्रसन्नचित्त देखना चाहता हूँ ॥ ६ ॥

विक्रान्ताश्चापि शूराश्च न मृत्युं गणयन्ति च ।
कृतयत्ना विपन्नाश्च जीवयैतान् पुरंदर ॥ ७ ॥

'पुरंदर ! वे पराक्रमी और शूरवीर थे तथा मृत्युको कुछ भी नहीं गिनते थे। उन्होंने मेरे लिये बड़ा प्रयत्न किया है और अन्तमें कालके गालमें चले गये हैं। आप उन सबको जीवित कर दें ॥ ७ ॥

मत्प्रियेष्वभिरक्ताश्च न मृत्युं गणयन्ति ये ।
त्वत्प्रसादात् समेयुस्ते वरमेतमहं वृणे ॥ ८ ॥

'जो वानर सदा मेरा प्रिय करनेमें लगे रहते थे और मौतको कुछ नहीं समझते थे, वे सब आपकी कृपासे फिर मुझसे मिलें—यह वर मैं चाहता हूँ ॥ ८ ॥

नीरुजो निर्व्रणांश्चैव सम्पन्नबलपौरुषान् ।
गोलाङ्गूलांस्तथर्क्षांश्च द्रष्टुमिच्छामि मानद ॥ ९ ॥

'दूसरोंको मान देनेवाले देवराज ! मैं उन वानर, लंगूर और भालुओंको नीरोग, व्रणहीन और बल-पौरुषसे सम्पन्न देखना चाहता हूँ ॥ ९ ॥

अकाले चापि पुष्पाणि मूलानि च फलानि च ।
नद्यश्च विमलास्तत्र तिष्ठेयुर्यत्र वानराः ॥ १० ॥

'ये वानर जिस स्थानपर रहें, वहाँ असमयमें भी फल-मूल और पुष्पोंकी भरमार रहे तथा निर्मल जलवाली नदियाँ बहती रहें' ॥ १० ॥

श्रुत्वा तु वचनं तस्य राघवस्य महात्मनः ।
महेन्द्रः प्रत्युवाचेदं वचनं प्रीतिसंयुतम् ॥ ११ ॥

महात्मा श्रीरघुनाथजीकी यह बात सुनकर महेन्द्रने प्रसन्नतापूर्वक यों उत्तर दिया— ॥ ११ ॥

महानयं वरस्तात यस्त्वयोक्तो रघूत्तम ।
द्विर्मया नोक्तपूर्वं च तस्मादेतद् भविष्यति ॥ १२ ॥

'तात ! रघुवंशविभूषण ! आपने जो वर माँगा है, यह बहुत बड़ा है, तथापि मैंने कभी दो तरहकी बात नहीं की है; इसलिये यह वर अवश्य सफल होगा ॥ १२ ॥

समुत्तिष्ठन्तु ते सर्वे हता ये युधि राक्षसैः ।
ऋक्षाश्च सह गोपुच्छैर्निकृत्ताननबाहवः ॥ १३ ॥

'जो युद्धमें मारे गये हैं और राक्षसोंने जिनके मस्तक तथा भुजाएँ काट डाली हैं, वे सब वानर, भालू और लङ्गूर जी उठें ॥ १३ ॥

नीरुजो निर्व्रणाश्चैव सम्पन्नबलपौरुषाः ।
समुत्थास्यन्ति हरयः सुप्ता निद्राक्षये यथा ॥ १४ ॥

'नींद टूटनेपर सोकर उठे हुए मनुष्योंकी भाँति वे सभी वानर नीरोग, व्रणहीन तथा बल-पौरुषसे सम्पन्न होकर उठ बैठेंगे ॥ १४ ॥

सुहृद्भिर्बान्धवैश्चैव ज्ञातिभिः स्वजनेन च ।
सर्व एव समेष्यन्ति संयुक्ताः परया मुदा ॥ १५ ॥

'सभी परमानन्दसे युक्त हो अपने सुहृदों, बान्धवों, जाति-भाइयों तथा स्वजनोंसे मिलेंगे ॥ १५ ॥

अकाले पुष्पशबलाः फलवन्तश्च पादपाः ।
भविष्यन्ति महेष्वास नद्यश्च सलिलायुताः ॥ १६ ॥

'महाधनुर्धर वीर ! ये वानर जहाँ रहेंगे, वहाँ असमयमें भी वृक्ष फल-फूलोंसे लद जायँगे और नदियाँ जलसे भरी रहेंगी' ॥ १६ ॥

सव्रणैः प्रथमं गात्रैरिदानीं निर्व्रणैः समैः ।
ततः समुत्थिताः सर्वे सुप्त्वेव हरिसत्तमाः ॥ १७ ॥

इन्द्रके इस प्रकार कहनेपर वे सब श्रेष्ठ वानर जिनके सब अङ्ग पहले घावोंसे भरे थे, उस समय घावरहित हो गये और सभी सोकर जगे हुएकी भाँति सहसा उठकर खड़े हो गये ॥ १७ ॥

बभूवुर्वानराः सर्वे किं त्वेतदिति विस्मिताः ।
काकुत्स्थं परिपूर्णार्थं दृष्ट्वा सर्वे सुरोत्तमाः ॥ १८ ॥
अब्रुवन् परमप्रीताः स्तुत्वा रामं सलक्ष्मणम् ।
गच्छायोध्यामितो राजन् विसर्जय च वानरान् ॥ १९ ॥

उन्हें इस प्रकार जीवित होते देख सब वानर आश्चर्य-चकित होकर कहने लगे कि यह क्या बात हो गयी? श्रीरामचन्द्रजीको सफलमनोरथ हुआ देख समस्त श्रेष्ठ देवता अत्यन्त प्रसन्न हो लक्ष्मणसहित श्रीरामकी स्तुति करके बोले—'राजन् ! अब आप यहाँसे अयोध्याको पधारें और समस्त वानरोंको बिदा कर दें ॥ १८-१९ ॥

मैथिलीं सान्त्वयस्वैनामनुरक्तां यशस्विनीम् ।
भ्रातरं भरतं पश्य त्वच्छोकाद् व्रतचारिणम् ॥ २० ॥

'ये मिथिलेशकुमारी यशस्विनी सीता सदा आपमें अनुराग रखती हैं। इन्हें सान्त्वना दीजिये और भाई भरत आपके शोकसे पीड़ित हो व्रत कर रहे हैं, अतः उनसे जाकर मिलिये ॥ २० ॥

शत्रुघ्नं च महात्मानं मातॄः सर्वाः परंतप ।
अभिषेचय चात्मानं पौरान् गत्वा प्रहर्षय ॥ २१ ॥

'परंतप ! आप महात्मा शत्रुघ्नसे और समस्त माताओंसे भी जाकर मिलें, अपना अभिषेक करावें और पुरवासियोंको हर्ष प्रदान करें' ॥ २१ ॥

एवमुक्त्वा सहस्राक्षो रामं सौमित्रिणा सह।
विमानैः सूर्यसंकाशैर्ययौ हृष्टः सुरैः सह ॥ २२ ॥

श्रीराम और लक्ष्मणसे ऐसा कहकर देवराज इन्द्र सब देवताओंके साथ सूर्यतुल्य तेजस्वी विमानोंद्वारा बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने लोकको चले गये ॥ २२ ॥

अभिवाद्य च काकुत्स्थः सर्वांस्तांस्त्रिदशोत्तमान्।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा वासमाज्ञापयत् तदा ॥ २३ ॥

उन समस्त श्रेष्ठ देवताओंको नमस्कार करके भाई लक्ष्मणसहित श्रीरामने सबको विश्राम करनेकी आज्ञा दी ॥ २३ ॥

ततस्तु सा लक्ष्मणरामपालिता
महाचमूर्हृष्टजना यशस्विनी।
श्रिया ज्वलन्ती विरराज सर्वतो
निशा प्रणीतेव हि शीतरश्मिना ॥ २४ ॥

श्रीराम और लक्ष्मणके द्वारा सुरक्षित तथा हृष्ट-पुष्ट सैनिकोंसे भरी हुई वह यशस्विनी विशाल सेना चन्द्रमाकी चाँदनीसे प्रकाशित होनेवाली रात्रिके समान अद्भुत शोभासे उद्भासित होती हुई विराज रही थी ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे विंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें एक सौ बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १२० ॥

—★—

एकविंशत्यधिकशततमः सर्गः

श्रीरामका अयोध्या जानेके लिये उद्यत होना और उनकी आज्ञासे विभीषणका पुष्पकविमानको मँगाना

तां रात्रिमुषितं रामं सुखोदितमरिंदमम्।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं जयं पृष्ट्वा विभीषणः ॥ १ ॥

उस रात्रिको विश्राम करके जब शत्रुसूदन श्रीराम दूसरे दिन प्रातःकाल सुखपूर्वक उठे, तब कुशल-प्रश्नके पश्चात् विभीषणने हाथ जोड़कर कहा— ॥ १ ॥

स्नानानि चाङ्गरागाणि वस्त्राण्याभरणानि च।
चन्दनानि च माल्यानि दिव्यानि विविधानि च ॥ २ ॥

'रघुनन्दन ! स्नानके लिये जल, अङ्गराग, वस्त्र, आभूषण, चन्दन और भाँति-भाँतिकी दिव्य मालाएँ आपकी सेवामें उपस्थित हैं ॥ २ ॥

अलंकारविदश्चैता नार्यः पद्मनिभेक्षणाः।
उपस्थितास्त्वां विधिवत् स्नापयिष्यन्ति राघव ॥ ३ ॥

'रघुवीर ! शृङ्गारकलाको जाननेवाली ये कमलनयनी नारियाँ भी सेवाके लिये प्रस्तुत हैं, जो आपको विधिपूर्वक स्नान करायेंगी' ॥ ३ ॥

एवमुक्तस्तु काकुत्स्थः प्रत्युवाच विभीषणम्।
हरीन् सुग्रीवमुख्यांस्त्वं स्नानेनोपनिमन्त्रय ॥ ४ ॥

विभीषणके ऐसा कहनेपर श्रीरामचन्द्रजीने उनसे कहा— 'मित्र ! तुम सुग्रीव आदि वानरवीरोंसे स्नानके लिये अनुरोध करो ॥ ४ ॥

स तु ताम्यति धर्मात्मा मम हेतोः सुखोचितः।
सुकुमारो महाबाहुर्भरतः सत्यसंश्रयः ॥ ५ ॥

'मेरे लिये तो इस समय सत्यका आश्रय लेनेवाले धर्मात्मा महाबाहु भरत बहुत कष्ट सह रहे हैं। वे सुकुमार हैं और सुख पानेके योग्य हैं ॥ ५ ॥

तं विना कैकयीपुत्रं भरतं धर्मचारिणम्।
न मे स्नानं बहु मतं वस्त्राण्याभरणानि च ॥ ६ ॥

'उन धर्मपरायण कैकेयीकुमार भरतसे मिले बिना न तो मुझे स्नान अच्छा लगता है, न वस्त्र और आभूषणोंको धारण करना ही ॥ ६ ॥

एतत् पश्य यथा क्षिप्रं प्रतिगच्छाम तां पुरीम्।
अयोध्यां गच्छतो ह्येष पन्थाः परमदुर्गमः ॥ ७ ॥

'अब तो तुम इस बातकी ओर ध्यान दो कि हम किस तरह जल्दी-से-जल्दी अयोध्यापुरीको लौट सकेंगे; क्योंकि वहाँतक पैदल यात्रा करनेवालेके लिये यह मार्ग बहुत ही दुर्गम है' ॥ ७ ॥

एवमुक्तस्तु काकुत्स्थं प्रत्युवाच विभीषणः।
अह्ना त्वां प्रापयिष्यामि तां पुरीं पार्थिवात्मज ॥ ८ ॥

उनके ऐसा कहनेपर विभीषणने श्रीरामचन्द्रजीको इस प्रकार उत्तर दिया—'राजकुमार ! आप इसके लिये चिन्तित न हों। मैं एक ही दिनमें आपको उस पुरीमें पहुँचा दूँगा ॥ ८ ॥

पुष्पकं नाम भद्रं ते विमानं सूर्यसंनिभम्।
मम भ्रातुः कुबेरस्य रावणेन बलीयसा ॥ ९ ॥
हृतं निर्जित्य संग्रामे कामगं दिव्यमुत्तमम्।
त्वदर्थं पालितं चेदं तिष्ठत्यतुलविक्रम ॥ १० ॥

'आपका कल्याण हो। मेरे यहाँ मेरे बड़े भाई कुबेरका सूर्यतुल्य तेजस्वी पुष्पकविमान मौजूद है, जिसे महाबली

रावणने संग्राममें कुबेरको हराकर छीन लिया था। अतुल पराक्रमी श्रीराम! वह इच्छानुसार चलनेवाला, दिव्य एवं उत्तम विमान मैंने यहाँ आपहीके लिये रख छोड़ा है ॥ ९-१० ॥

तदिदं मेघसंकाशं विमानमिह तिष्ठति।
येन यास्यसि यानेन त्वमयोध्यां गतज्वरः ॥ ११ ॥

'मेघ-जैसा दिखायी देनेवाला वह दिव्य विमान यहाँ विद्यमान है, जिसके द्वारा निश्चिन्त होकर आप अयोध्यापुरीको जा सकेंगे ॥ ११ ॥

अहं ते यद्यनुग्राह्यो यदि स्मरसि मे गुणान्।
वस तावदिह प्राज्ञ यद्यस्ति मयि सौहृदम् ॥ १२ ॥
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा वैदेह्या भार्यया सह।
अर्चितः सर्वकामैस्त्वं ततो राम गमिष्यसि ॥ १३ ॥

'श्रीराम! यदि मुझे आप अपना कृपापात्र समझते हैं, मुझमें कुछ गुण देखते या मानते हैं और मेरे प्रति आपका सौहार्द है तो अभी भाई लक्ष्मण तथा पत्नी सीताजीके साथ कुछ दिन यहीं विराजिये। मैं सम्पूर्ण मनोवाञ्छित वस्तुओंद्वारा आपका सत्कार करूँगा। मेरे उस सत्कारको ग्रहण कर लेनेके पश्चात् अयोध्याको पधारियेगा ॥ १२-१३ ॥

प्रीतियुक्तस्य विहितां ससैन्यः ससुहृद्गणः।
सत्क्रियां राम मे तावद् गृहाण त्वं मयोद्यताम् ॥ १४ ॥

'रघुनन्दन! मैं प्रसन्नतापूर्वक आपका सत्कार करना चाहता हूँ। मेरे द्वारा प्रस्तुत किये गये उस सत्कारको आप सुहृदों तथा सेनाओंके साथ ग्रहण करें ॥ १४ ॥

प्रणयाद् बहुमानाच्च सौहार्देन च राघव।
प्रसादयामि प्रेष्योऽहं न खल्वाज्ञापयामि ते ॥ १५ ॥

'रघुवीर! मैं केवल प्रेम, सम्मान और सौहार्दके कारण ही आपसे यह प्रार्थना कर रहा हूँ। आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ। मैं आपका सेवक हूँ। इसलिये आपसे विनय करता हूँ, आपको आज्ञा नहीं देता हूँ' ॥ १५ ॥

एवमुक्तस्ततो रामः प्रत्युवाच विभीषणम्।
रक्षसां वानराणां च सर्वेषामेव शृण्वताम् ॥ १६ ॥

जब विभीषणने ऐसी बात कही, तब श्रीराम समस्त राक्षसों और वानरोंके सुनते हुए ही उनसे बोले— ॥ १६ ॥

पूजितोऽस्मि त्वया वीर साचिव्येन परेण च।
सर्वात्मना च चेष्टाभिः सौहार्देन परेण च ॥ १७ ॥

'वीर! मेरे परम सुहृद् और उत्तम सचिव बनकर तुमने सब प्रकारकी चेष्टाओंद्वारा मेरा सम्मान और पूजन किया है ॥ १७ ॥

न खल्वेतन्न कुर्यां ते वचनं राक्षसेश्वर।
तं तु मे भ्रातरं द्रष्टुं भरतं त्वरते मनः ॥ १८ ॥
मां निवर्तयितुं योऽसौ चित्रकूटमुपागतः।
शिरसा याचतो यस्य वचनं न कृतं मया ॥ १९ ॥

'राक्षसेश्वर! तुम्हारी इस बातको मैं निश्चय ही अस्वीकार नहीं कर सकता हूँ; परंतु इस समय मेरा मन अपने उन भाई भरतको देखनेके लिये उतावला हो उठा है, जो मुझे लौटा ले जानेके लिये चित्रकूटतक आये थे और मेरे चरणोंमें सिर झुकाकर याचना करनेपर भी जिनकी बात मैंने नहीं मानी थी ॥ १८-१९ ॥

कौसल्यां च सुमित्रां च कैकेयीं च यशस्विनीम्।
गुहं च सुहृदं चैव पौराञ्जानपदैः सह ॥ २० ॥

'उनके सिवा माता कौसल्या, सुमित्रा, यशस्विनी कैकेयी, मित्रवर गुह और नगर एवं जनपदके लोगोंको देखनेके लिये भी मुझे बड़ी उत्कण्ठा हो रही है ॥ २० ॥

अनुजानीहि मां सौम्य पूजितोऽस्मि विभीषण।
मन्युर्न खलु कर्तव्यः सखे त्वां चानुमानये ॥ २१ ॥

'सौम्य विभीषण! अब तो तुम मुझे जानेकी ही अनुमति दो। मैं तुम्हारे द्वारा बहुत सम्मानित हो चुका हूँ। सखे! मेरे इस हठके कारण मुझपर क्रोध न करना। इसके लिये मैं तुमसे बार-बार प्रार्थना करता हूँ ॥ २१ ॥

उपस्थापय मे शीघ्रं विमानं राक्षसेश्वर।
कृतकार्यस्य मे वासः कथं स्यादिह सम्मतः ॥ २२ ॥

'राक्षसराज! अब शीघ्र मेरे लिये पुष्पकविमानको यहाँ मँगाओ। जब मेरा यहाँ कार्य समाप्त हो गया, तब यहाँ ठहरना मेरे लिये कैसे ठीक हो सकता है?' ॥ २२ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण राक्षसेन्द्रो विभीषणः।
विमानं सूर्यसंकाशमाजुहाव त्वरान्वितः ॥ २३ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर राक्षसराज विभीषणने बड़ी उतावलीके साथ उस सूर्यतुल्य तेजस्वी विमानका आवाहन किया ॥ २३ ॥

ततः काञ्चनचित्राङ्गं वैदूर्यमणिवेदिकम्।
कूटागारैः परिक्षिप्तं सर्वतो रजतप्रभम् ॥ २४ ॥

उस विमानका एक-एक अङ्ग सोनेसे जड़ा हुआ था, जिससे उसकी विचित्र शोभा होती थी। उसके भीतर वैदूर्य मणि (नीलम) की वेदियाँ थीं, जहाँ-तहाँ गुप्त गृह बने हुए थे और वह सब ओर चाँदीके समान चमकीला था ॥ २४ ॥

पाण्डुराभिः पताकाभिर्ध्वजैश्च समलंकृतम्।
शोभितं काञ्चनैर्हर्म्यैर्हेमपद्मविभूषितैः ॥ २५ ॥

वह श्वेत-पीत वर्णवाली पताकाओं तथा ध्वजोंसे अलंकृत था। उसमें सोनेके कमलोंसे सुसज्जित स्वर्णमयी अट्टालिकाएँ थीं, जो उस विमानकी शोभा बढ़ाती थीं ॥ २५ ॥

प्रकीर्णं किङ्किणीजालैर्मुक्तामणिगवाक्षकम्।
घण्टाजालैः परिक्षिप्तं सर्वतो मधुरस्वनम् ॥ २६ ॥

सारा विमान छोटी-छोटी घंटियोंसे युक्त झालरोंसे व्याप्त था। उसमें मोती और मणियोंकी खिड़कियाँ लगी थीं। सब

और घंट बँधे थे, जिससे मधुर ध्वनि होती रहती थी ॥ २६ ॥

तं मेरुशिखराकारं निर्मितं विश्वकर्मणा।
बृहद्भिर्भूषितं हर्म्यैर्मुक्तारजतशोभितैः ॥ २७ ॥

वह विश्वकर्माका बनाया हुआ विमान सुमेरुशिखरके समान ऊँचा तथा मोती और चाँदीसे सुसज्जित बड़े-बड़े कमरोंसे विभूषित था ॥ २७ ॥

तलैः स्फटिकचित्राङ्गैर्वैदूर्यैश्च वरासनैः।
महार्हास्तरणोपेतैरुपपन्नं महाधनैः ॥ २८ ॥

उसकी फर्श विचित्र स्फटिकमणिसे जड़ी हुई थी। उसमें नीलमके बहुमूल्य सिंहासन थे, जिनपर महामूल्यवान् बिस्तर बिछे हुए थे ॥ २८ ॥

उपस्थितमनाधृष्यं तद् विमानं मनोजवम्।
निवेदयित्वा रामाय तस्थौ तत्र विभीषणः ॥ २९ ॥

उसका मनके समान वेग था और उसकी गति कहीं रुकती नहीं थी। वह विमान सेवामें उपस्थित हुआ। विभीषण श्रीरामको उसके आनेकी सूचना देकर वहाँ खड़े हो गये ॥ २९ ॥

तत् पुष्पकं कामगमं विमान-
मुपस्थितं भूधरसंनिकाशम्।
दृष्ट्वा तदा विस्मयमाजगाम
रामः ससौमित्रिरुदारसत्त्वः ॥ ३० ॥

पर्वतके समान ऊँचे और इच्छानुसार चलनेवाले उस पुष्पकविमानको तत्काल उपस्थित देख लक्ष्मणसहित उदारचेता भगवान् श्रीरामको बड़ा विस्मय हुआ ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे एकविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें एक सौ इक्कीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १२१ ॥

—★—

द्वाविंशत्यधिकशततमः सर्गः

श्रीरामकी आज्ञासे विभीषणद्वारा वानरोंका विशेष सत्कार तथा सुग्रीव और विभीषणसहित वानरोंको साथ लेकर श्रीरामका पुष्पकविमानद्वारा अयोध्याको प्रस्थान करना

उपस्थितं तु तं कृत्वा पुष्पकं पुष्पभूषितम्।
अविदूरे स्थितो राममित्युवाच विभीषणः ॥ १ ॥

फूलोंसे सजे हुए पुष्पकविमानको वहाँ उपस्थित करके पास ही खड़े हुए विभीषणने श्रीरामसे कुछ कहनेका विचार किया ॥ १ ॥

स तु बद्धाञ्जलिपुटो विनीतो राक्षसेश्वरः।
अब्रवीत् त्वरयोपेतः किं करोमीति राघवम् ॥ २ ॥

राक्षसराज विभीषणने दोनों हाथ जोड़कर बड़ी विनय और उतावलीके साथ श्रीरघुनाथजीसे पूछा—'प्रभो! अब मैं क्या सेवा करूँ?' ॥ २ ॥

तमब्रवीन्महातेजा लक्ष्मणस्योपशृण्वतः।
विमृश्य राघवो वाक्यमिदं स्नेहपुरस्कृतम् ॥ ३ ॥

तब महातेजस्वी श्रीरघुनाथजीने कुछ सोचकर लक्ष्मणके सुनते हुए यह स्नेहयुक्त वचन कहा— ॥ ३ ॥

कृतप्रयत्नकर्माणः सर्व एव वनौकसः।
रत्नैरर्थैश्च विविधैः सम्पूज्यन्तां विभीषण ॥ ४ ॥

'विभीषण! इन सारे वानरोंने युद्धमें बड़ा यत्न एवं परिश्रम किया है; अतः तुम नाना प्रकारके रत्न और धन आदिके द्वारा इन सबका सत्कार करो ॥ ४ ॥

सहामीभिस्त्वया लङ्का निर्जिता राक्षसेश्वर।
हृष्टैः प्राणभयं त्यक्त्वा संग्रामेष्वनिवर्तिभिः ॥ ५ ॥

'राक्षसेश्वर! ये वीर वानर संग्राममें कभी पीछे नहीं हटते हैं और सदा हर्ष एवं उत्साहसे भरे रहते हैं। प्राणोंका भय छोड़कर लड़नेवाले इन वानरोंके सहयोगसे तुमने लङ्कापर विजय पायी है ॥ ५ ॥

त इमे कृतकर्माणः सर्व एव वनौकसः।
धनरत्नप्रदानैश्च कर्मैषां सफलं कुरु ॥ ६ ॥

'ये सभी वानर इस समय अपना काम पूरा कर चुके हैं, अतः इन्हें रत्न और धन आदि देकर तुम इनके इस कर्मको सफल करो ॥ ६ ॥

एवं सम्मानिताश्चैते नन्द्यमाना यथा त्वया।
भविष्यन्ति कृतज्ञेन निर्वृता हरियूथपाः ॥ ७ ॥

'तुम कृतज्ञ होकर जब इनका इस प्रकार सम्मान और अभिनन्दन करोगे, तब ये वानरयूथपति बहुत संतुष्ट होंगे ॥ ७ ॥

त्यागिनं संग्रहीतारं सानुक्रोशं जितेन्द्रियम्।
सर्वे त्वामभिगच्छन्ति ततः सम्बोधयामि ते ॥ ८ ॥

'ऐसा करनेसे सब लोग यह जानेंगे कि विभीषण उचित अवसरपर धनका त्याग एवं दान करते हैं, यथासमय न्यायोचित रीतिसे धन और रत्न आदिका संग्रह करते रहते हैं, दयालु हैं और जितेन्द्रिय हैं; इसलिये तुम्हें ऐसा करनेके लिये समझा रहा हूँ ॥ ८ ॥

हीनं रतिगुणैः सर्वैरभिहन्तारमाहवे।
सेना त्यजति संविग्ना नृपतिं तं नरेश्वर ॥ ९ ॥

'नरेश्वर! जो राजा सेवकोंमें प्रेम उत्पन्न करनेवाले दान-मान आदि सब गुणोंसे रहित होता है, उसे युद्धके अवसरपर उद्विग्न हुई सेना छोड़कर चल देती है, वह समझती है कि यह व्यर्थ ही हमारा वध करा रहा है—हमारे भरण-पोषणका या योग-क्षेमकी चिन्ता इसे बिलकुल नहीं है'॥ ९॥

एवमुक्तस्तु रामेण वानरांस्तान् विभीषणः।
रत्नार्थसंविभागेन सर्वानेवाभ्यपूजयत्॥ १०॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर विभीषणने उन सब वानरोंको रत्न और धन देकर सभीका पूजन (सत्कार) किया॥ १०॥

ततस्तान् पूजितान् दृष्ट्वा रत्नार्थैर्हरियूथपान्।
आरुरोह तदा रामस्तद् विमानमनुत्तमम्॥ ११॥
अङ्केनादाय वैदेहीं लज्जमानां मनस्विनीम्।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा विक्रान्तेन धनुष्मता॥ १२॥

उन वानरयूथपतियोंको रत्न और धनसे पूजित हुआ देख उस समय भगवान् श्रीराम लजाती हुई मनस्विनी विदेहकुमारीको अङ्कमें लेकर पराक्रमी धनुर्धर बन्धु लक्ष्मणके साथ उस उत्तम विमानपर आरूढ़ हुए॥ ११-१२॥

अब्रवीत् स विमानस्थः पूजयन् सर्ववानरान्।
सुग्रीवं च महावीर्यं काकुत्स्थः सविभीषणम्॥ १३॥

विमानपर बैठकर समस्त वानरोंका समादर करते हुए उन ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामने विभीषणसहित महापराक्रमी सुग्रीवसे कहा—॥ १३॥

मित्रकार्यं कृतमिदं भवद्भिर्वानरर्षभाः।
अनुज्ञाता मया सर्वे यथेष्टं प्रतिगच्छत॥ १४॥

'वानरश्रेष्ठ वीरो! आपलोगोंने अपने इस मित्रका कार्य मित्रोचित रीतिसे ही भलीभाँति सम्पन्न किया। अब आप सब अपने-अपने अभीष्ट स्थानोंको चले जायँ॥ १४॥

यत् तु कार्यं वयस्येन स्निग्धेन च हितेन च।
कृतं सुग्रीव तत् सर्वं भवताधर्मभीरुणा॥ १५॥

'सखे सुग्रीव! एक हितैषी एवं प्रेमी मित्रको जो काम करना चाहिये, वह सब तुमने पूरा-पूरा कर दिखाया; क्योंकि तुम अधर्मसे डरनेवाले हो॥ १५॥

किष्किन्धां प्रति याह्याशु स्वसैन्येनाभिसंवृतः।
स्वराज्ये वस लङ्कायां मया दत्ते विभीषण।
न त्वां धर्षयितुं शक्ताः सेन्द्रा अपि दिवौकसः॥ १६॥

'वानरराज! अब तुम अपनी सेनाके साथ शीघ्र ही किष्किन्धापुरीको चले जाओ। विभीषण! तुम भी लङ्कामें मेरे दिये हुए अपने राज्यपर स्थिर रहो; अब इन्द्र आदि देवता भी तुम्हारा कुछ बिगाड़ नहीं सकते हैं॥ १६॥

अयोध्यां प्रति यास्यामि राजधानीं पितुर्मम।
अभ्यनुज्ञातुमिच्छामि सर्वानामन्त्रयामि वः॥ १७॥

'अब इस समय मैं अपने पिताकी राजधानी अयोध्याको जाऊँगा। इसके लिये आप सब लोगोंसे पूछता हूँ और सबकी अनुमति चाहता हूँ'॥ १७॥

एवमुक्तास्तु रामेण हरीन्द्रा हरयस्तथा।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे राक्षसश्च विभीषणः॥ १८॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर सभी वानर-सेनापति तथा राक्षसराज विभीषण हाथ जोड़कर कहने लगे—॥ १८॥

अयोध्यां गन्तुमिच्छामः सर्वान् नयतु नो भवान्।
मुद्युक्ता विचरिष्यामो वनान्युपवनानि च॥ १९॥

'भगवन्! हम भी अयोध्यापुरीको चलना चाहते हैं, आप हमें भी अपने साथ ले चलिये। वहाँ हम प्रसन्नतापूर्वक वनों और उपवनोंमें विचरेंगे॥ १९॥

दृष्ट्वा त्वामभिषेकार्द्रं कौसल्यामभिवाद्य च।
अचिरादागमिष्यामः स्वगृहान् नृपसत्तम॥ २०॥

'नृपश्रेष्ठ! राज्याभिषेकके समय मन्त्रपूत जलसे भीगे हुए आपके श्रीविग्रहकी झाँकी करके माता कौसल्याके चरणोंमें मस्तक झुकाकर हम शीघ्र अपने घर लौट आयेंगे'॥ २०॥

एवमुक्तस्तु धर्मात्मा वानरैः सविभीषणैः।
अब्रवीद् वानरान् रामः ससुग्रीवविभीषणान्॥ २१॥

विभीषणसहित वानरोंके इस प्रकार अनुरोध करनेपर श्रीरामने सुग्रीव तथा विभीषणसहित उन वानरोंसे कहा—॥ २१॥

प्रियात् प्रियतरं लब्धं यदहं ससुहृज्जनः।
सर्वैर्भवद्भिः सहितः प्रीतिं लप्स्ये पुरीं गतः॥ २२॥

'मित्रो! यह तो मेरे लिये प्रियसे भी प्रिय बात होगी—परम प्रिय वस्तुका लाभ होगा, यदि मैं आप सभी सुहृदोंके साथ अयोध्यापुरीको चल सकूँ। इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता प्राप्त होगी॥ २२॥

क्षिप्रमारोह सुग्रीव विमानं सह वानरैः।
त्वमप्यारोह सामात्यो राक्षसेन्द्र विभीषण॥ २३॥

'सुग्रीव! तुम सब वानरोंके साथ शीघ्र ही इस विमानपर चढ़ जाओ। राक्षसराज विभीषण! तुम भी मन्त्रियोंके साथ विमानपर आरूढ़ हो जाओ'॥ २३॥

ततः स पुष्पकं दिव्यं सुग्रीवः सह वानरैः।
आरुरोह मुदा युक्तः सामात्यश्च विभीषणः॥ २४॥

तब वानरोंसहित सुग्रीव और मन्त्रियोंसहित विभीषण बड़ी प्रसन्नताके साथ उस दिव्य पुष्पकविमानपर चढ़ गये॥ २४॥

तेष्वारूढेषु सर्वेषु कौबेरं परमासनम्।
राघवेणाभ्यनुज्ञातमुत्पपात विहायसम्॥ २५॥

उन सबके चढ़ जानेपर कुबेरका वह उत्तम आसन पुष्पकविमान श्रीरघुनाथजीकी आज्ञा पाकर आकाशको उड़ चला॥ २५॥

खगतेन विमानेन हंसयुक्तेन भास्वता।
प्रहृष्टश्च प्रतीतश्च बभौ रामः कुबेरवत्॥ २६॥

आकाशमें पहुँचे हुए उस हंसयुक्त तेजस्वी विमानसे यात्रा करते हुए पुलकित एवं प्रसन्नचित्त श्रीराम साक्षात् कुबेरके समान शोभा पा रहे थे॥ २६॥

ते सर्वे वानरर्क्षाश्च राक्षसाश्च महाबलाः।
यथासुखमसम्बाधं दिव्ये तस्मिन्नुपाविशन्॥ २७॥

वे सब वानर, भालू और महाबली राक्षस उस दिव्य विमानमें बड़े सुखसे फैलकर बैठे हुए थे। किसीको किसीसे धक्का नहीं खाना पड़ता था॥ २७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे द्वाविंशत्यधिकशततमः सर्गः॥ १२२॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें एक सौ बाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १२२॥

त्रयोविंशत्यधिकशततमः सर्गः

अयोध्याकी यात्रा करते समय श्रीरामका सीताजीको मार्गके स्थान दिखाना

अनुज्ञातं तु रामेण तद् विमानमनुत्तमम्।
हंसयुक्तं महानादमुत्पपात विहायसम्॥ १॥

श्रीरामकी आज्ञा पाकर वह हंसयुक्त उत्तम विमान महान् शब्द करता हुआ आकाशमें उड़ने लगा॥ १॥

पातयित्वा ततश्चक्षुः सर्वतो रघुनन्दनः।
अब्रवीन्मैथिलीं सीतां रामः शशिनिभाननाम्॥ २॥

उस समय रघुकुलनन्दन श्रीरामने सब ओर दृष्टि डालकर चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाली मिथिलेशकुमारी सीतासे कहा—॥ २॥

कैलासशिखराकारे त्रिकूटशिखरे स्थिताम्।
लङ्कामीक्षस्व वैदेहि निर्मितां विश्वकर्मणा॥ ३॥

'विदेहराजनन्दिनि! कैलास-शिखरके समान सुन्दर त्रिकूट पर्वतके विशाल शृङ्गपर बसी हुई विश्वकर्माकी बनायी लङ्कापुरीको देखो, कैसी सुन्दर दिखायी देती है!॥ ३॥

एतदायोधनं पश्य मांसशोणितकर्दमम्।
हरीणां राक्षसानां च सीते विशसनं महत्॥ ४॥

'इधर इस युद्धभूमिको देखो। यहाँ रक्त और मांसकी कीच जमी हुई है। सीते! इस युद्धक्षेत्रमें वानरों और राक्षसोंका महान् संहार हुआ है॥ ४॥

एष दत्तवरः शेते प्रमाथी राक्षसेश्वरः।
तव हेतोर्विशालाक्षि निहतो रावणो मया॥ ५॥

'विशाललोचने! यह राक्षसराज रावण राखका ढेर बनकर सो रहा है। यह बड़ा भारी हिंसक था और इसे ब्रह्माजीने वरदान दे रखा था; किंतु तुम्हारे लिये मैंने इसका वध कर डाला है॥ ५॥

कुम्भकर्णोऽत्र निहतः प्रहस्तश्च निशाचरः।
धूम्राक्षश्चात्र निहतो वानरेण हनूमता॥ ६॥

'यहींपर मैंने कुम्भकर्णको मारा था, यहीं निशाचर प्रहस्त मारा गया है और इसी समराङ्गणमें वानरवीर हनुमान्ने धूम्राक्षका वध किया है॥ ६॥

विद्युन्माली हतश्चात्र सुषेणेन महात्मना।
लक्ष्मणेनेन्द्रजिच्चात्र रावणिर्निहतो रणे॥ ७॥

'यहीं महामना सुषेणने विद्युन्मालीको मारा था और इसी रणभूमिमें लक्ष्मणने रावणपुत्र इन्द्रजित्का संहार किया था॥ ७॥

अङ्गदेनात्र निहतो विकटो नाम राक्षसः।
विरूपाक्षश्च दुष्प्रेक्षो महापार्श्वमहोदरौ॥ ८॥

'यहीं अङ्गदने विकट नामक राक्षसका वध किया था। जिसकी ओर देखना भी कठिन था, वह विरूपाक्ष तथा महापार्श्व और महोदर भी यहीं मारे गये हैं॥ ८॥

अकम्पनश्च निहतो बलिनोऽन्ये च राक्षसाः।
त्रिशिराश्चातिकायश्च देवान्तकनरान्तकौ॥ ९॥

'अकम्पन तथा दूसरे बलवान् राक्षस यहीं मौतके घाट उतारे गये थे। त्रिशिरा, अतिकाय, देवान्तक और नरान्तक भी यहीं मार डाले गये थे॥ ९॥

युद्धोन्मत्तश्च मत्तश्च राक्षसप्रवरावुभौ।
निकुम्भश्चैव कुम्भश्च कुम्भकर्णात्मजौ बली॥ १०॥

'युद्धोन्मत्त और मत्त—ये दोनों श्रेष्ठ राक्षस तथा बलवान् कुम्भ और निकुम्भ—ये कुम्भकर्णके दोनों पुत्र भी यहीं मृत्युको प्राप्त हुए॥ १०॥

वज्रदंष्ट्रश्च दंष्ट्रश्च बहवो राक्षसा हताः।
मकराक्षश्च दुर्धर्षो मया युधि निपातितः॥ ११॥

'वज्रदंष्ट्र और दंष्ट्र आदि बहुत-से राक्षस यहीं कालके ग्रास बन गये। दुर्धर्ष वीर मकराक्षको इसी युद्धस्थलमें मैंने मार गिराया था॥ ११॥

अकम्पनश्च निहतः शोणिताक्षश्च वीर्यवान्।
यूपाक्षश्च प्रजङ्घश्च निहतौ तु महाहवे॥ १२॥

'अकम्पन और पराक्रमी शोणिताक्षका भी यहीं काम तमाम हुआ था। यूपाक्ष और प्रजङ्घ भी इसी महासमरमें मारे गये थे॥ १२॥

विद्युज्जिह्वोऽत्र निहतो राक्षसो भीमदर्शनः।
यज्ञशत्रुश्च निहतः सुप्तघ्नश्च महाबलः॥ १३॥

'जिसकी ओर देखनेसे भी भय होता था, वह राक्षस विद्युज्जिह्व यहीं मौतका ग्रास बन गया। यज्ञशत्रु और महाबली सुप्तघ्नको भी यहीं मारा गया था॥ १३॥

सूर्यशत्रुश्च निहतो ब्रह्मशत्रुस्तथापरः।
अत्र मन्दोदरी नाम भार्या तं पर्यदेवयत्॥ १४॥
सपत्नीनां सहस्रेण साग्रेण परिवारिता।

'सूर्यशत्रु और ब्रह्मशत्रु नामक निशाचरोंका भी यहीं वध किया गया था। यहीं रावणकी भार्या मन्दोदरीने उसके लिये विलाप किया था। उस समय वह अपनी हजारोंसे भी अधिक सौतोंसे घिरी हुई थी॥ १४½॥

एतत् तु दृश्यते तीर्थं समुद्रस्य वरानने॥ १५॥
यत्र सागरमुत्तीर्य तां रात्रिमुषिता वयम्।

'सुमुखि! यह समुद्रका तीर्थ दिखायी देता है, जहाँ समुद्रको पार करके हमलोगोंने वह रात बितायी थी॥ १५½॥

एष सेतुर्मया बद्धः सागरे लवणार्णवे॥ १६॥
तव हेतोर्विशालाक्षि नलसेतुः सुदुष्करः।

'विशाललोचने! खारे पानीके समुद्रमें यह मेरा बँधवाया हुआ पुल है, जो नलसेतुके नामसे विख्यात है। देवि! तुम्हारे लिये ही यह अत्यन्त दुष्कर सेतु बाँधा गया था॥ १६½॥

पश्य सागरमक्षोभ्यं वैदेहि वरुणालयम्॥ १७॥
अपारमिव गर्जन्तं शङ्खशुक्तिसमाकुलम्।

'विदेहनन्दिनि! इस अक्षोभ्य वरुणालय समुद्रको तो देखो, जो अपार-सा दिखायी देता है। शङ्ख और सीपियोंसे भरा हुआ यह सागर कैसी गर्जना कर रहा है॥ १७½॥

हिरण्यनाभं शैलेन्द्रं काञ्चनं पश्य मैथिलि॥ १८॥
विश्रमार्थं हनुमतो भित्त्वा सागरमुत्थितम्।

'मिथिलेशकुमारी! इस सुवर्णमय पर्वतराज हिरण्यनाभको तो देखो, जो हनुमान्‌जीको विश्राम देनेके लिये समुद्रकी जलराशिको चीरकर ऊपरको उठ गया था॥ १८½॥

एतत् कुक्षौ समुद्रस्य स्कन्धावारनिवेशनम्॥ १९॥
अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद् विभुः।

'यह समुद्रके उदरमें ही विशाल द्वीप है, जहाँ मैंने सेनाका पड़ाव डाला था। यहीं पूर्वकालमें भगवान् महादेवने मुझपर कृपा की थी—सेतु बाँधनेसे पहले मेरे द्वारा स्थापित होकर वे यहाँ विराजमान हुए थे॥ १९½॥

एतत् तु दृश्यते तीर्थं सागरस्य महात्मनः॥ २०॥
सेतुबन्ध इति ख्यातं त्रैलोक्येन च पूजितम्।

'इस पुण्यस्थलमें विशालकाय समुद्रका तीर्थ दिखायी देता है, जो सेतुनिर्माणका मूलप्रदेश होनेके कारण सेतुबन्ध नामसे विख्यात तथा तीनों लोकोंद्वारा पूजित होगा॥ २०½॥

एतत् पवित्रं परमं महापातकनाशनम्॥ २१॥
अत्र राक्षसराजोऽयमाजगाम विभीषणः।

'यह तीर्थ परम पवित्र और महान् पातकोंका नाश करनेवाला होगा। यहीं ये राक्षसराज विभीषण आकर मुझसे मिले थे॥ २१½॥

एषा सा दृश्यते सीते किष्किन्धा चित्रकानना॥ २२॥
सुग्रीवस्य पुरी रम्या यत्र वाली मया हतः।

'सीते! यह विचित्र वनप्रान्तसे सुशोभित किष्किन्धा दिखायी देती है, जो वानरराज सुग्रीवकी सुरम्य नगरी है। यहीं मैंने वालीका वध किया था'॥ २२½॥

अथ दृष्ट्वा पुरीं सीता किष्किन्धां वालिपालिताम्॥ २३॥
अब्रवीत् प्रश्रितं वाक्यं रामं प्रणयसाध्वसा।

तदनन्तर वालिपालित किष्किन्धापुरीका दर्शन करके सीताने प्रेमसे विह्वल हो श्रीरामसे विनयपूर्वक कहा—॥ २३½॥

सुग्रीवप्रियभार्याभिस्ताराप्रमुखतो नृप॥ २४॥
अन्येषां वानरेन्द्राणां स्त्रीभिः परिवृता ह्यहम्।
गन्तुमिच्छे सहायोध्यां राजधानीं त्वया सह॥ २५॥

'महाराज! मैं सुग्रीवकी तारा आदि प्रिय भार्याओं तथा अन्य वानरेश्वरोंकी स्त्रियोंको साथ लेकर आपके साथ अपनी राजधानी अयोध्यामें चलना चाहती हूँ'*॥ २४-२५॥

एवमुक्तोऽथ वैदेह्या राघवः प्रत्युवाच ताम्।
एवमस्त्विति किष्किन्धां प्राप्य संस्थाप्य राघवः॥ २६॥
विमानं प्रेक्ष्य सुग्रीवं वाक्यमेतदुवाच ह।

विदेहनन्दिनी सीताके ऐसा कहनेपर श्रीरघुनाथजीने कहा—'ऐसा ही हो।' फिर किष्किन्धामें पहुँचनेपर उन्होंने

* सीताजीने जो यहाँ वानरोंकी स्त्रियोंको साथ ले चलनेकी इच्छा प्रकट की है, इसके लिये किष्किन्धामें विमानको रोककर सबको एक दिन रुकना पड़ा। ऐसा रामायण-तिलककारका मत है। उनके कथनानुसार आश्विन शुक्ला चतुर्थीको किष्किन्धामें रहकर पञ्चमीको वहाँसे प्रस्थान किया गया था। भगवान् रामने वहाँ रुककर उसी दिन अङ्गदका किष्किन्धाके युवराजपदपर अभिषेक करवाया था, जैसा कि महाभारत, वनपर्व अध्याय २९१ श्लोक ५८-५९ से सूचित होता है।

विमान ठहराया और सुग्रीवकी ओर देखकर कहा— ॥२६½॥

ब्रूहि वानरशार्दूल सर्वान् वानरपुङ्गवान् ॥ २७ ॥
स्त्रीभिः परिवृताः सर्वे ह्ययोध्यां यान्तु सीतया ।
तथा त्वमपि सर्वाभिः स्त्रीभिः सह महाबल ॥ २८ ॥
अभित्वरस्व सुग्रीव गच्छामः प्लवगाधिप ।

'वानरश्रेष्ठ ! तुम समस्त वानरयूथपतियोंसे कहो कि वे सब लोग अपनी-अपनी स्त्रियोंको साथ लेकर सीताके साथ अयोध्या चलें तथा महाबली वानरराज सुग्रीव ! तुम भी अपनी सब स्त्रियोंके साथ शीघ्र चलनेकी तैयारी करो, जिससे हम सब लोग जल्दी वहाँ पहुँचें' ॥२७-२८½॥

एवमुक्तस्तु सुग्रीवो रामेणामिततेजसा ॥ २९ ॥
वानराधिपतिः श्रीमांस्तैश्च सर्वैः समावृतः ।
प्रविश्यान्तःपुरं शीघ्रं तारामुद्वीक्ष्य सोऽब्रवीत् ॥ ३० ॥

अमित तेजस्वी श्रीरघुनाथजीके ऐसा कहनेपर उन सब वानरोंसे घिरे हुए श्रीमान् वानरराज सुग्रीवने शीघ्र ही अन्तःपुरमें प्रवेश करके तारासे भेंट की और इस प्रकार कहा— ॥ २९-३० ॥

प्रिये त्वं सह नारीभिर्वानराणां महात्मनाम् ।
राघवेणाभ्यनुज्ञाता मैथिलीप्रियकाम्यया ॥ ३१ ॥
त्वर त्वमभिगच्छामो गृह्य वानरयोषितः ।
अयोध्यां दर्शयिष्यामः सर्वा दशरथस्त्रियः ॥ ३२ ॥

'प्रिये ! तुम मिथिलेशकुमारी सीताका प्रिय करनेकी इच्छासे श्रीरघुनाथजीकी आज्ञाके अनुसार सभी प्रधान-प्रधान महात्मा वानरोंकी स्त्रियोंके साथ शीघ्र चलनेकी तैयारी करो। हमलोग इन वानर-पत्नियोंको साथ लेकर चलेंगे और उन्हें अयोध्यापुरी तथा महाराज दशरथकी सब रानियोंका दर्शन करायेंगे' ॥ ३१-३२ ॥

सुग्रीवस्य वचः श्रुत्वा तारा सर्वाङ्गशोभना ।
आहूय चाब्रवीत् सर्वा वानराणां तु योषितः ॥ ३३ ॥

सुग्रीवकी यह बात सुनकर सर्वाङ्गसुन्दरी ताराने समस्त वानर-पत्नियोंको बुलाकर कहा— ॥ ३३ ॥

सुग्रीवेणाभ्यनुज्ञाता गन्तुं सर्वैश्च वानरैः ।
मम चापि प्रियं कार्यमयोध्यादर्शनेन च ॥ ३४ ॥
प्रवेशं चैव रामस्य पौरजानपदैः सह ।
विभूतिं चैव सर्वासां स्त्रीणां दशरथस्य च ॥ ३५ ॥

'सखियो ! सुग्रीवकी आज्ञाके अनुसार तुम सब लोग अपने पतियों—समस्त वानरोंके साथ अयोध्या चलनेके लिये शीघ्र तैयार हो जाओ। अयोध्याका दर्शन करके तुमलोग मेरा भी प्रिय कार्य करोगी। वहाँ पुरवासियों तथा जनपदके लोगोंके साथ श्रीरामका जो अपने नगरमें प्रवेश होगा, वह उत्सव हमें देखनेको मिलेगा। हम वहाँ महाराज दशरथकी समस्त रानियोंके वैभवका भी दर्शन करेंगी' ॥ ३४-३५ ॥

तारया चाभ्यनुज्ञाताः सर्वा वानरयोषितः ।
नेपथ्यविधिपूर्वं तु कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ॥ ३६ ॥
अध्यारोहन् विमानं तत् सीतादर्शनकाङ्क्षया ।

ताराकी यह आज्ञा पाकर सारी वानर-पत्नियोंने शृङ्गार करके उस विमानकी परिक्रमा की और सीताजीके दर्शनकी इच्छासे वे उसपर चढ़ गयीं ॥३६½॥

ताभिः सहोत्थितं शीघ्रं विमानं प्रेक्ष्य राघवः ॥ ३७ ॥
ऋष्यमूकसमीपे तु वैदेहीं पुनरब्रवीत् ।

उन सबके साथ विमानको शीघ्र ही ऊपर उठा देख श्रीरघुनाथजीने ऋष्यमूकके निकट आनेपर पुनः विदेहनन्दिनीसे कहा— ॥३७½॥

दृश्यतेऽसौ महान् सीते सविद्युदिव तोयदः ॥ ३८ ॥
ऋष्यमूको गिरिवरः काञ्चनैर्धातुभिर्वृतः ।

'सीते ! वह जो बिजलीसहित मेघके समान सुवर्णमय धातुओंसे युक्त श्रेष्ठ एवं महान् पर्वत दिखायी देता है, उसका नाम ऋष्यमूक है ॥३८½॥

अत्राहं वानरेन्द्रेण सुग्रीवेण समागतः ॥ ३९ ॥
समयश्च कृतः सीते वधार्थं वालिनो मया ।

'सीते ! यहीं मैं वानरराज सुग्रीवसे मिला था और मित्रता करनेके पश्चात् वालीका वध करनेके लिये प्रतिज्ञा की थी ॥३९½॥

एषा सा दृश्यते पम्पा नलिनी चित्रकानना ॥ ४० ॥
त्वया विहीनो यत्राहं विललाप सुदुःखितः ।

'यही वह पम्पा नामक पुष्करिणी है, जो तटवर्ती विचित्र काननोंसे सुशोभित हो रही है। यहाँ तुम्हारे वियोगसे अत्यन्त दुःखी होकर मैंने विलाप किया था ॥४०½॥

अस्यास्तीरे मया दृष्टा शबरी धर्मचारिणी ॥ ४१ ॥
अत्र योजनबाहुश्च कबन्धो निहतो मया ।

'इसी पम्पाके तटपर मुझे धर्मपरायणा शबरीका दर्शन हुआ था। इधर वह स्थान है, जहाँ एक योजन लम्बी भुजावाले कबन्ध नामक असुरका मैंने वध किया था ॥४१½॥

दृश्यतेऽसौ जनस्थाने श्रीमान् सीते वनस्पतिः ॥ ४२ ॥
जटायुश्च महातेजास्तव हेतोर्विलासिनि ।
रावणेन हतो यत्र पक्षिणां प्रवरो बली ॥ ४३ ॥

'विलासशालिनी सीते ! जनस्थानमें वह शोभाशाली विशाल वृक्ष दिखायी दे रहा है, जहाँ बलवान् एवं महातेजस्वी पक्षिप्रवर जटायु तुम्हारी रक्षा करनेके कारण रावणके हाथसे मारे गये थे ॥ ४२-४३ ॥

खरश्च निहतो यत्र दूषणश्च निपातितः ।
त्रिशिराश्च महावीर्यो मया बाणैरजिह्मगैः ॥ ४४ ॥

'यह वह स्थान है, जहाँ मेरे सीधे जानेवाले बाणोंद्वारा खर मारा गया, दूषण धराशायी किया गया और महापराक्रमी

त्रिशिराको भी मौतके घाट उतार दिया गया ॥ ४४ ॥

एतत् तदाश्रमपदमस्माकं वरवर्णिनि।
पर्णशाला तथा चित्रा दृश्यते शुभदर्शने ॥ ४५ ॥
यत्र त्वं राक्षसेन्द्रेण रावणेन हृता बलात्।

'वरवर्णिनि! शुभदर्शने! यह हमलोगोंका आश्रम है तथा वह विचित्र पर्णशाला दिखायी देती है, जहाँ आकर राक्षसराज रावणने बलपूर्वक तुम्हारा अपहरण किया था ॥ ४५½ ॥

एषा गोदावरी रम्या प्रसन्नसलिला शुभा ॥ ४६ ॥
अगस्त्यस्याश्रमश्चैव दृश्यते कदलीवृतः।

'यह स्वच्छ जलराशिसे सुशोभित मङ्गलमयी रमणीय गोदावरी नदी है तथा वह केलेके कुञ्जोंसे घिरा हुआ महर्षि अगस्त्यका आश्रम दिखायी देता है ॥ ४६½ ॥

दीप्तश्चैवाश्रमे ह्येष सुतीक्ष्णस्य महात्मनः ॥ ४७ ॥
दृश्यते चैव वैदेहि शरभङ्गाश्रमो महान्।
उपयातः सहस्राक्षो यत्र शक्रः पुरंदरः ॥ ४८ ॥

'यह महात्मा सुतीक्ष्णका दीप्तिमान् आश्रम है और विदेहनन्दिनि! वह शरभङ्ग मुनिका महान् आश्रम दिखायी देता है, जहाँ सहस्रनेत्रधारी पुरंदर इन्द्र पधारे थे ॥ ४७-४८ ॥

अस्मिन् देशे महाकायो विराधो निहतो मया।
एते ते तापसा देवि दृश्यन्ते तनुमध्यमे ॥ ४९ ॥

'यह वह स्थान है, जहाँ मैंने विशालकाय विराधका वध किया था। देवि! तनुमध्यमे! ये वे तापस दिखायी देते हैं, जिनका दर्शन हमलोगोंने पहले किया था ॥ ४९ ॥

अत्रिः कुलपतिर्यत्र सूर्यवैश्वानरोपमः।
अत्र सीते त्वया दृष्टा तापसी धर्मचारिणी ॥ ५० ॥

'सीते! इस तापसाश्रमपर ही सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी कुलपति अत्रि मुनि निवास करते हैं। वहीं तुमने धर्मपरायणा तपस्विनी अनसूयादेवीका दर्शन किया था ॥ ५० ॥

असौ सुतनु शैलेन्द्रश्चित्रकूटः प्रकाशते।
अत्र मां कैकयीपुत्रः प्रसादयितुमागतः ॥ ५१ ॥

'सुतनु! वह गिरिराज चित्रकूट प्रकाशित हो रहा है। वहीं कैकेयीकुमार भरत मुझे प्रसन्न करके लौटा लेनेके लिये आये थे ॥ ५१ ॥

एषा सा यमुना रम्या दृश्यते चित्रकानना।
भरद्वाजाश्रमः श्रीमान् दृश्यते चैष मैथिलि ॥ ५२ ॥

'मिथिलेशकुमारी! यह विचित्र काननोंसे सुशोभित रमणीय यमुना नदी दिखायी देती है और यह शोभाशाली भरद्वाजाश्रम दृष्टिगोचर हो रहा है ॥ ५२ ॥

इयं च दृश्यते गङ्गा पुण्या त्रिपथगा नदी।
नानाद्विजगणाकीर्णा सम्प्रपुष्पितकानना ॥ ५३ ॥

'ये पुण्यसलिला त्रिपथगा गङ्गा नदी दीख रही हैं, जिनके तट-पर नाना प्रकारके पक्षी कलरव करते हैं और द्विजवृन्द पुण्यकर्मोंमें रत हैं। इनके तटवर्ती वनके वृक्ष सुन्दर फूलोंसे भरे हुए हैं ॥ ५३ ॥

शृङ्गवेरपुरं चैतद् गुहो यत्र सखा मम।
एषा सा दृश्यते सीते सरयूर्यूपमालिनी ॥ ५४ ॥
एषा सा दृश्यते सीते राजधानी पितुर्मम।
अयोध्यां कुरु वैदेहि प्रणामं पुनरागता ॥ ५५ ॥

'यह शृङ्गवेरपुर है, जहाँ मेरा मित्र गुह रहता है। सीते! यह यूपमालाओंसे अलंकृत सरयू दिखायी देती है, जिसके तटपर मेरे पिताजीकी राजधानी है। विदेहनन्दिनि! तुम वनवासके बाद फिर लौटकर अयोध्याको आयी हो। इसलिये इस पुरीको प्रणाम करो' ॥ ५४-५५ ॥

ततस्ते वानराः सर्वे राक्षसाः सविभीषणाः।
उत्पत्योत्पत्य संहृष्टास्तां पुरीं ददृशुस्तदा ॥ ५६ ॥

तब विभीषणसहित वे सब राक्षस और वानर अत्यन्त हर्षसे उल्लसित हो उछल-उछलकर उस पुरीका दर्शन करने लगे ॥ ५६ ॥

ततस्तु तां पाण्डुरहर्म्यमालिनीं
विशालकक्ष्यां गजवाजिभिर्वृताम्।
पुरीमपश्यन् प्लवगाः सराक्षसाः
पुरीं महेन्द्रस्य यथामरावतीम् ॥ ५७ ॥

तत्पश्चात् वे वानर और राक्षस श्वेत अट्टालिकाओंसे अलंकृत और विशाल भवनोंसे विभूषित अयोध्यापुरीको, जो हाथी-घोड़ोंसे भरी थी और देवराज इन्द्रकी अमरावतीपुरीके समान शोभित होती थी, देखने लगे ॥ ५७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे त्रयोविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें एक सौ तेईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १२३ ॥

चतुर्विंशत्यधिकशततमः सर्गः

श्रीरामका भरद्वाज-आश्रमपर उतरकर महर्षिसे मिलना और उनसे वर पाना

पूर्णे चतुर्दशे वर्षे पञ्चम्यां लक्ष्मणाग्रजः।
भरद्वाजाश्रमं प्राप्य ववन्दे नियतो मुनिम् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने चौदहवाँ वर्ष पूर्ण होनेपर पञ्चमी तिथिको भरद्वाज आश्रममें पहुँचकर मनको वशमें रखते हुए मुनिको प्रणाम किया ॥ १ ॥

सोऽपृच्छदभिवाद्यैनं भरद्वाजं तपोधनम्।
शृणोषि कच्चिद् भगवन् सुभिक्षानामयं पुरे।
कच्चित् स युक्तो भरतो जीवन्त्यपि च मातरः ॥ २ ॥

तपस्याके धनी भरद्वाज मुनिको प्रणाम करके श्रीरामने उनसे पूछा—'भगवन्! आपने अयोध्यापुरीके विषयमें भी कुछ सुना है? वहाँ सुकाल और कुशल-मङ्गल तो है न? भरत प्रजा-पालनमें तत्पर रहते हैं न? मेरी माताएँ जीवित हैं न?'॥ २॥

एवमुक्तस्तु रामेण भरद्वाजो महामुनिः।
प्रत्युवाच रघुश्रेष्ठं स्मितपूर्वं प्रहृष्टवत्॥ ३॥

श्रीरामचन्द्रजीके इस प्रकार पूछनेपर महामुनि भरद्वाजने मुस्कराकर उन रघुश्रेष्ठ श्रीरामसे प्रसन्नतापूर्वक कहा—॥ ३॥

आज्ञावशत्वे भरतो जटिलस्त्वां प्रतीक्षते।
पादुके ते पुरस्कृत्य सर्वं च कुशलं गृहे॥ ४॥

'रघुनन्दन! भरत आपकी आज्ञाके अधीन हैं। वे जटा बढ़ाये आपके आगमनकी प्रतीक्षा करते हैं। आपकी चरण-पादुकाओंको सामने रखकर सारा कार्य करते हैं। आपके घरपर और नगरमें भी सब कुशल है॥ ४॥

त्वां पुरा चीरवसनं प्रविशन्तं महावनम्।
स्त्रीतृतीयं च्युतं राज्याद् धर्मकामं च केवलम्॥ ५॥
पदातिं त्यक्तसर्वस्वं पितुर्निर्देशकारिणम्।
सर्वभोगैः परित्यक्तं स्वर्गच्युतमिवामरम्॥ ६॥
दृष्ट्वा तु करुणापूर्वं ममासीत् समितिंजय।
कैकेयीवचने युक्तं वन्यमूलफलाशिनम्॥ ७॥

'पहले जब आप महान् वनकी यात्रा कर रहे थे, उस समय आपने चीरवस्त्र धारण कर रखा था और आप दोनों भाइयोंके साथ तीसरी केवल आपकी स्त्री थी। आप राज्यसे वञ्चित किये गये थे और केवल धर्मपालनकी इच्छा मनमें ले सर्वस्व त्यागकर पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये पैदल ही जा रहे थे। सारे भोगोंसे दूर हो स्वर्गसे भूतलपर गिरे हुए देवताके समान जान पड़ते थे। शत्रुविजयी वीर! आप कैकेयीके आदेशके पालनमें तत्पर हो जंगली फल-मूलका आहार करते थे, उस समय आपको देखकर मेरे मनमें बड़ी करुणा हुई थी॥ ५—७॥

साम्प्रतं तु समृद्धार्थं समित्रगणबान्धवम्।
समीक्ष्य विजितारिं त्वां ममाभूत् प्रीतिरुत्तमा॥ ८॥

'परंतु इस समय तो सारी स्थिति ही बदल गयी है। आप शत्रुपर विजय पाकर सफलमनोरथ हो मित्रों तथा बान्धवोंके साथ लौट रहे हैं। इस रूपमें आपको देखकर मुझे बड़ा सुख मिला—मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई॥ ८॥

सर्वं च सुखदुःखं ते विदितं मम राघव।
यत् त्वया विपुलं प्राप्तं जनस्थाननिवासिना॥ ९॥

'रघुवीर! आपने जनस्थानमें रहकर जो विपुल सुख-दुःख उठाये हैं, वे सब मुझे मालूम हैं॥ ९॥

ब्राह्मणार्थे नियुक्तस्य रक्षतः सर्वतापसान्।
रावणेन हृता भार्या बभूवेयमनिन्दिता॥ १०॥

'वहाँ रहकर आप ब्राह्मणोंके कार्यमें संलग्न हो समस्त तपस्वी मुनियोंकी रक्षा करते थे। उस समय रावण आपकी इस सती-साध्वी भार्याको हर ले गया॥ १०॥

मारीचदर्शनं चैव सीतोन्मथनमेव च।
कबन्धदर्शनं चैव पम्पाभिगमनं तथा॥ ११॥
सुग्रीवेण च ते सख्यं यत्र वाली हतस्त्वया।
मार्गणं चैव वैदेह्याः कर्म वातात्मजस्य च॥ १२॥
विदितायां च वैदेह्यां नलसेतुर्यथा कृतः।
यथा चादीपिता लङ्का प्रहृष्टैर्हरियूथपैः॥ १३॥
सपुत्रबान्धवामात्यः सबलः सहवाहनः।
यथा च निहतः संख्ये रावणो बलदर्पितः॥ १४॥
यथा च निहते तस्मिन् रावणे देवकण्टके।
समागमश्च त्रिदशैर्यथा दत्तश्च ते वरः॥ १५॥
सर्वं ममैतद् विदितं तपसा धर्मवत्सल।

'धर्मवत्सल! मारीचका कपटमृगके रूपमें दिखायी देना, सीताका बलपूर्वक अपहरण होना, इनकी खोज करते समय आपके मार्गमें कबन्धका मिलना, आपका पम्पासरोवरके तटपर जाना, सुग्रीवके साथ आपकी मैत्रीका होना, आपके हाथसे वालीका मारा जाना, सीताकी खोज, पवनपुत्र हनुमान्‌का अद्भुत कर्म, सीताका पता लग जानेपर नलके द्वारा समुद्रपर सेतुका निर्माण, हर्ष और उत्साहसे भरे हुए वानर-यूथपतियोंद्वारा लङ्कापुरीका दहन, पुत्र, बन्धु, मन्त्री, सेना और सवारियोंसहित बलाभिमानी रावणका आपके द्वारा युद्धमें वध होना, उस देवकण्टक रावणके मारे जानेपर देवताओंके साथ आपका समागम होना तथा उनका आपको वर देना—ये सारी बातें मुझे तपके प्रभावसे ज्ञात हैं॥ ११—१५½॥

सम्पतन्ति च मे शिष्याः प्रवृत्ताख्याः पुरीमितः॥ १६॥
अहमप्यत्र ते दद्मि वरं शस्त्रभृतां वर।
अर्घ्यं प्रतिगृहाणेदमयोध्यां श्वो गमिष्यसि॥ १७॥

'मेरे प्रवृत्ति नामक शिष्य यहाँसे अयोध्यापुरीको जाते रहते हैं (अतः मुझे वहाँका वृत्तान्त मालूम होता रहता है), शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ श्रीराम! यहाँ मैं भी आपको एक वर देता हूँ (आपकी जो इच्छा हो, उसे माँग लें)। आज मेरा अर्घ्य और आतिथ्य-सत्कार ग्रहण करें। कल सबेरे अयोध्याको जाइयेगा'॥ १६-१७॥

तस्य तच्छिरसा वाक्यं प्रतिगृह्य नृपात्मजः।
बाढमित्येव संहृष्टः श्रीमान् वरमयाचत॥ १८॥

मुनिके उस वचनको शिरोधार्य करके हर्षसे भरे हुए श्रीमान् राजकुमार श्रीरामने कहा—'बहुत अच्छा'। फिर उन्होंने उनसे यह वर माँगा—॥ १८॥

अकालफलिनो वृक्षाः सर्वे चापि मधुस्रवाः।
फलान्यमृतगन्धीनि बहूनि विविधानि च॥ १९॥
भवन्तु मार्गे भगवन्नयोध्यां प्रति गच्छतः।

'भगवन्! यहाँसे अयोध्या जाते समय मार्गके सब वृक्षोंमें समय न होनेपर भी फल उत्पन्न हो जायँ और वे सब-के-सब मधुकी धारा टपकानेवाले हों। उनमें नाना प्रकारके बहुत-से अमृतोपम सुगन्धित फल लग जायँ' ॥ १९½ ॥

तथेति च प्रतिज्ञाते वचनात् समनन्तरम्॥ २०॥
अभवन् पादपास्तत्र स्वर्गपादपसंनिभाः।

भरद्वाजजीने कहा—'ऐसा ही होगा'। उनके इस प्रकार प्रतिज्ञा करते ही—उनकी उस वाणीके निकलते ही तत्काल वहाँके सारे वृक्ष स्वर्गीय वृक्षोंके समान हो गये ॥ २०½ ॥

निष्फलाः फलिनश्चासन् विपुष्पाः पुष्पशालिनः॥ २१॥
शुष्काः समग्रपत्रास्ते नगाश्चैव मधुस्रवाः।
सर्वतो योजनास्तिस्रो गच्छतामभवंस्तदा॥ २२॥

जिनमें फल नहीं थे, उनमें फल आ गये। जिनमें फूल नहीं थे, वे फूलोंसे सुशोभित होने लगे। सूखे हुए वृक्षोंमें भी हरे-हरे पत्ते निकल आये और सभी वृक्ष मधुकी धारा बहाने लगे। अयोध्या जानेका जो मार्ग था, उसके आस-पास तीन योजनतकके वृक्ष ऐसे ही हो गये ॥ २१-२२ ॥

ततः प्रहृष्टाः प्लवगर्षभास्ते
बहूनि दिव्यानि फलानि चैव।
कामादुपाश्नन्ति सहस्रशस्ते
मुदान्विताः स्वर्गजितो यथैव॥ २३॥

फिर तो वे सहस्रों श्रेष्ठ वानर हर्षसे भरकर स्वर्गवासी देवताओंके समान अपनी रुचिके अनुसार प्रसन्नतापूर्वक उन बहुसंख्यक दिव्य फलोंका आस्वादन करने लगे ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे चतुर्विंशत्यधिकशततमः सर्गः॥ १२४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें एक सौ चौबीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १२४ ॥

—★—

पञ्चविंशत्यधिकशततमः सर्गः

हनुमान्‌जीका निषादराज गुह तथा भरतजीको श्रीरामके आगमनकी सूचना देना और प्रसन्न हुए भरतका उन्हें उपहार देनेकी घोषणा करना

अयोध्यां तु समालोक्य चिन्तयामास राघवः।
प्रियकामः प्रियं रामस्ततस्त्वरितविक्रमः॥ १॥

(भरद्वाज-आश्रमपर उतरनेसे पहले) विमानसे ही अयोध्यापुरीका दर्शन करके अयोध्यावासियों तथा सुग्रीव आदिका प्रिय करनेकी इच्छावाले शीघ्रपराक्रमी रघुकुलनन्दन श्रीरामने यह विचार किया कि कैसे इन सबका प्रिय हो? ॥ १ ॥

चिन्तयित्वा ततो दृष्टिं वानरेषु न्यपातयत्।
उवाच धीमांस्तेजस्वी हनूमन्तं प्लवंगमम्॥ २॥

विचार करके तेजस्वी एवं बुद्धिमान् श्रीरामने वानरोंपर दृष्टि डाली और वानर-वीर हनुमान्‌जीसे कहा— ॥ २ ॥

अयोध्यां त्वरितो गत्वा शीघ्रं प्लवगसत्तम।
जानीहि कच्चित् कुशली जनो नृपतिमन्दिरे॥ ३॥

'कपिश्रेष्ठ! तुम शीघ्र ही अयोध्यामें जाकर पता लो कि राजभवनमें सब लोग सकुशल तो हैं न? ॥ ३ ॥

शृङ्गवेरपुरं प्राप्य गुहं गहनगोचरम्।
निषादाधिपतिं ब्रूहि कुशलं वचनान्मम॥ ४॥

'शृङ्गवेरपुरमें पहुँचकर वनवासी निषादराज गुहसे भी मिलना और मेरी ओरसे कुशल कहना ॥ ४ ॥

श्रुत्वा तु मां कुशलिनमरोगं विगतज्वरम्।
भविष्यति गुहः प्रीतः स ममात्मसमः सखा॥ ५॥

'मुझे सकुशल, नीरोग और चिन्तारहित सुनकर निषादराज गुहको बड़ी प्रसन्नता होगी; क्योंकि वह मेरा मित्र है। मेरे लिये आत्माके समान है ॥ ५ ॥

अयोध्यायाश्च ते मार्गं प्रवृत्तिं भरतस्य च।
निवेदयिष्यति प्रीतो निषादाधिपतिर्गुहः॥ ६॥

'निषादराज गुह प्रसन्न होकर तुम्हें अयोध्याका मार्ग और भरतका समाचार बतायेगा ॥ ६ ॥

भरतस्तु त्वया वाच्यः कुशलं वचनान्मम।
सिद्धार्थं शंस मां तस्मै सभार्यं सहलक्ष्मणम्॥ ७॥

'भरतके पास जाकर तुम मेरी ओरसे उनका कुशल पूछना और उन्हें सीता एवं लक्ष्मणसहित मेरे सफलमनोरथ होकर लौटनेका समाचार बताना ॥ ७ ॥

हरणं चापि वैदेह्या रावणेन बलीयसा।
सुग्रीवेण च संवादं वालिनश्च वधं रणे॥ ८॥
मैथिल्यन्वेषणं चैव यथा चाधिगता त्वया।
लङ्घयित्वा महातोयमापगापतिमव्ययम्॥ ९॥
उपयानं समुद्रस्य सागरस्य च दर्शनम्।
यथा च कारितः सेतू रावणश्च यथा हतः॥ १०॥
वरदानं महेन्द्रेण ब्रह्मणा वरुणेन च।
महादेवप्रसादाच्च पित्रा मम समागमम्॥ ११॥

'बलवान् रावणके द्वारा सीताजीके हरे जानेका, सुग्रीवसे

बातचीत होनेका, रणभूमिमें वालीके वधका, सीताजीके खोजका, तुमने जो महान् जलराशिसे भरे हुए अपार महासागरको लाँघकर जिस तरह सीताका पता लगाया था उसका, फिर समुद्रतटपर मेरे जानेका, सागरके दर्शन देनेका, उसपर पुल बनानेका, रावणके वधका, इन्द्र, ब्रह्मा और वरुणसे मिलने एवं वरदान पानेका और महादेवजीके प्रसादसे पिताजीके दर्शन होनेका वृत्तान्त उन्हें सुनाना ॥ ८—११ ॥

उपयातं च मां सौम्य भरताय निवेदय ।
सह राक्षसराजेन हरीणामीश्वरेण च ॥ १२ ॥
जित्वा शत्रुगणान् रामः प्राप्य चानुत्तमं यशः ।
उपायाति समृद्धार्थः सह मित्रैर्महाबलैः ॥ १३ ॥

'सौम्य ! फिर भरतसे यह भी निवेदन करना कि श्रीराम शत्रुओंको जीतकर, परम उत्तम यश पाकर, सफलमनोरथ हो राक्षसराज विभीषण, वानरराज सुग्रीव तथा अपने अन्य महाबली मित्रोंके साथ आ रहे हैं और प्रयागतक आ पहुँचे हैं ॥ १२-१३ ॥

एतच्छ्रुत्वा यमाकारं भजते भरतस्ततः ।
स च ते वेदितव्यः स्यात् सर्वं यच्चापि मां प्रति ॥ १४ ॥

'यह बात सुनकर भरतकी जैसी मुख-मुद्रा हो, उसपर ध्यान रखना और समझना तथा भरतका मेरे प्रति जो कर्तव्य या बर्ताव हो, उसको भी जाननेका प्रयत्न करना ॥ १४ ॥

ज्ञेयाः सर्वे च वृत्तान्ता भरतस्येङ्गितानि च ।
तत्त्वेन मुखवर्णेन दृष्ट्या व्याभाषितेन च ॥ १५ ॥

'वहाँके सारे वृत्तान्त तथा भरतकी चेष्टाएँ तुम्हें यथार्थरूपसे जाननी चाहिये। मुखकी कान्ति, दृष्टि और बातचीतसे उनके मनोभावको समझनेकी चेष्टा करनी चाहिये ॥ १५ ॥

सर्वकामसमृद्धं हि हस्त्यश्वरथसंकुलम् ।
पितृपैतामहं राज्यं कस्य नावर्तयेन्मनः ॥ १६ ॥

'समस्त मनोवाञ्छित भोगोंसे सम्पन्न तथा हाथी, घोड़े और रथोंसे भरपूर बाप-दादोंका राज्य सुलभ हो तो वह किसके मनको नहीं पलट देता ? ॥ १६ ॥

संगत्या भरतः श्रीमान् राज्येनार्थी स्वयं भवेत् ।
प्रशास्तु वसुधां सर्वामखिलां रघुनन्दनः ॥ १७ ॥

'यदि कैकेयीकी संगति अथवा चिरकालतक राज्यवैभवका संसर्ग होनेसे श्रीमान् भरत स्वयं ही राज्य पानेकी इच्छा रखते हों तो वे रघुकुलनन्दन भरत बेखटके समस्त भूमण्डलका राज्य करें (मुझे उस राज्यको नहीं लेना है। उस दशामें हम कहीं अन्यत्र रहकर तपस्वी जीवन व्यतीत करेंगे) ॥ १७ ॥

तस्य बुद्धिं च विज्ञाय व्यवसायं च वानर ।
यावन्न दूरं याताः स्मः क्षिप्रमागन्तुमर्हसि ॥ १८ ॥

'वानरवीर ! तुम भरतके विचार और निश्चयको जानकर जबतक हमलोग इस आश्रमसे दूर न चले जायँ तभीतक शीघ्र लौट आओ' ॥ १८ ॥

इति प्रतिसमादिष्टो हनूमान् मारुतात्मजः ।
मानुषं धारयन् रूपमयोध्यां त्वरितो ययौ ॥ १९ ॥

श्रीरघुनाथजीके इस प्रकार आदेश देनेपर पवनपुत्र हनुमान्जी मनुष्यका रूप धारण करके तीव्रगतिसे अयोध्याकी ओर चल दिये ॥ १९ ॥

अथोत्पपात वेगेन हनूमान् मारुतात्मजः ।
गरुत्मानिव वेगेन जिघृक्षन्नुरगोत्तमम् ॥ २० ॥

जैसे गरुड़ किसी श्रेष्ठ सर्पको पकड़नेके लिये बड़े वेगसे झपट्टा मारते हैं, उसी तरह पवनपुत्र हनुमान् तीव्र वेगसे उड़ चले ॥ २० ॥

लङ्घयित्वा पितृपथं विहगेन्द्रालयं शुभम् ।
गङ्गायमुनयोर्भीमं सम्पातं समागमम् ॥ २१ ॥
शृङ्गवेरपुरं प्राप्य गुहमासाद्य वीर्यवान् ।
स वाचा शुभया हृष्टो हनूमानिदमब्रवीत् ॥ २२ ॥

अपने पिता वायुके मार्ग—अन्तरिक्षको, जो पक्षिराज गरुड़का सुन्दर गृह है, लाँघकर गङ्गा और यमुनाके वेगशाली संगमको पार करके शृङ्गवेरपुरमें पहुँचकर पराक्रमी हनुमान्जी निषादराज गुहसे मिले और बड़े हर्षके साथ सुन्दर वाणीमें बोले— ॥ २१-२२ ॥

सखा तु तव काकुत्स्थो रामः सत्यपराक्रमः ।
ससीतः सह सौमित्रिः स त्वां कुशलमब्रवीत् ॥ २३ ॥
पञ्चमीमद्य रजनीमुषित्वा वचनान्मुनेः ।
भरद्वाजाभ्यनुज्ञातं द्रक्ष्यस्यत्रैव राघवम् ॥ २४ ॥

'तुम्हारे मित्र ककुत्स्थकुलभूषण सत्यपराक्रमी श्रीराम सीता और लक्ष्मणके साथ आ रहे हैं और उन्होंने तुम्हें अपना कुशल-समाचार कहलाया है। वे प्रयागमें हैं और भरद्वाजमुनिके कहनेसे उन्हींके आश्रममें आज पञ्चमीकी रात बिताकर कल उनकी आज्ञा ले वहाँसे चलेंगे। तुम्हें यहीं श्रीरघुनाथजीका दर्शन होगा' ॥ २३-२४ ॥

एवमुक्त्वा महातेजाः सम्प्रहृष्टतनूरुहः ।
उत्पपात महावेगाद् वेगवानविचारयन् ॥ २५ ॥

गुहसे यों कहकर महातेजस्वी और वेगशाली हनुमान्जी बिना कोई सोच-विचार किये बड़े वेगसे आगेको उड़ चले। उस समय उनके सारे अङ्गोंमें हर्षजनित रोमाञ्च हो आया था ॥ २५ ॥

सोऽपश्यद् रामतीर्थं च नदीं वालुकिनीं तथा ।
वरूथीं गोमतीं चैव भीमं शालवनं तथा ॥ २६ ॥

मार्गमें उन्हें परशुराम-तीर्थ, वालुकिनी नदी, वरूथी, गोमती और भयानक सालवनके दर्शन हुए ॥ २६ ॥

प्रजाश्च बहुसाहस्रीः स्फीताञ्जनपदानपि ।
स गत्वा दूरमध्वानं त्वरितः कपिकुञ्जरः ॥ २७ ॥

आससाद द्रुमान् फुल्लान् नन्दिग्रामसमीपगान्।
सुराधिपस्योपवने यथा चैत्ररथे द्रुमान्॥ २८॥

कई सहस्र प्रजाओं तथा समृद्धिशाली जनपदोंको देखते हुए कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌जी तीव्रगतिसे दूरतकका रास्ता लाँघ गये और नन्दिग्रामके समीपवर्ती खिले हुए वृक्षोंके पास जा पहुँचे। वे वृक्ष देवराज इन्द्रके नन्दनवन और कुबेरके चैत्ररथ वनके वृक्षोंके समान सुशोभित होते थे॥ २७-२८॥

स्त्रीभिः सपुत्रैः पौत्रैश्च रममाणैः स्वलंकृतैः।
क्रोशमात्रे त्वयोध्यायाश्चीरकृष्णाजिनाम्बरम्॥ २९॥
ददर्श भरतं दीनं कृशमाश्रमवासिनम्।
जटिलं मलदिग्धाङ्गं भ्रातृव्यसनकर्शितम्॥ ३०॥
फलमूलाशिनं दान्तं तापसं धर्मचारिणम्।
समुन्नतजटाभारं वल्कलाजिनवाससम्॥ ३१॥
नियतं भावितात्मानं ब्रह्मर्षिसमतेजसम्।
पादुके ते पुरस्कृत्य प्रशासन्तं वसुंधराम्॥ ३२॥

उनके आस-पास बहुत-सी स्त्रियाँ अपने उन पुत्रों और पौत्रोंके साथ, जो वस्त्राभूषणोंसे भलीभाँति अलंकृत थे, विचरती और उनके पुष्पोंका चयन करती थीं। अयोध्यासे एक कोसकी दूरीपर उन्होंने आश्रमवासी भरतको देखा, जो चीर-वस्त्र और काला मृगचर्म धारण किये दुःखी एवं दुर्बल दिखायी देते थे। उनके सिरपर जटा बढ़ी हुई थी, शरीरपर मैल जम गयी थी, भाईके वनवासके दुःखने उन्हें बहुत ही कृश कर दिया था, फल-मूल ही उनका भोजन था, वे इन्द्रियोंका दमन करके तपस्यामें लगे हुए थे और धर्मका आचरण करते थे। सिरपर जटाका भार बहुत ही ऊँचा दिखायी देता था, वल्कल और मृगचर्मसे उनका शरीर ढका था। वे बड़े नियमसे रहते थे। उनका अन्तःकरण शुद्ध था और वे ब्रह्मर्षिके समान तेजस्वी जान पड़ते थे। रघुनाथजीकी दोनों चरणपादुकाओंको आगे रखकर वे पृथ्वीका शासन करते थे॥ २९—३२॥

चातुर्वर्ण्यस्य लोकस्य त्रातारं सर्वतो भयात्।
उपस्थितममात्यैश्च शुचिभिश्च पुरोहितैः॥ ३३॥
बलमुख्यैश्च युक्तैश्च काषायाम्बरधारिभिः।

भरतजी चारों वर्णोंकी प्रजाओंकी सब प्रकारके भयसे सुरक्षित रखते थे। उनके पास मन्त्री, पुरोहित और सेनापति भी योगयुक्त होकर रहते और गेरुए वस्त्र पहनते थे॥ ३३½॥

नहि ते राजपुत्रं तं चीरकृष्णाजिनाम्बरम्॥ ३४॥
परिभोक्तुं व्यवस्यन्ति पौरा वै धर्मवत्सलाः।

अयोध्याके वे धर्मानुरागी पुरवासी भी उन चीर और काला मृगचर्म धारण करनेवाले राजकुमार भरतको उस दशामें छोड़कर स्वयं भोग भोगनेकी इच्छा नहीं करते थे॥ ३४½॥

तं धर्ममिव धर्मज्ञं देहबन्धमिवापरम्॥ ३५॥
उवाच प्राञ्जलिर्वाक्यं हनूमान् मारुतात्मजः।

मनुष्यदेह धारण करके आये हुए दूसरे धर्मकी भाँति उन धर्मज्ञ भरतके पास पहुँचकर पवनकुमार हनुमान्‌जी हाथ जोड़कर बोले—॥ ३५½॥

वसन्तं दण्डकारण्ये यं त्वं चीरजटाधरम्॥ ३६॥
अनुशोचसि काकुत्स्थं स त्वां कौशलमब्रवीत्।
प्रियमाख्यामि ते देव शोकं त्यज सुदारुणम्॥ ३७॥
अस्मिन् मुहूर्ते भ्रात्रा त्वं रामेण सह संगतः।

'देव! आप दण्डकारण्यमें चीर-वस्त्र और जटा धारण करके रहनेवाले जिन श्रीरघुनाथजीके लिये निरन्तर चिन्तित रहते हैं, उन्होंने आपको अपना कुशल-समाचार कहलाया है और आपका भी पूछा है। अब आप इस अत्यन्त दारुण शोकको त्याग दीजिये। मैं आपको बड़ा प्रिय समाचार सुना रहा हूँ। आप शीघ्र ही अपने भाई श्रीरामसे मिलेंगे॥ ३६—३७½॥

निहत्य रावणं रामः प्रतिलभ्य च मैथिलीम्॥ ३८॥
उपयाति समृद्धार्थः सह मित्रैर्महाबलैः।
लक्ष्मणश्च महातेजा वैदेही च यशस्विनी।
सीता समग्रा रामेण महेन्द्रेण शची यथा॥ ३९॥

'भगवान् श्रीराम रावणको मारकर मिथिलेशकुमारीको वापस ले सफलमनोरथ हो अपने महाबली मित्रोंके साथ आ रहे हैं। उनके साथ महातेजस्वी लक्ष्मण और यशस्विनी विदेहराजकुमारी सीता भी हैं। जैसे देवराज इन्द्रके साथ शची शोभा पाती हैं, उसी प्रकार श्रीरामके साथ पूर्णकामा सीताजी सुशोभित हो रही हैं'॥ ३८-३९॥

एवमुक्तो हनुमता भरतः कैकयीसुतः।
पपात सहसा हृष्टो हर्षान्मोहमुपागमत्॥ ४०॥

हनुमान्‌जीके ऐसा कहते ही कैकेयी-कुमार भरत सहसा आनन्दविभोर हो पृथ्वीपर गिर पड़े और हर्षसे मूर्च्छित हो गये॥ ४०॥

ततो मुहूर्तादुत्थाय प्रत्याश्वस्य च राघवः।
हनूमन्तमुवाचेदं भरतः प्रियवादिनम्॥ ४१॥
अशोकजैः प्रीतिमयैः कपिमालिङ्ग्य सम्भ्रमात्।
सिषेच भरतः श्रीमान् विपुलैरश्रुबिन्दुभिः॥ ४२॥

तत्पश्चात् दो घड़ीके बाद उन्हें होश हुआ और वे उठकर खड़े हो गये। उस समय रघुकुलभूषण श्रीमान् भरतने प्रियवादी हनुमान्‌जीको बड़े वेगसे पकड़कर दोनों भुजाओंमें भर लिया और शोक-संसर्गसे शून्य परमानन्दजनित विपुल अश्रुबिन्दुओंसे वे उन्हें नहलाने लगे। फिर इस प्रकार बोले—॥ ४१-४२॥

देवो वा मानुषो वा त्वमनुक्रोशादिहागतः।
प्रियाख्यानस्य ते सौम्य ददामि ब्रुवतः प्रियम्॥ ४३॥

'भैया! तुम कोई देवता हो या मनुष्य, जो मुझपर कृपा करके यहाँ पधारे हो? सौम्य! तुमने जो यह प्रिय संवाद सुनाया

है, इसके बदले मैं तुम्हें कौन-सी प्रिय वस्तु प्रदान करूँ? (मुझे तो कोई ऐसा बहुमूल्य उपहार नहीं दिखायी देता, जो इस प्रिय संवादके तुल्य हो) ॥ ४३ ॥

गवां शतसहस्रं च ग्रामाणां च शतं परम्।
सकुण्डलाः शुभाचारा भार्याः कन्यास्तु षोडश ॥ ४४ ॥
हेमवर्णाः सुनासोरूः शशिसौम्याननाः स्त्रियः।
सर्वाभरणसम्पन्नाः सम्पन्नाः कुलजातिभिः ॥ ४५ ॥

'(तथापि) मैं तुम्हें इसके लिये एक लाख गौएँ, सौ उत्तम गाँव तथा उत्तम आचार-विचारवाली सोलह कुमारी कन्याएँ पत्नीरूपमें समर्पित करता हूँ। उन कन्याओंके कानोंमें सुन्दर कुण्डल जगमगाते होंगे। उनकी अङ्ग-कान्ति सुवर्णके समान होगी। उनकी नासिका सुघड़, ऊरु मनोहर और मुख चन्द्रमाके समान सुन्दर होंगे। वे कुलीन होनेके साथ ही सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित होंगी' ॥ ४४-४५ ॥

निशम्य रामागमनं नृपात्मजः
कपिप्रवीरस्य तदाद्भुतोपमम्।
प्रहर्षितो रामदिदृक्षयाभवत्
पुनश्च हर्षादिदमब्रवीद् वचः ॥ ४६ ॥

उन प्रमुख वानर-वीर हनुमान्‌जीके मुखसे श्रीरामचन्द्रजीके आगमनका अद्भुत समाचार सुनकर राजकुमार भरतको श्रीरामके दर्शनकी इच्छासे अत्यन्त हर्ष हुआ और उस हर्षातिरेकसे ही वे फिर इस प्रकार बोले— ॥ ४६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे पञ्चविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें एक सौ पचीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १२५ ॥

—★—

षड्विंशत्यधिकशततमः सर्गः

हनुमान्‌जीका भरतको श्रीराम, लक्ष्मण और सीताके वनवाससम्बन्धी सारे वृत्तान्तोंको सुनाना

बहूनि नाम वर्षाणि गतस्य सुमहद्वनम्।
शृणोम्यहं प्रीतिकरं मम नाथस्य कीर्तनम् ॥ १ ॥

'मेरे स्वामी श्रीरामको विशाल वनमें गये बहुत वर्ष बीत गये। इतने वर्षोंके बाद आज मुझे उनकी आनन्ददायिनी चर्चा सुननेको मिली है ॥ १ ॥

कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति माम्।
एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि ॥ २ ॥

'आज यह कल्याणमयी लौकिक गाथा मुझे यथार्थ जान पड़ती है—मनुष्य यदि जीता रहे तो उसे कभी-न-कभी हर्ष और आनन्दकी प्राप्ति होती ही है, भले ही वह सौ वर्षों बाद हो ॥ २ ॥

राघवस्य हरीणां च कथमासीत् समागमः।
कस्मिन् देशे किमाश्रित्य तत्त्वमाख्याहि पृच्छतः ॥ ३ ॥

'सौम्य! श्रीरघुनाथजीका और वानरोंका यह मेल-जोल कैसे हुआ? किस देशमें और किस कारणको लेकर हुआ? यह मैं जानना चाहता हूँ। तुम मुझे ठीक-ठीक बताओ' ॥ ३ ॥

स पृष्टो राजपुत्रेण बृस्यां समुपवेशितः।
आचचक्षे ततः सर्वं रामस्य चरितं वने ॥ ४ ॥

राजकुमार भरतके इस प्रकार पूछनेपर कुशासनपर बैठाये हुए हनुमान्‌जीने श्रीरामका वनवासविषयक सारा चरित्र उनसे कह सुनाया— ॥ ४ ॥

यथा प्रव्राजितो रामो मातुर्दत्तौ वरौ तव।
यथा च पुत्रशोकेन राजा दशरथो मृतः ॥ ५ ॥
यथा दूतैस्त्वमानीतस्तूर्णं राजगृहात् प्रभो।
त्वयायोध्यां प्रविष्टेन यथा राज्यं न चेप्सितम् ॥ ६ ॥
चित्रकूटगिरिं गत्वा राज्येनामित्रकर्शनः।
निमन्त्रितस्त्वया भ्राता धर्ममाचरता सताम् ॥ ७ ॥
स्थितेन राज्ञो वचने यथा राज्यं विसर्जितम्।
आर्यस्य पादुके गृह्य यथासि पुनरागतः ॥ ८ ॥
सर्वमेतन्महाबाहो यथावद् विदितं तव।
त्वयि प्रतिप्रयाते तु यद् वृत्तं तन्निबोध मे ॥ ९ ॥

'प्रभो! महाबाहो! जिस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीको वनवास दिया गया, जिस तरह आपकी माताको दो वर प्रदान किये गये, जैसे पुत्रशोकसे राजा दशरथकी मृत्यु हुई, जिस प्रकार आप राजगृहसे दूतोंद्वारा शीघ्र ही बुलाये गये, जिस तरह अयोध्यामें प्रवेश करके आपने राज्य लेनेकी इच्छा नहीं की और सत्पुरुषोंके धर्मका आचरण करते हुए चित्रकूट-पर्वतपर जाकर अपने शत्रुसूदन भाईको आपने राज्य लेनेके लिये निमन्त्रित किया, फिर उन्होंने जिस प्रकार राजा दशरथके वचनका पालन करनेमें दृढ़तापूर्वक स्थित होकर राज्यको त्याग दिया तथा जिस प्रकार अपने बड़े भाईकी चरणपादुकाएँ लेकर आप फिर लौट आये—

ये सब बातें तो आपको यथावत्-रूपसे विदित ही हैं। आपके लौट आनेके बाद जो वृत्तान्त घटित हुआ, वह बता रहा हूँ, मुझसे सुनिये— ॥ ५—९ ॥

अपयाते त्वयि तदा समुद्भ्रान्तमृगद्विजम्।
परिद्यूनमिवात्यर्थं तद् वनं समपद्यत ॥ १० ॥
तद्ध्वस्तिमृदितं घोरं सिंहव्याघ्रमृगाकुलम्।
प्रविवेशाथ विजनं स महद् दण्डकावनम् ॥ ११ ॥

'आपके लौट आनेपर वह वन सब ओरसे अत्यन्त क्षीण-सा हो चला। वहाँके पशु-पक्षी भयसे घबरा उठे थे, तब उस वनको छोड़कर श्रीरामने विशाल दण्डकारण्यमें प्रवेश किया, जो निर्जन था। उस बार वनको हाथियोंने रौंद डाला था। उसमें सिंह, व्याघ्र और मृग भरे हुए थे ॥ १०-११ ॥

तेषां पुरस्ताद् बलवान् गच्छतां गहने वने।
विनदन् सुमहानादं विराधः प्रत्यदृश्यत ॥ १२ ॥

'उस गहन वनमें जाते हुए इन तीनोंके आगे महान् गर्जना करता हुआ बलवान् राक्षस विराध दिखायी दिया ॥ १२ ॥

तमुत्क्षिप्य महानादमूर्ध्वबाहुमधोमुखम्।
निखाते प्रक्षिपन्ति स्म नदन्तमिव कुञ्जरम् ॥ १३ ॥

'ऊपर बाँह और नीचे मुँह किये चिग्घाड़ते हुए हाथीके समान जोर-जोरसे गर्जना करनेवाले उस राक्षसको उन तीनोंने मारकर गड्ढेमें फेंक दिया ॥ १३ ॥

तत् कृत्वा दुष्करं कर्म भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
सायाह्ने शरभङ्गस्य रम्यमाश्रममीयतुः ॥ १४ ॥

'वह दुष्कर कर्म करके दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण सायंकालमें शरभङ्ग मुनिके रमणीय आश्रमपर जा पहुँचे ॥ १४ ॥

शरभङ्गे दिवं प्राप्ते रामः सत्यपराक्रमः।
अभिवाद्य मुनीन् सर्वाञ्जनस्थानमुपागमत् ॥ १५ ॥

'शरभंग मुनि श्रीरामके समक्ष स्वर्गलोकको चले गये। तब सत्यपराक्रमी श्रीराम सब मुनियोंको प्रणाम करके जनस्थानमें आये ॥ १५ ॥

पश्चाच्छूर्पणखा नाम रामपार्श्वमुपागता।
ततो रामेण संदिष्टो लक्ष्मणः सहसोत्थितः ॥ १६ ॥
प्रगृह्य खड्गं चिच्छेद कर्णनासं महाबलः।

'जनस्थानमें आनेके बाद शूर्पणखा नामवाली एक राक्षसी (मनमें कामभाव लेकर) श्रीरामचन्द्रजीके पास आयी। तब श्रीरामने लक्ष्मणको उसे दण्ड देनेका आदेश दिया। महाबली लक्ष्मणने सहसा उठकर तलवार उठायी और उस राक्षसीके नाक-कान काट लिये ॥१६½॥

चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम् ॥ १७ ॥
हतानि वसता तत्र राघवेण महात्मना।

'वहाँ रहते हुए महात्मा श्रीरघुनाथजीने अकेले ही शूर्पणखाकी प्रेरणासे आये हुए भयानक कर्म करनेवाले चौदह हजार राक्षसोंका वध किया ॥१७½॥

एकेन सह संगम्य रामेण रणमूर्धनि ॥ १८ ॥
अह्नश्चतुर्थभागेन निःशेषा राक्षसाः कृताः।

'युद्धके मुहानेपर एकमात्र श्रीरामके साथ भिड़कर वे समस्त राक्षस पहरभरमें ही समाप्त हो गये ॥१८½॥

महाबला महावीर्यास्तपसो विघ्नकारिणः ॥ १९ ॥
निहता राघवेणाजौ दण्डकारण्यवासिनः।

'तपस्यामें विघ्न डालनेवाले उन दण्डकारण्यनिवासी महाबली और महापराक्रमी राक्षसोंको श्रीरघुनाथजीने युद्धमें मार डाला ॥१९½॥

राक्षसाश्च विनिष्पिष्टाः खरश्च निहतो रणे ॥ २० ॥
दूषणं चाग्रतो हत्वा त्रिशिरास्तदनन्तरम्।

'उस रणभूमिमें वे चौदह हजार राक्षस पीस डाले गये, खर मारा गया, फिर दूषणका काम तमाम हुआ। तदनन्तर त्रिशिराको भी मौतके घाट उतार दिया गया ॥२०½॥

ततस्तेनार्दिता बाला रावणं समुपागता ॥ २१ ॥
रावणानुचरो घोरो मारीचो नाम राक्षसः।
लोभयामास वैदेहीं भूत्वा रत्नमयो मृगः ॥ २२ ॥

'इस घटनासे पीड़ित होकर वह मूर्ख राक्षसी लङ्कामें रावणके पास गयी। रावणके कहनेसे उसके अनुचर मारीच नामक भयंकर राक्षसने रत्नमय मृगका रूप धारण करके विदेहराजकुमारी सीताको लुभाया ॥ २१-२२ ॥

सा राममब्रवीद् दृष्ट्वा वैदेही गृह्यतामिति।
अयं मनोहरः कान्त आश्रमो नो भविष्यति ॥ २३ ॥

'उस मृगको देखकर सीताने श्रीरामसे कहा—'आर्यपुत्र! इस मृगको पकड़ लीजिये। इसके रहनेसे मेरा यह आश्रम कान्तिमान् एवं मनोहर हो जायगा' ॥ २३ ॥

ततो रामो धनुष्पाणिर्मृगं तमनुधावति।
स तं जघान धावन्तं शरेणानतपर्वणा ॥ २४ ॥

'तब श्रीरामने हाथमें धनुष लेकर उस मृगका पीछा किया और झुकी हुई गाँठवाले एक बाणसे उस भागते हुए मृगको मार डाला ॥ २४ ॥

अथ सौम्य दशग्रीवो मृगं याति तु राघवे।
लक्ष्मणे चापि निष्क्रान्ते प्रविवेशाश्रमं तदा ॥ २५ ॥

'सौम्य! जब श्रीरघुनाथजी मृगके पीछे जा रहे थे और लक्ष्मण भी उन्हींका समाचार लेनेके लिये पर्णशालासे बाहर निकल गये, तब रावणने उस आश्रममें प्रवेश किया ॥ २५ ॥

जग्राह तरसा सीतां ग्रहः खे रोहिणीमिव ।
त्रातुकामं ततो युद्धे हत्वा गृध्रं जटायुषम् ॥ २६ ॥
प्रगृह्य सहसा सीतां जगामाशु स राक्षसः ।

'उसने बलपूर्वक सीताको पकड़ लिया, मानो आकाशमें मंगलने रोहिणीपर आक्रमण किया हो। उस समय उनकी रक्षाके लिये आये हुए गृध्रराज जटायुको युद्धमें मारकर वह राक्षस सहसा सीताको साथ ले वहाँसे जल्दी ही चम्पत हो गया ॥२६½॥

ततस्त्वद्भुतसंकाशाः स्थिताः पर्वतमूर्धनि ॥ २७ ॥
सीतां गृहीत्वा गच्छन्तं वानराः पर्वतोपमाः ।
ददृशुर्विस्मिताकारा रावणं राक्षसाधिपम् ॥ २८ ॥

'तदनन्तर एक पर्वत-शिखरपर रहनेवाले पर्वतोंके समान ही अद्भुत एवं विशाल शरीरवाले वानरोंने आश्चर्यचकित हो सीताको लेकर जाते हुए राक्षसराज रावणको देखा ॥ २७-२८ ॥

ततः शीघ्रतरं गत्वा तद् विमानं मनोजवम् ।
आरुह्य सह वैदेह्या पुष्पकं स महाबलः ॥ २९ ॥
प्रविवेश तदा लङ्कां रावणो राक्षसेश्वरः ।

'वह महाबली राक्षसराज रावण बड़ी शीघ्रताके साथ मनके समान वेगशाली पुष्पक विमानके पास जा पहुँचा और सीताके साथ उसपर आरूढ़ हो उसने लङ्कामें प्रवेश किया ॥२९½॥

तां सुवर्णपरिष्कारे शुभे महति वेश्मनि ॥ ३० ॥
प्रवेश्य मैथिलीं वाक्यैः सान्त्वयामास रावणः ।

'वहाँ सुवर्णभूषित विशाल भवनमें मिथिलेशकुमारीको ठहराकर रावण चिकनी-चुपड़ी बातोंसे उन्हें सान्त्वना देने लगा ॥३०½॥

तृणवद् भाषितं तस्य तं च नैर्ऋतपुङ्गवम् ॥ ३१ ॥
अचिन्तयन्ती वैदेही ह्यशोकवनिकां गता ।

'अशोकवाटिकामें रहती हुई विदेहनन्दिनीने रावणकी बातोंको तथा स्वयं उस राक्षसराजको भी तिनकेके समान मानकर ठुकरा दिया और कभी उसका चिन्तन नहीं किया ॥३१½॥

न्यवर्तत तदा रामो मृगं हत्वा तदा वने ॥ ३२ ॥
निवर्तमानः काकुत्स्थो दृष्ट्वा गृध्रं स विव्यथे ।
गृध्रं हतं तदा दृष्ट्वा रामः प्रियतरं पितुः ॥ ३३ ॥

'उधर वनमें श्रीरामचन्द्रजी मृगको मारकर लौटे। लौटते समय जब उन्होंने पितासे भी अधिक प्रिय गृध्रराजको मारा गया देखा, तब उनके मनमें बड़ी व्यथा हुई ॥ ३२-३३ ॥

मार्गमाणस्तु वैदेहीं राघवः सहलक्ष्मणः ।
गोदावरीमनुचरन् वनोद्देशांश्च पुष्पितान् ॥ ३४ ॥

'लक्ष्मणसहित श्रीरघुनाथजी विदेहराजकुमारी सीताकी खोज करते हुए गोदावरीतटके पुष्पित वनप्रान्तमें विचरने लगे ॥ ३४ ॥

आसेदतुर्महारण्ये कबन्धं नाम राक्षसम् ।
ततः कबन्धवचनाद् रामः सत्यपराक्रमः ॥ ३५ ॥
ऋष्यमूकगिरिं गत्वा सुग्रीवेण समागतः ।

'खोजते-खोजते वे दोनों भाई उस विशाल वनमें कबन्ध नामक राक्षसके पास जा पहुँचे। तदनन्तर सत्यपराक्रमी रामने कबन्धका उद्धार किया और उसीके कहनेसे वे ऋष्यमूक पर्वतपर जाकर सुग्रीवसे मिले ॥३५½॥

तयोः समागमः पूर्वं प्रीत्या हार्दो व्यजायत ॥ ३६ ॥
भ्रात्रा निरस्तः क्रुद्धेन सुग्रीवो वालिना पुरा ।
इतरेतरसंवादात् प्रगाढः प्रणयस्तयोः ॥ ३७ ॥

'उन दोनोंमें एक-दूसरेके साक्षात्कारसे पहले ही हार्दिक मित्रता हो गयी थी। पूर्वकालमें क्रुद्ध हुए बड़े भाई वालीने सुग्रीवको घरसे निकाल दिया था। श्रीराम और सुग्रीवमें जब परस्पर बातें हुईं, तब उनमें और भी प्रगाढ़ प्रेम हो गया ॥ ३६-३७ ॥

रामः स्वबाहुवीर्येण स्वराज्यं प्रत्यपादयत् ।
वालिनं समरे हत्वा महाकायं महाबलम् ॥ ३८ ॥

'श्रीरामने अपने बाहुबलसे समराङ्गणमें महाकाय, महाबली वालीका वध करके सुग्रीवको उनका राज्य दिला दिया ॥ ३८ ॥

सुग्रीवः स्थापितो राज्ये सहितः सर्ववानरैः ।
रामाय प्रतिजानीते राजपुत्र्यास्तु मार्गणम् ॥ ३९ ॥

'श्रीरामने समस्त वानरोंसहित सुग्रीवको अपने राज्यपर स्थापित कर दिया और सुग्रीवने श्रीरामके समक्ष यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं राजकुमारी सीताकी खोज करूँगा ॥ ३९ ॥

आदिष्टा वानरेन्द्रेण सुग्रीवेण महात्मना ।
दश कोट्यः प्लवङ्गानां सर्वाः प्रस्थापिता दिशः ॥ ४० ॥

'तदनुसार महात्मा वानरराज सुग्रीवने दस करोड़ वानरोंको सीताका पता लगानेकी आज्ञा देकर सम्पूर्ण दिशाओंमें भेजा ॥ ४० ॥

तेषां नो विप्रकृष्टानां विन्ध्ये पर्वतसत्तमे ।
भृशं शोकाभितप्तानां महान् कालोऽत्यवर्तत ॥ ४१ ॥

'उन्हीं वानरोंमें हमलोग भी थे। गिरिराज विन्ध्यकी गुफामें प्रवेश कर जानेके कारण हमारे लौटनेका नियत समय बीत गया। हमने बहुत विलम्ब कर दिया। हमारे अत्यन्त शोकमें पड़े-पड़े दीर्घकाल व्यतीत हो गया ॥ ४१ ॥

भ्राता तु गृध्रराजस्य सम्पातिर्नाम वीर्यवान् ।
समाख्याति स्म वसतीं सीतां रावणमन्दिरे ॥ ४२ ॥

'तदनन्तर गृध्रराज जटायुके एक पराक्रमी भाई मिल गये, जिनका नाम था सम्पाति। उन्होंने हमें बताया कि सीता लङ्कामें रावणके भवनमें निवास करती हैं ॥ ४२ ॥

सोऽहं दुःखपरीतानां दुःखं तज्ज्ञातिनां नुदन् ।
आत्मवीर्यं समास्थाय योजनानां शतं प्लुतः ।
तत्राहमेकामद्राक्षमशोकवनिकां गताम् ॥ ४३ ॥

'तब दुःखमें डूबे हुए अपने भाई-बन्धुओंके कष्टका निवारण करनेके लिये मैं अपने बल-पराक्रमका सहारा ले सौ योजन समुद्रको लाँघ गया और लङ्कामें अशोकवाटिकाके भीतर अकेली बैठी हुई सीतासे मिला ॥ ४३ ॥

कौशेयवस्त्रां मलिनां निरानन्दां दृढव्रताम्।
तया समेत्य विधिवत् पृष्ट्वा सर्वमनिन्दिताम् ॥ ४४ ॥
अभिज्ञानं मया दत्तं रामनामाङ्गुलीयकम्।
अभिज्ञानं मणिं लब्ध्वा चरितार्थोऽहमागतः ॥ ४५ ॥

'वे एक रेशमी साड़ी पहने हुए थीं। शरीरसे मलिन और आनन्दशून्य जान पड़ती थीं तथा पातिव्रत्यके पालनमें दृढ़तापूर्वक लगी थीं। उनसे मिलकर मैंने उन सती-साध्वी देवीसे विधिपूर्वक सारा समाचार पूछा और पहचानके लिये श्रीरामनामसे अङ्कित अँगूठी उन्हें दे दी। साथ ही उनकी ओरसे पहचानके तौरपर चूड़ामणि लेकर मैं कृतकृत्य होकर लौट आया ॥ ४४-४५ ॥

मया च पुनरागम्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः।
अभिज्ञानं मया दत्तमर्चिष्मान् स महामणिः ॥ ४६ ॥

'अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरामके पास पुनः लौटकर मैंने वह तेजस्वी महामणि पहचानके रूपमें उन्हें दे दी ॥ ४६ ॥

श्रुत्वा तां मैथिलीं रामस्त्वाशशंसे च जीवितम्।
जीवितान्तमनुप्राप्तः पीत्वामृतमिवातुरः ॥ ४७ ॥

'जैसे मृत्युके निकट पहुँचा हुआ रोगी अमृत पीकर पुनः जी उठता है, उसी प्रकार सीताके वियोगमें मरणासन्न हुए श्रीरामने उनका शुभ समाचार पाकर जीवित रहनेकी आशा की ॥ ४७ ॥

उद्योजयिष्यन्नुद्योगं दध्रे लङ्कावधे मनः।
जिघांसुरिव लोकान्ते सर्वाँल्लोकान् विभावसुः ॥ ४८ ॥

'फिर जैसे प्रलयकालमें संवर्तक नामक अग्निदेव सम्पूर्ण लोकोंको भस्म कर डालनेके लिये उद्यत हो जाते हैं, उसी प्रकार सेनाको प्रोत्साहन देते हुए श्रीरामने लङ्कापुरीको नष्ट कर डालनेका विचार किया ॥ ४८ ॥

ततः समुद्रमासाद्य नलं सेतुमकारयत्।
अतरत् कपिवीराणां वाहिनी तेन सेतुना ॥ ४९ ॥

'इसके बाद समुद्रतटपर आकर श्रीरामने नल नामक वानरसे समुद्रपर पुल बँधवाया और उस पुलसे वानरवीरोंकी सारी सेना सागरके पार जा पहुँची ॥ ४९ ॥

प्रहस्तमवधीन्नीलः कुम्भकर्णं तु राघवः।
लक्ष्मणो रावणसुतं स्वयं रामस्तु रावणम् ॥ ५० ॥

'वहाँ युद्धमें नीलने प्रहस्तको, लक्ष्मणने रावणपुत्र इन्द्रजित्को तथा साक्षात् रघुकुलनन्दन श्रीरामने कुम्भकर्ण एवं रावणको मार डाला ॥ ५० ॥

स शक्रेण समागम्य यमेन वरुणेन च।
महेश्वरस्वयंभूभ्यां तथा दशरथेन च ॥ ५१ ॥

'तत्पश्चात् श्रीरघुनाथजी क्रमशः इन्द्र, यम, वरुण, महादेवजी, ब्रह्माजी तथा महाराज दशरथसे मिले ॥ ५१ ॥

तैश्च दत्तवरः श्रीमानृषिभिश्च समागतैः।
सुरर्षिभिश्च काकुत्स्थो वराँल्लेभे परंतपः ॥ ५२ ॥

'वहाँ पधारे हुए ऋषियों तथा देवर्षियोंने शत्रुसंतापी श्रीमान् रघुवीरको वरदान दिया। उनसे श्रीरामने वर प्राप्त किया ॥ ५२ ॥

स तु दत्तवरः प्रीत्या वानरैश्च समागतैः।
पुष्पकेण विमानेन किष्किन्धामभ्युपागमत् ॥ ५३ ॥

'वर पाकर प्रसन्नतासे भरे हुए श्रीरामचन्द्रजी वानरोंके साथ पुष्पकविमानद्वारा किष्किन्धा आये ॥ ५३ ॥

तां गङ्गां पुनरासाद्य वसन्तं मुनिसंनिधौ।
अविघ्नं पुष्ययोगेन श्वो रामं द्रष्टुमर्हसि ॥ ५४ ॥

'वहाँसे फिर गङ्गातटपर आकर प्रयागमें भरद्वाजमुनिके समीप वे ठहरे हुए हैं। कल पुष्य नक्षत्रके योगमें आप बिना किसी विघ्न-बाधाके श्रीरामका दर्शन करेंगे' ॥ ५४ ॥

ततः स वाक्यैर्मधुरैर्हनूमतो
निशम्य हृष्टो भरतः कृताञ्जलिः।
उवाच वाणीं मनसः प्रहर्षिणीं
चिरस्य पूर्णः खलु मे मनोरथः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार हनुमान्जीके मधुर वाक्योंद्वारा सारी बातें सुनकर भरतजी बड़े प्रसन्न हुए और हाथ जोड़कर मनको हर्ष प्रदान करनेवाली वाणीमें बोले—'आज चिरकालके बाद मेरा मनोरथ पूर्ण हुआ' ॥ ५५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे षड्विंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें एक सौ छब्बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १२६ ॥

—★—

सप्तविंशत्यधिकशततमः सर्गः

अयोध्यामें श्रीरामके स्वागतकी तैयारी, भरतके साथ सबका श्रीरामकी अगवानीके लिये नन्दिग्राममें पहुँचना, श्रीरामका आगमन, भरत आदिके साथ उनका मिलाप तथा पुष्पकविमानको कुबेरके पास भेजना

श्रुत्वा तु परमानन्दं भरतः सत्यविक्रमः।
हृष्टमाज्ञापयामास शत्रुघ्नं परवीरहा॥ १॥

यह परमानन्दमय समाचार सुनकर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले सत्यपराक्रमी भरतने शत्रुघ्नको हर्षपूर्वक आज्ञा दी—॥ १॥

दैवतानि च सर्वाणि चैत्यानि नगरस्य च।
सुगन्धमाल्यैर्वादित्रैरर्चन्तु शुचयो नराः॥ २॥

'शुद्धाचारी पुरुष कुलदेवताओंका तथा नगरके सभी देवस्थानोंका गाजे-बाजेके साथ सुगन्धित पुष्पोंद्वारा पूजन करें॥ २॥

सूताः स्तुतिपुराणज्ञाः सर्वे वैतालिकास्तथा।
सर्वे वादित्रकुशला गणिकाश्चैव सर्वशः॥ ३॥
राजदारास्तथामात्याः सैन्याः सेनाङ्गनागणाः।
ब्राह्मणाश्च सराजन्याः श्रेणीमुख्यास्तथा गणाः॥ ४॥
अभिनिर्यान्तु रामस्य द्रष्टुं शशिनिभं मुखम्।

'स्तुति और पुराणोंके जानकार सूत, समस्त वैतालिक (भाँट), बाजे बजानेमें कुशल सब लोग, सभी गणिकाएँ, राजरानियाँ, मन्त्रीगण, सेनाएँ, सैनिकोंकी स्त्रियाँ, ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा व्यवसायी-संघके मुखियालोग श्रीरामचन्द्रजीके मुखचन्द्रका दर्शन करनेके लिये नगरसे बाहर चलें'॥ ३-४½॥

भरतस्य वचः श्रुत्वा शत्रुघ्नः परवीरहा॥ ५॥
विष्टीरनेकसाहस्रीश्चोदयामास भागशः।
समीकुरुत निम्नानि विषमाणि समानि च॥ ६॥

भरतजीकी यह बात सुनकर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले शत्रुघ्नने कई हजार मजदूरोंकी अलग-अलग टोलियाँ बनाकर उन्हें आज्ञा दी—'तुमलोग ऊँची-नीची भूमियोंको समतल बना दो॥ ५-६॥

स्थानानि च निरस्यन्तां नन्दिग्रामादितः परम्।
सिञ्चन्तु पृथिवीं कृत्स्नां हिमशीतेन वारिणा॥ ७॥

'अयोध्यासे नन्दिग्रामतकका मार्ग साफ कर दो, आसपासकी सारी भूमिपर बर्फकी तरह ठंडे जलका छिड़काव कर दो॥ ७॥

ततोऽभ्यवकिरन्त्वन्ये लाजैः पुष्पैश्च सर्वतः।
समुच्छ्रितपताकास्तु रथ्याः पुरवरोत्तमे॥ ८॥

'तत्पश्चात् दूसरे लोग रास्तेमें सब ओर लावा और फूल बिखेर दें। इस श्रेष्ठ नगरकी सड़कोंके अगल-बगलमें ऊँची पताकाएँ फहरा दी जायँ॥ ८॥

शोभयन्तु च वेश्मानि सूर्यस्योदयनं प्रति।
स्रग्दाममुक्तपुष्पैश्च सुवर्णैः पञ्चवर्णकैः॥ ९॥

'कल सूर्योदयतक लोग नगरके सब मकानोंको सुनहरी पुष्पमालाओं, घनीभूत फूलोंके मोटे गजरों, सूतके बन्धनसे रहित कमल आदिके पुष्पों तथा पचरंगे अलङ्कारोंसे सजा दें॥ ९॥

राजमार्गमसम्बाधं किरन्तु शतशो नराः।
ततस्तच्छासनं श्रुत्वा शत्रुघ्नस्य मुदान्विताः॥ १०॥

'राजमार्गपर अधिक भीड़ न हो, इसकी व्यवस्थाके लिये सैकड़ों मनुष्य सब ओर लग जायँ।' शत्रुघ्नका वह आदेश सुनकर सब लोग बड़ी प्रसन्नताके साथ उसके पालनमें लग गये॥ १०॥

धृष्टिर्जयन्तो विजयः सिद्धार्थश्चार्थसाधकः।
अशोको मन्त्रपालश्च सुमन्त्रश्चापि निर्ययुः॥ ११॥
मत्तैर्नागसहस्रैश्च सध्वजैः सुविभूषितैः।

धृष्टि, जयन्त, विजय, सिद्धार्थ, अर्थसाधक, अशोक, मन्त्रपाल और सुमन्त्र—ये आठों मन्त्री ध्वजा और आभूषणोंसे विभूषित मतवाले हाथियोंपर चढ़कर चले॥ ११½॥

अपरे हेमकक्षाभिः सगजाभिः करेणुभिः॥ १२॥
निर्ययुस्तुरगाक्रान्ता रथैश्च सुमहारथाः।

दूसरे बहुत-से महारथी वीर सुनहरे रस्सोंसे कसी हुई हथिनियों, हाथियों, घोड़ों और रथोंपर सवार होकर निकले॥ १२½॥

शक्त्यृष्टिपाशहस्तानां सध्वजानां पताकिनाम्॥ १३॥
तुरगाणां सहस्रैश्च मुख्यैर्मुख्यतरान्वितैः।
पदातीनां सहस्रैश्च वीराः परिवृता ययुः॥ १४॥

ध्वजा-पताकाओंसे विभूषित हजारों अच्छे-अच्छे घोड़ों और घुड़सवारों तथा हाथोंमें शक्ति, ऋष्टि और पाश धारण करनेवाले सहस्रों पैदल योद्धाओंसे घिरे हुए वीर पुरुष श्रीरामकी अगवानीके लिये गये॥ १३-१४॥

ततो यानान्युपारूढाः सर्वा दशरथस्त्रियः।
कौसल्यां प्रमुखे कृत्वा सुमित्रां चापि निर्ययुः॥ १५॥
कैकेय्या सहिताः सर्वा नन्दिग्राममुपागमन्॥ १६॥

तदनन्तर राजा दशरथकी सभी रानियाँ सवारियोंपर चढ़कर कौसल्या और सुमित्राको आगे करके निकलीं तथा कैकेयीसहित सब-की-सब नन्दिग्राममें आ पहुँचीं॥ १५-१६॥

द्विजातिमुख्यैर्धर्मात्मा श्रेणीमुख्यैः सनैगमैः ।
माल्यमोदकहस्तैश्च मन्त्रिभिर्भरतो वृतः ॥ १७ ॥
शङ्खभेरीनिनादैश्च बन्दिभिश्चाभिनन्दितः ।
आर्यपादौ गृहीत्वा तु शिरसा धर्मकोविदः ॥ १८ ॥

धर्मात्मा एवं धर्मज्ञ भरत मुख्य-मुख्य ब्राह्मणों, व्यवसायी वर्गके प्रधानों, वैश्यों तथा हाथोंमें माला और मिठाई लिये मन्त्रियोंसे घिरकर अपने बड़े भाईकी चरणपादुकाओंको सिरपर धारण किये शङ्खों और भेरियोंकी गम्भीर ध्वनिके साथ चले। उस समय वन्दीजन उनका अभिनन्दन कर रहे थे ॥ १७-१८ ॥

पाण्डुरं छत्रमादाय शुक्लमाल्योपशोभितम् ।
शुक्ले च वालव्यजने राजार्हे हेमभूषिते ॥ १९ ॥

श्वेत मालाओंसे सुशोभित सफेद रंगका छत्र तथा राजाओंके योग्य सोनेसे मढ़े हुए दो श्वेत चँवर भी उन्होंने अपने साथ ले रखे थे ॥ १९ ॥

उपवासकृशो दीनश्चीरकृष्णाजिनाम्बरः ।
भ्रातुरागमनं श्रुत्वा तत्पूर्वं हर्षमागतः ॥ २० ॥

भरतजी उपवासके कारण दीन और दुर्बल हो रहे थे। वे चीर वस्त्र और कृष्णमृगचर्म धारण किये थे। भाईका आगमन सुनकर पहले-पहल उन्हें महान् हर्ष हुआ था ॥ २० ॥

प्रत्युद्ययौ यदा रामं महात्मा सचिवैः सह ।
अश्वानां खुरशब्दैश्च रथनेमिस्वनेन च ॥ २१ ॥
शङ्खदुन्दुभिनादेन संचचालेव मेदिनी ।
गजानां बृंहितैश्चापि शङ्खदुन्दुभिनिःस्वनैः ॥ २२ ॥

महात्मा भरत उस समय श्रीरामकी अगवानीके लिये आगे बढ़े। घोड़ोंकी टापों, रथके पहियोंकी नेमियों और शङ्खों एवं दुन्दुभियोंके गम्भीर नादोंसे सारी पृथ्वी हिलती-सी जान पड़ती थी। शङ्खों और दुन्दुभियोंकी ध्वनियोंसे मिले हुए हाथियोंके गर्जन-शब्द भी भूतलको कम्पित-सा किये देते थे ॥ २१-२२ ॥

कृत्स्नं तु नगरं तत् तु नन्दिग्राममुपागमत् ।
समीक्ष्य भरतो वाक्यमुवाच पवनात्मजम् ॥ २३ ॥

भरतजीने जब देखा कि अयोध्यापुरीके सभी नागरिक नन्दिग्राममें आ गये हैं, तब उन्होंने पवनपुत्र हनुमान्‌जीसे कहा— ॥ २३ ॥

कच्चिन्न खलु कापेयी सेव्यते चलचित्तता ।
नहि पश्यामि काकुत्स्थं राममार्यं परंतपम् ॥ २४ ॥
कच्चिन्न चानुदृश्यन्ते कपयः कामरूपिणः ।

'वानर-वीर! वानरोंका चित्त स्वभावतः चञ्चल होता है। कहीं आपने भी उसी गुणका सेवन तो नहीं किया है—श्रीरामके आनेकी झूठी ही खबर तो नहीं उड़ा दी है; क्योंकि मुझे अभीतक शत्रुओंको संताप देनेवाले ककुत्स्थकुलभूषण आर्य श्रीरामके दर्शन नहीं हो रहे हैं तथा इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले वानर भी कहीं दृष्टिगोचर नहीं हो रहे हैं?' ॥ २४½ ॥

अथैवमुक्ते वचने हनूमानिदमब्रवीत् ॥ २५ ॥
अर्थ्यं विज्ञापयन्नेव भरतं सत्यविक्रमम् ।

भरतजीके ऐसा कहनेपर हनुमान्‌जीने सार्थक एवं सत्य बात बतानेके लिये उन सत्यपराक्रमी भरतजीसे कहा— ॥ २५½ ॥

सदाफलान् कुसुमितान् वृक्षान् प्राप्य मधुस्रवान् ॥ २६ ॥
भरद्वाजप्रसादेन मत्तभ्रमरनादितान् ।

'मुनिवर भरद्वाजजीकी कृपासे रास्तेके सभी वृक्ष सदा फूलने-फलनेवाले हो गये हैं और उनसे मधुकी धाराएँ गिरती हैं। उन वृक्षोंपर मतवाले भ्रमर निरन्तर गुँजते रहते हैं। उन्हें पाकर वानरलोग अपनी भूख-प्यास मिटाने लगे हैं ॥ २६½ ॥

तस्य चैव वरो दत्तो वासवेन परंतप ॥ २७ ॥
ससैन्यस्य तदातिथ्यं कृतं सर्वगुणान्वितम् ।

'परंतप! देवराज इन्द्रने भी श्रीरामचन्द्रजीको ऐसा ही वरदान दिया था। अतएव भरद्वाजजीने सेनासहित श्रीरामचन्द्रजीका सर्वगुणसम्पन्न—साङ्गोपाङ्ग आतिथ्य-सत्कार किया है ॥ २७½ ॥

निःस्वनः श्रूयते भीमः प्रहृष्टानां वनौकसाम् ॥ २८ ॥
मन्ये वानरसेना सा नदीं तरति गोमतीम् ।

'किंतु देखिये, अब हर्षसे भरे हुए वानरोंका भयंकर कोलाहल सुनायी देता है। मालूम होता है इस समय वानरसेना गोमतीको पार कर रही है ॥ २८½ ॥

रजोवर्षं समुद्भूतं पश्य सालवनं प्रति ॥ २९ ॥
मन्ये सालवनं रम्यं लोलयन्ति प्लवंगमाः ।

'उधर सालवनकी ओर देखिये, कैसी धूलकी वर्षा हो रही है? मैं समझता हूँ वानरलोग रमणीय सालवनको आन्दोलित कर रहे हैं ॥ २९½ ॥

तदेतद् दृश्यते दूराद् विमानं चन्द्रसंनिभम् ॥ ३० ॥
विमानं पुष्पकं दिव्यं मनसा ब्रह्मनिर्मितम् ।
रावणं बान्धवैः सार्धं हत्वा लब्धं महात्मना ॥ ३१ ॥

'लीजिये, यह रहा पुष्पक विमान, जो दूरसे चन्द्रमाके समान दिखायी देता है। इस दिव्य पुष्पक-विमानको विश्वकर्माने अपने मनके संकल्पसे ही रचा था। महात्मा श्रीरामने रावणको बन्धु-बान्धवोंसहित मारकर इसे प्राप्त किया है ॥ ३०-३१ ॥

तरुणादित्यसंकाशं विमानं रामवाहनम् ।
धनदस्य प्रसादेन दिव्यमेतन्मनोजवम् ॥ ३२ ॥

'श्रीरामका वाहन बना हुआ यह विमान प्रातःकालके सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहा है। इसका वेग मनके समान है। यह दिव्य विमान ब्रह्माजीकी कृपासे कुबेरको प्राप्त हुआ था ॥ ३२ ॥

एतस्मिन् भ्रातरौ वीरौ वैदेह्या सह राघवौ।
सुग्रीवश्च महातेजा राक्षसश्च विभीषणः॥ ३३॥

'इसीमें विदेहराजकुमारी सीताके साथ वे दोनों रघुवंशी वीर बन्धु बैठे हैं और इसीमें महातेजस्वी सुग्रीव तथा राक्षस विभीषण भी विराजमान हैं'॥ ३३॥

ततो हर्षसमुद्भूतो निःस्वनो दिवमस्पृशत्।
स्त्रीबालयुववृद्धानां रामोऽयमिति कीर्तिते॥ ३४॥

हनुमान्‌जीके इतना कहते ही स्त्रियों, बालकों, नौजवानों और बूढ़ों—सभी पुरवासियोंके मुखसे यह वाणी फूट पड़ी—'अहो! ये श्रीरामचन्द्रजी आ रहे हैं।' उन नागरिकोंका वह हर्षनाद स्वर्गलोकतक गूँज उठा॥ ३४॥

रथकुञ्जरवाजिभ्यस्तेऽवतीर्य महीं गताः।
ददृशुस्तं विमानस्थं नराः सोममिवाम्बरे॥ ३५॥

सब लोग हाथी, घोड़ों और रथोंसे उतर पड़े तथा पृथ्वीपर खड़े हो विमानपर विराजमान श्रीरामचन्द्रजीका उसी तरह दर्शन करने लगे, जैसे लोग आकाशमें प्रकाशित होनेवाले चन्द्रदेवका दर्शन करते हैं॥ ३५॥

प्राञ्जलिर्भरतो भूत्वा प्रहृष्टो राघवोन्मुखः।
यथार्थेनार्घ्यपाद्याद्यैस्ततो राममपूजयत्॥ ३६॥

भरतजी श्रीरामचन्द्रजीकी ओर दृष्टि लगाये हाथ जोड़कर खड़े हो गये। उनका शरीर हर्षसे पुलकित था। उन्होंने दूरसे ही अर्घ्य-पाद्य आदिके द्वारा श्रीरामका विधिवत् पूजन किया॥ ३६॥

मनसा ब्रह्मणा सृष्टे विमाने भरताग्रजः।
रराज पृथुदीर्घाक्षो वज्रपाणिरिवामरः॥ ३७॥

विश्वकर्माद्वारा मनसे रचे गये उस विमानपर बैठे हुए विशाल नेत्रोंवाले भगवान् श्रीराम वज्रधारी देवराज इन्द्रके समान शोभा पा रहे थे॥ ३७॥

ततो विमानाग्रगतं भरतो भ्रातरं तदा।
ववन्दे प्रणतो रामं मेरुस्थमिव भास्करम्॥ ३८॥

विमानके ऊपरी भागमें बैठे हुए भाई श्रीरामपर दृष्टि पड़ते ही भरतने विनीतभावसे उन्हें उसी तरह प्रणाम किया, जैसे मेरुके शिखरपर उदित सूर्यदेवको द्विजलोग नमस्कार करते हैं॥ ३८॥

ततो रामाभ्यनुज्ञातं तद् विमानमनुत्तमम्।
हंसयुक्तं महावेगं निपपात महीतलम्॥ ३९॥

इतनेहीमें श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञा पाकर वह महान् वेगशाली हंसयुक्त उत्तम विमान पृथ्वीपर उतर आया॥ ३९॥

आरोपितो विमानं तद् भरतः सत्यविक्रमः।
राममासाद्य मुदितः पुनरेवाभ्यवादयत्॥ ४०॥

भगवान् श्रीरामने सत्यपराक्रमी भरतजीको विमानपर चढ़ा लिया और उन्होंने श्रीरघुनाथजीके पास पहुँचकर आनन्दविभोर हो पुनः उनके श्रीचरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया॥ ४०॥

तं समुत्थाय काकुत्स्थश्चिरस्याक्षिपथं गतम्।
अङ्के भरतमारोप्य मुदितः परिषस्वजे॥ ४१॥

दीर्घकालके पश्चात् दृष्टिपथमें आये हुए भरतको उठाकर श्रीरघुनाथजीने अपनी गोदमें बिठा लिया और बड़े हर्षके साथ उन्हें हृदयसे लगाया॥ ४१॥

ततो लक्ष्मणमासाद्य वैदेहीं च परंतपः।
अथाभ्यवादयत् प्रीतो भरतो नाम चाब्रवीत्॥ ४२॥

तत्पश्चात् शत्रुओंको संताप देनेवाले भरतने लक्ष्मणसे मिलकर—उनका प्रणाम ग्रहण करके विदेह-राजकुमारी सीताको बड़ी प्रसन्नताके साथ प्रणाम किया और अपना नाम भी बताया॥ ४२॥

सुग्रीवं कैकयीपुत्रो जाम्बवन्तमथाङ्गदम्।
मैन्दं च द्विविदं नीलमृषभं चैव सस्वजे॥ ४३॥
सुषेणं च नलं चैव गवाक्षं गन्धमादनम्।
शरभं पनसं चैव परितः परिषस्वजे॥ ४४॥

इसके बाद कैकेयीकुमार भरतने सुग्रीव, जाम्बवान्, अङ्गद, मैन्द, द्विविद, नील, ऋषभ, सुषेण, नल, गवाक्ष, गन्धमादन, शरभ और पनसका पूर्णरूपसे आलिङ्गन किया॥ ४३-४४॥

ते कृत्वा मानुषं रूपं वानराः कामरूपिणः।
कुशलं पर्यपृच्छंस्ते प्रहृष्टा भरतं तदा॥ ४५॥

वे इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले वानर मानवरूप धारण करके भरतजीसे मिले और उन सबने महान् हर्षसे उल्लसित होकर उस समय भरतजीका कुशल-समाचार पूछा॥ ४५॥

अथाब्रवीद् राजपुत्रः सुग्रीवं वानरर्षभम्।
परिष्वज्य महातेजा भरतो धर्मिणां वरः॥ ४६॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी राजकुमार भरतने वानरराज सुग्रीवको हृदयसे लगाकर उनसे कहा—॥ ४६॥

त्वमस्माकं चतुर्णां वै भ्राता सुग्रीव पञ्चमः।
सौहृदाज्जायते मित्रमपकारोऽरिलक्षणम्॥ ४७॥

'सुग्रीव! तुम हम चारोंके पाँचवें भाई हो; क्योंकि स्नेहपूर्वक उपकार करनेसे ही कोई भी मित्र होता है (और मित्र अपना भाई ही होता है)। अपकार करना ही शत्रुका लक्षण है'॥ ४७॥

विभीषणं च भरतः सान्त्ववाक्यमथाब्रवीत्।
दिष्ट्या त्वया सहायेन कृतं कर्म सुदुष्करम्॥ ४८॥

इसके बाद भरतने विभीषणको सान्त्वना देते हुए उनसे कहा—'राक्षसराज! बड़े सौभाग्यकी बात है कि आपकी सहायता पाकर श्रीरघुनाथजीने अत्यन्त दुष्कर कार्य पूरा किया है'॥ ४८॥

शत्रुघ्नश्च तदा राममभिवाद्य सलक्ष्मणम्।
सीतायाश्चरणौ वीरो विनयादभ्यवादयत्॥ ४९॥

इसी समय वीर शत्रुघ्नने भी श्रीराम और लक्ष्मणको प्रणाम करके सीताजीके चरणोंमें विनयपूर्वक मस्तक झुकाया॥ ४९॥

रामो मातरमासाद्य विवर्णां शोककर्शिताम्।
जग्राह प्रणतः पादौ मनो मातुः प्रहर्षयन्॥ ५०॥

माता कौसल्या शोकके कारण अत्यन्त दुर्बल और कान्तिहीन हो गयी थीं। उनके पास पहुँचकर श्रीरामने प्रणत हो उनके दोनों पैर पकड़ लिये और माताके मनको अत्यन्त हर्ष प्रदान किया॥ ५०॥

अभिवाद्य सुमित्रां च कैकेयीं च यशस्विनीम्।
स मातॄश्च ततः सर्वाः पुरोहितमुपागमत्॥ ५१॥

फिर सुमित्रा और यशस्विनी कैकेयीको प्रणाम करके उन्होंने सम्पूर्ण माताओंका अभिवादन किया, इसके बाद वे राजपुरोहित वसिष्ठजीके पास आये॥ ५१॥

स्वागतं ते महाबाहो कौसल्यानन्दवर्धन।
इति प्राञ्जलयः सर्वे नागरा राममब्रुवन्॥ ५२॥

उस समय अयोध्याके समस्त नागरिक हाथ जोड़कर श्रीरामचन्द्रजीसे एक साथ बोल उठे—'माता कौसल्याका आनन्द बढ़ानेवाले महाबाहु श्रीराम! आपका स्वागत है, स्वागत है'॥ ५२॥

तान्यञ्जलिसहस्राणि प्रगृहीतानि नागरैः।
व्याकोशानीव पद्मानि ददर्श भरताग्रजः॥ ५३॥

भरतके बड़े भाई श्रीरामने देखा, खिले हुए कमलोंके समान नागरिकोंकी सहस्रों अञ्जलियाँ उनकी ओर उठी हुई हैं॥ ५३॥

पादुके ते तु रामस्य गृहीत्वा भरतः स्वयम्।
चरणाभ्यां नरेन्द्रस्य योजयामास धर्मवित्॥ ५४॥
अब्रवीच्च तदा रामं भरतः स कृताञ्जलिः।

तदनन्तर धर्मज्ञ भरतने स्वयं ही श्रीरामकी वे चरण-पादुकाएँ लेकर उन महाराजके चरणोंमें पहना दीं और हाथ जोड़कर उस समय उनसे कहा—॥ ५४½॥

एतत् ते सकलं राज्यं न्यासं निर्यातितं मया॥ ५५॥
अद्य जन्म कृतार्थं मे संवृत्तश्च मनोरथः।
यत् त्वां पश्यामि राजानमयोध्यां पुनरागतम्॥ ५६॥

'प्रभो! मेरे पास धरोहरके रूपमें रखा हुआ आपका यह सारा राज्य आज मैंने आपके श्रीचरणोंमें लौटा दिया। आज मेरा जन्म सफल हो गया। मेरा मनोरथ पूरा हुआ, जो अयोध्यानरेश आप श्रीरामको पुनः अयोध्यामें लौटा हुआ देख रहा हूँ॥ ५५-५६॥

अवेक्षतां भवान् कोशं कोष्ठागारं गृहं बलम्।
भवतस्तेजसा सर्वं कृतं दशगुणं मया॥ ५७॥

'आप राज्यका खजाना, कोठार, घर और सेना सब देख लें। आपके प्रतापसे ये सारी वस्तुएँ पहलेसे दसगुनी हो गयी हैं'॥ ५७॥

तथा ब्रुवाणं भरतं दृष्ट्वा तं भ्रातृवत्सलम्।
मुमुचुर्वानरा बाष्पं राक्षसश्च विभीषणः॥ ५८॥

भ्रातृवत्सल भरतको इस प्रकार कहते देख समस्त वानर तथा राक्षसराज विभीषण नेत्रोंसे आँसू बहाने लगे॥ ५८॥

ततः प्रहर्षाद् भरतमङ्कमारोप्य राघवः।
ययौ तेन विमानेन ससैन्यो भरताश्रमम्॥ ५९॥

इसके पश्चात् श्रीरघुनाथजी भरतको बड़े हर्ष और स्नेहके साथ गोदमें बैठाकर विमानके द्वारा ही सेनासहित उनके आश्रमपर गये॥ ५९॥

भरताश्रममासाद्य ससैन्यो राघवस्तदा।
अवतीर्य विमानाग्रादवतस्थे महीतले॥ ६०॥

भरतके आश्रममें पहुँचकर सेनासहित श्रीरघुनाथजी विमानसे उतरकर भूतलपर खड़े हो गये॥ ६०॥

अब्रवीत् तु तदा रामस्तद् विमानमनुत्तमम्।
वह वैश्रवणं देवमनुजानामि गम्यताम्॥ ६१॥

उस समय श्रीरामने उस उत्तम विमानसे कहा—'विमानराज! मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, अब तुम यहाँसे देवप्रवर कुबेरके ही पास चले जाओ और उन्हींकी सवारीमें रहो'॥ ६१॥

ततो रामाभ्यनुज्ञातं तद् विमानमनुत्तमम्।
उत्तरां दिशमुद्दिश्य जगाम धनदालयम्॥ ६२॥

श्रीरामकी आज्ञा पाकर वह परम उत्तम विमान उत्तर दिशाको लक्ष्य करके कुबेरके स्थानपर चला गया॥ ६२॥

विमानं पुष्पकं दिव्यं संगृहीतं तु रक्षसा।
अगमद् धनदं वेगाद् रामवाक्यप्रचोदितम्॥ ६३॥

राक्षस रावणने जिस दिव्य पुष्पक विमानपर बलपूर्वक अधिकार कर लिया था, वही अब श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञासे प्रेरित हो वेगपूर्वक कुबेरकी सेवामें चला गया॥ ६३॥

पुरोहितस्यात्मसखस्य राघवो
बृहस्पतेः शक्र इवामराधिपः।
निपीड्य पादौ पृथगासने शुभे
सहैव तेनोपविवेश वीर्यवान्॥ ६४॥

तत्पश्चात् पराक्रमी श्रीरघुनाथजीने अपने सखा पुरोहित वसिष्ठपुत्र सुयज्ञके (अथवा अपने परम सहायक पुरोहित वसिष्ठजीके) उसी प्रकार चरण छुए, जैसे देवराज इन्द्र बृहस्पतिजीके चरणोंका स्पर्श करते हैं। फिर उन्हें एक सुन्दर पृथक् आसनपर विराजमान करके उनके साथ ही दूसरे आसनपर वे स्वयं भी बैठे॥ ६४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डे सप्तविंशत्यधिकशततमः सर्गः॥ १२७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें एक सौ सत्ताईसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १२७॥

—★—

अष्टाविंशत्यधिकशततमः सर्गः

भरतका श्रीरामको राज्य लौटाना, श्रीरामकी नगरयात्रा, राज्याभिषेक, वानरोंकी विदाई तथा ग्रन्थका माहात्म्य

शिरस्यञ्जलिमाधाय कैकेयीनन्दिवर्धनः।
बभाषे भरतो ज्येष्ठं रामं सत्यपराक्रमम्॥ १॥

तत्पश्चात् कैकेयीनन्दन भरतने मस्तकपर अञ्जलि बाँधकर अपने बड़े भाई सत्यपराक्रमी श्रीरामसे कहा— ॥ १॥

पूजिता मामिका माता दत्तं राज्यमिदं मम।
तद् ददामि पुनस्तुभ्यं यथा त्वमददा मम॥ २॥

'आपने मेरी माताका सम्मान किया और यह राज्य मुझे दे दिया। जैसे आपने मुझे दिया, उसी तरह मैं अब फिर आपको वापस दे रहा हूँ॥ २॥

धुरमेकाकिना न्यस्तां वृषभेण बलीयसा।
किशोरवद् गुरुं भारं न वोढुमहमुत्सहे॥ ३॥

'अत्यन्त बलवान् बैल जिस बोझेको अकेला उठाता है, उसे बछड़ा नहीं उठा सकता; उसी तरह मैं भी इस भारी भारको उठानेमें असमर्थ हूँ॥ ३॥

वारिवेगेन महता भिन्नः सेतुरिव क्षरन्।
दुर्बन्धनमिदं मन्ये राज्यच्छिद्रमसंवृतम्॥ ४॥

'जैसे जलके महान् वेगसे टूटे या फटे हुए बाँधको, जब कि उससे जलका प्रखर प्रवाह बह रहा हो, बाँधना अत्यन्त कठिन होता है, उसी प्रकार राज्यके खुले हुए छिद्रको ढक पाना मैं अपने लिये असम्भव मानता हूँ॥ ४॥

गतिं खर इवाश्वस्य हंसस्येव च वायसः।
नान्वेतुमुत्सहे वीर तव मार्गमरिंदम॥ ५॥

'शत्रुदमन वीर! जैसे गदहा घोड़ेकी और कौआ हंसकी गतिका अनुसरण नहीं कर सकता, उसी तरह मैं आपके मार्गका—रक्षणीय-रक्षणरूपी कौशलका अनुकरण नहीं कर सकता॥ ५॥

यथा चारोपितो वृक्षो जातश्चान्तर्निवेशने।
महानपि दुरारोहो महास्कन्धः प्रशाखवान्॥ ६॥
शीर्येत पुष्पितो भूत्वा न फलानि प्रदर्शयन्।
तस्य नानुभवेदर्थं यस्य हेतोः स रोपितः॥ ७॥
एषोपमा महाबाहो त्वमर्थं वेत्तुमर्हसि।
यद्यस्मान् मनुजेन्द्र त्वं भर्ता भृत्यान् न शाधि हि॥ ८॥

'महाबाहो! नरेन्द्र! जैसे घरके भीतरके बगीचेमें एक वृक्ष लगाया गया। वह जमा और जमकर बहुत बड़ा हो गया। इतना बड़ा कि उसपर चढ़ना कठिन हो रहा था। उसका तना बहुत बड़ा और मोटा था तथा उसमें बहुत-सी शाखाएँ थीं। उस वृक्षमें फूल लगे; किंतु वह अपने फल नहीं दिखा सका था। इसी दशामें टूटकर धराशायी हो गया। लगानेवालोंने जिन फलोंके उद्देश्यसे उस वृक्षको लगाया था, उनका अनुभव वे नहीं कर सके। यही उपमा उस राजाके लिये भी हो सकती है, जिसे प्रजाने अपनी रक्षाके लिये पाल-पोसकर बड़ा किया और बड़े होनेपर वह उनकी रक्षासे मुँह मोड़ने लगे। इस कथनके तात्पर्यको आप समझें। यदि भर्ता होकर भी आप हम भृत्योंका भरण-पोषण नहीं करेंगे तो आप भी उस निष्फल वृक्षके समान ही समझे जायँगे॥ ६—८॥

जगदद्याभिषिक्तं त्वामनुपश्यतु राघव।
प्रतपन्तमिवादित्यं मध्याह्ने दीप्ततेजसम्॥ ९॥

'रघुनन्दन! अब तो हमारी यही इच्छा है कि जगत्के सब लोग आपका राज्याभिषेक देखें। मध्याह्नकालके सूर्यकी भाँति आपका तेज और प्रताप बढ़ता रहे॥ ९॥

तूर्यसंघातनिर्घोषैः काञ्चीनूपुरनिःस्वनैः।
मधुरैर्गीतशब्दैश्च प्रतिबुध्यस्व शेष्व च॥ १०॥

'आप विविध बाजोंकी मधुर ध्वनि, काञ्ची तथा नूपुरोंकी झनकार और गीतके मनोहर शब्द सुनकर सोयें और जागें॥ १०॥

यावदावर्तते चक्रं यावती च वसुंधरा।
तावत् त्वमिह लोकस्य स्वामित्वमनुवर्तय॥ ११॥

'जबतक नक्षत्रमण्डल घूमता है और जबतक यह पृथ्वी स्थित है तबतक आप इस संसारके स्वामी बने रहें'॥ ११॥

भरतस्य वचः श्रुत्वा रामः परपुरञ्जयः।
तथेति प्रतिजग्राह निषसादासने शुभे॥ १२॥

भरतकी यह बात सुनकर शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले भगवान् श्रीरामने 'तथास्तु' कहकर उसे मान लिया और वे एक सुन्दर आसनपर विराजमान हुए॥ १२॥

ततः शत्रुघ्नवचनान्निपुणाः श्मश्रुवर्धनाः।
सुखहस्ताः सुशीघ्राश्च राघवं पर्यवारयन्॥ १३॥

फिर शत्रुघ्नजीकी आज्ञासे निपुण नाई बुलाये गये, जिनके हाथ हलके और तेज चलनेवाले थे। उन सबने श्रीरघुनाथजीको घेर लिया॥ १३॥

पूर्वं तु भरते स्नाते लक्ष्मणे च महाबले।
सुग्रीवे वानरेन्द्रे च राक्षसेन्द्रे विभीषणे॥ १४॥
विशोधितजटः स्नातश्चित्रमाल्यानुलेपनः।
महार्हवसनोपेतस्तस्थौ तत्र श्रिया ज्वलन्॥ १५॥

पहले भरतने स्नान किया फिर महाबली लक्ष्मणने। तत्पश्चात् वानरराज सुग्रीव और राक्षसराज विभीषणने भी स्नान किया। तदनन्तर जटाका शोधन करके श्रीरामने स्नान किया, फिर विचित्र पुष्पमाला, सुन्दर अनुलेपन और बहुमूल्य पीताम्बर धारण करके आभूषणोंकी शोभासे प्रकाशित होते हुए वे सिंहासनपर विराजमान हुए॥ १४-१५॥

प्रतिकर्म च रामस्य कारयामास वीर्यवान्।
लक्ष्मणस्य च लक्ष्मीवानिक्ष्वाकुकुलवर्धनः॥ १६॥

इक्ष्वाकुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले शोभाशाली, पराक्रमी वीर शत्रुघ्नने श्रीराम और लक्ष्मणको शृङ्गार धारण कराया॥ १६॥

प्रतिकर्म च सीतायाः सर्वा दशरथस्त्रियः।
आत्मनैव तदा चक्रुर्मनस्विन्यो मनोहरम्॥ १७॥

उस समय राजा दशरथकी सभी मनस्विनी रानियोंने स्वयं अपने हाथोंसे सीताजीका मनोहर शृङ्गार किया॥ १७॥

ततो वानरपत्नीनां सर्वासामेव शोभनम्।
चकार यत्नात् कौसल्या प्रहृष्टा पुत्रवत्सला॥ १८॥

पुत्रवत्सला कौसल्याने अत्यन्त हर्ष और उत्साहके साथ बड़े यत्नसे समस्त वानरपत्नियोंका सुन्दर शृङ्गार किया॥ १८॥

ततः शत्रुघ्नवचनात् सुमन्त्रो नाम सारथिः।
योजयित्वाभिचक्राम रथं सर्वाङ्गशोभनम्॥ १९॥

तत्पश्चात् शत्रुघ्नजीकी आज्ञासे सारथि सुमन्त्रजी एक सर्वाङ्गसुन्दर रथ जोतकर ले आये॥ १९॥

अग्न्यर्कामलसंकाशं दिव्यं दृष्ट्वा रथं स्थितम्।
आरुरोह महाबाहू रामः परपुरंजयः॥ २०॥

अग्नि और सूर्यके समान देदीप्यमान उस दिव्य रथको खड़ा देख शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले महाबाहु श्रीराम उसपर आरूढ़ हुए॥ २०॥

सुग्रीवो हनुमांश्चैव महेन्द्रसदृशद्युती।
स्नातौ दिव्यनिभैर्वस्त्रैर्जग्मतुः शुभकुण्डलौ॥ २१॥

सुग्रीव और हनुमान्‌जी दोनों देवराज इन्द्रके समान कान्तिमान् थे। दोनोंके कानोंमें सुन्दर कुण्डल शोभा पा रहे थे। वे दोनों ही स्नान करके दिव्य वस्त्रोंसे विभूषित हो नगरकी ओर चले॥ २१॥

सर्वाभरणजुष्टाश्च ययुस्ताः शुभकुण्डलाः।
सुग्रीवपत्न्यः सीता च द्रष्टुं नगरमुत्सुकाः॥ २२॥

सुग्रीवकी पत्नियाँ और सीताजी समस्त आभूषणोंसे विभूषित और सुन्दर कुण्डलोंसे अलंकृत हो नगर देखनेकी उत्सुकता मनमें लिये सवारियोंपर चलीं॥ २२॥

अयोध्यायां च सचिवा राज्ञो दशरथस्य च।
पुरोहितं पुरस्कृत्य मन्त्रयामासुरर्थवत्॥ २३॥

अयोध्यामें राजा दशरथके मन्त्री पुरोहित वसिष्ठजीको आगे करके श्रीरामचन्द्रजीके राज्याभिषेकके विषयमें आवश्यक विचार करने लगे॥ २३॥

अशोको विजयश्चैव सिद्धार्थश्च समाहिताः।
मन्त्रयन् रामवृद्ध्यर्थमृद्ध्यर्थं नगरस्य च॥ २४॥

अशोक, विजय और सिद्धार्थ—ये तीनों मन्त्री एकाग्रचित्त हो श्रीरामचन्द्रजीके अभ्युदय तथा नगरकी समृद्धिके लिये परस्पर मन्त्रणा करने लगे॥ २४॥

सर्वमेवाभिषेकार्थं जयार्हस्य महात्मनः।
कर्तुमर्हथ रामस्य यद् यन्मङ्गलपूर्वकम्॥ २५॥

उन्होंने सेवकोंसे कहा—'विजयके योग्य जो महात्मा श्रीरामचन्द्रजी हैं, उनके अभिषेकके लिये जो-जो आवश्यक कार्य करना है, वह सब मङ्गलपूर्वक तुम सब लोग करो'॥ २५॥

इति ते मन्त्रिणः सर्वे संदिश्य च पुरोहितः।
नगरान्निर्ययुस्तूर्णं रामदर्शनबुद्धयः॥ २६॥

इस प्रकार आदेश देकर वे मन्त्री और पुरोहितजी श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनके लिये तत्काल नगरसे बाहर निकले॥ २६॥

हरियुक्तं सहस्राक्षो रथमिन्द्र इवानघः।
प्रययौ रथमास्थाय रामो नगरमुत्तमम्॥ २७॥

जैसे सहस्र नेत्रधारी इन्द्र हरे रंगके घोड़ोंसे जुते हुए रथपर बैठकर यात्रा करते हैं, उसी प्रकार निष्पाप श्रीराम एक श्रेष्ठ रथपर आरूढ़ हो अपने उत्तम नगरकी ओर चले॥ २७॥

जग्राह भरतो रश्मीञ्शत्रुघ्नश्छत्रमाददे।
लक्ष्मणो व्यजनं तस्य मूर्ध्नि संवीजयंस्तदा॥ २८॥

उस समय भरतने सारथि बनकर घोड़ोंकी बागडोर अपने हाथमें ले रखी थी। शत्रुघ्नने छत्र लगा रखा था और लक्ष्मण उस समय श्रीरामचन्द्रजीके मस्तकपर चँवर डुला रहे थे॥ २८॥

श्वेतं च बालव्यजनं जगृहे परितः स्थितः।
अपरं चन्द्रसंकाशं राक्षसेन्द्रो विभीषणः॥ २९॥

एक ओर लक्ष्मण थे और दूसरी ओर राक्षसराज विभीषण खड़े थे। उन्होंने चन्द्रमाके समान कान्तिमान् दूसरा श्वेत चँवर हाथमें ले रखा था॥ २९॥

ऋषिसङ्घैस्तदाऽऽकाशे देवैश्च समरुद्‌गणैः।
स्तूयमानस्य रामस्य शुश्रुवे मधुरध्वनिः॥ ३०॥

उस समय आकाशमें खड़े हुए ऋषियों तथा मरुद्‌गणों-सहित देवताओंके समुदाय श्रीरामचन्द्रजीके स्तवनकी मधुर ध्वनि सुन रहे थे॥ ३०॥

ततः शत्रुञ्जयं नाम कुञ्जरं पर्वतोपमम्।
आरुरोह महातेजाः सुग्रीवः प्लवगर्षभः॥ ३१॥

तदनन्तर महातेजस्वी वानरराज सुग्रीव शत्रुञ्जय नामक पर्वताकार गजराजपर आरूढ़ हुए॥ ३१॥

नव नागसहस्राणि ययुरास्थाय वानराः।
मानुषं विग्रहं कृत्वा सर्वाभरणभूषिताः॥ ३२॥

वानरलोग नौ हजार हाथियोंपर चढ़कर यात्रा कर रहे थे। वे उस समय मानवरूप धारण किये हुए थे और सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित थे॥ ३२॥

शङ्खशब्दप्रणादैश्च दुन्दुभीनां च निःस्वनैः।
प्रययौ पुरुषव्याघ्रस्तां पुरीं हर्म्यमालिनीम्॥ ३३॥

पुरुषसिंह श्रीराम शङ्खध्वनि तथा दुन्दुभियोंके गम्भीर नादके साथ प्रासादमालाओंसे अलंकृत अयोध्यापुरीकी ओर प्रस्थित हुए॥ ३३॥

ददृशुस्ते समायान्तं राघवं सपुरःसरम्।
विराजमानं वपुषा रथेनातिरथं तदा॥ ३४॥

अयोध्यावासियोंने अतिरथी श्रीरघुनाथजीको रथपर बैठकर आते देखा। उनका श्रीविग्रह दिव्यकान्तिसे प्रकाशित हो रहा था और उनके आगे-आगे अग्रगामी सैनिकोंका जत्था चल रहा था॥ ३४॥

ते वर्धयित्वा काकुत्स्थं रामेण प्रतिनन्दिताः।
अनुजग्मुर्महात्मानं भ्रातृभिः परिवारितम्॥ ३५॥

उन सबने आगे बढ़कर श्रीरघुनाथजीको बधाई दी और श्रीरामने भी बदलेमें उनका अभिनन्दन किया। फिर वे सब पुरवासी भाइयोंसे घिरे हुए महात्मा श्रीरामके पीछे-पीछे चलने लगे॥ ३५॥

अमात्यैर्ब्राह्मणैश्चैव तथा प्रकृतिभिर्वृतः।
श्रिया विरुरुचे रामो नक्षत्रैरिव चन्द्रमाः॥ ३६॥

जैसे नक्षत्रोंसे घिरे हुए चन्द्रमा सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार मन्त्रियों, ब्राह्मणों तथा प्रजाजनोंसे घिरे हुए श्रीरामचन्द्रजी अपनी दिव्यकान्तिसे उद्भासित हो रहे थे॥ ३६॥

स पुरोगामिभिस्तूर्यैस्तालस्वस्तिकपाणिभिः।
प्रव्याहरद्भिर्मुदितैर्मङ्गलानि वृतो ययौ॥ ३७॥

सबसे आगे बाजेवाले थे। वे आनन्दमग्न हो तुरही, करताल और स्वस्तिक बजाते तथा माङ्गलिक गीत गाते थे। उन सबके साथ श्रीरामचन्द्रजी नगरकी ओर बढ़ने लगे॥ ३७॥

अक्षतं जातरूपं च गावः कन्याः सहद्विजाः।
नरा मोदकहस्ताश्च रामस्य पुरतो ययुः॥ ३८॥

श्रीरामचन्द्रजीके आगे अक्षत और सुवर्णसे युक्त पात्र, गौ, ब्राह्मण, कन्याएँ तथा हाथमें मिठाई लिये अनेकानेक मनुष्य चल रहे थे॥ ३८॥

सख्यं च रामः सुग्रीवे प्रभावं चानिलात्मजे।
वानराणां च तत् कर्म ह्याचचक्षेऽथ मन्त्रिणाम्॥ ३९॥

श्रीरामचन्द्रजी अपने मन्त्रियोंको सुग्रीवकी मित्रता, हनुमान्‌जीके प्रभाव तथा अन्य वानरोंके अद्भुत पराक्रमकी चर्चा करते जा रहे थे॥ ३९॥

श्रुत्वा च विस्मयं जग्मुरयोध्यापुरवासिनः।
वानराणां च तत् कर्म राक्षसानां च तद् बलम्।
विभीषणस्य संयोगमाचचक्षेऽथ मन्त्रिणाम्॥ ४०॥

वानरोंके पुरुषार्थ और राक्षसोंके बलकी बातें सुनकर अयोध्यावासियोंको बड़ा विस्मय हुआ। श्रीरामने विभीषणसे मिलनेका प्रसंग भी अपने मन्त्रियोंसे बताया॥ ४०॥

द्युतिमानेतदाख्याय रामो वानरसंयुतः।
हृष्टपुष्टजनाकीर्णामयोध्यां प्रविवेश सः॥ ४१॥

यह सब बताकर वानरोंसहित तेजस्वी श्रीरामने हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरी हुई अयोध्यापुरीमें प्रवेश किया॥ ४१॥

ततो ह्यभ्युच्छ्रयन् पौराः पताकाश्च गृहे गृहे।
ऐक्ष्वाकाध्युषितं रम्यमाससाद पितुर्गृहम्॥ ४२॥

इस समय पुरवासियोंने अपने-अपने घरपर लगी हुई पताकाएँ ऊँची कर दीं। फिर श्रीरामचन्द्रजी इक्ष्वाकुवंशी राजाओंके उपयोगमें आये हुए पिताके रमणीय भवनमें गये॥ ४२॥

अथाब्रवीद् राजपुत्रो भरतं धर्मिणां वरम्।
अर्थोपहितया वाचा मधुरं रघुनन्दनः॥ ४३॥
पितुर्भवनमासाद्य प्रविश्य च महात्मनः।
कौसल्यां च सुमित्रां च कैकेयीमभिवाद्य च॥ ४४॥

उस समय रघुकुलनन्दन राजकुमार श्रीरामने महात्मा पिताजीके भवनमें प्रवेश करके माता कौसल्या, सुमित्रा और कैकेयीके चरणोंमें मस्तक झुकाकर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भरतसे अर्थयुक्त मधुर वाणीमें कहा— ॥ ४३-४४॥

तच्च मद्भवनं श्रेष्ठं साशोकवनिकं महत्।
मुक्तावैदूर्यसंकीर्णं सुग्रीवाय निवेदय॥ ४५॥

'भरत! मेरा जो अशोकवाटिकासे घिरा हुआ मुक्ता एवं वैदूर्य मणियोंसे जटित विशाल भवन है, वह सुग्रीवको दे दो'॥ ४५॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा भरतः सत्यविक्रमः।
हस्ते गृहीत्वा सुग्रीवं प्रविवेश तमालयम्॥ ४६॥

उनकी आज्ञा सुनकर सत्यपराक्रमी भरतने सुग्रीवका हाथ पकड़कर उस भवनमें प्रवेश किया॥ ४६॥

ततस्तैलप्रदीपांश्च पर्यङ्कास्तरणानि च।
गृहीत्वा विविशुः क्षिप्रं शत्रुघ्नेन प्रचोदिताः॥ ४७॥

फिर शत्रुघ्नजीकी आज्ञासे अनेकानेक सेवक उसमें तिलके तेलसे जलनेवाले बहुत-से दीपक, पलंग और बिछौने लेकर शीघ्र ही गये॥ ४७॥

उवाच च महातेजाः सुग्रीवं राघवानुजः।
अभिषेकाय रामस्य दूतानाज्ञापय प्रभो॥ ४८॥

तत्पश्चात् महातेजस्वी भरतने सुग्रीवसे कहा—'प्रभो! भगवान् श्रीरामके अभिषेकके निमित्त जल लानेके लिये आप अपने दूतोंको आज्ञा दीजिये'॥ ४८॥

सौवर्णान् वानरेन्द्राणां चतुर्णां चतुरो घटान्।
ददौ क्षिप्रं स सुग्रीवः सर्वरत्नविभूषितान्॥ ४९॥

तब सुग्रीवने उसी समय चार श्रेष्ठ वानरोंको सब प्रकारके रत्नोंसे विभूषित चार सोनेके घड़े देकर कहा— ॥ ४९॥

तथा प्रत्यूषसमये चतुर्णां सागराम्भसाम्।
पूर्णैर्घटैः प्रतीक्षध्वं तथा कुरुत वानराः॥ ५०॥

'वानरो! तुमलोग कल प्रातःकाल ही चारों समुद्रोंके जलसे भरे हुए घड़ोंके साथ उपस्थित रहकर आवश्यक आदेशकी प्रतीक्षा करो'॥ ५०॥

एवमुक्ता महात्मानो वानरा वारणोपमाः।
उत्पेतुर्गगनं शीघ्रं गरुडा इव शीघ्रगाः॥ ५१॥

सुग्रीवके इस प्रकार आदेश देनेपर हाथीके समान विशालकाय महामनस्वी वानर, जो गरुड़के समान शीघ्रगामी थे, तत्काल आकाशमें उड़ चले॥ ५१॥

जाम्बवांश्च हनूमांश्च वेगदर्शी च वानरः।
ऋषभश्चैव कलशाञ्जलपूर्णानथानयन्॥ ५२॥
नदीशतानां पञ्चानां जलं कुम्भैरुपाहरन्।

जाम्बवान्, हनुमान्, वेगदर्शी (गवय) और ऋषभ—ये सभी वानर चारों समुद्रोंसे और पाँच सौ नदियोंसे भी सोनेके बहुत-से कलश भर लाये॥५२½॥

पूर्वात् समुद्रात् कलशं जलपूर्णमथानयत्॥ ५३॥
सुषेणः सत्त्वसम्पन्नः सर्वरत्नविभूषितम्।

जिनके पास रीछोंकी बहुत-सी सुन्दर सेना है वे शक्तिशाली जाम्बवान् सम्पूर्ण रत्नोंसे विभूषित सुवर्णमय कलश लेकर गये और उसमें पूर्वसमुद्रका जल भरकर ले आये॥५३½॥

ऋषभो दक्षिणात्तूर्णं समुद्राज्जलमानयत्॥ ५४॥
रक्तचन्दनकर्पूरैः संवृतं काञ्चनं घटम्।

ऋषभ दक्षिण समुद्रसे शीघ्र ही एक सोनेका घड़ा भर लाये। वह लाल चन्दन और कपूरसे ढका हुआ था॥५४½॥

गवयः पश्चिमात् तोयमाजहार महार्णवात्॥ ५५॥
रत्नकुम्भेन महता शीतं मारुतविक्रम।

वायुके समान वेगशाली गवय एक रत्ननिर्मित विशाल कलशके द्वारा पश्चिम दिशाके महासागरसे शीतल जल भर लाये॥५५½॥

उत्तराच्च जलं शीघ्रं गरुडानिलविक्रमः॥ ५६॥
आजहार स धर्मात्मानिलः सर्वगुणान्वितः।

गरुड़ तथा वायुके समान तीव्र गतिसे चलनेवाले, धर्मात्मा सर्वगुणसम्पन्न पवनपुत्र हनुमान्जी भी उत्तरवर्ती महासागरसे शीघ्र जल ले आये॥५६½॥

ततस्तैर्वानरश्रेष्ठैरानीतं प्रेक्ष्य तज्जलम्॥ ५७॥
अभिषेकाय रामस्य शत्रुघ्नः सचिवैः सह।
पुरोहिताय श्रेष्ठाय सुहृद्भ्यश्च न्यवेदयत्॥ ५८॥

उन श्रेष्ठ वानरोंके द्वारा लाये हुए उस जलको देखकर मन्त्रियोंसहित शत्रुघ्नने वह सारा जल श्रीरामजीके अभिषेकके लिये पुरोहित वसिष्ठजी तथा अन्य सुहृदोंको समर्पित कर दिया॥ ५७-५८॥

ततः स प्रयतो वृद्धो वसिष्ठो ब्राह्मणैः सह।
रामं रत्नमये पीठे ससीतं संन्यवेशयत्॥ ५९॥

तदनन्तर ब्राह्मणोंसहित शुद्धचेता वृद्ध वसिष्ठजीने सीतासहित श्रीरामचन्द्रजीको रत्नमयी चौकीपर बैठाया॥ ५९॥

वसिष्ठो वामदेवश्च जाबालिरथ काश्यपः।
कात्यायनः सुयज्ञश्च गौतमो विजयस्तथा॥ ६०॥
अभ्यषिञ्चन्नरव्याघ्रं प्रसन्नेन सुगन्धिना।
सलिलेन सहस्राक्षं वसवो वासवं यथा॥ ६१॥

तत्पश्चात् जैसे आठ वसुओंने देवराज इन्द्रका अभिषेक कराया था, उसी प्रकार वसिष्ठ, वामदेव, जाबालि, काश्यप, कात्यायन, सुयज्ञ, गौतम और विजय—इन आठ मन्त्रियोंने स्वच्छ एवं सुगन्धित जलके द्वारा सीतासहित पुरुषप्रवर श्रीरामचन्द्रजीका अभिषेक कराया॥ ६०-६१॥

ऋत्विग्भिर्ब्राह्मणैः पूर्वं कन्याभिर्मन्त्रिभिस्तथा।
योधैश्चैवाभ्यषिञ्चंस्ते सम्प्रहृष्टैः सनैगमैः॥ ६२॥
सर्वौषधिरसैश्चापि दैवतैर्नभसि स्थितैः।
चतुर्भिर्लोकपालैश्च सर्वैर्देवैश्च संगतैः॥ ६३॥

(किनके द्वारा कराया? यह बताते हैं—) सबसे पहले उन्होंने सम्पूर्ण ओषधियोंके रसों तथा पूर्वोक्त जलसे ऋत्विग् ब्राह्मणोंद्वारा, फिर सोलह कन्याओंद्वारा तत्पश्चात् मन्त्रियोंद्वारा अभिषेक करवाया। इसके बाद अन्यान्य योद्धाओं और हर्षसे भरे हुए श्रेष्ठ व्यवसायियोंको भी अभिषेकका अवसर दिया। उस समय आकाशमें खड़े हुए समस्त देवताओं और एकत्र हुए चारों लोकपालोंने भी भगवान् श्रीरामका अभिषेक किया॥ ६२-६३॥

ब्रह्मणा निर्मितं पूर्वं किरीटं रत्नशोभितम्।
अभिषिक्तः पुरा येन मनुस्तं दीप्ततेजसम्॥ ६४॥
तस्यान्ववाये राजानः क्रमाद् येनाभिषेचिताः।
सभायां हेमक्लृप्तायां शोभितायां महाधनैः॥ ६५॥
रत्नैर्नानाविधैश्चैव चित्रितायां सुशोभनैः।
नानारत्नमये पीठे कल्पयित्वा यथाविधि॥ ६६॥
किरीटेन ततः पश्चाद् वसिष्ठेन महात्मना।
ऋत्विग्भिर्भूषणैश्चैव समयोक्ष्यत राघवः॥ ६७॥

तदनन्तर ब्रह्माजीका बनाया हुआ रत्नशोभित एवं दिव्य तेजसे देदीप्यमान किरीट, जिसके द्वारा पहले-पहल मनुजीका और फिर क्रमशः उनके सभी वंशधर राजाओंका अभिषेक हुआ था, भाँति-भाँतिके रत्नोंसे चित्रित, सुवर्णनिर्मित एवं महान् वैभवसे शोभायमान सभाभवनमें अनेक रत्नोंसे बनी हुई चौकीपर विधिपूर्वक रखा गया। फिर महात्मा वसिष्ठजीने अन्य ऋत्विज् ब्राह्मणोंके साथ उस किरीटसे और अन्यान्य आभूषणोंसे भी श्रीरघुनाथजीको विभूषित किया॥ ६४—६७॥

छत्रं तस्य च जग्राह शत्रुघ्नः पाण्डुरं शुभम्।
श्वेतं च वालव्यजनं सुग्रीवो वानरेश्वरः॥ ६८॥
अपरं चन्द्रसंकाशं राक्षसेन्द्रो विभीषणः।

उस समय शत्रुघ्नजीने उनपर सुन्दर श्वेत रंगका छत्र लगाया। एक ओर वानरराज सुग्रीवने श्वेत चँवर हाथमें लिया तो दूसरी ओर राक्षसराज विभीषणने चन्द्रमाके समान चमकीला चँवर लेकर डुलाना आरम्भ किया॥ ६८½॥

मालां ज्वलन्तीं वपुषा काञ्चनीं शतपुष्कराम्॥ ६९॥
राघवाय ददौ वायुर्वासवेन प्रचोदितः।
सर्वरत्नसमायुक्तं मणिभिश्च विभूषितम्॥ ७०॥
मुक्ताहारं नरेन्द्राय ददौ शक्रप्रचोदितः।

उस अवसरपर देवराज इन्द्रकी प्रेरणासे वायुदेवने सौ सुवर्णमय कमलोंसे बनी हुई एक दीप्तिमती माला और सब प्रकारके रत्नोंसे युक्त मणियोंसे विभूषित मुक्ताहार राजा रामचन्द्रजीको भेंट किया॥ ६९-७०½॥

प्रजगुर्देवगन्धर्वा ननृतुश्चाप्सरोगणाः॥ ७१॥
अभिषेके तदर्हस्य तदा रामस्य धीमतः।

बुद्धिमान् श्रीरामके अभिषेककालमें देवगन्धर्व गाने लगे और अप्सराएँ नृत्य करने लगीं। भगवान् श्रीराम इस सम्मानके सर्वथा योग्य थे॥ ७१½॥

भूमिः सस्यवती चैव फलवन्तश्च पादपाः॥ ७२॥
गन्धवन्ति च पुष्पाणि बभूवू राघवोत्सवे।

श्रीरघुनाथजीके राज्याभिषेकोत्सवके समय पृथ्वी खेतीसे हरी-भरी हो गयी, वृक्षोंमें फल आ गये और फूलोंमें सुगन्ध छा गयी॥ ७२½॥

सहस्रशतमश्वानां धेनूनां च गवां तथा॥ ७३॥
ददौ शतवृषान् पूर्वं द्विजेभ्यो मनुजर्षभः।
त्रिंशत्कोटीर्हिरण्यस्य ब्राह्मणेभ्यो ददौ पुनः॥ ७४॥
नानाभरणवस्त्राणि महार्हाणि च राघवः।

महाराज श्रीरामने उस समय पहले ब्राह्मणोंको एक लाख घोड़े उतनी ही दूध देनेवाली गौएँ तथा सौ साँड़ दान किये। यही नहीं, श्रीरघुनाथजीने तीस करोड़ अशर्फियाँ तथा नाना प्रकारके बहुमूल्य आभूषण और वस्त्र भी ब्राह्मणोंको बाँटे॥ ७३-७४½॥

अर्करश्मिप्रतीकाशां काञ्चनीं मणिविग्रहाम्॥ ७५॥
सुग्रीवाय स्रजं दिव्यां प्रायच्छन्मनुजाधिपः।

तत्पश्चात् राजा श्रीरामने अपने मित्र सुग्रीवको सोनेकी एक दिव्य माला भेंट की, जो सूर्यकी किरणोंके समान प्रकाशित हो रही थी। उसमें बहुत-सी मणियोंका संयोग था॥ ७५½॥

वैदूर्यमयचित्रे च चन्द्ररश्मिविभूषिते॥ ७६॥
वालिपुत्राय धृतिमानङ्गदायाङ्गदे ददौ।

इसके बाद धैर्यशाली श्रीरघुवीरने प्रसन्न हो वालिपुत्र अङ्गदको दो अङ्गद (बाजूबन्द) भेंट किये, जो नीलमसे जटित होनेके कारण विचित्र दिखायी देते थे। वे चन्द्रमाकी किरणोंसे विभूषित-से जान पड़ते थे॥ ७६½॥

मणिप्रवरजुष्टं तं मुक्ताहारमनुत्तमम्॥ ७७॥
सीतायै प्रददौ रामश्चन्द्ररश्मिसमप्रभम्।
अरजे वाससी दिव्ये शुभान्याभरणानि च॥ ७८॥

उत्तम मणियोंसे युक्त उस परम उत्तम मुक्ताहारको (जिसे वायुदेवताने भेंट किया था तथा) जो चन्द्रमाकी किरणोंके समान प्रकाशित होता था श्रीरामचन्द्रजीने सीताजीके गलेमें डाल दिया। साथ ही उन्हें कभी मैले न होनेवाले दो दिव्य वस्त्र तथा और भी बहुत-से सुन्दर आभूषण अर्पित किये॥ ७७-७८॥

अवेक्षमाणा वैदेही प्रददौ वायुसूनवे।
अवमुच्यात्मनः कण्ठाद्धारं जनकनन्दिनी॥ ७९॥
अवैक्षत हरीन् सर्वान् भर्तारं च मुहुर्मुहुः।

विदेहनन्दिनी सीताने पतिकी ओर देखकर वायुपुत्र हनुमान्‌को कुछ भेंट देनेका विचार किया। वे जनकनन्दिनी अपने गलेसे उस मुक्ताहारको निकालकर बारम्बार समस्त वानरों तथा पतिकी ओर देखने लगीं॥ ७९½॥

तामिङ्गितज्ञः सम्प्रेक्ष्य बभाषे जनकात्मजाम्॥ ८०॥
प्रदेहि सुभगे हारं यस्य तुष्टासि भामिनि।

उनकी उस चेष्टाको समझकर श्रीरामचन्द्रजीने जानकीजीकी ओर देखकर कहा—'सौभाग्यशालिनि! भामिनि! तुम जिसपर संतुष्ट हो, उसे यह हार दे दो'॥ ८०½॥

अथ सा वायुपुत्राय तं हारमसितेक्षणा॥ ८१॥
तेजो धृतिर्यशो दाक्ष्यं सामर्थ्यं विनयो नयः।
पौरुषं विक्रमो बुद्धिर्यस्मिन्नेतानि नित्यदा॥ ८२॥

तब कजरारे नेत्रोंवाली माता सीताने वायुपुत्र हनुमान्‌को, जिनमें तेज, धृति, यश, चतुरता, शक्ति, विनय, नीति, पुरुषार्थ, पराक्रम और उत्तम बुद्धि—ये सद्गुण सदा विद्यमान रहते हैं, वह हार दे दिया॥ ८१-८२॥

हनूमांस्तेन हारेण शुशुभे वानरर्षभः।
चन्द्रांशुचयगौरेण श्वेताभ्रेण यथाचलः॥ ८३॥

उस हारसे कपिश्रेष्ठ हनुमान् उसी तरह शोभा पाने लगे, जैसे चन्द्रमाकी किरणोंके समूह-सदृश श्वेत बादलोंकी मालासे कोई पर्वत सुशोभित हो रहा हो॥ ८३॥

सर्वे वानरवृद्धाश्च ये चान्ये वानरोत्तमाः।
वासोभिर्भूषणैश्चैव यथार्हं प्रतिपूजिताः॥ ८४॥

इसी प्रकार जो प्रधान-प्रधान एवं श्रेष्ठ वानर थे, उन सबका वस्त्रों और आभूषणोंद्वारा यथायोग्य सत्कार किया गया॥ ८४॥

विभीषणोऽथ सुग्रीवो हनुमाञ्जाम्बवांस्तथा।
सर्वे वानरमुख्याश्च रामेणाक्लिष्टकर्मणा॥ ८५॥

यथार्हं पूजिताः सर्वे कामै रत्नैश्च पुष्कलैः।
प्रहृष्टमनसः सर्वे जग्मुरेव यथागतम्॥ ८६॥

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरामने विभीषण, सुग्रीव, हनुमान् तथा जाम्बवान् आदि सभी श्रेष्ठ वानरवीरोंका मनोवाञ्छित वस्तुओं एवं प्रचुर रत्नोंद्वारा यथायोग्य सत्कार किया। वे सब-के-सब प्रसन्नचित्त होकर जैसे आये थे, उसी तरह अपने-अपने स्थानोंको चले गये॥ ८५-८६॥

ततो द्विविदमैन्दाभ्यां नीलाय च परंतपः।
सर्वान् कामगुणान् वीक्ष्य प्रददौ वसुधाधिपः॥ ८७॥

तत्पश्चात् शत्रुओंको संताप देनेवाले राजा श्रीरघुनाथजीने द्विविद, मैन्द और नीलकी ओर देखकर उन सबको मनोवाञ्छापूरक गुणोंसे युक्त सब प्रकारके उत्तम रत्न आदि भेंट किये॥ ८७॥

दृष्ट्वा सर्वे महात्मानस्ततस्ते वानरर्षभाः।
विसृष्टाः पार्थिवेन्द्रेण किष्किन्धां समुपागमन्॥ ८८॥

इस प्रकार भगवान् श्रीरामका राज्याभिषेक देखकर सभी महामनस्वी श्रेष्ठ वानर महाराज श्रीरामसे विदा ले किष्किन्धाको चले गये॥ ८८॥

सुग्रीवो वानरश्रेष्ठो दृष्ट्वा रामाभिषेचनम्।
पूजितश्चैव रामेण किष्किन्धां प्राविशत् पुरीम्॥ ८९॥

वानरश्रेष्ठ सुग्रीवने भी श्रीरामके राज्याभिषेकका उत्सव देखकर उनसे पूजित हो किष्किन्धापुरीमें प्रवेश किया॥ ८९॥

विभीषणोऽपि धर्मात्मा सह तैर्नैर्ऋतर्षभैः।
लब्ध्वा कुलधनं राजा लङ्कां प्रायान्महायशाः॥ ९०॥

महायशस्वी धर्मात्मा विभीषण भी अपने कुलका वैभव—अपना राज्य पाकर अपने साथी श्रेष्ठ निशाचरोंके साथ लङ्कापुरीको चले गये॥ ९०॥

स राज्यमखिलं शासन्निहतारिर्महायशाः।
राघवः परमोदारः शशास परया मुदा।
उवाच लक्ष्मणं रामो धर्मज्ञं धर्मवत्सलः॥ ९१॥

अपने शत्रुओंका वध करके परम उदार महायशस्वी श्रीरघुनाथजी बड़े आनन्दसे समस्त राज्यका शासन करने लगे। उन धर्मवत्सल श्रीरामने धर्मज्ञ लक्ष्मणसे कहा—॥ ९१॥

आतिष्ठ धर्मज्ञ मया सहेमां
गां पूर्वराजाध्युषितां बलेन।
तुल्यं मया त्वं पितृभिर्धृता या
तां यौवराज्ये धुरमुद्वहस्व॥ ९२॥

'धर्मज्ञ लक्ष्मण! पूर्ववर्ती राजाओंने चतुरङ्गिणी सेनाके साथ जिसका पालन किया था, उसी इस भूमण्डलके राज्यपर तुम मेरे साथ प्रतिष्ठित होओ। अपने पिता, पितामह और प्रपितामहोंने जिस राज्यभारको पहले धारण किया था, उसीको मेरे ही समान तुम भी युवराज-पदपर स्थित होकर धारण करो'॥ ९२॥

सर्वात्मना पर्यनुनीयमानो
यदा न सौमित्रिरुपैति योगम्।
नियुज्यमानो भुवि यौवराज्ये
ततोऽभ्यषिञ्चद् भरतं महात्मा॥ ९३॥

परंतु श्रीरामचन्द्रजीके सब तरहसे समझाने और नियुक्त किये जानेपर भी जब सुमित्राकुमार लक्ष्मणने उस पदको नहीं स्वीकार किया, तब महात्मा श्रीरामने भरतको युवराज-पदपर अभिषिक्त किया॥ ९३॥

पौण्डरीकाश्वमेधाभ्यां वाजपेयेन चासकृत्।
अन्यैश्च विविधैर्यज्ञैरयजत् पार्थिवात्मजः॥ ९४॥

राजकुमार महाराज श्रीरामने अनेक बार पौण्डरीक, अश्वमेध, वाजपेय तथा अन्य नाना प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान किया॥ ९४॥

राज्यं दशसहस्राणि प्राप्य वर्षाणि राघवः।
शताश्वमेधानाजह्रे सदश्वान् भूरिदक्षिणान्॥ ९५॥

श्रीरघुनाथजीने राज्य पाकर ग्यारह[1] सहस्र वर्षोंतक उसका पालन और सौ अश्वमेध-यज्ञोंका अनुष्ठान किया। उन यज्ञोंमें उत्तम अश्व छोड़े गये थे तथा ऋत्विजोंको बहुत अधिक दक्षिणाएँ बाँटी गयी थीं॥ ९५॥

आजानुलम्बिबाहुः स महावक्षाः प्रतापवान्।
लक्ष्मणानुचरो रामः शशास पृथिवीमिमाम्॥ ९६॥

उनकी भुजाएँ घुटनोंतक लम्बी थीं। उनका वक्षःस्थल विशाल एवं विस्तृत था। वे बड़े प्रतापी नरेश थे। लक्ष्मणको साथ लेकर श्रीरामने इस पृथ्वीका शासन किया॥ ९६॥

राघवश्चापि धर्मात्मा प्राप्य राज्यमनुत्तमम्।
ईजे बहुविधैर्यज्ञैः ससुहृज्ज्ञातिबान्धवः॥ ९७॥

अयोध्याके परम उत्तम राज्यको पाकर धर्मात्मा श्रीरामने सुहृदों, कुटुम्बीजनों तथा भाई-बन्धुओंके साथ अनेक प्रकारके यज्ञ किये॥ ९७॥

न पर्यदेवन् विधवा न च व्यालकृतं भयम्।
न व्याधिजं भयं चासीद् रामे राज्यं प्रशासति॥ ९८॥

श्रीरामके राज्य-शासनकालमें कभी विधवाओंका विलाप नहीं सुनायी पड़ता था। सर्प आदि दुष्ट जन्तुओंका भय नहीं

---

१. अन्यत्र 'दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च' कहा गया है, उनसे एक वाक्यताके लिये यहाँ दसको ग्यारहका बोधक समझना चाहिये।

था और रोगोंकी भी आशङ्का नहीं थी ॥ ९८ ॥

निर्दस्युरभवल्लोको नानर्थं कश्चिदस्पृशत् ।
न च स्म वृद्धा बालानां प्रेतकार्याणि कुर्वते ॥ ९९ ॥

सम्पूर्ण जगत्में कहीं चोरों या लुटेरोंका नाम भी नहीं सुना जाता था। कोई भी मनुष्य अनर्थकारी कार्योंमें हाथ नहीं डालता था और वृद्धोंको बालकोंके अन्त्येष्टि-संस्कार नहीं करने पड़ते थे ॥ ९९ ॥

सर्वं मुदितमेवासीत् सर्वो धर्मपरोऽभवत् ।
राममेवानुपश्यन्तो नाभ्यहिंसन् परस्परम् ॥ १०० ॥

सब लोग सदा प्रसन्न ही रहते थे। सभी धर्मपरायण थे और श्रीरामपर ही बारंबार दृष्टि रखते हुए वे कभी एक-दूसरेको कष्ट नहीं पहुँचाते थे ॥ १०० ॥

आसन् वर्षसहस्राणि तथा पुत्रसहस्रिणः ।
निरामया विशोकाश्च रामे राज्यं प्रशासति ॥ १०१ ॥

श्रीरामके राज्य-शासन करते समय लोग सहस्रों वर्षोंतक जीवित रहते थे, सहस्रों पुत्रोंके जनक होते थे और उन्हें किसी प्रकारका रोग या शोक नहीं होता था ॥ १०१ ॥

रामो रामो राम इति प्रजानामभवन् कथाः ।
रामभूतं जगदभूद् रामे राज्यं प्रशासति ॥ १०२ ॥

श्रीरामके राज्यशासनकालमें प्रजावर्गके भीतर केवल राम, राम, रामकी ही चर्चा होती थी। सारा जगत् श्रीराममय हो रहा था ॥ १०२ ॥

नित्यमूला नित्यफलास्तरवस्तत्र पुष्पिताः ।
कामवर्षी च पर्जन्यः सुखस्पर्शश्च मारुतः ॥ १०३ ॥

श्रीरामके राज्यमें वृक्षोंकी जड़ें सदा मजबूत रहती थीं। वे वृक्ष सदा फूलों और फलोंसे लदे रहते थे। मेघ प्रजाकी इच्छा और आवश्यकताके अनुसार ही वर्षा करते थे। वायु मन्द गतिसे चलती थी, जिससे उसका स्पर्श सुखद जान पड़ता था ॥ १०३ ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा लोभविवर्जिताः ।
स्वकर्मसु प्रवर्तन्ते तुष्टाः स्वैरेव कर्मभिः ॥ १०४ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णोंके लोग लोभरहित होते थे। सबको अपने ही वर्णाश्रमोचित कर्मोंसे संतोष था और सभी उन्हींके पालनमें लगे रहते थे ॥ १०४ ॥

आसन् प्रजा धर्मपरा रामे शासति नानृताः ।
सर्वे लक्षणसम्पन्नाः सर्वे धर्मपरायणाः ॥ १०५ ॥

श्रीरामके शासनकालमें सारी प्रजा धर्ममें तत्पर रहती थी। झूठ नहीं बोलती थी। सब लोग उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न थे और सबने धर्मका आश्रय ले रखा था ॥ १०५ ॥

दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ।
भ्रातृभिः सहितः श्रीमान् रामो राज्यमकारयत् ॥ १०६ ॥

भाइयोंसहित श्रीमान् रामने ग्यारह हजार वर्षोंतक राज्य किया था ॥ १०६ ॥

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं राज्ञां च विजयावहम् ।
आदिकाव्यमिदं चार्षं पुरा वाल्मीकिना कृतम् ॥ १०७ ॥

यह ऋषिप्रोक्त आदिकाव्य रामायण है, जिसे पूर्वकालमें महर्षि वाल्मीकिने बनाया था। यह धर्म, यश तथा आयुकी वृद्धि करनेवाला एवं राजाओंको विजय देनेवाला है ॥ १०७ ॥

यः शृणोति सदा लोके नरः पापात् प्रमुच्यते ।
पुत्रकामश्च पुत्रान् वै धनकामो धनानि च ॥ १०८ ॥
लभते मनुजो लोके श्रुत्वा रामाभिषेचनम् ।
महीं विजयते राजा रिपूंश्चाप्यधितिष्ठति ॥ १०९ ॥

संसारमें जो मानव सदा इसका श्रवण करता है, वह पापसे मुक्त हो जाता है। श्रीरामके राज्याभिषेकके प्रसङ्गको सुनकर मनुष्य इस जगत्में यदि पुत्रका इच्छुक हो तो पुत्र और धनका अभिलाषी हो तो धन पाता है। राजा इस काव्यका श्रवण करनेसे पृथ्वीपर विजय पाता और शत्रुओंको अपने अधीन कर लेता है ॥ १०८-१०९ ॥

राघवेण यथा माता सुमित्रा लक्ष्मणेन च ।
भरतेन च कैकेयी जीवपुत्रास्तथा स्त्रियः ॥ ११० ॥
भविष्यन्ति सदानन्दाः पुत्रपौत्रसमन्विताः ।

जैसे माता कौसल्या श्रीरामको, सुमित्रा लक्ष्मणको और कैकेयी भरतको पाकर जीवित पुत्रोंकी माता कहलायीं, उसी प्रकार संसारकी दूसरी स्त्रियाँ भी इस आदिकाव्यके पाठ और श्रवणसे जीवित पुत्रोंकी जननी, सदा आनन्दमग्न तथा पुत्र-पौत्रोंसे सम्पन्न होंगी ॥ ११०½ ॥

श्रुत्वा रामायणमिदं दीर्घमायुश्च विन्दति ॥ १११ ॥
रामस्य विजयं चेमं सर्वमक्लिष्टकर्मणः ।

क्लेशरहित कर्म करनेवाले श्रीरामकी विजय-कथारूप इस सम्पूर्ण रामायण-काव्यको सुनकर मनुष्य दीर्घकालतक स्थिर रहनेवाली आयु पाता है ॥ १११½ ॥

शृणोति य इदं काव्यं पुरा वाल्मीकिना कृतम् ॥ ११२ ॥
श्रद्दधानो जितक्रोधो दुर्गाण्यतितरत्यसौ ।

पूर्वकालमें महर्षि वाल्मीकिने जिसकी रचना की थी, वही यह आदिकाव्य है। जो क्रोधको जीतकर श्रद्धापूर्वक इसे सुनता है, वह बड़े-बड़े संकटोंसे पार हो जाता है ॥ ११२½ ॥

समागम्य प्रवासान्ते रमन्ते सह बान्धवैः ॥ ११३ ॥
शृण्वन्ति य इदं काव्यं पुरा वाल्मीकिना कृतम् ।
ते प्रार्थितान् वरान् सर्वान् प्राप्नुवन्तीह राघवात् ॥ ११४ ॥

जो लोग पूर्वकालमें महर्षि वाल्मीकिद्वारा निर्मित इस काव्यको सुनते हैं, वे परदेशसे लौटकर अपने भाई-बन्धुओंके साथ मिलते और आनन्दका अनुभव करते हैं। वे इस जगत्में श्रीरघुनाथजीसे समस्त मनोवाञ्छित फलोंको प्राप्त कर लेते हैं ॥ ११३-११४ ॥

श्रवणेन सुराः सर्वे प्रीयन्ते सम्प्रशृण्वताम्।
विनायकाश्च शाम्यन्ति गृहे तिष्ठन्ति यस्य वै॥ ११५॥

इसके श्रवणसे समस्त देवता श्रोताओंपर प्रसन्न होते हैं तथा जिसके घरमें विघ्नकारी ग्रह होते हैं, उसके वे सारे ग्रह शान्त हो जाते हैं॥ ११५॥

विजयेत महीं राजा प्रवासी स्वस्तिमान् भवेत्।
स्त्रियो रजस्वलाः श्रुत्वा पुत्रान् सूयुरनुत्तमान्॥ ११६॥

राजा इसके श्रवणसे भूमण्डलपर विजय पाता है। परदेशमें निवास करनेवाला पुरुष सकुशल रहता और रजस्वला स्त्रियाँ (स्नानके अनन्तर सोलह दिनोंके भीतर) इसे सुनकर श्रेष्ठ पुत्रोंको जन्म देती हैं॥ ११६॥

पूजयंश्च पठंश्चैनमितिहासं पुरातनम्।
सर्वपापैः प्रमुच्येत दीर्घमायुरवाप्नुयात्॥ ११७॥

जो इस प्राचीन इतिहासका पूजन और पाठ करता है, वह सब पापोंसे मुक्त होता और बड़ी आयु पाता है॥ ११७॥

प्रणम्य शिरसा नित्यं श्रोतव्यं क्षत्रियैर्द्विजात्।
ऐश्वर्यं पुत्रलाभश्च भविष्यति न संशयः॥ ११८॥

क्षत्रियोंको चाहिये कि वे प्रतिदिन मस्तक झुकाकर प्रणाम करके ब्राह्मणके मुखसे इस ग्रन्थका श्रवण करें। इससे उन्हें ऐश्वर्य और पुत्रकी प्राप्ति होगी, इसमें संशय नहीं है॥ ११८॥

रामायणमिदं कृत्स्नं शृण्वतः पठतः सदा।
प्रीयते सततं रामः स हि विष्णुः सनातनः॥ ११९॥

जो नित्य इस सम्पूर्ण रामायणका श्रवण एवं पाठ करता है, उसपर सनातन विष्णुस्वरूप भगवान् श्रीराम सदा प्रसन्न रहते हैं॥ ११९॥

आदिदेवो महाबाहुर्हरिर्नारायणः प्रभुः।
साक्षाद् रामो रघुश्रेष्ठः शेषो लक्ष्मण उच्यते॥ १२०॥

साक्षात् आदिदेव महाबाहु पापहारी प्रभु नारायण ही रघुकुलतिलक श्रीराम हैं तथा भगवान् शेष ही लक्ष्मण कहलाते हैं॥ १२०॥

एवमेतत् पुरावृत्तमाख्यानं भद्रमस्तु वः।
प्रव्याहरत विस्रब्धं बलं विष्णोः प्रवर्धताम्॥ १२१॥

(लवकुश कहते हैं—) श्रोताओ! आपलोगोंका कल्याण हो। यह पूर्वघटित आख्यान ही इस प्रकार रामायण-काव्यके रूपमें वर्णित हुआ है। आपलोग पूर्ण विश्वासके साथ इसका पाठ करें। इससे आपके वैष्णवबलकी वृद्धि होगी॥ १२१॥

देवाश्च सर्वे तुष्यन्ति ग्रहणाच्छ्रवणात् तथा।
रामायणस्य श्रवणे तृप्यन्ति पितरः सदा॥ १२२॥

रामायणको हृदयमें धारण करने और सुननेसे सब देवता संतुष्ट होते हैं। इसके श्रवणसे पितरोंको भी सदा तृप्ति मिलती है॥ १२२॥

भक्त्या रामस्य ये चेमां संहितामृषिणा कृताम्।
ये लिखन्तीह च नरास्तेषां वासस्त्रिविष्टपे॥ १२३॥

जो लोग श्रीरामचन्द्रजीमें भक्तिभाव रखकर महर्षि वाल्मीकिनिर्मित इस रामायण-संहिताको लिखते हैं, उनका स्वर्गमें निवास होता है॥ १२३॥

कुटुम्बवृद्धिं धनधान्यवृद्धिं
स्त्रियश्च मुख्याः सुखमुत्तमं च।
श्रुत्वा शुभं काव्यमिदं महार्थं
प्राप्नोति सर्वां भुवि चार्थसिद्धिम्॥ १२४॥

इस शुभ और गम्भीर अर्थसे युक्त काव्यको सुनकर मनुष्यके कुटुम्ब और धन-धान्यकी वृद्धि होती है। उसे श्रेष्ठ गुणवाली सुन्दरी स्त्रियाँ सुलभ होती हैं तथा इस भूतलपर वह अपने सारे मनोरथोंको प्राप्त कर लेता है॥ १२४॥

आयुष्यमारोग्यकरं यशस्यं
सौभ्रातृकं बुद्धिकरं शुभं च।
श्रोतव्यमेतन्नियमेन सद्भि-
राख्यानमोजस्करमृद्धिकामैः॥ १२५॥

यह काव्य आयु, आरोग्य, यश तथा भ्रातृप्रेमको बढ़ानेवाला है। यह उत्तम बुद्धि प्रदान करनेवाला और मङ्गलकारी है; अतः समृद्धिकी इच्छा रखनेवाले सत्पुरुषोंको इस उत्साहवर्द्धक इतिहासका नियमपूर्वक श्रवण करना चाहिये॥ १२५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये युद्धकाण्डेऽष्टाविंशत्यधिकशततमः सर्गः॥ १२८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके युद्धकाण्डमें एक सौ अट्ठाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १२८॥

★

युद्धकाण्ड सम्पूर्णम्

★

॥ श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः ॥

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणम्

उत्तरकाण्डम्

प्रथमः सर्गः

श्रीरामके दरबारमें महर्षियोंका आगमन, उनके साथ उनकी बातचीत तथा श्रीरामके प्रश्न

प्राप्तराज्यस्य रामस्य राक्षसानां वधे कृते।
आजग्मुर्मुनयः सर्वे राघवं प्रतिनन्दितुम्॥ १॥

राक्षसोंका संहार करनेके अनन्तर जब भगवान् श्रीरामने अपना राज्य प्राप्त कर लिया, तब सम्पूर्ण ऋषि-महर्षि श्रीरघुनाथजीका अभिनन्दन करनेके लिये अयोध्यापुरीमें आये॥ १॥

कौशिकोऽथ यवक्रीतो गार्ग्यो गालव एव च।
कण्वो मेधातिथेः पुत्रः पूर्वस्यां दिशि ये श्रिताः॥ २॥

जो मुख्यतः पूर्व दिशामें निवास करते हैं, वे कौशिक, यवक्रीत, गार्ग्य, गालव और मेधातिथिके पुत्र कण्व वहाँ पधारे॥ २॥

स्वस्त्यात्रेयश्च भगवान् नमुचिः प्रमुचिस्तथा।
अगस्त्योऽत्रिश्च भगवान् सुमुखो विमुखस्तथा॥ ३॥
आजग्मुस्ते सहागस्त्या ये श्रिता दक्षिणां दिशम्।

स्वस्त्यात्रेय, भगवान् नमुचि, प्रमुचि, अगस्त्य, भगवान् अत्रि, सुमुख और विमुख—ये दक्षिण दिशामें रहनेवाले महर्षि अगस्त्यजीके साथ वहाँ आये॥ ३½॥

नृषङ्गुः कवषो धौम्यः कौशेयश्च महानृषिः॥ ४॥
तेऽप्याजग्मुः सशिष्या वै ये श्रिताः पश्चिमां दिशम्।

जो प्रायः पश्चिम दिशाका आश्रय लेकर रहते हैं, वे नृषङ्गु, कवष, धौम्य और महर्षि कौशेय भी अपने शिष्योंके साथ वहाँ आये॥ ४½॥

वसिष्ठः कश्यपोऽथात्रिर्विश्वामित्रः सगौतमः॥ ५॥
जमदग्निर्भरद्वाजस्तेऽपि सप्तर्षयस्तथा।
उदीच्यां दिशि सप्तैते नित्यमेव निवासिनः॥ ६॥

इसी तरह उत्तर दिशाके नित्य-निवासी वसिष्ठ,* कश्यप, अत्रि, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि और भरद्वाज—ये सात ऋषि जो सप्तर्षि कहलाते हैं, अयोध्यापुरीमें पधारे॥ ५-६॥

सम्प्राप्यैते महात्मानो राघवस्य निवेशनम्।
विष्ठिताः प्रतिहारार्थं हुताशनसमप्रभाः॥ ७॥
वेदवेदाङ्गविदुषो नानाशास्त्रविशारदाः।

ये सभी अग्निके समान तेजस्वी, वेद-वेदाङ्गोंके विद्वान् तथा नाना प्रकारके शास्त्रोंका विचार करनेमें प्रवीण थे। वे महात्मा मुनि श्रीरघुनाथजीके राजभवनके पास पहुँचकर अपने आगमनकी सूचना देनेके लिये ड्योढ़ीपर खड़े हो गये॥ ७½॥

द्वाःस्थं प्रोवाच धर्मात्मा अगस्त्यो मुनिसत्तमः॥ ८॥
निवेद्यतां दाशरथेर्ऋषयो वयमागताः।

उस समय धर्मपरायण मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यने द्वारपालसे कहा—तुम दशरथनन्दन भगवान् श्रीरामको जाकर सूचना दो कि हम अनेक ऋषि-मुनि आपसे मिलनेके लिये आये हैं॥ ८½॥

प्रतीहारस्ततस्तूर्णमगस्त्यवचनाद् द्रुतम्॥ ९॥
समीपं राघवस्याशु प्रविवेश महात्मनः।
नयेङ्गितज्ञः सद्वृत्तो दक्षो धैर्यसमन्वितः॥ १०॥

महर्षि अगस्त्यकी आज्ञा पाकर द्वारपाल तुरंत महात्मा श्रीरघुनाथजीके समीप गया। वह नीतिज्ञ, इशारेसे बातको समझनेवाला, सदाचारी, चतुर और धैर्यवान् था॥ ९-१०॥

स रामं दृश्य सहसा पूर्णचन्द्रसमद्युतिम्।
अगस्त्यं कथयामास सम्प्राप्तमृषिसत्तमम्॥ ११॥

पूर्ण चन्द्रमाके समान कान्तिमान् श्रीरामका दर्शन करके उसने सहसा बताया—'प्रभो! मुनिश्रेष्ठ अगस्त्य अनेक ऋषियोंके साथ पधारे हुए हैं'॥ ११॥

श्रुत्वा प्राप्तान् मुनींस्तांस्तु बालसूर्यसमप्रभान्।
प्रत्युवाच ततो द्वाःस्थं प्रवेशय यथासुखम्॥ १२॥

प्रातःकालके सूर्यकी भाँति दिव्य तेजसे प्रकाशित होनेवाले उन मुनीश्वरोंके पदार्पणका समाचार सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने द्वारपालसे कहा—'तुम जाकर उन सब लोगोंको यहाँ सुखपूर्वक ले आओ'॥ १२॥

दृष्ट्वा प्राप्तान् मुनींस्तांस्तु प्रत्युत्थाय कृताञ्जलिः।
पाद्यार्घ्यादिभिरानर्च गां निवेद्य च सादरम्॥ १३॥

(आज्ञा पाकर द्वारपाल गया और सबको साथ ले

---

* वसिष्ठमुनि एक शरीरसे अयोध्यामें रहते हुए भी दूसरे शरीरसे सप्तर्षिमण्डलमें रहते थे। उसी दूसरे शरीरसे उनके आनेकी बात यहाँ कही गयी है—ऐसा समझना चाहिये।

आया।) उन मुनीश्वरोंको उपस्थित देख श्रीरामचन्द्रजी हाथ जोड़कर खड़े हो गये। फिर पाद्य-अर्घ्य आदिके द्वारा उनका आदरपूर्वक पूजन किया। पूजनसे पहले उन सबके लिये एक-एक गाय भेंट की ॥ १३ ॥

रामोऽभिवाद्य प्रयत आसनान्यादिदेश ह।
तेषु काञ्चनचित्रेषु महत्सु च वरेषु च ॥ १४ ॥
कुशान्तर्धानदत्तेषु मृगचर्मयुतेषु च।
यथार्हमुपविष्टास्ते आसनेष्वृषिपुङ्गवाः ॥ १५ ॥

श्रीरामने शुद्धभावसे उन सबको प्रणाम करके उन्हें बैठनेके लिये आसन दिये। वे आसन सोनेके बने हुए और विचित्र आकार-प्रकारवाले थे। सुन्दर होनेके साथ ही वे विशाल और विस्तृत भी थे। उनपर कुशके आसन रखकर ऊपरसे मृगचर्म बिछाये गये थे। उन आसनोंपर वे श्रेष्ठ मुनि यथायोग्य बैठ गये ॥ १४-१५ ॥

रामेण कुशलं पृष्टाः सशिष्याः सपुरोगमाः।
महर्षयो वेदविदो रामं वचनमब्रुवन्।

तब श्रीरामने शिष्यों और गुरुजनोंसहित उन सबका कुशल समाचार पूछा। इनके पूछनेपर वे वेदवेत्ता महर्षि इस प्रकार बोले— ॥ १५½ ॥

कुशलं नो महाबाहो सर्वत्र रघुनन्दन ॥ १६ ॥
त्वां तु दिष्ट्या कुशलिनं पश्यामो हतशात्रवम्।
दिष्ट्या त्वया हतो राजन् रावणो लोकरावणः ॥ १७ ॥

'महाबाहु रघुनन्दन! हमारे लिये तो सर्वत्र कुशल-ही-कुशल है। सौभाग्यकी बात है कि हम आपको सकुशल देख रहे हैं और आपके सारे शत्रु मारे जा चुके हैं। राजन्! आपने सम्पूर्ण लोकोंको रुलानेवाले रावणका वध किया, यह सबके लिये बड़े सौभाग्यकी बात है ॥ १६-१७ ॥

नहि भारः स ते राम रावणः पुत्रपौत्रवान्।
सधनुस्त्वं हि लोकांस्त्रीन् विजयेथा न संशयः ॥ १८ ॥

'श्रीराम! पुत्र-पौत्रोंसहित रावण आपके लिये कोई भार नहीं था। आप धनुष लेकर खड़े हो जायँ तो तीनों लोकोंपर विजय पा सकते हैं; इसमें संशय नहीं है ॥ १८ ॥

दिष्ट्या त्वया हतो राम रावणो राक्षसेश्वरः।
दिष्ट्या विजयिनं त्वाद्य पश्यामः सह सीतया ॥ १९ ॥

'रघुनन्दन राम! आपने राक्षसराज रावणका वध कर दिया और सीताके साथ आप विजयी वीरोंको आज हम सकुशल देख रहे हैं, यह कितने आनन्दकी बात है ॥ १९ ॥

लक्ष्मणेन च धर्मात्मन् भ्रात्रा त्वद्धितकारिणा।
मातृभिर्भ्रातृसहितं पश्यामोऽद्य वयं नृप ॥ २० ॥

'धर्मात्मा नरेश! आपके भाई लक्ष्मण सदा आपके हितमें लगे रहनेवाले हैं। आप इनके, भरत-शत्रुघ्नके तथा माताओंके साथ अब यहाँ सानन्द विराज रहे हैं और इस रूपमें हमें आपका दर्शन हो रहा है, यह हमारा अहोभाग्य है ॥ २० ॥

दिष्ट्या प्रहस्तो विकटो विरूपाक्षो महोदरः।
अकम्पनश्च दुर्धर्षो निहतास्ते निशाचराः ॥ २१ ॥

'प्रहस्त, विकट, विरूपाक्ष, महोदर तथा दुर्धर्ष अकम्पन-जैसे निशाचर आपलोगोंके हाथसे मारे गये, यह बड़े आनन्दकी बात है ॥ २१ ॥

यस्य प्रमाणाद् विपुलं प्रमाणं नेह विद्यते।
दिष्ट्या ते समरे राम कुम्भकर्णो निपातितः ॥ २२ ॥

'श्रीराम! शरीरकी ऊँचाई और स्थूलतामें जिससे बढ़कर दूसरा कोई है ही नहीं, उस कुम्भकर्णको भी आपने समराङ्गणमें मार गिराया, यह हमारे लिये परम सौभाग्यकी बात है ॥ २२ ॥

त्रिशिराश्चातिकायश्च देवान्तकनरान्तकौ।
दिष्ट्या ते निहता राम महावीर्या निशाचराः ॥ २३ ॥

'श्रीराम! त्रिशिरा, अतिकाय, देवान्तक तथा नरान्तक—ये महापराक्रमी निशाचर भी हमारे सौभाग्यसे ही आपके हाथों मारे गये ॥ २३ ॥

कुम्भश्चैव निकुम्भश्च राक्षसौ भीमदर्शनौ।
दिष्ट्या तौ निहतौ राम कुम्भकर्णसुतौ मृधे ॥ २४ ॥

'रघुवीर! जो देखनेमें भी बड़े भयंकर थे, वे कुम्भकर्णके दोनों पुत्र कुम्भ और निकुम्भ नामक राक्षस भी भाग्यवश युद्धमें मारे गये ॥ २४ ॥

युद्धोन्मत्तश्च मत्तश्च कालान्तकयमोपमौ।
यज्ञकोपश्च बलवान् धूम्राक्षो नाम राक्षसः ॥ २५ ॥

'प्रलयकालके संहारकारी यमराजकी भाँति भयानक युद्धोन्मत्त और मत्त भी कालके गालमें चले गये। बलवान् यज्ञकोप और धूम्राक्ष नामक राक्षस भी यमलोकके अतिथि हो गये ॥ २५ ॥

कुर्वन्तः कदनं घोरमेते शस्त्रास्त्रपारगाः।
अन्तकप्रतिमैर्बाणैर्दिष्ट्या विनिहतास्त्वया ॥ २६ ॥

'ये समस्त निशाचर अस्त्र-शस्त्रोंके पारंगत विद्वान् थे। इन्होंने जगत्‌में भयंकर संहार मचा रखा था; परंतु आपने अन्तकतुल्य बाणोंद्वारा इन सबको मौतके घाट उतार दिया; यह कितने हर्षकी बात है ॥ २६ ॥

दिष्ट्या त्वं राक्षसेन्द्रेण द्वन्द्वयुद्धमुपागतः।
देवतानामवध्येन विजयं प्राप्तवानसि ॥ २७ ॥

'राक्षसराज रावण देवताओंके लिये भी अवध्य था, उसके साथ आप द्वन्द्वयुद्धमें उतर आये और विजय भी आपको ही मिली; यह बड़े सौभाग्यकी बात है ॥ २७ ॥

संख्ये तस्य न किंचित् तु रावणस्य पराभवः।
द्वन्द्वयुद्धमनुप्राप्तो दिष्ट्या ते रावणिर्हतः ॥ २८ ॥

'युद्धमें आपके द्वारा जो रावणका पराभव (संहार)

हुआ, यह कोई बड़ी बात नहीं है; परंतु द्वन्द्वयुद्धमें लक्ष्मणके द्वारा जो रावणपुत्र इन्द्रजित्‌का वध हुआ है, वही सबसे बढ़कर आश्चर्यकी बात है ॥ २८ ॥

दिष्ट्या तस्य महाबाहो कालस्येवाभिधावतः।
मुक्तः सुररिपोर्वीर प्राप्तश्च विजयस्त्वया ॥ २९ ॥

'महाबाहु वीर! कालके समान आक्रमण करनेवाले उस देवद्रोही राक्षसके नागपाशसे मुक्त होकर आपने विजय प्राप्त की, यह महान् सौभाग्यकी बात है ॥ २९ ॥

अभिनन्दाम ते सर्वे संश्रुत्येन्द्रजितो वधम्।
अवध्यः सर्वभूतानां महामायाधरो युधि ॥ ३० ॥
विस्मयस्त्वेष चास्माकं तं श्रुत्वेन्द्रजितं हतम्।

'इन्द्रजित्‌के वधका समाचार सुनकर हम सब लोग बहुत प्रसन्न हुए हैं और इसके लिये आपका अभिनन्दन करते हैं। वह महामायावी राक्षस युद्धमें सभी प्राणियोंके लिये अवध्य था। वह इन्द्रजित् भी मारा गया, यह सुनकर हमें अधिक आश्चर्य हुआ है ॥ ३०½ ॥

एते चान्ये च बहवो राक्षसाः कामरूपिणः ॥ ३१ ॥
दिष्ट्या त्वया हता वीरा रघूणां कुलवर्धन।

'रघुकुलकी वृद्धि करनेवाले श्रीराम! ये तथा और भी बहुत-से इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले वीर राक्षस आपके द्वारा मारे गये, यह बड़े आनन्दकी बात है ॥ ३१½ ॥

दत्त्वा पुण्यामिमां वीर सौम्यामभयदक्षिणाम् ॥ ३२ ॥
दिष्ट्या वर्धसि काकुत्स्थ जयेनामित्रकर्शन।

'वीर! ककुत्स्थकुलभूषण! शत्रुसूदन श्रीराम! आप संसारको यह परम पुण्यमय सौम्य अभयदान देकर अपनी विजयके कारण बधाईके पात्र हो गये हैं—निरन्तर बढ़ रहे हैं, यह कितने हर्षकी बात है!' ॥ ३२½ ॥

श्रुत्वा तु वचनं तेषां मुनीनां भावितात्मनाम् ॥ ३३ ॥
विस्मयं परमं गत्वा रामः प्राञ्जलिरब्रवीत्।

उन पवित्रात्मा मुनियोंकी वह बात सुनकर श्रीरामचन्द्रजीको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे हाथ जोड़कर पूछने लगे— ॥ ३३½ ॥

भगवन्तः कुम्भकर्णं रावणं च निशाचरम् ॥ ३४ ॥
अतिक्रम्य महावीर्यौ किं प्रशंसथ रावणिम्।

'पूज्यपाद महर्षियो! निशाचर रावण तथा कुम्भकर्ण दोनों ही महान् बल-पराक्रमसे सम्पन्न थे। उन दोनोंको लाँघकर आप रावणपुत्र इन्द्रजित्‌की ही प्रशंसा क्यों करते हैं? ॥ ३४½ ॥

महोदरं प्रहस्तं च विरूपाक्षं च राक्षसम् ॥ ३५ ॥
मत्तोन्मत्तौ च दुर्धर्षौ देवान्तकनरान्तकौ।
अतिक्रम्य महावीरान् किं प्रशंसथ रावणिम् ॥ ३६ ॥

'महोदर, प्रहस्त, विरूपाक्ष, मत्त, उन्मत्त तथा दुर्धर्ष वीर देवान्तक और नरान्तक—इन महान् वीरोंका उल्लङ्घन करके आपलोग रावणकुमार इन्द्रजित्‌की ही प्रशंसा क्यों कर रहे हैं? ॥ ३५-३६ ॥

अतिकायं त्रिशिरसं धूम्राक्षं च निशाचरम्।
अतिक्रम्य महावीर्यान् किं प्रशंसथ रावणिम् ॥ ३७ ॥

'अतिकाय, त्रिशिरा तथा निशाचर धूम्राक्ष—इन महापराक्रमी वीरोंका अतिक्रमण करके आप रावणपुत्र इन्द्रजित्‌की ही प्रशंसा क्यों करते हैं? ॥ ३७ ॥

कीदृशो वै प्रभावोऽस्य किं बलं कः पराक्रमः।
केन वा कारणेनैष रावणादतिरिच्यते ॥ ३८ ॥

'उसका प्रभाव कैसा था? उसमें कौन-सा बल और पराक्रम था? अथवा किस कारणसे यह रावणसे भी बढ़कर सिद्ध होता है? ॥ ३८ ॥

शक्यं यदि मया श्रोतुं न खल्वाज्ञापयामि वः।
यदि गुह्यं न चेद् वक्तुं श्रोतुमिच्छामि कथ्यताम् ॥ ३९ ॥

'यदि यह मेरे सुननेयोग्य हो, गोपनीय न हो तो मैं इसे सुनना चाहता हूँ। आपलोग बतानेकी कृपा करें। यह मेरा विनम्र अनुरोध है। मैं आपलोगोंको आज्ञा नहीं दे रहा हूँ ॥ ३९ ॥

शक्रोऽपि विजितस्तेन कथं लब्धवरश्च सः।
कथं च बलवान् पुत्रो न पिता तस्य रावणः ॥ ४० ॥

'उस रावणपुत्रने इन्द्रको भी किस तरह जीत लिया? कैसे वरदान प्राप्त किया? पुत्र किस प्रकार महाबलवान् हो गया और उसका पिता रावण क्यों वैसा बलवान् नहीं हुआ? ॥ ४० ॥

कथं पितुश्चाभ्यधिको महाहवे
शक्रस्य जेता हि कथं स राक्षसः।
वरांश्च लब्धाः कथयस्व मेऽद्य
पाप्रच्छतश्चास्य मुनीन्द्र सर्वम् ॥ ४१ ॥

'मुनीश्वर! वह राक्षस इन्द्रजित् महासमरमें किस तरह पितासे भी अधिक शक्तिशाली एवं इन्द्रपर भी विजय पानेवाला हो गया? तथा किस तरह उसने बहुत-से वर प्राप्त कर लिये? इन सब बातोंको मैं जानना चाहता हूँ, इसलिये बारम्बार पूछता हूँ। आप आज ये सारी बातें मुझे बताइये ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें पहला सर्ग पूरा हुआ ॥ १ ॥

—★—

द्वितीयः सर्गः

महर्षि अगस्त्यके द्वारा पुलस्त्यके गुण और तपस्याका वर्णन तथा उनसे विश्रवा मुनिकी उत्पत्तिका कथन

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राघवस्य महात्मनः।
कुम्भयोनिर्महातेजा वाक्यमेतदुवाच ह॥ १॥

महात्मा रघुनाथजीका वह प्रश्न सुनकर महातेजस्वी कुम्भयोनि अगस्त्यने उनसे इस प्रकार कहा—॥ १॥

शृणु राम तथा वृत्तं तस्य तेजोबलं महत्।
जघान शत्रून् येनासौ न च वध्यः स शत्रुभिः॥ २॥

'श्रीराम! इन्द्रजित्के महान् बल और तेजके उद्देश्यसे जो वृत्तान्त घटित हुआ है, उसे बताता हूँ, सुनो। जिस बलके कारण वह तो शत्रुओंको मार गिराता था, परंतु स्वयं किसी शत्रुके हाथसे मारा नहीं जाता था; उसका परिचय दे रहा हूँ॥ २॥

तावत् ते रावणस्येदं कुलं जन्म च राघव।
वरप्रदानं च तथा तस्मै दत्तं ब्रवीमि ते॥ ३॥

'रघुनन्दन! इस प्रस्तुत विषयका वर्णन करनेके लिये मैं पहले आपको रावणके कुल, जन्म तथा वरदान-प्राप्ति आदिका प्रसङ्ग सुनाता हूँ॥ ३॥

पुरा कृतयुगे राम प्रजापतिसुतः प्रभुः।
पुलस्त्यो नाम ब्रह्मर्षिः साक्षादिव पितामहः॥ ४॥

'श्रीराम! प्राचीनकाल—सत्ययुगकी बात है, प्रजापति ब्रह्माजीके एक प्रभावशाली पुत्र हुए, जो ब्रह्मर्षि पुलस्त्यके नामसे प्रसिद्ध हैं। वे साक्षात् ब्रह्माजीके समान ही तेजस्वी हैं॥ ४॥

नानुकीर्त्या गुणास्तस्य धर्मतः शीलतस्तथा।
प्रजापतेः पुत्र इति वक्तुं शक्यं हि नामतः॥ ५॥

'उनके गुण, धर्म और शीलका पूरा-पूरा वर्णन नहीं किया जा सकता। उनका इतना ही परिचय देना पर्याप्त होगा कि वे प्रजापतिके पुत्र हैं॥ ५॥

प्रजापतिसुतत्वेन देवानां वल्लभो हि सः।
इष्टः सर्वस्य लोकस्य गुणैः शुभ्रैर्महामतिः॥ ६॥

'प्रजापति ब्रह्माके पुत्र होनेके कारण ही देवतालोग उनसे बहुत प्रेम करते हैं। वे बड़े बुद्धिमान् हैं और अपने उज्ज्वल गुणोंके कारण ही सब लोगोंके प्रिय हैं॥ ६॥

स तु धर्मप्रसङ्गेन मेरोः पार्श्वे महागिरेः।
तृणबिन्द्वाश्रमं गत्वाप्यवसन्मुनिपुङ्गवः॥ ७॥

'एक बार मुनिवर पुलस्त्य धर्माचरणके प्रसङ्गसे महागिरि मेरुके निकटवर्ती राजर्षि तृणबिन्दुके आश्रममें गये और वहीं रहने लगे॥ ७॥

तपस्तेपे स धर्मात्मा स्वाध्यायनियतेन्द्रियः।
गत्वाऽऽश्रमपदं तस्य विघ्नं कुर्वन्ति कन्यकाः॥ ८॥
ऋषिपन्नगकन्याश्च राजर्षितनयाश्च याः।
क्रीडन्त्योऽप्सरसश्चैव तं देशमुपपेदिरे॥ ९॥

'उनका मन सदा धर्ममें ही लगा रहता था। वे इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए प्रतिदिन वेदोंका स्वाध्याय करते और तपस्यामें लगे रहते थे। परंतु कुछ कन्याएँ उनके आश्रममें जाकर उनकी तपस्यामें विघ्न डालने लगीं। ऋषियों, नागों तथा राजर्षियोंकी कन्याएँ और जो अप्सराएँ हैं, वे भी प्रायः क्रीडा करती हुई उनके आश्रमकी ओर आ जाती थीं॥ ८-९॥

सर्वर्तुषूपभोग्यत्वाद् रम्यत्वात् काननस्य च।
नित्यशस्तास्तु तं देशं गत्वा क्रीडन्ति कन्यकाः॥ १०॥

'वहाँका वन सभी ऋतुओंमें उपभोगमें लानेके योग्य और रमणीय था, इसलिये वे कन्याएँ प्रतिदिन उस प्रदेशमें जाकर भाँति-भाँतिकी क्रीडाएँ करती थीं॥ १०॥

देशस्य रमणीयत्वात् पुलस्त्यो यत्र स द्विजः।
गायन्त्यो वादयन्त्यश्च लासयन्त्यस्तथैव च॥ ११॥
मुनेस्तपस्विनस्तस्य विघ्नं चक्रुरनिन्दिताः।

'जहाँ ब्रह्मर्षि पुलस्त्य रहते थे, वह स्थान तो और भी रमणीय था; इसलिये वे सती-साध्वी कन्याएँ प्रतिदिन वहाँ आकर गाती, बजाती तथा नाचती थीं। इस प्रकार उन तपस्वी मुनिके तपमें विघ्न डाला करती थीं॥ ११½॥

अथ रुष्टो महातेजा व्याजहार महामुनिः॥ १२॥
या मे दर्शनमागच्छेत् सा गर्भं धारयिष्यति।

'इससे वे महातेजस्वी महामुनि पुलस्त्य कुछ रुष्ट हो गये और बोले—'कलसे जो लड़की यहाँ मेरे दृष्टिपथमें आयेगी, वह निश्चय ही गर्भ धारण कर लेगी'॥ १२½॥

तास्तु सर्वाः प्रतिश्रुत्य तस्य वाक्यं महात्मनः॥ १३॥
ब्रह्मशापभयाद् भीतास्तं देशं नोपचक्रमुः।

'उन महात्माकी यह बात सुनकर वे सब कन्याएँ ब्रह्मशापके भयसे डर गयीं और उन्होंने उस स्थानपर आना छोड़ दिया॥ १३½॥

तृणबिन्दोस्तु राजर्षेस्तनया न शृणोति तत्॥ १४॥
गत्वाऽऽश्रमपदं तत्र विचचार सुनिर्भया।

'परंतु राजर्षि तृणबिन्दुकी कन्याने इस शापको नहीं सुना था; इसलिये वह दूसरे दिन भी बेखटके आकर उस आश्रममें विचरने लगी॥ १४½॥

न चापश्यच्च सा तत्र कांचिदभ्यागतां सखीम्॥ १५॥
तस्मिन् काले महातेजाः प्राजापत्यो महानृषिः।
स्वाध्यायमकरोत् तत्र तपसा भावितः स्वयम्॥ १६॥

'वहाँ उसने अपनी किसी सखीको आयी हुई नहीं देखा। उस समय प्रजापतिके पुत्र महातेजस्वी महर्षि पुलस्त्य अपनी तपस्यासे प्रकाशित हो वहाँ वेदोंका स्वाध्याय कर रहे थे ॥ १५-१६ ॥

सा तु वेदश्रुतिं श्रुत्वा दृष्ट्वा वै तपसो निधिम्।
अभवत् पाण्डुदेहा सा सुव्यञ्जितशरीरजा ॥ १७ ॥

'उस वेदध्वनिको सुनकर वह कन्या उसी ओर गयी और उसने तपोनिधि पुलस्त्यजीका दर्शन किया। महर्षिकी दृष्टि पड़ते ही उसके शरीरपर पीलापन छा गया और गर्भके लक्षण प्रकट हो गये ॥ १७ ॥

बभूव च समुद्विग्ना दृष्ट्वा तद्दोषमात्मनः।
इदं मे किंत्विति ज्ञात्वा पितुर्गत्वाऽऽश्रमे स्थिता ॥ १८ ॥

'अपने शरीरमें यह दोष देखकर वह घबरा उठी और 'मुझे यह क्या हो गया?' इस प्रकार चिन्ता करती हुई पिताके आश्रमपर जाकर खड़ी हुई ॥ १८ ॥

तां तु दृष्ट्वा तथाभूतां तृणबिन्दुरथाब्रवीत्।
किं त्वमेतत्त्वसदृशं धारयस्यात्मनो वपुः ॥ १९ ॥

'अपनी कन्याको उस अवस्थामें देखकर तृणबिन्दुने पूछा—'तुम्हारे शरीरकी ऐसी अवस्था कैसे हुई? तुम अपने शरीरको जिस रूपमें धारण कर रही हो, वह तुम्हारे लिये सर्वथा अयोग्य एवं अनुचित है' ॥ १९ ॥

सा तु कृत्वाञ्जलिं दीना कन्योवाच तपोधनम्।
न जाने कारणं तात येन मे रूपमीदृशम् ॥ २० ॥

'वह बेचारी कन्या हाथ जोड़कर उन तपोधन मुनिसे बोली—'पिताजी! मैं उस कारणको नहीं समझ पाती, जिससे मेरा रूप ऐसा हो गया है ॥ २० ॥

किं तु पूर्वं गतास्म्येका महर्षेर्भावितात्मनः।
पुलस्त्यस्याश्रमं दिव्यमन्वेष्टुं स्वसखीजनम् ॥ २१ ॥

'अभी थोड़ी देर पहले मैं पवित्र अन्तःकरणवाले महर्षि पुलस्त्यके दिव्य आश्रमपर अपनी सखियोंको खोजनेके लिये अकेली गयी थी ॥ २१ ॥

न च पश्याम्यहं तत्र कांचिदभ्यागतां सखीम्।
रूपस्य तु विपर्यासं दृष्ट्वा त्रासादिहागता ॥ २२ ॥

'वहाँ देखती हूँ तो कोई भी सखी उपस्थित नहीं है। साथ ही मेरा रूप पहलेसे विपरीत अवस्थामें पहुँच गया है; यह सब देखकर मैं भयभीत हो यहाँ आ गयी हूँ' ॥ २२ ॥

तृणबिन्दुस्तु राजर्षिस्तपसा द्योतितप्रभः।
ध्यानं विवेश तच्चापि अपश्यदृषिकर्मजम् ॥ २३ ॥

'राजर्षि तृणबिन्दु अपनी तपस्यासे प्रकाशमान थे। उन्होंने ध्यान लगाकर देखा तो ज्ञात हुआ कि यह सब कुछ महर्षि पुलस्त्यके ही करनेसे हुआ है ॥ २३ ॥

स तु विज्ञाय तं शापं महर्षेर्भावितात्मनः।
गृहीत्वा तनयां गत्वा पुलस्त्यमिदमब्रवीत् ॥ २४ ॥

'उन पवित्रात्मा महर्षिके उस शापको जानकर वे अपनी पुत्रीको साथ लिये पुलस्त्यजीके पास गये और इस प्रकार बोले— ॥ २४ ॥

भगवंस्तनयां मे त्वं गुणैः स्वैरेव भूषिताम्।
भिक्षां प्रतिगृहाणेमां महर्षे स्वयमुद्यताम् ॥ २५ ॥

'भगवन्! मेरी यह कन्या अपने गुणोंसे ही विभूषित है। महर्षे! आप इसे स्वयं प्राप्त हुई भिक्षाके रूपमें ग्रहण कर लें ॥ २५ ॥

तपश्चरणयुक्तस्य श्राम्यमाणेन्द्रियस्य ते।
शुश्रूषणपरा नित्यं भविष्यति न संशयः ॥ २६ ॥

'आप तपस्यामें लगे रहनेके कारण थक जाते होंगे; अतः यह सदा साथ रहकर आपकी सेवा-शुश्रूषा किया करेगी, इसमें संशय नहीं है' ॥ २६ ॥

तं ब्रुवाणं तु तद् वाक्यं राजर्षिं धार्मिकं तदा।
जिघृक्षुरब्रवीत् कन्यां बाढमित्येव स द्विजः ॥ २७ ॥

'ऐसी बात कहते हुए उन धर्मात्मा राजर्षिको देखकर उनकी कन्याको ग्रहण करनेकी इच्छासे उन ब्रह्मर्षिने कहा—'बहुत अच्छा' ॥ २७ ॥

दत्त्वा तु तनयां राजा स्वमाश्रमपदं गतः।
सापि तत्रावसत् कन्या तोषयन्ती पतिं गुणैः ॥ २८ ॥

'तब उन महर्षिको अपनी कन्या देकर राजर्षि तृणबिन्दु अपने आश्रमपर लौट आये और वह कन्या अपने गुणोंसे पतिको संतुष्ट करती हुई वहीं रहने लगी ॥ २८ ॥

तस्यास्तु शीलवृत्ताभ्यां तुतोष मुनिपुङ्गवः।
प्रीतः स तु महातेजा वाक्यमेतदुवाच ह ॥ २९ ॥

'उसके शील और सदाचारसे वे महातेजस्वी मुनिवर पुलस्त्य बहुत संतुष्ट हुए और प्रसन्नतापूर्वक यों बोले— ॥ २९ ॥

परितुष्टोऽस्मि सुश्रोणि गुणानां सम्पदा भृशम्।
तस्माद् देवि ददाम्यद्य पुत्रमात्मसमं तव ॥ ३० ॥
उभयोर्वंशकर्तारं पौलस्त्य इति विश्रुतम्।

'सुन्दरि! मैं तुम्हारे गुणोंके वैभवसे अत्यन्त प्रसन्न हूँ। देवि! इसीलिये आज मैं तुम्हें अपने समान पुत्र प्रदान करता हूँ, जो माता और पिता दोनोंके कुलकी प्रतिष्ठा बढ़ायेगा और पौलस्त्य नामसे विख्यात होगा ॥ ३० १/२ ॥

यस्मात् तु विश्रुतो वेदस्त्वयेहाध्ययतो मम ॥ ३१ ॥
तस्मात् स विश्रवा नाम भविष्यति न संशयः।

'देवि! मैं यहाँ वेदका स्वाध्याय कर रहा था, उस समय तुमने आकर उसका विशेषरूपसे श्रवण किया, इसलिये तुम्हारा यह पुत्र विश्रवा या विश्रवण कहलायेगा; इसमें संशय नहीं है' ॥ ३१ १/२ ॥

एवमुक्ता तु सा देवी प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ ३२ ॥
अचिरेणैव कालेनासूत विश्रवसं सुतम्।
त्रिषु लोकेषु विख्यातं यशोधर्मसमन्वितम् ॥ ३३ ॥

'पतिके प्रसन्नचित्त होकर ऐसी बात कहनेपर उस देवीने बड़े हर्षके साथ थोड़े ही समयमें विश्रवा नामक पुत्रको जन्म दिया, जो यश और धर्मसे सम्पन्न होकर तीनों लोकोंमें विख्यात हुआ ॥ ३२-३३ ॥

श्रुतिमान् समदर्शी च व्रताचाररतस्तथा ।
पितेव तपसा युक्तो ह्यभवद् विश्रवा मुनिः ॥ ३४ ॥

'विश्रवा मुनि वेदके विद्वान्, समदर्शी, व्रत और आचारका पालन करनेवाले तथा पिताके समान ही तपस्वी हुए' ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें दूसरा सर्ग पूरा हुआ ॥ २ ॥

—★—

तृतीयः सर्गः

विश्रवासे वैश्रवण (कुबेर) की उत्पत्ति, उनकी तपस्या, वरप्राप्ति तथा लङ्कामें निवास

अथ पुत्रः पुलस्त्यस्य विश्रवा मुनिपुङ्गवः ।
अचिरेणैव कालेन पितेव तपसि स्थितः ॥ १ ॥

पुलस्त्यके पुत्र मुनिवर विश्रवा थोड़े ही समयमें पिताकी भाँति तपस्यामें संलग्न हो गये ॥ १ ॥

सत्यवाञ्शीलवान् दान्तः स्वाध्यायनिरतः शुचिः ।
सर्वभोगेष्वसंसक्तो नित्यं धर्मपरायणः ॥ २ ॥

वे सत्यवादी, शीलवान्, जितेन्द्रिय, स्वाध्यायपरायण, बाहर-भीतरसे पवित्र, सम्पूर्ण भोगोंमें अनासक्त तथा सदा ही धर्ममें तत्पर रहनेवाले थे ॥ २ ॥

ज्ञात्वा तस्य तु तद् वृत्तं भरद्वाजो महामुनिः ।
ददौ विश्रवसे भार्यां स्वसुतां देववर्णिनीम् ॥ ३ ॥

विश्रवाके इस उत्तम आचरणको जानकर महामुनि भरद्वाजने अपनी कन्याका, जो देवाङ्गनाके समान सुन्दरी थी, उनके साथ विवाह कर दिया ॥ ३ ॥

प्रतिगृह्य तु धर्मेण भरद्वाजसुतां तदा ।
प्रजान्वीक्षिकया बुद्ध्या श्रेयो ह्यस्य विचिन्तयन् ॥ ४ ॥
मुदा परमया युक्तो विश्रवा मुनिपुङ्गवः ।
स तस्यां वीर्यसम्पन्नमपत्यं परमाद्भुतम् ॥ ५ ॥
जनयामास धर्मज्ञः सर्वैर्ब्रह्मगुणैर्वृतम् ।
तस्मिञ्जाते तु संहृष्टः स बभूव पितामहः ॥ ६ ॥

धर्मके ज्ञाता मुनिवर विश्रवाने बड़ी प्रसन्नताके साथ धर्मानुसार भरद्वाजकी कन्याका पाणिग्रहण किया और प्रजाका हित-चिन्तन करनेवाली बुद्धिके द्वारा लोककल्याणका विचार करते हुए उन्होंने उसके गर्भसे एक अद्भुत और पराक्रमी पुत्र उत्पन्न किया। उसमें सभी ब्राह्मणोचित गुण विद्यमान थे। उसके जन्मसे पितामह पुलस्त्य मुनिको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ४—६ ॥

दृष्ट्वा श्रेयस्करीं बुद्धिं धनाध्यक्षो भविष्यति ।
नाम चास्याकरोत् प्रीतः सार्धं देवर्षिभिस्तदा ॥ ७ ॥

उन्होंने दिव्य दृष्टिसे देखा—'इस बालकमें संसारका कल्याण करनेकी बुद्धि है तथा यह आगे चलकर धनाध्यक्ष होगा' तब उन्होंने बड़े हर्षसे भरकर देवर्षियोंके साथ उसका नामकरण-संस्कार किया ॥ ७ ॥

यस्माद् विश्रवसोऽपत्यं सादृश्याद् विश्रवा इव ।
तस्माद् वैश्रवणो नाम भविष्यत्येष विश्रुतः ॥ ८ ॥

वे बोले—'विश्रवाका यह पुत्र विश्रवाके ही समान उत्पन्न हुआ है; इसलिये यह वैश्रवण नामसे विख्यात होगा' ॥ ८ ॥

स तु वैश्रवणस्तत्र तपोवनगतस्तदा ।
अवर्धताहुतिहुतो महातेजा यथानलः ॥ ९ ॥

कुमार वैश्रवण वहाँ तपोवनमें रहकर उस समय आहुति डालनेसे प्रज्वलित हुई अग्निके समान बढ़ने लगे और महान् तेजसे सम्पन्न हो गये ॥ ९ ॥

तस्याश्रमपदस्थस्य बुद्धिर्जज्ञे महात्मनः ।
चरिष्ये परमं धर्मं धर्मो हि परमा गतिः ॥ १० ॥

आश्रममें रहनेके कारण उन महात्मा वैश्रवणके मनमें भी यह विचार उत्पन्न हुआ कि मैं उत्तम धर्मका आचरण करूँ; क्योंकि धर्म ही परमगति है ॥ १० ॥

स तु वर्षसहस्राणि तपस्तप्त्वा महावने ।
यन्त्रितो नियमैरुग्रैश्चकार सुमहत्तपः ॥ ११ ॥

यह सोचकर उन्होंने तपस्याका निश्चय करनेके पश्चात् महान् वनके भीतर सहस्रों वर्षोंतक कठोर नियमोंसे बँधकर

बड़ी भारी तपस्या की ॥ ११ ॥

पूर्णे वर्षसहस्रान्ते तं तं विधिमकल्पयत्।
जलाशी मारुताहारो निराहारस्तथैव च ॥ १२ ॥
एवं वर्षसहस्राणि जग्मुस्तान्येकवर्षवत्।

वे एक-एक सहस्र वर्ष पूर्ण होनेपर तपस्याकी नयी-नयी विधि ग्रहण करते थे। पहले तो उन्होंने केवल जलका आहार किया। तत्पश्चात् वे हवा पीकर रहने लगे; फिर आगे चलकर उन्होंने उसका भी त्याग कर दिया और वे एकदम निराहार रहने लगे। इस तरह उन्होंने कई सहस्र वर्षोंको एक वर्षके समान बिता दिया ॥१२½॥

अथ प्रीतो महातेजाः सेन्द्रैः सुरगणैः सह ॥ १३ ॥
गत्वा तस्याश्रमपदं ब्रह्मेदं वाक्यमब्रवीत्।

तब उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर महातेजस्वी ब्रह्माजी इन्द्र आदि देवताओंके साथ उनके आश्रमपर पधारे और इस प्रकार बोले— ॥१३½॥

परितुष्टोऽस्मि ते वत्स कर्मणानेन सुव्रत ॥ १४ ॥
वरं वृणीष्व भद्रं ते वरार्हस्त्वं महामते।

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले वत्स! मैं तुम्हारे इस कर्मसे—तपस्यासे बहुत संतुष्ट हूँ। महामते! तुम्हारा भला हो। तुम कोई वर माँगो; क्योंकि वर पानेके योग्य हो' ॥१४½॥

अथाब्रवीद् वैश्रवणः पितामहमुपस्थितम् ॥ १५ ॥
भगवँल्लोकपालत्वमिच्छेयं लोकरक्षणम्।

यह सुनकर वैश्रवणने अपने निकट खड़े हुए पितामहसे कहा—'भगवन्! मेरा विचार लोककी रक्षा करनेका है, अतः मैं लोकपाल होना चाहता हूँ' ॥१५½॥

अथाब्रवीद् वैश्रवणं परितुष्टेन चेतसा ॥ १६ ॥
ब्रह्मा सुरगणैः सार्धं बाढमित्येव हृष्टवत्।

वैश्रवणकी इस बातसे ब्रह्माजीके चित्तको और भी संतोष हुआ। उन्होंने सम्पूर्ण देवताओंके साथ प्रसन्नतापूर्वक कहा—'बहुत अच्छा' ॥१६½॥

अहं वै लोकपालानां चतुर्थं स्रष्टुमुद्यतः ॥ १७ ॥
यमेन्द्रवरुणानां च पदं यत् तव चेप्सितम्।

इसके बाद वे फिर बोले—'बेटा! मैं चौथे लोकपालकी सृष्टि करनेके लिये उद्यत था। यम, इन्द्र और वरुणको जो पद प्राप्त है, वैसा ही लोकपाल-पद तुम्हें भी प्राप्त होगा, जो तुमको अभीष्ट है ॥१७½॥

तद् गच्छ बत धर्मज्ञ निधीशत्वमवाप्नुहि ॥ १८ ॥
शक्राम्बुपयमानां च चतुर्थस्त्वं भविष्यसि।

'धर्मज्ञ! तुम प्रसन्नतापूर्वक उस पदको ग्रहण करो और अक्षय निधियोंके स्वामी बनो। इन्द्र, वरुण और यमके साथ तुम चौथे लोकपाल कहलाओगे ॥१८½॥

एतच्च पुष्पकं नाम विमानं सूर्यसंनिभम् ॥ १९ ॥
प्रतिगृह्णीष्व यानार्थं त्रिदशैः समतां व्रज।

'यह सूर्यतुल्य तेजस्वी पुष्पकविमान है। इसे अपनी सवारीके लिये ग्रहण करो और देवताओंके समान हो जाओ ॥१९½॥

स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामः सर्व एव यथागतम् ॥ २० ॥
कृतकृत्या वयं तात दत्त्वा तव वरद्वयम्।

'तात! तुम्हारा कल्याण हो। अब हम सब लोग जैसे आये हैं, वैसे लौट जायँगे। तुम्हें ये दो वर देकर हम अपनेको कृतकृत्य समझते हैं' ॥२०½॥

इत्युक्त्वा स गतो ब्रह्मा स्वस्थानं त्रिदशैः सह ॥ २१ ॥
गतेषु ब्रह्मपूर्वेषु देवेष्वथ नभस्तलम्।
धनेशः पितरं प्राह प्राञ्जलिः प्रयतात्मवान् ॥ २२ ॥
भगवँल्लब्धवानस्मि वरमिष्टं पितामहात्।

ऐसा कहकर ब्रह्माजी देवताओंके साथ अपने स्थानको चले गये। ब्रह्मा आदि देवताओंके आकाशमें चले जानेपर अपने मनको संयममें रखनेवाले धनाध्यक्षने पितासे हाथ जोड़कर कहा—'भगवन्! मैंने पितामह ब्रह्माजीसे मनोवाञ्छित फल प्राप्त किया है ॥२१-२२½॥

निवासनं न मे देवो विदधे स प्रजापतिः ॥ २३ ॥
तं पश्य भगवन् कंचिन्निवासं साधु मे प्रभो।
न च पीडा भवेद् यत्र प्राणिनो यस्य कस्यचित् ॥ २४ ॥

'परंतु उन प्रजापतिदेवने मेरे लिये कोई निवास-स्थान नहीं बताया। अतः भगवन्! अब आप ही मेरे रहनेके योग्य किसी ऐसे स्थानकी खोज कीजिये, जो सभी दृष्टियोंसे अच्छा हो। प्रभो! वह स्थान ऐसा होना चाहिये, जहाँ रहनेसे किसी भी प्राणीको कष्ट न हो' ॥ २३-२४ ॥

एवमुक्तस्तु पुत्रेण विश्रवा मुनिपुंगवः।
वचनं प्राह धर्मज्ञ श्रूयतामिति सत्तम ॥ २५ ॥
दक्षिणस्योदधेस्तीरे त्रिकूटो नाम पर्वतः।
तस्याग्रे तु विशाला सा महेन्द्रस्य पुरी यथा ॥ २६ ॥

अपने पुत्रके ऐसा कहनेपर मुनिवर विश्रवा बोले—'धर्मज्ञ! साधुशिरोमणे! सुनो—दक्षिण समुद्रके तटपर एक त्रिकूट नामक पर्वत है। उसके शिखरपर एक विशाल पुरी है, जो देवराज इन्द्रकी अमरावती पुरीके समान शोभा पाती है ॥ २५-२६ ॥

लङ्का नाम पुरी रम्या निर्मिता विश्वकर्मणा।
राक्षसानां निवासार्थं यथेन्द्रस्यामरावती ॥ २७ ॥

'उसका नाम लङ्का है। इन्द्रकी अमरावतीके समान उस रमणीय पुरीका निर्माण विश्वकर्माने राक्षसोंके रहनेके लिये किया है ॥ २७ ॥

तत्र त्वं वस भद्रं ते लङ्कायां नात्र संशयः।
हेमप्राकारपरिखा यन्त्रशस्त्रसमावृता ॥ २८ ॥

'बेटा! तुम्हारा कल्याण हो। तुम निःसंदेह उस लङ्कापुरीमें ही जाकर रहो। उसकी चहारदीवारी सोनेकी बनी

हुई है। उसके चारों ओर चौड़ी खाइयाँ खुदी हुई हैं और वह अनेकानेक यन्त्रों तथा शस्त्रोंसे सुरक्षित है॥ २८॥

रमणीया पुरी सा हि रुक्मवैदूर्यतोरणा।
राक्षसैः सा परित्यक्ता पुरा विष्णुभयार्दितैः॥ २९॥

'वह पुरी बड़ी ही रमणीय है। उसके फाटक सोने और नीलमके बने हुए हैं। पूर्वकालमें भगवान् विष्णुके भयसे पीड़ित हुए राक्षसोंने उस पुरीको त्याग दिया था॥ २९॥

शून्या रक्षोगणैः सर्वैं रसातलतलं गतैः।
शून्या सम्प्रति लङ्का सा प्रभुस्तस्या न विद्यते॥ ३०॥

'वे समस्त राक्षस रसातलको चले गये थे, इसलिये लङ्कापुरी सूनी हो गयी। इस समय भी लङ्कापुरी सूनी ही है, उसका कोई स्वामी नहीं है॥ ३०॥

स त्वं तत्र निवासाय गच्छ पुत्र यथासुखम्।
निर्दोषस्तत्र ते वासो न बाधस्तत्र कस्यचित्॥ ३१॥

'अतः बेटा! तुम वहाँ निवास करनेके लिये सुखपूर्वक जाओ। वहाँ रहनेमें किसी प्रकारका दोष या खटका नहीं है। वहाँ किसीकी ओरसे कोई विघ्न-बाधा नहीं आ सकती'॥ ३१॥

एतच्छ्रुत्वा स धर्मात्मा धर्मिष्ठं वचनं पितुः।
निवासयामास तदा लङ्कां पर्वतमूर्धनि॥ ३२॥

अपने पिताके इस धर्मयुक्त वचनको सुनकर धर्मात्मा वैश्रवणने त्रिकूट पर्वतके शिखरपर बनी हुई लङ्कापुरीमें निवास किया॥ ३२॥

नैर्ऋतानां सहस्रैस्तु हृष्टैः प्रमुदितैः सदा।
अचिरेणैव कालेन सम्पूर्णा तस्य शासनात्॥ ३३॥

उनके निवास करनेपर थोड़े ही दिनोंमें वह पुरी सहस्रों हृष्टपुष्ट राक्षसोंसे भर गयी। उनकी आज्ञासे वे राक्षस वहाँ आकर आनन्दपूर्वक रहने लगे॥ ३३॥

स तु तत्रावसत् प्रीतो धर्मात्मा नैर्ऋतर्षभः।
समुद्रपरिखायां स लङ्कायां विश्रवात्मजः॥ ३४॥

समुद्र जिसके लिये खाईका काम देता था, उस लङ्कानगरीमें विश्रवाके धर्मात्मा पुत्र वैश्रवण राक्षसोंके राजा हो बड़ी प्रसन्नताके साथ निवास करने लगे॥ ३४॥

काले काले तु धर्मात्मा पुष्पकेण धनेश्वरः।
अभ्यागच्छद् विनीतात्मा पितरं मातरं च हि॥ ३५॥

धर्मात्मा धनेश्वर समय-समयपर पुष्पकविमानके द्वारा आकर अपने माता-पितासे मिल जाया करते थे। उनका हृदय बड़ा ही विनीत था॥ ३५॥

स देवगन्धर्वगणैरभिष्टुत-
स्तथाप्सरोनृत्यविभूषितालयः।
गभस्तिभिः सूर्य इवावभासयन्
पितुः समीपं प्रययौ स वित्तपः॥ ३६॥

देवता और गन्धर्व उनकी स्तुति करते थे। उनका भव्य भवन अप्सराओंके नृत्यसे सुशोभित होता था। वे धनपति कुबेर अपनी किरणोंसे प्रकाशित होनेवाले सूर्यकी भाँति सब ओर प्रकाश बिखेरते हुए अपने पिताके समीप गये॥ ३६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे तृतीयः सर्गः॥ ३॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें तीसरा सर्ग पूरा हुआ॥ ३॥

—★—

चतुर्थः सर्गः

राक्षसवंशका वर्णन—हेति, विद्युत्केश और सुकेशकी उत्पत्ति

श्रुत्वागस्त्येरितं वाक्यं रामो विस्मयमागतः।
कथमासीत् तु लङ्कायां सम्भवो रक्षसां पुरा॥ १॥

अगस्त्यजीकी कही हुई इस बातको सुनकर श्रीरामचन्द्रजीको बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने मन-ही-मन सोचा, राक्षसकुलकी उत्पत्ति तो मुनिवर विश्रवासे ही मानी जाती है। यदि उनसे भी पहले लङ्कापुरीमें राक्षस रहते थे तो उनकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई थी॥ १॥

ततः शिरः कम्पयित्वा त्रेताग्निसमविग्रहम्।
तमगस्त्यं मुहुर्दृष्ट्वा स्मयमानोऽभ्यभाषत॥ २॥

इस प्रकार आश्चर्य होनेके अनन्तर सिर हिलाकर श्रीरामचन्द्रजीने त्रिविध अग्नियोंके समान तेजस्वी शरीरवाले अगस्त्यजीकी ओर बारम्बार देखा और मुस्कराकर पूछा—॥ २॥

भगवन् पूर्वमप्येषा लङ्काऽऽसीत् पिशिताशिनाम्।
श्रुत्वेदं भगवद्वाक्यं जातो मे विस्मयः परः॥ ३॥

'भगवन्! कुबेर और रावणसे पहले भी यह लङ्कापुरी मांसभक्षी राक्षसोंके अधिकारमें थी, यह आपके मुँहसे सुनकर मुझे बड़ा विस्मय हुआ है॥ ३॥

पुलस्त्यवंशादुद्भूता राक्षसा इति नः श्रुतम्।
इदानीमन्यतश्चापि सम्भवः कीर्तितस्त्वया॥ ४॥

'हमने तो यही सुन रखा है कि राक्षसोंकी उत्पत्ति पुलस्त्यजीके कुलसे हुई है; किंतु इस समय आपने किसी दूसरेके कुलसे भी राक्षसोंके प्रादुर्भावकी बात कही है॥ ४॥

रावणात् कुम्भकर्णाच्च प्रहस्ताद् विकटादपि।
रावणस्य च पुत्रेभ्यः किं नु ते बलवत्तराः॥ ५॥

'क्या वे पहलेके राक्षस रावण, कुम्भकर्ण, प्रहस्त, विकट तथा रावणपुत्रोंसे भी बढ़कर बलवान् थे ? ॥ ५ ॥

क एषां पूर्वको ब्रह्मन् किंनामा च बलोत्कटः ।
अपराधं च कं प्राप्य विष्णुना द्राविताः कथम् ॥ ६ ॥

'ब्रह्मन् ! उनका पूर्वज कौन था और उस उत्कट बलशाली पुरुषका नाम क्या था ? भगवान् विष्णुने इन राक्षसोंका कौन-सा अपराध पाकर किस तरह उन्हें लङ्कासे मार भगाया ? ॥ ६ ॥

एतद् विस्तरतः सर्वं कथयस्व ममानघ ।
कुतूहलमिदं मह्यं नुद भानुर्यथा तमः ॥ ७ ॥

'निष्पाप महर्षे ! ये सब बातें आप मुझे विस्तारसे बताइये । इनके लिये मेरे मनमें बड़ा कौतूहल है । जैसे सूर्यदेव अन्धकारको दूर करते हैं, उसी तरह आप मेरे इस कौतूहलका निवारण कीजिये' ॥ ७ ॥

राघवस्य वचः श्रुत्वा संस्कारालंकृतं शुभम् ।
अथ विस्मयमानस्तमगस्त्यः प्राह राघवम् ॥ ८ ॥

श्रीरघुनाथजीकी वह सुन्दर वाणी पदसंस्कार, वाक्यसंस्कार और अर्थसंस्कारसे अलंकृत थी । उसे सुनकर अगस्त्यजीको यह सोचकर विस्मय हुआ कि ये सर्वज्ञ होकर भी मुझसे अनजानकी भाँति पूछ रहे हैं । तत्पश्चात् उन्होंने श्रीरामसे कहा— ॥ ८ ॥

प्रजापतिः पुरा सृष्ट्वा अपः सलिलसम्भवः ।
तासां गोपायने सत्त्वानसृजत् पद्मसम्भवः ॥ ९ ॥

'रघुनन्दन ! जलसे प्रकट हुए कमलसे उत्पन्न प्रजापति ब्रह्माजीने पूर्वकालमें समुद्रगत जलकी सृष्टि करके उसकी रक्षाके लिये अनेक प्रकारके जल-जन्तुओंको उत्पन्न किया ॥ ९ ॥

ते सत्त्वाः सत्त्वकर्तारं विनीतवदुपस्थिताः ।
किं कुर्म इति भाषन्तः क्षुत्पिपासाभयार्दिताः ॥ १० ॥

'वे जन्तु भूख-प्यासके भयसे पीड़ित हो 'अब हम क्या करें', ऐसी बातें करते हुए अपने जन्मदाता ब्रह्माजीके पास विनीतभावसे गये ॥ १० ॥

प्रजापतिस्तु तान् सर्वान् प्रत्याह प्रहसन्निव ।
आभाष्य वाचा यत्नेन रक्षध्वमिति मानद ॥ ११ ॥

'दूसरोंको मान देनेवाले रघुवीर ! उन सबको आया देख प्रजापतिने उन्हें वाणीद्वारा सम्बोधित करके हँसते हुए-से कहा— 'जल-जन्तुओ ! तुम यत्नपूर्वक इस जलकी रक्षा करो' ॥ ११ ॥

रक्षाम इति तत्रान्यैर्यक्षाम इति चापरैः ।
भुक्षिताभुक्षितैरुक्तस्ततस्तानाह भूतकृत् ॥ १२ ॥

'वे सब जन्तु भूखे-प्यासे थे । उनमेंसे कुछने कहा— 'हम इस जलकी रक्षा करेंगे' और दूसरेने कहा—'हम इसका यक्षण (पूजन) करेंगे', तब उन भूतोंकी सृष्टि करनेवाले प्रजापतिने उनसे कहा— ॥ १२ ॥

रक्षाम इति यैरुक्तं राक्षसास्ते भवन्तु वः ।
यक्षाम इति यैरुक्तं यक्षा एव भवन्तु वः ॥ १३ ॥

'तुममेंसे जिन लोगोंने रक्षा करनेकी बात कही है, वे राक्षस नामसे प्रसिद्ध हों और जिन्होंने यक्षण (पूजन) करना स्वीकार किया है, वे लोग यक्ष नामसे ही विख्यात हों' (इस प्रकार वे जीव राक्षस और यक्ष—इन दो जातियोंमें विभक्त हो गये) ॥ १३ ॥

तत्र हेतिः प्रहेतिश्च भ्रातरौ राक्षसाधिपौ ।
मधुकैटभसंकाशौ बभूवतुररिंदमौ ॥ १४ ॥

'उन राक्षसोंमें हेति और प्रहेति नामवाले दो भाई थे, जो समस्त राक्षसोंके अधिपति थे । शत्रुओंका दमन करनेमें समर्थ वे दोनों वीर मधु और कैटभके समान शक्तिशाली थे ॥ १४ ॥

प्रहेतिर्धार्मिकस्तत्र तपोवनगतस्तदा ।
हेतिर्दारक्रियार्थं तु परं यत्नमथाकरोत् ॥ १५ ॥

'उनमें प्रहेति धर्मात्मा था; अतः वह तत्काल तपोवनमें जाकर तपस्या करने लगा । परंतु हेतिने विवाहके लिये बड़ा प्रयत्न किया ॥ १५ ॥

स कालभगिनीं कन्यां भयां नाम महाभयाम् ।
उदावहदमेयात्मा स्वयमेव महामतिः ॥ १६ ॥

'वह अमेय आत्मबलसे सम्पन्न और बड़ा बुद्धिमान् था । उसने स्वयं ही याचना करके कालकी कुमारी भगिनी भयाके साथ विवाह किया । भया बड़ी भयानक थी ॥ १६ ॥

स तस्यां जनयामास हेती राक्षसपुंगवः ।
पुत्रं पुत्रवतां श्रेष्ठो विद्युत्केशमिति श्रुतम् ॥ १७ ॥

'राक्षसराज हेतिने भयाके गर्भसे एक पुत्रको उत्पन्न किया, जो विद्युत्केशके नामसे प्रसिद्ध था । उसे जन्म देकर हेति पुत्रवानोंमें श्रेष्ठ समझा जाने लगा ॥ १७ ॥

विद्युत्केशो हेतिपुत्रः स दीप्तार्कसमप्रभः ।
व्यवर्धत महातेजास्तोयमध्य इवाम्बुजम् ॥ १८ ॥

'हेतिपुत्र विद्युत्केश दीप्तिमान् सूर्यके समान प्रकाशित होता था । वह महातेजस्वी बालक जलमें कमलकी भाँति दिनों-दिन बढ़ने लगा ॥ १८ ॥

स यदा यौवनं भद्रमनुप्राप्तो निशाचरः ।
ततो दारक्रियां तस्य कर्तुं व्यवसितः पिता ॥ १९ ॥

'निशाचर विद्युत्केश जब बढ़कर उत्तम युवावस्थाको प्राप्त हुआ, तब उसके पिता राक्षसराज हेतिने अपने पुत्रका ब्याह कर देनेका निश्चय किया ॥ १९ ॥

संध्यादुहितरं सोऽथ संध्यातुल्यां प्रभावतः ।
वरयामास पुत्रार्थं हेती राक्षसपुंगवः ॥ २० ॥

'राक्षसराजशिरोमणि हेतिने अपने पुत्रको ब्याहनेके लिये संध्याकी पुत्रीका, जो प्रभावमें अपनी माता संध्याके ही समान थी, वरण किया ॥ २० ॥

अवश्यमेव दातव्या परस्मै सेति संध्यया ।
चिन्तयित्वा सुता दत्ता विद्युत्केशाय राघव ॥ २१ ॥

'रघुनन्दन! संध्याने सोचा—'कन्याका किसी दूसरेके साथ ब्याह तो अवश्य ही करना पड़ेगा, अतः इसीके साथ क्यों न कर दूँ?' यह विचारकर उसने अपनी पुत्री विद्युत्केशको ब्याह दी ॥ २१ ॥

संध्यायास्तनयां लब्ध्वा विद्युत्केशो निशाचरः ।
रमते स तया सार्धं पौलोम्या मघवानिव ॥ २२ ॥

'संध्याकी उस पुत्रीको पाकर निशाचर विद्युत्केश उसके साथ उसी तरह रमण करने लगा, जैसे देवराज इन्द्र पुलोमपुत्री शचीके साथ विहार करते हैं ॥ २२ ॥

केनचित्त्वथ कालेन राम सालकटङ्कटा ।
विद्युत्केशाद् गर्भमाप घनराजिरिवार्णवात् ॥ २३ ॥

'श्रीराम! संध्याकी उस पुत्रीका नाम सालकटङ्कटा था। कुछ कालके पश्चात् उसने विद्युत्केशसे उसी तरह गर्भ धारण किया, जैसे मेघोंकी पंक्ति समुद्रसे जल ग्रहण करती है ॥ २३ ॥

ततः सा राक्षसी गर्भं घनगर्भसमप्रभम् ।
प्रसूता मन्दरं गत्वा गङ्गा गर्भमिवाग्निजम् ।
समुत्सृज्य तु सा गर्भं विद्युत्केशरतार्थिनी ॥ २४ ॥

तदनन्तर उस राक्षसीने मन्दराचलपर जाकर विद्युत्के समान कान्तिमान् बालकको जन्म दिया, मानो गङ्गाने अग्निके छोड़े हुए भगवान् शिवके तेजःस्वरूप गर्भ (कुमार कार्तिकेय) को उत्पन्न किया हो। उस नवजात शिशुको वहीं छोड़कर वह विद्युत्केशके साथ रति-क्रीडाके लिये चली गयी ॥ २४ ॥

रेमे तु सार्धं पतिना विस्मृत्य सुतमात्मजम् ।
उत्सृष्टस्तु तदा गर्भो घनशब्दसमस्वनः ॥ २५ ॥

'अपने बेटेको भुलाकर सालकटङ्कटा पतिके साथ रमण करने लगी। उधर उसका छोड़ा हुआ वह गर्भ मेघकी गम्भीर गर्जनाके समान शब्द करने लगा ॥ २५ ॥

तयोत्सृष्टः स तु शिशुः शरदर्कसमद्युतिः ।
निधायास्ये स्वयं मुष्टिं रुरोद शनकैस्तदा ॥ २६ ॥

उसके शरीरकी कान्ति शरत्कालके सूर्यकी भाँति उद्भासित होती थी। माताका छोड़ा हुआ वह शिशु स्वयं ही अपनी मुट्ठी मुँहमें डालकर धीरे-धीरे रोने लगा ॥ २६ ॥

ततो वृषभमास्थाय पार्वत्या सहितः शिवः ।
वायुमार्गेण गच्छन् वै शुश्राव रुदितस्वनम् ॥ २७ ॥

'उस समय भगवान् शंकर पार्वतीजीके साथ बैलपर चढ़कर वायुमार्ग (आकाश) से जा रहे थे। उन्होंने उस बालकके रोनेकी आवाज सुनी ॥ २७ ॥

अपश्यदुमया सार्धं रुदन्तं राक्षसात्मजम् ।
कारुण्यभावात् पार्वत्या भवस्त्रिपुरसूदनः ॥ २८ ॥
तं राक्षसात्मजं चक्रे मातुरेव वयःसमम् ।

'सुनकर पार्वतीसहित शिवने उस रोते हुए राक्षस-कुमारकी ओर देखा। उसकी दयनीय अवस्थापर दृष्टिपात करके माता पार्वतीके हृदयमें करुणाका स्रोत उमड़ उठा और उनकी प्रेरणासे त्रिपुरसूदन भगवान् शिवने उस राक्षस-बालकको उसकी माताकी अवस्थाके समान ही नौजवान बना दिया ॥ २८½ ॥

अमरं चैव तं कृत्वा महादेवोऽक्षरोऽव्ययः ॥ २९ ॥
पुरमाकाशगं प्रादात् पार्वत्याः प्रियकाम्यया ।

इतना ही नहीं, पार्वतीजीका प्रिय करनेकी इच्छासे अविनाशी एवं निर्विकार भगवान् महादेवने उस बालकको अमर बनाकर उसके रहनेके लिये एक आकाशचारी नगराकार विमान दे दिया ॥ २९½ ॥

उमयापि वरो दत्तो राक्षसीनां नृपात्मज ॥ ३० ॥
सद्योपलब्धिर्गर्भस्य प्रसूतिः सद्य एव च ।
सद्य एव वयःप्राप्तिं मातुरेव वयःसमम् ॥ ३१ ॥

'राजकुमार! तत्पश्चात् पार्वतीजीने भी यह वरदान दिया कि आजसे राक्षसियाँ जल्दी ही गर्भ धारण करेंगी; फिर शीघ्र ही उसका प्रसव करेंगी और उनका पैदा किया हुआ बालक तत्काल बढ़कर माताके ही समान अवस्थाका हो जायगा ॥ ३०-३१ ॥

ततः सुकेशो वरदानगर्वितः
श्रियं प्रभोः प्राप्य हरस्य पार्श्वतः ।
चचार सर्वत्र महान् महामतिः
खगं पुरं प्राप्य पुरंदरो यथा ॥ ३२ ॥

'विद्युत्केशका वह पुत्र सुकेशके नामसे प्रसिद्ध हुआ। वह बड़ा बुद्धिमान् था। भगवान् शंकरका वरदान पानेसे उसे बड़ा गर्व हुआ और वह उन परमेश्वरके पाससे अद्भुत सम्पत्ति एवं आकाशचारी विमान पाकर देवराज इन्द्रकी भाँति सर्वत्र अबाध-गतिसे विचरने लगा ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें चौथा सर्ग पूरा हुआ ॥ ४ ॥

—★—

पञ्चमः सर्गः

सुकेशके पुत्र माल्यवान्, सुमाली और मालीकी संतानोंका वर्णन

सुकेशं धार्मिकं दृष्ट्वा वरलब्धं च राक्षसम्।
ग्रामणीर्नाम गन्धर्वो विश्वावसुसमप्रभः॥ १॥
तस्य देववती नाम द्वितीया श्रीरिवात्मजा।
त्रिषु लोकेषु विख्याता रूपयौवनशालिनी॥ २॥
तां सुकेशाय धर्मात्मा ददौ रक्षःश्रियं यथा।

(अगस्त्यजी कहते हैं—रघुनन्दन!) तदनन्तर एक दिन विश्वावसुके समान तेजस्वी ग्रामणी नामक गन्धर्वने राक्षस सुकेशको धर्मात्मा तथा वरप्राप्त वैभवसे सम्पन्न देख अपनी देववती नामक कन्याका उसके साथ ब्याह कर दिया। वह कन्या दूसरी लक्ष्मीके समान दिव्य रूप और यौवनसे सुशोभित एवं तीनों लोकोंमें विख्यात थी। धर्मात्मा ग्रामणीने राक्षसोंकी मूर्तिमती राजलक्ष्मीके समान देववतीका हाथ सुकेशके हाथमें दे दिया॥१–२½॥

वरदानकृतैश्वर्यं सा तं प्राप्य पतिं प्रियम्॥ ३॥
आसीद् देववती तुष्टा धनं प्राप्येव निर्धनः।

वरदानमें मिले हुए ऐश्वर्यसे सम्पन्न प्रियतम पतिको पाकर देववती बहुत संतुष्ट हुई, मानो किसी निर्धनको धनकी राशि मिल गयी हो॥३½॥

स तया सह संयुक्तो रराज रजनीचरः॥ ४॥
अञ्जनादभिनिष्क्रान्तः करेण्वेव महागजः।

जैसे अञ्जन नामक दिग्गजसे उत्पन्न कोई महान् गज किसी हथिनीके साथ शोभा पा रहा हो, उसी तरह वह राक्षस गन्धर्व-कन्या देववतीके साथ रहकर अधिक शोभा पाने लगा॥४½॥

ततः काले सुकेशस्तु जनयामास राघव॥ ५॥
त्रीन् पुत्राञ्जनयामास त्रेताग्निसमविग्रहान्।

रघुनन्दन! तदनन्तर समय आनेपर सुकेशने देववतीके गर्भसे तीन पुत्र उत्पन्न किये, जो तीन[1] अग्नियोंके समान तेजस्वी थे॥५½॥

माल्यवन्तं सुमालिं च मालिं च बलिनां वरम्॥ ६॥
त्रींस्त्रिनेत्रसमान् पुत्रान् राक्षसान् राक्षसाधिपः।

उनके नाम थे—माल्यवान्, सुमाली और माली। माली बलवानोंमें श्रेष्ठ था। वे तीनों त्रिनेत्रधारी महादेवजीके समान शक्तिशाली थे। उन तीनों राक्षसपुत्रोंको देखकर राक्षसराज सुकेश बड़ा प्रसन्न हुआ॥६½॥

त्रयो लोका इवाव्यग्राः स्थितास्त्रय इवाग्नयः॥ ७॥
त्रयो मन्त्रा इवात्युग्रास्त्रयो घोरा इवामयाः।

वे तीनों लोकोंके समान सुस्थिर, तीन अग्नियोंके समान तेजस्वी, तीन मन्त्रों (शक्तियों[2] अथवा वेदों[3]) के समान उग्र तथा तीन रोगों[4] के समान अत्यन्त भयंकर थे॥७½॥

त्रयः सुकेशस्य सुतास्त्रेताग्निसमतेजसः॥ ८॥
विवृद्धिमगमंस्तत्र व्याधयोपेक्षिता इव।

सुकेशके वे तीनों पुत्र त्रिविध अग्नियोंके समान तेजस्वी थे। वे वहाँ उसी तरह बढ़ने लगे, जैसे उपेक्षावश दवा न करनेसे रोग बढ़ते हैं॥८½॥

वरप्राप्तिं पितुस्ते तु ज्ञात्वैश्वर्यं तपोबलात्॥ ९॥
तपस्तप्तुं गता मेरुं भ्रातरः कृतनिश्चयाः।

उन्हें जब यह मालूम हुआ कि हमारे पिताको तपोबलके द्वारा वरदान एवं ऐश्वर्यकी प्राप्ति हुई है, तब वे तीनों भाई तपस्या करनेका निश्चय करके मेरुपर्वतपर चले गये॥९½॥

प्रगृह्य नियमान् घोरान् राक्षसा नृपसत्तम॥ १०॥
विचेरुस्ते तपो घोरं सर्वभूतभयावहम्।

नृपश्रेष्ठ! वे राक्षस वहाँ भयंकर नियमोंको ग्रहण करके घोर तपस्या करने लगे। उनकी वह तपस्या समस्त प्राणियोंको भय देनेवाली थी॥१०½॥

सत्यार्जवशमोपेतैस्तपोभिर्भुवि दुर्लभैः॥ ११॥
संतापयन्तस्त्रींल्लोकान् सदेवासुरमानुषान्।

सत्य, सरलता एवं शम-दम आदिसे युक्त तपके द्वारा, जो भूतलपर दुर्लभ है, वे देवताओं, असुरों और मनुष्योंसहित तीनों लोकोंको संतप्त करने लगे॥११½॥

ततो विभुश्चतुर्वक्त्रो विमानवरमाश्रितः॥ १२॥
सुकेशपुत्रानामन्त्र्य वरदोऽस्मीत्यभाषत।

तब चार मुखवाले भगवान् ब्रह्मा एक श्रेष्ठ विमानपर बैठकर वहाँ गये और सुकेशके पुत्रोंको सम्बोधित करके बोले—'मैं तुम्हें वर देनेके लिये आया हूँ'॥१२½॥

ब्रह्माणं वरदं ज्ञात्वा सेन्द्रैर्देवगणैर्वृतम्॥ १३॥
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे वेपमाना इव द्रुमाः।

इन्द्र आदि देवताओंसे घिरे हुए वरदायक ब्रह्माजीको आया जान वे सब-के-सब वृक्षोंके समान काँपते हुए हाथ जोड़कर बोले—॥१३½॥

---

1. गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि।
2. प्रभु-शक्ति, उत्साह-शक्ति तथा मन्त्र-शक्ति—ये तीन शक्तियाँ हैं।
3. ऋग्, यजु और साम—ये तीन वेद हैं।
4. वात, पित्त और कफ—इनके प्रकोपसे उत्पन्न होनेवाले तीन प्रकारके रोग हैं।

तपसाऽऽराधितो देव यदि नो दिशसे वरम्॥ १४॥
अजेयाः शत्रुहन्तारस्तथैव चिरजीविनः।
प्रभविष्णवो भवामेति परस्परमनुव्रताः॥ १५॥

'देव! यदि आप हमारी तपस्यासे आराधित एवं संतुष्ट होकर हमें वर देना चाहते हैं तो ऐसी कृपा कीजिये, जिससे हमें कोई परास्त न कर सके। हम शत्रुओंका वध करनेमें समर्थ, चिरजीवी तथा प्रभावशाली हों। साथ ही हमलोगोंमें परस्पर प्रेम बना रहे'॥ १४-१५॥

एवं भविष्यथेत्युक्त्वा सुकेशतनयान् विभुः।
स ययौ ब्रह्मलोकाय ब्रह्मा ब्राह्मणवत्सलः॥ १६॥

यह सुनकर ब्रह्माजीने कहा—'तुम ऐसे ही होओगे'। सुकेशके पुत्रोंसे ऐसा कहकर ब्राह्मणवत्सल ब्रह्माजी ब्रह्मलोकको चले गये॥ १६॥

वरं लब्ध्वा तु ते सर्वे राम रात्रिचरास्तदा।
सुरासुरान् प्रबाधन्ते वरदानसुनिर्भयाः॥ १७॥

श्रीराम! वर पाकर वे सब निशाचर उस वरदानसे अत्यन्त निर्भय हो देवताओं तथा असुरोंको भी बहुत कष्ट देने लगे॥ १७॥

तैर्बाध्यमानास्त्रिदशाः सर्षिसङ्घाः सचारणाः।
त्रातारं नाधिगच्छन्ति निरयस्था यथा नराः॥ १८॥

उनके द्वारा सताये जाते हुए देवता, ऋषि-समुदाय और चारण नरकमें पड़े हुए मनुष्योंके समान किसीको अपना रक्षक या सहायक नहीं पाते थे॥ १८॥

अथ ते विश्वकर्माणं शिल्पिनां वरमव्ययम्।
ऊचुः समेत्य संहृष्टा राक्षसा रघुसत्तम॥ १९॥

'रघुवंशशिरोमणे! एक दिन शिल्प-कर्मके ज्ञाताओंमें श्रेष्ठ अविनाशी विश्वकर्माके पास जाकर वे राक्षस हर्ष और उत्साहसे भरकर बोले—॥ १९॥

ओजस्तेजोबलवतां महतामात्मतेजसा।
गृहकर्ता भवानेव देवानां हृदयेप्सितम्॥ २०॥
अस्माकमपि तावत् त्वं गृहं कुरु महामते।
हिमवन्तमुपाश्रित्य मेरुं मन्दरमेव वा॥ २१॥
महेश्वरगृहप्रख्यं गृहं नः क्रियतां महत्।

'महामते! जो ओज, बल और तेजसे सम्पन्न होनेके कारण महान् हैं, उन देवताओंके लिये आप ही अपनी शक्तिसे मनोवाञ्छित भवनका निर्माण करते हैं, अतः हमारे लिये भी आप हिमालय, मेरु अथवा मन्दराचलपर चलकर भगवान् शंकरके दिव्य भवनकी भाँति एक विशाल निवासस्थानका निर्माण कीजिये'॥ २०-२१½॥

विश्वकर्मा ततस्तेषां राक्षसानां महाभुजः॥ २२॥
निवासं कथयामास शक्रस्येवामरावतीम्।

यह सुनकर महाबाहु विश्वकर्माने उन राक्षसोंको एक ऐसे निवासस्थानका पता बताया, जो इन्द्रकी अमरावतीको भी लज्जित करनेवाला था॥ २२½॥

दक्षिणस्योदधेस्तीरे त्रिकूटो नाम पर्वतः॥ २३॥
सुवेल इति चाप्यन्यो द्वितीयो राक्षसेश्वराः।

(वे बोले—) 'राक्षसपतियो! दक्षिण समुद्रके तटपर एक त्रिकूट नामक पर्वत है और दूसरा सुवेल नामसे विख्यात शैल है॥ २३½॥

शिखरे तस्य शैलस्य मध्यमेऽम्बुदसंनिभे॥ २४॥
शकुनैरपि दुष्प्रापे टङ्कच्छिन्नचतुर्दिशि।
त्रिंशद्योजनविस्तीर्णा शतयोजनमायता॥ २५॥
स्वर्णप्राकारसंवीता हेमतोरणसंवृता।
मया लङ्केति नगरी शक्राज्ञप्तेन निर्मिता॥ २६॥

'उस त्रिकूटपर्वतके मझले शिखरपर जो हरा-भरा होनेके कारण मेघके समान नीला दिखायी देता है तथा जिसके चारों ओरके आश्रय टाँकीसे काट दिये गये हैं, अतएव जहाँ पक्षियों-के लिये भी पहुँचना कठिन है, मैंने इन्द्रकी आज्ञासे लङ्का नामक नगरीका निर्माण किया है। वह तीस योजन चौड़ी और सौ योजन लम्बी है। उसके चारों ओर सोनेकी चहारदीवारी है और उसमें सोनेके ही फाटक लगे हैं॥ २४—२६॥

तस्यां वसत दुर्धर्षा यूयं राक्षसपुंगवाः।
अमरावतीं समासाद्य सेन्द्रा इव दिवौकसः॥ २७॥

'दुर्धर्ष राक्षसशिरोमणियो! जैसे इन्द्र आदि देवता अमरावतीपुरीका आश्रय लेकर रहते हैं, उसी प्रकार तुम लोग भी उस लङ्कापुरीमें जाकर निवास करो॥ २७॥

लङ्कादुर्गं समासाद्य राक्षसैर्बहुभिर्वृताः।
भविष्यथ दुराधर्षाः शत्रूणां शत्रुसूदनाः॥ २८॥

'शत्रुसूदन वीरो! लङ्काके दुर्गका आश्रय लेकर बहुत-से राक्षसोंके साथ जब तुम निवास करोगे, उस समय शत्रुओंके लिये तुमपर विजय पाना अत्यन्त कठिन होगा'॥ २८॥

विश्वकर्मवचः श्रुत्वा ततस्ते राक्षसोत्तमाः।
सहस्रानुचरा भूत्वा गत्वा तामवसन् पुरीम्॥ २९॥

विश्वकर्माकी यह बात सुनकर वे श्रेष्ठ राक्षस सहस्रों अनुचरोंके साथ उस पुरीमें जाकर बस गये॥ २९॥

दृढप्राकारपरिखां हैमैर्गृहशतैर्वृताम्।
लङ्कामवाप्य ते हृष्टा न्यवसन् रजनीचराः॥ ३०॥

उसकी खाई और चहारदीवारी बड़ी मजबूत बनी थी। सोनेके सैकड़ों महल उस नगरीकी शोभा बढ़ा रहे थे। उस लङ्कापुरीमें पहुँचकर वे निशाचर बड़े हर्षके साथ वहाँ रहने लगे॥ ३०॥

एतस्मिन्नेव काले तु यथाकामं च राघव।
नर्मदा नाम गन्धर्वी बभूव रघुनन्दन॥ ३१॥
तस्याः कन्यात्रयं ह्यासीद्धीश्रीकीर्तिसमद्युति।
ज्येष्ठक्रमेण सा तेषां राक्षसानामराक्षसी॥ ३२॥
कन्यास्ताः प्रददौ हृष्टाः पूर्णचन्द्रनिभाननाः।

रघुकुलनन्दन श्रीराम! इन्हीं दिनों नर्मदा नामकी एक गन्धर्वी थी। उसके तीन कन्याएँ हुईं, जो ह्री, श्री और कीर्ति* -के समान शोभासम्पन्न थीं। इनकी माता यद्यपि राक्षसी नहीं थी तो भी उसने अपनी रुचिके अनुसार सुकेशके उन तीनों राक्षसजातीय पुत्रोंके साथ अपनी कन्याओंका ज्येष्ठ आदि अवस्थाके अनुसार विवाह कर दिया। वे कन्याएँ बहुत प्रसन्न थीं। उनके मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर थे ॥ ३१-३२½ ॥

त्रयाणां राक्षसेन्द्राणां तिस्रो गन्धर्वकन्यकाः ॥ ३३ ॥
दत्ता मात्रा महाभागा नक्षत्रे भगदैवते।

माता नर्मदाने उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रमें उन तीनों महाभाग्यवती गन्धर्व-कन्याओंको उन तीनों राक्षसराजोंके हाथमें दे दिया ॥ ३३½ ॥

कृतदारास्तु ते राम सुकेशतनयास्तदा ॥ ३४ ॥
चिक्रीडुः सह भार्याभिरप्सरोभिरिवामराः।

श्रीराम! जैसे देवता अप्सराओंके साथ क्रीडा करते हैं, उसी प्रकार सुकेशके पुत्र विवाहके पश्चात् अपनी उन पत्नियोंके साथ रहकर लौकिक सुखका उपभोग करने लगे ॥ ३४½ ॥

ततो माल्यवतो भार्या सुन्दरी नाम सुन्दरी ॥ ३५ ॥
स तस्यां जनयामास यदपत्यं निबोध तत्।

उनमें माल्यवान्‌की स्त्रीका नाम सुन्दरी था। वह अपने नामके अनुरूप ही परम सुन्दरी थी। माल्यवान्‌ने उसके गर्भसे जिन संतानोंको जन्म दिया, उन्हें बता रहा हूँ, सुनिये ॥ ३५½ ॥

वज्रमुष्टिर्विरूपाक्षो दुर्मुखश्चैव राक्षसः ॥ ३६ ॥
सुप्तघ्नो यज्ञकोपश्च मत्तोन्मत्तौ तथैव च।
अनला चाभवत् कन्या सुन्दर्यां राम सुन्दरी ॥ ३७ ॥

वज्रमुष्टि, विरूपाक्ष, राक्षस दुर्मुख, सुप्तघ्न, यज्ञकोप, मत्त और उन्मत्त—ये सात पुत्र थे। श्रीराम! इनके अतिरिक्त सुन्दरीके गर्भसे अनला नामवाली एक सुन्दरी कन्या भी उत्पन्न हुई थी ॥ ३६-३७ ॥

सुमालिनोऽपि भार्याऽऽसीत् पूर्णचन्द्रनिभानना।
नाम्ना केतुमती राम प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ॥ ३८ ॥

सुमालीकी पत्नी भी बड़ी सुन्दरी थी। उसका मुख पूर्णचन्द्रमाके समान मनोहर और नाम केतुमती था। सुमालीको वह प्राणोंसे भी अधिक प्रिय थी ॥ ३८ ॥

सुमाली जनयामास यदपत्यं निशाचरः।
केतुमत्यां महाराज तन्निबोधानुपूर्वशः ॥ ३९ ॥

महाराज! निशाचर सुमालीने केतुमतीके गर्भसे जो संतानें उत्पन्न की थीं, उनका भी क्रमशः परिचय दिया जा रहा है, सुनिये ॥ ३९ ॥

प्रहस्तोऽकम्पनश्चैव विकटः कालिकामुखः।
धूम्राक्षश्चैव दण्डश्च सुपार्श्वश्च महाबलः ॥ ४० ॥
संह्रादिः प्रघसश्चैव भासकर्णश्च राक्षसः।
राका पुष्पोत्कटा चैव कैकसी च शुचिस्मिता ॥ ४१ ॥
कुम्भीनसी च इत्येते सुमालेः प्रसवाः स्मृताः ॥ ४२ ॥

प्रहस्त, अकम्पन, विकट, कालिकामुख, धूम्राक्ष, दण्ड, महाबली सुपार्श्व, संह्रादि, प्रघस तथा राक्षस भासकर्ण—ये सुमालीके पुत्र थे और राका, पुष्पोत्कटा, कैकसी और कुम्भीनसी—ये चार पवित्र मुस्कानवाली उसकी कन्याएँ थीं। ये सब सुमालीकी संतानें बतायी गयी हैं ॥ ४०—४२ ॥

मालेस्तु वसुदा नाम गन्धर्वी रूपशालिनी।
भार्याऽऽसीत् पद्मपत्राक्षी स्वक्षी यक्षीवरोपमा ॥ ४३ ॥

मालीकी पत्नी गन्धर्वकन्या वसुदा थी, जो अपने रूप-सौन्दर्यसे सुशोभित होती थी। उसके नेत्र प्रफुल्ल कमलके समान विशाल एवं सुन्दर थे। वह श्रेष्ठ यक्ष-पत्नियोंके समान सुन्दरी थी ॥ ४३ ॥

सुमालेरनुजस्तस्यां जनयामास यत् प्रभो।
अपत्यं कथ्यमानं तु मया त्वं शृणु राघव ॥ ४४ ॥

प्रभो! रघुनन्दन! सुमालीके छोटे भाई मालीने वसुदाके गर्भसे जो संतति उत्पन्न की थी, उसका मैं वर्णन कर रहा हूँ; आप सुनिये ॥ ४४ ॥

अनलश्चानिलश्चैव हरः सम्पातिरेव च।
एते विभीषणामात्या मालेयास्ते निशाचराः ॥ ४५ ॥

अनल, अनिल, हर और सम्पाति—ये चार निशाचर मालीके ही पुत्र थे, जो इस समय विभीषणके मन्त्री हैं ॥ ४५ ॥

ततस्तु ते राक्षसपुङ्गवास्त्रयो
निशाचरैः पुत्रशतैश्च संवृताः।
सुरान् सहेन्द्रानृषिनागयक्षान्
बबाधिरे तान् बहुवीर्यदर्पिताः ॥ ४६ ॥

माल्यवान् आदि तीनों श्रेष्ठ राक्षस अपने सैकड़ों पुत्रों तथा अन्यान्य निशाचरोंके साथ रहकर अपने बाहुबलके अभिमानसे युक्त हो इन्द्र आदि देवताओं, ऋषियों, नागों तथा यक्षोंको पीड़ा देने लगे ॥ ४६ ॥

जगद्भ्रमन्तोऽनिलवद् दुरासदा
रणेषु मृत्युप्रतिमानतेजसः।
वरप्रदानादपि गर्विता भृशं
क्रतुक्रियाणां प्रशमंकराः सदा ॥ ४७ ॥

वे वायुकी भाँति सारे संसारमें विचरनेवाले थे। युद्धमें उन्हें जीतना बहुत ही कठिन था। वे मृत्युके तुल्य तेजस्वी थे। वरदान मिल जानेसे भी उनका घमंड बहुत बढ़ गया था; अतः वे यज्ञादि क्रियाओंका सदा अत्यन्त विनाश किया करते थे ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें पाँचवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५ ॥

---

* ये तीन देवियाँ हैं, जो क्रमशः लज्जा, शोभा-सम्पत्ति और कीर्तिकी अधिष्ठात्री मानी गयी हैं।

षष्ठः सर्गः

देवताओंका भगवान् शङ्करकी सलाहसे राक्षसोंके वधके लिये भगवान् विष्णुकी शरणमें जाना और उनसे आश्वासन पाकर लौटना, राक्षसोंका देवताओंपर आक्रमण और भगवान् विष्णुका उनकी सहायताके लिये आना

तैर्वध्यमाना देवाश्च ऋषयश्च तपोधनाः।
भयार्ताः शरणं जग्मुर्देवदेवं महेश्वरम्॥ १॥

(महर्षि अगस्त्य कहते हैं—रघुनन्दन!) इन राक्षसोंसे पीड़ित होते हुए देवता तथा तपोधन ऋषि भयसे व्याकुल हो देवाधिदेव महादेवजीकी शरणमें गये॥ १॥

जगत्सृष्ट्यन्तकर्तारमजमव्यक्तरूपिणम्।
आधारं सर्वलोकानामाराध्यं परमं गुरुम्॥ २॥
ते समेत्य तु कामारिं त्रिपुरारिं त्रिलोचनम्।
ऊचुः प्राञ्जलयो देवा भयगद्गदभाषिणः॥ ३॥

जो जगत्‌की सृष्टि और संहार करनेवाले, अजन्मा, अव्यक्त रूपधारी, सम्पूर्ण जगत्‌के आधार, आराध्य देव और परम गुरु हैं, उन कामनाशक, त्रिपुरविनाशक, त्रिनेत्रधारी भगवान् शिवके पास जाकर वे सब देवता हाथ जोड़ भयसे गद्गदवाणीमें बोले—॥ २-३॥

सुकेशपुत्रैर्भगवन् पितामहवरोद्धतैः।
प्रजाध्यक्ष प्रजाः सर्वा बाध्यन्ते रिपुबाधनैः॥ ४॥

'भगवन्! प्रजानाथ! ब्रह्माजीके वरदानसे उन्मत्त हुए सुकेशके पुत्र शत्रुओंको पीड़ा देनेवाले साधनाद्वारा सम्पूर्ण प्रजाको बड़ा कष्ट पहुँचा रहे हैं॥ ४॥

शरण्यान्यशरण्यानि ह्याश्रमाणि कृतानि नः।
स्वर्गाच्च देवान् प्रच्याव्य स्वर्गे क्रीडन्ति देववत्॥ ५॥

'सबको शरण देने योग्य जो हमारे आश्रम थे, उन्हें उन राक्षसोंने निवासके योग्य नहीं रहने दिया है—उजाड़ डाला है। देवताओंको स्वर्गसे हटाकर वे स्वयं ही वहाँ अधिकार जमाये बैठे हैं और देवताओंकी भाँति स्वर्गमें विहार करते हैं॥ ५॥

अहं विष्णुरहं रुद्रो ब्रह्माहं देवराडहम्।
अहं यमश्च वरुणश्चन्द्रोऽहं रविरप्यहम्॥ ६॥
इति माली सुमाली च माल्यवांश्चैव राक्षसाः।
बाधन्ते समरोद्धर्षा ये च तेषां पुरःसराः॥ ७॥

'माली, सुमाली और माल्यवान्—ये तीनों राक्षस कहते हैं—'मैं ही विष्णु हूँ, मैं ही रुद्र हूँ, मैं ही ब्रह्मा हूँ तथा मैं ही देवराज इन्द्र, यमराज, वरुण, चन्द्रमा और सूर्य हूँ' इस प्रकार अहंकार प्रकट करते हुए वे रणदुर्जय निशाचर तथा उनके अग्रगामी सैनिक हमें बड़ा कष्ट दे रहे हैं॥ ६-७॥

तन्नो देव भयार्तानामभयं दातुमर्हसि।
अशिवं वपुरास्थाय जहि वै देवकण्टकान्॥ ८॥

'देव! उनके भयसे हम बहुत घबराये हुए हैं, इसलिये आप हमें अभयदान दीजिये तथा रौद्र रूप धारण करके देवताओंके लिये कण्टक बने हुए उन राक्षसोंका संहार कीजिये'॥ ८॥

इत्युक्तस्तु सुरैः सर्वैः कपर्दी नीललोहितः।
सुकेशं प्रति सापेक्षः प्राह देवगणान् प्रभुः॥ ९॥

समस्त देवताओंके ऐसा कहनेपर नील एवं लोहित वर्णवाले जटाजूटधारी भगवान् शंकर सुकेशके प्रति घनिष्ठता रखनेके कारण उनसे इस प्रकार बोले—॥ ९॥

अहं तान् न हनिष्यामि ममावध्या हि तेऽसुराः।
किं तु मन्त्रं प्रदास्यामि यो वै तान् निहनिष्यति॥ १०॥

'देवगण! मैंने सुकेशके जीवनकी रक्षा की है। वे असुर सुकेशके ही पुत्र हैं; इसलिये मेरे द्वारा मारे जानेयोग्य नहीं हैं। अतः मैं तो उनका वध नहीं करूँगा; परंतु तुम्हें एक ऐसे पुरुषके पास जानेकी सलाह दूँगा, जो निश्चय ही उन निशाचरोंका वध करेंगे॥ १०॥

एतमेव समुद्योगं पुरस्कृत्य महर्षयः।
गच्छध्वं शरणं विष्णुं हनिष्यति स तान् प्रभुः॥ ११॥

'देवताओ और महर्षियो! तुम इसी उद्योगको सामने रखकर तत्काल भगवान् विष्णुकी शरणमें जाओ। वे प्रभु अवश्य उनका नाश करेंगे'॥ ११॥

ततस्तु जयशब्देन प्रतिनन्द्य महेश्वरम्।
विष्णोः समीपमाजग्मुर्निशाचरभयार्दिताः॥ १२॥

यह सुनकर सब देवता जय-जयकारके द्वारा महेश्वरका अभिनन्दन करके उन निशाचरोंके भयसे पीड़ित हो भगवान् विष्णुके समीप आये॥ १२॥

शङ्खचक्रधरं देवं प्रणम्य बहुमान्य च।
ऊचुः सम्भ्रान्तवद् वाक्यं सुकेशतनयान् प्रति॥ १३॥

शङ्ख, चक्र धारण करनेवाले उन नारायणदेवको नमस्कार करके देवताओंने उनके प्रति बहुत अधिक सम्मानका भाव प्रकट किया और सुकेशके पुत्रोंके विषयमें बड़ी घबराहटके साथ इस प्रकार कहा—॥ १३॥

सुकेशतनयैर्देव त्रिभिस्त्रेताग्निसंनिभैः।
आक्रम्य वरदानेन स्थानान्यपहृतानि नः॥ १४॥

'देव! सुकेशके तीन पुत्र त्रिविध अग्नियोंके तुल्य तेजस्वी हैं। उन्होंने वरदानके बलसे आक्रमण करके हमारे स्थान छीन लिये हैं॥ १४॥

लङ्का नाम पुरी दुर्गा त्रिकूटशिखरे स्थिता।
तत्र स्थिताः प्रबाधन्ते सर्वान् नः क्षणदाचराः॥ १५॥

त्रिकूटपर्वतके शिखरपर जो लङ्का नामवाली दुर्गम नगरी

है, वहीं रहकर वे निशाचर हम सभी देवताओंको क्लेश पहुँचाते रहते हैं॥ १५॥

स त्वमस्मद्धितार्थाय जहि तान् मधुसूदन।
शरणं त्वां वयं प्राप्ता गतिर्भव सुरेश्वर॥ १६॥

'मधुसूदन! आप हमारा हित करनेके लिये उन असुरोंका वध करें। देवेश्वर! हम आपकी शरणमें आये हैं। आप हमारे आश्रयदाता हों॥ १६॥

चक्रकृत्तास्यकमलान् निवेदय यमाय वै।
भयेष्वभयदोऽस्माकं नान्योऽस्ति भवता विना॥ १७॥

'अपने चक्रसे उनका कमलोपम मस्तक काटकर आप यमराजको भेंट कर दीजिये। आपके सिवा दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जो इस भयके अवसरपर हमें अभय दान दे सके॥ १७॥

राक्षसान् समरे हृष्टान् सानुबन्धान् मदोद्धतान्।
नुद त्वं नो भयं देव नीहारमिव भास्करः॥ १८॥

'देव! वे राक्षस मदसे मतवाले हो रहे हैं। हमें कष्ट देकर हर्षसे फूले नहीं समाते हैं; अतः आप समराङ्गणमें सगे-सम्बन्धियोंसहित उनका वध करके हमारे भयको उसी तरह दूर कर दीजिये, जैसे सूर्यदेव कुहरेको नष्ट कर देते हैं'॥ १८॥

इत्येवं दैवतैरुक्तो देवदेवो जनार्दनः।
अभयं भयदोऽरीणां दत्त्वा देवानुवाच ह॥ १९॥

देवताओंके ऐसा कहनेपर शत्रुओंको भय देनेवाले देवाधिदेव भगवान् जनार्दन उन्हें अभय दान देकर बोले—॥ १९॥

सुकेशं राक्षसं जाने ईशानवरदर्पितम्।
तांश्चास्य तनयाञ्जाने येषां ज्येष्ठः स माल्यवान्॥ २०॥
तानहं समतिक्रान्तमर्यादान् राक्षसाधमान्।
निहनिष्यामि संक्रुद्धः सुरा भवत विज्वराः॥ २१॥

'देवताओ! मैं सुकेश नामक राक्षसको जानता हूँ। वह भगवान् शंकरका वर पाकर अभिमानसे उन्मत्त हो उठा है। उसके उन पुत्रोंको भी जानता हूँ, जिनमें माल्यवान् सबसे बड़ा है। वे नीच राक्षस धर्मकी मर्यादाका उल्लङ्घन कर रहे हैं, अतः मैं क्रोधपूर्वक उनका विनाश करूँगा। तुमलोग निश्चिन्त हो जाओ'॥ २०-२१॥

इत्युक्तास्ते सुराः सर्वे विष्णुना प्रभविष्णुना।
यथावासं ययुर्हृष्टाः प्रशंसन्तो जनार्दनम्॥ २२॥

सब कुछ करनेमें समर्थ भगवान् विष्णुके इस प्रकार आश्वासन देनेपर देवताओंको बड़ा हर्ष हुआ। वे उन जनार्दनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए अपने-अपने स्थानको चले गये॥ २२॥

विबुधानां समुद्योगं माल्यवांस्तु निशाचरः।
श्रुत्वा तौ भ्रातरौ वीराविदं वचनमब्रवीत्॥ २३॥

देवताओंके इस उद्योगका समाचार सुनकर निशाचर माल्यवान्‌ने अपने दोनों वीर भाइयोंसे इस प्रकार कहा—॥ २३॥

अमरा ऋषयश्चैव संगम्य किल शङ्करम्।
अस्मद्वधं परीप्सन्त इदं वचनमब्रुवन्॥ २४॥

'सुननेमें आया है कि देवता और ऋषि मिलकर हमलोगोंका वध करना चाहते हैं। इसके लिये उन्होंने भगवान् शंकरके पास जाकर यह बात कही॥ २४॥

सुकेशतनया देव वरदानबलोद्धताः।
बाधन्तेऽस्मान् समुद्दृप्ता घोररूपाः पदे पदे॥ २५॥

'देव! सुकेशके पुत्र आपके वरदानके बलसे उद्दण्ड और अभिमानसे उन्मत्त हो उठे हैं। वे भयंकर राक्षस पग-पगपर हमलोगोंको सता रहे हैं॥ २५॥

राक्षसैरभिभूताः स्मो न शक्ताः स्म प्रजापते।
स्वेषु सद्मसु संस्थातुं भयात् तेषां दुरात्मनाम्॥ २६॥

'प्रजानाथ! राक्षसोंसे पराजित होकर हम उन दुष्टोंके भयसे अपने घरोंमें नहीं रहने पाते हैं॥ २६॥

तदस्माकं हितार्थाय जहि तांश्च त्रिलोचन।
राक्षसान् हुंकृतेनैव दह प्रदहतां वर॥ २७॥

'त्रिलोचन! आप हमारे हितके लिये उन असुरोंका वध कीजिये। दाहकोंमें श्रेष्ठ रुद्रदेव! आप अपने हुंकारसे ही राक्षसोंको जलाकर भस्म कर दीजिये'॥ २७॥

इत्येवं त्रिदशैरुक्तो निशम्यान्धकसूदनः।
शिरः करं च धुन्वान इदं वचनमब्रवीत्॥ २८॥

'देवताओंके ऐसा कहनेपर अन्धकशत्रु भगवान् शिवने अस्वीकृति सूचित करनेके लिये अपने सिर और हाथको हिलाते हुए इस प्रकार कहा—॥ २८॥

अवध्या मम ते देवाः सुकेशतनया रणे।
मन्त्रं तु वः प्रदास्यामि यस्तान् वै निहनिष्यति॥ २९॥

'देवताओ! सुकेशके पुत्र रणभूमिमें मेरे हाथसे मारे जाने-योग्य नहीं हैं, परंतु मैं तुम्हें ऐसे पुरुषके पास जानेकी सलाह दूँगा, जो निश्चय ही उन सबका वध कर डालेंगे॥ २९॥

योऽसौ चक्रगदापाणिः पीतवासा जनार्दनः।
हरिर्नारायणः श्रीमाञ्छरणं तं प्रपद्यथ॥ ३०॥

'जिनके हाथमें चक्र और गदा सुशोभित हैं, जो पीताम्बर धारण करते हैं, जिन्हें जनार्दन और हरि कहते हैं तथा जो श्रीमान् नारायणके नामसे विख्यात हैं, उन्हीं भगवान्‌की शरणमें तुम सब लोग जाओ'॥ ३०॥

हरादवाप्य ते मन्त्रं कामारिमभिवाद्य च।
नारायणालयं प्राप्य तस्मै सर्वं न्यवेदयन्॥ ३१॥

भगवान् शङ्करसे यह सलाह पाकर उन कामदाहक महादेवजीको प्रणाम करके देवता नारायणके धाममें जा पहुँचे और वहाँ उन्होंने उनसे सब बातें बतायीं॥ ३१॥

ततो नारायणेनोक्ता देवा इन्द्रपुरोगमाः।
सुरारींस्तान् हनिष्यामि सुरा भवत निर्भयाः॥ ३२॥

तब उन नारायणदेवने इन्द्र आदि देवताओंसे कहा—'देवगण! मैं उन देवद्रोहियोंका नाश कर डालूँगा, अतः तुमलोग निर्भय हो जाओ' ॥ ३२ ॥

देवानां भयभीतानां हरिणा राक्षसर्षभौ।
प्रतिज्ञातो वधोऽस्माकं चिन्त्यतां यदिह क्षमम् ॥ ३३ ॥

'राक्षसशिरोमणियो! इस प्रकार भयभीत देवताओंके समक्ष श्रीहरिने हमें मारनेकी प्रतिज्ञा की है; अतः अब इस विषयमें हमलोगोंके लिये जो उचित कर्तव्य हो, उसका विचार करना चाहिये ॥ ३३ ॥

हिरण्यकशिपोर्मृत्युरन्येषां च सुरद्विषाम्।
नमुचिः कालनेमिश्च संह्रादो वीरसत्तमः ॥ ३४ ॥
राधेयो बहुमायी च लोकपालोऽथ धार्मिकः।
यमलार्जुनौ च हार्दिक्यः शुम्भश्चैव निशुम्भकः ॥ ३५ ॥
असुरा दानवाश्चैव सत्त्ववन्तो महाबलाः।
सर्वे समरमासाद्य न श्रूयन्तेऽपराजिताः ॥ ३६ ॥

'हिरण्यकशिपु तथा अन्य देवद्रोही दैत्योंकी मृत्यु इन्हीं विष्णुके हाथसे हुई है। नमुचि, कालनेमि, वीरशिरोमणि संह्राद, नाना प्रकारकी माया जाननेवाला राधेय, धर्मनिष्ठ लोकपाल, यमलार्जुन, हार्दिक्य, शुम्भ और निशुम्भ आदि महाबली शक्तिशाली समस्त असुर और दानव समरभूमिमें भगवान् विष्णुका सामना करके पराजित न हुए हों, ऐसा नहीं सुना जाता ॥ ३४—३६ ॥

सर्वैः क्रतुशतैरिष्टं सर्वे मायाविदस्तथा।
सर्वे सर्वास्त्रकुशलाः सर्वे शत्रुभयंकराः ॥ ३७ ॥

'उन सभी असुरोंने सैकड़ों यज्ञ किये थे। वे सब-के-सब माया जानते थे। सभी सम्पूर्ण अस्त्रोंमें कुशल तथा शत्रुओंके लिये भयंकर थे ॥ ३७ ॥

नारायणेन निहताः शतशोऽथ सहस्रशः।
एतज्ज्ञात्वा तु सर्वेषां क्षमं कर्तुमिहार्हथ।
दुःखं नारायणं जेतुं यो नो हन्तुमिहेच्छति ॥ ३८ ॥

'ऐसे सैकड़ों और हजारों असुरोंको नारायणदेवने मौतके घाट उतार दिया है। इस बातको जानकर हम सबके लिये जो उचित कर्तव्य हो, वही करना चाहिये। जो नारायणदेव हमारा वध करना चाहते हैं, उन्हें जीतना अत्यन्त दुष्कर कार्य है' ॥ ३८ ॥

ततः सुमाली माली च श्रुत्वा माल्यवतो वचः।
ऊचतुर्भ्रातरं ज्येष्ठमश्विनाविव वासवम् ॥ ३९ ॥

माल्यवान्‌की यह बात सुनकर सुमाली और माली अपने उस बड़े भाईसे उसी प्रकार बोले, जैसे दोनों अश्विनीकुमार देवराज इन्द्रसे वार्तालाप कर रहे हों ॥ ३९ ॥

स्वधीतं दत्तमिष्टं च ऐश्वर्यं परिपालितम्।
आयुर्निरामयं प्राप्तं सुधर्मः स्थापितः पथि ॥ ४० ॥

वे बोले—राक्षसराज! हमलोगोंने स्वाध्याय, दान और यज्ञ किये हैं। ऐश्वर्यकी रक्षा तथा उसका उपभोग भी किया है। हमें रोग-व्याधिसे रहित आयु प्राप्त हुई है और हमने कर्तव्य-मार्गमें उत्तम धर्मकी स्थापना की है ॥ ४० ॥

देवसागरमक्षोभ्यं शस्त्रैः समवगाह्य च।
जिता द्विषो ह्यप्रतिमास्तन्नो मृत्युकृतं भयम् ॥ ४१ ॥

'यही नहीं, हमने अपने शस्त्रोंके बलसे देवसेनारूपी अगाध समुद्रमें प्रवेश करके ऐसे-ऐसे शत्रुओंपर विजय पायी है, जो वीरतामें अपना सानी नहीं रखते थे; अतः हमें मृत्युसे कोई भय नहीं है ॥ ४१ ॥

नारायणश्च रुद्रश्च शक्रश्चापि यमस्तथा।
अस्माकं प्रमुखे स्थातुं सर्वे बिभ्यति सर्वदा ॥ ४२ ॥

'नारायण, रुद्र, इन्द्र तथा यमराज ही क्यों न हों, सभी सदा हमारे सामने खड़े होनेमें डरते हैं ॥ ४२ ॥

विष्णोर्द्वेषस्य नास्त्येव कारणं राक्षसेश्वर।
देवानामेव दोषेण विष्णोः प्रचलितं मनः ॥ ४३ ॥

'राक्षसेश्वर! विष्णुके मनमें भी हमारे प्रति द्वेषका कोई कारण तो नहीं है। (क्योंकि हमने उनका कोई अपराध नहीं किया है) केवल देवताओंके चुगली खानेसे उनका मन हमारी ओरसे फिर गया है ॥ ४३ ॥

तस्मादद्यैव सहिताः सर्वेऽन्योन्यसमावृताः।
देवानेव जिघांसामो येभ्यो दोषः समुत्थितः ॥ ४४ ॥

'इसलिये हम सब लोग एकत्र हो एक-दूसरेकी रक्षा करते हुए साथ-साथ चलें और आज ही देवताओंका वध कर डालनेकी चेष्टा करें, जिनके कारण यह उपद्रव खड़ा हुआ है' ॥ ४४ ॥

एवं सम्मन्त्र्य बलिनः सर्वसैन्यसमावृताः।
उद्योगं घोषयित्वा तु सर्वे नैर्ऋतपुंगवाः ॥ ४५ ॥
युद्धाय निर्ययुः क्रुद्धा जम्भवृत्रादयो यथा।

ऐसा निश्चय करके उन सभी महाबली राक्षसपतियोंने युद्धके लिये अपने उद्योगकी घोषणा कर दी और समूची सेना साथ ले जम्भ एवं वृत्र आदिकी भाँति कुपित हो वे युद्धके लिये निकले ॥ ४५½ ॥

इति ते राम सम्मन्त्र्य सर्वोद्योगेन राक्षसाः ॥ ४६ ॥
युद्धाय निर्ययुः सर्वे महाकाया महाबलाः।

श्रीराम! पूर्वोक्त मन्त्रणा करके उन सभी महाबली विशालकाय राक्षसोंने पूरी तैयारी की और युद्धके लिये कूच कर दिया ॥ ४६½ ॥

स्यन्दनैर्वारणैश्चैव हयैश्च करिसंनिभैः ॥ ४७ ॥
खरैर्गोभिरथोष्ट्रैश्च शिशुमारैर्भुजंगमैः।
मकरैः कच्छपैर्मीनैर्विहंगैर्गरुडोपमैः ॥ ४८ ॥
सिंहैर्व्याघ्रैर्वराहैश्च सृमरैश्चमरैरपि।
त्यक्त्वा लङ्कां गताः सर्वे राक्षसा बलगर्विताः ॥ ४९ ॥
प्रयाता देवलोकाय योद्धुं दैवतशत्रवः।

अपने बलका घमण्ड रखनेवाले वे समस्त देवद्रोही राक्षस रथ, हाथी, हाथी-जैसे घोड़े, गदहे, बैल, ऊँट, शिशुमार, सर्प, मगर, कछुआ, मत्स्य, गरुड़-तुल्य पक्षी, सिंह, बाघ, सूअर, मृग और नीलगाय आदि वाहनोंपर सवार हो लङ्का छोड़कर युद्धके लिये देवलोककी ओर चल दिये ॥ ४७—४९½ ॥

लङ्काविपर्ययं दृष्ट्वा यानि लङ्कालयान्यथ ॥ ५० ॥
भूतानि भयदर्शीनि विमनस्कानि सर्वशः ।

लङ्कामें रहनेवाले जो प्राणी अथवा ग्रामदेवता आदि थे, वे सब अपशकुन आदिके द्वारा लङ्काके भावी विध्वंसको देखकर भयका अनुभव करते हुए मन-ही-मन खिन्न हो उठे।

रथोत्तमैरुह्यमानाः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ५१ ॥
प्रयाता राक्षसास्तूर्णं देवलोकं प्रयत्नतः ।
रक्षसामेव मार्गेण दैवतान्यपचक्रमुः ॥ ५२ ॥

उत्तम रथोंपर बैठे हुए सैकड़ों और हजारों राक्षस तुरंत ही प्रयत्नपूर्वक देवलोककी ओर बढ़ने लगे। उस नगरके देवता राक्षसोंके मार्गसे ही पुरी छोड़कर निकल गये ॥ ५१-५२ ॥

भौमाश्चैवान्तरिक्षाश्च कालाज्ञप्ता भयावहाः ।
उत्पाता राक्षसेन्द्राणामभावाय समुत्थिताः ॥ ५३ ॥

उस समय कालकी प्रेरणासे पृथ्वी और आकाशमें अनेक भयंकर उत्पात प्रकट होने लगे, जो राक्षसोंके विनाशकी सूचना दे रहे थे ॥ ५३ ॥

अस्थीनि मेघा ववृषुरुष्णं शोणितमेव च ।
वेलां समुद्राश्चोत्क्रान्ताश्चेलुश्चाप्यथ भूधराः ॥ ५४ ॥

बादल गरम-गरम रक्त और हड्डियोंकी वर्षा करने लगे, समुद्र अपनी सीमाका उल्लङ्घन करके आगे बढ़ गये और पर्वत हिलने लगे ॥ ५४ ॥

अट्टहासान् विमुञ्चन्तो घननादसमस्वनाः ।
वाश्यन्त्यश्च शिवास्तत्र दारुणं घोरदर्शनाः ॥ ५५ ॥

मेघके समान गम्भीर ध्वनि करनेवाले प्राणी विकट अट्टहास करने लगे और भयंकर दिखायी देनेवाली गीदड़ियाँ कठोर आवाजमें चीत्कार करने लगीं ॥ ५५ ॥

सम्पतन्त्यथ भूतानि दृश्यन्ते च यथाक्रमम् ।
गृध्रचक्रं महच्चात्र प्रज्वालोद्गारिभिर्मुखैः ॥ ५६ ॥
रक्षोगणस्योपरिष्टात् परिभ्रमति कालवत् ।

पृथ्वी आदि भूत क्रमशः गिरते—विलीन होते-से दिखायी देने लगे, गीधोंका विशाल समूह मुखसे आगकी ज्वाला उगलता हुआ राक्षसोंके ऊपर कालके समान मड़राने लगा ॥ ५६½ ॥

कपोता रक्तपादाश्च सारिका विद्रुता ययुः ॥ ५७ ॥
काका वाश्यन्ति तत्रैव विडाला वै द्विपादयः ।

कबूतर, तोते और मैने लङ्का छोड़कर भाग चले। कौए वहीं काँव-काँव करने लगे। बिल्लियाँ भी वहीं गुर्राने लगीं तथा हाथी आदि पशु आर्तनाद करने लगे ॥ ५७½ ॥

उत्पातांस्ताननादृत्य राक्षसा बलदर्पिताः ॥ ५८ ॥
यान्त्येव न निवर्तन्ते मृत्युपाशावपाशिताः ।

राक्षस बलके घमण्डमें मतवाले हो रहे थे। वे कालके पाशमें बँध चुके थे। इसलिये उन उत्पातोंकी अवहेलना करके युद्धके लिये चलते ही गये, लौटे नहीं ॥ ५८½ ॥

माल्यवांश्च सुमाली च माली च सुमहाबलः ॥ ५९ ॥
पुरःसरा राक्षसानां ज्वलिता इव पावकाः ।

माल्यवान्, सुमाली और महाबली माली—ये तीनों प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी शरीरसे समस्त राक्षसोंके आगे-आगे चल रहे थे ॥ ५९½ ॥

माल्यवन्तं तु ते सर्वे माल्यवन्तमिवाचलम् ॥ ६० ॥
निशाचरा आश्रयन्ति धातारमिव देवताः ।

जैसे देवता ब्रह्माजीका आश्रय लेते हैं, उसी प्रकार उन सब निशाचरोंने माल्यवान् पर्वतके समान अविचल माल्यवान्‌का ही आश्रय ले रखा था ॥ ६०½ ॥

तद् बलं राक्षसेन्द्राणां महाभ्रघननादितम् ॥ ६१ ॥
जयेप्सया देवलोकं ययौ मालिवशे स्थितम् ।

राक्षसोंकी वह सेना महान् मेघोंकी गर्जनाके समान कोलाहल करती हुई विजय पानेकी इच्छासे देवलोककी ओर बढ़ती जा रही थी। उस समय वह सेनापति मालीके नियन्त्रणमें थी ॥ ६१½ ॥

राक्षसानां समुद्योगं तं तु नारायणः प्रभुः ॥ ६२ ॥
देवदूतादुपश्रुत्य चक्रे युद्धे तदा मनः ।

देवताओंके दूतसे राक्षसोंके उस युद्धविषयक उद्योगकी बात सुनकर भगवान् नारायणने भी युद्ध करनेका विचार किया ॥ ६२½ ॥

स सज्जायुधतूणीरो वैनतेयोपरि स्थितः ॥ ६३ ॥
आसाद्य कवचं दिव्यं सहस्रार्कसमद्युति ।

वे सहस्रों सूर्योंके समान दीप्तिमान् दिव्य कवच धारण करके बाणोंसे भरा तरकस लिये गरुड़पर सवार हुए ॥ ६३½ ॥

आबद्ध्य शरसम्पूर्णे इषुधी विमले तदा ॥ ६४ ॥
श्रोणिसूत्रं च खड्गं च विमलं कमलेक्षणः ।

इसके अतिरिक्त भी उन्होंने सायकोंसे पूर्ण दो चमचमाते हुए तूणीर बाँध रखे थे। उन कमलनयन श्रीहरिने अपनी कमरमें पट्टी बाँधकर उसमें चमकती हुई तलवार भी लटका ली थी ॥ ६४½ ॥

शङ्खचक्रगदाशार्ङ्गखड्गांश्चैव वरायुधान् ॥ ६५ ॥
सुपर्णं गिरिसंकाशं वैनतेयमथास्थितः ।
राक्षसानामभावाय ययौ तूर्णतरं प्रभुः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार शङ्ख, चक्र, गदा, शार्ङ्गधनुष और खड्ग आदि उत्तम आयुधोंको धारण किये सुन्दर पंखवाले

पर्वताकार गरुड़पर आरूढ़ हो वे प्रभु उन राक्षसोंका संहार करनेके लिये तुरंत चल दिये ॥ ६५-६६ ॥

सुपर्णपृष्ठे स बभौ श्यामः पीताम्बरो हरिः ।
काञ्चनस्य गिरेः शृङ्गे सतडित्तोयदो यथा ॥ ६७ ॥

गरुड़की पीठपर बैठे हुए वे पीताम्बरधारी श्यामसुन्दर श्रीहरि सुवर्णमय मेरुपर्वतके शिखरपर स्थित हुए विद्युत्सहित मेघके समान शोभा पा रहे थे ॥ ६७ ॥

स सिद्धदेवर्षिमहोरगैश्च
गन्धर्वयक्षैरुपगीयमानः ।
समाससादासुरसैन्यशत्रु-
श्चक्रासिशार्ङ्गायुधशङ्खपाणिः ॥ ६८ ॥

उस समय सिद्ध, देवर्षि, बड़े-बड़े नाग, गन्धर्व और यक्ष उनके गुण गा रहे थे। असुरोंकी सेनाके शत्रु वे श्रीहरि हाथोंमें शङ्ख, चक्र, खड्ग और शार्ङ्गधनुष लिये सहसा वहाँ आ पहुँचे ॥ ६८ ॥

सुपर्णपक्षानिलनुन्नपक्षं
भ्रमत्पताकं प्रविकीर्णशस्त्रम् ।
चचाल तद्राक्षसराजसैन्यं
चलोपलं नीलमिवाचलाग्रम् ॥ ६९ ॥

गरुड़के पंखोंकी तीव्र वायुके झोंके खाकर वह सेना क्षुब्ध हो उठी। सैनिकोंके रथोंकी पताकाएँ चक्कर खाने लगीं और सबके हाथोंसे अस्त्र-शस्त्र गिर गये। इस प्रकार राक्षसराज माल्यवान्‌की समूची सेना काँपने लगी। उसे देखकर ऐसा जान पड़ता था, मानो पर्वतका नील शिखर अपनी शिलाओंको बिखेरता हुआ हिल रहा हो ॥ ६९ ॥

ततः शितैः शोणितमांसरूषितै-
र्युगान्तवैश्वानरतुल्यविग्रहैः ।
निशाचराः सम्परिवार्य माधवं
वरायुधैर्निर्बिभिदुः सहस्रशः ॥ ७० ॥

राक्षसोंके उत्तम अस्त्र-शस्त्र तीखे, रक्त और मांसमें सने हुए तथा प्रलयकालीन अग्निके समान दीप्तिमान् थे। उनके द्वारा वे सहस्रों निशाचर भगवान् लक्ष्मीपतिको चारों ओरसे घेरकर उनपर चोट करने लगे ॥ ७० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें छठा सर्ग पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमः सर्गः

भगवान् विष्णुद्वारा राक्षसोंका संहार और पलायन

नारायणगिरिं ते तु गर्जन्तो राक्षसाम्बुदाः ।
अर्दयन्तोऽस्त्रवर्षेण वर्षेणेवाद्रिमम्बुदाः ॥ १ ॥

(अगस्त्यजी कहते हैं—रघुनन्दन!) जैसे बादल जलकी वर्षासे किसी पर्वतको आप्लावित करते हैं, उसी प्रकार गर्जना करते हुए वे राक्षसरूपी मेघ अस्त्ररूपी जलकी वर्षासे नारायणरूपी पर्वतको पीड़ित करने लगे ॥ १ ॥

श्यामावदातस्तैर्विष्णुर्नीलैर्नक्तंचरोत्तमैः ।
वृतोऽञ्जनगिरीवायं वर्षमाणैः पयोधरैः ॥ २ ॥

भगवान् विष्णुका श्रीविग्रह उज्ज्वल श्यामवर्णसे सुशोभित था और अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करते हुए वे श्रेष्ठ निशाचर नीले रंगके दिखायी देते थे; इसलिये ऐसा जान पड़ता था, मानो अञ्जनगिरिको चारों ओरसे घेरकर मेघ उसपर जलकी धारा बरसा रहे हों ॥ २ ॥

शलभा इव केदारं मशका इव पावकम् ।
यथामृतघटं दंशा मकरा इव चार्णवम् ॥ ३ ॥
तथा रक्षोधनुर्मुक्ता वज्रानिलमनोजवाः ।
हरिं विशन्ति स्म शरा लोका इव विपर्यये ॥ ४ ॥

जैसे टिड्डीदल धान आदिके खेतोंमें, पतिंगे आगमें, डंक मारनेवाली मक्खियाँ मधुसे भरे हुए घड़ेमें और मगर समुद्रमें घुस जाते हैं, उसी प्रकार राक्षसोंके धनुषसे छूटे हुए वज्र, वायु तथा मनके समान वेगवाले बाण भगवान् विष्णुके शरीरमें प्रवेश करके इस प्रकार लीन हो जाते थे, जैसे प्रलयकालमें समस्त लोक उन्हींमें प्रवेश कर जाते हैं ॥ ३-४ ॥

स्यन्दनैः स्यन्दनगता गजैश्च गजमूर्धगाः ।
अश्वारोहास्तथाश्वैश्च पादाताश्चाम्बरे स्थिताः ॥ ५ ॥

रथपर बैठे हुए योद्धा रथोंसहित, हाथीसवार हाथियोंके साथ, घुड़सवार घोड़ोंसहित तथा पैदल पाँव-पयादे ही आकाशमें खड़े थे ॥ ५ ॥

राक्षसेन्द्रा गिरिनिभाः शरैः शक्त्यृष्टितोमरैः ।
निरुच्छ्वासं हरिं चक्रुः प्राणायामा इव द्विजम् ॥ ६ ॥

उन राक्षसराजोंके शरीर पर्वतके समान विशाल थे। उन्होंने सब ओरसे शक्ति, ऋष्टि, तोमर और बाणोंकी वर्षा करके भगवान् विष्णुका साँस लेना बंद कर दिया। ठीक उसी तरह, जैसे प्राणायाम द्विजके श्वासको रोक देते हैं ॥ ६ ॥

निशाचरैस्ताड्यमानो मीनैरिव महोदधिः ।
शार्ङ्गमायम्य दुर्धर्षो राक्षसेभ्योऽसृजच्छरान् ॥ ७ ॥

जैसे मछली महासागरपर प्रहार करे, उसी तरह वे निशाचर अपने अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा श्रीहरिपर चोट करते थे। उस समय दुर्जय देवता भगवान् विष्णुने अपने शार्ङ्ग-धनुषको खींचकर राक्षसोंपर बाण बरसाना आरम्भ किया ॥ ७ ॥

शरैः पूर्णायतोत्सृष्टैर्वज्रकल्पैर्मनोजवैः ।
चिच्छेद विष्णुर्निशितैः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ८ ॥

वे बाण धनुषको पूर्णरूपसे खींचकर छोड़े गये थे; अतः वज्रके समान असह्य और मनके समान वेगवान् थे। इन पैने बाणोंद्वारा भगवान् विष्णुने सैकड़ों और हजारों निशाचरोंके टुकड़े-टुकड़े कर डाले॥ ८॥

विद्राव्य शरवर्षेण वर्षं वायुरिवोत्थितम्।
पाञ्चजन्यं महाशङ्खं प्रदध्मौ पुरुषोत्तमः॥ ९॥

जैसे हवा उमड़ी हुई बदली एवं वर्षाको उड़ा देती है, उसी प्रकार अपनी बाणवर्षासे राक्षसोंको भगाकर पुरुषोत्तम श्रीहरिने अपने पाञ्चजन्य नामक महान् शङ्खको बजाया॥ ९॥

सोऽम्बुजो हरिणा ध्मातः सर्वप्राणेन शङ्खराट्।
ररास भीमनिर्ह्रादस्त्रैलोक्यं व्यथयन्निव॥ १०॥

सम्पूर्ण प्राणशक्तिसे श्रीहरिके द्वारा बजाया गया वह जल-जनित शङ्खराज भयंकर आवाजसे तीनों लोकोंको व्यथित करता हुआ-सा गूँजने लगा॥ १०॥

शङ्खराजरवः सोऽथ त्रासयामास राक्षसान्।
मृगराज इवारण्ये समदानिव कुञ्जरान्॥ ११॥

जैसे वनमें दहाड़ता हुआ सिंह मतवाले हाथियोंको भयभीत कर देता है, उसी प्रकार उस शङ्खराजकी ध्वनिने समस्त राक्षसोंको भय और घबराहटमें डाल दिया॥ ११॥

न शेकुरश्वाः संस्थातुं विमदाः कुञ्जराऽभवन्।
स्यन्दनेभ्यश्च्युता वीराः शङ्खरावितदुर्बलाः॥ १२॥

वह शङ्खध्वनि सुनकर शक्ति और साहससे हीन हुए घोड़े युद्धभूमिमें खड़े न रह सके, हाथियोंके मद उतर गये और वीर सैनिक रथोंसे नीचे गिर पड़े॥ १२॥

शार्ङ्गचापविनिर्मुक्ता वज्रतुल्याननाः शराः।
विदार्य तानि रक्षांसि सुपुङ्खा विविशुः क्षितिम्॥ १३॥

सुन्दर पंखवाले उन बाणोंके मुखभाग वज्रके समान कठोर थे। वे शार्ङ्गधनुषसे छूटकर राक्षसोंको विदीर्ण करते हुए पृथ्वीमें घुस जाते थे॥ १३॥

भिद्यमानाः शरैः संख्ये नारायणकरच्युतैः।
निपेतू राक्षसा भूमौ शैला वज्रहता इव॥ १४॥

संग्रामभूमिमें भगवान् विष्णुके हाथसे छूटे हुए उन बाणोंद्वारा छिन्न-भिन्न हुए निशाचर वज्रके मारे हुए पर्वतोंकी भाँति धराशायी होने लगे॥ १४॥

व्रणानि परगात्रेभ्यो विष्णुचक्रकृतानि हि।
असृक् क्षरन्ति धाराभिः स्वर्णधारा इवाचलाः॥ १५॥

श्रीहरिके चक्रके आघातसे शत्रुओंके शरीरोंमें जो घाव हो गये थे, उनसे उसी तरह रक्तकी धारा बह रही थी, मानो पर्वतोंसे गेरुमिश्रित जलका झरना गिर रहा हो॥ १५॥

शङ्खराजरवश्चापि शार्ङ्गचापरवस्तथा।
राक्षसानां रवांश्चापि ग्रसते वैष्णवो रवः॥ १६॥

शङ्खराजकी ध्वनि, शार्ङ्गधनुषकी टंकार तथा भगवान् विष्णुकी गर्जना—इन सबके तुमुल नादने राक्षसोंके कोलाहलको दबा दिया॥ १६॥

तेषां शिरोधरान् धूताञ्छरध्वजधनूंषि च।
रथान् पताकास्तूणीरांश्चिच्छेद स हरिः शरैः॥ १७॥

भगवान्ने राक्षसोंके काँपते हुए मस्तकों, बाणों, ध्वजाओं, धनुषों, रथों, पताकाओं और तरकसोंको अपने बाणोंसे काट डाला॥ १७॥

सूर्यादिव करा घोरा वार्योघा इव सागरात्।
पर्वतादिव नागेन्द्रा धारौघा इव चाम्बुदात्॥ १८॥
तथा शार्ङ्गविनिर्मुक्ताः शरा नारायणेरिताः।
निर्धावन्तीषवस्तूर्णं शतशोऽथ सहस्रशः॥ १९॥

जैसे सूर्यसे भयंकर किरणें, समुद्रसे जलके प्रवाह, पर्वतसे बड़े-बड़े सर्प और मेघसे जलकी धाराएँ प्रकट होती हैं, उसी प्रकार भगवान् नारायणके चलाये और शार्ङ्गधनुषसे छूटे हुए सैकड़ों और हजारों बाण तत्काल इधर-उधर दौड़ने लगे॥ १८-१९॥

शरभेण यथा सिंहाः सिंहेन द्विरदा यथा।
द्विरदेन यथा व्याघ्रा व्याघ्रेण द्वीपिनो यथा॥ २०॥
द्वीपिनेव यथा श्वानः शुना मार्जारको यथा।
मार्जारेण यथा सर्पाः सर्पेण च यथाखवः॥ २१॥
तथा ते राक्षसाः सर्वे विष्णुना प्रभविष्णुना।
द्रवन्ति द्राविताश्चान्ये शायिताश्च महीतले॥ २२॥

जैसे शरभसे सिंह, सिंहसे हाथी, हाथीसे बाघ, बाघसे चीते, चीतेसे कुत्ते, कुत्तेसे बिलाव, बिलावसे साँप और साँपसे चूहे डरकर भागते हैं, उसी प्रकार वे सब राक्षस प्रभावशाली भगवान् विष्णुकी मार खाकर भागने लगे। उनके भगाये हुए बहुत-से राक्षस धराशायी हो गये॥ २०—२२॥

राक्षसानां सहस्राणि निहत्य मधुसूदनः।
वारिजं पूरयामास तोयदं सुरराडिव॥ २३॥

सहस्रों राक्षसोंका वध करके भगवान् मधुसूदनने अपने शङ्ख पाञ्चजन्यको उसी तरह गम्भीर ध्वनिसे पूर्ण किया, जैसे देवराज इन्द्र मेघको जलसे भर देते हैं॥ २३॥

नारायणशरत्रस्तं शङ्खनादसुविह्वलम्।
ययौ लङ्कामभिमुखं प्रभग्नं राक्षसं बलम्॥ २४॥

भगवान् नारायणके बाणोंसे भयभीत और शङ्खनादसे व्याकुल हुई राक्षस-सेना लङ्काकी ओर भाग चली॥ २४॥

प्रभग्ने राक्षसबले नारायणशराहते।
सुमाली शरवर्षेण निववार रणे हरिम्॥ २५॥

नारायणके सायकोंसे आहत हुई राक्षससेना जब भागने लगी, तब सुमालीने रणभूमिमें बाणोंकी वर्षा करके उन श्रीहरिको आगे बढ़नेसे रोका॥ २५॥

स तु तं छादयामास नीहार इव भास्करम्।
राक्षसाः सत्त्वसम्पन्नाः पुनर्धैर्यं समादधुः ॥ २६ ॥

जैसे कुहरा सूर्यदेवको ढक लेता है, उसी तरह सुमालीने बाणोंसे भगवान् विष्णुको आच्छादित कर दिया। यह देख शक्तिशाली राक्षसोंने पुनः धैर्य धारण किया ॥ २६ ॥

अथ सोऽभ्यपतद् रोषाद् राक्षसो बलदर्पितः।
महानादं प्रकुर्वाणो राक्षसाञ्जीवयन्निव ॥ २७ ॥

उस बलाभिमानी निशाचरने बड़े जोरसे गर्जना करके राक्षसोंमें नूतन जीवनका संचार करते हुए-से रोषपूर्वक आक्रमण किया ॥ २७ ॥

उत्क्षिप्य लम्बाभरणं धुन्वन् करमिव द्विपः।
ररास राक्षसो हर्षात् सतडित्तोयदो यथा ॥ २८ ॥

जैसे हाथी सूँड़को उठाकर हिलाता हो, उसी तरह लटकते हुए आभूषणसे युक्त हाथको ऊपर उठाकर हिलाता हुआ वह राक्षस विद्युत्सहित सजल जलधरके समान बड़े हर्षसे गर्जना करने लगा ॥ २८ ॥

सुमालेर्नर्दतस्तस्य शिरो ज्वलितकुण्डलम्।
चिच्छेद यन्तुरश्वाश्च भ्रान्तास्तस्य तु रक्षसः ॥ २९ ॥

तब भगवान्‌ने अपने बाणोंद्वारा गर्जते हुए सुमालीके सारथिका जगमगाते हुए कुण्डलोंसे मण्डित मस्तक काट डाला। इससे उस राक्षसके घोड़े बेलगाम होकर चारों ओर चक्कर काटने लगे ॥ २९ ॥

तैरश्वैर्भ्राम्यते भ्रान्तैः सुमाली राक्षसेश्वरः।
इन्द्रियाश्वैः परिभ्रान्तैर्धृतिहीनो यथा नरः ॥ ३० ॥

उन घोड़ोंके चक्कर काटनेसे उनके साथ ही राक्षसराज सुमाली भी चक्कर काटने लगा। ठीक उसी तरह, जैसे अजितेन्द्रिय मनुष्य विषयोंमें भटकनेवाली इन्द्रियोंके साथ-साथ स्वयं भी भटकता फिरता है ॥ ३० ॥

ततो विष्णुं महाबाहुं प्रपतन्तं रणाजिरे।
हृते सुमालेरश्वैश्च रथे विष्णुरथं प्रति ॥ ३१ ॥
माली चाभ्यद्रवद् युक्तः प्रगृह्य सशरं धनुः।

जब घोड़े रणभूमिमें सुमालीके रथको इधर-उधर लेकर भागने लगे, तब माली नामक राक्षसने युद्धके लिये उद्यत हो धनुष लेकर गरुड़की ओर धावा किया। राक्षसोंपर टूटते हुए महाबाहु विष्णुपर आक्रमण किया ॥ ३१½ ॥

मालेर्धनुश्च्युता बाणाः कार्तस्वरविभूषिताः ॥ ३२ ॥
विविशुर्हरिमासाद्य क्रौञ्चं पत्ररथा इव।

मालीके धनुषसे छूटे हुए सुवर्णभूषित बाण भगवान् विष्णुके शरीरमें उसी तरह घुसने लगे, जैसे पक्षी क्रौञ्चपर्वतके छिद्रमें प्रवेश करते हैं ॥ ३२½ ॥

अर्द्यमानः शरैः सोऽथ मालिमुक्तैः सहस्रशः ॥ ३३ ॥
चुक्षुभे न रणे विष्णुर्जितेन्द्रिय इवाधिभिः।

जैसे जितेन्द्रिय पुरुष मानसिक व्यथाओंसे विचलित नहीं होता, उसी प्रकार रणभूमिमें भगवान् विष्णु मालीके छोड़े हुए सहस्रों बाणोंसे पीड़ित होनेपर भी क्षुब्ध नहीं हुए ॥ ३३½ ॥

अथ मौर्वीस्वनं श्रुत्वा भगवान् भूतभावनः ॥ ३४ ॥
मालिनं प्रति बाणौघान् ससर्जासिगदाधरः।

तदनन्तर खड्ग और गदा धारण करनेवाले भूतभावन भगवान् विष्णुने अपने धनुषकी टङ्कार करके मालीके ऊपर बाण-समूहोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ३४½ ॥

ते मालिदेहमासाद्य वज्रविद्युत्प्रभाः शराः ॥ ३५ ॥
पिबन्ति रुधिरं तस्य नागा इव सुधारसम्।

वज्र और बिजलीके समान प्रकाशित होनेवाले वे बाण मालीके शरीरमें घुसकर उसका रक्त पीने लगे, मानो सर्प अमृतरसका पान कर रहे हों ॥ ३५½ ॥

मालिनं विमुखं कृत्वा शङ्खचक्रगदाधरः ॥ ३६ ॥
मालिमौलिं ध्वजं चापं वाजिनश्चाप्यपातयत्।

अन्तमें मालीको पीठ दिखानेके लिये विवश करके शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् श्रीहरिने उस राक्षसके मुकुट, ध्वज और धनुषको काटकर घोड़ोंको भी मार गिराया ॥ ३६½ ॥

विरथस्तु गदां गृह्य माली नक्तंचरोत्तमः ॥ ३७ ॥
आपुप्लुवे गदापाणिर्गिर्यग्रादिव केसरी।

रथहीन हो जानेपर राक्षसप्रवर माली गदा हाथमें लेकर कूद पड़ा, मानो कोई सिंह पर्वतके शिखरसे छलाँग मारकर नीचे आ गया हो ॥ ३७½ ॥

गदया गरुडेशानमीशानमिव चान्तकः ॥ ३८ ॥
ललाटदेशेऽभ्यहनद् वज्रेणेन्द्रो यथाचलम्।

जैसे यमराजने भगवान् शिवपर गदाका और इन्द्रने पर्वतपर वज्रका प्रहार किया हो, उसी तरह मालीने पक्षिराज गरुड़के ललाटमें अपनी गदाद्वारा गहरी चोट पहुँचायी ॥ ३८½ ॥

गदयाभिहतस्तेन मालिना गरुडो भृशम् ॥ ३९ ॥
रणात् पराङ्मुखं देवं कृतवान् वेदनातुरः।

मालीकी गदासे अत्यन्त आहत हुए गरुड़ वेदनासे व्याकुल हो उठे। उन्होंने स्वयं युद्धसे विमुख होकर भगवान् विष्णुको भी विमुख-सा कर दिया ॥ ३९½ ॥

पराङ्मुखे कृते देवे मालिना गरुडेन वै ॥ ४० ॥
उदतिष्ठन्महाञ्शब्दो रक्षसामभिनर्दताम्।

मालीने गरुड़के साथ ही जब भगवान् विष्णुको भी युद्धसे विमुख-सा कर दिया, तब वहाँ जोर-जोरसे गर्जते हुए राक्षसोंका महान् शब्द गूँज उठा ॥ ४०½ ॥

रक्षसां रुवतां रावं श्रुत्वा हरिहयानुजः ॥ ४१ ॥
तिर्यगास्थाय संक्रुद्धः पक्षीशे भगवान् हरिः।
पराङ्मुखोऽप्युत्ससर्ज मालेश्चक्रं जिघांसया ॥ ४२ ॥

गर्जते हुए राक्षसोंका वह सिंहनाद सुनकर इन्द्रके छोटे भाई भगवान् विष्णु अत्यन्त कुपित हो पक्षिराजकी पीठपर तिरछे होकर बैठ गये। (इससे वह राक्षस उन्हें दीखने लगा) उस समय पराङ्मुख होनेपर भी श्रीहरिने मालीके वधकी इच्छासे पीछेकी ओर मुड़कर अपना सुदर्शनचक्र चलाया ॥ ४१-४२ ॥

ततः सूर्यमण्डलाभासं स्वभासा भासयन् नभः ।
कालचक्रनिभं चक्रं मालेः शीर्षमपातयत् ॥ ४३ ॥

सूर्यमण्डलके समान उद्दीप्त होनेवाले कालचक्र-सदृश उस चक्रने अपनी प्रभासे आकाशको उद्भासित करते हुए वहाँ मालीके मस्तकको काट गिराया ॥ ४३ ॥

तच्छिरो राक्षसेन्द्रस्य चक्रोत्कृत्तं विभीषणम् ।
पपात रुधिरोद्गारि पुरा राहुशिरो यथा ॥ ४४ ॥

चक्रसे कटा हुआ राक्षसराज मालीका वह भयंकर मस्तक पूर्वकालमें कटे हुए राहुके सिरकी भाँति रक्तकी धारा बहाता हुआ पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ४४ ॥

ततः सुरैः सम्प्रहृष्टैः सर्वप्राणसमीरितः ।
सिंहनादरवो मुक्तः साधु देवेतिवादिभिः ॥ ४५ ॥

इससे देवताओंको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे 'साधु भगवन्! साधु!' ऐसा कहते हुए सारी शक्ति लगाकर जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे ॥ ४५ ॥

मालिनं निहतं दृष्ट्वा सुमाली माल्यवानपि ।
सबलौ शोकसंतप्तौ लङ्कामेव प्रधावितौ ॥ ४६ ॥

मालीको मारा गया देख सुमाली और माल्यवान् दोनों राक्षस शोकसे व्याकुल हो सेनासहित लङ्काकी ओर ही भागे ॥ ४६ ॥

गरुडस्तु समाश्वस्तः संनिवृत्य यथा पुरा ।
राक्षसान् द्रावयामास पक्षवातेन कोपितः ॥ ४७ ॥

इतनेहीमें गरुड़की पीड़ा कम हो गयी, वे पुनः सँभलकर लौटे और कुपित हो पूर्ववत् अपने पंखोंकी हवासे राक्षसोंको खदेड़ने लगे ॥ ४७ ॥

चक्रकृत्तास्यकमला गदासंचूर्णितोरसः ।
लाङ्गलग्लपितग्रीवा मुसलैर्भिन्नमस्तकाः ॥ ४८ ॥

कितने ही राक्षसोंके मुखकमल चक्रके प्रहारसे कट गये। गदाओंके आघातसे बहुतोंके वक्षःस्थल चूर-चूर हो गये। हलके फालसे कितनोंके गर्दनें उतर गयीं। मुसलोंकी मारसे बहुतोंके मस्तकोंकी धज्जियाँ उड़ गयीं ॥ ४८ ॥

केचिच्चैवासिना छिन्नास्तथान्ये शरताडिताः ।
निपेतुरम्बरात् तूर्णं राक्षसाः सागराम्भसि ॥ ४९ ॥

तलवारका हाथ पड़नेसे कितने ही राक्षस टुकड़े-टुकड़े हो गये। बहुतेरे बाणोंसे पीड़ित हो तुरंत ही आकाशसे समुद्रके जलमें गिर पड़े ॥ ४९ ॥

नारायणोऽपीषुवराशनीभि-
र्विदारयामास धनुर्विमुक्तैः ।
नक्तंचरान् धूतविमुक्तकेशान्
यथाशनीभिः सतडिन्महाभ्रः ॥ ५० ॥

भगवान् विष्णु भी अपने धनुषसे छूटे हुए श्रेष्ठ बाणों और अशनियोंद्वारा राक्षसोंको विदीर्ण करने लगे। उस समय उन निशाचरोंके खुले हुए केश हवासे उड़ रहे थे और पीताम्बरधारी श्यामसुन्दर श्रीहरि विद्युन्मालामण्डित महान् मेघके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ ५० ॥

भिन्नातपत्रं पतमानशस्त्रं
शरैरपध्वस्तविनीतवेषम् ।
विनिःसृतान्त्रं भयलोलनेत्रं
बलं तदुन्मत्ततरं बभूव ॥ ५१ ॥

राक्षसोंकी वह सारी सेना अत्यन्त उन्मत्त-सी प्रतीत होती थी। बाणोंसे उसके छत्र कट गये थे, अस्त्र-शस्त्र गिर गये थे, सौम्य वेष दूर हो गया था, आँतें बाहर निकल आयी थीं और सबके नेत्र भयसे चञ्चल हो रहे थे ॥ ५१ ॥

सिंहार्दितानामिव कुञ्जराणां
निशाचराणां सह कुञ्जराणाम् ।
रवाश्च वेगाश्च समं बभूवुः
पुराणसिंहेन विमर्दितानाम् ॥ ५२ ॥

जैसे सिंहोंद्वारा पीड़ित हुए हाथियोंके चीत्कार और वेग एक साथ ही प्रकट होते हैं, उसी प्रकार उन पुराणप्रसिद्ध नृसिंहरूपधारी श्रीहरिके द्वारा रौंदे गये उन निशाचररूपी गजराजोंके हाहाकार और वेग साथ-साथ प्रकट हो रहे थे ॥ ५२ ॥

ते वार्यमाणा हरिबाणजालैः
स्वबाणजालानि समुत्सृजन्तः ।
धावन्ति नक्तंचरकालमेघा
वायुप्रणुन्ना इव कालमेघाः ॥ ५३ ॥

भगवान् विष्णुके बाणसमूहोंसे आवृत हो अपने सायकोंका परित्याग करके वे निशाचररूपी काले मेघ उसी प्रकार भागे जा रहे थे, जैसे हवाके उड़ाये हुए वर्षाकालीन मेघ आकाशमें भागते देखे जाते हैं ॥ ५३ ॥

चक्रप्रहारैर्विनिकृत्तशीर्षाः
संचूर्णिताङ्गाश्च गदाप्रहारैः ।
असिप्रहारैर्द्विविधाविभिन्नाः
पतन्ति शैला इव राक्षसेन्द्राः ॥ ५४ ॥

चक्रके प्रहारोंसे राक्षसोंके मस्तक कट गये थे, गदाओंकी मारसे उनके शरीर चूर-चूर हो रहे थे तथा तलवारोंके आघातसे उनके दो-दो टुकड़े हो गये थे। इस तरह वे राक्षसराज पर्वतोंके समान धराशायी हो रहे थे ॥ ५४ ॥

विलम्बमानैर्मणिहारकुण्डलै-
र्निशाचरैर्नीलबलाहकोपमैः ।
निपात्यमानैर्ददृशे निरन्तरं
निपात्यमानैरिव नीलपर्वतैः ॥ ५५ ॥

लटकते हुए मणिमय हारों और कुण्डलोंके साथ गिराये जाते हुए नील मेघ-सदृश उन निशाचरोंकी लाशोंसे वह रणभूमि पट गयी थी। वहाँ धराशायी हुए वे राक्षस नील-पर्वतोंके समान जान पड़ते थे। उनसे वहाँका भूभाग इस तरह आच्छादित हो गया था कि कहीं तिल रखनेकी भी जगह नहीं दिखायी देती थी ॥ ५५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें सातवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७ ॥

—★—

अष्टमः सर्गः

माल्यवान्‌का युद्ध और पराजय तथा सुमाली आदि सब राक्षसोंका रसातलमें प्रवेश

हन्यमाने बले तस्मिन् पद्मनाभेन पृष्ठतः ।
माल्यवान् संनिवृत्तोऽथ वेलामेत्य इवार्णवः ॥ १ ॥

(अगस्त्यजी कहते हैं—रघुनन्दन!) पद्मनाभ भगवान् विष्णुने जब भागती हुई राक्षसोंकी सेनाको पीछेकी ओरसे मारना आरम्भ किया, तब माल्यवान् लौट पड़ा, मानो महासागर अपनी तटभूमितक जाकर निवृत्त हो गया हो ॥ १ ॥

संरक्तनयनः क्रोधाच्चलन्मौलिर्निशाचरः ।
पद्मनाभमिदं प्राह वचनं पुरुषोत्तमम् ॥ २ ॥

उसके नेत्र क्रोधसे लाल हो रहे थे और मुकुट हिल रहा था। उस निशाचरने पुरुषोत्तम भगवान् पद्मनाभसे इस प्रकार कहा— ॥ २ ॥

नारायण न जानीषे क्षात्रधर्मं पुरातनम् ।
अयुद्धमनसो भीतानस्मान् हंसि यथेतरः ॥ ३ ॥

'नारायणदेव! जान पड़ता है पुरातन क्षात्रधर्मको बिलकुल नहीं जानते हो, तभी तो साधारण मनुष्यकी भाँति तुम जिनका मन युद्धसे विरत हो गया है तथा जो डरकर भागे जा रहे हैं, ऐसे हम राक्षसोंको भी मार रहे हो ॥ ३ ॥

पराङ्मुखवधं पापं यः करोति सुरेश्वर ।
स हन्ता न गतः स्वर्गं लभते पुण्यकर्मणाम् ॥ ४ ॥

'सुरेश्वर! जो युद्धसे विमुख हुए सैनिकोंके वधका पाप करता है, वह घातक इस शरीरका त्याग करके परलोकमें जानेपर पुण्यकर्मा पुरुषोंको मिलनेवाले स्वर्गको नहीं पाता है ॥ ४ ॥

युद्धश्रद्धाथवा तेऽस्ति शङ्खचक्रगदाधर ।
अहं स्थितोऽस्मि पश्यामि बलं दर्शय यत् तव ॥ ५ ॥

'शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले देवता! यदि तुम्हारे हृदयमें युद्धका हौसला है तो मैं खड़ा हूँ। देखता हूँ, तुममें कितना बल है? दिखाओ अपना पराक्रम' ॥ ५ ॥

माल्यवन्तं स्थितं दृष्ट्वा माल्यवन्तमिवाचलम् ।
उवाच राक्षसेन्द्रं तं देवराजानुजो बली ॥ ६ ॥

माल्यवान् पर्वतके समान अविचलभावसे खड़े हुए राक्षसराज माल्यवान्‌को देखकर देवराज इन्द्रके छोटे भाई महाबली भगवान् विष्णुने उससे कहा— ॥ ६ ॥

युष्मत्तो भयभीतानां देवानां वै मयाभयम् ।
राक्षसोत्सादनं दत्तं तदेतदनुपाल्यते ॥ ७ ॥

'देवताओंको तुमलोगोंसे बड़ा भय उपस्थित हुआ है, मैंने राक्षसोंके संहारकी प्रतिज्ञा करके उन्हें अभय दान दिया है; अतः इस रूपमें मेरे द्वारा उस प्रतिज्ञाका ही पालन किया जा रहा है ॥ ७ ॥

प्राणैरपि प्रियं कार्यं देवानां हि सदा मया ।
सोऽहं वो निहनिष्यामि रसातलगतानपि ॥ ८ ॥

'मुझे अपने प्राण देकर भी सदा ही देवताओंका प्रिय कार्य करना है; इसलिये तुमलोग भागकर रसातलमें चले जाओ तो भी मैं तुम्हारा वध किये बिना नहीं रहूँगा' ॥ ८ ॥

देवदेवं ब्रुवाणं तं रक्ताम्बुरुहलोचनम् ।
शक्त्या बिभेद संक्रुद्धो राक्षसेन्द्रो भुजान्तरे ॥ ९ ॥

लाल कमलके समान नेत्रवाले देवाधिदेव भगवान् विष्णु जब इस प्रकार कह रहे थे, उस समय अत्यन्त कुपित हुए राक्षसराज माल्यवान्‌ने अपनी शक्तिके द्वारा प्रहार करके भगवान् विष्णुका वक्षःस्थल विदीर्ण कर दिया ॥ ९ ॥

माल्यवद्भुजनिर्मुक्ता शक्तिर्घण्टाकृतस्वना ।
हरेरुरसि बभ्राज मेघस्थेव शतह्रदा ॥ १० ॥

माल्यवान्‌के हाथसे छूटकर घंटानाद करती हुई वह शक्ति श्रीहरिकी छातीसे जा लगी और मेघके अङ्कमें प्रकाशित होनेवाली बिजलीके समान शोभा पाने लगी ॥ १० ॥

ततस्तामेव चोत्कृष्य शक्तिं शक्तिधरप्रियः ।
माल्यवन्तं समुद्दिश्य चिक्षेपाम्बुरुहेक्षणः ॥ ११ ॥

शक्तिधारी कार्तिकेय जिन्हें प्रिय हैं अथवा जो शक्तिधर स्कन्दके प्रियतम हैं, उन भगवान् कमलनयन विष्णुने उसी शक्तिको अपनी छातीसे खींचकर माल्यवान्‌पर दे मारा ॥ ११ ॥

स्कन्दोत्सृष्टेव सा शक्तिर्गोविन्दकरनिःसृता।
काङ्क्षन्ती राक्षसं प्रायान्महोल्केवाञ्जनाचलम्॥ १२॥

स्कन्दकी छोड़ी हुई शक्तिके समान गोविन्दके हाथसे निकली हुई वह शक्ति उस राक्षसको लक्ष्य करके चली, मानो अञ्जनगिरिपर कोई बड़ी भारी उल्का गिर रही हो॥ १२॥

सा तस्योरसि विस्तीर्णे हारभारावभासिते।
आपतद् राक्षसेन्द्रस्य गिरिकूट इवाशनिः॥ १३॥

हारोंके समूहसे प्रकाशित होनेवाले उस राक्षसराजके विशाल वक्षःस्थलपर वह शक्ति गिरी, मानो किसी पर्वतके शिखरपर वज्रपात हुआ हो॥ १३॥

तया भिन्नतनुत्राणः प्राविशद् विपुलं तमः।
माल्यवान् पुनराश्वस्तस्तस्थौ गिरिरिवाचलः॥ १४॥

उससे माल्यवान्‌का कवच कट गया तथा वह गहरी मूर्च्छामें डूब गया; किंतु थोड़ी ही देरमें पुनः सँभलकर माल्यवान् पर्वतकी भाँति अविचलभावसे खड़ा हो गया॥ १४॥

ततः कालायसं शूलं कण्टकैर्बहुभिश्चितम्।
प्रगृह्याभ्यहनद् देवं स्तनयोरन्तरे दृढम्॥ १५॥

तत्पश्चात् उसने काले लोहेके बने हुए और बहुसंख्यक काँटोंसे जड़े हुए शूलको हाथमें लेकर भगवान्‌की छातीमें गहरा आघात किया॥ १५॥

तथैव रणरक्तस्तु मुष्टिना वासवानुजम्।
ताडयित्वा धनुर्मात्रमपक्रान्तो निशाचरः॥ १६॥

इसी प्रकार वह युद्धप्रेमी राक्षस भगवान् विष्णुको मुक्केसे मारकर एक धनुष पीछे हट गया॥ १६॥

ततोऽम्बरे महाञ्छब्दः साधुसाध्विति चोत्थितः।
आहत्य राक्षसो विष्णुं गरुडं चाप्यताडयत्॥ १७॥

उस समय आकाशमें राक्षसोंका महान् हर्षनाद गूँज उठा—वे एक साथ बोल उठे—'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा'। भगवान् विष्णुको घूसा मारकर उस राक्षसने गरुड़पर भी प्रहार किया॥ १७॥

वैनतेयस्ततः क्रुद्धः पक्षवातेन राक्षसम्।
व्यपोहद् बलवान् वायुः शुष्कपर्णचयं यथा॥ १८॥

यह देख विनतानन्दन गरुड़ कुपित हो उठे और उन्होंने अपने पंखोंकी हवासे उस राक्षसको उसी तरह उड़ा दिया, जैसे प्रबल आँधी सूखे पत्तोंके ढेरको उड़ा देती है॥ १८॥

द्विजेन्द्रपक्षवातेन द्रावितं दृश्य पूर्वजम्।
सुमाली स्वबलैः सार्धं लङ्कामभिमुखो ययौ॥ १९॥

अपने बड़े भाईको पक्षिराजके पंखोंकी हवासे उड़ा हुआ देख सुमाली अपने सैनिकोंके साथ लङ्काकी ओर चल दिया॥ १९॥

पक्षवातबलोद्धूतो माल्यवानपि राक्षसः।
स्वबलेन समागम्य ययौ लङ्कां ह्रिया वृतः॥ २०॥

गरुड़के पंखोंकी हवाके बलसे उड़ा हुआ राक्षस माल्यवान् भी लज्जित होकर अपनी सेनासे जा मिला और लङ्काकी ओर चला गया॥ २०॥

एवं ते राक्षसा राम हरिणा कमलेक्षण।
बहुशः संयुगे भग्ना हतप्रवरनायकाः॥ २१॥

कमलनयन श्रीराम! इस प्रकार उन राक्षसोंका भगवान् विष्णुके साथ अनेक बार युद्ध हुआ और प्रत्येक संग्राममें प्रधान-प्रधान नायकोंके मारे जानेपर उन सबको भागना पड़ा॥ २१॥

अशक्नुवन्तस्ते विष्णुं प्रतियोद्धुं बलार्दिताः।
त्यक्त्वा लङ्कां गता वस्तुं पातालं सहपत्नयः॥ २२॥

वे किसी प्रकार भगवान् विष्णुका सामना नहीं कर सके। सदा ही उनके बलसे पीड़ित होते रहे। अतः समस्त निशाचर लङ्का छोड़कर अपनी स्त्रियोंके साथ पातालमें रहनेके लिये चले गये॥ २२॥

सुमालिनं समासाद्य राक्षसं रघुसत्तम।
स्थिताः प्रख्यातवीर्यास्ते वंशे सालकटङ्कटे॥ २३॥

रघुश्रेष्ठ! वे विख्यात पराक्रमी निशाचर सालकटङ्कट-वंशमें विद्यमान राक्षस सुमालीका आश्रय लेकर रहने लगे॥ २३॥

ये त्वया निहतास्ते तु पौलस्त्या नाम राक्षसाः।
सुमाली माल्यवान् माली ये च तेषां पुरःसराः।
सर्व एते महाभागा रावणाद् बलवत्तराः॥ २४॥

श्रीराम! आपने पुलस्त्यवंशके जिन-जिन राक्षसोंका विनाश किया है, उनकी अपेक्षा प्राचीन राक्षसोंका पराक्रम अधिक था। सुमाली, माल्यवान् और माली तथा उनके आगे चलनेवाले योद्धा—ये सभी महाभाग निशाचर रावणसे बढ़कर बलवान् थे॥ २४॥

न चान्यो राक्षसान् हन्ता सुरारीन् देवकण्टकान्।
ऋते नारायणं देवं शङ्खचक्रगदाधरम्॥ २५॥

देवताओंके लिये कण्टकरूप उन देवद्रोही राक्षसोंका वध शङ्ख, चक्र, गदाधारी भगवान् नारायणदेवके सिवा दूसरा कोई नहीं कर सकता॥ २५॥

भवान् नारायणो देवश्चतुर्बाहुः सनातनः।
राक्षसान् हन्तुमुत्पन्नो ह्यजय्यः प्रभुरव्ययः॥ २६॥

आप चार भुजाधारी सनातन देव भगवान् नारायण ही हैं। आपको कोई परास्त नहीं कर सकता। आप अविनाशी प्रभु हैं और राक्षसोंका वध करनेके लिये इस लोकमें अवतीर्ण हुए हैं॥ २६॥

नष्टधर्मव्यवस्थानां काले काले प्रजाकरः।
उत्पद्यते दस्युवधे शरणागतवत्सलः॥ २७॥

आप ही इन प्रजाओंके स्रष्टा हैं और शरणागतोंपर दया रखते हैं। जब-जब धर्मकी व्यवस्थाको नष्ट करनेवाले दस्यु पैदा हो जाते हैं, तब-तब उन दस्युओंका वध करनेके लिये

आप समय-समयपर अवतार लेते रहते हैं ॥ २७ ॥

एषा मया तव नराधिप राक्षसाना-
मुत्पत्तिरद्य कथिता सकला यथावत्।
भूयो निबोध रघुसत्तम रावणस्य
जन्मप्रभावमतुलं ससुतस्य सर्वम् ॥ २८ ॥

नरेश्वर ! इस प्रकार मैंने आपको राक्षसोंकी उत्पत्तिका यह पूरा प्रसंग ठीक-ठीक सुना दिया। रघुवंशशिरोमणे ! अब आप रावण तथा उसके पुत्रोंके जन्म और अनुपम प्रभावका सारा वर्णन सुनिये ॥ २८ ॥

चिरात् सुमाली व्यचरद् रसातलं
स राक्षसो विष्णुभयार्दितस्तदा।
पुत्रैश्च पौत्रैश्च समन्वितो बली
ततस्तु लङ्कामवसद् धनेश्वरः ॥ २९ ॥

भगवान् विष्णुके भयसे पीड़ित होकर राक्षस सुमाली सुदीर्घ कालतक अपने पुत्र-पौत्रोंके साथ रसातलमें विचरता रहा। इसी बीचमें धनाध्यक्ष कुबेरने लङ्काको अपना निवास-स्थान बनाया ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डेऽष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें आठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८ ॥

—★—

नवमः सर्गः

रावण आदिका जन्म और उनका तपके लिये गोकर्ण-आश्रममें जाना

कस्यचित् त्वथ कालस्य सुमाली नाम राक्षसः।
रसातलान्मर्त्यलोकं सर्वं वै विचचार ह ॥ १ ॥
नीलजीमूतसंकाशस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः।
कन्यां दुहितरं गृह्य विना पद्ममिव श्रियम् ॥ २ ॥

कुछ कालके पश्चात् नीले मेघके समान श्याम वर्णवाला राक्षस सुमाली तपाये हुए सोनेके कुण्डलोंसे अलंकृत हो अपनी सुन्दरी कन्याको, जो बिना कमलकी लक्ष्मीके समान जान पड़ती थी, साथ ले रसातलसे निकला और सारे मर्त्यलोकमें विचरने लगा ॥ १-२ ॥

राक्षसेन्द्रः स तु तदा विचरन् वै महीतले।
तदापश्यत् स गच्छन्तं पुष्पकेण धनेश्वरम् ॥ ३ ॥
गच्छन्तं पितरं द्रष्टुं पुलस्त्यतनयं विभुम्।
तं दृष्ट्वामरसंकाशं गच्छन्तं पावकोपमम् ॥ ४ ॥
रसातलं प्रविष्टः सन्मर्त्यलोकात् सविस्मयः।

उस समय भूतलपर विचरते हुए उस राक्षसराजने अग्निके समान तेजस्वी तथा देवतुल्य शोभा धारण करनेवाले धनेश्वर कुबेरको देखा, जो पुष्पक विमानद्वारा अपने पिता पुलस्त्यनन्दन विश्रवाका दर्शन करनेके लिये जा रहे थे। उन्हें देखकर वह अत्यन्त विस्मित हो मर्त्यलोकसे रसातलमें प्रविष्ट हुआ ॥ ३-४½ ॥

इत्येवं चिन्तयामास राक्षसानां महामतिः ॥ ५ ॥
किं कृत्वा श्रेय इत्येवं वर्धेमहि कथं वयम्।

सुमाली बड़ा बुद्धिमान् था। वह सोचने लगा, क्या करनेसे हम राक्षसोंका भला होगा ? कैसे हमलोग उन्नति कर सकेंगे ? ॥ ५½ ॥

अथाब्रवीत् सुतां रक्षः कैकसीं नाम नामतः ॥ ६ ॥
पुत्रि प्रदानकालोऽयं यौवनं व्यतिवर्तते।
प्रत्याख्यानाच्च भीतैस्त्वं न वरैः प्रतिगृह्यसे ॥ ७ ॥

ऐसा विचार करके उस राक्षसने अपनी पुत्रीसे, जिसका नाम कैकसी था, कहा—'बेटी ! अब तुम्हारे विवाहके योग्य समय आ गया है; क्योंकि इस समय तुम्हारी युवावस्था बीत रही है। तुम कहीं इनकार न कर दो, इसी भयसे श्रेष्ठ वर तुम्हारा वरण नहीं कर रहे हैं ॥ ६-७ ॥

त्वत्कृते च वयं सर्वे यन्त्रिता धर्मबुद्धयः।
त्वं हि सर्वगुणोपेता श्रीः साक्षादिव पुत्रिके ॥ ८ ॥

'पुत्री ! तुम्हें विशिष्ट वरकी प्राप्ति हो, इसके लिये हमलोगोंने बहुत प्रयास किया है; क्योंकि कन्यादानके विषयमें हम धर्मबुद्धि रखनेवाले हैं। तुम तो साक्षात् लक्ष्मीके समान सर्वगुणसम्पन्न हो (अतः तुम्हारा वर भी सर्वथा तुम्हारे योग्य ही होना चाहिये) ॥ ८ ॥

कन्यापितृत्वं दुःखं हि सर्वेषां मानकाङ्क्षिणाम्।
न ज्ञायते च कः कन्यां वरयेदिति कन्यके ॥ ९ ॥

'बेटी ! सम्मानकी इच्छा रखनेवाले सभी लोगोंके लिये कन्याका पिता होना दुःखका ही कारण होता है; क्योंकि यह पता नहीं चलता कि कौन और कैसा पुरुष कन्याका वरण करेगा ? ॥ ९ ॥

मातुः कुलं पितृकुलं यत्र चैव च दीयते।
कुलत्रयं सदा कन्या संशये स्थाप्य तिष्ठति ॥ १० ॥

'माताके, पिताके और जहाँ कन्या दी जाती है, उस पतिके कुलको भी कन्या सदा संशयमें डाले रहती है ॥ १० ॥

सा त्वं मुनिवरं श्रेष्ठं प्रजापतिकुलोद्भवम्।
भज विश्रवसं पुत्रि पौलस्त्यं वरय स्वयम् ॥ ११ ॥

'अतः बेटी! तुम प्रजापतिके कुलमें उत्पन्न, श्रेष्ठ गुणसम्पन्न, पुलस्त्यनन्दन मुनिवर विश्रवाका स्वयं चलकर पतिके रूपमें वरण करो और उनकी सेवामें रहो॥ ११॥

ईदृशास्ते भविष्यन्ति पुत्राः पुत्रि न संशयः।
तेजसा भास्करसमो तादृशोऽयं धनेश्वरः॥ १२॥

'पुत्री! ऐसा करनेसे निःसंदेह तुम्हारे पुत्र भी ऐसे ही होंगे, जैसे ये धनेश्वर कुबेर हैं। तुमने तो देखा ही था; ये कैसे अपने तेजसे सूर्यके समान उद्दीप्त हो रहे थे?'॥ १२॥

सा तु तद् वचनं श्रुत्वा कन्यका पितृगौरवात्।
तत्र गत्वा च सा तस्थौ विश्रवा यत्र तप्यते॥ १३॥

पिताकी यह बात सुनकर उनके गौरवका खयाल करके कैकसी उस स्थानपर गयी, जहाँ मुनिवर विश्रवा तप करते थे। वहाँ जाकर वह एक जगह खड़ी हो गयी॥ १३॥

एतस्मिन्नन्तरे राम पुलस्त्यतनयो द्विजः।
अग्निहोत्रमुपातिष्ठच्चतुर्थ इव पावकः॥ १४॥

श्रीराम! इसी बीचमें पुलस्त्यनन्दन ब्राह्मण विश्रवा सायंकालका अग्निहोत्र करने लगे। वे तेजस्वी मुनि उस समय तीन अग्नियोंके साथ स्वयं भी चतुर्थ अग्निके समान देदीप्यमान हो रहे थे॥ १४॥

अविचिन्त्य तु तां वेलां दारुणां पितृगौरवात्।
उपसृत्याग्रतस्तस्य चरणाधोमुखी स्थिता॥ १५॥

पिताके प्रति गौरवबुद्धि होनेके कारण कैकसीने उस भयंकर वेलाका विचार नहीं किया और निकट जा उनके चरणोंपर दृष्टि लगाये नीचा मुँह किये वह सामने खड़ी हो गयी॥ १५॥

विलिखन्ती मुहुर्भूमिमङ्गुष्ठाग्रेण भामिनी।
स तु तां वीक्ष्य सुश्रोणीं पूर्णचन्द्रनिभाननाम्॥ १६॥
अब्रवीत् परमोदारो दीप्यमानां स्वतेजसा।

वह भामिनी अपने पैरके अँगूठेसे बारम्बार धरतीपर रेखा खींचने लगी। पूर्ण चन्द्रमाके समान मुख तथा सुन्दर कटि-प्रदेशवाली उस सुन्दरीको जो अपने तेजसे उद्दीप्त हो रही थी, देखकर उन परम उदार महर्षिने पूछा— ॥ १६½॥

भद्रे कस्यासि दुहिता कुतो वा त्वमिहागता॥ १७॥
किं कार्यं कस्य वा हेतोस्तत्त्वतो ब्रूहि शोभने॥ १८॥

'भद्रे! तुम किसकी कन्या हो, कहाँसे यहाँ आयी हो, मुझसे तुम्हारा क्या काम है अथवा किस उद्देश्यसे यहाँ तुम्हारा आना हुआ है? शोभने! ये सब बातें मुझे ठीक-ठीक बताओ'॥ १७-१८॥

एवमुक्ता तु सा कन्या कृताञ्जलिरथाब्रवीत्।
आत्मप्रभावेण मुने ज्ञातुमर्हसि मे मतम्॥ १९॥
किं तु मां विद्धि ब्रह्मर्षे शासनात् पितुरागताम्।
कैकसी नाम नाम्नाहं शेषं त्वं ज्ञातुमर्हसि॥ २०॥

विश्रवाके इस प्रकार पूछनेपर उस कन्याने हाथ जोड़कर कहा—'मुने! आप अपने ही प्रभावसे मेरे मनोभावको समझ सकते हैं; किंतु ब्रह्मर्षे! मेरे मुखसे इतना अवश्य जान लें कि मैं अपने पिताकी आज्ञासे आपकी सेवामें आयी हूँ और मेरा नाम कैकसी है। बाकी सब बातें आपको स्वतः जान लेनी चाहिये (मुझसे न कहलावें)'॥ १९-२०॥

स तु गत्वा मुनिर्ध्यानं वाक्यमेतदुवाच ह।
विज्ञातं ते मया भद्रे कारणं यन्मनोगतम्॥ २१॥
सुताभिलाषो मत्तस्ते मत्तमातङ्गगामिनि।
दारुणायां तु वेलायां यस्मात् त्वं मामुपस्थिता॥ २२॥
शृणु तस्मात् सुतान् भद्रे यादृशाञ्जनयिष्यसि।
दारुणान् दारुणाकारान् दारुणाभिजनप्रियान्॥ २३॥
प्रसविष्यसि सुश्रोणि राक्षसान् क्रूरकर्मणः।

यह सुनकर मुनिने थोड़ी देरतक ध्यान लगाया और उसके बाद कहा—'भद्रे! तुम्हारे मनका भाव मालूम हुआ। मतवाले गजराजकी भाँति मन्दगतिसे चलनेवाली सुन्दरी! तुम मुझसे पुत्र प्राप्त करना चाहती हो; परंतु इस दारुण वेलामें मेरे पास आयी हो, इसलिये यह भी सुन लो कि तुम कैसे पुत्रोंको जन्म दोगी। सुश्रोणि! तुम्हारे पुत्र क्रूर स्वभाववाले और शरीरसे भी भयंकर होंगे तथा उनका क्रूरकर्मा राक्षसोंके साथ ही प्रेम होगा। तुम क्रूरतापूर्ण कर्म करनेवाले राक्षसोंको ही पैदा करोगी'॥ २१—२३½॥

सा तु तद्वचनं श्रुत्वा प्रणिपत्याब्रवीद् वचः॥ २४॥
भगवन्नीदृशान् पुत्रांस्त्वत्तोऽहं ब्रह्मवादिनः।
नेच्छामि सुदुराचारान् प्रसादं कर्तुमर्हसि॥ २५॥

मुनिका यह वचन सुनकर कैकसी उनके चरणोंपर गिर पड़ी और इस प्रकार बोली—'भगवन्! आप ब्रह्मवादी महात्मा हैं। मैं आपसे ऐसे दुराचारी पुत्रोंको पानेकी अभिलाषा नहीं रखती; अतः आप मुझपर कृपा कीजिये'॥ २४-२५॥

कन्यया त्वेवमुक्तस्तु विश्रवा मुनिपुङ्गवः।
उवाच कैकसीं भूयः पूर्णेन्दुरिव रोहिणीम्॥ २६॥

उस राक्षसकन्याके इस प्रकार कहनेपर पूर्णचन्द्रमाके समान मुनिवर विश्रवा रोहिणी-जैसी सुन्दरी कैकसीसे फिर बोले— ॥ २६॥

पश्चिमो यस्तव सुतो भविष्यति शुभानने।
मम वंशानुरूपः स धर्मात्मा च न संशयः॥ २७॥

'शुभानने! तुम्हारा जो सबसे छोटा एवं अन्तिम पुत्र होगा, वह मेरे वंशके अनुरूप धर्मात्मा होगा; इसमें संशय नहीं है'॥ २७॥

एवमुक्ता तु सा कन्या राम कालेन केनचित्।
जनयामास बीभत्सं रक्षोरूपं सुदारुणम्॥ २८॥
दशग्रीवं महादंष्ट्रं नीलाञ्जनचयोपमम्।
ताम्रोष्ठं विंशतिभुजं महास्यं दीप्तमूर्धजम्॥ २९॥

श्रीराम! मुनिके ऐसा कहनेपर कैकसीने कुछ कालके अनन्तर अत्यन्त भयानक और क्रूर स्वभाववाले एक राक्षसको जन्म दिया, जिसके दस मस्तक, बड़ी-बड़ी दाढ़ें, ताँबे-जैसे ओठ, बीस भुजाएँ, विशाल मुख और चमकीले केश थे। उसके शरीरका रंग कोयलेके पहाड़-जैसा काला था॥ २८-२९॥

तस्मिञ्जाते ततस्तस्मिन् सज्वालकवलाः शिवाः।
क्रव्यादाश्चापसव्यानि मण्डलानि प्रचक्रमुः॥ ३०॥

उसके पैदा होते ही मुँहमें अङ्गारोंके कौर लिये गीदड़ियाँ और मांसभक्षी गृध्र आदि पक्षी दायीं ओर मण्डलाकार घूमने लगे॥ ३०॥

ववर्ष रुधिरं देवो मेघाश्च खरनिःस्वनाः।
प्रबभौ न च सूर्यो वै महोल्काश्चापतन् भुवि॥ ३१॥
चकम्पे जगती चैव ववुर्वाताः सुदारुणाः।
अक्षोभ्यः क्षुभितश्चैव समुद्रः सरितां पतिः॥ ३२॥

इन्द्रदेव रुधिरकी वर्षा करने लगे, मेघ भयंकर स्वरमें गर्जने लगे, सूर्यकी प्रभा फीकी पड़ गयी, पृथ्वीपर उल्कापात होने लगा, धरती काँप उठी, भयानक आँधी चलने लगी तथा जो किसीके द्वारा क्षुब्ध नहीं किया जा सकता, वह सरिताओंका स्वामी समुद्र विक्षुब्ध हो उठा॥ ३१-३२॥

अथ नामाकरोत् तस्य पितामहसमः पिता।
दशग्रीवः प्रसूतोऽयं दशग्रीवो भविष्यति॥ ३३॥

उस समय ब्रह्माजीके समान तेजस्वी पिता विश्रवा मुनिने पुत्रका नाम-करण किया—'यह दस ग्रीवाएँ लेकर उत्पन्न हुआ है, इसलिये 'दशग्रीव' नामसे प्रसिद्ध होगा'॥ ३३॥

तस्य त्वनन्तरं जातः कुम्भकर्णो महाबलः।
प्रमाणाद् यस्य विपुलं प्रमाणं नेह विद्यते॥ ३४॥

उसके बाद महाबली कुम्भकर्णका जन्म हुआ, जिसके शरीरसे बड़ा शरीर इस जगत्‌में दूसरे किसीका नहीं है॥ ३४॥

ततः शूर्पणखा नाम संजज्ञे विकृतानना।
विभीषणश्च धर्मात्मा कैकस्याः पश्चिमः सुतः॥ ३५॥

इसके बाद विकराल मुखवाली शूर्पणखा उत्पन्न हुई। तदनन्तर धर्मात्मा विभीषणका जन्म हुआ, जो कैकसीके अन्तिम पुत्र थे॥ ३५॥

तस्मिन् जाते महासत्त्वे पुष्पवर्षं पपात ह।
नभःस्थाने दुन्दुभयो देवानां प्राणदंस्तथा।
वाक्यं चैवान्तरिक्षे च साधु साध्विति तत् तदा॥ ३६॥

उस महान् सत्त्वशाली पुत्रका जन्म होनेपर आकाशसे फूलोंकी वर्षा हुई और आकाशमें देवोंकी दुन्दुभियाँ बज उठीं। उस समय अन्तरिक्षमें 'साधु-साधु' की ध्वनि सुनायी देने लगी॥ ३६॥

तौ तु तत्र महारण्ये ववृधाते महौजसौ।
कुम्भकर्णदशग्रीवौ लोकोद्वेगकरौ तदा॥ ३७॥

कुम्भकर्ण और दशग्रीव वे दोनों महाबली राक्षस लोकमें उद्वेग पैदा करनेवाले थे। वे दोनों ही उस विशाल वनमें पालित होने और बढ़ने लगे॥ ३७॥

कुम्भकर्णः प्रमत्तस्तु महर्षीन् धर्मवत्सलान्।
त्रैलोक्ये नित्यासंतुष्टो भक्षयन् विचचार ह॥ ३८॥

कुम्भकर्ण बड़ा ही उन्मत्त निकला। वह भोजनसे कभी तृप्त ही नहीं होता था; अतः तीनों लोकोंमें घूम-घूमकर धर्मात्मा महर्षियोंको खाता फिरता था॥ ३८॥

विभीषणस्तु धर्मात्मा नित्यं धर्मव्यवस्थितः।
स्वाध्यायनियताहार उवास विजितेन्द्रियः॥ ३९॥

विभीषण बचपनसे ही धर्मात्मा थे। वे सदा धर्ममें स्थित रहते, स्वाध्याय करते और नियमित आहार करते हुए इन्द्रियोंको अपने काबूमें रखते थे॥ ३९॥

अथ वैश्रवणो देवस्तत्र कालेन केनचित्।
आगतः पितरं द्रष्टुं पुष्पकेण धनेश्वरः॥ ४०॥

कुछ काल बीतनेपर धनके स्वामी वैश्रवण पुष्पकविमानपर आरूढ़ हो अपने पिताका दर्शन करनेके लिये वहाँ आये॥ ४०॥

तं दृष्ट्वा कैकसी तत्र ज्वलन्तमिव तेजसा।
आगम्य राक्षसी तत्र दशग्रीवमुवाच ह॥ ४१॥

वे अपने तेजसे प्रकाशित हो रहे थे। उन्हें देखकर राक्षस-कन्या कैकसी अपने पुत्र दशग्रीवके पास आयी और इस प्रकार बोली—॥ ४१॥

पुत्र वैश्रवणं पश्य भ्रातरं तेजसा वृतम्।
भ्रातृभावे समे चापि पश्यात्मानं त्वमीदृशम्॥ ४२॥

'बेटा! अपने भाई वैश्रवणकी ओर तो देखो। वे कैसे तेजस्वी जान पड़ते हैं? भाई होनेके नाते तुम भी इन्हींके समान हो। परंतु अपनी अवस्था देखो, कैसी है?॥ ४२॥

दशग्रीव यथा यत्नं कुरुष्वामितविक्रम।
यथा त्वमपि मे पुत्र भवेर्वैश्रवणोपमः॥ ४३॥

'अमित पराक्रमी दशग्रीव! मेरे बेटे! तुम भी ऐसा कोई यत्न करो, जिससे वैश्रवणकी ही भाँति तेज और वैभवसे सम्पन्न हो जाओ'॥ ४३॥

मातुस्तद् वचनं श्रुत्वा दशग्रीवः प्रतापवान्।
अमर्षमतुलं लेभे प्रतिज्ञां चाकरोत् तदा॥ ४४॥

माताकी यह बात सुनकर प्रतापी दशग्रीवको अनुपम अमर्ष हुआ। उसने तत्काल प्रतिज्ञा की—॥ ४४॥

सत्यं ते प्रतिजानामि भ्रातृतुल्योऽधिकोऽपि वा।
भविष्याम्योजसा चैव संतापं त्यज हृद्गतम्॥ ४५॥

'माँ! तुम अपने हृदयकी चिन्ता छोड़ो। मैं तुमसे सच्ची प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि अपने पराक्रमसे भाई वैश्रवणके समान या उनसे भी बढ़कर हो जाऊँगा'॥ ४५॥

ततः क्रोधेन तेनैव दशग्रीवः सहानुजः।
चिकीर्षुर्दुष्करं कर्म तपसे धृतमानसः॥ ४६॥

प्राप्स्यामि तपसा काममिति कृत्वाध्यवस्य च।
आगच्छदात्मसिद्ध्यर्थं गोकर्णस्याश्रमं शुभम्॥ ४७॥

तदनन्तर उसी क्रोधके आवेशमें भाइयोंसहित दशग्रीवने दुष्कर कर्मकी इच्छा मनमें लेकर सोचा—'मैं तपस्यासे ही अपना मनोरथ पूर्ण कर सकूँगा, ऐसा विचारकर उसने मनमें तपस्याका ही निश्चय किया और अपनी अभीष्ट-सिद्धिके लिये वह गोकर्णके पवित्र आश्रमपर गया॥ ४६-४७॥

स राक्षसस्तत्र सहानुजस्तदा
तपश्चचारातुलमुग्रविक्रमः।
अतोषयच्चापि पितामहं विभुं
ददौ स तुष्टश्च वराञ्जयावहान्॥ ४८॥

भाइयोंसहित उस भयंकर पराक्रमी राक्षसने अनुपम तपस्या आरम्भ की। उस तपस्याद्वारा उसने भगवान् ब्रह्माजीको संतुष्ट किया और उन्होंने प्रसन्न होकर उसे विजय दिलानेवाले वरदान दिये॥ ४८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे नवमः सर्गः॥ ९॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें नवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ९॥

—★—

दशमः सर्गः

रावण आदिकी तपस्या और वर-प्राप्ति

अथाब्रवीन्मुनिं रामः कथं ते भ्रातरो वने।
कीदृशं तु तदा ब्रह्मंस्तपस्तेपुर्महाबलाः॥ १॥

इतनी कथा सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने अगस्त्य मुनिसे पूछा—'ब्रह्मन्! उन तीनों महाबली भाइयोंने वनमें किस प्रकार और कैसी तपस्या की?'॥ १॥

अगस्त्यस्त्वब्रवीत् तत्र रामं सुप्रीतमानसम्।
तांस्तान् धर्मविधींस्तत्र भ्रातरस्ते समाविशन्॥ २॥

तब अगस्त्यजीने अत्यन्त प्रसन्नचित्तवाले श्रीरामसे कहा—'रघुनन्दन! उन तीनों भाइयोंने वहाँ पृथक्-पृथक् धर्मविधियोंका अनुष्ठान किया॥ २॥

कुम्भकर्णस्ततो यत्तो नित्यं धर्मपथे स्थितः।
ततापं ग्रीष्मकाले तु पञ्चाग्नीन् परितः स्थितः॥ ३॥

'कुम्भकर्ण अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखकर प्रतिदिन धर्मके मार्गमें स्थित हो गर्मीके दिनोंमें अपने चारों ओर आग जला धूपमें बैठकर पञ्चाग्निका सेवन करने लगा॥ ३॥

मेघाम्बुसिक्तो वर्षासु वीरासनमसेवत।
नित्यं च शिशिरे काले जलमध्यप्रतिश्रयः॥ ४॥

'फिर वर्षाऋतुमें खुले मैदानमें वीरासनसे बैठकर मेघोंके बरसाये हुए जलसे भीगता रहा और जाड़ेके दिनोंमें प्रतिदिन जलके भीतर रहने लगा॥ ४॥

एवं वर्षसहस्राणि दश तस्यापचक्रमुः।
धर्मे प्रयतमानस्य सत्पथे निष्ठितस्य च॥ ५॥

'इस प्रकार सन्मार्गमें स्थित हो धर्मके लिये प्रयत्नशील हुए उस कुम्भकर्णके दस हजार वर्ष बीत गये॥ ५॥

विभीषणस्तु धर्मात्मा नित्यं धर्मपरः शुचिः।
पञ्चवर्षसहस्राणि पादेनैकेन तस्थिवान्॥ ६॥

'विभीषण तो सदासे ही धर्मात्मा थे। वे नित्यधर्मपरायण रहकर शुद्ध आचार-विचारका पालन करते हुए पाँच हजार वर्षोंतक एक पैरसे खड़े रहे॥ ६॥

समाप्ते नियमे तस्य ननृतुश्चाप्सरोगणाः।
पपात पुष्पवर्षं च तुष्टुवुश्चापि देवताः॥ ७॥

'उनका नियम समाप्त होनेपर अप्सराएँ नृत्य करने लगीं। उनके ऊपर आकाशसे फूलोंकी वर्षा हुई और देवताओंने उनकी स्तुति की॥ ७॥

पञ्चवर्षसहस्राणि सूर्यं चैवान्ववर्तत।
तस्थौ चोर्ध्वशिरोबाहुः स्वाध्याये धृतमानसः॥ ८॥

'तदनन्तर विभीषणने अपनी दोनों बाँहें और मस्तक ऊपर उठाकर स्वाध्यायपरायण हो पाँच हजार वर्षोंतक सूर्यदेवकी आराधना की॥ ८॥

एवं विभीषणस्यापि स्वर्गस्थस्येव नन्दने।
दशवर्षसहस्राणि गतानि नियतात्मनः॥ ९॥

'इस प्रकार मनको वशमें रखनेवाले विभीषणके भी दस हजार वर्ष बड़े सुखसे बीते, मानो वे स्वर्गके नन्दनवनमें निवास करते हों॥ ९॥

दशवर्षसहस्रं तु निराहारो दशाननः।
पूर्णे वर्षसहस्रे तु शिरश्चाग्नौ जुहाव सः॥ १०॥

'दशमुख रावणने दस हजार वर्षोंतक लगातार उपवास किया। प्रत्येक सहस्र वर्षके पूर्ण होनेपर वह अपना एक मस्तक काटकर आगमें होम देता था॥ १०॥

एवं वर्षसहस्राणि नव तस्यातिचक्रमुः।
शिरांसि नव चाप्यस्य प्रविष्टानि हुताशनम्॥ ११॥

'इस तरह एक-एक करके उसके नौ हजार वर्ष बीत गये और नौ मस्तक भी अग्निदेवको भेंट हो गये॥ ११॥

अथ वर्षसहस्रे तु दशमे दशमं शिरः ।
छेत्तुकामे दशग्रीवे प्राप्तस्तत्र पितामहः ॥ १२ ॥

'जब दसवाँ सहस्र पूरा हुआ और दशग्रीव अपना दसवाँ मस्तक काटनेको उद्यत हुआ, इसी समय पितामह ब्रह्माजी वहाँ आ पहुँचे ॥ १२ ॥

पितामहस्तु सुप्रीतः सार्धं देवैरुपस्थितः ।
तव तावद् दशग्रीव प्रीतोऽस्मीत्यभ्यभाषत ॥ १३ ॥

'पितामह ब्रह्मा अत्यन्त प्रसन्न होकर देवताओंके साथ वहाँ पहुँचे थे। उन्होंने आते ही कहा— दशग्रीव ! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ ॥ १३ ॥

शीघ्रं वरय धर्मज्ञ वरो यस्तेऽभिकाङ्क्षितः ।
कं ते कामं करोम्यद्य न वृथा ते परिश्रमः ॥ १४ ॥

'धर्मज्ञ ! तुम्हारे मनमें जिस वरको पानेकी इच्छा हो, उसे शीघ्र माँगो। बोलो, आज मैं तुम्हारी किस अभिलाषाको पूर्ण करूँ ? तुम्हारा परिश्रम व्यर्थ नहीं होना चाहिये' ॥ १४ ॥

अथाब्रवीद् दशग्रीवः प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।
प्रणम्य शिरसा देवं हर्षगद्गदया गिरा ॥ १५ ॥

यह सुनकर दशग्रीवकी अन्तरात्मा प्रसन्न हो गयी। उसने मस्तक झुकाकर भगवान् ब्रह्माको प्रणाम किया और हर्ष-गद्गदवाणीमें कहा— ॥ १५ ॥

भगवन् प्राणिनां नित्यं नान्यत्र मरणाद् भयम् ।
नास्ति मृत्युसमः शत्रुरमरत्वमहं वृणे ॥ १६ ॥

'भगवन् ! प्राणियोंके लिये मृत्युके सिवा और किसीका सदा भय नहीं रहता है; अतएव मैं अमर होना चाहता हूँ; क्योंकि मृत्युके समान दूसरा कोई शत्रु नहीं है' ॥ १६ ॥

एवमुक्तस्तदा ब्रह्मा दशग्रीवमुवाच ह ।
नास्ति सर्वामरत्वं ते वरमन्यं वृणीष्व मे ॥ १७ ॥

'उसके ऐसा कहनेपर ब्रह्माजीने दशग्रीवसे कहा—'तुम्हें सर्वथा अमरत्व नहीं मिल सकता; इसलिये दूसरा कोई वर माँगो' ॥ १७ ॥

एवमुक्ते तदा राम ब्रह्मणा लोककर्तृणा ।
दशग्रीव उवाचेदं कृताञ्जलिरथाग्रतः ॥ १८ ॥

'श्रीराम ! लोकस्रष्टा ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर दशग्रीवने उनके सामने हाथ जोड़कर कहा— ॥ १८ ॥

सुपर्णनागयक्षाणां दैत्यदानवरक्षसाम् ।
अवध्योऽहं प्रजाध्यक्ष देवतानां च शाश्वत ॥ १९ ॥

'सनातन प्रजापते ! मैं गरुड़, नाग, यक्ष, दैत्य, दानव, राक्षस तथा देवताओंके लिये अवध्य हो जाऊँ ॥ १९ ॥

नहि चिन्ता ममान्येषु प्राणिष्वमरपूजित ।
तृणभूता हि ते मन्ये प्राणिनो मानुषादयः ॥ २० ॥

'देववन्द्य पितामह ! अन्य प्राणियोंसे मुझे तनिक भी चिन्ता नहीं है। मनुष्य आदि अन्य जीवोंको तो मैं तिनकेके समान समझता हूँ' ॥ २० ॥

एवमुक्तस्तु धर्मात्मा दशग्रीवेण रक्षसा ।
उवाच वचनं देवः सह देवैः पितामहः ॥ २१ ॥

राक्षस दशग्रीवके ऐसा कहनेपर देवताओंसहित भगवान् ब्रह्माजीने कहा— ॥ २१ ॥

भविष्यत्येवमेतत् ते वचो राक्षसपुङ्गव ।
एवमुक्त्वा तु तं राम दशग्रीवं पितामहः ॥ २२ ॥

'राक्षसप्रवर ! तुम्हारा यह वचन सत्य होगा।' श्रीराम ! दशग्रीवसे ऐसा कहकर पितामह फिर बोले— ॥ २२ ॥

शृणु चापि वरो भूयः प्रीतस्येह शुभो मम ।
हुतानि यानि शीर्षाणि पूर्वमग्नौ त्वयानघ ॥ २३ ॥
पुनस्तानि भविष्यन्ति तथैव तव राक्षस ।
वितरामीह ते सौम्य वरं चान्यं दुरासदम् ॥ २४ ॥
छन्दतस्तव रूपं च मनसा यद् यथेप्सितम् ।

'निष्पाप राक्षस ! सुनो—मैं प्रसन्न होकर पुनः तुम्हें यह शुभ वर प्रदान करता हूँ—तुमने पहले अग्निमें अपने जिन-जिन मस्तकोंका हवन किया है, वे सब तुम्हारे लिये फिर पूर्ववत् प्रकट हो जायँगे। सौम्य ! इसके सिवा एक और भी दुर्लभ वर मैं तुम्हें यहाँ दे रहा हूँ—तुम अपने मनसे जब जैसा रूप धारण करना चाहोगे, तुम्हारी इच्छाके अनुसार उस समय तुम्हारा वैसा ही रूप हो जायगा' ॥२३-२४½ ॥

एवं पितामहोक्तस्य दशग्रीवस्य रक्षसः ॥ २५ ॥
अग्नौ हुतानि शीर्षाणि पुनस्तान्युत्थितानि वै ।

'पितामह ब्रह्माके इतना कहते ही राक्षस दशग्रीवके वे मस्तक, जो पहले आगमें होम दिये गये थे, फिर नये रूपमें प्रकट हो गये ॥२५½ ॥

एवमुक्त्वा तु तं राम दशग्रीवं पितामहः ॥ २६ ॥
विभीषणमथोवाच वाक्यं लोकपितामहः ।

'श्रीराम ! दशग्रीवसे पूर्वोक्त बात कहकर लोकपितामह ब्रह्माजी विभीषणसे बोले— ॥२६½ ॥

विभीषण त्वया वत्स धर्मसंहितबुद्धिना ॥ २७ ॥
परितुष्टोऽस्मि धर्मात्मन् वरं वरय सुव्रत ।

'बेटा विभीषण ! तुम्हारी बुद्धि सदा धर्ममें लगी रहनेवाली है, अतः मैं तुमसे बहुत संतुष्ट हूँ। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले धर्मात्मन् ! तुम भी अपनी रुचिके अनुसार कोई वर माँगो' ॥२७½ ॥

विभीषणस्तु धर्मात्मा वचनं प्राह साञ्जलिः ॥ २८ ॥
वृतः सर्वगुणैर्नित्यं चन्द्रमा रश्मिभिर्यथा ।
भगवन् कृतकृत्योऽहं यन्मे लोकगुरुः स्वयम् ॥ २९ ॥
प्रीतेन यदि दातव्यो वरो मे शृणु सुव्रत ।

'तब किरणमालामण्डित चन्द्रमाकी भाँति सदा समस्त गुणोंसे सम्पन्न धर्मात्मा विभीषणने हाथ जोड़कर कहा—'भगवन् ! यदि साक्षात् लोकगुरु आप मुझ-पर प्रसन्न हैं तो मैं कृतार्थ हूँ। मुझे कुछ भी पाना

शेष नहीं रहा। उत्तम व्रतको धारण करनेवाले पितामह! यदि आप प्रसन्न होकर मुझे वर देना ही चाहते हैं तो सुनिये ॥ २८-२९½ ॥

परमापद्गतस्यापि धर्मे मम मतिर्भवेत् ॥ ३० ॥
अशिक्षितं च ब्रह्मास्त्रं भगवन् प्रतिभातु मे ।

'भगवन्! बड़ी-से-बड़ी आपत्तिमें पड़नेपर भी मेरी बुद्धि धर्ममें ही लगी रहे—उससे विचलित न हो और बिना सीखे ही मुझे ब्रह्मास्त्रका ज्ञान हो जाय ॥ ३०½ ॥

या या मे जायते बुद्धिर्येषु येष्वाश्रमेषु च ॥ ३१ ॥
सा सा भवतु धर्मिष्ठा तं तं धर्मं च पालये ।
एष मे परमोदारो वरः परमको मतः ॥ ३२ ॥

'जिस-जिस आश्रमके विषयमें मेरा जो-जो विचार हो, वह धर्मके अनुकूल ही हो और उस-उस धर्मका मैं पालन करूँ; यही मेरे लिये सबसे उत्तम और अभीष्ट वरदान है ॥ ३१-३२ ॥

नहि धर्माभिरक्तानां लोके किंचन दुर्लभम् ।
पुनः प्रजापतिः प्रीतो विभीषणमुवाच ह ॥ ३३ ॥

'क्योंकि जो धर्ममें अनुरक्त हैं, उनके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है' यह सुनकर प्रजापति ब्रह्मा पुनः प्रसन्न हो विभीषणसे बोले— ॥ ३३ ॥

धर्मिष्ठस्त्वं यथा वत्स तथा चैतद् भविष्यति ।
यस्माद् राक्षसयोनौ ते जातस्यामित्रनाशन ॥ ३४ ॥
नाधर्मे जायते बुद्धिरमरत्वं ददामि ते ।

'वत्स! तुम धर्ममें स्थित रहनेवाले हो; अतः जो कुछ चाहते हो, वह सब पूर्ण होगा। शत्रुनाशन! राक्षसयोनिमें उत्पन्न होकर भी तुम्हारी बुद्धि अधर्ममें नहीं लगती है; इसलिये मैं तुम्हें अमरत्व प्रदान करता हूँ ॥ ३४½ ॥

इत्युक्त्वा कुम्भकर्णाय वरं दातुमवस्थितम् ॥ ३५ ॥
प्रजापतिं सुराः सर्वे वाक्यं प्राञ्जलयोऽब्रुवन् ।

'विभीषणसे ऐसा कहकर जब ब्रह्माजी कुम्भकर्णको वर देनेके लिये उद्यत हुए, तब सब देवता उनसे हाथ जोड़कर बोले— ॥ ३५½ ॥

न तावत् कुम्भकर्णाय प्रदातव्यो वरस्त्वया ॥ ३६ ॥
जानीषे हि यथा लोकांस्त्रासयत्येष दुर्मतिः ।

'प्रभो! आप कुम्भकर्णको वरदान न दीजिये; क्योंकि आप जानते हैं कि यह दुर्बुद्धि निशाचर किस तरह समस्त लोकोंको त्रास देता है ॥ ३६½ ॥

नन्दनेऽप्सरसः सप्त महेन्द्रानुचरा दश ॥ ३७ ॥
अनेन भक्षिता ब्रह्मन्नृषयो मानुषास्तथा ।

'ब्रह्मन्! इसने नन्दनवनकी सात अप्सराओं, देवराज इन्द्रके दस अनुचरों तथा बहुत-से ऋषियों और मनुष्योंको भी खा लिया है ॥ ३७½ ॥

अलब्धवरपूर्वेण यत् कृतं राक्षसेन तु ॥ ३८ ॥
यद्येष वरलब्धः स्याद् भक्षयेद् भुवनत्रयम् ।

'पहले वर न पानेपर भी इस राक्षसने जब इस प्रकार प्राणियोंके भक्षणका क्रूरतापूर्ण कर्म कर डाला है, तब यदि इसे वर प्राप्त हो जाय, उस दशामें तो यह तीनों लोकोंको खा जायगा ॥ ३८½ ॥

वरव्याजेन मोहोऽस्मै दीयताममितप्रभ ॥ ३९ ॥
लोकानां स्वस्ति चैवं स्याद् भवेदस्य च सम्मतिः ।

'अमिततेजस्वी देव! आप वरके बहाने इसको मोह प्रदान कीजिये। इससे समस्त लोकोंका कल्याण होगा और इसका भी सम्मान हो जायगा' ॥ ३९½ ॥

एवमुक्तः सुरैर्ब्रह्माचिन्तयत् पद्मसम्भवः ॥ ४० ॥
चिन्तिता चोपतस्थेऽस्य पार्श्वं देवी सरस्वती ।

देवताओंके ऐसा कहनेपर कमलयोनि ब्रह्माजीने सरस्वतीका स्मरण किया। उनके चिन्तन करते ही देवी सरस्वती पास आ गयीं ॥ ४०½ ॥

प्राञ्जलिः सा तु पार्श्वस्था प्राह वाक्यं सरस्वती ॥ ४१ ॥
इयमस्म्यागता देव किं कार्यं करवाण्यहम् ।

उनके पार्श्वभागमें खड़ी हो सरस्वतीने हाथ जोड़कर कहा—'देव! यह मैं आ गयी। मेरे लिये क्या आज्ञा है? मैं कौन-सा कार्य करूँ?' ॥ ४१½ ॥

प्रजापतिस्तु तां प्राप्तां प्राह वाक्यं सरस्वतीम् ॥ ४२ ॥
वाणि त्वं राक्षसेन्द्रस्य भव वाग्देवतेप्सिता ।

'तब प्रजापतिने वहाँ आयी हुई सरस्वतीदेवीसे कहा— 'वाणि! तुम राक्षसराज कुम्भकर्णकी जिह्वापर विराजमान हो देवताओंके अनुकूल वाणीके रूपमें प्रकट होओ' ॥ ४२½ ॥

तथेत्युक्त्वा प्रविष्टा सा प्रजापतिरथाब्रवीत् ॥ ४३ ॥
कुम्भकर्ण महाबाहो वरं वरय यो मतः ।

'तब 'बहुत अच्छा' कहकर सरस्वती कुम्भकर्णके मुखमें समा गयीं। इसके बाद प्रजापतिने उस राक्षससे कहा— 'महाबाहु कुम्भकर्ण! तुम भी अपने मनके अनुकूल कोई वर माँगो' ॥ ४३½ ॥

कुम्भकर्णस्तु तद्वाक्यं श्रुत्वा वचनमब्रवीत् ॥ ४४ ॥
स्वप्तुं वर्षाण्यनेकानि देवदेव ममेप्सितम् ।
एवमस्त्विति तं चोक्त्वा प्रायाद् ब्रह्मा सुरैः समम् ॥ ४५ ॥

'उनकी बात सुनकर कुम्भकर्ण बोला—'देवदेव! मैं अनेकानेक वर्षोंतक सोता रहूँ। यही मेरी इच्छा है।' तब 'एवमस्तु (ऐसा ही हो)' कहकर ब्रह्माजी देवताओंके साथ चले गये ॥ ४४-४५ ॥

देवी सरस्वती चैव राक्षसं तं जहौ पुनः ।
ब्रह्मणा सह देवेषु गतेषु च नभःस्थलम् ॥ ४६ ॥

विमुक्तोऽसौ सरस्वत्या स्वां संज्ञां च ततो गतः ।
कुम्भकर्णस्तु दुष्टात्मा चिन्तयामास दुःखितः ॥ ४७ ॥

'फिर सरस्वतीदेवीने भी उस राक्षसको छोड़ दिया। ब्रह्माजीके साथ देवताओंके आकाशमें चले जानेपर जब सरस्वतीजी उसके ऊपरसे उतर गयीं, तब दुष्टात्मा कुम्भकर्णको चेत हुआ और वह दुःखी होकर इस प्रकार चिन्ता करने लगा ॥ ४६-४७ ॥

ईदृशं किमिदं वाक्यं ममाद्य वदनाच्च्युतम् ।
अहं व्यामोहितो देवैरिति मन्ये तदागतैः ॥ ४८ ॥

'अहो ! आज मेरे मुँहसे ऐसी बात क्यों निकल गयी। मैं समझता हूँ, ब्रह्माजीके साथ आये हुए देवताओंने ही उस समय मुझे मोहमें डाल दिया था' ॥ ४८ ॥

एवं लब्धवराः सर्वे भ्रातरो दीप्ततेजसः ।
श्लेष्मातकवनं गत्वा तत्र ते न्यवसन् सुखम् ॥ ४९ ॥

'इस प्रकार वे तीनों तेजस्वी भ्राता वर पाकर श्लेष्मातक-वन (लसोड़ेके जंगल) में गये और वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे दशमः सर्गः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें दसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १० ॥

—★—
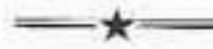
एकादशः सर्गः

रावणका संदेश सुनकर पिताकी आज्ञासे कुबेरका लङ्काको छोड़कर कैलासपर जाना, लङ्कामें रावणका राज्याभिषेक तथा राक्षसोंका निवास

सुमाली वरलब्धांस्तु ज्ञात्वा चैतान् निशाचरान् ।
उदतिष्ठद् भयं त्यक्त्वा सानुगः स रसातलात् ॥ १ ॥

रावण आदि निशाचरोंको वर प्राप्त हुआ है, यह जानकर सुमाली नामक राक्षस अपने अनुचरोंसहित भय छोड़कर रसातलसे निकला ॥ १ ॥

मारीचश्च प्रहस्तश्च विरूपाक्षो महोदरः ।
उदतिष्ठन् सुसंरब्धाः सचिवास्तस्य रक्षसः ॥ २ ॥

साथ ही मारीच, प्रहस्त, विरूपाक्ष और महोदर—ये उस राक्षसके चार मन्त्री भी रसातलसे ऊपरको उठे। वे सब-के-सब रोषावेषसे भरे हुए थे ॥ २ ॥

सुमाली सचिवैः सार्धं वृतो राक्षसपुङ्गवैः ।
अभिगम्य दशग्रीवं परिष्वज्येदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

श्रेष्ठ राक्षसोंसे घिरा हुआ सुमाली अपने सचिवोंके साथ दशग्रीवके पास गया और उसे छातीसे लगाकर इस प्रकार बोला— ॥ ३ ॥

दिष्ट्या ते वत्स सम्प्राप्तश्चिन्तितोऽयं मनोरथः ।
यस्त्वं त्रिभुवनश्रेष्ठाल्लब्धवान् वरमुत्तमम् ॥ ४ ॥

'वत्स ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुमने त्रिभुवनश्रेष्ठ ब्रह्माजीसे उत्तम वर प्राप्त किया, जिससे तुम्हें यह चिरकालसे चिन्तित मनोरथ उपलब्ध हो गया ॥ ४ ॥

यत्कृते च वयं लङ्कां त्यक्त्वा याता रसातलम् ।
तद्गतं नो महाबाहो महद्विष्णुकृतं भयम् ॥ ५ ॥

'महाबाहो ! जिसके कारण हम सब राक्षस लङ्का छोड़कर रसातलमें चले गये थे, भगवान् विष्णुसे प्राप्त होनेवाला हमारा यह महान् भय दूर हो गया ॥ ५ ॥

असकृत् तद्भयाद् भग्नाः परित्यज्य स्वमालयम् ।
विद्रुताः सहिताः सर्वे प्रविष्टाः स्म रसातलम् ॥ ६ ॥

'हम सब लोग बारम्बार भगवान् विष्णुके भयसे पीड़ित होनेके कारण अपना घर छोड़ भाग निकले और सब-के-सब एक साथ ही रसातलमें प्रविष्ट हो गये ॥ ६ ॥

अस्मदीया च लङ्केयं नगरी राक्षसोषिता ।
निवेशिता तव भ्रात्रा धनाध्यक्षेण धीमता ॥ ७ ॥

'यह लङ्कानगरी जिसमें तुम्हारे बुद्धिमान् भाई धनाध्यक्ष कुबेर निवास करते हैं, हमलोगोंकी है। पहले इसमें राक्षस ही रहा करते थे ॥ ७ ॥

यदि नामात्र शक्यं स्यात् साम्ना दानेन वानघ ।
तरसा वा महाबाहो प्रत्यानेतुं कृतं भवेत् ॥ ८ ॥

'निष्पाप महाबाहो ! यदि साम, दान अथवा बलप्रयोगके द्वारा भी पुनः लङ्काको वापस लिया जा सके तो हमलोगोंका काम बन जाय ॥ ८ ॥

त्वं च लङ्केश्वरस्तात भविष्यसि न संशयः ।
त्वया राक्षसवंशोऽयं निमग्नोऽपि समुद्धृतः ॥ ९ ॥

'तात ! तुम्हीं लङ्काके स्वामी होओगे, इसमें संशय नहीं है; क्योंकि तुमने इस राक्षसवंशका जो रसातलमें डूब गया था, उद्धार किया है ॥ ९ ॥

सर्वेषां नः प्रभुश्चैव भविष्यसि महाबल ।
अथाब्रवीद् दशग्रीवो मातामहमुपस्थितम् ॥ १० ॥
वित्तेशो गुरुरस्माकं नार्हसे वक्तुमीदृशम् ।

'महाबली वीर ! तुम्हीं हम सबके राजा होओगे।' यह सुनकर दशग्रीवने पास खड़े हुए अपने मातामहसे कहा—

'नानाजी ! धनाध्यक्ष कुबेर हमारे बड़े भाई हैं, अतः उनके सम्बन्धमें आपको मुझसे ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये' ॥ १०½ ॥

साम्ना हि राक्षसेन्द्रेण प्रत्याख्यातो गरीयसा ॥ ११ ॥
किंचिन्नाह तदा रक्षो ज्ञात्वा तस्य चिकीर्षितम् ।

उस श्रेष्ठ राक्षसराजके द्वारा शान्तभावसे ही ऐसा कोरा उत्तर पाकर सुमाली समझ गया कि रावण क्या करना चाहता है, इसलिये वह राक्षस चुप हो गया। फिर कुछ कहनेका साहस न कर सका ॥ ११½ ॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य वसन्तं रावणं ततः ॥ १२ ॥
उक्तवन्तं तथा वाक्यं दशग्रीवं निशाचरः ।
प्रहस्तः प्रश्रितं वाक्यमिदमाह सकारणम् ॥ १३ ॥

तदनन्तर कुछ काल व्यतीत होनेपर अपने स्थानपर निवास करते हुए दशग्रीव रावणसे जो सुमालीको पहले पूर्वोक्त उत्तर दे चुका था, निशाचर प्रहस्तने विनयपूर्वक यह युक्तियुक्त बात कही— ॥ १२-१३ ॥

दशग्रीव महाबाहो नार्हसे वक्तुमीदृशम् ।
सौभ्रात्रं नास्ति शूराणां शृणु चेदं वचो मम ॥ १४ ॥

'महाबाहु दशग्रीव ! आपने अपने नानासे जो कुछ कहा है, वैसा नहीं कहना चाहिये; क्योंकि वीरोंमें इस तरह भ्रातृभावका निर्वाह होता नहीं देखा जाता। आप मेरी यह बात सुनिये ॥ १४ ॥

अदितिश्च दितिश्चैव भगिन्यौ सहिते हि ते ।
भार्ये परमरूपिण्यौ कश्यपस्य प्रजापतेः ॥ १५ ॥

'अदिति और दिति दोनों सगी बहनें हैं। वे दोनों ही प्रजापति कश्यपकी परम सुन्दरी पत्नियाँ हैं ॥ १५ ॥

अदितिर्जनयामास देवांस्त्रिभुवनेश्वरान् ।
दितिस्त्वजनयद् दैत्यान् कश्यपस्यात्मसम्भवान् ॥ १६ ॥

'अदितिने देवताओंको जन्म दिया है, जो इस समय त्रिभुवनके स्वामी हैं और दितिने दैत्योंको उत्पन्न किया है। देवता और दैत्य दोनों ही महर्षि कश्यपके औरस पुत्र हैं ॥ १६ ॥

दैत्यानां किल धर्मज्ञ पुरेयं सवनार्णवा ।
सपर्वता मही वीर तेऽभवन् प्रभविष्णवः ॥ १७ ॥

'धर्मज्ञ वीर ! पहले पर्वत, वन और समुद्रोंसहित यह सारी पृथ्वी दैत्योंके ही अधिकारमें थी; क्योंकि वे बड़े प्रभावशाली थे ॥ १७ ॥

निहत्य तांस्तु समरे विष्णुना प्रभविष्णुना ।
देवानां वशमानीतं त्रैलोक्यमिदमव्ययम् ॥ १८ ॥

'किंतु सर्वशक्तिमान् भगवान् विष्णुने युद्धमें दैत्योंको मारकर त्रिलोकीका यह अक्षय राज्य देवताओंके अधिकारमें दे दिया ॥ १८ ॥

नैतदेको भवानेव करिष्यति विपर्ययम् ।
सुरासुरैराचरितं तत् कुरुष्व वचो मम ॥ १९ ॥

'इस तरहका विपरीत आचरण केवल आप ही नहीं करेंगे। देवताओं और असुरोंने भी पहले इस नीतिसे काम लिया है; अतः आप मेरी बात मान लें' ॥ १९ ॥

एवमुक्तो दशग्रीवः प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।
चिन्तयित्वा मुहूर्तं वै बाढमित्येव सोऽब्रवीत् ॥ २० ॥

प्रहस्तके ऐसा कहनेपर दशग्रीवका चित्त प्रसन्न हो गया। उसने दो घड़ीतक सोच-विचारकर कहा—'बहुत अच्छा (तुम जैसा कहते हो, वैसा ही करूँगा)' ॥ २० ॥

स तु तेनैव हर्षेण तस्मिन्नहनि वीर्यवान् ।
वनं गतो दशग्रीवः सह तैः क्षणदाचरैः ॥ २१ ॥

तदनन्तर उसी दिन उसी हर्षके साथ पराक्रमी दशग्रीव उन निशाचरोंको साथ ले लङ्काके निकटवर्ती वनमें गया ॥ २१ ॥

त्रिकूटस्थः स तु तदा दशग्रीवो निशाचरः ।
प्रेषयामास दौत्येन प्रहस्तं वाक्यकोविदम् ॥ २२ ॥

उस समय त्रिकूट पर्वतपर जाकर निशाचर दशग्रीव ठहर गया और बातचीत करनेमें कुशल प्रहस्तको उसने दूत बनाकर भेजा ॥ २२ ॥

प्रहस्त शीघ्रं गच्छ त्वं ब्रूहि नैर्ऋतपुङ्गवम् ।
वचसा मम वित्तेशं सामपूर्वमिदं वचः ॥ २३ ॥

वह बोला—'प्रहस्त ! तुम शीघ्र जाओ और मेरे कथनानुसार धनके स्वामी राक्षसराज कुबेरसे शान्तिपूर्वक यह बात कहो ॥ २३ ॥

इयं लङ्का पुरी राजन् राक्षसानां महात्मनाम् ।
त्वया निवेशिता सौम्य नैतद् युक्तं तवानघ ॥ २४ ॥

'राजन् ! यह लङ्कापुरी महामना राक्षसोंकी है, जिसमें आप निवास कर रहे हैं। सौम्य ! निष्पाप यक्षराज ! यह आपके लिये उचित नहीं है ॥ २४ ॥

तद् भवान् यदि नो ह्यद्य दद्यादतुलविक्रम ।
कृता भवेन्मम प्रीतिर्धर्मश्चैवानुपालितः ॥ २५ ॥

'अतुल पराक्रमी धनेश्वर ! यदि आप हमें यह लङ्कापुरी लौटा दें तो इससे हमें बड़ी प्रसन्नता होगी और आपके द्वारा धर्मका पालन हुआ समझा जायगा' ॥ २५ ॥

स तु गत्वा पुरीं लङ्कां धनदेन सुरक्षिताम् ।
अब्रवीत् परमोदारं वित्तपालमिदं वचः ॥ २६ ॥

तब प्रहस्त कुबेरके द्वारा सुरक्षित लङ्कापुरीमें गया और उन वित्तपालसे बड़ी उदारतापूर्ण वाणीमें बोला— ॥ २६ ॥

प्रेषितोऽहं तव भ्रात्रा दशग्रीवेण सुव्रत ।
त्वत्समीपं महाबाहो सर्वशस्त्रभृतां वर ॥ २७ ॥
तच्छ्रूयतां महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।
वचनं मम वित्तेश यद् ब्रवीति दशाननः ॥ २८ ॥

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले, सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ, सर्वशास्त्रविशारद, महाबाहु, महाप्राज्ञ धनेश्वर !

आपके भाई दशग्रीवने मुझे आपके पास भेजा है। दशमुख रावण आपसे जो कुछ कहना चाहते हैं, वह बता रहा हूँ। आप मेरी बात सुनिये॥ २७-२८॥

इयं किल पुरी रम्या सुमालिप्रमुखैः पुरा।
भुक्तपूर्वा विशालाक्ष राक्षसैर्भीमविक्रमैः॥ २९॥
तेन विज्ञाप्यते सोऽयं साम्प्रतं विश्रवात्मज।
तदेषा दीयतां तात याचतस्तस्य सामतः॥ ३०॥

'विशाललोचन वैश्रवण! यह रमणीय लङ्कापुरी पहले भयानक पराक्रमी सुमाली आदि राक्षसोंके अधिकारमें रही है। उन्होंने बहुत समयतक इसका उपभोग किया है। अतः वे दशग्रीव इस समय यह सूचित कर रहे हैं कि 'यह लङ्का जिनकी वस्तु है, उन्हें लौटा दी जाय।' तात! शान्तिपूर्वक याचना करनेवाले दशग्रीवको आप यह पुरी लौटा दें'॥ २९-३०॥

प्रहस्तादपि संश्रुत्य देवो वैश्रवणो वचः।
प्रत्युवाच प्रहस्तं तं वाक्यं वाक्यविदां वरः॥ ३१॥

प्रहस्तके मुखसे यह बात सुनकर वाणीका मर्म समझनेवालोंमें श्रेष्ठ भगवान् वैश्रवणने प्रहस्तको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ३१॥

दत्ता ममेयं पित्रा तु लङ्का शून्या निशाचरैः।
निवेशिता च मे रक्षो दानमानादिभिर्गुणैः॥ ३२॥

'राक्षस! यह लङ्का पहले निशाचरोंसे सूनी थी। उस समय पिताजीने मुझे इसमें रहनेकी आज्ञा दी और मैंने इसमें दान, मान आदि गुणोंद्वारा प्रजाजनोंको बसाया॥ ३२॥

ब्रूहि गच्छ दशग्रीवं पुरी राज्यं च यन्मम।
तवाप्येतन्महाबाहो भुङ्क्ष्व राज्यमकण्टकम्॥ ३३॥

'दूत! तुम जाकर दशग्रीवसे कहो—महाबाहो! यह पुरी तथा यह निष्कण्टक राज्य जो कुछ भी मेरे पास है, वह सब तुम्हारा भी है। तुम इसका उपभोग करो॥ ३३॥

अविभक्तं त्वया सार्धं राज्यं यच्चापि मे वसु।
एवमुक्त्वा धनाध्यक्षो जगाम पितुरन्तिकम्॥ ३४॥

'मेरा राज्य तथा सारा धन तुमसे बँटा हुआ नहीं है' ऐसा कहकर धनाध्यक्ष कुबेर अपने पिता विश्रवा मुनिके पास चले गये॥ ३४॥

अभिवाद्य गुरुं प्राह रावणस्य यदीप्सितम्।
एष तात दशग्रीवो दूतं प्रेषितवान् मम॥ ३५॥
दीयतां नगरी लङ्का पूर्वं रक्षोगणोषिता।
मयात्र यदनुष्ठेयं तन्ममाचक्ष्व सुव्रत॥ ३६॥

वहाँ पिताको प्रणाम करके उन्होंने रावणकी जो इच्छा थी, उसे इस प्रकार बताया—'तात! आज दशग्रीवने मेरे पास दूत भेजा और कहलाया है कि इस लङ्का नगरीमें पहले राक्षस रहा करते थे, अतः इसे राक्षसोंको लौटा दीजिये। सुव्रत! अब मुझे इस विषयमें क्या करना चाहिये, बतानेकी कृपा करें'॥ ३५-३६॥

ब्रह्मर्षिस्त्वेवमुक्तोऽसौ विश्रवा मुनिपुङ्गवः।
प्राञ्जलिं धनदं प्राह शृणु पुत्र वचो मम॥ ३७॥

उनके ऐसा कहनेपर ब्रह्मर्षि मुनिवर विश्रवा हाथ जोड़कर खड़े हुए धनद कुबेरसे बोले—'बेटा! मेरी बात सुनो॥ ३७॥

दशग्रीवो महाबाहुरुक्तवान् मम संनिधौ।
मया निर्भर्त्सितश्चासीद् बहुशोक्तः सुदुर्मतिः॥ ३८॥
स क्रोधेन मया चोक्तो ध्वंससे च पुनः पुनः।

महाबाहु दशग्रीवने मेरे निकट भी यह बात कही थी। इसके लिये मैंने उस दुर्बुद्धिको बहुत फटकारा, डाँट बतायी और बारम्बार क्रोधपूर्वक कहा—'अरे! ऐसा करनेसे तेरा पतन हो जायगा' किंतु इसका कुछ फल नहीं हुआ॥ ३८½॥

श्रेयोऽभियुक्तं धर्म्यं च शृणु पुत्र वचो मम॥ ३९॥
वरप्रदानसम्मूढो मान्यामान्यं सुदुर्मतिः।
न वेत्ति मम शापाच्च प्रकृतिं दारुणां गतः॥ ४०॥

'बेटा! अब तुम्हीं मेरे धर्मानुकूल एवं कल्याणकारी वचनको ध्यान देकर सुनो। रावणकी बुद्धि बहुत ही खोटी है। वह वर पाकर मदमत्त हो उठा है—विवेक खो बैठा है। मेरे शापके कारण भी उसकी प्रकृति क्रूर हो गयी है॥ ३९-४०॥

तस्माद् गच्छ महाबाहो कैलासं धरणीधरम्।
निवेशय निवासार्थं त्यक्त्वा लङ्कां सहानुगः॥ ४१॥

'इसलिये महाबाहो! अब तुम अनुचरोंसहित लङ्का छोड़कर कैलास पर्वतपर चले जाओ और अपने रहनेके लिये वहाँ दूसरा नगर बसाओ॥ ४१॥

तत्र मन्दाकिनी रम्या नदीनामुत्तमा नदी।
काञ्चनैः सूर्यसंकाशैः पङ्कजैः संवृतोदका॥ ४२॥
कुमुदैरुत्पलैश्चैव अन्यैश्चैव सुगन्धिभिः।

'वहाँ नदियोंमें श्रेष्ठ रमणीय मन्दाकिनी नदी बहती है, जिसका जल सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाले सुवर्णमय कमलों, कुमुदों, उत्पलों और दूसरे-दूसरे सुगन्धित कुसुमोंसे आच्छादित है॥ ४२½॥

तत्र देवाः सगन्धर्वाः साप्सरोरगकिंनराः॥ ४३॥
विहारशीलाः सततं रमन्ते सर्वदाश्रिताः।
नहि क्षमं तवानेने वैरं धनद रक्षसा॥ ४४॥
जानीषे हि यथानेन लब्धः परमको वरः॥ ४५॥

'उस पर्वतपर देवता, गन्धर्व, अप्सरा, नाग और किंनर आदि दिव्य प्राणी, जिन्हें स्वभावसे ही घूमना-फिरना अधिक प्रिय है, सदा रहते हुए निरन्तर आनन्दका अनुभव करते हैं। धनद! इस राक्षसके साथ तुम्हारा वैर करना उचित नहीं है। तुम तो जानते ही हो कि इसने ब्रह्माजीसे कैसा उत्कृष्ट वर प्राप्त किया है'॥ ४३—४५॥

एवमुक्तो गृहीत्वा तु तद्वचः पितृगौरवात्।
सदारपुत्रः सामात्यः सवाहनधनो गतः॥ ४६॥

मुनिके ऐसा कहनेपर कुबेरने पिताका मान रखते हुए उनकी बात मान ली और स्त्री, पुत्र, मन्त्री, वाहन तथा धन साथ लेकर वे लङ्कासे कैलासको चले गये॥ ४६॥

प्रहस्तोऽथ दशग्रीवं गत्वा वचनमब्रवीत्।
प्रहृष्टात्मा महात्मानं सहामात्यं सहानुजम्॥ ४७॥

तदनन्तर प्रहस्त प्रसन्न होकर मन्त्री और भाइयोंके साथ बैठे हुए महामना दशग्रीवके पास जाकर बोला—॥ ४७॥

शून्या सा नगरी लङ्का त्यक्त्वैनां धनदो गतः।
प्रविश्य तां सहास्माभिः स्वधर्मं तत्र पालय॥ ४८॥

'लङ्का नगरी खाली हो गयी। कुबेर उसे छोड़कर चले गये। अब आप हमलोगोंके साथ उसमें प्रवेश करके अपने धर्मका पालन कीजिये'॥ ४८॥

एवमुक्तो दशग्रीवः प्रहस्तेन महाबलः।
विवेश नगरीं लङ्कां भ्रातृभिः सबलानुगैः॥ ४९॥
धनदेन परित्यक्तां सुविभक्तमहापथाम्।
आरुरोह स देवारिः स्वर्गं देवाधिपो यथा॥ ५०॥

प्रहस्तके ऐसा कहनेपर महाबली दशग्रीवने अपनी सेना, अनुचर तथा भाइयोंसहित कुबेरद्वारा त्यागी हुई लङ्कापुरीमें प्रवेश किया। उस नगरीमें सुन्दर विभागपूर्वक बड़ी-बड़ी सड़कें बनी थीं। जैसे देवराज इन्द्र स्वर्गके सिंहासनपर आरूढ़ हुए थे, उसी प्रकार देवद्रोही रावणने लङ्कामें पदार्पण किया॥ ४९-५०॥

स चाभिषिक्तः क्षणदाचरैस्तदा
निवेशयामास पुरीं दशाननः।
निकामपूर्णा च बभूव सा पुरी
निशाचरैर्नीलबलाहकोपमैः॥ ५१॥

उस समय निशाचरोंने दशमुख रावणका राज्याभिषेक किया। फिर रावणने उस पुरीको बसाया। देखते-देखते समूची लङ्कापुरी नील मेघके समान वर्णवाले राक्षसोंसे पूर्णतः भर गयी॥ ५१॥

धनेश्वरस्त्वथ पितृवाक्यगौरवा-
न्यवेशयच्छशिविमले गिरौ पुरीम्।
स्वलंकृतैर्भवनवरैर्विभूषितां
पुरंदरः स्वरिव यथामरावतीम्॥ ५२॥

धनके स्वामी कुबेरने पिताकी आज्ञाको आदर देकर चन्द्रमाके समान निर्मल कान्तिवाले कैलास पर्वतपर शोभाशाली श्रेष्ठ भवनोंसे विभूषित अलकापुरी बसायी, ठीक वैसे ही जैसे देवराज इन्द्रने स्वर्गलोकमें अमरावती पुरी बसायी थी॥ ५२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे एकादशः सर्गः॥ ११॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें ग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ११॥

—★—

द्वादशः सर्गः

शूर्पणखा तथा रावण आदि तीनों भाइयोंका विवाह और मेघनादका जन्म

राक्षसेन्द्रोऽभिषिक्तस्तु भ्रातृभिः सहितस्तदा।
ततः प्रदानं राक्षस्या भगिन्याः समचिन्तयत्॥ १॥

(अगस्त्यजी कहते हैं—श्रीराम!) अपना अभिषेक हो जानेपर जब राक्षसराज रावण भाइयोंसहित लङ्कापुरीमें रहने लगा, तब उसे अपनी बहिन राक्षसी शूर्पणखाके ब्याहकी चिन्ता हुई॥ १॥

स्वसारं कालकेयाय दानवेन्द्राय राक्षसीम्।
ददौ शूर्पणखां नाम विद्युज्जिह्वाय राक्षसः॥ २॥

उस राक्षसने दानवराज विद्युज्जिह्वको, जो कालकाका पुत्र था, अपनी बहन शूर्पणखा ब्याह दी॥ २॥

अथ दत्त्वा स्वयं रक्षो मृगयामटते स्म तत्।
तत्रापश्यत् ततो राम मयं नाम दितेः सुतम्॥ ३॥
कन्यासहायं तं दृष्ट्वा दशग्रीवो निशाचरः।
अपृच्छत् को भवानेको निर्मनुष्यमृगे वने॥ ४॥
अनया मृगशावाक्ष्या किमर्थं सह तिष्ठसि।

श्रीराम! बहिनका ब्याह करके राक्षस रावण एक दिन स्वयं शिकार खेलनेके लिये वनमें घूम रहा था। वहाँ उसने दितिके पुत्र मयको देखा। उसके साथ एक सुन्दरी कन्या भी थी। उसे देखकर निशाचर दशग्रीवने पूछा—'आप कौन हैं, जो मनुष्यों और पशुओंसे रहित इस सूने वनमें अकेले घूम रहे हैं? इस मृगनयनी कन्याके साथ आप यहाँ किस उद्देश्यसे निवास करते हैं?'॥ ३-४½॥

मयस्तदाब्रवीद् राम पृच्छन्तं तं निशाचरम्॥ ५॥
श्रूयतां सर्वमाख्यास्ये यथावृत्तमिदं तव।

श्रीराम! इस प्रकार पूछनेवाले उस निशाचरसे मय बोला—'सुनो, मैं अपना सारा वृत्तान्त तुम्हें यथार्थरूपसे बता रहा हूँ॥ ५½॥

हेमा नामाप्सरास्तात श्रुतपूर्वा यदि त्वया॥ ६॥
दैवतैर्मम सा दत्ता पौलोमीव शतक्रतोः।
तस्यां सक्तमना ह्यासं दशवर्षशतान्यहम्॥ ७॥

सा च दैवतकार्येण गता वर्षाश्चतुर्दश।
तस्याः कृते च हेमायाः सर्वं हेममयं पुरम्॥ ८॥
वज्रवैदूर्यचित्रं च मायया निर्मितं मया।
तत्राहमवसं दीनस्तया हीनः सुदुःखितः॥ ९॥

'तात! तुमने पहले कभी सुना होगा, स्वर्गमें हेमा नामसे प्रसिद्ध एक अप्सरा रहती है। उसे देवताओंने उसी प्रकार मुझे अर्पित कर दिया था, जैसे पुलोम दानवकी कन्या शची देवराज इन्द्रको दी गयी थीं। मैं उसीमें आसक्त होकर एक सहस्र वर्षोंतक उसके साथ रहा हूँ। एक दिन वह देवताओंके कार्यसे स्वर्गलोकको चली गयी, तबसे चौदह वर्ष बीत गये। मैंने उस हेमाके लिये मायासे एक नगरका निर्माण किया था, जो सम्पूर्णतः सोनेका बना है। हीरे और नीलमके संयोगसे वह विचित्र शोभा धारण करता है। उसीमें मैं अबतक उसके वियोगसे अत्यन्त दुःखी एवं दीन होकर रहता था॥ ६—९॥

तस्माद् पुराद् दुहितरं गृहीत्वा वनमागतः।
इयं ममात्मजा राजंस्तस्याः कुक्षौ विवर्धिता॥ १०॥

'उसी नगरसे इस कन्याको साथ लेकर मैं वनमें आया हूँ। राजन्! यह मेरी पुत्री है, जो हेमाके गर्भमें ही पली है और उससे उत्पन्न होकर मेरेद्वारा पालित हो बड़ी हुई है॥ १०॥

भर्तारमनया सार्धमस्याः प्राप्तोऽस्मि मार्गितुम्।
कन्यापितृत्वं दुःखं हि सर्वेषां मानकाङ्क्षिणाम्॥ ११॥
कन्या हि द्वे कुले नित्यं संशये स्थाप्य तिष्ठति।

'इसके साथ मैं इसके योग्य पतिकी खोज करनेके लिये आया हूँ। मानकी अभिलाषा रखनेवाले प्रायः सभी लोगोंके लिये कन्याका पिता होना कष्टकारक होता है। (क्योंकि इसके लिये कन्याके पिताको दूसरोंके सामने झुकना पड़ता है।) कन्या सदा दो कुलोंको संशयमें डाले रहती है॥ ११½॥

पुत्रद्वयं ममाप्यस्यां भार्यायां सम्बभूव ह॥ १२॥
मायावी प्रथमस्तात दुन्दुभिस्तदनन्तरः।

'तात! मेरी इस भार्या हेमाके गर्भसे दो पुत्र भी हुए, जिनमें प्रथम पुत्रका नाम मायावी और दूसरेका दुन्दुभि है॥ १२½॥

एवं ते सर्वमाख्यातं याथातथ्येन पृच्छतः॥ १३॥
त्वामिदानीं कथं तात जानीयां को भवानिति।

तात! तुमने पूछा था, इसलिये मैंने इस तरह अपनी सारी बातें तुम्हें यथार्थरूपसे बता दीं। अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि तुम कौन हो? यह मुझे किस तरह ज्ञात हो सकेगा?'॥ १३½॥

एवमुक्तं तु तद् रक्षो विनीतमिदमब्रवीत्॥ १४॥
अहं पौलस्त्यतनयो दशग्रीवश्च नामतः।
मुनेर्विश्रवसो यस्तु तृतीयो ब्रह्मणोऽभवत्॥ १५॥

मयासुरके इस प्रकार कहनेपर राक्षस रावण विनीतभावसे यों बोला—'मैं पुलस्त्यके पुत्र विश्रवाका बेटा हूँ। मेरा नाम दशग्रीव है। मैं जिन विश्रवा मुनिसे उत्पन्न हुआ हूँ, वे ब्रह्माजीसे तीसरी पीढ़ीमें पैदा हुए हैं'॥ १४-१५॥

एवमुक्तस्तदा राम राक्षसेन्द्रेण दानवः।
महर्षेस्तनयं ज्ञात्वा मयो हर्षमुपागतः॥ १६॥
दातुं दुहितरं तस्मै रोचयामास तत्र वै।

श्रीराम! राक्षसराजके ऐसा कहनेपर दानव मय महर्षि विश्रवाके उस पुत्रका परिचय पाकर बहुत प्रसन्न हुआ और उसके साथ वहाँ उसने अपनी पुत्रीका विवाह कर देनेकी इच्छा की॥ १६½॥

करेण तु करं तस्या ग्राहयित्वा मयस्तदा॥ १७॥
प्रहसन् प्राह दैत्येन्द्रो राक्षसेन्द्रमिदं वचः।

इसके बाद दैत्यराज मय अपनी बेटीका हाथ रावणके हाथमें देकर हँसता हुआ उस राक्षसराजसे इस प्रकार बोला—॥ १७½॥

इयं ममात्मजा राजन् हेमयाप्सरसा धृता॥ १८॥
कन्या मन्दोदरी नाम पत्न्यर्थं प्रतिगृह्यताम्।

'राजन्! यह मेरी बेटी है, जिसे हेमा अप्सराने अपने गर्भमें धारण किया था। इसका नाम मन्दोदरी है। इसे तुम अपनी पत्नीके रूपमें स्वीकार करो'॥ १८½॥

बाढमित्येव तं राम दशग्रीवोऽभ्यभाषत॥ १९॥
प्रज्वाल्य तत्र चैवाग्निमकरोत् पाणिसंग्रहम्।

श्रीराम! तब दशग्रीवने 'बहुत अच्छा' कहकर मयासुरकी बात मान ली। फिर वहाँ उसने अग्निको प्रज्वलित करके मन्दोदरीका पाणिग्रहण किया॥ १९½॥

स हि तस्य मयो राम शापाभिज्ञस्तपोधनात्॥ २०॥
विदित्वा तेन सा दत्ता तस्य पैतामहं कुलम्।

रघुनन्दन! यद्यपि तपोधन विश्रवासे रावणको जो क्रूर-प्रकृति होनेका शाप मिला था, उसे मयासुर जानता था; तथापि रावणको ब्रह्माजीके कुलका बालक समझकर उसने उसको अपनी कन्या दे दी॥ २०½॥

अमोघां तस्य शक्तिं च प्रददौ परमाद्भुताम्॥ २१॥
परेण तपसा लब्धां जघ्निवाँल्लक्ष्मणं यया।

साथ ही उत्कृष्ट तपस्यासे प्राप्त हुई एक परम अद्भुत अमोघ शक्ति भी प्रदान की, जिसके द्वारा रावणने लक्ष्मणको घायल किया था॥ २१½॥

एवं स कृत्वा दारान् वै लङ्कायाः ईश्वरः प्रभुः॥ २२॥
गत्वा तु नगरीं भार्ये भ्रातृभ्यां समुपाहरत्।

इस प्रकार दारपरिग्रह (विवाह) करके प्रभावशाली लङ्केश्वर रावण लङ्कापुरीमें गया और अपने दोनों भाइयोंके लिये भी दो भार्याएँ उनका विवाह कराकर ले आया॥ २२½॥

वैरोचनस्य दौहित्रीं वज्रज्वालेति नामतः ॥ २३ ॥
तां भार्यां कुम्भकर्णस्य रावणः समकल्पयत्।

विरोचनकुमार बलिकी दौहित्रीको, जिसका नाम वज्रज्वाला था, रावणने कुम्भकर्णकी पत्नी बनाया ॥ २३½ ॥

गन्धर्वराजस्य सुतां शैलूषस्य महात्मनः ॥ २४ ॥
सरमां नाम धर्मज्ञां लेभे भार्यां विभीषणः।

गन्धर्वराज महात्मा शैलूषकी कन्या सरमाको, जो धर्मके तत्त्वको जाननेवाली थी, विभीषणने अपनी पत्नीके रूपमें प्राप्त किया ॥ २४½ ॥

तीरे तु सरसो वै तु संजज्ञे मानसस्य हि ॥ २५ ॥
सरस्तदा मानसं तु ववृधे जलदागमे।
मात्रा तु तस्याः कन्यायाः स्नेहेनाक्रन्दितं वचः ॥ २६ ॥
सरो मा वर्धयस्वेति ततः सा सरमाभवत्।

वह मानसरोवरके तटपर उत्पन्न हुई थी। जब उसका जन्म हुआ, उस समय वर्षा ऋतुका आगमन होनेसे मानसरोवर बढ़ने लगा। तब उस कन्याकी माताने पुत्रीके स्नेहसे करुणक्रन्दन करते हुए उस सरोवरसे कहा—'**सरो मा वर्धयस्व** (हे सरोवर! तुम अपने जलको बढ़ने न दो)।' उसने घबराहटमें '**सरः मा**' ऐसा कहा था; इसलिये उस कन्याका नाम सरमा हो गया ॥ २५-२६½ ॥

एवं ते कृतदारा वै रेमिरे तत्र राक्षसाः ॥ २७ ॥
स्वां स्वां भार्यामुपादाय गन्धर्वा इव नन्दने।

इस प्रकार वे तीनों राक्षस विवाहित होकर अपनी-अपनी स्त्रीको साथ ले नन्दनवनमें विहार करनेवाले गन्धर्वोंके समान लङ्कामें सुखपूर्वक रमण करने लगे ॥ २७½ ॥

ततो मन्दोदरी पुत्रं मेघनादमजीजनत् ॥ २८ ॥
स एष इन्द्रजिन्नाम युष्माभिरभिधीयते।

तदनन्तर कुछ कालके बाद मन्दोदरीने अपने पुत्र मेघनादको जन्म दिया, जिसे आपलोग इन्द्रजित्‌के नामसे पुकारते थे ॥ २८½ ॥

जातमात्रेण हि पुरा तेन रावणसूनुना ॥ २९ ॥
रुदता सुमहान् मुक्तो नादो जलधरोपमः।

पूर्वकालमें उस रावणपुत्रने पैदा होते ही रोते-रोते मेघके समान गम्भीर नाद किया था ॥ २९½ ॥

जडीकृता च सा लङ्का तस्य नादेन राघव ॥ ३० ॥
पिता तस्याकरोन्नाम मेघनाद इति स्वयम्।

रघुनन्दन! उस मेघतुल्य नादसे सारी लङ्का जडवत् स्तब्ध रह गयी थी; इसलिये पिता रावणने स्वयं ही उसका नाम मेघनाद रखा ॥ ३०½ ॥

सोऽवर्धत तदा राम रावणान्तःपुरे शुभे ॥ ३१ ॥
लक्ष्यमाणो वरस्त्रीभिश्छन्नः काष्ठैरिवानलः।
मातापित्रोर्महाहर्षं जनयन् रावणात्मजः ॥ ३२ ॥

श्रीराम! उस समय वह रावणकुमार रावणके सुन्दर अन्तःपुरमें माता-पिताको महान् हर्ष प्रदान करता हुआ श्रेष्ठ नारियोंसे सुरक्षित हो काष्ठसे आच्छादित हुई अग्निके समान बढ़ने लगा ॥ ३१-३२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें बारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १२ ॥

—★—

त्रयोदशः सर्गः

रावणद्वारा बनवाये गये शयनागारमें कुम्भकर्णका सोना, रावणका अत्याचार, कुबेरका दूत भेजकर उसे समझाना तथा कुपित हुए रावणका उस दूतको मार डालना

अथ लोकेश्वरोत्सृष्टा तत्र कालेन केनचित्।
निद्रा समभवत् तीव्रा कुम्भकर्णस्य रूपिणी ॥ १ ॥

(अगस्त्यजी कहते हैं—रघुनन्दन!) तदनन्तर कुछ काल बीतनेपर लोकेश्वर ब्रह्माजीकी भेजी हुई निद्रा जँभाई आदिके रूपमें मूर्तिमती हो कुम्भकर्णके भीतर तीव्र वेगसे प्रकट हुई ॥ १ ॥

ततो भ्रातरमासीनं कुम्भकर्णोऽब्रवीद् वचः।
निद्रा मां बाधते राजन् कारयस्व ममालयम् ॥ २ ॥

तब कुम्भकर्णने पास ही बैठे हुए अपने भाई रावणसे कहा—'राजन्! मुझे नींद सता रही है; अतः मेरे लिये शयन करनेके योग्य घर बनवा दें' ॥ २ ॥

विनियुक्तास्ततो राज्ञा शिल्पिनो विश्वकर्मवत्।
विस्तीर्णं योजनं स्निग्धं ततो द्विगुणमायतम् ॥ ३ ॥
दर्शनीयं निराबाधं कुम्भकर्णस्य चक्रिरे।
स्फाटिकैः काञ्चनैश्चित्रैः स्तम्भैः सर्वत्र शोभितम् ॥ ४ ॥

यह सुनकर राक्षसराजने विश्वकर्माके समान सुयोग्य शिल्पियोंको घर बनानेके लिये आज्ञा दे दी। उन शिल्पियोंने दो योजन लम्बा और एक योजन चौड़ा चिकना घर बनाया, जो देखने ही योग्य था। उसमें किसी प्रकारकी बाधाका अनुभव नहीं होता था। उसमें सर्वत्र स्फटिकमणि एवं सुवर्णके बने हुए खम्भे लगे थे, जो उस भवनकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ ३-४ ॥

वैदूर्यकृतसोपानं किङ्किणीजालकं तथा।
दान्ततोरणविन्यस्तं वज्रस्फटिकवेदिकम्॥ ५॥

उसमें नीलमकी सीढ़ियाँ बनी थीं। सब ओर घुँघुरुदार झालरें लगायी गयी थीं। उसका सदर फाटक हाथी-दाँतका बना हुआ था और हीरे तथा स्फटिकमणिकी वेदी एवं चबूतरे शोभा दे रहे थे॥ ५॥

मनोहरं सर्वसुखं कारयामास राक्षसः।
सर्वत्र सुखदं नित्यं मेरोः पुण्यां गुहामिव॥ ६॥

वह भवन सब प्रकारसे सुखद एवं मनोहर था। मेरुकी पुण्यमयी गुफाके समान सदा सर्वत्र सुख प्रदान करनेवाला था। राक्षसराज रावणने कुम्भकर्णके लिये ऐसा सुन्दर एवं सुविधाजनक शयनागार बनवाया॥ ६॥

तत्र निद्रां समाविष्टः कुम्भकर्णो महाबलः।
बहून्यब्दसहस्राणि शयानो न च बुध्यते॥ ७॥

महाबली कुम्भकर्ण उस घरमें जाकर निद्राके वशीभूत हो कई हजार वर्षोंतक सोता रहा। जाग नहीं पाता था॥ ७॥

निद्राभिभूते तु तदा कुम्भकर्णे दशाननः।
देवर्षियक्षगन्धर्वान् संजघ्ने हि निरङ्कुशः॥ ८॥

जब कुम्भकर्ण निद्रासे अभिभूत होकर सो गया, तब दशमुख रावण उच्छृङ्खल हो देवताओं, ऋषियों, यक्षों और गन्धर्वोंके समूहोंको मारने तथा पीड़ा देने लगा॥ ८॥

उद्यानानि विचित्राणि नन्दनादीनि यानि च।
तानि गत्वा सुसंक्रुद्धो भिनत्ति स्म दशाननः॥ ९॥

देवताओंके नन्दनवन आदि जो विचित्र उद्यान थे, उनमें जाकर दशानन अत्यन्त कुपित हो उन सबको उजाड़ देता था॥ ९॥

नदीं गज इव क्रीडन् वृक्षान् वायुरिव क्षिपन्।
नगान् वज्र इवोत्सृष्टो विध्वंसयति राक्षसः॥ १०॥

वह राक्षस नदीमें हाथीकी भाँति क्रीडा करता हुआ उसकी धाराओंको छिन्न-भिन्न कर देता था। वृक्षोंको वायुकी भाँति झकझोरता हुआ उखाड़ फेंकता था और पर्वतोंको इन्द्रके हाथसे छूटे हुए वज्रकी भाँति तोड़-फोड़ डालता था॥ १०॥

तथावृत्तं तु विज्ञाय दशग्रीवं धनेश्वरः।
कुलानुरूपं धर्मज्ञो वृत्तं संस्मृत्य चात्मनः॥ ११॥
सौभ्रात्रदर्शनार्थं तु दूतं वैश्रवणस्तदा।
लङ्कां सम्प्रेषयामास दशग्रीवस्य वै हितम्॥ १२॥

दशग्रीवके इस निरंकुश बर्तावका समाचार पाकर धनके स्वामी धर्मज्ञ कुबेरने अपने कुलके अनुरूप आचार-व्यवहारका विचार करके उत्तम भ्रातृप्रेमका परिचय देनेके लिये लङ्कामें एक दूत भेजा। उनका उद्देश्य यह था कि मैं रावणको उसके हितकी बात बताकर राहपर लाऊँ॥ ११-१२॥

स गत्वा नगरीं लङ्कामाससाद विभीषणम्।
मानितस्तेन धर्मेण पृष्टश्चागमनं प्रति॥ १३॥

वह दूत लङ्कापुरीमें जाकर पहले विभीषणसे मिला। विभीषणने धर्मके अनुसार उसका सत्कार किया और लङ्कामें आनेका कारण पूछा॥ १३॥

पृष्ट्वा च कुशलं राज्ञो ज्ञातीनां च विभीषणः।
सभायां दर्शयामास तमासीनं दशाननम्॥ १४॥

फिर बन्धु-बान्धवोंका कुशल-समाचार पूछकर विभीषणने उस दूतको ले जाकर राजसभामें बैठे हुए रावणसे मिलाया॥ १४॥

स दृष्ट्वा तत्र राजानं दीप्यमानं स्वतेजसा।
जयेति वाचा सम्पूज्य तूष्णीं समभिवर्तत॥ १५॥

राजा रावण सभामें अपने तेजसे उद्दीप्त हो रहा था, उसे देखकर दूतने 'महाराजकी जय हो' ऐसा कहकर वाणीद्वारा उसका सत्कार किया और फिर वह कुछ देरतक चुपचाप खड़ा रहा॥ १५॥

स तत्रोत्तमपर्यङ्के वरास्तरणशोभिते।
उपविष्टं दशग्रीवं दूतो वाक्यमथाब्रवीत्॥ १६॥

तत्पश्चात् उत्तम बिछौनेसे सुशोभित एक श्रेष्ठ पलङ्गपर बैठे हुए दशग्रीवसे उस दूतने इस प्रकार कहा—॥ १६॥

राजन् वदामि ते सर्वं भ्राता तव यदब्रवीत्।
उभयोः सदृशं वीर वृत्तस्य च कुलस्य च॥ १७॥

'वीर महाराज! आपके भाई धनाध्यक्ष कुबेरने आपके पास जो संदेश भेजा है, वह माता-पिता दोनोंके कुल तथा सदाचारके अनुरूप है, मैं उसे पूर्णरूपसे आपको बता रहा हूँ; सुनिये—॥ १७॥

साधु पर्याप्तमेतावत् कृत्यश्चारित्रसंग्रहः।
साधु धर्मे व्यवस्थानं क्रियतां यदि शक्यते॥ १८॥

'दशग्रीव! तुमने अबतक जो कुछ कुकृत्य किया है, इतना ही बहुत है। अब तो तुम्हें भलीभाँति सदाचारका संग्रह करना चाहिये। यदि हो सके तो धर्मके मार्गपर स्थित रहो; यही तुम्हारे लिये अच्छा होगा॥ १८॥

दृष्टं मे नन्दनं भग्नमृषयो निहताः श्रुताः।
देवतानां समुद्योगस्त्वत्तो राजन् मया श्रुतः॥ १९॥

'तुमने नन्दनवनको उजाड़ दिया—यह मैंने अपनी आँखों देखा है। तुम्हारे द्वारा बहुत-से ऋषियोंका वध हुआ है, यह भी मेरे सुननेमें आया है। राजन्! (इससे तंग आकर देवता तुमसे बदला लेना चाहते हैं) मैंने सुना है कि तुम्हारे विरुद्ध देवताओंका उद्योग आरम्भ हो गया है॥ १९॥

निराकृतश्च बहुशस्त्वयाहं राक्षसाधिप।
सापराधोऽपि बालो हि रक्षितव्यः स्वबान्धवैः॥ २०॥

'राक्षसराज! तुमने कई बार मेरा भी तिरस्कार किया है; तथापि यदि बालक अपराध कर दे तो भी अपने बन्धु-

बान्धवोंको तो उसकी रक्षा ही करनी चाहिये (इसीलिये तुम्हें हितकारक सलाह दे रहा हूँ)॥ २०॥

अहं तु हिमवत्पृष्ठं गतो धर्ममुपासितुम्।
रौद्रं व्रतं समास्थाय नियतो नियतेन्द्रियः॥ २१॥

'मैं शौच-संतोषादि नियमोंके पालन और इन्द्रियसंयम-पूर्वक 'रौद्र-व्रत'का आश्रय ले धर्मका अनुष्ठान करनेके लिये हिमालयके एक शिखरपर गया था॥ २१॥

तत्र देवो मया दृष्ट उमया सहितः प्रभुः।
सव्यं चक्षुर्मया दैवात् तत्र देव्यां निपातितम्॥ २२॥
का न्वेषेति महाराज न खल्वन्येन हेतुना।
रूपं चानुपमं कृत्वा रुद्राणी तत्र तिष्ठति॥ २३॥

'वहाँ मुझे उमासहित भगवान् महादेवजीका दर्शन हुआ। महाराज! उस समय मैंने केवल यह जाननेके लिये कि देखूँ ये कौन हैं? दैववश देवी पार्वतीपर अपनी बायीं दृष्टि डाली थी। निश्चय ही मैंने दूसरे किसी हेतुसे (विकारयुक्त भावनासे) उनकी ओर नहीं देखा था। उस वेलामें देवी रुद्राणी अनुपम रूप धारण करके वहाँ खड़ी थीं॥ २२-२३॥

देव्या दिव्यप्रभावेण दग्धं सव्यं ममेक्षणम्।
रेणुध्वस्तमिव ज्योतिः पिङ्गलत्वमुपागतम्॥ २४॥

'देवीके दिव्य प्रभावसे उस समय मेरी बायीं आँख जल गयी और दूसरी (दायीं आँख) भी धूलसे भरी हुई-सी पिङ्गल वर्णकी हो गयी॥ २४॥

ततोऽहमन्यद् विस्तीर्णं गत्वा तस्य गिरेस्तटम्।
तूष्णीं वर्षशतान्यष्टौ समधारं महाव्रतम्॥ २५॥

'तदनन्तर मैंने पर्वतके दूसरे विस्तृत तटपर जाकर आठ सौ वर्षोंतक मौनभावसे उस महान् व्रतको धारण किया॥ २५॥

समाप्ते नियते तस्मिंस्तत्र देवो महेश्वरः।
ततः प्रीतेन मनसा प्राह वाक्यमिदं प्रभुः॥ २६॥

'उस नियमके समाप्त होनेपर भगवान् महेश्वरदेवने मुझे दर्शन दिया और प्रसन्न मनसे कहा—॥ २६॥

प्रीतोऽस्मि तव धर्मज्ञ तपसानेन सुव्रत।
मया चैतद् व्रतं चीर्णं त्वया चैव धनाधिप॥ २७॥

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले धर्मज्ञ धनेश्वर! मैं तुम्हारी इस तपस्यासे बहुत संतुष्ट हूँ। एक तो मैंने इस व्रतका आचरण किया है और दूसरे तुमने॥ २७॥

तृतीयः पुरुषो नास्ति यश्चरेद् व्रतमीदृशम्।
व्रतं सुदुष्करं ह्येतन्मयैवोत्पादितं पुरा॥ २८॥

'तीसरा कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जो ऐसे कठोर व्रतका पालन कर सके। इस अत्यन्त दुष्कर व्रतको पूर्वकालमें मैंने ही प्रकट किया था॥ २८॥

तत्सखित्वं मया सौम्य रोचयस्व धनेश्वर।
तपसा निर्जितश्चैव सखा भव ममानघ॥ २९॥

''अतः सौम्य धनेश्वर! अब तुम मेरे साथ मित्रताका सम्बन्ध स्थापित करो, यह सम्बन्ध तुम्हें पसंद आना चाहिये। अनघ! तुमने अपने तपसे मुझे जीत लिया है; अतः मेरा मित्र बनकर रहो॥ २९॥

देव्या दग्धं प्रभावेण यच्च सव्यं तवेक्षणम्।
पैङ्गल्यं यदवाप्तं हि देव्या रूपनिरीक्षणात्॥ ३०॥
एकाक्षपिङ्गलीत्येव नाम स्थास्यति शाश्वतम्।
एवं तेन सखित्वं च प्राप्यानुज्ञां च शङ्करात्॥ ३१॥
आगतेन मया चैवं श्रुतस्ते पापनिश्चयः।

'देवी पार्वतीके रूपपर दृष्टिपात करनेसे देवीके प्रभावसे जो तुम्हारा बायाँ नेत्र जल गया और दूसरा नेत्र भी पिङ्गलवर्णका हो गया, इससे सदा स्थिर रहनेवाला तुम्हारा 'एकाक्षपिङ्गली' यह नाम चिरस्थायी होगा।' इस प्रकार भगवान् शङ्करके साथ मैत्री स्थापित करके उनकी आज्ञा लेकर जब मैं घर लौटा हूँ, तब मैंने तुम्हारे पापपूर्ण निश्चयकी बात सुनी है॥ ३०-३१½॥

तदधर्मिष्ठसंयोगान्निवर्त कुलदूषणात्॥ ३२॥
चिन्त्यते हि वधोपायः सर्षिसङ्घैः सुरैस्तव।

'अतः अब तुम अपने कुलमें कलंक लगानेवाले पापकर्म-के संसर्गसे दूर हट जाओ; क्योंकि ऋषि-समुदायसहित देवता तुम्हारे वधका उपाय सोच रहे हैं'॥ ३२½॥

एवमुक्तो दशग्रीवः कोपसंरक्तलोचनः॥ ३३॥
हस्तान् दन्तांश्च सम्पिष्य वाक्यमेतदुवाच ह।

दूतके मुँहसे ऐसी बात सुनकर दशग्रीव रावणके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये। वह हाथ मलता हुआ दाँत पीसकर बोला—॥ ३३½॥

विज्ञातं ते मया दूत वाक्यं यत् त्वं प्रभाषसे॥ ३४॥
नैव त्वमसि नैवासौ भ्राता येनासि चोदितः।

'दूत! तू जो कुछ कह रहा है, उसका अभिप्राय मैंने समझ लिया। अब तो न तू जीवित रह सकता है और न वह भाई ही, जिसने तुझे यहाँ भेजा है॥ ३४½॥

हितं नैष ममैतद्धि ब्रवीति धनरक्षकः॥ ३५॥
महेश्वरसखित्वं तु मूढः श्रावयते किल।

'धनरक्षक कुबेरने जो संदेश दिया है, वह मेरे लिये हितकर नहीं है। यह मूढ़ मुझे (डरानेके लिये) महादेवजीके साथ अपनी मित्रताकी कथा सुना रहा है?॥ ३५½॥

नैवेदं क्षमणीयं मे यदेतद् भाषितं त्वया॥ ३६॥
यदेतावन्मया कालं दूत तस्य तु मर्षितम्।
न हन्तव्यो गुरुर्ज्येष्ठो ममायमिति मन्यते॥ ३७॥

'दूत! तूने जो बात यहाँ कही है, यह मेरे लिये सहन करनेयोग्य नहीं है। कुबेर मेरे बड़े भाई हैं, अतः उनका वध करना उचित नहीं है—ऐसा समझकर ही मैंने आजतक उन्हें क्षमा किया है॥ ३६-३७॥

तस्य त्विदानीं श्रुत्वा मे वाक्यमेषा कृता मतिः।
त्रींल्लोकानपि जेष्यामि बाहुवीर्यमुपाश्रितः ॥ ३८ ॥

'किंतु इस समय उनकी बात सुनकर मैंने यह निश्चय किया है कि मैं अपने बाहुबलका भरोसा करके तीनों लोकोंको जीतूँगा ॥ ३८ ॥

एतन्मुहूर्तमेवाहं तस्यैकस्य तु वै कृते।
चतुरो लोकपालांस्तान् नयिष्यामि यमक्षयम् ॥ ३९ ॥

'इसी मुहूर्तमें मैं एकके ही अपराधसे उन चारों लोकपालोंको यमलोक पहुँचाऊँगा' ॥ ३९ ॥

एवमुक्त्वा तु लङ्केशो दूतं खड्गेन जघ्निवान्।
ददौ भक्षयितुं ह्येनं राक्षसानां दुरात्मनाम् ॥ ४० ॥

ऐसा कहकर लङ्केश रावणने तलवारसे उस दूतके दो टुकड़े कर डाले और उसकी लाश उसने दुरात्मा राक्षसोंको खानेके लिये दे दी ॥ ४० ॥

ततः कृतस्वस्त्ययनो रथमारुह्य रावणः।
त्रैलोक्यविजयाकाङ्क्षी ययौ यत्र धनेश्वरः ॥ ४१ ॥

तत्पश्चात् रावण स्वस्तिवाचन करके रथपर चढ़ा और तीनों लोकोंपर विजय पानेकी इच्छासे उस स्थानपर गया, जहाँ धनपति कुबेर रहते थे ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें तेरहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १३ ॥

——★——

चतुर्दशः सर्गः

मन्त्रियोंसहित रावणका यक्षोंपर आक्रमण और उनकी पराजय

ततः स सचिवैः सार्धं षड्भिर्नित्यबलोद्धतः।
महोदरप्रहस्ताभ्यां मारीचशुकसारणैः ॥ १ ॥
धूम्राक्षेण च वीरेण नित्यं समरगर्द्धिना।
वृतः सम्प्रययौ श्रीमान् क्रोधाल्लोकान् दहन्निव ॥ २ ॥

(अगस्त्यजी कहते हैं—रघुनन्दन!) तदनन्तर बलके अभिमानसे सदा उन्मत्त रहनेवाला रावण महोदर, प्रहस्त, मारीच, शुक, सारण तथा सदा ही युद्धकी अभिलाषा रखनेवाले वीर धूम्राक्ष—इन छः मन्त्रियोंके साथ लङ्कासे प्रस्थित हुआ। उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो अपने क्रोधसे सम्पूर्ण लोकोंको भस्म कर डालेगा ॥ १-२ ॥

पुराणि स नदीः शैलान् वनान्युपवनानि च।
अतिक्रम्य मुहूर्तेन कैलासं गिरिमागमत् ॥ ३ ॥

बहुत-से नगरों, नदियों, पर्वतों, वनों और उपवनोंको लाँघकर वह दो ही घड़ीमें कैलास पर्वतपर जा पहुँचा ॥ ३ ॥

संनिविष्टं गिरौ तस्मिन् राक्षसेन्द्रं निशम्य तु।
युद्धेप्सुं तं कृतोत्साहं दुरात्मानं समन्त्रिणम् ॥ ४ ॥
यक्षा न शेकुः संस्थातुं प्रमुखे तस्य रक्षसः।
राज्ञो भ्रातेति विज्ञाय गता यत्र धनेश्वरः ॥ ५ ॥

यक्षोंने जब सुना कि दुरात्मा राक्षसराज रावणने युद्धके लिये उत्साहित होकर अपने मन्त्रियोंके साथ कैलास पर्वतपर डेरा डाला है, तब वे उस राक्षसके सामने खड़े न हो सके। यह राजाका भाई है, ऐसा जानकर यक्षलोग उस स्थानपर गये, जहाँ धनके स्वामी कुबेर विद्यमान थे ॥ ४-५ ॥

ते गत्वा सर्वमाचख्युर्भ्रातुस्तस्य चिकीर्षितम्।
अनुज्ञाता ययुर्हृष्टा युद्धाय धनदेन ते ॥ ६ ॥

वहाँ जाकर उन्होंने उनके भाईका सारा अभिप्राय कह सुनाया। तब कुबेरने युद्धके लिये यक्षोंको आज्ञा दे दी; फिर तो यक्ष बड़े हर्षसे भरकर चल दिये ॥ ६ ॥

ततो बलानां संक्षोभो व्यवर्धत इवोदधेः।
तस्य नैर्ऋतराजस्य शैलं संचालयन्निव ॥ ७ ॥

उस समय यक्षराजकी सेनाएँ समुद्रके समान क्षुब्ध हो उठीं। उनके वेगसे वह पर्वत हिलता-सा जान पड़ा ॥ ७ ॥

ततो युद्धं समभवद् यक्षराक्षससंकुलम्।
व्यथिताश्चाभवंस्तत्र सचिवा राक्षसस्य ते ॥ ८ ॥

तदनन्तर यक्षों और राक्षसोंमें घमासान युद्ध छिड़ गया। वहाँ रावणके वे सचिव व्यथित हो उठे ॥ ८ ॥

स दृष्ट्वा तादृशं सैन्यं दशग्रीवो निशाचरः।
हर्षनादान् बहून् कृत्वा स क्रोधादभ्यधावत ॥ ९ ॥

अपनी सेनाकी वैसी दुर्दशा देख निशाचर दशग्रीव बार-बार हर्षवर्धक सिंहनाद करके रोषपूर्वक यक्षोंकी ओर दौड़ा ॥ ९ ॥

ये तु ते राक्षसेन्द्रस्य सचिवा घोरविक्रमाः।
तेषां सहस्रमेकैको यक्षाणां समयोधयत् ॥ १० ॥

राक्षसराजके जो सचिव थे, वे बड़े भयंकर पराक्रमी थे। उनमेंसे एक-एक सचिव हजार-हजार यक्षोंसे युद्ध करने लगा ॥ १० ॥

ततो गदाभिर्मुसलैरसिभिः शक्तितोमरैः।
हन्यमानो दशग्रीवस्तत्सैन्यं समगाहत ॥ ११ ॥
स निरुच्छ्वासवत् तत्र वध्यमानो दशाननः।
वर्षद्भिरिव जीमूतैर्धाराभिरवरुध्यत ॥ १२ ॥

उस समय यक्ष जलकी धारा गिरानेवाले मेघोंके समान गदाओं, मुसलों, तलवारों, शक्तियों और तोमरोंकी वर्षा करने लगे। उनको चोट सहता हुआ दशग्रीव शत्रुसेनामें घुसा। वहाँ उसपर इतनी मार पड़ने लगी कि उसे दम मारनेकी भी फुरसत नहीं मिली। यक्षोंने उसका वेग रोक दिया ॥ ११-१२ ॥

न चकार व्यथां चैव यक्षशस्त्रैः समाहतः।
महीधर इवाम्भोदैर्धाराशतसमुक्षितः ॥ १३ ॥

यक्षोंके शस्त्रोंसे आहत होनेपर भी उसने अपने मनमें दुःख नहीं माना; ठीक उसी तरह, जैसे मेघोंद्वारा बरसायी हुई सैकड़ों जलधाराओंसे अभिषिक्त होनेपर भी पर्वत विचलित नहीं होता है ॥ १३ ॥

स महात्मा समुद्यम्य कालदण्डोपमां गदाम्।
प्रविवेश ततः सैन्यं नयन् यक्षान् यमक्षयम् ॥ १४ ॥

उस महाकाय निशाचरने कालदण्डके समान भयंकर गदा उठाकर यक्षोंकी सेनामें प्रवेश किया और उन्हें यमलोक पहुँचाना आरम्भ कर दिया ॥ १४ ॥

स कक्षमिव विस्तीर्णं शुष्केन्धनमिवाकुलम्।
वातेनाग्निरिवादीप्तो यक्षसैन्यं ददाह तत् ॥ १५ ॥

वायुसे प्रज्वलित हुई अग्निके समान रावणने तिनकोंके समान फैली और सूखे ईंधनकी भाँति आकुल हुई यक्षोंकी सेनाको जलाना आरम्भ किया ॥ १५ ॥

तैस्तु तत्र महामात्यैर्महोदरशुकादिभिः।
अल्पावशेषास्ते यक्षाः कृता वातैरिवाम्बुदाः ॥ १६ ॥

जैसे हवा बादलोंको उड़ा देती है, उसी तरह उन महोदर और शुक आदि महामन्त्रियोंने वहाँ यक्षोंका संहार कर डाला। अब वे थोड़ी ही संख्यामें बच रहे ॥ १६ ॥

केचित् समाहता भग्नाः पतिताः समरे क्षितौ।
ओष्ठांश्च दशनैस्तीक्ष्णैरदशन् कुपिता रणे ॥ १७ ॥

कितने ही यक्ष शस्त्रोंके आघातसे अङ्ग-भङ्ग हो जानेके कारण समराङ्गणमें धराशायी हो गये। कितने ही रणभूमिमें कुपित हो अपने तीखे दाँतोंसे ओठ दबाये हुए थे ॥ १७ ॥

श्रान्ताश्चान्योन्यमालिङ्ग्य भ्रष्टशस्त्रा रणाजिरे।
सीदन्ति च तदा यक्षाः कूला इव जलेन ह ॥ १८ ॥

कोई थककर एक-दूसरेसे लिपट गये। उनके अस्त्र-शस्त्र गिर गये और वे समराङ्गणमें उसी तरह शिथिल होकर गिरे जैसे जलके वेगसे नदीके किनारे टूट पड़ते हैं ॥ १८ ॥

हतानां गच्छतां स्वर्गं युध्यतामथ धावताम्।
प्रेक्षतामृषिसङ्घानां न बभूवान्तरं दिवि ॥ १९ ॥

मर-मरकर स्वर्गमें जाते, जूझते और दौड़ते हुए यक्षोंकी तथा आकाशमें खड़े होकर युद्ध देखनेवाले ऋषिसमूहोंकी संख्या इतनी बढ़ गयी थी कि आकाशमें उन सबके लिये जगह नहीं अँटती थी ॥ १९ ॥

भग्नांस्तु तान् समालक्ष्य यक्षेन्द्रांस्तु महाबलान्।
धनाध्यक्षो महाबाहुः प्रेषयामास यक्षकान् ॥ २० ॥

महाबाहु धनाध्यक्षने उन यक्षोंको भागते देख दूसरे महाबली यक्षराजोंको युद्धके लिये भेजा ॥ २० ॥

एतस्मिन्नन्तरे राम विस्तीर्णबलवाहनः।
प्रेषितो न्यपतद् यक्षो नाम्ना संयोधकण्टकः ॥ २१ ॥

श्रीराम! इसी बीचमें कुबेरका भेजा हुआ संयोधकण्टक नामक यक्ष वहाँ आ पहुँचा। उसके साथ बहुत-सी सेना और सवारियाँ थीं ॥ २१ ॥

तेन चक्रेण मारीचो विष्णुनेव रणे हतः।
पतितो भूतले शैलात् क्षीणपुण्य इव ग्रहः ॥ २२ ॥

उसने आते ही भगवान् विष्णुकी भाँति चक्रसे रणभूमिमें मारीचपर प्रहार किया। उससे घायल होकर वह राक्षस कैलाससे नीचे पृथ्वीपर उसी तरह गिर पड़ा, जैसे पुण्य क्षीण होनेपर स्वर्गवासी ग्रह वहाँसे भूतलपर गिर पड़ा हो ॥ २२ ॥

ससंज्ञस्तु मुहूर्तेन स विश्रम्य निशाचरः।
तं यक्षं योधयामास स च भग्नः प्रदुद्रुवे ॥ २३ ॥

दो घड़ीके बाद होशमें आनेपर निशाचर मारीच विश्राम करके लौटा और उस यक्षके साथ युद्ध करने लगा। तब वह यक्ष भाग खड़ा हुआ ॥ २३ ॥

ततः काञ्चनचित्राङ्गं वैदूर्यरजतोक्षितम्।
मर्यादां प्रतिहाराणां तोरणान्तरमाविशत् ॥ २४ ॥

तदनन्तर रावणने कुबेरपुरीके फाटकमें, जिसके प्रत्येक अङ्गमें सुवर्ण जड़ा हुआ था तथा जो नीलम और चाँदीसे भी विभूषित था, प्रवेश किया। वहाँ द्वारपालोंका पहरा लगता था। वह फाटक ही सीमा था। उससे आगे दूसरे लोग नहीं जा सकते थे ॥ २४ ॥

तं तु राजन् दशग्रीवं प्रविशन्तं निशाचरम्।
सूर्यभानुरिति ख्यातो द्वारपालो न्यवारयत् ॥ २५ ॥

महाराज श्रीराम! जब निशाचर दशग्रीव फाटकके भीतर प्रवेश करने लगा, तब सूर्यभानु नामक द्वारपालने उसे रोका ॥ २५ ॥

स वार्यमाणो यक्षेण प्रविवेश निशाचरः।
यदा तु वारितो राम न व्यतिष्ठत् स राक्षसः ॥ २६ ॥
ततस्तोरणमुत्पाट्य तेन यक्षेण ताडितः।
रुधिरं प्रस्रवन् भाति शैलो धातुस्रवैरिव ॥ २७ ॥

जब यक्षके रोकनेपर भी वह निशाचर न रुका और भीतर प्रविष्ट हो गया, तब द्वारपालने फाटकमें लगे हुए एक खंभेको उखाड़कर उसे दशग्रीवके ऊपर दे मारा। उसके शरीरसे रक्तकी धारा बहने लगी, मानो किसी पर्वतसे गेरुमिश्रित जलका झरना गिर रहा हो ॥ २६-२७ ॥

स शैलशिखराभेण तोरणेन समाहतः।
जगाम न क्षतिं वीरो वरदानात् स्वयम्भुवः ॥ २८ ॥

पर्वतशिखरके समान प्रतीत होनेवाले उस खंभेकी चोट खाकर भी वीर दशग्रीवकी कोई क्षति नहीं हुई। वह ब्रह्माजीके

वरदानके प्रभावसे उस यक्षके द्वारा मारा न जा सका ॥ २८ ॥

तेनैव तोरणेनाथ यक्षस्तेनाभिताडितः ।
नादृश्यत तदा यक्षो भस्मीकृततनुस्तदा ॥ २९ ॥

तब उसने भी वही खंभ उठाकर उसके द्वारा यक्षपर प्रहार किया, इससे यक्षका शरीर चूर-चूर हो गया। फिर उसकी शकल नहीं दिखायी दी ॥ २९ ॥

ततः प्रदुद्रुवुः सर्वे दृष्ट्वा रक्षःपराक्रमम् ।
ततो नदीर्गुहाश्चैव विविशुर्भयपीडिताः ।
त्यक्तप्रहरणाः श्रान्ता विवर्णवदनास्तदा ॥ ३० ॥

उस राक्षसका यह पराक्रम देखकर सभी यक्ष भाग गये कोई नदियोंमें कूद पड़े और कोई भयसे पीड़ित हो गुफाओंमें घुस गये। सबने अपने हथियार त्याग दिये थे। सभी थक गये थे और सबके मुखोंकी कान्ति फीकी पड़ गयी थी ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें चौदहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १४ ॥

—★—

पञ्चदशः सर्गः

माणिभद्र तथा कुबेरकी पराजय और रावणद्वारा पुष्पक विमानका अपहरण

ततस्ताँल्लक्ष्य वित्रस्तान् यक्षेन्द्रांश्च सहस्रशः ।
धनाध्यक्षो महायक्षं माणिभद्रमथाब्रवीत् ॥ १ ॥

'(अगस्त्यजी कहते हैं—रघुनन्दन!) धनाध्यक्षोंने देखा, हजारों यक्षप्रवर भयभीत होकर भाग रहे हैं; तब उन्होंने माणिभद्र नामक एक महायक्षसे कहा— ॥ १ ॥

रावणं जहि यक्षेन्द्र दुर्वृत्तं पापचेतसम् ।
शरणं भव वीराणां यक्षाणां युद्धशालिनाम् ॥ २ ॥

'यक्षप्रवर! रावण पापात्मा एवं दुराचारी है, तुम उसे मार डालो और युद्धमें शोभा पानेवाले वीर यक्षोंको शरण दो—उनकी रक्षा करो' ॥ २ ॥

एवमुक्तो महाबाहुर्माणिभद्रः सुदुर्जयः ।
वृतो यक्षसहस्रैस्तु चतुर्भिः समयोधयत् ॥ ३ ॥

महाबाहु माणिभद्र अत्यन्त दुर्जय वीर थे। कुबेरकी उक्त आज्ञा पाकर वे चार हजार यक्षोंकी सेना साथ ले फाटकपर गये और राक्षसोंके साथ युद्ध करने लगे ॥ ३ ॥

ते गदामुसलप्रासैः शक्तितोमरमुद्गरैः ।
अभिघ्नन्तस्तदा यक्षा राक्षसान् समुपाद्रवन् ॥ ४ ॥

उस समय यक्षयोद्धा गदा, मूसल, प्रास, शक्ति, तोमर तथा मुद्गरोंका प्रहार करते हुए राक्षसोंपर टूट पड़े ॥ ४ ॥

कुर्वन्तस्तुमुलं युद्धं चरन्तः श्येनवल्लघु ।
बाढं प्रयच्छ नेच्छामि दीयतामिति भाषिणः ॥ ५ ॥

वे घोर युद्ध करते हुए बाज पक्षीकी तरह तीव्र गतिसे सब ओर विचरने लगे। कोई कहता 'मुझे युद्धका अवसर दो।' दूसरा बोलता—'मैं यहाँसे पीछे हटना नहीं चाहता।' फिर तीसरा बोल उठता—'मुझे अपना हथियार दो' ॥ ५ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वा ऋषयो ब्रह्मवादिनः ।
दृष्ट्वा तत् तुमुलं युद्धं परं विस्मयमागमन् ॥ ६ ॥

उस तुमुल युद्धको देखकर देवता, गन्धर्व तथा ब्रह्मवादी ऋषि भी बड़े आश्चर्यमें पड़ गये थे ॥ ६ ॥

यक्षाणां तु प्रहस्तेन सहस्रं निहतं रणे ।
महोदरेण चानिन्द्यं सहस्रमपरं हतम् ॥ ७ ॥

उस रणभूमिमें प्रहस्तने एक हजार यक्षोंका संहार कर डाला। फिर महोदरने दूसरे एक सहस्र प्रशंसनीय यक्षोंका विनाश किया ॥ ७ ॥

क्रुद्धेन च तदा राजन् मारीचेन युयुत्सुना ।
निमेषान्तरमात्रेण द्वे सहस्रे निपातिते ॥ ८ ॥

राजन्! उस समय कुपित हुए रणोत्सुक मारीचने पलक मारते-मारते शेष दो हजार यक्षोंको धराशायी कर दिया ॥ ८ ॥

क्व च यक्षार्जवं युद्धं क्व च मायाबलाश्रयम् ।
रक्षसां पुरुषव्याघ्र तेन तेऽभ्यधिका युधि ॥ ९ ॥

पुरुषसिंह! कहाँ यक्षोंका सरलतापूर्वक युद्ध? और कहाँ राक्षसोंका मायामय संग्राम? वे अपने मायाबलके भरोसे ही यक्षोंकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुए ॥ ९ ॥

धूम्राक्षेण समागम्य माणिभद्रो महारणे ।
मुसलेनोरसि क्रोधात् ताडितो न च कम्पितः ॥ १० ॥

उस महासमरमें धूम्राक्षने आकर क्रोधपूर्वक माणिभद्रकी छातीमें मूसलका प्रहार किया; किंतु इससे वे विचलित नहीं हुए ॥ १० ॥

ततो गदां समाविध्य माणिभद्रेण राक्षसः ।
धूम्राक्षस्ताडितो मूर्ध्नि विह्वलः स पपात ह ॥ ११ ॥

फिर माणिभद्रने भी गदा घुमाकर उसे राक्षस धूम्राक्षके मस्तकपर दे मारा। उसकी चोटसे व्याकुल हो धूम्राक्ष धरतीपर गिर पड़ा ॥ ११ ॥

धूम्राक्षं ताडितं दृष्ट्वा पतितं शोणितोक्षितम् ।
अभ्यधावत संग्रामे माणिभद्रं दशाननः ॥ १२ ॥

धूम्राक्षको. गदाकी चोटसे घायल एवं खूनसे लथपथ होकर पृथ्वीपर पड़ा देख दशमुख रावणने रणभूमिमें माणिभद्रपर धावा किया ॥ १२ ॥

संक्रुद्धमभिधावन्तं माणिभद्रो दशाननम्।
शक्तिभिस्ताडयामास तिसृभिर्यक्षपुङ्गवः ॥ १३ ॥

'दशाननको क्रोधमें भरकर धावा करते देख यक्षप्रवर माणिभद्रने उसके ऊपर तीन शक्तियोंद्वारा प्रहार किया ॥ १३ ॥

ताडितो माणिभद्रस्य मुकुटे प्राहरद् रणे।
तस्य तेन प्रहारेण मुकुटं पार्श्वमागतम् ॥ १४ ॥

चोट खाकर रावणने रणभूमिमें माणिभद्रके मुकुटपर वार किया। उसके उस प्रहारसे उनका मुकुट खिसककर बगलमें आ गया ॥ १४ ॥

ततःप्रभृति यक्षोऽसौ पार्श्वमौलिरभूत् किल।
तस्मिंस्तु विमुखीभूते माणिभद्रे महात्मनि।
संनादः सुमहान् राजंस्तस्मिन् शैले व्यवर्धत ॥ १५ ॥

तबसे माणिभद्र यक्ष पार्श्वमौलिके नामसे प्रसिद्ध हुए। महामना माणिभद्र यक्ष युद्धसे भाग चले। राजन्! उनके युद्धसे विमुख होते ही उस पर्वतपर राक्षसोंका महान् सिंहनाद सब ओर फैल गया ॥ १५ ॥

ततो दूरात् प्रददृशे धनाध्यक्षो गदाधरः।
शुक्रप्रौष्ठपदाभ्यां च पद्मशङ्खसमावृतः ॥ १६ ॥

इसी समय धनके स्वामी गदाधारी कुबेर दूरसे आते दिखायी दिये। उनके साथ शुक्र और प्रौष्ठपद नामक मन्त्री तथा शङ्ख और पद्मनामक धनके अधिष्ठाता देवता भी थे ॥ १६ ॥

स दृष्ट्वा भ्रातरं संख्ये शापाद् विभ्रष्टगौरवम्।
उवाच वचनं धीमान् युक्तं पैतामहे कुले ॥ १७ ॥

विश्रवा मुनिके शापसे क्रूर प्रकृति हो जानेके कारण जो गुरुजनोंके प्रति प्रणाम आदि व्यवहार भी नहीं कर पाता था—गुरुजनोचित शिष्टाचारसे भी वञ्चित था, उस अपने भाई रावणको युद्धमें उपस्थित देख बुद्धिमान् कुबेरने ब्रह्माजीके कुलमें उत्पन्न हुए पुरुषके योग्य बात कही— ॥ १७ ॥

यन्मया वार्यमाणस्त्वं नावगच्छसि दुर्मते।
पश्चादस्य फलं प्राप्य ज्ञास्यसे निरयं गतः ॥ १८ ॥

'दुर्बुद्धि दशग्रीव! मेरे मना करनेपर भी इस समय तुम समझ नहीं रहे हो, किंतु आगे चलकर जब इस कुकर्मका फल पाओगे और नरकमें पड़ोगे, उस समय मेरी बात तुम्हारी समझमें आयेगी ॥ १८ ॥

यो हि मोहाद् विषं पीत्वा नावगच्छति दुर्मतिः।
स तस्य परिणामान्ते जानीते कर्मणः फलम् ॥ १९ ॥

'जो खोटी बुद्धिवाला पुरुष मोहवश विषको पीकर भी उसे विष नहीं समझता है, उसे उसका परिणाम प्राप्त हो जानेपर अपने किये हुए उस कर्मके फलका ज्ञान होता है ॥ १९ ॥

दैवतानि न नन्दन्ति धर्मयुक्तेन केनचित्।
येन त्वमीदृशं भावं नीतस्तच्च न बुद्ध्यसे ॥ २० ॥

'तुम्हारे किसी व्यापारसे, वह तुम्हारी मान्यताके अनुसार धर्मयुक्त ही क्यों न हो, देवता प्रसन्न नहीं होते हैं; इसीलिये तुम ऐसे क्रूरभावको प्राप्त हो गये हो, परंतु वह बात तुम्हारी समझमें नहीं आती है ॥ २० ॥

मातरं पितरं विप्रमाचार्यं चावमन्यते।
स पश्यति फलं तस्य प्रेतराजवशं गतः ॥ २१ ॥

'जो माता, पिता, ब्राह्मण और आचार्यका अपमान करता है, वह यमराजके वशमें पड़कर उस पापका फल भोगता है ॥ २१ ॥

अध्रुवे हि शरीरे यो न करोति तपोऽर्जनम्।
स पश्चात् तप्यते मूढो मृतो गत्वाऽऽत्मनो गतिम् ॥ २२ ॥

'यह शरीर क्षणभङ्गुर है। इसे पाकर जो तपका उपार्जन नहीं करता, वह मूर्ख मरनेके बाद जब उसे अपने दुष्कर्मोंका फल मिलता है, पश्चात्ताप करता है ॥ २२ ॥

धर्माद् राज्यं धनं सौख्यमधर्माद् दुःखमेव च।
तस्माद् धर्मं सुखार्थाय कुर्यात् पापं विसर्जयेत् ॥ २३ ॥

'धर्मसे राज्य, धन और सुखकी प्राप्ति होती है। अधर्मसे केवल दुःख ही भोगना पड़ता है, अतः सुखके लिये धर्मका आचरण करे, पापको सर्वथा त्याग दे ॥ २३ ॥

पापस्य हि फलं दुःखं तद् भोक्तव्यमिहात्मना।
तस्मादात्मापघातार्थं मूढः पापं करिष्यति ॥ २४ ॥

'पापका फल केवल दुःख है और उसे स्वयं ही यहाँ भोगना पड़ता है; इसलिये जो मूढ़ पाप करेगा, वह मानो स्वयं ही अपना वध कर लेगा ॥ २४ ॥

कस्यचिन्न हि दुर्बुद्धेश्छन्दतो जायते मतिः।
यादृशं कुरुते कर्म तादृशं फलमश्नुते ॥ २५ ॥

'किसी भी दुर्बुद्धि पुरुषको (शुभकर्मका अनुष्ठान और गुरुजनोंकी सेवा किये बिना) स्वेच्छामात्रसे उत्तम बुद्धिकी प्राप्ति नहीं होती। वह जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल भोगता है ॥ २५ ॥

ऋद्धिं रूपं बलं पुत्रान् वित्तं शूरत्वमेव च।
प्राप्नुवन्ति नरा लोके निर्जितं पुण्यकर्मभिः ॥ २६ ॥

'संसारके पुरुषोंको समृद्धि, सुन्दर रूप, बल, वैभव, वीरता तथा पुत्र आदिकी प्राप्ति पुण्यकर्मोंके अनुष्ठानसे ही होती है ॥ २६ ॥

एवं निरयगामी त्वं यस्य ते मतिरीदृशी।
न त्वां समभिभाषिष्येऽसद्वृत्तेष्वेव निर्णयः ॥ २७ ॥

'इसी प्रकार अपने दुष्कर्मोंके कारण तुम्हें भी नरकमें

जाना पड़ेगा; क्योंकि तुम्हारी बुद्धि ऐसी पापासक्त हो रही है। दुराचारियोंसे बात नहीं करना चाहिये, यही शास्त्रोंका निर्णय है; अतः मैं भी अब तुमसे कोई बात नहीं करूँगा'॥ २७॥

एवमुक्तास्ततस्तेन तस्यामात्याः समाहताः।
मारीचप्रमुखाः सर्वे विमुखा विप्रदुद्रुवुः॥ २८॥

इसी तरहकी बात उन्होंने रावणके मन्त्रियोंसे भी कही। फिर उनपर शस्त्रोंद्वारा प्रहार किया। इससे आहत होकर वे मारीच आदि सब राक्षस युद्धसे मुँह मोड़कर भाग गये॥ २८॥

ततस्तेन दशग्रीवो यक्षेन्द्रेण महात्मना।
गदयाभिहतो मूर्ध्नि न च स्थानात् प्रकम्पितः॥ २९॥

तदनन्तर महामना यक्षराज कुबेरने अपनी गदासे रावणके मस्तकपर प्रहार किया। उससे आहत होकर भी वह अपने स्थानसे विचलित नहीं हुआ॥ २९॥

ततस्तौ राम निघ्नन्तौ तदान्योन्यं महामृधे।
न विह्वलौ न च श्रान्तौ तावुभौ यक्षराक्षसौ॥ ३०॥

श्रीराम! तत्पश्चात् वे दोनों यक्ष और राक्षस—कुबेर तथा रावण दोनों उस महासमरमें एक-दूसरेपर प्रहार करने लगे; परंतु दोनोंमेंसे कोई भी न तो घबराता था, न थकता ही था॥ ३०॥

आग्नेयमस्त्रं तस्मै स मुमोच धनदस्तदा।
राक्षसेन्द्रो वारुणेन तदस्त्रं प्रत्यवारयत्॥ ३१॥

उस समय कुबेरने रावणपर आग्नेयास्त्रका प्रयोग किया, परंतु राक्षसराज रावणने वारुणास्त्रके द्वारा उनके उस अस्त्रको शान्त कर दिया॥ ३१॥

ततो मायां प्रविष्टोऽसौ राक्षसीं राक्षसेश्वरः।
रूपाणां शतसाहस्रं विनाशाय चकार च॥ ३२॥

तत्पश्चात् उस राक्षसराजने राक्षसी मायाका आश्रय लिया और कुबेरका विनाश करनेके लिये लाखों रूप धारण कर लिया॥ ३२॥

व्याघ्रो वराहो जीमूतः पर्वतः सागरो द्रुमः।
यक्षो दैत्यस्वरूपी च सोऽदृश्यत दशाननः॥ ३३॥

उस समय दशमुख रावण बाघ, सूअर, मेघ, पर्वत, समुद्र, वृक्ष, यक्ष और दैत्य सभी रूपोंमें दिखायी देने लगा॥ ३३॥

बहूनि च करोति स्म दृश्यन्ते न त्वसौ ततः।
प्रतिगृह्य ततो राम महदस्त्रं दशाननः॥ ३४॥
जघान मूर्ध्नि धनदं व्याविद्ध्य महतीं गदाम्।

इस प्रकार वह बहुत-से रूप प्रकट करता था। वे रूप ही दिखायी देते थे, वह स्वयं दृष्टिगोचर नहीं होता था। श्रीराम! तदनन्तर दशमुखने एक बहुत बड़ी गदा हाथमें ली और उसे घुमाकर कुबेरके मस्तकपर दे मारा॥ ३४½॥

एवं स तेनाभिहतो विह्वलः शोणितोक्षितः॥ ३५॥
कृत्तमूल इवाशोको निपपात धनाधिपः।

इस प्रकार रावणद्वारा आहत हो धनके स्वामी कुबेर रक्तसे नहा उठे और व्याकुल हो जड़से कटे हुए अशोककी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़े॥ ३५½॥

ततः पद्मादिभिस्तत्र निधिभिः स तदा वृतः॥ ३६॥
धनदोच्छ्वासितस्तैस्तु वनमानीय नन्दनम्।

तत्पश्चात् पद्म आदि निधियोंके अधिष्ठाता देवताओंने उन्हें घेरकर उठा लिया और नन्दनवनमें ले जाकर चेत कराया॥ ३६½॥

निर्जित्य राक्षसेन्द्रस्तं धनदं हृष्टमानसः॥ ३७॥
पुष्पकं तस्य जग्राह विमानं जयलक्षणम्।

इस तरह कुबेरको जीतकर राक्षसराज रावण अपने मनमें बहुत प्रसन्न हुआ और अपनी विजयके चिह्नके रूपमें उसने उनका पुष्पकविमान अपने अधिकारमें कर लिया॥ ३७½॥

काञ्चनस्तम्भसंवीतं वैदूर्यमणितोरणम्॥ ३८॥
मुक्ताजालप्रतिच्छन्नं सर्वकालफलद्रुमम्।

उस विमानमें सोनेके खम्भे और वैदूर्यमणिके फाटक लगे थे। वह सब ओरसे मोतियोंकी जालीसे ढका हुआ था। उसके भीतर ऐसे-ऐसे वृक्ष लगे थे, जो सभी ऋतुओंमें फल देनेवाले थे॥ ३८½॥

मनोजवं कामगमं कामरूपं विहंगमम्॥ ३९॥
मणिकाञ्चनसोपानं तप्तकाञ्चनवेदिकम्।

उसका वेग मनके समान तीव्र था। वह अपने ऊपर बैठे हुए लोगोंकी इच्छाके अनुसार सब जगह जा सकता था तथा चालक जैसा चाहे, वैसा छोटा या बड़ा रूप धारण कर लेता था। उस आकाशचारी विमानमें मणि और सुवर्णकी सीढ़ियाँ तथा तपाये हुए सोनेकी वेदियाँ बनी थीं॥ ३९½॥

देवोपवाह्यमक्षय्यं सदा दृष्टिमनःसुखम्॥ ४०॥
बह्वाश्चर्यं भक्तिचित्रं ब्रह्मणा परिनिर्मितम्।

वह देवताओंका ही वाहन था और टूटने-फूटनेवाला नहीं था। सदा देखनेमें सुन्दर और चित्तको प्रसन्न करनेवाला था। उसके भीतर अनेक प्रकारके आश्चर्यजनक चित्र थे। उसकी दीवारोंपर तरह-तरहके बेल-बूटे बने थे, जिनसे उनकी विचित्र शोभा हो रही थी। ब्रह्मा (विश्वकर्मा) ने उसका निर्माण किया था॥ ४०½॥

निर्मितं सर्वकामैस्तु मनोहरमनुत्तमम्॥ ४१॥
न तु शीतं न चोष्णं च सर्वर्तुसुखदं शुभम्।
स तं राजा समारुह्य कामगं वीर्यनिर्जितम्॥ ४२॥
जितं त्रिभुवनं मेने दर्पोत्सेकात् सुदुर्मतिः।
जित्वा वैश्रवणं देवं कैलासात् समवातरत्॥ ४३॥

वह सब प्रकारकी मनोवाञ्छित वस्तुओंसे सम्पन्न, मनोहर और परम उत्तम था। न अधिक ठंडा था और न अधिक

गरम। सभी ऋतुओंमें आराम पहुँचानेवाला तथा मङ्गलकारी था। अपने पराक्रमसे जीते हुए उस इच्छानुसार चलनेवाले विमानपर आरूढ़ हो अत्यन्त खोटी बुद्धिवाला राजा रावण अहंकारकी अधिकतासे ऐसा मानने लगा कि मैंने तीनों लोकोंको जीत लिया। इस प्रकार वैश्रवणदेवको पराजित करके वह कैलाससे नीचे उतरा॥ ४१—४३॥

स तेजसा विपुलमवाप्य तं जयं
प्रतापवान् विमलकिरीटहारवान्।
रराज वै परमविमानमास्थितो
निशाचरः सदसि गतो यथानलः॥ ४४॥

निर्मल किरीट और हारसे विभूषित वह प्रतापी निशाचर अपने तेजसे उस महान् विजयको पाकर उस उत्तम विमानपर आरूढ़ हो यज्ञमण्डपमें प्रज्वलित होनेवाले अग्निदेवकी भाँति शोभा पाने लगा॥ ४४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे पञ्चदशः सर्गः॥ १५॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें पंद्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १५॥

षोडशः सर्गः

नन्दीश्वरका रावणको शाप, भगवान् शङ्करद्वारा रावणका मान-भङ्ग तथा उनसे चन्द्रहास नामक खड्गकी प्राप्ति

स जित्वा धनदं राम भ्रातरं राक्षसाधिपः।
महासेनप्रसूतिं तद् ययौ शरवणं महत्॥ १॥

(अगस्त्यजी कहते हैं—) रघुकुलनन्दन राम! अपने भाई कुबेरको जीतकर राक्षसराज दशग्रीव 'शरवण' नामसे प्रसिद्ध सरकंडोंके विशाल वनमें गया, जहाँ महासेन कार्तिकेयजीकी उत्पत्ति हुई थी॥ १॥

अथापश्यद् दशग्रीवो रौक्मं शरवणं महत्।
गभस्तिजालसंवीतं द्वितीयमिव भास्करम्॥ २॥

वहाँ पहुँचकर दशग्रीवने सुवर्णमयी कान्तिसे युक्त उस विशाल शरवण (सरकंडोंके जंगल) को देखा, जो किरणसमूहोंसे व्याप्त होनेके कारण दूसरे सूर्यदेवके समान प्रकाशित हो रहा था॥ २॥

स पर्वतं समारुह्य कंचिद् रम्यवनान्तरम्।
प्रेक्षते पुष्पकं तत्र राम विष्टम्भितं तदा॥ ३॥

उसके पास ही कोई पर्वत था, जहाँकी वनस्थली बड़ी रमणीय थी। श्रीराम! जब वह उसपर चढ़ने लगा, तब देखता है कि पुष्पक विमानकी गति रुक गयी॥ ३॥

विष्टब्धं किमिदं कस्मान्नागमत् कामगं कृतम्।
अचिन्तयद् राक्षसेन्द्रः सचिवैस्तैः समावृतः॥ ४॥
किंनिमित्तमिच्छया मे नेदं गच्छति पुष्पकम्।
पर्वतस्योपरिष्ठस्य कर्मेदं कस्यचिद् भवेत्॥ ५॥

तब वह राक्षसराज अपने उन मन्त्रियोंके साथ मिलकर विचार करने लगा—'क्या कारण है कि यह पुष्पक विमान रुक गया? यह तो स्वामीकी इच्छाके अनुसार चलनेवाला बनाया गया है। फिर आगे क्यों नहीं बढ़ता? कौन-सा ऐसा कारण बन गया, जिससे यह पुष्पक विमान मेरी इच्छाके अनुसार नहीं चल रहा है? सम्भव है, इस पर्वतके ऊपर कोई रहता हो, उसीका यह कर्म हो सकता है?'॥ ४-५॥

ततोऽब्रवीत् तदा राम मारीचो बुद्धिकोविदः।
नेदं निष्कारणं राजन् पुष्पकं यन्न गच्छति॥ ६॥

श्रीराम! तब बुद्धिकुशल मारीचने कहा—'राजन्! यह पुष्पक विमान जो आगे नहीं बढ़ रहा है, इसमें कुछ-न-कुछ कारण अवश्य है। अकारण ही ऐसी घटना घटित हो गयी हो, यह बात नहीं है॥ ६॥

अथवा पुष्पकमिदं धनदान्नान्यवाहनम्।
अतो निस्पन्दमभवद् धनाध्यक्षविनाकृतम्॥ ७॥

'अथवा यह पुष्पक विमान कुबेरके सिवा दूसरेका वाहन नहीं हो सकता, इसीलिये उनके बिना यह निश्चेष्ट हो गया है'॥ ७॥

इति वाक्यान्तरे तस्य करालः कृष्णपिङ्गलः।
वामनो विकटो मुण्डी नन्दी ह्रस्वभुजो बली॥ ८॥
ततः पार्श्वमुपागम्य भवस्यानुचरोऽब्रवीत्।
नन्दीश्वरो वचश्चेदं राक्षसेन्द्रमशङ्कितः॥ ९॥

उसकी इस बातके बीचमें ही भगवान् शङ्करके पार्षद नन्दीश्वर रावणके पास आ पहुँचे, जो देखनेमें बड़े विकराल थे। उनकी अङ्गकान्ति काले एवं पिङ्गल वर्णकी थी। वे नाटे कदके विकट रूपवाले थे। उनका मस्तक मुण्डित और भुजाएँ छोटी-छोटी थीं। वे बड़े बलवान् थे। नन्दीने निःशङ्क होकर राक्षसराज दशग्रीवसे इस प्रकार कहा—॥ ८-९॥

निवर्तस्व दशग्रीव शैले क्रीडति शंकरः।
सुपर्णनागयक्षाणां देवगन्धर्वरक्षसाम्॥ १०॥
सर्वेषामेव भूतानामगम्यः पर्वतः कृतः।

'दशग्रीव ! लौट जाओ। इस पर्वतपर भगवान् शङ्कर क्रीडा करते हैं। यहाँ सुपर्ण, नाग, यक्ष, देवता, गन्धर्व और राक्षस सभी प्राणियोंका आना-जाना बंद कर दिया गया है' ॥ १०½ ॥

इति नन्दिवचः श्रुत्वा क्रोधात् कम्पितकुण्डलः ॥ ११ ॥
रोषात् तु ताम्रनयनः पुष्पकादवरुह्य सः।
कोऽयं शङ्कर इत्युक्त्वा शैलमूलमुपागतः ॥ १२ ॥

नन्दीकी यह बात सुनकर दशग्रीव कुपित हो उठा। उसके कानोंके कुण्डल हिलने लगे। आँखें रोषसे लाल हो गयीं और वह पुष्पकसे उतरकर बोला—'कौन है यह शङ्कर ?' ऐसा कहकर वह पर्वतके मूलभागमें आ गया ॥ ११-१२ ॥

सोऽपश्यन्नन्दिनं तत्र देवस्यादूरतः स्थितम्।
दीप्तं शूलमवष्टभ्य द्वितीयमिव शङ्करम् ॥ १३ ॥

वहाँ पहुँचकर उसने देखा, भगवान् शङ्करसे थोड़ी ही दूरपर चमचमाता हुआ शूल हाथमें लिये नन्दी दूसरे शिवकी भाँति खड़े हैं ॥ १३ ॥

तं दृष्ट्वा वानरमुखमवज्ञाय स राक्षसः।
प्रहासं मुमुचे तत्र सतोय इव तोयदः ॥ १४ ॥

उनका मुँह वानरके समान था। उन्हें देखकर वह निशाचर उनका तिरस्कार करता हुआ सजल जलधरके समान गम्भीर स्वरमें ठहाका मारकर हँसने लगा ॥ १४ ॥

तं क्रुद्धो भगवान् नन्दी शङ्करस्यापरा तनुः।
अब्रवीत् तत्र तद् रक्षो दशाननमुपस्थितम् ॥ १५ ॥

यह देख शिवके दूसरे स्वरूप भगवान् नन्दी कुपित हो वहाँ पास ही खड़े हुए निशाचर दशमुखसे इस प्रकार बोले— ॥ १५ ॥

यस्माद् वानररूपं मामवज्ञाय दशानन।
अशनीपातसंकाशमपहासं प्रमुक्तवान् ॥ १६ ॥
तस्मान्मद्वीर्यसंयुक्ता मद्रूपसमतेजसः।
उत्पत्स्यन्ति वधार्थं हि कुलस्य तव वानराः ॥ १७ ॥

'दशानन ! तुमने वानररूपमें मुझे देखकर मेरी अवहेलना की है और वज्रपातके समान भयानक अट्टहास किया है; अतः तुम्हारे कुलका विनाश करनेके लिये मेरे ही समान पराक्रम, रूप और तेजसे सम्पन्न वानर उत्पन्न होंगे ॥ १६-१७ ॥

नखदंष्ट्रायुधाः क्रूर मनःसम्पातरंहसः।
युद्धोन्मत्ता बलोद्रिक्ताः शैला इव विसर्पिणः ॥ १८ ॥

'क्रूर निशाचर ! नख और दाँत ही उन वानरोंके अस्त्र होंगे तथा मनके समान उनका तीव्र वेग होगा। वे युद्धके लिये उन्मत्त रहनेवाले और अतिशय बलशाली होंगे तथा चलते-फिरते पर्वतोंके समान जान पड़ेंगे ॥ १८ ॥

ते तव प्रबलं दर्पमुत्सेधं च पृथग्विधम्।
व्यपनेष्यन्ति सम्भूय सहामात्यसुतस्य च ॥ १९ ॥

'वे एकत्र होकर मन्त्री और पुत्रोंसहित तुम्हारे प्रबल अभिमानको और विशालकाय होनेके गर्वको चूर-चूर कर देंगे ॥ १९ ॥

किं त्विदानीं मया शक्यं हन्तुं त्वां हे निशाचर।
न हन्तव्यो हतस्त्वं हि पूर्वमेव स्वकर्मभिः ॥ २० ॥

'ओ निशाचर ! मैं तुम्हें अभी मार डालनेकी शक्ति रखता हूँ, तथापि तुम्हें मारना नहीं है; क्योंकि अपने कुत्सित कर्मोंद्वारा तुम पहलेसे ही मारे जा चुके हो (अतः मरे हुएको मारनेसे क्या लाभ ?)' ॥ २० ॥

इत्युदीरितवाक्ये तु देवे तस्मिन् महात्मनि।
देवदुन्दुभयो नेदुः पुष्पवृष्टिश्च खाच्च्युता ॥ २१ ॥

महामना भगवान् नन्दीके इतना कहते ही देवताओंकी दुन्दुभियाँ बज उठीं और आकाशसे फूलोंकी वर्षा होने लगी ॥ २१ ॥

अचिन्तयित्वा स तदा नन्दिवाक्यं महाबलः।
पर्वतं तु समासाद्य वाक्यमाह दशाननः ॥ २२ ॥

परंतु महाबली दशाननने उस समय नन्दीके उन वचनोंकी कोई परवा नहीं की और उस पर्वतके निकट जाकर कहा— ॥ २२ ॥

पुष्पकस्य गतिश्छिन्ना यत्कृते मम गच्छतः।
तमिमं शैलमुन्मूलं करोमि तव गोपते ॥ २३ ॥

'पशुपते ! जिसके कारण यात्रा करते समय मेरे पुष्पक विमानकी गति रुक गयी, तुम्हारे उस पर्वतको, जो यह मेरे सामने खड़ा है, मैं जड़से उखाड़ फेंकता हूँ ॥ २३ ॥

केन प्रभावेण भवो नित्यं क्रीडति राजवत्।
विज्ञातव्यं न जानीते भयस्थानमुपस्थितम् ॥ २४ ॥

'किस प्रभावसे शङ्कर प्रतिदिन यहाँ राजाकी भाँति क्रीडा करते हैं ? इन्हें इस जाननेयोग्य बातका भी पता नहीं है कि इनके समक्ष भयका स्थान उपस्थित है' ॥ २४ ॥

एवमुक्त्वा ततो राम भुजान् विक्षिप्य पर्वते।
तोलयामास तं शीघ्रं स शैलः समकम्पत ॥ २५ ॥

श्रीराम ! ऐसा कहकर दशग्रीवने पर्वतके निचले भागमें अपनी भुजाएँ लगायीं और उसे शीघ्र उठा लेनेका प्रयत्न किया। वह पर्वत हिलने लगा ॥ २५ ॥

चालनात् पर्वतस्यैव गणा देवस्य कम्पिताः।
चचाल पार्वती चापि तदाश्लिष्टा महेश्वरम् ॥ २६ ॥

पर्वतके हिलनेसे भगवान् शङ्करके सारे गण काँप उठे। पार्वती देवी भी विचलित हो उठीं और भगवान् शङ्करसे लिपट गयीं ॥ २६ ॥

ततो राम महादेवो देवानां प्रवरो हरः।
पादाङ्गुष्ठेन तं शैलं पीडयामास लीलया ॥ २७ ॥

श्रीराम ! तब देवताओंमें श्रेष्ठ पापहारी महादेवने उस पर्वतको अपने पैरके अँगूठेसे खिलवाड़में ही दबा दिया ॥ २७ ॥

पीडितास्तु ततस्तस्य शैलस्तम्भोपमा भुजाः।
विस्मिताश्चाभवंस्तत्र सचिवास्तस्य रक्षसः॥ २८॥

फिर तो दशग्रीवकी वे भुजाएँ, जो पर्वतके खंभोंके समान जान पड़ती थीं, उस पहाड़के नीचे दब गयीं। यह देख वहाँ खड़े हुए उस राक्षसके मन्त्री बड़े आश्चर्यमें पड़ गये॥ २८॥

रक्षसा तेन रोषाच्च भुजानां पीडनात् तथा।
मुक्तो विरावः सहसा त्रैलोक्यं येन कम्पितम्॥ २९॥

उस राक्षसने रोष तथा अपनी बाँहोंकी पीड़ाके कारण सहसा बड़े जोरसे विराव—रोदन अथवा आर्तनाद किया, जिससे तीनों लोकोंके प्राणी काँप उठे॥ २९॥

मेनिरे वज्रनिष्पेषं तस्यामात्या युगक्षये।
तदा वर्त्मसु चलिता देवा इन्द्रपुरोगमाः॥ ३०॥

उसके मन्त्रियोंने समझा, अब प्रलयकाल आ गया और विनाशकारी वज्रपात होने लगा है। उस समय इन्द्र आदि देवता मार्गमें विचलित हो उठे॥ ३०॥

समुद्राश्चापि संक्षुब्धाश्चलिताश्चापि पर्वताः।
यक्षा विद्याधराः सिद्धाः किमेतदिति चाब्रुवन्॥ ३१॥

समुद्रोंमें ज्वार आ गया। पर्वत हिलने लगे और यक्ष, विद्याधर तथा सिद्ध एक-दूसरेसे पूछने लगे—'यह क्या हो गया?'॥ ३१॥

तोषयस्व महादेवं नीलकण्ठमुमापतिम्।
तमृते शरणं नान्यं पश्यामोऽत्र दशानन॥ ३२॥

तदनन्तर दशग्रीवके मन्त्रियोंने उससे कहा—'महाराज दशानन! अब आप नीलकण्ठ उमावल्लभ महादेवजीको संतुष्ट कीजिये। उनके सिवा दूसरे किसीको हम ऐसा नहीं देखते, जो यहाँ आपको शरण दे सके॥ ३२॥

स्तुतिभिः प्रणतो भूत्वा तमेव शरणं व्रज।
कृपालुः शङ्करस्तुष्टः प्रसादं ते विधास्यति॥ ३३॥

'आप स्तुतियोंद्वारा उन्हें प्रणाम करके उन्हींकी शरणमें जाइये। भगवान् शङ्कर बड़े दयालु हैं। वे संतुष्ट होकर आपपर कृपा करेंगे'॥ ३३॥

एवमुक्तस्तदामात्यैस्तुष्टाव वृषभध्वजम्।
सामभिर्विविधैः स्तोत्रैः प्रणम्य स दशाननः।
संवत्सरसहस्रं तु रुदतो रक्षसो गतम्॥ ३४॥

मन्त्रियोंके ऐसा कहनेपर दशमुख रावणने भगवान् वृषभध्वजको प्रणाम करके नाना प्रकारके स्तोत्रों तथा सामवेदोक्त मन्त्रोंद्वारा उनका स्तवन किया। इस प्रकार हाथोंकी पीड़ासे रोते और स्तुति करते हुए उस राक्षसके एक हजार वर्ष बीत गये॥ ३४॥

ततः प्रीतो महादेवः शैलाग्रे विष्ठितः प्रभुः।
मुक्त्वा चास्य भुजान् राम प्राह वाक्यं दशाननम्॥ ३५॥

श्रीराम! तत्पश्चात् उस पर्वतके शिखरपर स्थित हुए भगवान् महादेव प्रसन्न हो गये। उन्होंने दशग्रीवकी भुजाओंको उस संकटसे मुक्त करके उससे कहा—॥ ३५॥

प्रीतोऽस्मि तव वीरस्य शौटीर्याच्च दशानन।
शैलाक्रान्तेन यो मुक्तस्त्वया रावः सुदारुणः॥ ३६॥
यस्माल्लोकत्रयं चैतद् रावितं भयमागतम्।
तस्मात् त्वं रावणो नाम नाम्ना राजन् भविष्यसि॥ ३७॥

'दशानन! तुम वीर हो। तुम्हारे पराक्रमसे मैं प्रसन्न हूँ। तुमने पर्वतसे दब जानेके कारण जो अत्यन्त भयानक राव (आर्तनाद) किया था, उससे भयभीत होकर तीनों लोकोंके प्राणी रो उठे थे, इसलिये राक्षसराज! अब तुम रावणके नामसे प्रसिद्ध होओगे॥ ३६-३७॥

देवता मानुषा यक्षा ये चान्ये जगतीतले।
एवं त्वामभिधास्यन्ति रावणं लोकरावणम्॥ ३८॥

'देवता, मनुष्य, यक्ष तथा दूसरे जो लोग भूतलपर निवास करते हैं, वे सब इस प्रकार समस्त लोकोंको रुलानेवाले तुझ दशग्रीवको रावण कहेंगे॥ ३८॥

गच्छ पौलस्त्य विस्रब्धं पथा येन त्वमिच्छसि।
मया चैवाभ्यनुज्ञातो राक्षसाधिप गम्यताम्॥ ३९॥

'पुलस्त्यनन्दन! अब तुम जिस मार्गसे जाना चाहो, बेखटके जा सकते हो। राक्षसपते! मैं भी तुम्हें अपनी ओरसे जानेकी आज्ञा देता हूँ, जाओ'॥ ३९॥

एवमुक्तस्तु लङ्केशः शम्भुना स्वयमब्रवीत्।
प्रीतो यदि महादेव वरं मे देहि याचतः॥ ४०॥

भगवान् शङ्करके ऐसा कहनेपर लङ्केश्वर बोला—'महादेव! यदि आप प्रसन्न हैं तो वर दीजिये। मैं आपसे वरकी याचना करता हूँ॥ ४०॥

अवध्यत्वं मया प्राप्तं देवगन्धर्वदानवैः।
राक्षसैर्गुह्यकैर्नागैर्ये चान्ये बलवत्तराः॥ ४१॥

'मैंने देवता, गन्धर्व, दानव, राक्षस, गुह्यक, नाग तथा अन्य महाबलशाली प्राणियोंसे अवध्य होनेका वर प्राप्त किया है॥ ४१॥

मानुषान् न गणे देव स्वल्पास्ते मम सम्मताः।
दीर्घमायुश्च मे प्राप्तं ब्रह्मणस्त्रिपुरान्तक॥ ४२॥
वाञ्छितं चायुषः शेषं शस्त्रं त्वं च प्रयच्छ मे।

'देव! मनुष्योंको तो मैं कुछ गिनता ही नहीं। मेरी मान्यताके अनुसार उनकी शक्ति बहुत थोड़ी है। त्रिपुरान्तक! मुझे ब्रह्माजीके द्वारा दीर्घ आयु भी प्राप्त हुई है। ब्रह्माजीकी दी हुई आयुका जितना अंश बच गया है, वह भी पूरा-का-पूरा प्राप्त हो जाय (उसमें किसी कारणसे कमी न हो)। ऐसी मेरी इच्छा है। इसे आप पूर्ण कीजिये। साथ ही अपनी ओरसे मुझे एक शस्त्र भी दीजिये'॥ ४२½॥

एवमुक्तस्ततस्तेन रावणेन स शङ्करः॥ ४३॥
ददौ खड्गं महादीप्तं चन्द्रहासमिति श्रुतम्।
आयुषश्चावशेषं च ददौ भूतपतिस्तदा॥ ४४॥

रावणके ऐसा कहनेपर भूतनाथ भगवान् शङ्करने उसे एक अत्यन्त दीप्तिमान् चन्द्रहास नामक खड्ग दिया और उसकी आयुका जो अंश बीत गया था, उसको भी पूर्ण कर दिया ॥ ४३-४४ ॥

दत्त्वोवाच ततः शम्भुर्नावज्ञेयमिदं त्वया।
अवज्ञातं यदि हि ते मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ४५ ॥

उस खड्गको देकर भगवान् शिवने कहा—'तुम्हें कभी इसका तिरस्कार नहीं करना चाहिये। यदि तुम्हारे द्वारा कभी इसका तिरस्कार हुआ तो यह फिर मेरे ही पास लौट आयेगा; इसमें संशय नहीं है' ॥ ४५ ॥

एवं महेश्वरेणैव कृतनामा स रावणः।
अभिवाद्य महादेवमारुरोहाथ पुष्पकम् ॥ ४६ ॥

इस प्रकार भगवान् शङ्करसे नूतन नाम पाकर रावणने उन्हें प्रणाम किया। तत्पश्चात् वह पुष्पक विमानपर आरूढ़ हुआ ॥ ४६ ॥

ततो महीतलं राम पर्यक्रामत रावणः।
क्षत्रियान् सुमहावीर्यान् बाधमानस्ततस्ततः ॥ ४७ ॥

श्रीराम! इसके बाद रावण समूची पृथ्वीपर दिग्विजयके लिये भ्रमण करने लगा। उसने इधर-उधर जाकर बहुत-से महापराक्रमी क्षत्रियोंको पीड़ा पहुँचायी ॥ ४७ ॥

केचित् तेजस्विनः शूराः क्षत्रिया युद्धदुर्मदाः।
तच्छासनमकुर्वन्तो विनेशुः सपरिच्छदाः ॥ ४८ ॥

कितने ही तेजस्वी क्षत्रिय जो बड़े ही शूरवीर और रणोन्मत्त थे, रावणकी आज्ञा न माननेके कारण सेना और परिवारसहित नष्ट हो गये ॥ ४८ ॥

अपरे दुर्जयं रक्षो जानन्तः प्राज्ञसम्मताः।
जिताः स्म इत्यभाषन्त राक्षसं बलदर्पितम् ॥ ४९ ॥

दूसरे क्षत्रियोंने, जो बुद्धिमान् माने जाते थे और उस राक्षसको अजेय समझते थे, उस बलाभिमानी निशाचरके सामने अपनी पराजय स्वीकार कर ली ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें सोलहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १६ ॥

सप्तदशः सर्गः

रावणसे तिरस्कृत ब्रह्मर्षि कन्या वेदवतीका उसे शाप देकर अग्निमें प्रवेश करना और दूसरे जन्ममें सीताके रूपमें प्रादुर्भूत होना

अथ राजन् महाबाहुर्विचरन् पृथिवीतले।
हिमवद्वनमासाद्य परिचक्राम रावणः ॥ १ ॥

(अगस्त्यजी कहते हैं—) राजन्! तत्पश्चात् महाबाहु रावण भूतलपर विचरता हुआ हिमालयके वनमें आकर वहाँ सब ओर चक्कर लगाने लगा ॥ १ ॥

तत्रापश्यत् स वै कन्यां कृष्णाजिनजटाधराम्।
आर्षेण विधिना चैनां दीप्यन्तीं देवतामिव ॥ २ ॥

वहाँ उसने एक तपस्विनी कन्याको देखा, जो अपने अङ्गोंमें काले रंगका मृगचर्म तथा सिरपर जटा धारण किये हुए थी। वह ऋषिप्रोक्त विधिसे तपस्यामें संलग्न हो देवाङ्गनाके समान उद्दीप्त हो रही थी ॥ २ ॥

स दृष्ट्वा रूपसम्पन्नां कन्यां तां सुमहाव्रताम्।
काममोहपरीतात्मा पप्रच्छ प्रहसन्निव ॥ ३ ॥

उत्तम एवं महान् व्रतका पालन करनेवाली तथा रूप-सौन्दर्यसे सुशोभित उस कन्याको देखकर रावणका चित्त कामजनित मोहके वशीभूत हो गया। उसने अट्टहास करते हुए-से पूछा— ॥ ३ ॥

किमिदं वर्तसे भद्रे विरुद्धं यौवनस्य ते।
नहि युक्ता तवैतस्य रूपस्यैवं प्रतिक्रिया ॥ ४ ॥

'भद्रे! तुम अपनी इस युवावस्थाके विपरीत यह कैसा बर्ताव कर रही हो? तुम्हारे इस दिव्य रूपके लिये ऐसा आचरण कदापि उचित नहीं है ॥ ४ ॥

रूपं तेऽनुपमं भीरु कामोन्मादकरं नृणाम्।
न युक्तं तपसि स्थातुं निर्गतो ह्येष निर्णयः ॥ ५ ॥

'भीरु! तुम्हारे इस रूपकी कहीं तुलना नहीं है। यह पुरुषोंके हृदयमें कामजनित उन्माद पैदा करनेवाला है। अतः तुम्हारा तपमें संलग्न होना उचित नहीं है। तुम्हारे लिये हमारे हृदयसे यही निर्णय प्रकट हुआ है ॥ ५ ॥

कस्यासि किमिदं भद्रे कश्च भर्ता वरानने।
येन सम्भुज्यसे भीरु स नरः पुण्यभाग् भुवि ॥ ६ ॥
पृच्छतः शंस मे सर्वं कस्य हेतोः परिश्रमः।

'भद्रे! तुम किसकी पुत्री हो? यह कौन-सा व्रत कर रही हो? सुमुखि! तुम्हारा पति कौन है? भीरु! जिसके साथ तुम्हारा सम्बन्ध है, वह मनुष्य इस भूलोकमें महान् पुण्यात्मा है। मैं जो कुछ पूछता हूँ, वह सब मुझे बताओ। किस फलके लिये यह परिश्रम किया जा रहा है?' ॥ ६½ ॥

एवमुक्ता तु सा कन्या रावणेन यशस्विनी ॥ ७ ॥
अब्रवीद् विधिवत् कृत्वा तस्यातिथ्यं तपोधना।

रावणके इस प्रकार पूछनेपर वह यशस्विनी तपोधना कन्या उसका विधिवत् आतिथ्य-सत्कार करके बोली— ॥७½॥

कुशध्वजो नाम पिता ब्रह्मर्षिरमितप्रभः ॥ ८ ॥
बृहस्पतिसुतः श्रीमान् बुद्ध्या तुल्यो बृहस्पतेः ।

'अमिततेजस्वी ब्रह्मर्षि श्रीमान् कुशध्वज मेरे पिता थे, जो बृहस्पतिके पुत्र थे और बुद्धिमें भी उन्हींके समान माने जाते थे ॥८½॥

तस्याहं कुर्वतो नित्यं वेदाभ्यासं महात्मनः ॥ ९ ॥
सम्भूता वाङ्मयी कन्या नाम्ना वेदवती स्मृता ।

'प्रतिदिन वेदाभ्यास करनेवाले उन महात्मा पितासे वाङ्मयी कन्याके रूपमें मेरा प्रादुर्भाव हुआ था। मेरा नाम वेदवती है ॥९½॥

ततो देवाः सगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः ॥ १० ॥
ते चापि गत्वा पितरं वरणं रोचयन्ति मे ।

'जब मैं बड़ी हुई, तब देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और नाग भी पिताजीके पास जा-जाकर उनसे मुझे माँगने लगे ॥१०½॥

न च मां स पिता तेभ्यो दत्तवान् राक्षसेश्वर ॥ ११ ॥
कारणं तद् वदिष्यामि निशामय महाभुज ।

'महाबाहु राक्षसेश्वर! पिताजीने उनके हाथमें मुझे नहीं सौंपा। इसका क्या कारण था, मैं बता रही हूँ, सुनिये ॥११½॥

पितुस्तु मम जामाता विष्णुः किल सुरेश्वरः ॥ १२ ॥
अभिप्रेतस्त्रिलोकेशस्तस्मान्नान्यस्य मे पिता ।
दातुमिच्छति तस्मै तु तच्छ्रुत्वा बलदर्पितः ॥ १३ ॥
शम्भुर्नाम ततो राजा दैत्यानां कुपितोऽभवत् ।
तेन रात्रौ शयानो मे पिता पापेन हिंसितः ॥ १४ ॥

'पिताजीकी इच्छा थी कि तीनों लोकोंके स्वामी देवेश्वर भगवान् विष्णु मेरे दामाद हों। इसीलिये वे दूसरे किसीके हाथमें मुझे नहीं देना चाहते थे। उनके इस अभिप्रायको सुनकर बलाभिमानी दैत्यराज शम्भु उनपर कुपित हो उठा और उस पापीने रातमें सोते समय मेरे पिताजीकी हत्या कर डाली ॥ १२—१४ ॥

ततो मे जननी दीना तच्छरीरं पितुर्मम ।
परिष्वज्य महाभागा प्रविष्टा हव्यवाहनम् ॥ १५ ॥

'इससे मेरी महाभागा माताको बड़ा दुःख हुआ और वे पिताजीके शवको हृदयसे लगाकर चिताकी आगमें प्रविष्ट हो गयीं ॥ १५ ॥

ततो मनोरथं सत्यं पितुर्नारायणं प्रति ।
करोमीति तमेवाहं हृदयेन समुद्वहे ॥ १६ ॥

'तबसे मैंने प्रतिज्ञा कर ली है कि भगवान् नारायणके प्रति पिताजीका जो मनोरथ था, उसे मैं सफल करूँगी। इसलिये मैं उन्हींको अपने हृदय-मन्दिरमें धारण करती हूँ ॥ १६ ॥

इति प्रतिज्ञामारुह्य चरामि विपुलं तपः ।
एतत् ते सर्वमाख्यातं मया राक्षसपुङ्गव ॥ १७ ॥

'यही प्रतिज्ञा करके मैं यह महान् तप कर रही हूँ। राक्षसराज! आपके प्रश्नके अनुसार यह सब बात मैंने आपको बता दी ॥ १७ ॥

नारायणो मम पतिर्न त्वन्यः पुरुषोत्तमात् ।
आश्रये नियमं घोरं नारायणपरीप्सया ॥ १८ ॥

'नारायण ही मेरे पति हैं। उन पुरुषोत्तमके सिवा दूसरा कोई मेरा पति नहीं हो सकता। उन नारायणदेवको प्राप्त करनेके लिये ही मैंने इस कठोर व्रतका आश्रय लिया है ॥ १८ ॥

विज्ञातस्त्वं हि मे राजन् गच्छ पौलस्त्यनन्दन ।
जानामि तपसा सर्वं त्रैलोक्ये यद्धि वर्तते ॥ १९ ॥

'राजन्! पौलस्त्यनन्दन! मैंने आपको पहचान लिया है। आप जाइये। त्रिलोकीमें जो कोई भी वस्तु विद्यमान है, वह सब मैं तपस्याद्वारा जानती हूँ' ॥ १९ ॥

सोऽब्रवीद् रावणो भूयस्तां कन्यां सुमहाव्रताम् ।
अवरुह्य विमानाग्रात् कन्दर्पशरपीडितः ॥ २० ॥

यह सुनकर रावण कामबाणसे पीड़ित हो विमानसे उतर गया और उस उत्तम एवं महान् व्रतका पालन करनेवाली कन्यासे फिर बोला— ॥ २० ॥

अवलिप्तासि सुश्रोणि यस्यास्ते मतिरीदृशी ।
वृद्धानां मृगशावाक्षि भ्राजते पुण्यसंचयः ॥ २१ ॥

'सुश्रोणि! तुम गर्वीली जान पड़ती हो, तभी तो तुम्हारी बुद्धि ऐसी हो गयी है। मृगशावकलोचने! इस तरह पुण्यका संग्रह बूढ़ी स्त्रियोंको ही शोभा देता है, तुम-जैसी युवतीको नहीं ॥ २१ ॥

त्वं सर्वगुणसम्पन्ना नार्हसे वक्तुमीदृशम् ।
त्रैलोक्यसुन्दरी भीरु यौवनं तेऽतिवर्तते ॥ २२ ॥

'तुम तो सर्वगुणसम्पन्न एवं त्रिलोकीकी अद्वितीय सुन्दरी हो। तुम्हें ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये। भीरु! तुम्हारी जवानी बीती जा रही है ॥ २२ ॥

अहं लङ्कापतिर्भद्रे दशग्रीव इति श्रुतः ।
तस्य मे भव भार्या त्वं भुङ्क्ष्व भोगान् यथासुखम् ॥ २३ ॥

'भद्रे! मैं लङ्काका राजा हूँ। मेरा नाम दशग्रीव है। तुम मेरी भार्या हो जाओ और सुखपूर्वक उत्तम भोग भोगो ॥ २३ ॥

कश्च तावदसौ यं त्वं विष्णुरित्यभिभाषसे ।
वीर्येण तपसा चैव भोगेन च बलेन च ॥ २४ ॥
स मया नो समो भद्रे यं त्वं कामयसेऽङ्गने ।

'पहले यह तो बताओ, तुम जिसे विष्णु कहती हो, वह कौन है? अङ्गने! भद्रे! तुम जिसे चाहती हो, वह बल,

पराक्रम, तप और भोग-वैभवके द्वारा मेरी समानता नहीं कर सकता' ॥२४½॥

इत्युक्तवति तस्मिंस्तु वेदवत्यथ साब्रवीत्॥ २५ ॥
मा मैवमिति सा कन्या तमुवाच निशाचरम्।

उसके ऐसा कहनेपर कुमारी वेदवती उस निशाचरसे बोली—'नहीं, नहीं, ऐसा न कहो ॥२५½॥

त्रैलोक्याधिपतिं विष्णुं सर्वलोकनमस्कृतम्॥ २६ ॥
त्वदृते राक्षसेन्द्रान्यः कोऽवमन्येत बुद्धिमान्।

'राक्षसराज! भगवान् विष्णु तीनों लोकोंके अधिपति हैं। सारा संसार उनके चरणोंमें मस्तक झुकाता है। तुम्हारे सिवा दूसरा कौन पुरुष है, जो बुद्धिमान् होकर भी उनकी अवहेलना करेगा' ॥२६½॥

एवमुक्तस्तया तत्र वेदवत्या निशाचरः॥ २७ ॥
मूर्धजेषु तदा कन्यां कराग्रेण परामृशत्।

वेदवतीके ऐसा कहनेपर उस राक्षसने अपने हाथसे उस कन्याके केश पकड़ लिये ॥ २७½॥

ततो वेदवती क्रुद्धा केशान् हस्तेन साच्छिनत्॥ २८ ॥
असिर्भूत्वा करस्तस्याः केशांश्छिन्नांस्तदाकरोत्।

इससे वेदवतीको बड़ा क्रोध हुआ। उसने अपने हाथसे उन केशोंको काट दिया। उसके हाथने तलवार बनकर तत्काल उसके केशोंको मस्तकसे अलग कर दिया ॥ २८½॥

सा ज्वलन्तीव रोषेण दहन्तीव निशाचरम्॥ २९ ॥
उवाचाग्निं समाधाय मरणाय कृतत्वरा।

वेदवती रोषसे प्रज्वलित-सी हो उठी। वह जल मरनेके लिये उतावली हो अग्निकी स्थापना करके उस निशाचरको दग्ध करती हुई-सी बोली— ॥२९½॥

धर्षितायास्त्वयानार्य न मे जीवितमिष्यते॥ ३० ॥
रक्षस्तस्मात् प्रवेक्ष्यामि पश्यतस्ते हुताशनम्।

'नीच राक्षस! तूने मेरा तिरस्कार किया है; अतः अब इस जीवनको सुरक्षित रखना मुझे अभीष्ट नहीं है। इसलिये तेरे देखते-देखते मैं अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगी ॥३०½॥

यस्मात् तु धर्षिता चाहं त्वया पापात्मना वने॥ ३१ ॥
तस्मात् तव वधार्थं हि समुत्पत्स्ये ह्यहं पुनः।

'तुझ पापात्माने इस वनमें मेरा अपमान किया है। इसलिये मैं तेरे वधके लिये फिर उत्पन्न होऊँगी ॥३१½॥

नहि शक्यः स्त्रिया हन्तुं पुरुषः पापनिश्चयः॥ ३२ ॥
शापे त्वयि मयोत्सृष्टे तपसश्च व्ययो भवेत्।

'स्त्री अपनी शारीरिक शक्तिसे किसी पापाचारी पुरुषका वध नहीं कर सकती। यदि मैं तुझे शाप दूँ तो मेरी तपस्या क्षीण हो जायगी ॥३२½॥

यदि त्वस्ति मया किंचित् कृतं दत्तं हुतं तथा॥ ३३ ॥
तस्मात् त्वयोनिजा साध्वी भवेयं धर्मिणः सुता।

'यदि मैंने कुछ भी सत्कर्म, दान और होम किये हों तो अगले जन्ममें मैं सती-साध्वी अयोनिजा कन्याके रूपमें प्रकट होऊँ तथा किसी धर्मात्मा पिताकी पुत्री बनूँ' ॥३३½॥

एवमुक्त्वा प्रविष्टा सा ज्वलितं जातवेदसम्॥ ३४ ॥
पपात च दिवो दिव्या पुष्पवृष्टिः समन्ततः।

ऐसा कहकर वह प्रज्वलित अग्निमें समा गयी। उस समय उसके चारों ओर आकाशसे दिव्य पुष्पोंकी वर्षा होने लगी ॥३४½॥

पुनरेव समुद्भूता पद्मे पद्मसमप्रभा॥ ३५ ॥
तस्मादपि पुनः प्राप्ता पूर्ववत् तेन रक्षसा।

तदनन्तर दूसरे जन्ममें वह कन्या पुनः एक कमलसे प्रकट हुई। उस समय उसकी कान्ति कमलके समान ही सुन्दर थी। उस राक्षसने पहलेकी ही भाँति फिर वहाँसे भी उस कन्याको प्राप्त कर लिया ॥३५½॥

कन्यां कमलगर्भाभां प्रगृह्य स्वगृहं ययौ॥ ३६ ॥
प्रगृह्य रावणस्त्वेतां दर्शयामास मन्त्रिणे।

कमलके भीतरी भागके समान सुन्दर कान्तिवाली उस कन्याको लेकर रावण अपने घर गया। वहाँ उसने मन्त्रीको वह कन्या दिखायी ॥३६½॥

लक्षणज्ञो निरीक्ष्यैव रावणं चैवमब्रवीत्॥ ३७ ॥
गृहस्थैषा हि सुश्रोणी त्वद्वधायैव दृश्यते।

मन्त्री बालक-बालिकाओंके लक्षणोंको जाननेवाला था। उसने उसे अच्छी तरह देखकर रावणसे कहा—'राजन्! यह सुन्दरी कन्या यदि घरमें रही तो आपके वधका ही कारण होगी, ऐसा लक्षण देखा जाता है' ॥३७½॥

एतच्छ्रुत्वार्णवे राम तां प्रचिक्षेप रावणः॥ ३८ ॥
सा चैव क्षितिमासाद्य यज्ञायतनमध्यगा।
राज्ञो हलमुखोत्कृष्टा पुनरप्युत्थिता सती॥ ३९ ॥

श्रीराम! यह सुनकर रावणने उसे समुद्रमें फेंक दिया। तत्पश्चात् वह भूमिको प्राप्त होकर राजा जनकके यज्ञमण्डपके मध्यवर्ती भूभागमें जा पहुँची। वहाँ राजाके हलके मुखभागसे उस भूभागके जोते जानेपर वह सती साध्वी कन्या फिर प्रकट हो गयी ॥ ३८-३९ ॥

सैषा जनकराजस्य प्रसूता तनया प्रभो।
तव भार्या महाबाहो विष्णुस्त्वं हि सनातनः॥ ४० ॥

प्रभो! वही यह वेदवती महाराज जनककी पुत्रीके रूपमें प्रादुर्भूत हो आपकी पत्नी हुई है। महाबाहो! आप ही सनातन विष्णु हैं ॥ ४० ॥

पूर्वं क्रोधहतः शत्रुर्ययासौ निहतस्तया।
उपाश्रयित्वा शैलाभस्तव वीर्यममानुषम्॥ ४१ ॥

उस वेदवतीने पहले ही अपने रोषजनित शापके द्वारा आपके उस पर्वताकार शत्रुको मार डाला था, जिसे अब आपने आक्रमण करके मौतके घाट उतारा है। प्रभो! आपका पराक्रम अलौकिक है ॥ ४१ ॥

एवमेषा महाभागा मर्त्येषूत्पत्स्यते पुनः।
क्षेत्रे हलमुखोत्कृष्टे वेद्यामग्निशिखोपमा॥ ४२॥

इस प्रकार यह महाभागा देवी विभिन्न कल्पोंमें पुनः रावणवधके उद्देश्यसे मर्त्यलोकमें अवतीर्ण होती रहेगी। यज्ञवेदीपर अग्निशिखाके समान हलसे जोते गये क्षेत्रमें इसका आविर्भाव हुआ है॥ ४२॥

एषा वेदवती नाम पूर्वमासीत् कृते युगे।
त्रेतायुगमनुप्राप्य वधार्थं तस्य रक्षसः॥ ४३॥

उत्पन्ना मैथिलकुले जनकस्य महात्मनः।
सीतोत्पन्ना तु सीतेति मानुषैः पुनरुच्यते॥ ४४॥

यह वेदवती पहले सत्ययुगमें प्रकट हुई थी। फिर त्रेतायुग आनेपर उस राक्षस रावणके वधके लिये मिथिलावर्ती राजा जनकके कुलमें सीतारूपसे अवतीर्ण हुई। सीता (हल जोतनेसे भूमिपर बनी हुई रेखा) से उत्पन्न होनेके कारण मनुष्य इस देवीको सीता कहते हैं॥ ४३-४४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे सप्तदशः सर्गः॥ १७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें सत्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १७॥

—★—

अष्टादशः सर्गः

रावणद्वारा मरुत्तकी पराजय तथा इन्द्र आदि देवताओंका मयूर आदि पक्षियोंको वरदान देना

प्रविष्टायां हुताशं तु वेदवत्यां स रावणः।
पुष्पकं तु समारुह्य परिचक्राम मेदिनीम्॥ १॥

अगस्त्यजी कहते हैं—रघुनन्दन! वेदवतीके अग्निमें प्रवेश कर जानेपर रावण पुष्पकविमानपर आरूढ़ हो पृथ्वीपर सब ओर भ्रमण करने लगा॥ १॥

ततो मरुत्तं नृपतिं यजन्तं सह दैवतैः।
उशीरबीजमासाद्य ददर्श स तु रावणः॥ २॥

उसी यात्रामें उशीरबीज नामक देशमें पहुँचकर रावणने देखा, राजा मरुत्त देवताओंके साथ बैठकर यज्ञ कर रहे हैं॥ २॥

संवर्तो नाम ब्रह्मर्षिः साक्षाद् भ्राता बृहस्पतेः।
याजयामास धर्मज्ञः सर्वैर्देवगणैर्वृतः॥ ३॥

उस समय साक्षात् बृहस्पतिके भाई तथा धर्मके मर्मको जाननेवाले ब्रह्मर्षि संवर्त सम्पूर्ण देवताओंसे घिरे रहकर वह यज्ञ करा रहे थे॥ ३॥

दृष्ट्वा देवास्तु तद् रक्षो वरदानेन दुर्जयम्।
तिर्यग्योनिं समाविष्टास्तस्य धर्षणभीरवः॥ ४॥

ब्रह्माजीके वरदानसे जिसको जीतना कठिन हो गया था, उस राक्षस रावणको वहाँ देखकर उसके आक्रमणसे भयभीत हो देवतालोग तिर्यग्-योनिमें प्रवेश कर गये॥ ४॥

इन्द्रो मयूरः संवृत्तो धर्मराजस्तु वायसः।
कृकलासो धनाध्यक्षो हंसश्च वरुणोऽभवत्॥ ५॥

इन्द्र मोर, धर्मराज कौआ, कुबेर गिरगिट और वरुण हंस हो गये॥ ५॥

अन्येष्वपि गतेष्वेवं देवेष्वरिनिषूदन।
रावणः प्राविशद् यज्ञं सारमेय इवाशुचिः॥ ६॥

शत्रुसूदन श्रीराम! इसी तरह दूसरे-दूसरे देवता भी जब विभिन्न रूपोंमें स्थित हो गये, तब रावणने उस यज्ञमण्डपमें प्रवेश किया, मानो कोई अपवित्र कुत्ता वहाँ आ गया हो॥ ६॥

तं च राजानमासाद्य रावणो राक्षसाधिपः।
प्राह युद्धं प्रयच्छेति निर्जितोऽस्मीति वा वद॥ ७॥

राजा मरुत्तके पास पहुँचकर राक्षसराज रावणने कहा—'मुझसे युद्ध करो या अपने मुँहसे यह कह दो कि मैं पराजित हो गया'॥ ७॥

ततो मरुत्तो नृपतिः को भवानित्युवाच तम्।
अवहासं ततो मुक्त्वा रावणो वाक्यमब्रवीत्॥ ८॥

तब राजा मरुत्तने पूछा—'आप कौन हैं?' उनका प्रश्न सुनकर रावण हँस पड़ा और बोला—॥ ८॥

अकुतूहलभावेन प्रीतोऽस्मि तव पार्थिव।
धनदस्यानुजं यो मां नावगच्छसि रावणम्॥ ९॥

'भूपाल! मैं कुबेरका छोटा भाई रावण हूँ। फिर भी तुम मुझे नहीं जानते और मुझे देखकर भी तुम्हारे मनमें न तो कौतूहल हुआ, न भय ही; इससे मैं तुम्हारे ऊपर बहुत प्रसन्न हूँ॥ ९॥

त्रिषु लोकेषु कोऽन्योऽस्ति यो न जानाति मे बलम्।
भ्रातरं येन निर्जित्य विमानमिदमाहृतम्॥ १०॥

'तीनों लोकोंमें तुम्हारे सिवा दूसरा कौन ऐसा राजा होगा, जो मेरे बलको न जानता हो। मैं वह रावण हूँ, जिसने अपने भाई कुबेरको जीतकर यह विमान छीन लिया है'॥ १०॥

ततो मरुत्तः स नृपस्तं रावणमथाब्रवीत्।
धन्यः खलु भवान् येन ज्येष्ठो भ्राता रणे जितः॥ ११॥

तब राजा मरुत्तने रावणसे कहा—'तुम धन्य हो, जिसने अपने बड़े भाईको रणभूमिमें पराजित कर दिया॥ ११॥

न त्वया सदृशः श्लाघ्यस्त्रिषु लोकेषु विद्यते।
कं त्वं प्राक्केवलं धर्मं चरित्वा लब्धवान् वरम्॥ १२॥

'तुम्हारे-जैसा स्पृहणीय पुरुष तीनों लोकोंमें दूसरा कोई नहीं है। तुमने पूर्वकालमें किस शुद्ध धर्मका आचरण करके वर प्राप्त किया है॥ १२॥

श्रुतपूर्वं हि न मया भाषसे यादृशं स्वयम्।
तिष्ठेदानीं न मे जीवन् प्रतियास्यसि दुर्मते॥ १३॥
अद्य त्वां निशितैर्बाणैः प्रेषयामि यमक्षयम्।

'तुम स्वयं जो कुछ कह रहे हो, ऐसी बात मैंने पहले कभी नहीं सुनी है। दुर्बुद्धे! इस समय खड़े तो रहो। मेरे हाथसे जीवित बचकर नहीं जा सकोगे। आज अपने पैने बाणोंसे मारकर तुम्हें यमलोक पहुँचाये देता हूँ'॥ १३½॥

ततः शरासनं गृह्य सायकांश्च नराधिपः॥ १४॥
रणाय निर्ययौ क्रुद्धः संवर्तो मार्गमावृणोत्।

तदनन्तर राजा मरुत्त धनुष-बाण लेकर बड़े रोषके साथ युद्धके लिये निकले, परंतु महर्षि संवर्तने उनका रास्ता रोक लिया॥ १४½॥

सोऽब्रवीत् स्नेहसंयुक्तं मरुत्तं तं महानृषिः॥ १५॥
श्रोतव्यं यदि मद्वाक्यं सम्प्रहारो न ते क्षमः।

उन महर्षिने महाराज मरुत्तसे स्नेहपूर्वक कहा—'राजन्! यदि मेरी बात सुनना और उसपर ध्यान देना उचित समझो तो सुनो। तुम्हारे लिये युद्ध करना उचित नहीं है॥ १५½॥

माहेश्वरमिदं सत्रमसमाप्तं कुलं दहेत्॥ १६॥
दीक्षितस्य कुतो युद्धं क्रोधित्वं दीक्षिते कुतः।

'यह माहेश्वर यज्ञ आरम्भ किया गया है। यदि पूरा न हुआ तो तुम्हारे समस्त कुलको दग्ध कर डालेगा। जो यज्ञकी दीक्षा ले चुका है, उसके लिये युद्धका अवसर ही कहाँ है? यज्ञदीक्षित पुरुषमें क्रोधके लिये स्थान ही कहाँ है?॥ १६½॥

संशयश्च जये नित्यं राक्षसश्च सुदुर्जयः॥ १७॥
स निवृत्तो गुरोर्वाक्यान्मरुत्तः पृथिवीपतिः।
विसृज्य सशरं चापं स्वस्थो मखमुखोऽभवत्॥ १८॥

'युद्धमें किसकी विजय होगी, इस प्रश्नको लेकर सदा संशय ही बना रहता है। उधर वह राक्षस अत्यन्त दुर्जय है।' अपने आचार्यके इस कथनसे पृथ्वीपति मरुत्त युद्धसे निवृत्त हो गये। उन्होंने धनुष-बाण त्याग दिया और स्वस्थभावसे वे यज्ञके लिये उन्मुख हो गये॥ १७-१८॥

ततस्तं निर्जितं मत्वा घोषयामास वै शुकः।
रावणो जयतीत्युच्चैर्हर्षान्नादं विमुक्तवान्॥ १९॥

तब उन्हें पराजित हुआ मानकर शुकने यह घोषणा कर दी कि महाराज रावणकी विजय हुई और वह बड़े हर्षके साथ उच्चस्वरसे सिंहनाद करने लगा॥ १९॥

तान् भक्षयित्वा तत्रस्थान् महर्षीन् यज्ञमागतान्।
वितृप्तो रुधिरैस्तेषां पुनः सम्प्रययौ महीम्॥ २०॥

उस यज्ञमें आकर बैठे हुए महर्षियोंको खाकर उनके रक्तसे पूर्णतः तृप्त हो रावण फिर पृथ्वीपर विचरने लगा॥ २०॥

रावणे तु गते देवाः सेन्द्राश्चैव दिवौकसः।
ततः स्वां योनिमासाद्य तानि सत्त्वानि चाब्रुवन्॥ २१॥

रावणके चले जानेपर इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता पुनः अपने स्वरूपमें प्रकट हो उन-उन प्राणियोंको (जिनके रूपमें वे स्वयं प्रकट हुए थे) वरदान देते हुए बोले॥ २१॥

हर्षात् तदाब्रवीदिन्द्रो मयूरं नीलबर्हिणम्।
प्रीतोऽस्मि तव धर्मज्ञ भुजङ्गाद्धि न ते भयम्॥ २२॥

सबसे पहले इन्द्रने हर्षपूर्वक नीले पंखवाले मोरसे कहा—'धर्मज्ञ! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हें सर्पसे भय नहीं होगा॥ २२॥

इदं नेत्रसहस्रं तु यत् तद् बर्हे भविष्यति।
वर्षमाणे मयि मुदं प्राप्स्यसे प्रीतिलक्षणाम्॥ २३॥
एवमिन्द्रो वरं प्रादान्मयूरस्य सुरेश्वरः॥ २४॥

'मेरे जो ये सहस्र नेत्र हैं, इनके समान चिह्न तुम्हारी पाँखमें प्रकट होंगे। जब मैं मेघरूप होकर वर्षा करूँगा, उस समय तुम्हें बड़ी प्रसन्नता प्राप्त होगी। वह प्रसन्नता मेरी प्रीतिको लक्षित करानेवाली होगी।' इस प्रकार देवराज इन्द्रने मोरको वरदान दिया॥ २३-२४॥

नीलाः किल पुरा बर्हा मयूराणां नराधिप।
सुराधिपाद् वरं प्राप्य गताः सर्वेऽपि बर्हिणः॥ २५॥

नरेश्वर श्रीराम! इस वरदानके पहले मोरोंके पंख केवल नीले रंगके ही होते थे। देवराजसे उक्त वर पाकर सब मयूर वहाँसे चले गये॥ २५॥

धर्मराजोऽब्रवीद् राम प्राग्वंशे वायसं प्रति।
पक्षिंस्तवास्मि सुप्रीतः प्रीतस्य वचनं शृणु॥ २६॥

श्रीराम! तदनन्तर धर्मराजने प्राग्वंशकी[1] छतपर बैठे हुए कौएसे कहा—'पक्षी! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। प्रसन्न होकर जो कुछ कहता हूँ, मेरे इस वचनको सुनो॥ २६॥

यथान्ये विविधै रोगैः पीड्यन्ते प्राणिनो मया।
ते न ते प्रभविष्यन्ति मयि प्रीते न संशयः॥ २७॥

'जैसे दूसरे प्राणियोंको मैं नाना प्रकारके रोगोंद्वारा पीड़ित करता हूँ, वे रोग मेरी प्रसन्नताके कारण तुमपर अपना प्रभाव

१. यज्ञशालाके पूर्वभागमें यजमान और उसकी पत्नी आदिके ठहरनेके लिये बने हुए गृहको प्राग्वंश कहते हैं। यह घर हविर्गृहके पूर्व ओर होता है।

नहीं डाल सकेंगे; इसमें संशय नहीं है ॥ २७ ॥

मृत्युस्ते भयं नास्ति वरान् मम विहंगम।
यावत् त्वां न वधिष्यन्ति नरास्तावद् भविष्यसि ॥ २८ ॥

'विहङ्गम! मेरे वरदानसे तुम्हें मृत्युका भय नहीं होगा। जबतक मनुष्य आदि प्राणी तुम्हारा वध नहीं करेंगे, तबतक तुम जीवित रहोगे ॥ २८ ॥

ये च मद्विषयस्था वै मानवाः क्षुधयार्दिताः।
त्वयि भुक्ते सुतृप्तास्ते भविष्यन्ति सबान्धवाः ॥ २९ ॥

'मेरे राज्य—यमलोकमें स्थित रहकर जो मानव भूखसे पीड़ित हैं, उनके पुत्र आदि इस भूतलपर जब तुम्हें भोजन करावेंगे, तब वे बन्धु-बान्धवोंसहित परम तृप्त होंगे' ॥ २९ ॥

वरुणस्त्वब्रवीद्धंसं गङ्गातोयविचारिणम्।
श्रूयतां प्रीतिसंयुक्तं वचः पत्ररथेश्वर ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् वरुणने गङ्गाजीके जलमें विचरनेवाले हंसको सम्बोधित करके कहा—'पक्षिराज! मेरा प्रेमपूर्ण वचन सुनो— ॥ ३० ॥

वर्णो मनोरमः सौम्यश्चन्द्रमण्डलसंनिभः।
भविष्यति तवोदग्रः शुद्धफेनसमप्रभः ॥ ३१ ॥

'तुम्हारे शरीरका रंग चन्द्रमण्डल तथा शुद्ध फेनके समान परम उज्ज्वल, सौम्य एवं मनोरम होगा ॥ ३१ ॥

मच्छरीरं समासाद्य कान्तो नित्यं भविष्यसि।
प्राप्स्यसे चातुलां प्रीतिमेतन्मे प्रीतिलक्षणम् ॥ ३२ ॥

'मेरे अङ्गभूत जलका आश्रय लेकर तुम सदा कान्तिमान् बने रहोगे और तुम्हें अनुपम प्रसन्नता प्राप्त होगी। यही मेरे प्रेमका परिचायक चिह्न होगा' ॥ ३२ ॥

हंसानां हि पुरा राम न वर्णः सर्वपाण्डुरः।
पक्षा नीलाग्रसंवीताः क्रोडाः शष्पाग्रनिर्मलाः ॥ ३३ ॥

श्रीराम! पूर्वकालमें हंसोंका रंग पूर्णतः श्वेत नहीं था। उनकी पाँखोंका अग्रभाग नीला और दोनों भुजाओंके बीचका भाग नूतन दूर्वादलके अग्रभाग-सा कोमल एवं श्याम वर्णसे युक्त होता था ॥ ३३ ॥

अथाब्रवीद् वैश्रवणः कृकलासं गिरौ स्थितम्।
हैरण्यं सम्प्रयच्छामि वर्णं प्रीतस्तवाप्यहम् ॥ ३४ ॥

तदनन्तर विश्रवाके पुत्र कुबेरने पर्वतशिखरपर बैठे हुए कृकलास (गिरगिट) से कहा—'मैं प्रसन्न होकर तुम्हें सुवर्णके समान सुन्दर रंग प्रदान करता हूँ ॥ ३४ ॥

सद्रव्यं च शिरो नित्यं भविष्यति तवाक्षयम्।
एष काञ्चनको वर्णो मत्प्रीत्या ते भविष्यति ॥ ३५ ॥

'तुम्हारा सिर सदा ही सुवर्णके समान रंगका एवं अक्षय होगा। मेरी प्रसन्नतासे तुम्हारा यह (काला) रंग सुनहरे रंगमें परिवर्तित हो जायगा' ॥ ३५ ॥

एवं दत्त्वा वरांस्तेभ्यस्तस्मिन् यज्ञोत्सवे सुराः।
निवृत्ते सह राज्ञा ते पुनः स्वभवनं गताः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार उन्हें उत्तम वर देकर वे सब देवता वह यज्ञोत्सव समाप्त होनेपर राजा मरुत्तके साथ पुनः अपने भवन—स्वर्गलोकको चले गये ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डेऽष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें अठारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १८ ॥

—★—

एकोनविंशः सर्गः

रावणके द्वारा अनरण्यका वध तथा उनके द्वारा उसे शापकी प्राप्ति

अथ जित्वा मरुत्तं स प्रययौ राक्षसाधिपः।
नगराणि नरेन्द्राणां युद्धकाङ्क्षी दशाननः ॥ १ ॥

(अगस्त्यजी कहते हैं—रघुनन्दन!) पूर्वोक्त रूपसे राजा मरुत्तको जीतनेके पश्चात् राक्षसराज दशग्रीव क्रमशः अन्य नरेशोंके नगरोंमें भी युद्धकी इच्छासे गया ॥ १ ॥

समासाद्य तु राजेन्द्रान् महेन्द्रवरुणोपमान्।
अब्रवीद् राक्षसेन्द्रस्तु युद्धं मे दीयतामिति ॥ २ ॥
निर्जिताः स्मेति वा ब्रूत एष मे हि सुनिश्चयः।
अन्यथा कुर्वतामेवं मोक्षो नैवोपपद्यते ॥ ३ ॥

महेन्द्र और वरुणके समान पराक्रमी उन महाराजोंके पास जाकर वह राक्षसराज उनसे कहता—'राजाओ! तुम मेरे साथ युद्ध करो अथवा यह कह दो कि 'हम हार गये।' यही मेरा अच्छी तरह किया हुआ निश्चय है। इसके विपरीत करनेसे तुम्हें छुटकारा नहीं मिलेगा' ॥ २-३ ॥

ततस्त्वभीरवः प्राज्ञाः पार्थिवा धर्मनिश्चयाः।
मन्त्रयित्वा ततोऽन्योन्यं राजानः सुमहाबलाः ॥ ४ ॥
निर्जिताः स्मेत्यभाषन्त ज्ञात्वा वरबलं रिपोः।

तब निर्भय, बुद्धिमान् तथा धर्मपूर्ण विचार रखनेवाले बहुत-से महाबली राजा परस्पर सलाह करके शत्रुको प्रबलताको समझकर बोले—'राक्षसराज! हम तुमसे हार मान लेते हैं' ॥ ४½ ॥

दुष्यन्तः सुरथो गाधिर्गयो राजा पुरूरवाः ॥ ५ ॥
एते सर्वेऽब्रुवंस्तात निर्जिताः स्मेति पार्थिवाः।

दुष्यन्त, सुरथ, गाधि, गय, राजा पुरूरवा—इन सभी भूपालोंने अपने-अपने राजत्वकालमें रावणके सामने अपनी पराजय स्वीकार कर ली ॥ ५½ ॥

अथायोध्यां समासाद्य रावणो राक्षसाधिपः ॥ ६ ॥
सुगुप्तामनरण्येन शक्रेणेवामरावतीम्।
स तं पुरुषशार्दूलं पुरंदरसमं बले ॥ ७ ॥
प्राह राजानमासाद्य युद्धं देहीति रावणः।
निर्जितोऽस्मीति वा ब्रूहि त्वमेवं मम शासनम् ॥ ८ ॥

इसके बाद राक्षसोंका राजा रावण इन्द्रद्वारा सुरक्षित अमरावतीकी भाँति महाराज अनरण्यद्वारा पालित अयोध्यापुरीमें आया। वहाँ पुरन्दर (इन्द्र) के समान पराक्रमी पुरुषसिंह राजा अनरण्यसे मिलकर बोला—'राजन्! तुम मुझसे युद्ध करनेका वचन दो अथवा कह दो कि 'मैं हार गया।' यही मेरा आदेश है' ॥ ६—८ ॥

अयोध्याधिपतिस्तस्य श्रुत्वा पापात्मनो वचः।
अनरण्यस्तु संक्रुद्धो राक्षसेन्द्रमथाब्रवीत् ॥ ९ ॥

उस पापात्माकी वह बात सुनकर अयोध्यानरेश अनरण्यको बड़ा क्रोध हुआ और वे उस राक्षसराजसे बोले— ॥ ९ ॥

दीयते द्वन्द्वयुद्धं ते राक्षसाधिपते मया।
संतिष्ठ क्षिप्रमायत्तो भव चैवं भवाम्यहम् ॥ १० ॥

'निशाचरपते! मैं तुम्हें द्वन्द्वयुद्धका अवसर देता हूँ। ठहरो, शीघ्र युद्धके लिये तैयार हो जाओ। मैं भी तैयार हो रहा हूँ' ॥ १० ॥

अथ पूर्वं श्रुतार्थेन निर्जितं सुमहद् बलम्।
निष्क्रामत् तन्नरेन्द्रस्य बलं रक्षोवधोद्यतम् ॥ ११ ॥

राजाने रावणकी दिग्विजयकी बात पहलेसे ही सुन रखी थी, इसलिये उन्होंने बहुत बड़ी सेना इकट्ठी कर ली थी। नरेशकी वह सारी सेना उस समय राक्षसके वधके लिये उत्साहित हो नगरसे बाहर निकली ॥ ११ ॥

नागानां दशसाहस्रं वाजिनां नियुतं तथा।
रथानां बहुसाहस्रं पत्तीनां च नरोत्तम ॥ १२ ॥
महीं संछाद्य निष्क्रान्तं सपदातिरथं रणे।

नरश्रेष्ठ श्रीराम! दस हजार हाथीसवार, एक लाख घुड़सवार, कई हजार रथी और पैदल सैनिक पृथ्वीको आच्छादित करके युद्धके लिये आगे बढ़े। रथों और पैदलोंसहित सारी सेना रणक्षेत्रमें जा पहुँची ॥ १२½ ॥

ततः प्रवृत्तं सुमहद् युद्धं युद्धविशारद ॥ १३ ॥
अनरण्यस्य नृपते राक्षसेन्द्रस्य चाद्भुतम्।

युद्धविशारद रघुवीर! फिर तो राजा अनरण्य और निशाचर रावणमें बड़ा अद्भुत संग्राम होने लगा ॥ १३½ ॥

तद् रावणबलं प्राप्य बलं तस्य महीपतेः ॥ १४ ॥
प्राणश्यत तदा सर्वं हव्यं हुतमिवानले।

उस समय राजाकी सारी सेना रावणकी सेनाके साथ टक्कर लेकर उसी तरह नष्ट होने लगी, जैसे अग्निमें दी हुई आहुति पूर्णतः भस्म हो जाती है ॥ १४½ ॥

युद्ध्वा च सुचिरं कालं कृत्वा विक्रममुत्तमम् ॥ १५ ॥
प्रज्वलन्तं तमासाद्य क्षिप्रमेवावशेषितम्।
प्राविशत् संकुलं तत्र शलभा इव पावकम् ॥ १६ ॥

उस सेनाने बहुत देरतक युद्ध किया, बड़ा पराक्रम दिखाया; परंतु तेजस्वी रावणका सामना करके वह बहुत थोड़ी संख्यामें शेष रह गयी और अन्ततोगत्वा जैसे पतिङ्गे आगमें जलकर भस्म हो जाते हैं, उसी प्रकार कालके गालमें चली गयी ॥ १५-१६ ॥

सोऽपश्यत् तन्नरेन्द्रस्तु नश्यमानं महाबलम्।
महार्णवं समासाद्य वनापगशतं यथा ॥ १७ ॥

राजाने देखा, मेरी विशाल सेना उसी प्रकार नष्ट होती चली जा रही है, जैसे जलसे भरी हुई सैकड़ों नदियाँ महासागरके पास पहुँचकर उसीमें विलीन हो जाती हैं ॥ १७ ॥

ततः शक्रधनुःप्रख्यं धनुर्विस्फारयन् स्वयम्।
आससाद नरेन्द्रस्तं रावणं क्रोधमूर्च्छितः ॥ १८ ॥

तब महाराज अनरण्य क्रोधसे मूर्छित हो अपने इन्द्रधनुषके समान महान् शरासनको टंकारते हुए रावणका सामना करनेके लिये आये ॥ १८ ॥

अनरण्येन तेऽमात्या मारीचशुकसारणाः।
प्रहस्तसहिता भग्ना व्यद्रवन्त मृगा इव ॥ १९ ॥

फिर तो जैसे सिंहको देखकर मृग भाग जाते हैं, उसी प्रकार मारीच, शुक, सारण तथा प्रहस्त—ये चारों राक्षस मन्त्री राजा अनरण्यसे परास्त होकर भाग खड़े हुए ॥ १९ ॥

ततो बाणशतान्यष्टौ पातयामास मूर्धनि।
तस्य राक्षसराजस्य इक्ष्वाकुकुलनन्दनः ॥ २० ॥

तत्पश्चात् इक्ष्वाकुवंशको आनन्दित करनेवाले राजा अनरण्यने राक्षसराज रावणके मस्तकपर आठ सौ बाण मारे ॥ २० ॥

तस्य बाणाः पतन्तस्ते चक्रिरे न क्षतं क्वचित्।
वारिधारा इवाभ्रेभ्यः पतन्त्यो गिरिमूर्धनि ॥ २१ ॥

परंतु जैसे बादलोंसे पर्वतशिखरपर गिरती हुई जलधाराएँ उसे क्षति नहीं पहुँचातीं, उसी प्रकार वे बरसते हुए बाण उस निशाचरके शरीरपर कहीं घाव न कर सके ॥ २१ ॥

ततो राक्षसराजेन क्रुद्धेन नृपतिस्तदा।
तलेनाभिहतो मूर्ध्नि स रथान्निपपात ह ॥ २२ ॥

इसके बाद राक्षसराजने कुपित होकर राजाके मस्तकपर

एक तमाचा मारा। इससे आहत होकर राजा रथसे नीचे गिर पड़े॥ २२॥

स राजा पतितो भूमौ विह्वलः प्रविवेपितः।
वज्रदग्ध इवारण्ये सालो निपतितो यथा॥ २३॥

जैसे वनमें वज्रपातसे दग्ध हुआ सारवूका वृक्ष धराशायी हो जाता है, उसी प्रकार राजा अनरण्य व्याकुल हो भूमिपर गिरे और थर-थर काँपने लगे॥ २३॥

तं प्रहस्याब्रवीद् रक्ष इक्ष्वाकुं पृथिवीपतिम्।
किमिदानीं फलं प्राप्तं त्वया मां प्रति युध्यता॥ २४॥

यह देख रावण जोर-जोरसे हँस पड़ा और उन इक्ष्वाकुवंशी नरेशसे बोला—'इस समय मेरे साथ युद्ध करके तुमने क्या फल प्राप्त किया है?॥ २४॥

त्रैलोक्ये नास्ति यो द्वन्द्वं मम दद्यान्नराधिप।
शङ्के प्रसक्तो भोगेषु न शृणोषि बलं मम॥ २५॥

'नरेश्वर! तीनों लोकोंमें कोई ऐसा वीर नहीं है, जो मुझे द्वन्द्वयुद्ध दे सके। जान पड़ता है तुमने भोगोंमें अधिक आसक्त रहनेके कारण मेरे बल-पराक्रमको नहीं सुना था'॥ २५॥

तस्यैवं ब्रुवतो राजा मन्दासुर्वाक्यमब्रवीत्।
किं शक्यमिह कर्तुं वै कालो हि दुरतिक्रमः॥ २६॥

राजाकी प्राणशक्ति क्षीण हो रही थी। उन्होंने इस प्रकार बातें करनेवाले रावणका वचन सुनकर कहा—'राक्षसराज! अब यहाँ क्या किया जा सकता है? क्योंकि कालका उल्लङ्घन करना अत्यन्त दुष्कर है॥ २६॥

नह्यहं निर्जितो रक्षस्त्वया चात्मप्रशंसिना।
कालेनैव विपन्नोऽहं हेतुभूतस्तु मे भवान्॥ २७॥

'राक्षस! तू अपने मुँहसे अपनी प्रशंसा कर रहा है; किंतु तूने जो आज मुझे पराजित किया है, इसमें काल ही कारण है। वास्तवमें कालने ही मुझे मारा है। तू तो मेरी मृत्युमें निमित्तमात्र बन गया है॥ २७॥

किं त्विदानीं मया शक्यं कर्तुं प्राणपरिक्षये।
नह्यहं विमुखी रक्षो युद्ध्यमानस्त्वया हतः॥ २८॥

मेरे प्राण जा रहे हैं, अतः इस समय मैं क्या कर सकता हूँ? निशाचर! मुझे संतोष है कि मैंने युद्धसे मुँह नहीं मोड़ा। युद्ध करता हुआ ही मैं तेरे हाथसे मारा गया हूँ॥ २८॥

इक्ष्वाकुपरिभावित्वाद् वचो वक्ष्यामि राक्षस।
यदि दत्तं यदि हुतं यदि मे सुकृतं तपः।
यदि गुप्ताः प्रजाः सम्यक् तदा सत्यं वचोऽस्तु मे॥ २९॥

'परंतु राक्षस! तूने अपने व्यङ्ग्यपूर्ण वचनसे इक्ष्वाकुकुलका अपमान किया है, इसलिये मैं तुझे शाप दूँगा—तेरे लिये अमङ्गलजनक बात कहूँगा। यदि मैंने दान, पुण्य, होम और तप किये हों, यदि मेरे द्वारा धर्मके अनुसार प्रजाजनोंका ठीक-ठीक पालन हुआ हो तो मेरी बात सत्य होकर रहे॥ २९॥

उत्पत्स्यते कुले ह्यस्मिन्निक्ष्वाकूणां महात्मनाम्।
रामो दाशरथिर्नाम स ते प्राणान् हरिष्यति॥ ३०॥

'महात्मा इक्ष्वाकुवंशी नरेशोंके इस वंशमें ही दशरथनन्दन श्रीराम प्रकट होंगे, जो तेरे प्राणोंका अपहरण करेंगे'॥ ३०॥

ततो जलधरोदग्रस्ताडितो देवदुन्दुभिः।
तस्मिन्नुदाहृते शापे पुष्पवृष्टिश्च खाच्च्युता॥ ३१॥

राजाके इस प्रकार शाप देते ही मेघके समान गम्भीर स्वरमें देवताओंकी दुन्दुभि बज उठी और आकाशसे फूलोंकी वर्षा होने लगी॥ ३१॥

ततः स राजा राजेन्द्र गतः स्थानं त्रिविष्टपम्।
स्वर्गते च नृपे तस्मिन् राक्षसः सोऽप्यसर्पत॥ ३२॥

राजाधिराज श्रीराम! तदनन्तर राजा अनरण्य स्वर्गलोकको सिधारे। उनके स्वर्गगामी हो जानेपर राक्षस रावण वहाँसे अन्यत्र चला गया॥ ३२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे एकोनविंशः सर्गः॥ १९॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १९॥

—★—

विंशः सर्गः

नारदजीका रावणको समझाना, उनके कहनेसे रावणका युद्धके लिये यमलोकको जाना तथा नारदजीका इस युद्धके विषयमें विचार करना

ततो वित्रासयन् मर्त्यान् पृथिव्यां राक्षसाधिपः।
आससाद घने तस्मिन् नारदं मुनिपुङ्गवम्॥ १॥

(अगस्त्यजी कहते हैं—रघुनन्दन!) इसके बाद राक्षसराज रावण मनुष्योंको भयभीत करता हुआ पृथ्वीपर विचरने लगा। एक दिन पुष्पक विमानसे यात्रा करते समय उसे बादलोंके बीचमें मुनिश्रेष्ठ देवर्षि नारदजी मिले॥ १॥

तस्याभिवादनं कृत्वा दशग्रीवो निशाचरः।
अब्रवीत् कुशलं पृष्ट्वा हेतुमागमनस्य च॥ २॥

निशाचर दशग्रीवने उनका अभिवादन करके कुशल-समाचारकी जिज्ञासा की और उनके आगमनका कारण पूछा—॥ २॥

नारदस्तु महातेजा देवर्षिरमितप्रभः।
अब्रवीन्मेघपृष्ठस्थो रावणं पुष्पके स्थितम्॥ ३॥

तब बादलोंकी पीठपर खड़े हुए अमित कान्तिमान् महातेजस्वी देवर्षि नारदने पुष्पक विमानपर बैठे हुए रावणसे कहा— ॥ ३॥

राक्षसाधिपते सौम्य तिष्ठ विश्रवसः सुत।
प्रीतोऽस्म्यभिजनोपेत विक्रमैरूर्जितैस्तव॥ ४॥

'उत्तम कुलमें उत्पन्न विश्रवणकुमार राक्षसराज रावण! सौम्य! ठहरो, मैं तुम्हारे बढ़े हुए बल-विक्रमसे बहुत प्रसन्न हूँ॥ ४॥

विष्णुना दैत्यघातैश्च गन्धर्वोरगधर्षणैः।
त्वया समं विमर्दैश्च भृशं हि परितोषितः॥ ५॥

'दैत्योंका विनाश करनेवाले अनेक संग्राम करके भगवान् विष्णुने तथा गन्धर्वों और नागोंको पददलित करनेवाले युद्धोंद्वारा तुमने मुझे समानरूपसे संतुष्ट किया है॥ ५॥

किंचिद् वक्ष्यामि तावत् तु श्रोतव्यं श्रोष्यसे यदि।
तन्मे निगदतस्तात समाधिं श्रवणे कुरु॥ ६॥

'इस समय यदि तुम सुनोगे तो मैं तुमसे कुछ सुननेयोग्य बात कहूँगा। तात! मेरे मुँहसे निकली हुई उस बातको सुननेके लिये तुम अपने चित्तको एकाग्र करो॥ ६॥

किमयं वध्यते तात त्वयावध्येन दैवतैः।
हत एव ह्ययं लोको यदा मृत्युवशं गतः॥ ७॥

'तात! तुम देवताओंके लिये भी अवध्य होकर इस भूलोकके निवासियोंका वध क्यों कर रहे हो? यहाँके प्राणी तो मृत्युके अधीन होनेके कारण स्वयं ही मरे हुए हैं; फिर तुम भी इन मरे हुओंको क्यों मार रहे हो?॥ ७॥

देवदानवदैत्यानां यक्षगन्धर्वरक्षसाम्।
अवध्येन त्वया लोकः क्लेष्टुं योग्यो न मानुषः॥ ८॥

'देवता, दानव, दैत्य, यक्ष, गन्धर्व और राक्षस भी जिसे नहीं मार सकते, ऐसे विख्यात वीर होकर भी तुम इस मनुष्यलोकको क्लेश पहुँचाओ, यह कदापि तुम्हारे योग्य नहीं है॥ ८॥

नित्यं श्रेयसि सम्मूढं महद्भिर्व्यसनैर्वृतम्।
हन्यात् कस्तादृशं लोकं जराव्याधिशतैर्युतम्॥ ९॥

'जो सदा अपने कल्याण-साधनमें मूढ़ हैं, बड़ी-बड़ी विपत्तियोंसे घिरे हुए हैं और बुढ़ापा तथा सैकड़ों रोगोंसे युक्त हैं, ऐसे लोगोंको कोई भी वीर पुरुष कैसे मार सकता है?॥ ९॥

तैस्तैरनिष्टोपगमैरजस्रं यत्र कुत्र कः।
मतिमान् मानुषे लोके युद्धेन प्रणयी भवेत्॥ १०॥

'जो नाना प्रकारके अनिष्टोंकी प्राप्तिसे जहाँ कहीं भी पीड़ित है, उस मनुष्यलोकमें आकर कौन बुद्धिमान् वीर पुरुष युद्धके द्वारा मनुष्योंके वधमें अनुरक्त होगा?॥ १०॥

क्षीयमाणं दैवहतं क्षुत्पिपासाजरादिभिः।
विषादशोकसम्मूढं लोकं त्वं क्षपयस्व मा॥ ११॥

'यह लोक तो यों ही भूख, प्यास और जरा आदिसे क्षीण हो रहा है तथा विषाद और शोकमें डूबकर अपनी विवेक-शक्ति खो बैठा है। दैवके मारे हुए इस मर्त्यलोकका तुम विनाश न करो॥ ११॥

पश्य तावन्महाबाहो राक्षसेश्वर मानुषम्।
मूढमेवं विचित्रार्थं यस्य न ज्ञायते गतिः॥ १२॥

'महाबाहु राक्षसराज! देखो तो सही, यह मनुष्यलोक ज्ञानशून्य होनेके कारण मूढ़ होनेपर भी किस तरह नाना प्रकारके क्षुद्र पुरुषार्थोंमें आसक्त है? इसे इस बातका भी पता नहीं है कि कब दुःख और सुख आदि भोगनेका अवसर आयेगा?॥ १२॥

क्वचिद् वादित्रनृत्यादि सेव्यते मुदितैर्जनैः।
रुद्यते चापरैरार्तैर्धाराश्रुनयनाननैः॥ १३॥

'यहाँ कहीं कुछ मनुष्य तो आनन्दमग्न होकर गाजे-बाजे और नाच आदिका सेवन करते हैं—उनके द्वारा मन बहलाते हैं तथा कहीं कितने ही लोग दुःखसे पीड़ित हो नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए रोते रहते हैं॥ १३॥

मातापितृसुतस्नेहभार्याबन्धुमनोरमैः।
मोहितोऽयं जनो ध्वस्तः क्लेशं स्वं नावबुध्यते॥ १४॥

'माता, पिता तथा पुत्रके स्नेहसे और पत्नी तथा भाईके सम्बन्धमें नाना प्रकारके मनसूबे बाँधनेके कारण यह मनुष्यलोक मोहग्रस्त हो परमार्थसे भ्रष्ट हो रहा है। इसे अपने बन्धनजनित क्लेशका अनुभव ही नहीं होता है॥ १४॥

तत्किमेवं परिक्लिश्य लोकं मोहनिराकृतम्।
जित एव त्वया सौम्य मर्त्यलोको न संशयः॥ १५॥

'इस प्रकार जो मोह (अज्ञान) के कारण परम पुरुषार्थसे वञ्चित हो गया है, ऐसे मनुष्य-लोकको क्लेश पहुँचाकर तुम्हें क्या मिलेगा? सौम्य तुमने मनुष्य-लोकको तो जीत ही लिया है, इसमें कोई भी संशय नहीं है॥ १५॥

अवश्यमेभिः सर्वैश्च गन्तव्यं यमसादनम्।
तन्निगृह्णीष्व पौलस्त्य यमं परपुरंजय॥ १६॥
तस्मिञ्जिते जितं सर्वं भवत्येव न संशयः।

'शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले पुलस्त्यनन्दन! इन सब मनुष्योंको यमलोकमें अवश्य जाना पड़ता है। अतः यदि शक्ति हो तो तुम यमराजको अपने काबूमें करो। उन्हें जीत लेनेपर तुम सबको जीत सकते हो; इसमें संशय नहीं है'॥ १६½॥

एवमुक्तस्तु लङ्केशो दीप्यमानं स्वतेजसा॥ १७॥
अब्रवीन्नारदं तत्र सम्प्रहस्याभिवाद्य च।

नारदजीके ऐसा कहनेपर लङ्कापति रावण अपने तेजसे उद्दीप्त होनेवाले उन देवर्षिको प्रणाम करके हँसता हुआ बोला— ॥ १७½॥

महर्षे देवगन्धर्वविहार समरप्रिय ॥ १८ ॥
अहं समुद्यतो गन्तुं विजयार्थं रसातलम्।

'महर्षे! आप देवताओं और गन्धर्वोंके लोकमें विहार करनेवाले हैं। युद्धके दृश्य देखना आपको बहुत ही प्रिय है। मैं इस समय दिग्विजयके लिये रसातलमें जानेको उद्यत हूँ ॥ १८ १/२ ॥

ततो लोकत्रयं जित्वा स्थाप्य नागान् सुरान् वशे ॥ १९ ॥
समुद्रममृतार्थं च मथिष्यामि रसालयम्।

'फिर तीनों लोकोंको जीतकर नागों और देवताओंको अपने वशमें करके अमृतकी प्राप्तिके लिये रसनिधि समुद्रका मन्थन करूँगा' ॥ १९ १/२ ॥

अथाब्रवीद् दशग्रीवं नारदो भगवानृषिः ॥ २० ॥
क्व खल्विदानीं मार्गेण त्वयेहान्येन गम्यते।
अयं खलु सुदुर्गम्यः प्रेतराजपुरं प्रति ॥ २१ ॥
मार्गो गच्छति दुर्धर्ष यमस्यामित्रकर्शन।

यह सुनकर देवर्षि भगवान् नारदने कहा—'शत्रुसूदन! यदि तुम रसातलको जाना चाहते हो तो इस समय उसका मार्ग छोड़कर दूसरे रास्तेसे कहाँ जा रहे हो! दुर्धर्ष वीर! रसातलका यह मार्ग अत्यन्त दुर्गम है और यमराजकी पुरीसे होकर ही जाता है' ॥ २०-२१ १/२ ॥

स तु शारदमेघाभं हासं मुक्त्वा दशाननः ॥ २२ ॥
उवाच कृतमित्येव वचनं चेदमब्रवीत्।

नारदजीके ऐसा कहनेपर दशमुख रावण शरद्ऋतुके बादलकी भाँति अपना उज्ज्वल हास बिखेरता हुआ बोला—'देवर्षे! मैंने आपकी बात स्वीकार कर ली।' इसके बाद उसने यों कहा— ॥ २२ १/२ ॥

तस्मादेवमहं ब्रह्मन् वैवस्वतवधोद्यतः ॥ २३ ॥
गच्छामि दक्षिणामाशां यत्र सूर्यात्मजो नृपः।

'ब्रह्मन्! अत्र यमराजका वध करनेके लिये उद्यत होकर मैं उस दक्षिण दिशाको जाता हूँ, जहाँ सूर्यपुत्र राजा यम निवास करते हैं ॥ २३ १/२ ॥

मया हि भगवन् क्रोधात् प्रतिज्ञातं रणार्थिना ॥ २४ ॥
अवजेष्यामि चतुरो लोकपालानिति प्रभो।

'प्रभो! भगवन्! मैंने युद्धकी इच्छासे क्रोधपूर्वक प्रतिज्ञा की है कि चारों लोकपालोंको परास्त करूँगा ॥ २४ १/२ ॥

तदिह प्रस्थितोऽहं वै पितृराजपुरं प्रति ॥ २५ ॥
प्राणिसंक्लेशकर्तारं योजयिष्यामि मृत्युना।

'अतः मैं यहाँसे यमपुरीको प्रस्थान कर रहा हूँ। संसारके प्राणियोंको मौतका कष्ट देनेवाले सूर्यपुत्र यमको स्वयं ही मृत्युसे संयुक्त कर दूँगा' ॥ २५ १/२ ॥

एवमुक्त्वा दशग्रीवो मुनिं तमभिवाद्य च ॥ २६ ॥
प्रययौ दक्षिणामाशां प्रविष्टः सह मन्त्रिभिः।

ऐसा कहकर दशग्रीवने मुनिको प्रणाम किया और मन्त्रियोंके साथ वह दक्षिण दिशाकी ओर चल दिया ॥ २६ १/२ ॥

नारदस्तु महातेजा मुहूर्तं ध्यानमास्थितः ॥ २७ ॥
चिन्तयामास विप्रेन्द्रो विधूम इव पावकः।

उसके चले जानेपर धूमरहित अग्निके समान महातेजस्वी विप्रवर नारदजी दो घड़ीतक ध्यानमग्न हो इस प्रकार विचार करने लगे— ॥ २७ १/२ ॥

येन लोकास्त्रयः सेन्द्राः क्लिश्यन्ते सचराचराः ॥ २८ ॥
क्षीणे चायुषि धर्मेण स कालो जेष्यते कथम्।

'आयु क्षीण होनेपर जिनके द्वारा धर्मपूर्वक इन्द्रसहित तीनों लोकोंके चराचर प्राणी क्लेशमें डाले जाते—दण्डित होते हैं, वे कालस्वरूप यमराज इस रावणके द्वारा कैसे जीते जायँगे? ॥ २८ १/२ ॥

स्वदत्तकृतसाक्षी यो द्वितीय इव पावकः ॥ २९ ॥
लब्धसंज्ञा विचेष्टन्ते लोका यस्य महात्मनः।
यस्य नित्यं त्रयो लोका विद्रवन्ति भयार्दिताः ॥ ३० ॥
तं कथं राक्षसेन्द्रोऽसौ स्वयमेव गमिष्यति।

'जो जीवोंके दान और कर्मके साक्षी हैं, जिनका तेज द्वितीय अग्निके समान है, जिन महात्मासे चेतना पाकर सम्पूर्ण जीव नाना प्रकारकी चेष्टाएँ करते हैं, जिनके भयसे पीड़ित हो तीनों लोकोंके प्राणी उनसे दूर भागते हैं, उन्हींके पास यह राक्षसराज स्वयं ही कैसे जायगा? ॥ २९-३० १/२ ॥

यो विधाता च धाता च सुकृतं दुष्कृतं तथा ॥ ३१ ॥
त्रैलोक्यं विजितं येन तं कथं विजयिष्यते।
अपरं किं तु कृत्वैवं विधानं संविधास्यति ॥ ३२ ॥

'जो त्रिलोकीको धारण-पोषण करनेवाले तथा पुण्य और पापके फल देनेवाले हैं और जिन्होंने तीनों लोकोंपर विजय पायी है, उन्हीं कालदेवको यह राक्षस कैसे जीतेगा? काल ही सबका साधन है। यह राक्षस कालके अतिरिक्त दूसरे किस साधनका सम्पादन करके उस कालपर विजय प्राप्त करेगा? ॥ ३१-३२ ॥

कौतूहलं समुत्पन्नो यास्यामि यमसादनम्।
विमर्दं द्रष्टुमनयोर्यमराक्षसयोः स्वयम् ॥ ३३ ॥

'अब तो मेरे मनमें बड़ा कौतूहल उत्पन्न हो गया है, अतः इन यमराज और राक्षसराजका युद्ध देखनेके लिये मैं स्वयं भी यमलोकको जाऊँगा' ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे विंशः सर्गः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २० ॥

—★—

एकविंशः सर्गः

रावणका यमलोकपर आक्रमण और उसके द्वारा यमराजके सैनिकोंका संहार

एवं संचिन्त्य विप्रेन्द्रो जगाम लघुविक्रमः।
आख्यातुं तद् यथावृत्तं यमस्य सदनं प्रति॥ १॥

(अगस्त्यजी कहते हैं—रघुनन्दन!) ऐसा विचारकर शीघ्र चलनेवाले विप्रवर नारदजी रावणके आक्रमणका समाचार बतानेके लिये यमलोकमें गये॥ १॥

अपश्यत् स यमं तत्र देवमग्निपुरस्कृतम्।
विधानमनुतिष्ठन्तं प्राणिनो यस्य यादृशम्॥ २॥

वहाँ जाकर उन्होंने देखा, यमदेवता अग्निको साक्षीके रूपमें सामने रखकर बैठे हैं और जिस प्राणीका जैसा कर्म है, उसीके अनुसार फल देनेकी व्यवस्था कर रहे हैं॥ २॥

स तु दृष्ट्वा यमः प्राप्तं महर्षिं तत्र नारदम्।
अब्रवीत् सुखमासीनमर्घ्यमावेद्य धर्मतः॥ ३॥

महर्षि नारदको वहाँ आया देख यमराजने आतिथ्य-धर्मके अनुसार उनके लिये अर्घ्य आदि निवेदन करके कहा— ॥ ३॥

कच्चित् क्षेमं नु देवर्षे कच्चिद् धर्मो न नश्यति।
किमागमनकृत्यं ते देवगन्धर्वसेवित॥ ४॥

'देवताओं और गन्धर्वोंसे सेवित देवर्षे! कुशल तो है न? धर्मका नाश तो नहीं हो रहा है? आज यहाँ आपके शुभागमनका क्या उद्देश्य है?'॥ ४॥

अब्रवीत् तु तदा वाक्यं नारदो भगवानृषिः।
श्रूयतामभिधास्यामि विधानं च विधीयताम्॥ ५॥
एष नाम्ना दशग्रीवः पितृराज निशाचरः।
उपयाति वशं नेतुं विक्रमैस्त्वां सुदुर्जयम्॥ ६॥

तब भगवान् नारद मुनि बोले—'पितृराज! सुनिये—मैं एक आवश्यक बात बता रहा हूँ, आप सुनकर उसके प्रतीकारका भी कोई उपाय कर लें। यद्यपि आपको जीतना अत्यन्त कठिन है, तथापि यह दशग्रीव नामक निशाचर अपने पराक्रमोंद्वारा आपको वशमें करनेके लिये यहाँ आ रहा है॥ ५-६॥

एतेन कारणेनाहं त्वरितो ह्यागतः प्रभो।
दण्डप्रहरणस्याद्य तव किं नु भविष्यति॥ ७॥

'प्रभो! इसी कारणसे मैं तुरंत यहाँ आया हूँ कि आपको इस सङ्कटकी सूचना दे दूँ, परंतु आप तो कालदण्डरूपी आयुधको धारण करनेवाले हैं, आपकी उस राक्षसके आक्रमणसे क्या हानि होगी?'॥ ७॥

एतस्मिन्नन्तरे दूरादंशुमन्तमिवोदितम्।
ददृशुर्दीप्तमायान्तं विमानं तस्य रक्षसः॥ ८॥

इस प्रकारकी बातें हो ही रही थीं कि उस राक्षसका उदित हुए सूर्यके समान तेजस्वी विमान दूरसे आता दिखायी दिया॥ ८॥

तं देशं प्रभया तस्य पुष्पकस्य महाबलः।
कृत्वा वितिमिरं सर्वं समीपमभ्यवर्तत॥ ९॥

महाबली रावण पुष्पककी प्रभासे उस समस्त प्रदेशको अन्धकारशून्य करके अत्यन्त निकट आ गया॥ ९॥

सोऽपश्यत् स महाबाहुर्दशग्रीवस्ततस्ततः।
प्राणिनः सुकृतं चैव भुञ्जानांश्चैव दुष्कृतम्॥ १०॥

महाबाहु दशग्रीवने यमलोकमें आकर देखा कि वहाँ बहुत-से प्राणी अपने-अपने पुण्य तथा पापका फल भोग रहे हैं॥ १०॥

अपश्यत् सैनिकांश्चास्य यमस्यानुचरैः सह।
यमस्य पुरुषैरुग्रैर्घोररूपैर्भयानकैः॥ ११॥
ददर्श वध्यमानांश्च क्लिश्यमानांश्च देहिनः।
क्रोशतश्च महानादं तीव्रनिष्टनतत्परान्॥ १२॥

उसने यमराजके सेवकोंके साथ उनके सैनिकोंको भी देखा। उसकी दृष्टिमें यमयातनाका दृश्य भी आया। घोर रूपधारी उग्र प्रकृतिवाले भयानक यमदूत कितने ही प्राणियोंको मारते और क्लेश पहुँचाते थे, जिससे वे बड़े जोर-जोरसे चीखते और चिल्लाते थे॥ ११-१२॥

कृमिभिर्भक्ष्यमाणांश्च सारमेयैश्च दारुणैः।
श्रोत्रायासकरा वाचो वदतश्च भयावहाः॥ १३॥

किन्हींको कीड़े खा रहे थे और कितनोंको भयङ्कर कुत्ते नोच रहे थे। वे सब-के-सब दुःखी हो-होकर कानोंको पीड़ा देनेवाला भयानक चीत्कार करते थे॥ १३॥

संतार्यमाणान् वैतरणीं बहुशः शोणितोदकाम्।
वालुकासु च तप्तासु तप्यमानान् मुहुर्मुहुः॥ १४॥

किन्हींको बारम्बार रक्तसे भरी हुई वैतरणी नदी पार करनेके लिये विवश किया जाता था और कितनोंको तपायी हुई बालुकाओंपर बार-बार चलाकर संतप्त किया जाता था॥ १४॥

असिपत्रवने चैव भिद्यमानानधार्मिकान्।
रौरवे क्षारनद्यां च क्षुरधारासु चैव हि॥ १५॥
पानीयं याचमानांश्च तृषितान् क्षुधितानपि।
शवभूतान् कृशान् दीनान् विवर्णान् मुक्तमूर्धजान्॥ १६॥
मलपङ्कधरान् दीनान् रूक्षांश्च परिधावतः।
ददर्श रावणो मार्गे शतशोऽथ सहस्रशः॥ १७॥

कुछ पापी असिपत्र-वनमें, जिसके पत्ते तलवारकी धारके समान तीखे थे, विदीर्ण किये जा रहे थे। किन्हींको रौरव नरकमें डाला जाता था। कितनोंको खारे जलसे भरी हुई नदियोंमें डुबोया जाता था और बहुतोंको छुरोंकी धारोंपर दौड़ाया जाता था। कई प्राणी भूख और प्याससे तड़प रहे थे और थोड़े-से जलकी याचना कर रहे थे। कोई शवके समान

कङ्काल, दीन, दुर्बल, उदास और खुले बालोंसे युक्त दिखायी देते थे। कितने ही प्राणी अपने अङ्गोंमें मैल और कीचड़ लगाये दयनीय तथा रूखे शरीरसे चारों ओर भाग रहे थे। इस तरहके सैकड़ों और हजारों जीवोंको रावणने मार्गमें यातना भोगते देखा ॥ १५—१७ ॥

कांश्चिच्च गृहमुख्येषु गीतवादित्रनिःस्वनैः ।
प्रमोदमानानद्राक्षीद् रावणः सुकृतैः स्वकैः ॥ १८ ॥

दूसरी ओर रावणने देखा कुछ पुण्यात्मा जीव अपने पुण्यकर्मोंके प्रभावसे अच्छे-अच्छे घरोंमें रहकर संगीत और वाद्योंकी मनोहर ध्वनिसे आनन्दित हो रहे हैं ॥ १८ ॥

गोरसं गोप्रदातारो ह्यन्नं चैवान्नदायिनः ।
गृहांश्च गृहदातारः स्वकर्मफलमश्नतः ॥ १९ ॥

गोदान करनेवाले गोरसको, अन्न देनेवाले अन्नको और गृह प्रदान करनेवाले लोग गृहको पाकर अपने सत्कर्मोंका फल भोग रहे हैं ॥ १९ ॥

सुवर्णमणिमुक्ताभिः प्रमदाभिरलंकृतान् ।
धार्मिकानपरांस्तत्र दीप्यमानान् स्वतेजसा ॥ २० ॥

दूसरे धर्मात्मा पुरुष वहाँ सुवर्ण, मणि और मुक्ताओंसे अलंकृत हो यौवनके मदसे मत्त रहनेवाली सुन्दरी स्त्रियोंके साथ अपनी अङ्गकान्तिसे प्रकाशित हो रहे हैं ॥ २० ॥

ददर्श स महाबाहू रावणो राक्षसाधिपः ।
ततस्तान् भिद्यमानांश्च कर्मभिर्दुष्कृतैः स्वकैः ॥ २१ ॥
रावणो मोचयामास विक्रमेण बलाद् बली ।
प्राणिनो मोक्षितास्तेन दशग्रीवेण रक्षसा ॥ २२ ॥

महाबाहु राक्षसराज रावणने इन सबको देखा। देखकर बलवान् राक्षस दशग्रीवने अपने पाप-कर्मोंके कारण यातना भोगनेवाले प्राणियोंको पराक्रमद्वारा बलपूर्वक मुक्त कर दिया ॥ २१-२२ ॥

सुखमापुर्मुहूर्तं ते ह्यतर्कितमचिन्तितम् ।
प्रेतेषु मुच्यमानेषु राक्षसेन महीयसा ॥ २३ ॥
प्रेतगोपाः सुसंक्रुद्धा राक्षसेन्द्रमभिद्रवन् ।

इससे थोड़ी देरतक उन पापियोंको बड़ा सुख मिला, उसके मिलनेकी न तो उन्हें सम्भावना थी और न उसके विषयमें वे कुछ सोच ही सके थे। उस महान् राक्षसके द्वारा जब सभी प्रेत यातनासे मुक्त कर दिये गये, तब उन प्रेतोंकी रक्षा करनेवाले यमदूत अत्यन्त कुपित हो राक्षसराजपर टूट पड़े ॥ २३½ ॥

ततो हलहलाशब्दः सर्वदिग्भ्यः समुत्थितः ॥ २४ ॥
धर्मराजस्य योधानां शूराणां सम्प्रधावताम् ।

फिर तो सम्पूर्ण दिशाओंकी ओरसे धावा करनेवाले धर्मराजके शूरवीर योद्धाओंका महान् कोलाहल प्रकट हुआ ॥ २४½ ॥

ते प्रासैः परिघैः शूलैर्मुसलैः शक्तितोमरैः ॥ २५ ॥
पुष्पकं समधर्षन्त शूराः शतसहस्रशः ।
तस्यासनानि प्रासादान् वेदिकास्तोरणानि च ॥ २६ ॥
पुष्पकस्य बभञ्जुस्ते शीघ्रं मधुकरा इव ।

जैसे फूलपर झुंड-के-झुंड भौंरे जुट जाते हैं, उसी प्रकार पुष्पक विमानपर सैकड़ों, हजारों शूरवीर यमदूत चढ़ आये और प्रासों, परिघों, शूलों, मूसलों, शक्तियों तथा तोमरोंद्वारा उसे तहस-नहस करने लगे। उन्होंने पुष्पक विमानके आसन, प्रासाद, वेदी और फाटक शीघ्र ही तोड़ डाले ॥ २५-२६½ ॥

देवनिष्ठानभूतं तद् विमानं पुष्पकं मृधे ॥ २७ ॥
भज्यमानं तथैवासीदक्षयं ब्रह्मतेजसा ।

देवताओंका अधिष्ठानभूत वह पुष्पक विमान उस युद्धमें तोड़ा जानेपर भी ब्रह्माजीके प्रभावसे ज्यों-का-त्यों हो जाता था; क्योंकि वह नष्ट होनेवाला नहीं था ॥ २७½ ॥

असंख्या सुमहत्यासीत् तस्य सेना महात्मनः ॥ २८ ॥
शूराणामग्रयातॄणां सहस्राणि शतानि च ।

महामना यमकी विशाल सेना असंख्य थी। उसमें सैकड़ों-हजारों शूरवीर आगे बढ़कर युद्ध करनेवाले थे ॥ २८½ ॥

ततो वृक्षैश्च शैलैश्च प्रासादानां शतैस्तथा ॥ २९ ॥
ततस्ते सचिवास्तस्य यथाकामं यथाबलम् ।
अयुध्यन्त महावीराः स च राजा दशाननः ॥ ३० ॥

यमदूतोंके आक्रमण करनेपर रावणके वे महावीर मन्त्री तथा स्वयं राजा दशग्रीव भी वृक्षों, पर्वत-शिखरों तथा यमलोकके सैकड़ों प्रासादोंको उखाड़कर उनके द्वारा पूरी शक्ति लगाकर इच्छानुसार युद्ध करने लगे ॥ २९-३० ॥

ते तु शोणितदिग्धाङ्गाः सर्वशस्त्रसमाहताः ।
अमात्या राक्षसेन्द्रस्य चक्रुरायोधनं महत् ॥ ३१ ॥

राक्षसराजके मन्त्रियोंके सारे अङ्ग रक्तसे नहा उठे थे। सम्पूर्ण शस्त्रोंके आघातसे वे घायल हो चुके थे। फिर भी उन्होंने बड़ा भारी युद्ध किया ॥ ३१ ॥

अन्योन्यं ते महाभागा जघ्नुः प्रहरणैर्भृशम् ।
यमस्य च महाबाहो रावणस्य च मन्त्रिणः ॥ ३२ ॥

महाबाहु श्रीराम! यमराज तथा रावणके वे महाभाग मन्त्री एक-दूसरेपर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा बड़े जोरसे आघात-प्रत्याघात करने लगे ॥ ३२ ॥

अमात्यांस्तांस्तु संत्यज्य यमयोधा महाबलाः ।
तमेव चाभ्यधावन्त शूलवर्षैर्दशाननम् ॥ ३३ ॥

तत्पश्चात् यमराजके महाबली योद्धाओंने रावणके मन्त्रियोंको छोड़कर उस दशग्रीवके ही ऊपर शूलोंकी वर्षा करते हुए धावा किया ॥ ३३ ॥

ततः शोणितदिग्धाङ्गः प्रहारैर्जर्जरीकृतः ।
फुल्लाशोक इवाभाति पुष्पके राक्षसाधिपः ॥ ३४ ॥

रावणका सारा शरीर शस्त्रोंकी मारसे जर्जर हो गया। उस

खूनसे लथपथ हो गया और पुष्पक विमानके ऊपर फूले हुए अशोक वृक्षके समान प्रतीत होने लगा ॥ ३४ ॥

स तु शूलगदाप्रासाञ्छक्तितोमरसायकान्।
मुसलानि शिलावृक्षान् मुमोचास्त्रबलाद् बली ॥ ३५ ॥

तब बलवान् रावणने अपने अस्त्र-बलसे यमराजके सैनिकोंपर शूल, गदा, प्रास, शक्ति, तोमर, बाण, मुसल, पत्थर और वृक्षोंकी वर्षा आरम्भ की ॥ ३५ ॥

तरूणां च शिलानां च शस्त्राणां चातिदारुणम्।
यमसैन्येषु तद् वर्षं पपात धरणीतले ॥ ३६ ॥

वृक्षों, शिलाखण्डों और शस्त्रोंकी वह अत्यन्त भयंकर वृष्टि भूतलपर खड़े हुए यमराजके सैनिकोंपर पड़ने लगी ॥ ३६ ॥

तांस्तु सर्वान् विनिर्भिद्य तदस्त्रमपहत्य च।
जघ्नुस्ते राक्षसं घोरमेकं शतसहस्रशः ॥ ३७ ॥

वे सैनिक भी सैकड़ों-हजारोंकी संख्यामें एकत्र हो उसके सारे आयुधोंको छिन्न-भिन्न करके उसके द्वारा छोड़े हुए दिव्यास्त्रका भी निवारण कर एकमात्र उस भयंकर राक्षसको ही मारने लगे ॥ ३७ ॥

परिवार्य च तं सर्वे शैलं मेघोत्करा इव।
भिन्दिपालैश्च शूलैश्च निरुच्छ्वासमपोथयन् ॥ ३८ ॥

जैसे बादलोंके समूह पर्वतपर सब ओरसे जलकी धाराएँ गिराते हैं, उसी प्रकार यमराजके समस्त सैनिकोंने रावणको चारों ओरसे घेरकर उसे भिन्दिपालों और शूलोंसे छेदना आरम्भ कर दिया। उसको दम लेनेकी भी फुरसत नहीं दी ॥ ३८ ॥

विमुक्तकवचः क्रुद्धः सिक्तः शोणितविस्रवैः।
ततः स पुष्पकं त्यक्त्वा पृथिव्यामवतिष्ठत ॥ ३९ ॥

रावणका कवच कटकर गिर पड़ा। उसके शरीरसे रक्तकी धारा बहने लगी। वह उस रक्तसे नहा उठा और कुपित हो पुष्पक विमान छोड़कर पृथ्वीपर खड़ा हो गया ॥ ३९ ॥

ततः स कार्मुकी बाणी समरे चाभिवर्धत।
लब्धसंज्ञो मुहूर्तेन क्रुद्धस्तस्थौ यथान्तकः ॥ ४० ॥

वहाँ दो घड़ीके बाद उसने अपने-आपको सँभाला। फिर तो वह धनुष और बाण हाथमें ले बढ़े हुए उत्साहसे सम्पन्न हो समराङ्गणमें कुपित हुए यमराजके समान खड़ा हुआ ॥ ४० ॥

ततः पाशुपतं दिव्यमस्त्रं संधाय कार्मुके।
तिष्ठ तिष्ठेति तानुक्त्वा तच्चापं व्यपकर्षत ॥ ४१ ॥

उसने अपने धनुषपर पाशुपत नामक दिव्य अस्त्रका संधान किया और उन सैनिकोंसे 'ठहरो-ठहरो' कहते हुए उस धनुषको खींचा ॥ ४१ ॥

आकर्णात् स विकृष्याथ चापमिन्द्रारिराहवे।
मुमोच तं शरं क्रुद्धस्त्रिपुरे शंकरो यथा ॥ ४२ ॥

जैसे भगवान् शङ्करने त्रिपुरासुरपर पाशुपतास्त्रका प्रयोग किया था, उसी प्रकार उस इन्द्रद्रोही रावणने अपने धनुषको कानतक खींचकर वह बाण छोड़ दिया ॥ ४२ ॥

तस्य रूपं शरस्यासीत् सधूमज्वालमण्डलम्।
वनं दहिष्यतो घर्मे दावाग्नेरिव मूर्च्छतः ॥ ४३ ॥

उस समय उसके बाणका रूप धूम और ज्वालाओंके मण्डलसे युक्त हो ग्रीष्म ऋतुमें जंगलको जलानेके लिये चारों ओर फैलते हुए दावानलके समान प्रतीत होने लगा ॥ ४३ ॥

ज्वालामाली स तु शरः क्रव्यादानुगतो रणे।
मुक्तो गुल्मान् द्रुमांश्चापि भस्म कृत्वा प्रधावति ॥ ४४ ॥

रणभूमिमें ज्वालामालाओंसे घिरा हुआ वह बाण धनुषसे छूटते ही वृक्षों और झाड़ियोंको जलाता हुआ तीव्र गतिसे आगे बढ़ा और उसके पीछे-पीछे मांसाहारी जीव-जन्तु चलने लगे ॥ ४४ ॥

ते तस्य तेजसा दग्धाः सैन्या वैवस्वतस्य तु।
रणे तस्मिन् निपतिता माहेन्द्रा इव केतवः ॥ ४५ ॥

उस युद्धस्थलमें यमराजके वे सारे सैनिक पाशुपतास्त्रके तेजसे दग्ध हो इन्द्रध्वजके समान नीचे गिर पड़े ॥ ४५ ॥

ततस्तु सचिवैः सार्धं राक्षसो भीमविक्रमः।
ननाद सुमहानादं कम्पयन्निव मेदिनीम् ॥ ४६ ॥

तदनन्तर अपने मन्त्रियोंके साथ वह भयानक पराक्रमी राक्षस पृथ्वीको कम्पित करता हुआ-सा बड़े जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगा ॥ ४६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे एकविंशः सर्गः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें इक्कीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २१ ॥

—★—

द्वाविंशः सर्गः

यमराज और रावणका युद्ध, यमका रावणके वधके लिये उठाये हुए कालदण्डको ब्रह्माजीके कहनेसे लौटा लेना, विजयी रावणका यमलोकसे प्रस्थान

स तस्य तु महानादं श्रुत्वा वैवस्वतः प्रभुः।
शत्रुं विजयिनं मेने स्वबलस्य च संक्षयम् ॥ १ ॥

(अगस्त्यजी कहते हैं—रघुनन्दन!) रावणके उस महानादको सुनकर सूर्यपुत्र भगवान् यमने यह समझ लिया कि 'शत्रु विजयी हुआ और मेरी सेना मारी गयी' ॥ १ ॥

स हि योधान् हतान् मत्वा क्रोधसंरक्तलोचनः।
अब्रवीत् त्वरितः सूतं रथो मे उपनीयताम्॥ २॥

'मेरे योद्धा मारे गये'—यह जानकर यमराजके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये और वे उतावले होकर सारथिसे बोले—'मेरा रथ ले आओ'॥ २॥

तस्य सूतस्तदा दिव्यमुपस्थाप्य महारथम्।
स्थितः स च महातेजा अध्यारोहत तं रथम्॥ ३॥

तब उनके सारथिने तत्काल एक दिव्य एवं विशाल रथ वहाँ उपस्थित कर दिया और वह सामने विनीतभावसे खड़ा हो गया। फिर वे महातेजस्वी यम देवता उस रथपर आरूढ़ हुए॥ ३॥

प्रासमुद्गरहस्तश्च मृत्युस्तस्याग्रतः स्थितः।
येन संक्षिप्यते सर्वं त्रैलोक्यमिदमव्ययम्॥ ४॥

उनके आगे प्रास और मुद्गर हाथमें लिये साक्षात् मृत्यु देवता खड़े थे, जो प्रवाहरूपसे सदा बने रहनेवाले इस समस्त त्रिभुवनका संहार करते हैं॥ ४॥

कालदण्डस्तु पार्श्वस्थो मूर्तिमानस्य चाभवत्।
यमप्रहरणं दिव्यं तेजसा ज्वलदग्निवत्॥ ५॥

उनके पार्श्वभागमें कालदण्ड मूर्तिमान् होकर खड़ा हुआ, जो उनका मुख्य एवं दिव्य आयुध है। वह अपने तेजसे अग्निके समान प्रज्वलित हो रहा था॥ ५॥

तस्य पार्श्वेषु निच्छिद्राः कालपाशाः प्रतिष्ठिताः।
पावकस्पर्शसंकाशः स्थितो मूर्तश्च मुद्गरः॥ ६॥

उनके दोनों बगलमें छिद्ररहित कालपाश खड़े थे और जिसका स्पर्श अग्निके समान दुःसह है, वह मुद्गर भी मूर्तिमान् होकर उपस्थित था॥ ६॥

ततो लोकत्रयं क्षुब्धमकम्पन्त दिवौकसः।
कालं दृष्ट्वा तथा क्रुद्धं सर्वलोकभयावहम्॥ ७॥

समस्त लोकोंको भय देनेवाले साक्षात् कालको कुपित हुआ देख तीनों लोकोंमें हलचल मच गयी। समस्त देवता काँप उठे॥ ७॥

ततस्त्वचोदयत् सूतस्तानश्वान् रुचिरप्रभान्।
प्रययौ भीमसंनादो यत्र रक्षःपतिः स्थितः॥ ८॥

तदनन्तर सारथिने सुन्दर कान्तिवाले घोड़ोंको हाँका और वह रथ भयानक आवाज करता हुआ उस स्थानपर जा पहुँचा, जहाँ राक्षसराज रावण खड़ा था॥ ८॥

मुहूर्तेन यमं ते तु हया हरिहयोपमाः।
प्रापयन् मनसस्तुल्या यत्र तत् प्रस्तुतं रणम्॥ ९॥

इन्द्रके घोड़ोंके समान तेजस्वी और मनके समान शीघ्रगामी उन घोड़ोंने यमराजको क्षणभरमें उस स्थानपर पहुँचा दिया, जहाँ वह युद्ध चल रहा था॥ ९॥

दृष्ट्वा तथैव विकृतं रथं मृत्युसमन्वितम्।
सचिवा राक्षसेन्द्रस्य सहसा विप्रदुद्रुवुः॥ १०॥

मृत्युदेवताके साथ उस विकराल रथको आया देख राक्षसराजके सचिव सहसा वहाँसे भाग खड़े हुए॥ १०॥

लघुसत्त्वतया ते हि नष्टसंज्ञा भयार्दिताः।
नेह योद्धुं समर्थाः स्म इत्युक्त्वा प्रययुर्दिशः॥ ११॥

उनकी शक्ति थोड़ी थी। इसलिये वे भयसे पीड़ित हो अपना होश-हवास खो बैठे और 'हम यहाँ युद्ध करनेमें समर्थ नहीं हैं' ऐसा कहकर विभिन्न दिशाओंमें भाग गये॥ ११॥

स तु तं तादृशं दृष्ट्वा रथं लोकभयावहम्।
नाक्षुभ्यत दशग्रीवो न चापि भयमाविशत्॥ १२॥

परंतु समस्त संसारको भयभीत करनेवाले वैसे विकराल रथको देखकर भी दशग्रीवके मनमें न तो क्षोभ हुआ और न भय ही॥ १२॥

स तु रावणमासाद्य व्यसृजच्छक्तितोमरान्।
यमो मर्माणि संक्रुद्धो रावणस्य न्यकृन्तत॥ १३॥

अत्यन्त क्रोधसे भरे हुए यमराजने रावणके पास पहुँचकर शक्ति और तोमरोंका प्रहार किया तथा रावणके मर्मस्थानोंको छेद डाला॥ १३॥

रावणस्तु ततः स्वस्थः शरवर्षं मुमोच ह।
तस्मिन् वैवस्वतरथे तोयवर्षमिवाम्बुदः॥ १४॥

तब रावणने भी सँभलकर यमराजके रथपर बाणोंकी झड़ी लगा दी, मानो मेघ जलकी वर्षा कर रहा हो॥ १४॥

ततो महाशक्तिशतैः पात्यमानैर्महोरसि।
नाशक्नोत् प्रतिकर्तुं स राक्षसः शल्यपीडितः॥ १५॥

तदनन्तर उसकी विशाल छातीपर सैकड़ों महाशक्तियोंकी मार पड़ने लगी। वह राक्षस शल्योंके प्रहारसे इतना पीड़ित हो चुका था कि यमराजसे बदला लेनेमें समर्थ न हो सका॥ १५॥

एवं नानाप्रहरणैर्यमेनामित्रकर्षिणा।
सप्तरात्रं कृतः संख्ये विसंज्ञो विमुखो रिपुः॥ १६॥

इस प्रकार शत्रुसूदन यमने नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करते हुए रणभूमिमें लगातार सात रातोंतक युद्ध किया। इससे उनका शत्रु रावण अपनी सुध-बुध खोकर युद्धसे विमुख हो गया॥ १६॥

तदाऽऽसीत् तुमुलं युद्धं यमराक्षसयोर्द्वयोः।
जयमाकाङ्क्षतोर्वीर समरेष्वनिवर्तिनोः॥ १७॥

वीर रघुनन्दन! वे दोनों योद्धा समरभूमिसे पीछे हटनेवाले नहीं थे और दोनों ही अपनी विजय चाहते थे; इसलिये उन यमराज और राक्षस दोनोंमें उस समय घोर युद्ध होने लगा॥ १७॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः।
प्रजापतिं पुरस्कृत्य समेतास्तद्रणाजिरे॥ १८॥

तब देवता, गन्धर्व, सिद्ध और महर्षिगण प्रजापतिको

आगे करके उस समराङ्गणमें एकत्र हुए॥ १८॥

संवर्त इव लोकानां युध्यतोरभवत् तदा।
राक्षसानां च मुख्यस्य प्रेतानामीश्वरस्य च॥ १९॥

उस समय राक्षसोंके राजा रावण तथा प्रेतराज यमके युद्धपरायण होनेपर समस्त लोकोंके प्रलयका समय उपस्थित हुआ-सा जान पड़ता था॥ १९॥

राक्षसेन्द्रोऽपि विस्फार्य चापमिन्द्राशनिप्रभम्।
निरन्तरमिवाकाशं कुर्वन् बाणांस्ततोऽसृजत्॥ २०॥

राक्षसराज रावण भी इन्द्रकी अशनिके सदृश अपने धनुषको खींचकर बाणोंकी वर्षा करने लगा, इससे आकाश ठसाठस भर गया—उसमें तिलभर भी खाली जगह नहीं रह गयी॥ २०॥

मृत्युं चतुर्भिर्विशिखैः सूतं सप्तभिरार्दयत्।
यमं शतसहस्रेण शीघ्रं मर्मस्वताडयत्॥ २१॥

उसने चार बाण मारकर मृत्युको और सात बाणोंसे यमके सारथिको भी पीड़ित कर दिया। फिर जल्दी-जल्दी लाख बाण मारकर यमराजके मर्मस्थानोंमें गहरी चोट पहुँचायी॥ २१॥

ततः क्रुद्धस्य वदनाद् यमस्य समजायत।
ज्वालामाली सनिःश्वासः सधूमः कोपपावकः॥ २२॥

तब यमराजके क्रोधकी सीमा न रही। उनके मुखसे वह रोष अग्नि बनकर प्रकट हुआ। वह आग ज्वाला-मालाओंसे मण्डित, श्वासवायुसे संयुक्त तथा धूमसे आच्छन्न दिखायी देती थी॥ २२॥

तदाश्चर्यमथो दृष्ट्वा देवदानवसंनिधौ।
प्रहर्षितौ सुसंरब्धौ मृत्युकालौ बभूवतुः॥ २३॥

देवताओं तथा दानवोंके समीप यह आश्चर्यजनक घटना देखकर रोषावेशसे भरे हुए मृत्यु एवं कालको बड़ा हर्ष हुआ॥ २३॥

ततो मृत्युः क्रुद्धतरो वैवस्वतमभाषत।
मुञ्च मां समरे यावद्धन्मीमं पापराक्षसम्॥ २४॥

तत्पश्चात् मृत्युदेवने अत्यन्त कुपित होकर वैवस्वत यमसे कहा—'आप मुझे छोड़िये—आज्ञा दीजिये, मैं समराङ्गणमें इस पापी राक्षसको अभी मारे डालता हूँ॥ २४॥

नैषा रक्षो भवेदद्य मर्यादा हि निसर्गतः।
हिरण्यकशिपुः श्रीमान् नमुचिः शम्बरस्तथा॥ २५॥
निसन्दिर्धूमकेतुश्च बलिर्वैरोचनोऽपि च।
शम्भुर्दैत्यो महाराजो वृत्रो बाणस्तथैव च॥ २६॥
राजर्षयः शास्त्रविदो गन्धर्वाः समहोरगाः।
ऋषयः पन्नगा दैत्या यक्षाश्च ह्यप्सरोगणाः॥ २७॥
युगान्तपरिवर्ते च पृथिवी समहार्णवा।
क्षयं नीता महाराज सपर्वतसरिद्द्रुमा॥ २८॥
एते चान्ये च बहवो बलवन्तो दुरासदाः।
विनिपन्ना मया दृष्टाः किमुतायं निशाचरः॥ २९॥

'महाराज! यह मेरी स्वभावसिद्ध मर्यादा है कि मुझसे भिड़कर यह राक्षस जीवित नहीं रह सकता। श्रीमान् हिरण्यकशिपु, नमुचि, शम्बर, निसन्दि, धूमकेतु, विरोचनकुमार बलि, शम्भुनामक दैत्य, महाराज वृत्र तथा बाणासुर, कितने ही शास्त्रवेत्ता राजर्षि, गन्धर्व, बड़े-बड़े नाग, ऋषि, सर्प, दैत्य, यक्ष, अप्सराओंके समुदाय, युगान्तकालमें समुद्रों, पर्वतों, सरिताओं और वृक्षोंसहित पृथ्वी—ये सब मेरे द्वारा क्षयको प्राप्त हुए हैं। ये तथा दूसरे बहुतेरे बलवान् एवं दुर्जय वीर भी मेरे द्वारा विनाशको प्राप्त हो चुके हैं, फिर यह निशाचर किस गिनतीमें है?॥ २५—२९॥

मुञ्च मां साधु धर्मज्ञ यावदेनं निहन्म्यहम्।
नहि कश्चिन्मया दृष्टो बलवानपि जीवति॥ ३०॥

'धर्मज्ञ! आप मुझे छोड़ दीजिये। मैं इसे अवश्य मार डालूँगा। जिसे मैं देख लूँ, वह कोई बलवान् होनेपर भी जीवित नहीं रह सकता॥ ३०॥

बलं मम न खल्वेतन्मर्यादैषा निसर्गतः।
स दृष्टो न मया काल मुहूर्तमपि जीवति॥ ३१॥

'काल! मेरी दृष्टि पड़नेपर यह रावण दो घड़ी भी जीवन धारण नहीं कर सकेगा। मेरे इस कथनका तात्पर्य केवल अपने बलको प्रकाशित करना मात्र नहीं है; अपितु यह स्वभावसिद्ध मर्यादा है'॥ ३१॥

तस्यैवं वचनं श्रुत्वा धर्मराजः प्रतापवान्।
अब्रवीत् तत्र तं मृत्युं त्वं तिष्ठैनं निहन्म्यहम्॥ ३२॥

'मृत्युकी यह बात सुनकर प्रतापी धर्मराजने उससे कहा—'तुम ठहरो, मैं ही इसे मार डालता हूँ'॥ ३२॥

ततः संरक्तनयनः क्रुद्धो वैवस्वतः प्रभुः।
कालदण्डममोघं तु तोलयामास पाणिना॥ ३३॥

तदनन्तर क्रोधसे लाल आँखें करके सामर्थ्यशाली वैवस्वत यमने अपने अमोघ कालदण्डको हाथसे उठाया॥ ३३॥

यस्य पार्श्वेषु निहिताः कालपाशाः प्रतिष्ठिताः।
पावकाशनिसंकाशो मुद्गरो मूर्तिमान् स्थितः॥ ३४॥

उस कालदण्डके पार्श्वभागोंमें कालपाश प्रतिष्ठित थे और वज्र एवं अग्नितुल्य तेजस्वी मुद्गर भी मूर्तिमान् होकर स्थित था॥ ३४॥

दर्शनादेव यः प्राणान् प्राणिनामपि कर्षति।
किं पुनः स्पृशमानस्य पात्यमानस्य वा पुनः॥ ३५॥

वह कालदण्ड दृष्टिमें आनेमात्रसे प्राणियोंके प्राणोंका अपहरण कर लेता था। फिर जिससे उसका स्पर्श हो जाय अथवा जिसके ऊपर उसकी मार पड़े, उस पुरुषके प्राणोंका संहार करना उसके लिये कौन बड़ी बात है?॥ ३५॥

स ज्वालापरिवारस्तु निर्दहन्निव राक्षसम्।
तेन स्पृष्टो बलवता महाप्रहरणोऽस्फुरत्॥ ३६॥

ज्वालाओंसे घिरा हुआ वह कालदण्ड उस राक्षसको दग्ध-सा कर देनेके लिये उद्यत था। बलवान् यमराजके हाथमें लिया हुआ वह महान् आयुध अपने तेजसे प्रकाशित हो उठा ॥ ३६ ॥

ततो विदुद्रुवुः सर्वे तस्मात् त्रस्ता रणाजिरे।
सुराश्च क्षुभिताः सर्वे दृष्ट्वा दण्डोद्यतं यमम्॥ ३७॥

उसके उठते ही समराङ्गणमें खड़े हुए समस्त सैनिक भयभीत होकर भाग चले। कालदण्ड उठाये यमराजको देखकर समस्त देवता भी क्षुब्ध हो उठे ॥ ३७ ॥

तस्मिन् प्रहर्तुकामे तु यमे दण्डेन रावणम्।
यमं पितामहः साक्षाद् दर्शयित्वेदमब्रवीत्॥ ३८॥

यमराज उस दण्डसे रावणपर प्रहार करना ही चाहते थे कि साक्षात् पितामह ब्रह्मा वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने दर्शन देकर इस प्रकार कहा— ॥ ३८ ॥

वैवस्वत महाबाहो न खल्वमितविक्रम।
न हन्तव्यस्त्वयैतेन दण्डेनैष निशाचरः॥ ३९॥

'अमित पराक्रमी महाबाहु वैवस्वत! तुम इस कालदण्डके द्वारा निशाचर रावणका वध न करो ॥ ३९ ॥

वरः खलु मयैतस्मै दत्तस्त्रिदशपुङ्गव।
स त्वया नानृतः कार्यो यन्मया व्याहृतं वचः॥ ४०॥

'देवप्रवर! मैंने इसे देवताओंद्वारा न मारे जा सकनेका वर दिया है। मेरे मुँहसे जो बात निकल चुकी है, उसे तुम्हें असत्य नहीं करना चाहिये ॥ ४० ॥

यो हि मामनृतं कुर्याद् देवो वा मानुषोऽपि वा।
त्रैलोक्यमनृतं तेन कृतं स्यान्नात्र संशयः॥ ४१॥

'जो देवता अथवा मनुष्य मुझे असत्यवादी बना देगा, उसे समस्त त्रिलोकीको मिथ्याभाषी बनानेका दोष लगेगा, इसमें संशय नहीं है ॥ ४१ ॥

क्रुद्धेन विप्रमुक्तोऽयं निर्विशेषं प्रियाप्रिये।
प्रजाः संहरते रौद्रो लोकत्रयभयावहः॥ ४२॥

'यह कालदण्ड तीनों लोकोंके लिये भयंकर तथा रौद्र है। तुम्हारे द्वारा क्रोधपूर्वक छोड़ा जानेपर यह प्रिय और अप्रिय जनोंमें भेदभाव न रखता हुआ सामने पड़ी हुई समस्त प्रजाका संहार कर डालेगा ॥ ४२ ॥

अमोघो ह्येष सर्वेषां प्राणिनाममितप्रभः।
कालदण्डो मया सृष्टः पूर्वं मृत्युपुरस्कृतः॥ ४३॥

'इस अमित तेजस्वी कालदण्डको भी पूर्वकालमें मैंने ही बनाया था। यह किसी भी प्राणीपर व्यर्थ नहीं होता है। इसके प्रहारसे सबकी मृत्यु हो जाती है ॥ ४३ ॥

तन्न खल्वेष ते सौम्य पात्यो रावणमूर्धनि।
नह्यस्मिन् पतिते कश्चिन्मुहूर्तमपि जीवति॥ ४४॥

'अतः सौम्य! तुम इसे रावणके मस्तकपर न गिराओ। इसकी मार पड़नेपर कोई एक मुहूर्त भी जीवित नहीं रह सकता ॥ ४४ ॥

यदि ह्यस्मिन् निपतिते न म्रियेतैष राक्षसः।
म्रियते वा दशग्रीवस्तदाप्युभयतोऽनृतम्॥ ४५॥

'कालदण्ड पड़नेपर यदि यह राक्षस रावण न मरा तो अथवा मर गया तो—दोनों ही दशाओंमें मेरी बात असत्य होगी ॥ ४५ ॥

तन्निवर्तय लङ्केशाद् दण्डमेतं समुद्यतम्।
सत्यं च मां कुरुष्वाद्य लोकांस्त्वं यद्यवेक्षसे॥ ४६॥

'इसलिये हाथमें उठाये हुए इस कालदण्डको तुम लङ्कापति रावणकी ओरसे हटा लो। यदि समस्त लोकोंपर तुम्हारी दृष्टि है तो आज रावणकी रक्षा करके मुझे सत्यवादी बनाओ' ॥ ४६ ॥

एवमुक्तस्तु धर्मात्मा प्रत्युवाच यमस्तदा।
एष व्यावर्तितो दण्डः प्रभविष्णुर्हि नो भवान्॥ ४७॥

ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर धर्मात्मा यमराजने उत्तर दिया—'यदि ऐसी बात है तो लीजिये मैंने इस दण्डको हटा लिया। आप हम सब लोगोंके प्रभु हैं (अतः आपकी आज्ञाका पालन करना हमारा कर्तव्य है) ॥ ४७ ॥

किं त्विदानीं मया शक्यं कर्तुं रणगतेन हि।
न मया यद्ययं शक्यो हन्तुं वरपुरस्कृतः॥ ४८॥

'परंतु वरदानसे युक्त होनेके कारण यदि मेरे द्वारा इस निशाचरका वध नहीं हो सकता तो इस समय इसके साथ युद्ध करके ही मैं क्या करूँगा? ॥ ४८ ॥

एष तस्मात् प्रणश्यामि दर्शनादस्य रक्षसः।
इत्युक्त्वा सरथः साश्वस्तत्रैवान्तरधीयत॥ ४९॥

'इसलिये अब मैं इसकी दृष्टिसे ओझल होता हूँ,' यों कहकर यमराज रथ और घोड़ोंसहित वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ४९ ॥

दशग्रीवस्तु तं जित्वा नाम विश्राव्य चात्मनः।
आरुह्य पुष्पकं भूयो निष्क्रान्तो यमसादनात्॥ ५०॥

इस प्रकार यमराजको जीतकर अपने नामकी घोषणा करके दशग्रीव रावण पुष्पक विमानपर आरूढ़ हो यमलोकसे चला गया ॥ ५० ॥

स तु वैवस्वतो देवैः सह ब्रह्मपुरोगमैः।
जगाम त्रिदिवं हृष्टो नारदश्च महामुनिः॥ ५१॥

तदनन्तर सूर्यपुत्र यमराज तथा महामुनि नारदजी ब्रह्मा आदि देवताओंके साथ प्रसन्नतापूर्वक स्वर्गमें गये ॥ ५१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे द्वाविंशः सर्गः॥ २२॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें बाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २२ ॥

त्रयोविंशः सर्गः

रावणके द्वारा निवातकवचोंसे मैत्री, कालकेयोंका वध तथा वरुणपुत्रोंकी पराजय

ततो जित्वा दशग्रीवो यमं त्रिदशपुङ्गवम्।
रावणस्तु रणश्लाघी स्वसहायान् ददर्श ह॥ १॥

(अगस्त्यजी कहते हैं—रघुनन्दन!) देवेश्वर यमको पराजित करके युद्धका हौसला रखनेवाला दशग्रीव रावण अपने सहायकोंसे मिला॥ १॥

ततो रुधिरसिक्ताङ्गं प्रहारैर्जर्जरीकृतम्।
रावणं राक्षसा दृष्ट्वा विस्मयं समुपागमन्॥ २॥

उसके सारे अङ्ग रक्तसे नहा उठे थे और प्रहारोंसे जर्जर हो गये थे। इस अवस्थामें रावणको देखकर उन राक्षसोंको बड़ा विस्मय हुआ॥ २॥

जयेन वर्धयित्वा च मारीचप्रमुखास्ततः।
पुष्पकं भेजिरे सर्वे सान्त्विता रावणेन तु॥ ३॥

'महाराजकी जय हो' ऐसा कहकर रावणकी अभ्युदय-कामना करके वे मारीच आदि सब राक्षस पुष्पकविमानपर बैठे। उस समय रावणने उन सबको सान्त्वना दी॥ ३॥

ततो रसातलं रक्षः प्रविष्टः पयसां निधिम्।
दैत्योरगगणाध्युष्टं वरुणेन सुरक्षितम्॥ ४॥

तदनन्तर वह राक्षस रसातलमें जानेकी इच्छासे दैत्यों और नागोंसे सेवित तथा वरुणके द्वारा सुरक्षित जलनिधि समुद्रमें प्रविष्ट हुआ॥ ४॥

स तु भोगवतीं गत्वा पुरीं वासुकिपालिताम्।
कृत्वा नागान् वशे हृष्टो ययौ मणिमयीं पुरीम्॥ ५॥

नागराज वासुकिद्वारा पालित भोगवती पुरीमें प्रवेश करके उसने नागोंको अपने वशमें कर लिया और वहाँसे हर्षपूर्वक मणिमयीपुरीको प्रस्थान किया॥ ५॥

निवातकवचास्तत्र दैत्या लब्धवरा वसन्।
राक्षसस्तान् समागम्य युद्धाय समुपाह्वयत्॥ ६॥

उस पुरीमें निवातकवच नामक दैत्य रहते थे, जिन्हें ब्रह्माजीसे उत्तम वर प्राप्त थे। उस राक्षसने वहाँ जाकर उन सबको युद्धके लिये ललकारा॥ ६॥

ते तु सर्वे सुविक्रान्ता दैतेया बलशालिनः।
नानाप्रहरणास्तत्र प्रहृष्टा युद्धदुर्मदाः॥ ७॥

वे सब दैत्य बड़े पराक्रमी और बलशाली थे। नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र धारण करते थे तथा युद्धके लिये सदा उत्साहित एवं उन्मत्त रहते थे॥ ७॥

शूलैस्त्रिशूलैः कुलिशैः पट्टिशासिपरश्वधैः।
अन्योन्यं बिभिदुः क्रुद्धा राक्षसा दानवास्तथा॥ ८॥

उनका राक्षसोंके साथ युद्ध आरम्भ हो गया। वे राक्षस और दानव कुपित हो एक-दूसरेको शूल, त्रिशूल, वज्र, पट्टिश, खड्ग और फरसोंसे घायल करने लगे॥ ८॥

तेषां तु युध्यमानानां साग्रः संवत्सरो गतः।
न चान्यतरतस्तत्र विजयो वा क्षयोऽपि वा॥ ९॥

उनके युद्ध करते हुए एक वर्षसे अधिक समय व्यतीत हो गया; किंतु उनमेंसे किसी भी पक्षकी विजय या पराजय नहीं हुई॥ ९॥

ततः पितामहस्तत्र त्रैलोक्यगतिरव्ययः।
आजगाम द्रुतं देवो विमानवरमास्थितः॥ १०॥

तब त्रिभुवनके आश्रयभूत अविनाशी पितामह भगवान् ब्रह्मा एक उत्तम विमानपर बैठकर वहाँ शीघ्र आये॥ १०॥

निवातकवचानां तु निवार्य रणकर्म तत्।
वृद्धः पितामहो वाक्यमुवाच विदितार्थवत्॥ ११॥

बूढ़े पितामहने निवातकवचोंके उस युद्ध-कर्मको रोक दिया और उनसे स्पष्ट शब्दोंमें यह बात कही—॥ ११॥

नह्ययं रावणो युद्धे शक्यो जेतुं सुरासुरैः।
न भवन्तः क्षयं नेतुमपि सामरदानवैः॥ १२॥

'दानवो! समस्त देवता और असुर मिलकर भी युद्धमें इस रावणको परास्त नहीं कर सकते। इसी तरह समस्त देवता और दानव एक साथ आक्रमण करें तो भी वे तुम लोगोंका संहार नहीं कर सकते॥ १२॥

राक्षसस्य सखित्वं च भवद्भिः सह रोचते।
अविभक्ताश्च सर्वार्थाः सुहृदां नात्र संशयः॥ १३॥

'(तुम दोनोंमें वरदानजनित शक्ति एक-सी है) इसलिये मुझे तो यह अच्छा लगता है कि तुमलोगोंके साथ इस राक्षसकी मैत्री हो जाय; क्योंकि सुहृदोंके सभी अर्थ (भोग्य-पदार्थ) एक-दूसरेके लिये समान होते हैं—पृथक्-पृथक् बँटे नहीं रहते हैं। निःसंदेह ऐसी ही बात है'॥ १३॥

ततोऽग्निसाक्षिकं सख्यं कृतवांस्तत्र रावणः।
निवातकवचैः सार्धं प्रीतिमानभवत् तदा॥ १४॥

तब वहाँ रावणने अग्निको साक्षी बनाकर निवातकवचोंके साथ मित्रता कर ली। इससे उसको बड़ी प्रसन्नता हुई॥ १४॥

अर्चितस्तैर्यथान्यायं संवत्सरमथोषितः।
स्वपुरान्निर्विशेषं च प्रियं प्राप्तो दशाननः॥ १५॥

फिर निवातकवचोंसे उचित आदर पाकर वह एक वर्षतक वहीं टिका रहा। उस स्थानपर दशाननको अपने नगरके समान ही प्रिय भोग प्राप्त हुए॥ १५॥

तत्रोपधार्य मायानां शतमेकं समाप्तवान्।
सलिलेन्द्रपुरान्वेषी भ्रमति स्म रसातलम्॥ १६॥

उसने निवातकवचोंसे सौ प्रकारकी मायाओंका ज्ञान प्राप्त किया। उसके बाद वह वरुणके नगरका पता लगाता हुआ रसातलमें सब ओर घूमने लगा॥ १६॥

ततोऽश्मनगरं नाम कालकेयैरधिष्ठितम्।
गत्वा तु कालकेयांश्च हत्वा तत्र बलोत्कटान्॥ १७॥
शूर्पणख्याश्च भर्तारमसिना प्राच्छिनत् तदा।
श्यालं च बलवन्तं च विद्युज्जिह्वं बलोत्कटम्॥ १८॥
जिह्वया संलिहन्तं च राक्षसं समरे तदा।

घूमते-घूमते वह अश्मनामक नगरमें जा पहुँचा, जहाँ कालकेय नामक दानव निवास करते थे। कालकेय बड़े बलवान् थे। रावणने वहाँ उन सबका संहार करके शूर्पणखाके पति उत्कट बलशाली अपने बहनोई महाबली विद्युज्जिह्वको, जो उस राक्षसको समराङ्गणमें चाट जाना चाहता था, तलवारसे काट डाला॥ १७-१८ १/२॥

तं विजित्य मुहूर्तेन जघ्ने दैत्यांश्चतुःशतम्॥ १९॥
ततः पाण्डुरमेघाभं कैलासमिव भास्वरम्।
वरुणस्यालयं दिव्यमपश्यद् राक्षसाधिपः॥ २०॥

उसे परास्त करके रावणने दो ही घड़ीमें चार सौ दैत्योंको मौतके घाट उतार दिया। तत्पश्चात् उस राक्षसराजने वरुणका दिव्य भवन देखा, जो श्वेत बादलोंके समान उज्ज्वल और कैलास पर्वतके समान प्रकाशमान था॥ १९-२०॥

क्षरन्तीं च पयस्तत्र सुरभिं गामवस्थिताम्।
यस्याः पयोऽभिनिष्पन्दात् क्षीरोदो नाम सागरः॥ २१॥

वहीं सुरभि नामकी गौ भी खड़ी थी, जिसके थनोंसे दूध झर रहा था। कहते हैं, सुरभिके ही दूधकी धारासे क्षीरसागर भरा हुआ है॥ २१॥

ददर्श रावणस्तत्र गोवृषेन्द्रवरारणिम्।
यस्माच्चन्द्रः प्रभवति शीतरश्मिर्निशाकरः॥ २२॥

रावणने महादेवजीके वाहनभूत महावृषभकी जननी सुरभिदेवीका दर्शन किया, जिससे शीतल किरणोंवाले निशाकर चन्द्रमाका प्रादुर्भाव हुआ है (सुरभिसे क्षीरसमुद्र और क्षीरसमुद्रसे चन्द्रमाका आविर्भाव हुआ है)॥ २२॥

यं समाश्रित्य जीवन्ति फेनपाः परमर्षयः।
अमृतं यत्र चोत्पन्नं स्वधा च स्वधभोजिनाम्॥ २३॥

उन्हीं चन्द्रदेवके उत्पत्तिस्थान क्षीरसमुद्रका आश्रय लेकर फेन पीनेवाले महर्षि जीवन धारण करते हैं। उस क्षीरसागरसे ही सुधा तथा स्वधाभोजी पितरोंकी स्वधा प्रकट हुई है॥ २३॥

यां ब्रुवन्ति नरा लोके सुरभिं नाम नामतः।
प्रदक्षिणं तु तां कृत्वा रावणः परमाद्भुताम्।
प्रविवेश महाघोरं गुप्तं बहुविधैर्बलैः॥ २४॥

लोकमें जिनको सुरभि नामसे पुकारा जाता है, उन परम अद्भुत गोमाताकी परिक्रमा करके रावणने नाना प्रकारकी सेनाओंसे सुरक्षित महाभयंकर वरुणालयमें प्रवेश किया॥ २४॥

ततो धाराशताकीर्णं शारदाभ्रनिभं तदा।
नित्यप्रहृष्टं ददृशे वरुणस्य गृहोत्तमम्॥ २५॥

वहाँ प्रवेश करके उसने वरुणके उत्तम भवनको देखा, जो सदा ही आनन्दमय उत्सवसे परिपूर्ण, अनेक जलधाराओं (फौवारों) से व्याप्त तथा शरत्कालके बादलोंके समान उज्ज्वल था॥ २५॥

ततो हत्वा बलाध्यक्षान् समरे तैश्च ताडितः।
अब्रवीच्च ततो योधान् राजा शीघ्रं निवेद्यताम्॥ २६॥

तदनन्तर वरुणके सेनापतियोंने समरभूमिमें रावणपर प्रहार किया। फिर रावणने भी उन सबको घायल करके वहाँके योद्धाओंसे कहा—'तुमलोग राजा वरुणसे शीघ्र जाकर मेरी यह बात कहो—॥ २६॥

युद्धार्थी रावणः प्राप्तस्तस्य युद्धं प्रदीयताम्।
वद वा न भयं तेऽस्ति निर्जितोऽस्मीति साञ्जलिः॥ २७॥

'राजन्! राक्षसराज रावण युद्धके लिये आया है, आप चलकर उससे युद्ध कीजिये अथवा हाथ जोड़कर अपनी पराजय स्वीकार कीजिये। फिर आपको कोई भय नहीं रहेगा'॥ २७॥

एतस्मिन्नन्तरे क्रुद्धा वरुणस्य महात्मनः।
पुत्राः पौत्राश्च निष्क्रामन् गौश्च पुष्कर एव च॥ २८॥

इसी बीचमें सूचना पाकर महात्मा वरुणके पुत्र और पौत्र क्रोधसे भरे हुए निकले। उनके साथ 'गौ' और 'पुष्कर' नामक सेनाध्यक्ष भी थे॥ २८॥

ते तु तत्र गुणोपेता बलैः परिवृताः स्वकैः।
युक्त्वा रथान् कामगमानुद्यद्भास्करवर्चसः॥ २९॥

वे सब-के-सब सर्वगुणसम्पन्न तथा उगते हुए सूर्यके तुल्य तेजस्वी थे। इच्छानुसार चलनेवाले रथोंपर आरूढ़ हो अपनी सेनाओंसे घिरकर वे वहाँ युद्धस्थलमें आये॥ २९॥

ततो युद्धं समभवद् दारुणं रोमहर्षणम्।
सलिलेन्द्रस्य पुत्राणां रावणस्य च धीमतः॥ ३०॥

फिर तो वरुणके पुत्रों और बुद्धिमान् रावणमें बड़ा भयंकर युद्ध छिड़ गया, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाला था॥ ३०॥

अमात्यैश्च महावीर्यैर्दशग्रीवस्य रक्षसः।
वारुणं तद् बलं सर्वं क्षणेन विनिपातितम्॥ ३१॥

राक्षस दशग्रीवके महापराक्रमी मन्त्रियोंने एक ही क्षणमें वरुणकी सारी सेनाको मार गिराया॥ ३१॥

समीक्ष्य स्वबलं संख्ये वरुणस्य सुतास्तदा।
अर्दिताः शरजालेन निवृत्ता रणकर्मणा॥ ३२॥

युद्धमें अपनी सेनाकी यह अवस्था देख वरुणके पुत्र उस समय बाण-समूहोंसे पीड़ित होनेके कारण कुछ देरके लिये युद्ध-कर्मसे हट गये॥ ३२॥

महीतलगतास्ते तु रावणं दृश्य पुष्पके।
आकाशमाशु विविशुः स्यन्दनैः शीघ्रगामिभिः॥ ३३॥

भूतलपर स्थित होकर उन्होंने जब रावणको पुष्पक विमानपर बैठा देखा, तब वे भी शीघ्रगामी रथोंद्वारा तुरंत ही आकाशमें जा पहुँचे ॥ ३३ ॥

महदासीत् ततस्तेषां तुल्यं स्थानमवाप्य तत्।
आकाशयुद्धं तुमुलं देवदानवयोरिव ॥ ३४ ॥

अब बराबरका स्थान मिल जानेसे रावणके साथ उनका भारी युद्ध छिड़ गया। उनका वह आकाश-युद्ध देव-दानव-संग्रामके समान भयंकर जान पड़ता था ॥ ३४ ॥

ततस्ते रावणं युद्धे शरैः पावकसंनिभैः।
विमुखीकृत्य संहृष्टा विनेदुर्विविधान् रवान् ॥ ३५ ॥

उन वरुण-पुत्रोंने अपने अग्नितुल्य तेजस्वी बाणोंद्वारा युद्धस्थलमें रावणको विमुख करके बड़े हर्षके साथ नाना प्रकारके स्वरोंमें महान् सिंहनाद किया ॥ ३५ ॥

ततो महोदरः क्रुद्धो राजानं वीक्ष्य धर्षितम्।
त्यक्त्वा मृत्युभयं वीरो युद्धाकाङ्क्षी व्यलोकयत् ॥ ३६ ॥

राजा रावणको तिरस्कृत हुआ देख महोदरको बड़ा क्रोध हुआ। उसने मृत्युका भय छोड़कर युद्धकी इच्छासे वरुणपुत्रोंकी ओर देखा ॥ ३६ ॥

तेन ते वारुणा युद्धे कामगाः पवनोपमाः।
महोदरेण गदया हयास्ते प्रययुः क्षितिम् ॥ ३७ ॥

वरुणके घोड़े युद्धमें हवासे बातें करनेवाले थे और स्वामीकी इच्छाके अनुसार चलते थे। महोदरने उनपर गदासे आघात किया। गदाकी चोट खाकर वे घोड़े धराशायी हो गये ॥ ३७ ॥

तेषां वरुणसूनूनां हत्वा योधान् हयांश्च तान्।
मुमोचाशु महानादं विरथान् प्रेक्ष्य तान् स्थितान् ॥ ३८ ॥

वरुण-पुत्रोंके योद्धाओं और घोड़ोंको मारकर उन्हें रथहीन हुआ देख महोदर तुरन्त ही जोर-जोरसे गर्जना करने लगा ॥ ३८ ॥

ते तु तेषां रथाः साश्वाः सह सारथिभिर्वरैः।
महोदरेण निहताः पतिताः पृथिवीतले ॥ ३९ ॥

महोदरकी गदाके आघातसे वरुण-पुत्रोंके वे रथ घोड़ों और श्रेष्ठ सारथियोंसहित चूर-चूर हो पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३९ ॥

ते तु त्यक्त्वा रथान् पुत्रा वरुणस्य महात्मनः।
आकाशे विष्ठिताः शूराः स्वप्रभावान्न विव्यथुः ॥ ४० ॥

महात्मा वरुणके वे शूरवीर पुत्र उन रथोंको छोड़कर अपने ही प्रभावसे आकाशमें खड़े हो गये। उन्हें तनिक भी व्यथा नहीं हुई ॥ ४० ॥

धनूंषि कृत्वा सज्जानि विनिर्भिद्य महोदरम्।
रावणं समरे क्रुद्धाः सहिताः समवारयन् ॥ ४१ ॥

उन्होंने धनुषोंपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी और महोदरको क्षत-विक्षत करके एक साथ कुपित हो रावणको घेर लिया ॥ ४१ ॥

सायकैश्चापविभ्रष्टैर्वज्रकल्पैः सुदारुणैः।
दारयन्ति स्म संक्रुद्धा मेघा इव महागिरिम् ॥ ४२ ॥

फिर वे अत्यन्त कुपित हो किसी महान् पर्वतपर जलकी धारा गिरानेवाले मेघोंके समान धनुषसे छूटे हुए वज्र-तुल्य भयंकर सायकोंद्वारा रावणको विदीर्ण करने लगे ॥ ४२ ॥

ततः क्रुद्धो दशग्रीवः कालाग्निरिव मूर्च्छितः।
शरवर्षं महाघोरं तेषां मर्मस्वपातयत् ॥ ४३ ॥

यह देख दशग्रीव प्रलयकालकी अग्निके समान रोषसे प्रज्वलित हो उठा और उन वरुण-पुत्रोंके मर्मस्थानोंपर महाघोर बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ ४३ ॥

मुसलानि विचित्राणि ततो भल्लशतानि च।
पट्टिशांश्चैव शक्तीश्च शतघ्नीर्महतीरपि ॥ ४४ ॥
पातयामास दुर्धर्षस्तेषामुपरि विष्ठितः।

पुष्पक विमानपर बैठे हुए उस दुर्धर्ष वीरने उन सबके ऊपर विचित्र मूसलों, सैकड़ों भल्लों, पट्टिशों, शक्तियों और बड़ी-बड़ी शतघ्नियोंका प्रहार किया ॥ ४४ १/२ ॥

अपविद्धास्तु ते वीरा विनिष्पेतुः पदातयः ॥ ४५ ॥
ततस्तेनैव सहसा सीदन्ति स्म पदातिनः।
महापङ्कमिवासाद्य कुञ्जराः षष्टिहायनाः ॥ ४६ ॥

उन अस्त्र-शस्त्रोंसे घायल हो वे पैदल, वीर पुनः युद्धके लिये आगे बढ़े; परंतु पैदल होनेके कारण रावणकी उस अस्त्र-वर्षासे ही सहसा संकटमें पड़कर बड़ी भारी कीचड़में फँसे हुए साठ वर्षके हाथीके समान कष्ट पाने लगे ॥ ४५-४६ ॥

सीदमानान् सुतान् दृष्ट्वा विह्वलान् स महाबलः।
ननाद रावणो हर्षान्महानम्बुधरो यथा ॥ ४७ ॥

वरुणके पुत्रोंको दुःखी एवं व्याकुल देख महाबली रावण महान् मेघके समान बड़े हर्षसे गर्जना करने लगा ॥ ४७ ॥

ततो रक्षो महानादान् मुक्त्वा हन्ति स्म वारुणान्।
नानाप्रहरणोपेतैर्धारापातैरिवाम्बुदः ॥ ४८ ॥

जोर-जोरसे सिंहनाद करके वह निशाचर पुनः नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा वरुण-पुत्रोंको मारने लगा, मानो बादल अपनी धारावाहिक वृष्टिसे वृक्षोंको पीड़ित कर रहा हो ॥ ४८ ॥

ततस्ते विमुखाः सर्वे पतिता धरणीतले।
रणात् स्वपुरुषैः शीघ्रं गृहाण्येव प्रवेशिताः ॥ ४९ ॥

फिर तो वे सभी वरुण पुत्र युद्धसे विमुख हो पृथ्वीपर गिर पड़े। तत्पश्चात् उनके सेवकोंने उन्हें रणभूमिसे हटाकर शीघ्र ही घरोंमें पहुँचा दिया ॥ ४९ ॥

तानब्रवीत् ततो रक्षो वरुणाय निवेद्यताम्।
रावणं त्वब्रवीन्मन्त्री प्रहासो नाम वारुणः ॥ ५० ॥

तदनन्तर उस राक्षसने वरुणके सेवकोंसे कहा—'अब वरुणसे जाकर कहो कि वे स्वयं युद्धके लिये आवें' तब

वरुणके मन्त्री प्रभासने रावणसे कहा— ॥ ५० ॥

गतः खलु महाराजो ब्रह्मलोकं जलेश्वरः।
गान्धर्वं वरुणः श्रोतुं यं त्वमाह्वयसे युधि ॥ ५१ ॥

'राक्षसराज! जिन्हें तुम युद्धके लिये बुला रहे हो, वे जलके स्वामी महाराज वरुण संगीत सुननेके लिये ब्रह्मलोकमें गये हुए हैं ॥ ५१ ॥

तत् किं तव वथा वीर परिश्रम्य गते नृपे।
ये तु संनिहिता वीराः कुमारास्ते पराजिताः ॥ ५२ ॥

'वीर! राजा वरुणके चले जानेपर यहाँ युद्धके लिये व्यर्थ परिश्रम करनेसे तुम्हें क्या लाभ? उनके जो वीर पुत्र यहाँ मौजूद थे, वे तो तुमसे परास्त हो ही गये' ॥ ५२ ॥

राक्षसेन्द्रस्तु तच्छ्रुत्वा नाम विश्राव्य चात्मनः।
हर्षान्नादं विमुञ्चन् वै निष्क्रान्तो वरुणालयात् ॥ ५३ ॥

मन्त्रीकी यह बात सुनकर राक्षसराज रावण वहाँ अपने नामकी घोषणा करके बड़े हर्षसे सिंहनाद करता हुआ वरुणालयसे बाहर निकल गया ॥ ५३ ॥

आगतस्तु पथा येन तेनैव विनिवृत्य सः।
लङ्कामभिमुखो रक्षो नभस्तलगतो ययौ ॥ ५४ ॥

वह जिस मार्गसे आया था, उसीसे लौटकर आकाशमार्गसे लङ्काकी ओर चल दिया ॥ ५४ ॥*

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे त्रयोविंशः सर्गः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें तेईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २३ ॥

—★—

चतुर्विंशः सर्गः

रावणद्वारा अपहृत हुई देवता आदिकी कन्याओं और स्त्रियोंका विलाप एवं शाप, रावणका रोती हुई शूर्पणखाको आश्वासन देना और उसे खरके साथ दण्डकारण्यमें भेजना

निवर्तमानः संहृष्टो रावणः स दुरात्मवान्।
जह्रे पथि नरेन्द्रर्षिदेवदानवकन्यकाः ॥ १ ॥

लौटते समय दुरात्मा रावण बड़े हर्षमें भरा था। उसने मार्गमें अनेकानेक नरेशों, ऋषियों, देवताओं और दानवोंकी कन्याओंका अपहरण किया ॥ १ ॥

दर्शनीयां हि यां रक्षः कन्यां स्त्रीं वाथ पश्यति।
हत्वा बन्धुजनं तस्या विमाने तां रुरोध सः ॥ २ ॥

वह राक्षस जिस कन्या अथवा स्त्रीको दर्शनीय रूप-सौन्दर्यसे युक्त देखता, उसके रक्षक बन्धुजनोंका वध करके उसे विमानपर बिठाकर रोक लेता था ॥ २ ॥

एवं पन्नगकन्याश्च राक्षसासुरमानुषीः।
यक्षदानवकन्याश्च विमाने सोऽध्यरोपयत् ॥ ३ ॥

इस प्रकार उसने नागों, राक्षसों, असुरों, मनुष्यों, यक्षों और दानवोंकी भी बहुत-सी कन्याओंको हरकर विमानपर चढ़ा लिया ॥ ३ ॥

ता हि सर्वाः समं दुःखान्मुमुचुर्बाष्पजं जलम्।
तुल्यमग्न्यर्चिषां तत्र शोकाग्निभयसम्भवम् ॥ ४ ॥

उन सबने एक साथ ही दुःखके कारण नेत्रोंसे आँसू बहाना आरम्भ किया। शोकाग्नि और भयसे प्रकट होनेवाले उनके आँसुओंकी एक-एक बूँद वहाँ आगकी चिनगारी-सी जान पड़ती थी ॥ ४ ॥

ताभिः सर्वानवद्याभिर्नदीभिरिव सागरः।
आपूरितं विमानं तद् भयशोकाशिवाश्रुभिः ॥ ५ ॥

जैसे नदियाँ सागरको भरती हैं, उसी प्रकार उन समस्त सुन्दरियोंने भय और शोकसे उत्पन्न हुए अमङ्गलजनक अश्रुओंसे उस विमानको भर दिया ॥ ५ ॥

नागगन्धर्वकन्याश्च महर्षितनयाश्च याः।
दैत्यदानवकन्याश्च विमाने शतशोऽरुदन् ॥ ६ ॥

नागों, गन्धर्वों, महर्षियों, दैत्यों और दानवोंकी सैकड़ों कन्याएँ उस विमानपर रो रही थीं ॥ ६ ॥

दीर्घकेश्यः सुचार्वङ्ग्यः पूर्णचन्द्रनिभाननाः।
पीनस्तनतटा मध्ये वज्रवेदिसमप्रभाः ॥ ७ ॥
रथकूबरसंकाशैः श्रोणिदेशैर्मनोहराः।
स्त्रियः सुराङ्गनाप्रख्या निष्टप्तकनकप्रभाः ॥ ८ ॥

उनके केश बड़े-बड़े थे। सभी अङ्ग सुन्दर एवं मनोहर थे। उनके मुखकी कान्ति पूर्ण चन्द्रमाकी छविको लज्जित करती थी। उरोजोंके तटप्रान्त उभरे हुए थे। कटिका मध्यभाग हीरेके चबूतरेके समान प्रकाशित होता था। नितम्ब-देश रथके कूबर-जैसे जान पड़ते थे और उनके कारण उनकी मनोहरता बढ़ रही थी। वे सभी स्त्रियाँ

---

* कुछ प्रतियोंमें तेईसवें सर्गके बाद पाँच प्रक्षिप्त सर्ग उपलब्ध होते हैं, जिनमें रावणकी दिग्विजय-यात्राका विस्तारपूर्वक वर्णन है। अनावश्यक विस्तारके भयसे यहाँ उनको नहीं लिया गया है।

देवाङ्गनाओंके समान कान्तिमती और तपाये हुए सुवर्णके समान सुनहरी आभासे उद्भासित होती थीं ॥ ७-८ ॥

शोकदुःखभयत्रस्ता विह्वलाश्च सुमध्यमाः ।
तासां निःश्वासवातेन सर्वतः सम्प्रदीपितम् ॥ ९ ॥
अग्निहोत्रमिवाभाति संनिरुद्धाग्नि पुष्पकम् ।

सुन्दर मध्यभागवाली वे सभी सुन्दरियाँ शोक, दुःख और भयसे त्रस्त एवं विह्वल थीं। उनकी गरम-गरम निःश्वासवायुसे वह पुष्पक-विमान सब ओरसे प्रज्वलित-सा हो रहा था और जिसके भीतर अग्निकी स्थापना की गयी हो, उस अग्निहोत्रगृहके समान जान पड़ता था ॥ ९½ ॥

दशग्रीववशं प्राप्तास्तास्तु शोकाकुलाः स्त्रियः ॥ १० ॥
दीनवक्त्रेक्षणाः श्यामा मृग्यः सिंहवशा इव ।

दशग्रीवके वशमें पड़ी हुई वे शोकाकुल अबलाएँ सिंहके पंजेमें पड़ी हुई हरिणियोंके समान दुःखी हो रही थीं। उनके मुख और नेत्रोंमें दीनता छा रही थी और उन सबकी अवस्था सोलह वर्षके लगभग थी ॥ १०½ ॥

काचिच्चिन्तयती तत्र किं नु मां भक्षयिष्यति ॥ ११ ॥
काचिद् दध्यौ सुदुःखार्ता अपि मां मारयेदयम् ।

कोई सोचती थी, क्या यह राक्षस मुझे खा जायगा? कोई अत्यन्त दुःखसे आर्त हो इस चिन्तामें पड़ी थी कि क्या यह निशाचर मुझे मार डालेगा? ॥ ११½ ॥

इति मातॄः पितॄन् स्मृत्वा भर्तॄन् भ्रातॄंस्तथैव च ॥ १२ ॥
दुःखशोकसमाविष्टा विलेपुः सहिताः स्त्रियः ।

वे स्त्रियाँ माता, पिता, भाई तथा पतिकी याद करके दुःखशोकमें डूब जातीं और एक साथ करुणाजनक विलाप करने लगती थीं ॥ १२½ ॥

कथं नु खलु मे पुत्रो भविष्यति मया विना ॥ १३ ॥
कथं माता कथं भ्राता निमग्नाः शोकसागरे ।

'हाय! मेरे बिना मेरा नन्हा-सा बेटा कैसे रहेगा। मेरी माँकी क्या दशा होगी और मेरे भाई कितने चिन्तित होंगे' ऐसा कहकर वे शोकके सागरमें डूब जाती थीं ॥ १३½ ॥

हा कथं नु करिष्यामि भर्तुस्तस्मादहं विना ॥ १४ ॥
मृत्यो प्रसादयामि त्वां नय मां दुःखभागिनीम् ।
किं नु तद् दुष्कृतं कर्म पुरा देहान्तरे कृतम् ॥ १५ ॥
एवं स्म दुःखिताः सर्वाः पतिताः शोकसागरे ।
न खल्विदानीं पश्यामो दुःखस्यास्यान्तमात्मनः ॥ १६ ॥

'हाय! अपने उन पतिदेवसे बिछुड़कर मैं क्या करूँगी? (कैसे रहूँगी)। हे मृत्युदेव! मेरी प्रार्थना है कि तुम प्रसन्न हो जाओ और मुझ दुखियाको इस लोकसे उठा ले चलो। हाय! पूर्व-जन्ममें दूसरे शरीरद्वारा हमने कौन-सा ऐसा पाप किया था, जिससे हम सब-की-सब दुःखसे पीड़ित हो शोकके समुद्रमें गिर पड़ी हैं। निश्चय ही इस समय हमें अपने इस दुःखका अन्त होता नहीं दिखायी देता ॥ १४—१६ ॥

अहो धिङ्मानुषं लोकं नास्ति खल्वधमः परः ।
यद् दुर्बला बलवता भर्तारो रावणेन नः ॥ १७ ॥
सूर्येणोदयता काले नक्षत्राणीव नाशिताः ।

'अहो! इस मनुष्यलोकको धिक्कार है! इससे बढ़कर अधम दूसरा कोई लोक नहीं होगा; क्योंकि यहाँ इस बलवान् रावणने हमारे दुर्बल पतियोंको उसी तरह नष्ट कर दिया, जैसे सूर्यदेव उदय लेनेके साथ ही नक्षत्रोंको अदृश्य कर देते हैं ॥ १७½ ॥

अहो सुबलवद् रक्षो वधोपायेषु रज्यते ॥ १८ ॥
अहो दुर्वृत्तमास्थाय नात्मानं वै जुगुप्सते ।

'अहो! यह अत्यन्त बलवान् राक्षस वधके उपायोंमें ही आसक्त रहता है। अहो! यह पापी दुराचारके पथपर चलकर भी अपने-आपको धिक्कारता नहीं है ॥ १८½ ॥

सर्वथा सदृशस्तावद् विक्रमोऽस्य दुरात्मनः ॥ १९ ॥
इदं त्वसदृशं कर्म परदाराभिमर्शनम् ।

'इस दुरात्माका पराक्रम इसकी तपस्याके सर्वथा अनुरूप है, परंतु यह परायी स्त्रियोंके साथ जो बलात्कार कर रहा है, यह दुष्कर्म इसके योग्य कदापि नहीं है ॥ १९½ ॥

यस्मादेष परक्यासु रमते राक्षसाधमः ॥ २० ॥
तस्माद् वै स्त्रीकृतेनैव वधं प्राप्स्यति दुर्मतिः ।

'यह नीच निशाचर परायी स्त्रियोंके साथ रमण करता है, इसलिये स्त्रीके कारण ही इस दुर्बुद्धि राक्षसका वध होगा' ॥ २० ॥

सतीभिर्वरनारीभिरेवं वाक्येऽभ्युदीरिते ॥ २१ ॥
नेदुर्दुन्दुभयः खस्थाः पुष्पवृष्टिः पपात च ।

उन श्रेष्ठ सती-साध्वी नारियोंने जब ऐसी बातें कह दीं, उस समय आकाशमें देवताओंकी दुन्दुभियाँ बज उठीं और वहाँ फूलोंकी वर्षा होने लगी ॥ २१½ ॥

शप्तः स्त्रीभिः स तु समं हतौजा इव निष्प्रभः ॥ २२ ॥
पतिव्रताभिः साध्वीभिर्बभूव विमना इव ।

पतिव्रता साध्वी स्त्रियोंके इस तरह शाप देनेपर रावणकी शक्ति घट गयी, वह निस्तेज-सा हो गया और उसके मनमें उद्वेग-सा होने लगा ॥ २२½ ॥

एवं विलपितं तासां शृण्वन् राक्षसपुङ्गवः ॥ २३ ॥
प्रविवेश पुरीं लङ्कां पूज्यमानो निशाचरैः ।

इस प्रकार उनका विलाप सुनते हुए राक्षसराज रावणने निशाचरोंद्वारा सत्कृत हो लङ्कापुरीमें प्रवेश किया ॥ २३½ ॥

एतस्मिन्नन्तरे घोरा राक्षसी कामरूपिणी ॥ २४ ॥
सहसा पतिता भूमौ भगिनी रावणस्य सा ।

इसी समय इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली भयंकर राक्षसी शूर्पणखा, जो रावणकी बहिन थी, सहसा सामने आकर पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ २४½ ॥

तां स्वसारं समुत्थाप्य रावणः परिसान्त्वयन् ॥ २५ ॥
अब्रवीत् किमिदं भद्रे वक्तुकामासि मां द्रुतम्।

रावणने अपनी उस बहिनको उठाकर सान्त्वना दी और पूछा—'भद्रे! तुम अभी मुझसे शीघ्रतापूर्वक कौन-सी बात कहना चाहती थी?' ॥२५½॥

सा बाष्पपरिरुद्धाक्षी रक्ताक्षी वाक्यमब्रवीत् ॥ २६ ॥
कृतास्मि विधवा राजंस्त्वया बलवता बलात्।

शूर्पणखाके नेत्रोंमें आँसू भरे थे, उसकी आँखें रोते-रोते लाल हो गयी थीं। वह बोली—'राजन्! तुम बलवान् हो, इसीलिये न तुमने मुझे बलपूर्वक विधवा बना दिया है? ॥२६½॥

एते राजंस्त्वया वीर्याद् दैत्या विनिहता रणे ॥ २७ ॥
कालकेया इति ख्याताः सहस्राणि चतुर्दश।

'राक्षसराज! तुमने रणभूमिमें अपने बल-पराक्रमसे चौदह हजार कालकेय नामक दैत्योंका वध कर दिया है ॥२७½॥

प्राणेभ्योऽपि गरीयान् मे तत्र भर्ता महाबलः ॥ २८ ॥
सोऽपि त्वया हतस्तात रिपुणा भ्रातृगन्धिना।

'तात! उन्हींमें मेरे लिये प्राणोंसे भी बढ़कर आदरणीय मेरे महाबली पति भी थे। तुमने उन्हें भी मार डाला। तुम नाममात्रके भाई हो। वास्तवमें मेरे शत्रु निकले! ॥२८½॥

त्वयास्मि निहता राजन् स्वयमेव हि बन्धुना ॥ २९ ॥
राजन् वैधव्यशब्दं च भोक्ष्यामि त्वत्कृतं ह्यहम्।

'राजन्! सगे भाई होकर भी तुमने स्वयं ही अपने हाथों मेरा (मेरे पतिदेवका) वध कर डाला। अब तुम्हारे कारण मैं 'वैधव्य' शब्दका उपभोग करूँगी—विधवा कहलाऊँगी ॥२९½॥

ननु नाम त्वया रक्ष्यो जामाता समरेष्वपि ॥ ३० ॥
स त्वया निहतो युद्धे स्वयमेव न लज्जसे।

'भैया! तुम मेरे पिताके तुल्य हो। मेरे पति तुम्हारे दामाद थे, क्या तुम्हें युद्धमें अपने दामाद या बहनोईकी भी रक्षा नहीं करनी चाहिये थी? तुमने स्वयं ही युद्धमें अपने दामादका वध किया है; क्या अब भी तुम्हें लज्जा नहीं आती?' ॥३०½॥

एवमुक्तो दशग्रीवो भगिन्या क्रोशमानया ॥ ३१ ॥
अब्रवीत् सान्त्वयित्वा तां सामपूर्वमिदं वचः।

रोती और कोसती हुई बहिनके ऐसा कहनेपर दशग्रीवने उसे सान्त्वना देकर समझाते हुए मधुर वाणीमें कहा— ॥३१½॥

अलं वत्से रुदित्वा ते न भेतव्यं च सर्वशः ॥ ३२ ॥
दानमानप्रसादैस्त्वां तोषयिष्यामि यत्नतः।

'बेटी! अब रोना व्यर्थ है, तुम्हें किसी तरह भयभीत नहीं होना चाहिये। मैं दान, मान और अनुग्रहद्वारा यत्नपूर्वक तुम्हें संतुष्ट करूँगा ॥३२½॥

युद्धप्रमत्तो व्याक्षिप्तो जयाकाङ्क्षी क्षिपञ्शरान् ॥ ३३ ॥
नाहमज्ञासिषं युध्यन् स्वान् परान् वापि संयुगे।
जामातरं न जाने स्म प्रहरन् युद्धदुर्मदः ॥ ३४ ॥

'मैं युद्धमें उन्मत्त हो गया था, मेरा चित्त ठिकाने नहीं था, मुझे केवल विजय पानेकी धुन थी, इसलिये लगातार बाण चलाता रहा। समराङ्गणमें जूझते समय मुझे अपने-परायेका ज्ञान नहीं रह जाता था। मैं रणोन्मत्त होकर प्रहार कर रहा था, इसलिये 'दामाद' को पहचान न सका ॥ ३३-३४ ॥

तेनासौ निहतः संख्ये मया भर्ता तव स्वसः।
अस्मिन् काले तु तत् प्राप्तं तत् करिष्यामि ते हितम् ॥ ३५ ॥

'बहिन! यही कारण है जिससे युद्धमें तुम्हारे पति मेरे हाथसे मारे गये। अब इस समय जो कर्तव्य प्राप्त है, उसके अनुसार मैं सदा तुम्हारे हितका ही साधन करूँगा ॥ ३५ ॥

भ्रातुरैश्वर्ययुक्तस्य खरस्य वस पार्श्वतः।
चतुर्दशानां भ्राता ते सहस्राणां भविष्यति ॥ ३६ ॥
प्रभुः प्रयाणे दाने च राक्षसानां महाबलः।

'तुम ऐश्वर्यशाली भाई खरके पास चलकर रहो। तुम्हारा भाई महाबली खर चौदह हजार राक्षसोंका अधिपति होगा। वह उन सबको जहाँ चाहेगा, भेजेगा और उन सबको अन्न, पान एवं वस्त्र देनेमें समर्थ होगा ॥३६½॥

तत्र मातृष्वसेयस्ते भ्रातायं वै खरः प्रभुः ॥ ३७ ॥
भविष्यति तवादेशं सदा कुर्वन् निशाचरः।

'यह तुम्हारा मौसेरा भाई निशाचर खर सब कुछ करनेमें समर्थ है और आदेशका सदा पालन करता रहेगा ॥३७½॥

शीघ्रं गच्छत्वयं वीरो दण्डकान् परिरक्षितुम् ॥ ३८ ॥
दूषणोऽस्य बलाध्यक्षो भविष्यति महाबलः।

'यह वीर (मेरी आज्ञासे) शीघ्र ही दण्डकारण्यकी रक्षामें जानेवाला है; महाबली दूषण इसका सेनापति होगा ॥३८½॥

तत्र ते वचनं शूरः करिष्यति सदा खरः ॥ ३९ ॥
रक्षसां कामरूपाणां प्रभुरेष भविष्यति।

'वहाँ शूरवीर खर सदा तुम्हारी आज्ञाका पालन करेगा और इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले राक्षसोंका स्वामी होगा' ॥३९½॥

एवमुक्त्वा दशग्रीवः सैन्यमस्यादिदेश ह ॥ ४० ॥
चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां वीर्यशालिनाम्।
स तैः परिवृतः सर्वै राक्षसैर्घोरदर्शनैः ॥ ४१ ॥

आगच्छत खरः शीघ्रं दण्डकानकुतोभयः।
स तत्र कारयामास राज्यं निहतकण्टकम्।
सा च शूर्पणखा तत्र न्यवसद् दण्डके वने॥ ४२॥

ऐसा कहकर दशग्रीवने चौदह हजार पराक्रमशाली राक्षसोंकी सेनाको खरके साथ जानेकी आज्ञा दी। उन भयङ्कर राक्षसोंसे घिरा हुआ खर शीघ्र ही दण्डकारण्यमें आया और निर्भय होकर वहाँका अकण्टक राज्य भोगने लगा। उसके साथ शूर्पणखा भी वहाँ दण्डकवनमें रहने लगी॥ ४०—४२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे चतुर्विंशः सर्गः॥ २४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें चौबीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २४॥

—★—

पञ्चविंशः सर्गः

यज्ञोंद्वारा मेघनादकी सफलता, विभीषणका रावणको पर-स्त्री-हरणके दोष बताना, कुम्भीनसीको आश्वासन दे मधुको साथ ले रावणका देवलोकपर आक्रमण करना

स तु दत्त्वा दशग्रीवो बलं घोरं खरस्य तत्।
भगिनीं स समाश्वास्य हृष्टः स्वस्थतरोऽभवत्॥ १॥

खरको राक्षसोंकी भयङ्कर सेना देकर और बहिनको धीरज बँधाकर रावण बहुत ही प्रसन्न और स्वस्थचित्त हो गया॥ १॥

ततो निकुम्भिला नाम लङ्कोपवनमुत्तमम्।
तद् राक्षसेन्द्रो बलवान् प्रविवेश सहानुगः॥ २॥

तदनन्तर बलवान् राक्षसराज रावण लङ्काके निकुम्भिला नामक उत्तम उपवनमें गया। उसके साथ बहुत-से सेवक भी थे॥ २॥

ततो यूपशताकीर्णं सौम्यचैत्योपशोभितम्।
ददर्श विष्ठितं यज्ञं श्रिया सम्प्रज्वलन्निव॥ ३॥

रावण अपनी शोभा एवं तेजसे अग्निके समान प्रज्वलित हो रहा था। उसने निकुम्भिलामें पहुँचकर देखा, एक यज्ञ हो रहा है, जो सैकड़ों यूपोंसे व्याप्त और सुन्दर देवालयोंसे सुशोभित है॥ ३॥

ततः कृष्णाजिनधरं कमण्डलुशिखाध्वजम्।
ददर्श स्वसुतं तत्र मेघनादं भयावहम्॥ ४॥

फिर वहाँ उसने अपने पुत्र मेघनादको देखा, जो काला मृगचर्म पहने हुए तथा कमण्डलु, शिखा और ध्वज धारण किये बड़ा भयङ्कर जान पड़ता था॥ ४॥

तं समासाद्य लङ्केशः परिष्वज्याथ बाहुभिः।
अब्रवीत् किमिदं वत्स वर्तसे ब्रूहि तत्त्वतः॥ ५॥

उसके पास पहुँचकर लङ्केश्वरने अपनी भुजाओंद्वारा उसका आलिङ्गन किया और पूछा—'बेटा! यह क्या कर रहे हो? ठीक-ठीक बताओ'॥ ५॥

उशना त्वब्रवीत् तत्र यज्ञसम्पत्समृद्धये।
रावणं राक्षसश्रेष्ठं द्विजश्रेष्ठो महातपाः॥ ६॥

(मेघनाद यज्ञके नियमानुसार मौन रहा) उस समय पुरोहित महातपस्वी द्विजश्रेष्ठ शुक्राचार्यने, जो यज्ञ-सम्पत्तिकी समृद्धिके लिये वहाँ आये थे, राक्षसशिरोमणि रावणसे कहा—॥ ६॥

अहमाख्यामि ते राजञ्श्रूयतां सर्वमेव तत्।
यज्ञास्ते सप्त पुत्रेण प्राप्तास्ते बहुविस्तराः॥ ७॥

'राजन्! मैं सब बातें बता रहा हूँ, ध्यान देकर सुनिये—आपके पुत्रने बड़े विस्तारके साथ सात यज्ञोंका अनुष्ठान किया है॥ ७॥

अग्निष्टोमोऽश्वमेधश्च यज्ञो बहुसुवर्णकः।
राजसूयस्तथा यज्ञो गोमेधो वैष्णवस्तथा॥ ८॥
माहेश्वरे प्रवृत्ते तु यज्ञे पुम्भिः सुदुर्लभे।
वरांस्ते लब्धवान् पुत्रः साक्षात् पशुपतेरिह॥ ९॥

'अग्निष्टोम, अश्वमेध, बहुसुवर्णक, राजसूय, गोमेध तथा वैष्णव—ये छः यज्ञ पूर्ण करके जब इसने सातवाँ माहेश्वर यज्ञ, जिसका अनुष्ठान दूसरोंके लिये अत्यन्त दुर्लभ है, आरम्भ किया, तब आपके इस पुत्रको साक्षात् भगवान् पशुपतिसे बहुत-से वर प्राप्त हुए॥ ८-९॥

कामगं स्यन्दनं दिव्यमन्तरिक्षचरं ध्रुवम्।
मायां च तामसीं नाम यया सम्पद्यते तमः॥ १०॥

'साथ ही इच्छानुसार चलनेवाला एक दिव्य आकाशचारी रथ भी प्राप्त हुआ है, इसके सिवा तामसी नामकी माया उत्पन्न हुई है, जिससे अन्धकार उत्पन्न किया जाता है॥ १०॥

एतया किल संग्रामे मायया राक्षसेश्वर।
प्रयुक्तया गतिः शक्या नहि ज्ञातुं सुरासुरैः॥ ११॥

'राक्षसेश्वर! संग्राममें इस मायाका प्रयोग करनेपर देवता और असुरोंको भी प्रयोग करनेवाले पुरुषकी गतिविधिका पता नहीं लग सकता॥ ११॥

अक्षयाविषुधी बाणैश्चापं चापि सुदुर्जयम्।
अस्त्रं च बलवद् राजञ्छत्रुविध्वंसनं रणे॥ १२॥

'राजन्! बाणोंसे भरे हुए दो अक्षय तरकस, अटूट धनुष तथा रणभूमिमें शत्रुका विध्वंस करनेवाला प्रबल अस्त्र—इन सबकी प्राप्ति हुई है॥ १२॥

एतान् सर्वान् वराँल्लब्ध्वा पुत्रस्तेऽयं दशानन।
अद्य यज्ञसमाप्तौ च त्वां दिदृक्षन् स्थितो ह्यहम्॥ १३॥

'दशानन! तुम्हारा यह पुत्र इन सभी मनोवाञ्छित वरोंको पाकर आज यज्ञकी समाप्तिके दिन तुम्हारे दर्शनकी इच्छासे यहाँ खड़ा है'॥ १३॥

ततोऽब्रवीद् दशग्रीवो न शोभनमिदं कृतम्।
पूजिताः शत्रवो यस्माद् द्रव्यैरिन्द्रपुरोगमाः॥ १४॥

यह सुनकर दशग्रीवने कहा—'बेटा! तुमने यह अच्छा नहीं किया है; क्योंकि इस यज्ञसम्बन्धी द्रव्योंद्वारा मेरे शत्रुभूत इन्द्र आदि देवताओंका पूजन हुआ है॥ १४॥

एहीदानीं कृतं यद्धि सुकृतं तन्न संशयः।
आगच्छ सौम्य गच्छामः स्वमेव भवनं प्रति॥ १५॥

'अस्तु, जो कर दिया, सो अच्छा ही किया; इसमें संशय नहीं है। सौम्य! अब आओ, चलो। हमलोग अपने घरको चलें'॥ १५॥

ततो गत्वा दशग्रीवः सपुत्रः सविभीषणः।
स्त्रियोऽवतारयामास सर्वास्ता बाष्पगद्गदाः॥ १६॥

तदनन्तर दशग्रीवने अपने पुत्र और विभीषणके साथ जाकर पुष्पक विमानसे उन सब स्त्रियोंको उतारा, जिन्हें हरकर ले आया था। वे अब भी आँसू बहाती हुई गद्गदकण्ठसे विलाप कर रही थीं॥ १६॥

लक्षिण्यो रत्नभूताश्च देवदानवरक्षसाम्।
तस्य तासु मतिं ज्ञात्वा धर्मात्मा वाक्यमब्रवीत्॥ १७॥

वे उत्तम लक्षणोंसे सुशोभित होती थीं और देवताओं, दानवों तथा राक्षसोंके घरकी रत्न थीं। उनमें रावणकी आसक्ति जानकर धर्मात्मा विभीषणने कहा—॥ १७॥

ईदृशैस्त्वं समाचारैर्यशोऽर्थकुलनाशनैः।
धर्षणं प्राणिनां ज्ञात्वा स्वमतेन विचेष्टसे॥ १८॥

'राजन्! ये आचरण यश, धन और कुलका नाश करनेवाले हैं। इनके द्वारा जो प्राणियोंको पीड़ा दी जाती है, उससे बड़ा पाप होता है। इस बातको जानते हुए भी आप सदाचारका उल्लङ्घन करके स्वेच्छाचारमें प्रवृत्त हो रहे हैं॥ १८॥

ज्ञातींस्तान् धर्षयित्वेमास्त्वयाऽऽनीता वराङ्गनाः।
त्वामतिक्रम्य मधुना राजन् कुम्भीनसी हृता॥ १९॥

'महाराज! इन बेचारी अबलाओंके बन्धु-बान्धवोंको मारकर आप इन्हें हर लाये हैं और इधर आपका उल्लङ्घन करके—आपके सिरपर लात रखकर मधुने मौसेरी बहिन कुम्भीनसीका अपहरण कर लिया'॥ १९॥

रावणस्त्वब्रवीद् वाक्यं नावगच्छामि किं त्विदम्।
कोऽयं यस्तु त्वयाऽऽख्यातो मधुरित्येव नामतः॥ २०॥

रावण बोला—'मैं नहीं समझता कि तुम क्या कह रहे हो। जिसका नाम तुमने मधु बताया है, वह कौन है?'॥ २०॥

विभीषणस्तु संक्रुद्धो भ्रातरं वाक्यमब्रवीत्।
श्रूयतामस्य पापस्य कर्मणः फलमागतम्॥ २१॥

तब विभीषणने अत्यन्त कुपित होकर भाई रावणसे कहा—'सुनिये, आपके इस पापकर्मका फल हमें बहिनके अपहरणके रूपमें प्राप्त हुआ है॥ २१॥

मातामहस्य योऽस्माकं ज्येष्ठो भ्राता सुमालिनः।
माल्यवानिति विख्यातो वृद्धः प्राज्ञो निशाचरः॥ २२॥
पिता ज्येष्ठो जनन्या नो ह्यस्माकं त्वार्यकोऽभवत्।
तस्य कुम्भीनसी नाम दुहितुर्दुहिताभवत्॥ २३॥
मातृष्वसुरथास्माकं सा च कन्यानलोद्भवा।
भवत्यस्माकमेवैषा भ्रातॄणां धर्मतः स्वसा॥ २४॥

'हमारे नाना सुमालीके जो बड़े भाई माल्यवान् नामसे विख्यात, बुद्धिमान् और बड़े-बूढ़े निशाचर हैं, वे हमारी माता कैकसीके ताऊ हैं। इसी नाते वे हमलोगोंके भी बड़े नाना हैं। उनकी पुत्री अनला हमारी मौसी है। उन्हींकी पुत्री कुम्भीनसी है। हमारी मौसी अनलाकी बेटी होनेसे ही यह कुम्भीनसी हम सब भाइयोंकी धर्मतः बहिन होती है॥ २२—२४॥

सा हृता मधुना राजन् राक्षसेन बलीयसा।
यज्ञप्रवृत्ते पुत्रे तु मयि चान्तर्जलोषिते॥ २५॥
कुम्भकर्णो महाराज निद्रामनुभवत्यथ।
निहत्य राक्षसश्रेष्ठानमात्यानिह सम्मतान्॥ २६॥

'राजन्! आपका पुत्र मेघनाद जब यज्ञमें तत्पर हो गया, मैं तपस्याके लिये पानीके भीतर रहने लगा और महाराज! भैया कुम्भकर्ण भी जब नींदका आनन्द लेने लगे, उस समय महाबली राक्षस मधुने यहाँ आकर हमारे आदरणीय मन्त्रियोंको, जो राक्षसोंमें श्रेष्ठ थे, मार डाला और कुम्भीनसीका अपहरण कर लिया॥ २५-२६॥

धर्षयित्वा हृता सा तु गुप्ताप्यन्तःपुरे तव।
श्रुत्वापि तन्महाराज क्षान्तमेव हतो न सः॥ २७॥
यस्मादवश्यं दातव्या कन्या भर्त्रे हि भ्रातृभिः।

'महाराज! यद्यपि कुम्भीनसी अन्तःपुरमें भलीभाँति सुरक्षित थी तो भी उसने आक्रमण करके बलपूर्वक उसका अपहरण किया। पीछे इस घटनाको सुनकर भी हमलोगोंने क्षमा ही की। मधुका वध नहीं किया; क्योंकि जब कन्या विवाहके योग्य हो जाय तो उसे किसी योग्य पतिके हाथमें सौंप देना ही उचित है। हम भाइयोंको अवश्य यह कार्य पहले कर देना चाहिये था॥ २७½॥

तदेतत् कर्मणो ह्यस्य फलं पापस्य दुर्मतेः॥ २८॥
अस्मिन्नेवाभिसम्प्राप्तं लोके विदितमस्तु ते।

'हमारे यहाँसे जो बलपूर्वक कन्याका अपहरण हुआ

है, यह आपकी इस दूषित बुद्धि एवं पापकर्मका फल है, जो आपको इसी लोकमें प्राप्त हो गया। यह बात आपको भलीभाँति विदित हो जानी चाहिये' ॥२८½॥

विभीषणवचः श्रुत्वा राक्षसेन्द्रः स रावणः ॥ २९ ॥
दौरात्म्येनात्मनोद्धूतस्तप्ताम्भा इव सागरः ।
ततोऽब्रवीद् दशग्रीवः क्रुद्धः संरक्तलोचनः ॥ ३० ॥

विभीषणकी यह बात सुनकर राक्षसराज रावण अपनी की हुई दुष्टतासे पीड़ित हो तपे हुए जलवाले समुद्रके समान संतप्त हो उठा। वह रोषसे जलने लगा और उसके नेत्र लाल हो गये। वह बोला— ॥ २९-३० ॥

कल्प्यतां मे रथः शीघ्रं शूराः सज्जीभवन्तु नः ।
भ्राता मे कुम्भकर्णश्च ये च मुख्या निशाचराः ॥ ३१ ॥
वाहनान्यधिरोहन्तु नानाप्रहरणायुधाः ।
अद्य तं समरे हत्वा मधुं रावणनिर्भयम् ॥ ३२ ॥
सुरलोकं गमिष्यामि युद्धाकाङ्क्षी सुहृद्वृतः ।

'मेरा रथ शीघ्र ही जोतकर आवश्यक सामग्रीसे सुसज्जित कर दिया जाय। मेरे शूरवीर सैनिक रणयात्राके लिये तैयार हो जायँ। भाई कुम्भकर्ण तथा अन्य मुख्य-मुख्य निशाचर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित हो सवारियोंपर बैठें। आज रावणका भय न माननेवाले मधुका समराङ्गणमें वध करके मित्रोंको साथ लिये युद्धकी इच्छासे देवलोककी यात्रा करूँगा' ॥३१-३२½॥

अक्षौहिणीसहस्राणि चत्वार्यग्र्याणि रक्षसाम् ॥ ३३ ॥
नानाप्रहरणान्याशु निर्ययुर्युद्धकाङ्क्षिणाम् ।

रावणकी आज्ञासे युद्धमें उत्साह रखनेवाले श्रेष्ठ राक्षसोंकी चार हजार अक्षौहिणी सेना नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लिये शीघ्र लङ्कासे बाहर निकली ॥३३½॥

इन्द्रजित् त्वग्रतः सैन्यात् सैनिकान् परिगृह्य च ॥ ३४ ॥
जगाम रावणो मध्ये कुम्भकर्णश्च पृष्ठतः ।

मेघनाद समस्त सैनिकोंको साथ लेकर सेनाके आगे-आगे चला। रावण बीचमें था और कुम्भकर्ण पीछे-पीछे चलने लगा ॥३४½॥

विभीषणश्च धर्मात्मा लङ्कायां धर्ममाचरन् ॥ ३५ ॥
शेषाः सर्वे महाभागा ययुर्मधुपुरं प्रति ।

विभीषण धर्मात्मा थे। इसलिये वे लङ्कामें ही रहकर धर्मका आचरण करने लगे। शेष सभी महाभाग निशाचर मधुपुरकी ओर चल दिये ॥३५½॥

खरैरुष्ट्रैर्हयैर्दीप्तैः शिशुमारैर्महोरगैः ॥ ३६ ॥
राक्षसाः प्रययुः सर्वे कृत्वाऽऽकाशं निरन्तरम् ।

गदहे, ऊँट, घोड़े, शिशुमार (सूँस) और बड़े-बड़े नाग आदि दीप्तिमान् वाहनोंपर आरूढ़ हो सब राक्षस आकाशको अवकाशरहित करते हुए चले ॥३६½॥

दैत्याश्च शतशस्तत्र कृतवैराश्च दैवतैः ॥ ३७ ॥
रावणं प्रेक्ष्य गच्छन्तमन्वगच्छन् हि पृष्ठतः ।

रावणको देवलोकपर आक्रमण करते देख सैकड़ों दैत्य भी उसके पीछे-पीछे चले, जिनका देवताओंके साथ वैर बँध गया था ॥३७½॥

स तु गत्वा मधुपुरं प्रविश्य च दशाननः ॥ ३८ ॥
न ददर्श मधुं तत्र भगिनीं तत्र दृष्टवान् ।

मधुपुरमें पहुँचकर दशमुख रावणने वहाँ कुम्भीनसीको तो देखा, किंतु मधुका दर्शन उसे नहीं हुआ ॥३८½॥

सा च प्रह्वाञ्जलिर्भूत्वा शिरसा चरणौ गता ॥ ३९ ॥
तस्य राक्षसराजस्य त्रस्ता कुम्भीनसी तदा ।

उस समय कुम्भीनसीने भयभीत हो हाथ जोड़कर राक्षसराजके चरणोंपर मस्तक रख दिया ॥३९½॥

तां समुत्थापयामास न भेतव्यमिति ब्रुवन् ॥ ४० ॥
रावणो राक्षसश्रेष्ठः किं चापि करवाणि ते ।

तब राक्षसप्रवर रावणने कहा—'डरो मत'; फिर उसने कुम्भीनसीको उठाया और कहा—'मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ?' ॥४०½॥

साब्रवीद् यदि मे राजन् प्रसन्नस्त्वं महाभुज ॥ ४१ ॥
भर्तारं न ममेहाद्य हन्तुमर्हसि मानद ।
नहीदृशं भयं किंचित् कुलस्त्रीणामिहोच्यते ॥ ४२ ॥
भयानामपि सर्वेषां वैधव्यं व्यसनं महत् ।

वह बोली—'दूसरोंको मान देनेवाले राक्षसराज! महाबाहो! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो आज यहाँ मेरे पतिका वध न कीजिये; क्योंकि कुलवधुओंके लिये वैधव्यके समान दूसरा कोई भय नहीं बताया जाता है। वैधव्य ही नारीके लिये सबसे बड़ा भय और सबसे महान् संकट है ॥४१-४२½॥

सत्यवाग् भव राजेन्द्र मामवेक्षस्व याचतीम् ॥ ४३ ॥
त्वयाप्युक्तं महाराज न भेतव्यमिति स्वयम् ।

'राजेन्द्र! आप सत्यवादी हों—अपनी बात सच्ची करें। मैं आपसे पतिके जीवनकी भीख माँगती हूँ, आप मुझ दुःखिया बहिनकी ओर देखिये, मुझपर कृपा कीजिये। महाराज! आपने स्वयं भी मुझे आश्वासन देते हुए कहा था कि 'डरो मत।' अतः अपनी उसी बातकी लाज रखिये' ॥४३½॥

रावणस्त्वब्रवीद्धृष्टः स्वसारं तत्र संस्थिताम् ॥ ४४ ॥
क्व चासौ तव भर्ता वै मम शीघ्रं निवेद्यताम् ।
सह तेन गमिष्यामि सुरलोकं जयाय हि ॥ ४५ ॥

यह सुनकर रावण प्रसन्न हो गया। वह वहाँ खड़ी हुई अपनी बहिनसे बोला—'तुम्हारे पति कहाँ हैं? उन्हें शीघ्र मुझे सौंप दो। मैं उन्हें साथ लेकर देवलोकपर विजयके लिये जाऊँगा' ॥ ४४-४५ ॥

तव कारुण्यसौहार्दान्निवृत्तोऽस्मि मधोर्वधात् ।
इत्युक्ता सा समुत्थाप्य प्रसुप्तं तं निशाचरम् ॥ ४६ ॥
अब्रवीत् सम्प्रहृष्टेव राक्षसी सा पतिं वचः ।

'तुम्हारे प्रति करुणा और सौहार्दके कारण मैंने मधुके वधका विचार छोड़ दिया है।' रावणके ऐसा कहनेपर राक्षसकन्या कुम्भीनसी अत्यन्त प्रसन्न-सी होकर अपने सोये हुए पतिके पास गयी और उस निशाचरको उठाकर बोली— ॥ ४६½ ॥

एष प्राप्तो दशग्रीवो मम भ्राता महाबलः ॥ ४७ ॥
सुरलोकजयाकाङ्क्षी साहाय्ये त्वां वृणोति च ।
तदस्य त्वं सहायार्थं सबन्धुर्गच्छ राक्षस ॥ ४८ ॥

'राक्षसप्रवर! ये मेरे भाई महाबली दशग्रीव पधारे हैं और देवलोकपर विजय पानेकी इच्छा लेकर वहाँ जा रहे हैं। इस कार्यके लिये ये आपको भी सहायक बनाना चाहते हैं; अतः आप अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ इनकी सहायताके लिये जाइये ॥ ४७-४८ ॥

स्निग्धस्य भजमानस्य युक्तमर्थाय कल्पितुम् ।
तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा तथेत्याह मधुर्वचः ॥ ४९ ॥

'मेरे नाते आपपर इनका स्नेह है, आपको जमाता मानकर ये आपके प्रति अनुराग रखते हैं; अतः आपको इनके कार्यकी सिद्धिके लिये अवश्य सहायता करनी चाहिये।' पत्नीकी यह बात सुनकर मधुने 'तथास्तु' कहकर सहायता देना स्वीकार कर लिया ॥ ४९ ॥

ददर्श राक्षसश्रेष्ठं यथान्यायमुपेत्य सः ।
पूजयामास धर्मेण रावणं राक्षसाधिपम् ॥ ५० ॥

फिर वह न्यायोचित रीतिसे निकट जाकर निशाचरशिरोमणि राक्षसराज रावणसे मिला। मिलकर उसने धर्मके अनुसार उसका स्वागत-सत्कार किया ॥ ५० ॥

प्राप्य पूजां दशग्रीवो मधुवेश्मनि वीर्यवान् ।
तत्र चैकां निशामुष्य गमनायोपचक्रमे ॥ ५१ ॥

मधुके भवनमें यथोचित आदर-सत्कार पाकर पराक्रमी दशग्रीव वहाँ एक रात रहा, फिर सबेरे उठकर वहाँसे जानेको उद्यत हुआ ॥ ५१ ॥

ततः कैलासमासाद्य शैलं वैश्रवणालयम् ।
राक्षसेन्द्रो महेन्द्राभः सेनामुपनिवेशयत् ॥ ५२ ॥

मधुपुरसे यात्रा करके महेन्द्रके तुल्य पराक्रमी राक्षसराज रावण सायंकालतक कुबेरके निवास-स्थान कैलास पर्वतपर जा पहुँचा। वहाँ उसने अपनी सेनाका पड़ाव डालनेका विचार किया ॥ ५२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे पञ्चविंशः सर्गः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें पचीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २५ ॥

—★—

षड्विंशः सर्गः

रावणका रम्भापर बलात्कार करना और नलकूबरका रावणको भयंकर शाप देना

स तु तत्र दशग्रीवः सह सैन्येन वीर्यवान् ।
अस्तं प्राप्ते दिनकरे निवासं समरोचयत् ॥ १ ॥

जब सूर्य अस्ताचलको चले गये, तब पराक्रमी दशग्रीवने अपनी सेनाके साथ कैलासपर ही रातमें ठहर जाना ठीक समझा ॥ १ ॥

उदिते विमले चन्द्रे तुल्यपर्वतवर्चसि ।
प्रसुप्तं सुमहत् सैन्यं नानाप्रहरणायुधम् ॥ २ ॥

(उसने वहीं छावनी डाल दी) फिर, कैलासके ही समान श्वेत कान्तिवाले निर्मल चन्द्रदेवका उदय हुआ और नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित निशाचरोंकी वह विशाल सेना गाढ़ निद्रामें निमग्न हो गयी ॥ २ ॥

रावणस्तु महावीर्यो निषण्णः शैलमूर्धनि ।
स ददर्श गुणांस्तत्र चन्द्रपादपशोभितान् ॥ ३ ॥

परंतु महापराक्रमी रावण उस पर्वतके शिखरपर चुपचाप बैठकर चन्द्रमाकी चाँदनीसे सुशोभित होनेवाले उस पर्वतके विभिन्न स्थानोंकी (जो सम्पूर्ण कामभोगके उपयुक्त थे) नैसर्गिक छटा निहारने लगा ॥ ३ ॥

कर्णिकारवनैर्दीप्तैः कदम्बबकुलैस्तथा ।
पद्मिनीभिश्च फुल्लाभिर्मन्दाकिन्या जलैरपि ॥ ४ ॥
चम्पकाशोकपुंनागमन्दारतरुभिस्तथा ।
चूतपाटललोध्रैश्च प्रियङ्ग्वर्जुनकेतकैः ॥ ५ ॥
तगरैर्नारिकेलैश्च प्रियालपनसैस्तथा ।
एतैरन्यैश्च तरुभिरुद्भासितवनान्तरे ॥ ६ ॥

कहीं कनेरके दीप्तिमान् कानन शोभा पाते थे, कहीं कदम्ब और बकुल (मौलसिरी) वृक्षोंके समूह अपनी रमणीयता बिखेर रहे थे, कहीं मन्दाकिनीके जलसे भरी हुई और प्रफुल्ल कमलोंसे अलंकृत पुष्करिणियाँ शोभा दे रही थीं, कहीं चम्पा, अशोक, पुंनाग (नागकेसर), मन्दार, आम, पाड़र, लोध, प्रियङ्गु, अर्जुन, केतक, तगर, नारियल, प्रियाल और पनस आदि वृक्ष अपने पुष्प आदिकी शोभासे उस पर्वत-शिखरके वन्यप्रान्तको उद्भासित कर रहे थे ॥ ४—६ ॥

किन्नरा मदनेनार्ता रक्ता मधुरकण्ठिनः।
समं सम्प्रजगुर्यत्र मनस्तुष्टिविवर्धनम्॥ ७॥

मधुर कण्ठवाले कामार्त किन्नर अपनी कामिनियोंके साथ वहाँ रागयुक्त गीत गा रहे थे, जो कानोंमें पड़कर मनका आनन्द-वर्धन करते थे॥ ७॥

विद्याधरा मदक्षीबा मदरक्तान्तलोचनाः।
योषिद्भिः सह संक्रान्ताश्चिक्रीडुर्जहृषुश्च वै॥ ८॥

जिनके नेत्र-प्रान्त मदसे कुछ लाल हो गये थे, वे मदमत्त विद्याधर युवतियोंके साथ क्रीडा करते और हर्षमग्न होते थे॥ ८॥

घण्टानामिव संनादः शुश्रुवे मधुरस्वनः।
अप्सरोगणसङ्घानां गायतां धनदालये॥ ९॥

वहाँसे कुबेरके भवनमें गाती हुई अप्सराओंके गीतकी मधुर ध्वनि घण्टानादके समान सुनायी पड़ती थी॥ ९॥

पुष्पवर्षाणि मुञ्चन्तो नगाः पवनताडिताः।
शैलं तं वासयन्तीव मधुमाधवगन्धिनः॥ १०॥

वसन्त-ऋतुके सभी पुष्पोंकी गन्धसे युक्त वृक्ष हवाके थपेड़े खाकर फूलोंकी वर्षा करते हुए उस समूचे पर्वतको सुवासित-सा कर रहे थे॥ १०॥

मधुपुष्परजःपृक्तं गन्धमादाय पुष्कलम्।
प्रववौ वर्धयन् कामं रावणस्य सुखोऽनिलः॥ ११॥

विविध कुसुमोंके मधुर मकरन्द तथा परागसे मिश्रित प्रचुर सुगन्ध लेकर मन्द-मन्द बहती हुई सुखद वायु रावणकी काम-वासनाको बढ़ा रही थी॥ ११॥

गेयात् पुष्पसमृद्ध्या च शैत्याद् वायोर्गिरेर्गुणात्।
प्रवृत्तायां रजन्यां च चन्द्रस्योदयनेन च॥ १२॥
रावणः स महावीर्यः कामस्य वशमागतः।
विनिःश्वस्य विनिःश्वस्य शशिनं समवैक्षत॥ १३॥

सङ्गीतकी मीठी तान, भाँति-भाँतिके पुष्पोंकी समृद्धि, शीतल वायुका स्पर्श, पर्वतके (रमणीयता आदि) आकर्षक गुण, रजनीकी मधुवेला और चन्द्रमाका उदय—उद्दीपनके इन सभी उपकरणोंके कारण वह महापराक्रमी रावण कामके अधीन हो गया और बारम्बार लंबी साँस खींचकर चन्द्रमाकी ओर देखने लगा॥ १२-१३॥

एतस्मिन्नन्तरे तत्र दिव्याभरणभूषिता।
सर्वाप्सरोवरा रम्भा पूर्णचन्द्रनिभानना॥ १४॥

इसी बीचमें समस्त अप्सराओंमें श्रेष्ठ सुन्दरी, पूर्ण-चन्द्रमुखी रम्भा दिव्य वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो उस मार्गसे आ निकली॥ १४॥

दिव्यचन्दनलिप्ताङ्गी मन्दारकृतमूर्धजा।
दिव्योत्सवकृतारम्भा दिव्यपुष्पविभूषिता॥ १५॥

उसके अङ्गोंमें दिव्य चन्दनका अनुलेप लगा था और केशपाशमें पारिजातके पुष्प गुँथे हुए थे। दिव्य पुष्पोंसे अपना शृङ्गार करके वह प्रिय-समागमरूप दिव्य उत्सवके लिये जा रही थी॥ १५॥

चक्षुर्मनोहरं पीनं मेखलादामभूषितम्।
समुद्वहन्ती जघनं रतिप्राभृतमुत्तमम्॥ १६॥

मनोहर नेत्र तथा काञ्चीकी लड़ियोंसे विभूषित पीन जघन-स्थलको वह रतिके उत्तम उपहारके रूपमें धारण किये हुए थी॥ १६॥

कृतैर्विशेषकैरार्द्रैः षडर्तुकुसुमोद्भवैः।
बभावन्यतमेव श्रीः कान्तिश्रीद्युतिकीर्तिभिः॥ १७॥

उसके कपोल आदिपर हरिचन्दनसे चित्र-रचना की गयी थी। वह छहों ऋतुओंमें होनेवाले नूतन पुष्पोंके आर्द्र हारोंसे विभूषित थी और अपनी अलौकिक कान्ति, शोभा, द्युति एवं कीर्तिसे युक्त हो उस समय दूसरी लक्ष्मीके समान जान पड़ती थी॥ १७॥

नीलं सतोयमेघाभं वस्त्रं समवगुण्ठिता।
यस्या वक्त्रं शशिनिभं भ्रुवौ चापनिभे शुभे॥ १८॥

उसका मुख चन्द्रमाके समान मनोहर था और दोनों सुन्दर भौंहें कमान-सी दिखायी देती थीं। वह सजल जलधरके समान नील रंगकी साड़ीसे अपने अङ्गोंको ढके हुए थी॥ १८॥

ऊरू करिकराकारौ करौ पल्लवकोमलौ।
सैन्यमध्येन गच्छन्ती रावणेनोपलक्षिता॥ १९॥

उसकी जाँघोंका चढ़ाव-उतार हाथीकी सूँडके समान था। दोनों हाथ ऐसे कोमल थे, मानो (देहरूपी रसालकी डालके) नये-नये पल्लव हों। वह सेनाके बीचसे होकर जा रही थी, अतः रावणने उसे देख लिया॥ १९॥

तां समुत्थाय गच्छन्तीं कामबाणवशं गतः।
करे गृहीत्वा लज्जन्तीं स्मयमानोऽभ्यभाषत॥ २०॥

देखते ही वह कामदेवके बाणोंका शिकार हो गया और खड़ा होकर उसने अन्यत्र जाती हुई रम्भाका हाथ पकड़ लिया। बेचारी अबला लाजसे गड़ गयी; परंतु वह निशाचर मुसकराता हुआ उससे बोला—॥ २०॥

क्व गच्छसि वरारोहे कां सिद्धिं भजसे स्वयम्।
कस्याभ्युदयकालोऽयं यस्त्वां समुपभोक्ष्यते॥ २१॥

'वरारोहे! कहाँ जा रही हो? किसकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये स्वयं चल पड़ी हो? किसके भाग्योदयका समय आया है, जो तुम्हारा उपभोग करेगा?॥ २१॥

त्वदाननरसस्याद्य पद्मोत्पलसुगन्धिनः।
सुधामृतरसस्येव कोऽद्य तृप्तिं गमिष्यति॥ २२॥

'कमल और उत्पलकी सुगन्ध धारण करनेवाले तुम्हारे इस मनोहर मुखारविन्दका रस अमृतका भी अमृत है। आज इस अमृत-रसका आस्वादन करके कौन तृप्त होगा?॥ २२॥

स्वर्णकुम्भनिभौ पीनौ शुभौ भीरु निरन्तरौ ।
कस्योरःस्थलसंस्पर्शं दास्यतस्ते कुचाविमौ ॥ २३ ॥

'भीरु ! परस्पर सटे हुए तुम्हारे ये सुवर्णमय कलशोंके सदृश सुन्दर पीन उरोज किसके वक्षःस्थलको अपना स्पर्श प्रदान करेंगे ? ॥ २३ ॥

सुवर्णचक्रप्रतिमं स्वर्णदामचितं पृथु ।
अध्यारोक्ष्यति कस्तेऽद्य जघनं स्वर्गरूपिणम् ॥ २४ ॥

'सोनेकी लड़ियोंसे विभूषित तथा सुवर्णमय चक्रके समान विपुल विस्तारसे युक्त तुम्हारे पीन जघनस्थलपर जो मूर्तिमान् स्वर्ग-सा जान पड़ता है, आज कौन आरोहण करेगा ? ॥ २४ ॥

मद्विशिष्टः पुमान् कोऽद्य शक्रो विष्णुरथाश्विनौ ।
मामतीत्य हि यच्च त्वं यासि भीरु न शोभनम् ॥ २५ ॥

'इन्द्र, उपेन्द्र अथवा अश्विनीकुमार ही क्यों न हों, इस समय कौन पुरुष मुझसे बढ़कर है ? भीरु ! तुम मुझे छोड़कर अन्यत्र जा रही हो, यह अच्छा नहीं है ॥ २५ ॥

विश्रम त्वं पृथुश्रोणि शिलातलमिदं शुभम् ।
त्रैलोक्ये यः प्रभुश्चैव मदन्यो नैव विद्यते ॥ २६ ॥

'स्थूल नितम्बवाली सुन्दरी ! यह सुन्दर शिला है, इसपर बैठकर विश्राम करो। इस त्रिभुवनका जो स्वामी है, वह मुझसे भिन्न नहीं है—मैं ही सम्पूर्ण लोकोंका अधिपति हूँ ॥ २६ ॥

तदेवं प्राञ्जलिः प्रह्वो याचते त्वां दशाननः ।
भर्तुर्भर्ता विधाता च त्रैलोक्यस्य भजस्व माम् ॥ २७ ॥

'तीनों लोकोंके स्वामीका भी स्वामी तथा विधाता यह दशमुख रावण आज इस प्रकार विनीतभावसे हाथ जोड़कर तुमसे याचना करता है। सुन्दरी ! मुझे स्वीकार करो' ॥ २७ ॥

एवमुक्ताब्रवीद् रम्भा वेपमाना कृताञ्जलिः ।
प्रसीद नार्हसे वक्तुमीदृशं त्वं हि मे गुरुः ॥ २८ ॥

रावणके ऐसा कहनेपर रम्भा काँप उठी और हाथ जोड़कर बोली—'प्रभो ! प्रसन्न होइये—मुझपर कृपा कीजिये। आपको ऐसी बात मुँहसे नहीं निकालनी चाहिये, क्योंकि आप मेरे गुरुजन हैं—पिताके तुल्य हैं ॥ २८ ॥

अन्येभ्योऽपि त्वया रक्ष्या प्राप्नुयां धर्षणं यदि ।
तद्धर्मतः स्नुषा तेऽहं तत्त्वमेतद् ब्रवीमि ते ॥ २९ ॥

'यदि दूसरे कोई पुरुष मेरा तिरस्कार करनेपर उतारू हों तो उनसे भी आपको मेरी रक्षा करनी चाहिये। मैं धर्मतः आपकी पुत्रवधू हूँ—यह आपसे सच्ची बात बता रही हूँ' ॥ २९ ॥

अथाब्रवीद् दशग्रीवश्चरणाधोमुखीं स्थिताम् ।
रोमहर्षमनुप्राप्तां दृष्टमात्रेण तां तदा ॥ ३० ॥

रम्भा अपने चरणोंकी ओर देखती हुई नीचे मुँह किये खड़ी थी। रावणकी दृष्टि पड़नेमात्रसे भयके कारण उसके रोंगटे खड़े हो गये थे। उस समय उससे रावणने कहा— ॥ ३० ॥

सुतस्य यदि मे भार्या ततस्त्वं हि स्नुषा भवेः ।
बाढमित्येव सा रम्भा प्राह रावणमुत्तरम् ॥ ३१ ॥

'रम्भे ! यदि यह सिद्ध हो जाय कि तुम मेरे बेटेकी बहू हो, तभी मेरी पुत्र-वधू हो सकती हो, अन्यथा नहीं।' तब रम्भाने 'बहुत अच्छा' कहकर रावणको इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ ३१ ॥

धर्मतस्ते सुतस्याहं भार्या राक्षसपुङ्गव ।
पुत्रः प्रियतरः प्राणैर्भ्रातुर्वैश्रवणस्य ते ॥ ३२ ॥

'राक्षसशिरोमणे ! धर्मके अनुसार मैं आपके पुत्रकी ही भार्या हूँ। आपके बड़े भाई कुबेरके पुत्र मुझे प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय हैं ॥ ३२ ॥

विख्यातस्त्रिषु लोकेषु नलकूबर इत्ययम् ।
धर्मतो यो भवेद् विप्रः क्षत्रियो वीर्यतो भवेत् ॥ ३३ ॥

'वे तीनों लोकोंमें 'नलकूबर' नामसे विख्यात हैं तथा धर्मानुष्ठानकी दृष्टिसे ब्राह्मण और पराक्रमकी दृष्टिसे क्षत्रिय हैं ॥ ३३ ॥

क्रोधाद् यश्च भवेदग्निः क्षान्त्या च वसुधासमः ।
तस्यास्मि कृतसंकेता लोकपालसुतस्य वै ॥ ३४ ॥

'वे क्रोधमें अग्नि और क्षमामें पृथ्वीके समान हैं। उन्हीं लोकपालकुमार प्रियतम नलकूबरको आज मैंने मिलनेके लिये संकेत दिया है ॥ ३४ ॥

तमुद्दिश्य तु मे सर्वं विभूषणमिदं कृतम् ।
यथा तस्य हि नान्यस्य भावो मां प्रति तिष्ठति ॥ ३५ ॥

'यह सारा शृङ्गार मैंने उन्हींके लिये धारण किया है; जैसे उनका मेरे प्रति अनुराग है, उसी प्रकार मेरा भी उन्हींके प्रति प्रगाढ़ प्रेम है, दूसरे किसीके प्रति नहीं ॥ ३५ ॥

तेन सत्येन मां राजन् मोक्तुमर्हस्यरिंदम ।
स हि तिष्ठति धर्मात्मा मां प्रतीक्ष्य समुत्सुकः ॥ ३६ ॥

'शत्रुओंका दमन करनेवाले राक्षसराज ! इस सत्यको दृष्टिमें रखकर आप इस समय मुझे छोड़ दीजिये; वे मेरे धर्मात्मा प्रियतम उत्सुक होकर मेरी प्रतीक्षा करते होंगे ॥ ३६ ॥

तत्र विघ्नं तु तस्येह कर्तुं नार्हसि मुञ्च माम् ।
सद्भिराचरितं मार्गं गच्छ राक्षसपुङ्गव ॥ ३७ ॥

'उनकी सेवाके इस कार्यमें आपको यहाँ विघ्न नहीं डालना चाहिये। मुझे छोड़ दीजिये। राक्षसराज ! आप सत्पुरुषोंद्वारा आचरित धर्मके मार्गपर चलिये ॥ ३७ ॥

माननीयो मम त्वं हि पालनीया तथास्मि ते ।
एवमुक्तो दशग्रीवः प्रत्युवाच विनीतवत् ॥ ३८ ॥

'आप मेरे माननीय गुरुजन हैं, अतः आपको मेरी रक्षा

करनी चाहिये।' यह सुनकर दशग्रीवने उसे नम्रतापूर्वक उत्तर दिया— ॥ ३८ ॥

स्नुषास्मि यदवोचस्त्वमेकपत्नीष्वयं क्रमः।
देवलोकस्थितिरियं सुराणां शाश्वती मता ॥ ३९ ॥
पतिरप्सरसां नास्ति न चैकस्त्रीपरिग्रहः।

'रम्भे! तुम अपनेको जो मेरी पुत्रवधू बता रही हो, वह ठीक नहीं जान पड़ता। यह नाता-रिश्ता उन स्त्रियोंके लिये लागू होता है, जो किसी एक पुरुषकी पत्नी हों। तुम्हारे देवलोककी तो स्थिति ही दूसरी है। वहाँ सदासे यही नियम चला आ रहा है कि अप्सराओंका कोई पति नहीं होता। वहाँ कोई एक स्त्रीके साथ विवाह करके नहीं रहता है' ॥ ३९½ ॥

एवमुक्त्वा स तां रक्षो निवेश्य च शिलातले ॥ ४० ॥
कामभोगाभिसंरक्तो मैथुनायोपचक्रमे।

ऐसा कहकर उस राक्षसने रम्भाको बलपूर्वक शिलापर बैठा लिया और कामभोगमें आसक्त हो उसके साथ समागम किया ॥ ४०½ ॥

सा विमुक्ता ततो रम्भा भ्रष्टमाल्यविभूषणा ॥ ४१ ॥
गजेन्द्राक्रीडमथिता नदीवाकुलतां गता।

उसके पुष्पहार टूटकर गिर गये, सारे आभूषण अस्त-व्यस्त हो गये। उपभोगके बाद रावणने रम्भाको छोड़ दिया। उसकी दशा उस नदीके समान हो गयी जिसे किसी गजराजने क्रीडा करके मथ डाला हो; वह अत्यन्त व्याकुल हो उठी ॥ ४१½ ॥

लुलिताकुलकेशान्ता करवेपितपल्लवा ॥ ४२ ॥
पवनेनावधूतेव लता कुसुमशालिनी।

वेणी-बन्ध टूट जानेसे उसके खुले हुए केश हवामें उड़ने लगे—उसका शृङ्गार बिगड़ गया। कर-पल्लव काँपने लगे। वह ऐसी लगती थी—मानो फूलोंसे सुशोभित होनेवाली किसी लताको हवाने झकझोर दिया हो ॥ ४२½ ॥

सा वेपमाना लज्जन्ती भीता करकृताञ्जलिः ॥ ४३ ॥
नलकूबरमासाद्य पादयोर्निपपात ह।

लज्जा और भयसे काँपती हुई वह नलकूबरके पास गयी और हाथ जोड़कर उनके पैरोंपर गिर पड़ी ॥ ४३½ ॥

तदवस्थां च तां दृष्ट्वा महात्मा नलकूबरः ॥ ४४ ॥
अब्रवीत् किमिदं भद्रे पादयोः पतितासि मे।

रम्भाको इस अवस्थामें देखकर महामना नलकूबरने पूछा—'भद्रे! क्या बात है? तुम इस तरह मेरे पैरोंपर क्यों पड़ गयीं?' ॥ ४४½ ॥

सा वै निःश्वसमाना तु वेपमाना कृताञ्जलिः ॥ ४५ ॥
तस्मै सर्वं यथातत्त्वमाख्यातुमुपचक्रमे।

वह थर-थर काँप रही थी। उसने लंबी साँस खींचकर हाथ जोड़ लिये और जो कुछ हुआ था, वह सब ठीक-ठीक बताना आरम्भ किया— ॥ ४५½ ॥

एष देव दशग्रीवः प्राप्तो गन्तुं त्रिविष्टपम् ॥ ४६ ॥
तेन सैन्यसहायेन निशेयं परिणामिता।

'देव! यह दशमुख रावण स्वर्गलोकपर आक्रमण करनेके लिये आया है। इसके साथ बहुत बड़ी सेना है। उसने आजकी रातमें यहीं डेरा डाला है ॥ ४६½ ॥

आयान्ती तेन दृष्टास्मि त्वत्सकाशमरिंदम ॥ ४७ ॥
गृहीता तेन पृष्टास्मि कस्य त्वमिति रक्षसा।

'शत्रुदमन वीर! मैं आपके पास आ रही थी, किंतु उस राक्षसने मुझे देख लिया और मेरा हाथ पकड़ लिया। फिर पूछा—'तुम किसकी स्त्री हो?' ॥ ४७½ ॥

मया तु सर्वं यत् सत्यं तस्मै सर्वं निवेदितम् ॥ ४८ ॥
काममोहाभिभूतात्मा नाश्रौषीत् तद् वचो मम।

'मैंने उसे सब कुछ सच-सच बता दिया, किंतु उसका हृदय कामजनित मोहसे आक्रान्त था, इसलिये मेरी वह बात नहीं सुनी ॥ ४८½ ॥

याच्यमानो मया देव स्नुषा तेऽहमिति प्रभो ॥ ४९ ॥
तत् सर्वं पृष्ठतः कृत्वा बलात् तेनास्मि धर्षिता।

'देव! मैं बारम्बार प्रार्थना करती ही रह गयी कि प्रभो! मैं आपकी पुत्रवधू हूँ, मुझे छोड़ दीजिये; किंतु उसने मेरी सारी बातें अनसुनी कर दीं और बलपूर्वक मेरे साथ अत्याचार किया ॥ ४९½ ॥

एवं त्वमपराधं मे क्षन्तुमर्हसि सुव्रत ॥ ५० ॥
नहि तुल्यं बलं सौम्य स्त्रियाश्च पुरुषस्य हि।

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले प्रियतम! इस बेबसीकी दशामें मुझसे जो अपराध बन गया है, उसे आप क्षमा करें। सौम्य! नारी अबला होती है, उसमें पुरुषके बराबर शारीरिक बल नहीं होता है (इसीलिये उस दुष्टसे अपनी रक्षा मैं नहीं कर सकी)' ॥ ५०½ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु संक्रुद्धस्तदा वैश्रवणात्मजः ॥ ५१ ॥
धर्षणां तां परां श्रुत्वा ध्यानं सम्प्रविवेश ह।

यह सुनकर वैश्रवणकुमार नलकूबरको बड़ा क्रोध हुआ। रम्भापर किये गये उस महान् अत्याचारको सुनकर उन्होंने ध्यान लगाया ॥ ५१½ ॥

तस्य तत् कर्म विज्ञाय तदा वैश्रवणात्मजः ॥ ५२ ॥
मुहूर्तात् क्रोधताम्राक्षस्तोयं जग्राह पाणिना।

उस समय दो ही घड़ीमें रावणकी उस करतूतको जानकर वैश्रवणपुत्र नलकूबरके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये और उन्होंने अपने हाथमें जल लिया ॥ ५२½ ॥

गृहीत्वा सलिलं सर्वमुपस्पृश्य यथाविधि ॥ ५३ ॥
उत्ससर्ज तदा शापं राक्षसेन्द्राय दारुणम्।

जल लेकर पहले विधिपूर्वक आचमन करके नेत्र आदि सारी इन्द्रियोंका स्पर्श करनेके अनन्तर उन्होंने राक्षसराजको

बड़ा भयंकर शाप दिया ॥ ५३½ ॥

अकामा तेन यस्मात् त्वं बलात् भद्रे प्रधर्षिता ॥ ५४ ॥
तस्मात् स युवतीमन्यां नाकामामुपयास्यति ।

वे बोले—'भद्रे! तुम्हारी इच्छा न रहनेपर भी रावणने तुमपर बलपूर्वक अत्याचार किया है। अतः वह आजसे दूसरी किसी ऐसी युवतीसे समागम नहीं कर सकेगा जो उसे चाहती न हो ॥ ५४½ ॥

यदा ह्यकामां कामार्तो धर्षयिष्यति योषितम् ॥ ५५ ॥
मूर्धा तु सप्तधा तस्य शकलीभविता तदा ।

'यदि वह कामपीड़ित होकर उसे न चाहनेवाली युवतीपर बलात्कार करेगा तो तत्काल उसके मस्तकके सात टुकड़े हो जायँगे' ॥ ५५½ ॥

तस्मिन्नुदाहृते शापे ज्वलिताग्निसमप्रभे ॥ ५६ ॥
देवदुन्दुभयो नेदुः पुष्पवृष्टिश्च खाच्च्युता ।

नलकूबरके मुखसे प्रज्वलित अग्निके समान दग्ध कर देनेवाले इस शापके निकलते ही देवताओंकी दुन्दुभियाँ बज उठीं और आकाशसे फूलोंकी वर्षा होने लगी ॥ ५६½ ॥

पितामहमुखाश्चैव सर्वे देवाः प्रहर्षिताः ॥ ५७ ॥
ज्ञात्वा लोकगतिं सर्वां तस्य मृत्युं च रक्षसः ।
ऋषयः पितरश्चैव प्रीतिमापुरनुत्तमाम् ॥ ५८ ॥

ब्रह्मा आदि सभी देवताओंको बड़ा हर्ष हुआ। रावणके द्वारा की गयी लोककी सारी दुर्दशाको और उस राक्षसकी मृत्युको भी जानकर ऋषियों तथा पितरोंको बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई ॥ ५३-५८ ॥

श्रुत्वा तु स दशग्रीवस्तं शापं रोमहर्षणम् ।
नारीषु मैथुनीभावं नाकामास्वभ्यरोचयत् ॥ ५९ ॥

उस रोमाञ्चकारी शापको सुनकर दशग्रीवने अपनेको न चाहनेवाली स्त्रियोंके साथ बलात्कार करना छोड़ दिया ॥ ५९ ॥

तेन नीताः स्त्रियः प्रीतिमापुः सर्वाः पतिव्रताः ।
नलकूबरनिर्मुक्तं शापं श्रुत्वा मनःप्रियम् ॥ ६० ॥

वह जिन-जिन पतिव्रता स्त्रियोंको हरकर ले गया था, उन सबके मनको नलकूबरका दिया वह शाप बड़ा प्रिय लगा। उसे सुनकर वे सब-की-सब बहुत प्रसन्न हुईं ॥ ६० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे षड्विंशः सर्गः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें छब्बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २६ ॥

—★—

सप्तविंशः सर्गः

सेनासहित रावणका इन्द्रलोकपर आक्रमण, इन्द्रकी भगवान् विष्णुसे सहायताके लिये प्रार्थना, भविष्यमें रावण-वधकी प्रतिज्ञा करके विष्णुका इन्द्रको लौटाना, देवताओं और राक्षसोंका युद्ध तथा वसुके द्वारा सुमालीका वध

कैलासं लङ्घयित्वा तु ससैन्यबलवाहनः ।
आससाद महातेजा इन्द्रलोकं दशाननः ॥ १ ॥

कैलास-पर्वतको पार करके महातेजस्वी दशमुख रावण सेना और सवारियोंके साथ इन्द्रलोकमें जा पहुँचा ॥ १ ॥

तस्य राक्षससैन्यस्य समन्तादुपयास्यतः ।
देवलोके बभौ शब्दो भिद्यमानार्णवोपमः ॥ २ ॥

सब ओरसे आती हुई राक्षस-सेनाका कोलाहल देवलोकमें ऐसा जान पड़ता था, मानो महासागरके मथे जानेका शब्द प्रकट हो रहा हो ॥ २ ॥

श्रुत्वा तु रावणं प्राप्तमिन्द्रश्चलित आसनात् ।
देवानथाब्रवीत् तत्र सर्वानेव समागतान् ॥ ३ ॥

रावणका आगमन सुनकर इन्द्र अपने आसनसे उठ गये और अपने पास आये हुए समस्त देवताओंसे बोले— ॥ ३ ॥

आदित्यांश्च वसून् रुद्रान् साध्यांश्च समरुद्गणान् ।
सज्जा भवत युद्धार्थं रावणस्य दुरात्मनः ॥ ४ ॥

उन्होंने आदित्यों, वसुओं, रुद्रों, साध्यों तथा मरुद्गणोंसे भी कहा—'तुम सब लोग दुरात्मा रावणके साथ युद्ध करनेके लिये तैयार हो जाओ' ॥ ४ ॥

एवमुक्तास्तु शक्रेण देवाः शक्रसमा युधि ।
संनह्य सुमहासत्त्वा युद्धश्रद्धासमन्विताः ॥ ५ ॥

इन्द्रके ऐसा कहनेपर युद्धमें उन्हींके समान पराक्रम प्रकट करनेवाले महाबली देवता कवच आदि धारण करके युद्धके लिये उत्सुक हो गये ॥ ५ ॥

स तु दीनः परित्रस्तो महेन्द्रो रावणं प्रति ।
विष्णोः समीपमागत्य वाक्यमेतदुवाच ह ॥ ६ ॥

देवराज इन्द्रको रावणसे भय हो गया था। अतः वे दुःखी हो भगवान् विष्णुके पास आये और इस प्रकार बोले— ॥ ६ ॥

विष्णो कथं करिष्यामि रावणं राक्षसं प्रति ।
अहोऽतिबलवद् रक्षो युद्धार्थमभिवर्तते ॥ ७ ॥

'विष्णुदेव! मैं राक्षस रावणके लिये क्या करूँ? अहो!

वह अत्यन्त बलशाली निशाचर मेरे साथ युद्ध करनेके लिये आ रहा है॥ ७॥

वरप्रदानाद् बलवान् न खल्वन्येन हेतुना।
तत् तु सत्यं वचः कार्यं यदुक्तं पद्मयोनिना॥ ८॥

'वह केवल ब्रह्माजीके वरदानके कारण प्रबल हो गया है; दूसरे किसी हेतुसे नहीं। कमलयोनि ब्रह्माजीने जो वर दे दिया है, उसे सत्य करना हम सब लोगोंका काम है॥ ८॥

तद् यथा नमुचिर्वृत्रो बलिर्नरकशम्बरौ।
त्वद्बलं समवष्टभ्य मया दग्धास्तथा कुरु॥ ९॥

'अतः जैसे पहले आपके बलका आश्रय लेकर मैंने नमुचि, वृत्रासुर, बलि, नरक और शम्बर आदि असुरोंको दग्ध कर डाला है, उसी प्रकार इस समय भी इस असुरका अन्त हो जाय, ऐसा कोई उपाय आप ही कीजिये॥ ९॥

नह्यन्यो देवदेवेश त्वदृते मधुसूदन।
गतिः परायणं चापि त्रैलोक्ये सचराचरे॥ १०॥

'मधुसूदन! आप देवताओंके भी देवता एवं ईश्वर हैं। इस चराचर त्रिभुवनमें आपके सिवा दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जो हम देवताओंको सहारा दे सके। आप ही हमारे परम आश्रय हैं॥ १०॥

त्वं हि नारायणः श्रीमान् पद्मनाभः सनातनः।
त्वयेमे स्थापिता लोकाः शक्रश्चाहं सुरेश्वरः॥ ११॥

'आप पद्मनाभ हैं—आपहीके नाभिकमलसे जगत्की उत्पत्ति हुई है। आप ही सनातनदेव श्रीमान् नारायण हैं। आपने ही इन तीनों लोकोंको स्थापित किया है और आपने ही मुझे देवराज इन्द्र बनाया है॥ ११॥

त्वया सृष्टमिदं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम्।
त्वामेव भगवन् सर्वे प्रविशन्ति युगक्षये॥ १२॥

'भगवन्! आपने ही स्थावर-जङ्गम प्राणियोंसहित इस समस्त त्रिलोकीकी सृष्टि की है और प्रलयकालमें सम्पूर्ण भूत आपमें ही प्रवेश करते हैं॥ १२॥

तदाचक्ष्व यथातत्त्वं देवदेव मम स्वयम्।
असिचक्रसहायस्त्वं योत्स्यसे रावणं प्रति॥ १३॥

'इसलिये देवदेव! आप ही मुझे कोई ऐसा अमोघ उपाय बताइये, जिससे मेरी विजय हो। क्या आप स्वयं चक्र और तलवार लेकर रावणसे युद्ध करेंगे?' ॥ १३॥

एवमुक्तः स शक्रेण देवो नारायणः प्रभुः।
अब्रवीन्न परित्रासः कर्तव्यः श्रूयतां च मे॥ १४॥

इन्द्रके ऐसा कहनेपर भगवान् नारायणदेव बोले—'देवराज! तुम्हें भय नहीं करना चाहिये। मेरी बात सुनो— ॥ १४॥

न तावदेष दुष्टात्मा शक्यो जेतुं सुरासुरैः।
हन्तुं चापि समासाद्य वरदानेन दुर्जयः॥ १५॥

'पहली बात तो यह है इस दुष्टात्मा रावणको सम्पूर्ण देवता और असुर मिलकर भी न तो मार सकते हैं और न परास्त ही कर सकते हैं; क्योंकि वरदान पानेके कारण यह इस समय दुर्जय हो गया है॥ १५॥

सर्वथा तु महत् कर्म करिष्यति बलोत्कटः।
राक्षसः पुत्रसहितो दृष्टमेतन्निसर्गतः॥ १६॥

'अपने पुत्रके साथ आया हुआ यह उत्कट बलशाली राक्षस सब प्रकारसे महान् पराक्रम प्रकट करेगा। यह बात मुझे अपनी स्वाभाविक ज्ञानदृष्टिसे दिखायी दे रही है॥ १६॥

यत् तु मां त्वमभाषिष्ठा युध्यस्वेति सुरेश्वर।
नाहं तं प्रतियोत्स्यामि रावणं राक्षसं युधि॥ १७॥

'सुरेश्वर! दूसरी बात जो मुझे कहनी है, इस प्रकार है—तुम जो मुझसे कह रहे थे कि 'आप ही उसके साथ युद्ध कीजिये' उसके उत्तरमें निवेदन है कि मैं इस समय युद्धस्थलमें राक्षस रावणका सामना करनेके लिये नहीं जाऊँगा॥ १७॥

नाहत्वा समरे शत्रुं विष्णुः प्रतिनिवर्तते।
दुर्लभश्चैव कामोऽद्य वरगुप्ताद्धि रावणात्॥ १८॥

'मुझ विष्णुका यह स्वभाव है कि मैं संग्राममें शत्रुका वध किये बिना पीछे नहीं लौटता; परंतु इस समय रावण वरदानसे सुरक्षित है, इसलिये उसकी ओरसे मेरी इस विजय-सम्बन्धिनी इच्छाकी पूर्ति होनी कठिन है॥ १८॥

प्रतिजाने च देवेन्द्र त्वत्समीपे शतक्रतो।
भवितास्मि यथास्याहं रक्षसो मृत्युकारणम्॥ १९॥

'परंतु देवेन्द्र! शतक्रतो! मैं तुम्हारे समीप इस बातकी प्रतिज्ञा करता हूँ कि समय आनेपर मैं ही इस राक्षसकी मृत्युका कारण बनूँगा॥ १९॥

अहमेव निहन्तास्मि रावणं सपुरःसरम्।
देवता नन्दयिष्यामि ज्ञात्वा कालमुपागतम्॥ २०॥

'मैं ही रावणको उसके अग्रगामी सैनिकोंसहित मारूँगा और देवताओंको आनन्दित करूँगा; परंतु यह तभी होगा जब मैं जान लूँगा कि इसकी मृत्युका समय आ पहुँचा है॥ २०॥

एतत् ते कथितं तत्त्वं देवराज शचीपते।
युद्ध्यस्व विगतत्रासः सुरैः सार्धं महाबल॥ २१॥

'देवराज! ये सब बातें मैंने तुम्हें ठीक-ठीक बता दीं। महाबलशाली शचीवल्लभ! इस समय तो तुम्हीं देवताओं-सहित जाकर उस राक्षसके साथ निर्भय हो युद्ध करो' ॥ २१॥

ततो रुद्राः सहादित्या वसवो मरुतोऽश्विनौ।
संनद्धा निर्ययुस्तूर्णं राक्षसानभितः पुरात्॥ २२॥

तदनन्तर रुद्र, आदित्य, वसु, मरुद्गण और अश्विनीकुमार आदि देवता युद्धके लिये तैयार होकर तुरंत अमरावतीपुरीसे बाहर निकले और राक्षसोंका सामना करनेके लिये आगे बढ़े॥ २२॥

एतस्मिन्नन्तरे नादः शुश्रुवे रजनीक्षये।
तस्य रावणसैन्यस्य प्रबुद्धस्य समन्ततः॥ २३॥

इसी बीचमें रात बीतते-बीतते सब ओरसे युद्धके लिये उद्यत हुई रावणकी सेनाका महान् कोलाहल सुनायी देने लगा॥ २३॥

ते प्रबुद्धा महावीर्या अन्योन्यमभिवीक्ष्य वै।
संग्राममेवाभिमुखा अभ्यवर्तन्त हृष्टवत्॥ २४॥

वे महापराक्रमी राक्षससैनिक सबेरे जागनेपर एक-दूसरेकी ओर देखते हुए बड़े हर्ष और उत्साहके साथ युद्धके लिये ही आगे बढ़ने लगे॥ २४॥

ततो दैवतसैन्यानां संक्षोभः समजायत।
तदक्षयं महासैन्यं दृष्ट्वा समरमूर्धनि॥ २५॥

तदनन्तर युद्धके मुहानेपर राक्षसोंकी उस अनन्त एवं विशाल सेनाको देखकर देवताओंकी सेनामें बड़ा क्षोभ हुआ॥ २५॥

ततो युद्धं समभवद् देवदानवरक्षसाम्।
घोरं तुमुलनिर्ह्रादं नानाप्रहरणोद्यतम्॥ २६॥

फिर तो देवताओंका दानवों और राक्षसोंके साथ भयंकर युद्ध छिड़ गया। भयंकर कोलाहल होने लगा और दोनों ओरसे नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी बौछार आरम्भ हो गयी॥ २६॥

एतस्मिन्नन्तरे शूरा राक्षसा घोरदर्शनाः।
युद्धार्थं समवर्तन्त सचिवा रावणस्य ते॥ २७॥

इसी समय रावणके मन्त्री शूरवीर राक्षस, जो बड़े भयंकर दिखायी देते थे, युद्धके लिये आगे बढ़ आये॥ २७॥

मारीचश्च प्रहस्तश्च महापार्श्वमहोदरौ।
अकम्पनो निकुम्भश्च शुकः सारण एव च॥ २८॥
संह्रादो धूमकेतुश्च महादंष्ट्रो घटोदरः।
जम्बुमाली महाह्रादो विरूपाक्षश्च राक्षसः॥ २९॥
सुप्तघ्नो यज्ञकोपश्च दुर्मुखो दूषणः खरः।
त्रिशिराः करवीराक्षः सूर्यशत्रुश्च राक्षसः॥ ३०॥
महाकायोऽतिकायश्च देवान्तकनरान्तकौ।
एतैः सर्वैः परिवृतो महावीर्यैर्महाबलः॥ ३१॥
रावणस्यार्यकः सैन्यं सुमाली प्रविवेश ह।

मारीच, प्रहस्त, महापार्श्व, महोदर, अकम्पन, निकुम्भ, शुक, सारण, संह्राद, धूमकेतु, महादंष्ट्र, घटोदर, जम्बुमाली, महाह्राद, विरूपाक्ष, सुप्तघ्न, यज्ञकोप, दुर्मुख, दूषण, खर, त्रिशिरा, करवीराक्ष, सूर्यशत्रु, महाकाय, अतिकाय, देवान्तक तथा नरान्तक—इन सभी महापराक्रमी राक्षसोंसे घिरे हुए महाबली सुमालीने, जो रावणका नाना था, देवताओंकी सेनामें प्रवेश किया॥ २८—३१½॥

स दैवतगणान् सर्वान् नानाप्रहरणैः शितैः॥ ३२॥
व्यध्वंसयत् समं क्रुद्धो वायुर्जलधरानिव।

उसने कुपित हो नाना प्रकारके पैने अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा समस्त देवताओंको उसी तरह मार भगाया, जैसे वायु बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है॥ ३२½॥

तद् दैवतबलं राम हन्यमानं निशाचरैः॥ ३३॥
प्रणुन्नं सर्वतो दिग्भ्यः सिंहनुन्ना मृगा इव।

श्रीराम! निशाचरोंकी मार खाकर देवताओंकी वह सेना सिंहद्वारा खदेड़े गये मृगोंकी भाँति सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग चली॥ ३३½॥

एतस्मिन्नन्तरे शूरो वसूनामष्टमो वसुः॥ ३४॥
सावित्र इति विख्यातः प्रविवेश रणाजिरम्।

इसी समय वसुओंमेंसे आठवें वसुने, जिनका नाम सावित्र है, समराङ्गणमें प्रवेश किया॥ ३४½॥

सैन्यैः परिवृतो हृष्टैर्नानाप्रहरणोद्यतैः॥ ३५॥
त्रासयञ्शत्रुसैन्यानि प्रविवेश रणाजिरम्।

वे नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित एवं उत्साहित सैनिकोंसे घिरे हुए थे। उन्होंने शत्रुसेनाओंको संत्रस्त करते हुए रणभूमिमें पदार्पण किया॥ ३५½॥

तथादित्यौ महावीर्यौ त्वष्टा पूषा च तौ समम्॥ ३६॥
निर्भयौ सह सैन्येन तदा प्राविशतां रणे।

इनके सिवा अदितिके दो महापराक्रमी पुत्र त्वष्टा और पूषाने अपनी सेनाके साथ एक ही समय युद्धस्थलमें प्रवेश किया, वे दोनों वीर निर्भय थे॥ ३६½॥

ततो युद्धं समभवत् सुराणां सह राक्षसैः॥ ३७॥
क्रुद्धानां रक्षसां कीर्तिं समरेष्वनिवर्तिनाम्।

फिर तो देवताओंका राक्षसोंके साथ घोर युद्ध होने लगा। युद्धसे पीछे न हटनेवाले राक्षसोंकी बढ़ती हुई कीर्ति देख-सुनकर देवता उनके प्रति बहुत कुपित थे॥ ३७½॥

ततस्ते राक्षसाः सर्वे विबुधान् समरे स्थितान्॥ ३८॥
नानाप्रहरणैर्घोरैर्जघ्नुः शतसहस्रशः।

तत्पश्चात् समस्त राक्षस समरभूमिमें खड़े हुए लाखों देवताओंको नाना प्रकारके घोर अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा मारने लगे॥ ३८½॥

देवाश्च राक्षसान् घोरान् महाबलपराक्रमान्॥ ३९॥
समरे विमलैः शस्त्रैरुपनिन्युर्यमक्षयम्।

इसी तरह देवता भी महान् बल-पराक्रमसे सम्पन्न घोर राक्षसोंको समराङ्गणमें चमकीले अस्त्र-शस्त्रोंसे मार-मारकर यमलोक भेजने लगे॥ ३९½॥

एतस्मिन्नन्तरे राम सुमाली नाम राक्षसः॥ ४०॥
नानाप्रहरणैः क्रुद्धस्तत्सैन्यं सोऽभ्यवर्तत।
स दैवतबलं सर्वं नानाप्रहरणैः शितैः॥ ४१॥
व्यध्वंसयत संक्रुद्धो वायुर्जलधरं यथा।

श्रीराम! इसी बीचमें सुमाली नामक राक्षसने कुपित होकर नाना प्रकारके आयुधोंद्वारा देवसेनापर आक्रमण

किया। उसने अत्यन्त क्रोधसे भरकर बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देनेवाली वायुके समान अपने भाँति-भाँतिके तीखे अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा समस्त देवसेनाको तितर-बितर कर दिया॥४०-४१½॥

ते महाबाणवर्षैश्च शूलप्रासैः सुदारुणैः॥ ४२॥
हन्यमानाः सुराः सर्वे न व्यतिष्ठन्त संहताः।

उसके महान् बाणों और भयङ्कर शूलों एवं प्रासोंकी वर्षासे मारे जाते हुए सभी देवता युद्धक्षेत्रमें संगठित होकर खड़े न रह सके॥४२½॥

ततो विद्राव्यमाणेषु दैवतेषु सुमालिना॥ ४३॥
वसूनामष्टमः क्रुद्धः सावित्रो वै व्यवस्थितः।
संवृतः स्वैरथानीकैः प्रहरन्तं निशाचरम्॥ ४४॥

सुमालीद्वारा देवताओंके भगाये जानेपर आठवें वसु सावित्रको बड़ा क्रोध हुआ। वे अपनी रथसेनाओंके साथ आकर उस प्रहार करनेवाले निशाचरके सामने खड़े हो गये॥४३-४४॥

विक्रमेण महातेजा वारयामास संयुगे।
ततस्तयोर्महद् युद्धमभवल्लोमहर्षणम्॥ ४५॥
सुमालिनो वसोश्चैव समरेष्वनिवर्तिनोः।

महातेजस्वी सावित्रने युद्धस्थलमें अपने पराक्रमद्वारा सुमालीको आगे बढ़नेसे रोक दिया। सुमाली और वसु दोनोंमेंसे कोई भी युद्धसे पीछे हटनेवाला नहीं था; अतः उन दोनोंमें महान् एवं रोमाञ्चकारी युद्ध छिड़ गया॥४५½॥

ततस्तस्य महाबाणैर्वसुना सुमहात्मना॥ ४६॥
निहतः पन्नगरथः क्षणेन विनिपातितः।

तदनन्तर महात्मा वसुने अपने विशाल बाणोंद्वारा सुमालीके सर्प जुते हुए रथको क्षणभरमें तोड़-फोड़कर गिरा दिया॥४६½॥

हत्वा तु संयुगे तस्य रथं बाणशतैश्चितम्॥ ४७॥
गदां तस्य वधार्थाय वसुर्जग्राह पाणिना।
ततः प्रगृह्य दीप्ताग्रां कालदण्डोपमां गदाम्॥ ४८॥
तां मूर्ध्नि पातयामास सावित्रो वै सुमालिनः।

युद्धस्थलमें सैकड़ों बाणोंसे छिदे हुए सुमालीके रथको नष्ट करके वसुने उस निशाचरके वधके लिये कालदण्डके समान एक भयङ्कर गदा हाथमें ली, जिसका अग्रभाग अग्निके समान प्रज्वलित हो रहा था। उसे लेकर सावित्रने सुमालीके मस्तकपर दे मारा॥४७-४८½॥

सा तस्योपरि चोल्काभा पतन्ती विबभौ गदा॥ ४९॥
इन्द्रप्रमुक्ता गर्जन्ती गिराविव महाशनिः।

उसके ऊपर गिरती हुई वह गदा उल्काके समान चमक उठी, मानो इन्द्रके द्वारा छोड़ी गयी विशाल अशनि भारी गड़गड़ाहटके साथ किसी पर्वतके शिखरपर गिर रही हो॥४९½॥

तस्य नैवास्थि न शिरो न मांसं ददृशे तदा॥ ५०॥
गदया भस्मतां नीतं निहतस्य रणाजिरे।

उसकी चोट लगते ही समराङ्गणमें सुमालीका काम तमाम हो गया। न उसकी हड्डीका पता लगा, न मस्तकका और न कहीं उसका मांस ही दिखायी दिया। वह सब कुछ उस गदाकी आगसे भस्म हो गया॥५०½॥

तं दृष्ट्वा निहतं संख्ये राक्षसास्ते समन्ततः॥ ५१॥
व्यद्रवन् सहिताः सर्वे क्रोशमानाः परस्परम्।
विद्राव्यमाणा वसुना राक्षसा नावतस्थिरे॥ ५२॥

युद्धमें सुमालीको मारा गया देख वे सब राक्षस एक-दूसरेको पुकारते हुए एक साथ चारों ओर भाग खड़े हुए। वसुके द्वारा खदेड़े जानेवाले वे राक्षस समरभूमिमें खड़े न रह सके॥५१-५२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे सप्तविंशः सर्गः॥ २७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें सत्ताईसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २७॥

—★—

अष्टाविंशः सर्गः

मेघनाद और जयन्तका युद्ध, पुलोमाका जयन्तको अन्यत्र ले जाना, देवराज इन्द्रका युद्धभूमिमें पदार्पण, रुद्रों तथा मरुद्गणोंद्वारा राक्षससेनाका संहार और इन्द्र तथा रावणका युद्ध

सुमालिनं हतं दृष्ट्वा वसुना भस्मसात्कृतम्।
स्वसैन्यं विद्रुतं चापि लक्षयित्वार्दितं सुरैः॥ १॥
ततः स बलवान् क्रुद्धो रावणस्य सुतस्तदा।
निवर्त्य राक्षसान् सर्वान् मेघनादो व्यवस्थितः॥ २॥

'सुमाली मारा गया, वसुने उसके शरीरको भस्म कर दिया और देवताओंसे पीड़ित होकर मेरी सेना भागी जा रही है,' यह देख रावणका बलवान् पुत्र मेघनाद कुपित हो समस्त राक्षसोंको लौटाकर देवताओंसे लोहा लेनेके लिये स्वयं खड़ा हुआ॥१-२॥

स रथेनाग्निवर्णेन कामगेन महारथः।
अभिदुद्राव सेनां तां वनान्यग्निरिव ज्वलन्॥ ३॥

वह महारथी वीर इच्छानुसार चलनेवाले अग्नितुल्य

तेजस्वी रथपर आरूढ़ हो वनमें फैलनेवाले प्रज्वलित दावानलके समान उस देवसेनाकी ओर दौड़ा ॥ ३ ॥

ततः प्रविशतस्तस्य विविधायुधधारिणः ।
विदुद्रुवुर्दिशः सर्वा दर्शनादेव देवताः ॥ ४ ॥

नाना प्रकारके आयुध धारण करके अपनी सेनामें प्रवेश करनेवाले उस मेघनादको देखते ही सब देवता सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर भाग चले ॥ ४ ॥

न बभूव तदा कश्चिद् युयुत्सोरस्य सम्मुखे ।
सर्वानाविद्ध्य वित्रस्तांस्ततः शक्रोऽब्रवीत् सुरान् ॥ ५ ॥

उस समय युद्धकी इच्छावाले मेघनादके सामने कोई भी खड़ा न हो सका। तब भयभीत हुए उन समस्त देवताओंको फटकारकर इन्द्रने उनसे कहा— ॥ ५ ॥

न भेतव्यं न गन्तव्यं निवर्तध्वं रणे सुराः ।
एष गच्छति पुत्रो मे युद्धार्थमपराजितः ॥ ६ ॥

'देवताओ! भय न करो, युद्ध छोड़कर न जाओ और रणक्षेत्रमें लौट आओ। यह मेरा पुत्र जयन्त, जो कभी किसीसे परास्त नहीं हुआ है, युद्धके लिये जा रहा है' ॥ ६ ॥

ततः शक्रसुतो देवो जयन्त इति विश्रुतः ।
रथेनाद्भुतकल्पेन संग्रामे सोऽभ्यवर्तत ॥ ७ ॥

तदनन्तर इन्द्रपुत्र जयन्तदेव अद्भुत सजावटसे युक्त रथपर आरूढ़ हो युद्धके लिये आया ॥ ७ ॥

ततस्ते त्रिदशाः सर्वे परिवार्य शचीसुतम् ।
रावणस्य सुतं युद्धे समासाद्य प्रजघ्निरे ॥ ८ ॥

फिर तो सब देवता शचीपुत्र जयन्तको चारों ओरसे घेरकर युद्धस्थलमें आये और रावणके पुत्रपर प्रहार करने लगे ॥ ८ ॥

तेषां युद्धं समभवत् सदृशं देवरक्षसाम् ।
महेन्द्रस्य च पुत्रस्य राक्षसेन्द्रसुतस्य च ॥ ९ ॥

उस समय देवताओंका राक्षसोंके साथ और महेन्द्र-कुमारका रावणपुत्रके साथ उनके बल-पराक्रमके अनुरूप युद्ध होने लगा ॥ ९ ॥

ततो मातलिपुत्रस्य गोमुखस्य स रावणिः ।
सारथेः पातयामास शरान् कनकभूषणान् ॥ १० ॥

रावणकुमार मेघनाद जयन्तके सारथि मातलिपुत्र गोमुखपर सुवर्णभूषित बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ १० ॥

शचीसुतश्चापि तथा जयन्तस्तस्य सारथिम् ।
तं चापि रावणिः क्रुद्धः समन्तात् प्रत्यविध्यत ॥ ११ ॥

शचीपुत्र जयन्तने भी मेघनादके सारथिको घायल कर दिया। तब कुपित हुए मेघनादने जयन्तको भी सब ओरसे क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ११ ॥

स हि क्रोधसमाविष्टो बली विस्फारितेक्षणः ।
रावणिः शक्रतनयं शरवर्षैरवाकिरत् ॥ १२ ॥

उस समय क्रोधसे भरा हुआ बलवान् मेघनाद इन्द्रपुत्र जयन्तको आँखें फाड़-फाड़कर देखने और बाणोंकी वर्षासे पीड़ित करने लगा ॥ १२ ॥

ततो नानाप्रहरणाञ्छितधारान् सहस्रशः ।
पातयामास संक्रुद्धः सुरसैन्येषु रावणिः ॥ १३ ॥

अत्यन्त कुपित हुए रावणकुमारने देवताओंकी सेनापर भी तीखी धारवाले नाना प्रकारके सहस्रों अस्त्र-शस्त्र बरसाये ॥ १३ ॥

शतघ्नीमुसलप्रासगदाखड्गपरश्वधान् ।
महान्ति गिरिशृङ्गाणि पातयामास रावणिः ॥ १४ ॥

उसने शतघ्नी, मूसल, प्रास, गदा, खड्ग और फरसे गिराये तथा बड़े-बड़े पर्वत-शिखर भी चलाये ॥ १४ ॥

ततः प्रव्यथिता लोकाः संजज्ञे च तमस्ततः ।
तस्य रावणपुत्रस्य शत्रुसैन्यानि निघ्नतः ॥ १५ ॥

शत्रुसेनाओंके संहारमें लगे हुए रावणकुमारकी मायासे उस समय चारों ओर अन्धकार छा गया; अतः समस्त लोक व्यथित हो उठे ॥ १५ ॥

ततस्तद् दैवतबलं समन्तात् तं शचीसुतम् ।
बहुप्रकारमस्वस्थमभवच्छरपीडितम् ॥ १६ ॥

तब शचीकुमारके चारों ओर खड़ी हुई देवताओंकी वह सेना बाणोंद्वारा पीड़ित हो अनेक प्रकारसे अस्वस्थ हो गयी ॥ १६ ॥

नाभ्यजानन्त चान्योन्यं रक्षो वा देवताथवा ।
तत्र तत्र विपर्यस्तं समन्तात् परिधावत ॥ १७ ॥

राक्षस और देवता आपसमें किसीको पहचान न सके। वे जहाँ-तहाँ बिखरे हुए चारों ओर चक्कर काटने लगे ॥ १७ ॥

देवा देवान् निजघ्नुस्ते राक्षसान् राक्षसास्तथा ।
सम्मूढास्तमसाच्छन्ना व्यद्रवन्नपरे तथा ॥ १८ ॥

अन्धकारसे आच्छादित होकर वे विवेकशक्ति खो बैठे थे। अतः देवता देवताओंको और राक्षस राक्षसोंको ही मारने लगे तथा बहुतेरे योद्धा युद्धसे भाग खड़े हुए ॥ १८ ॥

एतस्मिन्नन्तरे वीरः पुलोमा नाम वीर्यवान् ।
दैत्येन्द्रस्तेन संगृह्य शचीपुत्रोऽपवाहितः ॥ १९ ॥

इसी बीचमें पराक्रमी वीर दैत्यराज पुलोमा युद्धमें आया और शचीपुत्र जयन्तको पकड़कर वहाँसे दूर हटा ले गया ॥ १९ ॥

संगृह्य तं तु दौहित्रं प्रविष्टः सागरं तदा ।
आर्यकः स हि तस्यासीत् पुलोमा येन सा शची ॥ २० ॥

वह शचीका पिता और जयन्तका नाना था, अतः अपने दौहित्रको लेकर समुद्रमें घुस गया ॥ २० ॥

ज्ञात्वा प्रणाशं तु तदा जयन्तस्याथ देवताः ।
अप्रहृष्टास्ततः सर्वा व्यथिताः सम्प्रदुद्रुवुः ॥ २१ ॥

देवताओंको जब जयन्तके गायब होनेकी बात मालूम

हुई, तब उनकी सारी खुशी छिन गयी और वे दुःखी होकर चारों ओर भागने लगे ॥ २१ ॥

रावणिस्त्वथ संक्रुद्धो बलैः परिवृतः स्वकैः।
अभ्यधावत देवांस्तान् मुमोच च महास्वनम् ॥ २२ ॥

उधर अपनी सेनाओंसे घिरे हुए रावणकुमार मेघनादने अत्यन्त कुपित हो देवताओंपर धावा किया और बड़े जोरसे गर्जना की ॥ २२ ॥

दृष्ट्वा प्रणाशं पुत्रस्य दैवतेषु च विद्रुतम्।
मातलिं चाह देवेशो रथः समुपनीयताम् ॥ २३ ॥

पुत्र लापता हो गया और देवताओंकी सेनामें भगदड़ मच गयी है—यह देखकर देवराज इन्द्रने मातलिसे कहा—'मेरा रथ ले आओ' ॥ २३ ॥

स तु दिव्यो महाभीमः सज्ज एव महारथः।
उपस्थितो मातलिना वाह्यमानो महाजवः ॥ २४ ॥

मातलिने एक सजा-सजाया महाभयङ्कर, दिव्य एवं विशाल रथ लाकर उपस्थित कर दिया। उसके द्वारा हाँका जानेवाला वह रथ बड़ा ही वेगशाली था ॥ २४ ॥

ततो मेघा रथे तस्मिंस्तडित्वन्तो महाबलाः।
अग्रतो वायुचपला नेदुः परमनिःस्वनाः ॥ २५ ॥

तदनन्तर उस रथपर बिजलीसे युक्त महाबली मेघ उसके अग्र-भागमें वायुसे चञ्चल हो बड़े जोर-जोरसे गर्जना करने लगे ॥ २५ ॥

नानावाद्यानि वाद्यन्त गन्धर्वाश्च समाहिताः।
ननृतुश्चाप्सरःसङ्घा निर्याते त्रिदशेश्वरे ॥ २६ ॥

देवेश्वर इन्द्रके निकलते ही नाना प्रकारके बाजे बज उठे, गन्धर्व एकाग्र हो गये और अप्सराओंके समूह नृत्य करने लगे ॥ २६ ॥

रुद्रैर्वसुभिरादित्यैरश्विभ्यां समरुद्गणैः।
वृतो नानाप्रहरणैर्निर्ययौ त्रिदशाधिपः ॥ २७ ॥

तत्पश्चात् रुद्रों, वसुओं, आदित्यों, अश्विनीकुमारों और मरुद्गणोंसे घिरे हुए देवराज इन्द्र नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र साथ लिये पुरीसे बाहर निकले ॥ २७ ॥

निर्गच्छतस्तु शक्रस्य परुषः पवनो ववौ।
भास्करो निष्प्रभश्चैव महोल्काश्च प्रपेदिरे ॥ २८ ॥

इन्द्रके निकलते ही प्रचण्ड वायु चलने लगी। सूर्यकी प्रभा फीकी पड़ गयी और आकाशसे बड़ी-बड़ी उल्काएँ गिरने लगीं ॥ २८ ॥

एतस्मिन्नन्तरे शूरो दशग्रीवः प्रतापवान्।
आरुरोह रथं दिव्यं निर्मितं विश्वकर्मणा ॥ २९ ॥

इसी बीचमें प्रतापी वीर दशग्रीव भी विश्वकर्माके बनाये हुए दिव्य रथपर सवार हुआ ॥ २९ ॥

पन्नगैः सुमहाकायैर्वेष्टितं लोमहर्षणैः।
येषां निःश्वासवातेन प्रदीप्तमिव संयुगे ॥ ३० ॥

उस रथमें रोंगटे खड़े कर देनेवाले विशालकाय सर्प लिपटे हुए थे। उनकी निःश्वास-वायुसे वह रथ उस युद्धस्थलमें ज्वलित-सा जान पड़ता था ॥ ३० ॥

दैत्यैर्निशाचरैश्चैव स रथः परिवारितः।
समराभिमुखो दिव्यो महेन्द्रं सोऽभ्यवर्तत ॥ ३१ ॥

दैत्यों और निशाचरोंने उस रथको सब ओरसे घेर रखा था। समराङ्गणकी ओर बढ़ता हुआ रावणका वह दिव्य रथ महेन्द्रके सामने जा पहुँचा ॥ ३१ ॥

पुत्रं तं वारयित्वा तु स्वयमेव व्यवस्थितः।
सोऽपि युद्धाद् विनिष्क्रम्य रावणिः समुपाविशत् ॥ ३२ ॥

रावण अपने पुत्रको रोककर स्वयं ही युद्धके लिये खड़ा हुआ। तब रावणपुत्र मेघनाद युद्धस्थलसे निकलकर चुपचाप अपने रथपर जा बैठा ॥ ३२ ॥

ततो युद्धं प्रवृत्तं तु सुराणां राक्षसैः सह।
शस्त्राणि वर्षतां तेषां मेघानामिव संयुगे ॥ ३३ ॥

फिर तो देवताओंका राक्षसोंके साथ घोर युद्ध होने लगा। जलकी वर्षा करनेवाले मेघोंके समान देवता युद्धस्थलमें अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे ॥ ३३ ॥

कुम्भकर्णस्तु दुष्टात्मा नानाप्रहरणोद्यतः।
नाज्ञायत तदा राजन् युद्धं केनाभ्यपद्यत ॥ ३४ ॥

राजन्! दुष्टात्मा कुम्भकर्ण नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लिये किसके साथ युद्ध करता था, इसका पता नहीं लगता था (अर्थात् मतवाला होनेके कारण अपने और पराये सभी सैनिकोंके साथ जूझने लगता था) ॥ ३४ ॥

दन्तैः पादैर्भुजैर्हस्तैः शक्तितोमरमुद्गरैः।
येन तेनैव संक्रुद्धस्ताडयामास देवताः ॥ ३५ ॥

वह अत्यन्त कुपित हो दाँत, लात, भुजा, हाथ, शक्ति, तोमर और मुद्गर आदि जो ही पाता उसीसे देवताओंको पीटता था ॥ ३५ ॥

स तु रुद्रैर्महाघोरैः संगम्याथ निशाचरः।
प्रयुद्धस्तैश्च संग्रामे क्षतः शस्त्रैर्निरन्तरम् ॥ ३६ ॥

वह निशाचर महाभयङ्कर रुद्रोंके साथ भिड़कर घोर युद्ध करने लगा। संग्राममें रुद्रोंने अपने अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा उसे ऐसा क्षत-विक्षत कर दिया था कि उसके शरीरमें थोड़ी-सी भी जगह बिना घावके नहीं रह गयी थी ॥ ३६ ॥

बभौ शस्त्राचिततनुः कुम्भकर्णः क्षरन्नसृक्।
विद्युत्स्तनितनिर्घोषो धारावानिव तोयदः ॥ ३७ ॥

कुम्भकर्णका शरीर शस्त्रोंसे व्याप्त हो खूनकी धारा बहा रहा था। उस समय वह बिजली तथा गर्जनासे युक्त जलकी धारा गिरानेवाले मेघके समान जान पड़ता था ॥ ३७ ॥

ततस्तद् राक्षसं सैन्यं प्रयुद्धं समरुद्गणैः।
रणे विद्रावितं सर्वं नानाप्रहरणैस्तदा ॥ ३८ ॥

तदनन्तर घोर युद्धमें लगी हुई उस सारी राक्षससेनाको

रणभूमिमें नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र धारण करनेवाले रुद्रों और मरुद्गणोंने मार भगाया ॥ ३८ ॥

केचिद् विनिहताः कृत्ताश्चेष्टन्ति स्म महीतले ।
वाहनेष्ववसक्ताश्च स्थिता एवापरे रणे ॥ ३९ ॥

कितने ही निशाचर मारे गये। कितने ही कटकर धरतीपर लोटने और छटपटाने लगे और बहुत-से राक्षस प्राणहीन हो जानेपर भी उस रणभूमिमें अपने वाहनोंपर ही चिपटे रहे ॥ ३९ ॥

रथान् नागान् खरानुष्ट्रान् पन्नगांस्तुरगांस्तथा ।
शिशुमारान् वराहांश्च पिशाचवदनानपि ॥ ४० ॥
तान् समालिङ्ग्य बाहुभ्यां विष्टब्धाः केचिदुत्थिताः ।
देवैस्तु शस्त्रसंभिन्ना मम्रिरे च निशाचराः ॥ ४१ ॥

कुछ राक्षस रथों, हाथियों, गदहों, ऊँटों, सर्पों, घोड़ों, शिशुमारों, वराहों तथा पिशाचमुख वाहनोंको दोनों भुजाओंसे पकड़कर उनसे लिपटे हुए निश्चेष्ट हो गये थे। कितने ही जो पहलेसे मूर्छित होकर पड़े थे, मूर्छा दूर होनेपर उठे, किंतु देवताओंके शस्त्रोंसे छिन्न-भिन्न हो मौतके मुखमें चले गये ॥ ४०-४१ ॥

चित्रकर्म इवाभाति सर्वेषां रणसम्प्लवः ।
निहतानां प्रसुप्तानां राक्षसानां महीतले ॥ ४२ ॥

प्राणोंसे हाथ धोकर धरतीपर पड़े हुए उन समस्त राक्षसोंका इस तरह युद्धमें मारा जाना जादू-सा आश्चर्यजनक जान पड़ता था ॥ ४२ ॥

शोणितोदकनिष्यन्दा काकगृध्रसमाकुला ।
प्रवृत्ता संयुगमुखे शस्त्रग्राहवती नदी ॥ ४३ ॥

युद्धके मुहानेपर खूनकी नदी बह चली, जिसके भीतर अनेक प्रकारके शस्त्र ग्राहोंका भ्रम उत्पन्न करते थे। उस नदीके तटपर चारों ओर गीध और कौए छा गये थे ॥ ४३ ॥

एतस्मिन्नन्तरे क्रुद्धो दशग्रीवः प्रतापवान् ।
निरीक्ष्य तु बलं सर्वं दैवतैर्विनिपातितम् ॥ ४४ ॥

इसी बीचमें प्रतापी दशग्रीवने जब देखा कि देवताओंने हमारे समस्त सैनिकोंको मार गिराया है, तब उसके क्रोधकी सीमा न रही ॥ ४४ ॥

स तं प्रतिविगाह्याशु प्रवृद्धं सैन्यसागरम् ।
त्रिदशान् समरे निघ्नञ्शक्रमेवाभ्यवर्तत ॥ ४५ ॥

वह समुद्रके समान दूरतक फैली हुई देवसेनामें घुस गया और समराङ्गणमें देवताओंको मारता एवं धराशायी करता हुआ तुरंत ही इन्द्रके सामने जा पहुँचा ॥ ४५ ॥

ततः शक्रो महच्चापं विस्फार्य सुमहास्वनम् ।
यस्य विस्फारनिर्घोषैः स्तनन्ति स्म दिशो दश ॥ ४६ ॥

तब इन्द्रने जोर-जोरसे टङ्कार करनेवाले अपने विशाल धनुषको खींचा। उसकी टङ्कार-ध्वनिसे दसों दिशाएँ प्रतिध्वनित हो उठीं ॥ ४६ ॥

तद् विकृष्य महच्चापमिन्द्रो रावणमूर्धनि ।
पातयामास स शरान् पावकादित्यवर्चसः ॥ ४७ ॥

उस विशाल धनुषको खींचकर इन्द्रने रावणके मस्तकपर अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी बाण मारे ॥ ४७ ॥

तथैव च महाबाहुर्दशग्रीवो निशाचरः ।
शक्रं कार्मुकविभ्रष्टैः शरवर्षैरवाकिरत् ॥ ४८ ॥

इसी प्रकार महाबाहु निशाचर दशग्रीवने भी अपने धनुषसे छूटे हुए बाणोंकी वर्षासे इन्द्रको ढक दिया ॥ ४८ ॥

प्रयुध्यतोरथ तयोर्बाणवर्षैः समन्ततः ।
नाज्ञायत तदा किंचित् सर्वं हि तमसा वृतम् ॥ ४९ ॥

वे दोनों घोर युद्धमें तत्पर हो जब बाणोंकी वृष्टि करने लगे, उस समय सब ओर सब कुछ अन्धकारसे आच्छादित हो गया। किसीको किसी भी वस्तुकी पहचान नहीं हो पाती थी ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डेऽष्टाविंशः सर्गः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें अट्ठाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २८ ॥

—★—

एकोनत्रिंशः सर्गः

रावणका देवसेनाके बीचसे होकर निकलना, देवताओंका उसे कैद करनेके लिये प्रयत्न, मेघनादका मायाद्वारा इन्द्रको बंदी बनाना तथा विजयी होकर सेनासहित लङ्काको लौटना

ततस्तमसि संजाते सर्वे ते देवराक्षसाः ।
अयुद्ध्यन्त बलोन्मत्ताः सूदयन्तः परस्परम् ॥ १ ॥

जब सब ओर अन्धकार छा गया, तब बलसे उन्मत्त हुए वे समस्त देवता और राक्षस एक-दूसरेको मारते हुए परस्पर युद्ध करने लगे ॥ १ ॥

ततस्तु देवसैन्येन राक्षसानां बृहद् बलम् ।
दशांशं स्थापितं युद्धे शेषं नीतं यमक्षयम् ॥ २ ॥

उस समय देवताओंकी सेनाने राक्षसोंके विशाल सैन्य-समूहका केवल दसवाँ हिस्सा युद्धभूमिमें खड़ा रहने दिया। शेष सब राक्षसोंको यमलोक पहुँचा दिया ॥ २ ॥

तस्मिंस्तु तामसे युद्धे सर्वे ते देवराक्षसाः।
अन्योन्यं नाभ्यजानन्त युध्यमानाः परस्परम्॥ ३॥

उस तामस युद्धमें समस्त देवता और राक्षस परस्पर जूझते हुए एक-दूसरेको पहचान नहीं पाते थे॥ ३॥

इन्द्रश्च रावणश्चैव रावणिश्च महाबलः।
तस्मिंस्तमोजालवृते मोहमीयुर्न ते त्रयः॥ ४॥

इन्द्र, रावण और रावणपुत्र महाबली मेघनाद—ये तीन ही उस अन्धकाराच्छन्न समराङ्गणमें मोहित नहीं हुए थे॥ ४॥

स तु दृष्ट्वा बलं सर्वं रावणो निहतं क्षणात्।
क्रोधमभ्यगमत् तीव्रं महानादं च मुक्तवान्॥ ५॥

रावणने देखा, मेरी सारी सेना क्षणभरमें मारी गयी, तब उसके मनमें बड़ा क्रोध हुआ और उसने बड़ी भारी गर्जना की॥ ५॥

क्रोधात् सूतं च दुर्धर्षः स्यन्दनस्थमुवाच ह।
परसैन्यस्य मध्येन यावदन्तो नयस्व माम्॥ ६॥

उस दुर्जय निशाचरने रथपर बैठे हुए अपने सारथिसे क्रोधपूर्वक कहा—'सूत! शत्रुओंकी इस सेनाका जहाँतक अन्त है, वहाँतक तुम इस सेनाके मध्यभागसे होकर मुझे ले चलो॥ ६॥

अद्यैतान् त्रिदशान् सर्वान् विक्रमैः समरे स्वयम्।
नानाशस्त्रमहासारैर्नयामि यमसादनम्॥ ७॥

'आज मैं स्वयं अपने पराक्रमद्वारा नाना प्रकारके शस्त्रोंकी महान् धारावाहिक वृष्टि करके इन सब देवताओंको यमलोक पहुँचा दूँगा॥ ७॥

अहमिन्द्रं वधिष्यामि धनदं वरुणं यमम्।
त्रिदशान् विनिहत्याशु स्वयं स्थास्याम्यथोपरि॥ ८॥

'मैं इन्द्र, कुबेर, वरुण और यमका भी वध करूँगा। सब देवताओंका शीघ्र ही संहार करके स्वयं सबके ऊपर स्थित होऊँगा॥ ८॥

विषादो नैव कर्तव्यः शीघ्रं वाहय मे रथम्।
द्विः खलु त्वां ब्रवीम्यद्य यावदन्तं नयस्व माम्॥ ९॥

'तुम्हें विषाद नहीं करना चाहिये। शीघ्र मेरे रथको ले चलो। मैं तुमसे दो बार कहता हूँ, देवताओंकी सेनाका जहाँतक अन्त है, वहाँतक मुझे अभी ले चलो॥ ९॥

अयं स नन्दनोद्देशो यत्र वर्तावहे वयम्।
नय मामद्य तत्र त्वमुदयो यत्र पर्वतः॥ १०॥

'यह नन्दनवनका प्रदेश है, जहाँ इस समय हम दोनों मौजूद हैं। यहींसे देवताओंकी सेनाका आरम्भ होता है। अब तुम मुझे उस स्थानतक ले चलो, जहाँ उदयाचल है (नन्दनवनसे उदयाचलतक देवताओंकी सेना फैली हुई है)'॥ १०॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा तुरगान् स मनोजवान्।
आदिदेशाथ शत्रूणां मध्येनैव च सारथिः॥ ११॥

रावणकी यह बात सुनकर सारथिने मनके समान वेगशाली घोड़ोंको शत्रुसेनाके बीचसे हाँक दिया॥ ११॥

तस्य तं निश्चयं ज्ञात्वा शक्रो देवेश्वरस्तदा।
रथस्थः समरस्थस्तान् देवान् वाक्यमथाब्रवीत्॥ १२॥

रावणके इस निश्चयको जानकर समरभूमिमें रथपर बैठे हुए देवराज इन्द्रने उन देवताओंसे कहा—॥ १२॥

सुराः शृणुत मद्वाक्यं यत् तावन्मम रोचते।
जीवन्नेव दशग्रीवः साधु रक्षो निगृह्यताम्॥ १३॥

'देवगण! मेरी बात सुनो। मुझे तो यही अच्छा लगता है कि इस निशाचर दशग्रीवको जीवित अवस्थामें ही भलीभाँति कैद कर लिया जाय॥ १३॥

एष ह्यतिबलः सैन्ये रथेन पवनौजसा।
गमिष्यति प्रवृद्धोर्मिः समुद्र इव पर्वणि॥ १४॥

'यह अत्यन्त बलशाली राक्षस वायुके समान वेगशाली रथके द्वारा इस सेनाके बीचमें होकर उसी तरह तीव्रगतिसे आगे बढ़ेगा, जैसे पूर्णिमाके दिन उत्ताल तरङ्गोंसे युक्त समुद्र बढ़ता है॥ १४॥

नह्येष हन्तुं शक्योऽद्य वरदानात् सुनिर्भयः।
तद् ग्रहीष्यामहे रक्षो यत्ता भवत संयुगे॥ १५॥

'यह आज मारा नहीं जा सकता; क्योंकि ब्रह्माजीके वरदानके प्रभावसे पूर्णतः निर्भय हो चुका है। इसलिये हमलोग इस राक्षसको पकड़कर कैद कर लेंगे। तुमलोग युद्धमें इस बातके लिये पूरा प्रयत्न करो॥ १५॥

यथा बलौ निरुद्धे च त्रैलोक्यं भुज्यते मया।
एवमेतस्य पापस्य निरोधो मम रोचते॥ १६॥

'जैसे राजा बलिके बाँध लिये जानेपर ही मैं तीनों लोकोंके राज्यका उपभोग कर रहा हूँ, उसी प्रकार इस पापी निशाचरको बंदी बना लिया जाय, यही मुझे अच्छा लगता है'॥ १६॥

ततोऽन्यं देशमास्थाय शक्रः संत्यज्य रावणम्।
अयुध्यत महाराज राक्षसांस्त्रासयन् रणे॥ १७॥

महाराज श्रीराम! ऐसा कहकर इन्द्रने रावणके साथ युद्ध करना छोड़ दिया और दूसरी ओर जाकर समराङ्गणमें राक्षसोंको भयभीत करते हुए वे उनके साथ युद्ध करने लगे॥ १७॥

उत्तरेण दशग्रीवः प्रविवेशानिवर्तकः।
दक्षिणेन तु पार्श्वेन प्रविवेश शतक्रतुः॥ १८॥

युद्धसे पीछे न हटनेवाले रावणने उत्तरकी ओरसे देवसेनामें प्रवेश किया और देवराज इन्द्रने दक्षिणकी ओरसे राक्षससेनामें॥ १८॥

ततः स योजनशतं प्रविष्टो राक्षसाधिपः।
देवतानां बलं सर्वं शरवर्षैरवाकिरत्॥ १९॥

देवताओंकी सेना चार सौ कोसतक फैली हुई थी।

राक्षसराज रावणने उसके भीतर घुसकर समूची देवसेनाको बाणोंकी वर्षासे ढक दिया ॥ १९ ॥

ततः शक्रो निरीक्ष्याथ प्रणष्टं तु स्वकं बलम्।
न्यवर्तयदसम्भ्रान्तः समावृत्य दशाननम्॥ २०॥

अपनी विशाल सेनाको नष्ट होती देख इन्द्रने बिना किसी घबराहटके दशमुख रावणका सामना किया और उसे चारों ओरसे घेरकर युद्धसे विमुख कर दिया ॥ २० ॥

एतस्मिन्नन्तरे नादो मुक्तो दानवराक्षसैः।
हा हताः स्म इति ग्रस्तं दृष्ट्वा शक्रेण रावणम्॥ २१॥

इसी समय रावणको इन्द्रके चंगुलमें फँसा हुआ देख दानवों तथा राक्षसोंने 'हाय! हम मारे गये' ऐसा कहकर बड़े जोरसे आर्तनाद किया ॥ २१ ॥

ततो रथं समास्थाय रावणिः क्रोधमूर्च्छितः।
तत् सैन्यमतिसंक्रुद्धः प्रविवेश सुदारुणम्॥ २२॥

तब रावणका पुत्र मेघनाद क्रोधसे अचेत-सा हो गया और रथपर बैठकर अत्यन्त कुपित हो उसने शत्रुकी भयंकर सेनामें प्रवेश किया ॥ २२ ॥

तां प्रविश्य महामायां प्राप्तां पशुपतेः पुरा।
प्रविवेश सुसंरब्धस्तत् सैन्यं समभिद्रवत्॥ २३॥

पूर्वकालमें पशुपति महादेवजीसे उसको जो तमोमयी महामाया प्राप्त हुई थी, उसमें प्रवेश करके उसने अपनेको छिपा लिया और अत्यन्त क्रोधपूर्वक शत्रुसेनामें घुसकर उसे खदेड़ना आरम्भ किया ॥ २३ ॥

स सर्वा देवतास्त्यक्त्वा शक्रमेवाभ्यधावत।
महेन्द्रश्च महातेजा नापश्यच्च सुतं रिपोः॥ २४॥

वह सब देवताओंको छोड़कर इन्द्रपर ही टूट पड़ा, परंतु महातेजस्वी इन्द्र अपने शत्रुके उस पुत्रको देख न सके ॥ २४ ॥

विमुक्तकवचस्तत्र वध्यमानोऽपि रावणिः।
त्रिदशैः सुमहावीर्यैर्न चकार च किंचन॥ २५॥

महापराक्रमी देवताओंकी मार खानेसे यद्यपि वहाँ रावणकुमारका कवच नष्ट हो गया था, तथापि उसने अपने मनमें तनिक भी भय नहीं किया ॥ २५ ॥

स मातलिं समायान्तं ताडयित्वा शरोत्तमैः।
महेन्द्रं बाणवर्षेण भूय एवाभ्यवाकिरत्॥ २६॥

उसने अपने सामने आते हुए मातलिको उत्तम बाणोंसे घायल करके सायकोंकी झड़ी लगाकर पुनः देवराज इन्द्रको भी ढक दिया ॥ २६ ॥

ततस्त्यक्त्वा रथं शक्रो विससर्ज च सारथिम्।
ऐरावतं समारुह्य मृगयामास रावणिम्॥ २७॥

तब इन्द्रने रथको छोड़कर सारथिको विदा कर दिया और ऐरावत हाथीपर आरूढ़ हो वे रावणकुमारकी खोज करने लगे ॥ २७ ॥

स तत्र मायाबलवानदृश्योऽथान्तरिक्षगः।
इन्द्रं मायापरिक्षिप्तं कृत्वा स प्राद्रवच्छरैः॥ २८॥

मेघनाद अपनी मायाके कारण बहुत प्रबल हो रहा था। वह अदृश्य होकर आकाशमें विचरने लगा और इन्द्रको मायासे व्याकुल करके बाणोंद्वारा उनपर आक्रमण किया ॥ २८ ॥

स तं यदा परिश्रान्तमिन्द्रं जज्ञेऽथ रावणिः।
तदैनं मायया बद्ध्वा स्वसैन्यमभितोऽनयत्॥ २९॥

रावणकुमारको जब अच्छी तरह मालूम हो गया कि इन्द्र बहुत थक गये हैं, तब उन्हें मायासे बाँधकर अपनी सेनामें ले आया ॥ २९ ॥

तं तु दृष्ट्वा बलात् तेन नीयमानं महारणात्।
महेन्द्रममराः सर्वे किं नु स्यादित्यचिन्तयन्॥ ३०॥

महेन्द्रको उस महासमरसे मेघनादद्वारा बलपूर्वक ले जाये जाते देख सब देवता यह सोचने लगे कि अब क्या होगा? ॥ ३० ॥

दृश्यते न स मायावी शक्रजित् समितिंजयः।
विद्यावानपि येनेन्द्रो माययापहृतो बलात्॥ ३१॥

'यह युद्धविजयी मायावी राक्षस स्वयं तो दिखायी देता नहीं, इसीलिये इन्द्रपर विजय पानेमें सफल हुआ है। यद्यपि देवराज इन्द्र राक्षसी मायाका संहार करनेकी विद्या जानते हैं, तथापि इस राक्षसने मायाद्वारा बलपूर्वक इनका अपहरण किया है' ॥ ३१ ॥

एतस्मिन्नन्तरे क्रुद्धाः सर्वे सुरगणास्तदा।
रावणं विमुखीकृत्य शरवर्षैरवाकिरन्॥ ३२॥

ऐसा सोचते हुए वे सब देवता उस समय रोषसे भर गये और रावणको युद्धसे विमुख करके उसपर बाणोंकी झड़ी लगाने लगे ॥ ३२ ॥

रावणस्तु समासाद्य आदित्यांश्च वसूंस्तदा।
न शशाक स संग्रामे योद्धुं शत्रुभिरर्दितः॥ ३३॥

रावण आदित्यों और वसुओंका सामना पड़ जानेपर युद्धमें उनके सम्मुख ठहर न सका; क्योंकि शत्रुओंने उसे बहुत पीड़ित कर दिया था ॥ ३३ ॥

स तं दृष्ट्वा परिम्लानं प्रहारैर्जर्जरीकृतम्।
रावणिः पितरं युद्धेऽदर्शनस्थोऽब्रवीदिदम्॥ ३४॥

मेघनादने देखा पिताका शरीर बाणोंके प्रहारसे जर्जर हो गया है और वे युद्धमें उदास दिखायी देते हैं। तब वह अदृश्य रहकर ही रावणसे इस प्रकार बोला— ॥ ३४ ॥

आगच्छ तात गच्छामो रणकर्म निवर्तताम्।
जितं नो विदितं तेऽस्तु स्वस्थो भव गतज्वरः॥ ३५॥

'पिताजी! चले आइये। अब हमलोग घर चलें। युद्ध बंद कर दिया जाय। हमारी जीत हो गयी; अतः आप स्वस्थ, निश्चिन्त एवं प्रसन्न हो जाइये ॥ ३५ ॥

अयं हि सुरसैन्यस्य त्रैलोक्यस्य च यः प्रभुः ।
स गृहीतो देवबलाद् भग्नदर्पाः सुराः कृताः ॥ ३६ ॥

'ये जो देवताओंकी सेना तथा तीनों लोकोंके स्वामी इन्द्र हैं, इन्हें मैं देवसेनाके बीचसे कैद कर लाया हूँ। ऐसा करके मैंने देवताओंका घमंड चूर कर दिया है ॥ ३६ ॥

यथेष्टं भुङ्क्ष्व लोकांस्त्रीन् निगृह्यारातिमोजसा ।
वृथा किं ते श्रमेणेह युद्धमद्य तु निष्फलम् ॥ ३७ ॥

'आप अपने शत्रुको बलपूर्वक कैद करके इच्छानुसार तीनों लोकोंका राज्य भोगिये। यहाँ व्यर्थ श्रम करनेसे आपको क्या लाभ है? अब युद्धसे कोई प्रयोजन नहीं है' ॥ ३७ ॥

ततस्ते दैवतगणा निवृत्ता रणकर्मणः ।
तच्छ्रुत्वा रावणेर्वाक्यं शक्रहीनाः सुरा गताः ॥ ३८ ॥

मेघनादकी यह बात सुनकर सब देवता युद्धसे निवृत्त हो गये और इन्द्रको साथ लिये बिना ही लौट गये ॥ ३८ ॥

अथ रणविगतः स उत्तमौजा-
त्रिदशरिपुः प्रथितो निशाचरेन्द्रः ।
स्वसुतवचनमादृतः प्रियं तत्
समनुनिशाम्य जगाद चैव सूनुम् ॥ ३९ ॥

अपने पुत्रके उस प्रिय वचनको आदरपूर्वक सुनकर महान् बलशाली देवद्रोही तथा सुविख्यात राक्षसराज रावण युद्धसे निवृत्त हो गया और अपने बेटेसे बोला— ॥ ३९ ॥

अतिबलसदृशैः पराक्रमैस्त्वं
मम कुलवंशविवर्धनः प्रभो ।
यदयमतुल्यबलस्त्वयाद्य वै
त्रिदशपतिस्त्रिदशाश्च निर्जिताः ॥ ४० ॥

'सामर्थ्यशाली पुत्र! अपने अत्यन्त बलके अनुरूप पराक्रम प्रकट करके आज तुमने जो इन अनुपम बलशाली देवराज इन्द्रको जीता और देवताओंको भी परास्त किया है, इससे यह निश्चय हो गया कि तुम मेरे कुल और वंशके यश और सम्मानकी वृद्धि करनेवाले हो ॥ ४० ॥

नय रथमधिरोप्य वासवं नगर-
मितो व्रज सेनया वृतस्त्वम् ।
अहमपि तव पृष्ठतो द्रुतं
सह सचिवैरनुयामि हृष्टवत् ॥ ४१ ॥

'बेटा! इन्द्रको रथपर बैठाकर तुम सेनाके साथ यहाँसे लङ्कापुरीको चलो! मैं भी अपने मन्त्रियोंके साथ शीघ्र ही प्रसन्नतापूर्वक तुम्हारे पीछे-पीछे आ रहा हूँ ॥ ४१ ॥

अथ स बलवृतः सवाहन-
स्त्रिदशपतिं परिगृह्य रावणिः ।
स्वभवनमधिगम्य वीर्यवान्
कृतसमरान् विससर्ज राक्षसान् ॥ ४२ ॥

पिताकी यह आज्ञा पाकर पराक्रमी रावणकुमार मेघनाद देवराजको साथ ले सेना और सवारियोंसहित अपने निवासस्थानको लौटा। वहाँ पहुँचकर उसने युद्धमें भाग लेनेवाले निशाचरोंको विदा कर दिया ॥ ४२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे एकोनत्रिंशः सर्गः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें उनतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २९ ॥

—★—

त्रिंशः सर्गः

ब्रह्माजीका इन्द्रजित्‌को वरदान देकर इन्द्रको उसकी कैदसे छुड़ाना और उनके पूर्वकृत पापकर्मको याद दिलाकर उनसे वैष्णव-यज्ञका अनुष्ठान करनेके लिये कहना, उस यज्ञको पूर्ण करके इन्द्रका स्वर्गलोकमें जाना

जिते महेन्द्रेऽतिबले रावणस्य सुतेन वै ।
प्रजापतिं पुरस्कृत्य ययुर्लङ्कां सुरास्तदा ॥ १ ॥

रावणपुत्र मेघनाद जब अत्यन्त बलशाली इन्द्रको जीतकर अपने नगरमें ले गया, तब सम्पूर्ण देवता प्रजापति ब्रह्माजीको आगे करके लङ्कामें पहुँचे ॥ १ ॥

तत्र रावणमासाद्य पुत्रभ्रातृभिरावृतम् ।
अब्रवीद् गगने तिष्ठन् सामपूर्वं प्रजापतिः ॥ २ ॥

ब्रह्माजी आकाशमें खड़े-खड़े ही पुत्रों और भाइयोंके साथ बैठे हुए रावणके निकट जा उसे कोमल वाणीमें समझाते हुए बोले— ॥ २ ॥

वत्स रावण तुष्टोऽस्मि पुत्रस्य तव संयुगे ।
अहोऽस्य विक्रमौदार्यं तव तुल्योऽधिकोऽपि वा ॥ ३ ॥

'वत्स रावण! युद्धमें तुम्हारे पुत्रकी वीरता देखकर मैं बहुत संतुष्ट हुआ हूँ। अहो! इसका उदार पराक्रम तुम्हारे समान या तुमसे भी बढ़कर है ॥ ३ ॥

जितं हि भवता सर्वं त्रैलोक्यं स्वेन तेजसा ।
कृता प्रतिज्ञा सफला प्रीतोऽस्मि ससुतस्य ते ॥ ४ ॥

'तुमने अपने तेजसे समस्त त्रिलोकीपर विजय पायी है

और अपनी प्रतिज्ञा सफल कर ली है। इसलिये पुत्रसहित तुमपर मैं बहुत प्रसन्न हूँ॥ ४॥

अयं च पुत्रोऽतिबलस्तव रावण वीर्यवान्।
जगतीन्द्रजिदित्येव परिख्यातो भविष्यति॥ ५॥

'रावण! तुम्हारा यह पुत्र अतिशय बलशाली और पराक्रमी है। आजसे यह संसारमें इन्द्रजित्‌के नामसे विख्यात होगा॥ ५॥

बलवान् दुर्जयश्चैव भविष्यत्येव राक्षसः।
यं समाश्रित्य ते राजन् स्थापितास्त्रिदशा वशे॥ ६॥

'राजन्! यह राक्षस बड़ा बलवान् और दुर्जय होगा, जिसका आश्रय लेकर तुमने समस्त देवताओंको अपने अधीन कर लिया॥ ६॥

तन्मुच्यतां महाबाहो महेन्द्रः पाकशासनः।
किं चास्य मोक्षणार्थाय प्रयच्छन्तु दिवौकसः॥ ७॥

'महाबाहो! अब तुम पाकशासन इन्द्रको छोड़ दो और बताओ इन्हें छोड़नेके बदलेमें देवता तुम्हें क्या दें'॥ ७॥

अथाब्रवीन्महातेजा इन्द्रजित् समितिंजयः।
अमरत्वमहं देव वृणे यद्येष मुच्यते॥ ८॥

तब युद्धविजयी महातेजस्वी इन्द्रजित्‌ने स्वयं ही कहा—'देव! यदि इन्द्रको छोड़ना है तो मैं इसके बदलेमें अमरत्व लेना चाहता हूँ'॥ ८॥

ततोऽब्रवीन्महातेजा मेघनादं प्रजापतिः।
नास्ति सर्वामरत्वं हि कस्यचित् प्राणिनो भुवि॥ ९॥
पक्षिणश्चतुष्पदो वा भूतानां वा महौजसाम्।

यह सुनकर महातेजस्वी प्रजापति ब्रह्माजीने मेघनादसे कहा—'बेटा! इस भूतलपर पक्षियों, चौपायों तथा महातेजस्वी मनुष्य आदि प्राणियोंमेंसे कोई भी प्राणी सर्वथा अमर नहीं हो सकता'॥ ९½॥

श्रुत्वा पितामहेनोक्तमिन्द्रजित् प्रभुणाव्ययम्॥ १०॥
अथाब्रवीत् स तत्रस्थं मेघनादो महाबलः।

भगवान् ब्रह्माजीकी कही हुई यह बात सुनकर इन्द्रविजयी महाबली मेघनादने वहाँ खड़े हुए अविनाशी ब्रह्माजीसे कहा—॥ १०½॥

श्रूयतां या भवेत् सिद्धिः शतक्रतुविमोक्षणे॥ ११॥
ममेष्टं नित्यशो हव्यैर्मन्त्रैः सम्पूज्य पावकम्।
संग्राममवतर्तुं च शत्रुनिर्जयकाङ्क्षिणः॥ १२॥
अश्वयुक्तो रथो मह्यमुत्तिष्ठेत् तु विभावसोः।
तत्स्थस्यामरता स्यान्मे एष मे निश्चितो वरः॥ १३॥

'भगवन्! (यदि सर्वथा अमरत्व प्राप्त होना असम्भव है) तब इन्द्रको छोड़नेके सम्बन्धमें जो मेरी दूसरी शर्त है—जो दूसरी सिद्धि प्राप्त करना मुझे अभीष्ट है, उसे सुनिये। मेरे विषयमें यह सदाके लिये नियम हो जाय कि जब मैं शत्रुपर विजय पानेकी इच्छासे संग्राममें उतरना चाहूँ और मन्त्रयुक्त हव्यकी आहुतिसे अग्निदेवकी पूजा करूँ, उस समय अग्निसे मेरे लिये एक ऐसा रथ प्रकट हो जाया करे, जो घोड़ोंसे जुता-जुताया तैयार हो और उसपर जबतक मैं बैठा रहूँ, तबतक मुझे कोई भी मार न सके, यही मेरा निश्चित वर है॥ ११—१३॥

तस्मिन् यद्यसमाप्ते च जप्यहोमे विभावसौ।
युध्येयं देव संग्रामे तदा मे स्याद् विनाशनम्॥ १४॥

'यदि युद्धके निमित्त किये जानेवाले जप और होमको पूर्ण किये बिना ही मैं समराङ्गणमें युद्ध करने लगूँ, तभी मेरा विनाश हो॥ १४॥

सर्वो हि तपसा देव वृणोत्यमरतां पुमान्।
विक्रमेण मया त्वेतदमरत्वं प्रवर्तितम्॥ १५॥

'देव! सब लोग तपस्या करके अमरत्व प्राप्त करते हैं; परंतु मैंने पराक्रमद्वारा इस अमरत्वका वरण किया है'॥ १५॥

एवमस्त्विति तं चाह वाक्यं देवः पितामहः।
मुक्तश्चेन्द्रजिता शक्रो गताश्च त्रिदिवं सुराः॥ १६॥

यह सुनकर भगवान् ब्रह्माजीने कहा—'एवमस्तु (ऐसा ही हो)'। इसके बाद इन्द्रजित्‌ने इन्द्रको मुक्त कर दिया और सब देवता उन्हें साथ लेकर स्वर्गलोकको चले गये॥ १६॥

एतस्मिन्नन्तरे राम दीनो भ्रष्टामरद्युतिः।
इन्द्रश्चिन्तापरीतात्मा ध्यानतत्परतां गतः॥ १७॥

श्रीराम! उस समय इन्द्रका देवोचित तेज नष्ट हो गया था। वे दुःखी हो चिन्तामें डूबकर अपनी पराजयका कारण सोचने लगे॥ १७॥

तं तु दृष्ट्वा तथा भूतं प्राह देवः पितामहः।
शतक्रतो किमु पुरा करोति स्म सुदुष्कृतम्॥ १८॥

भगवान् ब्रह्माजीने उनकी इस अवस्थाको लक्ष्य किया और कहा—'शतक्रतो! यदि आज तुम्हें इस अपमानसे शोक और दुःख हो रहा है तो बताओ पूर्वकालमें तुमने बड़ा भारी दुष्कर्म क्यों किया था?॥ १८॥

अमरेन्द्र मया बुद्ध्या प्रजाः सृष्टास्तथा प्रभो।
एकवर्णाः समाभाषा एकरूपाश्च सर्वशः॥ १९॥

'प्रभो! देवराज! पहले मैंने अपनी बुद्धिसे जिन प्रजाओंको उत्पन्न किया था, उन सबकी अङ्गकान्ति, भाषा, रूप और अवस्था सभी बातें एक-जैसी थीं॥ १९॥

तासां नास्ति विशेषो हि दर्शने लक्षणेऽपि वा।
ततोऽहमेकाग्रमनास्ताः प्रजाः समचिन्तयम्॥ २०॥

'उनके रूप और रंग आदिमें परस्पर कोई विलक्षणता नहीं थी। तब मैं एकाग्रचित्त होकर उन प्रजाओंके विषयमें विशेषता लानेके लिये कुछ विचार करने लगा॥ २०॥

सोऽहं तासां विशेषार्थं स्त्रियमेकां विनिर्ममे।
यद् यत् प्रजानां प्रत्यङ्गं विशिष्टं तत् तदुद्धृतम्॥ २१॥

'विचारके पश्चात् उन सब प्रजाओंकी अपेक्षा विशिष्ट प्रजाको प्रस्तुत करनेके लिये मैंने एक नारीकी सृष्टि की। प्रजाओंके प्रत्येक अङ्गमें जो-जो अद्भुत विशिष्टता—सारभूत सौन्दर्य था, उसे मैंने उसके अङ्गोंमें प्रकट किया ॥ २१ ॥

ततो मया रूपगुणैरहल्या स्त्री विनिर्मिता।
हलं नामेह वैरूप्यं हल्यं तत्प्रभवं भवेत् ॥ २२ ॥
यस्या न विद्यते हल्यं तेनाहल्येति विश्रुता।
अहल्येत्येव च मया तस्या नाम प्रकीर्तितम् ॥ २३ ॥

'उन अद्भुत रूप-गुणोंसे उपलक्षित जिस नारीका मेरे द्वारा निर्माण हुआ था, उसका नाम हुआ अहल्या। इस जगत्‌में हल कहते हैं कुरूपताको, उससे जो निन्दनीयता प्रकट होती है उसका नाम हल्य है। जिस नारीमें हल्य (निन्दनीय रूप) न हो, वह अहल्या कहलाती है; इसीलिये वह नवनिर्मित नारी अहल्या नामसे विख्यात हुई। मैंने ही उसका नाम अहल्या रख दिया था ॥ २२-२३ ॥

निर्मितायां च देवेन्द्र तस्यां नार्यां सुरर्षभ।
भविष्यतीति कस्यैषा मम चिन्ता ततोऽभवत् ॥ २४ ॥

'देवेन्द्र! सुरश्रेष्ठ! जब उस नारीका निर्माण हो गया, तब मेरे मनमें यह चिन्ता हुई कि यह किसकी पत्नी होगी? ॥ २४ ॥

त्वं तु शक्र तदा नारीं जानीषे मनसा प्रभो।
स्थानाधिकतया पत्नी ममैषेति पुरंदर ॥ २५ ॥

'प्रभो! पुरंदर! देवेन्द्र! उन दिनों तुम अपने स्थान और पदकी श्रेष्ठताके कारण मेरे अनुमतिके बिना ही मन-ही-मन यह समझने लगे थे कि यह मेरी ही पत्नी होगी ॥ २५ ॥

सा मया न्यासभूता तु गौतमस्य महात्मनः।
न्यस्ता बहूनि वर्षाणि तेन निर्यातिता च ह ॥ २६ ॥

'मैंने धरोहरके रूपमें महर्षि गौतमके हाथमें उस कन्याको सौंप दिया। वह बहुत वर्षोंतक उनके यहाँ रही। फिर गौतमने उसे मुझे लौटा दिया ॥ २६ ॥

ततस्तस्य परिज्ञाय महास्थैर्यं महामुनेः।
ज्ञात्वा तपसि सिद्धिं च पत्न्यर्थं स्पर्शिता तदा ॥ २७ ॥

'महामुनि गौतमके उस महान् स्थैर्य (इन्द्रिय-संयम) तथा तपस्याविषयक सिद्धिको जानकर मैंने वह कन्या पुनः उन्हींको पत्नीरूपमें दे दी ॥ २७ ॥

स तया सह धर्मात्मा रमते स्म महामुनिः।
आसन्निराशा देवास्तु गौतमे दत्तया तया ॥ २८ ॥

'धर्मात्मा महामुनि गौतम उसके साथ सुखपूर्वक रहने लगे। जब अहल्या गौतमको दे दी गयी, तब देवता निराश हो गये ॥ २८ ॥

त्वं क्रुद्धस्त्विह कामात्मा गत्वा तस्याश्रमं मुनेः।
दृष्टवांश्च तदा तां स्त्रीं दीप्तामग्निशिखामिव ॥ २९ ॥

'तुम्हारे तो क्रोधकी सीमा न रही। तुम्हारा मन कामके अधीन हो चुका था; इसलिये तुमने मुनिके आश्रमपर जाकर अग्निशिखाके समान प्रज्वलित होनेवाली उस दिव्य सुन्दरीको देखा ॥ २९ ॥

सा त्वया धर्षिता शक्र कामार्तेन समन्युना।
दृष्टस्त्वं स तदा तेन आश्रमे परमर्षिणा ॥ ३० ॥

'इन्द्र! तुमने कुपित और कामसे पीड़ित होकर उसके साथ बलात्कार किया। उस समय उन महर्षिने अपने आश्रममें तुम्हें देख लिया ॥ ३० ॥

ततः क्रुद्धेन तेनासि शप्तः परमतेजसा।
गतोऽसि येन देवेन्द्र दशाभागविपर्ययम् ॥ ३१ ॥

'देवेन्द्र! इससे उन परम तेजस्वी महर्षिको बड़ा क्रोध हुआ और उन्होंने तुम्हें शाप दे दिया। उसी शापके कारण तुमको इस विपरीत दशामें आना पड़ा है—शत्रुका बंदी बनना पड़ा है ॥ ३१ ॥

यस्मान्मे धर्षिता पत्नी त्वया वासव निर्भयात्।
तस्मात् त्वं समरे शक्र शत्रुहस्तं गमिष्यसि ॥ ३२ ॥

'उन्होंने शाप देते हुए कहा—'वासव! शक्र! तुमने निर्भय होकर मेरी पत्नीके साथ बलात्कार किया है; इसलिये तुम युद्धमें जाकर शत्रुके हाथमें पड़ जाओगे ॥ ३२ ॥

अयं तु भावो दुर्बुद्धे यस्त्वयेह प्रवर्तितः।
मानुषेष्वपि लोकेषु भविष्यति न संशयः ॥ ३३ ॥

'दुर्बुद्धे! तुम-जैसे राजाके दोषसे मनुष्यलोकमें भी यह जारभाव प्रचलित हो जायगा, जिसका तुमने स्वयं यहाँ सूत्रपात किया है; इसमें संशय नहीं है ॥ ३३ ॥

तत्रार्धं तस्य यः कर्ता त्वय्यर्धं निपतिष्यति।
न च ते स्थावरं स्थानं भविष्यति न संशयः ॥ ३४ ॥

'जो जारभावसे पापाचार करेगा, उस पुरुषपर उस पापका आधा भाग पड़ेगा और आधा तुमपर पड़ेगा; क्योंकि इसके प्रवर्तक तुम्हीं हो। निःसंदेह तुम्हारा यह स्थान स्थिर नहीं होगा ॥ ३४ ॥

यश्च यश्च सुरेन्द्रः स्याद् ध्रुवः स न भविष्यति।
एष शापो मया मुक्त इत्यसौ त्वां तदाब्रवीत् ॥ ३५ ॥

'जो कोई भी देवराजके पदपर प्रतिष्ठित होगा, वह वहाँ स्थिर नहीं रहेगा। यह शाप मैंने इन्द्रमात्रके लिये दे दिया है।' यह बात मुनिने तुमसे कही थी ॥ ३५ ॥

तां तु भार्यां सुनिर्भर्त्स्य सोऽब्रवीत् सुमहातपाः।
दुर्विनीते विनिध्वंस ममाश्रमसमीपतः ॥ ३६ ॥
रूपयौवनसम्पन्ना यस्मात् त्वमनवस्थिता।
तस्माद् रूपवती लोके न त्वमेका भविष्यति ॥ ३७ ॥

'फिर उन महातपस्वी मुनिने अपनी उस पत्नीको भी भलीभाँति डाँट-फटकारकर कहा—'दुष्टे! तू मेरे आश्रमके पास ही अदृश्य होकर रह और अपने रूप-सौन्दर्यसे भ्रष्ट हो जा। रूप और यौवनसे सम्पन्न होकर मर्यादामें स्थित नहीं

रह सकी है, इसलिये अब लोकमें तू अकेली ही रूपवती नहीं रहेगी (बहुत-सी रूपवती स्त्रियाँ उत्पन्न हो जायँगी) ॥ ३६-३७ ॥

रूपं च ते प्रजाः सर्वा गमिष्यन्ति न संशयः ।
यत् तदेकं समाश्रित्य विभ्रमोऽयमुपस्थितः ॥ ३८ ॥

'जिस एक रूप-सौन्दर्यको लेकर इन्द्रके मनमें यह काम-विकार उत्पन्न हुआ था, तेरे उस रूप-सौन्दर्यको समस्त प्रजाएँ प्राप्त कर लेंगी; इसमें संशय नहीं है' ॥ ३८ ॥

तदाप्रभृति भूयिष्ठं प्रजा रूपसमन्विता ।
सा तं प्रसादयामास महर्षिं गौतमं तदा ॥ ३९ ॥
अज्ञानाद् धर्षिता विप्र त्वद्रूपेण दिवौकसा ।
न कामकाराद् विप्रर्षे प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ ४० ॥

'तभीसे अधिकांश प्रजा रूपवती होने लगी। अहल्याने उस समय विनीत-वचनोंद्वारा महर्षि गौतमको प्रसन्न किया और कहा—'विप्रवर! ब्रह्मर्षे! देवराजने आपका ही रूप धारण करके मुझे कलङ्कित किया है। मैं उसे पहचान न सकी थी। अतः अनजानमें मुझसे यह अपराध हुआ है, स्वेच्छाचारवश नहीं। इसलिये आपको मुझपर कृपा करनी चाहिये' ॥ ३९-४० ॥

अहल्यया त्वेवमुक्तः प्रत्युवाच स गौतमः ।
उत्पत्स्यति महातेजा इक्ष्वाकूणां महारथः ॥ ४१ ॥
रामो नाम श्रुतो लोके वनं चाप्युपयास्यति ।
ब्राह्मणार्थे महाबाहुर्विष्णुर्मानुषविग्रहः ॥ ४२ ॥
तं द्रक्ष्यसि तदा भद्रे ततः पूता भविष्यसि ।
स हि पावयितुं शक्तस्त्वया यद् दुष्कृतं कृतम् ॥ ४३ ॥

'अहल्याके ऐसा कहनेपर गौतमने उत्तर दिया—'भद्रे! इक्ष्वाकुवंशमें एक महातेजस्वी महारथी वीरका अवतार होगा, जो संसारमें श्रीरामके नामसे विख्यात होंगे। महाबाहु श्रीरामके रूपमें साक्षात् भगवान् विष्णु ही मनुष्य-शरीर धारण करके प्रकट होंगे। वे ब्राह्मण (विश्वामित्र आदि) के कार्यसे तपोवनमें पधारेंगे। जब तुम उनका दर्शन करोगी, तब पवित्र हो जाओगी। तुमने जो पाप किया है, उससे तुम्हें वे ही पवित्र कर सकते हैं ॥ ४१—४३ ॥

तस्यातिथ्यं च कृत्वा वै मत्समीपं गमिष्यसि ।
वत्स्यसि त्वं मया सार्धं तदा हि वरवर्णिनि ॥ ४४ ॥

'वरवर्णिनि! उनका आतिथ्य-सत्कार करके तुम मेरे पास आ जाओगी और फिर मेरे ही साथ रहने लगोगी' ॥ ४४ ॥

एवमुक्त्वा तु विप्रर्षिराजगाम स्वमाश्रमम् ।
तपश्चचार सुमहत् सा पत्नी ब्रह्मवादिनः ॥ ४५ ॥

'ऐसा कहकर ब्रह्मर्षि गौतम अपने आश्रमके भीतर आ गये और उन ब्रह्मवादी मुनिकी पत्नी वह अहल्या बड़ी भारी तपस्या करने लगी ॥ ४५ ॥

शापोत्सर्गाद्धि तस्येदं मुनेः सर्वमुपस्थितम् ।
तत् स्मर त्वं महाबाहो दुष्कृतं यत् त्वया कृतम् ॥ ४६ ॥

'महाबाहो! उन ब्रह्मर्षि गौतमके शाप देनेसे ही तुमपर यह सारा संकट उपस्थित हुआ है। अतः तुमने जो पाप किया था, उसको याद करो ॥ ४६ ॥

तेन त्वं ग्रहणं शत्रोर्यातो नान्येन वासव ।
शीघ्रं वै यज यज्ञं त्वं वैष्णवं सुसमाहितः ॥ ४७ ॥

'वासव! उस शापके ही कारण तुम शत्रुकी कैदमें पड़े हो, दूसरे किसी कारणसे नहीं। अतः अब एकाग्रचित्त हो शीघ्र ही वैष्णव-यज्ञका अनुष्ठान करो ॥ ४७ ॥

पावितस्तेन यज्ञेन यास्यसे त्रिदिवं ततः ।
पुत्रश्च तव देवेन्द्र न विनष्टो महारणे ॥ ४८ ॥
नीतः संनिहितश्चैव आर्यकेण महोदधौ ।

'देवेन्द्र! उस यज्ञसे पवित्र होकर तुम पुनः स्वर्गलोक प्राप्त कर लोगे। तुम्हारा पुत्र जयन्त उस महासमरमें मारा नहीं गया है। उसका नाना पुलोमा उसे महासागरमें ले गया है। इस समय वह उसीके पास है' ॥ ४८½ ॥

एतच्छ्रुत्वा महेन्द्रस्तु यज्ञमिष्ट्वा च वैष्णवम् ॥ ४९ ॥
पुनस्त्रिदिवमाक्रामदन्वशासच्च देवराट् ।

ब्रह्माजीकी यह बात सुनकर देवराज इन्द्रने वैष्णव-यज्ञका अनुष्ठान किया। वह यज्ञ पूरा करके देवराज स्वर्गलोकमें गये और वहाँ देवराज्यका शासन करने लगे ॥ ४९½ ॥

एतदिन्द्रजितो नाम बलं यत् कीर्तितं मया ॥ ५० ॥
निर्जितस्तेन देवेन्द्रः प्राणिनोऽन्ये तु किं पुनः ।

रघुनन्दन! यह है इन्द्रविजयी मेघनादका बल, जिसका मैंने आपसे वर्णन किया है। उसने देवराज इन्द्रको भी जीत लिया था; फिर दूसरे प्राणियोंकी तो बिसात ही क्या थी ॥ ५०½ ॥

आश्चर्यमिति रामश्च लक्ष्मणश्चाब्रवीत् तदा ॥ ५१ ॥
अगस्त्यवचनं श्रुत्वा वानरा राक्षसास्तदा ।

अगस्त्यजीकी यह बात सुनकर श्रीराम और लक्ष्मण तत्काल बोल उठे—'आश्चर्य है!' साथ ही वानरों और राक्षसोंको भी इस बातसे बड़ा विस्मय हुआ ॥ ५१½ ॥

विभीषणस्तु रामस्य पार्श्वस्थो वाक्यमब्रवीत् ॥ ५२ ॥
आश्चर्यं स्मारितोऽस्म्यद्य यत् तद् दृष्टं पुरातनम् ।

उस समय श्रीरामके बगलमें बैठे हुए विभीषणने

कहा—'मैंने पूर्वकालमें जो आश्चर्यकी बातें देखी थीं, उनका आज महर्षिने स्मरण दिला दिया है' ॥ ५२ ॥

अगस्त्यं त्वब्रवीद् रामः सत्यमेतच्छ्रुतं च मे ॥ ५३ ॥
एवं राम समुद्भूतो रावणो लोककण्टकः।
सपुत्रो येन संग्रामे जितः शक्रः सुरेश्वरः ॥ ५४ ॥

तब श्रीरामचन्द्रजीने अगस्त्यजीसे कहा—'आपकी बात सत्य है। मैंने भी विभीषणके मुखसे यह बात सुनी थी।' फिर अगस्त्यजी बोले—'श्रीराम! इस प्रकार पुत्रसहित रावण सम्पूर्ण जगत्‌के लिये कण्टकरूप था, जिसने देवराज इन्द्रको भी संग्राममें जीत लिया था' ॥ ५३-५४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे त्रिंशः सर्गः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३० ॥

—★—

एकत्रिंशः सर्गः

रावणका माहिष्मतीपुरीमें जाना और वहाँके राजा अर्जुनको न पाकर मन्त्रियोंसहित उसका विन्ध्यगिरिके समीप नर्मदामें नहाकर भगवान् शिवकी आराधना करना

ततो रामो महातेजा विस्मयात् पुनरेव हि।
उवाच प्रणतो वाक्यमगस्त्यमृषिसत्तमम् ॥ १ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी श्रीरामने मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यको प्रणाम करके पुनः विस्मयपूर्वक पूछा— ॥ १ ॥

भगवन् राक्षसः क्रूरो यदाप्रभृति मेदिनीम्।
पर्यटत् किं तदा लोकाः शून्या आसन् द्विजोत्तम ॥ २ ॥

'भगवन्! द्विजश्रेष्ठ! जब क्रूर निशाचर रावण पृथ्वीपर विजय करता घूम रहा था, उस समय क्या यहाँके सभी लोग शौर्यसम्बन्धी गुणोंसे शून्य ही थे?॥ २ ॥

राजा वा राजमात्रो वा किं तदा नात्र कश्चन।
धर्षणं यत्र न प्राप्तो रावणो राक्षसेश्वरः ॥ ३ ॥

'क्या उन दिनों यहाँ कोई भी क्षत्रिय-नरेश अथवा क्षत्रियेतर राजा अधिक बलवान् नहीं था, जिससे इस भूतलपर पहुँचकर राक्षसराज रावणको पराजित या अपमानित होना नहीं पड़ा ॥ ३ ॥

उताहो हतवीर्यास्ते बभूवुः पृथिवीक्षितः।
बहिष्कृता वरास्त्रैश्च बहवो निर्जिता नृपाः ॥ ४ ॥

'अथवा उस समयके सभी राजा पराक्रमशून्य तथा शस्त्रज्ञानसे हीन थे, जिसके कारण उन बहुसंख्यक श्रेष्ठ नरपालोंको रावणसे परास्त होना पड़ा' ॥ ४ ॥

राघवस्य वचः श्रुत्वा अगस्त्यो भगवानृषिः।
उवाच रामं प्रहसन् पितामह इवेश्वरम् ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी यह बात सुनकर भगवान् अगस्त्यमुनि ठठाकर हँस पड़े और जैसे ब्रह्माजी महादेवजीसे कोई बात कहते हों, इसी तरह वे श्रीरामचन्द्रजीसे बोले— ॥ ५ ॥

इत्येवं बाधमानस्तु पार्थिवान् पार्थिवर्षभ।
चचार रावणो राम पृथिवीं पृथिवीपते ॥ ६ ॥

'पृथ्वीनाथ! भूपालशिरोमणे! श्रीराम! इसी प्रकार सब राजाओंको सताता और पराजित करता हुआ रावण इस पृथ्वीपर विचरने लगा ॥ ६ ॥

ततो माहिष्मतीं नाम पुरीं स्वर्गपुरीप्रभाम्।
सम्प्राप्तो यत्र सांनिध्यं सदासीद् वसुरेतसः ॥ ७ ॥

'घूमते-घूमते वह स्वर्गपुरी अमरावतीके समान सुशोभित होनेवाली माहिष्मती नामक नगरीमें जा पहुँचा, जहाँ अग्निदेव सदा विद्यमान रहते थे ॥ ७ ॥

तुल्य आसीन्नृपस्तस्य प्रभावाद् वसुरेतसः।
अर्जुनो नाम यत्राग्निः शरकुण्डेशयः सदा ॥ ८ ॥

'उन अग्निदेवके प्रभावसे वहाँ अग्निके ही समान तेजस्वी अर्जुन नामक राजा राज्य करता था, जिसके राज्यकालमें कुशास्तरणसे युक्त अग्निकुण्डमें सदा अग्निदेवता निवास करते थे ॥ ८ ॥

तमेव दिवसं सोऽथ हैहयाधिपतिर्बली।
अर्जुनो नर्मदां रन्तुं गतः स्त्रीभिः सहेश्वरः ॥ ९ ॥

'जिस दिन रावण वहाँ पहुँचा, उसी दिन बलवान् हैहयराज राजा अर्जुन अपनी स्त्रियोंके साथ नर्मदा-नदीमें जल-क्रीड़ा करनेके लिये चला गया था ॥ ९ ॥

तमेव दिवसं सोऽथ रावणस्तत्र आगतः।
रावणो राक्षसेन्द्रस्तु तस्यामात्यानपृच्छत ॥ १० ॥

'उसी दिन रावण माहिष्मतीपुरीमें आया। वहाँ आकर राक्षसराज रावणने राजाके मन्त्रियोंसे पूछा— ॥ १० ॥

क्वार्जुनो नृपतिः शीघ्रं सम्यगाख्यातुमर्हथ।
रावणोऽहमनुप्राप्तो युद्धेप्सुर्नृवरेण ह ॥ ११ ॥

'मन्त्रियो ! जल्दी और ठीक-ठीक बताओ, राजा अर्जुन कहाँ हैं? मैं रावण हूँ और तुम्हारे महाराजसे युद्ध करनेके लिये आया हूँ॥ ११ ॥

ममागमनमप्यग्रे युष्माभि: संनिवेद्यताम्।
इत्येवं रावणेनोक्तास्तेऽमात्या: सुविपश्चित:॥ १२ ॥
अब्रुवन् राक्षसपतिमसांनिध्यं महीपते:।

'तुमलोग पहले ही जाकर उन्हें मेरे आगमनकी सूचना दे दो।' रावणके ऐसा कहनेपर राजाके विद्वान् मन्त्रियोंने राक्षसराजको बताया कि हमारे महाराज इस समय राजधानीमें नहीं हैं॥१२½॥

श्रुत्वा विश्रवस: पुत्र: पौराणामर्जुनं गतम्॥ १३ ॥
अपसृत्यागतो विन्ध्यं हिमवत्संनिभं गिरिम्।

'पुरवासियोंके मुखसे राजा अर्जुनके बाहर जानेकी बात सुनकर विश्रवाका पुत्र रावण वहाँसे हटकर हिमालयके समान विशाल विन्ध्यगिरिपर आया॥१३½॥

स तमभ्रमिवाविष्टमुद्भ्रान्तमिव मेदिनीम्॥ १४ ॥
अपश्यद् रावणो विन्ध्यमालिखन्तमिवाम्बरम्।
सहस्रशिखरोपेतं सिंहाध्युषितकन्दरम्॥ १५ ॥

'वह इतना ऊँचा था कि उसका शिखर बादलोंमें समाया हुआ-सा जान पड़ता था तथा वह पर्वत पृथ्वी फोड़कर ऊपरको उठा हुआ-सा प्रतीत होता था। विन्ध्यके गगनचुम्बी शिखर आकाशमें रेखा खींचते-से जान पड़ते थे। रावणने उस महान् शैलको देखा। वह अपने सहस्रों शृङ्गोंसे सुशोभित हो रहा था और उसकी कन्दराओंमें सिंह निवास करते थे॥ १४-१५ ॥

प्रपातपतितै: शीतै: साट्टहासमिवाम्बुभि:।
देवदानवगन्धर्वै: साप्सरोभि: सकिंनरै:॥ १६ ॥
स्वस्त्रीभि: क्रीडमानैश्च स्वर्गभूतं महोच्छ्रयम्।

'उसके सर्वोच्च शिखरके तटसे जो शीतल जलकी धाराएँ गिर रही थीं, उनके द्वारा वह पर्वत अट्टहास करता-सा प्रतीत होता था। देवता, दानव, गन्धर्व और किन्नर अपनी-अपनी स्त्रियों और अप्सराओंके साथ वहाँ क्रीड़ा कर रहे थे। वह अत्यन्त ऊँचा पर्वत अपनी सुरम्य सुषमासे स्वर्गके समान सुशोभित हो रहा था॥१६½॥

नदीभि: स्यन्दमानाभि: स्फटिकप्रतिमं जलम्॥ १७ ॥
फणाभिश्चलजिह्वाभिरनन्तमिव विष्ठितम्।
उत्क्रामन्तं दरीवन्तं हिमवत्संनिभं गिरिम्॥ १८ ॥

'स्फटिकके समान निर्मल जलका स्रोत बहानेवाली नदियोंके कारण वह विन्ध्यगिरि चञ्चल जिह्वावाले फनोंसे उपलक्षित शेषनागके समान स्थित था। अधिक ऊँचाईके कारण वह ऊर्ध्वलोकको जाता-सा जान पड़ता था। हिमालयके समान विशाल एवं विस्तृत विन्ध्यगिरि बहुत-सी गुफाओंसे युक्त दिखायी देता था॥ १७-१८ ॥

पश्यमानस्ततो विन्ध्यं रावणो नर्मदां ययौ।
चलोपलजलां पुण्यां पश्चिमोदधिगामिनीम्॥ १९ ॥
महिषै: सृमरै: सिंहै: शार्दूलर्क्षगजोत्तमै:।
उष्णाभितप्तैस्तृषितै: संक्षोभितजलाशयाम्॥ २० ॥

'विन्ध्याचलकी शोभाको देखता हुआ रावण पुण्यसलिला नर्मदा नदीके तटपर गया, जिसमें शिलाखण्डोंसे युक्त चञ्चल जल प्रवाहित हो रहा था। वह नदी पश्चिम समुद्रकी ओर चली जा रही थी। धूपसे तपे हुए प्यासे भैंसे, हिरन, सिंह, व्याघ्र, रीछ और गजराज उसके जलाशयको विक्षुब्ध कर रहे थे॥ १९-२० ॥

चक्रवाकै: सकारण्डै: सहंसजलकुक्कुटै:।
सारसैश्च सदा मत्तै: कूजद्भि: सुसमावृताम्॥ २१ ॥

'सदा मतवाले होकर कलरव करनेवाले चक्रवाक, कारण्डव, हंस, जलकुक्कुट और सारस आदि जलपक्षी नर्मदाकी जल राशिपर छा रहे थे॥ २१ ॥

फुल्लद्रुमकृतोत्तंसां चक्रवाकयुगस्तनीम्।
विस्तीर्णपुलिनश्रोणीं हंसावलिसुमेखलाम्॥ २२ ॥
पुष्परेण्वनुलिप्ताङ्गीं जलफेनामलांशुकाम्।
जलावगाहसुस्पर्शां फुल्लोत्पलसुभेक्षणाम्॥ २३ ॥
पुष्पकादवरुह्याशु नर्मदां सरितां वराम्।
इष्टामिव वरां नारीमवगाह्य दशानन:॥ २४ ॥
स तस्या: पुलिने रम्ये नानामुनिनिषेविते।
उपोपविष्ट: सचिवै: सार्धं राक्षसपुङ्गव:॥ २५ ॥

'सरिताओंमें श्रेष्ठ नर्मदा परम सुन्दरी प्रियतमा नारीके समान प्रतीत होती थी। खिले हुए तटवर्ती वृक्ष मानो उसके आभूषण थे। चक्रवाकके जोड़े उसके दोनों स्तनोंका स्थान ले रहे थे। ऊँचे और विस्तृत पुलिन नितम्बके समान जान पड़ते थे। हंसोंकी पङ्क्ति मोतियोंकी बनी हुई मेखला (करधनी) के समान शोभा दे रही थी। पुष्पोंके पराग ही अङ्गराग बनकर उसके अङ्ग-अङ्गमें अनुलिप्त हो रहे थे। जलका उज्ज्वल फेन ही उसकी स्वच्छ, श्वेत साड़ीका काम दे रहा था। जलमें गोता लगाना ही उसका सुखद संस्पर्श था और खिले हुए कमल ही उसके सुन्दर नेत्र जान पड़ते थे। राक्षसशिरोमणि दशमुख रावणने शीघ्र ही पुष्पकविमानसे उतरकर नर्मदाके जलमें डुबकी लगायी और बाहर निकलकर वह नाना मुनियोंसे सेवित उसके रमणीय तटपर अपने मन्त्रियोंके साथ बैठा॥ २२—२५ ॥

प्रख्याय नर्मदां सोऽथ गङ्गेयमिति रावण:।
नर्मदादर्शने हर्षमाप्तवान् स दशानन:॥ २६ ॥

'ये साक्षात् गङ्गा हैं' ऐसा कहकर दशानन रावणने नर्मदाकी प्रशंसा की और उसके दर्शनसे हर्षका अनुभव किया॥ २६ ॥

उवाच सचिवांस्तत्र सलीलं शुकसारणौ।
एष रश्मिसहस्रेण जगत् कृत्वेव काञ्चनम्॥ २७॥
तीक्ष्णतापकरः सूर्यो नभसो मध्यमास्थितः।

'फिर वहाँ उसने शुक, सारण तथा अन्य मन्त्रियोंसे लीलापूर्वक कहा—'ये सूर्यदेव अपनी सहस्रों किरणोंसे सम्पूर्ण जगत्को मानो काञ्चनमय बनाकर प्रचण्ड ताप देते हुए इस समय आकाशके मध्यभागमें विराज रहे हैं॥ २७½॥

मामासीनं विदित्वैव चन्द्रायति दिवाकरः॥ २८॥
नर्मदाजलशीतश्च सुगन्धिः श्रमनाशनः।
मद्भयादनिलो ह्येष वात्यसौ सुसमाहितः॥ २९॥

'किंतु मुझे यहाँ बैठा जानकर ही चन्द्रमाके समान शीतल हो गये हैं। मेरे ही भयसे वायु भी नर्मदाके जलसे शीतल, सुगन्धित और श्रमनाशक होकर बड़ी सावधानीके साथ मन्दगतिसे बह रही है॥ २८-२९॥

इयं चापि सरिच्छ्रेष्ठा नर्मदा नर्मवर्धिनी।
नक्रमीनविहङ्गोर्मिः सभयेवाङ्गना स्थिता॥ ३०॥

'सरिताओंमें श्रेष्ठ यह नर्मदा भी क्रीडारस एवं प्रीतिको बढ़ा रही है। इसकी लहरोंमें मगर, मत्स्य और जलपक्षी खेल रहे हैं और यह भयभीत नारीके समान स्थित है॥ ३०॥

तद्भवन्तः क्षताः शस्त्रैर्नृपैरिन्द्रसमैर्युधि।
चन्दनस्य रसेनेव रुधिरेण समुक्षिताः॥ ३१॥

'तुमलोग युद्धस्थलमें इन्द्रतुल्य पराक्रमी नरेशोंद्वारा अस्त्र-शस्त्रोंसे घायल कर दिये गये हो और रक्तसे इस प्रकार नहा उठे हो कि तुम्हारे अङ्गोंमें लालचन्दन रसका लेप-सा लगा हुआ जान पड़ता है॥ ३१॥

ते यूयमवगाहध्वं नर्मदां शर्मदां शुभाम्।
सार्वभौममुखा मत्ता गङ्गामिव महागजाः॥ ३२॥

'अतः तुम सब-के-सब सुख देनेवाली इस मङ्गलकारिणी नर्मदा नदीमें स्नान करो। ठीक उसी तरह, जैसे सार्वभौम आदि महान् दिग्गज मतवाले होकर गङ्गामें अवगाहन करते हैं॥ ३२॥

अस्यां स्नात्वा महानद्यां पाप्मनो विप्रमोक्ष्यथ।
अहमप्यद्य पुलिने शरदिन्दुसमप्रभे॥ ३३॥
पुष्पोपहारं शनकैः करिष्यामि कपर्दिनः।

'इस महानदीमें स्नान करके तुम पाप-तापसे मुक्त हो जाओगे। मैं भी आज शरद्-ऋतुके चन्द्रमाकी भाँति उज्ज्वल नर्मदा-तटपर धीरे-धीरे जटाजूटधारी महादेवजीको फूलोंका उपहार समर्पित करूँगा'॥ ३३½॥

रावणेनैवमुक्तास्तु प्रहस्तशुकसारणाः॥ ३४॥
समहोदरधूम्राक्षा नर्मदां विजगाहिरे।

'रावणके ऐसा कहनेपर प्रहस्त, शुक, सारण, महोदर और धूम्राक्षने नर्मदामें स्नान किया॥ ३४½॥

राक्षसेन्द्रगजैस्तैस्तु क्षोभिता नर्मदा नदी॥ ३५॥
वामनाञ्जनपद्माद्यैर्गङ्गा इव महागजैः।

'राक्षसराजकी सेनाके हाथियोंने नर्मदा-नदीमें उतरकर उसके जलको मथ डाला, मानो वामन, अञ्जन, पद्म आदि बड़े-बड़े दिग्गजोंने गङ्गाजीके जलको विक्षुब्ध कर डाला हो॥ ३५½॥

ततस्ते राक्षसाः स्नात्वा नर्मदायां महाबलाः॥ ३६॥
उत्तीर्य पुष्पाण्याजह्रुर्बल्यर्थं रावणस्य तु।

'तदनन्तर वे महाबली राक्षस गङ्गामें स्नान करके बाहर आये और रावणके शिवपूजनके लिये फूल जुटाने लगे॥ ३६½॥

नर्मदापुलिने हृद्ये शुभ्राभ्रसदृशप्रभे॥ ३७॥
राक्षसैस्तु मुहूर्तेन कृतः पुष्पमयो गिरिः।

'श्वेत बादलोंके समान शुभ्र एवं मनोरम नर्मदा-पुलिनपर उन राक्षसोंने दो ही घड़ीमें फूलोंका पहाड़-जैसा ढेर लगा दिया॥ ३७½॥

पुष्पेषूपहृतेष्वेवं रावणो राक्षसेश्वरः॥ ३८॥
अवतीर्णो नदीं स्नातुं गङ्गामिव महागजः।

'इस प्रकार पुष्पोंका संचय हो जानेपर राक्षसराज रावण स्वयं स्नान करनेके लिये नर्मदा-नदीमें उतरा, मानो कोई महान् गजराज गङ्गामें अवगाहन करनेके लिये घुसा हो॥ ३८½॥

तत्र स्नात्वा च विधिवज्जप्त्वा जप्यमनुत्तमम्॥ ३९॥
नर्मदासलिलात् तस्मादुत्ततार स रावणः।

'वहाँ विधिपूर्वक स्नान करके रावणने परम उत्तम जपनीय मन्त्रका जप किया। इसके बाद वह नर्मदाके जलसे बाहर निकला॥ ३९½॥

ततः क्लिन्नाम्बरं त्यक्त्वा शुक्लवस्त्रसमावृतः॥ ४०॥
रावणं प्राञ्जलिं यान्तमन्वयुः सर्वराक्षसाः।
तद्गतीवशमापन्ना मूर्तिमन्त इवाचलाः॥ ४१॥

'फिर भीगे कपड़ेको उतारकर उसने श्वेत वस्त्र धारण किया। इसके बाद वह हाथ जोड़े महादेवजीकी पूजाके लिये चला। उस समय और सब राक्षस भी उसके पीछे हो लिये, मानो मूर्तिमान् पर्वत उसकी गतिके अधीन हो खिंचे चले जा रहे हों॥ ४०-४१॥

यत्र यत्र च याति स्म रावणो राक्षसेश्वरः।
जाम्बूनदमयं लिङ्गं तत्र तत्र स्म नीयते॥ ४२॥

'राक्षसराज रावण जहाँ-जहाँ भी जाता था, वहाँ-वहाँ एक सुवर्णमय शिवलिङ्ग अपने साथ लिये जाता था॥ ४२॥

बालुकावेदिमध्ये तु तल्लिङ्गं स्थाप्य रावणः।
अर्चयामास गन्धैश्च पुष्पैश्चामृतगन्धिभिः॥ ४३॥

'रावणने बालूकी वेदीपर उस शिवलिङ्गको स्थापित कर दिया और चन्दन तथा अमृतके समान सुगन्धवाले पुष्पोंसे उसका पूजन किया॥ ४३॥

ततः सतामार्तिहरं परं वरं
वरप्रदं चन्द्रमयूखभूषणम्।
समर्चयित्वा स निशाचरो जगौ
प्रसार्य हस्तान् प्रणनर्त चाग्रतः॥ ४४॥

'जो अपने ललाटमें चन्द्रकिरणोंको आभूषणरूपसे धारण करते हैं, सत्पुरुषोंकी पीड़ा हर लेते हैं तथा भक्तोंको मनोवाञ्छित वर प्रदान करते हैं, उन श्रेष्ठ एवं उत्कृष्ट देवता भगवान् शङ्करका भलीभाँति पूजन करके वह निशाचर उनके सामने गाने और हाथ फैलाकर नाचने लगा॥ ४४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे एकत्रिंशः सर्गः॥ ३१॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें इकतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३१॥

द्वात्रिंशः सर्गः

अर्जुनकी भुजाओंसे नर्मदाके प्रवाहका अवरुद्ध होना, रावणके पुष्पोपहारका बह जाना, फिर रावण आदि निशाचरोंका अर्जुनके साथ युद्ध तथा अर्जुनका रावणको कैद करके अपने नगरमें ले जाना

नर्मदापुलिने यत्र राक्षसेन्द्रः स दारुणः।
पुष्पोपहारं कुरुते तस्माद् देशाददूरतः॥ १॥
अर्जुनो जयतां श्रेष्ठो माहिष्मत्याः पतिः प्रभुः।
क्रीडते सह नारीभिर्नर्मदातोयमाश्रितः॥ २॥

'नर्मदाजीके तटपर जहाँ क्रूर राक्षसराज रावण महादेवजीको फूलोंका उपहार अर्पित कर रहा था, उस स्थानसे थोड़ी दूरपर विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ माहिष्मतीपुरीका शक्तिशाली राजा अर्जुन अपनी स्त्रियोंके साथ नर्मदाके जलमें उतरकर क्रीडा कर रहा था॥ १-२॥

तासां मध्यगतो राजा रराज च तदार्जुनः।
करेणूनां सहस्रस्य मध्यस्थ इव कुञ्जरः॥ ३॥

'उन सुन्दरियोंके बीचमें विराजमान राजा अर्जुन सहस्रों हथिनियोंके मध्यभागमें स्थित हुए गजराजके समान शोभा पाता था॥ ३॥

जिज्ञासुः स तु बाहूनां सहस्रस्योत्तमं बलम्।
रुरोध नर्मदावेगं बाहुभिर्बहुभिर्वृतः॥ ४॥

'अर्जुनके हजार भुजाएँ थीं। उनके उत्तम बलको जाँचनेके लिये उसने उन बहुसंख्यक भुजाओंद्वारा नर्मदाके वेगको रोक दिया॥ ४॥

कार्तवीर्यभुजासक्तं तज्जलं प्राप्य निर्मलम्।
कूलोपहारं कुर्वाणं प्रतिस्रोतः प्रधावति॥ ५॥

'कृतवीर्य-पुत्र अर्जुनकी भुजाओंद्वारा रोका हुआ नर्मदाका वह निर्मल जल तटपर पूजा करते हुए रावणके पासतक पहुँच गया और उसी ओर उलटी गतिसे बहने लगा॥ ५॥

समीननक्रमकरः सपुष्पकुशसंस्तरः।
स नर्मदाम्भसो वेगः प्रावृट्काल इवाबभौ॥ ६॥

'नर्मदाके जलका वह वेग मत्स्य, नक्र, मगर, फूल और कुशास्तरणके साथ बढ़ने लगा। उसमें वर्षाकालके समान बाढ़ आ गयी॥ ६॥

स वेगः कार्तवीर्येण सम्प्रेषित इवाम्भसः।
पुष्पोपहारं सकलं रावणस्य जहार ह॥ ७॥

'जलका वह वेग, जिसे मानो कार्तवीर्य अर्जुनने ही भेजा हो, रावणके समस्त पुष्पोपहारको बहा ले गया॥ ७॥

रावणोऽर्धसमाप्तं तमुत्सृज्य नियमं तदा।
नर्मदां पश्यते कान्तां प्रतिकूलां यथा प्रियाम्॥ ८॥

'रावणका वह पूजन-सम्बन्धी नियम अभी आधा ही समाप्त हुआ था, उसी दशामें उसे छोड़कर वह प्रतिकूल हुई कमनीय कान्तिवाली प्रेयसीकी भाँति नर्मदाकी ओर देखने लगा॥ ८॥

पश्चिमेन तु तं दृष्ट्वा सागरोद्गारसंनिभम्।
वर्धन्तमम्भसो वेगं पूर्वामाशां प्रविश्य तु॥ ९॥

'पश्चिमसे आते और पूर्व दिशामें प्रवेश करके बढ़ते हुए जलके उस वेगको उसने देखा। वह ऐसा जान पड़ता था, मानो समुद्रमें ज्वार आ गया हो॥ ९॥

ततोऽनुद्भ्रान्तशकुनां स्वभावे परमे स्थिताम्।
निर्विकाराङ्गनाभासामपश्यद् रावणो नदीम्॥ १०॥

'उसके तटवर्ती वृक्षोंपर रहनेवाले पक्षियोंमें कोई घबराहट नहीं थी। वह नदी अपनी परम उत्तम स्वाभाविक स्थितिमें स्थित थी—उसका जल पहले ही-जैसा स्वच्छ एवं निर्मल दिखायी देता था। उसमें वर्षाकालिक बाढ़के समय जो मलिनता आदि विकार होते थे, उनका उस समय सर्वथा अभाव था। रावणने उस नदीको विकारशून्य हृदयवाली नारीके समान देखा॥ १०॥

सव्येतरकराङ्गुल्या ह्यशब्दास्यो दशाननः।
वेगप्रभवमन्वेष्टुं सोऽदिशच्छुकसारणौ॥ ११॥

'उसके मुखसे एक शब्द भी नहीं निकला। उसने मौनव्रतकी रक्षाके लिये बिना बोले ही दाहिने हाथकी अङ्गुलीसे संकेतमात्र करके बाढ़के कारणका पता लगानेके निमित्त शुक और सारणको आदेश दिया॥ ११॥

तौ तु रावणसंदिष्टौ भ्रातरौ शुकसारणौ।
व्योमान्तरगतौ वीरौ प्रस्थितौ पश्चिमामुखौ॥ १२॥

'रावणका आदेश पाकर दोनों वीर भ्राता शुक और सारण आकाशमार्गसे पश्चिम दिशाकी ओर प्रस्थित हुए॥ १२॥

अर्धयोजनमात्रं तु गत्वा तौ रजनीचरौ।
पश्येतां पुरुषं तोये क्रीडन्तं सहयोषितम्॥ १३॥

'केवल आधा योजन जानेपर ही उन दोनों निशाचरोंने एक पुरुषको स्त्रियोंके साथ जलमें क्रीडा करते देखा॥ १३॥

बृहत्सालप्रतीकाशं तोयव्याकुलमूर्धजम्।
मदरक्तान्तनयनं मदव्याकुलचेतसम्॥ १४॥

'उसका शरीर विशाल सालवृक्षके समान ऊँचा था। उसके केश जलसे ओतप्रोत हो रहे थे। नेत्रप्रान्तमें मदकी लाली दिखायी दे रही थी और चित्त भी मदसे व्याकुल जान पड़ता था॥ १४॥

नदीं बाहुसहस्रेण रुन्धन्तमरिमर्दनम्।
गिरिं पादसहस्रेण रुन्धन्तमिव मेदिनीम्॥ १५॥

'वह शत्रुमर्दन वीर अपनी सहस्र भुजाओंसे नदीके वेगको रोककर सहस्रों चरणोंसे पृथ्वीको थामे रखनेवाले पर्वतके समान शोभा पाता था॥ १५॥

बालानां वरनारीणां सहस्रेण समावृतम्।
समदानां करेणूनां सहस्रेणेव कुञ्जरम्॥ १६॥

'नयी अवस्थाकी सहस्रों सुन्दरियाँ उसे घेरे हुए ऐसी जान पड़ती थीं, मानो सहस्रों मदमत्त हथिनियोंने किसी गजराजको घेर रखा हो॥ १६॥

तमद्भुततरं दृष्ट्वा राक्षसौ शुकसारणौ।
संनिवृत्तावुपागम्य रावणं तमथोचतुः॥ १७॥

'उस परम अद्भुत दृश्यको देखकर राक्षस शुक और सारण लौट आये और रावणके पास जाकर बोले—॥ १७॥

बृहत्सालप्रतीकाशः कोऽप्यसौ राक्षसेश्वर।
नर्मदां रोधवद् रुद्ध्वा क्रीडापयति योषितः॥ १८॥

'राक्षसराज! यहाँसे थोड़ी ही दूरपर कोई सालवृक्षके समान विशालकाय पुरुष है, जो बाँधकी तरह नर्मदाके जलको रोककर स्त्रियोंके साथ क्रीडा कर रहा है॥ १८॥

तेन बाहुसहस्रेण संनिरुद्धजला नदी।
सागरोद्गारसंकाशानुद्गारान् सृजते मुहुः॥ १९॥

'उसकी सहस्र भुजाओंसे नदीका जल रुक गया है। इसीलिये यह बारम्बार समुद्रके ज्वारकी भाँति जलके उद्गारकी सृष्टि कर रही है'॥ १९॥

इत्येवं भाषमाणौ तौ निशम्य शुकसारणौ।
रावणोऽर्जुन इत्युक्त्वा स ययौ युद्धलालसः॥ २०॥

'इस प्रकार कहते हुए शुक और सारणकी बातें सुनकर रावण बोल उठा—'वही अर्जुन है' ऐसा कहकर वह युद्धकी लालसासे उसी ओर चल दिया॥ २०॥

अर्जुनाभिमुखे तस्मिन् रावणे राक्षसाधिपे।
चण्डः प्रवाति पवनः सनादः सरजस्तथा॥ २१॥

'राक्षसराज रावण जब अर्जुनकी ओर चला, तब धूल और भारी कोलाहलके साथ वायु प्रचण्ड वेगसे चलने लगी॥ २१॥

सकृदेव कृतो रावः सरक्तपृषतो घनैः।
महोदरमहापार्श्वधूम्राक्षशुकसारणैः॥ २२॥
संवृतो राक्षसेन्द्रस्तु तत्रागाद् यत्र चार्जुनः।

'बादलोंने रक्तबिन्दुओंकी वर्षा करके एक बार ही बड़े जोरसे गर्जना की। इधर राक्षसराज रावण महोदर, महापार्श्व, धूम्राक्ष, शुक और सारणको साथ ले उस स्थानकी ओर चला, जहाँ अर्जुन क्रीडा कर रहा था॥ २२½॥

अदीर्घेणैव कालेन स तदा राक्षसो बली॥ २३॥
तं नर्मदाह्रदं भीममाजगामाञ्जनप्रभः।

'काजल या कोयलेके समान काला वह बलवान् राक्षस थोड़ी ही देरमें नर्मदाके उस भयंकर जलाशयके पास जा पहुँचा॥ २३½॥

स तत्र स्त्रीपरिवृतं वासिताभिरिव द्विपम्॥ २४॥
नरेन्द्रं पश्यते राजा राक्षसानां तदार्जुनम्।

'वहाँ पहुँचकर राक्षसोंके राजा रावणने मैथुनकी इच्छावाली हथिनियोंसे घिरे हुए गजराजके समान सुन्दरी स्त्रियोंसे परिवेष्टित महाराज अर्जुनको देखा॥ २४½॥

स रोषाद् रक्तनयनो राक्षसेन्द्रो बलोद्धतः॥ २५॥
इत्येवमर्जुनामात्यानाह गम्भीरया गिरा।

'उसे देखते ही रावणके नेत्र रोषसे लाल हो गये। अपने बलके घमंडसे उद्दण्ड हुए राक्षसराजने अर्जुनके मन्त्रियोंसे गम्भीर वाणीमें इस प्रकार कहा—॥ २५½॥

अमात्याः क्षिप्रमाख्यात हैहयस्य नृपस्य वै॥ २६॥
युद्धार्थं समनुप्राप्तो रावणो नाम नामतः।

'मन्त्रियो! तुम हैहयराजसे जल्दी जाकर कहो कि रावण तुमसे युद्ध करनेके लिये आया है'॥ २६½॥

रावणस्य वचः श्रुत्वा मन्त्रिणोऽथार्जुनस्य ते॥ २७॥
उत्तस्थुः सायुधास्तं च रावणं वाक्यमब्रुवन्।

'रावणकी बात सुनकर अर्जुनके वे मन्त्री हथियार लेकर खड़े हो गये और रावणसे इस प्रकार बोले—॥ २७½॥

युद्धस्य कालो विज्ञातः साधु भो साधु रावण॥ २८॥
यः क्षीबं स्त्रीगतं चैव योद्धुमुत्सहसे नृपम्।

'वाह रे रावण ! वाह ! तुम्हें युद्धके अवसरका अच्छा ज्ञान है। हमारे महाराज जब मदमत्त होकर स्त्रियोंके बीचमें क्रीडा कर रहे हैं, ऐसे समयमें तुम उनके साथ युद्ध करनेके लिये उत्साहित हो रहे हो ॥ २८½ ॥

स्त्रीसमक्षगतं यत् त्वं योद्धुमुत्सहसे नृप ॥ २९ ॥
वासितामध्यगं मत्तं शार्दूल इव कुञ्जरम् ।

'जैसे कोई व्याघ्र कामवासनासे वासित हथिनियोंके बीचमें खड़े हुए गजराजसे जूझना चाहता हो, उसी प्रकार तुम स्त्रियोंके समक्ष क्रीडा-विलासमें तत्पर हुए राजा अर्जुनके साथ युद्ध करनेका हौसला दिखा रहे हो ॥ २९½ ॥

क्षमस्वाद्य दशग्रीव उष्यतां रजनी त्वया ।
युद्धे श्रद्धा तु यद्यस्ति श्वस्तात समरेऽर्जुनम् ॥ ३० ॥

'तात ! दशग्रीव ! यदि तुम्हारे हृदयमें युद्धके लिये उत्साह है, तो रातभर क्षमा करो और आजकी रातमें यहीं ठहरो। फिर कल सबेरे तुम राजा अर्जुनको समराङ्गणमें उपस्थित देखोगे ॥ ३० ॥

यदि वापि त्वरा तुभ्यं युद्धतृष्णासमावृत ।
निपात्यास्मान् रणे युद्धमर्जुनेनोपयास्यसि ॥ ३१ ॥

'युद्धकी तृष्णासे घिरे हुए राक्षसराज ! यदि तुम्हें जूझनेके लिये बड़ी जल्दी लगी हो तो पहले रणभूमिमें हम सबको मार गिराओ। उसके बाद महाराज अर्जुनके साथ युद्ध करने पाओगे' ॥ ३१ ॥

ततस्तं रावणामात्यैरमात्यास्ते नृपस्य तु ।
सूदिताश्चापि ते युद्धे भक्षिताश्च बुभुक्षितैः ॥ ३२ ॥

'यह सुनकर रावणके भूखे मन्त्री युद्धस्थलमें अर्जुनके अमात्योंको मार-मारकर खाने लगे ॥ ३२ ॥

ततो हलहलाशब्दो नर्मदातीरगो बभौ ।
अर्जुनस्यानुयात्राणां रावणस्य च मन्त्रिणाम् ॥ ३३ ॥

'इससे अर्जुनके अनुयायियों तथा रावणके मन्त्रियोंका नर्मदाके तटपर बड़ा कोलाहल होने लगा ॥ ३३ ॥

इषुभिस्तोमरैः प्रासैस्त्रिशूलैर्वज्रकर्षणैः ।
सरावणानर्दयन्तः समन्तात् समभिद्रुताः ॥ ३४ ॥

'अर्जुनके योद्धा बाणों, तोमरों, भालों, त्रिशूलों और वज्रकर्षण नामक शस्त्रोंद्वारा चारों ओरसे धावा करके रावणसहित समस्त राक्षसोंको घायल करने लगे ॥ ३४ ॥

हैहयाधिपयोधानां वेग आसीत् सुदारुणः ।
सनक्रमीनमकरसमुद्रस्येव निःस्वनः ॥ ३५ ॥

'हैहयराजके योद्धाओंका वेग नाकों, मत्स्यों और मगरोंसहित समुद्रकी भीषण गर्जनाके समान अत्यन्त भयंकर जान पड़ता था ॥ ३५ ॥

रावणस्य तु तेऽमात्याः प्रहस्तशुकसारणाः ।
कार्तवीर्यबलं क्रुद्धा निहन्ति स्म स्वतेजसा ॥ ३६ ॥

'रावणके वे मन्त्री प्रहस्त, शुक और सारण आदि कुपित हो अपने बल-पराक्रमसे कार्तवीर्य अर्जुनकी सेनाका संहार करने लगे ॥ ३६ ॥

अर्जुनाय तु तत्कर्म रावणस्य समन्त्रिणः ।
क्रीडमानाय कथितं पुरुषैर्भयविह्वलैः ॥ ३७ ॥

'तब अर्जुनके सेवकोंने भयसे विह्वल होकर क्रीडामें लगे हुए अर्जुनसे मन्त्रीसहित रावणके उस क्रूर कर्मका समाचार सुनाया ॥ ३७ ॥

श्रुत्वा न भेतव्यमिति स्त्रीजनं स तदार्जुनः ।
उत्ततार जलात् तस्माद् गङ्गातोयादिवाञ्जनः ॥ ३८ ॥

'सुनकर अर्जुनने अपनी स्त्रियोंसे कहा—'तुम सब लोग डरना मत।' फिर उन सबके साथ वह नर्मदाके जलसे उसी तरह बाहर निकला, जैसे कोई दिग्गज (हथिनियोंके साथ) गङ्गाजीके जलसे बाहर निकला हो ॥ ३८ ॥

क्रोधदूषितनेत्रस्तु स तदार्जुनपावकः ।
प्रजज्वाल महाघोरो युगान्त इव पावकः ॥ ३९ ॥

'उसके नेत्र रोषसे रक्तवर्णके हो गये। वह अर्जुनरूपी अनल प्रलयकालके महाभयंकर पावककी भाँति प्रज्वलित हो उठा ॥ ३९ ॥

स तूर्णतरमादाय वरहेमाङ्गदो गदाम् ।
अभिदुद्राव रक्षांसि तमांसीव दिवाकरः ॥ ४० ॥

'सुन्दर सोनेका बाजूबंद धारण करनेवाले वीर अर्जुनने तुरंत ही गदा उठा ली और उन राक्षसोंपर आक्रमण किया, मानो सूर्यदेव अन्धकार-समूहपर टूट पड़े हों ॥ ४० ॥

बाहुविक्षेपकरणां समुद्यम्य महागदाम् ।
गारुडं वेगमास्थाय आपपातैव सोऽर्जुनः ॥ ४१ ॥

'जो भुजाओंद्वारा घुमायी जाती थी उस विशाल गदाको ऊपर उठाकर गरुड़के समान तीव्र वेगका आश्रय ले राजा अर्जुन तत्काल ही उन निशाचरोंपर टूट पड़ा ॥ ४१ ॥

तस्य मार्गं समारुद्ध्य विन्ध्योऽर्कस्येव पर्वतः ।
स्थितो विन्ध्य इवाकम्प्यः प्रहस्तो मुसलायुधः ॥ ४२ ॥

'उस समय मुसलधारी प्रहस्त, जो विन्ध्यगिरिके समान अविचल था, उसका मार्ग रोककर खड़ा हो गया। ठीक उसी तरह, जैसे पूर्वकालमें विन्ध्याचलने सूर्यदेवका मार्ग रोक लिया था ॥ ४२ ॥

ततोऽस्य मुसलं घोरं लोहबद्धं मदोद्धतः ।
प्रहस्तः प्रेषयन् क्रुद्धो रराास च यथान्तकः ॥ ४३ ॥

'मदसे उद्दण्ड हुए प्रहस्तने कुपित हो अर्जुनपर लोहेसे मढ़ा हुआ एक भयंकर मुसल चलाया और कालके समान भीषण गर्जना की ॥ ४३ ॥

तस्याग्रे मुसलस्याग्निरशोकापीडसंनिभः ।
प्रहस्तकरमुक्तस्य बभूव प्रदहन्निव ॥ ४४ ॥

'प्रहस्तके हाथसे छूटे हुए उस मूसलके अग्रभागमें अशोक-पुष्पके समान लाल रंगकी आग प्रकट हो गयी,

जलाती हुई-सी जान पड़ती थी ॥ ४४ ॥

आधावमानं मुसलं कार्तवीर्यस्तदार्जुनः ।
निपुणं वञ्चयामास गदया गतविक्लवः ॥ ४५ ॥

'किंतु कार्तवीर्य अर्जुनको इससे तनिक भी भय नहीं हुआ। उसने अपनी ओर वेगपूर्वक आते हुए उस मूसलको गदा मारकर पूर्णतः विफल कर दिया ॥ ४५ ॥

ततस्तमभिदुद्राव सगदो हैहयाधिपः ।
भ्रामयाणो गदां गुर्वीं पञ्चबाहुशतोच्छ्रयाम् ॥ ४६ ॥

'तत्पश्चात् गदाधारी हैहयराज, जिसे पाँच सौ भुजाओंसे उठाकर चलाया जाता था, उस भारी गदाको घुमाता हुआ प्रहस्तकी ओर दौड़ा ॥ ४६ ॥

ततो हतोऽतिवेगेन प्रहस्तो गदया तदा ।
निपपात स्थितः शैलो वज्रिवज्रहतो यथा ॥ ४७ ॥

'उस गदासे अत्यन्त वेगपूर्वक आहत होकर प्रहस्त तत्काल पृथ्वीपर गिर पड़ा, मानो कोई पर्वत वज्रधारी इन्द्रके वज्रका आघात पाकर ढह गया हो ॥ ४७ ॥

प्रहस्तं पतितं दृष्ट्वा मारीचशुकसारणाः ।
समहोदरधूम्राक्षा अपसृष्टा रणाजिरात् ॥ ४८ ॥

'प्रहस्तको धराशायी हुआ देख मारीच, शुक, सारण, महोदर और धूम्राक्ष समराङ्गणसे भाग खड़े हुए ॥ ४८ ॥

अपक्रान्तेष्वमात्येषु प्रहस्ते च निपातिते ।
रावणोऽभ्यद्रवत् तूर्णमर्जुनं नृपसत्तमम् ॥ ४९ ॥

'प्रहस्तके गिरने और अमात्योंके भाग जानेपर रावणने नृपश्रेष्ठ अर्जुनपर तत्काल धावा किया ॥ ४९ ॥

सहस्रबाहोस्तद् युद्धं विंशद्बाहोश्च दारुणम् ।
नृपराक्षसयोस्तत्र आरब्धं रोमहर्षणम् ॥ ५० ॥

'फिर तो हजार भुजाओंवाले नरनाथ और बीस भुजाओंवाले निशाचरनाथमें वहाँ भयंकर युद्ध आरम्भ हो गया, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ॥ ५० ॥

सागराविव संक्षुब्धौ चलमूलाविवाचलौ ।
तेजोयुक्ताविवादित्यौ प्रदहन्ताविवानलौ ॥ ५१ ॥
बलोद्धतौ यथा नागौ वासितार्थे यथा वृषौ ।
मेघाविव विनर्दन्तौ सिंहाविव बलोत्कटौ ॥ ५२ ॥
रुद्रकालाविव क्रुद्धौ तौ तदा राक्षसार्जुनौ ।
परस्परं गदां गृह्य ताडयामासतुर्भृशम् ॥ ५३ ॥

'विक्षुब्ध हुए दो समुद्रों, जिनकी जड़ हिल रही हो ऐसे दो पर्वतों, दो तेजस्वी आदित्यों, दो दाहक अग्नियों, बलसे उन्मत्त हुए दो गजराजों, काम वासनावाली गायके लिये लड़नेवाले दो साँड़ों, जोर जोरसे गर्जनेवाले दो मेघों, उत्कट बलशाली दो सिंहों तथा क्रोधसे भरे हुए रुद्र और कालदेवके समान वे रावण और अर्जुन गदा लेकर एक-दूसरेपर गहरी चोटें करने लगे ॥ ५१—५३ ॥

वज्रप्रहारानचला यथा घोरान् विषेहिरे ।
गदाप्रहारांस्तौ तत्र सेहाते नरराक्षसौ ॥ ५४ ॥

'जैसे पूर्वकालमें पर्वतोंने वज्रके भयंकर आघात सहे थे, उसी प्रकार वे अर्जुन और रावण वहाँ गदाओंके प्रहार सहन करते थे ॥ ५४ ॥

यथाशनिरवेभ्यस्तु जायतेऽथ प्रतिश्रुतिः ।
तथा तयोर्गदापोथैर्दिशः सर्वाः प्रतिश्रुताः ॥ ५५ ॥

'जैसे बिजलीकी कड़कसे सम्पूर्ण दिशाएँ प्रतिध्वनित हो उठती हैं, उसी प्रकार उन दोनों वीरोंकी गदाओंके आघातोंसे सभी दिशाएँ गूँजने लगीं ॥ ५५ ॥

अर्जुनस्य गदा सा तु पात्यमानाहितोरसि ।
काञ्चनाभं नभश्चक्रे विद्युत्सौदामनी यथा ॥ ५६ ॥

'जैसे बिजली चमककर आकाशको सुनहरे रंगसे युक्त कर देती है, उसी प्रकार रावणकी छातीपर गिरायी जाती हुई अर्जुनकी गदा उसके वक्षःस्थलको सुवर्णकी-सी प्रभासे पूर्ण कर देती थी ॥ ५६ ॥

तथैव रावणेनापि पात्यमाना मुहुर्मुहुः ।
अर्जुनोरसि निर्भाति गदोल्केव महागिरौ ॥ ५७ ॥

'उसी प्रकार रावणके द्वारा भी अर्जुनकी छातीपर बारम्बार गिरायी जाती हुई गदा किसी महान् पर्वतपर गिरनेवाली उल्काके समान प्रकाशित हो उठती थी ॥ ५७ ॥

नार्जुनः खेदमायाति न राक्षसगणेश्वरः ।
सममासीत् तयोर्युद्धं यथा पूर्वं बलीन्द्रयोः ॥ ५८ ॥

'उस समय न तो अर्जुन थकता था और न राक्षसगणोंका राजा रावण ही। पूर्वकालमें परस्पर जूझनेवाले इन्द्र और बलिकी भाँति उन दोनोंका युद्ध एक समान जान पड़ता था ॥ ५८ ॥

शृङ्गैरिव वृषायुध्यन् दन्ताग्रैरिव कुञ्जरौ ।
परस्परं विनिघ्नन्तौ नरराक्षससत्तमौ ॥ ५९ ॥

'जैसे साँड़ अपने सींगोंसे और हाथी अपने दाँतोंके अग्रभागसे परस्पर प्रहार करते हैं, उसी प्रकार वे नरेश और निशाचरराज एक-दूसरेपर गदाओंसे चोट करते थे ॥ ५९ ॥

ततोऽर्जुनेन क्रुद्धेन सर्वप्राणेन सा गदा ।
स्तनयोरन्तरे मुक्ता रावणस्य महोरसि ॥ ६० ॥

'इसी बीचमें अर्जुनने कुपित होकर रावणके विशाल वक्षःस्थलपर दोनों स्तनोंके बीचमें अपनी पूरी शक्तिसे गदाका प्रहार किया ॥ ६० ॥

वरदानकृतत्राणे सा गदा रावणोरसि ।
दुर्बलेव यथावेगं द्विधाभूतापतत् क्षितौ ॥ ६१ ॥

'परंतु रावण तो वरके प्रभावसे सुरक्षित था, अतः रावणकी छातीपर वेगपूर्वक चोट करके भी वह गदा किसी दुर्बल गदाकी भाँति उसके वक्षकी टक्करसे दो टूक होकर पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ६१ ॥

स त्वर्जुनप्रयुक्तेन गदाघातेन रावणः ।
अपासर्पद् धनुर्मात्रं निषसाद च निष्टनन् ॥ ६२ ॥

'तथापि अर्जुनकी चलायी हुई गदाके आघातसे पीड़ित हो रावण एक धनुष पीछे हट गया और आर्तनाद करता हुआ बैठ गया ॥ ६२ ॥

स विह्वलं तदालक्ष्य दशग्रीवं ततोऽर्जुनः ।
सहसोत्पत्य जग्राह गरुत्मानिव पन्नगम् ॥ ६३ ॥

'दशग्रीवको व्याकुल देख अर्जुनने सहसा उछलकर उसे पकड़ लिया, मानो गरुड़ने झपट्टा मारकर किसी सर्पको धर दबाया हो ॥ ६३ ॥

स तु बाहुसहस्रेण बलाद् गृह्य दशाननम् ।
बबन्ध बलवान् राजा बलिं नारायणो यथा ॥ ६४ ॥

'जैसे पूर्वकालमें भगवान् नारायणने बलिको बाँधा था, उसी तरह बलवान् राजा अर्जुनने दशाननको बलपूर्वक पकड़कर अपने हजार हाथोंके द्वारा उसे मजबूत रस्सोंसे बाँध दिया ॥ ६४ ॥

बध्यमाने दशग्रीवे सिद्धचारणदेवताः ।
साध्वीति वादिनः पुष्पैः किरन्त्यर्जुनमूर्धनि ॥ ६५ ॥

'दशग्रीवके बाँधे जानेपर सिद्ध, चारण और देवता 'शाबाश ! शाबाश !' कहते हुए अर्जुनके सिरपर फूलोंकी वर्षा करने लगे ॥ ६५ ॥

व्याघ्रो मृगमिवादाय मृगराडिव कुञ्जरम् ।
ररास हैहयो राजा हर्षादम्बुदवन्मुहुः ॥ ६६ ॥

'जैसे व्याघ्र किसी हिरणको दबोच लेता है अथवा सिंह हाथीको धर दबाता है, उसी प्रकार रावणको अपने वशमें करके हैहयराज अर्जुन हर्षातिरेकसे मेघके समान बारम्बार गर्जना करने लगा ॥ ६६ ॥

प्रहस्तस्तु समाश्वस्तो दृष्ट्वा बद्धं दशाननम् ।
सहसा राक्षसः क्रुद्धो ह्यभिदुद्राव हैहयम् ॥ ६७ ॥

'इसके बाद प्रहस्तने होश सँभाला । दशमुख रावणको बँधा हुआ देख वह राक्षस सहसा कुपित हो हैहयराजकी ओर दौड़ा ॥ ६७ ॥

नक्तंचराणां वेगस्तु तेषामापततां बभौ ।
उद्धृत आतपापाये पयोदानामिवाम्बुधौ ॥ ६८ ॥

'जैसे वर्षाकाल आनेपर समुद्रमें बादलोंका वेग बढ़ जाता है, उसी प्रकार वहाँ आक्रमण करते हुए उन निशाचरोंका वेग बढ़ा हुआ प्रतीत होता था ॥ ६८ ॥

मुञ्चमुञ्चेति भाषन्तस्तिष्ठतिष्ठेति चासकृत् ।
मुसलानि च शूलानि सोत्ससर्ज तदा रणे ॥ ६९ ॥

'छोड़ो, छोड़ो, ठहरो, ठहरो' ऐसा बारम्बार कहते हुए राक्षस अर्जुनकी ओर दौड़े । उस समय प्रहस्तने रणभूमिमें अर्जुनपर मूसल और शूलके प्रहार किये ॥ ६९ ॥

अप्राप्तान्येव तान्याशु असम्भ्रान्तस्तदार्जुनः ।
आयुधान्यमरारीणां जग्राहारिनिषूदनः ॥ ७० ॥

'परंतु अर्जुनको उस समय घबराहट नहीं हुई । उस शत्रुसूदन वीरने प्रहस्त आदि देवद्रोही निशाचरोंके छोड़े हुए उन अस्त्रोंको अपने शरीरतक आनेसे पहले ही पकड़ लिया ॥ ७० ॥

ततस्तैरेव रक्षांसि दुर्धरैः प्रवरायुधैः ।
भित्त्वा विद्रावयामास वायुरम्बुधरानिव ॥ ७१ ॥

'फिर उन्हीं दुर्धर एवं श्रेष्ठ आयुधोंसे उन सब राक्षसोंको घायल करके उसी तरह भगा दिया, जैसे हवा बादलोंको छिन्न-भिन्न करके उड़ा ले जाती है ॥ ७१ ॥

राक्षसांस्त्रासयामास कार्तवीर्यार्जुनस्तदा ।
रावणं गृह्य नगरं प्रविवेश सुहृद्वृतः ॥ ७२ ॥

'उस समय कार्तवीर्य अर्जुनने समस्त राक्षसोंको भयभीत कर दिया और रावणको लेकर वह अपने सुहृदोंके साथ नगरमें आया ॥ ७२ ॥

स कीर्यमाणः कुसुमाक्षतोत्करै-
र्द्विजैः सपौरैः पुरुहूतसंनिभः ।
ततोऽर्जुनः स्वां प्रविवेश तां पुरीं
बलिं निगृह्येव सहस्रलोचनः ॥ ७३ ॥

'नगरके निकट आनेपर ब्राह्मणों और पुरवासियोंने अपने इन्द्रतुल्य तेजस्वी नरेशपर फूलों और अक्षतोंकी वर्षा की और सहस्र नेत्रधारी इन्द्र जैसे बलिको बंदी बनाकर ले गये थे, उसी प्रकार उस राजा अर्जुनने बँधे हुए रावणको साथ लेकर अपनी पुरीमें प्रवेश किया' ॥ ७३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे द्वात्रिंश सर्गः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें बत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

—★—

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

पुलस्त्यजीका रावणको अर्जुनकी कैदसे छुटकारा दिलाना

रावणग्रहणं तत् तु वायुग्रहणसंनिभम् ।
ततः पुलस्त्यः शुश्राव कथितं दिवि दैवतैः ॥ १ ॥

रावणको पकड़ लेना वायुको पकड़नेके समान था । धीरे-धीरे यह बात स्वर्गमें देवताओंके मुखसे पुलस्त्यजीने सुनी ॥ १ ॥

ततः पुत्रकृतस्नेहात् कम्पमानो महाधृतिः ।
माहिष्मतीपतिं द्रष्टुमाजगाम महानृषिः ॥ २ ॥

यद्यपि वे महर्षि महान् धैर्यशाली थे तो भी संतानके प्रति होनेवाले स्नेहके कारण कृपापरवश हो गये और माहिष्मती नरेशसे मिलनेके लिये भूतलपर चले आये ॥ २ ॥

स वायुमार्गमास्थाय वायुतुल्यगतिर्द्विजः ।
पुरीं माहिष्मतीं प्राप्तो मनःसम्पातविक्रमः ॥ ३ ॥

उनका वेग वायुके समान था और गति मनके समान, वे ब्रह्मर्षि वायुपथका आश्रय ले माहिष्मतीपुरीमें आ पहुँचे ॥ ३ ॥

सोऽमरावतिसंकाशां हृष्टपुष्टजनावृताम् ।
प्रविवेश पुरीं ब्रह्मा इन्द्रस्येवामरावतीम् ॥ ४ ॥

जैसे ब्रह्माजी इन्द्रकी अमरावतीपुरीमें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार पुलस्त्यजीने हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरी हुई और अमरावतीके समान शोभासे सम्पन्न माहिष्मती नगरीमें प्रवेश किया ॥ ४ ॥

पादचारमिवादित्यं निष्पतन्तं सुदुर्दृशम् ।
ततस्ते प्रत्यभिज्ञाय अर्जुनाय न्यवेदयन् ॥ ५ ॥

आकाशसे उतरते समय वे पैरोंसे चलकर आते हुए सूर्यके समान जान पड़ते थे। अत्यन्त तेजके कारण उनकी ओर देखना बहुत ही कठिन जान पड़ता था। अर्जुनके सेवकोंने उन्हें पहचानकर राजा अर्जुनको उनके शुभागमनकी सूचना दी ॥ ५ ॥

पुलस्त्य इति विज्ञाय वचनाद्धैहयाधिपः ।
शिरस्यञ्जलिमाधाय प्रत्युद्गच्छत् तपस्विनम् ॥ ६ ॥

सेवकोंके कहनेसे जब हैहयराजको यह पता चला कि पुलस्त्यजी पधारे हैं, तब वे सिरपर अञ्जलि बाँधे उन तपस्वी मुनिकी अगवानीके लिये आगे बढ़ आये ॥ ६ ॥

पुरोहितोऽस्य गृह्यार्घ्यं मधुपर्कं तथैव च ।
पुरस्तात् प्रययौ राज्ञः शक्रस्येव बृहस्पतिः ॥ ७ ॥

राजा अर्जुनके पुरोहित अर्घ्य और मधुपर्क आदि लेकर उनके आगे-आगे चले, मानो इन्द्रके आगे बृहस्पति चल रहे हों ॥ ७ ॥

ततस्तमृषिमायान्तमुद्यन्तमिव भास्करम् ।
अर्जुनो दृश्य सम्भ्रान्तो ववन्देन्द्र इवेश्वरम् ॥ ८ ॥

वहाँ आते हुए वे महर्षि उदित होते हुए सूर्यके समान तेजस्वी दिखायी देते थे। उन्हें देखकर राजा अर्जुन चकित रह गया। उसने उन ब्रह्मर्षिके चरणोंमें उसी तरह आदरपूर्वक प्रणाम किया, जैसे इन्द्र ब्रह्माजीके आगे मस्तक झुकाते हैं ॥ ८ ॥

स तस्य मधुपर्कं गां पाद्यमर्घ्यं निवेद्य च ।
पुलस्त्यमाह राजेन्द्रो हर्षगद्गदया गिरा ॥ ९ ॥

ब्रह्मर्षिको पाद्य, अर्घ्य, मधुपर्क और गौ समर्पित करके राजाधिराज अर्जुनने हर्षगद्गद वाणीमें पुलस्त्यजीसे कहा— ॥ ९ ॥

अद्यैवममरावत्या तुल्या माहिष्मती कृता ।
अद्याहं तु द्विजेन्द्र त्वां यस्मात् पश्यामि दुर्दृशम् ॥ १० ॥

'द्विजेन्द्र! आपका दर्शन परम दुर्लभ है, तथापि आज मैं आपके दर्शनका सुख उठा रहा हूँ। इस प्रकार यहाँ पधारकर आपने इस माहिष्मतीपुरीको अमरावतीपुरीके समान गौरवशालिनी बना दिया ॥ १० ॥

अद्य मे कुशलं देव अद्य मे कुशलं व्रतम् ।
अद्य मे सफलं जन्म अद्य मे सफलं तपः ॥ ११ ॥
यत् ते देवगणैर्वन्द्यौ वन्देऽहं चरणौ तव ।
इदं राज्यमिमे पुत्रा इमे दारा इमे वयम् ।
ब्रह्मन् किं कुर्मः किं कार्यमाज्ञापयतु नो भवान् ॥ १२ ॥

'देव! आज मैं आपके देववन्द्य चरणोंकी वन्दना कर रहा हूँ; अतः आज ही मैं वास्तवमें सकुशल हूँ। आज मेरा व्रत निर्विघ्न पूर्ण हो गया। आज ही मेरा जन्म सफल हुआ और तपस्या भी सार्थक हो गयी। ब्रह्मन्! यह राज्य, ये स्त्री-पुत्र और हम सब लोग आपके ही हैं। आप आज्ञा दीजिये। हम आपकी क्या सेवा करें?' ॥ ११-१२ ॥

तं धर्मेऽग्निषु पुत्रेषु शिवं पृष्ट्वा च पार्थिवम् ।
पुलस्त्योवाच राजानं हैहयानां तथार्जुनम् ॥ १३ ॥

तब पुलस्त्यजी हैहयराज अर्जुनके धर्म, अग्नि और पुत्रोंका कुशल-समाचार पूछकर उससे इस प्रकार बोले— ॥ १३ ॥

नरेन्द्राम्बुजपत्राक्ष पूर्णचन्द्रनिभानन ।
अतुलं ते बलं येन दशग्रीवस्त्वया जितः ॥ १४ ॥

'पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाले कमलनयन नरेश! तुम्हारे बलकी कहीं तुलना नहीं है; क्योंकि तुमने दशग्रीवको जीत लिया ॥ १४ ॥

भयाद् यस्योपतिष्ठेतां निष्पन्दौ सागरानिलौ ।
सोऽयं मृधे त्वया बद्धः पौत्रो मे रणदुर्जयः ॥ १५ ॥

'जिसके भयसे समुद्र और वायु भी चञ्चलता छोड़कर सेवामें उपस्थित होते हैं, उस मेरे रणदुर्जय पौत्रको तुमने संग्राममें बाँध लिया ॥ १५ ॥

पुत्रकस्य यशः पीतं नाम विश्रावितं त्वया ।
मद्वाक्याद् याच्यमानोऽद्य मुञ्च वत्स दशाननम् ॥ १६ ॥

'ऐसा करके तुम मेरे इस बच्चेका यश पी गये और सर्वत्र अपने नामका ढिंढोरा पीट दिया। वत्स! अब मेरे कहनेसे तुम दशाननको छोड़ दो। यह तुमसे मेरी याचना है' ॥ १६ ॥

पुलस्त्याज्ञां प्रगृह्योचे न किंचन वचोऽर्जुनः ।
मुमोच वै पार्थिवेन्द्रो राक्षसेन्द्रं प्रहृष्टवत् ॥ १७ ॥

पुलस्त्यजीकी इस आज्ञाको शिरोधार्य करके अर्जुनने इसके विपरीत कोई बात नहीं कही। उस राजाधिराजने बड़ी प्रसन्नताके साथ राक्षसराज रावणको बन्धनसे मुक्त कर दिया ॥ १७ ॥

स तं प्रमुच्य त्रिदशारिमर्जुनः
प्रपूज्य दिव्याभरणस्रगम्बरैः।
अहिंसकं सख्यमुपेत्य साग्निकं
प्रणम्य तं ब्रह्मसुतं गृहं ययौ॥ १८॥

उस देवद्रोही राक्षसको बन्धनमुक्त करके अर्जुनने दिव्य आभूषण, माला और वस्त्रोंसे उसका पूजन किया और अग्निको साक्षी बनाकर उसके साथ ऐसी मित्रताका सम्बन्ध स्थापित किया, जिसके द्वारा किसीकी हिंसा न हो (अर्थात् उन दोनोंने यह प्रतिज्ञा की कि हमलोग अपनी मैत्रीका उपयोग दूसरे प्राणियोंकी हिंसामें नहीं करेंगे)। इसके बाद ब्रह्मपुत्र पुलस्त्यजीको प्रणाम करके राजा अर्जुन अपने घरको लौट गया॥ १८॥

पुलस्त्येनापि संत्यक्तो राक्षसेन्द्रः प्रतापवान्।
परिष्वक्तः कृतातिथ्यो लज्जमानो विनिर्जितः॥ १९॥

इस प्रकार अर्जुनद्वारा आतिथ्य-सत्कार करके छोड़े गये प्रतापी राक्षसराज रावणको पुलस्त्यजीने हृदयसे लगा लिया, परंतु वह पराजयके कारण लज्जित ही रहा॥ १९॥

पितामहसुतश्चापि पुलस्त्यो मुनिपुङ्गवः।
मोचयित्वा दशग्रीवं ब्रह्मलोकं जगाम ह॥ २०॥

दशग्रीवको छुड़ाकर ब्रह्माजीके पुत्र मुनिवर पुलस्त्यजी पुनः ब्रह्मलोकको चले गये॥ २०॥

एवं स रावणः प्राप्तः कीर्तवीर्यात् प्रधर्षणम्।
पुलस्त्यवचनाच्चापि पुनर्मुक्तो महाबलः॥ २१॥

इस प्रकार रावणको कार्तवीर्य अर्जुनके हाथसे पराजित होना पड़ा था और फिर पुलस्त्यजीके कहनेसे उस महाबली राक्षसको छुटकारा मिला था॥ २१॥

एवं बलिभ्यो बलिनः सन्ति राघवनन्दन।
नावज्ञा हि परे कार्या य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः॥ २२॥

रघुकुलनन्दन! इस प्रकार संसारमें बलवान्-से-बलवान् वीर पड़े हुए हैं; अतः जो अपना कल्याण चाहे उसे दूसरेकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये॥ २२॥

ततः स राजा पिशिताशनानां
सहस्रबाहोरुपलभ्य मैत्रीम्।
पुनर्नृपाणां कदनं चकार
चचार सर्वां पृथिवीं च दर्पात्॥ २३॥

सहस्रबाहुकी मैत्री पाकर राक्षसोंका राजा रावण पुनः घमंडसे भरकर सारी पृथ्वीपर विचरने और नरेशोंका संहार करने लगा॥ २३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे त्रयस्त्रिंशः सर्गः॥ ३३॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें तैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३३॥

—★—

चतुस्त्रिंशः सर्गः

वालीके द्वारा रावणका पराभव तथा रावणका उन्हें अपना मित्र बनाना

अर्जुनेन विमुक्तस्तु रावणो राक्षसाधिपः।
चचार पृथिवीं सर्वामनिर्विण्णस्तथा कृतः॥ १॥

अर्जुनसे छुटकारा पाकर राक्षसराज रावण निर्वेदरहित हो पुनः सारी पृथ्वीपर विचरण करने लगा॥ १॥

राक्षसं वा मनुष्यं वा शृणुते यं बलाधिकम्।
रावणस्तं समासाद्य युद्धे ह्वयति दर्पितः॥ २॥

राक्षस हो या मनुष्य, जिसको भी वह बलमें बढ़ा-चढ़ा सुनता था, उसीके पास पहुँचकर अभिमानी रावण उसे युद्धके लिये ललकारता था॥ २॥

ततः कदाचित् किष्किन्धां नगरीं वालिपालिताम्।
गत्वाऽऽह्वयति युद्धाय वालिनं हेममालिनम्॥ ३॥

तदनन्तर एक दिन वह वालीद्वारा पालित किष्किन्धापुरीमें जाकर सुवर्णमालाधारी वालीको युद्धके लिये ललकारने लगा॥ ३॥

ततस्तु वानरामात्यास्तारस्तारापिता प्रभुः।
उवाच वानरो वाक्यं युद्धप्रेप्सुमुपागतम्॥ ४॥

उस समय युद्धकी इच्छासे आये हुए रावणसे वालीके मन्त्री तार, ताराके पिता सुषेण तथा युवराज अङ्गद एवं सुग्रीवने कहा—॥ ४॥

राक्षसेन्द्र गतो वाली यस्ते प्रतिबलो भवेत्।
कोऽन्यः प्रमुखतः स्थातुं तव शक्तः प्लवङ्गमः॥ ५॥

'राक्षसराज! इस समय वाली तो बाहर गये हुए हैं। वे ही आपकी जोड़के हो सकते हैं। दूसरा कौन वानर आपके सामने ठहर सकता है॥ ५॥

चतुर्भ्योऽपि समुद्रेभ्यः संध्यामन्वास्य रावण।
इदं मुहूर्तमायाति वाली तिष्ठ मुहूर्तकम्॥ ६॥

'रावण! चारों समुद्रोंसे सन्ध्योपासन करके वाली अब आते ही होंगे। आप दो घड़ी ठहर जाइये॥ ६॥

एतानस्थिचयान् पश्य य एते शङ्खपाण्डुराः।
युद्धार्थिनामिमे राजन् वानराधिपतेजसा॥ ७॥

'राजन्! देखिये, ये जो शङ्खके समान उज्ज्वल हड्डियोंके ढेर लग रहे हैं, ये वालीके साथ युद्धकी इच्छासे आये हुए

आप-जैसे वीरोंके ही हैं। वानरराज वालीके तेजसे ही इन सबका अन्त हुआ है॥ ७॥

यद्वामृतरसः पीतस्त्वया रावण राक्षस।
तदा वालिनमासाद्य तदन्तं तव जीवितम्॥ ८॥

'राक्षस रावण! यदि आपने अमृतका रस पी लिया हो तो भी जब आप वालीसे टक्कर लेंगे, तब वही आपके जीवनका अन्तिम क्षण होगा॥ ८॥

पश्येदानीं जगच्चित्रमिमं विश्रवसः सुत।
इदं मुहूर्तं तिष्ठस्व दुर्लभं ते भविष्यति॥ ९॥

'विश्रवाकुमार! वाली सम्पूर्ण आश्चर्योंके भण्डार हैं। आप इस समय इनका दर्शन करेंगे। केवल इसी मुहूर्ततक उनकी प्रतीक्षाके लिये ठहरिये; फिर तो आपके लिये जीवन दुर्लभ हो जायगा॥ ९॥

अथवा त्वरसे मर्तुं गच्छ दक्षिणसागरम्।
वालिनं द्रक्ष्यसे तत्र भूमिष्ठमिव पावकम्॥ १०॥

'अथवा यदि आपको मरनेके लिये बहुत जल्दी लगी हो तो दक्षिण समुद्रके तटपर चले जाइये। वहाँ आपको पृथ्वीपर स्थित हुए अग्निदेवके समान वालीका दर्शन होगा'॥ १०॥

स तु तारं विनिर्भर्त्स्य रावणो लोकरावणः।
पुष्पकं तत् समारुह्य प्रययौ दक्षिणार्णवम्॥ ११॥

तब लोकोंको रुलानेवाले रावणने तारको भला-बुरा कहकर पुष्पकविमानपर आरूढ़ हो दक्षिण समुद्रकी ओर प्रस्थान किया॥ ११॥

तत्र हेमगिरिप्रख्यं तरुणार्कनिभाननम्।
रावणो वालिनं दृष्ट्वा संध्योपासनतत्परम्॥ १२॥

वहाँ रावणने सुवर्णगिरिके समान ऊँचे वालीको संध्योपासन करते हुए देखा। उनका मुख प्रभातकालके सूर्यकी भाँति अरुण प्रभासे उद्भासित हो रहा था॥ १२॥

पुष्पकादवरुह्याथ रावणोऽञ्जनसंनिभः।
ग्रहीतुं वालिनं तूर्णं निःशब्दपदमव्रजत्॥ १३॥

उन्हें देखकर काजलके समान काला रावण पुष्पकसे उतर पड़ा और वालीको पकड़नेके लिये जल्दी-जल्दी उनकी ओर बढ़ने लगा। उस समय वह अपने पैरोंकी आहट नहीं होने देता था॥ १३॥

यदृच्छया तदा दृष्टो वालिनापि स रावणः।
पापाभिप्रायकं दृष्ट्वा चकार न तु सम्भ्रमम्॥ १४॥

दैवयोगसे वालीने भी रावणको देख लिया; किंतु वे उसके पापपूर्ण अभिप्रायको जानकर भी घबराये नहीं॥ १४॥

शशमालक्ष्य सिंहो वा पन्नगं गरुडो यथा।
न चिन्तयति तं वाली रावणं पापनिश्चयम्॥ १५॥

जैसे सिंह खरगोशको और गरुड सर्पको देखकर भी उसकी परवा नहीं करता, उसी प्रकार वालीने पापपूर्ण विचार रखनेवाले रावणको देखकर भी चिन्ता नहीं की॥ १५॥

जिघृक्षमाणमायान्तं रावणं पापचेतसम्।
कक्षावलम्बिनं कृत्वा गमिष्ये त्रीन् महार्णवान्॥ १६॥

उन्होंने यह निश्चय कर लिया था कि जब पापात्मा रावण मुझे पकड़नेकी इच्छासे निकट आयेगा, तब मैं इसे काँखमें दबाकर लटका लूँगा और इसे लिये-दिये शेष तीन महासागरोंपर भी हो आऊँगा॥ १६॥

द्रक्ष्यन्त्यरिं ममाङ्कस्थं स्रंसदूरुकराम्बरम्।
लम्बमानं दशग्रीवं गरुडस्येव पन्नगम्॥ १७॥

इसकी जाँघ, हाथ-पैर और वस्त्र खिसकते होंगे। यह मेरी काँखमें दबा होगा और उस दशामें लोग मेरे शत्रुको गरुड़के पंजेमें दबे हुए सर्पके समान लटकते देखेंगे॥ १७॥

इत्येवं मतिमास्थाय वाली मौनमुपास्थितः।
जपन् वै नैगमान् मन्त्रांस्तस्थौ पर्वतराडिव॥ १८॥

ऐसा निश्चय करके वाली मौन ही रहे और वैदिक मन्त्रोंका जप करते हुए गिरिराज सुमेरुकी भाँति खड़े रहे॥ १८॥

तावन्योन्यं जिघृक्षन्तौ हरिराक्षसपार्थिवौ।
प्रयत्नवन्तौ तत् कर्म ईहतुर्बलदर्पितौ॥ १९॥

इस प्रकार बलके अभिमानसे भरे हुए वे वानरराज और राक्षसराज दोनों एक-दूसरेको पकड़ना चाहते थे। दोनों ही इसके लिये प्रयत्नशील थे और दोनों ही वह काम बनानेकी घातमें लगे थे॥ १९॥

हस्तग्राहं तु तं मत्वा पादशब्देन रावणम्।
पराङ्मुखोऽपि जग्राह वाली सर्पमिवाण्डजः॥ २०॥

रावणके पैरोंकी हलकी-सी आहटसे वाली यह समझ गये कि अब रावण हाथ बढ़ाकर मुझे पकड़ना चाहता है। फिर तो दूसरी ओर मुँह किये होनेपर भी वालीने उसे उसी तरह सहसा पकड़ लिया, जैसे गरुड़ सर्पको दबोच लेता है॥ २०॥

ग्रहीतुकामं तं गृह्य रक्षसामीश्वरं हरिः।
खमुत्पपात वेगेन कृत्वा कक्षावलम्बिनम्॥ २१॥

पकड़नेकी इच्छावाले उस राक्षसराजको वालीने स्वयं ही पकड़कर अपनी काँखमें लटका लिया और बड़े वेगसे वे आकाशमें उछले॥ २१॥

तं च पीडयमानं तु वितुदन्तं नखैर्मुहुः।
जहार रावणं वाली पवनस्तोयदं यथा॥ २२॥

रावण अपने नखोंसे बारम्बार वालीको बकोटता और पीड़ा देता रहा, तो भी जैसे वायु बादलोंको उड़ा ले जाती है, उसी प्रकार वाली रावणको बगलमें दबाये लिये फिरते थे॥ २२॥

अथ ते राक्षसामात्या ह्रियमाणे दशानने।
मुमोक्षयिषवो वालिं रवमाणा अभिद्रुताः॥ २३॥

इस प्रकार रावणके हर लिये जानेपर उनके मन्त्री उसे वालीसे छुड़ानेके लिये कोलाहल करते हुए उनके पीछे-पीछे दौड़ते रहे ॥ २३ ॥

अन्वीयमानस्तैर्वाली भ्राजतेऽम्बरमध्यगः ।
अन्वीयमानो मेघौघैरम्बरस्थ इवांशुमान् ॥ २४ ॥

पीछे-पीछे राक्षस चलते थे और आगे-आगे वाली। इस अवस्थामें वे आकाशके मध्यभागमें पहुँचकर मेघसमूहोंसे अनुगत हुए आकाशवर्ती अंशुमाली सूर्यके समान शोभा पाते थे ॥ २४ ॥

तेऽशक्नुवन्तः सम्प्राप्तुं वालिनं राक्षसोत्तमाः ।
तस्य बाहूरुवेगेन परिश्रान्ता व्यवस्थिताः ॥ २५ ॥

वे श्रेष्ठ राक्षस बहुत प्रयत्न करनेपर भी वालीके पासतक न पहुँच सके। उनकी भुजाओं और जाँघोंके वेगसे उत्पन्न हुई वायुके थपेड़ोंसे थककर वे खड़े हो गये ॥ २५ ॥

वालिमार्गादपाक्रामन् पर्वतेन्द्रापि गच्छतः ।
किं पुनर्जीवनप्रेप्सुर्बिभ्रद् वै मांसशोणितम् ॥ २६ ॥

वालीके मार्गसे उड़ते हुए बड़े-बड़े पर्वत भी हट जाते थे; फिर रक्त-मांसमय शरीर धारण करनेवाला और जीवनकी रक्षा चाहनेवाला प्राणी उनके मार्गसे हट जाय, इसके लिये तो कहना ही क्या है ॥ २६ ॥

अपक्षिगणसम्पातान् वानरेन्द्रो महाजवः ।
क्रमशः सागरान् सर्वान् संध्याकालमवन्दत ॥ २७ ॥

जितनी देरमें वाली समुद्रोंतक पहुँचते थे, उतनी देरमें तीव्रगामी पक्षियोंके समूह भी नहीं पहुँच पाते थे। उन महावेगशाली वानरराजने क्रमशः सभी समुद्रोंके तटपर पहुँचकर संध्या-वन्दन किया ॥ २७ ॥

सम्पूज्यमानो यातस्तु खचरैः खचरोत्तमः ।
पश्चिमं सागरं वाली आजगाम सरावणः ॥ २८ ॥

समुद्रोंकी यात्रा करते हुए आकाशचारियोंमें श्रेष्ठ वालीको सभी खेचर प्राणी पूजा एवं प्रशंसा करते थे। वे रावणको बगलमें दबाये हुए पश्चिम समुद्रके तटपर आये ॥ २८ ॥

तस्मिन् संध्यामुपासित्वा स्नात्वा जप्त्वा च वानरः ।
उत्तरं सागरं प्रायाद् वहमानो दशाननम् ॥ २९ ॥

वहाँ स्नान, संध्योपासन और जप करके वे वानरवीर दशाननको लिये-दिये उत्तर समुद्रके तटपर जा पहुँचे ॥ २९ ॥

बहुयोजनसाहस्रं वहमानो महाहरिः ।
वायुवच्च मनोवच्च जगाम सह शत्रुणा ॥ ३० ॥

वायु और मनके समान वेगवाले वे महावानर वाली कई सहस्र योजनतक रावणको ढोते रहे। फिर अपने उस शत्रुके साथ ही वे उत्तर समुद्रके किनारे गये ॥ ३० ॥

उत्तरे सागरे संध्यामुपासित्वा दशाननम् ।
वहमानोऽगमद् वाली पूर्वं वै स महोदधिम् ॥ ३१ ॥

उत्तरसागरके तटपर संध्योपासना करके दशाननका भार वहन करते हुए वाली पूर्व दिशावर्ती महासागरके किनारे गये ॥ ३१ ॥

तत्रापि संध्यामन्वास्य वासविः स हरीश्वरः ।
किष्किन्धामभितो गृह्य रावणं पुनरागमत् ॥ ३२ ॥

वहाँ भी संध्योपासना सम्पन्न करके वे इन्द्रपुत्र वानरराज वाली दशमुख रावणको बगलमें दबाये फिर किष्किन्धापुरीके निकट आये ॥ ३२ ॥

चतुर्ष्वपि समुद्रेषु संध्यामन्वास्य वानरः ।
रावणोद्वहनश्रान्तः किष्किन्धोपवनेऽपतत् ॥ ३३ ॥

इस तरह चारों समुद्रोंमें संध्योपासनाका कार्य पूरा करके रावणको ढोनेके कारण थके हुए वानरराज वाली किष्किन्धाके उपवनमें आ पहुँचे ॥ ३३ ॥

रावणं तु मुमोचाथ स्वकक्षात् कपिसत्तमः ।
कुतस्त्वमिति चोवाच प्रहसन् रावणं मुहुः ॥ ३४ ॥

वहाँ आकर उन कपिश्रेष्ठने रावणको अपनी काँखसे छोड़ दिया और बारम्बार हँसते हुए पूछा—'कहो जी, तुम कहाँसे आये हो?' ॥ ३४ ॥

विस्मयं तु महद् गत्वा श्रमलोलनिरीक्षणः ।
राक्षसेन्द्रो हरीन्द्रं तमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ३५ ॥

रावणकी आँखें श्रमके कारण चञ्चल हो रही थीं। वालीके इस अद्भुत पराक्रमको देखकर उसे महान् आश्चर्य हुआ और उस राक्षसराजने उन वानरराजसे इस प्रकार कहा— ॥ ३५ ॥

वानरेन्द्र महेन्द्राभ राक्षसेन्द्रोऽस्मि रावणः ।
युद्धेप्सुरिह सम्प्राप्तः स चाद्यासादितस्त्वया ॥ ३६ ॥

'महेन्द्रके समान पराक्रमी वानरेन्द्र! मैं राक्षसेन्द्र रावण हूँ और युद्ध करनेकी इच्छासे यहाँ आया था, सो वह युद्ध तो आपसे मिल ही गया ॥ ३६ ॥

अहो बलमहो वीर्यमहो गाम्भीर्यमेव च ।
येनाहं पशुवद् गृह्य भ्रामितश्चतुरोऽर्णवान् ॥ ३७ ॥

'अहो! आपमें अद्भुत बल है, अद्भुत पराक्रम है और आश्चर्यजनक गम्भीरता है। आपने मुझे पशुकी तरह पकड़कर चारों समुद्रोंपर घुमाया है ॥ ३७ ॥

एवमश्रान्तवद् वीर शीघ्रमेव च वानर ।
मां चैवोद्वहमानस्तु कोऽन्यो वीरो भविष्यति ॥ ३८ ॥

'वानरवीर! तुम्हारे सिवा दूसरा कौन ऐसा शूरवीर होगा, जो मुझे इस प्रकार बिना थके-माँदे शीघ्रतापूर्वक ढो सके ॥ ३८ ॥

त्रयाणामेव भूतानां गतिरेषा प्लवङ्गम ।
मनोऽनिलसुपर्णानां तव चात्र न संशयः ॥ ३९ ॥

'वानरराज! ऐसी गति तो मन, वायु और गरुड़—इन तीन भूतोंकी ही सुनी गयी है। निःसंदेह इस जगत‌में चौथे

आप भी ऐसे तीव्र वेगवाले हैं॥ ३९॥

सोऽहं दृष्टबलस्तुभ्यमिच्छामि हरिपुङ्गव।
त्वया सह चिरं सख्यं सुस्निग्धं पावकाग्रतः॥ ४०॥

'कपिश्रेष्ठ! मैंने आपका बल देख लिया। अब मैं अग्निको साक्षी बनाकर आपके साथ सदाके लिये स्नेहपूर्ण मित्रता कर लेना चाहता हूँ'॥ ४०॥

दाराः पुत्राः पुरं राष्ट्रं भोगाच्छादनभोजनम्।
सर्वमेवाविभक्तं नौ भविष्यति हरीश्वर॥ ४१॥

'वानरराज! स्त्री, पुत्र, नगर, राज्य, भोग, वस्त्र और भोजन—इन सभी वस्तुओंपर हम दोनोंका साझेका अधिकार होगा'॥ ४१॥

ततः प्रज्वालयित्वाग्निं तावुभौ हरिराक्षसौ।
भ्रातृत्वमुपसम्पन्नौ परिष्वज्य परस्परम्॥ ४२॥

तब वानरराज और राक्षसराज दोनोंने अग्नि प्रज्वलित करके एक-दूसरेको हृदयसे लगाकर आपसमें भाईचारेका सम्बन्ध जोड़ा॥ ४२॥

अन्योन्यं लम्बितकरौ ततस्तौ हरिराक्षसौ।
किष्किन्धां विशतुर्हृष्टौ सिंहौ गिरिगुहामिव॥ ४३॥

फिर वे दोनों वानर और राक्षस एक-दूसरेका हाथ पकड़े बड़ी प्रसन्नताके साथ किष्किन्धापुरीके भीतर गये, मानो दो सिंह किसी गुफामें प्रवेश कर रहे हों॥ ४३॥

स तत्र मासमुषितः सुग्रीव इव रावणः।
अमात्यैरागतैर्नीतस्त्रैलोक्योत्सादनार्थिभिः॥ ४४॥

रावण वहाँ सुग्रीवकी तरह सम्मानित हो महीनेभर रहा। फिर तीनों लोकोंको उखाड़ फेंकनेकी इच्छा रखनेवाले उसके मन्त्री आकर उसे लिवा ले गये॥ ४४॥

एवमेतत् पुरा वृत्तं वालिना रावणः प्रभो।
धर्षितश्च वृतश्चापि भ्राता पावकसंनिधौ॥ ४५॥

प्रभो! इस प्रकार यह घटना पहले घटित हो चुकी है। वालीने रावणको हराया और फिर अग्निके समीप उसे अपना भाई बना लिया॥ ४५॥

बलमप्रतिमं राम वालिनोऽभवदुत्तमम्।
सोऽपि त्वया विनिर्दग्धः शलभो वह्निना यथा॥ ४६॥

श्रीराम! वालीमें बहुत अधिक और अनुपम बल था, परंतु आपने उसको भी अपनी बाणाग्निसे उसी तरह दग्ध कर डाला, जैसे आग पतिंगेको जला देती है॥ ४६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे चतुस्त्रिंशः सर्गः॥ ३४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें चौंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३४॥

—★—

पञ्चत्रिंशः सर्गः

हनुमान्‌जीकी उत्पत्ति, शैशवावस्थामें इनका सूर्य, राहु और ऐरावतपर आक्रमण, इन्द्रके वज्रसे इनकी मूर्छा, वायुके कोपसे संसारके प्राणियोंको कष्ट और उन्हें प्रसन्न करनेके लिये देवताओंसहित ब्रह्माजीका उनके पास जाना

अपृच्छत तदा रामो दक्षिणाशाश्रयं मुनिम्।
प्राञ्जलिर्विनयोपेत इदमाह वचोऽर्थवत्॥ १॥

तब भगवान् श्रीरामने हाथ जोड़कर दक्षिण दिशामें निवास करनेवाले अगस्त्य मुनिसे विनयपूर्वक यह अर्थयुक्त बात कही—॥ १॥

अतुलं बलमेतद् वै वालिनो रावणस्य च।
न त्वेताभ्यां हनुमता समं त्विति मतिर्मम॥ २॥

'महर्षे! इसमें संदेह नहीं कि वाली और रावणके इस बलकी कहीं तुलना नहीं थी; परंतु मेरा ऐसा विचार है कि इन दोनोंका बल भी हनुमान्‌जीके बलकी बराबरी नहीं कर सकता था॥ २॥

शौर्यं दाक्ष्यं बलं धैर्यं प्राज्ञता नयसाधनम्।
विक्रमश्च प्रभावश्च हनूमति कृतालयाः॥ ३॥

'शूरता, दक्षता, बल, धैर्य, बुद्धिमत्ता, नीति, पराक्रम और प्रभाव—इन सभी सद्गुणोंने हनुमान्‌जीके भीतर घर कर रखा है॥ ३॥

दृष्ट्वैव सागरं वीक्ष्य सीदन्तीं कपिवाहिनीम्।
समाश्वास्य महाबाहुर्योजनानां शतं प्लुतः॥ ४॥

'समुद्रको देखते ही वानर-सेना घबरा उठी है—यह देख ये महाबाहु वीर उसे धैर्य बँधाकर एक ही छलाँगमें सौ योजन समुद्रको लाँघ गये॥ ४॥

धर्षयित्वा पुरीं लङ्कां रावणान्तःपुरं तदा।
दृष्टा सम्भाषिता चापि सीता ह्याश्वासिता तथा॥ ५॥

'फिर लङ्कापुरीके आधिदैविक रूपको परास्त कर रावणके अन्तःपुरमें गये, सीताजीसे मिले, उनसे बातचीत की और उन्हें धैर्य बँधाया॥ ५॥

सेनाग्रगा मन्त्रिसुताः किंकरा रावणात्मजः।
एते हनुमता तत्र एकेन विनिपातिताः॥ ६॥

'यहाँ अशोकवनमें इन्होंने अकेले ही रावणके सेनापतियों, मन्त्रिकुमारों, किंकरों तथा रावणपुत्र अक्षको मार गिराया ॥ ६ ॥

भूयो बन्धाद् विमुक्तेन भाषयित्वा दशाननम्।
लङ्का भस्मीकृता येन पावकेनेव मेदिनी ॥ ७ ॥

'फिर ये मेघनादके नागपाशसे बँधे और स्वयं ही मुक्त हो गये। तत्पश्चात् इन्होंने रावणसे वार्तालाप किया। जैसे प्रलय-कालकी आगने यह सारी पृथ्वी जलायी थी, उसी प्रकार लङ्कापुरीको जलाकर भस्म कर दिया ॥ ७ ॥

न कालस्य न शक्रस्य न विष्णोर्वित्तपस्य च।
कर्माणि तानि श्रूयन्ते यानि युद्धे हनूमतः ॥ ८ ॥

'युद्धमें हनुमान्‌जीके जो पराक्रम देखे गये हैं, वैसे वीरतापूर्ण कर्म न तो कालके, न इन्द्रके, न भगवान् विष्णुके और न वरुणके ही सुने जाते हैं ॥ ८ ॥

एतस्य बाहुवीर्येण लङ्का सीता च लक्ष्मणः।
प्राप्ता मया जयश्चैव राज्यं मित्राणि बान्धवाः ॥ ९ ॥

'मुनीश्वर! मैंने तो इन्हींके बाहु-बलसे विभीषणके लिये लङ्का, शत्रुओंपर विजय, अयोध्याका राज्य तथा सीता, लक्ष्मण, मित्र और बन्धुजनोंको प्राप्त किया है ॥ ९ ॥

हनूमान् यदि मे न स्याद् वानराधिपतेः सखा।
प्रवृत्तिमपि को वेत्तुं जानक्याः शक्तिमान् भवेत् ॥ १० ॥

'यदि मुझे वानरराज सुग्रीवके सखा हनुमान् न मिलते तो जानकीका पता लगानेमें भी कौन समर्थ हो सकता था? ॥ १० ॥

किमर्थं वाली चैतेन सुग्रीवप्रियकाम्यया।
तदा वैरे समुत्पन्ने न दग्धो वीरुधो यथा ॥ ११ ॥

'जिस समय वाली और सुग्रीवमें विरोध हुआ, उस समय सुग्रीवका प्रिय करनेके लिये इन्होंने जैसे दावानल वृक्षको जला देता है, उसी प्रकार वालीको क्यों नहीं भस्म कर डाला? यह समझमें नहीं आता ॥ ११ ॥

नहि वेदितवान् मन्ये हनूमानात्मनो बलम्।
यद् दृष्टवाञ्जीवितेष्टं क्लिश्यन्तं वानराधिपम् ॥ १२ ॥

'मैं तो ऐसा मानता हूँ कि उस समय हनुमान्‌जीको अपने बलका पता ही नहीं था। इसीसे ये अपने प्राणोंसे भी प्रिय वानरराज सुग्रीवको कष्ट उठाते देखते रहे ॥ १२ ॥

एतन्मे भगवन् सर्वं हनूमति महामुने।
विस्तरेण यथातत्त्वं कथयामरपूजित ॥ १३ ॥

'देववन्द्य महामुने! भगवन्! आप हनुमान्‌जीके विषयमें ये सब बातें यथार्थरूपसे विस्तारपूर्वक बताइये' ॥ १३ ॥

राघवस्य वचः श्रुत्वा हेतुयुक्तमृषिस्ततः।
हनूमतः समक्षं तमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १४ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके ये युक्तियुक्त वचन सुनकर महर्षि अगस्त्यजी हनुमान्‌जीके सामने ही उनसे इस प्रकार बोले— ॥ १४ ॥

सत्यमेतद् रघुश्रेष्ठ यद् ब्रवीषि हनूमति।
न बले विद्यते तुल्यो न गतौ न मतौ परः ॥ १५ ॥

'रघुकुलतिलक श्रीराम! हनुमान्‌जीके विषयमें आप जो कुछ कहते हैं, यह सब सत्य ही है। बल, बुद्धि और गतिमें इनकी बराबरी करनेवाला दूसरा कोई नहीं है ॥ १५ ॥

अमोघशापैः शापस्तु दत्तोऽस्य मुनिभिः पुरा।
न वेत्ता हि बलं सर्वं बली सन्नरिमर्दन ॥ १६ ॥

'शत्रुसूदन रघुनन्दन! जिनका शाप कभी व्यर्थ नहीं जाता, ऐसे मुनियोंने पूर्वकालमें इन्हें यह शाप दे दिया था कि बल रहनेपर भी इनको अपने पूरे बलका पता नहीं रहेगा ॥ १६ ॥

बाल्येऽप्येतेन यत् कर्म कृतं राम महाबल।
तन्न वर्णयितुं शक्यमिति बाल्यतयास्यते ॥ १७ ॥

'महाबली श्रीराम! इन्होंने बचपनमें भी जो महान् कर्म किया था, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उन दिनों ये बालभावसे—अनजानकी तरह रहते थे ॥ १७ ॥

यदि वास्ति त्वभिप्रायः संश्रोतुं तव राघव।
समाधाय मतिं राम निशामय वदाम्यहम् ॥ १८ ॥

'रघुनन्दन! यदि हनुमान्‌जीका चरित्र सुननेके लिये आपकी हार्दिक इच्छा हो तो चित्तको एकाग्र करके सुनिये। मैं सारी बातें बता रहा हूँ ॥ १८ ॥

सूर्यदत्तवरस्वर्णः सुमेरुर्नाम पर्वतः।
यत्र राज्यं प्रशास्त्यस्य केसरी नाम वै पिता ॥ १९ ॥

'भगवान् सूर्यके वरदानसे जिसका स्वरूप सुवर्णमय हो गया है, ऐसा एक सुमेरु नामसे प्रसिद्ध पर्वत है, जहाँ हनुमान्‌जीके पिता केसरी राज्य करते हैं ॥ १९ ॥

तस्य भार्या बभूवेष्टा अञ्जनेति परिश्रुता।
जनयामास तस्यां वै वायुरात्मजमुत्तमम् ॥ २० ॥

'उनकी अञ्जना नामसे विख्यात प्रियतमा पत्नी थीं। उनके गर्भसे वायुदेवने एक उत्तम पुत्रको जन्म दिया ॥ २० ॥

शालिशूकनिभाभासं प्रासूतेमं तदाञ्जना।
फलान्याहर्तुकामा वै निष्क्रान्ता गहने वरा ॥ २१ ॥

'अञ्जनाने जब इनको जन्म दिया, उस समय इनकी अङ्गकान्ति जाड़ेमें पैदा होनेवाले धानके अग्रभागकी भाँति पिंगल वर्णकी थी। एक दिन माता अञ्जना फल लानेके लिये आश्रमसे निकलीं और गहन वनमें चली गयीं ॥ २१ ॥

एष मातुर्वियोगाच्च क्षुधया च भृशार्दितः।
रुरोद शिशुरत्यर्थं शिशुः शरवणे यथा ॥ २२ ॥

'उस समय मातासे बिछुड़ जाने और भूखसे अत्यन्त पीड़ित होनेके कारण शिशु हनुमान् उसी तरह जोर-जोरसे रोने लगे, जैसे पूर्वकालमें सरकंडोंके वनके भीतर कुमार कार्तिकेय रोये थे ॥ २२ ॥

तदोद्यन्तं विवस्वन्तं जपापुष्पोत्करोपमम्।
ददर्श फललोभाच्च ह्युत्पपात रविं प्रति ॥ २३ ॥

'इतनेहीमें इन्हें जपाकुसुमके समान लाल रंगवाले सूर्यदेव उदित होते दिखायी दिये। हनुमान्‌जीने उन्हें कोई फल समझा और वे उस फलके लोभसे सूर्यकी ओर उछले ॥ २३ ॥

बालार्काभिमुखो बालो बलार्क इव मूर्तिमान्।
ग्रहीतुकामो बालार्कं प्लवतेऽम्बरमध्यगः ॥ २४ ॥

'बालसूर्यकी ओर मुँह किये मूर्तिमान् बालसूर्यके समान बालक हनुमान् बालसूर्यको पकड़नेकी इच्छासे आकाशमें उड़ते चले जा रहे थे ॥ २४ ॥

एतस्मिन् प्लवमाने तु शिशुभावे हनूमति।
देवदानवयक्षाणां विस्मयः सुमहानभूत् ॥ २५ ॥

'शैशवावस्थामें हनुमान्‌जी जब इस तरह उड़ रहे थे, उस समय उन्हें देखकर देवताओं, दानवों तथा यक्षोंको बड़ा विस्मय हुआ ॥ २५ ॥

नाप्येवं वेगवान् वायुर्गरुडो न मनस्तथा।
यथायं वायुपुत्रस्तु क्रमतेऽम्बरमुत्तमम् ॥ २६ ॥

'वे सोचने लगे—'यह वायुका पुत्र जिस प्रकार ऊँचे आकाशमें वेगपूर्वक उड़ रहा है, ऐसा वेग न तो वायुमें है, न गरुड़में है और न मनमें ही है ॥ २६ ॥

यदि तावच्छिशोरस्य ईदृशो गतिविक्रमः।
यौवनं बलमासाद्य कथं वेगो भविष्यति ॥ २७ ॥

'यदि बाल्यावस्थामें ही इस शिशुका ऐसा वेग और पराक्रम है तो यौवनका बल पाकर इसका वेग कैसा होगा' ॥ २७ ॥

तमनुप्लवते वायुः प्लवन्तं पुत्रमात्मनः।
सूर्यदाहभयाद् रक्षंस्तुषारचयशीतलः ॥ २८ ॥

'अपने पुत्रको सूर्यकी ओर जाते देख उसे दाहके भयसे बचानेके लिये उस समय वायुदेव भी बर्फके ढेरकी भाँति शीतल होकर उसके पीछे-पीछे चलने लगे ॥ २८ ॥

बहुयोजनसाहस्रं क्रामत्येव गतोऽम्बरम्।
पितुर्बलाच्च बाल्याच्च भास्कराभ्याशमागतः ॥ २९ ॥

'इस प्रकार बालक हनुमान् अपने और पिताके बलसे कई सहस्र योजन आकाशको लाँघते चले गये और सूर्यदेवके समीप पहुँच गये ॥ २९ ॥

शिशुरेष त्वदोषज्ञ इति मत्वा दिवाकरः।
कार्यं चास्मिन् समायत्तमित्येवं न ददाह सः ॥ ३० ॥

'सूर्यदेवने यह सोचकर कि अभी यह बालक है, इसे गुण-दोषका ज्ञान नहीं है और इसके अधीन देवताओंका भी बहुत-सा भावी कार्य है—इन्हें जलाया नहीं ॥ ३० ॥

यमेव दिवसं ह्येष ग्रहीतुं भास्करं प्लुतः।
तमेव दिवसं राहुर्जिघृक्षति दिवाकरम् ॥ ३१ ॥

'जिस दिन हनुमान्‌जी सूर्यदेवको पकड़नेके लिये उछले थे, उसी दिन राहु सूर्यदेवपर ग्रहण लगाना चाहता था ॥ ३१ ॥

अनेन च परामृष्टो राहुः सूर्यरथोपरि।
अपक्रान्तस्ततस्त्रस्तो राहुश्चन्द्रार्कमर्दनः ॥ ३२ ॥

'हनुमान्‌जीने सूर्यके रथके ऊपरी भागमें जब राहुका स्पर्श किया, तब चन्द्रमा और सूर्यका मर्दन करनेवाला राहु भयभीत हो वहाँसे भाग खड़ा हुआ ॥ ३२ ॥

इन्द्रस्य भवनं गत्वा सरोषः सिंहिकासुतः।
अब्रवीद् भ्रुकुटिं कृत्वा देवं देवगणैर्वृतम् ॥ ३३ ॥

'सिंहिकाका वह पुत्र रोषसे भरकर इन्द्रके भवनमें गया और देवताओंसे घिरे हुए इन्द्रके सामने भौंहें टेढ़ी करके बोला— ॥ ३३ ॥

बुभुक्षापनयं दत्त्वा चन्द्रार्कौ मम वासव।
किमिदं तत् त्वया दत्तमन्यस्य बलवृत्रहन् ॥ ३४ ॥

'बल और वृत्रासुरका वध करनेवाले वासव! आपने चन्द्रमा और सूर्यको मुझे अपनी भूख दूर करनेके साधनके रूपमें दिया था; किंतु अब आपने उन्हें दूसरेके हवाले कर दिया है। ऐसा क्यों हुआ? ॥ ३४ ॥

अद्याहं पर्वकाले तु जिघृक्षुः सूर्यमागतः।
अथान्यो राहुरासाद्य जग्राह सहसा रविम् ॥ ३५ ॥

'आज पर्व (अमावास्या) के समय मैं सूर्यदेवको ग्रस्त करनेकी इच्छासे गया था। इतनेहीमें दूसरे राहुने आकर सहसा सूर्यको पकड़ लिया' ॥ ३५ ॥

स राहोर्वचनं श्रुत्वा वासवः सम्भ्रमान्वितः।
उत्पपातासनं हित्वा उद्वहन् काञ्चनीं स्रजम् ॥ ३६ ॥

'राहुकी यह बात सुनकर देवराज इन्द्र घबरा गये और सोनेकी माला पहने अपना सिंहासन छोड़कर उठ खड़े हुए ॥ ३६ ॥

ततः कैलासकूटाभं चतुर्दन्तं मदस्रवम्।
शृङ्गारधारिणं प्रांशुं स्वर्णघण्टाट्टहासिनम् ॥ ३७ ॥
इन्द्रः करीन्द्रमारुह्य राहुं कृत्वा पुरःसरम्।
प्रायाद् यत्राभवत् सूर्यः सहानेन हनूमता ॥ ३८ ॥

'फिर कैलास-शिखरके समान उज्ज्वल, चार दाँतोंसे विभूषित, मदकी धारा बहानेवाले, भाँति-भाँतिके शृङ्गारसे युक्त, बहुत ही ऊँचे और सुवर्णमयी घण्टाके नादरूप अट्टहास करनेवाले गजराज ऐरावतपर आरूढ़ हो देवराज इन्द्र राहुको आगे करके उस स्थानपर गये, जहाँ हनुमान्‌जीके साथ सूर्यदेव विराजमान थे ॥ ३७-३८ ॥

अथातिरभसेनागाद् राहुरुत्सृज्य वासवम्।
अनेन च स वै दृष्टः प्रधावञ्शैलकूटवत् ॥ ३९ ॥

'इधर राहु इन्द्रको छोड़कर बड़े वेगसे आगे बढ़ गया। इसी समय पर्वत-शिखरके समान आकारवाले दौड़ते हुए राहुको हनुमान्‌जीने देखा ॥ ३९ ॥

ततः सूर्यं समुत्सृज्य राहुं फलमवेक्ष्य च।
उत्पपात पुनर्व्योम ग्रहीतुं सिंहिकासुतम् ॥ ४० ॥

'तब राहुको ही फलके रूपमें देखकर बालक हनुमान् सूर्यदेवको छोड़ उस सिंहिकापुत्रको ही पकड़नेके लिये पुनः आकाशमें उछले ॥ ४० ॥

उत्सृज्यार्कमिमं राम प्रधावन्तं प्लवङ्गमम्।
अवेक्ष्यैवं परावृत्तो मुखशेषः पराङ्मुखः ॥ ४१ ॥

'श्रीराम! सूर्यको छोड़कर अपनी ओर धावा करनेवाले इन वानर हनुमान्को देखते ही राहु जिसका मुखमात्र ही शेष था, पीछेकी ओर मुड़कर भागा ॥ ४१ ॥

इन्द्रमाशंसमानस्तु त्रातारं सिंहिकासुतः।
इन्द्र इन्द्रेति संत्रासान्मुहुर्मुहुरभाषत ॥ ४२ ॥

'उस समय सिंहिकापुत्र राहु अपने रक्षक इन्द्रसे ही अपनी रक्षाके लिये कहता हुआ भयके मारे बारम्बार 'इन्द्र! इन्द्र!' की पुकार मचाने लगा ॥ ४२ ॥

राहोर्विक्रोशमानस्य प्रागेवालक्षितं स्वरम्।
श्रुत्वेन्द्रोवाच मा भैषीरहमेनं निषूदये ॥ ४३ ॥

'चीखते हुए राहुके स्वरको जो पहलेका पहचाना हुआ था, सुनकर इन्द्र बोले—'डरो मत। मैं इस आक्रमणकारीको मार डालूँगा' ॥ ४३ ॥

ऐरावतं ततो दृष्ट्वा महत्तदिदमित्यपि।
फलं तं हस्तिराजानमभिदुद्राव मारुतिः ॥ ४४ ॥

'तत्पश्चात् ऐरावतको देखकर इन्होंने उसे भी एक विशाल फल समझा और उस गजराजको पकड़नेके लिये ये उसकी ओर दौड़े ॥ ४४ ॥

तथास्य धावतो रूपमैरावतजिघृक्षया।
मुहूर्तमभवद् घोरमिन्द्राग्न्योरिव भास्वरम् ॥ ४५ ॥

'ऐरावतको पकड़नेकी इच्छासे दौड़ते हुए हनुमान्जीका रूप दो घड़ीके लिये इन्द्र और अग्निके समान प्रकाशमान एवं भयंकर हो गया ॥ ४५ ॥

एवमाधावमानं तु नातिक्रुद्धः शचीपतिः।
हस्तान्तादतिमुक्तेन कुलिशेनाभ्यताडयत् ॥ ४६ ॥

'बालक हनुमान्को देखकर शचीपति इन्द्रको अधिक क्रोध नहीं हुआ। फिर भी इस प्रकार धावा करते हुए इन्द्र बालक वानरपर उन्होंने अपने हाथसे छूटे हुए वज्रके द्वारा प्रहार किया ॥ ४६ ॥

ततो गिरौ पपातैष इन्द्रवज्राभिताडितः।
पतमानस्य चैतस्य वामा हनुरभज्यत ॥ ४७ ॥

'इन्द्रके वज्रकी चोट खाकर ये एक पहाड़पर गिरे। वहाँ गिरते समय इनकी बायीं ठुड्डी टूट गयी ॥ ४७ ॥

तस्मिंस्तु पतिते चापि वज्रताडनविह्वले।
चुक्रोधेन्द्राय पवनः प्रजानामहिताय सः ॥ ४८ ॥

'वज्रके आघातसे व्याकुल होकर इनके गिरते ही वायुदेव इन्द्रपर कुपित हो उठे। उनका यह क्रोध प्रजाजनोंके लिये अहितकारक हुआ ॥ ४८ ॥

प्रचारं स तु संगृह्य प्रजास्वन्तर्गतः प्रभुः।
गुहां प्रविष्टः स्वसुतं शिशुमादाय मारुतः ॥ ४९ ॥

'सामर्थ्यशाली मारुतने समस्त प्रजाके भीतर रहकर भी वहाँ अपनी गति समेट ली—श्वास आदिके रूपमें संचार रोक दिया और अपने शिशुपुत्र हनुमान्को लेकर वे पर्वतकी गुफामें घुस गये ॥ ४९ ॥

विण्मूत्राशयमावृत्य प्रजानां परमार्तिकृत्।
रुरोध सर्वभूतानि यथा वर्षाणि वासवः ॥ ५० ॥

'जैसे इन्द्र वर्षा रोक देते हैं, उसी प्रकार वे वायुदेव प्रजाजनोंके मलाशय और मूत्राशयको रोककर उन्हें बड़ी पीड़ा देने लगे। उन्होंने सम्पूर्ण भूतोंके प्राण-संचारका अवरोध कर दिया ॥ ५० ॥

वायुप्रकोपाद् भूतानि निरुच्छ्वासानि सर्वतः।
संधिभिर्भिद्यमानैश्च काष्ठभूतानि जज्ञिरे ॥ ५१ ॥

'वायुके प्रकोपसे समस्त प्राणियोंकी साँस बंद होने लगी। उनके सभी अङ्गोंके जोड़ टूटने लगे और वे सब-के-सब काठके समान चेष्टाशून्य हो गये ॥ ५१ ॥

निःस्वाध्यायवषट्कारं निष्क्रियं धर्मवर्जितम्।
वायुप्रकोपात् त्रैलोक्यं निरयस्थमिवाभवत् ॥ ५२ ॥

'तीनों लोकोंमें न कहीं वेदोंका स्वाध्याय होता था और न यज्ञ। सारे धर्म-कर्म बन्द हो गये। त्रिभुवनके प्राणी ऐसे कष्ट पाने लगे, मानो नरकमें गिर गये हों ॥ ५२ ॥

ततः प्रजाः सगन्धर्वाः सदेवासुरमानुषाः।
प्रजापतिं समाधावन् दुःखिताश्च सुखेच्छया ॥ ५३ ॥

'तब गन्धर्व, देवता, असुर और मनुष्य आदि सभी प्रजा व्यथित हो सुख पानेकी इच्छासे प्रजापति ब्रह्माजीके पास दौड़ी गयी ॥ ५३ ॥

ऊचुः प्राञ्जलयो देवा महोदरनिभोदराः।
त्वया तु भगवन् सृष्टाः प्रजा नाथ चतुर्विधाः ॥ ५४ ॥
त्वया दत्तोऽयमस्माकमायुषः पवनः पतिः।
सोऽस्मान् प्राणेश्वरो भूत्वा कस्मादेषोऽद्य सत्तम ॥ ५५ ॥
रुरोध दुःखं जनयन्नन्तःपुर इव स्त्रियः।

'उस समय देवताओंके पेट इस तरह फूल गये थे, मानो उन्हें महोदरका रोग हो गया हो। उन्होंने हाथ जोड़कर कहा—'भगवन्! स्वामिन्! आपने चार प्रकारकी प्रजाओंकी सृष्टि की है। आपने हम सबको हमारी आयुके अधिपतिके रूपमें वायुदेवको अर्पित किया है। साधुशिरोमणे! ये पवनदेव हमारे प्राणोंके ईश्वर हैं तो भी क्या कारण है कि आज इन्होंने अन्तःपुरमें स्त्रियोंकी भाँति हमारे शरीरके भीतर अपने संचारको रोक दिया है और इस प्रकार ये हमारे लिये दुःखजनक हो गये हैं ॥ ५४-५५½ ॥

तस्मात् त्वां शरणं प्राप्ता वायुनोपहता वयम् ॥ ५६ ॥
वायुसंरोधजं दुःखमिदं नो नुद दुःखहन्।

'वायुसे पीड़ित होकर आज हमलोग आपकी शरणमें आये हैं। दुःखहारी प्रजापते ! आप हमारे इस वायुरोधजनित दुःखको दूर कीजिये' ॥५६½॥

एतत् प्रजानां श्रुत्वा तु प्रजानाथः प्रजापतिः ॥ ५७ ॥
कारणादिति चोक्त्वासौ प्रजाः पुनरभाषत ।

'प्रजाजनोंकी यह बात सुनकर उनके पालक और रक्षक ब्रह्माजीने कहा—'इसमें कुछ कारण है' ऐसा कहकर वे प्रजाजनोंसे फिर बोले— ॥५७½॥

यस्मिंश्च कारणे वायुश्चुक्रोध च रुरोध च ॥ ५८ ॥
प्रजाः शृणुध्वं तत् सर्वं श्रोतव्यं चात्मनः क्षमम् ।

'प्रजाओ ! जिस कारणको लेकर वायुदेवताने क्रोध और अपनी गतिका अवरोध किया है, उसे बताता हूँ, सुनो। वह कारण तुम्हारे सुनने योग्य और उचित है ॥५८½॥

पुत्रस्तस्यामरेशेन इन्द्रेणाद्य निपातितः ॥ ५९ ॥
राहोर्वचनमास्थाय ततः स कुपितोऽनिलः ।

'आज देवराज इन्द्रने राहुकी बात सुनकर वायुके पुत्रको मार गिराया है, इसीलिये वे कुपित हो उठे हैं ॥५९½॥

अशरीरः शरीरेषु वायुश्चरति पालयन् ॥ ६० ॥
शरीरं हि विना वायुं समतां याति दारुभिः ।

'वायुदेव स्वयं शरीर धारण न करके समस्त शरीरोंमें उनकी रक्षा करते हुए विचरते हैं। वायुके बिना यह शरीर सूखे काठके समान हो जाता है ॥६०½॥

वायुः प्राणः सुखं वायुर्वायुः सर्वमिदं जगत् ॥ ६१ ॥
वायुना सम्परित्यक्तं न सुखं विन्दते जगत् ।

'वायु ही सबका प्राण है। वायु ही सुख है और वायु ही यह सम्पूर्ण जगत् है। वायुसे परित्यक्त होकर जगत् कभी सुख नहीं पा सकता ॥६१½॥

अद्यैव च परित्यक्तं वायुना जगदायुषा ॥ ६२ ॥
अद्यैव ते निरुच्छ्वासाः काष्ठकुड्योपमाः स्थिताः ।

'वायु ही जगत्की आयु है। इस समय वायुने संसारके प्राणियोंको त्याग दिया है, इसलिये वे सब-के-सब निष्प्राण होकर काठ और दीवारके समान हो गये हैं ॥६२½॥

तद् यामस्तत्र यत्रास्ते मारुतो रुक्प्रदो हि नः ।
मा विनाशं गमिष्याम अप्रसाद्यादितेः सुताः ॥ ६३ ॥

'अदिति-पुत्रो ! अतः अब हमें उस स्थानपर चलना चाहिये, जहाँ हम सबको पीड़ा देनेवाले वायुदेव छिपे बैठे हैं। कहीं ऐसा न हो कि उन्हें प्रसन्न किये बिना हम सबका विनाश हो जाय' ॥ ६३ ॥

ततः प्रजाभिः सहितः प्रजापतिः
सदेवगन्धर्वभुजङ्गगुह्यकैः ।
जगाम तत्रास्यति यत्र मारुतः
सुतं सुरेन्द्राभिहतं प्रगृह्य सः ॥ ६४ ॥

'तदनन्तर देवता, गन्धर्व, नाग और गुह्यक आदि प्रजाओंको साथ ले प्रजापति ब्रह्माजी उस स्थानपर गये, जहाँ वायुदेव इन्द्रद्वारा मारे गये अपने पुत्रको लेकर बैठे हुए थे ॥ ६४ ॥

ततोऽर्कवैश्वानरकाञ्चनप्रभं
सुतं तदोत्सङ्गगतं सदागतेः ।
चतुर्मुखो वीक्ष्य कृपामथाकरोत्
सदेवगन्धर्वऋषियक्षराक्षसैः ॥ ६५ ॥

'तत्पश्चात् चतुर्मुख ब्रह्माजीने देवताओं, गन्धर्वों, ऋषियों, यक्षों तथा राक्षसोंके साथ वहाँ पहुँचकर वायुदेवताकी गोदमें सोये हुए उनके पुत्रको देखा, जिसकी अङ्गकान्ति सूर्य, अग्नि और सुवर्णके समान प्रकाशित हो रही थी। उसकी वैसी दशा देखकर ब्रह्माजीको उसपर बड़ी दया आयी' ॥ ६५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें पैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

—★—

षट्त्रिंशः सर्गः

ब्रह्मा आदि देवताओंका हनुमान्‌जीको जीवित करके नाना प्रकारके वरदान देना और वायुका उन्हें लेकर अञ्जनाके घर जाना, ऋषियोंके शापसे हनुमान्‌जीको अपने बलकी विस्मृति, श्रीरामका अगस्त्य आदि ऋषियोंसे अपने यज्ञमें पधारनेके लिये प्रस्ताव करके उन्हें विदा देना

ततः पितामहं दृष्ट्वा वायुः पुत्रवधार्दितः ।
शिशुकं तं समादाय उत्तस्थौ धातुरग्रतः ॥ १ ॥

'पुत्रके मारे जानेसे वायुदेवता बहुत दुःखी थे। ब्रह्माजीको देखकर वे उस शिशुको लिये हुए ही उनके आगे खड़े हो गये ॥ १ ॥

चलकुण्डलमौलिस्रक् तपनीयविभूषणः ।
पादयोर्न्यपतद् वायुस्त्रिरुपस्थाय वेधसे ॥ २ ॥

'उनके कानोंमें कुण्डल हिल रहे थे, माथेपर मुकुट और कण्ठमें हार शोभा दे रहे थे और वे सोनेके आभूषणोंसे विभूषित थे। वायुदेवता तीन बार उपस्थान करके ब्रह्माजीके

चरणोंमें गिर पड़े ॥ २ ॥

तं तु वेदविदातेन लम्बाभरणशोभिना ।
वायुमुत्थाप्य हस्तेन शिशुं तं परिमृष्टवान् ॥ ३ ॥

'वेदवेत्ता ब्रह्माजीने अपने लम्बे, फैले हुए और आभरणभूषित हाथसे वायुदेवताको उठाकर खड़ा किया तथा उनके उस शिशुपर भी हाथ फेरा ॥ ३ ॥

स्पृष्टमात्रस्ततः सोऽथ सलीलं पद्मजन्मना ।
जलसिक्तं यथा सस्यं पुनर्जीवितमाप्तवान् ॥ ४ ॥

'जैसे पानीसे सींच देनेपर सूखती हुई खेती हरी हो जाती है, उसी प्रकार कमलयोनि ब्रह्माजीके हाथका लीलापूर्वक स्पर्श पाते ही शिशु हनुमान् पुनः जीवित हो गये ॥ ४ ॥

प्राणवन्तमिमं दृष्ट्वा प्राणो गन्धवहो मुदा ।
चचार सर्वभूतेषु संनिरुद्धं यथा पुरा ॥ ५ ॥

'हनुमान्‌को जीवित हुआ देख जगत्‌के प्राणस्वरूप गन्ध-वाहन वायुदेव समस्त प्राणियोंके भीतर अवरुद्ध हुए प्राण आदिका पूर्ववत् प्रसन्नतापूर्वक संचार करने लगे ॥ ५ ॥

मरुद्रोधाद् विनिर्मुक्तास्ताः प्रजा मुदिताऽभवन् ।
शीतवातविनिर्मुक्ताः पद्मिन्य इव साम्बुजाः ॥ ६ ॥

वायुके अवरोधसे छूटकर सारी प्रजा प्रसन्न हो गयी। ठीक उसी तरह, जैसे हिमयुक्त वायुके आघातसे मुक्त होकर खिले हुए कमलोंसे युक्त पुष्करिणियाँ सुशोभित होने लगती हैं ॥ ६ ॥

ततस्त्रियुग्मस्त्रिककुत् त्रिधामा त्रिदशार्चितः ।
उवाच देवता ब्रह्मा मारुतप्रियकाम्यया ॥ ७ ॥

तदनन्तर तीन युग्मोंसे[1] सम्पन्न, प्रधानतः तीन मूर्ति[2] धारण करनेवाले, त्रिलोकरूपी गृहमें रहनेवाले तथा तीन दशाओंसे[3] युक्त देवताओंद्वारा पूजित ब्रह्माजी वायुदेवताका प्रिय करनेकी इच्छासे देवगणोंसे बोले— ॥ ७ ॥

भो महेन्द्राग्निवरुणा महेश्वरधनेश्वराः ।
जानतामपि वः सर्वं वक्ष्यामि श्रूयतां हितम् ॥ ८ ॥

'इन्द्र, अग्नि, वरुण, महादेव और कुबेर आदि देवताओ ! यद्यपि आप सब लोग जानते हैं तथापि मैं आप-लोगोंके हितकी सारी बातें बताऊँगा, सुनिये ॥ ८ ॥

अनेन शिशुना कार्यं कर्तव्यं वो भविष्यति ।
तद् ददध्वं वरान् सर्वे मारुतस्यास्य तुष्टये ॥ ९ ॥

'इस बालकके द्वारा भविष्यमें आपलोगोंके बहुत-से कार्य सिद्ध होंगे, अतः वायुदेवताकी प्रसन्नताके लिये आप सब लोग इसे वर दें' ॥ ९ ॥

ततः सहस्रनयनः प्रीतियुक्तः शुभाननः ।
कुशेशयमयीं मालामुत्क्षिप्येदं वचोऽब्रवीत् ॥ १० ॥

तब सुन्दर मुखवाले सहस्र नेत्रधारी इन्द्रने शिशु हनुमान्‌के गलेमें बड़ी प्रसन्नताके साथ कमलोंकी माला पहना दी और यह बात कही— ॥ १० ॥

मत्करोत्सृष्टवज्रेण हनुरस्य यथा हतः ।
नाम्ना वै कपिशार्दूलो भविता हनुमानिति ॥ ११ ॥

'मेरे हाथसे छूटे हुए वज्रके द्वारा इस बालककी हनु (ठुड्डी) टूट गयी थी; इसलिये इस कपिश्रेष्ठका नाम 'हनुमान्' होगा ॥ ११ ॥

अहमस्य प्रदास्यामि परमं वरमद्भुतम् ।
इतः प्रभृति वज्रस्य ममावध्यो भविष्यति ॥ १२ ॥

इसके सिवा मैं इसे दूसरा अद्भुत वर यह देता हूँ कि आजसे यह मेरे वज्रके द्वारा भी नहीं मारा जा सकेगा' ॥ १२ ॥

मार्तण्डस्त्वब्रवीत् तत्र भगवांस्तिमिरापहः ।
तेजसोऽस्य मदीयस्य ददामि शतिकां कलाम् ॥ १३ ॥

इसके बाद वहाँ अन्धकारनाशक भगवान् सूर्यने कहा—'मैं इसे अपने तेजका सौवाँ भाग देता हूँ ॥ १३ ॥

यदा च शास्त्राण्यध्येतुं शक्तिरस्य भविष्यति ।
तदास्य शास्त्रं दास्यामि येन वाग्मी भविष्यति ।
न चास्य भविता कश्चित् सदृशः शास्त्रदर्शने ॥ १४ ॥

'इसके सिवा जब इसमें शास्त्राध्ययन करनेकी शक्ति आ जायगी, तब मैं ही इसे शास्त्रोंका ज्ञान प्रदान करूँगा, जिससे यह अच्छा वक्ता होगा। शास्त्रज्ञानमें कोई भी इसकी समानता करनेवाला न होगा' ॥ १४ ॥

वरुणश्च वरं प्रादान्नास्य मृत्युर्भविष्यति ।
वर्षायुतशतेनापि मत्पाशादुदकादपि ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् वरुणने वर देते हुए कहा—'दस लाख वर्षोंकी आयु हो जानेपर भी मेरे पाश और जलसे इस बालककी मृत्यु नहीं होगी' ॥ १५ ॥

यमो दण्डादवध्यत्वमरोगत्वं च दत्तवान् ।
वरं ददामि संतुष्ट अविषादं च संयुगे ॥ १६ ॥
गदेयं मामिका नैनं संयुगेषु वधिष्यति ।
इत्येवं धनदः प्राह तदा ह्येकाक्षिपिङ्गलः ॥ १७ ॥

फिर यमने वर दिया—'यह मेरे दण्डसे अवध्य और नीरोग होगा।' तदनन्तर पिंगलवर्णकी एक आँखवाले कुबेरने कहा—'मैं संतुष्ट होकर यह वर देता हूँ कि युद्धमें कभी इसे विषाद न होगा तथा मेरी यह गदा संग्राममें इसका वध न कर सकेगी' ॥ १६-१७ ॥

मत्तो मदायुधानां च अवध्योऽयं भविष्यति ।
इत्येवं शङ्करेणापि दत्तोऽस्य परमो वरः ॥ १८ ॥

---

१. तीन युग्मोंका तात्पर्य यहाँ छः प्रकारके ऐश्वर्यसे है। ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य—ये ही छः प्रकारके ऐश्वर्य हैं।

२. ब्रह्मा, विष्णु और शिव—ये ही तीन मूर्तियाँ हैं।

३. बाल्य, पौगण्ड तथा कैशोर—ये ही देवताओंकी तीन अवस्थाएँ हैं।

इसके बाद भगवान् शङ्करने यह उत्तम वर दिया कि 'यह मेरे और मेरे आयुधोंके द्वारा भी अवध्य होगा' ॥ १८ ॥

विश्वकर्मा च दृष्ट्वेमं बालसूर्योपमं शिशुम्।
शिल्पिनां प्रवरः प्रादाद् वरमस्य महामतिः ॥ १९ ॥

शिल्पियोंमें श्रेष्ठ परम बुद्धिमान् विश्वकर्माने बालसूर्यके समान अरुण कान्तिवाले उस शिशुको देखकर उसे इस प्रकार वर दिया— ॥ १९ ॥

मत्कृतानि च शस्त्राणि यानि दिव्यानि तानि च।
तैरवध्यत्वमापन्नश्चिरजीवी भविष्यति ॥ २० ॥

'मेरे बनाये हुए जितने दिव्य अस्त्र-शस्त्र हैं, उनसे अवध्य होकर यह बालक चिरञ्जीवी होगा' ॥ २० ॥

दीर्घायुश्च महात्मा च ब्रह्मा तं प्राब्रवीद् वचः।
सर्वेषां ब्रह्मदण्डानामवध्योऽयं भविष्यति ॥ २१ ॥

अन्तमें ब्रह्माजीने उस बालकको लक्ष्य करके कहा—'यह दीर्घायु, महात्मा तथा सब प्रकारके ब्रह्मदण्डोंसे अवध्य होगा' ॥ २१ ॥

ततः सुराणां तु वरैर्दृष्ट्वा ह्येनमलङ्कृतम्।
चतुर्मुखस्तुष्टमना वायुमाह जगद्गुरुः ॥ २२ ॥

तत्पश्चात् हनुमान्‌जीको इस प्रकार देवताओंके वरोंसे अलङ्कृत देख चार मुखोंवाले जगद्गुरु ब्रह्माजीका मन प्रसन्न हो गया और वे वायुदेवसे बोले— ॥ २२ ॥

अमित्राणां भयकरो मित्राणामभयंकरः।
अजेयो भविता पुत्रस्तव मारुत मारुतिः ॥ २३ ॥

'मारुत! तुम्हारा यह पुत्र मारुति शत्रुओंके लिये भयंकर और मित्रोंके लिये अभयदाता होगा। युद्धमें कोई भी इसे जीत न सकेगा ॥ २३ ॥

कामरूपः कामचारी कामगः प्लवतां वरः।
भवत्यव्याहतगतिः कीर्तिमांश्च भविष्यति ॥ २४ ॥

'यह इच्छानुसार रूप धारण कर सकेगा, जहाँ चाहेगा जा सकेगा। इसकी गति इसकी इच्छाके अनुसार तीव्र या मन्द होगी तथा वह कहीं भी रुक नहीं सकेगी। यह कपिश्रेष्ठ बड़ा यशस्वी होगा ॥ २४ ॥

रावणोत्सादनार्थानि रामप्रीतिकराणि च।
रोमहर्षकराण्येव कर्ता कर्माणि संयुगे ॥ २५ ॥

'यह युद्धस्थलमें रावणका संहार और भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी प्रसन्नताका सम्पादन करनेवाले अनेक अद्भुत एवं रोमाञ्चकारी कर्म करेगा' ॥ २५ ॥

एवमुक्त्वा तमामन्त्र्य मारुतं त्वमरैः सह।
यथागतं ययुः सर्वे पितामहपुरोगमाः ॥ २६ ॥

इस प्रकार हनुमान्‌जीको वर देकर वायुदेवताकी अनुमति ले ब्रह्मा आदि सब देवता जैसे आये थे, उसी तरह अपने-अपने स्थानको चले गये ॥ २६ ॥

सोऽपि गन्धवहः पुत्रं प्रगृह्य गृहमानयत्।
अञ्जनायास्तमाख्याय वरदत्तं विनिर्गतः ॥ २७ ॥

गन्धवाहन वायु भी पुत्रको लेकर अञ्जनाके घर आये और उसे देवताओंके दिये हुए वरदानकी बात बताकर चले गये ॥ २७ ॥

प्राप्य राम वरानेष वरदानबलान्वितः।
जवेनात्मनि संस्थेन सोऽसौ पूर्ण इवार्णवः ॥ २८ ॥

श्रीराम! इस प्रकार ये हनुमान्‌जी बहुत-से वर पाकर वरदानजनित शक्तिसे सम्पन्न हो गये और अपने भीतर विद्यमान अनुपम वेगसे पूर्ण हो भरे हुए महासागरके समान शोभा पाने लगे ॥ २८ ॥

तरसा पूर्यमाणोऽपि तदा वानरपुङ्गवः।
आश्रमेषु महर्षीणामपराध्यति निर्भयः ॥ २९ ॥

उन दिनों वेगसे भरे हुए ये वानरशिरोमणि हनुमान् निर्भय हो महर्षियोंके आश्रमोंमें जा-जाकर उपद्रव किया करते थे ॥ २९ ॥

स्रुग्भाण्डान्यग्निहोत्राणि वल्कलानां च संचयान्।
भग्नविच्छिन्नविध्वस्तान् संशान्तानां करोत्ययम् ॥ ३० ॥

ये शान्तचित्त महात्माओंके यज्ञोपयोगी पात्र फोड़ डालते, अग्निहोत्रके साधनभूत स्रुक्, स्रुवा आदिको तोड़ डालते और ढेर-के-ढेर रखे गये वल्कलोंको चीर-फाड़ देते थे ॥ ३० ॥

एवंविधानि कर्माणि प्रावर्तत महाबलः।
सर्वेषां ब्रह्मदण्डानामवध्यः शम्भुना कृतः ॥ ३१ ॥
जानन्त ऋषयः सर्वे सहन्ते तस्य शक्तितः।

'महाबली पवनकुमार इस तरहके उपद्रवपूर्ण कार्य करने लगे। कल्याणकारी भगवान् ब्रह्माने इन्हें सब प्रकारके ब्रह्मदण्डोंसे अवध्य कर दिया है—यह बात सभी ऋषि जानते थे; अतः इनकी शक्तिसे विवश हो वे इनके सारे अपराध चुपचाप सह लेते थे ॥ ३१½ ॥

तथा केसरिणा त्वेष वायुना सोऽञ्जनीसुतः ॥ ३२ ॥
प्रतिषिद्धोऽपि मर्यादां लङ्घयत्येव वानरः।

यद्यपि केसरी तथा वायुदेवताने भी इन अञ्जनीकुमारको बारम्बार मना किया तो भी ये वानरवीर मर्यादाका उल्लङ्घन कर ही देते थे ॥ ३२½ ॥

ततो महर्षयः क्रुद्धा भृग्वङ्गिरसवंशजाः ॥ ३३ ॥
शेपुरेनं रघुश्रेष्ठ नातिक्रुद्धातिमन्यवः।

इससे भृगु और अङ्गिराके वंशमें उत्पन्न हुए महर्षि कुपित हो उठे। रघुश्रेष्ठ! उन्होंने अपने हृदयमें अधिक खेद या दुःखको स्थान न देकर इन्हें शाप देते हुए कहा— ॥ ३३½ ॥

बाधसे यत् समाश्रित्य बलमस्मान् प्लवङ्गम ॥ ३४ ॥

तद् दीर्घकालं वेत्तासि नास्माकं शापमोहितः।
यदा ते स्मार्यते कीर्तिस्तदा ते वर्धते बलम्॥ ३५॥

'वानरवीर! तुम जिस बलका आश्रय लेकर हमें सता रहे हो, उसे हमारे शापसे मोहित होकर तुम दीर्घकालतक भूले रहोगे—तुम्हें अपने बलका पता ही नहीं चलेगा। जब कोई तुम्हें तुम्हारी कीर्तिका स्मरण दिला देगा, तभी तुम्हारा बल बढ़ेगा'॥ ३४-३५॥

ततस्तु हृततेजौजा महर्षिवचनौजसा।
एषोऽऽश्रमाणि तान्येव मृदुभावं गतोऽचरत्॥ ३६॥

इस प्रकार महर्षियोंके इस वचनके प्रभावसे इनका तेज और ओज घट गया। फिर ये उन्हीं आश्रमोंमें मृदुल प्रकृतिके होकर विचरने लगे॥ ३६॥

अथर्क्षरजसो नाम बालिसुग्रीवयोः पिता।
सर्ववानरराजासीत् तेजसा इव भास्करः॥ ३७॥

वाली और सुग्रीवके पिताका नाम ऋक्षरजा था। वे सूर्यके समान तेजस्वी तथा समस्त वानरोंके राजा थे॥ ३७॥

स तु राज्यं चिरं कृत्वा वानराणां महेश्वरः।
ततस्त्वृक्षरजा नाम कालधर्मेण योजितः॥ ३८॥

वे वानरराज ऋक्षरजा चिरकालतक वानरोंके राज्यका शासन करके अन्तमें कालधर्म (मृत्यु) को प्राप्त हुए॥ ३८॥

तस्मिन्नस्तमिते चाथ मन्त्रिभिर्मन्त्रकोविदैः।
पित्र्ये पदे कृतो वाली सुग्रीवो वालिनः पदे॥ ३९॥

उनका देहावसान हो जानेपर मन्त्रवेत्ता मन्त्रियोंने पिताके स्थानपर वालीको राजा और वालीके स्थानपर सुग्रीवको युवराज बनाया॥ ३९॥

सुग्रीवेण समं त्वस्य अद्वैधं छिद्रवर्जितम्।
आबाल्यं सख्यमभवदनिलस्याग्निना यथा॥ ४०॥

जैसे अग्निके साथ वायुकी स्वाभाविक मित्रता है, उसी प्रकार सुग्रीवके साथ वालीका बचपनसे ही सख्यभाव था। उन दोनोंमें परस्पर किसी प्रकारका भेदभाव नहीं था। उनमें अटूट प्रेम था॥ ४०॥

एष शापवशादेव न वेद बलमात्मनः।
वालिसुग्रीवयोर्वैरं यदा राम समुत्थितम्॥ ४१॥
न ह्येष राम सुग्रीवो भ्राम्यमाणोऽपि वालिना।
देव जानाति न ह्येष बलमात्मनि मारुतिः॥ ४२॥

श्रीराम! फिर जब वाली और सुग्रीवमें वैर उठ खड़ा हुआ, उस समय ये हनुमान्‌जी शापवश ही अपने बलको न जान सके। देव! वालीके भयसे भटकते रहनेपर भी न तो इन सुग्रीवको इनके बलका स्मरण हुआ और न स्वयं ये पवनकुमार ही अपने बलका पता पा सके॥ ४१-४२॥

ऋषिशापाहृतबलस्तदैव कपिसत्तमः।
सिंहः कुञ्जररुद्धो वा आस्थितः सहितो रणे॥ ४३॥

सुग्रीवके ऊपर जब वह विपत्ति आयी थी, उन दिनों ऋषियोंके शापके कारण इनको अपने बलका ज्ञान भूल गया था, इसीलिये जैसे कोई सिंह हाथीके द्वारा अवरुद्ध होकर चुपचाप खड़ा रहे, उसी प्रकार ये वाली और सुग्रीवके युद्धमें चुपचाप खड़े-खड़े तमाशा देखते रहे, कुछ कर न सके॥ ४३॥

पराक्रमोत्साहमतिप्रताप-
सौशील्यमाधुर्यनयानयैश्च।
गाम्भीर्यचातुर्यसुवीर्यधैर्यै-
र्हनूमतः कोऽप्यधिकोऽस्ति लोके॥ ४४॥

संसारमें ऐसा कौन है जो पराक्रम, उत्साह, बुद्धि, प्रताप, सुशीलता, मधुरता, नीति-अनीतिके विवेक, गम्भीरता, चतुरता, उत्तम बल और धैर्यमें हनुमान्‌जीसे बढ़कर हो॥ ४४॥

असौ पुनर्व्याकरणं ग्रहीष्यन्
सूर्योन्मुखः प्रष्टुमनाः कपीन्द्रः।
उद्यद्गिरेरस्तगिरिं जगाम
ग्रन्थं महद्धारयनप्रमेयः॥ ४५॥

ये असीम शक्तिशाली कपिश्रेष्ठ हनुमान् व्याकरणका अध्ययन करनेके लिये शङ्काएँ पूछनेकी इच्छासे सूर्यकी ओर मुँह रखकर महान् ग्रन्थ धारण किये उनके आगे-आगे उदयाचलसे अस्ताचलतक जाते थे॥ ४५॥

ससूत्रवृत्त्यर्थपदं महार्थं
ससंग्रहं सिद्ध्यति वै कपीन्द्रः।
नह्यस्य कश्चित् सदृशोऽस्ति शास्त्रे
वैशारदे छन्दगतौ तथैव॥ ४६॥

इन्होंने सूत्र, वृत्ति, वार्तिक, महाभाष्य और संग्रह—इन सबका अच्छी तरह अध्ययन किया है। अन्यान्य शास्त्रोंके ज्ञान तथा छन्दःशास्त्रके अध्ययनमें भी इनकी समानता करनेवाला दूसरा कोई विद्वान् नहीं है॥ ४६॥

सर्वासु विद्यासु तपोविधाने
प्रस्पर्धतेऽयं हि गुरुं सुराणाम्।
सोऽयं नवव्याकरणार्थवेत्ता
ब्रह्मा भविष्यत्यपि ते प्रसादात्॥ ४७॥

सम्पूर्ण विद्याओंके ज्ञान तथा तपस्याके अनुष्ठानमें ये देवगुरु बृहस्पतिकी बराबरी करते हैं। नव व्याकरणोंके सिद्धान्तको जाननेवाले ये हनुमान्‌जी आपकी कृपासे साक्षात् ब्रह्माके समान आदरणीय होंगे॥ ४७॥

प्रवीविविक्षोरिव सागरस्य
लोकान् दिधक्षोरिव पावकस्य।
लोकक्षयेष्वेव यथान्तकस्य
हनूमतः स्थास्यति कः पुरस्तात्॥ ४८॥

प्रलयकालमें भूतलको आप्लावित करनेके लिये भूमिके भीतर प्रवेश करनेकी इच्छावाले महासागर, सम्पूर्ण लोकोंको दग्ध कर डालनेके लिये उद्यत हुए संवर्तक अग्नि तथा

लोकसंहारके लिये उठे हुए कालके समान प्रभावशाली इन हनुमान्‌जीके सामने कौन ठहर सकेगा ॥ ४८ ॥

एषेव चान्ये च महाकपीन्द्राः
सुग्रीवमैन्दद्विविदाः सनीलाः ।
सतारतारेयनलाः सरम्भा-
स्त्वत्कारणाद् राम सुरैर्हि सृष्टाः ॥ ४९ ॥

श्रीराम ! वास्तवमें ये तथा इन्हींके समान दूसरे-दूसरे जो सुग्रीव, मैन्द, द्विविद, नील, तार, तारेय (अङ्गद), नल तथा रम्भ आदि महाकपीश्वर हैं; इन सबकी सृष्टि देवताओंने आपकी सहायताके लिये ही की है ॥ ४९ ॥

गजो गवाक्षो गवयः सुदंष्ट्रो
मैन्दः प्रभो ज्योतिमुखो नलश्च ।
एते च ऋक्षाः सह वानरेन्द्रै-
स्त्वत्कारणाद् राम सुरैर्हि सृष्टाः ॥ ५० ॥

श्रीराम ! गज, गवाक्ष, गवय, सुदंष्ट्र, मैन्द, प्रभ, ज्योतिमुख और नल—इन सब वानरेश्वरों तथा रीछोंकी सृष्टि देवताओंने आपके सहयोगके लिये ही की है ॥ ५० ॥

तदेतत् कथितं सर्वं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
हनूमतो बालभावे कर्मैतत् कथितं मया ॥ ५१ ॥

रघुनन्दन ! आपने मुझसे जो कुछ पूछा था, वह सब मैंने कह सुनाया। हनुमान्‌जीकी बाल्यावस्थाके इस चरित्रका भी वर्णन कर दिया ॥ ५१ ॥

श्रुत्वागस्त्यस्य कथितं रामः सौमित्रिरेव च ।
विस्मयं परमं जग्मुर्वानरा राक्षसैः सह ॥ ५२ ॥

अगस्त्यजीका यह कथन सुनकर श्रीराम और लक्ष्मण बड़े विस्मित हुए। वानरों और राक्षसोंको भी बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ५२ ॥

अगस्त्यस्त्वब्रवीद् रामं सर्वमेतच्छ्रुतं त्वया ।
दृष्टः सम्भाषितश्चासि राम गच्छामहे वयम् ॥ ५३ ॥

तत्पश्चात् अगस्त्यजीने श्रीरामचन्द्रजीसे कहा— 'योगियोंके हृदयमें रमण करनेवाले श्रीराम ! आप यह सारा प्रसङ्ग सुन चुके। हमलोगोंने आपका दर्शन और आपके साथ वार्तालाप कर लिया। इसलिये अब हम जा रहे हैं' ॥ ५३ ॥

श्रुत्वैतद् राघवो वाक्यमगस्त्यस्योग्रतेजसः ।
प्राञ्जलिः प्रणतश्चापि महर्षिमिदमब्रवीत् ॥ ५४ ॥

उग्र तेजस्वी अगस्त्यजीकी यह बात सुनकर श्रीरघुनाथजीने हाथ जोड़ विनयपूर्वक उन महर्षिसे इस प्रकार कहा— ॥ ५४ ॥

अद्य मे देवतास्तुष्टाः पितरः प्रपितामहाः ।
युष्माकं दर्शनादेव नित्यं तुष्टाः सबान्धवाः ॥ ५५ ॥

'मुनीश्वर ! आज मुझपर देवता, पितर और पितामह आदि विशेषरूपसे संतुष्ट हैं। बन्धु-बान्धवोंसहित हमलोगोंको तो आप-जैसे महात्माओंके दर्शनसे ही सदा संतोष है ॥ ५५ ॥

विज्ञाप्यं तु ममैतद्धि यद् वदाम्यागतस्पृहः ।
तद् भवद्भिर्मम कृते कर्तव्यमनुकम्पया ॥ ५६ ॥

'मेरे मनमें एक इच्छाका उदय हुआ है, अतः मैं यह सूचित करनेयोग्य बात आपकी सेवामें निवेदन कर रहा हूँ। मुझपर अनुग्रह करके आपलोगोंको मेरे उस अभीष्ट कार्यको पूरा करना होगा ॥ ५६ ॥

पौरजानपदान् स्थाप्य स्वकार्येष्वहमागतः ।
क्रतूनहं करिष्यामि प्रभावाद् भवतां सताम् ॥ ५७ ॥

'मेरी इच्छा है कि पुरवासी और देशवासियोंको अपने-अपने कार्योंमें लगाकर मैं आप सत्पुरुषोंके प्रभावसे यज्ञोंका अनुष्ठान करूँ ॥ ५७ ॥

सदस्या मम यज्ञेषु भवन्तो नित्यमेव तु ।
भविष्यथ महावीर्या ममानुग्रहकाङ्क्षिणः ॥ ५८ ॥

'मेरे उन यज्ञोंमें आप महान् शक्तिशाली महात्मा मुझपर अनुग्रह करनेके लिये नित्य सदस्य बने रहें ॥ ५८ ॥

अहं युष्मान् समाश्रित्य तपोनिर्धूतकल्मषान् ।
अनुगृहीतः पितृभिर्भविष्यामि सुनिर्वृतः ॥ ५९ ॥

'आप तपस्यासे निष्पाप हो चुके हैं। मैं आपलोगोंका आश्रय लेकर सदा संतुष्ट एवं पितरोंसे अनुगृहीत होऊँगा ॥ ५९ ॥

तदागन्तव्यमनिशं भवद्भिरिह संगतैः ।
अगस्त्याद्यास्तु तच्छ्रुत्वा ऋषयः संशितव्रताः ॥ ६० ॥
एवमस्त्विति तं प्रोच्य प्रयातुमुपचक्रमुः ।

'यज्ञ-आरम्भके समय सब लोग एकत्र होकर निरन्तर यहाँ आते रहें।' श्रीरामचन्द्रजीका यह वचन सुनकर कठोर व्रतका पालन करनेवाले अगस्त्य आदि महर्षि उनसे 'एवमस्तु (ऐसा ही होगा)' कहकर वहाँसे जानेको उद्यत हुए ॥ ६० १/२ ॥

एवमुक्त्वा गताः सर्वे ऋषयस्ते यथागतम् ॥ ६१ ॥
राघवश्च तमेवार्थं चिन्तयामास विस्मितः ।

इस प्रकार बातचीत करके सब ऋषि जैसे आये थे, वैसे चले गये। इधर श्रीरामचन्द्रजी विस्मित होकर उन्हीं बातोंपर विचार करते रहे ॥ ६१ १/२ ॥

ततोऽस्तं भास्करे याते विसृज्य नृपवानरान् ॥ ६२ ॥
संध्यामुपास्य विधिवत् तदा नरवरोत्तमः ।
प्रवृत्तायां रजन्यां तु सोऽन्तःपुरचरोऽभवत् ॥ ६३ ॥

तदनन्तर सूर्यास्त होनेपर राजाओं और वानरोंको विदा करके नरेशोंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीने विधिपूर्वक संध्योपासना की और रात होनेपर वे अन्तःपुरमें पधारे ॥ ६२-६३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे षट्त्रिंशः सर्गः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें छत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशः सर्गः

श्रीरामका सभासदोंके साथ राजसभामें बैठना

अभिषिक्ते तु काकुत्स्थे धर्मेण विदितात्मनि ।
व्यतीता या निशा पूर्वा पौराणां हर्षवर्धिनी ॥ १ ॥

ककुत्स्थकुलभूषण आत्मज्ञानी श्रीरामचन्द्रजीका धर्मपूर्वक राज्याभिषेक हो जानेपर पुरवासियोंका हर्ष बढ़ानेवाली उनकी पहली रात्रि व्यतीत हुई ॥ १ ॥

तस्यां रजन्यां व्युष्टायां प्रातर्नृपतिबोधकाः ।
वन्दिनः समुपातिष्ठन् सौम्या नृपतिवेश्मनि ॥ २ ॥

वह रात बीतनेपर जब सबेरा हुआ, तब प्रातःकाल महाराज श्रीरामको जगानेवाले सौम्य वन्दीजन राजमहलमें उपस्थित हुए ॥ २ ॥

ते रक्तकण्ठिनः सर्वे किन्नरा इव शिक्षिताः ।
तुष्टुवुर्नृपतिं वीरं यथावत् सम्प्रहर्षिणः ॥ ३ ॥

उनके कण्ठ बड़े मधुर थे। वे संगीतकी कलामें किन्नरोंके समान सुशिक्षित थे। उन्होंने बड़े हर्षमें भरकर यथावत्-रूपमें वीर नरेश श्रीरघुनाथजीका स्तवन आरम्भ किया ॥ ३ ॥

वीर सौम्य प्रबुध्यस्व कौसल्याप्रीतिवर्धन ।
जगद्धि सर्वं स्वपिति त्वयि सुप्ते नराधिप ॥ ४ ॥

'श्रीकौसल्याजीका आनन्द बढ़ानेवाले सौम्य-स्वरूप वीर श्रीरघुवीर! आप जागिये। महाराज! आपके सोये रहनेपर तो सारा जगत् ही सोया रहेगा (ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर धर्मानुष्ठानमें नहीं लग सकेगा) ॥ ४ ॥

विक्रमस्ते यथा विष्णो रूपं चैवाश्विनोरिव ।
बुद्ध्या बृहस्पतेस्तुल्यः प्रजापतिसमो ह्यसि ॥ ५ ॥

'आपका पराक्रम भगवान् विष्णुके समान तथा रूप अश्विनीकुमारोंके समान है। बुद्धिमें आप बृहस्पतिके तुल्य हैं और प्रजा-पालनमें साक्षात् प्रजापतिके सदृश हैं ॥ ५ ॥

क्षमा ते पृथिवीतुल्या तेजसा भास्करोपमः ।
वेगस्ते वायुना तुल्यो गाम्भीर्यमुदधेरिव ॥ ६ ॥

'आपकी क्षमा पृथ्वीके समान और तेज भगवान् भास्करके समान है। वेग वायुके तुल्य और गम्भीरता समुद्रके सदृश है ॥ ६ ॥

अप्रकम्प्यो यथा स्थाणुश्चन्द्रे सौम्यत्वमीदृशम् ।
नेदृशाः पार्थिवाः पूर्वं भवितारो नराधिप ॥ ७ ॥

'नरेश्वर! आप भगवान् शङ्करके समान युद्धमें अविचल हैं। आपकी-सी सौम्यता चन्द्रमामें ही पायी जाती है। आपके समान राजा न पहले थे और न भविष्यमें होंगे ॥ ७ ॥

यथा त्वमसि दुर्धर्षो धर्मनित्यः प्रजाहितः ।
न त्वां जहाति कीर्तिश्च लक्ष्मीश्च पुरुषर्षभ ॥ ८ ॥

'पुरुषोत्तम! आपको परास्त करना कठिन ही नहीं, असम्भव है। आप सदा धर्ममें संलग्न रहते हुए प्रजाके हित-साधनमें तत्पर रहते हैं, अतः कीर्ति और लक्ष्मी आपको कभी नहीं छोड़ती हैं ॥ ८ ॥

श्रीश्च धर्मश्च काकुत्स्थ त्वयि नित्यं प्रतिष्ठितौ ।
एताश्चान्याश्च मधुरा वन्दिभिः परिकीर्तिताः ॥ ९ ॥

'ककुत्स्थकुलनन्दन! ऐश्वर्य और धर्म आपमें नित्य प्रतिष्ठित हैं।' वन्दीजनोंने ये तथा और भी बहुत-सी सुमधुर स्तुतियाँ सुनायीं ॥ ९ ॥

सूताश्च संस्तवैर्दिव्यैर्बोधयन्ति स्म राघवम् ।
स्तुतिभिः स्तूयमानाभिः प्रत्यबुध्यत राघवः ॥ १० ॥

सूत भी दिव्य स्तुतियोंद्वारा श्रीरघुनाथजीको जगाते रहे। इस प्रकार सुनायी जाती हुई स्तुतियोंके द्वारा भगवान् श्रीराम जागे ॥ १० ॥

स तद्विहाय शयनं पाण्डुराच्छादनास्तृतम् ।
उत्तस्थौ नागशयनाद्धरिर्नारायणो यथा ॥ ११ ॥

जैसे पापहारी भगवान् नारायण शेषशय्यासे उठते हैं, उसी प्रकार वे भी श्वेत बिछौनोंसे ढकी हुई शय्याको छोड़कर उठ बैठे ॥ ११ ॥

तमुत्थितं महात्मानं प्रह्वाः प्राञ्जलयो नराः ।
सलिलं भाजनैः शुभ्रैरुपतस्थुः सहस्रशः ॥ १२ ॥

महाराजके शय्यासे उठते ही सहस्रों सेवक विनयपूर्वक हाथ जोड़ उज्ज्वल पात्रोंमें जल लिये उनकी सेवामें उपस्थित हुए ॥ १२ ॥

कृतोदकः शुचिर्भूत्वा काले हुतहुताशनः ।
देवागारं जगामाशु पुण्यमिक्ष्वाकुसेवितम् ॥ १३ ॥

स्नान आदि करके शुद्ध हो उन्होंने समयपर अग्निमें आहुति दी और शीघ्र ही इक्ष्वाकुवंशियोंद्वारा सेवित पवित्र देवमन्दिरमें वे पधारे ॥ १३ ॥

तत्र देवान् पितॄन् विप्रानर्चयित्वा यथाविधि ।
बाह्यकक्षान्तरं रामो निर्जगाम जनैर्वृतः ॥ १४ ॥

वहाँ देवताओं, पितरों और ब्राह्मणोंका विधिवत् पूजन करके वे अनेक कर्मचारियोंके साथ बाहरकी ड्योढ़ीमें आये ॥ १४ ॥

उपतस्थुर्महात्मानो मन्त्रिणः सपुरोहिताः ।
वसिष्ठप्रमुखाः सर्वे दीप्यमाना इवाग्नयः ॥ १५ ॥

इसी समय प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी वसिष्ठ आदि सभी महात्मा मन्त्री और पुरोहित वहाँ उपस्थित हुए ॥ १५ ॥

क्षत्रियाश्च महात्मानो नानाजनपदेश्वराः ।
रामस्योपाविशन् पार्श्वे शक्रस्येव यथामराः ॥ १६ ॥

तत्पश्चात् अनेकानेक जनपदोंके स्वामी महामनस्वी क्षत्रिय श्रीरामचन्द्रजीके पास उसी तरह आकर बैठे, जैसे इन्द्रके समीप देवतालोग आकर बैठा करते हैं ॥ १६ ॥

भरतो लक्ष्मणश्चात्र शत्रुघ्नश्च महायशाः ।
उपासांचक्रिरे हृष्टा वेदास्त्रय इवाध्वरम् ॥ १७ ॥

महायशस्वी भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न—ये तीनों भाई बड़े हर्षके साथ उसी तरह भगवान् श्रीरामकी सेवामें उपस्थित रहते थे, जैसे तीनों वेद यज्ञकी ॥ १७ ॥

याताः प्राञ्जलयो भूत्वा किंकरा मुदिताननाः।
मुदिता नाम पार्श्वस्था बहवः समुपाविशन्॥ १८॥

इसी समय मुदित नामसे प्रसिद्ध बहुत-से सेवक भी, जिनके मुखपर प्रसन्नता खेलती रहती थी, हाथ जोड़े सभाभवनमें आये और श्रीरघुनाथजीके पास बैठ गये ॥ १८ ॥

वानराश्च महावीर्या विंशतिः कामरूपिणः।
सुग्रीवप्रमुखा राममुपासन्ते महौजसः॥ १९॥

फिर महापराक्रमी महातेजस्वी तथा इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले सुग्रीव आदि बीस[1] वानर भगवान् श्रीरामके समीप आकर बैठे ॥ १९ ॥

विभीषणश्च रक्षोभिश्चतुर्भिः परिवारितः।
उपासते महात्मानं धनेशमिव गुह्यकः॥ २०॥

अपने चार राक्षस मन्त्रियोंसे घिरे हुए विभीषण भी उसी प्रकार महात्मा श्रीरामकी सेवामें उपस्थित हुए, जैसे गुह्यकगण धनपति कुबेरकी सेवामें उपस्थित होते हैं ॥ २० ॥

तथा निगमवृद्धाश्च कुलीना ये च मानवाः।
शिरसा वन्द्य राजानमुपासन्ते विचक्षणाः॥ २१॥

जो लोग शास्त्रज्ञानमें बढ़े-चढ़े और कुलीन थे, वे चतुर मनुष्य भी महाराजको मस्तक झुकाकर प्रणाम करके वहाँ बैठ गये ॥ २१ ॥

तथा परिवृतो राजा श्रीमद्भिर्ऋषिभिर्वरैः।
राजभिश्च महावीर्यैर्वानरैश्च सराक्षसैः॥ २२॥

इस प्रकार बहुत-से श्रेष्ठ एवं तेजस्वी महर्षि, महापराक्रमी राजा, वानर और राक्षसोंसे घिरे राजसभामें बैठे हुए श्रीरघुनाथजी बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ २२ ॥

यथा देवेश्वरो नित्यमृषिभिः समुपास्यते।
अधिकस्तेन रूपेण सहस्राक्षाद् विरोचते॥ २३॥

जैसे देवराज इन्द्र सदा ऋषियोंसे सेवित होते हैं, उसी तरह महर्षि-मण्डलीसे घिरे हुए श्रीरामचन्द्रजी उस समय सहस्रलोचन इन्द्रसे भी अधिक शोभा पा रहे थे ॥ २३ ॥

तेषां समुपविष्टानां तास्ताः सुमधुराः कथाः।
कथ्यन्ते धर्मसंयुक्ताः पुराणज्ञैर्महात्मभिः॥ २४॥

जब सब लोग यथास्थान बैठ गये, तब पुराणवेत्ता महात्मा लोग भिन्न-भिन्न धर्म-कथाएँ कहने लगे[2] ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे सप्तत्रिंशः सर्गः॥ ३७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें सैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

—★—

अष्टात्रिंशः सर्गः

श्रीरामके द्वारा राजा जनक, युधाजित्, प्रतर्दन तथा अन्य नरेशोंकी विदाई

एवमास्ते महाबाहुरहन्यहनि राघवः।
प्रशासत् सर्वकार्याणि पौरजानपदेषु च॥ १॥

महाबाहु श्रीरघुनाथजी इसी प्रकार प्रतिदिन राजसभामें बैठकर पुरवासियों और जनपदवासियोंके सारे कार्योंकी देखभाल करते हुए शासनका कार्य चलाते थे ॥ १ ॥

ततः कतिपयाहःसु वैदेहं मिथिलाधिपम्।
राघवः प्राञ्जलिर्भूत्वा वाक्यमेतदुवाच ह॥ २॥

तदनन्तर कुछ दिन बीतनेपर श्रीरामचन्द्रजीने मिथिलानरेश विदेहराज जनकजीसे हाथ जोड़कर यह बात कही— ॥ २ ॥

भवान् हि गतिरव्यग्रा भवता पालिता वयम्।
भवतस्तेजसोग्रेण रावणो निहतो मया॥ ३॥

'महाराज! आप ही हमारे सुस्थिर आश्रय हैं। आपने सदा हमलोगोंका लालन-पालन किया है। आपके ही बढ़े हुए तेजसे मैंने रावणका वध किया है ॥ ३ ॥

इक्ष्वाकूणां च सर्वेषां मैथिलानां च सर्वशः।
अतुलाः प्रीतयो राजन् सम्बन्धकपुरोगमाः॥ ४॥

'राजन्! समस्त इक्ष्वाकुवंशी और मैथिल नरेशोंमें आपसके सम्बन्धके कारण सब प्रकारसे जो प्रेम बढ़ा है, उसकी कहीं तुलना नहीं है ॥ ४ ॥

तद् भवान् स्वपुरं यातु रत्नान्यादाय पार्थिव।
भरतश्च सहायार्थं पृष्ठतश्चानुयास्यति॥ ५॥

'पृथ्वीनाथ! अब आप हमारे द्वारा भेंट किये गये ये रत्न

---

१. सुग्रीव, अङ्गद, हनुमान्, जाम्बवान्, सुषेण, तार, नील, नल, मैन्द, द्विविद, कुमुद, शरभ, शतबलि, गन्धमादन, गज, गवाक्ष, गवय, धूम्र, रम्भ तथा ज्योतिर्मुख—ये प्रधान-प्रधान वानर-वीर बीसकी संख्यामें उपस्थित थे।

२. इस सर्गके बाद कुछ प्रतियोंमें प्रक्षिप्तरूपसे पाँच सर्ग और उपलब्ध होते हैं, जिनमें वाली और सुग्रीवकी उत्पत्तिका तथा रावणके श्वेतद्वीपमें गमनका इतिहास वर्णित है। इस इतिहासके वक्ता भी अगस्त्यजी ही हैं। परंतु इसके पहले सर्गमें ही अगस्त्यजीके विदा होनेका वर्णन आ गया है; अतः यहाँ इन सर्गोंका उल्लेख असङ्गत प्रतीत होता है। इसीलिये ये सर्ग यहाँ नहीं लिये गये हैं।

लेकर अपनी राजधानीको पधारें। भरत (तथा उनके साथ-साथ शत्रुघ्न भी) आपकी सहायताके लिये आपके पीछे-पीछे जायँगे' ॥ ५ ॥

स तथेति ततः कृत्वा राघवं वाक्यमब्रवीत्।
प्रीतोऽस्मि भवता राजन् दर्शनेन नयेन च ॥ ६ ॥

तब जनकजी 'बहुत अच्छा' कहकर श्रीरामचन्द्रजीसे बोले—'राजन्! मैं आपके दर्शन तथा न्यायानुसार व्यवहारसे बहुत प्रसन्न हूँ ॥ ६ ॥

यान्येतानि तु रत्नानि मदर्थं संचितानि वै।
दुहित्रे तान्यहं राजन् सर्वाण्येव ददामि वै ॥ ७ ॥

'आपने मेरे लिये जो रत्न एकत्र किये हैं, वह सब मैं अपनी सीता आदि पुत्रियोंको देता हूँ' ॥ ७ ॥

एवमुक्त्वा तु काकुत्स्थं जनको हृष्टमानसः।
प्रययौ मिथिलां श्रीमांस्तमनुज्ञाय राघवम् ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्रजीसे ऐसा कहकर श्रीमान् राजा जनक प्रसन्न चित्त हो श्रीरामकी अनुमति ले मिथिलापुरीको चल दिये ॥ ८ ॥

ततः प्रयाते जनके केकयं मातुलं प्रभुम्।
राघवः प्राञ्जलिर्भूत्वा विनयाद् वाक्यमब्रवीत् ॥ ९ ॥

जनकजीके चले जानेके पश्चात् श्रीरघुनाथजीने हाथ जोड़कर अपने मामा केकय-नरेश युधाजित्‌से, जो बड़े सामर्थ्यशाली थे, विनयपूर्वक कहा— ॥ ९ ॥

इदं राज्यमहं चैव भरतश्च सलक्ष्मणः।
आयत्तस्त्वं हि नो राजन् गतिश्च पुरुषर्षभ ॥ १० ॥

'राजन्! पुरुषप्रवर! यह राज्य, मैं, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न—सब आपके अधीन हैं। आप ही हमारे आश्रय हैं ॥ १० ॥

राजा हि वृद्धः संतापं त्वदर्थमुपयास्यति।
तस्माद् गमनमद्यैव रोचते तव पार्थिव ॥ ११ ॥

'महाराज केकयराज वृद्ध हैं। वे आपके लिये बहुत चिन्तित होंगे। इसलिये पृथ्वीनाथ! आपका आज ही जाना मुझे अच्छा जान पड़ता है ॥ ११ ॥

लक्ष्मणेनानुयात्रेण पृष्ठतोऽनुगमिष्यते।
धनमादाय बहुलं रत्नानि विविधानि च ॥ १२ ॥

'आप बहुत-सा धन तथा नाना प्रकारके रत्न लेकर पधारें। मार्गमें सहायताके लिये लक्ष्मण आपके साथ जायँगे' ॥ १२ ॥

युधाजित् तु तथेत्याह गमनं प्रति राघव।
रत्नानि च धनं चैव त्वय्येवाक्षय्यमस्त्विति ॥ १३ ॥

तब युधाजित्‌ने 'तथास्तु' कहकर श्रीरामचन्द्रजीकी बात मान ली और कहा—'रघुनन्दन! ये रत्न और धन सब तुम्हारे ही पास अक्षयरूपसे रहें' ॥ १३ ॥

प्रदक्षिणं च राजानं कृत्वा केकयवर्धनः।
रामेण च कृतः पूर्वमभिवाद्य प्रदक्षिणम् ॥ १४ ॥

फिर पहले श्रीरघुनाथजीने प्रणामपूर्वक अपने मामाकी परिक्रमा की, इसके बाद केकयकुलकी वृद्धि करनेवाले राजकुमार युधाजित्‌ने भी राजा श्रीरामकी प्रदक्षिणा की ॥ १४ ॥

लक्ष्मणेन सहायेन प्रयातः केकयेश्वरः।
हतेऽसुरे यथा वृत्रे विष्णुना सह वासवः ॥ १५ ॥

इसके बाद केकयराजने लक्ष्मणजीके साथ उसी तरह अपने देशको प्रस्थान किया, जैसे वृत्रासुरके मारे जानेपर इन्द्रने भगवान् विष्णुके साथ अमरावतीकी यात्रा की थी ॥ १५ ॥

तं विसृज्य ततो रामो वयस्यमकुतोभयम्।
प्रतर्दनं काशिपतिं परिष्वज्येदमब्रवीत् ॥ १६ ॥

मामाको विदा करके रघुनाथजीने किसीसे भी भय न माननेवाले अपने मित्र काशिराज प्रतर्दनको हृदयसे लगाकर कहा— ॥ १६ ॥

दर्शिता भवता प्रीतिर्दर्शितं सौहृदं परम्।
उद्योगश्च त्वया राजन् भरतेन कृतः सह ॥ १७ ॥

'राजन्! आपने राज्याभिषेकके कार्यमें भरतके साथ पूरा उद्योग किया है और ऐसा करके अपने महान् प्रेम तथा परम सौहार्दका परिचय दिया है ॥ १७ ॥

तद् भवानद्य काशेय पुरीं वाराणसीं व्रज।
रमणीयां त्वया गुप्तां सुप्राकारां सुतोरणाम् ॥ १८ ॥

'काशिराज! अब आप सुन्दर परकोटों तथा मनोहर फाटकोंसे सुशोभित और अपने ही द्वारा सुरक्षित रमणीय पुरी वाराणसीको पधारिये' ॥ १८ ॥

एतावदुक्त्वा चोत्थाय काकुत्स्थः परमासनात्।
पर्यष्वजत धर्मात्मा निरन्तरमुरोगतम् ॥ १९ ॥

ऐसा कहकर धर्मात्मा श्रीरामने पुनः अपने उत्तम आसनसे उठकर प्रतर्दनको छातीसे लगा उनका गाढ़ आलिङ्गन किया ॥ १९ ॥

विसर्जयामास तदा कौसल्याप्रीतिवर्धनः।
राघवेण कृतानुज्ञः काशेयो ह्यकुतोभयः ॥ २० ॥
वाराणसीं ययौ तूर्णं राघवेण विसर्जितः।

इस प्रकार कौसल्याका आनन्द बढ़ानेवाले श्रीरामने उस समय काशिराजको विदा किया। श्रीरघुनाथजीकी अनुमति पाकर उनसे विदा ले निर्भय काशिराज तत्काल वाराणसीपुरीकी ओर चल दिये ॥ २०$\frac{1}{2}$ ॥

विसृज्य तं काशिपतिं त्रिशतं पृथिवीपतीन् ॥ २१ ॥
प्रहसन् राघवो वाक्यमुवाच मधुराक्षरम्।

काशिराजको विदा करके श्रीरघुनाथजी हँसते हुए अन्य तीन सौ भूपालोंसे मधुर वाणीमें बोले— ॥ २१$\frac{1}{2}$ ॥

भवतां प्रीतिरव्यग्रा तेजसा परिरक्षिता ॥ २२ ॥
धर्मश्च नियतो नित्यं सत्यं च भवतां सदा।

'मेरे ऊपर आपलोगोंका अविचल प्रेम है, जिसकी रक्षा आपने अपने ही तेजसे की है। आपलोगोंमें सत्य और धर्म नियतरूपसे नित्य-निरन्तर निवास करते हैं॥२२½॥

युष्माकं चानुभावेन तेजसा च महात्मनाम्॥ २३॥
हतो दुरात्मा दुर्बुद्धी रावणो राक्षसाधमः।

'आप महापुरुषोंके प्रभाव और तेजसे ही मेरे द्वारा दुर्बुद्धि दुरात्मा राक्षसाधम रावण मारा गया है॥२३½॥

हेतुमात्रमहं तत्र भवतां तेजसा हतः॥ २४॥
रावणः सगणो युद्धे सपुत्रामात्यबान्धवः।

'मैं तो उसके वधमें निमित्तमात्र बना हूँ। वास्तवमें तो आपलोगोंके तेजसे ही पुत्र, मन्त्री, बन्धु-बान्धव तथा सेवकगणोंके सहित रावण युद्धमें मारा गया है॥२४½॥

भवन्तश्च समानीता भरतेन महात्मना॥ २५॥
श्रुत्वा जनकराजस्य काननात् तनयां हृताम्।

'वनसे जनकराजनन्दिनी सीताके अपहरणका समाचार सुनकर महात्मा भरतने आपलोगोंको यहाँ बुलाया था॥२५½॥

उद्युक्तानां च सर्वेषां पार्थिवानां महात्मनाम्॥ २६॥
कालोऽप्यतीतः सुमहान् गमनं रोचयाम्यतः।

'आप सभी महामना भूपाल राक्षसोंपर आक्रमण करनेके लिये उद्योगशील थे। तबसे आजतक यहाँ आपलोगोंका बहुत समय व्यतीत हो गया है। अतः अब मुझे आपलोगोंका अपने नगरको लौट जाना ही उचित जान पड़ता है'॥२६½॥

प्रत्यूचुस्तं च राजानो हर्षेण महता वृताः॥ २७॥
दिष्ट्या त्वं विजयी राम स्वराज्येऽपि प्रतिष्ठितः।

इसपर राजाओंने अत्यन्त हर्षसे भरकर कहा—'श्रीराम! आप विजयी हुए और अपने राज्यपर भी प्रतिष्ठित हो गये, यह बड़े सौभाग्यकी बात है॥२७½॥

दिष्ट्या प्रत्याहृता सीता दिष्ट्या शत्रुः पराजितः॥ २८॥
एष नः परमः काम एषा नः प्रीतिरुत्तमा।
यत् त्वां विजयिनं राम पश्यामो हतशात्रवम्॥ २९॥

'हमारे सौभाग्यसे ही आप सीताको लौटा लाये और उस प्रबल शत्रुको परास्त कर दिया। श्रीराम! यही हमारा सबसे बड़ा मनोरथ है और यही हमारे लिये सबसे बढ़कर प्रसन्नताकी बात है कि आज हमलोग आपको विजयी देख रहे हैं तथा आपकी शत्रु-मण्डली मारी जा चुकी है॥२८-२९॥

एतत् त्वय्युपपन्नं च यदस्मांस्त्वं प्रशंससे।
प्रशंसार्ह न जानीमः प्रशंसां वक्तुमीदृशीम्॥ ३०॥

'प्रशंसनीय श्रीराम! आप जो हमलोगोंकी प्रशंसा कर रहे हैं, यह आपहीके योग्य है। हम ऐसी प्रशंसा करनेकी कला नहीं जानते हैं॥३०॥

आपृच्छामो गमिष्यामो हृदिस्थो नः सदा भवान्।
वर्तामहे महाबाहो प्रीत्यात्र महता वृताः॥ ३१॥
भवेच्च ते महाराज प्रीतिरस्मासु नित्यदा।
बाढमित्येव राजानो हर्षेण परमान्विताः॥ ३२॥

'अब हम आज्ञा चाहते हैं। अपनी पुरीको जायँगे। जिस प्रकार आप सदा हमारे हृदयमें विराजमान रहते हैं, उसी प्रकार हे महाबाहो! जिसमें हमलोग आपके प्रति प्रेमसे युक्त रहकर आपके हृदयमें बसे रहें, ऐसी प्रीति आपकी हमपर सदा बनी रहनी चाहिये।' तब श्रीरघुनाथजीने हर्षसे भरे हुए उन राजाओंसे कहा—'अवश्य ऐसा ही होगा'॥३१-३२॥

ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे राघवं गमनोत्सुकाः।
पूजितास्ते च रामेण जग्मुर्देशान् स्वकान् स्वकान्॥ ३३॥

तत्पश्चात् जानेके लिये उत्सुक हो सबने हाथ जोड़कर श्रीरघुनाथजीसे कहा—'भगवन्! अब हम जा रहे हैं।' इस तरह श्रीरामसे सम्मानित हो वे सब राजा अपने-अपने देशको चले गये॥३३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे अष्टात्रिंशः सर्गः॥ ३८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें अड़तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥३८॥

—★—

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

राजाओंका श्रीरामके लिये भेंट देना और श्रीरामका वह सब लेकर अपने मित्रों, वानरों, रीछों और राक्षसोंको बाँट देना तथा वानर आदिका वहाँ सुखपूर्वक रहना

ते प्रयाता महात्मानः पार्थिवास्ते प्रहृष्टवत्।
गजवाजिसहस्रौघैः कम्पयन्तो वसुंधराम्॥ १॥

अयोध्यासे प्रस्थित हो वे महामना भूपाल सहस्रों हाथी, घोड़े तथा पैदल-समूहोंसे पृथ्वीको कम्पित करते हुए-से हर्षपूर्वक आगे बढ़ने लगे॥१॥

अक्षौहिण्यो हि तत्रासन् राघवार्थे समुद्यताः।
भरतस्याज्ञयानेकाः प्रहृष्टबलवाहनाः॥ २॥

भरतकी आज्ञासे श्रीरामचन्द्रजीकी सहायताके लिये वहाँ

कई अक्षौहिणी सेनाएँ युद्धके लिये उद्यत होकर आयी थीं। उन सबके सैनिक और वाहन हर्ष एवं उत्साहसे भरे हुए थे॥ २॥

ऊचुस्ते च महीपाला बलदर्पसमन्विताः।
न राम रावणं युद्धे पश्यामः पुरतः स्थितम्॥ ३॥

वे सभी भूपाल बलके घमंडमें भरकर आपसमें इस तरहकी बातें करने लगे—'हमलोगोंने युद्धमें श्रीराम और रावणको आमने-सामने खड़ा नहीं देखा॥ ३॥

भरतेन वयं पश्चात् समानीता निरर्थकम्।
हता हि राक्षसाः क्षिप्रं पार्थिवैः स्युर्न संशयः॥ ४॥

'भरतने (पहले तो सूचना नहीं दी) पीछे युद्ध समाप्त हो जानेपर हमें व्यर्थ ही बुला लिया। यदि सब राजा गये होते तो उनके द्वारा समस्त राक्षसोंका संहार बहुत जल्दी ही गया होता, इसमें संशय नहीं है॥ ४॥

रामस्य बाहुवीर्येण रक्षिता लक्ष्मणस्य च।
सुखं पारे समुद्रस्य युध्येम विगतज्वराः॥ ५॥

'श्रीराम और लक्ष्मणके बाहुबलसे सुरक्षित एवं निश्चिन्त हो हमलोग समुद्रके उस पार सुखपूर्वक युद्ध कर सकते थे'॥ ५॥

एताश्चान्याश्च राजानः कथास्तत्र सहस्रशः।
कथयन्तः स्वराज्यानि जग्मुर्हर्षसमन्विताः॥ ६॥

ये तथा और भी बहुत-सी बातें कहते हुए वे सहस्रों नरेश बड़े हर्षके साथ अपने-अपने राज्यको गये॥ ६॥

स्वानि राज्यानि मुख्यानि ऋद्धानि मुदितानि च।
समृद्धधनधान्यानि पूर्णानि वसुमन्ति च॥ ७॥
यथापुराणि ते गत्वा रत्नानि विविधान्यथ।
रामस्य प्रियकामार्थमुपहारं नृपा ददुः॥ ८॥
अश्वान् यानानि रत्नानि हस्तिनश्च मदोत्कटान्।
चन्दनानि च मुख्यानि दिव्यान्याभरणानि च॥ ९॥
मणिमुक्ताप्रवालांस्तु दास्यो रूपसमन्विताः।
अजाविकं च विविधं रथांस्तु विविधान् बहून्॥ १०॥

उनके अपने-अपने प्रसिद्ध राज्य समृद्धिशाली, सुख और आनन्दसे परिपूर्ण, धन धान्यसे सम्पन्न तथा रत्न आदिसे भरे-पूरे थे। उन राज्यों तथा नगरोंमें जाकर उन नरेशोंने श्रीरामचन्द्रजीका प्रिय करनेकी इच्छासे नाना प्रकारके रत्न और उपहार भेजे। घोड़े, सवारियाँ, रत्न, मतवाले हाथी, उत्तम चन्दन, दिव्य आभूषण, मणि, मोती, मूँगे, रूपवती दासियाँ, नाना प्रकारकी बकरियाँ और भेड़ें तथा तरह-तरहके बहुत-से रथ भेंट किये॥ ७—१०॥

भरतो लक्ष्मणश्चैव शत्रुघ्नश्च महाबलः।
आदाय तानि रत्नानि स्वां पुरीं पुनरागताः॥ ११॥
आगम्य च पुरीं रम्यामयोध्यां पुरुषर्षभाः।
तानि रत्नानि चित्राणि रामाय समुपानयन्॥ १२॥

महाबली भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न उन रत्नोंको लेकर पुनः अपनी पुरीमें लौट आये। रमणीय पुरी अयोध्यामें आकर उन तीनों पुरुषप्रवर बन्धुओंने वे विचित्र रत्न श्रीरामको समर्पित कर दिये॥ ११-१२॥

प्रतिगृह्य च तत् सर्वं रामः प्रीतिसमन्वितः।
सुग्रीवाय ददौ राज्ञे महात्मा कृतकर्मणे॥ १३॥
विभीषणाय च ददौ तथान्येभ्योऽपि राघवः।
राक्षसेभ्यः कपिभ्यश्च यैर्वृतो जयमाप्तवान्॥ १४॥

उन सबको ग्रहण करके महात्मा श्रीरामने बड़ी प्रसन्नताके साथ उपकारी वानरराज सुग्रीव और विभीषणको तथा अन्य राक्षसों और वानरोंको भी बाँट दिया; क्योंकि उन्हींसे घिरे रहकर भगवान् श्रीरामने युद्धमें विजय प्राप्त की थी॥ १३-१४॥

ते सर्वे रामदत्तानि रत्नानि कपिराक्षसाः।
शिरोभिर्धारयामासुर्भुजेषु च महाबलाः॥ १५॥

उन सभी महाबली वानरों और राक्षसोंने श्रीरामचन्द्रजीके दिये हुए वे रत्न अपने मस्तक और भुजाओंमें धारण कर लिये॥ १५॥

हनूमन्तं च नृपतिरिक्ष्वाकूणां महारथः।
अङ्गदं च महाबाहुमङ्कमारोप्य वीर्यवान्॥ १६॥
रामः कमलपत्राक्षः सुग्रीवमिदमब्रवीत्।
अङ्गदस्ते सुपुत्रोऽयं मन्त्री चाप्यनिलात्मजः॥ १७॥
सुग्रीवमन्त्रिते युक्तौ मम चापि हिते रतौ।
अर्हतो विविधां पूजां त्वत्कृते वै हरीश्वर॥ १८॥

तत्पश्चात् इक्ष्वाकुनरेश महापराक्रमी महारथी कमलनयन श्रीरामने महाबाहु हनुमान् और अङ्गदको गोदमें बिठाकर सुग्रीवसे इस प्रकार कहा—'सुग्रीव! अङ्गद तुम्हारे सुपुत्र हैं और पवनकुमार हनुमान् मन्त्री। वानरराज! ये दोनों मेरे लिये मन्त्रीका भी काम देते थे और सदा मेरे हित-साधनमें लगे रहते थे। इसलिये और विशेषतः तुम्हारे नाते ये मेरी ओरसे विविध आदर-सत्कार एवं भेंट पानेके योग्य हैं'॥ १६—१८॥

इत्युक्त्वा व्यपमुच्याङ्गाद् भूषणानि महायशाः।
स बबन्ध महार्हाणि तदाङ्गदहनूमतोः॥ १९॥

ऐसा कहकर महायशस्वी श्रीरामने अपने शरीरसे बहुमूल्य आभूषण उतारकर उन्हें अङ्गद तथा हनुमान्‌के अङ्गोंमें बाँध दिया॥ १९॥

आभाष्य च महावीर्यान् राघवो यूथपर्षभान्।
नीलं नलं केसरिणं कुमुदं गन्धमादनम्॥ २०॥
सुषेणं पनसं वीरं मैन्दं द्विविदमेव च।
जाम्बवन्तं गवाक्षं च विनतं धूम्रमेव च॥ २१॥
बलीमुखं प्रजङ्घं च संनादं च महाबलम्।
दरीमुखं दधिमुखमिन्द्रजानुं च यूथपम्॥ २२॥

मधुरं श्लक्ष्णया वाचा नेत्राभ्यामापिबन्निव।
सुहृदो मे भवन्तश्च शरीरं भ्रातरस्तथा॥ २३॥
युष्माभिरुद्धृतश्चाहं व्यसनात् काननौकसः।
धन्यो राजा च सुग्रीवो भवद्भिः सुहृदां वरैः॥ २४॥

इसके बाद श्रीरघुनाथजीने महापराक्रमी वानरयूथपतियों—नील, नल, केसरी, कुमुद, गन्धमादन, सुषेण, पनस, वीर मैन्द, द्विविद, जाम्बवान्, गवाक्ष, विनत, धूम्र, बलीमुख, प्रजङ्घ, महाबली संनाद, दरीमुख, दधिमुख और यूथप इन्द्रजानुको बुलाकर उनकी ओर दोनों नेत्रोंसे इस प्रकार देखा, मानो वे उन्हें नेत्रपुटोंद्वारा पी रहे हों। उन्होंने स्नेहयुक्त मधुर वाणीमें उनसे कहा—'वानरवीरो! आपलोग मेरे सुहृद्, शरीर और भाई हैं। आपने ही मुझे संकटसे उबारा है। आप-जैसे श्रेष्ठ सुहृदोंको पाकर राजा सुग्रीव धन्य हैं'॥ २०—२४॥

एवमुक्त्वा ददौ तेभ्यो भूषणानि यथार्हतः।
वज्राणि च महार्हाणि सस्वजे च नरर्षभः॥ २५॥

ऐसा कहकर नरश्रेष्ठ श्रीरघुनाथजीने उन्हें यथायोग्य आभूषण और बहुमूल्य हीरे दिये तथा उनका आलिङ्गन किया॥ २५॥

ते पिबन्तः सुगन्धीनि मधूनि मधुपिङ्गलाः।
मांसानि च सुमृष्टानि मूलानि च फलानि च॥ २६॥

मधुके समान पिङ्गल वर्णवाले वे वानर वहाँ सुगन्धित मधु पीते, राजभोग वस्तुओंका उपभोग करते और स्वादिष्ट फल-मूल खाते थे॥ २६॥

एवं तेषां निवसतां मासः साग्रो ययौ तदा।
मुहूर्तमिव ते सर्वे रामभक्त्या च मेनिरे॥ २७॥

इस प्रकार निवास करते हुए उन वानरोंका वहाँ एक महीनेसे अधिक समय बीत गया; परंतु श्रीरघुनाथजीके प्रति भक्तिके कारण उन्हें वह समय एक मुहूर्तके समान ही जान पड़ा॥ २७॥

रामोऽपि रेमे तैः सार्धं वानरैः कामरूपिभिः।
राक्षसैश्च महावीर्यैर्ऋक्षैश्चैव महाबलैः॥ २८॥

श्रीराम भी इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले उन वानरों, महापराक्रमी राक्षसों तथा महाबली रीछोंके साथ बड़े आनन्दसे समय बिताते थे॥ २८॥

एवं तेषां ययौ मासो द्वितीयः शिशिरः सुखम्।
वानराणां प्रहृष्टानां राक्षसानां च सर्वशः॥ २९॥
इक्ष्वाकुनगरे रम्ये परां प्रीतिमुपासताम्।
रामस्य प्रीतिकरणैः कालस्तेषां सुखं ययौ॥ ३०॥

इस तरह उनका शिशिर ऋतुका दूसरा महीना भी सुखपूर्वक बीत गया। इक्ष्वाकुवंशी नरेशोंकी उस सुरम्य राजधानीमें वे वानर और राक्षस बड़े हर्ष और प्रेमसे रहते थे। श्रीरामके प्रेमपूर्वक सत्कारसे उनका वह समय सुखपूर्वक बीत रहा था॥ २९-३०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे एकोनचत्वारिंशः सर्गः॥ ३९॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें उन्तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३९॥

चत्वारिंशः सर्गः

वानरों, रीछों और राक्षसोंकी बिदाई

तथा स्म तेषां वसतामृक्षवानररक्षसाम्।
राघवस्तु महातेजाः सुग्रीवमिदमब्रवीत्॥ १॥

इस तरह वहाँ सुखपूर्वक निवास करते हुए रीछों, वानरों और राक्षसोंमेंसे सुग्रीवको सम्बोधित करके महातेजस्वी श्रीरघुनाथजीने इस प्रकार कहा—॥ १॥

गम्यतां सौम्य किष्किन्धां दुराधर्षां सुरासुरैः।
पालयस्व सहामात्यै राज्यं निहतकण्टकम्॥ २॥

'सौम्य! अब तुम देवताओं तथा असुरोंके लिये भी दुर्जय किष्किन्धापुरीको जाओ और वहाँ मन्त्रियोंके साथ रहकर अपने निष्कण्टक राज्यका पालन करो॥ २॥

अङ्गदं च महाबाहो प्रीत्या परमया युतः।
पश्य त्वं हनुमन्तं च नलं च सुमहाबलम्॥ ३॥
सुषेणं श्वशुरं वीरं तारं च बलिनां वरम्।
कुमुदं चैव दुर्धर्षं नीलं चैव महाबलम्॥ ४॥
वीरं शतबलिं चैव मैन्दं द्विविदमेव च।
गजं गवाक्षं गवयं शरभं च महाबलम्॥ ५॥
ऋक्षराजं च दुर्धर्षं जाम्बवन्तं महाबलम्।
पश्य प्रीतिसमायुक्तो गन्धमादनमेव च॥ ६॥

'महाबाहो! अङ्गद और हनुमान्‌को भी तुम अत्यन्त प्रेमपूर्ण दृष्टिसे देखना। महाबली नल, अपने श्वशुर वीर सुषेण, बलवानोंमें श्रेष्ठ तार, दुर्धर्ष वीर कुमुद, महाबली नील, वीर शतबलि, मैन्द, द्विविद, गज, गवाक्ष, गवय, महाबली शरभ, महान् बल-पराक्रमसे युक्त दुर्जय वीर ऋक्षराज जाम्बवान् तथा गन्धमादनपर भी तुम प्रेमपूर्ण दृष्टि रखना॥ ३—६॥

ऋषभं च सुविक्रान्तं प्लवङ्गं च सुपाटलम्।
केसरिं शरभं शुम्भं शङ्खचूडं महाबलम्॥ ७॥

'परम पराक्रमी ऋषभ, वानर, सुपाटल, केसरी, शरभ, शुम्भ

तथा महाबली शंखचूडको भी प्रेमपूर्ण दृष्टिसे देखना ॥ ७ ॥

ये ये मे सुमहात्मानो मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
पश्य त्वं प्रीतिसंयुक्तो मा चैषां विप्रियं कृथाः ॥ ८ ॥

'इनके सिवा जिन-जिन महामनस्वी वानरोंने मेरे लिये अपने प्राणोंकी बाजी लगा दी थी, उन सबपर तुम प्रेमदृष्टि रखना । कभी उनका अप्रिय न करना' ॥ ८ ॥

एवमुक्त्वा च सुग्रीवमाश्लिष्य च पुनः पुनः ।
विभीषणमुवाचाथ रामो मधुरया गिरा ॥ ९ ॥

ऐसा कहकर श्रीरामने सुग्रीवको बारम्बार हृदयसे लगाया और फिर मधुर वाणीमें विभीषणसे कहा— ॥ ९ ॥

लङ्कां प्रशाधि धर्मेण धर्मज्ञस्त्वं मतो मम ।
पुरस्य राक्षसानां च भ्रातुर्वैश्रवणस्य च ॥ १० ॥

'राक्षसराज ! तुम धर्मपूर्वक लङ्काका शासन करो । मैं तुम्हें धर्मज्ञ मानता हूँ । तुम्हारे नगरके लोग, सब राक्षस तथा तुम्हारे भाई कुबेर भी तुम्हें धर्मज्ञ ही समझते हैं ॥ १० ॥

मा च बुद्धिमधर्मे त्वं कुर्या राजन् कथंचन ।
बुद्धिमन्तो हि राजानो ध्रुवमश्नन्ति मेदिनीम् ॥ ११ ॥

'राजन् ! तुम किसी तरह भी अधर्ममें मन न लगाना । जिनकी बुद्धि ठीक है, वे राजा निश्चय ही दीर्घकालतक पृथ्वीका राज्य भोगते हैं ॥ ११ ॥

अहं च नित्यशो राजन् सुग्रीवसहितस्त्वया ।
स्मर्तव्यः परया प्रीत्या गच्छ त्वं विगतज्वरः ॥ १२ ॥

'राजन् ! तुम सुग्रीवसहित मुझे सदा याद रखना । अब निश्चिन्त होकर प्रसन्नतापूर्वक यहाँसे जाओ' ॥ १२ ॥

रामस्य भाषितं श्रुत्वा ऋक्षवानरराक्षसाः ।
साधुसाध्विति काकुत्स्थं प्रशशंसुः पुनः पुनः ॥ १३ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका यह भाषण सुनकर रीछों, वानरों और राक्षसोंने 'धन्य-धन्य' कहकर उनकी बारम्बार प्रशंसा की ॥ १३ ॥

तव बुद्धिर्महाबाहो वीर्यमद्भुतमेव च ।
माधुर्यं परमं राम स्वयम्भोरिव नित्यदा ॥ १४ ॥

वे बोले— 'महाबाहु श्रीराम ! स्वयम्भू ब्रह्माजीके समान आपके स्वभावमें सदा परम मधुरता रहती है । आपकी बुद्धि और पराक्रम अद्भुत हैं' ॥ १४ ॥

तेषामेवं ब्रुवाणानां वानराणां च रक्षसाम् ।
हनूमान् प्रणतो भूत्वा राघवं वाक्यमब्रवीत् ॥ १५ ॥

वानर और राक्षस जब ऐसा कह रहे थे, उसी समय हनुमान्‌जी विनम्र होकर श्रीरघुनाथजीसे बोले— ॥ १५ ॥

स्नेहो मे परमो राजंस्त्वयि तिष्ठतु नित्यदा ।
भक्तिश्च नियता वीर भावो नान्यत्र गच्छतु ॥ १६ ॥

'महाराज ! आपके प्रति मेरा महान् स्नेह सदा बना रहे । वीर ! आपमें ही मेरी निश्चल भक्ति रहे । आपके सिवा और कहीं मेरा आन्तरिक अनुराग न हो ॥ १६ ॥

यावद् रामकथा वीर चरिष्यति महीतले ।
तावच्छरीरे वत्स्यन्तु प्राणा मम न संशयः ॥ १७ ॥

'वीर श्रीराम ! इस पृथ्वीपर जबतक रामकथा प्रचलित रहे, तबतक निःसंदेह मेरे प्राण इस शरीरमें ही बसे रहें ॥ १७ ॥

यच्चैतच्चरितं दिव्यं कथा ते रघुनन्दन ।
तन्ममाप्सरसो राम श्रावयेयुर्नरर्षभ ॥ १८ ॥

'रघुकुलनन्दन नरश्रेष्ठ श्रीराम ! आपका जो यह दिव्य चरित्र और कथा है, इसे अप्सराएँ मुझे गाकर सुनाया करें ॥ १८ ॥

तच्छ्रुत्वाहं ततो वीर तव चर्यामृतं प्रभो ।
उत्कण्ठां तां हरिष्यामि मेघलेखामिवानिलः ॥ १९ ॥

'वीर प्रभो ! आपके उस चरितामृतको सुनकर मैं अपनी उत्कण्ठाको उसी तरह दूर करता रहूँगा, जैसे वायु बादलोंकी पंक्तिको उड़ाकर दूर ले जाती है' ॥ १९ ॥

एवं ब्रुवाणं रामस्तु हनूमन्तं वरासनात् ।
उत्थाय सस्वजे स्नेहाद् वाक्यमेतदुवाच ह ॥ २० ॥

हनुमान्‌जीके ऐसा कहनेपर श्रीरघुनाथजीने श्रेष्ठ सिंहासनसे उठकर उन्हें हृदयसे लगा लिया और स्नेहपूर्वक इस प्रकार कहा— ॥ २० ॥

एवमेतत् कपिश्रेष्ठ भविता नात्र संशयः ।
चरिष्यति कथा यावदेषा लोके च मामिका ॥ २१ ॥
तावत् ते भविता कीर्तिः शरीरेऽप्यसवस्तथा ।
लोका हि यावत्स्थास्यन्ति तावत् स्थास्यन्ति मे कथाः ॥ २२ ॥

'कपिश्रेष्ठ ! ऐसा ही होगा, इसमें संशय नहीं है । संसारमें मेरी कथा जबतक प्रचलित रहेगी, तबतक तुम्हारी कीर्ति अमिट रहेगी और तुम्हारे शरीरमें प्राण भी रहेंगे ही । जबतक ये लोक बने रहेंगे, तबतक मेरी कथाएँ भी स्थिर रहेंगी ॥ २१-२२ ॥

एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे ।
शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम् ॥ २३ ॥

'कपे ! तुमने जो उपकार किये हैं, उनमेंसे एक-एकके लिये मैं अपने प्राण निछावर कर सकता हूँ । तुम्हारे शेष उपकारोंके लिये तो मैं ऋणी ही रह जाऊँगा ॥ २३ ॥

मदङ्गे जीर्णतां यातु यत् त्वयोपकृतं कपे ।
नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम् ॥ २४ ॥

'कपिश्रेष्ठ ! मैं तो यही चाहता हूँ कि तुमने जो-जो उपकार किये हैं, वे सब मेरे शरीरमें ही पच जायँ । उनका बदला चुकानेका मुझे कभी अवसर न मिले; क्योंकि पुरुषमें उपकारका बदला पानेकी योग्यता आपत्तिकालमें ही आती है (मैं नहीं चाहता कि तुम भी संकटमें पड़ो और मैं तुम्हारे उपकारका बदला चुकाऊँ)' ॥ २४ ॥

ततोऽस्य हारं चन्द्राभं मुच्य कण्ठात् स राघवः ।
वैदूर्यतरलं कण्ठे बबन्ध च हनूमतः ॥ २५ ॥

इतना कहकर श्रीरघुनाथजीने अपने कण्ठसे एक चन्द्रमाके समान उज्ज्वल हार निकाला, जिसके मध्यभागमें वैदूर्यमणि थी। उसे उन्होंने हनुमान्‌जीके गलेमें बाँध दिया ॥ २५ ॥

तेनोरसि निबद्धेन हारेण महता कपिः ।
रराज हेमशैलेन्द्रश्चन्द्रेणाक्रान्तमस्तकः ॥ २६ ॥

वक्षःस्थलसे सटे हुए उस विशाल हारसे हनुमान्‌जी उसी तरह सुशोभित हुए, जैसे सुवर्णमय गिरिराज सुमेरुके शिखरपर चन्द्रमाका उदय हुआ हो ॥ २६ ॥

श्रुत्वा तु राघवस्यैतदुत्थायोत्थाय वानराः ।
प्रणम्य शिरसा पादौ निर्जग्मुस्ते महाबलाः ॥ २७ ॥

श्रीरघुनाथजीके ये विदाईके शब्द सुनकर वे महाबली वानर एक एक करके उठे और उनके चरणोंमें सिर झुकाकर प्रणाम करके वहाँसे चल दिये ॥ २७ ॥

सुग्रीवः स च रामेण निरन्तरमुरोगतः ।
विभीषणश्च धर्मात्मा सर्वे ते बाष्पविक्लवाः ॥ २८ ॥

सुग्रीव और धर्मात्मा विभीषण श्रीरामके हृदयसे लग गये और उनका गाढ़ आलिंगन करके विदा हुए। उस समय वे सब-के-सब नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए श्रीरामके भावी विरहसे व्यथित हो उठे थे ॥ २८ ॥

सर्वे च ते बाष्पकलाः साश्रुनेत्रा विचेतसः ।
सम्मूढा इव दुःखेन त्यजन्तो राघवं तदा ॥ २९ ॥

श्रीरामको छोड़कर जाते समय वे सभी दुःखसे किंकर्तव्य-विमूढ़ तथा अचेत-से हो रहे थे। किसीके गलेसे आवाज नहीं निकलती थी और सभीके नेत्रोंसे अश्रु झर रहे थे ॥ २९ ॥

कृतप्रसादास्तेनैवं राघवेण महात्मना ।
जग्मुः स्वं स्वं गृहं सर्वे देही देहमिव त्यजन् ॥ ३० ॥

महात्मा श्रीरघुनाथजीके इस प्रकार कृपा एवं प्रसन्नतापूर्वक विदा देनेपर वे सब वानर विवश हो उसी प्रकार अपने-अपने घरको गये, जैसे जीवात्मा विवशतापूर्वक शरीर छोड़कर परलोकको जाता है ॥ ३० ॥

ततस्तु ते राक्षसऋक्षवानराः
प्रणम्य रामं रघुवंशवर्धनम् ।
वियोगजाश्रुप्रतिपूर्णलोचनाः
प्रतिप्रयातास्तु यथा निवासिनः ॥ ३१ ॥

वे राक्षस, रीछ और वानर रघुवंशवर्धन श्रीरामको प्रणाम करके नेत्रोंमें वियोगके आँसू लिये अपने-अपने निवासस्थानको लौट गये ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें चालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४० ॥

—★—

एकचत्वारिंशः सर्गः

कुबेरके भेजे हुए पुष्पक विमानका आना और श्रीरामसे पूजित एवं अनुगृहीत होकर अदृश्य हो जाना, भरतके द्वारा श्रीरामराज्यके विलक्षण प्रभावका वर्णन

विसृज्य च महाबाहुर्ऋक्षवानरराक्षसान् ।
भ्रातृभिः सहितो रामः प्रमुमोद सुखं सुखी ॥ १ ॥

रीछों, वानरों और राक्षसोंको विदा करके भाइयोंसहित सुखस्वरूप महाबाहु श्रीराम सुख और आनन्दपूर्वक वहाँ रहने लगे ॥ १ ॥

अथापराह्णसमये भ्रातृभिः सह राघवः ।
शुश्राव मधुरां वाणीमन्तरिक्षात्महाप्रभुः ॥ २ ॥

एक दिन अपराह्णकालमें (दोपहरके बाद) अपने भाइयोंके साथ बैठे हुए महाप्रभु श्रीरघुनाथजीने आकाशसे यह मधुर वाणी सुनी— ॥ २ ॥

सौम्य राम निरीक्षस्व सौम्येन वदनेन माम् ।
कुबेरभवनात् प्राप्तं विद्धि मां पुष्पकं प्रभो ॥ ३ ॥

'सौम्य श्रीराम! आप मेरी ओर प्रसन्नतापूर्ण मुखसे दृष्टिपात करनेकी कृपा करें। प्रभो! आपको विदित होना चाहिये कि मैं कुबेरके भवनसे लौटा हुआ पुष्पक विमान हूँ ॥ ३ ॥

तव शासनमाज्ञाय गतोऽस्मि भवनं प्रति ।
उपस्थातुं नरश्रेष्ठ स च मां प्रत्यभाषत ॥ ४ ॥

'नरश्रेष्ठ! आपकी आज्ञा मानकर मैं कुबेरकी सेवाके लिये उनके भवनमें गया था; परंतु उन्होंने मुझसे कहा— ॥ ४ ॥

निर्जितस्त्वं नरेन्द्रेण राघवेण महात्मना ।
निहत्य युधि दुर्धर्षं रावणं राक्षसेश्वरम् ॥ ५ ॥

'विमान! महात्मा महाराज श्रीरामने युद्धमें दुर्धर्ष राक्षसराज रावणको मारकर तुम्हें जीता है ॥ ५ ॥

ममापि परमा प्रीतिर्हते तस्मिन् दुरात्मनि ।
रावणे सगणे चैव सपुत्रे सहबान्धवे ॥ ६ ॥

'पुत्रों, बन्धु-बान्धवों तथा सेवकगणोंसहित उस दुरात्मा रावणके मारे जानेसे मुझे भी बड़ी प्रसन्नता हुई है ॥ ६ ॥

स त्वं रामेण लङ्कायां निर्जितः परमात्मना ।
वह सौम्य तमेव त्वमहमाज्ञापयामि ते ॥ ७ ॥

'सौम्य! इस तरह परमात्मा श्रीरामने लङ्कामें रावणके साथ-साथ तुमको भी जीत लिया है; अतः मैं आज्ञा देता हूँ, तुम उन्हींकी सवारीमें रहो॥ ७॥

परमो ह्येष मे कामो यत् त्वं राघवनन्दनम्।
वहेर्लोकस्य संयानं गच्छस्व विगतज्वरः॥ ८॥

'रघुकुलको आनन्दित करनेवाले श्रीराम सम्पूर्ण जगत‌के आश्रय हैं। तुम उनकी सवारीके काम आओ—यह मेरी सबसे बड़ी कामना है। इसलिये तुम निश्चिन्त होकर जाओ'॥ ८॥

सोऽहं शासनमाज्ञाय धनदस्य महात्मनः।
त्वत्सकाशमनुप्राप्तो निर्विशङ्कः प्रतीच्छ माम्॥ ९॥

'इस प्रकार मैं महात्मा कुबेरकी आज्ञा पाकर ही आपके पास आया हूँ, अतः आप मुझे निःशङ्क होकर ग्रहण करें॥ ९॥

अधृष्यः सर्वभूतानां सर्वेषां धनदाज्ञया।
चराम्यहं प्रभावेण तवाज्ञां परिपालयन्॥ १०॥

'मैं सभी प्राणियोंके लिये अजेय हूँ और कुबेरकी आज्ञाके अनुसार मैं आपके आदेशका पालन करता हुआ अपने प्रभावसे समस्त लोकोंमें विचरण करूँगा'॥ १०॥

एवमुक्तस्तदा रामः पुष्पकेण महाबलः।
उवाच पुष्पकं दृष्ट्वा विमानं पुनरागतम्॥ ११॥

पुष्पकके ऐसा कहनेपर महाबली श्रीरामने उस विमानको पुनः आया देख उससे कहा—॥ ११॥

यद्येवं स्वागतं तेऽस्तु विमानवर पुष्पक।
आनुकूल्याद् धनेशस्य वृत्तदोषो न नो भवेत्॥ १२॥

'विमानराज पुष्पक! यदि ऐसी बात है तो मैं तुम्हारा स्वागत करता हूँ। कुबेरकी अनुकूलता होनेसे हमें मर्यादाभङ्गका दोष नहीं लगेगा'॥ १२॥

लाजैश्चैव तथा पुष्पैर्धूपैश्चैव सुगन्धिभिः।
पूजयित्वा महाबाहू राघवः पुष्पकं तदा॥ १३॥

ऐसा कहकर महाबाहु श्रीरामने लावा, फूल, धूप और चन्दन आदिके द्वारा पुष्पकका पूजन किया॥ १३॥

गम्यतामिति चोवाच आगच्छ त्वं स्मरे यदा।
सिद्धानां च गतौ सौम्य मा विषादेन योजय॥ १४॥
प्रतिघातश्च ते मा भूद् यथेष्टं गच्छतो दिशः।

और कहा—'अब तुम जाओ। जब मैं स्मरण करूँ, तब आ जाना। आकाशमें रहना और अपनेको मेरे वियोगसे दुःखी न होने देना (मैं यथासमय तुम्हारा उपयोग करता रहूँगा)। स्वेच्छासे सम्पूर्ण दिशाओंमें जाते समय तुम्हारी किसीसे टक्कर न हो अथवा तुम्हारी गति कहीं प्रतिहत न हो'॥ १४½॥

एवमस्त्विति रामेण पूजयित्वा विसर्जितम्॥ १५॥
अभिप्रेतां दिशं तस्मात् प्रायात् तत् पुष्पकं तदा।

पुष्पकने 'एवमस्तु' कहकर उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर ली। इस प्रकार श्रीरामने उसका पूजन करके जब उसे जानेकी आज्ञा दे दी, तब वह पुष्पक वहाँसे अपनी अभीष्ट दिशाको चला गया॥ १५½॥

एवमन्तर्हिते तस्मिन् पुष्पके सुकृतात्मनि॥ १६॥
भरतः प्राञ्जलिर्वाक्यमुवाच रघुनन्दनम्।

इस प्रकार पुण्यमय पुष्पक विमानके अदृश्य हो जानेपर भरतजीने हाथ जोड़कर श्रीरघुनाथजीसे कहा—॥ १६½॥

विबुधात्मनि दृश्यन्ते त्वयि वीर प्रशासति॥ १७॥
अमानुषाणि सत्त्वानि व्याहृतानि मुहुर्मुहुः।

'वीरवर! आप देवस्वरूप हैं। इसीलिये आपके शासनकालमें मनुष्येतर प्राणी भी बारम्बार मनुष्योंके समान सम्भाषण करते देखे जाते हैं॥ १७½॥

अनामयश्च मर्त्यानां साग्रो मासो गतो ह्ययम्॥ १८॥
जीर्णानामपि सत्त्वानां मृत्युर्नायाति राघव।
अरोगप्रसवा नार्यो वपुष्मन्तो हि मानवाः॥ १९॥

'राघव! आपके राज्यपर अभिषिक्त हुए एक माससे अधिक हो गया, तबसे सभी लोग नीरोग दिखायी देते हैं। बूढ़े प्राणियोंके पास भी मृत्यु नहीं फटकती है। स्त्रियाँ बिना कष्ट सहे प्रसव करती हैं। सभी मनुष्योंके शरीर हृष्ट-पुष्ट दिखायी देते हैं॥ १८-१९॥

हर्षश्चाभ्यधिको राजञ्जनस्य पुरवासिनः।
काले वर्षति पर्जन्यः पातयन्नमृतं पयः॥ २०॥

'राजन्! पुरवासियोंमें बड़ा हर्ष छा रहा है। मेघ अमृतके समान जल गिराते हुए समयपर वर्षा करते हैं॥ २०॥

वाताश्चापि प्रवान्त्येते स्पर्शयुक्ताः सुखाः शिवाः।
ईदृशो नश्चिरं राजा भवेदिति नरेश्वरः॥ २१॥
कथयन्ति पुरे राजन् पौरजानपदास्तथा।

'हवा ऐसी चलती है कि इसका स्पर्श शीतल एवं सुखद जान पड़ता है। राजन्! नगर और जनपदके लोग इस पुरीमें कहते हैं कि हमारे लिये चिरकालतक ऐसे ही प्रभावशाली राजा रहें'॥ २१½॥

एता वाचः सुमधुरा भरतेन समीरिताः।
श्रुत्वा रामो मुदा युक्तो बभूव नृपसत्तमः॥ २२॥

भरतकी कही हुई ये सुमधुर बातें सुनकर नृपश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी बड़े प्रसन्न हुए॥ २२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे एकचत्वारिंशः सर्गः॥ ४१॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें इकतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ४१॥

—★—

द्विचत्वारिंशः सर्गः

अशोकवनिकामें श्रीराम और सीताका विहार, गर्भिणी सीताका तपोवन देखनेकी इच्छा प्रकट करना और श्रीरामका इसके लिये स्वीकृति देना

स विसृज्य ततो रामः पुष्पकं हेमभूषितम्।
प्रविवेश महाबाहुरशोकवनिकां तदा॥ १॥

सुवर्णभूषित पुष्पक विमानको विदा करके महाबाहु श्रीरामने अशोकवनिका (अन्तःपुरके विहारयोग्य उपवन) में प्रवेश किया॥ १॥

चन्दनागुरुचूतैश्च तुङ्गकालेयकैरपि।
देवदारुवनैश्चापि समन्तादुपशोभिताम्॥ २॥

चन्दन, अगुरु, आम, तुङ्ग, (नारियल), कालेयक (रक्तचन्दन) तथा देवदारु-वन सब ओरसे उसकी शोभा बढ़ा रहे थे॥ २॥

चम्पकाशोकपुंनागमधूकपनसासनैः।
शोभितां पारिजातैश्च विधूमज्वलनप्रभैः॥ ३॥

चम्पा, अशोक, पुंनाग, महुआ, कटहल, असन तथा धूमरहित अग्निके समान प्रकाशित होनेवाले पारिजातसे वह वाटिका सुशोभित थी॥ ३॥

लोध्रनीपार्जुनैर्नागैः सप्तपर्णातिमुक्तकैः।
मन्दारकदलीगुल्मलताजालसमावृताम्॥ ४॥

लोध्र, कदम्ब, अर्जुन, नागकेसर, छितवन, अतिमुक्तक, मन्दार, कदली तथा गुल्मों और लताओंके समूह उसमें सब ओर व्याप्त थे॥ ४॥

प्रियङ्गुभिः कदम्बैश्च तथा च बकुलैरपि।
जम्बूभिर्दाडिमैश्चैव कोविदारैश्च शोभिताम्॥ ५॥

प्रियङ्गु, धूलिकदम्ब, बकुल, जामुन, अनार और कोविदार आदि वृक्ष उस उपवनको सुशोभित करते थे॥ ५॥

सर्वदा कुसुमै रम्यैः फलवद्भिर्मनोरमैः।
दिव्यगन्धरसोपेतैस्तरुणाङ्कुरपल्लवैः॥ ६॥

सदा फूल और फल देनेवाले रमणीय, मनोरम, दिव्य रस और गन्धसे युक्त तथा नूतन अङ्कुर-पल्लवोंसे अलङ्कृत वृक्ष भी उस अशोकवनिकाकी शोभा बढ़ा रहे थे॥ ६॥

तथैव तरुभिर्दिव्यैः शिल्पिभिः परिकल्पितैः।
चारुपल्लवपुष्पाढ्यैर्मत्तभ्रमरसंकुलैः॥ ७॥

वृक्ष लगानेकी कलामें कुशल मालियोंद्वारा तैयार किये गये दिव्य वृक्ष, जिनमें मनोहर पल्लव तथा पुष्प शोभा पाते थे और जिनके ऊपर मतवाले भ्रमर छा रहे थे, उस उपवनकी श्री-वृद्धि कर रहे थे॥ ७॥

कोकिलैर्भृङ्गराजैश्च नानावर्णैश्च पक्षिभिः।
शोभितां शतशश्चित्रां चूतवृक्षावतंसकैः॥ ८॥

कोकिल, भृङ्गराज आदि रंग-बिरंगे सैकड़ों पक्षी उस वाटिकाकी शोभा थे, जो आम्रकी डालियोंके अग्रभागपर बैठकर वहाँ विचित्र सुषमाकी सृष्टि कर रहे थे॥ ८॥

शातकुम्भनिभाः केचित् केचिदग्निशिखोपमाः।
नीलाञ्जननिभाश्चान्ये भान्ति तत्र स्म पादपाः॥ ९॥

कोई वृक्ष सुवर्णके समान पीले, कोई अग्नि-शिखाके समान उज्ज्वल और कोई नील अञ्जनके समान श्याम थे, जो स्वयं सुशोभित होकर उस उपवनकी शोभा बढ़ाते थे॥ ९॥

सुरभीणि च पुष्पाणि माल्यानि विविधानि च।
दीर्घिका विविधाकाराः पूर्णाः परमवारिणा॥ १०॥

वहाँ अनेक प्रकारके सुगन्धित पुष्प और गुच्छ दृष्टिगोचर होते थे। उत्तम जलसे भरी हुई भाँति-भाँतिकी बावड़ियाँ देखी जाती थीं॥ १०॥

माणिक्यकृतसोपानाः स्फाटिकान्तरकुट्टिमाः।
फुल्लपद्मोत्पलवनाश्चक्रवाकोपशोभिताः॥ ११॥

जिनमें माणिक्यकी सीढ़ियाँ बनी थीं। सीढ़ियोंके बाद कुछ दूरतक जलके भीतरकी भूमि स्फटिक मणिसे बँधी हुई थी। उन बावड़ियोंके भीतर खिले हुए कमल और कुमुदोंके समूह शोभा पाते थे, चक्रवाक भी उनकी शोभा बढ़ा रहे थे॥ ११॥

दात्यूहशुकसंघुष्टा हंससारसनादिताः।
तरुभिः पुष्पशबलैस्तीरजैरुपशोभिताः॥ १२॥

पपीहे और तोते वहाँ मीठी बोली बोल रहे थे। हंसों और सारसोंके कलरव गूँज रहे थे। फूलोंसे चितकबरे दिखायी देनेवाले तटवर्ती वृक्ष उन्हें शोभासम्पन्न बना रहे थे॥ १२॥

प्राकारैर्विविधाकारैः शोभिताश्च शिलातलैः।
तत्रैव च वनोद्देशे वैदूर्यमणिसंनिभैः॥ १३॥
शाद्वलैः परमोपेतां पुष्पितद्रुमकाननाम्।

वे भाँति-भाँतिके परकोटों और शिलाओंसे भी सुशोभित थीं। वहाँ वनप्रान्तमें नीलमके समान रंगवाली हरी-हरी घासें उस वाटिकाका शृङ्गार कर रही थीं। वहाँके वृक्षोंका समुदाय फूलोंके भारसे लदा हुआ था॥ १३½॥

तत्र संघर्षजातानां वृक्षाणां पुष्पशालिनाम्॥ १४॥
प्रस्तराः पुष्पशबला नभस्तारागणैरिव।

वहाँ मानो परस्पर होड़ लगाकर खिले हुए पुष्पशाली वृक्षोंके झड़े हुए फूलोंसे काले-काले प्रस्तर उसी तरह चितकबरे दिखायी देते थे, जैसे तारोंके समुदायसे अलङ्कृत आकाश॥ १४½॥

नन्दनं हि यथेन्द्रस्य ब्राह्मं चैत्ररथं यथा॥ १५॥
तथाभूतं हि रामस्य काननं संनिवेशनम्।

जैसे इन्द्रका नन्दन और ब्रह्माजीका बनाया हुआ कुबेरका

चैत्ररथ वन सुशोभित होता है, उसी प्रकार सुन्दर भवनोंसे विभूषित श्रीरामका वह क्रीडा-कानन शोभा पा रहा था ॥ १५½ ॥

बह्वासनगृहोपेतां लतागृहसमावृताम् ॥ १६ ॥
अशोकवनिकां स्फीतां प्रविश्य रघुनन्दनः ।
आसने च शुभाकारे पुष्पप्रकरभूषिते ॥ १७ ॥
कुथास्तरणसंस्तीर्णे रामः संनिषसाद ह ।

वहाँ अनेक ऐसे भवन बने थे, जिनके भीतर बैठनेके लिये बहुतसे आसन सजाये गये थे। वह वाटिका अनेक लतामण्डपोंसे सम्पन्न दिखायी देती थी। उस समृद्धिशालिनी अशोकवनिकामें प्रवेश करके रघुकुलनन्दन श्रीराम पुष्पराशिसे विभूषित एक सुन्दर आसनपर बैठे, जिसपर कालीन बिछा था ॥ १६-१७½ ॥

सीतामादाय हस्तेन मधु मैरेयकं शुचि ॥ १८ ॥
पाययामास काकुत्स्थः शचीमिव पुरंदरः ।

जैसे देवराज इन्द्र शचीको सुधापान कराते हैं, उसी प्रकार ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामने अपने हाथसे पवित्र पेय मधु लेकर सीताजीको पिलाया ॥ १८½ ॥

मांसानि च सुमृष्टानि फलानि विविधानि च ॥ १९ ॥
रामस्याभ्यवहारार्थं किंकरास्तूर्णमाहरन् ।

सेवकगण श्रीरामके भोजनके लिये वहाँ तुरंत ही राजोचित भोग्य पदार्थ (भाँति-भाँतिकी रसोई) तथा नाना प्रकारके फल ले आये ॥ १९½ ॥

उपानृत्यंश्च राजानं नृत्यगीतविशारदाः ॥ २० ॥
अप्सरोरगसंघाश्च किंनरीपरिवारिताः ।

उस समय राजा रामके समीप नृत्य और गीतकी कलामें निपुण अप्सराएँ और नाग-कन्याएँ किन्नरियोंके साथ मिलकर नृत्य करने लगीं ॥ २०½ ॥

दक्षिणा रूपवत्यश्च स्त्रियः पानवशं गताः ॥ २१ ॥
उपानृत्यन्त काकुत्स्थं नृत्यगीतविशारदाः ।

नाचने-गानेमें कुशल और चतुर बहुत-सी रूपवती स्त्रियाँ मधुपानजनित मदके वशीभूत हो श्रीरामचन्द्रजीके निकट अपनी नृत्य-कलाका प्रदर्शन करने लगीं ॥ २१½ ॥

मनोऽभिरामा रामास्ता रामो रमयतां वरः ॥ २२ ॥
रमयामास धर्मात्मा नित्यं परमभूषिताः ।

दूसरोंके मनको रमानेवाले पुरुषोंमें श्रेष्ठ धर्मात्मा श्रीराम सदा उत्तम वस्त्राभूषणोंसे भूषित हुई उन मनोऽभिराम रमणियोंको उपहार आदि देकर संतुष्ट रखते थे ॥ २२½ ॥

स तया सीतया सार्धमासीनो विरराज ह ॥ २३ ॥
अरुन्धत्या इवासीनो वसिष्ठ इव तेजसा ।

उस समय भगवान् श्रीराम सीतादेवीके साथ सिंहासनपर विराजमान हो अपने तेजसे अरुन्धतीके साथ बैठे हुए वसिष्ठजीके समान शोभा पाते थे ॥ २३½ ॥

एवं रामो मुदा युक्तः सीतां सुरसुतोपमाम् ॥ २४ ॥
रमयामास वैदेहीमहन्यहनि देववत् ।

यों श्रीराम प्रतिदिन देवताके समान आनन्दित रहकर देवकन्याके समान सुन्दरी विदेहनन्दिनी सीताके साथ रमण करते थे ॥ २४½ ॥

तथा तयोर्विहरतोः सीताराघवयोश्चिरम् ॥ २५ ॥
अत्यक्रामच्छुभः कालः शैशिरो भोगदः सदा ।
प्राप्तयोर्विविधान् भोगानतीतः शिशिरागमः ॥ २६ ॥

इस प्रकार सीता और रघुनाथजी चिरकालतक विहार करते रहे। इतनेहीमें सदा भोग प्रदान करनेवाला शिशिर-ऋतुका सुन्दर समय व्यतीत हो गया। भाँति-भाँतिके भोगोंका उपभोग करते हुए उन राजदम्पतिका वह शिशिरकाल बीत गया ॥ २५-२६ ॥

पूर्वाह्णे धर्मकार्याणि कृत्वा धर्मेण धर्मवित् ।
शेषं दिवसभागार्धमन्तःपुरगतोऽभवत् ॥ २७ ॥

धर्मज्ञ श्रीराम दिनके पूर्वभागमें धर्मके अनुसार धार्मिक कृत्य करते थे और शेष आधे दिन अन्तःपुरमें रहते थे ॥ २७ ॥

सीतापि देवकार्याणि कृत्वा पौर्वाह्णिकानि वै ।
श्वश्रूणामकरोत् पूजां सर्वासामविशेषतः ॥ २८ ॥

सीताजी भी पूर्वाह्णकालमें देवपूजन आदि करके सब सासुओंकी समानरूपसे सेवा-पूजा करती थीं ॥ २८ ॥

अभ्यगच्छत् ततो रामं विचित्राभरणाम्बरा ।
त्रिविष्टपे सहस्राक्षमुपविष्टं यथा शची ॥ २९ ॥

तत्पश्चात् विचित्र वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो श्रीरामचन्द्रजीके पास चली जाती थीं। ठीक उसी तरह, जैसे स्वर्गमें शची सहस्राक्ष इन्द्रकी सेवामें उपस्थित होती हैं ॥ २९ ॥

दृष्ट्वा तु राघवः पत्नीं कल्याणेन समन्विताम् ।
प्रहर्षमतुलं लेभे साधुसाध्विति चाब्रवीत् ॥ ३० ॥

इन्हीं दिनों श्रीरामचन्द्रजीने अपनी पत्नीको गर्भके मङ्गलमय चिह्नसे युक्त देखकर अनुपम हर्ष प्राप्त किया और कहा—'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा' ॥ ३० ॥

अब्रवीच्च वरारोहां सीतां सुरसुतोपमाम् ।
अपत्यलाभो वैदेहि त्वय्ययं समुपस्थितः ॥ ३१ ॥
किमिच्छसि वरारोहे कामः किं क्रियतां तव ।

फिर वे देवकन्याके समान सुन्दरी सीतासे बोले—'विदेहनन्दिनि! तुम्हारे गर्भसे पुत्र प्राप्त होनेका यह समय उपस्थित है। वरारोहे! बताओ, तुम्हारी क्या इच्छा है? मैं तुम्हारा कौन-सा मनोरथ पूर्ण करूँ?' ॥ ३१½ ॥

स्मितं कृत्वा तु वैदेही रामं वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ३२ ॥
तपोवनानि पुण्यानि द्रष्टुमिच्छामि राघव ।

गङ्गातीरोपविष्टानामृषीणामुग्रतेजसाम् ॥ ३३ ॥
फलमूलाशिनां देव पादमूलेषु वर्तितुम्।
एष मे परमः कामो यन्मूलफलभोजिनाम् ॥ ३४ ॥
अप्येकरात्रिं काकुत्स्थ निवसेयं तपोवने।

इसपर सीताजीने मुसकराकर श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—'रघुनन्दन! मेरी इच्छा एक बार उन पवित्र तपोवनोंको देखनेकी हो रही है। देव! गङ्गातटपर रहकर फल-मूल खानेवाले जो उग्र तेजस्वी महर्षि हैं, उनके समीप (कुछ दिन) रहना चाहती हूँ। काकुत्स्थ! फल-मूलका आहार करनेवाले महात्माओंके तपोवनमें एक रात निवास करूँ, यही मेरी इस समय सबसे बड़ी अभिलाषा है' ॥ ३२—३४½ ॥

तथेति च प्रतिज्ञातं रामेणाक्लिष्टकर्मणा।
विस्रब्धा भव वैदेहि श्वो गमिष्यस्यसंशयम् ॥ ३५ ॥

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरामने सीताकी इस इच्छाको पूर्ण करनेकी प्रतिज्ञा की और कहा—'विदेहनन्दिनि! निश्चिन्त रहो। कल ही वहाँ जाओगी, इसमें संशय नहीं है' ॥ ३५ ॥

एवमुक्त्वा तु काकुत्स्थो मैथिलीं जनकात्मजाम्।
मध्यकक्षान्तरं रामो निर्जगाम सुहृद्वृतः ॥ ३६ ॥

मिथिलेशकुमारी जानकीसे ऐसा कहकर ककुत्स्थकुल-नन्दन श्रीराम अपने मित्रोंके साथ बीचके खण्डमें चले गये ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें बयालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

—★—

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

भद्रका पुरवासियोंके मुखसे सीताके विषयमें सुनी हुई अशुभ चर्चासे श्रीरामको अवगत कराना

तत्रोपविष्टं राजानमुपासन्ते विचक्षणाः।
कथानां बहुरूपाणां हास्यकाराः समन्ततः ॥ १ ॥

वहाँ बैठे हुए महाराज श्रीरामके पास अनेक प्रकारकी कथाएँ कहनेमें कुशल हास्यविनोद करनेवाले सखा सब ओरसे आकर बैठते थे ॥ १ ॥

विजयो मधुमत्तश्च काश्यपो मङ्गलः कुलः।
सुराजिः कालियो भद्रो दन्तवक्त्रः सुमागधः ॥ २ ॥

उन सखाओंके नाम इस प्रकार हैं—विजय, मधुमत्त, काश्यप, मङ्गल, कुल, सुराजि, कालिय, भद्र, दन्तवक्त्र और सुमागध ॥ २ ॥

एते कथा बहुविधाः परिहाससमन्विताः।
कथयन्ति स्म संहृष्टा राघवस्य महात्मनः ॥ ३ ॥

ये सब लोग बड़े हर्षसे भरकर महात्मा श्रीरघुनाथजीके सामने अनेक प्रकारकी हास्य-विनोदपूर्ण कथाएँ कहा करते थे ॥ ३ ॥

ततः कथायां कस्यांचिद् राघवः समभाषत।
काः कथा नगरे भद्र वर्तन्ते विषयेषु च ॥ ४ ॥

इसी समय किसी कथाके प्रसङ्गमें श्रीरघुनाथजीने पूछा—'भद्र! आजकल नगर और राज्यमें किस बातकी चर्चा विशेषरूपसे होती है? ॥ ४ ॥

मामाश्रितानि कान्याहुः पौरजानपदा जनाः।
किं च सीतां समाश्रित्य भरतं किं च लक्ष्मणम् ॥ ५ ॥
किं नु शत्रुघ्नमुद्दिश्य कैकेयीं किं नु मातरम्।
वक्तव्यतां च राजानो वने राज्ये व्रजन्ति च ॥ ६ ॥

'नगर और जनपदके लोग मेरे, सीताके, भरतके, लक्ष्मणके तथा शत्रुघ्न और माता कैकेयीके विषयमें क्या-क्या बातें करते हैं? क्योंकि राजा यदि आचार-विचारसे हीन हो तो वे अपने राज्यमें तथा वनमें (ऋषि-मुनियोंके आश्रममें) भी निन्दाके विषय बन जाते हैं—सर्वत्र उन्हींकी बुराइयोंकी चर्चा होती है' ॥ ५-६ ॥

एवमुक्ते तु रामेण भद्रः प्राञ्जलिरब्रवीत्।
स्थिताः शुभाः कथा राजन् वर्तन्ते पुरवासिनाम् ॥ ७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर भद्र हाथ जोड़कर बोला—'महाराज! आजकल पुरवासियोंमें आपको लेकर सदा अच्छी ही चर्चाएँ चलती हैं' ॥ ७ ॥

अमुं तु विजयं सौम्य दशग्रीववधार्जितम्।
भूयिष्ठं स्वपुरे पौरैः कथ्यन्ते पुरुषर्षभ ॥ ८ ॥

'सौम्य! पुरुषोत्तम! दशग्रीव-वधसम्बन्धी जो आपकी विजय है, उसको लेकर नगरमें सब लोग अधिक बातें किया करते हैं' ॥ ८ ॥

एवमुक्तस्तु भद्रेण राघवो वाक्यमब्रवीत्।
कथयस्व यथातत्त्वं सर्वं निरवशेषतः ॥ ९ ॥
शुभाशुभानि वाक्यानि कान्याहुः पुरवासिनः।
श्रुत्वेदानीं शुभं कुर्यां न कुर्यामशुभानि च ॥ १० ॥

भद्रके ऐसा कहनेपर श्रीरघुनाथजीने कहा—'पुरवासी मेरे विषयमें कौन-कौन-सी शुभ या अशुभ बातें कहते हैं, उन सबको यथार्थरूपसे पूर्णतः बताओ। इस समय उनकी शुभ बातें सुनकर जिन्हें वे शुभ मानते हैं उनका मैं आचरण

करूँगा और अशुभ बातें सुनकर जिन्हें वे अशुभ समझते हैं, उन कृत्योंको त्याग दूँगा ॥ ९-१० ॥

कथयस्व च विस्रब्धो निर्भयं विगतज्वरः।
कथयन्ति यथा पौराः पापा जनपदेषु च ॥ ११ ॥

'तुम विश्वस्त और निश्चिन्त होकर बेखटके कहो। पुरवासी और जनपदके लोग मेरे विषयमें किस प्रकार अशुभ चर्चाएँ करते हैं' ॥ ११ ॥

राघवेणैवमुक्तस्तु भद्रः सुरुचिरं वचः।
प्रत्युवाच महाबाहुं प्राञ्जलिः सुसमाहितः ॥ १२ ॥

श्रीरघुनाथजीके ऐसा कहनेपर भद्रने हाथ जोड़कर एकाग्रचित्त हो उन महाबाहु श्रीरामसे यह परम सुन्दर बात कही— ॥ १२ ॥

शृणु राजन् यथा पौराः कथयन्ति शुभाशुभम्।
चत्वरापणरथ्यासु वनेषूपवनेषु च ॥ १३ ॥

'राजन्! सुनिये, पुरवासी मनुष्य चौराहोंपर, बाजारमें, सड़कोंपर तथा वन और उपवनमें भी आपके विषयमें किस प्रकार शुभ और अशुभ बातें कहते हैं? यह बता रहा हूँ ॥ १३ ॥

दुष्करं कृतवान् रामः समुद्रे सेतुबन्धनम्।
अश्रुतं पूर्वकैः कैश्चिद् देवैरपि सदानवैः ॥ १४ ॥

'वे कहते हैं 'श्रीरामने समुद्रपर पुल बाँधकर दुष्कर कर्म किया है। ऐसा कर्म तो पहलेके किन्हीं देवताओं और दानवोंने भी नहीं सुना होगा ॥ १४ ॥

रावणश्च दुराधर्षो हतः सबलवाहनः।
वानराश्च वशं नीता ऋक्षाश्च सह राक्षसैः ॥ १५ ॥

'श्रीरामद्वारा दुर्धर्ष रावण सेना और सवारियोंसहित मारा गया तथा राक्षसोंसहित रीछ और वानर भी वशमें कर लिये गये ॥ १५ ॥

हत्वा च रावणं संख्ये सीतामाहृत्य राघवः।
अमर्षं पृष्ठतः कृत्वा स्ववेश्म पुनरानयत् ॥ १६ ॥

'परंतु एक बात खटकती है, युद्धमें रावणको मारकर श्रीरघुनाथजी सीताको अपने घर ले आये। उनके मनमें सीताके चरित्रको लेकर रोष या अमर्ष नहीं हुआ ॥ १६ ॥

कीदृशं हृदये तस्य सीतासम्भोगजं सुखम्।
अङ्कमारोप्य तु पुरा रावणेन बलाद्धृताम् ॥ १७ ॥
लङ्कामपि पुरा नीतामशोकवनिकां गताम्।
रक्षसां वशमापन्नां कथं रामो न कुत्स्यति ॥ १८ ॥
अस्माकमपि दारेषु सहनीयं भविष्यति।
यथा हि कुरुते राजा प्रजास्तमनुवर्तते ॥ १९ ॥

'उनके हृदयमें सीता-सम्भोगजनित सुख कैसा लगता होगा? पहले रावणने बलपूर्वक सीताको गोदमें उठाकर उनका अपहरण किया था, फिर वह उन्हें लङ्कामें भी ले गया और वहाँ उसने अन्तःपुरके क्रीडा-कानन अशोकवनिकामें रखा। इस प्रकार राक्षसोंके वशमें होकर वे बहुत दिनोंतक रहीं तो भी श्रीराम उनसे घृणा क्यों नहीं करते हैं। अब हमलोगोंको भी स्त्रियोंकी ऐसी बातें सहनी पड़ेंगी; क्योंकि राजा जैसा करता है, प्रजा भी उसीका अनुकरण करने लगती है' ॥ १७—१९ ॥

एवं बहुविधा वाचो वदन्ति पुरवासिनः।
नगरेषु च सर्वेषु राजन् जनपदेषु च ॥ २० ॥

'राजन्! इस प्रकार सारे नगर और जनपदमें पुरवासी मनुष्य बहुत-सी बातें कहते हैं' ॥ २० ॥

तस्यैवं भाषितं श्रुत्वा राघवः परमार्तवत्।
उवाच सुहृदः सर्वान् कथमेतद् वदन्तु माम् ॥ २१ ॥

भद्रकी यह बात सुनकर श्रीरघुनाथजीने अत्यन्त पीड़ित होकर समस्त सुहृदोंसे पूछा—'आपलोग भी मुझे बतावें, यह कहाँतक ठीक है' ॥ २१ ॥

सर्वे तु शिरसा भूमावभिवाद्य प्रणम्य च।
प्रत्यूचू राघवं दीनमेवमेतन्न संशयः ॥ २२ ॥

तब सबने धरतीपर मस्तक टेककर श्रीरामचन्द्रजीको प्रणाम करके दीनतापूर्ण वाणीमें कहा—'प्रभो! भद्रका यह कथन ठीक है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है' ॥ २२ ॥

श्रुत्वा तु वाक्यं काकुत्स्थः सर्वेषां समुदीरितम्।
विसर्जयामास तदा वयस्याञ्छत्रुसूदनः ॥ २३ ॥

सबके मुखसे यह बात सुनकर शत्रुसूदन श्रीरामने तत्काल उन सब सुहृदोंको विदा कर दिया ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें तैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

—★—

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

श्रीरामके बुलानेसे सब भाइयोंका उनके पास आना

विसृज्य तु सुहृद्वर्गं बुद्ध्या निश्चित्य राघवः।
समीपे द्वाःस्थमासीनमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

मित्रमण्डलीको विदा करके श्रीरघुनाथजीने बुद्धिसे विचारकर अपना कर्तव्य निश्चित किया और निकटवर्ती द्वारपालसे इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

शीघ्रमानय सौमित्रिं लक्ष्मणं शुभलक्षणम्।
भरतं च महाभागं शत्रुघ्नमपराजितम् ॥ २ ॥

'तुम जाकर शीघ्र ही महाभाग भरत, सुमित्राकुमार

शुभलक्षण लक्ष्मण तथा अपराजित वीर शत्रुघ्नको भी यहाँ बुला लाओ' ॥ २ ॥

रामस्य वचनं श्रुत्वा द्वाःस्थो मूर्ध्नि कृताञ्जलिः ।
लक्ष्मणस्य गृहं गत्वा प्रविवेशानिवारितः ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका यह आदेश सुनकर द्वारपालने मस्तकपर अञ्जलि बाँधकर उन्हें प्रणाम किया और लक्ष्मणके घर जाकर बेरोक-टोक उसके भीतर प्रवेश किया ॥ ३ ॥

उवाच सुमहात्मानं वर्धयित्वा कृताञ्जलिः ।
द्रष्टुमिच्छति राजा त्वां गम्यतां तत्र मा चिरम् ॥ ४ ॥

वहाँ हाथ जोड़ जय-जयकार करते हुए उसने महात्मा लक्ष्मणसे कहा—'कुमार ! महाराज आपसे मिलना चाहते हैं। अतः शीघ्र चलिये, विलम्ब न कीजिये' ॥ ४ ॥

बाढमित्येव सौमित्रिः कृत्वा राघवशासनम् ।
प्राद्रवद् रथमारुह्य राघवस्य निवेशनम् ॥ ५ ॥

तब सुमित्राकुमार लक्ष्मणने 'बहुत अच्छा' कहकर श्रीरामचन्द्रजीके आदेशको शिरोधार्य किया और तत्काल रथपर बैठकर वे श्रीरघुनाथजीके महलकी ओर तीव्रगतिसे चले ॥ ५ ॥

प्रयान्तं लक्ष्मणं दृष्ट्वा द्वाःस्थो भरतमन्तिकात् ।
उवाच भरतं तत्र वर्धयित्वा कृताञ्जलिः ॥ ६ ॥
विनयावनतो भूत्वा राजा त्वां द्रष्टुमिच्छति ।

लक्ष्मणको जाते देख द्वारपाल भरतके पास गया और उन्हें हाथ जोड़ वहाँ जय-जयकार करके विनीतभावसे बोला—'प्रभो ! महाराज आपसे मिलना चाहते हैं' ॥ ६½ ॥

भरतस्तु वचः श्रुत्वा द्वाःस्थाद् रामसमीरितम् ॥ ७ ॥
उत्पपातासनात् तूर्णं पद्भ्यामेव महाबलः ।

श्रीरामके भेजे हुए द्वारपालके मुखसे यह बात सुनकर महाबली भरत तुरंत अपने आसनसे उठ खड़े हुए और पैदल ही चल दिये ॥ ७½ ॥

दृष्ट्वा प्रयान्तं भरतं त्वरमाणः कृताञ्जलिः ॥ ८ ॥
शत्रुघ्नभवनं गत्वा ततो वाक्यमुवाच ह ।

भरतको जाते देख द्वारपाल बड़ी उतावलीके साथ शत्रुघ्नके भवनमें गया और हाथ जोड़कर बोला— ॥ ८½ ॥

एह्यागच्छ रघुश्रेष्ठ राजा त्वां द्रष्टुमिच्छति ॥ ९ ॥
गतो हि लक्ष्मणः पूर्वं भरतश्च महायशाः ।

'रघुश्रेष्ठ ! आइये, चलिये, राजा श्रीराम आपको देखना चाहते हैं। श्रीलक्ष्मणजी और महायशस्वी भरतजी पहले ही जा चुके हैं' ॥ ९½ ॥

श्रुत्वा तु वचनं तस्य शत्रुघ्नः परमासनात् ॥ १० ॥
शिरसा वन्द्य धरणीं प्रययौ यत्र राघवः ।

द्वारपालकी बात सुनकर शत्रुघ्न अपने उत्तम आसनसे उठे और धरतीपर माथा टेककर मन-ही-मन श्रीरामकी वन्दना करके तुरंत उनके निवासस्थानकी ओर चल दिये ॥ १०½ ॥

द्वाःस्थस्त्वागम्य रामाय सर्वानेव कृताञ्जलिः ॥ ११ ॥
निवेदयामास तथा भ्रातॄन् स्वान् समुपस्थितान् ।

द्वारपालने आकर श्रीरामसे हाथ जोड़कर निवेदन किया कि 'प्रभो ! आपके सभी भाई द्वारपर उपस्थित हैं' ॥ ११½ ॥

कुमारानागताञ्छ्रुत्वा चिन्ताव्याकुलितेन्द्रियः ॥ १२ ॥
अवाङ्मुखो दीनमना द्वाःस्थं वचनमब्रवीत् ।
प्रवेशय कुमारांस्त्वं मत्समीपं त्वरान्वितः ॥ १३ ॥
एतेषु जीवितं मह्यमेते प्राणाः प्रिया मम ।

कुमारोंका आगमन सुनकर चिन्तासे व्याकुल इन्द्रियवाले श्रीरामने नीचे मुख किये दुःखी मनसे द्वारपालको आदेश दिया—'तुम तीनों राजकुमारोंको जल्दी मेरे पास ले आओ। मेरा जीवन इन्हींपर अवलम्बित है। ये मेरे प्यारे प्राणस्वरूप हैं' ॥ १२-१३½ ॥

आज्ञप्तास्तु नरेन्द्रेण कुमाराः शुक्लवाससः ॥ १४ ॥
प्रह्वाः प्राञ्जलयो भूत्वा विविशुस्ते समाहिताः ।

महाराजकी आज्ञा पाकर वे श्वेत वस्त्रधारी कुमार सिर झुकाये हाथ जोड़े एकाग्रचित्त हो भवनके भीतर गये ॥ १४½ ॥

ते तु दृष्ट्वा मुखं तस्य सग्रहं शशिनं यथा ॥ १५ ॥
संध्यागतमिवादित्यं प्रभया परिवर्जितम् ।

उन्होंने श्रीरामका मुख इस तरह उदास देखा, मानो चन्द्रमापर ग्रह लग गया हो। वह संध्याकालके सूर्यकी भाँति प्रभाशून्य हो रहा था ॥ १५½ ॥

बाष्पपूर्णे च नयने दृष्ट्वा रामस्य धीमतः ।
हतशोभं यथा पद्मं मुखं वीक्ष्य च तस्य ते ॥ १६ ॥

उन्होंने बारम्बार देखा बुद्धिमान् श्रीरामके दोनों नेत्रोंमें आँसू भर आये थे और उनके मुखारविन्दकी शोभा छिन गयी थी ॥ १६ ॥

ततोऽभिवाद्य त्वरिताः पादौ रामस्य मूर्धभिः ।
तस्थुः समाहिताः सर्वे रामस्त्वश्रूण्यवर्तयत् ॥ १७ ॥

तदनन्तर उन तीनों भाइयोंने तुरंत श्रीरामके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया। फिर वे सब-के-सब प्रेममें समाधिस्थ-से होकर पड़ गये। उस समय श्रीराम आँसू बहा रहे थे ॥ १७ ॥

तान् परिष्वज्य बाहुभ्यामुत्थाप्य च महाबलः ।
आसनेष्वासतेत्युक्त्वा ततो वाक्यं जगाद ह ॥ १८ ॥

महाबली रघुनाथजीने दोनों भुजाओंसे उठाकर उन सबका आलिङ्गन किया और कहा—'इन आसनोंपर बैठो।' जब वे बैठ गये, तब उन्होंने फिर कहा— ॥ १८ ॥

भवन्तो मम सर्वस्वं भवन्तो जीवितं मम ।
भवद्भिश्च कृतं राज्यं पालयामि नरेश्वराः ॥ १९ ॥

'राजकुमारो ! तुमलोग मेरे सर्वस्व हो। तुम्हीं मेरे जीवन हो और तुम्हारे द्वारा सम्पादित इस राज्यका मैं पालन करता हूँ ॥ १९ ॥

भवन्तः कृतशास्त्रार्था बुद्ध्या च परिनिष्ठिताः।
सम्भूय च मदर्थोऽयमन्वेष्टव्यो नरेश्वराः॥ २०॥

'नरेश्वरो! तुम सभी शास्त्रोंके ज्ञाता और उनमें बताये कर्तव्यका पालन करनेवाले हो। तुम्हारी बुद्धि भी परिपक्व है। इस समय मैं जो कार्य तुम्हारे सामने उपस्थित करनेवाला हूँ, उसका तुम सबको मिलकर सम्पादन करना चाहिये'॥ २०॥

तथा वदति काकुत्स्थे अवधानपरायणाः।
उद्विग्नमनसः सर्वे किं नु राजाभिधास्यति॥ २१॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर सभी भाई चौकन्ने हो गये। सबका चित्त उद्विग्न हो गया और सभी सोचने लगे—'न जाने महाराज हमसे क्या कहेंगे?'॥ २१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे चतुश्चत्वारिंशः सर्गः॥ ४४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें चौवालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ४४॥

—★—

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

श्रीरामका भाइयोंके समक्ष सर्वत्र फैले हुए लोकापवादकी चर्चा करके सीताको वनमें छोड़ आनेके लिये लक्ष्मणको आदेश देना

तेषां समुपविष्टानां सर्वेषां दीनचेतसाम्।
उवाच वाक्यं काकुत्स्थो मुखेन परिशुष्यता॥ १॥

इस प्रकार सब भाई दुःखी मनसे वहाँ बैठ हुए थे। उस समय श्रीरामने सूखे मुखसे उनके सामने यह बात कही—॥ १॥

सर्वे शृणुत भद्रं वो मा कुरुध्वं मनोऽन्यथा।
पौराणां मम सीतायां यादृशी वर्तते कथा॥ २॥

'बन्धुओ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम सब लोग मेरी बात सुनो। मनको इधर-उधर न ले जाओ। पुरवासियोंके यहाँ मेरे और सीताके विषयमें जैसी चर्चा चल रही है, उसीको बता रहा हूँ॥ २॥

पौरापवादः सुमहांस्तथा जनपदस्य च।
वर्तते मयि बीभत्सा सा मे मर्माणि कृन्तति॥ ३॥

'इस समय पुरवासियों और जनपदके लोगोंमें सीताके सम्बन्धमें महान् अपवाद फैला हुआ है। मेरे प्रति भी उनका बड़ा घृणापूर्ण भाव है। उन सबकी वह घृणा मेरे मर्मस्थलको विदीर्ण किये देती है॥ ३॥

अहं किल कुले जात इक्ष्वाकूणां महात्मनाम्।
सीतापि सत्कुले जाता जनकानां महात्मनाम्॥ ४॥

'मैं इक्ष्वाकुवंशी महात्मा नरेशोंके कुलमें उत्पन्न हुआ हूँ। सीताने भी महात्मा जनकोंके उत्तम कुलमें जन्म लिया है॥ ४॥

जानासि त्वं यथा सौम्य दण्डके विजने वने।
रावणेन हृता सीता स च विध्वंसितो मया॥ ५॥

'सौम्य लक्ष्मण! तुम तो यह जानते ही हो कि किस प्रकार रावण निर्जन दण्डकारण्यसे उन्हें हरकर ले गया था और मैंने उसका विध्वंस भी कर डाला॥ ५॥

तत्र मे बुद्धिरुत्पन्ना जनकस्य सुतां प्रति।
अत्रोषितामिमां सीतामानयेयं कथं पुरीम्॥ ६॥

'उसके बाद लङ्कामें ही जानकीके विषयमें मेरे अन्तःकरणमें यह विचार उत्पन्न हुआ था कि इनके इतने दिनोंतक यहाँ रह लेनेपर भी मैं इन्हें राजधानीमें कैसे ले जा सकूँगा॥ ६॥

प्रत्ययार्थं ततः सीता विवेश ज्वलनं तदा।
प्रत्यक्षं तव सौमित्रे देवानां हव्यवाहनः॥ ७॥
अपापां मैथिलीमाह वायुश्चाकाशगोचरः।
चन्द्रादित्यौ च शंसेते सुराणां संनिधौ पुरा॥ ८॥
ऋषीणां चैव सर्वेषामपापां जनकात्मजाम्।

'सुमित्राकुमार! उस समय अपनी पवित्रताका विश्वास दिलानेके लिये सीताने तुम्हारे सामने ही अग्निमें प्रवेश किया था और देवताओंके समक्ष स्वयं अग्निदेवने उन्हें निर्दोष बताया था। आकाशचारी वायु, चन्द्रमा और सूर्यने भी पहले देवताओं तथा समस्त ऋषियोंके समीप जनकनन्दिनीको निष्पाप घोषित किया था॥ ७-८½॥

एवं शुद्धसमाचारा देवगन्धर्वसंनिधौ॥ ९॥
लङ्काद्वीपे महेन्द्रेण मम हस्ते निवेशिता।

'इस प्रकार विशुद्ध आचारवाली सीताको देवताओं और गन्धर्वोंके समीप साक्षात् देवराज इन्द्रने लङ्काद्वीपके अन्दर मेरे हाथमें सौंपा था॥ ९½॥

अन्तरात्मा च मे वेत्ति सीतां शुद्धां यशस्विनीम्॥ १०॥
ततो गृहीत्वा वैदेहीमयोध्यामहमागतः।

'मेरी अन्तरात्मा भी यशस्विनी सीताको शुद्ध समझती है। इसीलिये मैं इन विदेहनन्दिनीको साथ लेकर अयोध्या आया था॥ १०½॥

अयं तु मे महान् वादः शोकश्च हृदि वर्तते ॥ ११ ॥
पौरापवादः सुमहांस्तथा जनपदस्य च ।

'परंतु अब यह महान् अपवाद फैलने लगा है। पुरवासियों और जनपदके लोगोंमें मेरी बड़ी निन्दा हो रही है। इसके लिये मेरे हृदयमें बड़ा शोक है ॥ ११½ ॥

अकीर्तिर्यस्य गीयेत लोके भूतस्य कस्यचित् ॥ १२ ॥
पतत्येवाधमाँल्लोकान् यावच्छब्दः प्रकीर्त्यते ।

'जिस किसी भी प्राणीकी अपकीर्ति लोकमें सबकी चर्चाका विषय बन जाती है, वह अधम लोकों (नरकों) में गिर जाता है और जबतक उस अपयशकी चर्चा होती है तबतक वहीं पड़ा रहता है ॥ १२½ ॥

अकीर्तिर्निन्द्यते देवैः कीर्तिर्लोकेषु पूज्यते ॥ १३ ॥
कीर्त्यर्थं तु समारम्भः सर्वेषां सुमहात्मनाम् ।

'देवगण लोकोंमें अपकीर्तिकी निन्दा और कीर्तिकी प्रशंसा करते हैं। समस्त श्रेष्ठ महात्माओंका सारा शुभ आयोजन उत्तम कीर्तिकी स्थापनाके लिये ही होता है ॥ १३½ ॥

अप्यहं जीवितं जह्यां युष्मान् वा पुरुषर्षभाः ॥ १४ ॥
अपवादभयाद् भीतः किं पुनर्जनकात्मजाम् ।

'नरश्रेष्ठ बन्धुओ! मैं लोकनिन्दाके भयसे अपने प्राणोंको और तुम सबको भी त्याग सकता हूँ। फिर सीताको त्यागना कौन बड़ी बात है? ॥ १४½ ॥

तस्माद् भवन्तः पश्यन्तु पतितं शोकसागरे ॥ १५ ॥
नहि पश्याम्यहं भूतं किंचिद् दुःखमतोऽधिकम् ।

'अतः तुमलोग मेरी ओर देखो। मैं शोकके समुद्रमें गिर गया हूँ। इससे बढ़कर कभी कोई दुःख मुझे उठाना पड़ा हो, इसकी मुझे याद नहीं है ॥ १५½ ॥

श्वस्त्वं प्रभाते सौमित्रे सुमन्त्राधिष्ठितं रथम् ॥ १६ ॥
आरुह्य सीतामारोप्य विषयान्ते समुत्सृज ।

'अतः सुमित्राकुमार! कल सबेरे तुम सारथि सुमन्त्रके द्वारा संचालित रथपर आरूढ़ हो सीताको भी उसीपर चढ़ाकर इस राज्यकी सीमाके बाहर छोड़ दो ॥ १६½ ॥

गङ्गायास्तु परे पारे वाल्मीकेस्तु महात्मनः ॥ १७ ॥
आश्रमो दिव्यसंकाशस्तमसातीरमाश्रितः ।

'गङ्गाके उस पार तमसाके तटपर महात्मा वाल्मीकिमुनिका दिव्य आश्रम है ॥ १७½ ॥

तत्रैतां विजने देशे विसृज्य रघुनन्दन ॥ १८ ॥
शीघ्रमागच्छ सौमित्रे कुरुष्व वचनं मम ।
न चास्मि प्रतिवक्तव्यः सीतां प्रति कथंचन ॥ १९ ॥

'रघुनन्दन! उस आश्रमके निकट निर्जन वनमें तुम सीताको छोड़कर शीघ्र लौट आओ। सुमित्रानन्दन! मेरी इस आज्ञाका पालन करो। सीताके विषयमें मुझसे किसी तरह कोई दूसरी बात तुम्हें नहीं कहनी चाहिये ॥ १८-१९ ॥

तस्मात् त्वं गच्छ सौमित्रे नात्र कार्या विचारणा ।
अप्रीतिर्हि परा मह्यं त्वयैतत् प्रतिवारिते ॥ २० ॥

'इसलिये लक्ष्मण! अब तुम जाओ। इस विषयमें कोई सोच-विचार न करो। यदि मेरे इस निश्चयमें तुमने किसी प्रकारकी अड़चन डाली तो मुझे महान् कष्ट होगा ॥ २० ॥

शापिता हि मया यूयं पादाभ्यां जीवितेन च ।
ये मां वाक्यान्तरे ब्रूयुरनुनेतुं कथंचन ॥ २१ ॥
अहिता नाम ते नित्यं मदभीष्टविघातनात् ।

'मैं तुम्हें अपने चरणों और जीवनकी शपथ दिलाता हूँ, मेरे निर्णयके विरुद्ध कुछ न कहो। जो मेरे इस कथनके बीचमें कूदकर किसी प्रकार मुझसे अनुनय-विनय करनेके लिये कुछ कहेंगे, वे मेरे अभीष्ट कार्यमें बाधा डालनेके कारण सदाके लिये मेरे शत्रु होंगे ॥ २१½ ॥

मानयन्तु भवन्तो मां यदि मच्छासने स्थिताः ॥ २२ ॥
इतोऽद्य नीयतां सीता कुरुष्व वचनं मम ।

'यदि तुमलोग मेरा सम्मान करते हो और मेरी आज्ञामें रहना चाहते हो तो अब सीताको यहाँसे वनमें ले जाओ। मेरी इस आज्ञाका पालन करो ॥ २२½ ॥

पूर्वमुक्तोऽहमनया गङ्गातीरेऽहमाश्रमान् ॥ २३ ॥
पश्येयमिति तस्याश्च कामः संवर्त्यतामयम् ।

'सीताने पहले मुझसे कहा था कि मैं गङ्गातटपर ऋषियोंके आश्रम देखना चाहती हूँ; अतः उनकी यह इच्छा भी पूर्ण की जाय' ॥ २३½ ॥

एवमुक्त्वा तु काकुत्स्थो बाष्पेण पिहितेक्षणः ॥ २४ ॥
संविवेश स धर्मात्मा भ्रातृभिः परिवारितः ।
शोकसंविग्नहृदयो निशश्वास यथा द्विपः ॥ २५ ॥

इस प्रकार कहते-कहते श्रीरघुनाथजीके दोनों नेत्र आँसुओंसे भर गये। फिर वे धर्मात्मा श्रीराम अपने भाइयोंके साथ महलमें चले गये। उस समय उनका हृदय शोकसे व्याकुल था और वे हाथीके समान लम्बी साँस खींच रहे थे ॥ २४-२५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें पैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

—★—

षट्चत्वारिंशः सर्गः

लक्ष्मणका सीताको रथपर बिठाकर उन्हें वनमें छोड़नेके लिये ले जाना और गङ्गाजीके तटपर पहुँचना

ततो रजन्यां व्युष्टायां लक्ष्मणो दीनचेतनः।
सुमन्त्रमब्रवीद् वाक्यं मुखेन परिशुष्यता ॥ १ ॥

तदनन्तर जब रात बीती और सबेरा हुआ, तब लक्ष्मणने मन-ही-मन दुःखी हो सूखे मुखसे सुमन्त्रसे कहा— ॥ १ ॥

सारथे तुरगाञ्शीघ्रान् योजयस्व रथोत्तमे।
स्वास्तीर्णं राजवचनात् सीतायाश्चासनं शुभम् ॥ २ ॥
सीता हि राजवचनादाश्रमं पुण्यकर्मणाम्।
मया नेया महर्षीणां शीघ्रमानीयतां रथः ॥ ३ ॥

'सारथे! एक उत्तम रथमें शीघ्रगामी घोड़ोंको जोतो और उस रथमें सीताजीके लिये सुन्दर आसन बिछा दो। मैं महाराजकी आज्ञासे सीतादेवीको पुण्यकर्मा महर्षियोंके आश्रमपर पहुँचा दूँगा। तुम शीघ्र रथ ले आओ' ॥ २-३ ॥

सुमन्त्रस्तु तथेत्युक्त्वा युक्तं परमवाजिभिः।
रथं सुरुचिरप्रख्यं स्वास्तीर्णं सुखशय्यया ॥ ४ ॥

तब सुमन्त्र 'बहुत अच्छा' कहकर तुरंत ही उत्तम घोड़ोंसे जुता हुआ एक सुन्दर रथ ले आये, जिसपर सुखद शय्यासे युक्त सुन्दर बिछावन बिछा हुआ था ॥ ४ ॥

आनीयोवाच सौमित्रिं मित्राणां मानवर्धनम्।
रथोऽयं समनुप्राप्तो यत्कार्यं क्रियतां प्रभो ॥ ५ ॥

उसे लाकर वे मित्रोंका मान बढ़ानेवाले सुमित्राकुमारसे बोले— 'प्रभो! यह रथ आ गया। अब जो कुछ करना हो कीजिये' ॥ ५ ॥

एवमुक्तः सुमन्त्रेण राजवेश्मनि लक्ष्मणः।
प्रविश्य सीतामासाद्य व्याजहार नरर्षभः ॥ ६ ॥

सुमन्त्रके ऐसा कहनेपर नरश्रेष्ठ लक्ष्मण राजमहलमें गये और सीताजीके पास जाकर बोले— ॥ ६ ॥

त्वया किलैष नृपतिर्वरं वै याचितः प्रभुः।
नृपेण च प्रतिज्ञातमाज्ञप्तश्चाश्रमं प्रति ॥ ७ ॥

'देवि! आपने महाराजसे मुनियोंके आश्रमोंपर जानेके लिये वर माँगा था और महाराजने आपको आश्रमपर पहुँचानेके लिये प्रतिज्ञा की थी ॥ ७ ॥

गङ्गातीरे मया देवि ऋषीणामाश्रमाञ्शुभान्।
शीघ्रं गत्वा तु वैदेहि शासनात् पार्थिवस्य नः ॥ ८ ॥
अरण्ये मुनिभिर्जुष्टे अवनेया भविष्यसि।

'देवि! विदेहनन्दिनि! उस बातचीतके अनुसार मैं राजाकी आज्ञासे शीघ्र ही गङ्गातटपर ऋषियोंके सुन्दर आश्रमोंतक चलूँगा और आपको मुनिजनसेवित वनमें पहुँचाऊँगा' ॥ ८½ ॥

एवमुक्ता तु वैदेही लक्ष्मणेन महात्मना ॥ ९ ॥
प्रहर्षमतुलं लेभे गमनं चाप्यरोचयत्।

महात्मा लक्ष्मणके ऐसा कहनेपर विदेहनन्दिनी सीताको अनुपम हर्ष प्राप्त हुआ। वे चलनेको तैयार हो गयीं ॥ ९½ ॥

वासांसि च महार्हाणि रत्नानि विविधानि च ॥ १० ॥
गृहीत्वा तानि वैदेही गमनायोपचक्रमे।
इमानि मुनिपत्नीनां दास्याम्याभरणान्यहम् ॥ ११ ॥
वस्त्राणि च महार्हाणि धनानि विविधानि च।

बहुमूल्य वस्त्र और नाना प्रकारके रत्न लेकर वैदेही सीता वनकी यात्राके लिये उद्यत हो गयीं और लक्ष्मणसे बोलीं— 'ये सब बहुमूल्य वस्त्र, आभूषण और नाना प्रकारके रत्न-धन मैं मुनि-पत्नियोंको दूँगी' ॥ १०-११½ ॥

सौमित्रिस्तु तथेत्युक्त्वा रथमारोप्य मैथिलीम् ॥ १२ ॥
प्रययौ शीघ्रतुरगं रामस्याज्ञामनुस्मरन्।

लक्ष्मणने 'बहुत अच्छा' कहकर मिथिलेशकुमारी सीताको रथपर चढ़ाया और श्रीरघुनाथजीकी आज्ञाको ध्यानमें रखते हुए उस तेज घोड़ोंवाले रथपर चढ़कर वे वनकी ओर चल दिये ॥ १२½ ॥

अब्रवीच्च तदा सीता लक्ष्मणं लक्ष्मिवर्धनम् ॥ १३ ॥
अशुभानि बहून्येव पश्यामि रघुनन्दन।
नयनं मे स्फुरत्यद्य गात्रोत्कम्पश्च जायते ॥ १४ ॥

उस समय सीताने लक्ष्मीवर्धन लक्ष्मणसे कहा 'रघुनन्दन! मुझे बहुत-से अपशकुन दिखायी देते हैं। आज मेरी दायीं आँख फड़कती है और मेरे शरीरमें कम्प हो रहा है ॥ १३-१४ ॥

हृदयं चैव सौमित्रे अस्वस्थमिव लक्षये।
औत्सुक्यं परमं चापि अधृतिश्च परा मम ॥ १५ ॥

'सुमित्राकुमार! मैं अपने हृदयको अस्वस्थ-सा देख रही हूँ। मनमें बड़ी उत्कण्ठा हो रही है और मेरी अधीरता पराकाष्ठाको पहुँची हुई है ॥ १५ ॥

शून्यामेव च पश्यामि पृथिवीं पृथुलोचन।
अपि स्वस्ति भवेत् तस्य भ्रातुस्ते भ्रातृवत्सल ॥ १६ ॥

'विशाललोचन लक्ष्मण! मुझे पृथ्वी सूनी-सी ही दिखायी देती है। भ्रातृवत्सल! तुम्हारे भाई कुशलसे रहें ॥ १६ ॥

श्वश्रूणां चैव मे वीर सर्वासामविशेषतः।
पुरे जनपदे चैव कुशलं प्राणिनामपि ॥ १७ ॥

'वीर! मेरी सब सासुएँ समान रूपसे सानन्द रहें। नगर और जनपदमें भी समस्त प्राणी सकुशल रहें' ॥ १७ ॥

इत्यञ्जलिकृता सीता देवता अभ्ययाचत।
लक्ष्मणोऽर्थं ततः श्रुत्वा शिरसा वन्द्य मैथिलीम् ॥ १८ ॥
शिवमित्यब्रवीद्धृष्टो हृदयेन विशुष्यता।

ऐसा कहती हुई सीताने हाथ जोड़कर देवताओंसे प्रार्थना की। सीताकी बात सुनकर लक्ष्मणने सिर झुकाकर उन्हें प्रणाम किया और ऊपरसे प्रसन्न हो मुर्झाये हुए हृदयसे कहा—'सबका कल्याण हो' ॥१८½॥

ततो वासमुपागम्य गोमतीतीर आश्रमे ॥ १९ ॥
प्रभाते पुनरुत्थाय सौमित्रिः सूतमब्रवीत्।

तदनन्तर गोमतीके तटपर पहुँचकर एक आश्रममें उन सबने रात बितायी। फिर प्रातःकाल उठकर सुमित्राकुमारने सारथिसे कहा— ॥१९½॥

योजयस्व रथं शीघ्रमद्य भागीरथीजलम् ॥ २० ॥
शिरसा धारयिष्यामि त्रियम्बक इवौजसा।

'सारथे! जल्दी रथ जोतो। आज मैं भागीरथीके जलको उसी प्रकार सिरपर धारण करूँगा; जैसे भगवान् शङ्करने अपने तेजसे उसे मस्तकपर धारण किया था' ॥२०½॥

सोऽश्वान् विचारयित्वा तु रथे युक्तान् मनोजवान् ॥ २१ ॥
आरोहस्वेति वैदेहीं सूतः प्राञ्जलिरब्रवीत्।

सारथिने मनके समान वेगशाली चारों घोड़ोंको टहलाकर रथमें जोता और विदेहनन्दिनी सीतासे हाथ जोड़कर कहा—'देवि! रथपर आरूढ़ होइये' ॥२१½॥

सा तु सूतस्य वचनादारुरोह रथोत्तमम् ॥ २२ ॥
सीता सौमित्रिणा सार्धं सुमन्त्रेण च धीमता।
आससाद विशालाक्षी गङ्गां पापविनाशिनीम् ॥ २३ ॥

सूतके कहनेसे देवी सीता उस उत्तम रथपर सवार हुईं। इस प्रकार सुमित्राकुमार लक्ष्मण और बुद्धिमान् सुमन्त्रके साथ विशाललोचना सीतादेवी पापनाशिनी गङ्गाके तटपर जा पहुँचीं ॥ २२-२३ ॥

अथार्धदिवसे गत्वा भागीरथ्या जलाशयम्।
निरीक्ष्य लक्ष्मणो दीनः प्ररुरोद महास्वनः ॥ २४ ॥

दोपहरके समय भागीरथीकी जलधारातक पहुँचकर लक्ष्मण उसकी ओर देखते हुए दुःखी हो उच्चस्वरसे फूट-फूटकर रोने लगे ॥ २४ ॥

सीता तु परमायत्ता दृष्ट्वा लक्ष्मणमातुरम्।
उवाच वाक्यं धर्मज्ञा किमिदं रुद्यते त्वया ॥ २५ ॥
जाह्नवीतीरमासाद्य चिराभिलषितं मम।
हर्षकाले किमर्थं मां विषादयसि लक्ष्मण ॥ २६ ॥

लक्ष्मणको शोकसे आतुर देख धर्मज्ञा सीता अत्यन्त चिन्तित हो उनसे बोलीं—'लक्ष्मण! यह क्या? तुम रोते क्यों हो! गङ्गाके तटपर आकर तो मेरी चिरकालकी अभिलाषा पूर्ण हुई है। इस हर्षके समय तुम रोकर मुझे दुःखी क्यों करते हो?॥ २५-२६॥

नित्यं त्वं रामपार्श्वेषु वर्तसे पुरुषर्षभ।
कच्चिद् विनाकृतस्तेन द्विरात्रं शोकमागतः ॥ २७ ॥

'पुरुषप्रवर! श्रीरामके पास तो तुम सदा ही रहते हो। क्या दो दिनतक उनसे बिछुड़ जानेके कारण तुम इतने शोकाकुल हो गये हो? ॥ २७ ॥

ममापि दयितो रामो जीवितादपि लक्ष्मण।
न चाहमेवं शोचामि मैवं त्वं बालिशो भव ॥ २८ ॥

'लक्ष्मण! श्रीराम तो मुझे भी अपने प्राणोंसे बढ़कर प्रिय हैं; परंतु मैं तो इस प्रकार शोक नहीं कर रही हूँ। तुम ऐसे नादान न बनो ॥ २८ ॥

तारयस्व च मां गङ्गां दर्शयस्व च तापसान्।
ततो मुनिभ्यो वासांसि दास्याम्याभरणानि च ॥ २९ ॥

'मुझे गङ्गाके उस पार ले चलो और तपस्वी मुनियोंके दर्शन कराओ। मैं उन्हें वस्त्र और आभूषण दूँगी ॥ २९ ॥

ततः कृत्वा महर्षीणां यथार्हमभिवादनम्।
तत्र चैकां निशामुष्य यास्यामस्तां पुरीं पुनः ॥ ३० ॥

'तत्पश्चात् उन महर्षियोंका यथायोग्य अभिवादन करके वहाँ एक रात ठहरकर हम पुनः अयोध्यापुरीको लौट चलेंगे ॥ ३० ॥

ममापि पद्मपत्राक्षं सिंहोरस्कं कृशोदरम्।
त्वरते हि मनो द्रष्टुं रामं रमयतां वरम् ॥ ३१ ॥

'मेरा मन भी सिंहके समान वक्षःस्थल, कृश उदर और कमलके समान नेत्रवाले श्रीरामको, जो मनको रमानेवालोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं, देखनेके लिये उतावला हो रहा है' ॥ ३१ ॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा प्रमृज्य नयने शुभे।
नाविकानाह्वयामास लक्ष्मणः परवीरहा।
इयं स सज्जा नौश्चेति दाशाः प्राञ्जलयोऽब्रुवन् ॥ ३२ ॥

सीताजीका यह वचन सुनकर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले लक्ष्मणने अपनी दोनों सुन्दर आँखें पोंछ लीं और नाविकोंको बुलाया। उन मल्लाहोंने हाथ जोड़कर कहा—'प्रभो! यह नाव तैयार है' ॥ ३२ ॥

तितीर्षुर्लक्ष्मणो गङ्गां शुभां नावमुपारुहत्।
गङ्गां संतारयामास लक्ष्मणस्तां समाहितः ॥ ३३ ॥

लक्ष्मण गङ्गाजीको पार करनेके लिये सीताजीके साथ उस सुन्दर नौकापर बैठे और बड़ी सावधानीके साथ उन्होंने सीताको गङ्गाजीके उस पार पहुँचाया ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें छियालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

—★—

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

लक्ष्मणका सीताजीको नावसे गङ्गाजीके उस पार पहुँचाकर बड़े दुःखसे उन्हें उनके त्यागे जानेकी बात बताना

अथ नावं सुविस्तीर्णां नैषादीं राघवानुजः ।
आरुरोह समायुक्तां पूर्वमारोप्य मैथिलीम् ॥ १ ॥

मल्लाहोंकी वह नाव विस्तृत और सुसज्जित थी। लक्ष्मणने उसपर पहले सीताजीको चढ़ाया, फिर स्वयं चढ़े ॥ १ ॥

सुमन्त्रं चैव सरथं स्थीयतामिति लक्ष्मणः ।
उवाच शोकसंतप्तः प्रयाहीति च नाविकम् ॥ २ ॥

उन्होंने रथसहित सुमन्त्रको वहीं ठहरनेके लिये कह दिया और शोकसे संतप्त होकर नाविकसे कहा—'चलो' ॥ २ ॥

ततस्तीरमुपागम्य भागीरथ्याः स लक्ष्मणः ।
उवाच मैथिलीं वाक्यं प्राञ्जलिर्बाष्पसंवृतः ॥ ३ ॥

तदनन्तर भागीरथीके उस तटपर पहुँचकर लक्ष्मणके नेत्रोंमें आँसू भर आये और उन्होंने मिथिलेशकुमारी सीतासे हाथ जोड़कर कहा— ॥ ३ ॥

हृद्गतं मे महच्छल्यं यस्मादार्येण धीमता ।
अस्मिन्निमित्ते वैदेहि लोकस्य वचनीकृतः ॥ ४ ॥

'विदेहनन्दिनि ! मेरे हृदयमें सबसे बड़ा काँटा यही खटक रहा है कि आज रघुनाथजीने बुद्धिमान् होकर भी मुझे वह काम सौंपा है, जिसके कारण लोकमें मेरी बड़ी निन्दा होगी ॥ ४ ॥

श्रेयो हि मरणं मेऽद्य मृत्युर्वा यत्परं भवेत् ।
न चास्मिन्नीदृशे कार्ये नियोज्यो लोकनिन्दिते ॥ ५ ॥

'इस दशामें यदि मुझे मृत्युके समान यन्त्रणा प्राप्त होती अथवा मेरी साक्षात् मृत्यु ही हो जाती तो वह मेरे लिये परम कल्याणकारक होती। परंतु इस लोकनिन्दित कार्यमें मुझे लगाना उचित नहीं था ॥ ५ ॥

प्रसीद च न मे पापं कर्तुमर्हसि शोभने ।
इत्यञ्जलिकृतो भूमौ निपपात स लक्ष्मणः ॥ ६ ॥

'शोभने ! आप प्रसन्न हों। मुझे कोई दोष न दें' ऐसा कहकर हाथ जोड़े हुए लक्ष्मण पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ६ ॥

रुदन्तं प्राञ्जलिं दृष्ट्वा काङ्क्षन्तं मृत्युमात्मनः ।
मैथिली भृशसंविग्ना लक्ष्मणं वाक्यमब्रवीत् ॥ ७ ॥

लक्ष्मण हाथ जोड़कर रो रहे हैं और अपनी मृत्यु चाह रहे हैं, यह देखकर मिथिलेशकुमारी सीता अत्यन्त उद्विग्न हो उठीं और लक्ष्मणसे बोलीं— ॥ ७ ॥

किमिदं नावगच्छामि ब्रूहि तत्त्वेन लक्ष्मण ।
पश्यामि त्वां न च स्वस्थमपि क्षेमं महीपतेः ॥ ८ ॥

'लक्ष्मण ! यह क्या बात है ? मैं कुछ समझ नहीं पाती हूँ। ठीक-ठीक बताओ। महाराज कुशलसे तो हैं न। मैं देखती हूँ तुम्हारा मन स्वस्थ नहीं है ॥ ८ ॥

शापितोऽसि नरेन्द्रेण यत् त्वं संतापमागतः ।
तद् ब्रूयाः संनिधौ मह्यमहमाज्ञापयामि ते ॥ ९ ॥

'मैं महाराजकी शपथ दिलाकर पूछती हूँ, जिस बातसे तुम्हें इतना संताप हो रहा है, वह मेरे निकट सच-सच बताओ। मैं इसके लिये तुम्हें आज्ञा देती हूँ' ॥ ९ ॥

वैदेह्या चोद्यमानस्तु लक्ष्मणो दीनचेतनः ।
अवाङ्मुखो बाष्पगलो वाक्यमेतदुवाच ह ॥ १० ॥

विदेहनन्दिनीके इस प्रकार प्रेरित करनेपर लक्ष्मण दुःखी मनसे नीचे मुँह किये अश्रुगद्गद कण्ठद्वारा इस प्रकार बोले— ॥ १० ॥

श्रुत्वा परिषदो मध्ये ह्यपवादं सुदारुणम् ।
पुरे जनपदे चैव त्वत्कृते जनकात्मजे ॥ ११ ॥
रामः संतप्तहृदयो मां निवेद्य गृहं गतः ।

'जनकनन्दिनि ! नगर और जनपदमें आपके विषयमें जो अत्यन्त भयंकर अपवाद फैला हुआ है, उसे राजसभामें सुनकर श्रीरघुनाथजीका हृदय संतप्त हो उठा और वे मुझसे सब बातें बताकर महलमें चले गये ॥ ११½ ॥

न तानि वचनीयानि मया देवि तवाग्रतः ॥ १२ ॥
यानि राज्ञा हृदि न्यस्तान्यमर्षात्पृष्ठतः कृतः ।

'देवि ! राजा श्रीरामने जिन अपवादवचनोंको दुःख न सह सकनेके कारण अपने हृदयमें रख लिया है, उन्हें मैं आपके सामने बता नहीं सकता। इसीलिये मैंने उनकी चर्चा छोड़ दी है ॥ १२½ ॥

सा त्वं त्यक्ता नृपतिना निर्दोषा मम संनिधौ ॥ १३ ॥
पौरापवादभीतेन ग्राह्यं देवि न तेऽन्यथा ।
आश्रमान्तेषु च मया त्यक्तव्या त्वं भविष्यसि ॥ १४ ॥
राज्ञः शासनमादाय तथैव किल दौर्हृदम् ।

'आप मेरे सामने निर्दोष सिद्ध हो चुकी हैं तो भी महाराजने लोकापवादसे डरकर आपको त्याग दिया है। देवि ! आप कोई और बात न समझें। अब महाराजकी आज्ञा मानकर तथा आपकी भी ऐसी ही इच्छा समझकर मैं आश्रमोंके पास ले जाकर आपको वहीं छोड़ दूँगा ॥ १३-१४½ ॥

तदेतज्जाह्नवीतीरे ब्रह्मर्षीणां तपोवनम् ॥ १५ ॥
पुण्यं च रमणीयं च मा विषादं कृथाः शुभे ।

'शुभे ! यह रहा गङ्गाजीके तटपर ब्रह्मर्षियोंका पवित्र एवं रमणीय तपोवन। आप विषाद न करें ॥ १५½ ॥

राज्ञो दशरथस्यैव पितुर्मे मुनिपुङ्गवः ॥ १६ ॥
सखा परमको विप्रो वाल्मीकिः सुमहायशाः ।

पादच्छायामुपागम्य सुखमस्य महात्मनः ।
उपवासपरैकाग्रा वस त्वं जनकात्मजे ॥ १७ ॥

'यहाँ मेरे पिता राजा दशरथके घनिष्ठ मित्र महायशस्वी ब्रह्मर्षि मुनिवर वाल्मीकि रहते हैं, आप उन्हीं महात्माके चरणोंकी छायाका आश्रय ले यहाँ सुखपूर्वक रहें। जनकात्मजे! आप यहाँ उपवासपरायण और एकाग्र हो निवास करें॥ १६-१७॥

पतिव्रतात्वमास्थाय रामं कृत्वा सदा हृदि ।
श्रेयस्ते परमं देवि तथा कृत्वा भविष्यति ॥ १८ ॥

'देवि! आप सदा श्रीरघुनाथजीको हृदयमें रखकर पातिव्रत्यका अवलम्बन करें। ऐसा करनेसे आपका परम कल्याण होगा'॥ १८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें सैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ४७॥

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

सीताका दुःखपूर्ण वचन, श्रीरामके लिये उनका संदेश, लक्ष्मणका जाना और सीताका रोना

लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा दारुणं जनकात्मजा ।
परं विषादमागम्य वैदेही निपपात ह ॥ १ ॥

लक्ष्मणजीका यह कठोर वचन सुनकर जनककिशोरी सीताको बड़ा दुःख हुआ। वे मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ीं॥ १॥

सा मुहूर्तमिवासंज्ञा बाष्पपर्याकुलेक्षणा ।
लक्ष्मणं दीनया वाचा उवाच जनकात्मजा ॥ २ ॥

दो घड़ीतक उन्हें होश नहीं हुआ। उनके नेत्रोंसे आँसुओंकी अजस्र धारा बहती रही। फिर होशमें आनेपर जनककिशोरी दीन वाणीमें लक्ष्मणसे बोलीं—॥ २॥

मामिकेयं तनुर्नूनं सृष्टा दुःखाय लक्ष्मण ।
धात्रा यस्यास्तथा मेऽद्य दुःखमूर्तिः प्रदृश्यते ॥ ३ ॥

'लक्ष्मण! निश्चय ही विधाताने मेरे शरीरको केवल दुःख भोगनेके लिये ही रचा है। इसीलिये आज सारे दुःखोंका समूह मूर्तिमान् होकर मुझे दर्शन दे रहा है॥ ३॥

किं नु पापं कृतं पूर्वं को वा दारैर्वियोजितः ।
याहं शुद्धसमाचारा त्यक्ता नृपतिना सती ॥ ४ ॥

'मैंने पूर्वजन्ममें कौन-सा ऐसा पाप किया था अथवा किसका स्त्रीसे बिछोह कराया था, जो शुद्ध आचरणवाली होनेपर भी महाराजने मुझे त्याग दिया है॥ ४॥

पुराहमाश्रमे वासं रामपादानुवर्तिनी ।
अनुरुध्यापि सौमित्रे दुःखे च परिवर्तिनी ॥ ५ ॥

'सुमित्रानन्दन! पहले मैंने वनवासके दुःखमें पड़कर भी उसे सहकर श्रीरामके चरणोंका अनुसरण करते हुए आश्रममें रहना पसंद किया था॥ ५॥

सा कथं ह्याश्रमे सौम्य वत्स्यामि विजनीकृता ।
आख्यास्यामि च कस्याहं दुःखं दुःखपरायणा ॥ ६ ॥

'किंतु सौम्य! अब मैं अकेली प्रियजनोंसे रहित हो किस तरह आश्रममें निवास करूँगी? और दुःखमें पड़नेपर किससे अपना दुःख कहूँगी॥ ६॥

किं नु वक्ष्यामि मुनिषु कर्म चासत्कृतं प्रभो ।
कस्मिन् वा कारणे त्यक्ता राघवेण महात्मना ॥ ७ ॥

'प्रभो! यदि मुनिजन मुझसे पूछेंगे कि महात्मा श्रीरघुनाथजीने किस अपराधपर तुम्हें त्याग दिया है तो मैं उन्हें अपना कौन-सा अपराध बताऊँगी॥ ७॥

न खल्वद्यैव सौमित्रे जीवितं जाह्नवीजले ।
त्यजेयं राजवंशस्तु भर्तुर्मे परिहास्यते ॥ ८ ॥

'सुमित्राकुमार! मैं अपने जीवनको अभी गङ्गाजीके जलमें विसर्जन कर देती; किंतु इस समय ऐसा अभी नहीं कर सकूँगी; क्योंकि ऐसा करनेसे मेरे पतिदेवका राजवंश नष्ट हो जायगा॥ ८॥

यथाज्ञं कुरु सौमित्रे त्यज्य मां दुःखभागिनीम् ।
निदेशे स्थीयतां राज्ञः शृणु चेदं वचो मम ॥ ९ ॥

'किंतु सुमित्रानन्दन! तुम तो वही करो, जैसी महाराजने तुम्हें आज्ञा दी है। तुम मुझ दुःखियाको यहाँ छोड़कर महाराजकी आज्ञाके पालनमें ही स्थिर रहो और मेरी यह बात सुनो—॥ ९॥

श्वश्रूणामविशेषेण प्राञ्जलिप्रग्रहेण च ।
शिरसा वन्द्य चरणौ कुशलं ब्रूहि पार्थिवम् ॥ १० ॥

'मेरी सब सासुओंको समानरूपसे हाथ जोड़कर मेरी ओरसे उनके चरणोंमें प्रणाम करना। साथ ही महाराजके भी चरणोंमें मस्तक नवाकर मेरी ओरसे उनकी कुशल पूछना॥ १०॥

शिरसाभिनतो ब्रूयाः सर्वासामेव लक्ष्मण ।
वक्तव्यश्चापि नृपतिधर्मेषु सुसमाहितः ॥ ११ ॥

'लक्ष्मण! तुम अन्तःपुरकी सभी वन्दनीया स्त्रियोंको मेरी ओरसे प्रणाम करके मेरा समाचार उन्हें सुना देना तथा जो सदा धर्म-पालनके लिये सावधान रहते हैं, उन महाराजको भी मेरा यह संदेश सुना देना॥ ११॥

जानासि च यथा शुद्धा सीता तत्त्वेन राघव ।
भक्त्या च परया युक्ता हिता च तव नित्यशः ॥ १२ ॥

'रघुनन्दन! वास्तवमें तो आप जानते ही हैं कि सीता शुद्धचरित्रा है। सर्वदा ही आपके हितमें तत्पर रहती है और

आपके प्रति परम प्रेमभक्ति रखनेवाली है ॥ १२ ॥

अहं त्यक्ता च ते वीर अयशोभीरुणा जने।
यच्च ते वचनीयं स्यादपवादः समुत्थितः॥ १३ ॥
मया च परिहर्तव्यं त्वं हि मे परमा गतिः।

'वीर! आपने अपयशसे डरकर ही मुझे त्यागा है; अतः लोगोंमें आपकी जो निन्दा हो रही है अथवा मेरे कारण जो अपवाद फैल रहा है, उसे दूर करना मेरा भी कर्तव्य है; क्योंकि मेरे परम आश्रय आप ही हैं ॥ १३½ ॥

वक्तव्यश्चैव नृपतिर्धर्मेण सुसमाहितः॥ १४ ॥
यथा भ्रातृषु वर्तेथास्तथा पौरेषु नित्यदा।
परमो ह्येष धर्मस्ते तस्मात् कीर्तिरनुत्तमा॥ १५ ॥

'लक्ष्मण! तुम महाराजसे कहना कि आप धर्मपूर्वक बड़ी सावधानीसे रहकर पुरवासियोंके साथ वैसा ही बर्ताव करें, जैसा अपने भाइयोंके साथ करते हैं। यही आपका परम धर्म है और इसीसे आपको परम उत्तम यशकी प्राप्ति हो सकती है ॥ १४-१५ ॥

यत्तु पौरजने राजन् धर्मेण समवाप्नुयात्।
अहं तु नानुशोचामि स्वशरीरं नरर्षभ॥ १६ ॥

'राजन्! पुरवासियोंके प्रति धर्मानुकूल आचरण करनेसे जो पुण्य प्राप्त होगा, वही आपके लिये उत्तम धर्म और कीर्ति है। पुरुषोत्तम! मुझे अपने शरीरके लिये कुछ भी चिन्ता नहीं है ॥ १६ ॥

यथापवादं पौराणां तथैव रघुनन्दन।
पतिर्हि देवता नार्याः पतिर्बन्धुः पतिर्गुरुः॥ १७ ॥
प्राणैरपि प्रियं तस्माद् भर्तुः कार्यं विशेषतः।

'रघुनन्दन! जिस तरह पुरवासियोंके अपवादसे बचकर रहा जा सके, उसी तरह आप रहें। स्त्रीके लिये तो पति ही देवता है, पति ही बन्धु है, पति ही गुरु है। इसलिये उसे प्राणोंकी बाजी लगाकर भी विशेषरूपसे पतिका प्रिय करना चाहिये ॥ १७½ ॥

इति मद्वचनाद् रामो वक्तव्यो मम संग्रहः॥ १८ ॥
निरीक्ष्य माद्य गच्छ त्वमृतुकालातिवर्तिनीम्।

'मेरी ओरसे सारी बातें तुम श्रीरघुनाथजीसे कहना और आज तुम भी मुझे देख जाओ। मैं इस समय ऋतुकालका उल्लङ्घन करके गर्भवती हो चुकी हूँ' ॥ १८½ ॥

एवं ब्रुवन्त्यां सीतायां लक्ष्मणो दीनचेतनः॥ १९ ॥
शिरसा वन्द्य धरणीं व्याहर्तुं न शशाक ह।

सीताके इस प्रकार कहनेपर लक्ष्मणका मन बहुत दुःखी हो गया। उन्होंने धरतीपर माथा टेककर प्रणाम किया। उस समय उनके मुखसे कोई भी बात नहीं निकल सकी ॥ १९½ ॥

प्रदक्षिणं च तां कृत्वा रुदन्नेव महास्वनः॥ २० ॥
ध्यात्वा मुहूर्तं तामाह किं मां वक्ष्यसि शोभने।

उन्होंने जोर-जोरसे रोते हुए ही सीता माताकी परिक्रमा की और दो घड़ीतक सोच-विचारकर उनसे कहा—'शोभने! आप यह मुझसे क्या कह रही हैं? ॥ २०½ ॥

दृष्टपूर्वं न ते रूपं पादौ दृष्टौ तवानघे॥ २१ ॥
कथमत्र हि पश्यामि रामेण रहितां वने।

'निष्पाप पतिव्रते! मैंने पहले भी आपका सम्पूर्ण रूप कभी नहीं देखा है। केवल आपके चरणोंके ही दर्शन किये हैं। फिर आज यहाँ वनके भीतर श्रीरामचन्द्रजीकी अनुपस्थितिमें मैं आपकी ओर कैसे देख सकता हूँ' ॥ २१½ ॥

इत्युक्त्वा तां नमस्कृत्य पुनर्नावमुपारुहत्॥ २२ ॥
आरुरोह पुनर्नावं नाविकं चाभ्यचोदयत्।

यह कहकर उन्होंने सीताजीको पुनः प्रणाम किया और फिर वे नावपर चढ़ गये। नावपर चढ़कर उन्होंने मल्लाहको उसे चलानेकी आज्ञा दी ॥ २२½ ॥

स गत्वा चोत्तरं तीरं शोकभारसमन्वितः॥ २३ ॥
सम्मूढ इव दुःखेन रथमध्यारुहद् द्रुतम्।

शोकके भारसे दबे हुए लक्ष्मण गङ्गाजीके उत्तरी तटपर पहुँचकर दुःखके कारण अचेत-से हो गये और उसी अवस्थामें जल्दीसे रथपर चढ़ गये ॥ २३½ ॥

मुहुर्मुहुः परावृत्य दृष्ट्वा सीतामनाथवत्॥ २४ ॥
चेष्टन्तीं परतीरस्थां लक्ष्मणः प्रययावथ।

सीता गङ्गाजीके दूसरे तटपर अनाथकी तरह रोती हुई धरतीपर लोट रही थीं। लक्ष्मण बार-बार मुँह घुमाकर उनकी ओर देखते हुए चल दिये ॥ २४½ ॥

दूरस्थं रथमालोक्य लक्ष्मणं च मुहुर्मुहुः।
निरीक्ष्यमाणां तूद्विग्नां सीतां शोकः समाविशत्॥ २५ ॥

रथ और लक्ष्मण क्रमशः दूर होते गये। सीता उनकी ओर बारम्बार देखकर उद्विग्न हो उठीं। उनके अदृश्य होते ही उनपर गहरा शोक छा गया ॥ २५ ॥

सा दुःखभारावनता यशस्विनी
यशोधरा नाथमपश्यती सती।
रुरोद सा बर्हिणनादिते वने
महास्वनं दुःखपरायणा सती॥ २६ ॥

अब उन्हें कोई भी अपना रक्षक नहीं दिखायी दिया। अतः यशको धारण करनेवाली वे यशस्विनी सती सीता दुःखके भारी भारसे दबकर चिन्तामग्न हो मयूरोंके कलनादसे गूँजते हुए उस वनमें जोर-जोरसे रोने लगीं ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डेऽष्टचत्वारिंशः सर्गः॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें अड़तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशः सर्गः

मुनिकुमारोंसे समाचार पाकर वाल्मीकिका सीताके पास आ उन्हें सान्त्वना देना और आश्रममें लिवा ले जाना

सीतां तु रुदतीं दृष्ट्वा ते तत्र मुनिदारकाः।
प्राद्रवन् यत्र भगवानास्ते वाल्मीकिरुग्रधीः॥ १॥

जहाँ सीता रो रही थीं, वहाँसे थोड़ी ही दूरपर ऋषियोंके कुछ बालक थे। वे उन्हें रोते देख अपने आश्रमकी ओर दौड़े, जहाँ उग्र तपस्यामें मन लगानेवाले भगवान् वाल्मीकि मुनि विराजमान थे॥ १॥

अभिवाद्य मुनेः पादौ मुनिपुत्रा महर्षये।
सर्वं निवेदयामासुस्तस्यास्तु रुदितस्वनम्॥ २॥

उन सब मुनिकुमारोंने महर्षिके चरणोंमें अभिवादन करके उनसे सीताजीके रोनेका समाचार सुनाया॥ २॥

अदृष्टपूर्वा भगवन् कस्याप्येषा महात्मनः।
पत्नी श्रीरिव सम्मोहाद् विरौति विकृतानना॥ ३॥

वे बोले—'भगवन्! गङ्गातटपर किन्हीं महात्मा नरेशकी पत्नी हैं, जो साक्षात् लक्ष्मीके समान जान पड़ती हैं। इन्हें हमलोगोंने पहले कभी नहीं देखा था। वे मोहके कारण विकृतमुख होकर रो रही हैं॥ ३॥

भगवन् साधु पश्येस्त्वं देवतामिव खाच्च्युताम्।
नद्यास्तु तीरे भगवन् वरस्त्री कापि दुःखिता॥ ४॥

'भगवन्! आप स्वयं चलकर अच्छी तरह देख लें। वे आकाशसे उतरी हुई किसी देवी-सी दिखायी देती हैं। प्रभो! गङ्गाजीके तटपर जो वे कोई श्रेष्ठ सुन्दरी स्त्री बैठी हैं, बहुत दुःखी हैं॥ ४॥

दृष्टास्माभिः प्ररुदिता दृढं शोकपरायणा।
अनर्हा दुःखशोकाभ्यामेका दीना अनाथवत्॥ ५॥

'हमने अपनी आँखों देखा है, वे बड़े जोर-जोरसे रोती हैं और गहरे शोकमें डूबी हुई हैं। वे दुःख और शोक भोगनेके योग्य नहीं हैं। अकेली हैं, दीन हैं और अनाथकी तरह बिलख रही हैं॥ ५॥

न ह्येनां मानुषीं विद्मः सत्क्रियास्याः प्रयुज्यताम्।
आश्रमस्याविदूरे च त्वामियं शरणं गता॥ ६॥

'हमारी समझमें ये मानवी स्त्री नहीं हैं। आपको इनका सत्कार करना चाहिये। इस आश्रमसे थोड़ी ही दूरपर होनेके कारण ये वास्तवमें आपकी शरणमें आयी हैं॥ ६॥

त्रातारमिच्छते साध्वी भगवंस्त्रातुमर्हसि।
तेषां तु वचनं श्रुत्वा बुद्ध्या निश्चित्य धर्मवित्॥ ७॥
तपसा लब्धचक्षुष्मान् प्राद्रवद् यत्र मैथिली।

'भगवन्! ये साध्वी देवी अपने लिये कोई रक्षक ढूँढ़ रही हैं। अतः आप इनकी रक्षा करें।' उन मुनिकुमारोंकी यह बात सुनकर धर्मज्ञ महर्षिने बुद्धिसे निश्चित करके असली बातको जान लिया; क्योंकि उन्हें तपस्याद्वारा दिव्य दृष्टि प्राप्त थी। जानकर वे उस स्थानपर दौड़े हुए आये, जहाँ मिथिलेशकुमारी सीता विराजमान थीं॥ ७½॥

तं प्रयान्तमभिप्रेत्य शिष्या ह्येनं महामतिम्॥ ८॥
तं तु देशमभिप्रेत्य किंचित् पद्‌भ्यां महामतिः।
अर्घ्यमादाय रुचिरं जाह्नवीतीरमागमत्।
ददर्श राघवस्येष्टां सीतां पत्नीमनाथवत्॥ ९॥

उन परम बुद्धिमान् महर्षिको जाते देख उनके शिष्य भी उनके साथ हो लिये। कुछ पैदल चलकर वे महामति महर्षि सुन्दर अर्घ्य लिये गङ्गातटवर्ती उस स्थानपर आये। वहाँ आकर उन्होंने श्रीरघुनाथजीकी प्रिय पत्नी सीताको अनाथकी-सी दशामें देखा॥ ८-९॥

तां सीतां शोकभारार्तां वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवः।
उवाच मधुरां वाणीं ह्लादयन्निव तेजसा॥ १०॥

शोकके भारसे पीड़ित हुई सीताको अपने तेजसे आह्लादित-सी करते हुए मुनिवर वाल्मीकि मधुर वाणीमें बोले—॥ १०॥

स्नुषा दशरथस्य त्वं रामस्य महिषी प्रिया।
जनकस्य सुता राज्ञः स्वागतं ते पतिव्रते॥ ११॥

'पतिव्रते! तुम राजा दशरथकी पुत्रवधू, महाराज श्रीरामकी प्यारी पटरानी और मिथिलाके राजा जनककी पुत्री हो। तुम्हारा स्वागत है॥ ११॥

आयान्ती चासि विज्ञाता मया धर्मसमाधिना।
कारणं चैव सर्वं मे हृदयेनोपलक्षितम्॥ १२॥

'जब तुम यहाँ आ रही थी, तभी अपनी धर्मसमाधिके द्वारा मुझे इसका पता लग गया था। तुम्हारे परित्यागका जो सारा कारण है, उसे मैंने अपने मनसे ही जान लिया है॥ १२॥

तव चैव महाभागे विदितं मम तत्त्वतः।
सर्वं च विदितं मह्यं त्रैलोक्ये यद्धि वर्तते॥ १३॥

'महाभागे! तुम्हारा सारा वृत्तान्त मैंने ठीक-ठीक जान लिया है। त्रिलोकीमें जो कुछ हो रहा है, वह सब मुझे विदित है॥ १३॥

अपापां वेद्मि सीते ते तपोलब्धेन चक्षुषा।
विस्रब्धा भव वैदेहि साम्प्रतं मयि वर्तसे॥ १४॥

'सीते! मैं तपस्याद्वारा प्राप्त हुई दिव्य-दृष्टिसे जानता हूँ कि तुम निष्पाप हो। अतः विदेहनन्दिनि! अब निश्चिन्त हो जाओ। इस समय तुम मेरे पास हो॥ १४॥

आश्रमस्याविदूरे मे तापस्यस्तपसि स्थिताः।
तास्त्वां वत्से यथा वत्सं पालयिष्यन्ति नित्यशः॥ १५॥

'बेटी! मेरे आश्रमके पास ही कुछ तापसी स्त्रियाँ रहती

हैं, जो तपस्यामें संलग्न हैं। वे अपनी बच्चोंके समान सदा तुम्हारा पालन करेंगी ॥ १५ ॥

इदमर्घ्यं प्रतीच्छ त्वं विस्रब्धा विगतज्वरा।
यथा स्वगृहमभ्येत्य विषादं चैव मा कृथाः ॥ १६ ॥

'यह मेरा दिया हुआ अर्घ्य ग्रहण करो और निश्चिन्त एवं निर्भय हो जाओ। अपने ही घरमें आ गयी हो, ऐसा समझकर विषाद न करो' ॥ १६ ॥

श्रुत्वा तु भाषितं सीता मुनेः परममद्भुतम्।
शिरसा वन्द्य चरणौ तथेत्याह कृताञ्जलिः ॥ १७ ॥

महर्षिका यह अत्यन्त अद्भुत भाषण सुनकर सीताने उनके चरणोंमें मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और हाथ जोड़कर कहा—'जो आज्ञा' ॥ १७ ॥

तं प्रयान्तं मुनिं सीता प्राञ्जलिः पृष्ठतोऽन्वगात्।
तं दृष्ट्वा मुनिमायान्तं वैदेह्या मुनिपत्नयः।
उपाजग्मुर्मुदा युक्ता वचनं चेदमब्रुवन् ॥ १८ ॥

तब मुनि आगे-आगे चले और सीता हाथ जोड़े उनके पीछे हो लीं। विदेहनन्दिनीके साथ महर्षिको आते देख मुनिपत्नियाँ उनके पास आयीं और बड़ी प्रसन्नताके साथ इस प्रकार बोलीं— ॥ १८ ॥

स्वागतं ते मुनिश्रेष्ठ चिरस्यागमनं च ते।
अभिवादयामस्त्वां सर्वा उच्यतां किं च कुर्महे ॥ १९ ॥

'मुनिश्रेष्ठ! आपका स्वागत है। बहुत दिनोंके बाद यहाँ आपका शुभागमन हुआ है। हम सभी आपको अभिवादन करती हैं। बताइये, हम आपकी क्या सेवा करें' ॥ १९ ॥

तासां तद् वचनं श्रुत्वा वाल्मीकिरिदमब्रवीत्।
सीतेयं समनुप्राप्ता पत्नी रामस्य धीमतः ॥ २० ॥

उनका यह वचन सुनकर वाल्मीकिजी बोले—'ये परम बुद्धिमान् राजा श्रीरामकी धर्मपत्नी सीता यहाँ आयी हैं ॥ २० ॥

स्नुषा दशरथस्यैषा जनकस्य सुता सती।
अपापा पतिना त्यक्ता परिपाल्या मया सदा ॥ २१ ॥

'सती सीता राजा दशरथकी पुत्रवधू और जनककी पुत्री हैं। निष्पाप होनेपर भी पतिने इनका परित्याग कर दिया है। अतः मुझे ही इनका सदा लालन-पालन करना है ॥ २१ ॥

इमां भवत्यः पश्यन्तु स्नेहेन परमेण हि।
गौरवान्मम वाक्याच्च पूज्या वोऽस्तु विशेषतः ॥ २२ ॥

'अतः आप सब लोग इनपर अत्यन्त स्नेह-दृष्टि रखें। मेरे कहनेसे तथा अपने ही गौरवसे भी ये आपकी विशेष आदरणीया हैं' ॥ २२ ॥

मुहुर्मुहुश्च वैदेहीं परिदाय महायशाः।
स्वमाश्रमं शिष्यवृतः पुनरायान्महातपाः ॥ २३ ॥

इस प्रकार बारम्बार सीताजीको मुनिपत्नियोंके हाथमें सौंपकर महायशस्वी एवं महातपस्वी वाल्मीकिजी शिष्योंके साथ फिर अपने आश्रमपर लौट आये ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें उनचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

—★—

पञ्चाशः सर्गः

लक्ष्मण और सुमन्त्रकी बातचीत

दृष्ट्वा तु मैथिलीं सीतामाश्रमे सम्प्रवेशिताम्।
संतापमगमद् घोरं लक्ष्मणो दीनचेतनः ॥ १ ॥

मिथिलेशकुमारी सीताका मुनिके आश्रममें प्रवेश हो गया, यह देखकर लक्ष्मण मन-ही-मन बहुत दुःखी हुए। उन्हें घोर संताप हुआ ॥ १ ॥

अब्रवीच्च महातेजाः सुमन्त्रं मन्त्रसारथिम्।
सीतासंतापजं दुःखं पश्य रामस्य सारथे ॥ २ ॥

उस समय महातेजस्वी लक्ष्मण मन्त्रणामें सहायता देनेवाले सारथि सुमन्त्रसे बोले—'सूत! देखो तो सही, श्रीरामको अभीसे सीताजीके विरहजनित संतापका कष्ट भोगना पड़ रहा है ॥ २ ॥

ततो दुःखतरं किं नु राघवस्य भविष्यति।
पत्नीं शुद्धसमाचारां विसृज्य जनकात्मजाम् ॥ ३ ॥

'भला, श्रीरघुनाथजीको इससे बढ़कर दुःख क्या होगा कि उन्हें अपनी पवित्र आचरणवाली धर्मपत्नी जनककिशोरी सीताका परित्याग करना पड़ा ॥ ३ ॥

व्यक्तं दैवादहं मन्ये राघवस्य विनाभवम्।
वैदेह्या सारथे नित्यं दैवं हि दुरतिक्रमम् ॥ ४ ॥

'सारथे! रघुनाथजीको सीताका जो यह नित्य वियोग प्राप्त हुआ है, इसमें मैं दैवको ही कारण मानता हूँ; क्योंकि दैवका विधान दुर्लङ्घ्य होता है ॥ ४ ॥

यो हि देवान् सगन्धर्वानसुरान् सह राक्षसैः।
निहन्याद् राघवः क्रुद्धः स दैवं पर्युपासते ॥ ५ ॥

'जो श्रीरघुनाथजी कुपित होनेपर देवताओं, गन्धर्वों तथा राक्षसोंसहित असुरोंका भी संहार कर सकते हैं, वे ही दैवकी उपासना कर रहे हैं (उसका निवारण नहीं कर पा रहे हैं) ॥ ५ ॥

पुरा रामः पितुर्वाक्याद् दण्डके विजने वने।
उषित्वा नव वर्षाणि पञ्च चैव महावने॥ ६॥

'पहले श्रीरामचन्द्रजीको पिताके कहनेसे चौदह वर्षोंतक विशाल एवं निर्जन दण्डकवनमें रहना पड़ा है॥ ६॥

ततो दुःखतरं भूयः सीताया विप्रवासनम्।
पौराणां वचनं श्रुत्वा नृशंसं प्रतिभाति मे॥ ७॥

'अब उससे भी बढ़कर दुःखकी बात यह हुई कि उन्हें सीताजीको निर्वासित करना पड़ा। परंतु पुरवासियोंकी बात सुनकर ऐसा कर बैठना मुझे अत्यन्त निर्दयतापूर्ण कर्म जान पड़ता है॥ ७॥

को नु धर्माश्रयः सूत कर्मण्यस्मिन् यशोहरे।
मैथिलीं समनुप्राप्तः पौरैर्हीनार्थवादिभिः॥ ८॥

'सूत! सीताजीके विषयमें अन्यायपूर्ण बात कहनेवाले इन पुरवासियोंके कारण ऐसे कीर्तिनाशक कर्ममें प्रवृत्त होकर श्रीरामचन्द्रजीने किस धर्मराशिका उपार्जन कर लिया है?' ॥ ८॥

एता वाचो बहुविधाः श्रुत्वा लक्ष्मणभाषिताः।
सुमन्त्रः श्रद्धया प्राज्ञो वाक्यमेतदुवाच ह॥ ९॥

लक्ष्मणकी कही हुई इन अनेक प्रकारकी बातोंको सुनकर बुद्धिमान् सुमन्त्रने श्रद्धापूर्वक ये वचन कहे— ॥ ९॥

न संतापस्त्वया कार्यः सौमित्रे मैथिलीं प्रति।
दृष्टमेतत् पुरा विप्रैः पितुस्ते लक्ष्मणाग्रतः॥ १०॥

'सुमित्रानन्दन! मिथिलेशकुमारी सीताके विषयमें आपको संतप्त नहीं होना चाहिये। लक्ष्मण! यह बात ब्राह्मणोंने आपके पिताजीके सामने ही जान ली थी॥ १०॥

भविष्यति दृढं रामो दुःखप्रायो विसौख्यभाक्।
प्राप्स्यते च महाबाहुर्विप्रयोगं प्रियैर्द्रुतम्॥ ११॥

'उन दिनों दुर्वासाजीने कहा था कि 'श्रीराम निश्चय ही अधिक दुःख उठायेंगे। प्रायः उनका सौख्य छिन जायगा। महाबाहु श्रीरामको शीघ्र ही अपने प्रियजनोंसे वियोग प्राप्त होगा॥ ११॥

त्वां चैव मैथिलीं चैव शत्रुघ्नभरतौ तथा।
स त्यजिष्यति धर्मात्मा कालेन महता महान्॥ १२॥

'सुमित्राकुमार! धर्मात्मा महापुरुष श्रीराम दीर्घकाल बीतते-बीतते तुमको, मिथिलेशकुमारीको तथा भरत और शत्रुघ्नको भी त्याग देंगे॥ १२॥

इदं त्वयि न वक्तव्यं सौमित्रे भरतेऽपि वा।
राज्ञा वो व्याहृतं वाक्यं दुर्वासा यदुवाच ह॥ १३॥

'दुर्वासाने जो बात कही थी, उसे महाराज दशरथने तुमसे, शत्रुघ्नसे और भरतसे भी कहनेकी मनाही कर दी थी॥ १३॥

महाजनसमीपे च मम चैव नरर्षभ।
ऋषिणा व्याहृतं वाक्यं वसिष्ठस्य च संनिधौ॥ १४॥

'नरश्रेष्ठ! दुर्वासा मुनिने बहुत बड़े जनसमुदायके समीप मेरे समक्ष तथा महर्षि वसिष्ठके निकट वह बात कही थी॥ १४॥

ऋषेस्तु वचनं श्रुत्वा मामाह पुरुषर्षभः।
सूत न क्वचिदेवं ते वक्तव्यं जनसंनिधौ॥ १५॥

'दुर्वासा मुनिकी वह बात सुनकर पुरुषप्रवर दशरथने मुझसे कहा था कि 'सूत! तुम्हें दूसरे लोगोंके सामने इस तरहकी बात नहीं कहनी चाहिये' ॥ १५॥

तस्याहं लोकपालस्य वाक्यं तत्सुसमाहितः।
नैव जात्वनृतं कुर्यामिति मे सौम्य दर्शनम्॥ १६॥

'सौम्य! उन लोकपालक दशरथके उस वाक्यको मैं झूठा न करूँ' यह मेरा संकल्प है। इसके लिये मैं सदा सावधान रहता हूँ॥ १६॥

सर्वथैव न वक्तव्यं मया सौम्य तवाग्रतः।
यदि ते श्रवणे श्रद्धा श्रूयतां रघुनन्दन॥ १७॥

'सौम्य रघुनन्दन! यद्यपि यह बात मुझे आपके सामने सर्वथा ही नहीं कहनी चाहिये, तथापि यदि आपके मनमें यह सुननेके लिये श्रद्धा (उत्सुकता) हो तो सुनिये॥ १७॥

यद्यप्यहं नरेन्द्रेण रहस्यं श्रावितं पुरा।
तथाप्युदाहरिष्यामि दैवं हि दुरतिक्रमम्॥ १८॥
येनेदमीदृशं प्राप्तं दुःखं शोकसमन्वितम्।
न त्वया भरतस्याग्रे शत्रुघ्नस्यापि संनिधौ॥ १९॥

'यद्यपि पूर्वकालमें महाराजने इस रहस्यको दूसरोंपर प्रकट न करनेके लिये आदेश दिया था, तथापि आज मैं वह बात कहूँगा। दैवके विधानको लाँघना बहुत कठिन है; जिससे यह दुःख और शोक प्राप्त हुआ है। भैया! तुम्हें भी भरत और शत्रुघ्नके सामने यह बात नहीं कहनी चाहिये' ॥ १८-१९॥

तच्छ्रुत्वा भाषितं तस्य गम्भीरार्थपदं महत्।
तथ्यं ब्रूहीति सौमित्रिः सूतं तं वाक्यमब्रवीत्॥ २०॥

सुमन्त्रका यह गम्भीर भाषण सुनकर सुमित्राकुमार लक्ष्मणने कहा—'सुमन्त्रजी! जो सच्ची बात हो, उसे आप अवश्य कहिये' ॥ २०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे पञ्चाशः सर्गः॥ ५०॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें पचासवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ५०॥

—★—

एकपञ्चाशः सर्गः

मार्गमें सुमन्त्रका दुर्वासाके मुखसे सुनी हुई भृगुऋषिके शापकी कथा कहकर तथा भविष्यमें होनेवाली कुछ बातें बताकर दुःखी लक्ष्मणको शान्त करना

तथा संचोदितः सूतो लक्ष्मणेन महात्मना।
तद् वाक्यमृषिणा प्रोक्तं व्याहर्तुमुपचक्रमे॥ १॥

तब महात्मा लक्ष्मणकी प्रेरणासे सुमन्त्रजी दुर्वासाजीकी कही हुई बात उन्हें सुनाने लगे—॥ १॥

पुरा नाम्ना हि दुर्वासा अत्रेः पुत्रो महामुनिः।
वसिष्ठस्याश्रमे पुण्ये वार्षिक्यं समुवास ह॥ २॥

'लक्ष्मण! पहलेकी बात है, अत्रिके पुत्र महामुनि दुर्वासा वसिष्ठजीके पवित्र आश्रमपर रहकर वर्षाके चार महीने बिता रहे थे॥ २॥

तमाश्रमं महातेजाः पिता ते सुमहायशाः।
पुरोहितं महात्मानं दिदृक्षुरगमत् स्वयम्॥ ३॥

'एक दिन आपके महातेजस्वी और महान् यशस्वी पिता उस आश्रमपर अपने पुरोहित महात्मा वसिष्ठजीका दर्शन करनेके लिये स्वयं ही गये॥ ३॥

स दृष्ट्वा सूर्यसंकाशं ज्वलन्तमिव तेजसा।
उपविष्टं वसिष्ठस्य सव्यपार्श्वे महामुनिम्॥ ४॥

'वहाँ उन्होंने वसिष्ठजीके वामभागमें बैठे हुए एक महामुनिको देखा, जो अपने तेजसे मानो सूर्यके समान देदीप्यमान हो रहे थे॥ ४॥

तौ मुनी तापसश्रेष्ठौ विनीतो ह्यभ्यवादयत्।
स ताभ्यां पूजितो राजा स्वागतेनासनेन च॥ ५॥
पाद्येन फलमूलैश्च उवास मुनिभिः सह।

'तब राजाने उन दोनों तापसशिरोमणि महर्षियोंका विनयपूर्वक अभिवादन किया। उन दोनोंने भी स्वागतपूर्वक आसन देकर पाद्य एवं फल-मूल समर्पित करके राजाका सत्कार किया। फिर वे वहाँ मुनियोंके साथ बैठे॥ ५½॥

तेषां तत्रोपविष्टानां तास्ताः सुमधुराः कथाः॥ ६॥
बभूवुः परमर्षीणां मध्यादित्यगतेऽहनि।

'वहाँ बैठे हुए महर्षियोंकी दोपहरके समय तरह-तरहकी अत्यन्त मधुर कथाएँ हुईं॥ ६½॥

ततः कथायां कस्यांचित् प्राञ्जलिः प्रग्रहो नृपः॥ ७॥
उवाच तं महात्मानमत्रेः पुत्रं तपोधनम्।

'तदनन्तर किसी कथाके प्रसङ्गमें महाराजने हाथ जोड़कर अत्रिके तपोधन पुत्र महात्मा दुर्वासाजीसे विनयपूर्वक पूछा—॥ ७½॥

भगवन् किंप्रमाणेन मम वंशो भविष्यति॥ ८॥
किमायुश्च हि मे रामः पुत्राश्चान्ये किमायुषः।

'भगवन्! मेरा वंश कितने समयतक चलेगा? मेरे रामकी कितनी आयु होगी तथा अन्य सब पुत्रोंकी भी आयु कितनी होगी?॥ ८½॥

रामस्य स सुता ये स्युस्तेषामायुः कियद् भवेत्॥ ९॥
काम्यया भगवन् ब्रूहि वंशस्यास्य गतिं मम।

'श्रीरामके जो पुत्र होंगे, उनकी आयु कितनी होगी? भगवन्! आप इच्छानुसार मेरे वंशकी स्थिति बताइये'॥ ९½॥

तच्छ्रुत्वा व्याहृतं वाक्यं राज्ञो दशरथस्य तु॥ १०॥
दुर्वासाः सुमहातेजा व्याहर्तुमुपचक्रमे।

'राजा दशरथका वह वचन सुनकर महातेजस्वी दुर्वासा मुनि कहने लगे—॥ १०½॥

शृणु राजन् पुरा वृत्तं तदा देवासुरे युधि॥ ११॥
दैत्याः सुरैर्भर्त्स्यमाना भृगुपत्नीं समाश्रिताः।
तया दत्ताभयास्तत्र न्यवसन्नभयास्तदा॥ १२॥

'राजन्! सुनिये, प्राचीन कालकी बात है, एक बार देवासुर-संग्राममें देवताओंसे पीड़ित हुए दैत्योंने महर्षि भृगुकी पत्नीकी शरण ली। भृगुपत्नीने उस समय दैत्योंको अभय दिया और वे उनके आश्रमपर निर्भय होकर रहने लगे॥ ११-१२॥

तया परिगृहीतांस्तान् दृष्ट्वा क्रुद्धः सुरेश्वरः।
चक्रेण शितधारेण भृगुपत्न्याः शिरोऽहरत्॥ १३॥

'भृगुपत्नीने दैत्योंको आश्रय दिया है, यह देखकर कुपित हुए देवेश्वर भगवान् विष्णुने तीखी धारवाले चक्रसे उनका सिर काट लिया॥ १३॥

ततस्तां निहतां दृष्ट्वा पत्नीं भृगुकुलोद्वहः।
शशाप सहसा क्रुद्धो विष्णुं रिपुकुलार्दनम्॥ १४॥

'अपनी पत्नीका वध हुआ देख भार्गववंशके प्रवर्तक भृगुजीने सहसा कुपित हो शत्रुकुलनाशन भगवान् विष्णुको शाप दिया॥ १४॥

यस्मादवध्यां मे पत्नीमवधीः क्रोधमूर्च्छितः।
तस्मात् त्वं मानुषे लोके जनिष्यसि जनार्दन॥ १५॥
तत्र पत्नीवियोगं त्वं प्राप्स्यसे बहुवार्षिकम्।

'जनार्दन! मेरी पत्नी वधके योग्य नहीं थी। परंतु आपने क्रोधसे मूर्छित होकर उसका वध किया है, इसलिये आपको मनुष्यलोकमें जन्म लेना पड़ेगा और वहाँ बहुत वर्षोंतक आपको पत्नी-वियोगका कष्ट सहना पड़ेगा'॥ १५½॥

शापाभिहतचेतास्तु स्वात्मना भावितोऽभवत्॥ १६॥
अर्चयामास तं देवं भृगुः शापेन पीडितः।

'परंतु इस प्रकार शाप देकर उनके चित्तमें बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उनकी अन्तरात्माने भगवान्‌से उस शापको स्वीकार करानेके लिये उन्हींकी आराधना करनेको प्रेरित किया। इस तरह शापकी विफलताके भयसे पीड़ित हुए

भृगुने तपस्याद्वारा भगवान् विष्णुकी आराधना की ॥ १६ १/२ ॥

तपसाऽऽराधितो देवो ह्यब्रवीद् भक्तवत्सलः ॥ १७ ॥
लोकानां सम्प्रियार्थं तु तं शापं गृह्यमुक्तवान्।

'तपस्याद्वारा उनके आराधना करनेपर भक्तवत्सल भगवान् विष्णुने संतुष्ट होकर कहा—'महर्षे! सम्पूर्ण जगत्का प्रिय करनेके लिये मैं उस शापको ग्रहण कर लूँगा' ॥ १७ १/२ ॥

इति शप्तो महातेजा भृगुणा पूर्वजन्मनि ॥ १८ ॥
इहागतो हि पुत्रत्वं तव पार्थिवसत्तम।
राम इत्यभिविख्यातस्त्रिषु लोकेषु मानद ॥ १९ ॥

'इस तरह पूर्वजन्ममें (विष्णु-नामधारी वामन अवतारके समय) महातेजस्वी भगवान् विष्णुको भृगु ऋषिका शाप प्राप्त हुआ था। दूसरोंको मान देनेवाले नृपश्रेष्ठ! वे ही इस भूतलपर आकर तीनों लोकोंमें राम-नामसे विख्यात आपके पुत्र हुए हैं ॥ १८-१९ ॥

तत् फलं प्राप्स्यते चापि भृगुशापकृतं महत्।
अयोध्यायाः पती रामो दीर्घकालं भविष्यति ॥ २० ॥

'भृगुके शापसे होनेवाला पत्नी-वियोगरूप जो महान् फल है, वह उन्हें अवश्य प्राप्त होगा। श्रीराम दीर्घकालतक अयोध्याके राजा होकर रहेंगे ॥ २० ॥

सुखिनश्च समृद्धाश्च भविष्यन्त्यस्य येऽनुगाः।
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ॥ २१ ॥
रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं गमिष्यति।

'उनके अनुयायी भी बहुत सुखी और धन-धान्यसे सम्पन्न होंगे। श्रीराम ग्यारह हजार वर्षोंतक राज्य करके अन्तमें ब्रह्मलोक (वैकुण्ठ या साकेत-धाम) को पधारेंगे ॥ २१ १/२ ॥

समृद्धैश्चाश्वमेधैश्च इष्ट्वा परमदुर्जयः ॥ २२ ॥
राजवंशांश्च बहुशो बहून् संस्थापयिष्यति।
द्वौ पुत्रौ तु भविष्येते सीतायां राघवस्य तु ॥ २३ ॥

'परम दुर्जय वीर श्रीराम समृद्धिशाली अश्वमेध-यज्ञोंका बारम्बार अनुष्ठान करके बहुत-से राजवंशोंकी स्थापना करेंगे। श्रीरघुनाथजीको सीताके गर्भसे दो पुत्र प्राप्त होंगे' ॥ २२-२३ ॥

स सर्वमखिलं राज्ञो वंशस्याह गतागतम्।
आख्याय सुमहातेजास्तूष्णीमासीन्महामुनिः ॥ २४ ॥

'ये सब बातें कहकर उन महातेजस्वी महामुनिने राजवंशके विषयमें भूत और भविष्यकी सारी बातें बतायीं। इसके बाद वे चुप हो गये ॥ २४ ॥

तूष्णींभूते तदा तस्मिन् राजा दशरथो मुनौ।
अभिवाद्य महात्मानौ पुनरायात् पुरोत्तमम् ॥ २५ ॥

'उन दुर्वासा मुनिके चुप हो जानेपर महाराज दशरथ भी दोनों महात्माओंको प्रणाम करके फिर अपने उत्तम नगरमें लौट आये ॥ २५ ॥

एतद् वचो मया तत्र मुनिना व्याहृतं पुरा।
श्रुतं हृदि च निक्षिप्तं नान्यथा तद् भविष्यति ॥ २६ ॥

'इस प्रकार पूर्वकालमें दुर्वासा मुनिकी कही हुई ये सब बातें मैंने वहाँ सुनीं और अपने हृदयमें धारण कर लीं (उन्हें किसीपर प्रकट नहीं किया)। वे बातें असत्य नहीं होंगी ॥ २६ ॥

सीतायाश्च ततः पुत्रावभिषेक्ष्यति राघवः।
अन्यत्र न त्वयोध्यायां मुनेस्तु वचनं यथा ॥ २७ ॥

'जैसा दुर्वासा मुनिका वचन है, उसके अनुसार श्रीरघुनाथजी सीताके दोनों पुत्रोंका अयोध्यासे बाहर अभिषेक करेंगे, अयोध्यामें नहीं ॥ २७ ॥

एवं गते न संतापं कर्तुमर्हसि राघव।
सीतार्थे राघवार्थे वा दृढो भव नरोत्तम ॥ २८ ॥

'नरश्रेष्ठ रघुनन्दन! विधाताका ऐसा ही विधान होनेके कारण आपको सीता तथा रघुनाथजीके लिये संताप नहीं करना चाहिये। आप धैर्य धारण करें' ॥ २८ ॥

श्रुत्वा तु व्याहृतं वाक्यं सूतस्य परमाद्भुतम्।
प्रहर्षमतुलं लेभे साधु साध्विति चाब्रवीत् ॥ २९ ॥

सूत सुमन्त्रके मुखसे यह अत्यन्त अद्भुत बात सुनकर लक्ष्मणको अनुपम हर्ष प्राप्त हुआ। वे बोले—'बहुत ठीक, बहुत ठीक' ॥ २९ ॥

ततः संवदतोरेवं सूतलक्ष्मणयोः पथि।
अस्तमर्के गते वासं केशिन्यां तावथोषतुः ॥ ३० ॥

मार्गमें सुमन्त्र और लक्ष्मण इस प्रकारकी बातें कर ही रहे थे कि सूर्य अस्ताचलको चले गये। तब उन दोनोंने केशिनी नदीके तटपर रात बितायी ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे एकपञ्चाशः सर्गः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें इक्यावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशः सर्गः

अयोध्याके राजभवनमें पहुँचकर लक्ष्मणका दुःखी श्रीरामसे मिलना और उन्हें सान्त्वना देना

तत्र तां रजनीमुष्य केशिन्यां रघुनन्दनः।
प्रभाते पुनरुत्थाय लक्ष्मणः प्रययौ तदा ॥ १ ॥

केशिनीके तटपर वह रात बिताकर रघुनन्दन लक्ष्मण प्रातःकाल उठे और फिर वहाँसे आगे बढ़े ॥ १ ॥

ततोऽर्धदिवसे प्राप्ते प्रविवेश महारथः।
अयोध्यां रत्नसम्पूर्णां हृष्टपुष्टजनावृताम् ॥ २ ॥

दोपहर होते-होते उनके उस विशाल रथने रत्न-धनसे सम्पन्न तथा हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरी हुई अयोध्यापुरीमें प्रवेश किया ॥ २ ॥

सौमित्रिस्तु परं दैन्यं जगाम सुमहामतिः ।
रामपादौ समासाद्य वक्ष्यामि किमहं गतः ॥ ३ ॥

वहाँ पहुँचकर परम बुद्धिमान् सुमित्राकुमारको बड़ा दुःख हुआ । वे सोचने लगे—'मैं श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंके समीप जाकर क्या कहूँगा ?' ॥ ३ ॥

तस्यैवं चिन्तयानस्य भवनं शशिसंनिभम् ।
रामस्य परमोदारं पुरस्तात् समदृश्यत ॥ ४ ॥

वे इस प्रकार सोच-विचार कर ही रहे थे कि चन्द्रमाके समान उज्ज्वल श्रीरामका विशाल राजभवन सामने दिखायी दिया ॥ ४ ॥

राज्ञस्तु भवनद्वारि सोऽवतीर्य नरोत्तमः ।
अवाङ्मुखो दीनमनाः प्रविवेशानिवारितः ॥ ५ ॥

राजमहलके द्वारपर रथसे उतरकर वे नरश्रेष्ठ लक्ष्मण नीचे मुख किये दुःखी मनसे बेरोक-टोक भीतर चले गये ॥ ५ ॥

स दृष्ट्वा राघवं दीनमासीनं परमासने ।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां ददर्शाग्रजमग्रतः ॥ ६ ॥
जग्राह चरणौ तस्य लक्ष्मणो दीनचेतनः ।
उवाच दीनया वाचा प्राञ्जलिः सुसमाहितः ॥ ७ ॥

उन्होंने देखा श्रीरघुनाथजी दुःखी होकर एक सिंहासनपर बैठे हैं और उनके दोनों नेत्र आँसुओंसे भरे हैं । इस अवस्थामें बड़े भाईको सामने देख दुःखी मनसे लक्ष्मणने उनके दोनों पैर पकड़ लिये और हाथ जोड़ चित्तको एकाग्र करके वे दीन वाणीमें बोले— ॥ ६-७ ॥

आर्यस्याज्ञां पुरस्कृत्य विसृज्य जनकात्मजाम् ।
गङ्गातीरे यथोद्दिष्टे वाल्मीकेराश्रमे शुभे ॥ ८ ॥
तत्र तां च शुभाचारामाश्रमान्ते यशस्विनीम् ।
पुनरप्यागतो वीर पादमूलमुपासितुम् ॥ ९ ॥

'वीर महाराजकी आज्ञा शिरोधार्य करके मैं उन शुभ आचारवाली, यशस्विनी जनककिशोरी सीताको गङ्गातटपर वाल्मीकिके शुभ आश्रमके समीप निर्दिष्ट स्थानमें छोड़कर पुनः आपके श्रीचरणोंकी सेवाके लिये यहाँ लौट आया हूँ ॥ ९ ॥

मा शुचः पुरुषव्याघ्र कालस्य गतिरीदृशी ।
त्वद्विधा नहि शोचन्ति बुद्धिमन्तो मनस्विनः ॥ १० ॥

'पुरुषसिंह ! आप शोक न करें । कालकी ऐसी ही गति है । आप जैसे बुद्धिमान् और मनस्वी मनुष्य शोक नहीं करते हैं ॥ १० ॥

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम् ॥ ११ ॥

'संसारमें जितने संचय हैं, उन सबका अन्त विनाश है, उत्थानका अन्त पतन है, संयोगका अन्त वियोग है और जीवनका अन्त मरण है ॥ ११ ॥

तस्मात् पुत्रेषु दारेषु मित्रेषु च धनेषु च ।
नातिप्रसङ्गः कर्तव्यो विप्रयोगो हि तैर्ध्रुवम् ॥ १२ ॥

'अतः स्त्री, पुत्र, मित्र और धनमें विशेष आसक्ति नहीं करनी चाहिये; क्योंकि उनसे वियोग होना निश्चित है ॥ १२ ॥

शक्तस्त्वमात्मनाऽऽत्मानं विनेतुं मनसा मनः ।
लोकान् सर्वांश्च काकुत्स्थ किं पुनः शोकमात्मनः ॥ १३ ॥

'ककुत्स्थकुलभूषण ! आप आत्मासे आत्माको, मनसे मनको तथा सम्पूर्ण लोकोंको भी संयत रखनेमें समर्थ हैं; फिर अपने शोकको काबूमें रखना आपके लिये कौन बड़ी बात है ? ॥ १३ ॥

नेदृशेषु विमुह्यन्ति त्वद्विधाः पुरुषर्षभाः ।
अपवादः स किल ते पुनरेष्यति राघव ॥ १४ ॥

'आप-जैसे श्रेष्ठ पुरुष इस तरहके प्रसङ्ग आनेपर मोहित नहीं होते । रघुनन्दन ! यदि आप दुःखी रहेंगे तो वह अपवाद आपके ऊपर फिर आ जायगा ॥ १४ ॥

यदर्थं मैथिलीं त्यक्त्वा अपवादभयान्नृप ।
सोऽपवादः पुरे राजन् भविष्यति न संशयः ॥ १५ ॥

'नरेश्वर ! जिस अपवादके भयसे आपने मिथिलेश-कुमारीका त्याग किया है, निःसंदेह वह अपवाद इस नगरमें फिर होने लगेगा (लोग कहेंगे कि दूसरेके घरमें रही हुई स्त्रीका त्याग करके ये रात-दिन उसीकी चिन्तासे दुःखी रहते हैं) ॥ १५ ॥

स त्वं पुरुषशार्दूल धैर्येण सुसमाहितः ।
त्यजेमां दुर्बलां बुद्धिं संतापं मा कुरुष्व ह ॥ १६ ॥

'अतः पुरुषसिंह ! आप धैर्यसे चित्तको एकाग्र करके इस दुर्बल शोक-बुद्धिका त्याग करें—संतप्त न हों' ॥ १६ ॥

एवमुक्तः स काकुत्स्थो लक्ष्मणेन महात्मना ।
उवाच परया प्रीत्या सौमित्रिं मित्रवत्सलः ॥ १७ ॥

महात्मा लक्ष्मणके इस प्रकार कहनेपर मित्रवत्सल श्रीरघुनाथजीने बड़ी प्रसन्नताके साथ उन सुमित्राकुमारसे कहा— ॥ १७ ॥

एवमेतन्नरश्रेष्ठ यथा वदसि लक्ष्मण ।
परितोषश्च मे वीर मम कार्यानुशासने ॥ १८ ॥

'नरश्रेष्ठ वीर लक्ष्मण ! तुम जैसा कहते हो, ठीक ऐसी ही बात है । तुमने मेरे आदेशका पालन किया, इससे मुझे बड़ा संतोष है ॥ १८ ॥

निवृत्तिश्चागता सौम्य संतापश्च निराकृतः ।
भवद्वाक्यैः सुरुचिरैरनुनीतोऽस्मि लक्ष्मण ॥ १९ ॥

'सौम्य लक्ष्मण ! अब मैं दुःखसे निवृत्त हो गया । संतापको मैंने हृदयसे निकाल दिया और तुम्हारे सुन्दर वचनोंसे मुझे बड़ी शान्ति मिली है' ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे द्विपञ्चाशः सर्गः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें बावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

—★—

त्रिपञ्चाशः सर्गः

श्रीरामका कार्यार्थी पुरुषोंकी उपेक्षासे राजा नृगको मिलनेवाली शापकी कथा सुनाकर लक्ष्मणको देखभालके लिये आदेश देना

लक्ष्मणस्य तु तद् वाक्यं निशम्य परमाद्भुतम्।
सुप्रीतश्चाभवद् रामो वाक्यमेतदुवाच ह॥ १॥

लक्ष्मणके उस अत्यन्त अद्भुत वचनको सुनकर श्रीरामचन्द्रजी बड़े प्रसन्न हुए और इस प्रकार बोले—॥ १॥

दुर्लभस्त्वीदृशो बन्धुरस्मिन् काले विशेषतः।
यादृशस्त्वं महाबुद्धिर्मम सौम्य मनोऽनुगः॥ २॥

'सौम्य! तुम बड़े बुद्धिमान् हो। जैसे तुम मेरे मनका अनुसरण करनेवाले हो, ऐसा भाई विशेषतः इस समय मिलना कठिन है॥ २॥

यच्च मे हृदये किंचिद् वर्तते शुभलक्षण।
तन्निशामय च श्रुत्वा कुरुष्व वचनं मम॥ ३॥

'शुभलक्षण लक्ष्मण! अब मेरे मनमें जो बात है, उसे सुनो और सुनकर वैसा ही करो॥ ३॥

चत्वारो दिवसाः सौम्य कार्यं पौरजनस्य च।
अकुर्वाणस्य सौमित्रे तन्मे मर्माणि कृन्तति॥ ४॥

'सौम्य! सुमित्राकुमार! मुझे पुरवासियोंका काम किये बिना चार दिन बीत चुके हैं, यह बात मेरे मर्मस्थलको विदीर्ण कर रही है॥ ४॥

आहूयन्तां प्रकृतयः पुरोधा मन्त्रिणस्तथा।
कार्यार्थिनश्च पुरुषाः स्त्रियो वा पुरुषर्षभ॥ ५॥

'पुरुषप्रवर! तुम प्रजा, पुरोहित और मन्त्रियोंको बुलाओ। जिन पुरुषों अथवा स्त्रियोंको कोई काम हो, उनको उपस्थित करो॥ ५॥

पौरकार्याणि यो राजा न करोति दिने दिने।
संवृते नरके घोरे पतितो नात्र संशयः॥ ६॥

'जो राजा प्रतिदिन पुरवासियोंके कार्य नहीं करता, वह निस्संदेह सब ओरसे निश्छिद्र अतएव वायुसंचारसे रहित घोर नरकमें पड़ता है॥ ६॥

श्रूयते हि पुरा राजा नृगो नाम महायशाः।
बभूव पृथिवीपालो ब्रह्मण्यः सत्यवाक् शुचिः॥ ७॥

'सुना जाता है पहले इस पृथ्वीपर नृगनामसे प्रसिद्ध एक महायशस्वी राजा राज्य करते थे। वे भूपाल बड़े ब्राह्मण-भक्त, सत्यवादी तथा आचार विचारसे पवित्र थे॥ ७॥

स कदाचिद् गवां कोटीः सवत्साः स्वर्णभूषिताः।
नृदेवो भूमिदेवेभ्यः पुष्करेषु ददौ नृपः॥ ८॥

'उन नरदेवने किसी समय पुष्करतीर्थमें जाकर ब्राह्मणोंको सुवर्णसे भूषित तथा बछड़ोंसे युक्त एक करोड़ गौएँ दान कीं॥ ८॥

ततः सङ्गाद् गता धेनुः सवत्सा स्पर्शितानघ।
ब्राह्मणस्याहिताग्नेस्तु दरिद्रस्योञ्छवर्तिनः॥ ९॥

'निष्पाप लक्ष्मण! उस समय दूसरी गौओंके साथ-साथ एक दरिद्र, उञ्छवृत्तिसे जीवन निर्वाह करनेवाले एवं अग्निहोत्री ब्राह्मणकी बछड़ेसहित गाय वहाँ चली गयी और राजाने संकल्प करके उसे किसी ब्राह्मणको दे दिया॥ ९॥

स नष्टां गां क्षुधार्तो वै अन्विषंस्तत्र तत्र ह।
नापश्यत् सर्वराष्ट्रेषु संवत्सरगणान् बहून्॥ १०॥

'वह बेचारा ब्राह्मण भूखसे पीड़ित हो उस खोयी हुई गायको बहुत वर्षोंतक सारे राज्योंमें जहाँ-तहाँ ढूँढ़ता फिरा; परंतु वह उसे नहीं दिखायी दी॥ १०॥

ततः कनखलं गत्वा जीर्णवत्सां निरामयाम्।
ददर्श तां स्विकां धेनुं ब्राह्मणस्य निवेशने॥ ११॥

'अन्तमें एक दिन कनखल पहुँचकर उसने अपनी गाय एक ब्राह्मणके घरमें देखी। वह नीरोग और हृष्ट-पुष्ट थी, किंतु उसका बछड़ा बहुत बड़ा हो गया था॥ ११॥

अथ तां नामधेयेन स्वकेनोवाच ब्राह्मणः।
आगच्छ शबलेत्येवं सा तु शुश्राव गौः स्वरम्॥ १२॥

'ब्राह्मणने अपने रखे हुए 'शबला' नामसे उसको पुकारा—'शबले! आओ! आओ!' गौने उस स्वरको सुना॥ १२॥

तस्य तं स्वरमाज्ञाय क्षुधार्तस्य द्विजस्य वै।
अन्वगात् पृष्ठतः सा गौर्गच्छन्तं पावकोपमम्॥ १३॥

'भूखसे पीड़ित हुए उस ब्राह्मणके उस परिचित स्वरको पहचानकर वह गौ आगे-आगे जाते हुए उस अग्नितुल्य तेजस्वी ब्राह्मणके पीछे हो ली॥ १३॥

योऽपि पालयते विप्रः सोऽपि गामन्वगाद् द्रुतम्।
गत्वा च तमृषिं चष्टे मम गौरिति सत्वरम्॥ १४॥
स्पर्शिता राजसिंहेन मम दत्ता नृगेण ह।

'जो ब्राह्मण उन दिनों उसका पालन करता था, वह भी तुरंत उस गायका पीछा करता हुआ गया और जाकर उन ब्रह्मर्षिसे बोला—'ब्रह्मन्! यह गौ मेरी है। मुझे राजाओंमें श्रेष्ठ नृगने इसे दानमें दिया है'॥ १४½॥

तयोर्ब्राह्मणयोर्वादो महानासीद् विपश्चितोः॥ १५॥
विवदन्तौ ततोऽन्योन्यं दातारमभिजग्मतुः।

'फिर तो उन दोनों विद्वान् ब्राह्मणोंमें उस गौको लेकर महान् विवाद खड़ा हो गया। वे दोनों परस्पर लड़ते-झगड़ते हुए उन दानी नरेश नृगके पास गये॥ १५½॥

तौ राजभवनद्वारि न प्राप्तौ नृगशासनम्॥ १६॥
अहोरात्राण्यनेकानि वसन्तौ क्रोधमीयतुः।

'वहाँ राजभवनके दरवाजेपर जाकर वे कई दिनोंतक टिके रहे, परंतु उन्हें राजाका न्याय नहीं प्राप्त हुआ (वे उनसे मिले

हो नहीं)। इससे उन दोनोंको बड़ा क्रोध हुआ ॥ १६½ ॥

ऊचतुश्च महात्मानौ तावुभौ द्विजसत्तमौ ॥ १७ ॥
क्रुद्धौ परमसंतप्तौ वाक्यं घोराभिसंहितम्।

'वे दोनों श्रेष्ठ महात्मा ब्राह्मण अत्यन्त संतप्त और कुपित हो राजाको शाप देते हुए यह घोर वाक्य बोले— ॥ १७½ ॥

अर्थिनां कार्यसिद्ध्यर्थं यस्मात्त्वं नैषि दर्शनम् ॥ १८ ॥
अदृश्यः सर्वभूतानां कृकलासो भविष्यसि।
बहुवर्षसहस्राणि बहुवर्षशतानि च ॥ १९ ॥
श्वभ्रे त्वं कृकलीभूतो दीर्घकालं निवत्स्यसि।

'राजन्! अपने विवादका निर्णय करानेकी इच्छासे आये हुए प्रार्थी पुरुषोंके कार्यकी सिद्धिके लिये तुम उन्हें दर्शन नहीं देते हो; इसलिये तुम सब प्राणियोंसे छिपकर रहनेवाले गिरगिट हो जाओगे और सहस्रों वर्षोंतक दीर्घकालतक गड्ढेमें गिरगिट होकर ही पड़े रहोगे ॥ १८-१९½ ॥

उत्पत्स्यते हि लोकेऽस्मिन् यदूनां कीर्तिवर्धनः ॥ २० ॥
वासुदेव इति ख्यातो विष्णुः पुरुषविग्रहः।
स ते मोक्षयिता शापाद् राजंस्तस्माद् भविष्यसि ॥ २१ ॥
कृता च तेन कालेन निष्कृतिस्ते भविष्यति।
भारावतरणार्थं हि नरनारायणावुभौ ॥ २२ ॥
उत्पत्स्येते महावीर्यौ कलौ युग उपस्थिते।

'जब यदुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले वासुदेवनामसे विख्यात भगवान् विष्णु पुरुषरूपमें इस जगत्‌में अवतार लेंगे, उस समय वे ही तुम्हें इस शापसे छुड़ायेंगे, इसलिये इस समय तो तुम गिरगिट हो ही जाओगे, फिर श्रीकृष्णावतारके समयमें ही तुम्हारा उद्धार होगा। कलियुग उपस्थित होनेसे कुछ ही पहले महापराक्रमी नर और नारायण दोनों इस पृथ्वीका भार उतारनेके लिये अवतीर्ण होंगे' ॥ २०—२२½ ॥

एवं तौ शापमुत्सृज्य ब्राह्मणौ विगतज्वरौ ॥ २३ ॥
तां गां हि दुर्बलां वृद्धां ददतुर्ब्राह्मणाय वै।

'इस प्रकार शाप देकर वे दोनों ब्राह्मण शान्त हो गये। उन्होंने वह बूढ़ी और दुबली गाय किसी ब्राह्मणको दे दी ॥ २३ ॥

एवं स राजा तं शापमुपभुङ्क्ते सुदारुणम् ॥ २४ ॥
कार्यार्थिनां विमर्दो हि राज्ञां दोषाय कल्पते।

'इस प्रकार राजा नृग उस अत्यन्त दारुण शापका उपभोग कर रहे हैं। अतः कार्यार्थी पुरुषोंका विवाद यदि निर्णीत न हो तो वह राजाओंके लिये महान् दोषकी प्राप्ति करानेवाला होता है ॥ २४½ ॥

तच्छीघ्रं दर्शनं मह्यमभिवर्तन्तु कार्यिणः ॥ २५ ॥
सुकृतस्य हि कार्यस्य फलं नावैति पार्थिवः।
तस्माद् गच्छ प्रतीक्षस्व सौमित्रे कार्यवाञ्जनः ॥ २६ ॥

'अतः कार्यार्थी मनुष्य शीघ्र मेरे सामने उपस्थित हों। प्रजापालनरूप पुण्यकर्मका फल क्या राजाको नहीं मिलता है? अवश्य प्राप्त होता है। अतः सुमित्रानन्दन! तुम जाओ, राजद्वारपर प्रतीक्षा करो कि कौन कार्यार्थी पुरुष आ रहा है' ॥ २५-२६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें तिरपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

—★—

चतुःपञ्चाशः सर्गः

राजा नृगका एक सुन्दर गड्ढा बनवाकर अपने पुत्रको राज्य दे स्वयं उसमें प्रवेश करके शाप भोगना

रामस्य भाषितं श्रुत्वा लक्ष्मणः परमार्थवित्।
उवाच प्राञ्जलिर्वाक्यं राघवं दीप्ततेजसम् ॥ १ ॥

श्रीरामका यह भाषण सुनकर परमार्थवेत्ता लक्ष्मण दोनों हाथ जोड़कर उद्दीप्त तेजवाले श्रीरघुनाथजीसे बोले— ॥ १ ॥

अल्पापराधे काकुत्स्थ द्विजाभ्यां शाप ईदृशः।
महान् नृगस्य राजर्षेर्यमदण्ड इवापरः ॥ २ ॥

'ककुत्स्थकुलभूषण! उन दोनों ब्राह्मणोंने थोड़े-से ही अपराधपर राजर्षि नृगको द्वितीय यमदण्डके समान ऐसा महान् शाप दे दिया ॥ २ ॥

श्रुत्वा तु पापसंयुक्तमात्मानं पुरुषर्षभ।
किमुवाच नृगो राजा द्विजौ क्रोधसमन्वितौ ॥ ३ ॥

'पुरुषप्रवर! अपनेको शापरूपी पापसे संयुक्त हुआ सुनकर राजा नृगने उन क्रोधी ब्राह्मणोंसे क्या कहा?' ॥ ३ ॥

लक्ष्मणेनैवमुक्तस्तु राघवः पुनरब्रवीत्।
शृणु सौम्य यथा पूर्वं स राजा शापविक्षतः ॥ ४ ॥

लक्ष्मणके इस प्रकार पूछनेपर श्रीरघुनाथजी फिर बोले—'सौम्य! पूर्वकालमें शापग्रस्त होकर राजा नृगने जो कुछ कहा, उसे बताता हूँ, सुनो ॥ ४ ॥

अथाध्वनि गतौ विप्रौ विज्ञाय स नृपस्तदा।
आहूय मन्त्रिणः सर्वान् नैगमान् सपुरोधसः ॥ ५ ॥
तानुवाच नृगो राजा सर्वांश्च प्रकृतीस्तथा।
दुःखेन सुसमाविष्टः श्रूयतां मे समाहिताः ॥ ६ ॥

'जब राजा नृगको यह पता लगा कि वे दोनों ब्राह्मण चले गये और कहीं रास्तेमें होंगे, तब उन्होंने मन्त्रियोंको, समस्त पुरवासियोंको, पुरोहितोंको तथा समस्त प्रकृतियोंको भी बुलाकर दुःखसे पीड़ित होकर कहा—'आपलोग सावधान होकर मेरी बात सुनें— ॥ ५-६ ॥

नारदः पर्वतश्चैव मम दत्त्वा महद्भयम्।
गतौ त्रिभुवनं भद्रौ वायुभूतावनिन्दितौ ॥ ७ ॥

'नारद और पर्वत—ये दोनों कल्याणकारी और अनिन्द्य देवर्षि मेरे पास आये थे। वे दोनों ब्राह्मणोंके दिये हुए शापकी बात बताकर मुझे महान् भय दे वायुके समान तीव्र गतिसे ब्रह्मलोकको चले गये ॥ ७ ॥

कुमारोऽयं वसुर्नाम स चेहाद्याभिषिच्यताम्।
श्वभ्रं च यत् सुखस्पर्शं क्रियतां शिल्पिभिर्मम ॥ ८ ॥

'ये जो वसु नामक राजकुमार हैं, इन्हें इस राज्यपर अभिषिक्त कर दिया जाय और कारीगर मेरे लिये एक ऐसा गड्ढा तैयार करें, जिसका स्पर्श सुखद हो ॥ ८ ॥

यत्राहं संक्षयिष्यामि शापं ब्राह्मणनिःसृतम्।
वर्षघ्नमेकं श्वभ्रं तु हिमघ्नमपरं तथा ॥ ९ ॥
ग्रीष्मघ्नं तु सुखस्पर्शमेकं कुर्वन्तु शिल्पिनः।

'ब्राह्मणके मुखसे निकले हुए उस शापको वहीं रहकर मैं बिताऊँगा। एक गड्ढा ऐसा होना चाहिये, जो वर्षाके कष्टका निवारण करनेवाला हो। दूसरा सर्दीसे बचानेवाला हो और शिल्पी लोग तीसरा एक ऐसा गड्ढा तैयार करें जो गर्मीका निवारण करे और जिसका स्पर्श सुखदायक हो ॥ ९½ ॥

फलवन्तश्च ये वृक्षाः पुष्पवत्यश्च या लताः ॥ १० ॥
विरोप्यन्तां बहुविधाश्छायावन्तश्च गुल्मिनः।
क्रियतां रमणीयं च श्वभ्राणां सर्वतोदिशम् ॥ ११ ॥
सुखमत्र वसिष्यामि यावत्कालस्य पर्ययः।
पुष्पाणि च सुगन्धीनि क्रियन्तां तेषु नित्यशः ॥ १२ ॥
परिवार्य यथा मे स्युरध्यर्धं योजनं तथा।

'जो फल देनेवाले वृक्ष हैं और फूल देनेवाली लताएँ हैं, उन्हें उन गड्ढोंमें लगाया जाय। घनी छायावाले अनेक प्रकारके वृक्षोंका वहाँ आरोपण किया जाय। उन गड्ढोंके चारों ओर डेढ़-डेढ़ योजन (छः-छः कोस) की भूमि घेरकर खूब रमणीय बना दी जाय। जबतक शापका समय बीतेगा, तबतक मैं वहीं सुखपूर्वक रहूँगा। उन गड्ढोंमें प्रतिदिन सुगन्धित पुष्प संचित किये जायँ ॥ १०—१२½ ॥

एवं कृत्वा विधानं स संनिवेश्य वसुं तदा ॥ १३ ॥
धर्मनित्यः प्रजाः पुत्र क्षत्रधर्मेण पालय।

'ऐसी व्यवस्था करके राजकुमार वसुको राजसिंहासनपर बिठाकर राजाने उस समय उनसे कहा—'बेटा! तुम प्रतिदिन धर्मपरायण रहकर क्षत्रिय-धर्मके अनुसार प्रजाका पालन करो ॥ १३½ ॥

प्रत्यक्षं ते तथा शापो द्विजाभ्यां मयि पातितः ॥ १४ ॥
नरश्रेष्ठ सरोषाभ्यामपराधेऽपि तादृशे।

'दोनों ब्राह्मणोंने मुझपर जिस प्रकार शापद्वारा प्रहार किया है, वह तुम्हारी आँखोंके सामने है। नरश्रेष्ठ! वैसे थोड़े-से अपराधपर भी रुष्ट होकर उन्होंने मुझे शाप दे दिया है ॥ १४½ ॥

मा कृथास्त्वनुसंतापं मत्कृते हि नरर्षभ ॥ १५ ॥
कृतान्तः कुशलः पुत्र येनास्मि व्यसनीकृतः।

'पुरुषप्रवर! तुम मेरे लिये संताप न करो। बेटा! जिसने मुझे व्यसनी बनाया—संकटमें डाला है, अपना किया हुआ वह प्राचीन कर्म ही अनुकूल-प्रतिकूल फल देनेमें समर्थ होता है ॥ १५½ ॥

प्राप्तव्यान्येव प्राप्नोति गन्तव्यान्येव गच्छति ॥ १६ ॥
लब्धव्यान्येव लभते दुःखानि च सुखानि च।
पूर्वे जात्यन्तरे वत्स मा विषादं कुरुष्व ह ॥ १७ ॥

''वत्स! पूर्वजन्ममें किये गये कर्मके अनुसार मनुष्य उन्हीं वस्तुओंको पाता है, जिन्हें पानेका वह अधिकारी है। उन्हीं स्थानोंपर जाता है, जहाँ जाना उसके लिये अनिवार्य है तथा उन्हीं दुःखों और सुखोंको उपलब्ध करता है, जो उसके लिये नियत हैं; अतः तुम विषाद न करो' ॥ १६-१७ ॥

एवमुक्त्वा नृपस्तत्र सुतं राजा महायशाः।
श्वभ्रं जगाम सुकृतं वासाय पुरुषर्षभ ॥ १८ ॥

'नरश्रेष्ठ! अपने पुत्रसे ऐसा कहकर महायशस्वी नरपाल राजा नृगने अपने रहनेके लिये सुन्दर ढंगसे तैयार किये गये गड्ढेमें प्रवेश किया ॥ १८ ॥

एवं प्रविश्यैव नृपस्तदानीं
श्वभ्रं महद्रत्नविभूषितं तत्।
सम्पादयामास तदा महात्मा
शापं द्विजाभ्यां हि रुषा विमुक्तम् ॥ १९ ॥

'इस तरह उस रत्नविभूषित महान् गर्तमें प्रवेश करके उस समय महात्मा राजा नृगने ब्राह्मणोंद्वारा रोषपूर्वक दिये गये उस शापको भोगना आरम्भ किया' ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें चौवनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

राजा निमि और वसिष्ठका एक-दूसरेके शापसे देहत्याग

एष ते नृगशापस्य विस्तरोऽभिहितो मया।
यद्यस्ति श्रवणे श्रद्धा शृणुष्वेहापरां कथाम्॥ १॥

(श्रीरामने कहा—) 'लक्ष्मण! इस तरह मैंने तुम्हें राजा नृगके शापका प्रसङ्ग विस्तारपूर्वक बताया है। यदि सुननेकी इच्छा हो तो दूसरी कथा भी सुनो'॥ १॥

एवमुक्तस्तु रामेण सौमित्रिः पुनरब्रवीत्।
तृप्तिराश्चर्यभूतानां कथानां नास्ति मे नृप॥ २॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर सुमित्राकुमार फिर बोले—'नरेश्वर! इन आश्चर्यजनक कथाओंके सुननेसे मुझे कभी तृप्ति नहीं होती है'॥ २॥

लक्ष्मणेनैवमुक्तस्तु राम इक्ष्वाकुनन्दनः।
कथां परमधर्मिष्ठां व्याहर्तुमुपचक्रमे॥ ३॥

लक्ष्मणके इस प्रकार कहनेपर इक्ष्वाकुकुलनन्दन श्रीरामने पुनः उत्तम धर्मसे युक्त कथा कहनी आरम्भ की—॥ ३॥

आसीद् राजा निमिर्नाम इक्ष्वाकूणां महात्मनाम्।
पुत्रो द्वादशमो वीर्ये धर्मे च परिनिष्ठितः॥ ४॥

'सुमित्रानन्दन! महात्मा इक्ष्वाकु-पुत्रोंमें निमि नामक एक राजा हो गये हैं, जो इक्ष्वाकुके बारहवें* पुत्र थे। वे पराक्रम और धर्ममें पूर्णतः स्थिर रहनेवाले थे॥ ४॥

स राजा वीर्यसम्पन्नः पुरं देवपुरोपमम्।
निवेशयामास तदा अभ्याशे गौतमस्य तु॥ ५॥

'उन पराक्रमसम्पन्न नरेशने उन दिनों गौतम-आश्रमके निकट देवपुरीके समान एक नगर बसाया॥ ५॥

पुरस्य सुकृतं नाम वैजयन्तमिति श्रुतम्।
निवेशं यत्र राजर्षिर्निमिश्चक्रे महायशाः॥ ६॥

'महायशस्वी राजर्षि निमिने जिस नगरमें अपना निवासस्थान बनाया, उसका सुन्दर नाम रखा गया वैजयन्त। इसी नामसे उस नगरकी प्रसिद्धि हुई (देवराज इन्द्रके प्रासादका नाम वैजयन्त है, उसीकी समतासे निमिके नगरका भी यही नाम रखा गया था)॥ ६॥

तस्य बुद्धिः समुत्पन्ना निवेश्य सुमहापुरम्।
यजेयं दीर्घसत्रेण पितुः प्रह्लादयन् मनः॥ ७॥

'उस महान् नगरको बसाकर राजाके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि मैं पिताके हृदयको आह्लाद प्रदान करनेके लिये एक ऐसे यज्ञका अनुष्ठान करूँ, जो दीर्घकालतक चालू रहनेवाला हो॥ ७॥

ततः पितरमामन्त्र्य इक्ष्वाकुं हि मनोः सुतम्।
वसिष्ठं वरयामास पूर्वं ब्रह्मर्षिसत्तमम्॥ ८॥
अनन्तरं स राजर्षिर्निमिरिक्ष्वाकुनन्दनः।
अत्रिमङ्गिरसं चैव भृगुं चैव तपोनिधिम्॥ ९॥

'तदनन्तर इक्ष्वाकुनन्दन राजर्षि निमिने अपने पिता मनुपुत्र इक्ष्वाकुसे पूछकर अपना यज्ञ करानेके लिये सबसे पहले ब्रह्मर्षिशिरोमणि वसिष्ठजीका वरण किया। उसके बाद अत्रि, अङ्गिरा तथा तपोनिधि भृगुको भी आमन्त्रित किया॥ ८-९॥

तमुवाच वसिष्ठस्तु निमिं राजर्षिसत्तमम्।
वृतोऽहं पूर्वमिन्द्रेण अन्तरं प्रतिपालय॥ १०॥

'उस समय ब्रह्मर्षि वसिष्ठने राजर्षियोंमें श्रेष्ठ निमिसे कहा—देवराज इन्द्रने एक यज्ञके लिये पहलेसे ही मेरा वरण कर लिया है; अतः वह यज्ञ जबतक समाप्त न हो जाय तबतक तुम मेरे आगमनकी प्रतीक्षा करो'॥ १०॥

अनन्तरं महाविप्रो गौतमः प्रत्यपूरयत्।
वसिष्ठोऽपि महातेजा इन्द्रयज्ञमथाकरोत्॥ ११॥

'वसिष्ठजीके चले जानेके बाद महान् ब्राह्मण महर्षि गौतमने आकर उनके कामको पूरा कर दिया। उधर महातेजस्वी वसिष्ठ भी इन्द्रका यज्ञ पूरा कराने लगे॥ ११॥

निमिस्तु राजा विप्रांस्तान् समानीय नराधिपः।
अयजद्धिमवत्पार्श्वे स्वपुरस्य समीपतः।
पञ्चवर्षसहस्राणि राजा दीक्षामथाकरोत्॥ १२॥

'नरेश्वर राजा निमिने उन ब्राह्मणोंको बुलाकर हिमालयके पास अपने नगरके निकट ही यज्ञ आरम्भ कर दिया, राजा निमिने पाँच हजार वर्षोंतकके लिये यज्ञकी दीक्षा ली॥ १२॥

इन्द्रयज्ञावसाने तु वसिष्ठो भगवानृषिः।
सकाशमागतो राज्ञो हौत्रं कर्तुमनिन्दितः॥ १३॥
तदन्तरमथापश्यद् गौतमेनाभिपूरितम्।

उधर इन्द्र-यज्ञकी समाप्ति होनेपर अनिन्द्य भगवान् वसिष्ठ ऋषि राजा निमिके पास होतृकर्म करनेके लिये आये। वहाँ आकर उन्होंने देखा कि जो समय प्रतीक्षाके लिये दिया था, उसे गौतमने आकर पूरा कर दिया॥ १३½॥

कोपेन महताविष्टो वसिष्ठो ब्रह्मणः सुतः॥ १४॥
स राज्ञो दर्शनाकाङ्क्षी मुहूर्तं समुपाविशत्।
तस्मिन्नहनि राजर्षिर्निद्रयापहृतो भृशम्॥ १५॥

'यह देख ब्रह्मकुमार वसिष्ठ महान् क्रोधसे भर गये और

---

* श्रीमद्भागवत (नवम स्कन्ध ६। ४) में, विष्णुपुराण (४। २। ११) में तथा महाभारत (अनुशासनपर्व २। ५) में इक्ष्वाकुके सौ पुत्र बताये गये हैं। इनमें प्रधान थे—विकुक्षि, निमि और दण्ड। इस दृष्टिसे निमि द्वितीय पुत्र सिद्ध होते हैं; परंतु यहाँ मूलमें इनको बारहवाँ बताया गया है। सम्भव है गुण-विशेषके कारण ये तीन प्रधान कहे गये हों और अवस्था-क्रमसे बारहवें ही हों।

राजासे मिलनेके लिये दो घड़ी वहाँ बैठे रहे। परंतु उस दिन राजर्षि निमि अत्यन्त निद्राके वशीभूत हो सो गये थे॥ १४-१५॥

ततो मन्युर्वसिष्ठस्य प्रादुरासीन्महात्मनः।
अदर्शनेन राजर्षेर्व्याहर्तुमुपचक्रमे॥ १६॥

'राजा मिले नहीं, इस कारण महात्मा वसिष्ठ मुनिको बड़ा क्रोध हुआ। वे राजर्षिको लक्ष्य करके बोलने लगे—॥ १६॥

यस्मात् त्वमन्यं वृतवान् मामवज्ञाय पार्थिव।
चेतनेन विनाभूतो देहस्ते पार्थिवैष्यति॥ १७॥

'भूपाल निमे! तुमने मेरी अवहेलना करके दूसरे पुरोहितका वरण कर लिया है, इसलिये तुम्हारा यह शरीर अचेतन होकर गिर जायगा'॥ १७॥

ततः प्रबुद्धो राजा तु श्रुत्वा शापमुदाहृतम्।
ब्रह्मयोनिमथोवाच स राजा क्रोधमूर्च्छितः॥ १८॥

'तदनन्तर राजाकी नींद खुली। वे उनके दिये हुए शापकी बात सुनकर क्रोधसे मूर्च्छित हो गये और ब्रह्मयोनि वसिष्ठसे बोले—॥ १८॥

अजानतः शयानस्य क्रोधेन कलुषीकृतः।
उक्तवान् मम शापाग्निं यमदण्डमिवापरम्॥ १९॥

'मुझे आपके आगमनकी बात मालूम नहीं थी, इसलिये सो रहा था। परंतु आपने क्रोधसे कलुषित होकर मेरे ऊपर दूसरे यमदण्डकी भाँति शापाग्निका प्रहार किया है॥ १९॥

तस्मात् तवापि ब्रह्मर्षे चेतनेन विनाकृतः।
देहः स सुचिरप्रख्यो भविष्यति न संशयः॥ २०॥

''अतः ब्रह्मर्षे! चिरन्तन शोभासे युक्त जो आपका शरीर है, वह भी अचेतन होकर गिर जायगा—इसमें संशय नहीं है'॥ २०॥

इति रोषवशादुभौ तदानी-
मन्योन्यं शपितौ नृपद्विजेन्द्रौ।
सहसैव बभूवतुर्विदेहौ
तत्तुल्याधिगतप्रभाववन्तौ॥ २१॥

'इस प्रकार उस समय रोषके वशीभूत हुए वे दोनों नृपेन्द्र और द्विजेन्द्र परस्पर शाप दे सहसा विदेह हो गये। उन दोनोंके प्रभाव ब्रह्माजीके समान थे'॥ २१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे पञ्चपञ्चाशः सर्गः॥ ५५॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें पचपनवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ५५॥

—★—

षट्पञ्चाशः सर्गः

ब्रह्माजीके कहनेसे वसिष्ठका वरुणके वीर्यमें आवेश, वरुणका उर्वशीके समीप एक कुम्भमें अपने वीर्यका आधान तथा मित्रके शापसे उर्वशीका भूतलमें राजा पुरूरवाके पास रहकर पुत्र उत्पन्न करना

रामस्य भाषितं श्रुत्वा लक्ष्मणः परवीरहा।
उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा राघवं दीप्ततेजसम्॥ १॥

श्रीरामचन्द्रजीके मुखसे कही गयी यह कथा सुनकर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले लक्ष्मण उद्दीप्त तेजवाले श्रीरघुनाथजीसे हाथ जोड़कर बोले—॥ १॥

निक्षिप्य देहौ काकुत्स्थ कथं तौ द्विजपार्थिवौ।
पुनर्देहेन संयोगं जग्मतुर्देवसम्मतौ॥ २॥

'ककुत्स्थकुलभूषण! वे ब्रह्मर्षि और वे भूपाल दोनों देवताओंके भी सम्मानपात्र थे। उन्होंने अपने शरीरोंका त्याग करके फिर नूतन शरीर कैसे ग्रहण किया?'॥ २॥

लक्ष्मणेनैवमुक्तस्तु रामः इक्ष्वाकुनन्दनः।
प्रत्युवाच महातेजा लक्ष्मणं पुरुषर्षभः॥ ३॥

लक्ष्मणके इस प्रकार पूछनेपर इक्ष्वाकुकुलनन्दन महातेजस्वी पुरुषप्रवर श्रीरामने उनसे इस प्रकार कहा—॥ ३॥

तौ परस्परशापेन देहमुत्सृज्य धार्मिकौ।
अभूतां नृपविप्रर्षी वायुभूतौ तपोधनौ॥ ४॥

'सुमित्रानन्दन! एक-दूसरेके शापसे देह त्याग करके तपस्याके धनी वे धर्मात्मा राजर्षि और ब्रह्मर्षि वायुरूप हो गये॥ ४॥

अशरीरः शरीरस्य कृतेऽन्यस्य महामुनिः।
वसिष्ठस्तु महातेजा जगाम पितुरन्तिकम्॥ ५॥

'महातेजस्वी महामुनि वसिष्ठ शरीररहित हो जानेपर दूसरे शरीरकी प्राप्तिके लिये अपने पिता ब्रह्माजीके पास गये॥ ५॥

सोऽभिवाद्य ततः पादौ देवदेवस्य धर्मवित्।
पितामहमथोवाच वायुभूत इदं वचः॥ ६॥

'धर्मके ज्ञाता वायुरूप वसिष्ठजीने देवाधिदेव ब्रह्माजीके चरणोंमें प्रणाम करके उन पितामहसे इस प्रकार कहा—॥ ६॥

भगवन् निमिशापेन विदेहत्वमुपागमम्।
देवदेव महादेव वायुभूतोऽहमण्डज॥ ७॥

''ब्रह्माण्डकटाहसे प्रकट हुए देवाधिदेव महादेव! भगवन्! मैं राजा निमिके शापसे देहहीन हो गया हूँ; अतः वायुरूपमें रह रहा हूँ॥ ७॥

सर्वेषां देहहीनानां महद् दुःखं भविष्यति।
लुप्यन्ते सर्वकार्याणि हीनदेहस्य वै प्रभो॥ ८॥
देहस्यान्यस्य सद्भावे प्रसादं कर्तुमर्हसि।

''प्रभो! समस्त देहहीनोंको महान् दुःख होता है और होता रहेगा; क्योंकि देहहीन प्राणीके सभी कार्य लुप्त हो जाते हैं। अतः दूसरे शरीरकी प्राप्तिके लिये आप मुझपर कृपा करें' ॥ ८½॥

तमुवाच ततो ब्रह्मा स्वयंभूरमितप्रभः॥ ९॥
मित्रावरुणजं तेज आविश त्वं महायशः।
अयोनिजस्त्वं भविता तत्रापि द्विजसत्तम।
धर्मेण महता युक्तः पुनरेष्यसि मे वशम्॥ १०॥

'तब अमित तेजस्वी स्वयम्भू ब्रह्माने उनसे कहा—'महायशस्वी द्विजश्रेष्ठ! तुम मित्र और वरुणके छोड़े हुए तेज (वीर्य) में प्रविष्ट हो जाओ। वहाँ जानेपर भी तुम अयोनिज रूपसे ही उत्पन्न होओगे और महान् धर्मसे युक्त हो पुत्ररूपसे मेरे वशमें आ जाओगे (मेरे पुत्र होनेके कारण तुम्हें पूर्ववत् प्रजापतिका पद प्राप्त होगा)' ॥ ९-१०॥

एवमुक्तस्तु देवेन अभिवाद्य प्रदक्षिणम्।
कृत्वा पितामहं तूर्णं प्रययौ वरुणालयम्॥ ११॥

'ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर उनके चरणोंमें प्रणाम तथा उनकी परिक्रमा करके वायुरूप वसिष्ठजी वरुणलोकको चले गये ॥ ११॥

तमेव कालं मित्रोऽपि वरुणत्वमकारयत्।
क्षीरोदेन सहोपेतः पूज्यमानः सुरेश्वरैः॥ १२॥

'उन्हीं दिनों मित्रदेवता भी वरुणके अधिकारका पालन कर रहे थे। वे वरुणके साथ रहकर समस्त देवेश्वरोंद्वारा पूजित होते थे ॥ १२॥

एतस्मिन्नेव काले तु उर्वशी परमाप्सराः।
यदृच्छया तमुद्देशमागता सखिभिर्वृता॥ १३॥

'इसी समय अप्सराओंमें श्रेष्ठ उर्वशी सखियोंसे घिरी हुई अकस्मात् उस स्थानपर आ गयी ॥ १३॥

तां दृष्ट्वा रूपसम्पन्नां क्रीडन्तीं वरुणालये।
तदाविशत् परो हर्षो वरुणं चोर्वशीकृते॥ १४॥

'उस परम सुन्दरी अप्सराको क्षीरसागरमें नहाती और जलक्रीडा करती देख वरुणके मनमें उर्वशीके लिये अत्यन्त उल्लास प्रकट हुआ ॥ १४॥

स तां पद्मपलाशाक्षीं पूर्णचन्द्रनिभाननाम्।
वरुणो वरयामास मैथुनायाप्सरोवराम्॥ १५॥

'उन्होंने प्रफुल्ल कमलके समान नेत्र और पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाली उस सुन्दरी अप्सराको समागमके लिये आमन्त्रित किया ॥ १५॥

प्रत्युवाच ततः सा तु वरुणं प्राञ्जलिः स्थिता।
मित्रेणाहं वृता साक्षात् पूर्वमेव सुरेश्वर॥ १६॥

'तब उर्वशीने हाथ जोड़कर वरुणसे कहा—'सुरेश्वर! साक्षात् मित्रदेवताने पहलेसे ही मेरा वरण कर लिया है' ॥ १६॥

वरुणस्त्वब्रवीद् वाक्यं कन्दर्पशरपीडितः।
इदं तेजः समुत्स्रक्ष्ये कुम्भेऽस्मिन् देवनिर्मिते॥ १७॥
एवमुत्सृज्य सुश्रोणि त्वय्यहं वरवर्णिनि।
कृतकामो भविष्यामि यदि नेच्छसि सङ्गमम्॥ १८॥

'यह सुनकर वरुणने कामदेवके बाणोंसे पीड़ित होकर कहा—'सुन्दर रूप-रंगवाली सुश्रोणि! यदि तुम मुझसे समागम करना नहीं चाहती तो मैं तुम्हारे समीप इस देवनिर्मित कुम्भमें अपना यह वीर्य छोड़ दूँगा और इस प्रकार छोड़कर ही सफलमनोरथ हो जाऊँगा' ॥ १७-१८॥

तस्य तल्लोकनाथस्य वरुणस्य सुभाषितम्।
उर्वशी परमप्रीता श्रुत्वा वाक्यमुवाच ह॥ १९॥

'लोकनाथ वरुणका यह मनोहर वचन सुनकर उर्वशीको बड़ी प्रसन्नता हुई और वह बोली— ॥ १९॥

काममेतद् भवत्वेवं हृदयं मे त्वयि स्थितम्।
भावश्चाप्यधिकं तुभ्यं देहो मित्रस्य तु प्रभो॥ २०॥

''प्रभो! आपकी इच्छाके अनुसार ऐसा ही हो। मेरा हृदय विशेषतः आपमें अनुरक्त है और आपका अनुराग भी मुझमें अधिक है; इसलिये आप मेरे उद्देश्यसे उस कुम्भमें वीर्याधान कीजिये। इस शरीरपर तो इस समय मित्रका अधिकार हो चुका है' ॥ २०॥

उर्वश्या एवमुक्तस्तु रेतस्तन्महदद्भुतम्।
ज्वलदग्निसमप्रख्यं तस्मिन् कुम्भे न्यवासृजत्॥ २१॥

'उर्वशीके ऐसा कहनेपर वरुणने प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशमान अपने अत्यन्त अद्भुत तेज (वीर्य) को उस कुम्भमें डाल दिया ॥ २१॥

उर्वशी त्वगमत् तत्र मित्रो वै यत्र देवता।
तां तु मित्रः सुसंक्रुद्ध उर्वशीमिदमब्रवीत्॥ २२॥

'तदनन्तर उर्वशी उस स्थानपर गयी, जहाँ मित्रदेवता विराजमान थे। उस समय मित्र अत्यन्त कुपित हो उस उर्वशीसे इस प्रकार बोले— ॥ २२॥

मयाभिमन्त्रिता पूर्वं कस्मात् त्वमवसर्जिता।
पतिमन्यं वृतवती किमर्थं दुष्टचारिणि॥ २३॥

''दुराचारिणि! पहले मैंने तुझे समागमके लिये आमन्त्रित किया था; फिर किसलिये तूने मेरा त्याग किया और क्यों दूसरे पतिका वरण कर लिया? ॥ २३॥

अनेन दुष्कृतेन त्वं मत्क्रोधकलुषीकृता।
मनुष्यलोकमास्थाय कंचित् कालं निवत्स्यसि॥ २४॥

''अपने इस पापके कारण मेरे क्रोधसे कलुषित हो तू कुछ कालतक मनुष्यलोकमें जाकर निवास करेगी ॥ २४॥

बुधस्य पुत्रो राजर्षिः काशिराजः पुरूरवाः।
तमभ्यागच्छ दुर्बुद्धे स ते भर्ता भविष्यति॥ २५॥

''दुर्बुद्धे! बुधके पुत्र राजर्षि पुरूरवा, जो काशिदेशके राजा हैं, उनके पास चली जा, वे ही तेरे पति होंगे' ॥ २५ ॥

ततः सा शापदोषेण पुरूरवसमभ्यगात्।
प्रतिष्ठाने पुरूरवं बुधस्यात्मजमौरसम् ॥ २६ ॥

'तब वह शाप-दोषसे दूषित हो प्रतिष्ठानपुर (प्रयाग-झूसी) में बुधके औरस पुत्र पुरूरवाके पास गयी ॥ २६ ॥

तस्य जज्ञे ततः श्रीमानायुः पुत्रो महाबलः।
नहुषो यस्य पुत्रस्तु बभूवेन्द्रसमद्युतिः ॥ २७ ॥

'पुरूरवाके उर्वशीके गर्भसे श्रीमान् आयु नामक महाबली पुत्र हुआ, जिसके पुत्र इन्द्रतुल्य तेजस्वी महाराज नहुष थे ॥ २७ ॥

वज्रमुत्सृज्य वृत्राय श्रान्तेऽथ त्रिदिवेश्वरे।
शतं वर्षसहस्राणि येनेन्द्रत्वं प्रशासितम् ॥ २८ ॥

'वृत्रासुरपर वज्रका प्रहार करके जब देवराज इन्द्र ब्रह्महत्याके भयसे दुःखी हो छिप गये थे, तब नहुषने ही एक लाख वर्षोंतक 'इन्द्र' पदपर प्रतिष्ठित हो त्रिलोकीके राज्यका शासन किया था ॥ २८ ॥

सा तेन शापेन जगाम भूमिं
तदोर्वशी चारुदती सुनेत्रा।
बहूनि वर्षाण्यवसच्च सुभ्रूः
शापक्षयादिन्द्रसदो ययौ च ॥ २९ ॥

'मनोहर दाँत और सुन्दर नेत्रवाली उर्वशी मित्रके दिये हुए उस शापसे भूतलपर चली गयी। वहाँ वह सुन्दरी बहुत वर्षोंतक रही। फिर शापका क्षय होनेपर इन्द्रसभामें चली गयी' ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे षट्पञ्चाशः सर्गः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें छप्पनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

—★—

सप्तपञ्चाशः सर्गः

वसिष्ठका नूतन शरीर-धारण और निमिका प्राणियोंके नयनोंमें निवास

तां श्रुत्वा दिव्यसंकाशां कथामद्भुतदर्शनाम्।
लक्ष्मणः परमप्रीतो राघवं वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

उस दिव्य एवं अद्भुत कथाको सुनकर लक्ष्मणको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे श्रीरघुनाथजीसे बोले— ॥ १ ॥

निक्षिप्तदेहौ काकुत्स्थ कथं तौ द्विजपार्थिवौ।
पुनर्देहेन संयोगं जग्मतुर्देवसम्मतौ ॥ २ ॥

'काकुत्स्थ! वे ब्रह्मर्षि वसिष्ठ तथा राजर्षि निमि जो देवताओंद्वारा भी सम्मानित थे, अपने-अपने शरीरको छोड़कर फिर नूतन शरीरसे किस प्रकार संयुक्त हुए?' ॥ २ ॥

तस्य तद् भाषितं श्रुत्वा रामः सत्यपराक्रमः।
तां कथां कथयामास वसिष्ठस्य महात्मनः ॥ ३ ॥

उनका यह प्रश्न सुनकर सत्यपराक्रमी श्रीरामने महात्मा वसिष्ठके शरीर-ग्रहणसे सम्बन्ध रखनेवाली उस कथाको पुनः कहना आरम्भ किया— ॥ ३ ॥

यः स कुम्भो रघुश्रेष्ठ तेजःपूर्णो महात्मनोः।
तस्मिंस्तेजोमयौ विप्रौ सम्भूतावृषिसत्तमौ ॥ ४ ॥

'रघुश्रेष्ठ! महामना मित्र और वरुणदेवताके तेज (वीर्य) से युक्त जो वह प्रसिद्ध कुम्भ था, उससे दो तेजस्वी ब्राह्मण प्रकट हुए। वे दोनों ही ऋषियोंमें श्रेष्ठ थे ॥ ४ ॥

पूर्वं समभवत् तत्र अगस्त्यो भगवानृषिः।
नाहं सुतस्तवेत्युक्त्वा मित्रं तस्मादपाक्रमत् ॥ ५ ॥

'पहले उस घटसे महर्षि भगवान् अगस्त्य उत्पन्न हुए और मित्रसे यह कहकर कि 'मैं आपका पुत्र नहीं हूँ' वहाँसे अन्यत्र चले गये ॥ ५ ॥

तद्धि तेजस्तु मित्रस्य उर्वश्याः पूर्वमाहितम्।
तस्मिन् समभवत् कुम्भे तत्तेजो यत्र वारुणम् ॥ ६ ॥

'वह मित्रका तेज था, जो उर्वशीके निमित्तसे पहले ही उस कुम्भमें स्थापित किया गया था। तत्पश्चात् उस कुम्भमें वरुणदेवताका तेज भी सम्मिलित हो गया था ॥ ६ ॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य मित्रावरुणसम्भवः।
वसिष्ठस्तेजसा युक्तो जज्ञे इक्ष्वाकुदैवतम् ॥ ७ ॥

'तत्पश्चात् कुछ कालके बाद मित्रावरुणके उस वीर्यसे तेजस्वी वसिष्ठमुनिका प्रादुर्भाव हुआ। जो इक्ष्वाकुकुलके देवता (गुरु या पुरोहित) हुए ॥ ७ ॥

तमिक्ष्वाकुर्महातेजा जातमात्रमनिन्दितम्।
वव्रे पुरोधसं सौम्य वंशस्यास्य हिताय नः ॥ ८ ॥

'सौम्य लक्ष्मण! महातेजस्वी राजा इक्ष्वाकुने उनके वहाँ जन्म ग्रहण करते ही उन अनिन्द्य मुनि वसिष्ठका हमारे इस कुलके हितके लिये पुरोहितके पदपर वरण कर लिया ॥ ८ ॥

एवं त्वपूर्वदेहस्य वसिष्ठस्य महात्मनः।
कथितो निर्गमः सौम्य निमेः शृणु यथाभवत् ॥ ९ ॥

सौम्य! इस प्रकार नूतन शरीरसे युक्त वसिष्ठमुनिकी उत्पत्तिका प्रकार बताया गया। अब निमिका जैसा वृत्तान्त है, वह सुनो ॥ ९ ॥

दृष्ट्वा विदेहं राजानमृषयः सर्व एव ते।
तं च ते याजयामासुर्यज्ञदीक्षां मनीषिणः॥ १०॥

'राजा निमिको देहसे पृथक् हुआ देख उन सभी मनीषी ऋषियोंने स्वयं ही यज्ञकी दीक्षा ग्रहण करके उस यज्ञको पूरा किया॥ १०॥

तं च देहं नरेन्द्रस्य रक्षन्ति स्म द्विजोत्तमाः।
गन्धैर्माल्यैश्च वस्त्रैश्च पौरभृत्यसमन्विताः॥ ११॥

'उन श्रेष्ठ ब्रह्मर्षियोंने पुरवासियों और सेवकोंके साथ रहकर गन्ध, पुष्प और वस्त्रोंसहित राजा निमिके उस शरीरको तेलके कड़ाह आदिमें सुरक्षित रखा॥ ११॥

ततो यज्ञे समाप्ते तु भृगुस्तत्रेदमब्रवीत्।
आनयिष्यामि ते चेतस्तुष्टोऽस्मि तव पार्थिव॥ १२॥

'तदनन्तर जब यज्ञ समाप्त हुआ, तब वहाँ भृगुने कहा—'राजन्! (राजाके शरीरके अभिमानी जीवात्मन्!) मैं तुमपर बहुत संतुष्ट हूँ, अतः यदि तुम चाहो तो तुम्हारे जीव-चैतन्यको मैं पुनः इस शरीरमें ला दूँगा'॥ १२॥

सुप्रीताश्च सुराः सर्वे निमेश्चेतस्तदाब्रुवन्।
वरं वरय राजर्षे क्व ते चेतो निरूप्यताम्॥ १३॥

'भृगुके साथ ही अन्य सब देवताओंने भी अत्यन्त प्रसन्न होकर निमिके जीवात्मासे कहा—'राजर्षे! वर माँगो। तुम्हारे जीव-चैतन्यको कहाँ स्थापित किया जाय'॥ १३॥

एवमुक्तः सुरैः सर्वैर्निमेश्चेतस्तदाब्रवीत्।
नेत्रेषु सर्वभूतानां वसेयं सुरसत्तमाः॥ १४॥

'समस्त देवताओंके ऐसा कहनेपर निमिके जीवात्माने उस समय उनसे कहा—'सुरश्रेष्ठ! मैं समस्त प्राणियोंके नेत्रोंमें निवास करना चाहता हूँ'॥ १४॥

बाढमित्येव विबुधा निमेश्चेतस्तदाब्रुवन्।
नेत्रेषु सर्वभूतानां वायुभूतश्चरिष्यसि॥ १५॥

'तब देवताओंने निमिके जीवात्मासे कहा—'बहुत अच्छा, तुम वायुरूप होकर समस्त प्राणियोंके नेत्रोंमें विचरते रहोगे॥ १५॥

त्वत्कृते च निमिष्यन्ति चक्षूंषि पृथिवीपते।
वायुभूतेन चरता विश्रामार्थं मुहुर्मुहुः॥ १६॥

"पृथ्वीनाथ! वायुरूपसे विचरते हुए आपके सम्बन्धसे जो थकावट होगी, उसका निवारण करके विश्राम पानेके लिये प्राणियोंके नेत्र बारंबार बंद हो जाया करेंगे'॥ १६॥

एवमुक्त्वा तु विबुधाः सर्वे जग्मुर्यथागतम्।
ऋषयोऽपि महात्मानो निमेर्देहं समाहरन्॥ १७॥
अरणिं तत्र निक्षिप्य मथनं चक्रुरोजसा।

'ऐसा कहकर सब देवता जैसे आये थे, वैसे चले गये; फिर महात्मा ऋषियोंने निमिके शरीरको पकड़ा और उसपर अरणि रखकर उसे बलपूर्वक मथना आरम्भ किया॥ १७ १/२॥

मन्त्रहोमैर्महात्मानः पुत्रहेतोर्निमेस्तदा॥ १८॥
अरण्यां मथ्यमानायां प्रादुर्भूतो महातपाः।
मथनान्मिथिरित्याहुर्जननाज्जनकोऽभवत्॥ १९॥
यस्माद् विदेहात् सम्भूतो वैदेहस्तु ततः स्मृतः।
एवं विदेहराजश्च जनकः पूर्वकोऽभवत्।
मिथिर्नाम महातेजास्तेनायं मैथिलोऽभवत्॥ २०॥

'पूर्ववत् मन्त्रोच्चारणपूर्वक होम करते हुए उन महात्माओंने जब निमिके पुत्रकी उत्पत्तिके लिये अरणि-मन्थन आरम्भ किया, तब उस मन्थनसे महातपस्वी मिथि उत्पन्न हुए। इस अद्भुत जन्मका हेतु होनेके कारण वे जनक कहलाये तथा विदेह (जीव रहित शरीर) से प्रकट होनेके कारण उन्हें वैदेह भी कहा गया। इस प्रकार पहले विदेहराज जनकका नाम महातेजस्वी मिथि हुआ, जिससे यह जनकवंश मैथिल कहलाया॥ १८—२०॥

इति सर्वमशेषतो मया
कथितं सम्भवकारणं तु सौम्य।
नृपपुङ्गवशापजं द्विजस्य
द्विजशापाच्च यदद्भुतं नृपस्य॥ २१॥

'सौम्य लक्ष्मण! राजाओंमें श्रेष्ठ निमिके शापसे ब्राह्मण वसिष्ठका और ब्राह्मण वसिष्ठके शापसे राजा निमिका जो अद्भुत जन्म घटित हुआ, उसका सारा कारण मैंने तुम्हें कह सुनाया'॥ २१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे सप्तपञ्चाशः सर्गः॥ ५७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें सत्तावनवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ५७॥

अष्टपञ्चाशः सर्गः

ययातिको शुक्राचार्यका शाप

एवं ब्रुवति रामे तु लक्ष्मणः परवीरहा।
प्रत्युवाच महात्मानं ज्वलन्तमिव तेजसा॥ १॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले लक्ष्मणने तेजसे प्रज्वलित होते हुए-से महात्मा श्रीरामको सम्बोधित करके इस प्रकार कहा—॥ १॥

महदद्भुतमाश्चर्यं विदेहस्य पुरातनम्।
निर्वृत्तं राजशार्दूलं वसिष्ठस्य मुनेश्च ह॥ २॥

'तपश्रेष्ठ! राजा विदेह (निमि) तथा वसिष्ठ मुनिका

पुरातन वृत्तान्त अत्यन्त अद्भुत और आश्चर्यजनक है॥ २॥

निमिस्तु क्षत्रियः शूरो विशेषेण च दीक्षितः।
न क्षमं कृतवान् राजा वसिष्ठस्य महात्मनः॥ ३॥

'परंतु राजा निमि क्षत्रिय, शूरवीर और विशेषतः यज्ञकी दीक्षा लिये हुए थे; अतः उन्होंने महात्मा वसिष्ठके प्रति उचित बर्ताव नहीं किया'॥ ३॥

एवमुक्तस्तु तेनायं रामः क्षत्रियपुङ्गवः।
उवाच लक्ष्मणं वाक्यं सर्वशास्त्रविशारदम्॥ ४॥
रामो रमयतां श्रेष्ठो भ्रातरं दीप्ततेजसम्।

लक्ष्मणके इस तरह कहनेपर दूसरोंके मनको रमाने (प्रसन्न रखने) वालोंमें श्रेष्ठ क्षत्रियशिरोमणि श्रीरामने सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञाता और उद्दीप्त तेजस्वी भ्राता लक्ष्मणसे कहा—॥ ४½॥

न सर्वत्र क्षमा वीर पुरुषेषु प्रदृश्यते॥ ५॥
सौमित्रे दुःसहो रोषो यथा क्षान्तो ययातिना।
सत्त्वानुगं पुरस्कृत्य तन्निबोध समाहितः॥ ६॥

'वीर सुमित्राकुमार! सभी पुरुषोंमें वैसी क्षमा नहीं दिखायी देती, जैसी राजा ययातिमें थी। राजा ययातिने सत्त्वगुणके अनुकूल मार्गका आश्रय ले दुःसह रोषको क्षमा कर लिया था। वह प्रसंग बताता हूँ, एकाग्रचित्त होकर सुनो॥ ५-६॥

नहुषस्य सुतो राजा ययातिः पौरवर्धनः।
तस्य भार्याद्वयं सौम्य रूपेणाप्रतिमं भुवि॥ ७॥

'सौम्य! नहुषके पुत्र राजा ययाति पुरवासियों, प्रजाजनोंकी वृद्धि करनेवाले थे। उनके दो पत्नियाँ थीं, जिनके रूपकी इस भूतलपर कहीं तुलना नहीं थी॥ ७॥

एका तु तस्य राजर्षेर्नाहुषस्य पुरस्कृता।
शर्मिष्ठा नाम दैतेयी दुहिता वृषपर्वणः॥ ८॥

'नहुषनन्दन राजर्षि ययातिकी एक पत्नीका नाम शर्मिष्ठा था, जो राजाके द्वारा बहुत ही सम्मानित थी। शर्मिष्ठा दैत्यकुलकी कन्या और वृषपर्वाकी पुत्री थी॥ ८॥

अन्या तूशनसः पत्नी ययातेः पुरुषर्षभ।
न तु सा दयिता राज्ञो देवयानी सुमध्यमा॥ ९॥
तयोः पुत्रौ तु सम्भूतौ रूपवन्तौ समाहितौ।
शर्मिष्ठाजनयत् पूरुं देवयानी यदुं तदा॥ १०॥

'पुरुषप्रवर! उनकी दूसरी पत्नी शुक्राचार्यकी पुत्री देवयानी थी। देवयानी सुन्दरी होनेपर भी राजाको अधिक प्रिय नहीं थी। उन दोनोंके ही पुत्र बड़े रूपवान् हुए। शर्मिष्ठाने पूरुको जन्म दिया और देवयानीने यदुको। वे दोनों बालक अपने चित्तको एकाग्र रखनेवाले थे॥ ९-१०॥

पूरुस्तु दयितो राज्ञो गुणैर्मातृकृतेन च।
ततो दुःखसमाविष्टो यदुर्मातरमब्रवीत्॥ ११॥

'अपनी माताके प्रेमयुक्त व्यवहारसे और अपने गुणोंसे पूरु राजाको अधिक प्रिय था। इससे यदुके मनमें बड़ा दुःख हुआ। वे मातासे बोले—॥ ११॥

भार्गवस्य कुले जाता देवस्याक्लिष्टकर्मणः।
सहसे हृद्गतं दुःखमवमानं च दुःसहम्॥ १२॥

''मा! तुम अनायास ही महान् कर्म करनेवाले देवस्वरूप शुक्राचार्यके कुलमें उत्पन्न हुई हो तो भी यहाँ हार्दिक दुःख और दुःसह अपमान सहती हो॥ १२॥

आवां च सहितौ देवि प्रविशाव हुताशनम्।
राजा तु रमतां सार्धं दैत्यपुत्र्या बहुक्षपाः॥ १३॥

''अतः देवि! हम दोनों एक साथ ही अग्निमें प्रवेश कर जायँ। राजा दैत्यपुत्री शर्मिष्ठाके साथ अनन्त रात्रियोंतक रमते रहें॥ १३॥

यदि वा सहनीयं ते मामनुज्ञातुमर्हसि।
क्षम त्वं न क्षमिष्येऽहं मरिष्यामि न संशयः॥ १४॥

''यदि तुम्हें यह सब कुछ सहन करना है तो मुझे ही प्राणत्यागकी आज्ञा दे दो। तुम्हीं सहो। मैं नहीं सहूँगा। मैं निःसंदेह मर जाऊँगा'॥ १४॥

पुत्रस्य भाषितं श्रुत्वा परमार्तस्य रोदतः।
देवयानी तु संक्रुद्धा सस्मार पितरं तदा॥ १५॥

'अत्यन्त आर्त होकर रोते हुए अपने पुत्र यदुकी यह बात सुनकर देवयानीको बड़ा क्रोध हुआ और उन्होंने तत्काल अपने पिता शुक्राचार्यजीका स्मरण किया॥ १५॥

इङ्गितं तदभिज्ञाय दुहितुर्भार्गवस्तदा।
आगतस्त्वरितं तत्र देवयानी स्म यत्र सा॥ १६॥

'शुक्राचार्य अपनी पुत्रीकी उस चेष्टाको जानकर तत्काल उस स्थानपर आ पहुँचे, जहाँ देवयानी विद्यमान थी॥ १६॥

दृष्ट्वा चाप्रकृतिस्थां तामप्रहृष्टामचेतनाम्।
पिता दुहितरं वाक्यं किमेतदिति चाब्रवीत्॥ १७॥

'बेटीको अस्वस्थ, अप्रसन्न और अचेत-सी देखकर पिताने पूछा—'वत्से! यह क्या बात है?'॥ १७॥

पृच्छन्तमसकृत् तं वै भार्गवं दीप्ततेजसम्।
देवयानी तु संक्रुद्धा पितरं वाक्यमब्रवीत्॥ १८॥
अहमग्निं विषं तीक्ष्णमपो वा मुनिसत्तम।
भक्षयिष्ये प्रवेक्ष्ये वा न तु शक्ष्यामि जीवितुम्॥ १९॥

'उद्दीप्त तेजवाले पिता भृगुनन्दन शुक्राचार्य जब बारंबार इस प्रकार पूछने लगे, तब देवयानीने अत्यन्त कुपित होकर उनसे कहा—'मुनिश्रेष्ठ! मैं प्रज्वलित अग्नि या अगाध जलमें प्रवेश कर जाऊँगी अथवा विष खा लूँगी; किंतु इस प्रकार अपमानित होकर जीवित नहीं रह सकूँगी॥ १८-१९॥

न मां त्वमवजानीषे दुःखितामवमानिताम्।
वृक्षस्यावज्ञया ब्रह्मंश्छिद्यन्ते वृक्षजीविनः॥ २०॥

''आपको पता नहीं है कि मैं यहाँ कितनी दुःखी और

अपमानित हूँ। ब्रह्मन्! वृक्षके प्रति अवहेलना होनेसे उसके आश्रित फूलों और पत्तोंको ही तोड़ा और नष्ट किया जाता है (इसी तरह आपके प्रति राजाकी अवहेलना होनेसे ही मेरा यहाँ अपमान हो रहा है) ॥ २० ॥

अवज्ञया च राजर्षिः परिभूय च भार्गव।
मय्यवज्ञां प्रयुङ्क्ते हि न च मां बहु मन्यते ॥ २१ ॥

''भृगुनन्दन! राजर्षि ययाति आपके अनादरका भाव रखनेके कारण मेरी भी अवहेलना करते हैं और मुझे अधिक आदर नहीं देते हैं'' ॥ २१ ॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा कोपेनाभिपरीवृतः।
व्याहर्तुमुपचक्राम भार्गवो नहुषात्मजम् ॥ २२ ॥

'देवयानीकी यह बात सुनकर भृगुनन्दन शुक्राचार्यको बड़ा क्रोध हुआ और उन्होंने नहुषपुत्र ययातिको लक्ष्य करके इस प्रकार कहना आरम्भ किया— ॥ २२ ॥

यस्मान्मामवजानीषे नाहुष त्वं दुरात्मवान्।
वयसा जरया जीर्णः शैथिल्यमुपयास्यसि ॥ २३ ॥

''नहुषकुमार! तुम दुरात्मा होनेके कारण मेरी अवहेलना करते हो, इसलिये तुम्हारी अवस्था जरा-जीर्ण वृद्धके समान हो जायगी—तुम सर्वथा शिथिल हो जाओगे'' ॥ २३ ॥

एवमुक्त्वा दुहितरं समाश्वास्य स भार्गवः।
पुनर्जगाम ब्रह्मर्षिर्भवनं स्वं महायशाः ॥ २४ ॥

'राजासे ऐसा कहकर पुत्रीको आश्वासन दे महायशस्वी ब्रह्मर्षि शुक्राचार्य पुनः अपने घरको चले गये ॥ २४ ॥

स एवमुक्त्वा द्विजपुङ्गवाग्र्यः
सुतां समाश्वास्य च देवयानीम्।
पुनर्ययौ सूर्यसमानतेजा
दत्त्वा च शापं नहुषात्मजाय ॥ २५ ॥

'सूर्यके समान तेजस्वी तथा ब्राह्मणशिरोमणियोंमें अग्रगण्य शुक्राचार्य देवयानीको आश्वासन दे नहुषपुत्र ययातिको ऐसा कहकर उन्हें पूर्वोक्त शाप दे फिर चले गये' ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डेऽष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें अट्ठावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

—★—

एकोनषष्टितमः सर्गः

ययातिका अपने पुत्र पूरुको अपना बुढ़ापा देकर बदलेमें उसका यौवन लेना और भोगोंसे तृप्त होकर पुनः दीर्घकालके बाद उसे उसका यौवन लौटा देना, पूरुका अपने पिताकी गद्दीपर अभिषेक तथा यदुको शाप

श्रुत्वा तूशनसं क्रुद्धं तदार्तो नहुषात्मजः।
जरां परमिकां प्राप्य यदुं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

शुक्राचार्यके कुपित होनेका समाचार सुनकर नहुषकुमार ययातिको बड़ा दुःख हुआ। उन्हें ऐसी वृद्धावस्था प्राप्त हुई, जो दूसरेकी जवानीसे बदली जा सकती थी। उस विलक्षण जरावस्थाको पाकर राजाने यदुसे कहा— ॥ १ ॥

यदो त्वमसि धर्मज्ञो मदर्थं प्रतिगृह्यताम्।
जरा परमिका पुत्र भोगै रंस्ये महायशः ॥ २ ॥

'यदो! तुम धर्मके ज्ञाता हो। मेरे महायशस्वी पुत्र! तुम मेरे लिये दूसरेके शरीरमें संचारित करनेके योग्य इस जरावस्थाको ले लो। मैं भोगोंद्वारा रमण करूँगा—अपनी भोगविषयक इच्छाको पूर्ण करूँगा ॥ २ ॥

न तावत् कृतकृत्योऽस्मि विषयेषु नरर्षभ।
अनुभूय तदा कामं ततः प्राप्स्याम्यहं जराम् ॥ ३ ॥

'नरश्रेष्ठ! अभीतक मैं विषयभोगोंसे तृप्त नहीं हुआ हूँ। इच्छानुसार विषयसुखका अनुभव करके फिर अपनी वृद्धावस्था मैं तुमसे ले लूँगा' ॥ ३ ॥

यदुस्तद्वचनं श्रुत्वा प्रत्युवाच नरर्षभम्।
पुत्रस्ते दयितः पूरुः प्रतिगृह्णातु वै जराम् ॥ ४ ॥

उनकी यह बात सुनकर यदुने नरश्रेष्ठ ययातिको उत्तर दिया—'आपके लाड़ले बेटे पूरु ही इस वृद्धावस्थाको ग्रहण करें ॥ ४ ॥

बहिष्कृतोऽहमर्थेषु संनिकर्षाच्च पार्थिव।
प्रतिगृह्णातु वै राजन् यैः सहाश्नासि भोजनम् ॥ ५ ॥

'पृथ्वीनाथ! मुझे तो आपने धनसे तथा पास रहकर लाड़-प्यार पानेके अधिकारसे भी वञ्चित कर दिया है; अतः जिनके साथ बैठकर आप भोजन करते हैं, उन्हीं लोगोंसे युवावस्था ग्रहण कीजिये' ॥ ५ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राजा पूरुमथाब्रवीत्।
इयं जरा महाबाहो मदर्थं प्रतिगृह्यताम् ॥ ६ ॥

यदुकी यह बात सुनकर राजाने पूरुसे कहा—'महाबाहो! मेरी सुख-सुविधाके लिये तुम इस

वृद्धावस्थाको ग्रहण कर लो' ॥ ६ ॥

नाहुषेणैवमुक्तस्तु पूरुः प्राञ्जलिरब्रवीत्।
धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि शासनेऽस्मि तव स्थितः ॥ ७ ॥

नहुष-पुत्र ययातिके ऐसा कहनेपर पूरु हाथ जोड़कर बोले—'पिताजी! आपकी सेवाका अवसर पाकर मैं धन्य हो गया। यह आपका मेरे ऊपर महान् अनुग्रह है। आपकी आज्ञाका पालन करनेके लिये मैं हर तरहसे तैयार हूँ' ॥ ७ ॥

पूरोर्वचनमाज्ञाय नाहुषः परया मुदा।
प्रहर्षमतुलं लेभे जरां संक्रामयच्च ताम् ॥ ८ ॥

पूरुका यह स्वीकारसूचक वचन सुनकर नहुषकुमार ययातिको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्हें अनुपम हर्ष प्राप्त हुआ और उन्होंने अपनी वृद्धावस्था पूरुके शरीरमें संचारित कर दी ॥ ८ ॥

ततः स राजा तरुणः प्राप्य यज्ञान् सहस्रशः।
बहुवर्षसहस्राणि पालयामास मेदिनीम् ॥ ९ ॥

तदनन्तर तरुण हुए राजा ययातिने सहस्रों यज्ञोंका अनुष्ठान करते हुए कई हजार वर्षोंतक इस पृथ्वीका पालन किया ॥ ९ ॥

अथ दीर्घस्य कालस्य राजा पूरुमथाब्रवीत्।
आनयस्व जरां पुत्र न्यासं निर्यातयस्व मे ॥ १० ॥

इसके बाद दीर्घकाल व्यतीत होनेपर राजाने पूरुसे कहा—'बेटा! तुम्हारे पास धरोहरके रूपमें रखी हुई मेरी वृद्धावस्थाको मुझे लौटा दो ॥ १० ॥

न्यासभूता मया पुत्र त्वयि संक्रामिता जरा।
तस्मात् प्रतिगृहीष्यामि तां जरां मा व्यथां कृथाः ॥ ११ ॥

'पुत्र! मैंने वृद्धावस्थाको धरोहरके रूपमें ही तुम्हारे शरीरमें संचारित किया था; इसलिये उसे वापस ले लूँगा। तुम अपने मनमें दुःख न मानना ॥ ११ ॥

प्रीतश्चास्मि महाबाहो शासनस्य प्रतिग्रहात्।
त्वां चाहमभिषेक्ष्यामि प्रीतियुक्तो नराधिपम् ॥ १२ ॥

'महाबाहो! तुमने मेरी आज्ञा मान ली, इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। अब मैं बड़े प्रेमसे राजाके पदपर तुम्हारा अभिषेक करूँगा' ॥ १२ ॥

एवमुक्त्वा सुतं पूरुं ययातिर्नहुषात्मजः।
देवयानीसुतं क्रुद्धो राजा वाक्यमुवाच ह ॥ १३ ॥

अपने पुत्र पूरुसे ऐसा कहकर नहुषकुमार राजा ययाति देवयानीके बेटेसे कुपित होकर बोले— ॥ १३ ॥

राक्षसस्त्वं मया जातः क्षत्ररूपो दुरासदः।
प्रतिहंसि ममाज्ञां त्वं प्रजार्थे विफलो भव ॥ १४ ॥

'यदो! मैंने दुर्जय क्षत्रियके रूपमें तुम-जैसे राक्षसको जन्म दिया। तुमने मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन किया है, अतः तुम अपनी संतानोंको राज्याधिकारी बनानेके विषयमें विफल-मनोरथ हो जाओ ॥ १४ ॥

पितरं गुरुभूतं मां यस्मात् त्वमवमन्यसे।
राक्षसान् यातुधानांस्त्व जनयिष्यसि दारुणान् ॥ १५ ॥

'मैं पिता हूँ, गुरु हूँ; फिर भी तुम मेरा अपमान करते हो, इसलिये भयंकर राक्षसों और यातुधानोंको तुम जन्म दोगे ॥ १५ ॥

न तु सोमकुलोत्पन्ने वंशे स्थास्यति दुर्मतिः।
वंशोऽपि भवतस्तुल्यो दुर्विनीतो भविष्यति ॥ १६ ॥

'तुम्हारी बुद्धि बहुत खोटी है। अतः तुम्हारी संतान सोमकुलमें उत्पन्न वंशपरम्परामें राजाके रूपसे प्रतिष्ठित नहीं होगी। तुम्हारी संतति भी तुम्हारे ही समान उद्दण्ड होगी' ॥ १६ ॥

तमेवमुक्त्वा राजर्षिः पूरुं राज्यविवर्धनम्।
अभिषेकेण सम्पूज्य आश्रमं प्रविवेश ह ॥ १७ ॥

यदुसे ऐसा कहकर राजर्षि ययातिने राज्यकी वृद्धि करनेवाले पूरुको अभिषेकके द्वारा सम्मानित करके वानप्रस्थ-आश्रममें प्रवेश किया ॥ १७ ॥

ततः कालेन महता दिष्टान्तमुपजग्मिवान्।
त्रिदिवं स गतो राजा ययातिर्नहुषात्मजः ॥ १८ ॥

तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् प्रारब्ध-भोगका क्षय होनेपर नहुषपुत्र राजा ययातिने शरीरको त्याग दिया और स्वर्गलोकको प्रस्थान किया ॥ १८ ॥

पूरुश्चकार तद् राज्यं धर्मेण महता वृतः।
प्रतिष्ठाने पुरवरे काशिराज्ये महायशाः ॥ १९ ॥

उसके बाद महायशस्वी पूरुने महान् धर्मसे संयुक्त हो काशिराजकी श्रेष्ठ राजधानी प्रतिष्ठानपुरमें रहकर उस राज्यका पालन किया ॥ १९ ॥

यदुस्तु जनयामास यातुधानान् सहस्रशः।
पुरे क्रौञ्चवने दुर्गे राजवंशबहिष्कृतः ॥ २० ॥

राजकुलसे बहिष्कृत यदुने नगरमें तथा दुर्गम क्रौञ्चवनमें सहस्रों यातुधानोंको जन्म दिया ॥ २० ॥

एष तूशनसा मुक्तः शापोत्सर्गो ययातिना।
धारितः क्षत्रधर्मेण यं निमिश्चक्षमे न च ॥ २१ ॥

शुक्राचार्यके दिये हुए इस शापको राजा ययातिने क्षत्रियधर्मके अनुसार धारण कर लिया। परंतु राजा निमिने वसिष्ठजीके शापको नहीं सहन किया ॥ २१ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं दर्शनं सर्वकारिणाम्।
अनुवर्तामहे सौम्य दोषो न स्याद् यथा नृगे ॥ २२ ॥

सौम्य! यह सारा प्रसंग मैंने तुम्हें सुना दिया। समस्त कृत्योंका पालन करनेवाले सत्पुरुषोंकी दृष्टि (विचार) का ही हम अनुसरण करते हैं, जिससे राजा नृगकी भाँति हमें भी दोष न प्राप्त हो ॥ २२ ॥

इति कथयति रामे चन्द्रतुल्याननेन
प्रविरलतरतारं व्योम यज्ञे तदानीम्।

अरुणकिरणरक्ता दिग् बभौ चैव पूर्वा
कुसुमरसविमुक्तं वस्त्रमागुण्ठितेव ॥ २३ ॥

चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाले श्रीराम जब इस प्रकार कथा कह रहे थे, उस समय आकाशमें दो-ही-एक तारे रह गये। पूर्व दिशा अरुण किरणोंसे रञ्जित हो लाल दिखायी देने लगी, मानो कुसुम-रंगमें रँगे हुए अरुण वस्त्रसे उसने अपने अङ्गोंको ढक लिया हो ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे एकोनषष्टितमः सर्गः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें उनसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

प्रक्षिप्तः सर्गः १*

श्रीरामके द्वारपर कार्यार्थी कुत्तेका आगमन और श्रीरामका उसे दरबारमें लानेका आदेश

ततः प्रभाते विमले कृत्वा पौर्वाह्णिकीं क्रियाम्।
धर्मासनगतो राजा रामो राजीवलोचनः ॥ १ ॥
राजधर्मानवेक्षन् वै ब्राह्मणैर्नैगमैः सह।
पुरोधसा वसिष्ठेन ऋषिणा कश्यपेन च ॥ २ ॥

तदनन्तर निर्मल प्रभातकालमें पूर्वाह्णकालोचित संध्या-वन्दन आदि नित्यकर्म करके कमलनयन राजा श्रीराम राजधर्मोंका पालन (प्रजाजनोंके विवादका निपटारा) करनेके लिये वेदवेत्ता ब्राह्मणों, पुरोहित वसिष्ठ तथा कश्यप मुनिके साथ राजसभामें उपस्थित हो धर्म (न्याय)-के आसनपर विराजमान हुए ॥ १-२ ॥

मन्त्रिभिर्व्यवहारज्ञैस्तथान्यैर्धर्मपाठकैः।
नीतिज्ञैरथ सभ्यैश्च राजभिः सा सभा वृता ॥ ३ ॥

वह सभा व्यवहारका ज्ञान रखनेवाले मन्त्रियों, धर्मशास्त्रोंका पाठ करनेवाले विद्वानों, नीतिज्ञों, राजाओं तथा अन्य सभासदोंसे भरी हुई थी ॥ ३ ॥

सभा यथा महेन्द्रस्य यमस्य वरुणस्य च।
शुशुभे राजसिंहस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥ ४ ॥

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले राजसिंह श्रीरामकी वह सभा इन्द्र, यम और वरुणकी सभाके समान शोभा पाती थी ॥ ४ ॥

अथ रामोऽब्रवीत् तत्र लक्ष्मणं शुभलक्षणम्।
निर्गच्छ त्वं महाबाहो सुमित्रानन्दवर्धन ॥ ५ ॥
कार्यार्थिनश्च सौमित्रे व्याहर्तुं त्वमुपाक्रम।

वहाँ बैठे हुए भगवान् श्रीरामने शुभलक्षणसम्पन्न लक्ष्मणसे कहा—'माता सुमित्राका आनन्द बढ़ानेवाले महाबाहु वीर! तुम बाहर निकलो और देखो कि कौन-कौन-से कार्यार्थी उपस्थित हैं। सुमित्राकुमार! तुम उन कार्यार्थियोंको बारी-बारीसे बुलाना आरम्भ करो' ॥ ५½ ॥

रामस्य भाषितं श्रुत्वा लक्ष्मणः शुभलक्षणः ॥ ६ ॥
द्वारदेशमुपागम्य कार्यिणश्चाह्वयत् स्वयम्।
न कश्चिदब्रवीत् तत्र मम कार्यमिहाद्य वै ॥ ७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका यह आदेश सुनकर शुभलक्षण लक्ष्मणने द्वारदेशपर आकर स्वयं ही कार्यार्थियोंको पुकारा, परंतु कोई भी वहाँ यह न कह सका कि मुझे यहाँ कोई कार्य है ॥ ६-७ ॥

नाधयो व्याधयश्चैव रामे राज्यं प्रशासति।
पक्वसस्या वसुमती सर्वौषधिसमन्विता ॥ ८ ॥

श्रीरामके राज्य-शासन करते समय न तो कहीं किसीको शारीरिक रोग होते थे और न मानसिक चिन्ताएँ ही सताती थीं। पृथ्वीपर सब प्रकारकी ओषधियाँ (अन्न-फल आदि) उत्पन्न होती थीं और पकी हुई खेती शोभा पाती थी ॥ ८ ॥

न बालो म्रियते तत्र न युवा न च मध्यमः।
धर्मेण शासितं सर्वं न च बाधा विधीयते ॥ ९ ॥

श्रीरामके राज्यमें न तो बालककी मृत्यु होती थी न युवककी और न मध्यम अवस्थाके पुरुषकी ही। सबका धर्मपूर्वक शासन होता था। किसीके सामने कभी कोई बाधा नहीं आती थी ॥ ९ ॥

दृश्यते न च कार्यार्थी रामे राज्यं प्रशासति।
लक्ष्मणः प्राञ्जलिर्भूत्वा रामायैवं न्यवेदयत् ॥ १० ॥

श्रीरामके राज्य-शासनकालमें कभी कोई कार्यार्थी (अभियोग लेकर आनेवाला पुरुष) दिखायी नहीं देता था। लक्ष्मणने हाथ जोड़कर श्रीरामचन्द्रजीको राज्यकी ऐसी स्थिति बतायी ॥ १० ॥

अथ रामः प्रसन्नात्मा सौमित्रिमिदमब्रवीत्।
भूय एव तु गच्छ त्वं कार्यिणः प्रविचारय ॥ ११ ॥

तदनन्तर प्रसन्नचित्त हुए श्रीरामने सुमित्राकुमारसे पुनः इस प्रकार कहा—'लक्ष्मण! तुम फिर जाओ और कार्यार्थी पुरुषोंका पता लगाओ ॥ ११ ॥

सम्यक्प्रणीतया नीत्या नाधर्मो विद्यते क्वचित्।
तस्माद् राजभयात् सर्वे रक्षन्तीह परस्परम् ॥ १२ ॥

'भलीभाँति उत्तम नीतिका प्रयोग करनेसे राज्यमें कहीं अधर्म नहीं रह जाता है। अतः सभी लोग राजाके भयसे यहाँ

* कुछ प्रतियोंमें यहाँ तीन सर्ग और मिलते हैं, जिनपर संस्कृत-टीकाकारोंकी व्याख्या न मिलनेसे इन्हें प्रक्षिप्त बताया गया है। इनमेंसे दो सर्ग उपयोगी होनेके कारण यहाँ अनुवादसहित दिये जा रहे हैं।

एक-दूसरेकी रक्षा करते हैं ॥ १२ ॥

बाणा इव मया मुक्ता इह रक्षन्ति मे प्रजाः ।
तथापि त्वं महाबाहो प्रजा रक्षस्व तत्परः ॥ १३ ॥

'यद्यपि राजकर्मचारी मेरे छोड़े हुए बाणोंके समान यहाँ प्रजाकी रक्षा करते हैं, तथापि महाबाहो ! तुम स्वयं भी तत्पर रहकर प्रजाका पालन किया करो' ॥ १३ ॥

एवमुक्तस्तु सौमित्रिर्निर्जगाम नृपालयात् ।
अपश्यद् द्वारदेशे वै श्वानं तावदवस्थितम् ॥ १४ ॥
तमेव वीक्षमाणं वै विक्रोशन्तं मुहुर्मुहुः ।
दृष्ट्वाथ लक्ष्मणस्तं वै स पप्रच्छाथ वीर्यवान् ॥ १५ ॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर सुमित्राकुमार लक्ष्मण राजभवनसे बाहर निकले। बाहर आकर उन्होंने देखा, द्वारपर एक कुत्ता खड़ा है, जो उन्हींकी ओर देखता हुआ बारंबार भूँक रहा है। उसे इस प्रकार देखकर पराक्रमी लक्ष्मणने उससे पूछा— ॥ १४-१५ ॥

किं ते कार्यं महाभाग ब्रूहि विस्रब्धमानसः ।
लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा सारमेयोऽभ्यभाषत ॥ १६ ॥

'महाभाग ! तुम निर्भय होकर बताओ, तुम्हारा क्या काम है ?' लक्ष्मणका यह वचन सुनकर कुत्तेने कहा— ॥ १६ ॥

सर्वभूतशरण्याय रामायाक्लिष्टकर्मणे ।
भयेष्वभयदात्रे च तस्मै वक्तुं समुत्सहे ॥ १७ ॥

'जो समस्त भूतोंको शरण देनेवाले और क्लेशरहित कर्म करनेवाले हैं, जो भयके अवसरोंपर भी अभय देते हैं, उन भगवान् श्रीरामके समक्ष ही मैं अपना काम बता सकता हूँ' ॥ १७ ॥

एतच्छ्रुत्वा च वचनं सारमेयस्य लक्ष्मणः ।
राघवाय तदाख्यातुं प्रविवेशालयं शुभम् ॥ १८ ॥

कुत्तेका यह कथन सुनकर लक्ष्मणने श्रीरघुनाथजीको इसकी सूचना देनेके लिये सुन्दर राजभवनमें प्रवेश किया ॥ १८ ॥

निवेद्य रामस्य पुनर्निर्जगाम नृपालयात् ।
वक्तव्यं यदि ते किंचित् तत्त्वं ब्रूहि नृपाय वै ॥ १९ ॥

श्रीरामको उसकी बात बताकर लक्ष्मण पुनः राजभवनसे बाहर निकल आये और उससे बोले—'यदि तुम्हें कुछ कहना है तो चलकर राजासे ही कहो' ॥ १९ ॥

लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा सारमेयोऽभ्यभाषत ।
देवागारे नृपागारे द्विजवेश्मसु वै तथा ॥ २० ॥
वह्निः शतक्रतुश्चैव सूर्यो वायुश्च तिष्ठति ।
नात्र योग्यास्तु सौमित्रे योनीनामधमा वयम् ॥ २१ ॥

लक्ष्मणकी वह बात सुनकर कुत्ता बोला—'सुमित्रानन्दन ! देवालयमें, राजभवनमें तथा ब्राह्मणके घरोंमें अग्नि, इन्द्र, सूर्य और वायुदेवता सदा स्थित रहते हैं; अतः हम अधमयोनिके जीव स्वेच्छासे वहाँ जानेके योग्य नहीं हैं ॥ २१ ॥

प्रवेष्टुं नात्र शक्ष्यामि धर्मो विग्रहवान् नृपः ।
सत्यवादी रणपटुः सर्वसत्त्वहिते रतः ॥ २२ ॥

'मैं इस राजभवनमें प्रवेश नहीं कर सकूँगा; क्योंकि राजा श्रीराम धर्मके मूर्तिमान् स्वरूप हैं। वे सत्यवादी, संग्रामकुशल और समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले हैं ॥ २२ ॥

षाड्गुण्यस्य पदं वेत्ति नीतिकर्ता स राघवः ।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च रामो रमयतां वरः ॥ २३ ॥

'वे संधि-विग्रह आदि छहों गुणोंके प्रयोगके अवसरोंको जानते हैं। श्रीरघुनाथजी न्याय करनेवाले हैं। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं। श्रीराम दूसरोंके मनको रमानेवाले पुरुषोंमें श्रेष्ठ हैं ॥ २३ ॥

स सोमः स च मृत्युश्च स यमो धनदस्तथा ।
वह्निः शतक्रतुश्चैव सूर्यो वै वरुणस्तथा ॥ २४ ॥

'वे ही चन्द्रमा हैं, वे ही मृत्यु हैं, वे ही यम, कुबेर, अग्नि, इन्द्र, सूर्य और वरुण हैं ॥ २४ ॥

तस्य त्वं ब्रूहि सौमित्रे प्रजापालः स राघवः ।
अनाज्ञप्तस्तु सौमित्रे प्रवेष्टुं नेच्छयाम्यहम् ॥ २५ ॥

'सुमित्रानन्दन ! श्रीरघुनाथजी प्रजापालक हैं। आप उनसे कहिये। मैं उनकी आज्ञा प्राप्त किये बिना इस भवनमें प्रवेश करना नहीं चाहता' ॥ २५ ॥

आनृशंस्यान्महाभागः प्रविवेश महाद्युतिः ।
नृपालयं प्रविश्याथ लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् ॥ २६ ॥

यह सुनकर महातेजस्वी महाभाग लक्ष्मणने दयावश राजभवनमें प्रवेश करके कहा— ॥ २६ ॥

श्रूयतां मम विज्ञाप्यं कौसल्यानन्दवर्धन ।
यन्मयोक्तं महाबाहो तव शासनजं विभो ॥ २७ ॥

'कौसल्याका आनन्द बढ़ानेवाले महाबाहु श्रीरघुनाथजी ! मेरा यह निवेदन सुनिये। आपने जो आदेश दिया था, उसके अनुसार मैंने बाहर जाकर कार्यार्थीको पुकारा ॥ २७ ॥

श्वा वै ते तिष्ठते द्वारि कार्यार्थी समुपागतः ।
लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा रामो वचनमब्रवीत् ।
सम्प्रवेशय वै क्षिप्रं कार्यार्थी योऽत्र तिष्ठति ॥ २८ ॥

'इस समय आपके द्वारपर एक कुत्ता खड़ा है, जो कार्यार्थी होकर आया है।' लक्ष्मणकी यह बात सुनकर श्रीरामने कहा—'यहाँ जो भी कार्यार्थी होकर खड़ा है, उसे शीघ्र इस सभाके भीतर ले आओ' ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे प्रक्षिप्तः सर्गः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें प्रक्षिप्त सर्ग १ पूरा हुआ ॥

प्रक्षिप्तः सर्गः २

कुत्तेके प्रति श्रीरामका न्याय, उसकी इच्छाके अनुसार उसे मारनेवाले ब्राह्मणको मठाधीश बना देना और कुत्तेका मठाधीश होनेका दोष बताना

श्रुत्वा रामस्य वचनं लक्ष्मणस्त्वरितस्तदा।
श्वानमाहूय मतिमान् राघवाय न्यवेदयत्॥ १॥

श्रीरामका यह वचन सुनकर बुद्धिमान् लक्ष्मणने तत्काल उस कुत्तेको बुलाया और श्रीरामको उसके आनेकी सूचना दी॥ १॥

दृष्ट्वा समागतं श्वानं रामो वचनमब्रवीत्।
विवक्षितार्थं मे ब्रूहि सारमेय न ते भयम्॥ २॥

वहाँ आये हुए कुत्तेकी ओर देखकर श्रीरामने कहा—'सारमेय! तुम्हें जो कुछ कहना है, उसे मेरे सामने कहो। यहाँ तुम्हें कोई भय नहीं है'॥ २॥

अथापश्यत तत्रस्थं रामं श्वा भिन्नमस्तकः।
ततो दृष्ट्वा स राजानं सारमेयोऽब्रवीद् वचः॥ ३॥

कुत्तेका मस्तक फट गया था। उसने राजसभामें बैठे हुए महाराज श्रीरामकी ओर देखा और देखकर इस प्रकार कहा—॥ ३॥

राजैव कर्ता भूतानां राजा चैव विनायकः।
राजा सुप्तेषु जागर्ति राजा पालयति प्रजाः॥ ४॥

'राजा ही समस्त प्राणियोंका उत्पादक और नायक है। राजा सबके सोते रहनेपर भी जागता है और प्रजाओंका पालन करता है॥ ४॥

नीत्या सुनीतया राजा धर्मं रक्षति रक्षिता।
यदा न पालयेद् राजा क्षिप्रं नश्यन्ति वै प्रजाः॥ ५॥

'राजा सबका रक्षक है। वह उत्तम नीतिका प्रयोग करके सबकी रक्षा करता है। यदि राजा पालन न करे तो समस्त प्रजाएँ शीघ्र नष्ट हो जाती हैं॥ ५॥

राजा कर्ता च गोप्ता च सर्वस्य जगतः पिता।
राजा कालो युगं चैव राजा सर्वमिदं जगत्॥ ६॥

'राजा कर्ता, राजा रक्षक और राजा सम्पूर्ण जगत्का पिता है। राजा काल और युग है तथा राजा यह सम्पूर्ण जगत् है॥ ६॥

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।
यस्माद् धारयते सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम्॥ ७॥

'धर्म सम्पूर्ण जगत्को धारण करता है, इसीलिये उसका नाम धर्म है। धर्मने ही समस्त प्रजाको धारण कर रखा है; क्योंकि वही चराचर प्राणियोंसहित सारी त्रिलोकीका आधार है॥ ७॥

धारणाद् विद्विषां चैव धर्मेणारञ्जयन् प्रजाः।
तस्माद् धारणमित्युक्तं स धर्म इति निश्चयः॥ ८॥

'राजा अपने द्रोहियोंको भी धारण करता है (अथवा वह दुष्टोंको भी मर्यादामें स्थापित करता है) तथा वह धर्मके द्वारा प्रजाको प्रसन्न रखता है; इसलिये उसके शासनरूप कर्मको धारण कहा गया है और धारण ही धर्म है, यह शास्त्रका सिद्धान्त है॥ ८॥

एष राजन् परो धर्मः फलवान् प्रेत्य राघव।
नहि धर्माद् भवेत् किंचिद् दुष्प्रापमिति मे मतिः॥ ९॥

'रघुनन्दन! यह प्रजापालनरूप परम धर्म राजाको परलोकमें उत्तम फल देनेवाला होता है। मेरा तो यह दृढ़ विश्वास है कि धर्मसे कुछ भी दुर्लभ नहीं है॥ ९॥

दानं दया सतां पूजा व्यवहारेषु चार्जवम्।
एष राम परो धर्मो रक्षणात् प्रेत्य चेह च॥ १०॥

'श्रीराम! दान, दया, सत्पुरुषोंका सम्मान और व्यवहारमें सरलता यह परम धर्म है। प्रजाजनोंकी रक्षासे होनेवाला उत्कृष्ट धर्म इहलोक और परलोकमें भी सुख देनेवाला होता है॥ १०॥

त्वं प्रमाणं प्रमाणानामसि राघव सुव्रत।
विदितश्चैव ते धर्मः सद्भिराचरितस्तु वै॥ ११॥

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले रघुनन्दन! आप समस्त प्रमाणोंके भी प्रमाण हैं। सत्पुरुषोंने जिस धर्मका आचरण किया है, वह आपको भलीभाँति विदित ही है॥ ११॥

धर्माणां त्वं परं धाम गुणानां सागरोपमः।
अज्ञानाच्च मया राजन्नुक्तस्त्वं राजसत्तम॥ १२॥

'राजन्! आप धर्मोंके परम धाम और गुणोंके सागर हैं। नृपश्रेष्ठ! मैंने अज्ञानवश ही आपके सामने धर्मकी व्याख्या की है॥ १२॥

प्रसादयामि शिरसा न त्वं क्रोद्धुमिहार्हसि।
शुनः स वचनं श्रुत्वा राघवो वाक्यमब्रवीत्॥ १३॥

'इसके लिये मैं आपके चरणोंमें मस्तक रखकर क्षमा चाहता और आपके प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करता हूँ। आप यहाँ मुझपर कुपित न हों।' कुत्तेकी यह बात सुनकर श्रीरघुनाथजी बोले—॥ १३॥

किं ते कार्यं करोम्यद्य ब्रूहि विस्रब्धं मा चिरम्।
रामस्य वचनं श्रुत्वा सारमेयोऽब्रवीदिदम्॥ १४॥

'तुम निर्भय होकर बताओ। आज मैं तुम्हारा कौन-सा कार्य सिद्ध करूँ। अपना काम बतानेमें विलम्ब न करो।' श्रीरामकी यह बात सुनकर कुत्ता बोला—॥ १४॥

धर्मेण राष्ट्रं विन्देत धर्मेणैवानुपालयेत्।
धर्माच्छरण्यतां याति राजा सर्वभयापहः॥ १५॥
इदं विज्ञाय यत् कृत्यं श्रूयतां मम राघव।

'रघुनन्दन! राजा धर्मसे ही राज्य प्राप्त करे और धर्मसे ही निरन्तर उसका पालन करे। धर्मसे ही राजा सबको शरण देनेवाला और सबका भय दूर करनेवाला होता है। ऐसा जानकर आप मेरा जो कार्य है, उसे सुनिये ॥ १५½ ॥

भिक्षुः सर्वार्थसिद्धश्च ब्राह्मणावसथे वसन् ॥ १६ ॥
तेन दत्तः प्रहारो मे निष्कारणमनागसः ।

'प्रभो! सर्वार्थसिद्ध नामसे प्रसिद्ध एक भिक्षु है, जो ब्राह्मणोंके घरमें रहा करता है। उसने आज अकारण मुझपर प्रहार किया है। मैंने उसका कोई अपराध नहीं किया था' ॥ १६½ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु रामेण द्वाःस्थः सम्प्रेषितस्तदा ॥ १७ ॥
आनीतश्च द्विजस्तेन सर्वसिद्धार्थकोविदः ।

कुत्तेकी यह बात सुनकर श्रीरामने तत्काल एक द्वारपाल भेजा और उस सर्वार्थसिद्ध नामक विद्वान् भिक्षु ब्राह्मणको बुलवाया ॥ १७½ ॥

अथ द्विजवरस्तत्र रामं दृष्ट्वा महाद्युतिः ॥ १८ ॥
किं ते कार्यं मया राम तद् ब्रूहि त्वं ममानघ ।

श्रीरामको देखकर उस महातेजस्वी श्रेष्ठ ब्राह्मणने पूछा—'निष्पाप रघुनन्दन! मुझसे आपको क्या काम है?' ॥ १८½ ॥

एवमुक्तस्तु विप्रेण रामो वचनमब्रवीत् ॥ १९ ॥
त्वया दत्तः प्रहारोऽयं सारमेयस्य वै द्विज ।
किं तवापकृतं विप्र दण्डेनाभिहतो यतः ॥ २० ॥

ब्राह्मणके इस प्रकार पूछनेपर श्रीराम बोले—'ब्रह्मन्! आपने इस कुत्तेके सिरपर जो यह प्रहार किया है, उसका क्या कारण है? विप्रवर! इसने आपका क्या अपराध किया था, जिसके कारण आपने इसे डंडा मारा है?' ॥ १९-२० ॥

क्रोधः प्राणहरः शत्रुः क्रोधो मित्रमुखो रिपुः ।
क्रोधो ह्यसिर्महातीक्ष्णः सर्वं क्रोधोऽपकर्षति ॥ २१ ॥

'क्रोध प्राणहारी शत्रु है। क्रोधको मित्रमुख[1] शत्रु बताया गया है। क्रोध अत्यन्त तीखी तलवार है तथा क्रोध सारे सद्गुणोंको खींच लेता है ॥ २१ ॥

तपते यजते चैव यच्च दानं प्रयच्छति ।
क्रोधेन सर्वं हरति तस्मात् क्रोधं विसर्जयेत् ॥ २२ ॥

'मनुष्य जो तप करता, यज्ञ करता और दान देता है, उन सबके पुण्यको वह क्रोधके द्वारा नष्ट कर देता है। इसलिये क्रोधको त्याग देना चाहिये ॥ २२ ॥

इन्द्रियाणां प्रदुष्टानां हयानामिव धावताम् ।
कुर्वीत धृत्या सारथ्यं संहृत्येन्द्रियगोचरम् ॥ २३ ॥

'दुष्ट घोड़ोंकी तरह विषयोंकी ओर दौड़नेवाली इन्द्रियोंको उन विषयोंकी ओरसे हटाकर धैर्यपूर्वक उन्हें नियन्त्रणमें रखे ॥ २३ ॥

मनसा कर्मणा वाचा चक्षुषा च समाचरेत् ।
श्रेयो लोकस्य चरतो न द्वेष्टि न च लिप्यते ॥ २४ ॥

'मनुष्यको चाहिये कि वह अपने पास विचरनेवाले लोगोंकी मन, वाणी, क्रिया और दृष्टिद्वारा भलाई ही करे। किसीसे द्वेष न रखे। ऐसा करनेसे वह पापसे लिप्त नहीं होता ॥ २४ ॥

न तत् कुर्यादसिस्तीक्ष्णः सर्पो वा व्याहतः पदा ।
अरिर्वा नित्यसंक्रुद्धो यथाऽऽत्मा दुरनुष्ठितः ॥ २५ ॥

'अपना दुष्ट मन जो अनिष्ट या अनर्थ कर सकता है, वैसा तीखी तलवार, पैरोंतले कुचला हुआ सर्प अथवा सदा क्रोधसे भरा रहनेवाला शत्रु भी नहीं कर सकता ॥ २५ ॥

विनीतविनयस्यापि प्रकृतिर्न विधीयते ।
प्रकृतिं गूहमानस्य निश्चयेन कृतिर्ध्रुवा ॥ २६ ॥

'जिसे विनयकी शिक्षा मिली हो, उसकी भी प्रकृति नयी नहीं बनती है। कोई अपनी दुष्ट प्रकृतिको कितना ही क्यों न छिपाये, उसके कार्यमें उसकी दुष्टता निश्चय ही प्रकट हो जाती है' ॥ २६ ॥

एवमुक्तः स विप्रो वै रामेणाक्लिष्टकर्मणा ।
द्विजः सर्वार्थसिद्धस्तु अब्रवीद् रामसंनिधौ ॥ २७ ॥

क्लेशरहित कर्म करनेवाले श्रीरामके ऐसा कहनेपर सर्वार्थसिद्ध नामक ब्राह्मणने उनके निकट इस प्रकार कहा— ॥ २७ ॥

मया दत्तप्रहारोऽयं क्रोधेनाविष्टचेतसा ।
भिक्षार्थमटमानेन काले विगतभैक्षके ॥ २८ ॥
रथ्यास्थितस्त्वयं श्वा वै गच्छ गच्छेति भाषितः ।
अथ स्वैरेण गच्छंस्तु रथ्यान्ते विषमं स्थितः ॥ २९ ॥

'प्रभो! मेरा मन क्रोधसे भर गया था, इसलिये मैंने इसे डंडेसे मारा है। भिक्षाका समय बीत चुका था, तथापि भूखे रहनेके कारण भिक्षा माँगनेके लिये मैं द्वार-द्वार घूम रहा था। यह कुत्ता बीच रास्तेमें खड़ा था। मैंने बार-बार कहा—'तुम रास्तेसे हट जाओ, हट जाओ' फिर यह अपनी मौजसे चला और सड़कके बीचमें बेढंगे खड़ा हो गया ॥ २८-२९ ॥

क्रोधेन क्षुधयाविष्टस्ततो दत्तोऽस्य राघव ।
प्रहारो राजराजेन्द्र शाधि मामपराधिनम् ॥ ३० ॥
त्वया शस्तस्य राजेन्द्र नास्ति मे नरकाद्भयम् ।

'मैं भूखा तो था ही, क्रोध चढ़ आया। राजाधिराज रघुनन्दन! उस क्रोधसे ही प्रेरित होकर मैंने इसके सिरपर डंडा मार दिया। मैं अपराधी हूँ। आप मुझे दण्ड दीजिये।

---

1. जो ऊपरसे मित्र जान पड़े किंतु परिणाममें शत्रु सिद्ध हो, वह 'मित्रमुख' शत्रु है। क्रोध अपने प्रतिद्वन्द्वीको सतानेमें सहायक-सा बनकर आता है, इसीलिये इसे मित्रमुख कहा गया है।

राजेन्द्र! आपसे दण्ड मिल जानेपर मुझे नरकमें पड़नेका डर नहीं रहेगा' ॥ ३०½ ॥

अथ रामेण सम्पृष्टाः सर्व एव सभासदः ॥ ३१ ॥
किं कार्यमस्य वै ब्रूत दण्डो वै कोऽस्य पात्यताम्।
सम्यक्प्रणिहिते दण्डे प्रजा भवति रक्षिता ॥ ३२ ॥

तब श्रीरामने सभी सभासदोंसे पूछा—'आपलोग बतावें, इसके लिये क्या करना चाहिये? इसे कौन-सा दण्ड दिया जाय! क्योंकि भलीभाँति दण्डका प्रयोग होनेपर प्रजा सुरक्षित रहती है' ॥ ३१-३२ ॥

भृग्वाङ्गिरसकुत्साद्या वसिष्ठश्च सकाश्यपः।
धर्मपाठकमुख्याश्च सचिवा नैगमास्तथा ॥ ३३ ॥
एते चान्ये च बहवः पण्डितास्तत्र संगताः।
अवध्यो ब्राह्मणो दण्डैरिति शास्त्रविदो विदुः ॥ ३४ ॥
ब्रुवते राघवं सर्वे राजधर्मेषु निष्ठिताः।

उस सभामें भृगु, अङ्गिरस, कुत्स, वसिष्ठ और काश्यप आदि मुनि थे। धर्मशास्त्रोंका पाठ करनेवाले मुख्य-मुख्य विद्वान् उपस्थित थे। मन्त्री और महाजन मौजूद थे—ये तथा और बहुत-से पण्डित वहाँ एकत्र हुए थे। राजधर्मोंके ज्ञानमें परिनिष्ठित वे सभी विद्वान् श्रीरघुनाथजीसे बोले—'भगवन्! ब्राह्मण दण्डद्वारा अवध्य है, उसे शारीरिक दण्ड नहीं मिलना चाहिये, यही समस्त शास्त्रज्ञोंका मत है' ॥ ३३-३४½ ॥

अथ ते मुनयः सर्वे राममेवाब्रुवंस्तदा ॥ ३५ ॥
राजा शास्ता हि सर्वस्य त्वं विशेषेण राघव।
त्रैलोक्यस्य भवाञ्शास्ता देवो विष्णुः सनातनः ॥ ३६ ॥

तदनन्तर वे सब मुनि उस समय श्रीरामसे ही बोले—'रघुनन्दन! राजा सबका शासक होता है। विशेषतः आप तो तीनों लोकोंपर शासन करनेवाले साक्षात् सनातन देवता भगवान् विष्णु हैं' ॥ ३५-३६ ॥

एवमुक्ते तु तैः सर्वैः श्वा वै वचनमब्रवीत्।
यदि तुष्टोऽसि मे राम यदि देयो वरो मम ॥ ३७ ॥

उन सबके ऐसा कहनेपर कुत्ता बोला—'श्रीराम! यदि आप मुझपर संतुष्ट हैं, यदि आपको मुझे इच्छानुसार वर देना है, तो मेरी बात सुनिये ॥ ३७ ॥

प्रतिज्ञातं त्वया वीर किं करोमीति विश्रुतम्।
प्रयच्छ ब्राह्मणस्यास्य कौलपत्यं नराधिप ॥ ३८ ॥
कालञ्जरे महाराज कौलपत्यं प्रदीयताम्।

'वीर नरेश्वर! आपने प्रतिज्ञापूर्वक पूछा है कि मैं आपका कौन-सा कार्य सिद्ध करूँ। इस प्रकार आप मेरी इच्छा पूर्ण करनेको प्रतिज्ञाबद्ध हो चुके हैं। अतः मैं कहता हूँ कि इस ब्राह्मणको कुलपति (महन्त) बना दीजिये। महाराज! इसे कालञ्जरमें एक मठका आधिपत्य (वहाँकी महन्थी) प्रदान कर दीजिये' ॥ ३८½ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु रामेण कौलपत्येऽभिषेचितः ॥ ३९ ॥
प्रययौ ब्राह्मणो हृष्टो गजस्कन्धेन सोऽर्चितः।

यह सुनकर श्रीरामने उसका कुलपतिके पदपर अभिषेक कर दिया। इस प्रकार पूजित हुआ वह ब्राह्मण हाथीकी पीठपर बैठकर बड़े हर्षके साथ वहाँसे चला गया ॥ ३९½ ॥

अथ ते रामसचिवाः स्मयमाना वचोऽब्रुवन् ॥ ४० ॥
वरोऽयं दत्त एतस्य नायं शापो महाद्युते।

तब श्रीरामचन्द्रजीके मन्त्री मुसकराते हुए बोले—'महातेजस्वी महाराज! यह तो इसे वर दिया गया है, शाप या दण्ड नहीं' ॥ ४०½ ॥

एवमुक्तस्तु सचिवै रामो वचनमब्रवीत् ॥ ४१ ॥
न यूयं गतितत्त्वज्ञाः श्वा वै जानाति कारणम्।

'मन्त्रियोंके ऐसा कहनेपर श्रीरामने कहा—'किस कर्मका क्या परिणाम होता है अथवा उससे जीवकी कैसी गति होती है, इसका तत्त्व तुमलोग नहीं जानते। ब्राह्मणको मठाधीशका पद क्यों दिया गया? इसका कारण यह कुत्ता जानता है' ॥ ४१½ ॥

अथ पृष्टस्तु रामेण सारमेयोऽब्रवीदिदम् ॥ ४२ ॥
अहं कुलपतिस्तत्र आसं शिष्टान्नभोजनः।
देवद्विजातिपूजायां दासीदासेषु राघव ॥ ४३ ॥
संविभागी शुभरतिर्देवद्रव्यस्य रक्षिता।
विनीतः शीलसम्पन्नः सर्वसत्त्वहिते रतः ॥ ४४ ॥

तत्पश्चात् श्रीरामके पूछनेपर कुत्तेने इस प्रकार कहा—'रघुनन्दन! मैं पहले जन्ममें कालञ्जरके मठमें कुलपति (मठाधीश) था। वहाँ यज्ञशिष्ट अन्नका भोजन करता, देवता और ब्राह्मणोंकी पूजामें तत्पर रहता, दास-दासियोंको उनका न्यायोचित भाग बाँट देता, शुभ कर्मोंमें अनुरक्त रहता, देवसम्पत्तिकी रक्षा करता तथा विनय और शीलसे सम्पन्न होकर समस्त प्राणियोंके हित-साधनमें संलग्न रहता था ॥ ४२—४४ ॥

सोऽहं प्राप्त इमां घोरामवस्थामधमां गतिम्।
एवं क्रोधान्वितो विप्रस्त्यक्तधर्माहिते रतः ॥ ४५ ॥
क्रुद्धो नृशंसः परुष अविद्वांश्चाप्यधार्मिकः।
कुलानि पातयत्येव सप्त सप्त च राघव ॥ ४६ ॥

'तो भी मुझे यह घोर अवस्था एवं अधम गति प्राप्त हुई। फिर जो ऐसा क्रोधी है, धर्मको छोड़ चुका है, दूसरोंके अहितमें लगा हुआ है तथा क्रोध करनेवाला, क्रूर, कठोर, मूर्ख और अधर्मी है, वह ब्राह्मण तो मठाधीश होकर अपने साथ ही ऊपर और नीचेकी सात-सात पीढ़ियोंको भी नरकमें गिराकर ही रहेगा ॥ ४५-४६ ॥

तस्मात् सर्वास्ववस्थासु कौलपत्यं न कारयेत्।
यमिच्छेन्नरकं नेतुं सपुत्रपशुबान्धवम्॥ ४७॥
देवेष्वधिष्ठितं कुर्याद् गोषु च ब्रह्मणेषु च।

'इसलिये किसी भी दशामें मठाधीशका पद नहीं ग्रहण करना चाहिये। जिसे पुत्र, पशु और बन्धु-बान्धवोंसहित नरकमें गिरा देनेकी इच्छा हो, उसे देवताओं, गौओं और ब्राह्मणोंका अधिष्ठाता बना दे॥ ४७½॥

ब्रह्मस्वं देवताद्रव्यं स्त्रीणां बालधनं च यत्॥ ४८॥
दत्तं हरति यो भूय इष्टैः सह विनश्यति।

'जो ब्राह्मणका, देवताका, स्त्रियोंका और बालकोंका धन हर लेता है तथा जो अपनी दान की हुई सम्पत्तिको फिर वापस ले लेता है, वह इष्टजनोंसहित नष्ट हो जाता है॥ ४८½॥

ब्राह्मणद्रव्यमादत्ते देवानां चैव राघव॥ ४९॥
सद्यः पतति घोरे वै नरकेऽवीचिसंज्ञके।

'रघुनन्दन! जो ब्राह्मणों और देवताओंका द्रव्य हड़प लेता है, वह शीघ्र ही अवीचि नामक घोर नरकमें गिर जाता है॥ ४९½॥

मनसापि हि देवस्वं ब्रह्मस्वं च हरेत्तु यः॥ ५०॥
निरयान्निरयं चैव पतत्येव नराधमः।

'जो देवता और ब्राह्मणकी सम्पत्तिको हर लेनेका विचार भी मनमें लाता है, वह नराधम निश्चय ही एक नरकसे दूसरे नरकमें गिरता रहता है'॥ ५०½॥

तच्छ्रुत्वा वचनं रामो विस्मयोत्फुल्ललोचनः॥ ५१॥
श्वाप्यगच्छन्महातेजा यत एवागतस्ततः।

कुत्तेका यह वचन सुनकर श्रीरामचन्द्रजीके नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे और वह महातेजस्वी कुत्ता भी जिधरसे आया था, उधर ही चला गया॥ ५१½॥

मनस्वी पूर्वजात्या स जातिमात्रोऽपदूषितः।
वाराणस्यां महाभागः प्रायं चोपविवेश ह॥ ५२॥

वह पूर्वजन्ममें बड़ा मनस्वी था, परंतु इस जन्ममें वह कुत्तेकी योनिमें उत्पन्न होनेके कारण दूषित हो गया था। उस महाभाग कुत्तेने काशीमें जाकर प्रायोपवेशन कर लिया (अन्न-जल छोड़कर अपने प्राण त्याग दिये)॥ ५२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे प्रक्षिप्तः सर्गः॥ २॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें प्रक्षिप्त सर्ग २ पूरा हुआ॥

—★—

षष्टितमः सर्गः

श्रीरामके दरबारमें च्यवन आदि ऋषियोंका शुभागमन, श्रीरामके द्वारा उनका सत्कार करके उनके अभीष्ट कार्यको पूर्ण करनेकी प्रतिज्ञा तथा ऋषियोंद्वारा उनकी प्रशंसा

तयोः संवदतोरेवं रामलक्ष्मणयोस्तदा।
वासन्तिकी निशा प्राप्ता न शीता न च घर्मदा॥ १॥

श्रीराम और लक्ष्मण परस्पर इस प्रकार कथा-वार्ता करते हुए प्रतिदिन प्रजापालनके कार्यमें लगे रहते थे। एक समय वसन्तऋतुकी रात आयी, जो न अधिक सर्दी लानेवाली थी और न गर्मी॥ १॥

ततः प्रभाते विमले कृतपूर्वाह्णिकक्रियः।
अभिचक्राम काकुत्स्थो दर्शनं पौरकार्यवित्॥ २॥

वह रात बीतनेपर जब निर्मल प्रभातकाल आया, तब पुरवासियोंके कार्योंको जाननेवाले श्रीरघुनाथजी पूर्वाह्णकालके नित्यकर्म—संध्या-वन्दन आदिसे निवृत्त हो बाहर निकलकर प्रजाजनोंके दृष्टिपथमें आये॥ २॥

ततः सुमन्त्रस्त्वागम्य राघवं वाक्यमब्रवीत्।
एते प्रतिहता राजन् द्वारि तिष्ठन्ति तापसाः॥ ३॥
भार्गवं च्यवनं चैव पुरस्कृत्य महर्षयः।
दर्शनं ते महाराज चोदयन्ति कृतत्वराः॥ ४॥

उसी समय सुमन्त्रने आकर श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—'राजन्! ये तपस्वी महर्षि भृगुपुत्र च्यवन मुनिको आगे करके द्वारपर खड़े हैं। द्वारपालोंने इनका भीतर आना रोक दिया है। महाराज! इन्हें आपके दर्शनकी जल्दी लगी हुई है और ये अपने आगमनकी सूचना देनेके लिये हमें बारंबार प्रेरित करते हैं॥ ३-४॥

प्रीयमाणा नरव्याघ्र यमुनातीरवासिनः।
तस्य तद् वचनं श्रुत्वा रामः प्रोवाच धर्मवित्॥ ५॥
प्रवेश्यन्तां महाभागा भार्गवप्रमुखा द्विजाः।

'पुरुषसिंह! ये सब महर्षि यमुनातटपर निवास करते हैं और आपसे विशेष प्रेम रखते हैं।' सुमन्त्रकी यह बात सुनकर धर्मज्ञ श्रीरामने कहा—'सूत! भार्गव च्यवन आदि

सभी महाभाग ब्रह्मर्षियोंको भीतर बुलाया जाय' ॥५½॥

राज्ञस्त्वाज्ञां पुरस्कृत्य द्वाःस्थो मूर्ध्ना कृताञ्जलिः ॥ ६ ॥
प्रवेशयामास तदा तापसान् सुदुरासदान् ।

राजाकी यह आज्ञा शिरोधार्य करके द्वारपालने मस्तकपर दोनों हाथ जोड़ लिये और उन अत्यन्त दुर्जय तेजस्वी तापसोंको वह राजभवनके भीतर ले आया ॥६½॥

शतं समधिकं तत्र दीप्यमानं स्वतेजसा ॥ ७ ॥
प्रविष्टं राजभवनं तापसानां महात्मनाम् ।
ते द्विजाः पूर्णकलशैः सर्वतीर्थाम्बुसत्कृतैः ॥ ८ ॥
गृहीत्वा फलमूलं च रामस्याभ्याहरन् बहु ।

उन तपस्वी महात्माओंकी संख्या सौसे अधिक थी। वे सब-के-सब अपने तेजसे प्रकाशित हो रहे थे। उन सबने राजभवनमें प्रवेश किया और समस्त तीर्थोंके जलसे भरे हुए घड़ोंके साथ बहुत-से फल-मूल लेकर श्रीरामचन्द्रजीको भेंट किये ॥७-८½॥

प्रतिगृह्य तु तत् सर्वं रामः प्रीतिपुरस्कृतः ॥ ९ ॥
तीर्थोदकानि सर्वाणि फलानि विविधानि च ।
उवाच च महाबाहुः सर्वानेव महामुनीन् ॥ १० ॥

महाबाहु श्रीरामने बड़ी प्रसन्नताके साथ वह सारा उपहार—वे सारे तीर्थजल और नाना प्रकारके फल लेकर उन सभी महामुनियोंसे कहा— ॥९-१०॥

इमान्यासनमुख्यानि यथार्हमुपविश्यताम् ।
रामस्य भाषितं श्रुत्वा सर्व एव महर्षयः ॥ ११ ॥
बृसीषु रुचिराख्यासु निषेदुः काञ्चनीषु ते ।

'महात्माओ! ये उत्तमोत्तम आसन प्रस्तुत हैं। आपलोग यथायोग्य इन आसनोंपर बैठ जायँ।' श्रीरामचन्द्रजीका यह वचन सुनकर वे सभी महर्षि रुचिर शोभासे सम्पन्न उन सुवर्णमय आसनोंपर बैठे ॥११½॥

उपविष्टानृषींस्तत्र दृष्ट्वा परपुरंजयः ।
प्रयतः प्राञ्जलिर्भूत्वा राघवो वाक्यमब्रवीत् ॥ १२ ॥

उन महर्षियोंको वहाँ आसनोंपर विराजमान देख शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले श्रीरघुनाथजीने हाथ जोड़ संयतभावसे कहा— ॥१२॥

किमागमनकार्यं वः किं करोमि समाहितः ।
आज्ञाप्योऽहं महर्षीणां सर्वकामकरः सुखम् ॥ १३ ॥

'महर्षियो! किस कामसे यहाँ आपलोगोंका शुभागमन हुआ है! मैं एकाग्रचित्त होकर आपकी क्या सेवा करूँ? यह सेवक आपकी आज्ञा पानेके योग्य है। आदेश मिलनेपर मैं बड़े सुखसे आपकी सभी इच्छाओंको पूर्ण कर सकता हूँ ॥१३॥

इदं राज्यं च सकलं जीवितं च हृदि स्थितम् ।
सर्वमेतद् द्विजार्थं मे सत्यमेतद् ब्रवीमि वः ॥ १४ ॥

'यह सारा राज्य, इस हृदयकमलमें विराजमान यह जीवात्मा तथा यह मेरा सारा वैभव ब्राह्मणोंकी सेवाके लिये ही है, मैं आपके समक्ष यह सच्ची बात कहता हूँ' ॥१४॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा साधुकारो महानभूत् ।
ऋषीणामुग्रतपसां यमुनातीरवासिनाम् ॥ १५ ॥

श्रीरघुनाथजीके ये वचन सुनकर उन यमुनातीर-निवासी उग्र तपस्वी महर्षियोंने उच्चस्वरसे उन्हें साधुवाद दिया ॥१५॥

ऊचुश्चैव महात्मानो हर्षेण महता वृताः ।
उपपन्नं नरश्रेष्ठ तवैव भुवि नान्यतः ॥ १६ ॥

फिर वे महात्मा बड़े हर्षके साथ बोले—'नरश्रेष्ठ! इस भूमण्डलमें ऐसी बातें आपके ही योग्य हैं। दूसरे किसीके मुखसे इस तरहकी बात नहीं निकलती ॥१६॥

बहवः पार्थिवा राजन्नतिक्रान्ता महाबलाः ।
कार्यस्य गौरवं मत्वा प्रतिज्ञां नाभ्यरोचयन् ॥ १७ ॥

'राजन्! हम बहुत-से महाबली राजाओंके पास गये; परंतु उन्होंने कार्यके गौरवको समझकर उसे सुननेके बाद भी 'करूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा करनेकी रुचि नहीं दिखायी ॥१७॥

त्वया पुनर्ब्राह्मणगौरवादियं
कृता प्रतिज्ञा ह्यनवेक्ष्य कारणम् ।
ततश्च कर्ता ह्यसि नात्र संशयो
महाभयात् त्रातुमृषींस्त्वमर्हसि ॥ १८ ॥

'परंतु आपने हमारे आनेका कारण जाने बिना ही केवल ब्राह्मणोंके प्रति आदरका भाव होनेसे हमारा काम करनेकी प्रतिज्ञा कर डाली है; इसलिये आप अवश्य यह काम कर सकेंगे, इसमें संशय नहीं है। आप ही महान् भयसे ऋषियोंको बचा सकेंगे' ॥१८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे षष्टितमः सर्गः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें साठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६० ॥

—★—

एकषष्टितमः सर्गः

ऋषियोंका मधुको प्राप्त हुए वर तथा लवणासुरके बल और अत्याचारका वर्णन करके उससे प्राप्त होनेवाले भयको दूर करनेके लिये श्रीरघुनाथजीसे प्रार्थना करना

ब्रुवद्भिरेवमृषिभिः काकुत्स्थो वाक्यमब्रवीत्।
किं कार्यं ब्रूत मुनयो भयं तावदपैतु वः॥ १॥

इस प्रकार कहते हुए ऋषियोंसे प्रेरित हो श्रीरामचन्द्रजीने कहा—'महर्षियो! बताइये, आपका कौन-सा कार्य मुझे सिद्ध करना है! आपलोगोंका भय तो अभी दूर हो जाना चाहिये'॥ १॥

तथा ब्रुवति काकुत्स्थे भार्गवो वाक्यमब्रवीत्।
भयानां शृणु यन्मूलं देशस्य च नरेश्वर॥ २॥

श्रीरघुनाथजीके ऐसा कहनेपर भृगुपुत्र च्यवन बोले— 'नरेश्वर! समूचे देशपर और हमलोगोंपर जो भय प्राप्त हुआ है, उसका मूल कारण क्या है, सुनिये॥ २॥

पूर्वं कृतयुगे राजन् दैतेयः सुमहामतिः।
लोलापुत्रोऽभवज्ज्येष्ठो मधुर्नाम महासुरः॥ ३॥

'राजन्! पहले सत्ययुगमें एक बड़ा बुद्धिमान् दैत्य था। वह लोलाका ज्येष्ठ पुत्र था। उस महान् असुरका नाम था मधु॥ ३॥

ब्रह्मण्यश्च शरण्यश्च बुद्ध्या च परिनिष्ठितः।
सुरैश्च परमोदारैः प्रीतिस्तस्यातुलाभवत्॥ ४॥

'वह बड़ा ही ब्राह्मण-भक्त और शरणागतवत्सल था। उसकी बुद्धि सुस्थिर थी। अत्यन्त उदार स्वभाववाले देवताओंके साथ भी उसकी ऐसी गहरी मित्रता थी, जिसकी कहीं तुलना नहीं थी॥ ४॥

स मधुर्वीर्यसम्पन्नो धर्मे च सुसमाहितः।
बहुमानाच्च रुद्रेण दत्तस्तस्याद्भुतो वरः॥ ५॥

'मधु बल-विक्रमसे सम्पन्न था और एकाग्रचित्त होकर धर्मके अनुष्ठानमें लगा रहता था। उसने भगवान् शिवकी बड़ी आराधना की थी, जिससे उन्होंने उसे अद्भुत वर प्रदान किया था॥ ५॥

शूलं शूलाद् विनिष्कृष्य महावीर्यं महाप्रभम्।
ततो महात्मा सुप्रीतो वाक्यं चैतदुवाच ह॥ ६॥

'महामना भगवान् शिवने अत्यन्त प्रसन्न हो अपने शूलसे एक चमचमाता हुआ परम शक्तिशाली शूल प्रकट करके उसे मधुको दिया और यह बात कही—॥ ६॥

त्वयायमतुलो धर्मो मत्प्रसादकरः कृतः।
प्रीत्या परमया युक्तो ददाम्यायुधमुत्तमम्॥ ७॥

''तुमने मुझे प्रसन्न करनेवाला यह बड़ा अनुपम धर्म किया है; अतः मैं अत्यन्त प्रसन्न होकर तुम्हें यह उत्तम आयुध प्रदान करता हूँ॥ ७॥

यावत् सुरैश्च विप्रैश्च न विरुध्येर्महासुर।
तावच्छूलं तवेदं स्यादन्यथा नाशमेष्यति॥ ८॥

''महान् असुर! जबतक तुम ब्राह्मणों और देवताओंसे विरोध नहीं करोगे, तभीतक यह शूल तुम्हारे पास रहेगा, अन्यथा अदृश्य हो जायगा॥ ८॥

यश्च त्वामभियुञ्जीत युद्धाय विगतज्वरः।
तं शूलो भस्मसात्कृत्वा पुनरेष्यति ते करम्॥ ९॥

''जो पुरुष निःशङ्क होकर तुम्हारे सामने युद्धके लिये आयेगा, उसे भस्म करके यह शूल पुनः तुम्हारे हाथमें लौट आयेगा'॥ ९॥

एवं रुद्राद् वरं लब्ध्वा भूय एव महासुरः।
प्रणिपत्य महादेवं वाक्यमेतदुवाच ह॥ १०॥

''भगवान् रुद्रसे ऐसा वर पाकर वह महान् असुर महादेवजीको प्रणाम करके फिर इस प्रकार बोला—॥ १०॥

भगवन् मम वंशस्य शूलमेतदनुत्तमम्।
भवेत् तु सततं देव सुराणामीश्वरो ह्यसि॥ ११॥

''भगवन्! देवाधिदेव! आप समस्त देवताओंके स्वामी हैं; अतः आपसे प्रार्थना है कि परम उत्तम शूल मेरे वंशजोंके पास भी सदा रहे'॥ ११॥

तं ब्रुवाणं मधुं देवः सर्वभूतपतिः शिवः।
प्रत्युवाच महादेवो नैतदेवं भविष्यति॥ १२॥

'ऐसी बात कहनेवाले उस मधुसे समस्त प्राणियोंके अधिपति महान् देवता भगवान् शिवने इस प्रकार कहा—'ऐसा तो नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

मा भूत् ते विफला वाणी मत्प्रसादकृता शुभा।
भवतः पुत्रमेकं तु शूलमेतद् भविष्यति ॥ १३ ॥

''परंतु मुझे प्रसन्न जानकर तुम्हारे मुखसे जो शुभ वाणी निकली है, वह भी निष्फल न हो; इसलिये मैं वर देता हूँ कि तुम्हारे एक पुत्रके पास यह शूल रहेगा ॥ १३ ॥

यावत् करस्थः शूलोऽयं भविष्यति सुतस्य ते।
अवध्यः सर्वभूतानां शूलहस्तो भविष्यति ॥ १४ ॥

''यह शूल जबतक तुम्हारे पुत्रके हाथमें मौजूद रहेगा, तबतक वह समस्त प्राणियोंके लिये अवध्य बना रहेगा' ॥ १४ ॥

एवं मधुर्वरं लब्ध्वा देवात् सुमहदद्भुतम्।
भवनं सोऽसुरश्रेष्ठः कारयामास सुप्रभम् ॥ १५ ॥

'महादेवजीसे इस प्रकार अत्यन्त अद्भुत वर पाकर असुरश्रेष्ठ मधुने एक सुन्दर भवन तैयार कराया, जो अत्यन्त दीप्तिमान् था ॥ १५ ॥

तस्य पत्नी महाभागा प्रिया कुम्भीनसीति या।
विश्वावसोरपत्यं साप्यनलायां महाप्रभा ॥ १६ ॥

'उसकी प्रिय पत्नी महाभागा कुम्भीनसी थी, जो विश्वावसुकी संतान थी। उसका जन्म अनलाके गर्भसे हुआ था। कुम्भीनसी बड़ी कान्तिमती थी ॥ १६ ॥

तस्याः पुत्रो महावीर्यो लवणो नाम दारुणः।
बाल्यात्प्रभृति दुष्टात्मा पापान्येव समाचरत् ॥ १७ ॥

'उसका पुत्र महापराक्रमी लवण है, जिसका स्वभाव बड़ा भयंकर है। वह दुष्टात्मा बचपनसे ही केवल पापाचारमें प्रवृत्त रहा है ॥ १७ ॥

तं पुत्रं दुर्विनीतं तु दृष्ट्वा क्रोधसमन्वितः।
मधुः स शोकमापेदे न चैनं किंचिदब्रवीत् ॥ १८ ॥

'अपने पुत्रको उद्दण्ड हुआ देख मधु क्रोधसे जलता रहता था। उसे बेटेकी दुष्टता देखकर बड़ा शोक हुआ, तथापि वह इससे कुछ नहीं बोला ॥ १८ ॥

स विहाय इमं लोकं प्रविष्टो वरुणालयम्।
शूलं निवेश्य लवणे वरं तस्मै न्यवेदयत् ॥ १९ ॥

'अन्तमें वह इस देशको छोड़कर समुद्रमें रहनेके लिये चला गया। चलते समय उसने वह शूल लवणको दे दिया और उसे वरदानकी बात भी बता दी ॥ १९ ॥

स प्रभावेण शूलस्य दौरात्म्येनात्मनस्तथा।
संतापयति लोकांस्त्रीन् विशेषेण च तापसान् ॥ २० ॥

'अब वह दुष्ट उस शूलके प्रभावसे तथा अपनी दुष्टताके कारण तीनों लोकोंको विशेषतः तपस्वी मुनियोंको बड़ा संताप दे रहा है ॥ २० ॥

एवंप्रभावो लवणः शूलं चैव तथाविधम्।
श्रुत्वा प्रमाणं काकुत्स्थ त्वं हि नः परमा गतिः ॥ २१ ॥

'उस लवणासुरका ऐसा प्रभाव है और उसके पास वैसा शक्तिशाली शूल भी है। रघुनन्दन! यह सब सुनकर यथोचित कार्य करनेमें आप ही प्रमाण हैं और आप ही हमारी परम गति हैं ॥ २१ ॥

बहवः पार्थिवा राम भयार्तैरृषिभिः पुरा।
अभयं याचिता वीर त्रातारं न च विद्महे ॥ २२ ॥

'श्रीराम! आजसे पहले भयसे पीड़ित हुए ऋषि अनेक राजाओंके पास जा-जाकर अभयकी भिक्षा माँग चुके हैं; परंतु वीर रघुवीर! अबतक हमें कोई रक्षक नहीं मिला ॥ २२ ॥

ते वयं रावणं श्रुत्वा हतं सबलवाहनम्।
त्रातारं विद्महे तात नान्यं भुवि नराधिपम्।
तत् परित्रातुमिच्छामो लवणाद् भयपीडितान् ॥ २३ ॥

'तात! हमने सुना है कि आपने सेना और सवारियों-सहित रावणका संहार कर डाला है; इसलिये हम आपहीको अपनी रक्षा करनेमें समर्थ समझते हैं, भूतलपर दूसरे किसी राजाको नहीं। अतः हमारी इच्छा है कि आप भयसे पीड़ित हुए महर्षियोंकी लवणासुरसे रक्षा करें ॥ २३ ॥

इति राम निवेदितं तु ते
भयजं कारणमुत्थितं च यत्।
विनिवारयितुं भवान् क्षमः
कुरु तं काममहीनविक्रम ॥ २४ ॥

'बल-विक्रमसे सम्पन्न श्रीराम! इस प्रकार हमारे सामने जो भयका कारण उपस्थित हो गया है, वह हमने आपके आगे निवेदन कर दिया। आप इसे दूर करनेमें समर्थ हैं, अतः हमारी यह अभिलाषा पूर्ण करें' ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे एकषष्टितमः सर्गः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें इकसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमः सर्गः

श्रीरामका ऋषियोंसे लवणासुरके आहार-विहारके विषयमें पूछना और शत्रुघ्नकी रुचि जानकर उन्हें लवण-वधके कार्यमें नियुक्त करना

तथोक्ते तानृषीन् रामः प्रत्युवाच कृताञ्जलिः।
किमाहारः किमाचारो लवणः क्व च वर्तते॥ १॥

ऋषियोंके इस प्रकार कहनेपर श्रीरामचन्द्रजीने उनसे हाथ जोड़कर पूछा—'लवणासुर क्या खाता है? उसका आचार-व्यवहार कैसा है—रहने-सहनेका ढंग क्या है? और वह कहाँ रहता है?'॥ १॥

राघवस्य वचः श्रुत्वा ऋषयः सर्व एव ते।
ततो निवेदयामासुर्लवणो ववृधे यथा॥ २॥

श्रीरघुनाथजीकी यह बात सुनकर उन सभी ऋषियोंने जिस तरहके आहार-व्यवहारसे लवणासुर पला था, वह सब कह सुनाया॥ २॥

आहारः सर्वसत्त्वानि विशेषेण च तापसाः।
आचारो रौद्रता नित्यं वासो मधुवने तथा॥ ३॥

वे बोले—'प्रभो! उसका आहार तो सभी प्राणी हैं; परंतु विशेषतः वह तपस्वी मुनियोंको खाता है। उसके आचार-व्यवहारमें बड़ी क्रूरता और भयानकता है और वह सदा मधुवनमें निवास करता है॥ ३॥

हत्वा बहुसहस्राणि सिंहव्याघ्रमृगाण्डजान्।
मानुषांश्चैव कुरुते नित्यमाहारमाह्निकम्॥ ४॥

'वह प्रतिदिन कई सहस्र सिंह, व्याघ्र, मृग, पक्षी और मनुष्योंको मारकर खा जाता है॥ ४॥

ततोऽन्तराणि सत्त्वानि खादते स महाबलः।
संहारे समनुप्राप्ते व्यादितास्य इवान्तकः॥ ५॥

'संहारकाल आनेपर मुँह बाकर खड़े हुए यमराजके समान वह महाबली असुर दूसरे-दूसरे जीवोंको भी खाता रहता है'॥ ५॥

तच्छ्रुत्वा राघवो वाक्यमुवाच स महामुनीन्।
घातयिष्यामि तद् रक्षो व्यपगच्छतु वो भयम्॥ ६॥

उनका यह कथन सुनकर श्रीरघुनाथजीने उन महामुनियोंसे कहा—'महर्षियो! मैं उस राक्षसको मरवा डालूँगा। आपलोगोंका भय दूर हो जाना चाहिये'॥ ६॥

प्रतिज्ञाय तथा तेषां मुनीनामुग्रतेजसाम्।
स भ्रातॄन् सहितान् सर्वानुवाच रघुनन्दनः॥ ७॥

इस प्रकार उन उग्र तेजस्वी मुनियोंके समक्ष प्रतिज्ञा करके रघुकुलनन्दन श्रीरामने वहाँ एकत्र हुए अपने सब भाइयोंसे पूछा—॥ ७॥

को हन्ता लवणं वीरः कस्यांशः स विधीयताम्।
भरतस्य महाबाहोः शत्रुघ्नस्य च धीमतः॥ ८॥

'बन्धुओ! लवणको कौन वीर मारेगा? उसे किसके हिस्सेमें रखा जाय—महाबाहु भरतके या बुद्धिमान् शत्रुघ्नके'॥ ८॥

राघवेणैवमुक्तस्तु भरतो वाक्यमब्रवीत्।
अहमेनं वधिष्यामि ममांशः स विधीयताम्॥ ९॥

रघुनाथजीके इस प्रकार पूछनेपर भरतजी बोले—'भैया! मैं इस लवणका वध करूँगा। इसे मेरे हिस्सेमें रखा जाय'॥ ९॥

भरतस्य वचः श्रुत्वा धैर्यशौर्यसमन्वितम्।
लक्ष्मणावरजस्तस्थौ हित्वा सौवर्णमासनम्॥ १०॥
शत्रुघ्नस्त्वब्रवीद् वाक्यं प्रणिपत्य नराधिपम्।
कृतकर्मा महाबाहुर्मध्यमो रघुनन्दन॥ ११॥

भरतजीके ये धीरता और वीरतापूर्ण शब्द सुनकर शत्रुघ्नजी सोनेका सिंहासन छोड़कर खड़े हो गये और महाराज श्रीरामको प्रणाम करके बोले—'रघुनन्दन! महाबाहु मझले भैया तो बहुत-से कार्य कर चुके हैं॥ १०-११॥

आर्येण हि पुरा शून्या त्वयोध्या परिपालिता।
संतापं हृदये कृत्वा आर्यस्यागमनं प्रति॥ १२॥

'पहले जब अयोध्यापुरी आपसे सूनी हो गयी थी, उस समय आपके आगमन-कालतक हृदयमें अत्यन्त संताप लिये इन्होंने अयोध्यापुरीका पालन किया था॥ १२॥

दुःखानि च बहूनीह अनुभूतानि पार्थिव।
शयानो दुःखशय्यासु नन्दिग्रामे महायशाः॥ १३॥
फलमूलाशनो भूत्वा जटी चीरधरस्तथा।

'पृथ्वीनाथ! महायशस्वी भरतने नन्दिग्राममें दुःखद शय्यापर सोते हुए पहले बहुत-से दुःख भोगे हैं। ये फल-मूल खाकर रहते थे और सिरपर जटा बढ़ाये चीर वस्त्र धारण करते थे॥ १३½॥

अनुभूयेदृशं दुःखमेव राघवनन्दनः॥ १४॥
प्रेष्ये मयि स्थिते राजन् न भूयः क्लेशमाप्नुयात्।

'महाराज! ऐसे-ऐसे दुःख भोगकर ये रघुकुलनन्दन भरत मुझ सेवकके रहते हुए अब फिर अधिक क्लेश न उठावें'॥ १४½॥

तथा ब्रुवति शत्रुघ्ने राघवः पुनरब्रवीत्॥ १५॥
एवं भवतु काकुत्स्थ क्रियतां मम शासनम्।
राज्ये त्वामभिषेक्ष्यामि मधोस्तु नगरे शुभे॥ १६॥

शत्रुघ्नके ऐसा कहनेपर श्रीरघुनाथजी फिर बोले—'काकुत्स्थ! तुम जैसा कहते हो, वैसा ही हो। तुम्हीं मेरे इस आदेशका पालन करो। मैं तुम्हें मधुके सुन्दर नगरमें राजाके पदपर अभिषिक्त करूँगा॥ १५-१६॥

निवेशय महाबाहो भरतं यद्यवेक्षसे।
शूरस्त्वं कृतविद्यश्च समर्थश्च निवेशने॥ १७॥

'महाबाहो ! यदि तुम भरतको क्लेश देना ठीक नहीं समझते तो इनको यहीं रहने दो। तुम शूरवीर हो, अस्त्र-विद्याके ज्ञाता हो तथा तुममें नूतन नगर निर्माण करनेकी शक्ति है ॥ १७ ॥

नगरं यमुनाजुष्टं तथा जनपदाञ्शुभान्।
यो हि वंशं समुत्पाट्य पार्थिवस्य निवेशने ॥ १८ ॥
न विधत्ते नृपं तत्र नरकं स हि गच्छति।

'तुम यमुनाजीके तटपर सुन्दर नगर बसा सकते हो और उत्तमोत्तम जनपदोंकी स्थापना कर सकते हो। जो किसी राजाके वंशका उच्छेद करके उसकी राजधानीमें दूसरे राजाको स्थापित नहीं करता, वह नरकमें पड़ता है ॥ १८½ ॥

स त्वं हत्वा मधुसुतं लवणं पापनिश्चयम् ॥ १९ ॥
राज्यं प्रशाधि धर्मेण वाक्यं मे यद्यवेक्षसे।
उत्तरं च न वक्तव्यं शूर वाक्यान्तरे मम ॥ २० ॥
बालेन पूर्वजस्याज्ञा कर्तव्या नात्र संशयः।
अभिषेकं च काकुत्स्थ प्रतीच्छस्व मयोद्यतम्।
वसिष्ठप्रमुखैर्विप्रैर्विधिमन्त्रपुरस्कृतम् ॥ २१ ॥

'अतः तुम मधुके पुत्र पापात्मा लवणासुरको मारकर धर्मपूर्वक वहाँके राज्यका शासन करो। शूरवीर ! यदि तुम मेरी बात मानने योग्य समझो तो मैं जो कुछ कहता हूँ, उसे चुपचाप स्वीकार करो। बीचमें बात काटकर कोई उत्तर तुम्हें नहीं देना चाहिये। बालकको अवश्य ही अपने बड़ोंकी आज्ञाका पालन करना चाहिये। शत्रुघ्न ! वसिष्ठ आदि मुख्य-मुख्य ब्राह्मण विधि और मन्त्रोच्चारणके साथ तुम्हारा अभिषेक करेंगे। मेरी आज्ञासे प्राप्त हुए इस अभिषेकको तुम स्वीकार करो ॥ १९—२१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे द्विषष्टितमः सर्गः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें बासठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

त्रिषष्टितमः सर्गः

श्रीरामद्वारा शत्रुघ्नका राज्याभिषेक तथा उन्हें लवणासुरके शूलसे बचनेके उपायका प्रतिपादन

एवमुक्तस्तु रामेण परां व्रीडामुपागमत्।
शत्रुघ्नो वीर्यसम्पन्नो मन्दं मन्दमुवाच ह ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर बल-विक्रमसे सम्पन्न शत्रुघ्न बड़े लज्जित हुए और धीरे-धीरे बोले— ॥ १ ॥

अधर्मं विद्म काकुत्स्थ अस्मिन्नर्थे नरेश्वर।
कथं तिष्ठत्सु ज्येष्ठेषु कनीयानभिषिच्यते ॥ २ ॥

'ककुत्स्थकुलभूषण नरेश्वर ! इस अभिषेकको स्वीकार करनेमें तो मुझे अधर्म जान पड़ता है। भला, बड़े भाइयोंके रहते हुए छोटेका अभिषेक कैसे किया जा सकता है ? ॥ २ ॥

अवश्यं करणीयं च शासनं पुरुषर्षभ।
तव चैव महाभाग शासनं दुरतिक्रमम् ॥ ३ ॥

'तथापि पुरुषप्रवर ! महाभाग ! आपकी आज्ञाका पालन तो मुझे अवश्य करना ही चाहिये। आपका शासन किसीके लिये भी दुर्लङ्घ्य है ॥ ३ ॥

त्वत्तो मया श्रुतं वीर श्रुतिभ्यश्च मया श्रुतम्।
नोत्तरं हि मया वाच्यं मध्यमे प्रतिजानति ॥ ४ ॥

'वीर ! मैंने आपसे तथा वेदवाक्योंसे भी यह बात सुनी है। वास्तवमें मझले भैयाके प्रतिज्ञा कर लेनेपर मुझे कुछ नहीं बोलना चाहिये था ॥ ४ ॥

व्याहृतं दुर्वचो घोरं हन्तास्मि लवणं मृधे।
तस्यैवं मे दुरुक्तस्य दुर्गतिः पुरुषर्षभ ॥ ५ ॥

'मेरे मुँहसे ये बड़े ही अनुचित शब्द निकल गये कि मैं लवणको मारूँगा। पुरुषोत्तम ! उस अनुचित कथनका ही परिणाम है कि मेरी इस प्रकार दुर्गति हो रही है (मुझे बड़ोंके होते हुए अभिषिक्त होना पड़ता है) ॥ ५ ॥

उत्तरं नहि वक्तव्यं ज्येष्ठेनाभिहिते पुनः।
अधर्मसहितं चैव परलोकविवर्जितम् ॥ ६ ॥

'बड़े भाईके बोलनेपर मुझे फिर कुछ उत्तर नहीं देना चाहिये था; (अर्थात् भैया भरतने जब लवणको मारनेका निर्णय कर लिया, तब मुझे उसमें दखल नहीं देना चाहिये था) परंतु मैंने इस नियमका उल्लङ्घन किया, इसीलिये आपने ऐसा (राज्याभिषेकविषयक) आदेश दे दिया। जो स्वीकार कर लेनेपर मेरे लिये अधर्मयुक्त होनेके कारण परलोकके लाभसे भी वञ्चित करनेवाला है। तथापि आपकी आज्ञा मेरे लिये दुर्लङ्घ्य है; अतः मुझे इसको स्वीकार करना ही पड़ेगा ॥ ६ ॥

सोऽहं द्वितीयं काकुत्स्थ न वक्ष्यामीति चोत्तरम्।
मा द्वितीयेन दण्डो वै निपतेन्मयि मानद ॥ ७ ॥

'काकुत्स्थ ! अब आपकी जो आज्ञा हो चुकी, उसके विरुद्ध मैं दूसरा कोई उत्तर नहीं दूँगा। मानद ! कहीं ऐसा न हो कि दूसरा कोई उत्तर देनेपर मुझे इससे भी कठोर दण्ड भोगना पड़े ॥ ७ ॥

कामकारो ह्यहं राजंस्तवास्मि पुरुषर्षभ।
अधर्मं जहि काकुत्स्थ मत्कृते रघुनन्दन ॥ ८ ॥

'राजन् ! पुरुषप्रवर रघुनन्दन ! मैं आपकी इच्छाके

अनुसार ही कार्य करूँगा। किंतु इसमें मेरे लिये जो अधर्म प्राप्त होता हो, उसका नाश आप करें' ॥ ८ ॥

एवमुक्ते तु शूरेण शत्रुघ्नेन महात्मना।
उवाच रामः संहृष्टो भरतं लक्ष्मणं तथा ॥ ९ ॥

शूरवीर महात्मा शत्रुघ्नके ऐसा कहनेपर श्रीरामचन्द्रजी बड़े प्रसन्न हुए और भरत तथा लक्ष्मण आदिसे बोले— ॥ ९ ॥

सम्भारानभिषेकस्य आनयध्वं समाहिताः।
अद्यैव पुरुषव्याघ्रमभिषेक्ष्यामि राघवम् ॥ १० ॥

'तुम सब लोग बड़ी सावधानीके साथ राज्याभिषेककी सामग्री जुटाकर ले आओ। मैं अभी रघुकुलनन्दन पुरुषसिंह शत्रुघ्नका अभिषेक करूँगा ॥ १० ॥

पुरोधसं च काकुत्स्थ नैगमानृत्विजस्तथा।
मन्त्रिणश्चैव तान् सर्वानानयध्वं ममाज्ञया ॥ ११ ॥

'काकुत्स्थ! मेरी आज्ञासे पुरोहित, वैदिक विद्वानों, ऋत्विजों तथा समस्त मन्त्रियोंको बुला लाओ' ॥ ११ ॥

राज्ञः शासनमाज्ञाय तथाकुर्वन्महारथाः।
अभिषेकसमारम्भं पुरस्कृत्य पुरोधसम् ॥ १२ ॥
प्रविष्टा राजभवनं राजानो ब्राह्मणास्तथा।

महाराजकी आज्ञा पाकर महारथी भरत और लक्ष्मण आदिने वैसा ही किया। वे पुरोहितजीको आगे करके अभिषेककी सामग्री साथ लिये राजभवनमें आये। उनके साथ ही बहुत-से राजा और ब्राह्मण भी वहाँ आ पहुँचे ॥ १२½ ॥

ततोऽभिषेको ववृधे शत्रुघ्नस्य महात्मनः ॥ १३ ॥
सम्प्रहर्षकरः श्रीमान् राघवस्य पुरस्य च।

तदनन्तर महात्मा शत्रुघ्नका वैभवशाली अभिषेक आरम्भ हुआ, जो श्रीरघुनाथजी तथा समस्त पुरवासियोंके हर्षको बढ़ानेवाला था ॥ १३½ ॥

अभिषिक्तस्तु काकुत्स्थो बभौ चादित्यसंनिभः ॥ १४ ॥
अभिषिक्तः पुरा स्कन्दः सेन्द्रैरिव दिवौकसैः।

जैसे पूर्वकालमें इन्द्र आदि देवताओंने स्कन्दका देवसेनापतिके पदपर अभिषेक किया था, उसी तरह श्रीराम आदिने वहाँ शत्रुघ्नका राजाके पदपर अभिषेक किया। इस प्रकार अभिषिक्त होकर शत्रुघ्नजी सूर्यके समान सुशोभित हुए ॥ १४½ ॥

अभिषिक्ते तु शत्रुघ्ने रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ १५ ॥
पौराः प्रमुदिताश्चासन् ब्राह्मणाश्च बहुश्रुताः।

क्लेशरहित कर्म करनेवाले श्रीरामके द्वारा जब शत्रुघ्नका राज्याभिषेक हुआ, तब उस नगरके निवासियों और बहुश्रुत ब्राह्मणोंको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ १५½ ॥

कौसल्या च सुमित्रा च मङ्गलं केकयी तथा ॥ १६ ॥
चक्रुस्ता राजभवने याश्चान्या राजयोषितः।

उस समय कौसल्या, सुमित्रा और केकयी तथा राज्यभवनकी अन्य राजमहिलाओंने मिलकर मङ्गलकार्य सम्पन्न किया ॥ १६½ ॥

ऋषयश्च महात्मानो यमुनातीरवासिनः ॥ १७ ॥
हतं लवणमाशंसुः शत्रुघ्नस्याभिषेचनात्।

शत्रुघ्नजीका राज्याभिषेक होनेसे यमुनातीरनिवासी महात्मा ऋषियोंको यह निश्चय हो गया कि अब लवणासुर मारा गया ॥ १७½ ॥

ततोऽभिषिक्तं शत्रुघ्नमङ्कमारोप्य राघवः।
उवाच मधुरां वाणीं तेजस्तस्याभिपूरयन् ॥ १८ ॥

अभिषेकके पश्चात् शत्रुघ्नको गोदमें बिठाकर श्रीरघुनाथजीने उनका तेज बढ़ाते हुए मधुर वाणीमें कहा— ॥ १८ ॥

अयं शरस्त्वमोघस्ते दिव्यः परपुरंजयः।
अनेन लवणं सौम्य हन्तासि रघुनन्दन ॥ १९ ॥

'रघुनन्दन! सौम्य शत्रुघ्न! मैं तुम्हें यह दिव्य अमोघ बाण दे रहा हूँ। तुम इसके द्वारा लवणासुरको अवश्य मार डालोगे ॥ १९ ॥

सृष्टः शरोऽयं काकुत्स्थ यदा शेते महार्णवे।
स्वयंभूरजितो दिव्यो यं नापश्यन् सुरासुराः ॥ २० ॥
अदृश्यः सर्वभूतानां तेनायं हि शरोत्तमः।
सृष्टः क्रोधाभिभूतेन विनाशार्थं दुरात्मनोः ॥ २१ ॥
मधुकैटभयोर्वीर विघाते सर्वरक्षसाम्।
स्रष्टुकामेन लोकांस्त्रींस्तौ चानेन हतौ युधि ॥ २२ ॥
तौ हत्वा जनभोगार्थं कैटभं तु मधुं तथा।
अनेन शरमुख्येन ततो लोकांश्चकार सः ॥ २३ ॥

'काकुत्स्थ! पिछले प्रलयकालमें जब किसीसे भी पराजित न होनेवाले अजन्मा एवं दिव्य रूपधारी भगवान् विष्णु महान् एकार्णवके जलमें शयन करते थे, उस समय उन्हें देवता और असुर कोई नहीं देख पाते थे। वे सम्पूर्ण भूतोंके लिये अदृश्य थे। वीर! उसी समय उन भगवान् नारायणने ही कुपित हो दुरात्मा मधु और कैटभके विनाश तथा समस्त राक्षसोंके संहारके लिये इस दिव्य, उत्तम एवं अमोघ बाणकी सृष्टि की थी। उस समय वे तीनों लोकोंकी सृष्टि करना चाहते थे और मधु, कैटभ तथा अन्य सब राक्षस उसमें विघ्न उपस्थित कर रहे थे। अतः भगवान्ने इसी बाणसे मधु और कैटभ दोनोंको युद्धमें मारा था। इस मुख्य बाणसे मधु और कैटभ दोनोंको मारकर भगवान्ने जीवोंके कर्मफल-भोगकी सिद्धिके लिये विभिन्न लोकोंकी रचना की ॥ २०—२३ ॥

नायं मया शरः पूर्वं रावणस्य वधार्थिना।
मुक्तः शत्रुघ्न भूतानां महान् त्रासो भवेदिति ॥ २४ ॥

'शत्रुघ्न! पहले मैंने रावणका वध करनेके लिये भी इस बाणका प्रयोग नहीं किया था; क्योंकि इसके द्वारा बहुत-से प्राणियोंके नष्ट हो जानेकी आशङ्का थी ॥ २४ ॥

यच्च तस्य महच्छूलं त्र्यम्बकेण महात्मना।
दत्तं शत्रुविनाशाय मधोरायुधमुत्तमम्॥ २५॥
तत् संनिक्षिप्य भवने पूज्यमानं पुनः पुनः।
दिशः सर्वाः समासाद्य प्राप्नोत्याहारमुत्तमम्॥ २६॥

'लवणके पास जो महात्मा महादेवजीका शत्रुविनाशके लिये दिया हुआ मधुका दिव्य, उत्तम एवं महान् शूल है, उसका वह प्रतिदिन बारंबार पूजन करता है और उसे महलमें ही गुप्तरूपसे रखकर समस्त दिशाओंमें जा-जाकर अपने लिये उत्तम आहारका संग्रह करता है॥ २५-२६॥

यदा तु युद्धमाकाङ्क्षन् कश्चिदेनं समाह्वयेत्।
तदा शूलं गृहीत्वा तु भस्म रक्षः करोति हि॥ २७॥

'जब कोई युद्धकी इच्छा रखकर उसे ललकारता है, तब वह राक्षस उस शूलको लेकर अपने विपक्षीको भस्म कर देता है॥ २७॥

स त्वं पुरुषशार्दूल तमायुधविनाकृतम्।
अप्रविष्टं पुरं पूर्वं द्वारि तिष्ठ धृतायुधः॥ २८॥

'पुरुषसिंह! जिस समय वह शूल उसके पास न हो और वह नगरमें भी न पहुँच सका हो, उसी समय पहलेसे ही नगरके द्वारपर जाकर अस्त्र-शस्त्र धारण किये उसकी प्रतीक्षामें डटे रहो॥ २८॥

अप्रविष्टं च भवनं युद्धाय पुरुषर्षभ।
आह्वयेथा महाबाहो ततो हन्तासि राक्षसम्॥ २९॥

'महाबाहु पुरुषोत्तम! यदि उस राक्षसको महलमें घुसनेसे पहले ही तुम युद्धके लिये ललकारोगे, तब अवश्य उसका वध कर सकोगे॥ २९॥

अन्यथा क्रियमाणे तु ह्यवध्यः स भविष्यति।
यदि त्वेवं कृतं वीर विनाशमुपयास्यति॥ ३०॥

'ऐसा न करनेपर वह अवध्य हो जायगा। वीर! यदि तुमने ऐसा किया तो उस राक्षसका विनाश होकर ही रहेगा॥ ३०॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं शूलस्य च विपर्ययः।
श्रीमतः शितिकण्ठस्य कृत्यं हि दुरतिक्रमम्॥ ३१॥

'इस प्रकार मैंने तुम्हें उस शूलसे बचनेका उपाय तथा अन्य सब आवश्यक बातें बता दीं; क्योंकि श्रीमान् भगवान् नीलकण्ठके विधानको पलटना बड़ा कठिन काम है'॥ ३१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे त्रिषष्टितमः सर्गः॥ ६३॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें तिरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ६३॥

—★—

चतुःषष्टितमः सर्गः

श्रीरामकी आज्ञाके अनुसार शत्रुघ्नका सेनाको आगे भेजकर एक मासके पश्चात् स्वयं भी प्रस्थान करना

एवमुक्त्वा च काकुत्स्थं प्रशस्य च पुनः पुनः।
पुनरेवापरं वाक्यमुवाच रघुनन्दनः॥ १॥

शत्रुघ्नजीको इस प्रकार समझाकर और उनकी बारंबार प्रशंसा करके रघुकुलनन्दन श्रीरामने पुनः यह बात कही—॥ १॥

इमान्यश्वसहस्राणि चत्वारि पुरुषर्षभ।
रथानां द्वे सहस्रे च गजानां शतमुत्तमम्॥ २॥
अन्तरापणवीथ्यश्च नानापण्योपशोभिताः।
अनुगच्छन्तु काकुत्स्थं तथैव नटनर्तकाः॥ ३॥

'पुरुषप्रवर! ये चार हजार घोड़े, दो हजार रथ, सौ हाथी और रास्तेमें तरह-तरहके सामानकी दूकानें लगानेवाले बनिये लोग विक्रयकी आवश्यक वस्तुओंके साथ तुम्हारे साथ जायँगे। साथ ही मनोरञ्जनके लिये नट और नर्तक भी रहेंगे॥ २-३॥

हिरण्यस्य सुवर्णस्य नियुतं पुरुषर्षभ।
आदाय गच्छ शत्रुघ्न पर्याप्तधनवाहनः॥ ४॥

'पुरुषश्रेष्ठ शत्रुघ्न! तुम दस लाख स्वर्णमुद्रा लेकर जाओ। इस तरह पर्याप्त धन और सवारियाँ अपने साथ रखो॥ ४॥

बलं च सुभृतं वीर हृष्टपुष्टमनुद्धतम्।
सम्भाषासम्प्रदानेन रञ्जयस्व नरोत्तम॥ ५॥

'इस सेनाका भलीभाँति भरण-पोषण किया गया है। यह हर्ष तथा उत्साहसे पूर्ण, संतुष्ट और उद्दण्डतासे रहित होकर आज्ञाके अधीन रहनेवाली है। नरश्रेष्ठ! इसे मधुर भाषणसे और धन देकर प्रसन्न रखना॥ ५॥

नह्यर्थास्तत्र तिष्ठन्ति न दारा न च बान्धवाः।
सुप्रीतो भृत्यवर्गस्तु यत्र तिष्ठति राघव॥ ६॥

'रघुनन्दन! अत्यन्त प्रसन्न रखे गये सेवक-समूह (सैनिक) जहाँ (जिस संकटकालमें) खड़े होते या साथ देते हैं, वहाँ न तो धन टिक पाता है, न स्त्री ठहर सकती है और न भाई-बन्धु ही खड़े हो सकते हैं (अतः उन सबको

सदा संतुष्ट रखना चाहिये) ॥ ६ ॥

अतो हृष्टजनाकीर्णां प्रस्थाप्य महतीं चमूम्।
एक एव धनुष्पाणिर्गच्छ त्वं मधुनो वनम्॥ ७॥
यथा त्वां न प्रजानाति गच्छन्तं युद्धकाङ्क्षिणम्।
लवणस्तु मधोः पुत्रस्तथा गच्छेरशङ्कितम्॥ ८॥

'इसलिये हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरी हुई इस विशाल सेनाको आगे भेजकर तुम पीछेसे अकेले ही केवल धनुष हाथमें लेकर मधुवनको जाना और इस तरह यात्रा करना, जिससे मधुपुत्र लवणको यह संदेह न हो कि तुम युद्धकी इच्छासे वहाँ जा रहे हो। तुम्हारी गति-विधिका उसे पता नहीं चलना चाहिये ॥ ७-८ ॥

न तस्य मृत्युरन्योऽस्ति कश्चिद्धि पुरुषर्षभ।
दर्शनं योऽभिगच्छेत स वध्यो लवणेन हि॥ ९॥

'पुरुषोत्तम! मैंने जो बताया है, उसके सिवा उसकी मृत्युका दूसरा कोई उपाय नहीं है; क्योंकि जो भी शूलसहित लवणासुरके दृष्टिपथमें आ जाता है, वह अवश्य उसके द्वारा मारा जाता है ॥ ९ ॥

स ग्रीष्मे अपयाते तु वर्षारात्र उपागते।
हन्यास्त्वं लवणं सौम्य स हि कालोऽस्य दुर्मतेः॥ १०॥

'सौम्य! जब ग्रीष्म-ऋतु निकल जाय और वर्षाकाल आ जाय, उस समय तुम लवणासुरका वध करना; क्योंकि उस दुर्बुद्धि राक्षसके नाशका वही समय है ॥ १० ॥

महर्षींस्तु पुरस्कृत्य प्रयान्तु तव सैनिकाः।
यथा ग्रीष्मावशेषेण तरेयुर्जाह्नवीजलम्॥ ११॥

'तुम्हारे सैनिक महर्षियोंको आगे करके यहाँसे यात्रा करें, जिससे ग्रीष्म-ऋतु बीतते-बीतते वे गङ्गाजीको पार कर जायँ ॥ ११ ॥

तत्र स्थाप्य बलं सर्वं नदीतीरे समाहितः।
अग्रतो धनुषा सार्धं गच्छ त्वं लघुविक्रम॥ १२॥

'शीघ्रपराक्रमी वीर! फिर सारी सेनाको वहीं गङ्गाजीके तटपर ठहराकर तुम धनुषमात्र लेकर पूरी सावधानीके साथ अकेले ही आगे जाना' ॥ १२ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण शत्रुघ्नस्तान् महाबलान्।
सेनामुख्यान् समानीय ततो वाक्यमुवाच ह॥ १३॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर शत्रुघ्नजीने अपने प्रधान सेनापतियोंको बुलाया और इस प्रकार कहा— ॥ १३ ॥

एते वो गणिता वासा यत्र तत्र निवत्स्यथ।
स्थातव्यं चाविरोधेन यथा बाधा न कस्यचित्॥ १४॥

'देखो, मार्गमें जहाँ-जहाँ डेरा डालना है, उन पड़ावोंका निश्चय कर लिया गया है। तुम्हें वहीं निवास करना होगा। जहाँ भी ठहरो, विरोधभावको मनसे निकाल दो, जिससे किसीको कष्ट न पहुँचे' ॥ १४ ॥

तथा तांस्तु समाज्ञाप्य प्रस्थाप्य च महद्बलम्।
कौसल्यां च सुमित्रां च कैकेयीं चाभ्यवादयत्॥ १५॥

इस प्रकार उन सेनापतियोंको आज्ञा दे अपनी विशाल सेनाको आगे भेजकर शत्रुघ्नने कौसल्या, सुमित्रा तथा कैकेयीको प्रणाम किया ॥ १५ ॥

रामं प्रदक्षिणीकृत्य शिरसाभिप्रणम्य च।
लक्ष्मणं भरतं चैव प्रणिपत्य कृताञ्जलिः॥ १६॥

तत्पश्चात् श्रीरामकी परिक्रमा करके उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया। फिर हाथ जोड़कर भरत और लक्ष्मणकी भी वन्दना की ॥ १६ ॥

पुरोहितं वसिष्ठं च शत्रुघ्नः प्रयतात्मवान्।
रामेण चाभ्यनुज्ञातः शत्रुघ्नः शत्रुतापनः।
प्रदक्षिणमथो कृत्वा निर्जगाम महाबलः॥ १७॥

तदनन्तर मनको संयममें रखकर शत्रुघ्नने पुरोहित वसिष्ठको नमस्कार किया। फिर श्रीरामकी आज्ञा ले उनकी परिक्रमा करके शत्रुओंको संताप देनेवाले महाबली शत्रुघ्न अयोध्यासे निकले ॥ १७ ॥

प्रस्थाप्य सेनामथ सोऽग्रतस्तदा
गजेन्द्रवाजिप्रवरौघसंकुलाम्।
उवास मासं तु नरेन्द्रपार्श्वत-
स्त्वथ प्रयातो रघुवंशवर्धनः॥ १८॥

गजराजों और श्रेष्ठ अश्वोंके समुदायसे भरी हुई विशाल सेनाको आगे भेजकर रघुवंशकी वृद्धि करनेवाले शत्रुघ्न एक मासतक महाराज श्रीरामके पास ही रहे। उसके बाद उन्होंने वहाँसे प्रस्थान किया ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे चतुःषष्टितमः सर्गः॥ ६४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें चौंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमः सर्गः

महर्षि वाल्मीकिका शत्रुघ्नको सुदासपुत्र कल्माषपादकी कथा सुनाना

प्रस्थाप्य च बलं सर्वं मासमात्रोषितः पथि।
एक एवाशु शत्रुघ्नो जगाम त्वरितं तदा॥ १॥

अपनी सेनाको आगे भेजकर अयोध्यामें एक माह रहनेके पश्चात् शत्रुघ्न अकेले ही वहाँसे मधुवनके मार्गपर प्रस्थित हुए। वे बड़ी तेजीके साथ आगे बढ़ने लगे ॥ १ ॥

द्विरात्रमन्तरे शूर उष्य राघवनन्दनः।
वाल्मीकेराश्रमं पुण्यमगच्छद् वासमुत्तमम्॥ २॥

रघुकुलको आनन्दित करनेवाले शूरवीर शत्रुघ्न रास्तेमें

वहाँ रात बिताकर तीसरे दिन महर्षि वाल्मीकिके पवित्र आश्रमपर जा पहुँचे। वह सबसे उत्तम वासस्थान था ॥ २ ॥

सोऽभिवाद्य महात्मानं वाल्मीकिं मुनिसत्तमम्।
कृताञ्जलिरथो भूत्वा वाक्यमेतदुवाच ह ॥ ३ ॥

वहाँ उन्होंने हाथ जोड़ मुनिश्रेष्ठ महात्मा वाल्मीकिको प्रणाम करके यह बात कही— ॥ ३ ॥

भगवन् वस्तुमिच्छामि गुरोः कृत्यादिहागतः।
श्वः प्रभाते गमिष्यामि प्रतीचीं वारुणीं दिशम् ॥ ४ ॥

'भगवन्! मैं अपने बड़े भाई श्रीरघुनाथजीके कार्यसे इधर आया हूँ। आज रातको यहाँ ठहरना चाहता हूँ और कल सवेरे वरुणदेवद्वारा पालित पश्चिम दिशाको चला जाऊँगा' ॥ ४ ॥

शत्रुघ्नस्य वचः श्रुत्वा प्रहस्य मुनिपुङ्गवः।
प्रत्युवाच महात्मानं स्वागतं ते महायशः ॥ ५ ॥

शत्रुघ्नकी यह बात सुनकर मुनिवर वाल्मीकिने उन महात्माको हँसते हुए उत्तर दिया—'महायशस्वी वीर! तुम्हारा स्वागत है ॥ ५ ॥

स्वमाश्रममिदं सौम्य राघवाणां कुलस्य वै।
आसनं पाद्यमर्घ्यं च निर्विशङ्कः प्रतीच्छ मे ॥ ६ ॥

'सौम्य! यह आश्रम रघुवंशियोंके लिये अपना ही घर है। तुम निःशङ्क होकर मेरी ओरसे आसन, पाद्य और अर्घ्य स्वीकार करो' ॥ ६ ॥

प्रतिगृह्य तदा पूजां फलमूलं च भोजनम्।
भक्षयामास काकुत्स्थस्तृप्तिं च परमां गतः ॥ ७ ॥

तब वह सत्कार ग्रहण करके शत्रुघ्नने फल-मूलका भोजन किया। इससे उन्हें बड़ी तृप्ति हुई ॥ ७ ॥

स भुक्त्वा फलमूलं च महर्षिं तमुवाच ह।
पूर्वा यज्ञविभूतीयं कस्याश्रमसमीपतः ॥ ८ ॥

फल-मूल खाकर वे महर्षिसे बोले—'मुने! इस आश्रमके निकट जो यह प्राचीनकालका यज्ञ-वैभव (यूप आदि उपकरण) दिखायी देता है, किसका है—किस यजमान नरेशने यहाँ यज्ञ किया था?' ॥ ८ ॥

तस्य तस्य भाषितं श्रुत्वा वाल्मीकिर्वाक्यमब्रवीत्।
शत्रुघ्न शृणु यस्येदं बभूवायतनं पुरा ॥ ९ ॥

उनका यह प्रश्न सुनकर वाल्मीकिजीने कहा—'शत्रुघ्न! पूर्वकालमें जिस यजमान नरेशका यह यज्ञमण्डप रहा है, उसे बताता हूँ, सुनो ॥ ९ ॥

युष्माकं पूर्वको राजा सुदासस्तस्य भूपतेः।
पुत्रो वीरसहो नाम वीर्यवानतिधार्मिकः ॥ १० ॥

'तुम्हारे पूर्वज राजा सुदास इस भूमण्डलके स्वामी हो गये हैं। उन भूपालके वीरसह (मित्रसह) नामक एक पुत्र हुआ, जो बड़ा पराक्रमी और अत्यन्त धर्मात्मा था ॥ १० ॥

स बाल एव सौदासो मृगयामुपचक्रमे।
चञ्चूर्यमाणं ददृशे स शूरो राक्षसद्वयम् ॥ ११ ॥

'सुदासका वह शूरवीर पुत्र बाल्यावस्थामें ही एक दिन शिकार खेलनेके लिये वनमें गया। वहाँ उसने दो राक्षस देखे, जो सब ओर बारंबार विचर रहे थे ॥ ११ ॥

शार्दूलरूपिणौ घोरौ मृगान् बहुसहस्रशः।
भक्षमाणावसंतुष्टौ पर्याप्तिं नैव जग्मतुः ॥ १२ ॥

'वे दोनों घोर राक्षस बाघका रूप धारण करके कई हजार मृगोंको मारकर खा गये। फिर भी संतुष्ट नहीं हुए। उनके पेट नहीं भरे ॥ १२ ॥

स तु तौ राक्षसौ दृष्ट्वा निर्मृगं च वनं कृतम्।
क्रोधेन महताविष्टो जघानैकं महेषुणा ॥ १३ ॥

'सौदासने उन दोनों राक्षसोंको देखा। साथ ही उनके द्वारा मृगशून्य किये गये उस वनकी अवस्थापर दृष्टिपात किया। इससे वे महान् क्रोधसे भर गये और उनमेंसे एकको विशाल बाणसे मार डाला ॥ १३ ॥

विनिपात्य तमेकं तु सौदासः पुरुषर्षभः।
विज्वरो विगतामर्षो हतं रक्षो ह्युदैक्षत ॥ १४ ॥

'एकको धराशायी करके वे पुरुषप्रवर सौदास निश्चिन्त हो गये। उनका अमर्ष जाता रहा और वे उस मरे हुए राक्षसको देखने लगे ॥ १४ ॥

निरीक्षमाणं तं दृष्ट्वा सहायं तस्य रक्षसः।
संतापमकरोद् घोरं सौदासं चेदमब्रवीत् ॥ १५ ॥

'उस राक्षसके मरे हुए साथीको जब सौदास देख रहे थे, उस समय उनकी ओर दृष्टिपात करके उस दूसरे राक्षसने मन-ही-मन घोर संताप किया और सौदाससे इस प्रकार कहा— ॥ १५ ॥

यस्मादनपराधं तं सहायं मम जघ्निवान्।
तस्मात् तवापि पापिष्ठ प्रदास्यामि प्रतिक्रियाम् ॥ १६ ॥

''महापापी नरेश! तूने मेरे निरपराध साथीको मार डाला है, इसलिये मैं तुझसे भी इसका बदला लूँगा' ॥ १६ ॥

एवमुक्त्वा तु तद् रक्षस्तत्रैवान्तरधीयत।
कालपर्याययोगेन राजा मित्रसहोऽभवत् ॥ १७ ॥

'ऐसा कहकर वह राक्षस वहीं अन्तर्धान हो गया और दीर्घकालके पश्चात् सुदासकुमार मित्रसह अयोध्याके राजा हो गये ॥ १७ ॥

राजापि यजते यज्ञमस्याश्रमसमीपतः।
अश्वमेधं महायज्ञं तं वसिष्ठोऽप्यपालयत् ॥ १८ ॥

'उन्हीं राजा मित्रसहने इस आश्रमके समीप अश्वमेध नामक महायज्ञका अनुष्ठान किया। महर्षि वसिष्ठ अपने तपोबलसे उस यज्ञकी रक्षा करते थे ॥ १८ ॥

तत्र यज्ञो महानासीद् बहुवर्षगणायुतः।
समृद्धः परया लक्ष्म्या देवयज्ञसमोऽभवत् ॥ १९ ॥

'उनका वह महान् यज्ञ बहुत वर्षोंतक वहाँ चलता रहा। वह भारी धन-सम्पत्तिसे सम्पन्न यज्ञ देवताओंके यज्ञकी

समानता करता था ॥ १९ ॥

अथावसाने यज्ञस्य पूर्ववैरमनुस्मरन्।
वसिष्ठरूपी राजानमिति होवाच राक्षसः ॥ २० ॥

'उस यज्ञकी समाप्ति होनेपर पहलेके वैरका स्मरण करनेवाला वह राक्षस वसिष्ठजीका रूप धारण करके राजाके पास आया और इस प्रकार बोला— ॥ २० ॥

अद्य यज्ञावसानान्ते सामिषं भोजनं मम।
दीयतामतिशीघ्रं वै नात्र कार्या विचारणा ॥ २१ ॥

''राजन्! आज यज्ञकी समाप्तिका दिन है, अतः आज मुझे तुम शीघ्र ही मांसयुक्त भोजन दो। इस विषयमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये' ॥ २१ ॥

तच्छ्रुत्वा व्याहृतं वाक्यं रक्षसा ब्रह्मरूपिणा।
सूदान् संस्कारकुशलानुवाच पृथिवीपतिः ॥ २२ ॥

'ब्राह्मणरूपधारी राक्षसकी कही हुई बात सुनकर राजाने रसोई बनानेमें कुशल रसोइयोंसे कहा— ॥ २२ ॥

हविष्यं सामिषं स्वादु यथा भवति भोजनम्।
तथा कुरुत शीघ्रं वै परितुष्येद् यथा गुरुः ॥ २३ ॥

''तुमलोग आज शीघ्र ही मांसयुक्त हविष्य तैयार करो और उसे ऐसा बनाओ, जिससे स्वादिष्ट भोजन हो सके तथा मेरे गुरुदेव उससे संतुष्ट हो सकें' ॥ २३ ॥

शासनात् पार्थिवेन्द्रस्य सूदः सम्भ्रान्तमानसः।
तच्च रक्षः पुनस्तत्र सूदवेषमथाकरोत् ॥ २४ ॥

'महाराजकी इस आज्ञाको सुनते ही रसोइयेके मनमें बड़ी घबराहट पैदा हो गयी (वह सोचने लगा, आज गुरुजी अभक्ष्य-भक्षणमें कैसे प्रवृत्त होंगे)। यह देख फिर उस राक्षसने ही रसोइयेका वेष बना लिया ॥ २४ ॥

स मानुषमथो मांसं पार्थिवाय न्यवेदयत्।
इदं स्वादु हविष्यं च सामिषं चान्नमाहृतम् ॥ २५ ॥

'उसने मनुष्यका मांस लाकर राजाको दे दिया और कहा—'यह मांसयुक्त अन्न एवं हविष्य लाया हूँ। यह बड़ा ही स्वादिष्ट है' ॥ २५ ॥

स भोजनं वसिष्ठाय पत्न्या सार्धमुपाहरत्।
मदयन्त्या नरश्रेष्ठ सामिषं रक्षसा हृतम् ॥ २६ ॥

'नरश्रेष्ठ! अपनी पत्नी रानी मदयन्तीके साथ राजा मित्रसहने राक्षसके लाये हुए उस मांसयुक्त भोजनको वसिष्ठजीके सामने रखा ॥ २६ ॥

ज्ञात्वा तदामिषं विप्रो मानुषं भोजनं गतम्।
क्रोधेन महताविष्टो व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥ २७ ॥

'थालीमें मानव-मांस परोसा गया है, यह जानकर ब्रह्मर्षि वसिष्ठ महान् क्रोधसे भर गये और इस प्रकार बोले— ॥ २७ ॥

यस्मात् त्वं भोजनं राजन् ममैतद् दातुमिच्छसि।
तस्माद् भोजनमेतत् ते भविष्यति न संशयः ॥ २८ ॥

''राजन्! तुम मुझे ऐसा भोजन देना चाहते हो, इसलिये यही तुम्हारा भोजन होगा; इसमें संशय नहीं है (अर्थात् तुम मनुष्यभक्षी राक्षस हो जाओगे)' ॥ २८ ॥

ततः क्रुद्धस्तु सौदासस्तोयं जग्राह पाणिना।
वसिष्ठं शप्तुमारेभे भार्या चैनमवारयत् ॥ २९ ॥

'यह सुनकर सौदासने भी कुपित हो हाथमें जल ले लिया और वसिष्ठ मुनिको शाप देना आरम्भ किया। तवतक उनकी पत्नीने उन्हें रोक दिया ॥ २९ ॥

राजन् प्रभुर्यतोऽस्माकं वसिष्ठो भगवानृषिः।
प्रतिशप्तुं न शक्तस्त्वं देवतुल्यं पुरोधसम् ॥ ३० ॥

'वे बोलीं—'राजन्! भगवान् वसिष्ठ मुनि हम सबके स्वामी हैं; अतः आप अपने देवतुल्य पुरोहितको बदलेमें शाप नहीं दे सकते' ॥ ३० ॥

ततः क्रोधमयं तोयं तेजोबलसमन्वितम्।
व्यसर्जयत् धर्मात्मा ततः पादौ सिषेच च ॥ ३१ ॥

'तब धर्मात्मा राजाने तेज और बलसे सम्पन्न उस क्रोधमय जलको नीचे डाल दिया। उससे अपने दोनों पैरोंको ही सींच लिया ॥ ३१ ॥

तेनास्य राज्ञस्तौ पादौ तदा कल्माषतां गतौ।
तदाप्रभृति राजासौ सौदासः सुमहायशाः ॥ ३२ ॥
कल्माषपादः संवृत्तः ख्यातश्चैव तथा नृपः।

ऐसा करनेसे राजाके दोनों पैर तत्काल चितकबरे हो गये। तभीसे महायशस्वी राजा सौदास कल्माषपाद (चितकबरे पैरवाले) हो गये और उसी नामसे उनकी ख्याति हुई ॥ ३२$\frac{1}{2}$ ॥

स राजा सह पत्न्या वै प्रणिपत्य मुहुर्मुहुः।
पुनर्वसिष्ठं प्रोवाच यदुक्तं ब्रह्मरूपिणा ॥ ३३ ॥

'तदनन्तर पत्नीसहित राजाने बारंबार प्रणाम करके फिर वसिष्ठसे कहा—'ब्रह्मर्षे! आपहीका रूप धारण करके किसीने मुझे ऐसा भोजन देनेके लिये प्रेरित किया था' ॥ ३३ ॥

तच्छ्रुत्वा पार्थिवेन्द्रस्य रक्षसा विकृतं च तत्।
पुनः प्रोवाच राजानं वसिष्ठः पुरुषर्षभम् ॥ ३४ ॥

'राजाधिराज मित्रसहकी वह बात सुनकर और उसे राक्षसकी करतूत जानकर वसिष्ठने पुनः उन नरश्रेष्ठ नरेशसे कहा— ॥ ३४ ॥

मया रोषपरीतेन यदिदं व्याहृतं वचः।
नैतच्छक्यं वृथा कर्तुं प्रदास्यामि च ते वरम् ॥ ३५ ॥

''राजन्! मैंने रोषसे भरकर जो बात कह दी है, इसे व्यर्थ नहीं किया जा सकता; परंतु इससे छूटनेके लिये मैं तुम्हें एक वर दूँगा ॥ ३५ ॥

कालो द्वादशवर्षाणि शापस्यान्तो भविष्यति।
मत् प्रसादाच्च राजेन्द्र अतीतं न स्मरिष्यसि ॥ ३६ ॥

'राजेन्द्र! वह वर इस प्रकार है—यह शाप बारह वर्षोंतक रहेगा। उसके बाद इसका अन्त हो जायगा। मेरी कृपासे तुम्हें बीती हुई बातका स्मरण नहीं रहेगा' ॥ ३६ ॥

एवं स राजा तं शापमुपभुज्यारिसूदनः।
प्रतिलेभे पुना राज्यं प्रजाश्चैवान्वपालयत् ॥ ३७ ॥

'इस प्रकार उस शत्रुसूदन राजाने बारह वर्षोंतक उस शापको भोगकर पुनः अपना राज्य पाया और प्रजाजनोंका निरन्तर पालन किया ॥ ३७ ॥

तस्य कल्माषपादस्य यज्ञस्यायतनं शुभम्।
आश्रमस्य समीपेऽस्य यन्मां पृच्छसि राघव ॥ ३८ ॥

'रघुनन्दन! उन्हीं राजा कल्माषपादके यज्ञका यह सुन्दर स्थान मेरे इस आश्रमके समीप दिखायी देता है, जिसके विषयमें तुम पूछ रहे थे' ॥ ३८ ॥

तस्य तां पार्थिवेन्द्रस्य कथां श्रुत्वा सुदारुणाम्।
विवेश पर्णशालायां महर्षिमभिवाद्य च ॥ ३९ ॥

महाराज मित्रसहकी उस अत्यन्त दारुण कथाको सुनकर शत्रुघ्नने महर्षिको प्रणाम करके पर्णशालामें प्रवेश किया ॥ ३९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें पैंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

—★—

षट्षष्टितमः सर्गः

सीताके दो पुत्रोंका जन्म, वाल्मीकिद्वारा उनकी रक्षाकी व्यवस्था और इस समाचारसे प्रसन्न हुए शत्रुघ्नका वहाँसे प्रस्थान करके यमुनातटपर पहुँचना

यामेव रात्रिं शत्रुघ्नः पर्णशालां समाविशत्।
तामेव रात्रिं सीतापि प्रसूता दारकद्वयम् ॥ १ ॥

जिस रातको शत्रुघ्नने पर्णशालामें प्रवेश किया था, उसी रातमें सीताजीने दो पुत्रोंको जन्म दिया ॥ १ ॥

ततोऽर्धरात्रसमये बालका मुनिदारकाः।
वाल्मीकेः प्रियमाचख्युः सीतायाः प्रसवं शुभम् ॥ २ ॥

तदनन्तर आधी रातके समय कुछ मुनिकुमारोंने वाल्मीकिजीके पास आकर उन्हें सीताजीके प्रसव होनेका शुभ एवं प्रिय समाचार सुनाया— ॥ २ ॥

भगवन् रामपत्नी सा प्रसूता दारकद्वयम्।
ततो रक्षां महातेजः कुरु भूतविनाशिनीम् ॥ ३ ॥

'भगवन्! श्रीरामचन्द्रजीकी धर्मपत्नीने दो पुत्रोंको जन्म दिया है; अतः महातेजस्वी महर्षे! आप उनकी बालग्रहजनित बाधा निवृत्त करनेवाली रक्षा करें' ॥ ३ ॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा महर्षिः समुपागमत्।
बालचन्द्रप्रतीकाशौ देवपुत्रौ महौजसौ ॥ ४ ॥

उन कुमारोंकी वह बात सुनकर महर्षि उस स्थानपर गये। सीताके वे दोनों पुत्र बालचन्द्रमाके समान सुन्दर तथा देवकुमारोंके समान महातेजस्वी थे ॥ ४ ॥

जगाम तत्र हृष्टात्मा ददर्श च कुमारकौ।
भूतघ्नीं चाकरोत् ताभ्यां रक्षां रक्षोविनाशिनीम् ॥ ५ ॥

वाल्मीकिजीने प्रसन्नचित्त होकर सूतिकागारमें प्रवेश किया और उन दोनों कुमारोंको देखा तथा उनके लिये भूतों और राक्षसोंका विनाश करनेवाली रक्षाकी व्यवस्था की ॥ ५ ॥

कुशमुष्टिमुपादाय लवं चैव तु स द्विजः।
वाल्मीकिः प्रददौ ताभ्यां रक्षां भूतविनाशिनीम् ॥ ६ ॥

ब्रह्मर्षि वाल्मीकिने एक कुशाओंका मुट्ठा और उनके लव लेकर उनके द्वारा दोनों बालकोंकी भूत-बाधाका निवारण करनेके लिये रक्षा-विधिका उपदेश दिया— ॥ ६ ॥

यस्तयोः पूर्वजो जातः स कुशैर्मन्त्रसत्कृतैः।
निर्मार्जनीयस्तु तदा कुश इत्यस्य नाम तत् ॥ ७ ॥
यश्चावरो भवेत् ताभ्यां लवेन सुसमाहितः।
निर्मार्जनीयो वृद्धाभिर्लवेति च स नामतः ॥ ८ ॥

'वृद्धा स्त्रियोंको चाहिये कि इन दोनों बालकोंमें जो पहले उत्पन्न हुआ है, उसका मन्त्रोंद्वारा संस्कार किये हुए इन कुशोंसे मार्जन करें। ऐसा करनेपर उस बालकका नाम 'कुश' होगा और उनमें जो छोटा है, उसका लवसे मार्जन करें। इससे उसका नाम 'लव' होगा ॥ ७-८ ॥

एवं कुशलवौ नाम्ना तावुभौ यमजातकौ।
मत्कृताभ्यां च नामभ्यां ख्यातियुक्तौ भविष्यतः ॥ ९ ॥

'इस प्रकार जुड़वे उत्पन्न हुए ये दोनों बालक क्रमशः कुश और लव नाम धारण करेंगे और मेरे द्वारा निश्चित किये गये इन्हीं नामोंसे भूमण्डलमें विख्यात होंगे' ॥ ९ ॥

तां रक्षां जगृहुस्तां च मुनिहस्तात् समाहिताः।
अकुर्वंश्च ततो रक्षां तयोर्विगतकल्मषाः ॥ १० ॥

यह सुनकर निष्पाप वृद्धा स्त्रियोंने एकाग्रचित्त हो मुनिके हाथसे रक्षाके साधनभूत उन कुशोंको ले लिया और उनके द्वारा उन दोनों बालकोंका मार्जन एवं संरक्षण किया ॥ १० ॥

तथा तां क्रियमाणां च वृद्धाभिर्गोत्रनाम च।
संकीर्तनं च रामस्य सीतायाः प्रसवौ शुभौ॥ ११॥
अर्धरात्रे तु शत्रुघ्नः शुश्राव सुमहत् प्रियम्।
पर्णशालां ततो गत्वा मातर्दिष्ट्येति चाब्रवीत्॥ १२॥

जब वृद्धा स्त्रियाँ इस प्रकार रक्षा करने लगीं, उस समय आधी रातको श्रीराम और सीताके नाम, गोत्रके उच्चारणकी ध्वनि शत्रुघ्नजीके कानोंमें पड़ी। साथ ही उन्हें सीताके दो सुन्दर पुत्र होनेका संवाद प्राप्त हुआ। तब वे सीताजीकी पर्णशालामें गये और बोले—'माताजी! यह बड़े सौभाग्यकी बात है'॥ ११-१२॥

तदा तस्य प्रहृष्टस्य शत्रुघ्नस्य महात्मनः।
व्यतीता वार्षिकी रात्रिः श्रावणी लघुविक्रमा॥ १३॥

महात्मा शत्रुघ्न उस समय इतने प्रसन्न थे कि उनकी वह वर्षाकालिक सावनकी रात बात-की-बातमें बीत गयी॥ १३॥

प्रभाते सुमहावीर्यः कृत्वा पौर्वाह्णिकीं क्रियाम्।
मुनिं प्राञ्जलिरामन्त्र्य ययौ पश्चान्मुखः पुनः॥ १४॥

सवेरा होनेपर पूर्वाह्णकालका कार्य संध्या-वन्दन आदि करके महापराक्रमी शत्रुघ्न हाथ जोड़ मुनिसे विदा ले पश्चिम दिशाकी ओर चल दिये॥ १४॥

स गत्वा यमुनातीरं सप्तरात्रोषितः पथि।
ऋषीणां पुण्यकीर्तीनामाश्रमे वासमभ्ययात्॥ १५॥

मार्गमें सात रात बिताकर वे यमुना-तटपर जा पहुँचे और वहाँ पुण्यकीर्ति महर्षियोंके आश्रममें रहने लगे॥ १५॥

स तत्र मुनिभिः सार्धं भार्गवप्रमुखैर्नृपः।
कथाभिरभिरूपाभिर्वासं चक्रे महायशाः॥ १६॥

महायशस्वी राजा शत्रुघ्नने वहाँ च्यवन आदि मुनियोंके साथ सुन्दर कथा-वार्ताद्वारा कालक्षेप करते हुए निवास किया॥ १६॥

स काञ्चनाद्यैर्मुनिभिः समेतै
रघुप्रवीरो रजनीं तदानीम्।
कथाप्रकारैर्बहुभिर्महात्मा
विरामयामास नरेन्द्रसूनुः॥ १७॥

इस प्रकार रघुकुलके प्रमुख वीर महात्मा राजकुमार शत्रुघ्न वहाँ एकत्र हुए च्यवन आदि मुनियोंके साथ नाना प्रकारकी कथाएँ सुनते हुए उन दिनों यमुनातटपर रात बिताने लगे॥ १७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे षट्षष्टितमः सर्गः॥ ६६॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें छाछठवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ६६॥

—★—

सप्तषष्टितमः सर्गः

च्यवन मुनिका शत्रुघ्नको लवणासुरके शूलकी शक्तिका परिचय देते हुए राजा मान्धाताके वधका प्रसंग सुनाना

अथ रात्र्यां प्रवृत्तायां शत्रुघ्नो भृगुनन्दनम्।
पप्रच्छ च्यवनं विप्रं लवणस्य यथाबलम्॥ १॥
शूलस्य च बलं ब्रह्मन् के च पूर्वं विनाशिताः।
अनेन शूलमुख्येन द्वन्द्वयुद्धमुपागताः॥ २॥

एक दिन रातके समय शत्रुघ्नने भृगुनन्दन ब्रह्मर्षि च्यवनसे पूछा—'ब्रह्मन्! लवणासुरमें कितना बल है? उसके शूलमें कितनी शक्ति है? उस उत्तम शूलके द्वारा उसने द्वन्द्व युद्धमें आये हुए किन-किन योद्धाओंका वध किया है?'॥ १-२॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा शत्रुघ्नस्य महात्मनः।
प्रत्युवाच महातेजाश्च्यवनो रघुनन्दनम्॥ ३॥

महात्मा शत्रुघ्नजीका यह वचन सुनकर महातेजस्वी च्यवनने उन रघुकुलनन्दन राजकुमारसे कहा—॥ ३॥

असंख्येयानि कर्माणि यान्यस्य रघुनन्दन।
इक्ष्वाकुवंशप्रभवे यद् वृत्तं तच्छृणुष्व मे॥ ४॥

'रघुनन्दन! इस लवणासुरके कर्म असंख्य हैं। उनमेंसे एक ऐसे कर्मका वर्णन किया जाता है, जो इक्ष्वाकुवंशी राजा मान्धाताके ऊपर घटित हुआ था। तुम उसे मेरे मुँहसे सुनो॥ ४॥

अयोध्यायां पुरा राजा युवनाश्वसुतो बली।
मान्धाता इति विख्यातस्त्रिषु लोकेषु वीर्यवान्॥ ५॥

'पूर्वकालकी बात है अयोध्यापुरीमें युवनाश्वके पुत्र राजा मान्धाता राज्य करते थे। वे बड़े बलवान्, पराक्रमी तथा तीनों लोकोंमें विख्यात थे॥ ५॥

स कृत्वा पृथिवीं कृत्स्नां शासने पृथिवीपतिः।
सुरलोकमितो जेतुमुद्योगमकरोन्नृपः॥ ६॥

'उन पृथिवीपति नरेशने सारी पृथ्वीको अपने अधिकारमें करके यहाँसे देवलोकपर विजय पानेका उद्योग आरम्भ किया॥ ६॥

इन्द्रस्य च भयं तीव्रं सुराणां च महात्मनाम्।
मान्धातरि कृतोद्योगे देवलोकजिगीषया॥ ७॥

'राजा मान्धाताने जब देवलोकपर विजय पानेकी इच्छासे उद्योग आरम्भ किया, तब इन्द्र तथा महामनस्वी देवताओंको बड़ा भय हुआ ॥ ७ ॥

अर्धासनेन शक्रस्य राज्यार्धेन च पार्थिवः ।
वन्द्यमानः सुरगणैः प्रतिज्ञामध्यरोहत ॥ ८ ॥

''मैं इन्द्रका आधा सिंहासन और उनका आधा राज्य लेकर भूमण्डलका राजा हो देवताओंसे वन्दित होकर रहूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा करके वे स्वर्गलोकपर जा चढ़े ॥ ८ ॥

तस्य पापमभिप्रायं विदित्वा पाकशासनः ।
सान्त्वपूर्वमिदं वाक्यमुवाच युवनाश्वजम् ॥ ९ ॥

'उनके खोटे अभिप्रायको जानकर पाकशासन इन्द्र उन युवनाश्व पुत्र मान्धाताके पास गये और उन्हें शान्तिपूर्वक समझाते हुए इस प्रकार बोले— ॥ ९ ॥

राजा त्वं मानुषे लोके न तावत् पुरुषर्षभ ।
अकृत्वा पृथिवीं वश्यां देवराज्यमिहेच्छसि ॥ १० ॥

''पुरुषप्रवर ! अभी तुम सारे मर्त्यलोकके भी राजा नहीं हो। समूची पृथ्वीको वशमें किये बिना ही देवताओंका राज्य कैसे लेना चाहते हो ॥ १० ॥

यदि वीर समग्रा ते मेदिनी निखिला वशे ।
देवराज्यं कुरुष्वेह सभृत्यबलवाहनः ॥ ११ ॥

''वीर ! यदि सारी पृथ्वी तुम्हारे वशमें हो जाय तो तुम सेवकों, सेनाओं और सवारियोंसहित यहाँ देवलोकका राज्य करना' ॥ ११ ॥

इन्द्रमेवं ब्रुवाणं तं मान्धाता वाक्यमब्रवीत् ।
क्व मे शक्र प्रतिहतं शासनं पृथिवीतले ॥ १२ ॥

'ऐसी बातें कहते हुए इन्द्रसे मान्धाताने पूछा— 'देवराज ! बताइये तो सही, इस पृथ्वीपर कहाँ मेरे आदेशकी अवहेलना होती है' ॥ १२ ॥

तमुवाच सहस्राक्षो लवणो नाम राक्षसः ।
मधुपुत्रो मधुवने न तेऽऽज्ञां कुरुतेऽनघ ॥ १३ ॥

'तब इन्द्रने कहा—'निष्पाप नरेश ! मधुवनमें मधुका पुत्र लवणासुर रहता है। वह तुम्हारी आज्ञा नहीं मानता' ॥ १३ ॥

तच्छ्रुत्वा विप्रियं घोरं सहस्राक्षेण भाषितम् ।
व्रीडितोऽवाङ्मुखो राजा व्याहर्तुं न शशाक ह ॥ १४ ॥

'इन्द्रकी कही हुई वह घोर अप्रिय बात सुनकर राजा मान्धाताका मुख लज्जासे झुक गया। वे कुछ बोल न सके ॥ १४ ॥

आमन्त्र्य तु सहस्राक्षं प्रायात् किंचिदवाङ्मुखः ।
पुनरेवागमच्छ्रीमानिमं लोकं नरेश्वरः ॥ १५ ॥

'वे नरेश इन्द्रसे विदा ले मुँह लटकाये वहाँसे चल दिये और पुनः इस मर्त्यलोकमें ही आ पहुँचे ॥ १५ ॥

स कृत्वा हृदयेऽमर्षं सभृत्यबलवाहनः ।
आजगाम मधोः पुत्रं वशे कर्तुमरिंदमः ॥ १६ ॥

'उन्होंने अपने हृदयमें अमर्ष भर लिया। फिर वे शत्रुदमन मान्धाता मधुके पुत्रको वशमें करनेके लिये सेवक, सेना और सवारियोंसहित उसकी राजधानीके समीप आये ॥ १६ ॥

स काङ्क्षमाणो लवणं युद्धाय पुरुषर्षभः ।
दूतं सम्प्रेषयामास सकाशं लवणस्य सः ॥ १७ ॥

'उन पुरुषप्रवर नरेशने युद्धकी इच्छासे लवणके पास अपना दूत भेजा ॥ १७ ॥

स गत्वा विप्रियाण्याह बहूनि मधुनः सुतम् ।
वदन्तमेवं तं दूतं भक्षयामास राक्षसः ॥ १८ ॥

'दूतने वहाँ जाकर मधुके पुत्रको बहुत-से कटुवचन सुनाये। इस तरह कठोर बातें कहते हुए उस दूतको वह राक्षस तुरंत खा गया ॥ १८ ॥

चिरायमाणे दूते तु राजा क्रोधसमन्वितः ।
अर्दयामास तद् रक्षः शरवृष्ट्या समन्ततः ॥ १९ ॥

'जब दूतके लौटनेमें विलम्ब हुआ, तब राजा बड़े क्रुद्ध हुए और बाणोंकी वर्षा करके उस राक्षसको सब ओरसे पीड़ित करने लगे ॥ १९ ॥

ततः प्रहस्य तद् रक्षः शूलं जग्राह पाणिना ।
वधाय सानुबन्धस्य मुमोचायुधमुत्तमम् ॥ २० ॥

'तब लवणासुरने हँसकर हाथसे वह शूल उठाया और सेवकोंसहित राजा मान्धाताका वध करनेके लिये उस उत्तम अस्त्रको उनके ऊपर छोड़ दिया ॥ २० ॥

तच्छूलं दीप्यमानं तु सभृत्यबलवाहनम् ।
भस्मीकृत्वा नृपं भूयो लवणस्यागमत् करम् ॥ २१ ॥

'वह चमचमाता हुआ शूल सेवक, सेना और सवारियों-सहित राजा मान्धाताको भस्म करके फिर लवणासुरके हाथमें आ गया ॥ २१ ॥

एवं स राजा सुमहान् हतः सबलवाहनः ।
शूलस्य तु बलं सौम्य अप्रमेयमनुत्तमम् ॥ २२ ॥

'इस प्रकार सारी सेना और सवारियोंके साथ महाराज मान्धाता मारे गये। सौम्य ! उस शूलकी शक्ति असीम और सबसे बढ़ी-चढ़ी है ॥ २२ ॥

श्वः प्रभाते तु लवणं वधिष्यसि न संशयः ।
अगृहीतायुधं क्षिप्रं ध्रुवो हि विजयस्तव ॥ २३ ॥

'राजन् ! कल सवेरे जबतक वह राक्षस उस अस्त्रको न ले, तबतक ही शीघ्रता करनेपर तुम निःसंदेह उसका वध कर सकोगे और इस प्रकार निश्चय ही तुम्हारी विजय होगी ॥ २३ ॥

लोकानां स्वस्ति चैवं स्यात् कृते कर्मणि च त्वया ।
एतत् ते सर्वमाख्यातं लवणस्य दुरात्मनः ॥ २४ ॥
शूलस्य च बलं घोरमप्रमेयं नरर्षभ ।
विनाशश्चैव मान्धातुर्यत्नेनाभूच्च पार्थिव ॥ २५ ॥

'तुम्हारे द्वारा यह कार्य सम्पन्न होनेपर समस्त लोकोंका कल्याण होगा। नरश्रेष्ठ! इस तरह मैंने तुम्हें दुरात्मा लवणका सारा बल बता दिया और उसके शूलकी भी घोर एवं असीम शक्तिका परिचय दे दिया। पृथ्वीनाथ! इन्द्रके प्रयत्नसे उसी शूलके द्वारा राजा मान्धाताका विनाश हुआ था॥ २४-२५॥

त्वं श्वः प्रभाते लवणं महात्मन्
वधिष्यसे नात्र तु संशयो मे।
शूलं विना निर्गतमामिषार्थं
ध्रुवो जयस्ते भविता नरेन्द्र॥ २६॥

'महात्मन्! कल सबेरे जब वह शूल लिये बिना ही मांसका संग्रह करनेके लिये निकलेगा, तभी तुम उसका वध कर डालोगे, इसमें संशय नहीं है। नरेन्द्र! अवश्य तुम्हारी विजय होगी'॥ २६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे सप्तषष्टितमः सर्गः॥ ६७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें सरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ६७॥

अष्टषष्टितमः सर्गः

लवणासुरका आहारके लिये निकलना, शत्रुघ्नका मधुपुरीके द्वारपर डट जाना और लौटे हुए लवणासुरके साथ उनकी रोषभरी बातचीत

कथां कथयतां तेषां जयं चाकाङ्क्षतां शुभम्।
व्यतीता रजनी शीघ्रं शत्रुघ्नस्य महात्मनः॥ १॥

इस प्रकार कथा कहते और शुभ विजयकी आकाङ्क्षा रखते हुए उन मुनियोंकी बातें सुनते-सुनते महात्मा शत्रुघ्नकी वह रात बात-की-बातमें बीत गयी॥ १॥

ततः प्रभाते विमले तस्मिन् काले स राक्षसः।
निर्गतस्तु पुराद् वीरो भक्ष्याहारप्रचोदितः॥ २॥

तदनन्तर निर्मल प्रभातकाल होनेपर भक्ष्य पदार्थ एवं भोजनके संग्रहकी इच्छासे प्रेरित हो वह वीर राक्षस अपने नगरसे बाहर निकला॥ २॥

एतस्मिन्नन्तरे वीरः शत्रुघ्नो यमुनां नदीम्।
तीर्त्वा मधुपुरद्वारि धनुष्पाणिरतिष्ठत॥ ३॥

इसी बीचमें वीर शत्रुघ्न यमुना नदीको पार करके हाथमें धनुष लिये मधुपुरीके द्वारपर खड़े हो गये॥ ३॥

ततोऽर्धदिवसे प्राप्ते क्रूरकर्मा स राक्षसः।
आगच्छद् बहुसाहस्रं प्राणिनां भारमुद्वहन्॥ ४॥

तत्पश्चात् मध्याह्न होनेपर वह क्रूरकर्मा राक्षस हजारों प्राणियोंका बोझा लिये वहाँ आया॥ ४॥

ततो ददर्श शत्रुघ्नं स्थितं द्वारि धृतायुधम्।
तमुवाच ततो रक्षः किमनेन करिष्यसि॥ ५॥
ईदृशानां सहस्राणि सायुधानां नराधम।
भक्षितानि मया रोषात् कालेनानुगतो ह्यसि॥ ६॥

उस समय उसने शत्रुघ्नको अस्त्र-शस्त्र लिये द्वारपर खड़ा देखा। देखकर वह राक्षस उनसे बोला—'नराधम! इस हथियारसे तू मेरा क्या कर लेगा। तेरे-जैसे हजारों अस्त्र-शस्त्रधारी मनुष्योंको मैं रोषपूर्वक खा चुका हूँ। जान पड़ता है काल तेरे सिरपर नाच रहा है॥ ५-६॥

आहारश्चाप्यसम्पूर्णो ममायं पुरुषाधम।
स्वयं प्रविष्टोऽद्य मुखं कथमासाद्य दुर्मते॥ ७॥

'पुरुषाधम! आजका यह मेरा आहार भी पूरा नहीं है। दुर्मते! तू स्वयं ही मेरे मुँहमें कैसे आ पड़ा?'॥ ७॥

तस्यैवं भाषमाणस्य हसतश्च मुहुर्मुहुः।
शत्रुघ्नो वीर्यसम्पन्नो रोषादश्रूण्यवासृजत्॥ ८॥

वह राक्षस इस प्रकारकी बातें कहता हुआ बारंबार हँस रहा था। यह देख पराक्रमी शत्रुघ्नके नेत्रोंसे रोषके कारण अश्रुपात होने लगा॥ ८॥

तस्य रोषाभिभूतस्य शत्रुघ्नस्य महात्मनः।
तेजोमया मरीच्यस्तु सर्वगात्रैर्विनिष्पतन्॥ ९॥

रोषके वशीभूत हुए महामनस्वी शत्रुघ्नके सभी अङ्गोंसे तेजोमयी किरणें छिटकने लगीं॥ ९॥

उवाच च सुसंक्रुद्धः शत्रुघ्नः स निशाचरम्।
योद्धुमिच्छामि दुर्बुद्धे द्वन्द्वयुद्धं त्वया सह॥ १०॥

उस समय अत्यन्त कुपित हुए शत्रुघ्न उस निशाचरसे बोले—'दुर्बुद्धे! मैं तेरे साथ द्वन्द्वयुद्ध करना चाहता हूँ॥ १०॥

पुत्रो दशरथस्याहं भ्राता रामस्य धीमतः।
शत्रुघ्नो नाम शत्रुघ्नो वधाकाङ्क्षी तवागतः॥ ११॥

'मैं महाराज दशरथका पुत्र और परम बुद्धिमान् राजा श्रीरामका भाई हूँ। मेरा नाम शत्रुघ्न है और मैं कामसे भी शत्रुघ्न (शत्रुओंका संहार करनेवाला) ही हूँ। इस समय तेरा वध करनेके लिये यहाँ आया हूँ॥ ११॥

तस्य मे युद्धकामस्य द्वन्द्वयुद्धं प्रदीयताम्।
शत्रुस्त्वं सर्वभूतानां न मे जीवन् गमिष्यसि॥ १२॥

'मैं युद्ध करना चाहता हूँ। इसलिये तू मुझे द्वन्द्वयुद्धका

अवसर दे। तू सम्पूर्ण प्राणियोंका शत्रु है; इसलिये अब मेरे हाथसे जीवित बचकर नहीं जा सकेगा'॥ १२॥

तस्मिंस्तथा ब्रुवाणे तु राक्षसः प्रहसन्निव।
प्रत्युवाच नरश्रेष्ठं दिष्ट्या प्राप्तोऽसि दुर्मते॥ १३॥

उनके ऐसा कहनेपर वह राक्षस उन नरश्रेष्ठ शत्रुघ्नसे हँसता हुआ-सा बोला—'दुर्मते! सौभाग्यकी बात है कि आज तू स्वयं ही मुझे मिल गया॥ १३॥

मम मातृष्वसुर्भ्राता रावणो नाम राक्षसः।
हतो रामेण दुर्बुद्धे स्त्रीहेतोः पुरुषाधम॥ १४॥

'खोटी बुद्धिवाले नराधम! रावण नामक राक्षस मेरी मौसी शूर्पणखाका भाई था, जिसे तेरे भाई रामने एक स्त्रीके लिये मार डाला॥ १४॥

तच्च सर्वं मया क्षान्तं रावणस्य कुलक्षयम्।
अवज्ञां पुरतः कृत्वा मया यूयं विशेषतः॥ १५॥

'इतना ही नहीं, उन्होंने रावणके कुलका संहार कर दिया, तथापि मैंने वह सब कुछ सह लिया। तुमलोगोंके द्वारा की गयी अवहेलनाको सामने रखकर—प्रत्यक्ष देखकर भी तुम सबके प्रति मैंने विशेषरूपसे क्षमाभावका परिचय दिया॥ १५॥

निहताश्च हि ते सर्वे परिभूतास्तृणं यथा।
भूताश्चैव भविष्याश्च यूयं च पुरुषाधमाः॥ १६॥

'जो नराधम भूतकालमें मेरा सामना करनेके लिये आये थे, उन सबको मैंने तिनकोंके समान तुच्छ समझकर तिरस्कृत किया और मार डाला। जो भविष्यमें आयेंगे, उनकी भी यही दशा होगी और वर्तमानकालमें आनेवाले तुझ-जैसे नराधम भी मेरे हाथसे मरे हुए ही हैं॥ १६॥

तस्य ते युद्धकामस्य युद्धं दास्यामि दुर्मते।
तिष्ठ त्वं च मुहूर्तं तु यावदायुधमानये॥ १७॥

'दुर्मते! तुझे युद्धकी इच्छा है न? मैं अभी तुझे युद्धका अवसर दूँगा। तू दो घड़ी ठहर जा। तबतक मैं भी अपना अस्त्र ले आता हूँ॥ १७॥

ईप्सितं यादृशं तुभ्यं सज्जये यावदायुधम्।
तमुवाचाशु शत्रुघ्नः क्व मे जीवन् गमिष्यसि॥ १८॥

'तेरे वधके लिये जैसे अस्त्रका होना मुझे अभीष्ट है, वैसे अस्त्रको पहले सुसज्जित कर लूँ; फिर युद्धका अवसर दूँगा।' यह सुनकर शत्रुघ्न तुरंत बोल उठे—'अब तू मेरे हाथसे जीवित बचकर कहाँ जायगा?॥ १८॥

स्वयमेवागतः शत्रुर्न मोक्तव्यः कृतात्मना।
यो हि विक्लवया बुद्ध्या प्रसरं शत्रवे दिशेत्।
स हतो मन्दबुद्धिः स्याद् यथा कापुरुषस्तथा॥ १९॥

'किसी भी बुद्धिमान् पुरुषको अपने सामने आये हुए शत्रुको छोड़ना नहीं चाहिये। जो अपनी घबरायी हुई बुद्धिके कारण शत्रुको निकल जानेका अवसर दे देता है, वह मन्दबुद्धि पुरुष कायरके समान मारा जाता है॥ १९॥

तस्मात् सुदृष्टं कुरु जीवलोकं
शरैः शितैस्त्वां विविधैर्नयामि।
यमस्य गेहाभिमुखं हि पापं
रिपुं त्रिलोकस्य च राघवस्य॥ २०॥

'अतः राक्षस! अब तू इस जीव-जगत्को अच्छी तरह देख ले। मैं नाना प्रकारके तीखे बाणोंद्वारा तुझ पापीको अभी यमराजके घरकी ओर भेजता हूँ; क्योंकि तू तीनों लोकोंका तथा श्रीरघुनाथजीका भी शत्रु है'॥ २०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डेऽष्टषष्टितमः सर्गः॥ ६८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें अड़सठवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ६८॥

—★—

एकोनसप्ततितमः सर्गः

शत्रुघ्न और लवणासुरका युद्ध तथा लवणका वध

तच्छ्रुत्वा भाषितं तस्य शत्रुघ्नस्य महात्मनः।
क्रोधमाहारयत् तीव्रं तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत्॥ १॥

महामना शत्रुघ्नका वह भाषण सुनकर लवणासुरको बड़ा क्रोध हुआ और बोला—'अरे! खड़ा रह, खड़ा रह'॥ १॥

पाणौ पाणिं च निष्पिष्य दन्तान् कटकटाय्य च।
लवणो रघुशार्दूलमाह्वयामास चासकृत्॥ २॥

वह हाथ-पर-हाथ रगड़ता और दाँत कटकटाता हुआ रघुकुलके सिंह शत्रुघ्नको बारंबार ललकारने लगा॥ २॥

तं ब्रुवाणं तथा वाक्यं लवणं घोरदर्शनम्।
शत्रुघ्नो देवशत्रुघ्न इदं वचनमब्रवीत्॥ ३॥

भयंकर दिखायी देनेवाले लवणको इस प्रकार बोलते देख देवशत्रुओंका नाश करनेवाले शत्रुघ्नने यह बात कही—॥ ३॥

शत्रुघ्नो न तदा जातो यदान्ये निर्जितास्त्वया।
तदद्य बाणाभिहतो व्रज त्वं यमसादनम्॥ ४॥

'राक्षस! जब तूने दूसरे वीरोंको पराजित किया था, उस समय शत्रुघ्नका जन्म नहीं हुआ था। अतः आज मेरे इन बाणोंकी चोट खाकर तू सीधे यमलोककी राह ले॥ ४॥

ऋषयोऽप्यद्य पापात्मन् मया त्वां निहतं रणे।
पश्यन्तु विप्रा विद्वांसस्त्रिदशा इव रावणम्॥ ५॥

'पापात्मन्! जैसे देवताओंने रावणको धराशायी हुआ

देखा था, उसी तरह विद्वान् ब्राह्मण और ऋषि आज रण-भूमिमें मेरेद्वारा मारे गये तुझ दुराचारी राक्षसको भी देखें ॥ ५ ॥

त्वयि मद्बाणनिर्दग्धे पतितेऽद्य निशाचर।
पुरे जनपदे चापि क्षेममेव भविष्यति ॥ ६ ॥

'निशाचर! आज मेरे बाणोंसे दग्ध होकर जब तू धरतीपर गिर जायगा, उस समय इस नगर और जनपदमें भी सबका कल्याण ही होगा ॥ ६ ॥

अद्य मद्बाहुनिष्क्रान्तः शरो वज्रनिभाननः।
प्रवेक्ष्यते ते हृदयं पद्ममंशुरिवार्कजः ॥ ७ ॥

'आज मेरी भुजाओंसे छूटा हुआ वज्रके समान मुखवाला बाण उसी तरह तेरी छातीमें धँस जायगा, जैसे सूर्यकी किरण कमलकोशमें प्रविष्ट हो जाती है' ॥ ७ ॥

एवमुक्तो महावृक्षं लवणः क्रोधमूर्च्छितः।
शत्रुघ्नोरसि चिक्षेप स च तं शतधाच्छिनत् ॥ ८ ॥

शत्रुघ्नके ऐसा कहनेपर लवण क्रोधसे मूर्छित-सा हो गया और एक महान् वृक्ष लेकर उसने शत्रुघ्नकी छातीपर दे मारा; परंतु शत्रुघ्नने उसके सैकड़ों टुकड़े कर दिये ॥ ८ ॥

तद् दृष्ट्वा विफलं कर्म राक्षसः पुनरेव तु।
पादपान् सुबहून् गृह्य शत्रुघ्नायासृजद् बली ॥ ९ ॥

वह वार खाली गया देख उस बलवान् राक्षसने पुनः बहुत-से वृक्ष ले-लेकर शत्रुघ्नपर चलाये ॥ ९ ॥

शत्रुघ्नश्चापि तेजस्वी वृक्षानापततो बहून्।
त्रिभिश्चतुर्भिरेकैकं चिच्छेद नतपर्वभिः ॥ १० ॥

परंतु शत्रुघ्न भी बड़े तेजस्वी थे। उन्होंने अपने ऊपर आते हुए उन बहुसंख्यक वृक्षोंमेंसे प्रत्येकको झुकी हुई गाँठवाले तीन-तीन या चार-चार बाण मारकर काट डाला ॥ १० ॥

ततो बाणमयं वर्षं व्यसृजद् राक्षसोपरि।
शत्रुघ्नो वीर्यसम्पन्नो विव्यथे न स राक्षसः ॥ ११ ॥

फिर पराक्रमी शत्रुघ्नने उस राक्षसपर बाणोंकी झड़ी लगा दी, किंतु वह निशाचर इससे व्यथित या विचलित नहीं हुआ ॥ ११ ॥

ततः प्रहस्य लवणो वृक्षमुद्यम्य वीर्यवान्।
शिरस्यभ्यहनच्छूरं स्रस्ताङ्गः स मुमोह वै ॥ १२ ॥

तब बल-विक्रमशाली लवणने हँसकर एक वृक्ष उठाया और उसे शूरवीर शत्रुघ्नके सिरपर दे मारा। उसकी चोट खाकर शत्रुघ्नके सारे अङ्ग शिथिल हो गये और उन्हें मूर्छा आ गयी ॥ १२ ॥

तस्मिन् निपतिते वीरे हाहाकारो महानभूत्।
ऋषीणां देवसंघानां गन्धर्वाप्सरसां तथा ॥ १३ ॥

वीर शत्रुघ्नके गिरते ही ऋषियों, देवसमूहों, गन्धर्वों और अप्सराओंमें महान् हाहाकार मच गया ॥ १३ ॥

तमवज्ञाय तु हतं शत्रुघ्नं भुवि पातितम्।
रक्षो लब्धान्तरमपि न विवेश स्वमालयम् ॥ १४ ॥
नापि शूलं प्रजग्राह तं दृष्ट्वा भुवि पातितम्।
ततो हत इति ज्ञात्वा तान् भक्षान् समुदावहत् ॥ १५ ॥

शत्रुघ्नजीको भूमिपर गिरा देख लवणने समझा ये मर गये, इसलिये अवसर मिलनेपर भी वह राक्षस अपने घरमें नहीं गया और न शूल ही ले आया। उन्हें धराशायी हुआ देख सर्वथा मरा हुआ समझकर ही वह अपनी उस भोजनसामग्रीको एकत्र करने लगा ॥ १४-१५ ॥

मुहूर्ताल्लब्धसंज्ञस्तु पुनस्तस्थौ धृतायुधः।
शत्रुघ्नो वै पुरद्वारि ऋषिभिः सम्प्रपूजितः ॥ १६ ॥

दो ही घड़ीमें शत्रुघ्नको होश आ गया। वे अस्त्र-शस्त्र लेकर उठे और फिर नगरद्वारपर खड़े हो गये। उस समय ऋषियोंने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ १६ ॥

ततो दिव्यममोघं तं जग्राह शरमुत्तमम्।
ज्वलन्तं तेजसा घोरं पूरयन्तं दिशो दश ॥ १७ ॥

तदनन्तर शत्रुघ्नने उस दिव्य, अमोघ और उत्तम बाणको हाथमें लिया, जो अपने घोर तेजसे प्रज्वलित हो दसों दिशाओंमें व्याप्त-सा हो रहा था ॥ १७ ॥

वज्राननं वज्रवेगं मेरुमन्दरसंनिभम्।
नतं पर्वसु सर्वेषु संयुगेष्वपराजितम् ॥ १८ ॥

उसका मुख और वेग वज्रके समान था। वह मेरु और मन्दराचलके समान भारी था। उसकी गाँठें झुकी हुई थीं तथा वह किसी भी युद्धमें पराजित होनेवाला नहीं था ॥ १८ ॥

असृक्चन्दनदिग्धाङ्गं चारुपत्रं पतत्रिणम्।
दानवेन्द्राचलेन्द्राणामसुराणां च दारुणम् ॥ १९ ॥

उसका सारा अङ्ग रक्तरूपी चन्दनसे चर्चित था। पंख बड़े सुन्दर थे। वह बाण दानवराजरूपी पर्वतराजों एवं असुरोंके लिये बड़ा भयंकर था ॥ १९ ॥

तं दीप्तमिव कालाग्निं युगान्ते समुपस्थिते।
दृष्ट्वा सर्वाणि भूतानि परित्रासमुपागमन् ॥ २० ॥

वह प्रलयकाल उपस्थित होनेपर प्रज्वलित हुई कालाग्निके समान उद्दीप्त हो रहा था। उसे देखकर समस्त प्राणी त्रस्त हो गये ॥ २० ॥

सदेवासुरगन्धर्वं मुनिभिः साप्सरोगणम्।
जगद्धि सर्वमस्वस्थं पितामहमुपस्थितम् ॥ २१ ॥

देवता, असुर, गन्धर्व, मुनि और अप्सराओंके साथ सारा जगत् अस्वस्थ हो ब्रह्माजीके पास पहुँचा ॥ २१ ॥

उवाच देवदेवेशं वरदं प्रपितामहम्।
देवानां भयसम्मोहो लोकानां संक्षयं प्रति ॥ २२ ॥

जगत्के उन सभी प्राणियोंने वर देनेवाले देवदेवेश्वर प्रपितामह ब्रह्माजीसे कहा—'भगवन्! समस्त लोकोंके संहारकी सम्भावनासे देवताओंपर भी भय और मोह छा गया है ॥ २२ ॥

कच्चिल्लोकक्षयो देव सम्प्राप्तो वा युगक्षयः।
नेदृशं दृष्टपूर्वं च न श्रुतं प्रपितामह ॥ २३ ॥

'देव! कहीं लोकोंका संहार तो नहीं होगा अथवा प्रलयकाल तो नहीं आ पहुँचा है? प्रपितामह! संसारकी ऐसी अवस्था न तो पहले कभी देखी गयी थी और न सुननेमें ही आयी थी' ॥ २३ ॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा ब्रह्मा लोकपितामहः ।
भयकारणमयाचष्ट देवानामभयंकरः ॥ २४ ॥

उनकी यह बात सुनकर देवताओंका भय दूर करनेवाले लोकपितामह ब्रह्माने प्रस्तुत भयका कारण बताते हुए कहा ॥ २४ ॥

उवाच मधुरां वाणीं शृणुध्वं सर्वदेवताः ।
वधाय लवणस्याजौ शरः शत्रुघ्नधारितः ॥ २५ ॥
तेजसा तस्य सम्मूढाः सर्वे स्मः सुरसत्तमाः ।

वे मधुर वाणीमें बोले—'सम्पूर्ण देवताओ! मेरी बात सुनो। आज शत्रुघ्नने युद्धस्थलमें लवणासुरका वध करनेके लिये जो बाण हाथमें लिया है, उसीके तेजसे हम सब लोग मोहित हो रहे हैं। ये श्रेष्ठ देवता भी उसीसे घबराये हुए हैं ॥ २५½ ॥

एष पूर्वस्य देवस्य लोककर्तुः सनातनः ॥ २६ ॥
शरस्तेजोमयो वत्सा येन वै भयमागतम् ।

'पुत्रो! यह तेजोमय सनातन बाण आदिपुरुष लोककर्ता भगवान् विष्णुका है। जिससे तुम्हें भय प्राप्त हुआ है ॥ २६½ ॥

एष वै कैटभस्यार्थे मधुनश्च महाशरः ॥ २७ ॥
सृष्टो महात्मना तेन वधार्थं दैत्ययोस्तयोः ।

'परमात्मा श्रीहरिने मधु और कैटभ—इन दोनों दैत्योंका वध करनेके लिये इस महान् बाणकी सृष्टि की थी ॥ २७½ ॥

एक एव प्रजानाति विष्णुस्तेजोमयं शरम् ॥ २८ ॥
एषा एव तनुः पूर्वा विष्णोस्तस्य महात्मनः ।

'एकमात्र भगवान् विष्णु ही इस तेजोमय बाणको जानते हैं; क्योंकि यह बाण साक्षात् परमात्मा विष्णुकी ही प्राचीन मूर्ति है ॥ २८½ ॥

इतो गच्छत पश्यध्वं वध्यमानं महात्मना ॥ २९ ॥
रामानुजेन वीरेण लवणं राक्षसोत्तमम् ।

'अब तुमलोग यहाँसे जाओ और श्रीरामचन्द्रजीके छोटे भाई महामनस्वी वीर शत्रुघ्नके हाथसे राक्षसप्रवर लवणासुरका वध होता देखो' ॥ २९½ ॥

तस्य ते देवदेवस्य निशम्य वचनं सुराः ॥ ३० ॥
आजग्मुर्यत्र युध्येते शत्रुघ्नलवणावुभौ ।

देवाधिदेव ब्रह्माजीका यह वचन सुनकर देवतालोग उस स्थानपर आये, जहाँ शत्रुघ्नजी और लवणासुर दोनोंका युद्ध हो रहा था ॥ ३०½ ॥

तं शरं दिव्यसंकाशं शत्रुघ्नकरधारितम् ॥ ३१ ॥
ददृशुः सर्वभूतानि युगान्ताग्निमिवोत्थितम् ।

शत्रुघ्नजीके द्वारा हाथमें लिये गये उस दिव्य बाणको सभी प्राणियोंने देखा। वह प्रलयकालके अग्निके समान प्रज्वलित हो रहा था ॥ ३१½ ॥

आकाशमावृतं दृष्ट्वा देवैर्हि रघुनन्दनः ॥ ३२ ॥
सिंहनादं भृशं कृत्वा ददर्श लवणं पुनः ।

आकाशको देवताओंसे भरा हुआ देख रघुकुलनन्दन शत्रुघ्नने बड़े जोरसे सिंहनाद करके लवणासुरकी ओर देखा ॥ ३२½ ॥

आहूतश्च पुनस्तेन शत्रुघ्नेन महात्मना ॥ ३३ ॥
लवणः क्रोधसंयुक्तो युद्धाय समुपस्थितः ।

महात्मा शत्रुघ्नके पुनः ललकारनेपर लवणासुर क्रोधसे भर गया और फिर युद्धके लिये उनके सामने आया ॥ ३३½ ॥

आकर्णात् स विकृष्याथ तद् धनुर्धन्विनां वरः ॥ ३४ ॥
स मुमोच महाबाणं लवणस्य महोरसि ।

तब धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ शत्रुघ्नजीने अपने धनुषको कानतक खींचकर उस महाबाणको लवणासुरके विशाल वक्षःस्थलपर चलाया ॥ ३४½ ॥

उरस्तस्य विदार्याशु प्रविवेश रसातलम् ॥ ३५ ॥
गत्वा रसातलं दिव्यः शरो विबुधपूजितः ।
पुनरेवागमत् तूर्णमिक्ष्वाकुकुलनन्दनम् ॥ ३६ ॥

वह देवपूजित दिव्य बाण तुरंत ही उस राक्षसके हृदयको विदीर्ण करके रसातलमें घुस गया तथा रसातलमें जाकर वह फिर तत्काल ही इक्ष्वाकुकुलनन्दन शत्रुघ्नजीके पास आ गया ॥ ३५-३६ ॥

शत्रुघ्नशरनिर्भिन्नो लवणः स निशाचरः ।
पपात सहसा भूमौ वज्राहत इवाचलः ॥ ३७ ॥

शत्रुघ्नजीके बाणसे विदीर्ण होकर निशाचर लवण वज्रके मारे हुए पर्वतके समान सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ३७ ॥

तच्च शूलं महद् दिव्यं हते लवणराक्षसे ।
पश्यतां सर्वदेवानां रुद्रस्य वशमन्वगात् ॥ ३८ ॥

लवणासुरके मारे जाते ही वह दिव्य एवं महान् शूल सब देवताओंके देखते-देखते भगवान् रुद्रके पास आ गया ॥ ३८ ॥

एकेषुपातेन भयं निपात्य
लोकत्रयस्यास्य रघुप्रवीरः ।
विनिर्बभावुत्तमचापबाण-
स्तमः प्रणुद्येव सहस्ररश्मिः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार उत्तम धनुष-बाण धारण करनेवाले रघुकुलके प्रमुख वीर शत्रुघ्न एक ही बाणके प्रहारसे तीनों लोकोंके

भयको नष्ट करके उसी प्रकार सुशोभित हुए, जैसे त्रिभुवनका अन्धकार दूर करके सहस्र किरणधारी सूर्यदेव प्रकाशित हो उठते हैं ॥ ३९ ॥

ततो हि देवा ऋषिपन्नगाश्च
प्रपूजिरे ह्यप्सरसश्च सर्वाः ।
दिष्ट्या जयो दाशरथेरवाप्त-
स्त्यक्त्वा भयं सर्प इव प्रशान्तः ॥ ४० ॥

'सौभाग्यकी बात है कि दशरथनन्दन शत्रुघ्नने भय छोड़कर विजय प्राप्त की और सर्पके समान लवणासुर मर गया' ऐसा कहकर देवता, ऋषि, नाग और समस्त अप्सराएँ उस समय शत्रुघ्नजीकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगीं ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे एकोनसप्ततितमः सर्गः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें उनहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६९ ॥

सप्ततितमः सर्गः

देवताओंसे वरदान पा शत्रुघ्नका मधुरापुरीको बसाकर बारहवें वर्षमें वहाँसे श्रीरामके पास जानेका विचार करना

**हते तु लवणे देवाः सेन्द्राः साग्निपुरोगमाः ।
ऊचुः सुमधुरां वाणीं शत्रुघ्नं शत्रुतापनम् ॥ १ ॥**

लवणासुरके मारे जानेपर इन्द्र और अग्नि आदि देवता आकर शत्रुओंको संताप देनेवाले शत्रुघ्नसे अत्यन्त मधुर वाणीमें बोले— ॥ १ ॥

**दिष्ट्या ते विजयो वत्स दिष्ट्या लवणराक्षसः ।
हतः पुरुषशार्दूल वरं वरय सुव्रत ॥ २ ॥**

'वत्स ! सौभाग्यकी बात है कि तुम्हें विजय प्राप्त हुई और लवणासुर मारा गया। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले पुरुषसिंह ! तुम वर माँगो ॥ २ ॥

**वरदास्तु महाबाहो सर्व एव समागताः ।
विजयाकाङ्क्षिणस्तुभ्यममोघं दर्शनं हि नः ॥ ३ ॥**

'महाबाहो ! हम सब लोग तुम्हें वर देनेके लिये यहाँ आये हैं। हम तुम्हारी विजय चाहते थे। हमारा दर्शन अमोघ है (अतएव तुम कोई वर माँगो)' ॥ ३ ॥

**देवानां भाषितं श्रुत्वा शूरो मूर्ध्नि कृताञ्जलिः ।
प्रत्युवाच महाबाहुः शत्रुघ्नः प्रयतात्मवान् ॥ ४ ॥**

देवताओंका यह वचन सुनकर मनको वशमें रखनेवाले शूरवीर महाबाहु शत्रुघ्न मस्तकपर अञ्जलि बाँध इस प्रकार बोले— ॥ ४ ॥

**इयं मधुपुरी रम्या मधुरा देवनिर्मिता ।
निवेशं प्राप्नुयाच्छीघ्रमेष मेऽस्तु वरः परः ॥ ५ ॥**

'देवताओ ! यह देवनिर्मित रमणीय मधुपुरी शीघ्र ही मनोहर राजधानीके रूपमें बस जाय। यही मेरे लिये श्रेष्ठ वर है' ॥ ५ ॥

**तं देवाः प्रीतमनसो बाढमित्येव राघवम् ।
भविष्यति पुरी रम्या शूरसेना न संशयः ॥ ६ ॥**

तब देवताओंने उन रघुकुलनन्दन शत्रुघ्नसे प्रसन्न होकर कहा—'बहुत अच्छा ऐसा ही हो। यह रमणीय पुरी निःसंदेह शूर-वीरोंकी सेनासे सम्पन्न हो जायगी' ॥ ६ ॥

**ते तथोक्त्वा महात्मानो दिवमारुरुहुस्तदा ।
शत्रुघ्नोऽपि महातेजास्तां सेनां समुपानयत् ॥ ७ ॥**

ऐसा कहकर महामनस्वी देवता उस समय स्वर्गको चले गये। महातेजस्वी शत्रुघ्नने भी गङ्गातटसे अपनी उस सेनाको बुलवाया ॥ ७ ॥

**सा सेना शीघ्रमागच्छच्छ्रुत्वा शत्रुघ्नशासनम् ।
निवेशनं च शत्रुघ्नः श्रावणेन समारभत् ॥ ८ ॥**

शत्रुघ्नजीका आदेश पाकर वह सेना शीघ्र चली आयी। शत्रुघ्नने श्रावणमाससे उस पुरीको बसाना आरम्भ किया ॥ ८ ॥

**स पुरा दिव्यसंकाशो वर्षे द्वादशमे शुभे ।
निविष्टः शूरसेनानां विषयश्चाकुतोभयः ॥ ९ ॥**

तबसे बारहवें वर्षतक वह पुरी तथा वह शूरसेन जनपद पूर्णरूपसे बस गया। वहाँ कहीं किसीसे भय नहीं था। वह देश दिव्य सुख-सुविधाओंसे सम्पन्न था ॥ ९ ॥

**क्षेत्राणि सस्ययुक्तानि काले वर्षति वासवः ।
अरोगवीरपुरुषा शत्रुघ्नभुजपालिता ॥ १० ॥**

वहाँके खेत खेतीसे हरे-भरे हो गये। इन्द्र वहाँ समयपर वर्षा करने लगे। शत्रुघ्नजीके बाहुबलसे सुरक्षित मधुपुरी नीरोग तथा वीर पुरुषोंसे भरी थी ॥ १० ॥

**अर्धचन्द्रप्रतीकाशा यमुनातीरशोभिता ।
शोभिता गृहमुख्यैश्च चत्वरापणवीथिकैः ।
चातुर्वर्ण्यसमायुक्ता नानावाणिज्यशोभिता ॥ ११ ॥**

वह पुरी यमुनाके तटपर अर्धचन्द्राकार बसी थी और अनेकानेक सुन्दर गृहों, चौराहों, बाजारों तथा गलियोंसे

सुशोभित होती थी। उसमें चारों वर्णोंके लोग निवास करते थे तथा नाना प्रकारके वाणिज्य-व्यवसाय उसकी शोभा बढ़ाते थे॥ ११॥

यद्य तेन पुरा शुभ्रं लवणेन कृतं महत्।
तच्छोभयति शत्रुघ्नो नानावर्णोपशोभिताम्॥ १२॥

पूर्वकालमें लवणासुरने जिन विशालगृहोंका निर्माण कराया था, उनमें सफेदी कराकर उन्हें नाना प्रकारके चित्रोंसे सुसज्जित करके शत्रुघ्नजी उनकी शोभा बढ़ाने लगे॥ १२॥

आरामैश्च विहारैश्च शोभमानां समन्ततः।
शोभितां शोभनीयैश्च तथान्यैर्दैवमानुषैः॥ १३॥

अनेकानेक उद्यान और विहारस्थल सब ओरसे उस पुरीको सुशोभित करते थे। देवताओं और मनुष्योंसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य शोभनीय पदार्थ भी उस नगरीकी शोभावृद्धि करते थे॥ १३॥

तां पुरीं दिव्यसंकाशां नानापण्योपशोभिताम्।
नानादेशगतैश्चापि वणिग्भिरुपशोभिताम्॥ १४॥

नाना प्रकारकी क्रय-विक्रय-योग्य वस्तुओंसे सुशोभित वह दिव्य पुरी अनेकानेक देशोंसे आये हुए वणिग्जनोंसे शोभा पा रही थी॥ १४॥

तां समृद्धां समृद्धार्थः शत्रुघ्नो भरतानुजः।
निरीक्ष्य परमप्रीतः परं हर्षमुपागमत्॥ १५॥

उसे पूर्णतः समृद्धिशालिनी देख सफलमनोरथ हुए भरतानुज शत्रुघ्न अत्यन्त प्रसन्न हो बड़े हर्षका अनुभव करने लगे॥ १५॥

तस्य बुद्धिः समुत्पन्ना निवेश्य मधुरां पुरीम्।
रामपादौ निरीक्षेऽहं वर्षे द्वादश आगते॥ १६॥

मधुरापुरीको बसाकर उनके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि अयोध्यासे आये बारहवाँ वर्ष हो गया, अब मुझे वहाँ चलकर श्रीरामचन्द्रजीके चरणारविन्दोंका दर्शन करना चाहिये॥ १६॥

ततः स ताममरपुरोपमां पुरीं
निवेश्य वै विविधजनाभिसंवृताम्।
नराधिपो रघुपतिपाददर्शने
दधे मतिं रघुकुलवंशवर्धनः॥ १७॥

इस प्रकार नाना प्रकारके मनुष्योंसे भरी हुई उस देवपुरीके समान मनोहर मधुरापुरीको बसाकर रघुवंशकी वृद्धि करनेवाले राजा शत्रुघ्नने श्रीरघुनाथजीके चरणोंके दर्शनका विचार किया॥ १७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे सप्ततितमः सर्गः॥ ७०॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें सत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ७०॥

एकसप्ततितमः सर्गः

शत्रुघ्नका थोड़ेसे सैनिकोंके साथ अयोध्याको प्रस्थान, मार्गमें वाल्मीकिके आश्रममें रामचरितका गान सुनकर उन सबका आश्चर्यचकित होना

ततो द्वादशमे वर्षे शत्रुघ्नो रामपालिताम्।
अयोध्यां चकमे गन्तुमल्पभृत्यबलानुगः॥ १॥

तदनन्तर बारहवें वर्षमें थोड़ेसे सेवकों और सैनिकोंको साथ ले शत्रुघ्नने श्रीरामपालित अयोध्याको जानेका विचार किया॥ १॥

ततो मन्त्रिपुरोगांश्च बलमुख्यान् निवर्त्य च।
जगाम हयमुख्येन रथानां च शतेन सः॥ २॥

अतः अपने मुख्य-मुख्य मन्त्रियों तथा सेनापतियोंको लौटाकर—पुरीकी रक्षाके लिये वहीं छोड़कर वे अच्छे-अच्छे घोड़ेवाले सौ रथ साथ ले अयोध्याकी ओर चल पड़े॥ २॥

स गत्वा गणितान् वासान् सप्ताष्टौ रघुनन्दनः।
वाल्मीकाश्रममागत्य वासं चक्रे महायशाः॥ ३॥

महायशस्वी रघुकुलनन्दन शत्रुघ्न यात्रा करनेके पश्चात् मार्गमें सात-आठ परिगणित स्थानोंपर पड़ाव डालते हुए वाल्मीकि मुनिके आश्रमपर जा पहुँचे और रातमें वहीं ठहरे॥ ३॥

सोऽभिवाद्य ततः पादौ वाल्मीकेः पुरुषर्षभः।
पाद्यमर्घ्यं तथातिथ्यं जग्राह मुनिहस्ततः॥ ४॥

उन पुरुषप्रवर रघुवीरने वाल्मीकिजीके चरणोंमें प्रणाम करके उनके हाथसे पाद्य और अर्घ्य आदि आतिथ्य-सत्कारकी सामग्री ग्रहण की॥ ४॥

बहुरूपाः सुमधुराः कथास्तत्र सहस्रशः।
कथयामास स मुनिः शत्रुघ्नाय महात्मने॥ ५॥

वहाँ महर्षि वाल्मीकिने महात्मा शत्रुघ्नको सुनानेके लिये भाँति-भाँतिकी सहस्रों सुमधुर कथाएँ कहीं॥ ५॥

उवाच च मुनिर्वाक्यं लवणस्य वधाश्रितम्।
सुदुष्करं कृतं कर्म लवणं निघ्नता त्वया॥ ६॥

फिर वे लवणवधके विषयमें बोले—'लवणासुरको मारकर तुमने अत्यन्त दुष्कर कर्म किया है॥ ६॥

बहवः पार्थिवाः सौम्य हताः सबलवाहनाः।
लवणेन महाबाहो युध्यमाना महाबलाः॥ ७॥

'सौम्य! महाबाहो! लवणासुरके साथ युद्ध करके बहुत-से महाबली भूपाल सेना और सवारियोंसहित मारे गये हैं॥ ७॥

स त्वया निहतः पापो लीलया पुरुषर्षभ।
जगतश्च भयं तत्र प्रशान्तं तव तेजसा॥ ८॥

'पुरुषश्रेष्ठ! वही पापी लवणासुर तुम्हारे द्वारा अनायास ही मार डाला गया। उसके कारण जगत्‌में जो भय छा गया था, वह तुम्हारे तेजसे शान्त हो गया॥ ८॥

रावणस्य वधो घोरो यत्नेन महता कृतः।
इदं च सुमहत्कर्म त्वया कृतमयत्नतः॥ ९॥

'रावणका घोर वध महान् प्रयत्नसे किया गया था; परंतु यह महान् कर्म तुमने बिना यत्नके ही सिद्ध कर दिया॥ ९॥

प्रीतिश्चास्मिन् परा जाता देवानां लवणे हते।
भूतानां चैव सर्वेषां जगतश्च प्रियं कृतम्॥ १०॥

'लवणासुरके मारे जानेसे देवताओंको बड़ी प्रसन्नता हुई है। तुमने समस्त प्राणियों और सारे जगत्‌का प्रिय कार्य किया है॥ १०॥

तच्च युद्धं मया दृष्टं यथावत् पुरुषर्षभ।
सभायां वासवस्याथ उपविष्टेन राघव॥ ११॥

'नरश्रेष्ठ! मैं इन्द्रकी सभामें बैठा था। जब वह विमानाकार सभा युद्ध देखनेके लिये आयी, तब वहाँ बैठे-बैठे मैंने भी तुम्हारे और लवणके युद्धको भलीभाँति देखा था॥ ११॥

ममापि परमा प्रीतिर्हृदि शत्रुघ्न वर्तते।
उपाघ्रास्यामि ते मूर्ध्नि स्नेहस्यैषा परा गतिः॥ १२॥

'शत्रुघ्न! मेरे हृदयमें भी तुम्हारे लिये बड़ा प्रेम है। अतः मैं तुम्हारा मस्तक सूँघूँगा। यही स्नेहकी पराकाष्ठा है'॥ १२॥

इत्युक्त्वा मूर्ध्नि शत्रुघ्नमुपाघ्राय महामतिः।
आतिथ्यमकरोत् तस्य ये च तस्य पदानुगाः॥ १३॥

ऐसा कहकर परम बुद्धिमान् वाल्मीकिने शत्रुघ्नका मस्तक सूँघा और उनका तथा उनके साथियोंका आतिथ्यसत्कार किया॥ १३॥

स भुक्तवान् नरश्रेष्ठो गीतमाधुर्यमुत्तमम्।
शुश्राव रामचरितं तस्मिन् काले यथाक्रमम्॥ १४॥

नरश्रेष्ठ शत्रुघ्नने भोजन किया और उस समय श्रीरामचन्द्रजीके चरित्रका क्रमशः वर्णन सुना, जो गीतकी मधुरताके कारण बड़ा ही प्रिय एवं उत्तम जान पड़ता था॥ १४॥

तन्त्रीलयसमायुक्तं त्रिस्थानकरणान्वितम्।
संस्कृतं लक्षणोपेतं समतालसमन्वितम्॥ १५॥
शुश्राव रामचरितं तस्मिन् काले पुरा कृतम्।

उस वेलामें उन्हें जो रामचरित सुननेको मिला, वह पहले ही काव्यबद्ध कर लिया गया था। वह काव्यगान वीणाकी लयके साथ हो रहा था। हृदय, कण्ठ और मूर्धा—इन तीन स्थानोंमें मन्द्र, मध्यम और तार स्वरके भेदसे उच्चारित हो रहा था। संस्कृत भाषामें निर्मित होकर व्याकरण, छन्द, काव्य और संगीत-शास्त्रके लक्षणोंसे सम्पन्न था और गानोचित तालके साथ गाया गया था॥ १५½॥

तान्यक्षराणि सत्यानि यथावृत्तानि पूर्वशः॥ १६॥
श्रुत्वा पुरुषशार्दूलो विसंज्ञो बाष्पलोचनः।

उस काव्यके सभी अक्षर एवं वाक्य सच्ची घटनाका प्रतिपादन करते थे और पहले जो वृत्तान्त घटित हो चुके थे, उनका यथार्थ परिचय दे रहे थे। वह अद्भुत काव्यगान सुनकर पुरुषसिंह शत्रुघ्न मूर्छित-से हो गये। उनके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी॥ १६½॥

स मुहूर्तमिवासंज्ञो विनिःश्वस्य मुहुर्मुहुः॥ १७॥
तस्मिन् गीते यथावृत्तं वर्तमानमिवाशृणोत्।

वे दो घड़ीतक अचेत-से होकर बारम्बार लम्बी साँस खींचते रहे। उस गानमें उन्होंने बीती हुई बातोंको वर्तमानकी भाँति सुना॥ १७½॥

पदानुगाश्च ये राज्ञस्तां श्रुत्वा गीतिसम्पदम्॥ १८॥
अवाङ्मुखाश्च दीनाश्च ह्याश्चर्यमिति चाब्रुवन्।

राजा शत्रुघ्नके जो साथी थे, वे भी उस गीत-सम्पत्तिको सुनकर दीन और नतमस्तक हो बोले—'यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है'॥ १८½॥

परस्परं च ये तत्र सैनिकाः सम्बभाषिरे॥ १९॥
किमिदं क्व च वर्तामः किमेतत् स्वप्नदर्शनम्।
अर्थो यो नः पुरा दृष्टस्तमाश्रमपदे पुनः॥ २०॥

शत्रुघ्नके जो सैनिक वहाँ मौजूद थे, वे परस्पर कहने लगे—'यह क्या बात है? हमलोग कहाँ हैं? यह कोई स्वप्न तो नहीं देख रहे हैं। जिन बातोंको हम पहले देख चुके हैं, उन्हींको इस आश्रमपर ज्यों-की-त्यों सुन रहे हैं॥ १९-२०॥

शृणुमः किमिदं स्वप्ने गीतबन्धनमुत्तमम्।
विस्मयं ते परं गत्वा शत्रुघ्नमिदमब्रुवन्॥ २१॥

'क्या इस उत्तम गीतबन्धको हमलोग स्वप्नमें सुन रहे हैं? फिर अत्यन्त विस्मयमें पड़कर वे शत्रुघ्नसे बोले—॥ २१॥

साधु पृच्छ नरश्रेष्ठ वाल्मीकिं मुनिपुङ्गवम्।
शत्रुघ्नस्त्वब्रवीत् सर्वान् कौतूहलसमन्वितान्॥ २२॥
सैनिकानक्षमोऽस्माकं परिप्रष्टुमिहेदृशः।
आश्चर्याणि बहूनीह भवन्त्यस्याश्रमे मुनेः॥ २३॥

'नरश्रेष्ठ! आप इस विषयमें मुनिवर वाल्मीकिजीसे भलीभाँति पूछें।' शत्रुघ्नने कौतूहलमें भरे हुए उन सब सैनिकोंसे कहा—'मुनिके इस आश्रममें ऐसी अनेक

आश्चर्यजनक घटनाएँ होती रहती हैं। उनके विषयमें उनसे कुछ पूछताछ करना हमारे लिये उचित नहीं है ॥ २२-२३ ॥

न तु कौतूहलाद् युक्तमन्वेष्टुं तं महामुनिम्।
एवं तद् वाक्यमुक्त्वा तु सैनिकान् रघुनन्दनः।
अभिवाद्य महर्षिं तं स्वं निवेशं ययौ तदा ॥ २४ ॥

'कौतूहलवश महामुनि वाल्मीकिसे इन बातोंके विषयमें जानना या पूछना उचित न होगा।' अपने सैनिकोंसे ऐसा कहकर रघुकुलनन्दन शत्रुघ्न महर्षिको प्रणाम करके अपने खेमेमें चले गये ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे एकसप्ततितमः सर्गः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें इकहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

—★—

द्विसप्ततितमः सर्गः

वाल्मीकिजीसे विदा ले शत्रुघ्नजीका अयोध्यामें जाकर श्रीराम आदिसे मिलना और सात दिनोंतक वहाँ रहकर पुनः मधुपुरीको प्रस्थान करना

तं शयानं नरव्याघ्रं निद्रा नाभ्यागमत् तदा।
चिन्तयानमनेकार्थं रामगीतमनुत्तमम् ॥ १ ॥

सोते समय पुरुषसिंह शत्रुघ्न उस उत्तम श्रीरामचरित्रसम्बन्धी गानके विषयमें अनेक प्रकारकी बातें सोचते रहे। इसलिये रातमें उन्हें बहुत देरतक नींद नहीं आयी ॥ १ ॥

तस्य शब्दं सुमधुरं तन्त्रीलयसमन्वितम्।
श्रुत्वा रात्रिर्जगामाशु शत्रुघ्नस्य महात्मनः ॥ २ ॥

वीणाके लयके साथ उस रामचरित-गानका सुमधुर शब्द सुनकर महात्मा शत्रुघ्नकी शेष रात बहुत जल्दी बीत गयी ॥ २ ॥

तस्यां रजन्यां व्युष्टायां कृत्वा पौर्वाह्णिकक्रमम्।
उवाच प्राञ्जलिर्वाक्यं शत्रुघ्नो मुनिपुङ्गवम् ॥ ३ ॥

जब वह रात बीती और प्रातःकाल आया, तब पूर्वाह्ण-कालोचित नित्यकर्म करके शत्रुघ्नने हाथ जोड़कर मुनिवर वाल्मीकिसे कहा— ॥ ३ ॥

भगवन् द्रष्टुमिच्छामि राघवं रघुनन्दनम्।
त्वयानुज्ञातुमिच्छामि सहैभिः संशितव्रतैः ॥ ४ ॥

'भगवन्! अब मैं रघुकुलनन्दन श्रीरघुनाथजीका दर्शन करना चाहता हूँ। अतः यदि आपकी आज्ञा हो तो कठोर व्रतका पालन करनेवाले इन साथियोंके साथ मेरी अयोध्या जानेकी इच्छा है' ॥ ४ ॥

इत्येवंवादिनं तं तु शत्रुघ्नं शत्रुसूदनम्।
वाल्मीकिः सम्परिष्वज्य विससर्ज स राघवम् ॥ ५ ॥

इस तरहकी बात कहते हुए रघुकुलभूषण शत्रुसूदन शत्रुघ्नको वाल्मीकिजीने हृदयसे लगा लिया और जानेकी आज्ञा दे दी ॥ ५ ॥

सोऽभिवाद्य मुनिश्रेष्ठं रथमारुह्य सुप्रभम्।
अयोध्यामगमत् तूर्णं राघवोत्सुकदर्शनः ॥ ६ ॥

शत्रुघ्न श्रीरघुनाथजीके दर्शनके लिये उत्कण्ठित थे, इसलिये मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकिको प्रणाम करके वे एक सुन्दर दीप्तिमान् रथपर आरूढ़ हो तुरंत अयोध्याकी ओर चल दिये ॥ ६ ॥

स प्रविष्टः पुरीं रम्यां श्रीमानिक्ष्वाकुनन्दनः।
प्रविवेश महाबाहुर्यत्र रामो महाद्युतिः ॥ ७ ॥

इक्ष्वाकुकुलको आनन्दित करनेवाले महाबाहु श्रीमान् शत्रुघ्न रमणीय अयोध्यापुरीमें प्रवेश करके सीधे उस राजमहलमें गये, जहाँ महातेजस्वी श्रीराम विराजमान थे ॥ ७ ॥

स रामं मन्त्रिमध्यस्थं पूर्णचन्द्रनिभाननम्।
पश्यन्नमरमध्यस्थं सहस्रनयनं यथा ॥ ८ ॥
सोऽभिवाद्य महात्मानं ज्वलन्तमिव तेजसा।
उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा रामं सत्यपराक्रमम् ॥ ९ ॥

जैसे सहस्रनेत्रधारी इन्द्र देवताओंके बीचमें बैठते हैं, उसी प्रकार पूर्णचन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाले भगवान् श्रीराम मन्त्रियोंके मध्यभागमें विराजमान थे। शत्रुघ्नने अपने तेजसे प्रज्वलित होनेवाले सत्यपराक्रमी महात्मा श्रीरामको देखा, प्रणाम किया और हाथ जोड़कर कहा ॥ ८-९ ॥

यदाज्ञप्तं महाराज सर्वं तत् कृतवानहम्।
हतः स लवणः पापः पुरी चास्य निवेशिता ॥ १० ॥

'महाराज! आपने मुझे जिस कामके लिये आज्ञा दी थी, वह सब मैं कर आया हूँ। पापी लवण मारा गया और उसकी पुरी भी बस गयी ॥ १० ॥

द्वादशैतानि वर्षाणि त्वां विना रघुनन्दन।
नोत्सहेयमहं वस्तुं त्वया विरहितो नृप ॥ ११ ॥

'रघुनन्दन! आपका दर्शन किये बिना ये बारह वर्ष तो किसी प्रकार बीत गये; किंतु नरेश्वर! अब और अधिक कालतक आपसे दूर रहनेका मुझमें साहस नहीं है' ॥ ११ ॥

स मे प्रसादं काकुत्स्थ कुरुष्वामितविक्रम।
मातृहीनो यथा वत्सो न चिरं प्रवसाम्यहम्॥ १२॥

'अमित पराक्रमी काकुत्स्थ! जैसे छोटा बच्चा अपनी माँसे अलग नहीं रह सकता, उसी प्रकार मैं चिरकालतक आपसे दूर नहीं रह सकूँगा। इसलिये आप मुझपर कृपा करें'॥ १२॥

एवं ब्रुवाणं शत्रुघ्नं परिष्वज्येदमब्रवीत्।
मा विषादं कृथाः शूर नैतत् क्षत्रियचेष्टितम्॥ १३॥

ऐसी बातें कहते हुए शत्रुघ्नको हृदयसे लगाकर श्रीरामचन्द्रजीने कहा—'शूरवीर! विषाद न करो। इस तरह कातर होना क्षत्रियोचित चेष्टा नहीं है॥ १३॥

नावसीदन्ति राजानो विप्रवासेषु राघव।
प्रजा च परिपाल्या हि क्षात्रधर्मेण राघव॥ १४॥

'रघुकुलभूषण! राजालोग परदेशमें रहनेपर भी दुःखी नहीं होते हैं। रघुवीर! राजाको क्षत्रिय-धर्मके अनुसार प्रजाका भलीभाँति पालन करना चाहिये॥ १४॥

काले काले तु मां वीर अयोध्यामवलोकितुम्।
आगच्छ त्वं नरश्रेष्ठ गन्तासि च पुरं तव॥ १५॥

'नरश्रेष्ठ वीर! समय-समयपर मुझसे मिलनेके लिये अयोध्या आया करो और फिर अपनी पुरीको लौट जाया करो॥ १५॥

ममापि त्वं सुदयितः प्राणैरपि न संशयः।
अवश्यं करणीयं च राज्यस्य परिपालनम्॥ १६॥

'निःसंदेह तुम मुझे भी प्राणोंसे बढ़कर प्रिय हो। परंतु राज्यका पालन करना भी तो आवश्यक कर्तव्य है॥ १६॥

तस्मात् त्वं वस काकुत्स्थ सप्तरात्रं मया सह।
ऊर्ध्वं गन्तासि मधुरां सभृत्यबलवाहनः॥ १७॥

'अतः काकुत्स्थ! अभी सात दिन तो तुम मेरे साथ रहो। उसके बाद सेवक, सेना और सवारियोंके साथ मधुरापुरीको चले जाना'॥ १७॥

रामस्यैतद् वचः श्रुत्वा धर्मयुक्तं मनोऽनुगम्।
शत्रुघ्नो दीनया वाचा बाढमित्येव चाब्रवीत्॥ १८॥

श्रीरामचन्द्रजीकी यह बात धर्मयुक्त होनेके साथ ही मनके अनुकूल थी। इसे सुनकर शत्रुघ्नने श्रीरामवियोगके भयसे दीन वाणीद्वारा कहा—'जैसी प्रभुकी आज्ञा'॥ १८॥

सप्तरात्रं च काकुत्स्थो राघवस्य यथाज्ञया।
उष्य तत्र महेष्वासो गमनायोपचक्रमे॥ १९॥

श्रीरघुनाथजीकी आज्ञासे सात दिन अयोध्यामें ठहरकर महाधनुर्धर ककुत्स्थकुलभूषण शत्रुघ्न वहाँसे जानेको तैयार हो गये॥ १९॥

आमन्त्र्य तु महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम्।
भरतं लक्ष्मणं चैव महारथमुपारुहत्॥ २०॥

सत्यपराक्रमी महात्मा श्रीराम, भरत और लक्ष्मणसे विदा ले शत्रुघ्न एक विशाल रथपर आरूढ़ हुए॥ २०॥

दूरं पद्भ्यामनुगतो लक्ष्मणेन महात्मना।
भरतेन च शत्रुघ्नो जगामाशु पुरीं तदा॥ २१॥

महात्मा लक्ष्मण और भरत पैदल ही उन्हें पहुँचानेके लिये बहुत दूरतक पीछे-पीछे गये। तत्पश्चात् शत्रुघ्न रथके द्वारा शीघ्र ही अपनी राजधानीकी ओर चल दिये॥ २१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे द्विसप्ततितमः सर्गः॥ ७२॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें बहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ७२॥

—★—

त्रिसप्ततितमः सर्गः

एक ब्राह्मणका अपने मरे हुए बालकको राजद्वारपर लाना तथा राजाको ही दोषी बताकर विलाप करना

प्रस्थाप्य तु स शत्रुघ्नं भ्रातृभ्यां सह राघवः।
प्रमुमोद सुखी राज्यं धर्मेण परिपालयन्॥ १॥

शत्रुघ्नको मधुरा भेजकर भगवान् श्रीराम भरत और लक्ष्मण दोनों भाइयोंके साथ धर्मपूर्वक राज्यका पालन करते हुए बड़े सुख और आनन्दसे रहने लगे॥ १॥

ततः कतिपयाहःसु वृद्धो जानपदो द्विजः।
मृतं बालमुपादाय राजद्वारमुपागमत्॥ २॥

तदनन्तर कुछ दिनोंके बाद उस जनपदके भीतर रहनेवाला एक बूढ़ा ब्राह्मण अपने मरे हुए बालकका शव लेकर राजद्वारपर आया॥ २॥

रुदन् बहुविधा वाचः स्नेहदुःखसमन्वितः।
असकृत् पुत्रपुत्रेति वाक्यमेतदुवाच ह॥ ३॥

वह स्नेह और दुःखसे आकुल हो नाना प्रकारकी बातें कहता हुआ रो रहा था और बार-बार 'बेटा! बेटा!' की पुकार मचाता हुआ इस प्रकार विलाप करता था—॥ ३॥

किं नु मे दुष्कृतं कर्म पुरा देहान्तरे कृतम्।
यदहं पुत्रमेकं तु पश्यामि निधनं गतम्॥ ४॥

'हाय! मैंने पूर्वजन्ममें कौन-सा ऐसा पाप किया था, जिसके कारण आज इन आँखोंसे मैं अपने इकलौते बेटेकी मृत्यु देख रहा हूँ॥ ४॥

अप्राप्तयौवनं बालं पञ्चवर्षसहस्रकम्।
अकाले कालमापन्नं मम दुःखाय पुत्रक॥ ५॥

'बेटा! अभी तो तू बालक था। जवान भी नहीं होने पाया था। केवल पाँच हजार दिन* (तेरह वर्ष दस महीने बीस दिन) की तेरी अवस्था थी। तो भी तू मुझे दुःख देनेके लिये असमयमें ही कालके गालमें चला गया॥ ५॥

अल्पैरहोभिर्निधनं गमिष्यामि न संशयः।
अहं च जननी चैव तव शोकेन पुत्रक॥ ६॥

'वत्स! तेरे शोकसे मैं और तेरी माता—दोनों थोड़े ही दिनोंमें मर जायेंगे, इसमें संशय नहीं है॥ ६॥

न स्मराम्यनृतं ह्युक्तं न च हिंसां स्मराम्यहम्।
सर्वेषां प्राणिनां पापं न स्मरामि कदाचन॥ ७॥

'मुझे याद नहीं पड़ता कि कभी मैंने झूठ बात मुँहसे निकाली हो। किसीकी हिंसा की हो अथवा समस्त प्राणियोंमेंसे किसीको भी कभी कष्ट पहुँचाया हो॥ ७॥

केनाद्य दुष्कृतेनायं बाल एव ममात्मजः।
अकृत्वा पितृकार्याणि गतो वैवस्वतक्षयम्॥ ८॥

'फिर आज किस पापसे मेरा यह बेटा पितृकर्म किये बिना इस बाल्यावस्थामें ही यमराजके घर चला गया॥ ८॥

नेदृशं दृष्टपूर्वं मे श्रुतं वा घोरदर्शनम्।
मृत्युरप्राप्तकालानां रामस्य विषये ह्ययम्॥ ९॥

'श्रीरामचन्द्रजीके राज्यमें तो अकाल-मृत्युकी ऐसी भयंकर घटना न पहले कभी देखी गयी थी और न सुननेमें ही आयी थी॥ ९॥

रामस्य दुष्कृतं किञ्चिन्महदस्ति न संशयः।
यथा हि विषयस्थानां बालानां मृत्युरागतः॥ १०॥

'निस्संदेह श्रीरामका ही कोई महान् दुष्कर्म है, जिससे इनके राज्यमें रहनेवाले बालकोंकी मृत्यु होने लगी॥ १०॥

नह्यन्यविषयस्थानां बालानां मृत्युतो भयम्।
स राजञ्जीवयस्वैनं बालं मृत्युवशं गतम्॥ ११॥
राजद्वारि मरिष्यामि पत्न्या सार्धमनाथवत्।
ब्रह्महत्यां ततो राम समुपेत्य सुखी भव॥ १२॥

'दूसरे राज्यमें रहनेवाले बालकोंको मृत्युसे भय नहीं है; अतः राजन्! मृत्युके वशमें पड़े हुए इस बालकको जीवित कर दो, नहीं तो मैं अपनी स्त्रीके साथ इस राजद्वारपर अनाथकी भाँति प्राण दे दूँगा। श्रीराम! फिर ब्रह्महत्याका पाप लेकर तुम सुखी होना॥ ११-१२॥

भ्रातृभिः सहितो राजन् दीर्घमायुरवाप्स्यसि।
उषिताः स्म सुखं राज्ये तवास्मिन् सुमहाबल॥ १३॥

'महाबली नरेश! हम तुम्हारे राज्यमें बड़े सुखसे रहे हैं, इसलिये तुम अपने भाइयोंके साथ दीर्घजीवी होओगे॥ १३॥

इदं तु पतितं तस्मात् तव राम वशे स्थितान्।
कालस्य वशमापन्नाः स्वल्पं हि नहि नः सुखम्॥ १४॥

'श्रीराम! तुम्हारे अधीन रहनेवाले हमलोगोंपर यह बालक-मरणरूपी दुःख सहसा आ पड़ा है, जिससे हम स्वयं भी कालके अधीन हो गये हैं; अतः तुम्हारे इस राज्यमें हमें थोड़ा-सा भी सुख नहीं मिला॥ १४॥

सम्प्रत्यनाथो विषय इक्ष्वाकूणां महात्मनाम्।
रामं नाथमिहासाद्य बालान्तकरणं ध्रुवम्॥ १५॥

'महात्मा इक्ष्वाकुवंशी नरेशोंका यह राज्य अब अनाथ हो गया है। श्रीरामको स्वामीके रूपमें पाकर यहाँ बालकोंकी मृत्यु अटल है॥ १५॥

राजदोषैर्विपद्यन्ते प्रजा ह्यविधिपालिताः।
असद्वृत्ते हि नृपतावकाले म्रियते जनः॥ १६॥

'राजाके दोषसे जब प्रजाका विधिवत् पालन नहीं होता, तभी प्रजावर्गको ऐसी विपत्तियोंका सामना करना पड़ता है। राजाके दुराचारी होनेपर ही प्रजाकी अकाल-मृत्यु होती है॥ १६॥

यद् वा पुरेष्वयुक्तानि जना जनपदेषु च।
कुर्वते न च रक्षास्ति तदा कालकृतं भयम्॥ १७॥

'अथवा नगरों तथा जनपदोंमें रहनेवाले लोग जब अनुचित कर्म—पापाचार करते हैं और वहाँ रक्षाकी कोई व्यवस्था नहीं होती, उन्हें अनुचित कर्मसे रोकनेके लिये कोई उपाय नहीं किया जाता, तभी देशकी प्रजामें अकाल-मृत्युका भय प्राप्त होता है॥ १७॥

सुव्यक्तं राजदोषो हि भविष्यति न संशयः।
पुरे जनपदे चापि तथा बालवधो ह्ययम्॥ १८॥

'अतः यह स्पष्ट है कि नगर या राज्यमें कहीं राजासे ही कोई अपराध हुआ होगा; तभी इस तरह बालककी मृत्यु हुई है, इसमें कोई संशय नहीं है'॥ १८॥

एवं बहुविधैर्वाक्यैरुपरुध्य मुहुर्मुहुः।
राजानं दुःखसंतप्तः सुतं तमुपगूहति॥ १९॥

इस तरह अनेक प्रकारके वाक्योंसे उसने बारम्बार राजाके सामने अपना दुःख निवेदन किया और बारम्बार शोकसे संतप्त होकर वह अपने मरे हुए पुत्रको उठा-उठाकर हृदयसे लगाता रहा॥ १९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे त्रिसप्ततितमः सर्गः॥ ७३॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें तिहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ७३॥

---

* मूलमें जो 'पञ्चवर्षसहस्रकम्' पद आया है, इसमें वर्ष शब्दका अर्थ दिन समझना चाहिये। जैसे 'सहस्रसंवत्सरं सत्रमुपासीत्' इत्यादि विधि-वाक्योंमें 'संवत्सर' शब्द दिवसका वाचक माना गया है।

चतु:सप्ततितम: सर्ग:

नारदजीका श्रीरामसे एक तपस्वी शूद्रके अधर्माचरणको ब्राह्मण-बालककी मृत्युमें कारण बताना

तथा तु करुणं तस्य द्विजस्य परिदेवनम्।
शुश्राव राघव: सर्वं दु:खशोकसमन्वितम्॥ १॥

महाराज श्रीरामने उस ब्राह्मणका इस तरह दु:ख और शोकसे भरा हुआ वह सारा करुण-क्रन्दन सुना॥ १॥

स दु:खेन च संतप्तो मन्त्रिणस्तानुपाह्वयत्।
वसिष्ठं वामदेवं च भ्रातॄंश्च सह नैगमान्॥ २॥

इससे वे दु:खसे संतप्त हो उठे। उन्होंने अपने मन्त्रियोंको बुलाया तथा वसिष्ठ और वामदेवको एवं महाजनोंसहित अपने भाइयोंको भी आमन्त्रित किया॥ २॥

ततो द्विजा वसिष्ठेन सार्धमष्टौ प्रवेशिता:।
राजानं देवसंकाशं वर्धस्वेति ततोऽब्रुवन्॥ ३॥

तदनन्तर वसिष्ठजीके साथ आठ ब्राह्मणोंने राजसभामें प्रवेश किया और उन देवतुल्य नरेशसे कहा—'महाराज! आपकी जय हो'॥ ३॥

मार्कण्डेयोऽथ मौद्गल्यो वामदेवश्च काश्यप:।
कात्यायनोऽथ जाबालिर्गौतमो नारदस्तथा॥ ४॥

उन आठोंके नाम इस प्रकार हैं—मार्कण्डेय, मौद्गल्य, वामदेव, काश्यप, कात्यायन, जाबालि, गौतम तथा नारद॥ ४॥

एते द्विजर्षभा: सर्वे आसनेषूपवेशिता:।
महर्षीन् समनुप्राप्तानभिवाद्य कृताञ्जलि:॥ ५॥

इन सब श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको उत्तम आसनोंपर बैठाया गया। वहाँ पधारे हुए उन महर्षियोंको श्रीरघुनाथजीने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और वे स्वयं भी अपने स्थानपर बैठ गये॥ ५॥

मन्त्रिणो नैगमाश्चैव यथार्हमनुकूलत:।
तेषां समुपविष्टानां सर्वेषां दीप्ततेजसाम्॥ ६॥
राघव: सर्वमाचष्टे द्विजोऽयमुपरोधते।

फिर मन्त्री और महाजनोंके साथ यथायोग्य शिष्टाचारका उन्होंने निर्वाह किया। उद्दीप्त तेजवाले वे सब लोग जब यथास्थान बैठ गये, तब श्रीरघुनाथजीने उनसे सब बातें बतायीं और कहा—'यह ब्राह्मण राजद्वारपर धरना दिये पड़ा है'॥ ६½॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राज्ञो दीनस्य नारद:॥ ७॥
प्रत्युवाच शुभं वाक्यमृषीणां संनिधौ स्वयम्।

ब्राह्मणके दु:खसे दु:खी हुए उन महाराजका यह वचन सुनकर अन्य सब ऋषियोंके समीप स्वयं नारदजीने यह शुभ बात कही—॥ ७½॥

शृणु राजन् यथाकाले प्राप्तो बालस्य संक्षय:॥ ८॥
श्रुत्वा कर्तव्यतां राजन् कुरुष्व रघुनन्दन।

'राजन्! जिस कारणसे इस बालककी अकाल-मृत्यु हुई है, वह बताता हूँ, सुनिये। रघुकुलनन्दन नरेश! मेरी बात सुनकर जो उचित कर्तव्य हो उसका पालन कीजिये॥ ८½॥

पुरा कृतयुगे राजन् ब्राह्मणा वै तपस्विन:॥ ९॥
अब्राह्मणस्तदा राजन् न तपस्वी कथंचन।

'राजन्! पहले सत्ययुगमें केवल ब्राह्मण ही तपस्वी हुआ करते थे। महाराज! उस समय ब्राह्मणेतर मनुष्य किसी तरह तपस्यामें प्रवृत्त नहीं होता था॥ ९½॥

तस्मिन् युगे प्रज्वलिते ब्रह्मभूते त्वनावृते॥ १०॥
अमृत्यवस्तदा सर्वे जज्ञिरे दीर्घदर्शिन:।

'वह युग तपस्याके तेजसे प्रकाशित होता था। उसमें ब्राह्मणोंकी ही प्रधानता थी। उस समय अज्ञानका वातावरण नहीं था। इसलिये उस युगके सभी मनुष्य अकाल-मृत्युसे रहित तथा त्रिकालदर्शी होते थे॥ १०½॥

ततस्त्रेतायुगं नाम मानवानां वपुष्मताम्॥ ११॥
क्षत्रिया यत्र जायन्ते पूर्वेण तपसान्विता:।

'सत्ययुगके बाद त्रेतायुग आया। इसमें सुदृढ़ शरीरवाले क्षत्रियोंकी प्रधानता हुई और वे क्षत्रिय भी उसी प्रकारकी तपस्या करने लगे॥ ११½॥

वीर्येण तपसा चैव तेऽधिका: पूर्वजन्मनि॥ १२॥
मानवा ये महात्मानस्तत्र त्रेतायुगे युगे।

'परंतु त्रेतायुगमें जो महात्मा पुरुष हैं, उनकी अपेक्षा सत्ययुगके लोग तप और पराक्रमकी दृष्टिसे बढ़े-चढ़े थे॥ १२½॥

ब्रह्म क्षत्रं च तत् सर्वं यत् पूर्वमवरं च यत्॥ १३॥
युगयोरुभयोरासीत् समवीर्यसमन्वितम्।

'इस प्रकार दोनों युगोंमेंसे पूर्व युगमें जहाँ ब्राह्मण उत्कृष्ट और क्षत्रिय अपकृष्ट थे, वहाँ त्रेतायुगमें वे समान-शक्तिशाली हो गये॥ १३½॥

अपश्यन्तस्तु ते सर्वे विशेषमधिकं तत:॥ १४॥
स्थापनं चक्रिरे तत्र चातुर्वर्ण्यस्य सम्मतम्।

'तब मनु आदि सभी धर्मप्रवर्तकोंने ब्राह्मण और क्षत्रियमें एककी अपेक्षा दूसरेमें कोई विशेषता या न्यूनाधिकता न देखकर सर्वलोकसम्मत चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाकी स्थापना की॥ १४½॥

तस्मिन् युगे प्रज्वलिते धर्मभूते ह्यनावृते॥ १५॥
अधर्म: पादमेकं तु पातयत् पृथिवीतले।
अधर्मेण हि संयुक्तस्तेजो मन्दं भविष्यति॥ १६॥

'त्रेतायुग वर्णाश्रम-धर्म-प्रधान है। वह धर्मके प्रकाशसे प्रकाशित होता है। वह धर्ममें बाधा डालनेवाले पापसे रहित है। इस युगमें अधर्मने भूतलपर अपना एक पैर रखा है। अधर्मसे युक्त होनेके कारण यहाँ लोगोंका तेज धीरे-धीरे घटता जायगा॥ १५-१६॥

आमिषं यच्च पूर्वेषां राजसं च मलं भृशम्।
अनृतं नाम तद् भूतं पादेन पृथिवीतले ॥ १७ ॥

'सत्ययुगमें जीविकाका साधनभूत कृषि आदि रजोगुणमूलक कर्म 'अनृत' कहलाता था और मलके समान अत्यन्त त्याज्य था। वह अनृत ही अधर्मका एक पाद होकर त्रेतामें इस भूतलपर स्थित हुआ ॥ १७ ॥

अनृतं पातयित्वा तु पादमेकमधर्मतः।
ततः प्रादुष्कृतं पूर्वमायुषः परिनिष्ठितम् ॥ १८ ॥

'इस प्रकार अनृत (असत्य) रूपी एक पैरको भूतलपर रखकर अधर्मने त्रेतामें सत्ययुगकी अपेक्षा आयुको सीमित कर दिया ॥ १८ ॥

पातिते त्वनृते तस्मिन्नधर्मेण महीतले।
शुभान्येवाचरँल्लोकः सत्यधर्मपरायणः ॥ १९ ॥

'अतः पृथ्वीपर अधर्मके इस अनृतरूपी चरणके पड़नेपर सत्यधर्मपरायण पुरुष उस अनृतके कुपरिणामसे बचनेके लिये शुभकर्मोंका ही आचरण करते हैं ॥ १९ ॥

त्रेतायुगे च वर्तन्ते ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्च ये।
तपोऽतप्यन्त ते सर्वे शुश्रूषामपरे जनाः ॥ २० ॥

'तथापि त्रेतायुगमें जो ब्राह्मण और क्षत्रिय हैं, वे ही सब तपस्या करते हैं। अन्य वर्णके लोग सेवा कार्य किया करते हैं ॥ २० ॥

स्वधर्मः परमस्तेषां वैश्यशूद्रं तदागमत्।
पूजां च सर्ववर्णानां शूद्राश्चक्रुर्विशेषतः ॥ २१ ॥

'उन चारों वर्णोंमेंसे वैश्य और शूद्रको सेवारूपी उत्कृष्ट धर्म स्वधर्मके रूपमें प्राप्त हुआ (वैश्य कृषि आदिके द्वारा ब्राह्मण आदिकी सेवा करने लगे और) शूद्र सब वर्णोंकी (तीनों वर्णके लोगोंकी) विशेषरूपसे पूजा—आदर-सत्कार करने लगे ॥ २१ ॥

एतस्मिन्नन्तरे तेषामधर्मे चानृते च ह।
ततः पूर्वे पुनर्ह्रासमगमन्नृपसत्तम ॥ २२ ॥

'नृपश्रेष्ठ! इसी बीचमें जब त्रेतायुगका अवसान होता है और वैश्यों तथा शूद्रोंको अधर्मके एक-पादरूप अनृतकी प्राप्ति होने लगती है, तब पूर्व वर्णवाले ब्राह्मण और क्षत्रिय फिर ह्रासको प्राप्त होने लगते हैं (क्योंकि उन दोनोंको अन्तिम दो वर्णोंका संसर्गजनित दोष प्राप्त हो जाता है) ॥ २२ ॥

ततः पादमधर्मस्य द्वितीयमवतारयत्।
ततो द्वापरसंख्या सा युगस्य समजायत ॥ २३ ॥

'तदनन्तर अधर्म अपने दूसरे चरणको पृथ्वीपर उतारता है। द्वितीय पैर उतारनेके कारण ही उस युगकी 'द्वापर' संज्ञा हो गयी है ॥ २३ ॥

तस्मिन् द्वापरसंख्ये तु वर्तमाने युगक्षये।
अधर्मश्चानृतं चैव ववृधे पुरुषर्षभ ॥ २४ ॥

'पुरुषोत्तम! उस द्वापर नामक युगमें जो अधर्मके दो चरणोंका आश्रय है—अधर्म और अनृत दोनोंकी वृद्धि होने लगती है ॥ २४ ॥

अस्मिन् द्वापरसंख्याने तपो वैश्यान् समाविशत्।
त्रिभ्यो युगेभ्यस्त्रीन् वर्णान् क्रमाद् वै तप आविशत् ॥ २५ ॥

'इस द्वापरयुगमें तपस्यारूप कर्म वैश्योंको भी प्राप्त होता है। इस तरह तीन युगोंमें क्रमशः तीन वर्णोंको तपस्याका अधिकार प्राप्त होता है ॥ २५ ॥

त्रिभ्यो युगेभ्यस्त्रीन् वर्णान् धर्मश्च परिनिष्ठितः।
न शूद्रो लभते धर्मं युगतस्तु नरर्षभ ॥ २६ ॥

'तीन युगोंमें तीन वर्णोंका ही आश्रय लेकर तपस्यारूपी धर्म प्रतिष्ठित होता है; किंतु नरश्रेष्ठ! शूद्रको इन तीनों ही युगोंमें तपरूपी धर्मका अधिकार नहीं प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

हीनवर्णो नृपश्रेष्ठ तप्यते सुमहत्तपः।
भविष्यच्छूद्रयोन्यां हि तपश्चर्या कलौ युगे ॥ २७ ॥

'नृपशिरोमणे! एक समय ऐसा आयगा, जब हीन वर्णका मनुष्य भी बड़ी भारी तपस्या करेगा। कलियुग आनेपर भविष्यमें होनेवाली शूद्रयोनिमें उत्पन्न मनुष्योंके समुदायमें तपश्चर्याकी प्रवृत्ति होगी ॥ २७ ॥

अधर्मः परमो राजन् द्वापरे शूद्रजन्मनः।
स वै विषयपर्यन्ते तव राजन् महातपाः ॥ २८ ॥
अद्य तप्यति दुर्बुद्धिस्तेन बालवधो ह्ययम्।

'राजन्! द्वापरमें भी शूद्रका तपमें प्रवृत्त होना महान् अधर्म माना गया है। (फिर त्रेताके लिये तो कहना ही क्या है?) महाराज! निश्चय ही आपके राज्यकी किसी सीमापर कोई खोटी बुद्धिवाला शूद्र महान् तपका आश्रय ले तपस्या कर रहा है, उसीके कारण इस बालककी मृत्यु हुई है ॥ २८½ ॥

यो ह्यधर्ममकार्यं वा विषये पार्थिवस्य तु ॥ २९ ॥
करोति चाश्रीमूलं तत्पुरे वा दुर्मतिर्नरः।
क्षिप्रं च नरकं याति स च राजा न संशयः ॥ ३० ॥

'जो कोई भी दुर्बुद्धि मानव जिस किसी भी राजाके राज्य अथवा नगरमें अधर्म या न करने योग्य काम करता है, उसका वह कार्य उस राज्यके अनैश्वर्य (दरिद्रता) का कारण बन जाता है और वह राजा शीघ्र ही नरकमें पड़ता है, इसमें संशय नहीं ॥ २९-३० ॥

अधीतस्य च तप्तस्य कर्मणः सुकृतस्य च।
षष्ठं भजति भागं तु प्रजा धर्मेण पालयन् ॥ ३१ ॥

'इसी प्रकार जो राजा धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करता है, वह प्रजाके वेदाध्ययन, तप और शुभ कर्मोंके पुण्यका छठा भाग प्राप्त कर लेता है ॥ ३१ ॥

षड्भागस्य च भोक्तासौ रक्षते न प्रजाः कथम्।
स त्वं पुरुषशार्दूल मार्गस्व विषयं स्वकम् ॥ ३२ ॥
दुष्कृतं यत्र पश्येथास्तत्र यत्नं समाचर।

'पुरुषसिंह! जो प्रजाके शुभ कर्मोंके छठे भागका उपभोक्ता है, वह प्रजाकी रक्षा कैसे नहीं करेगा? अतः आप अपने राज्यमें खोज कीजिये और जहाँ कोई दुष्कर्म दिखायी दे, वहाँ उसके रोकनेका प्रयत्न कीजिये ॥ ३२½ ॥

एवं चेद् धर्मवृद्धिश्च नृणां चायुर्विवर्धनम्।
भविष्यति नरश्रेष्ठ बालस्यास्य च जीवितम्॥ ३३ ॥

'नरश्रेष्ठ! ऐसा करनेसे धर्मकी वृद्धि होगी और मनुष्योंकी आयु बढ़ेगी। साथ ही इस बालकको भी नया जीवन प्राप्त होगा'॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें चौहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ७४ ॥

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

श्रीरामका पुष्पक विमानद्वारा अपने राज्यकी सभी दिशाओंमें घूमकर दुष्कर्मका पता लगाना, किंतु सर्वत्र सत्कर्म ही देखकर दक्षिण दिशामें एक शूद्र तपस्वीके पास पहुँचना

नारदस्य तु तद् वाक्यं श्रुत्वामृतमयं यथा।
प्रहर्षमतुलं लेभे लक्ष्मणं चेदमब्रवीत्॥ १ ॥

नारदजीके ये अमृतमय वचन सुनकर श्रीरामचन्द्रजीको अपार आनन्द प्राप्त हुआ और उन्होंने लक्ष्मणजीसे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

गच्छ सौम्य द्विजश्रेष्ठं समाश्वासय सुव्रत।
बालस्य च शरीरं तत् तैलद्रोण्यां निधापय॥ २ ॥
गन्धैश्च परमोदारैस्तैलैश्च सुसुगन्धिभिः।
यथा न क्षीयते बालस्तथा सौम्य विधीयताम्॥ ३ ॥

'सौम्य! जाओ। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले! इन द्विजश्रेष्ठको सान्त्वना दो और इनके बालकका शरीर उत्तम गन्ध एवं सुगन्धसे युक्त तेलसे भरे हुए काठके बड़े कठौते या डोंगीमें डुबाकर रखवा दो और ऐसी व्यवस्था कर दो जिससे बालकका शरीर विकृत या नष्ट न होने पाये॥ २-३ ॥

यथा शरीरो बालस्य गुप्तः सन् क्लिष्टकर्मणः।
विपत्तिः परिभेदो वा न भवेच्च तथा कुरु॥ ४ ॥

'शुभ कर्म करनेवाले इस बालकका शरीर जिस प्रकार सुरक्षित रहे, नष्ट या खण्डित न हो, वैसा प्रबन्ध करो'॥ ४ ॥

एवं संदिश्य काकुत्स्थो लक्ष्मणं शुभलक्षणम्।
मनसा पुष्पकं दध्यावागच्छेति महायशाः॥ ५ ॥

शुभलक्षण लक्ष्मणको ऐसा संदेश दे महायशस्वी श्रीरघुनाथजीने मन-ही-मन पुष्पकका चिन्तन किया और कहा 'आ जाओ'॥ ५ ॥

इङ्गितं स तु विज्ञाय पुष्पको हेमभूषितः।
आजगाम मुहूर्तेन समीपे राघवस्य वै॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका अभिप्राय समझकर सुवर्णभूषित पुष्पक विमान एक ही मुहूर्तमें उनके पास आ गया॥ ६ ॥

सोऽब्रवीत् प्रणतो भूत्वा अयमस्मि नराधिप।
वश्यस्तव महाबाहो किंकरः समुपस्थितः॥ ७ ॥

आकर नतमस्तक हो वह बोला—'नरेश्वर! यह रहा मैं। महाबाहो! मैं सदा आपके अधीन रहनेवाला किङ्कर हूँ और सेवाके लिये उपस्थित हुआ हूँ'॥ ७ ॥

भाषितं रुचिरं श्रुत्वा पुष्पकस्य नराधिपः।
अभिवाद्य महर्षीन् स विमानं सोऽध्यरोहत॥ ८ ॥

पुष्पक विमानका यह मनोहर वचन सुनकर वे महाराज श्रीराम महर्षियोंको प्रणाम करके उस विमानपर आरूढ़ हुए॥ ८ ॥

धनुर्गृहीत्वा तूणी च खड्गं च रुचिरप्रभम्।
निक्षिप्य नगरे चैतौ सौमित्रिभरतावुभौ॥ ९ ॥

उन्होंने धनुष, बाणोंसे भरे हुए दो तरकस और एक चमचमाती हुई तलवार हाथमें ले ली और लक्ष्मण तथा भरत—इन दोनों भाइयोंको नगरकी रक्षामें नियुक्त करके वहाँसे प्रस्थान किया॥ ९ ॥

प्रायात् प्रतीचीं हरितं विचिन्वंश्च ततस्ततः।
उत्तरामगमच्छ्रीमान् दिशं हिमवतावृताम्॥ १० ॥

श्रीमान् राम पहले तो इधर-उधर खोजते हुए पश्चिम दिशाकी ओर गये। फिर हिमालयसे घिरी हुई उत्तर दिशामें जा पहुँचे॥ १० ॥

अपश्यमानस्तत्रापि स्वल्पमप्यथ दुष्कृतम्।
पूर्वामपि दिशं सर्वामथापश्यन्नराधिपः॥ ११ ॥

जब उन दोनों दिशाओंमें कहीं थोड़ा-सा भी दुष्कर्म नहीं दिखायी दिया, तब नरेश्वर श्रीरामने समूची पूर्व दिशाका भी निरीक्षण किया॥ ११ ॥

प्रविशुद्धसमाचारामादर्शतलनिर्मलाम्।
पुष्पकस्थो महाबाहुस्तदापश्यन्नराधिपः॥ १२ ॥

पुष्पकपर बैठे हुए महाबाहु राजा श्रीरामने वहाँ भी शुद्ध सदाचारका पालन होता देखा। वह दिशा भी दर्पणके समान निर्मल दिखायी दी॥ १२॥

दक्षिणां दिशमाक्रामत् ततो राजर्षिनन्दनः।
शैवलस्योत्तरे पार्श्वे ददर्श सुमहत्सरः॥ १३॥

तब राजर्षिनन्दन रघुनाथजी दक्षिण दिशाको ओर गये वहाँ शैवल पर्वतके उत्तर भागमें उन्हें एक महान् सरोवर दिखायी दिया॥ १३॥

तस्मिन् सरसि तप्यन्तं तापसं सुमहत्तपः।
ददर्श राघवः श्रीमाँल्लम्बमानमधोमुखम्॥ १४॥

उस सरोवरके तटपर एक तपस्वी बड़ी भारी तपस्या कर रहा था। वह नीचेको मुख किये लटका हुआ था। रघुकुलनन्दन श्रीरामने उसे देखा॥ १४॥

राघवस्तमुपागम्य तप्यन्तं तप उत्तमम्।
उवाच च नृपो वाक्यं धन्यस्त्वमसि सुव्रत॥ १५॥
कस्यां योन्यां तपोवृद्ध वर्तसे दृढविक्रम।
कौतूहलात् त्वां पृच्छामि रामो दाशरथिर्ह्यहम्॥ १६॥

देखकर राजा श्रीरघुनाथजी उग्र तपस्या करते हुए उस तपस्वीके पास आये और बोले—'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले तापस! तुम धन्य हो। तपस्यामें बढ़े-चढ़े सुदृढ़ पराक्रमी पुरुष! तुम किस जातिमें उत्पन्न हुए हो? मैं दशरथकुमार राम तुम्हारा परिचय जाननेके कौतूहलसे ये बातें पूछ रहा हूँ॥ १५-१६॥

कोऽर्थो मनीषितस्तुभ्यं स्वर्गलाभोऽपरोऽथवा।
वराश्रयो यदर्थं त्वं तपस्यन्यैः सुदुश्चरम्॥ १७॥

'तुम्हें किस वस्तुको पानेकी इच्छा है? तपस्याद्वारा संतुष्ट हुए इष्टदेवतासे वरके रूपमें तुम क्या पाना चाहते हो—स्वर्ग या दूसरी कोई वस्तु! कौन-सा ऐसा पदार्थ है, जिसके लिये तुम ऐसी कठोर तपस्या करते हो, जो दूसरोंके लिये दुष्कर है?॥ १७॥

यमाश्रित्य तपस्तप्तं श्रोतुमिच्छामि तापस।
ब्राह्मणो वासि भद्रं ते क्षत्रियो वासि दुर्जयः।
वैश्यस्तृतीयो वर्णो वा शूद्रो वा सत्यवाग् भव॥ १८॥

'तापस! जिस वस्तुके लिये तुम तपस्यामें लगे हुए हो, उसे मैं सुनना चाहता हूँ। इसके सिवा यह भी बताओ कि तुम ब्राह्मण हो या दुर्जय क्षत्रिय? तीसरे वर्णके वैश्य हो अथवा शूद्र! तुम्हारा भला हो। ठीक-ठीक बताना'॥ १८॥

इत्येवमुक्तः स नराधिपेन
अवाक्शिरा दाशरथाय तस्मै।
उवाच जातिं नृपपुङ्गवाय
यत्कारणं चैव तपःप्रयत्नः॥ १९॥

महाराज श्रीरामके इस प्रकार पूछनेपर नीचे सिर किये लटके हुए उस तपस्वीने उन नृपश्रेष्ठ दशरथनन्दन श्रीरामको अपनी जातिका परिचय दिया और जिस उद्देश्यसे उसने तपस्याके लिये प्रयास किया था, वह भी बताया॥ १९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे पञ्चसप्ततितमः सर्गः॥ ७५॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें पचहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ७५॥

षट्सप्ततितमः सर्गः

श्रीरामके द्वारा शम्बूकका वध, देवताओंद्वारा उनकी प्रशंसा, अगस्त्याश्रमपर महर्षि अगस्त्यके द्वारा उनका सत्कार और उनके लिये आभूषण-दान

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा रामस्याक्लिष्टकर्मणः।
अवाक्शिरास्तथाभूतो वाक्यमेतदुवाच ह॥ १॥

क्लेशरहित कर्म करनेवाले भगवान् रामका यह वचन सुनकर नीचे मस्तक किये लटका हुआ वह तथाकथित तपस्वी इस प्रकार बोला—॥ १॥

शूद्रयोन्यां प्रजातोऽस्मि तप उग्रं समास्थितः।
देवत्वं प्रार्थये राम सशरीरो महायशः॥ २॥

'महायशस्वी श्रीराम! मैं शूद्रयोनिमें उत्पन्न हुआ हूँ और सदेह स्वर्गलोकमें जाकर देवत्व प्राप्त करना चाहता हूँ। इसीलिये ऐसा उग्र तप कर रहा हूँ॥ २॥

न मिथ्याहं वदे राम देवलोकजिगीषया।
शूद्रं मां विद्धि काकुत्स्थ शम्बूकं नाम नामतः॥ ३॥

'ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम! मैं झूठ नहीं बोलता। देवलोकपर विजय पानेकी इच्छासे ही तपस्यामें लगा हूँ। आप मुझे शूद्र समझिये। मेरा नाम शम्बूक है'॥ ३॥

भाषतस्तस्य शूद्रस्य खड्गं सुरुचिरप्रभम्।
निष्कृष्य कोशाद् विमलं शिरश्चिच्छेद राघवः॥ ४॥

वह इस प्रकार कह ही रहा था कि श्रीरामचन्द्रजीने म्यानसे चमचमाती हुई तलवार खींच ली और उसीसे उसका सिर काट लिया॥ ४॥

तस्मिञ्छूद्रे हते देवाः सेन्द्राः साग्निपुरोगमाः।
साधुसाध्विति काकुत्स्थं ते शशंसुर्मुहुर्मुहुः॥ ५॥

उस शूद्रका वध होते ही इन्द्र और अग्निसहित सम्पूर्ण देवता 'बहुत ठीक, बहुत ठीक' कहकर भगवान् श्रीरामकी

बारम्बार प्रशंसा करने लगे ॥ ५ ॥

पुष्पवृष्टिर्महत्यासीद् दिव्यानां सुसुगन्धिनाम्।
पुष्पाणां वायुमुक्तानां सर्वतः प्रपपात ह ॥ ६ ॥

उस समय उनके ऊपर सब ओरसे वायुदेवताद्वारा बिखेरे गये दिव्य एवं परम सुगन्धित पुष्पोंकी बड़ी भारी वर्षा होने लगी ॥ ६ ॥

सुप्रीताश्चाब्रुवन् रामं देवाः सत्यपराक्रमम्।
सुरकार्यमिदं देव सुकृतं ते महामते ॥ ७ ॥

वे सब देवता अत्यन्त प्रसन्न होकर सत्यपराक्रमी श्रीरामसे बोले—'देव ! महामते ! आपने यह देवताओंका ही कार्य सम्पन्न किया है ॥ ७ ॥

गृहाण च वरं सौम्य यं त्वमिच्छस्यरिंदम।
स्वर्गभाङ् नहि शूद्रोऽयं त्वत्कृते रघुनन्दन ॥ ८ ॥

'शत्रुओंका दमन करनेवाले रघुकुलनन्दन सौम्य श्रीराम ! आपके इस सत्कर्मसे ही यह शूद्र सशरीर स्वर्गलोकमें नहीं जा सका है। अतः आप जो वर चाहें माँग लें' ॥ ८ ॥

देवानां भाषितं श्रुत्वा रामः सत्यपराक्रमः।
उवाच प्राञ्जलिर्वाक्यं सहस्राक्षं पुरंदरम् ॥ ९ ॥

देवताओंका यह वचन सुनकर सत्यपराक्रमी श्रीरामने दोनों हाथ जोड़ सहस्रनेत्रधारी देवराज इन्द्रसे कहा— ॥ ९ ॥

यदि देवाः प्रसन्ना मे द्विजपुत्रः स जीवतु।
दिशन्तु वरमेतं मे ईप्सितं परमं मम ॥ १० ॥

'यदि देवता मुझपर प्रसन्न हैं तो वह ब्राह्मणपुत्र जीवित हो जाय। यही मेरे लिये सबसे उत्तम और अभीष्ट वर है। देवतालोग मुझे यही वर दें ॥ १० ॥

ममापचाराद् बालोऽसौ ब्राह्मणस्यैकपुत्रकः।
अप्राप्तकालः कालेन नीतो वैवस्वतक्षयम् ॥ ११ ॥

'मेरे ही किसी अपराधसे ब्राह्मणका वह इकलौता बालक असमयमें ही कालके गालमें चला गया है ॥ ११ ॥

तं जीवयत भद्रं वो नानृतं कर्तुमर्हथ।
द्विजस्य संश्रुतोऽर्थो मे जीवयिष्यामि ते सुतम् ॥ १२ ॥

'मैंने ब्राह्मणके सामने यह प्रतिज्ञा की है कि 'मैं आपके पुत्रको जीवित कर दूँगा।' अतः आपलोगोंका कल्याण हो। आप उस ब्राह्मण-बालकको जीवित कर दें। मेरी बातको झूठी न करें' ॥ १२ ॥

राघवस्य तु तद् वाक्यं श्रुत्वा विबुधसत्तमाः।
प्रत्यूचू राघवं प्रीता देवाः प्रीतिसमन्वितम् ॥ १३ ॥

श्रीरघुनाथजीकी यह बात सुनकर वे विबुधशिरोमणि देवता उनसे प्रसन्नतापूर्वक बोले— ॥ १३ ॥

निर्वृतो भव काकुत्स्थ सोऽस्मिन्नहनि बालकः।
जीवितं प्राप्तवान् भूयः समेतश्चापि बन्धुभिः ॥ १४ ॥

'ककुत्स्थकुलभूषण ! आप संतुष्ट हों। वह बालक आज फिर जीवित हो गया और अपने भाई-बन्धुओंसे जा मिला ॥ १४ ॥

यस्मिन् मुहूर्ते काकुत्स्थ शूद्रोऽयं विनिपातितः।
तस्मिन् मुहूर्ते बालोऽसौ जीवेन समयुज्यत ॥ १५ ॥

'काकुत्स्थ ! आपने जिस मुहूर्तमें इस शूद्रको धराशायी किया है, उसी मुहूर्तमें वह बालक जी उठा है ॥ १५ ॥

स्वस्ति प्राप्नुहि भद्रं ते साधु याम नरर्षभ।
अगस्त्यस्याश्रमपदं द्रष्टुमिच्छाम राघव ॥ १६ ॥
तस्य दीक्षा समाप्ता हि ब्रह्मर्षेः सुमहाद्युतेः।
द्वादशं हि गतं वर्षं जलशय्यां समासतः ॥ १७ ॥

'नरश्रेष्ठ ! आपका कल्याण हो। भला हो। अब हम अगस्त्याश्रमको जा रहे हैं। रघुनन्दन ! हम महर्षि अगस्त्यका दर्शन करना चाहते हैं। उन्हें जलशय्या लिये पूरे बारह वर्ष बीत चुके हैं। अब उन महातेजस्वी ब्रह्मर्षिकी वह जलशयन-सम्बन्धी व्रतकी दीक्षा समाप्त हुई है ॥ १६-१७ ॥

काकुत्स्थ तद् गमिष्यामो मुनिं समभिनन्दितुम्।
त्वं चापि गच्छ भद्रं ते द्रष्टुं तमृषिसत्तमम् ॥ १८ ॥

'रघुनन्दन ! इसीलिये हमलोग उन महर्षिका अभिनन्दन करनेके लिये जायँगे। आपका कल्याण हो। आप भी उन मुनिश्रेष्ठका दर्शन करनेके लिये चलिये' ॥ १८ ॥

स तथेति प्रतिज्ञाय देवानां रघुनन्दनः।
आरुरोह विमानं तं पुष्पकं हेमभूषितम् ॥ १९ ॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर रघुकुलनन्दन श्रीराम देवताओंके सामने वहाँ जानेकी प्रतिज्ञा करके उस सुवर्णभूषित पुष्पकविमानपर चढ़े ॥ १९ ॥

ततो देवाः प्रयातास्ते विमानैर्बहुविस्तरैः।
रामोऽप्यनुजगामाशु कुम्भयोनेस्तपोवनम् ॥ २० ॥

तत्पश्चात् देवता बहुसंख्यक विमानोंपर आरूढ़ हो वहाँसे प्रस्थित हुए। फिर श्रीराम भी उन्हींके साथ शीघ्रतापूर्वक कुम्भज ऋषिके तपोवनको चल दिये ॥ २० ॥

दृष्ट्वा तु देवान् सम्प्राप्तानगस्त्यस्तपसां निधिः।
अर्चयामास धर्मात्मा सर्वांस्तानविशेषतः ॥ २१ ॥

देवताओंको आया देख तपस्याकी निधि धर्मात्मा अगस्त्यने उन सबकी समानरूपसे पूजा की ॥ २१ ॥

प्रतिगृह्य ततः पूजां सम्पूज्य च महामुनिम्।
जग्मुस्ते त्रिदशा हृष्टा नाकपृष्ठं सहानुगाः ॥ २२ ॥

उनकी पूजा ग्रहण करके उन महामुनिका अभिनन्दन कर वे सब देवता अनुचरोंसहित बड़े हर्षके साथ स्वर्गको चले गये ॥ २२ ॥

गतेषु तेषु काकुत्स्थः पुष्पकादवरुह्य च।
ततोऽभिवादयामास अगस्त्यमृषिसत्तमम् ॥ २३ ॥

उनके चले जानेपर श्रीरघुनाथजीने पुष्पकविमानसे उतरकर मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यको प्रणाम किया ॥ २३ ॥

सोऽभिवाद्य महात्मानं ज्वलन्तमिव तेजसा।
आतिथ्यं परमं प्राप्य निषसाद नराधिपः॥ २४॥

अपने तेजसे प्रज्वलित-से होनेवाले महात्मा अगस्त्यका अभिवादन करके उनसे उत्तम आतिथ्य पाकर नरेश्वर श्रीराम आसनपर बैठे॥ २४॥

तमुवाच महातेजाः कुम्भयोनिर्महातपाः।
स्वागतं ते नरश्रेष्ठ दिष्ट्या प्राप्तोऽसि राघव॥ २५॥

उस समय महातेजस्वी महातपस्वी कुम्भज मुनिने कहा—'नरश्रेष्ठ रघुनन्दन! आपका स्वागत है। आप यहाँ पधारे, यह मेरे लिये बड़े सौभाग्यकी बात है॥ २५॥

त्वं मे बहुमतो राम गुणैर्बहुभिरुत्तमैः।
अतिथिः पूजनीयश्च मम राजन् हृदि स्थितः॥ २६॥

'महाराज श्रीराम! बहुत-से उत्तम गुणोंके कारण आपके लिये मेरे हृदयमें बड़ा सम्मान है। आप मेरे आदरणीय अतिथि हैं और सदा मेरे मनमें बसे रहते हैं॥ २६॥

सुरा हि कथयन्ति त्वामागतं शूद्रघातिनम्।
ब्राह्मणस्य तु धर्मेण त्वया जीवापितः सुतः॥ २७॥

'देवतालोग कहते थे कि 'आप अधर्मपरायण शूद्रका वध करके आ रहे हैं तथा धर्मके बलसे आपने ब्राह्मणके उस मरे हुए पुत्रको जीवित कर दिया है'॥ २७॥

उष्यतां चेह रजनीं सकाशे मम राघव।
प्रभाते पुष्पकेण त्वं गन्तासि पुरमेव हि॥ २८॥
त्वं हि नारायणः श्रीमांस्त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।
त्वं प्रभुः सर्वदेवानां पुरुषस्त्वं सनातनः॥ २९॥

'रघुनन्दन! आज रातको आप मेरे ही पास इस आश्रममें निवास कीजिये। कल सबेरे पुष्पकविमानद्वारा अपने नगरको जाइयेगा। आप साक्षात् श्रीमान् नारायण हैं। सारा जगत् आपमें ही प्रतिष्ठित है और आप ही समस्त देवताओंके स्वामी तथा सनातन पुरुष हैं॥ २८-२९॥

इदं चाभरणं सौम्य निर्मितं विश्वकर्मणा।
दिव्यं दिव्येन वपुषा दीप्यमानं स्वतेजसा॥ ३०॥

'सौम्य! यह विश्वकर्माका बनाया हुआ दिव्य आभूषण है, जो अपने दिव्य रूप और तेजसे प्रकाशित हो रहा है॥ ३०॥

प्रतिगृह्णीष्व काकुत्स्थ मत्प्रियं कुरु राघव।
दत्तस्य हि पुनर्दानं सुमहत् फलमुच्यते॥ ३१॥

'ककुत्स्थकुलभूषण रघुनन्दन! आप इसे लीजिये और मेरा प्रिय कीजिये; क्योंकि किसीकी दी हुई वस्तुका पुनः दान कर देनेसे महान् फलकी प्राप्ति बतायी जाती है॥ ३१॥

भरणे हि भवाञ्शक्तः फलानां महतामपि।
त्वं हि शक्तस्तारयितुं सेन्द्रानपि दिवौकसः॥ ३२॥
तस्मात् प्रदास्ये विधिवत् तत् प्रतीच्छ नराधिप।

'इस आभूषणको धारण करनेमें केवल आप ही समर्थ हैं तथा बड़े-से-बड़े फलोंकी प्राप्ति करानेकी शक्ति भी आपमें ही है। आप इन्द्र आदि देवताओंको भी तारनेमें समर्थ हैं, इसलिये नरेश्वर! यह भूषण भी मैं आपको ही दूँगा। आप इसे विधिपूर्वक ग्रहण करें'॥ ३२½॥

अथोवाच महात्मानमिक्ष्वाकूणां महारथः॥ ३३॥
रामो मतिमतां श्रेष्ठः क्षत्रधर्ममनुस्मरन्।
प्रतिग्रहोऽयं भगवन् ब्राह्मणस्याविगर्हितः॥ ३४॥

तब बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ और इक्ष्वाकुकुलके महारथी वीर श्रीरामने क्षत्रियधर्मका विचार करते हुए वहाँ महात्मा अगस्त्यजीसे कहा—'भगवन्! दान लेनेका काम तो केवल ब्राह्मणके लिये ही निन्दित नहीं है॥ ३३-३४॥

क्षत्रियेण कथं विप्र प्रतिग्राह्यं भवेत् ततः।
प्रतिग्रहो हि विप्रेन्द्र क्षत्रियाणां सुगर्हितः॥ ३५॥
ब्राह्मणेन विशेषेण दत्तं तद् वक्तुमर्हसि।

'विप्रवर! क्षत्रियोंके लिये तो प्रतिग्रह स्वीकार करना अत्यन्त निन्दित बताया गया है। फिर क्षत्रिय प्रतिग्रह—विशेषतः ब्राह्मणका दिया हुआ दान कैसे ले सकता है? यह बतानेकी कृपा करें'॥ ३५½॥

एवमुक्तस्तु रामेण प्रत्युवाच महानृषिः॥ ३६॥
आसन् कृतयुगे राम ब्रह्मभूते पुरायुगे।
अपार्थिवाः प्रजाः सर्वाः सुराणां तु शतक्रतुः॥ ३७॥

श्रीरामके इस प्रकार पूछनेपर महर्षि अगस्त्यने उत्तर दिया—'रघुनन्दन! पहले ब्रह्मस्वरूप सत्ययुगमें सारी प्रजा बिना राजाके ही थी, आगे चलकर इन्द्र देवताओंके राजा बनाये गये॥ ३६-३७॥

ताः प्रजा देवदेवेशं राजार्थं समुपाद्रवन्।
सुराणां स्थापितो राजा त्वया देव शतक्रतुः॥ ३८॥
प्रयच्छास्मासु लोकेश पार्थिवं नरपुङ्गवम्।
यस्मै पूजां प्रयुञ्जाना धूतपापाश्चरेमहि॥ ३९॥

'तब सारी प्रजाएँ देवदेवेश्वर ब्रह्माजीके पास राजाके लिये गयीं और बोलीं—'देव! आपने इन्द्रको देवताओंके राजाके पदपर स्थापित किया है। इसी तरह हमारे लिये भी किसी श्रेष्ठ पुरुषको राजा बना दीजिये, जिसकी पूजा करके हम पापरहित हो इस भूतलपर विचरें॥ ३८-३९॥

न वसामो विना राज्ञा एष नो निश्चयः परः।
ततो ब्रह्मा सुरश्रेष्ठो लोकपालान् सवासवान्॥ ४०॥
समाहूयाब्रवीत् सर्वांस्तेजोभागान् प्रयच्छत।
ततो ददुर्लोकपालाः सर्वे भागान् स्वतेजसः॥ ४१॥

''हम बिना राजाके नहीं रहेंगी। यह हमारा उत्तम निश्चय है।' तब सुरश्रेष्ठ ब्रह्माने इन्द्रसहित समस्त लोकपालोंको बुलाकर कहा—'तुम सब लोग अपने तेजका एक-एक भाग दो।' तब समस्त लोकपालोंने अपने-अपने तेजका भाग अर्पित किया॥ ४०-४१॥

अक्षुपश्च ततो ब्रह्मा यतो जातः क्षुपो नृपः ।
तं ब्रह्मा लोकपालानां समांशैः समयोजयत् ॥ ४२ ॥

'उसी समय ब्रह्माजीको छींक आयी, जिससे क्षुप नामक राजा उत्पन्न हुआ। ब्रह्माजीने उस राजाको लोकपालोंके दिये हुए तेजके उन सभी भागोंसे संयुक्त कर दिया ॥ ४२ ॥

ततो ददौ नृपं तासां प्रजानामीश्वरं क्षुपम् ।
तत्रैन्द्रेण च भागेन महीमाज्ञापयन्नृपः ॥ ४३ ॥

'तत्पश्चात् उन्होंने क्षुपको ही उन प्रजाजनोंके लिये उनके शासक नरेशके रूपमें समर्पित किया। क्षुपने वहाँ राजा होकर इन्द्रके दिये हुए तेजोभागसे पृथ्वीका शासन किया ॥ ४३ ॥

वारुणेन तु भागेन वपुः पुष्यति पार्थिवः ।
कौबेरेण तु भागेन वित्तपाभां ददौ तदा ॥ ४४ ॥
यस्तु याम्योऽभवद् भागस्तेन शास्ति स्म स प्रजाः ।

'वरुणके तेजोभागसे वे भूपाल प्रजाके शरीरका पोषण करने लगे। कुबेरके तेजोभागसे उन्होंने उन्हें धनपतिकी आभा प्रदान की तथा उनमें जो यमराजका तेजोभाग था, उससे वे प्रजाजनोंको अपराध करनेपर दण्ड देते थे ॥ ४४½ ॥

तत्रैन्द्रेण नरश्रेष्ठ भागेन रघुनन्दन ॥ ४५ ॥
प्रतिगृह्णीष्व भद्रं ते तारणार्थं मम प्रभो ।

'नरश्रेष्ठ रघुनन्दन! आप भी राजा होनेके कारण सभी लोकपालोंके तेजसे सम्पन्न हैं। अतः प्रभो! इन्द्र-सम्बन्धी तेजोभागके द्वारा आप मेरे उद्धारके लिये यह आभूषण ग्रहण कीजिये। आपका भला हो' ॥ ४५½ ॥

तद् रामः प्रतिजग्राह मुनेस्तस्य महात्मनः ॥ ४६ ॥
दिव्यमाभरणं चित्रं प्रदीप्तमिव भास्करम् ।
प्रतिगृह्य ततो रामस्तदाभरणमुत्तमम् ॥ ४७ ॥
आगमं तस्य दीप्तस्य प्रष्टुमेवोपचक्रमे ।

तब भगवान् श्रीराम उन महात्मा मुनिके दिये हुए उस सूर्यके समान दीप्तिमान्, दिव्य, विचित्र एवं उत्तम आभूषणको ग्रहण करके उसकी उपलब्धिके विषयमें पूछने लगे ॥ ४६-४७½ ॥

अत्यद्भुतमिदं दिव्यं वपुषा युक्तमद्भुतम् ॥ ४८ ॥
कथं वा भवता प्राप्तं कुतो वा केन वाऽऽहृतम् ।
कौतूहलतया ब्रह्मन् पृच्छामि त्वां महायशः ॥ ४९ ॥
आश्चर्याणां बहूनां हि निधिः परमको भवान् ।

'महायशस्वी मुने! यह अत्यन्त अद्भुत तथा दिव्य आकारसे युक्त आभूषण आपको कैसे प्राप्त हुआ अथवा इसे कौन कहाँसे ले आया? ब्रह्मन्! मैं कौतूहलवश ये बातें आपसे पूछ रहा हूँ; क्योंकि आप बहुत-से आश्चर्योंकी उत्तम निधि हैं' ॥ ४८-४९½ ॥

एवं ब्रुवति काकुत्स्थे मुनिर्वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ५० ॥
शृणु राम यथावृत्तं पुरा त्रेतायुगे युगे ॥ ५१ ॥

'काकुत्स्थकुलभूषण श्रीरामके इस प्रकार पूछनेपर मुनिवर अगस्त्यने कहा—'श्रीराम! पूर्व चतुर्युगीके त्रेतायुगमें जैसा वृत्तान्त घटित हुआ था, उसे बताता हूँ सुनिये' ॥ ५०-५१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे षट्सप्ततितमः सर्गः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें छिहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७६ ॥

सप्तसप्ततितमः सर्गः

महर्षि अगस्त्यका एक स्वर्गीय पुरुषके शवभक्षणका प्रसंग सुनाना

पुरा त्रेतायुगे राम बभूव बहुविस्तरम् ।
समन्तात् योजनशतं विमृगं पक्षिवर्जितम् ॥ १ ॥

(अगस्त्यजी कहते हैं—) श्रीराम! प्राचीनकालके त्रेतायुगकी बात है, एक बहुत ही विस्तृत वन था, जो चारों ओर सौ योजनतक फैला हुआ था, परंतु उस वनमें न तो कोई पशु था और न पक्षी ही ॥ १ ॥

तस्मिन् निर्मानुषेऽरण्ये कुर्वाणस्तप उत्तमम् ।
अहमाक्रमितुं सौम्य तदरण्यमुपागमम् ॥ २ ॥

सौम्य! उस निर्जन वनमें उत्तम तपस्या करनेके लिये घूम-घूमकर उपयुक्त स्थानका पता लगानेके निमित्त मैं वहाँ गया ॥ २ ॥

तस्य रूपमरण्यस्य निर्देष्टुं न शशाक ह ।
फलमूलैः सुखास्वादैर्बहुरूपैश्च पादपैः ॥ ३ ॥

उस वनका स्वरूप कितना सुखदायी था, यह बतानेमें मैं असमर्थ हूँ। सुखद स्वादिष्ट फल-मूल तथा अनेक रूप-रंगके वृक्ष उसकी शोभा बढ़ाते थे ॥ ३ ॥

तस्यारण्यस्य मध्ये तु सरो योजनमायतम् ।
हंसकारण्डवाकीर्णं चक्रवाकोपशोभितम् ॥ ४ ॥

उस वनके मध्यभागमें एक सरोवर था, जिसकी लम्बाई-चौड़ाई एक-एक योजनकी थी। उसमें हंस और कारण्डव आदि जलपक्षी फैले हुए थे और चक्रवाकोंके जोड़े उसकी शोभा बढ़ाते थे ॥ ४ ॥

पद्मोत्पलसमाकीर्णं समतिक्रान्तशैवलम्।
तदाश्चर्यमिवात्यर्थं सुखास्वादमनुत्तमम्॥ ५॥

उसमें कमल और उत्पल छा रहे थे। सेवारका कहीं नाम भी नहीं था। वह परम उत्तम सरोवर अत्यन्त आश्चर्यमय-सा जान पड़ता था। उसका जल पीनेमें अत्यन्त सुखद एवं स्वादिष्ट था॥ ५॥

अरजस्कं तदक्षोभ्यं श्रीमत्पक्षिगणायुतम्।
तस्मिन् सरःसमीपे तु महदद्भुतमाश्रमम्॥ ६॥
पुराणं पुण्यमत्यर्थं तपस्विजनवर्जितम्।

उसमें कीचड़ नहीं था, वह सर्वथा निर्मल था। उसे कोई पार नहीं कर सकता था। उसके भीतर सुन्दर पक्षी कलरव कर रहे थे। उस सरोवरके पास ही एक विशाल, अद्भुत एवं अत्यन्त पवित्र पुराना आश्रम था; जिसमें एक भी तपस्वी नहीं था॥ ६½॥

तत्राहमवसं रात्रिं नैदाघीं पुरुषर्षभ॥ ७॥
प्रभाते कल्यमुत्थाय सरस्तदुपचक्रमे।

पुरुषप्रवर! जेठकी रातमें मैं उस आश्रमके भीतर एक रात रहा और प्रातःकाल सबेरे उठकर स्नान आदिके लिये उस सरोवरके तटपर जाने लगा॥ ७½॥

अथापश्यं शवं तत्र सुपुष्टमरजः क्वचित्॥ ८॥
तिष्ठन्तं परया लक्ष्म्या तस्मिंस्तोयाशये नृप।

उसी समय मुझे वहाँ एक शव दिखायी दिया जो हृष्ट-पुष्ट होनेके साथ ही अत्यन्त निर्मल था। उसमें कहीं कोई मलिनता नहीं थी। नरेश्वर! वह शव उस जलाशयके तटपर बड़ी शोभासे सम्पन्न होकर पड़ा था॥ ८½॥

तमर्थं चिन्तयानोऽहं मुहूर्तं तत्र राघव॥ ९॥
विष्ठितोऽस्मि सरस्तीरे किं न्विदं स्यादिति प्रभो।

प्रभो! रघुनन्दन! मैं उस शवके विषयमें यह सोचता हुआ कि 'यह क्या है?' वहाँ दो घड़ीतक उस तालाबके किनारे बैठा रहा॥ ९½॥

अथापश्यं मुहूर्तात् तु दिव्यमद्भुतदर्शनम्॥ १०॥
विमानं परमोदारं हंसयुक्तं मनोजवम्।
अत्यर्थं स्वर्गिणं तत्र विमाने रघुनन्दन॥ ११॥
उपास्तेऽप्सरसां वीर सहस्रं दिव्यभूषणम्।

दो घड़ी बीतते ही मैंने वहाँ एक दिव्य, अद्भुत, अत्यन्त उत्तम, हंसयुक्त और मनके समान वेगशाली विमान उतरता देखा। रघुनन्दन! उस विमानपर एक स्वर्गवासी देवता बैठे थे, जो अत्यन्त रूपवान् थे। वीर! वहाँ उनकी सेवामें सहस्रों अप्सराएँ बैठी थीं, जो दिव्य आभूषणोंसे विभूषित थीं॥ १०-११½॥

गायन्ति काश्चिद् रम्याणि वादयन्ति तथापराः॥ १२॥
मृदङ्गवीणापणवान् नृत्यन्ति च तथापराः।
अपराश्चन्द्ररश्म्याभैर्हेमदण्डैर्महाधनैः॥ १३॥
दोधूयुर्वदनं तस्य पुण्डरीकनिभेक्षणाः।

उनमेंसे कुछ मनोहर गीत गा रही थीं, दूसरी मृदङ्ग, वीणा और पणव आदि बाजे बजा रही थीं। अन्य बहुत-सी अप्सराएँ नृत्य करती थीं तथा प्रफुल्ल कमल-जैसे नेत्रोंवाली अन्य कितनी ही अप्सराएँ सुवर्णमय दण्डसे विभूषित एवं चन्द्रमाकी किरणोंके समान उज्ज्वल बहुमूल्य चवँर लेकर उन स्वर्गवासी देवताके मुखपर हवा कर रही थीं॥ १२-१३½॥

ततः सिंहासनं हित्वा मेरुकूटमिवांशुमान्॥ १४॥
पश्यतो मे तदा राम विमानादवरुह्य च।
तं शवं भक्षयामास स स्वर्गी रघुनन्दन॥ १५॥

रघुकुलनन्दन श्रीराम! तदनन्तर जैसे अंशुमाली सूर्य मेरुपर्वतके शिखरको छोड़कर नीचे उतरते हैं, उसी प्रकार उन स्वर्गवासी पुरुषने विमानसे उतरकर मेरे देखते-देखते उस शवका भक्षण किया॥ १४-१५॥

ततो भुक्त्वा यथाकामं मांसं बहु सुपीवरम्।
अवतीर्य सरः स्वर्गी संस्प्रष्टुमुपचक्रमे॥ १६॥

इच्छानुसार उस सुपुष्ट एवं प्रचुर मांसको खाकर वे स्वर्गीय देवता सरोवरमें उतरे और हाथ-मुँह धोने लगे॥ १६॥

उपस्पृश्य यथान्यायं स स्वर्गी रघुनन्दन।
आरोढुमुपचक्राम विमानवरमुत्तमम्॥ १७॥

रघुनन्दन! यथोचित रीतिसे कुल्ला-आचमन करके वे स्वर्गवासी पुरुष उस उत्तम एवं श्रेष्ठ विमानपर चढ़नेको उद्यत हुए॥ १७॥

तमहं देवसंकाशमारोहन्तमुदीक्ष्य वै।
अथाहमब्रुवं वाक्यं तमेव पुरुषर्षभ॥ १८॥

पुरुषोत्तम! उन देवतुल्य पुरुषको विमानपर चढ़ते देख मैंने उनसे यह बात पूछी—॥ १८॥

को भवान् देवसंकाश आहारश्च विगर्हितः।
त्वयेदं भुज्यते सौम्य किमर्थं वक्तुमर्हसि॥ १९॥

'सौम्य! देवोपम पुरुष! आप कौन हैं और किसलिये ऐसा घृणित आहार ग्रहण करते हैं? यह बतानेका कष्ट करें॥ १९॥

कस्य स्यादीदृशो भाव आहारो देवसम्मतः।
आश्चर्यं वर्तते सौम्य श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः।
नाहमौपयिकं मन्ये तव भक्ष्यमिमं शवम्॥ २०॥

'देवतुल्य तेजस्वी पुरुष! ऐसा दिव्य स्वरूप और ऐसा घृणित आहार किसका हो सकता है? सौम्य! आपमें ये दोनों आश्चर्यजनक बातें हैं, अतः मैं इसका यथार्थ रहस्य सुनना चाहता हूँ; क्योंकि मैं इस शवको आपके योग्य आहार नहीं मानता हूँ'॥ २०॥

इत्येवमुक्तः स नरेन्द्र नाकी
　　कौतूहलात् सूनृतया गिरा च।
श्रुत्वा च वाक्यं मम सर्वमेतत्
　　सर्वं तथा चाकथयन्ममेति॥ २१॥

नरेश्वर! जब कौतूहलवश मैंने मधुर वाणीमें उन स्वर्गीय पुरुषसे इस प्रकार पूछा, तब मेरी बातें सुनकर उन्होंने यह सब कुछ मेरे सामने बताया॥ २१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे सप्तसप्ततितमः सर्गः॥ ७७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें सतहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ७७॥

अष्टसप्ततितमः सर्गः

राजा श्वेतका अगस्त्यजीको अपने लिये घृणित आहारकी प्राप्तिका कारण बताते हुए ब्रह्माजीके साथ हुए अपनी वार्ताको उपस्थित करना और उन्हें दिव्य आभूषणका दान दे भूख-प्यासके कष्टसे मुक्त होना

श्रुत्वा तु भाषितं वाक्यं मम राम शुभाक्षरम्।
प्राञ्जलिः प्रत्युवाचेदं स स्वर्गी रघुनन्दन॥ १॥

(अगस्त्यजी कहते हैं—) रघुकुलनन्दन राम! मेरी कही हुई शुभ अक्षरोंसे युक्त बात सुनकर उन स्वर्गीय पुरुषने हाथ जोड़कर इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १॥

शृणु ब्रह्मन् पुरा वृत्तं ममैतत् सुखदुःखयोः।
अनतिक्रमणीयं च यथा पृच्छसि मां द्विज॥ २॥

'ब्रह्मन्! आप जो कुछ पूछ रहे हैं, वह मेरे सुख-दुःखका अलङ्घनीय कारण, जो पूर्वकालमें घटित हो चुका है, यहाँ बताया जाता है, सुनिये॥ २॥

पुरा वैदर्भको राजा पिता मम महायशाः।
सुदेव इति विख्यातस्त्रिषु लोकेषु वीर्यवान्॥ ३॥

'पूर्वकालमें मेरे महायशस्वी पिता विदर्भ देशके राजा थे। उनका नाम सुदेव था। वे तीनों लोकोंमें विख्यात पराक्रमी थे॥ ३॥

तस्य पुत्रद्वयं ब्रह्मन् द्वाभ्यां स्त्रीभ्यामजायत।
अहं श्वेत इति ख्यातो यवीयान् सुरथोऽभवत्॥ ४॥

'ब्रह्मन्! उनके दो पत्नियाँ थीं, जिनके गर्भसे उन्हें दो पुत्र प्राप्त हुए। उनमें ज्येष्ठ मैं था। मेरी श्वेतके नामसे प्रसिद्धि हुई और मेरे छोटे भाईका नाम सुरथ था॥ ४॥

ततः पितरि स्वर्याते पौरा मामभ्यषेचयन्।
तत्राहं कृतवान् राज्यं धर्म्यं च सुसमाहितः॥ ५॥

'पिताके स्वर्गलोकमें चले जानेपर पुरवासियोंने राजाके पदपर मेरा अभिषेक कर दिया। वहाँ परम सावधान रहकर मैंने धर्मके अनुकूल राज्यका पालन किया॥ ५॥

एवं वर्षसहस्राणि समतीतानि सुव्रत।
राज्यं कारयतो ब्रह्मन् प्रजा धर्मेण रक्षतः॥ ६॥

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ब्रह्मर्षे! इस तरह धर्मपूर्वक प्रजाकी रक्षा तथा राज्यका शासन करते हुए मेरे एक सहस्र वर्ष बीत गये॥ ६॥

सोऽहं निमित्ते कस्मिंश्चिद् विज्ञातायुर्द्विजोत्तम।
कालधर्मं हृदि न्यस्य ततो वनमुपागमम्॥ ७॥

'द्विजश्रेष्ठ! एक समय मुझे किसी निमित्तसे अपनी आयुका पता लग गया और मैंने मृत्यु-तिथिको हृदयमें रखकर वहाँसे वनको प्रस्थान किया॥ ७॥

सोऽहं वनमिदं दुर्गं मृगपक्षिविवर्जितम्।
तपश्चर्तुं प्रविष्टोऽस्मि समीपे सरसः शुभे॥ ८॥

'उस समय मैं इसी दुर्गम वनमें आया, जिसमें न पशु हैं न पक्षी। वनमें प्रवेश करके मैं इसी सरोवरके सुन्दर तटके निकट तपस्या करनेके लिये बैठा॥ ८॥

भ्रातरं सुरथं राज्ये अभिषिच्य महीपतिम्।
इदं सरः समासाद्य तपस्तप्तं मया चिरम्॥ ९॥

'राज्यपर अपने भाई राजा सुरथका अभिषेक करके इस सरोवरके समीप आकर मैंने दीर्घकालतक तपस्या की॥ ९॥

सोऽहं वर्षसहस्राणि तपस्त्रीणि महावने।
तप्त्वा सुदुष्करं प्राप्तो ब्रह्मलोकमनुत्तमम्॥ १०॥

'इस विशाल वनमें तीन हजार वर्षोंतक अत्यन्त दुष्कर तपस्या करके मैं परम उत्तम ब्रह्मलोकको प्राप्त हुआ॥ १०॥

तस्येमे स्वर्गभूतस्य क्षुत्पिपासे द्विजोत्तम।
बाधेते परमोदार ततोऽहं व्यथितेन्द्रियः॥ ११॥

'द्विजश्रेष्ठ! परम उदार महर्षे! ब्रह्मलोकमें पहुँच जानेपर भी मुझे भूख और प्यास बड़ा कष्ट देते हैं। उससे मेरी सारी इन्द्रियाँ व्यथित हो उठती हैं॥ ११॥

गत्वा त्रिभुवनश्रेष्ठं पितामहमुवाच ह।
भगवन् ब्रह्मलोकोऽयं क्षुत्पिपासाविवर्जितः॥ १२॥
कस्यायं कर्मणः पाकः क्षुत्पिपासानुगो ह्यहम्।
आहारः कश्च मे देव तन्मे ब्रूहि पितामह॥ १३॥

'एक दिन मैंने त्रिलोकीके श्रेष्ठ देवता भगवान् ब्रह्माजीसे कहा—'भगवन्! यह ब्रह्मलोक तो भूख-प्यासके कष्टसे रहित है, किंतु यहाँ भी क्षुधा-पिपासाका क्लेश मेरा पीछा नहीं छोड़ता है। यह मेरे किस कर्मका परिणाम है? देव! पितामह! मेरा आहार क्या है? यह मुझे बताइये'॥ १२-१३॥

पितामहस्तु मामाह तवाहारः सुदेवज।
स्वादूनि स्वानि मांसानि तानि भक्षय नित्यशः॥ १४॥

यह सुनकर ब्रह्माजी मुझसे बोले—''सुदेवनन्दन! तुम मर्त्यलोकमें स्थित अपने ही शरीरका सुस्वादु मांस प्रतिदिन खाया करो; यही तुम्हारा आहार है॥ १४॥

स्वशरीरं त्वया पुष्टं कुर्वता तप उत्तमम्।
अनुप्तं रोहते श्वेत न कदाचिन्महामते॥ १५॥

''श्वेत! तुमने उत्तम तप करते हुए केवल अपने शरीरका ही पोषण किया है। महामते! दानरूपी बीज बोये बिना कहीं कुछ भी नहीं जमता—कोई भी भोज्य-पदार्थ उपलब्ध नहीं होता है॥ १५॥

दत्तं न तेऽस्ति सूक्ष्मोऽपि तप एव निषेवसे।
तेन स्वर्गगतो वत्स बाध्यसे क्षुत्पिपासया॥ १६॥

''तुमने देवताओं, पितरों एवं अतिथियोंके लिये कभी कुछ थोड़ा-सा भी दान किया हो, ऐसा नहीं दिखायी देता। तुम केवल तपस्या करते थे। वत्स! इसीलिये ब्रह्मलोकमें आकर भी भूख-प्याससे पीड़ित हो रहे हो॥ १६॥

स त्वं सुपुष्टमाहारैः स्वशरीरमनुत्तमम्।
भक्षयित्वामृतरसं तेन वृत्तिर्भविष्यति॥ १७॥

''नाना प्रकारके आहारोंसे भलीभाँति पोषित हुआ तुम्हारा परम उत्तम शरीर अमृतरससे युक्त होगा और उसीका भक्षण करनेसे तुम्हारी क्षुधा-पिपासाका निवारण हो जायगा॥ १७॥

यदा तु तद्वनं श्वेत अगस्त्यः स महानृषिः।
आगमिष्यति दुर्धर्षस्तदा कृच्छ्राद् विमोक्ष्यसे॥ १८॥

''श्वेत! जब उस वनमें दुर्धर्ष महर्षि अगस्त्य पधारेंगे, तब तुम इस कष्टसे छुटकारा पा जाओगे॥ १८॥

स हि तारयितुं सौम्य शक्तः सुरगणानपि।
किं पुनस्त्वां महाबाहो क्षुत्पिपासावशं गतम्॥ १९॥

''सौम्य! महाबाहो! वे देवताओंका भी उद्धार करनेमें समर्थ हैं, फिर भूख-प्यासके वशमें पड़े हुए तुम-जैसे पुरुषको संकटसे छुड़ाना उनके लिये कौन बड़ी बात है?''॥ १९॥

सोऽहं भगवतः श्रुत्वा देवदेवस्य निश्चयम्।
आहारं गर्हितं कुर्मि स्वशरीरं द्विजोत्तम॥ २०॥

'द्विजश्रेष्ठ! देवाधिदेव भगवान् ब्रह्माका यह निश्चय सुनकर मैं अपने शरीरका ही घृणित आहार ग्रहण करने लगा॥ २०॥

बहून् वर्षगणान् ब्रह्मन् भुज्यमानमिदं मया।
क्षयं नाभ्येति ब्रह्मर्षे तृप्तिश्चापि ममोत्तमा॥ २१॥

'ब्रह्मन्! ब्रह्मर्षे! बहुत वर्षोंसे मेरे द्वारा उपभोगमें लाये जानेपर भी यह शरीर नष्ट नहीं होता है और मुझे पूर्णतः तृप्ति प्राप्त होती है॥ २१॥

तस्य मे कृच्छ्रभूतस्य कृच्छ्रादस्माद् विमोक्षय।
अन्येषां न गतिर्ह्यत्र कुम्भयोनिमृते द्विजम्॥ २२॥

'मुने! इस प्रकार मैं संकटमें पड़ा हूँ। आप मेरे दृष्टिपथमें आ गये हैं, इसलिये इस कष्टसे मेरा उद्धार कीजिये। आप ब्रह्मर्षि कुम्भजके सिवा दूसरोंकी इस निर्जन वनमें पहुँच नहीं हो सकती (इसलिये आप अवश्य कुम्भयोनि अगस्त्य ही हैं)॥ २२॥

इदमाभरणं सौम्य तारणार्थं द्विजोत्तम।
प्रतिगृह्णीष्व भद्रं ते प्रसादं कर्तुमर्हसि॥ २३॥

'सौम्य! विप्रवर! आपका कल्याण हो। आप मेरा उद्धार करनेके लिये मेरे इस आभूषणका दान ग्रहण करें और आपका कृपाप्रसाद मुझे प्राप्त हो॥ २३॥

इदं तावत् सुवर्णं च धनं वस्त्राणि च द्विज।
भक्ष्यं भोज्यं च ब्रह्मर्षे ददात्याभरणानि च॥ २४॥

'ब्रह्मन्! ब्रह्मर्षे! यह दिव्य आभूषण सुवर्ण, धन, वस्त्र, भक्ष्य, भोज्य तथा अन्य नाना प्रकारके आभरण भी देता है॥ २४॥

सर्वान् कामान् प्रयच्छामि भोगांश्च मुनिपुङ्गव।
तारणे भगवन् मह्यं प्रसादं कर्तुमर्हसि॥ २५॥

'मुनिश्रेष्ठ! इस आभूषणके द्वारा मैं समस्त कामनाओं (मनोवाञ्छित पदार्थों) और भोगोंको भी दे रहा हूँ। भगवन्! आप मेरे उद्धारके लिये मुझपर कृपा करें'॥ २५॥

तस्याहं स्वर्गिणो वाक्यं श्रुत्वा दुःखसमन्वितम्।
तारणायोपजग्राह तदाभरणमुत्तमम्॥ २६॥

स्वर्गीय राजा श्वेतकी यह दुःखभरी बात सुनकर मैंने उनका उद्धार करनेके लिये वह उत्तम आभूषण ले लिया॥ २६॥

मया प्रतिगृहीते तु तस्मिन्नाभरणे शुभे।
मानुषः पूर्वको देहो राजर्षेर्विननाश ह॥ २७॥

ज्यों ही मैंने उस शुभ आभूषणका दान ग्रहण किया, त्यों ही राजर्षि श्वेतका वह पूर्व-शरीर (शव) अदृश्य हो गया॥ २७॥

प्रणष्टे तु शरीरेऽसौ राजर्षिः परया मुदा।
तृप्तः प्रमुदितो राजा जगाम त्रिदिवं सुखम्॥ २८॥

उस शरीरके अदृश्य हो जानेपर राजर्षि श्वेत परमानन्दसे तृप्त हो प्रसन्नतापूर्वक सुखमय ब्रह्मलोकको चले गये॥ २८॥

तेनेदं शक्रतुल्येन दिव्यमाभरणं मम।
तस्मिन्निमित्ते काकुत्स्थ दत्तमद्भुतदर्शनम्॥ २९॥

काकुत्स्थ! उन इन्द्रतुल्य तेजस्वी राजा श्वेतने उस भूख-प्यासके निवारणरूप पूर्वोक्त निमित्तसे यह अद्भुत दिखायी देनेवाला दिव्य आभूषण मुझे दिया था॥ २९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डेऽष्टसप्ततितमः सर्गः॥ ७८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें अठहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ७८॥

—★—

एकोनाशीतितमः सर्गः

इक्ष्वाकुपुत्र राजा दण्डका राज्य

तदद्भुततमं वाक्यं श्रुत्वागस्त्यस्य राघवः।
गौरवाद् विस्मयाच्चैव भूयः प्रष्टुं प्रचक्रमे ॥ १ ॥

अगस्त्यजीका यह अत्यन्त अद्भुत वचन सुनकर श्रीरघुनाथजीके मनमें उनके प्रति विशेष गौरवका उदय हुआ और उन्होंने विस्मित होकर पुनः उनसे पूछना आरम्भ किया— ॥ १ ॥

भगवंस्तद् वनं घोरं तपस्तप्यति यत्र सः।
श्वेतो वैदर्भको राजा कथं तदमृगद्विजम् ॥ २ ॥

'भगवन्! वह भयंकर वन, जिसमें विदर्भदेशके राजा श्वेत घोर तपस्या करते थे, पशु-पक्षियोंसे रहित क्यों हो गया था? ॥ २ ॥

तद् वनं स कथं राजा शून्यं मनुजवर्जितम्।
तपश्चर्तुं प्रविष्टः स श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ ३ ॥

'वे विदर्भराज उस सूने निर्जन वनमें तपस्या करनेके लिये क्यों गये? यह मैं यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ' ॥ ३ ॥

रामस्य वचनं श्रुत्वा कौतूहलसमन्वितम्।
वाक्यं परमतेजस्वी वक्तुमेवोपचक्रमे ॥ ४ ॥

श्रीरामका कौतूहलयुक्त वचन सुनकर वे परम तेजस्वी महर्षि पुनः इस प्रकार कहने लगे— ॥ ४ ॥

पुरा कृतयुगे राम मनुर्दण्डधरः प्रभुः।
तस्य पुत्रो महानासीदिक्ष्वाकुः कुलनन्दनः ॥ ५ ॥

'श्रीराम! पूर्वकालके सत्ययुगकी बात है, दण्डधारी राजा मनु इस भूतलपर शासन करते थे। उनके एक श्रेष्ठ पुत्र हुआ, जिसका नाम इक्ष्वाकु था। राजकुमार इक्ष्वाकु अपने कुलको आनन्दित करनेवाले थे ॥ ५ ॥

तं पुत्रं पूर्वकं राज्ये निक्षिप्य भुवि दुर्जयम्।
पृथिव्यां राजवंशानां भव कर्तेत्युवाच तम् ॥ ६ ॥

'अपने उन ज्येष्ठ एवं दुर्जय पुत्रको भूमण्डलके राज्यपर स्थापित करके मनुने उनसे कहा—'बेटा! तुम भूतलपर राजवंशोंकी सृष्टि करो' ॥ ६ ॥

तथैव च प्रतिज्ञातं पितुः पुत्रेण राघव।
ततः परमसंतुष्टो मनुः पुत्रमुवाच ह ॥ ७ ॥

'रघुनन्दन! पुत्र इक्ष्वाकुने पिताके सामने वैसा ही करनेकी प्रतिज्ञा की। इससे मनु बहुत संतुष्ट हुए और अपने पुत्रसे बोले ॥ ७ ॥

प्रीतोऽस्मि परमोदार कर्ता चासि न संशयः।
दण्डेन च प्रजा रक्ष मा च दण्डमकारणे ॥ ८ ॥

''परम उदार पुत्र! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। तुम राजवंशकी सृष्टि करोगे, इसमें संशय नहीं है। तुम दण्डके द्वारा दुष्टोंका दमन करते हुए प्रजाकी रक्षा करो, परंतु बिना अपराधके ही किसीको दण्ड न देना ॥ ८ ॥

अपराधिषु यो दण्डः पात्यते मानवेषु वै।
स दण्डो विधिवन्मुक्तः स्वर्गं नयति पार्थिवम् ॥ ९ ॥

''अपराधी मनुष्योंपर जो दण्डका प्रयोग किया जाता है, वह विधिपूर्वक दिया हुआ दण्ड राजाको स्वर्गलोकमें पहुँचा देता है ॥ ९ ॥

तस्माद् दण्डे महाबाहो यत्नवान् भव पुत्रक।
धर्मो हि परमो लोके कुर्वतस्ते भविष्यति ॥ १० ॥

''इसलिये महाबाहु पुत्र! तुम दण्डका समुचित प्रयोग करनेके लिये प्रयत्नशील रहना। ऐसा करनेसे तुम्हें संसारमें परम धर्मकी प्राप्ति होगी'' ॥ १० ॥

इति तं बहु संदिश्य मनुः पुत्रं समाधिना।
जगाम त्रिदिवं हृष्टो ब्रह्मलोकं सनातनम् ॥ ११ ॥

इस प्रकार पुत्रको बहुत-सा संदेश दे मनु समाधि लगाकर बड़े हर्षके साथ स्वर्गको—सनातन ब्रह्मलोकको चले गये ॥ ११ ॥

प्रयाते त्रिदिवं तस्मिन्निक्ष्वाकुरमितप्रभः।
जनयिष्ये कथं पुत्रानिति चिन्तापरोऽभवत् ॥ १२ ॥

'उनके ब्रह्मलोकनिवासी हो जानेपर अमित तेजस्वी राजा इक्ष्वाकु इस चिन्तामें पड़े कि मैं किस प्रकार पुत्रोंको उत्पन्न करूँ? ॥ १२ ॥

कर्मभिर्बहुरूपैश्च तैस्तैर्मनुसुतस्तदा।
जनयामास धर्मात्मा शतं देवसुतोपमान् ॥ १३ ॥

'तब यज्ञ, दान और तपस्यारूप विविध कर्मोंद्वारा धर्मात्मा मनुपुत्रने सौ पुत्र उत्पन्न किये, जो देवकुमारोंके समान तेजस्वी थे ॥ १३ ॥

तेषामवरजस्तात सर्वेषां रघुनन्दन।
मूढश्चाकृतविद्यश्च न शुश्रूषति पूर्वजान् ॥ १४ ॥

'तात रघुनन्दन! उनमें जो सबसे छोटा पुत्र था, वह मूढ़ और विद्याविहीन था, इसलिये अपने बड़े भाइयोंकी सेवा नहीं करता था ॥ १४ ॥

नाम तस्य च दण्डेति पिता चक्रेऽल्पमेधसः।
अवश्यं दण्डपतनं शरीरेऽस्य भविष्यति ॥ १५ ॥

'इसके शरीरपर अवश्य दण्डपात होगा, ऐसा सोचकर पिताने उस मन्दबुद्धि पुत्रका नाम दण्ड रख दिया ॥ १५ ॥

अपश्यमानस्तं देशं घोरं पुत्रस्य राघव।
विन्ध्यशैवलयोर्मध्ये राज्यं प्रादादरिंदम ॥ १६ ॥

'श्रीराम! शत्रुदमन नरेश! उस पुत्रके योग्य दूसरा कोई भयंकर देश न देखकर राजाने उसे विन्ध्य और शैवल पर्वतके बीचका राज्य दे दिया ॥ १६ ॥

स दण्डस्तत्र राजाभूद् रम्ये पर्वतरोधसि।
पुरं चाप्रतिमं राम न्यवेशयदनुत्तमम् ॥ १७ ॥

'श्रीराम! पर्वतके उस रमणीय तटप्रान्तमें दण्ड राजा हुआ। उसने अपने रहनेके लिये एक बहुत ही अनुपम और उत्तम नगर बसाया॥ १७॥

पुरस्य चाकरोन्नाम मधुमन्तमिति प्रभो।
पुरोहितं तूशनसं वरयामास सुव्रतम्॥ १८॥

'प्रभो! उसने उस नगरका नाम रखा मधुमन्त और उत्तम व्रतका पालन करनेवाले शुक्राचार्यको अपना पुरोहित बनाया॥ १८॥

एवं स राजा तद् राज्यमकरोत् सपुरोहितः।
प्रहृष्टमनुजाकीर्णं देवराजो यथा दिवि॥ १९॥

'इस प्रकार स्वर्गमें देवराजकी भाँति भूतलपर राजा दण्डने पुरोहितके साथ रहकर हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरे हुए उस राज्यका पालन आरम्भ किया॥ १९॥

ततः स राजा मनुजेन्द्रपुत्रः
सार्धं च तेनोशनसा तदानीम्।
चकार राज्यं सुमहान्महात्मा
शक्रो दिवीवोशनसा समेतः॥ २०॥

'उस समय वह महामनस्वी महाराजकुमार तथा महान् राजा दण्ड शुक्राचार्यके साथ रहकर अपने राज्यका उसी तरह पालन करने लगा जैसे स्वर्गमें देवराज इन्द्र देवगुरु बृहस्पतिके साथ रहकर अपने राज्यका पालन करते हैं॥ २०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे एकोनाशीतितमः सर्गः॥ ७९॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें उनासीवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ७९॥

—★—

अशीतितमः सर्गः

राजा दण्डका भार्गव-कन्याके साथ बलात्कार

एतदाख्याय रामाय महर्षिः कुम्भसम्भवः।
अस्यामेवापरं वाक्यं कथायामुपचक्रमे॥ १॥

महर्षि कुम्भज श्रीरामसे इतनी कथा कहकर फिर इसीका अवशिष्ट अंश इस तरह कहने लगे—॥ १॥

ततः स दण्डः काकुत्स्थ बहुवर्षगणायुतम्।
अकरोत् तत्र दान्तात्मा राज्यं निहतकण्टकम्॥ २॥

'काकुत्स्थ! तदनन्तर राजा दण्डने मन और इन्द्रियोंको काबूमें रखकर बहुत वर्षोंतक वहाँ अकण्टक राज्य किया॥ २॥

अथ काले तु कस्मिंश्चिद् राजा भार्गवमाश्रमम्।
रमणीयमुपाक्रामच्चैत्रे मासि मनोरमे॥ ३॥

'तत्पश्चात् किसी समय राजा मनोरम चैत्रमासमें शुक्राचार्यके रमणीय आश्रमपर आया॥ ३॥

तत्र भार्गवकन्यां स रूपेणाप्रतिमां भुवि।
विचरन्तीं वनोद्देशे दण्डोऽपश्यदनुत्तमाम्॥ ४॥

'वहाँ शुक्राचार्यकी सर्वोत्तम सुन्दरी कन्या, जिसके रूपकी इस भूतलपर कहीं तुलना नहीं थी, वनप्रान्तमें विचर रही थी। दण्डने उसे देखा॥ ४॥

स दृष्ट्वा तां सुदुर्मेधा अनङ्गशरपीडितः।
अभिगम्य सुसंविग्नां कन्यां वचनमब्रवीत्॥ ५॥

'उसे देखते ही वह अत्यन्त खोटी बुद्धिवाला राजा कामदेवके बाणोंसे पीड़ित हो पास जाकर उस डरी हुई कन्यासे बोला—॥ ५॥

कुतस्त्वमसि सुश्रोणि कस्य वासि सुता शुभे।
पीडितोऽहमनङ्गेन पृच्छामि त्वां शुभानने॥ ६॥

''सुश्रोणि! तुम कहाँसे आयी हो अथवा शुभे! तुम किसकी पुत्री हो? शुभानने! मैं कामदेवसे पीड़ित हूँ, इसलिये तुम्हारा परिचय पूछता हूँ'॥ ६॥

तस्य त्वेवं ब्रुवाणस्य मोहोन्मत्तस्य कामिनः।
भार्गवी प्रत्युवाचेदं वचः सानुनयं त्विदम्॥ ७॥

'मोहसे उन्मत्त होकर वह कामी राजा जब इस प्रकार पूछने लगा, तब भृगुकन्याने विनयपूर्वक उसे इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ७॥

भार्गवस्य सुतां विद्धि देवस्याक्लिष्टकर्मणः।
अरजां नाम राजेन्द्र ज्येष्ठामाश्रमवासिनीम्॥ ८॥

''राजेन्द्र! तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि मैं पुण्यकर्मा शुक्रदेवताकी ज्येष्ठ पुत्री हूँ। मेरा नाम अरजा है। मैं इसी आश्रममें निवास करती हूँ॥ ८॥

मा मां स्पृश बलाद् राजन् कन्या पितृवशा ह्यहम्।
गुरुः पिता मे राजेन्द्र त्वं च शिष्यो महात्मनः॥ ९॥

'राजन्! बलपूर्वक मेरा स्पर्श न करो। मैं पिताके अधीन रहनेवाली कुमारी कन्या हूँ। राजेन्द्र! मेरे पिता तुम्हारे गुरु हैं और तुम उन महात्माके शिष्य हो॥ ९॥

व्यसनं सुमहत् क्रुद्धः स ते दद्यान्महातपाः।
यदि वान्यन्मया कार्यं धर्मदृष्टेन सत्पथा॥ १०॥
वरयस्व नरश्रेष्ठ पितरं मे महाद्युतिम्।
अन्यथा तु फलं तुभ्यं भवेद् घोराभिसंहितम्॥ ११॥

''नरश्रेष्ठ! वे महातपस्वी हैं। यदि कुपित हो जायँ तो तुम्हें बड़ी भारी विपत्तिमें डाल सकते हैं। यदि मुझसे तुम्हें

दूसरा ही काम लेना हो (अर्थात् यदि तुम मुझे अपनी भार्या बनाना चाहते हो) तो धर्मशास्त्रोक्त सन्मार्गसे चलकर मेरे महातेजस्वी पितासे मुझको माँग लो। अन्यथा तुम्हें अपने स्वेच्छाचारका बड़ा भयानक फल भोगना पड़ेगा॥ १०-११॥

क्रोधेन हि पिता मेऽसौ त्रैलोक्यमपि निर्दहेत्।
दास्यते चानवद्याङ्ग तव मा याचितः पिता॥ १२॥

"मेरे पिता अपनी क्रोधाग्निसे सारी त्रिलोकीको भी दग्ध कर सकते हैं; अतः सुन्दर अङ्गोंवाले नरेश! तुम बलात्कार न करो। तुम्हारे याचना करनेपर पिताजी मुझे अवश्य तुम्हारे हाथमें सौंप देंगे"॥ १२॥

एवं ब्रुवाणामरजां दण्डः कामवशं गतः।
प्रत्युवाच मदोन्मत्तः शिरस्याधाय चाञ्जलिम्॥ १३॥

'जब अरजा ऐसी बातें कह रही थी, उस समय कामके अधीन हुए दण्डने मदोन्मत्त होकर दोनों हाथ सिरपर जोड़ लिये और इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १३॥

प्रसादं कुरु सुश्रोणि न कालं क्षेप्तुमर्हसि।
त्वत्कृते हि मम प्राणा विदीर्यन्ते वरानने॥ १४॥

"सुन्दरी! कृपा करो। समय न बिताओ। वरानने! तुम्हारे लिये मेरे प्राण निकले जा रहे हैं॥ १४॥

त्वां प्राप्य तु वधो वापि पापं वापि सुदारुणम्।
भक्तं भजस्व मां भीरु भजमानं सुविह्वलम्॥ १५॥

"तुम्हें प्राप्त कर लेनेपर मेरा वध हो जाय अथवा मुझे अत्यन्त दारुण दुःख प्राप्त हो तो भी कोई चिन्ता नहीं है। भीरु! मैं तुम्हारा भक्त हूँ। अत्यन्त व्याकुल हुए मुझ अपने सेवकको स्वीकार करो"॥ १५॥

एवमुक्त्वा तु तां कन्यां दोर्भ्यां प्राप्य बलाद् बली।
विस्फुरन्तीं यथाकामं मैथुनायोपचक्रमे॥ १६॥

'ऐसा कहकर उस बलवान् नरेशने उस भार्गव-कन्याको बलपूर्वक दोनों भुजाओंमें भर लिया। वह उसकी पकड़से छूटनेके लिये छटपटाने लगी तो भी उसने अपनी इच्छाके अनुसार उसके साथ समागम किया॥ १६॥

तमनर्थं महाघोरं दण्डः कृत्वा सुदारुणम्।
नगरं प्रययावाशु मधुमन्तमनुत्तमम्॥ १७॥

'वह अत्यन्त दारुण एवं महाभयंकर अनर्थ करके दण्ड तुरंत ही अपने उत्तम नगर मधुमन्तको चला गया॥ १७॥

अरजापि रुदन्ती सा आश्रमस्याविदूरतः।
प्रतीक्षते सुसंत्रस्ता पितरं देवसंनिभम्॥ १८॥

'अरजा भी भयभीत हो रोती हुई आश्रमके पास ही अपने देवतुल्य पिताके आनेकी राह देखने लगी'॥ १८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डेऽशीतितमः सर्गः॥ ८०॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें अस्सीवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ८०॥

—★—

एकाशीतितमः सर्गः

शुक्रके शापसे सपरिवार राजा दण्ड और उनके राज्यका नाश

स मुहूर्तादुपश्रुत्य देवर्षिरमितप्रभः।
स्वमाश्रमं शिष्यवृतः क्षुधार्तः संन्यवर्तत॥ १॥

दो घड़ी बाद किसी शिष्यके मुँहसे अरजाके ऊपर किये गये बलात्कारकी बात सुनकर अमित तेजस्वी महर्षि शुक्र भूखसे पीड़ित हो शिष्योंसे घिरे हुए अपने आश्रमको लौट आये॥ १॥

सोऽपश्यदरजां दीनां रजसा समभिप्लुताम्।
ज्योत्स्नामिव ग्रहग्रस्तां प्रत्यूषे न विराजतीम्॥ २॥

उन्होंने देखा, अरजा दुःखी होकर रो रही है। उसके शरीरमें धूल लिपटी हुई है तथा वह प्रातःकाल-राहुग्रस्त चन्द्रमाकी शोभाहीन चाँदनीके समान सुशोभित नहीं हो रही है॥ २॥

तस्य रोषः समभवत् क्षुधार्तस्य विशेषतः।
निर्दहन्निव लोकांस्त्रीञ्शिष्यांश्चेतदुवाच ह॥ ३॥

यह देख विशेषतः भूखसे पीड़ित होनेके कारण देवर्षि शुक्रका रोष बढ़ गया और वे तीनों लोकोंको दग्ध-से करते हुए अपने शिष्योंसे इस प्रकार बोले—॥ ३॥

पश्यध्वं विपरीतस्य दण्डस्याविदितात्मनः।
विपत्तिं घोरसंकाशां क्रुद्धादग्निशिखामिव॥ ४॥

'देखो, शास्त्रविपरीत आचरण करनेवाले अज्ञानी राजा दण्डको कुपित हुए मेरी ओरसे अग्नि-शिखाके समान कैसे घोर विपत्ति प्राप्त होती है॥ ४॥

क्षयोऽस्य दुर्मतेः प्राप्तः सानुगस्य दुरात्मनः।
यः प्रदीप्तां हुताशस्य शिखां वै स्प्रष्टुमर्हति॥ ५॥

'सेवकोंसहित इस दुर्बुद्धि एवं दुरात्मा राजाके विनाशका समय आ गया है, जो प्रज्वलित आगकी दहकती हुई ज्वालाको गले लगाना चाहता है॥ ५॥

यस्मात् स कृतवान् पापमीदृशं घोरसंहितम्।
तस्मात् प्राप्स्यति दुर्मेधाः फलं पापस्य कर्मणः॥ ६॥

'उस दुर्बुद्धिने जब ऐसा घोर पाप किया है, तब इसे उस

पापकर्मका फल अवश्य प्राप्त होगा ॥ ६ ॥

सप्तरात्रेण राजासौ सपुत्रबलवाहनः ।
पापकर्मसमाचारो वधं प्राप्स्यति दुर्मतिः ॥ ७ ॥

'पापकर्मका आचरण करनेवाला वह दुर्बुद्धि नरेश सात रातके भीतर ही पुत्र, सेना और सवारियोंसहित नष्ट हो जायगा ॥ ७ ॥

समन्ताद् योजनशतं विषयं चास्य दुर्मतेः ।
धक्ष्यते पांसुवर्षेण महता पाकशासनः ॥ ८ ॥

'खोटे विचारवाले इस राजाके राज्यको जो सब ओरसे सौ योजन लम्बा-चौड़ा है, देवराज इन्द्र, भारी धूलकी वर्षा करके नष्ट कर देंगे ॥ ८ ॥

सर्वसत्त्वानि यानीह स्थावराणि चराणि च ।
महता पांसुवर्षेण विलयं सर्वतोऽगमन् ॥ ९ ॥

'यहाँ जो सब प्रकारके स्थावर-जङ्गम जीव निवास करते हैं, इस धूलकी भारी वर्षासे सब ओर विलीन हो जायँगे ॥ ९ ॥

दण्डस्य विषयो यावत् तावत् सर्वं समुच्छ्रयम् ।
पांसुवर्षमिवालक्ष्यं सप्तरात्रं भविष्यति ॥ १० ॥

'जहाँतक दण्डका राज्य है, वहाँतकके समस्त चराचर प्राणी सात राततक केवल धूलिकी वर्षा पाकर अदृश्य हो जायँगे' ॥ १० ॥

इत्युक्त्वा क्रोधताम्राक्षस्तमाश्रमनिवासिनम् ।
जनं जनपदान्तेषु स्थीयतामिति चाब्रवीत् ॥ ११ ॥

ऐसा कहकर क्रोधसे लाल आँखें किये शुक्रने उस आश्रममें निवास करनेवाले लोगोंसे कहा—'दण्डके राज्यकी सीमाके अन्तमें जो देश हैं, उनमें जाकर निवास करो' ॥ ११ ॥

श्रुत्वा तूशनसो वाक्यं सोऽऽश्रमावसथो जनः ।
निष्क्रान्तो विषयात् तस्मात् स्थानं चक्रेऽथ बाह्यतः ॥ १२ ॥

शुक्राचार्यकी यह बात सुनकर आश्रमवासी मनुष्य उस राज्यसे निकल गये और सीमासे बाहर जाकर निवास करने लगे ॥ १२ ॥

स तथोक्त्वा मुनिजनमरजामिदमब्रवीत् ।
इहैव वस दुर्मेधे आश्रमे सुसमाहिता ॥ १३ ॥

आश्रमवासी मुनियोंसे ऐसी बात कहकर शुक्रने अरजासे कहा—'खोटी बुद्धिवाली लड़की ! तू यहाँ इस आश्रममें मनको परमात्माके ध्यानमें एकाग्र करके रह ॥ १३ ॥

इदं योजनपर्यन्तं सरः सुरुचिरप्रभम् ।
अरजे विज्वरा भुङ्क्ष्व कालश्चात्र प्रतीक्ष्यताम् ॥ १४ ॥

'अरजे ! यह जो एक योजन फैला हुआ सुन्दर तालाब है, इसका तू निश्चिन्त होकर उपभोग कर और अपने अपराधकी निवृत्तिके लिये यहाँ समयकी प्रतीक्षा करती रह ॥ १४ ॥

त्वत्समीपे च ये सत्त्वा वासमेष्यन्ति तां निशाम् ।
अवध्याः पांसुवर्षेण ते भविष्यन्ति नित्यदा ॥ १५ ॥

'जो जीव उन रात्रियोंमें तुम्हारे समीप रहेंगे, वे कभी भी धूलकी वर्षासे मारे नहीं जायँगे—सदा बने रहेंगे' ॥ १५ ॥

श्रुत्वा नियोगं ब्रह्मर्षेः सारजा भार्गवी तदा ।
तथेति पितरं प्राह भार्गवं भृशदुःखिता ॥ १६ ॥

ब्रह्मर्षिका यह आदेश सुनकर वह भृगुकन्या अरजा अत्यन्त दुःखित होनेपर भी अपने पिता भार्गवसे बोली—'बहुत अच्छा' ॥ १६ ॥

इत्युक्त्वा भार्गवो वासमन्यत्र समकारयत् ।
तच्च राज्यं नरेन्द्रस्य सभृत्यबलवाहनम् ॥ १७ ॥
सप्ताहाद् भस्मसाद् भूतं यथोक्तं ब्रह्मवादिना ।

ऐसा कहकर शुक्रने दूसरे राज्यमें जाकर निवास किया तथा उन ब्रह्मवादीके कथनानुसार राजा दण्डका वह राज्य सेवक, सेना और सवारियोंसहित सात दिनमें भस्म हो गया ॥१७½॥

तस्यासौ दण्डविषयो विन्ध्यशैवलयोर्नृप ॥ १८ ॥
शप्तो ब्रह्मर्षिणा तेन वैधर्म्ये सहिते कृते ।
ततः प्रभृति काकुत्स्थ दण्डकारण्यमुच्यते ॥ १९ ॥

नरेश्वर ! विन्ध्य और शैवलगिरिके मध्यभागमें दण्डका राज्य था। काकुत्स्थ ! धर्मयुग कृतयुगमें धर्मविरुद्ध आचरण करनेपर उन ब्रह्मर्षिने राजा और उनके देशको शाप दे दिया। तभीसे वह भूभाग दण्डकारण्य कहलाता है ॥ १८-१९ ॥

तपस्विनः स्थिता ह्यत्र जनस्थानमतोऽभवत् ।
एतत् ते सर्वमाख्यातं यन्मां पृच्छसि राघव ॥ २० ॥

इस स्थानपर तपस्वीलोग आकर बस गये; इसलिये इसका नाम जनस्थान हो गया। रघुनन्दन ! आपने जिसके विषयमें मुझसे पूछा था, यह सब मैंने कह सुनाया ॥ २० ॥

संध्यामुपासितुं वीर समयो ह्यतिवर्तते ।
एते महर्षयः सर्वे पूर्णकुम्भाः समन्ततः ॥ २१ ॥
कृतोदका नरव्याघ्र आदित्यं पर्युपासते ।

वीर ! अब संध्योपासनाका समय बीता जा रहा है। पुरुषसिंह ! सब ओरसे ये सब महर्षि स्नान कर चुकनेके बाद भरे हुए घड़े लेकर सूर्यदेवकी उपासना कर रहे हैं ॥२१½॥

स तैर्ब्राह्मणमभ्यस्तं सहितैर्ब्रह्मवित्तमैः ।
रविरस्तंगतो राम गच्छोदकमुपस्पृश ॥ २२ ॥

श्रीराम ! वे सूर्य वहाँ एकत्र हुए उन उत्तम ब्रह्मवेत्ताओं-द्वारा पढ़े गये ब्राह्मणमन्त्रोंको सुनकर और उसी रूपमें पूजा पाकर अस्ताचलको चले गये। अब आप भी जायँ और आचमन एवं स्नान आदि करें ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे एकाशीतितमः सर्गः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें इक्यासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८१ ॥

द्व्यशीतितमः सर्गः

श्रीरामका अगस्त्य-आश्रमसे अयोध्यापुरीको लौटना

ऋषेर्वचनमाज्ञाय रामः संध्यामुपासितुम्।
अपाक्रामत् सरः पुण्यमप्सरोगणसेवितम्॥ १॥

ऋषिका यह आदेश पाकर श्रीरामचन्द्रजी संध्योपासना करनेके लिये अप्सराओंसे सेवित उस पवित्र सरोवरके तटपर गये॥ १॥

तत्रोदकमुपस्पृश्य संध्यामन्वास्य पश्चिमाम्।
आश्रमं प्राविशद् रामः कुम्भयोनेर्महात्मनः॥ २॥

वहाँ आचमन और सायंकालकी संध्योपासना करके श्रीरामने पुनः महात्मा कुम्भजके आश्रममें प्रवेश किया॥ २॥

तस्यागस्त्यो बहुगुणं कन्दमूलं तथौषधम्।
शाल्यादीनि पवित्राणि भोजनार्थमकल्पयत्॥ ३॥

अगस्त्यजीने उनके भोजनके लिये अनेक गुणोंसे युक्त कन्द, मूल, जरावस्थाको निवारण करनेवाली दिव्य ओषधि, पवित्र भात आदि वस्तुएँ अर्पित कीं॥ ३॥

स भुक्तवान् नरश्रेष्ठस्तदन्नममृतोपमम्।
प्रीतश्च परितुष्टश्च तां रात्रिं समुपाविशत्॥ ४॥

नरश्रेष्ठ श्रीराम वह अमृततुल्य स्वादिष्ट भोजन करके परम तृप्त और प्रसन्न हुए तथा वह रात्रि उन्होंने बड़े संतोषसे बितायी॥ ४॥

प्रभाते काल्यमुत्थाय कृत्वाऽऽह्निकमरिंदमः।
ऋषिं समुपचक्राम गमनाय रघूत्तमः॥ ५॥

सबेरे उठकर शत्रुओंका दमन करनेवाले रघुकुलभूषण श्रीराम नित्यकर्म करके वहाँसे जानेकी इच्छासे महर्षिके पास गये॥ ५॥

अभिवाद्याब्रवीद् रामो महर्षिं कुम्भसम्भवम्।
आपृच्छे त्वां पुरीं गन्तुं मामनुज्ञातुमर्हसि॥ ६॥

वहाँ महर्षि कुम्भजको प्रणाम करके श्रीरामने कहा—'महर्षे! अब मैं अपनी पुरीको जानेके लिये आपकी आज्ञा चाहता हूँ। कृपया मुझे आज्ञा प्रदान करें॥ ६॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि दर्शनेन महात्मनः।
द्रष्टुं चैवागमिष्यामि पावनार्थमिहात्मनः॥ ७॥

'आप महात्माके दर्शनसे मैं धन्य और अनुगृहीत हुआ। अब अपने-आपको पवित्र करनेके लिये फिर कभी आपके दर्शनकी इच्छासे यहाँ आऊँगा'॥ ७॥

तथा वदति काकुत्स्थे वाक्यमद्भुतदर्शनम्।
उवाच परमप्रीतो धर्मनेत्रस्तपोधनः॥ ८॥

श्रीरामचन्द्रजीके इस प्रकार अद्भुत वचन कहनेपर धर्मचक्षु तपोधन अगस्त्यजी बड़े प्रसन्न हुए और उनसे बोले—॥ ८॥

अत्यद्भुतमिदं वाक्यं तव राम शुभाक्षरम्।
पावनः सर्वभूतानां त्वमेव रघुनन्दन॥ ९॥

'श्रीराम! आपके ये सुन्दर वचन बड़े अद्भुत हैं। रघुनन्दन! समस्त प्राणियोंको पवित्र करनेवाले तो आप ही हैं॥ ९॥

मुहूर्तमपि राम त्वां येऽनुपश्यन्ति केचन।
पाविताः स्वर्गभूताश्च पूज्यास्ते त्रिदिवेश्वरैः॥ १०॥

'श्रीराम! जो कोई एक मुहूर्तके लिये भी आपका दर्शन पा जाते हैं, वे पवित्र, स्वर्गके अधिकारी तथा देवताओंके लिये भी पूजनीय हो जाते हैं॥ १०॥

ये च त्वां घोरचक्षुर्भिः पश्यन्ति प्राणिनो भुवि।
हतास्ते यमदण्डेन सद्यो निरयगामिनः॥ ११॥

'इस भूतलपर जो प्राणी आपको क्रूर दृष्टिसे देखते हैं, वे यमराजके दण्डसे पीटे जाकर तत्काल नरकमें गिरते हैं॥ ११॥

ईदृशस्त्वं रघुश्रेष्ठ पावनः सर्वदेहिनाम्।
भुवि त्वां कथयन्तो हि सिद्धिमेष्यन्ति राघव॥ १२॥

'रघुश्रेष्ठ! ऐसे माहात्म्यशाली आप समस्त देहधारियोंको पवित्र करनेवाले हैं। रघुनन्दन! पृथ्वीपर जो लोग आपकी कथाएँ कहते हैं, वे सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं॥ १२॥

त्वं गच्छारिष्टमव्यग्रः पन्थानमकुतोभयम्।
प्रशाधि राज्यं धर्मेण गतिर्हि जगतो भवान्॥ १३॥

'आप निश्चिन्त होकर कुशलपूर्वक पधारिये। आपके मार्गमें कहींसे कोई भय न रहे। आप धर्मपूर्वक राज्यका शासन करें; क्योंकि आप ही संसारके परम आश्रय हैं'॥ १३॥

एवमुक्तस्तु मुनिना प्राञ्जलिः प्रग्रहो नृपः।
अभ्यवादयत प्राज्ञस्तमृषिं सत्यशीलिनम्॥ १४॥

मुनिके ऐसा कहनेपर बुद्धिमान् राजा श्रीरामने भुजाएँ ऊपर उठा हाथ जोड़कर उन सत्यशील महर्षिको प्रणाम किया॥ १४॥

अभिवाद्य ऋषिश्रेष्ठं तांश्च सर्वांस्तपोधनान्।
अध्यारोहत् तदव्यग्रः पुष्पकं हेमभूषितम्॥ १५॥

इस प्रकार मुनिवर अगस्त्य तथा अन्य सब तपोधन ऋषियोंका भी यथोचित अभिवादन कर वे बिना किसी व्यग्रताके उस सुवर्णभूषित पुष्पक विमानपर चढ़ गये॥ १५॥

तं प्रयान्तं मुनिगणा आशीर्वादैः समन्ततः।
अपूजयन् महेन्द्राभं सहस्राक्षमिवामराः॥ १६॥

जैसे देवता सहस्रनेत्रधारी इन्द्रकी पूजा करते हैं, उसी प्रकार जाते समय उन महेन्द्रतुल्य तेजस्वी श्रीरामको ऋषि-समूहोंने सब ओरसे आशीर्वाद दिया॥ १६॥

स्वस्थः स ददृशे रामः पुष्पके हेमभूषिते।
शशी मेघसमीपस्थो यथा जलधरागमे॥ १७॥

उस सुवर्णभूषित पुष्पकविमानपर आकाशमें स्थित हुए श्रीराम वर्षाकालमें मेघोंके समीपवर्ती चन्द्रमाके समान दिखायी देते थे ॥ १७ ॥

ततोऽर्धदिवसे प्राप्ते पूज्यमानस्ततस्ततः ।
अयोध्यां प्राप्य काकुत्स्थो मध्यकक्षामवातरत् ॥ १८ ॥

तदनन्तर जगह-जगह सम्मान पाते हुए वे श्रीरघुनाथजी मध्याह्नके समय अयोध्यामें पहुँचकर मध्यम कक्षा (बीचकी ड्योढ़ी) में उतरे ॥ १८ ॥

ततो विसृज्य रुचिरं पुष्पकं कामगामिनम् ।
विसर्जयित्वा गच्छेति स्वस्ति तेऽस्त्विति च प्रभुः ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् इच्छानुसार चलनेवाले उस सुन्दर पुष्पकविमानको वहीं छोड़कर भगवान्‌ने उससे कहा—'अब तुम जाओ। तुम्हारा कल्याण हो' ॥ १९ ॥

कक्षान्तरस्थितं क्षिप्रं द्वाःस्थं रामोऽब्रवीद् वचः ।
लक्ष्मणं भरतं चैव गत्वा तौ लघुविक्रमौ ।
ममागमनमाख्याय शब्दापयत मा चिरम् ॥ २० ॥

फिर श्रीरामने ड्योढ़ीके भीतर खड़े हुए द्वारपालसे शीघ्रतापूर्वक कहा—'तुम अभी जाकर शीघ्रपराक्रमी भरत और लक्ष्मणको मेरे आनेकी सूचना दो और उन्हें जल्दी बुला लाओ' ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे द्व्यशीतितमः सर्गः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें बयासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८२ ॥

—★—
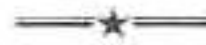
त्र्यशीतितमः सर्गः

भरतके कहनेसे श्रीरामका राजसूय-यज्ञ करनेके विचारसे निवृत्त होना

तच्छ्रुत्वा भाषितं तस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः ।
द्वाःस्थः कुमारावाहूय राघवाय न्यवेदयत् ॥ १ ॥

क्लेशरहित कर्म करनेवाले श्रीरामका यह कथन सुनकर द्वारपालने कुमार भरत और लक्ष्मणको बुलाकर श्रीरघुनाथजीकी सेवामें उपस्थित कर दिया ॥ १ ॥

दृष्ट्वा तु राघवः प्राप्तावुभौ भरतलक्ष्मणौ ।
परिष्वज्य ततो रामो वाक्यमेतदुवाच ह ॥ २ ॥

भरत और लक्ष्मणको आया देख रघुकुलतिलक श्रीरामने उन्हें हृदयसे लगा लिया और यह बात कही— ॥ २ ॥

कृतं मया यथा तथ्यं द्विजकार्यमनुत्तमम् ।
धर्मसेतुमथो भूयः कर्तुमिच्छामि राघवौ ॥ ३ ॥

'रघुवंशी राजकुमारो! मैंने ब्राह्मणका वह परम उत्तम कार्य यथावत्‌रूपसे सिद्ध कर दिया। अब मैं पुनः राजधर्मकी चरम सीमारूप-राजसूय यज्ञका अनुष्ठान करना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

अक्षयश्चाव्ययश्चैव धर्मसेतुर्मतो मम ।
धर्मप्रवचनं चैव सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ४ ॥

'मेरी रायमें धर्मसेतु (राजसूय) अक्षय एवं अविनाशी फल देनेवाला है तथा वह धर्मका पोषक एवं समस्त पापोंका नाश करनेवाला है ॥ ४ ॥

युवाभ्यामात्मभूताभ्यां राजसूयमनुत्तमम् ।
सहितो यष्टुमिच्छामि तत्र धर्मस्तु शाश्वतः ॥ ५ ॥

'तुम दोनों मेरे आत्मा ही हो, अतः मेरी इच्छा तुम्हारे साथ इस उत्तम राजसूय-यज्ञका अनुष्ठान करनेकी है; क्योंकि उसमें राजाका शाश्वत धर्म प्रतिष्ठित है ॥ ५ ॥

इष्ट्वा तु राजसूयेन मित्रः शत्रुनिबर्हणः ।
सुहुतेन सुयज्ञेन वरुणत्वमुपागमत् ॥ ६ ॥

'शत्रुओंका संहार करनेवाले मित्रदेवताने उत्तम आहुतिसे युक्त राजसूय नामक श्रेष्ठ यज्ञद्वारा परमात्माका यजन करके वरुणका पद प्राप्त किया था ॥ ६ ॥

सोमश्च राजसूयेन इष्ट्वा धर्मेण धर्मवित् ।
प्राप्तश्च सर्वलोकेषु कीर्तिं स्थानं च शाश्वतम् ॥ ७ ॥

'धर्मज्ञ सोम देवताने धर्मपूर्वक राजसूय-यज्ञका अनुष्ठान करके सम्पूर्ण लोकोंमें कीर्ति तथा शाश्वत स्थानको प्राप्त कर लिया ॥ ७ ॥

अस्मिन्नहनि यच्छ्रेयश्चिन्त्यतां तन्मया सह ।
हितं चायतियुक्तं च प्रयतौ वक्तुमर्हथः ॥ ८ ॥

'इसलिये आजके दिन मेरे साथ बैठकर तुमलोग यह विचार करो कि हमारे लिये कौन-सा कर्म लोक और परलोकमें कल्याणकारी होगा तथा संयतचित्त होकर तुम दोनों इस विषयमें मुझे सलाह दो' ॥ ८ ॥

श्रुत्वा तु राघवस्यैतद् वाक्यं वाक्यविशारदः ।
भरतः प्राञ्जलिर्भूत्वा वाक्यमेतदुवाच ह ॥ ९ ॥

श्रीरघुनाथजीके ये वचन सुनकर वाक्यविशारद भरतजीने हाथ जोड़कर यह बात कही— ॥ ९ ॥

त्वयि धर्मः परः साधो त्वयि सर्वा वसुंधरा ।
प्रतिष्ठिता महाबाहो यशश्चामितविक्रम ॥ १० ॥

'साधो! अमित पराक्रमी महाबाहो! आपमें उत्तम धर्म प्रतिष्ठित है। यह सारी पृथ्वी भी आपपर ही आधारित है तथा आपमें ही यशकी प्रतिष्ठा है ॥ १० ॥

महीपालाश्च सर्वे त्वां प्रजापतिमिवामराः।
निरीक्षन्ते महात्मानं लोकनाथं यथा वयम्॥ ११॥

'देवतालोग जैसे प्रजापति ब्रह्माको ही महात्मा एवं लोकनाथ समझते हैं, उसी प्रकार हमलोग और समस्त भूपाल आपको ही महापुरुष तथा समस्त लोकोंका स्वामी मानते हैं—उसी दृष्टिसे आपको देखते हैं॥ ११॥

पुत्राश्च पितृवद् राजन् पश्यन्ति त्वां महाबल।
पृथिव्या गतिभूतोऽसि प्राणिनामपि राघव॥ १२॥

'राजन्! महाबली रघुनन्दन! पुत्र जैसे पिताको देखते हैं, उसी प्रकार आपके प्रति सब राजाओंका भाव है। आप ही समस्त पृथ्वी और सम्पूर्ण प्राणियोंके भी आश्रय हैं॥ १२॥

स त्वमेवंविधं यज्ञमाहर्तासि कथं नृप।
पृथिव्यां राजवंशानां विनाशो यत्र दृश्यते॥ १३॥

'नरेश्वर! फिर आप ऐसा यज्ञ कैसे कर सकते हैं, जिसमें भूमण्डलके समस्त राजवंशोंका विनाश दिखायी देता है॥ १३॥

पृथिव्यां ये च पुरुषा राजन् पौरुषमागताः।
सर्वेषां भविता तत्र संक्षयः सर्वकोपजः॥ १४॥

'राजन्! पृथ्वीपर जो पुरुषार्थी पुरुष हैं, उन सबका सभीके कोपसे उस यज्ञमें संहार हो जायगा॥ १४॥

सर्वं पुरुषशार्दूल गुणैरतुलविक्रम।
पृथिवीं नार्हसे हन्तुं वशे हि तव वर्तते॥ १५॥

'पुरुषसिंह! अतुल पराक्रमी वीर! आपके सद्गुणोंके कारण सारा जगत् आपके वशमें है। आपके लिये इस भूतलके निवासियोंका विनाश करना उचित न होगा'॥ १५॥

भरतस्य तु तद् वाक्यं श्रुत्वामृतमयं यथा।
प्रहर्षमतुलं लेभे रामः सत्यपराक्रमः॥ १६॥

भरतका यह अमृतमय वचन सुनकर सत्यपराक्रमी श्रीरामको अनुपम हर्ष प्राप्त हुआ॥ १६॥

उवाच च शुभं वाक्यं कैकेय्यानन्दवर्धनम्।
प्रीतोऽस्मि परितुष्टोऽस्मि तवाद्य वचनेऽनघ॥ १७॥

उन्होंने कैकेयीनन्दन भरतसे यह शुभ बात कही—'निष्पाप भरत! आज तुम्हारी बात सुनकर मैं बहुत प्रसन्न एवं संतुष्ट हुआ हूँ॥ १७॥

इदं वचनमक्लीबं त्वया धर्मसमागतम्।
व्याहृतं पुरुषव्याघ्र पृथिव्याः परिपालनम्॥ १८॥

'पुरुषसिंह! तुम्हारे मुखसे निकला हुआ यह उदार एवं धर्मसंगत वचन सारी पृथ्वीकी रक्षा करनेवाला है॥ १८॥

एष्यदस्मदभिप्रायाद् राजसूयात् क्रतूत्तमात्।
निवर्तयामि धर्मज्ञ तव सुव्याहृतेन च॥ १९॥

'धर्मज्ञ! मेरे हृदयमें राजसूय-यज्ञका संकल्प उठ रहा था; किंतु आज तुम्हारे इस सुन्दर भाषणको सुनकर मैं उस उत्तम यज्ञकी ओरसे अपने मनको हटाये लेता हूँ॥ १९॥

लोकपीडाकरं कर्म न कर्तव्यं विचक्षणैः।
बालानां तु शुभं वाक्यं ग्राह्यं लक्ष्मणपूर्वज।
तस्माच्छृणोमि ते वाक्यं साधु युक्तं महाबल॥ २०॥

'लक्ष्मणके बड़े भाई! बुद्धिमान् पुरुषोंको ऐसा कर्म नहीं करना चाहिये, जो सम्पूर्ण जगत्‌को पीड़ा देनेवाला हो। बालकोंकी कही हुई बात भी यदि अच्छी हो तो उसे ग्रहण करना ही उचित है; अतः महाबली वीर! मैंने तुम्हारे उत्तम एवं युक्तिसंगत बातको बड़े ध्यानसे सुना है'॥ २०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे त्र्यशीतितमः सर्गः॥ ८३॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें तिरासीवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ८३॥

—★—

चतुरशीतितमः सर्गः

लक्ष्मणका अश्वमेध-यज्ञका प्रस्ताव करते हुए इन्द्र और वृत्रासुरकी कथा सुनाना, वृत्रासुरकी तपस्या और इन्द्रका भगवान् विष्णुसे उसके वधके लिये अनुरोध

तथोक्तवति रामे तु भरते च महात्मनि।
लक्ष्मणोऽथ शुभं वाक्यमुवाच रघुनन्दनम्॥ १॥

श्रीराम और महात्मा भरतके इस प्रकार बातचीत करनेपर लक्ष्मणने रघुकुलनन्दन श्रीरामसे यह शुभ बात कही—॥ १॥

अश्वमेधो महायज्ञः पावनः सर्वपाप्मनाम्।
पावनस्तव दुर्धर्षो रोचतां रघुनन्दन॥ २॥

'रघुनन्दन! अश्वमेध नामक महान् यज्ञ समस्त पापोंको दूर करनेवाला, परमपावन और दुष्कर है। अतः इसका अनुष्ठान आप पसंद करें॥ २॥

श्रूयते हि पुरावृत्तं वासवे सुमहात्मनि।
ब्रह्महत्यावृतः शक्रो हयमेधेन पावितः॥ ३॥

'महात्मा इन्द्रके विषयमें यह प्राचीन वृत्तान्त सुननेमें आता है कि इन्द्रको जब ब्रह्महत्या लगी थी, तब वे अश्वमेध-यज्ञका अनुष्ठान करके ही पवित्र हुए थे॥ ३॥

पुरा किल महाबाहो देवासुरसमागमे।
वृत्रो नाम महानासीद् दैतेयो लोकसम्मतः॥ ४॥

'महाबाहो! पहलेकी बात है, जब देवता और असुर परस्पर मिलकर रहते थे, उन दिनों वृत्रनामसे प्रसिद्ध एक बहुत बड़ा असुर रहता था। लोकमें उसका बड़ा आदर था॥ ४॥

विस्तीर्णो योजनशतमुच्छ्रितस्त्रिगुणं ततः।
अनुरागेण लोकांस्त्रीन् स्नेहात् पश्यति सर्वतः॥ ५॥

'वह सौ योजन चौड़ा और तीन सौ योजन ऊँचा था। वह तीनों लोकोंको आत्मीय समझकर प्यार करता था और सबको स्नेहभरी दृष्टिसे देखता था॥ ५॥

धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च बुद्ध्या च परिनिष्ठितः।
शशास पृथिवीं स्फीतां धर्मेण सुसमाहितः॥ ६॥

'उसे धर्मका यथार्थ ज्ञान था। वह कृतज्ञ और स्थिरप्रज्ञ था तथा पूर्णतः सावधान रहकर धन-धान्यसे भरी-पूरी पृथ्वीका धर्मपूर्वक शासन करता था॥ ६॥

तस्मिन् प्रशासति तदा सर्वकामदुघा मही।
रसवन्ति प्रसूनानि मूलानि च फलानि च॥ ७॥

'उसके शासनकालमें पृथ्वी सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाली थी। वहाँ फल, फूल और मूल सभी सरस होते थे॥ ७॥

अकृष्टपच्या पृथिवी सुसम्पन्ना महात्मनः।
स राज्यं तादृशं भुङ्क्ते स्फीतमद्भुतदर्शनम्॥ ८॥

'महात्मा वृत्रासुरके राज्यमें यह भूमि बिना जोते-बोये ही अन्न उत्पन्न करती तथा धन-धान्यसे भलीभाँति सम्पन्न रहती थी। इस प्रकार वह असुर समृद्धिशाली एवं अद्भुत राज्यका उपभोग करता था॥ ८॥

तस्य बुद्धिः समुत्पन्ना तपः कुर्यामनुत्तमम्।
तपो हि परमं श्रेयः सम्मोहमितरत् सुखम्॥ ९॥

'एक समय वृत्रासुरके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि मैं परम उत्तम तप करूँ; क्योंकि तप ही परम कल्याणका साधन है। दूसरा सारा सुख तो मोहमात्र ही है॥ ९॥

स निक्षिप्य सुतं ज्येष्ठं पौरेषु मधुरेश्वरम्।
तप उग्रं समातिष्ठत् तापयन् सर्वदेवताः॥ १०॥

'उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र मधुरेश्वरको[1] राजा बना पुरवासियोंको सौंप दिया और सम्पूर्ण देवताओंको ताप देता हुआ वह कठोर तपस्या करने लगा॥ १०॥

तपस्तप्यति वृत्रे तु वासवः परमार्तवत्।
विष्णुं समुपसंक्रम्य वाक्यमेतदुवाच ह॥ ११॥

'वृत्रासुरके तपस्यामें लग जानेपर इन्द्र बड़े दुःखी-से होकर भगवान् विष्णुके पास गये और इस प्रकार बोले—॥ ११॥

तपस्यता महाबाहो लोकाः सर्वे विनिर्जिताः।
बलवान् स हि धर्मात्मा नैनं शक्ष्यामि शासितुम्॥ १२॥

''महाबाहो! तपस्या करते हुए वृत्रासुरने समस्त लोक जीत लिये। वह धर्मात्मा असुर बलवान् हो गया है; अतः अब उसपर मैं शासन नहीं कर सकता॥ १२॥

यद्यसौ तप आतिष्ठेद् भूय एव सुरेश्वर।
यावल्लोका धरिष्यन्ति तावदस्य वशानुगाः॥ १३॥

''सुरेश्वर! यदि वह फिर इसी प्रकार तपस्या करता रहा तो जबतक ये तीनों लोक रहेंगे, तबतक हम सब देवताओंको उसके अधीन रहना पड़ेगा॥ १३॥

तं चैनं परमोदारमुपेक्षसि महाबल।
क्षणं हि न भवेद् वृत्रः क्रुद्धे त्वयि सुरेश्वर॥ १४॥

''महाबली देवेश्वर! उस परम उदार असुरकी आप उपेक्षा कर रहे हैं (इसीलिये वह शक्तिशाली होता जा रहा है)। यदि आप कुपित हो जायँ तो वह क्षणभर भी जीवित नहीं रह सकता॥ १४॥

यदा हि प्रीतिसंयोगं त्वया विष्णो समागतः।
तदाप्रभृति लोकानां नाथत्वमुपलब्धवान्॥ १५॥

''विष्णो! जबसे आपके साथ उसका प्रेम हो गया है, तभी-से उसने सम्पूर्ण लोकोंका आधिपत्य प्राप्त कर लिया है॥ १५॥

स त्वं प्रसादं लोकानां कुरुष्व सुसमाहितः।
त्वत्कृतेन हि सर्वं स्यात् प्रशान्तमरुजं जगत्॥ १६॥

''अतः आप अच्छी तरह ध्यान देकर सम्पूर्ण लोकोंपर कृपा कीजिये। आपके रक्षा करनेसे ही सारा जगत् शान्त एवं नीरोग हो सकता है॥ १६॥

इमे हि सर्वे विष्णो त्वां निरीक्षन्ते दिवौकसः।
वृत्रघातेन महता तेषां साह्यं कुरुष्व ह॥ १७॥

''विष्णो! ये सब देवता आपकी ओर देख रहे हैं। वृत्रासुरका वध एक महान् कार्य है। उसे करके आप इन देवताओंका उपकार कीजिये॥ १७॥

त्वया हि नित्यशः साह्यं कृतमेषां महात्मनाम्।
असह्यमिदमन्येषामगतीनां गतिर्भवान्॥ १८॥

''प्रभो! आपने सदा ही इन महात्मा देवताओंकी सहायता की है। यह असुर दूसरोंके लिये अजेय है; अतः आप हम निराश्रित देवताओंके आश्रयदाता हों'॥ १८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे चतुरशीतितमः सर्गः॥ ८४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें चौरासीवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ८४॥

---

१. मधुरेश्वरका अर्थ तिलककारने मधुर नामक राजा किया है। रामायणशिरोमणिकारने मधुर वक्ताओंका ईश्वर किया है तथा रामायणभूषणकारने 'मधुर—सौम्य स्वभावका राजा अथवा मधुरा नगरीका स्वामी किया है।

पञ्चाशीतितमः सर्गः

भगवान् विष्णुके तेजका इन्द्र और वज्र आदिमें प्रवेश, इन्द्रके वज्रसे वृत्रासुरका वध तथा ब्रह्महत्याग्रस्त इन्द्रका अन्धकारमय प्रदेशमें जाना

लक्ष्मणस्य तु तद् वाक्यं श्रुत्वा शत्रुनिबर्हणः।
वृत्रघातमशेषेण कथयेत्याह सुव्रत॥ १॥

लक्ष्मणका यह कथन सुनकर शत्रुओंका संहार करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीने कहा—'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले सुमित्राकुमार! वृत्रासुरके वधकी पूरी कथा कह सुनाओ'॥ १॥

राघवेणैवमुक्तस्तु सुमित्रानन्दवर्धनः।
भूय एव कथां दिव्यां कथयामास सुव्रतः॥ २॥

श्रीरामचन्द्रजीके इस प्रकार आदेश देनेपर उत्तम व्रतके पालक सुमित्रानन्दन लक्ष्मणने पुनः उस दिव्य कथाको सुनाना आरम्भ किया—॥ २॥

सहस्राक्षवचः श्रुत्वा सर्वेषां च दिवौकसाम्।
विष्णुर्देवानुवाचेदं सर्वानिन्द्रपुरोगमान्॥ ३॥

"प्रभो! सहस्रनेत्रधारी इन्द्र तथा सम्पूर्ण देवताओंकी वह प्रार्थना सुनकर भगवान् विष्णुने इन्द्र आदि सब देवताओंसे इस प्रकार कहा—॥ ३॥

पूर्वं सौहृदबद्धोऽस्मि वृत्रस्येह महात्मनः।
तेन युष्मत्प्रियार्थं हि नाहं हन्मि महासुरम्॥ ४॥

"देवताओ! तुम्हारी इस प्रार्थनाके पहलेसे ही मैं महामना वृत्रासुरके स्नेह-बन्धनमें बँधा हुआ हूँ। इसलिये तुम्हारा प्रिय करनेके उद्देश्यसे मैं उस महान् असुरका वध नहीं करूँगा॥ ४॥

अवश्यं करणीयं च भवतां सुखमुत्तमम्।
तस्मादुपायमाख्यास्ये सहस्राक्षो वधिष्यति॥ ५॥

"परंतु तुम सबके उत्तम सुखकी व्यवस्था करना मेरा आवश्यक कर्तव्य है, इसलिये मैं ऐसा उपाय बताऊँगा, जिससे देवराज इन्द्र उसका वध कर सकेंगे॥ ५॥

त्रेधाभूतं करिष्यामि आत्मानं सुरसत्तमाः।
तेन वृत्रं सहस्राक्षो वधिष्यति न संशयः॥ ६॥

"सुरश्रेष्ठगण! मैं अपने स्वरूपभूत तेजको तीन भागोंमें विभक्त करूँगा, जिससे इन्द्र निस्संदेह वृत्रासुरका वध कर डालेंगे॥ ६॥

एकांशो वासवं यातु द्वितीयो वज्रमेव तु।
तृतीयो भूतलं यातु तदा वृत्रं हनिष्यति॥ ७॥

"मेरे तेजका एक अंश इन्द्रमें प्रवेश करे, दूसरा वज्रमें व्याप्त हो जाय और तीसरा भूतलको चला जाय* तब इन्द्र वृत्रासुरका वध कर सकेंगे'॥ ७॥

तथा ब्रुवति देवेशे देवा वाक्यमथाब्रुवन्।
एवमेतन्न संदेहो यथा वदसि दैत्यहन्॥ ८॥
भद्रं तेऽस्तु गमिष्यामो वृत्रासुरवधैषिणः।
भजस्व परमोदार वासवं स्वेन तेजसा॥ ९॥

'देवेश्वर भगवान् विष्णुके ऐसा कहनेपर देवता बोले—'दैत्यविनाशन! आप जो कहते हैं, ठीक ऐसी ही बात है, इसमें संदेह नहीं। आपका कल्याण हो। हमलोग वृत्रासुरके वधकी इच्छा मनमें लिये यहाँसे लौट जायँगे। परम उदार प्रभो! आप अपने तेजके द्वारा देवराज इन्द्रको अनुगृहीत करें'॥ ८-९॥

ततः सर्वे महात्मानः सहस्राक्षपुरोगमाः।
तदरण्यमुपाक्रामन् यत्र वृत्रो महासुरः॥ १०॥

'तत्पश्चात् इन्द्र आदि सभी महामनस्वी देवता उस वनमें गये, जहाँ महान् असुर वृत्र तपस्या करता था॥ १०॥

तेऽपश्यंस्तेजसा भूतं तप्यन्तमसुरोत्तमम्।
पिबन्तमिव लोकांस्त्रीन् निर्दहन्तमिवाम्बरम्॥ ११॥

'उन्होंने देखा, असुरश्रेष्ठ वृत्रासुर अपने तेजसे सब ओर व्याप्त हो रहा है और ऐसी तपस्या कर रहा है, मानो उसके द्वारा तीनों लोकोंको पी जायगा और आकाशको भी दग्ध कर डालेगा॥ ११॥

दृष्ट्वैव चासुरश्रेष्ठं देवास्त्रासमुपागमन्।
कथमेनं वधिष्यामः कथं न स्यात् पराजयः॥ १२॥

'उस असुरश्रेष्ठ वृत्रको देखते ही देवतालोग घबरा गये और सोचने लगे—'हम कैसे इसका वध करेंगे? और किस उपायसे हमारी पराजय नहीं होने पायेगी?'॥ १२॥

तेषां चिन्तयतां तत्र सहस्राक्षः पुरंदरः।
वज्रं प्रगृह्य पाणिभ्यां प्राहिणोद् वृत्रमूर्धनि॥ १३॥

'वे लोग वहाँ इस प्रकार सोच ही रहे थे कि सहस्रनेत्रधारी इन्द्रने दोनों हाथोंसे वज्र उठाकर उसे वृत्रासुरके मस्तकपर दे मारा॥ १३॥

कालाग्निनेव घोरेण दीप्तेनेव महार्चिषा।
पतता वृत्रशिरसा जगत् त्रासमुपागमत्॥ १४॥

'इन्द्रका वह वज्र प्रलयकालकी अग्निके समान भयंकर और दीप्तिमान् था। उससे बड़ी भारी लपटें उठ रही थीं। उसकी चोटसे कटकर जब वृत्रासुरका मस्तक गिरा, तब सारा

---

* वृत्र-वधके पश्चात् इन्द्रको लगी हुई ब्रह्महत्याकी निवृत्तिके समयतक इस भूतलकी रक्षा करनेके लिये तथा वृत्रके धराशायी होनेपर उसके भारी शरीरको धारण करनेकी शक्ति देनेके लिये भगवान्‌के तेजके तीसरे अंशका भूतलपर आना आवश्यक था; इसलिये ऐसा हुआ।

संसार भयभीत हो उठा ॥ १४ ॥

असम्भाव्यं वधं तस्य वृत्रस्य विबुधाधिपः ।
चिन्तयानो जगामाशु लोकस्यान्तं महायशाः ॥ १५ ॥

'निरपराध वृत्रासुरका वध करना उचित नहीं था, अतः उसके कारण महायशस्वी देवराज इन्द्र बहुत चिन्तित हुए और तुरंत ही सब लोकोंके अन्तमें लोकालोक पर्वतसे परवर्ती अन्धकारमय प्रदेशमें चले गये ॥ १५ ॥

तमिन्द्रं ब्रह्महत्याऽऽशु गच्छन्तमनुगच्छति ।
अपतच्चास्य गात्रेषु तमिन्द्रं दुःखमाविशत् ॥ १६ ॥

'जानेके समय ब्रह्महत्या तत्काल उनके पीछे लग गयी और उनके अङ्गोंपर टूट पड़ी। इससे इन्द्रके मनमें बड़ा दुःख हुआ ॥ १६ ॥

हतारयः प्रणष्टेन्द्रा देवाः साग्निपुरोगमाः ।
विष्णुं त्रिभुवनेशानं मुहुर्मुहुरपूजयन् ॥ १७ ॥

'देवताओंका शत्रु मारा गया। इसलिये अग्नि आदि सब देवता त्रिभुवनके स्वामी भगवान् विष्णुकी बार-बार स्तुति-पूजा करने लगे। परंतु उनके इन्द्र अदृश्य हो गये थे (इसके कारण उन्हें बड़ा दुःख हो रहा था) ॥ १७ ॥

त्वं गतिः परमेशान पूर्वजो जगतः पिता ।
रक्षार्थं सर्वभूतानां विष्णुत्वमुपजग्मिवान् ॥ १८ ॥

(देवता बोले—) 'परमेश्वर! आप ही जगत्के आश्रय और आदि पिता हैं। आपने सम्पूर्ण प्राणियोंकी रक्षाके लिये विष्णुरूप धारण किया है ॥ १८ ॥

हतश्चायं त्वया वृत्रो ब्रह्महत्या च वासवम् ।
बाधते सुरशार्दूल मोक्षं तस्य विनिर्दिश ॥ १९ ॥

'आपने ही इस वृत्रासुरका वध किया है। परंतु ब्रह्महत्या इन्द्रको कष्ट दे रही है; अतः सुरश्रेष्ठ! आप उनके उद्धारका कोई उपाय बताइये' ॥ १९ ॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा देवानां विष्णुरब्रवीत् ।
मामेव यजतां शक्रः पावयिष्यामि वज्रिणम् ॥ २० ॥

देवताओंकी यह बात सुनकर भगवान् विष्णु बोले—'इन्द्र मेरा ही यजन करें। मैं उन वज्रधारी देवराज इन्द्रको पवित्र कर दूँगा ॥ २० ॥

पुण्येन हयमेधेन मामिष्ट्वा पाकशासनः ।
पुनरेष्यति देवानामिन्द्रत्वमकुतोभयः ॥ २१ ॥

''पवित्र अश्वमेध-यज्ञके द्वारा मुझ यज्ञ-पुरुषकी आराधना करके पाकशासन इन्द्र पुनः देवेन्द्रपदको प्राप्त कर लेंगे और फिर उन्हें किसीसे भय नहीं रहेगा' ॥ २१ ॥

एवं संदिश्य तां वाणीं देवानां चामृतोपमाम् ।
जगाम विष्णुर्देवेशः स्तूयमानस्त्रिविष्टपम् ॥ २२ ॥

'देवताओंके समक्ष अमृतमयी वाणीद्वारा उक्त संदेश देकर देवेश्वर भगवान् विष्णु अपनी स्तुति सुनते हुए परम धामको चले गये ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे पञ्चाशीतितमः सर्गः ॥ ८५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें पचासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८५ ॥

—★—

षडशीतितमः सर्गः

इन्द्रके बिना जगत्में अशान्ति तथा अश्वमेधके अनुष्ठानसे इन्द्रका ब्रह्महत्यासे मुक्त होना

तदा वृत्रवधं सर्वमखिलेन स लक्ष्मणः ।
कथयित्वा नरश्रेष्ठः कथाशेषं प्रचक्रमे ॥ १ ॥

उस समय वृत्रासुरके वधकी पूरी कथा सुनाकर नरश्रेष्ठ लक्ष्मणने शेष कथाको इस प्रकार कहना आरम्भ किया— ॥ १ ॥

ततो हते महावीर्ये वृत्रे देवभयंकरे ।
ब्रह्महत्यावृतः शक्रः संज्ञां लेभे न वृत्रहा ॥ २ ॥

'देवताओंको भय देनेवाले महापराक्रमी वृत्रासुरके मारे जानेपर ब्रह्महत्यासे घिरे हुए वृत्रनाशक इन्द्रको बहुत देरतक होश नहीं हुआ ॥ २ ॥

सोऽन्तमाश्रित्य लोकानां नष्टसंज्ञो विचेतनः ।
कालं तत्रावसत् कंचिद् वेष्टमान इवोरगः ॥ ३ ॥

'लोकोंकी अन्तिम सीमाका आश्रय ले वे सर्पके समान लोटते हुए कुछ कालतक वहाँ अचेत और संज्ञाशून्य होकर पड़े रहे ॥ ३ ॥

अथ नष्टे सहस्राक्षे उद्विग्नमभवज्जगत् ।
भूमिश्च ध्वस्तसंकाशा निःस्नेहा शुष्ककानना ॥ ४ ॥
निःस्रोतसस्ते सर्वे तु ह्रदाश्च सरितस्तथा ।
संक्षोभश्चैव सत्त्वानामनावृष्टिकृतोऽभवत् ॥ ५ ॥

'इन्द्रके अदृश्य हो जानेसे सारा संसार व्याकुल हो उठा। धरती उजाड़-सी हो गयी। इसकी आर्द्रता नष्ट हो गयी और वन सूख गये। समस्त सरों और सरिताओंमें जलस्रोतका अभाव हो गया और वर्षा न होनेसे सब जीवोंमें बड़ी घबराहट फैल गयी ॥ ४-५ ॥

क्षीयमाणे तु लोकेऽस्मिन् सम्भ्रान्तमनसः सुराः ।
यदुक्तं विष्णुना पूर्वं तं यज्ञं समुपानयन् ॥ ६ ॥

'समस्त लोक क्षीण होने लगे, इससे देवताओंके हृदयमें व्याकुलता छा गयी और उन्होंने उस यज्ञका स्मरण किया,

जिसे पहले भगवान् विष्णुने बताया था ॥ ६ ॥

ततः सर्वे सुरगणाः सोपाध्यायाः सहर्षिभिः ।
तं देशं समुपाजग्मुर्यत्रेन्द्रो भयमोहितः ॥ ७ ॥

'तदनन्तर बृहस्पतिजीको साथ ले ऋषियोंसहित सब देवता उस स्थानपर गये, जहाँ इन्द्र भयसे मोहित होकर छिपे हुए थे ॥ ७ ॥

ते तु दृष्ट्वा सहस्राक्षमावृतं ब्रह्महत्यया ।
तं पुरस्कृत्य देवेशमश्वमेधं प्रचक्रिरे ॥ ८ ॥

'वे इन्द्रको ब्रह्महत्यासे आवेष्टित देख उन्हीं देवेश्वरको आगे करके अश्वमेध-यज्ञ करने लगे ॥ ८ ॥

ततोऽश्वमेधः सुमहान् महेन्द्रस्य महात्मनः ।
ववृते ब्रह्महत्यायाः पावनार्थं नरेश्वर ॥ ९ ॥

'नरेश्वर ! फिर तो महामनस्वी महेन्द्रका वह महान् अश्वमेध-यज्ञ आरम्भ हो गया। उसका उद्देश्य था ब्रह्महत्याकी निवृत्ति करके इन्द्रको पवित्र बनाना ॥ ९ ॥

ततो यज्ञे समाप्ते तु ब्रह्महत्या महात्मनः ।
अभिगम्याब्रवीद् वाक्यं क्व मे स्थानं विधास्यथ ॥ १० ॥

'तत्पश्चात् जब वह यज्ञ समाप्त हुआ, तब ब्रह्महत्याने महामनस्वी देवताओंके निकट आकर पूछा—'मेरे लिये कहाँ स्थान बनाओगे' ॥ १० ॥

ते तामूचुस्ततो देवास्तुष्टाः प्रीतिसमन्विताः ।
चतुर्धा विभजात्मानमात्मनैव दुरासदे ॥ ११ ॥

'यह सुनकर संतुष्ट एवं प्रसन्न हुए देवताओंने उससे कहा—'दुर्जय शक्तिवाली ब्रह्महत्ये ! तू अपने-आपको स्वयं ही चार भागोंमें विभक्त कर दे' ॥ ११ ॥

देवानां भाषितं श्रुत्वा ब्रह्महत्या महात्मनाम् ।
संदधौ स्थानमन्यत्र वरयामास दुर्वसा ॥ १२ ॥

'महामनस्वी देवताओंका यह कथन सुनकर महेन्द्रके शरीरमें दुःखपूर्वक निवास करनेवाली ब्रह्महत्याने अपना चार भाग कर दिया और इन्द्रके शरीरसे अन्यत्र रहनेके लिये स्थान माँगा ॥ १२ ॥

एकेनांशेन वत्स्यामि पूर्णोदासु नदीषु वै ।
चतुरो वार्षिकान् मासान् दर्पघ्नी कामचारिणी ॥ १३ ॥

(वह बोली—) 'मैं अपने एक अंशसे वर्षाके चार महीनोंतक जलसे भरी हुई नदियोंमें निवास करूँगी। उस समय मैं इच्छानुसार विचरनेवाली और दूसरोंके दर्पका दलन करनेवाली होऊँगी ॥ १३ ॥

भूम्यामहं सर्वकालमेकेनांशेन सर्वदा ।
वसिष्यामि न संदेहः सत्येनैतद् ब्रवीमि वः ॥ १४ ॥

''दूसरे भागसे मैं सदा सब समय भूमिपर निवास करूँगी, इसमें संदेह नहीं है, यह मैं आपलोगोंसे सच्ची बात कहती हूँ ॥ १४ ॥

योऽयमंशस्तृतीयो मे स्त्रीषु यौवनशालिषु ।
त्रिरात्रं दर्पपूर्णासु वसिष्ये दर्पघातिनी ॥ १५ ॥

''और मेरा जो यह तीसरा अंश है, इसके साथ मैं युवावस्थासे सुशोभित होनेवाली गर्वीली स्त्रियोंमें प्रतिमास तीन रात्रतक निवास करूँगी और उनके दर्पको नष्ट करती रहूँगी ॥ १५ ॥

हन्तारो ब्राह्मणान् ये तु मृषापूर्वमदूषकान् ।
तांश्चतुर्थेन भागेन संश्रयिष्ये सुरर्षभाः ॥ १६ ॥

''सुरश्रेष्ठगण ! जो झूठ बोलकर किसीको कलंकित नहीं करते, ऐसे ब्राह्मणोंका जो लोग वध करते हैं, उनपर मैं अपने चौथे भागसे आक्रमण करूँगी' ॥ १६ ॥

प्रत्यूचुस्तां ततो देवा यथा वदसि दुर्वसे ।
तथा भवतु तत् सर्वं साधयस्व यदीप्सितम् ॥ १७ ॥

'तब देवताओंने उससे कहा—'दुर्वसे ! तू जैसा कहती है, वह सब वैसा ही हो। जाओ अपना अभीष्ट साधन करो' ॥ १७ ॥

ततः प्रीत्यान्विता देवाः सहस्राक्षं ववन्दिरे ।
विज्वरः पूतपाप्मा च वासवः समपद्यत ॥ १८ ॥

'तब देवताओंने बड़ी प्रसन्नताके साथ सहस्रलोचन इन्द्रकी वन्दना की। इन्द्र निश्चिन्त, निष्पाप एवं विशुद्ध हो गये ॥ १८ ॥

प्रशान्तं च जगत् सर्वं सहस्राक्षे प्रतिष्ठिते ।
यज्ञं चाद्भुतसंकाशं तदा शक्रोऽभ्यपूजयत् ॥ १९ ॥

'इन्द्रके अपने पदपर प्रतिष्ठित होते ही सम्पूर्ण जगत्में शान्ति छा गयी। उस समय इन्द्रने उस अद्भुत शक्तिशाली यज्ञकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ १९ ॥

ईदृशो ह्यश्वमेधस्य प्रभावो रघुनन्दन ।
यजस्व सुमहाभाग हयमेधेन पार्थिव ॥ २० ॥

'रघुनन्दन ! अश्वमेध-यज्ञका ऐसा ही प्रभाव है। अतः महाभाग ! पृथ्वीनाथ ! आप अश्वमेध-यज्ञके द्वारा यजन कीजिये' ॥ २० ॥

इति लक्ष्मणवाक्यमुत्तमं
नृपतिरतीव मनोहरं महात्मा ।
परितोषमवाप हृष्टचेताः
स निशम्येन्द्रसमानविक्रमौजाः ॥ २१ ॥

लक्ष्मणके उस उत्तम और अत्यन्त मनोहर वचनको सुनकर महात्मा राजा श्रीरामचन्द्रजी, जो इन्द्रके समान पराक्रमी और बलशाली थे, मन-ही-मन बड़े प्रसन्न एवं संतुष्ट हुए ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे षडशीतितमः सर्गः ॥ ८६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें छियासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८६ ॥

———★———

सप्ताशीतितमः सर्गः

श्रीरामका लक्ष्मणको राजा इलकी कथा सुनाना—इलको एक-एक मासतक स्त्रीत्व और पुरुषत्वकी प्राप्ति

तच्छ्रुत्वा लक्ष्मणेनोक्तं वाक्यं वाक्यविशारदः।
प्रत्युवाच महातेजाः प्रहसन् राघवो वचः॥ १॥

लक्ष्मणकी कही हुई यह बात सुनकर बातचीतकी कलामें निपुण महातेजस्वी श्रीरघुनाथजी हँसते हुए बोले— ॥ १॥

एवमेव नरश्रेष्ठ यथा वदसि लक्ष्मण।
वृत्रघातमशेषेण वाजिमेधफलं च यत्॥ २॥

'नरश्रेष्ठ लक्ष्मण! वृत्रासुरका सारा प्रसंग और अश्वमेध-यज्ञका जो फल तुमने जैसा बताया है, वह सब उसी रूपमें ठीक है॥ २॥

श्रूयते हि पुरा सौम्य कर्दमस्य प्रजापतेः।
पुत्रो बाह्लीश्वरः श्रीमानिलो नाम सुधार्मिकः॥ ३॥

'सौम्य! सुना जाता है कि पूर्वकालमें प्रजापति कर्दमके पुत्र श्रीमान् इल बाह्लिकदेशके राजा थे। वे बड़े धर्मात्मा नरेश थे॥ ३॥

स राजा पृथिवीं सर्वां वशे कृत्वा महायशाः।
राज्यं चैव नरव्याघ्र पुत्रवत् पर्यपालयत्॥ ४॥

'पुरुषसिंह! वे महायशस्वी भूपाल सारी पृथ्वीको वशमें करके अपने राज्यकी प्रजाका पुत्रकी भाँति पालन करते थे॥ ४॥

सुरैश्च परमोदारैर्दैतेयैश्च महाधनैः।
नागराक्षसगन्धर्वैर्यक्षैश्च सुमहात्मभिः॥ ५॥
पूज्यते नित्यशः सौम्य भयार्तै रघुनन्दन।
अबिभ्यंश्च त्रयो लोकाः सरोषस्य महात्मनः॥ ६॥

'सौम्य! रघुनन्दन! परम उदार देवता, महाधनी दैत्य तथा नाग, राक्षस, गन्धर्व और महामनस्वी यक्ष—ये सब भयभीत होकर सदा राजा इलकी स्तुति-पूजा करते थे तथा उन महामना नरेशके रुष्ट हो जानेपर तीनों लोकोंके प्राणी भयसे थर्रा उठते थे॥ ५-६॥

स राजा तादृशोऽप्यासीद् धर्मे वीर्ये च निष्ठितः।
बुद्ध्या च परमोदारो बाह्लीकेशो महायशाः॥ ७॥

'ऐसे प्रभावशाली होनेपर भी बाह्लीक देशके स्वामी महायशस्वी परम उदार राजा इल धर्म और पराक्रममें दृढ़तापूर्वक स्थित रहते थे और उनकी बुद्धि भी स्थिर थी॥ ७॥

स प्रचक्रे महाबाहुर्मृगयां रुचिरे वने।
चैत्रे मनोरमे मासे सभृत्यबलवाहनः॥ ८॥

'एक समयकी बात है सेवक, सेना और सवारियोंसहित उन महाबाहु नरेशने मनोरम चैत्रमासमें एक सुन्दर वनके भीतर शिकार खेलना आरम्भ किया॥ ८॥

प्रजघ्ने स नृपोऽरण्ये मृगाञ्शतसहस्रशः।
हत्वैव तृप्तिर्नाभूच्च राज्ञस्तस्य महात्मनः॥ ९॥

'राजाने उस वनमें सैकड़ों-हजारों हिंसक जन्तुओंका वध किया, किंतु इतने ही जन्तुओंका वध करके उन महामनस्वी नरेशको तृप्ति नहीं हुई॥ ९॥

नानामृगाणामयुतं वध्यमानं महात्मना।
यत्र जातो महासेनस्तं देशमुपचक्रमे॥ १०॥

'फिर उन महामना इलके हाथसे नाना प्रकारके दस हजार हिंसक पशु मारे गये। तत्पश्चात् वे उस प्रदेशमें गये, जहाँ महासेन (स्वामी कार्तिकेय) का जन्म हुआ था॥ १०॥

तस्मिन् प्रदेशे देवेशः शैलराजसुतां हरः।
रमयामास दुर्धर्षः सर्वैरनुचरैः सह॥ ११॥

'उस स्थानमें देवताओंके स्वामी दुर्जय देवता भगवान् शिव अपने समस्त सेवकोंके साथ रहकर गिरिराजकुमारी उमाका मनोरञ्जन करते थे॥ ११॥

कृत्वा स्त्रीरूपमात्मानमुमेशो गोपतिध्वजः।
देव्याः प्रियचिकीर्षुः संस्तस्मिन् पर्वतनिर्झरे॥ १२॥

'जिनकी ध्वजापर वृषभका चिह्न सुशोभित होता है, वे भगवान् उमावल्लभ अपने-आपको भी स्त्रीरूपमें प्रकट करके देवी पार्वतीका प्रिय करनेकी इच्छासे वहाँके पर्वतीय झरनेके पास उनके साथ विहार करते थे॥ १२॥

यत्र यत्र वनोद्देशे सत्त्वाः पुरुषवादिनः।
वृक्षाः पुरुषनामानस्ते सर्वे स्त्रीजना भवन्॥ १३॥

'उस वनके विभिन्न भागोंमें जहाँ-जहाँ पुँल्लिङ्ग नामधारी जन्तु अथवा वृक्ष थे, वे सब-के-सब स्त्रीलिङ्गमें परिणत हो गये थे॥ १३॥

यच्च किंचन तत् सर्वं नारीसंज्ञं बभूव ह।
एतस्मिन्नन्तरे राजा स इलः कर्दमात्मजः॥ १४॥
निघ्नन् मृगसहस्राणि तं देशमुपचक्रमे।

'वहाँ जो कुछ भी चराचर प्राणियोंका समूह था, वह सब स्त्रीनामधारी हो गया था। इसी समय कर्दमके पुत्र राजा इल सहस्रों हिंसक पशुओंका वध करते हुए उस देशमें आ गये॥ १४½॥

स दृष्ट्वा स्त्रीकृतं सर्वं सव्यालमृगपक्षिणम्॥ १५॥
आत्मानं स्त्रीकृतं चैव सानुगं रघुनन्दन।

'वहाँ आकर उन्होंने देखा, सर्प, पशु और पक्षियोंसहित उस वनका सारा प्राणिसमुदाय स्त्रीरूप हो गया है। रघुनन्दन! सेवकोंसहित अपने-आपको भी उन्होंने स्त्रीरूपमें परिणत हुआ देखा॥ १५½॥

तस्य दुःखं महच्चासीद् दृष्ट्वाऽऽत्मानं तथागतम्॥ १६॥
उमापतेश्च तत् कर्म ज्ञात्वा त्रासमुपागमत्।

'अपनेको उस अवस्थामें देखकर राजाको बड़ा दुःख हुआ। वह सारा कार्य उमावल्लभ महादेवजीकी इच्छासे हुआ है, ऐसा जानकर वे भयभीत हो उठे॥ १६½॥

ततो देवं महात्मानं शितिकण्ठं कपर्दिनम् ॥ १७ ॥
जगाम शरणं राजा सभृत्यबलवाहनः ।

'तदनन्तर सेवक, सेना और सवारियोंसहित राजा इल जटाजूटधारी महात्मा भगवान् नीलकण्ठकी शरणमें गये' ॥१७½॥

ततः प्रहस्य वरदः सह देव्या महेश्वरः ॥ १८ ॥
प्रजापतिसुतं वाक्यमुवाच वरदः स्वयम् ।

तब पार्वतीदेवीके साथ विराजमान वरदायक देवता महेश्वर हँसकर प्रजापतिपुत्र इलसे स्वयं बोले— ॥१८½॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ राजर्षे कार्दमेय महाबल ॥ १९ ॥
पुरुषत्वमृते सौम्य वरं वरय सुव्रत ।

'कर्दमकुमार महाबली राजर्षे ! उठो-उठो । उत्तम व्रतका पालन करनेवाले सौम्य नरेश ! पुरुषत्व छोड़कर जो चाहो, वह वर माँग लो' ॥१९½॥

ततः स राजा शोकार्थः प्रत्याख्यातो महात्मना ॥ २० ॥
स्त्रीभूतोऽसौ न जग्राह वरमन्यं सुरोत्तमात् ।

महात्मा भगवान् शङ्करके इस प्रकार पुरुषत्व देनेसे इनकार कर देनेपर स्त्रीरूप हुए राजा इल शोकसे व्याकुल हो गये । उन्होंने उन सुरश्रेष्ठ महादेवजीसे दूसरा कोई वर नहीं ग्रहण किया ॥२०½॥

ततः शोकेन महता शैलराजसुतां नृपः ॥ २१ ॥
प्रणिपत्य उमां देवीं सर्वेणैवान्तरात्मना ।
ईशे वराणां वरदे लोकानामसि भामिनि ॥ २२ ॥
अमोघदर्शने देवि भज सौम्येन चक्षुषा ।

तदनन्तर महान् शोकसे पीड़ित हो राजाने गिरिराजकुमारी उमादेवीके चरणोंमें सम्पूर्ण हृदयसे प्रणाम करके यह प्रार्थना की—'सम्पूर्ण वरोंकी अधीश्वरी देवि ! आप मानिनी हैं। समस्त लोकोंको वर देनेवाली हैं। देवि ! आपका दर्शन कभी निष्फल नहीं होता। अतः आप अपनी सौम्य दृष्टिसे मुझपर अनुग्रह कीजिये' ॥२१-२२½॥

हृद्गतं तस्य राजर्षेर्विज्ञाय हरसंनिधौ ॥ २३ ॥
प्रत्युवाच शुभं वाक्यं देवी रुद्रस्य सम्मता ।

'राजर्षि इलके हार्दिक अभिप्रायको जानकर रुद्रप्रिया देवी पार्वतीने महादेवजीके समीप यह शुभ बात कही— ॥२३½॥

अर्धस्य देवो वरदो वरार्धस्य तव ह्यहम् ॥ २४ ॥
तस्मादर्धं गृहाण त्वं स्त्रीपुंसोर्यावदिच्छसि ।

'राजन् ! तुम पुरुषत्व-प्राप्तिरूप जो वर चाहते हो, उसके आधे भागके दाता तो महादेवजी हैं और आधा वर तुम्हें मैं दे सकती हूँ (अर्थात् तुम्हें सम्पूर्ण जीवनके लिये जो स्त्रीत्व मिल गया है, उसे मैं आधे जीवनके लिये पुरुषत्वमें परिवर्तित कर सकती हूँ)। इसलिये तुम मेरा दिया हुआ आधा वर स्वीकार करो। तुम जितने-जितने कालतक स्त्री और पुरुष रहना चाहो, उसे मेरे सामने कहो' ॥२४½॥

तदद्भुततरं श्रुत्वा देव्या वरमनुत्तमम् ॥ २५ ॥
सम्प्रहृष्टमना भूत्वा राजा वाक्यमथाब्रवीत् ।
यदि देवि प्रसन्ना मे रूपेणाप्रतिमा भुवि ॥ २६ ॥
मासं स्त्रीत्वमुपासित्वा मासं स्यां पुरुषः पुनः ।

देवी पार्वतीका वह परम उत्तम और अत्यन्त अद्भुत वर सुनकर राजाके मनमें बड़ा हर्ष हुआ और वे इस प्रकार बोले—'देवि ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो मैं एक मासतक भूतलपर अनुपम रूपवती स्त्रीके रूपमें रहकर फिर एक मासतक पुरुष होकर रहूँ' ॥२५-२६½॥

ईप्सितं तस्य विज्ञाय देवी सुरुचिरानना ॥ २७ ॥
प्रत्युवाच शुभं वाक्यमेवमेव भविष्यति ।
राजन् पुरुषभूतस्त्वं स्त्रीभावं न स्मरिष्यसि ॥ २८ ॥
स्त्रीभूतश्च परं मासं न स्मरिष्यसि पौरुषम् ।

राजाके मनोभावको जानकर सुन्दर मुखवाली पार्वतीदेवीने यह शुभ वचन कहा—'ऐसा ही होगा। राजन् ! जब तुम पुरुषरूपमें रहोगे, उस समय तुम्हें अपने स्त्रीजीवनकी याद नहीं रहेगी और जब तुम स्त्रीरूपमें रहोगे, उस समय तुम्हें एक मासतक अपने पुरुषभावका स्मरण नहीं होगा' ॥२७-२८½॥

एवं स राजा पुरुषो मासं भूत्वाथ कार्दमिः ।
त्रैलोक्यसुन्दरी नारी मासमेकमिलाभवत् ॥ २९ ॥

'इस प्रकार कर्दमकुमार राजा इल एक मासतक पुरुष रहकर फिर एक मास त्रिलोकसुन्दरी नारी इलाके रूपमें रहने लगे' ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे सप्ताशीतितमः सर्गः ॥ ८७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें सतासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८७ ॥

—★—

अष्टाशीतितमः सर्गः

इला और बुधका एक-दूसरेको देखना तथा बुधका उन सब स्त्रियोंको किंपुरुषी नाम देकर पर्वतपर रहनेके लिये आदेश देना

तां कथामैलसम्बद्धां रामेण समुदीरिताम् ।
लक्ष्मणो भरतश्चैव श्रुत्वा परमविस्मितौ ॥ १ ॥

श्रीरामकी कही हुई इलके चरित्रसे सम्बन्ध रखनेवाली उस कथाको सुनकर लक्ष्मण और भरत दोनों ही बड़े विस्मित हुए ॥ १ ॥

तौ रामं प्राञ्जली भूत्वा तस्य राज्ञो महात्मनः।
विस्तरं तस्य भावस्य तदा पप्रच्छतुः पुनः ॥ २ ॥

उन दोनों भाइयोंने हाथ जोड़कर श्रीरामसे महामना राजा इलके स्त्री-पुरुषभावके विस्तृत वृत्तान्तके विषयमें पुनः पूछा— ॥ २ ॥

कथं स राजा स्त्रीभूतो वर्तयामास दुर्गतिः।
पुरुषः स यदा भूतः कां वृत्तिं वर्तयत्यसौ ॥ ३ ॥

'प्रभो ! राजा इल स्त्री होकर तो बड़ी दुर्गतिमें पड़ गये होंगे। उन्होंने वह समय कैसे बिताया? और जब वे पुरुषरूपमें रहते थे, तब किस वृत्तिका आश्रय लेते थे?' ॥ ३ ॥

तयोस्तद् भाषितं श्रुत्वा कौतूहलसमन्वितम्।
कथयामास काकुत्स्थस्तस्य राज्ञो यथागमम् ॥ ४ ॥

लक्ष्मण और भरतका वह कौतूहलपूर्ण वचन सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने राजा इलके वृत्तान्तको, जैसा वह उपलब्ध था, उसी रूपमें पुनः सुनाना आरम्भ किया— ॥ ४ ॥

तमेव प्रथमं मासं स्त्री भूत्वा लोकसुन्दरी।
ताभिः परिवृता स्त्रीभिर्येऽस्य पूर्वं पदानुगाः ॥ ५ ॥
तत्काननं विगाह्याशु विजह्रे लोकसुन्दरी।
द्रुमगुल्मलताकीर्णं पद्भ्यां पद्मदलेक्षणा ॥ ६ ॥

'तदनन्तर उस प्रथम मासमें ही इला त्रिभुवनसुन्दरी नारी होकर वनमें विचरने लगी। जो पहले उसके चरणसेवक थे, वे भी स्त्रीरूपमें परिणत हो गये थे; उन्हीं स्त्रियोंसे घिरी हुई लोकसुन्दरी कमललोचना इला वृक्षों, झाड़ियों और लताओंसे भरे हुए एक वनमें शीघ्र प्रवेश करके पैदल ही सब ओर घूमने लगी ॥ ५-६ ॥

वाहनानि च सर्वाणि संत्यक्त्वा वै समन्ततः।
पर्वताभोगविवरे तस्मिन् रेमे इला तदा ॥ ७ ॥

'उस समय सारे वाहनोंको सब ओर छोड़कर इला विस्तृत पर्वतमालाओंके मध्यभागमें भ्रमण करने लगी ॥ ७ ॥

अथ तस्मिन् वनोद्देशे पर्वतस्याविदूरतः।
सरः सुरुचिरप्रख्यं नानापक्षिगणायुतम् ॥ ८ ॥

'उस वनप्रान्तमें पर्वतके पास ही एक सुन्दर सरोवर था, जिसमें नाना प्रकारके पक्षी कलरव कर रहे थे ॥ ८ ॥

ददर्श सा इला तस्मिन् बुधं सोमसुतं तदा।
ज्वलन्तं स्वेन वपुषा पूर्णं सोममिवोदितम् ॥ ९ ॥

'उस सरोवरमें सोमपुत्र बुध तपस्या करते थे, जो अपने तेजस्वी शरीरसे उदित हुए पूर्ण चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो रहे थे। इलाने उन्हें देखा * ॥ ९ ॥

तपन्तं च तपस्तीव्रमम्भोमध्ये दुरासदम्।
यशस्करं कामकरं तारुण्ये पर्यवस्थितम् ॥ १० ॥

'वे जलके भीतर तीव्र तपस्यामें संलग्न थे। उन्हें पराभूत करना किसीके लिये भी अत्यन्त कठिन था। वे यशस्वी, पूर्णकाम और तरुण-अवस्थामें स्थित थे ॥ १० ॥

स तं जलाशयं सर्वं क्षोभयामास विस्मिता।
सह तैः पूर्वपुरुषैः स्त्रीभूतै रघुनन्दन ॥ ११ ॥

'रघुनन्दन ! उन्हें देखकर इला चकित हो उठी और जो पहले पुरुष थीं, उन स्त्रियोंके साथ जलमें उतरकर उसने सारे जलाशयको क्षुब्ध कर दिया ॥ ११ ॥

बुधस्तु तां समीक्ष्यैव कामबाणवशं गतः।
नोपलेभे तदात्मानं स चचाल तदाम्भसि ॥ १२ ॥

'इलापर दृष्टि पड़ते ही बुध कामदेवके बाणोंका निशाना बन गये। उन्हें अपने तन-मनकी सुध न रही और वे उस समय जलमें विचलित हो उठे ॥ १२ ॥

इलां निरीक्षमाणस्तु त्रैलोक्यादधिकां शुभाम्।
चिन्तां समभ्यतिक्रामत् का न्वियं देवताधिका ॥ १३ ॥

'इला त्रिलोकीमें सबसे अधिक सुन्दरी थी। उसे देखते हुए बुधका मन उसीमें आसक्त हो गया और वे सोचने लगे, 'यह कौन-सी स्त्री है, जो देवाङ्गनाओंसे भी बढ़कर रूपवती है ॥ १३ ॥

न देवीषु न नागीषु नासुरीष्वप्सरःसु च।
दृष्टपूर्वा मया काचिद् रूपेणानेन शोभिता ॥ १४ ॥

''न देववनिताओंमें, न नागवधुओंमें, न असुरोंकी स्त्रियोंमें और न अप्सराओंमें ही मैंने पहले कभी कोई ऐसे मनोहर रूपसे सुशोभित होनेवाली स्त्री देखी है ॥ १४ ॥

सदृशीयं मम भवेद् यदि नान्यपरिग्रहः।
इति बुद्धिं समास्थाय जलात् कूलमुपागमत् ॥ १५ ॥

''यदि यह दूसरेको ब्याही न गयी हो तो सर्वथा मेरी पत्नी बननेयोग्य है।' ऐसा विचार वे जलसे निकलकर किनारे आये ॥ १५ ॥

आश्रमं समुपागम्य ततस्ताः प्रमदोत्तमाः।
शब्दापयत धर्मात्मा ताश्चैनं च ववन्दिरे ॥ १६ ॥

'फिर आश्रममें पहुँचकर उन धर्मात्माने पूर्वोक्त सभी सुन्दरियोंको आवाज देकर बुलाया और उन सबने आकर उन्हें प्रणाम किया ॥ १६ ॥

स ताः पप्रच्छ धर्मात्मा कस्यैषा लोकसुन्दरी।
किमर्थमागता चैव सर्वमाख्यात मा चिरम् ॥ १७ ॥

'तब धर्मात्मा बुधने उन सब स्त्रियोंसे पूछा—'यह

---

* यह सरोवर उस सीमासे बाहर था, जहाँतकके प्राणी भगवान् शिवके आदेशसे स्त्रीरूप हो गये थे। इसीलिये बुधको स्त्रीत्वकी प्राप्ति नहीं हुई थी।

लोकसुन्दरी नारी किसकी पत्नी है और किसलिये यहाँ आयी है? ये सब बातें तुम शीघ्र मुझे बताओ' ॥ १७ ॥

शुभं तु तस्य तद् वाक्यं मधुरं मधुराक्षरम्।
श्रुत्वा स्त्रियश्च ताः सर्वा ऊचुर्मधुरया गिरा ॥ १८ ॥

'बुधके मुखसे निकला हुआ वह शुभवचन मधुर पदावलीसे युक्त तथा मीठा था। उसे सुनकर उन सब स्त्रियोंने मधुर वाणीमें कहा— ॥ १८ ॥

अस्माकमेषा सुश्रोणी प्रभुत्वे वर्तते सदा।
अपतिः काननान्तेषु सहास्माभिश्चरत्यसौ ॥ १९ ॥

''ब्रह्मन्! यह सुन्दरी हमारी सदाकी स्वामिनी है। इसका कोई पति नहीं है। यह हमलोगोंके साथ अपनी इच्छाके अनुसार वनप्रान्तमें विचरती रहती है' ॥ १९ ॥

तद् वाक्यमाव्यक्तपदं तासां स्त्रीणां निशम्य च।
विद्यामावर्तनीं पुण्यामावर्तयत स द्विजः ॥ २० ॥

'उन स्त्रियोंका वचन सब प्रकारसे सुस्पष्ट था। उसे सुनकर ब्राह्मण बुधने पुण्यमयी आवर्तनी विद्याका आवर्तन (स्मरण) किया ॥ २० ॥

सोऽर्थं विदित्वा सकलं तस्य राज्ञो यथा तथा।
सर्वा एव स्त्रियस्ताश्च बभाषे मुनिपुङ्गवः ॥ २१ ॥

'उस राजाके विषयकी सारी बातें यथार्थरूपसे जानकर मुनिवर बुधने उन सभी स्त्रियोंसे कहा— ॥ २१ ॥

अत्र किंपुरुषीर्भूत्वा शैलरोधसि वत्स्यथ।
आवासस्तु गिरावस्मिञ्शीघ्रमेव विधीयताम् ॥ २२ ॥

''तुम सब लोग किंपुरुषी (किन्नरी) होकर पर्वतके किनारे रहोगी। इस पर्वतपर शीघ्र ही अपने लिये निवासस्थान बना लो ॥ २२ ॥

मूलपत्रफलैः सर्वा वर्तयिष्यथ नित्यदा।
स्त्रियः किंपुरुषान्नाम भर्तॄन् समुपलप्स्यथ ॥ २३ ॥

''पत्र और फल-मूलसे ही तुम सबको सदा जीवन-निर्वाह करना होगा। आगे चलकर तुम सभी स्त्रियाँ किंपुरुष नामक पतियोंको प्राप्त कर लोगी' ॥ २३ ॥

ताः श्रुत्वा सोमपुत्रस्य स्त्रियः किंपुरुषीकृताः।
उपासांचक्रिरे शैलं वध्वस्ता बहुलास्तदा ॥ २४ ॥

'किंपुरुषी नामसे प्रसिद्ध हुई वे स्त्रियाँ सोमपुत्र बुधकी उपर्युक्त बात सुनकर उस पर्वतपर रहने लगीं। उन स्त्रियोंकी संख्या बहुत अधिक थी ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डेऽष्टाशीतितमः सर्गः ॥ ८८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें अट्ठासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८८ ॥

—★—

एकोननवतितमः सर्गः

बुध और इलाका समागम तथा पुरूरवाकी उत्पत्ति

श्रुत्वा किंपुरुषोत्पत्तिं लक्ष्मणो भरतस्तथा।
आश्चर्यमिति च ब्रूतामुभौ रामं जनेश्वरम् ॥ १ ॥

किंपुरुषजातिकी उत्पत्तिका यह प्रसंग सुनकर लक्ष्मण और भरत दोनोंने महाराज श्रीरामसे कहा—'यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है' ॥ १ ॥

अथ रामः कथामेतां भूय एव महायशाः।
कथयामास धर्मात्मा प्रजापतिसुतस्य वै ॥ २ ॥

तदनन्तर महायशस्वी धर्मात्मा श्रीरामने प्रजापति कर्दमके पुत्र इलकी इस कथाको फिर इस प्रकार कहना आरम्भ किया— ॥ २ ॥

सर्वास्ता विद्रुता दृष्ट्वा किन्नरीर्ऋषिसत्तमः।
उवाच रूपसम्पन्नां तां स्त्रियं प्रहसन्निव ॥ ३ ॥

'वे सब किन्नरियाँ पर्वतके किनारे चली गयीं। यह देख मुनिश्रेष्ठ बुधने उस रूपवती स्त्रीसे हँसते हुए-से कहा— ॥ ३ ॥

सोमस्याहं सुदयितः सुतः सुरुचिरानने।
भजस्व मां वरारोहे भक्त्या स्निग्धेन चक्षुषा ॥ ४ ॥

''सुमुखि! मैं सोमदेवताका परम प्रिय पुत्र हूँ। वरारोहे! मुझे अनुराग और स्नेहभरी दृष्टिसे देखकर अपनाओ' ॥ ४ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा शून्ये स्वजनवर्जिते।
इला सुरुचिरप्रख्यं प्रत्युवाच महाप्रभम् ॥ ५ ॥

'स्वजनोंसे रहित उस सूने स्थानमें बुधकी यह बात सुनकर इला उन परम सुन्दर महातेजस्वी बुधसे इस प्रकार बोली— ॥ ५ ॥

अहं कामचरी सौम्य तवास्मि वशवर्तिनी।
प्रशाधि मां सोमसुत यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६ ॥

''सौम्य सोमकुमार! मैं अपनी इच्छाके अनुसार विचरनेवाली (स्वतन्त्र) हूँ, किंतु इस समय आपकी आज्ञाके अधीन हो रही हूँ; अतः मुझे उचित सेवाके लिये आदेश दीजिये और जैसी आपकी इच्छा हो, वैसा कीजिये' ॥ ६ ॥

तस्यास्तदद्भुतप्रख्यं श्रुत्वा हर्षमुपागतः।
स वै कामी सह तया रेमे चन्द्रमसः सुतः ॥ ७ ॥

'इलाका यह अद्भुत वचन सुनकर कामासक्त सोमपुत्रको बड़ा हर्ष हुआ। वे उसके साथ रमण करने लगे ॥ ७ ॥

बुधस्य माधवो मासस्तामिलां रुचिराननाम्।
गतो रमयतोऽत्यर्थं क्षणवत् तस्य कामिनः ॥ ८ ॥

'मनोहर मुखवाली इलाके साथ अतिशय रमण करनेवाले कामासक्त बुधका वैशाख मास एक क्षणके समान बीत गया ॥ ८ ॥

अथ मासे तु सम्पूर्णे पूर्णेन्दुसदृशाननः।
प्रजापतिसुतः श्रीमाञ्शयने प्रत्यबुध्यत ॥ ९ ॥

'एक मास पूर्ण होनेपर पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुख-वाले प्रजापति-पुत्र श्रीमान् इल अपनी शय्यापर जाग उठे ॥ ९ ॥

सोऽपश्यत् सोमजं तत्र तपन्तं सलिलाशये ।
ऊर्ध्वबाहुं निरालम्बं तं राजा प्रत्यभाषत ॥ १० ॥

'उन्होंने देखा, सोमपुत्र बुध वहाँ जलाशयमें तप कर रहे हैं। उनकी भुजाएँ ऊपरको उठी हुई हैं और वे निराधार खड़े हैं। उस समय राजाने बुधसे पूछा— ॥ १० ॥

भगवन् पर्वतं दुर्गं प्रविष्टोऽस्मि सहानुगः ।
न च पश्यामि तत् सैन्यं क्व नु ते मामका गताः ॥ ११ ॥

''भगवन्! मैं अपने सेवकोंके साथ दुर्गम पर्वतपर आ गया था, परंतु वहाँ मुझे अपनी वह सेना नहीं दिखायी देती है। पता नहीं, वे मेरे सैनिक कहाँ चले गये?' ॥ ११ ॥

तच्छ्रुत्वा तस्य राजर्षेर्नष्टसंज्ञस्य भाषितम् ।
प्रत्युवाच शुभं वाक्यं सान्त्वयन् परया गिरा ॥ १२ ॥

'राजर्षि इलकी स्त्रीत्व-प्राप्तिविषयक स्मृति नष्ट हो गयी थी। उनकी बात सुनकर बुध उत्तम वाणीद्वारा उन्हें सान्त्वना देते हुए यह शुभ वचन बोले— ॥ १२ ॥

अश्मवर्षेण महता भृत्यास्ते विनिपातिताः ।
त्वं चाश्रमपदे सुप्तो वातवर्षभयार्दितः ॥ १३ ॥

''राजन्! आपके सारे सेवक ओलोंकी भारी वर्षासे मारे गये। आप भी आँधी-पानीके भयसे पीड़ित हो इस आश्रममें आकर सो गये थे ॥ १३ ॥

समाश्वसिहि भद्रं ते निर्भयो विगतज्वरः ।
फलमूलाशनो वीर निवसेह यथासुखम् ॥ १४ ॥

''वीर! अब आप धैर्य धारण करें। आपका कल्याण हो। आप निर्भय और निश्चिन्त होकर फल-मूलका आहार करते हुए यहाँ सुखपूर्वक निवास कीजिये' ॥ १४ ॥

स राजा तेन वाक्येन प्रत्याश्वस्तो महामतिः ।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं दीनो भृत्यजनक्षयात् ॥ १५ ॥

'बुधके इस वचनसे परम बुद्धिमान् राजा इलको बड़ा आश्वासन मिला, परंतु अपने सेवकोंके नष्ट होनेसे वे बहुत दुःखी थे; इसलिये उनसे इस प्रकार बोले— ॥ १५ ॥

त्यक्ष्याम्यहं स्वकं राज्यं नाहं भृत्यैर्विनाकृतः ।
वर्तयेयं क्षणं ब्रह्मन् समनुज्ञातुमर्हसि ॥ १६ ॥

''ब्रह्मन्! मैं सेवकोंसे रहित हो जानेपर भी राज्यका परित्याग नहीं करूँगा। अब क्षणभर भी मुझसे यहाँ नहीं रहा जायगा; अतः मुझे जानेकी आज्ञा दीजिये ॥ १६ ॥

सुतो धर्मपरो ब्रह्मन् ज्येष्ठो मम महायशाः ।
शशबिन्दुरिति ख्यातः स मे राज्यं प्रपत्स्यते ॥ १७ ॥

''ब्रह्मन् मेरे धर्मपरायण ज्येष्ठ पुत्र बड़े यशस्वी हैं। उनका नाम शशबिन्दु है। जब मैं वहाँ जाकर उनका अभिषेक करूँगा, तभी वे मेरा राज्य ग्रहण करेंगे ॥ १७ ॥

नहि शक्ष्याम्यहं हित्वा भृत्यदारान् सुखान्वितान् ।
प्रतिवक्तुं महातेजः किंचिदप्यशुभं वचः ॥ १८ ॥

''महातेजस्वी मुने! देशमें जो मेरे सेवक और स्त्री, पुत्र आदि परिवारके लोग सुखसे रह रहे हैं, उन सबको छोड़कर मैं यहाँ नहीं ठहर सकूँगा। अतः मुझसे ऐसी कोई अशुभ बात आप न कहें, जिससे स्वजनोंसे बिछुड़कर मुझे यहाँ दुःखपूर्वक रहनेके लिये विवश होना पड़े' ॥ १८ ॥

तथा ब्रुवति राजेन्द्रे बुधः परममद्भुतम् ।
सान्त्वपूर्वमथोवाच वासस्त इह रोचताम् ॥ १९ ॥
न संतापस्त्वया कार्यः कार्दमेय महाबल ।
संवत्सरोषितस्येह कारयिष्यामि ते हितम् ॥ २० ॥

'राजेन्द्र इलके ऐसा कहनेपर बुधने उन्हें सान्त्वना देते हुए अत्यन्त अद्भुत बात कही—'राजन्! तुम प्रसन्नतापूर्वक यहाँ रहना स्वीकार करो। कर्दमके महाबली पुत्र! तुम्हें संताप नहीं करना चाहिये। जब तुम एक वर्षतक यहाँ निवास कर लोगे, तब मैं तुम्हारा हित साधन करूँगा' ॥ १९-२० ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा बुधस्याक्लिष्टकर्मणः ।
वासाय विदधे बुद्धिं यदुक्तं ब्रह्मवादिना ॥ २१ ॥

'पुण्यकर्मा बुधका यह वचन सुनकर उन ब्रह्मवादी महात्माके कथनानुसार राजाने वहाँ रहनेका निश्चय किया ॥ २१ ॥

मासं स स्त्री तदा भूत्वा रमयत्यनिशं सदा ।
मासं पुरुषभावेन धर्मबुद्धिं चकार सः ॥ २२ ॥

'वे एक मासतक स्त्री होकर निरन्तर बुधके साथ रमण करते और फिर एक मासतक पुरुष होकर धर्मानुष्ठानमें मन लगाते थे ॥ २२ ॥

ततः सा नवमे मासि इला सोमसुतात् सुतम् ।
जनयामास सुश्रोणी पुरूरवसमूर्जितम् ॥ २३ ॥

'तदनन्तर नवें मासमें सुन्दरी इलाने सोमपुत्र बुधसे एक पुत्रको जन्म दिया, जो बड़ा ही तेजस्वी और बलवान् था। उसका नाम था पुरूरवा ॥ २३ ॥

जातमात्रं तु सुश्रोणी पितुर्हस्ते न्यवेशयत् ।
बुधस्य समवर्णं च इला पुत्रं महाबलम् ॥ २४ ॥

'उसके उस महाबली पुत्रकी अङ्गकान्ति बुधके ही समान थी। वह जन्म लेते ही उपनयनके योग्य अवस्थाका बालक हो गया, इसलिये सुन्दरी इलाने उसे पिताके हाथमें सौंप दिया ॥ २४ ॥

बुधस्तु पुरुषीभूतं स वै संवत्सरान्तरम् ।
कथाभी रमयामास धर्मयुक्ताभिरात्मवान् ॥ २५ ॥

'वर्ष पूरा होनेमें जितने मास शेष थे, उतने समयतक जब-जब राजा पुरुष होते थे, तब-तब मनको वशमें रखनेवाले बुध धर्मयुक्त कथाओंद्वारा उनका मनोरञ्जन करते थे ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे एकोननवतितमः सर्गः ॥ ८९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें नवासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८९ ॥

नवतितमः सर्गः

अश्वमेधके अनुष्ठानसे इलाको पुरुषत्वकी प्राप्ति

तथोक्तवति रामे तु तस्य जन्म तदद्भुतम्।
उवाच लक्ष्मणो भूयो भरतश्च महायशाः॥ १॥

श्रीरामचन्द्रजी जब पुरूरवाके जन्मकी अद्भुत कथा कह गये, तब लक्ष्मण तथा महायशस्वी भरतने पुनः पूछा— ॥ १॥

इला सा सोमपुत्रस्य संवत्सरमथोषिता।
अकरोत् किं नरश्रेष्ठ तत्त्वं शंसितुमर्हसि॥ २॥

'नरश्रेष्ठ! सोमपुत्र बुधके यहाँ एक वर्षतक निवास करनेके पश्चात् इलाने क्या किया, यह ठीक-ठीक बतानेकी कृपा करें'॥ २॥

तयोस्तद् वाक्यमाधुर्यं निशम्य परिपृच्छतोः।
रामः पुनरुवाचेमां प्रजापतिसुते कथाम्॥ ३॥

प्रश्न करते समय उन दोनों भाइयोंकी वाणीमें बड़ा माधुर्य था। उसे सुनकर श्रीरामने प्रजापतिपुत्र इलके विषयमें फिर इस प्रकार कथा आरम्भ की— ॥ ३॥

पुरुषत्वं गते शूरे बुधः परमबुद्धिमान्।
संवर्तं परमोदारमाजुहाव महायशाः॥ ४॥

'शूरवीर! इल जब एक मासके लिये पुरुषभावको प्राप्त हुए, तब परम बुद्धिमान् महायशस्वी बुधने परम उदार महात्मा संवर्तको बुलाया॥ ४॥

च्यवनं भृगुपुत्रं च मुनिं चारिष्टनेमिनम्।
प्रमोदनं मोदकरं ततो दुर्वाससं मुनिम्॥ ५॥

'भृगुपुत्र च्यवन मुनि, अरिष्टनेमि, प्रमोदन, मोदकर और दुर्वासा मुनिको भी आमन्त्रित किया॥ ५॥

एतान् सर्वान् समानीय वाक्यज्ञस्तत्त्वदर्शनः।
उवाच सर्वान् सुहृदो धैर्येण सुसमाहितान्॥ ६॥

'इन सबको बुलाकर बातचीतकी कला जाननेवाले तत्त्वदर्शी बुधने धैर्यसे एकाग्रचित्त रहनेवाले इन सभी सुहृदोंसे कहा— ॥ ६॥

अयं राजा महाबाहुः कर्दमस्य इलः सुतः।
जानीतैनं यथाभूतं श्रेयो ह्यत्र विधीयताम्॥ ७॥

''ये महाबाहु राजा इल प्रजापति कर्दमके पुत्र हैं। इनकी जैसी स्थिति है, इसे आप सब लोग जानते हैं। अतः इस विषयमें ऐसा कोई उपाय कीजिये, जिससे इनका कल्याण हो'॥ ७॥

तेषां संवदतामेव द्विजैः सह महात्मभिः।
कर्दमस्तु महातेजास्तदाश्रममुपागमत्॥ ८॥

'वे सब इस प्रकार बातचीत कर ही रहे थे कि महात्मा द्विजोंके साथ महातेजस्वी प्रजापति कर्दम भी उस आश्रमपर आ पहुँचे॥ ८॥

पुलस्त्यश्च क्रतुश्चैव वषट्कारस्तथैव च।
ओङ्कारश्च महातेजास्तमाश्रममुपागमन्॥ ९॥

'साथ ही पुलस्त्य, क्रतु, वषट्कार तथा महातेजस्वी ओंकार भी उस आश्रमपर पधारे॥ ९॥

ते सर्वे हृष्टमनसः परस्परसमागमे।
हितैषिणो बाह्लिपतेः पृथग्वाक्यान्यथाब्रुवन्॥ १०॥

'परस्पर मिलनेपर वे सभी महर्षि प्रसन्नचित्त हो बाह्लिकदेशके स्वामी राजा इलका हित चाहते हुए भिन्न-भिन्न प्रकारकी राय देने लगे॥ १०॥

कर्दमस्त्वब्रवीद् वाक्यं सुतार्थं परमं हितम्।
द्विजाः शृणुत मद्वाक्यं यच्छ्रेयः पार्थिवस्य हि॥ ११॥

'तब कर्दमने पुत्रके लिये अत्यन्त हितकर बात कही— 'ब्राह्मणो! आपलोग मेरी बात सुनें, जो इस राजाके लिये कल्याणकारिणी होगी॥ ११॥

नान्यं पश्यामि भैषज्यमन्तरा वृषभध्वजम्।
नाश्वमेधात् परो यज्ञः प्रियश्चैव महात्मनः॥ १२॥

''मैं भगवान् शङ्करके सिवा दूसरे किसीको ऐसा नहीं देखता, जो इस रोगकी दवा कर सके तथा अश्वमेध-यज्ञसे बढ़कर दूसरा कोई ऐसा यज्ञ नहीं है, जो महात्मा महादेवजीको प्रिय हो॥ १२॥

तस्माद् यजामहे सर्वे पार्थिवार्थे दुरासदम्।
कर्दमेनैवमुक्तास्तु सर्व एव द्विजर्षभाः॥ १३॥
रोचयन्ति स्म तं यज्ञं रुद्रस्याराधनं प्रति।

''अतः हम सब लोग राजा इलके हितके लिये उस दुष्कर यज्ञका अनुष्ठान करें।' कर्दमके ऐसा कहनेपर उन सभी श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने भगवान् रुद्रकी आराधनाके लिये उस यज्ञका अनुष्ठान ही अच्छा समझा॥ १३½॥

संवर्तस्य तु राजर्षिः शिष्यः परपुरंजयः॥ १४॥
मरुत्त इति विख्यातस्तं यज्ञं समुपाहरत्।

'संवर्तके शिष्य तथा शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले सुप्रसिद्ध राजर्षि मरुत्तने उस यज्ञका आयोजन किया॥ १४½॥

ततो यज्ञो महानासीद् बुधाश्रमसमीपतः॥ १५॥
रुद्रश्च परमं तोषमाजगाम महायशाः।

'फिर तो बुधके आश्रमके निकट वह महान् यज्ञ सम्पन्न हुआ तथा उससे महायशस्वी रुद्रदेवको बड़ा संतोष प्राप्त हुआ॥ १५½॥

अथ यज्ञे समाप्ते तु प्रीतः परमया मुदा॥ १६॥
उमापतिर्द्विजान् सर्वानुवाच इलसंनिधौ।

'यज्ञ समाप्त होनेपर परमानन्दसे परिपूर्णचित्त हुए भगवान् उमापतिने इलके पास ही उन सब ब्राह्मणोंसे कहा— ॥ १६½॥

प्रीतोऽस्मि हयमेधेन भक्त्या च द्विजसत्तमाः॥ १७॥
अस्य बाह्लिपतेश्चैव किं करोमि प्रियं शुभम्।

"द्विजश्रेष्ठगण! मैं तुम्हारी भक्ति तथा इस अश्वमेध-यज्ञके अनुष्ठानसे बहुत प्रसन्न हूँ। बताओ, मैं बाह्लिकनरेश इलका कौन-सा शुभ एवं प्रिय कार्य करूँ?' ॥ १७½ ॥

तथा वदति देवेशे द्विजास्ते सुसमाहिताः ॥ १८ ॥
प्रसादयन्ति देवेशं यथा स्यात् पुरुषस्त्विला।

'देवेश्वर शिवके ऐसा कहनेपर वे सब ब्राह्मण एकाग्रचित्त हो उन देवाधिदेवको इस तरह प्रसन्न करनेकी चेष्टा करने लगे, जिससे नारी इला सदाके लिये पुरुष इल हो जाय ॥ १८½ ॥

ततः प्रीतो महादेवः पुरुषत्वं ददौ पुनः ॥ १९ ॥
इलायै सुमहातेजा दत्त्वा चान्तरधीयत।

'तब प्रसन्न हुए महातेजस्वी महादेवजीने इलाको सदाके लिये पुरुषत्व प्रदान कर दिया और ऐसा करके वे वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ १९½ ॥

निवृत्ते हयमेधे च गते चादर्शनं हरे ॥ २० ॥
यथागतं द्विजाः सर्वे तेऽगच्छन् दीर्घदर्शिनः।

'अश्वमेध-यज्ञ समाप्त होनेपर जब महादेवजी दर्शन देकर अदृश्य हो गये, तब वे सब दीर्घदर्शी ब्राह्मण जैसे आये थे, वैसे लौट गये ॥ २०½ ॥

राजा तु बाह्लिमुत्सृज्य मध्यदेशे ह्यनुत्तमम् ॥ २१ ॥
निवेशयामास पुरं प्रतिष्ठानं यशस्करम्।

'राजा इलने बाह्लिक देशको छोड़कर मध्यदेशमें (गङ्गा-यमुनाके संगमके निकट) एक परम उत्तम एवं यशस्वी नगर बसाया, जिसका नाम था प्रतिष्ठानपुर[1] ॥ २१½ ॥

शशबिन्दुश्च राजर्षिर्बाह्लिं परपुरंजयः ॥ २२ ॥
प्रतिष्ठाने इलो राजा प्रजापतिसुतो बली।

'शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले राजर्षि शशबिन्दुने बाह्लिकदेशका राज्य ग्रहण किया और प्रजापति कर्दमके पुत्र बलवान् राजा इल प्रतिष्ठानपुरके शासक हुए ॥ २२½ ॥

स काले प्राप्तवाँल्लोकमिलो ब्राह्ममनुत्तमम् ॥ २३ ॥
ऐलः पुरूरवा राजा प्रतिष्ठानमवाप्तवान्।

'समय आनेपर राजा इल शरीर छोड़कर परम उत्तम ब्रह्मलोकको प्राप्त हुए और इलाके पुत्र राजा पुरूरवाने प्रतिष्ठानपुरका राज्य प्राप्त किया ॥ २३½ ॥

ईदृशो ह्यश्वमेधस्य प्रभावः पुरुषर्षभौ।
स्त्रीभूतः पौरुषं लेभे यच्चान्यदपि दुर्लभम् ॥ २४ ॥

'पुरुषश्रेष्ठ भरत और लक्ष्मण! अश्वमेध-यज्ञका ऐसा ही प्रभाव है। जो स्त्रीरूप हो गये थे, उन राजा इलने इस यज्ञके प्रभावसे पुरुषत्व प्राप्त कर लिया तथा और भी दुर्लभ वस्तुएँ हस्तगत कर लीं' ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे नवतितमः सर्गः ॥ ९० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें नब्बेवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९० ॥

—★—

एकनवतितमः सर्गः

श्रीरामके आदेशसे अश्वमेध-यज्ञकी तैयारी

एतदाख्याय काकुत्स्थो भ्रातृभ्याममितप्रभः।
लक्ष्मणं पुनरेवाह धर्मयुक्तमिदं वचः ॥ १ ॥

अपने दोनों भाइयोंको यह कथा सुनाकर अमित तेजस्वी श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणसे पुनः यह धर्मयुक्त बात कही— ॥ १ ॥

वसिष्ठं वामदेवं च जाबालिमथ काश्यपम्।
द्विजांश्च सर्वप्रवरानश्वमेधपुरस्कृतान् ॥ २ ॥
एतान् सर्वान् समानीय मन्त्रयित्वा च लक्ष्मण।
हयं लक्षणसम्पन्नं विमोक्ष्यामि समाधिना ॥ ३ ॥

'लक्ष्मण! मैं अश्वमेध-यज्ञ करानेवाले ब्राह्मणोंमें अग्रगण्य एवं सर्वश्रेष्ठ वसिष्ठ, वामदेव, जाबालि और काश्यप आदि सभी द्विजोंको बुलाकर और उनसे सलाह लेकर पूरी सावधानीके साथ शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न घोड़ा छोड़ूँगा' ॥ २-३ ॥

तद् वाक्यं राघवेणोक्तं श्रुत्वा त्वरितविक्रमः।
द्विजान् सर्वान् समाहूय दर्शयामास राघवम् ॥ ४ ॥

रघुनाथजीके कहे हुए इस वचनको सुनकर शीघ्रगामी लक्ष्मणने समस्त ब्राह्मणोंको बुलाकर उन्हें श्रीरामचन्द्रजीसे मिलाया ॥ ४ ॥

ते दृष्ट्वा देवसंकाशं कृतपादाभिवन्दनम्।
राघवं सुदुराधर्षमाशीर्भिः समपूजयन् ॥ ५ ॥

उन ब्राह्मणोंने देखा, देवतुल्य तेजस्वी और अत्यन्त दुर्जय श्रीराघवेन्द्र हमारे चरणोंमें प्रणाम करके खड़े हैं, तब उन्होंने शुभ-आशीर्वादोंद्वारा उनका सत्कार किया ॥ ५ ॥

---

१. प्रयागसे पूर्व गङ्गाके तटपर बसा हुआ वर्तमान झूँसी नामक स्थान ही प्राचीनकालका प्रतिष्ठानपुर है।

प्राञ्जलिः स तदा भूत्वा राघवो द्विजसत्तमान्।
उवाच धर्मसंयुक्तमश्वमेधाश्रितं वचः॥ ६॥

उस समय रघुकुलभूषण श्रीराम हाथ जोड़कर उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे अश्वमेध-यज्ञके विषयमें धर्मयुक्त श्रेष्ठ वचन बोले—॥ ६॥

तेऽपि रामस्य तच्छ्रुत्वा नमस्कृत्वा वृषध्वजम्।
अश्वमेधं द्विजाः सर्वे पूजयन्ति स्म सर्वशः॥ ७॥

वे सब ब्राह्मण भी श्रीरामकी वह बात सुनकर भगवान् शंकरको प्रणाम करके सब प्रकारसे अश्वमेध-यज्ञकी सराहना करने लगे॥ ७॥

स तेषां द्विजमुख्यानां वाक्यमद्भुतदर्शनम्।
अश्वमेधाश्रितं श्रुत्वा भृशं प्रीतोऽभवत् तदा॥ ८॥

अश्वमेध-यज्ञके विषयमें उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका अद्भुत ज्ञानसे युक्त वचन सुनकर श्रीरामचन्द्रजीको बड़ी प्रसन्नता हुई॥ ८॥

विज्ञाय कर्म तत् तेषां रामो लक्ष्मणमब्रवीत्।
प्रेषयस्व महाबाहो सुग्रीवाय महात्मने॥ ९॥
यथा महद्भिर्हरिभिर्बहुभिश्च वनौकसाम्।
सार्धमागच्छ भद्रं ते अनुभोक्तुं महोत्सवम्॥ १०॥

उस कर्मके लिये उन ब्राह्मणोंकी स्वीकृति जानकर श्रीराम लक्ष्मणसे बोले—'महाबाहो! तुम महात्मा वानरराज सुग्रीवके पास यह संदेश भेजो कि 'कपिश्रेष्ठ! तुम बहुत-से विशालकाय वनवासी वानरोंके साथ यहाँ यज्ञ-महोत्सवका आनन्द लेनेके लिये आओ। तुम्हारा कल्याण हो'॥ ९-१०॥

विभीषणश्च रक्षोभिः कामगैर्बहुभिर्वृतः।
अश्वमेधं महायज्ञमायात्वतुलविक्रमः॥ ११॥

'साथ ही अतुल-पराक्रमी विभीषणको भी यह सूचना दो कि 'वे इच्छानुसार चलनेवाले बहुत-से राक्षसोंके साथ हमारे महान् अश्वमेध-यज्ञमें पधारें'॥ ११॥

राजानश्च महाभागा ये मे प्रियचिकीर्षवः।
सानुगाः क्षिप्रमायान्तु यज्ञं भूमिनिरीक्षकाः॥ १२॥

'इनके सिवा मेरा प्रिय करनेकी इच्छावाले जो महाभाग राजा हैं, वे भी यज्ञ-भूमि देखनेके लिये सेवकोंसहित शीघ्र यहाँ आवें॥ १२॥

देशान्तरगता ये च द्विजा धर्मसमाहिताः।
आमन्त्रयस्व तान् सर्वानश्वमेधाय लक्ष्मण॥ १३॥

'लक्ष्मण! जो धर्मनिष्ठ ब्राह्मण कार्यवश दूसरे-दूसरे देशोंमें चले गये हैं, उन सबको अपने अश्वमेध-यज्ञके लिये आमन्त्रित करो॥ १३॥

ऋषयश्च महाबाहो आहूयन्तां तपोधनाः।
देशान्तरगताः सर्वे सदाराश्च द्विजातयः॥ १४॥

'महाबाहो! तपोधन ऋषियोंको तथा अन्य राज्यमें रहनेवाले स्त्रियोंसहित समस्त ब्रह्मर्षियोंको भी बुला लो॥ १४॥

तथैव तालावचरास्तथैव नटनर्तकाः।
यज्ञवाटश्च सुमहान् गोमत्या नैमिषे वने॥ १५॥
आज्ञाप्यतां महाबाहो तद्धि पुण्यमनुत्तमम्।

'महाबाहो! ताल लेकर रंगभूमिमें संचरण करनेवाले सूत्रधार तथा नट और नर्तक भी बुला लिये जायँ। नैमिषारण्यमें गोमतीके तटपर विशाल यज्ञमण्डप बनानेकी आज्ञा दो; क्योंकि वह वन बहुत ही उत्तम और पवित्र स्थान है॥ १५½॥

शान्तयश्च महाबाहो प्रवर्तन्तां समन्ततः॥ १६॥
शतशश्चापि धर्मज्ञाः क्रतुमुख्यमनुत्तमम्।
अनुभूय महायज्ञं नैमिषे रघुनन्दन॥ १७॥

'महाबाहु रघुनन्दन! वहाँ यज्ञकी निर्विघ्न-समाप्तिके लिये सर्वत्र शान्ति-विधान प्रारम्भ करा दो। नैमिषारण्यमें सैकड़ों धर्मज्ञ पुरुष उस परम उत्तम और श्रेष्ठ महायज्ञको देखकर कृतार्थ हों॥ १६-१७॥

तुष्टः पुष्टश्च सर्वोऽसौ मानितश्च यथाविधि।
प्रतियास्यति धर्मज्ञ शीघ्रमामन्त्र्यतां जनः॥ १८॥

'धर्मज्ञ लक्ष्मण! शीघ्र लोगोंको आमन्त्रित करो और जो लोग आवें, वे सब विधिपूर्वक तुष्ट, पुष्ट एवं सम्मानित होकर लौटें॥ १८॥

शतं वाहसहस्राणां तण्डुलानां वपुष्मताम्।
अयुतं तिलमुद्गस्य प्रयात्वग्रे महाबल॥ १९॥
चणकानां कुलित्थानां माषाणां लवणस्य च।

'महाबली सुमित्राकुमार! लाखों बोझ ढोनेवाले पशु खड़े दानेवाले चावल लेकर और दस हजार पशु तिल, मूँग, चना, कुल्थी, उड़द और नमकके बोझ लेकर आगे चलें॥ १९½॥

अतोऽनुरूपं स्नेहं च गन्धं संक्षिप्तमेव च॥ २०॥
सुवर्णकोट्यो बहुला हिरण्यस्य शतोत्तराः।
अग्रतो भरतः कृत्वा गच्छत्वग्रे समाधिना॥ २१॥

'इसीके अनुरूप घी, तेल, दूध, दही तथा बिना घिसे हुए चन्दन और बिना पिसे हुए सुगन्धित पदार्थ भी भेजे जाने चाहिये। भरत सौ करोड़से भी अधिक सोने-चाँदीके सिक्के साथ लेकर पहले ही जायँ और बड़ी सावधानीके साथ यात्रा करें॥ २०-२१॥

अन्तरापणवीथ्यश्च सर्वे च नटनर्तकाः।
सूदा नार्यश्च बहवो नित्यं यौवनशालिनः॥ २२॥

'मार्गमें आवश्यक वस्तुओंके क्रय-विक्रयके लिये जगह-जगह बाजारें भी लगनी चाहिये; अतः इसके प्रवर्तक वणिक् एवं व्यवसायीलोग भी यात्रा करें। समस्त नट और नर्तक भी जायँ। बहुत-से रसोइये तथा सदा युवावस्थासे

सुशोभित होनेवाली स्त्रियाँ भी यात्रा करें ॥ २२ ॥

भरतेन तु सार्धं ते यान्तु सैन्यानि चाग्रतः ।
नैगमान् बालवृद्धांश्च द्विजांश्च सुसमाहितान् ॥ २३ ॥
कर्मान्तिकान् वर्धकिनः कोशाध्यक्षांश्च नैगमान् ।
मम मातृस्तथा सर्वाः कुमारान्तःपुराणि च ॥ २४ ॥
काञ्चनीं मम पत्नीं च दीक्षायां ज्ञांश्च कर्मणि ।
अग्रतो भरतः कृत्वा गच्छत्वग्रे महायशाः ॥ २५ ॥

'भरतके साथ आगे-आगे सेनाएँ भी जायँ । महायशस्वी भरत शास्त्रवेत्ता विद्वानों, बालकों, वृद्धों, एकाग्र चित्तवाले ब्राह्मणों, काम करनेवाले नौकरों, बढ़इयों, कोषाध्यक्षों, वैदिकों, मेरी सब माताओं, कुमारोंके अन्तःपुरों (भरत आदिकी स्त्रियों), मेरी पत्नीकी सुवर्णमयी प्रतिमा तथा यज्ञ-कर्मकी दीक्षाके जानकार ब्राह्मणोंको आगे करके पहले ही यात्रा करें' ॥ २३—२५ ॥

उपकार्या महार्हांश्च पार्थिवानां महौजसाम् ।
सानुगानां नरश्रेष्ठो व्यादिदेश महाबलः ॥ २६ ॥
अन्नपानानि वस्त्राणि अनुगानां महात्मनाम् ।

तत्पश्चात् महाबली नरश्रेष्ठ श्रीरामने सेवकोंसहित महातेजस्वी नरेशोंके ठहरनेके लिये बहुमूल्य वासस्थान बनाने (खेमे आदि लगाने) के लिये आदेश दिया तथा सेवकोंसहित उन महात्मा नरेशोंके लिये अन्न-पान एवं वस्त्र आदिकी भी व्यवस्था करायी ॥ २६ 1/2 ॥

भरतः स तदा यातः शत्रुघ्नसहितस्तदा ॥ २७ ॥
वानराश्च महात्मानः सुग्रीवसहितास्तदा ।
विप्राणां प्रवराः सर्वे चक्रुश्च परिवेषणम् ॥ २८ ॥

तदनन्तर शत्रुघ्नसहित भरतने नैमिषारण्यको प्रस्थान किया । उस समय वहाँ सुग्रीवसहित महात्मा वानर जितने भी श्रेष्ठ ब्राह्मण वहाँ उपस्थित थे, उन सबको रसोई परोसनेका काम करते थे ॥ २७-२८ ॥

विभीषणश्च रक्षोभिः स्त्रीभिश्च बहुभिर्वृतः ।
ऋषीणामुग्रतपसां पूजां चक्रे महात्मनाम् ॥ २९ ॥

स्त्रियों तथा बहुत-से राक्षसोंके साथ विभीषण उग्र तपस्वी महात्मा मुनियोंके स्वागत-सत्कारका काम सँभालते थे ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे एकनवतितमः सर्गः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें इक्यानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९१ ॥

—★—

द्विनवतितमः सर्गः

श्रीरामके अश्वमेध-यज्ञमें दान-मानकी विशेषता

तत् सर्वमखिलेनाशु प्रस्थाप्य भरताग्रजः ।
हयं लक्षणसम्पन्नं कृष्णसारं मुमोच ह ॥ १ ॥

इस प्रकार सब सामग्री पूर्णरूपसे भेजकर भरतके बड़े भाई श्रीरामने उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न तथा कृष्णसार मृगके समान काले रंगवाले एक घोड़ेको छोड़ा ॥ १ ॥

ऋत्विग्भिर्लक्ष्मणं सार्धमश्वे च विनियुज्य च ।
ततोऽभ्यगच्छत् काकुत्स्थः सह सैन्येन नैमिषम् ॥ २ ॥

ऋत्विजोंसहित लक्ष्मणको उस अश्वकी रक्षाके लिये नियुक्त करके श्रीरघुनाथजी सेनाके साथ नैमिषारण्यको गये ॥ २ ॥

यज्ञवाटं महाबाहुर्दृष्ट्वा परममद्भुतम् ।
प्रहर्षमतुलं लेभे श्रीमानिति च सोऽब्रवीत् ॥ ३ ॥

वहाँ बने हुए अत्यन्त अद्भुत यज्ञ-मण्डपको देखकर महाबाहु श्रीरामको अनुपम प्रसन्नता प्राप्त हुई और वे बोले—'बहुत सुन्दर है' ॥ ३ ॥

नैमिषे वसतस्तस्य सर्व एव नराधिपाः ।
आनिन्युरुपहारांश्च तान् रामः प्रत्यपूजयत् ॥ ४ ॥

नैमिषारण्यमें निवास करते समय श्रीरामचन्द्रजीके पास भूमण्डलके सभी नरेश भाँति-भाँतिके उपहार ले आये और श्रीरामचन्द्रजीने उन सबका स्वागत-सत्कार किया ॥ ४ ॥

अन्नपानादिवस्त्राणि सर्वोपकरणानि च ।
भरतः सहशत्रुघ्नो नियुक्तो राजपूजने ॥ ५ ॥

उन्हें अन्न, पान, वस्त्र तथा अन्य सब आवश्यक सामान दिये गये । शत्रुघ्नसहित भरत उन राजाओंके स्वागत-सत्कारमें नियुक्त किये गये थे ॥ ५ ॥

वानराश्च महात्मानः सुग्रीवसहितास्तदा ।
परिवेषणं च विप्राणां प्रयताः सम्प्रचक्रिरे ॥ ६ ॥

सुग्रीवसहित महामनस्वी वानर परम पवित्र एवं संयतचित्त हो उस समय वहाँ ब्राह्मणोंको भोजन परोसते थे ॥ ६ ॥

विभीषणश्च रक्षोभिर्बहुभिः सुसमाहितः ।
ऋषीणामुग्रतपसां किंकरः समपद्यत ॥ ७ ॥

बहुतेरे राक्षसोंसे घिरे हुए विभीषण अत्यन्त सावधान रहकर उग्र तपस्वी ऋषियोंके सेवाकार्यमें संलग्न थे ॥ ७ ॥

उपकार्या महार्हांश्च पार्थिवानां महात्मनाम्।
सानुगानां नरश्रेष्ठो व्यादिदेश महाबलः ॥ ८ ॥

महाबली नरश्रेष्ठ श्रीरामने सेवकोंसहित महामनस्वी भूपालोंको ठहरनेके लिये बहुमूल्य वासस्थान (खेमे) दिये ॥ ८ ॥

एवं सुविहितो यज्ञो ह्यश्वमेधो ह्यवर्तत।
लक्ष्मणेन सुगुप्ता सा हयचर्या प्रवर्तत ॥ ९ ॥

इस प्रकार सुन्दर ढंगसे अश्वमेध-यज्ञका कार्य प्रारम्भ हुआ और लक्ष्मणके संरक्षणमें रहकर घोड़ेके भूमण्डलमें भ्रमणका कार्य भी भलीभाँति सम्पन्न हो गया ॥ ९ ॥

ईदृशं राजसिंहस्य यज्ञप्रवरमुत्तमम्।
नान्यः शब्दोऽभवत् तत्र हयमेधे महात्मनः ॥ १० ॥
छन्दतो देहि देहीति यावत् तुष्यन्ति याचकाः।
तावत् सर्वाणि दत्तानि क्रतुमुख्ये महात्मनः ॥ ११ ॥
विविधानि च गौडानि खाण्डवानि तथैव च।

राजाओंमें सिंहके समान पराक्रमी महात्मा श्रीरघुनाथजीका वह श्रेष्ठ यज्ञ इस प्रकार उत्तम विधिसे होने लगा। उस अश्वमेध-यज्ञमें केवल एक ही बात सब ओर सुनायी पड़ती थी—जबतक याचक संतुष्ट न हों, तबतक उनकी इच्छाके अनुसार सब वस्तुएँ दिये जाओ, इसके सिवा दूसरी बात नहीं सुनायी देती थी। इस प्रकार महात्मा श्रीरामके श्रेष्ठ यज्ञमें नाना प्रकारके गुड़के बने हुए खाद्य पदार्थ और खाण्डव आदि तबतक निरन्तर दिये जाते थे जबतक कि पानेवाले पूर्णतः संतुष्ट होकर बस न कर दें ॥ १०-११ १/२ ॥

न निःसृतं भवत्योष्ठाद् वचनं यावदर्थिनाम् ॥ १२ ॥
तावद् वानररक्षोभिर्दत्तमेवाभ्यदृश्यत।

जबतक याचकोंके मनकी बात ओठसे बाहर नहीं निकलने पाती थी, तबतक ही राक्षस और वानर उन्हें उनकी अभीष्ट वस्तुएँ दे देते थे। यह बात सबने देखी ॥ १२ १/२ ॥

न कश्चिन्मलिनो वापि दीनो वाप्यथवा कृशः ॥ १३ ॥
तस्मिन् यज्ञवरे राज्ञो हृष्टपुष्टजनावृते।

राजा श्रीरामके उस श्रेष्ठ यज्ञमें हृष्ट-पुष्ट मनुष्य भरे हुए थे, वहाँ कोई भी मलिन, दीन अथवा दुर्बल नहीं दिखायी देता था ॥ १३ १/२ ॥

ये च तत्र महात्मानो मुनयश्चिरजीविनः ॥ १४ ॥
नास्मरंस्तादृशं यज्ञं दानौघसमलंकृतम्।

उस यज्ञमें जो चिरजीवी महात्मा मुनि पधारे थे, उन्हें ऐसे किसी भी यज्ञका स्मरण नहीं था, जिसमें दानकी ऐसी धूम रही हो। वह यज्ञ दानराशिसे पूर्णतः अलंकृत दिखायी देता था ॥

यः कृत्यवान् सुवर्णेन सुवर्णं लभते स्म सः ॥ १५ ॥
वित्तार्थी लभते वित्तं रत्नार्थी रत्नमेव च।

जिसे सुवर्णकी आवश्यकता थी, वह सुवर्ण पाता था, धन चाहनेवालेको धन मिलता था और रत्नकी इच्छावालेको रत्न ॥ १५ १/२ ॥

हिरण्यानां सुवर्णानां रत्नानामथ वाससाम् ॥ १६ ॥
अनिशं दीयमानानां राशिः समुपदृश्यते।

वहाँ निरन्तर दिये जानेवाले चाँदी, सोने, रत्न और वस्त्रोंके ढेर लगे दिखायी देते थे ॥ १६ १/२ ॥

न शक्रस्य न सोमस्य यमस्य वरुणस्य च ॥ १७ ॥
ईदृशो दृष्टपूर्वो न एवमूचुस्तपोधनाः।

वहाँ आये हुए तपस्वी मुनि कहते थे कि ऐसा यज्ञ तो पहले कभी इन्द्र, चन्द्रमा, यम और वरुणके यहाँ भी नहीं देखा गया ॥ १७ १/२ ॥

सर्वत्र वानरास्तस्थुः सर्वत्रैव च राक्षसाः ॥ १८ ॥
वासोधनान्नकामेभ्यः पूर्णहस्ता ददुर्भृशम्।

वानर और राक्षस सर्वत्र हाथोंमें देनेकी सामग्री लिये खड़े रहते थे और वस्त्र, धन तथा अन्नकी इच्छा रखनेवाले याचकोंको अधिक-से-अधिक देते थे ॥ १८ १/२ ॥

ईदृशो राजसिंहस्य यज्ञः सर्वगुणान्वितः।
संवत्सरमथो साग्रं वर्तते न च हीयते ॥ १९ ॥

राजसिंह भगवान् श्रीरामका ऐसा सर्वगुणसम्पन्न यज्ञ एक वर्षसे भी अधिक कालतक चलता रहा। उसमें कभी किसी बातकी कमी नहीं हुई ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे द्विनवतितमः सर्गः ॥ ९२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें बानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९२ ॥

═★═

त्रिनवतितमः सर्गः

श्रीरामके यज्ञमें महर्षि वाल्मीकिका आगमन और उनका रामायणगानके लिये कुश और लवको आदेश

वर्तमाने तथाभूते यज्ञे च परमाद्भुते।
सशिष्य आजगामाशु वाल्मीकिर्भगवानृषिः॥ १॥

इस प्रकार वह अत्यन्त अद्भुत यज्ञ जब चालू हुआ, उस समय भगवान् वाल्मीकि मुनि अपने शिष्योंके साथ उसमें शीघ्रतापूर्वक पधारे॥ १॥

स दृष्ट्वा दिव्यसंकाशं यज्ञमद्भुतदर्शनम्।
एकान्त ऋषिवाटानां चकार उटजाञ्शुभान्॥ २॥

उन्होंने उस दिव्य एवं अद्भुत यज्ञका दर्शन किया और ऋषियोंके लिये जो बाड़े बने थे, उनके पास ही उन्होंने अपने लिये भी सुन्दर पर्णशालाएँ बनवायीं॥ २॥

शकटांश्च बहून् पूर्णान् फलमूलांश्च शोभनान्।
वाल्मीकिवाटे रुचिरे स्थापयन्नविदूरतः॥ ३॥

वाल्मीकिजीके सुन्दर बाड़ेके समीप अन्न आदिसे भरे-पूरे बहुत से छकड़े खड़े कर दिये गये थे। साथ ही अच्छे-अच्छे फल और मूल भी रख दिये गये थे॥ ३॥

आसीत् सुपूजितो राज्ञा मुनिभिश्च महात्मभिः।
वाल्मीकिः सुमहातेजा न्यवसत् परमात्मवान्॥ ४॥

राजा श्रीराम तथा बहुसंख्यक महात्मा मुनियोंद्वारा भलीभाँति पूजित एवं सम्मानित हो महातेजस्वी आत्मज्ञानी वाल्मीकि मुनिने बड़े सुखसे वहाँ निवास किया॥ ४॥

स शिष्यावब्रवीद्धृष्टौ युवां गत्वा समाहितौ।
कृत्स्नं रामायणं काव्यं गायतं परया मुदा॥ ५॥

उन्होंने अपने हृष्ट-पुष्ट दो शिष्योंसे कहा—'तुम दोनों भाई एकाग्रचित्त हो सब ओर घूम-फिरकर बड़े आनन्दके साथ सम्पूर्ण रामायण-काव्यका गान करो॥ ५॥

ऋषिवाटेषु पुण्येषु ब्राह्मणावसथेषु च।
रथ्यासु राजमार्गेषु पार्थिवानां गृहेषु च॥ ६॥

'ऋषियों और ब्राह्मणोंके पवित्र स्थानोंपर, गलियोंमें, राजमार्गोंपर तथा राजाओंके वासस्थानोंमें भी इस काव्यका गान करना॥ ६॥

रामस्य भवनद्वारि यत्र कर्म च कुर्वते।
ऋत्विजामग्रतश्चैव तत्र गेयं विशेषतः॥ ७॥

'श्रीरामचन्द्रजीका जो गृह बना है, उसके दरवाजेपर, जहाँ ब्राह्मणलोग यज्ञकार्य कर रहे हैं, वहाँ तथा ऋत्विजोंके आगे भी इस काव्यका विशेषरूपसे गान करना चाहिये॥ ७॥

इमानि च फलान्यत्र स्वादूनि विविधानि च।
जातानि पर्वताग्रेषु आस्वाद्यास्वाद्य गायताम्॥ ८॥

'यहाँ पर्वतके शिखरोंपर नाना प्रकारके स्वादिष्ट एवं मीठे फल लगे हैं, (भूख लगनेपर) उनका स्वाद ले-लेकर इस काव्यका गान करते रहना॥ ८॥

न यास्यथः श्रमं वत्सौ भक्षयित्वा फलान्यथ।
मूलानि च सुमृष्टानि न रागात् परिहास्यथः॥ ९॥

'बच्चो! यहाँके सुमधुर फल-मूलोंका भक्षण करनेसे न तो तुम्हें कभी थकावट होगी और न तुम्हारे गलेकी मधुरता ही नष्ट होने पायेगी॥ ९॥

यदि शब्दापयेद् रामः श्रवणाय महीपतिः।
ऋषीणामुपविष्टानां यथायोगं प्रवर्तताम्॥ १०॥

'यदि महाराज श्रीराम तुम दोनोंको गान सुननेके लिये बुलावें तो तुम उनसे तथा वहाँ बैठे हुए ऋषि-मुनियोंसे यथायोग्य विनयपूर्ण बर्ताव करना॥ १०॥

दिवसे विंशतिः सर्गा गेया मधुरया गिरा।
प्रमाणैर्बहुभिस्तत्र यथोद्दिष्टं मया पुरा॥ ११॥

'मैंने पहले भिन्न-भिन्न संख्यावाले श्लोकोंसे युक्त रामायण काव्यके सर्गोंका जिस तरह तुम्हें उपदेश दिया है, उसीके अनुसार प्रतिदिन बीस-बीस सर्गोंका मधुर स्वरसे गान करना॥ ११॥

लोभश्चापि न कर्तव्यः स्वल्पोऽपि धनवाञ्छया।
किं धनेनाश्रमस्थानां फलमूलाशिनां सदा॥ १२॥

'धनकी इच्छासे थोड़ा-सा भी लोभ न करना, आश्रममें रहकर फल-मूल भोजन करनेवाले वनवासियोंको धनसे क्या काम?॥ १२॥

यदि पृच्छेत् स काकुत्स्थो युवां कस्येति दारकौ।
वाल्मीकेरथ शिष्यौ द्वौ ब्रूतमेवं नराधिपम्॥ १३॥

'यदि श्रीरघुनाथजी पूछें—'बच्चो! तुम दोनों किसके पुत्र हो?' तो तुम दोनों महाराजसे इतना ही कह देना कि हम दोनों भाई महर्षि वाल्मीकिके शिष्य हैं॥ १३॥

इमास्तन्त्रीः सुमधुराः स्थानं वापूर्वदर्शनम्।
मूर्च्छयित्वा सुमधुरं गायतं विगतज्वरौ॥ १४॥

'ये वीणाके सात तार हैं। इनसे बड़ी मधुर आवाज निकलती है। इसमें अपूर्व स्वरोंका प्रदर्शन करनेवाले ये स्थान बने हैं। इनके स्वरोंको झंकृत करके—मिलाकर सुमधुर स्वरमें तुम दोनों भाई काव्यका गान करो और सर्वथा निश्चिन्त रहो॥ १४॥

आदिप्रभृति गेयं स्यात्र चावज्ञाय पार्थिवम्।
पिता हि सर्वभूतानां राजा भवति धर्मतः॥ १५॥

'आरम्भसे ही इस काव्यका गान करना चाहिये। तुमलोग ऐसा कोई बर्ताव न करना, जिससे राजाका अपमान हो; क्योंकि राजा धर्मकी दृष्टिसे सम्पूर्ण प्राणियोंका पिता होता है॥ १५॥

तद् युवां हृष्टमनसौ श्वः प्रभाते समाहितौ।
गायतं मधुरं गेयं तन्त्रीलयसमन्वितम्॥ १६॥

'अतएव तुम दोनों भाई प्रसन्न और एकाग्रचित्त होकर कल सबेरेसे ही वीणाके लयपर मधुर स्वरसे रामायण-गान आरम्भ कर दो'॥ १६॥

इति संदिश्य बहुशो मुनिः प्राचेतसस्तदा।
वाल्मीकिः परमोदारस्तूष्णीमासीन्महामुनिः॥ १७॥

इस तरह बहुत कुछ आदेश देकर वरुणके पुत्र परम उदार महामुनि वाल्मीकि चुप हो गये॥ १७॥

संदिष्टौ मुनिना तेन तावुभौ मैथिलीसुतौ।
तथैव करवावेति निर्जग्मतुररिंदमौ॥ १८॥

मुनिके इस प्रकार आदेश देनेपर मिथिलेशकुमारी सीताके वे दोनों शत्रुदमन पुत्र 'बहुत अच्छा, हम ऐसा ही करेंगे' यह कहकर वहाँसे चल दिये॥ १८॥

तामद्भुतां तौ हृदये कुमारौ
निवेश्य वाणीमृषिभाषितां तदा।
समुत्सुकौ तौ सुखमूषतुर्निशां
यथाश्विनौ भार्गवनीतिसंहिताम्॥ १९॥

शुक्राचार्यकी बनायी हुई नीतिसंहिताको धारण करनेवाले अश्विनीकुमारोंकी भाँति ऋषिकी कही हुई उस अद्भुत वाणीको हृदयमें धारण करके वे दोनों कुमार मन-ही-मन उत्कण्ठित हो वहाँ रातभर सुखसे रहे॥ १९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे त्रिनवतितमः सर्गः॥ ९३॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें तिरानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ९३॥

---★---

चतुर्नवतितमः सर्गः

लव-कुशद्वारा रामायण-काव्यका गान तथा श्रीरामका उसे भरी सभामें सुनना

तौ रजन्यां प्रभातायां स्नातौ हुतहुताशनौ।
यथोक्तमृषिणा पूर्वं सर्वं तत्रोपगायताम्॥ १॥

रात बीतनेपर जब सवेरा हुआ, तब स्नान-संध्याके पश्चात् समिधा-होमका कार्य पूरा करके वे दोनों भाई ऋषिके बताये अनुसार वहाँ सम्पूर्ण रामायणका गान करने लगे॥ १॥

तां स शुश्राव काकुत्स्थः पूर्वाचार्यविनिर्मिताम्।
अपूर्वां पाठ्यजातिं च गेयेन समलंकृताम्॥ २॥

श्रीरघुनाथजीने भी वह गान सुना, जो पूर्ववर्ती आचार्योंके बताये हुए नियमोंके अनुकूल था। संगीतकी विशेषताओंसे युक्त स्वरोंके अलापनेकी अपूर्व शैली थी॥ २॥

प्रमाणैर्बहुभिर्बद्धां तन्त्रीलयसमन्विताम्।
बालाभ्यां राघवः श्रुत्वा कौतूहलपरोऽभवत्॥ ३॥

बहुसंख्यक प्रमाणों—ध्वनिपरिच्छेदके साधनभूत द्रुत, मध्य और विलम्बित—इन तीनोंकी आवृत्तियों अथवा सप्तविध स्वरोंके भेदकी सिद्धिके लिये बने हुए स्थानोंसे बँधा और वीणाकी लयसे मिलता हुआ उन दोनों बालकोंका वह मधुर गान सुनकर श्रीरामचन्द्रजीको बड़ा कौतूहल हुआ॥ ३॥

अथ कर्मान्तरे राजा समाहूय महामुनीन्।
पार्थिवांश्च नरव्याघ्रः पण्डितान् नैगमांस्तथा॥ ४॥
पौराणिकाञ्छब्दविदो ये वृद्धाश्च द्विजातयः।
स्वराणां लक्षणज्ञांश्च उत्सुकान् द्विजसत्तमान्॥ ५॥
लक्षणज्ञांश्च गान्धर्वान् नैगमांश्च विशेषतः।
पादाक्षरसमासज्ञांश्छन्दःसु परिनिष्ठितान्॥ ६॥
कलामात्राविशेषज्ञाञ्ज्योतिषे च परं गतान्।
क्रियाकल्पविदश्चैव तथा कार्यविशारदान्॥ ७॥
भाषाज्ञानिङ्गितज्ञांश्च नैगमांश्चाप्यशेषतः।

तदनन्तर पुरुषसिंह राजा श्रीरामने कर्मानुष्ठानसे अवकाश मिलनेपर बड़े-बड़े मुनियों, राजाओं, वेदवेत्ता पण्डितों, पौराणिकों, वैयाकरणों, बड़े-बूढ़े ब्राह्मणों, स्वरों और लक्षणोंके ज्ञाताओं, गीत सुननेके लिये उत्सुक द्विजों, सामुद्रिक लक्षणों तथा संगीत-विद्याके जानकारों, विशेषतः निगमागमके विद्वानों अथवा पुरवासियों, भिन्न-भिन्न छन्दोंके चरणों, उनके गुरु-लघु अक्षरों तथा उनके सम्बन्धोंका ज्ञान रखनेवाले पण्डितों, वैदिक छन्दोंके परिनिष्ठित विद्वानों, स्वरोंकी ह्रस्व, दीर्घ आदि मात्राओंके विशेषज्ञों, ज्योतिष विद्याके पारंगत पण्डितों, कर्मकाण्डियों, कार्यकुशल पुरुषों, विभिन्न भाषाओं और चेष्टा तथा संकेतोंको समझनेवाले पुरुषों एवं सारे महाजनोंको बुलवाया॥ ४—७½॥

हेतूपचारकुशलान् हैतुकांश्च बहुश्रुतान्॥ ८॥
छन्दोविदः पुराणज्ञान् वैदिकान् द्विजसत्तमान्।
चित्रज्ञान् वृत्तसूत्रज्ञान् गीतनृत्यविशारदान्॥ ९॥
शास्त्रज्ञान् नीतिनिपुणान् वेदान्तार्थप्रबोधकान्।
एतान् सर्वान् समानीय गातारौ समवेशयत्॥ १०॥

इतना ही नहीं, तर्कके प्रयोगमें निपुण नैयायिकों, युक्तिवादी एवं बहुज्ञ विद्वानों, छन्दों, पुराणों और वेदोंके ज्ञाता द्विजवरों, चित्रकलाके जानकारों, धर्मशास्त्रके अनुकूल सदाचारके ज्ञाताओं, दर्शन एवं कल्पसूत्रके विद्वानों, नृत्य और गीतमें प्रवीण पुरुषों, विभिन्न शास्त्रोंके ज्ञाताओं, नीति-निपुण पुरुषों तथा वेदान्तके अर्थको प्रकाशित करनेवाले ब्रह्मवेत्ताओंको भी वहाँ बुलवाया। इन सबको

एकत्र करके भगवान् श्रीरामने रामायण-गान करनेवाले उन दोनों बालकोंको सभामें बुलाकर बिठाया ॥ ८—१० ॥

तेषां संवदतां तत्र श्रोतृणां हर्षवर्धनम्।
गेयं प्रचक्रतुस्तत्र तावुभौ मुनिदारकौ ॥ ११ ॥

सभासदोंमें श्रोताओंका हर्ष बढ़ानेवाली बातें होने लगीं। उसी समय दोनों मुनिकुमारोंने गाना आरम्भ किया ॥ ११ ॥

ततः प्रवृत्तं मधुरं गान्धर्वमतिमानुषम्।
न च तृप्तिं ययुः सर्वे श्रोतारो गेयसम्पदा ॥ १२ ॥

फिर तो मधुर संगीतका तार बँध गया। बड़ा अलौकिक गान था। गेय वस्तुकी विशेषताओंके कारण सभी श्रोता मुग्ध होकर सुनने लगे। किसीको तृप्ति नहीं होती थी ॥ १२ ॥

हृष्टा मुनिगणाः सर्वे पार्थिवाश्च महौजसः।
पिबन्त इव चक्षुर्भिः पश्यन्ति स्म मुहुर्मुहुः ॥ १३ ॥

मुनियोंके समुदाय और महापराक्रमी भूपाल सभी आनन्दमग्न होकर उन दोनोंकी ओर बारम्बार इस तरह देख रहे थे, मानो उनकी रूपमाधुरीको नेत्रोंसे पी रहे हैं ॥ १३ ॥

ऊचुः परस्परं चेदं सर्व एव समाहिताः।
उभौ रामस्य सदृशौ बिम्बाद् बिम्बमिवोत्थितौ ॥ १४ ॥

वे सब एकाग्रचित्त हो परस्पर इस प्रकार कहने लगे—'इन दोनों कुमारोंकी आकृति श्रीरामचन्द्रजीसे बिलकुल मिलती-जुलती है। ये बिम्बसे प्रकट हुए प्रतिबिम्बके समान जान पड़ते हैं ॥ १४ ॥

जटिलौ यदि न स्यातां न वल्कलधरौ यदि।
विशेषं नाधिगच्छामो गायतो राघवस्य च ॥ १५ ॥

'यदि इनके सिरपर जटा न होती और ये वल्कल न पहने होते तो हमें श्रीरामचन्द्रजीमें तथा गान करनेवाले इन दोनों कुमारोंमें कोई अन्तर नहीं दिखायी देता' ॥ १५ ॥

एवं प्रभाषमाणेषु पौरजानपदेषु च।
प्रवृत्तमादितः पूर्वसर्गं नारददर्शितम् ॥ १६ ॥

नगर और जनपदमें निवास करनेवाले मनुष्य जब इस प्रकार बातें कर रहे थे, उसी समय नारदजीके द्वारा प्रदर्शित प्रथम सर्ग—मूल-रामायणका आरम्भसे ही गान प्रारम्भ हुआ ॥ १६ ॥

ततः प्रभृति सर्गांश्च यावद् विंशत्यगायताम्।
ततोऽपराह्णसमये राघवः समभाषत ॥ १७ ॥
श्रुत्वा विंशतिसर्गांस्तान् भ्रातरं भ्रातृवत्सलः।
अष्टादश सहस्राणि सुवर्णस्य महात्मनोः ॥ १८ ॥
प्रयच्छ शीघ्रं काकुत्स्थ यदन्यदभिकाङ्क्षितम्।

वहाँसे लेकर बीस सर्गोंतकका उन्होंने गान किया। तत्पश्चात् अपराह्णका समय हो गया। उतनी देरमें बीस सर्गोंका गान सुनकर भ्रातृवत्सल श्रीरघुनाथजीने भाई भरतसे कहा—'काकुत्स्थ! तुम इन दोनों महात्मा बालकोंको अठारह हजार स्वर्ण-मुद्राएँ पुरस्कारके रूपमें शीघ्र प्रदान करो। इसके सिवा यदि और किसी वस्तुके लिये इनकी इच्छा हो तो उसे भी शीघ्र ही दे दो' ॥ १७-१८½ ॥

ददौ स शीघ्रं काकुत्स्थो बालयोर्वै पृथक् पृथक् ॥ १९ ॥
दीयमानं सुवर्णं तु नागृह्णीतां कुशीलवौ।

आज्ञा पाकर भरत शीघ्र ही उन दोनों बालकोंको अलग-अलग स्वर्णमुद्राएँ देने लगे; किंतु उस दिये जाते हुए सुवर्णको कुश और लवने नहीं ग्रहण किया ॥ १९½ ॥

ऊचतुश्च महात्मानौ किमनेनेति विस्मितौ ॥ २० ॥
वन्येन फलमूलेन निरतौ वनवासिनौ।
सुवर्णेन हिरण्येन किं करिष्यावहे वने ॥ २१ ॥

वे दोनों महामनस्वी बन्धु विस्मित होकर बोले—'इस धनकी क्या आवश्यकता है। हम वनवासी हैं। जंगली फल-मूलसे जीवन-निर्वाह करते हैं। सोना-चाँदी वनमें ले जाकर क्या करेंगे?' ॥ २०-२१ ॥

तथा तयोः प्रब्रुवतोः कौतूहलसमन्विताः।
श्रोतारश्चैव रामश्च सर्व एव सुविस्मिताः ॥ २२ ॥

उनके ऐसा कहनेपर सब श्रोताओंके मनमें बड़ा कौतूहल हुआ। श्रोता और श्रीराम सभी आश्चर्यचकित हो गये ॥ २२ ॥

तस्य चैवागमं रामः काव्यस्य श्रोतुमुत्सुकः।
पप्रच्छ तौ महातेजास्तावुभौ मुनिदारकौ ॥ २३ ॥

तब श्रीरामचन्द्रजी यह सुननेके लिये उत्सुक हुए कि इस काव्यकी उपलब्धि कहाँसे हुई है। फिर उन महातेजस्वी रघुनाथजीने दोनों मुनिकुमारोंसे पूछा— ॥ २३ ॥

किंप्रमाणमिदं काव्यं का प्रतिष्ठा महात्मनः।
कर्ता काव्यस्य महतः क्व चासौ मुनिपुङ्गवः ॥ २४ ॥

'इस महाकाव्यकी श्लोक-संख्या कितनी है? इसके रचयिता महात्मा कविका आवासस्थान कौन-सा है? इस महान् काव्यके कर्ता कौन मुनीश्वर हैं और वे कहाँ हैं?' ॥ २४ ॥

पृच्छन्तं राघवं वाक्यमूचतुर्मुनिदारकौ।
वाल्मीकिर्भगवान् कर्ता सम्प्राप्तो यज्ञसंविधम्।
येनेदं चरितं तुभ्यमशेषं सम्प्रदर्शितम् ॥ २५ ॥

इस प्रकार पूछते हुए श्रीरघुनाथजीसे वे दोनों मुनिकुमार बोले—'महाराज! जिस काव्यके द्वारा आपके इस सम्पूर्ण चरित्रका प्रदर्शन कराया गया है, उसके रचयिता भगवान् वाल्मीकि हैं और वे इस यज्ञस्थलमें पधारे हुए हैं ॥ २५ ॥

संनिबद्धं हि श्लोकानां चतुर्विंशत्सहस्रकम्।
उपाख्यानशतं चैव भार्गवेण तपस्विना ॥ २६ ॥

'उन तपस्वी कविके बनाये हुए इस महाकाव्यमें चौबीस हजार श्लोक और एक सौ उपाख्यान हैं ॥ २६ ॥

आदिप्रभृति वै राजन् पञ्चसर्गशतानि च।
काण्डानि षट्कृतानीह सोत्तराणि महात्मना ॥ २७ ॥

'राजन्! उन महात्माने आदिसे लेकर अन्ततक पाँच सौ सर्ग तथा छः काण्डोंका निर्माण किया है। इनके सिवा उन्होंने उत्तरकाण्डकी भी रचना की है॥ २७॥

कृतानि गुरुणास्माकमृषिणा चरितं तव।
प्रतिष्ठा जीवितं यावत् तावत् सर्वस्य वर्तते॥ २८॥

'हमारे गुरु महर्षि वाल्मीकिने ही उन सबका निर्माण किया है। उन्होंने आपके चरित्रको महाकाव्यका रूप दिया है। इसमें आपके जीवनतकको सारी बातें आ गयी हैं॥ २८॥

यदि बुद्धिः कृता राजञ्छ्रवणाय महारथ।
कर्मान्तरे क्षणीभूतस्तच्छृणुष्व सहानुजः॥ २९॥

'महारथी नरेश! यदि आपने इसे सुननेका विचार किया हो तो यज्ञ-कर्मसे अवकाश मिलनेपर इसके लिये निश्चित समय निकालिये और अपने भाइयोंके साथ बैठकर इसे नियमितरूपसे सुनिये'॥ २९॥

बाढमित्यब्रवीद् रामस्तौ चानुज्ञाप्य राघवम्।
प्रहृष्टौ जग्मतुः स्थानं यत्रास्ते मुनिपुङ्गवः॥ ३०॥

'तब श्रीरामचन्द्रजीने कहा—'बहुत अच्छा। हम इस काव्यको सुनेंगे।' तत्पश्चात् श्रीरघुनाथजीकी आज्ञा ले दोनों भाई कुश और लव प्रसन्नतापूर्वक उस स्थानपर गये, जहाँ मुनिवर वाल्मीकिजी ठहरे हुए थे॥ ३०॥

रामोऽपि मुनिभिः सार्धं पार्थिवैश्च महात्मभिः।
श्रुत्वा तद् गीतिमाधुर्यं कर्मशालामुपागमत्॥ ३१॥

श्रीरामचन्द्रजी भी महात्मा मुनियों और राजाओंके साथ उस मधुर संगीतको सुनकर कर्मशाला (यज्ञमण्डप) में चले गये॥ ३१॥

शुश्राव तत्तालल्योपपन्नं
सर्गान्वितं सुस्वरशब्दयुक्तम्।
तन्त्रीलयव्यञ्जनयोगयुक्तं
कुशीलवाभ्यां परिगीयमानम्॥ ३२॥

इस प्रकार प्रथम दिन कतिपय सर्गोंसे युक्त सुन्दर स्वर एवं मधुर शब्दोंसे पूर्ण, ताल और लयसे सम्पन्न तथा वीणाकी लयकी व्यञ्जनासे युक्त वह काव्यगान, जिसे कुश और लवने गाया था, श्रीरामने सुना॥ ३२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे चतुर्नवतितमः सर्गः॥ ९४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें चौरानवेवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ९४॥

पञ्चनवतितमः सर्गः

श्रीरामका सीतासे उनकी शुद्धता प्रमाणित करनेके लिये शपथ करानेका विचार

रामो बहून्यहान्येव तद् गीतं परमं शुभम्।
शुश्राव मुनिभिः सार्धं पार्थिवैः सह वानरैः॥ १॥

इस प्रकार श्रीरघुनाथजी ऋषियों, राजाओं और वानरोंके साथ कई दिनोंतक वह उत्तम रामायण-गान सुनते रहे॥ १॥

तस्मिन् गीते तु विज्ञाय सीतापुत्रौ कुशीलवौ।
तस्याः परिषदो मध्ये रामो वचनमब्रवीत्॥ २॥
दूतान्शुद्धसमाचारानाहूयात्ममनीषया।
मद् वचो ब्रूत गच्छध्वमितो भगवतोऽन्तिके॥ ३॥

उस कथासे ही उन्हें यह मालूम हुआ कि 'कुश और लव दोनों कुमार सीताके ही सुपुत्र हैं।' यह जानकर सभाके बीचमें बैठे हुए श्रीरामचन्द्रजीने शुद्ध आचार-विचारवाले दूतोंको बुलाया और अपनी बुद्धिसे विचारकर कहा—'तुमलोग यहाँसे भगवान् वाल्मीकि मुनिके पास जाओ और उनसे मेरा यह संदेश कहो॥ २-३॥

यदि शुद्धसमाचारा यदि वा वीतकल्मषा।
करोत्विहात्मनः शुद्धिमनुमान्य महामुनिम्॥ ४॥

'यदि सीताका चरित्र शुद्ध है और यदि उनमें किसी तरहका पाप नहीं है तो वे आप महामुनिकी अनुमति ले यहाँ आकर जनसमुदायमें अपनी शुद्धता प्रमाणित करें'॥ ४॥

छन्दं मुनेश्च विज्ञाय सीतायाश्च मनोगतम्।
प्रत्ययं दातुकामायास्ततः शंसत मे लघु॥ ५॥

'तुम इस विषयमें महर्षि वाल्मीकि तथा सीताके भी हार्दिक अभिप्रायको जानकर शीघ्र मुझे सूचित करो कि क्या वे यहाँ आकर अपनी शुद्धिका विश्वास दिलाना चाहती हैं॥ ५॥

श्वः प्रभाते तु शपथं मैथिली जनकात्मजा।
करोतु परिषन्मध्ये शोधनार्थं ममैव च॥ ६॥

'कल सबेरे मिथिलेशकुमारी जानकी भरी सभामें आवें और मेरा कलंक दूर करनेके लिये शपथ करें'॥ ६॥

श्रुत्वा तु राघवस्यैतद् वचः परममद्भुतम्।
दूताः सम्प्रययुर्बाढं यत्र वै मुनिपुङ्गवः॥ ७॥

श्रीरघुनाथजीका यह अत्यन्त अद्भुत वचन सुनकर दूत उस बाड़ेमें गये, जहाँ मुनिवर वाल्मीकि विराजमान थे॥ ७॥

ते प्रणम्य महात्मानं ज्वलन्तममितप्रभम्।
ऊचुस्ते रामवाक्यानि मृदूनि मधुराणि च॥ ८॥

महात्मा वाल्मीकि अमित तेजस्वी थे और अपने तेजसे अग्निके समान प्रज्वलित हो रहे थे। उन दूतोंने उन्हें प्रणाम करके श्रीरामचन्द्रजीके वचन मधुर एवं कोमल शब्दोंमें कह सुनाये॥ ८॥

तेषां तद् भाषितं श्रुत्वा रामस्य च मनोगतम्।
विज्ञाय सुमहातेजा मुनिर्वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ९ ॥

उन दूतोंकी वह बात सुनकर और श्रीरामके हार्दिक अभिप्रायको समझकर वे महातेजस्वी मुनि इस प्रकार बोले— ॥ ९ ॥

एवं भवतु भद्रं वो यथा वदति राघवः।
तथा करिष्यते सीता दैवतं हि पतिः स्त्रियाः ॥ १० ॥

'ऐसा ही होगा, तुमलोगोंका भला हो। श्रीरघुनाथजी जो आज्ञा देते हैं, सीता वही करेगी; क्योंकि पति स्त्रीके लिये देवता है' ॥ १० ॥

तथोक्ता मुनिना सर्वे राजदूता महौजसम्।
प्रत्येत्य राघवं सर्वं मुनिवाक्यं बभाषिरे ॥ ११ ॥

मुनिके ऐसा कहनेपर वे सब राजदूत महातेजस्वी श्रीरघुनाथजीके पास लौट आये। उन्होंने मुनिकी कही हुई सारी बातें ज्यों-की-त्यों कह सुनायीं ॥ ११ ॥

ततः प्रहृष्टः काकुत्स्थः श्रुत्वा वाक्यं महात्मनः।
ऋषींस्तत्र समेतांश्च राज्ञश्चैवाभ्यभाषत ॥ १२ ॥

महात्मा वाल्मीकिकी बातें सुनकर श्रीरघुनाथजीको बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने वहाँ आये हुए ऋषियों तथा राजाओंसे कहा— ॥ १२ ॥

भगवन्तः सशिष्या वै सानुगाश्च नराधिपाः।
पश्यन्तु सीताशपथं यश्चैवान्योऽपि काङ्क्षते ॥ १३ ॥

'आप सब पूज्यपाद मुनि शिष्योंसहित सभामें पधारें। सेवकोंसहित राजालोग भी उपस्थित हों तथा दूसरा भी जो कोई सीताकी शपथ सुनना चाहता हो, वह आ जाय। इस प्रकार सब लोग एकत्र होकर सीताका शपथ-ग्रहण देखें' ॥ १३ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राघवस्य महात्मनः।
सर्वेषामृषिमुख्यानां साधुवादो महानभूत् ॥ १४ ॥

महात्मा राघवेन्द्रका यह वचन सुनकर समस्त महर्षियोंके मुखसे महान् साधुवादकी ध्वनि गूँज उठी ॥ १४ ॥

राजानश्च महात्मानं प्रशंसन्ति स्म राघवम्।
उपपन्नं नरश्रेष्ठ त्वय्येव भुवि नान्यतः ॥ १५ ॥

राजालोग भी महात्मा रघुनाथजीकी प्रशंसा करते हुए बोले—'नरश्रेष्ठ! इस पृथ्वीपर सभी उत्तम बातें केवल आपमें ही सम्भव हैं, दूसरे किसीमें नहीं' ॥ १५ ॥

एवं विनिश्चयं कृत्वा श्वोभूत इति राघवः।
विसर्जयामास तदा सर्वांस्ताञ्छत्रुसूदनः ॥ १६ ॥

इस प्रकार दूसरे दिन सीतासे शपथ लेनेका निश्चय करके शत्रुसूदन श्रीरामने उस समय सबको विदा कर दिया ॥ १६ ॥

इति सम्प्रविचार्य राजसिंहः
श्वोभूते शपथस्य निश्चयम्।
विससर्ज मुनीन् नृपांश्च सर्वान्
स महात्मा महतो महानुभावः ॥ १७ ॥

इस प्रकार दूसरे दिन सवेरे सीतासे शपथ लेनेका निश्चय करके महानुभाव महात्मा राजसिंह श्रीरामने उन सब मुनियों और नरेशोंको अपने-अपने स्थानपर जानेकी अनुमति दे दी ॥ १७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे पञ्चनवतितमः सर्गः ॥ ९५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें पञ्चानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९५ ॥

षण्णवतितमः सर्गः

महर्षि वाल्मीकिद्वारा सीताकी शुद्धताका समर्थन

तस्यां रजन्यां व्युष्टायां यज्ञवाटं गतो नृपः।
ऋषीन् सर्वान् महातेजाः शब्दापयति राघवः ॥ १ ॥

रात बीती, सवेरा हुआ और महातेजस्वी राजा श्रीरामचन्द्रजी यज्ञशालामें पधारे। उस समय उन्होंने समस्त ऋषियोंको बुलवाया ॥ १ ॥

वसिष्ठो वामदेवश्च जाबालिरथ काश्यपः।
विश्वामित्रो दीर्घतमा दुर्वासाश्च महातपाः ॥ २ ॥
पुलस्त्योऽपि तथा शक्तिर्भार्गवश्चैव वामनः।
मार्कण्डेयश्च दीर्घायुर्मौद्गल्यश्च महायशाः ॥ ३ ॥
गर्गश्च च्यवनश्चैव शतानन्दश्च धर्मवित्।
भरद्वाजश्च तेजस्वी अग्निपुत्रश्च सुप्रभः ॥ ४ ॥
नारदः पर्वतश्चैव गौतमश्च महायशाः।
कात्यायनः सुयज्ञश्च ह्यगस्त्यस्तपसां निधिः ॥ ५ ॥
एते चान्ये च बहवो मुनयः संशितव्रताः।
कौतूहलसमाविष्टाः सर्व एव समागताः ॥ ६ ॥

वसिष्ठ, वामदेव, जाबालि, काश्यप, विश्वामित्र, दीर्घतमा, महातपस्वी दुर्वासा, पुलस्त्य, शक्ति, भार्गव, वामन, दीर्घजीवी मार्कण्डेय, महायशस्वी मौद्गल्य, गर्ग, च्यवन, धर्मज्ञ शतानन्द, तेजस्वी भरद्वाज, अग्निपुत्र सुप्रभ, नारद, पर्वत, महायशस्वी गौतम, कात्यायन, सुयज्ञ और तपोनिधि अगस्त्य—ये तथा दूसरे कठोर व्रतका पालन करनेवाले सभी बहुसंख्यक महर्षि कौतूहलवश वहाँ एकत्र हुए ॥ २—६ ॥

राक्षसाश्च महावीर्या वानराश्च महाबलाः।
सर्व एव समाजग्मुर्महात्मानः कुतूहलात् ॥ ७ ॥

महापराक्रमी राक्षस और महाबली वानर—ये सभी महामना कौतूहलवश वहाँ आये ॥ ७ ॥

क्षत्रिया ये च शूद्राश्च वैश्याश्चैव सहस्रशः।
नानादेशगताश्चैव ब्राह्मणाः संशितव्रताः॥ ८॥

नाना देशोंसे पधारे हुए तीक्ष्ण व्रतधारी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सहस्रोंकी संख्यामें वहाँ उपस्थित हुए॥ ८॥

ज्ञाननिष्ठाः कर्मनिष्ठा योगनिष्ठास्तथापरे।
सीताशपथवीक्षार्थं सर्व एव समागताः॥ ९॥

सीताजीका शपथ-ग्रहण देखनेके लिये ज्ञाननिष्ठ, कर्मनिष्ठ और योगनिष्ठ सभी तरहके लोग पधारे थे॥ ९॥

तदा समागतं सर्वमश्मभूतमिवाचलम्।
श्रुत्वा मुनिवरस्तूर्णं ससीतः समुपागमत्॥ १०॥

राजसभामें एकत्र हुए सब लोग पत्थरकी भाँति निश्चल होकर बैठे हैं—यह सुनकर मुनिवर वाल्मीकि सीताजीको साथ लेकर तुरंत वहाँ आये॥ १०॥

तमृषिं पृष्ठतः सीता अन्वगच्छदवाङ्मुखी।
कृताञ्जलिर्बाष्पकला कृत्वा रामं मनोगतम्॥ ११॥

महर्षिके पीछे सीता सिर झुकाये चली आ रही थीं। उनके दोनों हाथ जुड़े थे और नेत्रोंसे आँसू झर रहे थे। वे अपने हृदयमन्दिरमें बैठे हुए श्रीरामका चिन्तन कर रही थीं॥ ११॥

तां दृष्ट्वा श्रुतिमायान्तीं ब्रह्माणमनुगामिनीम्।
वाल्मीकेः पृष्ठतः सीतां साधुवादो महानभूत्॥ १२॥

वाल्मीकिके पीछे-पीछे आती हुई सीता ब्रह्माजीका अनुसरण करनेवाली श्रुतिके समान जान पड़ती थीं। उन्हें देखकर वहाँ धन्य-धन्यकी भारी आवाज गूँज उठी॥ १२॥

ततो हलहलाशब्दः सर्वेषामेवमाबभौ।
दुःखजन्मविशालेन शोकेनाकुलितात्मनाम्॥ १३॥

उस समय समस्त दर्शकोंका हृदय दुःख देनेवाले महान् शोकसे व्याकुल था। उन सबका कोलाहल सब ओर व्याप्त हो गया॥ १३॥

साधु रामेति केचित् तु साधु सीतेति चापरे।
उभावेव च तत्रान्ये प्रेक्षकाः सम्प्रचुक्रुशुः॥ १४॥

कोई कहते थे—'श्रीराम! तुम धन्य हो।' दूसरे कहते थे—'देवि सीते! तुम धन्य हो' तथा वहाँ कुछ अन्य दर्शक भी ऐसे थे, जो सीता और राम दोनोंको उच्चस्वरसे साधुवाद दे रहे थे॥ १४॥

ततो मध्ये जनौघस्य प्रविश्य मुनिपुङ्गवः।
सीतासहायो वाल्मीकिरिति होवाच राघवम्॥ १५॥

तब उस जनसमुदायके बीचमें सीतासहित प्रवेश करके मुनिवर वाल्मीकि श्रीरघुनाथजीसे इस प्रकार बोले—॥ १५॥

इयं दाशरथे सीता सुव्रता धर्मचारिणी।
अपवादात् परित्यक्ता ममाश्रमसमीपतः॥ १६॥

'दशरथनन्दन! यह सीता उत्तम व्रतका पालन करनेवाली और धर्मपरायणा है। आपने लोकापवादसे डरकर इसे मेरे आश्रमके समीप त्याग दिया था॥ १६॥

लोकापवादभीतस्य तव राम महाव्रत।
प्रत्ययं दास्यते सीता तामनुज्ञातुमर्हसि॥ १७॥

'महान् व्रतधारी श्रीराम! लोकापवादसे डरे हुए आपको सीता अपनी शुद्धताका विश्वास दिलायेगी। इसके लिये आप इसे आज्ञा दें॥ १७॥

इमौ तु जानकीपुत्रावुभौ च यमजातकौ।
सुतौ तवैव दुर्धर्षौ सत्यमेतद् ब्रवीमि ते॥ १८॥

'ये दोनों कुमार कुश और लव जानकीके गर्भसे जुड़वे पैदा हुए हैं। ये आपके ही पुत्र हैं और आपके ही समान दुर्धर्ष वीर हैं, यह मैं आपको सच्ची बात बता रहा हूँ॥ १८॥

प्रचेतसोऽहं दशमः पुत्रो राघवनन्दन।
न स्मराम्यनृतं वाक्यमिमौ तु तव पुत्रकौ॥ १९॥

'रघुकुलनन्दन! मैं प्रचेता (वरुण) का दसवाँ पुत्र हूँ। मेरे मुँहसे कभी झूठ बात निकली हो, इसकी याद मुझे नहीं है। मैं सत्य कहता हूँ ये दोनों आपके ही पुत्र हैं॥ १९॥

बहुवर्षसहस्राणि तपश्चर्या मया कृता।
नोपाश्नीयां फलं तस्या दुष्टेयं यदि मैथिली॥ २०॥

'मैंने कई हजार वर्षोंतक भारी तपस्या की है। यदि मिथिलेशकुमारी सीतामें कोई दोष हो तो मुझे उस तपस्याका फल न मिले॥ २०॥

मनसा कर्मणा वाचा भूतपूर्वं न किल्बिषम्।
तस्याहं फलमश्नामि अपापा मैथिली यदि॥ २१॥

'मैंने मन, वाणी और क्रियाद्वारा भी पहले कभी कोई पाप नहीं किया है। यदि मिथिलेशकुमारी सीता निष्पाप हों, तभी मुझे अपने उस पापशून्य पुण्यकर्मका फल प्राप्त हो॥ २१॥

अहं पञ्चसु भूतेषु मनःषष्ठेषु राघव।
विचिन्त्य सीता शुद्धेति जग्राह वननिर्झरे॥ २२॥

'रघुनन्दन! मैंने अपनी पाँचों इन्द्रियों और मन-बुद्धिके द्वारा सीताकी शुद्धताका भलीभाँति निश्चय करके ही इसे अपने संरक्षणमें लिया था। यह मुझे जंगलमें एक झरनेके पास मिली थी॥ २२॥

इयं शुद्धसमाचारा अपापा पतिदेवता।
लोकापवादभीतस्य प्रत्ययं तव दास्यति॥ २३॥

'इसका आचरण सर्वथा शुद्ध है। पाप इसे छू भी नहीं सका है तथा यह पतिको ही देवता मानती है। अतः

लोकापवादसे डरे हुए आपको अपनी शुद्धताका विश्वास दिलायेगी ॥ २३ ॥

तस्मादियं नरवरात्मज शुद्धभावा
दिव्येन दृष्टिविषयेण मया प्रविष्टा ।
लोकापवादकलुषीकृतचेतसा या
त्यक्ता त्वया प्रियतमा विदितापि शुद्धा ॥ २४ ॥

'राजकुमार ! मैंने दिव्य दृष्टिसे यह जान लिया था कि सीताका भाव और विचार परम पवित्र है; इसलिये यह मेरे आश्रममें प्रवेश पा सकी है। आपको भी यह प्राणोंसे अधिक प्यारी है और आप यह भी जानते हैं कि सीता सर्वथा शुद्ध है तथापि लोकापवादसे कलुषितचित्त होकर आपने इसका त्याग किया है' ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे षण्णवतितमः सर्गः ॥ ९६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें छानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९६ ॥

—★—

सप्तनवतितमः सर्गः

सीताका शपथ-ग्रहण और रसातलमें प्रवेश

वाल्मीकिनैवमुक्तस्तु राघवः प्रत्यभाषत ।
प्राञ्जलिर्जगतो मध्ये दृष्ट्वा तां वरवर्णिनीम् ॥ १ ॥

महर्षि वाल्मीकिके ऐसा कहनेपर श्रीरघुनाथजी सुन्दरी सीतादेवीकी ओर एक बार दृष्टि डालकर उस जनसमुदायके बीच हाथ जोड़कर बोले— ॥ १ ॥

एवमेतन्महाभाग यथा वदसि धर्मवित् ।
प्रत्ययस्तु मम ब्रह्मंस्तव वाक्यैरकल्मषैः ॥ २ ॥

'महाभाग ! आप धर्मके ज्ञाता हैं। सीताके सम्बन्धमें आप जैसा कह रहे हैं, वह सब ठीक है। ब्रह्मन् ! आपके इन निर्दोष वचनोंसे मुझे जनकनन्दिनीकी शुद्धतापर पूरा विश्वास हो गया है ॥ २ ॥

प्रत्ययश्च पुरा वृत्तो वैदेह्याः सुरसंनिधौ ।
शपथश्च कृतस्तत्र तेन वेश्म प्रवेशिता ॥ ३ ॥

'एक बार पहले भी देवताओंके समीप विदेहकुमारीकी शुद्धताका विश्वास मुझे प्राप्त हो चुका है। उस समय सीताने अपनी शुद्धिके लिये शपथ की थी, जिसके कारण मैंने इन्हें अपने भवनमें स्थान दिया ॥ ३ ॥

लोकापवादो बलवान् येन त्यक्ता हि मैथिली ।
सेयं लोकभयाद् ब्रह्मन्नपापेत्यभिजानता ।
परित्यक्ता मया सीता तद् भवान् क्षन्तुमर्हति ॥ ४ ॥

'किंतु आगे चलकर फिर बड़े जोरका लोकापवाद उठा, जिससे विवश होकर मुझे मिथिलेशकुमारीका त्याग करना पड़ा। ब्रह्मन् ! यह जानते हुए भी कि सीता सर्वथा निष्पाप हैं, मैंने केवल समाजके भयसे इन्हें छोड़ दिया था; अतः आप मेरे इस अपराधको क्षमा करें ॥ ४ ॥

जानामि चेमौ पुत्रौ मे यमजातौ कुशीलवौ ।
शुद्धायां जगतो मध्ये मैथिल्यां प्रीतिरस्तु मे ॥ ५ ॥

'मैं यह भी जानता हूँ कि ये जुड़वे उत्पन्न हुए कुमार कुश और लव मेरे ही पुत्र हैं, तथापि जनसमुदायमें शुद्ध प्रमाणित होनेपर ही मिथिलेशकुमारीमें मेरा प्रेम हो सकता है' ॥ ५ ॥

अभिप्रायं तु विज्ञाय रामस्य सुरसत्तमाः ।
सीतायाः शपथे तस्मिन् महेन्द्राद्या महौजसः ॥ ६ ॥
पितामहं पुरस्कृत्य सर्व एव समागताः ।

श्रीरामचन्द्रजीके अभिप्रायको जानकर सीताके शपथके समय महेन्द्र आदि सभी मुख्य-मुख्य महातेजस्वी देवता पितामह ब्रह्माजीको आगे करके वहाँ आ गये ॥ ६½ ॥

आदित्या वसवो रुद्रा विश्वेदेवा मरुद्गणाः ॥ ७ ॥
साध्याश्च देवाः सर्वे ते सर्वे च परमर्षयः ।
नागाः सुपर्णाः सिद्धाश्च ते सर्वे हृष्टमानसाः ॥ ८ ॥
सीताशपथसम्भ्रान्ताः सर्व एव समागताः ।

आदित्य, वसु, रुद्र, विश्वेदेव, मरुद्गण, समस्त साध्यदेव, सभी महर्षि, नाग, गरुड़ और सम्पूर्ण सिद्धगण प्रसन्नचित्त हो सीताजीके शपथ-ग्रहणको देखनेके लिये घबराये हुए-से वहाँ आ पहुँचे ॥ ७-८½ ॥

दृष्ट्वा देवानृषींश्चैव राघवः पुनरब्रवीत् ॥ ९ ॥
प्रत्ययो मे सुरश्रेष्ठ ऋषिवाक्यैरकल्मषैः ।
शुद्धायां जगतो मध्ये वैदेह्यां प्रीतिरस्तु मे ॥ १० ॥

देवताओं तथा ऋषियोंको उपस्थित देख श्रीरघुनाथजी फिर बोले—'सुरश्रेष्ठगण ! यद्यपि मुझे महर्षि वाल्मीकिके निर्दोष वचनोंसे ही पूरा विश्वास हो गया है, तथापि जन-समाजके बीच विदेहकुमारीकी विशुद्धता प्रमाणित हो जानेपर मुझे अधिक प्रसन्नता होगी' ॥ ९-१० ॥

ततो वायुः शुभः पुण्यो दिव्यगन्धो मनोरमः ।
तं जनौघं सुरश्रेष्ठो ह्लादयामास सर्वतः ॥ ११ ॥

तदनन्तर दिव्य सुगन्धसे परिपूर्ण, मनको आनन्द देनेवाले परम पवित्र एवं शुभकारक सुरश्रेष्ठ वायुदेव मन्दगतिसे प्रवाहित हो सब ओरसे वहाँके जनसमुदायको आह्लाद प्रदान करने लगे ॥ ११ ॥

तदद्भुतमिवाचिन्त्यं निरीक्षन्त समाहिताः ।
मानवाः सर्वराष्ट्रेभ्यः पूर्वं कृतयुगे यथा ॥ १२ ॥

समस्त राष्ट्रोंसे आये हुए मनुष्योंने एकाग्रचित्त हो प्राचीन कालके सत्ययुगकी भाँति यह अद्भुत और अचिन्त्य-सी घटना अपनी आँखों देखी ॥ १२ ॥

सर्वान् समागतान् दृष्ट्वा सीता काषायवासिनी ।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यमधोदृष्टिरवाङ्मुखी ॥ १३ ॥

उस समय सीताजी तपस्विनियोंके अनुरूप गेरुआ वस्त्र धारण किये हुए थीं। सबको उपस्थित जानकर वे हाथ जोड़, दृष्टि और मुखको नीचे किये बोलीं— ॥ १३ ॥

यथाहं राघवादन्यं मनसापि न चिन्तये ।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥ १४ ॥

'मैं श्रीरघुनाथजीके सिवा दूसरे किसी पुरुषका (स्पर्श तो दूर रहा) मनसे चिन्तन भी नहीं करती; यदि यह सत्य है तो भगवती पृथ्वीदेवी मुझे अपनी गोदमें स्थान दें ॥ १४ ॥

मनसा कर्मणा वाचा यथा रामं समर्चये ।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥ १५ ॥

'यदि मैं मन, वाणी और क्रियाके द्वारा केवल श्रीरामकी ही आराधना करती हूँ तो भगवती पृथ्वीदेवी मुझे अपनी गोदमें स्थान दें ॥ १५ ॥

यथैतत् सत्यमुक्तं मे वेद्मि रामात् परं न च ।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥ १६ ॥

'भगवान् श्रीरामको छोड़कर मैं दूसरे किसी पुरुषको नहीं जानती, मेरी कही हुई यह बात यदि सत्य हो तो भगवती पृथ्वीदेवी मुझे अपनी गोदमें स्थान दें' ॥ १६ ॥

तथा शपन्त्यां वैदेह्यां प्रादुरासीत् तदद्भुतम् ।
भूतलादुत्थितं दिव्यं सिंहासनमनुत्तमम् ॥ १७ ॥

विदेहकुमारी सीताके इस प्रकार शपथ करते ही भूतलसे एक अद्भुत सिंहासन प्रकट हुआ, जो बड़ा ही सुन्दर और दिव्य था ॥ १७ ॥

ध्रियमाणं शिरोभिस्तु नागैरमितविक्रमैः ।
दिव्यं दिव्येन वपुषा दिव्यरत्नविभूषितैः ॥ १८ ॥

दिव्य रत्नोंसे विभूषित महापराक्रमी नागोंने दिव्य रूप धारण करके उस दिव्य सिंहासनको अपने सिरपर धारण कर रखा था ॥ १८ ॥

तस्मिंस्तु धरणी देवी बाहुभ्यां गृह्य मैथिलीम् ।
स्वागतेनाभिनन्द्यैनामासने चोपवेशयत् ॥ १९ ॥

सिंहासनके साथ ही पृथ्वीकी अधिष्ठात्री देवी भी दिव्य रूपसे प्रकट हुईं। उन्होंने मिथिलेशकुमारी सीताको अपनी दोनों भुजाओंसे गोदमें उठा लिया और स्वागतपूर्वक उनका अभिनन्दन करके उन्हें उस सिंहासनपर बिठा दिया ॥ १९ ॥

तामासनगतां दृष्ट्वा प्रविशन्तीं रसातलम् ।
पुष्पवृष्टिरविच्छिन्ना दिव्या सीतामवाकिरत् ॥ २० ॥

सिंहासनपर बैठकर जब सीतादेवी रसातलमें प्रवेश करने लगीं, उस समय देवताओंने उनकी ओर देखा। फिर तो आकाशसे उनके ऊपर दिव्य पुष्पोंकी लगातार वर्षा होने लगी ॥ २० ॥

साधुकारश्च सुमहान् देवानां सहसोत्थितः ।
साधुसाध्विति वै सीते यस्यास्ते शीलमीदृशम् ॥ २१ ॥

देवताओंके मुँहसे सहसा 'धन्य-धन्य' का महान् शब्द प्रकट हुआ। वे कहने लगे—'सीते! तुम धन्य हो, धन्य हो। तुम्हारा शील-स्वभाव इतना सुन्दर और ऐसा पवित्र है' ॥ २१ ॥

एवं बहुविधा वाचो ह्यन्तरिक्षगताः सुराः ।
व्याजह्रुर्हृष्टमनसो दृष्ट्वा सीताप्रवेशनम् ॥ २२ ॥

सीताका रसातलमें प्रवेश देखकर आकाशमें खड़े हुए देवता प्रसन्नचित्त हो इस तरहकी बहुत-सी बातें कहने लगे ॥ २२ ॥

यज्ञवाटगताश्चापि मुनयः सर्व एव ते ।
राजानश्च नरव्याघ्रा विस्मयान्नोपरेमिरे ॥ २३ ॥

यज्ञमण्डपमें पधारे हुए सभी मुनि और नरश्रेष्ठ नरेश भी आश्चर्यसे भर गये ॥ २३ ॥

अन्तरिक्षे च भूमौ च सर्वे स्थावरजङ्गमाः ।
दानवाश्च महाकायाः पाताले पन्नगाधिपाः ॥ २४ ॥

अन्तरिक्षमें और भूतलपर सभी चराचर प्राणी तथा पातालमें विशालकाय दानव और नागराज भी आश्चर्यचकित हो उठे ॥ २४ ॥

केचिद् विनेदुः संहृष्टाः केचिद् ध्यानपरायणाः ।
केचिद् रामं निरीक्षन्ते केचित् सीतामचेतसः ॥ २५ ॥

कोई हर्षनाद करने लगे, कोई ध्यानमग्न हो गये, कोई श्रीरामकी ओर देखने लगे और कोई हक्के-बक्के-से होकर सीताजीकी ओर निहारने लगे ॥ २५ ॥

सीताप्रवेशनं दृष्ट्वा तेषामासीत् समागमः ।
तन्मुहूर्तमिवात्यर्थं समं सम्मोहितं जगत् ॥ २६ ॥

सीताका भूतलमें प्रवेश देखकर वहाँ आये हुए सब लोग हर्ष, शोक आदिमें डूब गये। दो घड़ीतक वहाँका सारा जनसमुदाय अत्यन्त मोहाच्छन्न-सा हो गया ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे सप्तनवतितमः सर्गः ॥ ९७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें सत्तानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९७ ॥

—★—

अष्टनवतितमः सर्गः

सीताके लिये श्रीरामका खेद, ब्रह्माजीका उन्हें समझाना और उत्तरकाण्डका शेष अंश सुननेके लिये प्रेरित करना

रसातलं प्रविष्टायां वैदेह्यां सर्ववानराः ।
चुक्रुशुः साधुसाध्वीति मुनयो रामसंनिधौ ॥ १ ॥

विदेहकुमारी सीताके रसातलमें प्रवेश कर जानेपर श्रीरामके समीप बैठे हुए सम्पूर्ण वानर तथा ऋषि-मुनि कहने लगे—'साध्वी सीते ! तुम धन्य हो' ॥ १ ॥

दण्डकाष्ठमवष्टभ्य बाष्पव्याकुलितेक्षणः ।
अवाक्शिरा दीनमना रामो ह्यासीत् सुदुःखितः ॥ २ ॥

किंतु स्वयं भगवान् श्रीराम बहुत दुःखी हुए। उनका मन उदास हो गया और वे गुल्मके दण्डेका सहारा लिये खड़े हो सिर झुकाये नेत्रोंसे आँसू बहाने लगे ॥ २ ॥

स रुदित्वा चिरं कालं बहुशो बाष्पमुत्सृजन् ।
क्रोधशोकसमाविष्टो रामो वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥

बहुत देरतक रोकर बारम्बार आँसू बहाते हुए क्रोध और शोकसे युक्त हो श्रीरामचन्द्रजी इस प्रकार बोले— ॥ ३ ॥

अभूतपूर्वं शोकं मे मनः स्प्रष्टुमिवेच्छति ।
पश्यतो मे यथा नष्टा सीता श्रीरिव रूपिणी ॥ ४ ॥

'आज मेरा मन अभूतपूर्व शोकमें डूबना चाहता है; क्योंकि इस समय मेरी आँखोंके सामनेसे मूर्तिमती लक्ष्मीके समान सीता अदृश्य हो गयी ॥ ४ ॥

सादर्शनं पुरा सीता लङ्कां पारे महोदधेः ।
ततश्चापि मयाऽऽनीता किं पुनर्वसुधातलात् ॥ ५ ॥

'पहली बार सीता समुद्रके उस पार लङ्कामें जाकर मेरी आँखोंसे ओझल हुई थी। किंतु जब मैं वहाँसे भी उन्हें लौटा लाया, तब पृथ्वीके भीतरसे ले आना कौन बड़ी बात है ?' ॥ ५ ॥

वसुधे देवि भवति सीता निर्यात्यतां मम ।
दर्शयिष्यामि वा रोषं यथा मामवगच्छसि ॥ ६ ॥

(यों कहकर वे पृथ्वीसे बोले—) 'पूजनीये भगवति वसुन्धरे ! मुझे सीताको लौटा दो; अन्यथा मैं अपना क्रोध दिखाऊँगा। मेरा प्रभाव कैसा है ? यह तुम जानती हो ॥ ६ ॥

कामं श्वश्रूर्ममैव त्वं त्वत्सकाशात् तु मैथिली ।
कर्षता फालहस्तेन जनकेनोद्धृता पुरा ॥ ७ ॥

'देवि ! वास्तवमें तुम्हीं मेरी सास हो। राजा जनक हाथमें फाल लिये तुम्हींको जोत रहे थे, जिससे तुम्हारे भीतरसे सीताका प्रादुर्भाव हुआ ॥ ७ ॥

तस्मान्निर्यात्यतां सीता विवरं वा प्रयच्छ मे ।
पाताले नाकपृष्ठे वा वसेयं सहितस्तया ॥ ८ ॥

'अतः या तो तुम सीताको लौटा दो अथवा मेरे लिये भी अपनी गोदमें जगह दो; क्योंकि पाताल हो या स्वर्ग, मैं सीताके साथ ही रहूँगा ॥ ८ ॥

आनय त्वं हि तां सीतां मत्तोऽहं मैथिलीकृते ।
न मे दास्यसि चेत् सीतां यथारूपां महीतले ॥ ९ ॥
सपर्वतवनां कृत्स्नां विधमिष्यामि ते स्थितिम् ।
नाशयिष्याम्यहं भूमिं सर्वमापो भवन्त्विह ॥ १० ॥

'तुम मेरी सीताको लाओ ! मैं मिथिलेशकुमारीके लिये उन्मत्त-सा विक्षिप्त हो गया हूँ। यदि इस पृथ्वीपर तुम उसी रूपमें सीताको मुझे लौटा नहीं दोगी तो मैं पर्वत और वनोंसहित तुम्हारी स्थितिको नष्ट कर दूँगा। सारी भूमिका विनाश कर डालूँगा। फिर भले ही सब कुछ जलमय ही हो जाय' ॥ ९-१० ॥

एवं ब्रुवाणे काकुत्स्थे क्रोधशोकसमन्विते ।
ब्रह्मा सुरगणैः सार्धमुवाच रघुनन्दनम् ॥ ११ ॥

श्रीरघुनाथजी जब क्रोध और शोकसे युक्त हो इस प्रकारकी बातें कहने लगे, तब देवताओंसहित ब्रह्माजीने उन रघुकुलनन्दन श्रीरामसे कहा— ॥ ११ ॥

राम राम न संतापं कर्तुमर्हसि सुव्रत ।
स्मर त्वं पूर्वकं भावं मन्त्रं चामित्रकर्शन ॥ १२ ॥

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले श्रीराम ! आप मनमें संताप न करें। शत्रुसूदन ! अपने पूर्व स्वरूपका स्मरण करें ॥ १२ ॥

न खलु त्वां महाबाहो स्मारयेयमनुत्तमम् ।
इमं मुहूर्तं दुर्धर्ष स्मर त्वं जन्म वैष्णवम् ॥ १३ ॥

'महाबाहो ! मैं आपको आपके परम उत्तम स्वरूपका स्मरण नहीं दिला रहा हूँ। दुर्धर्ष वीर ! केवल यह अनुरोध कर रहा हूँ कि इस समय आप ध्यानके द्वारा अपने वैष्णव स्वरूपका स्मरण करें ॥ १३ ॥

सीता हि विमला साध्वी तव पूर्वपरायणा ।
नागलोके सुखं प्रायात् त्वदाश्रयतपोबलात् ॥ १४ ॥

'साध्वी सीता सर्वथा शुद्ध हैं। वे पहलेसे ही आपके ही परायण रहती हैं। आपका आश्रय लेना ही उनका तपोबल है। उसके द्वारा वे सुखपूर्वक नागलोकके बहाने आपके परमधाममें चली गयी हैं ॥ १४ ॥

स्वर्गे ते संगमो भूयो भविष्यति न संशयः ।
अस्यास्तु परिषन्मध्ये यद् ब्रवीमि निबोध तत् ॥ १५ ॥

'अब पुनः साकेतधाममें आपकी उनसे भेंट होगी; इसमें संशय नहीं है। अब इस सभामें मैं आपसे जो कुछ कहता हूँ, उसपर ध्यान दीजिये ॥ १५ ॥

एतदेव हि काव्यं ते काव्यानामुत्तमं श्रुतम् ।
सर्वं विस्तरतो राम व्याख्यास्यति न संशयः ॥ १६ ॥

'आपके चरित्रसे सम्बन्ध रखनेवाला यह काव्य, जिसे

आपने सुना है, सब काव्योंमें उत्तम है। श्रीराम! यह आपके सारे जीवन-वृत्तका विस्तारसे ज्ञान करायेगा, इसमें संदेह नहीं है॥ १६॥

जन्मप्रभृति ते वीर सुखदुःखोपसेवनम्।
भविष्यदुत्तरं चेह सर्वं वाल्मीकिना कृतम्॥ १७॥

'वीर! आविर्भावकालसे ही जो आपके द्वारा सुख-दुःखोंका (स्वेच्छासे) सेवन हुआ है, उसका तथा सीताके अन्तर्धान होनेके बाद जो भविष्यमें होनेवाली बातें हैं, उनका भी महर्षि वाल्मीकिने इसमें पूर्णरूपसे वर्णन कर दिया है॥ १७॥

आदिकाव्यमिदं राम त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।
नह्यन्योऽर्हति काव्यानां यशोभाग् राघवादृते॥ १८॥

'श्रीराम! यह आदिकाव्य है। इस सम्पूर्ण काव्यकी आधारशिला आप ही हैं—आपके ही जीवनवृत्तान्तको लेकर इस काव्यकी रचना हुई है। रघुकुलकी शोभा बढ़ानेवाले आपके सिवा दूसरा कोई ऐसा यशस्वी पुरुष नहीं है, जो काव्योंका नायक होनेका अधिकारी हो॥ १८॥

श्रुतं ते पूर्वमेतद्धि मया सर्वं सुरैः सह।
दिव्यमद्भुतरूपं च सत्यवाक्यमनावृतम्॥ १९॥

'देवताओंके साथ मैंने पहले आपसे सम्बन्धित इस सम्पूर्ण काव्यका श्रवण किया है। यह दिव्य और अद्भुत है। इसमें कोई भी बात छिपायी नहीं गयी है। इसमें कही गयी सारी बातें सत्य हैं॥ १९॥

स त्वं पुरुषशार्दूल धर्मेण सुसमाहितः।
शेषं भविष्यं काकुत्स्थ काव्यं रामायणं शृणु॥ २०॥

'पुरुषसिंह रघुनन्दन! आप धर्मपूर्वक एकाग्रचित्त हो भविष्यकी घटनाओंसे युक्त शेष रामायण काव्यको भी सुन लीजिये॥ २०॥

उत्तरं नाम काव्यस्य शेषमत्र महायशः।
तच्छृणुष्व महातेज ऋषिभिः सार्धमुत्तमम्॥ २१॥

'महायशस्वी एवं महातेजस्वी श्रीराम! इस काव्यके अन्तिम भागका नाम उत्तरकाण्ड है। उस उत्तम भागको आप ऋषियोंके साथ सुनिये॥ २१॥

न खल्वन्येन काकुत्स्थ श्रोतव्यमिदमुत्तमम्।
परमऋषिणा वीर त्वयैव रघुनन्दन॥ २२॥

'काकुत्स्थवीर रघुनन्दन! आप सर्वोत्कृष्ट राजर्षि हैं। अतः पहले आपको ही यह उत्तम काव्य सुनना चाहिये, दूसरेको नहीं॥ २२॥

एतावदुक्त्वा वचनं ब्रह्मा त्रिभुवनेश्वरः।
जगाम त्रिदिवं देवो देवैः सह सबान्धवैः॥ २३॥

इतना कहकर तीनों लोकोंके स्वामी ब्रह्माजी देवताओं एवं उनके बन्धु-बान्धवोंके साथ अपने लोकको चले गये॥ २३॥

ये च तत्र महात्मान ऋषयो ब्राह्मलौकिकाः।
ब्रह्मणा समनुज्ञाता न्यवर्तन्त महौजसः॥ २४॥
उत्तरं श्रोतुमनसो भविष्यं यच्च राघवे।

वहाँ जो ब्रह्मलोकमें रहनेवाले महातेजस्वी महात्मा ऋषि विद्यमान थे, वे ब्रह्माजीकी आज्ञा पाकर भावी वृत्तान्तोंसे युक्त उत्तरकाण्डकी सुननेकी इच्छासे लौट आये (उनके साथ ब्रह्मलोकमें नहीं गये)॥ २४½॥

ततो रामः शुभां वाणीं देवदेवस्य भाषिताम्॥ २५॥
श्रुत्वा परमतेजस्वी वाल्मीकिमिदमब्रवीत्।

तत्पश्चात् देवाधिदेव ब्रह्माजीकी कही हुई उस शुभ वाणीको याद करके परम तेजस्वी श्रीरामजीने महर्षि वाल्मीकिसे इस प्रकार कहा—॥ २५½॥

भगवञ्श्रोतुमनस ऋषयो ब्राह्मलौकिकाः॥ २६॥
भविष्यदुत्तरं यन्मे श्वोभूते सम्प्रवर्तताम्।

'भगवन्! ये ब्रह्मलोकके निवासी महर्षि मेरे भावी चरित्रोंसे युक्त उत्तरकाण्डका शेष अंश सुनना चाहते हैं। अतः कल सबेरेसे ही उसका गान आरम्भ हो जाना चाहिये'॥ २६½॥

एवं विनिश्चयं कृत्वा सम्प्रगृह्य कुशीलवौ॥ २७॥
तं जनौघं विसृज्याथ पर्णशालामुपागमत्।
तामेव शोचतः सीता सा व्यतीता च शर्वरी॥ २८॥

ऐसा निश्चय करके श्रीरघुनाथजीने जनसमुदायको बिदा कर दिया और कुश तथा लवको साथ लेकर वे अपनी पर्णशालामें आये। वहाँ सीताका ही चिन्तन करते-करते उन्होंने रात व्यतीत की॥ २७-२८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डेऽष्टनवतितमः सर्गः॥ ९८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें अट्ठानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ९८॥

—★—

एकोनशततमः सर्गः

सीताके रसातल-प्रवेशके पश्चात् श्रीरामकी जीवनचर्या, रामराज्यकी स्थिति तथा माताओंके परलोक-गमन आदिका वर्णन

रजन्यां तु प्रभातायां समानीय महामुनीन्।
गीयतामविशङ्काभ्यां रामः पुत्रावुवाच ह॥ १॥

रात बीतनेपर जब सबेरा हुआ, तब श्रीरामचन्द्रजीने बड़े-बड़े मुनियोंको बुलाकर अपने दोनों पुत्रोंसे कहा—'अब तुम निःशङ्क होकर शेष रामायणका गान आरम्भ करो'॥ १॥

ततः समुपविष्टेषु महर्षिषु महात्मसु ।
भविष्यदुत्तरं काव्यं जगतुस्तौ कुशीलवौ ॥ २ ॥

महात्मा महर्षियोंके यथास्थान बैठ जानेपर कुश और लवने भगवान्‌के भविष्य जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाले उत्तरकाण्डका, जो उस महाकाव्यका एक अंश था, गान आरम्भ किया ॥ २ ॥

प्रविष्टायां तु सीतायां भूतलं सत्यसम्पदा ।
तस्यावसाने यज्ञस्य रामः परमदुर्मनाः ॥ ३ ॥

इधर अपनी सत्यरूप सम्पत्तिके प्रभावसे सीताजीके रसातलमें प्रवेश कर जानेपर उस यज्ञके अन्तमें भगवान् श्रीरामका मन बहुत दुःखी हुआ ॥ ३ ॥

अपश्यमानो वैदेहीं मेने शून्यमिदं जगत् ।
शोकेन परमायस्तो न शान्तिं मनसागमत् ॥ ४ ॥

विदेहकुमारीको न देखनेसे उन्हें यह सारा संसार सूना जान पड़ने लगा। शोकसे अत्यन्त पीड़ित होनेके कारण उनके मनको शान्ति नहीं मिली ॥ ४ ॥

विसृज्य पार्थिवान् सर्वानृक्षवानरराक्षसान् ।
जनौघं विप्रमुख्यानां वित्तपूर्वं विसृज्य च ॥ ५ ॥
एवं समाप्य यज्ञं तु विधिवत् स तु राघवः ।
ततो विसृज्य तान् सर्वान् रामो राजीवलोचनः ॥ ६ ॥
हृदि कृत्वा तदा सीतामयोध्यां प्रविवेश ह ।

तदनन्तर श्रीरघुनाथजीने सब राजाओंको, रीछों, वानरों और राक्षसोंको, जनसमुदायको तथा मुख्य-मुख्य ब्राह्मणोंको भी धन देकर विदा किया। इस प्रकार विधिपूर्वक यज्ञको समाप्त करके कमलनयन श्रीरामने सबको विदा करनेके पश्चात् उस समय सीताका मन-ही-मन स्मरण करते हुए अयोध्यामें प्रवेश किया ॥ ५-६½ ॥

इष्टयज्ञो नरपतिः पुत्रद्वयसमन्वितः ॥ ७ ॥
न सीतायाः परां भार्यां वव्रे स रघुनन्दनः ।
यज्ञे यज्ञे च पत्न्यर्थं जानकी काञ्चनीभवत् ॥ ८ ॥

यज्ञ पूरा करके रघुकुलनन्दन राजा श्रीराम अपने दोनों पुत्रोंके साथ रहने लगे। उन्होंने सीताके सिवा दूसरी किसी स्त्रीसे विवाह नहीं किया। प्रत्येक यज्ञमें जब-जब धर्मपत्नीकी आवश्यकता होती, श्रीरघुनाथजी सीताकी स्वर्णमयी प्रतिमा बनवा लिया करते थे ॥ ७-८ ॥

दशवर्षसहस्राणि वाजिमेधानथाकरोत् ।
वाजपेयान् दशगुणांस्तथा बहुसुवर्णकान् ॥ ९ ॥

उन्होंने दस हजार वर्षोंतक यज्ञ किये। कितने ही अश्वमेध-यज्ञों और उनसे दसगुने वाजपेय यज्ञोंका अनुष्ठान किया, जिनमें असंख्य स्वर्णमुद्राओंकी दक्षिणाएँ दी गयी थीं ॥ ९ ॥

अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां गोसवैश्च महाधनैः ।
ईजे क्रतुभिरन्यैश्च स श्रीमानाप्तदक्षिणैः ॥ १० ॥

श्रीमान् रामने पर्याप्त दक्षिणाओंसे युक्त अग्निष्टोम, अतिरात्र, गोसव तथा अन्य बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान किया, जिनमें अपार धनराशि खर्च की गयी ॥ १० ॥

एवं स कालः सुमहान् राज्यस्थस्य महात्मनः ।
धर्मे प्रयतमानस्य व्यतीयाद् राघवस्य च ॥ ११ ॥

इस प्रकार राज्य करते हुए महात्मा भगवान् श्रीरघुनाथजीका बहुत बड़ा समय धर्मपालनके प्रयत्नमें ही बीता ॥ ११ ॥

ऋक्षवानररक्षांसि स्थिता रामस्य शासने ।
अनुरज्यन्ति राजानो ह्यहन्यहनि राघवम् ॥ १२ ॥

रीछ, वानर और राक्षस भी श्रीरामकी आज्ञाके अधीन रहते थे। भूमण्डलके सभी राजा प्रतिदिन श्रीरघुनाथजीको प्रसन्न रखते थे ॥ १२ ॥

काले वर्षति पर्जन्यः सुभिक्षं विमला दिशः ।
हृष्टपुष्टजनाकीर्णं पुरं जनपदास्तथा ॥ १३ ॥

श्रीरामके राज्यमें मेघ समयपर वर्षा करते थे। सदा सुकाल ही रहता था—कभी अकाल नहीं पड़ता था। सम्पूर्ण दिशाएँ प्रसन्न दिखायी देती थीं तथा नगर और जनपद हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरे रहते थे ॥ १३ ॥

नाकाले म्रियते कश्चिन्न व्याधिः प्राणिनां तथा ।
नानर्थो विद्यते कश्चिद् रामे राज्यं प्रशासति ॥ १४ ॥

श्रीरामके राज्यशासन करते समय किसीकी अकाल-मृत्यु नहीं होती थी। प्राणियोंको कोई रोग नहीं सताता था और संसारमें कोई उपद्रव खड़ा नहीं होता था ॥ १४ ॥

अथ दीर्घस्य कालस्य राममाता यशस्विनी ।
पुत्रपौत्रैः परिवृता कालधर्ममुपागमत् ॥ १५ ॥

इसके बाद दीर्घकाल व्यतीत होनेपर पुत्र-पौत्रोंसे घिरी हुई परम यशस्विनी श्रीराममाता कौसल्या कालधर्म (मृत्यु) को प्राप्त हुई ॥ १५ ॥

अन्वियाय सुमित्रा च कैकेयी च यशस्विनी ।
धर्मं कृत्वा बहुविधं त्रिदिवे पर्यवस्थिता ॥ १६ ॥
सर्वाः प्रमुदिताः स्वर्गे राज्ञा दशरथेन च ।
समागता महाभागाः सर्वधर्मं च लेभिरे ॥ १७ ॥

सुमित्रा और यशस्विनी कैकेयीने भी उन्हींके पथका अनुसरण किया। ये सभी रानियाँ जीवनकालमें नाना प्रकारके धर्मोंका अनुष्ठान करके अन्तमें साकेतधामको प्राप्त हुई और बड़ी प्रसन्नताके साथ वहाँ राजा दशरथसे मिलीं। उन महाभागा रानियोंको सब धर्मोंका पूरा-पूरा फल प्राप्त हुआ ॥ १६-१७ ॥

तासां रामो महादानं काले काले प्रयच्छति ।
मातृणामविशेषेण ब्राह्मणेषु तपस्विषु ॥ १८ ॥

श्रीरघुनाथजी समय-समयपर अपनी सभी माताओंके निमित्त बिना किसी भेदभावके तपस्वी ब्राह्मणोंको बड़े-बड़े दान दिया करते थे ॥ १८ ॥

पित्र्याणि ब्रह्मरत्नानि यज्ञान् परमदुस्तरान् ।
चकार रामो धर्मात्मा पितॄन् देवान् विवर्धयन् ॥ १९ ॥

धर्मात्मा श्रीराम श्राद्धमें उपयोगी उत्तमोत्तम वस्तुएँ ब्राह्मणोंको देते तथा पितरों और देवताओंको संतुष्ट करनेके लिये बड़े-बड़े दुस्तर यज्ञों (पिण्डात्मक पितृयज्ञों) का अनुष्ठान करते थे ॥ १९ ॥

एवं वर्षसहस्राणि बहून्यथ ययुः सुखम्।
यज्ञैर्बहुविधं धर्मं वर्धयानस्य सर्वदा ॥ २० ॥

इस प्रकार यज्ञोंके द्वारा सर्वदा विविध धर्मोंका पालन करते हुए श्रीरघुनाथजीके कई हजार वर्ष सुखपूर्वक बीत गये ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे एकोनशततमः सर्गः ॥ ९९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें निन्यानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९९ ॥

—★—

शततमः सर्गः

केकयदेशसे ब्रह्मर्षि गार्ग्यका भेंट लेकर आना और उनके संदेशके अनुसार श्रीरामकी आज्ञासे कुमारोंसहित भरतका गन्धर्वदेशपर आक्रमण करनेके लिये प्रस्थान

कस्यचित् त्वथ कालस्य युधाजित् केकयो नृपः।
स्वगुरुं प्रेषयामास राघवाय महात्मने ॥ १ ॥
गार्ग्यमङ्गिरसः पुत्रं ब्रह्मर्षिममितप्रभम्।

कुछ कालके पश्चात् केकयदेशके राजा युधाजित्‌ने अपने पुरोहित अमित तेजस्वी ब्रह्मर्षि गार्ग्यको, जो अङ्गिराके पुत्र थे, महात्मा श्रीरघुनाथजीके पास भेजा ॥ १½ ॥

दश चाश्वसहस्राणि प्रीतिदानमनुत्तमम् ॥ २ ॥
कम्बलानि च रत्नानि चित्रवस्त्रमथोत्तमम्।
रामाय प्रददौ राजा शुभान्याभरणानि च ॥ ३ ॥

उनके साथ श्रीरामचन्द्रजीको परम उत्तम प्रेमोपहारके रूपमें अर्पण करनेके लिये उन्होंने दस हजार घोड़े, बहुत-से कम्बल (कालीन और शाल आदि), नाना प्रकारके रत्न, विचित्र-विचित्र सुन्दर वस्त्र तथा मनोहर आभूषण भी दिये थे ॥ २-३ ॥

श्रुत्वा तु राघवो धीमान् महर्षिं गार्ग्यमागतम्।
मातुलस्याश्वपतिनः प्रहितं तन्महाधनम् ॥ ४ ॥
प्रत्युद्गम्य च काकुत्स्थः क्रोशमात्रं सहानुजः।
गार्ग्यं सम्पूजयामास यथा शक्रो बृहस्पतिम् ॥ ५ ॥

परम बुद्धिमान् श्रीमान् राघवेन्द्रने जब सुना कि मामा अश्वपति-पुत्र युधाजित्‌के भेजे हुए महर्षि गार्ग्य बहुमूल्य भेंट-सामग्री लिये अयोध्यामें पधार रहे हैं, तब उन्होंने भाइयोंके साथ एक कोस आगे बढ़कर उनकी अगवानी की और जैसे इन्द्र बृहस्पतिकी पूजा करते हैं, उसी प्रकार महर्षि गार्ग्यका पूजन (स्वागत-सत्कार) किया ॥ ४-५ ॥

तथा सम्पूज्य तमृषिं तद् धनं प्रतिगृह्य च।
पृष्ट्वा प्रतिपदं सर्वं कुशलं मातुलस्य च ॥ ६ ॥
उपविष्टं महाभागं रामः प्रष्टुं प्रचक्रमे।

इस प्रकार महर्षिका आदर-सत्कार करके उस धनको ग्रहण करनेके पश्चात् उन्होंने उनका तथा मामाके घरका सारा कुशल-समाचार पूछा। फिर जब वे महाभाग ब्रह्मर्षि सुन्दर आसनपर विराजमान हो गये, तब श्रीरामने उनसे इस प्रकार पूछना आरम्भ किया ॥ ६½ ॥

किमाह मातुलो वाक्यं यदर्थं भगवानिह ॥ ७ ॥
प्राप्तो वाक्यविदां श्रेष्ठः साक्षादिव बृहस्पतिः।

ब्रह्मर्षे! मेरे मामाने क्या संदेश दिया है, जिसके लिये साक्षात् बृहस्पतिके समान वाक्यवेत्ताओंमें श्रेष्ठ आप पूज्यपाद महर्षिने यहाँ पधारनेका कष्ट किया है' ॥ ७½ ॥

रामस्य भाषितं श्रुत्वा महर्षिः कार्यविस्तरम् ॥ ८ ॥
वक्तुमद्भुतसंकाशं राघवायोपचक्रमे।

श्रीरामका यह प्रश्न सुनकर महर्षिने उनसे अद्भुत कार्य-विस्तारका वर्णन आरम्भ किया— ॥ ८½ ॥

मातुलस्ते महाबाहो वाक्यमाह नरर्षभः ॥ ९ ॥
युधाजित् प्रीतिसंयुक्तं श्रूयतां यदि रोचते।

'महाबाहो! आपके मामा नरश्रेष्ठ युधाजित्‌ने जो प्रेमपूर्वक संदेश दिया है, उसे यदि रुचिकर जान पड़े तो सुनिये ॥ ९½ ॥

अयं गन्धर्वविषयः फलमूलोपशोभितः ॥ १० ॥
सिन्धोरुभयतः पार्श्वे देशः परमशोभनः।

'उन्होंने कहा है कि यह जो फल-मूलोंसे सुशोभित गन्धर्वदेश सिन्धु नदीके दोनों तटोंपर बसा हुआ है, बड़ा सुन्दर प्रदेश है ॥ १०½ ॥

तं च रक्षन्ति गन्धर्वाः सायुधा युद्धकोविदाः ॥ ११ ॥
शैलूषस्य सुता वीर तिस्रः कोट्यो महाबलाः।

'वीर रघुनन्दन! गन्धर्वराज शैलूषकी संतानें तीन करोड़ महाबली गन्धर्व, जो युद्धकी कलामें कुशल और अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न हैं, उस देशकी रक्षा करते हैं ॥ ११½ ॥

तान् विनिर्जित्य काकुत्स्थ गन्धर्वनगरं शुभम् ॥ १२ ॥
निवेशय महाबाहो स्वे पुरे सुसमाहिते।

अन्यस्य न गतिस्तत्र देशः परमशोभनः।
रोचतां ते महाबाहो नाहं त्वामहितं वदे॥ १३॥

'काकुत्स्थ! महाबाहो! आप उन गन्धर्वोंको जीतकर वहाँ सुन्दर गन्धर्वनगर बसाइये। अपने लिये उत्तम साधनोंसे सम्पन्न दो नगरोंका निर्माण कीजिये। वह देश बहुत सुन्दर है। वहाँ दूसरे किसीकी गति नहीं है। आप उसे अपने अधिकारमें लेना स्वीकार करें। मैं आपको ऐसी सलाह नहीं देता, जो अहितकारक हो'॥ १२-१३॥

तच्छ्रुत्वा राघवः प्रीतो महर्षेर्मातुलस्य च।
उवाच बाढमित्येव भरतं चान्ववैक्षत॥ १४॥

महर्षि और मामाका यह कथन सुनकर श्रीरघुनाथजीको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने 'बहुत अच्छा' कहकर भरतकी ओर देखा॥ १४॥

सोऽब्रवीद् राघवः प्रीतः साञ्जलिप्रग्रहो द्विजम्।
इमौ कुमारौ तं देशं ब्रह्मर्षे विचरिष्यतः॥ १५॥
भरतस्यात्मजौ वीरौ तक्षः पुष्कल एव च।
मातुलेन सुगुप्तौ तु धर्मेण सुसमाहितौ॥ १६॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्रने उन ब्रह्मर्षिसे प्रसन्नतापूर्वक हाथ जोड़कर कहा—'ब्रह्मर्षे! ये दोनों कुमार तक्ष और पुष्कल, जो भरतके वीर पुत्र हैं, उस देशमें विचरेंगे और मामासे सुरक्षित रहकर धर्मपूर्वक एकाग्रचित्त हो उस देशका शासन करेंगे॥ १५-१६॥

भरतं चाग्रतः कृत्वा कुमारौ सबलानुगौ।
निहत्य गन्धर्वसुतान् द्वे पुरे विभजिष्यतः॥ १७॥

'ये दोनों कुमार भरतको आगे करके सेना और सेवकोंके साथ वहाँ जायँगे तथा उन गन्धर्वपुत्रोंका संहार करके अलग-अलग दो नगर बसायेंगे॥ १७॥

निवेश्य ते पुरवरे आत्मजौ संनिवेश्य च।
आगमिष्यति मे भूयः सकाशमतिधार्मिकः॥ १८॥

'इन दोनों श्रेष्ठ नगरोंको बसाकर उनमें अपने दोनों पुत्रोंको स्थापित करके अत्यन्त धर्मात्मा भरत फिर मेरे पास लौट आयेंगे'॥ १८॥

ब्रह्मर्षिमेवमुक्त्वा तु भरतं सबलानुगम्।
आज्ञापयामास तदा कुमारौ चाभ्यषेचयत्॥ १९॥

ब्रह्मर्षिसे ऐसा कहकर श्रीरामचन्द्रजीने भरतको वहाँ सेनाके साथ जानेकी आज्ञा दी और दोनों कुमारोंका पहले ही राज्याभिषेक कर दिया॥ १९॥

नक्षत्रेण च सौम्येन पुरस्कृत्याङ्गिरःसुतम्।
भरतः सह सैन्येन कुमाराभ्यां विनिर्ययौ॥ २०॥

तत्पश्चात् सौम्य नक्षत्र (मृगशिरा) में अङ्गिराके पुत्र महर्षि गार्ग्यको आगे करके सेना और कुमारोंके साथ भरतने यात्रा की॥ २०॥

सा सेना शक्रयुक्तेव नगरान्निर्ययावथ।
राघवानुगता दूरं दुराधर्षा सुरैरपि॥ २१॥

इन्द्रद्वारा प्रेरित हुई देवसेनाके समान वह सेना नगरसे बाहर निकली। भगवान् श्रीराम भी दूरतक उसके साथ-साथ गये। वह देवताओंके लिये भी दुर्जय थी॥ २१॥

मांसाशिनश्च ये सत्त्वा रक्षांसि सुमहान्ति च।
अनुजग्मुर्हि भरतं रुधिरस्य पिपासया॥ २२॥

मांसाहारी जन्तु और बड़े-बड़े राक्षस युद्धमें रक्तपानकी इच्छासे भरतके पीछे-पीछे गये॥ २२॥

भूतग्रामाश्च बहवो मांसभक्षाः सुदारुणाः।
गन्धर्वपुत्रमांसानि भोक्तुकामाः सहस्रशः॥ २३॥

अत्यन्त भयंकर कई हजार मांसभक्षी भूतसमूह गन्धर्व-पुत्रोंका मांस खानेके लिये उस सेनाके साथ-साथ गये॥ २३॥

सिंहव्याघ्रवराहाणां खेचराणां च पक्षिणाम्।
बहूनि वै सहस्राणि सेनाया ययुरग्रतः॥ २४॥

सिंह, बाघ, सूअर और आकाशचारी पक्षी कई हजारकी संख्यामें सेनाके आगे-आगे चले॥ २४॥

अध्यर्धमासमुषिता पथि सेना निरामया।
हृष्टपुष्टजनाकीर्णा केकयं समुपागमत्॥ २५॥

मार्गमें डेढ़ महीने बिताकर हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरी हुई वह सेना कुशलपूर्वक केकयदेशमें जा पहुँची॥ २५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे शततमः सर्गः॥ १००॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें सौवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १००॥

एकाधिकशततमः सर्गः

भरतका गन्धर्वोंपर आक्रमण और उनका संहार करके वहाँ दो सुन्दर नगर बसाकर अपने दोनों पुत्रोंको सौंपना और फिर अयोध्याको लौट आना

श्रुत्वा सेनापतिं प्राप्तं भरतं केकयाधिपः।
युधाजिद् गार्ग्यसहितं परां प्रीतिमुपागमत्॥ १॥

केकयराज युधाजित्‌ने जब सुना कि महर्षि गार्ग्यके साथ स्वयं भरत सेनापति होकर आ रहे हैं, तब उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई॥ १॥

स निर्ययौ जनौघेन महता केकयाधिपः।
त्वरमाणोऽभिचक्राम गन्धर्वान् कामरूपिणः॥ २॥

वे केकयनरेश भारी जनसमुदायके साथ निकले और भरतसे मिलकर बड़ी उतावलीके साथ इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले गन्धर्वोंके देशकी ओर चले॥ २॥

भरतश्च युधाजिच्च समेतौ लघुविक्रमैः।
गन्धर्वनगरं प्राप्तौ सबलौ सपदानुगौ॥ ३॥

भरत और युधाजित् दोनोंने मिलकर बड़ी तीव्रगतिसे

सेना और सवारियोंके साथ गन्धर्वोंकी राजधानीपर धावा किया ॥ ३ ॥

श्रुत्वा तु भरतं प्राप्तं गन्धर्वास्ते समागताः ।
योद्धुकामा महावीर्या व्यनदंस्ते समन्ततः ॥ ४ ॥

भरतका आगमन सुनकर वे महापराक्रमी गन्धर्व युद्धकी इच्छासे एकत्र हो सब ओर जोर-जोरसे गर्जना करने लगे ॥ ४ ॥

ततः समभवद्युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
सप्तरात्रं महाभीमं न चान्यतरयोर्जयः ॥ ५ ॥

फिर तो दोनों ओरकी सेनाओंमें बड़ा भयंकर और रोंगटे खड़े कर देनेवाला युद्ध छिड़ गया। वह महाभयंकर संग्राम लगातार सात राततक चलता रहा, परंतु दोनोंमेंसे किसी भी एक पक्षकी विजय नहीं हुई ॥ ५ ॥

खड्गशक्तिधनुर्ग्राहा नद्यः शोणितसंस्रवाः ।
नृकलेवरवाहिन्यः प्रवृत्ताः सर्वतोदिशम् ॥ ६ ॥

चारों ओर खूनकी नदियाँ बह चलीं। तलवार, शक्ति और धनुष उस नदीमें विचरनेवाले ग्राहोंके समान जान पड़ते थे. उनकी धारामें मनुष्योंकी लाशें बह जाती थीं ॥ ६ ॥

ततो रामानुजः क्रुद्धः कालस्यास्त्रं सुदारुणम् ।
संवर्तं नाम भरतो गन्धर्वेष्वभ्यचोदयत् ॥ ७ ॥

तब रामानुज भरतने कुपित होकर गन्धर्वोंपर कालदेवताके अत्यन्त भयंकर अस्त्रका, जो संवर्त नामसे प्रसिद्ध है, प्रयोग किया ॥ ७ ॥

ते बद्धाः कालपाशेन संवर्तेन विदारिताः ।
क्षणेनाभिहतास्तेन तिस्रः कोट्यो महात्मना ॥ ८ ॥

इस प्रकार महात्मा भरतने क्षणभरमें तीन करोड़ गन्धर्वोंका संहार कर डाला। वे गन्धर्व कालपाशसे बद्ध हो संवर्तास्त्रसे विदीर्ण कर डाले गये ॥ ८ ॥

तद् युद्धं तादृशं घोरं न स्मरन्ति दिवौकसः ।
निमेषान्तरमात्रेण तादृशानां महात्मनाम् ॥ ९ ॥
हतेषु तेषु सर्वेषु भरतः केकयीसुतः ।
निवेशयामास तदा समृद्धे द्वे पुरोत्तमे ॥ १० ॥

ऐसा भयंकर युद्ध देवताओंने भी कभी देखा हो, यह उन्हें याद नहीं आता था। पलक मारते-मारते वैसे पराक्रमी महामनस्वी समस्त गन्धर्वोंका संहार हो जानेपर केकयीकुमार भरतने उस समय वहाँ दो समृद्धिशाली सुन्दर नगर बसाये ॥ ९-१० ॥

तक्षं तक्षशिलायां तु पुष्कलं पुष्कलावते ।
गन्धर्वदेशे रुचिरे गान्धारविषये च सः ॥ ११ ॥

मनोहर गन्धर्वदेशमें तक्षशिला नामकी नगरी बसाकर उसमें उन्होंने तक्षको राजा बनाया और गान्धारदेशमें पुष्कलावत नगर बसाकर उसका राज्य पुष्कलको सौंप दिया ॥ ११ ॥

धनरत्नौघसंकीर्णे काननैरुपशोभिते ।
अन्योन्यसंघर्षकृते स्पर्धया गुणविस्तरैः ॥ १२ ॥

वे दोनों नगर धन-धान्य एवं रत्नसमूहोंसे भरे थे। अनेकानेक कानन उनकी शोभा बढ़ाते थे। गुणविस्तारकी दृष्टिसे वे मानो परस्पर होड़ लगाकर संघर्षपूर्वक आगे बढ़ रहे थे ॥ १२ ॥

उभे सुरुचिरप्रख्ये व्यवहारैरकिल्बिषैः ।
उद्यानयानसम्पूर्णे सुविभक्तान्तरापणे ॥ १३ ॥

दोनों नगरोंकी शोभा परम मनोहर थी। दोनों स्थानोंका व्यवहार (व्यापार) निष्कपट, शुद्ध एवं सरल था। दोनों ही नगर उद्यानों (बाग-बगीचों) तथा नाना प्रकारकी सवारियोंसे भरे-पूरे थे। उनके भीतर अलग-अलग कई बाजार थे ॥ १३ ॥

उभे पुरवरे रम्ये विस्तरैरुपशोभिते ।
गृहमुख्यैः सुरुचिरैर्विमानैर्बहुभिर्वृते ॥ १४ ॥

दोनों श्रेष्ठ पुरोंकी रमणीयता देखते ही बनती थी। अनेक ऐसे विस्तृत पदार्थ उनकी शोभा बढ़ाते थे, जिनका नाम अभीतक नहीं लिया गया है। सुन्दर श्रेष्ठ गृह तथा बहुत-से सतमहले मकान वहाँकी श्रीवृद्धि कर रहे थे ॥ १४ ॥

शोभिते शोभनीयैश्च देवायतनविस्तरैः ।
तालैस्तमालैस्तिलकैर्बकुलैरुपशोभिते ॥ १५ ॥

अनेकानेक शोभासम्पन्न देवमन्दिरों तथा ताल, तमाल, तिलक और मौलसिरी आदिके वृक्षोंसे भी उन दोनों नगरोंकी शोभा एवं रमणीयता बढ़ गयी थी ॥ १५ ॥

निवेश्य पञ्चभिर्वर्षैर्भरतो राघवानुजः ।
पुनरायान्महाबाहुरयोध्यां केकयीसुतः ॥ १६ ॥

पाँच वर्षोंमें उन राजधानियोंको अच्छी तरह आबाद करके श्रीरामके छोटे भाई केकयीकुमार महाबाहु भरत फिर अयोध्यामें लौट आये ॥ १६ ॥

सोऽभिवाद्य महात्मानं साक्षाद्धर्ममिवापरम् ।
राघवं भरतः श्रीमान् ब्रह्माणमिव वासवः ॥ १७ ॥

वहाँ पहुँचकर श्रीमान् भरतने द्वितीय धर्मराजके समान महात्मा श्रीरघुनाथजीको उसी तरह प्रणाम किया, जैसे इन्द्र ब्रह्माजीको प्रणाम करते हैं ॥ १७ ॥

शशंस च यथावृत्तं गन्धर्ववधमुत्तमम् ।
निवेशनं च देशस्य श्रुत्वा प्रीतोऽस्य राघवः ॥ १८ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने गन्धर्वोंके वध और उस देशको अच्छी तरह आबाद करनेका यथावत् समाचार कह सुनाया। सुनकर श्रीरघुनाथजी उनपर बहुत प्रसन्न हुए ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे एकाधिकशततमः सर्गः ॥ १०१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें एक सौ एकवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १०१ ॥

द्व्यधिकशततमः सर्गः

श्रीरामकी आज्ञासे भरत और लक्ष्मणद्वारा कुमार अङ्गद और चन्द्रकेतुकी कारुपथ देशके विभिन्न राज्योंपर नियुक्ति

तच्छ्रुत्वा हर्षमापेदे राघवो भ्रातृभिः सह।
वाक्यं चाद्भुतसंकाशं भ्रातॄन् प्रोवाच राघवः॥ १॥

भरतके मुँहसे गन्धर्वदेशका समाचार सुनकर भाइयोंसहित श्रीरामचन्द्रजीको बड़ी प्रसन्नता हुई। तत्पश्चात् श्रीराघवेन्द्र अपने भाइयोंसे यह अद्भुत वचन बोले— ॥ १॥

इमौ कुमारौ सौमित्रे तव धर्मविशारदौ।
अङ्गदश्चन्द्रकेतुश्च राज्यार्थे दृढविक्रमौ॥ २॥

'सुमित्रानन्दन! तुम्हारे ये दोनों कुमार अङ्गद और चन्द्रकेतु धर्मके ज्ञाता हैं। इनमें राज्यकी रक्षाके लिये उपयुक्त दृढ़ता और पराक्रम है॥ २॥

इमौ राज्येऽभिषेक्ष्यामि देशः साधु विधीयताम्।
रमणीयो ह्यसम्बाधो रमेतां यत्र धन्विनौ॥ ३॥

'अतः मैं इनका भी राज्याभिषेक करूँगा। तुम इनके लिये किसी अच्छे देशका चुनाव करो, जो रमणीय होनेके साथ ही विघ्न-बाधाओंसे रहित हो और जहाँ ये दोनों धनुर्धर वीर आनन्दपूर्वक रह सकें॥ ३॥

न राज्ञां यत्र पीडा स्यान्नाश्रमाणां विनाशनम्।
स देशो दृश्यतां सौम्य नापराध्यामहे यथा॥ ४॥

'सौम्य! ऐसा देश देखो, जहाँ निवास करनेसे दूसरे राजाओंको पीड़ा या उद्वेग न हो, आश्रमोंका भी नाश न करना पड़े और हमलोगोंको किसीकी दृष्टिमें अपराधी भी न बनना पड़े'॥ ४॥

तथोक्तवति रामे तु भरतः प्रत्युवाच ह।
अयं कारुपथो देशो रमणीयो निरामयः॥ ५॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर भरतने उत्तर दिया— आर्य! यह कारुपथ नामक देश बड़ा सुन्दर है। वहाँ किसी प्रकारकी रोग-व्याधिका भय नहीं है॥ ५॥

निवेश्यतां तत्र पुरमङ्गदस्य महात्मनः।
चन्द्रकेतोः सुरुचिरं चन्द्रकान्तं निरामयम्॥ ६॥

'वहाँ महात्मा अङ्गदके लिये नयी राजधानी बसायी जाय तथा चन्द्रकेतु (या चन्द्रकान्त) के रहनेके लिये 'चन्द्रकान्त' नामक नगरका निर्माण कराया जाय, जो सुन्दर और आरोग्यवर्धक हो'॥ ६॥

तद् वाक्यं भरतेनोक्तं प्रतिजग्राह राघवः।
तं च कृत्वा वशे देशमङ्गदस्य न्यवेशयत्॥ ७॥

भरतकी कही हुई इस बातको श्रीरघुनाथजीने स्वीकार किया और कारुपथ देशको अपने अधिकारमें करके अङ्गदको वहाँका राजा बना दिया॥ ७॥

अङ्गदीया पुरी रम्याप्यङ्गदस्य निवेशिता।
रमणीया सुगुप्ता च रामेणाक्लिष्टकर्मणा॥ ८॥

क्लेशरहित कर्म करनेवाले भगवान् श्रीरामने अङ्गदके लिये 'अङ्गदीया' नामक रमणीय पुरी बसायी, जो परम सुन्दर होनेके साथ ही सब ओरसे सुरक्षित भी थी॥ ८॥

चन्द्रकेतोश्च मल्लस्य मल्लभूम्यां निवेशिता।
चन्द्रकान्तेति विख्याता दिव्या स्वर्गपुरी यथा॥ ९॥

चन्द्रकेतु अपने शरीरसे मल्लके समान हृष्ट-पुष्ट थे; उनके लिये मल्ल देशमें 'चन्द्रकान्ता' नामसे विख्यात दिव्य पुरी बसायी गयी, जो स्वर्गकी अमरावती नगरीके समान सुन्दर थी॥ ९॥

ततो रामः परां प्रीतिं लक्ष्मणो भरतस्तथा।
ययुर्युद्धे दुराधर्षा अभिषेकं च चक्रिरे॥ १०॥

इससे श्रीराम, लक्ष्मण और भरत तीनोंको बड़ी प्रसन्नता हुई। इन सभी रणदुर्जय वीरोंने स्वयं उन कुमारोंका अभिषेक किया॥ १०॥

अभिषिच्य कुमारौ द्वौ प्रस्थाप्य सुसमाहितौ।
अङ्गदं पश्चिमां भूमिं चन्द्रकेतुमुदङ्मुखम्॥ ११॥

एकाग्रचित्त तथा सावधान रहनेवाले उन दोनों कुमारोंका अभिषेक करके अङ्गदको पश्चिम तथा चन्द्रकेतुको उत्तर दिशामें भेजा गया॥ ११॥

अङ्गदं चापि सौमित्रिर्लक्ष्मणोऽनुजगाम ह।
चन्द्रकेतोस्तु भरतः पार्ष्णिग्राहो बभूव ह॥ १२॥

अङ्गदके साथ तो स्वयं सुमित्राकुमार लक्ष्मण गये और चन्द्रकेतुके सहायक या पार्श्वक भरतजी हुए॥ १२॥

लक्ष्मणस्त्वङ्गदीयायां संवत्सरमथोषितः।
पुत्रे स्थिते दुराधर्षे अयोध्यां पुनरागमत्॥ १३॥

लक्ष्मण अङ्गदीया पुरीमें एक वर्षतक रहे और उनका दुर्धर्ष पुत्र अङ्गद जब दृढ़तापूर्वक राज्य सँभालने लगा, तब वे पुनः अयोध्याको लौट आये॥ १३॥

भरतोऽपि तथैवोष्य संवत्सरमतोऽधिकम्।
अयोध्यां पुनरागम्य रामपादावुपास्त सः॥ १४॥

इसी प्रकार भरत भी चन्द्रकान्ता नगरीमें एक वर्षसे कुछ अधिक कालतक ठहरे रहे और चन्द्रकेतुका राज्य जब दृढ़ हो गया, तब वे पुनः अयोध्यामें आकर श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंकी सेवा करने लगे॥ १४॥

उभौ सौमित्रिभरतौ रामपादावनुव्रतौ।
कालं गतमपि स्नेहान्न जज्ञातेऽतिधार्मिकौ॥ १५॥

लक्ष्मण और भरत दोनोंका श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें अनन्य अनुराग था। दोनों ही अत्यन्त धर्मात्मा थे। श्रीरामकी सेवामें रहते उन्हें बहुत समय बीत गया, परंतु स्नेहाधिक्यके कारण उनको कुछ भी ज्ञात न हुआ॥ १५॥

एवं वर्षसहस्राणि दश तेषां ययुस्तदा।
धर्मे प्रयतमानानां पौरकार्येषु नित्यदा ॥ १६ ॥

वे तीनों भाई पुरवासियोंके कार्यमें सदा संलग्न रहते और धर्मपालनके लिये प्रयत्नशील रहा करते थे। इस प्रकार उनके दस हजार वर्ष बीत गये ॥ १६ ॥

विहृत्य कालं परिपूर्णमानसाः
श्रिया वृता धर्मपुरे च संस्थिताः।
त्रयः समिद्धाहुतिदीप्ततेजसो
हुताग्नयः साधुमहाध्वरे त्रयः ॥ १७ ॥

धर्म साधनके स्थानभूत अयोध्यापुरीमें वैभवसम्पन्न होकर रहते हुए वे तीनों भाई यथासमय घूम-फिरकर प्रजाकी देखभाल करते थे। उनके सारे मनोरथ पूर्ण हो गये थे तथा वे महायज्ञमें आहुति पाकर प्रज्वलित हुए दीप्त तेजस्वी गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिण नामक त्रिविध अग्नियोंके समान प्रकाशित होते थे ॥ १७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे द्व्यधिकशततमः सर्गः ॥ १०२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें एक सौ दोवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १०२ ॥

त्र्यधिकशततमः सर्गः

श्रीरामके यहाँ कालका आगमन और एक कठोर शर्तके साथ उनका वार्ताके लिये उद्यत होना

कस्यचित् त्वथ कालस्य रामे धर्मपरे स्थिते।
कालस्तापसरूपेण राजद्वारमुपागमत् ॥ १ ॥

तदनन्तर कुछ समय और बीत जानेपर जब कि भगवान् श्रीराम धर्मपूर्वक अयोध्याके राज्यका पालन कर रहे थे, साक्षात् काल तपस्वीके रूपमें राजभवनके द्वारपर आया ॥ १ ॥

सोऽब्रवील्लक्ष्मणं वाक्यं धृतिमन्तं यशस्विनम्।
मां निवेदय रामाय सम्प्राप्तं कार्यगौरवात् ॥ २ ॥

उसने द्वारपर खड़े हुए धैर्यवान् एवं यशस्वी लक्ष्मणसे कहा—'मैं एक भारी कार्यसे आया हूँ। तुम श्रीरामचन्द्रजीसे मेरे आगमनकी सूचना दे दो ॥ २ ॥

दूतो ह्यतिबलस्याहं महर्षेरमितौजसः।
रामं दिदृक्षुरायातः कार्येण हि महाबल ॥ ३ ॥

'महाबली लक्ष्मण! मैं अमित तेजस्वी महर्षि अतिबल-का दूत हूँ और एक आवश्यक कार्यवश श्रीरामचन्द्रजीसे मिलने आया हूँ' ॥ ३ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सौमित्रिस्त्वरयान्वितः।
न्यवेदयत रामाय तापसं तं समागतम् ॥ ४ ॥

उसकी वह बात सुनकर सुमित्राकुमार लक्ष्मणने बड़ी उतावलीके साथ भीतर जाकर श्रीरामचन्द्रजीसे उस तापसके आगमनकी सूचना दी— ॥ ४ ॥

जयस्व राजधर्मेण उभौ लोकौ महाद्युते।
दूतस्त्वां द्रष्टुमायातस्तपसा भास्करप्रभः ॥ ५ ॥

'महातेजस्वी महाराज! आप अपने राजधर्मके प्रभावसे इहलोक और परलोकपर भी विजयी हों। एक महर्षि दूतके रूपमें आपसे मिलने आये हैं। वे तपस्याजनित तेजसे सूर्यके समान प्रकाशित हो रहे हैं' ॥ ५ ॥

तद् वाक्यं लक्ष्मणोक्तं वै श्रुत्वा राम उवाच ह।
प्रवेश्यतां मुनिस्तात महौजास्तस्य वाक्यधृक् ॥ ६ ॥

लक्ष्मणकी कही हुई वह बात सुनकर श्रीरामने कहा—'तात! उन महातेजस्वी मुनिको भीतर ले आओ, जो कि अपने स्वामीके संदेश लेकर आये हैं' ॥ ६ ॥

सौमित्रिस्तु तथेत्युक्त्वा प्रावेशयत तं मुनिम्।
ज्वलन्तमिव तेजोभिः प्रदहन्तमिवांशुभिः ॥ ७ ॥

तब 'जो आज्ञा' कहकर सुमित्राकुमार उन मुनिको भीतर ले आये। वे तेजसे प्रज्वलित होते और अपनी प्रखर किरणोंसे दग्ध करते हुए-से जान पड़ते थे ॥ ७ ॥

सोऽभिगम्य रघुश्रेष्ठं दीप्यमानं स्वतेजसा।
ऋषिर्मधुरया वाचा वर्धस्वेत्याह राघवम् ॥ ८ ॥

अपने तेजसे दीप्तिमान् रघुकुलतिलक श्रीरामके पास पहुँचकर ऋषिने उनसे मधुर वाणीमें कहा—'रघुनन्दन! आपका अभ्युदय हो' ॥ ८ ॥

तस्मै रामो महातेजाः पूजामर्घ्यपुरोगमाम्।
ददौ कुशलमव्यग्रं प्रष्टुं चैवोपचक्रमे ॥ ९ ॥

महातेजस्वी श्रीरामने उन्हें पाद्य-अर्घ्य आदि पूजनोपचार समर्पित किया और शान्तभावसे उनका कुशल-समाचार पूछना आरम्भ किया ॥ ९ ॥

पृष्टश्च कुशलं तेन रामेण वदतां वरः।
आसने काञ्चने दिव्ये निषसाद महायशाः ॥ १० ॥

श्रीरामके पूछनेपर वक्ताओंमें श्रेष्ठ महायशस्वी मुनि कुशल-समाचार बताकर दिव्य सुवर्णमय आसनपर विराजमान हुए ॥ १० ॥

तमुवाच ततो रामः स्वागतं ते महामते।
प्रापयास्य च वाक्यानि यतो दूतस्त्वमागतः ॥ ११ ॥

तदनन्तर श्रीरामने उनसे कहा—'महामते! आपका स्वागत है। आप जिनके दूत होकर यहाँ पधारे हैं, उनका संदेश सुनाइये' ॥ ११ ॥

चोदितो राजसिंहेन मुनिर्वाक्यमभाषत ।
द्वन्द्वे ह्येतत् प्रवक्तव्यं हितं वै यद्यवेक्षसे ॥ १२ ॥

राजसिंह श्रीरामके द्वारा इस प्रकार प्रेरित होनेपर मुनि बोले—'यदि आप हमारे हितपर दृष्टि रखें तो जहाँ हम और आप दो ही आदमी रहें, वहीं इस बातको कहना उचित है ॥ १२ ॥

यः शृणोति निरीक्षेद् वा स वध्यो भविता तव ।
भवेद् वै मुनिमुख्यस्य वचनं यद्यवेक्षसे ॥ १३ ॥

'यदि आप मुनिश्रेष्ठ अतिबलके वचनपर ध्यान दें तो आपको यह भी घोषित करना होगा कि जो कोई मनुष्य हम दोनोंकी बातचीत सुन ले अथवा हमें वार्तालाप करते देख ले, वह आप (श्रीराम) का वध्य होगा' ॥ १३ ॥

तथेति च प्रतिज्ञाय रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
द्वारि तिष्ठ महाबाहो प्रतिहारं विसर्जय ॥ १४ ॥

श्रीरामने 'तथास्तु' कहकर इस बातके लिये प्रतिज्ञा की और लक्ष्मणसे कहा—'महाबाहो! द्वारपालको विदा कर दो और स्वयं ड्योढ़ीपर खड़े होकर पहरा दो ॥ १४ ॥

स मे वध्यः खलु भवेद् वाचं द्वन्द्वसमीरितम् ।
ऋषेर्मम च सौमित्रे पश्येद् वा शृणुयाच्च यः ॥ १५ ॥

'सुमित्रानन्दन! जो ऋषि और मेरी—दोनोंकी कही हुई बात सुन लेगा या बात करते हमें देख लेगा, वह मेरेद्वारा मारा जायगा' ॥ १५ ॥

ततो निक्षिप्य काकुत्स्थो लक्ष्मणं द्वारि संग्रहम् ।
तमुवाच मुने वाक्यं कथयस्वेति राघवः ॥ १६ ॥
तत् ते मनीषितं वाक्यं येन वासि समाहितः ।
कथयस्वाविशङ्कस्त्वं ममापि हृदि वर्तते ॥ १७ ॥

इस प्रकार अपनी बात ग्रहण करनेवाले लक्ष्मणको दरवाजेपर तैनात करके श्रीरघुनाथजीने समागत महर्षिसे कहा—'मुने! अब आप निःशङ्क होकर वह बात कहिये, जिसे कहना आपको अभीष्ट है अथवा जिसे कहनेके लिये ही आप यहाँ भेजे गये हैं। मेरे हृदयमें भी उसे सुननेके लिये उत्कण्ठा है' ॥ १६-१७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे त्र्यधिकशततमः सर्गः ॥ १०३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें एक सौ तीनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १०३ ॥

—★—

चतुरधिकशततमः सर्गः

कालका श्रीरामचन्द्रजीको ब्रह्माजीका संदेश सुनाना और श्रीरामका उसे स्वीकार करना

शृणु राजन् महासत्त्व यदर्थमहमागतः ।
पितामहेन देवेन प्रेषितोऽस्मि महाबल ॥ १ ॥

महाबली महान् सत्त्वशाली महाराज! पितामह भगवान् ब्रह्माने जिस उद्देश्यसे मुझे यहाँ भेजा है और जिसके लिये मैं यहाँ आया हूँ; वह सब बताता हूँ; सुनिये ॥ १ ॥

तवाहं पूर्वके भावे पुत्रः परपुरंजय ।
मायासम्भावितो वीर कालः सर्वसमाहरः ॥ २ ॥

शत्रु-नगरीपर विजय पानेवाले वीर! पूर्वावस्थामें अर्थात् हिरण्यगर्भकी उत्पत्तिके समय मैं मायाद्वारा आपसे उत्पन्न हुआ था, इसलिये आपका पुत्र हूँ। मुझे सर्वसंहारकारी काल कहते हैं ॥ २ ॥

पितामहश्च भगवानाह लोकपतिः प्रभुः ।
समयस्ते कृतः सौम्य लोकान् सम्परिरक्षितुम् ॥ ३ ॥

लोकनाथ प्रभु भगवान् पितामहने कहा है कि 'सौम्य! आपने लोकोंकी रक्षाके लिये जो प्रतिज्ञा की थी, वह पूरी हो गयी ॥ ३ ॥

संक्षिप्य हि पुरा लोकान् मायया स्वयमेव हि ।
महार्णवे शयानोऽप्सु मां त्वं पूर्वमजीजनः ॥ ४ ॥

'पूर्वकालमें समस्त लोकोंको मायाके द्वारा स्वयं ही अपनेमें लीन करके आपने महासमुद्रके जलमें शयन किया था। फिर इस सृष्टिके प्रारम्भमें सबसे पहले मुझे उत्पन्न किया ॥ ४ ॥

भोगवन्तं ततो नागमनन्तमुदकेशयम् ।
मायया जनयित्वा त्वं द्वौ च सत्त्वौ महाबलौ ॥ ५ ॥
मधुं च कैटभं चैव ययोरस्थिचयैर्वृता ।
इयं पर्वतसम्बाधा मेदिनी चाभवत् तदा ॥ ६ ॥

'इसके बाद विशाल फण और शरीरसे युक्त एवं जलमें शयन करनेवाले 'अनन्त' संज्ञक नागको मायाद्वारा प्रकट करके आपने दो महाबली जीवोंको जन्म दिया, जिनका नाम था मधु और कैटभ; इन्हींके अस्थि-समूहोंसे भरी हुई यह पर्वतोंसहित पृथिवी तत्काल प्रकट हुई, जो 'मेदिनी' कहलायी ॥ ५-६ ॥

पद्मे दिव्येऽर्कसंकाशे नाभ्यामुत्पाद्य मामपि ।
प्राजापत्यं त्वया कर्म मयि सर्वं निवेशितम् ॥ ७ ॥

'आपकी नाभिसे सूर्य-तुल्य तेजस्वी दिव्य कमल प्रकट हुआ, जिसमें आपने मुझको भी उत्पन्न किया और प्रजाकी सृष्टि रचनेका सारा कार्यभार मुझपर ही रख दिया ॥ ७ ॥

सोऽहं संन्यस्तभारो हि त्वामुपास्य जगत्पतिम् ।
रक्षां विधत्स्व भूतेषु मम तेजस्करो भवान् ॥ ८ ॥

'जब मुझपर यह भार रख दिया गया, तब मैंने आप

जगदीश्वरकी उपासना करके प्रार्थना की—'प्रभो! आप सम्पूर्ण भूतोंमें रहकर उनकी रक्षा कीजिये; क्योंकि आप ही मुझे तेज (ज्ञान और क्रिया-शक्ति) प्रदान करनेवाले हैं' ॥ ८ ॥

ततस्त्वमसि दुर्धर्षात् तस्माद् भावात् सनातनात्।
रक्षां विधास्यन् भूतानां विष्णुत्वमुपजग्मिवान्॥ ९॥

'तब आप मेरा अनुरोध स्वीकार करके प्राणियोंकी रक्षाके लिये अपरिमेय सनातन पुरुषरूपसे जगत्पालक विष्णुके रूपमें प्रकट हुए ॥ ९ ॥

अदित्यां वीर्यवान् पुत्रो भ्रातॄणां वीर्यवर्धनः।
समुत्पन्नेषु कृत्येषु तेषां साह्याय कल्पसे॥ १०॥

'फिर आपने श्री अदितिके गर्भसे परम पराक्रमी वामनरूपमें अवतार लिया। तबसे आप अपने भाई इन्द्रादि देवताओंकी शक्ति बढ़ाते और आवश्यकता पड़नेपर उनकी रक्षाके लिये उद्यत रहते हैं ॥ १० ॥

स त्वमुज्जास्यमानासु प्रजासु जगतां वर।
रावणस्य वधाकाङ्क्षी मानुषेषु मनोऽदधाः॥ ११॥

'जगदीश्वर! जब रावणके द्वारा प्रजाका विनाश होने लगा, उस समय आपने उस निशाचरका वध करनेकी इच्छासे मनुष्य-शरीरमें अवतार लेनेका निश्चय किया ॥ ११ ॥

दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च।
कृत्वा वासस्य नियमं स्वयमेवात्मना पुरा॥ १२॥

'और स्वयं ही ग्यारह हजार वर्षोंतक मर्त्यलोकमें निवास करनेकी अवधि निश्चित की थी ॥ १२ ॥

स त्वं मनोमयः पुत्रः पूर्णायुर्मानुषेष्विह।
कालोऽयं ते नरश्रेष्ठ समीपमुपवर्तितुम्॥ १३॥

'नरश्रेष्ठ! आप मनुष्य-लोकमें अपने संकल्पसे ही किसीके पुत्ररूपमें प्रकट हुए हैं। इस अवतारमें आपने अपनी जितने समयतककी आयु निश्चित की थी, वह पूरी हो गयी; अतः अब आपके लिये यह हमलोगोंके समीप आनेका समय है ॥ १३ ॥

यदि भूयो महाराज प्रजा इच्छस्युपासितुम्।
वस वा वीर भद्रं ते एवमाह पितामहः॥ १४॥
अथ वा विजिगीषा ते सुरलोकाय राघव।
सनाथा विष्णुना देवा भवन्तु विगतज्वराः॥ १५॥

'वीर महाराज! यदि और अधिक कालतक यहाँ रहकर प्रजाजनोंका पालन करनेकी इच्छा हो तो आप रह सकते हैं। आपका कल्याण हो। रघुनन्दन! अथवा यदि परमधाममें पधारनेका विचार हो तो अवश्य आवें। आप विष्णुदेवके स्वधाममें प्रतिष्ठित होनेपर सम्पूर्ण देवता सनाथ एवं निश्चिन्त हो जायँ—ऐसा पितामहने कहा है' ॥ १४-१५ ॥

श्रुत्वा पितामहेनोक्तं वाक्यं कालसमीरितम्।
राघवः प्रहसन् वाक्यं सर्वसंहारमब्रवीत्॥ १६॥

कालके मुखसे कहे गये पितामह ब्रह्माके संदेशको सुनकर श्रीरघुनाथजी हँसते हुए उस सर्वसंहारी कालसे बोले— ॥ १६ ॥

श्रुत्वा मे देवदेवस्य वाक्यं परममद्भुतम्।
प्रीतिर्हि महती जाता तवागमनसम्भवा॥ १७॥

'काल! देवाधिदेव ब्रह्माजीका यह परम अद्भुत वचन सुननेको मिला; इसलिये तुम्हारे आनेसे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है ॥ १७ ॥

त्रयाणामपि लोकानां कार्यार्थं मम सम्भवः।
भद्रं तेऽस्तु गमिष्यामि यत एवाहमागतः॥ १८॥

'तीनों लोकोंके प्रयोजनकी सिद्धिके लिये ही मेरा यह अवतार हुआ था, वह उद्देश्य अब पूरा हो गया; इसलिये तुम्हारा कल्याण हो; अब मैं जहाँसे आया था वहीं चलूँगा ॥ १८ ॥

हृद्गतो ह्यसि सम्प्राप्तो न मे तत्र विचारणा।
मया हि सर्वकृत्येषु देवानां वशवर्तिना।
स्थातव्यं सर्वसंहार यथा ह्याह पितामहः॥ १९॥

'काल! मैंने मनसे तुम्हारा चिन्तन किया था। उसीके अनुसार तुम यहाँ आये हो; अतः इस विषयको लेकर मेरे मनमें कोई विचार नहीं है। सर्वसंहारकारी काल! मुझे सभी कार्योंमें सदा देवताओंका वशवर्ती होकर ही रहना चाहिये, जैसा कि पितामहका कथन है' ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे चतुरधिकशततमः सर्गः॥ १०४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें एक सौ चारवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १०४ ॥

पञ्चाधिकशततमः सर्गः

दुर्वासाके शापके भयसे लक्ष्मणका नियम भङ्ग करके श्रीरामके पास इनके आगमनका समाचार देनेके लिये जाना, श्रीरामका दुर्वासा मुनिको भोजन कराना और उनके चले जानेपर लक्ष्मणके लिये चिन्तित होना

तथा तयोः संवदतोर्दुर्वासा भगवानृषिः।
रामस्य दर्शनाकाङ्क्षी राजद्वारमुपागमत्॥ १॥

इन दोनोंमें इस प्रकार बातचीत हो ही रही थी कि महर्षि दुर्वासा राजद्वारपर आ पहुँचे। वे श्रीरामचन्द्रजीसे मिलना चाहते थे ॥ १ ॥

सोऽभिगम्य तु सौमित्रिमुवाच ऋषिसत्तमः।
रामं दर्शय मे शीघ्रं पुरा मेऽर्थोऽतिवर्तते॥ २॥

उन मुनिश्रेष्ठने सुमित्राकुमार लक्ष्मणके पास जाकर कहा—'तुम शीघ्र ही मुझे श्रीरामचन्द्रजीसे मिला दो। उनसे मिले बिना मेरा एक काम बिगड़ रहा है'॥ २॥

मुनेस्तु भाषितं श्रुत्वा लक्ष्मणः परवीरहा।
अभिवाद्य महात्मानं वाक्यमेतदुवाच ह॥ ३॥

मुनिकी यह बात सुनकर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले लक्ष्मणने उन महात्माको प्रणाम करके यह बात कही—॥ ३॥

किं कार्यं ब्रूहि भगवन् को ह्यर्थः किं करोम्यहम्।
व्यग्रो हि राघवो ब्रह्मन् मुहूर्तं परिपाल्यताम्॥ ४॥

'भगवन्! बताइये, आपका कौन-सा काम है? क्या प्रयोजन है? और मैं आपकी कौन-सी सेवा करूँ? ब्रह्मन्! इस समय श्रीरघुनाथजी दूसरे कार्यमें संलग्न हैं; अतः दो घड़ीतक उनकी प्रतीक्षा कीजिये'॥ ४॥

तच्छ्रुत्वा ऋषिशार्दूलः क्रोधेन कलुषीकृतः।
उवाच लक्ष्मणं वाक्यं निर्दहन्निव चक्षुषा॥ ५॥

यह सुनकर मुनिश्रेष्ठ दुर्वासा रोषसे तमतमा उठे और लक्ष्मणकी ओर इस प्रकार देखने लगे, मानो अपनी नेत्राग्निसे उन्हें भस्म कर डालेंगे। साथ ही उनसे इस प्रकार बोले—॥ ५॥

अस्मिन् क्षणे मां सौमित्रे रामाय प्रतिवेदय।
अस्मिन् क्षणे मां सौमित्रे न निवेदयसे यदि।
विषयं त्वां पुरं चैव शपिष्ये राघवं तथा॥ ६॥
भरतं चैव सौमित्रे युष्माकं या च संततिः।
न हि शक्ष्याम्यहं भूयो मन्युं धारयितुं हृदि॥ ७॥

'सुमित्राकुमार! इसी क्षण श्रीरामको मेरे आगमनकी सूचना दो। यदि अभी-अभी उनसे मेरे आगमनका समाचार नहीं निवेदन करोगे तो मैं इस राज्यको, नगरको, तुमको, श्रीरामको, भरतको और तुमलोगोंकी जो संतति है, उसको भी शाप दे दूँगा। मैं पुनः इस क्रोधको अपने हृदयमें धारण नहीं कर सकूँगा'॥ ६-७॥

तच्छ्रुत्वा घोरसंकाशं वाक्यं तस्य महात्मनः।
चिन्तयामास मनसा तस्य वाक्यस्य निश्चयम्॥ ८॥

उन महात्माका यह घोर वचन सुनकर लक्ष्मणने उनकी वाणीसे जो निश्चय प्रकट हो रहा था, उसपर मन-ही-मन विचार किया॥ ८॥

एकस्य मरणं मेऽस्तु मा भूत् सर्वविनाशनम्।
इति बुद्ध्या विनिश्चित्य राघवाय न्यवेदयत्॥ ९॥

'अकेले मेरी ही मृत्यु हो, यह अच्छा है; किंतु सबका विनाश नहीं होना चाहिये' अपनी बुद्धिद्वारा ऐसा निश्चय करके लक्ष्मणने श्रीरघुनाथजीसे दुर्वासाके आगमनका समाचार निवेदन किया॥ ९॥

लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा रामः कालं विसृज्य च।
निःसृत्य त्वरितो राजा अत्रेः पुत्रं ददर्श ह॥ १०॥

लक्ष्मणकी बात सुनकर राजा श्रीराम कालको विदा करके तुरंत ही निकले और अत्रिपुत्र दुर्वासासे मिले॥ १०॥

सोऽभिवाद्य महात्मानं ज्वलन्तमिव तेजसा।
किं कार्यमिति काकुत्स्थः कृताञ्जलिरभाषत॥ ११॥

अपने तेजसे प्रज्वलित-से होते हुए महात्मा दुर्वासाको प्रणाम करके श्रीरघुनाथजीने हाथ जोड़कर पूछा—'महर्षे! मेरे लिये क्या आज्ञा है?'॥ ११॥

तद् वाक्यं राघवेणोक्तं श्रुत्वा मुनिवरः प्रभुः।
प्रत्याह रामं दुर्वासाः श्रूयतां धर्मवत्सल॥ १२॥

श्रीरघुनाथजीकी कही हुई उस बातको सुनकर प्रभावशाली मुनिवर दुर्वासा उनसे बोले—'धर्मवत्सल! सुनिये॥ १२॥

अद्य वर्षसहस्रस्य समाप्तिर्मम राघव।
सोऽहं भोजनमिच्छामि यथासिद्धं तवानघ॥ १३॥

'निष्पाप रघुनन्दन! मैंने एक हजार वर्षोंतक उपवास किया। आज मेरे उस व्रतकी समाप्तिका दिन है, इसलिये इस समय आपके यहाँ जो भी भोजन तैयार हो, उसे मैं ग्रहण करना चाहता हूँ'॥ १३॥

तच्छ्रुत्वा वचनं राजा राघवः प्रीतमानसः।
भोजनं मुनिमुख्याय यथासिद्धमुपाहरत्॥ १४॥

यह सुनकर राजा श्रीरघुनाथजी मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उन मुनिश्रेष्ठको तैयार भोजन परोसा॥ १४॥

स तु भुक्त्वा मुनिश्रेष्ठस्तदन्नममृतोपमम्।
साधु रामेति सम्भाष्य स्वमाश्रममुपागमत्॥ १५॥

वह अमृतके समान अन्न ग्रहण करके दुर्वासा मुनि तृप्त हुए और श्रीरघुनाथजीको साधुवाद दे अपने आश्रमपर चले आये॥ १५॥

तस्मिन् गते मुनिवरे स्वाश्रमं लक्ष्मणाग्रजः।
संस्मृत्य कालवाक्यानि ततो दुःखमुपागमत्॥ १६॥

मुनिवर दुर्वासाके अपने आश्रमको चले जानेपर लक्ष्मणके बड़े भाई श्रीराम कालके वचनोंका स्मरण करके दुःखी हो गये॥ १६॥

दुःखेन च सुसंतप्तः स्मृत्वा तद्घोरदर्शनम्।
अवाङ्मुखो दीनमना व्याहर्तुं न शशाक ह॥ १७॥

भयंकर भावी भ्रातृवियोगके दृश्यको दृष्टिपथमें लानेवाले कालके उस वचनपर विचार करके श्रीरामके मनमें बड़ा दुःख हुआ। उनका मुँह नीचेको झुक गया और वे कुछ बोल न सके॥ १७॥

ततो बुद्ध्या विनिश्चित्य कालवाक्यानि राघवः।
नैतदस्तीति निश्चित्य तूष्णीमासीन्महायशाः॥ १८॥

तदनन्तर कालके वचनोंपर बुद्धिपूर्वक सोच-विचार करके महायशस्वी श्रीरघुनाथजी इस निर्णयपर पहुँचे कि 'अब यह सब कुछ भी न रहेगा।' ऐसा सोचकर वे चुप हो रहे॥ १८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे पञ्चाधिकशततमः सर्गः॥ १०५॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें एक सौ पाँचवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १०५॥

षडधिकशततमः सर्गः

श्रीरामके त्याग देनेपर लक्ष्मणका सशरीर स्वर्गगमन

अवाङ्मुखमथो दीनं दृष्ट्वा सोममिवाप्लुतम्।
राघवं लक्ष्मणो वाक्यं हृष्टो मधुरमब्रवीत्॥ १॥

श्रीरामचन्द्रजी राहुग्रस्त चन्द्रमाके समान दीन हो गये थे, उन्हें सिर झुकाये खेद करते देख लक्ष्मणने बड़े हर्षके साथ मधुर वाणीमें कहा—॥ १॥

न संतापं महाबाहो मदर्थं कर्तुमर्हसि।
पूर्वनिर्माणबद्धा हि कालस्य गतिरीदृशी॥ २॥

'महाबाहो! आपको मेरे लिये संताप नहीं करना चाहिये; क्योंकि पूर्वजन्मके कर्मोंसे बँधी हुई कालकी गति ऐसी ही है॥ २॥

जहि मां सौम्य विस्रब्धं प्रतिज्ञां परिपालय।
हीनप्रतिज्ञाः काकुत्स्थ प्रयान्ति नरकं नराः॥ ३॥

'सौम्य! आप निश्चिन्त होकर मेरा वध कर डालें और ऐसा करके अपनी प्रतिज्ञाका पालन करें। काकुत्स्थ! प्रतिज्ञा भङ्ग करनेवाले मनुष्य नरकमें पड़ते हैं॥ ३॥

यदि प्रीतिर्महाराज यद्यनुग्राह्यता मयि।
जहि मां निर्विशङ्कस्त्वं धर्मं वर्धय राघव॥ ४॥

'महाराज! यदि आपका मुझपर प्रेम है और यदि आप मुझे कृपापात्र समझते हैं तो निःशङ्क होकर मुझे प्राणदण्ड दें। रघुनन्दन! आप अपने धर्मकी वृद्धि करें'॥ ४॥

लक्ष्मणेन तथोक्तस्तु रामः प्रचलितेन्द्रियः।
मन्त्रिणः समुपानीय तथैव च पुरोधसम्॥ ५॥
अब्रवीच्च तदा वृत्तं तेषां मध्ये स राघवः।
दुर्वासोऽभिगमं चैव प्रतिज्ञां तापसस्य च॥ ६॥

लक्ष्मणके ऐसा कहनेपर श्रीरामकी इन्द्रियाँ चञ्चल हो उठीं—वे धैर्यसे विचलित-से हो गये और मन्त्रियों तथा पुरोहितजीको बुलाकर उन सबके बीचमें वह सारा वृत्तान्त बताने लगे। श्रीरघुनाथजीने दुर्वासाके आगमन और तापसरूपधारी कालके समक्ष की हुई प्रतिज्ञाकी बात भी बतायी॥ ५-६॥

तच्छ्रुत्वा मन्त्रिणः सर्वे सोपाध्यायाः समासत।
वसिष्ठस्तु महातेजा वाक्यमेतदुवाच ह॥ ७॥

यह सुनकर सब मन्त्री और उपाध्याय चुपचाप बैठे रह गये (कोई कुछ बोल न सका)। तब महातेजस्वी वसिष्ठजीने यह बात कही—॥ ७॥

दृष्टमेतन्महाबाहो क्षयं ते रोमहर्षणम्।
लक्ष्मणेन वियोगश्च तव राम महायशः॥ ८॥

'महाबाहो! महायशस्वी श्रीराम! इस समय जो रोंगटे खड़े कर देनेवाला विकट विनाश आनेवाला है (तुम्हारे साथ ही बहुत-से प्राणियोंका जो साकेत-गमन होनेवाला है) और लक्ष्मणके साथ जो वियोग हो रहा है, यह सब मैंने तपोबलद्वारा पहलेसे ही देख लिया है॥ ८॥

त्यजैनं बलवान् कालो मा प्रतिज्ञां वृथा कृथाः।
प्रतिज्ञायां हि नष्टायां धर्मो हि विलयं व्रजेत्॥ ९॥

'काल बड़ा प्रबल है। तुम लक्ष्मणका परित्याग कर दो। प्रतिज्ञा झूठी न करो; क्योंकि प्रतिज्ञाके नष्ट होनेपर धर्मका लोप हो जायगा॥ ९॥

ततो धर्मे विनष्टे तु त्रैलोक्यं सचराचरम्।
सदेवर्षिगणं सर्वं विनश्येत् तु न संशयः॥ १०॥

'धर्मका लोप होनेपर चराचर प्राणियों, देवताओं तथा ऋषियोंसहित सारी त्रिलोकी नष्ट हो जायगी। इसमें संशय नहीं है॥ १०॥

स त्वं पुरुषशार्दूल त्रैलोक्यस्याभिपालनात्।
लक्ष्मणेन विना चाद्य जगत् स्वस्थं कुरुष्व ह॥ ११॥

'अतः पुरुषसिंह! तुम त्रिभुवनकी रक्षापर दृष्टि रखते हुए लक्ष्मणको त्याग दो और उनके बिना अब धर्मपूर्वक स्थित रहकर सम्पूर्ण जगत्‌को स्वस्थ एवं सुखी बनाओ'॥ ११॥

तेषां तत् समवेतानां वाक्यं धर्मार्थसंहितम्।
श्रुत्वा परिषदो मध्ये रामो लक्ष्मणमब्रवीत्॥ १२॥

वहाँ एकत्र हुए मन्त्री, पुरोहित आदि सब सभासदोंकी उस सभाके बीच वसिष्ठ मुनिकी कही हुई वह बात सुनकर श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा—॥ १२॥

विसर्जये त्वां सौमित्रे मा भूद् धर्मविपर्ययः।
त्यागो वधो वा विहितः साधूनां ह्यभयं समम्॥ १३॥

'सुमित्रानन्दन! मैं तुम्हारा परित्याग करता हूँ, जिससे धर्मका लोप न हो। साधु पुरुषोंका त्याग किया जाय अथवा वध—दोनों समान ही हैं'॥ १३॥

रामेण भाषिते वाक्ये बाष्पव्याकुलितेन्द्रियः।
लक्ष्मणस्त्वरितं प्रायात् स्वगृहं न विवेश ह॥ १४॥

श्रीरामके इतना कहते ही लक्ष्मणके नेत्रोंमें आँसू भर आये। वे तुरंत वहाँसे चल दिये। अपने घरतक नहीं गये॥ १४॥

स गत्वा सरयूतीरमुपस्पृश्य कृताञ्जलिः।
निगृह्य सर्वस्रोतांसि निःश्वासं न मुमोच ह॥ १५॥

सरयूके किनारे जाकर उन्होंने आचमन किया और हाथ जोड़ सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके प्राणवायुको रोक लिया॥ १५॥

अनिःश्वसन्तं युक्तं तं सशक्राः साप्सरोगणाः।
देवाः सर्षिगणाः सर्वे पुष्पैरभ्यकिरंस्तदा॥ १६॥

लक्ष्मणने योगयुक्त होकर श्वास लेना बंद कर दिया है—यह देख इन्द्र आदि सब देवता, ऋषि और अप्सराएँ उस समय उनपर फूलोंकी वर्षा करने लगीं॥ १६॥

अदृश्यं सर्वमनुजैः सशरीरं महाबलम्।
प्रगृह्य लक्ष्मणं शक्रस्त्रिदिवं संविवेश ह॥ १७॥

महाबली लक्ष्मण अपने शरीरके साथ ही सब मनुष्योंकी दृष्टिसे ओझल हो गये। उस समय देवराज इन्द्र उन्हें साथ लेकर स्वर्गमें चले गये॥ १७॥

ततो विष्णोश्चतुर्भागमागतं सुरसत्तमाः।
हृष्टाः प्रमुदिताः सर्वे पूजयन्ति स्म राघवम्॥ १८॥

भगवान् विष्णुके चतुर्थ अंश लक्ष्मणको आया देख सभी देवता हर्षसे भर गये और उन सबने प्रसन्नतापूर्वक लक्ष्मणकी पूजा की॥ १८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे षडधिकशततमः सर्गः॥ १०६॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें एक सौ छवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १०६॥

सप्ताधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठजीके कहनेसे श्रीरामका पुरवासियोंको अपने साथ ले जानेका विचार तथा कुश और लवका राज्याभिषेक करना

विसृज्य लक्ष्मणं रामो दुःखशोकसमन्वितः।
पुरोधसं मन्त्रिणश्च नैगमांश्चेदमब्रवीत्॥ १॥

लक्ष्मणका त्याग करके श्रीराम दुःख-शोकमें मग्न हो गये तथा पुरोहित, मन्त्री और महाजनोंसे इस प्रकार बोले—॥ १॥

अद्य राज्येऽभिषेक्ष्यामि भरतं धर्मवत्सलम्।
अयोध्यायाः पतिं वीरं ततो यास्याम्यहं वनम्॥ २॥

'आज मैं अयोध्याके राज्यपर धर्मवत्सल वीर भाई भरतको राजाके पदपर अभिषिक्त करूँगा। उसके बाद वनको चला जाऊँगा॥ २॥

प्रवेशयत सम्भारान् मा भूत् कालात्ययो यथा।
अद्यैवाहं गमिष्यामि लक्ष्मणेन गतां गतिम्॥ ३॥

'शीघ्र ही सब सामग्री जुटाकर ले आओ। अब अधिक समय नहीं बीतना चाहिये। मैं आज ही लक्ष्मणके पथका अनुसरण करूँगा'॥ ३॥

तच्छ्रुत्वा राघवेणोक्तं सर्वाः प्रकृतयो भृशम्।
मूर्धभिः प्रणता भूमौ गतसत्त्वा इवाभवन्॥ ४॥

श्रीरामचन्द्रजीकी यह बात सुनकर प्रजावर्गके सभी लोग धरतीपर माथा टेककर पड़ गये और प्राणहीन-से हो गये॥ ४॥

भरतश्च विसंज्ञोऽभूच्छ्रुत्वा राघवभाषितम्।
राज्यं विगर्हयामास वचनं चेदमब्रवीत्॥ ५॥

श्रीरघुनाथजीकी यह बात सुनकर भरतका तो होश ही उड़ गया। वे राज्यकी निन्दा करने लगे और इस प्रकार बोले—॥ ५॥

सत्येनाहं शपे राजन् स्वर्गभोगेन चैव हि।
न कामये यथा राज्यं त्वां विना रघुनन्दन॥ ६॥

'राजन्! रघुनन्दन! मैं सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ कि आपके बिना मुझे राज्य नहीं चाहिये, स्वर्गका भोग भी नहीं चाहिये॥ ६॥

इमौ कुशीलवौ राजन्नभिषिच्य नराधिप।
कोशलेषु कुशं वीरमुत्तरेषु तथा लवम्॥ ७॥

'राजन्! नरेश्वर! आप इन कुश और लवका राज्याभिषेक कीजिये। दक्षिण कोशलमें कुशको और उत्तर कोशलमें लवको राजा बनाइये॥ ७॥

शत्रुघ्नस्य च गच्छन्तु दूतास्त्वरितविक्रमाः।
इदं गमनमस्माकं शीघ्रमाख्यातु मा चिरम्॥ ८॥

'तेज चलनेवाले दूत शीघ्र ही शत्रुघ्नके पास भी जायँ और उन्हें हमलोगोंकी इस महायात्राका वृत्तान्त सुनायें। इसमें विलम्ब नहीं होना चाहिये'॥ ८॥

तच्छ्रुत्वा भरतेनोक्तं दृष्ट्वा चापि ह्यधोमुखान्।
पौरान् दुःखेन संतप्तान् वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत्॥ ९॥

भरतकी बात सुनकर तथा पुरवासियोंको नीचे मुख किये दुःखसे संतप्त होते देख महर्षि वसिष्ठने कहा—॥ ९॥

वत्स राम इमाः पश्य धरणिं प्रकृतीर्गताः।
ज्ञात्वैषामीप्सितं कार्यं मा चैषां विप्रियं कृथाः॥ १०॥

'वत्स श्रीराम! पृथ्वीपर पड़े हुए इन प्रजाजनोंकी ओर देखो। इनका अभिप्राय जानकर इसीके अनुसार कार्य करो। इनकी इच्छाके विपरीत करके इन बेचारोंका दिल न दुखाओ'॥ १०॥

वसिष्ठस्य तु वाक्येन उत्थाप्य प्रकृतीजनम्।
किं करोमीति काकुत्स्थः सर्वान् वचनमब्रवीत्॥ ११॥

वसिष्ठजीके कहनेसे श्रीरघुनाथजीने प्रजाजनोंको उठाया और सबसे पूछा—'मैं आपलोगोंका कौन-सा कार्य सिद्ध करूँ?'॥ ११॥

ततः सर्वाः प्रकृतयो रामं वचनमब्रुवन्।
गच्छन्तमनुगच्छामो यत्र राम गमिष्यसि॥ १२॥

तब प्रजावर्गके सभी लोग श्रीरामसे बोले—'रघुनन्दन! आप जहाँ भी जायँगे, आपके पीछे-पीछे हम भी वहीं चलेंगे॥ १२॥

पौरेषु यदि ते प्रीतिर्यदि स्नेहो ह्यनुत्तमः।
सपुत्रदाराः काकुत्स्थ समं गच्छाम सत्पथम्॥ १३॥

'काकुत्स्थ! यदि पुरवासियोंपर आपका प्रेम है, यदि हमपर आपका परम उत्तम स्नेह है तो हमें साथ चलनेकी आज्ञा दीजिये। हम अपने स्त्री-पुत्रोंसहित आपके साथ ही सन्मार्गपर चलनेको उद्यत हैं॥ १३॥

तपोवनं वा दुर्गं वा नदीमम्भोनिधिं तथा।
वयं ते यदि न त्याज्याः सर्वान्नो नय ईश्वर॥ १४॥

'स्वामिन्! आप तपोवनमें या किसी दुर्गम स्थानमें अथवा नदी या समुद्रमें—जहाँ कहीं भी जायँ, हम सबको साथ ले चलें। यदि आप हमें त्याग देने योग्य नहीं मानते हैं तो ऐसा ही करें॥ १४॥

एषा नः परमा प्रीतिरेष नः परमो वरः।
हृद्गता नः सदा प्रीतिस्तवानुगमने नृप॥ १५॥

'यही हमारे ऊपर आपकी सबसे बड़ी कृपा होगी और यही हमारे लिये आपका परम उत्तम वर होगा। आपके पीछे चलनेमें ही हमें सदा हार्दिक प्रसन्नता होगी'॥ १५॥

पौराणां दृढभक्तिं च बाढमित्येव सोऽब्रवीत्।
स्वकृतान्तं चान्ववेक्ष्य तस्मिन्नहनि राघवः॥ १६॥
कोशलेषु कुशं वीरमुत्तरेषु तथा लवम्।
अभिषिच्य महात्मानावुभौ रामः कुशीलवौ॥ १७॥
अभिषिक्तौ सुतावङ्के प्रतिष्ठाप्य पुरे ततः।
परिष्वज्य महाबाहुर्मूर्ध्न्युपाघ्राय चासकृत्॥ १८॥

पुरवासियोंकी दृढ़ भक्ति देख श्रीरामने 'तथास्तु' कहकर उनकी इच्छाका अनुमोदन किया और अपने कर्तव्यका निश्चय करके श्रीरघुनाथजीने उसी दिन दक्षिण कोशलके राज्यपर वीर कुशको और उत्तर कोशलके राजसिंहासनपर लवको अभिषिक्त कर दिया। अभिषिक्त हुए अपने उन दोनों महामनस्वी पुत्र कुश और लवको गोदमें बिठाकर उनका गाढ़ आलिङ्गन करके महाबाहु श्रीरामने बारम्बार उन दोनोंके मस्तक सूँघे; फिर उन्हें अपनी-अपनी राजधानीमें भेज दिया॥ १६—१८॥

रथानां तु सहस्राणि नागानामयुतानि च।
दशायुतानि चाश्वानामेकैकस्य धनं ददौ॥ १९॥

उन्होंने अपने एक-एक पुत्रको कई हजार रथ, दस हजार हाथी और एक लाख घोड़े दिये॥ १९॥

बहुरत्नौ बहुधनौ हृष्टपुष्टजनावृतौ।
स्वे पुरे प्रेषयामास भ्रातरौ तौ कुशीलवौ॥ २०॥

दोनों भाई कुश और लव प्रचुर रत्न और धनसे सम्पन्न हो गये। वे हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे घिरे रहने लगे। उन दोनोंको श्रीरामने उनकी राजधानियोंमें भेज दिया॥ २०॥

अभिषिच्य ततो वीरौ प्रस्थाप्य स्वपुरे तदा।
दूतान् सम्प्रेषयामास शत्रुघ्नाय महात्मने॥ २१॥

इस प्रकार उन दोनों वीरोंको अभिषिक्त करके अपने-अपने नगरमें भेजकर श्रीरघुनाथजीने महात्मा शत्रुघ्नके पास दूत भेजे॥ २१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे सप्ताधिकशततमः सर्गः॥ १०७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें एक सौ सातवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १०७॥

—★—
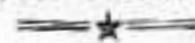
अष्टाधिकशततमः सर्गः

श्रीरामचन्द्रजीका भाइयों, सुग्रीव आदि वानरों तथा रीछोंके साथ परमधाम जानेका निश्चय और विभीषण, हनुमान्, जाम्बवान्, मैन्द एवं द्विविदको इस भूतलपर ही रहनेका आदेश देना

ते दूता रामवाक्येन चोदिता लघुविक्रमाः।
प्रजग्मुर्मधुरां शीघ्रं चक्रुर्वासं न चाध्वनि॥ १॥

श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञा पाकर शीघ्रगामी दूत शीघ्र ही मधुरापुरीको चल दिये। उन्होंने मार्गमें कहीं भी पड़ाव नहीं डाला॥ १॥

ततस्त्रिभिरहोरात्रैः सम्प्राप्य मधुरामथ।
शत्रुघ्नाय यथातत्त्वमाचख्युः सर्वमेव तत्॥ २॥

लगातार तीन दिन और तीन रात चलकर वे मधुरा पहुँचे और अयोध्याकी सारी बातें उन्होंने शत्रुघ्नसे यथार्थतः कह सुनायीं॥ २॥

लक्ष्मणस्य परित्यागं प्रतिज्ञां राघवस्य च।
पुत्रयोरभिषेकं च पौरानुगमनं तथा॥ ३॥
कुशस्य नगरी रम्या विन्ध्यपर्वतरोधसि।
कुशावतीति नाम्ना सा कृता रामेण धीमता॥ ४॥

श्रीरामकी प्रतिज्ञा, लक्ष्मणका परित्याग, श्रीरामके दोनों पुत्रोंका राज्याभिषेक और पुरवासियोंका श्रीरामके साथ जानेका निश्चय आदि सब बातें बताकर दूतोंने यह भी कहा कि 'परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीरामने कुशके लिये विन्ध्यपर्वतके किनारे कुशावती नामक रमणीय नगरीका निर्माण कराया है॥ ३-४॥

श्रावस्तीति पुरी रम्या श्राविता च लवस्य ह।
अयोध्यां विजनां कृत्वा राघवो भरतस्तथा॥ ५॥
स्वर्गस्य गमनोद्योगं कृतवन्तौ महारथौ।
एवं सर्वं निवेद्याशु शत्रुघ्नाय महात्मने॥ ६॥
विरेमुस्ते ततो दूतास्त्वर राजेति चाब्रुवन्।

'इसी तरह लवके लिये श्रावस्ती नामसे प्रसिद्ध सुन्दरपुरी बसायी है। श्रीरघुनाथजी और भरतजी दोनों महारथी वीर अयोध्याको सूनी करके साकेतधामको जानेके लिये उद्योग कर रहे हैं।' इस प्रकार महात्मा शत्रुघ्नको शीघ्रतापूर्वक सब बातें बताकर दूतोंने कहा—'राजन्! शीघ्रता कीजिये' इतना कहकर वे चुप हो गये॥ ५—६½॥

तच्छ्रुत्वा घोरसंकाशं कुलक्षयमुपस्थितम्॥ ७॥
प्रकृतीस्तु समानीय काञ्चनं च पुरोधसम्।
तेषां सर्वं यथावृत्तमब्रवीद् रघुनन्दनः॥ ८॥

अपने कुलका भयंकर संहार उपस्थित हुआ सुनकर रघुनन्दन शत्रुघ्नने समस्त प्रजा तथा काञ्चन नामक पुरोहितको बुलाया और उनसे सब बातें यथावत् कह सुनायीं॥ ७-८॥

आत्मनश्च विपर्यासं भविष्यं भ्रातृभिः सह।
ततः पुत्रद्वयं वीरः सोऽभ्यषिञ्चन्नराधिपः॥ ९॥

उन्होंने यह भी बताया कि भाइयोंके साथ मेरे शरीरका भी वियोग होनेवाला है। इसके बाद वीर राजा शत्रुघ्नने अपने दोनों पुत्रोंका राज्याभिषेक किया॥ ९॥

सुबाहुर्मधुरां लेभे शत्रुघाती च वैदिशम्।
द्विधा कृत्वा तु तां सेनां माधुरीं पुत्रयोर्द्वयोः।
धनं च युक्तं कृत्वा वै स्थापयामास पार्थिवः॥ १०॥

सुबाहुने मधुराका राज्य पाया और शत्रुघातीने विदिशाका। मधुराकी सेनाके दो भाग करके राजा शत्रुघ्नने दोनों पुत्रोंको बाँट दिये तथा बाँटनेके योग्य धनका भी विभाजन करके उन दोनोंको दे दिया और उन्हें अपनी-अपनी राजधानीमें स्थापित कर दिया॥ १०॥

सुबाहुं मधुरायां च वैदिशे शत्रुघातिनम्।
ययौ स्थाप्य तदायोध्यां रथेनैकेन राघवः॥ ११॥

इस प्रकार सुबाहुको मधुरामें तथा शत्रुघातीको विदिशामें स्थापित करके रघुकुलनन्दन शत्रुघ्न एकमात्र रथके द्वारा अयोध्याके लिये प्रस्थित हुए॥ ११॥

स ददर्श महात्मानं ज्वलन्तमिव पावकम्।
सूक्ष्मक्षौमाम्बरधरं मुनिभिः सार्धमक्षयैः॥ १२॥

वहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा महात्मा श्रीराम अपने तेजसे प्रज्वलित अग्निके समान उद्दीप्त हो रहे हैं। उनके शरीरपर महीन रेशमी वस्त्र शोभा पा रहा है तथा वे अविनाशी महर्षियोंके साथ विराजमान हैं॥ १२॥

सोऽभिवाद्य ततो रामं प्राञ्जलिः प्रयतेन्द्रियः।
उवाच वाक्यं धर्मज्ञं धर्ममेवानुचिन्तयन्॥ १३॥

निकट जा हाथ जोड़कर उन्होंने श्रीरघुनाथजीको प्रणाम किया और धर्मका चिन्तन करते हुए इन्द्रियोंको काबूमें करके वे धर्मके ज्ञाता श्रीरामसे बोले—॥ १३॥

कृत्वाभिषेकं सुतयोर्द्वयो राघवनन्दन।
तवानुगमने राजन् विद्धि मां कृतनिश्चयम्॥ १४॥

'रघुकुलनन्दन! मैं अपने दोनों पुत्रोंका राज्याभिषेक करके आया हूँ; राजन्! आप मुझे भी अपने साथ चलनेके दृढ़ निश्चयसे युक्त समझें॥ १४॥

न चान्यदद्य वक्तव्यमतो वीर न शासनम्।
विहन्यमानमिच्छामि मद्विधेन विशेषतः॥ १५॥

'वीर! आज इसके विपरीत आप मुझसे और कुछ न कहियेगा; क्योंकि उससे बढ़कर मेरे लिये दूसरा कोई दण्ड न होगा। मैं नहीं चाहता कि किसीके विशेषतः मुझ-जैसे सेवकके द्वारा आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन हो'॥ १५॥

तस्य तां बुद्धिमक्लीबां विज्ञाय रघुनन्दनः।
बाढमित्येव शत्रुघ्नं रामो वाक्यमुवाच ह॥ १६॥

शत्रुघ्नका यह दृढ़ विचार जानकर श्रीरघुनाथजीने उनसे कहा—'बहुत अच्छा'॥ १६॥

तस्य वाक्यस्य वाक्यान्ते वानराः कामरूपिणः।
ऋक्षराक्षससङ्घाश्च समापेतुरनेकशः॥ १७॥

उनकी यह बात समाप्त होते ही इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले वानर, रीछ और राक्षसोंके समुदाय बहुत बड़ी संख्यामें वहाँ आ पहुँचे॥ १७॥

सुग्रीवं ते पुरस्कृत्य सर्व एव समागताः।
तं रामं द्रष्टुमनसः स्वर्गायाभिमुखं स्थितम्॥ १८॥

साकेत-धामको जानेके लिये उद्यत हुए श्रीरामके दर्शनकी इच्छा मनमें लिये वे सभी वानर सुग्रीवको आगे करके वहाँ पधारे थे॥ १८॥

देवपुत्रा ऋषिसुता गन्धर्वाणां सुतास्तथा।
रामक्षयं विदित्वा ते सर्व एव समागताः॥ १९॥
ते राममभिवाद्योचुः सर्वे वानरराक्षसाः।

उनमेंसे कितने ही देवताओंके पुत्र थे, कितने ही ऋषियोंके बालक थे और कितने ही गन्धर्वोंसे उत्पन्न हुए थे। श्रीरघुनाथजीके लीलासंवरणका समय जानकर वे सब-के-सब वहाँ आये थे। उक्त सभी वानर और राक्षस श्रीरामको प्रणाम करके बोले—॥ १९½॥

तवानुगमने राजन् सम्प्राप्ताः स्म समागताः॥ २०॥
यदि राम विनास्माभिर्गच्छेस्त्वं पुरुषोत्तम।
यमदण्डमिवोद्यम्य त्वया स्म विनिपातिताः॥ २१॥

'राजन्! हम भी आपके साथ चलनेका निश्चय लेकर यहाँ आये हैं। पुरुषोत्तम श्रीराम! यदि आप हमें साथ लिये बिना ही चले जायँगे तो हम यह समझेंगे कि आपने यमदण्ड उठाकर हमें मार गिराया है'॥ २०-२१॥

एतस्मिन्नन्तरे रामं सुग्रीवोऽपि महाबलः।
प्रणम्य विधिवद् वीरं विज्ञापयितुमुद्यतः॥ २२॥

इसी बीचमें महाबली सुग्रीव भी वीर श्रीरामको विधिपूर्वक प्रणाम करके अपना अभिप्राय निवेदन करनेके लिये उद्यत हो बोले—॥ २२॥

अभिषिच्याङ्गदं वीरमागतोऽस्मि नरेश्वर।
तवानुगमने राजन् विद्धि मां कृतनिश्चयम्॥ २३॥

'नरेश्वर! मैं वीर अङ्गदका राज्याभिषेक करके आया हूँ। आप समझ लें कि मेरा भी आपके साथ चलनेका दृढ़ निश्चय है'॥ २३॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा रामो रमयतां वरः।
वानरेन्द्रमथोवाच मैत्रं तस्यानुचिन्तयन्॥ २४॥

उनकी यह बात सुनकर मनको रमानेवाले पुरुषोंमें श्रेष्ठ श्रीरामने वानरराज सुग्रीवकी मित्रताका विचार करके उनसे कहा॥ २४॥

सखे शृणुष्व सुग्रीव न त्वयाहं विनाकृतः।
गच्छेयं देवलोकं वा परमं वा पदं महत्॥ २५॥

'सखे सुग्रीव! मेरी बात सुनो। मैं तुम्हारे बिना देवलोकमें और महान् परमपद या परमधाममें भी नहीं जा सकता'॥ २५॥

तैरेवमुक्तः काकुत्स्थो बाढमित्यब्रवीत् स्मयन्।
विभीषणमथोवाच राक्षसेन्द्रं महायशाः॥ २६॥

पूर्वोक्त वानरों और राक्षसोंकी भी बात सुनकर महायशस्वी श्रीरघुनाथजी 'बहुत अच्छा' कहकर मुसकराये और राक्षसराज विभीषणसे बोले—॥ २६॥

यावत् प्रजा धरिष्यन्ति तावत् त्वं वै विभीषण।
राक्षसेन्द्र महावीर्य लङ्कास्थः स्वं धरिष्यसि॥ २७॥

'महापराक्रमी राक्षसराज विभीषण! जबतक संसारकी प्रजा जीवन धारण करेगी, तबतक तुम भी लङ्कामें रहकर अपने शरीरको धारण करोगे॥ २७॥

यावच्चन्द्रश्च सूर्यश्च यावत् तिष्ठति मेदिनी।
यावच्च मत्कथा लोके तावद् राज्यं तवास्त्विह॥ २८॥

'जबतक चन्द्रमा और सूर्य रहेंगे, जबतक पृथ्वी रहेगी और जबतक संसारमें मेरी कथा प्रचलित रहेगी, तबतक इस भूतलपर तुम्हारा राज्य बना रहेगा'॥ २८॥

शासितश्च सखित्वेन कार्यं ते मम शासनम्।
प्रजाः संरक्ष धर्मेण नोत्तरं वक्तुमर्हसि॥ २९॥

'मैंने मित्रभावसे ये बातें तुमसे कही हैं। तुम्हें मेरी आज्ञाका पालन करना चाहिये। तुम धर्मपूर्वक प्रजाकी रक्षा करो। इस समय मैंने जो कुछ कहा है, तुम्हें उसका प्रतिवाद नहीं करना चाहिये॥ २९॥

किंचान्यद् वक्तुमिच्छामि राक्षसेन्द्र महाबल।
आराधय जगन्नाथमिक्ष्वाकुकुलदैवतम्॥ ३०॥
आराधनीयमनिशं देवैरपि सवासवैः।

'महाबली राक्षसराज! इसके सिवा मैं तुमसे एक बात और कहना चाहता हूँ। हमारे इक्ष्वाकुकुलके देवता हैं भगवान् जगन्नाथ (श्रीशेषशायी भगवान् विष्णु)। इन्द्र आदि देवता भी उनकी निरन्तर आराधना करते रहते हैं। तुम भी सदा उनकी पूजा करते रहना'॥ ३०½॥

तथेति प्रतिजग्राह रामवाक्यं विभीषणः॥ ३१॥
राजा राक्षसमुख्यानां राघवाज्ञामनुस्मरन्।

राक्षसराज विभीषणने श्रीरघुनाथजीकी इस आज्ञाको अपने हृदयमें धारण किया और 'बहुत अच्छा' कहकर उसका पालन स्वीकार किया॥ ३१½॥

तमेवमुक्त्वा काकुत्स्थो हनूमन्तमथाब्रवीत्॥ ३२॥
जीविते कृतबुद्धिस्त्वं मा प्रतिज्ञां वृथा कृथाः।

विभीषणसे ऐसा कहकर श्रीरामचन्द्रजी हनुमान्‌जीसे बोले—'तुमने दीर्घकालतक जीवित रहनेका निश्चय किया है। अपनी इस प्रतिज्ञाको व्यर्थ न करो॥ ३२½॥

मत्कथाः प्रचरिष्यन्ति यावल्लोके हरीश्वर॥ ३३॥
तावद् रमस्व सुप्रीतो मद्वाक्यमनुपालयन्।

'हरीश्वर! जबतक संसारमें मेरी कथाओंका प्रचार रहे, तबतक तुम भी मेरी आज्ञाका पालन करते हुए प्रसन्नतापूर्वक विचरते रहो'॥ ३३½॥

एवमुक्तस्तु हनुमान् राघवेण महात्मना॥ ३४॥
वाक्यं विज्ञापयामास परं हर्षमवाप च।

महात्मा श्रीरघुनाथजीके ऐसा कहनेपर हनुमान्‌जीको बड़ा हर्ष हुआ और वे इस प्रकार बोले—॥ ३४½॥

यावत् तव कथा लोके विचरिष्यति पावनी॥ ३५॥
तावत् स्थास्यामि मेदिन्यां तवाज्ञामनुपालयन्।

'भगवन्! संसारमें जबतक आपकी पावन कथाका प्रचार रहेगा, तबतक आपके आदेशका पालन करता हुआ मैं इस पृथ्वीपर ही रहूँगा'॥ ३५½॥

जाम्बवन्तं तथोक्त्वा तु वृद्धं ब्रह्मसुतं तदा॥ ३६॥
मैन्दं च द्विविदं चैव पञ्च जाम्बवता सह।
यावत् कलिश्च सम्प्राप्तस्तावज्जीवत सर्वदा॥ ३७॥

इसके बाद भगवान्‌ने ब्रह्माजीके पुत्र बूढ़े जाम्बवान् तथा मैन्द और द्विविदसे भी कहा—'जाम्बवान्‌सहित तुम पाँचों व्यक्ति (जाम्बवान्, विभीषण, हनुमान्, मैन्द और द्विविद) तबतक जीवित रहो, जबतक कि प्रलय एवं कलियुग न आ जाय' (इनमेंसे हनुमान् और विभीषण तो प्रलयकालतक रहनेवाले हैं और शेष तीन व्यक्ति कलि और द्वापरकी संधिमें श्रीकृष्णावतारके समय मारे गये या मर गये)॥ ३६-३७॥

तानेवमुक्त्वा काकुत्स्थः सर्वांस्तानृक्षवानरान्।
उवाच बाढं गच्छध्वं मया सार्धं यथोदितम्॥ ३८॥

उन सबसे ऐसा कहकर श्रीरघुनाथजीने शेष सभी रीछों और वानरोंसे कहा—'बहुत अच्छा' तुमलोगोंकी बातें मुझे स्वीकार हैं। तुम सब अपने कथनानुसार मेरे साथ चलो'॥ ३८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डेऽष्टाधिकशततमः सर्गः॥ १०८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें एक सौ आठवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १०८॥

—★—

नवाधिकशततमः सर्गः

परमधाम जानेके लिये निकले हुए श्रीरामके साथ समस्त अयोध्यावासियोंका प्रस्थान

प्रभातायां तु शर्वर्यां पृथुवक्षा महायशाः।
रामः कमलपत्राक्षः पुरोधसमथाब्रवीत्॥ १॥

तदनन्तर रात बीतनेपर जब सवेरा हुआ, तब विशाल वक्षःस्थलवाले महायशस्वी कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी पुरोहितसे बोले— ॥ १॥

अग्निहोत्रं व्रजत्वग्रे दीप्यमानं सह द्विजैः।
वाजपेयातपत्रं च शोभमानं महापथे॥ २॥

'मेरे अग्निहोत्रकी प्रज्वलित आग ब्राह्मणोंके साथ आगे-आगे चले। महाप्रयाणके पथपर इस यात्राके समय मेरे वाजपेय-यज्ञका सुन्दर छत्र भी चलना चाहिये' ॥ २॥

ततो वसिष्ठस्तेजस्वी सर्वं निरवशेषतः।
चकार विधिवद् धर्म्यं माहाप्रस्थानिकं विधिम्॥ ३॥

उनके इस प्रकार कहनेपर तेजस्वी वसिष्ठ मुनिने महाप्रस्थानकालके लिये उचित समस्त धार्मिक क्रियाओंका विधिपूर्वक पूर्णतः अनुष्ठान किया ॥ ३॥

ततः सूक्ष्माम्बरधरो ब्रह्ममावर्तयन् परम्।
कुशान् गृहीत्वा पाणिभ्यां सरयूं प्रययावथ॥ ४॥

फिर भगवान् श्रीराम सूक्ष्म वस्त्र धारण किये दोनों हाथोंमें कुश लेकर परब्रह्मके प्रतिपादक वेद-मन्त्रोंका उच्चारण करते हुए सरयूनदीके तटपर चले ॥ ४॥

अव्याहरन् क्वचित् किंचिन्निश्चेष्टो निःसुखः पथि।
निर्जगाम गृहात् तस्माद् दीप्यमानो यथांशुमान्॥ ५॥

उस समय वे वेदपाठके सिवा कहीं किसीसे और कोई बात नहीं करते थे। चलनेके अतिरिक्त उनमें कोई दूसरी चेष्टा नहीं दिखायी देती थी तथा वे लौकिक सुखका परित्याग करके देदीप्यमान सूर्यकी भाँति प्रकाशित होते हुए घरसे निकले थे और राजपथ पथपर बढ़ रहे थे ॥ ५॥

रामस्य दक्षिणे पार्श्वे सपद्मा श्रीरुपाश्रिता।
सव्येऽपि च मही देवी व्यवसायस्तथाग्रतः॥ ६॥

भगवान् श्रीरामके दाहिने पार्श्वमें कमल हाथमें लिये श्रीदेवी उपस्थित थीं। वामभागमें भूदेवी विराजमान थीं तथा आगे-आगे उनकी व्यवसाय (संहार)-शक्ति चल रही थी ॥ ६॥

शरा नानाविधाश्चापि धनुरायतमुत्तमम्।
तथायुधाश्च ते सर्वे ययुः पुरुषविग्रहाः॥ ७॥

नाना प्रकारके बाण, विशाल एवं उत्तम धनुष तथा दूसरे-दूसरे अस्त्र-शस्त्र—सभी पुरुष-शरीर धारण करके भगवान्‌के साथ चले ॥ ७॥

वेदा ब्राह्मणरूपेण गायत्री सर्वरक्षिणी।
ओङ्कारोऽथ वषट्कारः सर्वे राममनुव्रताः॥ ८॥

चारों वेद ब्राह्मणका रूप धारण करके चल रहे थे। सबकी रक्षा करनेवाली गायत्री देवी, ओंकार और वषट्कार सभी भक्तिभावसे श्रीरामका अनुसरण करते थे ॥ ८॥

ऋषयश्च महात्मानः सर्व एव महीसुराः।
अन्वगच्छन् महात्मानं स्वर्गद्वारमपावृतम्॥ ९॥

महात्मा ऋषि तथा समस्त ब्राह्मण भी ब्रह्मलोकके खुले हुए द्वारस्वरूप परमात्मा श्रीरामके पीछे-पीछे गये ॥ ९॥

तं यान्तमनुगच्छन्ति ह्यन्तःपुरचराः स्त्रियः।
सवृद्धबालदासीकाः सवर्षवरकिंकराः॥ १०॥

अन्तःपुरकी स्त्रियाँ भी बालकों, बूढ़ों, दासियों, खोजों और सेवकोंके साथ निकलकर सरयूतटकी ओर जाते हुए श्रीरामके पीछे-पीछे जा रही थीं ॥ १०॥

सान्तःपुरश्च भरतः शत्रुघ्नसहितो ययौ।
रामं गतिमुपागम्य साग्निहोत्रमनुव्रताः॥ ११॥

भरत और शत्रुघ्न अन्तःपुरकी स्त्रियोंके साथ अपने आश्रयस्वरूप भगवान् श्रीरामके, जो अग्निहोत्रके साथ जा रहे थे, पीछे-पीछे गये ॥ ११॥

ते च सर्वे महात्मानः साग्निहोत्राः समागताः।
सपुत्रदाराः काकुत्स्थमनुजग्मुर्महामतिम्॥ १२॥

वे सब महामनस्वी श्रेष्ठ पुरुष एवं ब्राह्मण अग्निहोत्रकी अग्नि तथा स्त्री-पुत्रोंके साथ इस महायात्रामें सम्मिलित हो परम बुद्धिमान् श्रीरघुनाथजीका अनुगमन कर रहे थे ॥ १२॥

मन्त्रिणो भृत्यवर्गाश्च सपुत्रपशुबान्धवाः।
सर्वे सहानुगा राममन्वगच्छन् प्रहृष्टवत्॥ १३॥

समस्त मन्त्री और भृत्यवर्ग भी अपने पुत्रों, पशुओं, बन्धुओं तथा अनुचरोंसहित हर्षपूर्वक श्रीरामके पीछे-पीछे जा रहे थे ॥ १३॥

ततः सर्वाः प्रकृतयो हृष्टपुष्टजनावृताः।
गच्छन्तमनुगच्छन्ति राघवं गुणरञ्जिताः॥ १४॥
ततः सस्त्रीपुमांसस्ते सपक्षिपशुबान्धवाः।
राघवस्यानुगाः सर्वे हृष्टा विगतकल्मषाः॥ १५॥

हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरे हुए समस्त प्रजाजन श्रीरघुनाथजीके गुणोंपर मुग्ध थे; इसलिये वे स्त्री, पुरुष, पशु-पक्षी तथा बन्धु-बान्धवोंसहित उस महायात्रामें श्रीरामके अनुगामी हुए। उन सबके हृदयमें प्रसन्नता थी और वे सभी पापसे रहित थे ॥ १४-१५॥

स्नाताः प्रमुदिताः सर्वे हृष्टपुष्टाश्च वानराः।
दृढं किलकिलाशब्दैः सर्वं राममनुव्रतम्॥ १६॥

सम्पूर्ण हृष्ट-पुष्ट वानरगण भी स्नान करके बड़ी प्रसन्नताके साथ किलकारियाँ भरते हुए भगवान् श्रीरामके साथ जा रहे थे, वह सारा समुदाय ही श्रीरामका भक्त था ॥ १६॥

न तत्र कश्चिद् दीनो वा व्रीडितो वापि दुःखितः।
हृष्टं समुदितं सर्वं बभूव परमाद्भुतम्॥ १७॥

उनमें कोई भी ऐसा नहीं था, जो दीन-दुःखी अथवा लज्जित हो। वहाँ एकत्र हुए सब लोगोंके हृदयमें महान् हर्ष छा रहा था और इस प्रकार वह जनसमुदाय अत्यन्त आश्चर्यजनक जान पड़ता था॥ १७॥

द्रष्टुकामोऽथ निर्यान्तं रामं जानपदो जनः।
यः प्राप्तः सोऽपि दृष्ट्वैव स्वर्गायानुगतो जनः॥ १८॥

जनपदके लोगोंमेंसे जो श्रीरामकी यात्रा देखनेके लिये आये थे, वे भी यह सब समारोह देखते ही भगवान्‌के साथ परमधाम जानेको तैयार हो गये॥ १८॥

ऋक्षवानररक्षांसि जनाश्च पुरवासिनः।
आगच्छन् परया भक्त्या पृष्ठतः सुसमाहिताः॥ १९॥

रीछ, वानर, राक्षस और पुरवासी मनुष्य बड़ी भक्तिके साथ श्रीरामचन्द्रजीके पीछे-पीछे एकाग्रचित्त होकर चले आ रहे थे॥ १९॥

यानि भूतानि नगरेऽप्यन्तर्धानगतानि च।
राघवं तान्यनुययुः स्वर्गाय समुपस्थितम्॥ २०॥

अयोध्यानगरमें जो अदृश्य प्राणी रहते थे, वे भी साकेतधाम जानेके लिये उद्यत हुए श्रीरघुनाथजीके पीछे-पीछे चल दिये॥ २०॥

यानि पश्यन्ति काकुत्स्थं स्थावराणि चराणि च।
सर्वाणि रामगमने अनुजग्मुर्हि तान्यपि॥ २१॥

चराचर प्राणियोंमेंसे जो-जो श्रीरघुनाथजीको जाते देखते थे, वे सभी उस यात्रामें उनके पीछे-पीछे चल देते थे॥ २१॥

नोच्छ्वसत् तदयोध्यायां सुसूक्ष्ममपि दृश्यते।
तिर्यग्योनिगताश्चैव सर्वे राममनुव्रताः॥ २२॥

उस समय उस अयोध्यामें साँस लेनेवाला कोई छोटे-से-छोटा प्राणी भी रह गया हो, ऐसा नहीं देखा जाता था। तिर्यग्योनिके समस्त जीव भी श्रीराममें भक्तिभाव रखकर उनके पीछे-पीछे चले जा रहे थे॥ २२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे नवाधिकशततमः सर्गः॥ १०९॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें एक सौ नवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १०९॥

—★—

दशाधिकशततमः सर्गः

भाइयोंसहित श्रीरामका विष्णुस्वरूपमें प्रवेश तथा साथ आये हुए सब लोगोंको संतानक-लोककी प्राप्ति

अध्यर्धयोजनं गत्वा नदीं पश्चान्मुखाश्रिताम्।
सरयूं पुण्यसलिलां ददर्श रघुनन्दनः॥ १॥

अयोध्यासे डेढ़ योजन दूर जाकर रघुकुलनन्दन भगवान् श्रीरामने पश्चिमाभिमुख हो निकट प्राप्त हुई पुण्यसलिला सरयूका दर्शन किया॥ १॥

तां नदीमाकुलावर्तां सर्वत्रानुसरन् नृपः।
आगतः सप्रजो रामस्तं देशं रघुनन्दनः॥ २॥

सरयूनदीमें सब ओर भँवरें उठ रही थीं। वहाँ सब ओर घूम-फिरकर रघुनन्दन राजा श्रीराम प्रजाजनोंके साथ एक उत्तम स्थानपर आये॥ २॥

अथ तस्मिन् मुहूर्ते तु ब्रह्मा लोकपितामहः।
सर्वैः परिवृतो देवैर्ऋषिभिश्च महात्मभिः॥ ३॥
आययौ यत्र काकुत्स्थः स्वर्गाय समुपस्थितः
विमानशतकोटीभिर्दिव्याभिरभिसंवृतः॥ ४॥

उसी समय लोकपितामह ब्रह्माजी सम्पूर्ण देवताओं तथा महात्मा ऋषि-मुनियोंसे घिरे हुए उस स्थानपर आ पहुँचे, जहाँ श्रीरघुनाथजी परमधाम पधारनेके लिये उपस्थित थे। उनके साथ करोड़ों दिव्य विमान शोभा पा रहे थे॥ ३-४॥

दिव्यतेजोवृतं व्योम ज्योतिर्भूतमनुत्तमम्।
स्वयंप्रभैः स्वतेजोभिः स्वर्गिभिः पुण्यकर्मभिः॥ ५॥

सारा आकाशमण्डल दिव्य तेजसे व्याप्त हो अत्यन्त उत्तम ज्योतिर्मय हो रहा था। पुण्यकर्म करनेवाले स्वर्गवासी स्वयं प्रकाशित होनेवाले अपने तेजसे उस स्थानको उद्भासित कर रहे थे॥ ५॥

पुण्या वाता ववुश्चैव गन्धवन्तः सुखप्रदाः।
पपात पुष्पवृष्टिश्च देवैर्मुक्ता महौघवत्॥ ६॥

परम पवित्र, सुगन्धित एवं सुखदायिनी हवा चलने लगी। देवताओंद्वारा गिराये गये राशि-राशि दिव्य पुष्पोंकी भारी वर्षा होने लगी॥ ६॥

तस्मिंस्तूर्यशतैः कीर्णे गन्धर्वाप्सरसंकुले।
सरयूसलिलं रामः पद्भ्यां समुपचक्रमे॥ ७॥

उस समय सैकड़ों प्रकारके बाजे बजने लगे और गन्धर्वों तथा अप्सराओंसे वहाँका स्थान भर गया। इतनेमें ही श्रीरामचन्द्रजी सरयूके जलमें प्रवेश करनेके लिये दोनों पैरोंसे आगे बढ़ने लगे॥ ७॥

ततः पितामहो वाणीं त्वन्तरिक्षादभाषत।
आगच्छ विष्णो भद्रं ते दिष्ट्या प्राप्तोऽसि राघव॥ ८॥

तब ब्रह्माजी आकाशसे ही बोले—'श्रीविष्णुस्वरूप रघुनन्दन! आइये, आपका कल्याण हो। हमारा बड़ा सौभाग्य है, जो आप अपने परमधामको पधार रहे हैं॥ ८॥

भ्रातृभिः सह देवाभैः प्रविशस्व स्विकां तनुम्।
यामिच्छसि महाबाहो तां तनुं प्रविश स्विकाम्॥ ९॥

'महाबाहो! आप देवतुल्य तेजस्वी भाइयोंके साथ अपने स्वरूपभूत लोकमें प्रवेश करें। आप जिस स्वरूपमें प्रवेश करना चाहें, अपने उसी स्वरूपमें प्रवेश करें॥ ९॥

वैष्णवीं तां महातेजो यद्वाऽऽकाशं सनातनम्।
त्वं हि लोकगतिर्देव न त्वां केचित् प्रजानते॥ १०॥
ऋते मायां विशालाक्षीं तव पूर्वपरिग्रहाम्।
त्वामचिन्त्यं महद् भूतमक्षयं चाजरं तथा।
यामिच्छसि महातेजस्तां तनुं प्रविश स्वयम्॥ ११॥

'महातेजस्वी परमेश्वर! आपकी इच्छा हो तो चतुर्भुज विष्णुरूपमें ही प्रवेश करें अथवा अपने सनातन आकाशमय अव्यक्त ब्रह्मरूपमें ही विराजमान हों। देव! आप ही सम्पूर्ण लोकोंके आश्रय हैं। आपकी पुरातन पत्नी योगमाया (ह्लादिनी शक्ति)-स्वरूपा जो विशाललोचना सीतादेवी हैं, उनको छोड़कर दूसरे कोई आपको यथार्थरूपसे नहीं जानते हैं; क्योंकि आप अचिन्त्य, अविनाशी तथा जरा आदि अवस्थाओंसे रहित परब्रह्म हैं, अतः महातेजस्वी राघवेन्द्र! आप जिसमें चाहें, अपने उसी स्वरूपमें प्रवेश करें (प्रतिष्ठित हों)'॥ १०-११॥

पितामहवचः श्रुत्वा विनिश्चित्य महामतिः।
विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः॥ १२॥

पितामह ब्रह्माजीकी यह बात सुनकर परम बुद्धिमान् श्रीरघुनाथजीने कुछ निश्चय करके भाइयोंके साथ शरीरसहित अपने वैष्णव तेजमें प्रवेश किया॥ १२॥

ततो विष्णुमयं देवं पूजयन्ति स्म देवताः।
साध्या मरुद्गणाश्चैव सेन्द्राः साग्निपुरोगमाः॥ १३॥

फिर तो इन्द्र और अग्नि आदि सब देवता, साध्य तथा मरुद्गण भी विष्णुस्वरूपमें स्थित हुए भगवान् श्रीरामकी पूजा (स्तुति प्रशंसा) करने लगे॥ १३॥

ये च दिव्या ऋषिगणा गन्धर्वाप्सरसश्च याः।
सुपर्णनागयक्षाश्च दैत्यदानवराक्षसाः॥ १४॥

तदनन्तर जो दिव्य ऋषि, गन्धर्व, अप्सरा, गरुड़, नाग, यक्ष, दैत्य, दानव और राक्षस थे, वे भी भगवान्‌का गुणगान करने लगे॥ १४॥

सर्वं पुष्टं प्रमुदितं सुसम्पूर्णमनोरथम्।
साधुसाध्विति तैर्देवैस्त्रिदिवं गतकल्मषम्॥ १५॥

(वे बोले—) 'प्रभो! यहाँ आपके पदार्पण करनेसे देवलोकवासियोंका यह सारा समुदाय सफलमनोरथ होनेके कारण हृष्ट-पुष्ट एवं आनन्दमग्न हो गया है। सबके पाप-ताप नष्ट हो गये हैं। प्रभो! आपको हमारा शतशः साधुवाद है।' ऐसा उन देवताओंने कहा॥ १५॥

अथ विष्णुर्महातेजाः पितामहमुवाच ह।
एषां लोकं जनौघानां दातुमर्हसि सुव्रत॥ १६॥

तत्पश्चात् विष्णुरूपमें विराजमान महातेजस्वी श्रीराम ब्रह्माजीसे बोले—'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले पितामह! इस सम्पूर्ण जनसमुदायको भी आप उत्तम लोक प्रदान करें॥ १६॥

इमे हि सर्वे स्नेहान्मामनुयाता यशस्विनः।
भक्ता हि भजितव्याश्च त्यक्तात्मानश्च मत्कृते॥ १७॥

'ये सब लोग स्नेहवश मेरे पीछे आये हैं। ये सब-के-सब यशस्वी और मेरे भक्त हैं। इन्होंने मेरे लिये अपने लौकिक सुखोंका परित्याग कर दिया है, अतः ये सर्वथा मेरे अनुग्रहके पात्र हैं'॥ १७॥

तच्छ्रुत्वा विष्णुवचनं ब्रह्मा लोकगुरुः प्रभुः।
लोकान् संतानकान् नामयास्यन्तीमे समागताः॥ १८॥

भगवान् विष्णुका यह वचन सुनकर लोकगुरु भगवान् ब्रह्माजी बोले—'भगवन्! यहाँ आये हुए ये सब लोग 'संतानक' नामक लोकोंमें जायँगे॥ १८॥

यच्च तिर्यग्गतं किंचित् त्वामेवमनुचिन्तयत्।
प्राणांस्त्यक्ष्यति भक्त्या तत् संतानेषु निवत्स्यति॥ १९॥
सर्वैर्ब्रह्मगुणैर्युक्ते ब्रह्मलोकादनन्तरे।

'पशु-पक्षियोंकी योनिमें पड़े हुए जीवोंमेंसे भी जो कोई आपका ही भक्तिभावसे चिन्तन करता हुआ प्राणोंका परित्याग करेगा, वह भी संतानक-लोकोंमें ही निवास करेगा। यह संतानक-लोक ब्रह्मलोकके ही निकट है (साकेत-धामका ही अङ्ग है)। वह ब्रह्माके सत्य-संकल्पत्व आदि सभी उत्तम गुणोंसे युक्त है। उसीमें ये आपके भक्तजन निवास करेंगे'॥ १९½॥

वानराश्च स्विकां योनिमृक्षाश्चैव तथा ययुः॥ २०॥
येभ्यो विनिःसृताः सर्वे सुरेभ्यः सुरसम्भवाः।
तेषु प्रविविशे चैव सुग्रीवः सूर्यमण्डलम्॥ २१॥
पश्यतां सर्वदेवानां स्वान् पितॄन् प्रतिपेदिरे।

जिन वानरों और रीछोंकी देवताओंसे उत्पत्ति हुई थी, वे अपनी-अपनी योनिमें ही मिल गये—जिन-जिन देवताओंसे प्रकट हुए थे, उन्हींमें प्रविष्ट हो गये। सुग्रीवने सूर्यमण्डलमें प्रवेश किया। इसी प्रकार अन्य वानर भी सब देवताओंके देखते-देखते अपने-अपने पिताके स्वरूपको प्राप्त हो गये॥ २०-२१½॥

तथा ब्रुवति देवेशे गोप्रतारमुपागताः॥ २२॥
भेजिरे सरयूं सर्वे हर्षपूर्णाश्रुविक्लवाः।

देवेश्वर ब्रह्माजीने जब संतानक-लोकोंकी प्राप्तिकी घोषणा की, तब सरयूके गोप्रतारघाटपर आये हुए उन सब लोगोंने आनन्दके आँसू बहाते हुए सरयूके जलमें डुबकी लगायी॥ २२½॥

अवगाह्याप्सु यो यो वै प्राणांस्त्यक्त्वा प्रहृष्टवत्॥ २३॥
मानुषं देहमुत्सृज्य विमानं सोऽध्यरोहत।

जिसने-जिसने जलमें गोता लगाया, वही-वही बड़े हर्षके साथ प्राणों और मनुष्य-शरीरको त्यागकर विमानपर जा बैठा॥ २३½॥

तिर्यग्योनिगतानां च शतानि सरयूजलम्॥ २४॥
सम्प्राप्य त्रिदिवं जग्मुः प्रभासुरवपूंषि तु।
दिव्या दिव्येन वपुषा देवा दीप्ता इवाभवन्॥ २५॥

पशु-पक्षीकी योनिमें पड़े हुए सैकड़ों प्राणी सरयूके जलमें गोता लगाकर तेजस्वी शरीर धारण करके दिव्यलोकमें जा पहुँचे। वे दिव्य शरीर धारण करके दिव्य अवस्थामें स्थित हो देवताओंके समान दीप्तिमान् हो गये॥ २४-२५॥

गत्वा तु सरयूतोयं स्थावराणि चराणि च।
प्राप्य तत्तोयविक्लेदं देवलोकमुपागमन्॥ २६॥

स्थावर और जङ्गम सभी तरहके प्राणी सरयूके जलमें प्रवेश करके उस जलसे अपने शरीरको भिगोकर दिव्य लोकमें जा पहुँचे॥ २६॥

तस्मिन् येऽपि समापन्ना ऋक्षवानरराक्षसाः।
तेऽपि स्वर्गं प्रविविशुर्देहान् निक्षिप्य चाम्भसि॥ २७॥

उस समय जो कोई भी रीछ, वानर या राक्षस वहाँ आ गये, वे सभी अपने शरीरको सरयूके जलमें डालकर भगवान्के परमधाममें जा पहुँचे॥ २७॥

ततः समागतान् सर्वान् स्थाप्य लोकगुरुर्दिवि।
हृष्टैः प्रमुदितैर्देवैर्जगाम त्रिदिवं महत्॥ २८॥

इस प्रकार वहाँ आये हुए सब प्राणियोंको संतानक-लोकोंमें स्थान देकर लोकगुरु ब्रह्माजी हर्ष और आनन्दसे भरे हुए देवताओंके साथ अपने महान् धाममें चले गये॥ २८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे दशाधिकशततमः सर्गः॥ ११०॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें एक सौ दसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ११०॥

—★—

एकादशाधिकशततमः सर्गः

रामायण-काव्यका उपसंहार और इसकी महिमा

एतावदेतदाख्यानं सोत्तरं ब्रह्मपूजितम्।
रामायणमिति ख्यातं मुख्यं वाल्मीकिना कृतम्॥ १॥

(कुश और लव कहते हैं—) महर्षि वाल्मीकिद्वारा निर्मित यह रामायण नामक श्रेष्ठ आख्यान उत्तरकाण्डसहित इतना ही है। ब्रह्माजीने भी इसका आदर किया है॥ १॥

ततः प्रतिष्ठितो विष्णुः स्वर्गलोके यथा पुरा।
येन व्याप्तमिदं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम्॥ २॥

इस प्रकार भगवान् श्रीराम पहलेकी ही भाँति अपने विष्णुस्वरूपसे परमधाममें प्रतिष्ठित हुए। उनके द्वारा चराचर प्राणियोंसहित यह समस्त त्रिलोकी व्याप्त है॥ २॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः।
नित्यं शृण्वन्ति संहृष्टाः काव्यं रामायणं दिवि॥ ३॥

उन भगवान्के पावन चरित्रसे युक्त होनेके कारण देवता, गन्धर्व, सिद्ध और महर्षि सदा प्रसन्नतापूर्वक देवलोकमें इस रामायणकाव्यका श्रवण करते हैं॥ ३॥

इदमाख्यानमायुष्यं सौभाग्यं पापनाशनम्।
रामायणं वेदसमं श्राद्धेषु श्रावयेद् बुधः॥ ४॥

यह प्रबन्धकाव्य आयु तथा सौभाग्यको बढ़ाता और पापोंका नाश करता है। रामायण वेदके समान है। विद्वान् पुरुषको श्राद्धोंमें इसे पढ़कर सुनाना चाहिये॥ ४॥

अपुत्रो लभते पुत्रमधनो लभते धनम्।
सर्वपापैः प्रमुच्येत पादमप्यस्य यः पठेत्॥ ५॥

इसके पाठसे पुत्रहीनको पुत्र और धनहीनको धन मिलता है। जो प्रतिदिन इसके श्लोकके एक चरणका भी पाठ करता है, वह सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है॥ ५॥

पापान्यपि च यः कुर्यादहन्यहनि मानवः।
पठत्येकमपि श्लोकं पापात् स परिमुच्यते॥ ६॥

जो मनुष्य प्रतिदिन पाप करता है, वह भी यदि इसके एक श्लोकका भी नित्य पाठ करे तो वह सारी पापराशिसे मुक्त हो जाता है॥ ६॥

वाचकाय च दातव्यं वस्त्रं धेनुर्हिरण्यकम्।
वाचके परितुष्टे तु तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः॥ ७॥

इसकी कथा सुनानेवाले वाचकको वस्त्र, गौ और सुवर्णकी दक्षिणा देनी चाहिये। वाचकके संतुष्ट होनेपर सभी देवता संतुष्ट हो जाते हैं॥ ७॥

एतदाख्यानमायुष्यं पठन् रामायणं नरः।
सपुत्रपौत्रो लोकेऽस्मिन् प्रेत्य चेह महीयते॥ ८॥

यह रामायण नामक प्रबन्धकाव्य आयुकी वृद्धि करनेवाला है। जो मनुष्य प्रतिदिन इसका पाठ करता है, उसे इस लोकमें पुत्र-पौत्रकी प्राप्ति होती है और मृत्युके पश्चात् परलोकमें भी उसका बड़ा सम्मान होता है॥ ८॥

रामायणं गोविसर्गे मध्याह्ने वा समाहितः।
सायाह्ने वापराह्णे च वाचयन् नावसीदति॥ ९॥

जो प्रतिदिन एकाग्रचित्त हो प्रातःकाल, मध्याह्न, अपराह्न अथवा सायंकालमें रामायणका पाठ करता है, उसे कभी कोई दुःख नहीं होता है॥ ९॥

अयोध्यापि पुरी रम्या शून्या वर्षगणान् बहून्।
ऋषभं प्राप्य राजानं निवासमुपयास्यति॥ १०॥

(श्रीरघुनाथजीके परमधाम पधारनेके पश्चात् त्रेतायुगमें अयोध्यापुरी भी बहुत वर्षोंतक सूनी पड़ी रहेगी। फिर राजा ऋषभके समय यह आबाद होगी।)

एतदाख्यानमायुष्यं सभविष्यं सहोत्तरम्।
कृतवान् प्रचेतसः पुत्रस्तद् ब्रह्माप्यन्वमन्यत॥ ११॥

प्रचेताके पुत्र महर्षि वाल्मीकिजीने भविष्य-सम्बन्धी समाचारोंके बादकी कथा एवं उत्तरकाण्डसहित आयुवर्धक इस ऐतिहासिक काव्यका निर्माण किया है। ब्रह्माजीने भी इसका अनुमोदन किया था॥ ११॥

अश्वमेधसहस्रस्य वाजपेयायुतस्य च।
लभते श्रवणादेव सर्गस्यैकस्य मानवः॥ १२॥

इस काव्यके एक सर्गका श्रवण करनेमात्रसे मनुष्य एक हजार अश्वमेध और दस हजार वाजपेय यज्ञोंका फल पा लेता है॥ १२॥

प्रयागादीनि तीर्थानि गङ्गाद्याः सरितस्तथा।
नैमिषादीन्यरण्यानि कुरुक्षेत्रादिकान्यपि॥ १३॥
गतानि तेन लोकेऽस्मिन् येन रामायणं श्रुतम्।

जिसने इस लोकमें रामायणकी कथा सुन ली, उसने मानो प्रयाग आदि तीर्थों, गङ्गा आदि पवित्र नदियों, नैमिषारण्य आदि वनों और कुरुक्षेत्र आदि पुण्यक्षेत्रोंकी यात्रा पूरी कर ली॥ १३½॥

हेमभारं कुरुक्षेत्रे ग्रस्ते भानौ प्रयच्छति॥ १४॥
यश्च रामायणं लोके शृणोति सदृशावुभौ।

जो सूर्यग्रहणके समय कुरुक्षेत्रमें एक भार सुवर्णका दान करता है और जो लोकमें प्रतिदिन रामायण सुनता है, वे दोनों समान पुण्यके भागी होते हैं॥ १४½॥

सम्यक्श्रद्धासमायुक्तः शृणुते राघवीं कथाम्॥ १५॥
सर्वपापात् प्रमुच्येत विष्णुलोकं स गच्छति।

जो उत्तम श्रद्धासे सम्पन्न हो श्रीरघुनाथजीकी कथा सुनता है, वह सब पापोंसे मुक्त होता और विष्णुलोकमें जाता है॥ १५½॥

आदिकाव्यमिदं त्वार्षं पुरा वाल्मीकिना कृतम्॥ १६॥
यः शृणोति सदा भक्त्या स गच्छेद् वैष्णवीं तनुम्।

जो पूर्वकालमें वाल्मीकिद्वारा निर्मित इस आर्ष रामायण आदिकाव्यका सदा भक्तिभावसे श्रवण करता है, वह भगवान् विष्णुका सारूप्य प्राप्त कर लेता है॥ १६½॥

पुत्रदाराश्च वर्धन्ते सम्पदः संततिस्तथा॥ १७॥
सत्यमेतद् विदित्वा तु श्रोतव्यं नियतात्मभिः।
गायत्र्याश्च स्वरूपं तद् रामायणमनुत्तमम्॥ १८॥

इसके श्रवणसे स्त्री-पुत्रोंकी प्राप्ति होती है, धन और संततिकी वृद्धि होती है। इसे पूर्णतः सत्य समझकर मनको वशमें रखते हुए इसका श्रवण करना चाहिये। यह परम उत्तम रामायणकाव्य गायत्रीका स्वरूप है॥ १७-१८॥

यः पठेच्छृणुयान्नित्यं चरितं राघवस्य ह।
भक्त्या निष्कल्मषो भूत्वा दीर्घमायुरवाप्नुयात्॥ १९॥

जो पुरुष प्रतिदिन भक्तिभावसे श्रीरघुनाथजीके इस चरित्रको सुनता या पढ़ता है, वह निष्पाप होकर दीर्घ आयु प्राप्त कर लेता है॥ १९॥

चिन्तयेद् राघवं नित्यं श्रेयः प्राप्तुं य इच्छति।
श्रावयेदिदमाख्यानं ब्राह्मणेभ्यो दिने दिने॥ २०॥

जो कल्याण-प्राप्तिकी इच्छा रखता है, उसे नित्य-निरन्तर श्रीरघुनाथजीका चिन्तन करना चाहिये। ब्राह्मणोंको प्रतिदिन यह प्रबन्धकाव्य सुनाना चाहिये॥ २०॥

यस्त्विदं रघुनाथस्य चरितं सकलं पठेत्।
सोऽसुक्षये विष्णुलोकं गच्छत्येव न संशयः॥ २१॥

जो इस श्रीरघुनाथ-चरित्रका पाठ पूर्ण कर लेता है, वह प्राणान्त होनेपर भगवान् विष्णुके ही धाममें जाता है; इसमें संशय नहीं है॥ २१॥

पिता पितामहस्तस्य तथैव प्रपितामहः।
तत्पिता तत्पिता चैव विष्णुं यान्ति न संशयः॥ २२॥

इतना ही नहीं, उसके पिता, पितामह, प्रपितामह, वृद्ध प्रपितामह तथा उनके भी पिता भगवान् विष्णुको प्राप्त कर लेते हैं, इसमें संशय नहीं है॥ २२॥

चतुर्वर्गप्रदं नित्यं चरितं राघवस्य तु।
तस्माद् यत्नवता नित्यं श्रोतव्यं परमं सदा॥ २३॥

श्रीराघवेन्द्रका यह चरित्र सदा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थोंको देनेवाला है। इसलिये प्रतिदिन यत्नपूर्वक निरन्तर इस उत्तम काव्यका श्रवण करना चाहिये॥ २३॥

शृण्वन् रामायणं भक्त्या यः पादं पदमेव वा।
स याति ब्रह्मणः स्थानं ब्रह्मणा पूज्यते सदा॥ २४॥

जो रामायणकाव्यके श्लोकके एक चरण या एक पदका भक्तिभावसे श्रवण करता है, वह ब्रह्माजीके धाममें जाता है और सदा उनके द्वारा पूजित होता है॥ २४॥

एवमेतत् पुरावृत्तमाख्यानं भद्रमस्तु वः।
प्रव्याहरत विस्रब्धं बलं विष्णोः प्रवर्धताम्॥ २५॥

इस प्रकार इस पुरातन आख्यानका आपलोग विश्वासपूर्वक पाठ करें। आपका कल्याण हो और भगवान् विष्णुके बलकी जय हो॥ २५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये उत्तरकाण्डे एकादशाधिकशततमः सर्गः॥ १११॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके उत्तरकाण्डमें एक सौ ग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १११॥

★

उत्तरकाण्डं सम्पूर्णम्

★

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणं सम्पूर्णम्

★